ॐ

वृन्दारककल्पवादिवृन्दवन्दितचरणकमल-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-कलिकाल-
सर्वज्ञकल्प-जङ्गमयुगप्रधान-श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय-जैनप्रवर-
श्वेताम्बराऽऽचार्य-श्री श्री १००८ श्रीभट्टारक-
श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-विरचितः

अभिधानराजेन्द्रः ।

कोषः

तस्य जकारादिशब्दसङ्कलने चतुर्थो भागः ।

स च-

श्रीसर्वज्ञप्ररूपितगणधरनिर्वर्तिताऽऽधुनिकोपलभ्यमानाऽशेषसूत्र-
तद्वृत्ति-भाष्य-निर्युक्ति-चूर्ण्यादिनिहितसकलदार्शनिक-
सिद्धान्तेतिहास-शिल्प-वेदान्त-न्याय-वैशेषिक-
मीमांसादिप्रदर्शितपदार्थयुक्ताऽयुक्तत्वनिर्णायकः ।

मुनि-श्रीदीपविजय-श्रीयतीन्द्रविजयाभ्यां संशोधितः,

उपाध्याय-श्री श्री १०८ श्रीमन्मोहनविजयोपदेशतः-
श्रीजैनश्वेताम्बरसमस्त-सङ्घेन महापरिश्रमतः-प्राकाश्यं नीतः ।

* श्रीजैनप्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम- *

श्रीवीर संवत् २४४०
श्रीराजेन्द्रसूरि संवत् ७

यन्त्रालये मुद्रितः

श्रीविक्रमाब्दः १९७०
खिस्ताब्दः १९१३

सुविहितमार्गप्रकाशकचक्रचूडामणि-कलिकालसर्वज्ञकल्प-परमयोगिराज—

जगत्पूज्य-गुरुदेव-प्रभुश्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।

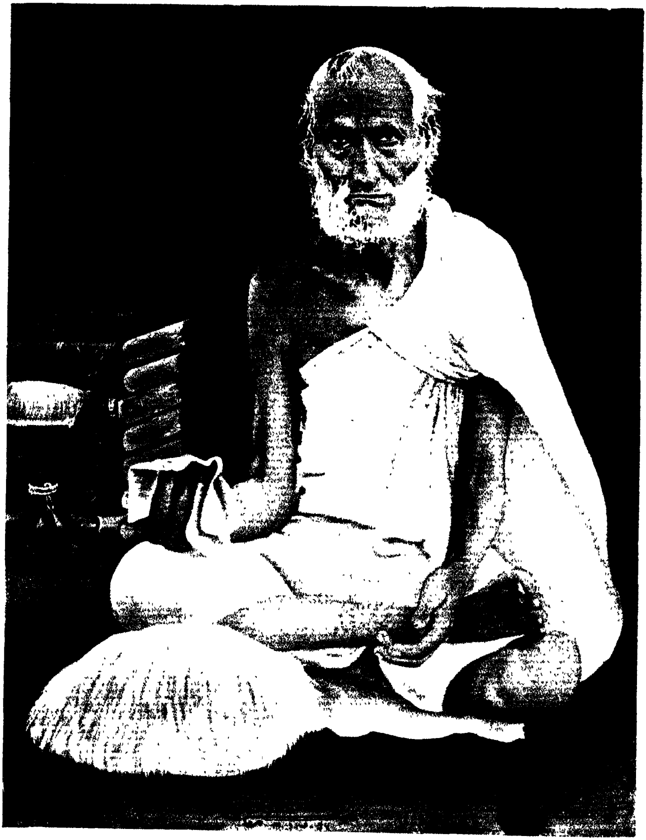

दम्भध्वान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी-राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनान्मन्दीप्रजैनश्रुतः ।
सद्धर्मोपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः, कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ॥ १ ॥

जन्म [illegible] भरतपुर [illegible]	पन्यासपद [illegible] उदयपुर [illegible]	क्रियोद्धार [illegible] जावरा [illegible]
दीक्षा [illegible] उदयपुर मेवाड़	श्रीपूज्यपदवी [illegible] आहोर मारवाड़	निर्वाण [illegible] राजगढ़ [illegible]

श्री महोदय प्रेस भावनगर

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपट्टप्रभाकर–चर्चाचक्रवर्त्ति–आगमरहस्यवेदी–श्रुतस्थविरमान्य—

श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय–श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज।

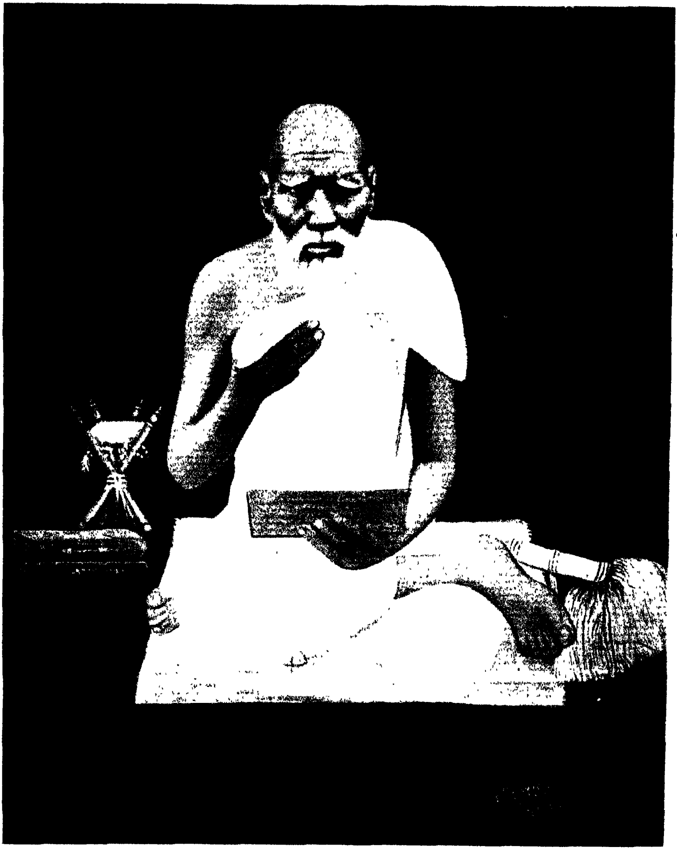

विद्वच्चकोरजनमोदकरं प्रसन्नं, शुभ्राननं सुकविकैरवसद्विलासम्।
हृद्ध्वान्तनाशकरणे प्रसरत्प्रतापं, वन्दे कलानिधिममं धनचन्द्रसूरिम्॥ १॥

जन्म सं० [illegible] किशनगढ (मेवाड़) दीक्षोपसंपद् सं० [illegible] जावरा (मालवा) सूरिपद सं० [illegible] जावरा (मालवा)
यतिदीक्षा सं० [illegible] धानेरा (पालनपुर) उपाध्यायपद सं० [illegible] खाचरोद (मालवा) स्वर्गारोह सं० [illegible] बागरा (मारवाड़)

श्री महोदय प्रेस भावनगर

आभार-प्रदर्शनम्।

सुविहितसूरिकुलतिलकायमान-सकलजैनागमपारदृश्व-बालब्रह्मचारी-अक्रमगुणप्रधान-प्रातःस्मरणीय-परमयोगिराज-क्रियाशुद्ध्युपकारक-श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय---सितपटाचार्य-जगत्पूज्य-गुरुदेव-भट्टारक श्री १००८ प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्रीसियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया। इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्त्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य-श्रीमद्धनचन्द्रसूरीजी महाराजने जो आपको बहुत सहायता दी। इस प्रकार करीब साढे चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र—शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्रीसूर्यपुर (सूरत—गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ।

ग्वालियर रियासत के राजगढ (मालवा) में गुरुनिर्वाणोत्सव के दरमियान संवत् १९६३ पौष-शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी—मुनि श्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनि महाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय छोटे बडे ग्राम-नगरों के प्रतिष्ठित-सद्गृहस्थों की सामाजिक मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि-मर्हुम-गुरुदेव के निर्माण किये हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का जैन जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इस लिये इसको अवश्य छपाना चाहिये, और इसके छपाने के लिये रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्भुजजीत्-मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखबदासजीत्-भागीरथजी, बीसाजी जवरचंदजीत्-प्यारचंदजी और गोमाजी गंभीरचंदजीत्-निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख-रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र-कार्यालय और 'श्रीजैनप्रभाकर' प्रिंटिंग प्रेस स्वतन्त्र खोलना चाहिये। कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का

समस्त--चार मर्हुम--गुरुदेव के सुयोग्य-शिष्य मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सोंपा जाय। बस, प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदि ५ के दिन उक्त कोश को छपाने के लिये रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और उक्त दोनों पूज्य--मुनिराजों की देख--रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ, जो सं० १९८१ चैत्र-वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता को प्राप्त हुआ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरी-कलिकालसिद्धान्तशिरोमणि--प्रातःस्मरणीय—आचार्य--श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराज, उपाध्याय--श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्री-मुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्णगुरुदेवसेवाहेवाक--मुनिश्रीहुकुमविजयजी महाराज, सत्क्रियावान्--महातपस्वी--मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज, साहित्यविशारद--विद्याभूषण-श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज, ज्ञानी ध्यानी मौनी महातपस्वी-मुनिश्रीहिम्मतविजयजी, मुनिश्री-लक्ष्मीविजयजी, मुनिश्री--गुलाबविजयजी, मुनिश्री--हर्षविजयजी, मुनिश्री--हंसविजयजी, मुनिश्री—अमृतविजयजी, आदि मुनिवरोंने अपने अपने विहार के दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे दे कर तन, मन और धन से पूर्ण सहायता पहोंचाई, और स्वयं भी अनेक भाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आभारी है।

जिन जिन ग्राम-नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-श्रीसंघ ने इस महान् कोषाङ्कन-कार्य में आर्थिक-सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ-सुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है—

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीसंघ-मालवा—

श्रीसंघ-रतलाम।	श्रीसंघ-बाँगरोद।	श्रीसंघ-राजगढ़।
,, जावरा।	,, बागोदा-बड़ा।	,, झाबुआ।

श्रीसंघ-बड़नगर।	श्रीसंघ-सरसी।	श्रीसंघ-झकणावदा।
,, खाचरोद।	,, मुंजाखेड़ी।	,, कूकसी।
,, मन्दसोर।	,, खरसोद-बड़ी।	,, आलीराजपुर।
,, सीतामऊ।	,, चीरोला-बड़ा।	,, रींगनोद।
,, निम्बाहेड़ा।	,, मकरावन।	,, राणापुर।
,, इन्दौर।	,, बरड़िया।	,, पारां।
,, उज्जैन।	,, (भाट)पचलाना।	,, टांडा।
,, महेन्दपुर।	,, पटलावदिया।	,, बाग।
,, नयागाम।	,, पिपलोदा।	,, खवासा।
,, नीमच-सिटी।	,, दशाई।	,, रंभापुर।
,, संजीत।	,, बड़ी-कड़ोद।	,, अमला।
,, नारायणगढ़।	,, धामणदा।	,, बोरी।
,, बरड़ावदा।	,, राजोद।	,, नानपुर।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ-गुजरात—

श्रीसंघ-अहमदाबाद।	श्रीसंघ-थिरपुर (थराद)।	श्रीसंघ-डीसा।
,, वीरमगाम।	,, वाव।	,, दूधवा।
,, सूरत।	,, भोरोल।	,, वात्यम।
,, साणंद।	,, धानेरा।	,, वामण।
,, बम्बई।	,, भोरासी।	,, जामनगर।
,, पालनपुर।	,, डुवा।	,, खंभात।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-संघ-मारवाड़—

श्रीसंघ-जोधपुर।	श्रीसंघ-भीनमाल।	श्रीसंघ-शिवगंज।
,, आहोर।	,, साचोर।	,, कोरटा।
,, जालोर।	,, बागरा।	,, फतापुरा।
,, भैंसवाड़ा।	,, भानपुर।	,, जोगापुरा।
,, रमणिया।	,, आकोली।	,, भाकंदा।
,, सांकलेसर।	,, माथू।	,, पोमावा।
,, देवावस।	,, सियाणा।	,, बीजापुर।
,, विशनगढ़।	,, काणोदर।	,, बाली।
,, मांडवला।	,, देलंदर।	,, खिमेल।

श्रीसंघ-गोल।	श्रीसंघ-मंडवारिया।	श्रीसंघ-सांडेराव।
,, साहेला।	,, बलदूट।	,, खुड़ाला।
,, आलामण।	,, जावाल।	,, राणी।
,, रेवतड़ा।	,, सिरोही।	,, खिमाड़ा।
,, धाणसा।	,, सिरोड़ी।	,, कोशीलाव।
,, बाकरा।	,, हरजी।	,, पावा।
,, मोदरा।	,, गुडाबालोतरा।	,, एंदला का गुड़ा।
,, थलवाड़।	,, भूति।	,, चाँणोद।
,, मंगलवा।	,, तखतगढ।	,, डूडसी।
,, सूराणा।	,, मंदरिया।	,, थाँवला।
,, दाधाल।	,, गोवाडा।	,, जोयला।
,, धनारी।	,, भावरी।	,, काचोली।

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवो के संघों के तरफ से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है।

श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय.

रतलाम (मालवा)

चतुर्थभाग–घण्टापथः ।

अर्हम् ।

इह हि प्रायोऽनवद्यहृद्यविद्याविद्योतितान्तःकरणानामनन्त-
रतान्तःस्थमहाप्रसन्नप्रशमप्रशान्तानामध्यात्महिमाऽऽदिग-
हनपदार्थसार्थगहनतरगहनागमार्णवस्कन्दपर्यन्तावगाहनाधरगणा--
मधरीकृतधराधरसमाधरणामपूर्वापूर्वभवोपार्जितशुभाशुभकर्म-
परिपाकसंमुखीनतामसंमुखीकृतपरावर्ताऽऽत्मानमिगणा--
मसितचरित्रपवित्रितान्तःकरणानां विलक्षणलक्षणानां स्वपर-
दोषदर्शनदवीयसां सर्वाङ्गमहीयसा दुरितभरितदीर्घपरि-
पतितप्रमादनिगदगणामहो खलु साम्प्रतं मम पवित्रितमं भाग-
धेयमिति मन्यमानानां द्राघिष्ठमुदर्कमुखनिर्दिवागणां विगतकुह-
नाऽऽटोपानां मुक्तिमहिलासंवरणोत्सुकानां प्रादुर्भूतविशङ्कट-
बोधानां किम्पचानगतिपथिनां समवगलितनवनवस्वनिकुर-
कुरम्बानां महत्याऽऽरभटया धर्मदेशनाश्रावणाऽभयवितरण
नसमुत्सुकानां स्वलोकिकाटवमपि सर्गायमिति निर्धारित-
मानसानां प्रपदमिलदनूपतितनाटलोकपटानां वरिष्ठपष्ठानां
सततमहिमाम्नयमास्मिन्नुपा विदूषा परमहंसाना मानसं स्व-
कच्छन्दोच्छलदच्छसंवराऽऽगारममं स्त्रमत्माधागाहनाऽय-
मेव मत्यमभुत्वनागधेयपरिपाकस्वरूप तत्त्वोऽस्मिन्निशुभ-
शृङ्गाटकानुकारि मिथ्याभिदर्शनाकूपारोऽपारोऽन्त्ये लोपामु-
द्रायत्रमुद्राधरं गाधीकृतमागमशास्त्राऽऽशयांनगूढतत्त्वं प्रा-
लेयमहीध्रविताननायशोविशदमस्तोकमुक्ताफला--पाण्डवत्रिशि-
रस्का श्लाघनीयसत्कटप्रत्यग्रप्रसृमरनीरन्ध्रस्वदुपदेशसुधावि-
न्दुवृष्टिभरप्रायाश्चनभव्यसांबकस्वान्तक्षेत्रं पठनाऽऽकर्णना-
भ्यां माधुर्याकृतद्राक्षारम्याधरीकृतमाधुर्यं जानिनाऽऽमोदभृ-
मोदय मानसकासारमिवाऽऽर्हन्मतमिवाऽस्त्रं विद्योतते । तत्र
शुद्धग्राहकया जीवाजीवाऽऽदिसमस्तवस्तुविवेचनं विधीयते
यत्र च सुललितकलेऽनल्पानिद्राभिद्रुतनयनस्य विद्राविन-
द्रारम्याऽऽकलं निद्रागमस्याकुलीभयस्य जलपानेन साकं
जलपाऽऽयासानम्भसमपि नायाति, गम्भीरगर्जितविद्रावितगि-
रिश्रावस्य गिरिगर्भे शयानस्य पञ्चाननस्येव यस्य नामश्रव-
णमात्रेण सद्मालितगण्डाऽऽभोगाः पापीन इव कुमताचल-
म्बिनो गृहीतातङ्काः पुनरावर्तनं नैव स्पृहयन्ति, यताऽऽ
स्थानीमास्थितस्य वादकथाप्रलम्बस्य निकटे जयोऽवश्य-
मभ्युपैति, कौतुकमिव यमवलम्ब्य प्रत्यर्थिप्रवर्तितप्रतानु-
कारिनिग्रहस्थानकन्धराकर्तनाय कुशलीभवन्ति भव्यवर्गाः,यो
ह्युपगतोपघ्नानां निजनिघ्नानां विघ्नसङ्घमपहस्तयते । प्राति-
स्विकरूपेण निर्धारितोऽयमर्थः प्रथमभागोपोद्घातेऽस्माभि-
रित्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्याऽकाण्डताण्डवाऽऽडम्बरेण वा । किं
बहुना यत्प्रवर्तका एव परार्थसंपादनसमर्पितजीविताः स्वार्जित-
रत्नाः समस्तजीवजातानुप्रदानदक्षाः सौधर्मेन्द्राऽऽदिनिर्वर्ति
तजन्माभिषेकाः सुधाधोरणीकल्पनैजदेशनया संसारासातसं
तप्तजन्तूनां विहितसेका अष्टमहाप्रातिहार्यपरिकलिताश्चतु-
स्त्रिंशदतिशयविराजिता रागद्वेषाऽऽद्यन्तरङ्गारिविप्रमुक्ताः परा-
भिसंधानाध्यवसायप्रमुक्तास्त्रिभुवनतलस्पर्शिनः परमद्-
गतिसमापन्नदुर्भगजनतानिरीक्षणसमुत्पन्नकरुणारसोद्गारपु-
लकितान्तःकरणा दरीदृश्यन्ते, तद्वचनसुधासारणीसमव-
गाहनसुखीभूय पुरोभागीभिन्नाः के वा न भवेयुः ? । यद्यपि
तृतीयभागप्रस्तावे समासेन निरूपितोऽयं विषयः प्रयत्न-
प्रयत्नैरस्माभिस्तथापि वाचकवर्गमनःपोषाय कदाग्रहग्राहिल-
तापाय सोहापोहं भगवतां तीर्थकृतां रागद्वेषाविप्रमुक्तत्वम-
वोद्घाट्यते, यत्सत्तायामेव तेषामुपादेयवचनताऽनिर्वचनी-
यतामावहति ✻ । तथाहि–ननु तीर्थकृतां रागाऽऽदिभिः स-
हाऽऽत्यन्तिको वियोगोऽसंभवी, प्रमाणबाधनात् । तच्च प्र-
माणमिदम्–यदनादिमद् न तद्विनाशमाविशति, यथाऽऽका-
शम् , अनादिमन्तश्च रागाऽऽदय इति । किञ्च–रागाऽऽदयो
धर्माः, ते च धर्मिणो भिन्नाः, अभिन्ना वा ? । यदि भिन्ना-
स्तर्हि सर्वेषामविशेषेण वीतरागत्वप्रसङ्गः, रागेभ्यो भिन्न-
त्वात् , विद्याविदितपुरुषवत् । अथाभिन्नास्तर्हि तत्क्षये धर्मि-
णोऽप्यात्मनः क्षयः, तदभिन्नत्वात् , तत्स्वरूपवत् , इति कु-
तस्तेषां वीतरागत्वम् ?,तस्यैवाऽभावादिति । अत्रोच्यते–इह
यद्यपि रागाऽऽदयो दोषा अनादिमन्तः, तथापि कस्यचित्
स्पर्शिरागाऽऽदिषु यथाऽवस्थितवस्तुतत्त्वावगमेन तथा रा-
गाऽऽदीनां प्रतिपक्षभावनातः प्रतिक्षणमपचयो दृश्यते, ततः
संभाव्यते–विशिष्टकालाऽऽदिसामग्रीसद्भावे भावनाप्रकर्षवि-
शेषभावतो निर्मूलमपि क्षयः । अथ यद्यपि प्रतिपक्षभावनातः
प्रतिक्षणमपचयो दृष्टस्तथाऽपि तेषामात्यन्तिकोऽपि क्षयः सं
भवतीति कथमवसेयम् ? । उच्यते–अन्यत्र तथा प्रतिबन्धग्र-
हणात् । तथाहि–शीतस्पर्शसंपाद्या रोमहर्षाऽऽदयः, ते च
शीतप्रतिपक्षस्य वह्नेर्मन्दतायां मन्दा उपलब्धाः, उत्कर्षे च
निरन्वयविनाशधर्माणः । ततोऽन्यत्रापि बाधकस्य मन्दतायां
बाध्यस्य मन्दतादर्शनाद् बाधकोत्कर्षेऽवश्यं बाध्यस्य निर-
न्वयो विनाशो वेदितव्यः, अन्यथा बाधकमन्दतायां मन्दताऽ-
पि न स्यात् । अथाऽस्ति ज्ञानस्य ज्ञानाऽऽवरणीयं कर्म
बाधकं, ज्ञानाऽऽवरणीयकर्ममन्दतायां च ज्ञानस्यापि मलिन
मन्दता । अथ च प्रबलज्ञानाऽऽवरणीयकर्मोदयोत्कर्षेऽपि
ज्ञानस्य न निरन्वयो विनाशः । एवं प्रतिपक्षभावनोत्कर्षेऽपि
न रागाऽऽदीनामत्यन्तोच्छेदो भविष्यतीति । तदयुक्तम् ।
द्विविधं हि बाध्यम्–सहभूतस्वभावभूतम्, सहकारिसंपाद्य-
स्वभावभूतं च । तत्र यत् सहभूतस्वभावभूतं, तन्न कदाचि-
दपि निरन्वयविनाशमाविशति, ज्ञानं चाऽऽत्मनः सहभूतस्व-
भावभूतम् , आत्मा च परिणामी नित्यः , ततोऽत्यन्तप्रकर्ष-
वत्यपि ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मोदये न निरन्वयविनाशो ज्ञानस्य,
रागाऽऽदयस्तु लोभाऽऽदिकर्मविपाकोदयसंपादितसत्ताकाः,
ततः कर्मणो निर्मूलमपगमे तेऽपि निर्मूलमपगच्छन्ति । नन्वा
सतां कर्मसंपाद्या रागाऽऽदयः,तथापि कर्मनिवृत्तौ ते निवर्तन्ते
इति नावश्यं नियमः,न हि दहननिवृत्तौ तत्कृता काष्ठविकारता
निवर्तते । तदसत् । यत इह किञ्चित् क्वचित् निवर्त्य–विकार

मापादयति, यथाऽग्निः सुवर्णे द्रवताम् । तथाहि-अग्निनिवृत्तौ तत्कृता सुवर्णे द्रवता निवर्तते । किञ्चित् पुनः कश्चित् अनिवर्त्य-विकाराऽऽरम्भकम् । यथा-स एवाऽग्निः काष्ठे, न खलु श्यामतामात्रमपि काष्ठे दहनकृतं तन्निवृत्तौ निवर्तते । कर्म चाऽऽत्मनि निवर्त्य-विकाराऽऽरम्भकम् । यदि पुनरनिवर्त्य-विकाराऽऽरम्भकं भवेत्तर्हि यदपि तदपि कर्मणा कृतं न कर्मनिवृत्तौ निवर्तेत, यथाऽग्निना श्यामतामात्रमपि काष्ठे कृतमग्निनिवृत्तौ । ततश्च यदेकदा कर्मणाऽऽपादितं मनुष्यत्वममरत्वं कृमिकीटत्वमक्षत्वं शिरोवेदनाऽऽदि, तत्सर्वकालं तथैवावतिष्ठेत, न चैतद् दृश्यते, तस्मान्निवर्त्य-विकाराऽऽरम्भकं कर्म, ततः कर्मनिवृत्तौ रागाऽऽदीनामपि निवृत्तिः । अत्राऽऽहुर्बार्हस्पत्याः-"नैते रागाऽऽदयो लोभाऽऽदिकर्मविपाकोदयनिबन्धनाः, किन्तु कफाऽऽदिप्रकृतिहेतुकाः।" तथाहि-कफहेतुको रागः, पित्तहेतुको द्वेषः, वातहेतुकश्च मोहः । कफाऽऽदयश्च सदैव सन्निहिताः, शरीरस्य तदात्मकत्वात्, ततो न वीतरागत्वसंभवः । तदयुक्तम् । रागाऽऽदीनां कफाऽऽदिहेतुकत्वाऽऽयोगात् । तथाहि-स तद्धेतुको, यो यं न व्यभिचरति, यथा धूमोऽग्निम् । अन्यथा प्रतिनियतकार्यकारणभावव्यवस्थाऽनुपपत्तिः । न च रागाऽऽदयः कफाऽऽदीन् न व्यभिचरन्ति, व्यभिचारदर्शनात् । तथाहि-वातप्रकृतेरपि दृश्येते रागद्वेषौ, कफप्रकृतेरपि द्वेषमोहौ, पित्तप्रकृतेरपि मोहरागौ, ततः कथं रागाऽऽदयः कफाऽऽदिहेतुकाः?। अथ मन्येथाः-एकैकाऽपि प्रकृतिः सर्वेषामपि दोषाणां पृथग् पृथग् जनिका, तेनायमदोष इति । तदयुक्तम् । एवं सति सर्वेषामपि जन्तूनां समरागाऽऽदिदोषप्रसक्तेः, अवश्यं हि प्राणिनामेकतमया प्रकृत्या कयाचिद् भवितव्यम् । सा चाविशेषेण रागाऽऽदिदोषाणामुत्पादिकेति सर्वेषामपि समानरागाऽऽदिताप्रसक्तिः । अथास्ति प्रतिप्राणि पृथक् पृथगवान्तरः कफाऽऽदीनां परिणतिविशेषः, तेन न सर्वेषां समरागाऽऽदिताप्रसङ्गः । तदपि न साधीयः । विकल्पयुगलानतिक्रमात् । तथाहि-सोऽप्यवान्तरः कफाऽऽदीनां परिणतिविशेषः सर्वेषामपि रागाऽऽदीनामुत्पादकः, आहोस्विदेकतमस्यैव कस्यचित्?। तत्र यद्याद्यः पक्षस्तर्हि यावत् स परिणतिविशेषः तावदेककालं सर्वेषामपि रागाऽऽदीनामुत्पादप्रसङ्गः । न चैककालमुत्पाद्यमाना रागाऽऽदयः संवेद्यन्ते, क्रमेण तेषां वेदनात् । न खलु रागाध्यवसायकाले द्वेषाध्यवसायो, मोहाध्यवसायो वा संवेद्यते । अथ द्वितीयः पक्षः-तत्रापि यावत् स कफाऽऽदिपरिणतिविशेषस्तावदेक एव कश्चिद्रागाऽऽदिदोषः प्राप्नोति । अथ च तदवस्था एव कफाऽऽदिपरिणतिविशेषे सर्वेऽपि दोषाः क्रमेण परावृत्त्योपजायमाना उपलभ्यन्ते । अथादृश्यमान एव केवलकार्यविशेषदर्शनादनुमीयमानसत्ताकस्तदा तदा तत्तद्रागाऽऽदिदोषहेतुः कफाऽऽदिपरिणतिविशेषो जायते, तेन न पूर्वोक्तदोषावकाशः। ननु यदि स परिणतिविशेषः सर्वथाऽननुभूयमानस्वरूपोऽपि परिकल्प्यते, तर्हि कर्मैव किं नाभ्युपगम्यते?। एवं हि लोकशास्त्रमार्गोऽप्याराधितो भवति। अपि च-स कफाऽऽदिपरिणतिविशेषः कुतस्तदा तदाऽन्यान्यरूपेणोपजायते?, इति वक्तव्यम् । देहादिति चेत्, ननु तदवस्थेऽपि देहे भवद्भिः कार्यविशेषदर्शनतस्तस्यान्यथाभवनमिष्यते, तत्कथं तद्देहनिमित्तम्? नहि यदविशेषेऽपि यद्विक्रियते स विकारस्तद्धेतुक इति वक्तुं शक्यम् । नाप्यन्यो हेतुरुपलभ्यते, तस्मात्तदप्यन्यथाभवनं कर्महेतुकमेष्टव्यम् । तथा च सति कर्मैवैकमभ्युपगम्यतां, किमन्तर्गडुना तद्धेतुतया कफाऽऽदिपरिणतिविशेषाभ्युपगमेन?। किञ्च-अभ्यासजनितप्रसराः प्रायो रागाऽऽदयः । तथाहि-यथा यथा रागाऽऽदयः सेव्यन्ते तथा तथाऽभिवृद्धिरेव तेषामुपजायते, न प्रहाणिः । तेन समानेऽपि कफाऽऽदिपरिणतिविशेषे तदवस्थेऽपि च देहे यस्येह जन्मनि परत्र वा यस्मिन् दोषेऽभ्यासः स तस्य प्राचुर्येण प्रवर्तते, शेषस्तु मन्दतया, ततोऽभ्याससंपाद्यकर्मोपचयहेतुका एव रागाऽऽदयो, न कफाऽऽदिहेतुका इति प्रतिपत्तव्यम् । अन्यच्च-यदि कफहेतुको रागः स्यात्, ततः कफवृद्धौ रागवृद्धिः स्यात्, पित्तप्रकर्षे तापप्रकर्षवत्, न च भवति; तदुत्कर्षोत्थपीडाबाधिततया द्वेषस्यैव दर्शनात् । अथ पक्षान्तरं गृह्णीथाः-यदुत न कफहेतुको रागः, किन्तु कफाऽऽदिदोषसाम्यहेतुकः । तथाहि-कफाऽऽदिदोषसाम्ये विरुद्धव्याध्यभावतो रागोद्भवो दृश्यत इति । तदपि न समीचीनम् । व्यभिचारदर्शनात् न हि यावत् कफाऽऽदिदोषसाम्यं तावत् सर्वदैव रागोद्भवोऽनुभूयते, द्वेषाऽद्युद्भवस्यानुभवात् । न च यद्भावेऽपि यन्न भवति तत् तद्धेतुकं सचेतसा वक्तुं शक्यम् । अपि च-एवमभ्युपगमे ये विषमदोषास्ते रागिणो न प्राप्नुवन्ति, अथ च तेऽपि रागिणो दृश्यन्ते, स्यादेतत्, अलं वैस्तर्यात् । तस्मं निर्वाच्यम्-शुक्रोपचयहेतुको रागो नान्यहेतुक इति । तदपि न युक्तम् । एवं ह्यत्यन्तस्त्रीसेवापरतया शुक्रक्षयतः क्षरत्क्षतजानां रागिता न स्यात्। अथ वा-एतेऽपि तस्यामवस्थायां निकामं रागिणो दृश्यन्ते । किं च-यदि शुक्रस्य रागहेतुता, तर्हि तस्य सर्वस्त्रीषु साधारणत्वात् नैकस्त्रीनियतो रागः कस्यापि भवेत्, दृश्यते च कस्याप्येकस्त्रीनियतो रागः। अथोच्येत-रूपातिशयलुब्धस्तस्यामेव रूपवत्यामभिरज्यते, न योषिदन्तरे । उक्तं च—

"रूपातिशयपाशेन वशीकृतमानसाः । स्वां योषितं परित्यज्य, रमन्ते योषिदन्तरे ॥१॥"

इति । तदपि न मनोरमम् । रूपरहितायामपि क्वापि रागदर्शनात् । अथ तत्रोपचारविशेषः समीचीनो भविष्यति, तेन तत्राभिरज्यते । उपचारोऽपि च रागहेतुर्न रूपमेव केवलम्, तेनायमदोष इति । तदपि व्यभिचारि । द्वयेनापि विमुक्तायां क्वचिद् रागदर्शनात् । तस्मादभ्यासजनितोपचयपरिपाकं कर्मैव विचित्रस्वभावतया तदा तदा तत्तत्कारणापेक्षं तत्र तत्र रागाऽऽदिहेतुरिति कर्महेतुका रागाऽऽदयः। एतेन यदपि कश्चिदाह-पृथिव्यादिभूतानां धर्मा एते रागाऽऽदयः। तथाहि-पृथिव्यम्बुभूयस्त्वे रागः, तेजोवायुभूयस्त्वे द्वेषः, जलवायुभूयस्त्वे मोह इति । तदपि निराकृतमवसेयम्, व्यभिचारात्। तथाहि-यस्यामेवावस्थायां द्वेषो मोहोऽपि तस्यामेव दृश्यते, तत एतदपि यत्किञ्चित्। तस्मात् कर्महेतुका रागाऽऽदयः। ततः कर्मनिवृत्तौ निवर्तन्ते । प्रयोगश्चात्र-ये सहकारिसंपाद्या यदुपधानादपकर्षिणस्ते तदत्यन्तवृद्धौ निरन्वयविनाशधर्माणो, यथा रोमहर्षाऽऽदयो वह्निवृद्धौ, भावनोपधानादपकर्षिणश्च सहकारिकर्मसंपाद्या रागाऽऽदय इति । यदपि प्रागुपन्यस्तं प्रमाणम्-यदनादिमद् न तद्विनाशमाविशति, यथाऽऽकाशम् । तदप्यप्रमाणम् । हेतोरनैकान्तिकत्वात्-प्रागभावेन व्यभिचारात् । तथाहि-प्रागभावोऽनादिमानपि विनाशमाविशति, अन्यथा कार्यानुत्पत्तेः । भावनाऽधिकारी च सम्यग्दर्शनाऽऽदिरत्नत्रय-

संपत्समन्वितो वन्दितव्यः, इतरस्य तदनुरूपानुष्ठानप्रवृत्त्यभावेन तस्य मिथ्यारूपत्वात्। आह च-' नाणी तवम्मि निरओ, चारित्ती भावणाइजोगे ' त्ति । सा च रागाऽऽदिदोषनिदानस्वरूपविषयफलगोचरा यथाऽऽगममवमन्तव्या-

' जं कुच्छियाणुओगो, पयइविसुद्धस्स होइ जीवस्स ।
एएसि भो नियाणं, बुहाण न य सुंदरं एयं ॥ १ ॥
रूवं पि संकिलेसो-ऽभिस्संगा पीइमाइ लिंगो उ ।
परमसुहपच्चणीओ, एअं पि असोहणं चेव ॥ २ ॥
विसओ य भंगुरो खलु, गुणरहिओ तह तहारूवो ।
संपत्तिनिप्फलो क-यलं तु मूलं अणत्थाणं ॥ ३ ॥
जम्मजरामरणाई, विचित्तरूवो फलं तु संसारो ।
बहुजणनिव्वेयकरो, एसो वि तहाविहो चेव ॥ ४ ॥" इति ।

अपि च-सूत्रानुसारेण ज्ञानाऽऽदिषु यो नैरन्तर्येणाभ्यासस्तद्रूपाऽपि भावना वन्दितव्या, तस्या अपि रागाऽऽदिप्रतिपक्षत्वात्। न हि तत्त्ववृत्त्या सम्यग्ज्ञानाऽऽद्यभ्यासे व्यापृतमनस्कस्य स्त्रीशरीररामणीयकाऽऽदिविषये चेतः प्रवृत्तिमातनोति, तथाऽनुपलम्भात् * । एतेन सिद्धं रागाऽऽदिविरहवत्त्वं तीर्थकृतां भगवताम् । अत एव रागद्वेषाऽऽदिशत्रून् जयन्त्यभिभवन्तीति तीर्थकृत्पर्यायस्य जिनशब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं, प्रवृत्तिनिमित्तं च भावयन्ति भावुकाः। सिद्धे च तस्मिन् रागाऽऽद्यभावेऽनृतभाषणकारणाभावात् समुपादेयवचनताऽनिर्वचनीयतामावहत्येव जिनवरस्य । उक्तं च-

"रागाद् वा द्वेषाद् वा, मोहाद् वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् ।
यस्य तु नैते दोषा-स्तस्याऽनृतकारणं किं स्यात् ? ॥ १ ॥ "

किञ्च-"अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा ।
जियरागदोसमोहा, य नऽण्णहावाइणो तेणं ॥ ५० ॥ " इति

सिद्धं पराभिसंधानविमुक्तत्वेन जिनवचनस्य विविश्वस्तसन्निनत्वम्। * । अस्तु तावत् तीर्थकृतां जितरागद्वेषत्वं तथाऽपि मिथ्यादर्शनसमूहमयत्वाद् जिनवचनस्य कथं प्रामाण्यमङ्गीकरणीयम् ?। जिनवचनस्य मिथ्यात्विदर्शनसमूहरूपत्वं तु श्रीसिद्धसेनदिवाकरोऽप्यभ्युपगच्छति । तथाहि-

"भद्दं मिच्छादंसण-समूहमइयस्स अमयसारस्स । जिणवयणस्स भगवओ, संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥ ६९ ॥ " (सम्म० ३ काण्ड)

ततश्च यन्मिथ्यादर्शनसमूहमयं तत्कथं सम्यग्रूपतामासादयति ?, न हि विषकणिकासमूहमयस्यामृतरूपतापत्तिः प्रसिद्धा। अत्र प्रतिविधीयते-नैतद् युक्तम्। परस्परनिरपेक्षसंग्रहाऽऽदिनयरूपाऽऽपक्षसाङ्ख्याऽऽद्येकैकमिथ्यादर्शनानां परस्परसव्यपेक्षतासमासादितानेकान्तरूपाणां विषकणिकासमूहविशेषमयस्यामृतसंदोहस्येव सम्यक्त्वाऽऽपत्तेः। दृश्यन्ते हि विषाऽऽदयोऽपि भावाः परस्परसंयोगविशेषमवाप्ताः समासादितपरिणत्यन्तरा अगदरूपतामात्मसात्कुर्वाणाः, मध्वाज्यप्रभृतयस्तु विशिष्टसंयोगावाप्तद्रव्यान्तरस्वभावा मृतिप्राप्तिनिमित्तविषरूपतामासादयन्तः। न चाध्यक्षप्रसिद्धार्थस्य पर्यनुयोगविषयता, अन्यथाऽग्न्यादेरपि दाह्यदहनशक्त्यादिपर्यनुयोगाऽऽपत्तेः । अत एव निरपेक्षा नैगमाऽऽदयो दुर्नयाः, सापेक्षास्तु सुनया उच्यन्ते । अभिहितार्थसंवादि चेदं वादिवृषभस्तुतिकृत्सिद्धसेनाऽऽचार्यवचनम्-" नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥ १ ॥ " इति । अथवा साङ्ख्याऽऽदेरेकान्तवादिदर्शनसमूहमयस्य चूर्णमस्वभावस्य, मिथ्यादृष्टिपुरुषसमूहविघटनसमर्थस्य वा । यद्वा-मिथ्यादर्शनसमूहा नैगमाऽऽदयः, एकैकनैगमाऽऽदेर्नयस्य शतविधत्वात् "एक्केक्को वि सयविहो । " इत्याद्यागमप्रामाण्यात् अवयवा यस्य तन्मिथ्यादर्शनसमूहमयम् , जिनवचनस्य नैगमाऽऽदयः सापेक्षाः सप्ताऽवयवाः, तेषामप्येकैकः शतधा व्यवस्थित इत्यभिप्रायः । समूहरूपसप्तनयोदाहरणापेक्षया च सप्तभङ्गीप्रदर्शनमागमज्ञा विदधति, सामान्यविशेषाऽऽत्मकत्वात् वस्तुतत्त्वस्य, सामान्यस्यैकत्वात् , तद्विवक्षायां यदेव घटाऽऽदिद्रव्यं स्यादेकमिति प्रथमभङ्गविषयः, तदेव देशकालप्रयोजनभेदाद् नानात्वं प्रतिपद्यमानं तद्विवक्षया स्यादनेकमिति द्वितीयभङ्गविषयः, तदेवोभयाऽऽत्मकमेकेनैकशब्देन यदाऽभिधातुं न शक्यते तदा स्यादवक्तव्यमिति तृतीयभङ्गविषयः, यदेवावकाशदातृत्वेनासाधारणेनैकमाकाशं, तदेवावगाह्यावगाहकावगाहनक्रियाभेदादनेकं भवति, तद्गुणैर्विना तस्या वस्तुत्वाऽऽपत्तेः । प्रदेशभेदापेक्षयाऽपि च तदनेकम् । अन्यथा हिमवद्विन्ध्ययोरप्येकदेशताप्राप्तिः । तस्य च तथाविवक्षायां स्यादेकं चानेकं चेति चतुर्भङ्गविषयता । यदेकमाकाशं भवतः प्रसिद्धं तदेकस्मिन्नवयवे विवक्षिते एकमवयवस्यावयवान्तराद् भिन्नाभिन्नानां वाचकस्य शब्दस्याऽभावादवक्तव्यं चेति,तथा विवक्षायां स्यादेकमवक्तव्यं चेति पञ्चमभङ्गविषयः।तद् यदेवैकमाकाशं प्रसिद्धं भवतः, तदवगाह्याऽवगाहनक्रियाभेदादनेकम्, एकाऽनेकत्वप्रतिपादकशब्दाभावादवक्तव्यं चेति षष्ठभङ्गविषयः। यदेवैकमाकाशाऽऽत्मकतयाऽऽकाशं भवतः प्रसिद्धं,तदेव तथैकमवगाह्यावगाहनक्रियाऽपेक्षयाऽनेकं युगपत्प्रतिपादनापेक्षयाऽवक्तव्यं चेति स्यादेकमनेकमवक्तव्यं चेति सप्तमभङ्गविषयः। एवं स्यात् सर्वगतः स्यादसर्वगतो घटाऽऽदिरित्यादिकाऽपि सप्तभङ्गी वक्तव्या*।एतेन मिथ्यादर्शनसमूहमयत्वेऽपि जिनवचनस्य,विषकणिकासमूह-विशेषमयस्यामृतसारवदुपादेयत्वमविरुद्धम्। विशेषविस्तरस्तु 'जिणवयण' शब्दे १५०३ पृष्ठादारभ्य १५०५ पृष्ठपर्यन्तं विपश्चिद्भिरवलोकनीयः। ततः स्थितमेतत्-

" जिणवयणकप्परुक्खो, अणेगसुत्तत्थसालविच्छिन्नो ।
तवनियमकुसुमगुच्छो, सुग्गइफलबंधणो जयइ ॥ १ ॥
सव्वे वि य सिद्धंता, सदव्वरयणासया सतेल्लोक्का ।
जिणवयणस्स भगवओ, न तुल्लमिय तं अणग्घेयं ॥ २ ॥ "

" जयति जगदेकमङ्गल-मपहतनिःशेषदुरितघनतिमिरम् ।
रविबिम्बमिव यथास्थित-वस्तुविकाशं जिनेशवचः ॥१॥ "

" नर-नरग तिरिय-सुरगण-संसारियसव्वदुक्खरोगाणं ।
जिणवयणमेगमोसह-मपवग्गसुहक्खयं फलयं ॥ १ ॥
जिणवयणमोयगस्स य, रत्तिं च दिवा य खज्जमाणस्स ।
तित्ति बुहो न गच्छइ, हेउसहस्सोवगूढस्स ॥ २ ॥
जीवाइवत्थुचिंतण-कोसल्लगुणेणऽनन्नसरिसेण ।
सेसवयणेहि अजियं, जिणिंदवयणं महाविसयं ॥ ३ ॥ "

" जन्मजरामरणभयै-रभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते ।
जिनवरवचनादन्य-त्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥ १ ॥ "

तस्मात् जिनवचनरुचिनाऽविप्रतिपन्नेन भव्येन भाव्यम् ।

यतः-

" सवणकरणेसु इच्छा, होइ रुई सद्दहाणसंजुत्ता ।
एईइ विणा कत्तो, सुद्धी सम्मत्तरयणस्स ॥ १ ॥ "

ततः-

" जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करिंति भावेणं ।

अमला असंकिलिट्ठा, ते हुंति परित्तसंसारी ॥ १ ॥"

अथवा किं बहुना-

" कूरा वि सहावेणं, विसयविसवसानुगा वि होऊण ।
भावियजिणवयणमणा, तेल्लोक्कसुहावहा होंति ॥ १ ॥ "

यतः-

" सुस्सूस धम्मराओ, गुरुदेवाणं जहासमाहीए ।
वेयावच्चे नियमो, सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं ॥ १ ॥ "

एतेन तृतीयभागप्रस्तावोपन्यस्तपराभिसंधानविमुखत्वं भगवतस्तीर्थंकरस्य रागद्वेषजेतृत्वेन सर्वतोभावेन समर्थितम् । किञ्च-समवसरणाऽऽदिसमये देशनाऽवसरपर्यायेण जिनवचनेन योऽर्थः समर्थितस्तत्र विप्रतिपन्नस्य जमालेरिव दुर्गतिगमनमवश्यमेव संपद्यते।तथाहि तृतीयभागप्रस्तावे" से नूणं भंते ! चलमाणे चलिए" इत्यादि भगवत्प्ररूपितार्थवाचकं प्रश्नोत्तररूपं सूत्रमुपन्यस्तम् । तत्र विप्रतिपन्नस्य जमालेश्चरितमित्थम्-इहैव भरतक्षेत्रे कुण्डपुरं नाम नगरम्, तत्र भगवतः श्रीमन्महावीरस्य भागिनेयो जमालिर्नाम राजपुत्र आसीत्, तस्य च भार्या श्रीमन्महावीरस्य दुहिता सुदर्शना, अथ कदाचित् पञ्चशतपुरुषपरिवारो जमालिर्भगवतो महावीरस्याग्रे प्रव्रज्यां जग्राह, सुदर्शनाऽपि सहस्रस्त्रीपरिवारा तदनु प्रव्रजिता । ततश्चैकादशस्वङ्गेष्वधीतेषु जमालिना भगवान् विहारार्थमुत्कलापितः, ततो भगवता तूष्णीमास्थाय न किञ्चित् प्रत्युत्तरमदायि, ततं एवमनुत्कलितोऽपि पञ्चशतसाधुपरिवृतो निर्गतः श्रीमन्महावीरान्तिकात्, ग्रामानुग्रामं च पर्यटन् गतः श्रावस्तीनगर्याम्, तत्र च तैन्दुकाभिधानोद्याने कोष्ठकनाम्नि चैत्ये स्थितः, ततश्च तत्र तस्यान्तप्रान्ताऽऽहारैस्तीव्रो रोगाऽऽतङ्कः समुत्पन्नः, तेन च न शक्नोत्युपविष्टः स्थातुम्, ततो वभाण श्रमणान्-मत्कृते शीघ्रमेव संस्तारकमास्तृणीत, येन तत्र तिष्ठामि, ततस्तैः कर्तुमारब्धोऽसौ । बाढं च दाहज्वराभिभूतेन जमालिना पृष्टम्-संस्तृतः संस्तारको,न वेति? । साधुभिश्च संस्तृतप्रायत्वादर्धसंस्तृतेऽपि प्रोक्तम्-संस्तृत इति । ततोऽसौ वेदनाविह्वलितचेता उत्थाय तत्र निषण्णुरर्द्धसंस्तृतं तद् दृष्ट्वा क्रुद्धः-' क्रियमाणं कृतम् । ' इत्यादिसिद्धान्तवचनं स्मृत्वा मिथ्यात्वमोहनीयोदयतो वक्ष्यमाणयुक्तिभिर्वितथमिति चिन्तयामास । ततः स्थविरैर्वक्ष्यमाणाभिरेव युक्तिभिः प्रतिबोधितो यदा कथमपि न प्रतिबुद्ध्यते, तदा गतास्तं परित्यज्य भगवत्समीपं, अन्ये तु तत्समीपमेव स्थिताः । सुदर्शनाऽपि तदा तत्रैव श्रावकढङ्ककुम्भकारगृहे आसीत् । जमाल्यनुरागेण च तन्मतमेव प्रपन्ना, ढङ्कमपि तद् ग्राहयितुं प्रवृत्ता । ततो ढङ्केन मिथ्यात्वमुपगतेयमिति ज्ञात्वा प्रोक्तम्-नेदृशं वयं किमपि जानीमः, अन्यदा च पाकाग्निमध्ये मृद्भाजनोद्वर्तनपरावर्तनं कुर्वताऽङ्गारकमेकं प्रक्षिप्य तत्रैव प्रदेशे स्वाध्यायं कुर्वत्याः सुदर्शनायाः संघाट्येकदेशो दग्धः। ततस्तया प्रोक्तम्-श्रावक ! किं त्वया मदीयसंघाटी दग्धा ? । तेनोक्तम्-ननु ' दह्यमानमदग्धं, भवति, इति भवत्याः सिद्धान्तः, ततः केन त्वदीया संघाटी दग्धा ? । इत्यादि तदुक्तं परिभाव्य संबुद्धाऽसौ सम्यक्प्रतिपन्नाऽसीत्यभिधाय मिथ्यादुष्कृतं ददाति, जमालिं च गत्वा प्रज्ञापयति । यदा चासौ कथमपि न प्रज्ञाप्यते, तदाऽसौ सपरिवारा, शेषसाधवश्चैकाकिनं जमालिं मुक्त्वा भगवत्समीपं जग्मुः, जमालिस्तु बहुजनं व्युद्ग्राह्य अनालोचितप्रतिक्रान्तः कालमासे कालं कृत्वा किल्बिषिकदेवेषूत्पन्नः । एतच्च चरितं विस्तरतः प्रज्ञापनासूत्रादवसेयम् । अथ जमालेर्विप्रतिपत्तिरुद्भाव्यते-सर्वमपि वस्तु क्रियमाणं कृतं न भवति, किन्तु कृतमेव कृतमुच्यते, ततो भगवत्यादौ यदुक्तम्-" चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए, वेइज्जमाणे वेइए ।" इत्यादि, तत्सर्वं मिथ्या । किञ्च-यस्य क्रियमाणं वस्तु कृतमित्यभ्युपगमः, तेनेह विद्यमानस्य करणरूपाः क्रिया अङ्गीकृताः, तथा च सति बहूनां दोषाणां प्रतिपत्तिर्भवति । तथाहि-इह क्रियमाणं कृतं न भवतीति प्रतिज्ञा कृतस्य विद्यमानत्वादिति हेतुः, चिरन्तनघटवदिति दृष्टान्तः । अथ कृतमपि क्रियत इत्यभ्युपगम्यते, तर्हि नित्यमनवरतमेव क्रियताम्, कृतकृत्वाविशेषात्, एवं च सति न कदाचिदपि कार्यक्रियापरिसमाप्तिरिति । यदि च क्रियमाणं कृतमिष्यते, तर्हि घटाऽऽदिकार्यार्थं या मृन्मर्दनचक्रभ्रमणाऽऽदिका क्रिया, तस्या वैफल्यं प्राप्नोति, तत्काले कार्यस्य कृतत्वाभ्युपगमात् । तथा च प्रयोगः-इह यत्कृतं तत्क्रिया विफलैव, यथा चिरनिष्पन्नघटे, कृतं चाभ्युपगम्यते क्रियाकाले कार्यं, ततो विफला तत्र क्रियेति । किञ्च क्रियमाणकृतवादिना कृतस्य (विद्यमानस्य) क्रियेति प्रतिपादितं भवति, एवं च प्रत्यक्षविरोधः, यस्मादुत्पत्तिकालात् पूर्वमविद्यमानमेव कार्यं जायमानं दृश्यते, उत्पत्तिकाले तस्मात् क्रियमाणमकृतमेवेति । किञ्च आरम्भक्रियासमय एव कार्यमुत्पद्यत इति तवाभ्युपगमः । एतच्चायुक्तम् । यस्माद् घटाऽऽदिकार्याणामुत्पद्यमानानां दीर्घ एव निर्वर्तनक्रियाकालो दृश्यत इति। ननु दृश्यतां नाम दीर्घः क्रियाकालः, परं घटाऽऽदिकार्यमारम्भक्रियासमय एव, शिवकाऽऽदिकाले वा दृश्यत इति चेत्, तदयुक्तम् । यतो नाऽऽरम्भक्रियासमय एव घटाऽऽदिकार्यं भवद् दृश्यते, नाऽपि शिवकस्थासककोशकुशूलाऽऽदिसमयेष्वपि दृश्यते, किन्तु दीर्घक्रियाकालस्यान्ते घटाऽऽदिकार्यं भवद् दृश्यते, तस्मान्न क्रियाकाले कार्यं युक्तं, तस्य तदानीमदर्शनात् । दीर्घक्रियाकालस्यान्ते तु युक्तं कार्यम्, तदानीमेव तस्य दर्शनादिति सकलजनस्य प्रत्यक्षसिद्धमेवेदम् * । तदा जमालेरेवमाचक्षाणस्य अन्येके निर्ग्रन्था एतमर्थं श्रद्दधति, अन्येके न श्रद्दधति, तत्र ये न श्रद्दधति, त एवमाहुः-भगवन् ! भवतोऽयमाशयः-" यथा घटः पटो नैव, पटो वा न घटो यथा । क्रियमाणं कृतं नैव, कृतं न क्रियमाणकम् ॥१॥ " प्रयोगश्च-यौ निश्चितभेदौ, न तयोरैक्यम्, यथा घटपटयोः,निश्चितभेदं च कृतक्रियमाणके । अत्र चाऽसिद्धो हेतुः। तथाहि-कृतक्रियमाणे किमेकान्तेन निश्चितभेदे, अथ कथञ्चित् ? । यद्येकान्तेन, तत्किं तदेकस्य सतोऽपि करणप्रसङ्गतः, उत क्रियाऽनुपरमप्राप्तेः, आहोस्वित् प्रथमाऽऽदिसमयेष्वपि कार्योपलम्भप्रसङ्गतः,अथ क्रियावैफल्याऽऽपत्तितो दीर्घक्रियाकालदर्शनानुपपत्तेर्वा ? । तत्र न तावत् सतोऽपि करणप्रसङ्ग इति युक्तम् । असत्करणे हि खपुष्पाऽऽदेरेव करणमापद्यत इति कथञ्चित् सत एव करणमस्माभिरभ्युपगतम्,न चाभ्युपगतार्थस्य प्रसञ्जनं प्रयुज्यते ॥ नाऽपि क्रियाऽनुपरमप्राप्तिः, यत इह क्रिया किमेकार्थविषया,भिन्नार्थविषया वा ?। यद्येकार्थविषया,न दोषः। तथाहि-यदि कृतं क्रियमाणमुच्यते तदा तस्मिन्नेव निष्पन्नमेव कृतमिति, तथापि क्रियमाणतायां क्रियाऽनुपरमप्राप्तिलक्ष-

णो दोषः स्यात् । न तु क्रियमाणं कृतमिति,तथोक्तौ च तत्र क्रियाविशसमय एव कृतत्वाभिधानात् । उक्तं हि-क्रियाकालनिष्ठाकालयोरैक्यमिति । अथैवमपि कृतक्रियमाणयोरैक्ये कृतस्य सत्त्वात् सतोऽपि करणे तदवस्थप्रसङ्गः स्यात् , न तु क्रियासमकालसत्त्वाऽसत्त्वाः । अथ भिन्नविषया क्रिया, तदा सिद्धसाधनम् । प्रतिसमयमन्यान्यकारणतया वस्तुनोऽभ्युपगमेनैव भिन्नविषयक्रियाऽनुपरमस्यास्माकं सिद्धत्वात् । अथ प्रथमाऽऽदिसमयेष्वपि कार्योपलम्भप्रसङ्गकारिति पक्षे क्रियमाणस्य हि कृतत्वप्रथमाऽऽदिसमयेष्वपि सत्त्वादुपलम्भः प्रसज्यत इति । तदपि न । तदा हि शिवकाऽऽदीनामेव क्रियमाणता, ते चोपलभ्यन्त एव । उक्तं च विशेषाऽऽवश्यके-"आरंभे च्चिय,कह दीसउ जह घडो पडाऽऽरंभे । सिवगाऽऽदयो न कुंभो, किह दीसउ सो तदद्धाए ? ॥ २३१६ ॥" घटगताभिलाषतया च मूढः शिवकाऽऽदिकरणेऽपि घटमहं करोमीति मन्यते । तथा चाऽऽह-"पइसमयकज्जकोडी-निरवेक्खो घडगयाभिलासोऽसि । पइसमयकज्जकालं, थूलमई ! घडम्मि लाएसि ॥२३१८॥" नापि क्रियावैफल्याऽऽपत्तितः, यतः प्रागवाप्तसत्ताकस्य करणे क्रियावैफल्यं स्यात् ,न तु क्रियमाणकृतत्वे, तत्र हि क्रियमाणं क्रियाऽपवर्गमिति तस्याः साफल्यमेव, अनेकान्तवादिनां च कथञ्चिद्रूपेण प्राक् सत्त्वेऽपि रूपान्तरेण करणं न दोषाय । दीर्घक्रियाकालदर्शनानुपपत्तिरित्यपि न युक्तम् ; यतः शिवकाऽऽद्युत्तरोत्तरपरिमाणविशेषविषय एव दीर्घक्रियाकालोपलम्भो, न तु घटक्रियाविषयः । उक्तं हि-" पइसमयउप्पण्णाणं,परोप्परविलक्खणाण सुबहूणं । दीहो किरियाकालो,जइ दीसइ किं च कुंभस्स ॥ २३१५ ॥ " अथ कथञ्चिद्भिन्नभेदे कृतक्रियमाणे, तत्तीर्थकृदुक्तमेव, निश्चयव्यवहारानुगतत्वात् तद्वचसः, तत्र च निश्चयनयाऽऽश्रयेण कृतक्रियमाणयोरभेदः । यदुक्तम्-" क्रियमाणं कृतं दग्धं, दह्यमानं स्थितं गतम् । तिष्ठच्च गम्यमानं च, निष्ठितत्वात् प्रतिक्षणम् ॥ १ ॥ " व्यवहारनयमते तु नानात्वमप्यनयोः, तथा च क्रियमाणं कृतमेव, कृतं तु क्रियमाणमेव स्यात् , क्रियमाणं क्रियाविशसमये, क्रियोपरमे पुनरक्रियमाणमिति । उक्तं च-" तेणेह कज्जमाणं, नियमेण कयं कयं तु भयणिज्जं । किञ्चिदिह कज्जमाणं, उवरयकिरियं च होज्जाहि ॥२३२०॥" किञ्च-भवतो मतिः-क्रियाऽन्त्यसमय एवाभिमतकार्यभवनं, तथापि प्रथमसमयादारभ्य कार्यस्य कियत्यपि निष्पत्तिरेष्टव्या,अन्यथा कथमकस्मादन्त्यसमये सा भवेत् ? ।

उक्तं च-

" आद्यतन्तुप्रवेशे च, नोतं किञ्चिद् यदा पटे ।
अन्त्यतन्तुप्रवेशे च, नोतं स्याच्च पटोदयः ॥ १ ॥
तस्माद् यदि द्वितीयाऽऽदि-तन्तुयोगात् प्रतिक्षणम् ।
किञ्चित् किञ्चिदुतं तस्य, यदुतं तदुतं हि तत् ॥ २ ॥ "

इह प्रयोगः-यद् यस्याः क्रियाया आद्यसमये न भवति,तत्तस्या अन्त्यसमयेऽपि न भावि, यथा घटक्रियाऽऽदिसमयेऽभवन् पटो, न भवति च कृतक्रियमाणयोर्भेदे क्रियाऽऽदिसमये कार्यम् , अन्यथा घटान्त्यसमयेऽपि पटोत्पत्तिः स्यात् । एवं च-" यथा वृक्षो धवश्चेति, न विरुद्धं मिथो द्वयम् । क्रियमाणं कृतं चेति, न विरुद्धं तथोभयम् ॥ २ ॥ " प्रयोगश्च-यद् येनाविनाभूतं,न तदेकान्तेन भिद्यते,यथा वृक्षत्वाद् धवत्वम् , कृतत्वाविनाभूतं च क्रियमाणत्वमिति, सकललोकप्रसिद्धत्वाच्च भेदस्य घटपटयोस्तदाश्रयणेनैवमुक्तं संस्तारकाऽऽदावपि योज्यम् । तत्प्रतिपद्यस्व भगवन् ! "चलमाणे चलिए ।" इत्यादि तीर्थकृतां वाक्यममवितथमिति । स चैवमुच्यमानोऽपि न प्रतिपन्नवान्;* किन्तु पूर्वोक्तयुक्तिभिः संबुद्धाः शेषसाधव एकाकिनं जमालिं मुक्त्वा गता जिनसमीपम् । जमाली तु (महावीरजिननिह्नवरूपः) कालमासे कालं कृत्वा लान्तक कल्पे त्रयोदशसागरोपमस्थितिकेषु किल्बिषिकेषु देवेषु देवत्वेनोत्पन्नः, तस्य पञ्चदश भवाः सन्ति । तस्माच्च जिनवचनेषु कदाचनापि संशयितव्यमिति चतुरस्रम् । विस्तरतो दर्शनेच्छुभिः 'जमालि' शब्दे १४०१ पृष्ठादारभ्य १४१३ पृष्ठपर्यन्तं विलोकनीयम् । * जमालिभवप्रसङ्गानुप्रसङ्गाद् जिज्ञासोत्पद्यते-केन प्रकारेण जन्म जीवानां जायते ? । * अत्राऽऽह-स्त्रीपुंसयोर्वेदोदये सति पूर्वकर्मनिर्वर्तितायां योनौ मैथुनप्रत्ययिको रताभिलाषोदयजनितोऽग्निकारणयोररणिकाष्ठयोरिव संयोगः समुत्पद्यते, तत्संयोगे च तच्छुक्रशोणिते समुपादाय तत्रोत्पित्सवो जन्तवस्तैजसकार्मणाभ्यां कर्मरज्जुसंदानितास्तत्रोत्पद्यन्ते । ते च प्रथममुभयोरपि स्नेहमाचिन्वन्त्यविध्वस्तायां योनौ सत्यामिति,विध्वस्यते तु योनिः-'पञ्चपञ्चाशिकानारी सप्तसप्ततिः पुरुष इति । ' तथा द्वादश मुहूर्तानि यावत् शुक्रशोणिते अविध्वस्तयोनिके भवतः, तत ऊर्ध्वं ध्वंसमुपगच्छत इति । तत्र जीवा उभयोरपि स्नेहमाहार्य स्वकर्मविपाकेन यथास्वं स्त्रीपुंनपुंसकभावेन समुत्पद्यन्ते तदुत्तरं स्त्रीकुक्षौ प्रविष्टाः सन्तः स्त्रियाऽऽहारितस्याऽऽहारस्य निर्यासं स्नेहमाददति तदुभयेन च तेषां जन्तूनां कर्मोपचयाऽऽदानेन क्रमेण निष्पत्तिरुपजायते । " सत्ताहं कललं होइ, सत्ताहं होइ बुब्बुयं । " इत्यादि । तदेवमनेन क्रमेण तदेकदेशेन वा मातुराहारमोजसा मिश्रेण वा लोमभिर्वाऽऽनुपूर्व्येणाऽऽहारयन्ति, यथाक्रममानुपूर्व्येण वृद्धिमुपगताः सन्तो गर्भपरिपाकमुपपन्नाः, ततो मातुः कायादभिनिवर्तमानाः पृथग् भवन्तः सन्तस्तद्योनेर्निर्गच्छन्ति, ते च तथाविधकर्मोदयादात्मनः स्त्रीपुंनपुंसकभावं जनयन्ति । तथोक्तम्-" अज्ञानपांशुपिहितं, पुरातनं कर्मबीजमविनाशि । तृष्णाजलाभिषिक्तं, मुञ्चति जन्माङ्कुरं जन्तोः ॥ १ ॥ " इति । ' जम्म ' शब्दे विस्तरतो विवेचितमिति १४१४ पृष्ठे विलोकनीयम् । * पूर्वोक्तवचनानुरोधेन निर्धार्यतेऽयमर्थो यत् सुकृतदुष्कर्मवशादेव जन्तुरनीशो जन्मजरामरणाऽऽदिक्लेशाननुभूय पुनरपि गड्डरिकाप्रवाहन्यायेन तत्रैव निपततीति । अत एव जिनवचनाऽविश्वासरूपदुष्कृतिपरिणामतो जमालेः किल्बिषिकदेवेषूत्पत्तिर्व्यावर्णिता, भगवद्वचसि श्रद्धामादधती जयन्ती श्राविका तु सुगतिमुररीचकारेति निर्विवादम् । इत्थं च-"समस्तवस्तुविस्तारे, व्यासर्पत् तैलवज्जले । जीयात् श्रीशासनं जैनं, धीदीपाद्दीप्तिवर्धनम् ॥१॥" तस्माद् जिनवचनश्रद्धायां यतनावता भव्येन भाव्यम् । उक्तं च सैद्धान्तिकैः-

"जयणेह धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।
तव्वुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ॥ १ ॥
जयणाए वट्टमाणो, जीवो सम्मत्तनाणचरणाणं ।
सद्धाबोहाऽऽसेवण-भावेणाऽऽराहगो भणिओ ॥२॥ "

किञ्च-

"यत्नं विना धर्मविधावपीह, प्रवर्तमानोऽसुमतां विघातम् ।
करोति यस्माच्च ततो विधेयो,धर्मात्मना सर्वपदेषु यत्नः ॥१॥"

अथ (जमालिप्रसङ्गादेव) तृतीयभागस्थप्रस्तावस्य २ पृष्ठे च-

त्वायैव भूतानि तत्त्वम्, न तु तद्व्यतिरिक्तो भवान्तरानुसरणव्यसनवानात्मेति चार्वाकमतापाकरणं विधाय जीवसिद्धिरुपपादिता इह तु जीवाऽजीवाऽऽदिनवतत्त्वनिरूपणप्रवणे श्रीमदर्हत्प्रवचने तस्य जीवस्य कथञ्चिन्नित्यत्वं कथञ्चिदनित्यत्वं जमालिमभिमुखीकृत्य भगवानाह-"सासए जीवे जमाली !, जं ण कयाइ णासि० जाव णिच्चे । असासए जीवे जमाली ! जं णेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणिए भवइ, तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ मणुस्से भवित्ता देवे भवइ।" * ननु कोऽसौ जीवो जीव इति भवद्भिरुद्घुष्यते, यस्य वा सिद्धिरुपपादिता ?, इत्यत्राऽऽह-पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः । प्राणा दशैते भगवद्भिरिष्टाः, तेषां वियोगीकरणं च हिंसा ॥ १ ॥" इत्यादिवचनप्रसिद्धान् दशविधप्राणान् जीवति कोऽर्थो धरतीति शब्दार्थवशादेव जीवमत्र जीव उच्यते । तादृशः संसार्येव भवति, सिद्धस्तु जीवशब्देन न व्यपदिश्यते । तथा च नयोपदेशे-"सिद्धो न तन्मते जीवः, प्रोक्तः सत्त्वाऽऽदिसंज्ञयपि । महाभाष्ये च तत्त्वार्थ-भाष्ये धात्वर्थबाधतः ॥४०॥" एवं च सिद्धाऽसिद्धत्वेन सेन्द्रियाऽनिन्द्रियत्वेन सकायिकाऽकायिकत्वेन सयोगाऽयोगत्वेन सवेदकाऽवेदकत्वेन सकषायाऽकषायत्वेन सलेश्याऽलेश्यात्वेन ज्ञान्यज्ञानित्वेन साकारोपयुक्ताऽनाकारोपयुक्तत्वेन, आहारकाऽनाहारकत्वेन भाषकाऽभाषकत्वेन चरमाऽचरमत्वेन जीवानां द्वैविध्यम्, त्रसस्थावरनोत्रसस्थावरत्वेन परीताऽपरीतनोपरीताऽपरीतत्वेन स्त्रीपुरुषनपुंसकत्वेन सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टित्वेन पर्याप्तकाऽपर्याप्तकनोपर्याप्तकाऽपर्याप्तकत्वेन सूक्ष्मबादरनोसूक्ष्मबादरत्वेन संज्ञ्यसंज्ञिनोसंज्ञ्यसंज्ञित्वेन भवसिद्धिकाऽभवसिद्धिकनोभवसिद्धिकाऽभवसिद्धिकत्वेन जीवानां त्रैविध्यम्, नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवत्वेन मनोयोगिवचोयोगिकाययोग्ययोगित्वेन स्त्रीवेदकपुरुषवेदकनपुंसकवेदकाऽवेदकत्वेन चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनाऽवधिदर्शनकेवलदर्शनत्वेन संयताऽसंयत-संयतासंयत-नोसंयतासंयतत्वेन जीवानां चातुर्विध्यम्, एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियत्वेन नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसिद्धत्वेन क्रोधमानमायालोभकषायित्वाऽकषायित्वेन जीवानां पञ्चविधत्वम्, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकत्वेन, आभिनिबोधिकाऽऽदिपञ्चविधज्ञानित्वेन अज्ञानित्वेन च, एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियत्वेन अनिन्द्रियत्वेन च, औदारिकवैक्रियकाऽऽहारकतैजसकार्मणशरीरत्वेन अशरीरत्वेन च जीवानां षड्विधत्वम्, नैरयिकतिर्यग्योनिकत्वेन तिर्यग्योनिकत्वेन च-मनुष्यमानुषीदेवदेवीत्वेन, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकाऽकायिकत्वेन, कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्ललेश्याऽलेश्यात्वेन जीवानां सप्तविधत्वम्, प्रथमाऽप्रथमसमयनैरयिकत्वेन प्रथमाप्रथमसमयतिर्यग्योनिकत्वेन प्रथमाप्रथमसमयमनुष्यत्वेन, प्रथमाप्रथमसमयदेवत्वेन; नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसिद्धत्वेन तिर्यग्योनिकामानुषीदेवीत्वेन च जीवानामष्टविधत्वम्, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियत्वेन; अथवा-एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियनैरयिकपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिक-मनुष्यदेवसिद्धत्वेन, प्रथमाप्रथमसमयनैरयिकप्रथमाप्रथमसमयतिर्यग्योनिकप्रथमाप्रथमसमयमनुष्यप्रथमाप्रथमसमयदेवसिद्धत्वेन जीवानां नवविधत्वम्, प्रथमाप्रथमसमयैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियत्वेन, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियानिन्द्रियत्वेन, प्रथमाप्रथमसमयनैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसिद्धत्वेन जीवानां दशविधत्वम्, सूक्ष्मापर्याप्तकपर्याप्तकबादराऽपर्याप्तकपर्याप्तक-द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकाऽपर्याप्तकत्वेन जीवानां चतुर्दशविधत्वं च 'जीव' शब्दे १५२५ पृष्ठे न्यक्षेण निरूपितमिति । * किं नाम जीव इति प्रश्नस्य यद्यपि प्रकारद्वयेन लेशतो भाषितमुत्तरं तथाऽपि विशेषबुभुत्सया किञ्चिदिह प्रतायते-उपशमौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकैर्भावैः संमिश्रं द्रव्यं जीवशब्देनोच्यते । आह-औदयिकान् भावान् परित्यज्य किमितीहौपशमिकस्य भावस्य साक्षादुपादानम् ?। उच्यते इह जीवस्य स्वरूपं तदेव वक्तव्यं यदसाधारणं स्वरूपम् । एवं हि पदार्थान्तरस्वरूपेभ्यो वैविक्त्येन तत् प्रतिपादितं भवति, नान्यथा, औदयिकपारिणामिकौ च भावावजीवानामपि भवतः, अतस्तौ साक्षान्नोपात्तौ, क्षायिकोऽपि च भाव औपशमिकभावपूर्वकः, न खल्वौपशमिकभावमनासाद्य कश्चिदपि क्षायिकं भावमासादयति, क्षायोपशमिकोऽपि च भावो नौपशमिकाद् भावाद् अत्यन्तभेदी, तत इह साक्षादौपशमिकस्य भावस्योपादानमिति । ततः कस्य प्रभवः स्वामिनो जीवाः इति प्रश्नावसरे, आत्मीयस्य रूपस्योत्तरम् । तथाहि-कर्मविनिर्मुक्तस्वरूपा आत्मानो न केषामपि प्रभवः, किन्तु स्वरूपस्यैव, तथास्वाभाव्यात् । यस्तु स्वस्वामिभावः संसारे, स कर्मोपाधिजनितत्वादौपाधिकः, न पारमार्थिक इति । ननु केन निर्मिता जीवा इति प्रश्ने कृते सति समाधिः-न केनापि कृताः, किन्तु नभस्वदकृत्रिमा एव, यथा चाकृत्रिमता जीवानां तथा धर्मसंग्रहणीटीकायां सप्रपञ्चं व्याख्याता, विशेषजिज्ञासुभिस्तत एवावधार्या । * ननु किं जीवाः शरीरे लोके वाऽवतिष्ठन्ते?, इति प्रश्नस्योत्तरम्-सामान्यचिन्तायां लोके, नालोके । अलोके स्वभावत एव धर्माऽधर्मास्तिकायजीवपुद्गलानामसंभवात् । विशेषचिन्तायां शरीरे, नान्यत्र, शरीरपरमाणुभिरेव सह आत्मप्रदेशानां क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगमभावात् । उक्तं च-"अन्नोन्नमणुगयाइं, इमं च तं च त्ति विभयणमजुत्तं । जह खीरपाणियाइं" इति । सर्वकालमेव जीवा भवन्ति, अनादिनिधनाश्च जीवा इति मुक्त्यवस्थायामपि जीवा न विनश्यन्ति, किन्तु ज्ञानाऽऽदिकं स्वस्वरूपमवतिष्ठन्ते इति श्रद्धेयम् । तेन यत् कैश्चिदुक्तम्-"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥१॥ जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ २ ॥ अर्हन्मरणान्तिकस्य, प्रतिसन्धिर्न विद्यते । प्रदीपस्येव निर्वाणं, विमोक्षस्तस्य चेतसः ॥ ३ ॥" इति । तदपास्तं द्रष्टव्यम् । सतः सर्वथा विनाशाऽयोगात्, तथादर्शनादिति कृतं प्रसङ्गेन । विस्तरेच्छुभिः 'जीव' शब्दो द्रष्टव्यः । त्रिषष्ट्यधिकपञ्चशतभेदा जीवानां 'जीव' शब्दे १५३६ पृष्ठे द्रष्टव्याः । जिनवचनस्य श्रद्धाऽऽस्पदत्वादेव "चंदा चंदो अभिवड्ढिओ य चंदमभिवड्ढिओ चेव । पंचसहियं जुगमिणं, दिट्ठं तेलोक्कदंसीहिं ॥१॥ पढमबिइयाउ चंदा, तइयं अभिवड्ढियं वियाणाहि । चंदं चेव चउत्थं, पंचममभिवड्ढियं जाण ॥२॥" इति युगवचनाऽऽदि 'जुग' शब्दे १५६७ पृष्ठत आरभ्य १५७३ पृष्ठपर्यन्तं निरीक्षणीयम् । पूर्वोक्तकारणादेव ज्योतिष्काणां पञ्चविधत्वनिरूपणानन्तरं चलत्वस्थिरत्वविचारः, सर्वलोके प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चन्द्राऽऽदीनां परिमाणप्रतिपादनार्थमन्यतीर्थिकानां द्वा

दश प्रतिपत्तीः परिभाव्य भगवन्तिसद्धान्तनिरूपणम्।जम्बूद्वीपगतमनुष्यक्षेत्रस्य चन्द्रसूर्याऽऽदीनां संख्यानिर्देशः,चन्द्राऽऽदयो यत्र यथा भ्रमन्ति तन्निरूपणमित्यादि एकपञ्चाशद्विषयप्ररूपणप्रस्तावे मनुष्यक्षेत्रप्ररूपणमित्थम्-"जंबूदीवो लवणो-दही य धायईसंडे । कालोदहिपुक्खरवर-दीवद्धो माणुसं खेत्तं ॥ १ ॥ एत्थं माणुसखेत्तं, एत्थ विचारीणि जोइसगणाणि । परओ दीवसमुद्दे, अवट्ठियं जोइसं जाण ॥ २ ॥ " तत्र च-" चंदा सूरा य गहा, नक्खत्ता तारया य पंच इमे । एते चलजोइसिया, घंटायारा थिरा अवरे ॥ १४७ ॥ " तथा च-"दो चंदा दो सूरा,णक्खत्ता खलु हवंति छप्पन्ना। बावत्तरं गहसतं, जंबुद्दीवे वियारीणं ॥१॥ एगं च सयसहस्सं, तित्तीसं खलु भवे सहस्साइं । णव य सता पण्णासा, तारागणकोडिकोडीणं ॥ २ ॥" सर्वं चैतत् ' जोइसिय ' शब्दे विद्वद्भिर्विलोकनीयम् । * जिनवचनमेतत् जिनाऽऽगमे-योगादेव कर्मक्षयो भवतीति तस्य योगस्य माहात्म्यम् , तथा च योगमार्गाधिकारिणः, योगनिष्पन्नस्य चिह्नानि । तथाहि-" अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं,गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् । कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च, योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ॥१॥ " इत्यादि त्रिंशद् विषयाः "जोग" शब्दे सम्यक् प्रतिपादिताः । तथा-" गुरुभत्तो अणमत्तो, खंतो दंतो य निरुयगत्तो य । थिरचित्तो दढमत्तो, विणयजुत्तो भवविरत्तो य ॥ १ ॥ जियलोहो जियनिद्दो, हियमियभोयणपरो मिउअसत्थो । अप्पाहारो अप्पो-वही य दक्खो सुदक्खिणो ॥ २ ॥ पंचसमिओ तिगुत्तो उज्जुत्तो संजमे तवे चरणे । परमट्ठमट्ठ होइ मुणी, विसमत्थो जोगवाहि त्ति ॥३॥ कयसोहिलोयकम्मे, निवासणरिहाइएण कालेणं । आयारपकप्पाइं, जोइसिउं कप्पई जुग्गो ॥४॥ " इत्यादि तु 'जोगवाहि' शब्दे द्रष्टव्यम् । * तथा जिनोक्तं ध्यानस्वरूपं, ध्यानाऽध्यानयोर्विवेचनं, ध्यानस्यैव भेदाः, प्रशस्ताऽप्रशस्तानि ध्यानानि, ध्यानत्रयभेदाः, ध्यातुः स्वरूपं, संसारप्रतिपक्षतया मोक्षहेतुर्ध्यानं, ध्यानस्य फलानि चेत्यादि ' झाण ' शब्दे १६६१ पृष्ठत आरभ्य १६७२ पृष्ठपर्यन्तं द्रष्टव्यम् ।

तथा च-

" ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं, त्रयं यस्यैकतां गतम् ।
मुनेरनन्यचित्तस्य, तस्य दुःखं न विद्यते ॥ १ ॥
ध्याताऽन्तराऽऽत्मा ध्येयस्तु, परमाऽऽत्मा प्रकीर्तितः ।
ध्यानं चैकाग्रसंवित्तिः, समापत्तिस्तदेकता ॥ २ ॥
जितेन्द्रियस्य धीरस्य, प्रशान्तस्य स्थिराऽऽत्मनः ।
सुखाऽऽसनस्य नासाग्र-न्यस्तनेत्रस्य योगिनः ॥ ३ ॥
रुद्धबाह्यमनोवृत्ते-र्धारणाधारया रयात् ।
प्रसन्नस्याऽप्रमत्तस्य, चिदानन्दसुधालिहः ॥ ४ ॥
साम्राज्यमप्रतिद्वन्द्व-मन्तरेव वितन्वतः ।
ध्यानिनो नोपमा लोके, सदेवमनुजेऽपि हि ॥ ५ ॥ "

एतादृशध्यानाधिगहितो रागाऽऽद्युपहतचेतास्तु परमार्थमजानानोऽतत्स्वभावेऽपि तत्स्वभावाऽऽरोपणेनान्धादप्यन्धतमः कामी मोदते । तत आह-

" दृश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्यन्धः पुरोऽवस्थितं,
रागान्धस्तु यदस्ति तत् परिहरन् यन्नास्ति तत्पश्यति ।
कुन्देन्दीवरपूर्णचन्द्रकलशश्रीमल्लतापल्लवा-
नारोप्याऽशुचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते ॥ १ ॥ "

यतोऽर्हद्वचनमेवास्माकं जीवातुभूतं ततस्तदनुज्ञातं 'नवकार'-चिन्तनं विधेयम्-

" सत्त पण सत्त सत्त य, नवऽक्खरपमाणपयडपंचपयं ।
तित्तीसक्खरचूलं, सुमिरह नवकारवरमंतं ॥ १ ॥
एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥ २ ॥
अरिहंतनमुक्कारो, जीवं मोएइ भवसमुद्दाओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाय ॥ ३ ॥ "

ननु सूत्रं संक्षेपविस्तरावतिक्रम्य न वर्तते, तत्र संक्षेपवद् यथा सामायिकसूत्रम् , विस्तरवद् यथा चतुर्दश पूर्वाणि, इदं पुनर्नमस्कारसूत्रमुभयातीतं,यतोऽत्र न संक्षेपो,नाऽपि विस्तरः। यद्ययं संक्षेपः स्यात् ततस्तस्मिन् सति द्विविध एव नमस्कारो भवेत् सिद्धसाधुभ्यामिति, परिनिर्वृतार्हदादीनां सिद्धशब्देन ग्रहणात् , संसारिणां तु साधुशब्देनेति । संसारिणो हि अर्हदाचार्याऽऽदयो न साधुत्वमतिवर्तन्ते ॥ यद्यथ विस्तरः । तदप्ययुक्तम् । यतो विस्तरतोऽनेकविधो नमस्कारः प्राप्नोति । तथाहि-ऋषभाजितसंभवाऽऽदिभ्यो नामग्राहं सर्वतीर्थकरेभ्यः । तथा सिद्धेभ्योऽप्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चाऽऽदिसमयसिद्धेभ्यो यावदनन्तसमयसिद्धेभ्यः । तथा-तीर्थसिद्धप्रत्येकबुद्धाऽऽदिविशेषणविशिष्टेभ्य इत्यादिभिर्भेदैर्विस्तरतोऽनन्तभेदो नमस्कारः प्राप्नोति । यतश्चैवं तस्मादमुं पक्षद्वयमङ्गीकृत्य पञ्चविधोऽयं नमस्कारो न युज्यत इति ॥ * इह चेदं प्रतिविधानम्-न संक्षेपो नापि विस्तर इत्येतदसिद्धम् , संक्षेपत्वादस्य । किञ्च-इहार्हदादयो नियमात् साधवः, तद्गुणानामपि तत्र भावात् । साधवस्तु तेष्वर्हदादिषु विकल्पनीयाः यतस्ते न सर्वेऽप्यर्हदादयः, किं तर्हि, केचिदर्हन्तः, येषां तीर्थकरनामकर्मोदयोऽस्ति,केचित्तु सामान्यकेवलिनः,अन्ये त्वाचार्या विशिष्टसूत्रार्थदेशकाः, अपरे तूपाध्यायाः सूत्रपाठकाः, अन्ये त्वेतदविशिष्टाः सामान्यसाधव एव शिक्षकाऽऽदयो, न पुनरर्हदादयः । तदेवं साधूनामर्हदादिषु व्यभिचाराद् यन्नमस्करणेऽपि नार्हदादिनमस्कारसाध्यस्य विशिष्टस्य फलसिद्धिः । ततश्च संक्षेपेण द्विविधनमस्करणमयुक्तमेव, अव्यापकत्वादिति । तस्मात् संक्षेपतोऽपि पञ्चविध एव नमस्कारो, न तु द्विविधः, अव्यापकत्वात् । विस्तरतस्तु नमस्कारो न विधीयते,अशक्यत्वात् । * ननु जिनवचनस्य मिथ्यादर्शनसमूहमयत्वेऽपि प्रामाण्यमभ्युपगच्छद्भिर्नयनिकुरम्बोपन्यासः कृतस्तत्र किं नाम नयत्वम् ? । उच्यते-बहुधा वस्तुनः पर्यायाणां संभवाद् विवक्षितपर्यायेण यन्नयनमधिगमनं परिच्छेदोऽसौ नयो नाम । तथाहि-इह हि जिनमते सर्वं वस्त्वनन्तधर्माऽऽत्मकतया संकीर्णस्वभावमिति तत्परिच्छेदकेन प्रमाणेनापि तथैव भवितव्यमित्यसंकीर्णप्रतिनियतधर्मप्रकारकव्यवहारसिद्धये नयानामेव सामर्थ्यम् । तदुक्तम्-

" निःशेषांशजुषां प्रमाणविषयीभूयं समासेदुषां,
वस्तूनां नियतांशकल्पनपराः सप्त श्रुताऽऽसङ्गिनः ।
औदासीन्यपरायणास्तदपरे चांशे भवेयुर्नया-
श्चेदेकान्तकलङ्कपङ्ककलुषास्ते स्युस्तदा दुर्नयाः ॥ १ ॥ "

नयोपपत्त्यादयस्तु 'णय' शब्दे १८५३ पृष्ठत आरभ्य १९०१ पृष्ठपर्यन्तं विस्तरतो निरूपिताः । ननु यदुक्तं जिनवचनमनाचरतो नियमाद् निरयाऽऽदिषु पातो भवति, तत्र कीदृशी यातनाऽनुभू-

यते प्राणिना ?। उच्यते-दुःसहे तीव्रे खदिराङ्गारमहाराशितापादनन्तगुणेऽभितापे बहुवेदनेऽपरित्यक्तविषयाभिष्वङ्गा जिनवचनानादरपराः स्वकृतकर्मगुरवः पतन्ति निरयाऽऽदिषु, तत्र च नानारूपा वेदनाः समनुभवन्ति ।

तथा चोक्तम्—

" गिद्धमुहणिद्धउक्किस-सबंधणोम्मुक्कंधरकबंधे ।
दढगाहियतत्तसंडा-सयग्गविसमुक्खुडियजीहे ॥ १ ॥
तिक्खंकुसग्गकड्ढिय-कंटयरुक्खग्गजज्जरसरीरे ।
निमिसंतरं पि दुल्लह-सुक्खेऽवक्खेवदुक्खम्मि ॥ २ ॥
बहुंधयारदुग्गं-घबंधणायारदुक्करकिलेसे ।
भिन्नकरचरणसंकर-रुहिरवसादुग्गमप्पवहे ॥ ३ ॥
सुक्कंदकडाहु-कढंतदुक्कयकयंतकम्मंते ।
मूलाविभिन्नुक्खित्त-छेदहणिसंतपब्भारे ॥ ४ ॥
अंतेऽमरभिजंतु-च्छलंतसंसद्दभरियदिसिविवरे ।
मज्जंतुप्फिडियसमु-च्छलंतसीसट्ठिसंघाए ॥ ५ ॥
इय भीसणम्मि निरए, पडंति जे विविहसत्तवहनिरया ।
सच्चब्भट्ठा य नरा, जयम्मि कयपावसंघाया ॥ ६ ॥ "

इत्थं च बहवोऽपि विषया नरकसंबन्धिनः 'णरग' शब्दे विषयसूच्यां १६२५ पृष्ठे विभावनीयाः । प्रत्यक्षपरोक्षत्वेन ज्ञानस्य द्वैविध्यम्, केवल-नोकेवलज्ञानत्वेन प्रत्यक्षस्याऽपि द्वैविध्यम, अवधिमनःपर्यवज्ञानत्वेन केवलज्ञानस्यापि द्वैविध्यम्, परोक्षज्ञानस्य तु आभिनिबोधिकश्रुतज्ञानत्वेन द्वैविध्यम् । ननु यदि चैतन्यं ज्ञानमात्मनोऽत्यन्तव्यतिरिक्तम्, तदा कथमात्मनः संबन्धि ज्ञानमिति व्यपदेशः ?, यद्यात्मनो ज्ञानाद्व्यतिरिक्तत्वमिष्यते, तदा दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावाद् बुद्ध्यादीनां नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदावसरे आत्मनोऽप्युच्छेदः स्यात्, तदव्यतिरिक्तत्वात्; अतो भिन्नाऽभिन्नमेवाऽऽत्मनो ज्ञानं यौक्तिकमिति । प्रपञ्चितं चैतत् 'णाण' शब्दे १६५८ पृष्ठे न्यक्षेण परतीर्थिकमतोपन्यासनिरसनाभ्याम् ।

ज्ञानाऽज्ञानाभ्यां यद् भवति तदाह-

" मज्जत्यज्ञः किलाऽज्ञाने, विष्ठायामिव शूकरः ।
ज्ञानी निमज्जति ज्ञाने, मराल इव मानसे ॥ १ ॥
निर्वाणपदमप्येकं, भाव्यते यद् मुहुर्मुहुः ।
तदेव ज्ञानमुत्कृष्टं, निर्बन्धो नास्ति भूयसा ॥ २ ॥
स्वभावलाभसंस्कार-स्मरणं ज्ञानमिष्यते ।
ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्यत्, तथा चोक्तं महात्मना ॥ ३ ॥
वादाँश्च प्रतिवादाँश्च, वदन्तोऽनिश्चिताँस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद् गतौ ॥ ४ ॥
अस्ति चेद् ग्रन्थिभिद् ज्ञानं, किं चित्रैस्तन्त्रयन्त्रणैः ।
प्रदीपाः क्वोपयुज्यन्ते, तमोघ्नी दृष्टिरेव चेत् ॥ ५ ॥
पीयूषमसमुद्रोत्थं, रसायनमनौषधम् ।
अनन्यापेक्षमैश्वर्यं, ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥ ६ ॥
" जो विणओ तं नाणं, जं नाणं सो अ वुच्चई विणओ ।
विणएण लहइ नाणं, नाणेण वि जाणई विणयं ॥ ७ ॥ "
" क्रियामयः क्रियां ब्रूते, ज्ञानं ज्ञाननयः पुनः ।
मोक्षस्य कारणं तत्र, भूयस्यो युक्तयो द्वयोः ॥ ८ ॥
नित्यनैमित्तिकैरेव, कुर्वाणो दुरितक्षयम् ।
ज्ञानं च विमलीकुर्व-न्नभ्यासेन तु पाचयेत् ॥ ९ ॥
अभ्यासात् पक्वविज्ञानः, कैवल्यं लभते नरः ॥ "

" नाणी गिण्हइ नाणं, मुणेइ नाणेण कुणइ किच्चाइं ।
भवसंसारसमुद्दं, नाणी नाणट्ठिओ तरति ॥ १ ॥ "
"तम्हा न धम्मकरणं, मज्झ पमाणं न याऽवि चारित्तं ।
नाणं मज्झ पमाणं, नाणे च ठियं जओ तित्थं ॥ १ ॥ "

परन्तु ज्ञानिनाऽपि चरणवता भाव्यम्-

" आणंतो वि अ तरिउं, काइयजोगं न जुंजई जोगं ।
सो बुड्डइ सोएणं, एवं नाणी चरणहीणो ॥ १ ॥ "

ननु तत्र तत्र जिनवचने निगोदजीवानां चर्चा कृताऽस्तीति के ते निगोदजीवाः ?,

उच्यते-

" अह अयगोलो धंतो, जाओ तत्ततवणिज्जसंकासो ।
सव्वो अगणिपरिणओ, णिगोयजीवे तहा जाण ॥ १९ ॥
एगस्स दोण्ह तिण्ह व, संखेज्जाणं व पासिउं सक्का ।
दीसंति सरीराइं, णिगोयजीवाणऽणंताणं ॥ २० ॥ "

यथाऽयोगोलो ध्मातः सन् तप्ततपनीयसंकाशोऽग्निपरिणतो भवति, तथा निगोदजीवानपि जानीहि, निगोदरूपेऽप्येकैकस्मिन् शरीरे तच्छरीराऽऽत्मकतया अनन्तान् जीवान् जानीहि । ननु कथं निगोदरूपं शरीरं नियमादनन्तजीवपरिणामाऽऽविर्भावितं भवतीति ?। उच्यते-जिनवचनात् । तथाहि-"गोला य असंखेज्जा, होंति निगोया असंखया गोले । एक्केक्को य निगोओ, अणंतजीवो मुणेयव्वो ॥१॥" तद्भेदास्तु " णिगोय " शब्दे २०२६ पृष्ठे द्रष्टव्याः । जिनवचनादेव 'णिग्गंथ' शब्दे पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकभेदेन पञ्चविधनिर्ग्रन्थस्वरूपनिरूपणानन्तरं तेषां साधकविचारः, कूजनताकर्करणताऽऽपध्यानताऽऽदिभेदेन निर्ग्रन्थानां, निर्ग्रन्थीनामसुखत्वाऽऽदि प्रकृत्य तद्वैपरीत्येन सुखत्वाऽऽदिनिरूपणमेवमादयो विषयाः पञ्चत्वारिंशद् द्रष्टव्याः । 'णिग्गंथी' शब्दे निर्ग्रन्थीनामाचाराऽऽदिनिर्देशः । 'णितियवास' शब्दे साधुसाध्वीनां नित्यवास एकत्र निषिद्धः । तथाहि-विहारपरिहारेण सर्वदैकत्र निवासवतां प्रासुकैषणीयवसतिलाभाभावाद् गृहस्था इवाऽऽश्रयाभावेषु मुक्तसमस्तजीवोपमर्दाऽऽदयः स्वयंग्रहकरणकारणानुमोदनाऽऽदौ प्रवर्तन्ते, ततश्चैषणायामपि जीवनिकायानामाकुट्यापि विराधनोत्पद्यते, ततश्च प्राणातिपातविरमणमहाव्रतभङ्गानर्थकतायाः अपि शिरस्तुण्डमुण्डनाऽऽदेर्वैयर्थ्यं स्यात् । अन्यथैकत्र निवासे प्रतिदिनमाहाराऽऽदिदानवन्दनाऽऽदिप्रतिपत्त्योपगृहीतानां साधूनामनादिभवाभ्यासवशवर्तिनां प्रतिबन्धाऽऽदयः संभवन्ति । उक्तं च-"पडिबंधो लहुयत्तं, न जणुवयारो न देसविन्नाणं । नाणाऽऽराहणमेए, दोसा अविहारपक्खम्मि ॥ १ ॥" ततश्च प्रतिबन्धात् संबन्धः, संबन्धात् चित्तविप्लुतिः, चित्तविप्लुतेरकार्यप्रवृत्तिरिति । यदा च चित्तविप्लुत्या प्रेरितः स्त्रीसेवाऽऽदौ प्रवर्तते, तदा न केवलं प्रथमव्रतभङ्गः, अपि तु पञ्चानामपीति । किन्तु-

" जो होज्जउ असमत्थो, रोगेण व पेल्लिओ झुसियदेहो ।
सव्वमवि जहाभणियं, कयाइ न तरिज्ज काउं जे ॥ १ ॥
सो वि य नियपरक्कम-ववसायधिईबलं अगूहेंतो ।
मोत्तूण कूडचरियं, जयई जइ तो अवस्स जई ॥ २ ॥
निम्मम निरहंकारा, उज्जुत्ता नाणदंसणचरित्तम्मि ।
एगक्खेत्ते वि ठिया, खवेंति पोराणयं कम्मं ॥ ३ ॥
जियकोहमाणमाया, जियलोभपरीसहा य जे धीरा ।
वूढावासेऽवि ठिया, खवेंति पोराणयं कम्मं ॥ ४ ॥

पंचसमिया तिगुत्ता, उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे ।
वाससयं पि वसंता, मुणिणो आराहगा भणिया ॥ ५ ॥"

नित्यवासविषयं संगमस्थविरचरितं तु २०७१ पृष्ठे द्रष्टव्यम्। ननु जिनवचनश्रद्धावता निर्वाणं श्रूयते, तत्किं नाम निर्वाणम्।

तथाहि-

" मन्नसि किं दीवस्स व, नासो निव्वाणमस्स जीवस्स ।
दुक्खक्खयाइरूवा, किं होज्ज व से सओऽवत्था ॥१६७५॥ "

तद् यथा सौगताः प्राऽऽहुः-

" दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्,
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ १ ॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद्,
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ २ ॥ "

किं वा यथा जैनाः प्राऽऽहुस्तथा निर्वाणं भवेत् ? । तथाहि-रागद्वेषमदमोहजन्मजरारोगाऽऽदिदुःखक्षयरूपा विशिष्टा काचिदवस्था विद्यमानस्य जीवस्य । उक्तं च-" केवलसंविद्दर्शन-रूपाः सर्वार्तिदुःखपरिमुक्ताः । मोदन्ते मुक्तिगताः, जीवाः क्षीणान्तरारिगणाः ॥ १ ॥" अथवा-स्वर्णवदनादित्वात् कर्मजीवयोः संयोगस्याऽवियोगात् संसाराभाव एव न भवेत् । जीवाऽऽकाशयोरिव ययोरनादिः संयोगः तयोर्वियोगो न भवति, अनादिश्च जीवकर्मणोः संयोगः, ततो वियोगाऽनुपपत्तिः, ततश्च न संसाराभावः, तथा च सति कुतो मोक्षः ? ।

अथात्रैव प्रतिविधीयते-नायमेकान्तो यदनादिसंयोगो न भिद्यते यतः काञ्चनधातुपाषाणयोरनादिरपि संयोगोऽग्न्यादिसंपर्केण विघटत एव, तद्वद् जीवकर्मसंयोगस्यापि सम्यग् ज्ञानक्रियाभ्यां वियोगो मण्डूकवत् प्रतिपद्यताम् । ननु यथा कर्मणो नाशे संसारो नश्यति, तथा तन्नाशे जीवत्वस्यापि नाशाद् मोक्षाभावो भविष्यति ?। एतदप्यसारम् । यतः कर्मजनितः संसारः, तन्नाशे संसारस्य नाशो युज्यत एव, कारणाऽभावे कार्याऽभावस्य सुप्रतीतत्वात् । जीवत्वं पुनरनादिकालप्रवृत्तत्वात् कर्मकृतं न भवति, अतस्तन्नाशे जीवस्य न कश्चिद् नाशः, कारणव्यापकयोरेव कार्यव्याप्यनिवर्तकत्वात्, कर्म तु जीवस्य न कारणं, नापि व्यापकम् । इतश्च जीवो न नश्यति-"न विगारानुवलंभा-दागासं पि व विणासधम्मो सो । इह नासिणो विगारो, दीसइ कुंभस्स वाऽवयवा ॥१९८१॥ कालंतरनासी वा, घडो व्व कयगाइओ मई होज्जा । नो पद्धंसाभावो, भुवि तद्धम्मा वि जं निच्चो ॥१९८२॥ " इति । अथ यदुक्तम्-दीपो यथा निर्वृतिमित्यादि । तत्रोत्तरम्-"न य सव्वहा विणासो-ऽनलस्स परिणामओ पयस्सेव । कुंभस्स कवालाण व, तहा विगारोवलंभाओ ॥१९८७॥ " ततः-"जह दीवो निव्वाणो, परिणामंतरमिओ तहा जीवो । भण्णइ परिनिव्वाणो, पत्तोऽणाबाहपरिणामं ॥१९९१॥ " किञ्च-" मुत्तस्स परं सोक्खं, णाणाणाबाहओ जहा मुणिणो । तद्धम्मा पुण विरहा-दावरणाऽऽवाहहेऊणं ॥१९९२॥" इत्यादि निर्वाणविषयविस्तरः 'णिव्वाण' शब्दे निर्वाणजिज्ञासुभिर्निपुणं निभालनीयः । तच्च निर्वाणं तपोऽन्तरा न लभ्यते इति प्रसङ्गतः तपःस्वरूपमुच्यते-

"ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः, कर्मणां तापनात् तपः । तदाभ्यन्तरमेवेष्टं, बाह्यं तदुपबृंहकम् ॥ १ ॥ तदेव हि तपः कार्यं, दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत् । येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि वा ॥ २॥ मूलोत्तरगुणश्रेणि-प्राज्यसाम्राज्यसिद्धये । बाह्यमाभ्यन्तरं चेत्थं, तपः कुर्याद् महामुनिः ॥३॥" "एसो बारसभेओ, सुत्तनिबद्धो तवो मुणेयव्वो । एत्थ विसेसो उ इमो, पइण्णगोऽणेगभेउ त्ति ॥४॥ तित्थयरनिग्गमाई, सव्वगुणपसाहगं तवो होइ । भव्वाण हिओ नियमा, विसेसओ पढमठाणीणं॥५॥जम्हा एसो सुद्धो, अणियाणो होइ भावियमईणं । तम्हा करेह सम्मं, जइ विरहो होइ कम्माणं ॥४४॥" "सो हु तवो कायव्वो,जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ । जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति ॥ १४ ॥" " तपश्च त्रिविधं ज्ञेय-मफलाऽऽकाङ्क्षिभिर्नरैः । श्रद्धया परया तप्तं, सात्त्विकं तप उच्यते ॥१॥ सत्कारमानपूजाऽर्थं, तपो दम्भेन चैव यत् । क्रियते तदिह प्रोक्तं, राजसं चलमध्रुवम् ॥२॥ मूढग्रहेण यच्चाऽऽत्म-पीडया क्रियते तपः । परस्योत्सादनार्थं वा, तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३ ॥ " इति ।

अनेकजन्माभ्यस्ततपःप्रभावात् तीर्थकरनामकर्मणि संचिते निर्वाणमधिरोहति जीव इति सिद्धान्तमनुस्मृत्य तीर्थकरविषयमेवावतारयामः । तथाहि-तीर्थकरणशीलास्तीर्थकराः, अचिन्त्यप्रभावमहापुण्यसंज्ञिततन्नामकर्मविपाकतः, तस्यान्यथा वेदनायोगात् । तत्र येनेह जीवा जन्मजरामरणसलिलं मिथ्यादर्शनाविरतिगम्भीरं महाभीषणकषायपातालं सुदुर्लङ्घ्यमोहाऽऽवर्तरौद्रं विचित्रदुःखौघदुष्टश्वापदं रागद्वेषपवनविक्षोभितं संयोगवियोगवीचीयुक्तं प्रबलमनोरथवेलाऽऽकुलं सुदीर्घं संसारसागरं तरन्ति तत्तीर्थमिति । एतच्च यथाऽवस्थितसकलजीवाऽऽदिपदार्थप्ररूपकम् अत्यन्तानवद्यान्याविज्ञातचरणकरणक्रियाऽऽधारं त्रैलोक्यगतशुद्धधर्मसंपद्युक्तमहासत्त्वाऽऽश्रयम् अचिन्त्यशक्तिसमन्वितादिसंवादिपरमबोहित्थकल्पं प्रवचनं, निराधारस्य प्रवचनस्यासंभवात् सङ्घो वा ततश्चैतदुक्तं भवति-घातिकर्मक्षयं ज्ञानकैवल्ययोगात् तीर्थकरनामकर्मोदयस्तत्स्वभावतया आदित्याऽऽदिप्रकाशनिदर्शनतः शास्त्रार्थप्रणयनाद् मुक्तकैवल्य तदसंभवनाऽऽगमानुपपत्तेः, भव्यजनधर्मप्रवर्तकत्वेन परम्पराऽनुग्रहकरास्तीर्थकरा इति तीर्थकरत्वसिद्धिः । किञ्च-सर्वेऽपि निरुपमधृतिसंहननाश्छद्मस्थावस्थायां चतुर्ज्ञाना अतिशयसत्त्वसंपन्ना अच्छिद्रपाणिपात्रा जितसमस्तपरीषहाश्च यस्मात्तेन वस्त्राभावेऽपि संयमविराधनाऽऽदीन् दोषान् न प्राप्नुवन्ति । तथा च सवस्त्रा एव साधवश्चिरं स्थास्यन्ति इत्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थं गृहीतैकवस्त्राः सर्वेऽपि तीर्थकृतोऽभिनिष्क्रामन्ति, तस्मिंश्च वस्त्रे क्वापि पतिते वस्त्ररहितास्ते भवन्ति, न पुनः सर्वदा । * ननु सर्वोऽपि प्रेक्षावान् फलार्थी प्रवर्तते, अन्यथा प्रेक्षावत्ताहानिप्रसङ्गः । ततोऽसौ तीर्थं कुर्वन्नवश्यं फलमपेक्षते, फलं चापेक्षमाणोऽस्मादृश इव व्यक्तमवीतरागः । तदयुक्तम् । यतस्तीर्थकरः स एव भवति, यस्तीर्थकरनामकर्मोदयसमन्वितः । न हि सर्वेऽपि भगवन्तो वीतरागास्तीर्थप्रवर्तनाय प्रवर्तन्ते, तीर्थकरनामकर्मैव तीर्थप्रवर्तनफलम् । ततो भगवान् वीतरागोऽपि तीर्थकरनामकर्मोदयतस्तीर्थप्रवर्तनस्वभावः सवितेव प्रकाशमुपकार्योपकारानपेक्षं तीर्थं प्रवर्तयतीति न कश्चिद् दोषः । उक्तं च-

" तीर्थप्रवर्तनफलं, यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थकरनाम ।

तस्योदयात् कृतार्थो-ऽप्यर्हंस्तीर्थं प्रवर्तयति ॥ १ ॥
तत्स्वाभाव्यादेव, प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम् ।
तीर्थप्रवर्तनाय, प्रवर्तते तीर्थकर एवम् ॥ २ ॥ "

ननु तीर्थप्रवर्तनं नाम प्रवचनार्थप्रतिपादनं, प्रवचनार्थं चेद् भगवान् प्रतिपादयति, तर्हि नियमादसर्वज्ञः, सर्वस्यापि वक्तुरसर्वज्ञतयोपलम्भात् । तथा चात्र प्रयोगः-विवक्षितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति, वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवदिति । तदसत् । सन्दिग्धव्यतिरेकतया हेतोरनैकान्तिकत्वात् । तथाहि वचनं न संवेदनेन सह विरुद्ध्यते, अतीन्द्रियेण सह विरोधानिश्चयात् । द्विविधो हि विरोधः-परस्परपरिहारलक्षणः, सहानवस्थानलक्षणश्च । तत्र परस्परपरिहारलक्षणः तादात्म्यप्रतिषेधः, यथा घटपटयोः । न खलु घटः पटाऽऽत्मको भवति, नापि पटो घटाऽऽत्मको भवति, "न सत्ता सत्ताऽन्तरमुपैति ।" इति वचनात्, ततो नानयोः परस्परपरिहारलक्षणो विरोधः । एवं सर्वेषामपि वस्तूनां भावनीयम् । अन्यथा वस्तुसाङ्कर्यप्रसङ्गः । यस्तु सहानवस्थानलक्षणो विरोधः, स परस्परबाध्यबाधकभावसिद्धौ सिद्ध्यति, नान्यथा, यथा वह्निशीतयोः । तथाहि-विवक्षिते प्रदेशे मन्दमन्दमभिज्वलनवति वह्नौ शीतस्यापि मन्दमन्दभावः । यदा पुनरत्यर्थं ज्वालामालाविमुञ्चति वह्निस्तदा सर्वथा शीतस्याभाव इति भवत्यनयोर्विरोधः । उक्तं च-"अविकलकारणमेकं, तदपरभावे यदाऽऽभवन्न भवेत् । भवति विरोधः स तयोः, शीतहुताशाऽऽत्मनोर्दृष्टः ॥१॥" न चैवं वचनसंवेदयोः परस्परं बाध्यबाधकभावः, न हि संवेदनं तारतम्येनोत्कर्षमासादयति वचस्वितायाः तारतम्येनापकर्ष उपलभ्यते, तत्कथमनयोः सहानवस्थानलक्षणो विरोधः, अथ सर्ववेदी वक्ता नोपलब्ध इति विरोध उद्घुष्यते, तदयुक्तम् । अत्यन्तपरोक्षो हि भगवान्, ततः कथमनुपलम्भमात्रेण तस्याभावनिश्चयः, अदृश्यविषयस्यानुपलम्भस्याभावनिश्चायकत्वायोगात् । सर्वं चैते तीर्थकरसंबन्धिविषयाः 'तित्थयर' शब्दे २२४६ पृष्ठतः २३१२ पृष्ठपर्यन्तं विद्वद्भिर्विलोकनीयाः ।

अथ द्रव्यस्तव-भावस्तवयोः को विशेषः, कुत्र च फलाऽभिकर्षमित्यत्राऽऽह-ननु वित्तपरित्यागाऽऽदिना द्रव्यस्तव एव ज्यायानिति अल्पबुद्धीनां शङ्कासंभवः, तत्राऽऽह-" दव्वत्थओ य भाव-त्थओ य दव्वत्थओ बहुगुणो त्ति । बुद्धि सिया अनिउणमइ-वयणमिणं छज्जीवहियं॥३॥ छज्जीवकायसंजमो, दव्वथए सो विरुज्झई कसिणो । तो कसिणसंजमविऊ, पुप्फाईयं न इच्छंति ॥४॥" यद्येवं किमयं द्रव्यस्तव एकान्ततो हेय एव वर्तते, आहोस्विदुपादेयोऽप्यस्ति ?। उच्यते-साधूनां हेय एव, श्रावकाणामुपादेयोऽपि । तथाहि-"अकसिणपवत्तयाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो । संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥६॥" आह-यः प्रकृत्यैवासुन्दरः स कथं श्रावकाणामपि युक्तः ?। उच्यते-कूपदृष्टान्तोऽत्र बोद्धव्यः । यथा कोऽपि तृषाऽपनोदार्थं कूपं खनति । यद्यपि पूर्वं तस्य मृत्तिकाकर्दमाऽऽदिना शरीरं मलिनीभवति, तथाऽपि तदुद्गतेन पानीयाऽऽदिना प्रक्षालयति गात्रं, ततः स अन्ये च जनाः सुखभाजना भवन्ति । एवं द्रव्यस्तवेऽपि यद्यप्यसंयमस्तथाऽपि तत एव सा परिणामशुद्धिर्भवति, याऽसंयमवर्जं सर्वं निरवशेषं क्षपयति । किञ्च-"अप्पाविरियस्स पढमो, सहकारिविसेसभूअओ सेओ । इयरस्स बज्झचाया, इयरो च्चिय एस परमत्थो ॥२॥ दव्वत्थयं पि काउं, ण तरइ जो अप्पवीरियत्तेणं । परिसुद्धं भावथयं, काही सो संभवो एस ॥ ३ ॥" एतदेव स्पष्टयति-" जो वउभत्थापणं, णो इत्तरिअं पि णिग्गहं कुणइ । इह अप्पणो सयासे, सव्वत्थापण कह कुज्जा ? ॥ ४ ॥" किञ्च-आरम्भत्यागेन ज्ञानाऽऽदिगुणेषु वर्धमानेषु द्रव्यस्तवहानिरपि न भवति कर्तुः दोषाय । विवेचनमस्य ' थय ' शब्दे २३८४ पृष्ठपर्यन्तं द्रष्टव्यं प्रज्ञावद्भिः ।

'थविरकप्प' शब्दे २३८६ पृष्ठे स्थविरकल्पविचारः । तथाहि-द्विविधा भवन्ति साधवः । गच्छप्रतिबद्धाः, गच्छबहिर्गताश्च । पुनरेकैकशो द्विधा जिनकल्पिकाः, स्थविरकल्पिकाश्च । एतेषां स्थविरकल्पिकजिनकल्पिकानां परस्परमयं विशेषः । तथाहि-

" थेराणं नाणत्तं, अतरंतं अप्पिणंति गच्छस्स ।
गच्छे निरवज्जेणं, करेंति सव्वं पि पडिकम्मं ॥ १ ॥
एक्कक्कपडिग्गहगा, सप्पाउरणा हवंति थेरा उ ।
जेसिं उण जिनकप्पे, न य तेसिं वत्थपायाणि ॥ २ ॥
निप्पडिकम्मसरीरा, अवि अच्छिमलं पि नेव अवणिंति ।
विसहंति जिणा रोगं, कारेंति कयाइ न तेगिच्छं ॥ ३ ॥
संजमकरणुज्जोया, णिप्फातग णाणदंसणचरित्ते ।
दीहाउ वुड्ढवासे, वसहीदोसेहि य विमुक्का ॥ ४ ॥
मोत्तुं जिणकप्पठिइं, जा मेरा एस वण्णिया हेट्ठा ।
एसा उ दुपदजुत्ता, होति ठिती थेरकप्पस्स ॥ ५ ॥ " इति ।

ननु द्रव्यस्तवो गृहस्थैः कर्तव्य इति पूर्वं यदुक्तं तत्र " वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानस्य कारणता " इति न्यायाद् द्रव्यस्वरूपनिर्वचनं कर्तव्यम् । उच्यते-" गुणपर्याययोः स्थान-मेकरूपं सदाऽपि यत् । स्वजात्या द्रव्यमाख्यातं, मध्ये भेदो न तस्य वै ॥ १ ॥ " व्याख्या चैषा-गुणपर्याययोर्भाजनं कालत्रये एकरूपं द्रव्यं स्वजात्या निजत्वे एकस्वरूपं भवति, परं पर्यायवद् न परावृत्तिं लभते तद् द्रव्यमुच्यते । यथा ज्ञानाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं जीवद्रव्यम्, रूपाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं पुद्गलद्रव्यम्, स्थासकोशाऽऽदिघटत्वाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं मृद्द्रव्यम् । यथा वा तन्तवः पटापेक्षया द्रव्यं, पुनस्तन्तवोऽवयवापेक्षया पर्यायाः । कथम् ?, यतः पटाविर्भावकाले पटावस्थाविचाले च तन्तूनां भेदो नास्ति, तन्त्ववयवावस्थायामन्वयत्वरूपो भेदोऽस्ति, तस्मात् पुद्गलस्कन्धमध्ये द्रव्यपर्यायत्वमापेक्षिकं बोध्यम् । अथ कश्चिदेवं कथयिष्यति-द्रव्यत्वं तु स्वाभाविकं न जातम्, आपेक्षिकं जातं, तदा तं समाधत्ते-यत् सकलवस्तूनां व्यवहारापेक्षयैव जायते, न तु स्वभावेनैव, तस्मादत्र न कश्चिद् दोषः । ये च समवायिकारणप्रमुखैर्द्रव्यलक्षणं मन्वते, तेषामपि अपेक्षामनुसर्तव्यैवेति । ' गुणपर्यायवद् द्रव्यम् । ' इति तत्त्वार्थे ।

" सहभावी गुणो धर्मः, पर्यायः क्रमभाव्यथ ।
भिन्ना अभिन्नास्त्रिविधाः, त्रिलक्षणयुता इमे ॥ १ ॥
मुक्ताभ्यः श्वेतताऽऽदिभ्यो, मुक्तादाम यथा पृथक् ।
गुणपर्याययोर्व्यक्ति-र्द्रव्यशक्तिस्तथाऽऽश्रिता ॥ २ ॥ "

किञ्च-' गुणाऽऽश्रयो द्रव्यम् । ' यदुक्तम्-" गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा । लक्खणं पज्जवाणं तु, दुहओ अस्सिया भवे ॥६॥" तथाहि-गुणानामाश्रयो, यत्रस्थास्ते उत्पद्यन्ते, उत्पद्य चावतिष्ठन्ते, प्रलीयन्ते च तद् द्रव्यम् । अनेन रूपाऽऽदय एव वस्तु, न तद्व्यतिरिक्तमन्यदिति ताथाग-

तमतमपास्तम् । तथाहि-यदुत्पादविनाशयोर्न यस्योत्पादविनाशौ, न तत्ततोऽभिन्नम्, यथा घटात्पटः, न भवतः पर्यायोत्पादविनाशयोर्द्रव्यस्योत्पादविनाशौ । न चायमसिद्धो हेतुः, स्थासकोशकुशूलाऽऽद्यवस्थासु मृदादिद्रव्यस्याऽऽनुगामित्वेन दर्शनात् । न चास्य मिथ्यात्वं, कदाचिदन्यथादर्शनासिद्धेः । उक्तं च-" यो ह्यन्यरूपसंवेद्यः, संवेद्येतान्यथा पुनः । स मिथ्या न तु तेनैव, यो नित्यमवगम्यते ॥ १ ॥ ' तथैकस्मिन् स्वाऽऽधारभूते द्रव्ये आश्रिता गुणाः रूपाऽऽदयः । एतेन च ये द्रव्यमेवेच्छन्ति, तद्व्यतिरिक्तांश्च रूपाऽऽदीन् अविद्योपदर्शितानाहुः, तन्मतनिषेधः कृतः । संविनिष्ठा हि विषयव्यवस्थितयः । न च रूपाऽऽद्युत्कलितरूपं कदाचित् केनचिद् द्रव्यमवगतम्, अवगम्यते वा, अतस्तद्विवर्त एव रूपाऽऽदयो, न तु तात्त्विकाः केचन तद्भेदेन सन्ति । नन्वेवं रूपाऽऽदिविवर्तो द्रव्यमित्यपि किं न कल्पते ?, अथ तथैव प्रतीतिः,एवं सति प्रतीतिरुभयत्र साधारण्युभयमुभयाऽऽत्मकमस्तु* । अनेन च य एवमाहुः-यदाद्यन्तयोरसत्, मध्येऽपि तत्तथैव,यथा मरीचिकाऽऽदौ जलाऽऽदि । न सन्ति च कुशूलकपालाऽऽद्यवस्थयोर्घटाऽऽदिपर्यायाः, ततो द्रव्यमेवाऽऽदिमध्यान्तेषु सत्, पर्यायाः पुनरसन्तः, वैराकाशकेशाऽऽदिभिः सदृशा अपि भ्रान्तैः सत्यतया लक्ष्यन्ते । यथोक्तम्-" आदावन्ते च यन्नास्ति, मध्येऽपि हि न तत् तथा । वितथैः सदृशाः सन्तोऽ-वितथा इव लक्षिताः ॥ १ ॥ " ते अपाकृताः । तथाहि-आद्यन्तयोरसत्त्वेन मध्येऽप्यसत्त्वं साधयतामिदमाकूतम्-यत् क्वचिदसत् तत् सर्वस्मिन्नसत् इति, ततश्च मृद्द्रव्यैः अबद्रव्यस्यासत्त्वात् सर्वस्मिन्नप्यसत्त्वप्रसङ्गः । अथेष्टमेवैतत्, सत्तामात्रस्यैव तत्त्वत इष्टत्वात् । उक्तं हि-' सर्वमेकं सदविशेषात् । ' नन्वेवमभावे भावाभावाद् भावस्यापि सर्वत्राभावप्रसङ्गः, तस्माद् बाधकप्रत्ययोदय एवासत्त्वेऽपि निबन्धनमिति न क्वचिदसत्त्वं तस्यावश्यंभावः, ततो द्रव्यवत् पर्यायाणामप्यबाधितबोधविषयत्वे सत्यमस्तु, तथा गुणेष्वपि नवपुराणाऽऽदिपर्यायाः प्रत्यक्षप्रतीता एके कियत्कालभाविनः, प्रतिसमयभाविनस्तु पुराणत्वाऽऽद्यन्यथाऽनुपपत्तेरनुमानतोऽवसीयन्ते । ततश्च द्रव्यगुणपर्यायाऽऽत्मकमेकं सबलमणिवत् चित्रपतङ्गाऽऽदिवद् वा वस्त्विति स्थितम् । " दव्वं पज्जवविजुतं, दव्वविउत्ता य पज्जवा नऽत्थि । उप्पायट्ठिइभंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं ॥ १२ ॥ " अथ द्रव्यभेदा इमे-" धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गल-जंतवो । एस लोगो त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ ७ ॥ " अनन्तरोक्तद्रव्यषट्काऽऽत्मकत्वं लोकस्य । उक्तं हि-" धर्माऽऽदीनां वृत्ति-र्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोकः, तद्विपरीतं ह्यलोकाऽऽख्यम् ॥ १ ॥ " किञ्च-एतेऽपि भेदवन्तः । तथा चाऽऽह-"धम्मो अधम्मो आगासं एगं दव्वं वियाहियं । अणंताणि उ दव्वाणि, कालो पोग्गल-जंतवो ॥८॥ " वैशेषिकरीत्या द्रव्यप्रतिपादनं, तत्खण्डनं च ' दव्व ' शब्दे २४६५ पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।

जिनवचनादेवाभयदानाऽऽदीनां महाफलत्वमुक्तमस्ति । तथाहि-

" दानेन महाभोगो, देहिनां सुरगतिश्च शीलेन ।
भावनया च विमुक्तिः, तपसा सर्वाणि सिद्ध्यन्ति ॥ १ ॥ "

' दाणं च तत्थ तिविहं, नाणपयाणं च अभयदाणं च ।
धम्मोवग्गहदाणं, च नाणदाणं इमं तत्थ ॥ ४२ ॥ '
" दितो य नाणदाणं, भुवणे जिणसासणं समुद्धरइ ।
सिरिपुंडरीयगणहर, इव पावइ परमपयमतुलं ॥ ६५ ॥
ता दायव्वं नाणं, अणुसरियव्वा सुनाणिणो मुणिणो ।
नाणस्स सया भत्ती, कायव्वा कुसलकामेहिं ॥ ६६ ॥
बीयं तु अभयदाणं, तं इह अभयेण सयलजीवाणं ।
अभउ त्ति धम्ममूलं, दयाइधम्मो पसिद्धमिणं ॥ ६७ ॥
इक्कं चिअ अभयपया-णमित्थ दाऊण सव्वसत्ताणं ।
धन्नाऽऽउह व्व कमसो, सिज्झंति पहीणजरमरणा ॥६८॥ "
" धम्मोवग्गहदाणं, तइयं पुण असणवसणमाईणि ।
आरंभनियत्ताणं, साहूणं दिंति दयाणि ॥ १०० ॥
तित्थयरचक्कवट्टी-बलदेवा वासुदेवमंडलिया ।
जायंति जगब्भहिया, सुपत्तदाणप्पभावेणं ॥ १०१ ॥
जह भयवं रिसहजिणो, घयदाणबलेण सयलजयनाहो ।
जाओ जह भरहवई, भरहो मुणिभत्तदाणेणं ॥ १०२ ॥
दंसणमित्तेण वि मुणि-वराण नासइ दिणकयं पावं ।
जो देइ ताण दाणं, तस्स जए किं न सुविढत्तं ॥ १०३ ॥ "
"न तवो सुट्ठु गिहीणं, विसयाऽऽसत्ताण होइ न हु सीलं ।
सारंभाण न भावो, तो साहीणं सया दाणं ॥ १०६ ॥ "
" ता नत्थि दायव्वं, सुअं दाणं गिहीहिँ भत्तीए ।
अणुकंपोचियदाणं, दायव्वं नियसत्तीए ॥ १०५ ॥ "

अनूदितं चैतत् श्रीहेमसूरिभिः-

" प्रायः शुद्धैस्त्रिविधविधिना प्रासुकैरेषणीयैः,
कल्पप्रायैः स्वयमुपहितैः वस्तुभिः पानकाऽऽद्यैः ।
काले प्राप्तान् सदनमसमश्रद्धया साधुवर्गान्,
धन्याः केचित् परमविहिताः, हन्त संमानयन्ति ॥ १ ॥ "

तथा च दाने मनोहारिणी कृतपुण्यकथा २४६१ पृष्ठे विलोकनीया । दानं प्रति विधिनिषेधविचारो २४६६ पृष्ठे विज्ञैरवधार्यो । जिनवचनप्रसङ्गात् साम्प्रतं ज्ञानत्रयभावाभावयोर्दीक्षाऽधिकारित्वानधिकारित्वप्रतिपादनायाऽऽह-"आसन् सति दीक्षायाः, अधिकारी तत्त्वतो भवति सत्त्वः । इतरस्य पुनर्दीक्षा, वसन्तनृपसन्निभा ज्ञेया ॥ १ ॥" इत्यादि दीक्षासंबन्धिनं सर्वं विषयं ' दिक्खा ' शब्दे २५०६ पृष्ठतः २५०८ पृष्ठपर्यन्तं विलक्षणविचक्षणाः पश्यन्तु ।

दीक्षाया दुःखनिवारकत्वेन फलवत्त्वमुक्तम् । दुःखस्वरूपं तु जिनवचने-"दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवेद् गर्भवासो नराणां, बालत्वे चाऽपि दुःखं मललुलिततनुस्त्रीपयःपानमिश्रम् । तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः, संसारे रे मनुष्याः !, वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ? ॥१॥" तथाहि-" जाणंति अणुहवंति य, अणुजम्मजरामरणसंभवं दुक्खं । न य विसएसु विरज्जंति, दुग्गइगमणपत्थए जीवे ॥१॥ " " दुक्खमेवमवधारिमं, सव्वसि जगजंतुणं । एगं समयं तसभावं, जं सम्मं अहियासिये ॥ १ ॥ " " सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम् । एतदुक्तं समासेन, लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १ ॥ " पुण्यापेक्षमपि ह्येवं, सुखं परवशं स्थितम् । ततश्च दुःखमेवैतद्, ध्यानजं नास्विकं सुखम् ॥ १ ॥" तथा च " सूईहिं अग्गिवण्णाहिं, संभिन्नस्स निरंतरं । जावइयं गोयमा ! दुक्खं, गब्भे अट्ठगुणं तओ ॥ १ ॥

गब्भाओ निप्फडंतस्स, जोणिजंतनिपीलणे। कोडीगुणं तयं दुक्खं, कोडाकोडीगुणं पि वा ॥ २ ॥ जायमाणाण जं दुक्खं, मरमाणाण जंतुणो। तेण दुक्खविवागेण, जाई न सरंति अप्पणो ॥ ३ ॥" तथाच दुःखवर्णकः-"कालं गमेंति दुक्खेहिं, मणुया पुव्वेहि उज्झिया। दुक्खं मणुयजाईणं, गोयम ! जं तं निबोधत ॥१॥ जमणुसमयमणुभवंताण, सयहा उव्वेइयाण वि। निव्विण्णाणं पि दुक्खेहिं, वेरग्गं न तहा भवे ॥२॥" अच्छिनिमीलणमित्तं, नऽत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं। नरए नेरइयाणं, अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥ १ ॥ जं निरए नेरइया, दुक्खं पावंति गोयमा ! तिक्खं। तं पुण निगोयमज्झे, अणंतगुणियं मुणेयव्वं ॥ १ ॥" इत्यादि सर्वं 'दुक्ख' शब्दे विवृतम्।

जिनवचनाऽश्रद्दधानस्य जमालेरिव 'दोकिरिय' शब्दे आर्यगङ्गस्य चरितम्। तथाहि-उल्लुकातीरं नाम नगरम्, तत्र च महागिरिशिष्यो धनगुप्तो नाम, तस्यापि शिष्य आर्यगङ्गो नामाऽऽचार्यः। अयं च नद्याः पूर्वतटे, तदाचार्यास्त्वपरतटे, ततोऽन्यदा शरत्समये सूरिवन्दनार्थं गच्छन् गङ्गो नदीमुत्तरति, स च खल्वाटः। ततस्तस्योपरिष्टाद् उष्णेन दह्यते खल्ली, अधस्तात्तु नद्याः शीतलजलेन शैत्यमुत्पद्यते। ततोऽन्तरे कथमपि मिथ्यात्वमोहनीयोदयादसौ चिन्तितवान्-अहो सिद्धान्ते किल युगपत् क्रियाद्वयानुभवो निषिद्धः, अहं त्वेकस्मिन् एव समये शैत्यमौष्ण्यं च वेदयामि, अनुभवविरुद्धत्वाच्चेदमागमोक्तं शोभनमाभातीति विचिन्त्य गुरुभ्यो निवेदयामास। ततस्तैर्वक्ष्यमाणयुक्तिभिः प्रज्ञापितोऽसौ यदा च स्वाग्रहग्रस्तबुद्धित्वाद् न किञ्चित् प्रतिपद्यते, तदा उद्घाट्य बाह्यः कृतो विहरन् राजगृहनगरमागतः। तत्र च महातपस्तीरप्रभवनाम्नि प्रश्रवणे मणिनागनाम्नो नागस्य चैत्यमस्ति। तत्समीपे च स्थितो गङ्गः पर्षत्पुरस्सरं युगपत् क्रियाद्वयवेदनं प्ररूपयति स्म। तच्च श्रुत्वा प्रकुपितो मणिनागः तमवादीत्-अरे दुष्ट शिक्षक ! किमेवं प्रज्ञापयसि ?। यतोऽत्रैव प्रदेशे समवसृतेन श्रीमद्वर्धमानस्वामिना एकस्मिन् समये एकस्या एव क्रियाया वेदनं प्ररूपितम्। तच्चेह मयाऽपि श्रुतम्। तत् किं ततोऽपि लष्टतरः प्ररूपको भवान्, येनैवं युगपत् क्रियाद्वयवेदनं प्ररूपयसि ?। तत् परित्यज चैनां कूटप्ररूपणाम्, अन्यथा नाशयिष्यामि त्वाम्। इत्यादि तदुदितभयवाक्यैर्युक्तिवचनैश्च प्रबुद्धोऽसौ मिथ्यादुष्कृतं दत्त्वा गुरुमूलं गत्वा प्रतिक्रान्त इति। 'दोकिरिय' शब्दे २६३५ पृष्ठत आरभ्य विलोकनीयोऽयं विषय इति विस्तरभयाद् विरम्यतेऽस्मिन् विषयेऽस्माभिः।

ननु जिनवचनश्रवणं जिनाऽऽज्ञापालनं च जैनानां सम्यक्त्विनां परमो धर्म इति धर्मपदार्थसार्थनिरूपणा निरूपयितव्येति तामेवाऽऽचष्टे द्विधा हि धर्मशब्दस्य प्रवृत्तिर्लोके विलोक्यते। तथाहि-सर्वत्र वस्तुनि यद् वस्तुनः स्वभावः स धर्म उच्यते। यथा घटे घटत्वं, मनुष्ये मनुष्यत्वमित्यादि। तथा चोक्तम्-"धर्माः सहभाविनः, पर्यायाः क्रमभाविनः।" 'धम्मो त्ति वा सभावो त्ति वा एगट्ठा।' दुर्गतौ प्रपतन्तं जीवं धारयतीति धर्मः, स च क्लेशनिवृत्तिनिर्वृतिप्राप्तिसाधनः स्वर्गमोक्षाऽऽदिप्रापको मनुष्येणातिकर्तव्यतारूपो हृदयसंवेद्यो मातापितृसुहृत्संवेद्यः संसारगर्ताऽवटनिपतनप्रहाणप्रवणः परमपुनीतः कस्य चेतो नावस्कन्दति। तत्र शब्दप्रवृत्तिनिमित्तरूपस्य (गौणस्य) धर्मस्य धर्मिणा सहैकान्तेन भेदेऽभ्युपगम्यमाने धर्मिणो निःस्वभावताऽऽपत्तिः, स्वभावस्य धर्मत्वात् तस्य च ततोऽन्यत्वात्, स्वो भावः स्वभावः, तस्यैवाऽऽत्मीया सत्ता, न तु तदर्थान्तरं धर्मरूपं, ततो न निःस्वभावताऽऽपत्तिरिति चेत्। न। इत्थं स्वरूपसत्ताऽभ्युपगमे तदपरसत्तासामान्ययोगकल्पनाया वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। अपि च-यद्येकान्तेन धर्मधर्मिणोर्भेदः ततो धर्मिणो ज्ञेयत्वाऽऽदिभिर्धर्मैरननुबन्धात् तस्य सर्वथाऽनवगमप्रसङ्गः, न ह्यज्ञेयस्वभावं ज्ञातुं शक्यत इति। तथा च सति तदभावप्रसङ्गः, कदाचिदप्यवगमाभावात्, तथाऽपि तत्सत्त्वापगमेऽतिप्रसङ्गः, अन्यस्यापि यस्य कस्यचित् कदाचिदप्यनवगतषष्ठभूताऽऽदेर्भावाऽऽपत्तेः। एवं च धर्म्यभावे धर्माणामपि ज्ञेयत्वप्रमेयत्वाऽऽदीनां निराश्रयत्वादभावाऽऽपत्तिः। न हि धर्म्याधाररहिताः क्वापि धर्माः संभवन्ति, तथाऽनुपलब्धेः। अन्यच्च-परस्परमपि तेषां धर्माणामेकान्तेन भेदाभ्युपगमे सत्त्वाऽऽद्यननुबन्धात् कथं भावाभ्युपगमः?, तदन्यसत्त्वाऽऽदिधर्माभ्युपगमे च धर्मित्वप्रसक्तिरनवस्था च। तन्नैकान्ताभेदपक्षे धर्मधर्मिभावः। नाप्येकान्तभेदपक्षे, यतस्तस्मिन् अभ्युपगम्यमाने धर्ममात्रं वा स्यात्, धर्मिमात्रं वा ?। अन्यथैकान्तभेदानुपपत्तेः, अन्यतराभावाद् वा अन्यतरस्याप्यभावः, परस्परनान्तरीयकत्वात्। धर्मनान्तरीयको हि धर्मी, धर्मिनान्तरीयकाश्च धर्माः, ततः कथमेकाभावे पररूपावस्थानमिति ?। कल्पितो धर्मधर्मिभावस्ततो न दूषणमिति चेत्तर्हि वस्त्वभावप्रसङ्गः। न हि धर्मधर्मिस्वभावरहितं किञ्चिद् वस्त्वस्ति, धर्मधर्मिभावश्च कल्पित इति तदभावप्रसङ्गः। धर्मा एव कल्पिता न धर्मी, तत्कथमभावप्रसङ्ग इति चेत्, न। धर्माणां कल्पनामात्रभावत्वाभ्युपगमेन परमार्थतोऽसत्त्वाभ्युपगमात्, तदभावे च धर्मिणोऽप्यभावाऽऽपत्तिः। अथ तदेवैकं स्वलक्षणं सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्त्येकस्वभावाः धर्मिव्यावृत्तिनिबन्धनाश्च या व्यावृत्तयो भिन्ना इव विकल्पितास्ता धर्मास्ततो न कश्चिद् दोषः। तदप्यसङ्गतम्। एवं कल्पनायां वस्तुनोऽनेकान्तात्मकताप्रसक्तेः। अन्यथा सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्त्ययोगात्, न हि येन निजस्वभावेन घटाद् व्यावर्तते पटस्तेनैव स्तम्भादपि, स्तम्भस्य घटरूपताप्रसक्तेः। तथाहि-घटाद् व्यावर्तते घटव्यावृत्तिस्वभावतया, स्तम्भादपि चेत् घटव्यावृत्तिस्वभावतयैव व्यावर्तेत, तर्हि बलात् स्तम्भस्य घटरूपताप्रसक्तिः। अन्यथा-ततः तत्स्वभावतया व्यावृत्त्ययोगात्। तस्माद् यतो यतो व्यावर्तते तत्तद्व्यावृत्तिनिमित्तभूताः स्वभावा अवश्यमभ्युपगन्तव्याः, ते चानेकान्तेन धर्मिणो भिन्नाः, तदभावप्रसङ्गात्। तथा च तदवस्थ एव पूर्वोक्तो दोषः, तस्माद् भिन्ना अभिन्नाश्च। भेदाभेदोऽपि धर्मधर्मिणोः कथमिति चेत्, उच्यते-इह यद्यपि तादात्म्यतो धर्मिणा धर्माः सर्वेऽपि लोलीभावेन व्याप्ताः, तथाऽप्ययं धर्मी, एते धर्मा इति परस्परं भेदोऽप्यस्ति, अन्यथा तदभावानुपपत्तिः। तथा च सति प्रतीतिबाधा, मिथो भेदेऽपि च विशिष्टान्योन्यानुवेधेन सर्वधर्माणां धर्मिणा व्याप्तत्वादभेदोऽप्यस्ति, अन्यथा तस्य धर्मा इति प्रसङ्गानुपपत्तेरित्यलमप्रासङ्गिकवस्तुस्वभावरूपधर्मनिरूपणेन।

अथ प्रकृतं निर्वृतिप्राप्तिसाधनीभूतं धर्मं प्रस्तुमः-

"वचनादविरुद्धाद् य-दनुष्ठानं यथोदितम् । मैत्र्यादिभावसंमिश्रं, तद्धर्म इति कीर्त्यते ॥३॥" तथाहि-यदनुष्ठानमिहलोकपरलोकापेक्षया हयोपादेययोरर्थयोरिहैव शास्त्रे वक्ष्यमाणलक्षणा प्रवृत्तिरिति तद्धर्म इति कीर्त्यते । "धर्मश्चित्तप्रभवो, यतः क्रियाऽधिकरणाऽऽश्रयं कार्यम् । मलविगमेनैतत् खलु, पुष्ट्यादिमदेव विज्ञेयः ॥ २ ॥ रागाऽऽदयो मलाः खल्वागमसद्योगतो विगम एषाम् । तदयं क्रियात एव हि, पुष्टिश्चित्तस्य शुद्धस्य ॥३॥ पुष्टिः पुण्योपचयः, शुद्धिः पापक्षयेण निर्मलता । अनुबन्धिनि द्वयेऽस्मिन्, क्रमेण मुक्तिः परा ज्ञेया ॥ ४ ॥ " अमुमेव धर्मं भेदतः प्रभेदतश्च वर्णयन्ति यतितनिपतयः-" स द्विधा स्यादनुष्ठातृ-गृहियतिविभागतः । सामान्यतो विशेषाच्च, गृहिधर्मोऽप्ययं द्विधा ॥ ५ ॥ " " धम्मो बावीसविहो, अगारधम्मोऽणगारधम्मो य । पढमो य बारसविहो, दसहा पुण बीयओ होइ ॥ १२ ॥ " व्यासार्थं चाऽऽहुः सूरयः-"सम्मत्तमूलमणुव्वय-पणगं तिन्नि उ गुणव्वया होंति । सिक्खावयाइँ चउरो, बारसहा होइ गिहिधम्मो ॥ २ ॥ " तथा च-" पाणे य नाइवाएज्जा, अदिन्नं पि य नादए । सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥ १६ ॥ अतिक्कमंति वायाए, मणसा वि न पत्थए । सव्वओ संवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे ॥ २० ॥ " सम्यगभ्यस्तश्रावकधर्मस्यातितीव्रस्यैकान्ततो भवभ्रमणविमुखस्य संयतातिशिवसुखाभिलाषाऽतिरेकस्य यतिधर्मकरणश्रद्धोत्पद्यते, अतस्तत्स्वरूपनिरूपणायेदमाह-" खंती य मद्दवऽज्जव, मुत्ती तव संजमे य बोधव्वे । सच्चं सोयं आकिं-चणं च बंभं च जइधम्मो ॥ ४ ॥ " तथाहि-" पञ्चाऽऽस्रवाद्विरमणं, पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः । दण्डत्रयविरतिश्चे-ति संयमः सप्तदशभेदः ॥ १ ॥" " दुविहो उ भावधम्मो, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य । सुयधम्मे सज्झाओ, चरित्तधम्मे समणधम्मो ॥ १ ॥ " अथवा-" दुह होइ भावधम्मो, सुयचरणे या सुयम्मि सज्झाओ । चरणम्मि समणधम्मो, खंती मुत्ती भवे दसहा ॥१॥" अथवा-"लोइयलोउत्तरिओ, दुविहो पुण होति भावधम्मो उ । दुविहो वि दुविहतिविहो, पंचविहो होति णायव्वो ॥ १ ॥ " तथाहि-भावधर्मो नोआगमतो द्विविधः । तद्यथा-लौकिको, लोकोत्तरश्च । तत्र लौकिको द्विविधः-गृहस्थानां, पाषण्डिनां च । लोकोत्तरस्त्रिविधः-ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात् । तत्राऽऽभिनिबोधिकं ज्ञानं पञ्चधा । दर्शनमप्यौपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकवेदकक्षायिकभेदात् पञ्चविधम् । चारित्रमपि सामायिकाऽऽदिभेदात् पञ्चविधम् । " दव्वं च अत्थिकाओ, पयारधम्मो य भावधम्मो य । दव्वस्स पज्जवा जे, ते धम्मा तस्स दव्वस्स ॥ ४० ॥ " तथाहि-" धम्मत्थिकायधम्मो, पयारधम्मो य विसयधम्मो उ । लोइय कुप्पावयणिओ, लोगुत्तर लोगिणेगविहो ॥ ४१ ॥" अनेकविधत्वं तु-" गम्मपसुदेसरज्जे, पुरवरगामगणिगोट्ठिराईणं । सावज्जो उ कुतित्थियधम्मो न जिणेहिँ उ पसत्थो ॥ ४२ ॥ " " औदार्यं दाक्षिण्यं, पापजुगुप्साऽथ निर्मलो बोधः । लिङ्गानि धर्मसिद्धेः, प्रायेण जनप्रियत्वं च ॥ २ ॥" "आरोग्ये सति यद्वद्, व्याधिविकारा भवन्ति नो पुंसाम् । तद्वद् धर्माऽऽरोग्ये, पापविकारा अपि ज्ञेयाः ॥ १ ॥ तत्रास्य विषयतृष्णा, प्रभवत्युच्चैर्न दृष्टिसंमोहः । अरुचिर्न धर्मपथ्ये, न च पापा क्रोधकण्डूतिः ॥२॥ " " जीवदय सच्चवयणं, परधणपरिवज्जणं सुसीलं च । खंती पंचिंदियनि-ग्गहो य धम्मस्स मूलाइं ॥१॥ " धर्मानधिकारिणस्तु-" सुत्तेण चोइओ जो, अण्णं उद्दिसिय तं ण पडिवज्जे । सो तत्तवायबज्झो, न होइ धम्मम्मि अहिगारी ॥६॥" सद्धर्मग्रहणयोग्यस्तु-"संविग्नस्तत्त्वैरेव, ज्ञाततत्त्वो नरोऽनघः । दृढं स्वशक्त्या जानन्तः, संग्रहेऽस्य प्रवर्तते ॥ २० ॥ " किञ्च-यः कश्चिद् विदितसंसारस्वभावतया धर्मचरणैकप्रवणमनाः पूर्वं प्रव्रज्याऽवसरे संयमानुष्ठानोत्थायी, पश्चाच्च श्रद्धासंवेगतया विशेषेण वर्द्धमानपरिणामो नो निपाती, सिंहतया निष्क्रान्तः, सिंहतया विहारी च, गणधराऽऽदिवत् । अथवा-पूर्वोत्थायी, पुनर्विचित्रत्वात् कर्मपरिणतेस्तथाविधभवितव्यतानियोगात् पश्चान्निपाती स्यात्, नन्दिषेणाऽऽदिवत् । कश्चिद् गोष्ठामाहिलवत् दर्शनतोऽपि, इत्यादि सर्वं ' धम्म ' शब्दे २६७२ पृष्ठे विवृतम् । तदुद्भावकाश्चामी-" प्रावचनी धर्मकथी, वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च । विद्यासिद्धः ख्यातः, कविरपि चोद्भावकाश्चामी ॥१॥" तथा च परिपक्वबुद्धित्वात् मध्यमवया विशेषतो धर्मार्हः । यत उक्तमाचाराङ्गे-" मज्झिमेणं वयसा एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिता, सोच्चा मेधावी वयणं पंडियाणं णिसामित्ता समियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिते ते अणवकंखमाणा अणतिवाएमाणा अपरिग्गहमाणा णो परिग्गहावंति, सव्वावंति च णं लोगंसि णिहाय दंडं पाणेहिं पावं कम्मं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए । " ततश्च-" धम्मो गुणा अहिंसा-इया उ ते परममंगलपइण्णा । देवा वि लोगपुज्जा, पणमंति सुधम्ममिइ हेऊ ॥१॥ दिट्ठंतो अरहंता, अणगारा य बहवो उ जिणसीसा । वत्तणुवत्ते नज्जइ, जं नरवइणो वि पणमंति ॥२॥ उवसंहारो देवा, जह तह राया वि पणमइ सुधम्मं । तम्हा धम्मो मंगल-मुक्किट्ठमिइ य निगमणं ति ॥ ३ ॥ " साम्प्रतं प्रतिज्ञाशुद्धिरभिधीयते-"जह जिणसासणनिरया, धम्मं पालेंति साहवो सुद्धं । न कुतित्थिएसु एवं, दीसइ परिपालणोवाओ ॥३॥ " अत्राऽऽह त्वन्यत्रापि च तन्त्रान्तरीयधर्मेषु धर्मशब्दो लोके रूढः, तथा च यथातथं नैजमेव धर्मं प्रशंसन्ति, ततश्च कथमेतदिति ? । अत्रोच्यते-ननूक्तः पूर्वं सावद्यः कुतीर्थिकधर्मः तीर्थकरैः,षड्जीवनिकायपरिज्ञानाऽऽद्यभावादेवेत्थं अपि बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते,विस्तरभयात् । तथा च तन्त्रान्तरीयेषु धर्मेषु धर्मशब्दो यः स उपचारेण, निश्चयेन तु जिनशासने, यथा सिंहशब्दः सिंहे प्राधान्येन व्यवस्थितः, उपचारेण तु माणवकाऽऽदौ । उपचारनिमित्तं च शौर्यक्रौर्याऽऽदयः, धर्मे त्वहिंसाऽऽद्यभिधानाऽऽदयः । हेतुविशुद्धिस्तु-"जं भत्तपाणउवगर-णवसहिसयणाऽऽसणाइसु जयंति । फासुय अकय अकारिय-अणणुमयाणुद्दिट्ठभोई य ॥ ६७ ॥ " तदन्ये पुनः-"अप्फासुयकयकारिय-अणुमयउद्दिट्ठभोइणो हंदि । तसथावरहिंसाए, जणा अकुसला उ लिप्पंति ॥६८॥ " दृष्टान्तविशुद्धिः-" जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं । ण य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥ २ ॥" अत्र चैवं व्यवस्थिते सति कोऽपि ब्रूयात्-यदिदं पाकनिर्वर्तनं गृहिभिः क्रियते, इदं पुण्योपादानसंकल्पेन श्रमणानां क्रियते सुविहितानां, गृह्णन्ति च ते ततो भिक्षामित्यतः पाकोपजीविन

इति कृत्वा लिप्यन्ते आरम्भदोषेणाऽऽहारकरणक्रियाफलेनेति । लौकिका अप्याहुः-"क्रयेण क्रायको हन्ति, उपभोगेन खादकः । घातको वधचिन्तेन, इत्येष त्रिविधो वधः ॥ १ ॥" अत्र प्रतिविधीयते-"वासइ न तणस्स कए, न तणं वड्ढइ कए मयकुलाणं । न य रुक्खा सयसाहा, फुल्लंति कए महुयराणं ॥ १०३ ॥" पुनरपि चोदको वदति-इह यदुक्तं-वर्षति न तृणार्थमित्यादि । तदसाधु । यतः-"अग्गिम्मि हवी हुयइ, आइच्चो तेण पीणिओ संतो । वरिसइ पयाहियएणं, तेणोसहिओ परोहंति ॥१०४॥" अत्र पुनः प्रतिविधीयते-यद्यत्र, किं दुर्भिक्षं जायते ?, यतः तद्धविः सदा हूयत एव, ततश्च कारणाविच्छेदेन कार्यविच्छेदोऽयुक्त एव । अथ भवेद् दुर्नक्षत्रं दुर्ग्रहजनं वा ? । अत्राप्युत्तरम्-किं जायते सर्वत्र दुर्भिक्षम् , नक्षत्रस्य दुरिष्टस्य वा नियतदेशविषयत्वात् , सदैव सद्यज्वनां भावात् ? । उक्तं च-"नदैव देवः सद्गावो, ब्राह्मणाश्च क्रियापराः । यतयः साधवश्चैव, विद्यन्ते स्थितिहेतवः ॥१॥" साम्प्रतं पराभिप्रायः प्रदर्श्यते-"कस्सइ बुद्धी एसा, वित्ती उवकप्पिया पयावइणा । सत्ताणं तेण दुमा, पुप्फंती महुयरिगणट्ठा ॥१०८॥" अत्र प्रतिविधीयते-"तं पभवइ जेण दुमा, नामागोयस्स पुव्वविहियस्स । उदएणं पुप्फफलं, निव्वत्तइंती इमं चऽन्नं ॥ १०९ ॥ अत्थि बहू वणसंडा, भमरा जत्थ न उवेंति न वसंति । तत्थ वि पुप्फंति दुमा, पगई एसा दुमगणाणं ॥११०॥" अत्रोच्यते-यदि प्रकृतिः, किमिति पुनः सर्वकाले न प्रयच्छन्ति पुष्पफलम् , यन्नियत एव काले पुष्पफलं ददति; अत एव एषा पादपानां प्रकृतिर्यद् ऋतुसमये वसन्ताऽऽद्यावागते सति वृक्षसंघाताः पुष्प्यन्ति, तथा फलं च कालेन बध्नन्ति, तदर्थानभ्युपगमे तु नित्यप्रसङ्गः । साम्प्रतं प्रकृतेऽप्युक्तार्थयोजनामुपन्यस्यति-"किं तु गिही रंधंती, समणाणं कारणा अहासमयं । मा समणा भगवंतो, किलामएज्जा अणाहारा ॥११३॥" अत्राऽऽह-न ह्येते हिरण्यग्रहणाऽऽदिनाऽऽत्मानमनुकम्पां कुर्वन्ति इति मत्वा भिक्षादानार्थं पाकं निर्वर्तयन्त्यतः श्रमणानुकम्पानिमित्तं, तथा सामान्येन पुण्यनिमित्तं च गृहनिवासिन एव पाकं कुर्वन्ति । नैतदेवम् । यतः कान्तारे दुर्भिक्षे ज्वराऽऽदौ महति समुत्पन्ने रात्रौ श्रमणाः सर्वाऽऽहारं न भुञ्जते, अथ किमिति पुनर्गृहस्थास्तत्रापि आदरतरेण राध्यन्ति, अतः प्रकृतिरेषा गृहिणां वर्तते यद् गृहिणो ग्रामनगरनिगमेषु राध्यन्ति आत्मनः परिजनस्यार्थाय, तत्र श्रमणाः तपस्विनः परार्थमारब्धं परार्थं च निष्ठितं धूमरहितमाहारमेषन्ते मनोयोगाऽऽदीनां संयमयोगानां वा साधनार्थम् । "ण हणइ ण हणावेइ हणंतं णाणुजाणइ । न किणइ न किणावेइ, किणंतं नाणुजाणइ । न पयइ न पयावेइ, पयंतं नाणुजाणइ ।" एताभिर्नवकोटिभिः परिशुद्धं, तथोद्गमोत्पादनैषणाशुद्धम्-"वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए । तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥ १ ॥" इति षट्स्थानरक्षणार्थं भवान्तरे प्रशस्तभावनाऽभ्यासादहिंसाऽनुपालनार्थं च भुञ्जते । किञ्च-"अवि भमरमहुयरिगणा, अविदिन्नं आवियंति कुसुमरसं । समणा पुण भगवंता, नादिन्नं भोत्तुमिच्छंति ॥१२९॥" 'जह दुमगणा उ तह नग-रजणवया पयणपायणसहावा । जह भमरा तह मुणिणो, नवरि अदत्तं न भुंजंति ॥१३२॥ कुसुमे सहावफुल्ले, आहारंति भमरा जह तहा उ । भत्तं सहावसिद्धं, समणसुविहिया गवेसंति ॥ १३३ ॥" 'तम्हा दयाइगुणसु-ट्ठिएहिं भमरो व्व अवहवित्तीहिं । साहूहिं साहिओ त्ती, उक्किट्ठं मंगलं धम्मो ॥ १३७ ॥" "पडिपुण्णधम्मविफल-त्तणेण इह अंतरायविवराओ । जीवा ण हुंति णियमा, तो जत्तो तत्थ कायव्वो ॥ १ ॥" लब्भइ सुरसामित्तं, लब्भइ पहुयत्तणं न संदेहो । इक्को नवरि न लब्भइ, जिणिंदवरदेसिओ धम्मो ॥१॥ धम्मो पवित्तिरूवो, लब्भइ कइया वि निरयदुक्खभया । जो निव्वत्तसुहसहावो, सो धम्मो दुल्लहो लोए ॥२॥ निव्वत्थसुसवणधम्मं, दुल्लह दुलं जिणिंदआणा य । अंतप्फासणमग-त्त हुंति केसिंचि धीराणं ॥३॥ जउ धम्माउ सोहग्गं, धम्मेणं हुंति सयलरिद्धीओ । धम्मेण पवररूवं, तत्तो संविग्गए भणियं ॥ १ ॥" तथा च-"भद्दा सयलं किरियं, कुणंति मुणिणो सिवत्थमेव सया । तं पुण लब्भइ नयसय-लरागदोसेण धम्मेणं ॥ १३ ॥" किञ्च-"धम्मेण सग्गगइ उ, लब्भइ सग्गाइयं फलं सो वि । जायइ परंपराए, नियमेणं सुक्खहेउ त्ति ॥ १४ ॥" धर्मस्य मोक्षकारणत्वमित्थमामनन्ति जैनप्रौढाः-"जे धम्मं सुद्धमक्खंति, पडिपुण्णमणेलिसं । अणेलिसस्स जं ठाणं, तस्स जम्मकहा कओ ? ॥ १६ ॥" तथोक्तम्-"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥ १ ॥ किञ्चान्यत्-"कम्मं कयाइ मेधावी, उप्पज्जंति तहागया । तहागया अपडिपुन्ना, चक्खू लोगस्सऽणुत्तरा ॥२॥" केवलिप्रज्ञप्तस्य धर्मस्य श्रवणताऽपि दुर्लभा सामान्यलोकस्य । यतोऽवाचि-"सुलहा सुरलोयसिरी, रयणायरमेहला मही सुलहा । निव्वुइसुहजणियरुई, जिणवयणसुई, जए दुलहा ॥ १ ॥" श्रुतस्य वा श्रद्धानता दुर्लभा । उक्तं च-"आहच्च सवणलद्धं, सद्धा सवणदुल्लहा । सोच्चा नेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सइ ॥१॥" "भक्ष्याऽभक्ष्यविवेकाच्च, गम्याऽगम्यविवेकतः । तपोदयाविशेषाच्च, स धर्मो व्यवतिष्ठते ॥ १ ॥" इत्यलं बहुविस्तरोपन्यासेन । प्रकृतमनुसरामः-

इह हि दुरन्तानन्तचतुर्गत्यासारविसारिसंसारापारपारावारे निमज्जता भव्यजन्तुना जिनप्रवचनप्रतीतचोल्लकाऽऽदिदृष्टान्तनिदर्शनदुष्प्रापां कथमपि प्रशस्तसमस्तमनुजजन्माऽऽदिसामग्रीमवाप्य भवजलधिसमुत्तरणप्रवणप्रवहणस्वधर्मसद्धर्मविधाने प्रयत्नो विधेयः । यद्वादि-'भवकोटीदुष्प्रापाम् , अवाप्य नृभवाऽऽदिसकलसामग्रीम् । भवजलधियानपात्रे, धर्मे यत्नः सदा कार्यः ॥ १ ॥" कामार्थयोस्तु बाधायामपि धर्मो रक्षणीयः, धर्ममूलत्वादर्थकामयोः । उक्तं च-"धर्मश्चेन्नावसीदेत, कपालेनापि जीवतः । आढ्योऽस्मीत्यवगन्तव्यं, धर्मवित्ता हि साधवः ॥१॥" अथवा-धर्मावाप्तौ कामार्थयोः क्षणिकत्वादरमणीया "जाव न दुक्खं पत्ता, माणब्भंसं च पाणिणो पायं । ताव न धम्मं गेण्हंति भावओ तेयलिसुय व्व ॥१॥" अथवा-"नेह लोके सुखं किञ्चिच्छादितस्यांहसा भृशम् । मितं च जीवितं नृणां, तेन धर्मे मतिं कुरु ॥ १ ॥" प्रक्रान्तमेव समर्थयन्नाह-"जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ । जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥ ३६ ॥" "ते धन्ना जे धम्मं, चरिउं जिणदेसियं पयत्तेणं । गिहिपासबन्धणाओ, उम्मुक्का सव्वभावेणं ॥ १ ॥" तथाहि-

"निर्वाणाऽऽदिसुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्रधर्मान्विते,
लब्धे स्वल्पमचारु कामजसुखं नो सेवितुं युज्यते ।

वैडूर्याऽऽदिमहोपलौघनिचिते, प्राप्तेऽपि रत्नाकरे ।
लातुं स्वल्पमतीसि काचशकलं, किं चोचितं साम्प्रतम् ॥१॥"

अपरञ्च-" वदत यदीह कश्चिदनुसंततसुखपरिभोगलालितः । प्रयत्नशतपरोऽपि विगत-व्यथमायुरवाप्तवान् नरः ॥ १ ॥ न खलु नरः सुरौघसिद्धा-सुरकिन्नरनायकोऽपि यः । सोऽपि कृतान्तदन्तकुलिशाऽऽक्रमण कृशितो न नश्यति ॥२॥ " मृत्युमुखप्रतिषेधस्योपायोऽपि न कश्चिदस्तीति । उक्तं च-

" नश्यति मौति याति विलमोनि करोति रसायनक्रियां ,
चरति गुरुव्रतानि विवराण्यपि विशति विशेषकातरः ।
तपति तपांसि चार्दान मितानि करोति च मन्त्रसाधनं,
तदपि कृतान्तदन्तयन्त्रककचक्रमणैर्विदार्यते ॥ १ ॥ "

अथवा-" जो वाससयं जीवइ, सुही भोगे य भुंजइ । तस्स वि सेविउं सेओ, धम्मो य जिणदेसिओ ॥ २ ॥ किं पुण सपच्चवाए, जो नरो निच्चदुक्खिओ । सुट्ठुयरं तेण कायव्वो, धम्मो य जिणदेसिओ ॥ २३ ॥ " तस्मात्-" नंदमाणो चरे धम्मं, वरं मे लट्ठतरं भवे । अनंदमाणो वि चरे, मा मे पावतरं भवे ॥ २४ ॥ " किञ्च-" न वि जाई कुलं वा वि, विज्जा ना-वि सुसिक्खिया । तारेइ नरं व नारिं वा, सव्वं पुण्णेहिँ वड्ढइ ॥ २५ ॥ पुण्णेहिं हायमाणेहिं, पुरिसागारो वि हायइ । पुण्णेहिं वड्ढमाणेहिं, पुरिसागारो वि वड्ढइ ॥ २६ ॥ " अथवा-" संघयणं संठाणं, उच्चत्तं आउयं च मणुयाणं । अणुसमयं परिहायइ, ओसप्पिणिकालदोसेणं ॥ १ ॥ कोहमयमाणलोभा, ओसन्नं वड्ढए य मणुयाणं । कूडतुलकूडमाणा, तेणऽणुमाणेण सव्वं ति ॥ २ ॥ विसमा अज्ज तुलाओ, विसमाणि य जणवएसु माणाणि । विसमा रायकुलाइं, तेण उ विसमाइँ वासाइं ॥ ३ ॥ विसमेसु य वासेसुं, हुंति असाराइँ ओसहिबलाइं । ओसहिदुब्बल्लेण य, आऊ परिहायइ नराणं ॥ ४ ॥ एवं परिहायमाणे, लोए चंदु व्व कालपक्खम्मि । जे धम्मिया मणुस्सा, सुजीवियं जीवियं तेसिं ॥ ५ ॥ " यतो मरणसमये-" पुत्ता चयंति मित्ता, चयंति भज्जा वि-यणेऽम्मयं चयति । तं मरणदेसकाले, ण चयइ सुविअज्जिओ धम्मो ॥ ११ ॥ धम्मो ताणं धम्मो, सरणं धम्मो गई पइट्ठा य । धम्मेण सुचरिएण य, गम्मइ अजरामरं ठाणं ॥ १२ ॥ पीइकरो वण्णकरो, भासकरो जसकरो रइकरो य । अभयकरो निव्वुइकरो, परत्त वी अज्जिओ धम्मो ॥१३॥ अमरवरेसु अणोवम-रूवं भोगोवभोगरिद्धी य । विन्नाण नाणमेव य, लब्भइ सुकएण धम्मेणं ॥ १४ ॥ देविंदचक्कवट्टि-त्तणाइँ रज्जाइँ इच्छिया भोगा । एयाइँ धम्मलाभो, फलाइँ जं चावि निव्वाणं ॥ १५ ॥ " किञ्च-" दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून् , यस्माद् धारयते ततः । धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद् धर्म इति स्मृतः ॥ १ ॥ " तस्मात्-" धम्माओ धणलाभो, त्ति जं पि वुत्तं तयं पि न हु जुत्तं । सव्वो वि हु पुरिसत्थो, धम्माउ चिय जओ भणिओ ॥१५॥" उक्तं च-"धनदो धनार्थिनां धर्मः, कामदः सर्वकामिनाम् । धर्म एवापवर्गस्य, पारम्पर्येण साधकः ॥१६॥ "

" धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः,
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमथवा पुत्रार्थिनां पुत्रदः ।
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमपरं नानाविकल्पैर्नृणां,
तत् किं यन्न ददाति किञ्च तनुते स्वर्गापवर्गावपि ॥ ५४ ॥ "

एवं च-" धर्मश्रवणे यत्नः, सततं कार्यो बहुश्रुतसमीपे । हितकाङ्क्षिभिर्नृसिंहै-र्वचनं ननु हारिभद्रीयम् ॥ १७ ॥ " अनेकविद्याविशारदोऽपि धर्मशास्त्रानभिज्ञो विकल एव । यदुक्तम्-

" साहित्यस्य विशारदो यदि परं जानाति लक्षणं,
तर्के कर्कशमानसोऽतिविभुता यद्यस्ति सा ज्योतिषि ।
किञ्चानेककलाऽऽलयोऽपि विकलः प्राज्ञो परं गीयते,
यो जानाति न स्वर्गमोक्षसुखदं धर्मानुगं शासनम् ॥१॥"

अथवा कियद् ब्रूमः-

"यत्प्रोद्दाममदान्धसिन्धुरघटं साम्राज्यमासाद्यते,
यन्निःशेषजनप्रमोदजनकं संपद्यते वैभवम् ।
यत्पूर्णेन्दुसमद्युतिर्गुणगणः संप्राप्यते यत्परं,
सौभाग्यं च विजृम्भते तदखिलं धर्मस्य लीलायितम् ॥१॥"

किञ्च-

" यन्न प्लावयति क्षितिं जलनिधिः कल्लोलमालाऽऽकुलो,
यत् पृथ्वीमखिलां धिनोति सलिलाऽऽसारेण धाराधरः ।
यच्चन्द्रोष्णरुची जगत्युदयतः सर्वान्धकारच्छिदं,
तन्निःशेषमपि ध्रुवं विजयते धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥१॥ "

किन्तु-साम्प्रतमनेकानि धर्माभिधेयधुराधराणि मिथ्यात्विमतानि प्रचलितानि सन्ति, ततो विवेकः कर्तव्यः । यदुक्तम्-" तं शब्दमात्रेण वदन्ति धर्मं, विश्वेऽपि लोका न विचारयन्ति । स शब्दसाम्येऽपि विचित्रभेदै-र्विभिद्यते क्षीरमिवार्जुनीयम्॥१॥" यथा-"लक्ष्मीं विधातुं सकलां समर्थं, सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनम् । परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः, सुवर्णवद्वञ्चन्त न भीतचित्ताः ॥१॥" अथवा-"सत्कारयशोलाभा-र्थिभिश्च मूढैरिहान्यतीर्थकरैः । अवसादितं जगदिदं, प्रियाण्यपथ्यान्युपदिशद्भिः ॥१॥" किञ्च-"प्रायेण हि यदपथ्यं, तदेव चाऽऽतुरजनप्रियं भवति । विषयाऽऽतुरस्य जगत-स्तथाऽनुकूलाः प्रिया विषयाः ॥१॥ " अन्यच्च-"पूर्वापराविरुद्धानि, हिंसाऽऽदेः कारकाणि च । वचांसि चित्ररूपाणि, व्याकुर्वद्भिर्निजेच्छया ॥३॥ कुतार्थिकैः प्रणीतस्य, सद्गतिप्रतिपन्थिनः । धर्मस्य सकलस्यापि, कथं स्वाऽऽख्यातता भवेत् ? ॥४॥ यच्च तत्समये क्वापि, दयासत्याऽऽदिपोषणम् । दृश्यते तद् वचोमात्रं, बुधैर्ज्ञेयं न तत्त्वतः ॥ ५ ॥" किन्तु-"स्वाऽऽख्यातः खलु धर्मोऽयं, भगवद्भिर्जिनोत्तमैः । यं समालम्बमानो हि, न मज्जेद् भवसागरे ॥ १ ॥ " अतः-" अर्हता कथितो धर्मः, सत्योऽयमिति भावयन् । सर्वसंपत्करे धर्मे, धीमान् दृढतरो भवेत् ॥१॥ " अत एवोक्तम्-" न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु । यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु, त्वामेव वीरं प्रभुमाश्रयामः ॥१॥ " अथवा-"पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम् । अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥१॥ " इति ।

इह हि हेयोपादेयाऽऽदिपदार्थसार्थपरिज्ञानप्रवीणस्य जन्मजरामरणरोगशोकाऽऽदिदुर्गदौर्गत्यानिपीडितस्य भव्यसत्त्वस्य स्वर्गापवर्गाऽऽदिसुखसंपत्संपादनावन्ध्यनिबन्धनं सद्धर्मरत्नमुपादातुमुचितं, तदुपादानोपायश्च गुरूपदेशमन्तरेण न सम्यक् विज्ञायते, न चानुपायप्रवृत्तानामभीष्टार्थसिद्धिरिति । स चाऽऽज्ञाऽऽदिपदार्थसार्थस्वरूपपर्यालोचनैकाग्रतारूपस्य धर्मस्य ध्यानावस्थितिरिति । तच्च ध्यानं द्विविधम्-बाह्यम् , आध्यात्मिकं च । तत्र बाह्यम्-सूत्रार्थपर्यालोचनम् , दृढव्रतता, शी-

तद्गुणानुरागो, निभृतकायवाग्व्यापारादिरूपम्। यदुक्तं दशवैकालिकटीकायाम्-"सूत्रार्थसाधनमहाव्रतधारणेषु, बन्धप्रमोक्षगमनाऽऽगमहेतुचिन्ता। पञ्चेन्द्रियव्युपरमश्च दया च भूते, ध्यानं तु धर्ममिति संप्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ १ ॥" आत्मनः स्वसंवेदनाग्राह्यमन्येषामनुमेयमाध्यात्मिकं तु तत्त्वार्थसंग्रहाऽऽदौ चातुर्विध्येन प्रदर्शितं, संक्षेपतोऽन्यच्च दशविधम्। तद् यथा-" अपायोपायजीवाजीवविपाकविरागभवसंस्थानाऽऽज्ञाहेतुविचयाभिधं चेति। " तथाहि-दुष्टमनोवाक्कायव्यापारविशेषाणामपायः कथमनुमानं स्यादित्येवंभूतः संकल्पप्रबन्धो दोषपरिवर्जनस्य कुशलप्रवृत्तित्वादपायविचयम्। तेषामेव कुशलानां स्वीकरणमुपायः स कथमनुमेयः स्यादिति संकल्पप्रबन्ध उपायविचयम्। असंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकसाकारानाकारोपयोगलक्षणानादिस्वकृतकर्मफलोपभोगित्वाऽऽदिर्जीवस्वरूपानुचिन्तनं जीवविचयम्। धर्माधर्माऽऽकाशकालपुद्गलानामनन्तपर्यायाऽऽत्मकानामजीवानामनुचिन्तनमजीवविचयम्। मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नस्य पुद्गलाऽऽत्मकस्य मधुरकटुफलस्य कर्मणः संसारिसत्त्वविषयविपाकविशेषानुचिन्तनं विपाकविचयम्। कुत्सितमिदं शरीरकं शुक्रशोणितसमुद्भूतमशुचिभृतघटोपममनित्यमपरित्राणं सदाऽशुचि नवच्छिद्रतयाऽशुचि आधेयाशौचं न किञ्चिदत्र कमनीयतरं समस्ति, किम्पाकफलोपभोगोपमाः प्रमुखरसिका विपाककटवः प्रकृत्या भङ्गुराः पराधीनाः सन्तोषामृताऽऽस्वादपरिपन्थिनः सद्भिर्निन्दिता विषयाः, तदुद्भवं च सुखं दुःखानुषक्तं दुःखजनकं च, नातो भोगिनां तृप्तिः, न चैतदात्यन्तिकमिति नाऽत्राऽऽस्था विवेकनाऽऽधातुं युक्तेति विरतिरेवातः श्रेयस्कारिणीत्यादिविरागहेतुचिन्तनं वैराग्यविचयम्। प्रेत्य स्वकृतकर्मफलोपभोगार्थं पुनः प्रादुर्भावो भवः, स चारघट्टघटीयन्त्रवद् मूत्रपुरीषान्त्रतन्त्रनिबद्धदुर्गन्धजठरपुरकोटराऽऽदिष्वजस्रमावर्तनं, न चात्र किञ्चिद् अन्तः स्वकृतकर्मफलमनुभवतश्चेतनमचेतनं वा सहायभूतं शरणतां प्रतिपद्यत इत्यादिभवसंक्रान्तिदोषपर्यालोचनं भवविचयम्। तथा च-" संसाराम्बुनिधौ सत्त्वाः, कर्मोर्मिपरिघट्टिताः। संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते, तत्र कः कस्य बान्धवः ? ॥ १ ॥" तथा-" अत्यायतेऽस्मिन् संसारे, भूयो जन्मनि जन्मनि। सत्त्वो नैवास्त्यसौ कश्चिद्, यो न बन्धुरनेकधा ॥ १ ॥" भवन-वन-नग-सरित्-समुद्रभूरुहाऽऽदयः पृथ्वीव्यवस्थिताः, साऽपि घनोदधिघनवाततनुवातप्रतिष्ठा, तेऽप्याकाशप्रतिष्ठाः, तदपि स्वाऽऽत्मप्रतिष्ठं, तथाऽधोमुखमल्लकसंस्थानं वर्णयन्त्यधोलोकमित्यादिसंस्थानानुचिन्तनं संस्थानविचयम्। अतीन्द्रियत्वाद् हेतूदाहरणाऽऽदिसद्भावेऽपि बुद्ध्यातिशयशक्तिविकलैः परलोकबन्धमोक्षधर्माऽधर्माऽऽदिभावेष्वत्यन्तदुःखबोधेष्वाप्तप्रामाण्यात् तद्विषयं तद्वचनं तथैवेत्याज्ञाविचयम्। आगमविषयप्रतिपत्तौ तर्कानुसारिबुद्धेः पुंसः स्याद्वादप्ररूपकाऽऽगमस्य कषच्छेदतापशुद्धिसमाश्रयणीयत्वगुणानुचिन्तनं हेतुविचयम्। एतच्च सर्वं धर्मध्यानम्, श्रेयोहेतुत्वाद् इति सर्वं सुस्थम्। इतोऽप्यधिकविषयजिज्ञासुभिः सूक्ष्मधिया 'धर्म' शब्दोऽत्र निरीक्षणीयः। प्रतायते नेह, विस्तरभयादिति।

उपसंहारः-

इह संसारे स्वभावत एव शरीरिमात्रमिष्टमभिलाषुकमनिष्टं च्युदासिसिषु चास्तीतीष्टाऽनिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनैकपर्येण भगवाँस्तीर्थङ्करचक्रचूडामणिर्वर्धमानो जीवाऽजीवाऽऽदिनवतत्त्वविभागप्रविभागभक्तां सर्वाभ्युदयसाधनां नानाविधसमष्टिव्यष्टिफलां द्वादशाङ्गीमेकादशाङ्गीं वाऽर्थतो विदधद्भिदधौ तन्निष्कर्षं निजचरणान्तेवासिभ्यो धीरधौरेयेभ्यो गणधरप्रवरेभ्यो गौतमाऽऽदिभ्यः। जग्रन्थुश्च सुधर्मस्वामिप्रमुखा जम्बूस्वामिप्रभृतिमुपलक्ष्यार्द्धमागधीभाषयाऽङ्गोपाङ्गानि। गहनातिगहनतया च तद्विषयाणां संक्षिप्ततराणां तेषां क्रमशो विस्तारमारेभिरेऽन्ये चाऽऽचार्याः। यद्यपि किल दुष्षमारप्रभावतः पुरुषाणां मन्दमतितया स्मरणशक्तिदौर्बल्यतया च श्रीमान् भद्रबाहुस्वामी तत्सङ्ग्रहमात्रसूचिकाभिर्निर्युक्तिगाथाभिर्निबबन्ध विषयान् सद्यः स्फूर्तिकराभिः, तथाऽपि साम्प्रतकालीनबलवत्तरपञ्चमकालप्राज्यसाम्राज्यतो दुर्बलतरधिषणानां जनानां मनःसु कथाशेषतामेवागमत् तद् जैनसिद्धान्तरहस्यमिति सम्प्रधार्यैव श्रीमद्विजय "राजेन्द्रसूरीश्वर" महानुभावाः साङ्गमुत्तानबद्धर्थगुम्फनं परमोपयोगिसकलाऽऽगमविषयसंग्रहाऽऽत्मकं कोशममुं व्यरीरचन्निति क्रियासमभिहारेण तत्र तत्रोपोद्घातप्रस्तावभूमिकाऽऽदौ निरूपितमस्माभिः। श्रीमन्तो विजयराजेन्द्रसूरीश्वराः खलु दुर्लभगुणगणमूर्तय इत्यत्र किमिव बहु ब्रूमः ?, किन्त्वेतावदेव पर्याप्तं नाम, यदिह प्रायोऽनेकगुणगणभाजोऽन्ये सूरयो दर्शनामादिशन्तोऽपि नो खलु प्राप्नुवन्ति तथाविधं विपश्चिल्लाञ्छनकवैदुष्यशालित्वम्। अथवा-किं बहुना सकललोकप्रसिद्धस्य तस्य परिचयप्रदानेन। प्रकृतं प्रस्तुमः-एतद्ग्रन्थपरिशोधनविषये छेदाऽऽदिग्रन्थानां केवलमेकैकाऽऽदर्शपुस्तकलाभात् लेखकानवधानतो द्विगात्रिपङ्क्तिवैकल्याऽऽदिदोषाऽऽघ्रातत्वाच्च तेषामनेककालतः पठनपाठनपरिपाटीविरहात् बहुषु स्थलेषु साम्प्रत्याभावात् सम्मत्यादितर्कग्रन्थानामपि जटिलातिजटिलविषयेषु विद्वत्तरलेखकस्खलनमन्तुप्रणायनोत्पन्नकत्वाद् महती दुःस्थता समुद्भूता, तथापि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि। ' इति स्मरणात् " प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः, प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः। विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः, प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥ १ ॥ " इत्यनुस्मरणाच्च मूलग्रन्थं टीकातो, टीकाग्रन्थं च मूलतो विविच्य, निशीथमहानिशीथाऽऽदिकेवलार्द्धमागधीग्रन्थानां टीकाविकलानां प्राकृतव्याकृत्याऽऽदिसाहाय्यात् तत्प्रकृतविषयप्रतिपादकग्रन्थान्तरमननाच्च गुरुचरणसरोजमकरन्दसमास्वादनलब्धनवनवोन्मेषशालिप्रज्ञावद्भिरस्माभिर्दत्तावधानतः संशोधितोऽयं कोशग्रन्थो, विशेषतश्चायं भागः, परन्तु-

I deem no skill in acting perfect, till the learned are satisfied: the heart of even those, that are deeply read, has little confidence in itself अथवा-When delegated agents successfully carry out any great uudertaking, the credit of success belongs to their masters गुरवः Could dawn ever dispel darkness, had not the thousand-rayed luminary placed her, in front of his car ?.

इति निवेदयन्ति-

संशोधकाः ।

अर्हम् ।

ग्रन्थनिर्माणकारणम्-

श्रीवर्धमानजिनगौतमसत्सुधर्म-
जम्बूमुनीन्द्रजगदर्चितजद्रबाहोः ।
यो वर्धितो निजकृपोदकसेचनाभि-
र्धर्मद्रुमो निखिलधर्मतरुप्रधानः ॥ १ ॥

काले गते बहुतिथेऽथ विलुण्ठितं तं,
मूलार्थविप्लवनसाहसमाश्रयद्भिः ।
मिथ्यात्विभिः पुनरपीह समुद्दधीर्षुः,
सूरीश्वरो भुवि दयोदधिराविरासीत् ॥ २ ॥

कामाऽऽदिवैरिनिवहोन्मथनात्सुहृष्टः,
बाह्याऽऽन्तरोजयविचित्रचरित्रदृष्टः ।
कारुण्यपूर्णरसपूरितभव्यपुण्य-
नीराब्धिसंगतसुधोन्मथने समर्थः ॥ ३ ॥

चेतोऽन्धकारहरणे विरोचनो,
राजेन्द्रसूरिर्विबुधार्चिताङ्घ्रिकः ।
संघोपकर्ता न च कोऽपि तादृशः,
पुण्यैकमूर्तिर्भविकौघबोधदः ॥ ४ ॥

निजमतच्युतिजैनमतग्रहा-
न्यतरमाहवभङ्गपणं दिशन् ।
विततवादकथासमरे परान्,
व्यजयताऽजयतां प्रथयन्निजाम् ॥ ५ ॥

अथ विजित्य दिशो दश शिष्यतां,
गतवतः करुणावरुणाऽऽलयः ।
मुनिगणान् नववादरणाङ्गणे,
निजधियाऽजधिया समयोजयत् ॥ ६ ॥

सूत्राण्युपास्य तदुपोद्भलितैः स्ववाक्यै-
राख्यानकैश्च विततैर्निजदेशनाभिः ।
यो जैनसंघमखिलं कृपयोद्दधार,
सूरिः स वै विजयते कृत पवित्रकीर्तिः ॥ ७ ॥

इत्थं स जैनाऽऽगममत्र लोके,
सम्यग् व्यवस्थाप्य न संतुतोष ।
कालक्रमेणास्य पुनर्विनाश-
माशङ्कमानो विजितान्यमानः ॥ ८ ॥

ततोऽभ्यगात् शिष्यगणैः सुविज्ञै-
र्वृतो विहारेण मरुस्थलं तु ।
उवास कालं चिरमास्मतत्त्वं,
तान् बोधयन् धर्मशिरःप्रतिष्ठम् ॥ ९ ॥

अथैकदा संसदि सन्निविष्टो,
निजाऽऽप्तशिष्याऽऽदिविभूषितायाम् ।
सङ्घोपकारं च निजाभिलाषं,
व्यजिज्ञपत् सूरिवरः कृपालुः ॥ १० ॥

जैनाऽऽगमानां निजयुक्तियोगात्,
संयोकुमेकत्र नवीनरीत्या ।
कोशं विधित्सामि जिनेन्द्रभाषा-
मयं न लुप्येत यतः कदाचित् ॥ ११ ॥

श्रुत्वा पुनस्तमुपदेशवरं प्रहृष्टा-
मूर्भ्नाऽग्रहीषत गुरोरनुशासनं तत् ।
संगृह्य द्रव्यमतुलं च ततोऽभिधान-
राजेन्द्रकोशममलं निरमापयँस्ते ॥ १२ ॥

इति विज्ञपयन्ति-

श्रीमदुपाध्यायमोहनमुनयः ।

॥ श्रीः ॥

दृप्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी-
राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनश्रुतः ।
संघस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः,
कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ॥

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

अभिधानराजेन्द्रः ।

नमिऊण वद्धमाणं, सारं गहिऊण आगमाणं च ।
अहुणा चउत्थभागं, वोच्छं अभिहाणराइंदे ॥ १ ॥

जकार

ज-ज-पुं० । जकारो व्यञ्जनवर्णभेदः स्पर्शसंज्ञकः, तस्योच्चारणस्थानं तालु, आभ्यन्तरप्रयत्नः जिह्वामध्यभागेन तालुस्पर्शः । बाह्यप्रयत्नाश्च घोषसंवारनादाः, अल्पप्राणश्च । वाच० । जि-जन-जु वा डः । मृत्युञ्जये, जन्मनि, पितरि, जनार्दने, त्रि० । विषे, मुक्तौ, तेजसि, पिशाचे, वेगे, जेतरि । वाच० । " जः पुमान् विजये भेरौ, विस्तरे मत्सरे जने ॥ २४ ॥ जस्तूर्यविरत शब्दे,जा स्त्रियां देववाहिनी । यानिः समुद्रवेला च, जं नपुंसकमम्बुनि " ॥ २५ ॥ एका० । गुरुमध्ये प्रान्तयोर्लघुद्वययुक्ते छन्दःशास्त्रप्रसिद्धे (। ऽ ।) त्रिवर्णे जगणे च । वाच० ।

य-त्रि० । "यकारः पुंसि यवनो-पमे, दातरि, मातरि ॥ ७० ॥ त्यागाग्रययवयोः शिष्ये, विनये कल्पपादपे । या स्त्रियामनसूयायां, शोभालक्ष्म्यां च निर्मितौ ॥ ७१ ॥ नपुंसके यकारस्तु यशोरूपकयोर्भवेत् " । इत्यादि । एका० ।

यद्-त्रि० । यज् आदि-डिच् । 'जो' इत्येवं बुद्धिविशेषविषये, वाच० । अनिर्दिष्टनिर्देश्ये, नं० । आ० म० । नि० चू० । " जे त्ति वा से त्ति वा के त्ति वा एवमादिनिद्देसवायगा होंति । जंकारस्स निद्देसमनिद्दरिसणं, जे असंतएण अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाइ" इत्यादि । नि० चू० । " जगारो पुण अणिद्दिट्ठवायगुद्देसे, जहा जेण य जं च पवुच्चेत्यादि । अहवा-जहा इमा च्चेव जगारो उस्सग्गऽववायविषए पडिसेविय त्ति न निद्दिट्ठं गुरुं लहुं वा जयणाए, जयणाहि वा, तेण जगारेण निद्देसो कृतेत्यर्थः । अहवा-जेकारेण अनिद्दिट्ठभिक्खुस्स निद्देसो कतो " । नि० चू० २० उ० । यदित्युद्देशः । आव० ४ अ० ।

जइ-यति-पुं० । यत् इन् । यतते चारित्रं प्रति प्रयतो भवतीति यतिः । चरणोद्यते साधौ, औ० । यतते उत्तरगुणेषु विशेषत इति यतिः । विविधद्रव्याऽऽद्यभिग्रहाऽऽद्युपेते साधौ, रा० । तपस्विनि साधौ, आव० १ अ० । साधौ, दर्श० ४ तत्त्व । प्रयत्नवति, द्वा० ६६ द्वा० । 'यती' प्रयत्ने, "जयमाणो जई होइ" नि० चू० २० उ० । यतमानो भावतस्तथा तथा गुणेषु यतिर्भवेत् । द्वा० ५ द्वा० । धर्मक्रियासु प्रयत (प्रवर्त) माने, भ० १ श० ३३ उ० । ओघ० । प्रव्राजिते, पं० व० २ द्वार । नि० चू० । गृहीतप्रव्रज्यो यतिरुच्यते । तथा च धर्मबिन्दुः-"एवं यः शुद्धयोगेन, परित्यज्य गृहाऽऽश्रमम् । संयमे रमते नित्यं, स यतिः परिकीर्तितः ॥१॥ " ध० ३ अधि० । संवासानुमतेरपि विरते, क० प्र० । मुनौ, पञ्चा० १ विव० । संयते, दश० ३ अ० । चतुर्थाऽऽश्रमिणि, द्वा० २७ द्वा० । ध० । "ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।" इति लोकप्रसिद्धचतुर्थाऽऽश्रमिणि, नि० ३ वर्ग । यस्यते जिह्वा यत्र । यम क्तिन् । छन्दोग्रन्थविख्याते जिह्वाया विश्रामस्थाने उच्चारणकालविच्छेदे, स्त्री० । सा च "क्वचित् छन्दस्यास्ते यतिरभिहिता पूर्वकविभिः पदान्ते सा शोभां व्रजति पदमध्ये त्यजति च ।" इत्याद्युक्त्या सुप्तिङन्तरूपपदान्त एव छन्दोग्रन्थानुसारेण जिह्वाया विश्रामरूपोच्चारणाभावरूपा । विधवायां, रागे, सन्निधौ, पाठविच्छेदे, निकारे, त्रिवर्णे, वाद्याङ्गप्रबन्धभेदे च । यत्-परिमाणे डतिः । यत्परिमाणे त्रि० । वाच० । स्था० ।

यतिन्-पुं० । यम-भावे क्तः । यतं यमनं, यतमनेन इनिः । संन्यासिनि परिव्राजके, विधवायां, स्त्री० । ङीप् । वाच० । विच्छेदे, आ० म० प्र० । विरतौ, अनु० । "श्रेया सकामा यतिनाम" इति योगशास्त्रे हैमप्रयोगः ।

जयिन्-त्रि० । जयवति, औ० ।

जविन्-त्रि० । वेगवति, औ० ।

यदि-अव्य० । यद्-णिच्-इन्-णिलोपः । पक्षान्तरे, संभावनायां,गर्हायां, विकल्पे च । वाच० । अभ्युपगमे, नि० चू० १ उ० । जी० । पञ्चा० । आव० । आ० म० । दश० । यदीति पराभ्युपगमसंसूचकः । दश० १ अ० ।

जइअव्व-यतितव्य-न० । कार्ये प्रयत्ने, पं० व० १ द्वार । "जइअव्वं आणा" प्राप्तेषु संयमयोगेषु प्रयत्नः कार्यः । भ० १ श० ३३ उ० । ऐहिकाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना सत्त्वेन प्रवृत्त्यादिलक्षणः प्रयत्नः कार्यः । प्रयतितव्ये, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । कार्ये उद्यमे, पं० व० १ द्वार । घटितव्ये, नि० चू० ११ उ० ।

जइकिच्च-यतिकृत्य-न० । साधोः कर्तव्ये, पञ्चा० १२ विव० । साध्वनुष्ठाने, जीवा० २५ अधि० ।

जइच्छा-यदृच्छा-स्त्री० । यद्-ऋच्छ अ-टाप् । स्वातन्त्र्ये, स्वैरतायां च । "यदृच्छालाभसंतुष्टः," वाच० । अनभिसंधिपूर्विकार्थप्राप्तौ, (आचा०) यदृच्छातोऽपि नाकितत्त्वमात्मनः, का पुनर्यदृच्छा ?, अनभिसंधिपूर्विकाऽर्थप्राप्तिर्यदृच्छा ।
"अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातम् । काकस्य तालेन तथाऽभिघातो,न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽभिमानः ॥१॥ सत्यं पिशाचस्य वने वसामो, भेरीं कराग्रैरपि न स्पृशामः । यदृच्छया सिद्धयति लोकयात्रा,भेरीं पिशाचाः परिताडयन्ति "२ यथा काकतालीयमबुद्धिपूर्वकं, न काकस्य बुद्धिरस्ति-मयि-तालं पतिष्यति, नापि तालस्याभिप्रायः-काकोपरि पतिष्यामि, अथ तत्तथैव भवति, एवमन्यदप्यतर्कितोपगतमजाकृपाणीयमानुरभ्रपजीयमन्धकएटकीयमित्यादि द्रष्टव्यम् । एवं

सर्वजातिजरामरणाऽऽदिकं लोके याहच्छिकं काकतालीयाऽऽदिकल्पमवसेयम् । आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ० । एवमेव यदृच्छया गोपालदारकादिर्नाम क्रियते 'डित्थ, डवित्थ' इत्यादि । आ० म० प्र० ।

जइच्छावाइ[ण्]-यदृच्छावादिन्-पुं० । अकारणोत्पत्तिवादिनि, नं० । यदपि यदृच्छावादिनः प्रलपन्ति-न खलु प्रतिनियतो वस्तूनां कार्यकारणभाव इत्यादि । तदपि च कार्याकार्यविवेचनपटीयःशेमुषीविकलतासूचकम्, कार्यकारणभावस्य प्रतिनियततया संभवात् । तथाहि-यः शालूकादुपजायते शालूकः स सदैव शालूकादेव, न गोमयादपि । योऽपि च गोमयादुपजायते शालूकः सोऽपि सदैव गोमयादेव, न शालूकादपि । न चानयोरेकरूपता, शक्तिवर्णाऽऽदिवैचित्र्यतः परस्परं जात्यन्तरत्वात् योऽपि च वह्नेरुपजायते वह्निः सोऽपि सदैव वह्नेरेव, नारणिकाष्ठादपि । योऽपि चारणिकाष्ठादुपजायते सोऽपि सर्वदाऽरणिकाष्ठादेव, न वह्नेरपि । यदपि चोक्तम्—बीजादपि जायते कदल्यादि । तत्रापि परस्परं विभिन्नत्वादितरेतरम् अपि च-या कन्दादुपजायते कदली सापि परमार्थतो बीजादेव वेदितव्या, परम्परया बीजस्यैव कारणत्वात् । एवं वटाऽऽदयोऽपि शाखैकदेशादुपजायमानाः परमार्थतो बीजादेव गन्तव्याः, शाखातः शाखा प्रभवति, न च सा शाखा शाखाहेतुका लोके व्यवह्रियते, किन्तु वटबीजस्यैव, सकलशाखाप्रशाखाऽऽदिसमुदायस्य वटहेतुत्वेन प्रसिद्धत्वात् । एवं शाखैकदेशादुपजायमानो वटः परमार्थतो मूलवटप्रशाखारूप इति मूलवटबीजहेतुक एव सोऽपि वेदितव्यः । तस्मान्न क्वचिदपि कार्यकारणव्यभिचारः, निपुणविचारप्रवीणेन च प्रतिपत्त्रा भवितव्यं, ततो न कश्चिद्दोषः । एवं च यदुच्यते-न खल्वन्यथा वस्तुसद्भावं पश्यन्तोऽन्यथाऽऽत्मानं प्रज्ञावन्तः परिक्लेशयन्तीति वाङ्मात्रमिति स्थितम् । नं० ।

जइजण-यतिजन-पुं० । साधुलोके, आव० ६ अ० । सूत्र० । आ० । "वज्जेयव्वो य सया, सुयप्पमाओ जइजणेणं" । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

जईजीयकप्प-यतिजीतकल्प-पुं० । श्रीसोमप्रभसूरिविरचिते यतिजीतकल्पनामके प्रकरणे, एतद्वृत्तिश्च श्रीसाधुरत्नसूरिकृताऽस्ति । ग० १ अधि० ।

जइजुत्त-यतियुक्त-त्रि० । परिवारभूतसाधुभिर्मिश्रिते, ध० ३ अधि० ।

जइजोग-यतियोग-पुं० । स्वाध्यायादिसाधुव्यापारे, पञ्चा० ८ विव० ।

जइण-जैन-त्रि० । जिनः केवली, तस्यायं जैनः । जिनसंबन्धिनि, विशे० । सर्वज्ञसंबन्धिनि, नि० चू० १ उ० । "जइणसासणवइरित्ता परा" नि० चू० १ उ० । अतिशीघ्रगतौ, "लंघण पवण जइण—समत्थे" रा० । औ० । (एतद्वक्तव्यता 'जिण' शब्दे चतुर्थभागे १४५६ पृष्ठे वक्ष्यते)

जयिन्—त्रि० । जयवति, औ० ।

जविन-त्रि० । वेगवति, "लंघण-वग्गण-धावण-धोरण-तिवइ-जइण-सिक्खिअ-गईणं" । वृत्तिर्यथा-जयिनीगमनान्तरजयवती जविनी वा वेगवती । औ० । जविनशब्दः शीघ्रवचनः । अनु० । शीघ्रे, " उवइयउप्पइयतुरियचवलजइणसिग्घवेगाहिं" औ० ।

जविन-त्रि० । अतिशीघ्रगतौ, " लंघण-पवण-जइण-पमद्दणसमत्थे " रा० ।

जइणटिप्पणग-जैनटिप्पनक-न० । जैनाऽऽम्नायेन निष्पादिते टिप्पनके, तट्टिप्पनकं त्वधुना सम्यग् न ज्ञायते । कल्प० ७ क्षण ।

जइणवायाम-जविनव्यायाम-पुं० । शीघ्रव्यापारे, " लंघणपवणजइणवायामसमत्थं " उत्त० ६ अ० । जविनशब्दः शीघ्रवचन । अनु० ।

जइणवेग-जयिवेग-पुं० । शत्रुवेगवद्गजयिनि वेगे, भ० ३ श० २ उ० ।

जइणी-जैनी-स्त्री० । जिनसंबन्धिन्याम्, पञ्चा० ३ विव० । प्रति० ।

जयिनी-स्त्री० । जयवत्याम्, औ० ।

जविनी-स्त्री० । वेगवत्याम्, औ० ।

जइत्ता-जित्वा-अव्य० । जयं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ६ ठा० २ उ० ।

जैत्री-स्त्री० । रिपुबलजयकर्त्र्याम्, स्था० ६ ठा० २ उ० ।

जइदेवुत्तरवेउव्विय-यतिदेवोत्तरवैक्रिय-न० । यतिदेवैर्मूलशरीरापत्त्यनन्तरकालं क्रियमाणे वैक्रियशरीरे, तत्र यतयश्च साधवो देवाश्च सुरा यतिदेवाः । कर्म० १ कर्म० ।

जइदोस-यतिदोष-पुं० । छन्दःशास्त्रप्रसिद्धयतिभङ्गे, अस्थानविरतौ, सर्वथा विरतौ वा । विशे० । अनु० । अस्थानविच्छेदे, तदकरणे वा । आ० म० प्र० । तदात्मके सूत्रदोषभेदे, बृ० १ उ० ।

जइधम्म-यतिधर्म-पुं० । क्षान्त्यादिके दशविधे यतिधर्मे, उत्त० ४ अ० । "खंती अज्जव मद्दव, मुत्ती तव संजमे य बोधव्वे । सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो ॥१४॥" नवतत्त्व. (विशेषव्याख्या 'अणगारधम्म' शब्दे प्रथमभागे २७१ पृष्ठे लिखिता)

जइपज्जव-यति [पर्याय] पर्यव-पुं० । यतिदीक्षापालनकाले, पर्यायो द्विधा-गृहस्थपर्यायो, यतिपर्यायश्च । प्रव० ६७ द्वार ।

जइपज्जाय-यतिप [र्याय] र्यव-पुं० । 'जइपज्जव' शब्दार्थे, प्रव० ६७ द्वार ।

जइपज्जुवासणपर-यतिपर्युपासनपर-त्रि० । साधुसेवापरायणे, पञ्चा० ६ विव० ।

जइपरिसा-यतिपर्षद्-स्त्री० । चरणोद्यतसाधूनां पर्षदि, आ० । विचित्रद्रव्याभिग्रहाऽऽद्युपेतानां साधूनां पर्षदि, रा० ।

जइपुच्छा-यतिपृच्छा-स्त्री० । साधुशरीरसंयमवार्तापृच्छने, पञ्चा० १ विव० ।

जइय-जयिक-त्रि० । जयावहे, "जइएसु मध्यमउणेसु" जयिकेषु जयावहेषु सर्वशकुनेषु वायसादिषु । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । कल्प० । यदि च-अव्य० । यद्यन्यर्थे, कल्प० ४ क्षण ।

जइवंस-यतिवंश-पुं० । यतीनामन्वये, समवायाङ्गनामकचतुर्थाङ्गे च । तद्वंशस्य तत्र समवसरणाधिकारे प्रतिपादितत्वात् । स० ।

जइवा-यदिवा-अव्य० । प्रकारान्तरे, अथ वेत्यर्थे, उत्त० १ उ० ।

जइविस्सामण-यतिविश्र[आ]मण-न० । यतिदेहखेदविनोदने, यतीनां साधूनां वैयावृत्त्याऽऽदिभिःश्रान्तानां पृष्ठाऽऽलम्बनेन, तथाविधश्रावकादेरपि देहखेदापनोदमिच्छतो विश्रमणं खेदविनोदनं यतिविश्रमणम्, करणीयमिति गम्यते । एवं सर्वत्रौचितक्रियाध्याहारःकार्यः । प्राकृतत्वाच्च विश्रामयतेरुपान्त्यदीर्घत्वम् । यद्वा-विश्रामयतः करणमिति शतृङन्तस्य कारिते घुटि च विश्रामणमिति भवति । पञ्चा० १ विव० ।

जइस-यादृश-त्रि० । अपभ्रंशे यादृगर्थे, "अतां डइसः" । ८

। ४ । ४०३ । इति सूत्रेण अदन्तानां यादृशादीनामादेरवयवस्य डित 'अइस' इत्यादेशो भवति । 'जइसो'। प्रा०४ पाद।

जउगोल-जतुगोल-पुं० । लाक्षागोलके, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जउण-यमुन-पुं०। तन्नामकराजविशेषे,वो० वि०। संथा० ।(तत्कथानकं तु 'आप(ब)ई'शब्दे द्वितीयभागे २४६ पृष्ठे संगृहीतम्)

जउणअड-यमुनातट-त्रि० । कालिन्दीतीरे, "ईर्वेन्हस्वौ मिथो वृत्तौ" ८ । १ । ४ । इति सूत्रेण एके ह्रस्वता । प्रा० १ पाद ।

जउणराय-यमुनराज-पुं० । यमुनाख्यराजविशेषे,आव०४अ० ।

जउणा-यमुना-स्त्री० । "यमुनाचामुण्डाकामुकातिमुक्तके मोऽनुनासिकश्च" ।८।१।१७८। इति सूत्रेण मकारलोपः।प्रा०१ पाद। कालिन्द्यां नद्यां यमभगिन्यां सूर्यसुतायाम्, दुर्गायाम् , वाच०। सा च गङ्गां संगच्छते । स्था० १ ठा० २ उ० । यमुनानदीकूले पूर्वदिग्वधूकर्णाभरणमुक्ताफलकण्ठिकेव कौशाम्बी नाम नगरी । विशे० ।

जउणाअड-यमुनातट-त्रि० । कालिन्दीतीरे, प्रा० १ पाद ।

जउणाउर-यमुनापुर-मथुराया भागविशेषे , मथुराया यमुनापुरं समृद्धः । ती० ४५ कल्प ।

जउणावंक-यमुनावक्र-न० । यमुनातटवर्तिनि स्वनामकोद्याने, यो० वि० । "इत्थ जउणावंके जउणरायपण हयस्स दंडअणगारस्स केवले उप्पन्ने महिमत्थं इंदो आगओ । " ती० ६ कल्प ।

जउप्पन्न-जयोत्पन्न-न० । विंशतिव्याकरणेषु तन्नामके व्याकरणे, कल्प० १ क्षण ।

जउव्वेय-यजुर्वेद-पुं० । यजुषामृक्सामभिन्नानां मन्त्राणां प्रतिपादको वेदः । वेदभेदे,स च शुक्लकृष्णभेदेन द्विधा।तद्विवरणं चरणव्यूहे। वाच० । "रिउव्वेए जउव्वेए, सामवेए अथव्वणे ।" विपा० १ श्रु० ५ अ० । "चत्तारि वेया ।" अनु० ।

जओ-यतः-अव्य० । यस्मादित्यर्थे, यत्रेत्यर्थे च । उत्त० १ अ० ।

जं-यत्-अव्य० । यस्मादित्यर्थे, नि० चू० १५ उ० । "जं पि य मए इमस्स धम्मस्स " इत्यादिसूत्रे यमिति विभक्तिव्यत्ययाद् यः प्राणातिपात इति योगः। भाषामात्रे वा यदिति पदं व्याख्येयम् । पा०। अम्बुनि, यशोरूपकयोः, एका० ।

जंकिंचिभासग-यत्किञ्चिद्भाषक- पुं० । असंबद्धप्रलापिनि, पं० व० ४ द्वार ।

जंकिंचिमिच्छापडिक्कमण-यत्किञ्चिन्मिथ्याप्रतिक्रमण-न० । षड्भेदप्रतिक्रमणस्य पञ्चमे भेदे, "जं किंचि मिच्छ त्ति" । श्लेष्मसिङ्घाणाविधिनिसर्गाभोगानाभोगसहसाकाराद्यसंयमस्वरूपं यत् किञ्चित् मिथ्या असम्यक् तद्विषयं मिथ्येदमित्येवं प्रतिपत्तिपूर्वकं मिथ्यादुष्कृतकरणं यत्किञ्चिन्मिथ्याप्रतिक्रमणमिति ।

उक्तं च—

" संजमजोगे अब्भु-ट्ठियस्स जं किंचि तह समायरियं ।
मिच्छा एयं ति वियाणिऊण मिच्छ त्ति कायव्वं " ॥ १ ॥

तथा-

खेलं सिंघाणं वा, अप्पडिलेहापमज्जिओ तह य ।
वोसिरिय पडिक्कमई, तं पि य मिच्छुक्कडं देइ ॥१॥ " इत्यादि ।
स्था० ६ ठा० ।

जंगम-जङ्गम-त्रि० । गम-यङ्-अच् । सततगतियुते, "शरीरिणां स्थावरजङ्गमानाम " "गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः " वाच० । द्वीन्द्रियादित्रसजन्तौ, आ० । स्था० ।

जंगमविस-जङ्गमविष-न० । जङ्गमप्राणिनां नखदंष्ट्रादिगते विषे, दुष्टस्य प्राणिनो दंष्ट्राविषादिना यत् पीडाकारि तदपि जङ्गमविषम् । स्था० ६ ठा० ।

जंगल-जङ्गल-न० । गल-यङ्-अच्-पृषो० । वने , रहसि, मांसे, वाच० । निर्जलदेशे, बृ० । देशो द्विधा-अनूपो, जङ्गलश्च । नद्यादिपानीयबहुलोऽनूपः , तद्विपरीतो जङ्गलः, निर्जल इत्यर्थः । बृ० १ उ० । अहिच्छत्राप्रतिबद्धे आर्यदेशे च । प्रव० १४८ द्वार । प्रज्ञा० । सूत्र० ।

जंगा-देशी-गोचरभूमौ, दे० ना० ३ वर्ग ।

जंगिय-जाङ्गमिक-न० । जङ्गमजन्त्ववयवनिष्पन्ने कम्बलादौ वस्त्रभेदे, जङ्गमाज्जातास्तदवयवनिष्पन्नं जाङ्गमिकं कम्बलादि ।

इह गाथे-

" जंगमजायं जंगिय, तं पुण विगलिंदियं च पंचेंदि ।
एक्केक्कं पि य एत्तो, होइ विभागेणऽणेगविहं ॥ १ ॥
पट्टसुवण्णे मलए, अंसुए चीणंसुए य विगलिंदी ।
उण्णोट्टियमियलोमे, कुतवे किट्टीय पंचेंदी ॥ २ ॥ "

पट्टः सुवर्णं सुवर्णसूत्रं कृमिकाणां मलये मलयविषय एव अंशुकं श्लक्ष्णपट्टं, चीनांशुकं कोसिकाराख्योनविषयं वा यद्भवति श्लक्ष्णात् पट्टादिति मृगरोमजं शशलोमजं मूषकरोमजं वा, कुतपश्छागले किट्टिजमेतेषामेवावयवनिष्पन्नमिति । स्था० ५ ठा० ३ उ० । सूत्रे प्राकृतत्वाद् मकारलोपः । बृ० २ उ० । " जंगिओ अंगाइ " । नि० चू० १ उ० ।

जंगुलि-जाङ्गुलि-पुं० । गम-यङ्-लुक् वा गुलिः । विषवैद्ये, वाच० । स्त्री० । गारुडमन्त्रविशेषे, " जागर्ति ज्ञानदृष्टिश्चेत्, तृष्णाकृष्णाहिजाङ्गुलिः । पूर्णानन्दस्य तत् किं स्यात्, दैन्यवृश्चिकवेदना ? ॥ १ ॥ " अष्ट० १ अष्ट० ।

जंगुलिविज्जा-जाङ्गुलिविद्या-स्त्री० । विषविद्यायां, श्रावस्त्यां श्रीसंभवदेवो जाङ्गुलिविद्याऽधिपतिः । ती० ४५ कल्प ।

जंगोल-जाङ्गोल-न० । विषविघातक्रियाविधायके गदतन्त्रे,तद्धि सर्पकीटलूतादष्टविषविनाशार्थं विविधविषसंयोगप्रशमनार्थं च । विपा० १ श्रु० ७ अ० । एतद्धि आयुर्वेदस्य पञ्चमो भेदः । वाच० ।

जंगोली-जङ्गोली-स्त्री० । विषविद्यातन्त्रे, स्था० ८ ठा० ।

जंघट्ठिया-जङ्घास्थिका-स्त्री० । ऊर्वोः प्रतिष्ठानभूते जङ्घाया उपरिभागवर्तिनि अस्थनि, जङ्घास्थिकयोरूरूप्रतिष्ठितौ, तं० ।

जंघलोह-जङ्घलोह-पुं० । अनागतोत्सर्पिणीकालभाविनि द्वितीयप्रतिवासुदेवे, ति० ।

जंघा-जङ्घा-स्त्री० । जङ्घन्यते कुटिलं गच्छति । गत्यर्थकस्य हन्तेः कौटिल्ये यङ्-लुकि-अच्-पृषो० । गुल्फजान्वोरन्तराले अवयवे, पादजङ्घयोः संधाने गुल्फः, जङ्घयोः संधाने जानु नाम । " चत्वार्यरत्निकास्थीनि , जङ्घयोस्तावदेव च । " वाच० । जङ्घे जान्वोरधोवर्तिन्यौ । उत्त० ३ अ० । जं० ।

जंघाचर-जङ्घाचर-पुं० । पादचारिणि, अनु० ।

जंघाचारण-जङ्घाचारण-पुं० । चारणमुनिभेदे, ये चारित्रतपोविशेषप्रभावतः समुद्भूतगमनागमनविषयलब्धिसंपन्नास्ते जङ्घाचारणाः । प्रव० ६७ द्वार । आ० म० । प्रज्ञा० । प्रति० । रा० । नं० । लूतातन्तुनिर्वर्तितपुटकतन्तून् रविकरान् वा निश्रां कृत्वा जङ्घाभ्यामाकाशेन चरतीति जङ्घाचारणः । अस्य च सातिशयाष्टमलक्षणेन विकृष्टतपसा सर्वदैव तपस्यतो जङ्घाचारणलब्धिरुपजायते । विशे० । पा० । जङ्घाव्यापारोपकृताश्चारणाः जङ्घाचारणाः । भ० २० श० ८ उ० । ('चारण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११७२ पृष्ठे विशेषव्याख्योक्ता)

जंघाबल-जङ्घाबल-न० । जानुसामर्थ्ये, जी० १ प्रति० ।

जंघासंतारिम-जङ्घासंतार्य-त्रि० । जानुदघ्नादिके उदकादौ, आचा० २ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

जंणाम-यन्नाम-त्रि० । यानि नामानि यस्येति यन्नामा । यदभिधाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जंत-यन्त्र-न० । यन्त्रि-अच् । संयमने, प्रपञ्चविशेषे, रा० । जी० । " विज्जाहरजमलजुगलजंताणि " जी० ३ प्रति० । रक्षादियन्त्रे, जै० गा० । उच्चाटनाद्यर्थकरलेखनप्रकारके, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । यन्त्राणि नानाप्रकाराणि । जी०३ प्रति० । प्रज्ञा० । तद्यथा-जलयन्त्रमरघट्टकादि । स्था० ६ ठा० । प्रश्न० संवा० । प्रव० । तिलयन्त्रं प्राणकादि । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । जलसंग्रामादियन्त्राणि । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । पाषाणक्षेपयन्त्रम् । औ० । स० । रथोपकरणविशेषाः । ज्ञा०१ श्रु०१ अ० । शिलोदूखलमुशलादि । प्रव० ६ द्वार । तन्त्रोक्ते देवाद्यधिष्ठाने, चक्रभेदे, औषधपाकार्थे पात्रभेदे, ज्योतिश्चक्राद्यवेक्षणसाधने, पदार्थभेदने, सूत्रधारादिर्दारुबन्धकादौ पदार्थे, अम्बादेः क्षेपणसाधने पदार्थे, मन्त्रियन्त्रे, वाच० ।

जंतग-जन्त्रक-न० । यन्त्रमिव स्वार्थे कन् । दारुमयभ्रामकयन्त्रभेदे, वाच० । गन्धवादौ, ध० ४ अधि० ।

जंतपत्थर-यन्त्रप्रस्तर-पुं० । गोफणादि (यन्त्रमुक्त) पाषाणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । घरट्टादौ, वाच० ।

जंतपासग-यन्त्रपाशक-पुं० । द्यूते जयार्थे यन्त्रस्थापिते पाशके, आ० म० प्र० ।

जंतपिल्लणकम्म-यन्त्रपीडनकर्मन्-न० । उपभोगपरिभोगाख्यसप्तमव्रतस्य कर्मतोऽतिचारेष्वेकादशोऽतिचारे, यन्त्रेण तिलेक्षुप्रभृतीनां यत्पीडनरूपं कर्म तत् यन्त्रपीडनकर्म तस्मिन् , उपा० १ अ० । भ० । आ० चू० । आ० । पञ्चा० । आव० । यन्त्रे उदूखलादौ पीडनं धान्यखण्डनं तेन कर्म जीविका यन्त्रपीडनकर्म । (ध०) यन्त्रपीडनकर्म शिलोदूखलमुशलघरट्टारघट्टकतुलादिविक्रयः तिलेक्षुसर्षपैरण्डफलादि तस्य पीडनं दलतैलविधानजलयन्त्रवाहनादि वा । यतः-"तिलेक्षुसर्षपैरण्ड-जलयन्त्रादिपीडनम् । दलतैलस्य च कृति-र्यन्त्रपीडा प्रकीर्तिता " ॥ १ ॥ अत्र यन्त्रशब्दः प्रत्येकं संबध्यते, तत्र तिलयन्त्रं तिलपीडनोपकरणम् , इक्षुयन्त्रं कोल्हुकादि, सर्षपैरण्डयन्त्रे तत्पीडनोपकरणे, जलयन्त्रमरघट्टादि, दलतिलं यत्र दलं तिलादि दीयते तैलं च प्रतिगृह्यते तद्दलतैलं, तस्य कृतिर्विधानम् । अत्र दोषस्तु तिलादिसोदरात्तत्रसजीववधात् । औघिका अप्याहुः-" दशशूना समं चक्रम्" इति । ध० २ अधि० । प्रव० ।

जंतपीलणकम्म-यन्त्रपीडनकर्म-न० । ' जंतपिल्लणकम्म ' शब्दार्थे, उपा० १ अ० ।

जंतपुरिस-यन्त्रपुरुष-पुं० । लोहमये यन्त्रेण च पुरुषचेष्टाकारके पुत्तलके, आ० म० प्र० ।

जंतलट्ठी-यन्त्रयष्टी-स्त्री० । यन्त्रोपयोगिनि लकुटे,दशा० ७ अ० ।

जंतवाडयचुल्ली-यन्त्रपा (वा) टकचुल्ली-यन्त्राणीक्षुपीडनयन्त्रं तत्प्रधानः पा(वा)टका यन्त्रपा(वा)टकः, तत्र चुल्ली यन्त्रपा(वा)टकचुल्ली । इक्षुरसपाकाय कृतायां चुल्ल्याम्, जी० ३ प्रति० । स्था० ।

जंतवाहण-यन्त्रवाहन-न० । पञ्चदशकर्मादानान्तर्गतयन्त्रपीडनकर्मणि , प्रव० ६ द्वार ।

जंतु-जन्तु-पुं० । जन-तुन् । जायते इति जन्तुः । उत्त० ३ अ० । भ० । प्राणिनि , सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । पं० व० । आचा० । आ० म० । विशे० । जीवद्रव्ये, उत्त० १३ अ० ।

जंतुग-जन्तुक-न० । वनस्पतिविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । तृणविशेषोत्पन्ने संस्तारके, आचा० २ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

जंतुजोहण-जन्तुयोधन-न० । कुक्कुटादीनां परस्परेणाहनने, ध० २ अधि० ।

जंपंत-जल्पत्-त्रि० । ब्रुवाणे , प्रश्न० ३ संव० द्वार । सूत्र० ।

जंपग-जल्पक-त्रि० । भाषके, " बहुविहअलियसयजंपयाणं " वृत्तिः-बहुविधालीकशतजल्पकानाम् । प्रश्न०३ आश्र० द्वार ।

जंपमाण-जल्पमान-त्रि० । ब्रुवाणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जंपाण-जम्पान-न० । द्विहस्तप्रमाणे चतुरस्रे वेदिकोपशोभिते गोल्लदेशप्रसिद्धे युग्यनाम्नि वाहने, कूटाकारच्छादितायां शिबिकायाम्, पुरुषप्रमाणायां स्यन्दमानिकायां च । स्था० ४ ठा० ३ उ० । अनु० । औ० । जं० । जी० । ज्ञा० । पर्यङ्कादौ, दशा० ६ अ० ।

जंपिर-जल्पितृ-त्रि० । " शीलाद्यर्थस्येरः " । ८ । २ । १४५ । इति सूत्रेणेरादेशः । जल्पनशीले, प्रा० ४ पाद ।

जंबवई-जाम्बवती-स्त्री० । कृष्णाग्रमहिष्याम्, आ० चू० १ अ० । आ० म० । विशे० । सा च अरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य संलेखनां कृत्वा सिद्धेत्यन्तकृद्दशानां पञ्चमवर्गस्य षष्ठेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ५ वर्ग । स्था० ।

जंबाल- जम्बाल-पुं० । जम्ब-घञ्-जम्बमालाति आदत्ते आ-ला-कः । शैवाले, वाच० । कर्दमे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । जरायौ च । जरायुजा जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते,ते च गोमहिषाजाविकमनुष्यादयः । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । अजमीदयाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

जंबु-जम्बु-न० । जम्बूफले, " जम्बु भक्खेमो " आव० ४ अ० । जम्बूफलादिषु कृष्णो वर्णः । जं० ३ वक्ष० । प्रज्ञा० ।

जंबुदीव-जम्बूद्वीप-न० । ' जंबूदीव ' शब्दार्थे, जं० १ वक्ष० ।

जंबुल-देशी-वानीरे, मद्यभाजने, दे० ना० ३ वर्ग ।

जंबू-जम्बू-स्त्री०। 'जम' अदने, कू-नि०-वुक्। वृक्षविशेषे, वाच०। " कणारंना जंबू । " एतद्वृत्तिः-जम्बूः स्त्रीलिङ्गवृत्तिर्वनस्पतिविशेषः। अनु० । प्रज्ञा० । त्रयोदशजिनस्य चैत्यवृक्षो जम्बूः । स्था० १ ठा० १ उ०। पृथ्वीपरिणामरूपायां (स० ८ सम०) जम्बूवृक्षाकारायां सर्वरत्नमय्यां सुदर्शनानाम्न्यां शाश्वतायामनावृतदेवावासभूतायां जम्ब्वाम्, एतयैवायं जम्बूद्वीपोऽभिधीयते।

निक्षेपः-

जम्बूशब्दस्य नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्धा निक्षेपः । तत्र नामजम्बूर्यस्य जम्बूरिति नाम, यथा-जम्बूरन्तिमकेवली, जम्बाऽभिधानं वा। स्थापनाजम्बूर्या जम्बूरिति स्थापना क्रियते। यथा-चित्रलिखितजम्बूवृक्षादि। द्रव्यजम्बूर्द्विधा-आगमतो नो आगमतश्च । आगमतस्तदर्थज्ञातानुपयुक्तो, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरोभयव्यतिरिक्तभेदात्त्रिधा । तत्राऽऽद्यौ भेदौ सुप्रतीतौ । उभयव्यतिरिक्तद्रव्यजम्बूरपि त्रिधा, एकभाविकबद्धायुष्काभिमुखनामगोत्रजन्तुभेदात्। तत्रैकभविको नाम य एकभवानन्तरं जम्बूत्वेनोत्पत्स्यते; बद्धायुष्कस्तु येन जम्ब्वायुर्बद्धम ; अभिमुखनामगोत्रस्तु यस्य जम्ब्वा नामगोत्रे कर्मणी अन्तर्मुहूर्तानन्तरमुदयमायास्यत इत्ययं त्रिविधोऽपि भाविभावजम्बूकारणत्वाद् द्रव्यजम्बूरिति । भावजम्बूरपि द्विधा-आगमतो, नो आगमतश्च। तत्रागमतो ज्ञातोपयुक्तः, नो आगमतस्तु जम्बूद्रुम एव । जम्बूद्रुमनामगोत्रकर्मणी वेदयन्निति आह-यथा अभिमुखजम्बूनामस्य जीवस्य द्रव्यजम्बूत्वम्, " भाविनि भूतवदुपचारः " इति न्यायात् , तथाऽऽमन्नपश्चात्कृतजम्बूभावस्याऽपि , " भूतपूर्वकस्तदुपचारः" इति न्यायात् । कथं न द्रव्यजम्बूत्वं निर्दिष्टम ?। उच्यते-इदमुपलक्षणं , तेन तस्याऽपि द्रव्यनिक्षेप एवान्तर्भावः , भूतस्य भाविनो वल्कादि द्रव्यलक्षणस्य सद्भावात्। अत्रानिर्देशकारणं तु श्रीउत्तराध्ययनद्रुमपत्रीयाध्ययननिर्युक्तौ श्रीभद्रबाहुस्वामिपादैः द्रुमनिक्षेपेऽविवक्षणम्, तत्तुल्यन्यायत्वादस्य निक्षेपस्येति, प्रस्तुते च नोआगमतो भावजम्ब्वाधिकारः । जं० १ वक्ष० ।

कहि णं भंते ! उत्तरकुराए कुराए जंबूपेढे णामं पेढे पण्णत्ते । गोयमा ! णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दक्खिणेणं मंदरस्स उत्तरेणं मालवंतवक्खारपव्वयस्स पच्चत्थिमेणं सीआए महाणईए पुरत्थिमिल्ले कूले; एत्थ णं उत्तरकुराए कुराए जंबूपेढे णामं पेढे पण्णत्ते। पंच जोअणसयाइं आयामविक्खंभेणं, पण्णरसएकासीयाइं जोअणसयाइं किंचि विसेसाहियाइ परिक्खेवेणं बहुमज्झदेसभाए बारस जोअणाइं बाहल्लेणं, तयणंतरं च णं मायाए २ पदेसपरिहाणीए २ सव्वेसु णं चरिमपेरंतेसु दो दो गाउआइं बाहल्लेणं सव्वजंबूणयामए अच्छे, से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते,दुण्हं पि वण्णओ-तस्स णं जंबूपेढस्स चउद्दिसि एए चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता । वण्णओ० जाव तोरणाइं, तस्स णं जंबूपेढस्स बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं मणिपेढिआ पण्णत्ता । अद्धजोअणाइं आयामविक्खंभेणं, चत्तारि जोअणाइं बाहल्लेणं ; तीसे णं मणिपेढिआए उप्पिं एत्थ णं जंबू सुदंसणा पण्णत्ता । अट्ठ जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोअणं उव्वेहेणं , तीसे णं खंधो दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं, तीसे णं साला छ जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोअणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठ जोअणाइं सव्वग्गेणं , तीसे णं अयमेयारूवे वण्णावासे वइरामयमूला रययसुपइट्ठिअविडिमा० जाव अहिअमणणिव्वुइकरी पासाईआ दरिसणिज्जा, जंबूए णं सुदंसणाए चउद्दिसिं चत्तारि साला पण्णत्ता । तेसि णं सालाणं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं सिद्धायतणे पण्णत्ते, कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसंनिविट्ठे० जाव दारा पंच धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं० जाव वणमालाओ मणिपेढिआ, पंच धणुसयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं बाहल्लेणं ; तीसे णं मणिपेढिआए उप्पिं देवच्छंदए पंचधणुसयाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जिणपडिमावण्णओ णेयव्वो त्ति । तत्थ णं जे से पुरत्थिमिल्ले साले एत्थ णं भवणे पण्णत्ते, कोसं आयामेणं, एवमेव णवरमित्थ सयणिज्जं सेसेसु पासायवडेंसया सीहासणा य सपरिवारा इति, जंबूए णं बारसहिं पउमवरवेइयाहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता, वेइआणं वण्णओ, जम्बू णं अण्णेणं अट्ठसएणं जंबूणं तदद्धुच्चत्ताणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता,तासि णं वण्णओ,ताओ णं जंबू छहिं पउमवरवेइयाहिं संपरिक्खित्ता, जंबूए णं सुदंसणाए उत्तरपुरत्थिमेणं उत्तरपच्चत्थिमेणं एत्थ णं अणाढिअस्स देवस्स चउण्हं सामाणिअसाहस्सीणं चत्तारि जंबूसाहस्सीओ पण्णत्ताओ; तीसे णं पुरत्थिमेणं चउण्हं अग्गमहिसीणं चत्तारि जम्बूओ पण्णत्ताओ; "दक्खिणपुरत्थिमेणं,दक्खिणेणं तह अवरदक्खिणेणं च । अट्ठदसबारसेव य,भवंति जंबूसहस्साइं१ अणिआहिवाण पच्चत्थिमेण सत्तेव होंति जंबूओ । सोलस साहस्सीओ , चउद्दिसिं आयरक्खाणं ॥२॥ " जंबूए णं तिहिं सइएहिं वणसंडेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता जंबूए णं पुरत्थिमेणं पण्णासं जोअणाइं पढमं वणसंडं ओगाहित्ता, एत्थ णं भवणे पण्णत्ते, कोसं आयामेणं, सो चेव वण्णओ, सयणिज्जं च, एवं सेसासु वि दिसासु भवणा, जंबूए णं उत्तरपुरत्थिमेणं पढमं वणसंडं पण्णासं जोअणाइं उग्गाहित्ता, एत्थ णं चत्तारि पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ। तं जहा-पउमा,पउमप्पभा, कुमुदा, कुमुदप्पभा। ताओ णं कोसं आयामेणं,अद्धकोसं विक्खंभेणं, पंचधणुसयाइं उव्वेहेणं, तासि णं मज्झे पासायवडेंसगा

कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं, वराओ-सीहासणा सपरिवारा, एवं सेसासु वि दिसासु ।

गाहा—

" पउमा पउमप्पभा चेव, कुमुदा कुमुदप्पभा ।
उप्पला गुम्म णलिणा, उप्पला उप्पलुज्जला ॥ १ ॥
भिंगा भिंगप्पभा चेव, अंजणा कज्जलप्पभा ।
सिरिकंता सिरिमहिआ,सिरिचंदा चेव सिरिनिलया" ।२।

जंबूए णं पुरच्छिमिल्लस्स भवणस्स उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स दक्खिणेणं, एत्थ णं कूडे पण्णत्ते, अट्ठ जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दो जोअणाइं उव्वेहेणं, मूले अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं बहुमज्झदेसभाए छ जोअणाइं आयामविक्खंभेणं, उवरिं चत्तारि जोअणाइं आयामविक्खंभेणं । "पणवीसमट्ठारसबा-रसेव मूले अ मज्झि उवरिं च । सविसेसाइं परिक्खो, कूडस्स इमस्स बोधव्वो" ॥१॥ मूले विच्छिण्णे मज्झे संखित्ते उवरिं तणुए सव्वकणगामए अच्छे, वेइआवणसंडवण्णओ,एवं सेसा वि कूडा जंबूए णं सुदंसणाए दुवालस णामधेज्जा पण्णत्ता ।

तं जहा-

" सुदंसणा अमोहा य, सुप्पबुद्धा जसोहरा ।
विदेहजंबूसोमणसा, णियया णिच्चमंडिया ॥ १ ॥
सुभद्दा य विसाला य, सुजाया सुमणा वि य ।
सुदंसणाए जंबूए, णामधेज्जा दुवालस ॥ २ ॥ "

जंबूए णं अट्ठऽट्ठ मंगलगा, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जंबूए सुदंसणाए अणाढिए णामं जंबूदीवाहिवई परिवसइ, महिड्ढिए, से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं० जाव आयरक्खसाहस्सीणं जंबूदीवस्स णं दीवस्स जंबूए सुदंसणाए अणाढियाए रायहाणीए अण्णेसिं च बहूणं देवाण य० जाव विहरइ , से तेणट्ठेणं गोअमा ! एवं वुच्चइ, अदुत्तरं च णं गोयमा !० जाव जंबू सुदंसणा०जाव धुविं च धुवाणि अ आसासया अक्खया अवट्ठिया । कहि णं भंते ! अणाढिअस्स देवस्स अणाढिआ णामं रायहाणी पण्णत्ता । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं जं चेव पुव्ववण्णिअं जमिगपमाणं तं चेव णेयव्वं० जाव उववाओ अभिसेओ अ निरवसेसो त्ति।

क भदन्त ! उत्तरकुरुषु जम्बूपीठं प्रज्ञप्तम्?। निर्वचनसूत्रं गौतमेत्यादिकं गम्यम्, नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणेन मन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरेण माल्यवतो वक्षस्कारपर्वतस्य गजदन्तापरपर्यायस्य पश्चिमेन पश्चिमायां सीताया महानद्याः पूर्वकूले, सीता द्विभागीकृतोत्तरकुरुपूर्वार्द्धे, तत्रापि मध्यभागे,अत्रान्तरे उत्तरकुरुषु जम्बूपीठं नाम पीठं प्रज्ञप्तं.पञ्चयोजनशतान्यायामविष्कम्भेन,योजनानां पञ्चदश शतान्येकाशीत्यधिकानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण बहुमध्यदेशभागे विवक्षितदिक्प्रान्तादर्धतृतीयशतयोजनातिक्रमे इत्यर्थः। बाहल्येन द्वादश योजनानि, तदनन्तरं मात्रया २ क्रमेण २ प्रदेशपरिहाण्या परिहीयमाणः २ "सव्वेसु त्ति" प्राकृतत्वात् पञ्चम्यर्थे सप्तमी। तेन सर्वेभ्यः चरमप्रान्तेषु मध्यतोऽर्द्धतृतीययोजनशतातिक्रमे इत्यर्थः। द्वौ द्वौ क्रोशौ बाहल्येन सर्वात्मना जम्बूनदमयम् "अच्छं" इत्यादि। "से णं एगाए पउम"इत्यादि । तदिति अनन्तरोक्तं जम्बूपीठम्,एकया पद्मवरवेदिकया एकेन च वनखण्डेन सर्वतः समन्तात्, संपरिक्षिप्तमिति शेषः। द्वयोरपि पद्मवरवेदिकावनखण्डयोर्वर्णकः स्मर्तव्यः प्राक्तनः, तच्च जघन्यतोऽपि चरमान्ते द्विचरमान्ते द्विक्रोशोच्छ्रयम्, कथं सुखारोहावरोहमित्याशङ्क्याह-"तस्स णं"इत्यादि । तस्य जम्बूपीठस्य चतुर्दिशि एतानि दिग्नामोपलक्षितानि चत्वारि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि, एतानि च त्रीणि मिलितानि द्विक्रोशोच्चानि भवन्ति । क्रोशविस्तीर्णानि,अत एव प्रान्ते द्विक्रोशबाहल्यात् पीठात् उत्तरत एव भरतैरावतां च सुखावहद्वारभूतानि, वर्णकश्च तावद्वक्तव्यो यावत् तोरणानि " तस्स णं " इत्यादि व्यक्तम् । " तीसे णं " इत्यादि । तस्या मणिपीठिकाया उपरि, अत्र जम्बूः सुदर्शनानाम्नी प्रज्ञप्ता, अष्टयोजनान्यूर्द्ध्वोच्चत्वेन,अर्द्धयोजनमुद्वेधेन प्रवेशः। अथास्या एवोच्चत्वस्याष्टयोजनानि विभागतो द्वाभ्यां सूत्राभ्यां दर्शयति-"तीसे णं" इत्यादि । तस्याः जम्ब्वाः स्कन्धः स्कन्धादुपरितनः शाखाप्रभवपर्यन्तोऽर्द्धयोजनं ऊर्द्ध्वोच्चत्वेनार्धयोजनं बाहल्येन पीठेन तस्याः शालाविडिमापरपर्यायाया दिक् प्रसृता शाखामध्यभागप्रभवा ऊर्द्ध्वगता शाखा षड्योजनान्यूर्द्ध्वोच्चत्वेन, तथा बहुमध्यदेशभागे प्रकरणात्,जम्बूरिति गम्यम् । अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां, तान्येव अस्याः स्कन्धोपरितनभागे चतसृष्वपि दिक्षु प्रत्येकमेकैका शाखा निर्गता च. क्रोशोनानि चत्वारि योजनानि, तेन पूर्वापरशाखादैर्घ्यस्कन्धबाहल्यसंबन्ध्यर्द्धयोजनमीलनेनोक्तसंख्यानयनं, बहुमध्यदेशभागश्चात्र व्यावहारिको ग्राह्यः, वृक्षादीनां शाखाप्रभवस्थाने मध्यदेशस्य लोकैर्व्यवह्रियमाणत्वात्, पुरुषस्य कटिका इव, अन्यथा विडिमायाः त्रियोजनातिक्रमे निश्चयप्राप्तस्य मध्यभागस्य ग्रहणे पूर्वापरशाखाद्वयविस्तारस्य ग्रहणासंभवः, विषमश्रेणिकत्वात् । अथवा-बहुमध्यदेशभागः, शाखानामिति गम्यते । कोऽर्थः ?, यतश्चतुर्दिक्शाखामध्यभागः, तस्मिन्नित्यर्थः । अष्टयोजनानयनं तु तथैव, उच्चत्वेन तु सर्वाग्रेण सर्वसंख्यया स्कन्धविडिमापरिमाणमीलने सातिरेकाण्यष्टौ योजनानीति । अथास्या वर्णकमाह-"तीसे णं" इत्यादि । तस्या जम्ब्वा अयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः-वज्रमयानि मूलानि यस्याः सा वज्रमयमूला । तथा रजतमयी विडिमा बहुमध्यदेशभागे ऊर्द्ध्वविनिर्गता शाखा यस्याः सा रजतसुप्रतिष्ठितविडिमा, ततः यावत्पदात् चैत्यवृक्षवर्णकः सर्वोऽप्यत्र वाच्यः। कियत्पर्यन्तमित्याह-अधिकमनोनिर्वृतिकरी प्रासादीया दर्शनीया इत्यादि । अथास्याः शाखाव्यक्तिमाह-"जंबूए णं" इत्यादि । जम्ब्वाः सुदर्शनायाः चतुर्दिशि चतस्रः शाखाः या शाखाः प्रज्ञप्ताः । तासां शालानां बहुमध्यदेशभागे उपरितनविडिमाशालायामित्यध्याहार्यं, जीवाऽभिगमे तथादर्शनात् । शेषं सुलभम्, चैत्यस्थित्युक्तकूटगतसिद्धायतनप्रकरणतो ज्ञेयमित्यर्थः। अत्र पूर्व, शालादौ यत्र यदस्ति तत्र तदुक्तमाह-" तत्थ ण " इत्या-

दि। तत्र तासु चतसृषु शालासु, या सा पौरस्त्या शाला, सूत्रे प्राकृतत्वात् पुंस्त्वनिर्देशः। अत्र भवनं प्रज्ञप्तं, क्रोशमायामेन, एवमेवेति सिद्धायतनवदिति, अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेन देशोनं क्रोशमुच्चत्वेनेति प्रमाणं, द्वारादिवर्णकश्च वाच्यः। नवरमत्र शयनीयं वाच्यम, शेषासु दाक्षिणात्यादिशाखासु प्रत्येकमेकैकभावेन त्रयः प्रासादावतंसकाः सिंहासनानि सपरिवाराणि च बोद्धव्यानि, तेषां प्रमाणं च भवनवत्, तत्र भेदापनोदाय भवनेषु शयनीयानि प्रासादेषु त्वास्थानसभा इति। ननु भवनानि विषमायामविष्कम्भानि, पद्मद्रहादिमूलपद्मभवनादिषु तथा दर्शनात्, प्रासादास्तु समायामविष्कम्भाः, दीर्घवैताढ्यकूटगतेषु वृत्तवैताढ्यगतेषु वैजयादिराजधानीगतेषु अन्येष्वपि विमानादिगतेषु च प्रासादेषु समचतुरस्रत्वेन समायामविष्कम्भत्वस्य सिद्धान्तसिद्धत्वात्, तत्कथमत्र प्रासादानां भवनतुल्यप्रमाणता घटते ?। उच्यते-"ते पासाया कोसं, समूसिया अद्धकोसविच्छिण्णा।" इत्यस्य पूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणोपज्ञक्षेत्रविचारगाथार्द्धस्य वृत्तौ-ते प्रासादाः, क्रोशमेकं देशोनमिति शेषः, समुच्छ्रिता उच्चाः क्रोशार्द्धं क्रोशं विस्तीर्णाः, परिपूर्णमेकं क्रोशं दीर्घा इति श्रीमलयगिरिपादाः। तथा जम्बूद्वीपसमासप्रकरणे-प्राच्यं शाले भवनम्, इतरेषु प्रासादमध्यं सिद्धायतनसदृशानि विजयार्द्धमानानीति श्रीउमास्वातिवाचकपादाः। तथा तपागच्छाधिराजपूज्यश्रीसोमतिलकसूरिकृतनव्यबृहत्क्षेत्रविचारसत्कायाः "पासाया सेसदिसा, सालासु विअड्ढगिरिगय व्व तओ।" इत्यस्या गाथाया अवचूर्णौ शेषासु तिसृषु शाखासु प्रत्येकमेकैकभावेन तत्र त्रीणि आस्थानोचितानि मन्दिराणि, देशोनं क्रोशमुच्चाः क्रोशार्द्धं विस्तीर्णाः,पूर्णक्रोशं दीर्घा इति श्रीगुणरत्नसूरिपादाः यदाहुः, तदाशयं प्रस्तुतोपाङ्गस्योत्तरत्र जम्बूद्वीपपरिक्षेपकवनवापीपरिगतप्रासादप्रमाणं तदनुसारेण चान्यत्र निश्चिनुमो जगत्प्रकरणप्रासादा विषमायामविष्कम्भा इति। यत्तु श्रीजीवाभिगमसूत्रवृत्तौ-क्रोशमेकमूर्द्धमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेनेत्युक्तं, तद् गम्भीराशयं न विद्मः। अथास्याः पद्मवरवेदिकादिस्वरूपमाह-" जम्बूए णं " इत्यादि। जम्बूर्द्वादशभिः पद्मवरवेदिकाभिः प्राकारविशेषरूपाभिः, सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ता वेदिकानां वर्णकः प्राग्वत्, इमाश्च जम्बूमूलं जम्बूपरिवृत्य स्थिताः ज्ञातव्याः। या तु पीठपरिवेष्टिका सा तु प्रागेवोक्ता। अथास्याः प्रथमपरिक्षेपमाह-" जंबूए णं " इत्यादि। जम्बूः, णमिति वाक्यालङ्कारे। अन्येनाष्टशतेन जम्बूनां जम्बूवृक्षाणां तदर्द्धोच्चत्वानां, तस्या मूलं जम्ब्वा अर्द्धप्रमाणमुच्चत्वं यासां तास्तथा तासां, सर्वतस्समन्तात् संपरिक्षिप्ता उपलक्षणं चैतत्-तेनोद्वेधायामविस्तारा अपि अर्द्धप्रमाणा ज्ञेयाः। तथाहि-ता अष्टाधिकशतसंख्या जम्ब्वा प्रत्येकं चत्वारि योजनान्युच्चैस्त्वेन क्रोशमेकमवगाहनम, एकं योजनमुच्चः स्कन्धः, त्रीणि योजनानि विडिमा सर्वाग्रेणोच्चस्त्वेन सातिरेकाणि चत्वारि योजनानि, तत्रैकैका शाखा अर्द्धक्रोशहीने द्वे योजने दीर्घा, क्रोशपृथुत्वः स्कन्ध इति भवति सर्वसंख्यया आयामविष्कम्भतश्चत्वारि योजनानि, आसु चानादृतदेवस्याभरणादीनि तिष्ठन्ति। एतासां वर्णकज्ञापनायाह-(तासि णं वण्णओ त्ति) तासां च वर्णको मूलजम्बूवदेवेति। अथासां यावन्त्यः पद्मवरवेदिकाः ता आह-" ताओ णं " इत्यादि व्यक्तार्थं, नवरं प्रतिजम्बूवृक्षं षट् षट् पद्मवरवेदिका इत्यर्थः। एतासु च १०८ जम्बूषु, अत्र सूत्रे जीवाभिगमे बृहत्क्षेत्रविचारादौ सूत्रकृद्भिः वृत्तिकृद्भिश्च जिनभवनप्रासादचिन्ता काऽपि न चक्रे, बहवोऽपि च बहुश्रुता आवश्यकप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णिकारादयो मूलजम्बूवृक्षगतप्रथमवनखण्डगतकूटाष्टकजिनभवनैः सह सप्तदशोत्तरं शतं जिनभवनानां मन्यमाना इहाप्येकैकं सिद्धायतनं पूर्वोक्तमानं मेनिरे, ततोऽत्र तत्त्वं केवलिनो विदन्तीति। संप्रति शेषान् परिक्षेपान् वक्तुं सूत्रचतुष्टयमाह-" जंबूए णं " इत्यादि। जम्ब्वाः सुदर्शनाया उत्तरपूर्वस्यामीशानकोणे उत्तरस्यामुत्तरपश्चिमायां कोणे, अत्रान्तरे, दिक्त्रयेऽपि इत्यर्थः। अनादृतनाम्नो जम्बूद्वीपाधिपतेर्देवस्य चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चत्वारि जम्बूसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। "तीसे णं" इत्यादि कण्ठ्यम्। गाथाबन्धेन पार्षद्यदेवजम्बूराह-"दक्खिण " इत्यादि। दक्षिणपौरस्त्य आग्नेयकोणे, दक्षिणस्याम, अपरदक्षिणस्यां नैर्ऋतकोणे, चः समुच्चयार्थः। एतासु तिसृषु दिक्षु यथासंख्यं अष्टादश द्वादश जम्बूनां सहस्राणि भवन्ति, एवोऽवधारणे, तेन नाधिकानि, न न्यूनानीत्यर्थः। चः प्राग्वत्। अनीकाधिपजम्बूस्तृतीयपरिक्षेपजम्बूश्च गाथाबन्धेनाह-" अणियाहिवाण " इत्यादि। अनीकाधिपानां गजादिकटकाधीशानां सप्तानां सप्तैव जम्ब्वः पश्चिमायां भवन्ति, तृतीयः परिक्षेपः पूर्णः। अथ तृतीयमाह—आत्मरक्षाणामनादृतदेवसामानिकचतुर्गुणानां षोडशसहस्राणां जम्ब्वः एकैकासु दिक्षु चतुस्सहस्रसहस्रसद्भावात् षोडशसहस्राणि भवन्ति, यद्यपि चानयोः परिक्षेपयोः जम्बूनामुच्चत्वादिप्रमाणं न पूर्वाचार्यैर्निश्चितं, तथाऽपि पद्मद्रहपद्मपरिक्षेपन्यायेन, पूर्वपूर्वपरिक्षेपजम्ब्वपेक्षयोत्तरोत्तरपरिक्षेपजम्ब्वोऽर्द्धमाना ज्ञातव्याः। अत्राप्येकैकस्मिन् परिक्षेपे एकैकस्यां पङ्क्तौ क्रियामपेक्ष्य क्षेत्रसांकीर्णेनावकाशदौःस्थ्यं तथैवोद्भावनीयं,तेन परिक्षेपजातयस्तथैव वाच्याः। संप्रत्यस्या एव वनत्रयपरिक्षेपान् वक्तुमाह-"जंबूए णं" इत्यादि। सा चैवंपरिवारेति गम्यम्। त्रिभिः शतिकैर्योजनशतप्रमाणैर्वनखण्डैः सर्वतः संपरिक्षिप्ता। तद्यथा-अभ्यन्तरेण, मध्यमेन, बाह्येनेति। अथाऽत्र यदस्ति तदाह-" जंबूए णं " इत्यादि। जम्ब्वाः सपरिवारायाः पूर्वेण पञ्चाशद्योजनानि प्रथमवनखण्डमवगाह्य, अत्रान्तरे भवनं प्रज्ञप्तं, क्रोशमायामेन, उच्चत्वादिकथनायातिदेशमाह-स एव मूलजम्बूपूर्वशाखागतभवनसंबन्धी वर्णको ज्ञेयः। शयनीयं चानादृतयोग्यम्। एवं शेषास्वपि दक्षिणादिदिक्षु दिशि पञ्चाशद्योजनान्यवगाह्याद्ये वने भवनानि वाच्यानि। अथात्र वने वापीस्वरूपमाह—" जंबूए णं उत्तर " इत्यादि। जम्ब्वा उत्तरपौरस्त्यदिग्भागे प्रथमं वनखण्डं पञ्चाशद्योजनान्यवगाह्यात्रान्तरे चतस्रः पुष्करिण्यः प्रज्ञप्ताः। एताश्च न सूचीश्रेण्या व्यवस्थिताः, किं तु स्वविदिग्गतप्रासादं परिक्षिप्य स्थिताः, तेन प्रादक्षिण्येन तन्नामान्येवम्-पद्मा पूर्वस्यां, पद्मप्रभा दक्षिणस्यां, कुमुदा पश्चिमायां, कुमुदप्रभा उत्तरस्याम्। एवं दक्षिणपूर्वादिविदिग्भागवापीष्वपि वाच्यं, ताश्च क्रोशमायामेन, अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेन, पञ्चधनुःशतान्युद्वेधेनेति। अथात्र वापीमध्यगतप्रासादस्वरूपमाह—" तासि णं " इत्यादि। तासां वापीनां चतसृणां मध्ये प्रासादावतंसकाः प्रज्ञप्ताः, बहुवचनं च उक्तवक्ष्यमाणानां वापीनां प्रासादापेक्षया द्रष्टव्यं, तेन प्रतिवापीचतुष्कमेकैकप्रासादभावेन चत्वारः प्रासादाः। एवं निर्देशो

लाघवार्थं, क्रोशमायामेनार्द्धक्रोशं विष्कम्भेन, देशोनं क्रोशमुच्च-स्त्वेन, एवंरूपा मूलजम्बूदक्षिणशाखागतप्रासादवक्तव्यः। एषु चा-नादृतदेवस्य क्रीडार्थं सिंहासनानि सपरिवाराणि वाच्यानि, जीवाभिगमे त्वपरिवाराणि, एवं शेषासु दक्षिणपूर्वादिषु दिक्षु वाप्यः प्रासादस्य वक्तव्याः। एतासां नामदर्शनाय गाथा-द्वयम्-पद्मादयः प्रागुक्ताः, पुनः पद्मवन्नत्वेन संगृहीता इति न पुनरुक्तिः। एताश्च सर्वा अपि त्रिसोपानचतुर्द्वारा पद्मवरवेदिका-वनखण्डयुक्ताश्च बोध्याः। अथ दक्षिणपूर्वस्यामुत्पलगुल्मा, पूर्वस्यां नलिना, दक्षिणस्यामुत्पलोज्ज्वला, पश्चिमायामुत्पला, उत्तरस्यां तथा अपरदक्षिणस्यां भृङ्गा, भृङ्गप्रभा, अञ्जना, कज्ज-लप्रभा। तथा अपरोत्तरस्यां श्रीकान्ता, श्रीमहिता, श्रीचन्द्रा, श्रीनिलया। चैवशब्दः प्राग्वत्। अथास्य वनस्य मध्यव-र्तीनि स्वरूपतो लक्षयति-" जंबूए णं " इत्यादि। जम्ब्वा अस्मिन्नेव प्रथमे वनखण्डे पौरस्त्यस्य भवनस्य उत्तरस्या-म, उत्तरपौरस्त्यस्य ईशानकोणसत्कस्य प्रासादावतंसक-स्य दक्षिणस्याम्, अत्रान्तरे कूटं प्रज्ञप्तम्। अष्ट योजनान्यू-र्ध्वोच्चत्वेन द्वे योजने उद्वेधेन वृत्तत्वेन य एव आयामः स एव विष्कम्भ इति मूलेऽष्टयोजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां बहुमध्यदेशभागे, भूमितश्चतुर्षु योजनेषु गतेष्वित्यर्थः। षड्योजनान्यायामविष्कम्भाभ्याम्-उपरि शिखरभागे चत्वारि योजनान्यायामविष्कम्भाभ्याम्। अथामीषां परिधिकथनाय पद्यमाह—" पणवीस " इत्यादिकं सर्वं प्रथमपादगतऋ-षभकूटाभिलापानुसारेण व्याख्येयम्। नवरं पञ्चविंशतियोजनानि विशेषाणि किञ्चिदधिकानि मूले परित इत्यादि यथासंख्यं योज्यम्। जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैस्तु "अट्ठमह कूडसरिसा, सव्वे जम्बूणया मया भणिया।" इत्यस्यां गाथायामृषभकूटसमत्वेन भणितत्वात् द्वादश योजनानि अष्टौ मध्ये चेत्युक्तं; तत्त्वं तु बहुश्रुतगम्यम्। एषु च प्रत्येकं जिनगृहम् एकैकं विदिग्भागत-जिनगृहतुल्यमिति। अथ शेषकूटवक्तव्यमतिदेशनाह-"एवं सेसा वि कूडा" इति। एवमुक्तरीत्या वर्णप्रमाणपरिध्याद्यपेक्षया शेषा-ण्यपि सप्त कूटानि बोध्यानि, स्थानविभागस्त्वेषः। तथाहि-पूर्वदिग्भाविनो भवनस्य दक्षिणतो दक्षिणपूर्वदिग्भाविनः प्रासादावतंसकस्योत्तरतो द्वितीयं कूटं, तथा दक्षिणदिग्भाविनो भवनस्य पूर्वतो दक्षिणपूर्वदिग्भाविनः प्रासादावतंसकस्य पश्चि-मायां तृतीयं, तथा दक्षिणदिग्भाविनो भवनस्य पश्चिमायां द-क्षिणापरदिग्भाविनः प्रासादावतंसकपूर्वतश्चतुर्थं, तथा पश्चिम-दिग्भाविनः प्रासादावतंसकपूर्वतश्चतुर्थं, तथा पश्चिमदिग्भाविनो भवनस्य दक्षिणाऽपरदिग्भाविनः प्रासादावतंसकस्योत्तरतः पञ्चमम्, तथा पश्चिमदिग्भाविन उत्तरत उत्तरपश्चिमदिग्भावि-नः प्रासादावतंसकस्य दक्षिणतः षष्ठं, तथा उत्तरदिग्भाविनो भवनस्य पश्चिमायाम् उत्तरपश्चिमदिग्भाविनः प्रासादावतं-सकस्य पूर्वतः सप्तमं, तथा उत्तरदिग्भाविनो भवनस्य पू-र्वत उत्तरपूर्वदिग्भाविनः प्रासादावतंसकस्य अपरतोऽष्टम-मिति। अत्र स्थापना। अथ जम्ब्वा नामोत्कीर्तनमाह—"जंबूए णं" इत्यादि। जम्ब्वाः सुदर्शनायाः द्वादश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा-सुष्ठु शोभनं नयनमनसोरानन्दकत्वेन दर्शनं यस्याः सा तथा, अमोघा सफला, इयं हि स्वस्वामिभावेन प्र-तिपन्ना सती जम्बूद्वीपाधिपत्यं जनयति। तदन्तरेण तद्विषयस्य स्वामिभावस्यैवायोगात्, सुष्ठु अतिशयेन प्रबुद्धा सत्फुल्लयोगा-द्विषमप्युत्फुल्ला, सकलभुवनव्यापकं यशो धरतीति यशोधरा, सिद्धादित्वादच्, जम्बूद्वीपो ह्यनया जम्ब्वा भुवनत्रयेऽपि वि-दितमहिमः, ततः संपन्नं यथोक्तयशोधारित्वमस्याः, विदेहेषु जम्बूर्विदेहजम्बूः, विदेहान्तर्गतोत्तरकुरुकृतनिवासत्वात् सौ-मनस्यहेतुत्वात् सौमनस्या, नहि तां पश्यतः कस्याऽपि मनो दुष्टं भवति केवलं तां दृष्ट्वा प्रीतमनास्तां तदधिष्ठातारं च प्रशं-सतीति, नियता सर्वकालमवस्थिता शाश्वतत्वात्, नित्यं मण्डि-ता सदा भूषणभूषितत्वात्, सुभद्रा शोभनकल्याणभाजिनी, न ह्यस्याः कदाचिदुपद्रवसंभवो, महर्द्धिकेनाश्रितत्वात्; चः समु-च्चये, विशाला विस्तीर्णा, चः पूर्ववत्, आयामविष्कम्भाभ्यामुच्च-त्वेन चाष्टयोजनप्रमाणत्वात् शोभनं यातं जन्म यस्याः सा सुजाता, विशुद्धमणिकनकरत्नमूलद्रव्यजनिततया जन्म-दोषरहितेति भावः; शोभनं मनो यस्याः सकाशाद्भवति सा सुमनाः, अपि चेति समुच्चये। अत्र जीवाभिगमा-दिषु चैवं जम्ब्वादीनां सुभद्रादीनां च नाम्नां व्यत्यासेन पाठो दृश्यते, तत्रापि न कश्चिद्विरोध इति। " जंबूए णं अट्ठट्ठमंगलाए " इति व्यक्तम्। उपलक्षणात् ध्वजच्छत्रा-दिसूत्राणि वाच्यानि इति। संप्रति सुदर्शनाशब्दप्रवृत्तिनिमि-त्तं पिपृच्छिषुरिदमाह—" से केणट्ठेणं " इत्यादि प्रश्नः प्रतीतः। उत्तरसूत्रे-गौतम ! जम्ब्वां सुदर्शनायामनादृतो नाम जम्बूद्वीपाधिपतिर्न आदृता आदरविषयीकृता शेषजम्बूद्वीप-गता देवा येनात्मनोऽनन्यसदृशं महर्द्धिकत्वमीक्षमाणेन सो-ऽनादृत इति यथार्थनामा परिवसति; महर्द्धिक इत्यादि प्रा-ग्वत्। स च तत्र चतुर्णां सामानिकसहस्राणां यावदात्मरक्ष-सहस्राणां जम्बूद्वीपस्य जम्ब्वाः सुदर्शनाया अनादृतनाम्न्या राजधान्या अन्येषां च बहूनां देवानां देवीनां चानादृतरा-जधानीवास्तव्यानामाधिपत्यं पालयन् यावद्विहरति। तदेते-नार्थेन एवमुच्यते-जम्बूः सुदर्शनेति, कोऽर्थः ?, अनादृतदेवस्य दृशमात्मनि महर्द्धिकत्वदर्शनमत्र कृताश्रयमस्तीति सुष्ठु शोभन-मिति यावत्, अनादृतदेवस्य यस्याः सकाशात् सा सुदर्श-ना इति। यद्यप्यनादृतराजधानीप्रश्नोत्तरसूत्रे सुदर्शनाश-ब्दप्रवृत्तिनिमित्तप्रश्नोत्तरसूत्रनिगमनसूत्रान्तर्गतं बहुष्वादर्शेषु दृष्टं, तथाऽपि " से तेणट्ठेण " इत्यादिनिगमनसूत्रम् उत्तरसू-त्रानन्तरमेव वाचयितॄणामव्यामोहार्थं सूत्रपाठेऽस्माभिर्लिखि-तं, व्याख्यातं च उत्तरसूत्रानन्तरं, निगमनसूत्रस्यैव यौक्तिक-त्वादिति। अथापरं गौतम ! यावच्छब्दाज्जम्ब्वाः सुदर्शनाया एतच्छाश्वतं नामधेयं प्रज्ञप्तं, यन्न कदाचिन्न स्यादित्यादिक प्राग्वत्, नाम्नः शाश्वतत्वं दर्शितम्। अथ प्रस्तुतवस्तुनः शाश्वतत्व-मस्ति न वेत्याशङ्कां परिहरन्नाह-" जंबू सुदंसणा " इत्यादि। व्याख्याऽस्य प्राग्वत्। अथ प्रस्तावादस्य राजधानीं विवक्षुरा-ह-" कहि णं भंते ! अणाढियस्स " इत्यादि गतार्थम्, नवरं यदेव प्राग्वर्णितं यमिकाराजधानीप्रमाणं तदेव नेतव्यं, यावदनादृतदेवस्योपपातोऽभिषेकश्च निरवशेषो, वक्तव्य इति शेषः। जं० ४ वक्ष०। जी०। स्था०। सुध-र्मगणधरशिष्ये, पुं०। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। विपा०। अन्त०। अणु०। कल्प०। " थेरस्स णं अज्जसुहम्मस्स अग्गिवेसायणगुत्तस्स अज्जजंबूनामेणं थेरे अंतेवासी का-सवगोत्ते " कल्प० ८ क्षण। "जम्बूणामे च कासवं," काश्य-पः। न०। अवसर्पिण्यां जन्म चरमशरीरिणां नियमतस्तृतीय-

चतुर्थारकयोः, सिद्धिगमनं तु केषाञ्चित् पञ्चमेऽप्यरके, यथा जम्बूस्वामिनः । न० ।

श्रीजम्बूस्वामिस्वरूपं चेदम्-

राजगृहे ऋषभधारिण्योः पुत्रः पञ्चमस्वर्गाच्च्युतो जम्बूनामा श्रीसुधर्मस्वामिसमीपे धर्मश्रवणपुरस्सरं प्रतिपन्नशीलसम्यक्त्वोऽपि पित्रोर्दृढाग्रहवशादष्टौ कन्याः परिणीतः, परं तासां सस्नेहाभिर्वाग्भिर्न व्यामोहितः । यतः-" सम्यक्त्वशीलतुम्बाभ्यां, भवाब्धिस्तीर्यते सुखम् । ते दधानो मुनिर्जम्बूः, स्त्रीनदीषु कथं ब्रुडेत् ? ॥ १ ॥ " ततो रात्रौ ताः प्रतिबोधयन् चौर्यार्थमागतं चतुःशतनवनवतिचौरपरिकरितं प्रभवमपि प्राबोधयत्, ततः प्रातः पञ्चशतचौरप्रियाष्टकतज्जनकजननीस्वजनकजननीभिः सह स्वयं पञ्चशतसप्तविंशतितमो नवनवतिकनककोटीः परित्यज्य प्रव्रजितः, क्रमात् केवलीभूत्वा षोडश वर्षाणि गृहस्थत्वे विंशतिः छाद्मस्थ्ये चतुश्चत्वारिंशत्केवलित्वे अशीतिवर्षाणि सर्वायुः परिपाल्य श्रीप्रभवं स्वपदे संस्थाप्य सिद्धिं गतः ।

अत्र कविः-

" जम्बूसमस्तलाराक्षो, न भूतो न भविष्यति ।
शिवाध्ववाहकान् साधून्, चौरानपि चकार यः ॥ १ ॥
प्रभवोऽपि प्रभुर्जीयात्, चौर्येण हरता धनम् ।
लेभेऽनर्घ्यचौर्यहरं, रत्नत्रितयमद्भुतम् ॥ २ ॥ "

तत्र-

" बारसवरिसेहिँ गोअमु, सिद्धो वीराउ वीसहिं सुहम्मो ।
चउसट्ठीए जंबू, वुच्छिन्ना तत्थ दस ठाणा ॥ ३ ॥
मण १ परमोहि २ पुलाए ३, आहार ४ खवग ५ उवसमे ६ कप्पे ७ ।
संजमतिअ ८ केवल ९ सिज्झणा य १० जंबुम्मि वुच्छिन्ना " ॥ ४ ॥

(मण त्ति) मनःपर्यायज्ञानम्, (परमोहि त्ति) परमावधिर्यस्मिन्नुत्पन्नेऽन्तर्मुहूर्तान्तः केवलोत्पत्तिः, (पुलाए त्ति) पुलाकलब्धिर्यया चक्रवर्तिसैन्यमपि चूर्णीकर्तुं प्रभुः स्यात्, (आहारग त्ति) आहारकशरीरलब्धिः (खवग त्ति) क्षपकश्रेणिः (उवसम त्ति) उपशमश्रेणिः (कप्प त्ति) जिनकल्पः (संजमतिअ त्ति) संयमत्रिकं-परिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्रलक्षणम् । अत्रापि कविः-" लोकोत्तरं हि सौभाग्यं, जम्बूस्वामिमहामुनेः । अद्यापि यं पतिं प्राप्य, शिवश्रीर्नान्यमिच्छति ॥ १ ॥ " कल्प० ८ क्षण । विशे० । संभूतविजयाचार्यस्य द्वादशानां शिष्याणां मध्ये दशमे शिष्ये गौतमगोत्रीये स्थविरे, " थेरं च अज्जजंबु, गोयमगुत्तं नमंसामि ॥ ६ ॥ " कल्प० ७ क्षण । श्रीजम्बू-प्रभव-स्वामिभ्यां सार्द्धं तपस्या गृहीता, श्रीजम्बूस्वामिनश्च सर्वायुरशीतिर्वर्षाणि श्रीप्रभवस्वामिनः स्वर्गगमनं संपनीपद्यत, तेनैव तत्पट्टावलीगतं लेख्यकं कथं मिलतीति प्रश्ने, उत्तरम्- श्रीजम्बूस्वामिदीक्षानन्तरं कियद्भिर्वर्षैः श्रीप्रभवस्वामिना दीक्षा संभाव्यते, तथा च सति न कोऽपि विरोधः । यदुक्तं परिशिष्टपर्वणि—

" पञ्चमः श्रीगणधरोऽ-प्येवमभ्यर्थितस्तदा ।
तस्मै सपरिवाराय, ददौ दीक्षां यथाविधि ॥ १ ॥
पितृनापृच्छ्य चान्येद्युः, प्रभवोऽपि समागतः ।
जम्बूकुमारमनुयान्, परिव्रज्यामुपाददे " ॥ २ ॥ २७८ प्र० ।
सेन० ३ उल्ला० ।

जंबूणय–जाम्बूनद–न० । जम्बूनद्यां भवम्, अण् । सुवर्णविशेषे, आ० म० प्र० । जी० । जं० । " जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लवंकुरग्गसिहरा । " वृत्तिर्यथा-जाम्बूनदा-जाम्बूनदनामकसुवर्णविशेषमया रक्ता रक्तवर्णा मृदवो मनोज्ञाः सुकुमाराः सुकुमारस्पर्शा ये प्रवाला ईषदुन्मीलितपत्रभावाः पल्लवाः संजातपरिपूर्णप्रथमपत्रभावरूपा अङ्कुराः प्रथममुद्भिद्यमाना अङ्कुरास्तान् धरन्तीति जाम्बूनदरक्तमृदुसुकुमारप्रवालपल्लवाङ्कुरधराः । क्वचित्पाठः-" जंबूणयरत्तमउय " इत्यादि । तत्र जाम्बूनदानि रक्तानि मृदूनि अकठिनानि सुकुमाराणि अकर्कशस्पर्शानि कोमलानि मनोज्ञानि प्रवालपल्लवाङ्कुरा यथोदितस्वरूपा अग्रशिखराणि च येषां ते तथा । जी० ३ प्रति० । अन्ये तु जाम्बूनदमया अग्रप्रवाला अङ्कुरापरपर्याया राजता इत्याहुः । जी० ३ प्रति० । " जंबूणयमयकलावजोत्तपइविसिट्ठा " जाम्बूनदमयौ कलापौ ग्रीवाभरणविशेषौ योक्त्रे च कण्ठबन्धनरज्जू प्रतिविशिष्टे शोभने यस्य स तथा । उपा० ४ अ० । " जंबूणयमयाइं गत्ताइं " जाम्बूनदमयानि गात्राणि । रा० ।

जंबूदाडिम–जम्बूदाडिम–पुं० । लक्ष्मणार्यायाः पितरि स्वनामके राजविशेषे, महा० ६ अ० ।

जंबूदीव–जम्बूद्वीप–पुं० । न० । जम्ब्वा सुदर्शनापरनाम्न्याऽनादृतदेवावासभूतया उपलक्षितो द्वीपः तत्प्रधानो वा द्वीपो जम्बूद्वीपः । आव० १ अ० । सर्वद्वीपसमुद्राणामभ्यन्तरीभूते स्वनामके द्वीपे, जी० ३ प्रति० । स्था० । द्वी० । स० । अनु० ।

जम्बूद्वीपवक्तव्यताविषये गौतमो वीरं प्रश्नयति-

कहि णं भंते ! जम्बुद्दीवे दीवे, के महालए णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे, किंसंठिए णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे, किमागारभावपडोयारे णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे पण्णत्ते ? । गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतरए सव्वखुड्डाए वट्टे तेल्लापूयसंठाणसंठिए वट्टे रहचक्कवालसंठाणसंठिए वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिए वट्टे पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिए एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलससयसहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसए तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ।

क कस्मिन् देशे 'भंते त्ति' गुरोरामन्त्रणम् । जम्बूद्वीपो, वर्तते इति शेषः । अनेन जम्बूद्वीपस्य स्थानं पृष्टम् । तथा भदन्त ! किंप्रमाणो महानालय आश्रयो व्याप्यक्षेत्ररूपो यस्य स तथा, कियत्प्रमाणमस्य महत्त्वमित्यर्थः । एतेन प्रमाणं पृष्टम् । अथ भदन्त ! किं संस्थानं यस्य स तथा । एतेन संस्थानं पृष्टम् । तथा भदन्त ! आकारभावः स्वरूपविशेषः कस्याकारभावस्य प्रत्यवतारो यस्य सः किमाकारभावप्रत्यवतारः, बहुलग्रहणाद्व्यधिकरणेऽपि समासः । यद्वा-आकारस्य स्वरूपं भावाश्च जगतीवर्षधरादयस्तत्पदार्था आकारभावाः, तेषां प्रत्यवतारोऽवतरणम्, आविर्भाव इति यावत्, आकारभावप्रत्यवतारः । कः कीदृग्, आकारभावप्रत्यवतारो यस्मिन् स तथा । अनेन जम्बूद्वीपस्वरूपं, तद्गतपदार्थाश्च पृष्टाः, इति इन्द्रभूतिना प्रश्नचतुष्टये कृते प्रतिवचःश्रवणाय सोत्साहताकरणार्थं जगत्प्रसिद्धगोत्राभिधाने-

न तगामन्त्र्य निर्वचनचतुर्थी भगवानाह-गौतमेत्यत्र दीर्घत्वमामन्त्रणप्रभवम्, तेन हे गौतम ! अयं, यत्र वयं वसामः । अनेन समयक्षेत्रबहिर्वर्तिनामसंख्येयानां जम्बूद्वीपानां व्यवच्छेदः। जम्बूद्वीपो नाम द्वीपः। कथंभूत इत्याह-सर्वद्वीपानां धातकीखण्डादीनां सर्वसमुद्राणां लवणोदादीनां सर्वात्मना सामस्त्येन अभ्यन्तरः सकलतिर्यग्लोकमध्यवर्ती, सर्वाभ्यन्तर एव सर्वाभ्यन्तरकः, स्वार्थे कः प्रत्ययः । अभ्यन्तरमात्रं धातकीखण्डोऽपि पुष्करवरद्वीपापेक्षयाऽस्ति,अतः सर्वशब्दोपादानमिति । अनेन जम्बूद्वीपस्यावस्थानमुक्तम् । तथा-सर्वेभ्योऽपि शेषद्वीपसमुद्रेभ्यः क्षुल्लको लघुः । तथाहि-सर्वलवणादयः समुद्रा धातकीखण्डादयश्च द्वीपा जम्बूद्वीपादारभ्य द्विगुणद्विगुणविष्कम्भायामपरिधयः, ततः शेषद्वीपसमुद्रापेक्षयाऽयं लघुरिति। दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । अनेन सामान्यतः प्रमाणमभिहितं, विशेषस्त्वायामादिगतं प्रमाणमग्रे वक्ष्यति २। अत्र विशेषतः प्रमाणमवसरप्राप्तमपि यन्नोक्तं तत्सूत्रकाराणां विचित्रा प्रवृत्तिरिति।तथा वृत्तः,स च शुषिरवृत्तोऽपि स्यादत आह-तैलापूपसंस्थानसंस्थितः-तैलेन पक्कोऽपूपस्तैलापूपः,तैलेन हि पक्कोऽपूपः प्रायः परिपूर्णवृत्तो भवति, न घृतपक्व इति तैलविशेषणं, तस्येव यत्संस्थानं तेन संस्थितः। अत्र तैलादिस्वाद्युक्तस्य द्वित्वम्। तथा वृत्तो रथचक्रवालसंस्थानसंस्थितः , रथस्यावयवे समुदायोपचारात् रथाङ्गस्य चक्रवालं मण्डलं तस्येव संस्थानेन संस्थितः। अथवा-चक्रवालं मण्डलं मण्डलत्वधर्मयोगाच्च रथचक्रमपि रथचक्रवालं, शेषं प्राग्वत् । एवं वृत्तः पुष्करकर्णिकासंस्थानसंस्थितः, पुष्करकर्णिका पद्मबीजकोशः,कमलमध्यभाग इति यावत् । वृत्तः परिपूर्णचन्द्रसंस्थानसंस्थितः, प्राग्वत् पदद्वयं भावनीयम्। एकेनैव चरितार्थकत्वेऽपि नानादेशजविनेयानां क्षयोपशमवैचित्र्यात्कस्यचित् किञ्चित् बोधकमित्युपमापदनानात्वम् । अत एव प्रत्युपमापदं योज्यमानत्वात् वृत्तपदस्य न पौनरुक्त्यशङ्काऽपि।एतेन संस्थानमुक्तम् । अथ सामान्यतः प्रागुक्तं प्रमाणं विशेषतो निर्वक्तुमाह-एकं योजनशतसहस्रप्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नं, योजनलक्षमित्यर्थः । आयामविष्कम्भेन, अत्र च समाहारद्वन्द्वः,तेन क्लीबे एकवद्भावः,आयामविष्कम्भाभ्यामित्यर्थः ॥ अत्राह परः-जम्बूद्वीपस्य योजनलक्षं प्रमाणमुक्तं,तच्च पूर्वपश्चिमयोर्जगत्योर्मूलविष्कम्भसत्कद्वादशद्वादशयोजनक्षेपे चतुर्विंशत्यधिकं भवति, तथा यथोक्तं मानं विरुध्यत इति न जम्बूद्वीपजगतीविष्कम्भेन सहैव लक्षं पूरणीयं,लवणसमुद्रजगतीविष्कम्भेन च लवणसमुद्रलक्षद्वयम् । एवमन्येष्वपि द्वीपसमुद्रेषु, अन्यथा समुद्रमानात् जगतीमानपृथग्भणने मनुष्यक्षेत्रपरिधिरतिरिक्तः स्यात्। स हि पञ्चचत्वारिंशल्लक्षप्रमाणक्षेत्रापेक्षयाऽभिधीयते। अयमेवाशयः श्रीअभयदेवसूरिभिः चतुर्थाङ्गवृत्तौ पञ्चपञ्चाशत्तमे समवाये प्रादुष्कृतोऽस्तीति,तथा त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडशशतसहस्राणि द्वे योजनशते सप्तविंशत्यधिके त्रयः क्रोशा अष्टाविंशमष्टाविंशत्यधिकं धनुःशतं त्रयोदशाङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुलं च किञ्चिद्विशेषाधिकमित्येतावान् परिक्षेपः परिधिना प्रज्ञप्तः । अत्र सप्तविंशमष्टाविंशमित्यादिकाः शब्दाः "अधिकं तत्संख्यमस्मिन् शतसहस्रे शतिशदृशान्ताया डः " ॥ ७।१।१५४॥ इति (हैम) सूत्रेण डप्रत्यये, सप्तविंशत्यधिकमष्टाविंशत्यधिकमित्यर्थः ।

परिध्यानयनोपायस्त्वयं चूर्णिकारोक्तः-

" विक्खंभवग्गदहगुण-करणी वट्टस्स परिरओ होइ।
विक्खंभपायगुणिओ, परिरओ तस्स गणियपयं ॥ १ ॥ "

अत्र व्याख्या-वृत्तस्य वृत्तक्षेत्रस्य च यो विष्कम्भो विष्कम्भपरिमाणं तस्य वर्गो विधीयते, वर्गो नाम-तेनैव राशिना तस्य गुणनं, तथा चतुष्कस्य चतुष्केण गुणने षोडश चतुष्कस्य वर्गः। ततः (दहगुण त्ति) दशभिर्गुणनात्, ततः करणीरीतिर्वर्गमूलानयनं,ततो वृत्तस्य परिरयः परिमाणं भवति, तथा तस्य वृत्तस्य परिरयो,विष्कम्भस्य पादेन चतुर्थांशेन गुणितः सन् गणितपदं भवति। जम्बूद्वीपस्य विष्कम्भो व्यासः,स्थापना यथा-१००००० तद्वर्गः तद्गुणो वर्ग इति वचनाल्लक्षं लक्षेण गुण्यते, जातम्-१००००००००००, स च दशगुणः क्रियते, शून्यानि ११, तदनु करणीति वर्गमूलमानीयते ।

तथाहि-

" विषमात्पदतस्त्यक्त्वा, वर्गस्थानमुच्यते न मूलेन।
द्विगुणेन भजेच्छेषं, लब्धं विनिवेशयेद् व्यक्तम् ॥ १ ॥
तद्वर्गं संशोध्य, द्विगुणीकुर्वीत पूर्ववल्लब्धम् ।
उत्सार्य ततो विभजे-च्छेषं द्विगुणीकृतं च नयेत् " ॥ २ ॥

इत्यनेन करणेनानीते वर्गमूले जातोऽधस्तनः छेदराशिः-६३२४५७ । अत्र सप्तकरूपोऽन्त्योऽङ्केन द्विगुणीकृत इति तदर्द्धेशेषं सर्वमप्यर्द्धं क्रियते, लब्धं योजनानि ३१६२२७, छेदराशिश्च सप्तकेऽपि द्विगुणीकृते जातः ६३२४५४, उपरि शेषांशाः ४८४४७१, एते च योजनस्थानीया इति क्रोशानयनार्थं चतुर्गुणा जाताः १९३७८८४, छेदराशिना भागे लब्धं क्रोशाः ३, शेषम् ४०५१२ धनुरानयनाय द्विसहस्रगुणं जातम् ८१०२४०००, छेदराशिना भागे लब्धानि धनूंषि १२८, शेषम् ८१००० षण्णवत्यङ्गुलमानधनुषोऽङ्गुलानयनार्थं षण्णवतिगुणं जातम् ८६२१२४८, छेदेन भागे लब्धमङ्गुलानि१३,शेषम् ४०७३४६,अयं राशिः अर्द्धाङ्गुलानयनाय द्विगुणीक्रियते, जाता अष्टौ लक्षाः चतुर्दशसहस्राणि षट्शतानि द्विनवत्यधिकानि ८१४६९२ छेदराशिः, स एकलब्धमेकमर्द्धाङ्गुलम्। अत्र व्याख्यातो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायात् यवादिकमप्यानीयते। तथाहि-ते हाङ्गुलांशा अर्द्धात्रयैर्वैरङ्गुलमिति अष्टभिर्गुण्यन्ते जाताः ३२५८७६८ छेदः स एव, लब्धाः यवाः ५, ततोऽप्यष्टगुणने यूकादयः स्युः,तत्र यूका १, एतत् सर्वमप्यर्द्धाङ्गुलस्य किञ्चिद्विशेषाधिकत्वकथनेन सूत्रकारेणापि सामान्यतः संगृहीतमिति बोध्यम् । गणितपदं तत्करणं च सोदाहरणमग्रे भावयिष्यते इति । जं० १ वक्ष० । जी० ।

अथाकारभावप्रत्यवतारविषयकप्रश्नं निर्वक्तुमाह-

से णं एगाए वइरामईए जगईए सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते ।

(से णं एगाए त्ति) सोऽनन्तरोदितायामविष्कम्भपरिक्षेपपरिमाणो जम्बूद्वीपः, णमिति पूर्ववत्, एकया एकसङ्ख्यया अद्वितीयया, वज्रमय्या वज्ररत्नात्मिकया,जगत्या जम्बूद्वीपप्राकाररूपया द्वीपसमुद्रसीमाकारिण्या महानगरप्राकारकल्पया, सर्वतो दिक्षु समन्तात् विदिक्षु संपरिक्षिप्तः सम्यग् वेष्टितः। प्राकृतत्वाद्दीर्घत्वं वज्रशब्दस्य । जं० १ वक्ष० । जी० । स० । (जगतीप्रतिबद्धविशेषवक्तव्यता तु 'जगई' शब्दे ऽत्रैव भागेऽग्रे दर्शयिष्यते)

संप्रति जम्बूद्वीपस्य द्वारप्ररूपणार्थमाह-

जंबूदीवस्स णं भंते ! दीवस्स कइ दारा पण्णत्ता ? । गो-

यमा ! चत्तारि दारा पण्णत्ता । तं जहा-विजये, वेजयंते, जयंते, अपराजिए ।

"जंबुद्दीवस्स णं भंते !" इत्यादि । जम्बूद्वीपस्य, णमिति प्राग्वत् । भदन्त ! द्वीपस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ? । भगवानाह-गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-विजयम्, वैजयन्तम्, जयन्तम्, अपराजितं चा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । (विजयादिद्वाराणां वक्तव्यता स्वस्वशब्दे)

संप्रति जम्बूद्वीपमध्यवर्तिपदार्थानां संग्रहगाथामाह-

खंडा१जोयण२वासा३, पव्वय४कूडा५य तित्थ६सेढीओ७। विजय८द्दह९सलिलाओ,१०अपिंडए होइ संगहणी ॥१॥

संग्रहवाक्यस्य संक्षिप्तत्वेन दुर्बोधत्वात् सूत्रकृदेव प्रश्नोत्तररीत्या विवृणोति-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे भरहप्पमाणमेत्तेहिं खंडेहिं केवइअं खंडगणिएणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! णउअखंडसयं गणिएणं पण्णत्ते ।

जम्बूद्वीपो भदन्त ! द्वीपो भरतप्रमाणं षट्कलाधिकषड्विंशतियोजनाधिकपञ्चशतयोजनानि तदेव मात्रा परिमाणं येषां तानि तथा एवंविधैः खण्डैः शकलैरित्येवंरूपेण खण्डगणितेन खण्डसंख्यया कियान् प्रज्ञप्तः ? । भगवानाह-गौतम ! नवत्यधिकं खण्डशतं खण्डगणितेन प्रज्ञप्तः । कोऽर्थः ?, भरतप्रमाणैः खण्डैः नवत्यधिकशतसंख्याकैर्मीलितैर्जम्बूद्वीपः संपूर्णः लक्षप्रमाणो भवति ।

अथ योजनेति द्वारसूत्रम्-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइयं जोअणगणिएणं पण्णत्ते? । गोयमा ! "सत्तेव य कोडिसया, णउआ छप्पण्णसयसहस्साइं । चउणउइं च सहस्सा, सयं दिवड्ढं च गणियपयं" ॥ १ ॥

जम्बूद्वीपो भदन्त ! द्वीपः कियान् योजनगणितेन समचतुरस्रयोजनप्रमाणखण्डः सर्वसंख्यया प्रज्ञप्तः ? । भगवानाह-गौतम ! सप्तकोटिशतानि, एवाऽवधारणे । च उत्तरत्र संख्यासमुच्चयार्थः । नवतीति नवतिकोट्यधिकानि इति व्याख्येयं, प्रस्तावात् । अन्यथा कोटिशततो द्वितीयस्थाने सत्सु लक्षादिस्थानेषु नवदशकरूपा नवतिर्न युज्यते, गणितशास्त्रविरोधात्, तथा षट्पञ्चाशच्छतसहस्राणि, लक्षाणीत्यर्थः । चतुर्नवतिं च सहस्राणि शतं च द्व्यर्द्धं सार्द्धं पञ्चाशदधिकं योजनमित्येतावत्प्रमाणः जम्बूद्वीपस्य गणितपदं क्षेत्रमित्यर्थः । सूत्रे च योजनसंख्यायाः प्रक्रान्तत्वात् योजनावधिरेव संख्या निर्दिष्टा, अन्यत्र तु भगवतीवृत्त्यादौ साधिकत्वं विवक्षितम् । तच्चेदम्-" गाउअमेगं पण्णरस, धणुस्सया तह य धणूणि पण्णरस । सट्ठिं च अंगुलाइं, जंबुद्दीवस्स गणियपयं ॥ १ ॥ " इति । इयं च व्यक्तैव, करणं चात्र-" विक्खंभपायगुणिओ, अ परिरओ तस्स गणिअपयं " । इति वचनात् जम्बूद्वीपपरिधिस्त्रिलक्षषोडशसहस्रद्विशतसप्तविंशतियोजनादिको जम्बूद्वीपस्य विष्कम्भस्य लक्षरूपस्य पादेन चतुर्थांशेन पञ्चविंशतिसहस्ररूपेण गुणितो जम्बूद्वीपगणितपदं स्यात् । तथाहि-जम्बूद्वीपपरिधिस्त्रिलक्षाः, षोडश सहस्राणि, द्वे शते सप्तविंशत्यधिके योजनानां, तथा-गव्यूतत्रयम्, अष्टाविंशत्यधिकं शतं धनुषां त्रयोदशाङ्गुलानि एकं चार्द्धाङ्गुलं, यवादयस्तु श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रणीतक्षेत्रविचारसूत्रवृत्त्यादौ न विवक्षिता, अतो न तद्विवक्षा क्रियते । तत्र योजनराशौ पञ्चविंशतिसहस्रैर्गुणिते सप्तकोटीशतानि नवतिकोट्यः षट्पञ्चाशल्लक्षाः पञ्चसप्ततिसहस्राणि भवन्ति, तथा क्रोशत्रयं पञ्चविंशतिसहस्रगुणितं जातं पञ्चसप्ततिसहस्राणि गव्यूतानाम्, एषां च योजनानयनार्थं चतुर्भिर्भागे हृते लब्धान्यष्टादश सहस्राणि सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि योजनानाम्, अस्मिंश्च सहस्रादिके पूर्वराशौ प्रक्षिप्ते जातानि ९३ सहस्राणि ७ शतानि ५० अधिकानि, कोट्यादिका संख्या तु सर्वत्र तथैव, तथा धनुषामष्टाविंशं शतं पञ्चविंशतिसहस्रैर्गुण्यते जाता द्वात्रिंशल्लक्षा धनुषाम् ३२,००,०००, अष्टाभिश्च धनुःसहस्रैर्योजनं भवति, ततो योजनानयनार्थमष्टाभिः सहस्रैर्भागलब्धानि चत्वारि योजनशतानि, अस्मिंश्च पूर्वराशौ प्रक्षिप्ते जातानि ९४ सहस्राणि, शतं पञ्चाशदधिकम्, अङ्गुलान्यपि त्रयोदशपञ्चविंशतिसहस्रैर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि लक्षाणि पञ्चविंशतिसहस्राधिकानि अर्द्धाङ्गुलमपि पञ्चविंशतिसहस्रैर्गुण्यते, जातान्यर्द्धाङ्गुलानां पञ्चविंशतिसहस्राणि, तेषामर्द्धे लब्धान्यङ्गुलानां द्वादश सहस्राणि पञ्चशतादधिकानि, तेषु पूर्वोक्ताङ्गुलराशौ प्रक्षिप्तेषु जातोऽङ्गुलराशिस्त्रीणि लक्षाणि सप्तत्रिंशत्सहस्राणि पञ्चाशदधिकानि एषां धनुरानयनाय षण्णवत्या भागे हृते लब्धानि धनुषां पञ्चत्रिंशच्छतानि पञ्चदशाधिकानि, शेषं षष्टिरङ्गुलानि, अस्य धनूराशेर्गव्यूतानयनाय सहस्रद्वयेन भागे हृते लब्धमेकं गव्यूतं, शेषं धनुषां पञ्चदश शतानि पञ्चदशाधिकानि, सर्वाग्रेण जातमिदं योजनानां सप्तकोटिशतानि नवतिकोट्यधिकानि षट्पञ्चाशल्लक्षाः चतुर्णवतिसहस्राणि शतमेकं पञ्चाशदधिकं, तथा गव्यूतमेकं धनुषां पञ्चदशशतानि पञ्चदशाधिकानि अङ्गुलानां षष्टिरिति । गतं योजनद्वारम् । जं० ६ वक्ष० ।

अथ वर्षाणि—

जम्बूदीवे णं भंते ! कति वासा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सत्त वासा । तं जहा-भरहे, एरवए, हेमवए, हेरण्णवए, हरिवासे, रम्मगवासे, महाविदेहे ।

भरतमैरावतं हैमवत् हिरण्यवत् हरिवर्षरम्यकवर्षे महाविदेहः । जं० ६ वक्ष० । ज्यो० । स्था० । (महाविदेहक्षेत्रविभागीकरणे तु दश वर्षाणि)

अथ पर्वतद्वारम्—

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे केवइया वासहरा पव्वया पण्णत्ता ? । केवइआ मंदरा पव्वया, केवइया चित्तकूडा, केवइया विचित्तकूडा, केवइया जमगपव्वया, केवइया कंचणगपव्वया, केवइया वक्खारा, केवइया दीहवेयड्ढा, केवइया वट्टवेयड्ढा पण्णत्ता ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे छ वासहरपव्वया, एगे मंदरपव्वए, एगे चित्तकूडे, एगे विचित्तकूडे, दो जमगपव्वया, दो कंचणगपव्वयसया, वीसं वक्खारपव्वया, चोत्तीसं दीहवेयड्ढा चत्तारि वट्टवेयड्ढा, एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे दुण्णि अउणत्तरा पव्वयसया भवंतीति मक्खायं ति ।

प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे संख्यामीलनाय किञ्चिदुच्यते-षट् वर्षधराः, क्षुल्लहिमवदादयः एको मन्दरो मेरुः, एकश्चित्र-कूटः, एकश्च विचित्रकूटः, एतौ च यमलजातकाविव द्वौ गिरि-देवकुरुवर्तिनौ द्वौ यमकपर्वतौ तथैवोत्तरकुरुवर्तिनौ द्वे का-ञ्चनकपर्वतशीते देवकुरूत्तरकुरुवर्तिहृदपञ्चकोभयकूलयोः प्र-त्येकं दशदशकाञ्चनकसद्भावात्, तथा विंशतिर्वक्षस्कारप-र्वताः तत्र गजदन्ताकाराः गन्धमादनादयश्चत्वारः,तथा चतुष्प्र-कारे महाविदेहे प्रत्येकं चतुष्कचतुष्कसद्भावात् । षोडश चित्रकू-टादयः सरलाः सर्वेऽपि मिलिताः यथोक्तसंख्याः । तथा चतु-स्त्रिंशद्दीर्घवैताढ्याः द्वात्रिंशद्विजयेषु भरतैरावतयोश्च प्रत्येक-मेकैकभावात् चत्वारो वृत्तवैताढ्यहैमवतादिषु चतुर्षु वर्षेषु एकैकभावात् 'एवामेव सपुव्वावरेणं ति' प्राग्वत् । जम्बू-द्वीपे द्वीपे एकोनसप्तत्यधिके पर्वतशते भवत इत्याख्यातं म-या अन्यैश्च तीर्थकृद्भिः । जं० ६ वक्ष० । (जम्बूद्वीपक्षेत्राणि 'खेत्त' शब्दे तृतीयभागे ७६७ पृष्ठे प्रतिपादितानि)

अथ कूटानि-

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे केवइया वासहरकूडा, केवइया वक्खारकूडा, केवइया वेअड्ढकूडा केवइया मंदरकूडा पण्ण-त्ता ?। गोयमा ! छप्पण्णं वासहरकूडा, छण्णउइं वक्खारकूडा, तिण्णि छलुत्तरा वेअड्ढकूडसया, नव मंदरकूडा पण्णत्ता । एवामेव सपुव्वावरेणं जंबूदीवे दीवे चत्तारि सत्तट्ठा कूड-सया भवंतीति मक्खायं ॥

जम्बूद्वीपे कियन्ति वर्षधरकूटानि इत्यादि प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उ-त्तरसूत्रे-षट्पञ्चाशद्वर्षधरकूटानि । तथाहि-क्षुद्रहिमवच्छिखरिणोः प्रत्येकमेकादश, महाहिमवद्रुक्मिणोः प्रत्येकमष्टौ, निषधनील-वतोः प्रत्येकं नव, सर्वसंख्या ५६ । वक्षस्कारकूटानि षण्णवतिः । तथा-सरलवक्षस्कारेषु षोडशसु १६ प्रत्येकं चतुष्टयभावात् ६४ गजदन्ताकृतिवक्षस्कारेषु गन्धमादनसौमनसयोः सप्त २ माल्यवद्विद्युत्प्रभयोः नव इति, उभयमीलने यथोक्तसंख्या, त्रीणि षडुत्तराणि वैताढ्यकूटशतानि, तत्र भरतैरावतयोर्विजयानां च वैताढ्येषु चतुस्त्रिंशति प्रत्येकं नव संभवादुक्तसंख्यानयनं वृत्तवैताढ्येषु च कूटाभावः । अत एव वैताढ्यसूत्रे न दीर्घप-दोपादानं,विशेषणस्य व्यवच्छेदकत्वात्, अत्र च व्यवच्छेद्यस्या-भावादिति । मेरौ नव, तानि चन्दनवनगतानि ग्राह्याणि, न भद्रशालवनगतानि दिग्हस्तिकूटानि, तेषां भूमिगतत्वेन क्वचनाऽकूटत्वादिति । संग्रहणिगाथायाम्-" पव्वयकूडा य " इत्यत्र चोऽनुक्तसमुच्चये । तेन चतुस्त्रिंशदृषभकूटानि, तथा-अष्टौ जम्बूवनगतानि, तावन्त्येव शाल्मलीवनगतानि भद्रशा-लवनगतानि च सर्वसंख्ययाऽष्टाशत्संख्याकानि अग्राह्याणि । ननु तर्हि एतद्गाथाविवरणसूत्रे-"चत्तारि सत्तसट्ठा कूडसया" इ-त्येवंरूपे संख्याविरोधः । उच्यते-एषां नियताधारकत्वेन स्वतन्त्र गिरित्वाच्च कूटेषु गणना । अयमेवाशयः ऋषभकूटसंख्यासूत्र-पृथक्करणेन सूत्रकृता स्वयमेव दर्शयिष्यते, यच्च प्राक् ऋषभकू-टाधिकारे-" कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे उसभकूडे णामं पव्वए पण्णत्ते । " इति सूत्रम्, तच्छिलोच्चयमात्रतापरं व्याख्ये-यमिति सर्वं सुस्थम् । जं० ६ वक्ष० । स्था० ।

अथ तीर्थानि-

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे भरहे वासे कति तित्था पण्ण-त्ता ?। गोयमा ! तओ तित्था पण्णत्ता । तं जहा-मागहे, वरदामे, पभासे । जंबुद्दीवे णं दीवे एरवए वासे कति तित्था पण्णत्ता ?। गोयमा ! तओ तित्था पण्णत्ता । तं जहा-मागहे, वरदामे, पभासे । जंबुद्दीवे णं दीवे महा-विदेहे वासे एगमेगे चक्कवट्टिविजए कति तित्था पण्णत्ता ?। गोयमा ! तओ तित्था पण्णत्ता । तं जहा-मागहे,वरदामे, पभासे । एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे एगं वि उ-त्तरं तित्थसए भवतीति मक्खायं ति ॥

प्रश्नसूत्रे तीर्थानि चक्रिणां स्वस्वक्षेत्रसीमासु साधनार्थं महाजलावतरणस्थानानि । उत्तरसूत्रे भरते त्रीणि तीर्थानि प्रज्ञ-प्तानि । तद्यथा-मागधं पूर्वस्यां गङ्गासङ्गमे समुद्रस्य,वरदाम द-क्षिणस्यां,प्रभासं पश्चिमायां सिन्धुसङ्गमे समुद्रस्य । एवमैराव-तसूत्रमपि भावनीयम् । नवरं नद्यौ चात्र रक्तारक्तवत्यौ, तयोः समुद्रसङ्गमे मागधप्रभासे वरदामाख्यं च तत्रत्यापेक्षया तथैव, विजयसूत्रे चायं विशेषः-विजयसत्का गङ्गादि ४ महानदीनां यथार्हं शीताशीतोदयोः सङ्गमे मागधप्रभासाख्यानि भावनी-यानि, वरदामाख्यानि तेषां मध्यगतानि भाव्यानि, एवमेव पूर्वा-परमीलनेन एकं द्व्युत्तरं तीर्थशतं भवतीत्याख्यातमिति । जं० ६ वक्ष० । स्था० ।

अथ श्रेणयः-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइयाओ विज्जाहरसेढीओ, केवइयाओ आभिओगसेढीओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे अट्ठसट्ठी विज्जाहरसेढीओ, अट्ठसट्ठी आभिओगसेढीओ पण्णत्ताओ । एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे छत्तीससेढीसए भवतीति मक्खायं ।

प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे अष्टषष्टिर्विद्याधरश्रेणयः विद्याधरावासभूता वैताढ्यानां पूर्वा-परोदध्यादिपरिच्छिन्ना आयतमेखला भवन्ति चतुस्त्रिंशत्यपि वैताढ्येषु दक्षिणत उत्तरतश्च एकैकश्रेणिभावात् तथैवाष्टषष्टि-राभियोग्यश्रेणयः, एवमेव पूर्वापरमीलनेन जम्बूद्वीपे द्वीपे षट्-त्रिंशदधिकं श्रेणिशतं भवतीत्याख्यातम् ।

अथ विजयाः-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइया चक्कवट्टिविजया, केवइआ-ओ रायहाणीओ, केवइआओ तिमिसगुहाओ, केवइआओ खंडप्पवायगुहाओ, केवइया कयमालया देवा, केवइया णट्टमालया देवा, केवइया उसभकूडा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे, चोत्तीसं चक्कवट्टिविजया, चोत्तीसं रायहाणी-ओ, चोत्तीसं तिमिसगुहाओ चोत्तीसं खंडप्पवायगुहाओ, चोत्तीसं कयमालगा देवा, चोत्तीसं णट्टमालगा देवा, चो-त्तीसं उसभकूडा पव्वया पण्णत्ता ।

प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे जम्बूद्वीपे द्वीपे चतुस्त्रिंशच्चक्रवर्त्तिविजयाः, तत्र द्वात्रिंशन्महाविदेहविजयाः द्वे च भरतैरावते, अनयोरपि चक्रवर्त्तिविजेतव्यक्षेत्रखण्डरूपस्य चक्रवर्त्तिविजयशब्दवाच्यस्य सत्त्वात्, एवं चतुस्त्रिंशत् राजधान्यश्चतुस्त्रिंशत्तमिस्रगुहाः, प्रतिवैताढ्यमेकैकसंभवात्, एवं चतुस्त्रिंशत् खण्डप्रपातगुहाः, चतुस्त्रिंशत् कृतमालदेवाः, चतुस्त्रिंशन्नृत्तमालका देवाश्चतुस्त्रिंशत् ऋषभकूटनामकाः पर्वताः प्रज्ञप्ताः, प्रतिक्षेत्रं संभवतः चक्रवर्त्तिनो दिग्विजयसूचकनामन्यासार्थमेकैकसद्भावात्, यच्चात्र विजयद्वारे प्रक्रान्ते राजधान्यादिप्रश्नोत्तरसूत्रे तद्विजयान्तर्गतत्वेनेति ।

अथ ह्रदाः-

जंबुद्दीवे दीवे केवइआ महद्दहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सोलस महद्दहा पण्णत्ता ।

प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे षोडश महाह्रदाः, षड्वर्षधराणां शीताशीतोदयोश्च प्रत्येकं पञ्च । जं० ६ वक्ष० । स्था० । (षड्ह्रदसूचकं सूत्रम् 'दह' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४०७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

अथ सलिलाः-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइयाओ महाणईओ वासहरपवहाओ, केवइआओ महाणईओ कुंडप्पवहाओ पण्णत्ताओ ?। गोअमा ! जंबुद्दीवे दीवे चोद्दस महाणईओ वासहरपवहाओ, छावत्तरिमहाणईओ कुंडप्पवहाओ, एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे णउतिं महाणईओ भवंतीति मक्खायं ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे कियत्यो महानद्यो वर्षधरेभ्यः "तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशः" इति । वर्षधरह्रदेभ्यः प्रवहन्ति निर्गच्छन्तीति वर्षधरप्रवाहः । अन्यथा कुण्डप्रभवाणामपि वर्षधरनितम्बस्थकुण्डप्रभवत्वेन वर्षधरप्रभवा इति वाच्यं स्यात् । कियत्यः कुण्डप्रभवा वर्षधरनितम्बवर्त्तिकुण्डनिर्गताः प्रज्ञप्ताः ?। गौतम ! जम्बूद्वीपे चतुर्दशमहानद्यो वर्षधरह्रदप्रभवाः भरतगङ्गादयः प्रतिक्षेत्रं द्विद्विभावात् कुण्डभवाः षट्सप्ततिर्महानद्यः, तत्र शीताया उदीच्येष्वष्टसु विजयेषु शीतोदाया याम्येष्वष्टासु विजयेषु च एकैकभावेन षोडश गङ्गाः षोडश सिन्धवश्च । तथा शीताया याम्येष्वष्टसु विजयेषु शीतोदाया उदीच्येष्वष्टसु विजयेष्वष्टसु चैकैकभावेन षोडश रक्ता रक्तवत्यश्च, एवं चतुःषष्टिः द्वादश च प्रागुक्ता अन्तर्नद्यः सर्वमीलने षट्सप्ततिरिति कुण्डप्रभवानां तु शीताशीतोदापरिवारभूतत्वेनाऽसंभवदपि महानदीत्वं स्वस्वविजयगतचतुर्दशसहस्रनदीपरिवारं संपद्युपेतत्वेन भाव्यम् । एवमेव पूर्वापरेण चतुर्दशषट्सप्ततिरूपसंख्यामीलनेन जम्बूद्वीपे नवतिर्महानद्यो भवन्तीत्याख्यातामिति । जं० ६ वक्ष० । स्था० । स० । (तासां चतुर्दशमहानदीनां नदीपरिवारसंख्या समुद्रप्रवेशादिग् 'महाणई' शब्दे वक्ष्यते)

जंबुद्दीवे दीवे हेमवयहेरण्णवएसु वासेसु बारसुत्तरे सलिलासयसहस्से भवंतीति मक्खायं ।

जम्बूद्वीपे हैमवतहैरण्यवतयोः क्षेत्रयोर्द्वादशसहस्रोत्तरं नदीशतसहस्रं भवतीत्येवमाख्यातम् । अत्र शतसहस्रशब्दसाहचर्याद्वक्ष्यमाणसंख्यायां सहस्राणि प्रतीयन्ते । अन्यथा षट्पञ्चाशत्सहस्राणां चतुर्गुणने संख्याशास्त्रबोधः स्यात्, दृश्यते च शब्दसाहचर्यादर्थप्रतिपत्तिः । यथा-रामलक्ष्मणाविर्त्यत्र रामशब्देन दाशरथिर्लक्ष्मणशब्दसाहचर्यात् प्रतीयते, न तु रेणुकासुत इति । जं० ६ वक्ष० ।

जंबुद्दीवे दीवे हरिवासरम्मगवासेसु दो चउवीसा सलिलासयसहस्सा भवंतीति मक्खायं ।

तथा-"जंबुद्दीवे" इत्यादि सुबोधं, द्वयोर्वर्षयोः सहोक्तौ हेतुः प्राग्वदेव, (हरीति) हरिसलिला पूर्वार्णवगा, हरिवर्षे हरिकान्ता चापरार्णवगा, रम्यके नरकान्ता पूर्वार्णवगा, नारीकान्ता चापरार्णवगा सर्वसंख्यया जम्बूद्वीपे द्वीपे हरिवर्षरम्यकवर्षयोर्द्वे चतुर्विंशतिसहस्राधिके सलिलाशतसहस्रे भवत इति षट्पञ्चाशत्सहस्राणां चतुर्गुणने एकभावत एव लाभात् । अत्रापि सहस्रपरतया व्याख्यानं प्राग्वत् । जं० ६ वक्ष० ।

अथ मेरुतो दक्षिणस्यां कियत्यो नद्य इत्याह-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरपव्वयस्स दक्खिणेणं केवइया सलिलासयसहस्सा पुरच्छिमपच्चच्छिमाभिमुहा लवणसमुद्दं समप्पेंति ?। गोयमा ! एगे छण्णउए सलिलासयसहस्से पुरच्छिमपच्चच्छिमाभिमुहे लवणसमुद्दं समप्पेंति त्ति । जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं केवइआ सलिलासयसहस्सा पुरच्छिमाभिमुहा लवणसमुद्दं समप्पेंति ?। गोयमा ! एगे छण्णउए सलिलासयसहस्से पुरच्छिमपच्चच्छिमाभिमुहे० जाव समप्पेइ । जंबुद्दीवे णं भंते ! केवइआ सलिलासयसहस्सा पुरत्थाभिमुहा लवणसमुद्दं समप्पेंति ?। गोयमा ! सत्त सलिलासयसहस्सा अट्ठावीसं च सहस्सा० जाव समप्पेंति । जंबुद्दीवे णं भंते ! केवइआ सलिलासयसहस्सा पच्चच्छिमाभिमुहा लवणसमुद्दं समप्पेंति ?। गोयमा सत्त सलिलासयसहस्सा अट्ठावीसं च सहस्सा० जाव समप्पेंति, एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे चोद्दस सलिलासयसहस्सा छप्पण्णं च सहस्सा भवंतीति मक्खायं ॥

"जंबुद्दीवे दीवे" इत्यादि व्यक्तम् । नवरम् उत्तरसूत्रे एकं षण्णवतिसहस्राधिकं सलिलाशतसहस्रम् । तथाहि-भरते गङ्गायाः सिन्धोश्च चतुर्दशचतुर्दशसहस्राणि, हैमवते रोहितायाः रोहितांशायाश्चाष्टाविंशतिरष्टाविंशतिसहस्राणि, हरिवर्षे हरिसलिलाया हरिकान्तायाश्च षट्पञ्चाशत् २ सहस्राणि, सर्वमीलने यथोक्तसंख्या । अथ मेरोरुत्तरवर्त्तिनीनां संख्यां प्रश्नयितुमाह-"जंबुद्दीवे" इत्यादि व्यक्तम् । नवरम् उत्तरसूत्रे सर्वसंख्या दक्षिणसूत्रवद्भावनीया, वर्षाणां नदीनां च विशेषः स्वयं बोध्यः । ननु मेरुतो दक्षिणोत्तरनदीसंख्यामीलने सपरिवारे उत्तरदक्षिणप्रवाहे शीताशीतोदे कथं न मिलिते ?। उच्यते-प्रश्नसूत्रं हि मेरुतो दक्षिणोत्तरदिग्भागवर्त्तिपूर्वापरसमुद्रप्रवेशरूपविशिष्टार्थविषयक, तेन मेरुतः शुद्धपूर्वापरसमुद्रप्रवेशिन्योरनयोर्निर्वचनसूत्रेऽनन्तर्भावः, यथाप्रश्नं निर्वचनदानस्य शिष्टव्यवहारात् । अथ पूर्वाऽभिमुखाः कियत्यो लवणोदं प्रविशन्तीत्याह-"जंबुद्दीवे दीवे" इत्यादि । जम्बूद्वीपे द्वीपे कियत्यो नद्यः पूर्वाऽभिमुखाः लवणोदं प्रविशन्ति, कियत्यः पूर्वसमुद्रप्रवेशिन्य इत्यर्थः । इदं च प्रश्नसूत्रं केवलं नदीनां पूर्वदिग्गामित्वरूपप्रश्नविषयकं, तेन पूर्वस्मात्

प्रथमसूत्राभिहितत्यते, उत्तरसूत्रे सप्त नदीलक्षाणि, अष्टाविंशतिश्च सहस्राणि यावत् समुपसर्पन्ति । तद्यथा-पूर्वसूत्रे मेरोर्दक्षिणदिग्वर्तिनीनामेकं षण्णवतिसहस्राधिकं लक्षमुक्तं, तदर्द्धं पूर्वं पूर्वाब्धिगामीत्यागतान्यष्टानवतिः सहस्राणि, एवमुदीच्यनदीनामप्यष्टानवतिः सहस्राणि शीतापरिकरनद्यश्च लक्षाणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि च, सर्वपिण्डे यथोक्तं मानम् । अथ पश्चिमाब्धिगामिनीनां संख्याप्रश्नार्थमाह-" जंबुद्दीवे दीवे" इत्यादि । इदं चानन्तरसूत्रवत् वाच्यं,संख्या योजनीया,परस्परं निर्विशेषत्वात् । संप्रति सर्वसरित्संकलनामाह-" एवामेव सपुव्वावरेणं " इत्यादि व्यक्तं, नवरम् जम्बूद्वीपे द्वीपे पूर्वाब्धिगामिनीनामपराब्धिगामिनीनां च नदीनां संयोजने चतुर्दशलक्षाणि षट्पञ्चाशत् सहस्राणि भवन्ति इत्याख्यातम् । ननु इयं सर्वसरित्संख्या केवलपरिकरनदीनां,महानदीसहितानां वा तासाम् ?। उच्यते-महानदीसहितानामिति संभाव्यते, संभावनाबीजं तु कच्छविजयगतसिन्धुनदीवर्णनाधिकारे प्रवेशे च सर्वसंख्यया आत्मना सह चतुर्दशभिर्नदीसहस्रैः समन्विता भवतीति श्रीमलयगिरिकृतबृहत्क्षेत्रविचारवृत्त्यादिवचनमिति । श्रीरत्नशेखरसूरयस्तु स्वक्षेत्रसमासे-" अडसयरि महाणईओ, बारस अंतरणईउ सेसा उ । परिअरणईउ चउदस, एवं छप्पन्नसहस्सा य ॥१॥ "इति महानदीनां पृथग्गणनं चक्रुरिति । तत्त्वं तु बहुश्रुतगम्यम् । नन्वत्र प्रत्येकमष्टाविंशतिसहस्रनदीपरिवारा द्वादशान्तर्नद्यः सर्वनदीसंकलनायां कथं न गणिताः ?। उच्यते-इयं सर्वसरित्संख्या चतुर्दशलक्षादिलक्षणं श्रीरत्नशेखरसूरिभिः स्वोपज्ञक्षेत्रसमासवृत्तौ, तथा प्रतिमहानदीपरिवारमीलने स्वस्वक्षेत्रविचारसूत्रे श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणादिसूत्रकारैः श्रीमलयगिर्यादिभिर्वृत्तिकारैश्चान्तर्नदीपरिवाराः संग्रहेण चोक्ताः। श्रीहरिभद्रसूरिभिस्तु "खंडा जोअण "इत्यादि गाथायाः संग्रहण्यां चतुरशीतिप्रमाणा कुरुनदीरनन्तर्भाव्य तत्स्थाने इमा एव द्वादश नदीः चतुर्दशभिः २ नदीसहस्रैः सह निक्षिप्य यथोक्तसंख्याऽपूरि । तद्यथा-" चउदस सहस्सगुणिआ, अडतीसणईउ विजयमज्झिल्ला । सीआणइणिवडंती, सीओआए वि एमेव ॥ १ ॥ " कैश्चित्तु जयविजयगतयोः गङ्गासिन्ध्वोः रक्तारक्तवत्योर्वा अष्टाविंशतिसहस्रनदीलक्षणः परिवारः, स एवासन्नत्वोपचारेणान्तर्नदीनां परिवारतयोक्त इत्यतोऽवसीयते, यदन्तर्नदीपरिवारमाश्रित्य मतवैचित्र्यदर्शनादिना केनाऽपि हेतुना प्रस्तुतसूत्रकारेणाऽपि सर्वनदीसंकलनायां गणिता इति । अत्रापि तत्त्वं बहुश्रुतगम्यमेव। यदि चान्तर्नदीपरिवारनदीसंकलनाऽपि क्रियते, तदा जम्बूद्वीपे त्रिनवतिसहस्राधिकाः सप्तदश लक्षाः नदीनां भवन्ति । यदुक्तम्-" सुत्ते चउदस लक्खा, छप्पन्नसहस्सजंबुदीवम्मि । हुंति उ सत्तरस लक्खा, बाणउई सहस्ससलिला उ ॥ १ ॥ " इति । एतेषां जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्युक्तार्थानां पिण्डके मीलके विषयभूते इयं संग्रहगाथा भवतीति । अथ जम्बूद्वीपव्यासस्य लक्षप्रमाणताप्रतीत्यर्थं दक्षिणोत्तराभ्यां क्षेत्रयोजनसर्वाग्रमीलनं जिज्ञासूनामुपकाराय दर्श्यते । यथा--१०००००, अत्र सर्वाग्रं क्षेत्रयोजनप्रमाणम् । अत्रापि जगतीसत्कमूलविष्कम्भः स्वस्वदिग्गतमुखवनेऽन्तर्भावनीय इति । जं० ६ वक्ष० ।

अथ जम्बूद्वीपे चन्द्रादिसंख्यां पृच्छति-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे कइ चंदा पभासिंसु, पभासिंति, पभासिस्संति, कइ सूरिया तवइंसु, तवेंति, तविस्संति, केवइआ णक्खत्ता जोगं जोइंसु, जोअंति, जोइस्संति; केवइआ महग्गहा चारं चरिंसु, चरंति, चरिस्संति; केवइआओ तारागणकोडाकोडीओ सोभिंसु, सोभिंति, सोभिस्संति य ?। गोयमा ! दो चंदा पभासिंसु० ३, दो सूरिआ तवइंसु० ३, छप्पण्णं णक्खत्ता जोगं जोइंसु० ३, छावत्तरं महग्गहसयं चारं चरिंसु० ३ । " एगं च सयसहस्सं, तेत्तीसं खलु भवे सहस्साइं । णव य सया पण्णासा, तारागणकोडिकोडीणं ॥ १ ॥ "

जम्बूद्वीपे भगवन् ! द्वीपे कति चन्द्राः प्रभासितवन्तः-प्रकाशनीयं वस्तु उद्द्योतितवन्तः, प्रभासयन्ति उद्द्योतयन्ति, प्रभासयिष्यन्ति उद्द्योतयिष्यन्ति, उद्द्योतनामकर्मोदयाच्चन्द्रमण्डलानामनुष्णप्रकाशो हि अत्र उद्द्योत इति व्यवह्रियते, तेन तथा प्रश्नः अनादिनिधनेयं जगत्स्थितिरिति ज्ञानतः शिष्यस्य कालत्रयनिर्देशेन प्रश्नः, प्रष्टव्यं तु चन्द्रादिसंख्या । तथा कति सूर्यास्तापितवन्तः आत्मव्यतिरिक्तवस्तूनि तापं जनितवन्तः, एवं तापयन्ति, तापयिष्यन्ति । आतपनामकर्मोदयाद् रविमण्डलानामुष्णः प्रकाशस्ताप इति लोके व्यवह्रियते, तेन तथा प्रश्नोक्तिः, तथा कियन्ति नक्षत्राणि योगं स्वयं नियतमण्डलचारित्वेऽप्यनियताऽनेकमण्डलचारिभिर्निजमण्डलक्षेत्रमागतैर्ग्रहैः सह संबन्धं युक्तवन्ति प्राप्तवन्ति, युञ्जन्ति प्राप्नुवन्ति, योक्ष्यन्ति प्राप्स्यन्ति । तथा कियन्तो महाग्रहा अङ्गारकादयश्चारं मण्डलक्षेत्रपरिभ्रमिं चरितवन्तो अनुभूतवन्तः, चरन्ति अनुभवन्ति, चरिष्यन्ति अनुभविष्यन्ति ?। यद्यपि समयक्षेत्रवर्तिनां सर्वेषामपि ज्योतिष्काणां गतिश्चार इत्यभिधीयते, तथाऽप्यन्यव्यपदेशविशेषाभावेन वक्रातिचारादिभिर्गतिविशेषैर्गतिमत्त्वेन चैषां सामान्यगतिशब्देन प्रश्नः । तथा कियत्यस्तारागणकोट्यः शोभितवत्यः शोभां धृतवत्यः, शोभन्ते, शोभिष्यन्ति ?। एषां च चन्द्रादिसूत्रोक्तकारणाभावेन बहुलपक्षादौ भास्वरत्वमात्रेण शोभमानत्वादित्थं प्रश्नाभिलापः । अत्र सूत्रेऽनुक्तोऽपि वाशब्दो विकल्पद्योतनार्थं प्रतिप्रश्नं बोध्यः । भगवानाह-गौतम ! द्वौ चन्द्रौ प्रभासितवन्तौ, प्रभासेते, प्रभासिष्येते च । जम्बूद्वीपे क्षेत्रे सूर्याक्रान्ताभ्यां दिग्भ्यामन्यत्र शेषयोर्दिशोश्चन्द्राभ्यां प्रकाश्यमानत्वात्, प्रश्नसूत्रे च प्रभासितवन्त इत्यादौ यो बहुवचनेन निर्देशः स प्रश्नरीतिर्बहुवचनेनैव भवतीति ज्ञापनार्थः । एकाद्यन्यतरनिर्णयस्य तु सिद्धान्तोत्तरकाले संभवः, एवं सूर्यसूत्रेऽपि भावनीयम् । तथा द्वौ सूर्यौ तापितवन्तौ , जम्बूद्वीपक्षेत्रमिति शेषः; अस्मिन्नेव क्षेत्रे चन्द्राक्रान्ताभ्यां दिग्भ्यामन्यत्र शेषयोर्दिशोः सूर्याभ्यां ताप्यमानत्वात् । तथा षट्पञ्चाशन्नक्षत्राण्येकैकस्य चन्द्रस्य प्रत्येकमष्टाविंशतिनक्षत्रपरिवारान् योगं युक्तवन्तीत्यादि प्राग्वत् । तथा षट्सप्ततिं षट्सप्तत्युत्तरं महाग्रहशतम्, एकैकस्य चन्द्रस्य प्रत्येकमष्टाशीतिग्रहाणां परिवारभावात् चारं चरितवदित्यादि । तथा पद्येन तारामानमाह-तारागणकोटिकोटीनामेकं लक्षं त्रयस्त्रिंशच्च सहस्राणि, नव च शतानि, पञ्चाशानि पञ्चाशदधिकानि भवन्ति । प्रतिचन्द्रं तारागणकोटाकोटीनां षट्षष्टिसहस्रनवशताधिकपञ्चसप्ततेर्लभ्यमानत्वादिति । जं० ६ वक्ष० ।

जम्बूद्वीपे निधिसंख्यां प्रष्टुमाह–

जंबुद्दीवे दीवे केवइया निहिरयणा सव्वग्गेणं पएणत्ता ?। गोयमा ! तिरिण छत्तुत्तरा णिहिरयणसया सव्वग्गेणं पण्णत्ता। जंबुद्दीवे दीवे केवइआ णिहिरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ?। गोयमा ! जहण्णपए छत्तीसं, उक्कोसपए दोण्णि सत्तरा णिहिरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति। जंबुद्दीवे दीवे केवइआ पंचिंदियरयणसया सव्वग्गेणं पएणत्ता ?। गोयमा ! दो दसुत्तरा पंचिंदियरयणसया सव्वग्गेणं पण्णत्ता। जम्बुद्दीवे दीवे जहण्णपदे वा उक्कोसपदे वा केवइआ पंचिंदियरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ?। गोयमा ! जहण्णपए अट्ठावीसं उक्कोसपए दोण्णि दसुत्तरा पंचिंदियरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति। जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइआ एगिंदियरयणसया सव्वग्गेणं पण्णत्ता ?। गोयमा ! दो दो दसुत्तरा एगिंदियरयणसया सव्वग्गेणं पण्णत्ता। जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइया एगिंदियरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ?। गोयमा ! जहण्णपए अट्ठावीसं, उक्कोसेणं दोण्णि दसुत्तरा एगिंदियरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति। जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइअं आयामविक्खंभेणं, केवइअं परिक्खेवेणं, केवइअं उव्वेहेणं, केवइअं उड्ढं उच्चत्तेणं, केवइअं सव्वग्गेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे एगं जोअणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं, तिण्णि जोअणसयसहस्साइं सोलस य सहस्साइं दोण्णि अ सत्तावीसे जोअणसए तिण्णि अ कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं, एगं जोअणसहस्सं उव्वेहेणं, णवणउतिजोअणसहस्साइं साइरेगाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, साइरेगं जोअणसयसहस्सं सव्वग्गेणं पण्णत्ते।

" जंबुद्दीवे " इत्यादि। जम्बूद्वीपे द्वीपे कियन्ति निधिरत्नानि उत्कृष्टनिधानानि, यानि गङ्गादिनदीमुखस्थानि चक्रवर्ती हस्तगतपरिपूर्णषट्खण्डादिदिग्विजयश्च।कृत्वाऽष्टमतपःकरणानन्तरं स्वसात्करोति, तानि सर्वाग्रेण सर्वसंख्यया प्रज्ञप्तानि ?। भगवानाह–गौतम ! त्रीणि षडुत्तराणि निधिरत्नशतानि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तानि। तद्यथा–नवसंख्याकानि निधानानि चतुस्त्रिंशता गुण्यन्त इति यथोक्ता संख्येति। इयं च सत्तामाश्रित्य प्ररूपणा कृता। अथ निधिपतीनां कति निधानानि विवक्षितकाले भोग्यानि भवन्तीति प्रश्नमाह–" जंबुद्दीवे दीवे " इत्यादि। जम्बूद्वीपे कियन्ति निधिरत्नशतानि परिभोग्यतया उत्पन्ने प्रयोजने चक्रवर्तिभिर्व्यापार्यमाणत्वेन " हव्वं इति " शीघ्रं चक्राभिलाषोत्पत्त्यनन्तरं, निर्विलम्बमित्यर्थः, आगच्छन्ति ?। भगवानाह–गौतम ! जघन्यपदे षट्त्रिंशत् जघन्यपदभाविनां चक्रवर्तिनां नव निधानानि चतुर्गुणितानि यथोक्तसंख्याप्रदानीति, उत्कृष्टपदे तु द्वे सप्तत्यधिके निधिरत्नशते परिभोग्यतया शीघ्रमागच्छतः, उत्कृष्टपदभाविनां चक्रिणां त्रिंशता नव नव निधानानि भवन्तीति नव त्रिंशता गुण्यन्ते, इत्युपपद्यते यथोक्तसंख्येति। अथ जम्बूद्वीपवर्तिचक्रवर्तिरत्नसंख्यां पिपृच्छिषुराह–(जम्बुद्दीवे त्ति) जम्बूद्वीपे द्वीपे भदन्त ! कियन्ति पञ्चेन्द्रियरत्नानि सेनापत्यादीनि, तेषां शतानि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तानि ?। भगवानाह–गौतम ! द्वे दशोत्तरे पञ्चेन्द्रियरत्नशते सर्वाग्रेण प्रज्ञप्ते। तद्यथा–उत्कृष्टपदभाविनां त्रिंशतां चक्रिणां प्रत्येकं सप्त पञ्चेन्द्रियरत्नसद्भावेन सप्तसंख्या त्रिंशता गुण्यते, भवति यथोक्तं मानम्। ननु निधिसर्वाग्रपृच्छायां चतुस्त्रिंशता गुणनं, पञ्चेन्द्रियरत्नसर्वाग्रपृच्छायां तु किमिति त्रिंशता गुणनम् ?। उच्यते–चतुर्षु वासुदेवविजयेषु तदा तेषामनुपलम्भात् निधीनां तु नियतभावत्वेन सर्वदाऽप्युपलब्धेः, तेन रत्नसर्वाग्रसूत्रे रत्नपरिभोगसूत्रे च न कश्चित्संख्याकृतो विशेष इति। अथ रत्नपरिभोगप्रश्नसूत्रमाह–" जम्बुद्दीवे " इत्यादि प्रायो व्याख्यातत्वाद्व्यक्तम्। अथैकेन्द्रियरत्नानि प्रश्नयितुमाह–" जंबुद्दीवे " इति व्यक्तम्। नवरम् एकेन्द्रियरत्नानि चक्रिणां चक्रादीनि तेषां शतानि इति। अथैकेन्द्रियरत्नपरिभोगसूत्रं पृच्छन्नाह–" जंबुद्दीवे त्ति " व्यक्तम्। अथ जम्बूद्वीपस्य विष्कम्भादीनि पृच्छन्नाह–(जंबुद्दीवे त्ति) अत्र सूत्रे विष्कम्भायामपरिक्षेपाः प्राग् व्याख्याताः, पुनः प्रश्नविषयीकरणं तु उद्वेधादिकोऽधर्मप्रश्नकरणस्य प्रस्तावाद्विस्मरणशीलविनेयजनस्मरणरूपोपकारायेति। ततोद्वेधादिसूत्रे जम्बूद्वीपं द्वीपम्, अत्र द्वीपशब्दस्य क्लीबत्वनिर्देशः, क्लीबेऽपि वर्तमानत्वात्, कियदुद्वेधत्वेन, भूमिप्रविष्टत्वेनेत्यर्थः। कियदूर्ध्वोच्चत्वेन, भूनिर्गतत्वोच्चत्वेनेत्यर्थः। कियच्च सर्वाग्रेण तुण्डत्वोच्चत्वमीलनेन प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह–गौतम ! विष्कम्भायामपरिक्षेपविषयं निर्वचनसूत्रं प्राग्वत्, उद्वेधादिनिर्वचनसूत्रे तु एक योजनसहस्रमुद्वेधेन सातिरेकाणि नवनवतियोजनसहस्राणि ऊर्ध्वोच्चत्वेन सातिरेकं योजनशतसहस्रं सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तम्। ननु तुण्डत्वव्यवहारो जलाशयादौ, उच्चत्वव्यवहारस्तु पर्वतविमानादौ प्रसिद्धः, द्वीपे तु स किं, व्यवहाराविषयत्वादिति ?। उच्यते–समभूतलादारभ्य रत्नप्रभायामधः सहस्रयोजनानि यावत्क्रमनेऽधोग्रामाविजयादिषु जम्बूद्वीपव्यवहारस्योपलभ्यमानत्वेनोच्चत्वव्यवहारः सुप्रसिद्ध एव। तथा जम्बूद्वीपोत्पन्नानां तीर्थकृतां जम्बूद्वीपमेरोः पण्डकवनाभिषेकशिलायामभिषिच्यमानत्वात् जम्बूद्वीपव्यपदेशपूर्वकमभिषेकस्य जायमानत्वेनोच्चत्वव्यवहारोऽप्यागमे सुप्रसिद्ध एवेति। जं० ७ वक्ष०।

अथास्यैव शाश्वतभावादिकं प्रश्नयन्नाह–

जम्बुद्दीवे णं भंते ! दीवे किं सासए, किं असासए ?। गोअमा ! सिअ सासए, सिअ असासए। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–सिअ सासए, सिअ असासए ?। गोअमा ! दव्वट्ठयाए सासए, वण्णपज्जवेहिं गंधरसफासपज्जवेहिं असासए, से तेणट्ठेणं गोअमा ! एवं वुच्चइ–सिअ सासए, सिअ असासए। जम्बुद्दीवे णं भंते ! दीवे कालओ केवच्चिरं होइ ?। गोयमा ! ण कया वि णासि, ण कया वि णत्थि, ण कया वि ण भविस्सइ, भविंसु अ, भवइ अ, भविस्सइ अ, धुवे णिअए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे जंबुद्दीवे दीवे पण्णत्ते।

" जंबुद्दीवे णं " इत्यादि। इदं च यथा प्राक् पद्मवरवेदिकाधिकारे व्याख्यातम्, तथाऽत्र जम्बूद्वीपव्यपदेशेन बोध्यमिति।

एवं च शाश्वताऽशाश्वतो घटो निरन्वयविनश्वरो दृष्टः, किमसावपि तद्वत्, उत नेत्याह–"जंबुद्दीवे णं" इत्यादि । इदमपि प्राक् पद्मवरवेदिकाऽधिकारे व्याख्यातमिति । जं० ।

अथ किं परिणामोऽसौ द्वीप इति पिपृच्छिषुराह–

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे किं पुढविपरिणामे, आउपरिणामे, जीवपरिणामे, पुग्गलपरिणामे ? । गोयमा ! पुढविपरिणामे वि, आउपरिणामे वि, जीवपरिणामे वि, पुग्गलपरिणामे वि ।

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपः किं पृथ्वीपरिणामः पृथिवीपिण्डमयः, किं जलपरिणामः जलपिण्डमयः। एतादृशौ च स्कन्धावच्छिन्नरजःस्कन्धादिवदजीवपरिणामावपि भवत इत्याशङ्कयाह–किं जीवपरिणामः जीवमयः। घटादिरजीवपरिणामोऽपि भवतीत्याशङ्कयाह—किं पुद्गलपरिणामः पुद्गलस्कन्धनिष्पन्नः केवलपुद्गलपिण्डमय इत्यर्थः । तेजसस्त्वेकान्तसुषमादावनुत्पन्नत्वेन एकान्तदुःषमादौ तु विध्वस्तत्वेन जम्बूद्वीपस्य तत्परिणामेऽङ्गीक्रियमाणे कादाचित्कत्वप्रसङ्गः, वायोस्त्वतिचलत्वेन तत्परिणामे द्वीपस्यापि चलत्वापत्तिरिति तयोः स्वत एव संदेहाविषयत्वेन न प्रश्नसूत्रे उपन्यासः। भगवानाह–गौतम ! पृथिवीपरिणामोऽपि, पर्वतादिमत्त्वात् । अप्परिणामोऽपि, नदीह्रदादिमत्त्वात् । जीवपरिणामोऽपि मुखवनादिषु वनस्पत्यादिमत्त्वात् । यद्यपि स्वसमये पृथिव्यप्कायपरिणामत्वग्रहणेनैव जीवपरिणामत्वं सिद्धम्, तथाऽपि लोके तयोर्जीवत्वस्याव्यवहारात् पृथग्ग्रहणम्; वनस्पत्यादीनां तु जीवत्वव्यवहारः स्वपरसंमत इति पुद्गलपरिणामोऽपि मूर्तत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, कोऽर्थः?, जम्बूद्वीपो हि स्कन्धरूपः पदार्थः, स चावयवैः समुदितैरेव भवति, समुदायरूपत्वात् समुदायिन इति ।

अथ यदि चायं जीवपरिणामरूपस्तर्हि सर्वे जीवा अत्रोत्पन्नपूर्वाः, उत नेत्याशङ्कयाह–

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे सव्वपाणा सव्वजीवा सव्वभूआ सव्वसत्ता पुढविकाइयत्ताए आउकाइअत्ताए तेउकाइयत्ताए वाउकाइअत्ताए वणस्सइकाइअत्ताए उववण्णपुव्वा ? । हंता गोयमा ! । असइं अदुवा अणंतखुत्तो ॥

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे सर्वे प्राणाः द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः, सर्वे जीवाः पञ्चेन्द्रियाः, सर्वे भूतास्तरवः, सर्वे सत्त्वाः पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकाः । अनेन च सांव्यवहारिकराशिविषयक एवायं प्रश्नः, अनादिनिगोदनिर्गतानामेव प्राणजीवादिरूपविशेषपर्यायप्रतिपत्तेः। पृथिवीकायिकतया अप्कायिकतया तेजस्कायिकतया वायुकायिकतया वनस्पतिकायिकतया उपपन्नपूर्वा उत्पन्नपूर्वाः ?। भगवानाह–'हंता गोयमा ! एवं गौतम ! यथैव प्रश्नसूत्रं तथैव प्रत्युच्चारणीयम्—पृथिवीकायिकतया यावद्वनस्पतिकायिकतया उपपन्नपूर्वाः, कालक्रमेण संसारस्यानादित्वात्, न पुनः सर्वे प्राणादयो जीवविशेषा युगपदुत्पन्नाः सकलजीवानामेककालं जम्बूद्वीपे पृथिव्यादिभावेनोत्पादे सकलदेवनारकादिभेदाभावप्रसक्तेः । न चैतदस्ति, तथा जगत्स्वभावादिति । कियन्तो वाराननुत्पन्ना इत्याह–असकृदनेकशः, अथवा–अनन्तकृत्वः–अनन्तवारान्, संसारस्यानादित्वादिति ।

अथ जम्बूद्वीपेतिनाम्नो व्युत्पत्तिनिमित्तं जिज्ञासिषुः पृच्छति–

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–जंबुद्दीवे दीवे ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे णं दीवे तत्थ तत्थ देसेहिं देसेहिं बहवे जंबूरुक्खा जंबूवणा जंबूवणसंडा णिच्चं कुसुमिआ० जाव पिंडिमंजरिवडिंसगधरा सिरीए अईव उवसोभेमाणा चिट्ठंति । जंबूए सुदंसणाए अणाढिए णामं देवे महिड्ढिए० जाव पलिओवमट्ठिईए परिवसइ, से तेणट्ठेणं गोअमा ! एवं वुच्चइ–जंबूद्दीवे दीवे ।

अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते–जम्बूद्वीपो द्वीपः ?। भगवानाह–गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे तत्र तत्र देशे तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो जम्बूवृक्षा एकैकरूपा विप्रकीर्णस्थितत्वात्, तथा बहूनि जम्बूवनानि जम्बूवृक्षा एव समूहभावेनावस्थिताः, अविरलस्थितत्वात् । "एकजातीयतरुसमूहो वनम्" इति वचनात् । तथा बहवो जम्बूवनखण्डाः जम्बूवृक्षसमूहा एव विजातीयतरुमिश्रिताः "अनेकजातीयतरुसमूहो वनखण्डः" इति वचनात् । तत्राऽपि जम्बूवृक्षाणामेव प्राधान्यमिति प्रस्तुते वर्णकसाफल्यम् । अन्यथा अपरवृक्षाणां वनखण्डैर्निमित्तभूतैर्जम्बूद्वीपपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वेऽसाङ्गत्यात् । ते च कथंभूता इत्याह–नित्यं सर्वकालं कुसुमिताः, यावत्पदात् "णिच्चं माइया णिच्चं लवइया णिच्चं थवइआ० जाव णिच्चं कुसुमिअ–माइअ–लवइअ–थवइअ–गुलुइअ–गोच्छिइअ–जमलिअ–जुवलिअ–विणमिअ–पणमिअ–सुविभत्त" इति ग्राह्यम् । एतद्व्याख्यानं प्राग्वनखण्डवर्णके कृतमिति ततो ज्ञेयम् । उक्तवर्णकोपेताश्च वृक्षाः श्रिया अतीव उपशोभमानास्तिष्ठन्ति । इदं च नित्यकुसुमितत्वादिकं जम्बूवृक्षाणामुत्तरकुरुक्षेत्रापेक्षया बोध्यम् । अन्यथैषां प्रावृट्कालभाविपुष्पफलोदयवत्त्वेन प्रत्यक्षबाधात्, एतेन जम्बूवृक्षबहुलो द्वीपो जम्बूद्वीप इत्यावेदितं भवति । अथवा–जम्ब्वां सुदर्शनाऽभिधानायामनादृतनामा, पूर्वं जम्बूवृक्षाधिकारे व्याख्याननामा देवो महर्द्धिको, यावत्करणात् "महज्जुइए" इत्यादि ग्राह्यम् । पल्योपमस्थितिकः परिवसति; अथ तेनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते–स्वाधिपत्यनादृतनामदेवाश्रयभूतया जम्ब्वोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीप इति, सूत्रैकदेशो ह्यपरं सूत्रैकदेशं स्मारयति इति । "अदुत्तरं च णं जंबुद्दीवस्स सासए णामधेज्जे पण्णत्ते, जं ण कयाइ ण आसी, ण कयाइ णत्थि, ण कयाइ ण भविस्सइ० जाव णिच्चे" इति ज्ञेयं, जीवाभिगमादर्शे तथा दर्शनात् । एतेन किमाकारभावप्रत्यवतारो जम्बूद्वीप इति चतुर्थः प्रश्नो निर्व्यूढ इति । जं० ७ वक्ष० । जी० ।

जम्बूद्वीपस्य मध्ये च मेरुनामा पर्वतोऽस्ति । तथाहि–

महीइ मज्झम्मि ठिते णगिंदे, पन्नायते सूरियसुद्धलेसे ।
एवं सिरीए उ स भूरिवन्ने, मणोरमे जोअइ अच्चिमाली ॥ १३ ॥

मह्यां रत्नप्रभापृथिव्यां, मध्यदेशे जम्बूद्वीपः, तस्यापि बहुमध्यदेशे सौमनसविद्युत्प्रभगन्धमादनमाल्यवन्तदंष्ट्रापर्वतचतुष्टयोपशोभितः समभूभागे दशसहस्रविस्तीर्णः शिरसि सहस्रमेकमधस्तादपि दशसहस्राणि नवतियोजनानि योजनैकादशभागैर्दशभिरधिकानि विस्तीर्णश्चत्वारिंशद्योजनोच्छ्रितचूलोपशोभितो नगेन्द्रः पर्वतप्रधानो मेरुः प्रकर्षेण लोके ज्ञायते

सूर्यवल्लुद्धलेश्य आदित्यसमानतेजाः, एवमनन्तरोक्तप्रकारया श्रिया,तुशब्दात् विशिष्टतरया, स मेरुर्गिरिवर्णोऽनेकवर्णोऽनेकवर्णरत्नोपशोभितत्वात् मनोऽन्तःकरणं रमयतीति मनोरमोऽर्चिमालीव आदित्य इव स्वतेजसा द्योतयति दशदिशः प्रकाशयतीति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स० । स्था० ।

जम्बूद्वीपनाम्नाऽन्येऽपि द्वीपा वर्तन्ते । तथाहि–

केवतिया णं भंते ! जंबूदीवे नामधेज्जेहिं पण्णत्ते ? । गोयमा ! असंखेज्जा जंबूदीवा दीवा नामधेज्जेहिं पण्णत्ता ।

कियन्तो भदन्त ! जम्बूद्वीपाः प्रज्ञप्ताः, जम्बूद्वीप इति नाम्ना कियन्तो द्वीपाः प्रज्ञप्ता इत्यर्थः ?। एवमुक्ते भगवानाह–गौतम ! असङ्ख्येया जम्बूद्वीपा द्वीपाः प्रज्ञप्ताः, जम्बूद्वीप इतिनाम्ना असंख्येया द्वीपा इति भावः । जी० ३ प्रति० । स्था० ।

जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं दो खित्ता पाण्णत्ता । तं जहा–बहुसमतुल्ला अविसेसा० जाव पुव्वविदेहे चेव, अवरविदेहे चेव ।

(पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं) पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि, पश्चात् पश्चिमायामित्यर्थः । यथाक्रमं पूर्वश्चासौ विदेहश्चेति पूर्वविदेहः, एवमपरविदेह इति । एतेषां चाऽऽयामादिर्मेरुसान्तादवसेय इति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अथ जम्बूद्वीपवेदिका–

जंबूदीवस्स णं दीवस्स वेदिया दो गाउयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता ।

" जंबू " इत्यादि कण्ठ्यम्, नवरं वज्रमय्या अष्टयोजनोच्छ्रयायाः चतुर्द्वादशोपर्यधो विस्तृताया जम्बूद्वीपनगरप्राकारकल्पाया जगत्या द्विगव्यूतोच्छ्रितेन पञ्चधनुःशतविस्तृतेन नानारत्नमयेन जालकटकेन परिक्षिप्ताया उपरि वेदिकेति. पद्मवरवेदिकेत्यर्थः । पञ्चधनुःशतविस्तीर्णगवाक्षहेमकिङ्किणीघण्टायुक्ता देवानामासनशयनमोहनविविधक्रीडास्थानमुभयतो वनखण्डरूपवतीति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

जंबूदीवग–जम्बूद्वीपक (ग)–त्रि० । जम्बूद्वीपस्येदं जम्बूद्वीपकम् । तं वा गच्छतीति जम्बूद्वीपगम् । जम्बूद्वीपसत्के, स्था० ४ ठा० २ उ० । जम्बूद्वीपोत्पन्नमनुष्ये, पुं० । स्था० ६ ठा० ।

जंबूदीवपण्णत्ति–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–स्त्री० । जम्बूद्वीपस्य प्रकर्षेण निःशेषकुतीर्थिकसार्थागम्ययथावस्थितस्वरूपनिरूपणलक्षणेन ज्ञप्तिर्ज्ञापनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ, ज्ञप्तिर्ज्ञानं वा यस्याः सकाशात् सा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः । अथवा–जम्बूद्वीपं प्रान्ति पूरयन्ति स्वास्थित्येति जम्बूद्वीपप्राः जगतीवर्षवर्षधराद्यास्तेषां ज्ञप्तिर्यस्याः सकाशात् सा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः । जं० १ वक्ष० । स्वनाम्ना प्रसिद्धे पञ्चमोपाङ्गे, इदं च ज्ञाताधर्मकथाख्यषष्ठाङ्गस्योपाङ्गम् । जं० १ वक्ष० । पा० ।

अथ प्रस्तुततीर्थेद्वादशाङ्गीसूत्रसंसूत्रणाविश्वकर्मा श्रीसुधर्मस्वामी स्वस्मिन् गुरुत्वाभिमानं परिजिहीर्षुः प्रस्तुतग्रन्थनामोपदर्शनपूर्वकं निगमनवाक्यमाह—

तए णं समणे भगवं महावीरे मिहिलाए णयरीए माणिभद्दे चेइए बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं बहूणं देवाणं बहूणं देवीणं मज्झगए एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ–' जंबूदीवपण्णत्ती णाम ' अज्जो ! अज्झयणे अट्ठं च हेउं च पसिणं च कारणं च वागरणं च भुज्जो भुज्जो उवदंसेइ त्ति बेमि ॥

" तए णं " इत्यादि । शाश्वतत्वात् शाश्वतनामकत्वाच्चास-द्रूपोऽयं जम्बूद्वीपरूपो भावः, सन्तं हि भावं नापलपन्ति वीतरागाः । ततः श्रमणो भगवान् महावीरो मिथिलायां नगर्यां माणिभद्रे चैत्ये बहूनां श्रमणानां बहूनां श्रमणीनां बहूनां श्रावकाणां बहूनां श्राविकाणां बहूनां देवानां बहूनां देवीनां मध्ये गतो, न पुनरेकान्ते एकतरस्य कस्यचित् पुरतः, एवं यथोक्तमुक्तानुसारेण इत्यर्थः, आख्याति प्रथमतो वाच्यमात्रकथनेन, एवं भाषते विशेषवचनकथनतः, एवं प्रज्ञापयति व्यक्तपर्यायवचनतः, एवं प्ररूपयत्युपपत्तितः । आख्येयस्याभिधानमाह–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिरिति नाम षष्ठोपाङ्गमिति शेषः । जं० ७ वक्ष० । (प्रमेयरत्नमञ्जूषानाम्नी अस्य टीकेति 'पमेयरयणमंजूसा' शब्दे टीकाकारप्रस्तावः)

जंबूदीवाहिवइ–जम्बूद्वीपाधिपति–पुं० । अनादृताख्ये देवे, द्वी० ।

जंबूपल्लवपविभत्ति–जम्बूपल्लवप्रविभक्ति–स्त्री० । द्वात्रिंशद्विधदिव्यनाट्यस्य विंशतितमभेदे, रा० ।

जंबूपेढ–जम्बूपीठ–न० । यन्नाम्ना इदं जम्बूद्वीपं ख्यातं तस्याः सुदर्शनानाम्न्या जम्ब्वा अधिष्ठाने, जं० ४ वक्ष० । (तद्वक्तव्यता च ' जम्बू ' शब्दे १३६७ पृष्ठेऽनुपदमेव प्रदर्शिता)

जंबूफल–जम्बूफल–न० । जाम्बवे, रा० ।

जंबूफलअसणकुसुमबंधणनीलुप्पलपुप्फपत्तनिकरमरगयआसासगनयणकीयाऽसिवन्ने ॥

जम्बूफलानि प्रतीतानि, असनकुसुमबन्धनम् असनपुष्पवृन्तं, नीलोत्पलपुष्पपत्रनिकरो मरकतमणिः प्रतीतः । आसासको बीयकाभिधानो वृक्षो, नयनकीका नेत्रमध्यतारा, असिः खड्गः, तेषामिव वर्णो यस्य स तथा । रा० । औ० । " जंबूफलपुट्ठवण्णा " जी० ३ प्रति० ।

जंबूफलकालिया–जम्बूफलकालिका–स्त्री० । जम्बूफलवत्कृष्णवर्णायाम्, जी० ३ प्रति० । जम्बूफलसत्ककाण्यें, जी० ३ प्रति० ।

जंबूलय–जम्बूलक–पुं० । लोकरूढ्यवसेये चञ्चुनामके जलाधारे पात्रे, तपा० ७ अ० ।

जंबूसंड–जम्बूषण्ड–पुं० । स्वनामके ग्रामे, आ० म० द्वि० । आ० चू० । यत्र विहारक्रमेणागत्य वीरजिनः गोशालश्च क्षीरसंमिश्रकूरं लब्धवान् । आ० म० द्वि० ।

जंबूसामि–जम्बूस्वामिन्–पुं० । सुधर्मगणधरशिष्ये, आ० म० द्वि० । स्था० । (तच्चरितं ' जंबु ' शब्दे १३७१ पृष्ठे प्रदर्शितम्)

जंबूसाला–जम्बूशाला–स्त्री० । जम्बूवृक्षशाखायाम्, "एगो परिव्वायगो पोट्टं लोहपट्टेण बंधित्ता जंबूसालं च गहाय हिंडइ, पुच्छितो भणइ–नाणेण पोट्टं फुट्टइ, तो लोहपट्टेण बद्धं जंबूसालं, जहा एत्थ जंबूदीवे नत्थि मम पडिवाई " । आ० म० द्वि० ।

जंभग-जृम्भक-पुं० । जृम्भन्ते विजृम्भन्ते स्वच्छन्दचारितया चेष्टन्ते ये ते जृम्भकाः । तिर्यग्लोकवासिव्यन्तरविशेषदेवेषु, भ० १४ श० ८ उ० । आ० म० । ज्ञा० । आ० क० ।

एतेषां स्वरूपं त्वेवम्—

अत्थि णं भंते ! जंभया देवा , जंभया देवा ?। हंता अत्थि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जंभया देवा, जंभया देवा ?। गोयमा ! जंभगा णं देवा णिच्चं पमुइय-पक्कीलिया कंदप्परतिमेहुणसीला, जे णं ते देवे कुद्धे पासेज्जा,से णं महंतं अजसं पाउणेज्जा, जे णं ते देवे तुट्ठे पासेज्जा, से णं महंतं जसं पाउणेज्जा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! जंभगा देवा, जंभया देवा । कइविहा णं भंते ! जंभगा देवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता । तं जहा-अन्न-जंभगा पाणजंभगा वत्थजंभगा लेणजंभगा सयणजंभगा पुप्फजंभगा फलजंभगा पुप्फफलजंभगा विज्जाजंभगा अवियत्तजंभगा । जंभगा णं भंते ! देवा कहिं वसहिं उवेंति ?। गोयमा ! सव्वेसु चेव दीहवेयड्ढेसु चित्तविचित्तजमगपव्वएसु कंचणपव्वएसु य, एत्थ णं जंभगा देवा वसहिं उवेंति । जंभगाणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! एगपलिओवमं ठिई पण्णत्ता ।

(जंभग त्ति) जृम्भन्ते विजृम्भन्ते स्वच्छन्दचारितया चेष्टन्ते ये ते जृम्भकास्तिर्यग्लोकवासिनो व्यन्तरदेवाः (पमुइयपक्कीलिय त्ति) प्रमुदिताश्च ते तोषवन्तः, प्रक्रीडिताश्च प्रकृष्टक्रीडाः प्रमुदितप्रक्रीडिताः (कंदप्परइ त्ति) अत्यर्थं केलिरतिकाः (मेहुणसील त्ति) निधुवनशीलाः (अजसं ति) उपलक्षणत्वादस्यानर्थं प्राप्नुयात (जसं ति) उपलक्षणत्वादस्यार्थं वैक्रियलब्ध्यादिकं प्राप्नुयाद्वैरस्वामिवत् शापानुग्रहकरणसमर्थत्वात् तच्छीलत्वाच्च तेषामिति । " अण्णजंभया " इत्यादि । अन्ने भोजनविषये तदभावसद्भावाल्पत्वबहुत्वसरसत्वनीरसत्वादिकरणतो जृम्भन्ते विजृम्भन्ते ये ते तथा, एवं पानादिष्वपि वाच्यं, नवरम् (लेणं ति) लयनं गृहम् (पुप्फफलजंभग त्ति) उभयजृम्भकाः, एतस्य च स्थाने 'मंतजंभग त्ति' वाचनान्तरे दृश्यते । (अवियत्तजंभग- त्ति) अव्यक्तया अन्नाद्यविभागेन जृम्भका ये ते तथा । क्वचित्तु-"अहिवइजंभग त्ति " दृश्यते, तत्र चाधिपतौ राजादिनायकविषये जृम्भका ये ते तथा (सव्वेसु चेव दीहवेयड्ढेसु त्ति) सर्वेषु प्रतिक्षेत्रं तेषां भावात् सप्तत्यधिकशतसङ्ख्येषु दीर्घविजयार्द्धेषु पर्वतविशेषेषु , दीर्घग्रहणं च वर्तुलविजयार्द्धव्यवच्छेदार्थम् । (चित्तविचित्तजमगपव्वएसु त्ति) देवकुरुषु शीतोदानद्या उभयपार्श्वतश्चित्रकूटश्च पर्वतः, तथा उत्तरकुरुषु शीताऽभिधाननद्या उभयतो यमकाभिधानौ पर्वतौ स्तः, तेषु (कंचणपव्वएसु त्ति) उत्तरकुरुषु शीतानदीसंबन्धिनां पञ्चानां नीलवदादिह्रदानां क्रमव्यवस्थितानां प्रत्येकं पूर्वापरतटयोर्दशदशकाञ्चनकाऽभिधाना गिरयः सन्ति, ते च शतं भवन्त्येवं देवकुरुष्वपि शीतोदानद्याः संबन्धिनां निषधह्रदादीनां पञ्चानां ह्रदानामिति । तदेवं द्वे शते, एवं धातकीखण्डपू-र्वार्द्धादिष्वप्यतस्तेष्विति । भ० १४ श० ८ उ० । जृम्भाकारके, रुद्रगणभेदे, वाच० ।

जंभगामर-जृम्भकामर-पुं० । जृम्भकनाम्ना ख्याते देवे, " अ-भूच्च विभोर्जीवः, प्राग्भवे जृम्भकामरः "। आ० क० ।

जंभणओ-देशी-यथेष्टवक्तरि, दे० ना० ३ वर्ग ।

जंभणी-जृम्भणी-स्त्री० । तन्त्रप्रसिद्धे विद्याविशेषे , सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

जंभा-जृम्भा-स्त्री० भावे अः । आलस्यश्रमगर्भादिजनितजाड्ये , वाच० ।

जृम्भ-धा० । विजृम्भणे, " अवेर्जृम्भो जंभा " ॥८। ४। १५७ । इति सूत्रेण " जंभा " आदेशे " स्वरादनतो वा " । ८ । ४ । २४० । इति सूत्रेण विकल्पादकारागमे च जृम्भते, ' जंभाइ-जंभाअइ ' इति रूपे सिध्यतः । वि उपसर्गे तु " केलिपसरो विसंभइ " प्रा० ४ पाद ।

जंभाइय-जृम्भित-न० । विवृतवदनस्य प्रबलपवननिर्गमे, आव० ५ अ० । आ० चू० । ध० ।

जंभायंत-जृम्भमाण-त्रि० । विजृम्भमाणे, शरीरचेष्टाविशेषं विदधाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जंभायमाण-जृम्भमाण-त्रि० । ' जंभायंत ' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जंभियगाम-जृम्भिकग्राम-पुं० । स्वनामके मगधदेशान्तर्गते ग्रामे, आचा० ३ चू० । अत्र हि देवेन्द्रेण भगवतो महावीरस्यामुकेषु दिवसेषु गतेषु ज्ञानं समुत्पत्स्यते इति कथितं, तद्ग्रामस्य बहिस्ताच्च ऋजुपालिकाया नद्यास्तीरे शालवृक्षस्याधो भगवतः केवलज्ञानमुत्पन्नम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० । कल्प० ।

जंभियग्गाम-जृम्भिकग्राम-पुं० । ' जंभियगाम ' शब्दार्थे, आचा० ३ चू० ।

जंभो-देशी-तुषे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जक्ख-यक्ष-पुं० । 'यक्ष' पूजायाम्, यक्ष्यते । यक्ष- कर्मणि-घञ् । वाच० । व्यन्तरविशेषे, रा० । सू० प्र० । जी० । औ० । स० । ज्ञा० । उत्त० । अनु० । अष्टविधव्यन्तराणां मध्ये तृतीयभेदे यक्षाः । प्रव० १९४ द्वार । ते च त्रयोदशविधाः । तद्यथा-पूर्णभद्राः, माणिभद्राः,श्वेतभद्राः,हरितभद्राः, सुमनोभद्राः,व्यतिपातिकभद्राः,सुभद्राः,सर्वतोभद्राः,मनुष्ययक्षाः, वनाधिपतयो, वनाहाराः,रूपयक्षाः,यक्षोत्तमाः। प्रज्ञा० १ पद । जिनानां यक्षाः सन्ति । प्रव० १७ द्वार । (तन्नामानि तु 'जिनजक्ख' शब्देऽभिधास्यामः) वृत्तवास्मिसुरे, उत्त० १६ अ० । देवे च । यथा यक्षेण देवेन आविष्टो यक्षाविष्ट इति । स्था० ५ ठा० १ उ० । स्वनामख्याते वणिजि च । "पुव्वं किर सिरिकमउज्जनगरे जक्खो नाम नेगमो हुत्था " ती० २९ कल्प । कौशाम्ब्यां धनयक्षाभिधानौ श्रेष्ठिनौ । दर्श० २३ अष्ट० । इति द्वौ यक्षनामानौ वणिजौ । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । चं० प्र० २० पाहु० ।

जक्खकद्दम-यक्षकर्दम-पुं० । यक्षप्रियः कर्दम इव इति द्वौ यक्षनामानौ वणिजौ । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । चं० प्र० २० पाहु० । यक्षे द्वीपे यक्षभद्रयक्षमहाभद्रौ, यक्षे समुद्रे यक्षवरयक्षमहावरौ । चं० प्र० २० पाहु० ।

जक्खगुहा-यक्षगुहा-स्त्री० । यक्षनिवासभूतायां गुहायाम्, " अथार्यरक्षिताचार्याः, मथुरानगरीं गताः । तत्र यक्षगुहायां च, व्यन्तरायतने स्थिताः ॥१॥ " आ० क० ।

जक्खग्गह-यक्षग्रह-पुं० । यक्षावेशे, जी० ३ प्रति० । उन्मत्तताहेतौ यक्षकृतोपद्रवे, जं० २ वक्ष० ।

जक्खणायग-यक्षनायक-पुं० । वैश्रमणे, अनु० ।

जक्खदित्त-यक्षदीप्त-न० । एकस्यां दिशि अन्तराऽन्तरा दृश्यमाने विद्युत्सदृशप्रकाशे, प्रव० २६ द्वार ।

जक्खदिन्ना-यक्षदत्ता-स्त्री० । स्थूलभद्रस्य सप्तानां भगिनीनां मध्ये द्वितीयायां भगिन्याम्, आ० क० । आ० चू० । आव० । कल्प० । ति० ।

जक्खपडिमा-यक्षप्रतिमा-स्त्री० । यक्षप्रतिकृतौ, "दो जक्खपडिमाओ" । जी० ३ प्रति० ।

जक्खभद्द-यक्षभद्र-पुं० । यक्षद्वीपाधिपतौ देवे, सू० प्र० २० पाहु० । चं० प्र० ।

जक्खमंडलपविभत्ति-यक्षमण्डलप्रविभक्ति-स्त्री० । द्वात्रिंशद्विधनाट्यस्य दशमभेदान्तर्गते नाट्ये, रा० ।

जक्खमह-यक्षमह-पुं० । यक्षार्थविहितमहोत्सवे, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

जक्खमहाभद्द-यक्षमहाभद्र-पुं० । यक्षद्वीपाधिपतौ देवे, सू० प्र० २० पाहु० । चं० प्र० ।

जक्खरत्ती-देशी-दीपालिकायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

जक्खवर-यक्षवर-पुं० । यक्षसमुद्राधिपतौ देवे, सू० प्र० १९ पाहु० ।

जक्खा-यक्षा-स्त्री० । स्थूलभद्रस्य सप्तानां भगिनीनां मध्ये प्रथमायां भगिन्याम्, आ० क० । नि० । आ० चू० । आव० । (तत्कथानकं तु 'थूलभद्द' शब्दे तच्चरित्रवर्णने द्रष्टव्यम्)

जक्खाइट्ठ-यक्षाविष्ट-त्रि० । देवाधिष्ठिते, स्था० ५ ठा० २ उ० । ओघ० । " जक्खाइट्ठो पीयमज्जो वा जातो कायविक्खेवाकिरियाओ दंसेइ । " आ० म० प्र० ।

जक्खाइट्ठं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेदियस्स निज्जूहित्तए० जाव रोगातंकातो विप्पमुक्के, तओ पच्छा तस्स अहालहुसगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥

यक्षाविष्टं भिक्षुं ग्लायन्तं यस्य सकाशमागतं तस्य गणावच्छेदिनो न कल्पते निर्यूहितुमपाकर्तुं वैयावृत्यकरणादिना, किं त्वग्लान्या तस्य करणीयं वैयावृत्यं तावत् यावत् स रोगातङ्काद्विप्रमुक्तो भवति, ततः पश्चात् तस्य प्रगुणीभूतस्य सतो यथालघुस्वको यथोचितस्वरूपो व्यवहारः प्रायश्चित्तः प्रस्थापयितव्यो दातव्यः स्यात् । व्य० अ० २ उ० ।

संप्रति यतो यक्षाविष्टो भवति तत्प्रतिपादनार्थमाह-

पुव्वभवियवेरेणं, अहवा रागेण रागितो संतो ।
एएहिँ जक्खाविट्ठो, सेट्ठी सज्झिलग वेसादी ॥६८॥

पौर्वभविकेन पूर्वभवभाविना वैरेण, अथवा रागेण रञ्जितः सन् यक्षैराविश्यते । एताभ्यां द्वेषरागाभ्यां यक्षाविष्टो भवति । तथा श्रेष्ठी द्वेष्यभार्यया भृतिकया, (सज्झिल त्ति) लघुभ्राता ज्येष्ठभार्यया, द्वेष्यादिभिरित्यत्रादिशब्दात् प्रभृतिकाष्ठेषु भार्यया परिग्रहः ॥ ६८ ॥

तत्र श्रेष्ठ्याद्युदाहरणमाह-

सेट्ठिस्स दोण्णि महिला, पिया य वेस्सा य वंतरी जाया ।
सामण्णम्मि पमत्तं, छलेति तं पुव्ववेरेणं ॥६९॥

" एगो सेट्ठी, तस्स दो महिला, एगा पिया, एगा वेस्सा य, तत्थ सा वेस्सा अकामनिज्जराए मरिऊण वंतरी जाया, सेट्ठी वि तथारूवाणं थेराणं अंतिए धम्मं सोच्चा पव्वइतो, सा य वंतरी पुव्वभववेरेण छिद्दाणि मग्गइ, अन्नया पमत्तं दट्ठूण छलिया तो । " अक्षरार्थस्त्वयम्-श्रेष्ठिनो द्वे महिले, तद्यथा-एका प्रिया, अपरा द्वेष्या । तत्रैका मृता व्यन्तरी जाता, सा श्रामण्ये स्थितं श्रेष्ठिनं प्रमत्तं दृष्ट्वा पूर्ववैरेण छलितवती । गाथायामतीतकालेऽपि वर्तमानता प्राकृतत्वात् ॥६९॥

संप्रति लघुभ्रातृदृष्टान्तमाह-

जेट्ठगभाउगमहिला, अज्झोववण्णा उ होइ खुड्डलए ।
धरमाण-मारियम्मी, पडिसेहे वंतरी जाया ॥७०॥

" एगम्मि गामे दो भायरो, तस्स भारिया खुड्डलगे अज्झोववण्णा, सा तं पत्थेइ, खुड्डलगो नेच्छइ, भणइ-तुमं मम जेट्ठभाउयं धरमाणं न पाससि, तीए चिंतियं-जावज्जीवइ ताव मे नत्थि एसो देवरो त्ति, तओ छिद्दं लहिऊण विससंचारेण मारितो नियभत्ता, ततो भणिय-जस्स भयं कासी सो मओ, इयाणिं पूरेहि मे मणोरहं, तेण चिंतियं-तुणमेतीए मारितो जेट्ठभाउगो, धिरत्थु कामभोगाणमिति संवेगतो पव्वइतो, इयरी वि दुहसंतत्ता अकामनिज्जराए मरिऊण वंतरी जाया, ओहिणा पुव्वभावं पासइ, दिट्ठो देवरो सामण्णे ठितो, ततो नाहमणेण इच्छिय त्ति पुव्वभववेरेण सरंतीए पमत्तो छलितो ।" अक्षरयोजना त्वियम्-ज्येष्ठभ्रातृमहेला क्षुल्लके लघौ भ्रातरि अध्युपपन्ना जातानुरागा, सा च तेन ज्येष्ठो भ्राता धरन्तं जीवन्तं न पश्यसीति प्रतिषिद्धा, मारिते प्रव्रज्यादिप्रतिपत्तितः प्रतिषिद्धा व्यन्तरी जाता । अत्र पूर्वं रागः पश्चाद् द्वेषः ॥७०॥

भृतिकादृष्टान्तमाह-

भतिया कुडुंबिएणं, पडिसिद्धा वाणमंतरी जाया ।
सामण्णम्मि पवन्नं, छलेति तं पुव्ववेरेण ॥७१॥

एगो कुडुंबिओ उरालसरीरो एगाए भइगाए उरालसरीराए पत्थितो, सा तेण नेच्छिया, तओ सा गाढमज्झोववण्णा, तेण सह संपओगमलभमाणी दुक्खसागरमोगाढा अकामनिज्जराए मरिऊणं वंतरी जाया, सो य कुडुंबिओ तहारूवाणं थेराणं अंतिए पव्वइओ, सो तीए अभोगितो अन्नया पमत्तं दट्ठूण छलियातो ।" अक्षरार्थस्त्वयम्-भृतिका कर्मकरी, कौटुम्बिकप्रतिषिद्धा व्यन्तरी जाता, ततस्तं कौटुम्बिकं श्रामण्याश्रितं प्रमत्तं सन्तं पूर्ववैरेण (छलेति त्ति) छलितवती ॥ ७१ ॥

संप्रत्येवं छलितस्य यतनामाह-

तस्स उ भूयतिगिच्छा, भूयरवावेसेण सयं वा वि ।
नीयुत्तमं तु भावं, नाउं किरिया जहा पुव्विं ॥७२॥

तस्य रागेण द्वेषेण वा व्यन्तरादिना छलितस्य, पुनः क्रिया कर्तव्येति योगः । कथमित्याह-तस्य भूतस्य नीचमुत्तमं तु भावं ज्ञात्वा, कथं ज्ञात्वेत्यत आह-यथाऽभिहितं पूर्वम्, किमुक्तं भवति ?-कायोत्सर्गेण देवतामाकम्प्य तद्वचनतः, का क्रिया कर्तव्येत्यत आह-भूतचिकित्सा भूतोच्चाटनी चिकित्सा भूतचिकित्सा ॥ ७२ ॥ व्य० २ उ० ।

एवमेव निर्ग्रन्थीं विषयीकृत्य सूत्रं यथा-

जक्खाइट्ठिं निग्गंथिं निग्गंथो गिण्हमाणे नाइक्कमइ ।

यतश्च सा यक्षाविष्टा भवति, तत्प्रतिपादनं तूपरितनग्रन्थवदेव, केवलं स्त्रीलिङ्गाभिलापेन वाच्यम् । बृ० ६ उ० ।

जक्खादित्तय-यक्षादीप्तक-न० । एकस्यां दिशि अन्तराऽन्तरा दृश्यमाने विद्युत्सदृशे प्रकाशे, व्य० ७ उ० । आकाशे व्यन्तरकृतज्वलने, भ० ३ श० ६ उ० । नभसि दृश्यमानेऽग्निसहिते पिशाचे च, जी० ३ प्रति० । अनु० । " जक्खालित्तं जक्खादित्त आगासे भवइ " आ० चू० ४ अ० । स्था० ।

जक्खालित्तय-यक्षादीप्तक-न० । ' जक्खादित्तय ' शब्दार्थे, जी० ३ प्रति० ।

जक्खावेस-यक्षावेश-पुं० । देवाधिष्ठितत्वरूपे उन्मादे, स्था० २ ठा० १ उ० । बृ० । (केवलिनो यक्षावेशो न भवतीति 'अप्पत्थिय ' शब्दे प्रथमभागे ४५७ पृष्ठे गतम्)

जक्खसिरी-यक्षश्री-स्त्री० । सोमभूतिब्राह्मणस्य स्वनाम्न्यां स्त्रियाम्, ज्ञा० १ श्रु० १५ अ० ।

जक्खिंद-यक्षेन्द्र-पुं० । यक्षाणामिन्द्रे, स्था० ४ ठा० १ उ० । अष्टादशजिनयक्षे, प्रव० । श्रीअरजिनस्य यक्षेन्द्रो यक्षः षण्मुखस्त्रिनेत्रः श्यामवर्णः शङ्खशिखिवाहनो द्वादशभुजो बीजपूरकबाणखड्गमुद्गरपाशकाभययुक्तदक्षिणकरषट्को नकुलधनुःफलकशूलाङ्कुशाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिषट्कश्च । प्रव० २६ द्वार । भ० ।

जक्खिणी-यक्षिणी-स्त्री० । यक्षयोनिकायां व्यन्तरदेव्याम्, " सा मया जक्खिणी जाया । " आ० म० द्वि० । अरिष्टनेमेः प्रथमप्रवर्तिन्याम्, आ० म० प्र० । स० । आ० चू० । अन्त० ।

जक्खुत्तम-यक्षोत्तम-पुं० । यक्षाणां त्रयोदशभेदेष्वन्तिमे भेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जग-जग-पुं० । जन्तुषु, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

जगत्-न० । गच्छति तांस्तान् नारकादिभावानिति जगत् । भ० १२ श० ६ उ० । अष्ट० । पञ्चास्तिकायरूपे चराचरे, नं० । लोके, संथा० । लोकालोके, नं० । संसारे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । चराचरभूतग्रामे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । सकलसत्त्वे, नं० । दश० । प्राणिसमूहे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । संज्ञिपञ्चेन्द्रियसमूहे, नं० । पृथिव्याम्, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । " भुवणं जगं च लोओ । " को० । गम-क्विप्-नि०-द्वित्वम्-तुक् च । वायौ, जङ्गमे, त्रि० । वाच० ।

जगई-जगती-स्त्री० । गम-क्विप् । " वर्त्तमाने पृषन्महद्बृहज्जगच्छतृवच्च " इति कात्यायनिवचनात् शतृतुल्यत्वात् ङीप् । भुवने, पृथिव्याम्, आर्यमतेषु मते भूमेश्चलत्वाद् गतिमत्त्वेन तथात्वम्; अन्यमते जगदाधारत्वात् तस्यास्तथात्वमिति भेदः । द्वादशाक्षरपादके छन्दोभेदे, वाच० । " भूयाणं जगई जहा । " जगती पृथ्वी । उत्त० १ अ० । द्वीपसमुद्रसीमाकारिणि महानगरप्राकारकल्पे वज्रमये जम्बूद्वीपप्राकारे, जं० १ वक्ष० । जी० ।

तद्वक्तव्यता यथा-

से णं एगाए वइरामईए जगईए सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते । सा णं जगई अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, मूले बारस जोअणाइं विक्खंभेणं, मज्झे अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं, उप्पिं चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं, मूले वित्थिण्णा, मज्झे संखित्ता, उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिया सव्ववइरामई अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया णिम्मला णिप्पंका णिक्कंकडच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया पासादीया दंसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ॥

"से ण" इत्यादि । सोऽनन्तरोक्तायामविष्कम्भपरिक्षेपपरिमाणो जम्बूद्वीपः; णमिति वाक्यालङ्कारे, एकया जगत्या सुनगरप्राकारकल्पया, सर्वतः सर्वासु दिक्षु, समन्ततः सामस्त्येन संपरिक्षिप्तः सम्यग् वेष्टितः । "सा ण जगई" इत्यादि । सा च जगती ऊर्ध्वमुच्चस्त्वेन अष्टौ योजनानि, मूले द्वादश योजनानि विष्कम्भेन, मध्ये अष्टौ, उपरि चत्वारि, अत एव मूले विष्कम्भमधिकृत्य विस्तीर्णा, मध्ये संक्षिप्ता, त्रिभागोनत्वात्; उपरि तनुका, मूलापेक्षया त्रिभागमात्रविस्तारभावात् । एतदेवोपमया प्रकटयति-(गोपुच्छसंठाणसंठिया) गोपुच्छस्येव संस्थानं गोपुच्छसंस्थानं, तेन संस्थिता, ऊर्ध्वीकृतगोपुच्छाकारेति भावः । (सव्ववइरामई) सर्वात्मना सामस्त्येन वज्रमयी वज्ररत्नात्मिका, अच्छा आकाशस्फटिकवदतिस्वच्छा (सण्हा) श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिष्पन्ना श्लक्ष्णदलनिष्पन्नपटवत्, (लण्हा) मसृणा घुण्टितपटवत्, (घट्ठा) घृष्टा इव घृष्टा खरशाणया पाषाणप्रतिमावत्, तथा मृष्टा इव मृष्टा सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमावत्, नीरजाः स्वाभाविकरजोरहितत्वात्, निर्मला आगन्तुकमलाभावात्, निष्पङ्का कलङ्कविकला कर्दमरहिता वा (निक्कङ्कडच्छाया इति) निष्कङ्कटा निष्कवचा निरावरणा, निरुपघातेति भावार्थः । छाया दीप्तिर्यस्याः सा निष्कङ्कटच्छाया सप्रभा स्वरूपतः प्रभावती समरीचा बहिर्विनिर्गतकिरणजाला, अत एव सोद्योता बहिर्व्यवस्थितवस्तुस्तोमप्रकाशकरा, प्रसादाय मनःप्रसत्तये हिता तत्कारित्वात् प्रासादीया, मनःप्रह्लत्तिकारिणीति भावः । दर्शनीया दर्शनयोग्या, यां पश्यतश्चक्षुषी श्रमं न गच्छत इति । (अभिरूवा इति) अति सर्वेषां द्रष्टॄणां मनःप्रसादानुकूलतया अभिमुखं रूपं यस्याः सा अभिरूपा, अत्यन्तकमनीया इति भावः । अत एव प्रतिरूपा प्रतिविशिष्टमसाधारणं रूपं यस्याः सा प्रतिरूपा । अथवा-प्रतिक्षणं नवं नवमिव रूपं यस्याः सा प्रतिरूपा । जी० ३ प्रति० । अथात्र सूत्रेऽनुक्तोऽपि व्युत्पित्सूनामधिकारार्थं जिज्ञापयिषया जगत्या इष्टस्थाने विस्तारानयनोपायः प्रदर्श्यते-तत्र मूले मध्ये उपरि च विष्कम्भपरिमाणं साक्षादेव सूत्रे लभ्यते, अपान्तराले उपरिष्टादधोगमनेऽयमुपायः-जगतीशिखरादधो यावद्व्यतीर्णं तस्मिन्नङ्केन भक्ते सति यल्लब्धं तच्चतुर्भिर्युतमिष्टस्थाने विस्तारः । तथाहि-उपरितनभागाद्योजनमेकं गव्यूताधिकमव-

तीर्णे, ततो राशेरेकेन भागे हृते लब्धमेकं योजनं गव्यूताधिकं, तच्च योजनचतुष्कयुतं क्रियते, जातानि पञ्चयोजनानि गव्यूताधिकानि, एतावाँस्तत्र प्रदेशे विष्कम्भः, एवं सर्वत्र भाव्यम्। सम्प्रति मूलादूर्द्धं गमने विस्तारानयनोपायः मूलादूर्द्धं गमने यावदूर्द्धं गतं, तस्यैकेन भागे हृते यल्लब्धं तस्मिन्मूलविस्तराच्छोधिते यच्छेषं स तत्र योजनादावतिक्रान्ते विस्तारः। तद्यथा-मूलादुत्पत्य योजनमेकं गव्यूतद्वयाधिकं गतः, ततो योजनस्य गव्यूतद्वयाधिकस्यैकेन भागे हृते लब्धं योजनं गव्यूतद्वयाधिकम्, एतन्मूलसम्बन्धिनो द्वादशयोजनप्रमाणाद्विस्ताराद्पनीयते. स्थितानि दश योजनानि गव्यूतद्वयाधिकानि, एतावत्प्रमाणः सार्द्धयोजनातिक्रमे विस्तारः,एवं सर्वत्राऽपि भाव्यम्। एवमृषभकूटजम्बूशाल्मलीवृक्षवनगतकूटानामिष्टस्थाने विस्तारानयनार्थमिदमेव करणं ज्ञातव्यम्। जं० १ वक्ष०।

अथास्यां गवाक्षकटकवर्णनायाऽऽह-

सा णं जगई एगेणं महंतगवक्खकडएणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता, से णं गवक्खकडए अद्धजोअणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंचधणुसयाइं विक्खंभेणं सव्वरयणामए अच्छे० जाव पडिरूवे ॥

साऽनन्तरोदितस्वरूपा जगती, 'णं' इति प्राग्वत्। जगती एकेन महता गवाक्षकटकेन बृहज्जालकसमूहेन, सर्वतः सर्वासु दिक्षु, समन्तात् सामस्त्येन, संपरिक्षिप्ता व्याप्तेत्यर्थः। स गवाक्षकटकः ऊर्द्धोच्चत्वेनार्द्धयोजनं द्वे गव्यूते, विष्कम्भेन पञ्चधनुःशतानि, सर्वात्मना रत्नमयः। तथा अच्छः, अत्र यावत्करणात् प्राग् व्यावर्णित विशेषणपदवृन्दं ग्राह्यम्। इयं च गवाक्षश्रेणिर्लवणादयाश्च जगतीभित्तिबहुमध्यभागगताऽवगन्तव्या, दिदृक्षुदेवविद्याधरवृन्दरमणस्थानम्।

अथ जगत्युपरिभागवर्णनायाऽऽह-

तीसे णं जगईए उप्पिं बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं महई एगा पउमवरवेइया पण्णत्ता। अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धणुसयाइं विक्खंभेणं जगईसमिया परिक्खेवेणं सव्वरयणामई अच्छा० जाव पडिरूवे ॥

तस्या यथोक्तस्वरूपाया जगत्या उपरितनतले यो बहुमध्यदेशलक्षणो भागः, भागश्च प्रदेशलक्षणोऽपि स्यात्तत्र च पद्मवरवेदिकाया अवस्थानासंभवः, अतो देशग्रहणेन महान् भाग इत्यर्थः। स च चतुर्योजनात्मकजगत्युपरितनतलस्य मध्ये पञ्चधनुःशतात्मक इति। सूत्रे एकारो मागधभाषालक्षणानुरोधात्। अत्र एतस्मिन् बहुमध्यदेशभागे, 'णं' इति प्राग्वत्। महती एका पद्मवरवेदिका देवभोगभूमिः प्रज्ञप्ता, मया शेषैश्च तीर्थकरैः। सा च ऊर्द्धोच्चत्वेन अर्द्धयोजनं, पञ्चधनुःशतानि विष्कम्भेन, जगत्याः समा समाना जगतीसमा, सा च जगतीसमिका, परिक्षेपेण परिरयेण, कोऽर्थः ?, जम्बूद्वीपस्य सर्वतो वलयाकारेण व्यवस्थतया जगत्या यावदुपरितनं तलं चतुर्योजनविस्तारात्मकं तस्माल्लवणदिशि देशोनयोजनद्वयात्पश्चाद्र्वाक् यावान् जगतीपरिरयस्तावानस्यापीति, सर्वरत्नमयी सामस्त्येन रत्नखचिता, "अच्छा सण्हा" इत्यादि विशेषणकदम्बकं पाठतोऽर्थतश्च प्राग्वत्। जं० १ वक्ष०। (पद्मवरवेदिकावक्तव्यता तु "पउमवरवेइया" शब्दे वक्ष्यते)

जगती-"जगई"शब्दार्थे,जं०१ वक्ष०। जगतीपार्श्वे मक्षिकापक्षप्रमाणं जलं कथितमस्ति, तत्र सर्वदा मक्षिकापक्षप्रमाणं, किं वा वेलाया आगमने न्यूनाधिक्यं वा भवतीति प्रश्ने, उत्तरम्-मक्षिकापक्षप्रमाणं यत्र जलमस्ति तत्र सर्वदा सदृशं भवति, परं वेलाप्रयोगेण न्यूनाधिक्यज्ञानं नास्तीति। ५२ प्र०। सेन० ४ उल्ला०।

जगईपव्वयग-जगतीपर्वतक-पुं०। सूर्याभविमानपरिसरवर्तिवनखण्डगतक्षुद्रवापीप्रदेशवर्तिषु पर्वतविशेषेषु, रा०।

जगगुरु-जगद्गुरु-पुं०। जगतः सचराचरभुवनस्य गुणैर्गुरुत्वात् जगतां वा जङ्गमानां यथावद्वस्तुतत्त्वोपदेशनात् तेषामेव वा गौरवार्हत्वाद् गुरुर्जगद्गुरुः। पञ्चा० ४ विव०। त्रिभुवननाथे जिने, पञ्चा० ४ विव०। हा०।

जगचंदसूरि-जगच्चन्द्रसूरि-पुं०। स्वनामके तपागच्छाचार्ये, कर्म० ६ कर्म०।

तद्वृत्तान्तस्त्वयम्-

"शिष्या मणिरत्नगुरोः-स्ततो जगच्चन्द्रसूरयोऽभूवन्।
भूतलविदिता नूतन-वैराग्यावेगनाजस्त्र ॥ २७ ॥
श्रीचैत्रगणाम्भोधौ, विधूरमाद्देवभद्रगणिमिश्रान्।
उपसम्पन्नाश्चरण, विधिना संवेगवेगयुताः ॥ २८ ॥
आचाम्लान्यतपोऽभि-ग्रहवन्तो व्यभुर्विधूतमलाः।
शरकरटिनरणि (१२८५) वर्षे, ख्यातस्तत इति तपागच्छः।
॥ २९ ॥" ग० ४ अधि०।

"क्रमात्प्राप्ततपाचार्ये-त्यभिख्यां भिक्षुनायकाः।
समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरयः ॥१॥"
कर्म० ५ कर्म०। ध० र०।

जगचंदसूरि-जगच्चन्द्रसूरि-पुं०। 'जगचंदसूरि' शब्दार्थे, कर्म० ६ कर्म०।

जगजीवजोणीवियाणय-जगज्जीवयोनिविज्ञायक-पुं०। जगद् "धर्माधर्माकाशपुद्गलास्तिकायरूपं जगत् सचराचरम्" इति वचनात् जीवा इति जीवन्ति प्राणान् धारयन्तीति जीवा योनय इति (नं०) 'युङ्' मिश्रणे, युवन्ति तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्त औदारिकशरीरेण वैक्रियशरीरेण वाऽऽस्विति योनयो जीवानामुत्पत्तिस्थानानि, ताश्च सचित्तादिभेदभिन्ना अनेकप्रकाराः। उक्तं च- सचित्तशीतसंवृत्तेतरमिश्रास्तद्योनय इति। जगच्च जीवाश्च योनयश्च जगज्जीवयोनयः, तासां विविधमनेकप्रकारमुत्पादानन्तधर्मात्मकतया जानातीति विज्ञायकः जगज्जीवयोनिविज्ञायकः। केवलज्ञानिनि. न०।

जगजीवण-जगज्जीवन-पुं०। जगन्ति जङ्गमानि अहिंसकत्वेन जीवयतीति जगज्जीवनः। जिनेश्वरे, स० ३० सम०। दशा०।

जगजीवविद्याणय-जगज्जीवविज्ञायक-पुं०। सर्वज्ञे, व्य० ३ उ०।

जगट्ठभासि (ण्)-जगदर्थभाषिन्-पुं०। जगत्यर्था जगदर्था ये यथा व्यवस्थिताः पदार्थाः,तानाभाषितुं शीलमस्य जगदर्थभाषी। तद्यथा-ब्राह्मणं डोडमिति ब्रूयात्, तथा वणिजं किराटमिति, शूद्रमाभीरमिति, श्वपाकं चाण्डालमित्यादि। तथा

काणं काणमिति, तथा खञ्जं कुब्जं वडभमित्यादि, तथा कुष्ठिनं क्षयिणमित्यादि, यो यस्य दोषस्तं तेन खरं परुषं ब्रूयात् यः स जगदर्थभाषी। अप्रियसत्यभाषिणि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

जयार्थभाषिन्-पुं०। जयार्थभाषी यथैवात्मनो जयो भवति तथैवाविद्यमानमप्यर्थं भाषते तच्छीलश्च, येन केनचित्प्रकारेणासदर्थभाषणेनाप्यात्मनो जयमिच्छतीत्यर्थः। असदर्थभाषणेनापि आत्मनो जयमिच्छति, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

जगाडिओ-देशी-विद्राविते, दे० ना० ३ वर्ग।

जगाडिज्जंत-जागर्यमाण-उत्थाप्यमाने, "धन्नाणं तु कसाया, जगाडिज्जंता वि परकसाएहिं। निच्छंति समुट्ठित्ता; सुनिविट्ठो पंगुलो चेव ॥१॥" द० प० ४ प०।

जगडू-जगडू-पुं०। स्वनामके अन्नदानलब्धकीर्तौ महर्धिके श्रेष्ठिनि, उपदेशतरङ्गिणी। यथा-पञ्चालदेशमण्डने भद्रेसरग्रामे श्रीमालीयज्ञातिः सासोलाऽभिधो व्यवहारिमुख्यः, तस्याङ्गजो जगडूनामा श्राद्धः, एकदा पौषधागारे प्रतिक्रान्तं विधाय मौनेन नमस्कारान् गुणयन्नास्ति, रात्रिप्रहरानन्तरं यतिभिश्चन्द्रेण रोहिणीशकटं भिद्यमानं दृष्ट्वा गुरुपार्श्वे पृष्टम्-भगवन्! एवंविधो भवन्नास्ति। गुरुभिरपि विलोक्योक्तम्-अत्र कोऽप्यस्ति न?। साधुभिरुक्तम्-न कोऽपि। ततो गुरुभिरुक्तम्-संवत् १३१५ मिते रौरवं दुर्भिक्षं भविष्यति। साधुभिः पृष्टम्-भगवन्! कोऽपि जगदुद्धर्ताऽस्ति, न वेति। गुरुणोक्तम्-अस्माकं मन्त्राधिष्ठायकदेवेन पूर्वमेवादिष्टमस्ति-अनेन प्रकारेण जगडूर्जगदुद्धर्ता भविष्यति। तैरुक्तम्-अस्येदृग्धनं क्वास्ति?। गुरुः प्राह-"अस्य गृहवाटकेऽर्कस्याधः कोटित्रयप्रमाणं धनमस्ति" इत्यादि गुरुवचः श्रुत्वा जगडूश्चिन्तयति-अहो मम महद्भाग्यं, यद् गुरुमुखादेवं श्रूयते। ततो रात्रौ मौनेन स्थितः शालायां, ततः प्रभाते विलोकितं तद्दृष्टकथितं रात्रौ तद्वचनं, तेन धान्यग्रहणचिकीर्षुरभूत्। इतश्च साधुजगडूकस्य वणिक्पुत्राः वखारिस्थाः मलवारं सन्ति, तत्र बहूनां व्यवहारिणां वखारिरस्ति। तत्र जगडूवखारिपरव्यवहारिवखारिद्वयान्तराले एका पाषाणशिलाऽस्ति। तत्र द्वयोर्वखारिधनिकयोः प्रातर्दन्तधावनकरणस्थानम्। एकदा समकालमेव तौ दन्तधावनायागतौ, एक एव तत्रोपवेष्टुं शक्नोति, न द्वावपि। तेनैकः कथयति-अत्राहं प्रथममुपविश्य दन्तधावनं करिष्ये। द्वितीयस्तु वक्ति-अहं प्रथमं करिष्ये इत्यादि विवादे जायमाने अहङ्कृतितोऽत्यन्तं हठो जातः, राजवर्गीयनरैः पर्यवसायितावपि न मन्येते। ततस्तैरुक्तम्-यो राज्ञः षट्शतस्पर्द्धकानि दास्यति सोऽत्र दन्तधावनं करिष्यति। एवं बहुधनं वर्द्धितं, मम श्रेष्ठी लज्जते यदि पश्चाद्भवामि। यतः-"क्षत्राः शस्त्रैर्बुधाः शास्त्रै-स्त्रियः स्वैः पामराः करैः। गालीभिरङ्गनाः शृङ्गैः, पशवः कलिकारिणः ॥२०॥" एवं युद्धं यावदेकोऽपि न निवर्तते तावत् हौडकोऽस्य विलोक्यते। अतो मम श्रेष्ठी नामितो मा भूत ततो जगडूवणिक्पुत्रेण पञ्चविंशतिशतस्पर्द्धकैः गृहीतः स पाषाणः "चारचलावइ पानबोलावइ हाथहलावइ धनहुंफावइ" इति लोकोक्तिः मत्वा, तेन श्रेष्ठिना ज्ञापितो वृत्तान्तः। जगडूः प्राह-वर्यं कृतं यन्मम महत्त्वं प्रदेशे रक्षितम्। ततः स पाषाणः स्वस्थाने आनायितः। जगडूरपि तत्रोपविश्य दन्तधावनं करोति। एकदा मध्याह्ने जगडूर्भोजनार्थमुपविष्टः, तस्मिन्नवसरे कोऽपि योगी गृहद्वारे प्राप्तः। पत्नीं प्राह श्रेष्ठी-सद्योग्यां रसवतीं परिपूर्णपुरुषाहारप्रमाणामस्य देहि, सा तथा करोति, योगी न लाति, तया स्वपतेः प्रोक्तम्। पुनस्तेनोक्तम्-रूप्यस्थालं वर्तुलिकासहितं देहीति, तथा कृते तुष्टो योगी ब्रूते-भोः दातृशिरोमणे! तव परीक्षायै आगतोऽहं खलु भिक्षार्थं भ्रमन्, यतो मम दातृपुरुषविलोकयतः षण्मासा गताः परं न कोऽपि दृष्टः, त्वं त्वद्य दृष्टः जगदुद्धरणक्षमः। साधुराह-ममेदृग्धनं क्व?। योगी प्राह-एष पाषाणः सद्द्रव्योऽस्ति इत्युक्त्वा स्थितो योगी। साधुरपि तत्पूजायै यावद्घर्घण्टुकूलाद्यानयति तावत्स गतः, सर्वत्र विलोकितोऽपि न लब्धः। साधुना चिन्तितमसौ योगी न हि, किं तु मम पूर्वसंबन्धी कोऽपि देवः पुण्यकीर्तिदाता, विलोकितः पाषाणः, एकत्र कारी दत्ता, द्वयदो दूरीकृताः, दृष्टानि तत्र पञ्चस्पर्शपाषाणखण्डानि, स्पर्शपाषाणयोगेन लोहं स्वर्णीभवेत्। ततो गुरूक्तं सत्यं मन्यमानो जगडूर्जगदुद्धरणाय मनोऽकरोत्। सर्वदेशेषु धान्यसंग्रहमकार्षीत्। दुर्भिक्षे पतिते दिल्लीस्तम्भनपुरभवलक्षाणहिल्लपत्तनादिषु द्वादशोत्तरशतसत्रागारानमण्डयत्। तेषु लोकानां सारभोजनं सघृतं दीयते यथेच्छम्। यतः-"नवकरवाली मणिअरा, ते अर्गाला चारि। दानसाल जगडूतणी, दीसइ पुहविमझारि ॥२१॥" दुष्टनृपग्रहणभीत्या रङ्कयोग्या एतं इति सकलकोष्ठेपु नाम दत्तम्। "अट्ठय मूडसहस्सा, वीसलदेवस्स वार हम्मीरे। इगवीस य सुरताणे, दुब्भिक्खे जगडुसाहूणा दिन्ना" ॥२२॥ एवंविधां जगडूकीर्तिं श्रुत्वा स्पर्धया वीसलदेवराजेन वीसलनगरे सत्रागारो मण्डितः। संपत्स्यनावासैलं परिवेषयति, कियद्दिनैस्तैलमपि निवारितम्, एकदा राज्ञा कार्यविशेषेण जगडूसाधुराकारितः, स नृपं नत्वोपविष्टः, राजाऽऽदेशे 'जी जी' इति भणति। तदा चारणेनोक्तम्-"वीसलदेव रुक करइ, जगडू कहावइ जी। नइ परिसइ फालिसिउ, ए परीसावइ घी" ॥२३॥ तदनु मत्सरं मुक्त्वा जगडूपार्श्वात्मजप्रणामकरणं निषिद्धम्, प्रभाते तत्रोपविश्य दानमाण्डपिकायां द्रव्यदानं ददाति जगडूः, तत्र यवनिकां बन्धयति, यतः लज्जया कुलीनाः प्रकटं न गृह्णन्ति, तेषां दानार्थं, सलज्जया च यवनिकान्तरिताः स्वकरं जगडूश्रग्रेऽग्रे विस्तारयन्ति, तदनु यथाभाग्यानुसारेण हाटकटङ्करूप्यटङ्कस्पर्द्धकद्रम्मशतादि ददाति। अत्रावसरे वीसलदेवभूपः स्वभाग्यपरीक्षार्थं वस्त्रादिवेषं परावर्त्य एकाकी निजकरं यवनिकान्तस्थ उड्डयामास। जगडूर्नानाप्रकारलक्षणतान्नताकान्तताधनभाग्यसंपद्यशःसौख्यविद्यादिबहुरेखाङ्कितं तं करं दृष्ट्वा जगज्जनमान्यस्य कस्यापि नरेन्द्रस्य संप्रतीदृशीमवस्थां प्राप्तस्य तथा करोमि यथा यावज्जीवं सुखी स्यात् इति विचिन्त्य स्वकराङ्गुलीतो मणिमण्डितमुद्रिका उत्तार्य प्रदत्ता। सकौतुकेन भूपेन क्षणं स्थित्वा वामः करः उड्डीनः। तत्रापि द्वितीया मुद्रिका मुक्ता। मुद्राद्वयं गृहीत्वा नृपः स्वावासे गतः। द्वितीयदिने जगडूसाधुमाकार्य किमेतदिति दर्शितवान् मुद्राद्वयम्। साधुनोक्तम्-" जत्थ गओ तत्थ गओ, सामलसीहो न जुज्जए अहलं। जत्थ गओ तत्थ गओ, एत्थ रओ पाणियं वहइ" ॥२४॥ हठात् मुद्राद्वयं परिधाप्य हस्तिस्कन्धमारोप्य गृहे प्रेषित इति जगडूसाधुप्रबन्धः। उपदेशतरङ्गिणी।

जगणंदण-जगन्नन्दन-पुं०। जिनेश्वरे, स्वनामकचारणमुनौ

च । तथाहि-"सयंपभा कमा अनिणंदणजगणंदणचारणसमीवे सुअधम्मसंमत्तं पडिवन्ना" । सङ्घा० ।

जगणाह-जगन्नाथ-पुं० । जगतः सकलचराचररूपस्य यथावस्थितस्वरूपप्ररूपणद्वारेण वितथप्ररूपणापायेभ्यः पालनाच नाथ इव नाथो जगन्नाथः । जिनेश्वरे, नं० ।

जगणिस्सिय-जगन्निश्रित-त्रि० । जगल्लोकस्तत्र निश्रित आश्रितः । लोकाश्रिते वस्तुनि, "जगणिस्सिएहिं भूएहिं" उत्त० ८ अ० ।

जगदुच्चरिय-जगद्दुश्चरित-न० । जगतां प्राणिनां दुश्चरितं हिंसादिनिबन्धनं कर्म । प्राणिनां दुराचारे, हा० २१ अष्ट० ।

जगपागड-जगत्प्रकट-त्रि० । जङ्गमजन्तूनां प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धतया प्रकटे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जगपियामह-जगत्पितामह-पुं० । जगतां सकलसत्त्वानां नारकादिकुगतिविनिपातभयापायरक्षणात् पितेव पिता सम्यग्दर्शनमूलोत्तरगुणसंहतिस्वरूपो धर्मस्तस्यापि च पिता भगवान्, अर्थतस्तत्प्रणीतत्वात् । नं० । जिनेश्वरे, ब्रह्मणि च । "ब्रह्मा जगत्पितामहः" सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

जगबंधु-जगद्बन्धु-पुं० जगतः सकलप्राणिसमुदायरूपस्याभ्यादनोपदेशप्रणयनेन सुखस्थापकत्वात् बन्धुरिव बन्धुः । जिनेश्वरे, नं० ।

जगय-यकृत्-न० । यं संयमं करोति, कृ-क्विप-तुक् च । कुक्षौ दक्षिणभागस्थे मांसपिण्डे, तद्बर्द्धके रोगभेदे च । अस्य शसादौ अन्ते च यकन्नादेशः । वाच० । "आसस्स ण धावमाणस्स हिययस्स य जगयस्स य अंतराले ।" भ० १० श० ३ उ० ।

जगल-देशी-पङ्किलायाम, सुरायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

जगसव्वदंसि [ण्]-जगत्सर्वदर्शिन्-पुं० । जगतः सर्वभावदर्शिनि ज्ञातपुत्रे महावीरे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

जगसब्भाव-जगत्स्वभाव-पुं० । जगतः चराचरस्य स्वो भावः । "जन्म मरणं च नियतं, बन्धुर्दुःखाय धनमनिर्वृतये । तन्नास्ति यन्न विपदे, तथाऽपि लोको निरालोकः ॥१॥" इत्यादिलक्षणे विश्वस्वभावे, आव० ४ अ० ।

जगहित-जगद्धित-त्रि० । पुरुषार्थोपयोगतया विश्वहितावहे, स० ३२ सम० ।

जगहिय-जगद्धित-त्रि० । 'जगहित' शब्दार्थे, स० ३२ सम० ।

जगाणंद-जगदानन्द-पुं० । जगतां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणाममृतस्यन्दिमूर्तिदर्शनमात्रतो निःश्रेयसाभ्युदयसाधकधर्मोपदेशद्वारेण चानन्दहेतुत्वात् ऐहिकामुष्मिकप्रमोदकारणत्वात् जगदानन्दः । जिनेश्वरे, नं० ।

जगार-ज(य)कार-पुं० । जवर्णे, यवर्णे, यच्छब्दे च । "जगारादिठाणं लगारेणं निद्देसो कीरति ।" नि० चू० १ उ० ।

जगारी-जगारी-स्त्री० । (राजगरो) इतिनाम्ना प्रसिद्धे क्षुद्रधान्ये, "असणं ओयण-सत्तुग-मुग्ग-जगारीइ" । इह 'जगारी' शब्दः समयसिद्धः, आदिशब्दात् कैरवीकरम्भकादिग्रहः । पञ्चा० ५ विव० ।

जग्ग-जागृ-धा० । निद्राक्षये, "जाग्रेर्जग्गः" ॥ ८ । ४ । ८० ॥ 'जग्गइ' पक्षे 'जागरइ' जागर्ति । प्रा० ४ पाद ।

जग्गण-जागरण-न० । अनिद्रागमने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जग्गह-यद्ग्रह-पुं० । यत् प्राप्यते तद् गृह्यतामित्याकारिकायां राजाज्ञायाम्, "रन्ना जग्गहो घोसिओ ।" आ० म० प्र० । "यद्ग्रहो घोषितस्तत्र, शतानीकमहीभुजा । तदनीकभटाश्चर्पां, स्वेच्छया मुमुषुस्ततः" ॥ आ० क० ।

जग्गाह-यद्ग्राह-पुं० । 'जग्गह' शब्दार्थे, आ० क० ।

जघण-जघन-न० । चक्रं हन्ति । हन-यङ्-अच्-पृषो० । वाच० । स्त्रिया अग्रेतनकट्यधोभागे, कल्प० २ क्षण । "सुंदरथणजघनवयणकरचरणनयणलावण्णविलासकलिया" । औ० । भगरूपे स्त्रीकटेरग्रभागे च । तं० ।

जच्च-जात्य-त्रि० । जातौ भवः यत् । कुलीने, श्रेष्ठे, कान्ते, सुन्दरे, "किं वा जात्याः स्वामिनो हेपयन्ति ।" "जात्यस्तेनाऽभिजातेन, शूरः शौर्यवता कुशः" । "सर्ववर्णेषु तुल्यासु, पत्नीष्वक्षतयोनिषु । आनुलोम्येन संभूताः, जात्या ज्ञातास्तथैव ते ॥१॥" वाच० । स्वाभाविके, तं० । ज० । प्रश्न० । सजातीये अविजातिमति, जी० ३ प्रति० । ज० । प्रश्न० । अशुद्धमपि जात्यरत्नं समानमजात्यरत्नेन । ल० । "जह अबाहुल्लाणं, अस्साणं जणवएसु जायाणं ।" आ० क० ।

जच्चंजण-जात्याञ्जन-न० । मर्दितेऽञ्जने, कल्प० २ क्षण । प्रधाने, सौवीरके च । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जच्चंजणभमरजलयपयरिउज्जुयसमसंहियतणुअआइज्जलडहसुकुमालमउअरमणिज्जरोमराइं ।

जात्याञ्जनं मर्दितं तैलादिनाऽञ्जनम् (भमरजलयपयरि त्ति) भ्रमराणां प्रसिद्धानां जलदानां च मेघानां यः प्रकरः समूहस्तत्सदृशी तत्समानवर्णतया जात्याञ्जनभ्रमरजलदप्रकरी इव (उज्जुअ त्ति) ऋजुका प्रश्वरा, अत एव (सम त्ति) समा अविषमा संहिता निरन्तरा (तणुअ त्ति) तनुका सूक्ष्मा (आइज्ज त्ति) आदेया सुभगा (लडह त्ति) लटभा विलासमनोहरा (सुकुमालमउअ त्ति) सुकुमालेभ्यः शिरीषपुष्पादिवस्तुभ्योऽपि मृदुका, तत एव (रमणिज्ज त्ति) रमणीया (रोमराइ त्ति) रोमराजिर्यस्याः सा तथा ताम् । कल्प० २ क्षण ।

जच्चंजणभिंगभेयरिट्ठगभमरावलिगवलगुलियकज्जलसमप्पभेसु ॥

जात्यं प्रधानं यदञ्जनं सौवीरकं भृङ्गभेदः भृङ्गाभिधानकीटविशेषः विदलिताङ्गारो वा, रिष्टकं रत्नविशेषः । भ्रमरावली प्रतीता, गवलगुटिका महिषशृङ्गगुटिका, कज्जलं मषी, एतत्समप्रभेषु कृष्णेष्वित्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जच्चंदण-देशी-अगरौ, कुङ्कुमे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जच्चकंचणुज्जलंतरूव-जात्यकाञ्चनोज्ज्वलद्रूप-त्रि० । जात्यकाञ्चनवत् उत्तमसुवर्णवत् उत्प्राबल्येन दीप्यमानं रूपं यस्य । उत्तमसुवर्णवद् दीप्यमानरूपे, कल्प० ३ क्षण ।

जच्चकणग-जात्यकनक-न० । उत्तमसुवर्णे, "जच्चकणगं व जायरूवे ।" कल्प० ६ क्षण । प्रश्न० ।

जच्चकमलकोमल-जात्यकमलकोमल-त्रि० । उत्तमजातिसंभवकमलवत् कोमले, कल्प० २ क्षण ।

जच्चखिय-जात्यान्वित-त्रि० । विशिष्टजातिसंभूते, बृ० ३ उ० । सुकुलोत्पन्ने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

जच्चभिय-जात्यान्वित-त्रि० । विशिष्टजातिसंभूते, बृ० ३ उ० ।

जच्चमणि-जात्यमणि-पुं० । पद्मरागादिप्रधानमणौ, पं० व० ६ द्वार ।

जच्चसुवण्ण-जात्यसुवर्ण-पारमार्थिके सुवर्णे, दश० १० अ० ।

जच्चसुवन्न-जात्यसुवर्ण- 'जच्चसुवण्ण' शब्दार्थे. दश० १ अ० ।

जच्चिर-यच्चिर-न० । यावत्काले, व्य० ७ उ० ।

जच्चो-देशी-पुरुषे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जच्छ-यम्-धा० । उपरमे, " गमिष्यमाऽऽसां छः " । ८ । ४ । २१५ । इत्यन्तस्य छः । ' जच्छइ ' यच्छति । प्रा० ४ पाद ।

जच्छंत-यच्छत्-त्रि० ददति, अष्ट० ३ अष्ट० ।

जच्छंदओ-देशी-स्वच्छन्दे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जजुव्वेय-यजुर्वेद-पुं० । द्वितीयवेदे, भ० २ श० १ उ० । औ० । यजुर्वेदशाहिते निर्णये, व्यापारे च । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

जज्ज-जय्य-त्रि० । जेतुं शक्यः । जि-यत् । " क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे " । ६ । १ । ८१ । (पाणि०) जेतुं शक्ये, वाच० । " द्यय्यर्यां जः " । ८ । २ । २४ । इति य्यस्य ज्जः । प्रा० २ पाद ।

जज्जरिय-जर्जरित-त्रि० । जर्जरं करोति, जर्ज-णिच् कर्मणि क्तः । जीर्णीकृते, शकलीकृते, 'जराजर्जरितं पतिम्' वाच० । "कुंतग्गभिन्नजज्जरियसन्नदेहा " प्रश्न० १ आश्र० द्वार । राजीयुक्ते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जज्जरियसद्द-जर्जरित (झर्झरित)-शब्द-पुं० । तन्त्रीकरटिकादिवाद्यशब्दवद् झर्झर(जर्जर)ध्वनियुक्ते शब्दे, स्था० १० ठा० ।

जट्ट-जर्त-पुं० । वाह्लीकदेशे, सोऽभिजनोऽस्य अञ् । बहुषु जनपदे लुप् । तद्देशवासिषु, ब० व० । वाच० । " र्तस्याधूर्त्तादौ " । ८ । २ । ३० ॥ इति सूत्रेण र्तस्य ट्टः । प्रा० २ पाद ।

जट्ठ-इष्ट-न० । कृतयजने, "अहो अम्मिपए जट्ठं" आ० म० प्र० । यज्ञे च । उत्त० २५ अ० ।

जट्ठि-यष्टि-स्त्री० । यज्—क्तिन् नि० न संप्रसारणम् । ध्वजादिदण्डे, भुजावलम्बने दण्डे च । क्तिच् । तन्तौ, हारलतायां, भार्ग्यां, मधुकायाम्, वाच० । " जट्ठिमुट्ठिकोप्परप्पहारेहिं हणामि त्ति । " नि० चू० १ उ० ।

जड-जड-त्रि० । जलति घनीभवति । जल अच्, डस्य लः । "इष्टं वाऽनिष्टं वा, न वेत्ति किञ्चित्तु यो मोहात् । परवशगः स भवेदिह, नाम्ना जडसंज्ञकः पुरुषः " ॥ उक्तलक्षणे मन्दबुद्धौ, मूर्खे, वेदग्रहणासमर्थे, "अनंशौ क्लीबपतितौ, जात्यन्धबधिरौ तथा । उन्मत्तजडमूकाश्च, ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥" वेदग्रहणासमर्थो जड इति दायभागः । हिमग्रस्ते, हिमेन मन्दक्रिये, मूके, अल्पज्ञे, जले, न० । सीसके, न० । चेतनाभिन्ने अज्ञानादिसमूहे, वेदान्तमते हि पदार्थो द्विधा-जडोऽजडश्च । तत्र जडोऽज्ञानतत्कार्यसङ्घः । अजडश्चेतन इति भेदः । " नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्, न चान्यायेन पृच्छतः । जानन्नपि हि मेधावी, जडवल्लोक आचरेत् " ॥१॥ वाच० । अपगतकर्तव्याकर्तव्यविवेके, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । स्याद्वादस्वरूपोपलम्भरहिते, अष्ट० ७ अष्ट० । तत्त्वावबोधविधुरबुद्धौ, स्था० । "जडा खलु णे जडं पज्जुवासंति " । जडमूढापरिणतनिर्विज्ञानशब्दा एकार्थकाः । रा० ।

जडाभार-जटाभार-पुं० । जटासमूहे, "जडाभारेण सव्वं सरीरं पाणिएण उल्लेत्ता सामिस्स उवरिं ठाउं धुणइ" । आ० म० द्वि० ।

जडाल-जटाल-पुं० । जटा अस्त्यर्थे सिध्मा० लच् । वटवृक्षे, कच्चुरे, मुष्कके, गुग्गले च । जटायुक्ते, त्रि० । "चोरिणः शिखिनश्चान्ये, जटालोर्द्धशिरोरुहाः । " जटामांस्याम्, स्त्री० । वाच० । स्वनामख्याते ग्रहविशेषे, कल्प० ६ क्षण । चं० प्र० ।

जटावत्-त्रि० । जटा अस्त्यर्थे मतुप्, मस्य वः । वाच० । प्राकृते च " आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणामतोः " ॥ ८।२।१५९ ॥ इति सूत्रेण आलादेशः । ' जडालो ' जटावान् । प्रा० २ पाद । जटायुक्ते, वाच० ।

जडि [ण्]-जटिन्-पुं० । जटा अस्त्यस्य इति । प्लक्षे, अश्वत्थतुल्यपत्रयुक्ते वृक्षभेदे, वाच० । त्रि० । जटाधरे, भ० ९ श० १३ उ० । जं० । औ० ।

जडियाइलग-जटाल-पुं० । अष्टाशीतिग्रहाणां त्रिपञ्चाशत्तमे स्वनामख्याते ग्रहे, चं० प्र० २० पाहु० । " दो जडियाइलगा " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

जडिआइलय-जटाल-पुं० । ' जडियाइलग ' शब्दार्थे, चं० प्र० २० पाहु० ।

जडिअं-देशी-खचिते, दे० ना० ३ वर्ग ।

जडिल-जटिल-पुं० । जटा अस्त्यर्थे पिच्छा-इलच् । सिंहे, जटायुक्ते, त्रि० । "विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनम् । " वाच० । "उक्कडफुडकुडिलजडिलककक्खडवियडफडाडोवकरणदच्छा " वृत्तिः-जटिलः स्कन्धदेशे केसरिणामिवाहीनां केसरसद्भावात् । भ० १५ श० १ उ० । ज्ञा० । उत्त० । जटाधारिवनवासिपाखण्डिनि, प्रव० ९४ द्वार । वलितावलिते च । " एगं महं कोसं व गंडियं सुक्कं जडिलं गंठिल्लं " भ० १६ श० ३ उ० ।

जडिलय-जटिलक-पुं० । राहौ, सू० प्र० २० पाहु० । चं० प्र० ।

जड्ड-जड्ड-पुं० । भाषया शरीरेण क्रियया वा जडे, स्थूले, दीक्षाऽनर्हे, प्रव० १०७ द्वार ।

तिविहो य होइ जड्डो, भासे सरीरे य करणे जड्डो य ।
भासाजड्डो चउहा, जल एलग मम्मण दुमेहो ॥
जल जड्डुड्डो भासइ, जलमूओ एव भासति अवत्तं ।
जह एलगो व्व एवं, एलगमूगो वलवलेति ॥
मम्मणमूओ बोब्बडो, खलेइ वाया हु अवि सदा जस्स ।
दुम्मेहस्स ण किंची, घोसंतस्सावि ठाय इहा ॥
दंसणणाणचरित्ते, तवे य समितीसु करणजोगे य ।
उवइट्ठं पि न गेण्हइ, जलमूगो एलमूगो य ॥
नाणा दट्ठा दिक्खा, भासाजड्डो अपच्चलो तस्स ।

सोयवहिरो य नियमा, गहणे उड्डाहो अहिगरणं ॥
तिविहो सरीरजड्डो, पन्थे भिक्खे तहेव वंदणए ।
एतेहिँ कारणेहिं, सरीरजड्डं न दिक्खेज्जा ॥
अद्धाणे वा पलिमंथो, भिक्खायरियाएँ अपरिहत्थो य ।
लहुगमासपरिक्कम-अहिअग्गीउदगमादीसु ॥
आगाढगिलाणस्स य, असमाही वा वि होज्ज मरणं वा ।
जड्डे पासे वि ठिए, अन्ने य इमे दोसा ॥
देसेण कक्खमादी, कुच्छणववणुप्पन्नावणे दोसा ।
णऽत्थि गलओ य चोरो, णिदियमुंडो य जणवादो ॥
एगे सरीरजड्डो, एमादीया हवंति दोसा तु ।
तम्हा तं न वि दिक्खे, गच्छे महल्ले अणुन्नाओ ॥
इरियासमिए भासे-सणासु आदाणसमिइगुत्तीसु ।
ण वि ठाति चरणकरणे, कम्मुदएणं करणजड्डो ॥
जलमूग एलमूगो, अतिथूलसरीरकरणजड्डो य ।
दिक्खंतस्संते खलु, चतुगुरु सेसेसु मासलहु ॥
भासाजड्डं मम्मण, सरीरजड्डं च णातिथूरं च ।
जावज्जिय परियट्ट, करणे जड्डं तु छम्मासे ॥
मोत्तुं गिलाणकज्जं, दुम्मेहं वा वि पाढे छम्मासो ।
तो हेतुं दुम्मेहं, जो वि य करणम्मि सो जड्डो ॥
छण्हुवरिं तो दोण्ह वि, आयरिओ अन्नेँ गाहेँ छम्मासा ।
पच्छा अन्नो ततिओ, सो वि य छम्मासपरिअट्टे ॥
जो च्चिय तं गाहेतो, सिस्सो तस्सेव सो हवति ताहे ।
तह वि न गिण्हइ जदि हु, कुलगणसंघे विगिंचणता ॥
पं० भा० ।

जड्डुस्त्रिधा-भाषया, शरीरेण, करणेन च । भाषाजड्डुः पुनस्त्रिधा-जलमूको, मन्मनमूकः, एलकमूकश्च । तत्र जलमग्न इव बुडबुडायमानो यो वक्ति स जलमूकः । यस्य तु वदतः खण्ड्यमानमिव वचनं स्खलति स मन्मनमूकः । यश्चैलक इवाव्यक्तं मूकतया शब्दमात्रमेव करोति स एलकमूकः । तथा यः पथि भिक्षाऽटने वन्दनादिषु चातीव स्थूलतयाऽशक्तो भवति स शरीरजड्डुः । करणं क्रिया, तस्यां जड्डुः करणजड्डुः समितिगुप्तिप्रत्युपेक्षणादिक्रियां पुनः पुनरुपदिश्यमानामप्यतीव जड्डतया यो ग्रहीतुं न शक्नोति सः, करणजड्डु इत्यर्थः । तत्र भाषाजड्डुस्त्रिविधोऽपि ज्ञानग्रहणेऽसमर्थत्वान्न दीक्ष्यः । शरीरजड्डुस्तु मार्गगमनभक्तपानानयनादिष्वशक्तो भवति, तथाऽतिजड्डुस्य प्रस्वेदेन कक्षादिषु कुथितत्वं भवति, तेषां जलेन क्षालनेषु क्रियमाणेषु कीटिकादिप्लावना संभवति, ततः संयमविराधना, तथा लोकोऽतिनिन्दां करोति बहुभक्षीति, तथोड्डाहो भवति ततोऽसौ न दीक्षणीयः । ध० ३ अधि० । प्रव० । पं० चू० । नि० चू० । व्य० ८ । आव० । ग० । हस्तिनि, पुं० । वृ० १ उ० । नि० चू० । जीत० । द्रव्यभावमूर्खे, त्रि० । तं० । " जड्डाणं वड्डाणं, निव्विन्नाणं च निव्विसेसाणं । संसारसूयराणं, कहियं पि निरत्थयं होइ " ॥१॥ तं० ।

जाड्य-न० । जडस्य भावः ष्यञ् । जडतायाम्, सौक्ष्म्ये च । " आलस्यश्रमगर्भाद्यै-र्जाड्यं जृम्भासितादिकृत् " । " इदं जाड्यमिदं मौढ्य-मिदमत्यद्भुतं वचः । " वाच० ।

जढ-त्यक्त-त्रि० । " त्यजेश्चुड्डुणादयः " । ८ । ४ । २४८ । इति सूत्रेण 'जढ' आदेशः । परित्यक्ते, दश० ६ अ० । वृ० । पं० व० । आचा० । नि० चू० । संथा० ।

जण-जन-पुं० । जायते इति जनः । आ० म० प्र० । भं० । आचा० । विशे० । सूत्र० । जन-अच् । वाच० । लोके, उत्त० ५ अ० । सूत्र० । आव० । आचा० । स० । नगरीवास्तव्यलोके, " पमुइअजणजाणवया । " रा० । भ० । औ० । नि० । ज्ञा० । प्राकृतपुरुषे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । आ० म० । स० । प्राणिनिवहे, पं० व० ४ द्वार । आचा० । मातापितृपुत्रकलत्रादौ, कौटुम्बिकजने च । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

जणइआ-जनयितृ-पुं० । जन-णिच्-तृच् । पितरि, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । उत्पादके, त्रि० । मातरि, स्त्री० । ङीप् । वाच० । " जणइत्ता णाममेगे । " जनयिता मेघो यो वृष्ट्या धान्यमुद्गमयति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जणइत्ता-पुं० । ' जणइआ ' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जणक्खय-जनक्षय-पुं० । लोकमरणेषु, ज० ३ श० ६ उ० ।

जणक्खयकर-जनक्षयकर-त्रि० । लोकविघातकारके, " बहुजणक्खयकरा संगामा । " प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

जणकलकल-जनकलकल-पुं० । जनानामुपलभ्यमानवर्णविभागे ध्वनौ, रा० ।

जणग-जनक-पुं० । जन-णिच्-ण्वुल् । वाच० । पितरि, प्रव० १ द्वार । सूत्र० । ज्ञा० । उत्पादके, त्रि० । वाच० । मातापित्रादौ, "माता पिआ अ कंदकारी जणगा रुदंति" आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । मातापित्रोः, आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० । जना लोकास्त एव जनकाः । जने, "जणगा तं सुणेह मे । " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । सीतायाः पितरि, विदेहनृपभेदे, वाच० । चरमजिनसमयवर्तिनि तत्पूजके मिथिलानृपे च । " मिहिलाजणओ य धरणो य । " मिथिलायां जनको राजा धरणश्च नागकुमारेन्द्रः भगवतः पूजां कृतवान् । आ० म० प्र० ।

जणजत्ता-जनयात्रा-स्त्री० । अत्यन्तलोकतप्तिसंभाषणे, " जणजत्तारहियाणं, होइ जइत्तं जईण सया । " दर्श० ४ तत्त्व ।

जणट्ठाण-जनस्थान-न० । दण्डकाऽरण्ये, वाच० । नासिक्यपुरे च (ती०) " अन्नया देवजाणी नाम सुक्कस्स महग्गहस्स धूआ जणट्ठाणपुरे कीलंती दंडयराएण दिट्ठा, रूववइ त्ति वला मोडिआ, भग्गं च तीसे सीलव्वयं, तस्स सरूवं उवलब्भ सुक्कमहागहेणं रोसवसेणं सावो दिण्णो-एयं नयरं दंडयरायसहियं सत्तदिवसब्भंतरे रयरासी भविस्सइ त्ति, तं च नायं नारयरिसिणा, दंडयरायस्स कहिअं, तं च सोऊण भीओ दंडयराया सयलं जणं सह घेत्तुं चंदप्पहसामिणं सरणं पवन्नो, बुड्डो अ, तप्पभिइ जणट्ठाणं ति तस्स नयरस्स पसिद्धं नामधिज्जं, एवं परंपरेण वि तस्स तित्थस्स

माहप्पं उवदंसिति, तस्स आरहंतलोगा कहं नो वणिणहिंति ?। ती० ४८ कल्प।

जणणिकुच्छिमज्झ-जननीकुक्षिमध्य-न०। मातृजठरान्तरे, तं०।

जणणिवह-जननिवह-पुं० । महति नगरजोजिकादिवृन्दे, बृ० ४ उ० ।

जणणी-जननी-स्त्री० । जनयति प्रादुर्भावयत्यपत्यमिति जननी । उत्त० २ अ० । जन-णिच् अनि० जन अपादाने, अनि० वा-ङीप् । वाच० । मातरि, प्रव० १ द्वार । पञ्चा० । कल्प० । आव० । सूत्र० । " आ स्तन्यपानाज्जननी पशूना-मा दारला-भाच्च नराधमानाम् । आ गेहकृत्यावधि मध्यमाना-मा जीविताच्तीर्थमिवोत्तमानाम् ॥१॥ " कल्प० ४ क्षण । उत्पादकस्त्रीमात्रे च । वाच० ।

जणद्दण-जनार्दन-पुं० । जनैरर्द्यते याच्यते ' अर्द ' याचने, कर्मणि ल्युट् । जनमर्दति हिनस्ति ताडयति जनान् समुद्रवासिनोऽसुरभेदान् अर्दयति वा कर्तरि ल्युट् । विष्णौ , वाच० । " काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीषु " जगत्पीडके, त्रि० । आव० १ अ० ।

जणपरिभूय-जनपरिभूत-त्रि०। लोकगर्हिते, पं० व० १ द्वार ।

जणपिच्छणिज्जरूव-जनप्रेक्षणीयरूप-त्रि०। जनानां प्रेक्षणीयं द्रष्टुं योग्यं रूपं स्वरूपं यस्य तत् तथा । दर्शनीयरूपकलिते, कल्प० ३ क्षण ।

जणपुज्ज-जनपूज्य-त्रि० । लोकमान्येषु, जीवा० १३ अधि० ।

जणपूयणिज्ज-जनपूजनीय-त्रि० । राजामात्यगुरुश्रेष्ठिप्रभृतिषु लोकमान्येषु, पञ्चा० २ विव० ।

जणप्पमद्द-जनप्रमर्द-पुं० । लोकचूर्णने, भ० ७ श० ६ उ० ।

जणप्पियत्त-जनप्रियत्व-न० । लोकप्रियत्वे, " शुक्लं जनप्रियत्वं, शुद्धं तत्कर्मसिद्धिफलदमलम । धर्मप्रशंसनादे-र्बीजाधानादिभावेन ॥१॥" षो० ४ विव० ।

जणवह-जणवध-पुं । लोकघाते, भ० ७ श० ६ उ० ।

जणवोल-जनवोद-पुं० । जनानामव्यक्तवर्णे ध्वनौ, विपा० १ श्रु० १ अ० । भ० ।

जणमणोहर-जनमनोहर-त्रि० । लोकचेतोहारिणि, पञ्चा० ६ विव० ।

जणमेजय-जनमेजय-पुं० । जनमेजयति । एज-णिच्-खश् । परीक्षितनृपतेः पुत्रे, कुरुनामभूपपुत्रभेदे, पुरञ्जयनृपपुत्रे च । वाच० । क्रोधाज्जनमेजयो विननाश । ध० १ अधि० ।

जणय-जनक-पुं० । 'जणग' शब्दार्थे, प्रव० १ द्वार ।

जणयंत-जनयत्-त्रि० । उत्पादयति, पञ्चा० ११ विव० ।

जणवय-जनपद्-पुं० । जनाः पद्यन्ते गच्छन्ति यत्र । पद आधारे घः । वाच० । देशे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । तं० । स्था० । कल्प० । आचा० । उत्त० । बृ० । आ० म० । जनानां लोकानां पदान्यवस्थानानि येषु ते जनपदाः। साधुविहरणयोग्येषु अवन्त्यादिषु अर्धषड्विंशतिदेशेषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । राष्ट्रे, रा० । मनुष्यलोके, भ० ७ श० ६ उ० । तन्निवासिलोकेषु च । "हरंति धणधण्णदव्वजायाणि जणवयकुलाणं " जनपदकुलानां लोकगृहाणाम । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । "जणवयपरिवायाए" जनपदानां लोकानां परिवादाय । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । 'जानपद' इत्यनुवादे तु तत्र भवे, " जणवयवहाए " जनपदे भवाः जानपदाः कालकष्ठादयो राजादयो वा तद्वधाय । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

जणवयकहा-जनपदकथा-स्त्री० । मालवकादिदेशप्रशंसानिन्दाऽऽत्मिकायां देशकथायाम, उत्त० १९ अ० । औ० ।

जणवयपाल-जनपदपाल-पुं० । जनपदं पालयति इति जनपदपालः । जनपदरक्षके, औ० ।

जणवयपिया-जनपदपितृ-पुं० । जनपदानां हितत्वात (औ०) पितेव । लोकपितरि, स्था० ६ ठा० । सूत्र० ।

जणवयपुरोहिय-जनपदपुरोहित-पुं० । जनपदस्य शान्तिकारितया पुरोहित इव जनपदपुरोहितः । जनपदशान्तिकरे, रा० । औ० । सूत्र० ।

जणवयप्पहाण-जनपदप्रधान-त्रि० । लोकोत्कृष्टे, " जक्खाहिं य जणवयप्पहाणाहिं लालियंता " प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

जणवयवग्ग-जनपदवर्ग-पुं० । देशसमूहे, भ० ३ श० ६ उ० ।

जणवयसच्च-जनपदसत्य-न० । जनपदेषु देशेषु यद् यदर्थवाचकतया रूढं देशान्तरेऽपि तत् तदर्थवाचकतया प्रयुज्यमानं सत्यमवितथमिति जनपदसत्यम । यथा कोङ्कणादिषु पयः पच्चं नीरमुदकमित्यादि । सत्यत्वं चास्याऽदुष्टं, विवक्षाहेतुत्वात । नानाजनपदेष्विष्टार्थप्रतिपत्तिजनकतया व्यवहारप्रवृत्तेः । दशविधसत्यस्य प्रथमे भेदे, स्था० १० ठा० । ध० ।

जणवयसच्चा-जनपदसत्या-स्त्री० । जनपदमधिकृत्येष्टार्थप्रतिपत्तिजनकतया व्यवहारहेतुत्वात् सत्या जनपदसत्या । दशविधायाः सत्यभाषायाः प्रथमे भेदे, प्रज्ञा० ११ पद ।

जणवहा-जनव्यथा-स्त्री० । लोकपीडायाम, भ० ७ श० ६ उ० ।

जणवाय-जनवाद-पुं० । जनानां परस्परेण वस्तुविचारणे, औ० । स्वनामख्याते कलाभेदे, जं० २ वक्ष० । स० । लोकापवादे च । वाच० । " जणवायभयणं " । आव० ६ अ० ।

जणवूह-जनव्यूह-पुं० । जनसमुदाये, भ० ६ श० ३४ उ० । चक्राद्याकारजनसमूहे, जनव्यूहस्य शब्दोऽपि तद्भेदाज्जनव्यूह एवोच्यते । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

जणव्वूह-जनव्यूह-' जणवूह ' शब्दार्थे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

जणसद्द-जनशब्द-पुं० । जनानां परस्परालापरूपे ध्वनौ, औ० । रा० । दशा० ।

जणसम्मद्द-जनसंमर्द-पुं० । जनानां परस्परं संघर्षणे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

जणसंवट्टकप्प-जनसंवर्तकल्प-त्रि० । जनसंवर्त इव लोकसंहारसदृशे, भ० ७ श० ६ उ० ।

जणाउत्तो-देशी-ग्रामप्रधानपुरुषे, विटे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

जणाउल-जनाकुल-त्रि० । भोजिकादिभिरति प्रचुरैर्जनैराकीर्णे, व्य० ४ उ० ।

जणाकुल–जनाकुल–त्रि० । ' जणाउल ' शब्दार्थे, व्य० ४ उ० ।

जणाववायभीरुत्त–जनापवादभीरुत्व–न० । जनापवादात् मरणादिर्निशिष्यमाणाद् भीरुत्वं भीतिभावः । लोकापवादभीतौ, द्वा० १२ द्वा० ।

जणि–इव–अव्य० । " इवार्थे नं–नउ–नाइ–नावइ–जणि–जणवः " । ८ । ४ । ४४४ । इति सूत्रेणापभ्रंशे इवार्थे जणिप्रयोगः । प्रा० ४ पाद । इवेत्यर्थे, " चंपयकुसुमहो मज्झि सहि भसलु पइट्ठउ । सोहइ इंदनीलु मणि जणि कणइ बइट्ठउ ॥ " प्रा० ४ पाद ।

जणिअ–जनित–त्रि० । उत्पादिते, नि० चू० १ उ० । आव० ।

जणिय–जनित–त्रि० । ' जणिअ ' शब्दार्थे, नि० चू० १ उ० ।

जणु–इव–अव्य० । " इवार्थे नं–नउ–नाइ–नावइ–जणि–जणवः " । ८ । ४ । ४४४ । इति सूत्रेणापभ्रंशे इवशब्दस्य ' जणु ' इत्यादेशः । इवेत्यर्थे, " निरुवमरसु पिएँ पिएवि जणु । " प्रा० ४ पाद ।

जणुम्मि–जनोर्मि–स्त्री० । जनसंबाधे, रा० ।

जणुल्लाप–जनोल्लाप–पुं० । जनानां काक्वा वर्णने, औ० ।

जणेमाण–जनयत्–त्रि० । उत्पादयति, नं० ।

जणोह–जनौघ–पुं० । जनसमुदाये, बृ० ३ उ० ।

जणोवयार–जनोपचार–पुं० । स्वजनादिलोकपूजायाम्, पञ्चा० २ विव० ।

जण्ण–यज्ञ–पुं० । यज–भावे नः । यागे, वाच० ।

स त्रिविधः—

" अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो, विधिदृष्टो य उच्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः, समाधाय स सात्त्विकः ॥
अभिसंधाय तु फलं, दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ !, तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥
विधिहीनमसृष्टान्नं, मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं, तामसं परिचक्षते ॥ "

स च नानाविधः—

" द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः, योगयज्ञास्तथा परे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, यतयः संशितव्रताः ॥ "

पञ्च गृहस्थकर्तव्या यज्ञा यथा–

" अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो, नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ "

विष्णौ च । वाच० । नागादीनां पूजायाम्, आ० म० प्र० । प्र० ज्ञा० । प्रश्न० । सूत्र० । प्रतिदिवसं स्वस्वेष्टदेवतापूजायाम्, जी० ३ प्रति० । श्राद्धे च । जी० ३ प्रति० । जं० । सयूपो यज्ञ एव हि क्रतुरुच्यते, यूपरहितस्तु दानादिक्रियायुक्तो यज्ञ इति । विशे० ।

जण्णइज्ज–यज्ञीय–न० । यज्ञाय हितं तस्येदं वा । वाच० । स्वनामख्याते (जयघोषविजयघोषमुनिवक्तव्यताप्रतिबद्धे) उत्तराध्ययनसूत्रस्य पञ्चविंशतितमेऽध्ययने, स० ३६ सम० । उत्त० ।

जण्णग्गि–यज्ञाग्नि–पुं० । अग्निष्टोमानले, दशा० १ चू० ।

जण्णजस–यज्ञयशस्–पुं० । स्वनामख्याते नारदपितामहे तापसे,

" आसीद्यदा सौर्यपुरे, समुद्रविजयो नृपः ।
तदा यज्ञयशास्तत्र, तापसस्तस्य वल्लभः ॥
सोमामित्रासुतो यज्ञ–दत्तस्सोमयशा स्नुषा ।
तत्पुत्रो नारदस्तेषा–मुञ्छवृत्त्या च भोजनम् ॥ " आ० क० । आ० चू० ।

जण्णजाइ (ण्)–यज्ञयाजिन्–पुं० । यजनशीले, नि० चू० १ उ० । औ० । भ० ।

जण्णट्ठ–यज्ञार्थ–पुं० । यज्ञैकप्रयोजने द्विजे, यज्ञनिमित्ते, उत्त० २५ अ० ।

जण्णट्ठाण–यज्ञस्थान–न० । नासिक्यपुरे, ती० २७ कल्प । " एवं नासिक्कपुरे कालंतरे पुष्फचूमि नामं आगओ मिहिलाहिंतो, तत्थ जणवराओ तेण य तत्थ इस जण्णा कारिआ " ततः " जण्णट्ठाणं ति तन्नामं रूढं । " ती० २७ कल्प । यज्ञवाटे च । वाच० ।

जण्णदत्त–यज्ञदत्त–पुं० । स्वनामख्याते नारदपितरि, आ० क० । आव० । आ० चू० । स्वनामख्याते कौशाम्बीवास्तव्ये सोमदत्ते, सोमदेवपितरि च । उत्त० १ अ० । भद्रबाहुस्वामितृतीयशिष्ये, कल्प० ८ क्षण० ।

जण्णदेव–यज्ञदेव–पुं० । क्षितिप्रतिष्ठितनगरीये चिलातपुत्रपूर्वभविकजीवे स्वनामख्याते द्विजे, आव० १ अ० ।

जण्णमुह–यज्ञमुख–न० । यज्ञोपाये, उत्त० २५ अ० ।

जण्णवक्क–याज्ञवल्क्य–पुं० । शुक्लयजुःप्रवर्तके मुनिभेदे, वाच० । (वेदाः) अनार्यास्तु पश्चात् सुलसायाज्ञवल्क्यादिभिः कृताः " आ० म० प्र० । तन्नामकधर्मसंहिताकर्तरि ऋषौ च । वाच० । याज्ञवल्क्यप्रभृतिऋषिप्रणीतधर्मसंहिताभिश्चिन्तयन्ति ते धर्मचिन्तकाः । अनु० ।

जण्णवाड–यज्ञवा (पा) ट–पुं० । यज्ञस्थाने, वाच० । आ० म० । उत्त० । आव० ।

जण्णसेट्ठ–यज्ञश्रेष्ठ–पुं० । यज्ञेषु श्रेष्ठो यज्ञश्रेष्ठः । अथ वा–श्रेष्ठो यज्ञः श्रेष्ठयज्ञः । प्राकृतत्वात् यज्ञश्रेष्ठः । (उत्त०) उत्तमयज्ञे, " वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा, महाजयं जयइ जण्णसेट्ठं " उत्त० १२ अ० ।

जण्णिय–याज्ञिक–पुं० । यज्ञेन जयति लोकान् इति याज्ञिकः । आ० म० प्र० । आचा० । यज्ञाय हितः यज्ञः प्रयोजनमस्य वा ठक् । याजके ऋत्विगादौ, यजमाने च । वाच० ।

जण्णोवईय–यज्ञोपवीत–न० । यज्ञेन संस्कृतमुपवीतम् । वाच० । ब्राह्मणकण्ठसूत्रे, उत्त० २ अ० ।

तत्प्रसिद्धिस्त्वित्थम्—

भरतश्च श्रावकानाहूयोक्तवान्–भवद्भिः प्रतिदिनं मदीयं भोक्तव्यं, कृष्यादि च न कार्यम्, स्वाध्यायपरैरासितव्यं, भुक्ते च मदीयगृहद्वारासन्नव्यवस्थितैर्वक्तव्यम्—जितो भवान्, वर्धते भयं, तस्मान्मा हन मा हनेति । ते तथैव कृतवन्तः । भरतश्चरति सागरावगाढत्वात् प्रमत्तत्वात् तच्छब्दाकर्णनोत्तरकालमेव केनाहं जित इति ?, आः ज्ञातं–कषायैः, तेभ्यः एव वर्धते भयमित्यालोचनापूर्वकं संवेगं यातवानिति । अत्रान्तरे लोकबाहुल्यात् सूपकाराः पाकं कर्तुमशक्नुवन्तो भरताय निवेदितवन्तः, नेह ज्ञायते कः श्रावकः, को वा नेतीति लोकस्य प्रचुरत्वात् । आह भरतः–पृच्छापूर्वकं

श्रेयमिति । ततस्तान् पृष्टवन्तस्ते—को भवान्, श्रावकाणां कति व्रतानि ? । स आह-श्रावकाणां न सन्ति व्रतानि, किं तु अस्माकं पञ्चाऽणुव्रतानि । कति शिक्षाव्रतानि ? । ते उक्तवन्तः- सप्त शिक्षाव्रतानि । य एवं ब्रुतास्ते राज्ञो निवेदिताः । स च काकणीरत्नेन तान् लाञ्छितवान्, पुनः षण्मासेन यांश्चा प्र- वन्ति, तानपि लाञ्छितवान् । षण्मासकालादनुयोगं कृतवानेवं ब्राह्मणाः संजाता इति । ते च स्वसुतान् साधुभ्यो दत्तवन्तः, ते च प्रव्रज्यां चक्रुः । परीषहभीरवस्तु श्रावका एवासन्निति । इयं च भरतराज्यस्थितिः । आदित्ययशसस्तु काकणीरत्नं ना- सीत्, सुवर्णमयानि यज्ञोपवीतानि कृतवान्, महायशःप्रभृत- यस्तु केचन रूप्यमयानि, केचन विचित्रपट्टसूत्रमयानि, इत्येवं यज्ञोपवीतप्रसिद्धिः । आ० म० प्र० ।

जण्णोवत्तीय-यज्ञोपवीत-न० । 'जण्णोवईय' शब्दार्थे, आ०म०प्र० ।

जण्णोहणो-देशी-राक्षसे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जण्हली-देशी-नीव्याम, दे० ना० ३ वर्ग ।

जण्हु-जह्नु-पुं० । "सूक्ष्मश्नष्णस्नह्नह्णक्ष्णां ण्हः" ॥८।२।७५॥ इति प्राकृतसूत्रेण ह्नोः ण्हुः । प्रा० २ पाद । भरतवंश्ये आजवीढनृप- पुत्रे नृपभेदे, वाच० । को० ।

जण्हुसुया-जह्नुसुता-स्त्री० । गङ्गानद्याम, "गंगा भागीरही य जण्हुसुया ।" को० ।

जइ-यदि-अव्य० । यद्-णिच्-इन्, णिलोपः । पक्षान्तरे, सं- भावनायाम्, गर्हायां, विकल्पे च । वाच० । "जति ण चोरं लजसि ततो ते जीवियं नऽत्थि" । नि० चू० १ उ० ।

जतमाण-यतमान-त्रि० । प्राणिविषये यत्नवति, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । यत्नवति च । आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

जति-यदि-अव्य० । 'जइ' शब्दार्थे, नि० चू० १ उ० ।

जतिय-यावत्-त्रि० । यत्परिमाणे, वाच० । "अण्णं पि ज- तियं जाणंति" नि० चू० १९ उ० ।

जतुकुंभ-जतुकुम्भ-पुं० । जातुषे घटे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

जतुगोलसमाण-जतुगोलसमान-त्रि० । डिम्भरूपक्रीडनकज- तुगोलकप्रमाणे अनति महति, भ० १६ श० ३ उ० ।

जतुगोलासमाण-जतुगोलसमान-पुं० । 'जतुगोलसमाण' श- ब्दार्थे, भ० १९ श० ३ उ० ।

जतो-यतस्-अव्य० । यस्मात् कारणादित्यर्थे. पञ्चा० ६ विव० ।

जत्त-यत्न-पुं० । वेलाविधानाद्याराधनोद्यमे, पञ्चा० ३ विव० ।

जत्तातिग-यात्रात्रिक-न० । जिनयात्रात्रिके, ध० २ अधि० । "अष्टाह्निकाऽभिधामेकां, रथयात्रामथापराम् । तृतीयां तीर्थ- यात्रां चे-त्याहुर्यात्रां त्रिधा बुधाः ॥ १ ॥" ध० २ अधि० ।

जत्ता-यात्रा-स्त्री० । या-ष्ट्रन् । वाच० । यानं यात्रा । तपोनियम- संयोगादिषु प्रवृत्तौ, भ० १८ श० १० उ० । आव० । यात्रा द्विधा- द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्यतस्तापसादीनां स्वक्रियोत्सर्पमाना, भावतः साधूनामिति । आव० ३ अ० ।

किं ते भंते ! जत्ता ? । सोमिला ! जं मे तवणियमसंजमसज्झा- यज्झाणआवस्सयमादिएसु जोगेसु जयणा, से त्तं जत्ता । (जयण त्ति) प्रवृत्तिः । भ० १८ श० १० उ० ।

अत्र प्रासङ्गिके शङ्कासमाधाने यथा-

"नो यात्रा प्रतिमानतिर्व्रतभृतां साक्षादनादेशनात्,
तत्प्रश्नोत्तरवाक्य इत्यपि वचो मोहज्वरावेशजम् ।
मुख्यार्थैः प्रथिता यतो व्यवहृतिः शेषान् गुणान् लक्षयेत्,
सामस्त्येन हि यावताऽस्ति यतना यात्रा स्मृता तावता ॥४७॥"

प्रति० । एतद्व्याख्यानं 'चेइय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १२२० पृष्ठे द्रष्टव्यम्) क्षायिकमिश्रोपशमिकलक्षणे भावे, आव० ३ अ० । देवोद्देशेनोत्सवभेदे रथयात्रादौ, वाच० । महोत्सव एव यात्रा, न तु देशान्तरगमनम् । ध० २ अधि० । पञ्चा० । सा च यात्रा त्रिविधा—अष्टाह्निका, रथयात्रा, तीर्थयात्रा च । ध० २ अधि० । (तत्राष्टाह्निकास्वरूपं रथया- त्रास्वरूपं च 'अणुजाण' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे दर्शि- तम) स च सविस्तरं सर्वचैत्यपरिपाटीकरणादिमहोत्सवोऽ- ष्टाह्निकायात्रा, इयं चैत्ययात्राऽप्युच्यते । ध० २ अधि० । (तीर्थ- यात्रास्वरूप च 'तित्थजत्ता' शब्दे द्रष्टव्यम्) देशान्तरगमने, स्था० ४ ठा० १ उ० । ज्ञा० । औ० । विजिगीषया राज्ञां गमने, गमनमात्रे, यापने, उपाये च । वाच० ।

जत्ताभयग-यात्राभृतक-पुं० । यात्रा देशान्तरगमनं, तस्यां स- हाय इति भ्रियते यः स यात्राभृतकः । देशाटनसमयोपयोगि- न्यनुचरे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

जत्ता ति होति गमणं, उभयं वा एत्तिय धणेण । पं० भा० ।

"जत्ताभयगो नाम तुमे अम्हं इमा जत्ता कायव्वा" । स्वयं यात्रां गन्तुमशक्नुवता यात्रासिद्धौ वेतनेन व्यापारितेऽनुचरे च । प० चू० ।

जत्ताभिमुह-यात्राऽभिमुख-त्रि० । गमनाभिमुखे, औ० ।

जत्ताविहाण-यात्राविधान-न० । जिनोत्सवविधौ, तत्प्रतिपादके यात्राविधिप्रकरणाख्ये हारिभद्रे नवमे पञ्चाशके च । पञ्चा० ९ विव० । (तद्वक्तव्यता 'अणुजाण' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे विलोक्या)

जत्तासिद्ध-यात्रासिद्ध-पुं० । कृतसमुद्रयात्रे, यो द्वादशवारं समुद्रमवगाह्य कृतकार्यः क्रमेणाऽऽयाति स यात्रासिद्धः । अन्येऽपि पोतेन गन्तुकामा यात्रासिद्धाः प्रेक्ष्यन्ते ।

यात्रासिद्धकथा चेयम्-

"वेलाकूलेऽभवत् कोऽपि, वणिक् तुण्डिकनामकः ।
तस्याब्धौ शतशो भग्नं, बोहित्थं स तु नाभनक् ॥ १ ॥
जले नष्टं जले एव, लभ्यते प्रोक्तवानिति ।
नाग्रहीद्समव्यन्यैः, जगाम पुनरम्बुधौ ॥ २ ॥
स्वयं समुद्रस्तुष्टोऽथ, तस्य प्राज्यं धनं ददौ ।
भणितश्चान्यदपि ते, किं ददामीति सोऽवदत् ॥ ३ ॥
मम नाम गृहीत्वा यः, समुद्रमवगाहते ।
सोऽविपन्नः समभ्येतु, समुद्रस्तत्प्रपन्नवान् ॥४॥" आ० क० । रा० ।

जत्ति जगारपविभत्ति-ज इति जकारप्रविभक्ति-न० । द्वा- त्रिंशद्विधनाट्यभेदे, रा० ।

जत्तिय-यावत्-त्रि० । यत्परिमाणे, वाच० । "जत्तियं गहियं तत्तियं ठियं ।" आ० म० प्र० ।

जत्तो-यतस्-अव्य०।"त्तो दो तसो वा" ।८।२।१६०। इति प्राकृतसूत्रेण तसः 'त्तो' इत्यादेशः। प्रा० २ पाद। यस्मात्कारणादित्यर्थे, पञ्चा० १० विव०।

जत्थकामावसाइत्त-यत्रकामावसायित्व-न०। स्वाभिलाषितस्य समाप्तिपर्यन्तनयने योगसिद्धिभेदे, द्वा० २६ द्वा०।

जत्थ जत्थ-यत्र यत्र-अव्य०। यद्-त्रल्। यस्मिन् यस्मिन्नित्यर्थे, वाच०। "उवहाणं जत्थ जत्थ जं सुत्तं, एसा सुत्तवीप्सा, जत्थ उद्देसगे, जत्थ अज्झयणे, जत्थ सुयक्खंधे, जत्थ अंगे कालुकालियअंगाणंगेसु णेया।" नि० चू० १ उ०।

जदि-यदि-अव्य०। अभ्युपगमे, नि० चू० २ उ०।

जदिच्छा-यदृच्छा-स्त्री०। अभिसंधिराहित्ये, बृ० ३ उ०।

जदुणंदण-यदुनन्दन-पुं०। श्रीकृष्णे, स्था० ८ ठा०।

जप-जप-धा०। उच्चारणे, वाचि च। भ्वा०-पर०-सक०-सेट्। अभि-आभिमुख्येन जपे, सम्यक् कथने च। उप-भेदे, न०। वाच०। भावे अप्। पुं०। मन्त्राभ्यासे, अनु०। तत्प्रकारो यथा-

"मनः संहृत्य विषया-न्मन्त्रार्थगतमानसः।
न द्रुतं न विलम्बं च, जपेन्मौक्तिकपङ्क्तिवत्॥
जपः स्यादक्षरावृत्ति-र्मानसोपांशुवाचिकैः।
धिया यदक्षरश्रेणीं, वर्णस्वरपदात्मिकाम्॥
उच्चरेदर्थमुद्दिश्य, मानसः स जपः स्मृतः।
जिह्वोष्ठौ चालयेत् किञ्चित्, देवतागतमानसः॥
किञ्चिच्छ्रवणयोग्यः स्या-दुपांशुः स जपः स्मृतः।
मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा, वाचिकः स जपः स्मृतः॥
उच्चैर्जपाद्विशिष्टः स्या-दुपांशुर्दशभिर्गुणैः।
जिह्वाजपः शतगुणः, सहस्रो मानसः स्मृतः॥
जिह्वाजपः स विज्ञेयः, केवलं जिह्वया बुधैः"। वाच०।

जप्प-जल्प-पुं०। छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भपरे भाषणे, स्था० ६ ठा०। नि० चू०। स०।

जप्पभिइ-यतः प्रभृति-अव्य०। यस्मात्कालादारभ्येत्यर्थे, "जप्पभिइं च णं अम्हं एस दारए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते तप्पभिइं च णं अम्हे हिरण्णेणं० जाव पीइसक्कारेणं अईव अईव वड्ढामो"। कल्प० ४ क्षण।

जम-यम-धा०। उपरतौ, भ्वा०-पर०-सक०-अनिट्। उदित्त्वात् क्त्वा वेट्। आ-दीर्घीकरणे, उप-विवाहे, 'यम' परिवेषणे, चुरा०-उभ०-सक०-सेट्-वा-घटा०। वाच०। यम-धा०-घञ्। प्राणातिपातविरत्यादिरूपेषु पञ्चसु महाव्रतेषु, पुं०। उत्त० २५ अ०। "दो यमा" स्था० २ ठा० ३ उ०। द्वा०। ध० ४०। तत्र महाव्रतपदेनैते जिनैरभिधीयन्ते, व्रतपदेन भागवतैः, धर्मपदेन पाशुपतैः, सांख्यैर्व्यासमतानुसारिभिश्च यमपदेनाभिधीयन्ते, कुशलधर्मपदेन च बौद्धैरभिधीयन्ते, वैदिकादिभिश्च ब्रह्मादिपदेनाभिधीयन्ते। द्वा० ८ द्वा०। हा०।

तत्स्वरूपं त्वेवम्—

अहिंसासूनृताऽस्तेय-ब्रह्माकिञ्चनता यमाः।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाः, सार्वभौमा महाव्रतम्॥ २॥

प्राणवियोगप्रयोजनो व्यापारो हिंसा, तदभावोऽहिंसा। वाङ्मनसोर्यथार्थत्वं सूनृतम्। परस्वापहरणं स्तेयं, तदभावोऽस्तेयम्। उपस्थसंयमो ब्रह्म। भोगसाधनानामस्वीकारोऽकिञ्चनता, एते यमाः। तदुक्तम्—"अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः" इति। दिग्देशस्तीर्थादिः, कालश्चतुर्दश्यादिः, आदिना ब्राह्मण्यादिरूपाया जातेर्ब्राह्मणादिप्रयोजनरूपस्य समयस्य च ग्रहः। ततो दिक्कालादिना अनवच्छिन्नाः "तीर्थे कञ्चन न हनिष्यामि" "चतुर्दश्यां न हनिष्यामि" "ब्राह्मणान् न हनिष्यामि" "देवब्राह्मणाद्यर्थव्यतिरेकेण न कमपि हनिष्यामि" इत्येवंविधावच्छेदव्यतिरेकेण सर्वविषया अहिंसादयो यमाः, सार्वभौमाः सर्वासु क्षिप्ताद्यासु चित्तभूमिषु संभवन्तो महाव्रतमित्युच्यन्ते। तदुक्तम्-"एते तु जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्"॥ २॥ द्वा० २१ द्वा०।

इच्छायमादिचतुर्भेदेषु, तथाहि-

यमाश्चतुर्विधा इच्छा-प्रवृत्तिस्थैर्यसिद्धयः। (२५)

(यमा इति) यमाश्चतुर्विधाः-इच्छायमाः प्रवृत्तियमाः, स्थिरयमाः, सिद्धियमाश्च। (२५) द्वा० १९ द्वा०।

इच्छायमो यमेष्विच्छा, युता तद्वत्कथामुदा।
स प्रवृत्तियमो यत्तत्, पालनं शमसंयुतम्॥ २६॥

तद्वतां यमवतां कथातो या मुत्प्रीतिः, तया युता सहिता यमेष्विच्छा इच्छायम उच्यते। यत्तेषां यमानां पालनं शमसंयुतमुपशमान्वितं स प्रवृत्तियमः। तत्पालनं चात्राविकलमभिप्रेतम्, तेन न कालादिविकलतत्पालनरूपे इच्छायमेऽतिव्याप्तिः॥ न च सोऽपि प्रवृत्तियम एव, केवलं तथाविधसाधुचेष्टया प्रधान इच्छायम एव तात्त्विकपक्षपातस्यापि द्रव्यक्रियातिशायित्वात्। तदुक्तम्-"तात्त्विकः पक्षपातश्च, भावशून्या च या क्रिया। अनयोरन्तरं ज्ञेयं, भानुखद्योतयोरिव"॥ १॥ संविग्नपाक्षिकस्य प्रवृत्तचक्रत्वानुरोधे तु प्रवृत्तियम एवायं, तस्य शास्त्रयोगानियतत्वादिति नयभेदेन भावनीयम्॥ २६॥

सत्क्षयोपशमोत्कर्षा-दतिचारादिचिन्तया।
रहिता यमसेवा तु, तृतीयो यम उच्यते॥ २७॥

सतो विशिष्टस्य क्षयोपशमस्य उत्कर्षादुद्रेकादतिचारादीनां चिन्तया रहिता, तदभावस्यैव विनिश्चयात्। यमसेवा तु तृतीयो यमः स्थिरयम उच्यते॥ २७॥

परार्थसाधिका त्वेषा, सिद्धिः शुद्धान्तरात्मनः।
अचिन्त्यशक्तियोगेन, चतुर्थो यम उच्यते॥ २८॥

(परार्थेति) परार्थसाधिका स्वसन्निधौ परस्य वैरत्यागादिकारिणी तु एषा यमसेवा सिद्धिः शुद्धः क्षीणमलतया निर्मलोऽन्तरात्मा यस्य अचिन्त्याया अनिर्वचनीयायाः शक्तेः स्ववीर्योल्लासरूपायाः योगेन चतुर्थो यम उच्यते॥ २८॥ द्वा० १९ द्वा०।

यमयति-अच्। वाच०। दक्षिणदिक्पालनिकायाश्रिते लोकपाले, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। भरणीनक्षत्राधिपतौ, सू० प्र० १० पाहु०। जं०। ज्यो०। स्था०। यमदग्निगुरौ तापसविशेषे, आ० म० प्र०। आ० चू०। आ० क०।

"यमाख्यस्तापसस्तत्र, स तत्पार्श्वेऽग्निकोऽगमत्।
प्रपन्नस्तस्य शिष्यत्वं, स घोरं तप्यते तपः॥
यमशिष्योऽग्निक इति, यमदग्निरिति श्रुतः।" आ० क०।
"जमो नाम से तावसो" आ० म० द्वि०। आ० चू०। संयमने, आ०

म० प्र० । मृत्यौ, मृत्युहेतुत्वात् । आव० ४ अ० । एकगर्भेऽजायमाने यमजे, त्रि० । वाच० । द्वित्वसंख्यायां च । वाच० ।

जमईय-यमतीत-न० । यमतीतेत्याद्यक्षरे, आदाननाम्नि सूत्रकृताङ्गस्य पञ्चदशेऽध्ययने, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । स० । प्रश्न० । आव० ।

जमकाइय-यमकायिक-पुं० । दक्षिणदिक्पालदेवनिकायाश्रितेष्वम्बाद्यसुरविशेषेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जमग-यमक-पुं० । शकुनिविशेषे, जी० ३ प्रति० । स्वनामख्याते पर्वतविशेषे, (जी०)

संप्रति उत्तरकुरुभावियमकपर्वतवक्तव्यतामाह-

कहि णं भंते ! उत्तरकुराए कुराए जमगा नामं दुवे पव्वता पण्णत्ता ?। गोयमा ! नीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं अट्ठ चोत्तीसं जोयणसते चत्तारि य सत्तभागे जोयणसहस्सं आवाधाए सीताए महाणईए उभओ कूले, एत्थ णं उत्तरकुराए कुराए जमगा णाम दुवे पव्वता पण्णत्ता । एगमेगेणं जोयणसहस्सं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं उव्वेहेणं मूले एकमेकं जोयणसहस्सं आयामविक्खंभेणं मज्झे अद्धट्ठमाइं जोयणसताइं आयामविक्खंभेणं उवरिं पंचजोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं एकं बावट्ठं जोयणसयं किंचिविसेसाहियं परिक्खेवेणं दो जोयणसहस्साइं तिण्णि य बावत्तरे जोयणसते किंचिविसेसूणपरिक्खेवेणं उवरिं पण्णरस एक्कासीते जोयणसते किंचिविसेसाहिया परिक्खेवेणं पण्णत्ता, मूले वित्थिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिया सव्वकणगामया अच्छा सण्हा० जाव पडिरूवा पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेतिया परिक्खित्ता, पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ता, वण्णओ, दोण्ह वि तेसि णं जमगपव्वयाणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जभूमिभागे पण्णत्ते, वण्णओ० जाव आसयंति । तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं पासायवडेंसका पण्णत्ता । ते णं पासायवडेंसका बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एकतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं अब्भुग्गतमूसितपहसिया भूमिभागओ उल्लोता, दो जोयणाइं मणिपेढियाओ उवरिं सीहासणा सपरिवारा० जाव जमगा चिट्ठंति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चंति-जमगा पव्वया, जमगा पव्वया ?। गोयमा ! जमगेसु णं पव्वतेसु तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहूओ खुड्डियाओ वावीओ० जाव बिलपंतियाओ तासु णं खुड्डा खुड्डियासु० जाव बिलपंतियासु बहूइं उप्पलाइं० जाव सतसहस्सपत्ताइं जमगप्पभाइं जमगवण्णाइं जमगा, एत्थ णं दो देवा महिड्ढिया० जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति । ते णं तत्थ पत्तेयं पत्तेयं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं० जाव जमगाणं पव्वयाणं जमिगाण य रायहाणीणं अण्णेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं० जाव पालेमाणा विहरंति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-जमगपव्वया जमगपव्वया, अदुत्तरं च णं गोयमा !० जाव णिच्चा । कहि णं भंते ! जमगाणं देवाणं जमगाओ णाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! जमगाणं पव्वयाणं उत्तरेणं तिरियमसंखेज्जदीवसमुद्दे वीतीवतित्ता अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे बारस जोयणसयसहस्साइं ओगाहित्ता, एत्थ णं जमगाणं देवाणं जमिगाओ णाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ बारसजोयणसहस्साइं जहा विजयस्स० जाव महिड्ढिया जमगा देवा ॥

"कहि णं भंते !" इत्यादि । क्व भदन्त ! उत्तरकुरुषु कुरुषु यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ ?। भगवानाह-गौतम ! नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तात् चरमरूपात् पर्यन्तादष्टौ योजनशतानि चतुस्त्रिंशानि चतुस्त्रिंशदधिकानि चतुरश्च योजनस्य सप्त भागान् अबाधया कृत्वा अपान्तराले मुक्त्वेति भावः । अत्रान्तरे शीताया महानद्याः पूर्वपश्चिमयोर्दिशोरुभयोः कूलयोः, अत्र एतस्मिन् प्रदेशे यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ । तद्यथा-एकः पूर्वकूले, एकः पश्चिमकूले, प्रत्येकं योजनसहस्रमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि उद्वेधेन, अवगाहेन मेरुव्यतिरेकेण शेषशाश्वतपर्वतानां सर्वेषामपि विशेषणोच्चैस्त्वापेक्षया चतुर्भागस्यावगाहभावात्, मूले एकं योजनसहस्रं विष्कम्भः १०००, मध्ये अर्द्धाष्टमानि योजनशतानि ७५०, उपरि पञ्चयोजनशतानि ५००, मूले त्रीणि योजनशतानि एकं च द्वाषष्टं द्वाषष्ट्यधिकं योजनशतं किञ्चिद् विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ ३१६२, मध्ये द्वे योजनसहस्रे त्रीणि योजनशतानि द्वासप्ततानि द्वासप्तत्यधिकानि २३७२, किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ, उपरि एकं योजनसहस्रं पञ्च शतानि एकाशीतानि एकाशीत्यधिकानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि १५८१ परिक्षेपेण, एवं च तौ मूले विस्तीर्णौ मध्ये संक्षिप्तौ उपरि तनुकावत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थितौ (सव्वकणगामया इति) सर्वात्मना कनकमयौ "अच्छा० जाव पडिरूवा" इति प्राग्वत् । तौ च प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्तौ, प्रत्येकं प्रत्येकं वनखण्डपरिक्षिप्तौ, पद्मवरवेदिकावर्णको, वनखण्डवर्णकश्च जगत्युपरि पद्मवरवेदिकावनखण्डवर्णकवत् वक्तव्यः । "जमगपव्वयाणं" इत्यादि । यमकपर्वतयोरुपरि प्रत्येकं बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः । भूमिभागवर्णनं च-"से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा" इत्यादि प्राग्वत् तावद्वक्तव्यं यावत् "वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति० जाव पच्चणुभवमाणा विहरंति ।" "तेसि णं" इत्यादि । तयोर्बहुसमरमणीययोर्भूमिभागयोर्बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं २ प्रासादावतंसकौ प्रज्ञप्तौ । तौ च प्रासादावतंसकौ द्वाषष्टियोजनानि अर्द्धयोजनं चोर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, एकत्रिंशद्योजनानि क्रोशं चैकं विष्कम्भेन, "अब्भुग्गयमूसियपहसियाइ वा" इत्यादि यावत् "पडिरूवा" इति प्रासादावतंसकवर्णनम्, उल्लोकवर्णनम्, भूमिभागवर्णनम्, मणिपीठिकावर्णनम्, सिंहासनवर्ण-

नम्,विजयवृक्षवर्णनम्,अङ्कुशवर्णनम्,दामवर्णनं च निरवशेषं प्राग्वद्वक्तव्यम् । नवरमत्र मणिपीठिकायाः प्रमाणमायामविष्कम्भाभ्यां द्वे योजने, बाहल्येन एकं योजनम् , शेषं तथैव । " तेसि णं सीहासणाणं " इत्यादि । तयोः सिंहासनयोः प्रत्येकम् " अवरुत्तरेणं " अपरोत्तरस्यां , वायव्यामित्यर्थः । उत्तरपूर्वस्यां च दिशि, अत्र एतासु तिसृषु दिक्षु यमकयोर्यमकनाम्नोर्यमकपर्वतस्वामिनोर्देवयोः प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्णां सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । एवमेतेन क्रमेण सिंहासनपरिवारो वक्तव्यः , यथा प्राग् विजयदेवस्य । " तेसि णं " इत्यादि । तयोः प्रासादावतंसकयोः प्रत्येकमुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि प्रज्ञप्तानि,इत्याद्यपि प्राग्वत् तावद्वक्तव्यं यावत् " सयसहस्सपत्तगा " इति पदम् । संप्रति नामनिबन्धनं विपृच्छिषुरिदमाह-" से केणट्ठेणं " इत्यादि । अथ केनार्थेन केन कारणेन एवमुच्यते-यमकपर्वतौ,यमकपर्वताविति ?। भगवानाह-गौतम ! यमकपर्वतयोः, णमिति वाक्यालङ्कारे, क्षुल्लिकासु वापीषु पुष्करिणीषु यावद्विलपङ्क्तिषु, बहूनि उत्पलानि यावत्सहस्रपत्राणि यमकप्रभाणि, यमका नाम शकुनिविशेषाः,तत्प्रभाणि तदाकाराणि । एतदेव व्याचष्टे-यमकवर्णाभानि, यमकसदृशवर्णानीत्यर्थः । यमकौ च यमकनामानौ च, तत्र तयोर्यमकपर्वतयोः स्वामित्वेन द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावद् महाभागौ पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः । तौ च तत्र प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणामभ्यन्तरमध्यबाह्यरूपाणां यथासंख्यमष्टादशद्वादशदेवसहस्रसंख्याकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणाम् "जमगाणं पव्वयाणं जमिगाए य रायहाणीए " इति । स्वस्य स्वस्य यमकपर्वतस्य स्वस्याः यमिकाऽभिधायाः राजधान्याः, अन्येषां च बहूनां वाणमन्तराणां देवानां देवीनां च स्वस्वयमिकाऽभिधराजधानीवास्तव्यानामाधिपत्यं यावद्विहरतः । यावत्करणात्-"पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं " इत्यादिपरिग्रहः । ततो यमकाकारयमकवर्णोत्पलादियोगात् यमकाभिधदेवस्वामिकत्वाच्च तौ यमकपर्वतावित्युच्येते । यथा चाह-" से तेणट्ठेणं " इत्यादि । संप्रति यमिकाभिधराजधानीस्थानम्-" कहि णं भंते ! " इत्यादि । क भदन्त ! यमकयोर्देवयोः संबन्धिन्यौ यमिके नाम राजधान्यौ प्रज्ञप्ते ?। भगवानाह-गौतम ! यमकपर्वतयोरुत्तरतोऽन्यस्मिन् असंख्येयतमे जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य, अत्रान्तरे यमकदेवयोः संबन्धिन्यौ यमिकराजधान्यौ प्रज्ञप्ते , ते चाविशेषेण विजयराजधानीसदृश्यौ वक्तव्ये । जी० ३ प्रति० । शब्दालङ्कारभेदे, वाच० ।

पुनर्यमकपर्वतप्ररूपणा—

कहि णं भंते ! उत्तरकुराए जमगा णामं दुवे पव्वया पण्णत्ता ?। गोयमा ! णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दक्खिणिल्लाओ चरिमंताओ अट्ठ चउत्तीसे जोअणसए चत्तारि अ सत्तभाए जोअणस्स अबाहाए सीआए महाणईए उभओ कूले,एत्थ णं जमगा णामं दुवे पव्वया पण्णत्ता , जोअणसहस्सं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोअणसयाइं उव्वेहेणं मूले एगं जोअणसहस्सं आयामविक्खंभेणं मज्झे अद्धट्ठमाणि जोअणसयाइं आयामविक्खंभेणं उवरिं पंच जोअणसयाइं आयामविक्खंभेणं मूले तिण्णि जोअणसहस्साइं एगं च बावट्ठं जोअणसयं किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं मज्झे दो जोअणसहस्साइं तिण्णि य बावत्तरे जोअणसए किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं उवरि एगं जोअणसहस्सं पंच य एकासीए जोअणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं मूले वित्थिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुआए जमगसंठाणसंठिआ सव्वकणगामया अच्छा सण्हा पत्तेअं पत्तेअं पउमवरवेइआ परिक्खित्ता पत्तेअं पत्तेअं वणसंडा परिक्खित्ता,ताओ णं पउमवरवेइआओ दो गाउआइं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धणुसयाइं विक्खंभेणं वेइआवणसंडवण्णओ भाणिअव्वो । तेसि णं जमगपव्वयाणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते०जाव तेसि णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं दुवे पासायवडेंसगा पण्णत्ता । ते णं पासायवडेंसगा बावट्ठिं जोअणाइं अद्धजोअणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एकतीसं जोअणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं पासायवण्णओ भाणिअव्वो, सीहासणा सपरिवारा० जाव एत्थ णं जमगाणं देवाणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं सोलस भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जमगा य पव्वया, जमगा य पव्वया ?। गोअमा ! जमगपव्वएसु णं तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे खुड्डा खुड्डियासु वावीसु० जाव बिलपंतियासु बहवे उप्पलाइं० जाव जमगप्पभाइं जमगवण्णाभाइं जमगा य,एत्थ दुवे देवा महिड्ढिया, ते णं तत्थ चउण्हं सामाणिअसाहस्सीणं० जाव भुंजमाणा विहरंति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-जमगपव्वया जमगपव्वया,अदुत्तरं च णं सासए णामधिज्जे०जाव जमगपव्वया जमगपव्वया । कहि णं भंते ! जमगाणं देवाणं जमगाओ रायहाणीओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे बारस जोअणसहस्साइं ओगाहित्ता,एत्थ णं जमगाणं देवाणं जमिगाओ रायहाणीओ पण्णत्ताओ, बारस जोअणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं सत्ततीसं जोअणसहस्साइं णव य अडयाले जोअणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पत्तेअं पत्तेअं पायारपरिक्खित्ता,ते णं पागारा सत्ततीसं जोअणाइं अद्धजोअणं च उड्ढं उच्चत्तेणं मूले अद्धतेरसजोअणाइं विक्खंभेणं मज्झे छ सकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं उवरिं तिण्णि सअद्धकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं मूले वित्थिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुआ बाहिं वट्टा अंतो चउरंसा सव्वरयणामया अच्छा,ते णं पागारा

णाणामणिपंचवएणेहिं कविसीसएहिं उवसोहिआ । तं जहा-किएहेहिं० जाव सुक्किल्लेहिं, ते णं कविसीसगा अद्धकोसं आयामेणं देसूणं अद्धकोसं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धणुसयाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमया अच्छा, जमिगाणं रायहाणीणं एगमेगाए बाहाए पणवीसं पणवीसं दारसए पएणत्ते । ते णं दारा वावट्ठिं जोअणाइं अद्धजोअणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एकतीसं जोअणाइं कोसं च विक्खंभेणं तावइअं चेव पवेसेणं सेआ वरकणगथूभिए, एवं रायप्पसेणइज्जविमाणवत्तव्वयाए दारवएणओ० जाव अट्ठट्ठमंगलगाइं ति, जमियाणं रायहाणीणं चउद्दिसिं पंच पंच जोअणसए आबाहाए चत्तारि वणसंडा पएणत्ता । तं जहा-असोगवणे, सत्तिवएणवणे, चंपगवणे, चूअवणे । ते णं वणसंडा साइरेगाइं बारस जोअणसहस्साइं आयामेणं पंच जोअणसया विक्खंभेणं पत्तेअं २ पागारपरिक्खित्ता किएहा वणसंडवएणओ भूमिओ पासायवडेंसगा य भाणिअव्वा, जमिगाणं रायहाणी अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पएणत्ते, वएणओ त्ति । तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं दुवे उववारिया लेणा पएणत्ता । बारस जोअणसयाइं आयामविक्खंभेणं तिएिण जोअणसहस्साइं सत्त य पंचाणउए जोअणसए परिक्खेवेणं अद्धकोसं च बाहल्लेणं सव्वजंबूणयामया अच्छा पत्तेअं पत्तेअं पउमवरवेइआ परिक्खित्ता, पत्तेअं २ वणसंडवएणओ भाणिअव्वो, तिसोवाणपडिरूवगा तोरणा चउद्दिसिं भूमिभागो अ भाणिअव्वो । तस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे पासायवडेंसए पएणत्ते, बावट्ठिं जोअणाइं अद्धजोअणं च उड्ढं उच्चत्तेणं इक्कतीसं जोअणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं वएणओ, उल्लोआ भूमिभागा सीहासणा सपरिवारा, एवं पासायपंतीओ वि । तत्थ पढमा पंती-ते णं पासायवडेंसगा एकतीसं जोअणाइं कोसं च उड्ढं उच्चत्तेणं साइरेगाइं अद्धसोलस जोअणाइं आयामविक्खंभेणं । बिइअपासायपंती-ते णं पासायवडेंसया साइरेगाइं अद्धसोलसजोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं साइरेगाइं अद्धट्ठमाइं जोअणाइं आयामविक्खंभेणं । तइअपासायपंती-ते णं पासायवडेंसया साइरेगाइं अद्धट्ठमाइं जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, साइरेगाइं अद्धट्ठजोअणाइं आयामविक्खंभेणं, वएणओ-सीहासणा सपरिवारा । तेसि णं मूलपासायवडिंसयाणं उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए, एत्थ णं जमगाणं देवाणं सभाओ सुहम्माओ पएणत्ताओ, अद्धतेरस जोअणाइं आयामेणं छस्सकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं णव जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसंणिविट्ठा सभावएणओ । तासि णं सभाणं सुहम्माणं तिदिसिं तओ दारा पएणत्ता । ते णं दारा दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जोअणं विक्खंभेणं तावइअं चेव पवेसेणं सेआ वएणओ० जाव वणमाला । तेसि णं दाराणं पुरओ पत्तेअं पत्तेअं तओ मुहमंडवा पएणत्ता, ते णं मुहमंडवा अद्धतेरस जोअणाइं आयामेणं छस्सकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं० जाव दारा भूमिभागा य, पेच्छाघरमंडवाणं तं चेव पमाणं भूमिभागो मणिपेढियाओ, ताओ णं मणिपेढियाओ जोअणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ सीहासणा भाणिअव्वा । तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं पुरओ मणिपेढिआओ पएणत्ता । ताओ णं मणिपेढिआओ दो जोअणाइं आयामविक्खंभेणं जोअणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ । तासि णं उप्पिं पत्तेअं पत्तेअं तओ थूभा, ते णं थूभा दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दो जोअणाइं आयामविक्खंभेणं सेआ य संखदल० जाव अट्ठट्ठमंगलया । तेसि णं थूभाणं चउद्दिसिं चत्तारि मणिपेढियाओ पएणत्ताओ । ताओ णं मणिपेढिआओ जोअणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं जिणपडिमाओ वत्तव्वाओ । चेइअरुक्खाणं मणिपेढिआओ दो जोअणाइं आयामविक्खंभेणं जोअणं बाहल्लेणं चेइअरुक्खवएणओ, तेसि णं चेइअरुक्खाणं पुरओ तओ मणिपेढिआओ पएणत्ताओ । ताओ णं मणिपेढिआओ जोअणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं, तासि णं उप्पिं पत्तेअं पत्तेअं महिंदज्झया पएणत्ता, ते णं अद्ध महिंदज्झया अद्धट्ठमाइं जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं अद्धकोसं बाहल्लेणं वइरामयवट्टवएणओ, वेइआ वणसंडा तिसोवाणतोरणा य भाणिअव्वा, तासि णं सभाणं सुहम्माणं छ मणोगुलिआसाहस्सीओ पएणत्ताओ । तं जहा-पुरच्छिमेणं दो साहस्सीओ पएणत्ताओ, पच्चच्छिमेणं दो साहस्सीओ, दक्खिणेणं एगा साहस्सी, उत्तरेणं एगा० जाव दामा चिट्ठंति । एवं गोमाणसिआओ णवरं, धूवघडिआओ, तासि णं सुहम्माणं सभाणं अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पएणत्ते । मणिपेढिआ दो जोअणाइं आयामविक्खंभेणं, जोअणं बाहल्लेणं, तासि णं मणिपेढिआणं उप्पिं माणवए चेइअखंभे महिंदज्झयप्पमाणे उवरिं छक्कोसे उग्गाहित्ता हिट्ठा छक्कोसे वज्जित्ता जिणसकहाओ पएणत्ताओ । माणवगस्स पुव्वेणं सीहासणा सपरिवारा, पच्चच्छिमेणं सयणिज्जवएणओ, सयणिज्जाणं उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए खुड्डगमहिंदज्झया मणिपेढिआविहूणा महिंदज्झयप्पमाणा, तेसिं अवरेणं चोप्फाला

पहरणकोसा, तत्थ णं बहवे फलिहरयणपामुक्खा० जाव चिट्ठंति । सुहम्माणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा, तासि णं उत्तरपुरच्छिमेणं, णवरं इमं णाणत्तं, एतेसि णं बहुमज्झदेसभाए पत्तेअं पत्तेअं मणिपेढिआओ दो जोअणाइं आयामविक्खंभेणं जोअणं बाहल्लेणं, तासिं उप्पिं पत्तेअं पत्तेअं देवच्छंदया पण्णत्ता । दो जोअणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामया जिणपडिमावण्णओ० जाव धूवकडुच्छुगा, एवं अवसेसाण वि सभाणं० जाव उववायसभाए सयणिज्जं दहओ अ अभिसेअसभाए बहुआभिसिक्के भंडे अलंकारिअसभासु बहुअलंकारिअभंडे चिट्ठइ ववसायसभासु पुत्थयरयणा णंदापुक्खरिणीओ बलिपेढा दो जोअणाइं आयामविक्खंभेणं जोअणं बाहल्लेणं० जाव त्ति ।

"उववाओ संकप्पो, अभिसेअ विहूसणा य ववसाओ ।
अच्चणिअ सुधम्मगमो, जहा य परिचारणा इड्ढी ॥ १ ॥
जावइयम्मि पमाणे, वि हुंति जमगाओ णीलवंताओ ।
तावइअमंतरं खलु, जमगदहाणं दहाणं च ॥ २ ॥"

"कहि णं" इत्यादि । क भदन्त ! उत्तरकुरुषु यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ ? । गौतम ! नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तात्, इत्यत्र दाक्षिणात्यं चरमान्तम् आरभ्येति ज्ञेयं, ल्यब्लोपे पञ्चमी । दाक्षिणात्याच्चरमान्तादारभ्यार्वाक्, दक्षिणाभिमुखमित्यर्थः । अष्टौ योजनशतानि तु त्रिंशदधिकानि चतुरश्च सप्तभागान् योजनस्याबाधया, अपान्तराले कृत्वेति शेषः । शीताया महानद्या उभयोः कूलयोः, एकः पूर्वकूले, एकः पश्चिमकूले इत्यर्थः । अत्रान्तरे यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ, एकं योजनसहस्रमूर्ध्वोच्चत्वेन, अर्द्धतृतीयानि योजनशतान्युद्वेधेन, उच्छ्रयचतुर्थांशस्य भूम्यवगाहात्, मूले योजनसहस्रमायामविष्कम्भाभ्यां वृत्ताकारत्वात्, मध्ये भूतलतः पञ्चयोजनशतातिक्रमेऽर्द्धाष्टमानि योजनशतानि आयामविष्कम्भाभ्याम्, उपरि सहस्रयोजनातिक्रमे पञ्चयोजनशतान्यायामविष्कम्भाभ्यां, मूले त्रीणि योजनसहस्राणि, एकं च योजनशतं द्वाषष्ट्यधिकं किञ्चिद्विशेषाधिकं, किं कियत्कलामित्यर्थः । परिक्षेपेण, एवं मध्यपरिधिरुपरितनपरिधिश्च स्वयमभ्यूह्यो, मूले विस्तीर्णौ मध्ये संक्षिप्तावुपरि तनुकौ यमकौ यमलजातौ भ्रातरौ तयोर्यत् संस्थानं तेन संस्थितौ, परस्परं सदृशसंस्थानावित्यर्थः । अथवा-यमकाद् नाम शकुनिविशेषास्त संस्थानसंस्थितौ संस्थानं चानयोर्मूलतः प्रारभ्य संक्षिप्तसंक्षिप्तप्रमाणत्वेन गोपुच्छस्येव बोध्यं, सर्वात्मना कनकमयौ, शेषं व्यक्तम्, अष्टादशशताधिकोत्पत्तिरेवम्-नीलवद्वर्षधरस्य यमकयोश्चान्तरमेकं यमकं, तयोः प्रथमह्रदस्य च द्वितीयं, प्रथमह्रदस्य द्वितीयह्रदस्य च तृतीयं, द्वितीयह्रदस्य तृतीयह्रदस्य चतुर्थं, तृतीयह्रदस्य चतुर्थह्रदस्य पञ्चमं, चतुर्थह्रदस्य पञ्चमह्रदस्य च षष्ठं, पञ्चमह्रदस्य च वक्षस्कारगिरिपर्यन्तस्य च सप्तमम् । एतानि च सप्ताप्यन्तराणि समप्रमाणानि, ततश्च कुरुविष्कम्भात् योजन ११८४२ कला २, इत्येवंरूपात् योजनसहस्रायामयोर्यमकयोः योजनसहस्रायामकं तावत्प्रमाणायामानां पञ्चानां ह्रदानां च योजनसहस्रमेकम्, उभयोर्मीलने योजनसहस्रषट्कं, शोध्यते च जातं योजन५८४२कला२, ततः सप्तभिर्भागे हृते८३४ ४, यच्चावशिष्टं कुरुसत्कं कलाद्वयं तदल्पत्वान्न विवक्षितमिति । अत्रैवानन्तरोक्तवेदिकावनखण्डप्रमाणाद्याह-"ताओ णं" इत्यादि व्यक्तम् । संप्रत्येतयोर्यदस्ति तदाह-"तेसि णं" इत्यादि । तयोर्यमकपर्वतयोरुपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः । अत्र पूर्वोक्तः सर्वो भूभागवर्णक उक्तव्यः । कियत्पर्यन्तमित्याह-यावत्तयोर्बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे द्वौ प्रासादावतंसकौ प्रज्ञप्तौ । अथ तयोरुच्चत्वाद्याह-"ते णं" इत्यादि निरवशेषं विजयदेवप्रासादसिंहासनादिव्यवस्थितिसूत्रवद्वक्तव्यं, नवरं यमकदेवाभिलापेनेति । अथानयोर्नामार्थं प्रश्नयन्नाह-"से केणं" इत्यादि प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे यमकपर्वतयोस्तत्र देशे तत्र प्रदेशे क्षुद्रक्षुद्रिकासु वापीषु बिलपङ्क्तिषु बहून्युत्पलानि । अत्र यावत्पदात् कुमुदादीनि वाच्यानि, तथा यमकप्रमाणीति परिग्रहः, तत्र यमकौ यमकपर्वतस्तत्प्रभाणि, तदाकाराणीत्यर्थः । यमकवर्णाभानि, यमकवर्णसदृशवर्णानीत्यर्थः । यदि वा-यमकाभिधानौ द्वौ देवौ महर्द्धिकौ, अत्र परिवसतः, तेन यमकाविति, शेषं प्राग्वत् । अथानयो राजधानीप्रश्नावसरः-"कहि णं" इत्यादि । क भदन्त ! यमकयोर्देवयोर्यमिकानामराजधान्यौ प्रज्ञप्ते ? । गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरेणाऽन्यस्मिन् जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे यमकयोर्देवयोर्यमिके नाम राजधान्यौ प्रज्ञप्ते, द्वादशयोजनसहस्राण्यायामविष्कम्भाभ्यां सप्तत्रिंशद्योजनसहस्राणि नव च योजनशतानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रत्येकं प्रत्येकं द्वे अपि प्राकारपरिक्षिप्ते । कीदृशौ तौ प्राकाराविति ?, तत्स्वरूपमाह-"ते णं पागारा" इत्यादि । तौ प्राकारौ सप्तत्रिंशद्योजनानि योजनार्द्धसहितानि ऊर्ध्वोच्चत्वेन मूले अर्द्धत्रयोदशं योजनं येषु तान्यर्द्धत्रयोदशानि योजनानि विष्कम्भेण मध्ये षट् सक्रोशानि योजनानि विष्कम्भेण मूलविष्कम्भतो मध्यविष्कम्भस्यार्द्धमानत्वात् , उपरि त्रीणि सार्द्धानि क्रोशानि योजनानि विष्कम्भेण, अस्याऽपि मध्यविष्कम्भतोऽर्द्धमानत्वात् । अत एव मूले विस्तीर्णावित्यादिपदत्रयं विवृतप्रायम्, बहिर्वृत्तौ कोणावनुपलक्ष्यमाणत्वात्, अन्तश्चतुरस्रः, उपलक्ष्यमाणकोणत्वात् । अथानयोः कपिशीर्षकवर्णकमाह-"ते णं पागारा णाणामणि" इत्यादि । तौ प्राकारौ नानामणीनां पद्मरागस्फटिकमरकताञ्जनादीनां पञ्च प्रकारा वर्णा येषु तानि यैः तथा तैः कपिशीर्षकैः प्राकाराग्रैरुपशोभितौ । एतदेव विवृणोति-तद्यथा-कृष्णैर्यावच्छुक्लैरिति । अथैतेषां कपिशीर्षकाणामुच्चत्वादिमानमाह-" ते णं " इत्यादि निगदसिद्धम् । अथानयोः कियन्ति द्वाराणीत्याह-" जमिगाणं " इत्यादि । यमिकयोः राजधान्योरेकैकस्यां बाहायां पार्श्वे पञ्चविंशत्यधिकं २ द्वारशतं प्रज्ञप्तम् । तानि द्वाराणि द्वाषष्टियोजनानि अर्द्धयोजनं चोर्ध्वोच्चत्वेन एकत्रिंशद्योजनानि क्रोशं च विष्कम्भेण तावदेव प्रवेशेन श्वेतानि वरकनकस्तूपिकानि ; लाघवार्थमतिदेशमाह-एवं राजप्रश्नीये यद्विमानं सूर्याभनामकं, तस्य वक्तव्यतायां यो द्वारवर्णकः, स इहापि ग्राह्यः । कियत्पर्यन्तमित्याह-यावदष्टाष्टमङ्गलकानि, अत्रातिदिष्टमपि सूत्रं न लिखितं, विजयद्वारप्रकरणे सूत्रतोऽर्थतश्च लिखितत्वात्, अतिदिष्टत्वद्योजनयत्रापि साम्यादेति । अथानयोर्बहिर्भागे वनखण्डवक्तव्यमाह-" जमियाणं " इत्यादि । यमिकयो राजधा-

न्योश्चतुर्दिशि, चतसृणां दिशां समाहारश्चतुर्दिक्, तस्मिंस्तथा, पूर्वादिदिक्ष्वित्यर्थः । पञ्च पञ्च योजनशतान्यबाधयाऽपान्तराले कृत्वेति गम्यते । चत्वारि वनखण्डानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-अशोकवनं, सप्तपर्णवनं, चम्पकवनम्, आम्रवनमिति । अथैतेषामायामाद्याह-"ते णं वणसंडा" इत्यादि । ते च वनखण्डाः सातिरेकाणि द्वादश योजनसहस्राणि आयामेन पञ्च योजनशतानि विष्कम्भेण प्रत्येकं प्रत्येकं प्राकारैः परिक्षिप्ताः, कृष्णा इति उपलक्षितो जम्बूद्वीपपद्मवरवेदिकाप्रकरणाभिहितः पूर्णो वनखण्डवर्णको, भूमयः, प्रासादावतंसकाश्च भणितव्याः। भूमयश्चैवम्-"तेसि णं वणसंडाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता । से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा० जाव णाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहिं उवसोभिआ" इति । प्रासादसूत्रमप्येवम्-"तेसि णं वणसंडाणं बहुमज्झदेसभागे पत्तेयं पत्तेयं पासायवडेंसए पण्णत्ते । ते णं पासायवडेंसया बावट्ठिं जोअणाइं अद्धजोअणं च उड्ढं उच्चत्तेणं इक्कतीसं जोअणाइं कोसं च विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसिअपहसिआइ य तहा बहुसमरमणिज्जे भूमिभाए उल्लोओ सीहासणा सपरिवारा, तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिआ० जाव पलिओवमट्ठिइआ परिवसंति । तं जहा-असोए, सत्तिवण्णे, चंपए, चूअवणे" इति । अत्राशोकवनप्रासादेऽशोकवननामा देवः, एवं त्रिष्वपि तन्नामा देवः परिवसतीत्यर्थः । अथानयोरन्तर्भागवर्णकमाह-"जमिगाणं" इत्यादि । यमिकयो राजधान्योरन्तर्मध्यभागे बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः । वर्णक इति सूत्रगतपदेन-"आलिंगपुक्खरेइ वा० जाव पंचवण्णेहिं मणीहिं उवसोभिए वणसंडविहूणो० जाव बहवे देवा य देवीओ य आसयंति० जाव विहरंति" इत्यन्तो ग्राह्यः । अत्र च उपकारिकालयनसूत्रमादर्शेष्वदृश्यमानमपि राजप्रश्नीयसूर्याभविमानवर्णके च दृश्यमानत्वात् "तिण्णि जोअणसहस्साइं सत्तया पंचाणउए जोअणसए परिक्खेवेणं" इत्यादिसूत्रस्यान्यथानुपपत्तेश्च जीवाभिगमतो लिख्यते, आदर्शेष्वदृश्यमानत्वं च लेखकवैगुण्यादेवेति । तद्यथा-"तेसि णं" इत्यादि । तेषां बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे, अत्रान्तरे द्वे उपकारिकालयने प्रज्ञप्ते, उपकरोत्युपष्टभ्नाति प्रासादावतंसकादीनीत्युपकारिका राजधानी प्रभुसत्कप्रासादावतंसकादीनां पीठिका, अन्यत्र त्वियमुपकार्योपकारिकेति प्रसिद्धा । उक्तं च-"गृहस्थानां स्मृता राज्ञामुपकार्योपकारिका।" इति । सालपनमिव गृहमिव ते च प्रतिराजधानीभवे इति द्वे उक्ते, द्वादश योजनशतानि आयामविष्कम्भाभ्यां त्रीणि योजनसहस्राणि सप्त च योजनशतानि पञ्चनवत्यधिकानि परिक्षेपेण अर्द्धक्रोशं धनुःसहस्रपरिमाणं बाहल्येन सर्वात्मना जाम्बूनदमये अच्छे प्रत्येकं २ प्रत्युपकारिकालयने पद्मवरवेदिके परिक्षिप्ते, प्रत्येकं प्रत्येकं वनखण्डवर्णको भणितव्यः । स च जगतीगतपद्मवरवेदिकास्थवनखण्डानुसारेणेति, त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि आरोहावरोहमार्गस्थानि चतुर्दिशि पूर्वादिदिक्षु ज्ञेयानि, तोरणानि चतुर्दिशि भूमिभागश्च कारिकालयनमध्यगतो भणितव्यः । तत्सूत्राणि जीवाभिगमोपाङ्गगतानि क्रमेणैवम्-"से णं वणसंडे देसूणाइं जोअणाइं चक्कवालविक्खंभेणं उवयारिआलयणसमए परिक्खेवेणं, तेसि णं उवयारिआलयणाणं चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता । वण्णओ. तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरओ पत्तेअं पत्तेअं तोरणा पण्णत्ता । वण्णओ, तेसि णं उवयारियालयणाणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते० जाव मणीहिं उवसोभिए" इति । अत्र व्याख्या सुगमा । अथ यमकदेवयोर्मूलप्रासादस्वरूपमाह-"तस्स णं" इत्यादि । तस्योपकारिकालयनस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्रान्तरे एकः प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः । द्वाषष्टियोजनान्यर्द्धयोजनं चोर्द्ध्वोच्चत्वेन, एकत्रिंशद्योजनानि क्रोशं चायामविष्कम्भाभ्यां वर्णको विजयप्रासादस्येव वाच्यः । उल्लोचाद्युपरि भागे भूमिभागावधोभागौ सिंहासने सपरिवारौ सामानिकादिपरिवारभद्रासनव्यवस्थासहिते, यच्चात्र उपकारिकालयनस्य प्रासादावतंसकस्य चैकवचनेन विवक्षा तावद् द्विवचनेन विवक्षा, तत्सूत्रकाराणां विचित्रप्रवृत्तिकत्वादिति । अथास्य परिवारप्रासादप्ररूपणमाह-"एवं पासायपंतीओ वि" इत्यादि । एवं मूलप्रासादावतंसकानुसारेण परिवारप्रासादपङ्क्तयो ज्ञातव्याः जीवाभिगमतः, पङ्क्तयश्चात्र मूलप्रासादस्य चतुर्दिक्षु पद्मानामिव परिक्षेपरूपा अवगन्तव्याः, न पुनः सूचिश्रेणिरूपाः । तत्र प्रथमप्रासादपङ्क्तिपाठ एवम्-"से णं पासायवडेंसए अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तपमाणमेत्तेहिं पासायवडेंसएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते" स प्रासादावतंसकोऽन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैः, अत्रोच्चत्वशब्देनोत्सेधो गृह्यते, प्रमाणशब्देन च विष्कम्भायामः, तेन मूलप्रासादापेक्षया अर्द्धोच्चत्वविष्कम्भायामैरित्यर्थः। सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तः । एषामुच्चत्वादिकं तु साक्षात् सूत्रकृदेवाह-एकत्रिंशद्योजनानि क्रोशं चोच्चत्वेन, सार्द्धद्वाषष्टियोजनानामर्द्धे एतावत एव लाभात् । सातिरेकाण्यर्द्धक्रोशाधिकानि, अर्द्धषोडशानि सार्द्धपञ्चदशयोजनानि विष्कम्भायामाभ्यामिति । अथ द्वितीयप्रासादपङ्क्तिः। तत्पाठश्चैवम्-"ते णं पासायवडेंसया अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडेंसएहिं सएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता" इति । ते प्रथमपङ्क्तिगताश्चत्वारः प्रासादाः प्रत्येकमन्यैश्चतुर्भिस्तदर्द्धोच्चत्वविष्कम्भायामैर्मूलप्रासादापेक्षया चतुर्भागप्रमाणैः प्रासादैः परिक्षिप्ताः, अत एवैते षोडश प्रासादाः सर्वसङ्ख्यया स्युः। एषामुच्चत्वादिकं तु साक्षादेव सूत्रकृदाह-ते प्रासादाः सातिरेकाणि अर्द्धक्रोशाधिकानि सार्द्धपञ्चदशयोजनान्युच्चत्वेन सातिरेकाणि क्रोशक्रोशचतुर्थांशाधिकानि, अर्द्धाष्टमयोजनान्यायामविष्कम्भाभ्यामिति । अथ तृतीया पङ्क्तिः । तत्सूत्रमेवम्-"ते णं पासायवडेंसया अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडेंसएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता" ते द्वितीयपरिधिस्थाः षोडश प्रासादाः प्रत्येकमन्यैश्चतुर्भिस्तदर्द्धोच्चत्वविष्कम्भायामैर्मूलप्रासादापेक्षयाऽष्टांशप्रमाणोच्चत्वविष्कम्भायामैः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ताः । अत एवैते तृतीयपङ्क्तिगताश्चतुष्षष्टिप्रासादाः । एतेषामुच्चत्वादिप्रमाणं सूत्रकृदाह-ते चतुःषष्टिरपि प्रासादाः सातिरेकाण्यर्द्धाष्टमयोजनान्युच्चत्वेन, सातिरेकत्वं च प्राग्वत् । अर्द्धाष्टानि अर्द्धतृतीयानि सातिरेकाणि सार्द्धक्रोशाष्टांशाधिकानि विष्कम्भायामाभ्याम् । एषां सर्वेषां वर्णकः-सिंहासनानि च सपरिवाराणि प्राग्वत् । अत्र च पङ्क्तिप्रासादेषु सिंहासनं प्रत्येकमेकं, मूलप्रासादे तु मूलसिंहासनपरिवारोपेतमित्यादिना क्षेत्रसमासवृत्तौ श्रीमलयगिरिपादाः। तथा प्रथमतृतीयपङ्क्त्या मूलप्रासादे सपरिवारे भद्रासनानि, द्वितीयपङ्क्तौ च परिवारे पद्मासनानि जीवाभिगमोपाङ्ग इत्यादि विसंवादसमाधानं बहुश्रुतगम्यम् । यद्यपि जीवाभिगमे विजयदेवप्रकरणं, तथा श्रीभगवत्यङ्गवृत्तौ चरमप्रकरणे, प्रासादपङ्क्तिचतुष्कं, तथाऽप्यत्र यमकाधिकारे

पङ्क्तित्रयं वाच्यम् । पङ्क्तित्रयप्रासादसंग्रहश्चैवम्—

४
१६
६४
मूलप्रा० १
सर्वसं० ८५

मूलप्रासादेन सह सर्वसंख्यया पञ्चाशीतिः प्रासादाः ८५। अथात्र सभापञ्चकं प्रपञ्चयितुकामः सुधर्मसभास्वरूपं निरूपयति-" तेसि णं " इत्यादि । तयोर्मूलप्रासादावतंसकयोरुत्तरपूर्वस्यां दिशि ईशानकोणेऽत्रैतस्मिन् भागे यमकयोर्देवयोर्योग्य सुधर्मनाम्ने सभे प्रज्ञप्ते । सुधर्म्माशब्दार्थस्तु-सुष्ठु शोभनो धर्मो देवानां माणवकस्तम्भवर्त्तिजिनसक्थ्याशातनाभीरुकत्वेन देवाङ्गनाभोगाविरतिपरिणामरूपो यस्यां सा तथा । वस्तुतस्तु-सुष्ठु शोभनो धर्मो राजधर्मः, समन्तुनिर्मन्तुनिग्रहानुग्रहस्वरूपो यस्यां सा तथा । ते चार्द्धत्रयोदशयोजनान्यायामेन सक्रोशानि षड्योजनानि विष्कम्भेण नव योजनान्युर्द्धोच्चत्वेन। अत्र साधर्म्यार्थे सभावर्णकसूत्रमतिदिशति—अनेकस्तम्भशतसंनिविष्टेत्यादिपदसूचितः सभावर्णको जीवाभिगमोक्तो ज्ञेयः। स चैवम्-" अणेगखंभसयसंनिविट्ठाओ अब्भुग्गयसुकयवइरवेइआतोरणवररइअसालभंजिआसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठिअपसत्थवेरुलिअविमलखंभाओ णाणामणिकणगरयणखचिअउज्जलबहुसमसुविभत्तभूमिभागाओ ईहामिगउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिंनररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ताओ खंभुग्गयवइरवेइआपरिगयाभिरामाओ विज्जाहरजमलजुअलजंतजुत्ताओ विव अच्चीसहस्समालणीआओ रूवगसहस्सकलिआओ भिसमाणीओ भिब्भिसमाणीओ चक्खुल्लोअणलेसाओ सुहफासाओ सस्सिरीअरूवाओ कंचणमणिरयणथूभिअगाओ णाणाविहपंचवण्णघंटापडागपरिमंडिअग्गसिहराओ धवलाओ मरीइकवयविणिम्मुअंतीओ लाउल्लोइअमहिआओ गोसीससरससुरभिरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितलाओ उवचिअचंदणकलसाओ वंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागाओ आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारिअमल्लदामकलावाओ पंचवण्णसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिआओ कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंतमघमघंतगंधुद्धूआभिरामाओ सुगंधवरगंधिआओ गंधवट्टिभूआओ अच्छरगणसंघविकिण्णाओ दिव्वतुडिअसद्दसंपणदिआओ सव्वरयणामईओ अच्छाओ० जाव पडिरूवाओ " इति । अत्र व्याख्या तु सिद्धायतनतोरणादिवर्णकेषु उक्तप्रायेत्यन्वेषणेन सुलभेति न पुनरुच्यते, नवरम्-अप्सरोगणानाम् अप्सरःपरिवाराणां यः संघः समुदायस्तेन सम्यक् रमणीयतया विकीर्णा आकीर्णा दिव्यानां त्रुटितानामातोद्यानां ये शब्दास्तैः सम्यक्श्रोत्रमनोहारितया प्रकर्षेण नदिता शब्दवती, शेषं प्राग्वत् । अथास्यां कति द्वाराणीत्याह—" तासि णं सभाणं" इत्यादि । तयोः सभयोः सुधर्मयोस्त्रिदिशि त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि,पश्चिमायां द्वाराभावात् । तानि द्वाराणि प्रत्येकं द्वे योजने ऊर्द्धोच्चत्वेन योजनमेकं प्रवेशेन, श्वेता इत्यादिपदेन सूचितः परिपूर्णो द्वारवर्णको वाच्यो यावद्वनमाला । अथ मुखमण्डपपरिषन्निरूपणायाह-" तेसि णं दाराणं " इत्यादि । तेषां द्वाराणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं त्रयो मुखमण्डपाः प्रज्ञप्ताः, सभाद्वाराप्रवर्तिनो मण्डपा इत्यर्थः । ते च मण्डपा अर्द्धत्रयोदशयोजनान्यायामेन षड् सक्रोशानि योजनानि विष्कम्भेण सातिरेके द्वे योजने ऊर्द्धोच्चत्वेन।एतेषामपि "अणेगखंभसयसंनिविट्ठा " इत्यादिवर्णनं सुधर्मासभा इव निरवशेषं द्रष्टव्यं, यावद्द्वाराणां भूमिभागानां च वर्णनं, यद्यप्यत्र द्वारान्तमेव सभावर्णनं,तदतिदेशेन मुखमण्डपसूत्रेऽपि तावन्मात्रमेवायाति, तथापि जीवाभिगमादिषु मुखमण्डपवर्णके भूमिभागवर्णकस्य दृष्टत्वात् अत्रातिदेशः । अथ प्रेक्षामण्डपवर्णकं लाघवादाह-"पेच्छाघरमंडवाणं" इत्यादि । प्रेक्षागृहमण्डपानां रङ्गमण्डपानां तदेव मुखमण्डपोक्तमेव प्रमाणं भूमिभाग इति पदेन सर्वं द्वारादिकं भूमिभागपर्यन्तं वाच्यम् । एषु च मणिपीठिका वाच्या । एतावदर्थसूचकमिदं सूत्रम्-"तेसि णं मुहमंडवाणं पुरओ पत्तेअं पत्तेअं पेच्छाघरमंडवा पण्णत्ता,ते णं पेच्छाघरमंडवा अद्धतेरसं जोअणाइं आयामेणं० जाव दो जोअणाइं उद्धं उच्चत्तेणं० जाव मणिफासा, तेसि णं बहुमज्झदेसभाए पत्तेअं पत्तेअं वइरामया अक्खाडगा पण्णत्ता, तेसि णं बहुमज्झदेसभाए पत्तेअं पत्तेअं मणिपेढिआओ पण्णत्ताओ त्ति " उक्तप्रायं,नवरमक्षपाटः चतुरस्राकारो मणिपीठिकाधारविशेषः। अस्याः प्रमाणाद्यर्थमाह-" ताओ णं मणिपेढिआओ जोअणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ सीहासणा भाणिअव्वा " इति । अत्र सिंहासनानि भणितव्यानि, सपरिवाराणीत्यर्थः । शेषं व्यक्तम् । अथ स्तूपावसरः-" तेसि णं " इत्यादि । तेषां प्रेक्षागृहमण्डपानां पुरतो मणिपीठिकाः, अत्र बहुवचनं न प्राकृतशैलीजन्यं, यथा द्विवचनस्थाने बहुवचनं " हत्था पाया " इत्यादिषु, किं तु बहुत्वविवक्षार्थं, तेनात्र तिसृषु प्रेक्षागृहमण्डपद्वारदिक्षु एकैकसद्भावात् तिस्रो ग्राह्याः, अन्यत्र जीवाभिगमादिषु तथादर्शनात् । अथैतासां मानमाह-" ताओ णं " इत्यादि कण्ठ्यम्, यद्यप्येतत्सूत्रादर्शेषु " जोअणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं " इति पाठो दृश्यते, तथाऽपि जीवाभिगमपाठदृष्टत्वेन राजप्रश्नीयादिषु प्रेक्षामण्डपमणिपीठिकातः स्तूपमणिपीठिकाया द्विगुणमानत्वेन दृष्टत्वादयं सम्यक् पाठः संभाव्यते । आदर्शेषु लिपिप्रमादस्तु सुप्रसिद्ध एव।अथ स्तूपवर्णनायाह-"तासि णं" इत्यादि।तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं त्रयः स्तूपाः प्रज्ञप्ताः । जीवाभिगमादौ तु चैत्यस्तूपा इति योजने ऊर्द्धोच्चत्वेन द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां, व्याख्यातो विशेषप्रतिपत्तिरिति देशोने द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां ग्राह्याः, अन्यथा मणिपीठिकास्तूपयोरभेद एव स्यात् । जीवाभिगमादौ तु सातिरेके द्वे योजने उच्चत्वमित्यर्थः । ते च श्वेताः, श्वेतत्वमेवोपमया द्रढयति-(संखदल त्ति) यावत्करणात्-" संखदलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययणिगरप्पगासा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा " इति प्राग्वत् । किंयद् दूरं ग्राह्यमित्याह-यावदष्टाष्टमङ्गलकानीति । अथ तच्चतुर्दिशि यदस्ति तदाह-" तेसि णं थूभाणं " इत्यादि । तेषां स्तूपानां प्रत्येकं चतुर्दिक्षु चतस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः । ताश्च मणिपीठिका योजनमायामविष्कम्भेण अर्द्धयोजनं बाहल्येन अत्र जिनप्रतिमावक्तव्याः, तत्सूत्रं चेदम्-" तासि णं मणिपेढिआणं उप्पिं पत्तेअं पत्तेअं चत्तारि जिणपडिमाओ जिणुस्सेहप्पमाणमेत्ताओ पलिअंकणिसण्णाओ थूभाभिमुहीओ संनिक्खित्ताओ चिट्ठंति । तं जहा-उसभा वद्धमाणा चंदाणणा वारिसेणा " इति । एतद्वर्णनादिकं वैताढ्ये सिद्धायतनाधिकारे प्रागुक्तम् । गताः स्तूपाः । "चेइअरुक्खाणं" इत्यादि व्यक्तम् । अत्र चैत्यवृक्षवर्णको जीवाभिगमोक्तो वाच्यः । स चायम्- "तेसि णं चेइअरुक्खाणं अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते । तं जहा—वइरमूलरययसुपइट्ठिअविडिमारिट्ठामय—

कंदा वेरुलिअरुइलखंधा सुजायवरजायरूवपढमविसालसाला णाणामणिरयणविविहसाहप्पसाहवेरुलिअपत्ततवणिज्जपत्तवेंटा जंबूणयरत्तमउअसुकुमालपवालपल्लवंकुरधरा विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभरणमिअसाला सच्छाया सप्पभा सस्सिरीआ सउज्जोआ अमयरससमरसफला अहिअनयणमणणिव्वुइकरा पासाईआ०जाव पडिरूवा ४" इति । अत्र व्याख्या-तेषां चैत्यवृक्षाणामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-'वज्ररत्नमयानि मूलानि येषां ते वज्रमूलाः, तथा रजता रजतमया सुप्रतिष्ठिता विडिमा बहुमध्यदेशभागे ऊर्ध्वविनिर्गता शाखा येषां ते तथा । ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः । रिष्टरत्नमयः कन्दो येषां ते, तथा वैडूर्यरत्नमयो रुचिरः स्कन्धो येषां ते तथा, ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः, सुजातं मूलद्रव्यशुद्धं वरं प्रधानं यज्जातरूपं रूप्यं तदात्मिकाः प्रथमिका मूलभूता विशाला शालाः शाखा येषां ते तथा, नानामणिरत्नात्मिका विविधाः शाखामूलशाखा विनिर्गतशाखाः प्रशाखा येषां ते तथा । तथा वैडूर्याणि वैडूर्यमयाणि पत्राणि येषां ते तथा । तथा तप्ततपनीयानि तपनीयमयानि पत्रवृन्तानि येषां ते तथा । ततः पूर्ववत् पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः । जाम्बूनदा जाम्बूनदनामकसुवर्णविशेषमया रक्तवर्णा मृदुसुकुमाराः अत्यन्तकोमलाः प्रवालाः ईषदुन्मीलितपत्रभावाः पल्लवजातपूर्णप्रथमपत्रभावरूपा वराङ्कुराः प्रथममुद्भिद्यमानास्तदग्रान् धरन्ति ते तथा । विचित्रमणिरत्नमयानि सुरभीणि कुसुमानि फलानि च तेषां भरेण नमिता नामग्राहिताः शाखा येषां ते तथा, सती शोभना छाया येषां ते सच्छायाः, एवं सत्प्रभाः । अत एव सच्छ्रीकाः । तथा सोद्द्योताः मणिरत्नानामुद्द्योतभावात् । अमृतरससमरसानि फलानि येषां ते तथा । अधिकं नयनमनोनिर्वृतिकराः, शेषं प्राग्वत् । "ते णं चेइअरुक्खा अण्णेहिं बहूहिं तिलयलवयछत्तोवगसिरीससत्तिवण्णदहिवण्णलोद्धधवचंदणनीवकुडयकयंबपणसतालतमालपिआलपियंगुपारावयरायरुक्खनंदिरुक्खेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता" इति । ते चैत्यवृक्षा अन्यैर्बहुभिस्तिलकलवगच्छत्रोपगशिरीषसप्तपर्णदधिपर्णलोध्रधवचन्दननीपकुटजकदम्बपनसतालतमालप्रियालप्रियङ्गुपारापतराजवृक्षनन्दिवृक्षैः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ताः । एते च वृक्षाः केचिन्नाम कोशतः केचिल्लोकतश्चावगन्तव्याः । "ते णं तिलया० जाव नंदिरुक्खा मूलवंतो कंदवंतो० जाव सुरम्मा" ते च तिलकादयो वृक्षा मूलवन्तः कन्दवन्त इत्यादि वृक्षवर्णनं प्रथमोपाङ्गतोऽवसेयं, यावत् सुरम्या इति । "ते णं तिलया० जाव नंदिरुक्खा अण्णाहिं बहूहिं पउमलयाहिं० जाव सामलयाहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता ।" ते च तिलकादयो वृक्षा अन्याभिर्बहुभिः पद्मलताभिर्यावच्छ्यामलताभिः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ताः । यावच्छब्दादत्र नागलताचम्पकलताद्या ग्राह्याः । "ताओ णं पउमलयाओ० जाव सामलयाओ निच्चं कुसुमिआओ० जाव पडिरूवाओ ।" ताश्च पद्मलताद्या नित्यं कुसुमिता इत्यादि लतावर्णनं यावत्प्रतिरूपाः "तेसि णं चेइअरुक्खाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलया बहवे झया छत्ताइछत्ता" तेषां चैत्यवृक्षाणामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजाः छत्रातिछत्राणि इत्यादि चैत्यस्तूपकवक्तव्यम्। गताश्चैत्यवृक्षाः । अथ महेन्द्रध्वजावसरः-"तेसि णं चेइअरुक्खाणं" इत्यादि । तेषां चैत्यवृक्षाणां पुरतस्तिस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः । ताश्च मणिपीठिका योजनमायामविष्कम्भाभ्याम् अर्द्धयोजनं बाहल्येन, "तासि णं उप्पिं पत्तेअं" इत्यादि । तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं महेन्द्रध्वजाः प्रज्ञप्ताः । ते चार्द्धाष्टमानि सार्द्धसप्तयोजनानि ऊर्ध्वोच्चत्वेन अर्द्धक्रोशं धनुःसहस्रमुद्वेधेनोच्चत्वेन तदेव बाहल्येन "वइरामयवट्ट" इति पाठोपलक्षितः परिपूर्णो जीवाभिगमाद्युक्तवर्णको ग्राह्यः । स चायम्-"वइरामयवट्टलट्ठसंठिअसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपइट्ठिआ अणेगवरपंचवण्णकुडभीसहस्सपरिमंडिआभिरामा वाउद्धुअविजयवेजयंतीपडागा छत्ताइच्छत्तकलिआ तुंगा गगणतलमभिलंघमाणा सिहरा पासाईआ० जाव पडिरूवा" इति । अत्र व्याख्या-वज्रमयाः तथा वृत्तं वर्तुलं लष्टं मनोज्ञं संस्थितं संस्थानं येषां ते तथा, तथा सुश्लिष्टा यथा भवन्ति एवं परिघृष्टाः खरशाणपाषाणप्रतिमेव सुश्लिष्टपरिघृष्टाः, तथा मृष्टाः सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमेव तथा सुप्रतिष्ठिता मनागप्यचलनात् तथा अनेकैर्वरैः प्रधानैः पञ्चवर्णैः कुडभीनां लघुपताकानां सहस्रैः परिमण्डिताः सन्तोऽभिरामाः, शेषं प्राग्वत् । "तेसि णं महिंदज्झयाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलया झया छत्ताइछत्ता" इत्यादि सर्वं तोरणवर्णक इव वाच्यं जीवाभिगमत इति । उक्ता महेन्द्रध्वजाः । अथ पुष्करिण्यः । ताश्च-"चइआवणसंड" इत्यादिपर्यन्तसूत्रेण संगृह्यन्ते । तथाहि-"तेसि ण महिंदज्झयाणं पुरओ तिदिसिं तओ णंदापुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ । अद्धतेरसजोअणाइं आयामेणं छक्कोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं दस जोअणाइं उव्वेहेणं अच्छाओ सण्हाओ पुक्खरिणीवण्णओ, पत्तेअं पत्तेअं पउमवरवेइआपरिक्खित्ताओ पत्तेअं पत्तेअं वणसंडपरिक्खित्ताओ वण्णओ" । तथा "तासि णं णंदापुक्खरिणीणं पत्तेअं पत्तेअं तिदिसिं तओ तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता । तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं वण्णओ, तोरणवण्णओ अ भाणिअव्वो० जाव छत्ताइछत्ता" इति । अत्र जगतीगतपुष्करिणीवत् सर्वं वाच्यम् । अथ सुधर्मसभायां यदस्ति तदाह-"तासि णं" इत्यादि । तयोः सभयोः सुधर्मयोः षट् मनोगुलिकानां पीठिकानां सहस्राणि प्रज्ञप्तानि । तथाहि-पूर्वस्यां द्वे सहस्रे, पश्चिमायां द्वे सहस्रे, दक्षिणस्यामेकं सहस्रम्, उत्तरस्यामेकं सहस्रम्, "०जाव दामा" इत्यत्र यावत्पदादिदं ग्राह्यम्-"तासु णं मणोगुलिआसु बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा पण्णत्ता । तेसु णं सुवण्णरुप्पमएसु फलगेसु बहवे वइरामया णागदंतगा पण्णत्ता । तेसु णं वइरामएसु नागदंतएसु बहवे किण्हसुत्तवग्घारिअमल्लदामकलावा० जाव सुक्किलसुत्तवग्घारिअमल्लदामकलावा तेणं दामा तवणिज्जलंबूसगा चिट्ठंति" इति सर्वं विजयद्वारवद् वाच्यम् । अनन्तरोक्तं गोमानसिकासूत्रेऽतिदिशति-"एवं गोमाणसिआओ" इत्यादि । एवं मनोगुलिकान्यायेन गोमानस्यः शय्यारूपाः स्थानविशेषा वाच्याः, नवरं दामस्थाने धूपवर्णको वाच्यः । अथास्या एव भूभागवर्णकमाह-"तासि णं" इत्यादि । तयोः सुधर्मयोः सभयोः अन्तर्बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः । अत्र मणिवर्णादयो वाच्याः, उल्लोचाः पद्मलतादयोऽपि च चित्ररूपाः । अत्र विशेषतो यद्वक्तव्यं तदाह-"मणिपेढिआ" इत्यादि । अत्र सुधर्मयोर्मध्यभागे प्रत्येकं मणिपीठिका वाच्या, द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां, योजनं बाहल्येन । "तासि णं" इत्यादि । तयोर्मणिपीठिकयोरुपरि प्रत्येकं माणवकनाम्नि चैत्यस्तम्भे महेन्द्रध्वजसमाने प्रमाणतोऽर्द्धाष्टमयोजनप्रमाणतोऽर्द्धाष्टमयोजनप्रमाण इत्यर्थः । वर्णकतोऽपि महेन्द्रध्वजवत् उपरि

षट् क्रोशानवगाह्य, उपरितनषट्क्रोशान् वर्जयित्वेत्यर्थः । अधस्तादपि षट् क्रोशान् वर्जयित्वा मध्येऽर्धपञ्चमेषु योजनेषु इति गम्यम् (जिणसकहाउ त्ति) जिनसक्थीनि जिनास्थीनीत्यन्तर्जातीयानां जिनदंष्ट्राग्रहणेऽनधिकृतत्वात् सौधर्मेशानचमरबलीन्द्राणामेव तद्ग्रहणात् प्रज्ञप्तानीति, शेषो वर्णकश्चात्र जीवाभिगमोक्तो ज्ञेयः । स चायम्-" तस्स णं माणवगचेइअस्स खंभस्स उवरिं छक्कोसे ओगाहित्ता हिट्ठा वि छक्कोसे वज्जित्ता मज्झे अद्धपंचमेसु जोअणेसु, एत्थ णं बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा पण्णत्ता । तेसु णं बहवे वइरामया णागदंतया पण्णत्ता । तेसु णं बहवे रययमया सिक्कगा पण्णत्ता । तेसु णं बहवे वइरामया गोलवट्टया समुग्गया पण्णत्ता, तेसु णं बहवे जिणसकहाओ संणिक्खित्ताओ चिट्ठंति । जाओ णं जमगाणं देवाण अन्नेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ पूअणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेइअं पज्जुवासणिज्जाओ " इति । अत्र व्याख्या-" तस्स णं " इत्याद्यारभ्य " वज्जित्ता " इति पर्यन्तं प्रायः प्रस्तुतसूत्रे साक्षाद् दृष्टत्वादनन्तरमेव व्याख्यातम्, मध्येऽर्द्धे पञ्चमेषु योजनेषु, अवशिष्टयोजनेष्वित्यर्थः । अत्रान्तरे बहूनि सुवर्णरूप्यमयानि फलकानि प्रज्ञप्तानि, तेषु फलकेषु बहवो वज्रमया नागदन्तकाः प्रज्ञप्ताः, तेषु नागदन्तकेषु बहूनि रजतमयानि शिक्यकानि प्रज्ञप्तानि, तेषु शिक्यकेषु बहवो वज्रमयाः गोलको वृत्तोपलस्तद्वद् वृत्ताः समुद्गकाः प्रसिद्धाः प्रज्ञप्ताः, तेषु समुद्गकेषु बहूनि जिनसक्थीनि संनिक्षिप्तानि तिष्ठन्ति, यानि यमकयोर्देवयोरन्येषां च बहूनां यमकराजधानीवास्तव्यानां वाणमन्तराणां देवानां देवीनां च अर्चनीयानि चन्दनादिना, वन्दनीयानि स्तुत्यादिना, पूजनीयानि पुष्पादिना, सत्कारणीयानि वस्त्रादिना, संमाननीयानि बहुमानकरणतः कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमिति पर्युपासनीयानीति । एतदाशातनाभीरुतयैव तस्मात्ते देवा देवयुवतिभिर्न संभोगादिकमाद्रियन्ते, नापि मित्रदेवादिभिर्हास्यक्रीडादिपराः स्युरिति । ननु जिनगृहादिषु जिनप्रतिमानां देवानामर्चनीयत्वादिकमाशातनात्यागश्च युक्तः, तासां सद्भावस्थापनारूपत्वेनाराधनासंकल्पप्रादुर्भावसंभवात्; न तथा जिनदंष्ट्रादिषु, तेन कथं तौ घटेते ?, पूज्यानामङ्गानि पूज्या इव पूज्यानीति संकल्पस्यात्रापि प्रादुर्भावात् । पूज्यत्वं महावैरोपशमकगुणवत्त्वेन च । अस्मिन्नर्थे पूज्यश्रीरत्नशेखरसूरीन्द्रोपज्ञश्राद्धविधिवृत्तिसंमतिः । तथाहि-परीक्षाप्रार्थितसौभाग्यगुणं रत्नसारकुमारं प्रति चन्द्रशेखरसुरेणोक्ते-

" हरिणेणाऽणहारिणे-गमेष्यानिमिषाग्रणीः ॥
युक्तमेव हि त्वत्श्लाघां, कुरुते सुरसात्त्विकम् ॥ १ ॥
वक्ति स्म विस्मयस्मेरः, कुमारः स सुराग्रणीम् ।
मामश्लाघ्यं श्लाघते किं, सोऽप्युवाच शृणु ब्रुवे ॥ २ ॥
नवोत्पन्नतयाऽन्यर्हि, सौधर्मेशानशक्रयोः ।
विवादोऽभूद्विमानार्थं, हर्म्यार्थमिव हर्मिणोः ॥ ३ ॥
विमानलक्षा द्वात्रिंशत्, तथाऽष्टाविंशतिः क्रमात् ।
सत्यनयोस्तथाऽप्येतौ, विवदेते स्म धिग् भवम् ॥ ४ ॥
तयोरिवोर्वीश्वरयो-र्विमानर्द्धिप्रलुब्धयोः ।
नियुद्धादिमहायुद्धाः, अप्यभूवन्ननेकशः ॥ ५ ॥
निवार्यते हि कलह-स्तिरश्चां तरसा नरैः ।
नराणां च नराधीशै-र्नराधीशां सुरैः क्वचित् ॥ ६ ॥
सुराणां च सुराधीशां, कलहो वा पुनः कथम् ।
केन वा स निवार्येत, वज्राग्निरिव दुःशमः ? ॥ ७ ॥
माणवकाख्यस्तम्भस्था-ऽर्हद्दंष्ट्राशान्तिवारिणा ।
साधिव्याधिमहादोष-महावैरनिवारिणा ॥ ८ ॥
कियत्कालव्यतिक्रान्ते, सिक्तौ महत्तरैः सुरैः ।
बभूवतुः प्रशान्तौ तौ, किं वा सिद्ध्येन्न तज्जलात् ? ॥ ९ ॥ युग्मम्
ततस्तयोर्मिथस्त्यक्त-वैरयोः सचिवैर्द्वयोः ।
प्रोचे पूर्वव्यवस्थैवं, सुधियां समये हि गीः ॥ १० ॥

सा चैवम्-

दक्षिणस्यां विमाना ये, सौधर्मेशस्य तेऽखिलाः ।
उत्तरस्यां तु ते सर्वे-ऽपीशानेन्द्रस्य सत्तया ॥ ११ ॥
पूर्वस्यामपरस्यां च, वृत्ताः सर्वे विमानकाः ।
त्रयोदशापीन्द्रकाश्च, स्युः सौधर्मसुराशितुः ॥ १२ ॥
पूर्वापरदिशोः त्र्यस्रा-श्चतुरस्राश्च ते पुनः ।
सौधर्माधिपतेरर्द्धा, ईशानचक्रिणः पुनः ॥ १३ ॥
सनत्कुमारमाहेन्द्रे-ऽप्येष एव भवेत्क्रमः ।
वृत्ता एव हि सर्वत्र, स्युर्विमानेन्द्रकाः पुनः ॥ १४ ॥
इत्थं व्यवस्थया चेतः-स्वास्थ्यमास्थाय सुस्थिरौ ।
विमत्सरौ गतक्रोधौ, जज्ञाते तौ सुरेश्वरौ ॥ १५ ॥ "

अथ प्रकृतं प्रस्तूयते-" माणवगस्स " इत्यादि । माणवकचैत्यस्तम्भस्य पूर्वस्यां दिशि सुधर्मायामेव सभायां सिंहासनं सपरिवारे स्तः, यमकदेवयोः प्रत्येकमेकैकसद्भावात् । तस्मादेव पश्चिमायां दिशि शयनीये वर्णकश्चैतदीयः श्रीदेवीवर्णनाधिकारे उक्तः, शयनीययोरुत्तरपूर्वस्यां दिशि क्षुल्लकमहेन्द्रध्वजौ स्तः, तौ च मानतो महेन्द्रध्वजप्रमाणौ सार्द्धसप्तयोजनप्रमाणावुच्चत्वेन अर्द्धक्रोशमुद्वेधेन, बाहल्याच्चेत्यर्थः । ननु यदीमौ प्रागुक्तमहेन्द्रध्वजतुल्यौ तदा किमिमौ क्षुल्लकेन विशेषितौ ?। उच्यते-मणिपीठिकाविहीनौ अत एव क्षुल्लकावित्यर्थः । द्वियोजनप्रमाणमणिपीठिकोपरिस्थितत्वेन पूर्वे महान्तौ महेन्द्रध्वजास्तदपेक्षया इमौ च क्षुल्लकावित्यर्थादागतमिति । तयोः क्षुल्लमहेन्द्रध्वजयोरेकैकराजधानीसंबन्धिनौ २ परेण पश्चिमायां "चोप्फाला" नाम, प्रहरणकोशः प्रहरणभाण्डागारं, तत्र बहूनि परिघरत्नप्रमुखाणि यावत्पदात्प्रहरणरत्नानि संनिक्षिप्तानि तिष्ठन्ति । "सुहम्माणं" इत्यादि । सुधर्मयोरुपर्यष्टाष्टमङ्गलकानि इत्यादि तावद्वक्तव्यं यावद् बहवः सहस्रपत्रहस्तकाः सर्वरत्नमया इत्यादि । सुधर्मसभातः परं किमस्तीत्याह-"तासि णं" इत्यादि । तयोः सुधर्मयोः सभयोरुत्तरपूर्वस्यां दिशि द्वे सिद्धायतने प्रज्ञप्ते, इति शेषः । प्रतिसभमेकैकसद्भावादिति । अत्र लाघवार्थमतिदेशमाह-एष एव सुधर्मासभोक्त एव जिनगृहाणामपि गमः पाठोऽवगन्तव्यः । स चायम्-" ते णं सिद्धाययणा अद्धतेरसजोअणाइं आयामेणं छ स्सकोसाइं विक्खंभेणं णव जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसंणिविट्ठा " इत्यादि । यथा सुधर्मायास्त्रीणि पूर्वदक्षिणोत्तरवर्तीनि द्वाराणि, तेषां च पुरतः प्रेक्षामण्डपाः, तेषां पुरतः स्तूपाः, तेषां पुरतश्चैत्यवृक्षाः, तेषां पुरतो महेन्द्रध्वजाः, तेषां पुरतो नन्दापुष्करिण्य उक्ताः, तदनु सभायां षण्मनोगुलिकासहस्राणि, षड् गोमानसीसहस्राण्युक्तानि । एवमनेनैव क्रमेण सर्वं वाच्यम् ।

अत्र सुधर्मातो यो विशेषस्तमाह-" णवरं इमं णाणत्तं " इत्यादि व्यक्तम् । अथ सुधर्मासभोक्तमेव सभाचतुष्कमतिदिशन्नाह-"एवं अवसेसाण वि" इत्यादि । एवं सुधर्मान्यायेनावशिष्टानामुपपातसभादीनां वर्णनं ज्ञेयम् । कियत्पर्यन्तमित्याह-यावदुपपातसभायामुत्पित्सुदेवोत्पत्त्युपलक्षितसभायामभिनवोत्पन्नदेवाभिषेकमहोत्सवस्थानभूतायां बहु आभिषेक्यमभिषेकयोग्यं भाण्डं वाच्यम । तथाऽलङ्कारसभायामभिषिक्तसुरभूषणपरिधानस्थशयनीयं वर्णनीयं, तच्च प्राग्वत् । तथा ह्रदश्च वक्तव्यो नन्दापुष्करिणीमानः, स चोत्पन्नदेवस्य शुचित्वजलक्रीडादिहेतुः, ततोऽभिषेकसभायां स्थानरूपायां सुबहुलङ्कारिकभाण्डमलङ्कारयोग्यं भाण्डं तिष्ठति । व्यवसायसभयोरलंकृतसुरशुभाध्यवसायानुचिन्तनस्थानरूपायाः पुस्तकरत्नं, ततो बलिपीठे अर्चनीयोत्तरकालं नवोत्पन्नसुरयोर्बलिविसर्जनपीठे द्वियोजन आयामविष्कम्भाभ्यां, योजनं बाहल्येन, यावत्पदात्-" सव्वरयणामया अच्छा पासाईआ ४" ततो नन्दाभिधाने पुष्करिण्यौ बलिक्षेपोत्तरकालं सुधर्मासभां जिगमिषतोरभिनवोत्पन्नसुरयोर्हस्तपादप्रक्षालनहेतुभूते, अत एव सूत्रे प्रथमोक्ते अपि नन्दापुष्करिण्यौ प्रयोजनक्रमवशात् पश्चाद् व्याख्याते क्रमप्राधान्याद्व्याख्यानस्य, अथ यथा सुधर्मासभात उत्तरपूर्वस्यां दिशि सिद्धायतनम,तथा तस्योत्तरपूर्वस्यां दिशि उपपातसभा, एवं पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् परम्परमुत्तरपूर्वस्यां वाच्यं,यावद्बलिपीठादुत्तरपूर्वस्यां नन्दापुष्करिणीति । अत्र च-" जमिगाओ रायहाणीओ" इत्यादिसूत्रेषु द्विवचनेन "तासिं० जाव उप्पिं माणवगचेइअखंभे" इत्यादिसूत्रेष्वेकवचनेन निर्देशः । सूत्रकाराणां प्रवृत्तिवैचित्र्यादिति वर्णिते यमिकाभिधे राजधान्यौ,अथ तयोरधिपयोर्यमकदेवयोरुत्पत्त्यादिस्वरूपाख्यानाय विस्तररुचिः सूत्रकृत् संग्रहगाथामाह-" उववाओ संकप्पो" इत्यादि । उपपातो यमकयोर्देवयोरुत्पत्तिर्वाच्या, तत उत्पन्नयोः सुरयोः शुभव्यवसायचिन्तितरूपः संकल्पः। ततः-अभिषेक इन्द्राभिषेकः,ततः-विभूषणा अलङ्कारसभायामलङ्कारपरिधानम्, ततो व्यवसायः पुस्तकरत्नोद्घाटनरूपः, ततः अर्चनिका सिद्धायतनाद्यर्चा, ततः सुधर्मायां गमनं, यथा च परिचारणा-परिचारकरणं परिचारणा स्वस्वोक्तदिशि परिचारस्थापनमं,यथा यमकयोर्देवयोः सिंहासनयोः परितो वामभागे चतुःसहस्रसामानिकभद्रासनस्थापनं सैव ऋद्धिः संपत । रूपनिष्पत्तिस्तु-" णिज् बहुलं नाम्नः कृगादिषु " ॥ ३ । ४ । ४२ ॥ इत्यनेन (हैमसूत्रेण) कारणार्थम " णिवेत्त्यासश्रन्थघट्टवन्देरनः " । ५ । ३ । ११ । इत्यनेन चानप्रत्यये स्त्रीलिङ्गीयअप्प्रत्यये साधु । तथा वा वाच्यं जीवाभिगमादिभ्यः । अथ यमकौ ह्रदाश्च यावता अन्तरेण परस्परं स्थितास्तन्निर्णेतुमाह-" आवइयं " इत्यादि । यावति प्रमाणे अन्तर्माने नीलवतो यमकौ भवतः । खलु निश्चितं यावदन्तरं योजनसप्तभागचतुर्भागाभ्यधिकचतुस्त्रिंशदधिकाष्टशतयोजनरूपं यमकद्वयोः, इह ह्रदानां च बोध्यमिति शेषः । उपपत्तिस्तु प्राग्वत् । जं० ४ वक्ष० ।

जमगसमग-यमकसमक-अव्य० । युगपदित्यर्थे, जं० ३ वक्ष० । जी० । ज्ञा० ।

जमघोस-यमघोष-पुं० । ऐरवतक्षेत्रे आगामिन्यां चतुर्विंशतिकायां भाविनि चतुर्थे जिने, प्रव० ७ द्वार ।

जमजन्न-यमयज्ञ-पुं० । यमाः प्राणातिपातविरत्यादिरूपाः पञ्च, त एव यज्ञो भावपूजात्मकत्वात् विवक्षितपूज्यं प्रति इति यमयज्ञः । अहिंसादियमपालनरूपे भावयज्ञे,(उत्त०) " यम इव प्राण्युपसंहारकारितया यमः, स चासौ यज्ञः यमयज्ञः । हिंसामये द्रव्ययज्ञे, उत्त० २५ अ० ।

जमणिया-यमनिका-स्त्री० । यमनिकाख्ये साधूपकरणविशेष, स्था० ६ ठा० ।

जमदग्गि-य (ज) मदग्नि-पुं० । परशुरामपितरि तापसविशेषे, (आ० क०) ।

तत्कथा चैवम्—

वसन्तपुरवास्तव्यः, कश्चिदुत्सन्नवंशकः ।
देशान्तरं व्रजन् सोऽथ, भ्रष्टोऽगाद् भौतपल्लिकाम ॥ १॥
यमाख्यस्तापसस्तत्र, स तत्पार्श्वेऽग्निकोऽगमत ।
प्रपन्नस्तस्य शिष्यत्वं, स घोरं तप्यते तपः ॥ २ ॥
यमशिष्योऽग्निक इति, यमदग्निरिति श्रुतः ।
इतश्च जैनमाहेशा-वभूतां द्वौ सुरौ दिवि ॥ ३ ॥
स्वस्वधर्मं प्रशंसन्ता-वूचतुः साधुतापसौ ।
परीक्षा युज्यते धर्मे, कर्तुमेकत्र तत्त्वधीः ॥ ४ ॥
ऊचे श्राद्धः परीक्ष्यो नः, शैवो वस्तापसोत्तमः ।
अथ तावागतौ स्वर्गाद्, मर्त्यलोके परीक्षितुम ॥ ५ ॥
अग्रे च मिथिलापुर्यां, राजा पद्मरथस्तदा ।
व्रतार्थी याति चम्पायां, वासुपूज्यजिनान्तिके ॥ ६ ॥
गच्छतस्तस्य राजर्षेः, समुत्क्षिप्ते सति क्रमे ।
सर्वतः सूक्ष्ममण्डूक्यः, क्रियन्ते स्म निरन्तराः ॥ ७ ॥
स उत्क्षिप्तांह्रिरेवास्था-ज्जीवहिंसाभयात्प्रधीः ।
धीरश्चुक्षोभ नो मेघ-कुमारः प्राग्भवेऽभवत ॥ ८ ॥
दयालुं तन्मनो ज्ञात्वा, तौ ताः संहृत्य जग्मतुः ।
यमदग्नेः परीक्षार्थं, पुरातनमहाऋषेः ॥ ९ ॥
कृत्वा चटकयुग्मस्य, रूपं तत्कूर्चपञ्जरे ।
स्थित्वोचे चटकः कान्ते!, याम्यहं हिमवद्गिरिम् ॥ १० ॥
सोचे त्वं नेष्यसि ततो, लुब्धस्तत्राटिकारते ।
स चक्रे शपथान् गाढान्, प्रत्येति न तथाऽपि सा ॥ ११ ॥
ऊचे प्रत्येमि चेदेनं, शपथं कुरुषे प्रिय ! ।
ऋषेरेतस्य पापेन, लिप्ये नायामि यद्यहम् ॥ १२ ॥
उवाच चटकः कान्ते !, शपथं न करोम्यमुम ।
महर्षिः क्षुभितोऽवोच-त्तौ पाणिभ्यां विधृत्य सः ॥ १३ ॥
आः पापौ ! पातकं किं मे, यदेवं जल्पतो मिथः ।
ऊचतुस्तौ महर्षे ! त्वं, मा कुपः शृणु नौ वचः ॥ १४ ॥
अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च ।
तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा, पश्चात्स्वर्गं गमिष्यसि ॥ १५ ॥
स मुनिस्तद्वचो मेने, मुक्तौ तौ जग्मतुर्दिवम ।
मिथ्यात्वगथ संबुद्धो, देवः सम्यक्त्वमासदत् ॥ १६ ॥
तस्यक्त्वा तापनाकष्टं, समासहस्रपालितम् ।
यमदग्निर्ययौ मूढो, नगरं मृगकोष्ठकम ॥ १७ ॥
जितशत्रुर्नृपस्तत्र, प्रणम्येत्याह किं ददे ? ।
स ऊचे शतपुत्रीक !, पुत्रीमेकां प्रयच्छ मे ॥ १८ ॥
शापभीरुर्नृपोऽवादीद्, या त्वामिच्छति साऽस्तु ते ।
स कन्यान्तःपुरं प्राप्त-स्ताभिस्तं वीक्ष्य थूत्कृतम ॥ १९ ॥
ऊचुश्च किं तवाह्रादुं, कासो मुंडैव किं मृतः ? ।

सोऽथ तन्नेच्छया रुष्टः, शप्त्वा कुब्जीचकार ताः ॥ २० ॥
रमन्तीं रेणुकैकाऽऽगात्, सुताऽस्यै ढौकितं फलम् ।
उक्ता चेच्छसि साऽऽदत्त, तत्करेणाऽऽददे स ताम् ॥ २१ ॥
ता अथोपस्थिताः कुब्जाः, श्यालिकात्वादऋजूकृताः ।
स मगोदासिकाद्यां तां, दत्तां राज्ञाऽऽश्रमेऽनयत् ॥ २२ ॥
पाणिग्रहणकाले च, स तस्याः पाणिमग्रहीत् ।
ऋतुकाले च तामूचे, चरुं ब्राह्मं पचामि ते ॥ २३ ॥
भवत्वेवं तथा कान्त!, स्वसा मे हस्तिनापुरे ।
अनन्तवीर्यभार्याऽस्ति, तस्याः क्षात्रं चरुं पच ॥ २४ ॥
स पक्त्वा द्वौ चरू तस्याः, आर्पयत् साऽप्यचिन्तयत् ।
जाताऽटवीमृगी ताव-दहं मैवं सुतोऽप्यभूत् ॥ २५ ॥
ततः क्षात्रं स्वयं प्राश, ब्राह्मं जाम्यै न्ययोजयत् ।
अभूद्रामः सुतोऽथास्याः, कार्तवीर्यः स्वसुः पुनः ॥ २६ ॥
रामोऽथो यौवनं प्राप्त, तत्रागात्कोऽपि खेचरः ।
स चाकस्मादभून्नष्टो, रामेण प्रतिपालितः ॥ २७ ॥
पर्शुविद्यां स तस्यादा-त्तां च सोऽसाधयद्वने ।
पर्शुराम इति ख्यातः, ततः स पर्शुशस्त्रतः ॥ २८ ॥
अन्यदा रेणुकाऽयासीद्, भगिनीवेश्म तत्र च ।
भगिनीवल्लभाऽऽसङ्गाद्, पुत्रमेकमजीजनत् ॥ २९ ॥
जमदग्निरथानैषी-त्सपुत्रामपि तां ततः ।
रुषा व्यनीनशद्रामा-स्सपुत्रामपि रेणुकाम् ॥ ३० ॥
तद्भगिन्या श्रुतं तच्च, कथितं स्वपतेस्ततः ।
सोऽथाऽऽगत्याऽऽश्रमं भङ्क्त्वा, गृहीत्वा गास्ततोऽव्रजत् ॥ ३१ ॥
पश्चात् परशुरामेण, धावित्वा पर्शुना हतः ।
कार्तवीर्योऽभवद्राजा, ताराजानिस्तदङ्गजः ॥ ३२ ॥
सोऽथान्यदा पितुर्मृत्युं, ज्ञात्वा रामकृतं रुषा ।
आगत्य पितरं तस्य, जमदग्निममारयत् ॥ ३३ ॥
ज्वलत्पर्शुरथागत्य, रेणुकेयो रुषाऽरुणः ॥
कार्तवीर्यं रणे हत्वा, स्वयं राज्यं प्रपन्नवान् ॥ ३४ ॥
इतः पलायिता राज्ञी, ताराऽगात्तापसाऽऽश्रमम् ।
संभ्रमेणापतद् गर्भः, तस्या गृह्णन् भुवं रदैः ॥ ३५ ॥
सुभूम इति दत्ताह्वो, ववृधे तापसाश्रमे ।
परशुः पर्शुरामस्य, जज्वाल क्षत्रियान्तकृत् ॥ ३६ ॥
अन्यदाऽऽश्रमपार्श्वेन, पर्शुरामस्य गच्छतः ।
पर्शौ ज्वलति तेनोक्ताः, भीताः स्वं क्षात्रियं जगुः ॥ ३७ ॥
पर्शुरामः सप्तकृत्वः, क्ष्मां निःक्षत्रियां व्यधात् ।
स्थालं बभार दंष्ट्राभि-स्तेषां मुक्ताकणैरिव ॥ ३८ ॥
एवं व्यधायि च क्रोधा-द्रामेण क्षत्रियक्षयः ।
नमयन्तः क्रुधं धन्याः, नमोऽर्हाः स्युः पुनर्जिनाः ॥ ३९ ॥"
आ० क० । आ० चू० । आ० म० ।

जमदग्गिजडा-जमदग्निजटा-स्त्री० । बालके, गन्धद्रव्यविशेषे च । उत्त० ३ अ० ।

जमदग्गिपुत्त-जमदग्निपुत्र-पुं० । पर्शुरामे, जी० ३ प्रति० ।

जमपुरिससंकुल-यमपुरुषसंकुल-त्रि० । यमस्य दक्षिणदिक्पालस्य पुरुषा अम्बादयोऽसुरविशेषास्तैः संकुला ये ते तथा । परमाधार्मिककलितेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जमपुरिससंनिभ-यमपुरुषसन्निभ-त्रि० । परमाधार्मिकतुल्ये क्रूरजने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

जमप्पभ-यमप्रभ-पुं० । चमरेन्द्रस्य यममहाराजस्य स्वनामके उत्पातके उत्पातपर्वते, स्था० १० ठा० ।

जमल-यमल-न० । यमं योगं लाति । ला-कः । युग्मे, वाच० । समश्रेणीके, रा० । जं० । उत्त० । जी० । भ० । अनु० । ज्ञा० । "विज्जाहरजमलजुअलजंतजुत्तं ।" प्र० ९ श० ३१ उ० । समसंस्थितद्वयरूपे, रा० । औ० । "चक्कगयमुसुंढिरोह-सयग्घिजमलकवाडघणदुप्पवेसा ।" औ० । समे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । औ० । "निल्लालियजमलजुअलजीहं" ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । सहवर्तिनि, "जमलजुअलचंचलचलंतजीहं ।" यमलं सहवर्ति युगलं द्वयं चञ्चलं यथा भवत्येवं चलन्त्योरतिचपलयोर्जिह्वयोर्यस्य स तथा नमः प्राकृतत्वाच्चैवं समासः । भ० १५ श० १ उ० । समानजातीययोर्युग्मे, रा० ।

जमलकोट्ठिया-यमलकोष्ठिका-स्त्री० । समतया व्यवस्थापितकुशूलिकाद्वये, उत्त० २ अ० । "जमलकोट्ठियासंठाणसंठिया ।" उत्त० २ अ० ।

जमलजुअल-यमलयुगल-न० । समश्रेणीके युग्मे, रा० । जी० । समानशीलेषु द्वन्द्वेषु, रा० । आ० म० । "विज्जाहरजमलजुअलाइं ।" आ० म० प्र० ।

जमलज्जुणभंजग-यमलार्जुनभञ्जक-त्रि० । श्रीकृष्णे, स हि पितृवैरिणौ विद्याधरौ रथारूढस्य गच्छतो मारणार्थं पथि विकुर्वितयमलार्जुनवृक्षरूपौ सारथस्य मध्येन गच्छतः चूर्णनप्रवृत्तो हतवान् । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

जमलपद-यमलपद-न० । प्रायश्चित्तविशेषे, "यमलपदं नाम तवकाला तेहिं विसेसिया कज्जंति पढमपए दोहिं लघु,बितियपए कालगुरु,ततियपए तवगुरु,चउत्थपए दोहिं वि गुरु ।" नि० चू० १ उ० ।

जमलपय-यमलपद-न० । 'जमलपद' शब्दार्थे, नि०चू०१उ० । "जमलपया" इति तपःकालयोः संज्ञा । वृ० १ उ० । समयपरिभाषयाऽष्टानामष्टानामङ्कस्थानानां यमलपदमिति संज्ञा । प्रज्ञा० १२ पद ।

जमलपाणि-यमलपाणि-पुं० । मुष्टौ, भ० १७ श० ३ उ० ।

जमलिय-यमलित-त्रि० । यमलं नाम सजातीययोर्युग्मं, तत् संजातमेषां ते यमलिताः । रा० । जं० । जी० । युग्मीभूय व्यवस्थितेषु,समश्रेणितया व्यवस्थितेषु च । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । भ० ।

जमलोइय-यमलौकिक-पुं० । अम्बादिषु परमाधार्मिकेषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

जमा-याम्या-स्त्री० । यमो देवता यस्याः सा याम्या । भ० १० श० १ उ० । दक्षिणस्यां दिशि, ओघ० ।

जमालि-यमालि-पुं० । महावीरजिनस्य जामातरि स्वनामख्याते प्रथमे निह्नवे, आ० क० । उत्त० । स्था० । कल्प० ।

तत्प्रबन्धश्चैवम्—

तस्स णं माहणकुंडग्गामस्स णयरस्स पच्चच्छिमेणं, एत्थ णं खत्तियकुंडग्गामे णामं णयरे होत्था । वण्णओ—

तत्थ णं खत्तियकुंडग्गामे णयरे जमाली णामं खत्तियकुमारे परिवसइ, अड्ढे दित्ते० जाव अपरिभूए, उप्पिं पासायवरगए फुट्टमाणेहिं मुयंगमत्थएहिं वत्तीसइबद्धेहिं नाडएहिं णाणाविहवरतरुणीसंपउत्तेहिं उवणच्चिज्जमाणे उवणच्चिज्जमाणे उवगिज्जमाणे उवगिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे पाउसवासारत्त-सरद-हेमंत-ससिर-वसंत-गिम्हपज्जंते छप्पि उऊ जहाविभवेणं माणमाणे कालं गालेमाणे इट्ठे सद्दे फरिसरसरूवगंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चणुब्भवमाणे विहरइ । तए णं खत्तियकुंडग्गामे णयरे सिंगाडगतिगचउक्कचच्चर०जाव बहुजणसद्देइ वा जहा उववाइए० जाव एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ, एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे आदिगरे० जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी माहणकुंडग्गामस्स णयरस्स बहिया बहुसालए चेइए अहापडिरूवं० जाव विहरइ , तं महप्फलं खलु देवाणुप्पिया! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं जहा उववाइए० जाव एगाभिमुहे खत्तियकुंडग्गामं णयरं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव माहणकुंडग्गामे णयरे जेणेव बहुसालए चेइए, एवं जहा उववाइए० जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ, तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स तं महया जणसद्दं वा० जाव सणिणवायं वा सुणमाणस्स वा पासमाणस्स वा अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था, किं णं अज्ज खत्तियकुंडग्गामे णयरे इंदमहेइ वा खंदमहेइ वा मुगुंदमहेइ वा णागमहेइ वा जक्खमहेइ वा भूयमहेइ वा कूवमहेइ वा तडागमहेइ वा नईमहेइ वा दहमहेइ वा पव्वयमहेइ वा रुक्खमहेइ वा चेइयमहेइ वा थूवमहेइ वा, जं णं एए बहवे उग्गा भोगा राइण्णा इक्खागा णाया कोरवा खत्तिया खत्तियपुत्ता भडा भडपुत्ता सेणावती पसत्थारो लेच्छइ माहणा इब्भा जहा उववाइए सत्थवाहप्पभितयो एहाया कयबलिकम्मा जहा उववाइए० जाव णिग्गच्छंति, एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता एवं कंचुइज्जपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-किं णं देवाणुप्पिया ! अज्ज खत्तियकुंडग्गामे णयरे इंदमहेइ वा० जाव णिग्गच्छंती, तए णं से कंचुइज्जपुरिसे जमालिणामेणं खत्तियकुमारेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे समणस्स भगवओ महावीरस्स आगमणगहियविणिच्छए करयल० जमालिं खत्तियकुमारं जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी-णो खलु देवाणुप्पिया ! अज्ज खत्तियकुंडग्गामे णयरे इंदमहेइ वा० जाव णिग्गच्छंति । एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे० जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी माहणकुंडग्गामस्स णयरस्स बहिया बहुसालए चेइए अहारूवं उग्गहं० जाव विहरइ । जं णं एए बहवे उग्गा भोगा० जाव अप्पेगइया वंदणवत्तियं० जाव णिग्गच्छंति । तए णं जमाली खत्तियकुमारे कंचुइज्जपुरिसस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जमालिणा खत्तियकुमारेणं एवं वुत्ता समाणा पच्चप्पिणंति । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एहाए कयबलिकम्मे जहा उववाइए परिसावण्णओ, तहा भाणियव्वं० जाव चंदणोक्खित्तगायसरीरे सव्वालंकारविभूसिए मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव चाउग्घंटे आसरहे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ, दुरूहइत्ता सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं महया भडचडगरपहकरविंदपरिक्खित्ते खत्तियकुंडग्गामं णयरं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव माहणकुंडग्गामे णयरे जेणेव बहुसालए चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तुरिए निगिण्हेइ, निगिण्हेइत्ता रहं ठवेइ, ठवेइत्ता रहाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता पुप्फतंबोलाउहमाइयवाणहाओ य विसज्जेइ, विसज्जेइत्ता एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ, करेइत्ता आयंते चोक्खे परमसुइब्भूए अंजलिमउलियहत्थे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो० जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ । तए णं समणे भगवं महावीरे जमालिस्स खत्तियकुमारस्स तीसे य महइ महालियाए इसि० जाव धम्मकहा० जाव परिसा पडिगया । तए णं जमाली खत्तियकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो० जाव णमंसित्ता एवं वयासी-सद्दहामि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, रोएमि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, अब्भुट्ठेमि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, एवमेयं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, तहमेयं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, अवितहमेयं भंते !, असंदिद्धमेयं भंते !,० जाव से जहेयं तुब्भे वदह, जं णवरं देवाणुप्पिया ! अम्मापिअरो आपुच्छामि, तए णं देवा-

णुप्पियाणं अंतियं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वयामि ?। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो० जाव णमंसित्ता तमेव चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ, दुरूहइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ बहुसालाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता सकोरंटमल्लदामेणं० जाव धरिज्जमाणेणं महया भडचडगर० जाव परिक्खित्ते जेणेव खत्तियकुंडग्गामे णयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता खत्तियकुंडग्गामं णयरं मज्झंमज्झेणं जेणेव सए गिहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तुरिए निगिण्हइ, निगिण्हइत्ता रहं ठवेइ, ठवेइत्ता रहाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता जेणेव अब्भिंतरिया उवट्ठाणसाला जेणेव अम्मापिअरो तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अम्मापिअरो जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु अम्म ! ताओ ! मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं निसंते से वि य धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए। तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापिअरो एवं वयासी-धण्णे सि णं तुम्मं जाया !, कयत्थे सि णं तुम्मं जाया !, कयपुण्णे सि णं तुम्मं जाया !, कयलक्खणे सि णं तुम्मं जाया !, जेणं तुम्मे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं निसंते से वि य धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए। तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मापिअरो दोच्चं पि एवं वयासी-एवं खलु मए अम्म ! ताओ ! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं निसंते० जाव अभिरुइए, तए णं अहं अम्म ! ताओ ! संसारभयउव्विग्गे भीए जम्मजरामरणेणं तं इच्छामि णं अम्म ! ताओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, तए णं सा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया तं अणिट्ठं अकंतं अप्पियं अमणुण्णं अमणामं असुयपुव्वं गिरं सोच्चा णिसम्म सेयागयरोमकूवपगलंतविगलीणगत्ता सोगभरपवेवियंगमंगी नित्तेया दीणविमणवयणा करयलमलिय व्व कमलमाला तक्खणउलुग्गदुब्बलसरीरलायण्णसुण्णनिच्छायगयसिरीया पसिढिलभूसणपडंतखुण्णियसंचुण्णियधवलवलया पब्भट्ठउत्तरिज्जा मुच्छावसणट्ठचेतगरुई सुकुमालविकिण्णकेसहत्था परसुणियत्त व्व चंपगलया निव्वत्तमहे व्व इंदलट्ठी विमुक्कसंधिबंधणा कोट्टिमतलंसि धस त्ति सव्वंगेहिं सन्निवडिया, तए णं सा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया ससंभमोयत्तियाए तुरियं कंचणभिंगारमुहविणिग्गयसीयलविमलजलधारपरिसिंचमाणनिव्वावियगायलट्ठी उक्खेवयतालियंटवीयणगजणियवाएणं संफुसिएणं अंतेउरपरियणेणं आसासिया समाणी रोयमाणी कंदमाणी सोयमाणी विलवमाणी जमालिं खत्तियकुमारं एवं वयासी-तुमं सि णं जाया ! अम्मं एगे पुत्ते इट्ठे कंते पिए मणुण्णे मणामे थेज्जे वेसासिए संमए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे रयणभूए जीवियउस्सविए हिययणंदजणणे उंबरपुप्फं पि व दुल्लहे सवणयाए किमंग ! पुण पासणयाए, तं णो खलु जाया ! अम्हे इच्छामो तुब्भं खणमवि विप्पओगं, तं अच्छाहि ताव जाया ! जाव ताव अम्हे जीवामो, तओ पच्छा अम्हेहिं कालगएहिं समाणेहिं परिणयवओ वड्ढियकुलवंसतंतुकज्जम्मि निरवयक्खे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारिअं पव्वइहिसि। तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मापिअरो एवं वयासी-तहा वि णं तं अम्म ! ताओ ! जं णं तुब्भे ममं एवं वदह-तुमं सि णं जाया ! अम्मं एगे पुत्ते इट्ठे कंते तं चेव० जाव पव्वइहिसि, एवं खलु अम्म ! ताओ ! माणुस्सए भवे अणेगजाइजरामरणरोगसारीरमाणसपकामदुक्खवेयणवसणसओवद्दवाभिभूए अधुवे अणितिए असासए संझब्भरागसरिसे जलबुब्बुदसमाणे कुसग्गजलबिंदुसन्निभे सुविणगदंसणोवमे विज्जुयाचंचले अणिच्चे सडणपडणविद्धंसणधम्मे पुव्विं वा पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वे भविस्सइ, से केस णं जाणइ-अम्म ! ताओ ! के पुव्विं गमणयाए, के पच्छा गमणयाए, तं इच्छामि णं अम्म ! ताओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स० जाव पव्वइत्तए ?। तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापियरो एवं वयासी-इमं च णं ते जाया ! सरीरगं पविसिट्ठरूवलक्खणवंजणगुणोववेयं उत्तमबलवीरियसत्तजुत्तं विण्णाणवियक्खणससोहग्गगुणसमुस्सियअभिजायमहक्खमं विविहवाहिरोगरहियं निरुवहयउदत्तलट्ठपंचिंदियपडुपढमजोव्वणत्थमणेगउत्तमगुणेहिं जुत्तं तं अणुहोहि ताव० जाव जाया ! नियगसरीररूवसोहग्गजोव्वणगुणे तओ पच्छा अणुभूय नियगसरीररूवसोहग्गजोव्वणगुणे अम्हेहिं कालगएहिं समाणेहिं परिणयवओ वड्ढियकुलवंसतंतुकज्जनिरवयक्खे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइहिसि । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मापियरो एवं वयासी-तहा वि णं तं अम्म ! ताओ ! जं णं तुब्भे मम एवं वदह-इमं च णं ते जाया ! सरीरगं तं चेव० जाव पव्वइहिसि, एवं खलु

अम्म ! ताओ ! माणुस्सगं सरीरं दुक्खाययणं विविहवाहि-सयसंनिकेयं अट्ठियकट्ठुट्ठियं छिरारहारुजालओवणद्धसंपिणद्धं मट्टियभंडं व दुब्बलं असुइसंकिलिट्ठं अणिट्ठवियसव्वकाल-संठप्पयजराकुणिमजज्जरघरं व सडणपडणविद्धंसणधम्मं पुव्विं वा पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वं भविस्सइ । से केस णं जाणइ-अम्म ! ताओ ! के पुव्विं तं चेव० जाव पव्व-इत्तए । तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापियरो एवं वयासी-इमाओ य ते जाया ! विउलकुलबालियाओ सरिस-याओ सरित्तयाओ सरिव्वयाओ सरिसलावण्णरूवजो-व्वणगुणोववेयाओ सरिसएहिंतो कुलेहिंतो आणिएल्लिया-ओ कलाकुसलसव्वकाललालियसुहोचियाओ मद्दवगुणजु-त्तनिउणविणओवयारपंडियवियक्खणाओ मंजुलमियम-हुरभणियविहसियविप्पेक्खियगइविलासचिट्ठियविसारया-ओ अविकलकुलसीलसालियाओ विसुद्धकुलवंससंताण-तंतुवद्धणप्पगब्भवयभाविणीओ मणाणुकूलहियइच्छि-याओ अट्ठ तुज्झ गुणवल्लहाओ उत्तमाओ निच्चं भावा-णुरत्तसव्वंगसुंदरीओ भारियाओ तं भुंजाहि ताव जाव जाया ! एयाहिं सद्धिं विउले माणुस्सए कामभोगे, तओ पच्छा भुत्तभोगी विसयविगयवोच्छिन्नकोउहल्ले अम्हेहिं कालगएहिं० जाव पव्वइहिसि । तए णं से जमा-ली खत्तियकुमारे अम्मापियरो एवं वयासी-तहा वि णं तं अम्म ! ताओ ! जं णं तुब्भे मम एवं वदह-इमाओ य ते जाया ! विउलकुल० जाव पव्वइहिसि , एवं खलु अम्म ! ताओ ! माणुस्सया कामभोगा असुई असासया वंतासवा पित्तासवा खेलासवा सुक्कासवा सोणियासवा उच्चारपास-वणखेलसिंघाणवंतपूयसुक्कसोणियसमुब्भवा अमणुण्णदुरू-वमुत्तपूइयपुरीसपुण्णा मयगंधुस्सासअसुभनिस्सासउ-व्वेयणगा बीभत्था अप्पकालिया लहुसगा कलमलाहिवा-सदुक्खबहुजणसाहारणा परिकिलेसकिच्छदुक्खसज्झा अबुहजणसेविया सदा साहुगरहणिज्जा अणंतसंसारवद्ध-णा कडुयफलविवागा चुडुलि व्व अमुच्चमाणदुक्खाणुबंधि-णो सिद्धिगमणविग्घा, से केस णं जाणइ अम्म ! ताओ ! के पुव्विं गमणयाए, के पच्छा ?, तं इच्छामि णं अम्म ! ताओ !० जाव पव्वइत्तए । तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अ-म्मापिअरो एवं वयासी-इमे य ते जाया ! अज्जयपज्ज-यपिउपज्जयागए य बहुहिरण्णे य सुवण्णे य कंसे य दूसे य विउलधणकणग० जाव संतसारसावएज्जे अलाहि० जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पकामं दाउं पकामं भोत्तुं परिभाएत्तुं तं अणुहोहि ताव जाया ! विपुले माणुस्सए इड्ढिसक्कारसमुदए, तओ पच्छा अणुभूयकल्लाणे वड्ढियकु-लवंस० जाव पव्वइहिसि । तए णं से जमाली खत्तियकु-मारे अम्मापिअरो एवं वयासी-तहा वि णं अम्म ! ताओ ! जं णं तुब्भे ममं एवं वदह-इमं च ते जाया ! अज्जयप-ज्जय० जाव पव्वइहिसि । एवं खलु अम्म ! ताओ ! हि-रण्णे य सुवण्णे य० जाव सावएज्जे अग्गिसाहिए चोरसा-हिए रायसाहिए मच्चुसाहिए दाइयसाहिए अग्गिसाम-ण्णे० जाव दाइयसामण्णे अधुवे अणितिए असासए पुव्विं वा पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वं भविस्सइ, से केस णं जाणइ तं चेव० जाव पव्वइत्तए । तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मयाओ जाहे नो संचाएइ, वि-सयाणुलोमेहिं बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य विण्णवणाहि य सण्णवणाहि य आघवेत्तए वा सण्णवे-त्तए वा विण्णवेत्तए वा ताहे विसयपडिकूलाहिं संजमभय-उव्वेयणकरीहिं पण्णवणाहिं पण्णवेमाणा एवं वयासी-एवं खलु जाया ! णिग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवले जहा आव-स्सए० जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ, अहीव एगंतदिट्ठिए, खुरो इव एगंतधाराए, लोहमया जवा चावेयव्वा वालुया-कवले इव निस्सारे, गंगेव महानदी पडिसोतगमणयाए महासमुद्दो व्व भुयाहिं दुत्तरो तिक्खं कमियव्वं गुरुयं लं-बेयव्वं, असिधारागं वयं चरियव्वं, णो खलु कप्पइ जाया ! समणाणं णिग्गंथाणं आहाकम्मिएइ वा उद्देसिएइ वा मिस्सजाएइ वा अज्झोयरिएइ वा पूइएइ वा कीएइए वा पामिच्चेइ वा अच्छेज्जेइ वा अणिसिट्ठेइ वा अभिहडेइ वा कंतारभत्तेइ वा दुब्भिक्खभत्तेइ वा गिलाणभत्तेइ वा वद्दलियाभत्तेइ वा पाहुणभत्तेइ वा सेज्जायरपिंडेइ वा रायपिंडेइ वा मूलभोयणेइ वा कंदभोयणेइ वा फलभोय-णेइ वा बीयभोयणेइ वा हरियभोयणेइ वा भुत्तए वा पायए वा तुम्मं सि च णं जाया ! सुहसमुचिए णो चेव णं दुहसमु-चिए नालं सीयं नालं उण्हं नालं खुहा नालं पिवासा नालं चोरा नालं वाला नालं दंसा नालं मसगा नालं वाइयपि-त्तियसिंभियसन्निवाइयविविहे रोगायंके परीसहोवसग्गे उ-दिण्णे अहियासेत्तए, तं णो खलु जाया ! अम्हे इच्छामो तुज्झं खणमवि विप्पओगं, तं अच्छाहि ताव जाया ! जाव अम्हे जीवामो, तओ पच्छा अम्हेहिं कालगएहिं० जाव पव्वइहिसि । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मा-पियरो एवं वयासी-तहा वि णं तं अम्म ! ताओ ! जं णं तुब्भे ममं एवं वदह-एवं खलु जाया ! णिग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवले तं चेव० जाव पव्वइहिसि , एवं खलु अम्म ! ताओ ! णिग्गंथे पावयणे कीवाणं कायराणं का-पुरिसाणं इहलोगपडिबंधाणं परलोगपरंमुहाणं विसयति-

सियाणं दुरणुचरे पामरजणस्स, धीरस्स णिच्छियस्स ववसियस्स णो खलु एत्थ किंचि वि दुक्करं करणयाए, तं इच्छामि णं अम्म! ताओ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स० जाव पव्वइत्तए। तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापिअरो जाहे नो संचाएइ विसयाणुलोमाहि य विसयपडिकूलाहि य बहूहिं आघवणाहि य पन्नवणाहि य ४ आघवेत्तए वा० जाव विन्नवेत्तए वा, ताहे अकामाइं चेव निक्खमणं अणुमन्नित्था। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! खत्तियकुंडग्गामं नयरं सब्भिंतरबाहिरियं आसियसम्मज्जिओवलित्तं जहा उववाइए० जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! जमालिस्स खत्तियकुमारस्स महत्थं महग्घं महरिहं विपुलं णिक्खमणाऽभिसेयं उवट्ठवेह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा तहेव० जाव पच्चप्पिणंति। तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापियरो सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहं निसीयावेइ, निसीयावेइत्ता अट्ठसएणं सोवण्णियाणं कलसाणं एवं जहा रायप्पसेणिए० जाव अट्ठसयाणं भोमेज्जाणं कलसाणं सव्विड्ढीए० जाव महया रवेणं महया महया निक्खमणाभिसेगेणं अभिसिंचंति, अभिसिंचंतित्ता करयल० जाव जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी-भण जाया! किं देमो, किं पयच्छामो, किं णा वा ते अट्ठो?। तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मापियरो एवं वयासी-इच्छामि णं अम्म! ताओ! कुत्तियावणाओ रयहरणं च, पडिग्गहं च आणेउं, कासवगं च सद्दाविउं। तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सिरिघराओ तिण्णि सयसहस्साइं गहाय दोहिं सयसहस्सेहिं कुत्तियावणाओ रयहरणं च पडिग्गहं च आणेह, सयसहस्सेणं कासवगं सद्दावेह। तए णं से कोडुंबियपुरिसे जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठकरयल० जाव पडिसुणेत्ता खिप्पामेव सिरिघराओ तिण्णि सयसहस्साइं तहेव० जाव कासवगं सद्दावेइ। तए णं से कासवए जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणा कोडुंबियपुरिसेहिं सद्दाविए समाणे हट्ठे तुट्ठे ण्हाए कयबलिकम्मे० जाव सरीरे जेणेव जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पियरं जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी-संदिसह तुमं देवाणुप्पिया! जं मए करणिज्जं। तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया तं कासवगं एवं वयासी-तुमं देवाणुप्पिया! जमालिस्स खत्तियकुमारस्स परेणं जत्तेणं चउरंगुलवज्जे णिक्खमणप्पओगे अग्गकेसे कप्पेह। तए णं से कासवए जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे करयल० जाव एवं सामी! तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता सुरभिणा गंधोदएणं हत्थपाए पक्खालेइ, पक्खालेइत्ता सुद्धाए अट्ठपडलाए पोत्तिए मुहं बंधइ, बंधइत्ता जमालिस्स खत्तियकुमारस्स परेणं जत्तेणं चउरंगुलवज्जे निक्खमणप्पओगे अग्गकेसे कप्पेइ। तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया हंसलक्खणेणं पडसाडएणं अग्गकेसे पडिच्छइ, पडिच्छइत्ता सुरभिणा गंधोदएणं पक्खालेइ, पक्खालेइत्ता अग्गेहिं वरेहिं गंधेहिं मल्लेहिं अच्चेइ, अच्चेइत्ता सुद्धेणं वत्थेणं बंधइ, बंधेइत्ता रयणकरंडगंसि पक्खिवइ, पक्खिवइत्ता हारवारिधारसिंदुवारच्छिन्नमुत्तावलिप्पगासाइं सुयवियोगदूसहाइं अंसूइं विणिम्मुयमाणी विणिम्मुयमाणी एवं वयासी-एस णं अम्हं जमालिस्स खत्तियकुमारस्स बहूसु य तिहीसु य पव्वणीसु य उस्सवेसु य जन्नेसु य छणेसु य अपच्छिमे दरिसणे भविस्सती त्ति कट्टु उसीसगमूले ठवेइ। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स अम्मापियरो दोच्चं पि उत्तरावक्कमणं सीहासणं रयावेंति, रयावेंतित्ता जमालिं खत्तियकुमारं सेयपीएहिं कलसेहिं ण्हावेंति, सेयपीयेहिं कलसेहिं ण्हावेंतित्ता पम्हलसुकुमालाए सुरभिए गंधकासाइए गायाइं लूहेंति, लूहेंतित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपंति, गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपित्ता नासानिस्सासवायवोज्झं चक्खुहरं वण्णफरिसजुत्तं हयलालापेलवातिरेगं धवलकणगखचियंतकम्मं महरिहं हंसलक्खणपडसाडगं परिहिंति, परिहिंतित्ता हारं पिणद्धेंति पिणद्धेंतित्ता अद्धहारं पिणद्धेंति, पिणद्धेंतित्ता एवं जहा सूरियाभस्स अलंकारो तहेव चित्तरयणसंकडुक्कडं मउडं पिणद्धेंति, किं बहुणा? गंथिमवेढिमपूरिमसंघातिमेणं चउव्विहेणं मल्लेणं कप्परुक्खगं पिव अलंकियविभूसियं करेइ, तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं लीलट्ठियसालिभंजियागं जहा रायप्पसेणइज्जे विमाणवण्णओ० जाव मणिरयणघंटियाजालपरिक्खित्तं पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं उवट्ठवेह, उवट्ठवेइत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। तए णं ते कोडुंबियपु-

रिसा० जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से जमाली खत्तिय-कुमारे केसालंकारेणं वत्थालंकारेणं मल्लालंकारेणं आभ-रणालंकारेणं चउव्विहेणं अलंकारेणं अलंकारिए समाणे पडिपुण्णालंकारे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ,अब्भुट्ठेइत्ता सीयं अणुप्पदाहिणीकरेमाणे सीयं दुरूहइ, दुरूहइत्ता सीहा-सणवरंसि पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे। तए णं तस्स जमा-लिस्स खत्तियकुमारस्स माया ण्हाया० जाव सरीरा हं-सलक्खणं पडसाडगं गहाय सीयं अणुप्पदाहिणीकरेमाणी सीयं दुरूहइ, दुरूहइत्ता जमालिस्स खत्तियकुमारस्स दाहिणेणं पासेणं भद्दासणवरंसि सण्णिसण्णा, तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स अम्मधाती ण्हाया० जाव सरीरा रयहरणं पडिग्गहं च गहाय सीयं अणुप्पदा-हिणीकरेमाणी सीयं दुरूहइ, दुरूहइत्ता जमालिस्स खत्तियकुमारस्स वामे पासे भद्दासणवरंसि सण्णिसण्णा। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिट्ठओ एगा वरतरुणी सिंगारागारचारुवेसा संगय० जाव रूवजोव्वण-विलासकलिया सुंदरथणहिमरययकुमुदकुंदेंदुप्पगासं सको-रंटमल्लदामं धवलं आयवत्तं गहाय सलीलं उवधरेमाणी २ चिट्ठइ। तए णं तस्स जमालिस्स० उभओ पासिं दुवे वरत-रुणीओ सिंगारागारचारु० जाव कलियाओ णाणाम-णिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखंककुंददगरयअमियमहियफेणपुंजसण्णि-गासाओ धवलाओ चामराओ गहाय सलीलं वीयमाणीओ वीयमाणीओ चिट्ठंति । तए णं तस्स जमालिस्स ख-त्तियकुमारस्स उत्तरपुरच्छिमेणं एगा वरतरुणी सिंगा-रागार० जाव कलिया सेतं रययामयं विमलसलि-लपुण्णं मत्तगयमहामुहाकिइसमाणं भिंगारं गहाय चिट्ठइ। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स दाहि-णपुरच्छिमेणं एगा वरतरुणी सिंगारागार० जाव कलिया चित्तकणगदंडं तालपटं गहाय चिट्ठइ। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दा-वेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो दे-वाणुप्पिया ! सरिसयं सरित्तयं सरिव्वयं सरिसलावण्ण-रूवजोव्वणगुणोववेयं एगाभरणवसणगहियनिज्जोयं को-डुंबियवरतरुणसहस्सं सद्दावेह। तए णं ते कोडुंबिय-पुरिसा० जाव पडिसुणेत्ता खिप्पामेव सरिसयं० जाव सद्दावेंति, तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जमालिस्स खत्ति-यकुमारस्स पिउणा कोडुंबियपुरिसेहिं सद्दाविया समाणा हट्ठतुट्ठा ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता एगाभरणवसणगहियनिज्जोया जेणेव जमालिस्स खत्तिय-कुमारस्स पिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जाव वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी-संदिसंतु णं देवा-णुप्पिया ! जं अम्हेहिं करणिज्जं, तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया तं कोडुंबियं वरतरुणसहस्सं पि एवं वयासी-तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! ण्हाया कयबलि-कम्मा० जाव गहियणिज्जोगा जमालिस्स खत्तियकुमा-रस्स सीयं परिवहेह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जमालि-स्स खत्तियकुमारस्स सीयं परिवहेंति। तए णं तस्स जमालि-स्स खत्तियकुमारस्स पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरूढस्स समाणस्स तप्पढमयाए इमे अट्ठट्ठमंगला पुरओ अहाणुपु-व्वीए संपट्ठिया। तं जहा-सोत्थियसिरिवत्थ० जाव दप्प-णं, तदाणंतरं च णं पुण्णकलसभिंगार जहा उववाइए० जाव गयणतलमणुलिहंती पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया एवं जहा उववाइए तहेव भाणियव्वं० जाव आलोयं च करेमाणा जयजयसद्दं वा पउंजमाणा पुरओ अहाणुपु-व्वीए संपट्ठिया, तयाणंतरं च णं बहवे उग्गा भोगा जहा उववाइए० जाव महापुरिसवग्गुरा परिक्खित्ता जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पुरओ मग्गओ य पासओ य अहाणु-पुव्वीए संपट्ठिया, तए णं जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया ण्हाया कय० जाव विभूसिए हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्ल-दामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणी-हिं उद्धुव्वमाणीहिं हयगयरहपवरजोहकलियाए चाउ-रंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे महया भडचडगर० जाव परिक्खित्ते जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिट्ठओ २ अणुगच्छइ। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पुरओ महं आसा आसवरा उभओ पासिं णागा णाग-वरा पिट्ठओ रहा रहसंगेल्ली। तए णं से जमाली खत्ति-यकुमारे अब्भुग्गयभिंगारे परिग्गहियतालियंटे ऊसविय-सेयछत्ते पवीइयसेयचामरवालवीयणीए सव्विड्ढीए० जाव णाइयरवेणं, तयाणंतरं च णं बहवे लट्ठिग्गहा कुंत-ग्गहा० जाव पुत्थियग्गहा० जाव वीणग्गहा, तयाणंतरं च णं अट्ठसयं गयाणं अट्ठसयं तुरियाणं अट्ठसयं रहाणं, तदाणंतरं च णं लउडअसिकोंतहत्था णं बहूणं पायत्ताणी-णं पुरओ संपट्ठिया, तयाणंतरं च णं बहवे राइसरतलवर० जाव सत्थवाहप्पभिइयओ पुरओ संपट्ठिया खत्तियकुंडग्गा-मे णयरे मज्झं मज्झेणं जेणेव माहणकुंडग्गामे णयरे जेणेव बहुसालए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव पहा-रेत्थ गमणाए, तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स खत्तियकुंडग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छमाणस्स सिंघाडगतिगचउक्क० जाव पहेसु बहवे अत्थच्छिया जहा

उववाइए जाव० अभिणंदंता य अभित्थुणंता य एवं वयासी-जय जय णंदा धम्मेणं,जय जय णंदा तवेणं,जय जय णंदा भद्दं ते,अभग्गेहिं णाणदंसणचरित्तमुत्तमेहिं अजियाइं जियाहि इंदियाइं,जितं पालेहि समणधम्मं, जियविग्घो वि य वसाहि य देव ! सिद्धिमज्झे, निहणाहि रागदोसमल्ले तवेणं, धिइधणियबद्धकच्छे मद्दाहि अट्ठकम्मसत्तू झाणेणं उत्तमेणं सुक्केणं अप्पमत्तो,हराहि आराहणपडागं च धीर ! तेलोक्करंगमज्झे,पावय वितिमिरमणुत्तरं च केवलणाणं, गच्छ य मोक्खं परं पदं जिणवरोवदिट्ठेणं सिद्धिमग्गेण अकुडिलेन, हंता परीसहचमुं,अभिभविय गामकंटकोवसग्गाणं,धम्मे ते अविग्घमत्थु त्ति कट्टु अभिणंदंति य, अभित्थुणंति य । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे णयणमालासहस्सेहिं पेच्छिज्जमाणे एवं जहा उववाइए कूणिओ० जाव णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव माहणकुंडग्गामे णयरे जेणेव बहुसालए चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता छत्ताईए तित्थगराइसए पासइ, पासइत्ता पुरिससहस्सवाहणिं सीयं ठवेइ, ठवेइत्ता पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ पच्चोरुहइ । तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापियरो पुरओ काउं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो० जाव णमंसित्ता एवं वयासी-एवं खलु भंते ! जमाली खत्तियकुमारे अम्हं एगे पुत्ते इट्ठे कंते० जाव किमंग ! पुण पासणयाए से जहानामए उप्पलेइ वा पउमेइ वा० जाव सहस्सपत्ते वा पंके जाए जले संवुड्ढे णोवलिप्पइ पंकरएणं, णोवलिप्पइ जलरएणं, एवामेव जमाली वि खत्तियकुमारे कामेहिं जाए भोगेहिं संवुड्ढे णोवलिप्पइ कामरएणं, णोवलिप्पइ भोगरएणं, णोवलिप्पइ मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरिजणेणं, एस णं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गे भीए जम्मजरामरणेणं इच्छइ देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, तं एस णं देवाणुप्पियाणं अम्हे सीसभिक्खं दलयामो, पडिच्छंतु णं देवाणुप्पिया ! सीसभिक्खं । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो० जाव णमंसित्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुयइ । तए णं सा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया हंसलक्खणेणं पडसाडएणं आभरणमल्लालंकारं पडिच्छइ, पडिच्छइत्ता हारवारिधार० जाव विणिम्मुयमाणी विणिम्मुयमाणी जमालिं खत्तियकुमारं एवं वयासी-घडियव्वं जाया ! जइयव्वं जाया ! परक्कमियव्वं जाया ! अस्सिं च णं अट्ठे णो पमादेयव्वं त्ति कट्टु जमालिस्स खत्तियकुमारस्स अम्मापियरो समणं भगवं महावीरं वंदंति, णमंसंति, जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, करेइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एवं जहा उसभदत्तो तहेव पव्वइओ, णवरं पंचहिं पुरिससएहिं सद्धिं तहेव० जाव सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जइत्ता बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठम० जाव मासद्धमासक्खमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं से जमाली अणगारे अण्णया कयाइं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसइत्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं बहिया जणवयविहारं विहरित्तए । तए णं समणे भगवं महावीरे जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं णो आढाइ, णो परिजाणइ, तुसिणीए चिट्ठइ । तए णं से जमाली अणगारे समणं भगवं महावीरं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं० जाव विहरित्तए ? । तए णं समणे भगवं महावीरे जमालिस्स अणगारस्स दोच्चं पि तच्चं पि एयमट्ठं णो आढाइ, जाव० तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं से जमाली अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ बहुसालाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं बहिया जणवयविहारं विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी णामं णयरी होत्था, वण्णओ, कोट्ठए चेइए वण्णओ० जाव वणसंडस्स । तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था, वण्णओ पुण्णभद्दे चेइए वण्णओ० जाव पुढवीसिलापट्टओ । तए णं से जमाली अणगारे अण्णया कयाइं पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव सावत्थी णयरी जेणेव कोट्ठए चेइए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हइ, ओगिण्हइत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयाइं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे० जाव सुहंसुहेणं विहरमाणे वा जेणेव चंपा णयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव उवागच्छइ, उवाग-

च्छइत्ता अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हइ, उगिण्हइत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स तेहिं अरसेहि य विरसेहि य अंतेहि य पंतेहि य लूहेहि य तुच्छेहि य कालाइक्कंतेहि य पमाणाइक्कंतेहि य सीएहिं पाणभोअणेहिं अण्णया कयाइं सरीरगंसि विउलरोगातंके पाउब्भूए उज्जले तिउले पगाढे कक्कसे कडुए चंडे दुक्खे दुग्गे तिव्वे दुरहियासे पित्तज्जर-परिगयसरीरे दाहवुक्कंतिए यावि विहरइ । तए णं से जमाली अणगारे वेदणाए अभिभूए समाणे समणे णिग्गंथे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-तुज्झे णं देवाणुप्पिया ! ममं सेज्जा-संथारयं संथरह । तए णं समणा णिग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्तित्ता जमालिस्स अणगारस्स सेज्जासंथारगं संथरेंति । तए णं से जमाली अणगारे बलियतरं वेदणाए अभिभूए समाणे दोच्चं पि समणे णिग्गंथे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-ममं णं देवाणुप्पिया ! सेज्जासंथारए किं कडे कज्जइ ?। तए णं समणा णिग्गंथा तं जमालिं अणगारं एवं वयासी-णो खलु देवाणुप्पिया ! णं सेज्जासंथारए कडे कज्जइ । तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था, जं णं समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ० जाव एवं परूवेइ, एवं खलु चलमाणे चलिए उदीरिज्जमाणे उदीरिए० जाव णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे, तं ण मिच्छा, इमं च णं पच्चक्खमेव दीसइ-सेज्जासंथारए कज्जमाणे अकडे, संथारिज्जमाणे असंथरिए, जम्हा णं सेज्जासंथारए कज्जमाणे अकडे संथरिज्जमाणे असंथरिए, तम्हा चलमाणे वि अचलिए० जाव णिज्जरिज्जमाणे वि अणिज्जिण्णे, एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता समणे णिग्गंथे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-जं णं देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ० जाव परूवेइ, एवं खलु चलमाणे चलिए तं चेव सव्वं० जाव णिज्जरिज्जमाणे अणिज्जिण्णे । तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स एवमाइक्खमाणस्स० जाव परूवेमाणस्स अत्थेगइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं सद्दहंति, पत्तियंति, रोयंति, अत्थेगइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं णो सद्दहंति, णो पत्तियंति, णो रोयंति, तत्थ णं जे ते समणा णिग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं सद्दहंति, पत्तियंति, रोयंति, ते णं जमालिं चेव अणगारं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति । तत्थ णं जे ते समणा णिग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं णो सद्दहंति, णो पत्तियंति, णो रोयंति, ते णं जमालिस्स अणगारस्स अंतियाओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमइत्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव चंपा णयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता समणं भगवं महावीरं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति । तए णं से जमाली अणगारे अण्णया कयाइं ताओ रोगातंकाओ विप्पमुक्के हट्ठे तुट्ठे जाए अरोए बलियसरीरे सावत्थीओ णयरीओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव चंपा णयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी-जहा णं देवाणुप्पियाणं बहवे अंतेवासी समणा णिग्गंथा छउमत्था भवित्ता छउमत्थावक्कमणेणं अवक्कमंता, णो खलु अहं तहा चेव छउमत्थे भवित्ता छउमत्थावक्कमणेणं अवक्कंते, अहं णं उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली भवित्ता केवलीअक्कमणेणं अवक्कंते । तए णं भगवं गोयमे जमालिं अणगारं एवं वयासी-णो खलु जमाली ! केवलिस्स णाणे वा दंसणे वा सेलंसि वा थंभंसि वा थूभंसि वा आवरिज्जइ वा, णिवारिज्जइ वा, जइ णं तुमं जमाली ! उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली भवित्ता केवलीअवक्कमणेणं अवक्कंते, ता णं इमाइं दो वागरणाइं वागरेहि, सासए लोए जमाली !, असासए लोए जमाली !, सासए जीवे जमाली !, असासए जीवे जमाली ! ? । तए णं से जमाली अणगारे भगवया गोयमेणं एवं वुत्ते समाणे संकिए कंखिए० जाव कलुससमावण्णे जाए यावि होत्था, णो संचाएइ भगवओ गोयमस्स किंचि वि पमोक्खमाइक्खित्तए तुसिणीए संचिट्ठइ जमाली । समणे भगवं महावीरे जमालिं अणगारं एवं वयासी- अत्थि णं जमाली ! ममं बहवे अंतेवासी समणा णिग्गंथा छउमत्था, जे णं पभू एयं वागरणं वागरित्तए, जहा णं अहं णो चेव णं एतप्पगारं भासं भासित्तए [illegible] सासए लोए जमाली !, जं णं ण कदायि णासि, ण कदायि ण भवइ, ण कदायि ण भविस्सइ, भुविं च, भवइ, भविस्सति य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे असासए लोए जमाली ! जं ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवइ, उस्सप्पिणी भवित्ता ओसप्पिणी भवइ, सासए जीवे जमाली ! जं ण कदायि णासि० जाव णिच्चे असासए

जीवे जमाली ! जं णं णेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणिए भवइ, तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ, मणुस्से भवित्ता देवे भवइ । तए णं से जमाली अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स एवमाइक्खमाणस्स० जाव एवं परूवेमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहइ, णो पत्तियइ, णो रोयइ, एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे दोच्चं पि समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ आताए अवक्कमइ, दोच्चं पि आताए अवक्कमित्ता बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणे वुप्पाएमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ, पाउणइत्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेइ, झूसेइत्ता तीसं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ, छेदेइत्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा लंतए कप्पे तेरससागरोवमाइं ठिईए देवकिब्बिसिएसु देवेसु देवकिब्बिसियत्ताए उववन्ने । तए णं भगवं गोयमे जमालिं अणगारं कालगयं जाणित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी कुसिस्से जमाली णामं अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववन्ने ?। गोयमादि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी–एवं खलु गोयमा ! ममं अंतेवासी कुसिस्से जमाली णामं अणगारे, से णं तदा ममं एवमाइक्खमाणस्स ४ एयमट्ठं णो सद्दहइ ३, एयमट्ठं असद्दहमाणे दोच्चं पि ममं अंतियाओ आताए अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं तं चेव० जाव देवकिब्बिसियत्ताए उववन्ने । (भ०) जमाली णं भंते ! अणगारे अरसाहारे विरसाहारे अंताहारे पंताहारे लूहाहारे तुच्छाहारे अरसजीवी० जाव तुच्छजीवी उवसंतजीवी पसंतजीवी विवित्तजीवी ?। हंता गोयमा ! जमाली णं अणगारे अरसाहारे० जाव विवित्तजीवी । जइ णं भंते ! जमाली अणगारे अरसाहारे० जाव विवित्तजीवी, कम्हा णं भंते ! जमाली अणगारे कालमासे कालं किच्चा लंतए कप्पे तेरससागरोवमट्ठिईएसु देवकिब्बिसिएसु देवेसु देवत्ताए उववन्ने ?। गोयमा ! जमाली णं अणगारे आयरियपडिणीए उवज्झायपडिणीए आयरियउवज्झायाणं अयसकारए अवण्णकारए० जाव वुप्पाएमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ, पाउणइत्ता अद्धमासियाए संलेहणाए तीसं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ, छेदेइत्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा लंतए कप्पे० जाव उववन्ने । जमाली णं भंते ! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं० जाव कहिं उववज्जिहिइ त्ति ?। गोयमा ! चत्तारि पंच तिरिक्खजोणियमणुस्सदेवभवग्गहणाइं संसारं अणुपरियट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झिहिति० जाव अंतं काहिति सेवं भंते ! भंते त्ति जमाली सम्मत्तो ।

अथ भगवता श्रीमन्महावीरेण सर्वज्ञत्वादमुं तद्व्यतिकरं जानताऽपि किमिति प्रव्राजितोऽसाविति ?। उच्यते-अवश्यं भाविभावानां महानुभावैरपि प्रायो लङ्घयितुमशक्यत्वादित्थमेव वा गुणविशेषदर्शनात् अमूढलक्षा हि भगवन्तोऽर्हन्तो न निष्प्रयोजनं क्रियासु प्रवर्तन्ते । भ० ६ श० ३३ उ० ।

अथ सोपपद्द्य सामान्यतः सूचितमेवार्थमेकैकनिह्नवं प्रति व्यक्तितो निर्दिशन्नाह-

चोद्दस वासाणि तया, जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स ।
तो बहुरयाण दिट्ठी, सावत्थीए समुप्पन्ना ॥ २३०६ ॥

चतुर्दश वर्षाणि तदा जिनेन श्रीमन्महावीरेणोत्पादितस्य केवलज्ञानस्य ततोऽनन्तरे बहुरतनिह्नवानां दर्शनं दृष्टिः श्रावस्त्यां नगर्यां समुत्पन्नेति ॥ २३०६ ॥

सा च यथोत्पन्ना तथा विदर्शयिषुः संग्रहगाथामाह-

जिट्ठा सुदंसण जमा–लिणोज्ज सावत्थितिंदुगुज्जाणे ।
पंच सया य सहस्सं, ढंकेण जमालि मोत्तूणं ॥ २३०७ ॥

अत्र भावार्थस्तावत्कथानकेनोच्यते-इहैव भरतक्षेत्रे कुण्डपुरं नाम नगरम् । तत्र भगवतः श्रीमन्महावीरस्य भागिनेयो जमालिर्नाम राजपुत्र आसीत् । तस्य च भार्या श्रीमन्महावीरस्य दुहिता । तस्याश्च ज्येष्ठेति वा, सुदर्शनेति वा, अनवद्याङ्गीति वा नामेति । तत्र पञ्चशतपुरुषपरिवारो जमालिर्भगवतो महावीरस्यान्तिके प्रव्रज्यां जग्राह । सुदर्शनाऽपि सहस्रस्त्रीपरिवारा तदनु प्रव्रजिता । ततश्चैकादशस्वङ्गेष्वधीतेषु जमालिना भगवान् विहारार्थं मुत्कलापितः । ततो भगवता तूष्णीमास्थाय न किञ्चित्प्रत्युत्तरमदायि, तत एवमनुत्कलितोऽपि पञ्चशतसाधुपरिवृतो निर्गतः श्रीमन्महावीरान्तिकात् । ग्रामानुग्रामं च पर्यटन् गतः श्रावस्तीनगर्यां, तत्र च तैन्दुकाऽभिधानोद्याने कोष्ठकनाम्नि चैत्ये स्थितः, ततश्च तत्र तस्यान्तःप्रान्ताहारैस्तीव्रो रोगातङ्कः समुत्पन्नः, तेन च न शक्नोत्युपविष्टः स्थातुम् । ततो बभाण श्रमणान्–मन्निमित्तं शीघ्रमेव संस्तारकमास्तृणीत, येन तत्र तिष्ठामि । ततस्तैः कर्तुमारब्धोऽसौ । बाढं च दाहज्वराभिभूतेन जमालिना पृष्टम्–संस्तृतः संस्तारको न वेति ?। साधुभिश्च संस्तृतप्रायत्वादर्धसंस्तृतेऽपि प्रोक्तम्–संस्तृत इति । ततोऽसौ वेदनाविह्वलितचेता उत्थाय तत्र तिष्ठासुरर्धसंस्तृतं तत् दृष्ट्वा क्रुद्धः–" क्रियमाणं कृतम् "। इत्यादि सिद्धान्तवचनं स्मृत्वा मिथ्यात्वमोहनीयोदयतो वक्ष्यमाणयुक्तिभिर्वितथमिति चिन्तयामास । ततः स्थविरैर्वक्ष्यमाणाभिरेव युक्तिभिः प्रतिबोधितो यदा कथमपि न प्रतिबुध्यते, तदा गतास्तं परित्यज्य भगवत्समीपे । अन्ये तु तत्समीप एव स्थिताः । सुदर्शनाऽपि तदा तत्रैव श्रावकढङ्ककुम्भकारगृहे आसीत् । जमाल्यनुरागेण च तन्मतमेव प्रपन्ना, ढङ्कमपि

तदुद्धाहयितुं प्रवृत्ता, ततो ढङ्केन मिथ्यात्वमुपगतेयमिति ज्ञात्वा प्रोक्तम्-नेदृशं किमपि वयं जानीमः । अन्यदा चापाकाग्निमध्ये भाजनोद्वर्तनपरावर्तने कुर्वता अङ्गारकमेकं प्रक्षिप्य तत्रैव प्रदेशे स्वाध्यायं कुर्वत्याः सुदर्शनायाः सङ्घाट्यञ्चलो दग्धः । ततस्तया प्रोक्तम्-श्रावक ! किं त्वया मदीयसङ्घाटी दग्धा ?। तेनोक्तम्-ननु 'दह्यमानमदग्धम' इति भवति भवत्याः सिद्धान्तः, ततः क केन त्वदीया सङ्घाटी दग्धा ?। इत्यादि तदुक्तं परिभाव्य संबुद्धाऽसौ सम्यक् प्रेरिताऽस्मीत्यभिधाय मिथ्यादुष्कृतं ददाति, जमालिं च गत्वा प्रज्ञापयति । यदा चासौ कथमपि न प्रज्ञाप्यते, तदाऽसौ सपरिवारा शेषसाधवश्चैकाकिनं जमालिं मुक्त्वा भगवत्समीपं जग्मुः । जमालिस्तु बहुजनं व्युद्ग्राहयन्नालोचितप्रतिक्रान्तः कालं कृत्वा किल्बिषिकदेवेषूत्पन्नः । व्याख्याप्रज्ञप्त्यागमाच्चैतत् चरितं विस्तरतोऽवसेयमिति । एष संग्रहगाथाभावार्थः । अक्षरार्थस्त्वयम्—(जेट्ठा सुदंसण जमालिणोज्ज त्ति) ज्येष्ठा, सुदर्शना, अनवद्याङ्गीति जमालिगृहिणीनामानि । अन्ये तु व्याचक्षते-ज्येष्ठा महती सुदर्शना नाम भगवतः श्रीमन्महावीरस्य भगिनी, तस्याः पुत्रो जमालिः, अनवद्याङ्गी नाम भगवतो दुहिता जमालिगृहिणीति श्रावस्त्यां नगर्यां तैन्दुकोद्याने जमालिनिह्नवदृष्टिरुत्पन्नेति वाक्यशेषः । तत्र पञ्च शतानि साधूनां, सहस्रं चार्यिकाणाम्, एतेषां मध्ये यः स्वयं न प्रतिबुद्धः तं जमालिं मुक्त्वा ढङ्केन प्रतिबोधितः । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २३०७ ॥

अथ भाष्यकारो येन विप्रतिपत्त्यभिप्रायेण जमालिनिह्नवो जातस्तं प्रकटयन्नाह—

सक्खं चिय संथारो, न कज्जमाणो कउ त्ति मे जम्हा ।
बेइ जमाली सव्वं, न कज्जमाणं कयं तम्हा ॥२३०८॥

(मे जम्ह त्ति) यस्मान्मम साक्षात्प्रत्यक्षमेवेदं वृत्तं, यदुत कम्बलास्तरणरूपः संस्तारकः क्रियमाणो न कृतः, संस्तीर्यमाणो न संस्तृतः । तस्माज्जमालिर्ब्रवीति-सर्वमपि वस्तु क्रियमाणं कृतं न भवति, किं तु कृतमेव कृतमुच्यते । ततो भगवत्यादिषु यदुक्तम्-" चालमाणे चलिए उदीरिज्जमाणे उदीरिए, वेइज्जमाणे वेइए " इत्यादि, तत्सर्वं मिथ्येत्यभिप्रायः ॥ इति ॥ २३०८ ॥

अपि च, क्रियमाणं कृताऽभ्युपगमे बहवो दोषाः, क एते ?।
इत्याह-

जस्सेह कज्जमाणं, कयं ति तेणेह विज्जमाणस्स ।
करणकिरिया पवन्ना, तहा य बहुदोसपडिवत्ती ॥२३०९॥

इह यस्य वादिनः क्रियमाणं वस्तु कृतमित्यभ्युपगमः, तेनेह विद्यमानस्य सतः करणरूपाः क्रियाः करणक्रियाः प्रतिपन्ना अङ्गीकृताः । तथा च सति वक्ष्यमाणानां बहूनां दोषाणां प्रतिपत्तिरभ्युपगमरूपा कृता भवतीति ॥ २३०९ ॥

तथाहि-

कयमिह न कज्जमाणं, सब्भावाओ चिरंतनघडो व्व ।
अहवा कयं पि कीरइ, कीरउ निच्चं न य समत्ती ॥२३१०॥

इह क्रियमाणं कृतं न भवतीति प्रतिज्ञा, सद्भावात्—कृतस्य विद्यमानत्वादिति हेतुः, चिरन्तनघटवदिति दृष्टान्तः । विपर्यये बाधकमाह-अथ कृतमपि क्रियत इत्यभ्युपगम्यते, तर्हि नित्यमनवरतमेव क्रियतां, कृतकत्वाविशेषात् । एवं च सति न कदाचिदपि कार्यक्रियापरिसमाप्तिरिति ॥ २३१० ॥

किमेतावन्मात्रमेव दूषणं ?, नेत्याह-

किरियावेफल्लं ति य, पुव्वमभूयं च दीसए होंतं ।
दीसइ दीहो य जओ, किरियाकालो घडाईणं ॥२३११॥

यदि च क्रियमाणं कृतमिष्यते, तर्हि घटादिकार्यार्थं या मृन्मर्दनचक्रभ्रमणादिका क्रिया, तस्याः वैफल्यं प्राप्नोति, तत्काले कार्यस्य कृतत्वाभ्युपगमात् । प्रयोगः-इह यत्कृतं, तत्क्रिया विफलैव, यथा चिरनिष्पन्नघटे, कृतं चाऽभ्युपगम्यते क्रियाकाले कार्यं, ततो विफला तत्र क्रियेति । किं च-क्रियमाणकृतवादिना कृतस्य विद्यमानस्य क्रियेति प्रतिपादितं भवति । एवं च प्रत्यक्षविरोधः, यस्मादुत्पत्तिकालात्पूर्वमभूतमविद्यमानमेव कार्यं भवज्जायमानं दृश्यते, उत्पत्तिकाले तस्मात्क्रियमाणमकृतमेवेति । किं च-आरम्भक्रियासमय एव कार्यमुत्पद्यत इति तवाभ्युपगमः । एतच्चायुक्तम् । कुतः ?, यस्मात् घटादिकार्याणामुत्पद्यमानानां दीर्घ एव निर्वर्तनक्रियाकालो दृश्यत इति ॥ २३११ ॥

दृश्यतां नाम दीर्घः क्रियाकालः, परं घटादिकार्यमारम्भ-
क्रियासमय एव शिवकादिकाले वा दृश्यत इति
चेत्, तदयुक्तम् । कुत इत्याह—

नारंभे च्चिय दीसइ, न सिवादद्धाए दीसइ तदंते ।
तो न हि किरियाकाले, जुत्तं कज्जं तदंतम्मि ॥ २३१२ ॥

नारम्भक्रियासमय एव घटादिकार्यं भवद् दृश्यते, नापि शिवाद्यद्धायाम्-शिवकस्थासकोशकुशूलादिसमयेष्वपि न दृश्यत इत्यर्थः । क तर्हि दृश्यते ?, इत्याह-तदन्ते दीर्घक्रियाकालस्यान्ते घटादिकार्यं भवद् दृश्यते, तस्मान्न क्रियाकाले कार्यं युक्तं, तस्य तदानीमदर्शनात् । तदन्ते तु दीर्घक्रियाकालस्यान्ते युक्तं कार्यं, तदानीमेव तस्य दर्शनादिति सकललजनस्य प्रत्यक्षसिद्धमेवेदम् । इति जमालिपूर्वपक्षः ॥२३१२॥

अत्र स्थविराः प्रतिविदधति स्म । कथमित्याह-

थेराण मयं नाकय-मभावओ कीरए खपुप्फं व ।
अहव अकयं पि कीरइ, कीरउ तो खरविसाणं पि ॥२३१३॥

स्थविराः श्रुतवृद्धा गीतार्थाः साधवः, तेषां मतम्-कुप्ररूपणां कुर्वन्तं जमालिं ते एवं प्रज्ञापयन्तीत्यर्थः-नाकृतमविद्यमानं घटादिकार्यं क्रियते, असत्त्वात्, आकाशकुसुमवत् । अथाकृतमविद्यमानमपि क्रियेत, क्रियतां तर्हि खरविषाणमपि, अकृतत्वाविशेषादिति ॥ २३१३ ॥

यदुक्तम्-" कीरउ निच्चं न य समत्ती " (२३१०) इत्यादि,
तत्राह-

निच्चकिरियाइदोसा, नणु तुल्ला असइ कट्ठतरगा वा ।
पुव्वमभूयं च न ते, दीसइ किं खरविसाणं पि ॥२३१४॥

नन्वसत्यविद्यमाने वस्तुनि करणक्रियाभ्युपगमे, नित्यक्रियादिदोषाः, आदिशब्दात्क्रियाऽपरिसमाप्तिक्रियावैफल्यपरिग्रहः, आवयोस्तुल्याः समाः, यथा कृतपक्षे त्वया दत्तास्तथा अकृतपक्षेऽप्यापतन्तीत्यर्थः । किं तुल्या एव ?। नेत्याह-कष्टतरका

वा । विद्यमाने हि वस्तुनि पर्यायविशेषाधानद्वारेण कथञ्चित्करणक्रियाद्युपपद्यत एव, यथा-"आकाशं कुरु, पादौ कुरु, पृष्ठं कुरु" इत्यादि । अविद्यमाने तु सर्वथा नायं न्यायः संभवति, सर्वथा असत्त्वात् खरविषाणवदिति । यदि च पूर्वं कारणावस्थायामभूतमसत् कार्यं जायते, तर्हि मृत्पिण्डाद् घटवत् खरविषाणमपि जायमानं किं न दृश्यते, असत्त्वाविशेषाद् ?। अथ खरविषाणं भवन्न दृश्यते, तर्हि घटोऽपि तथैवास्तु, विपर्ययो वेति ॥ २३१४ ॥

यदुक्तम्-"दीसइ दीहो य जओ" (२३११) इत्यादि, तत्राह-

पइसमउप्पन्नाणं, परोप्परविलक्खणाण सुबहूणं ।
दीहो किरियाकालो, जइ दीसइ किं त्थ कुंभस्स ॥२३१५॥

यदि नाम प्रतिसमयोत्पन्नानां परस्परविलक्षणस्वरूपाणां सुबहूनां शिवकस्थासकोशकुशूलादिकार्यकोटीनां क्रियाकालनिष्ठाकालयोरेकत्वेन प्रतिप्रारम्भसमयनिष्ठाप्राप्तानां दीर्घक्रियाकालो दृश्यते, तर्हि कुम्भस्य घटस्य किमायातम् ?। इदमुक्तं भवति-मृदानयनमर्दनपिण्डविधानादिकालः सर्वोऽपि घटनिर्वर्तनक्रियाकाल इति तवाभिप्रायः। अयं चायुक्त एव। अतः तत्र प्रतिसमयमन्यान्येव कार्याण्यारभ्यन्ते, निष्पाद्यन्ते च, कार्यस्य कारणकालनिष्ठाकालयोरेकत्वात् । घटस्तु पर्यन्तसमय एवारभ्यते, तत्रैव च निष्पद्यत इति कोऽस्य दीर्घो निर्वर्तनक्रियाकालः ? इति ॥ २३१५ ॥

अथान्यप्राक्तनकालसमयेष्वपि घटः किं न दृश्यते ?, इत्याह-

अन्नारंभे अन्नं, किह दीसउ जह घडो पडारंभे ।
सिवकादओ न कुंभो, किह दीसए सो तदद्धाए ॥२३१६॥

अन्यस्य शिवकादेरारम्भे अन्यद् घटलक्षणं कार्यं कथं दृश्यते ?। न हि पटारम्भे घटः कदाचिदपि दृश्यते। अतः किमुच्यते-"नारंभे च्चिय दीसइ" त्ति । शिवकादयोऽपि कुम्भरूपा न भवन्ति, किं तु ततोऽन्य एवेति कथं तदद्धायामप्यसौ कुम्भो दृश्यते ?। अत एव तदप्यङ्गतया प्रोच्यते "न सिवादद्धाए" इति ॥ २३१६ ॥

यदुक्तम्-"दीसइ तदंते" इति, तत्राह-

अंते च्चिअ आरद्धो, जइ दीसइ तम्मि चेव को दोसो ?।
अकयं व संपइ गए, कह कीरउ कह व एस्सम्मि ?॥२३१७॥

अन्त एव क्रियाक्षणे प्रारब्धो घटो यदि तत्रैव दृश्यते तर्हि को दोषः ?, न कश्चिदित्यर्थः । यदुक्तम्-"तो न हि किरियाकाले" इत्यादि । तत्राह-"अकयं वा" इत्यादि । यदि च संप्रति वर्तमानक्रियाक्षणे न कृतं कार्यमितीष्यते तदा गते अतिक्रान्ते, एष्यति-अनागते च क्रियाक्षणे कथं नाम तत्कार्यं क्रियताम् ?। न कथञ्चिदित्यर्थः । तथाहि—नातीतभविष्यत्क्रियाक्षणौ कार्यकारकौ, विनष्टानुत्पन्नत्वेनासत्त्वात्। खरविषाणवत्, अतः कथं क्रियान्ते कार्यं स्यात् ? । तस्मात्क्रियमाणमेव कृतमिति । यदि च क्रियमाणमपि न कृतं, क तर्हि कृतमिति वक्तव्यम् ?। क्रियाविगम इति चेत् । तदयुक्तम् । तदानीं क्रियाया असत्त्वात् तदसत्त्वेऽपि च कार्योत्पत्ताविष्यमाणायां क्रियारम्भात्प्रागपि कार्योत्पत्तिः स्यात्, क्रियासत्त्वाविशेषात् । अथ संप्रतिसमयः क्रियमाणकालः, तदनन्तरस्तु कृतकालो,न च क्रियमाणकाले कार्यमस्ति, इत्यतः अकृतं क्रियते,न तु कृतमित्यभिधत्से। नन्वेतदिह प्रष्टव्योऽसि-किं भवतः कार्यं क्रियया क्रियते,उत तामन्तरेणाऽपि भवति ?। यदि क्रियया, तर्हि कथं साऽन्यत्र समये, अन्यत्र तु कार्यम् ?। न हि खदिरे छेदनक्रियायां पलाशे छेदः समुपजायते । किं च-"क्रियोपरमे कार्यं भवति, न तु क्रियासद्भावे" इति वदता प्रत्युत कार्योत्पत्तेर्विघ्नहेतुः क्रियेति प्रतिपादितं भवति । ततश्च कारणमप्यकारणमिति प्रत्यक्षादिविरोधः । अथ क्रियामन्तरेण कार्यमुपजायते इत्यभ्युपगम्यते, तर्हि घटादिकार्यार्थिनां निरर्थकः सर्वोऽपि मृन्मर्दनपिण्डविधानचक्रारोपणभ्रमणादिक्रियारम्भः, अतो न कर्तव्यं मुमुक्षुभिरपि तपःसंयमादिक्रियानुष्ठानं, तदनन्तरेणापि मुक्तिसुखसिद्धेः । न चैवम्, तस्मात् क्रियाकाल एव कार्यं, न पुनस्तदुपरम इति ॥ २३१७ ॥

पुनरप्याह-ननु मृदानयनतन्मर्दनादिकश्चक्रादिच्छिन्नताकरणकार्यपर्यन्तो दीर्घ एव मया घटनिर्वर्तनक्रियाकालोऽनुभूयते, न तु यत्रैव समये प्रारभ्यते तत्रैव निष्पद्यत इत्यनुभूयते, तदेतत्कथमित्याह—

पइसमयकज्जकोडी-निरवेक्खो घडगयाहिलासो सि ।
पइसमयकज्जकालं, थूलमई ! घडम्मि लाएसि ॥२३१८॥

हन्त ! यद्यपि प्रतिसमयमन्यान्यरूपाः कार्यकोटयः तत्रोत्पद्यन्ते, तथाऽपि तन्निरपेक्षस्त्वम्-निष्प्रयोजनत्वेनाविवक्षितत्वादुत्पद्यमाना अपि तास्त्वं न गणयसीत्यर्थः। कुतः ?, यस्माद् घटगताऽभिलाषोऽसि,सप्रयोजनत्वेन तस्यैव प्रधानतया विवक्षितत्वात् । 'घट इहोत्पत्स्यते' इत्येवं तत्रैव तवाभिलाषः, अतः प्रतिसमयकार्यकोटीनामदर्शकत्वेन स्थूलमते ! प्रतिसमयकार्यसंबन्धिनमपि कालं सर्वमपि घटे लगयसि-'सर्वोऽप्ययं घटोत्पत्तिकालः' इत्येवमध्यवस्यसि,त्वमित्यर्थः,अतो मिथ्यानुभवोऽयं तवेत्यभिप्रायः, एकसामयिक एव घटोत्पत्तिकाले बहुसामयिकत्वग्रहणेन प्रवृत्तः । अत्राह-ननु प्रतिसमयं कार्यकोटय उत्पद्यमानास्तत्र न काश्चन संवेद्यन्ते, किं त्वपान्तराले शिवकस्थासकोशादीनि कानिचिदेव कार्याणि संवेद्यन्ते । सत्यम्, किं तु स्थूलान्येव शिवकादिकार्याणि, यानि तु प्रतिसमयभावीनि सूक्ष्मकार्याणि तानि छद्मस्थो व्यक्त्या नावधारयितुं शक्नोति, परं प्रतिसमयकार्याणां ग्राहकाण्यनन्तसिद्धकेवलिनां ज्ञानान्युत्पद्यन्ते,तान्यपि तत्रापान्तराले कार्याण्येव, इति घटन्त एव प्रतिसमयं कार्यकोटय इति ॥ २३१८ ॥

अत्र प्रेरकः प्राह-

को चरमसमयनियमो, पढमे च्चिय तो न कीरए कज्जं ।
नाकारणं ति कज्जं, तं चेवं तम्मि से समए ॥२३१९॥

ननु यदि कार्यस्य दीर्घः क्रियाकालो नेष्यते, किं त्वेकसामायिक एव, तर्हि कोऽयं चरमसमयनियमो, येन तत्रैवोत्पद्यते घटादिकार्यम्-न घटत एवायं नियम इत्यर्थः। तत एतन्नियमाभावात् किं प्रथमसमय एव कार्यं न क्रियते ?-अपि तु क्रियत एवेति काका नीयते । अत्रोत्तरमाह-अकारणं कार्यं न भवति, तच्चान्त्यसमये,एव (से) तस्य घटस्य कारणमस्ति, न तत्प्रथमसमये, अतः कथं तत्रोत्पद्यते ?, अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि कार्यकारणभावः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चान्त्यसमय एव घटादेः कारणं लक्ष्यत इति तत्रैव तदुत्पद्यत इति युक्त एव चरमसमयनियम इति ॥ २३१९ ॥

अथोपसंहरँस्तात्पर्यमाह–

तेणेह कज्जमाणं, नियमेणं कयं कयं तु भयणिज्जं ।
किंचिदिह कज्जमाणं, उवरयकिरियं च होज्जाहि ॥२३२०॥

तेन उक्तप्रकारेण क्रियमाणं वर्तमानक्रियाक्षणभावि कार्यं नियमेन कृतमेवोच्यते, यत्तु कृतं तद्भजनीयं विकल्पनीयम । कथम ? इत्याह–किंचिदिह कृतं क्रियाप्रवृत्तिकालभावि क्रियमाणमुच्यते, अन्यत्तूपरतक्रियं चक्रापाकाद्युत्तीर्णं कृतं घटादिकार्यं न क्रियमाणमुच्यते, उपरतक्रियत्वादिति ॥ २३२० ॥

तदेवं सामान्येन प्रतिपाद्य प्रस्तुते जमालिसंस्तारकेऽमुं सकलमपि स्थविरोक्तं युक्तिकलापमायोजयन्नाह–

जं जत्थ नभोदेसे, अत्थुव्वइ जत्थ जत्थ समयम्मि ।
तं तत्थ तत्थ मत्थुय, मत्थुव्वंतं पि तं चेव ॥२३२१॥

आस्तीर्यमाणसंस्तारकस्य यावन्मात्रं नभोदेशे यत्र यत्र समये (अत्थुव्वइ) आस्तीर्यते तत् तावन्मात्रं तस्मिन्नभोदेशे तत्र तत्र समये आस्तीर्णमेव भवति, आस्तीर्यमाणमपि च तदेवोच्यते । इदमुक्तं भवति–सर्वोऽपि संस्तारक आस्तीर्यमाणो नास्तीर्ण इति ' क्रियमाणं कृतम् ' इत्यादि महावीरवचनं व्यलीकमेव जमालिर्मन्यते । एतच्चायुक्तम्, भगवद्वचनाभिप्रायापरिज्ञानात् । सर्वनयात्मकं हि भगवद्वचनम् । ततश्च 'क्रियमाणमकृतम ' इत्यपि भगवान् कथंचिद् व्यवहारनयमतेन मन्यत एव, परम् " चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए " इत्यादिसूत्राणि निश्चयनयमतेनैव प्रवृत्तानि । तन्मतेन च क्रियमाणं संस्तृतम्, इत्यादि सर्वमुपपद्यत एव । निश्चयो हि मन्यते–प्रथमसमयादेव घटः कर्तुं नारब्धः, किं तु मृदानयनमर्दनादीनि प्रतिसमयं परापरकार्याण्यारभ्यन्ते, तेषां च मध्ये यद्यत्र समये प्रारभ्यते तत्तत्रैव निष्पद्यते, कार्यकाल–निष्ठाकालयोरेकत्वात्, अन्यथा पूर्वोक्तदोषप्रसंगात् । ततः क्रियमाणं कृतमेव भवति । एवं प्रस्तुतः संस्तारकोऽपि नाद्यसमयात्सर्वोऽपि संस्तरीतुमारभ्यते, किं त्वपरापरे तदवयवाः प्रतिसमयमास्तीर्यन्ते, तेषां च मध्ये यो यत्र समयेऽवयवः संस्तरीतुमारभ्यते स तत्रैवास्तीर्यते, परिपूर्णस्तु संस्तारकश्चरमसमय एव संस्तरीतुमारभ्यते तत्रैव च निष्पद्यत इति । संस्तीर्यमाणं संस्तीर्णमेव भवतीति ॥ २३२१ ॥

" दीसइ दीहो य जओ " (२३११) इत्यत्राह–

बहुवत्थत्थरणविभिन्न–देसकिरियाइकज्जकोडीणं ।
मन्नसि दीहं कालं, जइ संथारस्स किं तस्स ॥२३२२॥

यदि नाम बहुवस्त्रास्तरणविभिन्नदेशक्रियादिकार्यकोटीनां संबन्धिनं दीर्घकालं मन्यसे जानासि त्वं, ततः संस्तारकस्य तस्य किमायातम ? । इत्यक्षरघटना । विभिन्नो देशो यासां ता विभिन्नदेशाः, ताश्च ताः क्रियाश्च विभिन्नदेशक्रियाः, वस्त्रस्योपलक्षणत्वात् कम्बलानां चास्तरणं वस्त्रकम्बलास्तरणं, तस्य विभिन्नदेशक्रिया वस्त्रकम्बलास्तरणविभिन्नदेशक्रियाः, तदादयश्च ताः कार्यकोटयश्च तास्तथा, बहुधश्च ता वस्त्रकम्बलास्तरणविभिन्नदेशक्रियादिकार्यकोटयश्च बहुवस्त्रकम्बलास्तरणविभिन्नदेशक्रियादिकार्यकोटय इति समासः, तासामिति । आदिशब्दः स्वगतानेकभेदव्यापकः, कार्याणां च कोटिसंख्यत्वमिहापि पूर्ववद्भावनीयमिति ॥ २३२२ ॥

ननु यदि पूर्वमपरापराणि कार्याणि निष्पद्यन्ते, संस्तारकस्तु पर्यन्तसमय एवारभ्यते, निष्पद्यते च कार्यक्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात् तर्हि कथं संस्तारकस्यैव स दीर्घः क्रियाकालो मयाऽनुभूयते ?, इत्याह–

पइसमयकज्जकोडी–विमुहो संथारयाहिकयकज्जो ।
पइसमयकज्जकालं, कहं संथारम्मि लाएसि ? ॥२३२३॥

गतार्था, नवरं संस्तारकेणाधिकृतं प्रस्तुतं कार्यं यस्यासौ संस्तारकाधिकृतकार्य इति समासः ॥२३२३॥

तदेवं स्थविरैर्युक्तिभिः संबोध्यमाने तस्मिन् किं संजातमित्याह–

सो उज्जुसुयनयमयं, अमुणंतो न पडिवज्जए जाहे ।
ताहे समणा केई, उवसंपन्ना जिणं चेव ॥ २३२४ ॥
पियदंसणा वि पइणो–ऽणुरागओ तम्मयं चिअ पवन्ना ।
ढंकोवहियागणिद–द्धवत्थदेसा तयं भणइ ॥ २३२५ ॥
सावय ! संघाडी मे, तुमए दड्ढ त्ति सो वि अ तमाह ।
नणु तुज्झ डज्झमाणं, दड्ढं ति मओ न सिद्धंतो ॥२३२६॥
दड्ढं न डज्झमाणं, जइ विगएऽणागए व का संका ?।
काले तयभावाओ, संघाडी कम्मि ते दड्ढा ? ॥२३२७॥

चतस्रोऽपि गाथा गतार्थाः, नवरम ऋजुसूत्रो निश्चयनयविशेषः। (पियदंसणा वि त्ति) आह–ननु पूर्वं 'सुदर्शना' इति तस्या नाम प्रोक्तं, कथमिदानीं प्रियदर्शनेत्युच्यते ?। सत्यं, किं त्विदमपि तस्या नाम द्रष्टव्यम । तथा चोक्तम–" तेयसिरिं व सुरूवं, जणइ य पियदंसणं धूयं " इति । " ढंकोवहिय " इत्यादि । स्वाध्यायपौरुषीं कुर्वत्यास्तस्या आपाकाद् गृहीत्वा ढङ्केनोपहितः क्षिप्तो योऽग्निस्तेन दग्धो वस्त्रदेशो यस्याः सा ढङ्कोपहिताग्निदग्धवस्त्रदेशा सती तं ढङ्कं भणति, सोऽपि तां प्रियदर्शनामाह–" दड्ढं " इत्यादि चतुर्थगाथाया अयं भावार्थः । ननु यदि दह्यमानं दाहक्रियाक्षणे वर्तमाने वस्त्रं न दग्धमिति भवद्भिरुच्यते, ततो विगते उपरते, अनागते वा भविष्यति दाहक्रियाकाले का शङ्का वस्त्रदाहविषया ?, तदभावाद्–दाहक्रियाया विनष्टानुत्पन्नत्वेन सर्वथा अभावादित्यर्थः । अतो वर्तमानातीतानागतलक्षणे कालत्रयेऽप्युक्तयुक्तितोऽदग्धत्वात् कस्मिन् काले आर्ये ! ते तव सङ्घाटी मया दग्धेत्युच्यताम ? इति ॥ २३२४ ॥ २३२५ ॥ २३२६ ॥ २३२७ ॥

अथ आर्ये ! त्वमेवं मन्यसे, किम ? इत्याह–

अहवा न डज्झमाणं, दड्ढं दाहकिरियासमत्तीए ।
किरियाऽभावे दड्ढं, जइ दड्ढं किं न तेलुक्कं ? ॥२३२८॥

अथ चैवं ब्रूषे–दह्यमानं न दग्धं, किं तु दाहक्रियासमाप्तौ दग्धम । नन्वेवं सति दाहक्रियाऽभावे दग्धमित्युक्तं भवति । एतच्चायुक्तम, यतो यदि दाहक्रियाऽभावे दग्धं, तर्हि त्रैलोक्यमपि किं न 'दग्धम' इत्यत्रापि संबध्यते, यथा वस्त्रे तथा त्रैलोक्येऽपि दाहक्रियाऽभावस्य तुल्यत्वादिति ॥ २३२८ ॥

ततः किमिह स्थितमित्याह–

उज्जुसुयनयमयाओ, वीरजिणिंदवयणावलंबीणं ।
जुज्जेज्ज डज्झमाणं, दड्ढं वोत्तुं न तुज्झ त्ति ॥ २३२९ ॥

उत्तानार्था ॥ २३२९ ॥

ननु दह्यमानदग्धवादिनोऽप्यस्माकमावेशे दह्यमाने सङ्घाटी कथं दग्धेति व्यपदिश्यते ?, इत्याह-

समए समए जो जो, देसोऽगणिभावमेइ डज्झमाणस्स ।
तं तम्मि डज्झमाणं, दड्ढं पि तमेव तत्थेव ॥ २३३० ॥

यो यो दह्यमानस्य पटादेर्देशस्तन्त्वादिः समये समयेऽग्निभावमेति-दह्यत इत्यर्थः । तद्देशरूपं वस्तु तस्मिन् समये दह्यमानं भण्यते, तथा दग्धमपि तदेव वस्तु तस्मिन्नेव समये भण्यते, अतो 'दह्यमानमेव दग्धम्' । यत्तु देशमात्रेऽपि दग्धे सङ्घाटी मे दग्धेति त्वं वदसि, तत्सङ्घाट्येकदेशेऽपि सङ्घाटीशब्दोपचारादिति मन्तव्यमिति ॥ २३३० ॥

ततः किमिह सिद्धम् ? इत्याह-

निच्छएण डज्झमाणं, दड्ढं दड्ढं तु होइ भयणिज्जं ।
किंचिदिह डज्झमाणं, उवरयदाहं च होज्जाहि ॥ २३३१ ॥

व्याख्या प्रागुक्तानुसारेण कार्येति ॥ २३३१ ॥

इत्यादिढङ्कोक्तयुक्तिभिः संबुद्धा प्रियदर्शना, शेषमाध्वश्च 'आर्य ! इच्छामः सम्यगूनमिदं त्वदीयसंबोधनम्' इत्येवं ढङ्कं मिथ्याकर्मनिवाय एकाकिनं जमालिं मुक्त्वा सर्वोऽप्यपि गत्वान् जिनसमीपमिति एतदेवाऽऽह-

इच्छामो संबोहण-मज्जो ! पियदंसणादओ ढंकं ।
वोत्तुं जमालिमेक्कं, मोत्तूण गया जिणसगासं ॥ २३३२ ॥

उक्तार्थैव । इति पञ्चविंशतिगाथार्थः ॥ २३३२ ॥ विशे० । आ० म० । आ० चू० । "तए णं जमालिस्स एवमाइक्खमाणस्स अत्थेगइया निग्गंथा एयमट्ठं सद्दहंति, अत्थेगइया णो सद्दहंति" (उत्त०) इत्यस्योपरि उत्तराध्ययनवृत्तिगतं विवरणं प्रदर्श्यते-तत्र ये न श्रद्दधति, ते एवमाहुः-भगवन् ! जमालेऽयमाशयः-"यथा घटः पटो नैव, पटो वा न घटो यथा । क्रियमाणं कृतं नैव, कृतं न क्रियमाणकम्" ॥ १ ॥ प्रयोगश्च-यौ निश्चितभेदौ, न तयोरैक्यं, यथा घटपटयोर्निश्चितभेदे च कृतक्रियमाणके, अत्रासिद्धो हेतुः, तथाहि-कृतक्रियमाणे किमेकान्तेन निश्चितभेदे, अथ कथञ्चित् यद्येकान्तेन तर्हि तदैक्ये सतोऽपि करणप्रसक्तिः, उत क्रियाऽनुपरमप्राप्तेराहोस्वित्प्रथमादिसमयेष्वपि कार्योपलम्भप्रसक्तेः, अथ क्रियावैफल्यापत्तितो दीर्घक्रियाकालदर्शनानुपपत्तेर्वा तत्र न तावत्सतोऽपि करणप्रसङ्ग इति युक्तम्, सत्करणे हि अपुष्टादेरेव करणमापद्यत इति कथञ्चित्सत एव करणमस्माभिरभ्युपगतम्, न चाभ्युपगतार्थस्य प्रसञ्जनं प्रयुज्यते । नापि क्रियानुपरमप्राप्तिः, यत इह क्रिया किमेकविषया, भिन्नविषया वा ?। यद्येकविषया न दोषः। तथाहि-यदि कृतं क्रियमाणमुच्यते, तदा तस्यैव निरवशेषं कृतमिति, तस्यापि क्रियमाणतायां क्रियाऽनुपरमप्राप्तिलक्षणो दोषः स्यात्, न तु क्रियमाणं कृतमिति वक्ति तत्र क्रियावेशसमय एव कृतस्याऽभिधानात् । उक्तं हि-"क्रियाकालनिष्ठाकालयोरैक्यमिति" । अथैवमपि कृतक्रियमाणयोरैक्यं कृतस्य कृत्वात्ततोऽपि करणे तदवस्थः प्रसङ्गः। तदसत् । पूर्वं हि असत्त्वमात्रस्य क्रियायामयं प्रसङ्गः स्यात्, न तु क्रियासमकालसत्त्वाश्रयौ अथ भिन्नविषया क्रिया तदा सिद्धसाधनं, प्रतिसमयमन्यान्यकार्यतया वस्तुतोऽभ्युपगमनेन भिन्नविषयक्रियानुपरमस्याऽस्माकं सिद्धत्वात् । अथ प्रथमादिसमयेष्वपि कार्योपलम्भप्रसक्तिरिति पक्षे क्रियमाणस्य हि कृतत्वप्रथमादिसमयेष्वपि तस्योपलम्भः प्रसज्यत इति, तदपि न, तदा हि शिवकादीनामेव क्रियमाणता, ते चोपलभ्यन्त एव । उक्तं च विशेषावश्यके-" अन्नारंभे अन्नं, कह दीसउ जह घडो पडारंभे । सिवगादओ न कुंभो, किह दीसउ सो तदद्धाए" ॥ २३१६ ॥ घटगताऽभिप्रायत्वात् मूढः शिवकादिकरणेऽपि घटमहं करोमीति मन्यते । तथा चाह-"पइसमयकज्जकोडी, निरवेक्खं घडगयाभिलासो सि । पइसमयकज्जकालं, थूलमई घडम्मि लाएसि" ॥ २३१८ । (विशे०) नापि क्रियावैफल्यापत्तितः, यतः प्रागसत्त्वमात्रस्य करणे क्रियावैफल्यं स्यात्, न तु क्रियमाणकृतत्वे, तत्र हि क्रियमाणं क्रियापेक्षमिति तस्याः साफल्यमेव अनेकान्तवादिनां च केनचिद्रूपेण प्राक्सत्त्वेऽपि रूपान्तरेण करणं न दोषाय, दीर्घक्रियाकालदर्शनानुपपत्तिरित्यपि न युक्तम् । यतः शिवकाद्युत्तरोत्तरपरिणामविशेषविषय एव दीर्घक्रियाकालोपलम्भो, न तु घटक्रियाविषयः । उक्तं हि-" पतिसमयउप्पन्नाणं, परोप्परविलक्खणाण सुबहूणं । दीहो किरियाकालो, जइ दीसइ किं च कुंभस्स ॥ २३१५ ॥ " (विशे०) अथ कथञ्चिन्निश्चितभेदे कृतक्रियमाणे तर्हि कृतत्वमेव निश्चयव्यवहारानुगतत्वात् तद्वचसः, तत्र च निश्चयनयाश्रयणेन कृतक्रियमाणयोरभेदः। यदुक्तम्-"क्रियमाणं कृतं दग्धं, दह्यमानं स्थितं गतम् । निष्ठुष्ट गम्यमानं च, निष्ठितत्वात् प्रतिक्षणम् ॥ १ ॥" व्यवहारनयमतेन तु तयोर्भेदमप्यनयोः, तथा च-क्रियमाणं कृतमेव, कृतं तु क्रियमाणमेव स्यात्, क्रियमाणं क्रियावेशसमये क्रियोपरमे पुनः क्रियमाणमिति । उक्तं च-" तेणिह कज्जमाणं, नियमेण कयं कयं तु भयणिज्जं । किंचिदिह कज्जमाणं, उवरयकिरियं च होज्जाहि " ॥ २३२० ॥ (विशे०) किं च-भवतो मतिः क्रियाऽन्त्यसमय एवाऽभिमतकार्यजननं, तत्राऽपि प्रथमसमयादारभ्य कार्यस्य क्रियत्यपि निष्पत्तिरिष्टा, अन्यथा कथमकस्मादन्त्यसमये सा भवेत् ? उक्तम्-

" आद्यतन्तुप्रवेशे च, नो चेत् किञ्चिदभूत् पटे ।
अन्त्यतन्तुप्रवेशे च, नो तत् स्यात्पटोदयः " ॥ १ ॥
तस्मादादौ द्वितीयादि-तन्तुयोगात्प्रतिक्षणम् ।
किञ्चित्किञ्चित्कृतं तस्य, यत्कृतं तत्कृतं हि तत् ॥ २ ॥

इह प्रयोगः यद्यस्याः क्रियायाः आद्यसमये न भवति तत्तस्या अन्त्यसमयेऽपि न जाति, यथा घटक्रियादिसमये अजायमानः पटो न भवति च कृतक्रियमाणयोर्भेदे क्रियादिसमये कार्यम्, अन्यथा घटान्त्यसमयेऽपि पटोत्पत्तिः स्यात् । एवं च-" यथा 'वृक्षो धवश्चेति,' विरुद्धं न मिथो द्वयम् । 'क्रियमाणं कृतं चेति', न विरुद्धं तथोभयम्" ॥ १ ॥ प्रयोगश्च-यद् येनाविनाभूतं न तत् एकान्तेन भिद्यते, यथा-वृक्षत्वाद् धवत्वं, कृतत्वाविनाभूतं च क्रियमाणत्वमिति सकललोकप्रसिद्धस्याच्च घटपटयोस्तदाश्रयेणैवमुक्तं संस्तारकादावपि योऽयम् तत्प्रतिपद्यस्व भगवन् ! " चलमाणे चलिए " इत्यादि तीर्थकृता चात्यन्तमाक्षिपत्यमति, स चैवमुच्यमानोऽपि न प्रतिपन्नवान् । उत्त० ३ अ० । जमालेः कियन्तो भवा इति प्रश्नस्योत्तरम्-यथा भगवतीसूत्रकर्णिकावृत्त्योरन्वादित्वाद्यनुसारेण जमालेः पञ्चदश भवा ज्ञायन्ते । ह्री० ३ प्रका० ।

जमालिन्-पुं० । महावीरजिनप्रथमनिह्नवे, विशे० ।

जमालिअज्झयण-जमाल्यध्ययन-न० । वाचनान्तरापेक्षया अन्तकृद्दशाध्ययनानां षष्ठेऽध्ययने, इदानीन्तनम् अन्तकृद्दशासु तदनुपलब्धेः । स्था० १० ठा० ।

जमालिपभव–जमालिप्रभव–पुं० । जमालेः प्रभव उत्पत्तिर्यो-ऽपेक्षया प्रथमा उपलब्धिरेषां न पुनः सर्वथोत्पत्तिरेव, प्राक्प्रभवं विद्यामिप्रायवलम्बनात् तेऽमी जमालिप्रभवाः जमालिमताऽनु-यायिनस्तद्दर्शनविद्वेषु, उत्त० ३ अ० ।

जमावण–जमापन–न०। विषमाणां समीकरणे, नि० चू० १४० ।

जम्म–पुं० । जन्मन्–न० । जन–भावे–मनिन् । " ग्मो मः " ॥ ८ । २ । ६१ ॥ इति अग्नोऽलोपापवादः । " कन्मवयक्रजवस्य " ॥ ८ । १ । ११ ॥ इत्यन्त्यव्यञ्जनकारलोपः । " स्नमदामशिरोनभः " ॥ ८ । १ । ३२ ॥ इति सूत्रेण–नास्य पुंसि प्रयोगः । " जम्मो जम्म " । उत्पत्तौ, स्था० ६ ठा० । अने० । गर्भवासतो योनिद्वारानिस्स-रणे, वाच० । कर्मकृतप्रसूतौ, औ० । स्याद्वादोक्त अपूर्वदेहग्रहणे, वाच० । तच्च जन्म चतुर्विधम्–अण्डजं, पोतजं, जरायुजम्, औपपातिकं च । अण्डजाः हंसादयः, पोतजा हस्त्यादयः, जरायुजा मनुष्याः, औपपातिकाः देवनारकाः । विशे० । आ० चू० । आ० म० । विवक्षाभेदे स्वष्टविधमपि जन्म । तथाहि-अण्डाज्जाताः अण्डजाः पक्षिगृहकोकिलादयः। पोता इव जाय-न्ते पोतजाः " कचिदपि दृश्यन्ते " इति जातेर्डः प्रत्ययः, ते च हस्तिवल्गुलीचर्मजलूकादयो, जरायुवेष्टिता जायन्त इति जरा-युजाः पूर्ववत् रूपसिद्धयः,गोमहिष्याविकमनुष्यादयः। रसाज्जा-ता रसजास्तक्रारनालदधिसौवीरादिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसू-क्ष्मा भवन्ति, संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजाः मत्कुणयूकाशतपदि-कादयः, संमूर्च्छनाज्जाताः संमूर्च्छनजाः शलभपिपीलिकामक्षि-काशालिकादयः, उद्भेदनमुद्भित् तस्माज्जाताः उद्भिज्जाः,पृथ्वीद-दारिकेऽवनसरायः। एवं जरोदपारिशलवादयः, उपपाताज्जा-ता उपपातजाः। अथवा–उपपाते भवा औपपातिकाः देवा ना-रकाश्च । एवमष्टविधजन्म यथासंभवं संसारिणो भाजनमन्ते, एतदेव शास्त्रान्तरे त्रिविधमुपन्यस्तं, संमूर्च्छनगर्भोपपातजन्मर-सस्वेदजोद्भिज्जानां संमूर्च्छनजान्तःपातित्वात् अण्डजपोतज-जरायुजानां गर्भजान्तःपातित्वात् देवनारकाणामौपपातिकान्तः-पातित्वात् इति त्रिविधं जन्मेति । इह चाष्टविधं, सोत्तरभेद-त्वादिति । आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

अथ जन्म केन प्रकारेण जायते इत्यादिस्वरूपं प्रदर्श्यते-

आर्याणामनार्याणां च कर्मभूमिजाऽकर्मभूमिजादीनां मनुष्याणां नानाविधयोनिकानां स्वरूपं वक्ष्यमाणनीत्या समाख्यातम् तेषां च स्त्रीनपुंसकभेदभिन्नानां यथा योजनेति । यदस्य बीजं तत्र स्त्रियाः संबन्धि शोणितं पुरुषस्य शुक्रम्,एतदुभयमप्यवि-ध्वस्तं शुक्राधिकं सत्पुरुषस्य, शोणिताधिकं स्त्रियाः तत्स-मता नपुंसकस्य कारणतां प्रतिपद्यते। यथा यथावकाशेनेति। यो यस्यावकाशो मातुरुदरकुक्ष्यादिकस्तत्रापि किल वामा कुक्षिः,स्त्रि-यो,दक्षिणा कुक्षिः पुरुषस्य,उभयाश्रितः षण्ढ इति । अत्र चापि चरत्ना योनिरविध्वस्तं बीजमिति चत्वारो भङ्गाः,तत्राद्यात्र एव जन्तुक उत्पत्तेरवकाशो, न शेषेषु त्रिष्विति । अत्र च स्त्रीपुंसयो-र्वेदोदये सति पूर्वकर्मनिवर्तितायां योनौ मैथुनप्रत्ययिको रता-ऽभिलाषोऽस्य अग्निसोऽभिकारणयोररणिकाष्ठयोरिव संयोगः समुत्पद्यते, तत्संयोगे च तच्छुक्रशोणिते समुपादाय तत्रोत्प-त्स्यन्तो जन्तवस्तैजसकार्मणाभ्यां शरीराभ्यां कर्मरज्जुसंदा-नितास्तत्रोत्पद्यन्ते, ते च प्रथममुभयोरपि स्नेहमाश्रित्यान्योन्य-स्याऽऽधारं योनौ तस्यामिति । विध्वस्ते तु योनिः । "पञ्चपञ्चा-शिका नारी वमत्सस्तिः पुरुषः" इति । तथा द्वादश मुहूर्तानि यावच्छुक्रशोणिते अविध्वस्तयोनिके तत्रकस्तत ऊर्ध्वं ध्वंसमुपग-च्छन इति । तत्र जीवा उभयोरपि स्नेहमाहारयन्त कर्मविपाकेन यथाऽयं स्त्रीपुरुषनपुंसकभावेन (त्वइहंति त्ति)गर्भत्वे समुत्पद्यन्ते इति यावत्,तदुत्तरकालं च स्त्रीकुक्षौ प्रविष्टाः सन्तः स्त्रियाऽऽ-हारितस्याहारस्य निष्यन्दं स्नेहमाददति, तत्स्नेहेन च तेषां जन्तूनां क्रमेण कललादिरूपेण निष्पत्तिरुपजायते । " सत्ता-हं कललं होइ, सत्ताहं होइ बुब्बुयं " इत्यादि । तदेवमनेन क्रमेण गर्भदेशेन वा मातुराहारमोजसा मिश्रेण वा लोमभि-र्वाऽऽनुपूर्व्याऽऽहारयन्ति यथाक्रममानुपूर्व्येण वृद्धिमुपगताः सन्तो गर्भपरिपाकं गर्भनिर्वर्तनमनुपालय्य ततो मातुः कायाद-भिनिर्वर्तमानाः पृथग्भवन्तः सन्तस्तत्रोत्तिर्निर्गच्छन्ति,ते च तथा विधकर्मोदयादात्मनः स्त्रीभावमप्येकदा जनयन्त्युत्पादयन्ति । अपरे केचन पुंभावम्,नपुंसकभावं च । इदमुक्तं भवति–स्त्रीपुं-नपुंसकभावः प्राणिनां स्वकृतकर्मनिवर्तितो भवति, न पुनर्यो यादृगिह भवे सोऽमुष्मिन्नपि तादृग्भवेति,ते च तदर्वाग्बालकाः सन्तः पूर्वभवाभ्यासादाहाराभिलाषिणो भवन्ति । मातुः स्तन्य-माहारयन्ति । तदाहारेण चानुपूर्व्येण च वृद्धास्तदुत्तरकालं न-वनीतदध्योदनादिकं यावत्कुल्माषान् भुञ्जन्ते, तथाहारत्वेनो-पगतास्त्रसान् स्थावरांश्च प्राणिनस्ते जीवा आहारयन्ति, तथा नानाविधं पृथिवीशरीरं लवणादिकं सचेतनं वा आहारयन्ति, तदाहारितयत्र्यसात्कृतं स्वात्म्यमापादितं सत् 'रसासृङ्मांस-मेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः' इति सप्तधा धातुत्वेनापपरिणम-यन्ति तेषां नानाविधमनुष्याणां शरीराणि नानावर्णान्यभिनि-र्वर्तयन्ति,ते च तथोत्पन्नास्तदाहारानुमानि नानावर्णानि शरी-राण्याहारयन्तीत्येवमाख्यातमिति । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

जम्मंकुर–जन्माङ्कुर–न०। पुनरुत्पत्तिरूपे अङ्कुरे, । " अज्ञानपां-शुपिहितं, पुरातनं कर्मबीजमविनाशि । तृष्णाजलाभिषिक्तं, मुञ्चति जन्माङ्कुरं जन्तोः ॥ १ ॥ " आ० म० द्वि० ।

जम्मंतर–जन्मान्तर–न० । अन्यान्यजन्मनि, पुनर्जन्मनि च । आ० म० द्वि० (जन्मान्तरोपपत्तियुक्तयस्तु 'परलोग' शब्दे विलोक्याः)

जम्मकहा–जन्मकथा–स्त्री० । जातो मृतो वेत्येवं कथायां वार्ता-यां, जन्मचरिते च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

जम्मजरामरण–जन्मजरामरण–न० । जन्म च जरा च मरणं चेति जन्मजरामरणानि । स्वस्वशब्दप्रदर्शिताश्रयात्रये, " ज-न्मजरामरणकरणगम्भीरदुःखप्रक्षुभितप्रचुरसलिलं " वृत्तिः–जन्मजरामरणान्येव करणानि साधनानि यस्य तत्तथा, तच्च गम्भीरदुःखं तदेव प्रक्षुभितं संचलितं प्रचुरं सलिलं यत्र स तथा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

जम्मजीवियफल–जन्मजीवितफल–न० । जन्मनो जीवितस्य च फले, भ० १५ श० १ उ० ।

जम्मण–जन्मन्–न० । उत्पादे, भ० १५ श० ६ उ० । प्रश्न० । " जम्मणजरामरणचाउरन्तसंसारकलङ्कं " । वृत्तिः–जन्मजरा-मरणरूपाणि यानि पार्श्वर्तनाः शुभाशुभकर्माणि तान्निरन्तरं याताम् । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जम्मणगर–जन्मनगर–न० । 'जम्मणयर' शब्दार्थे, आ० चू० ।

जम्मणचरियणिबद्ध-जन्मचरितनिबद्ध-त्रि० । तीर्थकरजन्मा-ऽऽभिषेकनिबद्धे नाट्यविधौ, रा० ।

जम्मणमहिमा-जन्ममहिमन्-पुं० । जन्मोत्सवे, भ०११श०११उ० ।

जम्मणयर-जन्मनगर-न० । यस्मिन् नगरे यस्य जन्म भवति तत्तस्य जन्मनगरम् । उत्तराध्ययने, अ० ५ सटी० ।

जम्मदंसि (ण्)-जन्मदर्शिन्-त्रि० । जन्मनः स्वरूपतो वेत्त-रि, परिहर्तरि, आचरति च । " जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी " आचा० २ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

जम्मद्दीव-जन्मद्वीप-पुं० । जन्मद्वीपाभिधानके लवणसमुद्रान्तर्वर्तिनि द्वीपे, स च-" कक्कोलसुपारीणं, जाइफल-जाइपत्ति-वृक्षाणं । तस्स महावणमज्झे, आवासा पायया हुंति ॥१॥ " इत्याद्यनेक-विधः । जन्ममहमाविशेषे च । आ० १० द्वा० ।

जम्मपक्क-जन्मपक्व-त्रि० । स्वयमेव पक्वोत्पत्ते, विपा०१श्रु०७अ० ।

जम्मपवाह-जन्मप्रवाह-पुं० । भवपरंपरायाम्, आव० ३ अ० ।

जम्मप्पवाह-जन्मप्रवाह-पुं० 'जम्मपवाह'शब्दार्थे, आव०३अ० ।

जम्मप्पभिइ-जन्मप्रभृति-अव्य० । जन्मन आरभ्येत्यर्थे, बृ-० १ उ० ।

जम्मफल-जन्मफल-न० । जन्मसाध्ये, पञ्चा० ८ विव० ।

जम्मभूमि-जन्मभूमि-स्त्री० । जन्मस्थाने, " जननी जन्मभू-मिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी " । वाच० । " भवसेसा तित्थ-यरा, निक्खंता जम्मभूमीसु " । स० ।

जम्ममह-जन्ममह-पुं० । जन्ममहोत्सवे, श्रीमदर्हतां जन्ममहोत्स-वकरणे, देवानां देहानि किंकराणि स्वर्गाणि च इयते, उपस्थितमे-होत्सवावसरे देवानां देहान्यनिमिषसमानजिनसमानकालीन-मनुजशरीरेणेनानि संभाव्यन्त इति । ५४ प्र० । सम०१ सम्बा० ।

जम्मा-याम्या-स्त्री० । दक्षिणस्यां दिशि, आ०म० १ अ० । विशे० ।

जम्माइदोसविरह-जन्मादिदोषविरह-पुं० । जातिजरामरण-प्रभृतिदूषणाभावे, पञ्चा० ७ विव० ।

जम्माभाव-जन्माभाव-पुं० । अनुत्पत्तौ, दश० ४ अ० ।

जम्मावट्ट-जन्मावर्त-पुं० । भवचक्रे, " रागद्वेषवशाविद्धं, मि-थ्यादर्शनदुस्तरम् । जन्मावर्ते जगत् क्षिप्तं, प्रमादाद् भ्राम्यते भृशम् ॥ १ ॥ " आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

जम्मुप्पत्ति-जन्मोत्पत्ति-स्त्री० । जन्मना कर्मकृतप्रसूत्या उत्प-त्तिर्या सा तथा । औ० । प्रसवेनोत्पत्तौ, " सिद्धाणं कम्मबीए दड्ढे पुणरवि जम्मुप्पत्ती न भवंति " औ० ।

जय-जय-पुं० 'जि' जये । भावे अच् । परैरनभिभूयमानतायाम्, प्रतापवृद्धौ, रा० । ज्ञा० । वशीकरणे, ज्ञा० १६ ज्ञा० । पराजेतव्या-ऽऽकर्षणाभ्युदये, शत्रुपराङ्मुखीकरणे, संग्रामादिजये, वाच० । " ज-यणं विजएणं वद्धावेंति । " रा० । विपा० । औ० । कल्प० नि० । तत्र जयः परैरनभिभूयमानता, प्रतापवृद्धिश्चेह । विजयस्तु परे-षामभिभवमानानामभिभवोत्पादः । रा० । जयः सामान्यो विपक्षा-भिभवः । विजयः स एव विशिष्टतरः प्रचण्डप्रतिपक्षाद्य-भिभवः । औ० । जयः स्वदेशे । विजयः परदेशे । कल्प० १ क्षण । " जय विजय मंगलसएहिं " । औ० । जयविजयशब्दाभ्यां मङ्गलाभि-धायकाभ्यां तदर्थत्वेन । औ० । अ० कर्तरि अच् । वाच० । जं-बूद्वीपसंबन्धिनि जम्बूद्वीपस्य पश्चिमदिक्स्थे द्वारे, प्रज्ञा० ३ पद । स्था० ४ ठा० । जिन तीर्थकरप्रथमभिक्षादायिनि, स० १ आ० अ० । सीतानदीमुखवनयोः परतः जम्बूद्वीपविशेषे, दृष्टं० १ तत्र भगि-नीपुत्रकस्य पुंसि निर्देशतया तद्विशेषणभावकाले मन्दरादिसाम-र्थ्यमपि पुंसि प्रयोगं तु जय इति पुनीपात्रभेदयोर्द्वारेषु लिखितु, जं० १ वक्ष० ।

जयण-न० । अनिष्टमयमकरणाय जनम् । भ० ३० श० २ उ० । औ०, पञ्चास्तिकायात्मके लोके, नं० । (अभिधानार्थस्तु ' जय ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १३८२ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

यत-पुं० । ' यती ' प्रयत्ने, यमनं यतं तच्छीलोऽस्य स यतः । " अविद्यादिभ्यः " ॥ ७ । १ । ४६ ॥ इत्यप्रत्ययः । प्रयत्नगुणवत्यनाकुले वर्तिनि साधौ, कर्म० ४ कर्म० । यतमाने, पि० । दश० १ सूत्र० । उपयुक्ते, आव० ४ अ० ।

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥ ८ ॥

यतं चरेद्यथा-यतं चरेत् सूत्रोपदेशेन ईर्यासमितः, यतं तिष्ठे-त् समाहितः । हस्तपादाद्यविक्षेपेण । यतमासीत उपयुक्त आ-कुञ्चनाद्यकरणेन । यतं स्वपेत् समाहितो रात्रौ प्रकामशय्या-दिपरिहारेण यतं भुञ्जानः सप्रयोजनमप्रणीतं प्रतरसिंहभक्षि-तादिना । एवं यतं भाषमाणः साधुभाषया मृदुकालप्राप्तम् (८) दश० ४ अ० । " संजयस्स अणुकंपणिज्जाए जयं चिट्ठति जयं आसयति, जयं सुविति " यतनया यथा गर्भबाधा न भवति तथा तिष्ठति कायस्थानेन आस्ते आश्रयति चासनं, स्वपिति-शेते । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जयइ-जयति-जि-धा० । धातूनामनेकार्थकत्वात् । वर्तते इत्यर्थे, प्रा० ।

जयंत-जयन्त-न० । द्वीपसमुद्राणां चतुर्षु द्वारेषु स्वनामख्या-ते पश्चिमदिग्वर्तिनि द्वारे, (जी०) (वनादिशेषवर्णकस्तु ' विजय ' शब्दे विजयद्वारवद् ज्ञेयः)

तत्र तावज्जम्बूद्वीपसत्कजयन्तद्वारवक्तव्यता यथा-

कहि णं भंते ! जंबूदीवस्स जयंते णामं दारे पण्णत्ते ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमेणं पणयालीसं जोयणसहस्साइं जंबुद्दीवे पच्चत्थिमपेरंते लव-णसमुद्दे पच्चत्थिमद्धस्स पुरच्छिमेणं सीतोदाए महानदीए उप्पिं एत्थ णं जंबुद्दीवस्स जयंते णामं दारे पण्णत्ते । तं चेव सोपमाणं जयंते देवे पच्चत्थिमेणं से रायहाणीए० जाव महिड्ढिए ।

अथ लवणसमुद्रसत्कजयन्तद्वारप्रतिपादनार्थमाह-

" कहि णं ! " इत्यादि । क्व भदन्त ! लवणसमुद्रस्य जयन्तं द्वारं प्रज्ञप्तम् । भगवानाह-गौतम ! लवणसमुद्रस्य पश्चि-मपर्यन्ते धातकीखण्डपश्चिमार्द्धस्य पूर्वतः सीतायाः महा-नद्या उपरि लवणसमुद्रस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् । एतद्-वक्तव्यताऽपि विजयद्वारवद्वक्तव्या, नवरं राजधानी जयन्तद्वारस्य पश्चिमभागेन वक्तव्या । जी० ३ प्रति० । एवं शेषद्वीपसमु-द्राणामपि जयन्तद्वारवक्तव्यता, पश्चानुपूर्व्या विमानेषु स्वस्था-नेऽनुत्तरे सुरालये विमाने, " जम्बूसोहंमे पंच अणुत्तरा महप्पमा० ।

क्षया महाविमाणा पएणत्ता तं जहा-विजये वेजयंते जयंते अपराजिए सव्वट्ठसिद्धे " । स्था० ४ ठा० ३ उ० । तालध्वजाख्यकूटपर्वतौ, यथा-पञ्चालदेशाधिपतिः पञ्चालाः इति, तद्वान्तेषु अनुत्तरश्रेणीषु, प्रज्ञा० १ पद । मेरोरुत्तरस्यां दिशि रुचकवरपर्वतस्याष्टसु कूटेषु स्वनामख्याते सप्तमे कूटे, स्था० ४ ठा० । जि०-रुः । वाच० । पञ्चविधानुत्तरोपपातिकानां देवानां तृतीये अपराजितविमानोऽन्तर्भेदे देवभेदे, पुं० । प्रज्ञा० १ पद । स० । आगामिकालमाश्रित्य प्रथमे बलदेवे, ती० २१ कल्प । वज्रसेनसूरीणां चतुर्षु शिष्येषु मध्ये स्वनामख्याते तृतीये शिष्ये, यतः किल नन्दनी शाखा निर्गता । कल्प० ८ क्षण । इन्द्रपुत्रे ।"यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ" दिविषदस्येव पति जयन्तः " । इति । वाच० ।

जयंती-जयन्ती-स्त्री० । जि-रुः । गौरा०-ङीष् । वाच० । स्वनामख्यातायां वीरजिनपरमश्राविकायाम्, वृ० १ उ० ।

तत्प्रबन्धो यथा--

तेणं कालेणं तेणं समएणं कोसंबी णामं णयरी होत्था, वएणओ-चंदोत्तरायणे चेइए, वएणओ-तत्थ णं कोसंबीए णयरीए सहस्साणीयस्स रण्णो पोत्ते सयाणीयस्स रण्णो पुत्ते चेडगस्स रण्णो नत्तुए मिगावतीए देवीए अत्तए जयंतीए समणोवासियाए भत्तिज्जए उदायणे णामं राया होत्था । वएणओ-तत्थ णं कोसंबीए णयरीए सहस्साणीयस्स रण्णो सुण्हा सयाणीयस्स रण्णो भज्जा चेडगस्स रण्णो धूया उदायणस्स रण्णो माया जयंतीए समणोवासियाए भाउज्जा, मियावती णामं देवी होत्था । वएणओ-तं जहा-०जाव सुरूवा ! समणोवासिया० जाव विहरइ । तत्थ णं कोसंबीए णयरीए सहस्साणीयस्स रण्णो धूया सयाणीयस्स रण्णो भगिणी उदायणस्स रण्णो पिउत्था, मिगावतीए देवीए णणंदा वेसालीसावयाणं अरहंताणं पुव्वसिज्जातरी जयंती समणोवासिया होत्था, सुकुमाल० जाव सुरूवा । अभिगय०जाव विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे० जाव परिसा पज्जुवासइ । तए णं से उदायणे राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! कोसंबिं णयरिं सब्भिंतरबाहिरियं एवं जहा कूणिओ तहेव सव्वं० जाव पज्जुवासइ । तए णं सा जयंती समणोवासिया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणी हट्ठतुट्ठा जेणेव मिगावती देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एवं वयासी-एवं जहा णवमसए उसभदत्तो०जाव भविस्सइ । तए णं सा मिगावई देवी जयंतीए समणोवासियाए जहा देवाणंदा० जाव पडिसुणेइ । तए णं सा मियावई देवी कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! लहुकरणजुत्त जोइया०जाव धम्मियं जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्ठवेह० जाव उवट्ठवेंत० जाव पच्चप्पिणंति । तए णं सा मियावई देवी जयंतीए समणोवासियाए सद्धिं एहाया कयबलिकम्मा० जाव सरीरा बहूहिं खुज्जाहिं० जाव अंतेउराओ णिग्गच्छंति णिग्गच्छंतित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मिए जाणप्पवरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता० जाव दुरूढा । तए णं सा मिगावती देवी जयंतीए समणोवासियाए सद्धिं धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढा समाणी णियगपरियाल जहा उसभदत्तो० जाव धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहइ । तए णं सा मिगावई देवी जयंतीए समणोवासियाए सद्धिं बहूहिं खुज्जाहिं जहा देवाणंदा० जाव वंदइ णमंसइ उदायणं रायं पुरओ कट्टु ठिइया चेव पज्जुवासइ । तए णं समणे भगवं महावीरे उदायणस्स रण्णो मियावईए देवीए जयंतीए समणोवासियाए तीसे य महइ० जाव धम्मं परिकहेइ०जाव परिसा पडिगया उदायणे पडिगए मिगावई वि पडिगया । तए णं सा जयंती समणोवासिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-कहं णं भंते ! जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छंति ? । जयंती ! पाणाइवाएणं० जाव मिच्छादंसणसल्लेणं, एवं खलु जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छंति । एवं जहा पढमसए०जाव वीईवयंति । भवसिद्धियत्तं णं भंते ! जीवा णं किं सभावओ य परिणामओ य ? । जयंती ! सभावओ य णो परिणामओ य । सव्वे वि णं भंते ! भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति ? हंता जयंती ! सव्वे वि णं भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति । जइ णं भंते ! सव्वे वि भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति तम्हा णं भवसिद्धियविरहिए लोए भविस्सइ ? णो इणट्ठे समट्ठे । से केणं खाइएणं अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सव्वे वि णं भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति । णो चेव णं भवसिद्धियविरहिए लोए भविस्सइ ? । जयंती ! से जहाणामए सव्वागासमेढी सिया अणादिया अणवदग्गा परित्ता परिवुडा सा णं परमाणुपोग्गलमेत्तेहिं खंडेहिं समए समए अवहीरमाणी अवहीरमाणी अणंताहिं उस्सप्पिणी ओसप्पिणीहिं अवहीरइ णो चेव णं अवहिरिया सिया, से तेणट्ठेणं जयंती ! एवं वुच्चइ सव्वे वि णं० जाव भविस्सइ । सुत्तत्तं भंते ! साहू जागरियत्तं साहू ? । जयंती ! अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू, अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अत्थेगइयाणं०जाव साहू ? । जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया अहम्माणुया अहम्मिट्ठा अहम्मक्खाई अहम्मपलोई अहम्मपल-

ज्जणा अहम्मसमुदायारा अहम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, एएसि णं सुत्तत्तं साहू, एएणं जीवा सुत्ता। समाणा णो बहूणं पाणभूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए० जाव परियावणयाए वट्टंति एएणं जीवा सुत्ता समाणा अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा णो बहूहिं अहम्मियाहिं संजोयणाहिं संजोएत्तारो भवंति एएणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू। जयंती! जे इमे जीवा धम्मत्थिया धम्माणुगा० जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू एएणं जीवा जागरमाणा बहूणं पाणाणं अदुक्खणयाए० जाव अपरियावणयाए वट्टंति, तेणं जीवा जागरा समाणा अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा बहूहिं धम्मियाहिं संजोयणाहिं संजोएत्तारो भवंति, एएणं जीवा जागरमाणा धम्मजागरियाए अप्पाणं जागरइत्तारो भवंति, एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू, से तेणट्ठेणं जयंती! एवं वुच्चइ अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू, अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू। बलियत्तं भंते! साहू दुब्बलियत्तं साहू? जयंती! अत्थेगइयाणं जीवाणं बलियत्तं साहू अत्थेगइयाणं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ० जाव साहू? जयंती! जे इमे जीवा अहम्मिया० जाव विहरंति, एएसि णं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू एएणं जीवा, एवं जहा सुत्तस्स तहा दुब्बलियत्तस्स वत्तव्वया भाणियव्वा, बलियत्तस्स जहा जागरस्स तहा भाणियव्वं० जाव संजोएत्तारो भवंति, एएसि णं जीवाणं बलियत्तं साहू से तेणट्ठेणं जयंती! एवं वुच्चइ तं चेव० जाव साहू। दक्खत्तं भंते! साहू आलसियत्तं साहू? जयंती! अत्थेगइयाणं जीवाणं दक्खत्तं साहू अत्थेगइयाणं जीवाणं आलसियत्तं साहू। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ तं चेव० जाव साहू? जयंती! जे इमे जीवा अहम्मिया० जाव विहरंति। एएसि णं जीवाणं आलसियत्तं साहू एएसि णं जीवा अलसाउमाणा णो बहूणं जहा सुत्ता तहा अलसा भाणियव्वा जहा जागरा तहा दक्खा भाणियव्वा० जाव संजोएत्तारो भवंति। एएणं जीवा दक्खा समाणा बहूहिं आयरियवेयावच्चेहिं उवज्झायवेयावच्चेहिं थेरवेयावच्चेहिं तवस्सीवेयावच्चेहिं गिलाणवेयावच्चेहिं सेहवेयावच्चेहिं कुलवेयावच्चेहिं गणवेयावच्चेहिं संघवेयावच्चेहिं साहम्मियवेयावच्चेहिं अत्ताणं संजोएत्तारो भवंति, एएसि णं जीवाणं दक्खत्तं साहू से तेणट्ठेणं तं चेव० जाव साहू। सोइंदियवसट्टेणं भंते! जीवे किं बंधइ एवं जहा कोहवसट्टे तहेव० जाव अणुपरियट्टइ। एवं चक्खिंदियवसट्टे वि,० जाव फासिंदियवसट्टे वि,० जाव अणुपरियट्टइ। तए णं सा जयंती समणोवासिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा सेसं जहा देवाणंदा तहेव पव्वइए० जाव सव्वदुक्खपहीणा सेवं भंते! भंतेत्ति॥

"तेणं कालेणं" इत्यादि। (पोत्ते त्ति) पौत्रः पुत्रस्यापत्यम् (चेडगस्स त्ति) वैशालीराजस्य (नत्तुए त्ति) नप्ता दौहित्रः (भाउज्ज त्ति) भ्रातृजाया (वेसाली सावगाणं अरहंताणं पुव्वसिज्जायरी त्ति) वैशालिको भगवान् महावीरस्तस्य वचनं शृण्वन्ति श्रावयन्ति वा तद्रसिकत्वादिति, वैशालिकश्रावकास्तेषाम् आर्हतानां अर्हद्देवतानां, साधूनामिति गम्यम् पूर्वशय्यातरा प्रथमस्थानदात्री साधवो ह्यपूर्वे समायातास्तद्गृह एव प्रथमं वसतिं याचन्ते, तस्याः स्थानदातृत्वेन प्रसिद्धत्वादिति, सा पूर्वशय्यातरा (सभावओ त्ति) स्वभावतः पुद्गलानां मूर्त्तत्ववत् (परिणामओ त्ति) परिणामो भाजूतस्य भवनेन पुरुषस्य तारुण्यवत्। (सव्वे वि णं भंते! भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति त्ति) भवा भाविनी सिद्धिर्येषां ते भवसिद्धिकास्ते सर्वेऽपि भदन्त! जीवाः सेत्स्यन्तीति प्रश्नः। हन्तेत्याद्युत्तरम् अयं चास्यार्थः-समस्ता अपि भवसिद्धिका जीवाः सेत्स्यन्ति अन्यथा भवसिद्धिकत्वमेव न स्यादिति। अथ सर्वभवसिद्धिकानां सेत्स्यमानताऽभ्युपगमे भवसिद्धिकं शून्यता लोकस्य स्यात्। नैवं समयकृता। तथाहि-सर्व एवानागतकालसमया वर्तमानतां लप्स्यन्ते। "भवति स नामातीतः, प्राप्तो यो नाम वर्तमानत्वम्। एष्यँश्च नाम स भवति, यः प्राप्स्यति वर्त्तमानत्वम्॥ १॥" इत्यभ्युपगमाच्च चानागतकालसमयविरहितो लोको भविष्यतीति। अथैतामेवाशङ्कां जयन्ती प्रश्नद्वारेणाऽनमदुक्तसमयज्ञातापेक्षया ज्ञातान्तरेण परिहर्तुमाह-"जह णं" इत्यादि। इत्येके व्याख्यान्ति। अन्ये तु व्याचक्षते-सर्वेऽपि भदन्त! भवसिद्धिका जीवाः सेत्स्यन्ति, ये केचन सेत्स्यन्ति ते सर्वेऽपि भवसिद्धिका एव, नाभवसिद्धिका एकोऽप्यन्यथा भवसिद्धिकत्वमेव न स्यादित्यभिप्रायः,'हन्ता' इत्याद्युत्तरम्। अथ यदि ये केचन सेत्स्यन्ति ते सर्वेऽपि भवसिद्धिका एव, नाभवसिद्धिक एकोऽपीत्यभ्युपगम्यते, तदा कालेन सर्वभवसिद्धिकानां सिद्धिगमनात् भव्यन्यूनता जगतः स्यादिति जयन्त्याः शङ्कां तत्परिहारं च दर्शयितुमाह-"जह णं" इत्यादि। (सव्वागाससेढि त्ति) सर्वाकाशस्य बुद्ध्या चतुरस्रप्रतरीकृतस्य श्रेणिः प्रदेशपङ्क्तिः सर्वाकाशश्रेणिः (परित्त त्ति) एकप्रदेशिकत्वेन विष्कम्भाभावेन परिमिता (परिवुड त्ति) श्रेण्यन्तरैः परिकरिता स्वरूपमेतत्तस्याः! अत्रार्थे वृद्धोक्ता भावनागाथा भवन्ति—

"तो भणइ किं ण सिज्झंति, अहव किमभव्व सावसेसत्तो।
निल्लेवणं न जुज्जइ, तेसिं तो कारणं अन्नं॥ १॥"

अयमर्थः-यदि भवसिद्धिकाः सेत्स्यन्तीत्युपगम्यते, ततो भणति शिष्यः कस्माच्च ते सर्वेऽपि सिध्यन्ति,अन्यथा भवसिद्धिकत्वस्यैवाभावात्। अथवा-अपरं दूषणं कस्मादभव्यसावशेषत्वादभव्यावशेषत्वेन अभव्यान् विमुच्येत्यर्थः। तेषां भव्यानां निर्लेपनं न युज्यते युज्यत एवेति भावः। यस्मादेवं ततः कारणं सिद्धेर्हेतुरन्यद्भव्यत्वातिरिक्तं वाच्यं, तत्र सति सर्वभव्यनिर्लेपनप्रसङ्गादिति।

" भएणइ तेसिमभव्वे, विपइ अनिल्लेवण न उ विरोहो ।
ननु सव्वभव्वसिद्धी, सिद्धा सिद्धंतसिद्धीओ ॥ २ ॥ "

अयमर्थो भण्यते-अत्रोत्तरं भव्यत्वमेव सिद्धिगमनकारणं न त्वन्यत्किञ्चित्तत्र च सत्यपि भव्यत्वे सिद्धिगमनकारणे तेषां भव्यानामभव्यानामपि प्रति भव्यानप्याश्रित्य अनिर्लेपनमव्यवच्छेदः, अभव्यानधिकृत्य यद्भव्यानां निर्लेपनमुक्तम् तदपि नेत्यर्थः। न तु न पुनरिहार्थे विरोधो बाधाऽस्ति सिद्धान्तासत्त्वादेतदेवाह-ननु इत्यादि न हि सर्वभव्यसिद्धिः सिद्धा सिद्धान्तसिद्धेरिति ।

" किह पुण भव्व बहुत्ता, सव्वागासपएससदिट्ठंता ।
न वि सिज्झिहिंति तो भण-इ किं तु भव्वत्तणं तेसिं ॥ ३ ॥
जइ होऊणं भव्वा, वि केइ सिद्धिं न चेव गच्छंति ।
एवं ते वि अभव्वा, को वि विसेसो भवे तेसिं ॥ ४ ॥
भण्णइ भव्वो जोगो, दारुदलियंति वा वि पज्जाया ।
जोगो वि पुण न सिज्झइ, कोइ रुक्खाइदिट्ठंता ॥ ५ ॥
परिमाईण न जोग्गा, बहवो गोसीसचंदणदुमाइ ।
संति अ जोगा वि इहं, अन्ने परंरुभंडाइं ॥ ६ ॥
न य पुण पडिमुप्पायण-संपत्ती होइ सव्वजोग्गाणं ।
जेसिं पि असंपत्ती, न य तेसिं जोग्गया होइ ॥ ७ ॥
किं पुण जा संपत्ती, सा नियमा होइ जोग्गरुक्खाणं ।
न य होई अजोग्गाणं, एमेव य भव्वसिज्झणया ॥ ८ ॥
सिज्झिस्संति य भव्वा, सव्वे वि भणियं च जं पहुणा।
तं पि य एयाए च्चिय, दिट्ठीए जयंति पुच्छाए ॥ ९ ॥
भव्यानामेव सिद्धिरित्येतया दृष्ट्या मतेनेति ।
अहवा-पडुच्च कालं, न सव्वभव्वाण होइ वोच्छित्ती ॥ १० ॥
जं तीतणागयाओ, अद्धाओ दो वि तुल्लाओ ।
तत्थातीतद्धाए, सिद्धो एक्को अणंतभागो सिं ।
कामं तावइओ च्चिय, सिज्झिहिइ अणागयद्धाए ॥ ११ ॥
ते दो वणंतभागा, होउं सो च्चिय अणंतभागो सिं ।
एवं पि सव्वभव्वा-ण सिद्धिगमणं च णिद्दिट्ठं ॥ १२ ॥ "

तौ द्वावप्यनन्तभागौ, मीलितौ सर्वजीवानामनन्त एव भाग इति । यत्पुनरिदमुच्यते-अतीताद्धातोऽनागताद्धाऽनन्तगुणेति । तन्मतान्तरं, तस्य चेदं बीजं, यदि द्वे अपि ते समाने स्यातां, तदा मुहूर्तादावतिक्रान्ते अतीताद्धा समधिका, अनागताद्धा च हीनेति हतं समत्वम्, एवं च मुहूर्तादिभिः प्रतिक्षणं क्षीयमाणाऽप्यनागताद्धा, यतो न क्षीयते ततोऽवसितं ततः साऽनन्तगुणेति, यच्चोभयोः समत्वं तदेवं यथाऽनागताद्धाया अन्तो नास्ति एवमतीताद्धाया आदिरिति समतेति जीवाश्च न सुप्ताः सिध्यन्ति, किं तर्हि जागरा एवेति सुप्तजागरसूत्रं, तत्र च (सुत्तत्तं ति) निद्रावशत्वम् (जागरियत्तं ति) जागरणं जागरः सोऽस्यास्तीति जागरिकस्तद्भावो जागरिकत्वम् (अहम्मिय त्ति) धर्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरन्तीति धार्मिकास्तन्निषेधादधार्मिकाः । कुत एतदेवमित्यत आह-(अहम्माणुया) धर्मं श्रुतरूपमनुगच्छन्तीति धर्मानुगास्तन्निषेधादधर्मानुगाः । कुत एतदेवमित्यत आह-(अहम्मिट्ठा) धर्मः श्रुतरूप एवेष्टो वल्लभः पूजितो वा येषां ते धर्मेष्टाः, धर्मिणां वेष्टा धर्मेष्टाः, अतिशयेन वा धर्मिणो धर्मिष्ठास्तन्निषेधादधर्मिष्ठाः। अधर्मेष्टाः। अधर्मिष्ठा वा, अत एव (अहम्मक्खाइ) न धर्ममाख्यान्तीत्येवंशीला अधर्माख्यायिनः । अथवा-न धर्मात् ख्यातिर्येषां ते ऽधर्मख्यातयः । (अहम्मपलोइ त्ति) न धर्ममुपादेयतया प्रलोकयन्ति ये तेऽधर्मप्रलोकिनः । (अहम्मपलज्जण त्ति) न धर्मे प्ररज्यन्ते आसज्जन्ति ये ते अधर्मप्ररञ्जनाः । एवं च-(अहम्मसमुदायार त्ति) न धर्मरूपश्चारित्रात्मकः समुदाचारस्समाचारः स प्रमोदो वाऽचारो येषां ते तथा, अत एव " अहम्मेणं चेव " इत्यादि । अधर्मेण चारित्रश्रुतविरुद्धरूपेण वृत्तिं जीविकां कल्पयन्तः कुर्वाणा इति, अनन्तरं सुप्तजाग्रता साधुत्वं प्ररूपितम् । अथ दुर्बलादीनां तथैव तदेव प्ररूपयन् सूत्रद्वयमाह-"बलियत्तं भंते !" इत्यादि । (बलियत्तं ति) बलमस्यास्तीति बलिकस्तद्भावो बलिकत्वम् (दुब्बलियत्तं ति) दुष्टं बलमस्यास्तीति दुर्बलिकस्तद्भावो दुर्बलिकत्वं, दक्षत्वं च तेषां साधु येनेन्द्रियवशानां यद्भवति तदाह-"सोइंदिय" इत्यादि । (सोइंदियवसट्ट त्ति) श्रोत्रेन्द्रियवशेन तत्पारतन्त्र्येण ऋतः पीडितः श्रोत्रेन्द्रियवशार्तः, श्रोत्रेन्द्रियवशं वा, ऋतो गतः श्रोत्रेन्द्रियवशार्तः। भ० १२ श० २ उ०। सप्तमबलदेवस्य मातरि, स० । आव० । अकम्पिताऽभिधाष्टमगणधरस्य मातरि, आ० म० प्र० । पार्श्वशिष्यायां पश्चात् परिव्राजिकीभूतायामुत्पलभगिन्याम्, सा हि स्वभगिनी सोमासहिता चारिकसन्निवेशे अवटे क्षिप्यमाणं भगवन्तं राजपुरुषानुपशमय्य मुमोच । आ० म० प्र० । पूर्वरुचकवास्तव्यायां सप्तम्यां दिक्कुमार्याम्, द्वी० । जं० । आ० म० । नि० । आ० चू० । स्था० । सर्वेषां ग्रहाणां चतुर्थ्यग्रमहिष्यामु त्पन्नायामग्रमहिष्याम्, जं० ७ वक्ष० । जी० । ज० । पश्चिमविदेहस्य सीताया उत्तरदिग्वर्तिमहावप्रविजयराजधान्याम्, जं० ४ वक्ष० । स्था० रतिकरपर्वतराजधानीविशेषे, द्वी० । अञ्जनकपर्वतस्थपुष्करिणीविशेषे, ती० २४ कल्प । जी० । स्था० । नवम्यां तिथौ, ज० ७ वक्ष० । कल्प० । च० प्र० । पुरीविशेषे, यत्र किल गुणचन्द्रर्षिणा सुरदत्तगृहपतिभार्या वसुन्धरा मासाहतभिक्षा दानमुखेन विनिवारिता । पिं० । अष्टमाजिनशासनशिखिकायाम्, स० । महौषधिविशेषे, ती० ७ कल्प । तथा हि ।

" जयन्ती मदगन्धाख्या, तिक्ता चैव कटूष्णिका ।
कृमिमूत्रामजित् ख्याता, करशोषणकृन्मता ॥ १ ॥
कृष्णा रसायनी तत्र, सैव सर्वत्र पूज्यते ।
तच्छाकं विषदोषघ्नं, चक्षुष्यं मधुरं हिमम् " ।

पताकायाम्, वाच० । " दो जयंतीओ " । स्था० २ ठा० ३ उ० । " पुव्वसिज्जायरी जयंती " इत्यत्र पूर्वशय्यातरीशब्दस्यार्थः । प्रस्थाप्य इति प्रश्ने, उत्तरम्-अपूर्वसाध्वादिः समायातस्तद्गृह एव प्रथमं वसतिं याचते तस्याश्च स्थानदातृत्वेन प्रसिद्धत्वात्पूर्वशय्यातरीति । भगवतीसूत्रवृत्त्यनुसारेण पूर्वशय्यातरीशब्दार्थो ज्ञेय इति । १२७ प्र० सेन० १ उल्ला० ।

जयकित्ति-जयकीर्ति-पुं० । अञ्चलगच्छीये मेरुतुङ्गसूरिशिष्ये जयकेशरसूरिशीलरत्नसूरिणो गुरौ, विक्रमसंवत् १४३३ वर्षे अयं जातः, १४४४ वर्षे प्रव्राजितः, १४६७ वर्षे सूरिपदं प्राप्तः, १४७३ वर्षे गच्छेशपदं प्राप्तः, १५०० वर्षे स्वर्गमगमत् । एतन्नामा द्वितीयो विजयसिंहसूरेः शिष्य आसीत्, येन शीलोपदेशमाला नाम ग्रन्थो विरचितः । जै० इ० ।

जयकेसरसूरि-जयकेशरसूरि-पुं० । अञ्चलगच्छीये जयकीर्तिसूरिशिष्ये सिद्धान्तसागरगुरौ, विक्रमसंवत् १४६१ वर्षे जातः, १४७५ दीक्षितः, १४९४ आचार्यो जातः, १५०१ गच्छनायकः, १५४२ स्वर्गतश्चायमभवत् । जै० इ० ।

जयघोस-जयघोष-पुं० । स्वनामख्याते मुनौ, (उत्त०)

वाराणस्यां किल द्विजौ यमलौ भ्रातरौ जयघोषविजयघोषौ अभूतां तयोरेको जयघोषनामा गङ्गायां स्नातुं गतः, कुररसर्पमण्डूकग्रासं दृष्ट्वा प्रव्रजितः । तद्वार्ता चैवम्—

माहणकुलसंभूओ, आसि विप्पो महाजसो ।
जायाई जमजएणम्मि, जयघोसे त्ति नामओ ॥ १ ॥

ब्राह्मणकुले संभूतः विप्रकुले समुत्पन्नः,'जयघोष' इति नामतो विप्र आसीत् । अत्र हि यत् ब्राह्मणकुलसंभूतः विप्र आसीत् इत्युक्तं तत् ब्राह्मणजनकादुत्पन्नोऽपि जननीजातिहीनत्वेऽब्राह्मणः स्यात् अतो विप्र इत्युक्तम् । कीदृशो जयघोषः ? (जमजएणम्मि) यमं यज्ञे यायाजी यायजीत्येवंशीलो यायाजी यमाः अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मानिर्लोभाः पञ्च, त एव यज्ञो यमयज्ञस्तस्मिन् यमयज्ञे अतिशयेन यज्ञकरणशीलः अर्थात्पञ्चमहाव्रतरूपे यज्ञे याज्ञिको जातः, यतिर्जात इत्यर्थः ॥ १ ॥

इंदियग्गामनिग्गाही, मग्गगामी महामुणी ।
गामाणुगामं रीयंतो, पत्तो वाणारसिं पुरिं ॥ २ ॥

स महामुनिः एकाकी साधुर्ग्रामानुग्रामम्(रीयंतो इति) विचरन् वाराणसीं पुरीं प्राप्तः। कीदृशः स महामुनिः?। इन्द्रियग्रामनिग्राही इन्द्रियाणां ग्रामं समूहम् इन्द्रियपञ्चकं निगृह्णाति मनोजयेन वशीकरोतीति इन्द्रियग्रामनिग्राही, पुनः कीदृशः?। स मार्गगामी मार्गे मोक्षं गच्छति स्वयम्, अन्यान् गमयति इति मार्गगामी ।

वाणारसीए बाहिया, उज्जाणम्मि मणोरमे ।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥ ३ ॥

स साधुर्वाराणस्यां बाह्ये, मनोरमे मनोहरे, उद्याने प्रासुके जीवरहिते शय्यासंस्तारके दर्भतृणादिरचिते शयनोपवेशनस्थितौ तत्र (वासं इति) वसतिं कर्तुमुपागतः ॥ ३ ॥

अह तेणेव कालेणं, पुरीए तत्थ माहणे ।
विजयघोसे त्ति नामेणं, जन्नं जयइ वेयवी ॥ ४ ॥

अथ अनन्तरं तस्मिन्नेव काले यस्मिन् काले साधुर्वने समागतः तस्मिन्नेव काले तस्यां वाराणस्यां पुर्यां 'विजयघोष' इति नामा ब्राह्मणो यज्ञं यजति यज्ञं करोति । कीदृशो विजयघोषः?। वेदवित् वेदज्ञः ॥ ४ ॥

अह से तत्थ अणगारे, मासक्खमणपारणे ।
विजयघोसस्स जन्नम्मि, भिक्खट्ठा उवट्ठिए ॥ ५ ॥

अथ अनन्तरं तत्र विजयघोषस्य यज्ञे स पूर्वोक्तो जयघोषोऽनगारो मासक्षमणस्य पारणे भिक्षाया अर्थे भिक्षायै उपस्थितः ॥ ५ ॥

समुवट्ठियं तहिं संतं, जायगो पडिसेहए ।
न हु दाहामि ते भिक्खं, भिक्खू जायाहि अन्नओ ॥६॥

तदा याजको यजमानो विजयघोषो ब्राह्मणस्तत्र भिक्षार्थं समुपस्थितं सन्तं तं साधुं प्रतिषिध्यति निवारयति, कथं निवारयतीत्याह–हे भिक्षो ! त्वम् अन्यतोऽन्यत्र याहि (ते) तुभ्यं भिक्षां न ददामि ॥ ६ ॥

जे य वेयविओ विप्पा, जएणट्ठा य जिइंदिया ।
जोइसंगविओ जे य, जे य धम्माण पारगा ॥ ७ ॥

जे समत्था समुद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य ।
तेसिं अन्नमिणं देयं, भो भिक्खू सव्वकामियं ।८। युग्मम्

विजयघोषो वदति–हे भिक्षो ! अस्मिन् यज्ञे इदं प्रत्यक्षं दृश्यमानम् अन्नं सर्वकामिकं षड्रससहितं तेषां पात्राणां देयं वर्तते तेभ्यो देयमस्ति । न तु तुभ्यं देयं वर्तते । तेषां केषाम् ?। ये आत्मानं स्वकीयमात्मानम् च पुनः, परं परस्यात्मानं समुद्धर्तुं समर्थाः । ये संसारसमुद्रात् आत्मानं तारयितुं समर्थाः परमपि तारयितुं समर्थाः । तेषां प्रदेयमस्ति इति भावः ॥७॥ पुनः केषां प्रदेयमन्नं वर्तते ? ये विप्रा वेदविदो वेदज्ञाः तेषाम् । पुनर्ये यज्ञार्थाः यज्ञ एव अर्थः प्रयोजनं येषां ते यज्ञार्थास्तेषाम् । पुनर्ये जितेन्द्रिया इन्द्रियाणां जेतारस्तेषाम् । पुनर्ये ज्योतिषाङ्गविदः ज्योतिःशास्त्रस्याङ्गवेत्तारः । यद्यपि ज्योतिःशास्त्रं वेदस्याङ्गमेवास्ति वेदविद् इत्युक्ते आगतम् तथापि अत्र ज्योतिःशास्त्रस्य पृथगुपादानं प्राधान्यख्यापनार्थं तस्मात् एतद्गुणविशिष्टा ये ब्राह्मणास्तेषां देयमस्ति, पुनर्ये धर्मशास्त्राणां पारगास्तेषां देयम् अत्र अन्नं वर्तते, इत्यर्थः ॥८॥

सो तत्थेवं पडिसिद्धो, जायगेण महामुणी ।
न वि रुट्ठो न वि तुट्ठो, उत्तमट्ठगवेसओ ॥ ९ ॥

स महामुनिर्जयघोषः तत्र यज्ञे (एवं) अमुना प्रकारेण विजयघोषेण याजकेन यज्ञकारकेण प्रतिषिद्धः सन् निवारितः सन् नापि रुष्टो नापि तुष्टः समभावयुक्तोऽभूत् । कीदृशः स महामुनिः ?। उत्तमार्थगवेषको मोक्षाभिलाषी ॥ ९ ॥

नऽन्नट्ठं पाणहेउं वा, न वि निव्वाहणाय वा ।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, इमं वयणमब्बवी ॥ १० ॥

स महामुनिस्तेषां विजयघोषादिब्राह्मणानां विमोक्षणार्थं कर्मबन्धनान् मुक्तिकरणार्थम् इदं वचनम् अब्रवीत्–परम् अन्नपानलाभार्थं न अब्रवीत् । एवं ज्ञात्वा न अब्रवीत्–येन अहं एभ्य उपदेशं ददामि एते प्रसन्ना मह्यं सम्यग् अन्नपानं ददति इति बुद्ध्या न अब्रवीत् । किं तु तेषां संसारनिस्तारार्थमवदत् । वा अथवा–निर्वाहणाय अपि न वस्त्रपात्रादिकानां निर्वाह एभ्यो मम भविष्यति तेन हेतुना न अब्रवीदिति भावः ॥ १० ॥

न विजाणासि वेयमुहं, न वि जन्नाण जं मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं जं च, जं च धम्माण वा मुहं ॥११॥

किम् अब्रवीत् ? इति आह–भो ब्राह्मण ! विजयघोष ! त्वं वेदमुखं न विजानासि । पुनर्यत् यज्ञानां मुखं वर्तते तदपि त्वं न जानासि । पुनर्यत् नक्षत्राणां मुखं तदपि त्वं न जानासि । च पुनर्यद्धर्माणां मुखं वर्तते तदपि त्वं न जानासि ॥ ११ ॥

पुनः स साधुर्विजयघोषं ब्राह्मणं प्रति पृच्छति–

जे समत्था समुद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य ।
ण ते तुमं विजाणासि, अह जाणासि तो भण ? ॥१२॥

हे विजयघोष ! ये परं च पुनः आत्मानम् । एवं समुद्धर्तुं संसारात् निस्तारयितुं समर्थास्तान् स्वपरनिस्तारकान् त्वं न जानासि । अथ चेत् त्वं जानासि तदा (भण) कथय ? ॥ १२ ॥

तस्स क्खेवपमोक्खं च, अचयंतो तहिं दिओ ।
सपरिसो पंजलिउडो, पुच्छई तं महामुणिं ॥१३॥

(तहिं इति) तत्र यज्ञे द्विजो विजयघोषः प्राञ्जलिपुटो बद्धाञ्जलिः सन्. तं महामुनिं पृच्छति-कीदृशो द्विजः ?। सपरिषत् बहुभिर्मनुष्यैः सहितः पुनः स द्विजः कीदृशः सन् ?। तस्य साधोराह्वानं प्रश्नस्तस्य प्रमोक्षं प्रतिवचनमुत्तरम् (अचयंतो इति) दातुम् अशक्नुवन् प्रश्नस्योत्तरं दातुमसमर्थः सन् दातुमित्यध्याहारः ॥ १३ ॥

वेयाणं च मुहं बूहि, बूहि जन्नाण जं मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं बूहि, जं च धम्माण वा मुहं ॥ १४ ॥

हे महामुने ! त्वमेव वेदानां मुखं ब्रूहि ?। पुनर्यत् यज्ञानां मुखं तन्मे ब्रूहि?। पुनर्नक्षत्राणां मुखं ब्रूहि ?। पुनर्यत् धर्माणां मुखं तन्मे ब्रूहि ॥ १४ ॥

जे समत्था समुद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य ।
एयं मे संसयं सव्वं, साहू कहसु पुच्छिओ ॥ १५ ॥

पुनर्ये पुरुषाः परं, च पुनरात्मानमपि संसारात् उद्धर्तुं समर्थाः सन्ति एतन्मे मम संशयविषयं वेदमुखादिकम् अस्ति। हे साधो! त्वं मया पृष्टः सन् सर्वं कथयस्व ॥ १५ ॥

इत्युक्ते पुनराह-

अग्गिहोत्तमुहा वेया, जन्नट्ठी वेयसा मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं चंदो, धम्माणं कासवो मुहं ॥१६॥

हे विजयघोष ! वेदा अग्निहोत्रमुखाः, अग्निहोत्रं मुखं येषां ते अग्निहोत्रमुखाः वेदानां मुखमग्निहोत्रम् । अग्निहोत्रं हि अग्निकारिका, सा च इयम्-"कर्मेन्धनं समाश्रित्य,दृढा सद्भावनाहुतिः। धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका ॥१॥" इत्यादि यज्ञविधिविधायिका कारिका गृह्यते । वेदानां यज्ञानां एषा एव कारिका मुखं प्रधानम् । अस्याः कारिकायाः अर्थः-कर्माणि इन्धनानि कृत्वा उत्तमा भावना आहुतिर्विधेया धर्मध्यानाग्नौ दीक्षितेन इयम् अग्निकारिका विधेया पुनर्हे ब्राह्मण! विजयघोष ! यज्ञार्थी पुरुषो वेदसां यज्ञानां मुखं वर्तते, यज्ञो दशप्रकारधर्मः। "सत्यं तपश्च सन्तोषः, क्षमा चारित्रमार्जवम् । श्रद्धा धृतिरहिंसा च, संवरश्च तथा परः ॥ १ ॥" इति दशप्रकारः। स चात्र प्रस्तावाद्भावयज्ञस्तं यज्ञम् अर्थयति अभिलषतीति यज्ञार्थी स एव यज्ञानां मुखं वर्तते । नक्षत्राणां अष्टाविंशतीनां मुखं चन्द्रो वर्तते, धर्माणां श्रुतधर्माणां चारित्रधर्माणां काश्यपः आदीश्वरो मुखं वर्तते। धर्माः सर्वेऽपि तेनैव प्रकाशिता इत्यर्थः ॥ १६ ॥

जहा चंदं गहाईया, चिट्ठंति पंजलीउडा ।
वंदमाणा णमंसंति, उत्तमं मणहारिणो ॥ १७ ॥

यथा ग्रहादिका अष्टाशीतिग्रहाः नक्षत्राणि अष्टाविंशतिप्रमितानि एवं सर्वे ज्योतिष्का देवाश्चन्द्रं प्राञ्जलिपुटाः बद्धाञ्जलयस्तिष्ठन्ति सेवन्ते । एवं श्रीऋषभदेवम् उत्तमं प्रधानं यथा स्यात्तथा मनोहारिणस्त्रिभुवनवर्तिनो भव्याः वन्दमानाः स्तवनां कुर्वन्तो नमस्कुर्वन्ति विनये प्रवर्तन्ते इति भावः ॥ १७ ॥

अजाणगा जन्नवाई, विज्जामाहणसंपया ।
मूढा सज्झायतवसा, भासच्छन्ना इवऽग्गिणो ॥१८॥

हे विजयघोष ! विद्याब्राह्मणसंपदामजानानाः पुनर्यज्ञवादिनस्ते त्वया पात्रत्वेन मन्यन्ते । विद्या आरण्यकब्रह्माण्डपुराणात्मिकास्ता एव ब्राह्मणसंपदो विद्याब्राह्मणसंपदस्तासाम् अज्ञाः सन्तो यज्ञवादिनो वर्तन्ते । यत् बृहदारण्यकमुक्तं यज्ञम् एते जानन्ते, तदा कथं एतादृशं यज्ञं कुर्युः । तस्माद् वृथैव वयं याज्ञिकाः इत्यभिमानं कुर्वन्ति । पुनः कथंभूताः ?। स्वाध्यायतपसा वेदाध्ययनोपवासादिना मूढाः बहिः संवृतिमन्तः आच्छादिततत्त्वज्ञानाः। एते के इव ? भस्मच्छन्ना अग्नय इव । रक्षाच्छादित वह्नय इव । इत्यनेन बाह्ये शीतलत्वे प्राप्ताः परं कषायाग्निना मध्ये सन्तप्ता एवेति भावः ॥ १८ ॥

पुनस्तत्साधुर्वदति—

जो लोए बम्भणो वुत्तो, अग्गीव महिओ जहा ।
सया कुसलसंदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं ॥ १९ ॥

हे विजयघोष ! वयं तं ब्राह्मणं ब्रूमः। तं कम् ?। यो मुनिभिर्ब्राह्मण उक्तः। यदा केश्चित् अज्ञैः अब्राह्मणोऽपि ब्राह्मणोऽयमित्युक्तस्तं ब्राह्मणं न ब्रूमः इति भावः। कथं भूतः सः?। लोकैर्महितः पूजितः सन् दीप्यते। क इव ?। अग्निरिव । यथाऽग्निः पूजितो घृतादिसिक्तो दीप्यते। कीदृशं तं ब्राह्मणम् ?। सदा कुशलसन्दिष्टं कुशलैस्तत्त्वाभिज्ञैः संदिष्टं कथितम् ॥ १९ ॥

अथ कुशलसंदिष्टस्वरूपमाह—

जो न सज्जइ आगंतुं, पव्वयंतो न सोयइ ।
रमई अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥२०॥

हे विजयघोष ! तं वयं ब्राह्मणं ब्रूमः। तम् इति कम् ?। यः (आगंतुं इति) बहुभ्यो दिनेभ्यः प्राप्तं स्वजनादिकं वल्लभं जनं न स्वजति ना लिङ्गति। अथवा-(आगंतुं इति) स्वजनादिस्थानमागत्य स्वजनादिकं न स्वजति न अभिष्वङ्गं करोति, पुनर्यः प्रव्रजन् स्थानात् अन्यत् स्थानं स्थानान्तरं गच्छन् अर्थात् विचरन् न शोचते न शोकं कुरुते । पुनर्यः आर्यवचने तीर्थकरवाक्ये रमते तं वयं ब्राह्मणं वदामः ॥ २० ॥

जायरूवं जहाऽऽमिट्ठं, निद्धंतमलपावगं ।
रागदोसभयातीतं, तं वयं बूम माहणं ॥ २१ ॥

हे विजयघोष ! वयं तं ब्राह्मणं ब्रूमः। कं। दृशम् ?। जातरूपं स्वर्णं इव आमृष्टं तेजो वृद्ध्यै मनःशिलादिना परामृष्टं कृतवर्णिकावर्धनमनेन बाह्यगुण उक्तः। यथाशब्द इवार्थे। पुनः कीदृशं तम् ?। (निद्धंतमलपावगं) नितरामतिशयेन ध्मातं मलं किट्टं तद्रूप पातकं यस्य तन्निध्मातमलपातकम् अनेन च अन्तरो गुण उक्तः। पुनः कथंभूतः?। रागद्वेषभयातीतं रागः प्रेमरूपः द्वेषोऽप्रीतिरूप स्ताभ्यामतीतो दूरीभूतस्तं वयं विप्रं वदामः ॥ २१ ॥

तवस्सियं किसं दंतं, अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥ २२ ॥

हे विजयघोष ! वयं तं ब्राह्मणं ब्रूमः। तं कं तपस्विनम् । अत एव कृशं दुर्बलम् । पुनः कीदृशम् ?। दान्तं जितेन्द्रियम् । पुनः कीदृशम् ?। अपचितमांसशोणितं शोषितमांसरुधिरम् । पुनः कीदृशम् ?। सुव्रतं सम्यक् व्रतानां धर्तारम् । पुनः कीदृशम् ?। प्राप्तनिर्वाणं प्राप्तं कषायाग्निशमनेन निर्वाणं शीतिभावं येन स प्राप्तनिर्वाणस्तम् ॥ २२ ॥

तसपाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे ।

जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं ॥ २३ ॥

हे ब्राह्मण ! तं वयं ब्राह्मणं ब्रूमः। तम् इति कम् ?। यस्त्रसान् प्राणान् पुनः स्थावरान् संग्रहेण समासेन संक्षेपेण विज्ञाय त्रिविधेन मनोवाक्कायेन करणकारणानुमतिभेदेन नवविधेन न हन्ति, तं ब्राह्मणं वक्ष्म इति भावः ॥ २३ ॥

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥ २४ ॥

हे विजयघोष ! यः क्रोधात्, यदि वा अथवा हासात्, वा अथ वा लोभात्, अथ भयात् मृषाम् असत्यवाणीं न वदति, तं वयं ब्राह्मणं ब्रूमः ॥ २४ ॥

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जदि वा बहुं ।
न गिण्हइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं ॥ २५ ॥

हे ब्राह्मण ! यश्चित्तमन्तं सचित्तम् । अथवा-अचित्तं प्रासुकम् अल्पं स्तोकम्, यदि वा बहुं प्रचुरम् अदत्तं दायकेन अनर्पितं स्वयमेव न गृह्णाति तं वयं ब्राह्मणं वदामः ॥ २५ ॥

दिव्वमाणुस्सतेरिच्छं, जो ण सेवइ मेहुणं ।
मनसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥ २६ ॥

पुनर्यो दिव्यमानुष्यतिरश्चीनं मैथुनं मनसा कायेन वचसा कृत्वा न सेवते । वयं तं ब्राह्मणं वदामः ॥ २६ ॥

जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥ २७ ॥

हे ब्राह्मण ! पुनस्तं वयं ब्राह्मणं वदामः। तं कीदृशम् ?। (एवं) अमुना प्रकारेण अनेन दृष्टान्तेन कामैः अलिप्तं भोगैः असंलग्नं येन दृष्टान्तेन यथा पद्मं जले जातं परं तत् पद्मं वारिणा न उपलिप्यते जलं त्यक्त्वोपरि तिष्ठति तथा भोगैरुत्पन्नोऽपि भोगैरलिप्तो यस्तिष्ठति स ब्राह्मणो ज्ञेयः ॥ २७ ॥

अलोलुयं मुहाजीवी, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ॥ २८ ॥

मूलगुणमुक्त्वा उत्तरगुणमाह-पुनर्वयं तं ब्राह्मणं ब्रूमः। कीदृशं तं ब्राह्मणम् ?। अलोलुपम् आहारादिषु लाम्पट्यरहितम् । पुनः कीदृशम् ?। मुधाजीविनम् अज्ञातगृहेषु आहारादि गृहीत्वा आजीविकां कुर्वाणं संयमजीवितव्यधारकम् इत्यर्थः । पुनः कीदृशम् ?। गृहस्थेषु असंसक्तं गृहस्थे प्रतिबन्धरहितम् ॥ २८ ॥

जहित्ता पुव्वसंजोगं, नातिसंगे य बंधवे ।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं ॥ २९ ॥

पुनस्तं वयं ब्राह्मणं वदामः। तमिति कम् ?। यो ज्ञानी स्वकीयगोत्रे च पुनः सङ्गे श्वसुरादिसंबन्धे पुनर्बान्धवे पूर्वसंयोगं मातापित्रादिस्नेहं त्यक्त्वा पुनरेतेषु पूर्वोक्तेषु न स्वजति रागासक्तो न भवति । तं वयं ब्राह्मणं वदामः ॥ २९ ॥

पसुबंधा सव्ववेया, जट्ठं च पावकम्मुणा ।
न तं तायंति दुस्सीलं, कम्माणि बलवंतिह ॥ ३० ॥

भो विजयघोष ! सर्ववेदाः पशुबन्धाः वर्तन्ते पशूनां बन्धो विनाशाय नियन्त्रणं यैस्ते पशुबन्धाः केवलं वेदाः पशुबन्धहेतवो वर्तन्ते । न तु मोक्षहेतवः । हिंसायाः प्ररूपकत्वात् यतो हि वेदवाक्यमिदं श्रूयताम् "भूतिकामो वायव्यां दिशि श्वेतं छागमालभेत" इत्यादि पशुबन्धे हेतुभूतं वेदवाक्यं च पुनः (अट्ठ इति) इष्टं यजनं यज्ञः पापकर्मणामुत्पद्यते तत् इष्टं पापकर्मणा पापकारणपशुबन्धाद्यनुष्ठानेन तं वेदानाम् अध्येतारं यज्ञकर्तारं वा न त्रायन्ते यज्ञकर्तारं वा दुःशीलं दुराचारं पापशास्त्राणां पठनेन पापकर्मकरणेन दुष्टाचारम् इह कर्माणि बलवन्ति वर्तन्ते दुष्टकर्माणि बलेन पापकर्मकर्तारं नरकं नयन्ति । अतः कारणात् एतस्मात् यागात् ब्राह्मणः पात्रभूतोऽस्ति । किं तु अनन्तरोक्तगुणवान् एव ब्राह्मण इति भावः ॥ ३० ॥

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणीऽरण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥ ३१ ॥

हे विजयघोष ! मुण्डितेन श्रमणो निर्ग्रन्थो न स्यात् । ओङ्कारेण ॐ भूर्भुवः स्वरित्यादिना ब्राह्मणो न स्यात् । तथा-अरण्यवासेन मुनिर्नोच्यते । कुशो दर्भस्तन्मयं चीरं उपलक्षणत्वात् वल्कलं कुशचीरं तेन कुशचीरेण कुशोपलक्षितवल्कलवस्त्रेण तापसो न भवेत् ॥ ३१ ॥

समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो ।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥ ३२ ॥

(समया) समयत्वेन शत्रुमित्रयोरुपरि समानभावेन श्रमणो भवति। ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणो भवति, ब्रह्म पूर्वोक्तम् 'अहिंसासत्यचौर्याभावामैथुननिर्लोभरूपं' तस्य ब्राह्मणभरणमङ्गीकरणं ब्रह्मचर्यं तेन ब्राह्मण उच्यते, ब्रह्मत्वयुक्तो ब्राह्मण इत्यर्थः । ज्ञानेन मुनिर्भवति मन्यते जानाति हेयोपादेयविधी इति मुनिः । स च ज्ञानेनैव स्यात् । तथा तपसा द्वादशविधेन तापसो भवति ॥ ३२ ॥

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥ ३३ ॥

कर्मणा क्रियया ब्राह्मणो भवति, " क्षमा दानं दमो ध्यानं, सत्यं शौचं धृतिर्घृणा । ज्ञानविज्ञानमास्तिक्य-मेतत् ब्राह्मणलक्षणम् ॥ १ ॥ " अनया क्रियया लक्षणभूतया ब्राह्मणः स्यात् । क्षत्रियः शरणागतत्राणलक्षणक्रियया क्षत्रिय उच्यते, न तु केवलं क्षत्रियकुले जातिसमुत्पन्ने सति शस्त्रबन्धनत्वेनैव क्षत्रिय उच्यते । एवं वैश्योऽपि कर्मणा क्रियया एव स्यात् कृषिपशुपाल्यादिक्रियया वैश्य उच्यते । कर्मणा एव शूद्रो भवति शोचनादिहेतुप्रेषणभारोद्वहनजलाद्याहरणचरणमर्दनादिक्रियया शूद्र उच्यते । अत्र ब्राह्मणलक्षणावसरे अन्येषां वर्णत्रयाणां लक्षणाविधानं व्याप्तिदर्शनार्थम् ॥ ३३ ॥

एए पाउकरे बुध्दे, जेहिं होइ सिणायओ ।
सव्वकम्मविणिम्मुक्कं, तं वयं बूम माहणं ॥ ३४ ॥

बुद्धो ज्ञाततत्त्वः श्रीमहावीरः एतान् अहिंसाद्यर्थान् प्रादुरकार्षीत् प्रकटी चकार । यैर्गुणैः कृत्वा सर्वकर्मविनिर्मुक्तो भूत्वा स्नातको भवति केवली भवति । प्राकृतत्वात् प्रथमास्थाने द्वितीया । तम् एतादृशगुणयुक्तं स्नातकं वा वयं ब्राह्मणं वदामः ॥ ३४ ॥

एवं गुणसमाउत्ता, जे भवंति दिउत्तमा ।
ते समत्था वि उध्दत्तुं, परं अप्पाणमेव य ॥ ३५ ॥

एवंगुणसमायुक्ताः ये द्विजोत्तमाः ब्राह्मणश्रेष्ठाः भवन्ति । ते ब्राह्मणोत्तमाः परमात्मानम् अपि उद्धर्तुं समर्था भवन्ति ॥३५॥

एवं तु संसए छिन्ने, विजयघोसे य माहणे ।
समुदाय तयं तं तु, जयघोसं महामुणिं ॥ ३६ ॥

ततस्तदनन्तरं विजयघोषो ब्राह्मणः जयघोषं महामुनिं तदा च इदं वचनम्-उदाह कथयति इति संबन्धः किं कृत्वा ?। तं मुनिं जयघोषं समादाय सम्यक् उपलक्ष्य ज्ञात्वा, क सति (एवं) पूर्वोक्तप्रकारेण विजयघोषस्य संशये छिन्ने सति ॥ ३६ ॥

तुट्ठो य विजयघोसे, इणमुदाहु कयंजली ।
माहणत्तं जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ॥ ३७ ॥

विजयघोषस्तुष्ट इदं वचनं जयघोषमुनये आह-कीदृशो विजयघोषः?। कृताञ्जलिः, हे मुने ! मे मम ब्राह्मणत्वं यथाभूतं यथास्वरूपं सुष्ठु सम्यगुपदर्शितम् ॥ ३७ ॥

तुब्भे जइया जन्नाणं, तुब्भे वेयविओ विऊ ।
जोइसंगविओ तुब्भे, तुब्भे धम्माण पारगा ॥ ३८ ॥

किं वचनम् ? आह-हे महामुने ! (तुब्भे इति) यूयं यज्ञानां यष्टारः, यूयं वेदविदः वेदवित्सु विदो ज्ञातारो वेदविदाम्वराः यूयम् एव । पुनर्यूयम् एव ज्योतिषाङ्गविदः। यूयम् एव धर्माणां पारगाः धर्माचारपारगाः ॥ ३८ ॥

तुब्भे समत्था उद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य ।
तमणुग्गहं करे अम्हं, भिक्खेणं भिक्खुउत्तमाः! ॥ ३९ ॥

पुनर्हेमहामुने ! यूयं परं पुनः आत्मानं समुद्धर्तुं संसारात् निस्तारयितुं समर्थाः। (तं इति) तस्मात् कारणात् भो भिक्षूत्तमाः ! साधुश्रेष्ठाः ! भिक्षया भिक्षाग्रहणे अस्माकम् अनुग्रहं यूयं कुरुथ ॥ ३९ ॥

ण कज्जं मज्झ भिक्खेणं, खिप्पं निक्खम सूदिया ।
मा भमिहिसि भयावट्टे, घोरे संसारसागरे ॥ ४० ॥

तदा जयघोषमुनिराह-हे द्विज ! मम भिक्षया कार्यं नास्ति । त्वं क्षिप्रं शीघ्रं क्रमस्व दीक्षां गृहाण । हे द्विज ! घोरे भीषणे संसारसागरे भ्रमसि मिथ्यात्वेन त्वं संसारसमुद्रे भ्रमिष्यसि । तस्मान्मिथ्यात्वं त्यज, जैनीं दीक्षां गृहाणेति भावः । कथंभूते संसारसमुद्रे ?। भयावर्ते सप्तभयजलभ्रमयुक्ते ॥ ४० ॥

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पइ ।
भोगी भमई संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥ ४१ ॥

हे विजयघोष ! भोगेषु भुज्यमानेषु सत्सु उपलेपः कर्मोपचयरूपो बन्धः स्यात् । अभोगी भोगानाम् अभोक्ता , कर्मणा न उपलिप्यते । पुनर्भोगी भोगानां भोक्ता, संसारे भ्रमति । अभोगी भोगानाम् अभोक्ता, कर्मलेपाद् विमुच्यते ॥ ४१ ॥

कर्मलेपे दृष्टान्तमाह-

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टिया मया ।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गइ ॥४२॥

उल्ल आर्द्रः, च पुनः शुष्कः, एतौ द्वौ मृत्तिकामयौ गोलकौ कुड्ये भित्तौ उत्क्षिप्तौ आक्षिप्तौ तत्र आपतितौ भित्तौ आस्फालितौ सन्तौ । अत्र द्वयोः मृत्तिकामयगोलकयोर्मध्ये य उल्लः आर्द्रो, मृद्गोलकः स कुड्ये लगति ॥४२॥

एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥ ४३ ॥

(एवं) अमुना प्रकारेण आर्द्रमृत्तिकागोलकदृष्टान्तेन दुर्मेधसो दुष्टबुद्धयो ये नराः कामलालसाः भोगेषु लम्पटाः (लग्गंति) संसारे आसक्ताः भवन्ति । तु पुनः विरक्ताः कामभोगेभ्यो विमुखनराः (न लग्गंति) संसारासक्ता न भवन्ति । यथा शुष्को मृद्गोलको भित्तौ न लगति ॥ ४३ ॥

एवं से विजयघोसे, जयघोसस्स अंतिए ।
अणगारस्स निक्खंतो, धम्मं सोच्चा अणुत्तरं ॥ ४४ ॥

(एवं) अमुनाप्रकारेण स विजयघोषो ब्राह्मणो जयघोषस्य अनगारस्य अन्तिके समीपे निष्क्रान्तो दीक्षां प्राप्तः। किं कृत्वा ?। अनुत्तरं धर्मं श्रुत्वा ॥ ४४ ॥

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
जयघोसविजयघोसा, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ।४५। ति बेमि

जयघोषविजयघोषौ उभावपि अनुत्तरां प्रधानां गतिं सिद्धिं प्राप्तौ । किं कृत्वा ?। संयमेन , च पुनस्तपसा पूर्वकर्माणि क्षपयित्वा । इति अहं ब्रवीमि । सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनं प्राह ॥ ४५ ॥ उत्त० २५ अ० ।

जयचंद-जयचन्द्र-पुं० । सोमसुन्दरसूरिशिष्यपञ्चकमध्ये द्वितीये शिष्ये, ग० ४ अधि० । अनेन, विक्रमसंवत् १५०६ प्रतिक्रमणविधिनामा ग्रन्थो विरचितः । जै० इ० ।

जयजयसद्द-जयजयशब्द-पुं० । जयजयारवे, औ० ।

जयजयारव-जयजयारव-पुं० । जय जयेत्याशीर्वादशब्दे, "जय जय नंदा जय जय भद्दा जय जय खत्तियवरवसहा " वृत्तिः-संभ्रमे द्विर्वचनम् । इह च दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । अथवा-जय त्वं जगन्नन्द ! भुवनसमृद्धिकारक ! एवं जगद्भद्र ! जगत्कल्याणकर ! औ० । " जय जय णंदा धम्मेणं जय जय णंदा तवेणं " वृत्तिः-जय जयेत्याशीर्वचनं भक्तिसंभ्रमे च द्विर्वचनं नन्द वर्द्धस्व धर्मेण एवं तपसाऽपि । अथवा-जय जय विपक्षं, केन धर्मेण इह नन्देत्येवमक्षरघटना कार्या । भ० ९ श० ३३ उ० ।

जयट्ठभासि (ण्)-जयार्थभाषिन्-पुं० । यथैवात्मनो जयो भवति तथैवाविद्यमानमप्यर्थं भाषते तच्छीलः जयार्थभाषी । येन केन प्रकारेणासदर्थभाषणेनाप्यात्मनो जयमिच्छति जने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

जयण-यजन-न० । यागे, गायत्र्यादिपाठपूर्वकं विप्राणां संध्यार्चनरूपायां पूजायाम्, अनु० । अभयस्य दाने च, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार । हयसंनाहे, द० ना० ३ वर्ग ।

यतन-न० । प्राणिरक्षणे, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार । प्राप्तेषु योगेषु उद्यमकरणे, (अणु०) " जयणघडणजोगचरित्तं " वृत्तिः-यतनं प्राप्तेषु योगेषु उद्यमकरणं घटनं चाप्राप्तानां तेषां प्राप्त्यर्थं यत्नः यतनघटनप्रधाना योगाः संयमव्यापारा मनःप्रभृतयो वा चारित्रे तत्तथा । अणु० ३ वर्ग ।

अजयं चरमाणो अ, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ १ ॥

अजयं चिट्ठमाणो य, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥ २ ॥
अजयं आसमाणो अ, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ ३ ॥
अजयं सयमाणो अ, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥ ४ ॥
अजयं भुंजमाणो अ, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ ५ ॥
अजयं भासमाणो अ, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ ६ ॥

अयतं चरन्नयतनमनुपदेशेनासूत्राज्ञया इति । क्रियाविशेषणमेतत्, चरन् गच्छन् । तुरेवकारार्थः। अयतमेव चरन् ईर्यासमितिमुल्लङ्घ्य न त्वन्यथा, किमित्याह-प्राणिभूतानि हिनस्ति । प्राणिनो द्वीन्द्रियादयः, भूतान्येकेन्द्रियाः तानि हिनस्ति, प्रमादानाभोगाभ्यां व्यापादयतीति भावः । तानि च हिंसन् बध्नाति पापं कर्म अकुशलपरिणामादादत्ते क्लिष्टं ज्ञानावरणीयादि, तत् (से) भवति कटुकफलम्, तत् पापं कर्म 'से' तस्यायतचारिणो भवति । कटुकफलमित्यनुस्वारोऽलाक्षणिकः । अशुभफलं भवति मोहादिहेतुतया विपाकदारुणमित्यर्थः ॥ १ ॥ एवमयतं तिष्ठन् ऊर्ध्वस्थानेनासमाहितो हस्तपादादि विक्षिपन् शेषं पूर्ववत् ॥२॥ एवमयतम् आसीनो निषण्णतया अनुपयुक्तः सन् आकुञ्चनादिभावेन, शेषं पूर्ववत् ॥ ३ ॥ एवमयतं स्वपन्नसमाहितो दिवा प्रकामशय्यादिना, शेषं पूर्ववत् ॥ ४ ॥ एवमयतं भुञ्जानो निष्प्रयोजनं प्रणीतं काकशृगालभक्षितादिना, शेषं पूर्ववत् ॥ ५ ॥ एवमयतं भाषमाणो गृहस्थभाषया निष्ठुरमन्तरभाषादिना, शेषं पूर्ववत् ॥ ६ ॥

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए ।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥ ७ ॥

अत्राह-यद्येवं पापकर्मबन्धस्ततः " कहं चरे " इत्यादि । कथं केन प्रकारेण चरेत्?। कथं तिष्ठेत्?। कथमासीत?। कथं स्वपेत्?। कथं भुञ्जानः?। कथं भाषमाणः?। पापं कर्म न बध्नाति इति ॥७॥

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥ ८ ॥

आचार्य आह-" जयं चरे " इत्यादि । यतं चरेत् । सूत्रोपदेशेनेर्यासमितः । यतं तिष्ठेत् समाहितो हस्तपादाद्यविक्षेपेण, यतमासीत उपयुक्त आकुञ्चनाद्यकरणेन, यतं स्वपेत् समाहितो रात्रौ प्रकामशय्यादिपरिहारेण, यतं भुञ्जानः सप्रयोजनमप्रणीतं प्रतरसिंहभक्षितादिना, एवं यतं भाषमाणः साधुभाषया मृदु कालप्राप्तं च । पापं कर्म क्लिष्टमकुशलानुबन्धि ज्ञानावरणीयादि न बध्नाति नादत्ते । निराश्रवत्वात् विहितानुष्ठानपरत्वादिति ॥८॥ दश० ४ अ० ।

जयणा-यतना-स्त्री० । यत्ने, नि० चू० १ उ० । स्वशक्त्या अकल्पपरिहारे, आ० चू० ६ अ० । पृथिव्यादिष्वारम्भपरिहाररूपे यत्ने, दश० ४ अ० । अष्टादशानां शीलाङ्गसहस्राणां संपूर्णानाम् अस्खलिताविराधितानां यावज्जीवमहर्निशमनुसमयं धरणरूपायां कृत्स्नायां संयमक्रियायाम्, महा० २ चू० । उपयुक्तस्य युगमात्रदृष्टित्वे च । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

यतना च चतुर्विधा तथाहि-

दव्वओ खित्तओ चेव, कालओ भावओ तहा ।
जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मे कित्तयतो सुण ॥६॥
दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खित्तओ ।
कालओ जाव रीएज्जा, उवउत्ते य भावओ ॥७॥

यतनेतिद्वारं बुभूषुराह-"दव्वओ" इत्यादि । सुगममेव, नवरं तामिति चतुर्विधयतनां मे कीर्तयतः सम्यक् प्ररूपाऽभिधानद्वारेण संशब्दयतः शृणु आकर्णय शिष्येति गम्यते । यथा प्रतिज्ञातमेवाह-द्रव्यत इति । जीवादिकं द्रव्यमाश्रित्येयं यतना, यच्चक्षुषा दृष्ट्वा प्रेक्षेतावलोकयेत्, प्रक्रमाज्जीवादिकं द्रव्यमवलोक्य च । संयमात्मविराधनापरिहारेण गच्छेदिति भावः । युगमात्रं च चतुर्हस्तप्रमाणप्रस्तावात् क्षेत्रं प्रेक्षेत, इयं क्षेत्रतो यतना । कालतो यतना यावत् (रीएज्ज त्ति) रीयते यावन्तं कालं पर्यटन्निति तावत् कालमभिगम्यते उपयुक्तश्च । भावतो दत्तावधानो यत् रीयते, इयं भावमङ्गी कृत्य यतना । उत्त० २४ अ० । मुनिना हि श्वासोच्छ्वासावपि यतनया कार्यौ । तदेवाह-" जंसि मोत्तूण उस्सासं, नीसासं वाऽणुजाणियं तमवि जयणाए न सव्वहा अजयणाए ऊससंतस्स कओ धम्मो कओ तवो" । महा० ६ अ० । श्रावकेणापि यतनया प्रवर्तितव्यमित्याह-यतनां विना प्रवृत्तौ च सर्वत्रानर्थदण्ड एव, अतः सदा यतनया सर्वव्यापारेषु सर्वशक्त्या श्रावकेण यतनायां यतनीयम । ध० २ अधि० । जिनभवनकरणेऽपि यतना विधेयक्रमेणेत्याह-यतनाऽपि जिनभवनकरणविधेयक्रमेव अयतनावतो हि कुशलक्रियासु प्रवर्तमानस्यापि प्रभूतसत्त्वसंघातसंभवेन कुशलाशयात्सम्यग् धर्मो न भवति यतः-

" यत्नं विना धर्मविधावपीह,
प्रवर्तमानोऽसुमतां विघातम् ।
करोति यस्माच्च ततो विधेयो,
धर्मात्मना सर्वपदेषु यत्नः ॥ १ ॥ दर्श० १ तत्त्व ।

उक्तं च सैद्धान्तिकैः-

"जयणेह धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।
तव्वुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ॥ ५० ॥

यतनेह धर्मजननी ततः प्रसूतेः, यतना धर्मस्य पालनी चैव प्रसूतरक्षणात् । तपोवृद्धिकारिणी यतना इत्थं तद्वृद्धेः, एकान्तसुखावहा सर्वतो द्रव्यादिति गाथार्थः ॥ ५० ॥

जयणाए वट्टमाणो, जीवो सम्मत्तनाणचरणाणं ।
सद्धाबोहासेवण-भावेणाराहगो भणिओ ॥ ५१ ॥

यतनायां वर्तमानो जीवः परमार्थे सम्यक्त्वज्ञानचरणानां त्रयाणामपि श्रद्धाबोधासेवनाभावेन हेतुनाऽऽराधको भणितस्तथा प्रवृत्तेरिति गाथार्थः ॥ ५१ ॥

एसा य होइ णियमा, न यऽहियदोसणिवारिणी जेण ।
तेण णिवित्तिपहाणा, विण्णेया बुद्धिमंतेणं ॥ ५२ ॥

एषा च भवति नियमात् येनाधिकदोषनिवारणी इयम् नानुबन्धेन । तेन प्रवृत्तिप्रधाना तत्त्वतो विज्ञेया बुद्धिमता सत्त्वेन ॥५२॥

सा इह परिणयजलदल-विसुद्धरूवा उ होइ विण्णेया ।

अन्वत्थओ महंतो, सव्वो सो धम्महेउ त्ति" ॥ ५१ ॥

सा यतनेह जिनभवनादौ परिणतजलदलविशुद्धिरूपे च प्र-वर्त्ति। प्राशुकग्रहणेन अर्थनया यद्यपि महात्त्ववप्रापितवासो ध-र्महेतुः स्थानान्नियोगादिति । प्रति० ।

जयना-स्त्री० । जयनशीलायाम्, "जयणाए गइए" । वृत्तिः-शेषगतिजयनशीलया । कल्प० २ क्षण ।

जयणाजुत्त-यतनायुक्त-त्रि० । यतनोपेते, नि० चू० १ उ० ।

जयणाम-जयनामन्-पुं० । जयाऽभिधाने एकादशे चक्रवर्तिनि, स्था० १० ठा० । आव० ।

जयणावरणिज्ज-यतनावरणीय-न० । चारित्रविशेषवीर्यान्त-रायलक्षणे कर्मणि, भ० ९ श० ३१ उ० ।

जयतिलगसूरि-जयतिलकसूरि-पुं० । तपागच्छीये रत्नसिंहसू-रिशिष्ये, तेन च मलयसुन्दरीचरित्रं तथा सुलसाचरित्रं च निर्ममे । जै० इ० ।

जयदेव-जयदेव-पुं० । ऋषभदेवस्वामिनश्चतुरशीतितमे पुत्रे, कल्प० ७ क्षण ।

जयदेववागरण-जयदेवव्याकरण-न० । जयदेवकृतव्याकरणे, कल्प० १ क्षण ।

जयदेवसूरि-जयदेवसूरि-पुं० । भक्तामरकर्तुर्मानतुङ्गसूरेः पट्ट-वर्तिनो वीरसूरेः शिष्ये, ग० ४ अधि० ।

जयद्दह-जयद्रथ-पुं० । सिन्धुदेशाधिपवृद्धक्षेत्रसुते राजभेदे, स च धृतराष्ट्रकन्यां दुःशल्यामुपयेमे । स च सौवीरदेशाधिपः "जयद्रथो नाम यदि श्रुतस्ते, सौवीरराजस्सुभगे स एषः ।" वाच० । गंगेनाविद्धुरद्दोणजयद्दहं " ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

जयपुर-जयपुर-न० । नगरविशेषे, यत्र किल धर्मरुचिमुनिर्मा-लादाहृत्य भिक्षां दातुमुद्यतां वसुमतीं निवारितवान् । दर्श० ३ तत्त्व । वर्तमानकालवर्तिनि मरुधरमण्डलशृङ्गारे स्वनामख्या-ते रम्यनगरे च । पिं० ।

जयप्प-यतात्मन्-पुं० । ध्यानैकनिषण्णे, आ० म० द्वि० ।

जयप्पभ-जयप्रभ-पुं० । प्रवचनसारोद्धारविषमपदटीकाकरणे उदयप्रभसूरेः साहाय्यकारके आचार्ये, जै० इ० ।

जयमंगला-जयमङ्गला-स्त्री० । मदनवल्लभकथानकप्रसिद्धायां राजकुमार्याम्, दर्श० ३ तत्त्व ।

जयमाण-यतमान-त्रि० । क्रियायां यत्नपरे, दश० ६ अ० १ उ० । ओघ० । संयमानुष्ठाने परि समन्तान्मूलोत्तरगुणेषु उद्यमं कुर्व-ति, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । संविग्ने, व्य० १ उ० । "जय-माणा तत्थ निहा, नाणत्था दंसणचरित्ते । " आ० म० प्र० ।

जयराम-जयराम-पुं० । शत्रुंजयसिद्धे मुनिभेदे, 'जयरामादिराज र्षि-कोटित्रयमिहागमत्" । ती० १ कल्प ।

जयवल्लह-जयवल्लभ-पुं० । नृपभेदे, "जलयसुंदरं नाम नयरं, तत्थ जयवल्लहो राया, कंतिकंदली से भारिया, दुहिया लीलालया " दर्श० १ तत्त्व० ।

जगद्वल्लभ-त्रि० । सर्वजनप्रिये च । दर्श० १ तत्त्व ।

जयसंध-जयसन्ध-पुं० । पुण्डरीकनृपस्यामात्ये, "जयसंधो अमच्चो" आ० चू० ४ अ० ।

जयसंधि-जयसन्धि-पुं० । पुण्डरीकनृपस्यामात्ये, "जयसंधिणा अमच्चेण" आव० ४ अ० ।

जयसद्द-जयशब्द-पुं० । जयसूचकः शब्दः । शाक० त० । जय ध्वनौ, तदुद्घुष्टैकजयशब्दाविराधितायाम्, वाच० । "मंगलजय-सद्दकयालोए" मंगलाय जयशब्दः कृतो जननालोके यस्य स तथा । औ० । "जयसद्दग्घोसपणं" जयेतिशब्दस्य य उद्घोषः उद्घोषणं तेन मिश्रो यः स तथा तेन । ज्ञ० ६ श० ३३ उ० ।

जयसिंह-जयसिंह-पुं० । दक्षिणमथुरोद्भवे, अम्बिकापुत्रमाता-महे वणिग्भेदे, दर्श० ४ तत्त्व । ती० ।

जयसिंहदेव-जयसिंहदेव-पुं० । सिद्धराजोपाह्वये चौलुक्यवं-शोद्भवे गुर्जरनृपे, ती० ५ कल्प । जीवा० ।

जयसिंहसूरि-जयसिंहसूरि-पुं० । सर्वदेवसूरिशिष्ये, दर्श० ५ तत्त्व । प्रश्नवाहनकुले हर्षपुरीयगच्छसंजाते अनुयोगद्वारसू-त्रवृत्तिकृच्छ्रीमलधारिश्रीमदभयदेवसूरेर्गुरौ, अनु० । अ-न्योऽप्येतन्नामा अञ्चलगच्छीय आर्यरक्षितसूरेः शिष्यो धर्मघोष-सूरेर्गुरुरासीत् । अस्य च पिता वाहरूनामा नाधीनाम्नी च मा-ता कोङ्कणदेशे सोपारकनगरेऽयं विक्रमसंवत् ११७९ वर्षे जातः, सं० ११९० वर्षेऽयं दीक्षितः, सं० ११११२ वर्षे सूरिपदं, प्राप्तः सं० १२५८ वर्षे (८० वयसि) स्वर्गमगमत् । जै० इ० ।

जयसिरि-जयश्री-स्त्री० । विजयलक्ष्म्याम्, आ० म० प्र० ।

जयसुंदरी-जयसुन्दरी-न० । कृतमङ्गलापुरीयधनश्रेष्ठिसुताया-म । " कयमंगलापुरीए, धणसिट्ठिसुया उ बालविहवा-ऽऽसी । जयसुंदरि त्ति तीसे, भत्तिजुया भायरा पंच ॥ १ ॥ " सङ्घा० ।

जयसेहर-जयशेखर-पुं० । अञ्चलगच्छीयमहेन्द्रसूरिशिष्ये, स च विक्रमसंवत् १४३६ विद्यमान आसीत् । उपदेशचिन्तामणि-प्रबोधचिन्तामणि जैनकुमारसंभवधम्मिल्लचरित्रादीनां काव्या-नां कर्ताऽभवत् । जै० इ० ।

जयसोमसूरि-जयसोमसूरि-पुं० । स्वनामके प्रमोदमाणिक्य-सूरिगुरौ, अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १६५७ आसीत् । विचारर-त्नसंग्रहनामानं च ग्रन्थं चकार । जै० इ० ।

जया-जया-स्त्री० । वासुपूज्यजिनमातरि, प्रव० ११ द्वार । आव० । तृतीयाऽष्टमीत्रयोदशीरूपासु तिथिषु, सू० प्र० १० पाहु० । जी० । द० प० । सं० प्र० । मघवन्नाम्नः स्तृतीयचक्रवर्तिनः स्त्रीरत्ने, स० । पार्श्वजिनाधिष्ठात्रीदेवीविशेषे, ती० ६ कल्प । जयन्तीवृक्षे, रो-गजयात्तस्यास्तथात्वम् । वाच० । सा च गुच्छाकारा, तथाहि-गुच्छास्तु वृन्ताकीकर्पासीजयाऽऽढकीतुलसीकुस्तुम्बरीपिप्पली-नीलादयः । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । हरीतक्याम्, विज-यायाम्," भंग" इति नाम्ना लोके ख्यातायाम् । नीलदूर्वायाम्, अग्निमन्थवृक्षे, पताकाभेदे, वाच० ।

जयाइच्च-जयादित्य-पुं० । पाणिनिव्याकरणे काशिकाकरणे वामनाचार्यस्य साहाय्यकारिणि, जै० इ० ।

जयाणंद–जयानन्द–पुं० । विबुधप्रभसूरिशिष्ये, "हरिभद्रशि-ष्यो ऽजयत्,सूरिः पुनरेष मानदेवगुरुः। विबुधप्रभश्च सूरिः, त-स्मात्सूरिर्जयानन्दः" । ग० ४ अधि० । सोमतिलकसूरिशिष्ये च ।

तथाहि–

तेषां त्रयो विनेयाः, तत्र श्रीचन्द्रशेखरः प्रथमः ।
सूरिर्जयानन्दोऽन्य-स्तृतीयका देवसुन्दरा गुरवः ।
श्रीसोमतिलकसूरे-स्त एव पट्टाम्बरादित्याः। ग० ४ अधि० ।

जर–जॄ–धा० जरायाम्, दिवा० पर० अक० सेट् । वाच० । "ॠ-वर्णस्यारः" ॥ ८ । ४ । २३४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण ॠकारस्यारा-देशः । 'जरइ' जीर्यते । प्रा० ४ पाद ।

जर–पुं० जॄ० भावे अप् । जरायां, विनाशने च । वाच० ।

ज्वर–पुं० । ज्वर-भावे-घञ् । स्वनामख्याते रोगभेदे, वाच० । विपा० । ज्ञा० ।

जरकुमार–जराकुमार–पुं० । श्रीकृष्णज्येष्ठभ्रातरि, ग० २ अधि० ।

जरग्ग–जरत्क–त्रि० । जीर्णे, "जरग्गओवाणहे त्ति वा" ज-रत्का जरती जीर्णेत्यर्थः सा चासौ उपानच्च जरत्कोपानत् । अनु० ३ वर्ग ।

जरग्गव–जरद्गव–पुं० । कर्म० टच् । वाच० । जीर्णबलीवर्दे, सू० १ श्रु० । सूत्र० । "जरग्गवपाए" जरद्गवपादः । अनु० ३ वर्ग० ।

जरठ–जरठ–त्रि० । जॄ-बा-अठ-कर्कशे, कठिने, पाण्डुरूपे,पुं० । जीर्णे, त्रि० । जरायाम्, "नीरन्ध्रास्तनुमालिकास्तु जरठच्छेदा-नलग्रन्थयः" "अयमतिजरठा प्रकामगुर्वी" परिणते च । "जरठकमलकन्दच्छेदगौरैर्मयूखैः" । वाच० । "निद्धूय जरठ-पंडुपत्ता" वृत्तिः–निर्धूतानि अपनीतानि जरठानि पाण्डुपत्रा-णि येभ्यस्ते निर्धूतजरठपाण्डुपत्राः । रा० । औ० ।

जरपाग–जरापाक–पुं० षष्टिवर्षपर्याये सप्ततिवर्षजन्मके मानुषे, व्य० ७ उ० ।

जरय–ज्वरक–न० । गावलीगतमहानरकविशेषे, स्था० ६ ठा० ।

जरयमज्झ–जरकमध्य–पुं० । उत्तरदिगावलीगतमहानरकवि-शेषे, स्था० ६ ठा० ।

जरयावत्त–जरकावर्त–न० । पश्चिमदिगावलीगतमहानरकवि-शेषे, स्था० ६ ठा० ।

जरयावसिट्ठ–जरकावशिष्ट–न० । दक्षिणदिगावलीगतमहानर-कविशेषे, स्था० ६ ठा० ।

जरकुडिओ–देशी–ग्रामीणे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जरलविओ–देशी–ग्रामीणे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जरसमण–ज्वरशमन–न० । ज्वरापहारे, "जरसमणाई रयणा, अणायगुणा वि ते समिति जहा" वृत्तिः–ज्वरशमनादीनि ज्वरापहारप्रभृतीनि आदिशब्दाच्छूलशमनादिग्रहो रत्नानि माणिक्यान्यज्ञातगुणान्यपि रोगिभिरविदितज्वरादिशमनसा-मर्थ्यान्यपि न केवलं ज्ञातगुणान्येव तावत् ज्वरादिरोगान् शम-यन्ति विनाशयन्ति । पञ्चा० ४ विव० ।

जरा–जरा–स्त्री० । जॄ-अङ्-गुणः । वाच० । 'जॄ' वयोहानौ इति वचनात् । जरणं जरा । वयोहानौ, भ० १६ श० २ उ० । आ० म० । उत्त० । आव० । पं० सू० । प्रश्न० । ज्ञा० । ज्ञा० । सू० प्र० । वृद्धत्वे, संथा० । सं० । स्था० । दश० ।

जीवानां जराशोकादिको धर्मः–

जीवाणं भंते ! किं जरा सोगे ? । गोयमा ! जीवाणं जरा वि सोगे वि । से केणट्ठेणं भंते !० जाव सोगे वि ? । गोयमा ! जेणं जीवा सारीरवेदणं वेदेंति । तेसि णं जी-वाणं जरा, जेणं जीवा माणसं वेदणं वेदेंति तेसि णं जी-वाणं सोगे । स तेणट्ठेणं० जाव सोगे वि एवं णेरइयाण वि । एवं० जाव थणियकुमाराणं । पुढविकाइयाणं भंते ! जरा-सोगे ? । गोयमा ! पुढविकाइयाणं जरा,णो सोगे । से केण-ट्ठेणं० जाव णो सोगे ? । गोयमा ! पुढवीकाइयाणं सारीरं वेदणं वेदेंति । णो माणसं वेदणं वेदेंति । से तेणट्ठेणं० जाव णो सोगे । एवं जाव चउरिंदियाणं, सेसं जहा जीवाणं० जाव वेमाणियाणं । सेवं भंते ! भंते ! त्ति० जाव पज्जुवासइ ।

(जर त्ति) 'जॄ' वयोहानौ इति वचनात् । जरणं जरा व-योहानिः शारीरदुःखस्वरूपा वा इयमतो यदन्यदपि शारीरं दुः-खं तदनयोपलक्षितम्,ततश्च जीवानां किं जरा भवति । (सो-गे त्ति) शोचनं शोको दैन्यमुपलक्षणत्वादेव चास्य सकलमा-नसदुःखपरिग्रहस्ततश्च तत शोको भवतीति । चतुर्विंशति-दण्डके च येषां शरीरं तेषां जरा, येषां तु मनोऽप्यस्ति तेषामु-भयमिति । भ० १६ श० २ उ० । जराभिभूतविग्रहा अचन्त्यसं-रामवस्थामनुभवन्ति । जरणपरिणामे, "अङ्गेष्वेव जरां यातु यस्त्वयोपकृतं मम" हा० २१ अष्ट० ।

जरासंध–जरासंध–पुं० । स्वनामख्याते राजनि, श्रीहेमनेमिचरित्रे कृष्णजरासन्धयुद्धाधिकारे जरामोचनशङ्खेश्वरपार्श्वनाथनव-नाधिकारः कथं नोक्तः सोऽधिकारः शास्त्रीयो नवेति प्रश्ने,उत्त-रम्–तीर्थकल्पादौ सोऽधिकारोऽस्तीति शास्त्रीय एवेति । २३० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । पाण्डवचरित्रे जरासन्धसत्कहिरण्यनाभ-सेनानी भीमेन हतो हैमनेमिचरितादौ चानाधृष्टिसेनान्याहत इति कथं मिलतीति प्रश्ने, उत्तरम्–अत्रापि मतान्तरमवसेय-मिति । ९२ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

जल–जल–धा० । आच्छादने,चुरा० उभ० सक० सेट् । जालयति । अजीजलत् । तीक्ष्णीभवने, जीवनोपयोगिक्रियायां च । अक० भ्वा० पर० सेट् । जलति । अजालीत् । जजाल । जेलतुः । ज्वलादि । जलः जालः । वाच० । जल । जलम्–त्रि० । वाच० । "लो लः" ॥ ८ । ४ । ३०८ ॥ इति लस्य लः पैशाच्याम् । लस्य लो वा । प्रा० ४ पाद । जले, वाच० । उदके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । पानीये, उत्त० ३५ अ० । जलकान्तेन्द्रस्य प्रथमे लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । न० । अप्कायजीवे, कर्म० ४ कर्म० । प्रश्न० । ह्रीबेरे गन्धद्रव्ये, ज्योतिषोक्ते लग्नावधिके चतुर्थस्थाने, पूर्वाषाढानक्षत्रे च । न० । "तद्भ्रमिष्यन्दज-लेन लोचने" "जलाभिलाषी जलमाददानाम" "न तज्जलं यन्न सुचारु पङ्कजम्" तृषिताय रोगिणेऽपि जलं देयम् ।

तथा च–

"पानीयं प्राणिनां प्राणा-स्तदायत्तं हि जीवनम् ।
तस्मात्सर्वावस्थासु, न क्वचिद्वारि वार्यते ॥१॥
अन्नेनापि विना जन्तुः, प्राणान् धारयते चिरम् ।
तोयाभावे पिपासार्तः, क्षणात् प्राणैर्विमुच्यते ॥२॥

क्षुधितो मोहमायाति, मोहात् प्राणान् विमुञ्चति ।
तस्माज्जलमवश्यं हि, दातव्यं नेपजैः समम् ॥३॥" वाच० ।

ज्वल–धा० । दीप्तौ, चलने च । ज्वा० । पर० अक० सेट् । ज्वलति । अज्वालीत् । घटा० । ज्वलयति । ज्वला० । ज्वलः–ज्वालः । "अज्वाल लोकस्थितये स राजा" "आगतिं लोको ज्वलति प्रदीपः, सखीगणः पश्यति कौतुकेन । मुहूर्तमात्रं कुरु नाथ ! धैर्य, बुभुक्षितः किं द्विकरेण भुङ्क्ते ॥ १ ॥" उदादिपूर्वकस्य तत्तदुपसर्गद्योत्यार्थयुक्तदीप्तौ, वाच० । 'ज्वल' दीप्तौ । वा अच् । दीप्तिविशिष्टे, न० । वाच० । देदीप्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । रा० ।

जलंत–ज्वलत्–त्रि० । देदीप्यमाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आ० । उत्त० । ज्वालां मुञ्चति, । उत्त० ११ अ० । महा० । आज्वल्यमाने, उत्त० १६ अ० । कल्प० ।

जलकंत–जलकान्त–पुं० । मणिविशेषे, उत्त० ३६ अ० । प्रज्ञा० सूत्र० । आ० म० । उदधिकुमाराणां दक्षिणेन्द्रे, भ० ३ श० ८ उ० । स्था० । प्रज्ञा० । स० । जलकान्तेन्द्रस्य तृतीये लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

जलकिट्ट–जलकिट्ट–न० । अपां मले, रा० ।

जलकीडा–जलक्रीडा–स्त्री० । तडागजलयन्त्रादिषु मज्जनोन्मज्जनशृङ्गिकास्फोटनादिरूपायां क्रीडायाम् , ध० २ अधि० । देहशुद्धावपि जलेनाभिरतौ, भ० ११ श० ६ उ० ।

जलकीला–जलक्रीडा–स्त्री० । 'जलकीडा' शब्दार्थे, भ० ११ श० ९ उ० ।

जलग–ज्वलक–पुं० । वैश्वानरे, पिं० ।

जलगय–जलगत–पुं० । पूतरकादित्रसेषु, शैवालादिवनस्पतिकायिकेषु जीवेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जलचक्कवाल–जलचक्रवाल–न० । तोयमण्डले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

जलचार–जलचार–पुं० । नावादिना संचरणे, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

जलचारण–जलचारण–पुं० । जलपरिणामकुशलेषु, जलमुपेत्य वापीनिम्नगासमुद्रादिष्वप्कायिकजीवानविराधयत्सु, जले भूमाविव पादोत्क्षेपकुशलेषु, ग० २ अधि० ।

जलचारिया–जलचारिका–स्त्री० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जलजलित–जाज्वल्यमान–त्रि० । देदीप्यमाने,कल्प० २ क्षण ।

जलट्ठाण–जलस्थान–न० । जलाशयेषु, प्रज्ञा० २ पद ।

जलण–ज्वलन–त्रि० । ज्वल–ताच्छील्यादौ युच् । दीप्तिशीले, वाच० । अग्नौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । आव० । वैश्वानरे, आ० म० । आत्मानं चारित्रं वा ज्वालयति दहतीति ज्वलनः । क्रोधे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । पाटलिपुत्रे हुताशनब्राह्मणभार्यायां ज्वलनशिखायां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, आ० चू० ४ अ० । आव० । आ० क० । चित्रकवृक्षे च । पुं० । वाच० । भावे ल्युट् । अग्नेरुद्दीपने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । शीतापनोदनाय शोषणार्थं वा वैश्वानरस्य ज्वलने, प्रकाशकरणाय दीपप्रबोधने, प्रश्न० ३ सम्व० द्वार । ज्ञानादिगुणोद्भासने, प्रव० १४८ द्वार । नि० चू० । भस्मीकरणे च । ग० २ अधि० ।

जलणप्पवेस–ज्वलनप्रवेश–न० । बालमरणभेदे, नि० चू० ११ उ० । भ० ।

जलणसिह–ज्वलनशिख–पुं० । सुरभिपुरवास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्मणे शुभमतेः पितरि, दर्श० २ तत्त्व ।

जलणसिहर–ज्वलनशिखर–पुं० । वैताढ्यगिरेर्दक्षिणे शिवमन्दिरे नगरे स्वनामख्याते, राज्ञि, उत्त० १३ अ० ।

जलणसिहा–ज्वलनशिखा–स्त्री० । स्वनामख्यातायां पाटलिपुत्रनगरवास्तव्यहुताशनब्राह्मणभार्यायाम् , आव० ४ अ० । आ० चू० । दर्श० । विजयपुरनगरवास्तव्यरुद्रसोमद्विजभार्यायां च । संथा० । आ० क० ।

जलद्दवरण–जलद्रवरण–पुं० । जलदमवष्टभ्याप्कायिकजीवपीडामजनयति, प्रव० ६८ द्वार ।

जलदिट्ठि–जलदृष्टि–स्त्री० । द्वि० व० । उदकस्य विषये लोचनप्रसरलक्षणयोर्मिलितयोरर्थयोः, आव० ३ अ० ।

जलपक्खंदण–जलप्रस्कन्दन–न० । बालमरणभेदे, नि० चू० ११ उ० ।

जलपूया–जलपूजा–स्त्री० । प्रतिदिनं त्रिसन्ध्यमपि पवित्रगालितजलभृतभाजनानां जिनपुरतो ढौकने, कर्पूरपूरसगोशीर्षघुसृणसारसरससुरभिसम्मिश्रपवित्रजलभृतकनककलशैर्जलमज्जने च । दर्श० १ तत्त्व ।

जलप्पभ–जलप्रभ–पुं० । उदधिकुमाराणां स्वनामख्याते उत्तरेन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । भ० । जलकान्तेन्द्रस्य स्वनामख्याते चतुर्थे लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

जलप्पवेस–जलप्रवेश–पुं० । जले प्रविश्य म्रियते । बालमरणभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० । ज० । नि० चू० ।

जलभूमिआ–जलभूमिका–स्त्री० । जलाधारभूमौ, प्रज्ञा० २ पद ।

जलमग्ग–जलमार्ग–पुं० । नावादिगम्ये पथि, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । जलस्य तद्वाहस्य मार्गप्रणाल्याम्, वाच० ।

जलमज्जण–जलमज्जन–न० । जलेन देहशुद्धिमात्रे, भ० ११ श० ९ उ० ।

जलमंडूअ–जलमण्डूक–पुं० । कुण्डकुञ्जे जलव्याले,नि०चू०१उ० ।

जलमय–जलमय–त्रि० । अप्कायिकेषु जीवेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जलमाला–जलमाला–स्त्री० । प्रचुरजले, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

जलमूअ–जलमूक–पुं० । मूकभेदे, आव० ४ अ० । ग० । ध० । नि० चू० ।

जलय–जलज–न० । सहस्रपत्रादिषु, प्रज्ञा० १ पद । आ० म० । रा० ।

जलयर–जलचर–पुं० । जले चरति पर्यटतीति जलचरः । "आधाराद्" ॥ ५ । १ । १३७ ॥ इत्यधिकारे । "चरेष्टः" ॥ ५।१।१३८॥ इति टप्रत्ययः । "कगचजतदपयवां प्रायो लुक्" ॥ ८

१।१७७। इति चतुर्थ्यां 'जलचरः' मद्भावे 'जलयरो' जलचरश्च । प्रा० १ पाद । ते च पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्च जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः (प्रज्ञा०)

से किं तं जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ? । जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा- मच्छा कच्छभा (हा) गाहा मगरा सुंसुमारा ।

अथ के ते जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः ?, सूरिराह- जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः पञ्चविधाः प्रज्ञप्ताः । तदेव पञ्चविधत्वं तद्यथेत्यादिनोपदर्शयति-मत्स्याः कच्छपाः सूत्रे पकारस्य भकारः प्राकृतत्वात् । ग्राहाः मकराः शिशुमाराः प्राकृतत्वात् सूत्रे " सुंसुमारा " इति पाठः । (प्रज्ञा०)

जे यावन्ने तहप्पगारा ते समासओ दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संमुच्छिमा य गब्भवक्कंतिया य, तत्थ णं जे ते सम्मुच्छिमा ते सव्वे णपुंसगा तत्थ णं जे ते गब्भवक्कंतिया, ते तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-इत्थी पुरिसा णपुंसगा ।

ते जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः समासतः संक्षेपेण द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। संमूर्छिमाश्च गर्भव्युत्क्रान्तिकाश्च । ' मूर्छा ' मोहसमुच्छ्राययोः । अस्मात् संपूर्वात्सम्मूर्छनं संमूर्छः " अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् " ॥ ३ । ३ । १९ ॥ इति (पाणि०) भावे घञ्प्रत्ययः । गर्भोपपातव्यतिरेकेण यदेवमेव प्राणिनामुत्पाद इति भावः । तेन निर्वृत्ताः संमूर्छिमाः " भवादिमः ॥ ६ । ४ । २१ ॥ " इति इमप्रत्ययः । गर्भे व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिर्येषां, व्युत्क्रान्तिशब्दोऽत्रोत्पत्तिवाची । तथा पूर्वाचार्यप्रसिद्धेः । यदि वा-गर्भात् गर्भावासात् व्युत्क्रान्तिर्निष्क्रमणं येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः, "शेषाद् वा" ॥ ७ । ३ । १७५ ॥ इति कप् समासान्तः । चशब्दौ प्रत्येकं स्वगतानेकभेदसूचकौ । तत्र ये ते संमूर्छिमास्ते सर्वे नपुंसकाः संमूर्छिमजातस्य नपुंसकत्वाविनाभावित्वात्, ये तु गर्भव्युत्क्रान्तिकास्ते त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-स्त्रियः पुरुषाः नपुंसकाः एतेषां चोभयेषामपि शरीरावगाहनादिषु यच्चिन्तनं यच्च गर्भव्युत्क्रान्तिकानां स्त्रीपुंनपुंसकानां परस्परमल्पबहुत्वचिन्तनं तज्जीवाभिगमटीकायां कृतमिति ततोऽवधार्यम् ।

एतेसि णं एवमाइयाणं जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं अद्धतेरस जाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा भवंतीति मक्खायं । सेत्तं जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ।

"एतेसि णं" इत्यादि । एतेषामेवमादिकानामुपदर्शितप्रकारादीनां जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां पर्याप्तापर्याप्तानां सर्वसंख्ययार्द्धत्रयोदशजातिकुलकोटीनां योनिप्रमुखाणि योनिप्रवाहाणि शतसहस्राणि भवन्तीत्याख्यातं भगवद्भिस्तीर्थकरैः । उपसंहारमाह-"सेत्तं" इत्यादि । तदेवमुक्ता जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः । प्रज्ञा० १ पद । स० । उत्त० । जी० । औ० । आचा० । सूत्र० । स्था० । जलचराः जलजीवाः । कल्प० ३ क्षण ।

जलयरी-जलचरी-स्त्री० । जलचरतिर्यग्योनिस्त्रियाम्, (जी०)

से किं तं जलयरीओ ? । जलयरीओ पंचविहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-मच्छीओ० जाव सुंसुमारीओ । सेत्तं जलयरीओ ॥ जी० २ प्रति० ।

जलयामलगंधिय-जलजामलगन्धिक-पुं० । जलजानामिव जलजकुसुमानामिव मलो न तु कुड्यसम्मिश्रो यो गन्धः स विद्यते येषां ते जलजामलगन्धिकाः तेषु, "अतोऽनेकस्वरात्" ॥७।२।६॥ इतीकप्रत्ययः । पद्मैकगन्धिनी, जी०३ प्रति० । रा० ।

जलरक्खस-जलराक्षस-पुं० । पञ्चमे राक्षसभेदे, प्रज्ञा० १ पद० ।

जलरमण-जलरमण-न० । जलक्रीडायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

जलरुह-जलरुह-पुं० । जले रुहन्तीति जलरुहाः उदकावकपनकादिके वनस्पतिकायभेदे. जी० १ प्रति० । भ० । जलरुहा उदकावकपनकशैवलकलम्बुकापावककशेरुकोत्पलपद्मकुमुदनलिनपुण्डरीकादयः । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

से किं तं जलरुहा ? । जलरुहा अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा-उदए अवए पणए सेवाले कलंबुया हढे कसेरुया कच्छभाणी उप्पले पउमे कुमुदे णलिणे सुभए सुगंधिए पोंडरीए महापोंडरीए सयवत्ते सहस्सवत्ते कल्हारे कोकणदे अरविंदे तामरसे भिसे भिसमुणाले पोक्खले पोक्खलत्थिभए, जे यावण्णे तहप्पगारा । सेत्तं जलरुहा ॥ प्रज्ञा० १ पद ॥

जलरूव-जलरूप-पुं० । उदधिकुमारेन्द्रस्य जलकान्तस्य स्वनामख्याते द्वितीये लोकपाले, भ० ३ श० ८ उ० ।

जलसिलिप्पिर-जलशिलिप्पिर-न० । जलोत्पन्ने वस्तुभेदे, "जलसिलिप्पिराचिरनिवसियं " दर्श० १ तत्त्व ।

जलवासि (न्)-जलवासिन्-पुं० । परतीर्थिके तापसभेदे, " जलवासिणो त्ति " ये जलनिमग्ना एवासते । भ० ११ श० ९ उ० । नि० । औ० ।

जलविच्छुय-जलवृश्चिक-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जलवीरिय-जलवीर्य-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० । ऋषभस्वामिनः सप्तमे तद्वंश्ये नृपे, स्था० ८ ठा० । आव० ।

जलबुब्बुअ-जलबुद्बुद-न० । जलस्य गोलाकारे विकारभेदे, वाच० । " विसयसुहं जलबुब्बुअसमाणं " औ० ।

जलसिद्धि-जलसिद्धि-स्त्री० । जलावगाहनात् सिद्धौ, "मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु " जलावगाहनात् सिद्धिमाहुस्ते मृषा वदन्तीति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

जलसूग-जलशूक-न० । जलस्य शूकमग्रम् । शैवाले, वाच० । इन्द्रस्य जलकान्तस्य स्वनामख्याते द्वितीये लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

जलसोयवाइ(न्)-जलशौचवादिन्-पुं० । परतीर्थिकभेदे, " जलसोयं जे उ इच्छंति " ये चान्ये जलशौचमिच्छन्ति भागवतादयस्ते सर्वेऽप्यप्रासुकाहारभोजित्वात् कुशीला इति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

जलहर-जलधर-पुं० । महामेघे, कल्प० ३ क्षण । वाच० । को० ।

जलहि-जलधि-पुं० । जलानि धीयन्तेऽत्र । धा० कि० । समुद्रे,

तोयधिप्रभृतयोऽप्यत्र । चतुःसंख्यायाम्, संख्याभेदे, वाच० । एवं शङ्कुर्जलधिरन्त्यं मध्यं परार्द्धं च । कल्प० ८ क्षण ।

जलावण-ज्वालन-न० । उद्दीपने, "जलणजलावणविंदलद्धेहिं" (जलावणं ति) स्वतः परतो वाऽग्नेरुद्दीपनमिति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जलाभिसेयकढिणगाय-जलाभिषेककठिनगात्र-पुं० । वानप्रस्थ तापसभेदे, ये अस्नात्वा न भुञ्जते स्नानाद्वा पाण्डुरीभूतगात्राः 'इति वृद्धाः' । भ० ११ श० १ उ० । नि० ।

जलाभिसेयकढिणगायभूय-जलाभिषेककठिनगात्रभूत-पुं० । वानप्रस्थतापसभेदे, । "जलाभिसेयकढिणगत्ता" क्वचित् "जलाभिसेयकढिणगायभूय" त्ति । दृश्यते तत्र जलाभिषेककठिनं गात्रं भूताः प्राप्ता ये ते तथा । भ० ११ श० १ उ० । नि० ।

जलासय-जलाशय-पुं० । सरःप्रभृतौ जलस्थाने, (प्रज्ञा०)

बादराप्कायिकानां स्थानमधिकृत्य-

अगडेसु तलाएसु सरेसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु णिज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वेप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु जलजूमिआसु ।

किम्बहुना सर्वेष्वेव जलाशयेषु एतदेव व्याचष्टे जलस्थानेषु । प्रज्ञा० २ पद । जी० ।

राज्ञा अन्येन वा ईश्वरेण कूपतडागसत्रदानाद्युद्यतेन पुण्यसद्भावं पृष्टैर्मुमुक्षुभिर्यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह-

दुहुओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।
आयं रयस्स हेच्चाणं, निव्वाणं पाउणंति ते ॥ २१ ॥

यदि अस्ति पुण्यमित्येवमूचुस्ततोऽनन्तानां सत्त्वानां सूक्ष्मबादराणां सर्वदा प्राणत्याग एव स्यात् । प्रीणनमात्रं तु पुनः स्वल्पानां स्वल्पकालीयमतोऽस्तीति न वक्तव्यम् । नास्ति पुण्यमित्येवंप्रतिषेधेऽपि तदर्थिनामन्तरायः स्यात्, इत्यतो द्विधाप्यस्ति नास्ति वा पुण्यमित्येवं ते मुमुक्षवः साधवः पुनर्न भाषन्ते । किं तु-पृष्टैस्सद्भिर्मौनं समाश्रयणीयम् । निर्बन्धे त्वस्माकं द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जित आहारः कल्पते । एवंविधविषये मुमुक्षूणामधिकार एव नास्तीति । उक्तं च-"सत्यं वप्रेषु शीतं शशिकरधवलं वारि पीत्वा प्रकामं, व्युच्छिन्नाशेषतृष्णाः प्रमुदितमनसः प्राणिसार्था भवन्ति । शोषं नीते जलौघे दिनकरकिरणैर्यान्त्यनन्ता विनाशं, तेनोदासीनभावं व्रजति मुनिगणः कूपवप्रादिकार्ये ॥ १ ॥ " तदेवमुभयथाऽपि भाषिते रजसः कर्मण आयो लाभो भवतीत्यतस्तं आयं रजसो मौनेनानवद्यभाषणेन वा हित्वा त्यक्त्वा तेऽनवद्यभाषिणो निर्वाणं मोक्षं प्राप्नुवन्ति इति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

जलासयसोस-जलाशयशोष-पुं० । जलाशयानां सरःप्रभृतीनां शोषणम् । सरःप्रभृतीनां शोषणे, तच्च कर्मादानम् । यदुक्तम्-"सरदहतलायसोसो, बहुजलयरजीवखयकारी" प्रव० ६ द्वार ।

जालित-ज्वालयत्-त्रि० । दीपयति, महा० ७ अ० ।

जलिय-ज्वलित-त्रि० । ज्वल-क्त-दग्धे, दीप्ते, उज्ज्वले, प्रास्फुरे च । वाच० । ज्वालाकुले, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रश्न० । "पव्वंदे जलियं जोयं" ज्वलितं ज्वालामालाकुलं मुर्मुरादिरूपम् । दश० २ अ० । उत्त० । "जलियहुआसणो वि व तेजसा जलंते" प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

जलियतुडिल्ली-ज्वलिततुडिल्ली-स्त्री० । प्रदीप्ततृणपूलिकायाम्, "जलियतुडिल्लीविव अणुवमाणरूवजलिखाओ" (जलियतुडिल्लीविव त्ति) प्रदीप्ततृणपूलिकेव दहनशीला ज्वलनस्वभावा इति । तं० ।

जलूया-जलौकस्-स्त्री० । जलमोको वसतिरस्याः । जलजे द्वीन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञ० ३ वर्ग । जलौका जलजो द्वीन्द्रियजीवविशेषः । भ० १३ श० ६ उ० । जलौकसो दुष्टरक्ताऽऽकर्षिकाः । उत्त० ३६ अ० । आचा० । प्रज्ञा० । जी० । सू० । आव० । आचा० । दशा० । आ० म० । नि० चू० । चतुरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकचर्मपक्षिभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

जलूका-स्त्री० । जलूकेति अनेषणाप्रवृत्तदायकस्य मृदुभावनिवारणार्थसूचकत्वात् । द्रुमपुष्पिकाध्ययने, दश० १ अ० ।

जलोयर-जलोदर-न० । जलप्रधानमुदरं यस्मात् ५ ब० । उदरामयरोगभेदे, वाच० । "पृथक् समस्तैरपि चानिलाद्यैः, प्लीहोदरं बद्धगुदं तथैव । आगन्तुकं सप्तममष्टमं तु, जलोदरं चेति भवन्ति तानि ॥ १ ॥ " आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

जलोयरि (न्)-जलोदरिन्-पुं० । उदररोगविशेषवति, वाच० । वातपित्तादिसमुत्थमष्टोदरं तदस्यास्त्युदरी तत्र जलोदर्यसाध्यः शेषाः स्थविरास्थिताः साध्या इति । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

जलोयरिणी-जलोदरिणी-स्त्री० । कपिलसुतस्य कल्पस्य स्वनामख्यातायां भार्यायाम् , आ० क० ।

जलोया-जलौकस्-पुं० । 'जलूया' शब्दार्थे, प्रज्ञ० ३ वर्ग ।

जल्ल-यल्ल-पुं० । याति च लगति चेति यल्लः । रजोमात्रे, संथा० । प्र० । औ० । शरीरादिमले, स० २२ सम० । ध० । प्रश्न० । जं० । विशे० । स्था० । आव० । यल्लो मलविशेष इति । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । यल्लः शरीरवस्त्रादिकमलम् । स० २२ सम० । यल्लो मलः कर्णवदननासिकानयनजिह्वासमुत्थः शरीरसंभवश्च । प्रव० ७ द्वार ।

जल्ल-पुं० । देहप्रभवपङ्के, दर्श० ३ तत्त्व । जल्लोऽस्थिरो मालिन्यहेतुरिति । आ० १ श्रु० १३ अ० । जल्लः शुष्कः प्रस्वेद इति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । याति च लगति चेति जल्लः ; पृषोदरादित्वान्निष्पत्तिः । स्वल्पप्रयत्नापनेयः ! जी० ३ प्रति० । तं० । औ० । जल्लं कठिनतापन्नं मलमिति । उत्त० ३ अ० । जल्लो नाम मलः कठिनीभूत इति । दशा० ७ अ० । "जल्लो उ होइ कमढं" नि० चू० ३ उ० "जल्लो कमढीभूतो" नि० चू० १ उ० । "मलथिग्गलं जल्लो भवति" नि० चू० ३ उ० । वरत्राखेलके, राज्ञः स्तोत्रपाठके च । जल्लाः वरत्राखेलका राज्ञः । स्तोत्रपाठका इत्यन्ये । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । अनु० । कल्प० । जी० । दशा० । जं० । प्रश्न० । रा० । म्लेच्छभेदे च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जल्लपरीसह–य(ज)ल्लपरीषह–पुं० । यल्ल इति मलः स एव परीषहो यल्लपरीषहः । अष्टादशे मलपरीषहे, उत्त० २ अ० । स० । जल्लो मलस्तत्परिषहणं च देशतः सर्वतो वा स्नानोद्वर्तनादिवर्जनम् । भ० ८ श० ८ उ० । प्रव० ।

अथ तृणादिस्पर्शात् शरीरे प्रस्वेदात् रजःस्पर्शान्मलोपचयः स्यात् तदा मलपरीषहोऽपि सोढव्यः । अतस्तमाह–

किलिन्नगायमेहावी, पंकेण य रएण वा ।
घिंसु वा परितावेणं, सायं नो परिदेवए ॥ ३५ ॥

मेधावी साधुः 'घिंसु' ग्रीष्मकाले, वाशब्दात् शरदि अपि परितापेन गाढोष्मणा पङ्केन प्रस्वेदात् आर्द्रीभूतमलेन । अथवा रजसा आर्द्रमलेन परिशुष्य काठिन्यं प्राप्तेन धूल्या वा क्लिन्नगात्रः सन् बाधितशरीरः सन् (सातं) सुखं न परिदेवेत मलापहारात् सुखं न वाञ्छेत् सातार्थं विलापं न कुर्यादित्यर्थः ॥ ३५ ॥

तदा किं कुर्यादिति ? । आह–

वेइज्ज निज्जरापेही, आरियं धम्ममणुत्तरं ।
जाव सरीरभेउ त्ति, जल्लं काएण धारए ॥ ३६ ॥

निर्जरापेक्षी कर्मक्षयमीप्सुः साधुस्तावत्कायेन जल्लं धारयेत् देहेन मलं धारयेत् । पुनः मलपरीषहं (वेइज्ज) वेदयेत् सहेत तावत्कथं यावत् शरीरस्य पातः स्यात् । साधुः कीदृशः सन् ? आर्यं श्रुतचारित्ररूपं धर्मं प्रपन्नः सन् इत्यध्याहारः । कीदृशं धर्मम् ?, अनुत्तरं सर्वोत्कृष्टम् ॥ ३६ ॥ उत्त० २ अ० ।

जल्लपेहा–जल्लप्रेक्षा–स्त्री० । जल्ला वरत्राखेलकाराः स्तोत्रपाठका इत्यपरे, तेषां प्रेक्षा जल्लप्रेक्षा । जल्लप्रेक्षणे, जी० ३ प्रति० ।

जल्लमल–यल्लमल–पुं० । याति च लगति चेति जल्लः । पृषोदरादित्वान्निष्पत्तिः । स चासौ मलश्च यल्लमलः । यल्लरूपे मले, "जल्लमलकलंकसेयरयदोसवज्जियसरीरनिरुवलेवा" । तं० । औ० ।

जल्लमलपंकिय–यल्लमलपङ्कित–त्रि० । बहुमलक्लिन्नगात्रे, "जल्लमलपंकिआण वि आयरिसरीराओ जहा सि देह णं" । जल्लमलपङ्कितानामपि बहुमलक्लिन्नगात्राणामपीति भावः । पं० व० ३ द्वार । "जल्लो कमढीभूतो मलो उव्वट्टितो फिट्टति पंकिता णाम जलमलेन मसृता इति" । नि० चू० १ उ० ।

जल्लिय–मल्लक–न० । शरीरमले, (जल्लियं ति) आर्षत्वात् जल्लो मलः । उत्त० ३४ अ० ।

यल्लित–त्रि० । यामलगतधर्मोपेतमलयुक्ते, भ० ६ श० ३ उ० ।

जल्लेस–यल्लेश्य–त्रि० । यस्याः लेश्यायाः संबन्धीनि द्रव्याणि, "जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ" । या लेश्या येषां द्रव्याणां तानि यल्लेश्यानि यस्या लेश्यायाः संबन्धीनीत्यर्थः । भ० ३ श० ४ उ० ।

जल्लोसहि–जल्लौषधि–स्त्री० । जल्लो मलः कर्णवदननासिकानयनजिह्वासमुद्भवः शरीरसमुद्भवश्च । स एवौषधिर्यस्यासौ तत्प्रभावतो जल्लः सर्वरोगापहारकः सुरभिश्च भवति स जल्लौषधिः । लब्धिभेदे, प्रव० २६९ द्वार । लब्धिलब्धिमतोरभेदोपचारात् । यल्लौषधिलब्धिविशेषसंपन्ने साधौ च । आ० चू० १ अ० । ग० । आ० म० । आ० । विशे० । पा० ।

जल्लोसहिपत्त–यल्लौषधिप्राप्त–त्रि० । यल्लो मलं, स एवौषधिर्यल्लौषधिस्तां प्राप्तो यल्लौषधिप्राप्तः । यल्लौषधि लब्धिविशेषं प्राप्ते, औ० । "जल्लोसहिपत्तेहिं" प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

जव–जप–पुं० । जप-अच् । वेदमन्त्रादेरावृत्तौ, असकृदुच्चारणं जपस्तद्भावनं ध्येयसम्मुखीकरणं मुनेः इत्युक्ते मन्त्रादिभाषणे च । वाच० । करजापो नन्द्यावर्तशङ्खावर्तादिरपि बहुफलः । उक्तं च–"करआवत्ते पंच, मंगला साहुपडिमसखाए । णव वारा आवत्तए, छलंति तं नो पिसायाई ॥" बन्धनादिकष्टे तु विपरीतशङ्खावर्तादिनाऽक्षरैः पदैर्वा विपरीतनमस्कारं लक्षादि जपेत् । सद्यः क्लेशनाशः स्यात् । यद्यपि मुख्यवृत्त्या निर्जरार्थ एव सम्यग्दृशां गणनमुचितं तथापि तत्तत्कृत्यतत्प्रकारसभावसामग्रीवशेनैहिकाद्यर्थमपि स्मरणं कदाचिदुपकारीति शास्त्रे उपदिष्टं दृश्यते । यतो योगशास्त्रे–"पीतं स्तम्भेऽरुणं वश्ये, क्षोभणे विद्रुमप्रभम् । कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत्, कर्मघाते शशिप्रभम् ॥ १ ॥" इति । करजापाद्यशक्तस्तु रत्नरुद्राक्षादिजपमालया स्वहृदयसमश्रेणिस्थया परिधानवस्त्रचरणादावलगन्त्यामेरुलङ्घनादिविधिना जपेत् ।

यतः–

"अङ्गुल्यग्रेण यज्जप्तं, यज्जप्तं मेरुलङ्घने ।
व्यग्रचित्तेन यज्जप्तं, तत्प्रायोऽल्पफलं भवेत् ॥१॥
संकुलाद्विजने भव्यः, सशब्दान्मौनवान् शुभः ।
मौनजान्मानसः श्रेष्ठो, जापः श्लाघ्यः परः परः" ॥ २ ॥

श्रीपादलिप्तसूरिकृतप्रतिष्ठापद्धतावप्युक्तम्–जापः त्रिविधो मानसोपांशुभाष्यभेदात् । तत्र मानसो मनोमात्रवृत्तिनिर्वृत्तः । स्वसंवेद्यः । उपांशुस्तु परैरश्रूयमाणोऽन्तःसंजल्परूपः । यस्तु परैः श्रूयते स भाष्यः । अयं यथाक्रममुत्तममध्यमाधमसिद्धिषु शान्तिपुष्ट्यभिचारादिरूपासु नियोज्यः । मानसस्य यत्नसाध्यत्वात् । भाष्यस्याधमसिद्धिफलत्वात् । उपांशोः साधारणत्वादिति । ध० २ अधि० ।

यव–पुं० । यु–अच्–स्वनामख्याते शूकधान्यभेदे "वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम् । मोदमानाश्च तिष्ठन्ति, यवाः कणिशशालिनः ॥१॥" वाच० । जं० । यवा हयप्रिया इति । जं० ७ वक्ष० । ओषधिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० । यवैरङ्कुरम् धनधान्यविद्याख्यातिविभूतयः । शुक्लपक्षे तथा जन्म, दक्षिणाकुक्षिगैश्च तैः" ॥ कल्प० १ क्षण । यूकाष्टकमिते परिमाणभेदे च । "परमाणू तसरेणू, रहरेणू अग्गयं च वालस्स ॥ लिक्खा जूया य जवो, अट्ठगुणविवड्डिया कमसो ॥१॥" ज्यो० ७ ग० । ज्यो० । भं० । प्रव० ।

यापि–या णिच्–"यापेर्जवः ॥ ८ ॥ ४ । ४० ॥ इति प्राकृतसूत्रेण यातेर्ण्यन्तस्य 'जव' इत्यादेशो वा भवति । 'जवइ जावेइ' । प्रा० ४ पाद ।

जवओ–देशी–यवाङ्कुरे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जवजव–यवयव–पुं० । यवविशेषे, भ० ६ श० ७ उ० । सू० । जं० । स्था० । आचा० ।

जवणं–देशी–हलाशिखाग्राम, दे० ना० ३ वर्ग ।

जवण-जवन-पुं० । वेगे, आ० म० प्र० । शीघ्रे, जवनशब्दः शीघ्रवचनः । ज्ञ० १४ श० १ उ० । वेगवति शीघ्रगे घोटके, वाच० । परमोत्कृष्टवेगपरिणामोपेता जवनाः । आ० म० प्र० ।

यवन-पुं० । म्लेच्छजातिभेदे, सू० प्र० २० पाहु० । प्रव० । सूत्र० । देशभेदे, तद्देशस्थे जने च । वेगे, अधिकवेगवत्यश्वे गोधूमे, गर्जरतृणे, तुरुष्कजातौ, ययातिशप्तस्य तत्पुत्रस्य तुर्वसोर्वंश्ये जातिभेदे च । वेगवति, त्रि० । वाच० ।

यापन-न० । संयमभारोद्वाहिदेहपालने, "यवणट्ठया समुयाणं च निच्चं" संयमभारोद्वाहिदेहपालनाय । दश० ६ अ० ३ उ० । "जवणट्ठाए निसेवए मन्थुं" यापनार्थं शरीरनिर्वाहारार्थमिति । उत्त० ८ अ० ।

जवणदीव-यवनद्वीप-पुं० । यवनानां निवासभूते द्वीपभेदे, आ० चू० १ अ० ।

जवणा-यापना-स्त्री० । शरीरनिर्वाहे, उत्त० ७ अ० । यापनाऽपि द्विविधा-द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्यतः शर्कराद्याज्यादिसदौषधैः कायस्य समाहितत्वात् । भावतश्च इन्द्रियनोइन्द्रियोपशान्तत्वेन शरीरस्य समाहितत्वम् । प्रव० २ द्वार । भाव० ।

जवणाणिया-यवनानिका-स्त्री० । ब्राह्म्या लिपेर्लेख्यविधानभेदे, प्रज्ञा० १ पाद ।

जवणालिया-यवनालिका-स्त्री० । कन्याचोलके, आ० म० प्र० । यवनालको नाम कन्याचोलकः । स च मरुमण्डलादिप्रसिद्धः चरणकरूपेण कन्यापरिधानेन सह सेवितो भवति येन परिधानं न खसति कन्यानां चैव मस्तकप्रदेशेन प्रक्षिप्यते अत एवायमूर्द्धः सरकञ्चुक इति व्यपदिश्यते । तथा च प्राच्यकृत्-"जवनालनो त्ति भणिनो, तुब्भे सरकंचुओ कुमारीए" आ० म० प्र० । विशे० । प्रज्ञा० । नं० ।

जवणाली यवनाली-स्त्री० । यस्यां नालिकायां यवा उत्पद्यन्ते । तस्याम्, "जवणाली णाम जाए णालीए जवा उप्पंते तस्साम् वाविज्जंति सा जवणाली भण्णति" आ० चू० १ अ० ।

जवणिज्ज-यापनीय-त्रि० । वश्ये, "जत्ता ते भंते ! जवणिज्जं अव्वाबाहं फासुयविहारं" (जवणिज्जं ति) यापनीयं मोक्षाध्वनि गच्छतां प्रयोजक इन्द्रियादिवश्यतारूपो धर्मः । भ० १ श० १० उ० ।

जवणिज्जे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-इंदियजवणिज्जे य णोइंदियजवणिज्जे य । से किं तं इंदियजवणिज्जे ? । इंदियजवणिज्जे, जं इमे सोइंदियचक्खिंदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं णिरुवहयाइं वासे वट्टंति, सेत्तं इंदियजवणिज्जे । से किं तं णोइंदियजवणिज्जे ? । णो इंदियजवणिज्जे जं मे कोहमाणमायालोभा वोच्छिण्णा णो उदीरेंति । सेत्तं णोइंदियजवणिज्जे । सेत्तं जवणिज्जे ।

(इंदियजवणिज्जं ति) इन्द्रियविषयं यापनीयं वश्यत्वमिन्द्रिययापनीयम् । एवं नोइन्द्रिययापनीयं नवरं नोशब्दस्य मिश्रवचनत्वादिन्द्रियैर्मिश्राः । सहार्थत्वाद्वा इन्द्रियाणां सहचारिणो नोइन्द्रियाः कषायाः । भ० २ अधि० । ज्ञा० । प्रा० ।

जवणिया-जवनिका-स्त्री० । जवन्त्यस्यां जु-ल्युट् स्वार्थे कन् अत इत्वम् । आच्छादक (परदा) पटे, वाच० ।

यवनिका-स्त्री० । युवन्त्यस्यां पुं० । ल्युट् ङीप् कन् अत इत्वम् । यवनिकायाम्, वाच० । "अब्भिंतरियं जवणियं अच्छावेइ-त्ता "। आभ्यन्तरिकीमास्थानशालाम् अभ्यन्तरभागवर्तिनीं यवनिकां काण्डपटम् "अच्छावेइ त्ति" आयतां कारयतीति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विशे० ।

जवण्ण-जवान्न-न० । व्यञ्जनभेदे, सू० प्र० २० पाहु० । चं० ।

जवपाणिय-यवपानीय-न० यवोदके, "जवपाणियं अपेयं" संस० नि० ॥

जवमज्झ-यवमध्य-त्रि० । यवस्येव मध्यं मध्यभागो यस्य विपुलत्वसाधर्म्यात् तद्यवमध्यम् । यवाकारे, ज्ञ० २५ श० ३ उ० । क० प्र० । अष्टाभिर्यूकाभिः परिमिते प्रमाणभेदे च । न० । प्रव० २५४ द्वार । ज्यो० । नं० । यवाकृतिमध्य यस्य । चान्द्रायणभेदे, प्रथमदिनादापञ्चदशदिनमेकैकग्रासवृद्ध्या तदुत्तरं च आपञ्चदशदिनं क्रमेणैकैकग्रासहान्या माससाध्ये व्रते, तस्य मध्यदिवसानां हि बहुलग्रासवत्त्वेन यवमध्यतुल्यत्वम् । वाच० ।

जवमज्झचंदपडिमा-यवमध्यचन्द्रप्रतिमा-स्त्री० । यवस्येव मध्यं यस्याः सा यवमध्या चन्द्र इव कला वृद्धिहानिभ्यां या प्रतिमा सा चन्द्रप्रतिमेति यवमध्यचन्द्रप्रतिमा । स्था० ३ ठा० ३ उ० । प्रतिमाभेदे, "उवमा जवेण चंदेण वा वि जवमज्झचंदपडिमाए"-यवमध्यचन्द्रप्रतिमायाम, यवेनोपमा चन्द्रेण च यवस्येव मध्यं यस्याः सा यवमध्या चन्द्राकारा प्रतिमा चन्द्रप्रतिमेति व्युत्पत्तेः । व्य० ९ उ० । शुक्लप्रतिपदि एकं कवलमभ्यवहृत्य ततः प्रतिदिनं कवलवृद्ध्या पञ्चदश पूर्णमास्याम्, कृष्णप्रतिपदि च पञ्चदश भुक्त्वा प्रतिदिनमेकहान्या अमावस्यायामेकमेव यस्यां भुङ्क्ते सा यवमध्या चन्द्रप्रतिमेति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

जवमज्झा-यवमध्या-स्त्री० । प्रतिमाभेदे, यवमध्या या यववद्दात्तिकवलादिभिरादावन्तयोर्हीना मध्ये च वृद्धेति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

जवरओ-देशी-यवाङ्कुरे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जवराज-यवराज-पुं० । अनिलनरेन्द्रसुते स्वनामख्याते राजनि, (वृ०)

कः पुनर्यव इति ? । आह-

जवराजदीहपट्ठ-सचिवो पुत्तो य गद्दभो तस्स ।
धुत्ता अडोलिया ग-द्दभेण छूढा अगडियम्मि ॥
पव्वयणं च नरिंदे, पुणरागममकोलि चेडाण ।
जव पत्थ णं खरस्स उ, उवस्सए फरुससालाए ॥

यवो नाम राजा तस्य दीर्घपृष्ठः सचिवः, गर्दभश्च पुत्रः, दुहिता अडोलिका, सा च गर्दभेन तीव्ररागाध्युपपन्नेन अगडे भूमिगृहे विषयसेवार्थे क्षिप्ता । तच्च ज्ञात्वा वैराग्यापराक्रान्तमनसो नरेन्द्रस्य प्रव्रजनं पुत्रस्नेहाच्च तस्योज्जयिन्यां पुनः पुनरागमनम् अन्यदा च-चेटरूपाणाम अकोलिकया क्रीडनं खरस्य यवप्रार्थनं तत्रश्चोपाश्रयं पुरुषः कुम्भकारस्तस्य शालायामित्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्-"उज्जेणी नगरी तत्थ अनिलसुओ जवो नाम राया, तस्स पुत्तो गद्दभो नाम जुवराया, तस्स धूया गद्दभस्स

सुवरणो भइणी अडोलिया णाम। सा य अतीवरूववती। तस्स वि जुवरणो दीहपुट्ठो अमच्चो। ताहे सो जुवराया तं अडोलियं भगिणीं पासित्ता अज्झोववन्नो दुब्बलीभवति। अमच्चेण पुच्छिओ निब्बंधे सिट्ठं अमच्चेण भणति—सागारियं भविस्सति। ताए सा भूमिघरे छुब्भति तत्थ भुंजाहि ताए समं भोए लोगो जाणिस्सति। सा कहिं पि विनट्ठा एवं होउत्ति कयं। अन्नया सो राया तं अकज्जं नाउं निव्वेएण पव्वतिओ। गद्दभो राया जातो सो य जवो नेच्छति पढिउं पुत्तनेहेण य पुणो पुणो उज्जेणिं एति। अन्नया सो उज्जेणीए अदूरसामंते जवखेत्तं तस्स समीवे वीसमति। तं च जवखेत्तं एगो खेत्तपालओ रक्खति। इओ य एगो गद्दभो तं जवखेत्तं चरिउं इच्छति। ताहे तेण खेत्तपालएण सो गद्दभो भणति—"आधावसी पधावसी, ममं चावि निरिक्खसी। लक्खितो ते मया भावो, जवं पत्थेसि गद्दहा !॥१॥" अयं भाष्यान्तर्गतः श्लोकः कथानकसमाप्त्यनन्तरं व्याख्यास्यते। एवमुत्तरावपि श्लोकौ। "तेण साहुणा सो सिलोगो गहिओ। तत्थ य चेडरूवाणि रमंति अडोलियाए टंटाइयाए त्ति भणियं होइ सा य तेसिं रमंताणं अडोलिया नट्ठा बिले पडिया। पच्छा ताणि चेडरूवाणि इओ तओ य मग्गंति, तं अडोलियं न पासंति। पच्छा एगेण चेडरूवेणं तं बिलं पासित्ताणं थं जा एत्थ न दीसंति सा नूणं एयम्मि बिलम्मि पडिया ताहे तेण भणति—"इओ गया इओ गया, मग्गिज्जंती न दीसंति। अहमेयं वियाणामि, अगडे छूढा अडोलिया ॥२॥" सो वि णेणं सिलोगो पढिओ। पच्छा तेण साहुणा उज्जेणिं पविसित्ता कुंभकारसालाए उवस्सए गहिओ सो य दीहपुट्ठो अमच्चो तेणं जाव साहुणा रायसे वि गहिओ ताहे अमच्चो चिंतेति—कहं एयस्स वेरं निज्जएमित्ति काओ गद्दभं रायं भणति—एस परीसहपराजिओ रज्जं पेल्लिउकामो जति न पत्तियसि पेच्छह से उवस्सए आउहाणि तेणं अमच्चेणं पुव्वं चेव ताणि आउहाणि तम्मि उवस्सए भूमियाणि पत्तियावणनिमित्तं रन्ना दिट्ठाणि पत्तिज्जिउ तोए य। कुंभकारसालाए उंदुरो दुक्खिओ उत्तरति नयणं ताहे तेणं कुंभकारेणं भणति—"सुकुमालग ! भद्दलग, रत्तिं हिंडणसीलग। जयं ते नत्थि मम्मूला, दीहपुट्ठाउ ते भयं" ॥३॥ सो वि णेण सिलोगो गहिओ। ताहे सो राया तं पिअरं मारेउकामो रहं मग्गइ एगासेव बहुहो होहिसि काओ अमच्चेण मम रत्ति फरुसालं अल्लीणो अच्छति। तत्थ तेण साहुणा पढिओ पढमो सिलोगो—"आधावसी पधावसी, ममं चावि णिक्खसी। लक्खितो ते मया भावो, जवं पत्थेसि गद्दभा" ॥१॥ रन्ना नायं चेति जाओ धुवं अतिसेसी एस साधू। तओ वितिओ पढिओ—"इओ गया इओ गता, मग्गिज्जंती ण दीसइ। अहमेयं विजाणामि अगडे छूढा अडोलिया ॥२॥" तं पि णेणं परिगयं जहानामयं एतेण तओ ततितो पढिओ—"सुकुमालग ! भद्दलग, रत्तिं हिंडणसीलग। भयं ते नत्थि मम्मूला, दीहपुट्ठाउ ते भयं" ॥३॥ ताहे जाणाति एस अमच्चो ममं चेव मारेउकामो कओ ममं पितरो ताहे ओसंते भोए परिच्चइत्ता पुणो ते चेव पेच्छति—एस अमच्चो मम मारणकामेण वंचेसं करेति। ताहे राया अमच्चस्स सीसं छेत्तुं साहुस्स उवगंतुं सव्वं कहेति—खामेइ य "। अथ श्लोकत्रयस्याक्षरार्थः—आईषत् आभिमुख्येन वा धावसि प्रकर्षेण पृष्ठतो धावसि मामपि च निरीक्षसे, लक्षितो मया भावोऽभिप्रायो यथा यवधान्यचरितुं प्रार्थयति भो गर्दभ !। द्वितीयपक्षे यवनामानं राजानं मारयितुं भो गर्दभनृपते ! प्रार्थयसीति प्रथमश्लोकः॥१॥ इतो गता २ मृग्यमाणा न दृश्यते अहमेतद्विजानामि अगडे भूमिगृहे गर्तायां चाक्षिप्ता अडोलिका टंटोयिका नृपतिदुहिता, वा द्वितीयश्लोकः। एष कस्य राज्ञश्चारसौकुमार्यज्ञापनात् सुकुमारक! इत्यामन्त्रणं (भद्दलग त्ति) भद्राकृते ! रात्रौ हिण्डनशील ! मूषकस्य दिवा मानुषावलोकनचकिततया। राज्ञस्तु वीरचर्यया रात्रौ पर्यटनशीलत्वात्। भयं ते तव नास्ति मन्मूलात् मन्निमित्तात्। किन्तु दीर्घपृष्ठात् एकत्र सर्पात् अपरत्र अमात्यात्। (ते) तव भयमिति। तृतीयश्लोकः।

ततः स राजर्षिश्चिन्तयति—

सिक्खियव्वं मणूसेणं, अवि जारिसतारिसं।
पेच्छ मुद्धसिलोगेहिं, जीवियं परिरक्खियं ॥

शिक्षितव्यं मनुष्येण अपि यादृशतादृशम्। पश्य मुग्धैरपि श्लोकै-र्जीवितं परिरक्षितम् ॥ १ ॥

तथा—

पुव्वविराहियसचिवे, सामत्थणरत्तिआगमो गुरुणा।
नाउम्मि सचिवघायण-खामणगमणं गुरुसगासे ॥

पूर्वं विराधितो यः सचिवस्तस्य राज्ञा सह (सामत्थणं) पर्यालोचनं ततस्तयोः रात्रौ तत्रागमस्तस्य च राजर्षेस्तदानीं पूर्वपठितश्लोकत्रयस्य गुणना, ततो ज्ञातोऽस्माकं नूनमतिशयज्ञानी मदीयः पिता कुतो वैष महात्मा पटप्रान्तलग्नतृणवल्लीलयैव राज्यं परित्यज्य भूयस्तदङ्गीकारं कुरुते, तदेष सर्वोऽप्यस्यैवामात्यस्य कूटरचनाप्रपञ्च इति परिभाव्य सचिवघातनं कृत्वा स्वपितुः क्षामणं कृतवान्। ततस्तस्य राजर्षेः अहो भगवन्तो मामनेकशो भणन्ति स्म। आचार्याद्धीष्व सूत्रं परमहमात्मवैरिकतया नापठिषं यदि नामेदृशानामपि मुग्धश्लोकानां पठितानामीदृशं फलमाविरभूत् किं पुनः सर्वज्ञोपज्ञश्रुतस्य भविष्यतीति विचिन्त्य गुरुसकाशे गमनं, ततो मिथ्यादुष्कृतं दत्वा सम्यक् पठितुं लग्न इति। बृ० १ उ०।

जवल—जवर—न०। "हरिद्रादौ लः" ॥ ८।१।२५४॥ इति सूत्रेण रस्य लः। प्रा० २ पाद। ज्वरे, स्था०।

जववारय—यववारक—पुं०। शरावादिरोपिते यवाङ्कुरे, "जववारयवहणयसत्थिगादि महारम्भं" पञ्चा० ८ विव०। ध०।

जवस—यवस—न०। यु-असच् घासे, तृणे च। वाच०। गोधूमादिधान्ये, "जवसाणि वा" यवसं गोधूमादिधान्यमिति। आचा० २ श्रु० ३ अ० २ उ०।

जवसाग—यवशाक—पुं०। यवस्य शाके, "जवसागरलनालं परिमुच्छने च कप्पियं होइ" संस० नि०।

जवा—जपा—स्त्री०। वनस्पतिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जवासय—यवासक—पुं०। वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। स्वार्थे कः। वाच०।

जवासा—यवासा—स्त्री०। रक्तपुष्पे वृक्षभेदे, "जवासाकुसुमेइ वा" प्रज्ञा०। १७ पद। मुल्लासिनीसूत्रे, वाच०।

जवि(ण्)–जविन्–घोटके, वाच० । सूत्र० ।

जवित्तए–यापयितुम्–अव्य० । वर्तयितुमित्यर्थे, व्यवस्थापयितुमित्यर्थे च । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

जवोदग–यवोदक–न० । यवधावनजले, दश० ४ तत्त्व । पञ्चा० । कल्प० । " सीयं च सोवीरजवोदगं च " । यवोदकं यवप्रक्षालनजलम् । उत्त० १५ अ० । स्था० ।

जवोदण–यवौदन–न० । यवजक्ते, "आयामगं चेव जवोदणं च" यवौदनं यवभक्तम् । उत्त० १५ अ० ।

जस–पुं० । यशस्–न० । " स्नमदामशिरो नभः " ॥ ८ । १ । ३२ ॥ दामन्शिरस्नभस्वर्जितं सकारान्तं नकारान्तं च शब्दरूपं पुंसि प्रयोक्तव्यम् । इति प्राकृतसूत्रेण प्राकृते पुंस्त्वम् । संस्कृते तु नपुंसकत्वम् । अश्–असुन्–धातोः युट् च । शौर्यादिभूते ख्यात्यपरपर्याये सर्वदिग्गामिनि प्रसिद्धिविशेषे, वाच० । यशःपराक्रमकृता ख्यातिर्यश इति । स्था० ३ ठा ४ उ । प्रश्न० । औ० । ज्ञा० । सर्वदिग्गामिनी प्रख्यातिर्यश इति । भ० १४ श० ५ उ० । कीर्त्याम्, दशा० ६ अ० । स० । आचा० । (यशःकीर्त्योर्विशेषः ' जसकित्ति ' शब्दे अनुपदमेव द्रष्टव्यम्) श्लाघायाम् , चं० प्र० १७ पाहु० । सूत्र० । संयमे, " जम्हा जसो वण्णो य संजमो " यशो वर्णः संयम इत्येकार्थाः । " जसो त्ति वा संजमो त्ति वा वण्णो त्ति वा एगट्ठं " इति वचनात् । स्था० १ उ० । " जसं संरक्खमप्पणो" यशः संरक्षन्नात्मनो यशःशब्देन संयमोऽभिधीयते । दश० ५ अ० २ उ० । विनये च । " जसं संचिणु खंतिए " यशः संयमं विनयं वा संचिनु । उत्त० ३ अ० । स्वनामख्यातेऽनन्तजिनस्य प्रथमशिष्ये, स० । "पण्णासाऽणंतजिणा पढमसिस्सो जसो नाम " ती० ७ कल्प । पार्श्वनाथस्य स्वनामख्याते अष्टमे गणधरे च । कल्प० ७ क्षण । स० ।

जसंसि (न्)–यशस्विन्–पुं० । ख्यातिमति, अनुस्वारः प्राकृतत्वात् । नि० १ वर्ग । ज्ञा० । भ० । आचा० । यशस्विनः पराक्रमं प्राप्य प्रसिद्धिं प्राप्तत्वात् । स० । श्लाघान्विते, उत्त० ५ अ० । कीर्तिमति, आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० । "जसंसिस्सा चक्खुपहट्ठियस्स " सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । " अणुत्तरे णाणधरे जसंसी " उत्त० ३१ अ० । श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य सिद्धार्थापरनामधेये पितरि च । आचा० ३ चू० । कल्प० ।

जसकर–यशस्कर–त्रि० । यशः सर्वदिग्गामिप्रसिद्धिविशेषः । तत्करो यशस्करः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सर्वदिग्व्यापिकीर्तिकरे, तं० । आ० म० । भगवत ऋषभस्य स्वनामख्याते एकोनचत्वारिंशत्तमे पुत्रे, कल्प० ७ क्षण ।

जसकित्ति–यशःकीर्ति–स्त्री० । यशसा सर्वदिग्गामिप्रख्यातिरूपेण पराक्रमकृतेन वा सह कीर्तिरेकदिग्गामिनी प्रख्यातिर्दानफलभूता वा यशःकीर्तिः । यशसा श्लाघने, कर्म० १ कर्म० । पं० सं० । यशःकीर्त्योश्चायं विशेषः–कीर्तिर्दानपुण्यफला, यशः पराक्रमकृतम् । आ० म० प्र० । "अविसेसितो जसो । विसेसिता कित्ती " आ० चू० १ अ० । दानपुण्यफला कीर्तिः । पराक्रमकृतं यशः । आ० म० प्र० । वहुभटसंघट्टनिवर्हणशौर्यलक्षणम् यशः, दानसाध्या कीर्तिरिति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । एकदिग्गामिनी कीर्तिः । सर्वदिग्व्यापकं यशः इति प्रसिद्धिः । उत्त० १ अ० । कीर्तिरेकदिग्गामिनी प्रसिद्धिः सर्वदिग्गामिनी सैव वर्णो यशःपर्यायत्वादस्य । अथवा–दानपुण्यफला कीर्तिः पराक्रमकृतं यशः । स्था० ३ ठा० ३ उ० । कर्म० । भगवत ऋषभस्य स्वनामख्यातेऽष्टत्रिंशत्तमे पुत्रे च । पुं० । कल्प० ७ क्षण ।

जसकित्तिणाम–यशःकीर्तिनामन्–न० । तपः शौर्यत्यागादिना समुपार्जितेन यशसा कीर्तनं संशब्दनं श्लाघनं यशःकीर्तिरुच्यते । कर्म० १ कर्म० । यद्वा–यशः सामान्येन ख्यातिः कीर्तिर्गुणोत्कीर्तनरूपा प्रशंसा । अथवा–सर्वदिग्गामिनी पराक्रमकृता वा सर्वजनोत्कीर्तनीयगुणता यशः एकदिग्गामिनी दानपुण्यकृता वा कीर्तिस्ते यदुदयाद् भवतस्तद्यशःकीर्तिनाम । शुभनामकर्मभेदे, पं० सं० ३ द्वार । स० । यशःकीर्तिनामोदयाद् यशः कीर्तिर्भवति । कर्म० १ कर्म० । प्रव० । उत्त० । यदुदयवशान्मध्यस्थजनप्रशस्यो भवति तद्यशःकीर्तिनामेति । कर्म० ६ कर्म० । आ० ।

जसघाइ(न्)–यशोघातिन्–त्रि० । यशोनाशके, " दंसणनाणचरित्ते, तवविणए निच्चकालपासत्था । एए अवंदणिज्जा, जे जसघाई पवयणस्स " आव० ३ अ० । " पुव्व समणगुणेहिं अहिज्जंतेहिं जसो आसी इमेहिं सेवंतेहिं ताणि ठाणाणि असोघाति तेणं ते जसघाता एए पवयणस्स " आ० चू० ३ अ० ।

जसचंद–यशश्चन्द्र–पुं० । स्वनामख्याते गणिनि, (भ०)

तथा च भगवतीसूत्रवृत्तावभयदेवसूरिः––

"श्रीमज्जिनेश्वराचार्य–शिष्याणां गुणशालिनाम् ।
जिनभद्रमुनीन्द्राणा–मस्माकं चांह्रिसेविनः ॥
यशश्चन्द्रगणगाढ–साहाय्यात् सिद्धिमागता ।
परित्यक्तान्यकृत्यस्य, युक्तायुक्तविवेकिनः" ॥ भ० ४२ श० १ उ० ।

जसजीविय–यशोजीवित–न० । जीवितभेदे, तच्च भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः " जसंकित्ती य भयवतो " आ० म० द्वि० ।

जसद–जस (श) द–पुं० । धातुविशेषे, औ० । येन वायुना शीयते । वाच० ।

जसदपाय–जसदपात्र–न० । जसदधातुविशेषनिर्मिते पात्रे, "जसदपायाणि वा " औ० ।

जसदेव–यशोदेव–पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, ग० ४ अधि० । स्थानाङ्गवृत्तावभयदेवसूरिः––श्रीमज्जिनचन्द्राचार्यान्तेवासियशोदेवगणिसाधोरुत्तरसाधकस्येव विद्याक्रियाप्रधानस्य साहाय्येन समर्थितम् । स्था० १० ठा० । यशोदेवः पूर्णिमागच्छे चन्द्रसूरिशिष्यः पाक्षिकसूत्रवृत्तिपिण्डविशुद्धिवृत्तिग्रन्थयोः कर्ता स च विक्रमसंवत् ११७६ । विद्यमान आसीत् द्वितीयश्च यशोदेवसूरिः प्रवचनसारोद्धारकर्तुर्नेमिचन्द्रसूरेर्गुरुभ्राता प्रथमपञ्चाशकचूर्णिनामग्रन्थकर्ता । जै० इ० ।

जसधण–यशोधन–न० । स्वनामख्याते नृपे, नं० ।

जसभद्द–यशोभद्र–पुं० । गुरुचन्द्रसूरेः शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, "जातौ तस्य विनेयौ,सूरी यशोभद्रनेमिचन्द्राह्वौ" । ग० ४ अधि० । आचार्यशय्यंभवस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, नि० चू० ५ उ० । " सिज्जंभवस्स सीसो, जसभद्दो नाम आस गुण–

दासी" ती० १३ कल्प। "जसभद्दं तुंगियं वंदे," शय्यं भवशिष्यं यशोभद्रं तुङ्गिकं तुङ्गिकगणं व्याघ्रापत्यगोत्रं वन्दे। नं०। "थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स तुंगियायणसगोत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा, थेरे अज्जसंभूयविजए माढरसगुत्ते, थेरे अज्जभद्दबाहू पाईणसगुत्ते"। श्रीयशोभद्रं स्वपदे संस्थाप्य श्रीवीरात्षष्टनवतिवर्षैः स्वर्गगाम इति श्रीयशोभद्रसूरिरपि श्रीभद्रबाहुसंभूतविजयाख्यौ शिष्यौ स्वपदेन्यस्य स्वर्लोकमलं चक्रे। कल्प० ८ क्षण। आर्यसंभूतविजयस्य माढरसगोत्रस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, कल्प० ८ क्षण। साकेतनगरवास्तव्यस्य पुण्डरीकराजस्य स्वनामख्याते युवराजे, आ० चू० ४ अ०। आव०। आ० क०। पक्षस्य पञ्चदशसु दिवसेषु चतुर्थे दिवसे, ज्यो० ४ पाहु०। जं०। चं० प्र०। कल्प०। यशोभद्रात् भारद्वाजसगोत्रात् निर्गतस्य उडुपाटिकगणस्य स्वनामख्याते कुलभेदे, म० । कल्प० ८ क्षण। साकेतनगरस्य पौण्डरीकनृपतेर्युवराजस्य कण्डरीकस्य स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, स्त्री०। आ० चू० १ अ०। आव०। आ० क०।

जसभद्दसूरि–यशोभद्रसूरि–पुं०। षोडशप्रकरणविवरणकारके आचार्ये, षो० १६ विव०। धर्मघोषसूरेर्हि स शिष्यः स्याद्वादरहस्यनामग्रन्थस्य कर्ता। जै० इ०।

जसमंत–यशस्वत्–त्रि०। यशस् मतुप् मस्य वः। यशोविशिष्टे, विनि–यशस्वीत्यप्यत्र। वाच०। भरतवर्षभवे स्वनामख्याते कुलकरे, पुं०। स्था० ७ ठा०। ती०। जं०। आ० म०। कल्प०। आ० चू०। आ० क०। स्त्रियां ङीप् ङीबन्तस्तु तत्र ज्योतिष्मत्याम् यवतिक्तायाम्, वनकार्पास्यां च। वाच०।

जसमित्त–यशोमित्र–पुं०। शत्रुंजयशैलस्थश्रीशान्तिमरुद्देवयोश्चैत्यस्योद्धारके श्रावके, ती० १ कल्प।

जसवई–यशोमती–स्त्री०। वर्तमानावसर्पिण्या द्वितीयचक्रवर्तिनः सगरस्य मातरि, स०। आव०। पृष्ठिचम्पापुरस्थशालमहाशालयोर्भगिन्यां पिठरभार्यायां काम्पिल्यपुरस्थायां गागलीमातरि, आ० चू० १ अ०। ती०। आ० म०। श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य नप्त्र्यां प्रियदर्शनायाः पुत्र्याम्, आचा० ३ चू०। कल्प०। पक्षस्य तृतीयायामष्टम्याञ्च त्रयोदश्यां च रात्रितिथौ, चं० प्र० १० पाहु०। जं०। सू० प्र०। ज्यो०। दशपुरनगरवास्तव्यस्य शाण्डिल्यस्य ब्राह्मणस्य दास्यां च। उत्त० १३ अ०। काम्पिल्यनगरस्थस्य ब्रह्मदत्तस्यान्तःपुरप्रधानायां भार्यायां पद्महरितपुत्र्याम्, उत्त० १३ अ०।

जसवंस–यशोवंश–पुं०। मूर्तो यशसां वंश इव पर्वप्रवाह इव यशोवंशः। यशसां पर्वप्रवाहभूते, "जसवंसो नागहत्थीणं" नं०।

जसवाय–यशोवाद–पुं०। साधुवादे, " जसवायं वाहित्ता " कल्प० ४ क्षण।

जसविजय–यशोविजय–पुं०। द्वात्रिंशिकाविवरणद्रव्यगुणपर्यायभाषाविवरणद्वात्रिंशदष्टकप्रतिमाशतकनयोपदेशविवरणादिकारके आचार्ये, द्रव्या० १४ अध्या०।

द्वात्रिंशिकावृत्तौ नयविजयवर्णकमधिकृत्य—

" यशोविजयनाम्ना त–च्चरणाम्भोजसेविना।

द्वात्रिंशिकानां विवृति–श्चक्रे तत्त्वार्थदीपिका(६)। द्वा० ३२ द्वा०।

द्वात्रिंशदष्टक—मुवाच श्रीमद्यशोविजयः ॥१॥" अष्ट० ३२ अष्ट०।

प्रतिमाशतके नयविजयमधिकृत्य—

" तदीयचरणाम्बुजभ्रमणविस्फुरद्भारती–

प्रसादसुपरीक्षितप्रवरशास्त्ररत्नोच्चयैः।

जिनागमविवेचने शिवसुखार्थिनां श्रेयसे,

यशोविजयवाचकैरयमकारि तत्त्वश्रमः ॥ १६ ॥

पूर्वं न्यायविशारदत्वबिरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधै–

र्न्यायाचार्यपदं ततः कृतशतग्रन्थस्य यस्यार्पितम्।

भव्यप्रार्थनयाऽनयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशुः,

सोऽयं तत्त्वमिदं यशोविजय इत्याख्याभृदाख्यातवान् ॥१७॥"

प्रति०।

नयोपदेशवृत्तौ–

" गच्छे श्रीविजयादिदेवसुगुरोः स्वच्छैर्गुणानां गणैः,

प्रौढिं प्रौढिमधाम्नि जीतविजयप्राज्ञाः परामैयरुः।

तत्सातीर्थ्यभृतां नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशु–

स्तत्त्वं किञ्चिदिदं यशोविजय इत्याख्याभृदाख्यातवान् ॥१॥"

नयो०।

"तर्कप्रमाणनयमुख्यविवेचनेन,

प्रोद्बोधितादिममुनिश्रुतकेवलित्वाः।

चक्रुर्यशोविजयवाचकराजमुख्याः,

ग्रन्थेऽत्र मय्युपकृतिं परिशोधनाद्यैः ॥" ध० ४ अधि०। अयमाचार्यः विक्रमसंवत्सराणां सप्तदशके शतके आसीत्। जै० इ०

जसहर–यशोधर–पुं०। भारतवर्षभवेऽतीतेऽष्टादशमे जिने, प्रव० ८ द्वार। भारतवर्षभवे भविष्यत्येकोनविंशे जिने, प्रव० ७ द्वार। द्वीपायनस्य जीवं यशोधरनामानं जिनमेकोनविंशं वन्दे, प्रव० ४६ द्वार। भगवत ऋषभस्य द्वादशे पुत्रे, कल्प० ७ क्षण। धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य पीठानीकाधिपतौ. "जसोधरे आस राया पीढानीयाहिवई" स्था० ५ ठा० १ उ०। पक्षस्य पञ्चदशसु दिवसेषु पञ्चमे दिवसे, जं० ७ वक्ष०। चं० प्र०। कल्प०। ग्रैवेयकविमानप्रस्तटे च। स्था० ९ ठा०। साकेतनगरस्थस्य विमलन्धरनृपस्यात्मजे स्वनामख्याते कुमारे, ध० र०। दश०। (यशोधरचरितं तु धर्मरत्नप्रकरणादवसेयम्) दक्षिणरुचकवास्तव्यास्वष्टसु दिशाकुमारीषु चतुर्थदिशाकुमार्याम्, स्त्री०। स्था० ८ ठा०। द्वी०। आ० चू०। ती०। आ० क०। आव०। आ० म०। जं०। पक्षस्य पञ्चदशसु रात्रिषु चतुर्थरात्रौ, ज्यो० ४ पाहु०। जं०। कल्प०। सकलभुवनव्यापियशो धरतीति यशोधरा। लिहादित्वादच्। जम्बूसुदर्शनायाम्, जम्बूद्वीपो हि त्रिदिवमहिमा भुवनत्रयेऽप्यनया जम्ब्वोपलक्षितस्ततो भवति यथोक्तम्। यशोधारित्वमस्या इति। जी० ३ प्रति०। जं०।

जसा–यशा–स्त्री०। कौशाम्बीवास्तव्यस्य काश्यपस्य भार्यायां, कपिलमातरि, उत्त० ८ अ०। ती०।

जसोकामि (न्)–यशस्कामिन्–पुं०। कीर्तिकामिनि, " धिगत्थु ते जसोकामी" दश० २ अ०।

जसोकित्ति–यशःकीर्ति–स्त्री। 'जसकित्ति' शब्दार्थे, आ० चू० १ अ०।

जसोकित्तिणाम–यशःकीर्तिनामन्–न०। 'जसकित्तिणाम' शब्दार्थे, कर्म० १ कर्म०।

जसोचंद–यशश्चन्द्र–पुं० । 'जसचंद' शब्दार्थे, भ० ४२ श० १ उ० ।

जसोजीविय–यशोजीवित–न० । 'जसजीविय' शब्दार्थे, आ० म० द्वि० ।

जसोद–जस(श)द–पुं० । 'जसद' शब्दार्थे, औ० ।

जसोदपाय–जसदपात्र–न० । 'जसदपाय' शब्दार्थे, औ० ।

जसोदेव–यशोदेव–पुं० । 'जसदेव' शब्दार्थे, ग० ४ अधि० ।

जसोधण–यशोधन–न० । 'जसधण' शब्दार्थे, तं० ।

जसोभद्द–यशोभद्र–पुं० । 'जसभद्द' शब्दार्थे, ग० ४ अधि० ।

जसोमंत–यशस्वत्–त्रि० । 'जसमंत' शब्दार्थे, स्था० ७ ठा० ।

जसोमित्त–यशोमित्र–पुं० । 'जसमित्त' शब्दार्थे, ती० १ कल्प ।

जसोय–यशोद–पुं० । यशो ददाति दा-क । पारदे, यशोदातरि, त्रि० । नन्दगोपपत्न्याम्, स्त्री० । वाच० । श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य भार्यायां च । आ० चू० ३ अ० । "समणस्स णं भगवओ महावीरस्स भज्जा जसोया गोत्तेण कोंडिण्णा" आचा० ३ चू० । "कारेंति पाणिग्गहणं जसोयवररायकन्नाए" ती० २१ कल्प । आ० म० ।

जसोवई–यशोमती–स्त्री० । 'जसवई' शब्दार्थे, स० ।

जसोवंस–यशोवंश–पुं० । 'जसवंश' शब्दार्थे, नं० ।

जसोवाय–यशोवाद–पुं० । 'जसवाय' शब्दार्थे, कल्प० ४ क्षण ।

जसोविजय–यशोविजय–पुं० । 'जसविजय' शब्दार्थे, द्व्या० १५ अध्या० ।

जसोहर–यशोधर–पुं० । 'जसहर' शब्दार्थे, प्रव० ७ द्वार ।

जह–यथा–अव्य० । यत्प्रकारे, थाह् "वाऽव्ययोत्खातादावदातः" ८ । १ । ६७ । इति प्राकृतसूत्रेणाव्ययेषूत्खातादिषु च शब्देषु आदेराकारस्याद्वा । प्रा० १ पाद । येन प्रकारेणेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । "जह सुत्तं तह अत्थो" (२६) यथा येन प्रकारेण यथापद्धत्या सूत्रं व्यवस्थितं तथा तेनैव प्रकारेणाऽर्थो व्याख्येयः । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । अनु० । आचा० । उपप्रदर्शने, पञ्चा० १४ विव० । सूत्र० । अनु० । आ० म० । उदाहरणोपन्यासे, दर्श० ४ तत्त्व । पिण्ड० । आव० । सूत्र० । उत्त० । आ० म० । "जह मंगलाभिहाणं" विशे० । यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । यथैतत्तथान्यदप्यनया दिशा द्रष्टव्यम् । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । दृष्टान्तोपदर्शने, जी० ३ प्रति० । तं० । सूत्र० । ज्ञा० । स्था० । जं० । वाक्योपन्यासे, सादृश्ये, योग्यतायाम्, आनुरूप्ये, पदार्थानातिवृत्तौ च । वाच० ।
यत्र–अव्य० । "त्रपो हि-ह-त्थाः" ॥ ८ । २ । १६१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण त्रपः हः 'जह' इति प्रा० २ पाद । यस्मिन्नित्यर्थे, वाच० ।

जहंत–जहत्–त्रि० । त्यजति, "जिणवयणं भावतो जहंतस्स" व्य० ३ उ० ।

जहक्कम–यथाक्रम–अव्य० । क्रमस्यानुरूप्यं तस्यानतिक्रमो वा । अव्ययी० । क्रमानुरूप्ये, क्रमानतिक्रमे च । वाच० । यथाक्रमं परिपाट्येति । दश० ५ अ० । "अट्ठ कम्माइँ वोच्छामि, आणुपुव्विं जहक्कमं" उत्त० ३३ अ० । विहरामि यथाक्रमं साध्वाचारानुक्रमेण । उत्त० २३ अ० । "जहक्कमं कामगुणेसु चेव" यथाक्रमं यथावसरमिति । उत्त० १४ अ० । "जहक्कमंते" यथाक्रमं क्रमेणैव । पञ्चा० ७ विव० ।

जहक्खाय–यथाख्यात–न० । अथाख्यातापरनामधेये चारित्रभेदे, (आ० म० प्र०)

अथ यथाख्यातचारित्रं निरूपयन्नाह–

अहसद्दो जाहत्थे, आङोऽभिविहीऍ कहियमक्खायं ।
चरणमकसायमुदितं, तमहक्खायं "जहक्खायं" ॥ १२७६ ॥

यथाख्यातमिति द्वितीयं नाम । तस्यायमर्थः–यथा सर्वस्मिन् जीवलोके ख्यातं प्रसिद्धमकषायं भवति चारित्रमिति । तथैव यत् तद् यथाख्यातं प्रसिद्धं सर्वस्मिन् जीवलोके । आ० म० प्र० । विशे० । (अथाख्यातविवरणम् 'अहक्खाय' शब्दे प्रथमभागे ८६१ पृष्ठे विलोकनीयम्)

जहग–जहक–पुं० । सेवहके, विशे० ।

जहट्ठियवत्थुवाइ(ण्)–यथास्थितवस्तुवादिन्–पुं० । यथास्थितमभिलाप्यानभिलाप्यत्वादिना प्रकारेण स्थितं वस्तु वदितुं शीलाः यथावस्थितवस्तुवादिनः । येन प्रकारेण वस्तुनो वादिनि, पं० सू० १ सूत्र ।

जहण–जघन–न० । वक्रं हन्ति । हन्-यङ्-अच्-पृ० । स्त्रीणां श्रोणिपुरोभागे, श्रोणौ च । वाच० । जघनं पूर्वः कटिभाग इति । विपा० १ श्रु० २ अ० ।

जहणरोहो–देशी–ऊरौ, दे० ना० ३ वर्ग ।

जहणवर–वरजघन–न० । श्रेष्ठजघने, वरशब्दस्य विशेषणस्याऽपि सतः परनिपातः प्राकृतत्वात् । जी० ३ प्रति० ।

जहणिज्ज–हेय–त्रि० । त्याज्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जहणूमव–देशी–अधोरुके, दे० ना० ३ वर्ग ।

जहण्ण–जघन्य–त्रि० । हन्-यङ्-अच्-पृ० । जघनमिव इत्यर्थे यत् वा । अधमे, वाच० । आव० । निकृष्टे, भ० २ श० १ उ० । सर्वहीने, स्था० ४ ठा० २ उ० । सर्वाल्पे, स्था० १ ठा० १ उ० । चरमे गर्हिते च । शूद्रे, पुं० । जघनमनुशीलितम् यस्य । पुंसां लिङ्गे । वाच० ।

जहण्णगुणकालग–जघन्यगुणकालक–पुं० । जघन्येन जघन्यसंख्याविशेषेणैकेनेत्यर्थः गुणो गुणनं ताडनं यस्य स तथाविधः कालो वर्णो येषां ते जघन्यगुणकालकाः । तेषु, । स्था० १ ठा० १ उ० ।

जहण्णट्ठिइय–जघन्यस्थितिक–त्रि० । जघन्या जघन्यसंख्या समयापेक्षया स्थितिर्येषां ते जघन्यस्थितिकाः एकसमयस्थितिके, स्था० १ ठा० १ उ० ।

जहण्णपएसिय–जघन्यप्रदेशिक–पुं० । जघन्याः सर्वाल्पाः प्रदेशाः परमाणवस्ते सन्ति येषां ते जघन्यप्रदेशिकाः । द्व्यणुकादिके, स्था० १ ठा० १ उ० ।

जहण्णपय–जघन्यपद–न० । पद्यते गम्यते इति पदं पदसंख्यास्थानं तच्चानेकधेति जघन्यं सर्वहीनं पदं जघन्यपदम् । सर्वहीने संख्यास्थाने, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

जहण्णपुरिस–जघन्यपुरुष–पुं० । पुरुषविशेषे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (जघन्यपुरिसा तिविहा ' पुरिस ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

जहण्णुक्कोसग–जघन्योत्कर्षक–त्रि० । जघन्यो निकृष्टः कांश्चि-द् व्यक्तिमाश्रित्य स एव च व्यक्त्यन्तरापेक्षयोत्कर्षः उत्कृष्टो जघन्योत्कर्षः। कांश्चिद् व्यक्तिमाश्रित्य निकृष्टे,व्यक्त्यन्तरापेक्ष-योत्कृष्टे च । भ० २५ श० १ उ० ।

जहण्णोगाहणग–जघन्यावगाहनक–त्रि० । अवगाहन्ते आ-सते यस्यां साऽवगाहना क्षेत्रप्रदेशरूपा सा जघन्या येषां ते । स्वार्थिककप्रत्ययाज्जघन्यावगाहनकाः । एकप्रदेशावगाढे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

जहत्थ–यथार्थ–अव्य० । अर्थमनतिक्रम्य, अव्ययी० । अर्थ-स्यानतिक्रमे, पं० सं० १ द्वार । अन्वर्थयुक्ते, त्रि० । पञ्चा० १५ विव० । यथार्थे प्रदीपादि । स्था० १ ठा० १ उ० । वोच्छामि पंचसंगह-मेयमहत्थं जहत्थं च " । यथार्थं यथावस्थितः प्रव चनाविरोधी अर्थो यस्मिन् तम् । यद्वा–अर्थस्य प्रवचनोक्त-स्यानतिक्रमेण न स्वमनीषिकया यथार्थम् । पं० सं० १ द्वार । "सव्वं वुच्चइ जाणइ जहत्थं" यथार्थं यथावद् यथासर्वज्ञेनोक्तं तथेति । विशे० ।

जहत्थणियय–यथार्थनियत–न० । व्यञ्जनाकारभेदे, " तत्थ-जहत्थ नियं, तं जहा–दहतीति दहणो तवतीति तवणो एव-मादि " । आ० चू० १ अ० ।

जहत्थाम–यथास्थाम–अव्य० । यथाबलं शक्त्यनतिक्रमेणेत्य-र्थे, " झुंजइ य जहत्थामं " पञ्चा० १५ विव० ।

जहत्तप–याथात्म्य–न० । यथातत्त्वे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

जहव्वा–यथावा–अव्य० । प्रकारान्तरदर्शने, दश० १ अ० ।

जहवाय–यथावाद–अव्य० । आप्तवचनानतिक्रमेणेत्यर्थे, पञ्चा० ११ विव० ।

जहा–यथा–अव्य० । ' जह ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

जहाइत्ता–हित्वा–अव्य० । त्यक्त्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । "तयसं व जहाइसेरयं" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

जहाकाल–यथाकाल–अव्य० । यथावसरमित्यर्थे,, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । "वोसिरइ मुणी जहाकालं " । यथाकालं यथावसरम् । संथा० ।

जहागम–यथागम–अव्य० । यथासूत्रमित्यर्थे, " आराहिंता जहागमं " पं० व० ६ द्वार ।

जहाच्छन्द–यथाच्छन्द–पुं० । स्वच्छन्दे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

जहाजाय–यथाजात–त्रि० । जातं समयविशेषमनतिक्रम्य यथाजातं, तद्स्यास्ति अर्शं । मूर्खे, नीचे च । आव० " जहा-जायपसुभूया । " यथाजातपशुभूताः शिक्षामरणादिवर्जितब-लीवर्दादिसदृशाः निर्विज्ञानत्वादिसाधर्म्यात् । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । यथाजातं श्रमणत्वभवनलक्षणं जन्माश्रित्य, योनिनिष्क्र-मणलक्षणं च । तत्र रजोहरणमुखवस्त्रिकाचोलपट्टमात्रया श्रमणो जातो,रचितकरपुटस्तु योन्या निर्गत एवंभूत एव वन्दते । तदव्य-तिरेकाद् वा यथाजातम् । कृतिकर्मणि, न० । स० १२ सम० ।

जहाजेट्ठ–यथाज्येष्ठ–अव्य० । ज्येष्ठस्यानतिक्रमेणेत्यर्थे, अनु० ।

जहाणामय–यथानामक–पुं० । अनिर्दिष्टनामके , कस्मिंश्चित्, जी० ३ प्रति० । "जहानामको कोइ मिच्छो " । यथानामकः कश्चित् म्लेच्छः । आ० म० प्र० । "से जहाणामए केइ पुरिसे" स यथानामको यत्प्रकारनामा देवदत्तादिनामेत्यर्थः । अथवा-(से) इति सः यथेति दृष्टान्तार्थः नामेति संभावनायाम् । ' ए ' इति वाक्यालङ्कारे । तं० । अनु० । जी० । ज्ञा० । स्था० ।

जहातच्च–यथातथ्य–अव्य० । यथासत्यमित्यर्थे, "जहातच्चमिणं ति बेमि" यथासत्यं यथातथ्यमित्यर्थे, । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । "अंजु धम्मं जहातच्चं" । यथातथ्यं यथाव्यवस्थितम् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । "तं भे पवक्खामि जहातच्चेणं" यथातथ्येनावितथं प्रतिपादयामीति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । यथातथ्येन यथाव्यवस्थितं तथैव कथयामीति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

जहातह–यथातथ–अव्य० । तथाऽनतिक्रम्य अनतिवृत्तौ, अ-व्ययी० । याथार्थ्ये, यस्य वस्तुनो यद्रूपमुचितं तथारूपभावे, यथायथमव्ययार्थे, वाच० ।

याथातथ्य–अव्य० । सूत्रकृताङ्गस्य त्रयोदशेऽध्ययने,धर्मसमा-धिमार्गसमवरणाख्येषु यदभिहितं याथातथ्येन व्यवस्थितम्, यच्च विपरीतं वितथं तदपि लेशतोऽत्र, प्रतिपादयिष्यत इति । नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे याथातथ्यमिति नाम । (सूत्र०) अस्याध्ययनस्य याथातथ्यमिति नाम । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । "जाणासि णं भिक्खु, जहातहेणं" याथातथ्येन त्वं जानासि सम्यगवगच्छसीति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

जहातहज्झयण–याथातथ्याध्ययन–न० । सूत्रकृताङ्गस्य त्रयो दशेऽध्ययने, (सूत्र०)

अस्यार्थाऽधिकारो यथा—

जह सुत्तं तह अत्थो, चरणं चारो तह त्ति नायव्वं ।
संतंमि य पसंसाए, असतीपगयं दुगुंछाए ॥ २६ ॥

"जह सुत्तं" इत्यादि । यथा येन प्रकारेण यथापवत्या सूत्रं व्यवस्थितं तथा तेनैव प्रकारेणार्थो व्याख्येयोऽनुष्ठेयश्च । एतद्दर्शयति–चरणमाचरणमनुष्ठातव्यम् । यदि वा–सिद्धान्त-सूत्रस्य चारित्रमेवाचरणमतो यथा सूत्रं तथा चारित्रमेतदेव चानुष्ठेयम् एतच्च याथातथ्यमिति ज्ञातव्यम्, पूर्वार्द्धस्यैव भावार्थं गाथापश्चार्द्धेन दर्शयितुमाह–यद्वस्तुजातं प्रकृतं प्रस्तुतं यथा-र्थमधिकृत्य सूत्रमकारि तस्मिन्नर्थे सति विद्यमाने यथावद् व्याख्यायमाने संसारोत्तारणकारणत्वेन प्रशस्यमाने वा याथा-तथ्यमिति भवति, विपरीते त्वर्थे सत्यविद्यमाने संसारकार-णत्वेन वा जुगुप्सायां सत्यां सम्यगनुष्ठीयमाने वा याथातथ्यं न भवति । इदमुक्तं भवति–यदि यथासूत्रं येन प्रकारेण व्यव-स्थितम् । तथैवार्थो यदि भवति व्याख्यायतेऽनुष्ठीयते च संसा-रनिस्तरणसमर्थश्च भवति, ततो याथातथ्यमिति भवति । अ-सति त्वर्थे क्रियमाणे संसारकारणत्वेन जुगुप्सिते वा भवति । याथातथ्यमिति गाथातात्पर्यार्थः । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

जहापवत्तकरण–यथाप्रवृत्तकरण–न० । करणभेदे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

जहाभूय–यथाभूत–त्रि० । यथाभूते, । "जहाभूयमवितहमसंदि-द्धं" । यथाभूतं यथावृत्तम् । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० चू० ।

जहामालिय-यथामालित-अव्य० । यथाधारितमित्यर्थे, "जहामालियं ओमोयं वलइ" । यथामालितं यथाधारितं, यथापरिहितमित्यर्थः । भ० ११ श० ११ उ० ।

जहारिह-यथार्ह-अव्य० । अर्हां योग्यतामनतिक्रम्य, अव्ययी० । यथायोग्ये, ततः । "अर्श आदिभ्योऽच्" ॥५।२।१२७॥ सत्यच्युते पदार्थे, त्रि० । वाच० । " जहारिहं होइ कायव्वं " पञ्चा० १७ विव० । यथार्हं यथायोग्यम् । दश० ७ अ० । पं० सं० । यथार्हं यथोचितम् । ज्ञा०१श्रु०१अ० । "जहारिहं जस्स जं जुग्गं" यथायोग्यम् । आव० ६ अ० ।

जहारूव-यथारूप-अव्य० । रूपानतिक्रमे, " यथा नेत्रं तथा शीलं, यथा नासा तथाऽऽर्जवम् । यथा रूपं तथा वित्तं, यथा शीलं तथा गुणाः ॥ १ ॥ " आव० ४ अ० ।

जहाल-जहाल-पुं० । देशभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

जहालाह-यथालाभ-अव्य० । यथासंपत्तीत्यर्थे, पञ्चा०४विव० ।

जहालंदीगण-यथालन्दिगण-पुं० । लन्दिकानां पञ्चको गणः परं तेषां कल्पस्य कालमानं कियत् परिहारविशुद्धिकानामिवाष्टादशमासकालमानं वोनाधिकं वेति, प्रश्ने, उत्तरम्-यथालन्दिकानां कालमानं तु परिहारविशुद्धिकसाध्वतिदेशवाक्यं पञ्चकल्पसूत्र्योद्वायुपलभ्यमानत्वेनाष्टादश मासाः संभाव्यन्त इति । ४२ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

जहावाइ (ण्)-यथावादिन्-पुं० । येन प्रकारेण वादिनि, (स्था०) " णो जहावाई तहाकारी यावि भवइ " सामान्यतो नो यथा वादी तथा कारी । स्था० ७ ठा० ।

जहाविभव-यथाविभव-अव्य० । विभवानुरूपमित्यर्थे, " ततो अ जहाविभवं । " विभवानुरूपमित्यर्थः । पं० व० १ द्वार । " दानं च यथाविभवं, दातव्यं सर्वसत्त्वेभ्यः । " यथाविभवं विभवानुसारेणेत्यर्थः । षो० ९ विव० ।

जहाविहि-यथाविधि-अव्य० । सम्यगित्यर्थे, पं० व० ४ द्वार ।

जहासंख-यथासङ्ख्य-अव्य० । संख्यानतिक्रमे, "यथासंख्यमनुदेशः समानाम" ॥१।३।१०॥ इति (पाणि०) न्यायात् । आ०म०प्र० ।

जहासत्ति-यथाशक्ति-अव्य० । शक्तेरानुरूप्यम् । आनुरूप्येऽव्ययी० । शक्तेरानुरूप्ये, शक्त्यनुसारे च । वाच० । "सेसा उ जहासत्तिं, आपुच्छित्ता ठवंति सट्ठाणे " यथाशक्ति शक्त्यनुरूपम् । आव० ५ अ० । सामर्थ्यानतिक्रमेणेति । पञ्चा० ६ विव० । " दाणमह जहासत्ती " यथाशक्ति शक्तेरनतिक्रमेण वित्तविभवानुरूपमित्यर्थः । पञ्चा० ३ विव० । " सेवगा जहासत्तिं " यथाशक्ति, शक्त्यनिगूहनेन । पञ्चा० ११ विव० ।

जहासमाहि-यथासमाधि-अव्य० । समाधानानतिक्रमे, पञ्चा० । १ विव० ।

जहासुय-यथाश्रुत-अव्य० । श्रुतानतिक्रमे, " अहसुयं वदिस्सामि " यथाश्रुतं यथासूत्रं वा वदिष्यामि । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

यथासूत्र-अव्य० । सूत्रानतिक्रमे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

जहि-यत्र-अव्य० । " त्रपो हि-ह-त्थाः " ॥ ८ । २ । १६१ ॥ इतिप्राकृतसूत्रेण प्रत्ययस्य पक्षे आदेशः । जहि-जह-जत्थ । प्रा० २ पाद । यस्मिन्नित्यर्थे, वाच० ।

जहिच्छिय-यथेप्सित-अव्य० । ईप्सितस्यानतिक्रमे, अव्ययी० । स्वाच्छन्द्ये, "अर्श आदिभ्योऽच्" ॥ ५ । २ । १२७ ॥ यथाभीष्टे, त्रि० । यथेष्टमत्यत्र । वाच० । "साहेइ जहिच्छियं कज्जं" साधयति यथेप्सितं कार्यम् । पञ्चा० १ विव० ।

जहिच्छियकामकामिन्-यथेप्सितकामकामिन्-पुं० । यथेप्सितान् मनोवाञ्छितान् कामान् शब्दादीन् कामयन्त इत्येवंशीला यथेप्सितकामकामिनः । औ० ३ प्रांत० । मनोवाञ्छितकामभोगिनि, " जहिच्छियकामकामिणो " यथेप्सितान् कामान् शब्दादीन् कामयन्ते अर्थात् भुञ्जन्ते इत्येवं शीला ये ते तथेति । जं० २ वक्ष० ।

जहिट्ठिल-युधिष्ठिर-पुं० । युधि युद्धे स्थिरः " गवियुधिभ्यां स्थिरः" ॥८।३।९५॥ इति (पाणि०) षत्वम् । " उतो मुकुलादिष्वत्" ॥८।१।१०७॥ इतिप्राकृतसूत्रेणादेरुतोऽत्वम् । प्रा० १ पाद । पाण्डवश्रेष्ठे, वाच० ।

जहिमा-देशी-विदग्धरचितायां गाथायाम, दे० ना० ३ वर्ग ।

जहुट्ठिल-युधिष्ठिर-पुं० । ' जहिट्ठिल ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

जहुत्त-यथोक्त-त्रि० । येन प्रकारेणोक्ते, "परक्कमती जहुत्तमाउत्ते" यथा उक्तं यथोक्तमिति । नि० चू० १ उ० ।

जहुत्तकारिन्-यथोक्तकारिन्-पुं० । यथोक्तं क्रियाकलापं कर्तुं शीलमस्येति यथोक्तकारी । आव० ३ अ० । भगवदाज्ञाराधके, सू० १ उ० ।

जहुत्तर-यथोत्तर-अव्य० । उत्तरस्यानतिक्रमे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

जहोइय-यथोदित-त्रि० । येन प्रकारेण प्रतिपादिते, वचनाद् विरुद्धाद्यनुष्ठानं यथोदितम् । यथा येनप्रकारेण कालाद्याराधनानुसाररूपेणोदितं प्रतिपादितम् यथोदितम् । ध० ३ अधि० ।

जहोवइट्ठ-यथोपदिष्ट-अव्य० । यथोक्तमित्यर्थे, "जहोवइट्ठं अभिकंखमाणे" । यथोपदिष्टं यथोक्तमेव । दश० ६ अ० २ उ० ।

जहोवएसकारि (न्)-यथोपदेशकारिन्-पुं० । उपदेशः सदसत्कर्तव्यादेशः तस्यानतिक्रमेण कारिणि, आचा०१ श्रु०२ अ०३ उ० ।

जा-ना-स्त्री० । जायायाम्, जनन्याम्, शय्यायाम्, एका० । देववाहिन्याम्, योनौ, समुद्रवेलायाम्, एका० ।

यावत्-त्रि० । परिमाणमस्य । "यावत्तावज्जीविताव‍र्तमानावटप्रावारक-देवकुले-वमेव वः" ॥८।१।२७१॥ इति सूत्रेण वकारस्य वा लुक् । प्रा० १ पाद । यत्परिमाणे, यावति, साकल्ये, अवधौ, सीमायां च । अव्य० । वाच० । " एवं जा छम्मासा " । ' जा ' इति यावत्षण्मासानिति । पञ्चा० १० विव० ।

ज्या-स्त्री० । जरायां, क्र्या० । पर० अक० अनिट् । जिनाति अज्यासीत् । अह । धनुषे, गुणे, मौर्व्याम्, मातरि; भूमौ, वा । वाच० ।

या-गतौ, अदादि-पर० सक० अनिट् । याति, अयासीत् । वाच० । असूयायाम्, शोभायाम्, लक्ष्म्याम्, निर्मितौ, स्त्री० । एका० । रामायाम्, मातरि, पात्राम्, युक्तौ, यातायाम्, एका० ।

जाइ-जाति-स्त्री०। जननं जातिः। उत्त०३ अ०। आचा०। जन्-क्तिन्। जन्मनि, "जाईजरामरणबंधणविप्पमुक्का" प्रज्ञा० २ पद। सू०। आचा०। आव०। सूत्र०। स्था०। "जाई च मरणं च जणोववायं।" जातिमुत्पत्तिं नारकतिर्यङ्मनुष्यामरजन्मलक्षणां च। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। जातिर्नारकादिषु प्रसूतिरिति। विशे०। आयन्ते जन्तवोऽस्यामिति जातिः। उत्त० ३ अ०। अनुगतैकाकारबुद्धिजननसमर्थे अवयवाव्यङ्ग्ये सकृदुपदेशगम्ये च धर्मभेदे, यथा गोत्वमनुष्यत्वादि ब्राह्मणत्वशूद्रत्वादि च। वाच०। एकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियत्वादिरूपसमानपरिणतिलक्षणमेकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेशजनकं यत्सामान्यं सा जातिः उक्तं च-अव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतोऽर्थात्मा जातिरिति। कर्म०१कर्म०। प्रज्ञा०। पं०सं०। "आइकुलरूवबलरूवणं" (४५) जातिः पुरुषत्वादिकेति। सम्म०१ काण्ड। जातिरेकेन्द्रियादिः। स्था० ६ ठा०। आचा०। एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्वादिका जातिरिति। आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। जातिर्गुणवन्मातृकत्वम्। स्था०४ठा० २ उ०। मातृसमुत्था जातिरिति। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। उत्त०। पं०चू०। कल्प०। औ०। आचा०। स्था०। जातिर्मातृकी पित्रादिका वा। प्रव० १६५ द्वार। जातिर्मातृपक्षः ब्राह्मणादिका वा। तं०। जातयः क्षत्रियाद्याः इति। उत्त० ३ अ०।

सत्ता सामन्नं पि य, सामन्नविसेसया विसेसो य (२५६३)

सामान्यं त्रिविधम्। तद्यथा-सत्ता १, सामान्यं २, सामान्यविशेषश्च इति। तत्र द्रव्यगुणकर्मलक्षणेषु त्रिषु पदार्थेषु सद्बुद्धिहेतुः सत्ता १। सामान्यं द्रव्यत्वगुणत्वादि २। सामान्यविशेषस्तु पृथ्वीत्वजलत्वरूपत्वनीलत्वाद्यवान्तरसामान्यरूप इत्यादि ३। अन्ये त्वित्थं सामान्यस्य त्रैविध्यमुपवर्णयन्ति-अविकल्पं महासामान्यम् १। त्रिपदार्थसद्बुद्धिहेतुभूता सत्ता २। सामान्यविशेषो द्रव्यत्वादि ३। महासामान्यसत्तयोर्विशेषणव्यत्यय इत्यन्ये। द्रव्यगुणकर्मपदार्थत्रयसद्बुद्धिहेतुः सामान्यम्। अविकल्पा सत्तेत्यर्थः। सामान्यविशेषस्तु-द्रव्यत्वादिरूप एव इत्यलं प्रसङ्गेन इति। विशेषश्चान्त्यः। विशे०।

सामान्यं विशेषांश्चायमभ्युपगच्छति, अतः कथंभूतस्तानिच्छति ? इत्याह—

सामन्नमन्नदेव हि, हेऊ सामन्नबुद्धिवयणाणं।
तस्स विसेसो अन्नो, विसेसमइवयणहेउ त्ति ॥२१८९॥

सामान्यं विशेषेभ्योऽन्यदेव हेतुश्च तत्सदिति सामान्यबुद्धेः सामान्यवचनस्य च। तस्मादपि सामान्यादन्योऽभिन्न एव नित्यद्रव्यवर्ती अन्त्यो विशेषः। स च हेतुर्विशेषो विशेष इति मतेर्वचनस्य च। प्रयोगो-भिन्नौ परस्परं सामान्यविशेषौ, भिन्नकार्यत्वात्, घटपटादिवदिति ॥ २१८९ ॥

न केवलं सामान्यविशेषौ नैगमः परस्परं भिन्नौ मन्यते, किंतु स्वाश्रयादपि गोपरमाण्वादेस्तयोर्भेदमेवायमिच्छतीति दर्शयन्नाह—

सदिति भणिए ऽभिमन्नइ, दव्वादत्थंतरं ति सामन्नं।
अविसेसओ मईए सव्वत्थाणुप्पवित्तीए ॥ २१९० ॥

सदिति यतो "द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता" इति वचनात्। सत्तासमवायादेव परस्परविलक्षणेषु द्रव्यगुणकर्मसु सदित्येकाकारा बुद्धिः प्रवर्तते, अतः सदिति भणिते द्रव्यादिभ्योऽर्थान्तरमेव सामान्यं मन्यते नैगमः। कुतः ? इत्याह-सदित्यविशेषितमतेर्वचनस्य च सर्वत्र द्रव्यगुणकर्मस्वन्योऽन्यमतिविलक्षणेष्वपि अविशेषेण प्रवृत्तेः। इदमुक्तं भवति-यदि सत्तासामान्यं द्रव्यादिभ्योऽभिन्नं स्यात् तदा द्रव्यादिवत्तस्यापि भिन्नत्वात्ततः सर्वत्र सदित्यभिन्ना बुद्धिर्न स्यात्। न हि भिन्नादभिन्नबुद्धिप्रसवो युज्यते, घटस्तम्भादिभ्योऽपि तत्प्रसङ्गात्। तस्माद् भिन्नेष्वभिन्नबुद्ध्यन्यथानुपपत्तेर्द्रव्यादिभ्योऽर्थान्तरमेव सामान्यमिति ॥ २१९० ॥

गोत्वादिसामान्यं तर्हि कथंभूतम् ? इत्याह—

गोत्तादओ गवाइसु, निययाधाराणुवित्तिबुद्धीओ।
परओ य निवित्तीओ, सामन्नविसेसनामाणो ॥२१९१॥

गोत्वगजत्वादयस्तु गोगजाद्याश्रयवृत्तयः सामान्यविशेषनामानो मन्तव्याः। कुतः ? इत्याह-निजकाधारेषु गोगजादिष्वनुवृत्तिबुद्धितः—अनुगताकारबुद्धिहेतुत्वात्सामान्यनामानः, परतस्तु तुरगमहिषादेर्निवृत्तितो निवर्तनाद्विशेषनामानः। तेऽपि च गोत्वादयो भिन्नेष्वभिन्नबुद्धिहेतुत्वात् स्वाश्रयाद्भिन्ना एवास्य मतेन मन्तव्या इति। तदेवं निरूपितं सामान्यम् ॥ २१९१ ॥

अथ विशेषस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

तुल्लागइगुणकिरिए-गदेसतीयागए ऽणुदव्वम्मि।
अन्नत्तबुद्धिकारण-मंतविसेसो त्ति से बुद्धी ॥२१९२॥

आकृतिश्च गुणाश्च क्रिया च आकृतिगुणक्रियाः, तुल्या आकृतिगुणक्रिया यस्य तत् तुल्याकृतिगुणक्रियम्, अतीतमतिक्रान्तमपगतम्, आगतं तु प्रतीतम्, अतीतं च तदागतं च अतीतागतम्, एकदेशादतीतागतमेकदेशातीतागतम्, तुल्याकृतिगुणक्रियं च तदेकदेशातीतागतं च तथा तस्मिँस्तुल्याकृतिगुणक्रियैकदेशातीतागते परमाणुद्रव्ये अयमस्मादन्यः परमाणुरित्येवंभूतायाः योगिनामन्यत्वबुद्धेर्यः कारणं हेतुर्भवति सोऽन्त्यो विशेष इति। (से) तस्य नैगमस्य बुद्धिरभिप्रायः। इदमुक्तं भवति-परिमण्डलसंस्थानाः सर्वेऽपि परमाणव इति वैशेषिकाः। ततस्तेषु तुल्याकृतिष्वपि सर्वेषु परमाणुषु भिन्नाः, एतेन स्वभिन्ना इत्येव येयं परस्परमन्यत्वग्राहिका योगिनां बुद्धिरुत्पद्यते तद्धेतुभूतः परमाणुद्रव्यवर्ती अन्त्यो विशेष उच्यते। यथाभूता हि प्रथमेऽणौ विशेषा न तथाभूता एव द्वितीये, यथाभूताश्च द्वितीये न तथाभूता एव प्रथमे, अन्यथैकत्वप्रसङ्गात् इतीह भावार्थः। तथा-पार्थिवा अणवः सर्वेऽपि परस्परं तुल्यगुणाः। तथा-अणुमनसोराद्यं कर्मादृष्टकारितम्, यथा अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्, वायोस्तिर्यग्गमनमिति। सर्वेऽप्यणवस्तुल्यक्रियाः। तथा-एकस्मादाकाशदेशादाकाशप्रदेशाद् यदैकः परमाणुः स्थितिक्रियावत्त्वात्। अन्यत्र गच्छति-तदैव यदाऽन्यः परमाणुस्तत्स्थस्त्युद्धवात्तत्रैवाकाशप्रदेशे समागत्य तिष्ठति, तदा एकदेशातीताऽऽगतत्वम्। अत एवं वैशेषिकप्रक्रियया तुल्याकृतिषु, तुल्यगुणेषु, तुल्यक्रियेषु, एकप्रदेशनिर्गतागतेषु च, परमाणुद्रव्येषु यदन्यत्वबुद्धेः कारणं सोऽन्त्यो विशेष इति (से) तस्य नैगमस्य बुद्धिः। स चाकृत्यादिना तुल्येष्वतुल्यबुद्धिहेतुत्वादणुभ्यो भिन्न एवेति ॥ २१९२ ॥

एवं सामान्यविशेषेषु प्ररूपितेषु परः प्राह—

नणु दव्वपज्जवाट्ठिय-नयावलंबि त्ति नेगमो चेव।
सम्मद्दिट्ठी साहु,व्व कीसमिच्छत्तजेओऽयं ? ॥२१९३॥

आह-नन्वेवं सति यत्सामान्यं तद्द्रव्यम्, विशेषास्तु पर्यायाः, ततो द्रव्यपर्यायास्तिकनयद्वयमतावलम्बित्वात् सम्यग्दृष्टिरेवायं नै-

गमनयः, जैनसाधुवत् । न हि जैनसाधवोऽपि द्रव्यपर्यायोभयरूपाद् वस्तुनोऽन्यत् किञ्चिदिच्छन्ति । तत्किमित्यसौ मिथ्यात्वभेदः ? इति ॥ २१९३ ॥

अत्रोत्तरमाह—

जं सामन्नविसेसे, परोप्परं वत्थुत्रो य सो भिन्ने ।
मन्नइ अच्चंतमत्रो, मिच्छादिट्ठी कणादो व्व ॥२१९४॥
दोहिं वि नएहिँ नीयं, सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं ।
जं सविसयप्पहाण-त्तणेण अन्नोन्ननिरवेक्खा ॥२१९५॥

यद् यस्मात् सामान्यविशेषौ नैगमनयः परस्परमत्यन्तभिन्नौ मन्यते, वस्तुनोऽप्याधारभूतात् द्रव्यगुणकर्मपरमाणुरूपादत्यन्तभिन्नौ स ताविच्छति;जैनसाधवस्तु परस्परं स्वाधाराच्च कथंचिदेव तौ भिन्नाविच्छन्ति,अतो मिथ्यादृष्टिरेवायं,कणादवदिति ॥ २१९४ ॥ तथाहि-द्वाभ्यामपि द्रव्यपर्यायास्तिकनयाभ्यां सर्वमपि निजं शास्त्रं नीतं समर्थितमुलूकेन तथाऽपि तन्मिथ्यात्वमेव यद्यस्मात्स्वस्वविषयप्राधान्याभ्युपगमेनोलूकाऽभिमतौ द्रव्यपर्यायास्तिकनयावन्योऽन्यनिरपेक्षौ जैनाभ्युपगतौ पुनस्तौ परस्परसापेक्षौ, स्याच्छब्दलाञ्छितत्वादिति ॥ २१९५ ॥

अथ सिद्धान्तवादी स्थितपक्षदर्शनार्थमेकान्तवादिनं नैगमं दूषयितुमाह-

जइ सामन्नं साम-न्नबुद्धिहेउ त्ति तो विसेसो वि ।
सामन्नमन्नसाम-न्नबुद्धिहेउ त्ति को भेत्रो ? ॥२१९६॥

यदि गौः गौः इत्यादिसामान्यबुद्धिवचनहेतुरितिकृत्वा सामान्यं त्वयेष्यते,हन्त ! तर्हि परमाणुगतोऽन्त्यो विशेषोऽपि सामान्यं प्राप्नोति, विशेषो विशेष इत्यन्यसामान्यबुद्धिवचनहेतुत्वात् । न च विशेषेष्वपि सामान्यमस्ति, द्रव्यगुणकर्मस्वेव तद्वृत्त्यभ्युपगमाद् । अथवा-गोत्वगजत्वादिको विशेषोऽपि सामान्यं प्राप्नोति-गोत्वगजत्वादिसामान्येष्वऽपि सामान्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । सामन्यं सामान्यमिति बुद्धिवचनयोस्तत्रापि प्रवृत्तेः । न च सामान्येष्वपि सामान्यमस्ति "निःसामान्यानि सामान्यानि" इति वचनात् । ततश्चोक्तयुक्तेर्विशेषस्यापि सामान्यत्वात् को भेदः सामान्यविशेषयोः ? न कश्चिदित्यर्थः इति ॥२१९६॥

सामान्यस्यापि च विशेषरूपता प्राप्नोतीति दर्शयन्नाह-

जइ जे ण विसेसिज्जइ, सविसेसो तेण जं पि सामन्नं ।
तं पि विसेसोऽवस्सं, सत्ताइविसेसयत्तात्रो ॥२१९७॥

यदि येन वस्तुना बुद्धिर्वचनं च विशेष्यते स विशेष उच्यते, तेन ततो यदपि परमपरं च सत्ता गोत्वादिकं सामान्यं तदपि विशेषः प्राप्नोति, कुतः ? सत्तादीनामपि विशेषकत्वात्, तथाहि-सत्तासामान्यमपि गोत्वादिभ्यो बुद्धिवचने विशेषयति, गोत्वादयोऽपि च सत्तादिभ्यस्ते विशेषयन्त्येव, प्रयोगः-सामान्यमपि विशेष एव,बुद्धिवचनविशेषकत्वात्, अन्त्यविशेषवदिति । तदेवं 'विशेषोऽपि सामान्यम, सामान्यमपि विशेषः' प्राप्नोतीत्युक्तम ॥ २१९७ ॥

किं च-"त्रिपदार्थसत्करी सत्ता" इति वचनात्सत्तासमवायात्सत्त्वं भवताऽभ्युपगम्यते तच्चायुक्तम् ।

कुतः ? इत्याह-

सत्ताजोगादसत्रो, सत्रो व सत्तं हवेज्ज दव्वस्स ।
असओ न खपुप्फस्स,व सओ व किं सत्तया कज्जं ?॥२१९८॥

यत्सत्तायोगाद्वस्तुनः सत्त्वमिष्यते तत्स्वरूपेण किं सतोऽसतो वा भवेत् ? इति वक्तव्यम । न तावदसतः खपुष्पस्येव सत्त्वं युज्यते । यदि तु स्वरूपेणैव सद्वस्तु, तर्हि सत्तया किं कार्यम् ?,तामन्तरेणापि स्वरूपेणैव वस्तुनः सत्त्वादिति ॥२१९८॥

अपि च-

पइवत्थुं सामन्नं, जइ नोऽणेगं न यावि सामन्नं ।
अह दव्वेसु तदेगं, तह वि सदेसं न सामन्नं ॥ २१९९ ॥

यदि तत्सामान्यं प्रतिवस्तु वर्तते तर्हि नैकम, प्रतिवस्तुवृत्तित्वाद्, प्रतिवस्तुस्वात्मवत् । यदि वा-न तत्सामान्यं प्रतिवस्तुवृत्तित्वात्, प्रतिवस्तुस्वात्मवत । अथ बहुषु द्रव्येषु वृत्तमपि तदेकं तथाऽपि सदेशं प्राप्नोति, अदेशस्य परमाणोरिव बहुषु वृत्त्ययोगात् । सदेशत्वे च सति न सामान्यं, देशभेदे देशिनोऽपि तदव्यतिरिक्तस्य भेदादिति ॥ २१९९ ॥

अथ प्रतिवस्तु वर्तमानमपि तदेकमिष्यते तथापि दोष इति दर्शयन्नाह-

अह पइवत्थुमिहेगं, न तह वि तं नत्थि खरविसाणं व ।
न य तदुवलक्खणं तं, सव्वगयत्तत्रो खं व ॥ २२०० ॥

अथ प्रतिवस्तु वर्तते तत्, एकं चेष्यते, तथापि तन्नास्ति, अनुपलभ्यमानत्वात्, खरविषाणवत् । न च तस्य स्वाश्रयभूतस्य गवादेरुपलक्षणमुपलक्षकं तद् युज्यते, सर्वगतत्वात्, गवादिव्यक्तिभ्योऽन्यत्वाच्च, आकाशवदिति ॥ २२०० ॥

किं च-

सामन्नविसेसकयं, जइ नाणं तेसु किं निमित्तं तो ।
अह तत्तो च्चिय तम्हा, तं परहेउ त्ति ऽणेगंतो ॥२२०१॥

यदि गौर्गौरित्यादि सामान्यज्ञानं वचनं च सामान्यहेतुकं प्रवर्तते, तथा परमाणुरयमस्माद्विशिष्ट इति विशेषज्ञानं वचनं च यदि विशेषकृतम, ततस्तेषु गोत्वतुरगत्वादिसामान्येषु सर्वत्र सामान्यं सामान्यमिति ज्ञानं वचनं च तथा तेषु विशेषेषु सर्वत्र विशेषो विशेषः इति विशेषबुद्धिर्वचनं च किं निमित्तमिति वक्तव्यम ? । न च सामान्येष्वपि सामान्यमस्ति, नापि विशेषेष्वन्ये विशेषाः सन्ति, येन तेषु तन्निमित्ते ते स्याताम । अथ तत एव तेभ्य एव गोत्वादिसामान्येभ्योऽपरसामान्यमन्तरेणापि सामान्यज्ञानवचनेऽभ्युपगम्येते, विशेषेभ्य एव चान्यविशेषनिरपेक्षेभ्यो विशेषज्ञानवचने इष्येते, तस्मात् तर्हि तत्सामान्यविशेषज्ञानं वचनं च परहेतुकं सामान्यविशेषनिमित्तमेवेति नायमेकान्तः, सामान्यविशेषविषयाभ्यामेव सामान्यविशेषज्ञानवचनाभ्यां व्यभिचारादिति ॥ २२०१ ॥

अथ सिद्धान्तवादी स्थितपक्षमुपदर्शयन्नाह-

तम्हा वत्थूणं चिय, जो सरिसो पज्जवो समाणं ।
जो विसरिसो विसेसो, समओ ऽणत्थंतरं ततो ॥२२०२॥

तस्माद्वस्तूनामेव गवादीनां खुरककुदलाङ्गूलविषाणसास्नादिमत्त्वलक्षणो यः सदृशः पर्यायः स एव सामान्यं,न पुनरेकानित्यनिरवयवाऽक्रियसर्वगतत्वादिधर्मोपेतं पराभ्युपगतम । वस्तुतस्तेषामेव गवादीनां शाबलेयबाहुलेयत्वादिको विसदृशोऽन्योऽ

न्यं विलक्षणः पर्यायः स विशेषः। स च सामान्यरूपो विशेषरूपश्च पर्यायस्ततो वस्तुनोऽनर्थान्तरमभिन्नः,कथञ्चित्तु पररूपतादिभिर्भिन्नोऽपि न त्वेकान्तेनाभिन्नो भिन्नो वेति द्रष्टव्यमिति । तदेवमुक्तो नैगमनयः ॥ २२०२ ॥

अथ संग्रहनयं व्याचिख्यासुराह-

संगहणं संगिण्हइ, संगिज्झंते व तेण जं भेया ।
तो संगहोत्ति संगहि-य पिंडियत्थं वओ जस्स॥२२०३॥

संग्रहणं सामान्यरूपतया सर्ववस्तूनामाक्रोडनं संग्रहः । अथवा-सामान्यरूपतया सर्वं संगृह्णातीति संग्रहः । अथवा-यस्मात्सर्वेऽपि भेदाः सामान्यरूपतया संगृह्यन्तेऽनेनेति संग्रहः। संग्रहीतं च तत्पिण्डितं च संगृहीतपिण्डितं, तदेवार्थोऽभिधेयं यस्य तत्संग्रहीतपिण्डितार्थम् । एवंभूतं वचो वचनं यस्य संग्रहस्येति ॥ २२०३ ॥

तत्र संगृहीतपिण्डितार्थं, किमुच्यते ? इत्याह-

संगहियमागहीयं, संपिंडियमेगजाइमाणीयं ।
संगहियमणुगमो वा, वइरेगो पिंडियं भणियं ॥२२०४॥
अहव महासामन्नं, संगहियं पिंडियत्थमियरं ति ।
सव्वविसेसाणन्नं, सामन्नं सव्वहा भणियं ॥ २२०५ ॥

सामान्याऽभिमुख्येनाऽऽग्रहणमागृहीतं संग्रहीतमुच्यते,पिण्डितं त्वेकजातिमानीतमभिधीयते,तदेवंभूतं वस्तु अर्थोऽभिधेयं यस्य तत्संगृहीतपिण्डितार्थं वचनं संग्रहनयस्येति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । अथवा-संगृहीतमनुगमोऽभिधीयते, सर्वव्यक्तिष्वनुगतस्य सामान्यस्य प्रतिपादनमित्यर्थः। व्यतिरेकस्तु पिण्डितमुच्यते। विशेषप्रतिपादकपरमतनिराकरणमित्यर्थः। ततश्च संगृहीतपिण्डितार्थमनुगमव्यतिरेकार्थं संग्रहवचनमिति हृदयम् ॥२२०४॥ अथवा-सत्ताख्यं महासामान्यं संगृहीतमुच्यते, इतरत्तु गोत्वादिकमवान्तरसामान्यं पिण्डितार्थमभिधीयते । ततः संगृहीतपिण्डितार्थं परापरसामान्यार्थं संग्रहवचः। किं बहुनोक्तेन? । सर्वे विशेषा अनन्या अभिन्ना यस्य तत्सर्वविशेषानन्यम् । अतः क्रोडीकृतसर्वविशेषं सामान्यमेव सर्वैः प्रकारैः संग्रहवचनस्याऽभिधेयतया भणितमिति ॥ २२०५ ॥

कथंभूतं पुनः सामान्यं संग्रहो मन्यते ? । विशेषांस्तु कुतोऽसौ नाभ्युपगच्छति ? इति दर्शनार्थमाह—

एकं निच्चं निरवयव-मक्कियं सव्वगं च सामन्नं ।
निस्सामन्नत्ताओ, नऽत्थि विसेसो खपुप्फं व ॥२२०६॥

एकं सामान्यम्,सर्वत्र तस्यैव भावात्,विशेषाणां चाभावात्;तथा-नित्यं सामान्यम्,अविनाशात्;तथा-निरवयवम्,अप्रदेशत्वात्;अक्रियं,देशान्तरगमनाभावात्; सर्वगतं च सामान्यम्, अक्रियत्वादिति । विशेषास्तु न सन्ति, निःसामान्यत्वात्;सामान्यव्यतिरेकिणां तेषामभावात् । इह यत्सामान्यातिरिक्तं तन्नास्ति, यथा खपुष्पमिति ॥ २२०६ ॥

एतदेव समर्थयति—

सदिति भणियम्मि जम्हा, सव्वत्थाणुप्पवत्तए बुद्धी ।
तो सव्वं सम्मत्तं, नऽत्थि तदत्थंतरं किंचि ॥२२०७॥

यस्मात् सदित्येवं भणिते सर्वत्र भुवनत्रयान्तर्गते वस्तुनि बुद्धिरनुप्रवर्तते प्रधावति । न हि तत्किमपि वस्त्वस्ति । यत्सत् इत्युक्ते झगिति बुद्धौ न प्रतिभासते । ततस्तस्मात्सर्वं तन्मात्रमेव सत्तामात्रमेव, न तदर्थान्तरं किञ्चिदस्ति यद्विशेषतया कल्प्येत इति ॥ २२०७ ॥

सत्तामात्रत्वमेव सर्वभावानां भावयन्नाह—

कुंभो भावाणन्नो, जइ तो भावो अहन्नहाऽभावो ।
एवं पडादओ वि हु, भावाणन्न त्ति तम्मत्तं ॥२२०८॥

कुम्भो घटः स भावात् सत्तातोऽन्यः,अनन्यो वा ?। यद्यनन्योऽभिन्नः, तर्हि भावः सत्तामात्रमेवाऽसौ (अहन्नह त्ति) अथान्यथा-भावाद्भिन्नोऽभ्युपगम्यत इत्यर्थः, तर्ह्यभावोऽसन्नेवासौ, भावादन्यत्वात्,खरविषाणवदिति।एवं पटादयोऽपि प्रत्येकं वाच्याः। ततस्तेऽपि द्वितीयपक्षेऽसत्त्वप्रसंगाद् भावादनन्येऽभ्युपगन्तव्याः, इति सर्वमेव घटपटादिकं वस्तु तन्मात्रं सत्तामात्रमेवेति ॥ २२०८ ॥

अथवा-अयमेवार्थोऽन्यथाऽभिधीयते । कथम् ? । इत्याह-

तम्मत्तमिह विसेसो,सामन्नं पि व पमेयभावाओ ।
सव्वत्थ सम्मईओ, वभिचाराभावओ वा वि ॥२२०९॥

तन्मात्रमिह विशेषा इति प्रतिज्ञा, प्रमेयत्वात्, सामान्यवत् । अथवा-अन्यो हेतुः-सर्वत्र सन्मतेर्व्यभिचाराभावात् । सर्वत्र सन्मतिप्रवृत्तेरित्यर्थः । इति ॥ २२०९ ॥

प्रकारान्तरेणापि विशेषाणां सामान्यरूपतां-
साधयितुमाह-

चूओ वणस्सइ च्चिय, मूलाइगुणो त्ति तस्समूहो व्व ।
गुम्मादओ वि एवं, सव्वे ण वणस्सइविसिट्ठा ॥२२१०॥

चूतो वनस्पतिः सामान्यरूप एव, मूलादिगुणत्वात्, तत्समूहवत्-चूतादिवृक्षसमूहवत् । गुल्मो लतासमूहः, तदादयोऽपि सर्वे वृक्षविशेषा वनस्पतेरविशिष्टा एव, इति सामान्यमेवास्ति, न विशेषा इति ॥ २२१० ॥

किं च-

सामन्नाउ विसेसो, ऽन्नोऽणन्नो व नत्थि जइ अन्नो ।
निस्सामन्नत्ताओ, ऽणन्नो सामन्नमेत्तं सो ॥ २२११ ॥

सामान्याद्विशेषोऽन्यः, अनन्यो वा ?। यद्यन्यः, तर्हि नास्त्यसौ, सामान्यबहिर्भूतत्वात्,खरविषाणवत्। अथ अनन्यः तर्हि सामान्यमात्रमेवासौ, तत्स्वरूपवदिति । तदेवमुक्तः संग्रहः ॥२२११॥ विशे०। एके तार्किकाः सामान्यरूपमेव वाच्यतया अभ्युपगच्छन्ति । ते च द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो मीमांसकभेदाः अद्वैतवादिनः सांख्याश्च । केचिच्च विशेषरूपमेव वाच्यं निर्वचन्ति । ते च पर्यायास्तिकनयानुसारिणः सौगताः । अपरे च-परस्परनिरपेक्षपदार्थपृथग्भूतसामान्यविशेषयुक्तं वस्तु वाच्यत्वेन निश्चिन्वते । ते च नैगमनयानुरोधिनः काणादाः, अक्षपादाश्च । एतच्च पक्षत्रयमपि किञ्चिच्चर्च्यते । तथाहि-संग्रहनयावलम्बिनो वादिनः प्रतिपादयन्ति-सामान्यमेव तत्त्वं, ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात् । तथा सर्वमेकमविशेषेण सदिति ज्ञानाऽभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताकत्वात् । तथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वं,ततोऽर्थान्तरभूतानां धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामनुपलब्धेः । किं च-ये सामान्यात् पृथग्भूता अन्योऽन्यव्यावृत्तात्मका विशेषाः कल्प्यन्ते, तेषु विशेषत्वं विद्यते न

वा ?। नो चेत्तिःस्वभावताप्रसंगः, स्वरूपस्यैवाऽभावात्। अस्ति चेत्तर्हि तदेव सामान्यम्। यतः समानानां भावः सामान्यम्। निःशेषरूपतया च सर्वेषां तेषामविशेषेण प्रतीतिः सिद्धैव। अपि च-विशेषाणां व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुत्वं लक्षणम्। व्यावृत्तिप्रत्यय एव च विचार्यमाणो न घटते। व्यावृत्तिर्हि विवक्षितपदार्थे इतरपदार्थप्रतिषेधः। विवक्षितपदार्थश्च स्वस्वरूपव्यवस्थापनमात्रपर्यवसायी कथं पदार्थान्तरप्रतिषेधे प्रगल्भेत ?। न च स्वरूपसत्त्वादन्यत्तत्र किमपि, येन तन्निषेधः प्रवर्त्तेत। तत्र च व्यावृत्तौ क्रियमाणायां स्वात्मव्यतिरिक्ता विश्वत्रयवर्तिनोऽतीतवर्तमानाऽनागताः पदार्थाः, तस्माद् व्यावर्तनीयाः। ते च नाज्ञातस्वरूपा व्यावर्त्तयितुं शक्याः। ततश्चैकस्यापि विशेषस्य परिज्ञाने प्रमातुः सर्वज्ञत्वं स्यात्। न चैतत्प्रातीतिकं, यौक्तिकं वा। व्यावृत्तिस्तु निषेधः। स चाभावरूपत्वात्तुच्छः कथं प्रतीतिगोचरमञ्चति खपुष्पवत्। तथा येभ्यो व्यावृत्तिस्ते सद्रूपा असद्रूपा वा ?। असद्रूपाश्चेत्तर्हि खरविषाणात् किं न व्यावृत्तिः ?। सद्रूपाश्चेत्सामान्यमेव। या चेयं व्यावृत्तिर्विशेषैः क्रियते सा सर्वासु विशेषव्यक्तिष्वेकाऽनेका वा ?। अनेका चेत्तस्या अपि विशेषत्वापत्तिरनेकरूपत्वैकजीवितत्वाद्विशेषाणाम्। ततश्च तस्या अपि विशेषत्वान्यथानुपपत्तेर्व्यावृत्त्या भाव्यम्। व्यावृत्तेरपि च व्यावृत्तौ विशेषाणामभाव एव स्यात्; तत्स्वरूपभूताया व्यावृत्तेः प्रतिषिद्धत्वात्, अनवस्थापाताच्च। एका चेत्सामान्यमेव संज्ञान्तरेण प्रतिपन्नं स्यादनुवृत्तिप्रत्ययलक्षणाऽव्यभिचारात्। किं चाऽमी विशेषाः सामान्याद् भिन्नाः अभिन्ना वा ?। भिन्नाश्चेत् मण्डूकजटाभारानुकाराः। अभिन्नाश्चेत्तदेव तत्स्वरूपवत्। इति सामान्यैकान्तवादः। पर्यायनयान्वयिनस्तु भाषन्ते-विविक्ताः क्षणक्षयिणो विशेषा एव परमार्थः, ततो विष्वग्भूतस्य सामान्यस्याप्रतीयमानत्वात्। न हि गवादिव्यक्त्यनुभवकाले वर्णसंस्थानात्मकं व्यक्तिरूपमपहायाऽन्यत् किंचिदेकमनुयायि प्रत्यक्षे प्रतिभासते; तादृशस्यानुभवाभावात्। तथा च पठन्ति-

"एतासु पञ्चस्ववभासिनीषु, प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु।
साधारणं रूपमवेक्षते यः, शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः॥१॥"

एकाकारपरामर्शप्रत्ययस्तु स्वहेतुदत्तशक्तिभ्यो व्यक्तिभ्य एवोत्पद्यते। इति न तेन सामान्यसाधनं न्याय्यम्। किं च-यदिदं सामान्यं परिकल्प्यते, तदेकमनेकं वा ?। एकमपि सर्वगतमसर्वगतं वा ?। सर्वगतं चेत् किं न व्यक्त्यन्तरालेषूपलभ्यते ?। सर्वगतैकत्वाभ्युपगमे च तस्य यथा गोत्वसामान्यं गोव्यक्तीः क्रोडीकरोति। एवं किं न घटपटादिव्यक्तीरपि; अविशेषात् ?। असर्वगतं चेत् विशेषरूपापत्तिरभ्युपगमबाधश्च। अथाऽनेकं गोत्वाश्वत्वघटत्वपटत्वादिभेदभिन्नत्वात्तत् तर्हि विशेषा एव स्वीकृताः, अन्योऽन्यं व्यावृत्तिहेतुत्वात्। न हि यद्गोत्वं तदश्वत्वात्मकमिति। अर्थक्रियाकारित्वं च वस्तुनो लक्षणम्। तच्च विशेषेष्वेव स्फुटं प्रतीयते। न हि सामान्येन काचिदर्थक्रिया क्रियते, तस्य निष्क्रियत्वात्, वाहदोहादिकास्वर्थक्रियासु विशेषाणामेवोपयोगात्। तथेदं सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा ?। भिन्नं चेदवस्तु, विशेषविश्लेषेणार्थक्रियाकारित्वाऽभावात्। अभिन्नं चेत् विशेषा एव तत्स्वरूपवत्। इति विशेषैकान्तवादः। नैगमनयानुगामिनस्त्वाहुः-स्वतन्त्रौ सामान्यविशेषौ, तथैव प्रमाणेन प्रतीतत्वात्। तथाहि-सामान्यविशेषावत्यन्तभिन्नौ, विरुद्धधर्माध्यासितत्वात्। यावेवं तावेवं यथा पाथः पावकौ। तथा चेतौ। तस्मात्तथा। सामान्यं हि गोत्वादि सर्वगतम्। तद्विपरीताश्च शबलशाबलेयादयो विशेषास्ततः कथमेषामैक्यं युक्तम् ? न सामान्यात् पृथक् विशेषस्योपलम्भ इति चेत् कथं तर्हि तस्योपलम्भ इति वाच्यम् ?। सामान्यव्याप्तस्येति चेत् न तर्हि स विशेषोपलम्भः, सामान्यस्यापि तेन ग्रहणात्। ततश्च तेन बोधेन विविक्तविशेषग्रहणाभावात् तद्विशेषवाचकध्वनिं तत्साध्यं च व्यवहारं न प्रवर्त्तयेत् प्रमाता। न चैतदस्ति; विशेषाभिधानव्यवहारयोः प्रवृत्तिदर्शनात्। तस्माद् विशेषमभिलषता तत्र च व्यवहारं प्रवर्त्तयता तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽभ्युपगन्तव्यः। एवं सामान्यस्थाने विशेषशब्दं विशेषस्थाने च सामान्यशब्दं प्रयुञ्जानेन सामान्येऽपि तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽङ्गीकर्त्तव्यः। तस्मात् स्वस्वग्राहिणि ज्ञाने पृथक् प्रतिभासमानत्वात् द्वावपीतरेतरविशकलितौ। ततो न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटते इति स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादः। तदेतत्पक्षत्रयमपि न क्षमते क्षोदं, प्रमाणबाधितत्वात् सामान्यविशेषोभयात्मकस्यैव च वस्तुनो निर्विगानमनुभूयमानत्वात्। वस्तुनो हि लक्षणमर्थक्रियाकारित्वम्। तच्चानेकान्तवादे एवाविकलं कलयन्ति परीक्षकाः। तथाहि-यथा गौरित्युक्ते खुरककुदसास्नालाङ्गूलविषाणाद्यवयवसंपन्नं वस्तु स्वरूपं सर्वव्यक्त्यनुयायि प्रतीयते तथा महिष्यादिव्यावृत्तिरपि प्रतीयते। यत्रापि च शबला गौरित्युच्यते तत्रापि यथा विशेषप्रतिभासस्तथा गोत्वप्रतिभासोऽपि स्फुट एव। शबलेति केवलविशेषणोच्चारणेऽपि अर्थात्, प्रकरणाद् वा गोत्वमनुवर्तते। अपि च शबलत्वमपि नानारूपं, तथा दर्शनात्। ततो वक्त्रा शबलेत्युक्ते क्रोडीकृतसकलशबलसामान्यं विवक्षितगोव्यक्तिगतमेव शबलत्वं व्यवस्थाप्यते। तदेवमाबालगोपालं प्रतीतिसिद्धेऽपि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वे तदुभयैकान्तवादः प्रलापमात्रम्। न हि क्वचित्कदाचित्केनचित्सामान्यं विशेषं विना कृतमनुभूयते। विशेषा वा तद्विना कृताः। केवलं दुर्णयप्रभावितमतिव्यामोहवशादेकमपलप्यान्यतरद् व्यवस्थापयन्ति बालिशाः। सोऽयम्-अन्धगजन्यायः। येऽपि च तदेकान्तपक्षोपनिपातिनः प्रागुक्ता दोषास्तेऽपि अनेकान्तवादप्रचण्डमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वान्नोच्छ्वसितुमपि क्षमाः। स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादिनस्त्वेवं प्रतिक्षेप्याः-सामान्यं प्रतिव्यक्ति कथंचिद्भिन्नं, कथंचित्तदात्मकत्वात् विसदृशपरिणामवत्। यथैव हि काचिद् व्यक्तिरुपलभ्यमाना व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते तथा सदृशपरिणामात्मकसामान्यदर्शनात् समानेति, तेन समानो गौरयं सोऽनेन समानः इति प्रतीतेः। न चास्य व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात् सामान्यरूपताव्याघातः। यतो रूपादीनामपि व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वमस्ति, न च तेषां गुणरूपताव्याघातः। कथंचिद् व्यतिरेकस्तु रूपादीनामिव सदृशपरिणामस्याप्यस्त्येव। पृथक् व्यपदेशादिभाक्त्वात्। विशेषा अपि नैकान्तेन सामान्यात् पृथग् भवितुमर्हन्ति। यतो यदि सामान्यं सर्वगतं सिद्धं भवेत्तदा तेषामसर्वगतत्वेन ततो विरुद्धधर्माध्यासः स्यात्। न च तस्य तत्सिद्धम्, प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात्, सामान्यस्य विशेषाणां च कथंचित्परस्पराव्यतिरेकेणैकानेकरूपतया व्यवस्थितत्वात्। विशेषेभ्योऽव्यतिरिक्तत्वाद्धि सामान्यमप्यनेकमिष्यते। सामान्यात्तु विशेषाणामव्यतिरेकेण तेषामप्येकरूपता इति। एकत्वं च सामान्यस्य संग्रहनयार्पणात् सर्वत्र विज्ञेयम्, प्रमाणार्पणात्तस्य सदृशपरिणामरूपस्य विसदृशपरि-

त्मकत्वकथञ्चित्प्रतिव्यक्तिभेदात् । एवं चासिद्धं सामान्यविशे-
षयोः सर्वथा विरुद्धधर्माध्यासितत्वम् । कथञ्चिद्विरुद्धधर्मा-
ध्यासितत्वं चेद्विवक्षितं तदात्मकत्वाप्रवेशः, कथञ्चिद्विरुद्धधर्मा-
ध्यासस्य कथञ्चिद्भेदाविनाभूतत्वात् । पाथःपावकदृष्टान्तोऽपि
साध्यसाधनविकलः, तयोरपि कथंचिदेव विरुद्धधर्माध्यासि-
तत्वेन भिन्नत्वेन च स्वीकरणात् । पयस्त्वपावकत्वादिना हि त-
योर्विरुद्धधर्माध्यासो भेदश्च, द्रव्यत्वादिना पुनस्तद्विपरीत-
मिति । तथा च-कथं न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटते?
इति । स्या० १४ श्लोक । तथा च सूत्रकृताङ्गवृत्तौ-सर्वमपि वस्-
त्विति तत्सामान्यविशेषात्मकं नरसिंहाकारमुभयस्वभावमिति ।
तथा चोक्तम्—

" नान्वयः सह भेदत्वा-न्न भेदोऽन्वयवृत्तितः ।
मृद्भेदद्वयसंसर्ग-वृत्तिजात्यन्तरं घटः ॥ १ ॥ "

तथा—

" नरस्य सिंहरूपत्वा-न्न सिंहो नररूपतः ।
शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यन्तरं हि सः ॥ २ ॥ "

इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

" व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं, सङ्करोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसंबन्धो, जातिबाधकसंग्रहः ॥१॥ " इति ।

अस्य व्याख्या-आकाशत्वं न जातिः । व्यक्त्यैक्यात् । १ ।
घटत्वकलशत्वे न जाती । व्यक्तितुल्यत्वात् । २ । भूतत्वमूर्तत्वे
न जाती । आकाशे भूतत्वस्यैव मनसि च मूर्तत्वस्यैव सद्भा-
वेऽपि पृथिव्यादिचतुष्टये उभयोः सद्भावात् सङ्करप्रसङ्गः ।३। जा-
तेरपि जात्यन्तराङ्गीकारेऽनवस्थाप्रसङ्गः ।४। अत्यन्तविशेषता
न जातिः । तदङ्गीकारे तत्स्वरूपव्यावृत्तिहानिः स्यात् ।५। सम-
वायता न जातिः संबन्धाऽभावात् ।६। इत्येते जातिबाधकाः ।
स्या० ८ श्लोक । कर्मवशादसुमतां विचित्रजातिगमनाज्जातेरशा-
श्वतत्वम् । अतो न जातिमदो विधेय इति । यदपि कैश्चिदुच्यते-
यथा ब्राह्मणा ब्रह्मणो मुखाद्विनिर्गताः, बाहुभ्यां क्षत्रियाः, ऊरुभ्यां
वैश्याः, पद्भ्यां शूद्राः इति । एतदप्यप्रमाणत्वादतिफल्गुप्रायं,
तदभ्युपगमे च न विशेषो वर्णानां स्यादेकस्मात् प्रसूतेर्वृक्षशा-
खाप्रशाखामूलपनसोदुम्बरादिफलवद्ब्राह्मणो वा मुखादेव-
वर्णानां चातुर्वर्ण्यावाप्तिः स्यात् न चैतदिष्यते भवद्भिस्तथा
यदि ब्राह्मणादीनां ब्रह्मणो मुखादेरुद्भवः । सांप्रतं किं न जा-
यते ?। अथ युगादावेतदित्येवं सति दृष्टहानिरदृष्टकल्पना स्या-
दिति । तथा यदि कैश्चिदभ्यधायि सर्वज्ञनिषेधावसरे तद्यथा-
सर्वज्ञरहितोऽतीतः कालः कालत्वाद्वर्तमानकालवदेवं च सत्य-
तदपि शक्यते वक्तुं यथा नाऽतीतः कालो ब्रह्ममुखादिविनिर्ग-
तचातुर्वर्ण्यसमन्वितः । कालत्वाद्वर्तमानकालवद्भवति च वि-
शेषे पक्षीकृते सामान्यहेतुरित्यतः प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धता ना-
शङ्कनीयेति । जातेश्चानित्यत्वं युष्मत्सिद्धान्त एवाभिहितम् ।
तद्यथा—शृगालो वा एष जायते यः स पुरीषो दह्यत
इत्यादिना । तथा-" सद्यः पतति मांसेन, लाक्षया लव-
णेन च । त्र्यहेण शूद्रीभवति, ब्राह्मणः क्षीरविक्रयी ॥ १ ॥ " इ-
त्यादि लोके चावश्यं भावी जातिपातः । यत उक्तम्-" कायिकैः
कर्मणां दोषै-र्याति स्थावरतां नरः । वाचिकैः पक्षिमृगतां,
मानसैरन्त्यजातिताम् ॥१॥ " इत्यादिगुणैरप्येवंविधैर्न ब्राह्मणत्वं
युज्यते । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । ब्राह्मणत्वादिजातिश्च न कस्य
चित् कारणम् । स्मृतावप्युक्तम्-

" कैवर्तीगर्भसंभूतो, व्यासो नाम महामुनिः ।

तपसा ब्राह्मणो जातः, तस्माज्जातिरकारणम् ॥
हरिणीगर्भसंभूतो, हैरण्योऽपि महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् ॥ " दर्श० २ तत्त्व ।

क्रियाकर्मविभागेन हि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था यत उक्तम्—

" एकवर्णमिदं सर्वं, पूर्वमासीद् युधिष्ठिर ! ।
क्रियाकर्मविभागेन, चातुर्वर्ण्यं व्यवस्थितम् ॥१॥
ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण, यथा शिल्पेन शिल्पकः ।
अन्यथा नाममात्रं स्या-दिन्द्रगोपककीटवत् ।२। उत्त० २६ अ० ।

(सप्तानां वर्णानां नवानां च वर्णान्तराणामुत्पत्तिः ' वंभ '
शब्दे वक्ष्यते) व्याकरणोक्ते पौत्राद्यपत्यात्मके गोत्रे, वेदशाखा-
भेदे च । न्यायोक्ते साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां व्याप्तिनिरपेक्षाभ्यां वादि
वाक्येषु दूषणदानरूपे वाक्ये, वाच० । तथा सम्यग्धेतौ हेत्वा
भासे वा वादिना प्रयुक्ते झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रति-
बिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिर्दूषणाभास इत्यर्थः । सा
च चतुर्विंशतिभेदा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन । यथा सा-
धर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्याऽवर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्ति—
प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाऽहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपप-
त्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः । तत्र साधर्म्येण
प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिर्भवति । 'अनित्यः शब्दः' कृत-
कत्वाद् घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थान-
म् । 'नित्यः शब्दो' निरवयवत्वात् आकाशवत् । न चास्ति विशे-
षहेतुर्घटसाधर्म्यात् कृतकत्वात् अनित्यः शब्दो, न पुनराकाश-
साधर्म्यान्निरवयवत्वात् नित्य इति । वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैध-
र्म्यसमा जातिर्भवति । 'अनित्यः शब्दः' कृतकत्वाद् घटवदिति ।
अत्रैव प्रयोगे स एव प्रतिहेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यते (घटस्य हि
निरवयवत्वं वैधर्म्यं स्वयं सावयवत्वाद्वैधर्म्यम्) 'नित्यः शब्दो'
निरवयवत्वात् । अनित्यं हि सावयवं दृष्टं घटादीति न चास्ति
विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनस्तद्वै-
धर्म्यात् निरवयवत्वान्नित्य इति । उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्था-
नमुत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः । तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तधर्मं
कञ्चित्साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते । यदि
घटवत् कृतकत्वात् अनित्यः शब्दो घटवदेव मूर्तोऽपि भवतु ।
न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमा-
पादयति । अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्-अश्रावणो दृष्टः ।
एवं शब्दोऽप्यस्तु । नो चेद् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति ।
शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षतीति । इत्येताश्चतस्रो दिङ्मात्रद-
र्शनार्थं जातय उक्ताः । एवं शेषा अपि विंशतिरक्षपादशा-
स्त्रादवसेयाः । स्या० १० श्लोक । दूषणाभासास्तु जातयस्तत्र
सम्यक् दूषणस्याऽपि न तत्त्वव्यवस्थितेरनियतत्वात् । अनि-
यतत्वं च यदेवैकस्मिन् सम्यग् दूषणं तदेवान्यत्र दूषणा-
भासं पुरुषशक्त्यपेक्षत्वाच्च दूषणाभासव्यवस्थितेरनियतत्व-
मिति । कुतः पुनर्दूषणाभासरूपाणां जातीनामवास्तवत्वाशा-
सामिति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । षड्जातिषु, सप्तसु स्वरेषु,
अलङ्कारभेदे, चुल्ल्याम्, आमलक्याम्, काम्पिल्ले, छन्दसि,
जातिफले, मालत्याम्, पुष्पप्रधाने वृक्षभेदे च । वाच० । रा० ।
प्रज्ञा० । कल्प० । आचा० । ज्ञा० । जातिकुसुमवर्णे, मद्यभेदे,
" महुं च मेरगं च जाइं च " जातिश्च जातिकुसुमवर्णं मद्यमेव ।
विपा० १ श्रु० २ अ० । जातिनपुंसकनामजातिर्यग्मनुष्यभव्ये
सम्यक्त्वं प्राप्यते न वेति । प्रश्नं, उत्तरम्-जातिनपुंसकमध्ये

सम्यक्त्वं देशविरतिश्च प्राप्यत इति आवश्यकादावस्तीति । १२९ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

जाइअंतर–जात्यन्तर–न० । नरसिंहत्वादिके विलक्षणजातौ, " नरस्य सिंहरूपस्य–न सिंहो नररूपतः । शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यन्तरं हि सः ॥१॥ " सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

जाइअंध–जात्यन्ध–पुं० । जन्मकालादारभ्यान्धे, (विपा०) " केइ पुरिसे जाइअंधे जाइअंधारूवे " जातेरारभ्यान्धो जात्यन्धः । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

जाइआजीवणा–जात्याजीवना–स्त्री० । आजीवनाभेदे, पिं० ।

जाइआजीवय–जात्याजीवक–पुं० । जातिं ब्राह्मणादिकामाजीवति उपजीवति तज्जातीयमात्मानं सूचादिनोपदर्श्य ततो भक्तादिकं गृह्णातीति जात्याजीवकः । आजीवकभेदे, स्था० ५ ठा० १ उ० । यथा कश्चन भिल्लमालादिजातीयमीश्वरं दृष्ट्वा आह–ऽहमपि भिल्लमालादिजातीयः स चैकजातिसंबन्धात् तस्य भिक्षादानादिकां प्रतिपत्तिं करोति । इति जात्युपजीवी । प्रव० २ द्वार ।

जाइआरिय–जात्यार्य–पुं० । जातिर्मातृकः पक्षः तया आर्याः अपापा निर्दोषा जात्यार्याः । विशुद्धमातृके, (स्था०)

छव्विहा जाइआरिया मणुस्सा पन्नत्ता । तं जहा–
" अंबट्ठा य कलंदा य, विदेहा वेदिगाइया ।
हरिया चुंचुणा चेव, छप्पेया इब्भजाइओ " ॥ १ ॥

अम्बष्ठेत्यादि अनुष्टुप्प्रतिकृतिः षडप्येता इभ्यजातय इति । इभमर्हन्तीति इभ्याः यद् " द्रव्यस्तूपान्तरित उच्छ्रितकदलिकोदण्डो हस्ती न दृश्यते ते इभ्याः " इति श्रुतिः। तेषां जातय इभ्यजातयस्ता एता इति । स्था० ६ ठा० ।

जाइआसीविस–जात्याशीविष–पुं० । आश्यो दंष्ट्राः तासु विषं येषां ते आशीविषाः । जातितः आशीविषा जात्याशीविषाः । वृश्चिकादिके, स्था० ४ ठा० ४ उ० । (' आसीविस ' शब्दे द्वितीयभागे ४८६ पृष्ठे विशेषवक्तव्यता)

जाइकहा–जातिकथा–स्त्री० । विकथाभेदे, नि० चू०१ उ० ।

जाइकुल–जातिकुल–न० । जातिसंबन्धिनि कुले, " तेसि णं भंते ! जीवाणं कइ जाइकुलकोडीजोणिप्पमुहसयसहस्सा पण्णत्ता " । जातिरिति किल तिर्यग्जातिस्तस्याः कुलानि कृमिकीटवृश्चिकादीनि । जी० ३ प्रति० ।

जाइचउक्क–जातिचतुष्क–न० । एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिस्वरूपे, कर्म० २ कर्म० ।

जाइच्छ–यादृक्ष–त्रि० । यस्येव दर्शनमस्य यद्–दृश–क्स–क्विप् वा । यत्सदृशे, यथाविधे, टान्तात्तु स्त्रियां ङीप् । वाच० ।

जातेच्छ–त्रि० । अभ्यधिकचिकीर्षापरिणामे, ध० १ अधि० ।

जाइच्छिय–यादृच्छिक–त्रि० । यदृच्छया आगतः ठक् । यदृच्छया प्राप्ते, वाच० । अतर्कितोपस्थिते काकतालीयादिरूपे वस्तुनि, तथा च यदृच्छावादिनः। आचा०१श्रु०१अ०१उ० । अनर्थकमित्यादिनाम्नि, न० । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

तल्लक्षणं चेदम्–

" यद्वस्तुनोऽभिधानं, स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षम् ।
पर्यायानभिधेयं, च नाम यादृच्छिकं च तथा ॥ १ ॥ "

विनेयानुग्रहार्थमेतद्व्याख्या–यद्वस्तुन इन्द्रादेरभिधानमिन्द्र इत्यादि वर्णावलीमात्रमिदमेव आवश्यकलक्षणवर्णचतुष्टयावलीमात्रं वस्तुनोर्नित्याभिसंबन्धात् तन्नामेति संटङ्कः। अथ प्रकारान्तरेण नाम्नो लक्षणमाह–(स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षं पर्यायानभिधेयं चेति) तदपि नाम यत्कथंभूतमित्याह–अन्यश्चासावर्थश्चान्यार्थो गोपालदारकादिलक्षणः। तत्र स्थितम् अन्यत्रेन्द्रादावर्थे यथार्थत्वेन प्रसिद्धं तदन्यत्र गोपालदारकादौ यदारोपितमित्यर्थः। अत एवाह–(तदर्थनिरपेक्षम् इति) तस्येन्द्रादिनाम्नोऽर्थः परमैश्वर्यादिरूपस्तदर्थः स चासावर्थश्चेति वा तदर्थस्तस्य निरपेक्षं गोपालदारकादौ तथा तदर्थस्याभावात् । पुनः किंभूतं तत् ? इत्याह–पर्यायानभिधेयमिति । पर्यायाणां शक्रपुरन्दरादीनामनभिधेयमवाच्यं गोपालदारकादयो हीन्द्रादिशब्दैरुच्यमाना अपि शचीपत्यादिरिव शक्रपुरन्दरादिशब्दैर्नाभिधीयन्ते अतस्तन्नामाऽपि, नाम–नामवतोरभेदोपचारात् पर्यायानभिधेयमित्युच्यते । चशब्दान्नाम्न एव लक्षणान्तरसूचकं शचीपत्यादौ प्रसिद्धं तन्नामवाच्यार्थशून्ये अन्यत्र गोपालदारकादौ यदारोपितं तदपि नामेति तात्पर्यम् । तृतीयप्रकारेणापि लक्षणमाह–(यादृच्छिकं च तथेति) तथाविधव्युत्पत्तिशून्यं डित्थडपित्थादिरूपं यादृच्छिकं स्वेच्छया नाम क्रियते तदपि नामेत्यार्थः ॥ १ ॥ अनु० ।

जाइजरामरणसोगप्पणासन–जातिजरामरणशोकप्रणाशन–त्रि० । जातिर्जन्म, जरा विस्रसा, मरणं प्राणनाशः, शोको मानसो दुःखविशेषः, तान् प्रणाशयत्यपनयति इति जरामरणशोकप्रणाशनः । जातिजरामरणापनयनसमर्थे, ध०२ अधि० । ग० ।

जाइजुत्त–जातियुक्त–त्रि० । मातृपक्षयुते, जातिर्मातृकी तया युतो विनयादिगुणवान् भवतीति । प्रव० ६४ द्वार ।

जाइज्जंत–यात्यमान–त्रि० । कदर्थ्यमाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जाइट्ठि–जातेष्टि–स्त्री० । यज–क्तिन् जातस्य संस्कारार्थं कर्तव्या इष्टिः । यागभेदः । जातकर्माख्ये संस्कारभेदे, वाच० । स० ।

जाइट्ठिअ–यदद्दृष्ट–त्रि० । यदद्दृष्टं तत्तदित्यस्मिन्नर्थे, यदद्दृष्टं तत्तदित्यस्य जाइट्ठिअ । जइ रच्चसि, जाइट्ठिअए हिअअ सुद्धसहाव । लोहें फुट्टणएण जिम्व घणा सहेसइ ताव " । प्रा० ४ पाद ।

जाइणाम–जातिनामन्–न० । नामकर्मभेदे, (कर्म०) एकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियत्वादिरूपसमानपरिणतिलक्षणम् एकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेशभाक् यत्सामान्यं सा जातिः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि जातिः । इदमत्र तात्पर्यम्–द्रव्यरूपमिन्द्रियमङ्गोपाङ्गेन्द्रियपर्याप्तिनामकर्मसामर्थ्यात् सिद्धं, भावरूपं तु स्पर्शनादीन्द्रियावरणक्षयोपशमसामर्थ्यात् "क्षायोपशमिकानि इन्द्रियाणि" इति वचनात् । यत्पुनरेकेन्द्रियादिशब्दप्रवृत्तिनिबन्धनं तथारूपसमानपरिणतिलक्षणं सामान्यं तदव्यभिचारसाधर्म्याज्जातिनामसाध्यम् । उक्तं च–अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिः तन्निमित्तं जातिनाम । कर्म० ६ कर्म० प्रज्ञा० । पं० सं० ।

तच्च पञ्चधा–

जातिनामेणं भंते ! कम्मे पुच्छा ?। गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा–एगिंदियजातिनामे बेइंदियजातिनामे तेइंदियजातिनामे चउरिंदियजातिनामे पंचिंदियजातिनामे ॥

प्रज्ञा० २३ पद । एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातीनाम, त्रीन्द्रियजातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, पञ्चेन्द्रियजातिनाम । कर्म० ६ कर्म० । आ० । प्रव० ।

जाइणामगोयनिउत्त–जातिनामगोत्रनियुक्त–त्रि० । जातिनाम गोत्रं च नियुक्तं वेद्यते तथा । नियुक्तजातिनामगोत्रे नारकादौ, भ० ६ श०८ उ० ।

जाइणामगोयनिउत्ताउय–जातिनामगोत्रनियुक्तायुष्–त्रि० । जातिनाम्ना गोत्रेण च सह नियुक्तमायुर्यैस्ते तथा । जातिनाम्ना गोत्रेण च सह नियुक्तायुषि, भ०६ श०८ उ० ।

जाइणामगोयनिहत्त–जातिनामगोत्रनिधत्त–त्रि० । जातिनाम गोत्रं च निधत्तं वेद्यते तथा । निधत्तजातिनामगोत्रे, भ० ६ श० ८ उ० ।

जाइणामगोयनिहत्ताउय–जातिनामगोत्रनिधत्तायुष्–त्रि० । जातिनाम्ना गोत्रेण च सह निधत्तमायुर्यैस्ते तथा । जातिनाम्ना गोत्रेण च सह निधत्तायुषि, भ० ६ श० ८ उ० ।

जाइणामनिउत्त–जातिनामनियुक्त–त्रि० । जातिनाम नियुक्तं नितरां युक्तं संबद्धं निकाचितं वेदने वा नियुक्तं वेद्यते तथा । नियुक्तजातिनामकर्मण्यपि जीवे, भ० ६ श० ८ उ० ।

जाइणामनिउत्ताउय–जातिनामनियुक्तायुष्–त्रि० । जातिनाम्ना सह नियुक्तं निकाचितं वेदयितुमारब्धं वाऽऽयुर्यैस्ते तथा । जातिनाम्ना सह नियुक्तायुषि, भ० ६ श० ८ उ० ।

जाइणामनिहत्ताउय–जातिनामनिधत्तायुष्–न० । जातिरेकेन्द्रियजात्यादिः पञ्चधा सैव नाम इति नामकर्मण उत्तरप्रकृतिविशेषो जीवपरिणामो वा तेन सह निधत्तं निषिक्तं यदायुस्तज्जातिनामनिधत्तायुः । जातिनाम्ना निधत्ते आयुषि, भ० ६ श० ८ उ० । जातिनाम्ना सह निधत्तमायुर्यैस्ते तथा । जातिनाम्ना सह निधत्तायुषि जीवे, भ० ६ श० ८ उ० । स्था० ।

जाइणिबद्ध–जातिनिबद्ध–न० । भावसूत्रस्य श्रुतस्य भेदे, (सूत्र०)

जातिनिबद्धं तु चतुर्धा । तद्यथा–

कथनीयं कथ्यम् उत्तराध्ययनज्ञाताधर्मकथादि । पूर्वर्षिचरितकथा नकप्रायत्वात्तस्य । तथा गद्यम्–ब्रह्मचर्याध्ययनादि । तथा पद्यम्–छन्दोनिबद्धम् । तथा गेयम्–यत् स्वरसंचारेण गीतिप्रायं निबद्धम् । तद्यथा–कापिलीयमध्ययनम्–" अधुवे असासयम्मि संसारम्मि दुक्खपउराए" इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जाइ(य)णिहुया–जातिनिर्हृ(ह्नु)ता–स्त्री० । जातान्यपत्यानि निर्हृतानि निर्यातानीत्यर्थो यस्याः सा । जातनिर्हृता वा । निहृतापत्यायाम, "विजयमित्तस्स सत्थवाहस्स सुभद्दा भारिया जाइ(य) णिहुया वि होत्था " । विपा० १ श्रु० २ अ० ।

जाइतिग–जातित्रिक–न० । जातिशब्देनोपलक्षितं त्रिकम् । " जाइतिगइ " त्ति गाथावयवोक्ते जातित्रये , तत्र जातयः एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाख्याः पञ्च । गतयः सुरनरतिर्यग्नरकरूपाः चतस्रः । खगतिः प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगतिभेदेन द्विधा । इत्येवं जातित्रिकशब्देन एकादश प्रकृतयो गृह्यन्ते । कर्म० ५ कर्म० ।

जाइथेर–जातिस्थविर–पुं० । जात्या जन्मना तथा स्थविरः जातिस्थविरः । स्थविरभेदे, " सट्ठिवासजाए समणे निग्गंथे जाइथेरे " स्था० ३ ठा० २ उ० ।

जाइदोस–जातिदोष–पुं० । जातिनिष्ठे दोषे, " स्त्रीजातौ दाम्भिकता, भीरुकता भूयसी वणिग्जातौ । दोषः क्षत्रियजातौ, द्विजातिजातौ पुनर्लोभः ॥१॥ " तं० ।

जाइधम्मय–जातिधर्मक–त्रि० । उत्पत्तिधर्मके, "इमं पि जाइधम्मयं" अनेनं जातिरुत्पत्तिस्तद्धर्मकम् । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

जाइपह–जातिपथ–पुं० । जातीनामेकेन्द्रियादीनां पन्थाः जातिपथः । जातिमार्गे, " जाईपहं अणुपरिवट्टमाणे " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । " पासजाइपहे बहू " । पाशा अत्यन्तपारवश्यहेतवः । कलत्रादिसंबन्धास्त एव तीव्रमोहोदयादिहेतुतया जातीनां पन्थानस्तत्प्रापकत्वान्मार्गाः । उत्त० ६ अ० । संसारे, । "अरक्खिओ जाइपहं उवेइ" जातिपन्थानं जन्ममार्गं संसारमुपैति । दश० २ चू० ।

जाइपुड–जातिपुट–न० । जातिः पुष्पजातिविशेषः पुटं पत्रादिमयं तद्भाजनं जातिपुटम् । जातिपुष्पस्य पत्रादिमये भाजने, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । " जाइपुडाण वा " रा० ।

जाइप्पसण्णा–जातिप्रसन्ना–स्त्री० । जातिपुष्पवासिता प्रसन्ना जातिप्रसन्ना । सुराभेदे, "जाइप्पसन्नाइ वा" जी० ३ प्रति० ।

जाइप्पाय–जातिप्राय–पुं० । दूषणाभासकल्पे, " जातिप्रायश्च बाध्योऽयं , प्रकृतान्यविकल्पनात् " । जातिप्रायश्च दूषणाभासकल्पश्च बाध्यः प्रतीतिकल्पाध्यामयं कुतर्क इति । द्वा० २३ द्वा० ।

जाइवंझा–जातिवन्ध्या–स्त्री० । जातेर्जन्मत आरभ्य वन्ध्या निर्बीजा जातिवन्ध्या । जन्मत आरभ्य निर्बीजायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

जाइभेय–जातिभेद–पुं० । सामान्यलक्षणायां घटत्वादिजातौ,

तस्मात् यतो यतोऽर्थानां, व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः ।
जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते, तद्विशेषावगाहिनः ॥

तस्मात् स्वपरव्यावृत्तिरूपात् हेतोः यतः यतः सजातीयात् विजातीयाच्च अर्थात् अर्थानां घटादीनां व्यावृत्तिर्भिन्नरूपता तन्निबन्धना व्यावृत्तिहेतुका जातिभेदाः परपरिकल्पितसामान्यलक्षणाः प्रकल्प्यन्ते । कीदृशाः ? इत्याह–(तद्विशेषावगाहिन इति) तस्य स्वपरव्यावृत्तिभाजः स्वलक्षणस्य विशेषा मातंस्वपाटलीपुत्रकत्वधासन्तकस्वरक्तत्वादिलक्षणास्तान् विकल्पवशाद्याताअवगाहन्ते अवलम्बन्ते इत्येवं शीला ये ते तथा । अने० २ अधि० ।

जाइमंडवग–जातिमण्डपक–पुं० । जातिर्मालती तन्मयो मण्डपको जातीमण्डपकः । जातीमये मण्डपके जं० १ वक्ष० । जी० ।

जाइमंत–जातिमत्–त्रि० । सुजातौ, " जाइमंता ति वा " आचा० २ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

जाइमय–जातिमद–पुं० । जात्या मदो जातिमदः । मदस्थानभेदे,

स० ७ सम० । " जाइमयए वा " स्था० १० ठा० । प्रश्न० । आत्या ब्राह्मणब्राह्मण्युद्भवत्वेन मदोऽहंकारो जातिमदः । जात्यहंकारे,उत्त० ३ अ० । जातिमदं विदधानो जन्मुरन्यजन्मनि तामेव जातिहीनतां लभते विकटां च भवाटवीं पर्यटतीति। प्रव० १६६ द्वार ।

सर्वेषां मदस्थानानामुत्पत्तेराद्यस्य जातिमदो बाह्यनिमित्तनिरपेक्षो यतो भवत्यतस्तमधिकृत्याह-

जे माहणो खत्तियजायए वा,तहुग्गपत्ते तह लेच्छई वा।
जे पव्वईए परदत्तभोई,गोत्तेण जे थब्भति माणबद्धे॥१०॥

यो हि जात्या ब्राह्मणो भवति,क्षत्रियो वा इक्ष्वाकुवंश्यादिकः। तद्भेदमेव दर्शयति-उग्रपुत्रः क्षत्रियविशेषजातीयः । तथा (लेच्छइ त्ति) क्षत्रियविशेष एव । तदेवमादिविशिष्टकुलोद्भूतो यथावस्थितसंसारस्वभाववेदितया यः प्रव्रजितः स्वकराज्यादिगृहपाशबन्धनः परैर्दत्तं भोक्तुं शीलमस्य परदत्तभोजी सम्यक् संयमानुष्ठायी गोत्रे उच्चैर्गोत्रे हरिवंशस्थानीये समुत्पन्नोऽपि नैव स्तम्भं गर्वमुपयायादिति । किम्भूते गोत्रे ? अभिमानबद्धे अभिमानास्पदे इति । एतदुक्तं भवति-विशिष्टजातीयतया सर्वलोकाऽभिमान्योऽपि प्रव्रजितः सन् कृतशिरस्तुण्डमुण्डनो भिक्षार्थं परगृहाण्यटन् कथं हास्यास्पदं गर्वं कुर्यात् नैवासौ मानं कुर्यादिति तात्पर्यार्थः ॥ १० ॥ सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

जाइमयपडिबद्ध-जातिमदप्रतिबद्ध-पुं० । जात्यहंकारेणानद्धे, " जाइमयपडिबद्धा हिंसगा अजिइंदिया " जात्या ब्राह्मणब्राह्मण्युद्भवत्वेन यो मदोऽहंकारस्तेन प्रतिस्तब्धाः अनम्राः जातिमदप्रतिस्तब्धाः । उत्त० १२ अ० ।

जाइय-जाचित-न० । याच् णिच्-क्त । याचनवृत्तौ, याञ्चायां च । कर्मणि क्त । प्रार्थिते, त्रि० । वाच० । उत्त० । " सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किं चि अजाइयं " आ० म० द्वि० ।

जाइयमंडण-याचितकमण्डन-न० । मार्गिताभरणे, पूर्णतायाम्, । परोपाधेः सा याचितकमण्डनम् । अष्ट० १ अष्ट० ।

जाइलिंग-जातिलिङ्ग-न० । शिरःपाण्यादिके प्राण्यवयवे, आतिलिङ्गानि प्राण्यवयवाः शिरःपाण्यादयस्तैर्हि गोत्वादिलक्षणा जातिर्लिङ्ग्यते इति । सम्म० ३ काण्ड ।

जाइवर-जातिवर-पुं० । जात्युत्तमे, " जाइवरसाररुक्खियं " प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार ।

जाइसंपन्न-जातिसंपन्न-पुं० । उत्तममातृकपक्षयुते, औ० । स्था० । रा० । नि० । ज्ञा० । यदाह-" जाइकुलसंपन्नो पावमकिच्चं न सेवइ किंचि आसेविउं च पच्छा तग्गुणओ सम्ममालोए " त्ति । गुणवन्मातृत्वे, स्था० ८ ठा० ।

जाइसर-जातिस्मर-त्रि० । जातिं पूर्वजन्म स्मरति । स्मृ-अच् । अतीतजन्मवृत्तान्तस्मृतियुक्ते, वाच० । " जाईसरो य भयवं " जातिं स्मरतीति जातिस्मरो भगवान् । "लिहादिभ्यः"।५।१।५०। इत्यणपवादोऽच् । आ० म० प्र० । " भवेज्जातिस्मरः पुमान् " जातिस्मरोऽनुभूतभवस्मर्ता । यो० बि० ।

जाइसरण-जातिस्मरण-न० । आभिनिबोधिकज्ञानविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । प्राग्भवे ज्ञानमति, " जाईसरणं समुप्पण्णं" जातिस्मरणम् । उत्त० १९ अ० । दश० । नं० । जातिस्मरणं द्विविधम्-सनिमित्तकम्,अनिमित्तकं च । तत्र बाह्यं निमित्तमुद्दिश्य जातिस्मरणमुपजायते तत्सनिमित्तकम् । यथा वल्कलचीरिप्रभृतीनाम् । यत्पुनरेव तदावारककर्मणां क्षयोपशमेनोत्पद्यते तदनिमित्तकं यथा स्वयं बुद्धकपिलादीनाम् । सू० १ उ० । जातिस्मरणं च संज्ञिजातिविषयकमेव " सन्निपुव्वे जाइसरणे समुप्पज्जित्था " संज्ञिनः पूर्वजातिः प्राक्तनं जन्म तस्या यत्स्मरणं तत्संज्ञिपूर्वजातिस्मरणम् । इयत्तनिर्देशे तु संज्ञी पूर्वो भवो यत्र तत्संज्ञिपूर्वी संज्ञीति च विशेषणं स्वरूपज्ञापनार्थं न ह्यसंज्ञिजातिविषयं स्मरणमुत्पद्यत इति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

तथा चोत्तराध्ययने-

देवलोगचुओ संतो, माणुसं भवमागओ ।
सन्निनाणसमुप्पन्ने, जाइसरणं पुराणयं ॥ ८ ॥

देवलोकात् च्युतः सन् मानुष्यं भवमागतः इति संज्ञिज्ञाने समुत्पन्ने सति पुराणकं प्राचीनं जातिस्मरणमनुदिति शेषः । संज्ञिनो गर्भजपञ्चेन्द्रियस्य ज्ञानं संज्ञिज्ञानं तस्मिन् संज्ञिज्ञाने । उत्त० १९ अ० ।

जातिस्मरणं कस्मात्तदाह-

संस्कारे पूर्वजातीनाम्, ... (६)

संस्कारे स्मृतिमात्रफले आत्मायुर्भोगलक्षणे च " एवं मया सोऽर्थोऽनुभूतः, एवं मया सा क्रिया कृता " इति भावनया संयमात् पूर्वजातीनां प्रागनुभूतजातीनां धीरनुस्मृतिरवबोधकमन्तरेणैव भवति । तदुक्तम्-"संस्कारस्य साक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्" (६) द्वा० २६ द्वा० ।

जातिस्मरणकारणानि योगबिन्दौ यथा-

ब्रह्मचर्येण तपसा, सद्वेदाध्ययनेन च ।
विद्यामन्त्रविशेषेण, सत्तीर्थासेवनेन च ॥ ५७ ॥

ब्रह्मचर्येण भावतो बस्तिनिरोधरूपेण, तपसा अनशनादिना, सद्वेदाध्ययनेन च सता सुन्दरेणात्मानुग्रहादिपरिणामयुक्ततया वेदस्य सद्भूतार्थागमस्याध्ययनेन वाचनापृच्छनादिलक्षणेन । चः समुच्चये । विद्यामन्त्रविशेषेण समाधना स्त्रीस्वामिका वा विद्या, मन्त्रश्च तद्विपरीतरूपः । ततो मन्त्रवाचकप्रसिद्धयोर्विद्यामन्त्रयोर्विशेषेण भेदेन सत्तीर्थासेवनेन च सतः सातिशयस्य व्यसनसलिलार्णवनिस्तारणोपायस्य जावरजङ्गमभेदभिन्नस्य तीर्थस्य आसेवनेन पर्युपासनेन । चः प्राग्वत् ॥ ५७ ॥

तथा-

पित्रोः सम्यगुपस्थानात्, ग्लानभैषज्यदानतः ।
देवादिशोधनाच्चैव, भवेज्जातिस्मरः पुमान् ॥ ५८ ॥

पित्रोः जननीजनकयोः सम्यक् यथावत् उपस्थानात् त्रिसंध्यप्रणामादिविनयरूपात्, " पूजनं चास्य विज्ञेयं, त्रिसंध्यं नमनक्रिया " इत्यादि वक्ष्यमाणात् । ग्लानभैषज्यदानतः ग्लानानां ज्वरादिरोगोपहतशरीराणां भेषज्यस्यौषधस्य दानतो वितरणात्, " देवादिशोधनाच्चैव " देवदेवस्थानपुस्तकस्नानधूपाद्याद्यर्थकार्योपयोगिनः । " शोधनात् " तथाविधमला-

एतयनेन निर्मलीकरणाद्भवेज्जायेत जातिस्मरोऽनुभूतभवस्मर्ता पुमान् प्राणी ब्रह्मचर्यादीनां योगविशेषाणां ज्ञानावरणह्रासान्तरङ्गकरणत्वात् ।

अत्रैव प्रसङ्गसिद्धिमाह-

अत एव न सर्वेषा-मेतदागमनेऽपि हि ।
परलोकात् यथैकस्मात्, स्थानात् तनुभृतामिति ॥५९॥

"अत एव" इत्यादि । अत एव ब्रह्मचर्यादेर्जातिस्मरणहेतुत्वादेव (न) नैव सर्वेषां देहिनाम् । एतत् जातिस्मरणम्, आगमनेऽपि अभ्यागतावपि किं पुनर्लौकायतमतेन तदभाव इत्यपिहिशब्दार्थः । परलोकात् परभवात् । "यथा" इतिदृष्टान्तार्थे एकस्मात् स्थानात् पाटलिपुत्रकादेरागमनेऽपि तनुभृताम् तत्रानुभूतार्थस्मरणम् । 'इतिः' वाक्यपरिसमाप्तौ । इदमुक्तं भवति—यथैकस्मात् पाटलिपुत्रकादेः स्थानादागतानामपि सुबहूनां पथिकानां कश्चिद्विवक्षिते स्थाने न सर्वेषां प्रागनुभूतार्थस्मृतिरुपजायते, किं तु केषांचिदेव, एवं भवान्तरस्मृतावपि योजना स्यादिति न चाल्पबहुत्वेन स्मर्तॄणां दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमुद्भावनीयं, स्मर्तृसंभवमात्रस्य प्रतिपादयितुमिष्टत्वात् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सर्वदा, साधर्म्याभावात् ॥५९॥

एतदेव भावयन्नाह—

न चैतेषामपि ह्येत-दुन्मादग्रहयोगतः ।
सर्वेषामनुभूतार्थ-स्मरणं स्याद्विशेषतः ॥ ६० ॥

(न च) नैव । एतेषामप्येकस्थानादागतानां किं पुनर्भवान्तरादागतानामपि इत्यपिशब्दार्थः । हिः यस्मात् एतदिदम् । उन्मादग्रहयोगतः उन्मादो मोहावेशो ग्रहश्च भूतावेशस्तत उन्मादग्रहयोर्योगः संबन्धस्तस्मात् । सर्वेषां समस्तानाम् । किमित्याह-अनुभूतार्थस्मरणं (स्यात्) भवेद् विशेषतः सर्वान् विशेषान् प्रतीत्य किं तु सामान्येनैव ॥ ६० ॥

अथ दार्ष्टान्तिके सर्वेषां सामान्येन स्मृतिर्यथा स्यात्तथाह-

सामान्येन तु सर्वेषां, स्तनवृत्त्यादिचिह्नितम् ।
अभ्यासातिशयात् स्वप्न-वृत्तितुल्यं व्यवस्थितम् ॥६१॥

सामान्येन साधारणतया । तुः विशेषणार्थः । सर्वेषां समस्तानां प्राणिनाम् । स्तनवृत्त्यादिचिह्नितं स्तनवृत्तिस्तदहर्जातानां स्तनपानरूपा । आदिशब्दात् रमणीयरूपकन्दुकाद्यवलोकनकुतूहलादिका विविधा चेष्टा गृह्यते । तया चिह्नितं व्यक्तिभावमानीतम् 'जातिस्मरणम्' इति गम्यते । कीदृशमित्याह-(अभ्यासातिशयात्) पुनः पुनरासेवनमभ्यासस्तस्यातिशय उत्कर्षस्तस्मात् । (स्वप्नवृत्तितुल्यम्) । स्वप्नकालोपलभ्यमानदिवसानुभूतवनदेवकुलादिविहारादिव्यवहारसमम् । (व्यवस्थितम्) प्रतिष्ठितम् । यथाऽभ्यासातिशयात् स्वप्ने दिनानुभूतोऽर्थ उपलभ्यते, एवं स्तनवृत्त्यादिको व्यवहारः प्राग्भवानुभूतो भवान्तर इति ॥ ६१ ॥

ननु स्वप्नवृत्तिः पश्चादपि स्मर्यते न त्वेवं स्तनादिवृत्तिर्भवान्तरसंबन्धिनी इह स्मर्यत इति कथम् अनयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभाव इत्याशङ्क्याह—

स्वप्ने वृत्तिस्तथाभ्यासा-द्विशिष्टस्मृतिवर्जिता ।
जाग्रतोऽपि क्वचित्सिद्धा, सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम् ॥६२॥

स्वप्ने प्रवृत्तिरुक्तरूपा (तथाभ्यासात्) तत्प्रकारादभ्यासात्; मन्दाभ्यासादित्यर्थः । (विशिष्टस्मृतिवर्जिता) स्फुटप्रतिभासकपस्मरणरहिता । "क्वचित् सिद्धा" इत्युत्तरेण योगः । तथा-(जाग्रतोऽपि) क्षीणनिद्रस्य कस्यचित् किं पुनरन्यस्येति क्वचित् क्षेत्रे काले वा (सिद्धा) सर्वलोकसंमत्या प्रतिष्ठिता वृत्तिर्गच्छत्तृणस्पर्शादिका तथाऽभ्यासादेव स्मृतिवर्जिता । एतदर्थप्रतीतावुपदेशमाह-(सूक्ष्मबुद्ध्या) निपुणाभोगेन (निरूप्यताम्) परिभाव्यतामिदन्यथा उक्तस्याप्यर्थस्य सम्यगवगमाभावात् ॥६२॥

अथ प्रकारान्तरत एव जातिस्मरणादात्मसिद्धिमभिधित्सुराह—

श्रूयन्ते च महात्मानः, एते दृश्यन्त इत्यपि ।
क्वचित्संवादिनस्तस्मा-दात्मादेर्हन्त निश्चयः ॥ ६३ ॥

(श्रूयन्ते) समाकर्ण्यन्ते कथानकेषु भरुकच्छादौ शकुनिकाजीवराजपुत्रीसुदर्शनादयः । चकारो हेत्वन्तरसमुच्चये । (महात्मानः) प्रशस्तस्वभावाः । (एते) जातिस्मरकाः । (दृश्यन्त इत्यपि) दृश्यन्ते साक्षादेव क्वचित् इदानीमप्युपलभ्यन्ते । कीदृशाः ? इत्याह-(संवादिनः) विसंवादविकलवचनाः । ततः किमित्याह-(तस्मात्) जातिस्मरकादिसंवादात् (आत्मादेः) जीवकर्मादेरतीन्द्रियस्यापि कथंचिद् । "हन्त" इति कोमलामन्त्रणे । निश्चयः संपद्यते इति ॥ ६३ ॥

अथ निगमयन्नाह-

एवं च तत्त्वसंसिद्धे-र्योग एव निबन्धनम् (६४)

(एवम्) चोक्तन्यायेनैव (तत्त्वसंसिद्धेः) आत्माऽदृष्टादिप्रतीतेः योग एव नापरं किञ्चित (निबन्धनं) हेतुर्वर्तते । (६४) यो० बि० ।

ननु नवमासमात्रान्तरितमपि प्राक्तनं भवं सामान्यजीवः कथं स्मरतीत्याह-

जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो ।
तेण दुक्खेण संमूढो, जाइं सरइ न अप्पणो ॥ २ ॥

जायमानस्य गर्भान्निस्सरमाणस्य उत्पद्यमानस्य वा यत् दुःखं भवति (वा) अथवा पुनर्म्रियमाणस्य पञ्चत्वं कुर्वाणस्य च यत् दुःखं भवति । तेन दारुणदुःखेन संमूढो महामोहभावं प्राप्तः जातिं प्राक्तनभवमात्मीयं स्वकीयं मूढात्मा प्राणी न स्मरति कोऽहं पूर्वभवे देवादिकोऽभवमिति न जानातीति ॥२॥ तं० । (न जानाति 'दसा' शब्दे दृष्टान्तः) । जातिस्मरणं संख्यातभवनिर्णायकं न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-जातिस्मरणमपि समतिक्रान्तं संख्यातभवावगमस्वरूपं मतिज्ञानभेद एवेति कर्मग्रन्थवृत्त्याचाराङ्गवृत्त्यनुसारेण संख्यातभवनिर्णायकं जातिस्मरणं ज्ञायत इति । १३० प्र० । सेन० १ उल्ला० । कर्मग्रन्थवृत्तौ-जातिस्मरणमपि अतीतासंख्यातभवावगमस्वरूपं मतिज्ञानमेवेत्युक्तमस्ति "पुव्वभवा सो पिच्छइ, इक्क दो तिन्नि जाव नवगं वा । उवरिं तस्स अविसओ, सहावओ जाइसरणस्स ॥ १ ॥" इति गाथायां तु नवैव भवाः जातिस्मरणस्य विषयास्तत्कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्-जातिस्मरणवान् आचाराङ्गवृत्त्याद्यभिप्रायेणातीतानसंख्यातान् भवान् पश्यतीति ज्ञायते कर्मग्रन्थवृत्तावपि स एवाभिप्रायोऽस्ति "पुव्वभवा सो पिच्छइ" इयं गाथा तु सूचितपक्षा न तु तथाविधग्रन्थस्था तेन निर्णायिका न भवतीति । ३४१ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । इदानीं भ-

इदानीं मनुजानां,तिरश्चां च जातिस्मरणमस्ति न वा ?। यदि नास्ति तदा कुतो व्यवच्छिन्नं तथाऽवधिज्ञानमपीदानीमस्ति न वा ? इत्यपि च प्रसाध्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-वर्त्तमानकाले जातिस्मरणाद्यवधिज्ञानस्य व्यवच्छेदः शास्त्रे प्रतिपादितो नास्तीति। १६८ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

जाइसरणावरणिज्ज-जातिस्मरणावरणीय-न०। मतिज्ञानावरणीयकर्मभेदे, । जातिस्मरणावरणीयानि च कर्माणि मतिज्ञानावरणभेदाः । क्षयोपशम उदितानां क्षयोऽनुदितानां विष्कम्भितोदयत्वमिति। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

जातिसुमिण-जातिस्मरण- 'जाइसरण' शब्दार्थे, सेन० ३ उल्ला० ।

जाइहिंगुलुय-जातिहिङ्गुलुक-पुं० । रक्तवर्णे वर्णकद्रव्यभेदे, "जाइहिंगुलुए इ वा" । जातिहिङ्गुलुकेन वर्णकद्रव्येण स कृत्रिमोऽपि भवतीति जात्याविशेषितः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जात्यः प्रधानो हिङ्गुलुको जात्यहिङ्गुलुकः । प्रज्ञा० १ पद ।

जाई-जाती-स्त्री० । जन-क्तिच्-ङीप् । मालत्याम्, तत्पुष्पे लताभेदे च । वाच०। जं०। सुरायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

जाईफल-जातीफल-न० । गन्धप्रधाने वस्तुनि, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (जायफल) इतिख्याते फले च । वाच० ।

जाईमंडवग-जातीमण्डपक-पुं० । 'जाइमंडवग' शब्दार्थे, जं० १ वक्ष० ।

जाईय-जातीय-त्रि० । जातौ भवः छ । समानजातियुक्ते सजातीये, वाच० । आ० म० । "एकग्रहणे, तज्जातीयग्रहणम्" इति न्यायः । आ० म० । किञ्चिच्छब्दात् जातीयप्रत्ययः । प्रकारार्थे । "गुणाढ्यो पंचजातीयं" पञ्चप्रकारम्,। विशे० । यथा तार्किकजातीयः तार्किकप्रकारः । वाच० ।

जाईसर-जातिस्मर-त्रि० । 'जाइसर' शब्दार्थे,आ० म० प्र० ।

जाईसरण-जातिस्मरण-न० । 'जाइसरण' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जाईसरणावरणिज्ज-जातिस्मरणावरणीय न० । 'जाईसरणावरणिज्ज' शब्दार्थे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ० ।

जाईहिंगुलुय-जातिहिङ्गुलुक-पुं० । 'जाइहिंगुलुय' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जाउं-यावत्-त्रि० । यत् परिमाणमस्य मतुप् । "यावत्तावतोर्वाऽऽदेर्म-उं-महिं" । ८।४।४०६। यावत्तावदित्यनयोरव्यययोर्वकारादेरवयवस्य 'म-उं-महिं' इत्येते त्रय आदेशाः भवन्ति । प्रा० ४ पाद । यत्परिमाणे, साकल्ये, अवधौ, व्याप्तौ, माने, अवधारणे च । वाच० ।

जाउया-यातृ-स्त्री० । या-तृच् । देवरपत्न्याम्, यातरौ तृन् । गन्तरि, त्रि० । यातारौ । वाच० । "जाउयाओ जाणिस्संति" । "जाउयाओ त्ति" देवराणां जायाः । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । "जाउग त्ति" यातरो ज्येष्ठदेवरजायाः । बृ० १ उ० ।

जाउल्ल-जातुल्ल-पुं० । गुच्छात्मके वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जाऊकण्ण-जातूकर्ण-पुं० । मुनिभेदे, वाच० । गोत्रभेदे, म० जं० ७ वक्ष० ।

जाऊकण्णीय-जातूकर्णीय-न० । गोत्रभेदे, सू० प्र० १० पाहु० । चं० प्र० ।

जाऊरी-देशी-कपित्थे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जाओगण-यादोगण-पुं० । जलजन्तुगणे, वाच० । "सारक्खमाणे से चिट्ठति" । नानाविधाँस्तु यादसां गणान् संरक्षन् सह वा यादोगणैरात्मानमारक्षन् । आचा० १ श्रु० ५ अ०५ उ० ।

जांववई-जाम्बवती-स्त्री० । जाम्बवतोऽपत्यं स्त्री । कृष्णवासुदेवस्य स्वनामख्यातायां पत्न्याम् , कल्प० ७ क्षण । नागदमन्यां च । वाच० ।

जांबूणय-जाम्बूनद-न० । जम्बूनदे भवम्-अण् । स्वर्णे, तीरमृत् तद्रसं प्राप्य सुखवायुविशोषिता जाम्बूनदाख्यं भवति सुवर्णं सिद्धभूषणम् इत्युक्ते सुवर्णभेदे, तद्रसे जम्बूरसम् । धुस्तूरे च । वाच० । जं० ।

जाग-याग-पुं०। यज-घञ्। मन्त्रकरणके वह्न्याद्यधिकरणे हविष्प्रक्षेपरूपे यज्ञे, वाच० । यजनं यागः । पूजने, "अखिलगुणाधिकसद्योगसारसद्धर्मयागपरः" यागो यजनं पूजनं तत्परः तत्प्रधानः । षो० ९ विव० । आचा० । ज्ञा० । देवपूजायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । श्रीसिद्धार्थनृपस्य यागकरणप्रौढदशाहोत्सवे, सिद्धार्थराजव्यतिकरे यागशब्देन देवपूजा कृतेति समर्थितम् । प्रति० । देवतापूजावसरजातिनि ब्राह्मणप्रसिद्धे पूजाविशेषे, अनु० । ज० । ज्ञा० । अश्वमेधादिके च । पि० ।

जागजागदायसहस्सपडिच्छय-यागजागदायसहस्रप्रतीच्छकत्रि० । यागा पूजाविशेषाः भागा विंशतिभागादयो दायाः सामान्यदानान्येषां सहस्राणि प्रतीच्छतीति । तथाभूते,औ०।

जागर-जागर-पुं० । जागृ-अप् । निद्राभावे, जागरणे, कवचे च । वाच० । जागर्तीति जागरः । अपगतनिद्रे, "जागरवेरोवरए" असंयमनिद्रापगमाज्जागर्तीति जागरः । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । "सुत्ता अमुणी उ सया, मुणी उ सुत्ता वि जागरा होंति" आचा०नि० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । द्रव्यजागरो निद्रारहितः। भावजागरः सम्यग्दृष्टिः । आ० म० द्वि० । विशे० ।

अथ विरत्यपेक्षया जीवादीनां पञ्चविंशतेः पदानां सुप्तत्वजागरत्वे प्ररूपयन्नाह—

जीवा णं भंते ! सुत्ता, जागरा, सुत्तजागरा ?। गोयमा ! जीवा सुत्ता वि, जागरा वि, सुत्तजागरा वि । नेरइया णं भंते ! किं सुत्ता पुच्छा ?। गोयमा ! णेरइया सुत्ता । णो जागरा, णो सुत्तजागरा । एवं जाव चउरिंदिया । पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! किं सुत्ता पुच्छा ?। गोयमा ! सुत्ता । णो जागरा। सुत्तजागरा वि । मणुस्सा। जहा जीवा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा णेरइया ।

(सुत्त त्ति) सर्वविरतिरूपनैश्चयिकप्रबोधाभावात् । (जागर

त्ति) सर्वविरतिरूपप्रवरजागरणसद्भावात् । (सुत्तजागर त्ति) अविरतिविरतिरूपसुप्तिप्रबुद्धतासद्भावादिति । भ० १६ श० ६ उ० । आ० ।

संजयमणुस्साणं सुत्ताणं पंच जागरा पण्णत्ता । तं जहा- सद्दा० जाव फासा ।

" संजय " इत्यादि । व्यक्तम् । नवरं संयतमनुष्याणां साधूनां सुप्तानां निद्रावतां जाग्रतीति जागरा असुप्ता जागरा इव जागरा इयमत्र भावना-शब्दादयो हि सुप्तानां संयतानां जाग्रद्द्विषदप्रतिहतशक्तयो भवन्ति कर्मबन्धाभावकारणस्याप्रमादस्य तदानीं तेषामभावात् कर्मबन्धकारणं भवतीत्यर्थः ।

संजयमणुस्साणं जागराणं पंच सुत्ता पण्णत्ता । तं जहा- सद्दा० जाव फासा ।

द्वितीयसूत्रभावना तु-जागराणां शब्दादयः सुप्ता इव सुप्ता अस्मकृताग्निवत् प्रतिहतशक्तयो भवन्ति । कर्मबन्धकारणस्य प्रमादस्य तदानीं तेषामभावात् कर्मबन्धकारणं भवतीत्यर्थः।

संयतविपरीता असंयता इति । तानधिकृत्याह-

असंजयमणुस्साणं सुत्ताणं वा जागराणं वा पंच जागरा पण्णत्ता । तं जहा-सद्दा० जाव फासा ।

"असंजय" इत्यादि । व्यक्तम् । नवरम् । असंयतानां प्रमादितया अवस्थाद्वयेऽपि कर्मबन्धकारणतयाऽप्रतिहतशक्तित्वात् शब्दादयो जागरा इव, जागरा भवन्तीति भावना । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

जागरण-जागरण-न० । निद्राक्षये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । अवबोधे, ध० ३ अधि० ।

जागरणे गुणाः-

" जागरह नरा ! णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढए बुद्धी ।
जो सुवइ ण सो धन्नो, जो जग्गइ सो सया धन्नो ॥१॥
सुअइ सुअंतस्स सुअं, संकियखलियं भवे पमत्तस्स ।
जागरमाणस्स सुअं, थिरपरिचियमप्पमत्तस्स ॥२॥
नालस्सेणं समं सोक्खं, ण विज्जा सह निद्दया ।
ण वेरग्गं पमादेण, णारंभेण दयालुआ ॥३॥
जागरिया धम्मीणं, अहम्मीणं तु सुत्तिया सेया ।
वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥४॥
सुवइ य अयगरभूओ, सुयं पि से णस्सती अमयभूयं ।
होही गोणतभूओ, णट्ठम्मि सुए अमयभूए " ॥ ५ ॥
आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

निशान्त्ययामे जागर्या, गुरोश्चावश्यकक्षणे ।
उत्सर्गो देवगुर्वादि-नतिः स्वाध्यायतिष्ठता ॥ २० ॥

निशाया रात्रेरन्त्ययामे चतुर्थयामे जागर्या जागरणं निद्रात्याग इत्यर्थः । सापेक्षयतिधर्मो भवतीति योजना । अत्रऽपि सर्वत्र धसेया जागरणविधिश्च-" जामिणिपच्छिमजामे, सव्वे जग्गंति बालवुड्ढाई । परमिट्ठिपरममंतं, भणंति सत्तट्ठवाराओ ॥ १ ॥ " इत्यादि । विशेषगृहस्थधर्माधिकारे प्रदर्शित एव निशान्त्ययामे जागरणम् । किमविशेषेण सर्वेषामेव उत केषांचिदेवेति जिज्ञासायामाह-(गुरोः) प्रव्राजकस्य दिगाचार्यादेर्वा चकारात् ग्लानादेः आवश्यकक्षणे प्रतिक्रमणकरणावसरे, जागर्या तत्र गुरोः तृतीयप्रहरेऽस्वापस्य वक्ष्यमाणत्वात् । ग्लानादेस्तु शरीरमान्द्यात् प्रतिक्रमणवेलायामुचितमेव जागरणम् । उक्तमपि प्रवचनसारोद्धारे-

" सव्वे वि पढमयामे, दुन्नि अ वसहाण आइमा जामा ।
तइओ होइ गुरूणं, चउत्थे सव्वे गुरू सुअइ ॥ ९७ ॥ "

सर्वेऽपि साधवः प्रथमे यामे रात्रिप्रथमप्रहरं यावत् । स्वाध्यायाध्ययनादिकुर्वाणाः जाग्रति द्वौ च आद्यौ यामौ वृषभाणां वृषभा इव वृषभा गीतार्थाः साधवः तेषामयमर्थो द्वितीये यामे ये सुप्तवन्तः साधवस्ते स्वपन्ति । वृषभास्तु जाग्रति ते च जाग्रतः प्रज्ञापनादिसूत्रार्थं परावर्तयन्ति । तृतीयप्रहरो भवति गुरूणां कोऽर्थः—प्रहरद्वयानन्तरं वृषभाः स्वपन्ति । गुरवस्तूत्थिताः प्रज्ञापनादि गुणयन्ति चतुर्थप्रहरं यावत् । चतुर्थे च प्रहरे । सर्वे साधवः समुत्थाय वैरात्रिककालं गृहीत्वा कालिकश्रुतं परावर्तयन्ति । गुरवः पुनः स्वपन्ति । अन्यथा प्रातर्निद्राघूर्णमानलोचनास्तद्वशादेव भज्यमानपृष्ठका व्याख्यानभव्यजनोपदेशादिकं कर्तुं ते सोद्यमाः सन्तो न शक्नुवन्तीति । (प्रव० १२८ द्वार) प्रतिक्रमणवेला च तत्परिसमाप्तिदशोपकरणप्रत्युपेक्षणासमनन्तरजातसूर्योदयपरिमेया । यतः-"आवस्सयस्स समए, णिद्दामुद्दं चयंति आयरिया । तह तं कुणंति जह दस, पडिलेहाऽणंतर सूरो" ॥१॥ त्ति । जागरणानन्तरकर्तव्यमाह-(उत्सर्ग इति) कायोत्सर्गः स चेर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्वकः कुस्वप्नदुःस्वप्ननिवारणनिमित्तः प्राणिवधादिकुस्वप्नभावे शताच्छ्वासमानो मैथुनकुस्वप्नभावे तु चतुरुद्योतकरोपर्येकनमस्कारचिन्तनादष्टशतोच्छ्वासमानोऽवसेयः । यतो यतिदिनचर्यायाम्-

" इरियं पडिक्कमंता, कुसुमिण दुसुमिण निवारणुस्सग्गं ।
सम्मं कुणंति निज्जिअ-पमायणिद्दा महामुणिणो ॥ १ ॥
पाणिवहप्पमुहाणं, कुसुमिणभावे भवंति उज्जोआ ।
चत्तारि चिंतणिज्जा, सनमुक्कारा चउत्थस्स ॥ २ ॥ " त्ति ।

ततश्च (देवगुर्वादिनतिरिति) देवनतिश्चैत्यवन्दनम् । गुर्वादिनतिश्चतुर्भिः क्षमाश्रमणैर्गुर्वादिनमस्क्रिया ततोऽनन्तरं च (स्वाध्यायतिष्ठतेति) स्वाध्यायो वाचनादिः तस्मिन् यथासंभवं निष्ठता एकाग्रता उपलक्षणत्वात् । पूर्वगृहीततपोनियमाभिग्रहचिन्तनधर्मजागरिकाकरणादि । यतः-

" जिणनमणमुणिनमंसण-पुव्वं तत्तो कुणंति सज्झायं ।
चिंतिति पुव्वगहियं, तवनियमाऽभिग्गहप्पमुहं ॥१॥
किं तक्कणिज्जकज्जं, न करेमि अभिग्गहाय को वच्चिओ ।
किं मह खलिअं जायं, कहदिअहा मज्झ वच्चंति ॥२॥
कह न हु पमायपंके, खुप्पिस्सं किं परो व अप्पो वा ।
मह पिच्छइ अइयारं, इअ कुज्जा धम्मजागरिअं ॥ ३ ॥ "

ब्राह्मे च मुहूर्ते निर्मलबुद्ध्युदयाद्भवति धर्मकर्मोपायचिन्तनं सफलमिति । धर्ममनोरथान् चिन्तयेति भावार्थः । यतस्तत्रैव-" जामिणिविरामसमए, सरए सलिलं व निम्मलं नाणं । इअ तत्थ धम्मकम्मे, आयमुवायं विचिंतेज्जा ॥१॥ " ध० ३ अधि० ।

जागरमाण-जाग्रत्-न० । जागृ-शतृ-इन्द्रियादिभिर्विषयज्ञानयोग्यावस्थायाम् । तद्वति, त्रि० । स्त्रियां ङीप् । वाच० । निद्रावियुक्ते च । पा० । " जागरमाणी जागरइ " जागरणं कुर्वन्त्या जागर्ति निद्रानाशं कुरुत इति । तं० । "निद्दाए भावतो वि य, जागरमाणा वरणहमयर" । निद्रारहिते, आ० म० द्वि० ।

जागरिता-जागरितृ-त्रि० जागृ-तृ । जागरके, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जागरिय-जागरिक-पुं० । जागरणं जागरः । सोऽस्यास्तीति जागरिकः । भ० १२ श० २ उ० । निद्रारहिते, आ० म० द्वि० ।

जागरित-त्रि० । जागृ-क्त । इन्द्रियैर्विषयोपलब्ध्ययोग्यावस्थायाम्, जीवो हि स्वप्नादिहेतुकर्मनाशे इन्द्रियविषयान्, अनुमेयांश्च स्थूलविषयान्, व्यवहारिकांश्च पदार्थान्, यस्यामवस्थायामनुभवति तत् जागरितम् । कर्तरि-क्त । जागरणयुक्ते, त्रि० । वाच० ।

जागरिया-जागरिका-स्त्री० । जागरणे, आ० १ श्रु० १ अ० । "पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि णो धम्मजागरियं जागरित्ता भवइ ।" जागरिका निद्राक्षयेण बोधः । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

कइविहा णं भंते ! जागरिया पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिविहा जागरिया पण्णत्ता । तं जहा-बुद्धजागरिया, अबुद्धजागरिया, सुदक्खुजागरिया । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ तिविहा जागरिया पण्णत्ता ? । तं जहा-बुद्धजागरिया, अबुद्धजागरिया, सुदक्खुजागरिया । गोयमा ! जे इमे अरहंता भगवंतो उप्पण्णणाणदंसणधरा जहा खंदए० जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी एएणं बुद्धा बुद्धजागरियं जागरंति । जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया भासासमिया० जाव गुत्तबंभयारि एएणं अबुद्धा अबुद्धजागरियं जागरंति । जे इमे समणोवासगा अभिगयजीवाजीवा० जाव विहरंति एएणं सुदक्खुजागरियं जागरंति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ तिविहा जागरिया जाव० सुदक्खुजागरिया ।

(बुद्धा बुद्धजागरियं जागरंति त्ति) बुद्धाः केवलावबोधेन ते च बुद्धानां व्यपोढाज्ञाननिद्राणां जागरिकाप्रबोधो बुद्धजागरिका, तां जाग्रति कुर्वन्ति (अबुद्धा अबुद्धजागरियं जागरंति त्ति) अबुद्धाः केवलज्ञानाभावेन यथासंभवं शेषज्ञानसद्भावाच्च बुद्धसदृशास्ते च अबुद्धानां छद्मस्थज्ञानवतां या जागरिका सा तथा तां जाग्रति । भ० १२ श० १ उ० ।

जागरिता धम्मीणं, अधम्मियाणं च सुत्तिया सेया ।
वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥१०६॥

वच्छजणवए कोसंबी णयरी, तस्स अधिवो सताणितो राया, तस्स भगिणी जयंती, तीए भगवओ वद्धमाणो पुच्छितो-धम्मियाणं किं सुत्तिया सेया, जागरिया वा सेया ? । भगवया वागरियं धम्मीणं जागरिया सेया, णो सुत्तिया, अधम्मियाणं सुत्तिया सेया, णो जागरिया । (अकहिंसु त्ति) अन्यानपि एवं कथितवान् । नि० चू० १६ उ० ।

जीवाश्च न सुप्ताः सिद्ध्यन्ति । किं तर्हि जागरा एव इत्याह-

सुत्तत्तं भंते ! साहू, जागरियत्तं साहू ? । जयंती ! अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू, अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-अत्थेगइयाणं० जाव साहू ? । जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया अहम्माणुया अहम्मिट्ठा अहम्मक्खाई अहम्मपलोई अहम्मपलज्जमाणा अहम्मसमुदायारा अहम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । एएसि णं सुत्तत्तं साहू, एएणं जीवा सुत्ता समाणा णो बहूणं पाणभूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए० जाव परियावणयाए वट्टंति । एएणं जीवा सुत्ता समाणा अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा णो बहूहिं अहम्मियाहिं संजोयणाहिं संजोएत्तारो भवंति । एएणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू । जयंती ! जे इमे जीवा धम्मत्थिया धम्माणुगा० जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू एएणं जीवा जागरमाणा बहूणं पाणाणं अदुक्खणयाए० जाव अपरियावणयाए वट्टंति, ते णं जीवा जागरा समाणा अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा बहूहिं धम्मियाहिं संजोयणाहिं संजोएत्तारो भवंति । एए णं जीवा जागरमाणा धम्मजागरियाए अप्पाणं जागरइत्तारो भवंति, एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू से तेणट्ठेणं जयंती ! एवं वुच्चइ अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू, अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू ।

(सुत्तत्तं त्ति) निद्रावशत्वम् । (जागरियत्तं ति) जागरणं जागरः सोऽस्यास्तीति जागरिकस्तद्भावो जागरिकत्वम् । (अहम्मिय त्ति) धर्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरन्तीति धार्मिकास्तन्निषेधादधार्मिकाः । कुत एतदेवमित्यत आह-(अहम्माणुया) धर्मं श्रुतरूपमनुगच्छन्तीति धर्मानुगास्तन्निषेधादधर्मानुगाः । कुत एतदेवमित्यत आह-(अहम्मिट्ठा) धर्मः श्रुतरूप एवेष्टो वल्लभः पूजितो वा, येषां ते धर्मेष्टाः । धर्मिणां वा इष्टाः धर्मीष्टाः अतिशयेन वा धर्मिणो धर्मिष्ठाः तन्निषेधात् अधर्मिष्ठाः, अधर्मेष्टाः अधर्मीष्टा वा अत एव । (अहम्मक्खाई) न धर्ममाख्यान्ति इत्येवंशीला अधर्माख्यायिनः, अथवा-न धर्मात् ख्यातिर्येषां ते अधर्मख्यातयः । (अहम्मपलोइ त्ति) न धर्ममुपादेयतया प्रलोकयन्ति ये ते अधर्मप्रलोकिनः । (अहम्मपलज्जण त्ति) न धर्मे प्ररज्यन्ते आसजन्ति ये ते अधर्मप्ररञ्जना एवं च-(अहम्मसमुदायार त्ति) न धर्मरूपश्चारित्रात्मकः समुदाचारः समाचारः सप्रमोदो वा आचारो येषां ते तथा अत एव-" अहम्मेणं चेव " इत्यादि । अधर्मेण चारित्रश्रुतविरुद्धरूपेण वृत्तिं जीविकां कल्पयन्तः कुर्वाणा इति । भ० १२ श० २ उ० । जन्मतः षष्ठ्यां रात्रौ भवे रात्रिजागरणरूपे उत्सवविशेषे च । विपा० १ श्रु० २ अ० । रा० । "छट्ठे दिवसे जागरियं करेंति " रात्रिजागरणरूपमुत्सवविशेषम् । भ० ११ श० ११ उ० ।

जागर्या-स्त्री० । जागृ-श । जागरणे, अ-जागरोऽप्यत्र । वाच० । "निशान्त्ययामे जागर्या गुरोरश्चावश्यककृते " जागर्या जागरणं निद्रात्याग इत्यर्थः । ध० ३ अधि० ।

जागसहस्सभागपडिच्छय-यागसहस्रभागप्रतीच्छक-त्रि० । यागाः पूजाविशेषाः ब्राह्मणप्रसिद्धाः तत्सहस्राणां भागमंशं प्रतीच्छति अभव्यत्वात् यत् । तथाभूते, औ० ।

जागिणिपुर-जाकिनीपुर-न० । स्वनामख्याते पुरे, "इओ य सिरिजागिणिपुरे सिरिमहम्मदसाहिसगाहिराओ" ती० ४६ कल्प ।

जाणिणी–याकिनी–स्त्री० । हरिभद्रसूरेः प्रतिबोधिकायां सि- ध्व्याम्, "महत्तराया याकिन्या, धर्मपुत्रेण चिन्तिता । आचा- र्यहरिभद्रेण, टीकेयं शिष्यबोधिनी ॥१॥" दश० २ चू० ।

जाडी–देशी–गुल्मे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जाण–यान–न० । या-भावे ल्युट् । गमने,वाच० । स्था० । स० । सूत्र० । उपचितशक्ते राज्ञः शत्रुराष्ट्रादिरक्षां कृत्वा रिपोराक्र- मणाय गमने च । वाच० । यात्यनेनेति यानम् । स० १ सम० । करणे-ल्युट् । गमनसाधने रथादौ,वाच०। यानानि सामान्यतः । शेषाणि वाहनानीति । रा० । जी० । यानानि नौकादीनि । वाहना- नि वेसरादीनि । दशा० ६ अ० । "दिट्ठी जाणं सुउत्तमं" यानं यानमात्रं सूक्ष्ममतिप्रधानमविरुद्धमित्यर्थः । ग० १ अधि० । यानं वाहनमिति । रा० । यानं रथादिकमिति । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । रा० । औ० । स्था० । यानानि शकटादीनि । रा० । औ० । ज्ञा० । स्था० । उत्त० । यानं गन्त्र्यादि । अनु० । जी० । यानं गन्त्रीविशेष इति । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । यानं लघुग- न्त्रीति । भ० ८ श० ६ उ० । यानं शिबिकादीति । स्था० १० ठा० । आचा० । यानं हस्त्यादीति । भा० क० । प्रा० म० । उत्त० । "जाणं तु आसमाई" यानानि पुनरश्वादीनि, आदिशब्दात् गजवृषभरथशिबिकादीनि । बृ० १ उ० । "चत्तारि जाणा पण्ण- त्ता । तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्ते, जुत्ते णाममेगे अजुत्ते, अजुत्ते णाममेगे जुत्ते, अजुत्ते णाममेगे अजुत्ते । (स्था०) च- त्तारि जाणा पण्णत्ता । तं जहा—जुत्ते णाममेगे जुत्तप- रिणए जुत्ते णाममेगे अजुत्तपरिणए ४ (स्था०) चत्तारि जाणा पण्णत्ता । तं जहा—जुत्ते णाममेगे जुत्तरूवे जुत्ते णाममेगे अजुत्तरूवे ४ (स्था०) चत्तारि जाणा पण्णत्ता । तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्तसोभे ४ " स्था० ४ ठा० ३ उ० । " जंति वीरा महाजाणं " यात्यनेन मोक्षमिति यानम् । चारित्रे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । यात्येतदिति यानम् । " कृत्यल्युटो बहुलम " ॥३।३।११३॥ इति (पाणि०) वचनात्कर्मणि ल्युट् । गन्तव्ये च । त्रि० । आव० ६ अ० । ज्ञा० ।

ज्ञा–अवबोधने, क्र्यादि० पर० सक० अनिट् । " ज्ञो जाण- मुणौ " ॥ ८ । ४ । ७ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण ' जाण ' आदेशः । ' जाणइ मुणइ ' जाणिअं-जाणिऊण । प्रा० ४ पाद । तुमं कि जाणयंसि कूवमंडुक्को " नि० चू० १ उ० । ' ज्ञा ' ज्ञपधा- त्वर्थे । चुरा० । उभ० सक० सेट् । ज्ञपयति । अजिज्ञपत् । ' ज्ञा ' प्रेरणे, चुरा० उभ० सक० सेट् । वाच० ।

जाणं–जानत्–त्रि० । अवगच्छति " अजाणओ मे मुणि बूहि- जाणं । "जानन्नवगच्छन् । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । स्था० । बृ० । "अजाणंता विउस्सित्ता " सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । " जाणं काएण णाउट्टी " सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । जानन्नव- बुध्यमानः । विशे० । उत्त० । "आसुपण्णेण जाणया" । जानता ज्ञानोपयुक्तेन । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

जाणंत–जानत्–त्रि० । 'जाणं' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

जानान–त्रि० । 'जाणंत' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

जाणग–ज्ञ–पुं० । ज्ञा-क । ब्रह्मणि, पण्डिते, सोमपुत्रे, बुधे च । वाच० । अनु० । उत्त० ।

ज्ञायक–त्रि० । ज्ञातरि, विज्ञे, पं० चू० । नं० 'जाणयति' ज्ञायको ज्ञातेति । औ० ।

जाणगय–यानगत–त्रि० । यानानि शकटादीनि । तत्र गते, औ० ।

जाणगसरीर–ज्ञशरीर–न० । " जाणगस्स " ज्ञायको, ज्ञो वा तस्य शरीरं ज्ञशरीरम् । जीवरहिते जानतः शरीरे, उत्त० १ अ० । नि० चू० । ज्ञातवान् इति ज्ञः । प्रतिक्षणं शीर्यत ' इति शरीरम् । ज्ञस्य शरीरम् ज्ञशरीरम् । अनु० ।

जाणगसेवा–ज्ञसेवा–स्त्री० । ज्ञातुः सेवायाम्, "जिज्ञासा तद्संज्ञे वा, सदनुष्ठानलक्षणम " । द्वा० २३ द्वा० ।

जाणगिह–यानगृह–न० । यत्र यानानि तिष्ठन्ति । तस्मिन् गृहे, " जाणगिहाणि वा " । आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० ।

जाणण–ज्ञान–न० । अवगमने, आव० ६ अ० । प्रा० ।

जाणणा–ज्ञा–स्त्री० । ज्ञानं ज्ञा । संवित्तौ, आ० म० द्वि० । अनु० ।

जाणणाणय–ज्ञाननय–पुं० । नयभेदे, "जाणणाणओ" ज्ञानोप- लब्धिमात्रः । अविशेषितं ज्ञानात्मक इत्यर्थः । आ० चू० ३ अ० ।

जाणणासंखा–ज्ञानसंख्या–स्त्री० । "जाणणा" ज्ञानं संख्यायते निश्चीयते वस्त्वनयेति संख्या, ज्ञानरूपा संख्या ज्ञानसंख्या । संख्याभेदे, अनु० ।

से किं तं जाणणासंखा ? । जाणणासंखा जो जं जाणइ । तं जहा–सद्दं सद्दिओ, गणिअं गणिओ, निमित्तं नेमित्तिओ, कालं कालणाणी, वेज्जयं वेज्जो । सेत्तं जाणणासंखा ।

"से किं तं जाणणासंखा" इत्यादि । "जाणणा" ज्ञानं संख्यायते निश्चीयते वस्त्वनयेति संख्या, ज्ञानरूपा संख्या ज्ञानसंख्या । का पुनरियमुच्यते-यो देवदत्तादिर्यच्छब्दादिकं जानाति स तज्जानाति तत्र ज्ञानज्ञानवतोरभेदोपचारात् ज्ञानसंख्येत्युपस्कारः । शेषं पाठसिद्धम । अनु० ।

जाणणासुद्ध–ज्ञानशुद्ध–न० । " पच्चक्खाणं जाणइ, कप्पे जं जम्मि होइ कायव्वं । मूलगुणउत्तरगुणे तं जाणसु जाणणासुद्धं " इत्युक्तलक्षणे प्रत्याख्यानभेदे, आव० ६ अ० । आ० चू० ।

जाणय–ज्ञ–पुं० । ' जाणग ' शब्दार्थे, अनु० ।

जाणयसरीर–ज्ञशरीर–न० । 'जाणगसरीर' शब्दार्थे, उत्त० १ अ० ।

जाणयसेवा–ज्ञसेवा–स्त्री० । 'जाणगसेवा' शब्दार्थे, द्वा० २३ द्वा० ।

जाणरह–यानरथ–पुं० । रथविशेषे, रथा द्विविधाः-यानरथाः, संग्रामरथाश्च । तत्र संग्रामरथस्य प्राकारानुकारिणी फलकम- यी वेदिका, अपरस्य तु न भवतीति विशेषः । जी० ३ प्रति० ।

जाणरूव–यानरूप–त्रि० । शिबिकाद्याकारवति, " समोहय— जाणरूवेणं " यानप्रकारेण शिबिकाद्याकारवतेति । भ० ३ श० ४ उ० ।

जाणवय–जानपद–त्रि० । जनपदे भवः, तत आगतो वा अण् । देशस्थे, देशादागते च । जनपदानां वृत्तौ, स्त्री० । ङीप् । वाच० । रा० । औ० । आचा० । सू० प्र० । "पमुइयजणजाणवया" जन- पदे भवाः जानपदा विशिष्टार्यदेशोत्पन्नाः । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । " बहवे जाणवया लूसिसु " आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

जाणविमाण–यानविमान–त्रि० । यानञ्च तद्विमानं च । यानाय वा गमनाय विमानं यानविमानम् । स्था० ४ ठा० ३ उ० । वा-

ने गमनं तदर्थं विमानम् । यायतेऽनेनेति यानम् तदेव विमानं यानविमानम् । स्था० १ ठा० १ उ० । यानरूपं वाहनरूपं विमानं यानविमानम् । रा० । देवानां गमनसाधने नगराकारे वाहने, " दसण्हं इंदाणं दस परियाणिया जाणविमाणा पण्णत्ता । तं जहा-पालए पुप्फए जाव विमलवरे सव्वओभद्दे " यानं शिबिकादि तदाकाराणि विमानानि देवाश्रयाणि यानविमानानि न तु शाश्वतानि नगराकाराणीत्यर्थः । स्था० १० ठा० । " दिव्वं जाणविमाणं विउव्वेह " रा० ।

जाणसाला-यानशाला-स्त्री० । यत्र यानानि निष्पाद्यन्ते तस्यां शालायाम्, । " जाणसालाओ वा "। आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० । आ० म० । दशा० ।

जाणाविय-ज्ञापित-त्रि० । बोधिते, " अभयकुमारेण जाणाविओ " आ० म० द्वि० ।

जाणिअ-ज्ञात-त्रि० । अवगते, प्रा० ४ पाद । " बलाबलं जाणिय अप्पणो य " आत्मनो बलाबलं ज्ञात्वा परीषहादिसहनसामर्थ्यं विचार्य । उत्त० २१ अ० । " निरओवमं जाणिय दुक्खमुत्तमं " ज्ञात्वा विज्ञायेति । दश० १ चू० । " महयं पलिगोव जाणिया " । ज्ञात्वा स्वरूपतस्तद्विपाकतो वा परिच्छिद्य । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

जाणिऊण-ज्ञात्वा-अव्य० । विज्ञायेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद । आचा० ।

जाणित्तु-ज्ञात्वा-अव्य० । विज्ञायेत्यर्थे " जाणित्तु धम्मं अहा तहा " । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । प्रा० ।

जाणियव्वगसामत्थजुत्त-ज्ञातव्यसामर्थ्ययुक्त-त्रि० । विज्ञप्तिकरणे, " जाणितव्वगसामत्थजुत्तंति वा विण्णत्तिहेउजुयंति वा एगट्ठा " आ० चू० १ अ० ।

जाणिया-ज्ञि(ज्ञ)का-स्त्री० । 'ज्ञा' अवबोधने । जानातीति,ज्ञा । " इगुपधज्ञाप्रीकिरः " ॥ ३।१।१३५ ॥ इति क प्रत्ययः । अतो लोपः ॥६॥ ।४।४८ ॥ इति च (पाणि०) अकारलोपः । ततः । "अजाद्यतष्टाप्" ॥४।१।४। इति स्त्रियामाप् । ज्ञैव ज्ञिका । स्वार्थिकः कः प्रत्ययः । ततः " स्वज्ञाऽजभस्त्राऽधातुत्ययकात् " ॥ २ । ४ । १०७ ॥ इत्यापः स्थाने वा इकारादेशः । कप्रत्ययात्पर आप् परतः स्त्रियामाप् ततः सिद्धं ज्ञिकेति । परिज्ञानवत्याम्, " खीरमिव जहा हंसा जे घुट्टंति इह गुरुगुणसमिद्धा दोसे य विवज्जंती तं जाणसु जाणियं परिसं" इत्युक्ते परिषद्भेदे च । नं० ।

ज्ञात्वा-अव्य० । विज्ञायेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

जाणु-जानु-न० । जन-ञुण् । ऊरुजङ्घयोर्मध्यभागे, स्वार्थे कन् अत्रैवार्थे, वाच० । प्रज्ञा० । उत्त० । " समुग्गनिमग्गगूढजाणू " तं० । " जाणुस्सेहपमाणमित्ते " स० ३४ सम० ।

जाणुकोप्परमाया-जानुकूर्परमात्रा (ता)-स्त्री० । जानुकूर्पराण्येव माता जननी जानुकूर्परमाता एतान्येव शरीरांशभूतानि तस्यास्तनौ स्पृशन्ति नापत्यम् । अथवा-जानुकूर्पराण्येव मात्रा परिमाणादेः साहाय्यसमर्थः उत्संगनिवेशनीयो वा परिकरो यस्याः,न पुत्रलक्षणः सा जानुकूर्परमात्रा । अपत्यरहितायाम्, " जाणुकोप्परमाया वि होत्था " नि० ३ वर्ग । ज्ञा० ।

जाणुय-ज्ञापक-त्रि० । वेदिनि, " जाणुयाय जाणुयपुत्ताय " ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । विपा० ।

जाणु-ज्ञा-स्त्री० । व्यापृत्तिभेदे, वधस्य हिंसादेर्हेतुस्वरूपफलविदुषो ज्ञानपूर्विका व्यापृतिः सा तद्भेदात् " जाणुत्ति भणिता " स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

जाण्हवई-जान्हवी-स्त्री० । गङ्गायाम्, " जाण्हवीइ मुहे " जाह्नव्या गङ्गाया मुखे, स्था० ६ ठा० । विशे० ।

जावग-यापक-पुं० । यापयतीति यापकः । जी० ३ प्रति० । उपदेशदानादिना भव्यसत्त्वै रागादियापके जिने,कल्प० २ क्षण । " जिणाणं जावयाणं " रा० । रागादीनेव सदुपदेशादिना यापयन्तीति यापकाः । ध० २ अधि० । ल० ।

जावगहेउ-यापकहेतु-पुं० । यापयतीति यापकः । यापकश्चासौ हेतुश्च यापकहेतुः । हेतुभेदे, (दश०)

"जावग" (८६ निर्यु०) भेदव्याचिख्यासयाह-

उब्भामिगा य महिला, जावगहेउम्मि उट्टलिंडाई ॥

गाथादलम् । अस्य व्याख्या-(उब्भामिग त्ति) असती महिला । किं यापयतीति यापकः । यापकश्चासौ हेतुश्च यापकहेतुः तस्मिन् उदाहरणमिति शेषः । उष्ट्रलिण्डानीति कथानकसंसूचकमेतत् इत्यक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः तच्चेदं कथानकम्-एगो वाणिअओ भज्जं गिण्हेऊण पच्चंतं गओ । पावेण खीणदव्वो धणियपरद्धो कयावराहो य पच्चंतं संवत्तो पुरिसो दुरहीयविज्जो य सा य महिला उब्भामिया एगम्मि पुरिसे लग्गा तं वाणिययं मारावियंति चिंतिऊण भणति-वच्च वाणिज्जेण । तेण भणिया किं घेत्तूण वच्चामि । सा भणइ-उट्टलिंडियाओ घेत्तूण वच्च उज्जेणिं । सगडं भरेत्ता उज्जेणिं गओ । ताए भणिओ य जहा एक्केक्कयं दीणारेण दिज्जइत्ति । सा चिंतेति । वरं खु चिरं खिप्पं तो अत्थउ । तेण ताओ वीहीए उड्डियाओ को वि ण पुच्छइ । मूलदेवेण दिट्ठा पुच्छिओ य । सिट्ठेतेण मूलदेवेण चिंतियं । जहा एस वराओ महिलया उब्भामिओ । ताहे मूलदेवेण भणति अहमेया उ तव विक्किणामि जति मम वि मुल्लस्स अद्धं देहि । तेण भणियं देमि त्ति । अब्भुवगमे पच्छा मूलदेवेणं सो हंसो जाएऊण आगासे उप्पइओ णगरस्स मज्झे ठाऊण भणति-जस्स गलए चउरूवस्स उट्टलिंडिया ण बद्धा तं मारेमि । अहं देवो पच्छा सव्वेण लोएण भीएण दीणारिक्काओ उट्टलिंडिआओ गाहियाओ । विक्किआओ य । ताहे तेण मूलदेवस्स अद्धं दिण्णं । मूलदेवेण य सो भण्णति-मंदभग्ग ! तव महिलाधुत्ते लग्गा । ताहे तव एयं कयं ण पत्तियंति । मूलदेवेण भण्णति-एहि वच्चामो जा ते दरिसेमि । जदि ण पत्तियासि ताहे गया अण्णाए लेसाए वियाले तत्थ सो मग्गिओ । ताहे दिण्णो तत्थ एगम्मि एगसे ठिया । सो धुत्तो आगतो इयरी वि धुत्तेण सह पिवेऊमाढत्ता इमं च गायइ-
" इरि मंदिर पत्तहारओ, मउकं तु गतो वणिजारओ ।
वरिसाण सयं च जीवउ, मा जीवंतु घरं कयाइ मउ ॥१॥ "
मूलदेवो भणति-कयलीवणपत्तवढिया, एइ भणामि । देव जं मइलयणं गज्जती मुणउ तं मुहुत्तमेव पच्छा । मूलदेवेण भण्णति । किं धुत्ते ततो पभाए निग्गंतूणं पुणरवि आगतो तीए पुरतो ठिओ सा सहसा संजाता अब्भुट्ठिया । तओ आणाविओ वट्टेन तेण वाणियएणं सव्वं तीए वीयपउज्जतयं संभारियं । एसो तावइओ हेतू । लोउत्तर वि चरणकरणाणुयोगे एवं सी-

ओ वि केइ पयत्थे असदहंतो कालेण थिज्जाईहिं देवलं जावं परत्ता सद्दहावेयव्वो । जहा दव्वाणुओगे वि परिवाति जाकण तहा विसंसणबहुलो हेउ कायव्वो जहा कालजावणा हवइ तओ सो जावगहेऊ एगयं कुंचियावण चवरी वा कज्जइ जहा सिरिगुत्तेण छलुए कया । उक्तो यापकहेतुः । दश०१ अ०।

जावण-यापन-न० । या-णिच्-ल्युट् । कालादेः क्षेपणे,निरसने च । वाच० । वर्तने, " मज्झेण मुणि जावए " । यापयेदात्मानं वर्तयेत् । सूत्र०१श्रु०१अ०३उ० । अट्ठमासे अजावए " । अजापयन्नतिवान् । आचा०१श्रु०६अ०४उ० । देहप्रतिपालने च । "अह आवइ त्थ लूहेणं" धर्माधारं देहं यापयतिस्म । आचा०१ श्रु०६अ०४उ० । कथं युक्त यापना तत्रैवार्थे यापना द्विविधा-द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्यत औषधादिना कायस्य । भावतस्तु इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमेन शरीरस्य क्षामणा । आव० ३ अ० ।

जावणिज्ज-यापनीय-त्रि० । यापयतीति यापनीयः ' या ' प्रापणे । अस्य एयन्तस्य कर्तर्यनीयः । आव०३ अ० । शक्तिसमन्विते, " जावणिज्जाए णिसीहियाए " अत्र नैषेधिक्येति विशेष्यम्, यापनीयेति विशेषणम् । ' या ' प्रापणे । अस्य णिजन्तस्य पुगागमे यापयतीति यापनीया प्रवचनीयादित्वात् कर्तर्यनीयः तया शक्तिसमन्वितयेत्यर्थः। ध०२अधि०। आ०चू०।

जावणिज्जतंत-यापनीयतन्त्र-न० । ग्रन्थभेदे, ध०२ अधि० ।

जावय-यापक-पुं० । ' जावग ' शब्दार्थे, औ०३ प्रति० ।

जावयहेउ-यापकहेतु-पुं० । ' जावगहेउ ' शब्दार्थे, दश०१अ०।

जावलिपुर-जावलिपुर-न० । पुरभेदे, तथा च हारिभद्राष्टकवृत्तौ,"श्रीजावलिपुरे रम्ये, वृत्तिरेषा समापिता" हा०३२ अष्ट०।

जावि(जंपि)य-यापित-त्रि० । कालान्तरं प्राप्ते, " जंपिय तिलकीडगाय त्ति" यापिताः कालान्तरं प्राप्ताः । आ०१ श्रु०१७ अ० ।

जाम-याम-पुं० । यम-घञ् । समये, प्रहरे च । " यामो आतस्तथापि नायातः " वाच०। ध० । स च रात्रेर्दिनस्य च चतुर्थभागः । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

तओ जामा पन्नत्ता । तं जहा-पढमे जामे मज्झिमे जामे पच्छिमे जामे । तिहिं जामेहिं आया केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज, सवणयाए तं जहा-पढमे जामे मज्झिमे जामे पच्छिमे जामे एवं० जाव केवलनाणं उप्पाडेज्जा पढमे जामे मज्झिमे जामे पच्छिमे जामे ।

"तओ जामा" इत्यादि । स्पष्टम् । केवलं यामो रात्रेर्दिनस्य च चतुर्थभागो यद्यपि प्रसिद्धस्तथापीह त्रिभाग एव विवक्षितः पूर्वरात्रमध्यरात्रापररात्रलक्षणो यमाश्रित्य रात्रिः त्रियामा इत्युच्यते । एवं दिनस्यापि । अथवा-चतुर्भाग एव सः । किन्त्विह चतुर्थो न विवक्षितः त्रिस्थानकानुरोधादित्येवमपि त्रयो यामा इत्यभिहितमेव । " जाव त्ति " करणादिदं दृश्यम्-" केवलं बोहिं बुज्झेज्जा मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा केवलं बंभचेरवासमावसेज्जा । एवं संजमेणं संजमेज्जा संवरेणं संवरिज्जा आभिणिबोहियणाणं उप्पाडेज्जा " इत्यादि । स्था० ३ ठा० २ उ० । प्राणातिपाताविरमणादिके व्रतविशेषे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

"आगमिस्साए उस्सप्पिणीए चाउज्जामं धम्मं पन्नवित्ता" यामा महाव्रतानीति । स्था० ६ ठा० । वयोविशेषे, ज्ञानदर्शनचारित्रेषु च । "माहणेणं मइमया जामा तिन्नि उदाहिया" "जामा" इत्यादि । यामा व्रतविशेषाः त्रयः उदाहृताः । तद्यथा-प्राणातिपातो, मृषावादः, परिग्रहश्च इति । अदत्तादानमैथुनयोः परिग्रह एवान्तर्भावात्त्रयग्रहणम् । यदि वा-यामा वयोविशेषाः। तद्यथा-अष्टवर्षाद् द्वात्रिंशतः प्रथमः, तत ऊर्ध्वमाषष्टेर्द्वितीयः, तत ऊर्ध्वं तृतीय इति । अतिबालवृद्धयोर्व्युदासः । यदि वा-यस्य ते उपरम्यते संसारभ्रमणादेभिरिति यामा ज्ञानदर्शनचारित्राणीति ते उदाहृता व्याख्याताः । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

जामइल्ल-यामवत्-त्रि० । "आल्विल्लोल्लालवंतमंतेत्तेरमणामतोः' ॥८।२।१५९॥ इति प्राकृतसूत्रेण मतोः स्थाने 'इल्ल' आदेशः। प्रा० २ पाद । विद्यमानयामके, वाच० ।

जामदग्ग-जामदग्न्य-पुं० । जमदग्नेरपत्यं यञ् । यमदग्निपुत्रे पर्शुरामे, वाच० । विशे० ।

जामद्ध-यामार्द्ध-न० । यामं प्रहरं तस्यार्द्धम् यामार्द्धम् । चतुर्घटिके समयविशेषे, ग० १ अधि० ।

जामहिं-यावत्-त्रि० । "यावत्तावतोर्वाऽऽदेर्म-उं-महिं" ॥ ८ । ४ । ४०६ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण वकारादेर्महिं इत्यादेशो वा । प्रा० ४ पाद । यत्परिमाणमस्य मतुप् । यत्परिमाणे, साकल्ये, अवधौ व्याप्तौ, माने, अवधारणे च । अव्य० । वाच० । " जाम न निवडइ कुंभयडि, सीहचवेडचडक्क । ताम समत्तहं मयगलहं, पयपइ वज्जइ ढक्क । " प्रा० ४ पाद ।

जामाउ-जामातृ-पुं०। "उदृत्वादौ"॥ ८। १ । १३१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण ऋकारस्योकारः । प्रा० १ पाद । जायां माति मिनोति मिमीते वा । तृच् । दुहितृपतौ, वत्सजे स्वामिनि च । वाच०।

जामाउय-जा(या)मातृक-पुं० । दुहितृभर्तरि, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

जामि-जा (या) मि-स्त्री० । जन-मिण्--वृद्धिः । अथवा-यम-इन् । भगिन्याम्, दुहितरि,स्नुषायाम्, कुलस्त्रियाम्, सन्निहितस्त्रियाम्, " यामयो यानि गेहानि " । वाच० । तौ० "जामी एगे " गत्वेत्यर्थे, स्था० १ ठा० ।

जामिणी-यामिनी-स्त्री० । यामास्त्रिसंख्याताः सन्त्यस्य बाहुल्यं इति । रात्रौ, हरिद्रायां च " निसा जामिणी राई " को० ।

जामिय-यामिज-पुं० । भगिनीपुत्रे," भद्राङ्कजो द्विजो दत्तः, कालिकाचार्यजामिजः " । आ० क० ।

जामुणकुसुम-जपाकुसुम-न० । रक्तपुष्पस्य वृक्षभेदस्य पुष्पे, " जामुणकुसुमेइ वा " रा०।

जामेय-जामेय-पुं० । भगिनीपुत्रे, " राज्ये निवेश्य जामेयं, प्रव्रज्यां स्वयमग्रहीत " आ० क० ।

जाय-जात-न०। जन-क्त । समूहे, व्यक्ते, जन्मनि । वाच० । जातौ, प्रकारे च । स्था०१० ठा०। जातमुत्पत्तिधर्मकम् । तच्च व्यक्तिवस्तु । अतो भाषायाः जातानि व्यक्तिवस्तूनि भेदाः प्रकाराः । (स्था०) जातं प्रकारः । स्था० ४ ठा० १ उ० । " अट्ठजाए वि बहुत्वं" जातशब्दो भेदवाचकः । नि० चू०१उ०।

'आय' सद्दो प्रकारवाची। नि० चू० १६ उ०। आ० म०। वृ०। उत्पन्ने, त्रि०। स्था० ६ ठा०। सूत्र०। उत्त०। वृ०। 'कालजाए" जाते समुत्पन्ने, दश० ४ तत्र। "एत्थ पाणा अणुप्पसूया एत्थ पाणा जाया" नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमेकार्थिकान्येवैतानि। आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ०। प्रवृत्ते, रा०। औ०। भ्रियमाणे च। विशे०। पुत्रे, पुं०। "सरपायं च जायाए" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। "जाए फले समुप्पन्ने" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। "धन्नोसि णं तुमं जाया" (जायत्ति) हे पुत्र !। भ० ६ श० ३३ उ०। वृ०।

आतस्य निक्षेपः षड्विधः तथा चाचाराङ्गनिर्युक्तौ-

......................., जाए छक्कं च होई णायव्वं।

जातशब्दस्य तु षड्विधनिक्षेपोऽयं ज्ञातव्यो नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपः तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यजातं तु नो आगमतो व्यतिरिक्तम्। निर्युक्तिगाथाकारो गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति-

उप्पत्तीए तह पज्ज-वंतरे जायं गहणे वि ॥१॥

तच्चतुर्विधम्-उत्पत्तिजातम्, पर्यवजातम्, अन्तरजातम्, ग्रहणजातम्। तत्रोत्पत्तिजातं नाम-यानि द्रव्याणि भाषावर्गणान्तःपातीनि काययोगगृहीतानि वाग्योगेन निसृष्टानि भाषात्वेनोत्पद्यन्ते तदुत्पत्तिजातम्; यद् द्रव्यं भाषात्वेनोत्पन्नमित्यर्थः। पर्यवजातं तैरेव वाग्निसृष्टभाषाद्रव्यैः यानि विश्रेणिस्थानि भाषावर्गणान्तर्गतानि निसृष्टद्रव्यपराघातेन भाषापर्यायत्वेनोत्पद्यन्ते तानि द्रव्याणि पर्यवजातमित्युच्यते। यानि त्वन्तराले समश्रेण्यामेव निसृष्टद्रव्यमिश्रितानि भाषापरिणामं भजन्ते तान्यन्तरजातमित्युच्यते। यानि पुनर्द्रव्याणि समश्रेणिविश्रेणिस्थानि भाषात्वेन परिणतानि कर्णशष्कुलीविवरप्रविष्टानि गृह्यन्ते तानि चानन्तप्रदेशिकानि द्रव्यतः। क्षेत्रतोऽसंख्येयप्रदेशावगाढानि कालत एकसमयादि यावदसंख्येयसमयस्थितिकानि भावतो वर्णगन्धरसस्पर्शवन्ति तानि चैवंभूतानि ग्रहणजातमित्युच्यते। उक्तं द्रव्यजातम्। क्षेत्रादिजातं तु स्पष्टत्वान्निर्युक्तिकारेण नोक्तम्। तच्चैवंभूतं यस्मिन् क्षेत्रे भाषाजातं व्यावर्ण्यते यावन्मात्रं वा क्षेत्रं स्पृशति तत् क्षेत्रजातम्। एवं कालजातमपि। भावजातं तु तान्येवोत्पत्तिपर्यवान्तरग्रहणद्रव्याणि श्रोतरि यदा शब्दोऽयमिति बुद्धिमुत्पादयन्तीति। आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ०। गमनक्रियायाम्, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०। गते, त्रि०। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। प्राप्ते च। "असुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा" सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

जायंत-याचमान-त्रि०। याचनं कुर्वति, "जायंता पाणियं" याचमानाः पानीयम्। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

जायअंधारूवग-जातान्धरूपक-पुं०। जातमुत्पन्नमन्धकनयनयोराद्दित एवानिष्पत्तेः कुत्सितमङ्करूपं यस्यासौ। जातान्धरूपके, विपा० १ श्रु० १ अ०।

जायकप्प-जातकल्प-पुं०। कल्पभेदे, जाता निष्पन्नाः श्रुतसंपत्तयुपेततया लब्धात्मलाभाः साधवस्तदव्यतिरेकात्कल्पोऽपि जात उच्यते। ध० ३ अधि०। पञ्चा०।

जायकम्म-जातकर्मन्-न०। जातस्य कर्म। मन्त्रवत्सर्पिःप्राशनादि। संस्कारभेदे, वाच०। नालच्छेदादिके प्रसवकर्मणि च। "पढमे दिवसे जायकम्मं करेंति" जातकर्म प्रसवकर्म नालच्छेदननिखननादिकम्। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। "निव्वत्ते असुइं जायकम्मकरणे" जातकर्मणां प्रसवव्यापाराणां करणं विधानम्। तस्मिन्, स्था० ६ ठा०। औ०।

जायकोऊहल्ल-जातकुतूहल-त्रि०। जातं कुतूहलं यस्य स जातकुतूहलः। जातौत्सुक्ये, रा०। सू० प्र०।

जायग-जातक-न०। जातस्य हितम्-कन्। जातस्य शुभाशुभनिर्णायके बृहज्जातकादौ ग्रन्थे, जातकर्मरूपे संस्कारभेदे च। वाच०।

जायक-न०। अयति गन्धान्तरं अि-ण्वुल्। पीतवर्णे सुगन्धिकाष्ठे, वाच०।

याचक-त्रि०। याच-ण्वुल्। याच्ञाकारके, वाच०। देवैर्भगवत्सकथादौ (सकथा-जानुः) गृहीते सति श्रावका देवानतिशयभक्त्या याचितवन्तः देवा अपि तेषां प्रचुरत्वान्महता यत्नेन याचमानाभिहता आहुः-"अहो याचकाः" इति। तत एव याचका रूढाः। आ० म० प्र०। "ते य सढा अग्गिसकहाईणि जायंति ताहे देवेहिं भणियं-इमे केरिसगा, "जायगा" ततो जायगसद्दो जातो। ताहे अग्गिं घेत्तुं ते सएसु सएसु गेहेसु ठवेंति"। आ० चू० १ अ०।

याजक-पुं०। याजयति-यज्-णिच्-ण्वुल्। धनादिलाभाय परार्थे यज्ञकर्तरि, ऋत्विगादौ, वाच०। "सो तत्थ एव पडिसिद्धो, जायगेण महामुणी" याजकेन यज्ञकारकेण। उत्त० २५ अ०।

जायण-याचन-न०। याच्-ल्युट्। याच्ञायाम्, वाच०। पञ्चा०। प्रार्थने, प्रव० ८६ द्वार। मार्गणे च। आव० ४ अ०।

यातन-न०। कदर्थने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

जायणजीवण-याचनजीवन-त्रि०। याचनेन जीवनं प्राणधारणमस्येति याचनजीविनः। आर्षत्वादिकारः। उत्त० १२ अ०।

याचनजीविन्-त्रि०। याचनेन जीवनशीले च। "जाणाहि मे जायणजीविणोत्ति" उत्त० १२ अ०।

जायणा-याच्ञा-स्त्री०। याच्-नङ्। प्रार्थनायाम्, वाच०। ज्ञा०। उत्त०। मार्गणे च। आव० ४ अ०।

यातना-स्त्री०। चुरा० यत्-युच्। तीव्रवेदनायाम्, वाच०। कदर्थनायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। दण्डो निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः। आव० ६ अ०। "जायणा करणसयाणि" कदर्थनहेतुशतानि। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

जायणापरीसह-याच्ञापरीषह-पुं०। याचनं याच्ञा प्रार्थनेत्यर्थः। सैव परीषहो याच्ञापरीषहः। प्रव० ६ द्वार। उत्त०। परीषहभेदे, (आव०) भिक्षोर्हि वस्त्रपात्रान्नपानप्रतिश्रयादिपरतो लब्धव्यं सर्वमेव शालीनतया च न याच्ञा प्रत्याद्रियते। साधुना तु प्रागल्भ्यभाजा सा जाते कार्ये स्वधर्मकाय परिपालनाय याचनमवश्यं कार्यमित्येवमनुतिष्ठता याच्ञापरीषहविजयः कृतो भवति। आव० ४ अ०। प्रव०। पं० सं०। आ० चू०।

याच्ञापरीषहमाह-

दुक्करं खलु भो निच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वं से जाइयं होइ, णत्थि किंचि अजाइयं ॥ २८ ॥
गोयरग्गपविट्ठस्स, पाणी णो सुप्पसारए।
सेओ आगारवासो त्ति, इइ भिक्खू न चिंतए ॥२९॥

दुष्करसूत्रम्-दुःखेन क्रियते इति दुष्करम् दुरनुष्ठानं-साधुविशेषणे। निरुपकारिण इति विशेषं द्योतयति । भो इत्यामन्त्रणे। नित्यं सर्वकालं यावज्जीवमित्यर्थः। अनगारस्य भिक्षोरिति। चः प्राग्वत्। किं तत् दुष्करमित्याह-यत्सर्वमाहारोपकरणादि (से) तस्य याचितं भवति। नास्ति किञ्चिद् दन्तशोधनाद्ययाचितं ततः सर्वस्यापि वस्तुनो याचनमिति गम्यमानेन विशेषेण दुष्करमित्यस्य सम्बन्ध इति सूत्रार्थः ॥२८॥ ततश्च गोचरसूत्रम्-गोरिव चरणं गोचरो, यथाऽसौ परिचितापरिचितविशेषमपहायैव प्रवर्तते। तथा साधुरपि भिक्षार्थं तस्याग्रं प्रधानं यतोऽसौ एषणायुक्तो गृह्णाति। न पुनर्गौरिव। यथाकथंचित्तस्मिन् प्रविष्टो गोचराग्रप्रविष्टः तस्य पाणिर्हस्तो (नो) नैव सुखेन प्रसार्यते पिण्डादिग्रहणार्थं प्रवर्तते इति सुप्रसारः स एव सुप्रसारकः कथं हि निरुपकारिणा परः प्रतिदिनं प्रणयितुं शक्य उत्तरत्र,इतिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वादित्यस्माद्धेतोः श्रेयानतिशयप्रशस्योऽगारवासं गार्हस्थ्यं तत्र हि न कश्चिद् याच्यते, स्वभुजार्जितं च दीनादिभ्यः संविभज्य भुज्यते इत्येतद्भिक्षुर्न चिन्तयेत्। यतो गृहवासो बहुसावद्यो निरवद्यवृत्त्यर्थं च तत्परित्यागस्ततः स्वयं पचनादिप्रवृत्तेभ्यो गृहिभ्यः पिण्डादिग्रहणं न्याय्यमिति भावः। इतिसूत्रार्थः ॥ २९ ॥

सांप्रतं प्रागुक्तं तत्र "दुक्करं खलु भो निच्चं" इत्यादि। सूत्रम्। अर्थतः स्पृशन्नुदाहरणमाह-जायणा गाहद्धं-

जायणपरीसहम्मि य बलदेवो इत्थ आहरणम् ॥

याच्ञापरीषहे बलदेवोऽत्र भवति (आहरणम्) उदाहरणम्। अत्र संप्रदायः-"जया सो वासुदेवो सव्वं वहंतो सिद्धत्थेणं पडिबोहिओ कण्हस्स सरीरं सक्कारेउं कयसामाइओ लिंगपडिवज्जिओ तु गोसिहरे तवं तप्पमाणो, ण कहं भिक्खाए भिक्खउं अलोइस्सं तणकट्ठाहाराई ण भिक्खं गेण्हति। न गामं न नगरं अहिसयंति। तेण सो णाभियासिओ आयणपरीसहो एवं न कायव्वं। अण्णे भणंति-बलदेवस्स भिक्खं भमंतस्स बहुओ जणो तस्स रूवेण खित्तो ण किंचि अण्णं जाणति तब्भित्तो चेव चेट्ठति तेण न सो हिंडति गामनगरादि जहा परियाहिंतो चेव भिक्खं आयइ त्ति। एस आयणापरीसहो पसत्थो" एवं शेषसाधुभिरपि याच्ञापरीषहः सोढव्य इति। उत्त० २ अ०।

"परदत्तोपजीवित्वात्, यतीनां नास्ति जीवितम्। यतोऽतो याचना दुःखं, क्लाव्ये नच्छेदगारिताम् ॥१॥" आ० म० द्वि०। योगशास्त्रवृत्तौ-याचितं यतीनां यत्, परदत्तोपजीविनाम्। याच्ञादुःखं प्रतीच्छेत्त-नेच्छेत्पुनरगारिताम् ॥१४॥ ध०३ अधि०।

सांप्रतं याच्ञापरीषहमभिकृत्याह—

सदा दत्तेसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोल्लिया (६)

यतीनां सदा सर्वदा दन्तशोधनाद्यपि परेण दत्तमेषणीयमुत्पादनैषणादोषरहितमुपभोक्तव्यमित्यतः क्षुधादिवेदनार्त्तानां यावज्जीवं परदत्तैषणादुःखं भवति। अपि चायं याच्ञापरीषहोऽल्पसत्त्वैर्दुःखेन प्रणोद्यते त्यज्यते। तथा चोक्तम्-

"खिज्जइ मुहलावण्णं, वाया घोलेइ कंठमज्झम्मि।
कह कह कहेइ हिययं, देहि त्ति परं भणंतस्स ॥१॥
गति भ्रंशो मुखे दैन्यं, गात्रस्वेदो विवर्णता।
मरणे यानि चिह्नानि, तानि चिह्नानि याचके ॥ २ ॥"

इत्यादि। एवं दुस्त्यजं याच्ञापरीषहं परित्यज्य गताऽभि-

माना महासत्त्वा ज्ञानाद्यभिवृद्धये महापुरुषसेवितं पन्थानमनुव्रजन्तीति। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

जायणी-याचनी-स्त्री०। याच्यतेऽनयेति याचनी। भाषाभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ०। याचनी कस्यापि वस्तुविशेषस्य देहीति मार्गणरूपे भाषाभेदे, प्रज्ञा० ११ पद। भ०। दश०। संथा०।

जायतेय-जाततेजस्-पुं०। अग्नौ,"जायतेयं न इच्छंति" दश० ६ अ०। "जायतेयं समारब्भ, बहुओ रुंभिया जणा। अंतो धूमेण मारेइ, महामोहं पकुव्वइ" स० ३० सम०।

जायथाम-जातस्थामन्-त्रि०। उत्पन्नबले, "वसभो इव जायथामे" गौरिवोत्पन्नबलः। स्था० ६ ठा०।

जायपक्ख-जातपक्ष-पुं०। जाततनूरुहे, "जायपक्खा जहा हंसा" उत्त० २३ अ०।

जायपुंखाइ-जातपुंख्याति-पुं०। उत्पन्नगुणपुरुषविवेकप्रख्यातौ, तत्परं जातपुंख्याते, द्वा० ११ द्वा०।

जायफल-जातफल-न०। पुत्ररूपे फले, "जायफले समुप्पन्ने" जातः पुत्रः स एव फलं गृहस्थानां तथाहि पुरुषाणां कामभोगः फलम् तेषामपि प्रधानकार्यं पुत्रजन्मेति। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

जायमजायकप्प-जाताऽजातकल्प-पुं०। कल्पभेदे, (पं० भा०)

जातमजातो अहुणा, दोण्ह वि एते समं तु वच्चंति।
जातं णिप्फण्णंति य, एगट्ठं होति णायव्वं।
जातमजातं करणं, जातं करणे गती तिट्ठा भिण्णा।
अजाए करणम्मि तु अ-ण्णतरिं तं गती जाइ।
जातं खलु णिप्फण्णं, सुत्तेण ऽत्थेण तदुभयेएणं च।
चरणेण य संजुत्तं, वतिरित्तं होति य अजातं।
जातकरणेण भिण्णा, नरगातिरिक्खा गती उ दोण्णि जवे।
अहवा वि तिहा भिण्णा, नरगातिरिक्खा मणुस्सगती।
दो वेसु वि तिविहा गती, भिण्णा वेमाणिएसु उववत्ती।
चउसु वि गतीसु गच्छति, अण्णतरिं अजातकरणेणं।
एसो जातमजाते, कप्पो अभिहितो इयाणिं तु। पं० भा०।

इयाणिं जायमजायकप्पं समं च वयंति। जातो निष्पन्न इत्यर्थः। अहवा-जायकप्पो संविभागीयत्थाणं, इयरेसिं संविग्गासंविग्गाणं, अगीयत्थाणं अजायकप्पो। अइ जायकरणं जायकप्पो असद्भूतमजातमित्यनर्थान्तरम् अजातकरणमजातकल्पः जायकरणे वि दो नरगतिरिक्खजोणी य गईओ छिण्णाओ, अजायकरणे चउसु वि गईसु अन्नयरिं गइं गच्छइ। जायमजायकरणा। पं० चू०।

जायमजायपारिट्ठावणिया-जाताजातपारिष्ठापनिका-स्त्री०। द्वि० व०। जाताजातपारिष्ठापनिकयोः, (ग०)

जाताजातस्वरूपं यथा-

"आहारम्मि उ जाया, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए।
जाया चेव सुविहिया, नायव्वा तह अजाया य ॥ १ ॥
आहाकम्मे य तहा, लोभविसआभिओगिए गहिए।......

एएण होइ जायं, वोच्छं से विही इ वोसिरणं ॥ २ ॥ "

आधाकर्मणि च तथा लोभाद् गृहीते, विषकृते गृहीते, माक्षिकादिविपस्या जाते, आभियोगिके वशीकरणादिमन्त्राऽभिसंस्कृते, ततोऽन्यथात्वादाशङ्कितो ज्ञाते सति एतेनाधाकर्मादिदोषेण जाता स्यात् । (से) तस्य विधिना व्युत्सर्जनं वक्ष्ये ॥ २ ॥

" एगंतमणावाए, अचित्ते थंडिले गुरुवइट्ठे ।
वारेण अक्कमित्ता, तिठाणं सावणं कुज्जा ॥ ३ ॥ "

त्रीन् वारान् श्रावणं कुर्यात्, अमुकदोषादिदं त्यज्यते इति त्रिरुच्चरेत् ॥ ३ ॥

" आयरिए य गिलाणे, पाहुणए दुल्लभे सहस लाभे ।
एसा उ खलु अजाया, वोच्छामि विहीइ वोसिरणं ॥ ४ ॥ "

आचार्यार्थे तथा दुर्लभे विशिष्टे द्रव्ये सति सहसा च तल्लाभे जाते सति इत्यादि । हेतोरधिकग्रहणं स्यात् । एषा अजातपारिष्ठापनिका ॥ ३ ॥

" एगंतमणावाए, अचित्ते थंडिले गुरुवइट्ठे ।
आलोए तिण्णि पुंजा, तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥ ५ ॥ "

आलोके प्रकाशे शुद्धाहारस्य त्रीन् पुञ्जान् कुर्यात्, आधाकर्मादिमूलगुणदुष्टे एकः। उत्तरगुणदुष्टे तु द्वौ, इति विशेषः। पूर्ववत् त्रिःश्रावणं च कुर्यात्, एवमुपकरणविषयेऽपि जाताजाते पारिष्ठापनिके ज्ञेये इति । ग० २ अधि० ।

जायमजायाहार–जाताऽजाताधार–पुं०। आवश्यकपारिष्ठापनिकानिर्युक्त्युक्तजाताख्यपारिष्ठापनिकाविधिज्ञ, (ग०) " जायमजायाहारे " (जायमजायाहार त्ति) मकारस्यालाक्षणिकत्वात् जाताधारः । आवश्यकपारिष्ठापनिकानिर्युक्त्युक्तजाताख्यपारिष्ठापनिकाविधिज्ञ इत्यर्थः । ग० २ अधि० ।

जाताजाताहार–पुं० "कृताकृताहारे,(ग०) "जायमजायाहार" (जायमजायाहारे त्ति) मकारस्यालाक्षणिकत्वात् । जातः संपन्नोऽजातश्चासंपन्न आहारो यस्यासौ जाताहारः । कदाचित् कृताहारः कदाचिदकृताहार इत्यर्थः । तत्र शुद्धे लब्धे जाताहारः। अलब्धे, अशुद्धे वा लब्धे, अजाताहारः। उक्तं च-"अलब्धे तपसो वृद्धि-र्लब्धे देहस्य धारणेति " ग २ अधि० ।

यात्रामात्राहार–पुं० । यात्रायै मात्रयाऽऽहारो यस्यासौ यात्राहारः । संयमस्वाध्यायादिनिर्वाहाय मात्रयाऽऽहारं कुर्वन्ति, " जायमजायाहारे " अथवा-यात्रायै मात्रयाऽऽहारो यस्यासौ यात्राहारः । आर्षत्वात् चेत्थं सिद्धिः । तत्र यात्रा संयमस्वाध्यायरूपा, मात्रा तु तदर्थमेव पुरुषस्त्रीपण्डानां क्रमेण द्वात्रिंशदष्टाविंशतिचतुर्विंशतिकवलप्रमाणाहारमध्यादेकद्व्यादिकवलेनाहारग्रहणमिति । ग० २ अधि० ।

जायमूक–जातमूक–पुं० । जन्मतो मूके, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

जायरूव–जातरूप–न० । जातं रूपमस्य प्रशस्तवर्णे, वाच० । सुवर्णे, रा०। प्रश्न०। ज्ञा०। स्था०। जातं लब्धं रूपं स्वरूपं रागादिकुद्रव्यविरहाद् येन स तथा । स्था० ६ ठा० । सुवर्णविशेषे, रा०। जं० । "जायरूवमईओ ओहाडणीओ" जातरूपं सुवर्णविशेषः । जी० ३ प्रति० । " अहवा-जायरूवे जं च प्रवालगवत् जातं जायरूवं भण्णति " नि० चू० १ उ० । रूप्ये च, " हिरण्णं जायरूवं च, मणसा वि ण चिंतए " जातरूपं रूप्यम् । दश० ३५ अ० ।

जायरूवकंड–जातरूपकाण्ड–न० । रत्नप्रभायाः पृथिव्याः षोडशसु काण्डेषु त्रयोदशे काण्डे, स्था० १० ठा० ।

जायव–यादव–पुं० । यदोरपत्यम् । यदु-अण् । यदुवंशजे, "पज्जुण्णपईवसंबअणिरुद्धणिसढउसुयसारणगयसुमुहदुम्मुहाईणं जायवाणं " । प्रद्युम्नप्रदीपशाम्बानिरुद्धनिषधोल्मुकसारणगजसुमुखदुर्मुखादीनां यदोरपत्यानाम् । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

जायवेय–जातवेदस्–पुं० । जातान् प्राणिनः विन्दते जठरानलत्वेन । 'विद' लाभे । असुन् । वह्नौ, " जायवेयं पायहिं हणाइ जे भिक्खुं अवमन्नइ " जातवेदसमग्निम् । उत्त० १२ अ० । चित्रकवृक्षे च । वाच० ।

जायसंसय–जातसंशय–त्रि० । जातः संशयो यस्य स जातसंशयः । उत्पन्नसंशये, सू० प्र०१पाहु० । औ० । ज्ञा० । चं०प्र०। जं० । रा० ।

जायसड्ढ–जातश्राद्ध–त्रि० । जाता प्रवृत्ता श्रद्धा इच्छाविशेषो यस्यासौ जातश्राद्धः । प्रवृत्तेच्छाविशेष, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । चं० प्र० । सू० प्र० । रा० । जं० । नि० । औ० ।

जाया–यात्रा–स्त्री० । या-ष्ट्रन् । जिगीषया राज्ञां गमने, गमनमात्रे, देवोद्देशेनोत्सवभेदे, रथयात्रादौ च । वाच० । निर्वाहे च । "जाए सत्ता जाना मुणि भुंजएज्जा" । यात्रार्थं पञ्चमहाव्रतभारनिर्वाहणार्थम् । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । भ० ।

जाया–स्त्री० । जन-यक् । भार्यायाम्,(भ०) । स्त्रीत्वेन जायास्त्वयोः । कान्ताजनन्योः, प्रति० । भ० ।

समणोवासगस्स णं भंते ! सामाइयकडस्स समणोवासए अच्छमाणस्स केइ जायं चरेज्जा। से णं भंते ! किं जायं चरइ, अजायं चरइ ?। गोयमा! जायं चरइ, नो अजायं चरइ । तस्स णं भंते! तेहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं सा जाया अजाया भवइ ?। हंता भवइ । से केणं खाइयं अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जायं चरइ, नो अजायं चरइ ?। गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ-नो मे माया, णो मे पिया, नो मे जाया, णो मे भइणी, नो मे भज्जा, नो मे पुत्ता, नो मे धूया, नो मे सुण्हा, पेज्जबंधणे पुण से अव्वोच्छिण्णे भवइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव नो अजायं चरइ ।

(केइ जायं चरे त्ति) कश्चिदुपपतिरित्यर्थः । जायां भार्यां चरेत सेवेत (सुण्हा त्ति) स्नुषा पुत्रभार्या (पेज्जबंधणे त्ति) प्रेमैव प्रीतिरेव बन्धनं तत्पुनः 'से' तस्य श्राद्धस्य अव्यवच्छिन्नं भवति । अनुमतेरप्रत्याख्यातत्वात् । प्रेमानुबन्धस्य चानुमतिरूपत्वादिति । भ० ७ श० ५ उ० । चमरस्यासुरेन्द्रस्य स्वनामख्यातायां बाह्यायां पर्षदि, स्था० ३ ठा० २ उ० । " बाहिं जाया " जी० ३ प्रति० ।

जाता–स्त्री० । प्रकृतिमहत्त्ववर्जितत्वेनास्थानकोपादीनां जातत्वाज्जाता । चमरादिदेवेन्द्राणां बाह्यपर्षदि, भ० १ श० १ उ० ।

जायाइ [न्]–यायाजिन्–पुं०। यायजतीत्येवंशीलो यायाजी। यजनशीले, "जायाई जम जयम्मि" यमयज्ञ यायाजी । उत्त० २५ अ० ।

जायामाया–जात्रामात्रा–स्त्री० । यात्रा संयमयात्रा तस्यां मात्रा यात्रामात्रा " आयागुत्ते जयाधीरे जायामायाए" । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । संयमार्थे परिमिताहारग्रहणे, नं० ।

जायामायावित्ति–यात्रामात्रावृत्ति–स्त्री० । संयमयात्राप्रमाणायां जीविकायाम, " जायामायावित्ती होत्था " संयमयात्राप्रमाणा जीविकाऽभवत् । सूत्र० २ श्रु० २ अ० " जायामायावित्तीओ "। यात्रा संयमयात्रा मात्रा तदर्थमेव परिमिताहारग्रहणम् , वृत्तिर्विविधैरभिग्रहविशेषैर्वर्तनम् । भ० २५ श० ३ उ० । नं० ।

जार–जार–पुं०। जीर्यतेऽनेन ' जॄ ' करणे घञ् । उपपतौ, वाच०। मणिलक्षणविशेषे च । जारमारेति लक्षणविशेषौ सत्यगमणिलक्षणवेदिनौ लोकादवगन्तव्यौ।जी०३ प्रति०। रा०। जं०। आ०म०।

जारिस–यादृश–त्रि० । यस्येव दर्शनमस्य । यद्–दृश् टः। 'दृशः क्विप् टक्सकः" ॥ ८ । १ । १४२ ॥ एतदन्तस्य दृशेर्ऋतो रिः । प्रा० १ पाद । यत्सदृशे, यथाविधे, स्त्रियां ङीप्। वाच० । आ० म० प्र० ।"जारिसओ जं नामा, जह य कओ जारिसं फलं देंति" यादृशको यत्स्वरूपकः यादृशो यद्रूपम । प्रश्न० १ आश्र० द्वार। "जं जारिसं पुव्वमकारि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए"। यत्कर्म यादृशं यदनुभावं यादृक्स्थितिकं वा । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

जारुकण्ह–जारुकृष्ण–पुं० । वशिष्ठगोत्रान्तर्गते गोत्रभेदे, स्था० ७ ठा० ।

जाल–जाल–पुं० । चुरा० 'जल ' संवरणे । घञ् । घाते, ' जल धान्ये णिच्—अच् । कदम्बवृक्षे , गवाक्षे , वाच० रा० । जं० । सच्छिद्रे , गवाक्षविशेषे च । जालं सच्छिद्रो गवाक्षविशेषः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जालकं छिद्रान्वितो गृहावयवविशेषः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । औ० । " जालानि जालका भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि । रा० । जी०। सू० प्र० । चं० प्र० । स० । जी० । " जालंतरत्थदीवप्पहोवमो कलुणावहो होइ " अपवरकजालकान्तरस्थप्रदीपप्रभोपमः । विशे० । गवाक्षच्छिद्रे, " गवाक्षजालैरभिनिष्पतन्त्यः " इतिमाघः । मत्स्यधारणार्थे शणसूत्रनिर्मिते स्वनामख्याते आनाये, वाच० । " जालुच्छिक्खप्पवाणि " । जालेन वाऽऽनायेनोत्क्षेपणानि । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । मत्स्यबन्धनविशेषे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । विपा० । " तहेव कोंचा समइक्कमंता, तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा "। जालानि बन्धनविशेषरूपाणि उत्त० १४ अ० " विद्दसएहिं जालेहिं " उत्त० १ अ० । " छिंदित्तु जालं अबलंव रोहिया " उत्त० १४ अ० । अस्फुटकलिकायाम, कुरूफले, मृगपक्ष्यादिधारणार्थे पाशे, गवाक्षे, दम्भे, समूहे च, वाच० । जं० । आ० म० । दृष्या० । सन्ताने, आव० ४ अ० । इन्द्रजाले, वाच० । चरणाभरणविशेषे च । भ० । औ० ।

जालंतररयण–जालान्तररत्न–त्रि० । जालान्तरेषु जालकमध्यभागेषु रत्नानि यस्य । तस्मिन्, जालकानि च भवनभित्तिषु लोके प्रतीतान्येव तदन्तरेषु च शोभार्थं रत्नानि संभवन्त्येव । स० । रा० । चं० प्र० । जी० । सू० प्र० ।

जालंधर–जालन्धर–पुं० । त्रिगर्ताख्ये देशे, तद्देशस्थे जने च । ब० ब० । स्वनामख्याते योगिराजे, वाच० । गोत्रभेदे च । " देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए " । कल्प० १ क्षण । आ० चू० ।

जालंधरायण–जालन्धरायण–पुं० । गोत्रभेदे, " देवाणंदाए माहणीए जालंधरायणसगुत्ताए " । आचा० २ चू० ।

जालकडग–जालकटक–पुं० । जालानि जालकानि भवनभित्तिषु लोकेऽपि प्रसिद्धानि तेषां कटकः समूहो जालकटकः । जी० ३ प्रति० । जालकटकाकीर्णे रम्यसंस्थाने प्रदेशविशेषे, जी० ३ प्रति० । " विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहओ णिसिहियाए दो दो जालकडगा पण्णत्ता "। जालकटकौ जालकटकाकीर्णौ प्रदेशविशेषौ । जं० १ वक्ष० । " सा णं जगतीए एगेणं जालकडएणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता " जी० ३ प्रति० । जालकटकाकीर्णा रम्यसंस्थानप्रदेशविशेषपङ्क्तिरिति भावः । जी० ३ प्रति० ।

जालग–जालक–पुं० । स्वार्थे-कन् । गवाक्षच्छिद्रे, पुं० । मोचकफले, नवमल्लिकासमूहे, क्षारके च । न० । वाच० । छिद्रान्विते गृहावयवविशेषे. प्रश्न० १ आश्र० द्वार । जालकं विच्छित्तिच्छिद्रवत् गृहावयवविशेषः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जालकानि भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि । रा० । जी० । स० । सू० प्र० । चं० प्र० । जी० । चरणाभरणविशेषे च । औ० । " सखिंखिणीजालपरिक्खित्ताणं " सह किङ्किणिकाभिः क्षुद्रघण्टिकाभिः यज्जालं जालकं तदाभरणविशेषस्तेन परिक्षिप्ताः परिकरिताः ये ते तथा तेषाम् । औ० ।

जालगंठिया–जालग्रन्थिका–स्त्री० । जालं मत्स्यबन्धनं, तस्येव ग्रन्थयो यस्यां सा जालग्रन्थिका । जालवद् ग्रन्थियुतायाम,

किं स्वरूपा सा ? इत्याह–

जालगंठियाइ वा, आणुपुव्विगंठिया वा अणंतरगंठिया परंपरगंठिया अण्णमण्णगंठिया अण्णमण्णगुरुयत्ताए अण्णमण्णभारियत्ताए अण्णमण्णगुरुयसंभारियत्ताए अण्णमण्णघडत्ताए चिट्ठंति ।

(जालगंठिय त्ति) जालं मत्स्यबन्धनं तस्येव ग्रन्थयो यस्यां सा जालग्रन्थिका । किंस्वरूपा सा ? इत्याह–(आणुपुव्विगंठिय त्ति) आनुपूर्व्या परिपाट्या ग्रथिता गुम्फिता आद्युचितग्रन्थीनामादौ विधानादन्तोचितानां च क्रमेणान्त एव करणात, एतदेव प्रपञ्चयन्नाह–(अणंतरगंठिय त्ति) प्रथमग्रन्थीनामनन्तरव्यवस्थापितैर्ग्रन्थिभिः सह ग्रथिता अनन्तरग्रथिता एवं परम्परैर्व्यवहितैः सह ग्रथिता परम्परग्रथिता किमुक्तं भवति–(अण्णमण्णगंठिय त्ति) अन्योऽन्यं परस्परेण एकेन ग्रन्थिना सहान्यो ग्रन्थिरन्येन सहान्य इत्येवं ग्रथिता अन्योऽन्यं ग्रथिता एवं च–(अण्णमण्णगुरुयत्ताए त्ति) अन्योन्येन ग्रन्थनात् गुरुकता विस्तीर्णता अन्योऽन्यगुरुकता तया (अण्णमण्णभारियत्ताए त्ति) अन्योऽन्यस्य यो भारः स विद्यते यत्र तदन्योऽन्यभारिकं तद्भावस्तत्ता तया एतस्यैव प्रत्यकी-

कार्यरूपस्य संयोजनेन तयोरेव प्रकर्षमाभिधातुमाह-(अन्न-मन्नगुरुयसंभारियत्ताए त्ति) अन्योऽन्येन गुरुकं यत्संभारिकं च तत्तथा तद्भावस्तत्ता तया-(अन्नमन्नघडत्ताए त्ति) अ-न्योऽन्यं घटा समुदायरचना यत्र तदन्योऽन्यघटं तद्भावस्त-त्ता तया-(चिट्ठइ त्ति) आस्ते, इति । भ० ५ श० ३ उ० ।

जालघरग–जालगृहक–न० । जालकान्विते गृहे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । जालगृहकाणि गवाक्षयुतानि गृहकाणि । रा० । जी० । दार्वादिमयजालकप्रायकुड्यं यत्र मध्यव्यवस्थितं वस्तु बहिः-स्थितैर्न दृश्यते । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । औ० ।

जालपंजर–जालपञ्जर–न० । गवाक्षे, जालपञ्जराणि गवाक्षाप-रपर्यायाणि । जी० ३ प्रति० । रा० । जं० ।

जालपगड–जालप्रकट–पुं० । ज्वालासमूहे, कल्प० ३ क्षण ।

जालविंद–जालवृन्द–न० । गवाक्षसमूहे, जी० ३ प्रति० ।

जाला–ज्वाला–स्त्री० । बादरतेजस्कायभेदे, प्रज्ञा० १ पद । " जालाए त्ति वा " ज्वाला अनलसंबद्धेति । जी० ३ प्रति० । " जाला तु इंधणछिन्ना " । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । ज्वाला अन-लसंबद्धा दीपशिखेत्यन्ये । जी० १ प्रति० । ज्वालानाम् अनल-संबद्धस्वरूपाणाम् । भ० १४ श० ७ उ० । ज्वालाऽग्निशिखा छि-न्नमूला । स्था० ५ ठा० ३ उ० । ज्वालाछिन्नमूलाऽङ्गारप्रतिबद्धेति । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । ज्वाला छिन्नमूला ज्वलनशिखेव । उत्त० ३६ अ० । हस्तिनापुरवास्तव्यस्य पद्मोत्तरनृपतेर्भार्यायाम्, " हत्थिणाउरे तत्थ य पउमुत्तरो राया जाला तस्स देवी " ती० २१ कल्प । महापद्मचक्रवर्तिनो मातरि, स० । आव० । चन्द्रप्रभजिनस्य शासनदेवतायाम्, " अच्चुयसंता जा-ला" (३३७) तस्याः वर्णको यथा-श्रीचन्द्रप्रभस्य ज्वाला । मतान्तरेण भृकुटिर्देवी पीतवर्णा वराहका-ख्यजातिविशेषवाहना चतुर्भुजा खड्गमुद्गरभूषितदक्षिणकरद्वया फलकपरशुयुतवामपाणिद्वया च । प्रव० २७ द्वार ।

जालाउ–जालायुष्–पुं० । द्वीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

जालाउय–जालायुष्क–पुं० । 'जालाउ' शब्दार्थे, प्रज्ञा० १ पद ।

जालामालिणी–ज्वालामालिनी–स्त्री० । प्रभासस्थायां देव-तायाम्, ती० ४५ कल्प ।

जालावंत–ज्वालयत्–त्रि० । दीपयति, महा० ७ अ० ।

जालि–जालि–पुं० । अनुत्तरोपपातिकदशाप्रथमवर्गाद्याध्ययन-प्रतिबद्धवक्तव्यताकेऽनगारे, (अनु०)

तद्वक्तव्यता-

पढमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स अणुत्तरोववाइयस्स समणेणं ० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? । एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे रिद्धत्थि-मियसमिद्धिगुणसीले चेइए सेणिए राया धारिणी देवी सीहो सुमिणो 'जालिकुमारे' जहा मेहो अट्ठट्ठ तु दातो० जाव उप्पिं पासाए फुट्टंति० जाव विहरति । सामी समोसढे सेणिओ णिग्गओ जालि जहा मेहे तहा जालिविणिग्गओ तहेव निक्खंतो जहा मेहो एक्कारस अंगाइं अहिज्जति अहिज्जतित्ता गुणरयणतवोकम्मं जहा खंदयस्स एवं० जाव खंदयस्स वत्तव्वया सो चेव वायणा आपुच्छति थेरेहिं सद्धिं विपुले तहेव दुरूहति, नवरं सोलस वासाइं सामण्ण-परियागं पाउणित्ता काले मासे कालं किच्चा उड्ढं चं-दिमसोहम्मीसाण० जाव आरणअच्चुए कप्पे नवयगेवि-ज्जुयविमाणे पत्थडे उड्ढं दूरं वीति वइत्ता विजए विमाणे देवत्ताए उववण्णे तेणं थेरे भगवओ जालि अणगारे का-लगयं जाणित्ता परिनिव्वाणवत्तियं काउस्सग्गं करेंति करेंतित्ता पत्तचीवराइं गिण्हंति । तहेव उत्तरंति० जाव इमी-से आयारे भंडए भंते ! भगवं गोयमे ! जाव एवं खलु देवाणु-प्पियाणं अंतेवासी जालिनामं अणगारे पगतिभद्दए सेणीआ जालिअणगारे कालगए कहिं उववण्णे एवं खलु गोयमा ! मम अंतेवासी तहेव० जाव खंदयस्स कालगए उड्ढं चंदिम० जाव विजयविमाणे देवत्ताए उववण्णे जालिसमणे भंते ! देवस्स केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ? । गोयमा ! बत्तीसं सागरोवमा य ठिती पण्णत्ता । से णं भंते ! ततो देवलोगातो आउक्खएणं कहिं गच्छिहिति गच्छिहित्ता ? । गोयमा ! महा-विदेहे वासे सिज्झिहिति त्ति । एवं खलु जंबू ! समणेणं० जाव संपत्तेणं अणुत्तरोववाइयदसाणं पढमस्स वग्गस्स पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते । अणु० १ वर्ग ।

अन्तकृद्दशाप्रथमवर्गाद्याध्ययनप्रतिबद्धवक्तव्यताकेऽनगारे च ।

तद्वक्तव्यता-

पढमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं बारवती नयरी तीसे जहा पढमे० जाव कण्हे वासुदेवे आहेवच्चं० जाव विहरति । तत्थ णं बारवतीए णयरीए वासुदेवो राया, धारणी देवी, वण्णओ जहा गोयमो णवरं जालिकुमारे पण्णासतो दातो बारसंगी सोलसवासपरियाओ सेसं जहा गोयमस० जाव सेत्तुंजे सिद्धो । अन्त० ४ वर्ग ।

जालिय–ज्वालित–त्रि० । दीपिते, भा० म० द्वि० । जी० ।

जालिया–जालिका–स्त्री० । वृन्ते, एकार्थिकानधिकृत्य (अन्त० ४ वर्ग०) जालकं, जालिका, वृन्तम्, इति । विशे० । लोहकञ्चुके च । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

जालुज्जल–ज्वालोज्ज्वल–त्रि० । प्रभोज्ज्वले, औ० ।

जालुज्जलपहसियाभिराम–ज्वालोज्ज्वलप्रहसिताभिराम–त्रि० ज्वाला एव यत् उज्ज्वलं प्रहसितमिव प्रहसितं तेनाऽभि-रामो ज्वालोज्ज्वलप्रहसितेनाऽभिरामः । ज्वालात्मकोज्ज्वल-प्रहसितेनाऽभिरमणीय, जी० ३ प्रति० ।

जाव–यावत्–त्रि० । यत्परिमाणस्य मतुप् । "अन्त्यव्यञ्जनस्य" ।८।१।११। इति प्राकृतसूत्रेण तल्लोपः । प्रा० १ पाद । यत्परिमाणे-

साकल्ये, व्याप्तौ, वाच० । परिमाणे, मर्यादायाम, अवधारणे च । अव्य० । आ० चू० । दश० । (अत्र विशेषो 'जावजीवा' शब्दे द्रष्टव्यः)

जावइय-यावत्क-त्रि० । यत्परिमाणे, षो० ७ विव० । "अहवा जो जस्स जावइओ" । (जावइओ त्ति) यत्परिमाणो यावान् स एव यावत्को मुहूर्तादिपरिमाणः स तस्य तावत्कः पूजाकालो भवति । षो० ४ विव० ।

जावई-यावती-स्त्री० । गुल्मात्मके वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जावं च णं-यावच्च णम्-अव्य० । यावति काले, "जावं च णं ति" यावन्तं कालमित्यर्थः । भ० १ श० ८ उ० ।

जावंत-यावत्-पुं० । भगवत्याः प्रथमशतकस्य षष्ठे उद्देशे, "जावंते त्ति" यावच्छब्दोपलक्षितः षष्ठः, यावतो भदन्तावकाशान्तरात्सूर्य इत्यादिसूत्रश्चासौ । भ० १ श० १ उ० ।

जावग-यापक-पुं० । हेतुभेदे, (स्था०) यापयति वादिनः कालयापनां करोति । यथा काचिदसती एकैकरूपकेणैकैकमुष्टिमेरुं दातव्यमिति दत्ताशिक्षस्य पत्युस्तद्विक्रयार्थमुज्जयिनीप्रेषणोपायेन विटसेवायां कालयापनां कृतवतीति यापकः । उक्तं च-" उब्भामिया य महिला जावगहेउम्मि उट्टलिंडाइं " ति । इह वृद्धव्याख्यानम्-प्रतिवादिनं ज्ञात्वा तथा विशेषणबहुलो हेतुः कर्त्तव्यो यथा कालयापना भवति । ततोऽसौ यापकहेतुरिति प्रकृतमिति स चैवम् संभाव्यते, सचेतना वायवोऽपरप्रेरणे सति तिर्यगनियतत्वाभ्यां गतिमत्त्वात् गोशरीरवदिति । अयं हि हेतुर्विशेषणबहुलतया परस्य दुरधिगमत्वात् वादिनः कालयापनां करोति । स्वरूपमस्यानवबुध्यमानो हि परो न झटित्येवानैकान्तिकत्वादिदूषणोद्भावनाय प्रवर्त्तितुं शक्नोत्यतो भवत्यस्माद्वादिनः कालयापनेति । अथ वा-योऽप्रतीतिव्याप्तिकतया व्याप्तिसाधकप्रमाणान्तरसव्यपेक्षत्वान्न झटित्येव साध्यं प्रतीतिं करोति, अपि तु कालक्षेपेणेत्यसौ साध्यप्रतीतिं प्रति कालयापनाकारित्वात् यापकः, यथा क्षणिकं वस्त्विति पक्षे बौद्धस्य सत्त्वादिति हेतुर्न हि सत्त्वश्रवणादेव क्षणिकत्वं प्रत्येति परः, इत्यतो बौद्धाः सत्त्वं क्षणिकत्वेन व्याप्तमिति प्रसाधयितुमुपक्रमन्ते । तथाहि-सत्त्वं नाम अर्थक्रियाकारित्वमेव, अन्यथा-वन्ध्यासुतस्यापि सत्त्वप्रसङ्गः, अर्थक्रिया तु नित्यस्यैकरूपत्वात्, न क्रमेण नापि यौगपद्येन क्षणान्तरे अकर्तृत्वप्रसङ्गात् । इत्यतोऽर्थक्रियालक्षणं सत्त्वमक्षणिकान्निवर्त्तमानं क्षणिक एवावतिष्ठत इत्येवं क्षेपेण साध्यसाधने कालयापनाकारित्वात् यापकः सत्त्वलक्षणो हेतुरिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जावंताव-यावत्तावत्-अव्य० । यावच्च तावच्च, द्वं० । बीजगणितप्रसिद्धे अव्यक्तमानानयनाय कल्प्ये प्रथमे राशौ, वाच० । स्था० । "जावंताव त्ति वा गुणकारो त्ति वा एगट्ठं" इति वचनात् । गुणकारस्तेन यत्संख्यानं तत्तथैवोच्यते-तच्च प्रत्युत्पन्नमिति लोकरूढम् । अथवा-यावतः कुतोऽपि तावत एव गुणकारात्पारम्भिकादित्यर्थः । यत्र विवक्षितं संकलनादिकमानीयते तत् यावत्तावत्संख्यानमिति । संख्यानभेदे, स्था० १० ठा० । गणितभेदे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

तत्रोदाहरणम्—

" गच्छो वाञ्छाभ्यस्तो, वाञ्छायुतो गच्छसंगुणः कार्यः ।
द्विगुणीकृतवाञ्छाहृते, वदन्ति संकलितमाचार्याः ॥ १ ॥"

अत्र किल गच्छो दश १० ते च वाञ्छया यादृच्छिकगुणकारेणाष्टकेनाभ्यस्ता जाताऽशीतिः ८० ततो वाञ्छायुताऽसौ अष्टाशीतिः ८८ पुनर्गच्छेन दशभिः संगुणिता अष्टौ शतान्यशीत्यधिकानि जातानि, ८८० ततो द्विगुणीकृतेन यादृच्छिकगुणकारेण षोडशभिर्भागे हृते यल्लभ्यते तद्दशानां संकलितमिति ५५ । इदं च पाटीगणितं श्रूयते । स्था० १० ठा० ।

जावजीव-यावज्जीव-अव्य० । यावदिति अयं शब्दोऽवधारणे वर्त्तते । (आ० म०) जीवनं जीवः, इति क्रियाशब्दः । आ० म० द्वि० । यावज्जीवो जीवनं प्राणधारणं यावज्जीवम् । "यावदवधारणे" ॥२।१।८॥ इति(पाणि०)अव्ययीभावसमासः । आ० म० द्वि० । पा० । यावत् प्राणधारणमित्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ० । दर्श० । पं० सू० । "जावजीवं परिसहा उवसग्गा य संखया" । "यावज्जीवं" यावत्प्राणधारणम् । आचा० १ श्रु० ७ अ० ८ उ० । आजन्मेत्यर्थे च । "जावजीवदुत्तराइं" । आजन्माप्यनुत्तरणीयानि । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । "जावजीवं पि इमं, वज्जइ एयम्मि लोयम्मि (२२)" यावज्जीवम् आजन्म । पञ्चा० १० विव० । " जावजीवं बंधणाय करिंति "। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

जावजीवा-स्त्री० यावज्जीव-अव्य० । (जावजीवाए त्ति) प्राकृतत्वात् । जीवनं जीवः प्राणधारणं यावज्जीवो यावज्जीवनं यावदित्यनेनाऽव्ययीभावसमासः । ततश्च यावज्जीवम् प्राणधारणं यावत् इत्यर्थे, पा० । "जावजीवाए अणिस्सिओ" यावज्जीवं प्राणधारणं यावत् । पा० । आ० म० । " करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावजीवाए " यावच्छब्दः परिमाणमर्यादावधारणवचनः । तत्र परिमाणे-यावन्मम जीवनपरिमाणं तावत्प्रत्याख्यामीति । मर्यादायाम्-यावज्जीवनमिति प्राणधारणं मर्यादीकृत्य, अवधारणे-यावज्जीवनमेव प्रत्याख्यामि; न तस्मात् परत इत्यर्थः । जीवनं जीवस्यथं क्रियाशब्दः परिगृह्यते तथा । अथवा-प्रत्याख्यानक्रिया परिगृह्यते यावज्जीवो यस्यां सा यावज्जीवा । आ० म० द्वि० ।

यावच्छब्दार्थमाह-

जावइयं परिमाणे, मज्जायाए ऽवधारणे चेइ ।
तावज्जीवं जीवण-परिमाणं जत्तियम्मि त्ति ॥३५१६॥
जावज्जीवमिहाऽऽरेणं, मरणमज्जायओ न तं कालं ।
अवधारणे वि जाव-ज्जीवणमेवेह न उ परओ ॥३५१७॥

इह 'यावत्' अयं शब्दस्त्रिष्वर्थेषु वर्त्तते, तद्यथा-परिमाणे, मर्यादायाम्, अवधारणे च इति । तत्र परिमाणार्थं तावदाह-(जावज्जीवमिति) किमुक्तं भवति ?-यावन्मे जीवनपरिमाणमिह भवायुष्कस्य परिमाणं तावन्तं कालं प्रत्याचक्षे इति । मर्यादार्थमाह-"जावज्जीवं" इत्यादि । अत्र यावज्जीवमिति । किमुक्तं भवति ?-आरेण मरणमर्यादायाः अर्वाक् प्रत्याचक्षे, न पुनस्तत्कालं प्रत्याख्यानग्रहणकाल एव. किं तु मरणसीमा यावत्प्रत्याख्यामीति । अवधारणेऽपि-यावद् इहभवे जीवनं तावदेव प्रत्याचक्षे, न तु परतो, देवाद्यवस्थायामविरतत्वे प्रत्याख्यानभङ्गप्रसङ्गात् । परतो मुत्कलमिति । विधिरपि न कर्त्तव्यो, भंगाशंसादोषानुषङ्गादिति स्वयमेव द्रष्टव्यमिति । ३५१६ । ३५१७ ।

अत्राक्षेपपरिहारावाह-

जावज्जीवं पत्ते, जावज्जीवाए लिंगवच्चासो ।
भावपच्चयओ वा, जा जावज्जीवया ताए ॥३५१८॥

ननु उक्तन्यायेन यावज्जीवमिति निर्देशे प्राप्ते यावज्जीवया इति निर्देशः किमर्थं भगवता सूत्रकृता विहित ?, इति शेषः। अत्र परिहारमाह-(लिंगवचालो त्ति) लिङ्गव्यत्ययोऽत्र भगवतोऽभिमतः, तेनेत्थं निर्देशः कृत इत्यर्थः। अथवा-यावज्जीवशब्दात् भावप्रत्ययः उत्पाद्यते, तत्र्चेत्थं भावप्रत्यये उत्पादिते या यावज्जीवता इति निष्पद्यते, तया यावज्जीवतया प्रत्याख्यामीति संबध्यत इति ॥३५१८॥

नन्वित्थमपि "यावज्जीवतया" इति प्राप्ते यावज्जीवया इति कथं भवतीत्याह—

जावज्जीवतया इति, जावज्जीवाए वण्णलोवाओ।
जावज्जीवो जीसे, जावज्जीवाहवा सा उ ॥३५१९॥

यावज्जीवतयेति निर्देशे प्राप्ते यत् यावज्जीवया इत्युक्तं तत् तकारलक्षणवर्णलोपादिति द्रष्टव्यम्। तृतीयं परिहारमाह-अथवा-जीवनं जीवो यावज्जीवो यस्यां सा यावज्जीवा इति बहुव्रीहितया 'यावज्जीवया' इत्येवं द्रष्टव्यमिति ॥ ३५१९ ॥

अत्र विनेयपृच्छाम् उत्तरं चाह-

का पुण सा संवज्झइ, पच्चक्खाणकिरिया तया सव्वं।
जावज्जीवाए ऽहं, पच्चक्खामीति सावज्जं ॥३५२०॥

का पुनः पूर्वोक्तबहुव्रीहावन्यपदार्थे संबध्यत ? इत्याह-प्रत्याख्यानक्रियात, तया यावज्जीवया प्रत्याख्यानक्रियया सर्वं सावद्ययोगमहं 'प्रत्याख्यामि' इति संबन्ध इति ॥३५२०॥

परिहारान्तरमाह-

जीवणमहवा जीवा, जावज्जीवा पुरा व सा नेया।
तीए पाययवयणं, जावज्जीवाइ तइयं ॥३५२१॥

अथवा-जीवनं जीवा इति स्त्रीलिङ्गाऽभिधायक एवायं शब्दः साध्यते, न तु जीव इति पुंल्लिङ्गाऽभिधायकः। ततश्चात्र-यथा पुरा पूर्वं तथा अत्राप्यर्थत्रयवृत्तिना यावच्छब्देन सह समासे सा यावज्जीवा ज्ञेया; तद्यथा-यावत्परिमाणा जीवा यावज्जीवा एवं मर्यादावधारणयोरपि समासः कार्यः; तया यावज्जीवया प्रत्याख्यामि; प्राकृतवचने च पर्यन्ते एकारनिर्देशेन तृतीयसमवसेयेति ॥ ३५२१ ॥ विशे०।

यावज्जीवता-स्त्री०। यावज्जीवं जीवनं प्राणधारणं यावज्जीवम् "यावदवधारणे" ॥२।१।८॥ इत्यव्ययीभावसमासः। यावज्जीवं भावो यावज्जीवता प्राकृतेऽन्त्यतकारस्यालाक्षणिको लोप इति " जावजीवाए " इति सिद्धम्। आ० म० द्वि०। अलाक्षणिकवर्णलोपात्। यावज्जीवं भावो यावज्जीवता। आप्राणोपरमादित्यर्थे, पा०।

यावज्जीवा-स्त्री०। यावज्जीवो यस्यां सा यावज्जीवा, जीवितपरिमाणवत्यां प्रत्याख्यानादिक्रियायाम्, (आ० म०)

अधुना यावज्जीवयेति व्याख्यायते तत्रादौ भावार्थमभिधित्सुराह-

जावदवधारणम्मी, जीवणमवि पाणधारणे भणियं।
आपाणधारणातो, पावनिवित्ती इहं अत्थे ॥

यावदित्ययं शब्दोऽवधारणे वर्तते। जीवनमपि प्राणधारणं भणितम्। 'जीव' प्राणधारणे इति वचनात्। ततो यावज्जीवया प्रत्याख्यामीति कोऽर्थः आप्राणधारणं यावत् पापनिवृत्तिरिति, परं तत्तु न विधिर्नापि प्रतिषेधः। विधावाशंसादोषप्रसङ्गात्। प्रतिषेधे तु सुरादिषूत्पन्नस्य भङ्गप्रसङ्गात्। इह जीवनं जीव इति क्रियाशब्दो न जीवतीति जीव आत्मपदार्थः। जीवनं च प्राणधारणम्। आ०म०प्र०। "जावजीवाए जाव से अट्ठी"। यावज्जीवया यावज्जीवतया वा, आजन्मेत्यर्थः। प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार। जीवनं जीवा यावत्परिमाणा जीवा जावज्जीवा। परिमाणवति मर्यादावति अवधारणवति च जीविते, विशे०।

जावज्जीवा-यावज्जीवा-स्त्री०। 'आवजीवा' शब्दार्थे, विशे०।

जावडि-जावडि-पुं०। मधुमतीनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, (ती०)

" मधुमत्यां पुरि श्रेष्ठी, वास्तव्यो जावडिः पुरा।
अष्टाग्रे वर्षशते-ऽतीते श्रीविक्रमादिह ॥१॥
बहुद्रव्यव्ययाद्बिम्बं, जावडिः स न्यवीविशत्। ती० १ कल्प।
(तत्कथा 'सत्तुंजय' शब्दे)

जावसिय-आवसिक-पुं०। यवसं मुद्गमाषादिद्रव्यं, तेन चरन्तीति जावसिकाः। बृ० १ उ०। यासवाहके, ओघ०।

जाम-जाप-पुं०। पिशाचभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

यास-पुं०। यस-कर्तरि संज्ञायां घञ्। दुरालभायाम्, प्रयासे, वाच०।

जासुमण-जपासुमनस्-पुं०। न०। जपा वनस्पतिविशेषः। तस्याः सुमनसः पुष्पाणि। जपापुष्पे, अन्त० ४ वर्ग। "जासुमणकुसुमेइ वा" प्रज्ञा० १७ पद। (जासुमणकुसुमरासि त्ति) जपाकुसुमपुष्पस्य जा इति लोकप्रसिद्धस्य यो राशिः। कल्प० ३ क्षण। वृक्षविशेषे च। जपासुमनसश्च वृक्षविशेषः। आ० १ श्रु० १ अ०।

जाहग-जाहक-पुं०। सेहुके, आ० म० प्र०। तिर्यग्विशेषे, आ० म० प्र०। नं०। " स्तोकं स्तोकं पयः पीत्वा, जाहको लेढि पार्श्वतः "। आ० क०।

जाहत्थ-याथार्थ्य-न०। यथार्थस्य भावः। सत्यत्वे, वास्तविकत्वे, वाच०। आ० म०।

जाहे-यदा-अव्य०। यद्-दाच्। यस्मिन्काले इत्यर्थे, "जाहे णं सक्के देविंदे देवे राया" (जाहेणं ति) यदा। ज०१ श०९ उ०।

जि-एव-अव्य०। " पश्चादेवमेवैवेदानीं प्रत्युतेतसः पच्छइ एम्वइ जि एम्वहिं पच्चलिउ एत्तहे"॥८।४।४२०॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे एवस्य जिः। प्रा० ४ पाद। इण्-वन्। सादृश्ये, अभियोगे, अवधारणे, चारनियोगे, विनिग्रहे, परिभवे, ईषदर्थे च। विशेष्यसंगतः अन्ययोगव्यवच्छेदे, विशेषणसंगतः अयोगव्यवच्छेदे, वाच०।

जि-धा०। अभिभवे, भ्वादि-अनिट्। जयति। अजैषित्। वाच०।

जिइंदिय-जितेन्द्रिय-पुं०। इन्द्रियविकाराभावात्। भ० ३ श० १ उ०। जितानि स्वविषयप्रवृत्तिनिषेधेन इन्द्रियाणि येन स जितेन्द्रियः। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। जितानि वशीकृतानि इन्द्रियाणि स्पर्शनादीन्यनेनेति जितेन्द्रियः। उत्त० १२ अ०। जिताः स्वरूपोपयोगीकृताः पौद्गलिकवर्णादिष्वागमनात् इन्द्रिया येन स जितेन्द्रियः। अष्ट० ३० अष्ट०। वश्येन्द्रिये, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। " जिइंदिओ वज्जू " आ० म० प्र०। बृ०।

कृतस्पशनादीन्द्रियकषायः । दश० २ चू० । विषयेषु रागादिनिरोद्धा । ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । "आयगुत्ता जिइंदिया" जितानि वशीकृतानि इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि यैस्ते तथा । एवंभूताः पापकर्म नाऽनुजानन्ति इति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । "जिइंदिया" । जितानि वशीकृतानि स्वविषयरागद्वेषविजयेनेन्द्रियाणि यैस्ते जितेन्द्रियाः । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । जितेन्द्रियाः शब्दादिषु रागद्वेषरहिताः । दश० ३ अ० । औ० ।

जिइंदियकसाय–जितेन्द्रियकषाय–त्रि० । न्यक्कृतकरणकोपादिभावे, "पियदढधम्मा जिइंदियकसाया" पञ्चा० १४ विव० ।

जिग्घ (जिंघ)–जिघ्र–धा० । घ्रा–गन्धग्रहणे, भ्वा० पर० अक० । ग्रहणमात्रे, सक० अनिट् । जिघ्रति । अघ्रात् । अघ्रासीत् । वाच० । "जिग्घइ" नि० चू० १ उ० ।

घ्राण–न० । घ्रायतेऽनेनेति । घ्रा–ल्युट् । नासिकायाम, गन्धग्रहणे, वाच० । नि० चू० । ('गंध' शब्देऽत्रैव भागे ७९५ पृष्ठे विशेषः)

जिणहगेंडिआइरमण–जिनगृहगेण्डिकादिरमण–न० । कन्दुकगेण्डिकादिभिः क्रीडने, प्रव० ३८ द्वार । "जिणहगेंडिआइरमणं" जिनभवनस्य चतुरशीत्याशातनासु त्रिषष्टितमं आशातनाभेदे, ध० २ अधि० ।

जिगीसु–जिगीषु–पुं० । जि–सन् । जयेच्छावति, रत्ना० ८ परि० ।

जिट्ठ–ज्येष्ठ–त्रि० । वृद्ध–इष्ठन्–ज्यादेशः । अतिवृद्धे, श्रेष्ठे च । अग्रजे, पुं० । (ध०)

"उचिअं एअं पि सहो–अरम्मि जं निअइ अप्पसममेअं ।
जिट्ठं व कणिट्ठं पि हु, बहु मन्नइ सव्वकज्जेसु ॥ ८ ॥"

(निअइ त्ति) पश्यति (जिट्ठं व त्ति) ज्येष्ठो भ्राता पितृतुल्यस्तमिव तथा । ध० २ अधि० ।

जत्थ य जिट्ठकणिट्ठो, जाणिज्जइ जिट्ठवयणबहुमाणो ।
दिवसेण वि जो जिट्ठो, न य हीलिज्जइ स गोयमा! गच्छो ॥६०॥

यत्र च गणे ज्येष्ठः, कनिष्ठश्च ज्ञायते । तत्र ज्येष्ठः पर्यायेण वृद्धः, कनिष्ठः पर्यायेण लघुः, तथा–यत्र ज्येष्ठस्य वचनमादेशाज्ज्येष्ठवचनं तस्य बहुमानः सन्मानः ज्ञायते । "जिट्ठविणयबहुमाणे त्ति" पाठे तु ज्येष्ठस्य विनयबहुमानौ ज्ञायेते । तथा–यत्र च दिवसेनापि यो ज्येष्ठः स न हील्यते चकारात् यत्र पर्यायेण लघुरपि गुणवृद्धो न हील्यते सिंहगिरिशिष्यैर्वज्रस्वामिवत् । हे गौतम ! स गच्छो ज्ञेय इति । गीतिछन्दः ।६०। ग० २ अधि० ।

जेट्ठ–पुं० । ज्येष्ठानक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी ज्येष्ठी साऽस्मिन् मासे अण् । स्वनामख्याते चान्द्रे मासे, वाच० ।

जिट्ठकप्प–ज्येष्ठकल्प–पुं० । ज्येष्ठो रत्नाधिकः स एव कल्पो वृद्धव्यवहारे । ज्येष्ठकल्पः । कल्पभेदे, (कल्प०) तत्र आद्यान्तिमजिनयतीनामुपस्थापनातः प्रारभ्य दीक्षापर्यायगणना, मध्यमजिनयतीनां च निरतिचारचारित्रत्वात् दीक्षादिनात् एव, अथ पितापुत्रमातादुहितृराजामात्यश्रेष्ठिवणिक्पुत्रादीनां सार्द्धं गृहीतदीक्षाणामुपस्थापने को विधिः? । उच्यते–यदि पित्रादयः पुत्रादयश्च समकमेव षड्जीवनिकाध्ययनयोगोद्वहनादिभिर्योग्यतां प्राप्तास्तदा अनुक्रमेणैवोपस्थापना, अथ स्तोकमन्तरं तदा कियद्विलम्बेनापि पित्रादीनामेव प्रथममुपस्थापना, अन्यथा पुत्रादीनां गुरुत्वेन पित्रादीनामप्रीतिः स्यात् । अथ पुत्रादीनां सप्रज्ञत्वेन अन्येषां निष्प्रज्ञत्वेन महदन्तरं तदा पित्रादिरेवं प्रतिबोध्यः । भो महाभाग ! सप्रज्ञोऽपि तव पुत्रः अन्येभ्यो बहुभ्यो लघुर्भविष्यति तव पुत्रे च ज्येष्ठे तवैव गौरवम्, एवं प्रज्ञापितः । स यदि अनुमन्यते, तदा पुत्रादिः प्रथमम् उपस्थापनीयः, नान्यथा, इति कल्प० १ क्षण ।

जिट्ठभूइ–ज्येष्ठभूति–पुं० । काश्यपगोत्रोत्पन्ने स्वनामख्याते श्रमणे, "चउदसवरिससतेहिं, वोच्छेदो जिट्ठभूइसमणम्मि । कासवगोत्ते थेरो, कप्पव्ववहारसुत्तस्स ॥१॥" ती० १७ कल्प ।

जिट्ठयर–ज्येष्ठतर–त्रि० । अतिश्रेष्ठे, प्रा० २ पाद ।

जिट्ठा–ज्येष्ठा–स्त्री० । ज्येष्ठभगिन्याम्, वयोज्येष्ठायाम्, ज्येष्ठस्य पत्न्याम्, गङ्गायाम्, अलक्ष्म्याम् अश्विन्यवधिके अष्टादशे नक्षत्रे च । वाच० । जं० ।

जिण–जिन–पुं० । जयति निराकरोति रागद्वेषादिरूपानरातीनिति जिनः । स० १ सम० । औणादिको नक्प्रत्ययः । नं० । जयति रागद्वेषमोहरूपानन्तरङ्गान् रिपूनिति जिनः । ध० २ अधि० । रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाष्टप्रकारकर्मजेतृत्वात् जिनः । आ० म० प्र० । दश० । औ० । स्था० । पं० सं० । कर्म० । दर्श० । केवलिनि, विशे० । जिनाः सामान्यकेवलिनः । प्रज्ञा० १ पद । रागद्वेषादिशत्रुजेतारो जिना भवस्थकेवलिनः । पा० । चतुर्दशपूर्विणि, जिनाश्च केवलिनः चतुर्दशपूर्विणश्च । उत्त० ५ अ० । गच्छनिर्गतसाधुविशेषे च । स्था० ३ ठा० । ऋषभादिके चतुर्विंशतिसंख्याके तीर्थकरे च । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । जिनकल्पिके च । "अकसोन्नो होइ जिणचिण्णो" जिनाः श्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानवन्तो जिनकल्पिकाश्च, तैश्चीर्णः आचरितो जिनचीर्णः । पञ्चा० ४ विव० । "जिनवरवसहस्स वद्धमाणस्स" । रागादिजयाज्जिनाः अवधिमनःपर्यवोपशान्तमोहाः क्षीणमोहाः तेषां मध्ये वराः प्रधानाः सामान्यकेवलिनः । संथा० । "जिणाणं जावयाणं" रागद्वेषकषायेन्द्रियपरिषहोपसर्गघातिकर्मशत्रून् जितवन्तो जिनाः । जी० ३ प्रति० । कल्प० । "अरिहा जिणे केवली" जिनो रागादिजेतृत्वात् । उपा० ७ अ० । अर्हन्, जिनः, केवली, इत्येकार्थं शब्दत्रयं चतुर्थज्ञातकभेदार्थाऽभिधायकम् । भ० २५ श० ६ उ० । आव० । "अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं" (७) जिनानामृषभादितीर्थकृताम् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । "जिणदिट्ठं ।" तीर्थकराभिमतेन । अनु० । "लोगस्सुज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे । अरहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली ॥१॥" रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाष्टप्रकारककर्मजेतृत्वाज्जिनास्तान् । आ० म० द्वि० । "बावीसई च निज्जिय-परीसहकसायविग्घसंघाया । अजियाईया भविया-रविंदरविणो जयंति जिणा ॥ २ ॥" ति० । "उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।" सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । "जियकोहमाणमाया, जियलोहा ते जिणा होंति ।" जितक्रोधमानमाया जितलोभा येन कारणेन भगवन्तस्तेन कारणेन ते जिनाः भवन्तीति । आ० म० द्वि० । न च रागादीनामसत्त्वं, प्रतिप्राणि अनुभवसिद्धत्वात् । न चानुभवोऽपि भ्रान्तः, सुखदुःखाद्यनुभवेष्वपि भ्रान्तिप्रसङ्गात् । एवं च जयसंभवाज्जिनत्वमविरुद्धम् । ध० २ अधि० । "जिणाणं जावयाणं" जिनेभ्यो जापकेभ्यः । तत्र रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गघातिकर्मजेतृत्वाज्जिनाः, न

चैवेषामसत्तां जयः, असत्त्वादेव हि सकलव्यवहारगोचरातीतत्वेन जयविषयतायोग्यत्वात्। भ्रान्तिमात्रकल्पनाऽप्येषामकृतैव निमित्तमन्तरेण भ्रान्तेरयोगात्, असदेव निमित्तमतिप्रसङ्गात्, चित्तिमात्रादेव तु तदभ्युपगमेऽनुपरम इत्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः। तथापि तदसत्त्वे अनुभवबाधा, न हि मृगतृष्णिकादावपि जलाद्यनुभवः, आत्मनाऽप्यसत्त्वेव प्रविष्टद्कनादिसिद्धमेतत्। न चायं पुरुषमात्रनिमित्तः सर्वत्र सदाभावेऽनुपपत्तेः, नेह मृगतृष्णिकादावपि जलाद्यनुभवो चित्तिमात्रनिबन्धना रागादय इति भावनीयम्। एवं च तथा-भव्यत्वादिसामग्रीसमुद्भूतचरणपरिणामतो रागादिजेतृत्वादिना तात्त्विकजिनादिसिद्धिः। स०। "जइ जिणस्स वीरस्स" व्याख्या-भद्रं जिनस्य वीरस्य। जयति रागादिशत्रुगणमिति जिनः। औणादिको नक्प्रत्ययः। तस्य भद्रं भवतु। अनेनापायातिशयमाह—'अपायो विश्लेषः' तस्यातिशयः प्रकर्षभावो ऽपायातिशयो रागादिभिस्सहात्यन्तिको वियोग इत्यर्थः। ननु रागादिभिः सहात्यन्तिको वियोगोऽसंभवी प्रमाणबाधनात्, तच्च प्रमाणमिदम्-'यदनादिमत् तन्विनाशमाविशति' यथा-आकाशम्, अनादिमन्तश्च रागादय इति। किञ्च-रागादयो धर्मास्ते च धर्मिणो भिन्नाः, अभिन्ना वा?। यदि भिन्नाः तर्हि सर्वेषामविशेषेण वीतरागत्वप्रसङ्गः, रागेभ्यो भिन्नत्वात् विवक्षितपुरुषवत्। अथ अभिन्नास्तर्हि तत्क्षये धर्मिणोऽप्यात्मनः क्षयः। तदभिन्नत्वात् तत्स्वरूपवत्। कुतस्तस्य वीतरागत्वम्, तस्यैवाभावादिति। अत्रोच्यते-इह यद्यपि रागादयो दोषा अनादिमन्तस्तथापि कस्यचित् स्त्रीशरीरादिषु यथावस्थितवस्तुतत्त्वावगमेन तेषां रागादीनां प्रतिपक्षभावनातः प्रतिक्षणमपचयो दृश्यते, ततः संभाव्यते विशिष्टकालादिसामग्रीसद्भावे भावनाप्रकर्षविशेषभावतो निर्मूलमपि क्षयः। अथ यद्यपि प्रतिपक्षभावनातः प्रतिक्षणमपचयो दृष्टः तथापि तेषामात्यन्तिकोऽपि क्षयः संभवतीति कथमवसेयम्?। उच्यते-अन्यत्र तथा प्रतिबन्धग्रहणात्। तथाहि-शीतस्पर्शसंपाद्या रोमहर्षादयः शीतप्रतिपक्षस्य वह्नेर्मन्दतायां मन्दा उपलब्धाः, उत्कर्षे च निरन्वयविनाशधर्माणः। ततोऽन्यत्रापि बाधकस्य मन्दतायां बाध्यस्य मन्दतादर्शनाद्बाधकोत्कर्षे। अवश्यं बाध्यस्य निरन्वयो विनाशो वेदितव्यः। अन्यथा-बाधकमन्दतायां मन्दतापि न स्यात्। यथास्ति ज्ञानस्य ज्ञानावरणीयं कर्म बाधकं ज्ञानावरणीयकर्ममन्दतायां च ज्ञानस्यापि मनाक् मन्दता। अथ च-प्रबलज्ञानावरणीयकर्मोदयोत्कर्षेऽपि ज्ञानस्य निरन्वयो विनाशः। एवं प्रतिपक्षभावनोत्कर्षेऽपि न रागादीनामत्यन्तोच्छेदो भविष्यतीति। तदयुक्तम्-द्विविधं हि बाध्यम्-सहभूतस्वभावभूतम्, सहकारिसंपाद्यस्वभावभूतं च। तत्र यत्सहभूतस्वभावभूतं तन्न कदाचिदपि निरन्वयविनाशमाविशति। ज्ञानं चात्मनः सहभूतस्वभावभूतम् आत्मा च परिणामी नित्यः, ततोऽत्यन्तप्रकर्षवत्यपि ज्ञानावरणीयकर्मोदये न निरन्वयविनाशो ज्ञानस्य, रागादयस्तु लोभादिकर्मविपाकोदयसंपादितसत्ताकाः ततः कर्मणो निर्मूलमपगमे तेऽपि निर्मूलमपगच्छन्ति, अन्यासत्तां कर्मसंपाद्या रागादयः। तथापि कर्मनिवृत्तौ ते निवर्तन्ते इति नावश्यं नियमो, न हि दहननिवृत्तौ तत्कृता काष्ठेऽङ्गारता निवर्तते। तदसत्। यत इह किञ्चित् क्वचित् निवर्त्यं विकारमापादयति। यथाऽग्निः सुवर्णे द्रवताम्, तथा हि-अग्निनिवृत्तौ तत्कृता सुवर्णे द्रवता निवर्तते। किञ्चित् पुनः क्वचिदनिवर्त्यं विकारारम्भकम्। यथा-स एवाग्निः काष्ठे न खलु श्यामतामात्रमपि काष्ठे दहनकृतं तन्निवृत्तौ निवर्तते। कर्म चात्मनि निवर्त्यं विकारारम्भकम्, यदि पुनरनिवर्त्यं विकारारम्भकं भवेत्तर्हि यदपि तदपि कर्मणा कृतं न कर्मनिवृत्तौ निवर्तेत। यथाऽग्निना श्यामतामात्रमपि काष्ठे कृतम्। अग्निनिवृत्तौ, ततश्च यदेकदा कर्मणाऽऽपादितं मनुष्यत्वममरत्वं कृमिकीटत्वमर्हत्त्वं शिरोवेदनादि तत्सर्वकालं तथैवावतिष्ठेत। न चैतद् दृश्यते। तस्मान्निवर्त्यं विकारारम्भकं कर्म, ततः कर्मनिवृत्तौ रागादीनामपि निवृत्तिः। अत्राहुर्बार्हस्पत्याः-नैते रागादयो लोभादिकर्मविपाकोदयनिबन्धनाः, किं तु कफादिप्रकृतिहेतुकाः। तथाहि-कफहेतुको रागः, पित्तहेतुको द्वेषः, वातहेतुकश्च मोहः। कफादयश्च सदैव संनिहिताः शरीरस्य तदात्मकत्वात्, ततो न वीतरागत्वसंभवः। तदयुक्तम्। रागादीनां कफादिहेतुकत्वायोगात्। तथाहि-स तद्धेतुको योऽयं न व्यभिचरति, यथा धूमोऽग्निम्। अन्यथा-प्रतिनियतकार्यकारणभावव्यवस्थानुपपत्तेः। न च रागादयः कफादीन् व्यभिचरन्ति, व्यभिचारदर्शनात्। तथाहि-वातप्रकृतेरपि दृश्येते रागद्वेषौ, कफप्रकृतेरपि द्वेषमोहौ, पित्तप्रकृतेरपि मोहरागौ। ततः कथं रागादयः कफादिहेतुकाः। अथ मन्येथाः-एकैकाऽपि प्रकृतिः सर्वेषामपि दोषाणां पृथक् पृथक् जनिका तेनायमदोष इति। तदयुक्तम्-एवं सति सर्वेषामपि जन्तूनां समरागादिदोषप्रसक्तेः अवश्यं हि प्राणिनामेकतमया कदाचित् प्रकृत्या भवितव्यम्। सा चाविशेषेण रागादिदोषेण रागादिदोषाणामुत्पादिकेति, सर्वेषामपि समानरागादिताप्रसक्तिः। अथास्ति प्रतिप्राणि पृथक् पृथगवान्तरः कफादीनां परिणतिविशेषः, तेन न सर्वेषां समरागादिताप्रसङ्गः। तदपि न साधीयः। विकल्पयुगलानतिक्रमात्। तथाहि-सोऽप्यवान्तरः कफादीनां परिणतिविशेषः, सर्वेषामपि रागादीनामुत्पादकः, आहोस्विदेकतमस्यैव कस्यचित्। तत्र यद्याद्यः पक्षस्तर्हि-यावत् स परिणतिविशेषः तावदेककालं सर्वेषामपि रागादीनामुत्पादप्रसङ्गः। न चैककालमुत्पाद्यमाना रागादयः संवेद्यन्ते क्रमेण तेषां वेदनात् खलु रागाध्यवसायकाले द्वेषाध्यवसायो मोहाध्यवसायो वा संवेद्यते। अथ द्वितीयः पक्षः-तत्रापि यावत्स कफादिपरिणतिविशेषस्तावदेक एव कश्चिद्रागादिदोषः प्राप्नोति। अथ च-तदवस्थ एव कफादिपरिणतिविशेषे सर्वेऽपि दोषाः क्रमेण परावृत्त्योपजायमाना उपलभ्यन्ते। अथाक्षय्यमाण एव केवलकार्यविशेषदर्शनोन्नीयमानसत्ताकस्तदा तदा तत्तद्रागादिदोषहेतुः कफादिपरिणतिविशेषो जायते। तेन पूर्वोक्तदोषावकाशः। ननु यदि स परिणतिविशेषः सर्वथाऽननुभूयमानस्वरूपोऽपि परिकल्प्यते, तर्हि कर्मैव किं नाभ्युपगम्यते। एवं हि लोकशास्त्रमार्गोऽप्याराधितो भवति। अपि च-स कफादिपरिणतिविशेषः कुतः तदा तदा अन्यान्यरूपेणोपजायते इति वक्तव्यं देहादिति चेत्, ननु तदवस्थेऽपि देहे भवद्भिः कार्यविशेषदर्शनतः तस्यान्यथाभवनमिष्यते। तत्कथम्? तद्देहनिमित्तं न हि यदविशेषेऽपि तद्भिद्यते स विकारस्तद्धेतुक इति वक्तुं शक्यम्। नाप्यन्यो हेतुरुपलभ्यते, तस्मात्तदन्यथाभवनं कर्महेतुकमेष्टव्यम्। तथा च सति-कर्मैवैकमभ्युपगम्यताम् किमन्तर्गडुना?, तद्धेतुतया कफादिपरिणतिविशेषाभ्युपगमेन, किं चाभ्यासजनितप्रसराः प्रायो रागादयः। तथाहि-यथा यथा रागादयः सेव्यन्ते, तथा तथा अभिवृद्धिरेव, तेषामुपजायते। न प्रहाणिः। तेन समानेऽपि कफा-

त्रिकरिणातिविशेषे तद्वस्थेऽपि च देहे यस्येह जन्मनि परत्र वा यस्मिन् रागोऽभ्यासः स तस्य प्राचुर्येण प्रवर्तते । शेषस्तु अन्यतथा, ततोऽभ्याससंपाद्यकर्मोपचयहेतुका एव रागादयः, न कफादिहेतुकाः, इति प्रतिपत्तव्यम् । अन्यच्च-यदि कफहेतुको रागः स्यात् ततः कफवृद्धौ रागवृद्धिर्भवेत्, पित्तप्रकर्षे तापप्रकर्षवत् । न च भवति, तदुत्कर्षेऽप्यपीडाबाधिततया द्वेषस्यैव दर्शनात् । अथ पक्षान्तरं गृह्णीथाः, यदुत न कफहेतुको रागः, किं तु कफादिदोषसाम्यहेतुकः । तथाहि—कफादिदोषसाम्ये विरुद्धव्याध्यभावतो रागोद्भवो दृश्यते इति । तदपि न समीचीनं व्यभिचारदर्शनात्, न हि यावत्कफादिदोषसाम्यं तावत्सर्वदैव रागोद्भवोऽनुभूयते, द्वेषाद्युद्भवस्यानुभवात् । न च यद्भावेऽपि यन्न भवति तत्तद्धेतुकं स चेतसा वक्तुं शक्यम् । अपि च-पवमप्युपगमे ये विषमदोषास्ते रागिणो न प्राप्नुवन्ति । अथ च-तेऽपि रागिणो दृश्यन्ते । व्याप्तेनालं अलं विस्तरेण । तस्त्रं निर्वेकिम-शुक्रोपचयहेतुको रागो नान्यहेतुक इति । तदपि न युक्तमेवं ह्यत्यन्तस्त्रीसेवापरतया शुक्रक्षयतः क्षरत्क्षतजानां रागिता न स्यात् । अथवैतेऽपि तस्यामवस्थायां निकामं रागिणो दृश्यन्ते । किं च-यदि शुक्रस्य रागहेतुता, तर्हि तस्य सर्वस्त्रीषु साधारणत्वात् । नैकस्त्रीनियतो रागः कस्यापि भवेत्, दृश्यते च कस्याप्येकस्त्रीनियतो रागः । अथोच्येत-रूपस्यापि कारणत्वात्तद्रूपातिशयलुब्धः तस्यामेव रूपवत्यामभिरज्यते । न योषिदन्तरे । उक्तं च-

" रूपातिशयपाशेन, विवशीकृतमानसाः । स्त्रीं यौवनं परित्यज्य, रमन्ते योषिदन्तरे ॥ १ ॥ " तदपि न मनोरमम् । रूपरहितायामपि क्वापि रागदर्शनात् । अथ तत्रोपचारविशेषः उपमीचीनो भविष्यति, तेन तत्रानिरज्यते उपचारोऽपि च रागहेतुर्न रूपमेव केवलम् । तेनायमदोष इति । तदपि व्यभिचारिद्वयेनापि विमुक्तायां क्वचिद्रागदर्शनात् तस्मादभ्यासजनितोपचयपरिपाकं कर्मैव विचित्रस्वभावतया तदा तदा तत्तत्कारणापेक्षं तत्र तत्र रागादिहेतुरिति । कर्महेतुका रागादयः । पतेन यदपि कश्चिदाह-पृथिव्यादिभूतानां धर्मा एते रागादयः । तथाहि-पृथिव्यम्बुभूयस्त्वे रागः, तेजोवायुभूयस्त्वे द्वेषो, जलवायुभूयस्त्वे मोह इति । तदपि निराकृतमवसेयम्, व्यभिचारात् । तथाहि-यस्यामेवावस्थायां द्वेषो मोहोऽपि दृश्यते तत एतदपि यत्किंचित् । तस्मात्कर्महेतुका रागादयः । ततः कर्मनिवृत्तौ निवर्तन्ते । प्रयोगश्चात्र-ये सहकारिसंपाद्या यदुपधानादपकर्षिणः ते तदत्यन्तक्षये निरन्वयविनाशधर्माणः यथा रोमहर्षादयो वह्निवृद्धौ मान्द्योपधानादपकर्षिणश्च । सहकारिकर्मसंपाद्या रागादय इति । अत्र सहकारिसंपाद्या इति विशेषणं सहजातस्वभावबोधादिव्यवच्छेदार्थम् । यदपि प्रागुपन्यस्तं प्रमाणं 'यदनादिमत् न तद्विनाशमाविशति' । यथाकाशमिति । तदप्यप्रमाणम् । हेतोरनैकान्तिकत्वात् । प्रागभावेन व्यभिचारात् । तथाहि-प्रागभावोऽनादिमानपि विनाशमाविशति । अन्यथा कार्यानुत्पत्तेः भावनाधिकारी च सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयमनस्परसमन्वितो वेदितव्यः इतरस्य तदनुरूपानुष्ठानप्रवृत्त्यभावेन तस्य मिथ्यारूपत्वात् । आह च-" नाणी तवम्मि निरओ, चारित्ती भावणाइजोगो त्ति " सा च रागादिदोषनिदानस्वरूपाविपक्षफलगोचरा यथागममेवमवसेया ।

" जं कुच्छियाणजोणी, पयइविसुद्धस्स होइ जीवस्स ।

पयसि भो ! नियाणं, कहाण न य सुंदरं एयं ॥ १ ॥
रूवं पि संकिलेसो-ऽभिस्संगा पीडणाइलिगो अ ।
परमसुहपच्चणीओ, एअं पि असोहणं चेव ॥ २ ॥
विसओ य भंगुरो खलु, गुणरहिओ तह तहा रूवो ।
संपत्तिनिप्फलो के-वलं तु मूलं अणत्थाणं ॥ ३ ॥
जम्मजरामरणाई-विविहरूवो फलं तु संसारो ।
बहुअणनिव्वेयकरो, एसो वि तहाविहो चेव ॥ ४ ॥

अपि च-सूत्रानुसारेण ज्ञानादिषु यो नैरन्तर्येणाभ्यासरूपाऽपि भावना वेदितव्या । तस्या अपि रागादिप्रतिपक्षत्वात् । न हि तत्त्वबुद्ध्या सम्यग्ज्ञानाद्यभ्यासे व्यापृतमनस्कस्य स्त्रीशरीररामणीयकादिविषये चेतःप्रवृत्तिमातनोति । तथानुपलम्भात् । नं० । ते च जिनाः त्रिविधाः तथा च-" तओ जिणा पण्णत्ता । तं जहा-ओहिनाणजिणे, मणपज्जवनाणजिणे, केवलनाणजिणे " " तओ जिणे " इत्यादि । सुगमा, नवरं रागद्वेषमोहान् जयन्तीति जिनाः सर्वज्ञाः । उक्तं च-" रागद्वेषस्तथा मोहो, जितो येन जिनो ह्यसौ । अस्त्रीशस्त्राक्षमालत्वा-दर्हन्नेवानुमीयते ॥१॥" इति । तथा जिना इव ये वर्तन्ते निश्चयप्रत्यक्षज्ञानतया तेऽपि जिनाः,तत्रावधिप्रधानो जिनोऽवधिज्ञानजिन एवमितरावपि, नवरमाद्यावुपचरितावितरो निरुपचार उपचारकारणं तु प्रत्यक्षज्ञानित्वमिति । स्था० ३ ठा० ४ उ० । " वंदामि जिणवरिंदं " जयन्ति रागादिशत्रूनभिजयन्ति जिनाः । ते चतुर्विधाः । तद्यथा-श्रुतजिनाः । अवधिजिनाः । मनःपर्यायजिनाः । केवलिजिनाः । प्रज्ञा० १ पद ।

जिननिक्षेपश्चतुर्धा-

"चउह जिणा नामठव-णदव्वभावजिणभेएहिं ॥३१॥
नामजिणा जिणनामा, ठवणजिणा पुण जिणिंदपडिमाओ ।
दव्वजिणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणत्था ३२" ध० र० ।

जिनाश्चतुर्धा-नामजिनाः, स्थापनाजिनाः, द्रव्यजिनाः, भावजिनाश्चेति । तत्र जिनानां तीर्थकृतां नामानि ऋषभाजितसंभवादीनि । नाम जिनाः । तथा-अष्टमहाप्रातिहार्यादिसमृद्धिं साक्षादनुभवन्तः । केवलिनः समुत्पन्नकेवलज्ञानाः । शिवगताश्च परमपदं प्राप्ताः । भावतः सद्भावतो जिनाः,भावजिनाः । गाथानुलोम्याच्च अनानुपूर्व्या भावजिनाः व्याख्याताः । स्थापनाजिनाः प्रतिमाः,काञ्चनमुक्ताशैलमरकतादिनिर्मिताः,द्रव्यजिना ये जिनत्वेन भाविनो भविष्यन्ति जीवा श्रेणिकादय इति । प्रव० ४२ द्वार ।

जिनानां सर्वथास्तित्वम्-

अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवा वि भविस्सइ ।
मुसं ते एवमाहंसु, इइ भिक्खू न चिंतए ॥ ४५ ॥

अभूवन् आसन् जिना रागादिजेतारः 'अस्ति' इति विभक्तिप्रतिरूपको निपातः । ततश्च विद्यन्ते जिनाः अस्य कर्मप्रवादपूर्वसप्तदशप्राभृतोद्धृततया वस्तुतः सुधर्मस्वामिनैव जम्बूस्वामिनं प्रति प्रणीतत्वात् तत्काले च जिनसंभवादित्यमुक्तं विदेहादिक्षेत्रान्तरापेक्षया वा इति भावनीयम् । (अदुवं त्ति) अथवा-अपिभिन्नक्रमः (भविस्सइ त्ति) वचनव्यत्ययाद्भविष्यन्ति जिना इत्यपि मृषा अलीकं ते जिना अस्तित्ववादिन एवमनन्तरोक्तन्यायेन (आहंसु त्ति) आहुः ब्रुवत इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् । जिनस्य सर्वज्ञाभिक्षेपप्रतिक्षेपादिषु प्रमाणोपपन्नतया प्रतिपादनात्तदुपदेशमूलत्वाच्च सकलैहिकामुष्मिकव्यवहाराणामिति सूत्रार्थः । उत्त० २ अ० ।

"जिनैरनुक्तं जीवो वा, धर्माधर्मौ तथान्तरम् । परोक्षत्वा-न्नूना नैवं, किन्त्वेतन्महतो महात् ॥१॥" आ० म० द्वि० ।

अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा ।
जिअरागदोसमोहा, य णऽण्णहावाइणो तेणं ॥ ५० ॥

अनुपकृते परैरवर्जिते सति परानुग्रहपरायणाः धर्मोपदेशादि-ना परानुग्रहोद्युक्ताः इति समासः । यत् यस्मात् कारणात् के जिनाः प्राङ्निरूपितशब्दार्थाः । त एव विशेष्यन्ते । जगत्प्रवराः चराचरश्रेष्ठा इत्यर्थः । एवंविधा अपि कदाचिद्रागादिभावात् वितथवादिनो भवन्ति ? । अत आह-जिता निरस्ता रागद्वेषमोहा यैस्ते तथाविधाः तत्राऽभिष्वङ्गलक्षणो रागः, अप्रीतिलक्षणो द्वेषः, अज्ञानलक्षणश्च मोहः । चशब्दः एतद्भावगुणसमुच्चया-र्थः । नान्यथावादिनः तेनेति, तेन कारणेन ते नान्यथावादिनः इति । उक्तं च-"रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषा-स्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ॥ १ ॥" इति गाथार्थः । आव० ४ अ० ।

" जिनभवनं जिनबिम्बं,
जिनपूजां जिनमतं च यः कुर्यात् ।
तस्य नरामरशिवसुख-
फलानि करपल्लवस्थानि ॥ १ ॥ " प्रति० ।

जिनवर्णको यथा-

" श्रियां निवासं निखिलार्थवेदकं,
सुरेन्द्रसंसेवितमन्तरारिघम् ।
प्रमाणयुक्त्यायनयप्रदर्शकं,
नमामि जैनं जगदीश्वरं महः ॥१॥" द्रव्या० १ अध्या० ।

" पुरुषु नमिउ जिणं, वंदारुजणे गयम्मि सुठाणे ।
विहिणा वंदिय देवे, नंदो इय थुणइ जिणनाहं ॥ २६ ॥
जय जय सामिय जिणवर !, केवलनाणकलियवत्थुपरमत्थ !
मत्थयमणिकरजासुर, ! सुरवरसयनमियकमकमल ! ॥ ३० ॥
मलरोगमुक्कविग्गह, ! गहवइदिप्पंतकंतभावलय ! ।
लयपत्तज्झाणसोहिय, ! हियकर ! नी-सेससत्ताणं ॥ ३१ ॥
धन्नो हं जेण मए, अणोरपारम्मि भवसमुद्दम्मि ।
भवसयसहस्सदुलहं, जं पहु तुह दंसणं लद्धं ॥३२॥"(ध०र०)
" सज्ज्ञानलोचनविलोकितसर्वभावं,
निःसीमभीमभवकाननदाहदावम् ।
विश्वार्चितं प्रवरधारसुधर्मरत्न-
रत्नाकरं जिनवरं प्रयतः प्रणौमि ॥ २ ॥ " ध० र० ।
" यथास्थिताशेषपदार्थसार्थ-
क्रमार्थसंधानविधिप्रवीणम् ।
जिनं जनानन्दकरं कृपाब्धिं,
नमामि भव्याम्बुजबोधसूरम् ॥१॥" दशा० १ अ० ।

जिनानां स्वरूपवर्णको यथा-

" पुक्खरकवाडवत्था, फलिहभुआ दुंदुहित्थणिअघोसा ।
सिरिवत्थंकियवत्था, सव्वे वि जिणा चउव्वीसं ॥१॥" अनु० ।
जयति संसारं, जि-नङ् । कुदे, चिण्णौ च । जित्वरे, त्रि० । वाच० ।

जि-जये, भ्वादि-पर०सक०अनिट् " चि-जि-श्रु-हु-स्तु-लू-पू-धू-ञां णो ह्रस्वश्च " । ८ । ४ । २४१ । इति प्राकृतसूत्रेणैवा-न्त णकारागमः ह्रस्वश्च । जिणइ जयइ । प्रा० ४ पाद ।

जिणंत-जयत्-त्रि० । अभिभवति, दशा०५ अ० ।

जिणंतर-जिनान्तर-न० । जिनयोर्व्यवधाने, " एयंसि णं भं-ते ! चउवीसाए तित्थगराणं कइ जिणंतरा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तेवीसं जिणंतरा पण्णत्ता । भ० ३ श० २ उ० । (विशेषतः जिनान्तराणि ' अंतर ' शब्दे प्रथमभागे ६१ पृष्ठे द्रष्टव्यानि)

जिणकप्प-जिनकल्प-पुं० । जिनाः गच्छनिर्गतसाधुविशेषाः तेषां कल्पः समाचारः । प्रव० ५३ द्वार । जिनानां कल्पो जिन-कल्पः । कल्पो नीतिर्मर्यादा सामाचारी । पं० चू० । जिनाना-मिव कल्पो जिनकल्पः । अप्रतिहारविहारे, ध० ३ अधि० । अभ्युद्यतविहारे, । बृ० १ उ० ।

विषय सूची-

(१) जिनकल्पिकानाश्रित्य द्वारसंग्रहः ।
(२) प्रव्रज्याद्वारम् ' पव्वज्जा ' शब्दे ।
(३) शिक्षाद्वारम् 'सिक्खा' शब्दे । अस्य प्रकृतयोजनात्रैव ।
(४) अनन्तरोक्तेनानियतवासेन वक्ष्यमाणविहारद्वारेण च सह निष्पत्तिद्वारम् ।
(५) निष्पत्तिद्वारे प्रतिद्वारभूतमुपसंपदादिद्वारचतुष्टयम् ।
(६) तत्र प्रथममुपसंपद्द्वारम् । तत्र अन्यांकिदृष्टान्तेन त्रिभिः प्रकारैश्च सह उपवर्णितम् ।
(७) तत्र द्वितीयमस्थिरत्वद्वारम् । तच्चात्मपरोभयतुल-नया त्रिविधम् । ते च तुल्ये प्रत्येक चतुर्विधे ।
(८) तत्र तृतीयं प्रतीच्छनाद्वारम् । तत्र सोपनयम् स्तुपा दृष्टान्तेन समन्वितम् ।
(९) तत्र चतुर्थं वाचनाद्वारम् । तच्चोपदेशस्मारणाप्रति-स्मरणाभिः त्रिविधम् । घट्टनादिदृष्टान्तत्रयेण, नि-ष्काशनादिविधिना स्थिरीकरणाय राजदृष्टान्तेन चो-पदर्शितम् ।
(१०) विहारद्वारम् । तत्र जिनकल्पिकमाश्रित्य प्रतिद्वाररू-पाणि । अभ्युद्यतविहारेण आदीनि षट् द्वाराणि ।
(११) तत्र द्वितीयमाचार्यादिरूपपञ्चतुलनात्मकम् ।
(१२) तत्र चतुर्थं परिकर्मद्वारम् । अस्य द्विविधत्वमस्यै-वाधिकारस्य (१६) अङ्के द्रष्टव्यम् ।
(१३) तत्र पञ्चमं तपआदिपञ्चकानां पञ्चतुलनाभावनारू-पम् । अत्रैव प्रथमा । द्वितीया सत्त्वभावना 'सत्तभाव-णा' शब्दे । तृतीया सूत्रभावना 'सुत्तभावणा ' शब्दे ।
(१४) तुलनाभावनापञ्चके चतुर्थैकत्वभावना सदृष्टान्ता ।
(१५) तुलनाभावनापञ्चके दिव्याद्युपसर्गसहनरूपा पञ्च-मी बलभावना मावबलेन शारीरबलेन च द्विविधा ।
(१६) पूर्वोक्तं परिकर्म पाणिप्रतिग्रहपरिकर्मभ्यां सचेलाऽ-चेलपरिकर्मभ्यामाहारोपधिभेदाभ्यां च द्विविधम्, पुनः केनाऽऽसनेन कथं तृतीयु संस्तारकेषु चोपवि-शति जिनकल्पिक इति ।
(१७) विहारद्वारान्तर्गतषष्ठं वटवृक्षद्वारम् । द्रव्यादाऽऽनुकूल्ये, कस्य पार्श्वे, कस्य तरोरधस्तनप्रदेशे वा जिनकल्पि-कत्वं स्वीकरणीयम् । तत्र केन विधिना । ततः क्षा-मणम् ! शेषाः किं कुर्वन्ति । क्षामणायां के गुणाः । जिनपदस्थापितसूरेरनुशिष्टिं साधूनामनुशिष्टिं प्र-दाय किं करोतीत्यादि प्रतिपादितम् ।
(१८) सामाचारीद्वारम् । आवश्यकादिपञ्चसामाचार्यां जि-नकल्पिकः प्रयुङ्क्ते अन्याः न । आदेशान्तरसप्तधैवोक्ता ।

(१९) श्रुतादिकानां बहुवक्तव्यसामाचारीणां सप्तविंशति- द्वारसंग्रहगाथा ।
(२०) श्रुतादिसप्तविंशतिद्वारेषु सप्तविधं मासकल्पद्वारम् ।
(२१) जिनकल्पी चतुर्विधया भ्रमतीति विस्तरः ।
(२२) देवाहारादयोऽग्रनायां आर्यिकाविचारः ।
(२३) कल्पशब्दार्थः, वीथ्यां भ्रमतस्तत्कं पूतिकं भवति ।
(२४) त्रिषु दिवसेषु पूतिकं न कल्पते। किंतु सप्तमे दिवसे कल्पत इति, सप्तमदिवसे पर्यटतः आर्यिकापृच्छा।
(२५) द्वितीयाऽऽदेश यादेशान्तरम्।
(२६) जिनकल्पिकाः कल्पकाले मारणान्तिके च चिकित्सां न कारयन्ति । अक्षिमलमपि नापनयन्ति। के तत्र प्रविशन्ति। के च निर्गच्छन्ति ! प्रत्येकमेकैकपतद्ग्रह-धारिणः सप्रावरणाश्च भवन्तीत्यादि ।
(२७) जिनकल्पिकयोर्मध्ये कतरो महर्द्धिकः स चन्द्रीपादि-दृष्टान्तेन अर्थोपनयेन च समन्वितः ।
(२८) सोपनयेन महिलाद्वयदृष्टान्तेन गोवर्गद्वयदृष्टान्तेन च जिनकल्पिकस्य एवावश्यं स्थातव्यमित्युक्तम् । गच्छः जिनकल्पिकादिरत्नानामुत्पत्तिस्थानमिति गच्छस्य रत्नाकरोपमा ।
(२९) छिद्रपाणयच्छिद्रपाणिभेदाभ्यां जिनकल्पिकस्य द्विविधत्वम् ।
(३०) जिनकल्पिका एकस्वरूपाः पृथक्स्वरूपा वा भवन्तीति शङ्का । एतेषामेव द्विविधत्वम् ।
(३१) जिनकल्पिकी द्वादशविधोपधिः स सर्वेषामेव त्रिविधो वा नेत्यष्टौ विकल्पाः ।
(३२) केन विधिना केन च जिनकल्पोऽनिहित । जिनकल्पिकास्मिन्नागमे प्रतीतम् । व्यवच्छेदस्तु केन वचनेन तीर्थकरैरुक्तमिति च सोत्तरम् ।

(१) प्रथमं जिनकल्पिकानाश्रित्य द्वारसंग्रहगाथामाह-

पव्वज्जा सिक्खा-पयमत्थग्गहणं च अनियओ वासो ।
निप्फत्ती य विहारो, सामायारी ठिई एव ॥

प्रथमं प्रव्रज्या वक्तव्या, कथमसौ जिनकल्पिकः प्रव्रजित इति। ततः शिक्षापदं,ग्रहणासेवनाविषयम् । ततो ग्रहणाशिक्षयाऽधीतं, सूत्रतोऽर्थग्रहणम् । ततो नानादेशदर्शनं कुर्वतो यथाऽनियतो वासो भवति । ततः शिष्याणां निष्पत्तिः। तदनन्तरं विहारः। ततो जिनकल्पं प्रतिपन्नस्य सामाचारी। ततस्तस्यैव स्थितिः,क्षेत्रकालादिकाऽभिधातव्येति गाथासमुदायार्थः । एषां द्वाराणां क्रमशो व्याख्या । बृ० १ उ० ।

(२) (प्रव्रज्या द्वारम् ' पव्वज्जा ' शब्दे)

(३)(शिक्षाद्वारं 'सिक्खा' शब्दे) अथ तत्प्रकृतयोजनां कुर्वन्नाह-

जिणकप्पिएण पगयं, जिणकाले हेउ केवलीणं वा ।
सो जणइ एव भणितो, कत्थ अहीयं भयंतेहिं ॥

अत्र जिनकल्पिकेन प्रकृतं स तु जिनकल्पिको नियमाज्जिनस्य तीर्थकरस्य काले वा स्यात्, अपरेषां वा गणधरादीनां केवलिनां काले ? ततः स शिष्यः एवं हेतुदृष्टान्तैर्भणितः प्रज्ञापितो भणति। भगवन् ! यद्येवं ततः पृच्छाम्यहं, परमाचकृतां पूज्याः कुत्र भवद्भिरधीतं, यस्मादसौ शिष्यो जिनकल्पिको भविष्यति । स च जिनकाले वा भवेत् केवलिकाले वा ?

अतः स आचार्यः प्रतिब्रूयात्-

अंतरमणंतरे वा, इति उदिए धूलिनायमाहंसु ।
चिक्खल्लेण य नायं, तम्हा उवयामि जिणमूलं ॥

अन्तरं परकेण मया अधीतम् । अनन्तरं वा । तत्र यदि स आचार्यो गणधरशिष्यस्तस्यापरशाखा । ततः परंपरकेणाधीतमित्यभिदध्यात् । अथासौ गणधर एव । ततोऽनन्तरं जिनसकाश एव मयाधीतमिति ब्रूयात्, इत्थमुदिते आचार्येणाऽभिहिते स शिष्यो धूलिज्ञातं चिक्खल्लज्ञातं चाख्यातवान् । यथा-धूलिरेकत्र स्थापयित्वा तत उत्क्षिप्यान्यत्र यत्राऽऽनीयेते तत्राऽवश्यं किंचित्परिशटति। ततोऽप्यन्यत्र प्रस्तीर्यमाणा भूयस्तरा परिशटति । यथा वा प्रासादे लिप्यमाने मनुष्यपरम्परया चिक्खल्लप्रत्यर्प्यमाणो बहुपरिशटितः स्तोकमात्रावशेष एव सर्वान्तिममनुष्यस्य हस्तं प्राप्नोति ।

केः पुनस्तत्परिशटतीत्याह—

पयपायमक्खरेहिं, मत्ताबोलेहिं वा वि परिहीणं ।
अवि य रवि-राय-हत्थी, पगास सेवा पया चेव ॥

पदैः पादैरक्षरैर्मात्रया'र्थाद्वैर्वा अपिशब्दात् बिन्दुना वा परिहीनं भवति । परम्परया अधीयमानं श्रुतमिति प्रक्रमः, अपि-चेत्यभ्युच्चय' भगवतः समीपे अधीयानानां कारणान्तरमप्यस्तीति। किममात्यादीनां सेवां संपादयति । यादृशानि वा महान्ति हस्तिनः पादानि, ईदृशानि किं कुन्थूनां संभवन्ति ?। एवं यादृशानि महार्थानि जगवतस्तीर्थकृतो वचनानि ईदृशान्यपरेषां किं कदाचिद्भवन्ति इत्यतस्तीर्थकरोपकण्ठमेव व्रजामि ।

इत्थं शिष्येणोक्ते सूरिराह--

कोट्ठाइबुद्धिणो अ-त्थि संपयं एरिसाणि मा जंप ।
अवि य तहिं वाउलणा, निरयाण वि कोउयाईहिं ॥

यथा कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तं, तदवस्थमेव चिरमप्यवतिष्ठते । न किमपि कालान्तरेऽपि गलति, एवं येषु सूत्रार्थौ निक्षिप्तः, तदवस्थावेव चिरमप्यवतिष्ठेते, ते कोष्ठबुद्धयः । आदिशब्दात्पदानुसारिबुद्धयो बीजबुद्धयश्च गृह्यन्ते । तत्र ये गुरुमुखादेकसूत्रपदमनुसृत्य शेषमपि भूयस्तरपदनिकुरम्बमवगाहन्ते ते पदानुसारिबुद्धयः । ये त्वेकं बीजभूतमर्थपदमनुसृत्य शेषमवितथमेव प्रभूततरमर्थपदनिवहमवगाहन्ते ते बीजबुद्धयः । एवंविधाः कोष्ठादिबुद्धयः सांप्रतमपि सन्ति येषु सूत्रार्थौ न परिशटत इति भावः । तत ईदृशानि धूलिज्ञातादीनि मा जल्प मा ब्रूहि । अपि च-तत्र भगवतः समीपे अधीयानानां विरतानामपि साधूनामपि कौतुकादिभिर्व्याकुलता व्याकुलीकरणं भवति । सकलस्याऽपि लोकस्य कौतुकहेतुत्वात् । कौतुकं समवसरणम् । आदिग्रहणेन भगवतो धर्मदेशनाश्रवणादिपरिग्रहः । बृ० १ उ० ।

(शिक्षाद्वारविशेषः 'सिक्खा' शब्दे) पुनः प्रकृतयोजनां कुर्वन्नाह-

तित्थयरस्स समीवे, वक्खेवो तत्थ एवमाईहिं ।
सुयगहणं ताहे, करेइ सो बारसमाओ ॥

तीर्थकरस्य समीपे तत्र समवसरणे एवमादिभिः प्रकारैरध्ययनस्य व्याक्षेपो भवति, इत्युक्ते सति शिष्यः प्राह-भगवन् !

सत्यमेवैतत् यदादिशत यूयम् । अत इहैव पठामीत्युक्त्वा सूत्रग्रहणं द्वादश वर्षाणि करोति । द्वादशभिर्वर्षैः सकलस्याऽपि सूत्रस्याध्ययनं विदधातीत्यर्थः । गतं शिक्षाद्वारम् । बृ० १ उ० ।

(४) अनन्तरोक्तेनानियतवासेन वक्ष्यमाणविहारद्वारेण च सह निष्पत्तिद्वारम् ।

तत्रानन्तरोकेऽनियतवासद्वारे वक्ष्यमाणविहारद्वारे च संभवति । तत्रानियतवासद्वारं तावद्दर्शयते इत्थं तेन देशदर्शनं कुर्वता शिष्याः प्रतीच्छकाश्च सामाचार्यां सूत्रार्थग्रहणायां च निष्पादयितव्या, इत्यत्रान्तरे यदुक्तं प्रतिद्वारगाथायाम्-" काउ सुयं वायव्वं, अविणीयाणं विवेगो य " ॥

(५) निष्पत्तिद्वारे प्रतिद्वारचूनमुपसंपदादिद्वारचतुष्टयसंग्रहगाथामाह-

उवसंपज्ज थिरत्तं, पडिच्छगा वायणोब्भगणे य ।

घट्टणरुंचणपत्ते, वुड्ढा य जहिं गए राया ॥

प्रथमं प्रतीच्छकाः यथा तमुपसंपद्यन्ते तथा वक्तव्यम् । ततः आत्मनः प्रतीच्छकानां च यथा स्थिरत्वं तुलनया करोति । ततस्तेषां प्रतीच्छकानां वाचना च यथा भवति ततः प्रस्ताव्यताम् । अथ ईर्ष्यागणदृष्टान्तो घट्टनारुञ्चनापत्रदृष्टान्ताश्च यथाभिधीयन्ते वृद्धाश्च विषयं दृष्टान्तं यथा साधव आचार्यानुद्दिश्य दर्शयन्ति । (जहिं गए त्ति) यत्राचार्यास्तिष्ठन्ति, तत्र गतानां यथा राजदृष्टान्तः सूरिभिरुदाह्रियते, तदेतत्सर्वं वक्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः ।

(६) तत्रोपसंपद्द्वारमन्योक्तिदृष्टान्तेन त्रिभिः प्रकारैश्च सह विभजिषुर्गाथामाह-

काहिइ अवोच्छित्तिं, सुत्तत्थाणं ति सो तदट्ठाए ।

अभिगम्मइ ऽणेगेहिं, पडिच्छएहिं विहरमाणो ॥

एष महाभागः सूत्रार्थयोरव्यवच्छित्तिं करिष्यतीति बुद्ध्या स भव्याचार्यस्तदर्थं सूत्रार्थग्रहणनिमित्तमभिगम्यते अनेकैः प्रतीच्छकैर्विहरमाणो देशदर्शनं कुर्वन्निति । आह-किमसौ डिण्डिमारवस्वरेण घोषयति, यथा, अहं बहुश्रुतोऽहं बहुश्रुत इति, यदेवमनेकैः प्रतीच्छकैरभिगम्यते । नैवं खलु शुद्धविवेकसुधाधाराधौतचेतसः सन्तः कदाचनापि स्वगुणविकत्थने प्रवृत्तिमातन्वते । मिथ्याभिमानतिमिरपटलतिरस्कृतसंज्ञानलोचनप्रसराणाम् इतरजन्तूनामेव तत्र प्रवृत्तिसंभवात् । उक्तं च-"मोहस्य तदपि विलसितमतिमानो यः परप्रणीतावाः । सद्गुणमोऽपि तमिथ्यं, याऽऽत्मस्तुतिरात्मना क्रियते ॥१॥" यद्येवं ततः कथमिव सोऽत्र तथैव प्रसिद्धिमारोहतीत्युच्यते-

वासावज्जविहारी, जइ वि न य विकत्थए गुणे निययए ।

अजाणंतो वि मुणिज्जइ, पगइ च्चिय सा गुणगणाणं ॥

वर्षावर्जविहारी वर्षासु चतुरो मासानेकत्र स्थायी अन्यदा पुनरनियतविहारी इत्युक्तं भवति । स एवंविधो यद्यपि न विकत्थते निजकानात्मीयान् गुणान् । तथाप्यश्रमणस्यापि स्वगुणान कथयतोऽपि ज्ञायते । कुत इत्याह-प्रकृतिरेव सा गुणगणानां ज्ञानादिगुणसमूहानाम् । तदुक्तम्-" अजाणंतो वि हु जज्जंति, सप्पुरिसा गुणगणेहिं नियएहिं । पंकुत्ती य मणीओ, जाओ अक्कोहिं घिप्पंति " ॥ १ ॥

एतदेवान्योक्तिदृष्टान्तेन द्रढयति-

भमरेहिँ महुयरीहिं, सुहइज्जइ अप्पणो य गंधेणं ।

पाउसकालकयंबो, जइ वि निगूढो वणनिगुंजे ॥

इह किल कदम्बवृक्षाः प्रावृषि जलधरधाराभिहताः पुष्प्यन्ति । ततः प्रावृट्काले यः कदम्बः स यद्यपि वननिकुञ्जे निगूढो गुप्तस्तिष्ठति । तथापि भ्रमरैर्मधुकरीभिश्च आत्मनः सर्वान्धनः गन्धेन च प्रसरता कथ्यते ज्ञाप्यते, यथा-अत्र कदम्बवृक्षास्तिष्ठति । एवमयमपि भ्रमरमधुकरीकल्पाभिः साधुसाध्वीभिः परिमलकल्पेन च निजगुणनिकुरुम्बेन प्रसर्पता कदम्बवद्बहुमान दावस्यन्तर्निगूढोऽपि तिष्ठन् सूच्यते ।

यदि वा-

कत्थ व न जलइ अग्गी, कत्थ व चंदो न पायडो होइ ।

कत्थ वरलक्खणधरा, न पायडा होंति सप्पुरिसा ॥

कुत्र वा न ज्वलति न दीप्यतेऽग्निः । कुत्र वा चन्द्रः उदयं प्राप्तः प्रकटो न भवति । कुत्र वा वराण्युत्तमानि लक्षणान्यभ्यन्तराणि ज्ञानादीनि, बाह्यानि शरीरसौन्दर्यादीनि शङ्खचक्रादीनि, वा धारयन्तीति, वरलक्षणधराः सत्पुरुषाः प्रकटा न भवन्ति ।

अत्र परोऽनुपपत्तिमुद्भावयन्नाह-

उदए न जलइ अग्गी, अब्भच्छन्नो न दीसई चंदो ।

मुक्खेसु महाभागा, विज्जा पुरिसा न भायंति ॥

उदके न ज्वलत्यग्निः । किं तु निर्वापयति । अभ्रच्छन्नश्चन्द्रो न दृश्यते । मूर्खेषु मूर्खाणां पुरतो महाभागा विद्याप्रधानाः पुरुषाः विद्यापुरुषास्तेऽपि न भान्ति न शोभन्ते । ततः-" कत्थ व न जलइ अग्गी " इत्यादि नोपपद्यते । तदयुक्तम् । अभिप्रायापरिज्ञानात् । इह हि स्वविषय एवाग्निचन्द्रसत्पुरुषाणां ज्वलनादिसामर्थ्यं चिन्त्यते न त्वन्यविषये ।

कः पुनरमीषां स्वविषय इत्याह-

सुक्किंधणम्मि दिप्पइ, अग्गी मेहरहिओ ससी भाइ ।

तव्विहजणे य निउणे, विज्जापुरिसा वि भायंति ॥

शुष्केन्धने शुष्ककाष्ठादौ दीप्यतेऽग्निः । मेघरहितः शरदादिकाले अभ्रैरच्छन्नः शशी भाति प्रकाशते । तद्विधज्ञाने च तादृशे सहृदयलोके निपुणे व्याकरणप्रमाणादिशास्त्रकुशले विद्यापुरुषा अपि भान्ति शोभां लभन्ते । एष त्रयाणामप्यमीषां स्वविषयोऽत्र सर्वत्राप्यमी दीप्यन्ते न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

तत्रैवापरं दृष्टान्तमाह-

कुमुअमयररसमुद्धा, किं न विबोहिंति पुंडरीयाइं ।

सूरकिरणा ससिस्स व, कुमुयाणि अपंकयरसण्णा ॥

न य अप्पगासगत्तं, चंदाइच्चाण सत्तिमए होइ ।

इय दिप्पंति गुणड्ढा, मुक्खेसु हसिज्जमाणा वि ॥

कुमुदानामुदराणि कुमुदोदराणि तेषु रसो मकरन्दस्तस्मिन् मुग्धा अनभिज्ञास्तदानीं तेषामप्रबुद्धत्वात् । ईदृशोऽमीषां मकरन्द इति न विदन्तीत्यर्थः । एवंविधाः सूर्यकिरणा यदि अविषयत्वात् कुमुदानि न विबोधयन्ति । ततः किं स्वविषयभूतानि पुण्डरीकाणि न बोधयन्ति ? बोधयन्त्येव । शशिनो वा किरणा अपङ्कजरसज्ञाः पङ्कजरसास्वादमुग्धास्ततः किं स्वविषयभूतानि कुमुदानि न बोधयन्ति । ततश्च न च नैव प्रकाशकत्वं चन्द्रादित्ययोः स्वविषयं भवति । किं तु प्रकाशकत्वमेव इत्यमु-

नैव प्रकारेण गुणैर्ज्ञानादिभिराढ्याः समृद्धाः मूर्खेषु पशुप्रायेषु इश्यमाना अपि दीप्यन्ते, सहृदयहृदयेषु प्रकाशन्ते । उक्तमानुषङ्गिकम् ।

प्रकृतमनुसन्धीयते-

सो चरणसुट्ठिअप्पा, नाणपरो सूइओ अ साहूहिं ।
उवसंपया य तेसिं, पडिच्छणं चेव साहूणं ॥

स इति भविष्यदाचार्यः चरणसुस्थितात्मा, तथा ज्ञानपरः सूत्रार्थपौरुषीकरणं प्रति उद्युक्तः, परां निष्ठां प्राप्तो वा दर्शनाविनाभावित्वाद् ज्ञानस्य दर्शनपर इत्यपि द्रष्टव्यम् । स च साधुभिः स्वपरिवारवर्तिभिरपरेषां साधूनां पुरतः सूचितः श्लाघितः, ततस्तेषां साधूनां तस्यान्तिके उपसम्पत् । तेन च तेषां यथाविधि प्रतीच्छना कर्तव्या, इति एष उपसंपदः प्रकार उक्तः ।

अथ द्वितीयप्रकारमाह-

एहाणाइसमोसरणे, परियट्टितं सुणित्तु सो साहुं ।
अट्टित्ति य पडिचोयण-उवसंपय-दीवणा अत्थो ॥

स्नानादौ, आदिशब्दात् रथयात्रादौ समवसरणे साधुमीलनके (अट्टेलोप इति) व्यञ्जनभेददूषितं सूत्रं परिवर्तयन्तं, साधुं कमपि श्रुत्वा सम्प्रति नोदनां करोति । (अट्टे लोप इति) पाठे स प्राह-किमिति गीतार्थो सूत्रे-(अट्टे इति) अर्थो न भिन्नति । इतरः प्राह-किमस्यार्थोऽप्यस्ति, वाढं नमस्कारमादिं कृत्वा सर्वस्यापि श्रुतस्यार्थो विद्यते । स आह-यद्येवं तर्हि " अट्टित्ति" पदस्य कोऽर्थः । उच्यते-आर्त्तश्चतुर्धा-नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् । नामस्थापने सुगमे । द्रव्यतः सचित्तादिद्रव्यैरप्राप्तैः प्राप्तवियुक्तैर्वा य आर्त्तः स द्रव्यार्त्तः । क्रोधादिभिरभिभूतो भावार्त्तः । एवं प्रकारद्वयेनायं लोक आर्त्तो वर्त्तते, इत्याकर्ण्य प्रमुदितः । स साधुश्चिन्तयति-अहो अस्य सूत्रलवस्य एतावान् इयत्प्रमोऽर्थः, ततो यदि सर्वस्याधीतस्यार्थमवबुध्ये ततः सुन्दरं भवति । इत्यजिसंधायार्थग्रहणार्थं तस्यैव पार्श्वे उपसंपदं प्रतिपद्यते । ततोऽसौ विधिना तस्यार्थदीपनं करोति, अर्थं कथयतीत्यर्थः । एष द्वितीयः प्रकारः ।

अथ तृतीयमपि प्रकारमाह-

अहवा वि गुरुसमीवं, उवागए देसदंसणम्मि कए ।
उवसंपय साहूणं, होअइ कयम्मि दिसाबंधे ॥

अथवा-देशदर्शने कृते सति यदाऽसौ गुरूणां समीपमुपागतो भवति । तदा गुरुभिराचार्यपदे प्रतिष्ठाप्य दिग्बन्धे कृतेऽनुज्ञाते सति, विहारं कुर्वतोऽस्य पार्श्वे प्रतीच्छकसाधूनामुपसंपद्भवतीति व्याख्यातं त्रिभिः प्रकारैरुपसंपद्द्वारम् ।

(७) तत्र द्वितीयमस्थिरत्वद्वारम् । तच्चात्मपरोभयतुलनया त्रिविधम् । ते च तुलने प्रत्येकं चतुर्विधे-

आयपरोभयतुलणा, चउव्विहा सुत्तसाराणिसरिया ।
तिण्हट्ठा संविग्गे, इयरे चरणे-हरा नेच्छे ॥

तत्रासावात्मपरोभयविषयां तुलनां करोति । सा च प्रत्येकं चतुर्विधा वक्तव्या । तथा-ये केचिद्गुणवर्जिता अगारिणः प्रव्रजन्ति । तेषामुपसंपन्नानां चासौ सूत्रसारणां करोति, सूत्रं पाठयतीत्यर्थः । उपलक्षणं चैतत् । तेनासेवनां शिक्षामपि ग्राहयति । तथा तेषामुपर्येवासावसौ इत्वरां दिशं बध्नाति । यथा यावदा-

चार्याणां सकाशं व्रजामः, तावद् युष्माकमाचार्योऽहमेव चोपाध्यायस्तत्र गतानामाचार्या ज्ञापका इति (तिण्हट्ठा संविग्गे त्ति) ये संविग्नाः साधवस्ते त्रयाणां ज्ञानदर्शनचारित्राणामर्थायोपसंपद्यमानाः प्रत्येषव्याः (इयरे चरणे त्ति) इतरे पार्श्वस्थादयो यदि चरणार्थमुपसंपद्यन्ते, ततस्तेऽपि संग्राह्याः (इहरा नेच्छे त्ति) इतरथा ज्ञानदर्शननिमित्तं सूत्रार्थग्रहणदर्शनप्रभावकशास्त्राध्ययनार्थमिति भावः । यदि उपसंपद्यन्ते, ततो नेच्छेत्, नोपसंपदं ग्राहयेदित्यर्थः ।

अथ यदुक्तमात्मपरोभयतुलना चतुर्विधेति । तत्रात्मतुलनां तावद्भावयति-

आहाराई दव्वे, उप्पाएउं सयं जइ समत्थो ।
खित्तउ विहारजोग्गा, खेत्ता विहतारणाईया ॥
कालम्मि ओमाई, भावे अतरंतमाइपाउग्गं ।
कोहाइनिग्गहं वा, जं कारणसारणा वा वि ॥

इहात्मतुलना चतुर्विधा-द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यत एषामुपसंपन्नानां यथेप्सितान्याहारादीनि । स्वयमुत्पादयितुं समर्थः । आदिग्रहणादुपधिशय्यापरिग्रहः । क्षेत्रतऋतुबद्धविहारयोग्यानि वर्षावासयोग्यानि वा क्षेत्राणि उत्पादयितुं शक्नोमि । नै वा विहारमित्यथवा तस्मात्तारणं पारनयनम्, आदिशब्दात् राजद्विष्टादितारणानि कर्तुमहं समर्थो न वेति । काले अवमं दुर्भिक्षम् तत्रादिग्रहणादशिवभयादौ निर्वाहयितुं शक्तोऽस्मि न वेति ? । भावे-(अतरंत त्ति) ग्लानीभूतानामादिशब्दाद्बालवृद्धादीनां वा एषां प्रायोग्यमुत्पादयितुं समर्थोऽहं नवेति । अथवा-शक्नोमि क्रोधनिग्रहं कर्तुं नवेति ? । आदिग्रहणान्मानमायालोभनिग्रहपरिग्रहः । यद्वा-यत्कारणं ज्ञानादिकं निमित्तमुद्दिश्यैते, उपसंपद्यन्ते, तस्याहं सारणां कर्तुमीशो नवेति ? । गतमात्मतुलनाद्वारम् ।

आहारद्वारमाह-

आहाराइ-अनियओ, लंभो सो विरसमाइ-निच्छूढो ।
उज्जामग ! खलु खेत्तं, अरिज्झहियाओ अ वसहीओ ॥
ऊणाइरित्तवासो, अकालजिक्खपुरिमड्ढओमाई ।
भावे कसायनिग्गह, चोयणनयपोरुसी नियया ॥

ते प्रतीच्छकाः प्रथममेवोच्यन्ते । द्रव्यत आहारादीनां लाभोऽनियतः कदाचिद्भवति, कदाचिन्नेति । योऽपि भवति सोऽपि विरसः पुराणौदनादिरादिशब्दादरसस्य हिङ्ग्वाद्यसंस्कृतस्य कक्कस्य च वल्लचणकादेर्ग्रहणं सोऽपि निपूढ उज्झितप्रायः क्षेत्रत उद्भ्रामका भिक्षाचर्यायां गन्तव्यं, बहिर्ग्रामेषु भिक्षार्थं यत्पर्यटनं, सा उद्भ्रामकभिक्षाचर्या । तथा खलु क्षेत्रमिति नाम यत्राल्पो लोकः प्रदाता, सोऽपि च स्तोकमेव ददाति । तत्र विहर्तव्यम्, अनृतुहिताश्च प्रायो वसतयः प्राप्यन्ते । यो यदा ऋतुर्वर्त्तते तस्य तदाऽननुकूला इत्यर्थः । कालतः कदाचिन्मासकल्पस्थाने वर्षावासस्थाने वा ऊनम् अतिरिक्तं वा कालकरणे वासोऽवस्थानं भवेत् । क्वाऽपि क्षेत्रे अकाले सूत्रपौरुष्या अर्थपौरुष्या वा वेलायां भिक्षाप्राप्ये ततः सूत्रार्थहानिरपि भाविनी, क्वापि पूर्वार्द्धेऽपि पूर्णोदरं स्वोदरपूरकाहारमात्राया न्यूनं लभ्येत, आदिग्रहणात्पानकमपि न संपद्यते । भावे-भावतः कषायनिग्रहकरणपुरस्सरोदनायामपि कर्त्तव्यः । न

च नियतावश्यंभाविनी सूत्रार्थयोः पौरुषी, कदाचिदस्माकं धर्मकथादिव्यग्रतया सूत्रार्थयोर्व्याघातोऽपि भवन्तं भवेदित्यर्थः। तदेतत्सर्वमपि यद्यङ्गीकर्तुमुत्साहः ततः प्रतिपद्यस्वमुपसंपदमिति ।

अप्पाणियपरे चेव, तुलणा उजयथिरकारणं वुत्ता ।

आत्मविषया परविषया च तुलना उभयोरपि स्थिरताकारणं स्थिरीकरणार्थमेवमुक्ता । गतं स्थिरहस्तद्वारम् ।

(८) तत्र तृतीयं प्रतीच्छनाद्वारं तच्च सोपनयेन स्नुषादृष्टान्तेन सहोपवर्णितम्-

पडिवज्जंते चेव, करिंति सुण्हाए दिट्ठंतं ।

" पडिवज्जंते " इत्युत्तरार्द्धं सर्वमनन्तरोक्तमर्थं यदि प्रतीच्छकाः प्रतिपद्यन्ते । तदा स्नुषया वध्वा दृष्टान्तमाचार्याः कुर्वन्ति तमेवाह-

आमरहाई ओलो-यणाइजीयाऽऽकुले अ पेहंती ।
सकुलघरपरिचयणं, वारिज्जइ मुम्मुरमाईहिं ।।
खिंसिज्जइ हम्मइ वा, नीणिज्जइ वा घरा अणायंति ।
नीया पुण से दोसे, छायंति न निच्छुजंते य ।।

यथा-काचिद्वधूः स्वकुलगृहस्य स्वकीयपितृगृहस्य संबन्धी यः परिचयो रमणीयवस्तुदर्शनहेवाकस्तेनाभ्वरयान् । आदिग्रहणेन हस्त्यादीन्, अवलोकनं गवाक्षस्तेन आदिशब्दादपरेण वा जालकादिना नीनानाकुलाँश्च जनान् प्रेक्षमाणा सती वार्यते । पुत्रि ! मा अवलोकिष्ठा, इति प्रतिषिध्यते । श्वपुरादिभिः मा भूदस्याः प्रसङ्गः परपुरुषविषयोऽप्यवलोकनहेवाक इति। यदि वारिता सती नोपरमते ततः (खिंसिज्जइ त्ति) निन्द्यते-आः कुलपांसुले ! किमेवं करोषीत्यादि । तथापि यदि न निवर्त्तते ततो हन्यते। केशादिभिस्ताड्यते एवमपि यदि न, ततोऽनिच्छन्ती गृहात् निष्काश्यते। मा भूदपरासामपि गृहमहेलानामस्याःप्रसङ्गःजनित एवंविध एव कुहेवाक इति कृत्वा ये तु तस्या निजकाः पितृगृहसंबन्धाः स्वजनाः (से) तस्याः दोषान् छादयन्ति कथंचिदुपालम्भप्रदानादिना वारयन्ति । अपि न गृहान्निष्काशयन्ति । गौरवार्हत्वात्तत्र तस्याः । एष स्नुषादृष्टान्तः ।

अथार्थोपनयमाह-

मरिसिज्जइ अप्पो वा, सगणे दंडो न या वि निच्छुभणं।
अम्हे पुण न सहामो, ससुरकुलं चेव सुण्हाए ।।

ते आचार्याः भणन्ति--आर्याः पितृगृहस्थानीयो युष्माकं स्वगच्छः, श्वसुरस्थानीया वयम, अश्वरथाद्यवलोकनस्थानीयं प्रमादासेवनं, गवाक्षादिस्थानीयान्यपुष्टालम्बनानि, ततो युष्माकं स्वगणे स्वगच्छे प्रमादासेवनं कृतमपि मृष्यते क्षम्यते । अल्पो वा दण्डः प्रायश्चित्तलक्षणः प्रमादप्रत्ययो भवतां तत्र दीयते, न च महत्यपि अपराधे गच्छात् निष्काशनं, गौरवार्हतया भवतां भवति । वयं पुनः स्वल्पमप्यपराधं भवतां न सहामः। श्वशुरकुलमिव स्नुषाया वध्वाः संबन्धिनमपराधमित्युक्तेः।यदि ते प्रतीच्छका भणेयुः । एवमेतद्यदादिशन्ति भगवन्तः, ततस्ते प्रतीच्छन्ते । एते च द्विधा,पार्श्वस्थादयो वा भवेयुः,संविग्ना वा। तत्र ये पार्श्वस्थादयस्ते पार्श्वस्थादिमुण्डिता वाऽपि समनोज्ञा वा असमनोज्ञा वा ।

सर्वेषामप्येषां विधिमाह-

पासत्थाइमुंडिए, आलोयण होइ दिक्खपभिईओ ।
संविग्गपुराणे पुण, जप्पभिइं चेव ओसन्नो ।।
समणुन्नमसमणुन्ने, जप्पभिई चेव निग्गओ गच्छा ।
सोहिं पडिच्छिऊणं, सामायारिं पयंती य ।।

यः पार्श्वस्थादिभिरेव मुण्डितस्तस्य दीक्षाप्रभृति दीक्षादिनादारभ्य आलोचना भवति । यस्तु संविग्नमुण्डितत्वात् पूर्वं संविग्नः पश्चादवसन्नीभूतः स पुराणसंविग्न उच्यते । गाथायां प्राकृतत्वात् व्यत्यासेन पूर्वपरनिपातः।स यत्प्रभृति यद्दिनादारभ्यावसन्नः संजातस्तत्प्रभृत्येवालोचना दाप्यते॥ यस्तु संविग्नः स द्विधा-समनोज्ञः साम्भोगिकोऽसमनोज्ञः सांभोगिकः। स द्विविधोऽपि यत्प्रभृति स्वगच्छाभिर्गतस्तत एव दिनादारभ्य आलोचनां दापयितव्यः। ततः शोधिमालोचनां प्रतीच्छनीयो यत्पञ्चकं मूलं वा प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्य तद्दत्त्वा स्वकीयां सामाचारीमाचार्याः दर्शयन्ति ।

किं कारणमिति चेदित्याह-

अवि गीयसुयहराणं, वाइज्जंताण मा हु अचियत्तं ।
मेरासु य पत्तेयं-मा संखडं पुव्वकरणेणं ।।

ये गीतार्थाः श्रुतधरा बहुश्रुता गणिवाचकादिशब्दाभिधेया इत्यर्थः। तेषामपि किं पुनरितरेषामित्यपिशब्दार्थः। भिन्नसामाचारीकरणेनोद्यच्छमानानां मैवं सामाचारीमन्यथाकारं कार्षीरित्यादिवचनैर्मा भूत् (अचियत्तं) अप्रीतिकं यतोऽन्योन्यं गच्छानां काश्चिदतीदृश्यः सामाचार्यस्ततः प्रत्येकं पृथग् पृथक् मर्यादासु सामाचारीषु वर्त्तमानासु प्रवाहतः पूर्वन्यस्ताया एव सामाचार्याः करणेन प्रतिनोदितानां मा (असंखड) कलहो भवेदित्यस्मात्सा चक्रवालसामाचारी कथयितव्या ।

आह कथं पुनरभिधीयमानेऽप्रीतिकं भवेदुच्यते-

गच्छइ वियारभूमा-इ वायओ देइ कप्पिगारं से ।
तम्हा उ चक्कवालं, कहिंति अणाहिंडिय निसिं वा ।।

अयं वाचको विचारभूम्याम् । आदिशब्दात् भक्तपानग्रहणादौ गच्छति, अतो दद्यात्, कल्पितारं कमपि कल्पकं साधु (से) तस्य वाचकस्य येन सामाचारीं दर्शयति। एवमभिधीयमाने तस्य वाचकस्य महदप्रीतिकं भवति। यथाऽहो स्वगणं विमुच्य परगणमुपसंपन्ना वयमप्येवं परिभूयामहे इति, यत एवं तस्माच्चक्रवालसामाचारीं प्रतिदिनक्रियाकलापरूपां तेषां पुरत आचार्याः कथयन्ति । यथा ते कल्पका भवन्ति, यावच्च सा तेषां प्ररूप्यते-तावत् (अणाहिंडिय त्ति) ते भिक्षार्थं न हिण्ड्यन्ते, मा भूत्तेषां सामाचारीशिक्षणव्याघातः। अथ न संस्तरन्ति, ततो निशि रात्रौ ते सामाचारीं ग्राहयितव्या इति । गतं प्रतीच्छनाद्वारम् ।

(९) तत्र चतुर्थं वाचनाद्वारं तच्चोपदेश--सारणा--प्रतिस्मारणाभिः त्रिविधम् । घट्टनादिदृष्टान्तत्रयेण, निष्काशनादिविधिना स्थिरीकरणाय राजदृष्टान्तेन सह दर्शितम् * गृहीतसामाचारीकाणां सूत्रार्थवाचना दातव्या, वाच्यमानानां च तेषां सामाचारीकरणे प्रमाद्यतां यो विधिस्तमभिधित्सुर्द्वारश्लोकमाह-

उवएसो सारणा चेव, तइया पडिसारणा ।
छंदे अवट्टमाणं जं, अप्पच्छंदेण वज्जेज्जा ।।

उपदेशः, स्मारणे चैव, तृतीया प्रतिस्मारणा चैव । ततः उन्दे उपदेशेऽवर्त्तमानं विनेयं गुरुरपि आत्मच्छन्देनात्माभिप्रायेण घर्जयेत्, परित्यजेदिति निर्युक्तिश्लोकसमासार्थः। अथ विस्तरार्थस्तत्र गुरुभिस्ताक्त्रति वक्तव्यमकाकमेषा सामाचारी, यत्रिकाविकल्पादयः प्रमादाः परिहर्त्तव्या एष उपदेशः ।

अथ स्मारणामाह-

निद्दापमायाईसुं, सई तु खलियस्स सारणा होइ ।
नणु कहिय ते पमाया, मा सीयसु तेसु जाणंतो ॥

निद्रैव प्रमादो निद्राप्रमादः आदिशब्दादप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितादिपरिग्रहः । तेषु सकृदेकवारं स्खलितस्य स्मारणा कर्त्तव्या भवति। यथा-भो महाभाग ! नन्वेते पूर्वमेवास्माभिस्तव प्रमादाः कथिताः, ततो जानन्नपि तेषु मा सीदेरित्येषा स्मारणा ।

अथ प्रतिस्मारणामाह-

फुड रुक्खं अचियत्तं, गोणो तुदिओ व मा हु पेल्लेज्जा ।
सज्जं अन्नो न भणइ, धुव सारण तं वयं भणिमो ॥

स्फुटं नाम, यस्तेन प्रमादः कृतः परिस्फुटं नाभिधीयते, किं त्वन्यव्यपदेशेन भणितव्यम् । रूक्षं नाम,निर्द्धर्म्म ! निरङ्कुश !, निःस्वक ! इत्यादि,तदपि न वक्तव्यं,यतः स्फुटं रूक्षेऽभिधीयमानमप्रीतिकं भवति। अत्र च गोदृष्टान्तो यथा-गौर्बलीवर्दो महता भारेण लगितो, हलं वा वहमानः, प्रतोदनातितोदितः सन्, कूर्दयित्वा भारं पातयति। हलं वा भनक्ति। एवमयमपि स्फुटाक्षरं रूक्षभणित्या वा भणितः, कषायितत्वादसंस्कृतं हित्वा गच्छात् निर्गच्छेत् । अत एवाह-गौरिव वाशब्दस्योपमानार्थस्य च सम्बन्धादसावपि तुदितः, खरपुरुषभणनप्रतोदेन व्यथितः सन्, मा हु निश्चितं प्रेरयेत् । संयमभारं बलादपहस्त्यापातयेत् । अत एव च सद्यस्तत्कालं यदा प्रमादः कृतस्तदैव भण्यते (धुव सारणं ति) स वक्तव्यो वत्स ! ध्रुवमवश्यं कर्त्तव्यं, संयमयोगेषु सीदतां सारणा । तथा च मौनीन्द्रवचनम्- " रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परियत्तउ । भासियव्वा हिया भासा, सपक्खगुणकारिया " तत्तस्मात् जिनाज्ञाराधनाय वयं भवन्तमेवं भणामो, न पुनर्मत्सरप्रद्वेषादिना ।

अथ " सज्जं अन्नो न भणइ त्ति " पदव्याख्यानार्थमाह-

तद्दिवसं बिइए वा, सीयंतो वुच्चए पुणो तइयं ।
एगो वराहो सोढो, बीयं पुण ते न विसहामो ॥

सीदन् सामाचार्यां प्रमाद्यन्, तस्मिन्नेव दिवसेऽन्यस्यां वेलायां द्वितीये वा दिवसे पुनर्भूयोऽप्युच्यते, तृतीया प्रतिस्मारणा । एक उपदेशो, द्वितीया स्मारणा, तृतीया प्रतिस्मारणेति कृत्वा कथमित्याह—एकस्तव महानपराधः सोढस्तितिक्षितोऽस्माभिर्यदि पुनर्द्वितीयं स्वल्पमप्यपराधं करिष्यसि ततो वयं ते न विषहामो, न सहिष्यामः ।

तथा चार्द्रगणदृष्टान्तः क्रियते-

गोणाइ-हरणगहिओ, मुक्को य पुणो सहोढगहिओ उ ।
उल्लोलगण-हारी, न मुच्चए जायमाणो वि ॥

यथा कश्चिच्चौरो गवादिहरणं कुर्वन्नारक्षकैर्गृहीतस्ततो मुक्तः, मामेकवारं मा हन भूयः स्वल्पमपि चौर्यं करिष्यामीत्युक्ते, दयालुभिरारक्षकैर्मुक्तः । पुनर्द्वितीयवेलायां पूर्वाभ्यासवशात् यदि आर्द्रगणहारी भवति, स्वल्पचौर्यकारीति भावः । तथापि सहोढः सलोप्त्रो गृहीतः सन् याचमानोऽपि मोक्षणं न मुच्यते । एवं भवतोऽप्येकवारं महदपि प्रमादपदं तितिक्षितमस्माभिः। इत ऊर्द्धं तु स्तोकमपि न तितिक्षामहे । इत्यमुक्तोऽपि यदि प्रमाद्यति,तदा स लघु दण्डं दत्वा,द्वितीयं वल्कलदृष्टान्तं कुर्वन्ति ।

तमेवाह-

पहिज्जंतं वुच्छं, इति उदिए दंडणा पुणो बिइयं ।

यथा द्रुमाद् रहितं सत् यद्वल्कमानं चाल्यमानमपि " वुच्छं-ति " देशीपदत्वादवबद्धं विनष्टमिति । यावदेवं भवानप्यस्माभिरित्थं स्मारणादिना घट्टमानोऽपि प्रमादमेव सेवितवानित्येवमुदिते कथिते सति यदि भूयः प्रमाद्यति, तदा पुनरपि दण्डना मासलघुप्रायश्चित्तरूपा कर्त्तव्या (बिइयंति) एतद् द्वितीयमुदाहरणम् ।

इत्थं दण्डितोऽपि यदि प्रमादान्नोपरमते, तदा कुङ्कुमदृष्टान्तो वक्तव्यः-

पासाणो संवुत्तो, अइरुचियं कुंकुमं तइए ॥

"पासाणो" इत्यादि । अति अतीव रुचितं पिष्टं कुङ्कुमं किं पाषाणः संवृत्तः। एवं भवानपि महता प्रयासेन प्रतिनोद्यमानः किं प्रमत्तः संवृत्त, इत्येवं तृतीयमुदाहरणं कृत्वा, तथैव मासलघु दीयते । अथ यदुक्तं प्राक् (अविणीयाण विवेगो य त्ति) तदिदानीं भाव्यते । अविनीता नाम, ये बहुशोऽपि प्रतिनोद्यमानाः प्रमाद्यन्ति । ते च उन्दे अवर्त्तमाना भण्यन्ते । तांश्च सूरय आत्मच्छन्देन वर्जयेयुः ।

कः पुनरात्मच्छन्दो येन ते परिह्रियन्ते । प्राग्द्वारगाथा-सूचितपत्रदृष्टान्तश्च उच्यते-

तेण परं निच्छुभणा, आउट्टो पुण सयं परेहिं वा ।
तंबोलपत्तनायं, नासेहिसि मज्झ अन्ने वि ॥

ततः परं वारत्रयादूर्ध्वं यदि न निवर्त्तते, तदा निष्काशना कर्त्तव्या, निर्गच्छ मदीयगच्छादिति । अथासौ स्वयं परेण वा प्रज्ञापितः सन्नावृत्तः प्रमादात्प्रतिनिवृत्तः प्रतिभणति, भगवन् ! क्षमस्व, मदीयमपराधमिदमस्मं न पुनरेवं करिष्यामीति । ततो यद् द्वारगाथायां पत्रज्ञानं, सूचितं तदुपदर्श्यते (तंबोलपत्तनायं ति) यथा तम्बोलपत्रं कुथितं सत् यदि न परित्यज्यते, ततः शेषाण्यपि पत्राणि कोथयति । एवं त्वमपि स्वयं विनष्टो, मम अन्यानपि साधून् विनाशयिष्यसीति कृत्वा निष्कासितोऽस्माभिः। संप्रत्यप्रमत्तेन भवितव्यं, मासगुरु च ते प्रायश्चित्तम् ।

अथ निष्काशनस्यैव विधिमाह-

सुहमेगो निच्छुभई, णेगा जणिया वि जइ न वच्चंति ।
अप्पाहएस उत्ताहिं, जग्गावण सारि कह गमणं ॥

ते पुनः प्रमाद्यन्त,एको वाऽनेके वा। यद्येकस्ततः सुखेनैव निर्गच्छ मद्गच्छादित्यभिधाय निष्काश्यते। अथानेके बहवस्ततस्ते यदि निर्गच्छतेति भणिताः अपि, वयं बहवस्तिष्ठाम, इत्यवष्टम्भं कृत्वा न व्रजन्ति, ततःशेषसाधून् रहस्यं ज्ञापयित्वाऽन्येन केनापि व्यपदेशेन मिषेण यथा न तेषां शङ्का भवति, तथोत्तरार्धे विहारयोग्यं कारयित्वा अन्यव्यपदेशेनैव रात्रौ चिरं जागरणं कारापणीया । यथा न प्रातः शीघ्रमुत्तिष्ठन्ति (सारिक त्ति) सागारिकः शय्यातरस्तस्यासौ रहसि कथनीयं, यथा वयं प्रभात एवामुकं ग्रामं व्रजिष्यामि । यदि कोऽपि महता निर्बन्धेन

युष्मान् प्रश्नयेत, यथा आचार्याः क्व गता इति । ततो यथावस्थितस्तस्य यथावन्निवेदनीयम् (गमणं ति) ततो गमनं कर्तव्यम् ।

गतेषु च यदि ते ब्रूयुः-

मुक्का मो दंडरुइणो, जणंति इह तेन तेसु अहिगारो ।
सेज्जायरनिब्बंधे, कहय गया न विणयहाणी ॥

अहो सुंदरं समजनि । यद्दारुणव्यसनिन आचार्यात् मुक्ता वयम् । इति ये भणन्ति, न तैरधिकारः । ये पुनः परित्यक्ताः सन्तो गाढं परितप्यन्ते । आः कष्टम् । उज्झिता वयं च कारार्या । निःसंकथा बन्धुभिस्तैर्जगद्वन्द्यैः अतः कथमिव भविष्यामः । इति ते शय्यातरं महता निर्बन्धेन पृच्छन्ति-कथय, कुत्रास्मान् विमुच्य, गताः क्षमाश्रमणाः । स प्राह-अमुकं ग्रामम् । ततस्तेन कथिते त्वरितमागतानां तेषां न विनयहानिः कर्तव्या । किं तु-प्रागिवाभ्युत्थानं दण्डकादिग्रहणं च कर्तव्यम् । ततस्ते बद्धाञ्जलिपुटाः पादपतिताश्रिसमुक्ता, वलितप्रकाशान्यश्रूणि विमुञ्चन्तो विज्ञपयन्ति । भगवन् ! क्षमस्व अस्मदीयमपराधं, विलोकयतास्मान् प्रसाद मन्थरया दृशा, प्रतिपद्यध्वं भूयः स्वप्रतीच्छकतया, कुरुतानुग्रहं स्मारणादिना । 'प्रणिपातपर्यवसितप्रकोपा हि भवन्ति महात्मानः' इत ऊर्ध्वं वयं प्रमादं प्रयत्नतः परिहरिष्याम इति । ततो गच्छसत्काः साधवः सूरीन् कृताञ्जलयः प्रसादयन्ति । गुरवो ब्रुवते, आर्या अलं दुशाश्च मम सारथिकत्वकल्पेनामून् प्रत्याख्यायकरणेन ।

एवमुक्ते साधवो भणन्ति-

को नाम सारहीणं स होइ जो भद्दवाइणो दमए ।
दुट्ठे वि उ जो आसे, दमेइ तं आसियं विंति ॥

को नाम सारथिनां मध्ये स भवति, यो भद्रवाजिनो विनीतानश्वान् दमयेत् न । कश्चिदसौ; असारथिरेवेत्यर्थः । दुष्टानविनीतानपि योऽश्वान् दमयति, शिक्षां ग्राहयति । तमाश्विकमश्वदमं ब्रुवते लौकिकाः ।

अपि च-

होंति हु पमायखलिया, पुव्वब्भासा य दुच्चया जंते ! ।
न चिरं वज्जंतणा य, हिया य अच्चंतियं अंते ॥

भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् ! पूर्वाभ्यासादनादिभवाभ्यासतया, दुस्त्यजानि प्रमादस्खलितानि भवन्ति । प्रायो अस्माकं प्रमादा निद्राविकथादयः स्खलितान्यनुपयुक्तागमभाषणादीनि । न चेयं स्मारणादिरूपा यन्त्रणा चिरं चिरकालं भाविनी त्वत्समीपभावमुपगते, ह्यमीषामप्रमादं को नाम स्मारणादिकं करिष्यतीति भावः । न चेयमापातवत् परिणामेऽपि दुःसहा, किं तु हिता च पथ्या । आत्यन्तिकमतिशयेन अन्ते अवसाने, परिणामे इत्यर्थः ।

यच्च परिणामसुन्दरं तदापातकममुष्योपादेयम्, अत्रान्तरे
सूरयस्तेषां प्रमादिसाधूनां तीव्रतरं संवेगमवगम्य
ते नैव स्थिरीकर्तुं राजदृष्टान्तं कुर्वन्ति-

अच्छिरुयालुनरिंदो, आगंतुअविज्जगुलियसंसणया ।
विसहामि त्ति य भणिए-ऽञ्जणं वेयण सुहं पच्छा ॥

" एगो राया तस्स अच्छिरुया जाया, वरसव्वविज्जेहिं न सकिउं चिगिच्छिउं । अन्नो अ आगंतुओ विज्जो' आगंतुं भणइ । मम अच्छिगुलिया उ, अच्छिसूलपसमणी उ, ताहिं अंजिएसु अच्छीसु तिव्वयरा दुरहियासा वेयणा भवति । मुहुत्तं जइ न वि मे मारणाए संदिसाहि, अंजेमि अच्छीणि । ' न मारेमि त्ति ' अब्भुवगए । अंजिएसु अच्छीसु तिव्वतरा वेयणा जाया ताहे रन्ना भणियं, अच्छीणि मे पाडयाणि मारेहं तं वेज्जं । तेहिं अब्भुवगंतुं न मारिओ । मुहुत्तंतरेण उवसंता वेयणा । पोराणाणि अच्छीणि जायाणि । विज्जो पूइओ " अथ गाथाक्षरार्थः-अक्षणअक्षुषोर्या रुग् रोगस्तद्वान् कश्चित् नरेन्द्रः । तस्य चागन्तुकवैद्येन गुटिकानां शंसना स्वरूपकथना । ततो राज्ञा विषहाम्यहं वेदनामिति भणिते,वैद्येन चक्षुषोर्गुटिकाभिरञ्जनम् । ततो वेदना । पश्चात्क्रमेण सुखं संजातम् । प्रगुणीभूते अक्षिणी । एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः-यथा तस्य राज्ञस्तत्कालदुस्सहमपि गुटिकाञ्जनं, क्रमेण चक्षुषोः प्रगुणीकरणात् परिणामसुन्दरं समजनि । एवं भवतामपि स्मारणादिकं. खरपुरुषत्वात् यद्यप्यापातकदुःखं, तथाऽपि परिणामसुन्दरमेव द्रष्टव्यम् । इह परत्र च सकलकल्याणपरम्पराकारणत्वादिति । (उक्तो निष्कासनाविधिः)

अथ संग्रहमाह-

इय अविवेगो य विगिं-चियाणं च संगहो पुणब्भूओ ।
जे उ निसग्गविणीया, मारणया केवलं तेसिं ॥

(इय) एवमविनीतानामविवेकः परित्यागो (विगिंचियाणं च त्ति) परित्यक्तानां पुनरावृत्तानां भूयः संग्रहो विधेयः । ये तु निसर्गेण स्वभावेन विनीतास्तेषां स्मारणैव केवलं कर्तव्या । यथेदमित्थं कर्तव्यमिति ।

उपसंहरन्नाह-

एवं पडिच्छिऊणं, निप्फत्ति कुणइ बारस समा उ ।

एवं देशदर्शनं कुर्वन् शिष्यः । प्रतीच्छकान् प्रतीष्य, निष्पत्तिं सूत्रार्थग्रहणादिना द्वादश समाः संवत्सराणि करोति । गतं निष्पत्तिद्वारम् ।

अथ विहारद्वारं व्याख्यायते-

एमो चेव विहारो, सीसनिप्फायणंतरम ॥

" एसो चेव " इत्यादि । एष एव विहारः शिष्यान् निष्पादयतो वेदितव्यः । इयमत्र भावना तस्य दर्शनं कृत्वा गुरुपादमूलमागतस्य गुरुभिराचार्यपदमध्यारोप्य, द्विकमासानुज्ञायां विहितायां नवकल्पविधिना विहरतो. यः शिष्यनिष्पादनविधिः, स एवमेव द्वादश वर्षाणि यावत् विज्ञेयः, तुच्छयवक्तव्यत्वादिति ।

(१०) विहारद्वारम् । तत्र जिनकल्पिकमाश्रित्य प्रतिद्वाररूपाणि अभ्युद्यतविहारमनआदीनि षट् द्वाराणि ।

व्याचिख्यासुर्द्वारगाथामाह-

अब्भोच्छित्तिमणंतर-तुलणा उवगरणमेव परिकम्मं ।
तवसत्तसुत्तएगत्ते, उवसग्गसहे य वरुरुक्खे ॥

अभ्युद्यतविहारविषयं मनः प्रयुङ्क्ते । पञ्चानामाचार्याणां तुलना, स्वयोग्यताविषया भवति । उपकरणं, जिनकल्पोचितमेव गृह्णाति । परिकर्म, इन्द्रियादिजयरूपं करोति । तपःसत्त्वसूत्रैकत्वानि, उपसर्गसहश्चेति, पञ्च भावना भवन्ति । वटवृक्ष इति, जिनकल्पं तीर्थकरादीनामभावे वटवृक्षस्याधस्तात् प्रतिपद्यते । इति द्वारगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुराह-

अणुपालिओ य दीहो, परियाओ वायणा वि मे दिन्ना ।
निप्फाइया य सीसा, सेओ हियमप्पणो काउं ॥

तेनाचार्येण सूत्रार्थयोरव्यवच्छित्तिं कृत्वा, पर्यन्ते पूर्वापररात्रकालसमये धर्मजागरिकां जाग्रतेत्थं चिन्तनीयम् । यथा-अनुपालितो मया दीर्घः पर्यायः प्रव्रज्यारूपो, वाचनापि मया दत्ता, शिष्येभ्यः । निष्पादिताश्च भूयांसः शिष्याः । तदेवं कृता तीर्थस्याव्यवच्छित्तिः। तत्करणेन विहितमात्मन ऋणमोचनम् । अत ऊर्ध्वं श्रेयः प्रशस्यतरं ममात्मनो हितं कर्तुम् ।

किं नाम हितमिति चेदुच्यते-

किं तु विहारेण ऽब्भु-ज्जएण विहरामि ऽणुत्तरगुणेणं ।
आउ अब्भुज्जयमास-णेणं विहिणा अणु मरामि ॥

किंतुरिति वितर्के । अभ्युद्यतविहारेण जिनकल्पादिना, अनुत्तरगुणेनानुत्तरा अनन्यसामान्या गुणा निर्ममत्वादयो यस्मिन् स तथा, तेनाहं विहरामि । (आउ त्ति) उताहो (अब्भुज्जयमासणेणं ति) सूत्रत्वात् सुब्व्यत्ययः अभ्युद्यतमरणविशेषेण शास्त्रोक्तेन विधिना म्रिये । अनु पश्चात् संलेखनापुरस्कारं मरणं प्रतिपद्येऽहमिति । (बृ०)

इह चायं विधिः । यदि स्तोकमेवायुरवशिष्यते, ततः पादपोपगमनादीनामेकतरमभ्युद्यतमरणं प्रतिपद्यते । अथ प्रचुरमायुः परं जङ्घाबलपरिक्षीणः, ततो वृद्धावासमध्यास्ते , अथायुर्दीर्घं च न जङ्घाबलक्षीणस्तदाऽभ्युद्यतविहारं प्रतिपद्यत इति, गतमव्यवच्छित्तिमनोद्वारम् ।

(११) तत्र द्वितीयमाचार्यादिरूप-पञ्चतुलनात्मकम् ।

पञ्चानामाचार्योपाध्यायप्रवर्त्तकस्थविरगणावच्छेदकानां तुलना भवति । यथा त्रयाणां अभ्युद्यतविहाराणां कतरं प्रतिपद्यामहे । येन एष प्रायोऽभ्युद्यतविहारस्याधिकारीति इति कृत्वा पञ्चेति सङ्ख्यानियमः कृतः । इत्थमात्मानं तोलयित्वा यदि जिनकल्पं प्रतिपित्सुस्तदा इत्थं विधिं करोति-

गणनिक्खेवित्तरिओ, गणिस्स जो व ठविओ जहिं ठाणे ।

गणिन आचार्यस्य गणनिक्षेपः । इत्वरः परिमितकालापन्नो भवति । यो वा उपाध्यायादिर्यत्र स्थाने पदे स्थापितः, स तस्य-दमकतुल्यगुणे साधावित्वरनिक्षेपेण निक्षिपति । आह-किमर्थमसावित्वरं गणादिनिक्षेपं विदधाति, न यावज्जीविकम् ? उच्यते-इह च काकुकविवरगामिता शिलीमुखेन वामलोचने पुत्रिकाया वेधनमिव दुष्करं गणाद्यनुपालनम् । अतः पश्यामस्तावदेतेऽभि वा ऽऽचार्यप्रभृतयः किमस्य गणादेरनुपालनं कर्तुं यथावदीशते, वा न वा । यदि नेशते । ततो मया न प्रतिपत्तव्यो जिनकल्पः । यतो जिनकल्पानुपालनादपि श्रेष्ठतरमितरस्य यथाविधस्याभावे सूत्रोक्तनीत्या गणाद्यनुपालनं । बहुतरनिर्जरालाभकारणत्वात् । न च बहुगुणपरित्यागेन स्वल्पगुणोपादानं विदुषां कर्तुमुचितं । सुप्रतिष्ठितकार्यारम्भकस्यास्तेयामित्यभिसंधाय, स भगवानित्वरं गणादिनिक्षेपं विदधातीति ।

उक्तं च पञ्चवस्तुशास्त्रे इहैव प्रक्रमे श्रीहरिभद्रपूज्यैः—

" पिच्छामु ताव एए, करिसया होंति अम्ह वा ऽऽएस ।
ओगाए वि पायणं, निव्वहणं दुक्करं होइ ॥

न य बहुगुणचायणं, अप्पगुणपसाहणं अह बुहाणं ।
इइं काउं कज्जं-सज्जाय सुपइट्ठियाऽरंभा " ॥ (गतं पञ्चतुलनाद्वारं)

उवहिं च अहागडयं, गेण्हइ जाव ऽण्णुप्पाए ॥

अथोपकरणद्वारमाह-" उवहिं च " इत्यादि । यावदन्यं जिनकल्पप्रायोग्यं शुद्धैषणायुक्तं प्रमाणोपेतं चोपधिं वस्त्रादि, नोत्पादयति, तावद्यथाकृतमेव गृह्णाति । ततः स्वकल्पप्रायोग्ये उपकरणे लब्धे सति प्राक्तनमुपकरणं व्युत्सृजतीति । गतमुपकरणद्वारम् ।

(१२) तत्र चतुर्थं परिकर्मद्वारम् । अस्य द्विविधत्वमस्यैवाधिकारस्य (१६) अङ्के द्रष्टव्यम् ।

परिकर्मेति वा भावनेति वा एकार्थं । तत आत्मानं भावनाभिः सम्यक् भावयति । आह-सर्वेऽपि साधवस्तावद्भावितान्तरात्मनो भवन्ति । अतः किं पुनर्भावयितव्यम् ? उच्यते—

इंदियकसायजोगा, विनियमिया जइ वि सव्वसाहूहिं ।
तह वि जयो कायव्वो, तज्जयसिद्धिं गणंतेणं ॥

यद्यपि सर्वसाधुभिरिन्द्रियकषाययोगाः, विविधैः प्रकारैर्नियमिता जितास्तथाऽपि जिनकल्पं प्रतिपत्तुकामेन पुनरेतेषां जयः कर्त्तव्यः । तत्रैहिकाऽऽमुष्मिकापायपरिभावनादिना इन्द्रियाणां जयस्तथा कर्त्तव्यः, यथेष्टानिष्टविषयेषु गोचरमुपागतेषु रागद्वेषयोरुत्पत्तिरेव न भवति । कषायाणामपि जयस्तथा कर्त्तव्यो, यथा-आक्षेपो दुर्वचनश्रवणादि बाह्यं कारणमवाप्यान्वितेषु तेषामुपचय एव नाविर्भवति । योगानामपि मनःप्रभृतीनां जयस्तथा यतितव्यं, यथा-तेषामार्त्तध्यानादिकं दुष्प्रणिधानमपि नोदयमासादयति । अथ किमर्थमित्थमिन्द्रियकषाययोगानां जयः कर्त्तव्य इत्याह-तेषामिन्द्रियादीनां जयस्तज्जयेन सिद्धिर्जिनकल्पपारप्राप्तिस्तां गणयता मन्यमानेनेन्द्रियादीनां जयः करणीयः । बृ० १ उ० । (इतोऽग्रे ' भावणा ' शब्दे)

(१३) तत्र पञ्चमं तपआदिपञ्चकानां पञ्चतुलनाभावनारूपम । द्वितीया सत्त्वभावना ' सत्तभावणा ' शब्दे । तृतीया सूत्रभावना ' सुत्तभावणा ' शब्दे ।

तावत् प्रथमां तपोभावनामाह-

तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य ।
तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ ॥

तपसा, सत्त्वेन, सूत्रेण, एकत्वेन, बलेन च, एवं तुलना भावना पञ्चधा प्रोक्ता । जिनकल्पं प्रतिपद्यमानस्येति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथ विस्तरार्थमभिधित्सुराह-

जो जेण अणब्भत्थो, पोरिसिमाई तवो उ तं तिगुणं ।
कुणइ छुहाविजयट्ठे, गिरिणइसीहो य दिट्ठंतो ॥

यदेन पौरुष्यादिकं तपोऽनभ्यस्तं सात्मीभावमानीतं तत् त्रिगुणं, त्रीन् वारान् करोति । यथा-प्रथमं पौरुषीं तावत्तथाऽऽसेवनेन सात्मीभावमानीय ततः पूर्वार्द्धं तथैवासेव्य सात्मीभावमानयति । एवमेकाशननिर्विकृतिकादिष्वपि द्रष्टव्यम् । किमर्थमित्याह-क्षुद्विजयार्थं यथा क्षुत्परीषहसहने सामर्थ्यं भवतीत्यर्थः । अत्र गिरिनदीसिंहेन दृष्टान्तः यथा-असौ गिरिनदीं तरन् परतटे चिह्नं करोति । यथा शुष्कप्रदेशे वृक्षाद्युपलक्षिते मया गन्तव्यमिति संचरन् तीक्ष्णेनोदकवेगेनापह्रियते । ततो व्यावृत्य भूयः प्रगुणमेवोत्तरति । यदि ह्रियते । ततो भूयः तथैवोत्तरति । एवं यावत् सकलामपि गिरिनदीं प्रगुणमेवोत्तरीतुं न शक्नोति, ता-

यावत्पुनस्तपोऽभ्यासं न मुञ्चति । एवं सोऽपि यावद्बाह्यं तपः सात्मीभावं न याति, तावत्तदभ्यासं न मुञ्चति ।

एतदेवाह-

एक्केकं ताव तवं, करेइ जह तेण कीरमाणेणं ।
हाणी न होइ जइया, वि होज्ज छम्मासउवसग्गो ॥

एकैकं तपस्तावत्करोति । यथा तेन तपसा क्रियमाणेनापि विहितानुष्ठानस्य हानिर्न भवति । यदापि कथंचित् भवेत्षण्मासान् यावदुपसर्गो देवादिकृतोऽनेषणीयकरणादिरूपः, तदापि षण्मासान् यावदुपोषित आस्ते । न पुनरनेषणीयमाहारं गृह्णाति ।

तपस एव गुणान्तरमाह-

अप्पाहारस्स न इं-दियाइँ विसएसु संपवत्तंति ।
नेव किलिस्सइ तवसा, रसिएसु न सज्जए वा वि ॥

तपसा क्रियमाणेनाल्पाहारस्य सतो नेन्द्रियाणि विषयेषु रूपादिषु संप्रवर्तन्ते, न च क्लाम्यति, बाधामनुभवति । तपसा नैव च रसिकेषु मधुरेषु अशनादिषु सजति, सङ्गं करोति । सुपरिभोगाभावमाहाराभावात् ।

अपि च-

तवभावणाइ पंचिं-दियाणि दंताणि जस्स वसमिंति ।
इंदियजोगायरिओ, समाहिकरणाइँ कारए ॥

तपोभावनया हेतुभूतया पञ्चापि संख्याकानीन्द्रियाणि दान्तानि सन्ति । यस्य वशमायत्ततामागच्छन्ति । स इन्द्रिययोग्याचार्यः, इन्द्रियगुणनक्रियागुरुः समाधिकरणानि समाधिव्यापाराणि कारयतीन्द्रियाणि । यथा यथा ज्ञानादिषु समाधिरुत्पद्यते, तथा तथा तानि कारयतीत्यर्थः । उक्ता तपोभावना । बृ० १ उ० ।

(१४) तुलनाभावनापञ्चके चतुर्थैकत्वभावनामाह-

जइ वि य पुव्वममत्तं, छिन्नं साहूहिँ दारमाईसु ।
आयरियाइममत्तं, तहा वि संजायए पच्छा ॥

यद्यपि च—पूर्वं गृहवासकालसत्कमपि ममत्वं साधुभिर्दाराकलत्रं तदादिग्रहणात्पुत्रादिषु छिन्नमेव । तथाऽप्याचार्यादिविषयं ममत्वं पश्चात् प्रव्रज्यापर्यायकाले संजायते । तत्र कथं परिहापयितव्यम् ।

उच्यते—

दिट्ठिनिवायालावे, अ परोप्परकारियं स पडिपुच्छं ।
परिहासमिहो य कहा, पुव्वपवित्ता परिहावेइ ॥

सूत्रादिषु ये पूर्वं दृष्टिनिपाताः सस्निग्धावलोकनानि ये च तैः सहालापास्तान् । तथा परस्परोपकारितां मिथो भक्तपानादानग्रहणादुपकारं प्रति पृच्छन् सूत्रार्थादिप्रतिपृच्छया सहितं, परिहासं हास्यं, मिथः कथाश्च परस्परवार्ताः, पूर्वप्रवृत्ताः सर्वा अपि परिहापयति ।

ततश्च—

तणुईकयम्मि पुव्वं, बाहिरपेम्मे सहायमाईसु ।
आहारे उवहिम्मि य, देहे य न सज्जए पच्छा ॥

सहायः साङ्घाटिकसाधुस्तद्विषये, आदिशब्दादाचार्यादिविषये च, बाह्यप्रेमाणि पूर्वं तनुकीकृते परिहापिते सति, ततः पश्चादाहारे उपधौ, देहे च, न सजति, न ममत्वं करोति ।

ततः किं भवतीत्याह-

पुव्वं छिन्नममत्तो, उत्तरकालं सविज्जमाणे वि ।
साजात्तियइअरं वा, कुणइ दट्ठुं न संगइए ॥

पूर्वं छिन्नममत्वः सर्वेऽपि जीवा असकृदनन्तशो वा सर्वजन्तूनां स्वजनभावेन शत्रुभावेन च संजाताः । अतः कोऽत्र नः स्वः को वा परः, इति भावनया त्रुटितप्रेमबन्धः, स उत्तरकालं जिनकल्पप्रतिपत्त्यनन्तरं, व्यापाद्यमानानपि संगतिकान् स्वजनान् स्वभाविकानितरान् वा वैक्रियशक्त्या देवादिनिर्मितान् दृष्ट्वा, न क्षुभ्यति, ध्यानात् न चलति ।

अत्र दृष्टान्तमाह—

पुप्फपुरपुप्फकेऊ, पुप्फवई देवी जुअलयँ पसुवे ।
पुत्तं च पुप्फचूलं, धूअं च सनामियं तस्स ॥
सहवड्डियाणुरागो, रायत्तं चेव पुप्फचूलस्स ।
घरजामाए दाणं, मिलए निसि केवलं तेणं ॥
पव्वज्जा य नरिंदे, अणुपव्वयणं च पेगत्ते ।
वीमंसा उवसग्गे, निरोहँ समुहिं च कंदणया ॥

पुप्फपुरं नयरं । तत्थ पुप्फकेऊ राया । पुप्फवई देवी । सा अन्नया, जुयलं पसूया । पुप्फचूलो दारओ । पुप्फचूला दारिया । ताणि दो वि सहवड्डियाणि । परोप्परं अईव अणुरत्ताणि । अन्नया पुप्फचूलो राया पव्वइओ । अणुरागेणं पुप्फचूला वि भगिणी पव्वइया । सो य पुप्फचूलो । अन्नया जिणकप्पं पडिवज्जिउकामो । एगत्तभावणाए अप्पाणं भावेइ । इओ य एगेण देवेणं वीमंसणानिमित्तं पुप्फचूलाए अज्जाए रूवं विउव्वियं । तं घुत्ता धरिसिउं पवत्ता । पुप्फचूलो य अणगारो तेणं ओगासेणं वोलइ । ताहे सा पुप्फचूला अज्जा जेट्ठज्जसरणं भणाहि त्ति । आहइ, सो य भगवं सुट्ठितरं पसंधणो " एगोहं नऽत्थि मे को वि, नाहमन्नस्स कस्स वि " । इच्चाइ एगत्तभावणं भावितो गओ सट्ठाणं । एवं एगत्तभावणाए अप्पाणं भावेयव्वो त्ति । गाथाक्षरयोजना त्वेवम्-पुष्पपुरे, पुष्पकेतू राजा । पुष्पवती देवी, युगलं प्रसूते । वर्तमाननिर्देशस्तत्कालापेक्षया पुत्रं च पुष्पचूलं दुहितां च तस्य सनामिकां समानाभिधानां तयोश्च सह वर्द्धितयोरनुरागो । राजत्वं चैव । पुष्पचूलस्य पुष्पचूलायाश्च गृहजामात्रे दानं । सा च तेन भर्त्रा सम केवलं निशि रात्रौ मिलति । प्रव्रज्या च नरेन्द्रपुष्पकेतोः । तदनुरागेणानुप्रव्राजनं च पुष्पचूलायाः । ततो जिनकल्पं प्रतिपित्सुरेकत्वभावनां भावयितुं लग्नः । विमर्शपरीक्षा । तदर्थं देवेनोपसर्गं क्रियमाणे विटैः सन्मुखीं पुष्पचूलां कृत्वा धर्षणं कर्तुमारब्धं, ततः क्रन्दनाय । आर्य ! त्राणं शरणमिति ।

अत्रोपसंहारमाह-

एगत्तभावणाए, पकामजोगे गणे सरीरे णो ।
सज्जइ वेरग्गगओ, फासेइ अणुत्तरं करणं ॥

एकत्वभावनया भाव्यमानप्रकामभोगेषु शब्दादिषु गणे स-

र्चे शरीरे वा न सजति, न सङ्गं करोति । किं तु वैराग्यं गतः सन् स्पृशति, आराधयति । अनुत्तरं करणं प्रधानयोगसाधनं जिनकल्पपरिकर्मेति । गता एकत्वभावना ।

(१५) अथ बलभावना । तत्र बलं द्विधा—भावबलं शारीरबलं च ।

तत्र भावबलमाह–

भावो उ अभिस्संगो, सो उ पसत्थो व अप्पसत्थो वा ।
नेहगुणओ उ रागो, अपसत्थपसत्थओ चेव ॥

भावो नाम अभिष्वङ्गः । स तु द्विधा—अप्रशस्तः प्रशस्तश्च । तत्रापत्यकलत्रादिषु स्नेहजनितो रागः, सोऽप्रशस्तः । यः पुनराचार्योपाध्यायादिषु गुणबहुमानप्रत्ययो रागः प्रशस्तः । तस्य द्विविधस्यापि भावस्य येन मानसावष्टम्भेनासौ व्युत्सर्गं करोति, तद्भावबलं मन्तव्यम् । शारीरमपि बलम्-शेष-जनापेक्षया जिनकल्पार्हस्यातिशायिकमिष्यत इत्याह-तपोज्ञानप्रभृतिभिः भावनाभिर्भावयतः कृशतरं शरीरं भवति । ततः कुतोऽस्य शारीरबलं भवतीत्युच्यते "कामं तु शारीरबलम्" ।

हायइ परमणु तवना-णजावणजुअस्स देहोवचए वि ।
सती जह होइ धिई, थिरा तहा ऽसो जयइ कायं ॥

अनुमतधारणे । अनुमतमेवास्माकं यत्तपोज्ञानभावनायुक्तस्य शारीरबलं हीयते । परं देहोपचयेऽपि सति यथा धृतिर्मानसावष्टम्भलक्षणा निश्चला भवति । तथासौ यतते धृतिबलेन सम्यगात्मानं भावयतीत्यर्थः ।

आह-इत्थं धृतिबलेन भावयतः को नाम गुणः स्यादुच्यते–

कसिणा परिसहचमू, जइ ओत्थिज्जा हि सोवसग्गा वि ।
दुद्धरपहकरवेगा, भयजणणी अप्पसत्ताणं ॥
धिइधणियबद्धकच्छो, जो होइ अणाउलो तमव्वहिओ ।
बलभावणाए धीरो, संपुण्णमणोरहो होइ ॥

कृत्स्ना संपूर्णा परीषहचमूर्मार्गाच्यवने, निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः क्षुदादयः । त एव तेषां वा चमूः सेना सा यद्युत्तिष्ठेत्, सम्मुखीभूय परिजावनाय प्रगुणा भवेत् । सोपसर्गापि दिव्याद्युपसर्गैः कृतसहायकापि । तथा-दुर्धरं दुर्वहं पन्थानं सम्यग्दर्शनादिरूपं मोक्षमार्गं करोति, इति दुर्धरपथकरः, तथाविधो वेगः प्रसरो यस्याः सा दुर्धरपथकरवेगा । भयजननी त्रासकारिणी अल्पसत्त्वानां कापुरुषाणां तामेवंविधामपि स जिनकल्पप्रतिपत्तुकामो योधयति । कथंभूतो धृतिरेव "धणियं" अत्यर्थम्, बद्धा कक्षा येन स तथा । अनाकुलः औत्सुक्यरहितः । अव्यथितो निष्प्रकम्पमानः स बलभावनया तां योधयित्वा, धीरः सत्त्वसंपन्नः सन् संपूर्णमनोरथो भवति । परीषहोपसर्गान् पराजित्य, स्वप्रतिमां पूरयतीत्यर्थः ।

अपि च—

धिइबलपुरस्सराओ, हवंति सव्वा वि भावणा एता ।
तं तु न विज्जइ सज्झं, जं धिइमंतो न साहेइ ॥

सर्वा अप्येताः तपःप्रभृतयो भावनाः धृतिबलपुरस्सरा भवन्ति । न हि धृतिबलमन्तरेण षाण्मासिकतपःकरणाद्यनुगुणास्ताः तथा भावयितुं शक्यन्ते । किं वा(नं तु) तत्पुनः साध्यं कार्यं जगति न विद्यते, यद् धृतिमान् सात्त्विकः पुरुषो न साधयति "सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्" इति वचनादेतेन "अच्छोढिज्जमाण" इत्यादिद्वारगाथायाः 'उवसग्गसहे' इति पदम्, तद्भावनं बलभावनया, उपसर्गसहत्वभावादिति । गता बलभावना ।

अथ (उवसग्गसहे य त्ति) इत्यत्र यः चशब्दः सोऽनुक्तसमुच्चये वर्तते । अतस्तदर्थलभ्यं विधिविशेषमाह–

जिणकप्पियपडिरूवी, गच्छे वसमाण दुविहपरिकम्मं ।
तातिए भिक्खायरिया, पंतं लूहं अभिग्गहिया ॥

एवमसौ पञ्चभिर्भावनाभिर्भावितान्तरात्मा जिनकल्पिकस्य प्रतिरूपी तदनुरूपो भूत्वा, गच्छ एव वसन्, द्विविधं परिकर्म वक्ष्यमाणनीत्या करोति । तथा तृतीयस्यां पौरुष्यां भिक्षाचर्या, तत्रापि प्रान्तं रूक्षमाहारं गृह्णाति । एषणा चाभिगृहीताऽभिग्रहयुक्ता ।

तथा –

परिणामजोगसोही, उवहिविवेगो य गणविवेगो य ।
सिज्जासंथारविसो-हणं च विगईविवेगो य ॥
तो पच्छिमम्मि काले, सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं ।
पच्छा णिच्छयथेज्झं, उवेइ जिणकप्पियविहारं ॥

परिणामस्य गुर्वादिममत्वविच्छेदेन योगानां चावश्यकव्यापाराणां यथाकालमेव करणेन शुद्धिः । तथा प्राकृतस्योपधेर्विवेको गणविवेकश्च । शय्यासंस्तारस्य विशोधनं च । विकृतिविवेकश्च । तदा तेन कर्तव्यः । ततः पश्चिमे काले तीर्थव्यवच्छित्तिकरणानन्तरं सत्पुरुषनिषेवितं धीरपुरुषाराधितं परमघोरमत्यन्तदुरनुचरं पश्चाद्दायतो निश्चयमध्यमेकान्तहितं जिनकल्पिकविहारमुपैति ।

(१६) पूर्वोक्तं परिकर्म, पाणि-प्रतिग्रह-परिकर्मभ्यां सचेलाऽचेलपरिकर्मभ्यामाहारोपधिभेदाभ्यां च द्विविधम्, पुनः केनाऽऽसनेन कथंभूतेषु संस्तारकेषु चोपविशति जिनकल्पिक इति ।

अथ द्विविधं परिकर्म व्याख्यानयति—

पाणिपडिग्गहेण य, सचेलं अचेलओ जहा भविया ।
सो तेण पगारेणं, भावेइ अणागयं चेव ॥

द्विविधं परिकर्म । तद्यथा-पाणिपरिकर्म, प्रतिग्रहपरिकर्म च । अथवा-सचेलपरिकर्म, अचेलपरिकर्म च । तत्र यो यथा पाणिपात्रधारकः, प्रतिग्रहधारको वा । सचेलकोऽचेलको वा भाविता, स तेनैव प्रकारेण पाणिपात्रभोजित्वादिना अनागतमेवात्मानं भावयति ।

प्रकारान्तरमाह–

आहारे उवहिम्मि य, अहवा दुविहं तु होइ परिकम्मं ।
उग्गहो दोसु पंचसु, अभिग्गहो अन्नतरियाए ॥

अथवा द्विविधं परिकर्म । आहारे, उपधौ च । तत्राहारं तावदसौ तृतीयपौरुष्यामवगाढायां गृह्णाति । तं चाऽलेपकृतमेव तत्राप्यसंसृष्टादीनां सप्तानां पिण्डैषणानां मध्यादाद्ययोर्द्वयो-रेषणयोरग्रहः सर्वथैवास्वीकारः । उपरितनासु पञ्चसु उद्धृताल्पलेपावगृहीताप्रगृहीतोज्झितधर्मिकासु ग्रहणं तत्राप्यभिग्रहोऽन्यतरस्यामेषणायामेकया भक्तं अपरया पानकमिति नियतस्य शेषाभिरग्रहणमित्यर्थः । उपधौ तु वस्त्रपात्र-

योः प्रतिमाचतुष्टयं यत्पीठिकायामुक्तं तत्राद्यद्वयवर्जमुत्तरयो-रेव ग्रहणं तत्राप्यन्यतरस्यामभिग्रहः ।

अथ " पंतं लूहं ति " व्याचष्टे-

निप्फावचणकुम्माई, अंतं पंतं तु होइ वावन्नं ।
नेहरहियं तु लूहं, जं वुवलद्धं सजावेण ॥

निष्पावाः वल्लाः, चणकाः प्रतीताः, आदिशब्दात् कुल्माषा-दिकं च 'अन्तम' इत्युच्यते । 'प्रान्तं' पुनस्तदेव व्यापन्नं, विनष्टं, यत्पुनः स्नेहरहितं तद् रूक्षं, यद्वा-स्वभावेनोपलब्धादिकं तदपि रूक्षं मन्तव्यम् ।

अत्रैव विधिविशेषमाह—

उक्कुडुयासणसमुई, करेइ पुढवीसिलाइसूवविसे ।
पडिवन्नो पुण नियमा, उक्कुडुओ केई उ भयंति ॥
तं तु न जुज्जइ जम्हा, अणंतरो णऽत्थि भूमिपरिजोगो ।
तम्मि य हु तस्स काले, ओवग्गहिओवही नत्थि ॥

(उक्कुडुयासणसमुइं ति) देशीवचनत्वादभ्यासं करोति । पृथिवीशिलादिषु वा पृथिवीशिलापट्टके, आदिशब्दादपरेष्वपि तथाविधेषु यथासंस्तृतेषु उपविशेद्वा जिनकल्पं प्रतिप-न्नः । पुनर्नियमादुत्कुटुकः केचिद्भजन्ति । विकल्पं कुर्वन्ति । उत्कु-टुको वा तिष्ठेत्, उपविशेद्वा, तच्च न युज्यते, यस्मादनन्तरोऽ-व्यवहितो नास्ति साधूनां भवेद्भूमिपरिभोगः " सुरुपुढवीए न निसीयन्ति " वचनात् । तस्मिंश्च जिनकल्पकाले औपग्रहिकोप-धिर्नास्ति । तदभावाच्च निषद्यापि नास्ति, इति गम्यते । ततश्चा-र्थादापन्नं तु उत्कुटुक एव तिष्ठति । उक्तश्चशब्दसूचितो विधिशेषः ।

(१७) विहारद्वारगतं षष्ठं वटवृक्षद्वारम् । द्रव्याद्यानुकूल्ये, कस्य पार्श्वे, कस्य तरोरधस्तनप्रदेशे वा, जिनकल्पं स्वीकर-णीयम् । तच्च केन विधिना । ततः क्षामणम् । शेषाः किं कुर्व-न्ति । क्षामणायां के गुणाः । जिनपदस्थापितसूरेरनुशिष्टिं । साधू-नामनुशिष्टिं च प्रदाय किं करोतीत्यादि प्रतिपादितम् ।

दव्वाई अणुकूले, संघं समिल्लं य तो गणं असइ ।
जिण-गणहरे य चउदस-अभिन्ने य असइ वडमाई ॥

इत्थमात्मानं परिकर्म । द्रव्ये, आदिशब्दात् क्षेत्रे, काले, भावे च, अनुकूले प्रशस्ते सङ्घं मीलयित्वा, सङ्घस्यासत्यभावे गणं स्वकीयमवश्यमेव समाहूय, ततः प्रथमं जिनः, तीर्थकरस्त-स्यान्तिके । तदभावे गणधरः, तत्सन्निधाने । तदलाभे, चतुर्दशपूर्व-धरान्तिके । तदसंभवे, अभिन्नदशपूर्वधरपार्श्वे । तस्याप्यसति, वटवृक्षस्याधः । आदिग्रहणादश्वत्थाशोकवृक्षादीनामध-स्ताज्जिनकल्पं प्रतिपद्यते ।

केन विधिनेत्याह-

गणि-गणहरं ठवेत्ता, खामे अगणी उ केवलं खामे ।
सव्वं च वालवुड्ढं, पुव्वविरुद्धे विसेसेणं ॥

गणी, गच्छाधिपाचार्यः। स पूर्वमित्वरनिक्षिप्तगणं स्वशिष्यग-णधरं स्थापयित्वा श्रमणसङ्घं क्षमयति । (अगणि त्ति) यस्तु गणी न भवति, किं तु सामान्यसाधुः स केवलं क्षमयति । न तु किमपि स्थापयति । किं पुनः क्षमयतीत्याह-सर्वं सकल-मपि सङ्घं, च शब्दात्तदभावे स्वगच्छं बालवृद्धाकुलं, ये च पूर्व-विरुद्धाः प्राग्विराधितास्तान् विशेषेण क्षमयति ।

कथं पुनरित्याह-

जइ किंचि पमाएणं, न सुट्ठु भे वट्टियं मए पुव्वं ।
तं भे खामेमि अहं, निस्सल्लो निक्कसाओ अ ॥

यदि-किञ्चित्प्रमादेनानाभोगादिना न सुष्ठु (भे) भवतां मया वर्तितं पूर्वं, तद् (भे) युष्मान् क्षमयाम्यहं निःशल्यो निष्कषायश्च ।

इत्थं तेन क्षमिते सति शेषसाधवः किं कुर्वन्तीत्याह-

आणंदअंसुपायं, कुणमाणा ते वि भूमिगयसीसा ।
खामिंति जहारिहं खलु, जहारिहं खामिता तेणं ॥

तेऽपि साधवः आनन्दाश्रुपातं कुर्वाणा भूमिगतशीर्षाः क्षिति-निहितशिरसः सन्तः क्षमयन्ति । यथार्हं यो यो रत्नाधिकः स सः प्रथममित्यर्थः । तेनाचार्येण यथार्हं यथापर्यायज्येष्ठं क्षा-मिताः सन्तः इति ।

अथेत्थं क्षामणायां के गुणा इत्याह-

खामिंतस्स गुणा खलु, निस्सल्लयविणयदीवणामग्गे ।
लाघवियं एगत्तं, अप्पडिबंधो अ जिणकप्पे ॥

जिनकल्पे प्रतिपद्यमाने साधून् क्षमयन्तः खलु एते गुणाः । तद्य-था-निःशल्यता, मायादिशल्याभावो भवति । विनयश्च प्रयुक्तो भवति । मार्गस्य दीपना कृता भवति । इत्थमन्यैरपि क्षामणकपु-रस्सरं सर्वं कर्तव्यमिति । लाघवमपराधभारापगमतो लघु-भाव उपजायते । एकत्वं क्षामिता मया मा सीदेच्च । इतः कर्म-क एवास्मीत्यनुध्यानं भवति । अप्रतिबन्धश्च, ममत्वस्य छिन्न-त्वाद् भूयः शिष्येषु प्रतिबन्धो न भवति ।

अथ जिनपदस्थापितस्य सूरेरनुशिष्टिमाह-

अह ते सबालवुड्ढो, गच्छो साइज्ज णं अपरितंतं ।
ण य साहु परंपरओ, तुमं पि अंते कुणसु एवं ॥
पुव्वपवित्तं विणयं, मा हु पमाए हि विणयजोगेसु ।
जो जेण पगारेणं, उववज्जइ तं च जाणाहि ॥

अथैष (ते) तव सबालवृद्धो गच्छो निसृष्ट इति शेषः । अतो-ऽपरितान्तोऽनिर्विण्णो (ण)एनं गच्छं सान्तयेः संगोपयेः, स्मार-णावारणादिना सम्यक् पालयेरित्यर्थः । न च परित्यक्तोऽहममी-भिरित्यादि परिभाव्यं । यतः एष एव परंपरकः शिष्याचार्यक्रमो यदव्यवच्छित्तिकारकं शिष्यं निष्पाद्य, शक्तौ सत्यामभ्युद्यतवि-हारः प्रतिपत्तव्यः । त्वमप्यन्ते शिष्यनिष्पादनादिकार्यपर्यवसाने एवमेव कुर्याः । ये च बहुश्रुतपर्यायज्येष्ठादयो विनये योग्या गौर-वार्हास्तेषु पूर्वप्रवृत्तं यथोचितं विनयं मा प्रमादयेः, प्रमा-देन परिहापयेः । यश्च साधुर्येन तपःस्वाध्यायवैयावृत्त्यादिना प्रकारेणोपयुज्यते, निर्जराभ्युपयोगमुपयाति तं च जानीहि, तं तथैव प्रवर्तयेत्यर्थः ।

अथ साधूनामनुशिष्टिं प्रयच्छति-

ओमो अह राइणिओ, अप्पतरसुओ ऽज्ज मा अओ तुब्भे ।
परिभवह तुम्ह एसो, विसेसओ संपयं पुज्जो ॥

अवमोऽयम् अथ रात्निकोऽयम् अल्पतरश्रुतो वा अयमस्मद-पेक्षया, अतः किमर्थमस्याज्ञानिर्देशं वयं कुर्महे, इति मा ऽद्य यूयममुं परिभवत । यत एष युष्माकं साम्प्रतमस्मत्स्वामीवत्सा-द्गुरुत्वगुणाधिकत्वाच्च विशेषतः पूज्यो न पुनरवज्ञातुमुचित इति भावः ।

इत्यमुभयेषामप्यनुशिष्टिं प्रदाय किं करोतीत्याह-

पक्खि व्व पत्तसहिओ, सभंडगो वि विजणिज्ज निरवेक्खो ।
जा तइया ता विहरो, से चउत्थी ठाइ नयासु ॥

यथा पक्षी पक्षाभ्यां पक्षाभ्यां सहितः, प्राक्तनस्थाननिरपेक्षः स्थानान्तरं व्रजति । एवमपि भगवान् सभाण्डकः पात्रसहितो, निरपेक्षो गच्छस्तत्कापेक्षारहितः, एकान्तं मासकल्पप्रायोग्यं क्षेत्रं व्रजति । अयं च यावत्तृतीयपौरुषी, तावद् गच्छति । यत-स्तस्यामेव (से) तस्य विहारो, नान्यासु पौरुषीषु । यत्र तु चतुर्थी पौरुषी भवति, तत्र नियमात् तिष्ठति इति ।

तस्मिन्निर्गते शेषसाधवः किं कुर्वन्तीत्याह-

सीहमिव मंदरकंदरा-राओ नीक्खमिए तओ तम्मि ।
चक्खुविसयं अइगए, अइंति आणंदिया साहू ॥

सिंह इव मन्दरकन्दरायास्तस्मिन्ननगारे सिंहे,गच्छात्(नीक्खमिए) निर्गते सति,कियन्तमपि भूभागमनुगमनं विधाय,तत्तश्चक्षुर्विषयमतिक्रान्ते अदर्शनीभूते, आयान्ति स्ववसतिं आनन्दिताः, अहो अयं भगवान् सुखसेवनीयस्थविरकल्पविहारं विहायातिदुष्करमभ्युद्यतविहारमभ्युपैति, इति परिभावनया हृष्टाः सन्तः साधवः । इति ।

इदमेव विशेषमाह-

निच्चेलसचेले वा, गच्छारामा विणिग्गए तम्मि ।
चक्खुविसयं अईए, अइंति आणंदिया साहू ॥

निश्चेलो वा सचेलो वा । गच्छारामात् सुखसेवनीयाद्विनिर्गते, तस्मिन् चक्षुर्विषयमतीते, आयान्ति । आनन्दिताः साधवः ।

अथासौ विवक्षितं क्षेत्रं गत्वा-किं करोतीत्याह-

आभोएउं खेत्तं, निव्वाघाएण मासनिव्वाहं ।
गंतूण तत्थ विहरइ, एस विहारो समासेणं ॥

आभोग्य विज्ञाय क्षेत्रं, निर्व्याघातेन विघ्नाभावेन मासनिर्वाहं मासनिर्वहणसमर्थं गत्वा-तत्र क्षेत्रे विहरति । स्वनीतिं परिपालयति । एष विहारो विशेषानुष्ठानरूपोऽस्य भगवतः समासेन प्रतिपादितः । इत्युक्तं विहारद्वारम् । वृ० १ उ० ।

(१८) सामाचारीद्वारम् । आवश्यक्यादिपञ्चसामाचारीर्जिनकल्पिकः प्रयुङ्क्ते, अन्याः न । आदेशान्तरमप्यत्रैवोक्तम् ।

अथैतासां मध्याज्जिनकल्पिकाः सामाचार्यो भवन्तीत्युच्यते-

आवासिइनिसीहिमि-च्छाआपुच्छुवसंपदं च गिहिएसु ।
अन्ना सामायारी, न होंति सेसे सिया पंच ॥

आवश्यकीं, नैषेधिकीं, मिथ्याकारं, आपृच्छाम्, उपसंपदं च, गृहिषु गृहस्थविषयाम् । एताः पञ्च सामाचारीर्जिनकल्पिकः प्रयुङ्क्ते । अन्याः सामाचार्यो न भवन्ति , तस्य (सेसे) शेषाः पञ्च मिथ्याकाराद्याः । प्रयोजनाभावात् ।

आदेशान्तरमाह-

आवासिइं निसिहिइं, मोत्तुं उवसंपयं च गिहिएसु ।
सेसा सामायारी, न होंति जिणकप्पिए सत्ता ॥

आवश्यकीं नैषेधिकीं मुक्त्वा, उपसंपदं च गृहिषु गृहस्थविषयां, जिनकल्पिकस्य शेषाः सामाचार्यो मिथ्याकाराद्याः सप्त न भवन्ति । तद्विषयस्य स्खलितादेरभावात् ।

अहवा वि चक्कवाले, सामायारी उ जस्स जा जोग्गा ।
सा सव्वा वत्तव्वा, सुआइआ वा इमा मेरा ॥

अथवाऽपि, चक्रवाले प्रत्युपेक्षणादौ नित्यकर्मणि, यस्य जिनकल्पिकादेर्या सामाचारी योग्या, सा सर्वा अत्र सामाचारीद्वारे वक्तव्या । श्रुतादिका वा इयं वक्ष्यमाणा मेरा मर्यादा सामाचारी ।

(१९) श्रुतादिकानां वक्ष्यमाणसामाचारीणां सप्तविंशतिद्वाराणि—

तामेवाभिधित्सुर्द्वारगाथात्रयमाह—

सुयसंघयणुवसग्गा, आयंको वेदणा कइ जणा य ।
थंडिल्लवसहिकेचिर-मोच्चारो चेव पासवणो ।
ओवासो तणफलयं, सारक्खणया य संठवणया य ।
पाहुडिओऽग्गी दीवा, ओहाण-वसे कइ जणा उ ।
भिक्खायरियापाणग-लेवालेवा तहा अलेवा य ।
आयंबिलपडिमाओ, जिणकप्पे मासकप्पो य ।

श्रुतं १ संहननं २ उपसर्गः ३ आतङ्को ४ वेदना ५ कति जनाश्च ६ स्थण्डिलं ७ वसतिः ८ कियच्चिरं ९ उच्चारश्चैव १० प्रस्रवणं ११ अवकाशः १२ तृणफलकं १३ संरक्षणता च १४ संस्थापनता च १५ प्राभृतिका १६ अग्निः १७ प्रदीपः १८ अवधानं १९ वत्स्यथ कति जनाश्च २० भिक्षाचर्या २१ पानकं २२ लेपालेपः २३ तथा अलेपश्च २४ आचाम्लं २५ प्रतिमा २६ मासकल्पश्च २७ (जिणकप्पेत्ति) एतानि सप्तविंशतिद्वाराणि जिनकल्पविषयाणि वक्तव्यानि इति गाथात्रयसमुदायार्थः ।

अथावयवार्थं प्रतिद्वारं प्रतिपिपादयिषुर्यथोद्देशं निर्देश इति न्यायतः प्रथमं श्रुतद्वारमाह—

आयारवत्थु तइयं, जहन्नयं होइ नवमपुव्वस्स ।
तहिए कालन्नाणं, दस पुण उक्कोसजिणाई ॥

जिनकल्पिकस्य जघन्यकश्रुतं, नवमपूर्वस्य प्रत्याख्याननामकस्याऽऽचाराख्यं तृतीयं वस्तु । तस्मिन्नधीते सति,कालज्ञानं भवतीत्यतस्तदर्वाक् श्रुतपर्याये वर्तमानस्य न जिनकल्पिकस्य प्रतिपत्तिः । उत्कर्षतो दशपूर्वाणि भिन्नानि । श्रुतपर्यायः संपूर्णदशपूर्वधरः । पुनरमोघवचनतया प्रवचनप्रभावनापरोपकारादिद्वारेण च, बहुतरं निर्जरालाभमासादयति । अतो नासौ जिनकल्पं प्रतिपद्यते । उक्तं श्रुतद्वारम् ।

अथ संहननद्वारमाह-

पढमिल्लुगसंघयणा, धिइए पुण वज्जकुड्डसामाणा ।

जिनकल्पाः प्रथमिल्लुकसंहननाः वज्रऋषभनाराचसंहननोपेताः । धृत्या अङ्गीकृतनिर्वाहदृढमनःप्रणिधानरूपया वज्रकुड्यसमानाः ।

* अथोपसर्गद्वारमाह *

उप्पज्जंति न वा सि उ-वसग्गा एस त्ति पुच्छा उ ॥

अथोपसर्गद्वारम्-उत्पद्यन्ते न वा अमीषामुपसर्गा दिव्यादयः इत्येषा पृच्छा । अत्रोत्तरमाह-

जइ वि य उप्पज्जंते, सम्मं वि सहंति ते उ उवसग्गे ।

नायमेकान्तो यदवश्यमेतेषामुपसर्गा उत्पद्यन्ते, परं यद्यप्युत्पद्यन्ते, तथाऽपि सम्यगदीनमनसो विषहन्ते तानुपसर्गान् ।

अथाऽऽतङ्कद्वारमाह-

रोगातंका चेवं, जइआ जइ होंति विसहंति ॥

आतङ्कद्वारमतिदिशति-रोगाश्च कालसहाः। आतङ्काश्च सद्यो घातिनः। एवमेव भाज्या उत्पद्यन्ते,वा न वा। यदि जवन्त्युत्पद्यन्ते, ततो नियमादधिषहन्ते।

वेदनाद्वारमाह-

अब्भुवगमाओवक्क-मा य तेसि वेयणा भवे दुविहा।
धुवलोआइपढमा ज-राविवागाइ बिई एको ॥

आभ्युपगमिकी, औपक्रमिकी च। तेषां जिनकल्पिकानां द्विविधा वेदना जवति। तत्र प्रथमा-ध्रुवलोचाद्या ध्रुवः प्रतिदिनजावी लोचः,आदिशब्दादातापनातपःप्रभृतिपरिग्रहः। द्वितीया चौपक्रमिकी जराविपाकादिः, जरा प्रतीता। विपाकः कर्मणामुदयस्तत्समुत्था।

अथ "कियन्तोजना" इति द्वारम-(एको त्ति) एक एवायं भगवान् भवति। यदि वेद द्वारमुपरिष्टात् व्याख्यास्यते।

अथ स्थण्डिलद्वारमाह-

उच्चारे पासवणे, उस्सग्गं थंडिले कुणइ पढमे।
तत्थेव य परिजुण्णे, कयकिच्चो उज्झए वत्थे ॥

उच्चारस्य प्रश्रवणस्य चोत्सर्गं परित्यागं प्रथमे अनापाते असंलोके स्थण्डिले करोति। तत्रैव प्रथमस्थण्डिले कृतकार्यो विहितशीतत्राणादिवस्त्रकार्यः, उज्झति वस्त्राणि।

अयं च संज्ञां व्युत्सृज्य न निर्लेपयति।

कुत इति चेत्? उच्यते-

अप्पमभिन्नं वच्चं, अप्पं लूहं च जोअणं भणियं।
दीहे वि उ उवसग्गे, उभयमवि अ थंडिले न करे ॥

अल्पमभिन्नं च वर्चः पुरीषमस्य भवति। कुत इत्याह-यतोऽल्पं रूक्षं च भोजनमस्य भणितं भगवद्भिः। अल्पाभिन्नवर्चस्कतया तथाकल्पत्वाच्चासौ न निर्लेपयति। न चासौ दीर्घेऽपि बहुदैवसिके उपसर्गे उभयेऽपि संज्ञां कायिकीं वा स्थण्डिले आपातादिदोषयुक्ते भागे करोति।

वसतिद्वारमाह-

अममत्ता-ऽपरिकम्मा, नियमा जिणकप्पियाण वसहीओ।
एमेव य थेराणं, मुत्तूण पमज्जणं एक्कं ॥

अममत्वा ममेयमित्यभिष्वङ्गरहिताः। अपरिकर्मा साधर्थमुपलेपनादिपरिकर्मवर्जिता, नियमात् जिनकल्पिकानां वसतिः। स्थविरकल्पिकानामप्येवं वसतिरममत्वा, अपरिकर्मा च, द्रष्टव्या। मुक्त्वा प्रमार्जनामेकामन्यत्परिकर्मेति न कुर्वन्ति, इत्यर्थः।

एतदेव स्पष्टयति—

बिले न ढकंति न खज्जमाणिं,
गोणो य वारिंति न जज्जमाणिं।
दारे न ढक्किंति, न वल्लगिंति,
दप्पेण थेरा जइया उ कज्जे ॥

एते भगवन्तो बिलानि धूल्यादिना न स्थगयन्ति। न वा गवादिभिः खाद्यमानां भज्यमानां वा वसतिं निवारयन्ति। द्वारे न ढक्किति कपाटाभ्यां न संयोजयन्ति। स्थविरकल्पिका अपि दर्पेण कार्याभावे एवमेव वसतेः परिकर्म न कुर्वन्ति। कार्ये तु पुष्टालम्बने भाज्याः परिकर्म कुर्वन्त्यपि, इतिभावः।

कियच्चिरो-च्चार-प्रश्रवणा-वकाश-तृणफलक-संरक्षण-संस्थापना-द्वाराणि गाथाद्वयेन भावयति-

किंचिरकालं वसिहि, इत्थ य उच्चारमाइए कुणसु।
इह अत्थसु मा इइ य, इह तणफलए गिण्हह मा य ॥

यस्यां वसतौ याच्यमानायां तदीयस्वामिन इत्थं भणन्ति, कियत् चिरंकालं वत्स्यथ यूयं। यद्वा अत्र प्रदेशे उच्चारादीनि पुरीषप्रश्रवणादीनि कुरु। अत्र तु मा कुरु। इहास्मिन्नवकाशे आसीथ, इह मेति। एतानि वा हस्तसंज्ञया निर्दिश्यमानानि तृणफलकानि गृह्णीथाः, मा एतानीति ॥

सारक्खह गोणाई, मा य पडिंतिं उविक्खह उ भंते!।
अन्नं वा अभियोगं, नेच्छति अचियत्तपरिहारी ॥

संरक्षत वा गवादीन् बहिर्निर्गच्छतो यूयमस्माकं क्षेत्रादौ गतानां व्याकुलानां वा, मा च पतन्तीं वसतिमुपेक्षध्वे। किं सुसंस्थापना पुनः संस्काररूपा विधेया (संठवणाय य त्ति) द्वारगाथायां यश्चशब्दः तेन सूचितम्-अन्यं वा स्वाध्यायनिषेधादिरूपं यत्र वसतिस्वामी अभियोगं नियन्त्रणां करोति, तं मनसापि नेच्छन्ति। सूक्ष्मस्याप्यप्रीतिकस्य परिहारिणो अमी भगवन्त इति।

प्राभृतिकाग्निदीपावधानद्वाराणि व्याचष्टे-

पाहुडियदीवओ वा, अग्गिपगासो व जत्थ न वसंति।
जत्थ य भणंति भंते!, ओहाणं देहि गेहे वि ॥

यस्यां वसतौ प्राभृतिका बलिः क्रियते, दीपको वा यस्यां विधीयते। अग्निरङ्गारज्वालादिकस्तस्य प्रकाशो वा यत्र न वसन्ति। यत्र च तिष्ठन्तु सन्तु अगारिणो भणन्ति, अस्माकमपि गेहे अवधानमुपयोगं ददत इति। तत्रापि नावतिष्ठन्ते।

वत्स्यथ कति जना इति द्वारमाह-

वसतिं अणुण्णवेंतो, जइ भणइ कइ जणा वि न तत्थ वसे।
सुहुमं पि न सो इच्छइ, परस्स अप्पत्तियं भगवं ॥

वसतिमनुज्ञामनुज्ञापयन् यद्यसौ भणति, कति जना यूयं वत्स्यथेति तत्रापि न वसति। कुत इत्याह-सूक्ष्ममपि नासाविच्छति परस्याप्रीतिकं भगवान्। (कइ जणा उ त्ति) अत्र यस्तुशब्दस्तेनान्यामपीषदप्रीतिकजननीं वसतिमसौ परिहरति, इति गम्यते। उक्तं च-पञ्चवस्तुके-" सुहुमं पि हु अचियत्तं, परिहरए सो परस्स नियमेणं। जं तेण तुसहाओ, वज्जइ अन्नं पि तज्जणणिं" ॥

भिक्षाचर्यापानकलेपालेपद्वाराणि विवृणोति-

तइयाइ भिक्खचरिया, पग्गहिया एसणा य पुव्वुत्ता।
एमेव पाणगस्स वि, गिण्हइ अ अलेवडे दो वि ॥

तृतीयस्यां पौरुष्यां, भिक्षाचर्या एषणा च, प्रगृहीता अभिग्रहयुक्ता, सा च (पंचसु गहणोसगणु) इत्यादिना पूर्वमेवोक्ता। एवमेव पानकस्यापि तृतीयपौरुष्यां प्रगृहीतया वैषणया ग्रहणं करोति। तत्र शिष्यः पृच्छति-(लेवालेवेत्ति) किमसौ विकल्पिको लेपकृतं गृह्णाति उतालेपकृतम्। अत्र सूरिः " अलेव त्ति " पदं विवृण्वन्नुत्तरमाह-द्वेऽपि भक्तपाने अलेपकृते वल्लचणकसौवीरादिरूपे गृह्णाति, न लेपकृते।

आचामाम्लप्रतिमाद्वारद्वयमाह-

आयंबिलं न गेएहइ, जं च अणायंबिलं वि लेवाडं ।
न य पडिमा पडिवज्जइ, मासाई जा य सेसा उ ॥

आयामाम्लमसौ न गृह्णाति । पुरीषभेदा विदोषसंभवात् । अनायामाम्लमपि, यल्लेपकृतं तन्न गृह्णाति । न च प्रतिमा मासिक्यादिका, असौ प्रतिपद्यते । याश्च शेषा भद्रमहाभद्रादिकाः प्रतिमा एता अपि न प्रतिपद्यते । स्वकल्पस्थितिमर्यादापालनमेव, तस्य विशेषाभिग्रह इति भावः । बृ० १ उ० ।

(२०) सुनादिसप्तविंशतिद्वारान्तर्गतं,सप्तविंशं मासकल्पद्वारम् ।

अथ मासकल्प इति द्वारमभिधित्सुराह-

कप्पे सुत्तत्थविसा-रयस्स संहणनवीरियजुत्तस्स ।
जिणकप्पियस्स कप्पइ, अभिगहिया एसणा निच्चं ॥

कल्पे जिनकल्पविषयौ यौ सूत्रार्थौ, तत्र विशारदस्य निपुणस्य, संहननं शारीरबलं, वीर्यं धृतिस्ताभ्यां युक्तस्य, जिनकल्पिकस्य कल्पते । अभिगृहीता साऽभिग्रहा एषणा ।

(२१) जिनकल्पी षड्वीथ्यां भ्रमतीति विस्तरः ।

सा च मासकल्पस्थितिमनुपालयतो भवतीति ।

अनन्तरस्यैव विधिमाह-

छव्वीहीओ गामं, काउं एक्किक्कियं तु सो अडइ ।
वज्जेउं होइ सुहं, अनियतवित्तिस्स कम्माई ॥

यत्रासौ मासकल्पं करोति, तं ग्रामं षड्वीथीर्गृहपङ्क्तिरूपाः कृत्वा,ततः प्रतिदिनमेकैकां वीथीमटति । यावत्षष्ठे दिवसे षष्ठीं । कुत इत्याह-अनियतवृत्तेरपरापरवीथीषु पर्यटतः, कर्मादि आधाकर्मपूतिकर्मादिकं सुखं वर्जयितुं शक्यत इति भावः ।

कथं पुनराधाकर्मादिसंभवो भवतीत्याशङ्क्य,

तत्संभवादिदर्शयिषुराह-

अभिगहे दट्ठु करणं, भत्तोगाहिमं तिन्नि पूईयं ।
तुद्गो एगमणेगे, कप्पो त्ति य सत्तमे सत्त ॥

तस्य भगवतः प्रथमवीथीमटतः, कयाचिदगार्या श्रद्धातिरेकात्, घृतमधुसंयुक्तं भक्तमुपनीतं । तेन च न कल्पते मे, लेपकृता भिक्षेति न गृहीतं । तत एवमादीनभिग्रहान् दृष्ट्वा, कर्मणः करणं भवति । तच्च भक्तमवगाहिमं वा भवेत, त्रीणि च दिवसानि तत्पूतिकं । नोदकः प्रश्नयति । एकं ग्राममेकमनेकान् षड्वीथीरूपान् करोति । सूरिराह-कल्प एषोऽमीषां, यत् षट् कल्पवीथीः कृत्वा, सप्तमे दिवसे पर्यटन्ति । सप्त च जना, एकस्यां वसतौ च, संभवन्तीति समासार्थः ।

(२२) देयाऽऽहाराऽयोग्यतायां श्राविका—विचारः ।

अथ विस्तारार्थमाह-

दट्ठूण य अणगारं, सड्ढा संवेगमागया काइ ।
नत्थि महं तारिसयं, अन्नं जमलज्जिया दाहं ॥

तमनगारं तपःशोषितं मलपटलजटिलं च परुषं दृष्ट्वा, हा काचिच्छ्राद्धिका, परसंवेगमागता सती चिन्तयति । किं मे जीवितेन, यदीदृशस्य महात्मनो भिक्षा न दीयते । नास्ति मम तादृशं भोजनं, यदहमलज्जिता सती दास्यामि ।

ततः-

सव्वपयत्तेण अहं, कल्ले काऊण भोयणं विउलं ।
दाहामि तुहमणसा, होहिइ मे पुण्णलाभो त्ति ॥

सर्वप्रयत्नेन अहं, कल्ये द्वितीये अहनि, भोजनं विपुलं कृत्वा दास्यामि, तुष्टमनसा प्रहृष्टेन चेतसा । ततो भविष्यति मे महान् पुण्यलाभः । इत्थं विचिन्त्य, द्वितीये दिवसे, विपुलमशनादिभक्तमवगाहिमं चोपस्कृत्य, तं भगवन्तं, प्रतीक्षमाणा तिष्ठति ।

ततः किमभूदित्याह-

फेडितवीहीएहिं, अणंतवरनाणदंसणधरेहिं ।
अदीणअपरितंता, बिइयं च पविहिंडिया तत्थ ॥

स्फेटिता परिहृता वीथी यैस्तैर्जिनकल्पिकैः कथंभूतैरनन्तवरज्ञानदर्शनधरैः, इहानन्तज्ञानमयत्वादनन्तास्तीर्थकरास्तैरुपदिष्टे, वरे उत्तमे जिनकल्पिकानां ये ज्ञानदर्शने, उपलक्षणत्वाच्चारित्रं च, तानि धारयन्तीत्यनन्तवरज्ञानदर्शनधरास्तैः । आह चूर्णिकृत्-" अणंतं नाणं जेसिं ते अणंता तित्थकरा तेहिं जिणकप्पियाणं वरं नाणं दंसणं चरित्तं च जं भणियं तद्धरेहिं ति " ततस्ते अदीनमनसः अविषण्णाः, अपरितान्ताः कायेनानिर्विण्णाः, द्वितीयां वीथीं क्रमागतां पर्यटितास्तत्र क्षेत्रे, एकवचनप्रक्रमेऽपि बहुवचनाभिधानमन्येषामपि, जिनकल्पिकानामेवंविधवृत्तान्तसंभवख्यापनार्थम् ।

(२३) कल्पशब्दार्थः । वीथ्यां भ्रमतस्तद्भक्तं पूतिकं भवति ।

अत्र चेयं व्यवस्था—

पढमदिवसोवक्कयं, तिन्नि दिवसाइं पूइयं होइ ।
पूतिसु तिसु न कप्पइ, कप्पइ तईउ जया कप्पो ॥

प्रथमे दिवसे तद्भक्तमुपस्कृतमाधाकर्म, त्रीणि दिवसानि यावत् तद् गृहं पूति भवति । तेषु च त्रिषु पूतिदिनेषु, तस्मिन् गृहे अन्यदपि किञ्चिन्न कल्पते । यदा तु तृतीयः कल्पो गतो भवति, तदा कल्पते । कल्पशब्देनेह दिवस उच्यते । उक्तं च पञ्चवस्तुटीकायाम्, कल्पते तृतीये कल्पे दिवसे गते अपरस्मिन् अहनीति ।

(२४) त्रिषु दिवसेषु पूतिकं न कल्पते, किन्तु षष्ठे सप्तमे च दिवसे कल्पत इति । सप्तमदिवसे पर्यटतः श्राविका पृच्छा च ।

इदमेव स्पष्टयन्नाह-

बिइयदिवसम्मि कम्मं, तिन्नि उ दिवसाइं पूइयं होइ ।
तिसु कप्पेसु न कप्पइ, कप्पइ तं छट्ठदिवसम्मि ॥

यस्मिन् दिवसे स जिनकल्पिकः प्रथमवीथ्यामटन् तया दृष्टः, तदपेक्ष्य द्वितीये दिवसे तद्भक्तमाधाकर्म, तदनन्तरं त्रीणि दिवसानि पूतिकं भवति । तेषु त्रिषु, कल्पेषु दिवसेषु, न कल्पते, किं तु कल्पते तत् षष्ठे दिवसे ।

अथावगाहिमविषयं विधिमाह-

कल्ले स दाहामि, ओगाहिमगणं णागतो अज्ज ।
तइए दिवसे तं हो-इ पूइयं कप्पए छट्ठे ॥

(अवगाहिमं) दिनद्वयमपि क्रमत इति कृत्वा, सा श्राद्धा विनयवती । यदर्थमयमवगाहिमपाको मया कृतः, स मुनिरद्य मद्गृहाङ्गणं नागतः । अतः कल्ये (से) तस्याहं दास्यामि । इदमवगाहिममिति विचिन्त्य, तद्दानार्थं यदि स्थापयति, तदा तृतीयदिवसे कर्मैव भवति । यत्पुनस्तस्मिन्नेव दिवसेऽव्यक्तिभावा सा, आत्मार्थितं करोति, तदवगाहिममपि प्रक्रमन् मौलदिवसापेक्षया द्वितीयदिवसे कर्म, तृतीयादिषु तद्गृहं पूतिकं, षष्ठे तु दिवसे कल्पते ।

एतदेव स्पष्टयति—

एमेवोगाहिमगं, नवरं तइयम्मि जमवि दिवसे तं ।
कम्मं तिसु पूइअं न, कप्पइ तं सत्तमे दिवसे ॥

एवमेव भक्तवदवगाहिममपि,यस्मिन्दिवसे एतदात्मार्थीकृतं,तद्द्वितीये दिवसे कर्म, तृतीयादिषु त्रिषु पूति, षष्ठे तु कल्पते। नवरं, यस्मिन्दिवसे नात्मार्थयति, तत्तृतीयेऽपि दिवसे कर्म। ततः त्रिषु दिवसेषु तत्पूतिकमिति कृत्वा, न कल्पते। किं तु कल्पते तद् एवं सप्तमे दिवसे, अत एव, चासौ भूयः सप्तमे दिने तस्यां वीथ्यां पर्यटति।

आह-यद्येवं तर्हि, यदि तस्मिन्नेव दिवसे तं प्रथमवीथीमटन्तं दृष्ट्वा, कश्चिदाधाकर्मादि कुर्यात् मोदकादिकं वा, तदर्थं कृत्वा सप्तमदिवसं यावदव्यवच्छिन्नभावं स्थापयेत्। तदा नामासौ कथं जानाति? कथं वा परिहरति इति? उच्यते-

सावग! तं चेव दिणं,जइ वि करिज्जाहि कोइ कम्माइं।
न हु सो तं न विजाणइ, एसो पुण सिं अहाकप्पो ॥

हे मोदक! तस्मिन्नेव दिवसे यद्यपि कुर्यात् कश्चित्,किञ्चिदाधाकर्मादि, (न हु) नैव स तन्न विजानाति "द्वौ नञौ प्रकृत्यर्थं गमयतः" इति वचनात्, जानात्येवासौ श्रुतोपयोगबलेन। आह-यद्यसौ श्रुतोपयोगप्रामाण्यादेव जानीते, ततः किमर्थमेकं ग्राममनेकभागान् परिकल्प्य पर्यटति? उच्यते-कल्प एषः (सिं) अमीषां भगवतां। यत् सप्तमे दिवसे भूयः प्रथमवीथ्यां पर्यटन्ति।

ततश्च, तं सप्तमे दिवसे प्रथमवीथ्यां पर्यटन्तं दृष्ट्वा,
सा श्राविका ब्रूयात्-

किं नाग या थ तइया, असब्भओ मे कओ तुह निमित्तं। इइ पुट्ठो सो भगवं,

तदानीं यूयं किं नागताः। 'थेति' निपातः पूरणार्थः। मया हि त्वन्निमित्तं विपुलं भक्तादिकमुपस्कुर्वन्त्या, युष्मदनुपयोगात् असद्व्ययः कृतः, इति पृष्टोऽसौ भगवान् तूष्णीक आस्ते, इति शेषः।

(२५) द्वितीयादेश-यादेशान्तरम्-
बिइयाएसे इमं भणइ ॥

द्वितीयादेशे आदेशान्तरे पुनरिदं भणति। किं तत्? इत्याह-

अनियता उ वसईओ, भमरकुलाणं च गोकुलाणं च।
समणाणं सउणाणं, सारइआणं च मेहाणं ॥

अनियता वसतयः स्थानानि, उपलक्षणत्वात् परिभ्रमणानि च। केषामित्याह-भ्रमरकुलानां च, गोकुलानां च, श्रमणानां, शकुनानां, शारदानां, च मेघानाम्, इत्थं न नियतचर्यया निष्काटने श्रमणानामपि प्राणिनां, नाधाकर्मादिकरणे भूयः प्रवृत्तिरुपजायत इति।

अथ "सत्त त्ति" पदं विवृणोति-

एकाए वसहीए, उक्कोसेणं वसंति सत्त जणा।
अवरोप्परसंभासं, वयन्ति अन्नोन्नवीहिं च ॥

एकस्यां वसतावुत्कर्षतः,सप्त जनाः,जिनकल्पिका वसन्ति। ते चैकत्र वसन्तोऽपि परस्परं भाषणं त्यजन्ति। न कुर्वन्तीत्यर्थः। अन्योऽन्यवीथिं च त्यजन्ति। यस्मिन् दिने, यस्यां वीथ्यामेकः पर्यटति। न तस्मिन्नेव, तस्यामपर इत्यर्थः। गतं सामाचारीद्वारम्।

अथ स्थितिद्वारमभिधित्सुराह-

खेत्ते काल-चरित्ते, तित्थे परियाय-आगमे वेए।
कप्पे लिंगे लेस-ज्झाणे गणणाऽभिग्गहा य ॥
पव्वावण-मुण्डावणे, मणसावन्ने वि से अणुग्घाया।
कारण-निप्पडिकम्मं, भत्तं पंथो य तइयाए ॥

एकस्मिन् क्षेत्रेऽमी भगवन्तो भवन्ति १ एवं काले २ चारित्रे ३ तीर्थे ४ पर्याये ५ आगमे ६ वेदे ७ कल्पे ८ लिङ्गे ९ लेश्यायां १० ध्याने ११ गणनायां १२ अभिग्रहाश्चामीषां भवन्ति न वा?, १३ प्रव्राजनायां १४ मुण्डापनायां च कीदृशी स्थितिः १५ मनसाऽऽपन्नेऽपराधे (से) तस्यानुद्घाताश्चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तम १६ कारणं १७ निःप्रतिकर्म १८ भक्तं, पन्थाश्च, तृतीयस्यां पौरुष्याम् १९-२० इति द्वारगाथाद्वयसमासार्थः।

व्यासार्थं प्रतिद्वारमभिधित्सुः प्रथमतः क्षेत्रद्वारमङ्गीकृत्याह-

जम्मणसंतीभावे, स होज्ज सव्वासु कम्मभूमीसु।
साहरणे पुण भइयं, कम्मे व अकम्मभूमे वा ॥

क्षेत्रविषया द्विविधा मार्गणा। जन्मतः,सद्भावतश्च। जन्मतो यत्र क्षेत्रे अयं प्रथम उत्पद्यते। सद्भावतस्तु यत्र जिनकल्पं प्रतिपन्नो,वाऽस्ति। तत्र जन्मसद्भावयोरुभयोरपि, अयं सर्वासु कर्मभूमिषु, भरतपञ्चकैरावतपञ्चकविदेहपञ्चकलक्षणासु भवेत्। संहरणे देवादिना अन्यत्र नयने, पुनरयं भजनीयं, कर्मभूमौ वा भवेदकर्मभूमौ वा। एतच्च सद्भावमाश्रित्योक्तं। जन्मतस्तु,कर्मभूमावेवायं भवतीत्युक्तं क्षेत्रद्वारम्।

अथ कालद्वारमाह--

ओसप्पिणीइ दोसुं, जम्मणतो तिसु संतीभावेणं।
उस्सप्पिणिविवरीया, जम्मणतो संतिभावे य ॥

अवसर्पिण्यां जन्मतो द्वयोः सुषमदुःषमदुःषमसुषमयोः तृतीयचतुर्थारकयोर्भवेत्। सद्भावतस्तु त्रिषु तृतीयचतुर्थपञ्चमारकेषु, (सुषमदुःषम—दुःषमसुषम—दुःषमरूपेषु) दुःषमसुषमाया अन्ते जातो दुःषमायां जिनकल्पं प्रतिपद्यते। इति कृत्वा उत्सर्पिणीविपरीता। जन्मतः सद्भावतश्च। इदमुक्तं भवति-उत्सर्पिण्यां दुःषमदुःषमसुषमसुषमदुःषमासु तिसृषु समासु जन्मधत्ते दुःषमसुषमसुषमदुःषमासु द्वयोरमुं कल्पं प्रतिपद्यते। दुःषमायां तीर्थं नास्तीति कृत्वा तस्यां जातस्यापि दुःषमसुषमायामेव कल्पप्रतिपत्तिरिति।

ओसप्पिणुस्सप्पिणी-भवंति पलिभागतो चउत्थम्मि।
काले पलिभागेसु अ, साहरणे होंति सव्वेसु ॥

अवसर्पिण्युत्सर्पिणीरूपे अवस्थितकाले, चत्वारः प्रतिभागास्तद्यथा-सुषमसुषमाप्रतिभागः। सुषमाप्रतिभागः। सुषमदुःषमाप्रतिभागः। दुःषमसुषमाप्रतिभागश्चेति। तत्राद्यो देवकुरूत्तरकुर्वोर्द्वितीयो रम्यकहरिवर्षयोस्तृतीयो हैमवतैरण्यवतयोश्चतुर्थस्तु महाविदेहेषु। तत्र चतुर्थे प्रतिभागे जन्मतः सद्भावतश्चामी भवन्ति। नाद्येषु त्रिषु प्रतिभागेषु (काले-त्ति) यो महाविदेहे जिनकल्पिकः स सुषमादिषु षट्स्वपि कालेषु संहरणतो भवेत् (पलिभागेषु अ त्ति) भरतैरावतमहाविदेहेषु संभूताः संहरणतः सर्वेष्वपि प्रतिभागेषु देवकुर्वादिसंबन्धिषु भवन्तीति।

चारित्रद्वारमाह-

पढमे वा बिइए वा, पडिवज्जइ संजमम्मि जिणकप्पं।
पुव्वपडिवण्णओ पुण, अण्णयरे संजमे होज्जा ॥

प्रथमे वा सामायिकाख्ये, द्वितीये वा छेदोपस्थापनीयनाम्नि संयमे वर्तमानो, जिनकल्पं प्रतिपद्यते । तत्र मध्यमतीर्थकरविदेहतीर्थकृत्तीर्थवर्ती, प्रथमे संयमे । पूर्वपश्चिमतीर्थवर्ती तु द्वितीये, इति मन्तव्यं । पूर्वप्रतिपन्नः,पुनरसौ जिनकल्पिकोऽन्यतरस्मिन् सूक्ष्मसंपरायादावपि संयमे भवेत् ।

तीर्थ-पर्याय-द्वारद्वयमाह-

नियमा होइ स तित्थे, गिहिपरियाए जहन्नगुणतीसा ।
जइपरियाए वीसा, दोसु वि उक्कोसदेसूणा ॥

स जिनकल्पिको नियमात्तीर्थे भवति । न पुनस्तद्व्यवच्छेदे, तदुत्पत्तौ वा तीर्थे * पर्यायो द्विधा * गृहिपर्यायो यतिपर्यायश्च-तत्र गृहिपर्यायो जन्मपर्याय इत्येकोऽर्थः । तत्र जघन्यतः, एकोनत्रिंशद्वर्षाणि । यतिपर्याये तु, जघन्यतो विंशतिवर्षाणि । उत्कर्षतस्तु, द्वयोरपि गृहिपर्याययतिपर्याययोर्देशोना पूर्वकोटी यदा प्राप्तो भवति तदा जिनकल्पं प्रतिपद्यते ।

तथा-ऽऽगम-वेद-द्वारे आह-

न करिंति आगमं ते, इत्थीवज्जेओ वेदो इक्कतरो ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्ज सवेओ अवेओ वा ॥

न कुर्वन्ति ते जिनकल्पिकाः आगमम् । पूर्वश्रुताध्ययनं, तत्तु श्रुतं । विस्रोतसिकाक्षयहेतोरेकाग्रमनाः, सम्यगनुस्मरन्ति । वेदमङ्गीकृत्य प्रतिपत्तिकाले स्त्रीवर्जः,एकतरः पुरुषवेदो,नपुंसकवेदो वा, असंक्लिष्टनपुंसकवेदो वा भवेत् । पूर्वप्रतिपन्नः पुनः, सवेदोऽवेदो वा भवेत् । तत्र जिनकल्पिकस्य तद्भवे केवलोत्पत्तिप्रतिषेधात् [illegible]श्रेण्यां वेदे उपशामिते सत्यवेदत्वम् । तदुक्तम्-" उवसमसेढिं पत्तु, वेदे उवसमियम्मि उ अवेदो अ । न उ खविए तं जम्मे, केवलपडिसेहभावाओ ॥ " शेषकालं तु सवेद इति ।

अथ कल्प-लिङ्ग-लेश्या-द्वाराण्याह-

ठियमट्ठियम्मि कप्पे, लिंगे भयणा उ दव्वलिंगेणं ।
तेआहि सुद्धाहिं पढ-मया अपढमया होज्ज सव्वासु ॥

स्थितकल्पे,अस्थितकल्पे च, मध्यमजिनमहाविदेहजिनभक्तोऽमी भवेयुः * लिङ्गे चिन्त्यमाने * भजना तु,द्रव्यलिङ्गेन कार्या । तुशब्दो विशेषणे । किं विशिनष्टि-प्रथमतः प्रतिपद्यमानो, द्रव्यलिङ्गयुक्त एव भवति । ऊर्ध्वमपि भावलिङ्गं नियमाद्भवति । द्रव्यलिङ्गं तु, जीर्णत्वाच्चौरादिभिरपहृतत्वाद्वा, कदाचित्समभवत्यपि, उक्तं च-" इयरं तु जिण्णभावा, एहिं सयय न होइ वि कयाइ । न य तेण विणा वि तहा, जायइ से भावपरिहाणी " न इतरदिति द्रव्यलिङ्गम् ** लेश्यासु तेजसादिकासु,प्रथमकाः, प्रतिपद्यमाना भवन्ति । अप्रथमकास्तु पूर्वप्रतिपन्नाः, सर्वास्वपि शुद्धासु लेश्यासु भवेयुः। केवलमशुद्धासु वर्तमानो नात्यन्तं संक्लिष्टासु वर्तते, न च भूयांसं कालमिति ।

ध्यान-गणना-द्वारद्वयमाह-

धम्मेण उ पडिवज्जइ, इयरेसु वि होज्ज भट्टझाणेसु ।
पडिवत्तिसयपुहत्तं, सहसपुहत्तं च पडिवन्ने ॥

धर्मेण ध्यानेन, तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वात् । प्रवर्द्धमानेन सता, कल्पं प्रतिपद्यते । पूर्वप्रतिपन्नस्तु, इतरेष्वप्यार्तादिषु ध्यानेषु कर्मवैचित्र्यबलाद्भवेदपि,केवलं कुशलपरिणामस्योद्दामत्वा-

त्तीव्रकर्मपरिणतिजनितः सोऽपि रौद्रार्तध्यानोऽस्य प्रायो निरनुबन्धो भवति । तदुक्तम् । " एवं कुसलजोगो उ-द्दामो तिव्वकम्मपरिणामो । रुद्दट्टेसु विभावो, इमस्स पायं निरणुबंधो " ॥ गणनाद्वारे प्रतिपत्तिं,प्रतिपद्यमानताऽङ्गीकृत्योत्कर्षतः, शतपृथक्त्वमेकस्मिन् समये अमीषां भगवतां प्राप्यते । पूर्वप्रतिपन्नकानां पुनरुत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्वं । कर्मभूमिपञ्चदशमप्येतामेवोत्कर्षतः प्राप्यमानत्वात् । जघन्यतस्तु प्रतिपद्यमानका एको,द्वौ, त्रयो,वा स्युः । पूर्वप्रतिपन्नास्तु जघन्यतोऽपि सहस्रपृथक्त्वमेव । महाविदेहपञ्चकं, सर्वदैवैतावतामवाप्यमानत्वात् । नवरमुत्कृष्टपदाज्जघन्यपदं लघुतरमिति ।

अभिग्रह-प्रव्राजना-मुण्डापना-द्वाराणि व्याचष्टे ।

भिक्खायरियाईया, अभिग्गहा नेव सो उ पव्वावे ।
उवदेसं पुण कुणती, धुव पव्वेणंति जाणित्ता ॥

भिक्षाचर्यायां भुज्वा गत्वा प्रत्यागतिकाद्यां गोचरचर्याविशेषास्तदाद्योऽभिग्रहाः, इत्वरत्वादस्य न भवन्ति । जिनकल्प एव हि यावत्कथिकस्तस्याऽभिग्रहस्तत्र च प्रतिनियता निरपवादाश्च गोचरादयस्तत्तत्पालनमेवास्य परमं विशुद्धिस्थानं । यदाह-" एयम्मि गोयराति, नियया नियमेण निरववादा य । तप्पालनं चिय परं, एयस्स विसुद्धिठाणं तु " तथा नवाऽसावन्यं प्रव्राजयति । उपलक्षणत्वात् न च मुण्डापयति । कल्पस्थितिरियमिति कृत्वा-उपदेशं पुनः करोति । प्रयच्छन्ति ध्रुवप्रव्राजिनमवश्यप्रव्रजनशीलं विज्ञाय । कश्चन तं च संविग्नगीतार्थसाधूनां समीपे प्रहिणोति ।

अथ मणसावन्ने वि से अणुग्घाय त्ति द्वारं ।

मनसापि सूक्ष्ममतिचारमापन्नस्यास्य सर्वजघन्यं चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम् ।

अथकारण-निष्प्रतिकर्म-द्वारे आह-

निप्पडिकम्मसरीरा, न कारणं अत्थि किंचि नाणाई ।
जंघावलम्मि खीणे, अविहरमाणो वि नावज्जे ॥

निष्प्रतिकर्मशरीरा, अमी भगवन्तो, नाक्षिमलादिकमप्यपनयन्ति । न वा चिकित्सादि कारयन्ति * न च तेषां कारणम्, * आलम्बनं ज्ञानादि किञ्चिद्विद्यते, यद्बलात् द्वितीयपदासेवनं विदध्युः ।

भक्तः * पन्थाश्च * तृतीयस्यामिति द्वारम् ।

तृतीयस्यां पौरुष्यां भिक्षाकालो, विहारकालोऽस्य भवति । शेषासु तु पौरुषीषु प्रायः कायोत्सर्गेणास्ते * जङ्घाबले परिक्षीणे पुनरविहरन्नपि विहारमकुर्वन्नपि नापद्यते, कमपि दोषं, किन्त्वेकत्रैव क्षेत्रे स्वकल्पस्थितिं स तु पालयतीति व्याख्यातं स्थितिद्वारं, तद्व्याख्याने चाभिहितः कल्पविहारः । वृ० १ उ० ।

ध्यानार्थसत्ववन्तः प्रस्तुतं द्वारमेव-

सयमे आउकालं, णाउं पुच्छित्तु वा बहूसेसं ।
सुबहुगुणलाभकंखी, विहारमब्भुज्जयं भयई ॥ २७७ ॥

स्वयमेवायुष्कालं ज्ञात्वा, बहुशेषं श्रुतातिशयेन पृष्ट्वा च श्रुतातिशययुक्तमन्यं बहुशेषं ज्ञात्वा, सुबहुगुणलाभकाङ्क्षी सन्, साधुविहारं क्रियारूपमभ्युद्यतं भजते प्रधानमिति गाथार्थः ।

प्रसङ्गमभिधाय पञ्चतुलनेति द्वारं व्याचिख्यासुराह-

गणि-उवज्झाय-पवित्ति+थेर-गणावच्छेइआ इमे पंच ।
पायमहिगारिणो इह,तेसिमिमा होइ तुलणाओ ॥ २७८ ॥

गणी गच्छाधिपः, आचार्यः, उपाध्यायः सूत्रप्रदः, प्रवृत्तिकथितो प्रवर्तकः, स्थविरः, स्थिरीकरणात्, गणावच्छेदको गणादेशपालनक्षमः, एते पञ्चपुरुषाः, प्रायोऽधिकारिण इहाऽभ्युद्यतविहारे । एतेषामियं वक्ष्यमाणा भवति, तुलनेति गाथार्थः ।

गणणिक्खेवित्तरिओ, गणिस्स जो वा जिओ जहिं ठाणे ।
सो तं अप्पसमस्से-वं णिक्खिवइ इयरं चेव ॥३७९॥

गणनिक्षेप इत्वरः परिमितकालो, गणिनो भवति । यो वा स्थितो यत्र स्थाने उपाध्यायादौ, स तत्पदमात्मसमस्यैव निक्षिपतीत्वरमेवापरस्य साधोरिति गाथार्थः ।

पिच्छामु ताव एए, केरिसया होंतिमस्स ठाणस्स ।
जोगाण वि पाएणं, णिव्वहणं दुक्करं होइ ॥ ३८० ॥

पश्यामस्तावदेते अभिनवाचार्यादयः, कीदृशा भवन्त्यस्य स्थानस्य प्रस्तुतस्येति तानवेति । अयोग्यानामनारोपणमेवेत्याशङ्क्याह-योग्यानामपि सामान्येन प्रायो निर्वहणं, प्रस्तुतस्य दुष्करं भवति, लोकसिद्धमेतदिति गाथार्थः ।

युक्त्या तुलनाप्रयोजनमाह-

ण य बहुगुणचाएणं, थोवगुणपसाहणं बुहजणाणं ।
इट्ठं कयाइ कज्जं, कुसला सुपइट्ठियारंभा ॥ ३८१ ॥

न च बहुगुणत्यागेन प्रामाणिकेन, स्तोकगुणप्रसाधनं, बुधजनानां विदुषामिष्टं, कदाचित्कार्यं, नैवेत्यर्थः । किमित्यत आह-कुशलाः सुप्रतिष्ठितारम्भा भवन्तीति गाथार्थः ।

उपकरणद्वारमाभित्याह-

उवगरणं सुद्धेसण, माणजुअं जमुचिअं सकप्पस्स ।
तं गेण्हइ तयभावे, अहागडं जाव उचिअं तु ॥ ३८२ ॥

उपकरणं वस्त्रादिशुद्धैषणामानयुक्तं, यदुचितं स्वकल्पस्य समयनीत्या, तथात्युत्सर्गेणाश्रित एव, तदभावे सति, यथाकृतं गृह्णाति । यावदुचितमभ्यन्तरति, तावदेवेति गाथार्थः ।

जाए उचिए अ तयं, वोसिरइ अहागडं विहाणेण ।
इय आणाविरयस्सिह, विएणेअं तं पि तेण समं ॥३८३॥

जाते सत्युचितोपकरणे, तत् प्राक्तनं व्युत्सृजति । यथाकृतमुपकरणं, विधानेन सौत्रेण, इयस्त्यागो निस्पृहतया आज्ञाविरतस्येह लोकेऽपि विज्ञेयं । तदपि मौलमुपकरणं तेन समं पाश्चात्येनेति गाथार्थः ।

किमित्यत आह-

आणा इत्थ पमाणं, विएणेआ सव्वहेव परलोए ।
आराहणाअ तीए, धम्मो वज्झं पुण निमित्तं ॥३८४॥

आज्ञाऽत्र प्रमाणं विज्ञेया । सर्वथैव परलोके, न त्वन्यत् किञ्चित् आराधनेन तस्या धर्मः । आज्ञाबाह्यं पुनर्निमित्तमिति गाथार्थः ।

उवगरणं उवगारे, तीए आराहणस्सऽवट्टंतं ।
पावइ जहत्थनामं, इहरा अहिगरणमो जणिअं ॥३८५॥

उपकरणमप्युपकारे तस्याऽऽज्ञाया आराधनस्यावर्तमानं स प्राप्नोति, यथार्थनामोपकरणमिति । इतरथा तदाराधनोपकाराभावे सत्यधिकरणमेव भणितं तदुपकरणमिति गाथार्थः

परिकर्मद्वारमभिधातुमाह-

परिकम्मं पुण इहइं-दिआइ विणिअमणभावणा नेआ ।
तमवायादालोअण-विहिणा सम्मंतओ कुणइ ॥३८६॥

परिकर्म, पुनरिह प्रक्रमे इन्द्रियादिविनियमनभावना ज्ञेया भावनाऽभ्यासः । तत्परिकर्म अपायाद्यालोचनविधिनेन्द्रियादीनां सम्यक्त्वतः करोतीति गाथार्थः ।

इंदिअकसायजोगा, विणमिआ तेण पुव्वमेव णणु ।
सच्चं तहा वि जयए, तज्जयसिद्धिं गणंतो सो ॥ ३८७ ॥

इन्द्रियकषाययोगाः सर्वे एव विनियमितास्तेन साधुना पूर्वमेव ननु ? अत्रोत्तरं-सत्यमेतत्, तथापि यतते, स तज्जयादिन्द्रियादिजयात्सिद्धिं गणयन् प्रस्तुतस्येति गाथार्थः ।

इंदिअजोगेहिं तहा, णेहऽहिगारो जहा कसाएहिं ।
एएहिं विणा णेए, दुहवुड्ढी अज्जूआ ॥३८८॥

इन्द्रिययोगैस्तथा नेहाधिकारः प्रक्रमे । यथा कषायैः किमित्यत आह-एभिर्विना नैते इन्द्रिययोगा दुःखवृद्धिसाधकाः । इति गाथार्थः ।

जेण उ ते वि कसाया, णो इंदिअयोगविरहिआ हुंति ।
तव्विणियमणं पि तओ, तयत्थमेवेत्थ कायव्वं ॥ ८९ ॥

येन पुनः कारणेन, तेऽपि कषायाः नेन्द्रिययोगविरहिता भवन्ति । तद्विनियमनमपि ततः कारणात् । तदर्थमेव कषायविनियमनार्थमत्र कर्तव्यमिति गाथार्थः ।

तपोभावनादिप्रतिपादनायाह-

इअ परिकम्मिअभावो-ऽणसणत्थं पोरिसाइतिगुणतवं ।
कुणइ छुहाविजयट्ठा, गिरिणइसीहेण दिट्ठंतो ॥३९०॥

(इय त्ति) एवं परिकर्मितभावः सर्वेन्द्रियादिविनियमनेनानभ्यस्तमसात्मीभूतं पूर्वे पौरुष्याद्यभ्युपलक्षणमेतत् त्रिगुणं तपः, करोति । त्रिधारासेवनेन इन्द्रियजयाय सात्मीभावेन क्षुज्जयार्थम् । गिरिनदीसिंहेनाऽत्र दृष्टान्तः । यथाऽसौ गिरिनदीं वेगवतीमसकृदुत्तरणेनापि, प्रगुणमुत्तरत्येवमसावबाधकं तपः करोतीति गाथार्थः ।

एतदेवाह-

इक्किक्कं ताव तवं, करेइ जह तेण कीरमाणेणं ।
हाणी ण होइ जइआ, वि होइ छम्मासुवसग्गो ॥३९१॥

एकैकं पौरुष्यादि तावत्तपः करोति सात्मीभावेन ।

यथा तेन तपसाह-

अप्पाहारस्स ण इं-दिआइं विसएसु संपयट्टंति ।
नेअ किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जई आवि ॥३९२॥

अल्पाहारस्य तपसा, नेन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, विषयेषु स्पर्शनादिषु, संप्रवर्तन्ते । धातूद्रेकाभावाच्च क्लाम्यति । तपसा रसिकेष्वशनादिषु, न सज्जते, चापि । अपरिभोगनामादरादिति गाथार्थः ।

तवभावणाए पंचिं-दिआणि दंताणि जस्स वसमिंति ।
इंदियजोग्गाइरिओ, समाहिकरणाइं कारेइ ॥ ३९३ ॥

तपोभावनया हेतुभूतया, पञ्चेन्द्रियाणि दान्तानि सन्ति यस्य वशमागच्छन्ति प्राणिनः, स इन्द्रिययोग्याचार्यः इन्द्रियप्रगु-

धर्मकथागुरुः । समाधिकरणानि, समाधिव्याघाताद् कायस्याकिञ्चित्कराणि, इति गाथार्थः ।

भावनान्तरसंबन्धाभिधित्सयाह-

इअ तवभाविअप्पा खलु, पच्छा सो सत्तभावणं कुणइ ।
निद्दाजयविजयट्ठं, तत्थ उ पडिमा इमा पंच ॥३९४॥

(इअ) एवं तपोभावितात्मा खलु, पश्चादसौ मुनिः,सत्त्वभावनां करोति । सत्त्वाभ्यासमित्यर्थः । निद्राभयविजयार्थमेतत्करोति । तत्र तु प्रतिमाः सत्त्वभावनायामेताः पञ्चेति गाथार्थः ।

पढमा उवस्सयम्मि, बीया बाहिं तइया चउक्कम्मि ।
सुण्णघरम्मि चउत्थी, तह पंचमिआ मसाणम्मि ॥३९५॥

प्रथमोपाश्रये प्रतिमा, द्वितीया बहिरुपाश्रयस्य, तृतीया चतुर्थे स्थाने संनिधाने, शून्यगृहे चतुर्थी स्थानसंबन्धनीयैव, तथा पञ्चमी श्मशाने प्रतिमा । इति गाथार्थः ।

एयासु चेव थोवं, पुव्वपवत्तं जिणइ निद्दमसो ।
मूसगभिक्काओ तह, भयं च सद्दसुब्भवं अजिअं ॥३९६॥

एतासु प्रतिमासु स्तोकस्तोकं, यथा समाधिना पूर्वप्रवृत्तां जयति निद्रामसौ मूषिकपूर्वाद्यां । तथा आदिशब्दान्मार्जारादिपरिग्रहः । भयं च सहसोद्भवमजितं जयतीति गाथार्थः ।

एएण सो कमेणं, भिंजगतक्करसुराइकयमेअं ।
जिणिऊण महासत्तो, वहइ जयं निब्भओ सयलं ॥३९७॥

अनेनासौ क्रमेण यथोपन्यस्तेन, डिम्भकतस्करसुरादिकृतमेतद्भयं जित्वा-महासत्त्वः सर्वासु प्रतिमासु वहति भयं प्रस्तुतं निर्भयः सकलमिति गाथार्थः ।

सुत्तभावनामाह-

अह सुत्तभावणं सो, एगग्गमणाऽणाउलो उ भयवं ।
कालपरिमाणहेउं, सव्वत्थं सव्वहा कुणइ ॥ ३९८ ॥

अथ सूत्रभावनामसौ सुपरिचितामेकाग्रमना अन्तःकरणेन अनाकुलो बहिर्वृत्त्या भगवानसौ, कालपरिमाणहेतोस्तदभ्यासादेव तद्गतेः स्वभ्यस्तां सर्वथा करोत्युच्छ्वासादिमानेनेति गाथार्थः ।

एतदेवाह-

उस्सासाओ पाणा, तओ अ थोवो तओ वि अ मुहुत्तो ।
एएहिं पोरिसीओ, ताहिं वि णिसाइ जाणेइ ॥३९९॥

उच्छ्वासात् प्राणादित्युच्छ्वासनिःश्वासः । ततश्च प्राणात्, स्तोकः, सप्तप्राणमानः । ततोऽपि च स्तोकान्मुहूर्तो, द्विघटिककालः । एभिर्मुहूर्तैः पौरुष्यः । ताभिरपि पौरुषीभिः, निशादिवसादि जानाति, सूत्राभ्यासतः । इति गाथार्थः ।

एसो उवओगाउ, सदेव सो मूढलक्खयाए उ ।
दोसं अपावमाणो, करेइ किच्चं अविवरीअं ॥ ४०० ॥

अत उपयोगात् सूत्राभ्यासगर्भात्, सदैवासौऽमूढलक्षतया कारणेन दोषमप्राप्नुवन्, निरतिचारः सन् करोति कृत्यं, विहितानुष्ठानमविपरीतमिति गाथार्थः ।

मेहाइछन्नेसुं उ-भओ कालमहावा उवस्सए ।
पेहाइभिक्खपंथे, जाणइ कालं विणा छाइ ॥४०१॥

मेघादिच्छन्नेषु विभागेषूभयकालं प्राभातिकसमासिकम् । अथवोपसर्गे दिव्यादौ । प्रेक्षादावुपकरणस्य भिक्षापथे चौचित्येन जानाति, कालं योग्यं विना छायामपीति गाथार्थः ।

एकत्वभावनामभिधातुमाह-

एगत्तभावणं तह, गुरुमाइसु दिट्ठिमाइपरिहारा ।
भावइ छिण्णममत्तो, तत्तं हिअयम्मि काऊणं ॥४०२॥

एकत्वभावनां, तथाऽसौ, यतिगुर्वादिषु दृष्ट्यादिपरिहारादालापपरिहारेण भावयत्यभ्यस्यति । छिन्नममत्वः संस्तत्त्वं हृदये कृत्वा-वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ।

एगो आया संजो-गिअं तुऽसेसं इमस्स पाएणं ।
दुक्खणिमित्तं सव्वं, मोत्तुं मज्झत्थभावं तु ॥ ४०३ ॥

एक आत्मा तस्यैतः संयोगिकं । स्वशेषमस्य देहादि, प्रायेण दुःखनिमित्तं सर्वमेतत् । हितस्तु मध्यस्थभावो यस्य सर्वत्रेति गाथार्थः ।

इय भावियपरमत्थो, समसुहदुक्खोऽवहीअरो होइ ।
तत्तो अ सो कमेणं, साहेइ जहिच्छिअं कज्जं ॥४४०॥

टीका तु—(मूलप्रतावप्रास्त्यायाऽलिखिता) ।

एगत्तभावणाए, ण कामभोगे गणे सरीरे वा ।
सज्जइ वेरग्गगओ, फासेइ अणुत्तरं करणं ॥ ४०५ ॥

एकत्वभावनया भाव्यमानया, न कामभोगयोस्तथा, गणे, शरीरे वा, सङ्गेन, सङ्गं गच्छति । एवं वैराग्यगतः सन्, स्पृशत्यनुत्तरं करणं, प्रधानयोगनिमित्तमिति गाथार्थः ।

बलभावनामाह-

इअ एगत्तसमेओ, सारीरं माणसं च दुविहं पि ।
भावइ बलं महप्पा, उस्सग्गधिइसरूवं तु ॥ ४०६ ॥

एवमेकत्वभावनासमेतः सन्,शारीरं, मानसं च,द्विविधमप्येतत् भावयति बलम्, महात्माऽसौ, कायोत्सर्गधृतिस्वरूपं यथा संख्यमिति गाथार्थः ।

पायं उस्सग्गेणं, तस्स ठिईभावणाबला एसो ।
संघयणे वि हु जायइ, एयिहं भाराइवहतुल्लो ॥ ४०७ ॥

प्रायः कायोत्सर्गेण,तस्य यतेः स्थितिभावनाबलाऽस्यैव कायोत्सर्गः, संहननेऽपि सति जायते । इदानीं भारादिवहतुल्यः, शक्तौ सत्यामप्यभ्यासतो भारवहनिदर्शनादिति गाथार्थः ।

सइ सुहभावेण तहा, जं सं सुहभावठिअरूवाओ ।
एसो चिय कायव्वा, धिई णिहाणाइलाभो व्व ॥४०८॥

सदा शुभभावेन, तथा तस्य स्थितिरिति वर्तते । यदस्मादेवं तच्छुभभावस्थैर्यरूपा । अत एव स्थितिसंपादनार्थं कर्तव्या धृतिस्तेन निधानादिलाभ इवेत्यसिद्धेरिति गाथार्थः ।

धिइबलए बद्धकच्छो, कम्म जयट्ठाअ ओवगओ पढमो ।
सव्वत्था अविसाई, उवसग्गसहो दढं होइ ॥ ४०९ ॥

धृतिबलनिबद्धकक्षः, सत्कर्मजयार्थमुद्यतो, मतिमानेव सर्वत्राविषादिभावेनोपसर्गसहो, दृढमत्यर्थं भवतीति गाथार्थः ।

चरमभावनाभाभिधाय विशेषमाह-

सव्वासु भावणासुं, एसो विही उ होज्जइ ओहेणं ।
एत्थं चमहगाहिओ, तयणंतरं चेव केइ त्ति ॥ ४१० ॥

सर्वासु भावनासु अनन्तरोदितासु, एष विधिस्तु वक्ष्यमाणो भवत्योघेन । अत्र चशब्दगृहीतो द्वारगाथायां, तदनन्तरं विव्यन्तरमेव केचनेति गाथार्थः ।

जिणकप्पिअपडिरूवी, गच्छे विअ कुणइ दुविहपरिकम्मं ।
आहारोवहिमाई-सु ताइ पडिवज्जए कप्पं ॥ ४११ ॥

जिनकल्पिकप्रतिरूपी तत्सदृशो, गच्छ एव स्थितः सन्, करोति, द्विविधं परिकर्म, बाह्यमान्तरं च, आहारोपध्यादिषु विषयेषु, ततस्तत्कृत्वा प्रतिपद्यते कल्पमिति गाथार्थः ।

एतदेवाह—

तइआएऽभिवारं, पंचण्हयराअ जयइ आहारं ।
दोएहऽण्णयराअ पुणो, उवहिं च अहागडं चेव ॥४१२॥

तृतीयायां पौरुष्यामलेपकृतं वल्लादि, पञ्चानामन्यतरया एषणया, भजते सेवते आहारं, द्वयोरन्यतरया पुनरेषणयोरुपधिं च भजते । यथाकृतं चैवोपधिं, नान्यं, तत्रौघत एषणा आहारस्य सप्त । यथोक्तम्-" संसट्ठासंसट्ठा, उद्धड तह होइ अप्पलेवा य । उग्गहियापग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया " ॥ १ ॥ "तत्थ पंचसुग्गहो,एक्काए अभिग्गहो असणस्स । एक्काए चेव पाणस्स," ॥ वस्त्रस्य त्वेषणाश्चतस्रः । यथोक्तम्-" उद्दिट्ठपेह-अंतर-मोज्झियधम्मा चउव्विहा भणिया । वत्थेसणा अईणं, जिणेहि जिअरागदोसेहिं" ॥ 'वत्थं पि दोसु गिण्हइ' इति गाथार्थः ।

पाणिपडिग्गहपत्तो, सचेलनेएण वा वि दुविहं तु ।
जो जहरूवो होहिइ, तह परिकम्मए अप्पं ॥ ४१३ ॥

पाणिप्रतिग्रहपात्रभेदेन सचेलाचेलभेदेन चापि, द्विविधं तु प्रस्तुतं परिकर्म । यो यथारूपो भविष्यति जिनकल्पिकः । स तथा तेनैव प्रकारेण, परिकर्मयत्यात्मानमिति गाथार्थः ।

चरमद्वाराभिधित्सयाह-

निग्गाओ अ तहिं सो, गच्छाई सव्वहाऽणुजाणित्ता ।
पुव्वाइआण सम्मं, पच्छा उववूहेउं विहिणा ॥४१४॥

निर्गतश्च, तत्र परिकर्मण्यसौ, गच्छादीन् सर्वथाऽनुज्ञाय प्रागुक्तं पदं, पूर्वोदितानां, सम्यगित्वरस्थापितानां, पश्चादुपबृंह्य विधिना तेनैवेति गाथार्थः ।

खामेइ तओ संघं, सबालवुड्डं जहोचिअं एवं ।
अच्चंतं संविग्गो, पुव्वविरुद्धे विसेसेणं ॥४१५॥

क्षामयति ततः सङ्घं, सामान्येन सबालवृद्धं, यथोचितमेव । वक्ष्यमाणनीत्या अत्यन्तं संविग्नः सन्, पूर्वविरुद्धान् विशेषेण क्षामयतीति गाथार्थः ।

जं किंचि पमाएणं, ण सुट्ठु भे वट्टिअं मए पुव्विं ।
तं भे खामेमि अहं, णिस्सल्लो णिक्कसाओ त्ति ॥४१६॥

यत्किञ्चित् प्रमादेन हेतुना न सुष्ठु (भे) भवतां वर्तितं मया पूर्वं, तद् (भे) युष्मान् क्षमयाम्यहं । निःशल्यो, निःकषायोऽस्मि संवृत्त इति गाथार्थः ।

दव्वाई अणुकूले, महाविभूइए अह जिणाईणं ।
अब्भासे पडिवज्जइ,जिणकप्पं असइ वडरुक्खे ॥४१७॥

द्रव्यादावनुकूले सति महाविभूत्या दानादिकया, अथ जिनादीनामतिशयिनामभ्यासे, प्रतिपद्यते जिनकल्पमुत्सर्गेण । असति च वटवृक्षेऽपवाद । इति गाथार्थः ।

दाराणुवायो इह, सो पुण तइयाअ भावणासारं ।
काऊण तं विहाणं, णिरवेक्खो सव्वहा वयइ ॥४१८॥

द्वारानुपातो द्रष्टव्यः । स पुनस्तृतीयायां पौरुष्यां, भावनासारं सत्कृत्वा, तमसत्कारादिप्रतिपत्तिविधानं, निरपेक्षः सन्, सर्वथा व्रजति ततः । इति गाथार्थः ।

पक्खंऽपिवगरणो, गच्छारामाउ विणिग्गए तम्मि ।
चक्खुविसयं अईए, अंति आणंदिया साहू ॥ ४१९ ॥

पक्षिपक्षोपकरणे अमुकल्पिकापथौ, गच्छारामात्सुखसंख्याद्विनिर्गते तस्मिन् जिनकल्पिके, चक्षुर्विषयमतीते अदर्शनीभूते, आगच्छन्ति स्ववसतिमानन्दिताः, साधवः तत्प्रतिपत्तेरिति गाथार्थः ।

आभोएउं खेत्तं, णिव्वाघाएण मासणिव्वाहं ।
गंतुण तत्थ विहरइ, एस विहारो समासेणं ॥ ४२० ॥

(आनुय) विज्ञाय क्षेत्रं निर्व्याघातेन हेतुत्वेन, (मासणिव्वाहं) मासनिर्वहणसमर्थं गत्वा-तत्र क्षेत्रे विहरति । स्वनीतिं पालयति एष विहारः, समासेनास्य भगवतः, इति गाथार्थः ।

एत्थ य सामायारी, इमस्स जा होइ तं पवक्खामि ।
भयणाअ दसविहाए, गुरूवएसाणुसारेणं ॥४२१॥

अत्र च क्षेत्रे सामाचारी स्थितस्य या एवं जिनकल्पिकस्य । तां प्रवक्ष्यामि । भजनया विकल्पेन दशविधायां सामाचार्यां वक्ष्यमाणायां गुरूपदेशानुसारेण, न स्वमनीषिकयेति गाथार्थः ।

दशविधानेवादेशानाह-

इच्छा मिच्छा तहका-रो आवस्सिआ निसीहिआऽऽपुच्छा ।
पडिपुच्छ-छंदण-निमं-तणा य उवसंपया चेव ॥४२२॥

इच्छा, मिथ्या, तथाकार, इति । कारशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते इच्छाकारो,मिथ्याकारः,तथाकार, इति । तथा परजनने सर्वत्रेच्छाकारः। दोष नोदने मिथ्याकारः। तथा आवश्यकी नैषेधिकी च आपृच्छा,वसतिनिर्गमे आवश्यकी,प्रवेशे नैषेधिकी,च स्वकार्यप्रवृत्ता वा,पृच्छा तथा प्रतिपृच्छा, छन्दना निमन्त्रणा,च तत्रादिष्टकरणकाले, प्रतिपृच्छापूर्वगृहीतेनाशनादिना छन्दना निमन्त्रणा भवत्यगृहीतेन उपसंपच्चैव,श्रुतादिनिमित्तमिति गाथार्थः ।

अत्र जिनकल्पिकसामाचारीमाह-

आवस्सिणिसीहिमिच्छा-ऽऽपुच्छणमुवसंपयम्मि ति गिहेसु ।
अण्णा सामायारी, ण होई ससे सिआ पंच ॥ ४२३ ॥

आवश्यकीं नैषेधिकीं मिथ्येति । मिथ्याकारपृच्छामुपसंपदं

पुरिस्यौचित्येन सर्व करोति । अन्याः सामाचार्य इच्छाकार्याद्या न भवन्ति (से) तस्य शेषाः पञ्च प्रयोजनाभावादिति गाथार्थः ।

आदेशान्तरमाह-

आवस्सिअं निसीहिअ, मोत्तुं उवसंपयं च गिहिएसु ।
सेसा सामायारी, ण होइ जिणकप्पिए सया ॥४२४॥

आवश्यकीं नैषेधिकीं मुक्त्वा उपसंपदं च, गृहिष्वारामादिष्वोत्तनः शेषा. सामाचार्यः पृच्छाद्या अपि न भवन्ति, जिनकल्पिक सदा । प्रयोजनाभावादेवेति गाथार्थः ।

अहवा वि चक्कवाले, सामायारी उ जस्स जा जोग्गा ।
सा सव्वा वत्तव्वा, सुअमाईआ इमा मेरा ॥ ४२५ ॥

अथवाऽपि चक्रवाले नित्यकर्मणि, सामाचारी तु यस्य या योग्या जिनकल्पिकादेः । सा सर्वा वक्तव्या । अथान्तरे श्रुतादिका चेयं मर्यादा वक्ष्यमाणा । इति गाथार्थः ।

सुअ-संघयणु-वसग्गो, आयंको वेअणा कइजणा य ।
थंडिल्ल-वसहि-केच्चिर-मोच्चारं चेव पासवणे ॥४२६॥

श्रुतसंहननोपसर्गो इत्येतद्विषयोऽस्य विधिर्वक्तव्यः । तथा-आतङ्कः, वेदना, कियन्तो जनाश्चेति, द्वारत्रयमाश्रित्य-तथा-स्थाण्डिल्य-वसति-कियच्चिर-द्वारत्रयमाश्रित्य--तथा-उच्चारे चैव प्रश्रवणे चैतद्विषयं । इति गाथार्थः ।

ओआसे तणफलए, सारक्खणया य संठवणया य ।
पाहुडि-अग्गीदीवे,ओहाण वसे कइ जणा उ ॥४२७॥

तथा अवकाशे तृणफलक एतद्विषय इत्यर्थः । तथा संरक्षणता च संस्थापना चेति द्वारद्वयमाश्रित्य-तथा-प्राभृतिकाग्निदीपेष्वेतद्विषयस्तथावधानं वत्स्यन्ति कति जनाश्चेत्येतद् द्वारद्वयमाश्रित्येति च गाथासमुदायार्थः ।

भिक्खायरिआ-पाणय-लेवालेवे अ तह अलेवे अ ।
आयंबिल-पडिमाअ, जिणकप्पे मासकप्पे य ॥ ४२८ ॥

भिक्षाचर्या-पानक इत्येतद्विषयो, लेपालेपे वस्तुनि, तथा-अलेपे चैतद्विषयश्चेत्यर्थः । तथा-आचाम्ल-प्रतिमे, समाश्रित्य-जिनकल्पे, मासकल्पं चैतद्द्वारमधिकृत्य-विधिर्वक्तव्यः इति गाथासमुदायार्थः । एतास्तिस्रोऽपि द्वारगाथाः । आसामवयवार्थः प्रतिद्वारं स्पष्ट उच्यते ।

तत्र श्रुत-द्वारमधिकृत्याह-

आयारवत्थु तइयं, जहण्णयं होइ नवमपुव्वस्स ।
तहियं कालण्णाणं, दस उक्कोसेण भिण्णाइं ॥४२९॥

आचारवस्तु तृतीयं, संख्यया जघन्यकं भवति । नवमपूर्वस्य संबन्धिश्रुतपर्यायस्तत्र कालज्ञानं भवतीति कृत्वा—दशपूर्वाण्युत्कृष्टतस्तु भिन्नानि श्रुतपर्यायतः । इति गाथार्थः ।

संहनन-द्वारमाश्रित्याह-

पढमिल्लुगसंघयणा, धिइए पुण वज्जकुड्डसामाणा ।
पडिवज्जंति इमं खलु, कप्पं सेसाण तु कयाइ ॥४३०॥

प्रथमिल्लुकसंहननात् वज्रऋषभनाराचसंहनना इत्यर्थः । धृ (धृ) त्या पुनर्वज्रकुड्यसमानाः प्रधानधृत्य इति भावः । प्रतिपद्यन्ते एनं खलु कल्पमधिकृतं जिनकल्पं । शेषाणां तु कदाचिदन्यसंहनिनः । इति गाथार्थः ।

उपसर्ग-द्वारविधिमाह-

दिव्वाई उवसग्गा, भइआ एअस्स जइ पुण हवंति ।
तो अव्वहिओ विसहइ,णिच्चलचित्तो महासत्तो ॥४३१॥

दिव्याद्य उपसर्गा भाज्याः । अस्य जिनकल्पिकस्य भवन्ति, वा नवा ? । यदि पुनर्भवन्ति कथञ्चित्, ततोऽव्यथितः सम्यक्सहते तानुपसर्गान् । निश्चलचित्तो महासत्त्वः स्वल्पसत्त्वानां वैव—इति गाथार्थः ।

आतङ्क-द्वारविधिमाह-

आतंको जरमाई, से वि हु जइओ इमस्स जइ होइ ।
णिप्पडिकम्मसरीरो, अहियासइ तं पि एमेव ॥४३२॥

आतङ्को ज्वरादिः, सद्योघाती रोगोऽसावपि भाज्योऽस्य भवति । वा यदि जवनि कथंचत्ततः निष्प्रतिकर्मशरीरः सम्यक् सहते, तमप्यातङ्कमेवमेव । निश्चलचित्ततयेति गाथार्थः ।

वेदना-द्वारविधिमाह-

अब्भुवगमिआ उवक-माय तस्स वेअणा भवे दुविहा ।
धुवलोआई पढमा, जराविवागाइआ बिइआ ॥ ४३३ ॥

आभ्युपगमिकी, औपक्रमिकी च । तस्य जिनकल्पिकस्य वेदना भवति द्विविधा । ध्रुवलोचाद्या प्रथमा वेदना । ज्वरविपाकादिका द्वितीया वेदनेति गाथार्थः ।

कियन्तो जना इति द्वारविधिमाह-

एगो अ एस जयवं, णिरविक्खाओ सव्वहेव सव्वत्थ ।
भावेण होइ निअमा, वसहिम्मि दव्वओ जइओ ॥४३४॥

एक एवैष भगवान् जिनकल्पिकः, निरपेक्षया सर्वथैव सर्वत्र वस्तुनि, भावेनानभिष्वङ्गेन भवति नियमात् । वसत्यादौ द्रव्यतो भाज्यः । एकान्तोऽनेको वेति गाथार्थः ।

स्थण्डिल्य-द्वारमाह-

उच्चारे पासवणे, उस्सग्गं कुणइ थंडिले पढमे ।
तत्थेव य पडिजिण्णे, कयाकिच्चो उज्झए वत्थे ॥ ४३५ ॥

उच्चारे प्रश्रवण एतद्विषयमित्यर्थः । व्युत्सर्गं करोति । स्थण्डिले प्रथमेऽनपातादिगुणवति । तत्रैव च परिजीर्णानि भवन्ति । कृतकृत्यः स उज्झति, वस्त्राणीति गाथार्थः ।

वसति-द्वारविधिमाह-

अममत्ताऽपरिकम्मा, दारविलभग्गजोगपरिहीणा ।
जिणवसहीथेराण वि, मोत्तूण पमज्जणमकज्जे ॥४३६॥

अममत्वाऽममेयमित्यभिष्वङ्गरहिता । अपरिकर्मा, साधुनिमित्तमालेपनादिपरिकर्मवर्जिता । द्वारबिल-भग्नयोग-परिहीणा,द्वारविलयोगः, स्थगनं पूरणरूपं । भग्नयोगः, पुनः संस्करणमेतद्रूपया जिनवसतिः । अस्थानपवादानुष्ठानपरत्वात् । स्थविराणामप्येवंरूपैव वसतिः । मुक्त्वा प्रमार्जनं वसतेरेवाकार्यमिति पूर्वमासन्नं विहायैवंरूपेति गाथार्थः ।

कियच्चिर-द्वारविधिमाह-

केच्चिरकालं वसहीहि, एवं पुच्छंति जायणा समए ।
जत्थ गिही सा वसही, ण होइ एअस्स णिअमेण ॥४३७॥

कियच्चिरं कालं वत्स्यथ यूयमेवं पृच्छन्ति, याचनासमये काले, यत्र गृहिणस्तत्स्वामिनः, सा वसतिरेवंभूता न भवत्येव, तस्य जिनकल्पिकस्य नियमेन सूक्ष्ममममत्वयोगादिति गाथार्थः ।

उच्चार-द्वारविधिमाह-

नो उच्चारो एत्थं, आयरिअव्वो कयाऽऽइ वि जत्थ ।
एवं भणंति ते सा, वि हु पडिकुट्ठ च्चिअ एअस्स ॥४३८॥

नोच्चारोऽत्र प्रदेश आचरितव्यः कदाचिदपि । यत्र वसतावेवं भणन्ति दातारः, साऽपि प्रतिकुष्टैव, भगवत एतस्य वसतिरिति गाथार्थः ।

प्रस्रवण-द्वारविधिमाह-

पासवणं पि अ एत्थ, इमम्मि देसम्मि ण उण अन्नत्थ ।
कायव्वं ति भणंति हु, जीए एसा वि णो जोग्गा ॥४३९॥

प्रस्रवणमपि वाऽत्र वसतौ, अस्मिन् देशे विधातव्य एव । न पुनरन्यत्र देशे कर्तव्यमिति भणन्ति, यस्यां वसतौ । एषाऽपि न योग्याऽस्येति गाथार्थः । व्याख्याता प्रथमा द्वारगाथा ।

द्वितीया व्याख्यायते । तत्रावकाश-द्वारविधिमाह-

ओवासो वि अ एत्थं, एसो तुज्झं ति न पुण एसो वि ।
एव वि भणंति जहिअं, सा वि ण सुद्धा इमस्स भवे ॥४४०॥

अवकाशोऽपि चात्र वसतौ, एष युष्माकं नियतः । न पुनरेषोऽपि, एवमपि भणन्ति, यस्यां वसतौ दातारः । साऽपि न शुद्धाऽस्य भवेद्वसतिरिति गाथार्थः ।

तृणफलक-द्वारविधिमाह-

एवं तणफलगेसु वि, जत्थ विआरो उ होइ निअमेणं ।
एसा वि हु दट्ठव्वा, इमस्स एवंविहा चेव ॥ ४४१ ॥

एवं तृणफलकेष्वपि, यत्र विचारस्तु भवति, तद्गतनियमेनैषाऽपि वसतिर्द्रष्टव्या, पुरुषे एवंविधा चैवाशुद्धेति गाथार्थः ।

संरक्षण-द्वारविधिमाह-

सारक्ख त्ति तत्थेव, किंचि वत्थुं अहिगिच्च गोणाइं ।
जीए तस्सारक्खण-माह, गिही सा वि हु अजोग्गा ॥४४२॥

सारक्षणेति तत्रैव वसतौ, किञ्चिद्वस्तु अधिकृत्य, गवादि यस्यां तत्संरक्षणमाह गृही । गवाद्यपि रक्षणीयमिति । साऽपि वसतिरयोग्येति गाथार्थः ।

संस्थापना-द्वारविधिमाह--

संठवणा सक्कारो, पक्माणीएऽणुवेहमो भंते ! ।
कायव्वं ति अ जीए, वि भणइ गिही ऽसो विऽजोग त्ति ॥४४३॥

संस्थापना संस्कारोऽभिधीयते । पतन्त्याः सत्या अनुप्रेक्षा भदन्त ! कर्तव्येति च नोपेक्षितव्येत्यर्थः । यस्यामपि भणति गृही, ततोऽसावप्ययोग्या वसतिरिति गाथार्थः ।

मूलगाथाचशब्दार्थमाह--

अण्णं वा अभिओगं, चसद्दसंसूइअं जहं कुणइ ।
दाया चित्तसरूवं, जोगा णेसा वि एअस्स ॥४४४॥

अन्यं चाभियोगं चशब्दसंसूचितं, यत्र करोति वसतौ दाता चित्रस्वरूपं । योग्या नैवाऽप्येतस्य वसतिरिति गाथार्थः ।

प्राभृतिका-द्वारविधिमाह--

पाहुडिआ जीएँ बली, कज्जइ ओसप्पणाइअं तत्थ ।
विक्खित्तठाणसउणा-इ अग्गहणे अंतरायं च ॥४४५॥

प्राभृतिका यस्यां वसतौ, बलिः क्रियतेऽवसर्पणादि तत्र तद्भक्त्या भवति । विक्षिप्तस्य बलेः स्थानात्कायोत्सर्गतः शकुनाद्यग्रहणे सत्यन्तरायं च भवतीति गाथार्थः ।

अग्नि-द्वारविधिमाह-

अग्गित्ति साऽग्गिणी जा, पमज्जणे रेणुमाइवाघाओ ।
अपमज्जणे अकिरिआ, जोईफुसणम्मि य विभासा ॥४४६॥

अग्निरिति, साऽग्निर्या वसतिप्रमार्जने तत्र रेणुकादिना व्याघातोऽग्नेः । अप्रमार्जने सत्यक्रिया आज्ञाभङ्गो, ज्योतिःस्पर्शने च, विनाशोज्ज्वालनं चाङ्गारादाविति गाथार्थः ।

दीप-द्वारविधिमाह-

दीविते सदीवा जा, तीए विसेसो उ होइ जोइम्मि ।
एसो च्चिअ इह भेओ, सेसा पुव्वाइआ दोसा ॥४४७॥

दीपिते सदीपा या वसतिः, तस्यां विशेषस्तु सदीपायां भवति ज्योतिषि । तद्भावेन स्पर्शसंभवादत एव कारणाद्विशेषो द्वारस्य । द्वारान्तराच्छेषाः पूर्वोक्ता दोषाः प्रमार्जनादयः । इति गाथार्थः ।

अवधान-द्वारविधिमाह-

ओहाणं अम्हाण वि गेहस्सु-वओगदायगो तंसि ।
होहिसि भणंति इंति, जीए एसा वि से ण भवे ॥४४८॥

अवधानं नामास्माकमपि गृहस्योपयोगदाता त्वमसि भगवन् भविष्यसि ? भणन्ति, तिष्ठन्ति सन्ति यस्यां वसतौ, एषाऽपि (से) तस्य जिनकल्पिकस्य न भवेदिति गाथार्थः ।

कियज्जन-द्वारविधिमाह-

तह कइ जणा त्ति तुम्हे, वसहिह एत्थं ति एवमवि जीए ।
भणइ गिहीऽणुण्णाए, परिहरए णवरमेअं पि ॥४४९॥

तथा कियन्तो जना इति यूयं वत्स्यथाऽत्र वसताविति ? एवमपि यस्यां वसतौ भणति, गृही दाता ऽनुज्ञायां प्रस्तुतायां । परिहरत्यसौ महामुनिर्नवरमेतामपि वसतिमिति गाथार्थः ।

परिहारप्रयोजनमाह-

सुहुममवि हु अचिअत्तं, परिहरए सो परस्स निअमेणं ।
जं तेण तुसद्दाओ, वज्जइ अन्नं पि तज्जणगं ॥४५०॥

सूक्ष्ममप्यचियत्तमप्रीतिलक्षणं परिहरत्यसौ भगवान् परस्य नियमेन । यद् यस्माद् तेन कारणेन तुशब्दात् मूलगाथोपात्ताद् वर्जयत्यन्यामपि वसतिं तज्जननीमीषदप्रीतिजननीं न च ममत्वमन्तरेण तथा तथा विचारः क्रियत इति गाथार्थः । व्याख्याता द्वितीया मूलगाथा ।

अधुना तृतीया व्याख्यायते । तत्र भिक्षाचर्याद्वारविधिमाह-

भिक्खायरिआ भणिआ, तइआए एसणा अभिग्गहिआ ।
एअस्स पुव्वभणिआ, एक्का च्चिअ होइ भत्तस्स ॥४५१॥

भिक्षाचर्याभिधानि, योगेन तृतीयायां पौरुष्यामेषणा च ग्रहणैषणाऽभिगृहीता भक्तस्य पूर्वभणिता जिनकल्पिकस्य । एकैव भवति भक्तस्य न द्वितीयेति गाथार्थः ।

पानक-द्वारविधिमाह-

पाणगगहणे एवं, ण सेसकालं पओअणाभावो ।

जाणइ सुआइसयउ, सुद्धमसुद्धं च सो सव्वं ॥४५२॥

पानकग्रहणेऽप्येवमस्य न शेषकालं, प्रयोजनाभावकारणात् । संसक्तग्रहणदोषपरिहारमाह-जानाति, श्रुतातिशयेनैव शुद्धमशुद्धं च, स सर्वं पानकमिति गाथार्थः ।

लेपालेप-द्वारविधिमाह-

लेवालेवं ति इह, लेवाडेणं अलेवडं जं तु ।

अन्नेण समं मिस्सं, दुगं पि इह होइ विन्नेअं ॥४५३॥

लेपालेपमित्यत्राधिकारे लेपवता व्यञ्जनादिना, लेपवत् यदोदनादि । किमुक्तं भवति-अन्येन संमिश्रं वस्त्वन्तरेण, द्वितीयमप्यत्र भवतीति विज्ञेयं । भक्तं पानं चेति गाथार्थः ।

अलेप-द्वारविधिमाह-

अल्लेवं पयईए, केवलगं पि हु न तस्सरूवं तु ।

अन्ने उऽलेवकारी, अलेवमिति सूरओ विंति ॥४५४॥

अलेपं, प्रकृत्या स्वरूपेण, केवलमपि सन्, न तत्स्वरूपं । तुलने लेपस्वरूपमेव अगार्यायामवन् । अन्ये त्वलेपकारिणामलेपमित्येवं, सूरय आचार्या ब्रुवत इति गाथार्थः ।

आचामाम्ल-द्वारविधिमाह-

णायंबिलमेअं पि हु, अइसोसपुरीसभेअदोसाओ ।

उस्सग्गियं तु किं पुण, पायइए अणुगुणं जं से ॥४५५॥

आचामाम्लमेतदप्यलेपकारि । अतिशोषपुरीषभेददोषाद् व्याख्या विभातुभावेन । औत्सर्गिकमेवौदनरूपं किं पुनः प्रकृतेर्देहरूपाया अनुगुणं यद्वल्लादि (से) तस्येति गाथार्थः ।

प्रतिमा-द्वारविधिमाह-

पडिमंति अ मासाइ-सद्दा य अभिग्गहा सेसा ।

णो खलु एस पवज्जइ, जं तत्थ ठिओ विसेसेणं ॥४५६॥

प्रतिमा मासाद्या, आदिशब्दान्मूलगाथागताद्यभिग्रहाः, शेषा भक्तपद्दत्तयनादयो, न खल्वेष प्रतिपद्यते । जिनकल्पिको यत्राभिग्रहे स्थितो विशेषेणेति गाथार्थः ।

'जिणकप्पे' इति मूलद्वारगाथावयवं व्याचिख्यासुराह-

जिणकप्पे त्ति अ दारं, अनेगदाराण विसयमो एस ।

एअंमि एस मेरा, अववायविवज्जिआ णियमा ॥४५७॥

जिनकल्प इति च द्वारं । मूलगाथागतमशेषद्वाराणां श्रुतसंहननादीनां विषय एव वर्तते । इति एतस्मिन् जिनकल्पे, एषा मर्यादा श्रुतादिर्योऽपवादविवर्जिता नियमादेकान्तेनेति गाथार्थः ।

'मासकप्पो' इति द्वारावयवार्थमाह-

मासं निवसइ खित्ते, छव्वीहीओ अ कुणइ तत्थ वि अ ।

एगेगमइक्कमा-इं वज्जणत्थं पइदिणं तु ॥ ४५८ ॥

मासं निवसति क्षेत्रे । एवं षड्वीथीः करोति गृहपङ्क्तीः परिकल्प्य, तत्रापि च वीथीकद्रम्बके एकैकामटति वीथीकर्मादिवर्जनार्थमनिबद्धतया प्रतिदिनमिति गाथार्थः । व्याख्याता तृतीया द्वारगाथा ।

सांप्रतमत्र प्रासङ्गिकमाह-

कह पुण होज्जा कम्मं, एत्थ पसंगेण सेसयं किं पि ।

वोच्छामि समासेणं, सीसजणविबोहणट्ठाए ॥ ४५९ ॥

कथं पुनर्भवेत्कर्माऽस्य अटतः । अत्र प्रसङ्गेन शेषं किमप्येतद्वक्तव्यतागतमेव वक्ष्यामि समासेन । किमर्थमित्याह-शिष्यजनविबोधनार्थमिति गाथार्थः ।

आभिग्गहिए तत्थ, जत्तोगाहिमग वीइ तिअ पूई ।

चुल्लगे णिव्वयणंति अ, उक्कोसेणं च सत्त जणा ॥४६०॥

आभिग्रहिके जिनकल्पिके तपस्वंघ श्रद्धोपजायत आगार्याः । तत्र अवगाहिमकेति,सा एतदुभयं करोति । द्वितीयेऽहनि त्रीन् दिवसान् पूति । तद्भवतां वक्ष्यामः । अत्रान्तरे चोदको निर्वचनमिति भवति । उत्कृष्टओत्सर्गपदेन सप्त जना,एते एककालतो भवन्तीति गाथासमुदायार्थः ।

सप्तश्लोकगाहातोऽवयवार्थमाह-

जिणकप्पाभिग्गहिअं, दट्ठुं तवसोसिअं महासत्तं ।

संवेगागयसद्धा, काई सड्ढा भणिज्जाहि ॥ ४६१ ॥

जिनकल्पाऽभिग्रहिकमृषिं दृष्ट्वा तपःशोषितं महासत्त्वं, संवेगात्तस्य गतश्रद्धा सती, काचन श्राद्धी योषिद्भणेत् ब्रूयादिति गाथार्थः ।

किं काहामि अहन्ना, एसो साहू न गिण्हए एअं ।

णत्थि महं तारिसयं, अन्नं जमलज्जिआ दाहं ॥४६२॥

किं करिष्यामि । अधन्याहम । एष साधुर्न गृह्णाति, एतच्च नूनं नास्ति । मम तादृशमन्यच्छोभनं । यदलज्जिता दास्यामीति गाथार्थः ।

सव्वपयत्तेण अहं, कल्ले काऊण भोअणं विउलं ।

दाहामि पयत्तेणं, ताहे जणाम्म असो भयवं ॥ ४६३ ॥

सर्वप्रयत्नेनाहं कल्ये कृत्वा-भोजनं साधु विपुलं दास्यामि प्रयत्नेन । तत्र भणति चासौ भगवाँस्तच्छ्रुत्वोक्त्या निवारणायेति गाथार्थः ।

अणिआओ वसहीओ, भमरकुलाणं च गोकुलाणं च ।

समणाणं सउणाणं, सारइआणं च मेहाणं ॥ ४६४ ॥

अनियता वसतयः, केषामित्याह-भ्रमरकुलानां च, गोकुलानां च, तथा श्रमणानां, शकुनानां, शारदानां च, मेघानामित्यर्थः ।

ताए व उवक्खडिअं, मुक्का वीही अ तेण धीरेणं ।

अद्दीणमपरिभंतो, बिइअं च पहिंडिओ वीहिं ॥४६५॥

तया वा अगार्योपस्कृतमनाभोगात् मुक्ता वीथी च,तेन धीरेण । द्वितीयेऽहनि अदीनचेतसाऽपरिश्रान्तकायेन, द्वितीयां च, क्रमागतां प्रपर्यटितो वीथिमसाविति गाथार्थः ।

तत्रेयं व्यवस्था-

पढमदिवसम्मि कम्मं, तिन्नि अ दिवसाणि पूइअं होइ ।

पूइसु तिसु णो कप्पइ, कप्पइ तइए गए कप्पे ॥४६६॥

प्रथमदिवसे कर्म,तदुपस्कृतं त्रीन् दिवसान् पूति भवति । तद्गृहमेव पूतिषु त्रिषु न कल्पते । तत्रान्यदपि किञ्चिन्न कल्पते । तृतीये गते कल्पे दिवसे अपरस्मिन्नहनीति गाथार्थः ।

ओगाहिमए अज्जं, न आगओ कल्ले तस्स दाहामि ।

दोन्नि दिवसाणि कम्मं, तइआइसु पूइअं होइ ॥४६७॥

उग्गाहिमके हते, सति अद्य नाऽऽयातः स ऋषिः । कल्ये तस्य दास्यामि । इति दिवसे सदाऽग्निसंभवे । अत्र द्वौ दिवसौ

कर्म, तद्भावविच्छेदात्तृतीयादिषु दिवसेषु पूनि, तद्भवतीति गाथार्थः ।

तिहिँ कप्पेहिँ न कप्पइ, कप्पइ तं छट्ठसत्तमदिणम्मि ।
अकरणदिवसो पढमो,सेसा जं एक दोन्नि दिणा ॥४६८॥

तच्च त्रिषु कल्पेषु दिवसेषु न कल्पते। कल्पते तत् पुनः षष्ठसप्तमदिवसे प्रहणदिवसात् । एतदेवाह- अकरणदिवसः प्रथमोऽष्टमतः। शेषौ यदेको,द्वौ वा दिवसावाधाकर्मगतावित्ति गाथार्थः।

अह सत्तमम्मि दिवसे, पढमं वाहिं पुणो वि हिंडंतं ।
दट्ठुं सा य सड्ढी, तं मुणिवसभं जंपिज्जाहि ॥४६९॥

अथ सप्तमे दिवसे, अटनगतादारभ्य। प्रथमां वीथीं, पुनरपि हिण्डमानमटन्तं दृष्ट्वा। सा श्राद्धा अगारी, मुनिवृषभं प्रस्तुतं, भवेद् ब्रूयादिति गाथार्थः ।

किं णागयत्थ तइआ, असव्वओ मे कओ तुह निमित्तं ।
इति पुट्ठो सो भयवं, बिइआएसे इमं भणइ ॥ ४७० ॥

किं नागतात्र यूयं तदा । असद्व्ययो मया कृतस्त्वन्निमित्तं तद्ग्रहणादसद्व्ययत्वमिति पृष्टः स भगवान् जिनकल्पिकः । द्वितीयादेशे पूर्वादेशापेक्षया, इदं भणति वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ।

अणिआओ वसहीओ,इच्चाइ जमेव वण्णिअं पुव्विं ।
आणाए कम्माई, परिहरमाणो विसुद्धमणो ॥ ४७१ ॥

अनियता वसतय इत्यादि। यदेव वर्णितं, पूर्वगाथासूत्रमिति। आज्ञया कर्मादि परिहरन् विशुद्धमनाः सन्, भवति । इति गाथार्थः ।

चोएइ पढमदिअहे, जइ कोइ करिज्ज तस्स कम्माई ।
तत्थ ठिअं णाऊणं, अजंपिउं चेव तत्थ कहं ॥४७२॥

चोदयति शिष्यः । प्रथमदिवस अटनगत एव यदि कश्चित्कुर्यात्, किञ्चन कर्माद्यकल्प्यं, तत्र स्थितं ज्ञात्वा, क्षेत्रेऽसंजल्प्यैव किञ्चित्तत्र कथमिति गाथार्थः ।

चोअग! एवं पि इहं, जइ ओ करिज्जाहि कोइ कम्माइ ।
ण हि सो तं ण विआणइ, सुआइसयजोगओ जयवं ॥४७३॥

चोदक ! एवमप्यत्र यदि कुर्यात् कश्चित्कर्मादि प्रच्छन्नमेव । न ह्यसौ तत्र विजानाति ? विजानात्येव श्रुतातिशययोगतः कारणात्सद्भगवानिति गाथार्थः ।

एसो उण से कप्पो, जं सत्तमगम्मि चेव दिवसम्मि ।
एगत्थ अडइ एवं, आरंभविवज्जणणिमित्तं ॥ ४७४ ॥

एष पुनः (से) तस्य कल्पः। यत्सप्तम एव दिवस एकत्र वीथ्यामटति। एवमुक्तवदारम्भविवर्जननिमित्तमिति गाथार्थः।

इअ अणिअयवित्तिं तं, दट्ठुं सड्ढाण वि तदारंभे ।
अणियमओ ण पवित्ती, होइ तहा वारणाओ अ ॥४७५॥

एवमनियतवृत्तिं तं वीथिविहारेण दृष्ट्वा, श्राद्धानामपि प्राणिनां तदारम्भेऽनियमात् कारणात् न प्रवृत्तिर्भवति । तथा वारणाच्चानियतत्वादिभावेनेति गाथार्थः ।

गच्छवासिनामेवमकुर्वतामदोषमाह—

इअरे आणाओ वि अ, गुरुमाइनिमित्तओ पइदिणं पि ।
दोसं अपस्समाणा, अडंति मज्झत्थभावेण ॥ ४७६ ॥

इतरेऽपि गच्छवासिन आज्ञात एव निमित्तत्वात्, गुर्वादिनिमित्ततश्च हेतोः । प्रतिदिवसमपि दोषमपश्यन्तः सन्तोऽटन्ति मध्यस्थभावेन समतयेति गाथार्थः ।

प्रासङ्गिकमेतत् । प्रस्तुतमेवाह—

एवं तु ते अडंता, वसहीऽएकाए कइ वसिज्जाहि ।
वीहीए अ अडंता, एगाए कइ अडिज्जाहि ॥४७७॥

एवं तु ते अटन्तो जिनकल्पिकाः। कियन्तस्त्वेकस्यां कति वसेयुः? तथा वीथ्यां वा अटन्तः सन्त एकस्यां कत्यटेयुरिति गाथार्थः ।

एगाए वसहीए, उक्कोसेणं वसंति सत्त जणा ।
अवरोप्परसंभासं, वज्जिंता कह वि जोएणं ॥ ४७८ ॥

एकस्यां वसतौ वसन्तो, बाहुल्यादुत्कृष्टतो वसन्ति सप्त जनाः । कथमित्याह-परस्परं संभाषणं वर्जयन्तः सन्तः, कथमपि योगेनेति गाथार्थः ।

वीहीए एकाए, एको खलु पइदिणं अडइ एसो ।
अण्णे भणंति जयणं,मा य ण जुत्तिक्खमा एसा ॥४७९॥

वीथ्यां त्वेकस्यामेक एव प्रतिदिनमटत्येव जिनकल्पिकः। अन्ये भणन्ति जजनां, सा च न युक्तिक्षमा यतोऽत्र वस्तुनीति गाथार्थः ।

कुत इत्याह-

एएसिं सत्त वीही, एत्तो च्चिअ पायसो जओ भणिआ ।
कह नाम अणोमाणं, हविज्ज गुणकारगं णिअमा ॥४८०॥

एतेषां सप्त वीथयः । अत एव कारणात्मा भूत्कल्पानामुपयात इति प्रायशो यतो भणिताः, कश्चित्प्रदेशान्तरे कथं नाम अनवमानं भवेत्। अन्योऽन्यसबर्तभावेन गुणकारकं नियमात्प्रवचनस्येति गाथार्थः ।

वीथीज्ञानोपायमाह-

अइसयेण अ जमेए, वीहिविभागं अतो विजाणंति ।
ठाणाएहिँ धीरा, समयपसिद्धेहिँ लिंगेहिँ ॥ ४८१ ॥

अतिशयेन च यदेते श्रुततः वीथीविभागमतो विजानन्त्येवैते। स्थानादिभिर्धीरा वसतिगतैः, समयप्रसिद्धैः, लिङ्गैः श्रुतादेवेति गाथार्थः ।

उपसंहरन्नाह-

एसा सामायारी, एएसिं समासओ समक्खाया ।
एत्तो खित्ताईअं, ठिइमेएसिं उ वक्खामि ॥ ४८२ ॥

एषा सामाचारी, एतेषां जिनकल्पिकानां समासतः समाख्याता । अतः क्षेत्रादौ स्थितिं तावद्व्यवस्थामेतेषामेव वक्ष्यामीति गाथार्थः ।

खित्ते कालचरित्ते, तित्थे परिआय-आगमे वेए ।
कप्पे लिंगे लेसा-झाणे गणणाऽभिगहेँ सि य ॥४८३॥

क्षेत्र एकस्मिन् स्थितिरमीषाम् । एवं काले, चारित्रे, तीर्थे, पर्याये, आगमे, वेदे, कल्पे, लिङ्गे, लेश्यायां, ध्याने, तथा गणनाऽभिग्रहाश्चैतेषां वक्तव्या । इति गाथासमासार्थः ।

पव्वावण मुण्डावण, मणसावण्णे वि से अणुग्घाया ।
कारण-णिप्पडिकम्मे, भत्तं पंथो अ तइआए ॥ ४८४ ॥

प्रव्राजनमुण्डनेत्यत्र स्थितिर्निर्वाच्या, मनसाऽऽपन्नेऽपि दोषे (स) तस्य, अनुद्घातादयश्चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तम् । तथा कारणनिष्प्रतिकर्म-स्थितिर्वाच्या, तथा भक्तं, पन्थाश्च तृतीयायां पौरुष्यामस्येति गाथासमासार्थः ।

व्यासार्थं तु गाथाद्वयस्याऽपि ग्रन्थकार एव प्रतिपादयति । तत्राऽऽद्यक्षेत्र-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

खित्ते दुहेह मग्गण, जम्मणओ चेव संतिभावे अ ।
जम्मणओ जहिं जाओ, संतीभावे अ जहिं कप्पो ॥४८५॥

क्षेत्रे द्विविधा मार्गणा जिनकल्पिकस्य-जन्मतश्चैव, सद्भावतश्च । तत्र जन्मतो-यत्र जातः क्षेत्रे, एवं जन्माऽऽश्रित्य । सद्भावतश्च-यत्र कल्पः क्षेत्रे, एवं सद्भावमाश्रित्य, मार्गणेति गाथार्थः ।

जम्मणसंतीभावे-सु होज्ज सव्वासु कम्मभूमीसु ।
साहरणे पुण भइओ, कम्मे व अकम्मभूमे वा ॥४८६॥

जन्मसद्भावयोरयं भवेत् सर्वासु कर्मभूमिषु भरताद्यासु । संहरणे पुनर्भाज्योऽयं, कर्मभूमिको वा सद्भावमाश्रित्य, अकर्मभूमिको वाऽसद्भावमाश्रित्येति गाथार्थः ।

काल-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

ओसप्पिणिए दोसुं, जम्मणओ तिसु अ संतिभावेणं ।
उस्सप्पिणिविवरीओ, जम्मणओ संतिभावेणं ॥४८७॥

अवसर्पिण्यां काले, द्वयोः सुषमदुष्षम-दुष्षमसुषमयोर्जन्मतो जन्माऽऽश्रित्यास्य स्थितिः । त्रिसृषु सुषमदुष्षम-दुष्षमसुषम-दुष्षमासु सद्भावेनेति स्वरूपतयाऽस्य स्थितिः । उत्सर्पिण्यां विपरीतोऽस्य कल्पः-जन्मतः, सद्भावतश्च । एतदुक्तं भवति-दुष्षम-दुष्षमसुषम-सुषमदुष्षमासु तिसृषु जन्मतः, दुष्षमसुषम-सुषमदुष्षमयोः द्वयोः सद्भावत एवेति गाथार्थः ।

णोसप्पिणि उस्सप्पिणि, होइ उ पलिभागओ चउत्थम्मि ।
काले पलिभागेसु अ, साहरणे होइ सव्वेसिं ॥ ४८८ ॥

नावसर्पिण्युत्सर्पिणीत्युभयशून्ये स्थिते काले भवति स्वयं जन्मतः, सद्भावतश्च; प्रतिभागे चतुर्थ एव । काले दुष्षमसुषमरूपे, विदेहेषु प्रतिभागेषु च केवलेषु, संहरणे सति, सद्भावमाश्रित्य भवति सर्वेषूत्तरकुर्वादिगतेष्विति गाथार्थः ।

चारित्र-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

पढमे वा वीए वा, पडिवज्जइ संजमम्मि जिणकप्पं ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अण्णअरे संजमे हुज्जा ॥४८९॥

प्रथमे वा सामायिक एव, द्वितीये वा छेदोपस्थाप्ये, प्रतिपद्यते, संयमे चारित्रे सति जिनकल्पं, नान्यस्मिन् । पूर्वप्रतिपन्नः पुनरसावन्यतरस्मिन् संयमस्थाने सूक्ष्मसंपरायादौ भवेदुपशमश्रेणिमधिकृत्येति गाथार्थः ।

मज्झिमतित्थयराणं, पढमे पुरिमंतिमाण वीअम्मि ।
छउमा विसुद्धजोगा, अण्णअरं पावइ तयं तु ॥४९०॥

मध्यमतीर्थकराणां तीर्थे, प्रथमे भवेत्, द्वितीयस्य तेषामभावात् । पुरिमचरमयोस्तु तीर्थकरयोः तीर्थे द्वितीये भवेत्, छेदोपस्थाप्य एव । पश्चाद्विशुद्धयोगात् कारणादन्यतरं प्राप्नोति तं संयमं सूक्ष्मसंपरायादि तूपशमापेक्षयेति गाथार्थः ।

तीर्थ-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

तित्थे त्ति नियमओ च्चिय,
होइ स तित्थम्मि न पुण तदभावे ।
विगएऽणुप्पन्ने वा,
जाईसरणाइएहिं तु ॥४९१॥

तीर्थं इति नियमत एव भवति स जिनकल्पिकः, तीर्थे सत्येव सति, न पुनस्तदभावे विगतेऽनुत्पन्ने वा तीर्थे, जातिस्मरणादिभिरेव कारणैरिति गाथार्थः ।

अहिगयरं गुणठाणं, होइ अतित्थम्मि एस किं ण भवे ।
एसा एअस्स ठिई, पण्णत्ता वीअरागेहिं ॥ ४९२ ॥

अधिकतरं तद्गुणस्थानं श्रेण्यादि भवत्यतीर्थे, मरुदेव्यादीनां कथाश्रवणादिति, एष किं न भवति जिनकल्पिकः ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-एषा एतस्य स्थितिर्जिनकल्पिकस्य प्रज्ञप्ता, वीतरागैः, न पुनरत्र काचिद्युक्तिरिति गाथार्थः ।

पर्याय-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

परिआओ अ दुभेओ, गिहि-जइ-भेएहि होइ णायव्वो ।
एक्केको उ दुभेओ, जहण्ण उक्कोसओ चेव ॥ ४९३ ॥

पर्यायश्च द्विभेदोऽत्र गृहियतिभेदाभ्यां भवति ज्ञातव्यः । एकैकश्च द्विभेदोऽसौ जघन्य उत्कृष्टश्चेति गाथार्थः ।

एअस्स एस णाओ, गिहिपरिआओ जहण्ण गुणतीसा ।
जइपरिआए वीसा, दोसु वि उक्कोस देसूणं ॥ ४९४ ॥

एतस्यैव ज्ञेयो गृहिपर्यायो जन्मत आरभ्य जघन्य एकोनत्रिंशद्वर्षाणि । यतिपर्यायो विंशतिवर्षाणि जघन्यः, एवं द्वयोरपि गृहियतिभेदयोरुत्कृष्टपर्यायो देशोना पूर्वकोटीति गाथार्थः ।

आगम-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

अप्पुव्वं णाहिज्जइ, आगममेसो अइव्व तं जम्मं ।
जमुचिअपगिट्ठजोगा-ऽऽराहणओ चेव कयकिच्चो ॥४९५॥

अपूर्वं नाधीत आगममेषः । कुतः ?, इत्याह-अतीत्य तज्जन्म वर्तमानं, यद् यस्मादुचितप्रकृष्टयोगाराधनादेव कारणात्, कृतकृत्यो वर्तते । इति गाथार्थः ।

पुव्वाहीयं तु तयं, पायं अणुसरइ निबमेवेस ।
एगग्गमणो सम्मं, विस्सोअसिगाइ खयहेउं ॥ ४९६ ॥

पूर्वाधीतं तु तच्छ्रुतं प्रायोऽनुस्मरति नित्यमेवैष जिनकल्पिक एकाग्रमनाः सम्यग् यथोक्तं, विस्रोतसिकायाः क्षयहेतुं श्रुतं स्मरतीति गाथार्थः ।

वेद-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

वेअप्पडिवत्तिकाले, इत्थीवज्जो उ होइ एगयरो ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्ज सवेओ अवेओ वा ॥४९७॥

वेदप्रतिपत्तिकाले तस्य स्त्रीवर्ज एव भवत्येकतरः पुंवेदो नपुंसकवेदो वा शुद्धः । पूर्वप्रतिपन्नः पुनरुपशमश्रेणिभावात्सवेदोऽवेदो वैष भवेत् इति गाथार्थः ।

उवसमसेढीए खलु, वेए उवसामिअम्मि उ अवेओ ।
न उ खविए तज्जम्मे, केवलपडिसेहभावाओ ॥४९८॥

उपशमश्रेण्यामेव वेद उपशमिते सति अवेदो भवति, न तु क्षपिते। कुतः ?, इत्याह–तजन्मन्यस्य केवलप्रतिषेधभावादिति गाथार्थः ।

कल्प-द्वारमधिकृत्याऽऽह–

ठिअमट्ठिए अ कप्पे, आचेलक्काइएसु ठाणेसु ।
सव्वेसु ठिआ पढमो, चउ-ठिय छसु अ ट्ठिया बिइओ ॥४९९॥

स्थिते, अस्थिते च कल्प एव भवति, न कश्चिद्विरोधः । अनयोः स्वरूपमाह–आचेलक्यादिषु स्थानेषु वक्ष्यमाणलक्षणेषु सर्वेषु दशस्वपि स्थिताः, इति प्रथमः स्थितकल्पः । चतुर्षु स्थिता इति–शय्यातरराजपिण्डकृतिकर्मज्येष्ठपदेषु स्थिताः, मध्यमतीर्थकरसाधवोऽपि षट्सु स्थिता आचेलक्यादिष्वनियमवन्तः, इति द्वितीयः स्थितकल्पः, इति गाथार्थः ।

स्थानान्याह-

आचेलक्कुद्देसिय–सिज्जायररायपिंडकम्मे वा ।
वयजिट्ठपडिक्कमणे, मासं पज्जोसणाकप्पे ॥ ५०० ॥

आचेलक्यौद्देशिकशय्यातरराजपिण्डकृतिकर्माणि पञ्च स्थानानि, तथा व्रतज्येष्ठप्रतिक्रमणादीनि त्रीणि, मासपर्युषणाकल्पौ द्वे स्थाने; इति गाथार्थः ।

लिङ्ग-द्वारमधिकृत्याऽऽह–

लिंगम्मि होइ भयणा, पडिवज्जइ उभयलिंगसंपन्नो ।
उवरिं च भावलिंगं, पुव्वपवन्नस्स णियमेणं ॥ ५०१ ॥

लिङ्गे इति भवति भजना, वक्ष्यमाणस्य प्रतिपद्यते कल्पम्, उभयलिङ्गसंपन्नो, द्रव्यभावलिङ्गयुक्त इत्यर्थः । उपरि तु उपरिष्टात्, भावलिङ्गं चारित्रपरिणामरूपं पूर्वप्रतिपन्नस्य कल्पं नियमेन भवतीति गाथार्थः ।

इयरं तु जिण्णभावाइ–एहि सययं न होइ वि कयाइ ।
ण य तेण विणाऽवि तहा, जायइ से भावपरिहाणी ॥५०२॥

इतरत्तु द्रव्यलिङ्गं, जीर्णभावादिभिर्जीर्णहृतादिभिः कारणैः सततं न भवत्यपि, कदाचिन्न भवत्यपि कदाचिच्च संभवत्येतत् । न च तेन विनाऽपि, तथा तेन प्रकारेण, जायते (से) तस्य भावपरिहाणिरप्रमादाभ्यासादिति गाथार्थः ।

लेश्या-द्वारमधिकृत्याऽऽह–

लेसासु विसुद्धासुं, पडिवज्जइ तीसु न पुण सेसासु ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्जा सव्वासु वि कहंचि ॥५०३॥

लेश्यासु विशुद्धासु तैजस्यादिषु प्रतिपद्यते तिसृषु कल्पम्, न पुनः शेषास्वाद्यासु । पूर्वप्रतिपन्नः पुनः कल्पस्यो भवेत् सर्वास्वपि शुद्धासु, कथञ्चित् कर्मवैचित्र्यादिति गाथार्थः ।

णऽच्चंतसंकिलिट्ठा–सु थोवकालं च हंदि इयरासु ।
चित्ता कम्माण गई, तहा वि विरियं फलं देइ ॥ ५०४ ॥

नात्यन्तसंक्लिष्टासु वर्तते भगवान्, स्तोककालं च हन्दीतरास्वशुद्धासु, चित्रा कर्मणां गतिः, येन तास्वपि वर्तते, तथापि वीर्यं फलं ददाति, येन तद्भावेऽपि भूयश्चारित्रशुद्धिरिति गाथार्थः ।

ध्यान-द्वारमधिकृत्याऽऽह–

झाणम्मि वि धम्मेणं, पडिवज्जइ सो पवड्ढमाणेणं ।
इयरेसु वि झाणेसुं, पुव्वपवन्नो ण पडिसिद्धो ॥५०५॥

ध्यानेऽपि प्रस्तुते, धर्मेण ध्यानेन, प्रतिपद्यतेऽसौ कल्पं, प्रवर्द्धमानेन सता । इतरेष्वपि ध्यानेष्वार्तादिषु, पूर्वप्रतिपन्नोऽयं न प्रतिषिद्धो भवतीत्यपीति गाथार्थः ।

एवं च कुसलजोगे, उद्दामे तिव्वकम्मपरिणामा ।
रोद्दट्टेसु वि भावो, इमस्स पायं निरणुबंधो ॥ ५०६ ॥

एवं कुशलयोगे जिनकल्पप्रतिपत्त्योद्दामे सति, तीव्रकर्मपरिणामौदयिकाद् रौद्रार्तयोरपि भावोऽस्य ज्ञेयः, स च प्रायो निरनुबन्धः, स्वल्पत्वादिति गाथार्थः ।

गणना-द्वारमधिकृत्याऽऽह–

गणण त्ति सयपुहत्तं, एएसिं एगदेव उक्कोसा ।
होइ पडिवज्जमाणे, पडुच्च इयरा उ एगाई ॥ ५०७ ॥

गणनेति शतपृथक्त्वमेतेषां जिनकल्पिकानामेकदैवोत्कृष्टा भवति प्रतिपद्यमानकान् प्रतीत्य, इतरा तु जघन्या गणनैकाद्येति गाथार्थः ।

पुव्वपडिवण्णगाण उ, एमा उक्कोसिआ उचिअ खित्ते ।
होइ सहस्सपुहत्तं, इयरा एवंविहा चेव ॥ ५०८ ॥

पूर्वप्रतिपन्नानां त्वमीषामेषा गणना उत्कृष्टोचिता क्षेत्रे यस्तेषां भावो भवति–यदुत सहस्रपृथक्त्वमिति, इतराऽपि जघन्यैवंविधैव सहस्रपृथक्त्वमेव लघुतरमिति गाथार्थः ।

अभिग्रह-द्वारमधिकृत्याऽऽह–

दव्वाईआऽभिग्गह, विचित्तरूवा ण होंति इत्तरिआ ।
एअस्स आवकहिओ, कप्पो च्चियऽभिग्गहो जेण ॥५०९॥

द्रव्याद्या अभिग्रहाः सामान्या विचित्ररूपा न भवन्तीत्वराः। कुतः ?, इत्याह–अस्य यावत्कथिकः कल्प एव प्रकान्तोऽभिग्रहो येनेति गाथार्थः ।

एयम्मि गोअराई, णिअया णिअमेण णिरववाया य ।
तप्पालणं चिअ परं, एअस्स विसुद्धिठाणं तु ॥५१०॥

एतस्मिन् गोचरादयः सर्व एव नियता नियमेन, निरपवादाश्च वर्तन्ते । यत एवमतस्तत्पालनमेव परं प्रधानमेतस्य विशुद्धिस्थानम्, किं शेषाऽभिग्रहैरिति गाथार्थः । व्याख्याता प्रथमा द्वारगाथा ।

अधुना द्वितीया व्याख्यायते, तत्र प्रव्राजनाद्वारमधिकृत्याऽऽह–

पव्वावेइ ण एसो, अण्णं कप्पट्ठिउ त्ति काऊणं ।
आणाउ तह पयट्टो, चरमाणसणि व्व णिरविक्खो ॥५११॥

प्रव्राजयति नैषोऽन्यं प्राणिनं कल्पस्थित इति कृत्वा, जीतमेतत्, आज्ञातस्तथा प्रवृत्तोऽयं महात्मा चरमानशनिवन्निरपेक्षो यावत्कारणेनेति गाथार्थः ।

उवएसं पुण विअरइ, धुवं पविस्सं विआणिउं किंचि ।
तं पि जहासमेणं, गुणओ ण दिसादविक्खाए ॥५१२॥

उपदेशं पुनर्वितरति ददाति ध्रुवं प्रव्रजनशीलं विज्ञाय किञ्चित्सत्त्वम्। तमपि यथासत्त्वेन वितरति गुणान्, न दिगाद्यपेक्षया कारणेनेति गाथार्थः ।

मुण्डन-द्वारमधिकृत्याऽऽह–

मुंडावणा वि एवं, विण्णेआ एत्थ चोअगो आह ।

पव्वज्जऽणंतरम्मी, णिअमा एस त्ति कीस पुढो ? ।।५१३।।

मुण्डनाऽप्येवं विज्ञेया प्रव्राजनावदत्र। चोदक आह-किमाह ?-प्रव्रज्याऽनन्तरमेव नियमादेव मुण्डनेति कृत्वा किमिति पृथगुक्तेति गाथार्थः।

अत्र " पुढो " द्वारम्-

गुरुराहेह ण णिअमो, पव्वइअस्स वि इमस्स पडिसेहो।
अज्जोगस्साइसई, पडिवज्जगादी विहेइ अओ ।।५१४।।

गुरुराह-इह न नियमो यदुत प्रव्रज्याऽनन्तरमेवेयम्, कुतः?, प्रव्राजितस्याप्यस्याः प्रतिषेधो मुण्डनाया अयोग्यस्य, प्रकृत्येहातिशयैः पुनः प्रतिपत्त्यादेर्विधत्ते, यतो मुण्डना न स्वतः पृथगिति गाथार्थः।

मनसाऽऽपन्नस्यापीत्यादि-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

आवण्णस्स मणेण वि, अइआरं निअमओ अ सुहुमं पि।
पच्छित्तं चउ गुरुगा, सव्वजहण्णं तु णेअव्वं ।। ५१५ ।।

आपन्नस्य प्राप्तस्य मनसाऽप्यतिचारं नियमत एव सूक्ष्ममपि प्रायश्चित्तमस्य भगवतश्चतुर्गुरवः सर्वजघन्यं मन्तव्यमिति गाथार्थः।

जम्हा उत्तरकप्पो, एसोऽजलहुमाइसरिसो उ।
एगग्गयापहाणो, तब्भंगे गुरुअरो दोसो ।। ५१६ ।।

यस्मादुत्तरकल्प एष जिनकल्पोऽभक्तार्थादिसदृशो वर्तत एकाग्रताप्राधानोऽप्रमादी, यतस्तद्भङ्गे गुरुतरो दोषो, विषयगुरुत्वादिति गाथार्थः।

कारण-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

कारणमालंबणमो, तं पुण नाणाइअं सुपरिसुद्धं ।
एअस्स तं न विज्जइ, उचिअंतप्पसाहणा पायं ।।५१७।।

कारणमालम्बनमुच्यते, तत्पुनर्ज्ञानादि सुपरिशुद्धं सर्वत्र ज्ञेयम्। एतस्य तन्न विद्यते जिनकल्पिकस्य, उचितान्तःप्रसाधनात् प्रायः अन्योन्यसमफलसिद्धेरिति गाथार्थः।

सव्वत्थ निरवइक्खो, आढत्तं चिअ दढं समाणिंतो।
वट्टइ एस महप्पा, किलिट्ठकम्मक्खवणणिमित्तं ।।५१८।।

सर्वत्र निरपेक्षः सन् प्रारब्धमेव दृढं समापयन् वर्तते, एष महात्मा जिनकल्पिकः क्लिष्टकर्मक्षयनिमित्तमिति गाथार्थः।

निष्प्रतिकर्म-द्वारमधिकृत्याऽऽह—

निप्पडिकम्मसरीरो, अच्छिमलाई वि णावणेइ स य।
पाणंतिए वि अ तहा, वसणम्मि ण वट्टई बीए ।।५१९।।

निष्प्रतिकर्मशरीर एकान्तेन अक्षिमलाद्यपि नापनयति। स च प्राणान्तिकेऽपि च तथा व्यसने न वर्तते द्वितीय इति गाथार्थः।

अप्पबहुत्तालोअण-विसयाईओ उ होइ एसो त्ति।
अहवा सुभभावाओ, बहुअं पेअं चिअ इमस्स ।। ५२० ।।

अल्पबहुत्वालोचनविषयातीतस्तु भवत्येष जिनकल्पिक इति। अथवा शुभभावात्कारणात्, बहुकमप्येतदेवास्य तत्त्वत इति गाथार्थः।

चरम-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

तइआएँ पोरिसीए, भिक्खाकालो विहारकालो अ।
सेसासु उ उस्सग्गो, पायं अप्पा य णिद् त्ति ।।५२१।।

तृतीयायां पौरुष्यां भिक्षाकालो, विहारकालश्चास्य नियोगतः, शेषासु तु कायोत्सर्गः प्रायोऽल्पा च निद्रा पौरुषीष्विति गाथार्थः।

जंघाबलम्मि खीणे, अविहरमाणो वि णवर णावज्जे।
तत्थेव अहाकप्पं, कुणइ अ जोगं महाभागो ।। ५२२ ।।

जङ्घाबले क्षीणे सत्यविहरन्नपि नवरं नापद्यते दोषमिति। तत्रैव यथाकल्पं क्षेत्रे करोति योग्यं महाभागः स्वकल्पमनः, इति गाथार्थः।

एसेव गमो णियमा, सुद्धे परिहारिए अहालंदे।
नाणत्तं उ जिणेहिं, पडिवज्जइ गच्छ गच्छे वा ।।५२३।।

एष एव गमोऽनन्तरोदितो भावनादीनामाद्युक्ते परिहारिके यथालन्दे च, नानात्वं तु जिनेभ्यः शुद्धपरिहारिकाणामिदं प्रतिपद्यते गच्छस्तत्प्रथमतया नवकसमुदायः, गच्छे वा एकनिर्गमादपर इति गाथार्थः।

तवजावणणाणत्तं, करिंति आयंबिलेण परिकम्मं।
इत्तरिअ थेरकप्पे, जिणकप्पे आवकहिआ उ ।।५२४।।

तपोभावनानानात्वं चैषामिदं कुर्वन्त्याचामाम्लेन परिकर्म सर्वमेव। एते च इत्वराः, यावत्कथिकाश्च भवन्ति। ये कल्पसमाप्तौ गच्छमागच्छन्ति ते इत्वराः। ये तु जिनकल्पं प्रतिपद्यन्ते ते यावत्कथिका इति। एतदाह-इत्वराः स्थविरकल्पा इति भूयः स्थविरकल्पे भवन्ति। जिनकल्पे यावत्कथिकास्तु भवन्तीति गाथार्थः।

एतत्संभवमाह—

पुण्णे जिणकप्पं वा, अइंति तं चेव वा पुणो कप्पं।
गच्छं वा इंति पुणो, तिण्णि वि ठाणा सिमविरुद्धा ।।५२५।।

पूर्णे शुद्धपरिहारे, जिनकल्पं वाऽतिगच्छन्ति, तमेव वा पुनः कल्पं शुद्धपरिहारं गच्छं वा गच्छन्ति। पुनरनेन प्रकारेण त्रीण्यपि स्थानान्यमीषां शुद्धपरिहारिकाणामविरुद्धानीति गाथार्थः।

इत्तिरआणुवसग्गा, आयंका वेयणा य ण जवंति।
आवकहिआण जइआ, तहेव उग्गामभागा उ ।।५२६।।

इत्वराणां शुद्धपरिहारिकाणामुपसर्गा आतङ्का वेदनाश्च न भवन्ति, तत्कल्पप्रभावाज्जीतमेतत्। यावत्कथिकानां भाज्या उपसर्गादयः, जिनकल्पान्वितानां संभवात्। तथैव षड्ग्रामभागास्त्वमीषां यथा जिनकल्पिकानामिति गाथार्थः।

एतेषामेव स्थितिमभिधातुमाह-

खित्ते कालेँ चरित्ते, तित्थे परियाएँ आगमे वेए।
कप्पे लिंगे लेसा-झाणे गणणा अभिगहा य ।।५२७।।
पव्वावण-मुंडावण-मणसावण्णे वि से अणुग्घाया।
कारण-णिप्पडिकम्मा, भत्तं पंथो अ तइआए ।।५२८।।

अस्य गाथाद्वयस्यापि समुदायार्थः पूर्ववत् (गाथा ४८३-४०४)वत्

अवयवार्थं त्वाह-

खित्ते भरहेरवए, होंती साहरणवज्जिआ णिअमा।
एत्तो चिअ विण्णेअं, जमित्थ काले वि णाणत्तं ।।५२९।।

क्षेत्रे भरतैरवतयोर्भवन्ति शुद्धपरिहारिकाः संहरणवर्जिता नियमाद् द्वयमेषां स्थितिः । अत एव भरतैरवतभावाद्विदेहयमकद्वय काले ऽपि नानात्वं, प्रतिभागाद्यतनाकादिति गाथार्थः ।

चारित्रस्थितिनिर्माणं धातुमाह-

तुल्ला जहन्नठाणा, संजमठाणाण पढमबिइआणं ।
ततो असंखलोगा-णं तु परिहारिअट्ठाणा ॥ ५३० ॥

तुल्यानि जघन्यस्थानानि स्वसंख्यया संयमस्थानयोः प्रथमद्वितीययोः सामायिकच्छेदोपस्थाप्याऽभिधानयोः । ततो जघन्येभ्यः संयमस्थानेभ्यः, असंख्यानां लोकानां स्वाकाशप्रदेशस्थान तुल्या परिहारिकस्थानानि भवन्ति, संयमप्राधिकृत्येति गाथार्थः ।

ताणि वि असंखलोगा, अविरुद्धा चेव पढमबीआणं ।
उवरिं पि तओ ऽणेगा, संजमठाणा उ दोराहं पि ॥५३१॥

तान्यपि परिहारिकसंयमस्थानानि असंख्येया लोका इति प्रदेशस्यावबुद्धौ तावन्तीत्यर्थः । तानि चाविरुद्धान्येव प्रथमद्वितीययोरिति, शुद्धिविशेषात् सामायिकच्छेदोपस्थाप्यसंयमस्थानानीति भावः । उपर्यपि ततः परिहारिकसंयमस्थानेभ्यः, असंख्येयानि शुद्धिविशेषतः संयमस्थानानि, द्वयोरपि सामायिकच्छेदोपस्थाप्ययोरिति गाथार्थः ।

सट्ठाणे पडिवत्ती, अन्नेसु वि होज्ज पुव्वपडिवन्नो ।
तेसु वि वट्टंतो सो-ऽतीअणयं पप्प वुच्चइ उ ॥ ५३२ ॥

स्वस्थान इति नियोगतः स्वस्थानेषु प्रतिपत्तिः कल्पस्य । अन्येष्वपि संयमस्थानेष्वधिकतरेषु भवेत् पूर्वप्रतिपन्नो ऽध्यवसायविशेषात् तेष्वपि वर्तमानः संयमस्थानान्तरेऽपि स परिहारविशुद्धिक इत्यतीतनयं प्राप्योच्यते एव । निश्चयतस्तु न, संयमस्थानान्तराध्यासनादिति गाथार्थः ।

ठिअकप्पम्मी णिअमा, एमेव य जवइ दुविहलिंगे वि ।
लेसा-झाणा दोन्नि वि, हवंति जिणकप्पतुल्लाओ ॥५३३॥

स्थितकल्पे च नियमादेते भवन्ति, नास्थितकल्पे; एवमेव च भवन्ति द्विविधलिङ्गेऽपि नियमादेव; लेश्याध्याने द्वे अपि जघतः । अमीषां जिनकल्पतुल्य एव प्रतिपद्यमानादिभेदेनेति गाथार्थः ।

गणओ तिएणेव गणा, जहन्न पडिवत्ति सयसमुक्कोसा ।
उक्कोसजहरणेणं, सयसो च्चिय पुव्वपडिवन्ना ॥५३४॥

गणतो गणमाश्रित्य त्रय एव गणाः, एतेषां जघन्या प्रतिपत्तिर्नियमादेव शतश उत्कृष्टा प्रतिपत्तिरादावेव । तथा-उत्कृष्टजघन्येन-उत्कृष्टतो, जघन्यतश्च शतश एव पूर्वप्रतिपन्नाः । नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदमधिकमिति गाथार्थः ।

सत्तावीस जहन्ना, सहस्स उक्कोसओ अ पडिवत्ती ।
सयसो सहस्ससो वा, पडिवन्ना जहन्न उक्कोसा ॥५३५॥

सप्तविंशतिर्जघन्याः पुरुषाः सहस्रमप्युत्कृष्टतश्च प्रतिपत्तिरेतावतामेकदा शतशः सहस्रशश्च यथासंख्यं प्रतिपन्ना इति पूर्वप्रतिपन्ना जघन्यत उत्कृष्टाश्चैतावन्त इति गाथार्थः ।

पडिवज्जमाण भइणा, इक्को वी हुज्ज ऊणपक्खेवे ।
पुव्वपडिवरणया वि उ, भइया एगो पुहुत्तं वा ॥५३६॥

प्रतिपद्यमानका नाम्ना विकल्पनीयाः । कथमित्याह-एकोऽपि भवेदूनप्रक्षेपे प्रतिपद्यमानकाः पूर्वप्रतिपन्नका अपि तु भाज्याः, प्रक्षेपत एव कथमित्याह-एकः पृथक्त्वं वा यदा भूयांसः कल्पान्तरं प्रतिपद्यन्ते भूयांस एव चैवमिति गाथार्थः ।

एअं खलु णाणत्तं, एत्थं परिहारिआण जिणकप्पा ।
अहलंदिआण एत्तो, णाणत्तमिणं पवक्खामि ॥५३७॥

एतत् खलु नानात्वमत्र यन्निदर्शितं पारिहारिकाणां जिनकल्पात् सकाशाच्छेषं तुल्यमेव यथालन्दिकानाम, अत ऊर्ध्वं नानात्वमिदं वक्ष्यमाणलक्षणं प्रवक्ष्यामि जिनकल्प इति गाथार्थः । पं० व० ४ द्वार । (शेषा वक्तव्यता ' अहालंद ' शब्दे प्रथमभागे ८६७ पृष्ठ द्रष्टव्या)

कयमित्थपसंगेणं, एसो अब्भुज्जओ इह विहारो ।
संलेहणासमो खलु, सुविसुद्धो होइ णायव्वो ॥५५३॥

कृतमत्र प्रसङ्गेन विस्तरेण, एषोऽभ्युद्यतो विहारः, इह प्रवचने संलेखनासमः खलु पश्चादासेवनात्सुविशुद्धो भवति ज्ञातव्यो यथोदितः । इति गाथार्थः ।

पाएण चरमकाले, जमेस भणिओ सयाणमणुवज्जो ।
भयणाए अन्नया पुण, गुरुकज्जाईहिँ पडिबद्धा ॥५५४॥

प्रायेण चरमकाले यदेवैष भणितः, सूत्रे सतामनवद्यः, भजनयाऽन्यदा पुनः स्याद्वा, न वा, गुरुकार्यादिभिः प्रतिबन्धादिति गाथार्थः ।

केई भणंति एसो, गुरुसंजमजोगओ पहाणो त्ति ।
थेरविहाराओ वि हु, अच्चंतं अप्पमायाओ ॥ ५५५ ॥

केचन भणन्त्येषोऽभ्युद्यतविहारः, गुरुसंयमयोगतः कारणात्प्रधान इति, स्थविरविहारादपि सकाशादत्यन्तमप्रमादाद्धेतोरिति गाथार्थः ।

अन्ने परत्थविरहा, नेवं एसो अ इह पहाणो त्ति ।
एअस्स वि तब्भावे, अब्भुवगमणिमेहओ चेव ॥५५६॥

अन्ये परार्थविरहात् कारणान्नैवमिति भणन्ति । एष च परार्थ इह प्रधानः परलोक इति । एतस्याऽप्यभ्युद्यतविहारस्य तत्त्वतः परार्थभावे प्रतिपत्तिनिषेधतश्चैव, नैवं भणन्ति । इति गाथार्थः ।

एतदेवाऽऽह-

अब्भुज्जयमेगयरं, पडिवज्जिउकाम सो वि पव्वावे ।
गणिगुणसलद्धिओ खलु, एमेव अलद्धिजुत्तो वि ॥५५७॥

अभ्युद्यतमेकतरं विहारं मरणं वा प्रतिपत्तुकामः सन्नसावपि प्रव्राजयत्युपस्थितम, अन्यथा तत्प्रव्रज्याभावे गणिगुणसलब्धिकः खलु तत्पालनासमर्थो न सामान्येन तच्छून्यः, स्नेहात्प्रव्रजति सति का वार्ता ?, इत्याह-एवमेवान्यथा तत्प्रव्रज्याभावेऽलब्धियुक्तोऽप्यभ्युद्यतप्रतिपत्तिमात्रेण गुरुनिश्रया प्रव्रजतीति गाथार्थः ।

एव पहाणो एसो, एगंतेणेव आगमा सिद्धो ।
जुत्तीए वि अ नेओ, सपरुवगारो महं जम्हा ॥५५८॥

एवं प्रधान एषोऽभ्युद्यतविहारात् एकान्तेनैवाऽऽगमात् सिद्ध इति युक्त्याऽपि च ज्ञेयः प्रधानः, स्वपरोपकारो महान् यस्मादिति गाथार्थः ।

ण य एसो उवगारो, अन्नो णिव्वाण-साहणं परमं ।

जं चरणं साहिज्जइ, कस्सइ सुहभावजोएणं ॥५५९॥

न चातः उपकारोऽन्यः प्रधानतरः, निर्वाणसाधनं परमं यच्चरणं साध्यते कस्यचित् प्राणिनः शुभभावयोगेन हेतुना इति न लब्ध्याद्यपेक्षया । इति गाथार्थः ।

अच्चंतियसुहहेऊ, एअं अन्नेसि णिअमओ चेव ।
परिणमइ अप्पणो वि हु, कीरंतं हंदि एमेव ॥ ५६० ॥

आत्यन्तिकसुखहेतुरेतच्चरणमन्येषां भव्यप्राणिनां नियमेनैव परिणमति, आत्मनोऽपि क्रियमाणमन्येषां हन्त्येवमेवाऽऽत्यन्तिकसुखत्वेनेति गाथार्थः ।

गुरु संजमजोगो वि हु, विन्नेओ सपरसंजमो जत्थ ।
सम्मं पवट्टमाणो, थेरविहारे अ सो होइ ॥ ५६१ ॥

गुरुः संयमयोगोऽपि विज्ञेयः । क इह ?, स्वपरसंयम, यत्र संयमे, सम्यक् प्रवर्त्तमानः सन् सन्तत्या स्थविरविहारे चाऽसौ भवति स्वपरसंयमः, इति गाथार्थः ।

अच्चंतमप्पमाओ, वि जावओ एस होइ णायव्वो ।
जं सुहभावेण सया, सम्मं अन्नेसि तक्करणं ॥५६२॥

अत्यन्ताप्रमादोऽपि, भावतः परमार्थेन, एष भवति ज्ञातव्य एवंरूपः-यच्छुभभावेन सदा सर्वकालं, सम्यगन्येषां तत्करणं शुभभावकरणमिति गाथार्थः ।

जइ एवं कीस मुणी, थेरविहारं विहाय गीया वि ।
पडिवज्जंति इमं न उ, कालोचिअमणसणसमाणं ॥५६३॥

यद्येवं, किमिति मुनयः स्थविरविहारं विहाय गीतार्था अपि सन्तः प्रतिपद्यन्त एनं जिनकल्पम्, न तु कालोचितमनशनसमानं, तदाऽन्याभावादिति गाथार्थः ।

तक्काले उचिअस्सा, आणाआराहणा पहाणो स ।
इहरा उ आयहाणी, निप्फलसत्तिक्खया णेआ ॥५६४॥

तत्काले पर्वोचितस्य पुंसः, आज्ञाऽऽराधनाद्धेतोः प्रधान एव जिनकल्पः । इतरथा स्वात्महानिः स्वकाले तदप्रतिपत्तौ निष्फलशक्तिक्षयात् कारणाद् ज्ञेयेति गाथार्थः ।

अहवाऽऽणाभंगाओ, एसो अहिगगुणसाहणसहस्स ।
हीणकरणेण आणा, सत्तीए सया वि जइअव्वं ॥५६५॥

अथवाऽऽज्ञाभङ्गादात्महानिः, एष चाऽऽज्ञाभङ्गः, अधिकगुणसाधनसमर्थस्य सतः हीनकरणेन हेतुनाऽऽज्ञा, एवं यच्च शक्त्या सदाऽपि यतितव्यं, न तत्क्षयः कार्य इति गाथार्थः ।

एत्तो अ इमं एवं, जं दसपुव्वीण सुच्चई सुत्ते ।
एअस्स पडिसेहो, तयन्नहा अहिगगुणभावा ॥५६६॥

इतश्चैतदेवं स्वपरसंयमः श्रेयान्, यदपि दशपूर्विणां साधूनां श्रूयते सूत्रे आगमे, एतस्य कल्पस्य प्रतिषेधः, तस्यान्यथा परोपकारद्वारेणाधिकगुणभावात् कारणादिति गाथार्थः ।

एवं तत्तं नाउं, विसेसओ एव सत्तिरहिएहिं ।
सपरोवआरविसए, जत्तो कज्जो जहासत्ति ॥५६७॥

एवं तत्त्वं ज्ञात्वा विशेषत एव शक्तिरहितैः शक्तिशून्यैः स्वपरोपकारे यत्नः कार्यः यथाशक्ति, अप्रमत्तैः, महदेतदिदमाज्ञेति गाथार्थः ।

सव्वं थेरविहारं, णाउं अन्नत्थ होइ सुद्धो उ ।
एत्तो च्चिअ पडिसिद्धे, अज्जाओऽसमत्तकप्पो य ॥५६८॥

सर्वं स्थविरविहारं मुक्त्वा, स्वपरोपकारोऽन्यत्र भवति शुद्ध एव, नाशुद्धः । अत एव प्रतिषिद्धसूत्रेऽज्ञातोऽसमाप्तकल्पश्चेति गाथार्थः ।

एतत्स्मरणमाह-

अज्जाओ गीआणं, असमत्तो पणगसत्तगा हिट्ठा ।
उउवासेसु दो वि भणिआ, जहक्कमं वीअरागेहिं ॥५६९॥

अज्ञातो गीतार्थानां कल्पोऽसमाप्तः पञ्चकात्सप्तकाद् वाऽधः ऋतुवर्षयो द्वयोरपि भणितो यथाक्रमं वीतरागैरिति गाथार्थः ।

पडिसिद्धवज्जगाणं, थेरविहारो अ होइ सुद्धो त्ति ।
इहरा आणाभंगो, संसारपवड्डणा णियमा ॥ ५७० ॥

प्रतिषिद्धवर्जकानां साधूनां स्थविरविहारश्च भवति शुद्ध इति । इतरथा प्रतिषिद्धावर्जने आज्ञाभङ्गः संसारप्रवर्द्धना नियमादिति गाथार्थः ।

कयमित्थपसंगेणं, भणियसयणिअगा पहाणया एवं ।
दट्ठव्वा बुद्धिमया, गच्छो अ अब्भुज्जयविहारो ॥५७१॥

कृतमत्र प्रसङ्गेन विस्तरेण, स्वविषयनियतोत्कृष्टत्वात् प्रधानता एव द्रष्टव्या बुद्धिमता द्वयोरपि । गतश्चाभ्युद्यतविहार उक्तः । इति गाथार्थः । पं० व० ४ द्वार । पं० भा० । पं० चू० ।

(२६) (जिनकल्पिक-स्थविरकल्पिक-तदन्यानां परस्परं प्रतिविशेषः ' अहालंद ' शब्दे प्रथमभागे ८६८ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

(२७) (२८) (गच्छो जिनकल्पश्च द्वावप्येतौ महर्द्धिकाविति ' गच्छ ' शब्दे तृतीयभागे ८०२ पृष्ठे द्रष्टव्यौ)

(२९) जिनकल्पिको द्विविधः-अच्छिद्रपाणिः छिद्रपाणिश्च । तत्राच्छिद्रपाणेः शक्त्यनुरूपाभिग्रहविशेषाद् द्विविधमुपकरणम् । तद्यथा-रजोहरणं, मुखवस्त्रिका च । कस्यचित् त्वक्त्राणार्थं क्षौमपटपरिग्रहात्त्रिविधम् । अपरस्योदकबिन्दुपरितापादिरक्षणार्थमौर्णिकपटपरिग्रहात् चतुर्धा । तथा-असहिष्णुतरस्य द्वितीयक्षौमपटपरिग्रहात् पञ्चधेति ॥ छिद्रपाणेस्तु जिनकल्पिकस्य सप्तविधपात्रनिर्योगसमन्वितस्य रजोहरणमुखवस्त्रिकाऽऽदिग्रहणक्रमेण यथायोगं नवविधो दशविध एकादशविधो द्वादशविधश्चोपधिर्भवति । पात्रनिर्योगश्च (प्रवचनसारोद्धारे)-" पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया । पडलाइँ रयत्ताणं, च गोच्छओ पायणिज्जोगो ॥ ४९८ ॥ " आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

(३०),३१) (जिनकल्पिकानामुपकरणम् 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०६० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

(३२) को वै न मन्यते तीर्थङ्करैरभिहितो जिनकल्प इति ? केवलं यादृशानां पुरुषाणां येन विधिना तैरभिहितो जिनकल्पस्तदेतदाकर्णय । किं पुनस्तत् ?, इत्याह—

उत्तमधिइसंघयणा, पुव्वविदोऽतिसइणो सयाकालं ।
जिणकप्पिया वि कप्पं, कयपरिकम्मा पवज्जंति ॥२५९१॥
तं जइ जिणवयणाओ, पवज्जसि पवज्जतो सव्विओ त्ति ।
अत्थि त्ति कह पमाणं, कह वुच्छिन्नो त्ति न पमाणं ॥२५९२॥

उत्तमधृतिसंहननाः पूर्वविदो, जघन्यतोऽपि किञ्चिन्न्यून-

नवपूर्वेण ऊना इत्यर्थः। सर्वत्रैव निरुपमशक्त्याद्यतिशयसंपन्ना जिनकल्पिका अपि "तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य । तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ " ॥ १ ॥ इत्यादि पूर्वोक्तविधिना कृतपरिकर्माण एव जिनकल्पं प्रतिपद्यन्ते, नान्यथा, इति न रथ्यापुरुषकल्पानां त्वादृशां जिनकल्पस्तीर्थकरैरनुज्ञात इति । ततस्माद् यदि जिनवचनादर्हदुपदेशाज्जिनकल्पं प्रतिपद्यसे त्वं, ततस्तर्हि 'स जिनकल्पो व्यवच्छिन्नः' इतीदमपि प्रतिपद्यस्व । अथैतन्न प्रतिपद्यसे, तर्हि जिनकल्पोऽस्तीति कथं तीर्थकरवचनं तव प्रमाणम् ?, कथं च व्यवच्छिन्नोऽसौ इति न प्रमाणम् ? । तन्महाग्रहपिशाचिकाग्रस्तचेष्टितमिदं, स्वेच्छामात्रप्रवृत्तत्वादिति ॥ २५९१ ॥ २५९२ ॥

अथ जिनकल्पास्तित्वमागमे प्रतीतं, तद्व्यवच्छेदस्तु केन वचनेन तीर्थकरैरुक्तः ?, इति चेदित्याह–

मण–परमोहि–पुलाए, आहारग–खवग–उवसमे कप्पे ।
संजमतिय–केवलि सि–ज्झणा य जंबुम्मि वुच्छिन्ना ।२५९३।

मनःपर्यायज्ञानं, परमावधिः, पुलाकलब्धिः, आहारकशरीरं, क्षपकश्रेणिः, उपशमश्रेणिः, जिनकल्पः, परिहारविशुद्धिक–सूक्ष्मसंपराय–यथाख्यातलक्षणं संयमत्रिकं, केवली, मोक्षगमनलक्षणा सिद्धिश्चेति सर्वेऽप्येते पदार्थाः जम्बूस्वामिनि व्यवच्छिन्नाः–जम्बूस्वामिनं यावत्प्रवृत्ताः, न तूत्तरत्र इति ॥२५९३॥ विशे० । आ० म० । जम्बूस्वामिनि व्यवच्छिन्नोऽसौ, संहननाद्यभावात् सांप्रतं न शक्यत एवं कर्तुम् । विशे० ।

जिणकप्पट्ठिइ–जिनकल्पस्थिति–स्त्री० । जिनाः गच्छनिर्गतसाधुविशेषाः,तेषां साधुविशेषाणां कल्पस्थितिर्जिनकल्पस्थितिः। स्था० ३ ठा० ४ उ० । कल्पस्थितिभेदे,बृ० ६ उ० । सा चैवम्–जिनकल्पं हि प्रतिपद्यते जघन्येनापि नवमपूर्वस्य तृतीयवस्तुनि सति उत्कृष्टतस्तु दशसु भिन्नेषु प्रथमे संहनने दिव्याद्युपसर्गरोगवेदनाश्चासौ सहते, एकाक्येव भवति, दशगुणोपेतस्थण्डिल एवोच्चारादि,जीर्णवस्त्राणि च त्यजति । सर्वोपधिविशुद्धा अस्य भिक्षाचर्या तृतीयपौरुष्यां पिण्डैषणोत्तरा, सा पञ्चानामेकतरैव, विहारो मासकल्पेन, तस्यामेव वीथ्यां षष्ठदिने भिक्षाऽटनमिति,एवं प्रकारा चेयम् "सुयसंघयण" इत्यादिकाद् (बृहत्कल्प) गाथासमूहात् कल्पोऽवगन्तव्येति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अथ जिनकल्पस्थितिमाह–

णिज्जुत्तिमासकप्पे–सु वण्णितो जो गमो उ जिणकप्पे ।
सुयसंघयणादीओ, सो चेव गमो णिरवसेसो ॥४०६॥

निर्युक्तिः पञ्चकल्पः, तस्यां च मासकल्पः, प्रकृते च यो गमो जिनकल्पे जिनकल्पविषयः श्रुतसंहननादिको वर्णितः,स एव गमो निरवशेषोऽवगन्तव्यः ।

स्थानाशून्यार्थं पुनरिदमुच्यते–

गच्छम्मि य णिम्माता, धीरा जाहे य मुणियपरमत्था ।
अग्गहजोग अभिग्गहे, उवेंति जिणकप्पियचरित्तं ॥४०४॥

यदा गच्छे, प्रव्रज्या शिष्यपदानुक्रमेण निर्मिता निष्पन्ना, तदा धीरा औत्पत्तिक्यादिबुद्धिमन्तः, परीषहोपसर्गैरक्षोभ्या वा, मुणितपरमार्थाः–अभ्युद्यतविहारेण विहर्तुमवसरः सांप्रतमस्माकमित्येवमवगतार्थाः,तथा–ययोः पिण्डैषणयोरसंसृष्टसंसृष्टाख्ययोरग्रहः,ते परिहर्तव्ये, शेषासूपरितनीषु पञ्चस्वेषणास्वाभिग्रह एता एव गृहीतव्याः इत्येवंरूपः, तत्राप्येकस्यैकतरस्यां योगो व्यापारः परिभोग इत्यर्थः । एवं भावितमतयो यदा भवन्ति, तदा जिनकल्पिकचारित्रमुपयान्ति प्रतिपद्यन्ते ।

धितिबलिया तवसूरा, णिंति य गच्छाउ ते पुरिससीहा ।
बलवीरियसंघयणा, उवसग्गसहा अभीरू य ॥४०५॥

धृतिर्वज्रकुड्यवदक्षोभ्यं चित्तप्रणिधानं, तया, बलिका बलवन्तः,तथा तपश्चतुर्थादिकं षण्मासिकान्तं तत्र शूराः समर्थाः, एवंविधाः पुरुषसिंहाः, ते गच्छान्निर्गच्छन्ति । बलं शारीरं,वीर्यं जीवप्रभवं, तद्धेतुः संहननम् अस्थिनिचयात्मकं येषां ते तथा। बलवीर्यग्रहणं च चतुर्भङ्गीज्ञापनार्थम्। सा चेयम्–धृतिमान्नामैको, न संहननवान्। संहननवान्नामैको न धृतिमान्। संहननवान् धृतिमांश्च । न संहननवान् न धृतिमान् । तत्र तृतीयभङ्गेनाधिकारः । उपसर्गा दिव्यादयः, तेषां सहाः सम्यगध्यासितारः,तथा–अभीरवः परीषहेभ्यो न बिभ्यति । गता जिनकल्पस्थितिः। बृ० ६ उ०। जिनकल्पिकः कथं मोक्षं न याति?, कर्मणो बाहुल्यादन्यद्वा किमपि कारणम्,तस्य क्षपकश्रेण्युपशमश्रेण्योर्मध्ये काऽपि भवति, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्–जिनकल्पिकस्तस्मिन् भवे मोक्षं न याति, तथाकल्पत्वात्। किं चोपशमश्रेणिं तु कश्चित्प्रतिपद्यते, न तु क्षपकश्रेणिम्, पञ्चवस्तुके तथाऽभिधानादिति । १६३ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

जिणकप्पपडिमा–जिनकल्पप्रतिमा–स्त्री० । प्रतिमाभेदे, " सो य जिणकप्पपडिमं करेइ " आ० म० द्वि० ।

जिणकप्पिय–जिनकल्पिक–पुं० । जिनानां कल्प आचारो जिनकल्पः, स विद्यते येषां ते । "अत इनिठनौ" । ५ । २ । ११५ । इति (पाणिनीयवचनात्) ठन् । प्रव० ६० द्वार । जिना गच्छनिर्गतसाधुविशेषाः, तेषां कल्पः समाचारः,तेन चरन्तीति जिनकल्पिकाः । प्रव० ६३ द्वार । जिनानामिव कल्पो जिनकल्पः, प्रविहारविशेषः,तेन चरन्तीति जिनकल्पिकाः । ध० ३ अधि० । अभ्युद्यतविहारिणि,पं० व० ४ द्वार । (एतस्याशेषवक्तव्यताऽनुपदमेव 'जिणकप्प' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४६३ पृष्ठे निरूपिता)

जिणकित्ति–जिनकीर्ति–पुं० । तपागच्छान्तर्गतसोमसुन्दरसूरीन्द्रस्य स्वनामख्याते शिष्ये, ग० ३ अधि० । अयं च वैक्रमीये १४९४ वर्षे विद्यमान आसीत् । अनेन चम्पकश्रेष्ठिकथानकं, धन्यशालिभद्रचरित्रं, नमस्कारस्तवटीका, दानकल्पद्रुमः, श्रीपालगोपालकथा चेति ग्रन्था विरचिताः । जै० इ० ।

जिणकिरिया–जिनक्रिया–स्त्री० । जिनप्रणीतायां क्रियायाम्, पं० व० ।

चोदक आह–जिनक्रियाया असाध्या नाम न सन्ति?,सत्यमित्याह–

जिणकिरियाए असज्झा, ण इत्थ लोगम्मि केइ विज्जंति ।
जे तप्पओगऽजोगा, तेऽसज्झा एस परमत्थो ॥ ४९ ॥

जिनानां संबन्धिनी क्रिया तत्प्रणेतृत्वेन जिनक्रिया, तस्या असाध्या अचिकित्स्याः, नात्र लोके प्राणिलोके, केचन प्राणिनो विद्यन्ते । किं तु–ये तत्प्रयोगायोग्या जिनक्रियाप्रयोगानुचितास्ते असाध्याः कर्मव्याधिमाश्रित्य, एष परमार्थः–इदमत्र हृदयमिति गाथार्थः । पं० व० १ द्वार ।

जिणकुसलसूरि–जिनकुशलसूरि–पुं० । खरतरगच्छीये स्वनामख्याते आचार्ये, " भुवनपद्मानुक्रमतो–नुजातो जिनकुशलसूरि-

गुरुः " अष्ट० ३२ अष्ट० । एतेन वैक्रमीये १३३७ वर्षे जन्म लब्ध्वा १३४७ वर्षे जिनचन्द्रसूरिणामन्तिके प्रव्रज्य १३७७ वर्षे सूरिपदं प्राप्य चैत्यवन्दनकुलकवृत्तिनामा ग्रन्थो विनिर्मितः, तरुणप्रभाचार्याय च सूरिपदं दत्तम्, तथा १३८७ वर्षे स्वरयमगमत् । जै० इ० ।

जिणकेसरि [न्]-जिनकेसरिन्-पुं० । जिनसिंहे, " एको-परि भमइ जए, विक्कमं जिणकेसरी सलीलाए । कंदप्पदुट्ठ-दाढो, मयणो विद्दारिओ जेण ॥३॥ " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

जिणक्खाय-जिनाख्यात-त्रि० । जिनेन कथिते, औ० । प्रति० । " दुवालसंगं जिणक्खायं " उत्त० १३ अ० । दर्श० ।

जिणगुण-जिनगुण-पुं० । वीतरागत्वादिके तीर्थकरगुणे, "जि-णगुणविसयं सद्द-त्थवुड्ढिजणगं, अणुवहासं"। जिनगुणविषयं वीतरागत्वादितीर्थकरगुणगोचरम् । पञ्चा० ६ विव० ।

जिणगुणसमुद्द-जिनगुणसमुद्र-पुं० । गुणरत्नाधारभूते जिनरू-पे समुद्रे, पञ्चा० । "एया जिणगुणसमुद्देसु," जिनाश्च ते गुणा-नां गुणरत्नानामाधारत्वेन प्राचुर्येण च समुद्रा इव समुद्रा-श्चेति जिनगुणसमुद्रास्तेषु, पञ्चा० ४ विव० ।

जिणगोयमसीहआहरण-जिनगौतमसिंहाहरण-न० । जिन-गौतमसिंहदृष्टान्ते, जीवा० ।

निच्छयओ पुण अप्पे, वि जस्स वत्थुम्मि जायए भावो ।
तत्तो सो निज्जरओ, जिणगोयमसीहआहरणं ॥

निश्चयतो निश्चयनयात्,पुनरल्पेऽपि हीनेऽपि,न केवलं बलिष्ठे, इत्यपिशब्दार्थः । वस्तुनि आचार्यादौ, यस्य भव्यस्य, वस्तुनि उक्तरूपे, जायते प्रादुर्भवति, भावः प्रशस्तान्तःकरणं, ततः स इति भावनिर्जरकः कर्मह्रासकारको जिनगौतमसिंह आहरणं दृष्टान्त इति गाथार्थः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः । तच्चेद-म्-किल भगवता वीरेण गौतमस्वामी ग्रामं गच्छन् एकदा भणितः । गौतम ! त्वया हालिको मार्गे गच्छता प्रव्राजनीयः । तथेति प्रतिपद्य प्रणम्य च भगवन्तं गतो गौतमो ग्रामं, दृष्टश्च गच्छता क्षेत्रनिकटवर्ती हालिकः । ततो गौतमेन भणितम्-किं भोः करोषि ?, निजकर्माऽऽवेदितम् । पुनरुवाच सः-सांप्रतं यत्त्व-मर्थासि तदहं भगवन् ! करोमि । गौतमेनोक्तं-धर्मं कुरुष्वेति । तेन च प्रोत्फुल्लवदनकमलेन त्वयादि-एवमिति । ततः प्रव्राजितः सः, ततः स्वकार्यं विहाय भगवतः संमुखमागच्छंस्तस्य शि-क्षा दत्ता-एवं चङ्क्रमितव्यम्, एवंविधश्चास्मदीयो भगवान् वीरो भवता प्रतिपत्तव्य इत्यादि । सर्वं तेन प्रतिपन्नम् । यावद् यावपि भगवान् नासीद् दृष्टो, दृष्टे च तस्मिन् रजोहरणं मुक्त्वा यद्ययं ते गुरुस्ततो न किञ्चित्तव धर्मेण कार्यमिति भणित्वा च पलायितः । किल तस्य वासुदेवभवकृतपूर्ववैरात् पितृव्यसुत-जीवसिंहपातनरूपात् भगवन्तं पश्यतः कर्मबन्धो, गौतमं च पश्यतः तदुल्लासः, गौतमश्च भगवदपेक्षया हीनश्छद्मस्था-तीर्थङ्करत्वादिहेतोः, भगवांश्चोत्तमः, तीर्थङ्करत्वादिहेतुभिरेव इति सिद्धम् । जीवा० २० अधि० ।

जिणचंद-जिनचन्द्र-पुं० । जिनरूपे कालिककानिशाकरे, " जि-णचंदेहिं पुरिसाओ " जिनचन्द्रैः कालिकानिशाकरैः । आ०

१ अध्य० ३ द्वार । " तह जिणचंदाइमाणाई य " जिनचन्द्रात् अर्हद्वचनात् । आ० । आव० ।

जिणचंदगणि-जिनचन्द्रगणिन्-पुं० । चन्द्रगच्छीये कल्याण-रिशिष्ये, एतमेव देवगुप्तसूरिकुलमण्डनसूरिनामन्यो वदन्ति । वैक्रमीये १०७३ वर्षेऽयमासीत् । अनेनैव नवपदप्रकरणं, तदु-परि टीका च विरचिता । जै० इ० ।

जिणचंदसूरि-जिनचन्द्रसूरि-पुं० । खरतरगच्छीये जिनेश्वरा-चार्यशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, पञ्चा० १६ विव० । स्था० । " तच्छिष्या जिनचन्द्राख्याः, सूरयो गुणभूरयः । " अष्ट० ३२ अष्ट० । अनेन संवेगरङ्गशाला नाम ग्रन्थो विरचितः । जिनद-त्तसूरिसंतानीये जिनमाणिक्यसूरिशिष्ये स्वनामख्याते आचा-र्ये च, पं० व० ४ द्वार । " श्रीमज्जिनचन्द्राह्वैः, सूरिर्नवार्कदी-धितिप्रतापः" अष्ट० ३२ अष्ट० । अयं च वैक्रमीये ११९७ वर्षे जातः, १२०३ वर्षे दीक्षितः, १२११ वर्षे आचार्यपदम्, १२२३ वर्षे स्वर्गतिं च लब्धवान् । तृतीयोऽप्येतन्नामा आम्रदेव-सूरिगुरुः नेमिचन्द्रसूरिशिष्यश्चाभवत् । चतुर्थश्च खरतरग-च्छीयः जिनप्रबोधसूरिशिष्यः, तस्य वैक्रमीये १३२६ वर्षे जन्म, १३३२ वर्षे दीक्षा, १३४१ वर्षे सूरिपदप्राप्तिः । चतुरु राजसु जैनधर्ममरोपयत् । असौ कलिकालकेवलीति बिरुदमभिलत्, १३७६ वर्षे स्वरयमगमत् । पञ्चमोऽप्येतन्नामा खरतरग-च्छे १५६२ वर्षे वर्तमान आसीत् । यच्छिष्यो जिनसा-गरनामाऽऽसीत् । जै० इ० ।

जिणचिण्ण-जिनचीर्ण-त्रि० । जिनाऽऽचरिते, "अक्खोभो होइ जिणचिण्णो" जिनाः श्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानवन्तो, जिन-कल्पिकाश्च, तैश्चीर्ण आचरितो जिनाचीर्णः । पञ्चा० ४ विव० ।

जिणजक्ख-जिनयक्ष-पुं० । तीर्थकृतां भक्तिदक्षे गोमुखादिके यक्षे, प्रव० ।

जक्खा गोमुह महज-क्ख तिमुह ईसर सुतुंबुरू कुसुमो ।
मायंगो विजयाजिय, बंभो मणुओ सुरकुमारो ॥३७५॥
छम्मुह पयाल किंनर, गरुडो गंधव्व तह य जक्खिंदो ।
कूवर वरुणो भिउडी, गोमेहो वामण मयंगो ॥३७६॥

यक्षा भक्तिरक्तास्तीर्थकृतामिमे । यथा-प्रथमजिनस्य (ऋषभस्य) गोमुखो यक्षः सुवर्णवर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो वरदाक्षमालिकायु-क्तदक्षिणपाणिद्वयो मातुलिङ्गपाशकान्वितवामपाणिद्वयश्च ।१। अजितनाथस्य महायक्षाभिधो यक्षः चतुर्मुखः श्यामवर्णः करि-रूढवाहनोऽष्टपाणिर्वरदमुद्गराक्षसूत्रपाशकान्वितदक्षिणपाणि-चतुष्टयो बीजपूरकाभयाङ्कुशशक्तियुक्तवामपाणिचतुष्कश्च ।२। श्रीसंभवजिनस्य त्रिमुखो नाम यक्षः त्रिवदनः त्रिनेत्रः श्यामवर्णः मयूरवाहनः षड्भुजो नकुलगदाऽभययुक्तदक्षिण-करत्रयो मातुलिङ्गनागाक्षसूत्रवामपाणित्रयश्च ॥ ३ ॥ श्रीअभिनन्दनस्य ईश्वरो यक्षः श्यामकान्तिर्गजवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरकमलद्वयो नकुलाङ्कुशान्वितवाम-पाणिद्वयश्च ।४। श्रीसुमतेस्तुम्बुरुर्यक्षः श्वेतवर्णो गरुडवाहनश्च-तुर्भुजो वरदशक्तियुक्तदक्षिणपाणिद्वयो गदानागपाशयुक्तवाम-पाणिद्वयश्च ।५। श्रीपद्मप्रभस्य कुसुमो यक्षो नीलवर्णः कुरङ्गवा-हनश्चतुर्भुजः फलाभययुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलाक्षसूत्रयुक्त-वामपाणिद्वयश्च ॥ ६ ॥ सुपार्श्वस्य मातङ्गो यक्षो नील-

वर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो बिल्वपाशयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलाङ्कुशयुक्तवामपाणिद्वयश्च ॥ ७ ॥ श्रीचन्द्रप्रभस्य विजयो यक्षो हरितवर्णः त्रिलोचनो हंसवाहनो द्विभुजः कृतदक्षिणहस्तचक्रो वामहस्तधृतमुद्गरश्च ॥ ८ ॥ श्रीसुविधिजिनस्याजितो यक्षः श्वेतवर्णः कूर्मवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलकुन्तकलितवामपाणिद्वयश्च ॥ ९ ॥ श्रीशीतलस्य ब्रह्मा यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः सितवर्णः पद्मासनोऽष्टभुजो मातुलिङ्गमुद्गरपाशकाभययुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टयो नकुलगदाऽङ्कुशाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिचतुष्टयश्च ॥ १० ॥ श्रीश्रेयांसस्य मनुजो यक्षः (मतान्तरेण-ईश्वरः) धवलवर्णः त्रिनेत्रो वृषभवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गगदायुतदक्षिणपाणिद्वयो नकुलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिद्वयश्च ॥ ११ ॥ श्रीवासुपूज्यस्य सुरकुमारो यक्षः श्वेतवर्णो हंसवाहनः चतुर्भुजो बीजपूरकबाणान्वितदक्षिणकरद्वयो नकुलकधनुर्युतवामपाणिद्वयश्च ।१२। श्रीविमलस्य षण्मुखो यक्षः श्वेतवर्णः शिखिवाहनो द्वादशभुजः फलचक्रबाणखड्गपाशाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिषट्कः, नकुलचक्रधनुःफलकाङ्कुशाभययुतवामपाणिषट्कश्च ॥ १३ ॥ श्रीअनन्तस्य पातालो यक्षस्त्रिमुखो रक्तवर्णो मकरवाहनः षड्भुजः पद्मखड्गपाशयुक्तदक्षिणपाणित्रयो नकुलफलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणित्रयश्च ॥ १४ ॥ श्रीधर्मस्य किंनरो यक्षस्त्रिमुखो रक्तवर्णः कूर्मवाहनः षड्भुजो बीजपूरकगदाऽभययुक्तदक्षिणपाणित्रयो नकुलपद्माक्षमालायुक्तवामपाणित्रयश्च ॥ १५ ॥ श्रीशान्तिनाथस्य गरुडो यक्षो वराहवाहनः क्रोडवदनः श्यामरुचिश्चतुर्भुजो बीजपूरकपद्मान्वितदक्षिणकरद्वयो नकुलाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिद्वयश्च ॥ १६ ॥ श्रीकुन्थोर्गन्धर्वयक्षः श्यामवर्णो हंसवाहनश्चतुर्भुजो वरदपाशकान्वितदक्षिणपाणिद्वयो मातुलिङ्गाङ्कुशाधिष्ठितवामकरद्वयश्च ॥ १७ ॥ श्रीअरजिनस्य यक्षेन्द्रो यक्षः षण्मुखस्त्रिनेत्रः श्यामवर्णः शङ्खशिखिवाहनो द्वादशभुजो बीजपूरकबाणखड्गमुद्गरपाशकाभययुक्तदक्षिणकरषट्को नकुलधनुःफलकशूलाङ्कुशाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिषट्कश्च ॥ १८ ॥ श्रीमल्लिजिनस्य कूबरो यक्षश्चतुर्मुख इन्द्रायुधवर्णो गजवाहनोऽष्टभुजो वरदपरशुशूलाभययुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टयो बीजपूरकशक्तिमुद्गराक्षसूत्रयुतवामपाणिचतुष्टयश्च (अन्ये कूबरस्थाने कुबेरमाहुः) ॥ १९ ॥ श्रीमुनिसुव्रतस्य वरुणो यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः सितवर्णो वृषभवाहनो जटामुकुटमण्डितोऽष्टभुजो बीजपूरकगदाबाणशक्तियुक्तदक्षिणकरकमलचतुष्को नकुलपद्मधनुःपरशुयुतवामपाणिचतुष्टयश्च । २० । श्रीनमिजिनस्य भृकुटिर्यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः सुवर्णवर्णो वृषभवाहनोऽष्टभुजो बीजपूरकशक्तिमुद्गराभययुक्तदक्षिणकरचतुष्टयो नकुलपरशुवज्राक्षसूत्रयुक्तवामकरचतुष्टयश्च ॥२१॥ श्रीनेमिजिनस्य गोमेधो यक्षः त्रिमुखः श्यामकान्तिः पुरुषवाहनः षड्भुजो मातुलिङ्गपरशुचक्रान्वितदक्षिणकरत्रयो नकुलशूलशक्तियुक्तवामपाणित्रयश्च ॥ २२ ॥ श्रीपार्श्वजिनस्य वामनो यक्षो(मतान्तरेण पार्श्वनामा)गजमुखः उरगफणामण्डितशिराः श्यामवर्णः कूर्मवाहनश्चतुर्भुजो बीजपूरकोरगयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलभुजगयुक्तवामपाणियुगश्च ॥ २३ ॥ श्रीवीरजिनस्य मातङ्गो यक्षः श्यामवर्णो गजवाहनो द्विभुजो नकुलयुतदक्षिणभुजो वामकरधृतबीजपूरकश्चेति ॥२४॥ प्रव० २६ द्वार ।

जिणजत्ता–जिनयात्रा–स्त्री० । अर्हदुत्सवे रथयात्रायाम्, पञ्चा० ७ विव० । ध० । (सा च 'अणुजाण' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे वर्णिता)

जिणणाम(ण्)–जिननामन्–न० । नामकर्मभेदे, कर्म० ३ कर्म० ।

जिणदत्त–जिनदत्त–पुं० । स्वनामख्याते खरतरगच्छीये जिनवल्लभसूरिशिष्ये आचार्ये, "तच्छिष्याजयदेवाचार्याः,गच्छे खरतरेश्वराः " इति । तत्पदे जिनवल्लभसूरिजिनदत्तसूरयोऽभूवन्निति च । अष्ट० ३२ अष्ट० । पं० व० । अयं च महाप्रभावक आसीत्, अम्बादेव्या युगप्रधानपदमस्मै दत्तम् । वैक्रमीये ११३२ वर्षेऽयं च जातः, सोमचन्द्र इति गृहिपर्यायेऽस्य नामाऽऽसीत्, वैक्रमीये ११४१ वर्षेऽयं दीक्षितः, तत्समयेऽस्य प्रबोधचन्द्रगणीति नामाऽऽसीत् । ११६९ वर्षेऽयं चित्रकूटे (चित्तोड इति प्रसिद्धे) देवभद्राचार्यदत्तं सूरिपदमवाप, संदेहदोलावलीप्रभृतीननेकान् ग्रन्थानरचयत् । वैक्रमीये १२११ वर्षे अजयमेरु (अजमेर) नगरेऽयं स्वरगमत् ॥ द्वितीयोऽप्येतन्नामा वायडगच्छीयराशिलसूरिशिष्यजीवदेवसूरेः शिष्यो वैक्रमीये १२६५ वर्षे विद्यमान आसीत, येन विवेकविलासशकुनशास्त्रादय अनेके ग्रन्था निर्मिताः, परकायप्रवेशविद्यामयमजानत् , १२७७ वर्षे च निर्गते वस्तुपालसङ्घेऽप्ययमासीत् , अस्य शिष्योऽमरचन्द्रसूरिर्महाकविरासीत । जै० इ० । "सयलगुणरयणरोहणगिरीहिँ जिणदत्तसूरीहिं ।" सकलगुणरत्नरोहणगिरिभिर्निखिलगुणमाणिक्यरोहणशैलैर्जिनदत्तसूरिभिरेव नामकैः सप्तगृहवार्त्ताभिरिति यावत् । जीवा० ३८ अधि० । आव० । वसन्तपुरस्थे स्वनामख्याते श्रावके,आ० क० । "वसन्तपुरे नगरे जियसत्तू राया, जिणदत्तो सेट्ठी " आव० ५ अ० । आ० चू० । (तत्कथा चक्षुरिन्द्रियोदाहरणे 'चक्खिंदिय' शब्दे तृतीयभागे ११०५ पृष्ठे 'काउस्सग्ग' शब्दे ४२७ पृष्ठे च प्रदर्शिता) संकुलग्रामवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रावके, पि० । (तत्कथा 'आधाकम्म' शब्दे द्वितीयभागे २३३ पृष्ठे निरूपिते) श्रावस्तीवास्तव्ये श्रावके, नं० । पाटलिपुत्रनगरस्थे स्वनामख्याते श्रावके, आ० म० द्वि० । (तत्कथा 'लोभ' शब्दे वक्ष्यते) वैशालीनगरीवास्तव्ये जीर्णश्रेष्ठ्यपरनामधेये स्वनामख्याते श्रावके, ध० र० । स्वनामख्याते श्रावके, यस्य पत्नी ईश्वरी श्राविका । कल्प० ८ क्षण । स्वनामख्याते श्रावके, यस्य पत्नी फल्गुश्रीः, "जिणदत्त-फग्गुसिरी नाम सावगमिहुणं । " महा० ५ अ० ।

जिणदत्तपुत्त–जिनदत्तपुत्र–पुं० । चम्पानगरीवास्तव्ये सार्थवाहदारके, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० (एतत्कथा ' अंड ' शब्दे प्रथमभागे ८१ पृष्ठे द्रष्टव्या)

जिणदव्व–जिनद्रव्य–न० । जिनसंबन्धिनि द्रव्ये,दर्श० १ तत्त्व । (' चेइयदव्व ' शब्दे तृतीयभागे १२८३ पृष्ठे द्रष्टव्या । उदाहरणम ' देवदव्व ' शब्दे वक्ष्यते)

जिणदास–जिनदास–पुं० । मथुरावास्तव्ये श्रावकविशेषे, यस्य भार्या साधुदासी । "सिट्ठी जिणदासो तत्थ साहुदासी पिया तस्स । " (२) ध० र० । (अस्य 'सुत्तकाल' शब्दे कथा वक्ष्यते) राजगृहनगरस्थे ऋषभदत्ताऽऽत्मजे श्रेष्ठिनि, " सिट्ठी य उसभदत्तो, तस्स सुओ भुवणविस्सुओ पढमो । बीओ उण जिणदासो, आवासो जूयवसणस्स " ॥ २ ॥ ध० र० (अस्य कथा ' बालक्रीडा ' शब्दे वक्ष्यते) पाटलिपुत्रवास्तव्ये श्रावके, आ० चू० ६ अ० । मथुरावास्तव्ये श्रावके,

तस्य भार्या जिनदासी । " जिनदासो वणिक् तत्र, श्रावकः परमाऽऽर्हतः। जिनदासी प्रिया तस्य, प्रियंकरणदर्शना ॥ १ ॥" आ० क० । तं० । आ० म० । (तत्कथा 'कंबल' शब्दे तृतीयभागे १७९ पृष्ठे द्रष्टव्या) राजपुरस्थे श्रावके च । पुं० । " रायपुरे नयरे एगो कुलपुत्तगजातीओ, तस्स जिणदासो मित्तो " आव० ६ अ० । (अस्य कथा ' पच्चक्खाण ' शब्दे वक्ष्यते)

जिणदासगणिमहत्तर-जिनदासगणिमहत्तर-पुं० । निशीथचूर्णिकारके आचार्ये, "गुरुदिएणं च गणित्तं, महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेहिं । तेण कएसा चुएणी, विसेसनामा निसीहस्स ॥ १ ॥" नि० चू० २० उ० । एतेन महात्मना अनुयोगद्वारबृहत्कल्पाऽऽवश्यकादिष्वपि चूर्णयो रचिताः । जै० इ० ।

जिणदिट्ठ-जिनदृष्ट-त्रि० । तीर्थकराभिमते, अनु० ।

जिणदेव-जिनदेव-पुं० । भरुकच्छस्थे आचार्ये, "भरुकच्छे जिणदेवो" । "आचार्यो जिनदेवोऽभू-दत्रैव भृगुपत्तने ।" आ० क० । (तत्कथा 'पणिहि' शब्दे वक्ष्यते) । द्वारवतीवास्तव्ये अर्हन्मित्रश्रेष्ठिनः पुत्रे, "द्वारवत्यां महापुर्या-मर्हन्मित्रो वणिग्वरः । अनुद्धरी प्रिया तस्य, जिनदेवस्तु तत्सुतः ॥१॥" आ० क० । ('असइदोसपोसंहार' शब्दे प्रथमभागे ५०२ पृष्ठे कथाऽस्य निरूपिता) । कौशाम्बीनगरवास्तव्ये क्षेमंकराऽऽत्मजे स्वनामख्याते श्रावके, ध० र० । (तत्कथा 'बंभसरा' शब्दे वक्ष्यते) साकेतनगरवास्तव्ये श्रावके, " साएए सत्तुंजयो राया, जिणदेवो सावओ ।" आ० चू० ४ अ० । (तत्कथा 'पच्चक्खाण' शब्दे वक्ष्यते । चम्पानगरीवास्तव्ये श्रावके, "नयरी य चंपनामा, जिणदेवो सत्थवाह अहिछत्ता ।" आ० चू० ४ अ० । (तत्कथा ' संगपरिएणा ' शब्दे वक्ष्यते)

जिणदेसिय-जिनदेशित-त्रि० । जिनेन कथिते, दर्श० ४ तत्त्व । जिना इह हितप्रवृत्तगोत्रविशुद्धोपायाभिमुखापायविमुखादयः परिगृह्यन्ते, तथा मूलटीकाकृता व्याख्यानात्, जिनेभ्यो हितप्रवृत्ताऽऽदिरूपेभ्यः शुभपाऽऽदिभिर्भव्यकभावेभ्यो देशितं कथितं गणधरैरपि जिनदेशितम् । तथा जम्बूस्वामिप्रभृतय एवंविधा एवेति निरूपणीयमेतत् । अथ प्रकृतिसुन्दरमिति कस्माद्जिनेभ्योऽपि नोपदिश्यते ? । उच्यते—तेषां स्वतोऽसुन्दरत्वेन अनर्थोपनिपातसंभवात् । दृष्टं च पात्रासुन्दरतया स्वतः सुन्दरमपि रविकराऽऽद्युलूकादीनामनर्थाय । आह च-"पत्तंजियवं धीरेण, हियं जं जस्स सव्वहा । आहारो वि हु मच्छस्स, न पसत्थो गले सुणी " ॥ १ ॥ जी० १ प्रति० । " धम्मो य जिणदेसिओ " जिनदेशितः केवलिना भाषितः । तं० । उत्त० ।

जिणधम्म-जिनधर्म-पुं० । भरतवर्षस्थपद्मिनीखण्डनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रावके, ती० १० कल्प । जिनसंबन्धिनि धर्मे, " अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं ।" अनुत्तरं धर्मं जिनानामृषभादितीर्थकृतां संबन्धिनम् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । ध० । तं० । प्रा० । "वरपुरयासणतूरो, अक्खयरयणाणसायरो जअइ । सव्वजयजीवबंधुर-बंधू दुविहो वि जिणधम्मो ॥ १ ॥" स्था० ४ ठा० २ उ० ।

जिणपडिमा-जिनप्रतिमा-स्त्री० । जिनबिम्बे, "जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं ।" (१ गाथा) दशा० ९ चू० । जिनप्रतिमा सद्भावस्थापनरूपेति । रा० । दशा० । जी० । प्रति० । नयो० । षो० । द्वा० । पञ्चा० । ('चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२०५ पृष्ठे सर्वा वक्तव्यतोक्ता)

भारते वर्षे चतुरशीतिर्जिनप्रतिमाः, ताश्चेमाः-

" पर्युपास्य परमेष्ठिपञ्चकं,कीर्तयामि कृतपापनिग्रहम् ।
तत्रवाग्विविदितं चतुर्युता-शीतितीर्थजिननामसङ्ग्रहम् ॥ १ ॥"

तथाहि-

श्रीशत्रुञ्जये भरतदीपः श्रीवीरस्वामिप्रतिष्ठितः श्रीआदिनाथः । श्रीमूलनायकः पाण्डवस्थापितो नन्दिवर्धनो युगादिनाथः । श्रीशान्तिप्रतिष्ठितः पुण्डरीकः श्रीकलशः, द्वितीयस्तु श्रीवीरस्वामिप्रतिष्ठितः पूर्णकलशः । सुधाकुण्डे श्रीजीवितस्वामी श्रीशान्तिनाथः मरुदेवास्वामिनीप्रथमसिद्धः । श्रीउज्जयन्ते पुण्यकलशमदनमूर्तिः श्रीनेमिनाथः । काञ्चनबलानके अमृतनिधिः श्रीअरिष्टनेमिः । पाणामते अतीतचतुर्विंशतिमध्यात् अष्टौ पुण्यनिधयः श्रीमत्क्षेमीश्वरादयः । काशहृदे त्रिभुवनमङ्गलकलशः श्रीआदिनाथः । सोपारके जीवन्तस्वामी श्रीऋषभदेवप्रतिमा । नगरमहास्थाने श्रीभरतेश्वरकारितः श्रीयुगादिदेवः । दक्षिणापथे श्रीगोमटदेवः श्रीबाहुबलिः । उत्तरापथे कञ्चिद्देशे गोमटः श्रीऋषभः । अङ्गारगढे श्रीकमसेनपूजितो मेदिनीमुकुटः श्रीआदिनाथः । महानगर्यां मुद्गरविहारे श्रीआदिनाथः । तक्षशिलायां बाहुबलिविनिर्मितं धर्मचक्रम् । मोक्षतीर्थे श्रीआदिनाथपादुके । कोलपाकपत्तने माणिक्यदेवः श्रीऋषभो मन्दोदरीदेवताऽवसरः । गङ्गायमुनयोर्वेणीसङ्गमे श्रीआदिकमण्डलुम् । श्रीअयोध्यायां श्रीअजितस्वामी । चन्द्रेयाम् आजितः । तारणे विश्वकोटिशिलायां श्रीअजितः । अङ्गिदकायां श्रीअजितस्वामिशान्तिदेवताद्वयं श्रीमहेन्द्रदेवताऽवसरः । श्रावस्त्यां श्रीसंभवदेवो आकृष्टिविद्याऽधिपतिः । मेगमतीग्रामे श्रीअभिनन्दनदेवः, नर्मदा तत्पादेभ्यो निर्गता । क्रौञ्चद्वीपे सिंहलद्वीपे हंसद्वीपे श्रीसुमतिनाथदेवपादुका । आम्बुरिग्रामे श्रीमतिदेवः । माहेन्द्रपर्वते कौशाम्ब्यां च श्रीपद्मप्रभः । मथुरायां महालक्ष्मीनिर्मितः श्रीसुपार्श्वस्तूपः । श्रीदशपुरनगरे श्रीसुपार्श्वः सीतादेवीदेवताऽवसरः । प्रभासे शशिभूषणः श्रीचन्द्रप्रभश्चन्द्रकान्तमणिमयः श्रीज्वालामालिनीदेवताऽवसरः । श्रीगौतमस्वामिप्रतिष्ठितो वलभ्यागतः श्रीनन्दिवर्धनकारितः श्रीचन्द्रप्रभः । नासिक्यपुरे श्रीजीवितस्वामी त्रिभुवनतिलकः श्रीचन्द्रप्रभः । चन्द्रावत्यां मन्दिरमुकुटः श्रीचन्द्रप्रभः । वाराणस्यां विश्वेश्वरमध्ये श्रीचन्द्रप्रभः । कोयाद्वारे श्रीसुविधिनाथः । प्रयागतीर्थे श्रीशीतलनाथः । विन्ध्याद्रौ, मलयगिरौ च श्रीश्रेयांसः । चम्पायां विश्वतिलकः श्रीवासुपूज्यः । काम्पिल्ये गङ्गामूले, सिंहपुरे च श्रीविमलनाथः । मथुरायां यमुनापुरे समुद्रदेवः । समुद्रे द्वारवत्यां शाकपाणिमध्ये श्रीअनन्तः । अयोध्यासमीपे रत्नवाहपुरे नागमहितः श्रीधर्मनाथः । किष्किन्धायां लङ्कायां त्रिकूटगिरौ श्रीशान्तिनाथः । गङ्गायमुनयोर्वेणीसङ्गमे श्रीकुन्थ्वरनाथौ । श्रीपर्वते मल्लिनाथः । भृगुपत्तनेऽनर्घ्यरत्नचूडः श्रीमुनिसुव्रतः । प्रतिष्ठानपुरे अयोध्यायां विन्ध्याचले माणिक्यदण्डके मुनिसुव्रतः । अयोध्यायां मोक्षतीर्थे नमिः । शौरिपुरे शङ्खजिनालये पाटलिनगरे मथुरायां द्वारकायां सिंहपुरे स्तम्भतीर्थे पातालगङ्गाऽभिधः श्रीनेमिनाथः । अजाहृदे नवनिधिः श्रीपार्श्वनाथः । स्तम्भनके भवभयहरः । फलवर्द्धिकायां विश्वकल्पलताऽभिधः । करहेटके उपसर्गहरः । अहिच्छत्रायां त्रिभुवनभानुः । कलिकुण्डे, नागहृदे च श्रीपार्श्वनाथः । कुक्कुटेश्वरे विश्वगजः । माहेन्द्रपर्वते छायापार्श्वनाथः । ओंकारपर्वते सहस्रफणी

पार्श्वनाथः । वाराणस्यां दण्डखाते भव्यपुष्कराऽऽवर्त्तकः । महाकालान्तरे पातालचक्रवर्त्ती । मथुरायां कल्पद्रुमः । चम्पायामशोकः । मलयगिरौ श्रीपार्श्वः । श्रीपर्वते घण्टाकर्णो महावीरः । विन्ध्याद्रौ श्रीगुप्तः । हिमाचले छायापार्श्वः मन्त्राधिराजः श्रीस्फुलिङ्गः । श्रीपुरे अन्तरिक्षः श्रीपार्श्वनाथः । कालिन्दीभीमेश्वरे श्रीपार्श्वनाथः । सायलस्वामिगढे देवाधिदेवः । श्रीरामशयने प्रद्योतकारिश्रीवर्द्धमानः । मोढेरे वायडे नाणके पल्ल्यां मेतुरके मुण्डस्थले श्रीमालपत्तने उपकेशपुरे कुण्डग्रामे सत्पुरे टङ्कायां गङ्गाहृदे सरःस्थाने वीतभये चम्पायाम् अपापायां पुण्ड्रपर्वते नन्दिवर्द्धनकोटिभूमौ वीरः । वैभाराद्रौ राजगृहे कैलाशे श्रीरोहिणाद्रौ श्रीमहावीरः । अष्टापदे चतुर्विंशतिस्तीर्थकराः । सम्मेतशैले विंशतिर्जिनाः । हेमसरोवरे द्वासप्ततिजिनालयाः कोटिसिद्धशिलासिद्धिक्षेत्रम् ॥

" इति जैनप्रसिद्धानां, तीर्थानां नामपद्धतिः ।
सन्देहोऽयं स्फुटी चक्रे,श्रीजिनप्रभसूरिणा"॥१॥ ती० ४५ कल्प ।

जिणपण्णत्त-जिनप्रज्ञप्त-त्रि० । तीर्थकरप्रणीते, " जिणपण्णत्तं लिंगं । " पं० व० १ द्वार । जी० । जिनैर्हिताऽऽप्तयनिवर्तकयोगिभिः प्रज्ञप्तं तदन्यसत्त्वानुग्रहाय सूत्रत आचाराऽऽद्यङ्गोपाङ्गादिभेदेन रचितं जिनप्रज्ञप्तम् । उक्तं च-"अत्थं भासइ अरिहा, सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं । सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ ॥२॥" त्ति । जी० १ प्रति० ।

जिणपरियाय-जिनपर्याय-पुं० । केवलिपर्याये, भ० २० श० ८ उ० । (तत्स्वरूपं 'केवलि' शब्दे तृतीयभागे ६५२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

जिणपवयण-जिनप्रवचन-न० । जैनाऽऽगमे, (आ० म०) सांप्रतमपि च केयं जिनप्रवचनोत्पत्तिः ?, कियदभिधानं चेदं जिनप्रवचनं ?, को वाऽस्याभिधानविभागः ?, इत्येतत् प्रासङ्गिकशेषं शेषद्वारसंग्रहं चाभिधित्सुराह—

जिणपवयणउप्पत्ती, पवयणएगट्ठिया विभागो य ।
दारविही य नयविही,वक्खाणविही अणुओगा ।।१३५०।।

इह जिनप्रवचनोत्पत्तिः, प्रवचनैकार्थिकानि, एकार्थिकविभागश्चेति त्रितयमपि प्रसङ्गशेषं,द्वाराण्युद्देशनिर्देशादीनि,तेषां विधिः प्ररूपणं द्वारविधिः ; अयमुपोद्घातोऽभिधीयते । नयविधिस्तूपक्रमादीनां सूत्रानुयोगद्वाराणां चतुर्थमनुयोगद्वारम् । तथा व्याख्यानस्य विधिर्व्याख्यानविधिः-शिष्याऽऽचार्यपरीक्षाऽभिधानम् । अनुयोगः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः, सूत्रानुगमश्चेति समुदायार्थः । आह च-चतुर्थमनुयोगद्वारं नयविधिमभिधाय पुनस्तृतीयानुयोगद्वाराख्यानुगमाभिधानं किमर्थम् ?। उच्यते-नयानुगमयोः सहचरभावप्रदर्शनार्थम् । तथाहि-नयानुगमौ प्रतिसूत्रं युगपदनुधावतः, नयमतशून्यस्यानुगमस्याभावात् । यदि युगपन्नयानुगमौ गच्छतः, तर्हि तदुपन्यासोऽपि युगपदेवास्तु, किमर्थमनुयोगद्वारचतुष्टयोपन्यासे नयानामन्ते उपन्यासः ?। उच्यते-युगपद्वक्तुमशक्यत्वात् । आह च मूलटीकाकृत्-अनुयोगद्वारचतुष्टयोपन्यासे तु नयानामन्तेऽभिधानं युगपद्वक्तुमशक्यत्वादिति । अपरस्त्वाह-चतुरनुयोगद्वाराऽऽत्मकं शास्त्रं,ततश्चतुरनुयोगद्वारातिरिक्तस्य व्याख्यानविधेरुपन्यासो निरर्थकः । तदयुक्तम् । अनुगमाङ्गतया निरर्थकत्वायोगात् । अनुगमाङ्गता च व्याख्याऽऽत्मकत्वादिति तत्र जिनप्रवचनोत्पत्तिर्निर्युक्तिसमुत्थानप्रसङ्गतोऽभिहिता,अर्हद्वचनत्वात्प्रवचनस्य । आह च-"सुयमिह जिणप्पवयणं,तस्सुप्पत्ती पसंगतोऽभिहिया" इति ॥१३५०॥ आ० म० प्र० ।

जिणपसत्थ-जिनप्रशस्त-त्रि० । जिनभाषिते, " बहुसु जाणेसु जिणपसत्थेसु " । जिनप्रशस्तेषु जिनभाषितेषु । प्रश्न० ५ संव० द्वार । जिनानां गोत्रविशुद्धोपायाभिमुखापायविमुखाहितप्रवृत्ताभिभेदानां प्रशस्तं निरुपमं पथ्यावचन उचितसेवनया हितं जिनप्रशस्तम् । जिनहिते च । जी० १ प्रति० ।

जिणपाडिहेरय-जिनप्रातिहार्य-न० । अतिशयपरमपूज्यत्वख्यापकालङ्कारविशेषे, दर्श० ।

तानि च-

कंकेल्लि कुसुमवुट्ठी, दिव्वज्झुणि-चामराऽऽसणाइं च ।
भावलय-भेरि-छत्तं, जयंति जिणपाडिहेराइं ॥८॥

जयन्ति शेषाऽऽत्ममहिमानमधः कुर्वते, कानि ?, कङ्केल्लिप्रभृतीनि जिनप्रातिहार्याणीति संबन्धः । तत्र कङ्केल्लिर्दिनकरकरप्रसरावारकोऽशोकवृक्षः । एतन्मानं च-"बत्तीसं धणुहाइं, चेइयरुक्खो उ वद्धमाणस्स । सेसाणं तु जिणाणं, ससरीरा बारस गुणाओ " ॥ १ ॥ १ । कुसुमवृष्टिः-सुरकरविमुक्ताधःस्थितवृन्तजानुदघ्नपञ्चवर्णसुगन्धिपुष्पवर्षम् २ । दिव्यध्वनिः-सुरनरतिर्यग्जन्तुजातस्वस्वभाषापरिणामरमणीयः संख्याऽतीतपरिषत्प्राणियुगपदनेकसंशयापहारचतुरः क्षीरेक्षुद्राक्षाद्यधिकतरमाधुर्यवान् आयोजनगामी देशनानिनादः ३ । चामरे-त्रिभुवनैश्वर्यसंसूचके शरच्चन्द्रमरीचिनिचयगौरे प्रकीर्णके ४ । आसनमप्रमेयमहिमाऽऽविर्भावकं,समुच्छलत्पञ्चवर्णमणिकिरणकदम्बककर्बुरितदिगन्तरं सिंहासनम् ५ । भावलयं-निर्जितमार्तण्डमण्डलं मौलिपृष्ठप्रतिष्ठितं प्रभाजालम् ६ । भेरी-पुरतो व्योम्नि शब्दायमानः प्रतिरवभरितभुवनोदरो दुन्दुभिः ७ । छत्रम्-एकदेशे समुदायोपचाराज्जगत्त्रयैकप्रभुत्वाविर्भावनचतुरं पार्वणचन्द्रमण्डलनिभाऽऽतपत्रत्रयम् ८ । इह कङ्केल्लिरित्यत्र प्राकृतवशाद्विभक्तिलोपः । भावलयभेरीछत्रमित्यत्र समाहारद्वन्द्वः । शेषं सुगमम्, समस्तासमस्तनिर्देशश्च बन्धानुलोम्यात्,एवमन्यत्रापि यथासंभवमूह्यम् । अतिशयान्तर्गतत्वेऽपि चामीषां पृथगुपादानम्, प्रातिहार्येऽपि व्यपदेशान्तरेणाऽऽगमे रूढत्वादिति गाथार्थः ॥ ८ ॥ दर्श० १ तत्त्व ।

जिणपालिय-जिनपालित-पुं० । चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते माकन्दिसार्थवाहपुत्रे, ज्ञा० ।

तत्कथा—

नवमस्स णं भंते ! णायज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?। एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था । तीसे णं चंपाए णयरीए कूणिए णामं राया होत्था । तत्थ णं चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं पुण्णभद्दे णामं चेइए होत्था । तत्थ णं मायंदी णामं सत्थवाहे परिवसति अड्ढे । तस्स णं भद्दा णामं भारिया । तीसे णं भद्दाए भारियाए अत्तया दुवे सत्थवाहदारया होत्था । तं जहा-जिणपालिए य, जिणरक्खिए य । तए णं तेसिं मागंदियदारगाणं अण्णया कदाइ एगओ सहियाणं इमेयारूवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था । एवं खलु अम्हे ल-

वणसमुद्दं पोयवहणेणं एक्कारस वाराओ ओगाढा; सव्वत्थ वि य णं लद्धट्ठा कयकज्जा अणहसमग्गा पुणरवि नियगघरं हव्वमागया, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! दुवालसमं पि लवणसमुद्दं पोयवहणेणं ओगाहित्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणंति । पडिसुणेत्तिा जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागच्छंति । उवागच्छंतित्ता एवं वयासी—एवं खलु अम्हे अम्मयाओ ! एक्कारस वारा तं चेव० जाव नियगघरं हव्वमागया, तं इच्छामो णं अम्मयाओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणा दुवालसं लवणसमुद्दं पोयवहणेणं ओगाहित्तए । तते णं ते मागंदियदारए अम्मापिअरो एवं वयासी—इमे भो जाया ! अज्जगपज्जग० जाव परिभाएत्तए, तं अणुहोह ताव जाया ! विउले माणुस्सए इड्ढीसक्कारसमुदए, किं भो सपच्चवाएणं णिरालंबणेणं लवणसमुद्दोत्तारेणं, एवं खलु पुत्ता ! दुवालसमी जत्ता सोवसग्गा यावि भवति, तम्हा णं तुब्भे दुवे पुत्ता दुवालसम्मि लवणसमुद्दं० जाव उग्गाहेह मा हु तुब्भं सरीरस्स वावत्ती भविस्सइ । तते णं मागंदियदारगा अम्मापिअरो दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी—एवं खलु अम्हे अम्मताओ ! एक्कारस वारा लवणसमुद्दं० जाव ओगाहित्तए । तते णं ते मागंदियदारए अम्मापिअरो जाहे नो संचाएति बहूहिं आघवणाहि य पन्नवणाहि य आघवित्तए वा, पन्नवित्तए वा, ताहे अकामयाए चेव एयमट्ठं अणुजाणित्था, तते णं ते मागंदियदारया अम्मापिऊहिं अब्भणुण्णाता समाणा गणिमं च धरिमं च मेज्जं च पारिच्छेज्जं च जहा अरहण्णगस्स० जाव लवणसमुद्दं च बहूहिं जोयणसयाइं ओगाढा । तते णं तेसिं मागंदियदारगाणं अणेगाति जोयणसयाति ओगाढाणं समणाणं उप्पातियसयाइं अणेगाइं पाउब्भूयाइं । तं जहा—अकाले गज्जियं, अकाले विज्जुयं० जाव थणियसद्दं कालियवाए० जाव तत्थ समुत्थिए । तते णं सा णावा तेणं कालियवातेणं आहुणिज्जमाणी आहुणिज्जमाणी, संचालिज्जमाणी संचालिज्जमाणी, संखोभिज्जमाणी संखोभिज्जमाणी, सलिलतिक्खवेगेहिं अणियट्टिज्जमाणी अणियट्टिज्जमाणी, कोट्टिमकरतलाहए विव तेंदुसए तत्थेव उवयमाणी उवयमाणी उप्पयमाणी विव धरणितलाओ सिद्धविज्जाहरकण्णगा उप्पयमाणी विव गगणतलाओ नट्ठविज्जाहरकण्णगा विप्पलायमाणी विव महागरुलवेगवित्तासिया भुयगवरकण्णगा धावमाणी विव महाजणरासियसद्दवित्था ठाणभट्ठा आसकिसोरी णिगुंजमाणी विव गुरुजणदिट्ठावराहसुजणकुलकण्णगा घुम्ममाणी विव वीचीपहारसयतालिया गलियलंबणा विव गगणतलातो रोयमाणी विव सलिलगंठिविप्पइरमाणघोरंसुपाएहिं णववहू उवरयभत्तुया विलवमाणी विव परचक्करायाभिरोहिया परममहाभयाभिदुया महापुरवरी झायमाणी विव कवडच्छोमणपओगजुत्ता जोगपरिव्वाइया णीसंसमाणी विव महाकंतारविणिग्गयपरिस्संता परिणयवया अम्मया सोयमाणी विव तवचरणखीणपरिभोगा चवणकालदेववरवहू संचुण्णियकट्ठकूवरा भग्गमेढिमोडियसहस्समाला सूलाइयवंकपरिमासा फलहंतरतडतडेंतफुट्टंतसंधिवियलंतलोहकीलिया सव्वंगवियंभिया परिसडियरज्जुविसरंतसव्वगत्ता आमगमल्लगभूया अकयपुण्णजणमणोरहो विव चिंतिज्जमाणी गुरुई हाहाकयकण्णधारणाविगवाणियगजणकम्मकारविलविया णाणाविहरयणपणियसंपुण्णा बहूहिं पुरिससएहिं रोयमाणेहिं कंदमाणेहिं सोयमाणेहिं तिप्पमाणेहिं विलवमाणेहिं एगं महं अंतो जलगयं गिरिसिहरमासाइत्ता संभग्गकूवतोरणा मोडियज्झयदंडा वलयसयखंडिया करकरस्स तत्थेव विहवं उवगया । तते णं ताए णावाए भिज्जमाणीए एते बहवे पुरिसा विपुलपणियभंडमायाए अंतोजलम्मि निज्जामिया वि होत्था । तए णं ते मागंदियदारया छेया दक्खा पत्तट्ठा कुसला मेहावी निउणसिप्पोवगया बहुसु पोयवहणसंपराएसु कयकरणा लद्धा विजया अमूढा अमूढहत्था एगं महं फलगखंडं आसाएति । जंसि च णं पदेसंसि से पोयवहणे विवण्णे, तंसि च णं पदेसंसि एगे महं रयणदीवे णामं दीवे होत्था । अणेगाइं जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अणेगाइं जोयणाइं परिक्खेवेणं नाणादुमसंडमंडिओ देसे सस्सिरीए पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे, तस्स णं बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं महं एगे पासायवडिंसए यावि होत्था; अब्भुग्गयमूसिए० जाव सस्सिरीए रूवे पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे । तत्थ णं पासायवडिंसए रयणदीवदेवया णामं देवया परिवसति; पावा चंडा रुद्दा खुद्दा साहसिया । तस्स णं पासायवडिंसयस्स चत्तारि चउद्दिसिं वणसंडा पण्णत्ता—किण्हा किण्होभासा । तते णं ते मागंदियदारया तेणं फलयखंडेणं उवुज्झमाणा उवुज्झमाणा रयणदीवे तेणं संछूढा यावि होत्था । तते णं ते मागंदियदारया थाहं लहंति, लहइत्ता मुहुत्तंतरं आसासंति, फलगखंडं विसज्जेंति, विसज्जेंतित्ता रयणदीवं उत्तरेंति, उत्तरेंतित्ता फलाणं मग्गणगवेसणं करेंति, फलाणि आहारेंति, आहारेंतित्ता णालिएराणं मग्गणगवेसणं करेंति, करेंतित्ता नालिएराति फोडेंति, नालिएरस्स तिल्लेणं अण्णमण्णस्स गत्ताइं अब्भंगेंति, पोक्खरिणिं ओगाहेंति, ओगाहेंतित्ता जलमज्जणं करेंति, करेंतित्ता० जाव पच्चुत्तरंति, पुढविसिलापट्टयंसि णिसीयंति, णिसीयंतित्ता आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया चंपाणयरं अम्मापिऊणं आपु—

च्छणं च लवणसमुद्दोत्तारं च कालियवायसमुत्थणं च पोयवहणविवत्तिं च फलहखंडस्स आसायणं च रयणदीवुत्तारं च अणुचिंतेमाणा अणुचिंतेमाणा ओहयमणसंकप्पा० जाव झियायंति । तए णं सा रयणदीवदेवया ते मागंदियदारगे ओहिणा आभोएइ, आभोएइत्ता असिफलगवग्गहत्था सत्तट्ठतालप्पमाणं उड्ढं वेहासं उप्पयइ, उप्पइत्ता ताए उक्किट्ठाए० जाव देवगईए वीईवयमाणी वीईवयमाणी जेणेव मागंदियदारए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता आसुरुत्ता ते मागंदियदारए खरफरुसनिट्ठुरवयणेहिं एवं वयासी—हं भो मागंदियदारगा ! जति णं तुब्भे मए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरह, तो भे अत्थि जीवियं, अह णं तुब्भे मए सद्धिं विउलाइं नो विहरह, तो भे इमेणं नीलुप्पलगवलगुलिय० जाव खुरधारेणं असिणा रत्तगंडमंसुयाइं माउयाइं उवसोहियाइं तालफलाणि व सीसाइं एगंते एडेमि । तए णं ते मागंदियदारया रयणदीवदेवयाए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म भीया संजायभया करयल० जाव एवं वयासी—जं णं देवाणुप्पिया ! वदेहिति तस्स आणाउववायवयणनिद्देसे चिट्ठिस्सामो । तए णं सा रयणदीवदेवया ते मागंदियदारए गेण्हति, गेण्हइत्ता जेणेव पासायवडिंसए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता असुभपोग्गलावहारं करेति, सुभपोग्गलपक्खेवं करेति, ततो पच्छा तेहिं सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरति, कल्लाकल्लिं च अमयफलाइं उवणेति । तए णं सा रयणदीवदेवया सक्कवयणसंदेसेणं सुट्ठिएणं लवणाहिवइणा लवणसमुद्दे तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टियव्वेइ, जं किंचि तत्थ तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा कयवरं वा असुइं पूइयं दुरभिगंधमचोक्खं तं सव्वं आहुणिय आहुणिय तिसत्तखुत्तो एगंते एडेयव्वं ति कट्टु निउत्ता । तते णं सा रयणदीवदेवया ते मागंदियदारए एवं वयासी—एवं खलु अहं देवाणुप्पिया ! सक्कवयणेणं सुट्ठिए तं चेव जाव निउत्ता तं० जाव अहं देवाणुप्पिया ! लवणसमुद्दे जाव एडेमि, ताव तुब्भे इहेव पासायवडिंसए सुहंसुहेणं अभिरममाणा चिट्ठह । जइ णं तुब्भे एयंसि अंतरंसि उव्विग्गा वा उस्सुया वा उप्पुया वा भवेज्जाह, ता णं तुब्भे पुरच्छिमिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह । तत्थ णं दो उऊ सया साहीणा । तं जहा—पाउसे य, वासारत्ते य । तत्थ कंदलसिलिंधदंतो णिउरवरपुप्फपीवरकरो कुडयज्जुणणीव सुरभिदाणो पाउसउऊगयवरो साहीणो १। तत्थ य सुरगोवमणिविचित्तो दद्दुरकुलरसियउज्झररवो वरहिणविंदपरिणद्धसिहरो वासारत्तउऊपव्वओ साहीणो २। तत्थ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! बहुसु वावीसु य० जाव सरपंतियासु य बहुसु आलियघरएसु य० जाव कुसुमघरएसु य सुहंसुहेणं अभिरममाणा अभिरममाणा विहरेज्जाह । जइ णं तुब्भे तत्थ उव्विग्गा वा उस्सुया वा उप्पुया वा भवेज्जाह, ता णं तुब्भे उत्तरिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह । तत्थ णं दो उऊ साहीणा । तं जहा—सरदो य, हेमंतो य । तत्थ उसणसत्तवण्णकउहो नीलुप्पलपउमनलिनसिंगो सारसचक्कवायरसियघोसो सरतो गोवई सया साहीणो १। तत्थ य सियकुंदधवलजोण्हो कुसुमियलोद्धवणसंडमंडलतलो तुसारदगधारपीवरकरो हेमंतउऊ ससी सया साहीणो २। तत्थ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! वावीसु य विहरेज्जाह । जइ णं तुब्भे तत्थ वि उव्विग्गा वा० जाव उस्सुया वा भवेज्जाह, ता णं तुब्भे अवरिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह । तत्थ णं दो उऊ साहीणा । तं जहा—वसंते य, गिम्हे य । तत्थ य सहकारचारुहारो किंसुयकणियारासोगमउडो ऊसियतिलगवउलायवत्तो वसंतउऊ नरवती साहीणो १। तत्थ य पाडलसिरीसमालिओ मल्लियावासंतियधवलवेलो सीयलसुरभिअणिलमयरचरियगिम्हउऊ सागरो साहीणो २। तत्थ णं बहुसु० जाव विहरेज्जाह । जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! तत्थ वि उव्विग्गा उस्सुया भवेज्जाह, तओ तुब्भे जेणेव पासायवडिंसए तेणेव उवागच्छेज्जाह, ममं पडिवालेमाणा चिट्ठेज्जाह । मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! दक्खिणिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह । तत्थ णं महं एगे उग्गविसे चंडविसे महाघोरविसे महाविसे अइकाए महाकाए मसिमहिसमूसाकालए नयणविसरोसपुण्णे अंजणपुंजनियरप्पगासे रत्तच्छे जमलजुयलचंचलचलंतजीहे धरणियलवेणिभूए उक्कडफुडकुडिलजडुलकक्खडवियडफुडाडोवकरणदच्छे लोहागारधम्ममाणधमधमंतघोसे अणागलियचंडतिव्वरोसे समुहतुरियचवलं धमंते दिट्ठीविसे सप्पे परिवसति । मा णं तुब्भे सरीरगस्स वावत्ती भविस्सति । ते मागंदियदारए दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयति । वयइत्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणति, ताए उक्किट्ठाए० जाव लवणसमुद्दं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टे पयत्ता यावि होत्था । तए णं ते मागंदियदारया तओ मुहुत्तंतरस्स पासायवडिंसए सइं वा रतिं वा धिइं वा अलभमाणा अण्णमण्णं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! रयणदीवदेवया अम्हे एवं वयासी-एवं खलु अहं सक्कवयणसंदेसेणं सुट्ठिएण लवणाहिवइणा० जाव वावत्ती भविस्सति, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! पुरच्छिमिल्लं वणसंडं गमित्तए अण्णमण्णस्स पडिसुणेंति, जेणेव पुरच्छिमिल्ले वणसंडे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता तत्थ णं वा-

वीसु य० जाव आलिघरएसु य० जाव विहरंति। तते णं ते मागंदियदारगा तत्थ विसई वा० जाव अलजमाणा जेणेव उत्तरिल्ले वणसंडे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता तत्थ णं वावीसु य० जाव आलिघरएसु य० जाव विहरंति। तते णं ते मागंदियदारगा तत्थ णं विसई वा०जाव जेणेव पच्चच्छिमिल्ले वणसंडे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता० जाव विहरंति। तते णं ते मागंदियदारगा तत्थ विसतिं वा० जाव अलज्जमाणा अएणमएणं एवं वयासी–एवं खलु अम्हे देवाणुप्पिया! रयणदीवदेवया सक्कवयणसंदेसेणं सुट्ठिएणं लवणाहिवइणा ०जाव मा णं तुज्झे सरीरस्स वावत्ती भविस्सति, तं भवियव्वं । एत्थ कारणेणं तं सेयं खलु अम्हं दक्खिणिल्लं वणसंडं गमित्तए त्ति कट्टु अएणमएणस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, जेणेव दक्खिणिल्ले वणसंडे तेणेव पहारेत्थगमणाए तओ णं गंधे णिज्जाए से जहाणामए अहिमडेति वा० जाव अणिट्ठतराए। तते णं ते मागंदियदारगा तेणं असुभेणं गंधेणं अभिभूया समाणा सएहिं सएहिं उत्तरिज्जेहिं आसातिएहिं पीहेंति। पीहेंतित्ता जेणेव दक्खिणिल्ले वणसंडे तेणेव उवागया। तत्थ णं महं एगं आघतणं पासंति अट्ठियरासिसयसंकुलं भीमदरिसणिज्जं, एगं च णं तत्थ सूलाइयं पुरिसं कलुणाति कट्ठाति विस्सराति कुव्वमाणं पासंति। पासंतित्ता भीया० जाव संजातभया जेणेव से सूलाइए पुरिसे तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छंतित्ता तं सूलाइतं पुरिसं एवं वयासी–एस णं देवाणुप्पिया! कस्साघयणे, तुमं च णं किं कओ वा इहं हव्वमागते?, केण वा इमेयारूवे आवइं पातिए?। तते णं से सूलाइते पुरिसे मागंदियदारए एवं वयासी–एस णं देवाणुप्पिया! रयणदीवदेवया आघयणे, अहं णं देवाणुप्पिया! जंबुद्दीवातो दीवातो भारहाओ वासाओ कागंदिए आसवाणियए विउलं पणियभंडगमायाए पोयवहणेणं लवणसमुद्दं उवागओ। तते णं अहं पोयवहणविवत्तीए निब्बुडभंडसारे एगं फलगखंडं आसाएमि। तते णं अहं उवुज्झमाणा उवुज्झमाणा रयणदीवं तेणं संवूढो। तते णं सा रयणदीवदेवया ममं ओहिणा पासति। पासतित्ता ममं गेण्हति, मए सद्धिं विउलाति भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरति। तते णं सा रयणदीवदेवया अएणया कयाई अहालहुगंसि अवराहंसि परिकुविया समाणी ममं एयारूवं आवइं पावेति। तते णज्जति णं देवाणुप्पिया! तुज्झं पि इमेसिं सरीरगाणं कामएणे आवती य भविस्सति। तते णं ते मागंदियदारगा तस्स सूलाइयगस्स पुरिसस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म बलियतरं भीया० जाव संजातभया सूलाइतं पुरिसं एवं वयासी–कहं णं देवाणुप्पिया! अम्हे रयणदीवदेवयाए हत्थाओ साहत्थिं नित्थरेज्जामो?। तते णं से सूलाइए पुरिसे ते मागंदिअदारए एवं वयासी–एस णं देवाणुप्पिया! पुरच्छिमिल्ले वणसंडे सेलगस्स जक्खस्स जक्खाययणे सेलए णामं आसरूवधारी जक्खे परिवसति। तते णं से सेलए जक्खे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुएणमासिणीसु आगयसमए पत्तसमए महया महया सद्देणं एवं वयासी–कं तारयामि?, कं पालयामि?। तं गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! पुरच्छिमिल्लं वणसंडं जेणेव सेलगस्स जक्खस्स महरिहं पुप्फच्चणियं करेह, जक्खपायवडिया पंजलिउडा विणएणं पज्जुवासमाणा चिट्ठह। जाहे णं से सेलए जक्खे आगयसमए पत्तसमए एवं वएज्जा-कं तारयामि?, कं पालयामि?। ताहे तुज्झे वदह-अम्हे तारयाहि, अम्हे पालयाहि, सेलए जक्खे परं रयणदीवदेवयाओ हत्थाओ साहत्थिं णित्थारेज्जा. अएणहा भे ण याणामि इमेसिं सरीरगाणं का मएणे आवई भविस्सइ?। तए णं ते मागंदियदारया तस्स सूलाइयस्स पुरिसस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म सिग्घं चंडं चवलं तुरियं चइयं जेणेव पुरच्छिमिल्ले वणसंडे जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता पोक्खरिणिं ओगाहेइ। ओगाहेइत्ता जलमज्जणं करेइ। करेइत्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव गिण्हंति। गिएहंतित्ता जेणेव सेलगस्स जक्खस्स जक्खाययणे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता आलोइए पणामं करिंति, महरिहं पुप्फच्चणियं करिंति, जाणुपायवडिया सुस्सूसमाणा णमंसमाणा० जाव पज्जुवासंति। तए णं से सेलए जक्खे आगयसमए पत्तसमए एवं वयासी–कं तारयामि?, कं पालयामि?। तए णं ते मागंदियदारया उट्ठाए उट्ठेइ, करयल०जाव कट्टु एवं वयासी–अम्हे तारयाहि, अम्हे पालयाहि। तए णं से सेलए जक्खे तं मागंदियदारयं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया! तुब्भे मए सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवयमाणाणं सा रयणदीवदेवया पावा चंडा रुद्दा खुद्दा साहसिया बहुहिं खरएहिं य मउएहिं य अणुलोमेहि य पडिलोमेहि य सिंगारेहि य कलुणेहि य उवसग्गेहि य उवसग्गं करेहिंति। तं जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया! रयणदीवदेवयाए एयमट्ठं आढाह वा, परियाणह वा, अवयक्खह वा, तो भे अहं पिट्ठाओ विहुणामि, अह णं तुब्भे रयणदीवदेवयाए एयमट्ठं णो आढाह, णो परिजाणह, णो अवयक्खह, तो भे रयणदीवदेवयाहत्थातो साहत्थिं णित्थारेमि। तते णं ते मागंदियदारगा सेलगं जक्खं एवं वयासी–जं णं देवाणुप्पिया! वइस्संति तस्स णं उववायवयणणिद्देसे चिट्ठिस्सामो। तते णं सेलगे जक्खे उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अवक्कमइ। अवक्कमइत्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समो–

हणइ। समोहणइत्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निस्सरइ,दोच्चं पि तच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ। समोहणइत्ता एगं महं आसरूवं विउव्वइ। विउव्वइत्ता ते मागंदियदारए एवं वयासी-हं भो मागंदिया ! आरुह णं देवाणुप्पिया ! मम पिट्ठिंसि। तते णं ते मागंदियदारया हट्ठतुट्ठा सेलगस्स जक्खस्स पणामं करेइ। करेइत्ता सेलगस्स पिट्ठिं दुरूढा। तए णं से सेलए जक्खे ते मागंदियदारए दुरूढे जाणित्ता सत्तट्ठतालप्पमाणमेत्ता उड्ढं वेहासं उप्पयति। उप्पयइत्ता ताए उक्किट्ठाए तुरियाए दिव्वयाए दिव्वगइए लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे जेणेव चंपा णयरी, तेणेव पहारेत्थगमणाए। तते णं सा रयणदीवदेवया लवणसमुद्दं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टति। जं तत्थ तणं वा पत्तं वा० जाव एगंते पाडेति, जेणेव पासायवडिंसए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता ते मागंदियदारया पासायवडिंसए अपासमाणी अपासमाणी जेणेव पुरच्छिमिल्ले वणसंडे० जाव सव्वतो समंता मग्गणगवेसणं करेति। करेइत्ता तए णं तेसिं मागंदियदारगाणं कत्थइ सुइं वा २ अलभमाणी अलभमाणी जेणेव उत्तरिल्ले वणसंडे, एवं चेव पच्चच्छिमिल्ले वि० जाव अपासमाणी ओहिं पउंजति। पउंजइत्ता ते मागंदियदारए सेलएणं सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीतीवयमाणे पासति। पासइत्ता आसुरत्ता० जाव समसागया असिखेडगं गेण्हति। गेण्हित्ता सत्तट्ठतालप्पमाणमेत्ता० जाव उप्पयति। उप्पयइत्ता ताए उक्किट्ठाए० जाव जेणेव मागंदियदारया तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता एवं वयासी-भो मागंदियदारगा ! अप्पत्थियपत्थिया किं णं तुब्भे जाणह ममं विप्पजहाय सेलएणं जक्खेणं सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीतीवयमाणा तं एवमवि गए, जति णं तुब्भे ममं अवयक्खह तो भे अत्थि जीवियं,अह णं नो अवयक्खह तो भे इमेणं नीलुप्पलगवल० जाव सीसाइं पाडेमि। तते णं ते मागंदियदारया रयणदीवदेवयाए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म अभीया अतत्था अणुव्विग्गा अक्खुभिआ असंभंता रयणदीवदेवयाए एयमट्ठं नो आढंति, नो परियाणंति, णावयक्खंति,अणाढायमाणा अपरिजाणमाणा अणवयक्खमाणा सेलएणं जक्खेणं सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीतीवयंति। तते णं सा रयणदीवदेवया ते मागंदियदारया जाहे नो संचाएति बहूहिं पडिलोमेहि य उवसग्गेहि य चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामेत्तए वा,ताहे महुरेहि य सिंगारेहि य कलुणेहि य उवसग्गेहि य उवसग्गे उपयत्ता वि होत्था। हं भो मागंदियदारगा ! जइ णं तुब्भेहिं देवाणुप्पिया ! मए सद्धिं हसियाणि य रमियाणि य ललियाणि य कीलियाणि य हिंडियाणि य मोहियाणि य ताहे णं तुब्भे सव्वाइं अगणेमाणा ममं विप्पजहाय सेलएण य सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीतीवयह। तते णं सा रयणदीवदेवया जिणरक्खियस्स मणं ओहिणा आभोएति, आभोइत्ता एवं वयासी-निच्चं पि य णं अहं जिणपालियस्स अणिट्ठा, णिच्चं मम जिणपालिए अणिट्ठे, णिच्चं पि य णं मम जिणरक्खिए इट्ठे, णिच्चं पि य णं अहं जिणरक्खियस्स इट्ठा, णिच्चं पि य णं ममं जिणरक्खिए इट्ठे। जइ णं ममं जिणपालिए रोयमाणी कंदमाणी सोयमाणी विलवमाणी० जाव णावयक्खति, किं णं तुमं पि जिणरक्खिया ममं रोयमाणिं० जाव णावयक्खसि। तते णं सा रयणदीवदेवया ओहिणा जिणरक्खियस्स मणं णाऊण वहणिमित्तं उवरिं मागंदियदारगाणं दोण्हं पि १। दोसकलिया सललियं णाणाविहचुण्णवासमीसियं दिव्वं घाणमणणिव्वुइकरं सव्वओ य सुरभिकुसुमवुट्ठिं पमुंचमाणी। पमुंचमाणी। २। णाणामणिकणगरयणघंटियखिंखिणिनेउरमेहलभूसणरवेणं दिसाओ विदिसाओ पूरयंती वयणमिणं वयति सा सकलुसा ३। होल वसुल गोल नाह दइय-पियरयणकंतसामिणिग्घिण णित्थक्क थिण्ण णिक्किव अकयण्णुय-सिढिलभाव निल्लज्ज लुक्ख अकलुण जिणरक्खियमुग्घहियय-रक्खग ४। ण हु जुज्जसि एक्कियं अणाहं अबंधवं तुज्झ चलणउववायकारियं उज्झिउमधण्णं गुणसंकर ऽहं तुब्भे विहुणा ण समत्था जीवितुं खणं पि। ५। इमस्स उ अणेगझसमगरविविहसावयसयाउलघरस्स रयणागरस्स मज्झे अप्पाणं वहेमि तुज्झ पुरओ,एहि,नियत्ताहि, जइ सि कुविओ खमाहि एक्कावराहं मे। ६। तुज्झ य विगयघणविमलससिमंडलागारसस्सिरीयं सारयणवकमलकुमुदकुवलयविमलदलनिकरसरिसभनयणवयणं पिवासागयाए सद्धा से पेच्छिउं जे अवलोयइता इओ ममं नाह ! जा ते पेच्छामि वयणकमलं। ७। एवं सप्पणयसरलमहुराति पुणो पुणो कलुणाइं वयणाइं जंपमाणी सा पावा मग्गओ समण्णेइ पावहियया। ८। तते णं से जिणरक्खिए चलमणे तेण य भूसणरवेणं कण्णसुहमणहरेणं तेहि य सप्पणयसरलमहुरभणिएहिं संजायविउणराए रयणदीवस्स देवयाए, तीसे सुंदरथणजहणवयणकरचरणणयणलावण्णरूवजोव्वणलावण्णसिरिं च दिव्वं सरभसउवगूहियाइं बिब्बोयविलसियाणि य विहसियसकडक्खदिट्ठिणिस्ससियमलियउवललियठियगमणपणयखिज्जियपासादीयाणि य सरमाणे रागमोहियमती अवसे कम्मवसगते अवयक्खति

मग्गतो सविलियं । तए णं जिणरक्खिया समुप्पन्नकलुणभावं मच्चुगलत्थल्लणोल्लियमइं अवयक्खंतं तहेव जक्खे सेलए ओहिणा जाणिऊण सणियं सणियं उव्विहति । णियगपिट्ठाहिं विगयसड्ढे । तते णं सा रयणदीवदेवया निसंसा सकलुणं जिणरक्खियं सकलुसा सेलगपिट्ठाहिं उवयंतं 'दासे ! मओ सि' त्ति जंपमाणी अप्पत्तं सागरसलिलं गिण्हिय बाहाहिं आरसंतं उड्ढं उव्विहति, अंबरतले उवयमाणं च मंडलग्गेण पडिच्छित्ता नीलुप्पलगवलअयसीपगासेणं असिवरेणं खंडाखंडिं करेति तत्थ वि विलवमाणं । तस्स य सरसवहियस्स घेत्तूणं अंगमंगाति सरुहिराइं उक्खित्तबलिं चउद्दिसिं करेति सा पंजलिपहट्ठा । एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं णिग्गंथाण वा अम्हं णिग्गंथीण वा अंतिए पव्वइए समाणे पुणरवि माणुस्सए कामभोगे आसायइ, पत्थयति, पीहेति, अभिलसति, से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं समणीणं सावयाणं सावियाणं० जाव संसारं अणुपरियट्टिस्सति । जहा वा से जिणरक्खिए–

“ छलिओ अवयक्खंतो, निरावयक्खो गतो अविग्घेणं ॥
तम्हा पवयणसारे, निरावयक्खेणं भवियव्वं ॥ १ ॥
भोगे अवयक्खंता, पडंति संसारसागरे घोरे ।
भोगेहिँ निरवयक्खा, तरंति संसारकंतारं ॥ २ ॥”

तते णं सा रयणदीवदेवया जेणेव जिणपालिए तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता बहुहिं अणुलोमेहि य पडिलोमेहि य खरेहि य मउएहि य सिंगारेहि य कलुणेहि य उवसग्गेहि य जाहे नो संचाएति चालित्तए वा खोभित्तए वा विप्परिणामित्तए वा, ताहे संता तंता परितंता निव्विण्णा समाणी जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ।

तते णं से सेलए जक्खे जिणपालिएणं सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीइवयइ, जेणेव चंपा णयरी तेणेव उवागच्छति । उवागच्छतित्ता चंपाए णयरीए अग्गुज्जाणंसि जिणपालियं पिट्ठातो ओत्तारेति । ओत्तारेतित्ता एवं वयासी–एस णं देवाणुप्पिया ! चंपा णयरी दीसइ त्ति कट्टु जिणपालियं आपुच्छति, आपुच्छतित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । तते णं जिणपालिए चंपं अणुपविसंति, जेणेव सए गिहे जेणेव अम्मापिअरो, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता अम्मापिऊणं रोयमाणे० जाव विलवमाणे जिणरक्खियपवावित्तिं णिवेदेति । तते णं जिणपालिए अम्मापियरो मित्तणाति० जाव परिजणेणं सद्धिं रोयमाणाति बहुई लोइयाइं मयकिच्चाइं करेति । करेइत्ता कालेणं विगयसोया जाता । तते णं जिणपालियं अन्नया कयाइं सुहासणवरगयं अम्मापिअरो एवं वयासी–कहं णं पुत्ता ! जिणरक्खिए कालगए ? । तते णं से जिणपालिए अम्मापिऊणं लवणसमुद्दोत्तारं च कालियवायसमुत्थणं च पोयवहणविवत्तिं च फलहखंडआसातणं च रयणदीवोत्तारणं च रयणदीवदेवयागिण्हणं च भोगपरिभूयं च सूलाइयपुरिसदरिसणं च सेलगजक्खआरुहणं च रयणदीवदेवयाउवसग्गं च जिणरक्खियस्स विवत्तिं च लवणसमुद्दउत्तरणं च चंपाऽऽगमणं च सेलगजक्खआपुच्छणं च जहाभूयमवितहमसंदिद्धं परिकहति । तते णं से जिणपालिए० जाव विपुलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरइ ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे० जाव जेणेव चंपा णयरी । जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव समोसढे, परिसा णिग्गया, कूणियो वि राया णिग्गओ, जिणपालिए धम्मं सोच्चा पव्वइए इक्कारसंगविऊ मासिएणं भत्तेणं० जाव सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववन्ने, दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । ताओ णं० जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति । एवामेव समणाउसो !० जाव माणुस्सए कामभोगे नो पुणरवि आसाएति, से णं० जाव वीतिवइस्सति, जहा से जिणपालिए, एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं णवमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि ॥

“ जह रयणदीवदेवी, तह इत्थं अविरई महापावा ॥
जह लाभत्थी वणिया, तह सुहकामा इहं जीवा ॥१॥
जह तेहिं भीएहिं, दिट्ठो आघायमंडले पुरिसो ॥
संसारदुक्खभीया, पावंति तहेव धम्मकहिं ॥ २ ॥
जह तेण तेसि कहिया, देवी दुक्खाण कारणं घोरं ।
तत्तो चिय णित्थारो, सेलगजक्खाउ णन्नत्तो ॥ ३ ॥
इय धम्मकहा भव्वा-ण साहए ऽदिट्ठअविरइमहाओ ॥
सयलदुहहेउभूया, विसयाविरइ त्ति जीवाणं ॥ ४ ॥
सत्ताण दुहत्ताणं, धम्मं सरणं जिणिंदपन्नत्तं ॥
आणंदरूवणिव्वा-णसाहणं तह य देसेइ ॥ ५ ॥
जह तेसिं तरियव्वो, रुद्दसमुद्दो तहेव संसारो ॥
जह तेसिँ सगिहगमणं, निव्वाणगमो तहा इत्थ ॥ ६ ॥
जह सेलगस्स पिट्ठं, तेसिं भव्वाण तह इहं चरणं ॥
जह देवीवामोहो, तओ चुओ पाविओ निहणं ॥ ७ ॥
तह अविरइए णडिओ, चरणचुओ दुक्खसावयाइण्णो ॥
णिवडइ अपारसंसा-रसायरे दारुणसरूवे ॥ ८ ॥
जह देवीए अक्खोहो, पत्तो सट्ठाणजीवियसुहाइं ॥
तह चरणट्ठिओ साहू, अक्खोहो जाइ णिव्वाणं ” ॥९॥

ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० ।

जिणपिया-जिनपिता-पुं० । नाभ्याऽऽदीनां पितरि, प्रव० । तन्नामानि चैवम्-

" नाभी जियसत्तुरिया, जियारी तह संवरो ।
मेहे धरे पइट्ठे अ, महसेण अ खत्तिए ॥ ३२४ ॥
सुग्गीवे दढरहे विण्हू, वसुपुज्जे य खत्तिए ।
कयवम्म सिंहसेण य, भाणू य विससेणओ ॥ ३२५ ॥
सूरं सुदंसणे कुंभे, सुमित्त विजए समुद्दविजए अ ।
राया य आससेणे, सिद्धत्थे वि य खत्तिए ॥ ३२६ ॥ " प्रव० ११ द्वार ।

जिणपुत्त-जिनपुत्र-पुं० । जिनशिष्ये, क्षणिकाः सर्वसंस्कारा विज्ञानमात्रमेवेदं भो जिनपुत्राः ! इति । सम्म० १ काण्ड ।

जिणपूयट्ठि[ण्]-जिनपूजार्थिन्-पुं० । जिनस्येव पूजामर्थयते यः स जिनपूजार्थी । गोशालकादौ, जिनपूजार्थिता च त्रिंशत्तमं मोहनीयस्थानमिति । स० ३० सम० ।

जिणपूया-जिनपूजा-स्त्री० । अर्हदर्चने, पञ्चा० ४ विव० ।
" कुसुम-ऽक्खय-धूवेहिं, दीवय-वासेहि सुंदरफलेहिं । पूया घय-सलिलेहिं, अट्ठविहा तस्स कायव्वा ॥ २४ ॥ " दर्श० १ तत्त्व । प्रति० । पं० व० । ध० । द्वा० । जीवा० । (अस्य व्याख्या ' चेइय ' शब्देऽत्रैव भागे १२८४ पृष्ठे गता । तथाऽन्यत्या सर्वा वक्तव्यता ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२७७ पृष्ठे निर्दिष्टा)

जिणपूयाविग्घकर-जिनपूजाविघ्नकर-पुं० । जिनपूजानिषेधके सावद्यदोषोपेतत्वाद् गृहिणामप्येषा अग्निधेयेत्यादि कुदेशनादिभिः समयान्तस्तत्त्वदूरीकृते, कर्म० १ कर्म० ।

जिणप्पणीय-जिनप्रणीत-त्रि० । जिनोक्ते, " जिणमयं जिणप्पणीयं " जिनेन भगवता वर्द्धमानस्वामिना प्रणीतं समस्तार्थसंग्रहात्मकमातृकापदत्रयप्रणयनाद् जिनप्रणीतम् । भगवान् हि वर्द्धमानस्वामी केवलज्ञानावाप्त्यादौ बीजबुद्धिपरमगुणकलितान् गौतमादीन् गणधारिणः प्रत्येतद् मातृकापदत्रयमुक्तवान् । " उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा " इति । एतच्च पदत्रयमुपजीव्य गौतमादयो द्वादशाङ्गं विरचितवन्तः, ततो भवत्येतद् जिनमतं जिनप्रणीतमिति । जी० १ प्रति० । दर्श० ।

जिणप्पबोध-जिनप्रबोध-पुं० । खरतरगच्छीये जिनेश्वरसूरिशिष्ये, वैक्रमीये १२८५ वर्षे जातः, १२९६ वर्षे दीक्षितः, १३३१ वर्षे सूरिपदे स्थापितः, १३४१ वर्षे स्वरगमत् । कातन्त्रव्याकरणापर्यनेन टीका कृता, प्रबोधमूर्तिरित्यपरमस्य नामाऽऽसीत् । जै० इ० ।

जिणप्पहसूरि-जिनप्रभसूरि-पुं० । लघुखरतरगच्छस्थे जिनसिंहसूरिशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, ती० ४८ कल्प । अनेनाऽऽचार्येण वैक्रमीये १३६५ वर्षेऽयोध्यायामुषित्वा भयहरस्तोत्राऽजितशान्तिस्तोत्रयोरुपरि टीका रचिता । सूरिमन्त्रप्रदेशविवरणं, तीर्थकल्पः, पञ्चपरमेष्ठिस्तवः, सिद्धान्तागमस्तवः, द्व्याश्रयमहाकाव्यं चेत्यादयो बहवो ग्रन्था निर्मिताः । नित्यमयमभिनवकाव्यं कृत्वैव आहारमकरोद्, न्यायकन्दलीपञ्जिकानाम्नीटीकाकृत् राजशेखरसूरिगुरुश्च स आसीदिति तत्तद्ग्रन्थानामुपक्रमोपसंहाराभ्यामवगम्यते । जै० इ० । तथाहि-" इयं पृथक्त्वविषयार्कमिते शकाब्दे, वैशाखमासि सितपक्षगषष्ठितिथ्याम् । यांत्रान्मत्रोपनतसङ्घयुतो यतीन्द्रः, स्तोत्रं व्यधाद् गजपुरस्य जिनप्रभाख्यः ॥ २० ॥ " ती० ४८ कल्प । गौडदेशाखण्डलस्य, श्रीजिनप्रभसूरयः । कल्पं पाटलिपुत्रस्य, रचयांचक्रुरागमात् ॥ १ ॥ " ती० ३५ कल्प । तस्य समयो जिनप्रभसूरिकृते शत्रुञ्जयकल्पे-" श्रीविक्रमाब्दे बाणाष्ट-विश्वदेवमिते सिते । सप्तम्यां तपसः काव्य-दिवसेऽयं समर्थितः " ॥१॥ ती० १ कल्प । " श्रीजिनप्रभसूरीणां,साहाय्योद्भिन्नसौरभा । श्रुतावुत्तंसतु सतां, वृत्तिः स्याद्वादमञ्जरी " ॥ ८ ॥ स्या० ३२ श्लोक ।

" नन्दानेकपशक्तिशीतगुमिते १३८९ श्रीविक्रमोर्वीपते-
र्वर्षे भाद्रपदस्य मास्यवरजे सौम्ये दशम्यां तिथौ ।
श्रीहम्मीरमहम्मदे प्रतिपतिक्ष्मामण्डलाखण्डले,
ग्रन्थोऽयं परिपूर्णतामभजत श्रीयोगिनीपत्तने ॥ २ ॥ "
" तीर्थानां तीर्थभक्तानां, कीर्तनेन पवित्रितः ।
कल्पः प्रदीपनामाऽयं, ग्रन्थो विजयतां चिरम् ॥ १ ॥ "

ती० ४८ कल्प । (जिनप्रभसूरिणो महम्मदसाहिराजाधिराजेन समागमो ' वीरकप्प ' शब्दे वक्ष्यते)

जिणप्परूविय-जिनप्ररूपित-त्रि० । जिनेन भगवता वर्द्धमानस्वामिना यथा श्रोतॄणामधिगमो भवति तथा सम्यक् प्रणयनक्रियाप्रवर्तनेन प्ररूपितं जिनप्ररूपितम् । जिनेन सम्यक्प्रणीते, जी० १ प्रति० ।

जिणप्पलावि (ण्)-जिनप्रलापिन्-पुं० । जिनमात्मानं प्रकर्षेण लपतीत्येवंशीलो जिनप्रलापी । आत्मानं जिनं मन्यमाने गोशालकादौ, भगवत्यां गोशालकमनमधिकृत्य-" अजिणे जिणप्पलावी " भ० १५ श० १ उ० । " एवं सो अजिणो जिणप्पलावी विहरइ " आ० म० द्वि० ।

जिणप्पवयण-जिनप्रवचन-न० । जिनाऽऽगमे, जीत० ।

" जिनप्रवचनं नौमि, नवतेजस्विमण्डलम् ।
यतो ज्योतींषि धावन्ति, हर्तुमन्तर्गतं तमः ॥ २ ॥
निष्प्रत्यूहं प्रणिदध्वे, भवानीतनयानहम् ।
सर्वानपि गणाध्यक्षा-नक्षामोदरसङ्कुलान् ॥ ३ ॥ " जीत० ।

जिणवल्लह-जिनवल्लभ-पुं० । अभयदेवसूरिशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, अष्ट० ३२ अष्ट० । अयं वैक्रमीये ११६० वर्षे आसीत्, अयं पट्कल्याणकवादी पिण्डविशुद्धिप्रकरण-गणधरसार्धशतक-आगमिकवस्तुविचारसार-कर्मादिविचारसार-वर्द्धमानस्तवाऽऽद्यनेकग्रन्थकृदासीत् । चित्रकूटेऽस्य बहूनि चित्रकाव्यानि शिलायां लिखितानि सन्ति । जै० इ० ।

जिणबिंब-जिनबिम्ब-न० । जिनप्रतिमायाम्, षो० ६ विव० । (जिनबिम्बकारणविधिवक्तव्यता ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२६६ पृष्ठे गता)

जिणबिंबपइट्ठावणा-जिनबिम्बप्रतिष्ठापना-स्त्री० । अर्हत्प्रतिमास्थापने, पञ्चा० ७ विव० । (जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधिः ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२९० पृष्ठे द्रष्टव्यः)

जिणभत्त-जिनभक्त-पुं० । मथुरानगरश्रावस्तव्ये स्वनामख्याते श्रावके, आ० म० द्वि० । (तत्कथा ' णमोक्कार ' शब्दे वक्ष्यते)

जिणभत्ति-जिनभक्ति-स्त्री० । जिनसेवायाम्, " भत्तीइ जिनवराणं " । आव० २ अ० ।

जिणभत्तिदंसणाणुराग-जिनभक्तिदर्शनानुराग-पुं० । जिनं प्रति भक्त्या कृत्वा यो दर्शनानुरागो दर्शनेच्छा स तथा । जिनं

प्रति भक्त्या कृतायां दर्शनेच्छायाम्, " जिणभत्तिदंसणाणुरागेणं हरिसियाओ । " औ० ।

जिणभत्तिराग–जिनभक्तिराग–पुं० । जिनविषयके भक्तिपूर्वकेऽनुरागे, " अप्पेगइया जिणभत्तिरागेणं " जिने भगवति वर्द्धमानस्वामिनि भक्तिरागो भक्तिपूर्वकोऽनुरागस्तेनेति । रा० ।

जिणभत्तिसूरि [ण्]–जिनभक्तिसूरिन्–पुं० । खरतरगच्छीये जिनसौख्यसूरिशिष्ये जिनलाभसूरिगुरौ, सोऽयं वैक्रमीये १७७० वर्षे जातः, १७७६ वर्षे दीक्षितः, १७८० वर्षे सूरिपदं प्राप्तवान्, १८०४ वर्षे स्वरगमत् । जै० इ० ।

जिणभद्दगणिक्खमासमण–जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण–पुं० । भद्रबाहुस्वामिविरचितसामायिकनिर्युक्तिभाष्याऽऽदिकारके आचार्ये, प्रथमाचार्यो वैक्रमीयाद् ५८५ वर्षाद् ६४५ वर्षं यावद् विद्यमान आसीत् । संक्षिप्तजीतकल्पः, क्षेत्रसमासो, ध्यानशतकं, बृहत्संग्रहणी, विशेषाऽऽवश्यकभाष्यं चेत्यादयो ग्रन्था अनेनैव महानुभावेन रचिता इति तद्ग्रन्थेभ्यः प्रतीयते । जै० इ० ।

तथा च विशेषाऽऽवश्यकवृत्तौ–

" आवश्यकप्रतिनियतगम्भीरभाष्य-
पीयूषजन्मजलधिर्गुणरत्नराशिः ।
ख्यातः क्षमाश्रमणतागुणतः क्षितौ यः,
सोऽयं गणिर्विजयते जिनभद्रनामा " ॥ १ ॥ विशे० ।

ननु श्रीमद्भद्रबाहुप्रणीता सामायिकनिर्युक्तिरिह भाष्ये व्याख्यास्यते, तत्कथमिदमावश्यकानुयोगोऽभिधीयते? नैतदेवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात् । तथाहि–सामायिकस्य षड्विधाऽऽवश्यकैकदेशत्वादावश्यकरूपता तावन्न विरुध्यते । विशे० । नं० । तथा चाऽऽवश्यकं ध्यानशतकमधिकृत्य–"पंचुत्तरेण गाहा–सएण झाणसयगं समुद्दिट्ठं । जिणभद्दखमासमणे–हिं कम्मसोहीकरं जइणा ॥१॥" आव०४ अ० । "जिनभद्रगणिं स्तौमि, क्षमाश्रमणमुत्तमम् । यः श्रुताज्जीतमुद्दध्रे, सौरिः सिन्धोः सुधामिव " ॥ ४ ॥ जीत० ।

जिणभद्दसूरि [ण्]–जिनभद्रसूरिन्–पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, तत्रैको जिनेश्वरसूरिशिष्यः खरतरगच्छीयः, येन सुरसुन्दरीकथा नाम ग्रन्थो रचितः । द्वितीयः शालिभद्रशिष्य एतन्नामा, स वैक्रमीये १२०४ वर्षे विद्यमान आसीत् । तेन गजसुकुमारकथा नाम ग्रन्थो विरचितः । तृतीयः खरतरगच्छे जिनदत्तसूरिशिष्यः । जै० इ० ।

जिणभवण–जिनभवन–न० । जिनाऽऽयतने, पं० व० ४ द्वार । दर्श० । आ० । द्वा० । षो० । (जिनभवनकारणविधिः ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२७८ पृष्ठे उक्तः)

जिणभासिय–जिनभाषित–त्रि० । जिनोक्ते, "सुणेह जिणभासियं ।" जिनभाषितं जिनोक्तम् । उत्त० २७ अ० । "विहिणा जिणभासिएणेव । " जिनभाषितेनैव सर्वज्ञोक्तेनैव, न स्वमतिचर्चितेन । पञ्चा० १ विव० ।

जिणमई–जिनमती–स्त्री० । हेमपुरनगरस्थस्य सुरदत्तश्रेष्ठिनः स्वनामख्यातायां दुहितरि, दर्श० १ तत्त्व । (तत्कथा 'दीवपूआ' शब्दे वक्ष्यते)

जिणमंडण–जिनमण्डन–पुं० । तपागच्छीये सोमसुन्दरसूरिशिष्ये, येन वैक्रमीये १४९२ वर्षे कुमारपालप्रबन्धो नाम ग्रन्थो विरचितः । जै० इ० ।

जिणमय–जिनमत–न० । रागाऽऽदिशत्रून् जयति स्म जिनः । स च यद्यपि छद्मस्थवीतरागोऽपि भवति, तथापि तस्य तीर्थप्रवर्तकत्वायोगात् उत्पन्नकेवलज्ञानस्तीर्थकृदादिर्गृह्यते । सोऽपि च वर्द्धमानस्वामी, तस्य वर्तमानतीर्थाधिपतित्वात् । तस्य जिनस्य वर्द्धमानस्वामिनो मतम्, अर्थतस्तेनैव प्रणीतत्वात् । आचाराऽऽदिदृष्टिवादपर्यन्ते द्वादशाङ्गे गणिपिटके, औ० १ प्रति० । आ० चू० । ज्यो० । "तित्थयरसमो सूरी, सम्मं जो जिणमयं पयासेइ । " जिनमतं जगत्प्रभुदर्शनम् । ग० १ अधि० । "जिणमयमणाविक्खंतो, वट्टइ अहम्मि झाणम्मि । " जिनास्तीर्थकराः, तेषां मतमागमरूपं प्रवचनम् । आव० ४ अ० । " भावेण जिणमयम्मि य, आरंभपरिग्गहचाओ ।" रागाऽऽदिजेतृत्वाज्जिनः, तन्मत एव, वीतरागशासन एवेत्यर्थः । पं० व० १ द्वार । अर्हत्सिद्धान्ते, " इहहि परिसुद्धं जिणमयम्मि । " पञ्चा० ४ विव० । तीर्थकराभिप्राये च । " सोऊण जिणवरमयं " जिनवराणां तीर्थकराणां मतमभिप्रायम् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

जिणमयट्ठिय–जिनमतस्थित–त्रि० । सर्वज्ञाऽऽगमाश्रिते, "विलसणा जिणमयट्ठियाणं ।" जीवा० ८ अधि० ।

जिणमयनिउण–जिनमतनिपुण–त्रि० । आगमप्रवीणे, दश० ६ अ० ३ उ० ।

जिणमहिम [ण्]–जिनमहिमन्–पुं० । जिनमहत्त्वे, "कंचणसवणा य जिणमहिमं । " आ० क० ।

जिणमाणिक्कसूरि–जिनमाणिक्यसूरि–पुं० । प्राकृतगाथाबद्धकूर्मापुत्रचरित्रकारके आचार्ये, जै० इ० ।

जिणमाया–जिनमातृ–स्त्री० । मरुदेव्यादिकायां जिनजनन्याम्, स० ।

तन्नामानि त्वित्थम्–

" मरुदेवि विजय सेणा, सिद्धत्था मंगला सुसीमा य ।
पुहवी लक्खण रामा, नंदा विण्हू जया सामा ॥३२२॥
सुजसा सुव्वय अइरा, सिरि देवी य पभावई चेव ।
पउमावई य वप्पा, सिव वामा तिसलया ई य ॥ ३२३ ॥ "

प्रव० ११ द्वार ।

जिणमुणिचेइयसंघाइपडिणीय–जिनमुनिचैत्यसङ्घाऽऽदिप्रत्यनीक–पुं० । तीर्थकरसाधुचतुर्वर्णसङ्घसिद्धगुरुश्रुताऽऽदिकानामवर्णवादाऽऽशातनाद्यनिष्टनिर्वर्तके, कर्म० १ कर्म० ।

जिणमुद्दा–जिनमुद्रा–स्त्री० । जिनानामर्हतां कृतकायोत्सर्गाणां सत्का, जिना वा विघ्नजेत्री मुद्राऽङ्गन्यासविशेषो जिनमुद्रा । मुद्राभेदे, पञ्चा० ।

अथ जिनमुद्रामाह–

चत्तारि अंगुलाइं, पुरओ ऊणाइ जत्थ पच्छिमओ ।
पायाणं उस्सग्गो, एसा पुण होइ जिणमुद्दा ॥ २० ॥

चत्वारीति संख्या, अङ्गुलानि प्रतीतानि । तानि च स्वकीयान्येव, पुरतोऽग्रतः, तथा ऊनानि किञ्चिदूनानि अङ्गुलान्येव, यत्र यस्यां मुद्रायां, पश्चिमतः पश्चिमभागे, पादयोश्चरणयोरुत्सर्गः परस्परपरित्यागः, संसर्गाभावोऽन्तरमित्यर्थः । एषाऽसौ, पुनःशब्दो योगमुद्राऽपेक्षया जिनमुद्राया वैलक्षण्यप्रतिपादनार्थः । भवति संपद्यते, जिनानामर्हतां कृतकायोत्सर्गाणां सत्का,

जिना वा विघ्नजेत्री मुद्राऽङ्गन्यासविशेषो जिनमुद्रेति गाथार्थः । ॥ २० ॥ पञ्चा० ३ विव० । ध० । सङ्घा० । प्रव० ।

जिणरक्खिय–जिनरक्षित–पुं० । चम्पानगरीवास्तव्यस्य माकन्दिसार्थवाहस्य पुत्रे स्वनामख्याते सार्थवाहे, ज्ञा० । "भोगे अवयक्खंता, पडंति संसारसागरे घोरे ।" चारित्रं प्रतिपद्यापि भोगानभिकाङ्क्षन्तः पतन्ति संसारसागरे घोरे, जिनरक्षितवत् । ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । (तत्कथाऽनुपदमेव 'जिणपालिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४९४ पृष्ठे उक्ता)

जिणरयणसूरि [ण्]–जिनरत्नसूरिन्–पुं० । खरतरगच्छीये जिनराजसूरिशिष्ये जिनचन्द्रसूरिगुरौ, तेन वैक्रमीये १६९९ वर्षे सूरिपदं प्राप्तः, तथा १७११ वर्षे आगरानगरे स्वर्गतिर्लेभे । संसारित्वेऽस्य "रूपचन्द्र" इत्यभिधानमासीत् । एतन्माताऽप्येतेन सह प्रव्राजिता । जै० इ० ।

जिणरायसूरि (ण्)–जिनराजसूरिन्–पुं० । खरतरगच्छीये जिनसिंहसूरिशिष्ये, वैक्रमीये १६४७ वर्षेऽयं जातः, १६५६ वर्षे दीक्षितः, १६७४ वर्षे सूरिपदं प्राप्तः, १६९९ वर्षे पट्टने स्वरगमत् । श्रीशत्रुञ्जये ऋषभदेवाऽऽदितीर्थङ्कराणामेकोत्तरपञ्चशतप्रतिमानामनेनैव प्रतिष्ठा कारिता, नैषधीयकाव्येऽनेन जिनराजनाम्नी टीका रचिता । जै० इ० ।

जिणरूव–जिनरूप–न० । परमाऽऽत्मरूपे, "जिनरूपं ध्यातव्यं, योगविधावन्यथा दोषः ।" जिनरूपं परमाऽऽत्मरूपमिति । षो० १४ विव० ।

जिणलाभसूरि [ण्]–जिनलाभसूरिन्–पुं० । खरतरगच्छीये जिनभक्तिसूरिशिष्ये, अयं वैक्रमीये १७८४ वर्षे 'वीकानेर' नगरे जातः, १७९६ वर्षे दीक्षितः, १८०४ वर्षे मारुवीबन्दरे सूरिर्जातः, १८३४ वर्षे स्वरगमत् । आत्मप्रबोधनामा ग्रन्थोऽनेन रचितः । जै० इ० ।

जिणवई–जिनवाक्–स्त्री० । जिनवचने, " जे कोविज्जा जिणवइं पि । " ये जिनवाचमपि कोपयेयुरन्यथा कुर्युः बृ० १ उ० ।

जिणवंस–जिनवंश–पुं० । जिनान्वये, "वंसाणं जिणवंसो " । वंशानामन्वयानां मध्ये यथा जिनवंशः प्रधानम् । संथा० ।

जिणवयण–जिनवचन–न० । जिनास्तीर्थकराः, तेषां वचनमागमो जिनवचनम् । दश० १ अ० । जिनानां सर्वज्ञानां वचनं जिनवचनम् । द्वादशाङ्गे, व्य० १ उ० । जिनवचनमर्हद्वचनम् । पञ्चा० १९ विव० । जिनवचनमाचारादि । स० । " कूरा वि सहावेणं, विसयविसवसाणुगा वि होऊण । भाविअजिणवयणमणा, तेल्लोक्कसुहावहा होंति" ॥१॥ श्रूयन्ते हि एवंविधाश्चिलातीसुतादय इति । तथाऽनर्घ्यामिति (जिनाज्ञां भावयेदिति सर्वत्र संबन्धः) यथावस्थितार्थप्रकाशकत्वेन सकलपरप्रणीतशास्त्रोक्तार्थाद्विद्यमानमूल्यामिति भावः । उक्तं च–" सव्वे वि य सिद्धंता, सदव्वरयणासया सतेल्लोक्का । जिणवयणस्स भगवओ, न तुल्लमिय तं अणग्घेयं ॥१॥ " तथा स्तुतिकारेणाप्युक्तम्–"कल्पद्रुमः कल्पितमात्रदायी, चिन्तामणिश्चिन्तितमेव धत्ते । जिनेन्द्रधर्मातिशयं विचिन्त्य, द्वयेऽपि लोके लघुतामुपैति ॥१॥ " अथवा ऋणघ्नामिति । तत्र ऋणं पूर्वेऽनेकपरम्परोपात्ताष्टप्रकारं कर्म, तद् हन्ति या सा ऋणघ्ना, ताम् । यत उक्तम्–" जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं । तं नाणी तिहि गुत्तो, खवेइ ऊसासमेत्तेणं " ॥१॥ तथा–अमितामित्यपरिमिताम् । यत उक्तम्–" सव्वनईणं जा वा–लुया वि सव्वोदहीण जं तोयं । तत्तोऽणंतगुणो खलु, अत्थो एगस्स सुत्तस्स " ॥१॥ अमृतां वा परमार्थोऽमृतां, पथ्यां वा । तथा चोक्तम्–"जिणवयणमोयगस्स य, रत्तिं च दिवा य खज्जमाणस्स । तित्तिं बुहो न गच्छइ, हेउसहस्सोवगूढस्स ॥ १ ॥ " " नरनरगतिरियसुरगण–संसारियसव्वदुक्खरोगाणं । जिणवयणमेगमोसह–मपवग्गसुहक्खयं फलयं " ॥ १ ॥ अमृतां वा सजीवाम्, उपपत्तिक्षमत्वेन सार्थकामिति भावः । न तु यथा–" तेषां कटतटभ्रष्टै–र्गजानां मदबिन्दुभिः । प्रावर्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी ॥१॥ " इत्यादिवाक्यनिर्युक्तिवन् मृतामिति । तथा–अजितामशेषपरप्रवादिप्रवचनाऽऽज्ञाभिरपराजितामिति भावः । तदुक्तम्–"जीवाइवत्थुचिंतण–कोसल्लगुणेणऽणन्नसरिसेण । सेसवयणेहिँ अजियं, जिणिंदवयणं महाविसयं ॥१॥ " तथा–महार्थामिति । महानपरिमितोऽर्थो यस्याः सा तथाविधा, ताम् । तत्र पूर्वापराविरोधित्वादनुयोगद्वारात्मकत्वान्नयगर्भत्वाच्च महार्था, तां, महत्स्थां वा । तत्र महान्तश्च सम्यग्दृष्टय एवेहोच्यन्ते । ततश्च महत्सु स्थिता महत्स्था, तां च, प्रधानसत्त्वस्थितामिति भावः । महार्घ्यां वा, अतिशयपूज्यामित्यर्थः । यत उक्तम्–"सयलसुरासुरमाणुस–जोइसवंतरसुपूइयं नाणं । जेणेह गणहराणं, तुहंति पुत्ते सुरिंदा वि" ॥१॥ महानुभावः सामर्थ्यादिलक्षणो यस्याः सा तथाविधा, तां, प्राधान्यं चास्याश्चतुर्दशपूर्वविदः सर्वलब्धिमन्तो जायन्ते, ततश्च सकलस्यास्य त्रिभुवनस्य प्रभवन्ति । यत उक्तम्–"पहू णं भंते ! चउद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं, पडाओ पडसहस्सं वि उ कारेत्तए ?। गोयमा ! हंता पहू" इत्यादि । परलोके पुनरनुत्तरविमानादिषूपपातः । उक्तं च–"उववाओ लंतगम्मी, चउदसपुव्विस्स होइ उ जहन्नो । उक्कोसो सव्वट्ठे, सिद्धिगमो वा अकम्मस्स ॥१॥ " तथा महाविषयामिति । महद्विषयताऽस्याः सकलद्रव्याऽऽदिविषयावभासकत्वात् । उक्तं च–"दव्वाओ सुयनाणी सव्वदव्वाइं जाणइ, नो पासइ" इत्यादि कृतं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः । दर्श० ४ तत्त्व । आव० । (विस्तरतो गाथाव्याख्या 'आणा' शब्दे द्वितीयभागे ११५ पृष्ठे द्रष्टव्या)

> जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करंति भावेण ।
> अमला असंकिलिट्ठा, ते हुंति परित्तसंसारी ॥ २६४ ॥

इति छिन्नसंसारिणः स्युरित्यर्थः । ते इति के ?, ये जीवा जिनवचने अर्हद्वाक्ये अनुरक्ताः सन्तो भावेन जिनवचनं कुर्वन्ति, इत्यनेन मनोवाक्कायैः जिनधर्ममाराधयन्ति । पुनः कीदृशास्ते ?, अमला मिथ्यामलरहिताः । पुनः कीदृशाः ?, असंक्लिष्टाः मोहमत्सराऽऽदिक्लेशरहिताः । एतादृशा जीवाः संसारपारं कृत्वा मोक्षं व्रजन्तीत्यर्थः । उत्त० ३६ अ० । जिनवचनस्य प्रामाण्यमुक्तं च स्तुतिकारेण–"सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसंपदः । तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिताः, जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥ १ ॥ " सं० । जिनवचनप्रशंसा यथा–"जयति जगदेकमङ्गल–मपहतनिःशेषदुरितघनतिमिरम् । रविबिम्बमिव यथास्थित–वस्तुविकाशं जिनेशवचः ॥ १ ॥ " सं० । जिनवचनस्य हितकारित्वं यथा–

> " एगंतेण हियं वयणं, गोयम ! दिस्संति केवलिणो ।
> बलवोडीइ कारेंति, हत्थे घेत्तूण जंतुणो ॥
> तित्थयरभासिए वयणे, जे तह त्ति अणुपालिया ।
> सिद्धा देवगणा तस्स, पाएहिं य णमंति हरिसिया " ॥ महा०

६ अ० । जिनवचनादन्यत्र न शरणम् । उक्तञ्च-" जन्मजरामरणभयै-रभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते । जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥१॥ " आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

जिनवचनस्य सम्यक्त्वं यथा-

भद्दं मिच्छादंसण-समूहमइयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ, संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥१६७॥

भद्रं कल्याणं,जिनवचनस्यास्त्विति संबन्धः। मिथ्यादर्शनसमूहमयस्य । ननु यन्मिथ्यादर्शनसमूहमयं तत् कथं सम्यग्रूपतामासादयति ?, न हि विषकणिकासमूहमयस्यामृतरूपताऽऽपत्तिः प्रसिद्धा । न । परस्परनिरपेक्षसंग्रहाऽऽदिनयरूपाऽऽपन्नसांख्यादिमिथ्यादर्शनानां परस्परं सव्यपेक्षतासमासादितानेकान्तरूपाणां विषकणिकासमूहविशेषमयस्यामृतसंदोहस्येव सम्यक्त्वाऽऽपत्तेः । दृश्यन्ते हि विषाऽऽदयोऽपि भावाः परस्परसंयोगविशेषमवाप्ताः समासादितपरिणत्यन्तरा अगदरूपतामात्मसात्कुर्वाणाः। मध्वाज्यप्रभृतयस्तु विशिष्टसंयोगावाप्तद्रव्यान्तरस्वभावा मृतिप्राप्तिनिमित्तविषरूपतामासादयन्तः । न चाध्यक्षप्रसिद्धार्थस्य पर्यनुयोगविषयता, अन्यथाऽग्न्यादेरपि दाह्यदहनशक्त्यादिपर्यनुयोगाऽऽपत्तेः। अत एव निरपेक्षा नैगमाऽऽदयो दुर्नयाः,सापेक्षास्तु सुनया उच्यन्ते। अभिहितार्थसंवादि चेदं वादिवृषभस्तुतिकृत्सिद्धसेनाऽऽचार्यवचनम्-"नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः" ॥१॥ इति । अथवा सांख्यादेरेकान्तवादिदर्शनसमूहमयस्य चूर्णनस्वभावस्य,मिथ्यादृष्टिपुरुषसमूहविघटनसमर्थस्य वा,यद्वा-मिथ्यादर्शनसमूहा नैगमाऽऽदयः, एकैकनैगमाऽऽदेर्नयस्य शतविधत्वात् । "एक्केक्को वि सयविहो" इत्याद्यागमप्रामाण्यादवयवा यस्य तन्मिथ्यादर्शनसमूहमयम्, जिनवचनस्य नैगमाऽऽदयः सापेक्षाः सप्तावयवाः,तेषामप्येकैकः शतधा व्यवस्थित इत्यभिप्रायः। समूहरूपसप्तनयावयवोदाहरणापेक्षया च सप्तभङ्गीप्रदर्शनमागमज्ञा विदधति । सामान्यविशेषाऽऽत्मकत्वाद्वस्तुतत्त्वस्य, सामान्यस्यैकत्वात्, तद्विवक्षायां यदेव घटादि द्रव्यं स्यादेकमिति प्रथमभङ्गविषयः, तदेव देशकालप्रयोजनभेदान्नानात्वं प्रतिपद्यमानं तद्विवक्षया स्यादनेकमिति द्वितीयभङ्गविषयः, तदेवोभयाऽऽत्मकमेकदैकशब्देन यदाऽभिधातुं न शक्यते तदा स्यादवक्तव्यमिति तृतीयभङ्गविषयः। तदेवावकाशदातृत्वेनासाधारणेनैकमाकाशं, तदेवावगाह्यावगाहकावगाहनक्रियाभेदादनेकं भवति, तद्रूपैर्विना तस्यावस्तुत्वाऽऽपत्तेः । प्रदेशभेदापेक्षयाऽपि च तदनेकम् । अन्यथा हिमवद्विन्ध्ययोरप्येकदेशताप्राप्तेः । तस्य च तथाविवक्षायां स्यादेकं चानेकं चेति चतुर्भङ्गविषयता। यदेकमाकाशं भवतः प्रसिद्धं तदेकस्मिन्नवयवे विवक्षिते एकमवयवस्यावयवान्तराद्भिन्नाभिन्नानां वाचकस्य शब्दस्याभावादवक्तव्यं चेति । तथाविवक्षायां स्यादेकमवक्तव्यं चेति पञ्चमभङ्गविषयः। तत् यदेवैकमाकाशं प्रसिद्धं भवतः तदवगाह्यावगाहनक्रियाभेदादनेकम् । एकानेकत्वप्रतिपादकशब्दाभावादवक्तव्यं चातः स्यादनेकमवक्तव्यं चेति षष्ठभङ्गविषयः । यदेवैकमाकाशात्मकतयाऽऽकाशं भवतः प्रसिद्धं, तदेव तथैकमवगाह्यावगाहनक्रियापेक्षयाऽनेकं, युगपत्प्रतिपादनापेक्षयाऽवक्तव्यं चेति स्यादेकमनेकमवक्तव्यं चेति सप्तमभङ्गविषयः। एवं स्यात्सर्वगतः स्यादसर्वगतो घटादिरित्यादिकाऽपि सप्तभङ्गी वक्तव्या,यतो य एव पार्थिवाः परमाणवो घटस्य एव विस्रसाऽऽदिपरिणतिवशाज्जलानिलानलावन्यादिरूपतामात्मसात्कुर्वाणाः स्यात् सर्वगतो घट इत्यादिसप्तभङ्गविषयतां यथोक्तन्यायात् कथं नासादयन्ति ?। न च घटपरमाणूनां पुद्गलरूपतापरित्यागे पूर्वपर्यायापरित्यागे च घटपर्यायाऽऽपत्तिः, क्षणिकाक्षणिकैकान्तयोरर्थक्रियानुपपत्तेरसत्त्वापत्तेः,परिणामिन एव सुवर्णात्मनाऽवस्थितस्य केयूराऽऽत्मकविनाशमनुभवतः कटकाद्यात्मनोत्पद्यमानस्य वस्तुनः सत्त्वात्,अन्यथा क्वचित्कस्यचित्कदाचिदनुपलब्धेः । न चाध्यक्षादन्यद्वरिष्ठं प्रमाणान्तरमस्ति, यतस्तद्विपरीतभावाभ्युपगमः क्रियेत । अन्तर्बहिश्च हर्षविषादाऽऽद्यनेकाऽऽकारचित्रकाऽऽत्मकचैतन्यस्य स्थासकोशकुशूलाऽऽद्यनेकाऽऽकारस्वीकृतैकमृत्पिण्डादेः स्वसंवेदनाऽध्यक्षतः प्रतिपत्तेः। सर्वथोपलक्ष्यमध्यरूपं पूर्वापरकोट्योरसत्त्वमिति वदतः सर्वप्रमाणविरोधात् कुण्डलाङ्गदाऽऽदिषु पर्यायेषु तादृग्भूतसुवर्णद्रव्योपलब्धेः कार्योत्पत्तौ कारणस्य सर्वथा निवृत्त्यनुपलब्धेन च सादृश्यविप्रलम्भात्तदध्यवसायकल्पनेति वक्तुं तदेकान्तभेदसाधकप्रमाणस्यापास्तत्वात् । न च क्वचित्स्वभावभेदेऽपि तादात्म्यक्षतिः, ग्राह्यग्राहकाऽऽकारसंवित्तद्विविक्तपरमाणुषु स्थूलैकघटाऽऽदिप्रतिभासवद्वा ग्राह्यग्राहकाऽऽकारविविक्तसंवित्प्रकल्पनेऽप्यक्षधियोऽपि विवक्षिताऽऽकारविवेकाविवेकानुपलब्धेः । अध्यक्षेतरस्वभावाभ्यां विरोधस्वरूपासिद्धावन्यत्रापि कः प्रद्वेषः ?। तथाहि-शक्यमन्यत्रापि एवमभिधातुम्-एकमेव पार्थिवद्रव्यं लोचनाऽऽदिसामग्रीविशेषात् चूर्णादिप्रतिपत्तिभेदेऽपि भिन्नमिव प्रतिभाति, प्रत्यासन्नेतररूपताध्यवस्थितैकविषयत्वात् । न हि स्पष्टास्पष्टनिर्भासभेदेऽपि तदेकत्वक्षतिः, तद्वदिहापि रूपाऽऽदिप्रतिभासभेदेऽप्येकत्वं किं न स्यात् ?,प्रतीतेरविशेषात् । एवं च स्याद्वादिनोऽग्नेरप्यनुष्णत्वप्रसक्तिरित्यसङ्गतमभिधानम् । यतस्तत्रापि स्यादुष्णोऽग्निरिति स्पर्शविशेषणोष्णस्य भास्वराऽऽकारेण पुनरनुष्णस्य तस्यैकस्य नानास्वभावशक्तेरबाधितप्रमाणविषयस्यैवं नो दोषाऽऽसङ्गसंभवात्,तस्मादेकस्यैव सामग्रीभेदवशात्तथाप्रतिभासाविरोधः। कारणस्य च कार्याऽऽत्मनोत्पत्तौ न किञ्चिदपेक्षणीयमस्ति, यत्तथोत्पित्सुस्वभावता न भवेत् । अत एव मृदादिभावो घटस्वभावेन नश्वरः, कपालस्वरूपेण चोत्पत्तौ तिष्ठतीति स्वभावत एव नश्वरः,उत्पित्सुः स्थास्नुश्चान्यतमापाये पदार्थस्यैवासंभवात्, त्रितयभावं प्रत्यनपेक्षत्वाच्च। न ह्युत्पन्नः पदार्थः किञ्चित् स्थितिं प्रत्यपेक्षते, स्थित्यात्मकत्वादुत्पादस्य, न चावस्थित उत्पत्तौ किञ्चिदपेक्षते, उत्पत्तिस्वभावत्वात् स्थितेः। न च विनष्ट उत्पत्तिं प्रति हेत्वन्तरापेक्षो, विनाशस्योत्पत्त्यात्मकत्वात्, ततः पूर्वापरस्वभावपरित्यागावाप्तिलक्षणं परिणाममासादयन् भावो व्यवतिष्ठते! इति प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरमेतदेव । शब्दविद्युत्प्रदीपादेरपि निरन्वयविनाशकल्पनाऽसङ्गतैव, तेषामादौ स्थितिदर्शनादन्तेऽपि तत्स्वभावानतिक्रमात् । न हि भावः स्वस्वभावं त्यजति, प्रागपि तत्स्वभावपरित्यागप्रसक्तेः, अन्ते च क्षयदर्शनात् प्रागपि नश्वरस्वभावादाद्युत्पत्तिसमये स्थितिदर्शनादन्ते स्थितिः किं नाभ्युपेयते ?। न च विद्युत्प्रदीपादेस्तैजसरूपपरित्यागात्तामसरूपस्वीकरणे किञ्चिद्बाधकं भवेत्। न च स्वभावभेदस्तदेकत्वविघातकृत्, ग्राह्यग्राहकाऽऽकारसंवेदनवद् वेद्यवेदकाऽऽकारविवेकपरोक्षापरोक्षसंवित्-

क्षा, यथा च ध्वंसहेतोस्तदन्तकरणविरोधादकिञ्चित्करत्वं, तथा स्थित्युत्पादहेत्वोर्विशरारुधर्मणः शाश्वतताकरणे विनश्वरस्वभावः किं न विनश्येत् ?, अथासौ स्यान्नुस्तथापि हि स्थितिहेतोरानर्थक्यं, स्वत एव तस्य स्थितेः। तथोत्पत्तिहेतुरपि यदि भावं करोति, तदा न स्यात्किञ्चित्करत्वमेव भावस्य, स्वयमेव भावाभावरूपत्वात्। अथाभावं भावरूपतां नयति, तर्हि नाशहेतुरपि भावमभावीकरोतीति कथमकिञ्चित्करः स्यात् ?। न ह्यभावस्य भावीकरणे भावस्य वाऽभावीकरणे कश्चिद्विशेषः संभवी। अत एव च तेषामन्यतमस्य सहेतुकत्वमहेतुकत्वं चाभ्युपगच्छन् सर्वेषां तदभ्युपगन्तुमर्हति, अविशेषात्। न च भिन्नयोगक्षेमत्वात् कार्यकारणयोरेकत्वमनुपपन्नं, स्वभावभेदेऽप्येकत्वप्रतिपत्तेः। सर्वसंवित्क्षणानामेकदोत्पत्तिविनाशवतामभिन्नयोगक्षेमत्वात् कार्यकारणयोरेकत्वमनुपपन्नम्, स्वभावभेदेऽप्येकत्वेऽपि च परस्परतः पृथग्भावासिद्धेः। अथाभिन्नयोगक्षेमेऽपि प्रतिभासभेदाद्भेदः, तर्हि यत्र प्रतिभासाभेदस्तत्र भिन्नयोगक्षेमत्वेऽप्यभेदः, प्रतिभासभेदाभेदयोर्वस्तुभेदाभेदव्यवस्थापकत्वात्। समुदायस्य च देशकालभेदाभावात् सकृदेव संवित्त्यात्मनोत्पत्तेरेकत्वं प्रसज्येत। यदि च स्वभावभेदो वस्तुभेदलक्षणं, तदा सन्तानान्तरयोरिव त्रिविषयरूपायाः संवित्तेरेकत्वेऽपि प्रत्यक्षेतरयोर्वाऽसौ विद्यत इति नानात्वं भवेत्। यदि पुनः स्वभावभेदाविशेषेऽपि विवक्षितज्ञानक्षणाऽऽकारयोरेव तादात्म्यं, न पुनः सन्तानान्तरसंवित्तीनामिति प्रत्यासत्तेः कुतश्चिद्व्यवस्थाप्यते, तर्हि परस्यापि विवक्षितैकार्थोपादानोपादेयभूतयोरेवावस्थयोस्तादात्म्यं कथञ्चिद् वदतो न कश्चिद्दोषः प्रशक्तिमान्। निराकृतश्चानेकश एकान्तवादः, तत्प्रसाधकहेतूनां सर्वेषामनेकान्तव्याप्ततया विरुद्धताप्रदर्शनात्। तत्प्रदर्शनं चैकान्तवादिनिग्रहस्थानमनेकान्तवादिविजयस्यैवेतरपराजयाधिकरणप्राप्तिलक्षणत्वात् " विरुद्धहेतुमुद्भाव्य, वादिनं जयतीतरः । " इत्यस्य वचसो न्यायानुगतत्वात्। यदि पुनरसाधनाङ्गवचनं वादिनः पराजयाधिकरणमभ्युपगम्येत, तदा वादाभ्युपगमं विधाय तूष्णींभावमात्रेणासाधनाङ्गस्यावचनाद्वादिनो विजयः किं न स्यात् ?; प्रतिवादिनोऽपि स्वपक्षसिद्धिमकुर्वतः कथं न विजयस्तत एव भवेत् ?। अथ साधनाङ्गावचनमपि निग्रहस्थानं, तर्हि वादिप्रतिवादिनोर्यौगपद्येन निग्रहाधिकरणता भवेत्, तूष्णींभावाविशेषात्। तूष्णींभावोपलम्भेन इतरो विजयवानिति चेत् ?, नन्वेवमितरजयस्यान्यतरपराजयाधिकरणेनैव प्राप्ता, न च स्वपक्षसिद्धिमकुर्वतः न विजयप्राप्तिः, तदप्राप्तौ च कथं तदेतरस्य पराजयः। यदपीष्टस्यार्थस्य सिद्धसाधनं तस्याङ्गं स्वभावकार्यानुपलम्भलक्षणं हेतुत्रयं पक्षधर्मत्वादि वा त्रैरूप्यं तस्यावचनं निग्रहस्थानं वादिन इत्युक्तम्। तदप्यचारु। प्रतिवादिनोऽपि पक्षधर्मत्वाऽन्यतमस्यानुक्तावसमर्थने वा विजयाप्राप्तेः, तदप्राप्तौ च वादिनो निग्रहस्थानानुपपत्तेरितरजयनान्तरीयकत्वादितरपराजयस्य; एवं हेत्वाभासादेरसाधनाङ्गस्य वचनं वादिनो निग्रहस्थानमिति प्रतिक्षिप्तमुक्तन्यायाद्बुद्ध्यम्। अथ ततः साध्यसिद्धेरभावात्तस्य निग्रहस्थानं प्रतिक्षिप्तम्। उक्तन्याये च तद्भूविकल्पादेरसाधनाङ्गकरणस्य तत एव तत्प्राप्तेः, ततो वादिनमसाधनाङ्गमभिदधानं कुर्वाणं वा स्वपक्षसिद्धिं विदधदेव प्रतिवादी तत्पक्षप्रतिक्षेपेण निगृह्णातीत्येतदेव न्यायोपेतमुत्पश्यामः। एवं प्रतिवादिनो दोषमनुद्भावयतो न निग्रहस्थानं, तावता स्वपक्षसिद्धिमकुर्वाणस्य वादिनो विजयप्राप्त्ययोगात्, तत्साधनस्य सदोषत्वसंभवात्। तस्य सदोषत्वेऽपि तदुद्भावनासमर्थत्वात्प्रतिवादिनो निग्रहस्थानं स्यादिति चेत्। न। दोषवत्साधनाभिधानाद्वादिनोऽपि पराजयाद्यधिकरणत्वाद् द्वयोरपि युगपत्पराजयप्राप्तेः। अत एव प्रतिवादिनो दोषस्यानुद्भावनमपि न निग्रहस्थानम्। यच्च वादिपक्षसिद्धेरप्रतिबन्धकं पक्षाऽऽदिवचनाधिक्योद्भावनं प्रतिवादिपक्षसिद्ध्यसाधकतमं, तत्सर्वं न वादिनः पराजयाधिकरणम्। अन्यथा तत्पादप्रसारिकाद्युद्भावनमपि तस्य पराजयाधिकरणं स्यात्। अथ पक्षाऽऽदिवचनस्यासाधनाङ्गत्वात्तदुद्भावने वादिनस्तदपरिज्ञाननिबन्धनपराजयाधिकरणता, तर्हि यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमिति व्याप्तिवचनादेव शब्दस्यापि क्षणिकत्वसिद्धौ 'सन्त्र शब्दः' इत्यभिधानं, तत एव तस्य पराजयाधिकरणं भवेत्। न च शब्दे शब्दविप्रतिपत्तिः, येन तन्निरासाय सत्त्वाभिधानं तत्रापुनरुक्तं भवेत्। तद्विप्रतिपत्तौ वा तत्साधकहेतोरसिद्धत्वादिदोषत्रयानतिवृत्तं भवतैवाभ्युपगमात्तत्साध्यत्वानुपपत्तिः। यदि च संक्षिप्तवचनात् साध्यसिद्धौ तद्विस्तराभिधानं निग्रहस्थानं, तर्हि सत्त्वात् क्षणक्षयाप्रसक्तौ कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वाद्यभिधानं कथं न निग्रहस्थानं स्यात् ?, कथं वा कृतकप्रयत्नानन्तरीयकादिषु स्वार्थिकस्य तस्योपादानं तत्र स्यात् ?। यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकमित्यादि साधनवाक्यमभिधाय पक्षादिवचनवत्तत्समर्थनमपि निग्रहस्थानं प्रसक्तम्। असमर्थितमपि स्वत एव तदेवानौक्तमेव स्वसाध्याविनाभूतस्य हेतोः प्रदर्शनम्, आसाध्यसिद्धेः सद्भावात्। स्वभावकार्यानुपलम्भप्रकल्पनया तद्वचनं निग्रहस्थानं परस्य प्रसक्तम्। अनुपलब्धानुपलब्धिलक्षणं प्राप्तस्येति विशेषणोपादानं निग्रहस्थानम्। अदृश्यानामपि व्याधिभूतग्रहादीनां कुतश्चिद्व्यावृत्तिसिद्धेः। यदि पुनरुपलब्ध्यनुपलब्ध्योरेवाभावासिद्धिः, तदा नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरं, प्राणादिमत्त्वादित्यत्र घटादेरात्मनोऽक्षणिकस्यादृश्यानुपलम्भादेवातत्सिद्धेः, यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमिति सामस्त्येन व्याप्त्यसिद्धितः क्षणक्षयानुमानं नामवद्यं स्यात्। किंच देशकालस्वभावविप्रकृष्टभावानुपलब्धेरभावासिद्धौ सर्वत्र सदा सर्वोऽप्यमात्माऽभिमन्तरेणानुपपत्तिमानितिव्याप्तेरसिद्धेर्न ततस्तत्सिद्धिः स्यात्। न चाध्यक्षानुपलम्भौ तत्कार्यकारणभावप्रसाधकावभ्युपगम्यमानौ सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च यतो व्यापाराद् विधातुं क्षमौ, तत्पृष्ठभाविविकल्पस्य तन्निवर्तनसामर्थ्याभ्युपगमे सविकल्पकस्यानिष्टं प्रामाण्यं प्रसज्येत। अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वादविसंवादित्वाच्च तद्वाऽविकल्पकस्य तु हिंसाविरतिदानचेतसां स्वर्गाऽऽदिफलनिवर्तनसामर्थ्यस्वभावसंवेदनस्यैव सर्वात्मना वस्तुसंवेदनेऽपि निर्णयवशादेव प्रामाण्योपपत्तेः। अन्यथाऽनुमानस्याप्रामाण्यप्रसक्तेस्तद्गृहीतमादितयेत्युक्तं प्रागदृश्यानामनुपलम्भादेवासिद्धावर्थक्रियया सत्ताऽभावानां व्याप्त्यवस्थेस्तदपि परस्य निग्रहस्थानमेव, ततः स्वपक्षसिद्धिरितरस्य पराजयाधिकरणं, स च परोपन्यस्तहेतोर्विरुद्धताप्रदर्शनेन स्वतन्त्रनिर्दोषहेतुसमर्थनेन वा परोपन्यस्तहेत्वसिद्धताऽऽदिदोषप्रतिपादनपुरःसरा कर्तव्या। अन्यथा परपराजयनिबन्धनस्य विजयायोगात्। यदा च विजिगीषुणा स्वपक्षस्थापनेन परपक्षनिराकरणेन च स्वप्रामाण्यापनं विजयम्, अन्यथा जयपराजयानुपपत्तेस्तदाऽसिद्धानैकान्तिकत्वसाधनदोषोद्भावनेऽपि न वादिप्रतिवादिनोर्जयपराजयौ, प्रकृतार्थापरिसमाप्तेः। अथ स्वपक्षसिद्धेरभावाद्धेत्वाभासादसाधनाङ्गवचनं वादिनो निग्रह-

ख्यानमा न । इतरत्रापि तत्प्रसङ्गात् । अथ वादिनः साधनत्वेनाभिमतस्यासाधनत्वप्रदर्शनेन प्रतिवादिकृतेन पराजयः,प्रतिवादिनस्तु समुद्भूतदोषोद्भावनाज्जयः । न । यदि स्वपक्षसिद्धिमकुर्वता प्रतिवादिना स्वपरोत्कर्षापकर्षप्रत्यायनमात्रेण वादी निगृह्यते इत्यभ्युपगमः, तर्ह्यसद्भूतदोषोद्भावनेनापि निरुत्तरीकरणात् आत्मोत्कर्षसंभवात्प्रतिवादिनो विजयप्राप्तिः; वादिनो निर्दोषसाधनाभिधायिनोऽपि पराजयप्रसक्तिः। अथ समर्थस्यापि साधनस्यासमर्थनेन स्वपक्षासिद्धेरभावाद् वादिनः पराजयो न्यायप्राप्त एव । न। उभयत्र पराजयप्रसक्तेः। न ह्यभूतदोषोपनयनिगमनाद्युद्भावनमात्रेण प्रतिवादिना प्रकृतं वस्तुतत्त्वं प्रसाधयन् स्वपक्षसाधनसामर्थ्यविकलेन वादी निगृह्यते इति न्यायोपपन्नम् । अथ प्रतिवाद्यसाधनाङ्गस्य साधनाङ्गत्वेनोपादानात् स्वपक्षसिद्धिमकुर्वन् मिथ्याभिनिवेशी निगृह्यते इति चेत् । न । तनयोर्निग्रहप्राप्तिरित्युक्तत्वात् । तस्मात्-"असाधनाङ्गवचन-मदोषोद्भावनं द्वयोः। निग्रहस्थानमन्यद्धि,न युक्तमिति नेष्यते ॥१॥" इत्यादि वादन्यायलक्षणमेकान्तवादिनां सर्वमसङ्गतम्। तत्कन्यायात् सर्वस्य चैकान्तसाधनाङ्गत्वात्, तत्त्वासत्त्वेन साधयितुमशक्यत्वात्,अनेकान्तस्य च निर्दोषत्वेन तत्र दोषोद्भावनरूपत्वात्, दोषानुद्भावनस्य वा निर्दोषे पराजयानधिकरणत्वात्, तदुद्भावनस्यैव तत्र निग्रहार्हत्वादित्यलं विस्तरेणेति व्यवस्थितं मिथ्यादर्शनसमूहमयत्वं, मथिकत्वं वा । न विद्यते मृतं मरणं यस्मिन्नसावमृतो मोक्षः, तं सारयति प्रापयतीति वा,तस्याबन्धमोक्षकारणत्वाद् मोक्षप्रतिपादकत्वाच्च "अमयमायस्स" इति पाठेऽमृतवत्स्वाद्यते इत्यमृतस्वादम्, अमृततुल्यमिति यावत् । तथा-रागाऽऽद्यशेषशत्रुजेतृपुरुषविशेषैरुच्यत इति जिनवचनम्, तस्य, अनेन विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वनिबन्धनं प्रमाणं निगमयति । भगाऽऽधत्ताऽऽद्यनेकलक्ष्म्यादैश्वर्याऽऽदिमतो भगवत इति, अनेनापि विशेषणेन तस्यैहिकसपक्षिशेषजनकत्वमाह। संविग्नैः संसारभयोद्वेगाविर्भूतमोक्षाभिलाषैरपकृष्यमाणरागद्वेषाहङ्कारकालुष्यैरिदमेव जिनवचनं तत्त्वमिति। एवं सुखेनाभिगम्यते यत्तत्संविग्नसुखाभिगम्यं, तेनापि विशिष्टसुख्यातिशयसंवित्समन्वितयतिवृषभनिषेव्यत्वमस्य प्रतिपादयति । एवंविधगुणाध्यासितस्य जिनवचनस्य सामायिकाऽऽदिबिन्दुसारपर्यन्तश्रुताम्भोधेः कल्याणमस्त्विति प्रकरणसमाप्तावन्त्यमङ्गलसंपादनार्थं विशिष्टां स्तुतिमाहेति । सम्म० ३ काण्ड ।

जिनवदन-न० । जिनमुखे, औ० ।

जिणवयणकप्परुक्ख-जिनवचनकल्पवृक्ष-पुं०। जिनाऽऽगमरूपे कल्पवृक्षे, "जिणवयणकप्परुक्खो, अणेगसुत्तत्थसालविस्थिण्णो । तवनियमकुसुमगुच्छो, सुग्गइफलबंधणो जयइ ॥ १ ॥" आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जिणवयणधम्माणुरागरत्तमण-जिनवचन [वदन] धर्मानुरागरक्तमनस्-त्रि० । जिनवचने जिनवदने वा धर्मानुरागेण रक्तं मनो यस्य स तथा । तस्मिन् , औ० ।

जिणवयणपदुट्ठ-जिनवचनप्रद्विष्ट-त्रि० । जिनाऽऽगमप्रद्विष्टे, "जिणवयणपदुट्ठ" जिनास्तीर्थकराः, तेषां वचनमागमलक्षणं तस्मिन् प्रद्विष्टा अप्रीता इति । दशा० १ अ० ।

जिणवयणबाहिरमइ-जिनवचनबाह्यमति-त्रि० । सर्वज्ञशासनबहिर्मुखशेमुषीके, सू० १ श्रु० ।

जिणवयणमणुगइसुभासिय-जिनवचनानुगतिसुभाषित-त्रि०। जिनवचनमनुगत्याऽऽनुकूल्येन सुष्ठु भाषितं येन स तथा । तस्मिन् , स० ।

जिणवयणमणुगयमहियभासिय-जिनवचनानुगतमहित[जिनवचनानुगताधिक]भाषित-त्रि० । जिनवचनमाचारादि, अनुगतं संबद्धं, नार्द्धवितर्द्धमित्यर्थः । महितं पूजितमधिकं वा भाषितं येनाध्यापनाऽऽदिना स तथा । तस्मिन्, स० ।

जिणवयणविहि-जिनवचनविधि-पुं० । प्रवचनोक्ते प्रकारे, "जिणवयणविहीइं दो वि सद्धासा ।" जिनवचनविधिना प्रवचनोक्तेन प्रकारेण । आ० ।

जिणवयणरुइ-जिनवचनरुचि-त्रि०। जिनाऽऽगमरुचिके,ध०र०। अयं च गुणवतः पञ्चमो भेदः ।
संप्रति जिनवचनरुचिरूपं पञ्चमं भेदं व्याख्यानयन्नाह-

सवणकरणेसु इच्छा, होइ रुई सद्दहाणसंजुत्ता ।
एईइ विणा कत्तो, सुद्धी सम्मत्तरयणस्स ? ॥ ४६ ॥

श्रवणमाकर्णनं,करणमनुष्ठानं, तयोरिच्छा तीव्राभिलाषो,भवति,रुचिः,श्रद्धानसंयुक्ता प्रतीतिसंगता, जयन्ताश्राविकाया इवेति । अन्यथा पत्र प्राधान्यख्यापनायाऽऽह-एतया छिन्वरूपया रुच्या विनाऽभावेन, कुतः शुद्धिः ?,न कुतोऽपीत्याकूतम् । सम्यक्त्वरत्नस्य शुश्रूषा धर्मरागरूपत्वात्तस्य, तयोश्च सम्यक्त्वसहभाविलिङ्गतया प्रसिद्धत्वात् । उक्तं च-"सुस्सुसधम्मराओ,गुरुदेवाणं जहासमाहीए। वेयावच्चे नियमो,सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं"।१। इति पञ्चमगुणभावना । अन्ये तु पञ्चगुणानित्थमभिदधति-
"सुत्तरुई अत्थरुई, करणरुई चेवऽणभिनिवेसरुई ।
गुणवंते पंचमिया, अणिच्छिउच्छाहिया होइ ॥ १ ॥"
अत्रापि सूत्ररुचिः पठनाऽऽदिस्वाध्यायप्रवृत्तिः, अर्थरुचिश्चाभ्युत्थानाऽऽदिविनयं गुणिनां प्रयुङ्क्ते । करणानभिनिवेशौ तुल्यावेव । अनिच्छितोत्साहता पुनरिच्छावृद्धिरेवेति न विरोध आशङ्कनीय इति । ध० र० । (जिनवचनरुचिविषये जयन्तीश्राविकाकथा 'जयंती' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४१६ पृष्ठे गता)

जिणवयणसुइ-जिनवचनश्रुति-स्त्री०। जिनाऽऽगमश्रवणे, "सुलहा सुरलोयसिरी, रयणायरमेहला मही सुलहा । निव्वुइसुहजणियरुई, जिणवयणसुई जए दुलहा" ॥१॥ चि । आ०क०।

जिणवयणाकण्णण-जिनवचनाऽऽकर्णन-न०। तीर्थकरभाषितश्रवणे,"तत्ताहिगमो हि तहा,जिणवयणाऽऽयण्णणस्स गुणा।" जिनवचनाऽऽकर्णनस्य तीर्थकरभाषितश्रवणस्य एते गुणाः।आ०।

जिणवर-जिनवर-पुं० । जिनाः छद्मस्थवीतरागाः, तेषां वराः । पञ्चा० ४ विव० । प्रश्न० । रागाऽऽदिजयाज्जिनाः, अवधिमनःपर्यवोपशान्तमोहक्षीणमोहाः, तेषां मध्ये वराः सामान्यकेवलिनो जिनवराः । संथा० । जिनानां वरा उत्तमाः, भूतभवद्भाविभावस्वभावावभासिकेवलज्ञानकलितत्वात् । प्रज्ञा० १ पद । श्रुताऽऽदिजिनप्रधाने केवलिनि, आव० २ अ० । "चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ।" जिनवराः श्रुताऽऽदिजिनेभ्यः प्रकृष्टाः। ध०२ अधि०। उत्त० । जिना रागद्वेषाऽऽदिजयनशीलाः सामान्यकेवलिनः, तेषु तेभ्यो वा वरः प्रधानोऽतिशयापेक्षया श्रेष्ठो जिनवरः। सं० । तीर्थकरे, आव०२ अ०। "तित्थयरे

जिणवरं" रागद्वेषमोहजितो जिनाः, एवंभूताश्च सामान्यकेवलिनोऽपि भवन्तीति तद्व्यवच्छेदार्थमाह-वराः प्रधानाः चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितत्वेन। सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। "सोऊण जिणवरमयं," जिनवराणां तीर्थकराणां मतमभिप्रायम्। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। द० प०। "अगमत्थवाइयाणं, विमलविमलनाणदंसणधराणं। नाणुज्जोयगराणं, लोगम्मि नमो जिणवराणं ॥१॥" द० प० ४ प०।

जिणवरिंद-जिनवरेन्द्र-पुं०। जिनाश्छद्मस्थवीतरागाः, तेषां वराः प्रधानाः केवलिनः, तेषामिन्द्रास्तीर्थकरनामकर्मोदयवर्तित्वाद् नानाविधातिशयसमेतत्वाच्च तीर्थकराः। अतस्तेषां, जिनवरेन्द्राणामित्यर्थः। "पूजाए जिणवरिंदाणं।" पञ्चा०४ विव०। "वंदामि जिणवरिंदं"। प्रश्न० १ पद। (जिनवरेन्द्रमिति) जयन्ति रागाऽऽदिशत्रूनभिभवन्ति ये ते जिनाः, ते च चतुर्विधाः। तद्यथा-श्रुतजिनाः, अवधिजिनाः, मनःपर्यायजिनाः, केवलिजिनाः। तत्र केवलिजिनत्वप्रतिपत्तये वरग्रहणं, जिनानां वरा उत्तमाः-भूतभवद्भाविभावस्वभावावभासिकेवलज्ञानकलितत्वाद् जिनवराः, ते चातीर्थकरा अपि सन्तः सामान्यकेवलिनो भवन्ति, ततस्तीर्थकरत्वप्रतिपत्त्यर्थमिन्द्रग्रहणम, जिनवराणामिन्द्रो जिनवरेन्द्रः, प्रकृष्टपुण्यस्कन्धरूपतीर्थकरनामकर्मोदयात्तीर्थंकर इत्यर्थः। प्रश्न० १ पद।

जिणवसह-जिनवृषभ-पुं०। जिनश्रेष्ठे, "असंजलं जिणवसहं।" असंज्वलं जिनवृषभम। स०।

जिणवाणी-जिनवाणी-स्त्री०। अर्हद्वचने, "विलसतु मनसि सदा मे, जिनवाणी परमकल्पलतिकेव। कलितसकलनरामर-शिवसुखफलदा न दुर्लभलिता" ॥१॥ चं० प्र० १ पाहु०। "देवा दैवीं नरा नारीं, शाबराश्चापि शाबरीम्। तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं, मेनिरे भगवद्गिरम "॥१॥ दशा० १ अ०।

जिणविज्ज-जिनवैद्य-पुं०। जिनभिषग्वरे, आव०।

जह सव्वसरीरगयं, मंतेण विसं णिरुंभए डंके।
तत्तो पुणोऽवणिज्जइ, पहाणतरमंतजोगेण ॥ १७३ ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, सर्वशरीरगतं सर्वदेहव्यापकं, मन्त्रेण विशिष्टवर्णानुपूर्वीलक्षणेन, विषं मारणाऽऽत्मकद्रव्य, निरुध्यते निश्चयेन ध्रियते, क्व?, डङ्के तद्भक्षणदेशे, ततो डङ्कात् पुनरपनीयते। केन?, इति, अत आह-प्रधानतरमन्त्रयोगेन, श्रेष्ठतरमन्त्रयोगेनेत्यर्थः। "मंतजोगेहिं" इति च पाठान्तरम्। तत्र मन्त्रयोगाभ्यामित्यर्थः। अत्र पुनर्योगशब्देनागदं परिगृह्यते। इति गाथार्थः ॥१७३॥

एष दृष्टान्तः, अयमर्थोपनयः-

तह तिहुअणतणुविसयं, मणोविसं मंतजोगबलजुत्तो।
परमाणुम्मि णिरुंभइ, अवणेइ तओ वि जिणविज्जो ॥ १७४॥

"तह" इत्यादि। तथा त्रिभुवनतनुविषयं, त्रिभुवनशरीराऽऽलम्बनमित्यर्थः। मन एव भवमरणनिबन्धनत्वाद् विषं मनोविषं, मन्त्रयोगबलयुक्तो जिनवचनध्यानसामर्थ्यसंपन्नः, परमाणौ निरुणद्धि, तथाऽचिन्त्यप्रयत्नाच्च अपनयति, ततोऽपि तस्मादपि परमाणोः, कः?, जिनवैद्यो जिनभिषग्वर इति गाथार्थः ॥ १७४ ॥ आव० ४ अ०।

जिणवीरणाह-जिनवीरनाथ-पुं०। महावीरस्वामिजिने, "बध्योदयोदीरणसत्त्वदुस्थं, निःशेषकर्मारिबलं निहत्य। यः सिद्धिसाम्राज्यमलंचकार, श्रियं स वः श्रीजिनवीरनाथः" ॥ १ ॥ कर्म० २ कर्म०।

जिणसंकास-जिनसङ्काश-पुं०। सर्वज्ञसदृशे, कल्प० ६ क्षण। सकलसंशयच्छेदकत्वे, स्था० ३ ठा० २ उ०। "अजिणाणं जिणसंकासाणं"। अजिनानामसर्वज्ञत्वाद् जिनसंकाशानामविसंवादिवचनत्वाद् यथापृष्टनिर्वचनत्वाच्च। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

जिणसंथव-जिनसंस्तव-पुं०। "लोगस्सुज्जोयगरं" इत्यादिरूपायां जिनस्तुतौ, दश० ५ अ० १ उ०।

जिणसकहा-स्त्री०-जिनसक्थि-न०। जिनास्थिनि, भ०।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए माणवए चेइए खंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहुओ जिणसकहाओ सन्निखित्ताओ चिट्ठंति ॥

(जिणसकहाओ त्ति) जिनसक्थीनि जिनास्थीनि। भ० १० श० ५ उ०। सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्। सू० प्र० १८ पाहु०। (सभास्थितजिनसक्थ्यनुरोधादिन्द्राः सभायां मैथुनं कर्तुं न शक्नुवन्तीति 'अग्गमहिषी' शब्दे प्रथमभागे १७२ पृष्ठे उक्तम)

जिणसासण-जिनशासन-न०। रागद्वेषमोहलक्षणान् शत्रून् जितवन्त इति जिनाः, तेषां शासनं जिनशासनम्। ध्यम० १ काण्ड। जिनप्रवचने, दश० २ अ०। वीतरागवचने, "सुआणं जिणसासणं।" (२५ गाथा) दश० ७ अ०। जिनाऽऽज्ञायां च, "णिक्खंता जिणसासणं।" जिनशासनं जिनाऽऽज्ञायाम्। उत्त० १८ अ०। सूत्र०।

"समस्तवस्तुविस्तारे, व्यामर्पत्तैलवज्जले।
जीयाच्छ्रीशासनं जैनं, धीदीपोद्दीप्तिवर्द्धनम ॥ २ ॥
यत्प्रभावादवाप्यन्ते, पदार्थाः कल्पनां विना।
सा देवी संविदे नः स्तादस्तकल्पलतोपमा ॥३॥" उत्त०१अ०।

जं च मे पुच्छसी काले, सम्मं सुद्धेण चेयसा।
ताइं पाउकरे बुद्धे, तं नाणं जिणसासणे ॥ ३२ ॥

यच्च (मे इति) मां पृच्छसि प्रश्नयसि, काले प्रस्तावे, सम्यक् शुद्धेन अविपरीतबोधवता, चेतसा चित्तेन 'सुपो तृतीया' "ता" इति सूत्रत्वात् तत् (पाउकरे त्ति) प्रादुष्करोमि प्रकटीकरोमि, प्रतिपादयामीति यावत्। बुद्धोऽवगतसकलवस्तुतत्त्वः। कुतः पुनर्बुद्धोऽसि?, अत आह-तदिति यत्किञ्चिदिह जगति प्रचरति ज्ञानं यथाविधवस्तुतत्त्वबोधरूपं, तज्जिनशासने, प्रस्तावादिह गम्यते। ततोऽहं तत्र स्थित इति तत्प्रसादाद् बुद्धोऽस्मीत्यभिप्रायः। इह च यतस्त्वं सम्यक् शुद्धेन चेतसा पृच्छस्यतः प्रतिक्रान्तप्रश्नादिरप्यहं यत्पृच्छसि तत् प्रादुष्करोमीत्यतः पृच्छ यथेच्छमित्यैदम्पर्यार्थः। अथ वा-अत एव उच्यते यथा "अप्पणो परेसिं च" इत्यादिना तस्यायुर्विज्ञानमवगम्य संजयमुनिनाऽसौ पृष्टः-कियन्ममायुरिति?। ततोऽसौ प्राह-यच्च त्वं मां कालविषयं पृच्छसि तस्यागुक्तवान् बुद्धः सर्वज्ञोऽत एव तज्ज्ञानं जिनशासने, व्यवच्छेदफलत्वाद् जिनशासन एव, न त्वन्यस्मिन् सुगताऽऽदिशासने, अतो जिनशासन एव यत्नो विधेयः, येन यथाऽहं जानामि तथा त्वमपि जानीषे, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ ३२ ॥ उत्त० १८ अ०।

**जह जिणसासणनिरया, धम्मं पालेंति साहवो सुद्धं ।
न कुतित्थिएसु एवं, दीसइ परिपालणोवाओ ॥ ६३ ॥**

यथा येन प्रकारेण, जिनशासननिरता निश्चयेन रताः, धर्मं प्राग्निरूपितशब्दार्थं, पालयन्ति रक्षन्ति, साधवः प्रव्रजिताः, षड्जीवनिकायपरिज्ञानेन कृतकारिताऽऽदिपरिवर्जनेन च शुद्धमकलङ्कं,नैवं तन्त्रान्तरीयाः,तस्माच्च कुतीर्थिकेष्वेवं,यथा साधुषु दृश्यते परिपालनोपायः, षड्जीवनिकायपरिज्ञानाऽऽद्यभावात्। उपायग्रहणं च साभिप्रायकम्।शाक्योक्तः खलूपायोऽत्र चिन्त्यते, न पुरुषानुष्ठानं, कापुरुषा हि वितथकारिणोऽपि भवन्त्येवेति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ दश० नि० १ अ० ।

जिणसासणपरंमुह–जिनशासनपराङ्मुख–त्रि० । जैनमार्गविद्वेषिणि,सूत्र०।"इत्थी व संगया बाला,जिणसासणपरम्मुहा ।" रागद्वेषजितो जिनाः, तेषां शासनमाज्ञा कषायमोहोपशमहेतुभूता, तत्पराङ्मुखाः संसाराभिष्वङ्गिणो जैनमार्गविद्वेषिणः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

जिणसिंहसूरि(ण्)–जिनसिंहसूरिन्–पुं० । खरतरगच्छस्थे जिनचन्द्रसूरिशिष्ये स्वनामख्यात आचार्ये, ती० २१ कल्प । पञ्चा० । अयं वैक्रमीये १६१५ वर्षे जातः, १६२३ वर्षे दीक्षितः, १६७० वर्षे सूरिपदं प्राप्तः, १६७४ वर्षे स्वर्गतः । द्वितीयोऽप्येतन्नामा पूर्णिमागच्छे मुनिरत्नसूरिशिष्यः, येनाममस्वामिचरित्रनामा ग्रन्थो रचितः । जै० इ० ।

जिणसीस–जिनशिष्य–पुं० । गणधराऽऽदिके, स० ।

जिणसीसाणं चेव समणगणपवरगंधहत्थीणं थिरजसाणं परिसहसेणरिउबलपमद्दणाणं द (त) वदित्तचारित्तणाणसंमत्तसारविविहप्पगारप्पसत्थगुणसंजुयाणं अणगारमहरिसीणं अणगारगुणाण वण्णओ ।

जिनशिष्याणां चैव गणधरादीनाम,किंभूतानाम् ?, अत आह- श्रमणगणप्रवरगन्धहस्तिनां, श्रमणोत्तमानामित्यर्थः। तथा-स्थिरयशसां, तथा-परीषहसैन्यमेव परीषहवृन्दमेव, रिपुबलं परचक्रं, तत्प्रमर्दनानां, तथा दववह्नावाग्निरिव दीप्तान्युज्ज्वलानि, पाठान्तरेण-' तपोदीप्तानि ' यानि चारित्रज्ञानसम्यक्त्वानि, तैः साराः सफलाः विविधप्रकारविस्ताराः, अनेकविधप्रपञ्चाः,प्रशस्ताश्च ये क्षमाऽऽदयो गुणास्तैः संयुतानां, क्वचिद् गुणध्वजानामिति पाठः। तथा अनगाराश्च ते महर्षयश्चेत्यनगारमहर्षयः, तेषामनगारगुणानां वर्णकः श्लाघा, आख्यायत इति योगः। स० ।

जिणसुंदर–जिनसुन्दर–पुं० । सोमसुन्दरसूरिशिष्ये स्वनामख्याते तपागच्छीय आचार्ये, ग० ४ अधि० । येन दीपाऽऽवलीकल्पो नाम ग्रन्थो विरचितः । वैक्रमीये १४९६ वर्षेऽयं विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

जिणसेहरसूरि [ण्]–जिनशेखरसूरिन्–पुं० । खरतरगच्छीये जिनवल्लभसूरिशिष्ये, अनेन १२०४ वर्षे रुद्रपल्लीयगच्छः स्थापितः, सम्यक्त्वसप्ततिका-शीलतरङ्गिणी-प्रश्नोत्तररत्नमालावृत्तिश्चेति ग्रन्था विरचिताः । जै० इ० ।

जिणसोक्खसूरि[ण्]–जिनसौख्यसूरिन्–पुं० । खरतरगच्छीये जिनचन्द्रसूरिगुरौ, वैक्रमीये १७३९ वर्षेऽयं जातः, १७५१ वर्षे दीक्षितः, १७६३ वर्षे सूरिर्जातः, १७८० वर्षे स्वर्गतः । जै० इ० ।

जिणहरिसगणि[ण्]-जिनहर्षगणिन्–पुं० । तपागच्छीये जिनचन्द्रसूरिशिष्ये,येन १५०२ वर्षे वीरमग्राममुषित्वा विचारामृतसंग्रहो, रत्नशेखरनरपतिकथा चेति द्वौ ग्रन्थौ रचितौ । जै० इ० ।

जिणहंससूरि[ण्]–जिनहंससूरिन्–पुं० । बृहत्खरतरगच्छीये जिनसमुद्रसूरिशिष्ये आचाराङ्गोपरि दीपिकाकारक आचार्ये, जै० इ० ।

जिणाइभत्त-जिनाऽऽदिभक्त–पुं० । तीर्थनाथानां सिद्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधुचैत्यानामन्येषां च गुणगरिष्ठानां बहुमानकरे, कर्म० १ कर्म० ।

जिणाएस–जिनाऽऽदेश–पुं० । अर्हद्वचने, "पव्वज्जाजावओ जिणाएसो । " पं० व० १ द्वार ।

जिणाणा–जिनाऽऽज्ञा–स्त्री० । वीतरागोक्तवचनपद्धतौ, "सानुबन्धा जिनाऽऽज्ञा च, तत्तपः शुद्धमिष्यते । " अष्ट० १ अष्ट० ।

जिणाणुचिण्ण–जिनानुचीर्ण–त्रि० । जिनैर्हिताऽऽप्त्यनिवर्तकयोगसिद्धैर्गणधारिभिरनुचीर्णे जिनानुचीर्णम् । गणधरैः सम्यक्तदर्थावगमाऽऽसन्नशक्तिगर्भनिवर्तकसमताप्राप्त्या धर्ममेघनामकसमाधिरूपेण परिणमिते, जी० । " जिणाणुचिण्णं जिणपण्णत्तं । " जिना इह हिताऽऽप्त्यनिवर्तकयोगासिद्धा गणधारिणः परिगृह्यन्ते, विचित्रार्थत्वात् सूत्राणाम् । जी० १ प्रति० ।

जिणाणुमय–जिनानुमत–त्रि० । जिनानामतीतानागतवर्तमानानामृषभपद्मनाभसीमन्धरस्वामिप्रभृतीनामनुमतं जिनानुमतम् । जिनानामानुकूल्येन सम्मते, " जिणमयं जिणाणुमयं " वस्तुतत्त्वमपवर्गमार्गं प्रति मनागपि विसंवादाभावादिति जिनानुमतम् । जी० १ प्रति० ।

जिणाणुलोम–जिनानुलोम–त्रि० । जिनानामवध्यादिजिनानामनुलोममनुगुणं जिनानुलोमम् । जिनानामनुगुणे, " जिणमयं जिणाणुमयं जिणाणुलोमं " एतद्वशादवध्यादिजिनत्वप्राप्तेः । तथाहि-यथोक्तमिदं जिनमतमासेवमानाः साधवोऽवधिमनःपर्यायकेवललाभमासादयन्त्येवेति । जी० १ प्रति० ।

जिणाययण–जिनाऽऽयतन–न० । जिनभवने, पं० व० ४ द्वार । पञ्चा० ।

जिणालय–जिनाऽऽलय–न० । जिनभवने, सेन० । जिनाऽऽलये यद् धौतिढौकनं करोति तत्कस्मिन् सूत्रे, प्रकरणे वाऽस्ति ?। तथा कुमतिन इत्थं कथयन्ति–धौतिढौकनं देवनिर्माल्यं जायते, तस्य पुष्पादि लात्वा कथं चटापयन्ति?, इति प्रश्ने,उत्तरम्–धौतिढौकनमिति परम्परया ज्ञायते, तथा तन्निर्माल्यं न कथ्यते । यतः- "भोगविणट्ठं दव्वं, निम्मल्लं बिंति गीअत्था । " इति श्राद्धवृत्त्युक्तत्वादिति । १२५ प्र० । सेन० २ उल्ला० । ज्ञानद्रव्यममारिद्रव्यं च जिनगृहकार्ये आयाति, न वा ?, इति प्रश्ने,उत्तरम्–ज्ञानद्रव्यं जिनाऽऽलयकार्ये आयातीत्युत्तराण्युपदेशचिन्तामणौ सन्ति,अमारिद्रव्यं तु महत्कारणं विना न समायातीति ज्ञायते । ४९२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । जिनाऽऽलयकार्यकर्तुरात्मीयं कार्यं दीयते,न वा?, इति प्रश्ने, उत्तरम्–जिनाऽऽलयस्थापकेन स्वकीयकार्यं न कार्यत इति । ४१२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । जिनाऽऽलये रात्रौ गीतगानाऽऽदि क्रियते, तत्करणे देवद्रव्यमुत्पद्यते, नान्यथा, तदा तत्कर्त्तव्यं, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्–शास्त्रानुसारेण

मूलविधिना गीतगानाऽऽदि न शुध्यति, परं देवद्रव्योत्पत्तिकारत्वेन रात्रावपि गीतगानाऽऽदिभावनाकरणे लाभो जायते इति । ७७ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

जिणावहिणाण-जिनावधिज्ञान-न० । ज्ञानभेदे, श्रीजिनानामवधिज्ञानं सदृशं, किं वा विशेषः ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-यो जिनो यतः समेति तस्य तत्स्थानसंबन्धि प्रवर्द्धमानं चावधिज्ञानं प्रवर्तीति, न सर्वेषां जिनानामवधिज्ञानसादृश्यमिति । १२८ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

जिणाहिय-जिनाऽऽहित-त्रि० । जिनैराहितः, जिनानां वा संबन्धी आहितो जिनाहितः । जिनप्रतिपादिते, जिनानुष्ठिते च । सूत्र० । "चरे भिक्खू जिणाहियं ।" जिनैराहितः प्रतिपादितोऽनुष्ठितो यो मार्गो जिनानां वा संबन्धी योऽभिहितो मार्गस्तं चरेदनुतिष्ठेत् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

जिणिऊण-जित्वा-अव्य० । जयं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद । अप० । "एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः" । ८ । ४ । ४४० । इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्य एप्पि, एप्पिणु, एवि, एविणु इत्यादेशाः । प्रा० ४ पाद । "गंग गमेप्पिणु जो मुअइ, जो सिवतित्थ गमेप्पि । कीलदि तिदसाऽऽवासगउ, सो जमलोउ जिणेप्पि ॥१॥" प्रा० ४ पाद ।

जिणित्ता-जित्वा-अव्य० । जयं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

जिणिंद-जिनेन्द्र-पुं० । जिननायके तीर्थकरे, "एत्थ इमं वण्णिअं जिणिंदेहिं ।" जिनेन्द्रैः जिननायकैः । पञ्चा० ५ विव० । औ० । पं० व० । रा० ।

जिणिंदपण्णत्त-जिनेन्द्रप्रज्ञप्त-त्रि० । तीर्थकरप्रणीते, पं० व० १ द्वार ।

जिणिंदवयण-जिनेन्द्रवचन-न० । जिनेश्वराऽऽगमे, पञ्चा० ।

चित्तं चित्तपयजुअं, जिणिंदवयणं असेसमत्तहिअं ।
परिसुद्धमेत्थ किं तं, जं जीवाणं हिअं णऽत्थि ? ॥३१॥

चित्रम्-अद्भुतमनेकातिशयाभिधानत्वाद् ज्ञानक्रियादिजनकत्वाद्वा चित्रमनेकविधं, तथा चित्रपदयुतम्-नानाविधार्थप्रतिपादकाभिधानयुक्तम्, जिनेन्द्रवचनं-जिनेश्वराऽऽगमः, अशेषसत्त्वहितं समस्तप्राण्युपकारकं भव्यानुसारेण मार्गप्रतिपत्त्युपायप्रतिपादनपरत्वात्, परिशुद्धं कषच्छेदतापविशुद्धं सुवर्णमिव निर्दोषम् । एवं च अत्रास्मिन् जिनवचने, किं तद् ?, यज्जीवानां हितं नास्ति ?, सर्वमपि जीवानां हितमस्तीत्यत इदं तपः परिदृश्यमानाऽऽगमेऽनुपलभ्यमानमप्युपलब्धमिवावगन्तव्यं, तथाविधजनहितत्वादिति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ पञ्चा० १९ विव० ।

जिणिस्सर-जिनेश्वर-पुं० । जिनेन्द्रे तीर्थकरे, पञ्चा० १९ विव० ।

जिणिस्सरसूरि [ण्]-जिनेश्वरसूरिन्-पुं० । श्रीवर्द्धमानसूरिशिष्य अभयदेवसूरिगुरौ स्वनामख्याते आचार्ये, स्था० १० ठा० । एतस्मादेवाऽऽचार्यात् खरतरगच्छः प्रवृत्तः, अयमाचार्यो वैक्रमीये १०८० वर्षे विद्यमान आसीत् । एतेन जावालपुरमुषित्वा हारिभद्राष्टकटीका, पञ्चलिङ्गीप्रकरणं, वीरचरित्रं, लीलावतीकथा, रत्नकोशश्चेत्यादिका अनेके ग्रन्था रचिताः । जै० इ० । तथा च स्थानाङ्गवृत्तौ-श्रीमच्चान्द्रकुलीनप्रवचनप्रणीताप्रतिबद्धविहारहारिचरितश्रीवर्द्धमानाभिधानमुनिपतिपादोपसेविनः प्रमाणाऽऽदिव्युत्पादनप्रवणप्रकरणप्रबन्धप्रणायिनः प्रबुद्धप्रतिबन्धकप्रवक्तृप्रवीणाप्रतिहतप्रवचनार्थप्रधानवाक्प्रसरस्य सुविहितमुनिजनमुख्यस्य श्रीजिनेश्वराऽऽचार्यस्य । स्था० १० ठा० ।

" यो जैनाभिमतं प्रमाणमनघं व्युत्पादयामासिवान्,
प्रस्थानैर्विविधैर्निरस्य निखिलं बौद्धाऽऽदिसंबन्धि तत् ।
नानावृत्तिकथाः कथापथमतिक्रान्तं च चक्रे तपः,
निःसंबन्धविहारमप्रतिहतं शास्त्रानुसारात्तथा ॥ ७ ॥
तस्याऽऽचार्यजिनेश्वरस्य मदवद्वाद्विप्रतिस्पर्द्धिनः,
तद्बन्धोरपि बुद्धिसागर इति ख्यातस्य सूरेर्भुवि ।
छन्दोबन्धनिबद्धबन्धुरवचःशब्दादिसल्लक्ष्मणः,
श्रीसंविग्नविहारिणः श्रुतनिधेश्चारित्रचूडामणेः" ॥८॥ ज्ञा० २ श्रु० ५ वर्ग १ अ० ।

तथा च पञ्चाशकवृत्तौ वर्द्धमानवर्णनमुपक्रम्य-
" शिष्योऽभवत्तस्य जिनेश्वराऽऽख्यः,
सूरिः कृतानिन्द्यविचित्रशास्त्रः ।
सदा निरालम्बविहारवर्ती,
चन्द्रोपमश्चान्द्रकुलाम्बरस्य " ॥ २ ॥ पञ्चा० १९ विव० ।
अष्टके वीरजिनमारभ्य वर्द्धमानमुनिपर्यन्तमुपवर्ण्य-
"संवेगरङ्गशाला-ग्रन्थार्थकथनसूत्रधरतुल्यः ।
सूरिर्जिनेश्वराऽऽख्यः, सिद्धिविधेः साधने धीरः" ॥३॥ अष्ट० ३२ अष्ट० । अन्योऽप्येतन्नामा राजगच्छीयो वज्रशाखायां कोटिकगणमध्यगोऽभयदेवसूरिशिष्योऽजितसेनगुरुः, तेन जैननैषधीयकाव्यं रचितं, स च वैक्रमीये १०५० वर्षे विद्यमान आसीत् । अपरश्च वैक्रमीये १२१२ वर्षे आसीत्, स च सूरिप्रभसूरिशिष्यः । चतुर्थश्च खरतरगच्छे जिनप्रबोधसूरिशिष्यः चन्द्रप्रभचरित्रग्रन्थरचयिता आसीत् । तस्य जन्म १२४५ वर्षे, दीक्षा १२५५ वर्षे, सूरित्वं १२५८ वर्षे, स्वर्गतिः १३३१ वर्षे समभवत् । जै० इ० ।

जिणुज्जाण-जिनोद्यान-न० । अवन्तीजनपदस्थोज्जयिनीनगरोत्तरपार्श्ववर्तिनि स्वनामख्याते उद्याने, ग० ५ अधि० । नि० चू० ।

जिणुत्तम-जिनोत्तम-पुं० । तीर्थकरे, " मग्गं विराहित्तु जिणुत्तमाणं ।" जिनोत्तमानां तीर्थकराणाम् । उत्त० २० अ० ।

जिणेप्पि-जित्वा-अव्य० । जयं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

जिणेस-जिनेश-पुं० । अर्हति, "जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कैः ।" जिनेशगीरर्हद्वाणी । द्वा० ६ अध्या० ।

जिणेसर-जिनेश्वर-पुं० । जिनेन्द्रे, तीर्थकरे, पञ्चा० १९ विव० ।

जिणेसरसूरि [ण्]-जिनेश्वरसूरिन्-पुं० । " जिणिस्सरसूरि " शब्दार्थे, जै० इ० ।

जिणोवइट्ठ-जिनोपदिष्ट-त्रि० । तीर्थकराभिमते, " जिणोवइट्ठा भावेणं ।" ग० २ अधि० ।

जिणोवएस-जिनोपदेश-पुं० । द्वादशाङ्गे प्रवचने, " ण वि तव्वाओ जिणोवएसम्मि ।" सम्म० ३ काण्ड ।

जिम्म-जीर्ण-त्रि० । "उज्जीर्णे" । ८ । १ । १०२ । इति प्राकृतसूत्रेण जीर्णशब्दे ईत उत्वे-'जुण्णो' उत्वाभावपक्षे-'जिण्णो' । प्रा० १ पाद । हानियुक्ते, भ० १ श० १ उ० । "जुण्णे जराजज्जरियदेहे" । जीर्णो हानिगतदेहः । भ० १६ श० ४ उ० । उत्त० । अनु० । निःसारे, "जहा जुण्णाइ कट्ठाइ, हव्ववाहो पमत्थति" । यथा जीर्णानि निःसाराणि काष्ठानि हव्यवाहो हुतभुक् प्रमथ्नाति शीघ्रं भस्मसात् करोति । आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । "अप्पेगइ-

या दावदवरुक्खा जुण्णा । " जीर्णा इव जीर्णाः । ज्ञा० १ श्रु० १० अ० । प्राकृते क्वचिद्द्वित्वं न भवति । " जिण्णे भोयणम-त्तओ । " प्रा० १ पाद । आ० चू० । जरायुके, जीरके, पुं० । शैलजे, न० । स्थूलजीरके, स्त्री० । वाच० । परिणतवयसि, बृ० १ उ० ।

जिएणकुमरी-जीर्णकुमारी-स्त्री० । वृद्धायामपरिणीतायां स्त्रियाम्, " जिण्णा जुण्णकुमरी । " जीर्णा जीर्णशरीरा, जरत्या वृद्धेत्यर्थः । सैव जीर्णत्वापरिणीतत्वाभ्यां जीर्णकुमारी । ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग १ अ० । नि० ।

जिएणगुल-जीर्णगुड-पुं० । निस्सारगुडे, जीर्णगुडस्य पि-ण्डीभवनलक्षणो बन्ध इति । भ० ८ श० ६ उ० । अनु० ।

जिएणघय-जीर्णघृत-न० । निस्सारघृते, अनु० ।

जिएणतंदुल-जीर्णतण्डुल-पुं० । निस्सारतण्डुलस्य पिण्डी-भवनलक्षणो बन्धः । भ० ८ श० ६ उ० । अनु० ।

जिएणतया-जीर्णत्वक्-स्त्री० । सर्पकञ्चुके, " भुजंगमे जुण्ण-तयं जहा जहे, विमुच्चती से दुहसेज्ज माहणे । " यथा सर्पः कञ्चुकं त्यक्त्वा निर्मलो भवत्येवं मुनिरपि दुःखशय्यातो नरकाऽऽदिभवाद्विमुच्यत इति । आचा० २ श्रु० ४ चू० ।

जिएणदुग्ग-जीर्णदुर्ग-न० । गूर्जरधराऽधिपस्य तेजःपालम-न्त्रिणा कारितपुराद्दूरे गिरिनारतलस्थे उग्रसेनगढापरनामके दुर्गे, ती० । " अणहिल्लवाडयपट्टणे य पोरवालकुलमंडणा आ-सरायकुमरदेवीतणया गुज्जरधराऽहिवइसिरिवीरधवलरज्जधुरं-धरा वत्थुपालतेजपालनामधिज्जा दो भायरा मंतिवरा हुत्था । तत्थ तेजपालमंतिणा गिरिनारतले निअनामंकिअं तेजपालपुरं ठाविअं, तस्स उ पुव्वदिसाए उग्गसेणगढं नाम दुग्गं जुगाइनाहप्पमुह-जिणमंदिररेहिल्लं विज्जइ; तस्स य तिण्णि नाम धिज्ज-आइं । तं जहा-उग्गसेणगढं ति वा, खंगारगढं ति वा, जुण्णदुग्गं ति वा । गढस्स बाहिं दाहिणदिसाए चउरिआवेइलदुअव-रियापसु वाडयाइं ठाणाइं चिट्ठंति, उत्तरदिसाए विसालथंभ-सालासोहिओ दसदुआरमंडवो, गिरिदुवारे य पंचमो हरी दामोअरो सुवण्णरेहानईपारे वट्टइ । " ती० ४ कल्प ।

जिएणसुरा-जीर्णसुरा-स्त्री० । निःसारसुरायाम्, जीर्णसुरायाः स्त्यानीभवनलक्षणो बन्धः । भ० ८ श० ६ उ० । अनु० ।

जिएणसेट्ठि [ए]-जीर्णश्रेष्ठिन्-पुं० । श्रेष्ठिपदाच्च्युते श्रेष्ठिनि, ध० र० ।

" पुरी समस्ति वैशाली, शालीनजनशालिनी ।
तत्राऽऽसीत्परमश्राद्धो, जिनदत्ताभिधः सुधीः ॥ १ ॥
सदा जिनपदाम्भोज-सेवनैकसितच्छदः ।
च्युतः श्रेष्ठिपदाज्जीर्ण श्रेष्ठित्वेन स विश्रुतः " ॥ २ ॥

ध० र० । " वाणारसीए भद्दसेणो जुण्णसेट्ठी । " आव० ४ अ० । कल्प० ।

जिएणाजिएण-जीर्णाजीर्ण-त्रि० । अर्द्धजीर्णे, तत्कायुःक्षपननिमित्तम् । " जिण्णाजिण्णे य भोयणे बहुसो । " आ० म० प्र० । आ० क० ।

जिएणासा-जिज्ञासा-स्त्री० । बुभुत्सायाम्, पञ्चा० ४ विव० ।

जिएणुज्जाण-जीर्णोद्यान-न० । राजगृहनगरस्योत्तरपश्चिम-दिशि स्थिते स्वनामख्याते उद्याने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जिएणुद्धार-जीर्णोद्धार-पुं० । जीर्णस्य भग्नमन्दिरादेरुद्धारो यत्र । संस्कारभेदे, वाच० । ध० ।

" नवीनजिनगेहस्य, विधाने यत्फलं भवेत् ।
तस्मादष्टगुणं पुण्यं, जीर्णोद्धारेण जायते ॥ १ ॥
जीर्णे समुद्धृते याव-त्तावत्पुण्यं न नूतने ।
उपमर्दो महांस्तत्र, स्वचैत्यख्यातिधीरपि ॥ २ ॥

तथा—

राया अमच्च सिट्ठी, कोडंबीए वि देसणं काउं ।
जिण्णे पुव्वाऽऽययणे, जिणकप्पी वा वि कारवइ ॥३॥
जिणभवणाइं जे उ-द्धरंति भत्तीइ सडिअपडिआइं ।
ते उद्धरंति अप्पं, भीमाओ भवसमुद्दाओ ॥ ४ ॥ "

जीर्णचैत्योद्धारकारणपूर्वकमेव च नव्यचैत्यकारणमुचितम्; तत एव संप्रतिनृपतिना एकोननवतिसहस्रा जीर्णोद्धाराः कारिताः, नवचैत्यानि तु षट्त्रिंशत्सहस्राण्येव । एवं कुमारपा-लवस्तुपालाऽऽद्यैरपि नव्यचैत्येभ्यो जीर्णोद्धारा एव बहवो व्य-धाप्यन्तेति । ध० २ अधि० ।

जिण्णोब्भवा-स्त्री० । देशी-दूर्वायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

जित्तिअ-यावत्-त्रि० । यत्परिमाणे, " यत्तदेतदोऽतोरित्तिअ एतल्लुक् च " ॥ ८ । २ । १५६ ॥ एभ्यः परस्य डावाऽऽदेरतोः परिमाणार्थस्य ' इत्तिअ ' इत्यादेशो भवति, एतदो लुक् च । यावत्, ' जित्तिअं ' । प्रा० २ पाद ।

जिध-यथा-अव्य० । सादृश्ये, येन प्रकारेणेत्यर्थे च । " कथंयथा-तथां थादेरेमेमेहेधा डितः " ॥ ८ । ४ । ४०१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण था इत्यस्य ' इध ' ' इह ' इत्यादेशौ भवतः । प्रा० ४ पाद ।

जिब्भगार-जिह्वाकार-पुं० । जिह्वाकारके शिल्पिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जिब्भा-जिह्वा-स्त्री० । लेढि अनया लिह्-व-नि० ह्रः । " ह्वो भो वा " ॥ ८ । २ । ५७ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण वा भः । प्रा० २ पाद । " हर्जिह्वासिं-हत्रिंशद्विंशतौ त्या " ॥ ८ । १ । ९२ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण इकारविकल्पः । प्रा० १ पाद । रसज्ञानेन्द्रिये, रसनायां च । वाच० । प्रश्न० । जं० । औ० । प्रज्ञा० । " सत्तंगुलिया जीहा । " जिह्वा मुखाभ्यन्तर-वर्तिमांसखण्डरूपा दैर्घ्येणाऽऽत्माङ्गुलतः सप्ताङ्गुला । तं० । " जि-ब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं । " मद्यमांसरसाभिलिप्सोर्मृषा-भाषिणो जिह्वां विनस्तितमात्रामाक्षिप्य तीक्ष्णाभिः शूलाभिरभि-तापयन्ति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । उत्त० । दशा० ।

जिब्भादुट्ठ-जिह्वादुष्ट-पुं० । जिह्वया दुष्टे, आव० ४ अ० । उत्त० ।

जिब्भादोस-जिह्वादोष-पुं० । जिह्वाविकारे, आव० ४ अ० ।

जिब्भामय-जिह्वामय-पुं० । जिह्वेन्द्रियहानौ, स्था० ६ ठा० ।

जिब्भामयदुक्ख-जिह्वामयदुःख-न० । जिह्वेन्द्रियहानिरूपे दुः-खे, " जिब्भामएणं दुक्खेणं संजोएत्ता भवइ । " जिह्वामयं जि-ह्वेन्द्रियहानिरूपं यद् दुःखं, तेन संयोजयिता भवति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जिब्भामयसोक्ख-जिह्वामयसौख्य-न० । जिह्वाया विकारो जिह्वामयं, सौख्यं रसोपलम्भाऽऽनन्दरूपं जिह्वामयसौख्यम् । रसोप-लम्भाऽऽनन्दरूपे जिह्वेन्द्रियसुखे, " जिब्भामयाओ सोक्खाओ ववरोवित्ता भवइ । " स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जिब्भिंदिय-जिह्वेन्द्रिय-न० । रसनेन्द्रिये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । जिह्वेन्द्रियं च दुःखाय भवति ।

यथा दुःखाय भवति तथोदाहरणम्-

" भूप्रतिष्ठपुरे राजा, सोदासो मांसलोलुपः ।
अमारिर्घोषिताऽन्येद्यु-र्मांसं पर्युषितं पुनः ॥ १ ॥
मार्जारो जगृहेऽन्यत्तु, न सुनास्वप्यभूत्तदा ।
राज्ञो भीतेन सूदेन, शिशुर्व्यापाद्य संस्कृतः ॥ २ ॥
भुञ्जानः पृष्टवान् राजा, मांसं स्वादिष्ठमद्य किम् ? ।
तेनाऽऽख्यातेऽभयं दत्त्वा, हत्वैकैकं पचेः सदा ॥ ३ ॥
तच्च ज्ञातं जनैः सर्वैः, ततो राक्षस इत्यसौ ।
पाययित्वा महामद्य-मटव्यां छर्दितो नृपः ॥ ४ ॥
तत्राप्येकाकिनं व्यापा-द्याश्नाति स च मानुषम् ।
सार्थस्तत्राध्वनाऽगच्छत् , ज्ञातः सुप्तेन तेन न ॥ ५ ॥
आवश्यकं प्रकुर्वाणाः, दृष्टाश्च मुनयः स्थिताः ।
शक्नोत्याक्रमितुं नाम, ततश्चिन्तां प्रपन्नवान् ॥ ६ ॥
आचार्यैः कथितो धर्मः,प्रबुद्धः प्राव्रजत् ततः ।
आचार्या ज्ञानिनोऽभूवन्, अभ्युद्यमे स तैर्नतः ॥ ७ ॥
भाषिणः कति तादृक्षाः, तद्रसज्ञाऽतिदुःखदा ।
जेतव्याऽसौ प्रयत्नेन,दुर्जया मोहनीयवत् ॥ ८ ॥ " आ०क० । आ० म० । आ० चू० ।

जिब्भिंदियनिग्गह-जिह्वेन्द्रियनिग्रह-पुं० ६ त० । जिह्वेन्द्रियस्य निग्रहे , जिह्वेन्द्रियस्य स्वविषयाभिमुखमनुधावतो नियमने, उत्त० ।

जिब्भिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । जिब्भिंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु रसेसु रागद्दोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधेइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६५॥

हे भदन्त ! जिह्वेन्द्रियनिग्रहेण जीवः किं जनयति ? । गुरुराह-हे शिष्य ! जिह्वेन्द्रियनिग्रहेण जीवो मनोज्ञामनोज्ञेषु रसेषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति, तत्प्रत्ययिकं रागद्वेषनिमित्तकं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं रागद्वेषोपार्जितं कर्म निर्जरयति-क्षपयति । ॥ ६५ ॥ उत्त० २९ अ० ।

जिब्भिंदियपडिसंलीणया-जिह्वेन्द्रियप्रतिसंलीनता-स्त्री० । मनोज्ञामनोज्ञेष्वाहारेषु रागद्वेषपरिहाराऽऽत्मके आजीविकानां तपोभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

जिब्भिंदियबल-जिह्वेन्द्रियबल-न० । बलभेदे, स्था० १० ठा० ।

जिब्भिंदियमुंड-जिह्वेन्द्रियमुण्ड-पुं० मुण्डभेदे, स्था० १० ठा० ।

जिब्भिंदियसंवर-जिह्वेन्द्रियसंवर-पुं० । रसनेन्द्रियसंवरणे, स्था० ।

तच्चैवम्-

चउत्थं जिब्भिंदिएण साइयरसाणि उ मणुण्णभद्दकाइं, किं ते ?, ओग्गाहिमविविहपाणभोयणगुलकयखंडकयतेल्लघयकयभक्खेसु बहुविहेसु लवणरससंजुत्तेसु महुमंसबहुप्पकारमज्जियनिट्ठाणगदालियंबसेहंबदुद्धदहिसरयमज्जवरवारुणीसीहुकापिसायणसायट्ठारसबहुप्पगारेसु भोयणेसु य मणुण्णवण्णगंधरसफासबहुदव्वसंभिएसु अण्णेसु य एवमाइएसु रसेसु मणुण्णभद्दएसु, न तेसु समणेणं सज्जियव्वं० जाव न सतिं च मतिं च तत्थ कुज्जा, पुणरवि जिब्भिंदिएण सातियरसानि अमणुण्णपावकाइं, किं ते ?, अरसविरससीयलुक्खणिज्जप्पपाणभोयणाइं दोसमुवावण्णकुहियपूइयअमणुण्णविणट्ठपसूयबहुदुब्भिगंधियाइं तित्तकडुयकसायअंबिलरसलिंदनीरसाइं अण्णेसु य एवमाइएसु रसेसु अमणुण्णपावएसु न तेसु समणेण रूसियव्वं० जाव चरेज्ज धम्मं ॥ प्रश्न० ५ संव० द्वार ॥ (टीकाऽस्य 'रसणिंदि' शब्दे)

जिब्भिया-जिह्विका-स्त्री० । जिह्वा-कन्, टाप् । कामिमाजिह्वायाम्, स० । शीतोदाया महानद्याः प्रपातमधिकृत्य-"वइरामयाए जिब्भियाए " । वज्रमय्या जिह्विकया प्रणालस्थमकरमुखजिह्विकया । स० । " रोहियंसा णामं महाणई जओ पवडइ, एत्थ णं महं एगा जिब्भिया पण्णत्ता । " जं० ४ वक्ष० ।

जिम-भुज-धा० । भक्षणे, आत्म० । पालने, पर० सक० रुधादि० अनिट् । " भुजो भुंजजिमजेमकम्माण्हसमाणचमढचड्डाः " । ८ । ४ । ११० । इति प्राकृतसूत्रेण भुजेर्जिमाऽऽदेशः । "जिमइ-जेमइ" प्रा० ४ पाद । भुङ्क्ते अन्नम्, अभौक्षीत्, भूमिं भुनक्ति पालयति । वाच० । ' जिमइ-जिम्मइ ' । प्रा० ४ पाद ।

जिम-धा० । भक्षणे, जेमति, अजेमीत् । वाच० ।

जिमिय-जिमित-त्रि० । कृतभोजने, विपा० ३ अ० । "जिमिए भुत्तुत्तरागए " । जिमितो भुक्तवान् । भ० ३ श० १ उ० । ज्ञा० ।

जिम्म-जिह्म-त्रि० । हा-मन्-ह्रित्वादि० नि० । " पक्ष्मश्मष्मस्मह्मां म्हः " ॥ ८ । २ । ७४ ॥ इत्यादिसूत्रेण म्हः क्वचिन्न भवति । प्रा० २ पाद । कुटिले, मन्दे, तगरवृक्षे च । वाच० । "अजिम्मकंतणयणा". अजिह्मे अमन्दे भद्रभावतया निर्विकारचपले कान्ते नयने यासां तास्तथा । जं० २ वक्ष० । स० । कौटिल्ये, न० । तदात्मके मायाकषायान्तर्गते मोहनीयकर्मभेदे च । स० ७४ सम० ।

जिम्मजड-जिह्मजड-त्रि० । मायारहिते, "जिम्मजडाइं निविस्संभे । " जिह्मजडानि जिह्मेन मायया रहितानि । व्य० ३ उ० ।

जिम्मय-जिह्मक-पुं० । मेघभेदे, स्था० ५ ठा० । " जिम्मेणं महामेहे बहुवासेहिं एगं वासं भावेइ वा, ण वा भावेइ । " जिह्मस्तु बहुभिर्वर्षणैरेकमेव वर्षमब्दं यावद् भुव भावयति, नैव वा भावयति, रूक्षत्वात्तज्जलस्येति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जिम्ह-जिह्म-त्रि० । ' जिम्म ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

जिम्भजड-जिह्मजड-त्रि० । 'जिम्मजड' शब्दार्थे, व्य० ३ उ० ।

जिम्भय-जिह्मक-पुं० । ' जिम्मय ' शब्दार्थे, स्था० ५ ठा० ।

जिम्ह-जिह्म-त्रि० । 'जिम्म' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

जिम्हजड-जिह्मजड-त्रि० । 'जिम्मजड' शब्दार्थे, व्य० ३ उ० ।

जिम्हय-जिह्मक-पुं० । 'जिम्मय' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जिय-जित-न० । जि-भावे क्तः । जये, कर्मणि क्तः । अभिभूते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । पराजिते, ग० २ अधि० । जयलब्धे, वशीकृते, आयत्तीकृते च । त्रि० । वाच० । वृ० । सूत्र० । कल्प० । परावर्तनकाले, प्रश्नोत्तरकाले, शीघ्रमागच्छति, अनु० ।

सूत्राऽऽदौ परावर्तनं कुर्वतः परेण वा क्वचित्पृष्टस्य सतः यत् शीघ्रमागच्छति तज्जितम् । अनु० । विशे० । ग० । " जियं नाम-जत्थ पुच्छिम्रो तत्थ आगति भणइ । " पं० चू० ।

जियंतय-जीवत्-न० । हरितवनस्पतिकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जियंती-जीवन्ती-स्त्री० । वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जियकरण-जितकरण-पुं० । करणदक्षे, " जियकरणविणीयं पगत्थे । " जितकरणो विनीत इति द्वावप्येकार्थौ तात्पर्यविश्रान्त्या; शब्दार्थस्तु परस्परं भिन्नः;जितकरणो नाम-करणदक्ष उच्यते, विनीत इति विनयकरणशीलः । व्य० ३ उ० ।

जियकसाय-जितकषाय-त्रि० । निगृहीतक्रोधाऽऽदिभावे, पञ्चा० १७ विव० । " तिलोगपुज्जे जिणे जियकसाए । " जितकषायान् निराकृतक्रोधाऽऽदिभावान् । पञ्चा० १० विव० ।

जियकोह-जितक्रोध-त्रि० । अभिभूतकोपे, ज्ञा० १२ ज्ञा० । विफलीकृतोदितक्रोधे, औ० । "जितेन्द्रिया जितक्रोधाः, दुर्गाण्यतितरन्ति ते । " ज्ञा० १२ ज्ञा० ।

जियक्ख-जिताक्ष-त्रि० । जितेन्द्रिये, " विणयकुसलो जियक्खगंभीरो । " दर्श० ५ तत्त्व । पञ्चा० ।

जियणिद्द-जितनिद्र-त्रि० । जिता निद्रा आलस्यं येन स जितनिद्रः । त्यक्ताऽऽलस्ये, जं० ३ वक्ष० । औ० । अल्पनिद्रे,ग० १ अधि० । स हि रात्रौ सूत्रमर्थं वा परिभावयन् न निद्रया बाध्यते । प्रव० ६४ द्वार । अप्रमत्ते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जियणिद्दिंदिय-जितनिद्रेन्द्रिय-त्रि० । जितानि वशीकृतानि निद्रा इन्द्रियाणि यैस्ते जितनिद्रेन्द्रियाः । वशीकृतनिद्रेन्द्रिये, बृ० १ उ० ।

जियपरिसा-जितपरिषत्-त्रि० । महत्यामपि परिषदि क्षोभमनुपयाते, प्रव० ६४ द्वार । ग० । आचा० । स० ।

जियपरीसम-जितपरिश्रम-त्रि० । परिश्रमरहिते, कल्प० १ क्षण ।

जियपरीसह-जितपरिषह-त्रि० । जिताः पराजिताः परिषहाः शीतोष्णरूपा येन स जितपरिषहः । ग० ३ अधि० । औ० । शीताऽऽतपाऽऽद्यातुरत्वेऽप्यखिन्ने, जं० ३ वक्ष० ।

जियप्पा-जिताऽऽत्मन्-पुं० । आत्मनो जेतरि, सूत्र० ।

तथा चोक्तम्-

" कोहं माणं च मायं च, लोभं पंचिंदियाणि य ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥ १ ॥
जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जये जिणे ।
एक्कं जिणेज्ज अप्पाणं, एसे स परमो जओ " ॥ २ ॥

सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

जियभय-जितभय-त्रि० । अभये, स० ।

जियमाण-जितमान-त्रि० । विफलीकृतमाने, औ० ।

जियरागदोस-जितरागद्वेष-त्रि० । रागद्वेषरहिते, "जिणेहिं जियरागदोसेहिं ।" जितरागद्वेषैर्विगतासत्यवादकारणैः । पञ्चा० १ विव० ।

जियलोह-जितलोभ-त्रि० । विफलीकृतलोभे, औ० ।

जियवं-जितवत्-त्रि० । प्राप्तजये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जियसत्तु-जितशत्रु-पुं० । पराजितशत्रौ, " जितसत्तू पवररायसीहा ।" प्रश्न० ४ संव० द्वार । अजितजिनस्य पितरि,प्रव० १२ द्वार । आव० । स० । "विजया जियसत्तुपुत्तस्स ।" ति० । वाणिज्यग्रामवास्तव्ये नृपे, "तत्थ णं वाणियग्गामे जियसत्तू राया ।" उपा० १ अ० । चम्पानगरीवास्तव्ये नृपे,"चंपा नामं नयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेइए, जियसत्तू राया ।" उपा० १ अ० । छत्रानगरीवास्तव्ये नृपे,आ० म० प्र० । वसन्तपुरस्थे नृपे, "वसंतपुरे नयरे जियसत्तू राया । " आ० म० द्वि० । वीतशोकानगरीवास्तव्ये नृपे,आ०चू० ।"वीयसोगा नगरी, जियसत्तू नाम राया । " आ० चू० २ अ० । आ० म० । उज्जयिनीनगरीवास्तव्ये नृपे, उत्त० ३ अ० । सर्वतोभद्रनगरस्थे नृपे, " सव्वओभद्दे णयरे जियसत्तू णामं राया होत्था । " विपा० १ श्रु० ५ अ० । मथुरानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते नृपे, आ० म० द्वि० । मिथिलानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते नृपे, जं० १ वक्ष० । मिथिलायां नगर्यां जितशत्रुर्नाम राजा । सू० प्र० १ पाहु० । मल्लिजिनेन सह प्रव्रजिते पाञ्चालदेशस्थे काम्पिल्यनगरकारके राजनि,स्था० । "जियसत्तू पञ्चालराया " । जितशत्रुर्नाम पाञ्चालजनपदराजः काम्पिल्यनगरनायकः । स्था० ६ ठा० । ज्ञा० । भविष्यति स्वनामख्याते दत्तस्य राज्ञः सुते च । ती० । " दत्तो य राया वावत्तरिवासाओ पइदिणं जिणचेइअमंडिअं महिं काही, लोगं च सुहिअं काही ति, दत्तस्स पुत्तो जियसत्तू , तस्स वि य मेघघोसो कक्की ,अणंतरं महानिसीहं न वट्टिस्सइ । " ती० २० कल्प ।

जियसेण-जितसेन-पुं० । आवस्तीवास्तव्ये स्वनामख्याते आचार्ये, आव० ४ अ० । सुमतिजिनसमकालिके स्वनामख्याते चक्रवर्तिनि, ति० । कौशाम्बीवास्तव्ये स्वनामख्याते नृपे, आ० क० । " कौशाम्बीत्यस्ति पूस्तत्र, जितसेनो महीपतिः । " आ० क० । भरतवर्षस्थे अतीतायामुत्सर्पिण्यां स्वनामख्याते कुलकरे, स० ।

जियसेलेस-जितशैलेश-पुं० । मेरोरपि निष्प्रकम्पतरे, आव० १ अ० ।

जियारि-जितारि-पुं० । संभवजिनस्य पितरि, आव० १ अ० । प्रव० । स० । " सेनाए जियारितणयस्स । " ति० । उज्जयिनीनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते नृपे, " उज्जयिन्यस्ति पूः सर्वपुरामुज्जयिनी श्रिया । तस्यां वइर्यान्तरङ्गारि-र्जितारिः पृथिवीपतिः ॥ १ ॥ " आ० क० ।

जिह-यथा-अव्य० । सादृश्ये, येनप्रकारेणेत्यर्थे च । "कथंयथा-तथां थादेरेमेमेहेधा डितः " ॥ ८ । ४ । ४०१ ॥ प्रा० ४ पाद ।

जी-जीर्-स्त्री० । जरायां,दुर्गतौ च । जृशब्दो जरायां दुर्गतावपि । जी रेफान्तस्तदर्थः । स्त्री० । एका० ।

जीमूय-जीमूत-पुं० । ज्या-क्विप् जीः । तया जरया मूतो बद्धः । ' मु 'बन्धने क्तः । जयति नभः, जीयते वायुना वा जि-क्त-मुट् दीर्घश्च वा । मेघे, वाच० । प्रा० । रा० । जं० । स्था० । जी० । मेघविशेषे च । " जीमूएणं महामेहे एगेणं वासेणं दसवासाइं भावेइ । " स्था० ४ ठा० ४ उ० । मुस्तके, पर्वते, भृतकरे,देवताड्के, इन्द्रे, कोशातकीलतायाम्, वाच० ।

जीय-जीत-न० । आचरिते, "जीयमिणं आणाओ ।" पञ्चा० १५ विव० । स्था० । जीत० । आ० म० । आचारे, कल्प० ७ क्षण । "अप्पं गइया जीयमेयं ति" । जीतमेतत् कल्प एव इति कृत्वा । रा० । "कुच्छिंसि गब्भत्ताए ऽवक्कंते तं जीयमेयं तीअपच्चुप्पण्णमणागयाणं" । जीतमेतत् आचार एष इत्यर्थः । कल्प० २ क्षण । सर्वानुचीर्णे, विशे० । अथ जीतमिति कोऽर्थ इत्यत आह-"बहुजणमाइण्णं पुण, जीयं उचियं ति एगट्ठं ।" बहुभिर्जनैर्गीतार्थैराचीर्णं बहुजनाऽऽचीर्णमिति वा, उचितमिति वा एकार्थम् । किमुक्तं भवति?, बहुजनाऽऽचीर्णं नाम जीतमिति । व्य० १ उ० । प्रभूतानेकगीतार्थकृतायां मर्यादायाम्, उपचारात्तत्प्रतिपादके ग्रन्थे च । जीतं नाम-प्रभूतानेकगीतार्थकृता मर्यादा, तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽप्युपचाराज्जीतम् । व्य० १ उ० । मर्यादाकारणे सूत्रे च । जीतमिति सूत्रमुच्यते, जीतं स्थितिः, कल्पो मर्यादा, व्यवस्थेति हि पर्यायाः । मर्यादाकारणं च सूत्रमुच्यते । नं० ।

जीव-पुं० । प्राणधारणे, प्राणिनि च । जी० । "जीयस्स विसोहणं परमं ।" 'जीव' प्राणधारणे, जीवति, जिजीव, जीविष्यतीत्युपयोगलक्षणत्वेन त्रिकालमपि जीवनाज्जीवस्तस्य विशेषेण शोधनम् । जी० १ प्रति० ।

जीवित-न० । "यावत्तावज्जीविताऽऽवर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवेवः" ॥ ८ । १ । २७१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण सस्वरस्य वकारस्यान्तर्वर्तमानस्य लुग् वा । प्रा० १ पाद । जीविते, "जीयकामत्थधम्महेउं ।" जीवश्च जीवितं जीतं वा । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । जीवितमिव जीवितम् । श्रुते, मर्यादायां च । विशे० ।

एएहिँ कारणेहिँ, जीयं ति कयं गणहरेहिँ ॥ ११ १ ३ ॥

(जीयं ति) जीवितं श्रुतं द्वादशाङ्गम् । अयमत्राभिप्रायः-यथा जीवस्य जीवितमात्रं न कदाचिद् व्यवच्छिद्यते, तथा अव्यवच्छित्तिनयाभिप्रायतः श्रुतमपि न कदाचिद् व्यवच्छिद्यते, ततो जीवितमिव जीवितं श्रुतमुच्यते, तद्गणधरैः सुखग्रहणाऽऽदिकारणेभ्यः कृतम् । अथवा-न सुखाऽऽदिकारणेभ्य एव. किं तर्हि?, (जीयं ति) जीवितं मर्यादा, ततश्च गणधराणां जीवितं धर्मो मर्यादैवेयं यदुत तन्नामकर्मोदयतस्तत्स्वाभाव्यात् कर्तव्यमेव तैः श्रुतविरचनम् । अथवा-(जीयं ति) जीतमाचरितम् । कल्पएवायं सर्वगणधराणां यत्तैः संदर्भणीयमेव श्रुतम् । विशे० ।

होइ सुहं जीयं पि य, कायव्वमिदं जओऽवस्सं ॥ १ १ १ ६ ॥
सव्वेहिँ गणहरेहिँ, जीयं ति सुयं जओ न वोच्छिन्नं ।
गणहरमज्जाया वा, जीयं सव्वाणुचिन्नं वा ॥ १ १ १ ७ ॥

(जीयं पि य त्ति) जीवितं श्रुतम्; अथवा-जीवितं मर्यादा, यदि वा-जीतं सर्वानुचीर्णम् । कोऽर्थः?, इति । आह-"कायव्वं" इत्यादि । कर्तव्यमिदं, यतोऽवश्यं सर्वैर्गणधरैरित्युत्तरगाथायां संबन्धः । ततो जीवितं द्वादशाङ्गश्रुतं, मर्यादा, सर्वगणधराऽऽचीर्णं वेदमिति कृत्वा कृतं ग्रथितं गणधरैरिति, तदेवं 'जीयं' इति शब्दार्थत्रयं भवतीति तांस्त्रीनप्यर्थान् तस्य दर्शयति-"जीयं ति सुयं" इत्यादि । विशे० । आ० म० ।

जीयकप्प-जीतकल्प-पुं० । जीतेनावश्यंभावेन कल्प आचारो जीतकल्पः । कल्प० ५ क्षण । पूर्वपुरुषाचरितलक्षणे आचारे, पञ्चा० ६ विव० । तदात्मके कल्पभेदे, पं० भा० । स चानुज्ञाकल्पस्य गौणं नामान्तरं, तथा च पञ्चकल्पभाष्येऽनुज्ञाकल्पस्य विंशतिनामधेयान्यधिकृत्य-"तित्थकरेहिं कयमिणं, गणधारीणं तु तेहि सीसाणं । तत्तो परंपरेणं, आइण्ण तेण जीयं तु ॥ १ ॥" पं० भा० । जीतकल्प आचरितकल्पो जिनप्रतिबोधनलक्षणः । स्था० १० ठा० । जीतमाचरितं, तस्य कल्पो वर्णना प्ररूपणा, जीतकल्पः । आचारवर्णने, तत्प्रतिपादके जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणरचिते छेदश्रुतविशेषे च । जीत० ।

इय एस जीयकप्पो, समासओ सुविहियाणुकंपाए ।
कहिओ देयमयं पुण, पत्ते सुपरिच्छियगुणम्मि ॥ १०३ ॥

इत्यमुना प्रकारेणाऽऽद्यगाथापञ्चकेन शास्त्रप्रस्तावनामभिधाय चतसृभिर्गाथाभिराद्यस्य, चतसृभिर्द्वितीयस्य, तिसृभिस्तृतीयस्य, द्वाभ्यां चतुर्थस्य, पञ्चभिः पञ्चमस्य, "उद्देसऽज्झयणेसुं, खंधंगेसु कमसो पमायस्स ।" इति गाथातः प्रारभ्य "ओसिज्जड़ सुबहुं पि हु ।" इति गाथापर्यन्ताभिरष्टपञ्चाशद्भिर्गाथाभिर्ज्ञानाऽऽचाराऽऽदिपञ्चकातिचारगोचरस्य षष्ठस्य तिसृभिः सप्तमस्य चतसृभिरष्टमस्य सप्तभिर्नवमस्य नवभिर्दशमस्य प्रायश्चित्तस्य व्याख्यानेन एष सर्वसमुदायाऽऽत्मको जीतकल्पः, जीतमाचरितं, तस्य कल्पो वर्णना प्ररूपणा, समासतः संक्षेपतः सुविहितानुकम्पया, शोभनं विहितमनुष्ठानं येषां ते सुविहितास्तेषामनुकम्पया कथितः प्ररूपितः, देयः पुनरयं पात्रे सुपरीक्षितगुणे आत्यकाञ्चनवत्तापच्छेदनिकषमहे संविग्ने गीतार्थे, न पुनरन्यस्मिन्, येन जीतकल्पदायकग्राहकौ द्वावपि कर्मनिर्जरया शुद्ध्यतः सिद्ध्यतश्चेति । जीत० । तथा च जीतकल्पवृत्तौ तिलकाऽऽचार्यः-"इति मुनिकृत्यकृतः श्रुत-रहस्यकल्पस्य जीतकल्पस्य । विवरणलव कारच्चे, स्वस्मृतिबीजप्रबोधाय ॥ ६ ॥" इह निशीथकल्पव्यवहाराऽऽदीनि भूयांसि छेदश्रुतानि, तेषु चातिविस्तरेण प्रायश्चित्तान्यभिधीयन्ते, प्रतिदिनं च कल्पं तदवगाहसामर्थ्यं प्रतिग्रन्थं नानाऽतिचाराताश्रित्य पुरुषाद्यौचित्ये न काऽपि क्वाप्युपपत्तिरुच्यते । ततः किं कुत्र दानं दीयते?, कथमात्मनः परस्य वा शुद्धिर्भवति?, इति व्यामुह्यन्त्यन्तेवासिनोऽतस्तेषां सुखेन प्रायश्चित्तविधिप्रतिपत्तये पूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः समस्तच्छेदग्रन्थानामुपनिषत्कल्पं तदपेक्षयाऽत्यल्पं जीतकल्पं कृतवान् । एवं द्विधा विनेयाः-योग्याः, अयोग्याश्च । तत्र योग्याः ये रक्तसंवेगतरङ्गिणीतरङ्गक्षालितान्तरमलाः परिमलितबुद्धयः समस्तसिद्धान्तमहार्णवपारीणाः परिणतवयसः मार्गपथीनप्रतिभाप्राग्भारस्मारचेतसः सततमुत्सर्गापवादगोचराऽऽचारचतुराश्चिरप्रव्रजिताः । ये त्वेतद्विपरीतास्तिन्तिणिकाऽऽदयश्च ते अयोग्याः । यदुक्तम्-"तिंतिणिए चलचित्ते, गाणंगणिए य दुब्बलचरित्ते । आयरियपरिभासी, वामावट्टे य पिसुणे य" ॥ १ ॥ इति । तिन्तिणिका मुहुर्मन्दमन्दस्वरजल्पनशीलाः, गाणङ्गणिका ये षण्मासाभ्यन्तरगणाद् गणं संक्रामन्ति, एतेषामयं न दातव्यः । यतः-"आमे घडे निहत्तं, जहा जलं तं घडं विणासेइ । इय सिद्धंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ ॥ १ ॥" अतो योग्यानामेव दातव्यः । जीत० ।

जीयकप्पिय-जीतकल्पिक-पुं० । जीतेनावश्यंभावेन कल्प आचारो जीतकल्पः, सोऽस्ति यस्य स जीतकल्पिकः । कल्प० ५ क्षण । जीतकल्प आचरितकल्पो जिनप्रतिबोधनलक्षणो विद्यते यस्य स जीतकल्पिकः । जीतकल्पवति, स्था० १० ठा० ।

जीयधर-जीतधर-त्रि० । सूत्रधरे, आर्यगोत्रोत्पन्ने शाण्डिल्यशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये च । जी०। "संडिल्लं अज्जजीयधरं ।" आरात्सर्वहेयधर्मेभ्योऽर्वाग् यातमार्यम् । जीतमिति सूत्रमुच्यते। जीतं,स्थितिः,कल्पो,मर्यादा, व्यवस्था इति हि पर्यायाः मर्यादाकारणं च सूत्रमुच्यते। तथा 'धृञ्' धारणे । ध्रियते,धारयतीति धरः । "लिहाऽऽदिभ्यः"॥५ । १ । ५०॥ इत्यच्प्रत्ययः । आर्यजीतस्य धर आर्यजीतधरः,तम् । अन्ये तु व्याचक्षते-शाण्डिल्यस्यापि शिष्य आर्यगोत्रो जीतधरनामा सूरिरासीत् ,तं वन्दे इति । नं०।

जीयलक्खण-जीवलक्षण-न०। जीवस्याऽऽत्मनो,लक्षणं-लक्ष्यते ज्ञायते यदन्यव्यवच्छेदेनेति तल्लक्षणम्,असाधारणं स्वरूपं,जीवलक्षणम्। जीवस्यासाधारणे स्वरूपे,कर्म०। तच्च ज्ञानाऽऽदिक उपयोगः, अत एवोक्तमन्यत्र-"उपयोगलक्षणो जीवः"इति। कर्म० ४ कर्म० ।

जीयवं-जीवितवत्-त्रि० । प्राणिनि, " वप्प ! ताय ! जीयवं " जीवितवन् !, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जीयववहार-जीतव्यवहार-पुं० । द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषप्रतिसेवाऽनुवृत्त्या संहननधृत्यादिपरिहाणिमवेक्ष्य यत्प्रायश्चित्तदानं, यो वा यत्र गच्छे सूत्रातिरिक्तकारणतः प्रायश्चित्तव्यवहारप्रवर्तितो बहुभिरन्यैश्चानुवर्तितं तज्जीतम् । स्था० ५ ठा० २ उ० । नं० । जीतं श्रुतोक्तादपि हीनमधिकं वा परम्परयाऽऽचीर्णं, तेन व्यवहारो जीतव्यवहारः । ध० २ अधि० । व्यवहारभेदे, " जीए य पंचमए । " जीतं गीतार्थसंविग्नप्रवर्तितशुद्धव्यवहारः । पञ्चा० १६ विव० ।

तथा च-

कयपवयणप्पणामो, वुच्छं पच्छित्तदाणसंखेवं ।
जीयव्ववहारगयं, जीयस्स विसोहणं परमं ॥ १ ॥

प्रकर्षेण परसमयाद् यथावस्थितभूरिभेदप्रभेदैरुच्यन्ते जीवाजीवाऽऽदयः पदार्था अनेनास्मिन्निति वा प्रवचनम्-सामायिकाऽऽदिबिन्दुसारपर्यन्तं मुख्यतः श्रुतज्ञानम्; उपचारात् तदुपयुक्तश्चतुर्विधः सङ्घोऽपि; कृतः प्रवचनस्य प्रणामो येन स कृतप्रवचनप्रणामोऽहं,वक्ष्ये प्रायश्चित्तदानसंक्षेपम्, पापं छिनत्तीति पापच्छित् । अथवा-प्रायश्चित्तम्-जीवं,मनो,वाऽतीचारमलमलिनितं शोधयतीति प्रायश्चित्तम् । आर्षत्वात् प्राकृतेन 'पच्छित्तं' । उक्तं च-"पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं ति भण्णए तम्हा । पाएण वा वि चित्तं, सोहेई तेण पच्छित्तं" ॥१॥ तस्य दानं,तस्य संक्षेपः सङ्ग्रहस्तं,जीतव्यवहारकृतम्,जीतव्यवहारः-"वत्तऽणुवत्तपवत्तो," इत्यग्रेतनगाथयैव वक्ष्यमाणलक्षणः, तेन कृतमुपदिष्टं,जीतव्यवहारगतं वा जीतव्यवहारात् प्रविष्टम्;जीवस्य, " जीव प्राणधारणे " जीवति, जिजीव, जीविष्यतीत्युपयोगलक्षणत्वेन त्रिकालमपि जीवनाज्जीवः, तस्य, विशेषेण शोधनम् । विशेषश्चायम्-द्विजाऽऽदयोऽपि स्थूलबुद्धयः क्वापि प्राणिवधादौ सामान्येन प्रायश्चित्तं ददति,न पुनः संघट्टनपरितापनोपद्रवाऽऽदिभेदैः सर्वेषामेकेन्द्रियाऽऽदित्रसपर्यन्तानां विभागभेदेन प्रायश्चित्तं दातुं जानन्ति । न ह्ययमुपदेशस्तदीयशास्त्रेऽस्ति । इह पुनः प्रवचने सर्वमस्ति । अत एव यथोपलक्षाराऽरिष्टकोदकाऽऽदिभिर्वस्त्रमलस्य शोधनं, तथाऽत्रापि कर्ममलमलिनस्य जीवस्य जीतव्यवहारोपदिष्टं विशोधनम्,परमं-प्रकृष्टम्, अनन्यसदृशम्, नान्यत्रैवंविधः प्रायश्चित्तविधिरस्तीत्यर्थः ।

इह शिष्यः प्राह-विशेषणं हि व्यवच्छेदकं भवति, यथा नीलोत्पलमित्यत्र नीलविशेषणं, उत्पलशब्दस्य रक्तोत्पलाऽऽदिभिरपि सामानाधिकरण्यं संभवति तद्व्यवच्छेदाय, तत् किमत्राप्यन्येऽपि व्यवहाराः सन्ति, येन जीतव्यवहारगतमिति विशेष्यते ?। गुरुराह-सन्त्यन्येऽप्यागमश्रुताऽऽज्ञाधारणाव्यवहाराख्याश्चत्वारो व्यवहाराः, तद्व्यवच्छेदायेह जीतपदम् । जीत० । येष्वपराधेषु पूर्वमहर्षयो बहुना तपःप्रकारेण शुद्धिं कृतवन्तः, तेष्वपराधेषु सांप्रतं द्रव्यक्षेत्रकालभावान् विचिन्त्य संहननाऽऽदीनां च हानिमासाद्य नर्धुचितेन केनचित्तपःप्रकारेण यां गीतार्थाः शुद्धिं निर्दिशन्ति, तत् समयपरिभाषया जीतमुच्यते । अथवा यत्र गच्छे सूत्रातिरिक्तं न्यूनं वा कारणतः प्रायश्चित्तं प्रवर्तितं तद् जीतं, तस्य व्यवहारो जीतव्यवहारः ।

स चायम्-

" वत्तऽणुवत्तपवत्तो, बहुसो आसेविओ महजणेणं ।
एसो हु जीयकप्पो, पंचमओ होइ नायव्वं ॥ १ ॥"

वृत्तं पात्रबन्धग्रन्थिदानाऽऽदिक एकदा एकेन वा जातः,ततोऽनुवृत्तं पुरुषान्तरं यावत्,ततः प्रवृत्तं पुरुषप्रवाहेन अतर एव बहुश आसेवितो महाजनेन । बहुश्रुतनिर्घट्टने भाष्यकृताऽप्युक्तम्-

" वत्तो नामं एक्कसि, अणुवत्तो जो पुणो वितियवारं ।
तइयव्वारे पवत्तो, सुपरिग्गहिओ महजणेणं ॥१॥
बहुसो बहुस्सुएहिं, जो वत्तो न य निवारिओ होइ ।
वत्तऽणुवत्तपमाणं, जीएण कयं हवइ एयं ॥६८२॥ "

एष जीतकल्पः पञ्चमो व्यवहारो भवति ज्ञातव्यः । जीत० । प्रव० । व्य० ।

व्यवहारकल्पे जीतव्यवहारं दर्शयति-

दद्दुरमादिसु कल्ला-णयं तु विगलिंदिएसुऽभत्तट्ठो ।
परियावणे एतेसिं, चउत्थमायंबिला हुंति ॥१०॥

दर्दुरो मण्डूकः, तदादिषु तत्प्रभृतिषु. मकारोऽलाक्षणिकः, प्राकृतत्वात् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु, जीविताद् व्यपरोपितेष्विति शेषः । कल्याणकं स्यादिति । तुशब्दो विशेषणार्थः । स चैतद्विशिनष्टि-पञ्चकल्याणप्रायश्चित्तं (विगलिंदिएसुऽभत्तट्ठो इति) विकलान्यसंपूर्णानि इन्द्रियाणि येषां ते विकलेन्द्रियाः-एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः,तत्र-" व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः " इत्येकेन्द्रिया अनन्तवनस्पतिकायिका द्रष्टव्याः। तेषु अभक्तार्थ एक-उपवासः प्रायश्चित्तम् । (परियावणे एतेसिं इत्यादि)एतेषां दर्दुरादीनां परितापनायां यथासंख्यं चतुर्थाऽऽचामाम्ले प्रायश्चित्ते भवतः। इयमत्र भावना-यदि दर्दुराऽऽदीन् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् गाढं परितापयति,ततोऽभक्तार्थः प्रायश्चित्तम् । अथ विकलेन्द्रियान् अनन्तवनस्पतिकायप्रभृतीन् गाढं परितापयति,तत आचामाम्लम्। उपलक्षणमेतत्; तेनैतदपि जीतव्यवहारानुगतमवसेयम्-यदि दर्दुरप्रभृतीन् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् मनाक् संघट्टयति,तत एकाशनकम्, अथाऽऽगाढं परितापयति,तत आचामाम्लम्;तथा अनन्तवनस्पतिकायिकचतुरिन्द्रियाणां संघट्टने पूर्वार्द्धम्,एतेषामेवानागाढपरितापने एकाशनं,तथा पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतीनां संघट्टने निर्विकृतिकम्,अनागाढपरितापने पुरिमार्द्धम्,आगाढपरितापने एकाशनं, जीविताद् व्यपरोपणे आचामाम्लम् ॥

इत इदमपि जीतमेवेति दर्शयति-

अपरिच्छा कालाइसु, अपडिक्कंतस्स निव्विगइयं तु ।
निव्वीतिय पुरिमड्ढो, अंबिल खवणा य आवासे ॥११॥

अपरिज्ञा प्रत्याख्यानपरिज्ञाया अग्रहणं, गृहीताया वा भङ्गः। सूत्रे विभक्तिलोपः, आर्षत्वात् । तथा कालाऽऽदिषु प्रतिक्रामतो व्यावर्तमानस्य प्रायश्चित्तं निर्विकृतिकम् । किमुक्तं भवति ?, यदि नमस्कारपौरुष्यादि दिवसप्रत्याख्यानं न गृह्णाति, गृहीत्वा वा विराधयति, तथा स्वाध्यायं प्रस्थाप्य यदि कालस्य न प्रतिक्रामति, न कालप्रतिक्रमणनिमित्तं कायोत्सर्गं करोति । आदिशब्दात् तु येषु स्थानेषु ईर्यापथिकया प्रतिक्रमितव्यं, तेषु चेत्तथा न प्रतिक्रामति, तर्हि प्रायश्चित्तं निर्विकृतिकमिति । तथा (निव्वीतिय इत्यादि) 'आवासे' आवश्यके एकाऽऽदिकायोत्सर्गाकरणे, सर्वाऽऽवश्यकाकरणे च यथासंख्यं निर्विकृतिकपूर्वार्द्धाऽऽचामाम्लक्षपणानि । इयमत्र भावना-आवश्यके यद्येकं कायोत्सर्गं न करोति ततः प्रायश्चित्तं निर्विकृतिकं, कायोत्सर्गद्वयाकरणे पूर्वार्द्धम्, त्रयाणामपि कायोत्सर्गकरणानामकरणे आचाम्लम्, सर्वस्यापि चाऽऽवश्यकस्याकरणेऽभक्तार्थमिति ॥११॥

जं जस्स व पच्छित्तं, आयरियपरंपराएँ अविरुद्धं ।
जोगा य बहुविगप्पा, एसो खलु जीयकप्पो उ ॥१२॥

यत्प्रायश्चित्तं यस्याऽऽचार्यस्य गच्छे आचार्यपरम्पराऽऽगतत्वेनाविरुद्धं, न पूर्वपुरुषमर्यादाऽतिक्रमेण विरोधभाक् । यथाऽन्येषामाचार्याणां नमस्कारपौरुष्यादिप्रत्याख्यानस्याकरणे, कृतस्य वा भङ्गे प्रायश्चित्तमाचाम्लम्, तथाऽऽवश्यकगतैककायोत्सर्गाकरणे पूर्वार्द्धं, कायोत्सर्गद्वयाकरणे एकाशनकमित्यादि । तथा ये योगा उपधानानि बहुविकल्पा गच्छभेदेन बहुभेदाः, आचार्यपरम्पराऽऽगतत्वेन चाविरुद्धाः, यथा नागिलकुलवंशवर्तिनां साधूनामाचारादारभ्य यावदनुत्तरोपपातिकदशाः, तावन्नास्ति आचाम्लं, केवलं निर्विकृतिकेन ते पठन्ति, आचार्यानुज्ञानाश्च विधिना कायोत्सर्गं कृत्वा विकृतीः परिभुञ्जते ; तथा कल्पव्यवहारयोः, चन्द्रप्रज्ञप्तिसूर्यप्रज्ञप्त्योश्च केचिदागाढं योगं प्रतिपन्नाः, अपरे त्वनागाढमिति । (एसो खलु जीयकप्पो उ इति) एष सर्वोऽपि खलु गच्छभेदेन प्रायश्चित्तभेदो, योगभेदश्चाऽऽचार्यपरम्पराऽऽगतो जीतव्यवहारो वेदितव्यः । व्य० १ उ० १ द्वार ।

अथ कोऽसौ जीतव्यवहारं प्रयुङ्क्तेत्यत आह-

जो आगमे य सुत्ते, य सुन्नतो आण-धारणाए य ।
सो ववहारं जीए-ण कुणइ वत्ताणुवत्तेण ॥६७३॥

य आगमेन, सूत्रेण च, गाथायां सप्तमी प्राकृतत्वात् तृतीयाऽर्थे । तथा आज्ञया, धारणया च शून्यो रहितः, स जीतेन वृत्तानुवृत्तेन । अस्य व्याख्यानं प्राग्वत् । व्यवहारं करोति ।

वृत्तानुवृत्तत्वमेव भावयति-

अमुतो अमुतस्य कतो, जह अमुतस्स अमुतेण ववहारो ।
अमुतस्स वि य तध कतो, अमुतो अमुतेण ववहारो ॥६७४॥
तं चेवऽणुमज्जंतो, ववहारविहिं पउंजति जहुत्तं ।
जीएण एस भणितो, ववहारो धीरपुरिसेहिं ॥६७५॥

अमुको व्यवहारोऽमुके कारणे समुत्पन्नेऽमुकस्य पुरुषस्यामुकेनाऽऽचार्येण यथा कृतः; एतेन वृत्तत्वं भावितं; तथैवामुकस्य यादृशे एव कारणेऽमुकेनाऽऽचार्येणामुको व्यवहारः कृतः; एतेनानुवृत्तत्वमुपदर्शितं; तमेव वृत्तानुवृत्तं जीतमनुमज्जन् आश्रयन् यथोक्तं व्यवहारविधिं यत्प्रयुङ्क्ते, एष जीतेन व्यवहारो धीरपुरुषैर्भणितः ।

धीरपुरिसपण्णत्तो, पंचमतो आगमो वि हु पसत्थो ।
पियधम्मऽवज्जभीरू-पुरिसज्जायाणुचिण्णो य ॥६७६॥

एष पञ्चमको जीतव्यवहारो धीरपुरुषप्रज्ञप्तः तीर्थकरगणधरैः प्ररूपित आगमः पञ्चविधः, व्यवहारसूत्राऽऽत्मकतया श्रुतज्ञानविदश्चतुर्दशपूर्विणः, तैः कालं प्रतीत्य प्रशस्तः प्रशंसितः, तथा प्रियधर्मभिरवद्यभीरुभिः पुरुषजातैः, अनुचीर्णः, तस्मात्सत्यतया प्रत्येतव्यः, अर्थतः सूत्रतश्च यथाक्रमं तीर्थकरगणधरैरभिहितत्वात् । तथाहि-" पंचविहे ववहारे पण्णत्ते । " इत्यस्य सूत्रस्यार्थस्तीर्थकरैर्भाषितो, गणधरैश्च अध्याय सूत्रीकृतः, अत एवोत्तमैः पुरुषजातैराचीर्णः, ततः कथमत्र न प्रत्ययः ?, इति ।

अधुना जीतव्यवहारनिदर्शनमाह-

सो जध कालाऽऽदीणं, अपडिक्कंतस्स णिव्विगइयं तु ।
मुहणंतफिडिय-पाणग-ऽसंवरणे एवमादीसु ॥६७७॥

स जीतव्यवहारो, यथेत्युदाहरणमात्रोपदर्शने, कालादिभ्यः, आदिशब्दात् स्वाध्यायाऽऽदिपरिग्रहः । अप्रतिक्रान्तस्य । गाथायां षष्ठी पञ्चम्यर्थे । मुखानन्तिके मुखपोतिकायां, स्फिटितायां, मुखपोतिकामन्तरेण इत्यर्थः । तथा पानकस्यासंवरणे पानाऽऽहारप्रत्याख्यानकरणे निर्विकृतिकं प्रायश्चित्तम् ।

एगिंदिऽणंतवज्जे, घट्टणतावेऽणागाढऽऽगाढे य ।
णिव्वीतिगमादीयं, जा आयामंत उद्दवणे ॥६७८॥

एकेन्द्रियस्यानन्तकायिकवर्जस्य, पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतीनामित्यर्थः । घट्टने अनागाढे, तापने आगाढे च, निर्विकृतिकाऽऽदिकं, यावदाचाम्लमपद्रावणे जीविताद् व्यपरोपणे । इयमत्र भावना-पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजस्कायिकवायुवनस्पतीनां घट्टने निर्विकृतिकम्, अनागाढपरितापने पुरिमार्द्धम्, आगाढपरितापने एकाशनम्, अपद्रावणे आचामाम्लमिति ।

विगलिंदियघट्टणता-वऽणागाढऽऽगाढे तहेव उद्दवणे ।
पुरिमड्डातिकमेणं, नेयव्वं जाव खवणं तु ॥६७९॥
पंचिंदियघट्टणता-वऽणागाढऽऽगाढे तहेव उद्दवणे ।
एक्कासण आयामं, खवणं तह पंचकल्लाणं ॥६८०॥

विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियप्रभृतीनां घट्टने, तापने अनागाढे, आगाढे च, तथा अपद्रावणे, क्रमेण पूर्वार्द्धाऽऽदिक्रमेण ज्ञातव्य यावत् क्षपणम् । किमुक्तं भवति ?, घट्टने पूर्वार्द्धम्, अनागाढपरितापने आचामाम्लम्, आगाढपरितापने निर्विकृतिकम्, अपद्रावणे क्षपणमिति ॥६७९॥ तथा पञ्चेन्द्रियाणां घट्टने एकाशनकम्, अनागाढपरितापने आचामाम्लम्, आगाढपरितापने क्षपणमभक्तार्थम्, अपद्रावणे पञ्चकल्याणं-निर्विकृतिकपूर्वार्द्धैकाशनकाचामाम्लक्षपणरूपम् ।

एमाईओ एसो, नातव्वो होइ जीयववहारो ।
आयरियपरंपरए-ण आगतो जो व जस्स भवे ॥६८१॥

एवमादिक एष जीतव्यवहारो भवति ज्ञातव्यः, यो वा यस्य आचार्यपरम्परकेणाऽऽगतः स तस्य जीतव्यवहारो ज्ञातव्यः ।

बहुसो बहुस्सुतेहिं, जो वत्तो न य निवारितो होति ।
वत्तऽणुवत्तपमाणं, जीएण कयं हवति एयं ॥६८२॥

यो व्यवहारो बहुश्रुतैर्बहुशोऽनेकवारं वृत्तः प्रवर्तितो, न चान्यैर्बहुश्रुतैर्भवति विद्यते निवारितः; एतेन वृत्तानुवृत्तं जी-

तेन प्रमाणं कृतं भवति । एष जीतव्यवहारः प्रमाणीकर्तव्यः, इति भावः ।

एतदेव च सविस्तरं भावयति—

जं जीतं सावज्जं, न तेण जीतेण होइ ववहारो ।
जं जीतमसावज्जं, तेण तु जीतेण ववहारो ॥६८३॥

यद् जीतं सावद्यं, न तेन जीतेन भवति व्यवहारः, यदू जीतमसावद्यं, तेन तु जीतेन व्यवहारः ।

अथ व्यवहारः। अथ किं सावद्यमसावद्यं वा जीतमित्यत आह-

छारहडिहडमाला-पेट्टेण य रिंगणं तु सावज्जं ।
दसविहपायच्छित्तं, होइ असावज्जजीयं तु ॥६८४॥

यत्तु प्रवचने, लोके चापराधविशुद्धये समाचरितम्-क्षारावगुण्ठनं, हडी-गुप्तिगृहे प्रवेशनं, हडुमालाऽऽरोपणं, पेट्टेन-उदरेण रिङ्खणं, तुशब्दात् खराकढं कृत्वा ग्रामे सर्वतः पर्याटनमित्येवमादि, तत् सावद्यं जीतम् । यत्तु दशविधमालोचनाऽऽदिकं प्रायश्चित्तं तदसावद्यं जीतम् ।

अत्र चोदकः-कदाचित्सावद्यमपि जीतं दद्यात् ।

तथा चाह—

उस्सण्णे बहुदोसे, निद्धंधसे पवयणे य निरवेक्खे ।
एयारिसम्मि पुरिसे, दिज्जइ सावज्जजीयं पि ॥६८५॥

उत्सन्नेन प्रायेण बहुदोषे, " निद्धंधसे " सर्वथा निर्दये, तथा प्रवचने प्रवचनविषये निरपेक्षे, एतादृशे पुरुषेऽनवस्थाप्रसङ्गनिवारणाय सावद्यमपि जीतं दीयते ।

संविग्गे पियधम्मे, अपमत्ते वा अवज्जभीरुम्मि ।
कम्हि इ पमायखलिए, देयमसावज्जजीयं तु ॥ ६८६ ॥

संविग्ने, प्रियधर्मिणि, अप्रमत्ते वा, अवद्यभीरौ कस्मिंश्चित्प्रमादवशतः स्खलिते देयमसावद्यं जीतम् ।

जं जीतमसोहिकरं, ण तेण जीतेण होइ ववहारो ।
जं जीतं सोहिकरं, तेण उ जीतेण ववहारो ॥६८७॥

यदू जीतमशोधिकरं, न तेन जीतेन भवति व्यवहारः कर्तव्यः, यत्पुनर्जीतं शोधिकरं, तेन जीतेन व्यवहारो विधेयः ।

शोधिकराऽशोधिकरजीतप्रतिपादनार्थमाह—

जं जीतमसोहिकरं, पासत्थपमत्तसंजयाऽऽइण्णं ।
जइ वि महजणाऽऽचिन्नं, न तेण जीतेण ववहारो ।६८८।
जं जीतं सोहिकरं, संविग्गपरायणेण दंतेण ।
एगेण वि आइन्नं, तेण उ जीतेण ववहारो ॥६८९॥

यदू जीतं पार्श्वस्थप्रमत्तसंयताऽऽचीर्णमत एवाशोधिकरं, तद् यद्यपि महाजनाऽऽचीर्णं, तथापि न तेन जीतेन व्यवहारः कर्तव्यः, तस्याशोधिकरत्वात् । यत्पुनर्जीतं संवेगपरायणेन दान्तेन एकेनाप्याचीर्णं, तत् शोधिकरं कर्तव्यम् । व्य० १० उ० ।

सम्प्रति सूत्रकारः स्वयमेव सूत्रेणैव प्रस्तावयन्नाह-

जं जं न भणियमिहयं, तस्सावत्तीऍ दाणसंखेवं ।
भिन्नाइया य वुच्छं, छम्मासंता य जीएणं ॥ ६० ॥

इह जीतव्यवहारेऽपराधमुद्दिश्य यदत् प्रायश्चित्तं न भणितं, तस्याप्यापत्तिविशेषेण दानसङ्क्षेपं वक्ष्ये । आपत्तिश्चामुकातिचारेऽमुकस्य तपसः प्राप्तिरिति । सा च निशीथ-कल्प-व्यवहाराऽऽदिषु विस्तरेणाभिहिता । तपसश्च पञ्चकादेः षण्मासान्तस्य महीयान् दानविरचनाप्रपञ्चः प्रोच्यते ॥ अत्राऽऽपत्तिर्दानं च संक्षेपेणैव निरूप्यते-तच्चात्र दानं भिन्नमासादारभ्य षण्मासान्तं यावद्भवति । भिन्नेत्यादि । भिन्नमासादिकांश्च षण्मासान्तान् वक्ष्ये । अयं भावः-जीतेन जीतव्यवहारेण, भिन्नमासाऽऽदिशब्दैः किं किं तपोऽभिधीयते ?, इत्यभिधास्यामीत्यर्थः । ६० ।

भिन्नाऽऽदींस्तावदाह-

भिन्नो अविसिट्ठ चिय, मासो चउरो य छच लहुगुरुगा ।
णिव्वियगाई अट्ठम-भत्तंतं दाणमेएसिं ॥६१॥

इह समयपरिभाषया दिनपञ्चविंशतिरूपो भिन्न इति भिन्नमासोऽभिधीयते । स चाविशिष्ट एव लघुपञ्चकगुरुपञ्चकाऽऽदिभेदाविवक्षया एवात्र गृह्यते । (मासो चउरो य छच्च लहुगुरुगा) अत्र चकारौ मासे समुच्चायकौ । ततो मासश्चत्वारो मासाः, षण्मासाः । लघुगुरुका इति च सर्वेषु योज्यम् । यथा लघुमासो, गुरुमासो, लघुचतुर्मासं, गुरुचतुर्मासं, लघुषण्मासं, गुरुषण्मासं चेति । एतेषां भिन्नमासलघुमासगुरुमासलघुचतुर्मासगुरुचतुर्मासलघुषण्मासगुरुषण्मासाऽऽख्यानां सप्तानामापत्तौ सत्यां निर्विकृताऽऽद्यष्टमभक्तान्तम्-निर्विकृतिकपुरिमार्द्धैकाशनाऽऽचामाम्लचतुर्थषष्ठाष्टमाऽऽख्यं दानं यथासंख्यं ज्ञेयमित्यर्थः । ६१ ।

एतानि च लघुपञ्चकाऽऽदिभेदाऽऽत्मकानि भिन्नमासाऽऽदीनि गुरुषण्मासान्तानि पूर्वम्, "अद्धेण छिन्नसेसं" इति गाथाव्याख्यायां सप्रपञ्चमाख्यातानीत्यन्यत्र प्रपञ्चितानि । सामान्येन तपस उपसंहारमाह—

इय सव्वाऽऽवत्तीओ, तवसो नाउं जहक्कमं समए ।
जीएण दिज्ज निव्वी-यगाइ दाणं जहाऽभिहियं ॥६२॥

इत्यमुना प्रकारेण, सर्वा आपत्तीः, तपसः संबन्धिनीः, यथाक्रममतीचारानुसारेण, समये सिद्धान्ते, ज्ञात्वा, जीतेन, निर्विकृतिकाऽऽदि दानं, यथा येन प्रकारेणाभिहितं, तथा दद्यादित्यर्थः ।६२।

विशेषाभिधानाय प्रस्तावनामाह-

एयं पुण सव्वं चिय, पायं सामन्नओ विनिद्दिट्ठं ।
दाणं विभागओ पुण, दव्वाइविसेसियं नेयं ॥ ६३ ॥

एतत्पुनरालोचनाऽर्हाऽऽदिप्रायश्चित्तदानं, सर्वमेव, प्रायो बाहुल्येन, सामान्यतो द्रव्याऽऽद्यविभागतो, विनिर्दिष्टम्; विभागतः पुनः द्रव्याऽऽदीनि द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषप्रतिसेवनाऽऽदीनि, तदपेक्षं विशेषितं हीनमधिकं वा, यथोक्तमेव वा, जीतं दानं दातव्यमिति ज्ञेयम् । ६३ ।

शेषमेव सुव्यक्तमाह-

दव्वं खेत्तं कालं, भावं पुरिस पडिसेवणाओ य ।
नाउं मियं चिय दिज्जा, तम्मत्तं हीणमहियं वा ॥६४॥

अत्र बन्धाऽऽनुलोम्येन प्राकृतत्वात्पुरुषशब्दो लुप्तविभक्तिको निर्दिष्टः । ततश्च द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं पुरुषं प्रतिसेवनाश्च ज्ञात्वा, मितमेव द्रव्यक्षेत्राऽऽदिप्रमाणेनैव, कोऽर्थः ?, द्रव्याऽऽदिषु हीनेषु हीनम्, अधिकेष्वधिकम्, अहीनोत्कृष्टेषु तन्मात्रं-जीतोक्तसममेव, दद्यात् । ६४ ।

तत्र द्रव्याऽऽश्रितविधित्सयाऽऽह-

आहाराऽऽई दव्वं, बलियं सुलहं च नाउमहियं पि ।
दिज्जाहि दुब्बलं दु-ल्लहं च नाऊण हीणं पि ॥६५॥

आहाराऽऽदिकं द्रव्यं-यत्र देशे बलिकं,सुलभं च; यथा-अनूपदेशे शालिकूरो बलिकः,स्वभावेनैव सुलभश्च; तं ज्ञात्वाऽधिकमपि जीतोक्ताद् बहुतरमपि दद्यात् । यत्र पुनर्वल्लचणककाञ्जिकाऽऽदिको रूक्षाऽऽहारो दुर्बलो, दुर्लभश्च; तं ज्ञात्वा हीनं जीतोक्तादल्पमपि दद्यादित्यर्थः । ६५ ।

अथ क्षेत्रकालाभिधानार्थमाह-

लुक्खं सीयल साहा-रणं च खित्तमहियं पि सीयम्मि ।
लुक्खम्मि य हीणतरं, एवं काले वि तिविहम्मि ॥६६॥

रूक्षं क्षेत्रं-स्नेहरहितं,वातुलं वा; शीतलं पुनः-स्निग्धम्, अनूपं वा; साधारणं-मध्यस्थम्,अस्निग्धरूक्षम् । इह शीते स्निग्धक्षेत्रे जीतोक्तादधिकमपि दद्यात्;रूक्षे च हीनतरं जीतोक्तादल्पतरम् । अत्र चकारोऽनुक्तसमुच्चये । तेन साधारणक्षेत्रे साधारणं जीतोक्तमात्रमेव, अहीनाधिकं दद्यादिति ज्ञेयम् । कालेऽपि त्रिविधे-वर्षाशिशिरग्रीष्मरूपे,एवममुनैवोक्तप्रकारेण,जीतोक्ताधिकसमहीनानि तपांसि यथासंख्यं दद्यादिति सामान्यातिदेशः ॥६६॥

विशेषतः कालं प्रपञ्चयन्नाह-

गिम्हसिसिरवासासुं, दिज्जऽट्ठमदसमबारसंताइं ।
नाउं विहिणा णवविह-सुयववहारोवएसेणं ॥ ६७ ॥

अत्र कालस्त्रिधा-ग्रीष्मशिशिरवर्षालक्षणः। स च सामान्यतो द्विधा-स्निग्धो, रूक्षश्च । स च द्विरूपोऽप्युत्कृष्टमध्यमजघन्यभेदात् त्रिधा । तत्रोत्कृष्टस्निग्धोऽतिशीतः,मध्यमस्निग्धो नातिशीतः, जघन्यस्निग्धः स्तोकशीतः । उत्कृष्टरूक्षोऽत्युष्णः, मध्यमरूक्षो नात्युष्णः, जघन्यरूक्षः कवोष्णः । एवंरूपे ग्रीष्मशिशिरवर्षाऽऽख्ये कालत्रये नवविधश्रुतव्यवहारोपदेशेन नवविधो-नवविधतपोदानलक्षणः, स चासौ श्रुतव्यवहारोपदेशश्च, तेन नवविधश्रुतव्यवहारोपदेशेन, विधिना वैपरीत्याभावेन, ज्ञात्वाऽष्टमदशमद्वादशान्तानि तपांसि दद्यात् । अयं भावार्थः---ग्रीष्मशिशिरवर्षासु यथाक्रमं चतुर्थषष्ठाष्टमानि जघन्यानि, षष्ठाष्टमदशमानि मध्यमानि, अष्टमदशमद्वादशान्युत्कृष्टानि ।

उक्तं च-

" गिम्हासु चउत्थं दिज्जा, छट्ठगं च हिमाऽऽगमे ।
वासासु अट्ठमं दिज्जा, तवो एस जहन्नगो ॥ १ ॥
गिम्हासु छट्ठगं दिज्जा, अट्ठमं च हिमाऽऽगमे ।
वासासु दसमं दिज्जा, एस मज्झिमगो तवो ॥ २ ॥
गिम्हासु अट्ठमं दिज्जा, दसमं च हिमाऽऽगमे ।
वासासु दुवालसमं, एस उक्कोसओ तवो ॥ ३ ॥ "

एष नवविधतपोदानलक्षणः श्रुतव्यवहारोपदेशः । अथवा-नवविधश्रुतव्यवहारोपदेशो द्विधा-ओघतो, विभागतश्च। तत्रौघतो गुरुः १, गुरुतरो २, गुरुतमश्च ३। लघुः १, लघुतरो २,लघुतमश्च ३ । लघुको १, लघुकतरो २, लघुकतमश्चेति ३ । एवं नवविधः ।

उक्तं च-

" गुरुओ गुरुअतराओ, अहागुरू चेव होइ ववहारो ।
लहुओ लहुअतराओ हालहू चेव ववहारो ॥ १ ॥
लहुसो लहुसतराओ, अहालहुसो चेव होइ ववहारो ॥"

अहागुरु-अहालहु-अहालहुसशब्दैर्गुरुतमलघुतमलघुकतमा उच्यन्ते । एष च नवविधोऽपि आपत्तिदानतपोरूपः, कालेन च योजनीयः ।

तत्रेदमापत्तितपः---

गुरुमासो १, गुरुलघुचतुर्मासो २, गुरुलघुषण्मासश्च ३ । लघुमासो १,भिन्नमासो २,विंशतिकं च ३ । पञ्चदशकं १,दशकं २,पञ्चकं चेति ३। उक्तं च-"गुरुगो य होइ मासो, गुरुयतरो चेव होइ चउमासो । अहगुरुओ छम्मासो,गुरुपक्खे होइ पडिवत्ती" ॥१॥ अत्र सामान्येनाभिधानात् चतुर्मासकशब्देन गुरुचतुर्मास-लघुचतुर्मासाऽऽख्योभयमपि ग्राह्यम्; षण्मासशब्देन च गुरुषण्मास-लघुषण्मासाऽऽख्यद्वयमपि ग्राह्यम् । "तीसा य पणवीसा,वीसा वि य होइ लहुयपक्खम्मि ॥" अत्र 'तीसा' चैतत् स्थूलतयैवोक्तम्; अन्यथा लघुमासे सार्धसप्तविंशतिरेव दिनानि भवन्ति । "पनरस दस पंचेव य, लहुसयपक्खम्मि पडिवत्ती " ॥ १ ॥ प्रतिपत्तिरापत्तिरित्यर्थः ।

अथेदानीमेषु गुरुकादिषु दानतपः-

अष्टमम् १, दशमम् २, द्वादशं च ३ । षष्ठम् १, चतुर्थम् २, आचाम्लं च ३ । एकाशनम् १, पुरिमार्द्धम् २,निर्विकृतिकं च ३ इति वर्षाशिशिरग्रीष्मेषु दीयते ।

उक्तं च-

" गुरुगं च अट्ठमं खलु, गुरुयतरायं च होइ दसमं तु ।
अहगुरुयं बारसमं, गुरुपक्खे होइ दाणं तु ॥ १ ॥
छट्ठं चउत्थयंबिल, लहुपक्खे होइ तवदाणं ।
एगासण पुरिमड्ढं, निव्वीयं लहुस्स सुद्धो वा ॥ २ ॥ "

(सुद्धो व त्ति) यस्तु निर्विकृतिकमात्रमपि तपः कर्तुमशक्तः स मिथ्यादुष्कृतेनैव शुद्ध्यतीत्यर्थः । एवमोघेनोक्तो नवविधः श्रुतव्यवहारोपदेशः ।

साम्प्रतं विभागतः कथ्यते-

"ओहेणेस भणिओ, इत्तो वुच्छं विभागेणं ।
तिगनवसत्तावीसा-एक्कासीईहिँ भेएहिं ॥ १ ॥"

अत्रैव नवविधव्यवहारस्त्रिभिर्नवभिः सप्तविंशतिभिरेकाशीतिभिश्च भेदैर्भवति । तत्र संक्षेपतस्तावदयं त्रिभेदः-उत्कृष्टो, मध्यमो, जघन्यश्च । तत्र गुरु-गुरुतर-गुरुतमाऽऽख्यो गुरुपक्ष उत्कृष्टः । लघु-लघुतर-लघुतमाऽऽख्यो लघुपक्षो मध्यमः । लघुक-लघुकतर-लघुकतमाऽऽख्यो लघुकपक्षो जघन्य इति ।

यदाह-

" नवविह ववहारेसो, संखेवेणं तिहा मुणेयव्वो ।
उक्कोसो मज्झिमगो, जहन्नगो चेव तिविहो ॥ १ ॥
उक्कोसो गुरुपक्खो, लहुपक्खो मज्झिमो मुणेयव्वो ।
लहुसपक्खो जहन्नो, तिविगप्पो एस नायव्वो " ॥ २ ॥

नवभेदस्त्वेवम्---गुरुपक्ष एकोऽप्युत्कृष्टमध्यमजघन्यभेदात् त्रिधा । एवं लघुपक्षोऽपि त्रिधा । लघुकपक्षोऽपि चैवं त्रिभेद इति । तत्र गुरुपक्षे त्रैविध्यमिदम्-गुरुपक्षः षाण्मासिक-पाञ्चमासिकाऽऽख्य उत्कृष्टः,चातुर्मासिक-त्रैमासिकाऽऽख्यो मध्यमः,द्वैमासिकगुरुमासिकाऽऽख्यो जघन्यः । लघुपक्षे लघुमास उत्कृष्टः, भिन्नमासो मध्यमः,विंशतिकं जघन्यम् । लघुकपक्षे पञ्चदशकमुत्कृष्टम्, दशकं मध्यमम्, पञ्चकं जघन्यमित्येष नवविधाऽऽपत्तिलक्षणः श्रुतव्यवहारो दर्शितः ।

भणितं च-

"गुरुपक्खे उक्कोसो, मज्झ जहन्नो त एव लहुए वि ।
एमेव य लहुसे वी, इय एसो नवविहो होइ ॥ १ ॥
गुरुपक्खे छम्मासो, पणमासो चेव होइ उक्कोसो ।
मज्झो चउ-तेमासो, दुमास-गुरुमासग जहन्नो ॥ २ ॥
लहुभिन्नमासवीसा, लहुपक्खुक्कोसमज्झिमजहन्ना ।
पनरसगं दस पणगं, लहुसुक्कोसाइतिविहेसो ॥ ३ ॥
आवत्तितवो एसो, नवभेओ वण्णिओ समासेण ।
अहुणा उ सत्तवीसो, दाणतवो तस्सिमो होइ" ॥ ४ ॥

तस्याऽऽपत्तितपस इदं सप्तविंशतिभेदं दानतपो भवति । तत्र गुरुपक्ष एकोऽपि नवधा । तद्यथा-उत्कृष्टोत्कृष्टः १, उत्कृष्टमध्यमः २, उत्कृष्टजघन्यः ३, मध्यमोत्कृष्टः ४, मध्यममध्यमः ५, मध्यमजघन्यः ६, जघन्योत्कृष्टः ७, जघन्यमध्यमः ८, जघन्यजघन्यश्चेति ९ । एवं लघुपक्षोऽपि नवधा ९ । एवं लघुकपक्षोऽपि चैवमेव नवधा ९ । सर्वमीलने सप्तविंशतिभेदा भवन्ति ।

भणितं च—

"गुरु-लघु-लघुसगपक्खो, इक्किक्को नवविहो मुणेयव्वो ।
उक्कोसुक्कोसो वा १, उक्कोसगमज्झिम २ जहन्नो ३ य ॥१॥
मज्झुक्कोसो मज्झिम-मज्झो २ तह होइ मज्झिमजहन्नो ३ ।
इय णेय जहन्नो वी, गुरुपक्खे हुंति नवभेआ ॥२॥
पुव्वुत्ता नव भेया, नेया सव्वे तहेव लहुपक्खे ।
नव चेव लहुसपक्खे, सत्तावीसं भवंतए" ॥ ३ ॥

तत्रेदमेव सप्तविंशतिविधं दानतपो व्यक्तीकुर्वन्निह गुरुपक्षे षण्मासिकपञ्चमासिकाऽऽख्योत्कृष्टाऽऽपत्तौ सत्याम्-उत्कृष्टोत्कृष्टं द्वादशं तपः, उत्कृष्टमध्यमं दशमम, उत्कृष्टजघन्यमष्टमम् । चातुर्मासिकत्रिमासिकाऽऽख्यमध्यमाऽऽपत्तौ-मध्यमोत्कृष्टं दशमम, मध्यममध्यममष्टमम, मध्यमजघन्यं षष्ठम । द्विमासिकगुरुमासाऽऽख्यजघन्याऽऽपत्तौ-जघन्योत्कृष्टमष्टमम, जघन्यमध्यमं षष्ठम, जघन्यजघन्यं चतुर्थम ॥ लघुपक्षे लघुमासाऽऽख्योत्कृष्टाऽऽपत्तौ-उत्कृष्टोत्कृष्टं दशमम, उत्कृष्टमध्यममष्टमम, उत्कृष्टजघन्यं षष्ठम् । भिन्नमासाऽऽख्यमध्यमाऽऽपत्तौ-मध्यमोत्कृष्टमष्टमम्, मध्यममध्यमं षष्ठम, मध्यमजघन्यं चतुर्थम । विंशाऽऽख्यजघन्याऽऽपत्तौ-जघन्योत्कृष्टं षष्ठम, जघन्यमध्यमं चतुर्थम, जघन्यजघन्यमाचामाम्लम् ॥ लघुकपक्षे पञ्चदशाख्योत्कृष्टाऽऽपत्तौ-उत्कृष्टोत्कृष्टमष्टमम्, उत्कृष्टमध्यमं षष्ठम, उत्कृष्टजघन्यं चतुर्थम् । दशकाऽऽख्यमध्यमाऽऽपत्तौ-मध्यमोत्कृष्टं षष्ठम, मध्यममध्यमं चतुर्थम, मध्यमजघन्यमाचामाम्लम । पञ्चकाऽऽख्यजघन्याऽऽपत्तौ-जघन्योत्कृष्टं चतुर्थम्, जघन्यमध्यममाचामाम्लम, जघन्यजघन्यमेकाशनमिति । एवं वर्षासु सप्तविंशतिविधं दानतपः ।

यदाह-

"बारसग दसम अट्ठम, छप्पणमासेसु तिविहदाणमं ।
चउ-तेमासे दस अ-ट्ठ छट्ठ उक्कोसगाइ तिहा ॥ १ ॥
एमेवुक्कोसाई, दुमासगुरुमासिए तिहा दाणं ।
अट्ठम छट्ठ चउत्थं, नवविहमेयं तु गुरुपक्खे ॥ २ ॥
दसमं अट्ठम छट्ठं, लहुमासुक्कोसगाइ तिह दाणं ।
अट्ठम छट्ठ चउत्थं, उक्कोसाइ य तिहा भिन्ने ॥ ३ ॥
छट्ठचउत्थायामं, उक्कोसाई य दाण वीसाए ।
लहुपक्खम्मि नवविहो, एसो बीओ भवे नवगो ॥ ४ ॥
अट्ठम छट्ठ चउत्थं, पसुक्कोसाइ दाण पन्नरसे ।
छट्ठ चउत्थायामं, दसमु तिविहे य दाण भवे ॥ ५ ॥
खमणाऽऽयामेगासण, तिविहुक्कोसाइ दाण पणगम्मि ।
लहुसे वी तइएसुं, सत्तावीसं य वासासु" ॥ ६ ॥

एवं यथा वर्षासूत्कृष्टाऽऽद्यापत्तिनवके सति दानतपसो द्वादशमादौ कृत्वा एकाशनान्ताः सप्तविंशतिभेदाश्चारणिकया कृताः; तथा शिशिरेऽपि; केवलं दशममादौ कृत्वा पुरिमार्धान्ताः । ग्रीष्मे पुनरष्टममादौ कृत्वा निर्विकृत्यन्ताः सप्तविंशतिभेदाः कार्याः, यन्त्रस्थापनातश्च ज्ञेयाः । वर्षाशिशिरग्रीष्माणां सप्तविंशतित्रयमीलने चैकाशीतिर्दानतपसो भेदा भवन्ति । अङ्कस्य समविभागरूपस्य एकदेशस्य एकादिपदाऽऽत्मकस्यापक्रमणं निवर्त्तनं, शेषस्य तु बुद्ध्यादिपदसङ्घाताऽऽत्मकस्यैकदेशस्यानुवर्त्तनं यस्यां रचनायां सा समयपरिभाषयाऽर्द्धापक्रान्तिरुच्यते । यथा वर्षासु गुरुतमे उत्कृष्टतो द्वादशमं, मध्यमतो दशमं, जघन्यतोऽष्टमम् । एषां मध्यादेकदेशो द्वादशलक्षणोऽपक्रामति, द्वादशमाष्टमे गुरुतरं गच्छतोऽग्रेतनं च षष्ठं मील्यते, ततश्च गुरुतरं उत्कृष्टतो दशमं, मध्यमतोऽष्टमं, जघन्यतः षष्ठम । एषां मध्यादेकदेशो दशमलक्षणो निवर्तते, अष्टमषष्ठे गुरुकं गच्छतोऽग्रेतनं चतुर्थं मील्यते, ततश्च गुरुके उत्कृष्टतोऽष्टमं, मध्यमतः षष्ठं, जघन्यतश्चतुर्थमिति । यथा चेयमेकाशीतिकदानतपोयन्त्रके वर्षाऽऽद्यनवकेऽर्द्धापक्रान्तिर्दर्शिता, तथैव सर्वेष्वपि नवकेषु विलोकनीया ।

यदाह—

" सिसिरे दसमाईणं, चारणभेएण सत्तवीसेण ।
वायइ पुरिमड्ढम्मी, अडुक्कंती तह चेव ॥ १ ॥
अट्ठममाई गिम्हे, चारणभेएण सत्तवीसेण ।
तह चेव अपुक्कंती, वायइ निव्वीयए नवरं" ॥ २ ॥

एतैर्दानैरापत्तयः स्वका नियमात्सर्वा बोद्धव्याः । एकविधाऽऽपत्तिषु च द्वादशाऽऽद्यं तपः कर्तुमसहिष्णोर्ह्रासस्तावत्कार्यो यावत्सर्वासामपि पङ्क्तीनां स्थितमेकपर्यन्तकोष्ठकगतं चतुर्थाऽऽदि निर्विकृतिकान्तं तपः, ततस्तस्य दीयते । तत्करणेऽप्यशक्तस्य पुनस्तथैव ह्रासयेत् । स्वस्थानतपो दातुं वर्षासु वर्षाकालोक्तं, शिशिरोक्तं शिशिरे, ग्रीष्मोक्तं ग्रीष्मे । तदपि कर्तुमक्षमस्य परस्थानं-वर्षास्वपि शिशिरोक्तं, ग्रीष्मोक्तं वा ह्रासयद्भिर्दीयते । एवं स्थाने स्थाने वर्षाशिशिरग्रीष्मरूपे ह्रासयद्भिस्तावन्नेयं यावन्निर्विकृतिकमात्रमेव देयतया स्थितम । केचित्त्वेवं व्याख्यातम्-आधाकर्मिकाऽऽयुक्तौ या षड्जीवनिकायविराधना, तज्जनितं प्रायश्चित्तं स्वस्थानम, आधाकर्माऽऽद्यासेवाभणितं च चतुर्थादिकं परस्थानं, तद्दाने कथमेव ह्रासविधिर्ज्ञेय इति ? ।

उक्तं च-

" एएहिं दाणेहिं, आवत्तीओ सया सया नियमा ।
सव्वा बोद्धव्वाओ, असहहिसिक्किकहासणया ॥ १ ॥
आवइयं इक्किक्कं, तं पी हासिज्ज असहुणो ताव ।
दाउं सट्ठाणतवं, परठाणं दिज्ज एमेव ॥ २ ॥
एवं ठाणे ठाणे, हिट्ठा उत्तं कमेण हासिंता ।
नेयव्वं जावइयं, नियमा निव्वीइयं इक्कं" ॥ ३ ॥

एष नवविधो व्यवहारः । एकाशीतिकस्य नवविधव्यवहारयन्त्रकस्य स्थापना (१५१८ पृष्ठेऽग्रे) अत्र च उत्कृष्टाऽऽदीनि जघन्यान्तानि तपांसि स्थाप्यन्ते, एवं सुखेन ह्रासः कर्तुं शक्यते, सुखे तु जघन्याऽऽदीन्युत्कृष्टान्तान्युक्तानि, तद्विचित्रत्वात् सूत्ररचनाया इति । उक्तं कालविषयं सप्रपञ्चं प्रायश्चित्तम ॥ ६७ ॥ (भावाऽऽदिविषयं प्रायश्चित्तं तु 'तवोरिह' शब्दे वक्ष्यते)

एकाशीतिकस्य नवविधव्यवहारयन्त्रकस्य स्थापना चेयम्—

वर्षासु २७

उत्कृष्टापत्तौ					मध्यमापत्तौ					जघन्यापत्तौ				
६।५	गुरुतमम्	उ०	उ०	१२	४।३	गुरुतरम्	म०	उ०	१०	२।१	गुरु	ज०	उ०	८
	गुरुतमम्	उ०	म०	१०		गुरुतरम्	म०	म०	८		गुरु	ज०	म०	६
	गुरुतमम्	उ०	ज०	८		गुरुतरम्	म०	ज०	६		गुरु	ज०	ज०	४
२७॥	लघु	उ०	उ०	१०	२५	लघुतरम्	म०	उ०	८	२०	लघुतमम्	ज०	उ०	६
	लघु	उ०	म०	८		लघुतरम्	म०	म०	६		लघुतमम्	ज०	म०	४
	लघु	उ०	ज०	६		लघुतरम्	म०	ज०	४		लघुतमम्	ज०	ज०	आ०
१५	लघुकम्	उ०	उ०	८	१०	लघुकतरम्	म०	उ०	६	५	लघुकतमम्	ज०	उ०	४
	लघुकम्	उ०	म०	६		लघुकतरम्	म०	म०	४		लघुकतमम्	ज०	म०	आ०
	लघुकम्	उ०	ज०	४		लघुकतरम्	म०	ज०	आचाम्लम्		लघुकतमम्	ज०	ज०	एकाशनकम्

शिशिरे २७

उत्कृष्टापत्तौ					मध्यमापत्तौ					जघन्यापत्तौ				
६।५	गुरुतमम्	उ०	उ०	१०	४।३	गुरुतरम्	म०	उ०	८	२।१	गुरु	ज०	उ०	६
	गुरुतमम्	उ०	म०	८		गुरुतरम्	म०	म०	६		गुरु	ज०	म०	४
	गुरुतमम्	उ०	ज०	६		गुरुतरम्	म०	ज०	४		गुरु	ज०	ज०	आ०
२७॥	लघु	उ०	उ०	८	२५	लघुतरम्	म०	उ०	६	२०	लघुतमम्	ज०	उ०	४
	लघु	उ०	म०	६		लघुतरम्	म०	म०	४		लघुतमम्	ज०	म०	आ०
	लघु	उ०	ज०	४		लघुतरम्	म०	ज०	आ०		लघुतमम्	ज०	ज०	ए०
१५	लघुकम्	उ०	उ०	६	१०	लघुकतरम्	म०	उ०	४	५	लघुकतमम्	ज०	उ०	आ०
	लघुकम्	उ०	म०	४		लघुकतरम्	म०	म०	आ०		लघुकतमम्	ज०	म०	ए०
	लघुकम्	उ०	ज०	आ०		लघुकतरम्	म०	ज०	ए०		लघुकतमम्	ज०	ज०	पुरिमार्द्धम्

ग्रीष्मे २७

उत्कृष्टापत्तौ					मध्यमापत्तौ					जघन्यापत्तौ				
६।५	गुरुतमम्	उ०	उ०	८	४।३	गुरुतरम्	म०	उ०	६	२।१	गुरु	ज०	उ०	४
	गुरुतमम्	उ०	म०	६		गुरुतरम्	म०	म०	४		गुरु	ज०	म०	आ०
	गुरुतमम्	उ०	ज०	४		गुरुतरम्	म०	ज०	आ०		गुरु	ज०	ज०	ए०
२७॥	लघु	उ०	उ०	६	२५	लघुतरम्	म०	उ०	४	२०	लघुतमम्	ज०	उ०	आ०
	लघु	उ०	म०	४		लघुतरम्	म०	म०	आ०		लघुतमम्	ज०	म०	ए०
	लघु	उ०	ज०	आ०		लघुतरम्	म०	ज०	ए०		लघुतमम्	ज०	ज०	पु०
१५	लघुकम्	उ०	उ०	४	१०	लघुकतरम्	म०	उ०	आ०	५	लघुकतमम्	ज०	उ०	ए०
	लघुकम्	उ०	म०	आ०		लघुकतरम्	म०	म०	ए०		लघुकतमम्	ज०	म०	पु०
	लघुकम्	उ०	ज०	ए०		लघुकतरम्	म०	ज०	पुरिमार्द्धम्		लघुकतमम्	ज०	ज०	निर्विकृतिकम्

जीयविजय-जीतविजय-पुं० । यशोविजयगणिगुरोर्नयविजयगणेः सतीर्थ्ये लाभविजयगणिशिष्ये आचार्ये, प्रति० । प्रतिमाशतके कल्याणविजयवर्णनमधिकृत्य-" तच्छिष्याः प्रतिगुणधाम हेमसूरेः,श्रीलाभोत्तरविजया बुधा बभूवुः। श्रीजीतोत्तरविजयाऽभिधानजीत-श्रीमन्नयविजयौ तदीयशिष्यौ " ॥१५॥ द्वात्रिंशिकायां लाभविजयवर्णनमधिकृत्य-" यदीया दृग्लीलाऽभ्युदयजननी मादृशि जने, जरुस्थानेऽप्यर्कद्युतिरिव जवात् पङ्कजवने । स्तुमस्तच्छिष्याणां बलमविकलं जीतविजयाभिधानां विज्ञानां कनकनिकषस्निग्धवपुषाम् ॥४॥ " द्वा० ३२ द्वा० । नयो० । अष्ट० ।

जीया-ज्या-स्त्री० । ज्या-अङ्क । " ज्यायामीत् " ॥ ८ । २ । ११५ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण व्यञ्जनात्पूर्वमीद् भवति । प्रा० २ पाद । धनुषो गुणे, मौर्व्याम्, मातरि, भूमौ च । वाच० ।

जीर-जृ-जरायाम्, दिवादि-पर० अक० सेट् घटादिः । " हृकृतृजामीरः " ॥ ८ । ४ । २५० ॥ इति प्राकृतसूत्रेणैषामन्त्यस्य ईर इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । जीर्यति, अजरत्, अजारीत्, जीर्णः, जरा, जरयति । वाच० ।

जीव-जीव-पुं० । जीवनं जीवः । जीव-भावे घञ् । प्राणधारणे, आ० म० । विशे० । पा० । " इहसंति गया दविया, णावकंखंति जीवितुं । " जीवितुं प्राणान् धारयितुम् । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । " जीवो त्ति जीवणं पा-णधारणं जीवियं ति पज्जाया ॥" (३५०८ गाथा) विशे० । जीवितवान्,जीवति,जीविष्यतीति जीवः । आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० । दर्श० । आव० । उपयोगलक्षणे जीवद्रव्ये, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । " न य एगो सव्वगओ, निक्किरिओ लक्खणाइभेआओ । " (१९५७ गाथा) उपयोगलक्षणो हि जीवः । स चोपयोगो रागद्वेषकषायविषयाध्यवसायाऽऽदिभिर्भिद्यमान उपाधिभेदादानन्त्यं प्रतिपद्यत इत्यनन्ता जीवाः, लक्षणभेदाद्, घटाऽऽदिवदिति । विशे० ।

जीवनिक्षेपश्चतुर्धा । तथा च निर्युक्तिः-

निक्खेवो जीवम्मी, चउविह दुविहो उ होइ दव्वम्मि ।
आगम-णोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥१॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते च जीवदव्वं तु ।
भावम्मि दसविहो खलु,परिणामो जीवदव्वस्स ॥२॥

तद्व्यतिरिक्तं च जीवद्रव्यम्; द्रव्यजीव उच्यते इति प्रक्रमः । तुर्विशेषद्योतकः । स चायं विशेषः-न यथा कदाचित् तत्पर्यायवियुतं द्रव्यं, तथाऽपि च यदा वियुक्तया विवक्ष्यते, तदा तद्द्रव्यप्राधान्यतो द्रव्यजीवः । भावे तु दशविधः, खलुरवधारणे, दशविध एव परिणामः कर्मक्षयोपशमोदयापेक्षपरिणतिरूपो,जीवद्रव्यस्य संबन्धी,जीवादनन्यत्वेन जीवतया विवक्षितो जीव इति प्रक्रमः । तत्र च क्षायोपशमिकाः षट्-पञ्चेन्द्रियाणि,षष्ठं मनः,औदयिकाः क्रोधाऽऽदयश्चत्वारो मीलिता दश भवन्ति । उत्त० ३६ अ० । दश० । (विस्तरेण निक्षेप 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १६७ पृष्ठे उक्तः) इन्द्रियपञ्चकमनोवाक्कायबलत्रयोच्छ्वासनिःश्वासायुर्लक्षणान् दश प्राणान् यथायोगं धारयतीति जीवः । कर्म० १ कर्म० । नं० । आ० म० । भ० । प्राणधारणधर्मके आत्मनि, स्था० १ ठा० १ उ० । आचा० । दर्श० । देहाभिमानिनि आत्मनि, मनुष्याद्यधिकीटपर्यन्ते चेतने, वाच० । क इत्थंभूत इति चेत् ? । उच्यते-यो मिथ्यात्वाऽऽदिकलुषितरूपतया साताऽऽदिवेदनीयाऽऽदिकर्मणामभिनिर्वर्तकः, तत्फलस्य च विशिष्टसाताऽऽदेरुपभोक्ता,नरकाऽऽदिभवेषु च यथाकर्मविपाकोदयं संसर्ता, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपसंपन्नरत्नत्रयाभ्यासप्रकर्षवशाच्च निःशेषकर्मांशापगमतः परिनिर्वाता, स जीवः सत्त्वः प्राणी आत्मेत्यादिपर्यायाः । उक्तं च-" यः कर्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च । संसर्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणः " ॥ १ ॥ इति । कर्म० १ कर्म० । नं० ।

जीवलक्षणम्-

उवओगलक्खणमणा-इनिहणमत्थंतरं सरीराओ ।
जीवमरूवं कारिं, भोइं च सयस्स कम्मस्स ॥ ५६ ॥

उपयुज्यते अनेनेत्युपयोगः साऽऽकारानाकारादिः । उक्तश्च स द्विधा अष्टचतुर्भेदः, स एव लक्षणं यस्य स उपयोगलक्षणस्तं, जीवमिति वक्ष्यते । तथा अनाद्यनिधनम्-अनाद्यपर्यवसितं, भवापवर्गप्रवाहापेक्षया नित्यमित्यर्थः । आव० ४ अ० । दर्श० ।

जीवो अणाइनिहणो,णाणाऽऽवरणाइकम्मसंजुत्तो । (६)

जीवतीति जीवः,असौ अनादिनिधनः-अनाद्यपर्यवसित इत्यर्थः। स च ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मणा समेकीभावेनान्योन्यव्याप्त्या, युक्तः संबद्धो ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मसंयुक्तः । आ० । " ज्ञानाऽऽत्मकः सर्वशुभा-शुभकर्ता स कर्मणा । नाना संसारिमुक्ताऽऽख्यो, जीवः प्रोक्तो जिनाऽऽगमे " ॥ १ ॥ दर्श० ४ तत्त्व ।

निसर्गचेतनायुक्तो, जीवोऽरूपी ह्यवेदकः ॥ [२०]

निसर्गो सहजो या चेतना, तया युक्तः निसर्गचेतनायुक्तः, सर्वेभ्योऽचेतनेभ्यो भिन्नो, जीवः,व्यवहारनयेन रूपवेदसहितोऽपि निश्चयनयेन रूपरहितो-रूपात्यन्ताभावयुक्तः, वेदरहितो-वेदात्यन्ताभाववान्, सत्तामात्रम्, निर्गुणो, निर्विकारो जीवः । उक्तं च-"अरसमरूवमगंधं, अवत्तं चेयणागुणमसद्दं । जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ १ ॥ " द्रव्या० १० अध्या० । "···जीवमजीवे,रूवमरूवी य सप्पएसे य।" सुखदुःखज्ञानोपयोगलक्षणो जीवः,तद्भिन्नोऽजीवः। एतौ द्वौ भेदौ प्रत्येकं रूप्यरूपिभेदौ । तथा चाह-रूप्यरूपिण इति । तत्रानादिकर्मसन्तानपरिगता रूपिणः, अरूपिणस्तु कर्मरहिताः सिद्धा इति । आ० म० । आ०चू० । (जीवस्यास्तित्वनित्यत्वाऽऽदि 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १७२ पृष्ठे प्रतिपादितम्)

जीवस्य कथञ्चिद् नित्यत्वं कथञ्चिदनित्यत्वम्—

सासए जीवे जमाली !, जं ण कदाइ णासि० जाव णिच्चे ।
असासए जीवे जमाली !,जं णं णेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणिए भवइ, तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ, मणुस्से भवित्ता देवे भवइ ॥ भ० ९ श० ३३ उ० ।

जीवानां कथञ्चित्सादृश्यं, कथञ्चिद् न-

" सव्वे पाणा अणेलिसा । " [४ गाथा]

सर्वेऽपि प्राणिनो विचित्रकर्मसद्भावाद् नानागतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गाऽऽदिसमन्वितत्वादनीदृशा विसदृशाः। सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । (हस्तिकुन्थ्वोः समानजीवत्वं, जीवस्य संकोचविकाशशालित्वं च 'पएसिए' शब्दे वक्ष्यते)

जीवचैतन्ययोर्भेदाभेदौ-

जीवे णं भंते ! जीवे जीवे ? । गोयमा ! जीवे ताव नियमा

जीवे,जीवे वि नियमा जीवे । जीवे णं भंते ! नेरइए नेरइए जीवे ?। गोयमा ! नेरइए ताव नियमा जीवे, जीवे पुण सिय नेरइए, सिय अनेरइए । जीवे णं भंते ! असुरकुमारे असुरकुमारे जीवे ? । गोयमा ! असुरकुमारे ताव नियमा जीवे, जीवे पुण सिय असुरकुमारे, सिय णो असुरकुमारे । एवं दंडओ जाणियव्वो० जाव वेमाणियाणं । जीवइ भंते ! जीवे जीवे जीवइ ? । गोयमा ! जीवइ ताव नियमा जीवे, जीवे पुण सिय जीवइ, सिय नो जीवइ । जीवइ भंते ! नेरइए नेरइए जीवइ ? । गोयमा ! नेरइए ताव नियमा जीवइ, जीवइ पुण सिय नेरइए, सिय अनेरइए, एवं दंडओ नेयव्वो० जाव वेमाणियाणं ।

इह एकेन जीवशब्देन जीवो गृह्यते, द्वितीयेन च चैतन्यमित्यतः प्रश्नः । उत्तरं पुनर्जीवचैतन्ययोः परस्परेणाविनाभूतत्वाद् जीवः चैतन्यमेव, चैतन्यमपि जीव एवेत्येवमर्थमवगन्तव्यम् । नारकाऽऽदिषु पदेषु पुनर्जीवत्वमव्यभिचारि,जीवेषु च नारकादित्वं व्यभिचारीत्यत आह-"जीवे णं भंते ! नेरइए" इत्यादि । जीवाधिकारादेवाह-(जीवइ भंते ! जीवे जीवे जीवइ त्ति) जीवति प्राणान् धारयति यः स जीवः, उत यो जीवः स जीवतीति प्रश्नः । उत्तरं तु यो जीवति स तावन्नियमाज्जीवः, अजीवस्य आयुःकर्माभावेन जीवनाभावात् । जीवस्तु स्याज्जीवति, स्यान्न जीवति,सिद्धस्य जीवनाभावादिति । नारकादिस्तु नियमाज्जीवति, संसारिणः सर्वस्य प्राणधारणधर्मकत्वात्, जीवतीति पुनः स्यान्नारकादिः स्यादनारकादिरिति । भ० ६ श०१० उ० । "प्राणान् क्षेत्रज्ञरूपेण, धारयन् जीव उच्यते ।" इत्युक्ते प्राणिनि, वाच० । आतु० । ध० । सूत्र० । द्वी० । ज० । नं० । जीवो जन्तुरसुमान् प्राणी सत्त्वो भूत इत्यादयो जीवपर्यायाः । विशे० । ध० । प्रश्न० । कर्म० । उत्त० । अनु० । आव० । वृ० ।

तथा च-

जम्हा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा तम्हा पाणे त्ति वत्तव्वं सिया । जम्हा भूए भवइ भविस्सइ तम्हा भूए त्ति वत्तव्वं सिया । जम्हा जीवे जीवइ जीवत्तं आउयं च कम्मं उवजीवइ, तम्हा जीवे त्ति वत्तव्वं सिया । जम्हा सत्ते सुहासुहेहिं कम्मेहिं, तम्हा सत्ते वि वत्तव्वं सिया ।

तत्र प्राण इति, एतत्तं प्रति वक्तव्यं स्यात्, यदोच्छ्वासाऽऽदिमत्त्वमात्रमाश्रित्य तस्य निर्देशः क्रियते, एवं भवनाऽऽदिधर्मविवक्षया भूताऽऽदिशब्दपञ्चकवाच्यता तस्य कालभेदेन व्याख्येया, यदा तूच्छ्वासाऽऽदिधर्मैर्युगपदसौ विवक्ष्यते, तदा प्राणो भूतो जीवः सत्त्वो विज्ञो वेदयिता इति, एतत्तं प्रति वाच्यं स्यात् । अथवा-निगमनवाक्यमेवेदमतो न युगपत्पक्षव्याख्या कार्येति । "जम्हा जीवे" इत्यादि । यस्माज्जीव आत्माऽसौ, जीवति प्राणान् धारयति; तथा जीवत्वमुपयोगलक्षणम् आयुष्कं च कर्म उपजीवति अनुभवति, तस्माज्जीव इति वक्तव्यं स्यादिति । (जम्हा सत्ते सुहासुहेहिं कम्मेहिं ति) सक्त आसक्तः,शक्तो वा समर्थः सुन्दरासुन्दरासु चेष्टासु । अथवा-सक्तः संबद्धः शुभाशुभैः कर्मभिरिति । भ० २ श० १ उ० ।

सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं ।

सर्वेषां प्राणिनां द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां, तथा सर्वेषां भूतानां प्रत्येकसाधारणसूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकरूपाणामिति । तथा सर्वेषां जीवानां गर्भव्युत्क्रान्तिकसंमूर्च्छनजौपपातिकपञ्चेन्द्रियाणाम् । तथा-सर्वेषां सत्त्वानां पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणामिति । इह च प्राणाऽऽदिशब्दानां यद्यपि परमार्थतो भेदस्तथाऽपि उक्तन्यायेन भेदो द्रष्टव्यः । उक्तं च-"प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रियाः प्रोक्ताः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥ १ ॥" इति । यदि वा-शब्दव्युत्पत्तिद्वारेण समभिरूढनयमतेन भेदो द्रष्टव्यः । तथाहि-सततं प्राणधारणात्प्राणाः, कालत्रयभवनाद् भूताः, त्रिकालजीवनाद् जीवाः, सदाऽस्तित्वात् सत्त्वा इति । आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । सर्वेषां प्राणिनां (दशविधाः प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणिनस्तेषाम्) सामान्यतः संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणाम् । तथा सर्वेषां भूतानां मुक्तिगमनयोग्येन भव्यत्वेन व्यवस्थितानां,तथा सर्वेषां जीवानां जिजीविषूणां च, तथा सर्वेषां सत्त्वानां तिर्यङ्नरामराणां संसारे क्लिश्यमानतया करुणाऽऽस्पदानाम् । एकार्थिकानि चैतानि प्राणाऽऽदीनि वचनानि । आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । स्था० । आव० । पा० । ज्ञा० । सूत्र० ।

सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ।

सर्वे प्राणाः सर्व एव पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाश्चेन्द्रियबलोच्छ्वासनिःश्वासाऽऽयुष्कलक्षणप्राणधारणात् प्राणाः । तथा-सर्वाणि भवन्ति भविष्यन्त्यभूवन्निति चतुर्दशभूतग्रामान्तःपातीनीति । एवं सर्व एव जीवन्ति जीविष्यन्ति अजीविषुरिति जीवाः नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणाश्चतुर्गतिकाः । तथा-सर्व एव स्वकृतसातासातोदयसुखदुःखभाजः सत्त्वाः, एकार्थाश्चैते शब्दाः । आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

तथा च भूतनयमधिकृत्य-

एवं जीवं जीवो, संसारी पाणधारणाणुभवो ।
सिद्धो पुणरज्जीवो, जीवणपरिणामरहिओ त्ति ।२२५६।

जीवति "पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः । प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-स्तेषां वियोगीकरणं च हिंसा ॥ १ ॥" इत्यादिवचनप्रसिद्धान् दशविधप्राणान् धरतीति शब्दार्थवशाज्जीवोऽत्र दशविधप्राणधारणं कुर्वन्नस्य नयस्य मतेन जीव उच्यते । स च सामर्थ्याद् दशविधप्राणधारणमनुभवतीति दशविधप्राणानुभवो नारकादिः संसार्येव भवति । सिद्धस्त्वेतन्नयमतेन जीवोऽसुमान् प्राणीत्यादिशब्दैर्न व्यपदिश्यते । जीवनाऽऽदिपरिणामरहित इतिकृत्वा शब्दार्थाभावात्, किं तर्हि सत्तायोगात्सत्त्वः,अतति नास्तान् ज्ञानदर्शनसुखाऽऽदिपर्यायान् गच्छतीत्यात्मेत्यादिभिरेव शब्दैर्निर्दिश्यत इति ॥ ॥२२५६॥ विशे० । आ० म० ।

तथा च नयोपदेशे—

सिद्धो न तन्मते जीवः, प्रोक्तः सत्त्वाऽऽदिसंज्ञयापि ।
महाभाष्ये च तत्त्वार्थ-भाष्ये धात्वर्थबाधतः ॥ ४० ॥

(सिद्ध इति) तन्मते एवंभूतनयमते,सत्त्वाऽऽदिसंज्ञयापि सत्तायोगात् सत्त्वः, अतति स्वान् २ पर्यायानात्मेत्यादिसंज्ञाभ्यापि,

सिद्धो, महाभाष्ये विशेषाऽऽवश्यके, तत्त्वार्थभाष्ये च धात्वर्थबाधतो 'जीव' प्राणधारणे इति धात्वर्थानन्वयाद् जीवो न प्रोक्तः। तथा च विशेषाऽऽवश्यकवचनम्-" एवं जीवं जीवो, संसारी पाणधारणाणुभवो । सिद्धो पुणरज्जीवो, जीवणपरिणामरहिओ त्ति ॥ २२५६ ॥ " ॥ ४० ॥

एतदेव तत्त्वार्थभाष्यवचनमनूद्य व्यवस्थापयति-

जीवोऽजीवश्च नो जीवो, नो अजीव इतीरिते ।
जीवः पञ्चस्वपि गति-ष्विष्टो भावैर्हि पञ्चभिः ॥४१॥

(जीव इत्यादि) जीवोऽजीवो नो जीवो नो अजीवश्चेति चतुर्भिः पदैः कोऽर्थः प्रतिपाद्यः?, इतीरिते प्रश्नवाक्यविचारविषयीकृते, सिद्धान्तिना गतिमार्गणायां पञ्चस्वपि गतिषु नारकतिर्यङ्नरामरसिद्धगतिलक्षणासु, हि निश्चितं, पञ्चभिर्भावैरौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकपारिणामिकलक्षणैः, जीव इष्टः, व्युत्पत्तिनिमित्तजीवनस्य औदयिकभावोपलक्षिताऽऽत्मत्वरूपपारिणामिकभावविशिष्टस्य जीवस्य भावपञ्चकाऽऽत्मनो जीवपदार्थत्वात्। न चाऽऽत्मत्वप्रवृत्तिनिमित्तोपादानेनैवानतिप्रसङ्गे किं व्युत्पत्तिनिमित्तोपलक्षणग्रहणेनेति वाच्यम्, संज्ञवति तदुपलक्षकभावे तत्त्यागस्यान्याय्यत्वात् । अन्यथा मण्डपादिकर्णाऽऽदिपदलक्षणाप्रसङ्गादिति दिक् ॥ ४१ ॥

नञि सर्वनिषेधार्थे, पर्युदासे च संश्रिते ।
पुद्गलप्रभृति द्रव्य-मजीव इति संज्ञितम् ॥ ४२ ॥

नञिति सर्वनिषेधार्थे जीवत्वावच्छिन्नाभावाभावपदार्थे नञि विवक्षिते, पर्युदासे सादृश्ये च नञ संश्रिते तात्पर्यविषयीकृते, पुद्गलप्रभृति पुद्गलाऽऽदिकं द्रव्यम् अजीव इतिपदेन संज्ञितम्; पर्युदासानाश्रयणे तु जीवस्य गुणपर्यायेष्वपि तदभावात्तथा श्रवणेऽजीवपदप्रयोगप्रसङ्ग इति भावः ॥ ४२ ॥

नो जीव इति नोशब्दे-ऽभावः सर्वनिषेधके ।
देशप्रदेशौ जीवस्य, तस्मिन् देशनिषेधके ॥ ४३ ॥

(नो इति)नो जीव इति शब्दवाच्ये नोशब्दे सर्वनिषेधके विवक्षितेऽजीव एव; देशनिषेधके तु नोशब्दे आश्रीयमाणे देशनिषेधस्य देशान्तरानुक्तानान्तरीयकत्वाज्जीवस्य देशप्रदेशावेव नोजीवशब्दव्यपदेश्यावभ्युपगन्तव्यौ ॥ ४३ ॥

जीवो वाऽजीवदेशो वा, प्रदेशो वाऽप्यजीवगः ॥
अनयैव दिशा ज्ञेयो, नोअजीवपदादपि ॥ ४४ ॥

(जीवो वेति) अनयैवोक्तयैव दिशा, नोअजीवपदादपि, नोशब्दस्य सर्वनिषेधकत्वे जीवो जीवपदार्थो वाच्यः, तस्य देशनिषेधकत्वे वाऽजीवदेशो वाऽजीवगः अजीवाऽऽश्रितः प्रदेशो वा "प्रमाणेनाः प्रतिषेध्य" इत्यनुशासनतौल्येऽपि संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्च नञोऽर्थः, नोशब्दस्य त्वभाव एकदेशो वा; नञ आम्नायितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वतदेकदेशत्वाऽऽदिव्युत्पत्तिवैलक्षण्यमिति सिद्धान्तपरिभाषेति निगर्वः ॥ ४४ ॥

उक्तं मतं कियतां नयानाम् ?, इत्याह-

नैगमो देशसंग्राही, व्यवहारर्जुसूत्रकौ ॥
शब्दः समभिरूढश्चे-त्येवंमते प्रचक्षते ॥ ४५ ॥

(नैगम इति) नैगमो नैगमनयः,देशसंग्राही अवान्तरसंग्राही,

सर्वसंग्रहस्य सन्मात्रार्थत्वात्तत्त्यागः । व्यवहारर्जुसूत्रकौ व्यवहारनय ऋजुसूत्रनयश्च, शब्दः,समभिरूढश्चेत्येते नया एवं प्रचक्षते ॥ ४५ ॥

भावमौदयिकं गृह्ण-न्नेवंभूतो भवास्थितम् ।
जीवं प्रवक्त्यजीवं तु, सिद्धं वा पुद्गलाऽऽदिकम् ॥४६॥

(भावमिति) एवंभूतनयस्तु औदयिकं भावं व्युत्पत्तिनिमित्तमेव प्रवृत्तिनिमित्ततया गृह्णन् भवस्थितं संसारिणं जीवं प्रवक्ति-जीवशब्देन व्यपदिशति, अजीवम् अजीवपदार्थं तु सिद्धं वा, पुद्गलाऽऽदि द्रव्यं वेत्यसौ ॥ ४६ ॥

नो अजीवश्च नो जीवो, न जीवाजीवयोः पृथक् ।
देशप्रदेशौ नास्येष्टा-विति विस्तृतमाकरे ॥ ४७ ॥

(नो इति) नो जीवो नो अजीवश्चेत्यत्र जीवाजीवयोरेतयोः सतोः पृथग् न-पार्थक्यं नापद्यते, यतोऽस्य नयस्य देशप्रदेशौ नेष्टाविति, नोशब्दः सर्वनिषेधार्थ एव घटत इत्येतदाकरेऽनुयोगद्वाराऽऽदौ विस्तृतम् ॥ ४७ ॥

इत्थं स्वसमयसिद्धामेवंभूतनयार्थप्रक्रियामुपपाद्य, तया दिगम्बरोक्तप्रक्रियां दूषयति—

सिद्धो निश्चयतो जीवः, इत्युक्तं यद्दिगम्बरैः ।
निराकृतं तदेतेन, नयेऽन्त्येऽन्यथा प्रथा ॥ ४८ ॥

(सिद्ध इति) एतेन पूर्वोक्तेन सिद्धो निश्चयतो जीव इति यद्दिगम्बरैरुक्तम्-"तिक्काले चदुपाणा, इंदियबलमाउ आणपाणो य । ववहारा सो जीवो, णिच्छयदो दु चेदणा जस्स॥१॥" इत्यादिना; तन्निराकृतम् । यद् यस्मादन्त्ये एवंभूतनये अन्यथा प्रथा 'संसारी जीवः' इत्येव प्रसिद्धिः; शुद्धनिश्चयश्च स एवेति कथं निश्चयतः सिद्धो जीव इति वक्तुं शक्यमिति ॥ ४८ ॥

नन्वेवंभूतः पर्यायार्थिकस्यैव शुद्धनिश्चयः, तेनास्मदुक्तानुपपत्तावपि द्रव्यार्थिकप्रभेदेन सर्वसंग्रहनयेन शुद्धनिश्चयेन तदुपपादयिष्याम इत्याकाङ्क्षायामाह--

आत्मत्वमेव जीवत्व-मित्ययं सर्वसंग्रहः ।
जीवत्वप्रतिज्ञः सिद्ध-साधारण्यं निरस्य न ॥ ४९ ॥

(आत्मत्वमिति) आत्मत्वमेव जीवत्वं जीवपदप्रवृत्तिनिमित्तं, पारिणामिकभावस्य कालत्रयानुगतत्वेन सत्त्वात्,औदयिकभावस्य चौपाधिकत्वेन कालत्रयाननुगतत्वेन च तुच्छत्वादित्ययं सर्वसंग्रहनयस्तु-सिद्धसाधारण्यं जीवत्वस्य निरस्य, जीवत्वसाधने न प्रतिज्ञः, सर्वत्र तुल्यजीवत्वादेकैको व्यवहारतो जीवोऽन्यश्च निश्चयत इति विभागकरणप्रसङ्गाभिधानमेवापद्येत। सर्वसंग्रह एव हि कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिकः, तेन च संसारिचैतन्यमपि निरुपरागं शुद्धमिति परिणम्यत एव। तदुक्तं द्रव्यसंग्रहे-" मग्गणगुणठाणेहि य, चउदस य हवंति तह असुद्धणया । विण्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा उ सुद्धणया " ॥ १ ॥ इति । न च संसारिचैतन्यस्य संग्रहनयेन शक्यं शुद्धचैतन्यं, निश्चयेऽपि व्यक्त्या शुद्धचैतन्यस्य सिद्ध एव निश्चयाच्च साधारण्यमिति शङ्कनीयम्, संग्रहस्य शक्तिग्राहकत्वेन व्यक्तिग्राहकतया व्यवहार एव विश्रान्तेः, निश्चयतो द्विचेतनाशाली सिद्ध एव जीव इत्यस्य व्याघातात् ॥ ४९ ॥

ननु चैवं निश्चयतः सिद्धस्याऽजीवत्वे भवद्भिरिष्यमाणे भवतामेव ग्रन्थे संसारिसिद्धसाधारणजीवपदार्थाभिधानं कथम् ?, इत्याशङ्कायामाह–

यज्जीवत्वं क्वचिद् द्रव्य-भावप्राणान्वयात् स्मृतम् ।
विचित्रनैगमाऽऽकूतात्, तद् ज्ञेयं न तु निश्चयात् ॥५०॥

(यदिति) यद् जीवत्वं क्वचिद् ग्रन्थे द्रव्यप्राणानां, भावप्राणानां चान्वयादेव करणात् स्मृतं, संसारिसिद्धसाधारणमिति विशेषः। तद् विचित्रो विविधावधो यो नैगमस्तस्याऽऽकूतादभिप्रायाद् ज्ञेयम्, न तु निश्चयात् एवंभूतनयात्। तथा चैवंभूतनयेनैव सिद्धमजीवं वयं प्रतिजानीमहे, न तु नयान्तराभिमतेन जीवत्वमपि विप्रतिपद्यामहे, इति शुद्धाशुद्धेन नैगमनयेन साधारणजीवत्वाभ्युपगमेऽपि न क्षतिः। इयांस्तु विशेषः-प्रसिद्धनैगम औदयिकभावोपलक्षितमात्मत्वाऽऽख्यं पारिणामिकभावमेव जीवपदप्रवृत्तिनिमित्तमभ्युपैति। तद्विशेषश्च कश्चिदुपचारोपजीवी द्रव्यभावप्राणान्यतरत्वेनानुगतमौदयिकक्षायिकभावद्वयमिति नेदं सिद्धान्तार्णवं नयविकल्पकल्लोलवैचित्र्यं तत्संप्रदायसलिलानां विक्षोभाऽऽवहम् ॥ ५० ॥

ननु 'जीव' प्राणधारणे इत्यत्र भावप्राणधारणमेव धात्वर्थः, विवक्षितत्वात्, निश्चयतः सिद्धस्य जीवत्वं समर्थयिष्याम इत्याकाङ्क्षायामाह–

धात्वर्थे भावनिक्षेपात्, परोक्तं न च युक्तिमत् ।
प्रसिद्धार्थोपरोधेन, यन्नयान्तरमार्गणा ॥ ५१ ॥

(धात्वर्थ इति) धात्वर्थे जीवत्यर्थे, भावनिक्षेपाद् भावसङ्केतग्रहात्, परोक्तं निश्चयतः सिद्ध एव जीव इति दिगम्बरोक्तं, न च नैव, युक्तिमत्, यद् यस्मात् प्रसिद्धोऽनादिधातुपाठाऽऽदिप्रतीयमानो योऽर्थः, तदनुरोधेन, नयान्तरस्य मार्गणा विचारणा भवति। तथा च यादृशधात्वर्थमुपलक्षणीकृत्य नैगमनयप्रतिसन्धानं तादृशधात्वर्थप्रकारकजिज्ञासयैवंभूताभिधानस्य सांप्रदायिकत्वाच्च तत्र भावनिक्षेपाऽऽश्रयणं युक्तमित्यर्थः। अन्यथा तत्रापि निक्षेपान्तराश्रयणेऽनवस्थानात् प्रकृतमार्थपर्यवसानाभावतो ज्ञानाऽद्वैते शून्यतायां वा पर्यवसानात्। किञ्च नैगमाद्युपरितनैवंभूतस्य प्राक्तनैवंभूताभिधानपूर्वमेवाभिधानं युक्तम्, अन्यथाऽप्रासङ्गिकत्वप्रसङ्गात्। तस्माद् व्यवहाराऽऽदिसंमतव्युत्पत्त्यनुरोधेनौदयिकभावग्राहकत्वमेवास्य सूरिभिरुक्तं युक्तमिति स्मर्तव्यम्। न चेन्द्रियरूपप्राणानां क्षायोपशमिकत्वात् कथमेवंभूतस्यौदयिकभावमात्रग्राहकत्वमित्याशङ्कनीयम्, प्राधान्येनायुष्कर्मोदयलक्षणस्यैव जीवनार्थस्य ग्रहणात्। उपहतेन्द्रियेऽप्यायुरुदयेनैव जीवननिश्चयादिति दिक् ॥ ५१ ॥

शङ्काशेषमुपन्यस्य परिहरन्ति–

शैलेश्यन्त्यक्षणे धर्मो, यथा सिद्धस्तथाऽमुमान् ।
वाच्यं नेत्यपि यत्तत्र, फले चिन्तेह धातुना ॥ ५२ ॥

(शैलेश्यन्त्यक्षण इति) शैलेश्या अयोगिगुणस्थानस्यान्त्यक्षणे चरमक्षणे, यथा निश्चयतो धर्मः, तदर्वाक्तनकालभावी तु व्यवहारत एव। तदुक्तं धर्मसंग्रहण्यां हरिभद्राऽऽचार्यैः- "सो उभयक्खयहेऊ, सेलेसीचरमसमयभावी जो। सेसो पुण णिच्छयओ, तस्सेह पसाहगो भणिओ ॥ १ ॥" त्ति। तथाऽमुमान् जीवोऽपि निश्चयतः सिद्ध एव भविष्यतीत्यपि न वाच्यम्, यतस्तत्र " सो उभयक्खय " इत्यादिगाथायां ' धारयति सिद्धिगतावात्मानमिति धर्मः' इति फले फलरूपे धात्वर्थे चिन्ता। सा च-कुर्वद्रूपत्वेन कारणत्वं वदता एवंभूतनयस्य मते शैलेश्यन्त्यक्षण एव धर्मपदार्थसिद्धिसाक्षिणी, तदनन्तरं सिद्धिसाधारणरूपसाफल्यव्यवधानात्। इह तु धातुना धात्वर्थावच्छिन्नस्वरूपविषयिणी चिन्ता। सा च तेन सहाऽव्यवधानं गवेषयेत, स्वरूपं तु प्रसिद्ध्यनुरोधेन संसारिण्येव पर्यवसाययेत्, न तु सिद्ध इति महान् विशेषः। स्यादेतत्, धर्मपदेऽपि धात्वर्थो धारणसामान्यमेव, तच्च यतो विशेषतात्पर्यवशात् सिद्धसाधारणरूपविशेषे पर्यवस्यति, तथा जीवपदार्थोऽपि विशेषे पर्यवस्यतीति सिद्ध एव इत्यपदो भविष्यतीति। नैवम्। ' जीव ' प्राणधारणे इत्यत्र प्राणपदं समभिव्याहृते साधारणस्य भूरिप्रयोगवशादौदयिकप्राणधारण एव पर्यवसानात्। अत एव गोपदस्य नानाऽर्थत्वेऽपि तत्र भूरिप्रयोगवशात् स्वादनाऽऽदिमत एवोपस्थितेः, अश्वाऽऽदेस्तु पदान्तरसमभिव्याहाराऽऽदिनेति तान्त्रिकाः। तदेवमेवंभूतनयाभिप्रायेण सिद्धो न जीव इति व्यवस्थापितम्। यदि पुनः प्रस्थकन्यायाद् विशुद्धतरनैगमभेदमाश्रित्य प्रागुक्तस्वग्रन्थगाथा व्याख्यायते परैः, तदा न किञ्चिदस्माकं दुष्यतीति किमस्थीयते इतरकोरेण ॥ "ऐन्द्री ततिः प्रणतिपुण्यमिवाङ्कुराग्रे-र्यस्यादपद्मकिरणैः कलयत्युदीतम्। स्नात्राम्भसा ललितयादवपुष्पकं. शङ्खेश्वरप्रभुमिमं शरणीकरोमि " ॥ ५२ ॥ नयो०। स च द्विविधः संसारी, सिद्धश्च। जी० १ प्रति०। विशे०। सूत्र०। संसारिणो दशविधप्राणधारणाज्जीवाः, सिद्धाश्च ज्ञानाऽऽदिभावप्राणधारणात्। स्था०। प्राणाश्च द्विधा-द्रव्यप्राणाः, भावप्राणाश्च। तत्र द्रव्यप्राणा इन्द्रियाऽऽदयो, भावप्राणा ज्ञानाऽऽदीनि। द्रव्यप्राणैरपि प्राणिनः संसारसमापन्ना नारकाऽऽदयः, केवलभावप्राणैः प्राणिनो व्यपगतसमस्तकर्मसङ्गाः सिद्धाः। प्रज्ञा० १ पद। जी०।

जीवानां द्वैविध्यम्—

दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–सिद्धा चेव, असिद्धा चेव। दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–सइंदिया चेव, अणिंदिया चेव। [स्था० २ ठा० ४ उ०] दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–सकाइया चेव, अकाइया चेव। दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–सजोगा चेव, अजोगा चेव। दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–सवेदगा चेव, अवेदगा चेव। [जी० १ प्रति०] दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–सकसाया चेव, अकसाया चेव। [स्था० २ ठा० ४ उ०] दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–सलेसा य, अलेसा य। (जी०) दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–णाणी चेव, अणाणी चेव। [जी०] दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–सागारोवउत्ता चेव, अणागारोवउत्ता चेव। [जी०] दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–आहारगा चेव, अणाहारगा चेव। जी० १ प्रति०।

"दुविहा" इत्यादि कण्ठ्यम्। (स्था०) "सइंदिया" इत्यादि। सेन्द्रि-

याः संसारिणः,अनिन्द्रियाः सिद्धाः। (जी०१ प्रति०) सेन्द्रियाः संसारिणः, अनिन्द्रिया अपर्याप्तककेवलिसिद्धाः। (स्था०) " सकाइया चेव " इत्यादि। सकायाः पृथिव्यादिषड्विधकायविशिष्टाः संसारिणः, अकायाः तद्भिन्नलक्षणाः सिद्धाः। (स्था०) "सजोगा चेव" इत्यादि। सयोगाः संसारिणः; अयोगा अयोगिनः, सिद्धाश्च। (स्था०) "सवेदगा चेव" इत्यादि। सवेदाः संसारिणः, अवेदा अनिवृत्तबादरसंपरायविशेषाऽऽदयः षट् सिद्धाश्च। (स्था०) "सकसाया चेव" इत्यादि। सकषायाः सूक्ष्मसंपरायान्ताः, अकषाया उपशान्तमोहाऽऽदयः चत्वारः सिद्धाश्च। (स्था०) " सलेसा य " इत्यादि। सलेश्याः सयोग्यन्ताः संसारिणः, अलेश्या अयोगिनः सिद्धाश्च। (स्था०) " णाणी चेव " इत्यादि। ज्ञानिनः सम्यग्दृष्टयः,अज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयः। (स्था०) " सागारोवउत्ता चेव " इत्यादि। सहाऽऽकारेण विशेषांशग्रहणशक्तिलक्षणेन वर्तते य उपयोगः स साकारो, ज्ञानोपयोग इत्यर्थः। तेनोपयुक्ताः साकारोपयुक्ताः। अनाकारस्तु तद्भिन्नलक्षणो, दर्शनोपयोग इत्यर्थः। अभिधीयते च-"जं सामण्णग्गहणं, भावाणं नेय कट्टु आगारं। अविसेसिऊण अत्थे, दंसणमिति वुच्चए समए" ॥१॥ त्ति। तेनोपयुक्ता अनाकारोपयुक्ता इति। (स्था०)। ("आहारगा चेव" इत्यादिसूत्रस्य व्याख्या 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५१० पृष्ठे गता)

दुविहा सव्वजीवा पएणत्ता। तं जहा-भासगा य, अभासगा य। [जी०] दुविहा सव्वजीवा पएणत्ता। तं जहा-चरिमा चेव, अचरिमा चेव। [जी०] दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा-ससरीरी य, असरीरी य। [जी० १ प्रति०]

" भासगा य " इत्यादि। भाषकाः भाषापर्याप्तिपर्याप्तकाः, तद्भिन्नास्त्वभाषकाः-अयोगिसिद्धाः, एकेन्द्रियाश्च। (स्था०) (" चरिमा चेव " इत्यादिसूत्रस्य विस्तरः 'चरम' शब्दे तृतीयभागे ११३८ पृष्ठे उक्तः) " ससरीरी य " इत्यादि। सशरीरिणः संसारिणः, अशरीरिणस्तु शरीरमेषामस्तीति शरीरिणः, तन्निषेधादशरीरिणः सिद्धाः। स्था० २ ठा० ४ उ०।

संग्रहणीगाथा चेयम्-

"सिद्धसइंदियकाए, जोगे वेए कसायलेसा य।
णाणुवओगाहारे, भासगचरिमे य ससरीरी "॥ १ ॥
स्था० २ अ० ४ उ० ॥

संप्रति संसारसमापन्नजीवाभिगममभिधित्सुस्तत्प्रथमसूत्रमाह-

संसारसमावण्णएसु णं जीवेसु इमाओ णव पडिवत्तीओ एवमाहिज्जंति। तं जहा-एगे एवमाहंसु-दुविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। एगे एवमाहंसु-तिविहा संसारसमावण्णगा जीवा पएणत्ता। एगे एवमाहंसु-चउव्विहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। एगे एवमाहंसु-पंचविहा संसारसमावण्णगा जीवा पएणत्ता। ते एएणं अभिलावेणं० जाव दसविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता।

संसारसमापन्नेषु. णमिति वाक्यालङ्कारे। जीवेषु,इमा वक्ष्यमाणलक्षणा नव प्रतिपत्तयो, द्विप्रत्यवतारमादौ कृत्वा दशप्रत्यवतारं यावद् ये नव प्रत्यवतारास्तद्रूपाणि प्रतिपादनानि, संवित्तय इति यावत्। एवं वक्ष्यमाणया रीत्या आख्यायन्ते पूर्वसूरिभिः। इह प्रतिपत्त्याख्यानेन प्रणालिकयाऽर्थाख्यानं द्रष्टव्यं, प्रतिपत्तिभावेऽपि शब्दादर्थे प्रवृत्तिकरणात्। तेन यदुच्यते शब्दाद्वैतवादिभिः-शब्दमात्रं विश्वमिति। तदपास्तं द्रष्टव्यम्। तदपासने चेयमुपपत्तिः-एकान्तैकस्वरूपे वस्तुन्यभिधानद्वयासंभवात्, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ताभावात्, ततश्च शब्दमात्रमित्येव स्यात्, न विश्वमिति प्रणालिकयाऽर्थाभिधानमेवोपदर्शयति। तद्यथा-एके आचार्या एवमाख्यातवन्तः-द्विविधाः संसारसमापन्ना जीवाः प्रज्ञप्ताः। एके एवमाख्यातवन्तः-त्रिविधाः संसारसमापन्ना जीवाः प्रज्ञप्ताः। एवं यावद् दशविधा इति। इह एके इति न पृथग् मतावलम्बिनो दर्शनान्तरीया इव केचिदन्ये आचार्याः,किं तु य एव पूर्वं द्विप्रत्यवतारविवक्षायां वर्तमाना एवमुक्तवन्तः। यथा-द्विविधाः संसारसमापन्ना जीवा इति, एवं त्रिप्रत्यवतारविवक्षायां वर्तमानाः। द्विप्रत्यवतारविवक्षामपेक्ष्य त्रिप्रत्यवतारविवक्षाया अन्यत्वात्. विवक्षा विवक्षावतां च कथञ्चिदभेदादन्ये इति वेदितव्याः। अत एव प्रतिपत्तय इति परमार्थतोऽनुयोगद्वाराणीति प्रतिपत्तव्यम्। इह य एव द्विविधास्त एव त्रिविधास्त एव चतुर्विधा इति; तेषामनेकस्वभावतायां तत्तद्धर्मभेदेन तथातथाऽभिधानता युज्यते, नान्यथा; एकान्तैकस्वभावतायां तेषां वैचित्र्यायोगतस्तथातथाऽभिधानप्रवृत्तेरसंभवात्। एवं सति अष्टविकल्पम् दैवं, तिर्यग्योनिं च पञ्चधा भवति, मानुष्यं चैकविधं, समासतो भौतिकः सर्ग इति वाङ्मात्रमेव, आत्माद्वैतात् जीवानामेकरूपत्वाभ्युपगमनेन तथारूपवैचित्र्यासंभवादिति। एवमन्येऽपि प्रवादास्तथा वस्तुवैचित्र्यप्रतिपादनपरा निरस्ता द्रष्टव्याः, सर्वथैकस्वभावत्वाभ्युपगतौ वैचित्र्यायोगात्।

संप्रत्येता एव प्रतिपत्तीः क्रमेण व्याचिख्यासुः
प्रथमत आद्यां प्रतिपत्तिं विभावयिषु-
रिदमाह-

तत्थ जे ते एवमाहंसु-दुविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। तं जहा-तसा चेव, थावरा चेव ॥

(तत्थ जे ते इत्यादि) तत्र तासु नवसु प्रतिपत्तिषु मध्ये ये तद्विप्रत्यवतारविवक्षायां वर्तमाना एवमाख्यातवन्तः-द्विविधाः संसारसमापन्नका जीवाः प्रज्ञप्ता इति। तं, णमिति वाक्यालङ्कारे। एवं वक्ष्यमाणरीत्या द्विविधत्वभावनाऽर्थमाख्यातवन्तः। तद्यथेत्युपन्यस्तद्वैविध्योपदर्शनार्थमाह-त्रसाश्चैव, तत्र त्रसन्ति उष्णाद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते गच्छन्ति च छायाऽऽद्यासेवनाऽर्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः। अनया च व्युत्पत्त्या त्रसास्त्रसनामकर्मोदयवर्तिन एव परिगृह्यन्ते, न शेषाः। अथ च-शेषैरपीह प्रयोजनं, तेषामप्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। तत एवं व्युत्पत्तिः-त्रसन्ति अभिसन्धिपूर्वकमनभिसन्धिपूर्वकं वा ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु चलन्तीति त्रसाः। तेजसा वायवो द्वीन्द्रियादयश्च। उष्णाऽऽद्यभितापेऽपि तत्स्थानपरिहारासमर्थाः सन्तस्तिष्ठन्तीति एवंशीलाः स्थावराः पृथिव्यादयः। चशब्दौ स्वगतानेकभेदसमुच्चयार्थौ। एवकारावधारणार्थौ। एते एव संसारसमापन्नका जीवाः, एतद्व्यतिरेकेण संसारिणामभावात्। जी० १ प्रति०। स्था०।

जीवानां द्वैविध्यम्-

दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा-तसा य, थावरा य,

णो तसा णो थावरा। [जी० ३ प्रति०] तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–परित्ता, अपरित्ता, नो परित्ता नो अपरित्ता। [जी० ३ प्रति०] तिविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। तं जहा–इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा। तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी। तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–पज्जत्तगा, अपज्जत्तगा, नो पज्जत्तगा नो अपज्जत्तगा। [स्था० ३ ठा० २ उ०] तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–सुहुमा, बायरा, नो सुहुमा नो बायरा। [जी० ३ प्रति०] तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–सण्णी असण्णी, णो सण्णी णो असण्णी। [जी०] तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–भवसिद्धिआ, अभवसिद्धिआ, नो भवसिद्धिआ नो अभवसिद्धिआ ॥ जी० ३ प्रति० ।

उक्तानुक्तसंग्रहार्थं गाथाऽऽदिम्–

"सम्मदिट्ठि–परित्ता–पज्जत्तग–सुहुम–सण्णि–भविका य।" स्था० ३ ठा० २ उ० ।

"परित्ता" इत्यादि। परीत्ताः प्रत्येकशरीराः, अपरीत्ताः साधारणशरीराः। परीत्तशब्दस्य छन्दोऽर्थं व्यत्यय इति। (स्था० ३ ठा० २ उ०) "पज्जत्ता" इत्यादि। (नो पज्जत्त त्ति) नो पर्याप्तकाः, नो अपर्याप्तकाः सिद्धाः। (स्था० ३ ठा० २ उ०) "सण्णी" इत्यादि। संज्ञिनः समनस्काः, असंज्ञिनोऽमनस्काः, उभयप्रतिषेधवर्तिनः सिद्धाः। (जी० ३ प्रति०) "भवसिद्धिया" इत्यादि। सर्वत्र तृतीयपदे सिद्धा वाच्याः। स्था० ३ ठा० २ उ०।

जीवानां चातुर्विध्यम्-

चउव्विहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। तं जहा–णेरइया, तिरिक्खजोणिया, मणुस्सा, देवा। चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–मणजोगी, वयजोगी, कायजोगी, अजोगी। अहवा–चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–इत्थिवेयगा, पुरिसवेयगा, णपुंसगवेयगा, अवेयगा। अहवा–चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–चक्खुदंसणी, अचक्खुदंसणी, ओहिदंसणी, केवलदंसणी। अहवा–चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–संजया १, असंजया २, संजयासंजया ३, णो संजयासंजया ४॥

व्यक्तानि चैतानि, नवरं मनोयोगिनः समनस्काः, योगत्रयसद्भावेऽपि तस्य प्राधान्यात्। एवं वाग्योगिनो द्वीन्द्रियाऽऽदयः, काययोगिन एकेन्द्रियाः, अयोगिनो निरुद्धयोगाः सिद्धाश्चेति। अवेदकाः सिद्धादयश्चक्षुषः सामान्यार्थग्रहणमवग्रहेहारूपं दर्शनं चक्षुर्दर्शनं तद्वन्तश्चतुरिन्द्रियादयः, अचक्षुःस्पर्शनादितद्दर्शनवन्त एकेन्द्रियादय इति। संयताः सर्वविरताः, असंयता अविरताः, संयतासंयता देशविरतास्त्रयः, तत्प्रतिषेधवन्तः सिद्धा इति। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

जीवानां पञ्चविधत्वम्-

पंचविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। तं जहा–एगिंदिया० जाव पंचेंदिया। [स्था० ५ ठा० ३ उ०] पंचविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–नेरइया, तिरिक्खजोणिया, मणुस्सा, देवा, सिद्धा। पंचविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–कोहकसाई, माणकसाई, मायाकसाई, लोभकसाई, अकसाई। जी० ३ प्रति० ॥

"पंचविहेत्यादि।" संसारसमापन्ना भववर्तिनः, सर्वजीवाः संसारिसिद्धाः, अकषायिण उपशान्तमोहाऽऽदयः। स्था० ५ ठा० ३ उ०।

संसारिणो य मुत्ता, संसारी छव्विहा समासेण।
पुढवीकाइयमादी, तसकायंता पुढो भेया ॥ ६४ ॥

चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः। संसारिणो, मुक्ताश्चेति। तत्र संसारिणः षड्विधाः षट्प्रकाराः, समासेन जातिसंक्षेपेणेति भावः। षड्विधत्वमेवाऽऽह-पृथिवीकायिकाऽऽदयस्त्रसकायान्ताः। यथोक्तम्-"पुढवीकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, तसकाइया।" पृथग्भेदा इति स्वातन्त्र्येण पृथग्भिन्नस्वरूपाः, न तु परमपुरुषविकारा इति ॥ ६४ ॥ आ०।

जीवानां षड्विधत्वम्-

छव्विहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। तं जहा–पुढवीकाइया० जाव तसकाइया। छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–आभिणिबोहियणाणी० जाव केवलणाणी, अन्नाणी। अहवा–छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–एगिंदिया० जाव पंचिंदिया, अणिंदिया। अहवा–छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–ओरालियसरीरी, वेउव्वियसरीरी, आहारगसरीरी, तेयगसरीरी, कम्मगसरीरी, असरीरी ॥

संसारसमापन्नकजीवसूत्रे-पृथिवीकायिकाऽऽदयो जीवनयोक्ताः, पूर्वसूत्रे तु निकायत्वेनेति विशेषाद् न पुनरुक्तमिति। ज्ञानिसूत्रे-अज्ञानिनस्त्रिविधाः-मिथ्यात्वोपहतज्ञानाः। इन्द्रियसूत्रे-अनिन्द्रियाः अपर्याप्ताः, केवलिनः, सिद्धाश्चेति। शरीरसूत्रे-यद्यपि अन्तरगतौ कार्मणशरीरसंभवः, तद्व्यतिरिक्तस्य तैजसशरीरिणोऽसंभवः, तथाऽप्येकतराविवक्षया भेदो व्याख्यातव्यः, तथा अशरीरी सिद्ध इति। स्था० ६ ठा०।

जीवानां सप्तविधत्वम्-

सत्तविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। तं जहा–नेरइया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, मणुस्सा, मणुस्सीओ, देवा, देवीओ। सत्तविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–पुढवीकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, तसकाइया, अकाइया। [जी०] सत्तविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–कण्हलेसा, नीललेसा, काउलेसा, तेउलेसा, पम्हलेसा, सुक्कलेसा, अलेसा। जी०।

सूत्रद्वयं कण्ठ्यं, नवरं सर्वे च ते जीवाश्चेति सर्वजीवाः, संसारिमुक्ता इत्यर्थः। तथा (अकाइय त्ति) सिद्धाः, षड्विधकायाऽपेतत्वादिति। अलेश्याः–सिद्धा अयोगिनो वेति। [आ०]

अट्ठविहा संसारसमावरणगा जीवा पएणत्ता । तं जहा-पढमसमयनेरइया, अपढमसमयनेरइया, पढमसमयतिरिक्खजोणिया, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया, पढमसमयमणुस्सा, अपढमसमयमणुस्सा, पढमसमयदेवा, अपढमसमयदेवा। जी० ८ प्रति० । स्था० ।

तत्र प्रथमसमयनारकाः नारकायुःप्रथमसमयसंवेदिनो अप्रथमसमयनारका नारकायुर्व्यादिसमयवर्तिनः, एवं तिर्यग्योनिकादयोऽपि भावनीयाः। जी० ८ प्रति० ।

अट्ठविहा सव्वजीवा पएणत्ता । तं जहा-नेरइया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, मणुस्सा, मणुस्सीओ य, देवा, देवीओ य, सिद्धा । अहवा-अट्ठविहा सव्वजीवा पएणत्ता । तं जहा-आभिणिबोहियणाणी० जाव केवलणाणी, मइअएणाणी, सुयअएणाणी, विभंगनाणी। स्था० ८ ठा० ॥

नवविधत्वमाह-

नवविहा सव्वजीवा पएणत्ता । तं जहा-पुढवीकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया । जी० ९ प्रति० ॥

जीवाणं नवहिं ठाणेहिं संसारं वत्तिंसु वा, वत्तंति वा, वत्तिस्संति वा । तं जहा-पुढवीकाइयत्ताए० जाव पंचिंदियकाइयत्ताए ॥

संसरणं निर्वर्तितवन्त अनुवृत्तवन्तः, एवमन्यदपि । स्था० ६ ठा० ।

नवविहा सव्वजीवा पएणत्ता । तं जहा-एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चतुरिंदिया, णेरतिया, पंचिंदियतिरिक्खजोणिया, मणूसा, देवा, सिद्धा । जी० ९ प्रति० ।

नवविहा सव्वजीवा पएणत्ता । तं जहा-पढमसमयणेरतिया, अपढमसमयणेरतिया, पढमसमयतिरिक्खजोणिया, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया, पढमसमयमणूसा, अपढमसमयमणूसा, पढमसमयदेवा, अपढमसमयदेवा, सिद्धा । जी० ९ प्रति० ।

दशविधत्वम्-

दसविहा संसारसमावएणगा जीवा पएणत्ता । तं जहा-पढमसमयएगिंदिया, अपढमसमयएगिंदिया, पढमसमयबेइंदिया, अपढमसमयबेइंदिया० जाव पढमसमयपंचिंदिया, अपढमसमयपंचिंदिया । जी० १० प्रति० ॥

तत्र सुगमं, नवरं प्रथमः समयो येषामेकेन्द्रियत्वस्य ते प्रथमसमयास्ते च ते एकेन्द्रियाश्चेति विग्रहः । विपरीतास्त्वितर एवं द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया वाच्याः । स्था० १० ठा० ।

दसविहा सव्वजीवा पएणत्ता । तं जहा-पुढवीकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणप्फतिकाइया, बेइंदिया, तेइंदिया, चतुरिंदिया, पंचिंदिया, अणिंदिया । जी० १० प्रति० ।

अनिन्द्रियाः सिद्धा अपर्याप्तका उपयोगतः केवलिनश्चेति । स्था० १० ठा० ।

दसविहा सव्वजीवा पएणत्ता । तं जहा-पढमसमयणेरइया, अपढम-समयनेरइया, पढमसमयतिरिक्खजोणिया, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया, पढमसमयमणूसा, अपढमसमयमणूसा, पढमसमयदेवा, अपढमसमयदेवा, पढमसमयसिद्धा, अपढमसमयसिद्धा । जी० १० प्रति० । स्था० ॥

जीवानां चतुर्दशविधत्वम्-

कइविहा णं भंते ! संसारसमावएणगा जीवा पएणत्ता ? गोयमा ! चउद्दसविहा संसारसमावएणगा जीवा पएणत्ता । तं जहा-सुहुमअपज्जत्तगा १, सुहुमपज्जत्तगा २, बादरअपज्जत्तगा ३, बादरपज्जत्तगा ४, बेइंदिया अपज्जत्तगा ५, बेइंदिया पज्जत्तगा ६, एवं तेइंदिया ७-८, एवं चउरिंदिया ९-१०, असणिणपंचिंदिया अपज्जत्तगा ११, असणिणपंचिंदिया पज्जत्तगा १२, सणिणपंचिंदिया अपज्जत्तगा १३, सणिणपंचिंदिया पज्जत्तगा १४ । भ० २५ श० १ उ० ।

तत्राह-

चउदसविहा वि जीवा, विबंधगा तेसिमंतिमो भेओ ।
चोद्दसहा सव्वे वि हु, किमाइसंताइपयनेया ॥ १ ॥

चतुर्दशविधा अपि चतुर्दशप्रकारा अपि, जीवाः प्रागुक्तस्वरूपा अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदयो, विबन्धका ज्ञेयाः, विशेषेण बन्धका विबन्धकाः, अष्टप्रकारस्य कर्मण इति शेषः । तेषां चतुर्दशविधानां जीवानाम्, अन्तिमो भेदः-पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाख्यः चतुर्दशधा चतुर्दशप्रकारो मिथ्यादृष्ट्यादिभेदादवसेयः, सर्वेऽपि चैतेऽनन्तरोक्ता अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदयो मिथ्यादृष्ट्यादयश्च, किमादिकैः पदैः सत्पदाऽऽदिकैश्च प्ररूप्यमाणा यथावज्ज्ञातव्याः ॥ १ ॥

तत्र " यथोद्देशं निर्देशः " इति न्यायात् प्रथमतः किमादिपदैः प्ररूपणां चिकीर्षुराह-

किं जीवा उवसमया-इएहिँ भावेहिँ संजुयं दव्वं ।
कस्स सरूवस्स पहू, केणं ति न केणइ कयाओ ॥ २ ॥

किं जीवाः ?-किं नाम जीवा इत्यभिधीयते ?, एवं परेण प्रश्ने कृते सति सूरिरुत्तरमाह-उपशमाऽऽदिभिरुपशमौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकैर्भावैः संयुतं संमिश्रं द्रव्यम् । आह-औदयिकाऽऽदीन् भावान् परित्यज्य किमितीहौपशमिकस्य भावस्य साक्षादुपादानम् ? । उच्यते-इह जीवस्य स्वरूपं पृष्टेन सता तदेव वक्तव्यं यदसाधारणं स्वरूपम्, एवं हि पदार्थान्तरस्वरूपेभ्यो वैविक्त्येन तत्प्रतिपादितं भवति, नान्यथा, औदयिकपारिणामिकौ च भावावजीवानामपि भवतः, अतस्तौ साक्षान्नोपात्तौ, क्षायिकोऽपि च भाव औपशमिकभावपूर्वकः, न खल्वौपशमिकभावमनासाद्य कश्चिदपि क्षायिकं भावमासादयति, क्षायोपशमिकोऽपि च भावो नौपशमिकाद्भावादत्यन्त-

भेदी, तत इह साक्षादौपशमिकस्य भावस्योपादानमिति । ततः " कस्य प्रभवः स्वामिनो जीवाः ? " इति प्रश्ने कृते भणति उत्तरम्-स्वरूपस्य आत्मीयस्य रूपस्य, निश्चयनयमतमेतत् । तथाहि-कर्मविनिर्मुक्तस्वरूपा आत्मानो न केषामपि प्रभवः, किं तु स्वरूपस्यैव, तथास्वाभाव्यात् । यस्तु स्वस्वामिभावः संसारे, स कर्मोपाधिजनितत्वादौपाधिकः, न पारमार्थिक इति । तथा केन कृता जीवाः ? इति प्रश्ने कृते सति समाधिः-न केनचित्कृताः, किन्तु नभस्वदकृत्रिमा एव, यथा चाकृत्रिमता जीवानां, तथा धर्मसंग्रहणीटीकायां सप्रपञ्चमभिहितमिति नेह भूयोऽभिधीयते, ग्रन्थगौरवभयात् ॥ २ ॥

कत्थ सरीरे लोए, व हुंति केवचिर सव्वकालं तु ।
कइ भावजुआ जीवा, विगतिगचउपंचमीसेहिं ॥ ३ ॥

क्व जीवा अवतिष्ठन्ते ? इति प्रश्ने कृते सति उत्तरमाचार्य आह-शरीरे, लोके वा, तत्र सामान्यचिन्तायां लोके,नाऽलोके, अलोके स्वभावत एव धर्माधर्मास्तिकायजीवपुद्गलानामसंभवात् । विशेषचिन्तायां शरीरे, नान्यत्र, शरीरपरमाणुभिरेव सह आत्मप्रदेशानां क्षीरनीरवदन्योन्यानुगमभावात् । उक्तं च-"अन्नोन्नमणुगयाइं,इमं च तं च त्ति विभयणमजुत्तं । जह खीरपाणियाइं," ति । तथा-(केवचिर त्ति)कियच्चिरं कियत्कालं जीवा भवन्ति?,इति प्रश्ने कृते सति उत्तरम्-सर्वकालमेव,तुरेवकारार्थः। इह "केणं ति न केणइ कया उ (२)" इत्यनेन ग्रन्थेन पूर्वं जीवानामनादित्वमावेदितम्, इदानीं त्वनिधनत्वम्, ततश्चानादिनिधना जीवा इति द्रष्टव्यम् । तथा च सति मुक्त्यवस्थामधिगता अपि जीवा न विनश्यन्ति,किन्तु ज्ञानाऽऽदिके स्वस्वरूपेऽवतिष्ठन्त इति श्रद्धेयम् । तेन यत्कैश्चिदुच्यते-

" दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्,
स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ १ ॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्,
क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ २ ॥

तथा-

अर्हन्मरणाचित्तस्य, प्रतिसन्धिर्न विद्यते ।
प्रदीपस्येव निर्वाणं, विमोक्षस्तस्य चेप्सितः " ॥ ३ ॥ इति ।

तदपास्तमवसेयम् । ततः सर्वथा विनाशायोगात्, तथादर्शनादिति कृतं प्रसङ्गेन, मा भूद् ग्रन्थगौरवमिति कृत्वा । तथा कतिभिरुपशमाऽऽदिभिर्भावैर्युताः संयुक्ता जीवाः ?, इति प्रश्ने कृते सति, उत्तरमाह-द्विकत्रिकचतुःपञ्चमिश्रैः । पं० सं० । (जीवस्थानेषु भावस्थितिः ' गुणट्ठाण ' शब्दे तृतीयभागे ९२३ पृष्ठे कर्मग्रन्थेन गतार्था)

तत्र ये जीवा यावत्सु शरीरेषु संभवन्ति, तान् तावत्सु प्रतिपादयन्नाह-

सुरनेरइया तिसु तिसु, वाउपणिंदीतिरिक्ख चउ चउसु ।
मणुया पंचसु सेसा, तिसु तणुसु अविग्गहा सिद्धा ॥ ४ ॥

सुरा नैरयिकाश्च प्रत्येकं तिसृषु तनुषु शरीरेषु वर्त्तन्ते । तद्यथा-तैजसे,कार्मणे,वैक्रिये च । तथा वायवो वातकायाः, तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः प्रत्येकं चतसृषु तनुषु संभवन्ति । तत्र त्रीणि शरीराणि पूर्वोक्तान्येव, चतुर्थं त्वौदारिकमवगन्तव्यम्, वैक्रियं च वायुकायिकानां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां वैक्रियलब्धिमतामवसेयम्, सर्वेषामविशेषेण, तथा मनुजा मनुष्याः पञ्चस्वपि तनुषु संभवन्ति । तद्यथा-औदारिके वैक्रिये आहारके तैजसे कार्मणे च । तत्र वैक्रियं वैक्रियलब्धिमताम्,आहारकं चतुर्दशपूर्वविदाम्,औदारिकतैजसकार्मणानि सुप्रतीतानि, शेषास्त्वेकद्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः प्रत्येकं तिसृषु तिसृषु औदारिकतैजसकार्मणरूपासु तनुषु वेदितव्याः, सिद्धा व्यपगतसकलकर्ममलकलङ्काः, पुनरविग्रहा विग्रहरहिताः, अशरीरा इत्यर्थः ॥ ४ ॥

तदेवं किमादिपदैः प्ररूपणा कृता । संप्रति सत्पदाऽऽदिपदैः प्ररूपणा कर्त्तव्या, सत्पदाऽऽदीनि च पदान्यमूनि-"संतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य । कालो य अंतरं भा-गभाव अप्पाबहुं चेव ॥ " तत्र प्रथमतः सत्पदप्ररूपणां विदधाति-

पुढवाई चउ चउहा, साहारणवणं पि संततं सययं ।
पत्तेयपज्जऽपज्जा, दुविहा सेसा उ उववन्ना ॥ ५ ॥

इह ये पृथिव्यादयश्चत्वारः पृथिव्यप्तेजोवायुरूपाः प्रत्येकं सूक्ष्मबादरपर्याप्ताऽपर्याप्तभेदाच्चतुर्धा चतुःप्रकाराः, सर्वभेदसंख्यया षोडशसंख्याः, ततो भूयः सर्वेऽपि प्रत्येकं द्विधा द्विप्रकाराः । तद्यथा-प्रागुत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च, प्रागुत्पन्नोत्पद्यमानता च प्रज्ञापकापेक्षया वेदितव्या । ते सर्वेऽपि सततमनवरतम्; (संततं ति) यथायोगं सर्वत्र वचनलिङ्गपरिणामेन संबध्यन्ते, सन्तो विद्यमानाः सर्वकालं सन्तः प्राप्यन्ते इत्यर्थः । तथा साधारणवनमपि साधारणवनस्पतयोऽपि पर्याप्तसूक्ष्मबादरभेदभिन्नाः प्रत्येकं द्विधा, प्रागुत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च, सततं सन्तो विद्यमानाः सर्वेऽपि सर्वदैव सन्त इत्यर्थः । तथा-(पत्तेय इत्यादि) प्रत्येकबादरवनस्पतयः पर्याप्ताऽपर्याप्ताश्च । प्रत्येकं द्विधा-प्रागुत्पन्नाः, उत्पद्यमानाश्च । सततं सन्तः सर्वकालं सन्तः प्राप्यन्त इति यावत् । शेषास्तु द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः प्रत्येकं पर्याप्ताऽपर्याप्ताश्च,संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः पुनः पर्याप्ताः प्रागुत्पन्नाः सततं सन्तः,उत्पद्यमानकास्तु भाज्याः; तुशब्दस्यानेकार्थत्वात् संज्ञिनो लब्ध्यपर्याप्तकाः प्रागुत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च भाज्याः । कथमेतदवसीयते ? इति चेत् । उच्यते-इह संज्ञिनां लब्ध्यपर्याप्तकानामवस्थानमन्तर्मुहूर्त्तमात्रं, तेषामायुषोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रत्वात् । अन्तरं चैतेषामुपपातमधिकृत्योत्कर्षतो द्वादशमुहूर्त्ताः, ततस्ते प्रागुत्पन्ना अपि सत्तायां भाज्याः । ननु द्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः अपि लब्ध्यपर्याप्तका अन्तर्मुहूर्त्तायुषः, अन्तरमपि च तेषामन्तर्मुहूर्त्तमात्रमन्यत्रोद्घुष्यते, ततः कथं तेऽपि प्रागुत्पन्ना भाज्या न भवन्ति ? । नैष दोषः । तेषामवस्थानस्य बृहत्तरान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात् तदायुषस्तावन्मात्रत्वात् । कथमिदमवसितमिति चेत् ? । उच्यते-ग्रन्थान्तरे नित्यराश्यधिकारे नित्यराशिभिः सह तेषां यौगपद्येनाभिधानात् ॥ ५ ॥

तदेवं चतुर्दशविधान् सत्पदप्ररूपणया प्ररूप्य सांप्रतमेतेषामेवान्तिमो भेदश्चतुर्दशप्रकारः सत्पदप्ररूपणया प्ररूपयितव्यः; स च चतुर्दशधा गुणस्थानकभेदाद्भवति, ततो गुणस्थानकान्येव सत्पदप्ररूपणया प्ररूपयति-

मिच्छा अविरयदेसा, पमत्तअपमत्तया सजोगी य ।

सव्वद्धं इयरगुणा, नाणाजीवेसु वि न होंति ॥ ६ ॥

मिथ्यादृष्ट्यविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसयोगिकेवलिलक्षणानि गुणस्थानकानि सर्वाद्धं सर्वकालं विद्यन्ते, इतराणि शेषाणि (गुण त्ति) गुणस्थानकानि सास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहायोगिकेवलिलक्षणान्यष्टसंख्याकानि नानाजीवेष्वपि, आस्तामेकस्मिन् जीवे इत्यपिशब्दार्थः । न सर्वकालं भवन्ति, न सर्वकालं विद्यमानानि प्राप्यन्ते इत्यर्थः, किन्तु कदाचिदेव । यदाऽपि च सास्वादनाऽऽदयः प्राप्यन्ते, तदाऽपि कदाचिदेककाः, कदाचिद् बहवः, बहुत्वं च प्रतिनियतं प्रत्येकमग्रे वक्ष्यति ॥ ६ ॥

एतेषां च सासादनाऽऽदीनामष्टसंख्याकानां यावन्तो भेदा एकद्विकाऽऽदिसंयोगतः सर्वसंख्यया भवन्ति, तावन्तः प्रतिपिपादयिषुः सामान्यतः करणगाथामाह-

इगदुगजोगाईणं, ठवियमहो एगऽणेग इइ जुयलं ।
इति जोगा उ दुदुगुणा,गुणियविमिस्सा भवे भंगा ॥७॥

एकद्विकयोगाऽऽदीनाम् एककद्विकत्रिकसंयोगाऽऽदीनां प्रत्येकमधस्तादेकानेकरूपं युगलं द्विकमवस्थाप्यते, तत एककयोगादारभ्य (दुदुगुण त्ति) द्विगुणा द्वाभ्यां सहिता द्विद्विगुणाः । तथाहि-पाश्चात्या भङ्गा द्विगुणाः क्रियन्ते, ततो द्विकसहिता विधेयाः । ततः पुनरपि गुणितविमिश्रा ये भङ्गाः प्राचीना द्वाभ्यां गुणितास्तैः केवलैः सहिताः क्रियन्ते, तत ईप्सितपदे इष्टसंख्याका भङ्गा भवन्ति । इयमत्र भावना-यावन्तः पदार्था विकल्पेन भवन्तो भेदसंख्यया ज्ञातुमिष्टास्तावन्तोऽसत्कल्पनया बिन्दवः स्थाप्यन्ते । इह च प्रकृता अष्टौ सास्वादनाऽऽदयः ततोऽष्टौ बिन्दवः स्थाप्यन्ते, तेषां चाधस्तात् प्रत्येकं द्विकः स्थाप्यः । स्थापना चेयम्- $\overset{\circ}{२}\ \overset{\circ}{२}\ \overset{\circ}{२}\ \overset{\circ}{२}\ \overset{\circ}{२}\ \overset{\circ}{२}\ \overset{\circ}{२}\ \overset{\circ}{२}$ तत्रैकपदे द्वौ भङ्गौ । तद्यथा-एको बहवो वेति पदद्वये भङ्गा अष्टौ । तद्यथा-पाश्चात्यौ द्वौ भङ्गौ द्वाभ्यां गुणितौ जाताश्चत्वारः, ते द्वितीयबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, जाताः षट्, ततो " गुणियविमिस्सा " इति वचनाद् यौ पाश्चात्यौ द्वौ भङ्गौ द्वाभ्यां गुणितौ तौ षट्सु मध्ये प्रक्षिप्येते,ततो जाता अष्टौ, एतावन्तः पदद्वये भङ्गाः । ननु पदद्वये भङ्गाश्चत्वार एव प्राप्यन्ते । तथाहि-किल एकः सास्वादन एको मिश्र इत्येको भङ्गः, एकः सास्वादनो बहवो मिश्रा इति द्वितीयः, बहवः सास्वादना एको मिश्र इति तृतीयः, बहवः सास्वादना बहवो मिश्रा इति चतुर्थः । अतः परमेकोऽपि भङ्गो न संभवति, तत्कथमुच्यते-पदद्वये भङ्गा अष्टौ भवन्तीति ? । तदयुक्तम् । अभिप्रायापरिज्ञानात् । इह हि यदि सास्वादनमिश्रौ सदैवावस्थितौ भवेताम्, तदा तु तयोरेकानेकत्वमात्रकृतैव केवला भवेत्, तदोक्तप्रकारेण द्वयोः पदयोर्भङ्गाश्चत्वार एव भवन्ति । यावता सास्वादनमिश्रौ स्वरूपेणापि विकल्पनीयौ । तथाहि-कदाचित् सास्वादनो भवति, कदाचिन्मिश्रः, कदाचिदुभौ । यत्र सास्वादनः केवलो जायमानः कदाचिदेकः कदाचिदनेक इति द्वौ भङ्गौ । एवं मिश्रेऽपि द्वाविति चत्वारः । उभौ च युगपज्जायमानौ प्रागुक्तप्रकारेण चतुर्भङ्गिकतया जायते, ततः पदद्वये भङ्गा अष्टौ भवन्ति । एवमुत्तरत्रापि भङ्गार्थभावना भावनीया । सम्प्रति पदत्रयभङ्गा दर्श्यन्ते-तत्र पाश्चात्याः पदद्वये भङ्गा अष्टौ (द्वाभ्यां) गुण्यन्ते, जाताः षोडश । ते तृतीयबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, जाता अष्टादश । ततो भूयः पाश्चात्या अष्टौ प्रक्षिप्यन्ते, जाताः षड्विंशतिः । एतावन्तः पदत्रये भङ्गाः । ततः सैव षड्विंशतिर्द्वाभ्यां गुण्यते, जाता द्विपञ्चाशत् । सा चतुर्थबिन्दुस्थाने स्थाप्यते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, ततो जाताश्चतुःपञ्चाशत् । ततः पुनरपि पाश्चात्या षड्विंशतिः प्रक्षिप्यते,जाता अशीतिः। एतावन्तः पदचतुष्टये भङ्गाः । ततः सा अशीतिर्द्वाभ्यां गुण्यते, जातं षष्ट्यधिकं शतम्,तत्पञ्चमबिन्दुस्थाने स्थाप्यते,ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते,जातं द्विषष्ट्यधिकं शतम्, ततः पुनरपि प्राक्तनी अशीतिः प्रक्षिप्यते, ततो जाते द्वे शते द्विचत्वारिंशे । एतावन्तः पदपञ्चके भङ्गाः । ततस्ते द्वे शते द्विचत्वारिंशे द्वाभ्यां गुण्येते; जातानि चत्वारि शतानि चतुरशीत्यधिकानि । तानि षष्ठबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, जातानि चत्वारि शतानि षडशीत्यधिकानि । ततो भूयः प्राक्तने द्वे शते द्विचत्वारिंशदधिके प्रक्षिप्येते,जातानि सप्तशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि । एतावन्तः षट्सु पदेषु भङ्गाः । ततः सप्तशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातानि चतुर्दश शतानि षट्पञ्चाशदधिकानि । तानि सप्तमबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, जातानि चतुर्दशशतानि अष्टपञ्चाशदधिकानि । ततः पुनरपि प्राक्तनानि सप्तशतानि अष्टाविंशत्यधिकानि प्रक्षिप्यन्ते, ततो भवन्त्येकविंशतिशतानि षडशीत्यधिकानि । एतावन्तः सप्तपदभङ्गाः । अमूनि चैकविंशतिशतानि षडशीत्यधिकानि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातानि त्रिचत्वारिंशच्छतानि द्विसप्तत्यधिकानि । तान्यष्टमबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, ततो जातानि त्रिचत्वारिंशच्छतानि चतुःसप्तत्यधिकानि । ततो भूयोऽपि प्राक्तनान्येकविंशतिशतानि षडशीत्यधिकानि प्रक्षिप्यन्ते, जातानि षष्ट्यधिकानि पञ्चषष्टिशतानि । एतावन्तोऽष्टपदभङ्गाः ॥ ७ ॥

संप्रत्येषामेव भङ्गकानां प्रकारान्तरेण प्ररूपणामाह-

अहवा एक्कपईया, दो भंगा इगिबहुत्तसण्णा जे ।
ते चिय पयवुड्ढीए, तिगुणा दुगसंजुया भंगा ॥ ८ ॥

अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शने, एकपदिकौ एकपदभवौ द्वौ भङ्गौ भवतः, कौ तौ ?, इत्याह—यौ एकबहुत्वसंज्ञौ-कदाचिदनेक इत्येवंरूपौ, ततस्तावेव द्वौ भङ्गावादौ कृत्वा पदवृद्धौ द्विकाऽऽदिपदवृद्धौ प्राक्तनाः प्राक्तनास्त्रिगुणाः क्रियन्ते, ततो द्विकेन संयुक्ता विधेयाः, ततस्तत्तत्पदभङ्गा भवन्ति । इयमत्र भावना-तावेवैकपादिकौ भङ्गौ पदद्वये त्रिगुणीक्रियेते, ततो जाताः षट् । ते द्विकेन संयुज्यन्ते, ततो जायन्तेऽष्टौ । एतावन्तः पदद्वये भङ्गाः । ततस्तेऽष्टौ त्रिगुणाः क्रियन्ते, जाता चतुर्विंशतिः । सा द्विकेन संयुक्ता जाता षड्विंशतिः । एतावन्तः पदत्रये भङ्गाः । ततः साऽपि षड्विंशतिस्त्रिगुणीक्रियते, जाता अष्टसप्ततिः। ततो द्विकप्रक्षेपः, ततो भवत्यशीतिः। एतावन्तः पदचतुष्टये भङ्गाः । एवं तावद् वाच्यं, यावत्सप्तपदभङ्गाः षडशीत्यधिकान्येकविंशतिशतानि । तानि भूयस्त्रिगुणीक्रियन्ते, ततो द्विकः प्रक्षिप्यते, जातानि षष्ट्यधिकानि पञ्चषष्टिशतानि । एतावन्तोऽष्टसु सास्वादनाऽऽदिपदेषु भङ्गाः ॥७॥ तदेवं कृता सत्पदप्ररूपणा ।

सम्प्रति द्रव्यप्रमाणमाह-

साहारणाण भेया, चउरो अणंताऽसंखया सेसा।
मिच्छाऽणंता चउरो, पलियासंखं ससेससंखेज्जा ॥८॥

साधारणानां साधारणवनस्पतिकायिकानां चत्वारो भेदाः, पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादररूपाः, प्रत्येकमनन्ता अनन्तसंख्याः, अनन्तलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्तेषाम्। तथा शेषाः पृथिव्यम्बुतेजोवायवः प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरभेदाच्चतुर्भेदाः, तथा पर्याप्तापर्याप्तभेदभिन्नाः प्रत्येकबादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिनोऽसंख्याता असंख्यातसंख्याः। अथापर्याप्तासंज्ञिनः कथमसंख्याता गीयन्ते ?, न हि ते सदैव प्राप्यन्ते, किं तु कदाचिदेव, ततः कथमसंख्याता घटन्ते ?। नैष दोषः। यतो यद्यपि ते सदैव न भवन्ति,तथापि यदा भवन्ति तदा जघन्येनैको द्वौ वा उत्कर्षतोऽसंख्येयाः। उक्तं च- " एगो व दो व तिन्नि व, संखमसंखा व एगसमएणं। " इति। तथा मिथ्यादृष्टयोऽनन्ताः-अनन्तलोकाऽऽकाशप्रमाणाः, तथा चत्वारः सास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतरूपाः प्रत्येकं पल्योपमासंख्येयभागवर्त्तिप्रदेशराशिप्रमाणा इत्यर्थः। इह सास्वादनाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयश्चाध्रुवत्वात्कदाचिल्लोके प्राप्यन्ते, कदाचिन्न; यदा प्राप्यन्ते तदा जघन्येनैको द्वौ वा, उत्कर्षतः क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागतुल्याः, अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरताः पुनः सदैव प्राप्यन्ते, ध्रुवत्वात्तेषां,केवलं कदाचित्स्तोकाः कदाचिद् बहवः,तत्र जघन्यपदेऽपि ते द्वयेऽपि प्रत्येकं क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्त्तिप्रदेशराशितुल्याः,उत्कर्षतोऽप्येतावन्त एव,नवरमसंख्यातस्य तस्यासंख्यातभेदभिन्नत्वाज्जघन्यादुत्कृष्टमसंख्यातमसंख्यातगुणं द्रष्टव्यम्। देशविरतेभ्यश्चाविरतसम्यग्दृष्टयो जघन्यपदे उत्कृष्टपदे च प्रभूततरा अवसेयाः; शेषाः प्रमत्ताऽऽदिगुणस्थानवर्त्तिनो जीवाः प्रत्येकं संख्येयाः प्रतिनियतसंख्याकाः, सा च प्रतिनियता संख्या स्वयमेव वक्ष्यते ॥ ८ ॥

तदेवमभिहितं सामान्यतो द्रव्यप्रमाणम्;
साम्प्रतमेतदेव विशेषतोऽभिधित्सुराह-

पत्तेयपज्जवणका-इया उ पयरं हरंति लोगस्स।
अंगुलअसंखभागे-ण भाइयं भूदगतणू य ॥ ९ ॥

पर्याप्तप्रत्येकबादरवनस्पतिकायिका भूकायिका उदककायिकाश्च पर्याप्तबादराः प्रत्येकं लोकस्य घनीकृतस्य सप्तरज्जुप्रमाणस्य उपरितनाधस्तनप्रदेशरहितैकैकप्रदेशप्रस्तराऽऽत्मकं मण्डकाऽऽकारं प्रतरमङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागैर्भाजितं खण्डितं सकलमपि हरन्ति। इयमत्र भावना-सर्वेऽपि प्रत्येकबादरपर्याप्तवनस्पतिकायिका अन्यतः प्रतरमेककालमपहर्तुमुद्यता विवक्षिताः सन्तो यदि युगपदेकैकमङ्गुलासंख्येयभागमात्रं खण्डमपसारयन्ति,तत एकेनैव समयेन ते सकलमपि प्रतरमपहरन्ति। तत इदमायातम्-घनीकृतलोकस्यैकस्मिन् प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि भवन्ति तावत्प्रमाणाः पर्याप्तप्रत्येकबादरवनस्पतयः। एवं पर्याप्तबादरभूकायिकोदककायिकानामपि प्रत्येकं भावना कार्या। यद्यपि चामीषां त्रयाणामपीत्थं समानप्रमाणत्वमभिहितं,तथाऽप्यङ्गुलासंख्येयभागस्यासंख्यातभेदभिन्नत्वात्परस्परमिदमल्पबहुत्वमवसेयम्; स्तोकाः प्रत्येकबादरपर्याप्तवनस्पतयः, तेभ्यः पर्याप्तबादरभूकायिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि बादरपर्याप्ताप्कायिका असंख्येयगुणाः ॥ ९ ॥

आवलिवग्गो ऊणा-वलिए गुणिओ हु बायरा तेऊ।
वाऊ य लोगसंखं, सेसतिगमसंखिया लोगा ॥ १० ॥

आवलिका असंख्येयसमयाऽऽत्मिकाऽप्यसत्कल्पनया दशसमयाऽऽत्मिका कल्प्यते,ततस्तस्या दशसमयाऽऽत्मिकाया आवलिकाया वर्गः, स च किल कल्पनया शतसमयप्रमाणः, तत आवलिकावर्ग ऊनावलिकया कतिपयसमयन्यूनया आवलिकया कतिपयसमयन्यूनैरावलिकासमयैरभ्यस्तैरित्यर्थः,गुण्यते। गुणने च कृते सति यावन्तो वर्गा भवन्ति, तेषु च वर्गेषु यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणा बादरपर्याप्ततेजस्कायिकाः। तथा (वाऊ य लोगसंखं ति) वायवो बादरपर्याप्तवायवो लोकसंख्येयभागतुल्याः, घनीकृतस्य लोकस्यासंख्येयेषु प्रतरेषु संख्याततमभागवर्त्तिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणा इत्यर्थः। अमीषां पृथिव्यम्बुतेजोवायुप्रत्येकवनस्पतीनां बादरपर्याप्तानां परस्परमल्पबहुत्वमिदम्-सर्वस्तोकाः पर्याप्तबादरतेजस्कायिकाः,तेभ्यः पर्याप्तप्रत्येकबादरवनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरभूकायिका असंख्येयगुणाः,तेभ्योऽपि पर्याप्तबादराप्कायिका असंख्येयगुणाः,तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरवायुकायिका असंख्येयगुणाः। (सेसतिगमसंखिया लोगा इति) शेषत्रिकं पृथिव्यम्बुतेजोवायुकायिकानामपर्याप्तबादरपर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मलक्षणमसंख्येया लोकाः, असंख्येयेषु लोकेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणाः। किमुक्तं भवति ?, असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणाः पृथिव्यम्बुतेजोवायूनां प्रत्येकमपर्याप्ता बादराः, पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च सूक्ष्मा भवन्तीति। इदं सामान्येनोक्तं, विशेषचिन्तायां पुनः पृथिव्यम्बुतेजोवायूनां स्वस्थाने प्रत्येकं त्रयाणामपि राशीनामिदमल्पबहुत्वम्-सर्वस्तोका अपर्याप्तबादराः, तेभ्योऽपर्याप्तसूक्ष्मा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तसूक्ष्माः संख्येयगुणाः, शेषत्रिकग्रहणं चोपलक्षणं,तेनापर्याप्तबादरप्रत्येकवनस्पतयोऽसंख्येयलोकाकाशप्रमाणा अवगन्तव्याः। साधारणवनस्पतीनां च प्रागेव पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादररूपाश्चत्वारोऽपि भेदाः सामान्यतोऽनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा उक्ताः। यदि पुनस्तेषामपि विशेषचिन्ता क्रियते, तदेदमल्पबहुत्वमवसेयम्-बादरपर्याप्तसाधारणाः सर्वस्तोकाः,तेभ्यो बादरापर्याप्तसाधारणा असंख्येयगुणाः,तेभ्योऽपि सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणा असंख्येयगुणाः,तेभ्योऽपि सूक्ष्मपर्याप्तसाधारणाः संख्येयगुणा ॥१०॥

पज्जत्तापज्जत्ता, बितिचउअसन्निणो अवहरंति।
अंगुलसंखासंख-प्पएसभइयं पुढो पयरं ॥ ११ ॥

द्वित्रिचतुरसंज्ञिनो द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः पृथक्प्रत्येकं पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च यथासंख्यमङ्गुलसंख्येयासंख्येयभागप्रदेशैर्भाजितं खण्डितं प्रतरमपहरन्ति। इयमत्र भावना-सर्वेऽपि पर्याप्ता द्वीन्द्रिया यदि युगपदेकैकमङ्गुलमात्रक्षेत्रसंख्येयभागमात्रं खण्डं प्रतरस्यापहरन्ति, तत एकेनैव समयेन ते सकलमपि प्रतरमपहरन्ति। इदमुक्तं भवति घनीकृतस्य लोकस्य सप्तरज्जुप्रमाणस्यैकस्मिन् प्रतरे यावन्त्यङ्गुलसंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावन्तः पर्याप्ता द्वीन्द्रियाः। एवं पर्याप्तास्त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया अपि प्रत्येकमवगन्तव्याः। यावन्ति पुनरेकस्मिन् प्रतरेऽङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागप्रमाणानि खण्डानि, तावन्तोऽपर्याप्ता द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः प्रत्येकमवसेयाः। यद्यपि च सर्वे

पर्याप्ताः सर्वेऽपि चापर्याप्ता द्वीन्द्रियाऽऽदयः सामान्यतः समानप्रमाणा उक्ताः,तथाऽपि विशेषचिन्तायामिदमल्पबहुत्वमवसेयम्-सर्वस्तोकाः पर्याप्तचतुरिन्द्रियाः,पर्याप्ता असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया विशेषाधिकाः, पर्याप्ता द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, पर्याप्तास्त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, अपर्याप्ता असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया असंख्यातगुणाः; तेभ्योऽपर्याप्ताश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्यपर्याप्तास्त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्यपर्याप्ता द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः । तदेवमसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः सर्वेऽपि जीवाः संख्यया प्ररूपिताः ॥ ११ ॥

सम्प्रति संज्ञिप्ररूपणार्थमाह-

सन्नी चउसु गईसुं, पढमाएँ असंखसेढिनेरइया ।
सेढिअसंखेज्जंसो, सेसासु जहुत्तरं तह य ॥ १२ ॥

संज्ञिनश्चतसृष्वपि गतिषु वर्त्तन्ते, ततो गतीरधिकृत्य तत्प्ररूपणा कर्त्तव्या । तत्र प्रथमतो नरकगतिमधिकृत्याऽऽह-प्रथमायां नरकपृथिव्यां रत्नप्रभाऽभिधानायां घनीकृतस्य लोकस्य सप्तरज्जुप्रमाणस्य असंख्येया एकप्रादेशिक्यः श्रेणयः, एतावत्प्रमाणा नारकाः ; असंख्यातासु एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणा नारका इत्यर्थः । गाथाऽन्ते चशब्दस्यानुक्तार्थसंसूचनाद् भवनपतयोऽप्येतावत्प्रमाणा वेदितव्याः । शेषासु द्वितीयाऽऽदिषु नरकपृथिवीषु प्रत्येकम् (सेढिअसंखेज्जंस त्ति) घनीकृतस्य लोकस्यैकस्या अप्येकप्रादेशिक्याः श्रेणेरसंख्येयतमो भागो नारकाः; असंख्येयतमे भागे यावन्तः प्रदेशास्तावत्प्रमाणा नारका इत्यर्थः । (जहुत्तरं तह य त्ति) तथा चेति समुच्चये । यथोत्तरं च यथा यथा उत्तरा पृथ्वी तथा तथा पूर्वपृथ्वीगतनारकापेक्षया असंख्याततमा असंख्याततमभागमात्रा द्रष्टव्याः । तद्यथा-द्वितीयपृथ्वीगतनारकापेक्षया तृतीयपृथिव्यां नारका असंख्याततमभागमात्राः, तृतीयपृथ्वीगतनारकापेक्षया चतुर्थपृथिव्यां नारका असंख्यातभागमात्राः । एवं सप्तस्वपि पृथ्वीषु द्रष्टव्यम् । कथमेतदवसेयमिति चेत् ? । उच्यते-युक्तिवशात् । तथाहि-सर्वस्तोकाः सप्तमपृथिव्यां नारकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्विभागभाविनः, तेभ्योऽपि तस्यामेव सप्तमपृथिव्यां दक्षिणदिग्भागभाविनोऽसंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ? उच्यते-इह द्विधा जन्तवः-शुक्लपाक्षिकाः, कृष्णपाक्षिकाश्च । तेषां चेदं लक्षणम्-इह येषां किञ्चिदूनपुद्गलपरावर्त्तार्द्धमात्रः संसारस्ते शुक्लपाक्षिकाः; अधिकतरसंसारभाजिनस्तु कृष्णपाक्षिकाः । उक्तं च-"जेसिमवड्ढो पोग्गल-परियट्टो सेसओ य संसारो । ते सुक्कपक्खिया खलु, अहिए पुण कण्हपक्खीओ ॥ १ ॥ " अत एव स्तोकाः शुक्लपाक्षिकाः, बहवः कृष्णपाक्षिकाश्च । कृष्णपाक्षिकास्तु प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, न शेषासु दिक्षु, तथास्वाभाव्यात् । तच्च तथास्वाभाव्यं पूर्वाचार्यैरेवं युक्तिभिरुपबृंह्यते-तथा कृष्णपाक्षिका दीर्घतरसंसारभाजिन उच्यन्ते, दीर्घतरसंसारभाजिनश्च बहुपापोदया भवन्ति । बहुपापोदयाश्च क्रूरकर्माणः । क्रूरकर्माणश्च प्रायस्तथास्वाभाव्यात् तद्भवसिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते,न शेषासु । यत उक्तम्-" पायमिह कूरकम्मा, भवसिद्धीया वि दाहिणिल्लेसु । नेरइयतिरियमणुया, सुराइठाणेसु गच्छंति ॥ १ ॥ " ततो दक्षिणस्यां दिशि बहूनां कृष्णपाक्षिकाणामुत्पादसंभवात् संभवन्ति पूर्वोत्तरपश्चिमेभ्यो दाक्षिणात्या असंख्येयगुणा इति । तेभ्योऽपि षष्ठपृथिव्यां तमःप्रभाऽभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ? । उच्यते-इह सर्वोत्कृष्टपापकर्मकारिणः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याः सप्तमनरकपृथिव्यामुत्पद्यन्ते, किञ्चिद्धीनहीनतरपापकर्मकारिणश्च षष्ठ्यादिषु पृथिवीषु, सर्वोत्कृष्टपापकर्मकारिणश्च सर्वस्तोकाः, बहवश्च यथोत्तरं किञ्चिद्धीनहीनतराऽऽदिपापकर्मकारिणः, ततो युक्तमसंख्येयगुणत्वम् । सप्तमपृथिवीदाक्षिणात्यनारकापेक्षया षष्ठपृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमनारकाणाम्;एवमुत्तरोत्तरपृथिवीरप्यधिकृत्य भावितव्यम् । तेभ्योऽपि तस्यामेव षष्ठपृथिव्यां दक्षिणदिग्वर्त्तिनो नारका असंख्येयगुणाः । युक्तिरत्रापि प्रागुक्ताऽनुसर्त्तव्या । तेभ्योऽपि पञ्चमपृथिव्यां धूमप्रभाऽभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः,तेभ्योऽपि तस्यामेव पञ्चमपृथिव्यां दक्षिणदिग्वर्त्तिनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि चतुर्थपृथिव्यां पङ्कप्रभाऽभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भागभाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव चतुर्थपृथिव्यां दक्षिणस्यां दिशि असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तृतीयपृथिव्यां वालुकाऽभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः,तेभ्योऽपि तस्यामेव तृतीयपृथिव्यां दाक्षिणात्या असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि द्वितीयपृथिव्यां शर्कराप्रभाऽभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव द्वितीयपृथिव्यां दाक्षिणात्या असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि रत्नप्रभापृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां दक्षिणस्यां दिशि नारका असंख्येयगुणाः । पं० सं० । (अत्रत्यः संवादी प्रज्ञापनाग्रन्थः ' अप्पाबहुय ' शब्दे प्रथमभागे ६५२ पृष्ठे गतः)

ये च येभ्योऽसंख्येयगुणास्तेषां ते असंख्येयतमे भागे वर्त्तन्ते, ततो रत्नप्रभापृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमनारकेभ्योऽपि शर्कराप्रभानारका असंख्येयतमे भागे वर्त्तन्ते, किं पुनः सकलनारकेभ्यः ?, एवमधोऽधःपृथिवीष्वपि भावनीयम् । ततो युक्तमुक्तम्-(जहुत्तरं तह य त्ति) ॥ १२ ॥

सम्प्रति व्यन्तराणां प्रमाणमाह-

संखेज्जजोयणाणं, सूइपएसेहिँ भाइओ पयरो ।
वंतरसुरेहिँ हीरइ, एवं एकेकभेएणं ॥ १३ ॥

संख्येयानां योजनानां या सूचिरेकप्रादेशिकी श्रेणिः । किमुक्तं भवति ?-संख्येययोजनप्रमाणा या एकप्रादेशिकी पङ्क्तिः,तत्प्रदेशैर्भक्तः प्रतरो व्यन्तरसुरैरपह्रियते । अयमत्र तात्पर्यार्थः-यावन्ति संख्येययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राण्याकाशखण्डान्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति, तावत्प्रमाणा व्यन्तरसुराः । अथ चेयं कल्पना-संख्येययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्रं खण्डमेकैकं युगपद् यदि सर्वेऽपि व्यन्तरसुरा अपहरन्ति, तर्हि सकलमपि प्रतरमेकस्मिन्नेव समये ते अपहरन्ति, अयमपि स एवार्थः । एवमेकैकस्मिन् भेदे व्यन्तरनिकाये द्रष्टव्यम् । किमुक्तं भवति ?-यथा सकलव्यन्तरसुराणां परिमाणमुक्तमेवमेकैकस्मिन् व्यन्तरनिकाये परिमाणमवसेयम् । न चैवं सर्वसमुदायपरिमाणव्याघातप्रसङ्गः, श्रेणिप्रमाणहेतुयोजनसंख्येयत्वस्य वैचित्र्यात् ॥ १३ ॥

छप्पन्नदोसयंगुल-सूइपएसेहिँ भाइओ पयरो ।
जोइसिएहिँ हीरइ, सट्ठाणे त्थी य संखगुणा ॥१४॥

षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयसंख्याऽङ्गुलप्रमाणसूचिप्रदेशैर्भाजितः

व्यवस्थितः प्रतर उक्तस्वरूपो ज्योतिष्कदेवैरपह्रियते । इयमत्र भावना-षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयसंख्याऽङ्गुलप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा ज्योतिष्कदेवाः । अथवेयं कल्पना-षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयसंख्याङ्गुलप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्रं खण्डमेकैकं यदि युगपत्सर्वेऽपि ज्योतिष्कदेवा अपहरन्ति,तर्हि ते सकलमपि प्रतरमेकस्मिन्नेव समये अपहरन्ति, तथा स्वस्थाने चतुर्ष्वपि देवनिकायेषु स्वस्वनिकायगतदेवापेक्षया देव्यः संख्येयगुणा द्रष्टव्याः, प्रज्ञापनायां महादण्डके तथा पाठात्।

असंखसेढिखपए-सतुल्लया पढमदुइयकप्पेसु ।
सेढिअसंखंससमा, उवरिं तु जहुत्तरं तह य ॥१५॥

घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्द्धाध आयता एकप्रादेशिक्यः श्रेणयोऽसंख्यातास्तासां यावान् प्रदेशराशिस्तत्तुल्यास्तावत्प्रमाणाः प्रथमे कल्पे सौधर्म्माऽऽख्ये, द्वितीये च कल्पे ईशानाऽऽख्ये प्रत्येकं देवा भवन्ति । केवलं सौधर्म्मकल्पगतदेवापेक्षया ईशानकल्पगता देवाः संख्येयभागमात्रा द्रष्टव्याः, प्रज्ञापनायामीशानदेवापेक्षया सौधर्मकल्पदेवानां संख्येयगुणतयाऽभिधानात् । (सेढिअसंखंससमा उवरिं तु त्ति) तुर्वाक्यभेदे, उपरि पुनः सौधर्मेशानकल्पयोरुपरिष्टात्पुनः सनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारलक्षणेषु कल्पेषु प्रत्यकं देवा घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिक्या एकस्याः श्रेणेरसंख्येयांशसमाः, असंख्येयतमे भागे यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणाः (जहुत्तरं तह य त्ति) तथाचेति समुच्चयं,यथा उत्तरे उत्तरे देवाः-उत्तरोत्तरकल्पगता देवास्तथा तथा पूर्वपूर्वकल्पगतदेवापेक्षया असंख्येयभागमात्रा द्रष्टव्याः। इदमुक्तं भवति-यावन्तः सनत्कुमारकल्पगता देवास्तदपेक्षया माहेन्द्रकल्पे असंख्येयभागमात्राः, माहेन्द्रकल्पगतदेवापेक्षया सनत्कुमारकल्पगता देवा असंख्येयगुणा इत्यर्थः । एवं माहेन्द्रकल्पगतदेवापेक्षया ब्रह्मलोककल्पगतदेवा असंख्येयभागमात्राः । एवं लान्तकमहाशुक्रसहस्रारकल्पेष्वपि भावनीयम् । “ तह य ” इत्यत्र चशब्दस्यानुक्तार्थसमुच्चायकत्वादानतप्राणताऽऽरणाच्युतकल्पेषु अधस्तनमध्यमोपरितनग्रैवेयकेषु अनुत्तरविमानेषु च प्रत्येकं क्षेत्रपल्योपमस्यासंख्येयतमे भागे यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणा देवा अवगन्तव्याः। पूर्वपूर्वदेवापेक्षया चोत्तरोत्तरदेवाः संख्येयगुणहीनाः, तथा प्रज्ञापनायां महादण्डके पठितत्वात्। (महादण्डकपाठस्तु-‘ अप्पाबहुय ’ शब्दे प्रथमभागे ६५४ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

इह पूर्वं रत्नप्रभानारकाणां भवनपतिदेवानां सौधर्मकल्पगतदेवानां च परिमाणमसंख्येयश्रेणिगताऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणं सामान्येनोक्तं, तत्र न ज्ञायते के बहवः, के स्तोका इति?। तत परस्परं विशेषमाह-

सेढी एक्केक्कपए-सरइयसूईणमंगुलप्पमियं ।
घम्माएँ भवणसोह-म्मयाण माणं इमं होइ ॥ १६ ॥

घर्मायां घर्माभिधानायां प्रथमपृथिव्यां नारकाः, तेषामिति शेषः, तथा भवनपतीनां सौधर्मजानां च सौधर्मकल्पगतानां च देवानां परिमाणावधारणाय या असंख्येयाः श्रेणयः पूर्वमुक्तास्ताः प्रति प्रत्येकमेकैकं प्रदेशं श्रेणिव्यतिरिक्तं गृहीत्वा या रचिताः सूचय एकप्रादेशिक्यः श्रेणयः । किमुक्तं भवति?-रत्नप्रभानारकाऽऽदिपरिमाणेषु प्रत्येकं यावत्यः श्रेणयस्तावतः प्रदेशान् श्रेणिव्यतिरिक्तान् गृहीत्वा एकप्रादेशिक्यः सूचयः क्रियन्ते, तासां च सूचीनामङ्गुलप्रमितमङ्गुलभागमितमिदं वक्ष्यमाणं मानं प्रमाणम् ॥ १६ ॥

तदेव दर्शयति-

छप्पन्नदोसयंगुल-भूओ भूओ विगिज्झ मूलतिगं ।
गुणिया जहुत्तरत्था, रासीओ कमेण सूईओ ॥१७॥

षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणस्याङ्गुलमात्रस्याङ्गुलक्षेत्रगतप्रदेशराशेर्भूयो भूयो वारं वारं विगृह्य। किमुक्तं भवति?-वर्गमूलाऽऽनयनकरणेन एकं वारं विगृह्य वर्गमूलमानीय भूयो विगृह्यते, ततो द्वितीयं वर्गमूलमागच्छति, ततो भूयोऽपि विगृह्यते, ततस्तृतीयं वर्गमूलमागच्छति। एवं भूयो भूयो विगृह्य मूलत्रिकं वर्गमूलत्रयमानीय यथोत्तरस्था राशयो गुण्यन्ते। ततो गुणिताः सन्तस्ते क्रमेण यथाक्रमं सूचयो भवन्ति। एतावत्प्रदेशराशिप्रमाणा यथाक्रमं रत्नप्रभानारकाऽऽदिषु श्रेणिपरिमाणहेतवः सूचयो भवन्तीत्यर्थः। इयमत्र भावना-अङ्गुलमात्रे क्षेत्रे एकप्रादेशिकश्रेणिरूपे असंख्याता अपि प्रदेशाः किलासत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणाः कल्प्यन्ते, तेषां प्रथमं वर्गमूलं षोडश, द्वितीयं चत्वारि, तृतीयं च द्वे। एते च राशय उपर्यधोभावेन क्रमेण व्यवस्थाप्यन्ते। तत्र प्रथमवर्गमूलेन षोडशलक्षणेन उपरितनः षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणो राशिर्गुण्यते। गुणिते च सति तस्मिन् जातानि षण्णवत्यधिकानि चत्वारि सहस्राणि। एतावत्यः किल श्रेणयो रत्नप्रभानारकाणां परिमाणाय द्रष्टव्याः, एतावत्प्रमाणश्रेणिगताऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः प्रथमपृथिवीनारका भवन्तीत्यर्थः। तथा द्वितीयेन वर्गमूलेन चतुष्कलक्षणेनोपरितनः षोडशकलक्षणो राशिर्गुण्यते। गुणिते च सति जाता चतुःषष्टिः। एतावत्यः श्रेणयो भवनपतीनां परिमाणावधारणाय द्रष्टव्याः। तथा तृतीयेन वर्गमूलेन द्विकलक्षणेनोपरितनश्चतुष्कलक्षणो राशिर्गुण्यते। ततो जाता अष्टौ। एतावत्यः श्रेणयः सौधर्मदेवानां परिमाणाय ज्ञातव्याः ॥ १७ ॥

रत्नप्रभानारकाऽऽदीनामेव विषये प्रकारान्तरेण भूयः श्रेणिपरिमाणमाह-

अह वंगुलप्पएसा, समूलगुणिया उ नेरइयसूई ।
पढमदुइयापयाइं, समूलगुणियाइँ इयराणं ॥ १८ ॥

अथवेति प्रकारान्तरसूचने,प्रकारान्तरं चेदम्-पूर्वमङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रदेशप्रमाणकल्पितः, इह तु न तथा कल्प्यते, किं तु यथाऽवस्थित एव विवक्ष्यते इति। अङ्गुले एकप्रादेशिकश्रेणिरूपे अङ्गुलमात्रे ये प्रदेशास्ते स्वकीयेन वर्गमूलेन गुणिताः सन्तो यावन्तः संभवन्ति, एतावत्प्रमाणा नैरयिकसूचयः-नैरयिकपरिमाणहेतूनां श्रेणीनां विस्तरः। किमुक्तं भवति?-एतावत्प्रमाणाः प्रथमपृथिवीनारकाणां परिमाणावधारणाय श्रेणयोऽवगन्तव्याः । तथा अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यत् प्रथमं पदं वर्गमूलं, तत् स्वकीयेन मूलेन वर्गमूलेनाङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराश्यपेक्षया द्वितीयेन वर्गमूलेन गुण्यते। गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति, एतावत्प्रमाणा भवनपतीनां परिमाणावधारणाय श्रेणयो द्रष्टव्याः। तथा अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेरेव यद् द्वितीयं पदं वर्ग-

मूलं, तत् स्वमूलेन स्वकीयेन वर्गमूलेन अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराश्यपेक्षया तृतीयेन च वर्गमूलेन गुण्यते। गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणाः सौधर्मदेवानां परिमाणावधारणाय श्रेणयो ज्ञेयाः, एतावत्प्रमाणश्रेणिगताऽऽकाशप्रदेशराशितुल्याः सौधर्मदेवा भवन्तीति भावना। एवं पूर्वत्रापि भावना द्रष्टव्या ॥ १८ ॥

संप्रत्युत्तरवैक्रियसंज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियपरिमाणावधारणार्थमाह-

अंगुलमूलासंखिय-भागप्पमिया उ होंति सेढीओ ।
उत्तरविउव्वियाणं, तिरियाण य सन्निपज्जाणं ॥ १९ ॥

अङ्गुलस्याङ्गुलप्रमाणस्य क्षेत्रस्य प्रदेशराशेर्यन्मूलं वर्गमूलं प्रथमं, तस्य योऽसंख्येयो भागस्तेन प्रमितास्तत्प्रमाणास्तिरश्चां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामुत्तरवैक्रियाणां परिमाणावधारणाय श्रेणयोऽवगन्तव्याः। इयमत्र भावना-एकप्रादेशिके अङ्गुलमात्रे क्षेत्रे यः प्रदेशराशिः, तस्य यत् प्रथमं वर्गमूलं, तस्यासंख्येयभागे यावन्तो नभःप्रदेशाः,तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणा उत्तरवैक्रियशरीरलब्धिसम्पन्नाः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो वेदितव्याः। उक्तं च-"पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं केवइया वेउव्वियसरीरा पन्नत्ता ?। गोयमा ! असंखेज्जा,कालओ असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति, खेत्तओ पयरस्स असंखेज्जइभागे असंखेज्जाओ सेढीओ,तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलस्स असंखेज्जइभागो" इति। उत्तरवैक्रियशरीरलब्धिसंपन्नाः पर्याप्तसंज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रिया असंख्येयेषु द्वीपसमुद्रेषु गजमत्स्यहंसाऽऽद्यो द्रष्टव्याः ॥ १९ ॥

सम्प्रति मनुष्यपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह-

उक्कोसपए मणुया, सेढी रूवाहिया अवहरंति ।
तइयमूलाहएहिं, अंगुलमूलप्पएसेहिं ॥ २० ॥

इह द्वये मनुष्याः-गर्भव्युत्क्रान्ताः, संमूर्छिमाश्च। तत्र गर्भव्युत्क्रान्ताः-पर्याप्ताः, अपर्याप्ताश्च भवन्ति । संमूर्छिमास्तु अन्तर्मुहूर्तायुषोऽपर्याप्ता एव म्रियन्ते । एतच्च प्रागेव प्रथमाधिकारेऽभिहितम् । ततस्ते पर्याप्ता न भवन्ति । तत्र ये गर्भव्युत्क्रान्ताः पर्याप्ता मनुष्यास्ते सदैव लभ्यन्ते, ध्रुवत्वात्तेषाम् । ते च संख्येयाः, संख्या च तेषां जघन्यतोऽपि पञ्चमवर्गगुणितषष्ठवर्गप्रमाणा द्रष्टव्या । अथ वर्गः किमुच्यते ?, किंस्वरूपश्च पञ्चमो वर्गः ?, किंपुनः षष्ठः ?, कीदृग्वा पञ्चमवर्गगुणितः स षष्ठो वर्गो भवतीति ?। उच्यते-इह विवक्षितो राशिस्तेनैव राशिना गुणितो वर्ग इत्यभिधीयते। तत्रैकस्य वर्ग एक एव भवति, ततो वृद्धिरहितत्वादेष वर्ग एव न गण्यते. द्वयोश्च वर्गश्चत्वारो भवन्ति; इत्येष प्रथमो वर्गः ४। चतुर्णां वर्गः षोडशेति द्वितीयो वर्गः १६। षोडशानां वर्गो द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके; इति तृतीयो वर्गः २५६। द्वयोः शतयोः षट्पञ्चाशदधिकयोर्वर्गः पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्च शतानि षट्त्रिंशदधिकानि, एष चतुर्थो वर्गः ६५५३६ ।

अस्य च राशेर्वर्गः सार्द्धगाथया प्रोच्यते-

"चत्तारि य कोडिसया, अउणत्तीसं च होंति कोडीओ ।
अउणावन्नं लक्खा, सत्तट्ठी चेव य सहस्सा ॥ १ ॥
दो य सया छन्नउया, पंचमवग्गो इमो विणिद्दिट्ठो ।"

अङ्कतोऽपि स्थापना— ४२९४९६७२९६।

अस्यापि राशेर्वर्गो गाथात्रयेण प्रतिपाद्यते । तद्यथा-

"लक्खं कोडाकोडिण, चउरासीइं भवे सहस्साइं ।
चत्तारि य सत्तट्ठा, होंति सया कोडिकोडीणं ॥ १ ॥
चोयाला लक्खाइं, कोडीणं सत्त चेव य सहस्सा ।
तिन्नि य सया य सयरा, कोडीणं होंति नायव्वा ॥ २ ॥
पंचाणउइं लक्खा, एगावन्नं भवे सहस्साइं ।
छस्सोलसुत्तरसया, एसो छट्ठो य हवइ वग्गो ॥ ३ ॥"

अङ्कतः स्थापना- १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६।

एष षष्ठो वर्गः पूर्वोक्तेन पञ्चमवर्गेण गुण्यते । गुणिते च सति यावान् राशिर्भवति तावत्प्रमाणा जघन्यतोऽपि पर्याप्तगर्भजमनुष्याः। स च राशिरेतावान् भवति-
७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६।

अयं च राशिरेकोनत्रिंशदङ्कस्थानेन कोटाकोट्यादिप्रकारेणाभिधातुं कथमपि शक्यते, ततः पर्यन्तवर्तिनोऽङ्कस्थानादारभ्याङ्कस्थानसंग्रहमात्रं पूर्वपुरुषप्रणीतेन गाथाद्वयेनाभिधीयते-

"छ य तिन्नि तिन्नि सुन्नं, पंचेव य नव य तिन्नि चत्तारि ।
पंचेव तिन्नि नव पं-च सत्त तिन्नेव तिन्नेव ॥ १ ॥
चउ छ दो चउ एक्को, पण दो छक्केक्कगो य अट्ठेव ।
दो दो नव सत्तेव य, अंकट्ठाणा इगुणतीसं ॥ २ ॥"

एष च राशिः पूर्वसूरिभिस्त्रियमलपदादूर्ध्वं चतुर्यमलपदस्याधस्तादित्युपवर्ण्यते; तत्र द्वौ द्वौ वर्गौ यमलपदम् । तथा चोक्तमनुयोगद्वारचूर्णौ-"दो विन्नि वग्गा जमलपयं ति भन्नइ" इति। ततः षड् वर्गाः समुदितास्त्रियमलपदम्,त्रियमलपदसमाहारस्तस्मादूर्ध्वमेव राशिः,षष्ठवर्गस्य पञ्चमवर्गेण गुणितत्वात्। अष्टवर्गसमुदायश्चतुर्यमलपदम्,चतुर्णां यमलकपदानां समाहार इत्यर्थः । तस्याधस्तात् सप्तमवर्गस्याप्यपरिपूर्णत्वात् , एष च राशिः षण्णवतिच्छेदनकदायी। तथाहि-प्रथमो वर्गो द्वे छेदनके दद्याति । तद्यथा-प्रथमं छेदनकं द्वौ, द्वितीयमेकं; द्वितीयो वर्गश्चत्वारि छेदनकानि। तत्र प्रथममष्टौ,द्वितीयं चत्वारि,तृतीयं द्वे,चतुर्थमेकम्। एवं तृतीयवर्गोऽष्टौ छेदनकानि। चतुर्थः षोडश। पञ्चमो द्वात्रिंशतम् । षष्ठश्चतुष्षष्टिम्, स एव पञ्चमवर्गेण गुणितः षण्णवतिम् । कथमेतदवसेयमिति चेत् ?। उच्यते—इह यो यो वर्गो येन येन वर्गेण गुण्यते, तत्र तत्र द्वयोर्द्वयोरपि छेदनकानि प्राप्यन्ते । तथा प्रथमवर्गेण द्वितीये वर्गे गुणिते षट् । तथाहि—द्वितीयो वर्गः षोडशलक्षणः प्रथमवर्गेण चतुष्करूपेण गुण्यते। गुणिते च सति जाता चतुःषष्टिः। तस्याः प्रथमं छेदनकं द्वात्रिंशत्,द्वितीयं षोडश,तृतीयमष्टौ, चतुर्थं चत्वारि, पञ्चमं द्वे, षष्ठमेकमिति । एवमन्यत्रापि भावनीयम् । तत्र पञ्चमवर्गे द्वात्रिंशच्छेदनकानि,षष्ठे चतुष्षष्टिः,ततः पञ्चमवर्गेण षष्ठे वर्गे गुणिते षण्णवतिच्छेदनकानि प्राप्यन्ते । एवमेकराशिर्विनेयजनमतिप्रकर्षाऽऽधानाय त्रिप्रकार आगमे परमगुरुभिरुपदर्शितः । तथा चानुयोगद्वारसूत्रम्-

"अहवणपदे मणुस्सा, संखेज्जासंखेज्जाउ कोडीओ ।
तिजमलपयस्स उवरिं, तउ जमलपयस्स हेट्ठा य ॥१॥
अहव ण छट्ठो वग्गो, पंचमवग्गं पडुप्पन्नो ।
अहव ण छण्णउइं, छेयणगदाई य रासीइ" ॥२॥

ये तु गर्भव्युत्क्रान्ताः संमूर्छिमाश्चापर्याप्ताः, ते उभयेऽपि

कदाचित् प्राप्यन्ते, कदाचिन्न । यतो गर्भव्युत्क्रान्तानामपर्याप्तानां जघन्यतः समयमात्रम्, उत्कर्षतो द्वादश मुहूर्त्ता अन्तरं, संमूर्छिमानां त्वपर्याप्तानां जघन्यतः समयमात्रम्,उत्कर्षतश्चतुर्विंशतिरन्तर्मुहूर्त्ताः, अपर्याप्ताश्चान्तर्मुहूर्त्तायुषः,अतोऽन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं सर्वेऽपि निर्लेपमपगच्छन्ति। तस्मादमी द्वयेऽप्यपर्याप्ताः कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्न । यदा पुनरमी द्वयेऽपि अपर्याप्ता गर्भव्युत्क्रान्ताश्च पर्याप्ताः समुदिताः सर्वोत्कर्षेण भवन्ति,तदा तेषामिदं परिमाणम्—" उक्कोसपए " इत्यादि । उत्कृष्टपदे सर्वोत्कृष्टसंमूर्छिमगर्भव्युत्क्रान्तसमुदायग्रहणरूपे, मनुजा मनुष्या रूपाधिका एकेन रूपेण परमार्थतोऽसताऽपि कल्पितेनाधिकाः सन्त एकप्रादेशिकश्रेणिरूपे अङ्गुलमात्रे क्षेत्रे यः प्रदेशराशिरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणस्तत्प्रथमं वर्गमूलं षोडशलक्षणं तृतीयेन वर्गमूलेन द्विकलक्षणेन गुण्यते। ततो जाता द्वात्रिंशत्। ततस्तैरङ्गुलप्रथमवर्गमूलप्रदेशैस्तृतीयवर्गमूलप्रदेशैराहतैर्गुणितैरसत्कल्पनया द्वात्रिंशत्संख्यैः प्रतरस्यैकां श्रेणिं सकलामप्यपहरन्ति । इयमत्र भावना—एकप्रादेशिके श्रेणिरूपे अङ्गुलमात्रे क्षेत्रे यः प्रदेशराशिस्तस्य यत्प्रथमवर्गमूलं तत्तृतीयवर्गमूलगुणितं सत् यावद्भवति, तावन्मात्रं खण्डं प्रत्येकं यदि सर्वेऽपि पर्याप्तापर्याप्तसंमूर्छिमगर्भजमनुष्या गृह्णन्ति,ततः सकलामपि श्रेणिमेकस्मिन्नेव समये ते अपहरन्ति,परमेकं मनुष्यरूपं न प्राप्यते ;सर्वोत्कर्षेऽपि तेषामेतावतामेव केवलवेदसोपलब्धत्वात्। तथा चोक्तमनुयोगद्वारचूर्णौ—" उक्कोसपए जे मणुस्सा हवंति, ते इक्कम्मि मणुयरूवे परिक्खित्ते समाणे तेहिं मणुस्सेहिं सेढी अवहीरइ, तीसे य सेढीए कालखेत्तेहिं अवहारो मग्गिज्जइ । कालओ ताव असंखेज्जाहिं ओसप्पिणीहिं उस्सप्पिणीहिं। खेत्तओ अंगुलपढमवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पन्नं। किं भणियं होइ?, तीसे सेढीए अंगुलायए खेत्ते जो य पएसरासी, तस्स जं पढमं वग्गमूलं पएसरासिमाणं, तं तइयवग्गमूलपएसरासिणा पडुप्पाइज्जइ, पडुप्पाइए समाणे जो पएसरासी भवइ,एवइएहिं खंडेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी० जाव निट्ठाइ ताव मणुस्सा वि अवहीरमाणा निट्ठंति।आह-कहमेगसेढीए इहमेत्तेहिं खंडेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी असंखेज्जा उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरइ?' आयरिओ आह-खेत्तस्स सुहुमत्तणओ । सुत्ते वि इमं भणियं—" सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयरं हवइ खेत्तं । अंगुलसेढीमेत्ते,उसप्पिणीओ असंखेज्जा ॥१॥" इति । ततश्चेदमायातम्—कालतोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयसमानाः, क्षेत्रतः पुनरेकस्यामेकप्रादेशिक्यां श्रेणावङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः प्रथमवर्गमूलं तृतीयवर्गमूलगुणितं सत् यावत्प्रदेशपरिमाणं भवति, तावन्मात्राणि खण्डानि यावन्ति तावन्त्येकस्याः श्रेणेर्हीनानि, तावन्तः सर्वोत्कृष्टपदे मनुष्याः, तदेवमपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदिभेदेन चतुर्दशविधानामपि जीवानां परिमाणमुक्तम् ॥ २० ॥

संप्रति गुणस्थानकभेदेन चतुर्दशविधानां परिमाणमाह—

सासायणाइ चउरो, हुंति असंखा अणंतया मिच्छा ।
कोडिसहस्सपुहुत्तं, पमत्त इयरे उ थोवयरा ॥ २१ ॥

सास्वादनाऽऽदयः सास्वादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतदेशविरतरूपाश्चत्वारः प्रत्येकमसंख्याताः; सास्वादनाऽऽदीनां चतुर्णामपि प्रत्येकमुत्कर्षपदे क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तथा अनन्ता अनन्तसंख्या मिथ्यादृष्टयः, तेषामनन्तलोकाऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्। तथा प्रमत्ताऽप्रमत्तसंयता जघन्यतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वपरिमाणाः प्राप्यन्ते, उत्कर्षतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वमानाः । इह पृथक्त्वं द्विप्रभृत्या नवकोटिसहस्राणीति । तथा इतरे अप्रमत्तसंयताः स्तोकतराः प्रमत्तसंयतेभ्यः स्वल्पतराः ॥ २१ ॥

एगाई चउपण्णा—समगं उवसामगा य उवसंता ।
अद्धं पडुच्च सेढी-ए हुंति सव्वे वि संखेज्जा ॥ २२ ॥

इहोपशमका उपशान्ताश्च कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्न, उपशमश्रेणेरन्तरस्य भावात् । ततश्च यदा उपशमका अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपराया उपशान्ता उपशान्तमोहा भवन्ति, तदा जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा, उत्कर्षतश्चतुःपञ्चाशत् । इदं प्रमाणं प्रवेशनकमधिकृत्योक्तम्, एतावन्त एकस्मिन् समयेऽपूर्वकरणाऽऽदिषु गुणस्थानकेषु प्रत्येकमुपशमश्रेणिमधिकृत्य प्रविशन्तः प्राप्यन्ते इत्यर्थः। श्रेणेरुपशमश्रेणेरद्धां कालं प्रतीत्य पुनर्भवन्ति सर्वेऽपि संख्येयाः । इदमुक्तं भवति—सकलेऽप्यन्तर्मुहूर्त्तलक्षणे उपशमश्रेणिकालेऽन्येऽन्ये प्रविशन्तः सर्वेऽपि संख्येयाः प्राप्यन्ते। आह—नन्वन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेऽप्युपशमश्रेणिकाले असंख्येयाः समयाः प्राप्यन्ते, तत्र यदि प्रतिसमयमेकैकः प्रविशति, तथाऽपि सकलं श्रेणिकालमधिकृत्यासंख्येयाः प्राप्नुवन्ति, किं पुनर्द्वित्र्यादेरारभ्योत्कर्षतश्चतुष्पञ्चाशतः प्रवेशने ?। अत्रोच्यते—स्यादियं कल्पना यदि सकलेष्वपि श्रेणिसमयेषु प्रवेशो भवेत्, यावता स एव न भवति, किं तु केषुचिदेव समयेषु। अथैतदपि कथमवसीयते इति चेत्?। उच्यते—इहोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते पर्याप्तगर्भजमनुष्या एव, न शेषजीवाः, तेऽपि चारित्रिणः,न ये केचन, चारित्रिणश्चोत्कर्षतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वमानाः, तेऽपि च न सर्वेऽपि श्रेणिं प्रतिपद्यन्ते, किं तु कतिपया एव, ततो ज्ञायते—न सर्वेष्वपि उपशमश्रेणिसमयेषु प्रवेशो भवति, किं तु केषुचिदेव, तत्रापि कदाचित् कुत्रचित् समये पञ्चदशापि कर्मभूमीरधिकृत्योत्कर्षतश्चतुःपञ्चाशत् प्रविशन्तः प्राप्यन्ते, नाधिकाः, ततः सकलेऽपि श्रेणिकाले संख्येया एव भवन्ति। तेऽपि च शतानि पृथक्त्वाः, न सहस्राणि, तथा पूर्वसूरिभिरावेदितत्वात् ॥ २२ ॥

खवगा खीणाजोगी, एगाई जाव हुंति अट्ठसयं ।
अद्धाएँ सयपुहुत्तं, कोडिपुहुत्तं सजोगीओ ॥ २३ ॥

इहापि क्षपकाः क्षीणमोहा अयोगिनश्च कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्न, क्षपकश्रेणेरयोगिकालस्य चान्तरसंभवात् । ततो यदा क्षपका अपूर्वकरणानिवृत्तबादरसंपरायसूक्ष्मसंपरायाः, क्षीणाः क्षीणमोहा अयोगिनोऽयोगिकेवलिनश्च भवन्ति, तदा जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतोऽष्टशतम् अष्टाधिकशतप्रमाणाः । इदमपि प्रमाणं प्रवेशनमधिकृत्योक्तमवसेयम् । एतावन्त एकस्मिन्समये क्षपकत्वे, क्षीणमोहत्वे, अयोगित्वे चोत्कर्षतः प्रविशन्तीत्यर्थः। (अद्धाए सयपुहुत्तं त्ति) अद्धा क्षपकश्रेणिकालोऽयोगिकालश्च। तस्यामद्धायां सकलायामपि प्रत्येकमन्येऽन्ये प्रविशन्तः सर्वसंख्यया शतसंख्याः प्राप्यन्ते। इयमत्र भावना—सकलेऽपि क्षपकश्रेणिकालेऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणे पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिष्वन्येऽन्ये प्रविशन्तो यदि सर्वेऽपि संख्यायन्ते, तथाऽप्युत्कर्षतोऽपि शतपृथक्त्वसंख्या एव लभ्यन्ते,नाधिकाः। एवमयोगिकेवलिनोऽपि भावनीयाः। (कोडिपुहुत्तं सजोगीओ

त्ति) सयोगिनः सयोगिकेवलिनः पुनः कोटिपृथक्त्वं कोटिपृथक्त्वसंख्याः । इह सयोगिकेवलिनः सदैव भवन्ति, ध्रुवत्वात्तेषाम्; ते च जघन्यपदेऽपि कोटिपृथक्त्वमानाः, उत्कर्षतोऽपि कोटिपृथक्त्वमाना एव । केवलमुत्कर्षपदे कोटिपृथक्त्वं बृहत्तरमवसेयम् ॥ २३ ॥ तदेवमुक्तं द्रव्यप्रमाणम् ।

साम्प्रतं क्षेत्रप्रमाणमाह-

अप्पज्जत्ता दोण्णि वि, सुहुमा एगिंदिया जए सव्वे ।
सेसा य असंखेज्जा, बायरपवणा असंखेसु ॥ २४ ॥

द्वयेऽप्यपर्याप्ताः-लब्ध्यपर्याप्ताः, करणापर्याप्तकाश्च । अपिशब्दस्यानुक्तार्थसमुच्चायकत्वात् पर्याप्ताश्च । सूक्ष्मा एकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतयः प्रत्येकं सर्वेऽपि सर्वस्मिन्नपि जगति भवन्ति,"सुहुमा उ सव्वलोए" इति वचनप्रामाण्यात् । आह-सूक्ष्माः सर्वेऽपि पृथिव्यादयः पर्याप्तादिभेदभिन्नाः प्रत्येकं सर्वलोकव्यापिन इत्यत्रैवाभीष्टार्थसिद्धेः, ततः किमर्थमिह मुख्यया वृत्त्या अपर्याप्तग्रहणं कृतमपिशब्दात्तु पर्याप्तग्रहणमिति ?। उच्यते-पर्याप्तापेक्षया स्तोकानामप्यपर्याप्तानां स्वरूपतोऽतिबाहुल्यख्यापनार्थम् । तथाहि-यद्यपि अपर्याप्तेभ्यः संख्येयगुणहीनाः पर्याप्तास्तथाऽपि ते सर्वस्मिन्नपि जगति वर्त्तन्ते, इत्युच्यमाने निःसंशयमतिबाहुल्यं तेषां ख्यापितं भवति । अथ कथं पर्याप्ता अपर्याप्तापेक्षया संख्येयगुणहीना ?। उच्यते-प्रज्ञापनायामपर्याप्तापेक्षया पर्याप्तानां संख्येयगुणत्वाऽभिधानात् । तथा च तद्ग्रन्थः-"सव्वत्थोवा सुहुमा अपज्जत्ता पज्जत्ता संखेज्जगुण त्ति ।" अन्यत्राप्युक्तम्-"जीवाणमपज्जत्ता,बहुतरगा बायराण विन्नेया । सुहुमाण अपज्जत्ता, ओहेण उ केवला बिंति ॥ १ ॥" शेषास्तु शेषाः पुनः पर्याप्तापर्याप्तभेदभिन्ना बादरैकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुतेजोवनस्पतयश्च प्रत्येकं लोकस्यासंख्येयतमे भागेऽवतिष्ठन्ते । (बायरपवणा असंखेसु त्ति) बादरपवना बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च प्रत्येकं लोकस्यासंख्येयेषु भागेषु वर्त्तन्ते । लोकस्य हि यत्किमपि सुषिरं, तत्र सर्वत्रापि वायवः प्रसर्पन्ति, यत्पुनरतिनिबिडनिचितावयवतया शुषिरहीनकनकगिरिमध्यभागादि, तत्र न, तच्च सकलमपि लोकस्यासंख्येयभागमात्रं, तत एकमसंख्येयभागं मुक्त्वा शेषेषु सर्वेष्वप्यसंख्येयेषु भागेषु वायवो वर्त्तन्त इति ॥ २४ ॥

सासायणाइ सव्वे, लोयस्स असंखयम्मि भागम्मि ।
मिच्छा उ सव्वलोए, होइ सजोगि वि समुग्घाए ॥२५॥

सास्वादनाऽऽदयः सास्वादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादयो मिथ्यादृष्टिसयोगिकेवलिवर्जाः प्रत्येकं सर्वेऽपि लोकस्यासंख्येयतमे भागेऽवतिष्ठन्ते,सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादयो हि संज्ञिपञ्चेन्द्रियेष्वेव प्राप्यन्ते । सास्वादनास्तु कतिचित्स्वल्पाः करणापर्याप्तबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेष्वपि,ते च संज्ञिपञ्चेन्द्रियाऽऽदयः स्वल्पत्वाल्लोकस्यासंख्येयभागे वर्त्तन्त इति । सास्वादनाऽऽदयो लोकासंख्येयभागवर्तिन उक्ताः । तथा मिथ्यादृष्टयः सर्वलोके सर्वस्मिन्नपि लोके भवन्ति । सूक्ष्मैकेन्द्रियादि सकललोकव्यापिनः, ते च मिथ्यादृष्टय इति । तथा सयोग्यपि सयोगिकेवल्यपि, आस्तां मिथ्यादृष्टय इत्यपिशब्दार्थः । समुद्घाते समुद्घातगतः सन् सर्वलोके भवति सकललोकव्यापी भवति । तथाहि-समुद्घातं कुर्वन् प्रथमे दण्डसमये, द्वितीये च कपाटसमये लोकस्यासंख्येयतमे भागे वर्तते, तृतीये मन्थनसमये पुनरसंख्येयभागेषु, चतुर्थे सर्वलोके । तथा चोक्तम्- चतुर्थे लोकपूरणमष्टमे संहार इति । "होइ सजोगि वि समुग्घाए " इत्युक्तम् ॥ २५ ॥

ततः समुद्घातप्रस्तावादशेषान् समुद्घातान्प्ररूपयति-

वेयणाकसायमारण-वेउव्वियतेउहारकेवलिया ।
सग पण चउ तिन्नि कमा,मणुसुरनेरइयतिरियाणं ॥२६॥

समुद्घातशब्दः प्राक्तन्योऽप्येतनगाथागतो वा प्रत्येकमभिसंबध्यते । तद्यथा-वेदनासमुद्घातः, कषायसमुद्घातः,मारणसमुद्घातः, वैक्रियसमुद्घातः,तैजससमुद्घातः, आहारकसमुद्घातः, केवलिसमुद्घातश्च । तत्र वेदनया समुद्घातो वेदनासमुद्घातः, स चासातवेदनीयकर्माऽऽश्रयः । कषायेण कषायोदयेन समुद्घातः कषायसमुद्घातः,स च कषायचारित्रमोहनीयकर्माऽऽश्रयः। तथा मरणे मरणकाले भवो मारणः, मारणश्चासौ समुद्घातश्च मारणसमुद्घातः, सोऽन्तर्मुहूर्त्तावशेषायुःकर्मविषयः । तथा वैक्रिये प्रारभ्यमाणे समुद्घातो वैक्रियसमुद्घातः, स च वैक्रियशरीरनामकर्मविषयः' तथा तेजसि विषये भवस्तैजसः, स चासौ समुद्घातश्च तैजससमुद्घातः,स च तेजोलेश्याविनिर्गमकालभावी तैजसशरीरनामकर्माऽऽश्रयः । आहारके प्रारभ्यमाणे समुद्घात आहारकसमुद्घातः, स चाऽऽहारकशरीरनामकर्मविषयः । केवलिन्यन्तर्मुहूर्तभाविपरमपदे भव. समुद्घातः केवलिसमुद्घातः । अथ समुद्घात इति कः शब्दार्थः ?। उच्यते—समित्येकीभावः, उत्प्राबल्ये, एकीभावेन प्राबल्येन घातः समुद्घातः। केन सह एकीभावगमनम् ?, इति चेत् । उच्यते-अर्थाद्वेदनाऽऽदिभिः। तथाहि-यदा आत्मा वेदनाऽऽदिसमुद्घातगतो भवति,तदा वेदनाऽऽद्यनुभवज्ञानपरिणत एव भवति,नान्यज्ञानपरिणतः। प्राबल्येन घातः कथम् ?, इति चेत् । उच्यते-इह वेदनाऽऽदिसमुद्घातपरिणतो बहून् वेदनीयाऽऽदिकर्मप्रदेशान् कालान्तरानुभवनयोग्यान् उदीरणाकरणेनाकृष्योदयावलिकायां प्रक्षिप्यानुभूय च निर्जरयति, आत्मप्रदेशैः सह संश्लिष्टान् शातयतीत्यर्थः । तत्र वेदनासमुद्घातगत आत्मा वेदनीयपुद्गलपरिशातं करोति । तथाहि-वेदनाकरालितो जीवः स्वप्रदेशाननन्तानन्तकर्मस्कन्धवेष्टितान् शरीराद्बहिरपि विक्षिपति । तैश्च प्रदेशैर्वदनजठराऽऽदिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाऽऽद्यन्तरालानि चापूर्याऽऽयामतो विस्तरतश्च शरीरमात्रं क्षेत्रमभिव्याप्यान्तर्मुहूर्त्तं यावदवतिष्ठते । तस्मिश्चान्तर्मुहूर्त्ते प्रभूतासातवेदनीयकर्मपुद्गलपरिशातं करोति । कषायसमुद्घातसमुद्धतः कषायाख्यचारित्रमोहनीयकर्मपुद्गलपरिशातं करोति । तथाहि-कषायोदयसमाकुलो जीवः स्वप्रदेशान् बहिर्विक्षिप्य तैः प्रदेशैर्वदनोदराऽऽदिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाऽऽद्यन्तरालानि चापूर्याऽऽयामविस्ताराभ्यां देहमात्रं क्षेत्रमभिव्याप्य वर्त्तते, तथाभूतश्च प्रभूतकषायकर्मपुद्गलपरिशातं करोति । एवं मारणसमुद्घातगत आयुःपुद्गलशातं, वैक्रियसमुद्घातगतः पुनर्जीवः स्वप्रदेशान् शरीराद् बहिर्निष्कास्य शरीरविष्कम्भबाहल्यमानमायामतः संख्येययोजनप्रमाणं दण्डं निसृजति,निसृज्य च यथास्थूलान् वैक्रियशरीरनामकर्मपुद्गलान् प्राग्वत् शातयति । तथा चोक्तम्-"वेउव्वियसमुग्घाएण समोहणइ । समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निसिरइ । निसिरित्ता अहाबायरे पुग्गले परिसाडेइ" इति । तैजसाऽऽहारकसमुद्घातौ वैक्रियसमुद्घातवदवगन्तव्यौ । केवलं तैजससमुद्घातगतस्तैजसशरीरनामकर्मपुद्गलपरि-

शातम्, आहारकसमुद्घातगतस्त्वाहारकशरीरनामपुद्गलपरिशातं करोति, आहारकसमुद्घातश्चाऽऽहारकशरीरप्रारम्भकाले वेदितव्यः। केवलिसमुद्घातसमुद्धतस्तु केवली सदसद्वेद्यशुभाशुभनामोच्चनीचैर्गोत्रकर्मपुद्गलपरिशातं करोति, केवलिसमुद्घातवर्जाः शेषाः षडपि समुद्घाताः प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकाः, केवलिसमुद्घातः पुनरष्टसामयिकः। उक्तं च प्रज्ञापनायाम्—" वेयणासमुग्घाएणं भंते ! कइ समइए पन्नत्ते ?। गोयमा ! असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए पएणत्ते। एवं० जाव आहारसमुग्घाए। केवलिसमुग्घाएणं भंते ! कइ समइए पन्नत्ते ?। गोयमा ! अट्ठसमइए पन्नत्ते। " इति। एतानेव समुद्घातान् गतिषु चिन्तयति-"सग" इत्यादि। मनुष्यगतौ सप्तापि समुद्घाता भवन्ति, मनुष्येषु सर्वभावसंभवात्। सुरगतावाद्याः पञ्च समुद्घाताः, आहारकसमुद्घातकेवलिसमुद्घातयोस्तत्रासंभवात्। पुनरेषु चतुर्दशपूर्वाधिगमक्षायिकज्ञानदर्शनचारित्रलब्ध्यसंभवात्। निरयगतावाद्याश्चत्वारः समुद्घाताः, तत्र तैजससमुद्घातस्याप्यसंभवात्, तदसंभवश्च नैरयिकाणां तेजोलेश्यालब्धेरभावात्। तिर्यग्गतौ वैक्रियलब्धिमत्संज्ञिपञ्चेन्द्रियपवनवर्जानां शेषजीवानामाद्यास्त्रयः समुद्घाताः, तेषां वैक्रियलब्धेरप्यसंभवात् ॥ २५ ॥

वैक्रियलब्धिमत्संज्ञिपञ्चेन्द्रियपवनयोर्विशेषमाह-

पंचिंदियतिरियाणं, देवाण व होंति पंच सएणीणं।
वेउव्वियवाऊणं, पढमा चउरो समुग्घाया ॥ २६ ॥

पञ्चेन्द्रियतिरश्चां संज्ञिनां देवानामिव प्रथमाः पञ्च समुद्घाता भवन्ति। पञ्चेन्द्रियतिर्यक्ष्वपि संज्ञिषु केषुचिद्वैक्रियतेजोलेश्यालब्धिसंभवात्। वैक्रियलब्धिमतां पुनर्वायूनां वायुकायानां प्रथमा वेदनाकषायमारणवैक्रियरूपाश्चत्वारः समुद्घाताः ॥ २६ ॥ गतं क्षेत्रद्वारम्।

अधुना स्पर्शनाद्वारमाह-

चउदसविहा वि जीवा, समुघाएणं फुसंति सव्वजगं।
रिउसेढीए व केई, एवं मिच्छा सजोगीया ॥ २७ ॥

चतुर्दशविधा अपि अपर्याप्तपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदिभेदाच्चतुर्दशप्रकारा अपि,जीवाः सर्वं जगत् स्पृशन्ति। कथम् ?,इत्याह-समुद्घातेन मरणसमुद्घातेन। इयमत्र भावना-इह सूक्ष्मैकेन्द्रियाः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च प्रत्येकं सकललोकवर्त्तिनः, ततस्ते स्वस्थानतोऽपि सकललोकस्पर्शिन उपपद्यन्ते,किं पुनर्मारणान्तिकसमुद्घातयोगतः ?। बादरापर्याप्तैकेन्द्रियाऽऽदयः स्वस्थानमधिकृत्य प्रत्येकं लोकासंख्येयभागवर्त्तिन एव समुद्घातमधिकृत्य पुनः सकललोकस्पर्शिनोऽपि भवन्ति तथाहि-समुद्घात इह मरणसमुद्घात उच्यते, मरणसमुद्घातसमुद्धतश्च जीवः स्वशरीरविष्कम्भबाहल्यं जघन्यतो दैर्घ्येणाङ्गुलासंख्येयभागमात्रम्,उत्कर्षेण सङ्ख्येयानि योजनानि स्वप्रदेशदण्डं निसृजति। निसृज्य च यत्र स्थानेऽग्रेतनभवे समुत्पत्स्यते, तत्र स्थाने तं स्वप्रदेशदण्डं प्रक्षिपति। तच्चोत्पत्तिस्थानं ऋजुगत्या एकेन समयेन स्वप्रदेशदण्डः प्राप्नोति। विग्रहगत्या तूत्कर्षतश्चतुर्थे समये, ततो मरणसमुद्घातमधिकृत्य नानाजीवापेक्षया बादरापर्याप्तैकेन्द्रियाऽऽदयो द्वादशभेदाः प्रत्येकं सर्वेऽपि सर्वं जगत् स्पृशन्तः प्राप्यन्ते इति। (रिउसेढीए व केई इति) केचित्पुनर्जीवाः सूक्ष्मैकेन्द्रियलक्षणा ऋजुश्रेण्या ऋजुगत्या। वाशब्दः पक्षान्तरसूचने। न केवलं समुद्घातेन ऋजुश्रेण्या वा इत्यर्थः सर्वं जगत् स्पृशन्ति। तथाहि-अधोलोकान्तादूर्ध्वलोकान्ते उत्पद्यमानाश्चतुर्दशापि रज्जूः स्पृशन्ति। एवं सर्वास्वपि दिक्षु भावनीयम्। ततो नानाजीवापेक्षया ऋजुश्रेण्याऽपि सूक्ष्मैकेन्द्रियाः सकललोकस्पर्शिनः। संप्रति गुणस्थानके स्पर्शनां चिन्तयति-(एवं मिच्छा सजोगीय त्ति) एवं सर्वजगत्स्पर्शितया मिथ्यादृष्टयः सयोगिनश्चावगन्तव्याः। तत्र मिथ्यादृशः सूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदयः, सूक्ष्मैकेन्द्रियाश्च सकललोकस्पर्शिनः, सयोगिकेवलिनः पुनः केवलिसमुद्घातगताश्चतुर्थसमये सर्वलोकस्पर्शिनः प्रागेवोपदर्शिताः ॥ २७ ॥

शेषगुणस्थानकेषु स्पर्शनामाह-

मीसा अजया अट्ठ अट्ठ, बारस सासायणा छ देसजई।
सग सेसा उ फुसंती, रज्जू खीणा असंखंसं ॥ २८ ॥

मिश्राः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः, अयता अविरतसम्यग्दृष्टयः, प्रत्येकमष्टावष्टौ रज्जूः स्पृशन्ति, द्वादश पुनः सास्वादनाः, देशयतयो देशविरताः षट्। शेषा उक्तव्यतिरिक्ताः क्षीणमोहवर्जाः प्रमत्ताऽऽद्याः प्रत्येकं सप्त सप्त रज्जूः स्पृशन्ति। क्षीणाः क्षीणमोहाः पुनरसंख्येयांशं रज्जोरसंख्येयं भागम् ॥ २८ ॥

एतामेव गाथां स्वयमेव भावयति—

सहसारंतियदेवा, नारयणेहेण जंति तइयभुवं।
निज्जंति अच्चुयं जा, अच्चुयदेवेण इयरसुरा ॥ २९ ॥

इह सहस्रारान्तकाः सहस्रारपर्यवसाना देवा नारकस्नेहेन पूर्वसाङ्गतिकनारकस्नेहेन,तस्य वेदनोपशमनार्थम्, उपलक्षणमेतत्, पूर्ववैरिकस्य नारकस्य वेदनोदीरणार्थं वा, तृतीयां भुवं नरकपृथिवीं, गच्छन्ति। आनताऽऽदयो देवाः पुनरल्पस्नेहाऽऽदिभावाः स्नेहाऽऽदिप्रयोजनेनापि नरकं न गच्छन्तीति सहस्रारान्तग्रहणम्। तथाऽच्युतदेवेन जन्मान्तरस्नेहतस्तत्कृतरक्षोदितो वा, इतरे सुराः शेषसुरा अच्युतदेवलोकं यावन्नीयन्ते। ततः सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां च प्रत्येकमष्टरज्जुस्पर्शना घटते। इयमत्र भावना-इह यदा सम्यग्मिथ्यादृष्टिर्भवनपत्यादिको देवः पूर्वसाङ्गतिकेनाच्युतदेवलोकवासिना देवेनाच्युतदेवलोके स्नेहान्नीयते, तदा तस्य षड्रज्जुस्पर्शना भवति,"छ अच्चुए" इति वचनात्। तथा कश्चिदमरः सहस्रारकल्पवासी सम्यग्मिथ्यादृष्टिः पूर्वसाङ्गतिकस्य वेदनोपशमनाय, पूर्ववैरिकस्य वेदनोदीरणाय वा वालुकाप्रभाऽभिधानामपि नरकपृथिवीमुपगच्छति, तदा भवनपतिनिवासस्याधस्तादन्यदपि रज्जुद्वयमधिकं प्राप्यते, इति पूर्वोक्ताः षड् रज्जवो रज्जुद्वयेन सहिता अष्टौ भवन्ति। एवं नानाजीवापेक्षया सम्यग्मिथ्यादृष्टयो अष्टरज्जुस्पर्शकाः प्राप्यन्ते। अथवा-कोऽपि सहस्रारकल्पनिवासी देवः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः पूर्वोक्तकारणवशात् तृतीयां नरकभुवं गच्छन् सप्त रज्जूः स्पृशति, स एव सहस्रारदेवो यदा अच्युतदेवेन स्नेहादच्युते देवलोके नीयते, तदा अन्यामप्येकामधिकां रज्जुं स्पृशतीत्यष्टरज्जुस्पर्शना। एवमविरतसम्यग्दृष्टीनामप्यष्टरज्जुस्पर्शना भावनीया। नन्वविरतसम्यग्दृष्टयस्तद्भवे वर्त्तमानाः कालमपि कुर्वन्ति, ततस्तेषामन्यथाऽपि कथं न भावना क्रियते ?। उच्यते-अन्यथा तेषामष्टरज्जुस्पर्शनाया असंभवात्। तथाहि-तिर्यङ्मनुष्यो वा

ससम्यक्त्वो द्वितीयाऽऽदिषु नरकपृथिवीषु न गच्छति, नाऽपि तत आगच्छति, ततोऽनुत्तरसुरभवं गच्छतः, ततो वा च्युत्वा मनुष्यभवमागच्छतः सर्वोत्कृष्टा सप्तरज्जुस्पर्शना अवाप्यते, नाधिका क्वाप्यन्यत्र, ततोऽविरतसम्यग्दृष्टयोऽपि मिथ्यादृष्टिवदविशेषेणाष्टरज्जुस्पर्शकाः प्रतिपत्तव्याः, न प्रकारान्तरेण। अपरे पुनराहुः-अविरतसम्यग्दृष्टीनामुत्कर्षतो नवरज्जुस्पर्शना कथमिति चेत् ?। उच्यते-इह तन्मतेन क्षायिकसम्यग्दृष्टयः तृतीयस्यामपि नरकपृथिव्यां गच्छन्ति, ततोऽनुत्तरसुरभवं गच्छतां ततो वा च्युत्वा मनुष्यभवमागच्छतां सप्तरज्जुस्पर्शना। तृतीयस्यां पृथिव्यामुत्पद्यमानानां, ततो वा उद्धृत्य मनुष्यभवमागच्छतां द्विरज्जुस्पर्शनेति सामान्यतोऽविरतसम्यग्दृष्टीनां नवरज्जुस्पर्शना। व्याख्याप्रज्ञप्त्याद्यभिप्रायेण पुनरमीषां द्वादशरज्जुस्पर्शनाऽपि प्राप्यते। तथा हि-अनुत्तरसुरभवं गच्छतां, ततो वा च्युत्वा मनुष्यभवमागच्छतां सप्तरज्जुस्पर्शना। तथा नरतिरश्चामन्यतरोऽविरतसम्यग्दृष्टिः पूर्वबद्धायुः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेन गृहीतेन व्याख्याप्रज्ञप्त्याद्यभिप्रायतः षष्ठनरकपृथिव्यामपि नारकत्वेनोत्पद्यते। ततो वा उद्धृत्य क्षायोपशमिकसम्यक्त्ववानत्र मनुष्येषु मध्ये समुत्पद्यते। ततोऽविरतसम्यग्दृष्टिः षष्ठनरकपृथिवीं गच्छन् पञ्चरज्जूः स्पृशति। ततः सामान्यतोऽविरतसम्यग्दृष्टीनां सर्वसंख्यया द्वादशरज्जुस्पर्शना। सप्तमपृथिव्यां पुनः सम्यक्त्वसहितस्य गमनमागमनं वा प्रज्ञप्त्यामपि निषिद्धं, ततः षष्ठनरकपृथिवीग्रहणम् ॥ २९ ॥

सम्प्रति सास्वादनानां द्वादशरज्जुस्पर्शनां भावयति-

छट्ठाए नेरइओ, सासणभावेण एइ तिरिमणुए।
लोगंतनिक्खुडेसुं, जं तसनासायणगुणत्था ॥ ३० ॥

षष्ठनरकपृथिव्यां वर्तमानः कश्चिन्नारकः स्वभवान्ते औपशमिकसम्यक्त्वमवाप्य सास्वादनभावं गतः सन् कालं करोति, कालं च कृत्वा तिर्यक्षु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पद्यते, ततस्तस्य पञ्चरज्जुस्पर्शना भवति। इह सप्तमपृथिवीनारकः सास्वादनभावं परित्यज्यैव तिर्यक्षूत्पद्यते, इति षष्ठपृथिवीग्रहणम्। तथा तिर्यग्लोकादपि केचित्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सास्वादनगुणस्थाः सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्तिनः सन्त उपरि लोकान्तनिष्कुटेषु त्रसनाडीपर्यन्तवर्तिलोकान्तप्रदेशेषूत्पद्यन्ते, ततस्तेषां सप्तरज्जुस्पर्शना। ततः सामान्यतः सास्वादनगुणस्थानस्थानां सर्वसंख्यया द्वादशरज्जुस्पर्शना समुत्पद्यते। न ह्येकं जीवमधिकृत्येयं स्पर्शना चिन्त्यते, किं त्वेकं गुणस्थानं, ततो न कश्चिद्दोषः। इह प्रायः सास्वादनभावमापन्नानामधोगतिर्नोपजायते, ततो द्वादशरज्जुस्पर्शना प्रतिपादिता। यदि पुनरधोगतिः सास्वादनानां भवेत् ततोऽधोलोकनिष्कुटादिष्वपि तेषामुत्पादसंभवाच्चतुर्दशरज्जुस्पर्शनाऽभिधीयते ॥ ३० ॥

संप्रत्यपूर्वकरणाऽऽदीनां स्पर्शनामभिधित्सुराह-

उवसामग उवसंता, सव्वट्ठे अप्पमत्तविरया य।
गच्छंति रिउगईए, पुंदेसजया उ बारसमे ॥ ३१ ॥

उपशमका उपशमश्रेण्याऽऽरूढा अपूर्वकरणानिवृत्तबादरसूक्ष्मसंपरायाः, उपशान्ता उपशान्तमोहाः, तथा अप्रमत्तविरता अप्रमत्तसंयताः, चशब्दात्प्रमत्तभावाभिमुखाः, सर्वार्थे सर्वार्थसिद्धे महाविमाने, ऋजुगत्या, गच्छन्ति उत्पद्यन्ते। ततस्ते सप्तरज्जुस्पर्शिनः, इह क्षपकश्रेण्याऽऽरूढा अपूर्वकरणाऽऽदयो न म्रियन्ते, न च मारणसमुद्घातमारभन्ते, ततस्तेषामसंख्येयभागमात्रैव स्पर्शना घटते, नाधिका। अत एव क्षीणमोहस्यासंख्येयभागमात्रस्पर्शना प्रागभ्यधायि, ततोऽपूर्वकरणाऽऽदीनामुपशमश्रेणिमधिकृत्य सप्तरज्जुस्पर्शना प्रत्यपादि। पर आह-ननु मनुष्यभवायुषः क्षये, परभवायुष उदये परलोकगमनं, तदानीं चाऽविरतता, नोपशमकत्वादि, तत्कथमपूर्वकरणाऽऽदीनां सप्तरज्जुस्पर्शनेति ?। नैष दोषः। इह द्विविधा गतिः-कन्दुकगतिः, इलिकागतिश्च। तत्र कन्दुकस्येव गतिः कन्दुकगतिः। किमुक्तं भवति ?-यथा कन्दुकः स्वप्रदेशसंपिण्डित ऊर्ध्वं गच्छति, तथा जीवोऽपि कश्चित्परभवायुष उदये परलोकं गच्छन् स्वप्रदेशानेकत्र संपिण्ड्य गच्छति। तथा इलिकाया इव गतिरिलिकागतिः, यथा इलिका पुच्छदेशमपरित्यजन्ती मुखेनाग्रेतनं स्थानं शरीरप्रसारणेन संस्पृश्य ततः पुच्छं संहरति, एवं जीवोऽपि कश्चित्स्वभवान्तकाले स्वप्रदेशैरुत्पत्तिस्थानं संस्पृश्य परभवायुःप्रथमसमये शरीरं परित्यजति। तत इलिकागतिमधिकृत्यापूर्वकरणाऽऽदीनां सप्तरज्जुस्पर्शना न विहन्यते। तथा ऋजुगत्यैव (पुंदेसजया इति) अत्र पुंग्रहणेन मनुष्यग्रहणम्। ततोऽयमर्थः-मनुष्यरूपा देशयता देशविरता द्वादशेऽच्युताभिधाने देवलोके गच्छन्ति उत्पद्यन्ते, ततस्तेषां षड् रज्जुस्पर्शना, तिर्यग्लोकमध्यादच्युतदेवलोकस्य षड्रज्जुमानत्वात्। तदेवमुक्तं स्पर्शनाद्वारम् ॥ ३१ ॥ पं० सं० २ द्वार। (एषां भवस्थितिकालः 'भवट्ठिइकाल' शब्दे वक्ष्यते। गुणस्थानविभागेन कालमानं 'गुणट्ठाण' शब्दे तृतीयभागे ९१५ पृष्ठे गतम्)

पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ,
तणरुक्खबीया य तसा य पाणा।
जे अंडजा जे य जराउपाणा,
संसेयजा जे रसजाभिहाणा ॥ १ ॥

पृथिवीकायिकाः सत्त्वाः, चकारः स्वगतभेदसंसूचनार्थः। स चायं भेदः-पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मा बादराश्च, ते च प्रत्येकं पर्याप्तकाऽपर्याप्तकभेदेन द्विधा, एवमप्कायिका अपि। तथाऽग्निकायिका वायुकायिकाश्च द्रष्टव्याः। वनस्पतिकायिकान् भेदेन दर्शयति-तृणानि कुशाऽऽदीनि, वृक्षाश्चाश्वत्थाऽऽदयो, बीजानि शाल्यादीनि। एवं वल्लीगुल्माऽऽदयोऽपि वनस्पतिभेदा द्रष्टव्याः। त्रस्यन्तीति त्रसाः, द्वीन्द्रियाऽऽदयः प्राणाः प्राणिनः। ये चाण्डाज्जाता अण्डजाः-शकुनिसरीसृपाऽऽदयः, ये च जरायुजा जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते, ते च गोमहिष्यजाऽविकमनुष्याऽऽदयः। तथा संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजाः-यूकामत्कुणकृम्यादयः। ये च रसजाभिधानाः दधिसौवीरकाऽऽदिषु रसपक्ष्मसन्निभा इति ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

व्यादिशब्दभेदा जीवा यथा-

एगविह-दुविह-तिविहा-चउहापंचविहछव्विहा जीवा।
चेयण तस इयरेहिं, वेयगइकरणकाएहिं ॥ २ ॥

एकविधद्विविधत्रिविधचतुर्विधपञ्चविधषड्विधा इति। एका विधा विधानं येषां ते एकविधाः, एवं सर्वत्र। एकविधाश्च द्विविधाश्च त्रिविधाश्च चतुर्धा च पञ्चविधाश्च षड्विधाः-एकविध-

द्विविधत्रिविधचतुर्धापञ्चविधषड्विधाः । दीर्घता पुनः प्राकृतप्रभवा । जीवाः प्राणिनः सर्वेऽपि संसारिकसत्त्वाः "यथोद्देशं तथा निर्देशः" इति न्यायात्पुनर्निर्देशमाह-चेतना त्रसेतरैः, वेदाश्च, गतयश्च, करणानि च, कायाश्च वेदगतिकरणकायास्तैः वेदगतिकरणकायैः करणभूतैरेते एकविधाऽऽदयो जीवास्तदादयो भवन्तीति गम्यते । तत्रैकविधाश्चेतनामाश्रित्य यतः सर्वेऽपि संसारिणो, मुक्ताश्च न व्यभिचरन्ति, एकेन्द्रियवनस्पत्यादीनां तथैवोपलब्धेः । तथा हि-

" कालफलदाणआहा-रगहणदोहलयरोगपडियारे ।
नाऊण आण सव्वे, नारि व्व सचेयणा तरुणो ॥१॥ "

फलस्य दानं फलदानं,काले फलदानं कालफलदानम् । आहारस्य ग्रहणमाहारग्रहणम,कालफलदानं च आहारग्रहणं च दोहदकश्च रोगश्च प्रतीकारश्च कालफलदानाहारग्रहणदोहदकरोगप्रतीकारास्तान्, किं ?, ज्ञात्वा अवबुद्ध्य, जानीहि सर्वेऽपि नारीवत्सचेतनास्तरवो वृक्षाः । यथाहि नारी कालफलदानाऽऽहारग्रहणप्रवणा दोहदाऽऽदिधर्मयुक्ता सती सचेतना, एवं वृक्षा अपि तद्धर्मयुक्तत्वेन सचेतना इति गाथार्थः ॥ १ ॥

द्वीन्द्रियाऽऽदीनां पुनः स्पष्टैव सा, गत्यादिविशिष्टचेष्टावत्त्वात्तेषाम् । द्विविधाः पुनस्त्रसस्थावरभेदाभ्याम । ते त्रसा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाः, स्थावराः पृथिव्युदकतेजोवायुवनस्पतिभेदात्पञ्चधा । त्रैविध्यं स्त्रीपुंनपुंसकत्वादागतम । चतुर्द्धा चातुर्विध्यं नारकतिर्यङ्नरामरापेक्षया । पञ्चविधाः पुनरिन्द्रियाभिन्नाः । षड्विधा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदादिति गाथार्थः । एकस्मादारभ्य यावता द्विधास्तावत्प्रतिपादितम ॥ २ ॥

इदानीं तेषामेव नवविधत्वमाह-

पुढवी आऊ तेऊ, वाउ वणस्सइ तहेव वेइंदी ।
तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदियभेयओ नवहा ॥ ३ ॥

सुगमा चेयम ।

पुनश्चतुर्दशविधत्वमाह-

एगिंदिय सुहुमियरा, सन्नियर पणिंदिया य सवितिचऊ ।
पज्जत्तापज्जत्तग-भेएणं चउद्दस ग्गामा ॥ ४ ॥

एकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः, ते च सूक्ष्मेतराः । तत्र सूक्ष्माः सूक्ष्मनामकर्मोद्भवाः सर्वलोकव्यापिनः सर्वथा निरतिशायिनामदृश्याः, बादराः पुनर्व्यवहारानुगाः प्रायशस्त्वनाद्यन्तवर्त्तिनः । तथा संज्ञीतराः पञ्चेन्द्रियाः । तत्र संज्ञिनो मनोविज्ञानयुक्त्या देवनारकगर्भजतिर्यङ्नराः । इतराः पुनरसंज्ञिनो मनोलब्धिविकलाः सम्मूर्च्छजाः पञ्चेन्द्रियाः,इत्येते चत्वारोऽपि सह द्वित्रिचतुर्भिर्वर्त्तन्त इति सद्वित्रिचत्वारः,ततः सप्तापि पर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्दश भेदा जायन्त इति गाथार्थः ॥४॥

पुनर्द्वात्रिंशद्विधत्वमाह-

पुढविदगअगणिमारुय-वणसयणंता पणिंदिया चउहा ।
वणपत्तेया विगला, दुविहा सव्वे वि बत्तीसं ॥५॥

पृथिव्युदकाग्निमारुतवनस्पत्यनन्ताः । समासः पुनरत्र सुकर एव । पञ्चेन्द्रियाश्च चतुर्धा चतुर्भेदाः एतच्चतुष्कमीलनाच्चतुर्विंशतिर्भवन्ति । तत्र पृथिवीकायः सूक्ष्मबादरभेदतो द्विधा,पुनरेकैकपर्याप्तकभेदतश्चतुर्द्धा भवति । एवमुदकाऽऽदिष्वप्यायोज्यम । पञ्चेन्द्रियाः पुनः संज्ञ्यसंज्ञिभेदतो द्विधा । पुनरेकैकाः पर्याप्तकभेदतो भिद्यमानाश्चतुर्द्धा भवति । वनस्पतिप्रत्येकाः पदावयवे पदसमुदायोपचारात्, पूर्वापरनिपाताच्च प्रत्येकवनस्पतयः, विकला विकलेन्द्रियाः, तत्र विकलान्यपरिपूर्णानि इन्द्रियाणि येषां ते विकलेन्द्रियाः-द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः, किंविधाः?, द्विविधाः पर्याप्तकापर्याप्तकभेदाः,तथा चतुर्द्विकमीलनादष्टौ भवन्ति, पुनश्चतुर्विंशतिमीलनाच्च सर्वेऽपि द्वात्रिंशद्विधा भवन्ति, इति गम्यत इति गाथार्थः ॥५॥ दर्श० ४ तत्त्व ।

त्रिषष्ट्यधिकपञ्चशतभेदा जीवानाम्-

अम्मापिउणो सरिसा, सव्वे वि खमंतु मे जीवा । (६०)

(अम्मापिउणो सरिस त्ति) मातापितृसमानाः, यथा मातापित्रोरुपरि निष्कृत्रिमस्नेहो भवति, तद्वद् मम सर्वेऽपि जीवाः पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतयः सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तभेदेन चतुर्विधाः, सर्वमीलने विंशतिधाः, प्रत्येकवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः पर्याप्तापर्याप्तभेदेनाष्टधाः, तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया जलचरस्थलचरखेचरपरिसर्पभुजपरिसर्पाः पञ्चापि संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तापर्याप्ताऽऽदीनां विंशतिसंख्याः,नारकाः पृथ्वीभेदेन सप्त, पर्याप्तापर्याप्तभेदेन चतुर्दशधाः। तथा कर्म्माकर्म्मभूमिजान्तरद्वीपमनुजाः पञ्चदशत्रिंशत्षट्पञ्चाशत्संख्याः, पर्याप्तापर्याप्तभेदतो द्विरुत्तरशतद्वयमानाः। असंज्ञिमनुजा एतद्द्वीपान्तादिभवा अपर्याप्ता एकोत्तरशतमानाः। भवनपतयो दशधाः पर्याप्तापर्याप्तरूपतो विंशतिमानाः। व्यन्तराः षोडशधाः पर्याप्तापर्याप्तत्वेन द्वात्रिंशद् भेदाः। जृम्भका अपि दश पर्याप्ताऽऽदिना विंशतिधाः। ज्योतिष्काः पञ्च गतिस्थितिभेदतो दश पर्याप्तापर्याप्तत्वादिना विंशतिधाः। वैमानिका द्वादश, नव पञ्चाऽपि पर्याप्तापर्याप्तयोगतः पञ्चाशन्मानाः। किल्बिषिकास्त्रिविधाः पर्याप्ताऽऽदिना षोढाः। लोकान्तिका नव पूर्ववदष्टादशधाः । तदेवं सर्वजीवास्त्रिषष्ट्यधिकपञ्चशतमानाः, क्षमन्तु क्षमां कुर्वन्तु मे मम एते समस्ता अपि जीवा इत्यर्थः । संथा० ।

नारकाऽऽदिजीवानाश्रित्य स्थित्यादि-

ठितिउस्सासाऽऽहारे, किं वाऽऽहारेइ सव्वओ वा वि ।
कइ भागं सव्वाणि व, कीस व भुज्जो परिणमंति ? ॥१॥

(' आहार ' शब्दे द्वितीयभागे ५०१ पृष्ठे आहारवक्तव्यता)

णेरइयाणं भंते ! पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया ? १, आहारिया आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणया ? २, अणाहारिया आहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया ? ३, अणाहारिया अणाहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया ? ४ । गोयमा ! णेरइयाणं पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया १, आहारिया आहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया, परिणमंति य २, अणाहारिया आहारिज्जस्समाणा पोग्गला णो परिणया, परिणमिस्संति ३, अणाहारिया अणाहारिज्जस्समाणा पोग्गला णो परिणया, णो परिणमिस्संति ४ । णेरइयाणं भंते ! पुव्वाहारिया पोग्गला चिया, पुच्छा ?। जहा परिणया,तहा चिया वि, एवं चिया, उवचिया, उदीरिया, वेइया, णिज्जिणा ॥

गाहा-

"परिणत चिया उवचिया, उदीरिता वेइया य णिज्जिण्णा ।
एक्किक्कम्मि पदम्मी, चउव्विहा पोग्गला होंति" ॥१॥

(पुव्वाहारिय त्ति) ये पूर्वमाहृताः पूर्वकाले एकीकृताः, सङ्गृहीता इति यावत् । अभ्यवहृता वा; (पोग्गल त्ति) स्कन्धाः । (परिणय त्ति) ते परिणताः, पूर्वकाले शरीरेण सह संपृक्ताः, परिणतिं गता इत्यर्थः । इति प्रथमः प्रश्नः १ । इह च सर्वत्र प्रश्नत्वं काकुपाठादवगम्यते । तथा-(आहारिय त्ति) पूर्वकाले आहृताः संगृहीताः, अभ्यवहृता वा; (आहारिज्जमाण त्ति) ये च वर्तमानकाले आह्रियमाणाः संगृह्यमाणाः, अभ्यवह्रियमाणा वा पुद्गलाः (परिणय त्ति) ते परिणताः । इति द्वितीयः २ । तथा-(अणाहारिय त्ति) येऽतीतकालेऽनाहृताः । (आहारिज्जस्समाण त्ति) ये चानागते काले आहरिष्यमाणाः पुद्गलास्ते परिणताः । इति तृतीयः ३ । तथा-" अणाहारिआ अणाहारिज्जस्समाण " इत्यादि । अतीतानागताऽऽहरणक्रियानिषेधाच्चतुर्थः ४ । इह च यद्यपि चत्वार एव प्रश्ना उक्ताः, तथाऽप्येते त्रिषष्टिः संभवन्ति । यतः पूर्वाहृता आह्रियमाणा आहरिष्यमाणाः, अनाहृता अनाह्रियमाणा अनाहरिष्यमाणाश्चेति षट् पदानीह सूचितानि । तेषु च एकैकपदाऽऽश्रयेण षट्, द्विकयोगे पञ्चदश, त्रिकयोगे विंशतिः, चतुष्कयोगे पञ्चदश, पञ्चकयोगे षट्, षड्योगे एक इति । अत्रोत्तरमाह-" गोयम " इत्यादि व्यक्तम् । नवरं ये पूर्वमाहृतास्ते पूर्वकाल एव परिणताः, ग्रहणानन्तरमेव परिणामभावात् १ । ये पुनराहृता आह्रियमाणाश्च ते परिणताः, आहृतानां परिणामभावादेव परिणमन्ति च, आह्रियमाणानां परिणामभावस्य वर्तमानत्वादिति २ । वृत्तिकृता तु द्वितीयः प्रश्नोत्तरविकल्प एवंविधो दृष्टः, यदुत-आहृता आहरिष्यमाणाः पुद्गलाः परिणताः परिणंस्यन्ते च, यतोऽयं तेनैवं व्याख्यातः-यदुत ये पुनराहृता आहरिष्यन्ते, पुनस्तेषां केचित्परिणताः, अपरिणताश्च ते सम्पृक्ताः शरीरेण सह । ये तु न तावत् संपृच्यन्ते, कालान्तरे तु संपृक्ष्यन्ते, ते परिणंस्यन्त इति । ये पुनरनाहृता आहरिष्यन्ते, पुनस्ते नो परिणताः, अनाहृतानां संपर्काभावेन परिणामाभावात् । यस्मात्त्वाहरिष्यन्ते, ततः परिणंस्यन्ते, आहृतस्यावश्यं परिणामभावादिति ३ । चतुर्थस्त्वतीतभविष्यदाहरणक्रियाया अभावेन परिणामाभावादवसेय इति । एतदनुसारेणैव प्राग्दर्शितविकल्पानामुत्तरसूत्राणि वाच्यानीति । अथ शरीरसंपर्कलक्षणपरिणामात् पुद्गलानां चयाऽऽदयो भवन्तीति तद्दर्शनार्थं प्रश्नयन्नाह-"नेरइयाणं" इत्यादि । चयाऽऽदिसूत्राणि परिणामसूत्रसमानीति कृत्वा अतिदेशतोऽधीतानीति । तथाहि-"जहा परिणया तहा चिया वि" इत्यादि । इह च पुस्तकेषु वाचनाभेदो दृश्यते, तत्र न संमोहः कार्यः, सर्वत्राभिधेयस्य तुल्यत्वात् । केवलं परिणतसूत्रानुसारेण प्रश्नसूत्राणि व्याकरणानि च मतिमताऽध्येयानीति । तत्र चिताः शरीरे चयं गताः । उपचिताः पुनर्बहुशः प्रदेशसामीप्येन शरीरे चिता एवेति । उदीरितास्तु स्वभावतोऽनुदितान् पुद्गलान् उदयप्राप्ते कर्मदलिके करणविशेषेण प्राकृष्य यान् वेदयते । उदीरणालक्षणं चेदम्-"जं करणेणाकड्डिय, उदए दिज्जइ उदीरणा एसा ।" तथा वेदिताः स्वेन रसविपाकेन प्रतिसमयमनुभूयमाना अपरिसमाप्ताः शेषानुभावा इति । तथा निर्जीर्णाः कास्न्र्त्स्न्येनानुसमयमशेषतद्विपाकहानियुक्ता इति । " गाह त्ति " परिणताऽऽदिसूत्राणां संग्रहणाय गाथा भवति । सा चेयम्-" परिणय " इत्यादि । व्याख्यातार्था । नवरम् एकैकस्मिन् पदे परिणतचितोपचिताऽऽदौ चतुर्विधाः-आहृताः १, आहृता आह्रियमाणाश्च २, अनाहृता आहरिष्यमाणाश्च ३, अनाहृता अनाहरिष्यमाणाश्च ४ । इत्येवं चतूरूपाः पुद्गला भवन्ति, प्रश्ननिर्वचनविषयाः स्युरिति ।

पुद्गला भिद्यन्ते-

णेरइयाणं भंते ! कतिविहा पोग्गला भिज्जंति ? । गोयमा ! कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च दुविहा पोग्गला भिज्जंति । तं जहा-अणू चेव, बायरा चेव १ । णेरइयाणं भंते ! कतिविहा पोग्गला चिज्जंति ? । गोयमा ! आहारदव्ववग्गणमहिकिच्च दुविहा पोग्गला चिज्जंति । तं जहा-अणू चेव, बायरा चेव २ । एवं उवचिज्जंति ३ । णेरइयाणं भंते ! कतिविहा पोग्गला उदीरेंति ? । गोयमा ! कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च दुविहा पोग्गला उदीरेंति । तं जहा-अणू चेव, बायरा चेव ४ । सेसा वि एवं चेव भाणियव्वा । वेदेंति ५, णिज्जरंति ६, उयट्टिंसु ७, उयट्टेंति ८, उयट्टिस्संति ९, संकमिंसु १०, संकामेंति ११, संकामिस्संति १२, निहत्तिंसु १३, निहत्तेंति १४, निहत्तिस्संति १५, निकाइंसु १६, निकायेंति १७, निकाइस्संति १८ । सव्वेसु वि कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च गाहा-

"भेदिय चिता उवचिता, उदीरिता वेदिया य णिज्जिण्णा ।
उव्वट्टणसंकामण-णिहत्तणिकायणे तिविहकाले" ॥१॥

"नेरइयाणं भंते ! कइविहा पोग्गला भिज्जंति" इत्यादि व्यक्तम्, नवरम् (भिज्जंति त्ति) तीव्रमन्दमध्यमतयाऽनुभागभेदेन भेदवन्तो भवन्ति, उद्वर्त्तनकरणापवर्त्तनकरणाभ्यां मन्दरसास्तीव्ररसाः, तीव्ररसास्तु मन्दरसा भवन्तीत्यर्थः । उत्तरम्-(कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च त्ति) समानजातीयद्रव्याणां राशिर्द्रव्यवर्गणा, सा चौदारिकाऽऽदिद्रव्याणामप्यस्तीत्यत आह-कर्मरूपा द्रव्यवर्गणा, कर्मद्रव्याणां वा वर्गणा कर्मद्रव्यवर्गणा, तामधिकृत्य तामाश्रित्य, कर्मद्रव्यवर्गणात्मका इत्यर्थः । कर्मद्रव्याणामेव च मन्दतरानुभावचिन्ताऽस्ति, न द्रव्यान्तराणामिति कृत्वा कर्मद्रव्यवर्गणामधिकृत्येत्युक्तम् । (अणू चेव बायरा चेव त्ति) चैवशब्दः समुच्चयार्थः । ततश्च अणवश्च बादराश्च, सूक्ष्माश्च स्थूलाश्चेत्यर्थः । सूक्ष्मत्वं स्थूलत्वं चैषां कर्मद्रव्यापेक्षयैवावगन्तव्यं, नान्यापेक्षया, यत औदारिकाऽऽदिद्रव्याणां मध्ये कर्मद्रव्याण्येव सूक्ष्माणीति । एवं चयोपचयोदीरणावेदनानिर्जराः शब्दार्थभेदेन वाच्याः, किं तु चयसूत्रे उपचयसूत्रे च "आहारदव्ववग्गणमहिकिच्च" इति यदुक्तं, तत्रायमभिप्रायः-शरीरमाश्रित्य चयोपचयौ प्रागव्याख्यातौ, तौ चाऽऽहारद्रव्येभ्य एव भवतो नान्यतोऽत आहारद्रव्यवर्गणामधिकृत्येत्युक्तमिति । उदीरणाऽऽदयस्तु कर्मद्रव्याणामेव भवन्त्यतस्तत्सूत्रेषूक्तं कर्मद्रव्यवर्गणमधिकृत्येति । (उयट्टिंसु त्ति) अपवर्त्तितवन्तः, इहापवर्त्तनं कर्मणां स्थित्यादेरध्यवसायविशेषेण हीनताकरणम्, अपवर्त-

नस्य चोपलक्षणत्वादुद्वर्त्तनमपीह दृश्यम, तच्च स्थित्यादिवृद्धिकरणस्वरूपम । (संकमिंसु त्ति) संक्रामितवन्तः, तत्र संक्रमणं मूलप्रकृत्यभिन्नानामुत्तरप्रकृतीनामध्यवसायविशेषेण परस्परं संचारणम् ।

तथा चाह—

" मूलप्रकृत्यभिन्नाः, संक्रमयति गुण उत्तराः प्रकृतीः ।
न त्वात्माऽऽमूर्त्तत्वा-दध्यवसायप्रयोगेण ॥ १ ॥ "

अपरस्त्वाह-

"मोत्तूण आउयं खलु, दंसणमोहं चरित्तमोहं च ।
सेसाणं पगईणं, उत्तरविहिसंकमो भणिओ ॥ १ ॥ "

एतदेव निर्दिश्यते-यथा कस्यचित्सद्वेद्यमनुभवतोऽशुभकर्मपरिणतिरेवंविधा जाता, येन तदेव सद्वेद्यमसद्वेद्यतया सङ्क्रामतीति । एवमन्यत्रापि योज्यम् । (निहत्तिंसु त्ति) निधत्तान् कृतवन्तः,इह च विश्लिष्टानां परस्परतः पुद्गलानां निचयं कृत्वा धारणं रूढिशब्दत्वेन निधत्तमुच्यते । उद्वर्त्तनापवर्त्तनव्यतिरिक्तकरणानामविषयत्वेन कर्मणोऽवस्थानमिति । (निकाइंसु त्ति) निकाचितवन्तो, नितरां बद्धवन्त इत्यर्थः । निकाचनं च तेषामेव पुद्गलानां परस्परविश्लिष्टानामेकीकरणमन्योन्यावगाहिता अग्निप्रतप्तप्रतिहन्यमानसूचीकलापस्येव सकलकरणानामविषयतया कर्मणो व्यवस्थापनमिति यावत् । " भिउजंति " इत्यादिपदानां संग्रहणी यथा-" भेदिय " इत्यादिगाथा गतार्था । नवरम् अपवर्त्तनसंक्रमनिधत्तनिकाचनपदेषु त्रिविधः कालो निर्देष्टव्यः, अतीतवर्त्तमानानागतकालनिर्देशेन तानि वाच्यानीत्यर्थः । इह चापवर्त्तनाऽऽदीनामिव भेदाऽऽदीनामपि त्रिकालता युक्ता, न्यायस्य समानत्वात् । केवलमविवक्षणात्तन्निर्देशः सूत्रे कृत इति ।

णेरइयाणं भंते ! जे पोग्गला तेयाकम्मत्ताए गिण्हंति, ते किं तीतकालसमए गिण्हंति, पडुप्पण्णकालसमए गिण्हंति, अणागयकालसमए गिण्हंति ? । गोयमा ! णोऽतीतकालसमए गिण्हंति, पडुप्पन्नकालसमए गिण्हंति, णो अणागयकालसमए गिण्हंति १ । णेरइयाणं भंते ! जे पोग्गला तेयाकम्मत्ताए गहिए उदीरेंति, ते किं तीतकालसमयगहिए पोग्गले उदीरेंति, पडुप्पण्णकालसमयघिप्पमाणे पोग्गले उदीरेंति, गहणसमयपुरक्खडे पोग्गले उदीरेंति ? । गोयमा ! तीतकालसमयगहिए पोग्गले उदीरेंति, णो पडुप्पन्नकालसमयघिप्पमाणे पोग्गले उदीरेंति, णो गहणसमयपुरक्खडे पोग्गले उदीरेंति २ । एवं वेदेंति ३, णिज्जरेंति ४ ।

" नेरइयाणं " इत्यादि व्यक्तम् । नवरं (तेयाकम्मत्ताए त्ति) तैजसकार्मणशरीरतया, तद्रूपतयेत्यर्थः । (अतीतकालसमए त्ति) कालरूपः समयो, न तु समाचाररूपः । कालोऽपि समयरूपो,न तु वर्णाऽऽदिस्वरूप इति परस्परेण विशेषणात्कालसमयः, अतीतः कालसमयः-अतीतकालस्य चोत्सर्पिण्यादेः समयः परमनिकृष्टोऽशोऽतीतकालसमयः, तत्र । (पडुप्पण्ण त्ति) प्रत्युत्पन्नो वर्त्तमानो, नोऽतीतकालेत्यादौ अतीतानागतकालविषयग्रहणप्रतिषेधः,विषयातीतत्वात् । विषयातीतत्वं च तयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनासत्त्वादिति, प्रत्युत्पन्नत्वेऽप्यभिमुखान् गृह्णाति, नान्यान् । (गहणसमयपुरक्खडे त्ति) ग्रहणसमयः पुरस्कृतो वर्तमानसमयस्य पुरोवर्त्ती येषां ते ग्रहणसमयपुरस्कृताः । प्राकृतत्वादेवं निर्देशः । अन्यथा पुरस्कृतग्रहणसमया इति स्यात्, ग्रहीष्यमाणा इत्यर्थः । उदीरणा च पूर्वकालगृहीतानामेव भवति, ग्रहणपूर्वकत्वादुदीरणायाः । अत उक्तम्-अतीतकालसमयगृहीतानुदीरयन्तीति गृह्यमाणानां ग्रहीष्यमाणानां चागृहीतत्वादुदीरणाभावः । तत उक्तम्-" नो पडुप्पन्न " इत्यादि । वेदनानिर्जरासूत्रयोरप्येवमेवोपपत्तिरिति ।

णेरइयाणं भंते ! जीवाओ किं चलियं कम्मं बंधंति, अचलियं कम्मं बंधंति ? । गोयमा ! णो चलियं कम्मं बंधंति, अचलियं कम्मं बंधंति १ । णेरइयाणं भंते ! जीवाओ किं चलियं कम्मं उदीरेंति, अचलियं कम्मं उदीरेंति ? । गोयमा ! णो चलियं कम्मं उदीरेंति, अचलियं कम्मं उदीरेंति २ । एवं वेदेंति ३ । उयट्टंति ४ । संकामेंति ५ । निहत्तंति ६ । णिकायंति ७ । सव्वेसु अचलियं णो चलियं । णेरइयाणं भंते ! जीवाओ किं चलियं कम्मं णिज्जरेंति, अचलियं कम्मं णिज्जरेंति ? । गोयमा ! चलियं कम्मं णिज्जरेंति,णो अचलियं कम्मं णिज्जरेंति ।८।

गाहा-

बंधोदयवेदोय-ट्टसंकमणणिहत्तणिकाएसुं ।
अचलिय कम्मं तु भवे,चलिअं जीवाउ णिज्जरए ॥१॥

" नेरइयाण " इत्यादि व्यक्तं च । नवरम् (जीवाओ किं चलियं ति) जीवप्रदेशेभ्यश्चलितं, तेष्वनवस्थानशीलं, तद्विपरीतमचलितं, तदेव बध्नाति । यदाह-" कृत्स्नैर्देशैः स्वकदे-शस्थं रागाऽऽदिपरिणतो योग्यम् । बध्नाति योगहेतोः,कर्मस्नेहाक्त इव च मलम् ॥ १ ॥ " एवमुदीरणावेदनापवर्त्तनासंक्रमणनिधत्तनिकाचनानि भाव्यानि । निर्जरा तु पुद्गलानां निरनुभावीकृतानामात्मप्रदेशेभ्यः शातनम्, सा च नियमाच्चलितस्य कर्मणो, नाचलितस्येति । इह सङ्ग्रहणी गाथा-" बंधोदय " इत्यादि गतार्था, केवलमुदयशब्देनोदीरणा गृहीतेति । उक्ता नारकवक्तव्यता । भ० १ श० १ उ० ।

अथ असुरकुमारवक्तव्यतामाह-

असुरकुमाराणं भंते ! पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया ?, असुरकुमाराभिलावेणं जहा णेरइयाणं० जाव चलियं कम्मं णिज्जरेंति । भ० १ श० १ उ० ॥

एवं यावत्स्तनितकुमाराणां, पृथिवीकायिकानां यावद् वनस्पतिकायिकानां यथा नैरयिकाणां यावदचलितं कर्म निर्जरयन्ति । (द्वीन्द्रियाणां स्थित्याहारौ ' ठिइ ' शब्दे; तथा ' आहार ' शब्दे द्वितीयभागे ५०५ पृष्ठे द्रष्टव्यौ)

एएसि णं भंते ! पोग्गलाणं अणासाइज्जमाणाणं अफासाइज्जमाणाण य कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पोग्गला अणासाइज्जमाणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा । बेइंदियाणं भंते ! पोग्गला आहारत्ताए गिण्हंति, तेणं तेसिं पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ?। गोय-

मा ! जिब्भिंदियफासिंदियवेमायाए भुज्जो भुज्जो परिणमंति । बेइंदियाणं भंते ! पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया ?। तहेव० जाव चलियं कम्मं णिज्जरेंति ॥

(अणासाइज्जमाणाणं ति) रसनेन्द्रियतः । (अफासाइज्जमाणाणं ति) स्पर्शनेन्द्रियतः । ' कयरे ' इत्यादि यत्पदं तदेव दृश्यम्-(कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा, बहुया वा, तुल्ला वा, विसेसाहिया व त्ति) व्यक्तं च । " सव्वत्थोवा पोग्गला अणासाइज्जमाणा " इत्यादि । ये अनास्वाद्यमानाः केवलं रसनेन्द्रियविषयास्ते स्तोकाः, अस्पृश्यमानानामनन्तभागवर्त्तिन इत्यर्थः । ये त्वस्पृश्यमानाः केवलं स्पर्शनविषयास्तेऽनन्तगुणाः रसनेन्द्रियविषयेभ्यः सकाशादिति ।

तेइंदियचउरिंदियाणं णाणत्तं ठिईए० जाव अणेगाइं च णं भागसहस्साइं अणाघाइज्जमाणाइं, अणासाइज्जमाणाइं, अफासाइज्जमाणाइं विद्धंसमागच्छंति । एएसि णं भंते ! पोग्गलाणं अणाघाइज्जमाणाणं, अणासाइज्जमाणाणं, अफासाइज्जमाणाण य पुच्छा । गोयमा ! सव्वत्थोवा पोग्गला अणाघाइज्जमाणा, अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा । तेइंदियाणं घाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति । चउरिंदियाणं चक्खिंदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।

(तेइंदियचउरिंदियाणं नाणत्तं ठिईए त्ति) तचेदम्-" जहन्नेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेइंदियाणं एगूणं पन्नासं राइंदियाइं, चउरिंदियाणं छम्मासा । " तथा आहारेऽपि नानात्वम् । तत्र च " तेइंदियाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति " इत्यत आरभ्य तावत् सूत्रं वाच्यं यावत् " अणेगाइं च णं भागसहस्साइं अणाघाइज्जमाणाइं" इत्यादि । इह च घ्राणेन्द्रियसूत्रापेक्षयाऽनाघ्रायमाणानीति, अतिरिक्तमतो नानात्वम् । एवमल्पबहुत्वसूत्रे परिणामसूत्रे च । चतुरिन्द्रियसूत्रेषु तु परिणामसूत्रे "चक्खिंदियत्ताए घाणिंदियत्ताए " इत्यधिकमिति नानात्वमिति ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं ठिई भणिऊण ऊसासो वेमायाए आहारो अणाभोगणिव्वत्तिए अणुसमइअं अविरहिओ आभोगनिव्वत्तिओ जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छट्ठभत्तस्स, सेसं जहा चउरिंदियाणं० जाव चलियं कम्मं णिज्जरेंति । एवं मणुस्साण वि । णवरं आभोगणिव्वत्तिए जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठमभत्तस्स, सोइंदिय० ५ वेमायाए भुज्जो भुज्जो परिणमंति । सेसं तहेव० जाव चलियं कम्मं णिज्जरेंति ॥

पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सूत्रे—(ठिइं भणिऊण त्ति) " जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं " इत्येवंरूपां स्थितिं भणित्वा (ऊसासो त्ति) उच्छ्वासो विमात्रया वाच्य इति । तथा तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामाहारार्थं प्रति यदुक्तम्-" उक्कोसेणं छट्ठभत्तस्स त्ति, " तद्देवकुरूत्तरकुरुतिर्यक्षु लभ्यते । मनुष्यसूत्रे यदुक्तमष्टमभक्तस्येति, तद्देवकुर्वादिमिथुनकनरानाश्रित्य समवसेयमिति ॥

वाणमंतराण ठिईए णाणत्तं, अवसेसं जहा णागकुमाराणं, एवं जोइसियाण वि, णवरं उस्सासो जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स, उक्कोसेण वि मुहुत्तपुहुत्तस्स, आहारो जहन्नेणं दिवसपुहुत्तस्स, उक्कोसेणं वि दिवसपुहुत्तस्स, सेसं तं चेव ॥

" वाणमंतराणं " इत्यादि । वाणमन्तराणां स्थितौ नानात्वं (अवसेसं ति) स्थितेरवशेषमायुष्कवर्जमित्यर्थः । प्रागुक्तमाहाराऽऽदि वस्तु, यथा नागकुमाराऽऽदीनां तथा दृश्यम् । व्यन्तराणां, नागकुमाराणां च प्रायः समानधर्मत्वात् । तत्र व्यन्तराणां स्थितिर्जघन्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षेण तु पल्योपममिति । " जोइसियाण वि " इत्यादि । ज्योतिष्काणामपि स्थितेरवशेषं तथैव, यथा नागकुमाराणाम् । तत्र ज्योतिष्काणां स्थितिर्जघन्येन पल्योपमाष्टभागः, उत्कर्षेण पल्योपमं वर्षलक्षाधिकमिति । नवरं (उस्सास त्ति) केवलमुच्छ्वासस्तेषां न नागकुमारसमानः, किं तु वक्ष्यमाणः । तथा चाह-" जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स " इत्यादि । पृथक्त्वं द्विप्रभृतिरानवभ्यः, तत्र यज्जघन्यं मुहूर्त्तपृथक्त्वं तद् द्वित्रा मुहूर्त्ताः, यच्चोत्कृष्टं तदष्टौ नव वेति । आहारोऽपि विशेषित एव । तथा चाह-" आहारो " इत्यादि । भ० १ श० १ उ० ।

पृथ्वीकायिकाऽऽवासेषु नैरयिकाऽऽदीनां स्थितिस्थानाऽऽदिप्रतिपादनाय संग्रहगाथामाह-

पुढवी ठिइ ओगाहण-सरीरसंघयणमेव संठाणे ।
लेस्सा दिट्ठी णाणे, जोगुवओगे य दस ठाणा ॥ १ ॥

" पुढवी " इत्यादि । तत्र पुढवि त्ति लुप्तविभक्तिकत्वान्निर्देशस्य पृथिवीषु, उपलक्षणत्वाच्चास्य पृथिव्यादिषु जीवाऽऽवासेषु इति द्रष्टव्यमिति । (ठिइ त्ति) " सूचनात्सूत्रम् " इति न्यायात् स्थितिस्थानानि वाच्यानीति शेषः । (एवं ओगाहण त्ति) अवगाहनास्थानानि । शरीराऽऽदिपदानि तु व्यक्तान्येव, एकारान्तं च पदं प्रथमैकवचनान्तं दृश्यम् । इत्येवमेतानि स्थितिस्थानाऽऽदीनि दश वस्तूनि इहोद्देशके विचारयितव्यानीति गाथासमासार्थः । विस्तरार्थं तु सूत्रकारः स्वयमेव वक्ष्यतीति ।

तत्र रत्नप्रभापृथिव्यां स्थितिस्थानानि तावत्प्ररूपयन्नाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं केवइया ठिइट्ठाणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! असंखेज्जा ठिइट्ठाणा पण्णत्ता । तं जहा-जहन्निया ठिई समयाहिया, जहन्निया ठिई दुसमयाहिया, ० जाव असंखिज्जसमयाहिया, जहन्निया ठिई तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिई ॥

" इमीसे णं " इत्यादि व्यक्तम् । नवरम्-(एगमेगंसि निरयावासंसि त्ति) प्रतिनरकाऽऽवासमित्यर्थः । (ठिइट्ठाण त्ति) आयुषो विभागाः (असंखेज्ज त्ति) सङ्ख्यातीतानि, कथम् ?, प्रथमपृथिव्यपेक्षया जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि, उत्कृष्टा तु सागरोपमम्, एतस्यां चैवैकसमयवृद्ध्याऽसङ्ख्येयानि स्थितिस्थानानि भवन्ति । असङ्ख्येयत्वात् सागरोपमसमयानामित्येवं म-

रकाऽऽवासापेक्षयाऽप्यसङ्ख्येयान्येव तानि,केवलं तेषु जघन्यो-त्कृष्टविभागो ग्रन्थान्तरादवसेयः । यथा-प्रथमप्रस्तटनरकेषु जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि, उत्कृष्टा तु नवतिरिति । एतदेव दर्शयन्नाह-" जहन्निया ठिई " इत्यादि । जघन्या स्थितिर्दशवर्ष-सहस्राधिका, इत्येकं स्थितिस्थानम्, तच्च प्रतिनरकं भिन्नरूपम्,सैव समयाधिकेति द्वितीयम्, इदमपि विचित्रम्,एवं यावत् सङ्ख्येयसमयाधिका सा । सर्वान्तिमस्थितिस्थानदर्शनायाऽऽह-(तप्पाउग्गुक्कोसिय त्ति) उत्कृष्टाऽसावनेकविधेति विशेष्यते, तस्य विवक्षितनरकाऽऽवासस्य प्रायोग्योचिता उत्कर्षिका तत्-प्रायोग्योत्कर्षिका इत्यपरं स्थितिस्थानम्,इदमपि विचित्रं,विचित्रत्वादुत्कर्षस्थितेरिति ।

एवं स्थितिस्थानानि प्ररूप्य तेष्वेव क्रोधाऽऽद्युपयुक्तत्वं नारका-णां विभागेन दर्शयन्निदमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंमि जहन्नियाए ठिईए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ?। गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज कोहोवउत्ता १, अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ते य २, अहवा-कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य ३, अहवा-कोहोवउत्ता य मायोवउत्ते य ४, अहवा-कोहोवउत्ता य मायोवउत्ता य ५. अहवा-कोहोवउत्ता य लोभोवउत्ते य ६, अहवा-कोहोवउत्ता य लोभोवउत्ता य ७। अहवा-कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य, मायोवउत्ते य १, कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य मायोवउत्ता २, कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ते य ३, कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता ४। एवं कोहेणं माणेणं लोभेणं चत्तारि भंगा १२ । अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ते लोभोवउत्ते १, अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ते लोभोवउत्ता २, अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ता लोभोवउत्ते ३, अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ४, अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ते लोभोवउत्ते ५, अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ते लोभोवउत्ता ६, अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ते ७, अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ८ । एवं सत्तावीसं भंगा नेयव्वा ॥

" इमीसे णं " इत्यादि । (जहन्नियाए ठिईए वट्टमाण त्ति) या यत्र नरकाऽऽवासे जघन्या,तस्यां वर्त्तमानाः "किं कोहोवउत्ते" इत्यादिप्रश्ने "सव्वे वि" इत्याद्युत्तरम् । तत्र च प्रतिनरकं जघन्यस्थितिकानां सदैव भावात्तेषु च क्रोधोपयुक्तानां बहुत्वात्सप्तविंशतिर्भङ्गकाः । एकाऽऽदिसंख्यातसमयाधिकजघन्यस्थितिकानां तु कादाचित्कत्वात्तेषु च क्रोधाऽऽद्युपयुक्तानामेकत्वानेकत्वसंभवादशीतिर्भङ्गकाः । पञ्चेन्द्रियेषु तु सर्वकषायोपयुक्तानां प्रत्येकं बहूनां भावादभङ्गकम् । आह च-"संभवइ जहिं विरहो,असीति-भंगा तहिं करेज्जाहि । जहियं न होइ विरहो, भंगा सत्तवीसा वा ॥१॥ " अयं च तस्सत्ताऽपेक्षो विरहो द्रष्टव्यो, न तदुत्पादापेक्षः, यतो रत्नप्रभायां चतुर्विंशतिर्मुहूर्त्ता उत्पादविरहकाल उक्तः,ततश्च यत्र सप्तविंशतिर्भङ्गका उच्यन्ते,तत्रापि विरहभावादशीतिः प्राप्नोति, सप्तविंशतेश्चाभाव एवेति । तत्र (सव्वे वि ताव होज्ज कोहोवउत्त त्ति) प्रतिनरकं स्वकीयस्वकीयाऽऽयुष्य-पेक्षया जघन्यस्थितिकानां नारकाणां सदैव बहूनां सद्भावान्ना-रकभवस्य च क्रोधोदयप्रचुरत्वात् सर्व एव क्रोधोपयुक्ता भवेयुरित्येको भङ्गः । "अहवा" इत्यादिना द्वि-चतुःसंयोगभङ्गा दर्शिताः,तत्र द्विकसंयोगे बहुवचनान्तं क्रोधममुञ्चता षड् भङ्गाः कार्याः । तथाहि-क्रोधोपयुक्ताश्च,मानोपयुक्तश्च १, तथा क्रोधोप-युक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च २ । एवं मायैकत्वबहुत्वाभ्यां द्वौ, लोभेन च द्वौ । एवमेते द्विकयोगे षट्,त्रिकयोगे तु द्वादश भवन्ति । तथाहि-क्रोधे नित्यं बहुवचनम्, मानमाययोरेकवचनमित्येकः, मानैकत्वे मायाबहुत्वे च द्वितीयः । माने च बहुवचनं, मायाया-मेकत्वमिति तृतीयः । मानबहुत्वे मायाबहुत्वे च चतुर्थः. पुनः क्रोधमानलोभैरित्थमेव चत्वारः, पुनः क्रोधमायालोभैरित्थ-मेव चत्वारः,एवमेते द्वादश । चतुष्कसंयोगे त्वष्टौ । तथाहि-क्रोधे बहुवचनेन मानमायालोभेषु चैकवचनेनैकः । इत्थमेव लोभे बहुवचनेन द्वितीयः । एवमेतावेकवचनान्तमायया जातौ, एवं बहुवचनान्तमाययाऽन्यौ द्वौ, एवमेते चत्वार एकवच-नान्तमानेन जाताः एवमेव बहुवचनान्तमानेन चत्वार इत्येवम-ष्टौ । एवमेते जघन्यस्थितिषु नारकेषु सप्तविंशतिर्भवन्ति । जघन्यस्थितौ हि बहवो नारका भवन्त्यतः क्रोधे बहुवचनमेव ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंमि समयाहियाए जहन्नट्ठिईए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ?। गोयमा ! कोहोवउत्ते य माणोवउत्ते य मायोवउत्ते य लोभोवउत्ते य,कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य मायोवउत्ता य लोभोवउत्ता य, अहवा-कोहोवउत्ते य माणोवउत्ते य,अहवा-कोहोवउत्ते य माणोवउत्ता य, एवं असीइभंगा नेयव्वा । एवं० जाव संखेज्जसमयाहिया ठिई, असंखेज्जसमयाहियट्ठिईए तप्पाउग्गुक्कोसियाए ठिईए सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा ।

" समयाहियाए जहन्नठिईए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता " इत्यादि प्रश्नः । इहोत्तरम्-"कोहोवउत्ते य" इत्यादयोऽशीतिर्भङ्गाः । इह समयाधिकायां यावत् संख्येयसमयाधिकायां जघन्यस्थितौ नारका न भवन्त्यपि भवन्ति चेदेकोऽ-नेको वेति । ततः क्रोधाऽऽदिष्वेकत्वेन चत्वारो विकल्पाः,बहुत्वेन चान्ये चत्वार एव ४,द्विकसंयोगे चतुर्विंशतिः । तथाहि-क्रोधमानयोरेकत्वबहुत्वाभ्यां चत्वारः ४, एवं क्रोधमाययोः ४, एवं क्रोधलोभयोः ४, एवं मानमाययोः ४, एवं मानलोभयोः ४, एवं मायालोभयोरिति ४ । द्विकयोगे चतुर्विंशतिः, त्रिकयोगे द्वात्रिंशत् । तथाहि-क्रोधमानमायानामेकत्वेनैकः,एष्वेव मायाबहुत्वेन द्वितीयः, एवमेतौ मानैकत्वेन, द्वावेवान्यौ तद्बहुत्वेन, एवमेते चत्वारः, क्रोधैकत्वेन चत्वार एव, अन्ये क्रोधबहुत्वेनेत्येवमष्टौ,

क्रोधमानमायाभिके जाताः । तथैवान्येऽष्टौ क्रोधमानलोभेषु, तथैवान्येऽष्टौ क्रोधमायालोभेषु, तथैवान्येऽष्टौ मानमायालोभेष्विति द्वात्रिंशत्, चतुष्कयोगे षोडश । तथाहि-क्रोधाऽऽदिष्वेकत्वेनैको, लोभस्य बहुत्वेन द्वितीयः, एवमेतौ मायैकत्वेन, तथाऽन्यौ मायाबहुत्वेन । एवमेते चत्वारो मानैकत्वेन, तथाऽन्ये चत्वार एव मानबहुत्वेन । एवमेतेऽष्टौ क्रोधैकत्वेन, एवमन्येऽष्टौ क्रोधबहुत्वेनेति षोडश । एवमेते सर्वे एवाशीतिरिति । एते च जघन्यस्थितिकाऽऽदिसङ्ख्यातान्तसमयाधिकायां भवन्ति, असङ्ख्यातसमयाधिकायास्तु जघन्यस्थितेरारभ्योत्कृष्टस्थितिं यावत्सप्तविंशतिर्भङ्गास्त एव, तत्र नारकाणां बहुत्वादिति ।

अथावगाहनाद्वारे-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं केवइया ओगाहणट्ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! असंखेज्जा ओगाहणट्ठाणा पण्णत्ता । तं जहा-जहण्णिया ओगाहणा अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, जहण्णिया ओगाहणा एगपदेसाहिया, जहण्णिया ओगाहणा दुपदेसाहिया, जहण्णिया ओगाहणा० जाव असंखेज्जपदेसाहिया, जहण्णिया ओगाहणा तप्पाउग्गुक्कोसिया ओगाहणा ॥

तत्र (ओगाहणट्ठाण त्ति) अवगाहन्ते आसते यस्यां साऽवगाहना तनुः, तदाधारभूतं वा क्षेत्रं, तस्याः स्थानानि । प्रदेशवृद्ध्या विभागा अवगाहनास्थानानि, तत्र (जहण्णिय त्ति) जघन्याऽङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रा सर्वनरकेषु, (तप्पाउग्गुक्कोसिय त्ति) तस्य विवक्षितनरकस्य प्रायोग्या या उत्कर्षिका सा तत्प्रायोग्योत्कर्षिका । यथा-त्रयोदशप्रस्तटे धनुःसप्तकं रत्नित्रयमङ्गुलषट्कं चेति ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि जहण्णियाए ओगाहणाए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता असीइं भंगा जाणियव्वा० जाव संखेज्जपदेसाहिया जहण्णिया ओगाहणा, असंखेज्जपएसाहियाए जहण्णियाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं तप्पाउग्गुक्कोसियाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं नेरइयाणं दोसु वि सत्तावीसं भंगा ।

" जहण्णियाए " इत्यादि । जघन्यायां तस्यामेव चैकाऽऽदिसङ्ख्यातान्तप्रदेशाधिकायामवगाहनायां वर्तमानानां नारकाणामल्पत्वात्क्रोधाऽऽद्युपयुक्त एकोऽपि लभ्यते, अतोऽशीतिर्भङ्गाः । "असंखेज्जपएस" इत्यादि । असङ्ख्यातप्रदेशाधिकायां तत्प्रायोग्योत्कृष्टायां च नारकाणां बहुत्वात्तेषु च बहूनां क्रोधोपयुक्तत्वेन क्रोधे बहुवचनस्य भावान्मानादिषु त्वेकत्वबहुत्वसम्भवात्सप्तविंशतिर्भङ्गा भवन्तीति । ननु ये जघन्यस्थितयो जघन्यावगाहनाश्च भवन्ति, तेषां जघन्यस्थितिकत्वेन सप्तविंशतिर्भङ्गकाः प्राप्नुवन्ति, जघन्यावगाहकत्वेन चाशीतिरिति विरोधः ? । अत्रोच्यते-जघन्यस्थितिकानामपि जघन्यावगाहनाकालेऽशीतिरेव, उत्पत्तिकालभावित्वेन जघन्यावगाहनानामल्पत्वादिति,

या च जघन्यस्थितिकानां सप्तविंशतिः सा जघन्यावगाहनत्वमतिक्रान्तानामिति भावनीयम् ।

शरीरद्वारे-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव० एगमेगंमि निरयावासंमि नेरइयाणं कइ सरीरया पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिण्णि सरीरया पण्णत्ता । तं जहा-वेउव्विए, तेयए, कम्मए । इमीसे णं भंते !० जाव वेउव्वियसरीरे वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता, सत्तावीसं भंगा । एएणं गमेणं तिण्णि सरीरया जाणियव्वा ॥

(सत्तावीसं भंग त्ति) अनेन यद्यपि वैक्रियशरीरे सप्तविंशतिर्भङ्गका उक्ताः, तथापि या स्थित्याश्रयाऽवगाहनाश्रया च भङ्गकप्ररूपणा, सा तथैव द्रष्टव्या, निरवकाशत्वात्तस्याः, शरीराश्रयायाश्च सावकाशत्वात् । एवमन्यत्रापि विमर्शनीयमिति । (एएणं गमेणं तिण्णि सरीरया जाणियव्व त्ति) वैक्रियशरीरसूत्रपाठेन त्रीणि शारीरकाणि वैक्रियतैजसकार्मणानि भणितव्यानि, त्रिष्वपि भङ्गकसप्तविंशतिर्वाच्येत्यर्थः । ननु विग्रहगतौ केवले ये तैजसकार्मणशरीरे स्यातां तयोरल्पत्वेनाशीतिरपि भङ्गकानां सम्भवतीति कथमुच्यते तयोः सप्तविंशतिरेवेति ? । अत्रोच्यते-सत्यमेतत्, केवलं वैक्रियशरीरानुगतयोस्तयोरिहाऽऽश्रयणं केवलयोश्चानाश्रयणमिति सप्तविंशतिरेवेति । यच्च द्वयोरेवानिर्दिश्यत्वे त्रीणीत्युक्तं, तत्त्रयाणामपि गमस्यात्यन्तसाम्योपदर्शनार्थमिति ॥

संहननद्वारे-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए० जाव नेरइयाणं सरीरया किं संघयणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! छण्हं संघयणाणं असंघयणी, नेवऽट्ठी नेव छिरा नेव ण्हारूणि, जे पोग्गला अणिट्ठा अकंता अप्पिया असुहा अमणुन्ना अमणामा, एएसिं सरीरसंघायत्ताए परिणमंति । इमीसे णं भंते !० जाव छण्हं संघयणाणं असंघयणे वट्टमाणाणं नेरइया किं कोहोवउत्ता ?० सत्तावीसं भंगा ।

(छण्हं संघयणाणं असंघयणि त्ति) षण्णां संहननानां वज्रर्षभनाराचाऽऽदीनां मध्यादेकतरेणापि संहननेनासंहननानीति । कस्मादेवमित्यत आह-"नेवट्ठी" इत्यादि । नैवास्थ्यादीनि तेषां सन्ति, अस्थिसञ्चयरूपं च संहननमुच्यत इति । (अणिट्ठ त्ति) इष्यन्ते स्मेतीष्टाः, तन्निषेधादनिष्टाः, अनिष्टमपि किञ्चित्कमनीयं भवतीत्यत उच्यते-अकान्ताः, अकान्तमपि किञ्चित्कारणवशात्प्रीतये भवतीत्यत आह-अप्रियाः, अप्रीतिहेतवः, अप्रियत्वं तेषां कुतः ?, यतः (असुभ त्ति) अशुभस्वभावाः, ते च सामान्या अपि भवन्तीत्यतो विशेष्यन्ते-(अमणुन्न त्ति) न मनसाऽन्तःसंवेदनेन शुभतया ज्ञायन्त इत्यमनोज्ञाः । अमनोज्ञता चैकदाऽपि स्यादत आह-(अमणाम त्ति) न मनसा अम्यन्ते गम्यन्ते पुनः पुनः स्मरणतो ये तेऽमनोमाः । एकार्थिकाश्चैते शब्दा अनिष्टताप्रकर्षप्रतिपादनार्था इति । (संघायत्ताए त्ति) सङ्घाततया, शरीररूपसञ्चयतयेत्यर्थः ।

संस्थानद्वारे-

इमीसे णं भंते ! ०जाव सरीरया किंसंठिया पण्णत्ता ? ।

गोयमा ! दुविहा पमात्ता । तं जहा-भवधारणिज्जा य, उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया पण्णत्ता, तत्थ जे ते उत्तरवेउव्विया ते वि हुंडसंठिया पएणत्ता । इमीसे णं० जाव हुंडसंठाणे वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता ?, सत्तावीसं भंगा ।

(किंसंठिय त्ति) किं संस्थितं संस्थानं येषां तानि किंसंस्थितानि ?। (भवधारणिज्ज त्ति) भवधारणं निजजन्मानिबन्धनं प्रयोजनं येषां तानि भवधारणीयान्याजन्मधारणीयानीत्यर्थः । (उत्तरवेउव्विय त्ति) पूर्ववैक्रियापेक्षया उत्तराणि उत्तरकालभावीनि वैक्रियाणि उत्तरवैक्रियाणि । (हुंडसंठिय त्ति) सर्वत्राशुभसंस्थितानि ।

लेश्याद्वारे-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाणं कइ लेस्साओ पमात्ताओ ? । गोयमा ! एगा काउलेस्सा पमात्ता । इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए० जाव काउलेस्साए वट्टमाणा सत्तावीसं भंगा ।

दृष्टिद्वारे-

इमीसे णं भंते० ! जाव किं सम्मद्दिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी ? । गोयमा ! तिन्नि वि; इमीसे णं० जाव सम्मद्दंसणे वट्टमाणा नेरइया सत्तावीसं भंगा । एवं मिच्छद्दंसणे वि; सम्मामिच्छद्दंसणे असीइभंगा ।

(सम्मामिच्छद्दंसणे असीइभंग त्ति) मिश्रदृष्टीनामल्पत्वात् तद्भावस्यापि च कालतोऽल्पत्वादेकोऽपि सम्भवत इत्यशीतिर्भङ्गाः ।

ज्ञानद्वारे-

इमीसे णं० जाव किं नाणी, अन्नाणी ?। गोयमा ! नाणी वि, अन्नाणी वि, तिन्नि नाणाइं नियमा, तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए । इमीसे णं भंते० ! जाव आभिणिबोहियणाणे वट्टमाणे ?। गोयमा ! सत्तावीसं भंगा, एवं तिन्नि णाणाइं तिन्नि अन्नाणाइं भाणियव्वाइं ।

(तिन्नि णाणाइं नियम त्ति) ये ससम्यक्त्वा नरकेषूत्पद्यन्ते तेषां प्रथमसमयादारभ्य भवप्रत्ययस्यावधिज्ञानस्य भावात्त्रिज्ञानिन एव ते, ये तु मिथ्यादृष्टयस्ते संज्ञिभ्योऽसंज्ञिभ्यश्चोत्पद्यन्ते, तत्र ये संज्ञिभ्यस्ते भवप्रत्ययादेव विभङ्गस्य भावात् त्र्यज्ञानिनः, ये त्वसंज्ञिभ्यस्तेषामाद्यादन्तर्मुहूर्तात्परतो विभङ्गस्योत्पत्तिरिति तेषां पूर्वमज्ञानद्वयं, पश्चाद्विभङ्गोत्पत्तावज्ञानत्रयमित्यत उच्यते-(तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए त्ति) भजनया विकल्पनया कदाचिद् द्वे, कदाचित्त्रीणीत्यर्थः ।

अत्रार्थे गाथे स्याताम्-

" सण्णी नेरइएसुं, उरलपरिच्चायणंतरे समए ।
विब्भंगं ओहिं वा, अविभंगे विभंगे लहइ ॥ १ ॥
असण्णी नरएसुं, पज्जत्तो जेण लहइ विब्भंगं ।
नाणा तिन्नेव तओ, अन्नाणा दोन्नि तिन्नेव ॥ २ ॥"

एवम् " तिन्नि णाणाइं " इत्यादि । आभिनिबोधिकज्ञानवत् सत्तविंशतिभङ्गकोपेतानि आद्यानि त्रीणि ज्ञानानि, अज्ञानानि चेति । इह च त्रीणि ज्ञानानीति यदुक्तं, तदाभिनिबोधिकस्य पुनर्गणनेन । अन्यथा द्वे एव ते वाच्ये स्यातामिति । "तिन्नि अन्नाणाइं" इत्यत्र यदि मत्यज्ञानश्रुताज्ञाने विभङ्गात् पूर्वकालभाविनी विवक्ष्येते, तदा अशीतिर्भङ्गा लभ्यन्ते, अल्पत्वात्तेषाम्; किं तु जघन्यावगाहनावन्ते, ततो जघन्यावगाहनाश्रयेणैवाशीतिभङ्गकास्तेषामवसेया इति ।

योगद्वारे-

इमीसे णं० जाव किं मणजोगी, वयजोगी, कायजोगी ?। गोयमा ! तिन्नि वि । इमीसे णं० जाव मणजोए वट्टमाणा सत्तावीसं भंगा; एवं कायजोए ।

(एवं कायजोए त्ति) इह यद्यपि केवलकार्मणकाययोगे अशीतिर्भङ्गाः संभवन्ति, तथापि तस्याविवक्षणात् सामान्यकाययोगाऽऽश्रयणाच्च सप्तविंशतिरुक्तेति ।

उपयोगद्वारे-

इमीसे णं० जाव नेरइया किं सागारोवउत्ता, अणागारोवउत्ता ?। गोयमा ! सागारोवउत्ता वि, अणागारोवउत्ता वि । इमीसे णं० जाव सागारोवउत्ते वट्टमाणा सत्तावीसं भंगा, एवं अणागारोवउत्ते वि सत्तावीसं भंगा, एवं सत्त वि पुढवीओ नेयव्वाओ, णाणत्तं लेसासु ।

(सागारोवउत्त त्ति) आकारो विशेषांशग्रहणशक्तिः, तेन सह इति साकारः, तद्विकलोऽनाकारः । सामान्यग्राहीत्यर्थः । (णाणत्तं लेसासु त्ति) रत्नप्रभापृथिवीप्रकरणवच्छेषपृथिवीप्रकरणान्यध्येयानि । केवलं लेश्यासु विशेषः,तासां भिन्नत्वात् । अत एव तद्दर्शनाय गाथा-

गाहा-

काओय दोसु तइया-ऍ मीसिया नीलिया चउत्थीए ।
पंचमियाए मीसा, कण्हा तत्तो परमकण्हा ॥ १ ॥

(काओय इत्यादि) तत्र (तइयाए मीसिय त्ति) वालुकप्रभाप्रकरणे उपरितननरकेषु कापोती, अधस्तनेषु नीली भवतीति ते यथासम्भवं प्रश्नसूत्रे उत्तरसूत्रे चाध्येतव्ये इत्यर्थः । यच्च सूत्राभिलापेषु नरकाऽऽवाससङ्ख्यानानात्वं,तत् "तीसा य पन्नवीसा" इत्यादिना पूर्वप्रदर्शितेन समवसेयमिति । एवं च सूत्राभिलापः कार्यः-"सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए पणवीसाए नरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि नरयावासंसि कइ लेस्साओ पमात्ताओ ?। गोयमा ! एगा काउलेस्सा पमात्ता । सक्करप्पभाए णं भंते !० जाव काउलेसाए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता ?, इत्यादि० जाव सत्तावीसं भंगा" । एवं सर्वपृथिवीषु गाथाऽनुसारेण वाच्यम् ।

चउसट्ठीए णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमाराणं केवइया ठिइट्ठाणा पमात्ता ?। गोयमा ! असंखेज्जा ठिइट्ठाणा पमात्ता । तं जहा-जहन्निया ठिई जहा नेरइया तहा, नवरं पडिलोमा भंगा जाणियव्वा, सव्वे वि ताव होज्जा लोभोवउत्ता य माणोवउत्ते य, एएणं गमेणं नेयव्वं० जाव थणियकुमारा, नवरं नाणत्तं जाणियव्वं ।

असुरकुमारप्रकरणं (पडिलोमा भंग त्ति) नारकप्रकरणे हि क्रोधमानाऽऽदिना क्रमेण भङ्गकनिर्देशः कृतोऽसुरकुमाराऽऽदिप्रकरणेषु लोभमायाऽऽदिनाऽसौ कार्य इत्यर्थः। अत एवाह-(सव्वे वि ताव होज्जा लोहोवउत्त त्ति) देवा हि प्रायो लोभवन्तो भवन्ति, तेन सर्वेऽप्यसुरकुमारा लोभोपयुक्ताः स्युः। द्विकसंयोगे तु लोभोपयुक्तत्वे बहुवचनमेव, मायोपयोगे त्वेकत्वबहुत्वाभ्यां द्वौ भङ्गकौ, एवं सप्तविंशतिर्भङ्गकाः कार्याः । (णवरं णाणत्तं जाणियव्वं ति) नारकाणामसुरकुमाराऽऽदीनां च परस्परं नानात्वं ज्ञात्वा प्रश्नसूत्राण्युत्तरसूत्राणि चाध्येयानीति हृदयम्। तत्र नारकाणामसुराऽऽदीनां च संहननसंस्थानलेश्यासूत्रेषु भवन्ति। तच्चैवम्-" चउसट्ठीए णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमाराणं सरीरगा किं संघयणी ?। गोयमा ! असंघयणी, जे पोग्गला इट्ठा कंता, ते तेसिं संघायत्ताए परिणमंति, एवं संठाणे वि, णवरं भवधारणिज्जा समचउरंससंठिया, उत्तरवेउव्विया अन्नयरसंठिया, एवं लेसासु वि, णवरं कइ लेसाओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! चत्तारि । तं जहा-कण्हा नीला काऊ तेऊलेसा । चउसट्ठीए णं० जाव कण्हलेसाए वट्टमाणा किं कोहोवउत्ता ?० ४। गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज लोहोवउत्ता " इत्यादि । एवं " नीलकाऊतेऊ वि "। नागकुमाराऽऽदिप्रकरणेषु तु-"चुलसीए नागकुमारावाससयसहस्सेसु " इत्येवं " चउसट्ठी असुराणं, नागकुमाराण होइ चुलसीई । " इत्यादिवचनात्प्रश्नसूत्रेषु भवनसङ्ख्यानानात्वमवगम्य सूत्राभिलापः कार्य इति ।

असंखेज्जेसु णं भंते ! पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविकाइयावासंसि पुढविकाइयाणं केवइया ठिइट्ठाणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! असंखेज्जा ठिइट्ठाणा पण्णत्ता। तं जहा-जहन्निया ठिई० जाव तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिई । असंखेज्जेसु ण भंते ! पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविकाइयावासंसि जहन्नठिईए वट्टमाणा पुढविकाइया किं कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ?। गोयमा ! कोहोवउत्ता वि, माणोवउत्ता वि, मायोवउत्ता वि, लोहोवउत्ता वि। एवं पुढविकाइयाण सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं, नवरं तेउलेस्साए असीइभंगा, एवं आउकाइया वि, तेउकाइयवाउकाइयाणं सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं, वणप्फइकाइया जहा पुढविकाइया ।

(एवं पुढविकाइयाणं सव्वेसु ठाणेसु अभंगय त्ति) पृथिवीकायिका एकैकस्मिन् कषाये उपयुक्ता बहवो लभ्यन्त इत्यभङ्गकं दशस्वपि स्थानेषु। (नवरं तेउलेस्साए असीइभंग त्ति) पृथिवीकायिकेषु लेश्याद्वारे तेजोलेश्या वाच्या । सा च यदा देवलोकाच्च्युतो देव एकोऽनेको वा पृथिवीकायिकेषूत्पद्यते तदा भवति, ततश्च तदेकत्वाऽऽदिभावनाद् अशीतिर्भङ्गका भवन्तीति । इह पृथिवीकायिकप्रकरणे स्थितिस्थानद्वारं साक्षाल्लिखितमेवास्ति, शेषाणि तु नारकवद्वाच्यानि । तत्र च " णवरं णाणत्तं जाणियव्वं " इत्येतस्यानुवृत्तेर्नानात्वमिह प्रज्ञत उत्तरतश्चावसेयम् । तत्र शरीराऽऽदिषु सप्तसु द्वारेष्विदम्-"असंखेज्जेसु णं भंते ! पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु० जाव पुढविकाइयाणं कइ सरीरा पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिन्नि । तं जहा-ओरालिए, तेयए, कम्मए ।" एतेषु च "कोहोवउत्ता वि, माणोवउत्ता वि " इत्यादि वाच्यम् । तथा-"असंखेज्जेसु णं० जाव पुढविकाइयाणं सरीरगा किं संघयणी " इत्यादि तथैव । "णवरं पोग्गला मणुण्णा अमणुण्णा सरीरसंघायत्ताए परिणमंति। " एवं संस्थानद्वारेऽपि, किं तु सूत्रे-" हुंडसंठियाए " तावदेव वाच्यम्, न तु "दुविहा सरीरगा पण्णत्ता।तं जहा-भवधारणिज्जा य, उत्तरवेउव्विया य " इत्यादि ; पृथिवीकायिकानां तदभावादिति । लेश्याद्वारे पुनरेवं वाच्यम्-" पुढवीकाइयाणं भंते ! कइ लेसाओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! चत्तारि । तं जहा-कण्हलेस्सा० जाव तेउलेस्सा । " एतासु च तिसृष्वभङ्गकमेव, तेजोलेश्यायां त्वशीतिर्भङ्गकाः, एतच्च प्रागेवोक्तमिति। दृष्टिद्वारे इदं वाच्यम्-" असंखेज्जेसु० जाव पुढविकाइया किं सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी, सम्मामिच्छद्दिट्ठी ?। गोयमा ! मिच्छद्दिट्ठी " शेषं तथैव । ज्ञानद्वारेऽपि तथैव । " णवरं पुढविकाइयाणं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ?। गोयमा ! नो नाणी, अन्नाणी नियमा दुअन्नाणी।" योगद्वारेऽपि तथैव। नवरम्-"पुढविकाइयाणं भंते ! किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी ?। गोयमा ! नो मणजोगी, नो वइजोगी, कायजोगी " (एवं आउकाइया वि त्ति) पृथिवीकायिकवदप्कायिका अपि वाच्याः, ते हि दशस्वपि स्थानकेष्वभङ्गकाः, तेजोलेश्यायां चाऽशीतिभङ्गकवन्तो, यतस्तेष्वपि देव उत्पद्यत इति । " तेउकाइय " इत्यादौ (सव्वेसु वि ठाणेसु त्ति) स्थितिस्थानाऽऽदिषु दशस्वप्यभङ्गकं, क्रोधाऽऽद्युपयुक्तानामेकदैव तेषु बहूनां भावात् । इह देवा नोत्पद्यन्त इति तेजोलेश्या तेषु नास्ति । ततस्तत्सम्भवाशीतिरपीत्यभङ्गकमेवेति। एतेषु च सूत्राणि पृथिवीकायिकसमानि, केवलं वायुकायसूत्रेषु शरीरद्वारे एवमध्येयम्-"असंखेज्जेसु णं भंते !० जाव वाउकाइयाणं कइ सरीरा पण्णत्ता ?। गोयमा! चत्तारि। तं जहा-ओरालिए,वेउव्विए,तेयए,कम्मए त्ति"। 'वणप्फइकाइया' इत्यादि । वनस्पतयः पृथिवीकायिकसमाना वक्तव्याः, दशस्वपि स्थानकेषु भङ्गकाभावात्तेजोलेश्यायां च तथैवाशीतिभङ्गकसद्भावादिति । ननु पृथिव्यम्बुवनस्पतीनां दृष्टिद्वारे सास्वादनभावेन सम्यक्त्वं कर्मग्रन्थेष्वभ्युपगम्यते, तत एव ज्ञानद्वारे मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाऽऽश्रित्य इत्येवमशीतिर्भङ्गाः सम्यग्दर्शनाभिनिबोधिकश्रुतज्ञानेषु भवन्तु ?। नैवम् । पृथिव्यादिषु सास्वादनभावस्यात्यन्तविरलत्वेनाविवक्षितत्वात् । तत एवोक्तम्-"उभयाभावो पुढवा-इएसु विगलेसु होज्ज उववन्ने ।" इति। उभयं प्रतिपद्यमानपूर्वप्रतिपन्नरूपमिति ।

बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीइभंगा, तेहिं ठाणेहिं असीई चेव, नवरं अब्भहिया सम्मत्ते आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे, एएहिं असीइभंगा। जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं सत्तावीसं भंगा,तेसु ठाणेसु सव्वेसु अभंगयं ।

"बेइंदिय" इत्यादावेवमक्षरघटना-" जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीइभंगा, तेहिं ठाणेहिं बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं असीई चेव त्ति "। तत्र एकाऽऽदिसंख्यातान्तसमयाधिकायां जघन्यस्थितौ, तथा जघन्यायामवगाहनायां च, तथैव च संख्येयान्तप्रदेशाधिकायां ३, मिश्रदृष्टौ ४ च, नारकाणामशीतिर्भङ्गका उक्ताः, विकलेन्द्रियाणामप्येतेषु स्थानेषु मिश्रदृष्टिवर्जेष्वशीतिः

देव, अल्पत्वात्तेषामेकैकस्यापि क्रोधाऽऽद्युपयुक्तस्य संभवात्, मिथ्यादृष्टिस्तु विकलेन्द्रियेष्वेकेन्द्रियेषु च न भवतीति न विकलेन्द्रियाणां तत्राशीतिभङ्गकसंभव इति । गृहेऽस्मिन्निह सूत्रे कुतोऽपि वाचनाविशेषाद् यत्राशीतिस्तत्राप्यभङ्गकमिति व्याख्यातम् । इहैव विशेषाभिधानायाऽऽह-"नवरं" इत्यादि । अयमर्थः-दृष्टिद्वारे, ज्ञानद्वारे च नारकाणां सप्तविंशतिरुक्ता । विकलेन्द्रियाणां तु (अब्भहिय त्ति) अभ्यधिकाऽशीतिर्भङ्गकानां भवति । कियाह-सम्यक्त्वेऽल्पीयसां हि विकलेन्द्रियाणां सास्वादनभावेन सम्यक्त्वं भवति, अल्पत्वाच्च तेषामेकस्यापि संभवेनाशीतिर्भङ्गकानां भवति, एवमाभिनिबोधिके श्रुते चेति । तथा-"जहिं" इत्यादि । येषु स्थानेषु नैरयिकाणां सप्तविंशतिर्भङ्गाः, तेषु स्थानेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां भङ्गकाभावः, तानि च प्रागुक्ताशीतिभङ्गकस्थानावशिष्टानि मन्तव्यानि, भङ्गकाभावश्च क्रोधाऽऽद्युपयुक्तानामेकदैव बहूनां भावादिति । विकलेन्द्रियसूत्राणि च पृथिवीकायिकसूत्राणीवाध्येयानि । नवरमिह लेश्याद्वारे तेजोलेश्या नाध्येतव्या । दृष्टिद्वारे च-"बेइंदियाणं भंते ! किं सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी, सम्मामिच्छद्दिट्ठी ? । गोयमा ! सम्मद्दिट्ठी वि, मिच्छद्दिट्ठी वि, नो सम्मामिच्छद्दिट्ठी । सम्मदंसणे वट्टमाणा बेइंदिया किं कोहोवउत्ता ?," इत्यादि प्रश्ने उत्तरम्-अशीतिर्भङ्गाः । तथा ज्ञानद्वारे-"बेइंदियाणं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ? । गोयमा ! नाणी वि, अन्नाणी वि । जइ नाणी दुन्नाणी-मइनाणी, सुयनाणी य । शेषं तथैव अशीतिश्च भङ्गा इति । योगद्वारे-"बेइंदियाणं भंते ! किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी ? । गोयमा ! नो मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी य" । शेषं तथैव । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसूत्राण्यपि ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया तहा भाणियव्वा, नवरं जहिं सत्तावीसं भंगा तहिं अभंगयं कायव्वं । जत्थ असीई तत्थ असीइं मणुस्सा वि । जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीइभंगा तेहिं ठाणेहिं मणुस्सा वि असीइभंगा भाणियव्वा । जेसु सत्तावीसा तेसु अभंगयं । नवरं मणुस्साणं अब्भहियं जहन्नठिइए आहारए य असीइभंगा, वाणमंतरजोइसवेमाणिया जहा भवणवासी । नवरं नाणत्तं जाणियव्वं । जं जस्स० जाव अणुत्तरा ।

"पंचिंदिय" इत्यादि । (जहिं सत्तावीसं भंग त्ति) यत्र नारकाणां सप्तविंशतिर्भङ्गास्तत्र पञ्चेन्द्रियतिरश्चामभङ्गकम्, तच्च जघन्यस्थित्यादिकं पूर्वं दर्शितमेव, भङ्गकाभावश्च क्रोधाऽऽद्युपयुक्तानां बहूनामेकदैव तेषु भावादिति । सूत्राणि चेह नारकसूत्रवदध्येयानि । नवरं शरीरद्वारेऽयं विशेषः-"असंखेज्जेसु णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियावासेसु पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं केवइया सरीरा पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि । तं जहा-ओरालिए, वेउव्विए, तेयए, कम्मए" । सर्वत्र चाभङ्गकमिति । तथा संहननद्वारे-"पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं कइविहा संघयणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! छ संघयणा । तं जहा-वइरोसहनाराय० जाव छेवट्ठ त्ति" । एवं संस्थानद्वारेऽपि-"छट्ठाणा पण्णत्ता । तं जहा-समचउरंसे०" ६ । एवं लेश्याद्वारे-"कइ लेसाओ पण्णत्ताओ ? । गोयमा ! छल्लेसा पण्णत्ता । तं जहा-कण्हलेस्सा०" ६ । (मणुस्सा वि त्ति) यथा नैरयिका दशसु द्वारेष्वभिहितास्तथा मनुष्या अपि भणितव्या इति प्रक्रमः । एतदेवाह-"जहिं" इत्यादि । तत्र नारकाणां जघन्यस्थितावेकाऽऽदिसंख्यातान्तसमयाधिकायाम् १, तथा जघन्यावगाहनायाम् २, तस्यामेव संख्यातान्तप्रदेशाधिकायाम् ३, मिश्रे च ४ अशीतिर्भङ्गका उक्ताः । मनुष्याणामप्येतेष्वशीतिरेव । तत्कारणं च तदल्पत्वमेवेति । नारकाणां, मनुष्याणां च सर्वथा साम्यपरिहारायाऽऽह-"जेसु सत्तावीसा" इत्यादि । सप्तविंशतिर्भङ्गकस्थानानि च नारकाणां जघन्यस्थित्यसंख्यातसमयाधिकजघन्यस्थितिप्रभृतीनि, तेषु च जघन्यस्थितौ विशेषस्य वक्ष्यमाणत्वेन तद्वर्जेषु मनुष्याणामभङ्गकं, यतो नारकाणां बाहुल्येन क्रोधोदय एव भवति । तेन तेषां सप्तविंशतिर्भङ्गका उक्तस्थानेषु युज्यन्ते । मनुष्याणां तु प्रत्येकं क्रोधाऽऽद्युपयोगवतां बहूनां भावात्र कषायोदयं विशेषोऽस्ति । तेन तेषां तेषु स्थानेषु भङ्गकाभाव इति । इहैव विशेषाभिधानायाऽऽह-"नवरम्" इत्यादि । येषु स्थानेषु नारकाणामशीतिरुक्तेषु मनुष्याणामप्यशीतिः, तथा "जेसु सत्तावीसा तेसु अभंगयं" इत्युक्तम्, केवलं मनुष्याणामिदमभ्यधिकम्-यदुत जघन्यकस्थितौ तेषामशीतिर्न तु नारकाणाम् । तत्र सप्तविंशतिरुक्तेत्यभङ्गकम् । तथा आहारकशरीरे अशीतिः, आहारकशरीरवतां मनुष्याणामल्पत्वात् । नारकाणां तु तन्नास्त्येवेत्येतदभ्यधिकं मनुष्याणामिति । इह च नारकसूत्राणां मनुष्यसूत्राणां च प्रायः शरीराऽऽदिषु चतुर्षु ज्ञानद्वार एव च विशेषः । तथाहि-"असंखेज्जेसु णं भंते ! मणुस्सावासेसु मणुस्साणं कइ सरीरा पण्णत्ता ? । गोयमा ! पञ्च । तं जहा-ओरालिए, वेउव्विए, आहारए, तेयए, कम्मए । असंखेज्जेसु णं० जाव ओरालियसरीरे वट्टमाणा मणुस्सा किं कोहोवउत्ता वि० ४ । " एवं सर्वशरीरेषु, नवरमाहारकेऽशीतिर्भङ्गकानां वाच्या, एवं संहननद्वारेऽपि, नवरं "मणुस्साणं भंते ! कइ संघयणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! छ संघयणा पण्णत्ता । तं जहा-वइरोसहनाराय० जाव छेवट्ठं ।" संस्थानद्वारे "छ संठाणा पण्णत्ता । तं जहा-समचउरंस० जाव हुंड" । लेश्याद्वारे-"छ लेस्साओ पण्णत्ताओ । तं जहा-कण्हलेसा० जाव सुक्कलेसा" । ज्ञानद्वारे-"मणुस्साणं भंते ! कइ नाणाणि ? । गोयमा ! पंच । तं जहा-आभिणिबोहियनाणं०५ ।" एषु च केवलवर्जेष्वभङ्गकम्, केवले तु कषायोदय एव नास्तीति । "वाणमंतर" इत्यादि । व्यन्तराऽऽदयो दशस्वपि स्थानेषु यथा भवनवासिनस्तथा वाच्याः । यत्रासुराऽऽदीनामशीतिर्भङ्गकाः, यत्र च सप्तविंशतिः, तत्र च व्यन्तराऽऽदीनामपि ते तथैव वाच्याः । भङ्गकास्तु लोभाऽऽदयो विधायाध्येतव्याः, तत्र भवनवासिभिः सह व्यन्तराणां साम्यमेव । ज्योतिष्काऽऽदीनां तु न तथेति । तेनैतेषां सर्वथा साम्यपरिहारसूचनायाऽऽह-(णवरं नाणत्तं जाणियव्वं जं जस्स त्ति) यल्लेश्याऽऽदिकमन्यस्य ज्योतिष्काऽऽदेर्नानात्वमितरापेक्षया भेदस्तज्ज्ञातव्यमिति, परस्परतो विशेषं ज्ञात्वा एतेषां सूत्राण्यध्येयानीति भाव । तत्र लेश्याद्वारे-ज्योतिष्काणामेकैव तेजोलेश्या वाच्या । ज्ञानद्वारे-त्रीणि ज्ञानानि, अज्ञानान्यपि त्रीण्येव, असंज्ञिनां तत्रोत्पाताभावेन विभङ्गस्यापर्याप्तकावस्थायामपि भावात् । तथा वैमानिकानां लेश्याद्वारे तेजोलेश्याऽऽदयस्तिस्रो लेश्या वाच्याः । ज्ञानद्वारे च त्रीणि ज्ञानान्यज्ञानानि चेति । वैमानिकसूत्राणि चैवमध्येयानि-"संखेज्जेसु णं भंते ! वेमाणियावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि वेमाणियावासंसि केवइया ठिइट्ठाणा पण्णत्ता ?," इत्येवमादीनि ॥ भ० १ श० ५ उ० ।

जीवानां सर्वलोकव्याप्तत्वम्-

एयंसि णं भंते ! महालयंसि लोगंसि अत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे, जत्थ णं अयं जीवे न जाए वा, न मए वा वि ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-एयंसि णं महालयंसि लोगंसि णत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे, जत्थ णं अयं जीवे ण जाए वा, ण मए वा वि ?। गोयमा ! से जहाणामए केइ पुरिसे अयासयस्स एगं महं अयावयं करेज्जा, से णं तत्थ जहण्णेणं एगं वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं अयासहस्सं पक्खिवेज्जा, ताओ णं तत्थ पउरगोयराओ पउरपाणीयाओ जहण्णेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा, उक्कोसेणं छम्मासे परिवसेज्जा, अत्थि णं गोयमा ! तस्स अयावयस्स केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे, जेणं तासिं अयाणं उच्चारेण वा पासवणेण वा खेलेण वा सिंघाणेण वा वंतेण वा पित्तेण वा पूएण वा सुक्केण वा सोणिएण वा चम्मेहिं वा रोमेहिं वा सिंगेहिं वा खुरेहिं वा णहेहिं वा अणक्कंतपुव्वे भवइ ?। णो इणट्ठे समट्ठे, होज्जा वि णं गोयमा ! तस्स अयावयस्स केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे, जेणं तासिं अयाणं उच्चारेण वा० जाव णहेण वा अणक्कंतपुव्वे, णो चेव णं एयंसि महालयंसि लोगस्स सासयं भावं, संसारस्स अणादिभावं, जीवस्स य णिच्चभावं, कम्मबहुत्तं जम्मणमरणबाहुल्लं च पडुच्च णत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे, जत्थ णं अयं जीवे ण जाए वा, ण मए वा वि, से तेणट्ठेणं तं चेव० जाव ण मए वा वि ॥

(परमाणुपोग्गलमेत्ते वि त्ति) अपिः संभावनायाम्। (अयासयस्स त्ति) बह्वर्थाश्चतुर्थ्यर्थत्वादजाशताय (अयावयं ति) अजाव्रजम्, अजावाटकमित्यर्थः। (उक्कोसेणं अयासहस्सं पक्खिवेज्ज त्ति) यदिहाजाशतप्रायोग्ये वाटके उत्कर्षेणाजासहस्रप्रक्षेपणमभिहितं तत्तासामतिसङ्कीर्णतयाऽवस्थानख्यापनार्थमिति। (पउरगोयराओ पउरपाणीयाओ त्ति) प्रचुरचरणभूमयः, प्रचुरपानीयाश्च। अनेन च तासां प्रचुरमूत्रपुरीषसम्भवो क्षुत्पिपासाविरहेण स्वस्थतया चिरजीवित्वं चोक्तम्। (णहेहिं व त्ति) नखाः खुराग्रभागास्तैः "णो चेव णं एयंसि महालयंसि लोगंसि" इत्यस्य "अत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे" इत्यादिना पूर्वोक्ताभिलापेन संबन्धः, महत्त्वाल्लोकस्य। कथमिदमिति चेत् ?। अत आह-"लोगस्स" इत्यादि। कथितमिदं न संभवतीत्यत उक्तम्-लोकस्य शाश्वतभावं, प्रतीत्येति योगः। शाश्वतत्वेऽपि लोकस्य संसारस्य सादित्वे नैवं स्यादित्यनादित्वं तस्योक्तं, नानाजीवापेक्षया संसारस्यानादित्वेऽपि विवक्षितजीवस्यानित्यत्वे नोक्तोऽर्थः स्यादतो जीवस्य नित्यत्वमुक्तं, नित्यत्वेऽपि जीवस्य कर्माल्पत्वे तथाविधसंसरणाभावान्नोक्तं वस्तु स्यादतः कर्मबाहुल्यमुक्तम्, कर्मबाहुल्येऽपि जन्मादिरल्पत्वे नोक्तोऽर्थः स्यादिति जन्मादिबाहुल्यमुक्तमिति।

एतदेव प्रपञ्चयन्नाह-

कइ णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! जहा पढमसए पंचमउद्देसए तहेव आवासा ठावेयव्वा० जाव अणुत्तरविमाणे त्ति० जाव अपराजिए सव्वट्ठसिद्धे। अयं णं भंते ! जीवे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि णिरयावासंसि पुढवीकाइयत्ताए० जाव वणस्सइकाइयत्ताए णरगत्ताए णेरइयत्ताए उववण्णपुव्वे ?। हंता गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो।

"कइ णं" इत्यादि। (नरगत्ताए त्ति) नरकाऽऽवासपृथ्वीकायिकतयेत्यर्थः। (असइं ति) असकृदनेकशः (अदुव त्ति) अथवा (अणंतखुत्तो त्ति) अनन्तकृत्वोऽनन्तवारान्।

सव्वजीवा वि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरया० तं चेव० जाव अणंतखुत्तो। अयं णं भंते ! जीवे सक्करप्पभाए पुढवीए पणवीसाए एवं जहा रयणप्पभाए तहेव दो आलावगा भाणियव्वा, एवं० जाव धूमप्पभाए। अयं णं भंते ! जीवे तमाए पुढवीए पंचूणे णिरयावाससयसहस्से एगमेगंसि, सेसं तं चेव। अयं णं भंते ! जीवे अहेसत्तमाए पुढवीए पंचसु अणुत्तरेसु महइमहालएसु महाणिरएसु एगमेगंसि णिरयावासंसि, सेसं जहा रयणप्पभाए। अयं णं भंते ! जीवे चउसट्ठीए असुरकुमारावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि पुढवीकाइयत्ताए० जाव वणस्सइकाइयत्ताए देवत्ताए देवित्ताए आसणसयणभंडमत्तोवगरणत्ताए उववण्णपुव्वे ?। हंता गोयमा० ! जाव खुत्तो। सव्वजीवा वि णं भंते ! एवं चेव, एवं० जाव थणियकुमारेसु णाणत्तं आवासेसु आवासा पुव्वभणिया। अयं णं भंते ! जीवे असंखेज्जेसु पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढवीकाइयावासंसि पुढवीकाइयत्ताए० जाव वणस्सइकाइयत्ताए उववण्णपुव्वे ?। हंता गोयमा !० जाव खुत्तो। एवं सव्वजीवा वि। एवं० जाव वणस्सइकाइएसु।

(असंखेज्जेसु पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु त्ति) इहासंख्यातेषु पृथिवीकायिकाऽऽवासेष्वित्येतावतैव सिद्धेऽपि यच्छतसहस्रग्रहणं तत्तदावासानां बहुत्वख्यापनार्थम्। ततश्च-

अयं णं भंते ! जीवे असंखेज्जेसु बेइंदियावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि बेइंदियावासंसि पुढवीकाइयत्ताए० जाव वणस्सइकाइयत्ताए बेइंदियत्ताए उववण्णपुव्वे ?। हंता गोयमा !० जाव अणंतखुत्तो। सव्वजीवा वि णं एवं चेव, एवं० जाव मणुस्सेसु, णवरं तेइंदिएसु० जाव वणस्सइकाइयत्ताए तेइंदियत्ताए चउरिंदिएसु चउरिंदियत्ताए, एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्ताए मणुस्सेसु मणुस्सत्ताए, सेसं जहा बेइंदियाणं, वाणमंतरजोइसियसोहम्मीसाणाण य जहा असुरकुमाराणं।

"नेइंदिएसु" इत्यादि । द्वीन्द्रियाऽऽदिसूत्रेषु द्वीन्द्रियाऽऽदिसूत्रात् त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेभ्यादिनैव विशेष इत्यर्थः ।

अयं णं भंते ! जीवे सणंकुमारकप्पे बारससु विमाणावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि वेमाणियावासंसि पुढविकाइयत्ताए, सेसं जहा असुरकुमाराणं० जाव अणंतखुत्तो । णो चेव णं देवित्ताए, एवं सव्वजीवा वि, एवं० जाव आणयपाणएसु, एवं आरणच्चुएसु वि ।

(णो चेव णं देवित्ताए त्ति) ईशानान्तेष्वेव देवस्थानेषु देव्य उत्पद्यन्ते, सनत्कुमाराऽऽदिषु पुनर्नेति कृत्वा "नो चेव णं देवित्ताए" इत्युक्तम् ।

अयं णं भंते ! जीवे तिसु वि अट्ठारसुत्तरेसु गेविज्जगविमाणावाससएसु एवं चेव । अयं णं भंते ! जीवे पंचसु अणुत्तरविमाणेसु एगमेगंसि अणुत्तरविमाणंसि पुढवि० तहेव ०जाव अणंतखुत्तो । णो चेव णं देवत्ताए देवित्ताए, एवं सव्वजीवा वि ।

(णो चेव णं देवत्ताए देवित्ताए व त्ति) अनुत्तरविमानेष्वनन्तकृत्वो देवा नोत्पद्यन्ते, देव्यश्च सर्वथैवेति "णो चेव णं" इत्याद्युक्तमिति ।

अयं णं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं माइत्ताए पित्तित्ताए भाइत्ताए भगिणित्ताए भज्जात्ताए पुत्तत्ताए धूयत्ताए सुण्हत्ताए उववन्नपुव्वे ? । हंता गोयमा !० जाव अणंतखुत्तो । अयं णं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं अरित्ताए वेरियत्ताए घायगत्ताए वहगत्ताए पडिणीयत्ताए पच्चामित्तत्ताए उववन्नपुव्वे ? । हंता गोयमा !० जाव अणंतखुत्तो । सव्वजीवा वि णं भंते ! एवं चेव । अयं णं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं रायत्ताए जुवरायत्ताए० जाव सत्थवाहत्ताए उववन्नपुव्वे ? । हंता गोयमा ! असतिं० जाव अणंतखुत्तो । सव्वजीवाणं एवं चेव ।

(अरित्ताए त्ति) सामान्यतः शत्रुभावेन (वेरियत्ताए त्ति) वैरिकः शत्रुभावानुबन्धयुक्तस्तत्तया-(घायगत्ताए त्ति) मारकतया (वहगत्ताए त्ति) व्यधकतया, ताडकतयेत्यर्थः । (पडिणीयत्ताए त्ति) प्रत्यनीकतया कार्योपघातकतया (पच्चामित्तत्ताए त्ति) अमित्रसहायतया ।

अयं णं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं दासत्ताए पेसत्ताए भुयगत्ताए भाइल्लगत्ताए भोगपुरिसत्ताए सीसत्ताए वेसत्ताए उववन्नपुव्वे ? । हंता गोयमा !० जाव अणंतखुत्तो, एवं सव्वजीवा वि० जाव अणंतखुत्तो ॥

(दासत्ताए त्ति) गृहदासीपुत्रतया (पेसत्ताए त्ति) प्रेष्यतया आदेश्यतया (भुयगत्ताए त्ति) भृतकतया दुष्कालादौ पोषिततया (भाइल्लगत्ताए त्ति) कृष्याद्युत्पन्नस्य भागग्राहकत्वेन (भोगपुरिसत्ताए त्ति) अन्योपार्जितार्थानां भोगकारिनरतया (सीसत्ताए त्ति) शिक्षणीयतया (वेसत्ताए त्ति) द्वेष्यतयेति । भ० १२ श० ७ उ० । स्था० । (जीवः सदा समितमेजते तत्र किं बन्धक इति 'इरियावहिया' शब्दे द्वितीयभागे ६५७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (जीवानां कर्मप्रतिष्ठितत्वं, कर्मसंगृहीतत्वं, जीवपुद्गलयोरन्योन्यबद्धत्वं च 'लोगट्ठिइ' शब्दे वक्ष्यते) करणे घञ् । जीवनोपाये, 'जीव' णिच् अच् । वृक्षभेदे, वाच० । बृहस्पतौ, महेश्वनाके पुष्पनक्षत्रे च । स्था० ५ ठा० १ उ० । यथा मनुष्ययोनौ द्वीन्द्रियाऽऽदिजीवोत्पत्तिस्तथैव तिर्यग्योनौ, कश्चिद्विशेषो वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्—तिर्यगाश्रितः कोऽपि विशेषः शास्त्रे दृष्टो नास्तीति । १४५ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । अनुत्तरविमानेषु जीवः कति भवान् करोतीति प्रश्ने, उत्तरम्-विजयाऽऽदिषु उत्कर्षतो वारद्वयं, सर्वार्थसिद्धविमाने एकवारमिति । जीवाभिगमवृत्तौ विजयाऽऽदिषु द्विचरमाः, इति तत्त्वार्थसूत्रचतुर्थाध्याये सर्वार्थसिद्धविमानादागतोऽनन्तरभवे सिद्ध्यत्येव, विजयाऽऽदिचतुर्षु गतो मनुष्येषु आऽऽयाति । तत्रापि जघन्येन एकं द्वौ वा भवौ, उत्कर्षतश्चतुर्विंशतिभवान्, तत्र नरभवेऽष्टौ, देवभवेऽष्टौ, भूयो नरभवेऽष्टौ, ततः सिद्ध्यते च, विजयाऽऽदिषु द्विरुपपन्नस्य नियमात्सिद्धिरनन्तरभव एवेति प्रघोषः, प्रज्ञापनायां सङ्ख्यातभवानिति । ७७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । आउक्तिनामा वनस्पतिविशेषः किं संख्यातजीवोऽसंख्यातजीवः, अनन्तजीवो वा ?, कुत्र प्रोक्तमस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-आउक्तिनामक इह ऽऽदौ असंख्याता जीवाः, पत्राऽऽदौ तु एकैको जीव इति प्रज्ञापनाऽऽदौ प्रोक्तमस्तीति । २६१ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । जीवानामिकामनत्व लग्नं देयं न भवति, तत्तर्पणे त्रुट्यते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-एकान्तो नास्ति; यदि तपःस्वाध्यायाऽऽदिना कर्म निर्जरयति, तदा तत्तर्पणे त्रुट्यते । कर्मनिर्जरणमन्तरा तत्तर्पणं न त्रुट्यति । इति । ६७ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । व्यवहारराशिं प्राप्तो जीवः पुनः सूक्ष्मनिगोदमध्ये याति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-सूक्ष्मनुष्यान् पृष्ट्वा तदानीत्यक्षराणि सन्तीति । १२१ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । विकसितपुष्पमध्यं जीवाः सङ्ख्याताः, असङ्ख्याता वेति प्रश्ने, उत्तरम्-केषु चित्पुष्पेषु सङ्ख्याताः, केषुचिदसङ्ख्याताः, केषुचिदनन्ताश्च प्रज्ञापनाऽऽदिषु कथिताः सन्ति । जातिपुष्पमध्ये तु संख्याता एव कथिताः सन्ति । १२८ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

जीवआरंभिया-जीवारम्भिका-स्त्री० । यज्जीवानारभमाणस्योपमृद्नतः कर्मबन्धनं सा जीवारम्भिका । क्रियाभेदे, "आरंभिया किरिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-जीवारंभिया चेव, अजीवारंभिया चेव" । स्था० २ ठा० १ उ० ।

जीवंजीव-जीवञ्जीव-न० । जीवबले, "से णं जीवंजीवेणं गच्छइ, जीवंजीवेणं चिट्ठइ ।" अनुस्वारस्यागमिकत्वाज्जीवजीवेन जीवबलेन गच्छति, न शरीरबलेन । भ० २ श० १ उ० । ज्ञा० । अन्त० । जीवान् जीवयति दर्शनेन तृप्तिकरत्वात् । चकोरपक्षिणि, वाच० ।

जीवंजीवग-जीवञ्जीवक-पुं० । जीवान् जीवयति अच् । चकोरे, चम्पकाभेदे, वाच० । प्रज्ञा० । जी० । औ० । प्रश्न० ।

जीवंत-जीवत्-त्रि० । प्राणान् धारयति; "मरूहा व जीवंत व जोतिपत्ता" । (१३ गाथा) सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

जीवकप्प-जीवकल्प-पुं० । द्रव्यकल्पभेदे, "तिविहो य जीवकप्पो, दुपयचउप्पयअपयभेएहिं ।" पं० भा० । पं० चू० ।

जीवकाय-जीवकाय-पुं० । जीवनं जीवो ज्ञानाऽऽद्युपयोगस्तत्प्रधानः कायो जीवकायः । भ० ७ श० १ उ० । जीवराशौ, सूत्र० ।

जीवकायस्वरूपनिरूपणार्थमाह-

पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी ।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥ ७ ॥

(पुढवीजीवा इत्यादि) पृथिव्येव पृथिव्याश्रिता वा जीवाः, ते च प्रत्येकशरीरत्वात्पृथक् प्रत्येकं सत्त्वा जन्तवोऽवगन्तव्याः । तथा आपश्च जीवाः । एवमग्निकायाश्च, तथाऽपरे वायुजीवाः । तदेवं चतुर्महाभूतसमाश्रिताः सत्त्वाः प्रत्येकशरीरिणोऽवगन्तव्याः । एत एव पृथिव्यप्तेजोवायुसमाश्रिताः सत्त्वाः प्रत्येकशरीरिणो, वक्ष्यमाणवनस्पतेस्तु साधारणासाधारणशरीरत्वेनापृथक्त्वमप्यस्तीत्येतदर्थस्य दर्शनाय पुनः पृथक् सत्त्वग्रहणमिति । वनस्पतिकायस्तु यः सूक्ष्मः सः सर्वोऽपि निगोदरूप. । साधारणबादरस्तु साधारणोऽसाधारणश्चेति । तत्र प्रत्येकशरीरिणोऽसाधारणस्य कतिचिद्भेदान्निर्दिदिक्षुराह-तत्र तृणानि दर्भवीरणाऽऽदीनि, वृक्षाश्चूताशोकाऽऽदयः, सह बीजैः शालिगोधूमाऽऽदिभिर्वर्तन्त इति सबीजकाः । एते सर्वेऽपि वनस्पतिकायाः सत्त्वा अवगन्तव्याः । अनेन च बौद्धाऽऽदिमतनिरासः कृतोऽवगन्तव्य इति । एतेषां च पृथिव्यादीनां जीवानां जीवत्वेन प्रसिद्धिस्वरूपनिरूपणमाचारे प्रथमाध्ययने शास्त्रपरिज्ञाऽऽख्ये न्यक्षेण प्रतिपादितमिति नेह प्रतन्यते ।

षड्जीवनिकायप्रतिपादनायाऽऽह-

अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया ।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जई ॥ ८ ॥

(अहावरेत्यादि) तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय एकेन्द्रियाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तकभेदेन प्रत्येकं चतुर्विधाः । अथानन्तरमपरेऽन्ये त्रसन्तीति त्रसाः, द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाः कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्याऽऽदयः । तत्र द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः प्रत्येकं पर्याप्तकापर्याप्तकभेदत्वाद्द्विधाः । पञ्चेन्द्रियास्तु संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्विधाः । तदेवमनन्तरोक्तया नीत्या चतुर्दशभूतग्रामाऽऽत्मकतया व्याख्यातास्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिरेतावानेव जन्त्वाऽऽत्मक एव, संक्षेपतो जीवनिकायो जीवराशिर्भवत्यण्डजोद्भिज्जसंस्वेदजाऽऽदेरत्रैवान्तर्भावान्नापरो जीवराशिर्विद्यते कश्चिदिति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

जीवकिरिया-जीवक्रिया-स्त्री० । जीवस्य क्रिया व्यापारो जीवक्रिया । सामान्यक्रियायाम्, स्था० । " जीवकिरिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सम्मत्तकिरिया चेव, मिच्छत्तकिरिया चेव ।" स्था० २ ठा० २ उ० ।

जीवगराय-जीवकराज-पुं० । नेमिजिनसमकालिके स्वनामख्याते राजनि, ती० ।

जीवग्गाह-जीवग्राह-अव्य० । जीवतो ग्रहणे, "जीवग्गाहं गिण्हंति ।" जीवतीति जीवस्तं जीवं जीवन्तं गृह्णाति । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

जीवघण-जीवघन-पुं० । जीवाश्च ते घनाश्च शुषिराऽऽपूरणाद् जीवघनाः । आ० म० द्वि० । अन्तररहितत्वेन जीवप्रदेशमयेषु, सिद्धस्वरूपमधिकृत्य-" अरूविणो जीवघणा " जीवाश्च ते घना अन्तररहितत्वेन जीवप्रदेशमयाः । उत्त० ३६ अ० । जीव एव घनो मूर्तिः सैन्धवखिल्यवदेकघन इव यस्य । हिरण्यगर्भे, आचा० ।

जीवघाय-जीवघात-पुं० । प्राणातिपाते, आव० ६ अ० ।

जीवजढ-जीवजढ-त्रि० । जीववर्जिते, नि० चू० १ उ० ।

जीवट्ठाण-जीवस्थान-न० । ६ त० । कर्मणि, वाच० । जीवन्ति यथायोगं प्राणान् धारयन्तीति जीवाः प्राणिनः शरीरभृत इति पर्यायाः । तेषां जीवानां स्थानानि सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियत्वाऽऽदयोऽवान्तरविशेषास्तिष्ठन्ति जीवा एषु इति कृत्वा जीवस्थानानि । जीवानां सूक्ष्मापर्याप्तकेन्द्रियत्वाऽऽदिकेऽवान्तरविशेषे, कर्म० ।

अथ जीवस्थानप्रतिपादिकां गाथामाह-

नमिय जिणं जियमग्गण-गुणठाणुवओगजोगलेसाओ ।
बंधऽप्पबहूभावे, संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥ १ ॥

जिनं नत्वा जीवस्थानाऽऽदि वक्ष्य इति संबन्धः । (कर्म०) जीवमार्गणागुणस्थानाऽऽदि वक्ष्ये, इह स्थानशब्दस्य प्रत्येकं योगात् जीवस्थानानि मार्गणास्थानानि गुणस्थानानि उपयोगाश्च योगाश्च लेश्याश्चेति द्वन्द्वे द्वितीयाशस् । (कर्म०) यद्वा-बन्ध इति पदैकदेशेऽपि 'भामा' सत्यभामेतिन्यायेन पदप्रयोगदर्शनाद्बन्धहेतवो मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगरूपा वक्ष्यमाणा गृह्यन्ते (अप्पबहु त्ति) भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य अल्पबहुत्वं, गत्यादिरूपमार्गणास्थानाऽऽदीनां परस्परं स्तोकभूयस्त्वम् । (भावे त्ति) जीवाजीवानां तेन तेन रूपेण भवनानि परिणमनानि, भावा औपशमिकाऽऽदयः, ततो बन्धश्चाल्पबहुत्वं च भावाश्चेति द्वन्द्वे द्वितीयाबहुवचनं शस् । सूत्रे च-"अप्पबहु " इत्यत्र दीर्घत्वं " दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ " । ८ । १ । ४ । इति प्राकृतसूत्रेण । (संखिज्जाइ त्ति) संख्यायन्ते चतुःपल्याऽऽदिप्ररूपणया परिमीयन्त इति संख्येयम् । आदिशब्दादसंख्येयाऽनन्तकपरिग्रहः । तत एवं जीवस्थानाऽऽदिकमनन्तकपर्यवसानं द्वारकलापम् । अत्र वक्ष्ये इत्यनेनाभिधेयमाह । कथं वक्ष्य इत्याह-(किमवि त्ति) किमपि किञ्चित् स्वल्पं न विस्तरवत् । दुष्षमानुभावेनापचीयमानमेधाऽऽयुर्बलाऽऽदिगुणानामैदंयुगीनजनानां विस्तराभिधाने सत्युपकारासंभवात्तदुपकारार्थं चैव शास्त्राऽऽरम्भप्रयासः । एतेन संक्षिप्तरुचिसत्त्वानाश्रित्य प्रयोजनमावेदितम् । संबन्धस्त्वर्थाऽऽपत्तिगम्यः, स चोपायोपेयलक्षणः, साध्यसाधनलक्षणो, गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा स्वयमभ्यूह्यः । इह च मार्गणास्थानगुणस्थानाऽऽदयः सर्वे पदार्था न जीवपदार्थमन्तरेण विचारयितुं शक्यन्त इति प्रथमं जीवस्थानग्रहणम् १ । जीवाश्च प्रपञ्चतो निरूप्यमाणा गत्यादिमार्गणास्थानैरेव निरूपयितुं शक्यन्त इति तदनन्तरं मार्गणास्थानग्रहणम् २ । तेषु च मार्गणास्थानेषु वर्तमाना जीवा न कदाचिदपि मिथ्यादृष्ट्याद्यन्यतमगुणस्थानकविकला भवन्तीति ज्ञापनाय मार्गणास्थानकानन्तरं गुणस्थानकग्रहणम् ३ । अमूनि च गुणस्थानकानि परिणामशुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षरूपाण्युपयोगवतामेवोपपद्यन्ते, नान्येषामाकाशाऽऽदीनां, तेषां ज्ञानाऽऽदिरूपपरिणामरहितत्वादिति प्रतिपत्त्यर्थं गुणस्थानकग्रहणानन्तरमुपयोगग्रहणम् ४ । उपयोगवन्तश्च मनोवाक्कायचेष्टासु वर्तमाना नियमतः कर्मसंबन्धभाजो भवन्ति । तथा चाऽऽगमः-"जाव णं एस जीवे एयइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ खुब्भइ तं तं भावं परिणमइ, ताव णं अट्ठविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा नो णं अबंधए" इति ज्ञापनार्थमुपयोगग्रहणानन्तरं योग-

ग्रहणम् ५। योगवशादुपात्तस्यापि कर्मणो यावच्च कृष्णाऽऽद्यन्यतमलेश्यापरिणामो जायते, तावच्च तस्य स्थितिपाकविशेषो भवति, "स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण" इति वचनप्रामाण्यात्। ततो योगवशादुपात्तस्य कर्मणो लेश्याविशेषतः स्थितिपाकविशेषो भवतीति प्रतिपत्त्यर्थं योगानन्तरं लेश्याग्रहणम् ६। लेश्यावन्तश्च यथायोगं बन्धहेतुभिः कर्मबन्धोदयोदीरणासत्ताः प्रकुर्वन्तीति ज्ञापनाय लेश्यानन्तरं बन्धग्रहणम् ७। बन्धोदयाऽऽदियुक्ताश्च जीवा मार्गणास्थानाऽऽद्याश्रित्य नियमतः परस्परमल्पे वा भवेयुर्बहवो वेति निवेदनार्थं बन्धानन्तरमल्पबहुत्वग्रहणम् ८। ते च जीवा मार्गणास्थानाऽऽदिष्वल्पे वा बहवो वा भवन्तोऽवश्यं क्षायोपशमिकाऽऽदिनाऽऽत्मकेषु भावेषु वर्तन्ते इति प्रकटनार्थमल्पबहुत्वानन्तरं भावग्रहणम् ९। औपशमिकाऽऽदिभाववर्तिनां च जीवानामल्पबहुत्वं नियमतः संख्येयकेनासंख्येयकेनानन्तकेन वा निरूपणीयमिति भावग्रहणानन्तरं संख्येयकाऽऽदिग्रहणमिति १०। यद्यपि चेह सामान्येनोक्तं जीवस्थानाऽऽदि वक्तव्यं तथाऽप्येवं विशेषतो द्रष्टव्यम्। जीवस्थानकेषु गुणस्थानकयोगोपयोगलेश्याकर्मबन्धोदयोदीरणासत्ता वक्तव्याः। कर्म०।

मार्गणास्थानकेषु जीवस्थानाऽऽदीनि-

"चउदसजियठाणेसुं, चउदस गुणठाणगाणि जोगा य।
उवओगलेसबंधुद-ओदीरणासंतअट्ठपए" ॥ कर्म०।

तत्र यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात् प्रथमं तावज्जीवस्थानानि निरूपयन्नाह--

इह सुहुमबायरेगिं-दि-बि-ति-चउ-असन्नि-सन्निपंचिंदी।
अपजत्तापज्जत्ता, कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥ २ ॥

इहास्मिन् जगति अनेन क्रमेण चतुर्दश जीवस्थानानि प्राग्निरूपितशब्दार्थानि भवन्ति। केन क्रमेणेति चेदत आह-सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः, एते च सर्वेऽपि प्रत्येकं पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्चेति। तत्रैकं स्पर्शनलक्षणमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः। ते च प्रत्येकं द्वेधा-सूक्ष्माः, बादराश्च। सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्माः सकललोकव्यापिनो, बादरनामकर्मोदयाद्बादराः, ते च लोकप्रतिनियतदेशवर्तिनः। द्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया इति। इन्द्रियशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रिया असंज्ञिसंज्ञिभेदभिन्नाश्च पञ्चेन्द्रियाः। तत्र द्वे स्पर्शनरसनलक्षणे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः, कृमिशङ्खगण्डोलकचन्दनकशुक्तिकपर्दजलौकाप्रभृतयः। त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणरूपाणीन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः, कुन्थुमत्कुणयूकापिपीलिकोपदेहिकामत्कोटकाऽऽदयः। चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानीन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः, भ्रमरमक्षिकामशकवृश्चिकाऽऽदयः। पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणानीन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः, मत्स्यमकरनकुलनरमारहंसनरसुरनारकाऽऽदयः। ते च द्विधा-संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च। तत्र संज्ञानं संज्ञा, भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनम्। "उपसर्गादातः" ।५।३।११०। इत्यङ् प्रत्ययः। सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः विशिष्टस्मरणाऽऽदिरूपमनोविज्ञानभाज इति यावत्। तद्विपरीता असंज्ञिनो विशिष्टस्मरणाऽऽदिरूपमनोविज्ञानविकला इत्यर्थः। एते च सूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदयः प्रत्येकं द्विधा-पर्याप्तकाः, अपर्याप्तकाश्च। पर्याप्तिर्नाम-पुद्गलोपचयजः पुद्गलग्रहणपरिणमनहेतुः शक्तिविशेषः। सा च विषयभेदात् षोढा-आहारपर्याप्तिः, शरीरपर्याप्तिः, इन्द्रियपर्याप्तिः, उच्छ्वासपर्याप्तिः, भाषापर्याप्तिः, मनःपर्याप्तिश्चेति। तत्र यया बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्तिः, यया रसीभूतमाहारं रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः, यया धातुरूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः, यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलिकमादायोच्छ्वासरूपतया परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः, यया तु भाषाप्रायोग्यवर्गणादलिकं गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिः, यया पुनर्मनोयोग्यवर्गणादलिकं गृहीत्वा मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः। एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियाऽऽदीनां संज्ञिनां च चतुःपञ्चषट्संख्या भवन्ति। यदभाणि-

"आहारसरीरिंदिय-पज्जत्ती आणपाणभासमणे।
चत्तारि पंच छप्पि य, एगिंदियविगलसन्नीणं" ॥ १ ॥

पर्याप्तयो विद्यन्ते येषां ते पर्याप्ताः "अभ्राऽऽदिभ्यः" ।७।२।४६। इति मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः; स्वार्थिककप्रत्ययोपादानात्पर्याप्तकाः। ये पुनः स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिविकलास्तेऽपर्याप्तकाः। ते च द्विधा-लब्ध्या, करणैश्च। तत्र येऽपर्याप्तका एव सन्तो म्रियन्ते, न पुनः स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थयन्ते ते लब्ध्यपर्याप्तकाः। ये पुनः करणानि शरीरेन्द्रियाऽऽदीनि न तावन्निर्वर्तयन्ति, अथ चावश्यं पुरस्तान्निर्वर्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्तकाः। इह चैवमागमः-"लब्ध्यपर्याप्तका अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते, नार्वाक्, यस्मादागामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः, तच्चाऽऽहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यत इति" ॥ तदेवं निरूपितानि जीवस्थानानि। कर्म० ४ कर्म०। पं० सं०। (जीवस्थानेषु १४ गुणस्थानानि 'गुणट्ठाण' शब्दे तृतीयभागे ९७ पृष्ठे उक्तानि) साम्प्रतं योगा वक्तुमवसरप्राप्तास्ते च पञ्चदश। तद्यथा--सत्यवाग्योगः, असत्यवाग्योगः, सत्यमृषावाग्योगः, असत्यामृषावाग्योगः।

तत्स्वरूपं चेदम्-

"सच्चा हिया सतामिह, संतो मुणयो गुणा पयत्था वा।
तव्विवरीया मोसा, मीसा जा तदुभयसहावा ॥ १ ॥
अणहिगया जा तीसु वि, सद्दो च्चिय केवलो असच्चमुसा"।

एवं मनोयोगोऽपि चतुर्धा द्रष्टव्यः। काययोगः सप्तधा-औदारिकम्, औदारिकमिश्रं, वैक्रियं, वैक्रियमिश्रम्, आहारकम्, आहारकमिश्रं, कार्मणं च। तत्रौदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्ययोः, तयोरेवापर्याप्तयोरौदारिकमिश्रकाययोगः, वैक्रियकाययोगो देवनारकयोः तिर्यङ्मनुष्ययोर्वा, वैक्रियलब्धिमतोः वैक्रियमिश्रकाययोगोऽपर्याप्तयोर्देवनारकयोस्तिर्यङ्मनुष्ययोर्वा, वैक्रियस्यारम्भकाले परित्यागकाले च आहारकं चतुर्दशपूर्वविदः, आहारकमिश्रकाययोगः, आहारकस्य प्रारम्भसमये परित्यागकाले च कार्मणकाययोगोऽष्टप्रकारकर्मविकारकशरीरलक्षणोऽन्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये केवलिसमुद्घातावस्थायां च।

साम्प्रतमेतान् योगान् जीवस्थानकेषु व्याचिख्यासुराह-

अपजत्तछक्कि कम्मुर-लमीसजोगा अपज्जसन्नीसु।

ते म. वउव्वमा त एसुं, तणुपज्जेसु उरलमन्ने ॥ ४ ॥

अपर्याप्तानां सूक्ष्मबादरद्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां षट्कमपर्याप्तषट्कं, तस्मिन् अपर्याप्तषट्के, संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तवर्जितेषु षट्सु अपर्याप्तेषु योगौ भवतः । द्विवचनस्य बहुवचनं प्राकृतत्वात् । यथा- "हत्था पाया" इत्यादौ । कौ योगौ ?, इति । आह-कार्मणौदारिकामिश्रौ; तत्र कार्मणकाययोगोऽपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च, शेषकालं त्वौदारिकमिश्रकाययोगः । (अपज्जत्तछक्कि)। ते सविउव्वमीस त्ति) अपर्याप्तसंज्ञिषु संज्ञ्यपर्याप्तजीवेषु तौ पूर्वोक्तौ कार्मणौदारिकमिश्रकाययोगौ भवतः । किं केवलौ ?, नेत्याह-सह वैक्रियमिश्रेण वर्तेते इति सवैक्रियमिश्रौ । तथा चापर्याप्तसंज्ञिनि त्रयो योगा भवन्ति कार्मणकाययोगः, औदारिकमिश्रकाययोगः, वैक्रियमिश्रकाययोगश्च । तत्र कार्मणकाययोगोऽपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च, शेषकालं तु तिर्यङ्मनुष्ययोरौदारिकमिश्रकाययोगः । संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य देवनारकेषूत्पद्यमानस्य वैक्रियमिश्रकाययोगो द्रष्टव्यः, न शेषस्य, असंभवात् । मिश्रता चात्र कार्मणेन सह द्रष्टव्या । अथैव मतान्तरमुपदर्शयन्नाह-एषु पूर्वनिर्दिष्टेषु शेषपर्याप्त्यपेक्षया पर्याप्तेषु, तनुपर्याप्तेषु, शरीरपर्याप्तेष्वित्यर्थः । औदारिकमौदारिककाययोगम्, अन्ये केचिदाचार्याः शीलाङ्काऽऽदयः प्रतिपादयन्तीति शेषः । शरीरपर्याप्त्या हि परिसमाप्तिवत्या किल तेषां शरीरं परिपूर्णं निष्पन्नमिति कृत्वा । तथा च तद्ग्रन्थः-औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्ययोः शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वं, तदारतस्तु मिश्र इति । नन्वनया युक्त्या संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य देवनारकेषूत्पद्यमानस्य तनुपर्याप्त्या पर्याप्तस्य वैक्रियमपि शरीरमुपपद्यत एव, किमिह तन्नोक्तमिति ?। उच्यते-उपलक्षणत्वात् तदपि द्रष्टव्यमित्यदोषः । यद्वा-इहापर्याप्ता लब्ध्यपर्याप्तका एवान्तर्मुहूर्त्तायुषो द्रष्टव्याः । ते च तिर्यङ्मनुष्या एव घटन्ते, तेषामेवान्तर्मुहूर्त्तायुष्कत्वसंभवात्, न देवनारकाः, तेषां जघन्यतोऽपि दशवर्षसहस्राऽऽयुष्कत्वात् । लब्ध्यपर्याप्तका अपि च जघन्यतोऽपीन्द्रियपर्याप्तौ परिसमाप्तायामेव म्रियन्ते, नार्वागित्युक्तमागमाभिप्रायेण । ततस्तेषां लब्ध्यपर्याप्तकानां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानामौदारिकमेव शरीरमुपपद्यते, न वैक्रियमित्यदोषः । किं चान्यमतकथनेनायमभिप्रायः सूच्यते-यद्यपि तेषां शरीरपर्याप्तिः समजनिष्ट, तथापि इन्द्रियोच्छ्वासाऽऽदीनामद्याप्यनिष्पन्नत्वेन शरीरस्यासंपूर्णत्वात् । अत एव कार्मणस्याप्यद्यापि व्याप्रियमाणत्वादौदारिकमिश्रमेव तेषां युक्त्या घटमानमिति ॥ ४ ॥

सव्वे सन्निपज्जत्ते, उरलं सुहुमे सभास तं चउसु ।
बायरि सविउव्विदुगं, पजसन्निसु बार उवओगा ॥५॥

सर्वे पञ्चदशापि योगा भवन्ति । तथाहि-चतुर्द्धा मनोयोगः, चतुर्द्धा वाग्योगः, सप्तधा काययोगः ॥ १५ ॥ इति । आह-संज्ञिपर्याप्ते संज्ञी चासौ पर्याप्तः संज्ञिपर्याप्तस्तस्मिन् संज्ञिपर्याप्ते । नन्वौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रकार्मणकाययोगाः कथं संज्ञिपर्याप्तस्य घटन्ते, तेषामपर्याप्तावस्थाभावित्वात् ?। उच्यते-वैक्रियमिश्रं संयताऽऽदेः वैक्रियं प्रारभमाणस्य प्राप्यते, औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ तु केवलिनः समुद्घातावस्थायाम् ।

यदाह भगवानुमास्वातिवाचकवरः-

" औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः ।
मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥ १ ॥
कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ॥ " इति ।

एवं सूक्ष्मैकेन्द्रिये औदारिककाययोगो भवति, पर्याप्तकाद्यथ "सव्वे सन्निपज्जत्ते" इतिपदात् डमरुकमणिन्यायेन सर्वत्र योज्यः (चउसु त्ति) चतुर्षु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु तदेवौदारिकं भवति । किं केवलम् ?, नेत्याह-सभाषं सह भाषया असत्यामृषारूपया, " विगलेसु असच्चमोस त्ति" वचनात् वर्त्तते इति सभाषम् । कोऽर्थः ?-विकलत्रिकासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु औदारिककाययोगः सत्यामृषाभाषालक्षणौ द्वौ योगौ इत्यर्थः । तदित्यनुवर्त्तते, तदौदारिकं सह वैक्रियद्विकेन वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणेन वर्त्तत इति सवैक्रियद्विकं बादरैकेन्द्रियपर्याप्ते भवति । अयमर्थः- बादरैकेन्द्रिये पर्याप्ते औदारिककाययोग-वैक्रियकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगलक्षणास्त्रयो योगा भवन्ति । तत्रौदारिककाययोगः पृथिव्यप्तेजोवनस्पतीनां, वैक्रियद्विकं तु वायुकायस्येति प्ररूपिता जीवस्थानेषु योगाः । कर्म० ४ कर्म० ।

एतेषु पुनर्जीवस्थानेषु योगानभिधित्सुराह-

विगलासन्नीपज्ज-त्तएसु लब्भंति कायवइजोगा ।
सव्वे वि सन्निपज्ज-त्तएसु सेसेसु काओगो ॥ ६ ॥

इह पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् विकला इत्युक्ते विकलेन्द्रियग्रहणम् । एवमन्यत्रापि यथायोगं परिभावनीयम् । तत्र विकलेन्द्रियेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियरूपेषु, असंज्ञिषु च पञ्चेन्द्रियेषु, पर्याप्तकेषु कायवाग्योगौ लभ्येते । तत्र काययोग औदारिकशरीरलक्षणो द्रष्टव्यः, वाग्योगश्चासत्यामृषारूपः, " विगलेसु असच्चमोसे व ।" इति वचनात् । सर्वेऽपि च संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु सप्रभेदाः कायवाङ्मनोयोगाः पञ्चदशापि योगा इत्येषु भवन्तीत्यर्थः । तत्र कार्मणौदारिकमिश्रौ केवलिसमुद्घातावस्थायाम् । उक्तं च-" मिश्रौदारिकयोगी, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु । कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च " ॥ १ ॥ इति । आहारकाहारकमिश्रावाहारकपूर्वी, वैक्रियवैक्रियमिश्रौ च तत्कर्तुः शेषास्त्वौदारिकाऽऽदयः सुप्रतीताः, तथा शेषेषु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियेषु, अपर्याप्तेषु च द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिषु काययोग एवैको भवति ॥ ६ ॥

तमेव स्पष्टयन्नाह—

लद्धीए करणेहि य, ओरालियमीसगो अपज्जत्ते ।
पज्जत्ते ओरालो, वेउव्वियमीसगो वा वि ॥ ७ ॥

लब्ध्या, करणैश्चापर्याप्ते औदारिकमिश्रः काययोगो भवति । इदं च तिर्यङ्मनुष्यानधिकृत्योक्तमवसेयम् । तेषामेव हि लब्ध्या, करणैश्चेति विशेषणद्वयसंभवः, न देवनारकाणाम्, ते हि करणापर्याप्ता एव संभवन्ति, न लब्ध्यपर्याप्तकाः, ततस्तेषामपर्याप्तावस्थायां वैक्रियमिश्रः काययोगो वेदितव्यः । सर्वेषामपि चापर्याप्तानामपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च कार्मणकाययोगः । तथा पर्याप्ते औदारिको, वैक्रियो, वैक्रियमिश्रश्च । तत्रौदारिकस्तिर्यङ्मनुष्याणां, वैक्रियो देवनारकाणां, वैक्रियवैक्रियमिश्रौ पर्याप्तबादरवायुकायिकपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां वैक्रियलब्धिमताम् । अपिशब्दादाहारकाहारकमिश्रौ चतुर्दशपूर्वविदः, इह केचन शरीरपर्याप्तेरर्वाक् तदितरश्चामौदारिकमिश्रं, देवनारकाणां वैक्रियमिश्रं, शरीरपर्याप्तरूर्ध्वं पुनः शेषपर्याप्तिभिरपर्याप्तानामप्यौदारिकं वैक्रियं चेच्छन्ति, तन्मतमेतेनैवमभ्यनुज्ञातं । गाथा-

कम्मुरलदुगमपज्जे, वेउव्विदुगं च सन्निपज्जत्ते ।

पज्जत्तेसु उरलो च्चिय, वए वेउव्वियगं च ॥ ७ ॥

अपर्याप्ते सूक्ष्मे ऽन्यौ कार्मणमौदारिकमिश्रकं च औदारिकौदारि-कमिश्रलक्षणं, तावता अलब्धिकाऽनुसारेण वेदितव्या। संज्ञिनि पुनः "सविउव्वे" इति वैक्रियलब्धिमति देवादावपर्याप्ते वैक्रियमिश्रक-वैक्रियवैक्रियमिश्रे अलब्धेऽपि, अवश्यम्भावात् कार्मणं च इत्येवम्। तथा पर्याप्तेषु सूक्ष्मादिषु अष्टस्वौदारिक एव काययोगः, उपलक्षणमेत-त्-तेन देवनारकेषु वैक्रिय एव। तथा बादरे वायुकायिके पर्याप्ते वै-क्रियद्विकम्-वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणं, च शब्दस्यानुक्तसमुच्चायक-त्वादौदारिकं च वैक्रियमिश्रकमपि च भवेत्। कायस्य कस्य चित्तु कस्यचित्, न तु सर्वस्य। यत उक्तं प्रज्ञापनाचूर्णौ-" तिण्हं ताव रासीणं वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि, बायरपज्जत्ताणं पि संखेज्जइभागस्स त्ति "। अत्र (तिण्हं रासीणं ति) अपर्याप्ता-पर्याप्तसूक्ष्मापर्याप्तबादररूपाणां राशीनाम्। पं० सं० १ द्वार। कर्म०। साम्प्रतमुपयोगाः प्ररूपणावसरप्राप्ताः, ते च द्वादश। तद्यथा-मतिज्ञानश्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानमनःपर्यवज्ञान-केवलज्ञानलक्षणानि पञ्च ज्ञानानि। मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरू-पाणि त्रीण्यज्ञानानि। चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनाऽवधिदर्शनकेव-लदर्शनरूपाणि चत्वारि दर्शनानि। एवमनुपयोगान् जीवस्थान-केषु निर्दिदिक्षुराह-(पज्जत्तसन्निसु बार उवओग त्ति) पर्याप्ताऽसंज्ञिषु पर्याप्तेषु द्वादश। ततः पर्याप्ताश्च ते संज्ञिनश्च पर्याप्तसंज्ञिनः, तेषु पर्याप्तसंज्ञिषु द्वादश द्वादशसंख्या उपयोगा भवन्ति। न च कश्चिदाह, न तु युगपत्, उपयोगानां तथा जीवस्वभावतो युगपदभावसंभवात्। उक्तं च-" समए दो नत्थि उवओगा।"

श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिपादा अप्याहुः-

"नाणम्मि दंसणम्मि य, एत्तो एगयरम्मि उवउत्ता।

सव्वस्स केवलिस्स वि, जुगवं दो नत्थि उवओगा" ॥१॥ इति ॥५॥

पज्जचउरिंदिअसन्निसु, दुदंस दुअनाण दससु चक्खु विणा।

सन्नि अपज्जे मणना-णचक्खुकेवलदुगविहूणा ॥ ९ ॥

चतुरिन्द्रियाश्च असंज्ञिनश्च चतुरिन्द्रियासंज्ञिनः, पर्याप्ताश्च ते चतुरिन्द्रियासंज्ञिनश्च, तेषु पर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिषु, चत्वार उपयोगा भवन्ति। के ते ?, इत्याह- (दुदंस दुअनाण त्ति) दर्शनं दर्शनं, द्वयोर्दर्शनयोः समाहारो द्विदर्शनम्-चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्द-र्शनलक्षणम्, द्वयोरज्ञानयोः समाहारो द्व्यज्ञानं-मत्यज्ञानश्रुता-ज्ञानरूपम्। अयमर्थः-पर्याप्तचतुरिन्द्रियेषु पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रि-येषु च मत्यज्ञानश्रुताज्ञानचक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनलक्षणाश्चत्वार उपयोगा भवन्ति। दशसु जीवस्थानकेषु पर्याप्तापर्याप्तसू-क्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियाऽपर्याप्तापर्याप्तचतुरिन्द्रिया-संज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणेषु पूर्वोक्तांश्चत्वार उपयोगांश्चक्षुर्दर्शनं विना भवन्ति। पूर्वोक्तदशजीवस्थानकेषु चक्षुर्दर्शनवर्जा अचक्षुर्दर्शनमत्यज्ञानश्रुताज्ञानलक्षणास्त्रय उपयोगा भवन्ति। न-नु स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमसंभवात्स्पर्शनमतिरेकेन्द्रियाणां, श्रुतं तु कथं संगच्छते ?। भावाक्षरलब्धिश्रोत्रेन्द्रियल-ब्धिमतां हि तदुपपद्यते, नान्यस्य।

तदुक्तम्-

" भावसुयं भासासो-यलद्धिणो जुज्जए न इयरस्स।

भासाभिमुहस्स सुयं, सोऊण य जं हविज्जा हि" ॥१॥ इति ?।

उच्यते-इह तावदेकेन्द्रियाणामाहाराऽऽदिसंज्ञा विद्यन्ते, तथा सूत्रे-ऽभिधानात्, संज्ञा चाभिलाष उच्यते। यदाहुः परोपकारैकनि-रतैः श्रीहरिभद्रसूरिभिः श्रीआवश्यकटीकायाम्-आहारसंज्ञा आहाराभिलाषः क्षुद्वेदनीयप्रभवः खल्वात्मपरिणामविशेष इति। अभिलाषश्च-ममैवंरूपं वस्तु पुष्टिकारि, यदीदमवाप्यते तदा समीचीनं भवतीत्येवं शब्दार्थोल्लेखानुविद्धः स्वपुष्टिनिमित्त-भूतप्रतिनियतवस्तुप्राप्त्यध्यवसायरूपः। स च श्रुतमेव शब्दा-र्थाऽऽलोचनानुसारित्वात्, श्रुतस्यैवेतल्लक्षणत्वात्।

यदवादिषुर्दलितप्रवादिकुवादिनोऽजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादाः-

" इंदियमणोनिमित्तं, विन्नाणं जं सुयाणुसारेणं।

नियअत्थुत्तिसमत्थं, तं भावसुयं मइसेसं " ॥ १ ॥

(सुयाणुसारेणं ति) शब्दार्थाऽऽलोचनानुसारेण, केवलमे-केन्द्रियाणामव्यक्त एव कश्चनाप्यनिर्वचनीयः शब्दार्थोल्लेखो द्रष्टव्यः। अन्यथाऽऽहाराऽऽदिसंज्ञाऽनुपपत्तेः। यदप्युक्तम्-भावाक्षर-लब्धिश्रोत्रेन्द्रियलब्धिविकलत्वादेकेन्द्रियाणां श्रुतमनुपपन्नमिति। तदप्यसमीक्षिताभिधानम्। तथाहि-यथा जलधरादेः स्पर्शनेन्द्रिया-निमित्तः पञ्चेन्द्रियलब्धिविकलत्वेऽपि किमपि सूक्ष्मं भावेन्द्रियप-ञ्चकविज्ञानमभ्युपगम्यते। " पंचिंदिओ व्व बउलो, नरु व्व सव्व-विसओवलंभाओ। " इत्यादिवचनप्रामाण्यात्। तथा भावाक्षरा-श्रोत्रेन्द्रियलब्धिविकलत्वेऽपि तेषां किमपि सूक्ष्मं श्रुतमपि भवि-ष्यति, अन्यथाऽऽहाराऽऽदिसंज्ञाऽनुपपत्तेः। यदाहुः श्रीआवश्यका-दिप्रकरणकारा श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः-" जह सु-हुम भाविंदिय-नाणं दव्विंदियावरोहे वि। तह दव्वसुयाभावे, भावसुयं पत्थिवाईणं ॥१॥" इति। संज्ञिनश्चासौ अपर्याप्तश्च संज्ञ्य-पर्याप्तस्तस्मिन् संज्ञ्यपर्याप्ते मनःपर्यवज्ञानचक्षुर्दर्शनकेवलज्ञान-केवलदर्शनलक्षणद्विकचतुष्कविहीनाः शेषा मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञा-नमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनरूपा अ-ष्टावुपयोगा भवन्ति। कर्म० ४ कर्म०।

जीवस्थानेषु योगानभिधाय-

मइसुयअन्नाण ऽचक्खु-दंस इक्कारसेसु ठाणेसु।

पज्जचउपणिंदिसु, सचक्खुसन्नासु बारस त्ति ॥ १० ॥

एकादशसु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रि-याऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिषु मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्श-नाख्यास्त्रय उपयोगा भवन्ति। अपर्याप्तकाश्चेह लब्ध्यपर्याप्तका वेदितव्याः। अन्यथा करणापर्याप्तकेषु चतुरिन्द्रियाऽऽदिष्विन्द्रि-यपर्याप्तौ सत्यां चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते, मूलटीकायामभिधान-प्रत्ययात्। संज्ञिनि च करणापर्याप्ते मतिश्रुतावधिज्ञानावि-भङ्गज्ञानावधिदर्शनान्यपि तथा। (पज्जचउपणिंदिसु त्ति) पर्याप्तेषु चतुरिन्द्रियेषु असंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु च सचक्षुः सच-क्षुर्दर्शनाः पूर्वोक्तास्त्रय उपयोगा भवन्ति। संज्ञिषु च पर्याप्तेषु द्वादशापि। पं० सं० १ द्वार।

साम्प्रतं जीवस्थानेष्वेव लेश्याः प्रतिपिपादयिषुराह—

सन्निदुगि छ लेस अपज्ज-बायरे पढम चउ ति सेसेसु।

संज्ञिनो द्विकमपर्याप्तपर्याप्तलक्षणं संज्ञिद्विकं, तस्मिन् सं-ज्ञ्यपर्याप्ते, संज्ञिनि पर्याप्ते चेत्यर्थः। षट् लेश्याः कृष्णनीलका-पोततेजःपद्मशुक्ललक्षणा भवन्ति। अपर्याप्तबादरे प्रथमाश्च-तस्रः कृष्णनीलकापोततेजोरूपा भवन्ति। तेजोलेश्या कथम-त्रिमवाप्यत इति चेत् ?। उच्यते-यदा "पुढवीआउवणस्सइ-गब्भे पज्जत्तसंखजीवेसु। सग्गचुयाणं वासो, सेसा पडि-सेहिया ठाणा" ॥१॥ इति वचनात् कश्चनापि देवः स्वर्गलोका-च्च्युतः सन् बादरैकेन्द्रियतया पृथ्व्यम्बुतरुषु मध्ये समुत्पद्यते, तदा तस्य अपर्याप्तावस्थायां सा प्राप्यत इत्यदोषः। (वि सं-

केषु ?) प्रथमा इत्यनुवर्तते-प्रथमा लेश्याः कृष्णनीलकापोतलक्षणाः, शेषेषु प्रागुक्तापर्याप्तपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तबादरैकेन्द्रियवर्जितेषु अपर्याप्तपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तबादरैकेन्द्रियलक्षणाष्टकादशसु जीवस्थानेषु भवन्ति ताः नान्याः, तेषां सदाशुभपरिणामत्वात्. शुभपरिणामरूपाश्च तेजोलेश्याऽऽदयः।

तदेवं जीवस्थानकेषु लेश्या अभिधाय साम्प्रतमेतेष्वेव बन्धोदयोदीरणासत्ताऽऽख्यं स्थानचतुष्टयमभिधित्सुराह —

सत्तऽट्ठबंधुदीरणे, संतुदया अट्ठ तेरससु ॥७॥

“सत्तऽट्ठ बंधु” इत्यादि। सप्त वा अष्टौ वा सप्ताष्टाः “सुज्वार्थे संख्या संख्येये संख्यया बहुव्रीहिः” ।३।१।१९। इति (हैम०) सूत्रेण बहुव्रीहिसमासः यथा-द्वित्रा इत्यादौ। बन्धश्चोदीरणा च बन्धोदीरणे, सप्ताष्टानां बन्धोदीरणे सप्ताष्टबन्धोदीरणे, त्रयोदशसु जीवस्थानेषु संज्ञिपर्याप्तवर्जितेषु शेषेषु भवतः। एतदुक्तं भवति-अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-पर्याप्तद्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय-पर्याप्तत्रीन्द्रिया-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिय-पर्याप्तचतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु सप्तानामष्टानां वा बन्धः, सप्तानामष्टानां वा उदीरणा। तथाहि-यदाऽनुभूयमानभवायुस्त्रिभागनवभागाऽऽदिरूपे शेषे सति परभवायुर्बध्यते, तदाऽष्टानामपि कर्मणां बन्धः, शेषकालं त्वायुषो बन्धाभावात्सप्तानामेव बन्धः। तथा यदाऽनुभूयमानभवायुरुदयाऽऽवलिकाशेषं भवति, तदा सप्तानामुदीरणा। अनुभूयमानभवायुषोऽनुदीरणात्, आवलिकाशेषस्योदीरणाऽनर्हत्वात्। उदीरणा हि उदयाऽऽवलिकाबहिर्वर्तिनीभ्यः स्थितिभ्यः सकाशात्कषायसहितेनासहितेन वा योगकरणेन दलिकमाकृष्योदयसमयप्राप्तदलिकेन सहानुभवनम्। तथा चोक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—‘उदयावलियाबाहिरिल्लठिईहिंतो कसायसहियासहिएणं जोगकरणेणं दलियमाकड्डिय उदयपत्तदलिएण समं अणुभवणमुदीरणा”। ततः कथमावलिकागतस्योदीरणा भवति? न च परभवाऽऽयुरुदीरणासंभवः, तस्योदयाभावात्, अनुदितस्य च उदीरणाऽनर्हत्वात्। शेषकालं त्वष्टानामुदीरणा। सत्तोदयश्च प्राकृतत्वात् ‘सन्तोदयौ’, अष्टानामेव कर्मणां त्रयोदशसु जीवस्थानकेषु पूर्वेषु भवतः। तथाहि-एतेषु त्रयोदशसु जीवस्थानकेषु सर्वकालमष्टानामपि सत्ता, यतोऽष्टानामपि कर्मणां सत्ता उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावदनुवर्तते। एते च जीवा उत्कर्षतो यथासंभवमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकवर्तिन एव। एवमुदयोऽप्येतेषु जीवस्थानेष्वष्टानामेव कर्मणां द्रष्टव्यः। तथाहि-सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावदष्टानामपि कर्मणामुदयोऽवाप्यते ॥७॥

एतेषु जीवस्थानकेषूत्कर्षतोऽपि यथासंभवमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकसंभव इति-

सत्तऽट्ठछेगबंधा, संतुदया सत्त अट्ठ चत्तारि।
सत्तऽट्ठ छ पंच दुगं, उदीरणा सन्निपज्जत्ते ॥८॥

संज्ञी चासौ पर्याप्तश्च संज्ञिपर्याप्तः, तस्मिन् संज्ञिपर्याप्ते, चत्वारो बन्धा भवन्ति। तद्यथा-सप्तानां प्रकृतीनां बन्ध एकः, अष्टानां प्रकृतीनां बन्धो द्वितीयः, षण्णां प्रकृतीनां बन्धस्तृतीयः, एकस्याः प्रकृतेर्बन्धश्चतुर्थो बन्धः। तत्राऽऽयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मप्रकृतीनां बन्धो जघन्येनान्तर्मुहूर्तं यावदुत्कर्षेण च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि षण्मासोनान्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि। तथा-आयुर्बन्धकाले तासामष्टानां बन्धो जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तप्रमाणः। आयुषि बध्यमानेऽष्टानां प्रकृतीनां बन्धः प्राप्यते। आयुषश्च बन्धोऽन्तर्मुहूर्तमेव कालं भवति, न ततोऽप्यधिकम्। तथैता एवाष्टावायुर्मोहनीयवर्जाः षट्। एतासां च जघन्येनैकं समयं बन्धः। तथाहि-ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणवेदनीयनामगोत्रान्तरायरूपाणां षण्णां प्रकृतीनां बन्धः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थके, तत्र चोपशमश्रेण्यां कश्चिदेकं समयं स्थित्वा, द्वितीयसमये भवक्षयेण दिवं गतः सन्नविरतो भवति। अविरतत्वे चावश्यं सप्तप्रकृतीनां बन्ध इति षण्णां बन्धो जघन्येनैकं समयं यावदुत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तं, सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानस्यान्तर्मुहूर्तकत्वात्। तथा सप्तानां प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदे सत्येकस्याः सातवेदनीयरूपायाः प्रकृतेर्बन्धः। स च जघन्येनैकं समयम्। एकसमयता चोपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहगुणस्थाने प्रागुक्तनीत्या; उत्कर्षेण पुनर्देशोनां पूर्वकोटिं यावत्। न चोत्कर्षतः कस्य चैतावत् इति चेत् ?। उच्यते-यो गर्भवासे मासान् सप्तकमुषित्वाऽनन्तरं शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमणजन्मना जातो वर्षाष्टकादूर्ध्वं संयमं प्रतिपन्नः, प्रतिपत्त्यनन्तरं च क्षपकश्रेणिमारुह्योत्पादितकेवलज्ञानदर्शनः, तस्य सयोगिकेवलिनो वेदितव्यः। अयं चात्र तात्पर्यार्थः-मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तेषु सप्तानामष्टानां वा बन्धः, आयुर्बन्धाभावात् अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरयोश्च सप्तानां बन्धः, सूक्ष्मसंपराये षण्णां बन्धः, उपशान्तमोहाऽऽदिष्वेकस्याः प्रकृतेर्बन्धः। तथा सत्त्वोदयश्च प्राकृतत्वात् सन्तोदयाः, ततः संज्ञिपर्याप्ते सत्तामाश्रित्य त्रीणि स्थानानि। तद्यथा-सप्त, अष्ट, चत्वारि। एवमुदयमप्याश्रित्य त्रीणि स्थानानि। तद्यथा-सप्त, अष्ट, चत्वारि। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदयोऽष्टौ, एतासां चाष्टानां सत्ताऽभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसाना, भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसाना। तथा-मोहे क्षीणे सप्तानां सत्ता। सा च जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तप्रमाणा। सा हि क्षीणमोहगुणस्थाने। तस्य च कालमानमन्तर्मुहूर्तमिति घातिकर्मचतुष्टयक्षयेण चतसृणां सत्ता। सा च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणा, उत्कर्षेण पुनर्देशोनपूर्वकोटिमाना। तथा-सर्वप्रकृतिसमुदयोऽष्टौ, तासां चोदयोऽभव्यानामनाद्यपर्यवसानो, भव्यानामाश्रित्यानादिसपर्यवसानः। उपशान्तमोहगुणस्थानकात्प्रतिपतितानाश्रित्य पुनः सादिसपर्यवसानः। स च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, उपशमश्रेणितः पतितस्य पुनरप्यन्तर्मुहूर्तेन कस्याप्युपशमश्रेणिप्रतिपत्तेः। उत्कर्षेण तु देशोनापार्धपुद्गलपरावर्त्तं। तथा-ता एवाष्टौ मोहनीयवर्जाः सप्त, तासामुदयो जघन्येनैकं समयम्। तथाहि-मोहवर्जसप्तानां प्रकृतीनामुदय उपशान्तमोहे, क्षीणमोहे वा प्राप्यते। तत्र कश्चिदुपशान्तगुणस्थानके एकं समयं स्थित्वा द्वितीये समये च भवक्षयेण दिवं गच्छन्नविरतो भवति। अविरतत्वे चावश्यमष्टानां प्रकृतीनामुदयः, ततः सप्तानामुदयो जघन्येनैकं समयं यावदत्र स्थाने, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तम्, उपशान्तमोहक्षीणमोहगुणस्थानयोरन्तर्मुहूर्तिकत्वात्। तथा-घातिकर्मवर्जा अघातिकर्मप्रकृतयः तासां च जघन्येन उदय आन्तर्मुहूर्तिकः, उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिप्रमाण इति। पिण्डार्थश्चायम्-मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमारभ्य यावदुपशान्तमोहगुणस्थानकं तावदष्टानामपि सत्ता, क्षीणमोहगुणस्थानके सप्तानां सत्ता, सयोगिअयोगिगुणस्थानकयोश्चतसृ-

ण्णां सत्ता । तथा-मिथ्यादृष्टेः प्रभृति सूक्ष्मसंपरायं यावदष्टानामुदयः, उपशान्तमोहगुणस्थाने क्षीणमोहगुणस्थाने च सप्तानां प्रकृतीनामुदयः । सयोग्ययोगिगुणस्थानयोश्चतसृणामुदय इति ॥ तथा-संज्ञिपर्याप्ते उदीरणास्थानानि पञ्च । तद्यथा-सप्त, अष्ट, षट्, पञ्च, द्वे इति । तत्र यदा अनुभूयमानभवायुरावलिकाऽवशेषं भवति, तदा तथास्वभावत्वेन तस्यानुदीर्यमाणत्वात्सप्तानामुदीरणा । यदा त्वनुभूयमानभवायुरावलिकाऽवशेषं न भवति, तदाऽष्टानां प्रकृतीनामुदीरणा । तत्र मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात्प्रभृति यावत्प्रमत्तसंयतगुणस्थानकं तावत्सप्तानामष्टानां वोदीरणा । सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकं तु सदैवाष्टानामुदीरणा, आयुष आवलिकाऽवशेषत्वे मिश्रगुणस्थानस्यैवाभावात् । तथा-अप्रमत्तगुणस्थानकात्प्रभृति यावत्सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकस्याऽऽवलिकाऽवशेषो न भवति, तावद्वेदनीयाऽऽयुर्वर्जानां षण्णां प्रकृतीनामुदीरणा, तदानीमतिविशुद्धत्वेन वेदनीयाऽऽयुरुदीरणायोग्याध्यवसायस्थानाभावात् । आवलिकाऽवशेषे तु मोहनीयस्याप्यावलिकाप्रविष्टत्वेनोदीरणाया असंभवात् ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणनामगोत्रान्तरायाणामेवोदीरणा । एतेषामेव चोपशान्तमोहगुणस्थानकेऽप्युदीरणा । क्षीणमोहगुणस्थानकेऽप्येतेषामेव यावदावलिकामात्रमवशेषो न भवति । आवलिकाऽवशेषे तु ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणान्तरायाणामप्यावलिकाप्रविष्टत्वादनुदीरणेति द्वयोरेव नामगोत्रयोरुदीरणा । एवं सयोगिकेवलिगुणस्थानकेऽपि । अयोगिकेवलिगुणस्थानके तु वर्तमानो जीवः सर्वथाऽनुदीरक एव । ननु तदानीमप्येष सयोगिकेवलिगुणस्थानक इव भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयोदयवान् वर्तते, ततः कथं तदाऽपि तयोर्नामगोत्रयोरुदीरको न भवति ?। नैष दोषः । उदये सत्यपि योगसव्यपेक्षत्वादुदीरणायाः, तदानीं च तस्य योगासंभवादिति । कर्म० ४ कर्म० ।

इदानीं गुणस्थानकेषु जीवस्थानानि चिन्तयन्नाह-

सव्वजियठाण मिच्छे, सग सासणि पण अपज्ज सन्निदुगं ।
सम्मे सन्नी दुविहो, सेसेसुं सन्निपज्जत्तो ॥ ४५ ॥

सर्वाणि जीवस्थानानि चतुर्दशापि मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकेषु भवन्ति, मिथ्यात्वस्य सर्वेषु जीवस्थानकेषु संभवात् । तथा-(सग त्ति) सप्त जीवस्थानानि सास्वादने भवन्ति । तद्यथा-पञ्चापर्याप्ताः-बादरैकेन्द्रियोऽपर्याप्तः १, द्वीन्द्रियोऽपर्याप्तः २, त्रीन्द्रियोऽपर्याप्तः ३, चतुरिन्द्रियोऽपर्याप्तः ४, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियोऽपर्याप्तः ५ । संज्ञिद्विकम्-संज्ञ्यपर्याप्तः १, संज्ञिपर्याप्तः २ । अपर्याप्तकाश्चेह करणापर्याप्तका द्रष्टव्याः, न तु लब्ध्यपर्याप्तकाः; तेषु मध्ये सास्वादनसम्यक्त्वसहितस्योत्पादाभावात् । (सम्मे सन्नी दुविहो त्ति) अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके संज्ञी द्विविधोऽपर्याप्तपर्याप्तरूपो द्रष्टव्यः । इहापर्याप्तकः करणापेक्षया ज्ञेयः, न तु लब्ध्यपेक्षया, लब्ध्यपर्याप्तमध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरभावात् । शेषेषु मिश्रदेशविरत्यादिगुणस्थानकेषु संज्ञी पर्याप्त इत्येकमेव जीवस्थानकं, न शेषाणि; तेषां मिश्रभावदेशविरतिप्रतिपत्त्यभावात् । न च पूर्वप्रतिपन्नमिश्रभावोऽन्येषु जीवस्थानकेषु संक्रामेदुच्यते, " न सम्ममिच्छो कुणइ कालं " इति वचनात् । तदेवं गुणस्थानकेषु व्याख्यातानि जीवस्थानकानि । कर्म० ४ कर्म० ।

जीवस्थानकेषु भावाः-

जीवस्थानेष्वपि भावाः स्वयमेव चिन्तनीयाः । तत्राऽऽद्येषु द्वादशसु जीवस्थानेष्वौदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकरूपं भावत्रयम्, तत्र मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानकानामत्र भावनीयम् । एतदेव च भावत्रयं संज्ञिन्यपि लब्ध्यपर्याप्ते । करणमात्रापर्याप्ते तु तस्मिन् क्षीणसप्तकानां क्षायिकसम्यक्त्वस्य केषाञ्चिद् वेदकौपशमिकत्वस्यापि संभवादौदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकरूपमौपशमिकौदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकरूपं वा भावचतुष्टयमत्र संभवम् । पर्याप्ते तु संज्ञिनि प्रागुक्तेन गुणस्थानकक्रमेण सर्वे भावा भावनीयाः । पं०सं० २ द्वार । (जीवस्थानेषु बन्धोदयसत्तास्थानानि 'बंध' शब्दे वक्ष्यन्ते ।)(बन्धोदयसत्तास्थानान्यधिकृत्य स्वामिता 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २७७ पृष्ठे निरूपिता)

जीवण-जीवन-न० । जीव-ल्युट् । प्राणधारणे, "जीवणमवि पाणधारणे भणियं ।" जीवनमपि प्राणधारणं भणितम्, ' जीव प्राणधारणे' इति वचनात् । आ० म० द्वि० । विशे० । " जीविज्ज य आहिमोक्खं " जीव्यात्प्राणधारणं कुर्यात् । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । आ० चू० । जीव्यतेऽनेन । वृत्तौ, जले, मज्जने, हैयङ्गवीने च । वाच० । जीवयतीति जीवनः । जीवनकारके, त्रि० । स० ३० सम० । पुत्रे, जीवनौषधे, वायौ, क्षुद्रफलके, वृक्षे, पुं० । वाच० ।

जीवणहेउ-जीवनहेतु-पुं० । ६ त० । "विद्या शिल्पं भृतिः सेवा, गोरक्षा विपणिः कृषिः । वृत्तिर्भैक्ष्यं कुसीदं च, दश जीवनहेतवः ॥१॥" इत्युक्तेषु विद्याऽऽदिषु जीवनोपायेषु दशसु, वाच० ।

जीवणास-जीवनाश-पुं० । जीवितनाशे, मृत्यौ, "आसीविसो वा वि परं सुरुट्ठो, किं जीवनासाउ परं नु कुज्जा" । किं जीवितनाशान्मृत्योः परं कुर्यात्, न किञ्चिदपीत्यर्थः । दश० ९ अ० १ उ० ।

जीवणिकाय-जीवनिकाय-पुं० । जीवानां निकायो राशिर्जीवनिकायः । जीवराशौ, स्था० ६ ठा० । जीवनिकायाश्च पृथिव्यादयः षट् । प्रश्न० ५ संव० द्वार । आव० ।

छ जीवनिकाया पण्णत्ता । तं जहा-पुढविकाइया० जाव तसकाइया ॥

जीवानां निकाया राशयो जीवनिकायाः । इह च जीवनिकायानामभिधाय यत्पृथिवीकायिकाऽऽदयस्तैर्निकायवन्त उक्तास्तेषामभेदोपदर्शनार्थम् । न ह्येकान्तेन समुदायात् समुदायिनो व्यतिरिच्यन्ते, व्यतिरेकेणाप्रतीयमानत्वादिति । स्था० ६ ठा० ।

जीवणिज्ज-जीवनीय-त्रि० । उपजीव्ये, " देवासिणाए बहु अयं पुरिसे वयजीवणिज्जे । " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

जीवणिव्वत्ति-जीवनिर्वृत्ति-स्त्री० । निर्वर्तनं निर्वृत्तिः निष्पत्तिः, जीवस्यैकेन्द्रियाऽऽदितया निर्वृत्तिर्जीवनिर्वृत्तिः । जीवस्यैकेन्द्रियाऽऽदितया निष्पादने, भ० ।

जीवनिर्वृत्तिभेदाः—

कइविहा णं भंते ! जीवणिव्वत्ती पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा जीवणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-एगिंदियजीवणिव्वत्ती० जाव पंचिंदियजीवणिव्वत्ती । एगिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-पुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती० जाव वणस्सइकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती । पुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सुहुमपुढवी-

काइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती य, बादरपुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती य । एवं एएणं अभिलावेणं भेदो जहा वडुगबंधे तेयगसरीरस्स० जाव सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीतवेमाणियदेव । पंचिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव देवपंचिंदियजीवणिव्वत्ती य अपज्जत्तगसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव देवपंचिंदियजीवणिव्वत्ती य ।

(जहा वडुगबंधे तेयगसरीरस्स त्ति) यथा-महद्बन्धाधिकारेऽष्टमशतनवमोद्देशकाभिहिते तैजसशरीरस्य बन्ध उक्तः, एवमिह निर्वृत्तिर्वाच्या, सा च तत्र एव द्रष्टव्येति ॥ भ० १९ श० ८ उ० ।

जीवणिज्जाणमग्ग-जीवनिर्याणमार्ग-पुं० । जीवस्य निर्याणं मरणकाले शरीरिणः शरीराद्विर्गमः, तस्य मार्गो जीवनिर्याणमार्गः । जीवनिर्गममार्गे, स्था० ।

पंचविहे जीवस्स णिज्जाणमग्गे पण्णत्ते । तं जहा-पाएहिं, ऊरूहिं, उरेणं, सिरेणं, सव्वंगेहिं । पाएहिं णिज्जाणमाणे निरयगामी जवइ । ऊरूहिं णिज्जाणमाणे तिरियगामी जवइ । उरेणं णिज्जाणमाणे मणुयगामी जवइ । सिरेणं णिज्जाणमाणे देवगामी जवइ । सव्वंगेहिं णिज्जाणमाणे सिद्धिगतिपज्जवसाणे पण्णत्ते ॥

निर्याणं मरणकाले शरीरिणः शरीराद्विर्गमः, तस्य मार्गो निर्याणमार्गः पादाऽऽदिकः, तत्र (पाएहिं) पादाभ्यां मार्गभूताभ्यां कारणभूताभ्यां, जीवः शरीरान्निर्यातीति शेषः । एवमूरुभ्यामित्यादावपि । अथ क्रमेणास्य निर्याणमार्गस्य फलमाह-पादाभ्यां शरीरान्निर्यान् जीवो निरयगामीति । प्राकृतत्वादनुस्वार इति । निरयगामी भवति । एवमन्यत्रापि । सर्वाणि च तान्यङ्गानि च सर्वाङ्गानि, तैर्निर्यान् सिद्धिगतिः पर्यवसानं संसरणपर्यन्तो यस्य स सिद्धिगतिपर्यवसानः प्रज्ञप्त इति । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

जीवणिस्सिय-जीवनिश्रित-त्रि० । जीवाऽऽश्रिते, स्था० ७ ठा० ।

जीवनिःसृत-त्रि० । जीवेभ्यो निःसृतो निर्गतो जीवनिःसृतः । जीवनिर्गते, स्था० ७ ठा० । (जीवनिःसृताः स्वराः 'सर' शब्दे वक्ष्यन्ते)

जीवत्थिकाय-जीवास्तिकाय-पुं० । जीवन्ति,जीविष्यन्ति, जीवितवन्त इति जीवाः, ते च तेऽस्तिकायाश्चेति समासः । प्रत्येकासंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकसकललोकभाविनानाजीवद्रव्यसमूहाऽऽत्मकेऽस्तिकायभेदे, अनु० । आव० । स० । घटाऽऽदिज्ञानगुणस्य प्रतिप्राणि स्वसंवेदनसिद्धत्वाज्जीवस्यास्तित्वमवगन्तव्यम् । न च गुणिनमन्तरेण गुणसत्ता युक्ता,अतिप्रसङ्गात् । न च देह एवास्य गुणी युज्यते । यतो ज्ञानममूर्तं चिद्रूपं सदैवेन्द्रियगोचरातीतत्वाऽऽदिधर्मोपेतमतस्तस्यानुरूप एव कश्चिद् गुणी समन्वेषणीयः । स च जीव एव, न तु देहो, विपरीतत्वात् । यदि पुनरननुरूपोऽपि गुणानां गुणी कल्प्यते, तदाऽऽकाशस्यापाऽऽदिगुणाश्रयाऽऽकाशाऽऽदेर्गुणित्वकल्पना प्रसज्यतेति । अनु० ।

जीवास्तिकायेन जीवानां प्रवृत्तिमाह-

जीवत्थिकाएणं भंते ! जीवाणं किं पवत्तइ ? । गोयमा ! जीवत्थिकाएणं जीवे अणंताणं आभिणिबोहियणाणपज्जवाणं अणंताणं सुयणाणपज्जवाणं जहा बितियसए अत्थिकायउद्देसए० जाव उवओगं गच्छंति, उवओगलक्खणेणं जीवे ॥

जीवानां किं प्रवर्तत इति प्रश्नः । उत्तरं तु प्रतीतार्थमेवेति । भ० १३ श० ४ उ० ।

जीवास्तिकायस्याभिवचनान्याह-

जीवत्थिकायस्स णं भंते ! केवइया अभिवयणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पण्णत्ता । तं जहा-जीवे ति वा,जीवत्थिकाए ति वा,पाणे ति वा,भूए ति वा,सत्ते ति वा, विण्णू ति वा,चेया ति वा,जेया ति वा,आया ति वा,रंगणे ति वा,हिंडए ति वा,पोग्गले ति वा,माणवे ति वा,कत्ता ति वा, विकत्ता ति वा,जए ति वा,जंतू ति वा,जोणिए ति वा,सयंभू ति वा,ससरीरी ति वा,नायए ति वा,अंतरप्पा ति वा,जे यावण्णे तहप्पगारा, सव्वे ते जीवअभिवयणा पण्णत्ता ॥

(चेय त्ति) चेता-पुद्गलानां चयकारी, चेतयिता वा । (जेय त्ति) जेता कर्मरिपूणाम् । (आय त्ति) आत्मा नानागतिसततगामित्वात् । (रंगणे त्ति) रङ्गणं रागस्तद्योगाद्रङ्गणः । (हिंडए त्ति) हिण्डकत्वेन हिण्डकः । (पोग्गले त्ति) पूरणाद्गलनाच्च शरीराऽऽदीनां पुद्गलः । (माणव त्ति) मा निषेधे,नवः प्रत्यग्रो मानवः, अनादित्वात्पुराण इत्यर्थः । (कत्त त्ति) कर्ता कारकः कर्मणाम् । (विकत्त त्ति) विविधतया कर्ता, विकर्तयिता वा छेदकः कर्मणामेव । (जए त्ति) अतिशयगमनाद् जगत् । (जंतु त्ति) जननाज्जन्तुः । (जोणि त्ति) योनिरन्येषामुत्पादकत्वात् । (सयंभु त्ति) स्वयं भवनात् स्वयंभूः । (ससरीरि त्ति) सह शरीरेणेति सशरीरी । (नायए त्ति) नायकः कर्मणां नेता । (अंतरप्प त्ति) अन्तर्मध्यरूप आत्मा न शरीररूप इत्यन्तरात्मेति । भ० २० श० २ उ० ।

जीवदय-जीवदय-पुं० । जीवनं जीवः-भावप्राणधारणममरणधर्मत्वमित्यर्थः,तं दयत इति जीवदयः । जीवेषु वा दया यस्य स जीवदयः । जीवदयोपेते, स० १ सम० । औ० । कल्प० ।

जीवदया-जीवदया-स्त्री० । जीवाश्चेतनाऽऽदिलिङ्गव्यक्ता एकेन्द्रियाऽऽदयः, तेषां दया रक्षणं जीवदया । जीवरक्षणे,दर्श० १ तत्त्व ।

जीवदयास्वरूपमाह-

अंधाणं विगलाणं अयंगमाणं अणाहाणं बहुवाहिवेयणापरिगयसरीराणं सव्वलोयपरिभूयाणं दारिद्दुक्खदोहग्गकलंकियाणं जम्मदारिद्दाणं समणाणं विहलियाणं च संबंधिबंधवाणं जं जस्स इट्ठं जत्तं वा पाणं वा० जाव भं भगवभपुत्तन्नहिरण्णं वा कुणमु य सयललोयसद्दायणं संपुण्णं जीवदयं ति । महा० २ चू० ।

जीवदव्वप्पकप्प-जीवद्रव्यप्रकल्प-पुं० । " जीवस्स दव्वस्स जहा देवदत्तस्स अणेकेसहस्साणं कप्पणं" जीवद्रव्यप्रकल्पः । द्रव्यप्रकल्पभेदे, नि० चू० १ उ० ।

जीवदिट्ठिया-जीवदृष्टिका-स्त्री० । या अश्वाऽऽदिदर्शनार्थं गच्छति,तस्याम्, स्था० २ ठा० १ उ० ।

जीवदेवसूरि–जीवदेवसूरि–पुं० । "रासिल्लसूरिशिष्ये, जै० इ० । वायटग्रामे महीधरमहीपालनामानौ द्वौ ब्राह्मणकुमारावास्ताम् । तयोर्महीधरो जिनदत्तसूरिणा दीक्षितो रासिल्लसूरिरभवत् । महीपालो देशान्तरे दिगम्बरप्रव्रज्यां गृहीत्वा सुवर्णकीर्तिनामाऽभवत् । तत्र स आधाकर्मिकाऽऽदिदोषदूषितमवेक्ष्य रासिल्लसूरिसमीपे श्वेताम्बरदीक्षामग्रहीत्, ततो जीवदेवसूरिनामाऽभवत् । एतेनैव वायटग्रामे जैनानां ब्राह्मणैः सह विरोधस्त्याजितः । जै० इ० ।

जीवधम्म–जीवधर्म–पुं० । जीवानां जन्मजरामरणव्याधिरोगशोकसुखदुःखजीवनाऽऽदिके धर्मे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

जीवपइट्ठिय–जीवप्रतिष्ठित–त्रि० । जीवेषु स्थिते, "अजीवा जीवपइट्ठिआ" अजीवाः शरीराऽऽदिपुद्गलरूपा जीवप्रतिष्ठिताः, जीवेषु तेषां स्थितत्वात् । भ० १ श० ६ उ० । स्था० ।

जीवपएस–जीवप्रदेश–पुं० । जीवानामवयवे, भ० ।

छिन्नजीवखण्डानां जीवप्रदेशैः स्पर्शो यथा–

अह भंते ! कुम्मे कुम्मावलिया गोहा गोहावलिया गोणा गोणावलिया मणुस्से मणुस्सावलिआ महिसे महिसावलिया, एएसि णं भंते ! दुहा वा तिहा वा संखेज्जहा वा छिण्णाणं जे अंतरा ते वि णं तेहिं जीवपएसेहिं फुडा ? । हंता फुडा । पुरिसेणं भंते ! अंतरा हत्थेण वा पाएण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा कट्ठेण वा कलिंचेण वा आमुसमाणे वा संमुसमाणे वा आलिहमाणे वा विलिहमाणे वा अण्णयरेण वा तिक्खेणं सत्थजाएण आच्छिंदमाणे वा विच्छिंदमाणे वा अगणिकाएणं समोडहमाणे तेसिं जीवपएसाणं किंचि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पाएइ, छविच्छेदं वा करेइ ? । णो इणट्ठे समट्ठे । नो खलु तत्थ सत्थं कमइ ॥

"अह" इत्यादि । (कुम्मे त्ति) कूर्मः कच्छपः । (कुम्मावलिय त्ति) कूर्मावलिका कच्छपपङ्क्तिः, (गोह त्ति) गोधा सरीसृपविशेषः । (जे अंतर त्ति) यान्यन्तरालानि (ते वि त्ति) तान्यन्तरालान्यपि (कलिंचेण व त्ति) क्षुद्रकाष्ठरूपेण (आमुसमाणे व त्ति) आमृशन्, ईषत्स्पृशन्नित्यर्थः (संमुसमाणे व त्ति) सामस्त्येन स्पृशन्नित्यर्थः । (आलिहमाणे व त्ति) आलिखन् ईषत्सकृद्वा कर्षन्, (विलिहमाणे व त्ति) विलिखन् नितरामनेकशो वा कर्षन्, (आच्छिंदमाणे व त्ति) ईषत्सकृद्वा छिन्दन्, (विच्छिंदमाणे व त्ति) नितरामसकृद्वा छिन्दन् (समोडहमाणे त्ति) समुपदहन्, (आबाहं व त्ति) ईषद्बाधां (वाबाहं व त्ति) व्याबाधां प्रकृष्टपीडाम् । भ० ८ श० ३ उ० । एक एव चरमप्रदेशो जीव इत्यभ्युपगमाज्जीवः प्रदेशो येषां ते जीवप्रदेशाः । चरमप्रदेशजीवप्ररूपिणि द्वितीयनिह्नवे, विशे० । "जीवपएसा य तीसगुत्ताओ" । जीवप्रदेशाः पुनस्तिष्यगुप्तादुत्पन्नाः । विशे० ।

प्रदेशजीव–पुं० । प्रदेश इत्यन्त्यप्रदेशः जीवो येषां ते प्रदेशजीवाः । प्राकृतत्वाच्च व्यत्ययः । अन्त्यप्रदेश एव जीव इत्यभ्युपगतेऽन्त्यप्रदेशजीववादिनि द्वितीयनिह्नवे, उत्त० ३ अ० ।

जीवपएसिय–जीवप्रादेशिक–पुं० । जीवप्रदेशा एव जीवप्रादेशिकाः । अथवा जीवप्रदेशो जीवाभ्युपगमतो विद्यते येषां ते तथा । चरमप्रदेशजीवप्ररूपिणः (स्था० ७ ठा०) एकेनाऽपि प्रदेशेन न्यूनो जीवो न भवत्यतो येनैकेन प्रदेशेन पूर्णः स जीवो भवति । स एवैकः प्रदेशो जीवो भवतीत्येवंविधवादिनि तिष्यगुप्ताऽऽचार्यमतावलम्बिनि द्वितीयनिह्नवे, औ० ।

अथ द्वितीयनिह्नववक्तव्यतामाह निर्युक्तिकारः–

सोलस वासाइँ तया, जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स ।
जीवपएसियदिट्ठी, तो उसभपुरे समुप्पन्ना ॥ २३३३ ॥
रायगिहे गुणसिलए, वसु चउदसपुव्वि तीसगुत्ते य ।
आमलकप्पा नयरी, मित्तसिरी कूरपिउडाई ॥२३३४॥

श्रीमन्महावीरजिनेन तदा षोडश वर्षाणि केवलज्ञानस्योत्पादितस्याभूवन् । ततश्च राजगृहापरनाम्नि ऋषभपुरे नगरे जीवप्रदेशिकदृष्टिः समुत्पन्नेति । कथमुत्पन्ना ?, इत्याह–राजगृहे नगरे गुणशिलके चैत्ये चतुर्दशपूर्विणो वसुनामान आचार्याः समागताः, तेषां च तिष्यगुप्तो नाम शिष्यः । स च तत्र पूर्वगतमालापकं वक्ष्यमाणस्वरूपमधीयानो वक्ष्यमाणयुक्तिभिर्विप्रतिपन्नोऽसंबुद्धः परिहृतो गुरुभिर्विहरन् आमलकल्पाया नगर्यां गतः, तत्र च मित्रश्रीनाम्ना श्रावकेण "कूरपिण्डा–"ऽऽदिना कूरसिक्थाऽऽदिदानेन प्रतिबोधित इत्यर्थः ॥ २३३३ । २३३४ ॥

अथास्य निर्युक्तिगाथाद्वयस्य भाष्यमाह–

आयप्पवायपुव्वं, अहिज्जमाणस्स तीसगुत्तस्स ।
नयमयमयाणमाणस्स दिट्ठिमोहो समुप्पन्नो ॥२३३५॥

आत्मप्रवादनामकं पूर्वमधीयानस्य तिष्यगुप्तस्य अयं सूत्रालापकः समायातः । तद्यथा–"एगे भंते ! जीवपएसे जीवे त्ति वत्तव्वं सिया ? । नो इणट्ठे समट्ठे । एवं दो तिण्णि० जाव दस संखेज्जा । असंखेज्जा भंते ! जीवपएसा जीवे त्ति वत्तव्वं सिया ? । नो इणट्ठे समट्ठे । एगपएसूणे वि णं जीवे नो जीवे त्ति वत्तव्वं सिया । से केणं अट्ठेणं ? । जम्हा णं कसिणे पडिपुन्ने लोगागासपएसतुल्ले जीवे जीवे त्ति वत्तव्वं सिया, से तेणं अट्ठेणं" इति । अमुं चाऽऽलापकमधीयानस्य कस्यापि नयस्येदमपि मतम्, न तु सर्वनयानामित्येवमजानतस्तिष्यगुप्तस्य मिथ्यात्वोदयाद् दृष्टेः दर्शनस्य मोहो विपर्यासः संजात इति । ॥ २३३५ ॥

कथमित्याह–

एमादओ पएसा, नो जीवो नो पएसहीणो वि ।
जं तो स जेण पुन्नो, स एव जीवो पएसो त्ति ॥२३३६॥

यद्यस्मादेकाऽऽदयः प्रदेशास्तावज्जीवो न भवति, "एगे भंते ! जीवपएसे ।" इत्याद्यालापके निषिद्धत्वात् । एवं यावदेकेनापि प्रदेशेन हीनो जीवो न भवति, अत्रैवाऽऽलापके निवारितत्वात् । ततस्तस्माद् येन केनापि चरमप्रदेशेन स जीवः परिपूर्णः क्रियते, स एव प्रदेशो जीवो, न शेषप्रदेशाः । एतत्सूत्राऽऽलापकप्रामाण्यादित्येवं विप्रतिपन्नोऽसाविति ॥ २३३६ ॥

ततः किमित्याह–

गुरुणाऽभिहिओ जइ ते, पढमपएसो न सम्मओ जीवो ।

तो तप्परिमाणो च्चिय, जीवो कहमंतिमपएसो ? ॥२३३७॥

एकोऽन्त्यप्रदेशो जीवस्तद्भावभावित्वाज्जीवत्वस्येत्यादि ब्रुवाणस्तिष्यगुप्तो गुरुणा वसुसूरिणा अभिहितः-हन्त! यदि ते तव प्रथमो जीवप्रदेशो जीवो न संमतः, ततस्तर्ह्यन्तिमो जीवप्रदेशः कथं केन प्रकारेण जीवः ?। न घटत एव सोऽपि जीव इत्यर्थः। कुतः ?, तत्परिमाण इति कृत्वा। इदमुक्तं भवति-भवदभिमतोऽन्त्यप्रदेशोऽपि न जीवः, अन्यप्रदेशैस्तुल्यपरिमाणत्वात्, प्रथमाऽऽद्यन्यप्रदेशवदिति ॥ २३३७ ॥

अथवा व्यत्ययेन प्रयोग इति दर्शयति-

अहव स जीवो कह ना-इमो त्ति को वा विसेसहेऊ ते ?।
अह पूरणो त्ति बुद्धी, एकेक्को पूरणो तस्स ॥२३३८॥

अथवा-सोऽन्तिमप्रदेशः कथं जीवस्त्वयाऽभ्युपगम्यते ?, कथं च न-नैवाऽऽदिमः प्रथमस्तद्रूपतया इष्यते ?। नन्वाद्योऽपि प्रदेशो जीव एवेष्यतां, शेषप्रदेशतुल्यपरिणामत्वात्, अन्त्यप्रदेशवदिति। को वाऽत्र विशेषहेतुस्तव, येन प्रदेशत्वे तुल्येऽप्यन्तिमो जीवो न प्रथमः ?, इति। अथ विवक्षितासंख्येयप्रदेशराशेरन्त्यः प्रदेशः पूरण इति विशेषसद्भावतः स जीवो न प्रथम इति तव बुद्धिः। तदयुक्तम्। यतो यथाऽन्त्यः प्रदेशः पूरणस्तथा एकैकः प्रथमाऽऽदिप्रदेशः, तस्य विवक्षितजीवप्रदेशराशेः पूरण एव, एकमपि प्रदेशमन्तरेण तस्यापरिपूर्त्तेरिति ॥२३३८॥

एवं च सर्वप्रदेशानां पूरणत्वे इदमनिष्टमापतति।
किम् ?, इत्याह-

एवं जीवबहुत्तं, पइजीवं सव्वहा व तदभावो।
इच्छा विवज्जओ वा, विसमत्तं सव्वसिद्धी वा ॥२३३९॥

एवं सर्वजीवप्रदेशानां विवक्षितप्रदेशराशिपूरणत्वेऽन्त्यप्रदेशवत्प्रत्येकं जीवत्वमस्प्रतिजीवं जीवबहुत्वमसंख्येयजीवाऽऽत्मकं प्राप्नोति। अथवा-प्रथमाऽऽदिप्रदेशवदन्त्यप्रदेशस्याप्यजीवत्वे सर्वथा तदभावो जीवाभावः प्रसजति। अथ पूरणत्वे समानेऽप्यन्त्यप्रदेश एव जीवः, शेषास्तु प्रदेशा अजीवा इत्याग्रहो न मुच्यते, तर्हि राजाऽऽदेरिवेच्छा भवतः, यत्प्रतिभासते तदेव हि जल्प्यत इति। तथा च सति विपर्ययोऽपि कस्मान्न भवति-आद्यो जीवोऽन्त्यस्तु प्रदेशो जीव इति ?, विषमत्वं वा कुतो न भवति-कश्चनाऽपि प्रदेशा जीवाः, कश्चिदजीवा इति ?। अनियमेन सर्वविकल्पसिद्धिर्वा कस्मान्न भवति, स्वेच्छया सर्वपक्षाणामपि वक्तुं शक्यत्वादिति ? ॥२३३९॥

किञ्च-

जं सव्वहा न वीसुं, सव्वेसु वि तं न रेणुतेल्लं व।
सेसेसु असब्भूओ, जीवो कहमंतिमपएसे ॥२३४०॥

यद् विष्वगेकैकस्मिन्नवयवे सर्वथा नास्ति तत्सर्वेष्वपि अवयवेषु समुदितेषु न भवति, यथा रेणुकणेषु प्रत्येकमसत्तत्समुदाये तैलं, नास्ति च प्रथमाऽऽदके एकैकस्मिन् प्रदेशे जीवत्वं, ततः शेषेषु प्रथमाऽऽदिप्रदेशेष्वसज्जीवत्वं परिणामाऽऽदिना तुल्ये कथमकस्मादेकस्मिन्नेवान्त्यप्रदेशे समायातमिति ? ॥२३४०॥

पुनः परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अह देसओऽवसेसे-सु तो वि किह सव्वहंतिमे जुत्ते।
अह तम्मि व जो हेऊ, स एव सेसेसु वि समाणो ॥२३४१॥

अथास्यादवशेषेषु प्रथमाऽऽदिप्रदेशेषु, देशतो जीवः समस्त्येव, अन्त्यप्रदेशे तु सर्वाऽऽत्मनाऽसौ समस्तीति विशेषः। ततो "जं सव्वहा न वीसुं" इत्येतदसिद्धमिति भावः। अत्रोत्तरमाह-तथापि कथमन्त्यप्रदेशे सर्वाऽऽत्मना जीवो युक्तः ?। ननु तथापि देशत एवाऽसौ युज्यते, तस्यापि प्रदेशत्वात्, प्रथमाऽऽदिप्रदेशवत्। अथान्त्यप्रदेशे संपूर्णो जीव इष्यते, तर्हि तत्र तद्भावे यो हेतुः स शेषेष्वपि प्रथमाऽऽदिप्रदेशेषु समान एव, तुल्यधर्मकत्वात्। अतस्तेष्वपि प्रतिप्रदेशं सपूर्णजीवत्वमन्त्यप्रदेशवत्किं नेष्यते ?, इति ॥२३४१॥

अथ प्रथमाऽऽदिप्रदेशेषु जीवत्वं नेष्यते, तर्ह्यन्त्यप्रदेशोऽपि तथेष्यताम्। कुतः ?; इत्याह-

नेह पएसत्तणओ, अंतो जीवो जहाइमपएसो।
आह सुयम्मि निसिद्धा, सेसा न उणंतिमपएसो ॥२३४२॥

इहान्त्यप्रदेशोऽपि न जीवः, प्रदेशत्वात्, यथा प्रथमाऽऽदिप्रदेश इति। आह-नन्वागमबाधितेयं प्रतिज्ञा, यतः पूर्वोक्ताऽऽलापकरूपे श्रुते शेषाः प्रथमाऽऽदिप्रदेशा जीवत्वेन निषिद्धाः, न पुनरन्त्यप्रदेशः, तस्य तत्र जीवत्वानुज्ञानात्। अतः कथं प्रथमाऽऽदिप्रदेशवदन्त्यस्य जीवत्वनिषेधं मन्यामहे ?, इति ॥२३४२॥

अत्रोत्तरमाह-

नणु एगो त्ति निसिद्धो, सो वि सुए जइ सुयं पमाणं ते।
सुत्ते सव्वपएसा, भणिया जीवो न चरिमो त्ति ॥२३४३॥

ननु सोऽपि-अन्त्यप्रदेशः श्रुते जीवत्वेन निषिद्धः। कुतः ?; इत्याह-एक इति कृत्वा। तथाहि-तत्रैवेत्थमुक्तम्-"एगे भंते ! जीवपएसे जीवे त्ति वत्तव्वं सिया ?। णो इणट्ठे समट्ठे" इति। ततो यदि श्रुतं तव प्रमाणं, ततोऽन्त्यप्रदेशस्यापि जीवत्वं नेष्टव्यम्, एकत्वात्, प्रथमाऽऽद्यन्यतरप्रदेशवत्। किञ्च-यदि श्रुतं हन्त ! प्रमाणीकरोषि, तदा सर्वेऽपि जीवप्रदेशाः परिपूर्णा जीवत्वेन श्रुते भणिताः, न त्वेक एव चरमप्रदेशः। तथा च तत्रैवाभिहितम्-"जम्हा णं कसिणे पडिपुण्णे लोगागासपएसतुल्ले जीवे त्ति वत्तव्वं सिया"। अतः श्रुतप्रामाण्यमिच्छता भवता नैक एवान्त्यप्रदेशो जीवत्वेनैष्टव्य इति ॥ २३४३ ॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन साधयन्नाह-

तंतू पडोवयारी, न समत्तपडो य समुदिया ते उ।
सव्वे समत्तपडओ, सव्वपएसा तहा जीवो ॥२३४४॥

एकस्तन्तुर्भवति समस्तपटोपकारी, तमप्यन्तरेण समस्तपटस्याभावात्। परं स एकस्तन्तुः समस्तपटो न भवति, किन्तु ते तन्तवः सर्वेऽपि समुदिताः समस्तपटव्यपदेशं लभन्त इति प्रतीतमेव। तथा जीवप्रदेशोऽप्येको जीवो न भवति किन्तु सर्वेऽपि जीवप्रदेशाः समुदिता जीव इति ॥२३४४॥

ननु प्राग् यदुक्तम्-"नयमयमयाणमाण-स्स दिट्ठिमोहो स मुप्पन्नो सि" तत् कस्य नयस्यैवं मतम् ?, इत्येतद्व्यक्तीकरणपूर्वकमुपदेशमाह-

एवंभूयनयमयं, देस-पएसा न वत्थुणो भिण्णा।
तेणावत्थु त्ति मया, कसिणं चिय वत्थुमिट्ठं से ॥२३४५॥

जइ तं पमाणमेवं, कसिणो जीवो अहोवयाराओ ।
देसे वि सव्वबुद्धी, पवज्ज सेसे वि तो जीवं ॥२३४६॥

एवंभूतनयस्येदं मतं यदुत-देशप्रदेशौ न वस्तुनो भिन्नौ, तेन तौ अवस्तुरूपौ मतौ । अतो देशप्रदेशकल्पनारहितं कृत्स्नं परिपूर्णमेव वस्तु 'से' तस्यैवंभूतनयस्येष्टम् । ततो यदि तदेवंभूतनयमतं प्रमाणं जानासि त्वम्, एवं तर्हि कृत्स्नः परिपूर्णो जीवो, न त्वन्त्यप्रदेशमात्रमपि प्रतिपद्यस्व । अथ ग्रामो दग्धः, पटो दग्धः, इत्यादिष्वेकदेशेऽपि समस्तवस्तूपचारादन्त्यप्रदेशलक्षणे देशेऽपि समस्तजीवबुद्धिस्तव प्रवर्तते, तर्हि शेषेऽपि प्रथमाऽऽदिप्रदेशे उपचारतो जीवं प्रतिपद्यस्व,न्यायस्य समानत्वादिति ॥ २३४५ । २३४६ ॥

अथवा-अभ्युपगम्येदमुक्तं, न चैकप्रदेशमात्रे सर्वजीवोपचारो युज्यत इति दर्शयन्नाह-

जुत्तो व तदुवयारो, देसूणे न उ पएसमेत्तम्मि ।
जह तंतूणम्मि पडे, पडोवयारो न तंतुम्मि ॥ २३४७ ॥

अथवा-उपचारादप्येक एवान्त्यप्रदेशो जीवो न भवति, किन्तु देशोने एव जीवे जीवोपचारो युज्यते, यथा तन्तुभिः कतिपयैरूने पटे पटोपचारो दृश्यते, न त्वेकस्मिंस्तन्तुमात्रे इति ॥ २३४७ ॥

एवं गुरुणाऽभिहिते ततः किम् ?, इत्याह—

इय पण्णविओ जाहे, न पवज्जइ सो कओ तओ बज्झो ।
तउ आमलकप्पाए,मित्तसिरिणा सुहोवायं ॥२३४८॥
भक्खण-पाण-व्वंजण-वत्थंतावयवलाभिओ जणइ ।
सावय! विधम्मिया म्हे,कीस त्ति तओ भणइ सड्ढो॥२३४९।
नणु तुज्झं सिद्धंतो, पज्जंतावयवमेत्तओऽवयवी ।
जइ सच्चमिणं तो का,विहम्मणा मिच्छमिहरा ते ।२३५०।

गतार्था एव, नवरम्, इति पूर्वोक्तप्रकारेण गुरुभिः प्रज्ञापितस्तिष्यगुप्तो यावन्न किञ्चित्प्रतिपद्यते, तत उद्घाट्य बाह्यः कृतो विहरन्नामलकल्पां नगरीं गत्वा आम्रशालवने स्थितः । तत्र मित्रश्रीश्रावकेण निह्नवोऽयमिति ज्ञात्वा तत्प्रतिबोधनार्थं गत्वा निमन्त्रितः-'यन्मदीयगृहे प्रकरणमद्य तत्र भवद्भिः स्वयमागन्तव्यम्' । ततो गतास्ते तद्गृहे । तेन च तत्र निष्यगुप्तमुपवेश्य महान्तं संभ्रममुपदर्शयता तत्पुरतो भक्ष्यभोज्यान्नपानव्यञ्जनवस्त्राऽऽदिवस्तुनिचया विस्तारिताः । ततस्तेषां मध्यात्सर्वेभ्योऽन्त्यावयवान् गृहीत्वा प्रतिलाभितोऽसौ,कूरसित्थाऽऽदिना प्रतिलाभित इत्यर्थः । ततो भणत्यभिधत्ते-"हे श्रावक! विधर्मिताः किमिति त्वया वयमित्थम् ? । ततः श्राद्धो जगाद-(नणु तुज्झमित्यादि) (मिच्छमिहरा ते त्ति) अन्यथा यदि नेदं सत्यम्, तदा सर्वमपि मिथ्या भवतां भाषितमिति ।२३५०।

अपि च-

अंतोऽवयवो न कुणइ, सयलकज्जं ति जइ न सोऽभिमओ ।
संववहाराईए,तो तम्मि कओऽवयविगाहो ? ॥२३५१॥

यदि नामाऽन्त्यावयवः समस्तस्याप्यवयविनो यत्साध्यं कार्यं तन्न करोतीत्यतोऽसौ नाभिमतो भवताम्-कूरकणवस्त्राऽऽदीनामिव कतिपयसिक्थतन्तुकुमारिकाऽऽदिलक्षणस्तत्तन्त्वाद्रूपोऽन्त्यावयवो यदि न परितोषकरो, भवतामित्यर्थः, तर्हि संव्यवहारातीते तस्मिन्नन्त्यावयवे कुतः किल समस्तावयविग्रहो भवतामिति ? ॥२३५१॥

प्रमाणयन्नाह-

अंतिमतंतू न पडो, तक्कज्जाकरणओ जहा कुंभो ।
अह तयभावे वि पडो,सो किं न घडो खपुप्फं व ?॥२३५२॥

अन्त्यतन्तुमात्रं न पटः, तस्य पटस्य कार्यं शीतत्राणाऽऽदिकं तत्कार्यं,तस्याकरणं तत्कार्याकरणं,तस्मादिति । यथा कुम्भो घटः। अथ तदभावेऽपि पटकार्याभावेऽपि तन्तुः पट इष्यते, तर्हि किमित्यसौ पटो घटः खपुष्पं वा न भवति, पटकार्याकर्तृत्वस्याविशेषादिति ? ॥२३५२॥

तथाहि-

उवलंभव्ववहारा-भावाओ नत्थि ते खपुप्फं व ।
अंतावयवेऽवयवी, दिट्ठंताभावओ वा वि ॥ २३५३ ॥

तवाभिमतोऽवयवी अन्त्यावयवे नास्ति, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः, व्यवहाराभावाच्च, खपुष्पवदिति । अथवा-'अन्त्यावयवमात्रमवयवी, अवयविसंपूर्णहेतुत्वात, ' इत्यत्र तावद् दृष्टान्ताभावाद् न साध्यसिद्धिरिति ॥ २३५३ ॥

यदि नाम नोपलभ्यते, नापि व्यवह्रियते, दृष्टान्ताभावाच्च नानुमीयते, ततः किम् ?, इत्याह—

पच्चक्खओऽणुमाणा-दागमओ वा य सिद्धि अत्थाणं ।
सव्वप्पमाणविसया-ईयं मिच्छत्तमेवं ते ॥ २३५४ ॥

प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणैरर्थानां सिद्धिः, तानि च त्वत्पक्षसाधकत्वेन न प्रवर्त्तन्ते । अतः सर्वप्रमाणविषयातीतं 'भे' भवतामभिहितं मिथ्यात्वमेवेति ॥ २३५४ ॥

तदेवं मित्रश्रीश्रावकेणोक्ते स किं कृतवान् ?, इत्याह-

इय चोइयसंबुद्धो,खामिय पडिलाभिओ पुणो विहिणा ।
गंतु गुरुपायमूलं, ससीसपरिसो पडिक्कंतो ॥ २३५५ ॥

इति प्रेरितः संबुद्धोऽसौ विहितक्षामितक्षामितेन मित्रश्रीश्रावकेण सपूर्णान्नप्रदानाऽऽदिविधिना पुनरपि प्रतिलाभितो गुरुपादमूलं गत्वा शिष्यपरिषत्समेतो विधिना प्रतिक्रान्तः सम्यग्मार्गं प्रपन्नो गुर्वन्तिके विजहारेति गाथार्थः ॥ २३५५ ॥

जीवप्रदेशा आकाशप्रदेशस्तुल्या वाऽधिका वा हीना वेति ? प्रश्ने, उत्तरम्-जीवप्रदेशाऽऽकाशप्रदेशयोर्निर्विभागभागरूपत्वेन तुल्यत्वमेवेति मन्तव्यम् । १०२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथाऽष्टौ गोस्तनाकारा जीवप्रदेशाः सन्ति, तेषां कर्मवर्गणा लगन्ति, न वेति ? प्रश्ने,उत्तरम्-जीवानां मध्याष्टप्रदेशानां कर्मवर्गणा न लगन्तीति ज्ञानदीपिकायां प्रोक्तमस्ति । यथा-"स्पृश्यन्ते कर्मणा तेऽपि, प्रदेशा आत्मनो यदि । तदा जीवो जगत्यस्मि-न्नजीवत्वमवाप्नुयात् "॥२॥ १५ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

जीवपएणवणा-जीवप्रज्ञापना-स्त्री० । प्रज्ञाप्यन्ते जीवाऽऽदयो भावा अनया शब्दसंहत्येति प्रज्ञापना । प्रज्ञा० १ पद । जीवानां प्रज्ञापना जीवप्रज्ञापना : प्रज्ञापनोपाङ्गस्य जीवप्रज्ञापिकायां शब्दसंहतौ, प्रज्ञा० १ पद ।

साम्प्रतं जीवप्रज्ञापनामभिधित्सुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

से किं तं जीवपण्णवणा ?। जीवपण्णवणा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संसारसमावण्णजीवपण्णवणा य, असंसारसमावण्णजीवपण्णवणा य । से किं तं असंसारसमावण्णजीवपण्णवणा ? । असंसारसमावण्णजीवपण्णवणा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-अणंतरसिद्धअसंसारसमावण्णजीवपण्णवणा, परंपरसिद्धअसंसारसमावण्णजीवपण्णवणा ॥

"से किं तं" इत्यादि । अथ का सा जीवप्रज्ञापना ?। सूरिराह-जीवप्रज्ञापना द्विविधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा-संसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना च, असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना च । तत्र संसरणं संसारो नारकतिर्यङ्नरामरभवानुभवलक्षणः, तं सम्यगेकीभावेनाऽऽपन्नाः, संसारवर्त्तिन इत्यर्थः । ते च ते जीवाश्च, तेषां प्रज्ञापना संसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना । न संसारोऽसंसारो मोक्षस्तं समापन्ना असंसारसमापन्नाः,मुक्ता इत्यर्थः। ते च ते जीवाश्च, तेषां प्रज्ञापना असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना । चशब्दौ प्राग्वद् भावनीयौ । तत्राल्पवक्तव्यत्वात्प्रथमतोऽसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापनामभिधित्सुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-"से किं तं" इत्यादि । अथ का सा असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना ? । सूरिराह-असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना द्विविधा प्रज्ञप्ता । तद्यथा-अनन्तरसिद्धासंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना च, परम्परसिद्धासंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना च । तत्र न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानम्, अर्थात्समयेन येषां तेऽनन्तराः, ते च ते सिद्धाश्चानन्तरसिद्धाः, सिद्धत्वप्रथमसमये वर्त्तमाना इत्यर्थः । ते च तेऽसंसारसमापन्नजीवाश्च अनन्तरसिद्धासंसारसमापन्नजीवाः, तेषां प्रज्ञापना अनन्तरसिद्धासंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना । चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः । तथा-विवक्षिते प्रथमे समये यः सिद्धस्तस्य यो द्वितीयसमयसिद्धः स परः, तस्यापि यस्तृतीयसमयसिद्धः स परः । एवमन्येऽपि वाच्याः । परे च परे चेति वीप्सायां "पृषोदराऽऽदयः" ॥३।२।१५५॥ इति (सि० है०) सूत्रेण परम्परशब्दनिष्पत्तिः। परम्पराश्च ते सिद्धाश्च परम्परसिद्धाः, विवक्षितसिद्धस्य प्रथमसमयात्प्राग् द्वितीयाऽऽदिसमयेष्वतीताद्धां यावद्वर्त्तमाना इति भावः। ते च ते असंसारसमापन्नाश्च परम्परसिद्धासंसारसमापन्नाः, ते च ते जीवाश्च, तेषां प्रज्ञापना परम्परसिद्धासंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना । अत्रापि चशब्दः स्वगतानेकभेदसंसूचकः । प्रज्ञा० १ पद ।

जीवपरिणाम-जीवपरिणाम-पुं० । परिणमनं परिणामः, तद्भावगमनमित्यर्थः । यदाह-"परिणामो ह्यर्थान्तर-गमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम् । न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥ १ ॥" द्रव्यार्थनयस्येति सत्पर्ययेण नाशः प्रादुर्भावोऽसता च पर्ययतो द्रव्याणां परिणामः प्रोक्तः । खलु पर्ययनयस्येति जीवस्य परिणाम इति विग्रहः । जीवस्य तद्भावगमने, स्था० ।

दसविहे जीवपरिणामे पण्णत्ते । तं जहा-गइपरिणामे, इंदियपरिणामे, कसायपरिणामे, लेस्सापरिणामे, जोगपरिणामे, उवओगपरिणामे, णाणपरिणामे, दंसणपरिणामे, चारित्तपरिणामे, वेदपरिणामे ।

स च प्रायोगिकः,तत्र गतिरेव परिणामो गतिपरिणामः। एवं सर्वत्र । गतिश्चेह गतिनामकर्मोदयान्नारकाऽऽदिव्यपदेशहेतुः,तत्परिणामश्च भवक्षयादिति। स च नरकगत्यादिश्चतुर्विधो,गतिपरिणामे च सत्येवेन्द्रियपरिणामो भवति। तमाह-(इन्द्रियपरिणामे त्ति) स च श्रोत्राऽऽदिभेदात्पञ्चधेति। इन्द्रियपरिणतौ चेष्टाऽनिष्टविषयसंबन्धाद् रागद्वेषपरिणतिरिति तदनन्तरं कषायपरिणाम उक्तः। स च क्रोधाऽऽदिभेदाच्चतुर्विधः। कषायपरिणामे च सति लेश्यापरिणतिः, न तु लेश्यापरिणतौ कषायपरिणतिः, येन क्षीणकषायस्यापि शुक्ललेश्यापरिणतिर्देशोनपूर्वकोटिं यावद्भवति । यत उक्तम्-"मुहुत्तद्धं तु जहण्णा, उक्कोसा होइ पुव्वकोडीओ । नवहिं वरिसेहिं ऊणा, णायव्वा सुक्कलेस्साए" ॥१॥ त्ति । अतो लेश्यापरिणाम उक्तः । स च कृष्णाऽऽदिभेदात्षोढेति। अयं च योगपरिणामे सति भवति, यस्मान्निरुद्धयोगस्य लेश्यापरिणामोऽपैति, यतः समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमलेश्यस्य भवतीति लेश्यापरिणामानन्तरं योगपरिणाम उक्तः । स च मनोवाक्कायभेदात्त्रिधेति । संसारिणां च योगपरिणतावुपयोगपरिणतिर्भवतीति तदनन्तरमुपयोगपरिणाम उक्तः । स च साकारानाकारभेदाद् द्विधा । सति चोपयोगपरिणामे ज्ञानपरिणामः,अतस्तदनन्तरमसावुक्तः। स चाऽऽभिनिबोधिकाऽऽदिभेदात्पञ्चधा । तथा-मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमप्यज्ञानपरिणामो मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणस्त्रिविधोऽपि विशेषग्रहणसाधर्म्याद् ज्ञानपरिणामग्रहणेन गृहीतो द्रष्टव्य इति ज्ञानाज्ञानपरिणामे च सति सम्यक्त्वाऽऽदिपरिणतिरिति, ततो दर्शनपरिणाम उक्तः । स च त्रिधा, सम्यक्त्वमिथ्यात्वमिश्रभेदात् । सम्यक्त्वे सति चारित्रमिति, ततस्तत्परिणाम उक्तः । स च सामायिकाऽऽदिभेदात्पञ्चधेति स्त्र्यादिवेदपरिणामे चारित्रपरिणामो, न तु परिणामे वेदपरिणतिर्यस्मादवेदकस्यापि यथाख्यातचारित्रपरिणतिर्दृष्टेति चारित्रपरिणामानन्तरं वेदपरिणाम उक्तः, स च स्त्र्यादिभेदात्त्रिधेति । स्था० १० ठा० ।

जीवपच्चक्खाणकिरिया-जीवप्रत्याख्यानक्रिया-स्त्री० । जीवविषये प्रत्याख्यानाभावेन बन्धाऽऽदिव्यापारे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

जीवपाओसिया-जीवप्राद्वेषिकी-स्त्री० । जीवस्याऽऽत्मपरतदुभयरूपस्योपरि प्रद्वेषाऽऽद्या क्रिया प्रद्वेषकारणमेव वा जीवप्राद्वेषिकी । प्राद्वेषिक्याः क्रियाया भेदे, भ० ३ श० ३ उ० । स्था० ।

जीवपाडुच्चिया-जीवप्रातीत्यिका-स्त्री० । जीवं प्रतीत्य यः कर्मबन्धः सा तथा । क्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

जीवभाव-जीवभाव-पुं० । जीवत्वे, भ० ।

अथ तद्देशभूतो जीव उत्थानाऽऽदिगुण इति दर्शयन्नाह-

जीवे णं भंते ! सउट्ठाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कारपरक्कमे आयभावेणं जीवभावं उवदंसेइ त्ति वत्तव्वं सिया ?। हंता गोयमा ! जीवे णं सउट्ठाणे० जाव उवदंसेइ त्ति वत्तव्वं सिया । से केणट्ठेणं० जाव वत्तव्वं सिया ? ! गोयमा ! जीवे णं अणंताणं आभिणिबोहियनाणपज्जवाणं,एवं सुयनाणपज्जवाणं ओहिनाणपज्जवाणं मणपज्जवनाणपज्जवाणं केवलनाणपज्जवाणं मइअन्नाणपज्जवाणं सुयअन्नाणपज्जवाणं विभंगनाणपज्जवाणं चक्खुदंसणपज्जवाणं अचक्खुदंसणपज्जवाणं ओहिदंसणपज्जवाणं केवलदंसणपज्जवा-

णं उवओगं गच्छइ उवओगलक्खणेणं जीवे, से एणट्टेणं एवं वुच्चइ–गोयमा ! जीवे सउट्ठाणे० जाव वत्तव्वं सिया । "जीवेणं" इत्यादि । इह च 'सउट्ठाणे' इत्यादीनि विशेषणानि मुक्तजीवव्युदासार्थानि । (आयभावेणं ति) आत्मभावेन उत्थानशयनगमनभोजनाऽऽदिरूपेणाऽऽत्मपरिणामविशेषेण (जीवभावं ति) जीवत्वं चैतन्यमुपदर्शयति प्रकाशयति इति वक्तव्यं स्यात्, विशिष्टस्योत्थानाऽऽदेर्विशिष्टचेतनापूर्वकत्वादिति । "अणंताणमाभिणिबोहिय" इत्यादि । पर्यवाः प्रज्ञाकृता अविभागाः परिच्छेदाः, ते चानन्ता आभिनिबोधिकज्ञानस्यातोऽनन्तानामाभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाणां संबन्धिनमनन्ताभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाऽऽत्मकमित्यर्थः । उपयोगं चेतनाविशेषं गच्छतीति योगः । उत्थानाऽऽदावात्मभावे वर्त्तमान इति हृदयस्थम् । अथ यदुत्थानाऽऽद्यात्मभावे वर्त्तमानो जीव आभिनिबोधिकज्ञानाऽऽद्युपयोगं गच्छति, तत्किमेतावतैव जीवभावमुपदर्शयतीति वक्तव्यं स्यात् ?, इत्याशङ्कयाऽऽह–"उवओग" इत्यादि । अत उपयोगलक्षणं जीवभावमुत्थानाऽऽद्यात्मभावेनोपदर्शयतीति वक्तव्यं स्यादेवेति । भ० २ श० १० उ० ।

जीवमजीव–जीवाजीव–पुं० । जीवद्रव्याजीवद्रव्ययोः, आ० म० २ अ० ।

जीवमिस्सिया–जीवमिश्रिता–स्त्री० । प्रभूतानां जीवानां स्तोकानां च मृतानां च शङ्खशङ्खनकाऽऽदीनामेकत्र राशौ दृष्टे यदा कश्चिदेवं वदति–अहो ! महान् जीवराशिरयमिति, तदा सा जीवमिश्रिता । सत्यामृषाभाषाभेदे, सत्यामृषात्वं चास्या जीवत्सु सत्यत्वात्, मृतेषु मृषात्वात् । प्रज्ञा० ११ पद ।

जीवयामई–देशी–व्याधमृग्याम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

जीवरक्खा–जीवरक्षा–स्त्री० । गोप्रभृतिजीवमोचनाय द्रव्यलिङ्गिनां द्रव्यं ग्रहीतुं कल्पते, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्–यदि ज्ञानाऽऽदि संबन्धि द्रव्यं न भवति, तदा गृह्यते, निषेधो ज्ञातो नास्तीति । ४७० प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

जीवरासि–जीवराशि–पुं० । राशिभेदे, जीवराशिर्द्विविधः–संसारसमापन्नोऽसंसारसमापन्नश्च । स० ।

जीवरुय–जीवरुत–न० । मयूरमार्जारशुकसारिकाऽऽदिजल्पिते, जीत० ।

जीवलिंग–जीवलिङ्ग–न० । चलनस्पन्दनाङ्कुरोद्भवस्वेदम्लानाऽऽदिके, "विन्नाय लिंगं तसथावराणं ।" सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

जीवलोय–जीवलोक–पुं० । जीवद्रव्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जीवविजय–जीवविचय–पुं० । असंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकसाकारानाकारोपयोगलक्षणानादिस्वकृतकर्मफलोपयोगित्वाऽऽदिजीवस्वरूपानुचिन्तने, सम्म० ३ काण्ड ।

जीववित्तिविसिट्ठ–जीववृत्तिविशिष्ट–त्रि० । क्षेत्रवृत्तित्वविशिष्टे, "जीववृत्तिविशिष्टाऽऽभावाभावग्रहोऽप्यसन् । उत्कर्षापकर्षश्चा–ऽदस्थो यदपेक्षया" ॥ २५ ॥ जीववृत्तिविशिष्टः क्षेत्रवृत्तित्वविशिष्टः । द्वा० १५ द्वा० ।

जीवविप्पजढ–जीवविप्रजह–त्रि० । प्रासुके, भ० ७ श० १ उ० । "देवदिन्नस्स दारगस्स सरीरं णिप्पाणं णिच्चिट्ठं जीवविप्पजढं पासइ पकखवेत्ति ।" (जीवविप्पजढं ति) आत्मना विप्रमुक्तः । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

जीवविभत्ति–जीवविभक्ति–स्त्री० । द्रव्यविभक्तिभेदे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । जीवविभक्तिः सांसारिकेतरभेदाद् द्वेधा । तत्राऽप्यसांसारिकजीवविभक्तिर्द्रव्यकालभेदाद् द्वेधा । तत्र द्रव्यतस्तीर्थातीर्थसिद्धाऽऽदिभेदात्पञ्चदशधा । कालतस्तु तत्प्रथमसमयसिद्धाऽऽदिभेदादनेकधा । सांसारिकजीवविभक्तिरिन्द्रियजातिभवभेदात्त्रिधा । तत्रेन्द्रियविभक्तिरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात्त्रिधा । जीवानां विभागेनावस्थापने, उत्त० । " इत्तो जीवविभत्तिं तु, वोच्छामि अणुपुव्वसो " ॥ ४७ ॥ उत्त० ३६ अ० ।

जीववियार–जीवविचार–पुं० । जीवविचारणायाम्, सेन० । "अट्ठाऽऽमलगपमाणे, पुढवीकाए हवंति जे जीवा । ते पारेवयमित्ता, जंबूदीवे न माइंति ॥१॥ एगम्मि दगबिंदुम्मि, जे जीवा जिणवरेहिँ पण्णत्ता । ते जइ सरिसवमित्ता, जंबूदीवे न माइंति ॥२॥" एतद्गाथाद्वयं प्रतिक्रमणसूत्रवृत्तिप्रवचनसारोद्धारसूत्रवृत्त्यादौ यथा दृश्यते, तथा तेजस्कायप्रभृत्येकेन्द्रियाणां जीवमानप्रतिपादिका गाथाः प्रायो ग्रन्थे न दृश्यन्ते, तत्कथम् ? । किञ्च–बरट्टिकातण्डुलप्रमाणमात्रे तेजस्काये ये जीवास्ते यदि मस्तकलिक्षाप्रमाणदेहधारिणो भवेयुः, तदा ते जम्बूद्वीपे न मान्ति । निम्बपत्रस्पृष्टमात्रे वायौ ये जीवाः सन्ति, ते यदि खसखसप्रमाणदेहधारिणो भवेयुः, तदा जम्बूद्वीपे न मान्ति । अयमर्थः प्रमाणम्, अप्रमाणं वा ? । किञ्च–एतदर्थप्रतिपादिके यादृश्यौ त्रुटितपत्रे गाथेऽपि स्तः । तद्यथा–"बरट्टितंदुलमित्ता, तेउजीवा जिणेहिँ पण्णत्ता । मत्थयलिक्खपमाणा, जंबूदीवे न माइंति ॥१॥ जे लिंबपत्तफरिसा, वाऊजीवा जिणेहिँ पण्णत्ता । ते जइ खसखसमित्ता, जंबूदीवे न माइंति ॥२॥" किञ्च–पृथिवीकायाऽऽदिजीवप्रमाणप्रतिपादिकायां गाथायां पारापताऽऽदयः प्रोक्ताः, ते च नत्तत्–तीर्थकृत्काले भिन्नभिन्नप्रमाणदेहधारिणो भवन्ति, तेन पारापताऽऽदयः किंकालीना ग्राह्याः ? इति प्रश्ने, उत्तरम्–तेजस्कायिकप्रभृतिशरीरमानप्रतिपादकं गाथाद्वयं यद्यपि महाग्रन्थे न दृश्यते, तथापि सूत्रेण सह सङ्गतमेव, तदर्थस्य सूत्रानुयायित्वात् । तथा–जीवमानप्रतिपादकपारापताऽऽदिप्रमाणमवस्थितकालत्वेन महाविदेहगतं ज्ञायत इति मुग्धबोधनार्थमयमुपदेश इति न काऽप्यनुपपत्तिः ॥ २६६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । एतन्नामके प्रकरणग्रन्थे च ।

जीवविरिय–जीववीर्य–न० । आत्मसामर्थ्ये, "उल्लसियं जीवविरियं कहं वि ।" पं० व० ३ द्वार ।

जीवविवागा–जीवविपाका–स्त्री० । जीव एव विपाकः स्वशक्तिदर्शनलक्षणो विद्यते यासां ता जीवविपाकाः । कर्म० ५ कर्म० । जीवे जीवगते ज्ञानाऽऽदिलक्षणे स्वरूपविपाकस्तदुपघाताऽऽदिसंपादनाभिमुखतालक्षणो यासां ता जीवविपाकाः । कर्मप्रकृतिभेदे, पं० सं० ३ द्वार ।

जीवविपाकित्वमधिकृत्य परप्रश्नमपनुदन्नाह–

संपप्प जीयकाले, उदयं काओ न जंति पगईओ ।
एवमिणमोहहेउं, आसज्ज विसेसयं नत्थि ॥ ४७ ॥

ननु कास्ताः कर्मप्रकृतयो, या जीवं कालं वाऽऽश्रित्य नोदयमधिगच्छन्ति ?, सर्वा अपि जीवकालावधिकृत्योदयमधिगच्छन्तीति भावः । जीवकालावन्तरेणोदयासंभवात् । ततः सर्वा अपि जीवविपाका एवेति प्रष्टुरभिप्रायः । अत्राऽऽचार्य आह–"एवमिणं" इत्यादि । ओघतः सामान्येन हेतुं हेतुत्वमात्रमाश्रित्य, एवमे-

तद् यथा त्वयोक्तं नथैव, विशेषितं त्वसाधारणं तु, हेतुमाश्रित्य एतच्च भवति, जीवः कालो वा सर्वासामपि प्रकृतीनामुदयं प्रति साधारणः, ततस्तदपेक्षया यद् प्रकृतीनां चिन्ता क्रियते, तर्हि सर्वा अपि जीवविपाका एव, कालविपाका एव वा, नास्त्यत्र संदेहः, परं कासां चित्प्रकृतीनां क्षेत्राऽऽदिकमप्यसाधारणमुदयं प्रति हेतुरस्ति, ततस्तदपेक्षया क्षेत्रविपाकत्वाऽऽदिव्यपदेश इत्यदोषः ॥ ४७ ॥ पं० सं० ३ द्वार । कर्म० ।

जीववुड्डिय-जीववृद्धिक-न० । मनुष्ठावाम, एतत्रानुष्ठाया गौणं नाम । नं० ।

जीवसंखेव-जीवसंक्षेप-पुं० । संक्षिप्यन्ते संगृह्यन्ते जीवा एभिरिति संक्षेपा अपर्याप्तैकेन्द्रियत्वाऽऽदयोऽवान्तरजातिभेदाः । जीवानां संक्षेपा जीवसंक्षेपाः । अपर्याप्तैकेन्द्रियत्वाऽऽदिके जीवस्थाने, कर्म० ६ कर्म० ।

जीवसंगहिय-जीवसंगृहीत-त्रि० । जीवैः संगृहीतः स्वीकृतो जीवसंगृहीतः । जीवैः स्वीकृते, स्था० । "अजीवा जीवसंगहिया ।" अजीवाः पुद्गलाऽऽकाशाऽऽदयो जीवैः संगृहीताः स्वीकृताः । अजीवान्विनानामजीवानां सर्वव्यवहाराभावात् । स्था० २ ठा० १ उ० । न० ।

जीवसंजम-जीवसंयम-पुं० । जीवेषु संयमो जीवसंयमः । जीवेषु हिंसाऽऽदिपरिहारे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जीवसाहत्थिया-जीवस्वाहस्तिका-स्त्री० । यत्स्वहस्तेन गृहीतेन जीवं मारयति सा जीवस्वाहस्तिका । क्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

जीवा-जीवा-स्त्री० । जीवनं जीवा । प्राणधारणे, आ० चू० १ अ० । जीवनं जीवा इति स्त्रीलिङ्गाभिधायक एवायं शब्दः साध्यते, न तु जीव इति पुँल्लिङ्गाभिधायकः शब्दः । विशे० । जीव-अच्, जीवयंतरच् वा टाप् । प्रत्यञ्चायाम्, सू० प्र० १३ पाहु० । धनुषो गुणे, वाच० । "तेणेहिं सजीवेहिं धणुएहिं" सजीवैः कोट्यारोपितप्रत्यञ्चैः । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । जीवेव जीवा, जम्बूद्वीपलक्षणवृत्तक्षेत्रस्य हैमवतैरण्यवताख्यं द्वितीयषष्ठवर्षाभ्यामवच्छिन्नस्याऽऽरोपितज्याधनुःपृष्ठाकारयोः परिधिखण्डयोः धनुःपृष्ठसंज्ञकयोः पर्यन्तभूतसरलप्रदेशपङ्क्तौ, स० ।

हैमवताऽऽदिजीवानां प्रमाणमाह-

हेमवयएरन्नवयाओ णं जीवाओ सत्ततीसं जोयणसहस्साइं छच्च चउसत्तरे जोयणसए सोलसए एगूणवीसइभाए जोयणस्स किंचि विसेसूणाओ आयामेणं पन्नत्ता ॥

हैमवताऽऽदिजीवयोक्तप्रमाणसंवादगाथा—"सत्ततीससहस्सा, छच्च सया जोयणाण चउसयरा । हेमवयवाससजीवा, किंचूणा सोलस कला य" ॥ १ ॥ त्ति । कला एकोनविंशतिभागो योजनस्येति । स० ३७ सम० ।

हैमवतैरण्यवताऽऽदिजीवानां परिक्षेपप्रमाणमाह-

हेमवएरण्णवइयाणं जीवाणं धणुपिट्ठे अट्ठतीसं जोयणसहस्साइं सत्त य चत्ताले जोयणसए दस एगूणवीसइभागे जोयणस्स किंचि विसेसूणा परिक्खेवेणं पण्णत्ता ।

जम्बूद्वीपलक्षणवृत्तक्षेत्रस्य हैमवतैरण्यवताख्यं द्वितीयषष्ठवर्षाभ्यामवच्छिन्नस्याऽऽरोपितज्याधनुःपृष्ठाऽऽकारे परिधिखण्डे धनुःपृष्ठे उच्येते, तत्पर्यन्तभूते सरलप्रदेशपङ्क्ती तु जीवे इव जीवे इति । एतत्सूत्रसंवादिगाथा च-"चत्ताला सत्तसया, अट्ठतीससहस्स दस कला य धणू ।" इति । स० ३८ सम० । "जंबुद्दीवस्स पाईणपडीणउदीणदाहिणाए जीवाए" जीवया प्रत्यञ्चया, दवरिकयेत्यर्थः । सू० प्र० १२ पाहु० ।

जीवाइभाववाय-जीवाऽऽदिभाववाद-पुं० । जीवाऽऽदिपदार्थवादे, "जीवाइभाववाओ, बंधाइपसाहगो इहं ताव" । पंचा० ४ द्वार ।

जीवाजीव-जीवाजीव-पुं० । जीवद्रव्याजीवद्रव्ययोः, स्था० ।

समयाइ वा आवलियाइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ । आणापाणूइ वा थोवाइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ । खणाइ वा लवाइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ । एवं मुहुत्ताइ वा अहोरत्ताइ वा पक्खाइ वा मासाइ वा उऊइ वा अयणाइ वा संवच्छराइ वा जुगाइ वा वाससयाइ वा वाससहस्साइ वा वाससयसहस्साइ वा वासकोडीइ वा पुव्वंगाइ वा पुव्वाइ वा तुडियंगाइ वा तुडियाइ वा अडडंगाइ वा अडडाइ वा अववंगाइ वा अववाइ वा हूहूअंगाइ वा हूहूयाइ वा उप्पलंगाइ वा उप्पलाइ वा पउमंगाइ वा पउमाइ वा णलिणंगाइ वा णलिणाइ वा अत्थणिउरंगाइ वा अत्थणिउराइ वा अउअंगाइ वा अउआइ वा णउअंगाइ वा णउआइ वा पउअंगाइ वा पउआइ वा चूलिअंगाइ वा चूलियाइ वा सीसपहेलियंगाइ वा सीसपहेलियाइ वा पलिओवमाइ वा सागरोवमाइ वा उस्सप्पिणीइ वा ओसप्पिणीइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ । गामाइ वा णगराइ वा निगमाइ वा रायहाणीइ वा खेडाइ वा कब्बडाइ वा मडंबाइ वा दोणमुहाइ वा पट्टणाइ वा आगराइ वा आसमाइ वा संवाहाइ वा संनिवेसाइ वा घोसाइ वा आरामाइ वा उज्जाणाइ वा वणाइ वा वणसंडाइ वा वावीइ वा पुक्खरणीइ वा सराइ वा सरपंतियाइ वा अगडाइ वा तडागाइ वा दहाइ वा णदीइ वा पुढवीइ वा उदहीइ वा वातखंधाइ वा ओगासंतराइ वा वलयाइ वा विग्गहाइ वा दीवाइ वा समुद्दाइ वा वेलाइ वा वेइयाइ वा दाराइ वा तोरणाइ वा णेरइयाइ वा णेरइयावासाइ वा० जाव वेमाणियावासाइ वा कप्पाइ वा कप्पविमाणावासाइ वा वासाइ वा वासहरपव्वयाइ वा कूडाइ वा कूडागाराइ वा विजयाइ वा रायहाणीइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ । छायाइ वा आतवाइ वा दोसिणाइ वा अंधकाराइ वा ओमाणाइ वा पमाणाइ वा उम्माणाइ वा अतियाणगिहाइ वा उज्जाणगिहाइ वा अवलिंबाइ वा सणिप्पवायाइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ । स्था० ॥

पूर्वत्र जीवविशेषाणामुक्तत्वलक्षणो धर्मोऽभिहितः, इह तु धर्माधिकारादेव समयाऽऽदिस्थितिलक्षणो धर्मो जीवाजीवसंबन्धी जीवाजीवतयैव धर्मधर्मिणोरभेदेनोच्यत इति । तत्र सर्वेषां कालप्रमाणानामाद्यः परमसूक्ष्मोऽभेद्यो निरवयव उत्पलपत्रशत-

ख्यातमानाऽऽनुदाहरणोपलक्षितः समयः, तस्य चावलिकाऽऽदिविवक्षया बहुत्वाद् बहुवचनमित्याह-"समयाइ वा" इत्यादि। इतिशब्द उपदर्शने। वाशब्दो विकल्पे। तथाऽसंख्यातसमयसमुदयाऽऽत्मिका आवलिका क्षुल्लकभवग्रहणकालस्य षट्पञ्चाशदुत्तरद्विशततमभागभूता इति; तत्र समया इति वा आवलिका इति वा यत् कालवस्तु तदविभागेन जीवा इति च जीवपर्यायत्वात् पर्यायपर्यायिणोश्च कथञ्चिदभेदात्। तथा अजीवानां पुद्गलाऽऽदीनां पर्यायत्वादजीवा इति। चकारौ समुच्चयार्थौ, दीर्घता च प्राकृतत्वात्। प्रोच्यते अभिधीयत इति न जीवाऽऽदिव्यतिरेकिणः समयाऽऽदयः। तथाहि-जीवाजीवानां सादिसपर्यवसानाऽऽदिभेदा वा स्थितिस्तद्भेदाः समयाऽऽदयः। सा च तद्धर्मः, धर्मश्च धर्मिणो नात्यन्तभेदवान्, अत्यन्तभेदे हि विप्रकृष्टधर्ममात्रोपलब्धौ प्रतिनियतधर्मधर्मिविषय एव संशयो न स्यात्, तदन्येभ्योऽपि तस्य भेदविशेषात्। दृश्यते च यदा कश्चिद्दरितनरुतरुणशाखाविसरविवरान्तरतः किमपि शुक्लं पश्यति, तदा 'किमियं पताका, किं वा बलाका?' इत्येवं प्रतिनियतधर्मिविषयसंशय इति। अभेदे हि सर्वथा संशयानुत्पत्तिरेव, गुणग्रहणत एव तस्यापि गृहीतत्वादिति। इह त्वभेदनयाऽऽश्रयणाज्जीवा इति चेत्याद्युक्तम्। इह च-समयाऽऽवलिकालक्षणार्थद्वयस्याजीवाऽऽदिद्वयाऽऽत्मकतया भणनाद् द्विस्थानकावतारो द्रष्टव्यः, एवमुत्तरसूत्राण्यपि नेयानि, विशेषं तु वक्ष्याम इति। (आणापाणु इत्यादि)। आनप्राणाविरुच्छ्वास निःश्वासकालः संख्याताऽऽवलिकाप्रमाणः।

आह च-

"हट्ठस्स अणवगल्ल-स्स निरुवकिट्ठस्स जंतुणो।
एगे ऊसासनीसासे, एस पाणु त्ति वुच्चइ" ॥ १ ॥

तथा स्तोकाः सप्तोच्छ्वासनिःश्वासप्रमाणाः, क्षणाः संख्यानप्रमाणलक्षणाः, सप्तस्तोकप्रमाणा लवाः। एवमिति यथा प्राक्तने सूत्रद्वये जीवा इति यदा अजीवा इति च प्रोच्यन्ते इत्यधीतम्, एवं सर्वेषूत्तरसूत्रेष्वित्यर्थः। मुहूर्त्ताः सप्तसप्ततिलवप्रमाणाः।

उक्तञ्च-

"सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे।
लवाणं सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए ॥ १ ॥
तिन्नि सहस्सा सत्त य, सयाइं तेवत्तरिं च ऊसासा।
एस मुहुत्तो भणिओ, सव्वेहिँ अणंतनाणीहिं" ॥ २ ॥

अहोरात्रास्त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणाः, पक्षाः पञ्चदशाहोरात्रप्रमाणाः, मासा द्विपक्षाः, ऋतवो द्विमाससमाना वसन्ताऽऽद्याः, अयनानि ऋतुत्रयमानानि, संवत्सरा अयनद्वयमानाः, युगानि पञ्चसंवत्सराणि, वर्षशताऽऽदीनि प्रतीतानि, पूर्वाङ्गानि चतुरशीतिवर्षलक्षप्रमाणानि, पूर्वाणि पूर्वाङ्गान्येव चतुरशीतिवर्षलक्षगुणितानि।

इदञ्चैषां मानम्-

"पुव्वस्स उ परिमाणं, सयरिं खलु होंति कोडिलक्खाओ।
छप्पन्नं च सहस्सा, बोधव्वा वासकोडीण" ॥ १ ॥

७०५६०००००००००० पूर्वाणि चतुरशीतिलक्षगुणितानि त्रुटिताङ्गानि भवन्ति। एवं पूर्वस्य पूर्वस्य चतुरशीतिलक्षगुणनेनोत्तरमुत्तरं संख्यानं भवति, यावच्छीर्षप्रहेलिकेति। तस्यां चतुर्नवत्यधिकमङ्कस्थानशतं भवति।

अत्र करणगाथा-

"इच्छियठाणेण गुणं, पण सुन्नं चउरसीइगुणियं च।
काऊण तइयवारे, पुव्वगाईण मुण संखं" ॥ १ ॥

शीर्षप्रहेलिकान्तः सांव्यवहारिकः संख्यातः कालः, तेन च प्रथमपृथिवीनारकाणां भवनपतिव्यन्तराणां भरतैरवतेषु सुषमदुःषमायाः पश्चिमे भागे नरतिरश्चां चाऽऽयुर्मीयत इति। किञ्च-शीर्षप्रहेलिकायाः परतोऽप्यस्ति संख्यातः कालः। स चानतिशायिनां न व्यवहारविषय इति कृत्वौपम्ये प्रक्षिप्तः, अत एव शीर्षप्रहेलिकायाः परतः पल्योपमाऽऽद्युपन्यासः। तत्र पल्यमोपमा येषु तानि पल्योपमानि असंख्यातवर्षकोटीकोटीप्रमाणानि वक्ष्यमाणलक्षणानि; सागरेणोपमा येषु तानि सागरोपमाणि पल्योपमकोटीकोटीदशकमानानीति, दशसागरोपमकोटीकोट्य उत्सर्पिणी, एवमेवावसर्पिणीति, कालविशेषवद् ग्रामाऽऽदिवस्तुविशेषा अपि जीवाजीवा एवेति। द्विपदैः सप्तचत्वारिंशता सूत्रैराह-(गामेत्यादि) इह च प्रत्येकं जीवा एवेत्याद्यालापोऽध्येतव्यः, ग्रामाऽऽदीनां च जीवाजीवता प्रतीतैव। तत्र कराऽऽदिगम्या ग्रामाः, नैतेषु करोऽस्तीति नकराणि, निगमा वणिग्जनप्रधानाः, राजधान्यो यासु राजानोऽभिषिच्यन्ते, खेटानि धूलीप्राकारोपेतानि, कर्बटानि कुनगराणि, मडम्बानि सर्वतोऽर्द्धयोजनात्परतोऽवस्थितग्रामाणि, द्रोणमुखानि येषां जलस्थलपथावुभावपि स्तः, पत्तनानि येषु जलस्थलपथयोरन्यतरेण पर्याहारप्रवेशः, आकरा लोहाऽऽद्युत्पत्तिभूमयः, आश्रमास्तीर्थस्थानानि, संबाधाः समभूमौ कृषिं कृत्वा येषु दुर्गभूमिभूतेषु धान्यानि कृषीवलाः संवहन्ति रक्षार्थमिति, सन्निवेशाः सार्थकटकाऽऽदेः, घोषाः गोष्ठानि, आरामा विविधवृक्षलतोपशोभिताः कदल्यादिप्रच्छन्नगृहेषु स्त्रीसहितानां पुंसां रमणस्थानभूता इति। उद्यानानि पत्रपुष्पफलच्छायोपशोभितानि बहुजनस्य विविधवेषस्योन्नतमानस्य भोजनार्थं यानं गमनं येष्विति। वनानीत्येकजातीयवृक्षाणि, वनखण्डा अनेकजातीयोत्तमवृक्षाः। वापी चतुरस्रा, पुष्करिणी वृत्ता पुष्करवती चेति। सरांसि जलाऽऽशयविशेषाः, सरःपङ्क्तयः सरसां पङ्क्तयः। (अगड त्ति) अवटाः। तडागाऽऽदीनि प्रतीतानि। पृथिव्यो रत्नप्रभाऽऽदिकाः, उदधयस्तदधो घनोदधयः। वातस्कन्धा घनवाततनुवाताः, इतरे वा, अवकाशान्तराणि वातस्कन्धानामधस्तादाकाशानि, जीवता चैषां सूक्ष्मपृथिवीकायिकाऽऽदिजीवव्याप्तत्वात्। वलयानि पृथिवीनां वेष्टनानि घनोदधिघनवाततनुवातलक्षणानीति। विग्रहाः-लोकनाडीवक्राणि, जीवता चैषां पूर्ववत्। द्वीपाः समुद्राश्च प्रतीताः। वेला समुद्रजलवृद्धिः, वेदिकाः प्रतीताः, द्वाराणि विजयाऽऽदीनि, तोरणानि तेष्वेवेति। नैरयिकाः क्लिष्टसत्त्वविशेषाः, तेषां च जीवता कर्मपुद्गलाऽऽद्यपेक्षया। तदुत्पत्तिभूमयो नैरयिकाऽऽवासाः, तेषां च जीवता पृथिवीकायिकाऽऽद्यपेक्षया इति। एवं चतुर्विंशतिदण्डकोऽभिधेयः। अत एवाऽऽह-यावदित्यादि। कल्पा देवलोकाः, तद्देशाः कल्पविमानाऽऽवासाः, वर्षाणि भरताऽऽदिक्षेत्राणि, वर्षधरपर्वता हिमवदादयः, कूटानि हैमवतकूटानि, कूटाऽऽगाराणि तेष्वेव देवभवनानि, विजयाश्चक्रवर्त्तिविजेतव्यानि कच्छाऽऽदीनि क्षेत्रखण्डानि, राजधान्यः क्षेमाऽऽदिकाः। जीवेत्यादीहापि सर्वत्र सम्बन्धनीयमिति। येऽपि पुद्गलधर्मास्तेऽपि तथैवेत्याह-छायेत्यादि सूत्रपञ्चकं गतार्थम्, नवरं छाया वृक्षाऽऽदीनाम्, आतप आदित्यस्य। (दोसिणा इ वा त्ति) ज्योत्स्ना, अन्धकाराणि तमांसि, अवमानानि क्षेत्राऽऽदीनि, उन्मानानि तुलाकर्षाऽऽदीनि, अतियानगृहाणि नगराऽऽदिप्रवेशे यानि गृहाणि प्रतीतानि। (अवलिंबा इ वा सणिप्पवाया इ वा त्ति) दुर्दिनोऽवस्रेया इति। कि-

मेतत्सर्वमित्याह-जीवा इति च जीवव्यासत्वात्, तदाश्रितत्वा-द्वा । अजीवा इति च पुद्गलाऽऽद्यजीवरूपत्वात्, तदाश्रितत्वाद्वेति । प्रोच्यते-जिनैः प्ररूप्यत इति । इह च-" जीवाइ या " इत्यादिसूत्रपञ्चकेऽपि प्रत्येकमध्येतव्यमिति । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

अथ समयाऽऽदिवस्तु जीवाजीवरूपमेव कस्मादभिधीयते ?, उच्यते-तद्विलक्षणराश्यन्तराभावात् । अत एवाऽऽह—

दो रासी पछत्ता । तं जहा–जीवरासी चेव, अजीव-रासी चेव । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

(जीवाजीवयोरस्तित्वप्रतिपादनं ' अत्थिवाय ' शब्दे प्रथमभागे ५१९. पृष्ठे कृतम)

जीवाजीवपरिज्ञाने फलम्-

जो जीवे वि न जाणेइ, अजीवे वि न जाणइ ।
जीवाजीवे अजाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ? ॥१२॥

यो जीवानपि पृथ्वीकायिकाऽऽदिभेदभिन्नान्न जानाति, अजीवानपि संयमोपघातिनो मद्यहिरण्याऽऽदीन्न जानाति वा, जीवाजीवाऽऽदीनजानन् कथमसौ ज्ञास्यति संयमं तद्विषयम् ?, तद्विषयाज्ञानादिति भावः ॥ १२ ॥

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥ १३ ॥

ततश्च यो जीवानपि जानात्यजीवानपि जानाति,जीवाजीवान् विजानन् स एव ज्ञास्यति संयममिति प्रतिपादितः पञ्चम उपदेशार्थाधिकारः ॥ १३ ॥

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणइ ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥ १४ ॥

यदा यस्मिन् काले जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति-विविधं जानाति, तदा तस्मिन् काले गतिं नरकगत्यादिरूपां,बहुविधां स्वपरगतभेदेनानेकप्रकारां,सर्वजीवानां जानाति, यथावस्थितजीवाजीवपरिज्ञानमन्तरेण गतिपरिज्ञानाभावात् ॥ १४ ॥

उत्तरोत्तरां फलवृद्धिमाह--

जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ।
तया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ ॥१५॥

यदा यस्मिन् काले गतिं बहुविधां सर्वजीवानां जानाति,तदा पुण्यं च पापं च बहुविधगतिनिबन्धनं, तथा-बन्धं जीवकर्मयोगदुःखफलं, मोक्षं च तद्वियोगसुखलक्षणं जानाति । दश० ४ अ० । जीवतां स्तोकानां च भूयसां मृतानां च शङ्खशफलकाऽऽदीनामेकत्र राशीकृतानाम् । प्रज्ञा० ११ पद । प्रभूतेषु मृतेषु स्तोकेषु जीवत्सु एकत्र राशीकृतेषु शङ्खाऽऽदिषु,प्रज्ञा० ११ पद । एतावन्तोऽत्र जीवन्त एतावन्तोऽत्र मृता इति नियमेनावधारयतो विसंवादे जीवाजीवमिश्रिताः । सत्यामृषाभाषाभेदे, प्रज्ञा० ११ पद ।

जीवाजीवविभत्ति–जीवाजीवविभक्ति–स्त्री० । जीवानामजीवानां च विभक्तिर्विभागेनावस्थापना जीवाजीवविभक्तिः । जीवानामजीवानां च विभागेनावस्थापनायाम्, उत्त० ।

तथा च निर्युक्तिकारः-

जीवाणमजीवाण य, जीवविभत्ती तहिं दुविहा ॥३६
सिद्धाणमसिद्धाण य, अज्जीवाणं तु होइ दुविहा उ ।
रूवीणमरूवीण य, विभासियव्वा जहासुत्तं ॥१७

जीवानामजीवानां च योऽर्थो जीवविभक्तिर्जीवानां विभागेनावस्थापनमेव जीवविभक्तिः, इतरत्राप्येवमेव संबन्धिभेदाद् व्याख्येयः। (तहिं ति) वचनव्यत्ययात्तयोर्जीवाजीवविभक्त्योर्मध्ये द्विविधा सिद्धानाम, असिद्धानां च । (अज्जीवाणं तु त्ति) तुरपिशब्दार्थः,ततोऽजीवानामपि भवति (दुविहा उ त्ति) तुरवधारणे, ततो द्विविधैव रूपिणामरूपिणां च विभावितव्या विशेषेण व्यक्तं वक्तव्या । उत्त० नि० पाई० ३६ अ० । जीवाजीवविभक्तिप्रतिपादके उत्तराध्ययनस्य षट्त्रिंशेऽध्ययने, न० । स० ।

जीवाजीवविभक्त्याख्यं षट्त्रिंशमध्ययनं व्याख्यायते-

जीवाजीवविभत्तिं, सुणेह मे एगमणा इओ ।
जं जाणिऊण भिक्खू, सम्मं जयइ संजमे ॥ १ ॥

भो शिष्याः ! एकाग्रमनसः सन्तः स्थिरचित्ताः सन्तो यूयं तां जीवाजीवविभक्तिं,जीवाजीवाऽऽदीनां लक्षणं,मे मम कथयतः सतः शृणुत । जीवाश्च अजीवाश्च जीवाऽजीवाः,तेषां विभक्तिर्लक्षणज्ञानेन पृथक् पृथक् करणं जीवाजीवविभक्तिः, ताम, उपयोगवान् जीव एकेन्द्रियाऽऽदिः । उपयोगरहितोऽजीवः काष्ठाऽऽदिः । इत्यादिजैनमतोक्तलक्षणेन लक्षणज्ञानम्, तामिति काम् ?, यां जीवाजीवविभक्तिं ज्ञात्वा भिक्षुः संयमे संयममार्गे सम्यक् यतते यत्नं कुरुते ॥१॥

जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए ।
अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए ॥ २ ॥

जीवाश्चेतनालक्षणाऽऽत्मकाः,च पुनरजीवा अचेतनाऽऽत्मकाः। चकार एवकारश्च पादपूरणे । एष लोको व्याख्यातस्तीर्थकरैरुक्तः । अजीवदेश आकाशम, अलोको व्याख्यातः । अजीवस्य धर्मास्तिकायाऽऽदिकस्य देशोंऽशोऽजीवदेशो धर्मास्तिकायाऽऽदिवृत्तिरहितस्य आकाशस्यैव देशः स अलोको व्याख्यातः। जीवाजीवानामाधेयभूतानां लोकाऽऽकाशमाधारभूतमतो लोकालोकलक्षणमुक्तम ॥ २ ॥

जीवाजीवविभक्तिर्यथा स्यात्तथाऽऽह-

दव्वओ खित्तओ चेव, कालओ भावओ तहा ।
परूवणा तेसि भवे, जीवाणमजीवाण य ॥ ३ ॥

द्रव्यतो द्रव्यमाश्रित्य इदं द्रव्यम इयद्भेदं, क्षेत्रतः इदं द्रव्यम एतावति क्षेत्रे स्थितं, कालत इदं द्रव्यमियत्कालस्थितिमद्वर्तते, भावतोऽस्य द्रव्यस्य इयन्तः पर्यायाः । एवं तेषां जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च द्रव्यक्षेत्रकालभावेन चतुर्धा प्ररूपणा भवेत् ॥ ३ ॥ उत्त० ३६ अ० ।

जीवाजीवसमाउत्त–जीवाजीवसमायुक्त–त्रि० । जीवैरुपयोगलक्षणैस्तथाऽजीवैर्धर्माधर्माऽऽकाशपुद्गलाऽऽदिकैः समन्वितो जीवाजीवसमायुक्तः। जीवाजीवसमन्विते,तथा च लोकमधिकृत्य-" जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए " । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

जीवाजीवाहिगम–जीवाजीवाभिगम–पुं० । जीवानामेकेन्द्रियाऽऽदीनामजीवानां धर्मास्तिकायाऽऽदीनामभिगमः परिच्छेदो जीवाजीवाभिगमः । जीवाजीवपरिच्छेदे, जी० ।

से किं तं जीवाजीवाहिगमे ? । जीवाजीवाहिगमे दुविहे पछत्ते । तं जहा—जीवाहिगमे य, अजीवाहिगमे य ।

अथ किं तज्जीवाजीवाभिगम इति ?। अथवा-प्राकृतशैल्याऽभिधेयवल्लिङ्गवचनानि भवन्तीति न्यायात् किं तदिति कोऽसावित्यस्मिन्नर्थे द्रष्टव्यम्। ततोऽयमर्थः-कोऽसौ जीवाजीवाभिगमः ?, इति। एवं सामान्येन केनचित्प्रश्ने कृते सति भगवान् गुरुः शिष्यवचनानुरोधेनाऽऽदराऽऽधानार्थं किञ्चित्प्रत्युच्चार्याऽऽह-जीवाजीवाभिगमोऽनन्तरोदितशब्दार्थो द्विविधो द्विप्रकारः प्रज्ञप्तस्तीर्थकरगणधरैः। अनेन चागृहीतशिष्याभिधानेन निर्वचनसूत्रेणैतदाह। न सर्वमेव सूत्रं गणधरप्रश्न-तीर्थकरनिर्वचनरूपं, किन्तु किञ्चिदन्यथाऽपि, केवलं सूत्रं बाहुल्येन गणधरैः दृब्धं, स्तोकं शेषैः। यत उक्तम्-"अत्थं भासइ, अरहा" इत्यादि। तद्यथेति वक्ष्यमाणभेदकथनोपन्यासार्थः, स जीवाजीवाभिगमो यथा द्विविधो भवति तथोपन्यस्यत इति भावः। जीवाभिगमश्च, अजीवाभिगमश्च। चशब्दौ वस्तुतत्त्वमङ्गीकृत्य द्वयोरपि तुल्यकक्षतोद्भावनार्थौ। आह-जीवाजीवाभिगमप्रश्नसूत्रे संचलित उपन्यस्तः, तं तथैवोच्चार्यासंचलितनिर्वचनाभिधानमयुक्तम्, असंचलिते संचलितविधानायोगात्। नैष दोषः। प्रश्नसूत्रेऽप्यसंचलितस्यैवोपन्यासात्; भिन्नजातीययोरेकत्वायोगात्। जी० १ प्रति०। जीवानामेकेन्द्रियाऽऽदीनामजीवानां धर्मास्तिकायाऽऽदीनामभिगमः परिच्छेदो यस्मिन् तद् जीवाजीवाभिगमम्। जीवाजीवपरिच्छेदप्रतिपादके जीवाजीवाभिगमाख्येऽध्ययनविशेषे, जी०।

तस्येदमादिमं सूत्रम्-

इह खलु जिणमयं जिणाणुमयं जिणाणुलोमं जिणप्पणीतं जिणपरूवियं जिणक्खायं जिणाणुचिन्नं जिणपन्नत्तं जिणदेसियं जिणप्पसत्थं अणुचिंतिय तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा थेरा भगवंते जीवाजीवाभिगमं णामऽज्झयणं पएणवइंसु।

जिनप्रशस्तं जिनानां गोत्रविशुद्धोपायाभिमुखापायविमुखाहितप्रवृत्त्याऽऽदिभेदानां प्रशस्तं निरुपमपथ्यान्नवत् उचितसेवनया हितम्, एवंभूतं जिनमतमनुचिन्त्य औत्पत्तिक्यादिभेदभिन्नया पर्यालोच्य तद् जिनमतं श्रद्दधाना यद्यपि नाम कालवैगुण्यतो मेधाऽऽदिगुणहीनाः प्राणिनस्तथाऽप्यतः स्वल्पमप्यधिगतं भवच्छेदायत्याद्भुतचित्ततया मन्यमानास्तथा तद् जिनमतमेव प्रीयमाणा असहृशक्तिप्रीत्या पश्यन्तः, तथा तज्जिनमतमेव रोचयन्तः सात्मीभावेनानुभवन्तः, क एते ? इत्याह-स्थविरा भगवन्तः, तत्र धर्मपरिणत्यनिभृत्या संयमक्रियामतयः स्थविराः परिणतसाधुभावाः, आचार्या इति गर्भः। भगवन्तः श्रुतैश्वर्याऽऽदियोगात्। भग्नवन्तो वा कषायादीनिति भगवन्तः। पृषोदरादित्वाद्वकारलोपः। जीवाजीवाभिगमनं नाम, नामन्शब्दस्याव्ययत्वात्ततः परस्य तृतीयैकवचनस्य लोपः। जीवानामेकेन्द्रियाऽऽदीनामजीवानां धर्मास्तिकायाऽऽदीनामभिगमः परिच्छेदो यस्मिन् तद् जीवाजीवाभिगमः। इदं चान्वर्थप्रधानं नाम। यथा ज्वलतीति ज्वलन इत्यादि। किं तदित्याह-अधीयत इत्यध्ययनम्, विशिष्टार्थध्वनिसंदर्भरूपं, प्रज्ञापितवन्तः प्ररूपितवन्तः। एतेन गुरुपर्वक्रमलक्षणः संबन्धः साक्षादुपदर्शितः, एतदुपदर्शनाच्चाभिधेयाऽऽदिकमपि सिद्धम्। यथाक्रममनन्तरमिति कृतं प्रसङ्गेन। जी० १ प्रति०। जीवाजीवस्वरूपम् अभिगम्यतेऽस्मिन्निति जीवाजीवाभिगमः। दशवैकालिकस्य षड्जीवनिकायाध्ययने, दश० ४ अ०। दशवैकालिकस्य षड्जीवनिकायाध्ययनपर्यायशब्दप्रतिपादनायाऽऽह निर्युक्तिकारः-" जीवाजीवाभिगमो "-जीवाजीवाभिगमः, सम्यग् जीवाजीवाभिगमहेतुत्वात्। दश० नि० ४ अ०।

जीवाणंद-जीवानन्द-पुं०। स्वनामख्याते सुविधिवैद्यस्य सुते, "जम्बूद्वीपे विदेहेषु, पुरे क्षितिप्रतिष्ठिते। वैद्यस्य सुविधेः सूनु-र्जीवानन्दाभिधोऽभवत्॥ १॥" आ० क०।

जीवाणुसासण-जीवानुशासन-न०। जीवस्याऽऽत्मनो जातिनिर्देशाद्वा जीवस्य भव्यप्राणिगणस्यानुशासनं शिक्षा। जीवस्य शिक्षायाम्, तत्प्रतिपादके श्रीदेवसूरिविरचिते स्वनामख्याते प्रकरणग्रन्थे च। जीवा०।

तस्येयमादिमा गाथा-

णिम्महियरायरोसं, वीरं नमिऊण भुवणतियबंधुं।
मज्झत्थभावणाए, जीवस्सऽणुसासणं वोच्छं॥१॥

वीरं नत्वा जीवानुशासनं वक्ष्य इति संटङ्कः। अवयवार्थस्त्वयम्-निर्मथितरागरोषं निराकृतप्रीतिद्वेषं, वीरं वर्तमानतीर्थाधिपतिं, नत्वा प्रणम्य, किं विशिष्टम् ?, भुवनत्रिकबन्धुं जगत्त्रयबान्धवं माध्यस्थ्यभावनया रागद्वेषाभावेन जीवस्याऽऽत्मनो जातिनिर्देशाद् वा जीवस्य भव्यप्राणिगणस्य। एवमग्रेऽपि ज्ञातव्यम्। अनुशासनं शिक्षाम्। अत्र च "स्वराणां स्वरे प्रकृतिलोपसंधयः" इति प्राकृतलक्षणेन सकाराकारलोपेऽनुशब्दाकारस्य सस्वरत्वे च रूपमिदम्। एवमत्रापि यथासंभवं ज्ञेयमिति वक्ष्येऽभिधास्ये। शब्दव्युत्पत्त्यादिचर्चस्तु सर्वत्र सुकर एवेति न प्रतन्यते। जीवा० १ अधि०।

अन्ते च—

इय सिरिसिद्धंतमहो-यहीण सिरिनेमिचंदसूरीणं।
उवएसाओ मज्झ-त्थयाय सिरिदेवसूरीहिं॥ १॥
सिरिवीरचंदसूरी-ण सीसमत्तेहिँ विरइयं एयं।
सिद्धंतजुत्तिजुत्तं, जीवस्सऽणुसासणं विमलं॥ २॥
तह सयलागमपरम-त्थकणयकसवट्टलद्धउवमेहिं।
सयलगुणरयणरोहण-गिरीहिँ जिणदत्तसूरीहिं॥३॥
सोहियमेयं अन्ने-सि सूरिपवराण सम्मयं किं च।
जं एत्थ अणागमियं, तं गीयत्था वि सोहिंतु॥ ४॥

इति प्रकरणसमाप्तौ, श्रीसिद्धान्तमहोदधीनां शोभनाऽऽगमबृहत्समुद्राणां श्रीनेमिचन्द्रसूरीणामेतन्नाम्नां श्रीमदुत्तराध्ययनलघुवृत्तिवीरचरितरत्नचूडाऽऽदिशास्त्रकर्तॄणां बृहद्गच्छशिरोमणीनां निष्कलङ्कसिद्धान्तव्याख्यानाशिक्षातो मध्यस्थतया रागाऽऽद्यभावतः श्रीदेवसूरिभिः श्रीवीरचन्द्रसूरीणां निजदेशनावशालब्धनिर्मलकीर्तीनां शिष्यमात्रैर्विनेयगणपदगुणैर्विरचितं दृब्धमेतदिदं सिद्धान्तयुक्तं राद्धान्तयुक्तिसहितं, जीवस्याऽऽत्मनो भव्यस्य वा अनुशासनं बोधकं, विमलं निर्मलम्। तथा किं च-सकलाऽऽगमपरमार्थकनककषपट्टलब्धोपमैः निःशेषसिद्धान्ततत्त्वचामीकरतत्परीक्षादृषोपलप्राप्तोपमानैः सकलगुणरत्नरोहणगिरिभिर्निखिलगुणमाणिक्यरोहणशैलैर्जिनदत्तसूरिभिरेतन्नामकैः सत्गृहीनवासिभिरिति यावत्।

शोधितं निर्दोषीकृतमेतद् जीवानुशासनम । अन्येषां महेन्द्रसूरिप्रमुखाणां सूरिप्रवराणामाचार्यवर्याणां सम्मतमभिप्रेतं, किंच-अपरं यदत्र प्रकरणे अनागमिकमुत्सूत्रं, तज्ज्ञातार्थाः सिद्धान्तविदः, शोधयन्तु निर्मलीकुर्वन्तु । इति गाथाचतुष्टयार्थः ।

प्रकारान्तरेण निजनाम कथयन् प्रकरणसंख्यामाह-

देसवसुसूररीसा-हिंसाईवन्नकहियनामाहिं ।
पयरणमिणमो रइयं, तेवीसा-तिन्नि-सयगाहं ॥

देवबसुसूररीसाहिंसालक्षणा ये शब्दाः, तेषु ये आदिवर्णाः प्रथमाक्षराणि, तैः कथितं प्रतिपादितं, नामाभिधेयं येषां ते तथा, तैः, प्राकृतभाषया 'देवसूरीहिं' इत्यर्थः । प्रकरणं ग्रन्थसंदर्भः, इदं प्रत्यक्षम, ओ इति निपातः पूरणार्थे। रचितमिति ।

आह-

अणहिल्लवाडनयरे, जयसीहनरेसरम्मि विज्जंते ।
दोहट्टिवसहिठिएहिं, वासड्डीसूरनवमीए ॥

अणहिल्लपट्टनगरे श्रीगूर्जरराजधान्यां जयसिंहनरेश्वरे श्रीकर्णकर्णेन्द्रराजसूनौ विद्यमाने सति दोहटिनामश्रावकवसतिस्थितैर्द्वाषष्टे संवत्सरे एकादशशत उपरिष्टादिति शेषः ११६२। सूरेणाऽऽदित्यवारेण नवमी तिथिलक्षणा तस्यां रचितमिति पूर्वगाथोक्तक्रियासंबन्धादिति गाथार्थः ।

" एतस्य वृत्तिकरणे, पुण्यं यदुपार्जितं मया तेन ।
सुखितोऽस्तु भव्यलोकः, कुग्राहवियोगतो नित्यम ॥ १ ॥
मासैर्नैकेनेयं, सरस्वतीतोषतः कृता वृत्तिः ।
अणहिलपाटकनगरे, विजयिनि जयसिंहदेहनृपे ॥ २ ॥
दोहट्टिवसतिवासैः, श्रेष्ठिश्रीजासकस्य दानरुचेः ।
तदुपाश्रमादपरं, च श्राविकाया वसुन्धर्याः ॥ ३ ॥
वीराऽऽदिपुत्रमातु-र्नित्यं जिनसाधुपूजनरतायाः ।
श्रीदेवसूरिभिरसौ, भव्यजने ज्ञातविमलदयैः ॥ ४ ॥
श्रीमद्भिर्नेमिचन्द्राख्य-सूरिभिः शोधिताऽऽदृतैः ।
वृत्तिरेषाऽतिगम्भीर-सिद्धसिद्धान्तपारगैः" ॥ ५ ॥

साम्प्रतमस्य प्रकरणस्याऽऽशीर्वादमाह-

जाव जिणसासणमिणं, एयं जीवाणुसासणं ताव ।
नंदउ लोए सिद्धं-तजुत्तिसारं कुमयहरणं ॥

प्रतीतार्था ।

येनाभिप्रायेणेदं प्रकरणं कर्त्रा कृतं तमाविष्कुर्वन्नाह-

पंडित्तणाभिमाणे-ण विरइयं नेय किं तु इय बोहो ।
धम्मरयपुव्वसूरी-ण चेट्ठिए जंति जइ जीवा ॥ १ ॥

इयमपि तथैव ।

अधुना यावन्तोऽत्र मुख्यतः प्रकरणेऽर्थाधिकाराः यन्नामकाश्चास्तान् संग्रहगाथापञ्चकेन स्मृत्यर्थमाह-

बिंबपइट्ठा १ पास-
त्थनमण २ पडिकमण ३ वंदणं ४ नंदी ५ ।
दाणनिसेहो ६ महपा-
ल ७ पडिम ८ अविही ९ अणुट्ठाणं ॥ १ ॥
सिक्खवलि १० पढएँ पासा-
च ११ चेइविहि १२ सूरिसंघनिंदं च १३-१४ ।
पासत्थखेत्त १५ नाण-
छ निंद १६ गुरुगच्छचागं च १७-१८ ॥ २ ॥
बंजाइपूय १९ उस्स-
ग्ग पढण २० बलहीण २१ अविहिगमणं च २२ ।
मलनिंद २३ महिवक्खा-
ण २४ मल्लनमणं च २५ ओलग्गं २६ ॥ ३ ॥
संजइकहणं २७ जिणकुसु-
म .य २८ सुच्छगहं च २९ तवनिंदा ३० ।
मिच्छइचेइ ३१ मिच्छ ३२ अप-
माणबेस ३३ अस्संजया ३४ पाणे ३५ ॥ ४ ॥
चारित्तसत्त ३६ आयर-
ण ३७ गुणथुई ३८ एएँ हाँति अडतीसा ।
अहिगारा ड इमम्मी,
जीवस्सऽणुसासणे विमले ॥ ५ ॥

एतदर्थश्च पूर्वोक्ताधिकारवशतो ज्ञेयः । जीवा० ३१ अधि० ।

जीवाभिगम-जीवाभिगम-पुं० । जीवानां ज्ञेयानामवध्यादिनेवाभिगमो जीवाभिगमः । गुणप्रत्ययावध्यादिप्रत्यक्षतः सत्त्वाभिगमे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

से किं तं जीवाभिगमे ?। जीवाभिगमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-संसारसमावण्णगजीवाभिगमे य, असंसारसमावण्णगजीवाभिगमे य ॥

संसरणं संसारो नारकतिर्यङ्नरामरभवग्रहणलक्षणस्तं सम्यक् एकीभावेनाऽऽपन्नाः प्राप्ताः संसारसमापन्नाः संसारवर्तिनः,ते च ते जीवाश्च, तेषामभिगमः संसारसमापन्नजीवाभिगमः । तथा-न संसारोऽसंसारः संसारप्रतिपक्षभूतो मोक्ष इत्यर्थः । तं समापन्ना असंसारसमापन्नाः, ते च ते जीवाश्च, तेषामभिगमोऽसंसारसमापन्नजीवाभिगमः । चशब्दावुभयेषामपि जीवानां जीवत्वं प्रति तुल्यकक्षतासूचकौ । तेन ये विध्यातप्रदीपकल्पं निर्वाणमभ्युपगतवन्तः, ये च नवानामात्मगुणानामत्यन्तोच्छेदेन, ते निरस्ता द्रष्टव्याः, तथाभूतमोक्षाभ्युपगमे तदर्थं प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। न खलु सचेतनः स्ववधाय कण्ठे कुठारं व्यापारयति, दुःखितोऽपि हि जीवन् कदाचिद्भद्रमाप्नुयात्, मृतेन तु निर्मूलमपहास्तिताः संपद इति । इह केवलान् अजीवान् जीवांश्चानुच्चार्य अभिगमशब्दसंवलितः प्रश्नोऽभिगमव्यतिरेकेण प्रतिपत्तेरसंभवः, ततस्तेषामभिगम्यते धर्मस्थापनार्थः, तेन सदेवेदमित्यादि सदद्वैताऽऽद्यपोह उक्तो वेदितव्यः। सदद्वैताऽऽद्यभ्युपगमेऽभिगमः गम्यतारूपधर्मानुयोगतः प्रतिपत्तेरेवासंभवात् । जी०१ प्रति०। "तिहिं दिसाहिं जीवाणं जीवाभिगमे पण्णत्ते । तं जहा-उड्ढाए, अहो,तिरियाए ! एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं,एवं मणुस्साण वि"॥ स्था०३ ठा०। " छहिं दिसाहिं जीवाणं जीवाभिगमे पण्णत्ते । पाईणाए० जाव अहाए, एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण वि,मणुस्साण वि" ॥ स्था० ६ ठा० । जीवानामुपलक्षणत्वादजीवानां चाभिगमो ज्ञानं यत्र स जीवाभिगमः । स्थानाङ्गस्योपाङ्गभूतेऽङ्गबाह्ये उत्कालिकश्रुतविशेषे च । पा० । नं० ।

जीवि [ण्]-जीविन्-पुं० । प्राणधारके,"जे एते एव जीविणो ।" य एते वनय एवं जीवन्ति पञ्चगृहाण्यन्तोऽन्तप्रान्तभोजिनो द्वाऽऽदाना मुण्डितशिरसः सर्वभोगवञ्चिता दुःखितं जीवन्तीति । सूत्र० १ श्रु० ३ श्र० १ उ० ।

जीविउकाम-जीवितुकाम-त्रि० । दीर्घकालमायुष्काभिलाषिणि, "अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा ।" यत एव प्रियजीविनोऽत एव दीर्घकालं जीवितुकामाः-दीर्घकालमायुष्काभिलाषिणः । (आचा०) "जीविउकामे लालप्पमाणे" । जीवितुकाम आयुष्कानुभवनमभिलषमाणः । आचा० १ श्रु० २ श्र० ३ उ० ।

जीविओसविय-जीवितोत्सविक-त्रि० । जीवितस्योत्सव इव जीवितोत्सवः, स एव जीवितोत्सविकः । रा० । ज्ञा० । जीवितविषये वा उत्सवो महः, स इव यः स जीवितोत्सविकः । भ० । "जीविओसविए" । भ० ए श० ३३ उ० । ज्ञा० । रा० ।

जीविओसासिय-जीवितोच्छ्वासिक-त्रि० । जीवितमुच्छ्वासयति वर्द्धयतीति जीवितोच्छ्वासः, स एव जीवितोच्छ्वासिकः । जीवितवर्द्धके, भ० ६ श० ३३ उ० । ज्ञा० ।

जीविय-जीवित-न० । प्राणधारणे, रा० । प्रश्न० । विशे० । ज्ञा० । आव० । आतु० । नि० । "जीवियं णाभिकंखेज्जा ।" जीवितं प्राणधारणलक्षणं नाभिकाङ्क्षेत । आचा० १ श्रु० ८ श्र० ८ उ० । "ते वीरा बंधणोमुक्का, नावकंखंति जीवियं ।" जीवितमसंयमजीवितं प्राणधारणं वा । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । "जीवितं दुविहं-संजमजीवियं, असंजमजीवियं च" । नि० चू० १ उ० ।

कुसियमिव कुसग्गे पणुण्णं सण्णिवइयं वातेरियं एवं बालस्स जीवियं ।

कुशाग्रोदकबिन्दुमिव बालस्य जीवितमिति संबन्धः । तत्किंभूतमित्याह-" पणुन्नं " इत्यादि । प्रणुन्नमनवरताऽपराऽपरोदकपरमाणुप्रचयात् प्रणुन्नं प्रेरितं, वातेनेरितं संनिपतितं-भाविनि भूतवदुपचारान्निपतदेव निपातितं, दार्ष्टान्तिकं दर्शयत्येवमिति-यथा-कुशाग्रमित्येवमिति । यथा-कुशाग्रे बिन्दुः क्षणसंभाविनस्थितिकः, एवं बालस्यापि जीवितम्, अवगततत्त्वो हि स्वयमेवावगच्छति । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

जीवितं दशधा । तथा चाऽऽह-

णामं ठवणा दविए, ओहे भव तब्भवे य भोगे य ।

संजम जस कित्ती जी-वियं च तं भन्नए दसहा ॥

मदृ जीवितं दशधा भण्यते । तद्यथा-नामजीवितं, स्थापनाजीवितं, द्रव्यजीवितम्, ओघजीवितं, भवजीवितं, तद्भवजीवितं, भोगजीवितं, संयमजीवितं, यशोजीवितं, कीर्त्तिजीवितं च । एष गाथासमासार्थः । व्यासार्थं तु भाष्यकारः स्वयमेव वक्ष्यति । तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य शेषभेदव्याख्यानार्थमाह-

दव्वे सचित्तादी, आउयसद्दव्वयाजीव ओहे ।

नेरइयाईण भवे, तब्भव तत्थेव उववत्ती ॥

द्रव्ये द्रव्यविषयं जीवितं, द्रव्यजीवितमित्यर्थः । सचित्ताऽऽदि सचित्तमचित्तं, मिश्रं च । इह कारणे कार्योपचाराद् येन द्रव्येण सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन पुत्रहिरण्योभयरूपेण यस्य यथा जीवितमायत्तं तस्य तथा तत्र द्रव्यजीवितमुच्यते । उक्तं द्रव्यजीवितम् । (आउयसद्दव्वयाजीव ओहे) ओघजीवितं सामान्यजीवितमायुःसद्द्रव्यता आयुःप्रदेशकर्म, तस्य द्रव्यैः सह भावता आयुःसद्द्रव्यता, आयुःकर्मद्रव्यसहचारिता, जीवस्येत्यर्थः । इदं च सामान्यजीवितं सकलसंसारिणामविशेषेण सर्वदा भावि, तत इदमङ्गीकृत्य यदि परं सिद्धा एव मृताः, न पुनरन्ये केचन । उक्तमोघजीवितम् । नैरयिकाऽऽदीनां नैरयिकतिर्यङ्नरामराणां भवे स्वस्वभवे स्थितिर्भवजीवितम् । उक्तं भवजीवितम् । (तब्भव तत्थेव उववत्ती) तस्मिन् भवे भूयो भूयो जीवितं तद्भवजीवितम् । किं तदित्याह-तत्रैवोत्पत्तिः तत्र तस्मिन्नधिकृते तिर्यग्भवे, मनुष्यभवे वा स्वकायस्थित्यनुसारेण भूयो भूय उत्पत्तिः । इदं चौदारिकशरीरिणामेवावसातव्यम्, अन्यत्र निरन्तरं भूयोभूयस्तत्रैवोत्पत्त्यभावात् । उक्तं तद्भवजीवितम् ।

भोगम्मि चक्किमाई, संजमजीयं तु संजयजणस्स ।

जसकित्ती य भयवतो, संजम नरजीव अहिगारो ॥

भोगे भोगजीवितं चक्रवर्त्यादीनाम् । आदिशब्दाद् बलदेववासुदेवाऽऽदिपरिग्रहः । उक्तं भोगजीवितम् । संयमजीवितं संयतजनस्य साधुलोकस्य । उक्तं संयमजीवितम् । यशःकीर्ती भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः । ततो यशोजीवितं कीर्त्तिजीवितं च भगवतः प्रतिपत्तव्यम् । यशःकीर्त्योश्चाय विशेषः-" दानपुण्यफला कीर्त्तिः, पराक्रमकृतं यशः । " अन्ये त्विदमेकमेवाभिदधति, केवलं संयमप्रतिपक्षभावतो दशमसंयमजीवितमावितगतं प्रतिगृह्णन्ति । आ० म० १ अ० २ खण्ड । विशे० । आ०चू० । जीवन्त्यनेनाऽऽयुष्कर्मणेति जीवितम् । प्राणधारणाऽऽत्मके आयुषि, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । "जीवियं दुप्पडिवूहगं" जीवितमायुष्कं तत् क्षीणं सत् दुष्प्रतिबृंहणीयं, दुरभावार्थो, नैव वृद्धिं नीयते इति यावत् । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । अथवा जीवितमायुष्कमसंयमजीवितं वेति । आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । " णो जीवियं णो मरणाहिकंखी । " जीवितमसंयमजीवितं, दीर्घायुष्कं वा । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । " ण य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणो पगब्भइ । " न च नैव जीवितमायुष्कं कालपर्यायेण त्रुटितं सत् पुनः (संखयमिति) संस्कर्त्तुं तन्तुवत्संधातुं शक्यते, इत्येवमाहुस्तद्विदः, तथाऽप्येवमपि व्यवस्थिते, बालोऽज्ञो जनः प्रगल्भते पापं कुर्वन् धृष्टो भवति, असदनुष्ठानरतोऽपि न लज्जत इति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । न च नैव त्रुटितं जीवितमायुः संस्कर्त्तुं संधातुं शक्यते, एवमाहुः सर्वज्ञाः । तथाहि-"दंडकलियं करित्ता, वच्चंति हु राइओ य दिवसा य । आउसं संवेल्लंता, गया य पुण नाणियत्तंति ॥१॥" तथाऽप्येवमपि व्यवस्थिते जीवानामायुषि बालजनोऽन्यो लोको निर्विवेकतया असदनुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वन् प्रगल्भते धृष्टतां याति, असदनुष्ठानेनापि न लज्जत इत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।

एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२॥

हे गौतम ! समयमात्रमपि मा प्रमादीः । तद्धेतुमाह-यथा कुशस्याग्रे अवश्यायबिन्दुर्लम्बमानः सन् स्तोकं स्तोककालं तिष्ठति वाताऽऽदिना प्रेर्यमाणः सन् पतति, तथा मनुष्याणां जीवितम् आयुरस्थिरं ज्ञेयम् । एवमायुषोऽनित्यत्वं ज्ञात्वा धर्मे प्रमादं न विधेय इत्यर्थः ॥ २ ॥

इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए ।

विहुणाहि रयं पुरा कडं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥३॥

इत्युक्तदृष्टान्तेन, इत्वरे स्वल्पकालपरिमाणे, मनुष्यस्याऽऽयुषि भो गौतम! पुरा कृतं रजः प्राचीनकृतं पातकं दुष्कर्म, विशेषेण धुनीहि जीवात् पृथक् कुरु । हे गौतम ! पुनर्जीवितके अर्थात् सोपक्रमे आयुषि, बहवः प्रत्यवाया उपघातहेतवोऽध्यवसानाऽऽदयो वर्तन्ते यस्मिन् तद् बहुप्रत्यवायकं, तस्मिन् बहुप्रत्यवायके, समयमपि मा प्रमादं कुर्याः। अत्राऽऽयुःशब्देन निरुपक्रमं आयुर्भण्यते, जीवितशब्देन सोपक्रमं भण्यते । एति प्राप्नोति उपक्रमहेतुभिरनपवर्त्यतया यथास्थित्या एव अनुभवाविति आयुः । तस्मिन्नायुषि निरुपक्रमे आयुषि स्वल्पपरिमाणेऽपि दुष्कर्म दूरीकुरु । यद्यपि पूर्वकोटिप्रमाणमायुर्भवति, तथापि देवापेक्षया स्वल्पमेव ज्ञेयम्, अतृप्तत्वात् । यदुक्तम्-" भवेषु जीवितव्येषु, रतिकामेषु भारत ! । अतृप्ताः प्राणिनः सर्वे, याता यास्यन्ति यान्ति च ॥ १ ॥ " अत्र सोपक्रमनिरुक्रमायुर्ज्ञानं केवलिन एव भवेत् । उत्त० १० अ० ।

ता किमत्थं आउसो ! नो एवं चिंतेयव्वं भवइ । अंतरायबहुले खलु अयं जीविए, इमे बहवे वाइयपित्तियसिंभियसंनिवाइया विविहा रोगाऽऽयंका फुसंति जीवियं ॥

तावदादौ किमर्थं नैवं चिन्तयितव्यम् , हे आयुष्मन् ! त्वं शृणु, यतो भवति अन्तरायबहुलं विघ्नप्रचुरमिदं, खलु निश्चये, जीवितमायुर्जीवानाम् । तथा-इमे प्रत्यक्षा बहवो वातिका वातरोगोद्भवाः, पैत्तिकाः पित्तरोगजाः (सिंभिय त्ति) श्लेष्मभवाः, सान्निपातिकाः सन्निपातजन्याः, विविधा अनेकप्रकारा रोगा व्याधयः, ते च ते आतङ्काश्च कृच्छ्रजीवितकारिण इति रोगाऽऽतङ्का जीवितं स्पृशन्तीति । तं० । शरीरे, उत्त०१० अ० ।

भगवान् श्रीमहावीरदेवो गौतमस्वामिनमुद्दिश्यान्यानपि भव्यजीवानुपदिशति-

दुमपत्तए पंडुए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥

हे गौतम ! एवमनेन दृष्टान्तेन , मनुजानां मनुष्याणां, जीवितं जानीहि, त्वं समयं समयमात्रमपि, मा प्रमादीः प्रमादं मा कुर्याः। अत्र समयमात्रग्रहणमत्यन्तप्रमादनिवारणार्थं, अनेन केन दृष्टान्तेन ?, तद् दृष्टान्तमाह-यथा रात्रिगणानामत्यये गमने, रात्रीणां गणा रात्रिगणाः कालपरिणामाः रात्रिदिवससमूहाः, तेषामत्ययेऽतिक्रमे पाण्डुरं द्रुमपत्रकं पक्वं वृन्तात् शिथिलप्रायं पर्णं निपतति, तथैव दिनानामत्यये आयुर्लक्षणे वृन्ते शिथिले जाते सति जीवितं शरीरं पतति । जीवो जातो यस्मिन् तज्जीवितं, शरीरमित्यर्थः । जीवितस्य कालस्य विनाशाभावाद् जीवितशब्देन शरीरमुच्यते । उत्त० १० अ० । जीवितमिव जीवितम् । द्वादशाङ्गे श्रुते, मर्यादायां च । विशे० । आ० म० ।

जीवियंतकरण-जीवितान्तकरण-पुं० । प्राणवधे, प्राणवधस्यैतद् गौणं नाम । प्रश्न०१ आश्र० द्वार ।

जीवियट्ठि [ण्]-जीवितार्थिन्-पुं० । जीवितुकामे, " जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी । " दश० ९, अ० १ उ० । आचा० । सूत्र० । " आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी । " इहासंयमजीवितार्थी प्रभूतकालं सुखेन जीविष्यामीत्येतदध्यवसायी आयं कर्माऽऽश्रवलक्षणं न कुर्यात् । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

जीवियणाम [ण्]-जीवितनामन्-न० । जीविकाहेतौ नामनि, अनु० । " से किं तं जीवियणामे ? । जीवियणामे अवकरए उक्कुरुडिए उज्झिअए कज्जवए सुप्पए । सेत्तं जीवियणामे । " " से किं तं जीवियणामे" इत्यादि । इह यस्या जातमात्रमपत्यं म्रियते सा लोकस्थितिवैचित्र्याज्जातमात्रमपि किञ्चिदपत्यं जीवननिमित्तमवकराऽऽदिष्ववस्यति तस्य चावकरक उत्कुरुटक इत्यादि यन्नाम क्रियते तज्जीविकाहेतोः स्थापनानामाऽऽख्यायते । (सुप्पए त्ति) सूर्पे कृत्वा त्यज्यते, तस्य सूर्पक एव नाम स्थाप्यते, शेषं प्रतीतम् । अनु० ।

जीवियभावणा-जीवितभावना-स्त्री० । जीवसमाधानकारिण्यां भावनायाम्, सूत्र० ।

यथा भूतेषु मैत्री संपूर्णभावमनुभवति तथा दर्शयितुमाह-

भूएहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे वुसीमओ ।
साहू जगं परिन्नाय, अस्सिं जीवितभावणा ॥ ४ ॥

" भूएहिं " इत्यादि । भूतैः स्थावरजङ्गमैः सह विरोधं न कुर्यात् , तदुपघातकारिणमारम्भं तद्विरोधकारणं दूरतः परिवर्जयेदित्यर्थः । स एषोऽनन्तरोक्तो भूताविरोधकारी, धर्मः स्वभावः,पुण्याऽऽख्यो वा,(वुसीमओ त्ति) तीर्थकृतोऽयं सत्संयमवतो वेति । तथा सत्संयमवान् साधुस्तीर्थकृज्जगच्चराचरभूतग्रामाऽऽख्यं केवलाऽऽलोकेन सर्वज्ञप्रतीताऽऽगमपरिज्ञानेन वा परिज्ञाय तस्मिन्नवबुध्यास्मिन् जगति मौनीन्द्रे वा धर्मे भावनाः पञ्चविंशतिरूपा द्वादशप्रकारा वा या जिनमतास्ता जीवितभावना जीवसमाधानकारिणीः सत्संयमाङ्गतया मोक्षकारिणीर्भावयेदिति । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

जीवियमरणनिरवकंख-जीवितमरणनिरवकाङ्क्ष-त्रि० । जीवितमरणयोर्विषये निरवकाङ्क्षो जीवितमरणनिरवकाङ्क्षः । जीवितमरणयोर्विषये वाञ्छारहिते, कल्प० ६ क्षण ।

जीवियरसभ-जीविकरसभ-पुं० । साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिकभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जीवियरेहा-जीवितरेखा-स्त्री० । मणिबन्धादुत्थाय तर्जन्यङ्गुष्ठकान्तर्गतायां रेखायाम्, कल्प० ।

" मणिबन्धात्पितुर्लेखा, करभाद्विभवायुषोः ।
लेखे द्वे यान्ति तिस्रोऽपि, तर्जन्यङ्गुष्ठकान्तरम् ॥ ११ ॥
येषां रेखा इमास्तिस्रः, संपूर्णा दोषवर्जिताः ।
तेषां गोत्रधनायूंषि, संपूर्णान्यन्यथा न तु ॥ १२ ॥
उल्लङ्घ्यन्ते च यावन्त्यो-ऽङ्गुल्यो जीवितरेखया ।
पञ्चविंशतयो ज्ञेया-स्तावन्त्यः शरदां बुधैः " ॥ १३ ॥ कल्प० १ क्षण ।

जीविया-जीविका-स्त्री० । ' जीव ' आकन्-इत्वम् । जीवनोपाये, आजीवने च । वाच० । वृत्तौ, स्था० ४ ठा० ३ उ० । आजन्मनिर्वाहे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । " सा जीविया पट्ठविया चिरेण । " सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

जीवियारिह-जीविकाऽर्ह-त्रि० । जीविकोचिते, भ० ११ श० ११ उ० । आजन्मनिर्वाहयोग्ये, " विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलइ । " ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । औ० ।

जीवियासंसप्पओग-जीविताऽऽशंसाप्रयोग-पुं० । जीवितं प्रत्याशंसा-चिरं मे जीवितं भवत्विति जीविताऽऽशंसाप्रयोगः। आशंसा-

प्रयोगभेदे, स्था० १० ठा० । जीवितं प्राणधारणं, तदाशंसायास्तदभिलाषस्य प्रयोगः, यदि बहुकालमहं जीवेयमिति । संलेखनायास्तृतीयेऽतिचारे, उपा० १ अ० । तथा कश्चित्कृतानशनः प्रभूतपौरजनव्रातविहितमहामहः सततावलोकनात्प्रचुरवन्द्यवृन्दवन्दनसंमर्ददर्शनात् अस्तोकविवेकिलोकसत्कृतश्लोकसमाकर्णनात् पुरतः संभूय भूयो भूयः साधर्मिकजनविधीयमानोपबृंहणश्रवणात् अनघसमस्तसङ्घजनमध्यसमारब्धपुस्तकवाचनवस्त्रमाल्याऽऽदिसत्कारनिरीक्षणाच्चैवं मन्यते-प्रतिपन्नानशनस्यापि मम जीवितमेव सुचिरं श्रेयः, यत एवंविधा मदुद्देशेन विभूतिर्वर्तत इति जीविताऽऽशंसाप्रयोगः । ध० २ अधि० । आ० चू० । आ० ।

जीवियासंसा-जीविताऽऽशंसा-स्त्री० । प्राणधारणाभिलाषायाम, उपा० १ अ० । जीवितं प्राणधारणं, तत्र पूजाविशेषदर्शनात् प्रभूतपरिवाराऽऽदिविलोकनात् सर्वलोकश्लाघाश्रवणाच्च एवं मन्यते-जीवितमेव श्रेयः, प्रत्याख्यातचतुर्विधाऽऽहारस्यापि यत एवंविधा मदुद्देशेनेयं विभूतिर्वर्तत इत्याशंसेति तृतीयः । जीविताऽऽशंसासंलेखनायास्तृतीयेऽतिचारे, ध० ३ अधि० ।

जीवियासा-जीविताऽऽशा-स्त्री० । जीवितप्राप्तिसंभावनायाम, भ० १२ श० ५ उ० । जीवितस्य प्राणधारणस्याऽऽशा वाञ्छा जीविताऽऽशा । प्राणधारणवाञ्छायाम्, रा० । नि० । ज्ञा० । आजकषायभेदे, स० ५२ ।

जीवियासामरणभयविप्पमुक्क-जीविताऽऽशामरणभयविप्रमुक्त-त्रि० । जीवितस्य प्राणधारणस्याऽऽशा वाञ्छा मरणाच्च यद्भयं, ताभ्यां विप्रमुक्तो जीविताऽऽशामरणभयविप्रमुक्तः । जीविताऽऽशामरणभयोपेक्षके, नि० १ वर्ग १ अ० । ज्ञा० । रा० ।

जीवुप्पत्ति-जीवोत्पत्ति-स्त्री० । त्रसस्थावरान्यतरप्राणिप्रादुर्भावे, सेन० ।

अथ कुंअरपं० कनकविजयगणिकृतप्रश्नाः, तदुत्तराणि च-अचित्ताशनाऽऽदिचतुष्कमध्ये रात्रौ त्रसजीवानां स्थावरजीवानां चोत्पत्तिर्भवति, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-रात्रावचित्ताशनाऽऽदिचतुष्कमध्ये "तज्जोणिआण जीवाणं,तहा संपाइमाण य । निसि भत्ते वहो दिट्ठो,सव्वदंसीहि सव्वहा" ॥१॥ इतिश्राद्धदिनकृत्यसूत्रवचनात्, तथा-"अक्खइ तिहुअणणाहो, दोसो संसत्ति होइ राईए । भत्ते तग्गंधरसा, रसेसु रमिआ, जिआ हुंति" ॥१॥ इति वृद्धकगाथाऽनुसारेण च स्थावरजीवोत्पत्तिः संभाव्यते, न तत्र त्रसजीवानाम्, रात्रियोगादिति । ४८ प्र० । सेन २ उल्ला० ।

जीवोद्धरण-जीवोद्धरण-न० । मन्त्रशास्त्रभेदे, स्था० ६ ठा० ।

जीह-लस्ज-धा० । व्रीडायाम, भ्वादि०-आत्म०-अक०-सेट् । "लस्जेर्जीहः" ॥८।४।१०३॥ इति प्राकृतसूत्रेण लस्जेर्जीहाऽऽदेशः । जीहइ, लज्जइ । प्रा०४ पाद । लज्जते, अलज्जिष्ट । निष्ठायामनिट्, तस्य नः । लग्नः । वाच० ।

जीहगार-जिह्वाकार-पुं० । 'जिब्भगार' शब्दार्थे, प्रज्ञा० १ पद ।

जीहा-जिह्वा-स्त्री० । 'जिब्भा' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद । रसनेन्द्रिये, बृ० १ उ० ।

जीहादुट्ठ-जिह्वादुष्ट-पुं० । 'जिब्भादुट्ठ' शब्दार्थे, आव० ४ अ० ।

जीहादोस-जिह्वादोष-पुं० । 'जिब्भादोस' शब्दार्थे, आव०४ अ० ।

जीहादोसणिवुत्त-जिह्वादोषनिवृत्त-त्रि० । रसगृद्धिरहिते, बृ० १ उ० ।

जीहामयदुक्ख-जिह्वामयदुःख-न० । 'जिब्भामयदुक्ख' शब्दार्थे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

जीहामयसोक्ख-जिह्वामयसौख्य-न० । 'जिब्भामयसोक्ख' शब्दार्थे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

जीहिंदिय-जिह्वेन्द्रिय-न० । 'जिब्भिंदिय' शब्दार्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जीहिंदियनिग्गह-जिह्वेन्द्रियनिग्रह-पुं० । 'जिब्भिंदियनिग्गह' शब्दार्थे, उत्त० २६ अ० ।

जीहिंदियसंवर-जिह्वेन्द्रियसंवर-पुं० । 'जिब्भिंदियसंवर' शब्दार्थे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

जु-जु-पुं० । वेगे, नभसि, स्वके, गतौ, स्त्री० । एका० ।

यु-त्रि० । यौति पृथग् भवतीति युः । क्विपि छान्दसत्वाद्गुणाभावः । पृथग्भूते, जै० गा० । अपृथग्भूते च । 'यु' मिश्रणेऽमिश्रणे चेति वचनात् । जै० गा० ।

जुअल-देशी-तरुणे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जुआलिअ-देशी-द्विगुणिते, दे० ना० ३ वर्ग ।

जुइ-द्युति-[ती]-स्त्री० । द्युत इन् वा ङीप् । "द्ययर्या जः" ८ । २ । २४ । इति प्राकृतसूत्रेण जः । प्रा० २ पाद । स्फुरणे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । शरीराऽऽभरणाऽऽदिदीप्तौ, स० ३० सम० । औ० । सूत्र० । द्युतिवक्तव्यताप्रतिबद्धे निरयाऽऽवलिकोपाङ्गस्य वृष्णिदशानामकपञ्चमवर्गस्य षष्ठेऽध्ययने, नि० १ वर्ग० । (तद्वक्तव्यता निशठवत्, सा च 'निसढ' शब्दे वक्ष्यते) आन्तरे तेजसि, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । तपोदीप्तौ, तेजोलेश्यायाम, उत्त० १ अ० । माहात्म्ये च, द्युतिः प्रभा माहात्म्यमित्यर्थः । स्था० ६ ठा० । कान्तौ, शोभायाम, प्रकाशे च । वाच० । 'जु' क्तिन् । इष्टार्थसम्प्रयोगे च, 'जु' अभिगमने इति वचनात् । जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० ।

युति-स्त्री० । पुं० । क्तिन् । मिश्रीकरणे, प्रश्न० ६ द्वार । युक्तौ, इष्टपरिवाराऽऽदिसंयोगे, स्था० । (जुइ त्ति) द्युतिर्दीप्तिः शरीराऽऽभरणाऽऽदिसंभवा, युतिर्वा युक्तिरिष्टपरिवाराऽऽदिसंयोगलक्षणेति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । वस्तुघटनायां च, (सव्वज्जुईए) सर्वद्युत्याऽऽभरणाऽऽदिसंबन्धिन्या सर्वयुक्त्या वा उचितेषु वस्तुघटनालक्षणयेति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । द्युत्या यथाशक्ति विस्फारितेन शरीराऽऽभरणतेजसेति । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

जुइमं-द्युतिमत्-त्रि० । द्युतिर्दीप्तिरनिशायिनी विद्यते यस्य सः । उत्त० ५ अ० । दीप्तिमति, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । तेजस्विनि, उत्त० १८ अ० । आचा० ।

जुई-द्युति-स्त्री० । द्युत इन् ङीप् । 'जुइ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

जुउंछ-जुगुप्स-स्त्री० । 'गुप्' निन्दायां स्वार्थे सन् । "जुगु-

प्सेर्कुण-दुगुच्छ-दुगंछाः " ॥ ८ । ४ । ४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण जुगुप्सेरेते त्रय आदेशाः । झुणइ, दुगुच्छइ, दुगंछइ । पक्षे-जुगुच्छइ । गलोपे-दुउच्छइ, दुउंछइ । पक्षे-जुउच्छइ, जुउंछइ । प्रा० ४ पाद । वाच० ।

जुउंछिय-जुगुप्सित-त्रि० । निन्दिते, नि० चू० ४ उ० ।

जुंगिय-जुङ्गिक-पुं० । जातिकर्मशरीराऽऽदिभिर्दूषिते, ग० । जातिकर्मशरीराऽऽदिभिर्दूषितो जुङ्गितः । तत्र मातङ्गकौलिकवरुटसूचिकछिम्पकाऽऽदयोऽस्पृश्या जातिजुङ्गिताः स्पृश्या अपि, स्त्रीमयूरकुक्कुटाऽऽदिपोषकाः वंशवरत्राऽऽरोहणा नापितसौकरिकवागुरिकाऽऽदिनिन्दितकर्मकारिणः कर्मजुङ्गिताः, करचरणकर्णाऽऽदिवर्जिताः पङ्गुकुब्जवामनककाणप्रभृतयः शरीरजुङ्गिताः । ग० १ अधि० । ध० । व्य० । नि० चू० । (जुङ्गितस्य दीक्षाऽनर्हत्वं 'आयरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३२१ पृष्ठे उक्तम्)

बितियपदे दिक्खेज्जा-

जाहे य माहणेहिं, परिभुत्ता कम्मसिप्पपरिविरता ।
अद्वाणए विदेसे, दिक्खा से उत्तिमट्ठे य ॥ ४१६ ॥

जाहे जुंगितो महायणमाहणेहिं परिभुत्ता ताहे दिक्खिज्जंति, कम्मसिप्पविरता माहणादिभुत्ता तया दिक्खिज्जंति, सरीरजुंगितो अ दिक्खत्तो उत्तिमट्ठे वा । नि० चू० ११ उ० । पं० भा० । पं० चू० ।

जुङ्गित-पुं० । जातिकर्मशरीराऽऽदिभिर्दूषिते, ग० १ अधि० । खण्डीकृते, व्य० ३ उ० । पिं० ।

जुंगियंग-जुङ्गिताङ्ग-त्रि० । व्यङ्गिते, स्था० ५ ठा० ३ उ० । कर्तितहस्तपादाऽऽद्यवयवे, पिं० ।

जुंज-युज्-धा० । बन्धने, युतौ च । चुरा०-उभ० । पक्षे-भ्वादि०-पर०-सक०-सेट् । " युजो जुंजजुज्जजुप्पाः " ॥ ८ । ४ । १०९ । इति प्राकृतसूत्रेण युजेरेते त्रय आदेशाः । जुंजइ, जुज्जइ, जुप्पइ । योजयति, योजयते । प्रा०४ पाद । योगे, समाधौ, दिवा०-अक०-अनिट् । युज्यते, अयुक्त । वाच० । ' जुंजइ य जहत्थामं । ' ' युजिर् ' योगे, योजयति च । नि० चू० १ उ० ।

जुंजण-योजन-न० । 'युज्' भावादौ ल्युट् । संयोगे, णिच् ल्युट् । संयोगकरणे, वाच० । व्यापारणे, " इंदियाण य जुंजणे " श्रोत्रनेत्ररसनानासात्वगादीनामिन्द्रियाणां शब्दरूपरसगन्धस्पर्शाऽऽदिविषयेषु व्यापारणे, उत्त० २४ अ० । " सव्विंदियजोगजुंजणया । " स्था० ७ ठा० ।

जुंजणा-योजना-स्त्री० । व्यापारणे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

जुंजणाकरण-योजनाकरण-न० । मनःप्रभृतीनां व्यापारणकरणे, नोश्रुतकरणभेदे च । नोश्रुतकरणभेदमाधिकृत्य-"तह य जुंजणाकरणं । " योजनाकरणं च मनःप्रभृतीनां व्यापारणम् । (आ० म०)

साम्प्रतं योजनाकरणं व्याचिख्यासुराह-

जुंजणाकरणं तिविहं, मणवयकाए मणसि सच्चाई ।
सट्ठाणे तब्भेदो, चउ चउहा सत्तहा चेव ॥

योजनाकरणं त्रिविधम् । तद्यथा-मनोवाक्काये मनोवाक्कायविषयं-मनोविषयं, वाग्विषयं, कायविषयं चेत्यर्थः । तत्र मनसि सत्याऽऽदिकं यद् योजनाकरणम् । तद्यथा-सत्यमनोयोजनाकरणम्, असत्यमनोयोजनाकरणम्, सत्यामृषामनोयोजनाकरणम्, असत्यामृषामनोयोजनाकरणमिति । स्वस्थाने प्रत्येकं मनोवाक्कायलक्षणे, तेषां योजनाकरणानां, भेदो विभागो वक्तव्यः । तद्यथा-चतुर्धा, चतुर्धा, सप्तधा चैवेति । अयमत्र भावार्थः-चतुर्भेदं सत्यमनोयोजनाकरणाऽऽदि दर्शितम्, एवं वाग्योजनाकरणमपि सत्यवाग्योजनाकरणमिति । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० ।

जुंजुरुक्को-देशी-अपरिग्रहे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जुगंछ-जुगुप्स-' जुउंछ ' शब्दार्थे, प्रा०४ पाद ।

जुग-जुग-धा० । त्यागे, भ्वादि०-पर०-सक०-सेट्, इदित् । जुङ्गति, अजुङ्गीत् । वाच० ।

युग-धा० । वर्जने, भ्वादि०-पर०-सक०-सेट्, इदित् । वाच० । युजि-अच् , पृषो०-नलोपः । युग्मे, द्वित्वसंख्याऽन्विते, वृद्धिनामौषधे, हस्तचतुष्कपरिमाणे च । न० । वाच० । चतुर्हस्तप्रमाणे यूपे, प्रव० १०४ द्वार । प्रश्न० । स्था० । भ० । तं० । जी० । शकटाङ्गविशेषे, जं० ३ वक्ष० । " छुहंते भंजए जुगं । " युगं जूसरम् । उत्त० २ अ० । " उसु चोइया तत्तजुगेसु जुत्ता । " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । " सुजायजुगजुत्तउज्जुगपसत्थसुविरइयनिम्मियं । " उपा० २ अ० । ज्ञा० । शकटाङ्गविशेषाऽऽत्मके करचरणस्थे पुरुषलक्षणविशेषे, जं० ३ वक्ष० । चतुर्विंशत्यङ्गुलमानैश्चतुर्भिर्हस्तैर्निष्पन्नेऽवमानप्रमाणसाधनेऽवमानविशेषे, अनु० । यदवमीयते खाताऽऽदि तदवमानम् । केनावमीयते?, इत्याह-"हत्थेण वा दंडेण वा धणुक्केण वा जुगेण वा नालिआए वा अक्खेण वा मूसलेण वा । " चतुर्भिर्हस्तैर्निष्पन्ना अवमानविशेषा दण्डधनुर्युगनालिकाक्षमुशलरूपाः षट् संज्ञाः लभन्ते । अत एवाऽऽह-"दंड धणू जुगनालिया य अक्खं मुसलं च चउहत्थं । " अनु० । जं० । ज्यो० । स० । लोकप्रसिद्धे कृतयुगाऽऽदिके सत्यत्रेताद्वापरकलिरूपे कालविशेषे, स्था० । पञ्चवर्षाऽऽत्मके सुषमदुष्षमाऽऽदिके कालमानविशेषे च । स्था० ३ ठा० ४ उ० । "पंचसंवच्छरिए जुगे" जं० २ वक्ष० । कर्म० । विशे० । स्था० । अनु० । आ० म० । तं० । भ० । कल्प० । ज्ञा० । (तानि पञ्च संवत्सराणि ' पव्व ' शब्दे वक्ष्यामः)

तथा-

चंदो चंदो अभिव-ड्ढिओ य चंदमभिवड्ढिओ चेव ।
पंचसहियं जुगमिणं, दिट्ठं तेलोक्कदंसीहिं ॥

चान्द्रश्चान्द्रस्तदनन्तरमभिवर्द्धितभूतो भूयश्चान्द्रः । अत्र मकारोऽलाक्षणिकः । ततोऽभिवर्द्धितः । एतैः पञ्चभिर्वर्षैः सहितम् । किमुक्तं भवति?, एतत् पञ्चवर्षात्मकं युगम् । इत्थम्भूतं युगमिदं दृष्टं त्रैलोक्यदर्शिभिः सर्वज्ञैस्तीर्थकृद्भिः, ततोऽवश्यमिदं तथेति श्रद्धेयम् ।

एतदेव व्याख्यानयति-

पढमबिइयाउ चंदा, तइअं अभिवड्ढियं वियाणाहि ।
चंदे चेव चउत्थं, पंचममभिवड्ढियं जाण ॥

युगे पञ्चसंवत्सराऽऽत्मकेऽनन्तरमुद्दिष्टे प्रथमद्वितीयौ संवत्सरौ चान्द्रौ ज्ञातव्यौ, तृतीयसंवत्सरमभिवर्धितं जानीहि । चतुर्थ-

संवत्सरं भूयश्चान्द्रमेव जानीहि, पञ्चममभिवर्द्धितम् । अत्र ये चान्द्राः संवत्सराः,ते द्वादशमासिकाः,यौ तु द्वावभिवर्द्धिताऽऽख्यौ संवत्सरौ, तौ त्रयोदशमासिकौ चान्द्रमासप्रमाणेन । अत्र द्वितीयस्य चान्द्रसंवत्सरस्य य आदिसमयस्तदनन्तरं पश्चाद्भावी समयः प्रथमचान्द्रसंवत्सरस्य पर्यवसानं च । तदानीं च चन्द्रमसो योग उत्तराषाढाभिः,उत्तराषाढानां च तदानीं शेषीभूताः षड्विंशतिर्मुहूर्त्ताः,षड्विंशतिश्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्काश्चतुःपञ्चाशद् भागाः। उक्तं च-"जे णं दोच्चचंदसंवच्छरस्स आई से णं पढमस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरं पच्छाकडे समए तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता उत्तराहिं आसाढाहिं,उत्तराणं आसाढाणं छव्वीसमुहुत्ता, छव्वीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स,बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता चउपण्णासं चुण्णिया सेसा" इति । तदानीं च सूर्यस्य योगः पुनर्वसुनक्षत्रेण, पुनर्वसुनक्षत्रस्य च तदा शेषीभूताः षोडश मुहूर्त्ताः, अष्टौ द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्का विंशतिर्भागाः । उक्तं च—"तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता पुणव्वसुणा , पुणव्वसुस्स सोलस मुहुत्ता, अट्ठ य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स , बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता वीसं चुण्णिया भागा सेसा" इति । तृतीयस्याभिवर्द्धिताऽऽख्यस्य संवत्सरस्य य आदिसमयस्तदनन्तरं पश्चाद्भावी समयो द्वितीयस्य चान्द्रसंवत्सरस्य पर्यवसानं,तदानीं च चन्द्रमसो योगः पूर्वाषाढाभिः, तासां च पूर्वाषाढानां शेषीभूताः सप्त मुहूर्त्तास्त्रिपञ्चाशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्का एकोनचत्वारिंशद्भागाः । उक्तं च-"जे णं तच्चस्स अभिवड्डियसंवच्छरस्स आई से णं दोच्चस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरं पच्छा कडे समए तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता पुव्वाहिं आसाढाहिं, पुव्वाणं आसाढाणं सत्त मुहुत्ता, तिपण्णासं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिं च सत्तट्ठिहा छित्ता उणयालीसं चुण्णिया भागा सेसा" इति । तदानीं च सूर्यस्य योगः पुनर्वसुनक्षत्रेण, तस्य च पुनर्वसुनक्षत्रस्य तदा शेषीभूता द्विचत्वारिंशन्मुहूर्त्ताः,पञ्चत्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्काः सप्त भागाः । उक्तं च-"तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स बायालीसं मुहुत्ता,पणतीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता सत्त चुण्णिया भागा सेसा" इति । चतुर्थस्य संवत्सरस्य य आदिसमयस्तदनन्तरं पश्चाद्भावी समयस्तदनन्तरमभिवर्द्धिताऽऽख्यस्य संवत्सरस्य पर्यवसानं,तदानीं च चन्द्रमसो योग उत्तराषाढाभिः, तासामुत्तराषाढानां शेषीभूतानां तदानीं त्रयोदश मुहूर्त्तास्त्रयोदश च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्काः सप्तविंशतिर्भागाः । उक्तं च-" जे णं चउत्थस्स संवच्छरस्स आई से णं तच्चस्स अभिवड्डियसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरं पच्छे कडे समए तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं तेरस मुहुत्ता, तेरस य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता सत्तावीसं चुण्णिया भागा सेसा" इति । तदानीं च सूर्यस्य योगः पुनर्वसुनक्षत्रेण,पुनर्वसुनक्षत्रस्य च तदा द्वौ मुहूर्त्तौ षट्पञ्चाशद् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्काः षष्टिभागाः शेषाः । उक्तं च-" तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ?। ता पुणव्वसुणा,पुणव्वसुस्स दो मुहुत्ता छप्पण्णं बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स,बावट्ठिं च सत्तट्ठिहा छित्ता सट्ठी चुण्णिया भागा सेसा " इति । पञ्चमस्याभिवर्द्धितस्य संवत्सरस्य य आदिसमयस्तदनन्तरं पश्चाद्भावी समयश्चतुर्थस्य चान्द्रस्य संवत्सरस्य पर्यवसानं, तदा च चन्द्रमसो योग उत्तराषाढानक्षत्रेण,तस्य चोत्तराषाढानक्षत्रस्य तदानीं शेषीभूता एकोनचत्वारिंशन्मुहूर्त्ताश्चत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा प्रविभक्तस्य सप्तचत्वारिंशद् भागाः । उक्तं च-" जे णं पंचमस्स अभिवड्डियसंवच्छरस्स आई से णं चउत्थस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरं पच्छाकडे समए तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं गुणतालीसं मुहुत्ता, चत्तालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता छीयालीसं (?) चुण्णिया भागा सेसा " इति । तदानीं च योगः सूर्यस्य पुनर्वसुनक्षत्रेण, तस्य च पुनर्वसुनक्षत्रस्य तदा शेषीभूता एकोनत्रिंशन्मुहूर्त्ताः,एकविंशतिर्द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्काः सप्तचत्वारिंशद् भागाः। उक्तं च-"तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स अउणातीसं मुहुत्ता एगवीसं च बावट्ठिभागा, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता छायालीसं(?)चुण्णिया भागा सेसा" इति । यश्च द्वितीयस्य युगस्याऽऽदिभूतस्य चन्द्रसंवत्सरस्य प्रथमसमयस्तदनन्तरं पश्चाद्भावी समयः पञ्चमस्याभिवर्द्धितसंवत्सरस्य पर्यवसानं तदानीं चन्द्रमसो योग उत्तराषाढानक्षत्रेण, सोऽपि चरमसमयवर्ती सूर्यस्याऽपि च पुष्यनक्षत्रेण, पुष्यस्याऽपि च तदानीं शेषीभूता एकविंशतिर्मुहूर्त्तास्त्रयश्चत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य त्रयस्त्रिंशद् भागाः । उक्तं च-"ता जे णं पढमस्स चंदसंवच्छरस्स आई से णं पढमस्स अभिवड्डियसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरं पच्छाकडे समए तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता उत्तराहिं आसाढाहिं,उत्तराणं आसाढाणं चरमसमए। तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता पुस्सेणं, पुस्सस्स एक्कवीसं मुहुत्ता तेयालीसं च, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता तेत्तीसं चुण्णिया भागा सेसा" इति । सर्वत्र च सूर्यनक्षत्रयोगचिन्तायां मुहूर्त्ताः सूर्यमुहूर्त्ता वेदितव्याः, न तु व्यावहारिकाः ।

संप्रति युगेऽपि तौल्यरूपतया मेयरूपतया च
परिमाणमनिर्दिशन् प्रतिपादयन्नाह-

चंदमभिवड्डियाणं, वामाणं पुव्ववन्नियाणं च ।
तिविहं पि तं पमाणं, जुगम्मि सव्वं निरवसेसं ॥

चन्द्राभिधानानां त्रयाणां संवत्सराणां, द्वयोश्चाभिवर्द्धितसंवत्सरयोरित्यर्थः । कथंभूतानामित्याह-पूर्ववर्णितानां पूर्वं प्राक् अहोरात्राऽऽदिप्रमाणेन तौल्यरूपतया चाऽभिहितानां,समुदायरूपे युगे त्रिविधमप्यहोरात्राऽऽदिरूपतया तत्प्रमाणं सर्वं निरवशेषमवगन्तव्यम् । तत्राहोरात्रप्रमाणं युगेऽष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि । १८३० । तथाहि—युगे चान्द्रसंवत्सरास्त्रयः, द्वौ चाभिवर्द्धितसंवत्सरौ, चान्द्रसंवत्सरे चैकस्मिन्नहोरात्राणां त्रीणि शतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि । द्वादश च द्वाषष्टिभाग

अहोरात्रस्य ३५४ । $\frac{३}{६२}$ । तदेतत् त्रिभिर्गुण्यते, जातान्यहोरात्राणां दश शतानि द्वाषष्ट्यधिकानि षट्त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य १०६२ । $\frac{३६}{६२}$ । अभिवर्द्धितसंवत्सरे चैकस्मिन्नहोरात्राणां त्रीणि शतानि त्र्यशीत्यधिकानि, चतुश्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य ३८३ । $\frac{४४}{६२}$ । एतद् द्वाभ्यां गुण्यते, जातानि सप्त शतानि षट्षष्ट्यधिकानि, अहोरात्रस्य प्रकृताश्च षट्त्रिंशद् द्वाषष्टिभागा अष्टाशीतौ प्रक्षिप्यन्ते, जातं चतुर्विंशत्यधिकं शतम् १२४ । तस्य द्वाषष्ट्या भागे हृते लब्धौ द्वावहोरात्रौ, तौ पूर्वेष्वहोरात्रेषु मध्ये प्रक्षिप्येते, ततः सर्वसंकलनया जाता अहोरात्रा अष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । एतावन्तो युगेऽहोरात्राः। यदा तु मुहूर्त्तपरिमाणं चिन्त्यते,तदा एकैकस्मिन्नहोरात्रे त्रिंशन्मुहूर्त्ता इत्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि अहोरात्राणां त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि नवशतानि ५४९०० । एतावन्तो युगे मुहूर्ताः। तथा चोक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ-'पंचसंवच्छरिए णं भंते ! जुगे केवइया मुहुत्ता पन्नत्ता ?। गोयमा ! पंचसंवच्छरिए णं जुगे दस अयणा, तीसं उऊ, सट्ठी मासा, एगे वीसुत्तरे पक्खसए, अट्ठारस तीसा अहोरत्तसया, चउपण्णं मुहुत्तसहस्सा नव सया पन्नत्ता" इति । (जं० ७ वक्ष०) अत्र षष्टिर्मासा विंशत्युत्तरं च पक्षशतं सूर्यसंवत्सरापेक्षया द्रष्टव्यम्, ततो न कश्चिद् वक्ष्यमाणपौर्णमास्यादिसंख्यानेन । एकस्मिन्मुहूर्त्तोपरि चत्वार आढकाः, ततो यन्मुहूर्त्तपरिमाणं चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि नवशतानि तत् चतुर्भिर्गुण्यते ततो यथोक्तमाढकपरिमाणं भवति । तथा-एकैकस्मिन्नहोरात्रे मेयरूपतया परिमाणं त्रयो भाराः, अहोरात्राणां च युगे अष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि, ततस्तानि त्रिभिर्गुण्यन्ते, जातानि चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि नवत्यधिकानि ५४९०। एतावन्तो भारा युगे । ज्यो० २ पाहु० ।

युगेऽयनाऽऽदिप्रमाणं पृच्छन्नाह—

पंचसंवच्छरिए णं भंते ! जुगे केवइआ अयणा, केवइआ उऊ, एवं मासा, पक्खा, अहोरत्ता, केवइआ मुहुत्ता पण्णत्ता ? । गोयमा ! पंचसंवच्छरिए णं जुगे दस अयणा, तीसं उऊ, सट्ठी मासा, एगे वीसुत्तरे पक्खसए, अट्ठारस तीसा अहोरत्तसया, चउपण्णं मुहुत्तसहस्सा णव सया पण्णत्ता ॥

"पंचसंवच्छरिए णं भंते ! जुगे" इत्यादि । पञ्च संवत्सराः सौरा मानमस्येति पञ्चसांवत्सरिकं युगम्, अनेन नोत्तरसूत्रेण "दस अयणा" इत्यादिकेन विरोधः, चान्द्रसंवत्सरोपयोगिनां चान्द्रायणानां तु चतुस्त्रिंशदधिकशतस्य संभवात् । जं० ७ वक्ष० ।

संप्रति युगे सर्वसंख्यया तिथिपरिमाणमहोरात्रपरिमाणं च प्रतिपादयति-

अट्ठारस सट्ठिसया, तिहीण नियमा जुगम्मि नायव्वा ।
तत्थेव अहोरत्ता, तीसा अट्ठारससया उ ॥

इह तिथयः शशिसंभवाः, अहोरात्रास्तु सूर्यसंभवाः, तत्र युगे तिथीनां नियमादवश्यमष्टादश शतानि षष्ट्यधिकानि ज्ञातव्यानि। कथमिति चेत् ? । उच्यते-इह सूर्यैककमर्द्धमण्डलमेकेनाहोरात्रेण परिमितिं मापयति, तस्य चाहोरात्रस्य षष्टिभागो वर्द्धते, युगे चाहोरात्राणामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि । तत एकषष्टिभागा अपि प्रवर्द्धमाना एतावन्तो लभ्यन्ते । तत एतेषां तिथिकरणार्थमेकषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रिंशत्तिथयः, ता अहोरात्रस्योपर्यधिकत्वेन प्रक्षिप्यन्ते । तत आगतं यथोक्ततिथिपरिमाणमिति । तथा तत्रैवैकस्मिन् युगे अहोरात्रा अष्टादश शतानि त्रिंशानि-त्रिंशदधिकानि भवन्ति । तथाहि-एकस्मिन् युगेऽन्यूनातिरिक्तानि पञ्च सूर्यवर्षाणि भवन्ति, एकैकस्मिंश्च सूर्यवर्षे त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि अहोरात्राणां, तानि पञ्चभिर्गुण्यन्ते,ततो यथोक्तमहोरात्रपरिमाणं भवति ॥

तत्थ पडिमिज्जमाणे, पंचहिँ माणेहि पुव्वगणिएहिं ।
मासेहिँ विभज्जित्ता, जइ मासा होंति ते वोच्छं ॥

तत्रानन्तरोक्तस्वरूपे युगे पञ्चभिर्मानैर्मानसंवत्सरैः,आदित्यसंवत्सराऽऽदिभिरित्यर्थः । पूर्वगणितैः प्राक्प्रतिसंख्यातस्वरूपैः, प्रतिमीयमाने परिगण्यमाने , मासैः सूर्याऽऽदिमासैः, विभज्यमाना मासा यावन्तो भवन्ति तान् वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति--

आइच्चेण उ सट्ठी, मासा उउणा उ होंति एगट्ठी ।
चंदेण य बावट्ठी, सत्तट्ठी होंति नक्खत्ती ॥

आदित्येन आदित्यमासेन विभज्यमाना मासा युगे भवन्ति षष्टिः षष्टिसंख्याः । तथाहि-सूर्यमासे सार्द्धास्त्रिंशदहोरात्राः, युगे चाहोरात्राणामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि, तत एतेषां सार्द्धत्रिंशदहोरात्रैर्भागे ह्रियमाणे षष्टिर्मासा लभ्यन्ते । तथा ऋतुना ऋतुसंवत्सरस्य सत्कैर्मासैर्विभज्यमाने युगे एकषष्टिर्मासा भवन्ति । ऋतुमासो हि त्रिंशदहोरात्रप्रमाणः, ततोऽष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानां त्रिंशता भागे हृते एकषष्टिरेव लभ्यत इति । तथा चान्द्रेण चान्द्रसंवत्सरसत्केन मासेन च विभज्यमाना मासा युगे सर्वसंख्यया द्वाषष्टिर्भवन्ति । तथाहि-चान्द्रमासपरिमाणमेकोनत्रिंशद्दिनानि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा दिनस्य, तत एकोनत्रिंशद्दिनानि द्वाषष्टिभागकरणार्थं द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि सप्तदशशतान्यष्टनवत्यधिकानि १७९८ । ततो द्वात्रिंशदुपरितना द्वाषष्टिभागास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते , जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । येऽपि च युगाहोरात्रा अष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि, तेऽपि द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जात एकं लक्षं त्रयोदशसहस्राणि चत्वारि शतानि षष्ट्यधिकानि । ११३४६० । एतेषामष्टादशशतैस्त्रिंशदधिकैश्चान्द्रमाससत्कद्वाषष्टिभागरूपैर्भागो ह्रियते, लब्धाश्चान्द्रमासा द्वाषष्टिः । तथा नक्षत्रेण नक्षत्रमासे परिगण्यमाने सर्वसंख्यया युगे नक्षत्रमासा सप्तषष्टिर्भवन्ति । तथाहि—नक्षत्रमासः सप्तविंशतिरहोरात्रा एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः, सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि नवोत्तराणि १८०९ । तत उपरितना एकविंशतिः सप्तषष्टिभागास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । युगस्यापि च संबन्धिनस्त्रिंशदधिकाष्टादशशतप्रमाणा अहोरात्राः सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जात एको लक्षः विंशतिसहस्राणि षट्शतानि दशोत्तराणि १२०६१० । एतेषामष्टादशशतैस्त्रिंशदधिकैर्नक्षत्रमाससत्कैर्द्वाषष्टिभागरूपैर्भागो ह्रियते,लब्धाः सप्तषष्टिमासाः।

मासा सयपण्णासं, सत्त य राइंदियाइँ अभिवड्ढे ।
एक्कारस य मुहुत्ता, बिसट्ठिभागा य तेवीसं ॥

अभिवर्द्धितसंवत्सरसत्के मासे परिगण्यमाने सर्वसंख्यया युगे अभिवर्द्धितमासाः सप्तपञ्चाशद्भवन्ति, सप्त रात्रिंदिवानि, एकादश मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागास्त्रयोविंशतिः । तथाहि—अभिवर्द्धितो मास एकत्रिंशदहोरात्राः, एकविंशत्युत्तरं शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामहोरात्रस्य, तत एकत्रिंशदहोरात्राश्चतुर्विंशत्युत्तरशतभागकरणार्थं चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन गुण्यन्ते, जातान्यष्टात्रिंशच्छतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि ३८४४ । तत उपरितनमेकविंशत्युत्तरं शतं भागानां तत्र प्रक्षिप्यते, जातान्येकोनचत्वारिंशच्छतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ३९६५ । यानि च युगे अहोरात्राणामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३०, तानि चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन गुण्यन्ते, जाते द्वे लक्षे षड्विंशतिसहस्राणि नव शतानि विंशत्यधिकानि २२६९२० । तत एतेषामेकोनचत्वारिंशच्छतैः पञ्चषष्ट्यधिकैरभिवर्द्धितमाससत्कचतुर्विंशत्युत्तरशतभागरूपैर्भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तपञ्चाशन्मासाः, शेषास्तिष्ठन्ति नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५ । तेषामहोरात्राऽऽनयनाय चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धानि सप्त रात्रिंदिवानि, शेषास्तिष्ठन्ति चतुर्विंशतिर्भागाः सप्तचत्वारिंशत् । तत्र चतुर्भिर्भागैरेकस्य च भागस्य सत्कैश्चतुर्भिस्त्रिंशद्भागैस्त्रिंशन्मुहूर्त्ता भवन्ति । तथाहि-एकस्मिन्नहोरात्रे त्रिंशन्मुहूर्ताः, अहोरात्रे च चतुर्विंशत्युत्तरं शतं भागानां कल्पितमास्ते, तस्य चतुर्विंशत्युत्तरशतस्य त्रिंशता भागे हृते लब्धाश्चत्वारो भागाः, एकस्य च भागस्य सत्काश्चत्वारस्त्रिंशद्भागाः, तत्र पञ्चचत्वारिंशद्भागैरेकस्य च भागस्य सत्कैश्चतुर्दशभिस्त्रिंशद्भागैरेकादश मुहूर्त्ता लब्धाः, शेषस्तिष्ठति एको भागः, एकस्य च भागस्य सत्काः षोडश त्रिंशद्भागाः । किमुक्तं भवति?-षट्चत्वारिंशत् त्रिंशद्भागा एकस्य च भागस्य सत्काः शेषास्तिष्ठन्ति, ते च किल मुहूर्त्ते चतुर्विंशत्युत्तरशतभागाः । ततः षट्चत्वारिंशतः चतुर्विंशत्युत्तरशतस्य च द्विकेनापवर्त्तना क्रियते, लब्धा मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागास्त्रयोविंशतिः । एवं संख्याकैश्च मासैर्यदा अष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानामहोरात्राणां भागो ह्रियते, तदा यथोक्तमासगतदिवसपरिमाणमागच्छति । तद्यथा-युगे किल सूर्यमासापेक्षया षष्टिर्मासाः, ततोऽष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानां षष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धास्त्रिंशद्दिवसाः, अर्द्धदिवसश्च । एतावन्तो दिवसाः सूर्यमासे । तथा एकषष्टिः कर्ममासा युगे, ततोऽष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानामेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धास्त्रिंशदहोरात्राः। एतावत् कर्ममासे अहोरात्रपरिमाणम् । ते च मासा युगे द्वाषष्टिः, ततस्त्रिंशदधिकानामष्टादशशतानां द्वाषष्ट्या भागहरणं, लब्धा एकोनत्रिंशदहोरात्रा द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य, एतावच्चन्द्रमासपरिमाणम् । तथा नक्षत्रमासा युगे सप्तषष्टिः । ततः सप्तषष्ट्या अष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानां भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तविंशतिरहोरात्राश्चैकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागाः । इदं नक्षत्रमासपरिमाणम् । तथा-अभिवर्द्धितमासा युगे सप्तपञ्चाशत्, ततोऽष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानां सप्तपञ्चाशता भागो ह्रियते, लब्धा द्वात्रिंशदहोरात्राः, शेषास्तिष्ठन्ति षट् सप्त । तत्र पञ्चाशन्मासानामुपरि सप्त अहोरात्रा एकादश मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयोविंशतिर्द्वाषष्टिभागा वर्त्तन्ते। तत्र सप्तभ्यः षट् पातिताः, शेष एक अहोरात्रस्तिष्ठति.स च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागः क्रियते, लब्धा एकादश मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयोविंशत्युत्तरशतं मध्ये प्रक्षिप्यते, जातमेकसप्तत्यधिकं शतम् । तस्य सप्तपञ्चाशता भागे हृते लब्धास्त्रयश्चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामिति । एतावत्परिमाणमभिवर्द्धितमासस्य । संप्रति सूर्याऽऽदिमासेषु मुहूर्त्ताऽऽदिपरिमाणं चिन्त्यते-तत्र सूर्यमासे त्रिंशदहोरात्राः, एकं चाहोरात्रस्यार्द्धम्, अहोरात्रे च त्रिंशन्मुहूर्त्ताः, ततस्त्रिंशत् त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि, अहोरात्रार्द्धे च पञ्चदश मुहूर्त्ताः, ततः सर्वसंख्यया सूर्यमासे नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि मुहूर्त्तानां भवन्ति ९१५ । एकैकस्मिंश्च मुहूर्त्ते द्वे द्वे घटिके, इति नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । एतावत्सूर्यमासे घटिकानां परिमाणम् । मेयरूपतया तु चिन्तायामेकैको मुहूर्त्तश्चतुराढकप्रमाण इति मुहूर्त्तानां नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि ३६६० । एतावन्तः सर्वसंख्यया सूर्यमासे आढकाः । तौल्यत्वचिन्तायामेकैकस्मिन्नहोरात्रे त्रयो भाराः, ततस्त्रिंशत् त्रिभिर्गुण्यन्ते, जाता नवतिः ९०, अहोरात्रार्द्धे च सार्द्धो भार इति सर्वसंकलनया सूर्यमासे सार्द्धा एकनवतिर्भाराः । तथा कर्ममासे त्रिंशदहोरात्राः, ततो मुहूर्त्ताऽऽनयनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि, एतावन्तः कर्ममासे मुहूर्त्ताः, एत एव मुहूर्त्ता घटिकाऽऽनयनाय द्वाभ्यां गुण्यन्ते, प्रतिमुहूर्त्तं घटिकाद्वयस्य भावात्, जातान्यष्टादशशतानि १८०० । एतावत्कर्ममासे घटिकानां परिमाणम् । तथा मुहूर्त्ते चत्वार आढका इति । तदेवं मुहूर्त्तपरिमाणं नवशताऽऽत्मकमाढकाऽऽनयनाय चतुर्भिर्गुण्यते, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि ३६०० । एतावन्तो मेयत्वचिन्तायामाढकाः। कर्ममासे तौल्यत्वचिन्तायां प्रत्यहोरात्रं त्रयो भारा इति त्रिंशदहोरात्रास्त्रिभिर्गुण्यन्ते, जाता नवतिः ९० । इयत्संख्याकाः कर्ममासे तौल्यत्वकर्मभाराः । तथा-चन्द्रमासे एकोनत्रिंशदहोरात्राः, द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य, तत एकोनत्रिंशद्द्वाषष्टिभागाः,तेऽपि मुहूर्त्तगतभागकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि षष्ट्यधिकानि ९६० । एतेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धाः पञ्चदश मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति अष्टाशीतिसहस्राणि पञ्चशतोत्तराणि,त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य ८८५०० । ३०/६२ । एतदेव मुहूर्त्तपरिमाणं घटिकाऽऽनयनाय द्वाभ्यां गुण्यते,जातानि सप्तदशशतानि सप्तत्यधिकानि, षष्टिश्च द्वाषष्टिभागा घटिकायाः १७७० । ६०/६२ । एतच्चन्द्रमासे घटिकापरिमाणम् । तथा प्रागुक्तमेव मुहूर्त्तपरिमाणं सकलमप्याढकाऽऽनयनाय चतुर्भिर्गुण्यते, जातानि पञ्चत्रिंशच्छतानि एकचत्वारिंशदधिकानि, अष्टपञ्चाशच्च द्वाषष्टिभागा आढकस्य ३५४१ । ५८/६२ । तत एतावन्मेयत्वचिन्तायां चन्द्रमासे आढकपरिमाणम् । तथा तौल्यत्वचिन्तायामहोरात्रपरिमाणं प्राक्तनमेकोनत्रिंशद्रूपं भागाऽऽनयनाय त्रिभिर्गुण्यते, जाताः सप्ताशीतिः ८७ । येऽपि च द्वात्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः, तेऽपि त्रिभिर्गुण्यन्ते, जाता षण्णवतिः ९६ । तस्या द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्ध एको भारः,शेषास्तिष्ठन्ति चतुस्त्रिंशत् ३४। ततः सर्वसंख्यया चन्द्रमसा तौल्यत्वचिन्तायामष्टाशीतिर्भाराः, चतुस्त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा भारस्य ८८ । ३४/६२ । नक्षत्रमासः सप्तविंशतिरहोरात्रा एकविंशतिः सप्तषष्टिभागा उपरितनाः, ततः सप्तविंशतिस्त्रिंशता गुण्यन्ते, जातान्यष्टौ शतानि दशाधिकानि सप्तषष्ट्युत्तराणि द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य ८१० । ६७/६२ । येऽपि चैकविंशतिः सप्तषष्टिभागा

षष्टितमाः, तेऽपि त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि षट्शतानि त्रिंशदधिकानि । एतेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा नव मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति सप्तविंशतिः । मुहूर्त्ताश्च मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि संख्यया मुहूर्त्तानामष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि सप्तविंशतिश्च ८१९।२७। एकस्य च तस्य सप्तषष्टिभागाः। एतावन्नक्षत्रमासे मुहूर्त्तपरिमाणम् । ततो घटिकापरिमाणाऽऽनयनार्थमेतदेव द्वाभ्यां गुण्यते, जातानि षोडश शतान्यष्टात्रिंशदधिकानि, चतुष्पञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागा घटिकायाः १६३८ । ५४/६७ । एतावद् घटिकापरिमाणम्। नक्षत्रमासे तौल्यत्वचिन्तायामेकस्मिन्नहोरात्रे त्रयो भारा इति सप्तविंशतिरहोरात्रास्त्रिभिर्गुण्यन्ते, जातान्येकाशीतिः, एतस्य परिमाणं नक्षत्रमासे एकाशीतिभारास्त्रिषष्टिश्च सप्तषष्टिभागा भारस्य, तथा एकविंशतिरपि त्रिभिर्गुण्यते, जाता त्रिषष्टिः, ततो जातं तौल्यत्वपरिमाणं नक्षत्रमासे एकाशीतिर्भारास्त्रिषष्टिश्च सप्तषष्टिभागा भारस्य । तथा-एकैकस्मिन्मुहूर्त्ते चत्वार आढका इति मुहूर्त्तपरिमाणमनन्तरोक्तं सर्वमपि चतुर्भिर्गुण्यते, तत आगतानि नक्षत्रमासे मेयपरिमाणचिन्तायामाढकानां द्वात्रिंशच्छतानि सप्तसप्तत्यधिकान्येकचत्वारिंशच्च सप्तषष्टिभागा आढकस्य ३२७७ । ४१/६७ । अभिवर्द्धितमासे एकत्रिंशदहोरात्राः, एकविंशत्युत्तरं च शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामहोरात्रस्य, तत्र मुहूर्त्ताऽऽनयनार्थमेकत्रिंशदहोरात्रास्त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि त्रिंशदधिकानि ९३० । यदपि चैकविंशत्युत्तरं शतं भागानां, तदपि त्रिंशता गुण्यते, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि त्रिंशदधिकानि ३६३० । एतेषां च चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन भागो ह्रियते, लब्धा एकोनत्रिंशन्मुहूर्त्ताः, शेषमुद्वरन्ति चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानां चतुस्त्रिंशच्च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागा मुहूर्त्ता मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातमभिवर्द्धिते मासे सर्वसंकलनया मुहूर्त्तपरिमाणं नवशतान्येकोनषष्ट्यधिकानि चतुस्त्रिंशच्च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागाः ९५९ । ३४/१२४ । मुहूर्त्ते च घटिकाद्वयमित्येतदेव मुहूर्त्तपरिमाणं घटिकाऽऽनयनाय द्वाभ्यां गुण्यते, जातान्येकोनविंशतिशतान्यष्टादशाधिकानि घटिकानामष्टषष्टिश्चतुर्विंशत्युत्तरं शतं भागानाम् १९१८ । ६८/१२४ । एकैकस्यां च घटिकायां द्वौ द्वावाढकाविति घटिकापरिमाणमिदम् । मेयरूपतया चिन्तायामाढकाऽऽनयनाय द्वाभ्यां गुण्यते, जातान्याढकानामष्टात्रिंशच्छतानि सप्तत्रिंशदधिकानि, द्वादश च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामाढकस्य ३८३७ । १२/१२४ । तथाहि-एकस्मिन्नहोरात्रे भारत्रयमित्येकत्रिंशदहोरात्रास्त्रिभिर्गुण्यन्ते, जातास्त्रिनवतिर्भाराः । यदपि चैकविंशत्युत्तरं शतमपि त्रिभिर्गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि ३६३ । तेषां च चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन भागो ह्रियते, लब्धौ द्वौ भारौ, तौ च पूर्वराशौ प्रक्षिप्येते, शेषं पञ्चदशोत्तरं शतम, तत आगतं तौल्यत्वचिन्तायामभिवर्द्धितमासे परिमाणं पञ्चनवतिर्भाराः शतमेकं पञ्चदशोत्तरं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानाम् । ९५ । ११५/१२४ । यदा तु मासस्य त्रिंशत्तमो भागो दिवस इति दिवसलक्षणमनु सूर्यमासाऽऽदिदिवसपरिमाणं चिन्त्यते, तदा यदेव तस्य मासस्य त्रिंशदपेक्षया परिमाणं, तदेव तस्य दिवसस्य मुहूर्त्तापेक्षया, परिमाणमवसेयम । यथा सूर्यदिवसस्य त्रिंशन्मुहूर्त्तपरिमाणं, कर्मदिवसस्य त्रिंशन्मुहूर्त्ता एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, अभिवर्द्धितदिवसस्यैकत्रिंशन्मुहूर्त्ता एकविंशत्युत्तरं च शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानां मुहूर्त्तस्य । तथा-सूर्यदिवसस्य एकषष्टिर्घटिका परिमाणम्, कर्मदिवसस्य षष्टिर्घटिकाः, चन्द्रदिवसस्य एकोनषष्टिर्घटिका द्वौ च द्वात्रिंशद्भागौ घटिकायाः, नक्षत्रदिवसस्य चतुष्पञ्चाशद्घटिका द्विचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागा घटिकायाः, अभिवर्द्धितदिवसस्य षष्टिर्घटिका अष्टादशोत्तरं शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानां घटिकायाः। ११८। १२४ । एकैकस्यां च घटिकायां द्वौ द्वावाढकाविति दिवसस्य मेयत्वचिन्तायां सूर्यदिवसस्य द्वाविंशतं चत्वारश्च द्वाषष्टिभागा आढकस्य २२ ४/६२ । नक्षत्रदिवसस्य दशोत्तरं शतमाढकानां, पञ्चनवतिराढकाः, सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागा आढकस्य ११० । ९५ । २७/६७ । अभिवर्द्धितदिवसस्य सप्तविंशत्युत्तरमाढकशतं द्वादशोत्तरं शतं च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामाढकस्य १२७ । ११२/१२४ । एकैकस्यां नवनालिकायाः पञ्चशतमिति तौल्यत्वचिन्तायामिदं दिवसस्य परिमाणम् । सूर्यदिवसस्यैकषष्टिपलशतानि परिमाणम ६१००। कर्मदिवसस्य चतुःपञ्चाशत्पलशतानि ५४०० । चन्द्रदिवसस्यैकोनषष्टिपलशतानि, द्वौ च द्वाषष्टिभागौ पलशतस्य ५९००। २/६२ । नक्षत्रदिवसस्य चतुष्पञ्चाशत्पलशतानि द्वाचत्वारिंशच्च सप्तषष्टिभागाः पलशतस्य ५४०० । ४२/६७ । अभिवर्द्धितदिवसस्य त्रिषष्टिः पलशतान्यष्टादशोत्तरं च चतुर्विंशत्युत्तर पलशतस्य ६३०० । ११८/१२४ । तदेवमुक्तं सप्रपञ्चं पञ्चानामपि संवत्सराणां स्वरूपं, युगप्रमाणं च । ज्यो० २ पाहु० । सू० प्र० ।

पंचसंवच्छरियस्स णं जुगस्स नक्खत्तमासेणं मिज्जमाणस्स सत्तसट्ठिं नक्खत्तमासा पण्णत्ता ।

" पंच संवच्छर " इत्यादि । नक्षत्रमासो येन कालेन चन्द्रो नक्षत्रमण्डलं भुङ्क्ते, स च सप्तविंशतिरहोरात्राणि, एकविंशतिश्चाहोरात्रस्य सप्तषष्टिभागाः २७ । २१/६७ । युगप्रमाणं चाष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानीति प्रागदर्शितम् १८३० । तदेवं नक्षत्रमासस्योक्तप्रमाणराशिना दिनसप्तषष्टिभागतया व्यवस्थापितेन त्रिंशदुत्तराष्टादशशतप्रमाणेन युगदिनप्रमाणराशिः सप्तषष्टिभागतया व्यवस्थापितः, एकं लक्षं, द्वाविंशतिः सहस्राणि, षट् शतानि, दश चेत्येवंरूपो १२२६१० । विभज्यमानः सप्तषष्टिनक्षत्रमासप्रमाणो भवतीति । स० ६७ सम० ।

पंचसंवच्छरियस्स णं जुगस्स रिउमासेणं मिज्जमाणस्स इगसट्ठिं उउमासा पण्णत्ता ।

"पंच" इत्यादि । पञ्चभिः संवत्सरैर्निर्वृत्तमिति पञ्चसांवत्सरिकं, तस्य, णमित्यलङ्कारे, युगस्य कालमानविशेषस्य ऋतुमासेन चन्द्राऽऽदिमासेन मीयमानस्य एकषष्टिः-ऋतुमासाः प्रज्ञप्ताः । इह चायं भावार्थः-युगं हि पञ्च संवत्सरा निष्पादयन्ति । तद्यथा—चन्द्रश्चन्द्रोऽभिवर्द्धितश्चन्द्रोऽभिवर्द्धितश्चेति । तत्र एकोनत्रिंशदहोरात्राणि द्वात्रिंशच्च द्विषष्टिभागा अहोरात्रस्येत्येवं प्रमाणेन २९ । ३२/६२ । कृष्णप्रतिपदामारभ्य पौर्णमासीनिष्ठितेन चन्द्रमासेन द्वादशमासपरिमाणश्चन्द्रसंवत्सरः । तस्य च प्रमाणमिदम्—त्रीणि शतान्यहां चतुष्पञ्चाशदुत्तराणि, द्वादश च द्विषष्टिभागा दिवसस्य ३५४ । १२/६२ । तथा—एकत्रिंशदहामेकविंशत्युत्तरं च शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानां दिवसस्येत्येवं प्रमाणोऽभिवर्द्धितमास इति ३१ । १२१/१२४ । एतेन च मासेन द्वादशमासप्रमाणोऽभिवर्द्धितसंवत्सरो भवति । स च प्रमाणे-

न त्रीणि शतान्यह्नां, त्र्यशीत्यधिकानि, चतुश्चत्वारिंशच्च द्विषष्टिभागा दिवसस्य ३८३ । ४४/६२ । तदेवं त्रयाणां चन्द्रसंवत्सराणां द्वयोश्चाभिवर्द्धितसंवत्सरयोरेकीकरणे जातानि दिनानां त्रिंशदुत्तराण्यष्टादशशतान्यहोरात्राणाम् १८३० । ऋतुमासश्च त्रिंशताऽहोरात्रैर्भवतीति त्रिंशता भागहारे लब्धा एकषष्टिः-ऋतुमासा इति । स० ६१ सम० ।

एकमासेन चन्द्रा दक्षिणोत्तरचारिणः, सूर्याः पुनः संवत्सरेण दक्षिणोत्तरचारिणो भवन्ति । अत्र चन्द्रस्य नक्षत्रमासो ग्राह्यः, स च सप्तविंशतिदिनान्येकविंशतिः सप्तषष्टिभागश्चेति प्रमाणः २७ । २१/६७ । तदर्द्धेन १३ ॥ ४४/६७ ॥ चन्द्रस्य दक्षिणाऽऽयनम्, अर्द्धेन चोत्तरायणम् । यतश्चन्द्रचन्द्राऽभिवर्द्धितचन्द्राभिवर्द्धितनामानः संवत्सराः ५ । ते च त्रिंशदधिकाष्टादशशतदिनसंख्ये युगे पञ्च भवन्ति । तत्रैकोनत्रिंशद्दिनमाना: सद्वात्रिंशद्द्वाषष्टिभागाश्चन्द्रमासा द्वाषष्टिः, सार्द्धत्रिंशद्दिनमानाः सूर्यमासाः षष्टिः, सप्तविंशतिदिनमानैकविंशतिः सप्तषष्टिभागा नक्षत्रमासाः सप्तषष्टिर्युगे, तेन युगे चन्द्रस्य दक्षिणायनानि सप्तषष्टिः, उत्तरायणान्यपि सप्तषष्टिः, सर्वाणि युगे चन्द्रायणानि १३४, तथा सूर्यस्य पश्चाच्चन्द्रेण भोगो येषां तानि पश्चाद्भोगानि, चन्द्रोऽतिक्रम्य यानि भुङ्क्ते, पृष्ठं ददतीत्यर्थः, इत्यादि द्रष्टव्यम् ॥ ७९ ॥

चन्द्रसूर्ययोर्मण्डलाऽऽदिस्वरूपं प्रकाश्याथ नक्षत्रतारकास्वरूपमाह-

अट्ठेव मंडलाइं, णक्खत्ताणं जिणेहिँ भणिआइं ।
दो मंडलाइँ दीवे, मंडलछक्कं च लवणम्मि ॥ ८० ॥

अष्टावेव मण्डलानि नक्षत्राणां जिनेन्द्रैर्भणितानि, तत्र द्वे मण्डले जम्बूद्वीपे,मण्डलषट्कं च लवणोदे,यच्चन्द्रमसः सर्वाभ्यन्तरमण्डलं तन्नक्षत्राणामपि सर्वाभ्यन्तरमण्डलं,यच्चन्द्रमसः सर्वबाह्यं मण्डलं तन्नक्षत्राणामपि सर्वबाह्यं मण्डलम् । यदुक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्याम्-"जंबुद्दीवे णं भंते ! केवइअं ओगाहित्ता नक्खत्तमंडला पन्नत्ता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे असीसयं ओगाहेत्ता, एत्थ णं दो नक्खत्तमंडला, लवणसमुद्दे वि तिन्नि, तीसे जोअणसए ओगाहेत्ता, एत्थ णं छ नक्खत्तमंडला पन्नत्ता । सव्वब्भंतराओ णं णक्खत्तमंडलाओ केवइए अबाहाए सव्वबाहिरए णक्खत्तमंडले पन्नत्ते ?। गोयमा ! पंचदसुत्तरजोअणसए अबाहाए णक्खत्तमंडले पन्नत्ते" इति ॥ ८० ॥

अथ केषु केषु चन्द्रमण्डलेषु नक्षत्राणि सन्ति ?, इत्याह-

अभिई १ सवण २ धणिट्ठा ३,
सयभिस ४ पुव्वुत्तरा य ५ भद्दवया ६ ।
रेवइ ७ अस्सिणी ८ भरणी ९,
पुव्वुत्तर १० फग्गुणीओ ११ अ ॥ ८१ ॥

अभिजिच्छ्रवणधनिष्ठाशतभिषापूर्वाभाद्रपदोत्तराभाद्रपदा युगे दशायनानि । तत्र पञ्च दक्षिणायनानि, पञ्चैवोत्तरायणानि, त्र्यशीत्यधिकशतदिनानामेकैकमयनम् १८३ । तद्दशगुणं युगं १८३० दिनप्रमाणम् । तथा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डले दिनमेकं चरति, सर्वबाह्येऽपि दिनमेकं, शेषेषु मण्डलेषु प्रवेशनिर्गमाभ्यां दिनद्वयम्,अतः प्रथमचरमदिनन्यूनत्वे सूर्यसंवत्सरे ३६६ दिनानि । स च पञ्चगुणितोऽष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि । मं० ।

संप्रति कति मण्डलानि चन्द्राः, सूर्या वा युगमध्ये चरन्तीत्येतन्निरूपयति-

सत्तरससए पुन्ने, अट्ठट्ठे चेव मंडलं चरइ ।
चंदो जुगेण णियमा, सूरो अट्ठारस उ तीसं ॥

चन्द्रो युगेन चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धितचन्द्राभिवर्द्धितसंवत्सरपञ्चकाऽऽत्मकेन नियमान्मण्डलं चरति भ्रम्या पूरयति सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि १७६८ । सूर्यः पुनर्युगेन मण्डलानि चरति अष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३० ।

संप्रति चन्द्रः स्वकीयेनायनेन कियन्ति मण्डलानि चरतीति ?, एतन्निरूपयति-

तेरस य मंडलाइं, तेरस सत्तट्ठि चेव भागा य ।
अयणेण चरइ सोमो, नक्खत्तेणऽद्धमासेणं ॥

इह नक्षत्रार्द्धमासप्रमाणं चन्द्रस्यायनं, ततो नक्षत्रेण नक्षत्रसत्केनार्द्धमासेन यच्चन्द्रस्यायनं, तेन स्वकीयेनायनेन चन्द्रस्त्रयोदश मण्डलानि, एकस्य च मण्डलस्य सप्तषष्टिभागीकृतस्य त्रयोदश भागान् चरति । कथमेतस्योपपत्तिरिति चेत् ?। उच्यते-चतुस्त्रिंशदधिकेनायनशतेन सप्तदशशतान्यष्टषष्टिसहितानि मण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेनायनेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१३४ । १७६८ । १ । अत्रान्त्येन राशिनैकलक्षणेन मध्यराशिर्गुण्यते, स च तावानेव जातः । तत आद्येन राशिना चतुस्त्रिंशदधिकेन शतरूपेण भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयोदश, शेषास्तिष्ठन्ति षड्विंशतिः । तत्र च्छेद्यच्छेदकराश्योर्द्विकेनापवर्त्तना, लब्धास्त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः ।

अधुना यावन्ति मण्डलान्येकेन पर्वणा चन्द्रश्चरति,तावन्निर्दिदिक्षुराह-

चोद्दस य मंडलाइं, बिसट्ठिभागा य सोलस हवेज्जा ।
मासद्धेण उडुवई, एत्तियमित्तं चरइ खेत्तं ॥

मासार्द्धेनैकेन पर्वणा उडुपतिश्चन्द्रमा, एतावन्मात्रमेतावत्प्रमाणं क्षेत्रं चरति । यदुत-चतुर्दश मण्डलानि,एकस्य च मण्डलस्य षोडश द्वाषष्टिभागाः । तथाहि-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेन पर्वणा किं लभ्यते ?। राशित्रयस्थापना-१२४ । १७६८ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते, स च तावानेव जातः, तत आऽऽद्येन राशिना भागहरणं, लब्धाश्चतुर्दश, शेषास्तिष्ठन्ति द्वात्रिंशत् । तत्र छेद्यच्छेदकराश्योर्द्विकेनापवर्त्तना, लब्धाः षोडश द्वाषष्टिभागाः ।

संप्रति पर्वगतमण्डलेभ्योऽयनगतमण्डलापगमे यच्छेषमवतिष्ठते तन्निरूपयति—

एगं च मंडलं मं-डलस्स सत्तट्ठिभाग चत्तारि ।
नव चेव चुण्णियाओ, इगतीसकएण छेएण ॥

एकं मण्डलमेकस्य च मण्डलस्य सप्तषष्टिभागाश्चत्वारः, एकस्य च सप्तषष्टिभागस्यैकत्रिंशत्कृतेन च्छेदेन नव चूर्णिका भागाः, एतावत्पर्वगतक्षेत्रापगमे शेषः। एतस्यैवमुपपत्तिः-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेन पर्वणा किं लभामहे ?। अत्र राशित्रयस्थापना-१२४ । १७६८ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यरा-

र्निगुण्यते, स च तावानेव जातः, तत आद्येन चतुर्विंशत्यधिकेन शतरूपेण राशिना भागहरणं, छेद्यच्छेदकराश्योश्चतुर्भिरपवर्तना, लब्धानि चतुर्दश मण्डलान्यष्टौ च एकत्रिंशद् भागाः। एतस्माद् ध्रुवाङ्कं शोध्यते, तत्र चतुर्दशस्य त्रयोदश मण्डलानि शुद्धानि, एकमवशिष्टम्। संप्रत्यष्टाभ्य एकत्रिंशद्भागेभ्यस्त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः शोध्याः; तत्र सप्तषष्टिरष्टाभिर्गुणिताः, जातानि पञ्चशतानि षट्त्रिंशदधिकानि ५३६। एकत्रिंशता त्रयोदश गुणिताः, जातानि चत्वारि शतानि त्र्युत्तराणि ४०३। एतानि पञ्चभ्यः षट्त्रिंशदधिकेभ्यः शोध्यन्ते, स्थितं शेषं त्रयस्त्रिंशदधिकं शतम् १३३। तत एतत्सप्तषष्टिभागाऽऽनयनार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातानि नवाशीतिशतान्येकादशाधिकानि ८९११। छेदराशिर्मौल एकत्रिंशत्, स च सप्तषष्ट्या गुण्यते, जाते द्वे सहस्रे सप्तसप्तत्यधिके २०७७। ताभ्यां भागो ह्रियते, लब्धाश्चत्वारः सप्तषष्टिभागाः, शेषास्तिष्ठन्ति षट्शतानि त्र्युत्तराणि ६०३। ततश्छेद्यच्छेदकराश्योः सप्तषष्ट्याऽपवर्तना, जाता उपरि नवाधस्तादेकत्रिंशत्, लब्धा एकस्य सप्तषष्टिभागस्य नवैकत्रिंशच्छेदकृता भागा इति। ज्यो० १६ पाहु०। जं०। चं० प्र०। (युगे कियन्तिकाः संवत्सरा इत्यनुपदमेव ' जुगाइ ' शब्दे १५७५ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

युगेऽमावास्याः पूर्णिमाश्च यथा-

पंचसंवच्छरिए णं जुगे बावट्ठिं पुण्णिमाओ,बावट्ठिं अमावासाओ पण्णत्ताओ।

"पंच" इत्यादि। तत्र युगे त्रयश्चन्द्रसंवत्सरा भवन्ति, तेषु षट्त्रिंशत्पौर्णमास्यो भवन्ति,द्वौ चाभिवर्द्धितसंवत्सरौ भवतः,तत्र चाभिवर्द्धितसंवत्सरः त्रयोदशभिश्चन्द्रमासैर्भवतीति तयोः षड्विंशतिः पौर्णमास्य इत्येवं द्विषष्टिस्ता भवन्तीति,एवममावास्या अपीति। स० ६२ सम०।

जुगंतकडभूमि-युगान्तकृद् [कर] भूमि-स्त्री०। युगानि कालमानविशेषाः,तानि च क्रमवर्त्तीनि,तत्साधर्म्याद्ये क्रमवर्त्तिनो गुरुशिष्यप्रशिष्यादिरूपाः पुरुषास्तेऽपि युगानि,तैः प्रमितान्तकरभूमिर्युगान्तकरभूमिः। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। कल्प०। पुरुषलक्षणयुगापेक्षयाऽन्तकराणां भवक्षयकारिणां भूमिः कालो युगान्तकरभूमिः स्था० ८ ठा०। अन्तकर (कृद्) भूमिभेदे, (सा च कस्याऽर्हतः कियतीति तत्तच्छब्दे निरूपिता)पुरुषाः युगमिव पुरुषयुगं, तदपेक्षयाऽन्तकराणां भवान्तकराणां, निर्वाणगामिनामित्यर्थः। भूमिः कालो युगान्तकरभूमिः। इदमुक्तं भवति-भगवतो वर्द्धमानस्वामिनस्तीर्थे तस्मादेवावधेः तृतीयं पुरुषं जम्बूस्वामिनं यावन्निर्वाणमभूत, तत उत्तरं तद्व्यवच्छेद इति। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

जुगंतकरभूमि-युगान्तकृद् [कर] भूमि-स्त्री०। "जुगंतकरभूमि" शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

जुगंतरपलोयणा-युगान्तरप्रलोकना-स्त्री०। युगं यूपः,तत्प्रमाणमन्तरं व्यवधानं प्रलोकयति या सा तथा। (प्र०) युगं यूपः, तत्प्रमाणो भूभागोऽपि युगः, तस्यान्तरे मध्ये प्रलोकनं यस्याः सा तथा। युगप्रमाणभूभागव्यवधानेन प्रलोकयन्त्याम्, भ०। " जुगंतरपलोयणाए दिट्ठीए " (जुगंतरपलोयणाए त्ति) युगं यूपः, तत्प्रमाणमन्तरं स्वदेहदेशस्य दृष्टिपातदेशस्य च व्यवधानं,प्रलोकयति या सा युगान्तरप्रलोकना, तया,दृष्ट्येति। भ० २ श० १ उ०।

जुगंधर-युगन्धर-पुं०। युगं रथस्य युगकाष्ठं धरति धृ-खच्। रथस्य युगकाष्ठासञ्जने कूबराख्ये काष्ठभेदे, जं० १ वक्ष०। पर्वतभेदे, वाच०। अम्बरतिलकपर्वतस्थे स्वनामख्याते आचार्ये, आ० म०। "जुगंधरा नाम आयरिया विविहनियमधरचउद्दसपुव्विचउणाणोवगया।" आ० म० १ अ० १ खण्ड। अम्बरतिलकपर्वतमधिकृत्य-" युगन्धरमुनिस्तत्र, तदा केवलमानदत्।" आ० क०। अपरविदेहस्थे महाबाहुवासुदेवस्य समकालिके तीर्थकरे, आ० चू० १ अ०। आव०।

जुगच्छिड्ड-युगच्छिद्र-न०। युगरन्ध्रे, आ० क०।

" पुव्वंते होइ जुगं, अवरंते तस्स होइ समिलाओ।
जुगछिड्डम्मि पवेसो, इअ संसइओ मणुअलंभो॥ १॥"

पूर्वान्ते समुद्रस्य युगम्, अपरान्ते तु शम्या,ततो यथा युगस्य छिद्रे तस्याः प्रवेशः संशयित इत्येवं मनुष्यजन्मलाभः।

तथा-

" जह समिला पब्भट्ठा, सागरसलिले अणोरपारम्मि।
पविसिज्ज जुगच्छिड्डं, कह वि भमंती भमंतम्मि॥ १॥"

नवरम्-' अणोरपारम्मि ' देश्यत्वादपारे इत्यर्थः।

" सा चंडवायवीई-पणुल्लिआ अ वि लभिज्ज जुगछिड्डं।
न य माणुसाउ भट्ठो, जीवो पुण माणुसं लहइ॥ १॥"

आ० क०। उत्त०।

जुगणद्ध-युगनद्ध-पुं०। युगमिव नद्धो युगनद्धः। यथा युगं वृषभस्कन्धयोरारोपितं वर्त्तते तद्वद् योगोऽपि यः प्रतिभाति स युगनद्ध इत्युच्यते। एतदाकार योगभेदे, सू० प्र० १२ पाहु०।

जुगप्पहाण-युगप्रधान-पुं०। युगश्रेष्ठे, नि० चू० १ उ०। "तत्थ अज्जवइरा सुव्वंति जुगप्पहाणा।" आ० म० १ अ० २ खण्ड।

जो दुप्पसहो सूरी, होहिंति जुगप्पहाण आयरिया।
अज्जसुहम्मप्पभिई,चउरहिया दुन्नि य सहस्सा।४५९।

इहावसर्पिण्यां दुःषमावसानसमये द्विहस्तोच्छ्रितश्चतुर्विंशतिवर्षायुष्कः पुष्कलतपःक्षपितकर्मतया समासन्नः सिद्धिसौधं शुद्धान्तरात्मा दशवैकालिकमात्रसूत्रधरोऽपि चतुर्दशपूर्वधर इव शक्रपूज्यो दुष्प्रसहनामा सर्वान्तिमः सूरिर्भविष्यति,ततः तं दुष्प्रसहं यावत्, तमभिव्याप्यैवेत्यर्थः। आर्यसुधर्मप्रभृतयः, आरात् सर्वहेयधर्मेभ्योऽर्वाक् जात आर्यः,स चासौ सुधर्मः,तत्प्रभृतयः,प्रभृतिग्रहणाच्च जम्बूस्वामिप्रभवशय्यंभवाऽऽद्या गणधरपरम्परा गृह्यते, युगप्रधानास्तत्तत्कालप्रवरपारमेश्वरप्रवचनोपनिषद्वेदित्वेन विशिष्टतरमूलगुणोत्तरगुणसंपन्नत्वेन च तत्कालापेक्षया भरतक्षेत्रमध्ये प्रधाना आचार्याः सूरयश्चतुरधिकसहस्रद्वयप्रमाणा भविष्यन्ति। अन्ये तु चतूरहितसहस्रद्वयप्रमाणा इत्याहुः। तत्त्वं तु सर्वविदो विदन्ति।

यत्र महानिशीथग्रन्थे जगन्थ ग्रन्थकारः-

" इत्थं आयरिआणं, पणपन्ना हुंति कोडिलक्खाओ।
कोडिसहस्से कोडी, सए य तह एत्तिय त्ति " ॥ १॥

तत्सामान्यमुनिप्रत्यपेक्षया द्रष्टव्यम्। तथा च तत्रैवोक्तम्-

" एएसिं मज्झाओ, एगे निव्वहइ गुणगणाइण्णे।
सव्वुत्तमभंगेणं, तित्थयरस्साणुसरिसगुरू॥ १॥ " प्रव० २६४ द्वार।

चतुरधिकद्विसहस्रमिता युगप्रधानाः सिद्धान्ते प्रोक्ताः, ते साम्प्रतं क्व सन्ति?,इति प्रश्ने,उत्तरम्-साम्प्रतं युगप्रधानाः सन्तीति

ज्ञातं नास्ति,दृश्यन्तेऽपि च न, तेन तृतीयोदयात्प्रारभ्य ते भविष्यन्तीति ज्ञायते । ५१ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

जुगमच्छ–युगमत्स्य–पुं० । मत्स्यभेदे, विपा० १ श्रु० ८ अ० । जी० । प्रज्ञा० ।

जुगमत्त–युगमात्र–त्रि० । युगं यूपं चतुर्हस्तं,तत्प्रमाणं युगमात्रम् । चतुर्हस्तप्रमाणे, प्रव० १०३ द्वार । "पुरओ जुगमत्ताए, पेहमाणो महिं चरे ।" (३ गाथा) पुरतोऽग्रतो युगमात्रया शरीरप्रमाणया शकटोर्द्धसंस्थितया दृष्ट्येति । दश० ५ अ० १ उ० ।

जुगमाय–युगमात्र–त्रि० । 'जुगमत्त' शब्दार्थे, प्रव० १०३ द्वार । "पुरओ जुगमायं पेहमाणे ।" युगमात्रं चतुर्हस्तप्रमाणं शकटोर्द्धसंस्थितं भूभागं पश्यन् । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

जुगल–युगल–न० । युगं द्वित्वं विद्यतेऽस्त्यस्य लच् । युग्मे, द्वित्वसंख्याऽन्विते च । त्रि० । वाच० । युगलं द्वयमिति । अनु० । तं० । उत्त० । ज्ञा० । रा० । ज० । स० । औ० । सजातीयविजातीययोर्द्वन्द्वे, रा० । जी० । जं० । " आमेलगजमलजुगलवट्टियअब्भुण्णयपीणरइयसंठियपओहरा । " युगलौ युगलरूपौ, द्वावित्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जुगलधम्म–युगलधर्म–पुं० । स्त्रीपुरुषद्वन्द्वधर्मे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । तं० । ज्यो० ।

जुगलधम्मिय–युगलधर्मिक–पुं० । स्त्रीपुरुषद्वन्द्वधर्मवति, तं० ।

जुगलयमणुय–युगलकमनुज–पुं० । युगलधर्मिणि मनुष्ये, ज्यो० १ पाहु० ।

जुगलि[ण्]–युगलिन्–त्रि० । सजातीयविजातीयद्वन्द्वोपेते,उत्तरकुरौ भगवान् युगलिकोऽहं युगलिनीति (श्रेयांसवचः) कल्प० ७ क्षण । यस्मिन् काले कालान्तरे वा यावन्तो युगलिनस्तस्मिन् तावन्त एव, न्यूनाः, अधिका वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्–यस्मिन् काले यावन्तो युगलिनस्तस्मिन्काले तु तावन्त एव भवन्तीति । कालान्तरे च भरतैरावतयोर्युगलिनां न्यूनाधिकत्वं, देवकुर्वादिषु तु जातु तत्संहरणसंभवे कुतश्चित्तदानयनमपि भवतीति न तत्र न्यूनाऽऽधिक्यमिति । १३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

जुगलिय–युगलिक–त्रि० । स्त्रीपुरुषद्वन्द्वोपेते, कल्प० ७ क्षण । पं० विजयविजयकृतप्रश्ने–श्रीआदिनाथस्य वारके तालफलेन युगलिकदारको मृतो, युगलिनां चाकालमरणं न भवतीति कथं घटते ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्–पूर्वकोट्यधिकायुषो युगलिनो न्यूनायुषि न म्रियन्ते, ततः श्रीआदिनाथस्य वारके तालफलेन मृतस्य युगलिनः पूर्वकोट्यधिकमायुर्नाभूदिति संगच्छत इति । ३ प्र० । ह्री० ३ प्रका० । युगलिकशरीराणि सुराः समुद्रे क्षिपन्ति, अथवा स्वयं विनश्वरीभवन्ति ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्–"पुरा हि मृतमिथुनशरीराणि महाखगाः । नीडकाष्ठमिवोत्पाट्य, सद्यश्चिक्षिपुरम्बुधौ" ॥ १ ॥ इति त्रिषष्टीयऋषभदेवचरित्रवचनात् समुद्रे युगलिकशरीराणि क्षिप्यन्ते, अन्ययुगलिकक्षेत्रेऽप्येवं संभाव्यते, आरण्यकपशूनां निसर्गतो मृतानां यथा किमप्यवयवाऽऽदिकं नोपलभ्यते, तथा तेषामपीत्येषाऽपि संभावना संजायत इति । ३० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । सर्वेषु युगलिकक्षेत्रेषु युगलिनां गर्भजगर्भव्युत्क्रान्तभेदभिन्नानां जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नमायुस्त्रयं, किं वोत्कृष्टमेव ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्–युगलिनामुत्कृष्टमायुर्यथास्थानं त्रिपल्योपमादि प्रतीतं,जघन्यं तु क्षुल्लकभवरूपं ज्ञेयम् , अतस्त्रिपल्योपमप्रमितमप्यायुरपवर्त्य क्षुल्लकभवरूपं कश्चिज्जन्तुः करोतीत्यर्थकाक्षराण्याचाराङ्गवृत्त्यादौ सन्ति, परं तदपवर्तनमपर्याप्तावस्थायामेव भवति, तदुद्वर्तनं तु न भवति,तेषां निरुपक्रमायुष्कत्वात् । मध्यमं तु युगलिनीगर्भेऽपि नवलक्षामितिगर्भजा उत्पद्यन्ते, निष्पद्यन्ते च द्वयमेव । शेषास्तु स्वस्वमायुरपवर्त्य गर्भस्था एव म्रियन्ते;तथा क्षुल्लकभवादधिकसमयाऽऽदिभवनं संभवतीति । १६८ प्र० । सेन २ उल्ला० ।

युगलित–त्रि० । युगलं सजातीयविजातीययोर्द्वन्द्वं,तत्संजातमस्त्यस्य युगलितः । सजातीयविजातीयद्वन्द्वोपेते, जी० ३ प्रति० । जं० । जी० । " निच्चं जुगलिया " युगलतया स्थिताः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जुगलियखेत्तकप्परुक्ख–युगलिकक्षेत्रकल्पवृक्ष–पुं० । युगलिकक्षेत्रे कल्पवृक्षा वनस्पतिरूपाः,पृथ्वीकायरूपा वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्–ते वनस्पतिरूपा इति । ४०६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

जुगवं–युगवत्–त्रि० । युगं सुषमदुष्षमाऽऽदिः कालः, सोऽदुष्टो निरुपद्रवो विशिष्टबलहेतुर्यस्यास्त्यसौ युगवान् । कालोपद्रवरहिते, अनु० । कालोपद्रवोऽपि सामर्थ्यविघ्नहेतुः, स चास्य नास्तीति । अनु० । भ० । रा० । आ० म० ।

युगपत्–अव्य० । युगमिव पद्यते, पद्–क्विप् । एकस्मिन् काल इत्यर्थे, नं० । " चत्तारि कम्मं से जुगवं खवेइ " । यौगपद्येन निर्जरयति । औ० । आ० म० । उत्त० । विशे० । (युगपत्क्रियाद्वयवक्तव्यता ' दोकिरिय ' शब्दे वक्ष्यते)

जुगबाहु–युगबाहु–पुं० । युगो यूपस्तदाकारा वृत्तत्वाद्दीर्घत्वाच्च बाहवो यस्य सः । युगवद्दीर्घबाहौ, स्था० ६ ठा० । सुविधिजिने, सुविधिजिनस्य चैतत्पूर्वभवनामधेयम् । स० । पूर्वविदेहस्थे सीमन्धरतीर्थकरसमकालिके वासुदेवे, आ० चू० ४ अ० । आव० । मालवदेशस्थस्य सुदर्शनपुरनृपतेर्मणिरथस्य स्वनामख्याते भ्रातरि, उत्त० ९ अ० । मिथिलास्थे नमिराजपितरि, " इत्थं जुगबाहुमयणरेहाणं पुत्तो नमी नाम महाराया । " ति० ।

जुगसंवच्छर–युगसंवत्सर–पुं० । युगं पञ्चवर्षाऽऽत्मकं तत् पूरकः संवत्सरो युगसंवत्सरः । सू० प्र० १० पाहु० । चं० प्र० । पञ्चसंवत्सराऽऽत्मकं युगं,तदेकदेशभूतो वक्ष्यमाणलक्षणश्चन्द्राऽऽदिर्युगपूरकत्वाद्युगसंवत्सरः । जं० ७ वक्ष० । स्था० । संवत्सरविशेष, (तद्वक्तव्यता ' जुग ' शब्देऽत्रैव भागे १५६७ पृष्ठे द्रष्टव्या)

जुगसंनिभ–युगसन्निभ–त्रि० । वृत्ततया आयततया च यूपतुल्ये, ' जुगसंनिभपीणरइयपीवरपउट्ठसंठियसुसिलिट्ठविसिट्ठघणथिरसुबद्धसंधीपुरवरफलिहवट्टियभुया । " जी० ३ प्रति० । तं० । प्रश्न० ।

जुगाइ–युगाऽऽदि–पुं० । युगाऽऽरम्भे,युगाऽऽरम्भकाले प्रथमतः प्रवृत्ते मासतिथिमुहूर्तादौ च । जं० ।

संप्रति युगसंवत्सरमासदिनानामादिं प्ररूपयति–

आदी जुगस्स संवच्छरो उ मासस्स अद्धमासो उ ।

दिवसा भरहेरवए, राईया सह विदेहेसु ॥

युगस्य चान्द्रचान्द्राभिवर्द्धितचन्द्राभिवर्द्धितरूपसंवत्सरपञ्चकाऽऽत्मकस्याऽऽदिः संवत्सरः, स च चान्द्रः, तमसावन्य-युगस्य प्रवर्त्तनात् । चान्द्रस्य संवत्सरस्याऽऽदिर्मासः । स च श्रावणः आषाढपौर्णमासीचरमसमयः पाश्चात्ययुगस्य पर्यवसानं, ततोऽभिनवयुगस्याऽऽदिर्मासः प्रवर्तमानः श्रावण एव भवति, तस्यापि च मासस्य श्रावणस्याऽऽदिरर्द्धमासः पक्षः, पक्षद्वयमीलनेन मासस्य संभवात् । सोऽपि च पक्षो बहुलो वेदितव्यः, पौर्णमास्यनन्तरं बहुलपक्षस्यैव भावात् । तस्यापि च बहुलस्यार्द्धमासस्यापि भरतक्षेत्रे युगस्यादिः प्रवर्त्तते, ततो दिवस एव मासाऽऽदिरूप उत्पद्यते, यदा च भरतक्षेत्रे दिवसस्तदैरवतेऽपि दिवसः, तदा च पूर्वविदेहेष्व-परविदेहेषु च रात्रिः,अत ऐरवतेऽपि अर्द्धमासस्याऽऽदिर्दिवसो, महाविदेहेषु रात्रिरिति ।

संप्रति भरतैरवतेऽधिकृत्याऽऽदिप्ररूपणार्थमाह-

दिवसाइ अहोरत्ता, बहुलाईयाणि होंति पव्वाणि ।
अभिई नक्खत्ताई, रुद्दो आई मुहुत्ताणं ॥

भरते, ऐरवते च दिवसाऽऽदयो दिवसमूला अहोरात्राः, युगस्याऽऽदौ दिवसस्यैवेह प्रवर्त्तमानत्वात् । पर्वाणि पक्षरूपाणि बहुलाऽऽदीनि कृष्णानि भवन्ति,कृष्णपक्षस्यैव युगाऽऽदौ भावात् । तथा नक्षत्राणामादिरभिजित्, तत एवाऽऽरभ्य नक्षत्राणां क्रमेण युगे प्रवर्तमानत्वात् । तथाहि-उत्तराषाढानक्षत्रचरमसमये पाश्चात्ययुगस्य पर्यवसानम् । ततोऽभिनवयुगस्याऽऽदिनक्षत्रमभिजिदेव भवति । तथा मुहूर्त्तानामादिमुहूर्त्तो रुद्रः । इह दिवसाऽऽदिरहोरात्र इत्युक्तं, दिवसाऽऽदिके चाहोरात्रे क्रमेणामी पञ्चदशमुहूर्त्ताः । तद्यथा-प्रथमो मुहूर्तो रुद्रः, द्वितीयः श्रेयान्, तृतीयो मित्रः,चतुर्थो वायुः, पञ्चमः सुपीतः,षष्ठोऽभिचन्द्रः, सप्तमो माहेन्द्रः,अष्टमो बलवान्, नवमः पक्ष्मः, दशमो बहुसत्यः,एकादश ईशानः,द्वादशस्त्वष्टः,त्रयोदशो भावितात्मा,चतुर्दशो वैश्रवणः, पञ्चदशो वारुणः, षोडश आनन्दः, सप्तदशो विजयः, अष्टादशो विश्वक्सेनः, एकोनविंशतितमः प्राजापत्यः, विंशतितम उपशमः, एकविंशतितमो गन्धर्वः, द्वाविंशतितमोऽग्निवेशः, त्रयोविंशतितमः शतवृषभः, चतुर्विंशतितम आतपवान्, पञ्चविंशतितमोऽममः, षड्विंशतितमोऽरुणवान्, सप्तविंशतितमो भौमः, अष्टाविंशतितमो वृषभः, एकोनत्रिंशत्तमः सर्वार्थः, त्रिंशत्तमो राक्षसः ।

उक्तं च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ-

" रुद्दो सेए मित्ते, वाऊ पीए तहेव अभिचंदे ।
माहिंद बलव पम्हे, बहुसच्चे चेव ईसाणे ॥ १ ॥
तट्ठेव भावियप्पा, वेसमणो वारुणे य आणंदे ।
विजए य वीससेणे, पायावच्चे तह य उवसमए ॥ २ ॥
गंधव्व अग्गिवेसो, सयरिसहे आयवं च अममं च ।
अणवं भोमे रिसहे, सव्वट्ठे रक्खसाईया ॥ ३ ॥"

ततो युगे मुहूर्त्तानामादिको रुद्र एव भवति । ज्यो० २ पाहु० ।

तथा च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तावेवोक्तम्-

"किमाइआ णं भंते ! संवच्छरा, किमाइआ अयणा, किमाइआ उऊ, किमाइआ मासा, किमाइआ पक्खा, किमाइआ अहोरत्ता, किमाइआ मुहुत्ता, किमाइआ करणा, किमाइआ णक्खत्ता पण्णत्ता ?। गोयमा ! चंदाइआ संवच्छरा, दक्खिणाइआ अयणा, पाउसाइआ उऊ, सावणाइआ मासा, बहुलाइआ पक्खा, दिवसाइआ अहोरत्ता, रोद्दाइआ मुहुत्ता, बालवाइया करणा, अभिजिआइया णक्खत्ता समणाउसो ! " [जं० ७ वक्ख०]

तदेवं 'राईया सह विदेहेसु' इत्यनेन (पूर्वोक्तगाथा) अवयवेन महाविदेहेष्वनया गाथया भरतैरवतयोर्युगस्याऽऽदिः प्ररूपितः ।

संप्रति भरतैरवतविदेहेषु साधारणं युगस्याऽऽदिं प्ररूपयति-

सावणबहुलपडिवए, बालवकरणे अभीइनक्खत्ते ।
सव्वत्थ पढमसमए, जुगस्स आइं वियाणाहि ॥

सर्वत्र-भरते, ऐरवते, महाविदेहेषु च श्रावणमासे बहुलपक्षे-कृष्णपक्षे प्रतिपदि तिथौ बालवकरणे अभिजिन्नक्षत्रे प्रथमसमये युगस्याऽऽदिं विजानीहि । ज्यो० २ पाहु० ।

सर्वत्रेति भरतैरावतविदेहेषु ज्ञातव्यम् । अवसर्पिण्यां षष्ठारकाणामप्यादिः रात्रिरेव, विदेहेषु यद्यप्यारकाणामभावः, तथापि पञ्चसंवत्सराऽऽत्मकस्य युगस्य सद्भावः । मं० ।

जुग्ग-युग्य-न० । युज्-यत्-कुत्वम् । " युग्यं च पत्रे " ॥ ३ ।१।१२१ ॥ इति (पाणिनि) सूत्रेण निपातनम् । अश्वाऽऽदिके वाहने, स्था० ४ ठा० ३ उ० । प्रश्न० । युग्यमिव युग्यम् । संयमभारवोढरि साधौ, स्था० ।

युग्यभेदा यथा-

चत्तारि जुग्गा पण्णत्ता । तं जहा-जुत्ते,णाममेगे जुत्ते, जुत्ते णाममेगे अजुत्ते, अजुत्ते णाममेगे जुत्ते, अजुत्ते णाममेगे अजुत्ते ॥

युग्यं वाहनमश्वाऽऽदि । अथवा-गोल्लविषये जम्पानं द्विहस्तप्रमाणं चतुरस्रं सवेदिकमुपशोभितं युग्यकमुच्यते, तद् युक्तमारोहणसामग्र्या पर्याणाऽऽदिकया पुनर्युक्तं वेगाऽऽदिभिरित्येवं यानवद् व्याख्येयम् । स्था० ४ ठा० ३ उ० । युगमर्हति युगं वा वहति यत् । युगवाहकेऽश्वाऽऽदौ, त्रि० । वाच० । गन्त्र्यादिके, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । गोल्लदेशप्रसिद्धे जम्पानविशेषे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । युग्यानि गोल्लविषयप्रसिद्धानि द्विहस्तप्रमाणानि वेदिकोपशोभितानि जम्पानान्येवेति । आ० १ श्रु० १ अ० । अनु० । जं० । जी० । भ० । औ० । प्रश्न० । पुरुषोत्क्षिप्ते आकाशयाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । युग्यं पुरुषोत्क्षिप्तमाकाशयानं, जम्पानमित्यर्थः । जं० २ वक्ख० ।

जुग्गगय-युग्यगत-त्रि० । वाहनोपरि स्थिते, औ० ।

जुग्गय-युग्यक-'जुग्ग' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जुग्गायरिया-युग्याचर्या-स्त्री० । युग्यस्याऽऽचर्या वहनं गमनं युग्याचर्या । युग्यस्य गमने, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

युग्याचर्याभेदाः—

चत्तारि जुग्गायरिया पण्णत्ता । तं जहा-पंथजाई णाम-

मेगे,णो उप्पहजाई । उप्पहजाई णाममेगे, णो पंथजाई । एगे पंथजाई वि, उप्पहजाई वि । एगे णो पंथजाई, णो उप्पहजाई ॥

(जुग्गायरिय त्ति) युग्यस्य चर्या वहनं, गमनमित्यर्थः। क्वचित्तु-"जुग्गारिय त्ति" पाठः, तत्रापि युग्याचर्येति, पथयाय्येकं युग्यं भवति, नोत्पथयायीत्यादि चतुर्भङ्गी। इह च युग्यस्य चर्याद्वारेणैव निर्देशे चतुर्विधत्वेनोक्तत्वात् तच्चर्याया एवेहोक्तं चातुर्विध्यमवसेयमिति भावः । युग्यपक्षे तु युग्यमिव युग्यं, संयमयोगभारवोढा साधुरेव, स च पथियायी प्रमत्त उत्पथयायी लिङ्गावशेषः, उभययायी प्रमत्तश्चतुर्थः सिद्धक्रमेण सदसदुभयानुभयानुष्ठानरूपत्वात् । अथवा-पथ्युत्पथयोः स्वपरसमयरूपत्वाद् यायित्वस्य च गत्यर्थत्वेन बोधपर्यायत्वात् स्वपरसमयबोधापेक्षयेयं चतुर्भङ्गी नेयेति । स्था० ४ ठा० ३ उ०।

जुग्गारिया-युग्याचर्या-स्त्री०। 'जुग्गायरिया' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जुज्झइत्ता-युक्त्वा-अव्य० । योगं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० २ पाद ।

जुज्झ-युध-धा० । युद्धे, दिवा०-आत्म०-अक०-अनिट् । युध्यते, अयुद्ध । वाच० । " संपलग्गो उ जुज्झिउं " । आ० म० १ अ० १ खण्ड । युद्धे, न० । युध्-क्तः । शस्त्रादिक्षेपणव्यापारे योधने, वाच० । मुष्ट्याऽऽदिना परस्परताडने, तं०। "जुज्झाइं बाहुजुज्झाइयाइं वट्टाइयाणं च" युद्धानि नाम-बाहुयुद्धाऽऽदीनि, यदि वा वर्त्तकाऽऽदीनां च। आ० म० १ अ०१ खण्ड। युद्धं कुक्कुटाऽऽदीनामिव मुष्टामुष्टि, शृङ्गिणामिव शृङ्गाशृङ्गि युयुत्सया योधयोर्वल्गनम् । जं० २ वक्ष० । आयुधयुद्धं, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । वैरिणां परप्राणव्यपरोपणाध्यवसाये, आतु० । संग्रामे, "अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।" उत्त० ९ अ० । नि०। प्रश्न०। द्रव्यतः संग्रामयुद्धं, भावतः परीषहाऽऽदियुद्धं, तद् द्विविधम्, आर्यानार्यभेदात् । तत्रानार्यं संग्रामयुद्धं, परीषहाऽऽदिरिपुयुद्धं त्वार्यम्। आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । तदात्मके द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । जं० ।

युद्धदर्शननिषेधो यथा—

जे भिक्खू आसजुज्झाणि वा० जाव सूकरजुज्झाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

"हयजुज्झ" गाहा। हयोऽश्वस्तेषां परस्परतो युद्धं, एवमन्येषामपि, गजाऽऽदयः प्रसिद्धाः, शरीरेण विमध्यमः कट्टः, रक्तपादपक्षकः शिखी, धूम्रवर्णो लावकः, आडिमादि प्रसिद्धा, अङ्गियपच्छङ्गियादिकरणेहिं जुद्धं, सव्वसंधिविक्खोभणं णिजुद्धं, पुव्वं जुद्धेण जुज्झिउं पच्छा संधी विक्खोभिज्जंति जत्थ तं जुद्धं । नि० चू० १२ उ० ।

जुज्झंग-युद्धाङ्ग-न० । संग्रामाङ्गे, उत्त० ।

साम्प्रतं युद्धाङ्गमाह-

णाणाऽऽवरणपहरणे, जुज्झे कुसलत्तणं च णीतीए ।
दक्खत्तं ववसातो, सरीरमारोग्गयं चेव ॥१४॥ उत्त०नि०।

(आणावरणपहरणे त्ति) यानं च हस्त्यादि, तत्र सत्यपि न शक्नोत्यभिनीतिं शत्रुमत आवरणम्, आवरणं च कवचाऽऽदि, सत्यप्यावरणे प्रहरणं विना किं करोतीति, प्रहरणं प्रहरणं च खड्गाऽऽदि, यानाऽऽवरणप्रहरणानि, यदि युद्धे कुशलत्वं नास्ति, तदा किं यानाऽऽदिनेति युद्धे संग्रामे कुशलत्वम्, कुशलत्वं च प्रावीण्यरूपं, सत्यप्यस्मिन्नीतिं विना न शत्रुजयनमतो नीतिः, नीतिश्चापकमाऽऽदिलक्षणा, सत्यामपि चास्यां दक्षस्याधीनो जयः, ततो दक्षत्वम्, दक्षत्वमाशुकारित्वं, सत्यप्यस्मिन्निर्व्यवसायस्य कुतो जय इति व्यवसायः, व्यवसायो व्यापारः, तत्रापि यदि न शरीरमहीनाङ्गं, ततो न जय इति शरीरम्, अर्थात्परिपूर्णाङ्गम्। तत्रापि रोग्यमेव जयायेति (आरोगयं ति) आरोग्यता, चः समुच्चये, एवोऽवधारणे। ततः समुदितानामेवैषां युद्धाङ्गत्वमिति सूत्रार्थः। उत्त० पाई० ३ अ० ।

जुज्झज्झाण-युद्धध्यान-न० । युद्धं वैरिणां परप्राणव्यपरोपणाध्यवसायः, तस्य ध्यानं युद्धध्यानम् । ध्यानभेदे, भ्रातृणां विनाशे, चेटकेन सह कोणिकनृपस्येव, अङ्गारवत्यादिग्रहणे चण्डप्रद्योतस्येव वा । आतु० ।

जुज्झंत-युध्यत्-त्रि० । युद्धं कुर्वति, नि० चू० १ उ० । " महया रिवुबलेण जुज्झंतो दिट्ठो । " आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

युध्यमान-त्रि० । शस्त्राणि व्यापारयति, " जुज्झंतं दढधम्माणं " । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

जुज्झकित्तिपुरिस-युद्धकीर्तिपुरुष-पुं० । युद्धजनिता या कीर्त्तिः, तत्प्रधानः पुरुषो युद्धकीर्तिपुरुषः । युद्धजनितकीर्तिमति पुरुषे, स० ।

जुज्झकुसल-युद्धकुशल-पुं० । युद्धप्रवीणे, उत्त० ३ अ० । युद्धक्रियाज्ञानवति, आ० क० ।

जुज्झणीइ-युद्धनीति-स्त्री० । व्यूहरचनाऽऽदिके,स्था० ६ ठा० । संग्रामनिर्गमप्रवेशे च । आ० क० । उत्त० ।

जुज्झदक्ख-युद्धदक्ष-पुं० । युद्धे आशुकारिणि, उत्त० ३ अ० ।

जुज्झववसाय-युद्धव्यवसाय-पुं० । युद्धव्यापारे, उत्त० ३ अ० ।

जुज्झवीरिय-युद्धवीर्य-पुं० । पुष्पदन्तजिनसमकालिके नृपे, " जुज्झवीरियथुयस्स । " ति० ।

जुज्झसज्ज-युद्धसज्ज-पुं० । युद्धनिमित्तं सज्जः प्रगुणीभूतो युद्धसज्जः । रा० । युद्धप्रगुणे, भ० ७ श० ९ उ० । युद्धसज्जो रणप्रह्व इति । औ० ।

जुज्झसड्ढ-युद्धश्रद्ध-त्रि० । युद्धं संग्रामस्तत्र संजाता श्रद्धा यस्य सः । युद्धश्रद्धावति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

जुज्झसूर-युद्धशूर-पुं० । युद्धे शूरः सुभटः । रणदीक्षावद्धकक्षे, संथा० । शूरविशेषे, " जुज्झसूरे वासुदेवे" युद्धशूरो वासुदेवः। कृष्णवत्तस्य षण्णधिकेषु त्रिषु संग्रामशतेषु लब्धजयत्वात् । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जुज्झाइजुज्झ-युद्धातियुद्ध-न०। यत्र प्रतिद्वन्द्विहतानां पुरुषाणां पातः स्यादित्येवम्भूते खड्गाऽऽदिप्रक्षेपपूर्वके महायुद्धे, तदात्मके द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे च । जं० २ वक्ष० । स०। औ० । ज्ञा० ।

जुज्झारिय-युद्धार्य-न० । युद्धभेदे,युद्धं द्विविधम्,आर्यानार्यभेदात् । अनार्यं संग्रामयुद्धम्, परीषहाऽऽदिरिपुयुद्धं त्वार्यम् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

जुज्झारिह-युद्धार्ह-त्रि० । युद्धोचिते, "इमेणं चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ । जुद्धारिहं खलु दुल्लहं जहेत्थ कुसलेहिं ॥ १ ॥ " आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

जुज्झित्ता-युद्ध्वा-अव्य० । युद्धं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

जुण्ण-जूर्ण-जीर्ण-त्रि० । तृणभेदे, वाच० । 'जिण्ण' शब्दार्थे च । प्रा० १ पाद ।

जुण्णकुमारी-जीर्णकुमारी-स्त्री० । 'जिण्णकुमारी' शब्दार्थे, ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

जुण्णगुल-जीर्णगुड-पुं० । 'जिण्णगुल' शब्दार्थे, भ० ८ श० ६ उ० ।

जुण्णघय-जीर्णघृत-न० । 'जिण्णघय' शब्दार्थे, अनु० ।

जुण्णतंदुल-जीर्णतण्डुल-पुं० । 'जिण्णतंदुल' शब्दार्थे, भ० ८ श० ६ उ० ।

जुण्णतया-जीर्णत्वक्-स्त्री० । ' जिण्णतया ' शब्दार्थे, आचा० २ श्रु० ४ चू० ।

जुण्णदुग्ग-जीर्णदुर्ग-न० । 'जिण्णदुग्ग' शब्दार्थे, ती० ४ कल्प ।

जुण्णसुरा-जीर्णसुरा-स्त्री० । 'जिण्णसुरा' शब्दार्थे, भ० ८ श० ६ उ० ।

जुण्णसेट्ठि [ण्]-जीर्णश्रेष्ठिन्-पुं० । ' जिण्णसेट्ठि (ण्) ' शब्दार्थे, ध० र० ।

जुण्णाजुण्ण-जीर्णाजीर्ण-त्रि० । 'जिण्णाजिण्ण' शब्दार्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

जुण्णुज्जाण-जीर्णोद्यान-न० । 'जिण्णुज्जाण' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जुण्णुद्धार-जीर्णोद्धार-पुं० । 'जिण्णुद्धार' शब्दार्थे, ध० २ अधि० ।

जुण्हा-ज्योत्स्ना-स्त्री० । ' जोसिणा ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

जुति-द्युति-स्त्री० । द्युतौ, ' सव्वजुईए ' सर्वद्युत्याऽऽभरणादिसंबन्धित्या । ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

जुत्त-युक्त-त्रि० । युज्-क्तः । युते, "जुत्तानि बलीवर्दाऽऽदियुतानि । औ० । "गुत्ते जुत्ते सदा जए ।" युक्तो ज्ञानाऽऽदिभिः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । संयुते, पञ्चा० १२ विव० । मिलिते, अष्ट० १ अष्ट० । उपेते, षो० ११ विव० । श्लिष्टे, आ० चू० । युक्तं श्लिष्टमित्यनर्थान्तरम् । आ० चू० १ अ० । समन्विते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । परस्परसंबद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । विशे० । ज्ञा० । रा० । उचिते, अनु० । स्था० । जं० । रा० । जी० । योग्ये, नि० चू० १० उ० । युक्तं योग्यं घटमानमिति । नि० चू० १ उ० । "जुत्तो" युज्यते, घटत इत्यर्थः । नि० चू० १ उ० । उपपन्ने, चं० प्र० २० पाहु० । सूत्र० । सू० प्र० । संगते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । स्था० । विपा० । जं० । उपा० । पञ्चा० । युक्तियुक्ते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । संमते, दर्श० ४ तत्त्व । उद्युक्ते, प्रव० ६४ द्वार । अभ्यस्तयोगे योगिनि, पुं० । एलानीबृक्षभेदे च, न्यायाऽऽगतद्रव्याऽऽदौ, न० । वाच० ।

जुत्तगइ-युक्तगति-स्त्री० । मृदुगतौ, " जुत्तगती णामं मिदुगती ।" न शीघ्रं गच्छतीत्यर्थः । नि० चू० १६ उ० ।

जुत्तजोग-युक्तयोग-पुं० । संयुतकायाऽऽदिचेष्टे, " सव्वेहिं जुत्तजोगस्स । " पञ्चा० १२ विव० ।

जुत्तपरिणय-युक्तपरिणत-त्रि० । सत्सामग्र्या युक्ततया परिणते यानाऽऽदौ, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जुत्तपालिय-युक्तपालिक-त्रि० । युक्तापरस्परं संबद्धा न तु बृहदन्तराला पालिः सेतुर्यस्य स युक्तपालिकः । परस्परसंबद्धसेतुके, रा० । जी० ।

जुत्तफुसिय-युक्तस्पृष्ट-न० । उचितबिन्दुनिपाते, " जुत्तफुसियमिहयरेणुयं । " स० ३४ सम० ।

जुत्तरूव-युक्तरूप-त्रि० । संगतस्वभावे, प्रशस्तस्वभावे, उचितवेषे, सुविहितनेपथ्ये च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जुत्तसोह-युक्तशोभ-त्रि० । युक्तं शोभते युक्तस्य वा शोभा यस्य तद्युक्तशोभम् । गवाऽऽदिसत्सामग्रीयुक्ततया शोभमाने यानाऽऽदौ, स्था० ४ ठा० ३ उ० । युक्ता उचिता शोभा यस्य सः । युक्तशोभोपेते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जुत्ति-युक्ति-स्त्री० । योजनं युक्तिः, युज्-क्तिन् । विशे० । योगे, " दिव्वाए जुत्तीए " युक्त्या विवक्षितार्थयोगेन । औ० । भक्तौ, स्था० ८ ठा० । द्रव्याऽऽदिसंयोगे, स० ५ अङ्ग । आचा० । ज्ञा० । युक्त्याऽन्यान्यभक्तिभिस्तथाविधद्रव्ययोजनेनेति । स्था० ७ ठा० । लोकन्याये, षो० ६ विव० । विशे० । हेतौ, स० ५ अङ्ग । उपपत्तौ, अष्ट० १६ अष्ट० । आ० । पञ्चा० । " एसा खलु तंतजुत्ति त्ति । " तन्त्रयुक्तिः शास्त्रीयोपपत्तिः । पञ्चा० १८ विव० । अवितथभणितौ, " तत्थिमा जुत्ति वत्तव्वा । " जीवा० ७ अधि० । युक्तयः सर्वप्रमाणनयगर्भा इति । षो० ५ विव० । अनुमाने, षो० वि० । अनुमानसाधने लिङ्गज्ञानाऽऽदौ, वाच० । "सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं ।" सर्वैरेव हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणीभूतैः । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । युक्तयः साधनानि, असिद्धविरुद्धानैकान्तिकपरिहारेण पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपतया युक्तिसङ्गता युक्तयः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । योजनं युक्तिः । अर्थघटनायाम्, स० ५ अङ्ग । सूत्र० । "तत्थ जुत्ती वि पयडा । " औ० १ प्रति० । " सव्वजुईए " सर्वयुक्त्या उचितेषु वस्तुघटनालक्षणयेति । ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । विधौ, बृ० १ उ० । युक्तिरर्थावधारणमित्युक्ते नाट्याङ्गविशेषे च । वाच० ।

जूर्ति-स्त्री० । ज्वर-क्तिन्, संप्रसारणम् । ज्वरे, वाच० ।

जुत्तिक्खम-युक्तिक्षम-त्रि० । उपपत्तिसहे, पञ्चा० १२ विव० । आ० म० । " नागमजुत्तिक्खमं होइ " । (३६५ गाथा) विशे० ।

जुत्तिगई-युक्तिगवी-स्त्री० । यथार्थवस्तुस्वरूपविभजनोपपत्तिर्युक्तिः । सैव गौर्युक्तिगवी । युक्तिरूपायां गवि, " मनोवत्सो युक्तिगवीं, मध्यस्थस्यानुधावति" । (२ श्लो०) अष्ट० १६ अष्ट० ।

जुत्तिण्ण-युक्तिज्ञ-त्रि० । युक्तिज्ञानवति, "गंधारे गीयजुत्तिण्णा ।" स्था० ७ ठा० ।

जुत्तिबाहिय-युक्तिबाधित-त्रि० । उपपत्तिनिराकृते, "जम्हा ण जुत्तिबाहिय-विसओ वि सदागमो होइ । " (४४ गाथा) पञ्चा० १८ विव० ।

जुत्तिसुवण्ण-युक्तिसुवर्ण-पुं० । कृत्रिमसुवर्णे, दश० १० अ० ।

युक्तिसुवर्णस्य का वार्ता ?, इत्याह-

जुत्तीसुवण्णगं पुण, सुवण्णवण्णं तु यदि वि कीरेज्जा ।
ण हु होति तं सुवण्णं, सेसेहिँ गुणेहिँऽसंतेहिं ॥३६॥

युक्त्या द्रव्यसंयोगेन, यदसुवर्णं सत्सुवर्णाकारं स्यात् तद् युक्तिसुवर्णं, तत्पुनः सुवर्णवर्णं पीतच्छायमेव, यद्यपीत्यभ्युपगमे, कि-

वेन विधीयेत, कथञ्चिचथापि 'न हु' नैव भवति स्यात्, तद्युक्तिसुवर्णम, सुवर्णं हेम, शेषैर्वर्णव्यतिरिक्तैर्गुणैर्विषघातादिभिरसंङ्गरिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ पञ्चा० १४ विव० ।

जुज्झकित्तिपुरिस–युद्धकीर्तिपुरुष–पुं० । 'जुज्झकित्तिपुरिस' शब्दार्थे, स० ।

जुज्झकुसल–युद्धकुशल–पुं० । 'जुज्झकुसल' शब्दार्थे, आ० क० ।

जुज्झणीइ–युद्धनीति–स्त्री० । 'जुज्झणीइ' शब्दार्थे, आ० क० ।

जुज्झदक्ख–युद्धदक्ष–पुं० । 'जुज्झदक्ख' शब्दार्थे, उत्त० ३ अ० ।

जुज्झववसाय–युद्धव्यवसाय–पुं० । 'जुज्झववसाय' शब्दार्थे, उत्त० ३ अ० ।

जुज्झविरिय–युद्धवीर्य–पुं० । 'जुज्झविरिय' शब्दार्थे, ति० ।

जुज्झसज्ज–युद्धसज्ज–पुं० । 'जुज्झसज्ज' शब्दार्थे, रा० ।

जुज्झसड्ढ–युद्धश्रद्ध–त्रि० । 'जुज्झसड्ढ' शब्दार्थे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

जुप्पइत्ता–युक्त्वा–अव्य० । युज्–क्त्वा । योगं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

जुम्म–युग्म–न० । युज्–मक् । पृषोदरादित्वाज्जस्य गः । "ग्मो वा" । ८ । २ । ६२ । इतिप्राकृतसूत्रेण ग्मस्य म्मो वा । प्रा० २ पाद । द्वित्वसंख्याऽन्विते पदार्थद्वयसंघाते, पिं० । ओघ० । युगले, "युग्माग्निकृतभूतानि, षण्मुन्योर्वसुरन्ध्रयोः । रुद्रेण द्वादशी युक्ता, चतुर्दश्यथ पूर्णिमा । प्रतिपद्याऽप्यमावस्या, तिथ्योर्युग्मं महाफलम् ॥" इत्युक्ते तिथियोगविशेषे, वाच० । गणितपरिभाषया समराश्यात्मके राशिविशेषे च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

युग्मभेदाः–

कइ णं भंते ! जुम्मा पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि जुम्मा पण्णत्ता । तं जहा–कडजुम्मे, तेओए, दावरजुम्मे, कलिओए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव कलिओए ? । गोयमा ! जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरेमाणे अवहीरेमाणे चउपज्जवसिए, से तं कडजुम्मे १ । जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरेमाणे अवहीरेमाणे तिपज्जवसिए, से तं तेओए २ । जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरेमाणे अवहीरेमाणे दुपज्जवसिए, से तं दावरजुम्मे ३ । जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरेमाणे अवहीरेमाणे एगपज्जवसिए, से तं कलिओए ४ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव कलिओए ॥

"कइ णं" इत्यादि । (चत्तारि जुम्म त्ति) इह गणितपरिभाषया समो राशिर्युग्ममुच्यते, विषमस्तु ओज इति । तत्र च यद्यपीह द्वौ राशी युग्मशब्दवाच्यौ, द्वौ च ओजःशब्दवाच्यौ भवतः, तथापीह युग्मशब्देन राशयो विवक्षिताः, अतश्चत्वारि युग्मानि, राशय इत्यर्थः । तत्र (कडजुम्मे त्ति) कृतं सिद्धं पूर्णं, ततः परस्य राशिसंज्ञान्तरस्याभावेन, न त्र्योजःप्रभृतिवद् पूर्णं यद्युग्मं समराशिविशेषः, तत्कृतयुग्मम् । (तेओए त्ति) त्रिभिरादित एव, कृतयुग्मादुपरिवर्तिभिरोजो विषमराशिविशेषस्त्र्योजः । (दावरजुम्मे त्ति) द्वाभ्यामादित एव, कृतयुग्मादुपरिवर्तिभ्यां यदपरं युग्मं कृतयुग्मादनन्तरं संनिपातनाद्विशेषो द्वापरयुग्मम् । (कलिओए त्ति) कलिना एकेन आदित एव, कृतयुग्मादुपरिवर्तिना ओजो विषमराशिविशेषः कल्योज इति । "जे णं रासी" इत्यादि । यो राशिश्चतुष्ककेनापहारेणापह्रियमाणश्चतुष्पर्यवसितो भवति स कृतयुग्ममभिधीयते । यत्रापि राशौ चतूरूपत्वेन चतुष्कापहारो नास्ति, सोऽपि चतुष्पर्यवसितत्वसद्भावात्कृतयुग्ममेव, एवमुत्तरपदेष्वपि । भ० १८ श० ४ उ० । आचा० । स्था० । यस्तु त्रिपर्यवसितः स त्र्योजः, द्विपर्यवसितो द्वापरयुग्मं, एकपर्यवसितः कल्योज इति । इह गणितपरिभाषायां समराशिर्युग्म इत्युच्यते, विषमस्तु ओज इति । इयं च समयपरिभाषितिः, लोके तु कृतयुगादीनि एवमुच्यन्ते–"द्वात्रिंशच्च सहस्राणि, कलौ लक्षचतुष्टयम् । वर्षाणां द्वापरादौ स्या–देतद् द्वित्रिचतुर्गुणम्" ॥ १ ॥ इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

उक्तराशीन्नारकादिषु निरूपयन्नाह–

णेरइयाणं चत्तारि जुम्मा पण्णत्ता । तं जहा–कडजुम्मे, तेओए, दावरजुम्मे, कलिओए । एवमसुरकुमाराणं० जाव थणियकुमाराणं, एवं पुढविकाइयाणं आउतेउवाउवणस्सइबेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं वाणमंतरजोइसियाणं वेमाणियाणं सव्वेसिं जहा नेरइयाणं ॥

"नेरइयाणं" इत्यादि सुगमम् । नवरम्, नारकादयश्चतुर्धाऽपि स्युः, जन्ममरणाभ्यां हीनाधिकत्वसंभवादिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अनन्तरं कृतयुग्मादिराशयः प्ररूपिताः । अथ तैरेव नारकादीन् प्ररूपयन्नाह–

नेरइयाणं भंते ! किं कडजुम्मा, तेओआ, दावरजुम्मा, कलिओआ ? । गोयमा ! जहण्णपदे कडजुम्मा, उक्कोसपदे तेओआ, अजहण्णमणुक्कोसपदे सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ० जाव थणियकुमारा ॥

"नेरइयाणं" इत्यादि । (जहण्णपदे कडजुम्म त्ति) अत्यन्तस्तोकत्वेन कृतयुग्माः कृतयुग्मसंज्ञिताः, (उक्कोसपए त्ति) सर्वोत्कृष्टतायां त्र्योजःसंज्ञिताः, मध्यमपदे चतुर्विधा अप्येत एवैवमाज्ञाप्रामाण्यादवगन्तव्यम् ।

वणस्सइकाइयाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णपदे उक्कोसपदे अपदा, अजहण्णमणुक्कोसपदे सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ । बेइंदियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णपदे कडजुम्मा, उक्कोसपदे दावरजुम्मा, अजहण्णमणुक्कोसपदे सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ । एवं० जाव चउरिंदिया । सेसा एगिंदिया, जहा बेइंदिया, पंचिंदियतिरिक्खजोणिया० जाव वेमाणिया जहा णेरइया, सिद्धा जहा वणस्सइकाइया ॥

"वणस्सइकाइयाणं" इत्यादि । वनस्पतिकायिका जघन्यपदे, उत्कृष्टपदे चापदाः, जघन्यपदस्योत्कृष्टपदस्य च तेषामभावात् । तथाहि–जघन्यपदमुत्कृष्टपदं च तदुच्यते यन्नियतरूपं, तच्च यथा नारकादीनां कालान्तरेणापि लभ्यते, न तथा वनस्पतीनां, तेषां परम्परया सिद्धिगमनेन तद्राशेरनन्तत्वापरित्यागेऽप्यनियतरूपत्वादिति । (सिद्धा जहा वणस्सइकाइय त्ति) जघन्यपदे, उत्कृष्टपदे चापदाः, अजघन्योत्कृष्टपदे च स्यात्कृतयुग्मा-

ऽऽदय इत्यर्थः । तत्र जघन्योत्कृष्टपदापेक्षया अपदत्वं वर्द्धमानतया तेषामनियतपरिमाणत्वाज्ज्ञापनीयमिति ॥

इत्थीओ णं भंते ! किं कडजुम्माओ पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणपदे कडजुम्माओ, उक्कोसपदे कडजुम्माओ, अजहएणमणुक्कोसपदे सिय कडजुम्माओ० जाव सिय कलिओगाओ। एवं असुरकुमारइत्थीओ वि०जाव थणियकुमारइत्थीओ वि, एवं तिरिक्खजोणियइत्थीओ वि, एवं मणुस्सइत्थीओ वि, एवं वाणमंतरजोइसियवेमाणियदेवइत्थीओ वि ॥ भ० १८ श० ४ उ० ।

णेरइयाणं भंते ! कइ जुम्मा पएणत्ता ?। गोयमा ! चत्तारि जुम्मा पएणत्ता । तं जहा–कडजुम्मे० जाव कलिओए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–णेरइयाणं चत्तारि जुम्मा पएणत्ता । तं जहा–कडजुम्मे, अट्ठो तहेव । एवं० जाव वाउकाइयाणं । वणस्सइकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! वणस्सइकाइया सिय कडजुम्मा, सिय तेओआ, सिय दावरजुम्मा, सिय कलिओआ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-वणस्सइकाइया०जाव कलिओआ ?। गोयमा ! उववायं पडुच्च से तेणट्ठेणं तं चेव । बेइंदियाणं जहा णेरइयाणं । एवं० जाव वेमाणियाणं । सिद्धाणं जहा वणस्सइकाइयाणं ॥

" नेरइयाणं भंते ! कति जुम्मा " इत्यादौ (अट्ठो तहेव त्ति) स चार्थः । " जे णं नेरइयाणं चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरेमाणा अवहीरेमाणा चउपज्जवसिया ते णं नेरइया कडजुम्मे " इत्यादिरिति । वनस्पतिकायिकसूत्रे-(उववायं पडुच्च त्ति) यद्यपि वनस्पतिकायिका अनन्तत्वेन स्वभावात्कृतयुग्मा एव प्राप्नुवन्ति, तथापि गत्यन्तरेभ्य एकाऽऽदिजीवानां तत्रोत्पादमङ्गीकृत्य तेषां चतूरूपत्वमयौगपद्येन तत्रतीत्युच्यते उद्वर्तनामप्यङ्गीकृत्य, स्यादेतत्, केवलं सेह न विवक्षितेति ॥

अथ कृतयुग्माऽऽदिभिरेव राशिभिर्द्रव्याणां प्ररूपणायेदमाह–

धम्मत्थिकाए णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मे० जाव कलिओए ?। गोयमा ! णो कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, कलिओए । एवं अधम्मत्थिकाए वि । एवं आगासत्थिकाए वि । जीवत्थिकाए णं पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए । पोग्गलत्थिकाए णं पुच्छा ?। गोयमा ! सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए, अद्धासमए जहा जीवत्थिकाए । धम्मत्थिकाए णं भंते ! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मे पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए । एवं० जाव अद्धासमए ॥

" धम्मत्थिकाए णं भंते ! " इत्यादौ (कलिओए त्ति) एकत्वाद्धर्मास्तिकायस्य चतुष्कापहाराभावेनैकस्यैवावस्थानात्कल्योज एवासाविति । " जीवत्थि " इत्यादि । जीवद्रव्याणामवस्थितानन्तत्वात्कृतयुग्मतैव । " पोग्गलत्थिकाए " इत्यादि । पुद्गलास्तिकायस्यानन्तभेदत्वेऽपि संघातभेदभावाज्जनत्वाच्चातुर्विध्यमप्ययम, अद्धासमयानां त्वनीतानागतानामवस्थितानन्तत्वेन कृतयुग्मत्वम् । अत एवाह-(अद्धासमए जहा जीवत्थिकाए त्ति) उक्ता द्रव्यार्थता । अथ प्रदेशार्थता तेषामेवोच्यते-" धम्मत्थि " इत्यादि । सर्वाण्यपि द्रव्याणि कृतयुग्मानि प्रदेशार्थतयाऽवस्थितासंख्यातप्रदेशत्वादवस्थितानन्तप्रदेशत्वाच्चेति ।

अथ द्रव्याएयेव क्षेत्रापेक्षया कृतयुग्माऽऽदिभिः प्ररूपयन्नाह–

धम्मत्थिकाए णं भंते ! किं ओगाढे, अणोगाढे ?। गोयमा ! ओगाढे, णो अणोगाढे । जइ ओगाढे, किं संखेज्जपएसोगाढे, असंखेज्जपएसोगाढे, अणंतपएसोगाढे ?। गोयमा ! णो संखेज्जपएसोगाढे, असंखेज्जपएसोगाढे, णो अणंतपएसोगाढे । जइ असंखेज्जपएसोगाढे, किं कडजुम्मपएसोगाढे पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मपएसोगाढे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओयपएसोगाढे । एवं अहम्मत्थिकाए वि, एवं आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए, अद्धासमए एवं चेव ।

"धम्मत्थिकाए" इत्यादि । (असंखेज्जपएसोगाढे त्ति) असंख्यातेषु लोकाऽऽकाशप्रदेशेष्ववगाढोऽसौ, लोकाऽऽकाशप्रमाणत्वात्तस्येति । (कडजुम्मपएसोगाढे त्ति) लोकस्यावस्थितासंख्येयप्रदेशत्वेन कृतयुग्मप्रदेशता, लोकाऽऽकाशप्रमाणत्वेन च धर्मास्तिकायस्यापि कृतयुग्मतैव । एवं सर्वास्तिकायानां, लोकावगाहित्वात्तेषाम् । नवरम्, आकाशास्तिकायस्यावस्थितानन्तप्रदेशत्वादात्मावगाहित्वाच्च कृतयुग्मप्रदेशावगाढताऽद्धासमयस्य चावस्थितासंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकमनुष्यक्षेत्रावगाहित्वादिति ।

अथ कृतयुग्माऽऽदिभिरेव जीवाऽऽदीनि षड्विंशतिपदान्येकत्वपृथक्त्वाभ्यां निरूपयन्नाह–

जीवे णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मे पुच्छा ?। गोयमा ! णो कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, कलिओए । एवं णेरइए वि, एवं० जाव सिद्धे ॥

" जीवे णं " इत्यादि । द्रव्यार्थतया एको जीव एकमेव द्रव्यं, तस्मात्कल्योजो, न शेषाः ।

जीवाणं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ । विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, कलिओआ । णेरइयाणं भंते ! दव्वट्ठयाए पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ । विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, कलिओआ, एवं० जाव सिद्धा ।

"जीवाणं" इत्यादि । जीवा अवस्थितानन्तत्वादोघाऽऽदेशेन सामान्यतः कृतयुग्माः, (विहाणादेसेणं ति) भेदप्रकारेण एकैकश इत्यर्थः । कल्योजा एकत्वात्तत्स्वरूपस्य । " नेरइयाणं " इत्यादौ (ओघादेसेणं ति) सर्वे एव परिगण्यमानाः (सिय कडजुम्मे त्ति) कदाचिच्चतुष्कापहारेण चतुरग्रा भवन्ति । " एवं सिय तेओआ " इत्याद्यप्यवगन्तव्यमिति । उक्ता द्रव्यार्थतया जीवाऽऽदयः ।

अथ तथैव प्रदेशार्थतयोच्यन्ते–

जीवेणं भंते ! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मा पुच्छा ?। गोयमा ! जीवपदेसे पडुच्च कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए । सरीरपदेसे पडुच्च सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए, एवं० जाव वेमाणिए। सिद्धेणं भंते ! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मे पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए ।

" जीवेणं " इत्यादि । (जीवपएसे पडुच्च कडजुम्मे त्ति) असंख्यातत्वादवस्थितत्वाच्च जीवप्रदेशानां चतुरग्र एव जीवप्रदेशतः । "सरीरपएसे पडुच्च" इत्यादि औदारिकाऽऽदिशरीरप्रदेशानामनन्तत्वेऽपि संयोगवियोगधर्मत्वादयुगपच्चतुर्विधता स्यात् ।

जीवाणं भंते ! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मा पुच्छा ?। गोयमा ! जीवपदेसे पडुच्च ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ । सरीरपदेसं पडुच्च ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ । विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि० जाव कलिओआ वि । एवं णेरइया वि, एवं० जाव वेमाणिया । सिद्धाणं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ ।

" जीवाणं " इत्यादि । (ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्म त्ति) समस्तजीवानां प्रदेशा अनन्तत्वादवस्थितत्वाच्च एकैकस्य प्रदेशा असंख्यातत्वादवस्थितत्वाच्च चतुरग्रा एव, शरीरप्रदेशापेक्षया त्वोघाऽऽदेशेन सर्वजीवशरीरप्रदेशानामयुगपच्चातुर्विध्यम, अनन्तत्वेऽपि तेषां संख्यातभेदभावेनानवस्थितत्वात् । "विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि" इत्यादि । विधानाऽऽदेशेनैकैकजीवशरीरस्य प्रदेशगणनायां युगपच्चातुर्विध्यं भवति, यतः कस्यापि जीवशरीरस्य कृतयुग्मप्रदेशता, कस्यापि त्र्योजःप्रदेशतेत्येवमादीनि ।

अथ क्षेत्रतो जीवाऽऽदि तथैवाऽऽह–

जीवे णं भंते ! किं कडजुम्मपदेसोगाढे पुच्छा ?। गोयमा ! सिय कडजुम्मपदेसोगाढे० जाव सिय कलिओयपदेसोगाढे, एवं० जाव सिद्धे ।

"जीवे णं" इत्यादि । औदारिकाऽऽदिशरीराणां विचित्रावगाहनत्वाच्चतुरग्राऽऽदित्वमस्तीत्यत एवाऽऽह–"सिय कडजुम्मे" इत्यादि ।

जीवाणं भंते ! किं कडजुम्मपदेसोगाढे पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपदेसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ । विहाणादेसेणं कडजुम्मपदेसोगाढा वि० जाव कलिओअपदेसोगाढा वि । णेरइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मपदेसोगाढा वि० जाव सिय कलिओअपदेसोगाढा वि । विहाणादेसेणं कडजुम्मपदेसोगाढा वि० जाव सिय कलिओअपदेसोगाढा वि, एवं एगिंदियवज्जा० जाव वेमाणिया सिद्धा । एगिंदिया य जहा जीवा ।

" जीवाणं भंते ! " इत्यादि । समस्तजीवैरवगाढानां प्रदेशानामसंख्यातत्वादवस्थितत्वाच्चतुरग्रतैवेत्योघाऽऽदेशेन कृतयुग्मप्रदेशावगाढाः; विधानाऽऽदेशतस्तु विचित्रत्वाद् यदवगाहनाया युगपच्चतुर्विधाः, ते नारकाः पुनरोघतो विचित्रपरिणामत्वेन विचित्रशरीरप्रमाणत्वेन विचित्रावगाहनाप्रदेशपरिमाणत्वादयौगपद्येन चतुर्विधा अपि, विधानतस्तु विचित्रावगाहनत्वादेकदाऽपि चतुर्विधास्ते भवन्ति । (एवं एगिंदियसिद्धिवज्जा सव्वे वि त्ति) असुराऽऽदयो नारकवद्वक्तव्या इत्यर्थः । तत्रौघतस्ते कृतयुग्माऽऽदयः–अयौगपद्येन, विधानतस्तु युगपदेवैते ; (सिद्धा एगिंदिया य जहा जीव त्ति) सिद्धा एकेन्द्रियाश्च यथा जीवास्तथा वाच्याः, ते चौघतः कृतयुग्मा एव, विधानतस्तु युगपच्चतुर्विधा अपि । युक्तिस्तूभयत्रापि प्राग्वत् ।

अथ स्थितिमाश्रित्य जीवाऽऽदि तथैव प्ररूप्यते–

जीवे णं भंते ! किं कडजुम्मसमयट्ठितीए पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मसमयट्ठितीए, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओयसमयट्ठितीए । णेरइए णं पुच्छा ?। गोयमा ! सिय कडजुम्मसमयट्ठितीए० जाव सिय कलिओयसमयट्ठितीए । एवं० जाव वेमाणिए सिद्धे जहा जीवे ॥

" जीवेणं " इत्यादि । तत्रातीतानागतवर्तमानकालेषु जीवोऽस्तीति, सर्वाद्धाया अनन्तसमयाऽऽत्मकत्वादवस्थितत्वाच्चासौ कृतयुग्मसमयस्थितिक एव । नारकाऽऽदिस्तु विचित्रसमयस्थितिकत्वात्कदाचिच्चतुरग्रः, कदाचिदन्यत्रितयवर्तीति ।

जीवाणं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेण वि, विहाणादेसेण वि कडजुम्मसमयट्ठितीया, णो तेओआ, णो दावरजुम्मसमयट्ठितीया, णो कलिओआ । णेरइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मसमयट्ठितीया वि० जाव सिय कलिओअसमयट्ठितीया वि । विहाणादेसेणं कडजुम्मसमयट्ठितीया वि जाव० कलिओअसमयट्ठितीया वि, एवं० जाव वेमाणिया सिद्धा जहा जीवा ॥

"जीवाणं" इत्यादि । बहुत्वे जीवा ओघतो विधानतश्च चतुरग्रसमयस्थितिका एव, अनाद्यनन्तत्वेनानन्तसमयस्थितिकत्वात्तेषाम । नारकाऽऽदयः पुनर्विचित्रसमयस्थितिकाः, तेषां च सर्वेषां स्थितिसमयमीलने चतुष्कापहारे चौघाऽऽदेशेन स्यात्कृतयुग्मसमयस्थितिका इत्यादि, विधानतस्तु युगपच्चतुर्विधा अपि ।

अथ भावतो जीवाऽऽदि तथैव प्ररूप्यते–

जीवे णं भंते ! कालवण्णपज्जवेहिं किं कडजुम्मे पुच्छा ?।

गोयमा ! जीवपदेसे पडुच्च णो कडजुम्मे० जाव णो कलि-ओए। सरीरपदेसे सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए। एवं० जाव वेमाणिए। सिद्धो चेव ण पुच्छिज्जइ ॥

"जीवेणं" इत्यादि (जीवपएसे पडुच्च णो कडजुम्म त्ति) अमूर्तत्वाज्जीवप्रदेशानां न कालाऽऽदिवर्णपर्यवानाश्रित्य कृतयुग्माऽऽदिव्यपदेशोऽस्ति, शरीरवर्णापेक्षया तु क्रमेण चतुर्विधोऽपि स्यात्। अत एवाऽऽह-"सरीर" इत्यादि। (सिद्धो न चेव पुच्छिज्जइ त्ति) अमूर्तत्वेन तस्य वर्णाऽऽद्यभावात्।

जीवा णं भंते ! किं कालवण्णपज्जवेहिं पुच्छा ?। गोयमा ! जीवपदेसे पडुच्च ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि, णो कडजुम्मा० जाव णो कलिओगा। सरीरपदेसे पडुच्च ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओगा। विहाणादेसेणं कडजुम्मा० वि जाव कलिओगा वि। एवं० जाव वेमाणिया, एवं णीलवण्णपज्जवेहिं वि दंडओ जाणियव्वो एगत्तपुहत्तेणं, एवं० जाव लुक्खफासपज्जवेहिं। जीवे णं भंते ! आभिणिबोहियणाणपज्जवेहिं किं कडजुम्मे पुच्छा ?। गोयमा ! सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए, एवं एगिंदियवज्जं० जाव वेमाणिए। जीवा णं भंते ! आभिणि-बोहियणाणपज्जवेहिं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओगा। विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि० जाव कलिओगा वि। एवं एगिंदियवज्जं० जाव वेमाणिया। एवं सुयणाणपज्जवेहिं वि, ओहिणाणपज्जवेहिं वि एवं चेव, णवरं विगलिंदियाणं णत्थि ओहिणाणं, मणपज्जवणाणं वि एवं चेव, णवरं जीवाणं मणुस्साण य सेसाणं णत्थि।

(आभिणिबोहियणाणपज्जवेहिं ति) आभिनिबोधिकज्ञानस्याऽऽवरणक्षयोपशमभेदेन ये विशेषास्तस्यैव च ये निर्विभागपरिच्छेदास्ते आभिनिबोधिकज्ञानपर्यवास्तैः, तेषां चानन्तत्वेऽपि क्षयोपशमस्य विचित्रत्वेनानवस्थितपरिणामत्वाद्यौगपद्येन जीवचतुरस्राऽऽदिः स्यात् (एवं एगिंदियवज्जं ति) एकेन्द्रियाणां सम्यक्त्वाभावान्नास्त्याभिनिबोधिकमिति न तदपेक्षया तेषां कृतयुग्माऽऽदिव्यपदेश इति: "जीवाणं" इत्यादि। बहुत्वे समस्तानामाभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाणां मीलने चतुष्कापहारे वा युगपच्चतुरस्राऽऽदित्वमोघतः स्यात्, विचित्रत्वेन क्षयोपशमस्य तत्पर्यायाणामनवस्थितत्वात्। विधानतस्त्वेकदैव चत्वारोऽपि तद्भेदाः स्युरिति।

जीवे णं भंते ! केवलणाणपज्जवेहिं किं कडजुम्मे पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए। एवं मणुस्स वि, एवं सिद्धे वि। जीवा णं भंते ! केवलणाण पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मा, णो तेओगा, णो दावरजुम्मा, णो कलिओगा। एवं मणुस्सा वि। जीवे णं भंते ! मइअण्णाणपज्जवेहिं किं कडजुम्मे ?; जहा आभिणिबोहियणाणपज्जवेहिं तहेव दो दंडगा, एवं सुयअण्णाणपज्जवेहिं वि, एवं विभंगणाणपज्जवेहिं वि, चक्खुदंसणअचक्खुदंसणओहिदंसणपज्जवेहिं।

केवलज्ञानपर्यवपक्षे च सर्वत्र चतुरस्रत्वमेव वाच्यं, तस्यानन्तपर्यायत्वादवस्थितत्वाच्च, एतस्य च पर्याया अविभागपलिच्छेदरूपा एवावसेयाः, न तु तद्विशेषाः, एकविधत्वात्तस्येति। (दो दंडग त्ति) एकत्वबहुत्वकृतौ द्वौ दण्डकाविति। भ० २५ श० ४ उ०।

पुद्गलानेव कृतयुग्माऽऽदिभिर्निरूपयन्नाह-

परमाणुपोग्गला णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मे, तेओए य, दावरजुम्मे कलिओए ?। गोयमा ! णो कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, कलिओए। एवं० जाव अणंतपएसिए खंधे।

"परमाणु" इत्यादि। परमाणुपुद्गला ओघाऽऽदेशतः कृतयुग्माऽऽदयो भजनया भवन्ति, अनन्तत्वेऽपि तेषां सङ्घातभेदतोऽनवस्थितस्वरूपत्वात्, विधानतस्तु एकैकशः कल्योजा एवेति।

परमाणुपोग्गला णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मा पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओगा, विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, णो तेओगा, णो दावरजुम्मा, कलिओगा, एवं० जाव अणंतपदेसिया खंधा। परमाणुपोग्गले णं भंते ! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मा पुच्छा ?। गोयमा ! णो कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, कलिओए ?। दुपदेसिए पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, दावरजुम्मे, णो कलिओए। तिपदेसिए पुच्छा ?। गोयमा ! णो कडजुम्मे, णो दावरजुम्मे, तेओए, णो कलिओए। चउप्पदेसिए पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए। पंचपदेसिए जहा परमाणुपोग्गले। छप्पए-सिए जहा दुपदेसिए। सत्तपदेसिए जहा तिपदेसिए। अट्ठ-पदेसिए जहा चउप्पदेसिए। णवपएसिए जहा परमाणुपोग्गले। दसपएसिए जहा दुपएसिए। संखेज्जपएसिए णं भंते ! पोग्गले। पुच्छा ?। गोयमा ! सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए। एवं असंखेज्जपएसिए वि। एवं अणंतपएसिए वि। परमाणुपोग्गले णं भंते ! पएसट्ठयाए किं कडजुम्मा पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओगा। विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, णो तेओगा, णो दावरजुम्मा, कलिओगा।

(पंचपएसिए जहा परमाणुपोग्गल त्ति) एकाग्रत्वात्कल्योज इत्यर्थः। (छप्पएसिए जहा दुपएसिए त्ति) द्व्यग्रत्वाद् द्वापरयुग्म इत्यर्थः। एवमन्यदपि। "संखेज्जपएसिए णं" इत्यादि। संख्यातप्रदेशिकस्य विचित्रसंख्यत्वाद्भजनया चातुर्विध्यमिति।

दुपएसिया णं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कड-जुम्मा, णो तेओगा, सिय दावरजुम्मा, णो कलिओगा। विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, णो तेओगा, दावरजुम्मा, णो कलिओगा।

"दुपएसिया णं" इत्यादि। द्विप्रदेशिका यदा समसंख्या भवन्ति तदा प्रदेशतः कृतयुग्माः, यदा तु विषमसंख्यास्तदा द्वापरयुग्माः। "विहाणादेसेणं" इत्यादि। ये द्विप्रदेशिकास्ते

प्रदेशार्थतयैकैकशश्चिन्त्यमाना द्विप्रदेशत्वादेव द्वापरयुग्मा भवन्ति।

तिपएसिया णं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ। विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ॥

"तिपएसिया णं" इत्यादि। समस्तत्रिप्रदेशिकमीलने तत्प्रदेशानां च चतुष्कापहारे चतुरग्राऽऽदित्वं भजनया स्यात्, अनवस्थितसंख्यत्वात्तेषाम्। यथा चतुर्णां तेषां मीलने द्वादश प्रदेशाः, ते च चतुरग्राः पञ्चानां त्र्योजाः, षण्णां द्वापरयुग्माः, सप्तानां कल्योजा इति। विधानाऽऽदेशेन च त्र्यणुकत्वात् स्कन्धानामिति।

चउप्पएसिया णं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ। पंचपएसिया जहा परमाणुपोग्गला। छप्पदेसिया जहा दुपदेसिया। सत्तपएसिया जहा तिपदेसिया। अट्ठपदेसिया जहा चउप्पदेसिया। णवपएसिया जहा परमाणुपोग्गला। दसपएसिया जहा दुपदेसिया। संखेज्जपएसिया णं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ। विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि० जाव कलिओआ वि। एवं असंखेज्जपएसिया वि, अणंतपएसिया वि॥

"चउप्पएसिया णं" इत्यादि। चतुष्प्रदेशिकानामोघतो विधानतश्च प्रदेशाश्चतुरग्रा एव। (पंचपएसिया जहा परमाणुपोग्गल त्ति) सामान्यतः स्यात्कृतयुग्माऽऽदयः प्रत्येकं चैकाग्रा एवेत्यर्थः। (छप्पएसिया जहा दुपएसिय त्ति) ओघतः स्यात्कृतयुग्मद्वापरयुग्माः, विधानतस्तु द्वापरयुग्मा इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि।

अथ क्षेत्रतः पुद्गलांश्चिन्तयन्नाह—

परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं कडजुम्मपएसोगाढे पुच्छा ?। गोयमा ! णो कडजुम्मपएसोगाढे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, कलिओअपदेसोगाढे। दुपएसिए णं पुच्छा ?। गोयमा ! णो कडजुम्मपएसोगाढे, णो तेओए, सिय दावरजुम्मपएसोगाढे, सिय कलिओअपएसोगाढे। तिपएसिए णं पुच्छा ?। गोयमा ! णो कडजुम्मपएसोगाढे, सिय तेओअपएसोगाढे, सिय दावरजुम्मपएसोगाढे, सिय कलिओअपएसोगाढे। चउप्पएसिए णं पुच्छा ?। गोयमा ! सिय कडजुम्मपएसोगाढे० जाव सिय कलिओअपएसोगाढे, एवं० जाव अणंतपएसिए।

परमाणुः कल्योजप्रदेशावगाढ एव, एकत्वात्। द्विप्रदेशिकस्तु द्वापरजुम्मप्रदेशावगाढो वा, कल्योजप्रदेशावगाढो वा स्यात्, परिणामविशेषात्। एवमन्यदपि सूत्रं नेयम्।

परमाणुपोग्गला णं भंते ! किं कडजुम्मा पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ। विहाणादेसेणं णो कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, कलिओअपएसोगाढा।

"परमाणुपोग्गला णं" इत्यादि। तत्रौघतः परमाणवः कृतयुग्मप्रदेशावगाढा एव भवन्ति, सकललोकव्यापकत्वात्तेषाम्। सकललोकप्रदेशानां चासंख्यातत्वादवस्थितत्वाच्च चतुरग्रतेति। विधानतस्तु कल्योजप्रदेशावगाढाः, सर्वेषामेकैकप्रदेशावगाढत्वादिति।

दुपदेसिया णं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ। विहाणादेसेणं णो कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओअपएसोगाढा, दावरजुम्मपएसोगाढा वि, कलिओअपएसोगाढा वि। तिपएसिया णं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ। विहाणादेसेणं णो कडजुम्मपएसोगाढा, तेओअपएसोगाढा वि, दावरजुम्मपएसोगाढा वि, कलिओअपएसोगाढा वि। चउप्पएसिया णं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ। विहाणादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा वि० जाव कलिओअपएसोगाढा वि। एवं० जाव अणंतपएसिया।

द्विप्रदेशावगाढास्तु सामान्यतश्चतुरग्रा एव, उक्तयुक्तितः। विधानतस्तु द्विप्रदेशिका ये द्विप्रदेशावगाढास्ते द्वापरयुग्माः, ये त्वेकप्रदेशावगाढास्ते कल्योजाः। एवमन्यदप्यूह्यम्।

परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं कडजुम्मसमयट्ठिईए पुच्छा ?। गोयमा ! सिय कडजुम्मसमयट्ठिईए० जाव कलिओअसमयट्ठिईए। एवं० जाव अणंतपएसिए। परमाणुपोग्गलाणं किं कडजुम्मा पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मसमयट्ठिईया० जाव सिय कलिओअसमयट्ठिईया। विहाणादेसेणं कडजुम्मसमयट्ठिईया वि० जाव कलिओअसमयट्ठिईया वि। एवं० जाव अणंतपएसिया। परमाणुपोग्गला णं भंते ! कालवण्णपज्जवेहिं किं कडजुम्मे तेओए ?। जहा ठिईए वत्तव्वया। एवं वण्णेसु वि सव्वेसु, गंधेसु वि एवं चेव, रसेसु वि० जाव महुररसो त्ति। अणंतपएसिए णं भंते ! खंधे कक्खडफासपज्जवेहिं किं कडजुम्मे पुच्छा ?। गोयमा ! सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए। अणंतपएसिया णं भंते ! खंधा कक्खडफासपज्जवेहिं किं कडजुम्मा पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ। विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि० जाव कलिओआ वि। एवं मउयगुरुयलहुया वि जाणियव्वा, सीओसिणणिद्धलुक्खा जहा वण्णा।

(अणंतपएसिए णं भंते ! खंधे त्ति) इह कर्कशाऽऽदिस्पर्शाधिकारे यदनन्तप्रदेशिकस्यैव स्कन्धस्य ग्रहणं, तत्तस्यैव बादरस्य

'कर्कशाऽऽदिस्पर्शचतुष्टयं भवति, न तु परमाणवादेरित्यभिप्रायेणेति । अत एवाऽऽह-(सीओसिणणिद्धलुक्खा जहा वष त्ति) एतत्पर्यवाधिकारे परमाणवादयोऽपि वाच्या इति भावः । भ० २५ श० ४ उ० ।

जुम्मपएसिय-युग्मप्रादेशिक-त्रि० । समसंख्यप्रदेशनिष्पन्ने, तदात्मके प्रतरवृत्तभेदे च । भ० २५ श० ४ उ० ।

जुम्ह-युष्मद्-त्रि० । युष्-मदिक् । संबोध्यचेतने मध्यमपुरुषार्थे, तस्य चोक्तार्थे त्रिषु लिङ्गेषु सर्वनामता । वाच० । "युष्मद्यर्थपरे तः" । ८ । १ । २४६ । इति प्राकृतसूत्रेण युष्मच्छब्देऽर्थपरे यस्य तः । 'तुम्हारिसो, तुम्हकेरो' प्रा० १ पाद । (युष्मच्छब्दरूपसिद्धिस्तु एतत्कोशप्रथमभागस्य प्रथमपरिशिष्टे २८ पृष्ठे प्रदर्शिता, रूपाणि तु तृतीयपरिशिष्टे १७ पृष्ठे विवेचितानीति तत एवावगन्तव्यानि)

जुयल-युगल-न० । 'जुगल' शब्दार्थे, अनु० ।

जुयलधम्म-युगलधर्म-न० । 'जुगलधम्म' शब्दार्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

जुयलधम्मिय-युगलधर्मिक-पुं० । 'जुगलधम्मिय' शब्दार्थे, तं० ।

जुयलयमणुय-युगलकमनुज-पुं० । 'जुगलयमणुय' शब्दार्थे, ज्यो० १ पाहु० ।

जुरुज्जिल्ल-न० । देशी-गहने, दे० ना० ३ वर्ग ।

जुव[ण]-युवन्-त्रि० । यु-कनिन् । श्रेष्ठे, निसर्गबलवति, वाच० । यौवनस्थे, जी० ३ प्रति० । रा० । युवा यौवनगामीति । द्वा० २२ द्वा० । युवा वयःप्राप्त इति । उपा० ७ अ० । भ० । "आषोडशाद्भवेद् बालः, तरुणस्तत उच्यते ।" इत्युक्तवयस्के तरुणे, वाच० । द्वा० । आचा० । ज्ञा० । आव० ।

जुवइ-युवति[ती]-स्त्री० । युवन् तिः । युवन्-ङीप् वा । यौवनवत्यां स्त्रियाम्, वाच० । तरुण्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आव० । औ० । प्रा० । रा० । "जुवई समण बूया ।" युवतिरभिनवयौवना स्त्री । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

जुवइजण-युवति[ती]जन-पुं० । तरुणीजने, प्रा० १ पाद ।

जुवंगव-युवगव-पुं० । युवाऽयं गौः युवगवः । यूनि गवि, "जुवंगवे त्ति वा ।" आचा० २ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

जुवरज्ज-यौवराज्य-न० । प्राचीननृपतिना यो यौवराज्याभिषिक्त आसीत्तेनाधिष्ठितं राज्यं परमतेन यावदद्यापि द्वितीयो युवराजोऽभिषिक्तस्तावद्यौवराज्यमुच्यते । इत्युक्तलक्षणे राज्ये, बृ० १ उ० । नि० चू० । यत्र नाद्यापि राजाभिषेको भवति । इत्युक्तलक्षणे यौवराज्ये, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० । बृ० ।

जुवराय-युवराज-पुं० । युवा चाऽसौ राजा च युवराजः । पितरि जीवति सति राजयोग्यः कुमारो युवराज उच्यते । इत्युक्तलक्षणे कुमारपदधारके, उत्त० १६ अ० । राज्ञो द्वितीयस्थानवर्त्तिनि, व्य० १ उ० । राजयोग्यकियत्कार्यकरे राजपुत्रे, वाच० । युवराज उदितमाऽऽमन इति । जी० ३ प्रति० । आव० । भ० म । व्य० । औ० । आचा० । बृ० ।

युवराजस्वरूपमाह-

आवस्सगाइँ काउं, सो सुद्धाइँ तु णिरवसेसाइं ।
अत्थाणीमज्झगओ, पेच्छइ कज्जाइँ जुवराया ॥३१०॥

यो नाम प्रातरुत्थाय शौचपूर्वाणि आवश्यकानि शरीरचिन्तादेवताऽर्चनाऽऽदीनि निरवशेषाणि कृत्वा आस्थानिकामध्यगतः सन् कार्याणि प्रेक्षते चिन्तयति स युवराजः । व्य० १ उ० । युवा राजा यत्र । ब० व्री० । युवराजनि, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

जुवाण-युवाण-युवन्-पुं० । "पुंस्यन आणो राजवच्च" ॥ ८ । ३ । ५६ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण पुंलिङ्गे वर्तमानस्यान्नन्तस्य स्थाने 'आण' इत्यादेशो वा भवति । प्रा० ३ पाद । युवा यौवनस्थस्तु प्राप्तवया एव इत्येवमणति व्यपदिशति लोको यमसौ निरुक्तिवशाद् युवाणः । बाल्याऽऽदिकालेऽपि दारकोऽभिधीयतेऽतो विशिष्टवयोऽवस्थापरिग्रहार्थमेतद्विशेषणम् । यौवनस्थ इत्येवं लोकेन व्यपदिश्यमाने प्राप्तविशिष्टवयोऽवस्थे, अनु० ।

जुव्वणत्थी-यौवनस्त्री-स्त्री० । तरुण्याम्, "पिच्छसि मुहं सतिलयं, सविसेसं सरायएण अहरेणं । सकडक्खं सवियारं, तरलच्छि जुव्वणत्थीए ॥१२॥" तं० ।

जुसिय-जुष्ट-त्रि० । जुष्-क्तः । उच्छिष्टे, सेविते च । वाच० । प्रीते, "पावए देह भोगो, उवगारिसु परिचिए व जुसिए वा ।" स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जुहिट्ठिल-युधिष्ठिर-पुं० । युधि युद्धे स्थिरः । "गविदुभ्यां स्थिरः" ॥८।३।९५॥ इति (पाणि०) सूत्रेण षत्वम् । वाच० । हस्तिनापुरस्थे पाण्डुराजस्य ज्येष्ठपुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । "जुहिट्ठिलपामोक्खाणं पंचण्हं पंडवाणं ।" अन्त० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ० ।

जुहुट्ठिल-युधिष्ठिर-पुं० । "युधिष्ठिरे वा" ॥ ८ । १ । ९६ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण युधिष्ठिरशब्दे आदेरित उत्वं वा । प्रा० १ पाद । 'जुहिट्ठिल' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद । ज्ञा० ।

जू-जू-पुं० । जवे, व्योम्नि, पिशाचे, गणके, जने, सबले, प्रादुर्भावे, जवे च । सरस्वत्याम्, स्त्री० । "जूः पुंलिङ्गे जवे व्योम्नि, पिशाचगणके जने । जूः स्त्रियां तु सरस्वत्यां, जातिः स्यात्सबले पुमान् ॥१॥" इति । एका० । "जूर्जुवी जुव इत्यपि, प्रादुर्भावे भवे इति ।" एका० ।

जूअअ-पुं० । देशी-चातके, दे० ना० ३ वर्ग ।

जूय-यूप-पुं० । न० । यु-पक्-पृषो०-दीर्घः । युगे, "जूयसहस्सं" यूपा युगास्तेषां सहस्रम् । कल्प० ५ क्षण । प्रश्न० । स्तम्भविशेषे, जं० २ वक्ष० । यज्ञस्तम्भे, जं० ३ वक्ष० । उत्त० । यज्ञीयपशुबन्धकाष्ठभेदे, यागसमाप्तिचिह्नार्थे स्तम्भे च, वाच० । जयस्तम्भे, पुं० । वाच० । तदात्मके सामुद्रिकशास्त्रोक्ते पुरुषस्य करचरणस्थे प्रशस्तलक्षणभेदे, जं० २ वक्ष० । स्वनामख्याते पश्चिमस्यां दिशि स्थिते पातालकलशे च । प्रव० २७२ द्वार ।

द्यूत-न० । दिव-क्तः । क्रीडाविशेषे, औ० । प्रश्न० । स्था० । उत्त० । "अणुकमं सो जूयं खेलतु ।" आ० म० १ अ० १२ खण्ड । उत्त० । ('मणुस्सत्त' शब्देऽस्य दृष्टान्तः) पाशकक्रीडायाम्, अप्राणिकरणकक्रीडायां, कैतवे च । वाच० । तदात्मके द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । स० ।

जूयखलय-द्यूतखलक-न० । द्यूतस्थानके, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

जूयग-यूपक-पुं० । सन्ध्याप्रभा चन्द्रप्रभा च यद्युगपद् भवतस्तद् "जूयगो त्ति" भणितम् । सन्ध्याप्रभाचन्द्रप्रभयोर्मिश्रत्वे, तदात्मके आन्तरिक्षेऽस्वाध्यायभेदे च । "दसविहे अंतलिक्खए असज्झाइए पण्णत्ते । तं जहा-उक्कावाए, दिसिदाहे, गज्जिए, विज्जुए, निग्घाए, जूयए, जक्खालित्तए, धूमिए, महिए, रउग्घाए ।" स्था० १० ठा० । शुक्लपक्षप्रतिपदाऽऽदिदिनत्रयं यावद्यैः सन्ध्याच्छेदा आव्रियन्ते ते यूपका इति । भ० ७ श० ३ उ० । आव० ।

पश्चिमस्यां दिशि स्थिते स्वनामख्याते महापाताले,स्था०४ ठा० २ उ० । (यूपकस्य विशेषवक्तव्यता तु 'असज्झाइय' शब्दे प्रथमभागे ८२६ पृष्ठे निरूपिता)

संझाछेआवरणो, उ जूयगो सुक्कदिण तिन्नि ॥ १७ ॥

(जूयगो त्ति) " संझप्पहा,चंदप्पहा य, जेणं जुगवं भवंति तेण जूयगो,सा संझप्पहा चंदप्पभा वरिया फिट्टं ति,न नज्जइ,सुक्कपक्खपाडिवगादिसु दिणेसु संझाझायो वेव य भणज्जमाणं कालवेलं न मुणंति, अओ ते तिन्नि दिणा पाओसियकालं न गेण्हंति, तेसु तिसु दिणेसु पाओसियसुत्तपोरिसिं न करेंति " इति गाथार्थः ॥ आव० ४ अ० । जलमध्यवर्त्तितटे, खेटे, वृ० १ उ० । (तत्र न वस्तव्यं न चाऽऽतापनाऽऽदिका क्रिया कर्त्तव्येति 'दगतीर' शब्दे वक्ष्यते)

जूयगर–द्यूतकर–त्रि० । द्यूतं करोति कृ-अच् । पाशकाऽऽदिक्रीडाकारके, वाच० । प्रश्न० ।

जूयगार–द्यूतकार–त्रि० । द्यूतं करोति । कृ-ण्वुल् । पाशकाऽऽदिक्रीडाकारके, वाच० । प्रश्न० ।

जूयचिइ–यूपचिति–स्त्री० । यज्ञेषु यूपचयने, औ० ।

द्यूतचिति–स्त्री० । द्यूतानि क्रीडाविशेषास्तेषां चितिः । द्यूतचयने, औ० ।

जूयप्पमाय–द्यूतप्रमाद–पुं० । द्यूतं प्रतीतं, तदपि प्रमाद एव द्यूतप्रमादः । प्रमादभेदे, (स्था०) " द्यूताऽऽसक्तस्य सच्चित्तं, धनं कामाः सुचेष्टितम् । नश्यन्त्येव परं शीर्षं,नामापि च विनश्यति " ॥ १ ॥ स्था० ६ ठा० ।

जूयप्पसंगि[ण्]–द्यूतप्रसङ्गिन्–त्रि० । द्यूताऽऽसक्ते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । आ० म० ।

जूया–यूका–स्त्री० । संस्वेदजे त्रीन्द्रियजीवविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । प्रज्ञा० । " लिक्खं वा जूयं वा " । आचा० २ श्रु० २ चू० । अष्टलिक्षाऽऽत्मके प्रमाणभेदे, स्था० ६ ठा० । अनु० । " अट्ठलिक्खाओ सा एगा जूया ।" भ० ६ श० ७ उ० । जं० । उत्त० । प्रव० । ज्यो० । तं० ।

जूयासेज्जायरय–यूकाशय्यातरक–पुं० । यूकानां स्थानदातरि, भ० १५ श० १ उ० ।

जूर–जूर–धा० । वयोहानौ,अक० । वधे,सक०-दिवा०-आत्म०-सेट् । जूर्यते,अजूरिष्ट, जूर्णः । वाच० । पश्चात्तापे, "अयहारि व्व जूरइ ।" यथा वाऽयसां लोहस्याऽऽहर्त्ता अपान्तराले रूप्यादिलाभे सत्यपि दूरमानीतमिति कृत्वा नोज्झितवान्, पश्चात्स्वावस्थानाऽवाप्तावल्पलाभे सति जूरितवान्, पश्चात्तापं कृतवान्, एवं भवन्तोऽपि जूरयिष्यन्तीति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

क्रुध्–धा० । कोपे, दिवा०-पर०-अक० । सोपसर्गसक०-अनिट् । " क्रुधेर्जूरः " । ८ । ४ । १३५ । इति प्राकृतसूत्रेण क्रुधेर्जूर इत्यादेशो वा भवति । 'जूरइ' 'कुज्झइ' । प्रा० ४ पाद । क्रुध्यति, भृत्यमभिक्रुध्यति । अक्रुधत् । वाच० ।

खिद्–धा० । दैन्ये, दिवा०-रुधा० च-आत्म०-अक०-अनिट् । " खिदेर्जूरविसूरौ " ॥८।४।१३२॥ इति प्राकृतसूत्रेण खिदेरेतावादेशौ वा भवतः । 'जूरइ' 'विसूरइ' 'खिज्जइ' । प्रा० ४ पाद । खिद्यते,खिन्ते । वाच० । परिघाते, तुदा०-पर०-अक०-अनिट्,मुचादिः । खिन्दति, खिन्दतः, अखैत्सीत्, खिन्नः । वाच० ।

जूरण–जूरण–न० । वयोहानौ,सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । गर्हणे,सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । पश्चात्तापे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

जूरव–वञ्च–धा० । प्रतारणे, " वञ्चेर्वेहववेलवजूरवोमच्छाः " ॥ ८ । ४ । ९३ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण वञ्चेरेते आदेशा वा भवन्ति । 'जूरवइ, वंचइ' । प्रा० ४ पाद ।

जूरावण–जूरण–न० । शोकातिरेकाच्छरीरजीर्णताप्रापणायाम्, भ० ३ श० २ उ० ।

जूरुमिल्लय–पुं० । देशी-गोपाले, दे० ना० ३ वर्ग ।

जूवग–यूपक–पुं० । 'जूयग' शब्दार्थे, स्था० १० ठा० ।

जूवचिइ–यूपचिति–स्त्री० । 'जूयचिइ' शब्दार्थे, औ० ।

जूस–जूष–पुं० । न० । जूष् घञ्, अच् वा । मुद्गाऽऽदीनां क्वाथे,वाच० । मुद्गतण्डुलजीरककटुभाण्डाऽऽदिरसाऽऽत्मके व्यञ्जनभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । सू० प्र० । चं० प्र० । जं० । प्रश्न० ।

जूसणा–जूषणा–स्त्री० । सेवायाम्, औ० ।

जोषणा–स्त्री० । सेवनायाम्, स्था० ४ ठा० ३ उ० । सूत्र० ।

जूसिय–जुष्ट–त्रि० । सेविते, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

जोषित–त्रि० । सेविते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

जूह–यूथ–न० । यु-थक्, पृषो०-दीर्घः । सजातीयसमुदाये,वाच० । यूथं समूह इति । स्था० १० ठा० । उत्त० ।

जूहमल्लवाइ[ण्]–यथमल्लवादिन्–पुं० । वादिविशेषे, कल्प० ६ क्षण ।

जूहवइ–यूथपति–पुं० । यूथस्वामिनि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । "मार्गी यूथपतिः स्वयम् ।" आ० क० । "सो वानरजूहवई ।" आ० क० ।

जूहाहिव–यूथाधिप–पुं० । यूथस्वामिनि, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

जूहाहिवइ–यूथाधिपति–पुं० । यूथस्य चतुर्विधसंघस्याधिपतिः । यूथस्वामिनि, उत्त० ११ अ० ।

जूहिय–यूथिक–त्रि० । "यूथभवे, "पुव्वजूहियट्ठाणाणि वा हयजूहियट्ठाणाणि वा गयजूहियट्ठाणाणि वा" । आचा० २ श्रु० ७ चू० ।

जूहिया–यूथिका–स्त्री० । यु-थक्, पृषो०-दीर्घः,स्वार्थे कन्, अत इत्वम्-टाप् । अम्लानके पाठायाम्,यूथ्यां च । वाच० । पुष्पप्रधाने गुल्माऽऽत्मके वनस्पतिविशेषे,आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । प्रज्ञा० । रा० । जं० । "जूहियाकुसुमेइ वा ।" आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

जूहियापुड–यूथिकापुट–न० । यूथिकायाः पुटं पत्राऽऽदिमयं तद्भाजनं यूथिकापुटम् । यूथिकापुष्पस्य पत्राऽऽदिमये भाजने, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । आ० म० ।

जूहियामंडवग–यूथिकामण्डपक–पुं० । यूथिका वनस्पतिविशेषः, तन्मयो मण्डपकः यूथिकामण्डपकः । यूथिकामये मण्डपे, जी० ३ प्रति० । जं० ।

जे–जे–अव्य० । पादपूरणे, बृ० १ उ० । व्य० । तं० । "जे" इति निपातः पादपूरणार्थः । तथा चाह वररुचिः स्वप्राकृतलक्षणे—" इजेराः पादपूरणे " ॥ ८ । २ । २१७ ॥ एते पादपूरणे प्रयोक्तव्या इति वृत्तिः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रश्न० । पञ्चा० । ज्ञा० । वाक्यालङ्कारे, जे इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थ इति । विशे० । " जे त्ति खलु णिद्देसे " जे इति । नि० चू० १ उ० । य इत्यस्य स्थानेऽपि 'जे' इति । कल्प० १ क्षण ।

जेऊण–जित्वा–अव्य० । जयं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

जेट्ठ–ज्येष्ठ–त्रि० । वृद्ध-इष्ठनि ज्यादेशः। अ० १ श्रा० १ उ० । जं० । सू० प्र० । उत्त० । चं० प्र० । अनु० । यो यस्याऽऽदौ स तस्य ज्येष्ठः । यथा-द्विकस्यैको ज्येष्ठः, त्रिकस्य त्वेककोऽनुज्येष्ठः, चतुष्काऽऽदीनां तु स एव ज्येष्ठानुज्येष्ठः। एवं त्रिकस्य द्विको ज्येष्ठः, स एव चतुष्कस्यानुज्येष्ठः, पञ्चकाऽऽदीनां तु स एव ज्येष्ठाऽनुज्येष्ठ इति । अनु० । विशे० । अ० म० । अतिवृद्धे, "कणिट्ठमज्झिमजेट्ठा थितिसंघयणेण उवसिठा । " ज्येष्ठमतिशयवृद्धम्, उत्कृष्टमित्यर्थः । उत्त० पाई ५ अ० । श्रेष्ठे, " गिहत्थधम्मा परमं ति नच्चा ।" गृहस्थधर्मात्परमं प्रधानं ज्येष्ठमित्येवं ज्ञात्वा । विशे० । रत्नाधिके, पञ्चा० १६ विव० । कल्प० ।

यत्र च गच्छे ज्येष्ठकनिष्ठौ न ज्ञायेते, न तद्गच्छम् । तथा च–

जत्थ य जेट्ठ-कणिट्ठो, जाणिज्जइ जेट्ठवयणबहुमाणो ।
दिवसेण वि जो जेट्ठो, न य हीलिज्जइ स गोयमा ! गच्छो ॥४६॥

यत्र च गणे ज्येष्ठः कनिष्ठश्च ज्ञायते, तत्र ज्येष्ठः पर्यायेण वृद्धः, कनिष्ठः पर्यायेण लघुः। तथा यत्र ज्येष्ठस्य वचनमादेशो ज्येष्ठवचनं, तस्य बहुमानः संमानो ज्ञायते । ' जेठविणयबहुमाणो त्ति ' पाठे तु ज्येष्ठस्य विनयबहुमानौ ज्ञायेते, तथा यत्र च दिवसेनाऽपि यो ज्येष्ठः स न हील्यते, चकाराद्यत्र पर्यायेण लघुरपि गुणवृद्धो न हील्यते, सिंहगिरिशिष्यैर्वज्रशिशुरिव । हे गौतम ! स गच्छो ज्ञेय इति । ग० २ अधि० । अग्रजे, पुं० । वाच० ।

" उचिअं एअं पि महो-अरम्मि जं निअइ अप्पसममेव ।
जेठं व कणिठं पि हु, बहु मन्नइ सव्वकज्जेसु ॥ ८ ॥ "

(निअइ त्ति) पश्यति (जेट्ठं व त्ति) ज्येष्ठो भ्राता पितृतुल्यः, तमिव तथा । घ० २ अधि० ।

जेट्ठ–त्रि० । वृद्ध-इष्ठनि ज्याऽऽदेशः । ततः स्वार्थिक अण् अतिवृद्धे, श्रेष्ठे च । अग्रजे, पुं० । वाच० ।

जेट्ठकप्प–ज्येष्ठकल्प–कल्पभेदे, ज्येष्ठो रत्नाधिकः, स एव कल्पो वृद्धलघुत्वव्यवहारो यत्र स ज्येष्ठकल्पः। कल्पभेदे, कल्प० १ क्षण ।

पुव्वतरं सामइयं, जस्स कयं जो वतेसुवट्ठविओ ।
एस किइकम्मजेट्ठो, ण जातिसुतओ दुपक्खे उ ॥

यस्य सामायिकं पूर्वतरं प्रथमतरं कृतमारोपितम्, यो वा व्रतेषु प्रथममुपस्थापितः, स एष कृतिकर्मज्येष्ठो भण्यते, न पुनर्द्विपक्षेऽपि संयतपक्षे संयतीपक्षे च जातितो बृहत्तरं जन्मपर्यायमङ्गीकृत्य, श्रुततः प्रभूतं श्रुतमाश्रित्य ज्येष्ठ इहाधिक्रियते, इह च मध्यमसाधूनां यस्य सामायिकं पूर्वतरं स्थापितं स ज्येष्ठः, पूर्वपश्चिमानां तु यस्य प्रथममुपस्थापना कृता स ज्येष्ठ इति । बृ० ६ उ० । व्य० । पं० भा० । पं० चू० ।

ज्येष्ठस्वरूपं गाथात्रयेणाऽऽह–

उवठावणाएँ जेट्ठो, विन्नेओ पुरिमपच्छिमजिणाणं ।
पव्वज्जाए उ तहा, मज्झिमगाणं निरइयारो ॥ २९ ॥

उपस्थापनया महाव्रताऽऽरोपणेन, ज्येष्ठो रत्नाधिको विज्ञेयः, पूर्वपश्चिमजिनानामित्यत्र साधूनामिति शेषः। प्रव्रज्यया तु प्रव्राजनेन पुनस्तथेति ज्येष्ठो ज्ञेय इत्येतत्सम्बन्धनार्थः । मध्यमकानां द्वाविंशतिजिनसाधूनां, निरतिचारोऽतिचाररहितः । सातिचारस्तु नोपस्थापनया प्रव्रज्यया वा ज्येष्ठः, प्राक्तन्योस्तयोरप्रमाणत्वात्, पुनरुपस्थापनायाः सामायिकाऽऽरोपणस्यैव च प्रमाणत्वादिति ॥ २९ ॥

उपस्थापनया ज्येष्ठ इत्युक्तम् , अथ तद्विधिमुपदर्शयन्नाह–

पढिएँ य कहिएँ अहिगए, परिहर उवठावणाएँ कप्पो त्ति ।
छक्कं तीहि विसुद्धं, सम्मं णवएण भेएण ॥ ३० ॥

पठितेऽधीते सूत्रतः शस्त्रपरिज्ञाऽध्ययने । चशब्दो भिन्नक्रमः । कथिते व्याख्यातेऽर्थतः । अधिगते च ज्ञाते, एतस्मिन्नेव सति । (१) एकारस्य तु ह्रस्वपाठः प्राकृतत्वात् । परिहरन् वर्जयन् सन् परिहार्यम् उपस्थापनाया महाव्रताऽऽरोपणस्य कल्पो योग इत्येवंभूतः प्राणी । किं परिहरन्नित्याह–षट्कं जीवनिकायषट्कम्, व्रतषट्कं वा, त्रिभिर्मनोवाक्कायैः, विशुद्धं निर्दोषं यथा भवति तथा, सम्यग्भावतः, नवकेन नवपरिमाणेन, भेदेन विकल्पेन, नवभिर्भेदैरित्यर्थः। मनसा कृतकारितानुमतिभिः, एवं वाचा कायेन चेति ॥ ३० ॥

अथ द्वयोर्युगपदुपस्थाप्यमानयोः को ज्येष्ठः ?, इत्यत्राऽऽह–

पितिपुत्तमाइयाणं, समगं पत्ताण जेट्ठ पितिपभिई ।
थोवंतरे विलंबो, पन्नवणाए उवट्ठवणा ॥ ३१ ॥

पितापुत्राऽऽदीनां जनकसुतप्रभृतीनाम्, आदिशब्दाद्राजामात्यमातादुहितृराज्यमात्याऽऽदिग्रहः। समकं युगपत्, प्राप्तानां विवक्षिताध्ययनाधिगमनोपस्थापनायोग्यतामवाप्तानां यौगपद्येनैवोपस्थाप्यमानानां, ज्येष्ठा रत्नाधिकाः पितृप्रभृतयः पित्रादयः स्युः, आदिशब्दाद्राजामात्यराज्यादिग्रहः । अथ पुत्राऽऽदिः प्राप्तो न पित्रादिः, तदा को विधिः?, इत्याह–स्तोकेऽल्पेऽन्तरं विशेष दिनद्वयाऽऽदिना पित्रादिरपि प्राप्स्यतीत्येवंरूपे, विलम्बः प्रतीक्षणं कार्यः। पित्रादौ प्राप्ते सति युगपदेव पित्रा पुत्राऽऽदिरुपस्थापनीयो माभूत्पुत्राऽऽद्यपेक्षया लघुताकरणेन पित्राऽऽदेरसमाध्युत्क्रमणाऽऽदिरिति । अथ बह्वन्तरं, तदा को विधिः?, इत्याह–प्रज्ञापनया पित्रादेः सम्बोधनया–"तव पुत्रो यदि विवक्षितां महाव्रतश्रियं प्राप्नोत्यन्येषां च ज्येष्ठतरो भवति तदैवाभ्युदयः, ततो न त्वयाऽस्य विघ्नो विधेयः" इत्यादिलक्षणया, उपस्थापना व्रताऽऽरोपणा कार्या । अथ प्रज्ञाप्यमानोऽपि यदि न प्रतिपद्यते, तदा प्रतीक्षणीयं यावदसौ प्राप्तः, द्वये राजाऽऽदयो युगपद्यदा तूपस्थाप्यन्ते तदा यथाऽऽसन्नं ज्येष्ठतेति । तदेवं प्रकारद्वयेनापि ज्येष्ठत्वे सर्वेऽप्यवस्थिता इति गाथात्रयार्थः ॥३१॥ पञ्चा० १७ विव० ।

जेट्ठज्ज–ज्येष्ठार्य–पुं० । प्रथमे आर्ये, नि० चू० १ उ० ।

जेट्ठज्जूइ–ज्येष्ठज्जूति–पुं० । ' जिठभूइ ' शब्दार्थे, ति० ।

जेट्ठमहाजण–ज्येष्ठमहाजन–पुं० । ज्येष्ठार्यसाधुसमुदाये, बृ० १ उ० ।

जेट्ठयर–ज्येष्ठतर–त्रि० । ' जिठयर ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

जेट्ठा–ज्येष्ठा–स्त्री० । ज्येष्ठभगिन्याम् , वयोज्येष्ठायाम, ज्येष्ठस्य पत्न्याम, गङ्गायाम, अलक्ष्म्याम, अश्वन्यवधिकेऽष्टादशे इन्द्रदेवताके नक्षत्रे, वाच० । चं० प्र० । ज्यो० । स्था० । अनु० । आव० । " जेट्ठाणक्खत्ते तितारे पण्णत्ते " । स० १ सम० । स्था० । भगवतो महावीरस्य स्वनामकथितायां दुहितरि, तस्याश्च ज्येष्ठेति वा सुदर्शनेति वाऽनवद्याङ्गीति वा नामेति । विशे० । वैशालीनगरनृपतेश्चेटकस्य

(१) "एदोतौ पदान्ते प्राकृते ह्रस्वौ वा" इति हैमे शब्दोऽनुशासने ।

स्वनामख्यातायां दुहितरि, सा च " जेट्ठा कुंडग्गामे वद्धमाणसामिणो नंदिवद्धणस्स धिय त्ति"। आ० चू० ४ अ०।

जेट्ठाणुजेट्ठ–ज्येष्ठानुज्येष्ठ–त्रि०। चतुष्काद्यपेक्षया प्रथमे, आ० म० १ अ० १ खण्ड। अनु०। विशे०। (अस्य यथा सत्वं तथा 'जेट्ठ' शब्दे १५८५ पृष्ठे व्याख्यातम्)

जेट्ठामूल–ज्येष्ठामूल–पुं०। ज्येष्ठा, मूलं वा पौर्णमास्यां यत्र स्यात्स ज्येष्ठामूलो मासः। ज्येष्ठमासे, "गिम्हकालसमयम्मि जेट्ठामूलम्मि मासम्मि।" औ०। ओघ०।

जेट्ठामूली-ज्येष्ठामूली–स्त्री०। ज्येष्ठपूर्णमास्याम्, सू० प्र० १० पाहु०। जं०। चं० प्र०।

जेट्ठोवग्गह-ज्येष्ठावग्रह–पुं०। पर्युषणायाम्, नि० चू० १० उ०।

जेण–जैन–पुं०। जिनो देवताऽस्य अण्। जैनधर्मावलम्बिनि अर्हदुपासके, वाच०।

यत्र–अव्य०। यस्मिन्नित्यर्थे, " जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता।" यत्र कामदेवः श्रमणोपासकस्तत्रोपागच्छति स्म। उपा० २ अ०।

जेणधम्म–जैनधर्म–पुं०। आर्हतधर्मे, "आमगोरससंपृक्त-द्विदलं च विवर्जयेत्। द्वाविंशतिरभक्ष्याणि, जैनधर्माधिवासितः॥१॥" जैनधर्मेणाऽर्हतधर्मेणाधिवासितो भावितात्मा। ध०१ अधि०।

जेणवत्त [ण्]–जैनवर्त्मन्–न०। जिनोदितमार्गे, 'श्रद्धया जैनवर्त्मना।' द्वा० ८३ द्वा०।

जेणसासण-जैनशासन-न०। जिनोदिते शास्त्रे, "समस्तवस्तुविस्तारे, विसर्पत्तैलवज्जले। जीयाच्छ्रीशासनं जैनं, धीदीपोद्दीप्तिवर्द्धनम्॥१॥" उत्त० १ अ०।

जेणसिद्धंत–जैनसिद्धान्त-पुं०। जैनाऽऽगमे, "निरस्तकुमतिध्वान्त-सत्पदार्थप्रकाशकम्। नित्योदयं नमस्कुर्मो, जैनसिद्धान्तभास्करम्" ॥ १ ॥ क० प्र०।

जेणिंदवागरण-जैनेन्द्रव्याकरण-न०। व्याकरणभेदे, कल्प० १ क्षण।

जेणेसर–जैनेश्वर–त्रि०। जिनेश्वराणामयम्। जिनेश्वरसंबन्धिनि, प्रति०।

जेत्तिअ–यावत्–त्रि०। " इदंकिमश्च डेत्तिअ-डेत्तिल-डेद्दहाः" । ८। २। १५७। इति प्राकृतसूत्रेणेदंकिम्भ्यां यत्तदेतद्भ्यश्च परस्यातोर्डावतोर्वा डित् एत्तिअ एत्तिल एद्दह इत्यादेशा भवन्ति, एतल्लुक् च। प्रा० २ पाद। यत्परिमाणे, वाच०।

जेत्तिल–यावत्–त्रि०। यत्परिमाणे, प्रा० ३ पाद।

जेत्तुल–यावत्–त्रि०। "अतोर्डेत्तुलः" ।८।४।४३५। इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे यत्तदादेः परस्यातोर्डेत्तुल इत्यादेशः। यत्परिमाणे, प्रा० ४ पाद।

जेत्थु–यत्र-अव्य०। " यत्रतत्रयोस्त्रस्य डिदेत्थवत्तु" ॥ ८ ।४।४०४। इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे यत्रशब्दावयवस्य त्रस्य डित् एत्थु इत्यादेशः। प्रा० ४ पाद। यस्मिन्नित्यर्थे, वाच०।

जेद्दह–यावत्–त्रि०। यत्परिमाणे, प्रा० २ पाद।

जेप्पि–जित्वा–अव्य०। "एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः" ८। ४। ४४०। इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्य एप्पि एप्पिणु एवि एविणु इत्यादेशाः। प्रा० ४ पाद। जयं कृत्वेत्यर्थे, वाच०।

जेप्पिणु-जेतुम्-अव्य०। "तुम एवमणाणहमणहिं च" ।८।४।४४१। इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे तुमः प्रत्ययस्य एवं, अण, अणहं अणहिं एते चत्वार आदेशा वा पक्षे-एप्पि एप्पिणु एवि एविणु एते चत्वार आदेशाः। प्रा० ४ पाद।

जित्वा–अव्य०। जयं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद।

जेम- भुज–धा०। भक्षणे, " भुजो भुञ्जजिमजेमकम्माण्हसमाणचमढचड्डाः "। ८। ४। ११०। इति प्राकृतसूत्रेण भुजेर्जेमाऽऽदेशः। 'जेमइ'। प्रा० ४ पाद। " पुव्वण्हे साली भुज्जइ, अवरण्हे जेम्मइ।" आ० म० १ अ० १ खण्ड।

जेमण–जेमन–त्रि०। वटकपूरणाऽऽदिके, "जेमणविहिपरिमाणं करेइ।" जेमणानि वटकपूरणाऽऽदीनि। उपा०१ अ०। उद्वाहाऽऽदिजेमनवारगृहे यथा यतीनां विहर्तुं न कल्पते, तथैकपौषधिकसत्कजेमनवारगृहे, अन्यथा वा?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-विवाहजेमनवारवत्पौषधिकसत्कजेमनवारगृहेऽपि मुनीनां विहर्तुं न कल्पत इति। २०४ प्र०। सेन० २ उल्ला०।

जेमणय–देशी-न०। दक्षिणाङ्गे, दे० ना० ३ वर्ग।

जेमावण–जेमापन–न०। भोजनकारणे, भ० ११ श० ११ उ०।

जेमिणि–जैमिनि–पुं०। अन्यतीर्थिके मुनिभेदे, विशे०। सूत्र०। जैमिनिश्चिरतरकालभावी पटुप्रज्ञः सम्यग्वेदार्थस्य परिज्ञाताऽऽसीत्। नं०।

जेय–जेय–त्रि०। जेतव्ये, " कहं णु जिच्चमेलिक्खं, जिच्चमाणा न संविदे। (२२ गाथा)" [जियं ति] आर्षत्वाद् जीयते हार्यते आन्तरैर्द्वैरिन्द्रियाऽऽदिभिरात्मा तादृति जेय, तच्चेह प्रक्रमान्मानुष्यगतिलक्षणम्। उत्त० ७ अ०।

जेया–जेतृ–त्रि०। जयकर्तरि "जेया ति वा" जेता कर्मरिपूणाम्। भ० २० श० २ उ०। " जेएण परिविच्छए।" (सूत्र०) " सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सइ।" सूत्र०१ श्रु० ३ अ०१ उ०।

जेवडु–यावत्–त्रि०। " वा यत्तदोतोर्डेवडः " ॥८।४।४०७॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे यत्तदित्येतयोरन्तयोर्यावत्तावतोर्वकाराऽऽदेरवयवस्य डित् एवड इत्यादेशः। प्रा० ४ पाद। यत्परिमाणे, वाच०।

जेवि–जित्वा–अव्य०। 'जेप्पि' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद।

जेविणु–जित्वा–अव्य०। 'जेप्पि' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद।

जेसलमेरु-जयशल्यमेरु-पुं०। स्वनामख्याते नगरभेदे, ह्री०३ प्रका०।

जेहिल–जेहिल–पुं०। वसिष्ठगोत्रोत्पन्ने आर्यनागस्य शिष्ये स्वनामख्याते स्थविरे, "जेहिल च वासिट्ठे।" कल्प०८ क्षण। "थेरस्स णं अज्जनागस्स गोयमसगुत्तस्स अज्जजेहिले थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगुत्ते।" कल्प० ८ क्षण।

जेह–यादृक्–त्रि०। " यादृक्तादृक्कीदृगीदृशां दादेर्डेहः "। ८। ४। ४०२। इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे यादृश् इत्यादेर्दादेरवयवस्य डित् एह इत्यादेशः। प्रा० ४ पाद। यत्सदृशे, वाच०।

जो–द्यो–स्त्री०। द्युत-द्योः। " द्ययर्यां जः "। ८। २। २४। इति प्राकृतसूत्रेण द्यस्य जः। प्रा० २ पाद। स्वर्गे, आकाशे च। वाच०।

ज्यो–धा०। नियमे, उपनये, मन्त्रोपदेशे च। भ्वादि०-आत्म०-सक०-अनिट्। ज्यवते, अज्यास्त। वाच०।

ज्योक्-अव्य० । ज्यो-को-किः । संप्रत्यर्थे, कालभूयस्त्वे, शीघ्रतायाम्, प्रश्ने च । वाच० ।

जोअण-न० । देशी-लोचने, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोइंगण-पुं० । देशी-इन्द्रगोपे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोइ-ज्योतिस्-पुं० । द्योतते द्युत्यतेऽनेन वा द्युत्-इसुन् । आदेर्दस्य जः । सूर्ये, अग्नौ, वाच० । "रूप्पमलं व जोइणा । " ज्योतिषाऽग्निना । आचा० २ श्रु० १६ अ० । दश० । स्था० । भ० । सूत्र० । " सप्पी जहा पडियं जोइमज्झे ।" सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । स्था० । " किं माहणा जोइसमारभंता । " उत्त० १६ अ० । "के ते जोई, के य ते जोइट्ठाणा ।" किं ज्योतिः कोऽग्निः । उत्त० १६ अ० । विपा० । ज्वलदग्नौ, ज्योतिष एवाऽऽधारो ज्वलदग्निः । आह च चूर्णिकृत्-" जोइ त्ति मल्लगाइठिओ अगणी जलंतो त्ति ।" नं० । प्रकाशस्वभावे प्रदीपाऽऽदिके, षो० १५ विव० । "जहा हि अंधे सह जोइणा वि । "ज्योतिषा प्रदीपाऽऽदिनाऽपि सह वर्तमानो न पश्यति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । " सअग्गाइएण जोइणा क्रियायमाणाणं । " सूत्र० २ श्रु० २ अ० । "दुविहो य होइ जोई, असव्वराई य सव्वराइ य ।" नि० चू० १६ उ० । ज्योतिरग्निकयोर्द्वैविध्यं-तद् द्विविधम्-असार्वरात्रिकम्-कियतामपि रात्रिं यत् प्रज्वलति । तद्विपरीतं सार्वरात्रिकम् । उभयोरपि तिष्ठतां (गीतार्थानां) चतुर्लघुकाः । बृ० २ उ० । स्वर्गे, विशे० । आ० म० । ज्योतिरग्निः, तत्कार्यकारिणि कल्पवृक्षभेदे, स० १० सम० । मेथिकावृक्षे, वाच० । ज्योतिरिव ज्योतिः । सम्यग्ज्ञाने, आदित्याऽऽदिप्रकाशे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । सूत्र० । नेत्रकनीनिकामध्यस्थे दर्शनसाधने पदार्थे, नक्षत्रे, स्वयं प्रकाशे, सर्वावभासके चैतन्ये, वाच० । ग्रहनक्षत्रतारकाऽऽदिके, चं० प्र० । ज्योतींषि ग्रहनक्षत्रतारका इति । चं० प्र० १ पाहु० । आव० । प्रश्न० । ग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्रतारकाणां ज्योतिषां ज्योतिष्कलक्षणे विमानविशेषे, स० । तत्प्रतिपादके ज्योतिषामयने शास्त्रभेदे, नि० ३ वर्ग ३ अ० । तद्रूपे द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे च । न० । कल्प० ७ क्षण । ज्योतिरेव ज्योतिः । उपार्जितज्ञाने, प्रसिद्धिं प्राप्ते, स्था० ४ ठा० ३ उ० । सत्कर्मकारितयोज्ज्वलस्वभावे च । त्रि० । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

योगिन्-पुं० । योगोऽस्य विद्यते इति योगी । नं० । योगबलसम्पन्ने, षो० १५ विव० । योगिनो योगभाज इति । द्वा० २६ द्वा० । योगाभ्यासपरे, यो० बिं० । दिव्यद्रष्टा, या० बिं० । मनोवाक्कायरोधके, अष्ट० २ अष्ट० । योगो धर्मः शुक्लध्यानलक्षणः स येषां विद्यते इति योगिनः । साधौ, आव० ४ अ० । " सम्यक्त्वज्ञानचारित्र-योगः सद्योग उच्यते । एतद्योगाद्धि योगी स्यात् परमब्रह्मसाधकः" ॥ १ ॥ एतदाकारे साधकभेदे, पं० सू० ४ सूत्र टी० । रत्नत्रयरूपमोक्षोपायिनि, अष्ट० २ अष्ट० ।

तत्रापायं च नवधा, योगिभेदप्रदर्शनात् । [३१]

तत्र मुक्तिमार्गे उपायं च, नवधा नवभिः प्रकारैर्योगिभेदस्य प्रदर्शनादुपवर्णनात् । तथाहि-मृदूपायो मृदुसंवेगो, मध्योपायो मृदुसंवेगः, अध्युपायो मृदुसंवेगो, मृदूपायो मध्यसंवेगो, मध्योपायो मध्यसंवेगः, अध्युपायो मध्यसंवेगः, मृदूपायोऽधिसंवेगः, मध्योपायोऽधिसंवेगः, अध्युपायोऽधिसंवेगश्चेति नवधा योगिन इति योगाचार्याः । द्वा० १२ द्वा० । तीर्थकरे, गीतार्थे च । बृ० ।

गीतार्थमधिकृत्य-

कत्ता इव सो कत्ता, एवं जोगी वि नायव्वो ।

कर्ता इव तीर्थकर इवाकोपनीयत्वात् कर्ता द्रष्टव्यः । एवं योग्यपि ज्ञातव्यः । किमुक्तं भवति ?--यथा तीर्थकरः प्रशस्तमनोवाक्काययोगं प्रयुञ्जानो योगी भण्यते, एवं गीतार्थोऽप्युत्सर्गापवादबलवेत्ताऽपवादक्रियां कुर्वाणोऽपि प्रशस्तमनोवाक्काययोगं प्रयुञ्जानो योगीव ज्ञातव्यः । बृ० १ उ० । अध्यात्मशास्त्रानुष्ठायिनि अन्यतीर्थिके परिव्राजकभेदे, औ० । युज-घिनुण् । संयोगवति, त्रि० । वाच० ।

जोइअ-पुं० । देशी-खद्योते, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोइअंग-ज्योतिरङ्ग-पुं० । ज्योतिरग्निः, तत्र च सुषमसुषमायामग्नेरभावाद् ज्योतिरवयवस्तु सौम्यप्रकाशमिति भावः । तत्कारणत्वाज्ज्योतिरङ्गः । सुषमसुषमाभवे ज्योतिषिके कल्पवृक्षभेदे, स्था० १० ठा० । ति० । ज्योतिषिकाः सूर्यमण्डलमिव स्वतेजसा सर्वमप्यवभासयन्तः सन्तीति । तं० ।

जोइउवगूढ-ज्योतिरुपगूढ-त्रि० । ज्योतिषाऽग्निनोपगूढः समालिङ्गितः । अग्निनोपगूढे जतुकुम्भे, " जोइउवगूढे ।" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

जोइक्ख-पुं० । देशी-दीपे, ' जोइक्ख ' शब्दश्च देश्यो दीपे वर्तते । प्रश्न० ४ द्वार । दे० ना० । ' जोइक्खो ' नाम दीपः । " जोइक्खं तह च्छाइल्लयं च दीवं मुणिज्जाहि । " व्य० ७ उ० ।

जोइजसा-ज्योतिर्यशस्-स्त्री० । कौशाम्बीनगरस्थायां स्वनामख्यातायां वत्सपालिकायाम्, आव० ४ अ० ।

जोइट्ठाण-ज्योतिःस्थान-न० । अग्निस्थाने, नं० । "के ते जोई के य ते जोइट्ठाणा ।" उत्त० । ज्योतिःस्थानं यत्र ज्योतिर्निधीयते । उत्त० १२ अ० ।

जोइणाण-योगिज्ञान-न० । सकलातीतानागतपदार्थसाक्षात्कारिणि, सम्म० २ काण्ड । समाधिविशेषवन्नराघबोधे, पञ्चा० १६ विव० । योगिज्ञानस्य सकलातीतानागतपदार्थसाक्षात्कारिणोऽतीतानागततत्पदार्थाभावेऽपि भवाभ्युपगमात् । सम्म० २ काण्ड ।

जोइणाह-योगिनाथ-पुं० । तीर्थकरे, द्वा० १५ द्वा० ।

जोइणीपट्टण-योगिनीपत्तन-न० । पुरभेदे, अष्टापदकल्पमधिकृत्य-" ग्रन्थोऽयं परिपूर्णतामभजत श्रीयोगिनीपत्तने । " ती० ४७ कल्प ।

जोइबल-ज्योतिर्बल-त्रि० । ज्योतिर्ज्ञानं बलं यस्य, आदित्याऽऽदिप्रकाशो वा ज्योतिः, तदेव तत्र वा बलं यस्य स तथा । सदाचारवति ज्ञानवति, दिनचारिणि च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जोइबलपज्जलण-ज्योतिर्बलप्रज्वलन-त्रि० । ज्योतिर्बलेन ज्ञानबलेन प्रकाशबलेन वा प्रज्वलति दर्पितो भवत्यवष्टम्भं करोति यः स तथा । ज्ञानवति, प्रकाशचारिणि च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जोइबलपरजण ज्योतिर्बलपरजन-त्रि० । ज्योतिः सम्यग् ज्ञानम्, आदित्याऽऽदिप्रकाशो वा ज्योतिः, तदेव तत्र वा बलं यस्य स तथा । सदाचारवति, दिनचारिणि च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जोइबलपलज्जण-ज्योतिर्बलप्रलज्जन-त्रि० । ज्योतिर्बलेन ज्ञानबलेन प्रकाशबलेन वा संचरन् प्रलज्जते इति ज्योतिर्बलप्रलज्जनः । मिथ्याज्ञानिनि, अन्धकारचारिणि च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जोइबुद्धि-योगिबुद्धि-स्त्री० । समाधिविशेषवन्नरावबोधे, " निउणाए जोगिबुद्धीए।" योगिबुद्ध्या समाधिविशेषवन्नरावबोधेन योगिन एव अध्यात्मिकार्थविवेचनचतुरचेतसो प्रवर्त्तीति । पञ्चा० १७ विव० ।

जोइजंड-ज्योतिर्जाएड-न० । अग्निभाजने, " जोइजंडोवरागो विव सुहरागविरागाओ । " सं० ।

जोइजूय-ज्योतिर्भूत-त्रि० । ज्योतिर्मये जाते, " तत्थ समजोइभूयं " समा तुल्या ज्योतिषा वह्निना भूता जाता या सा तथा । विपा० १ श्रु० ४ अ० । स्था० । " तं जोइभूयं च सया वसेज्जा । " ज्योतिर्भूतं यदर्थप्रकाशकतया चन्द्राऽऽदित्यप्रदीपकल्पम् । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

जोइमंत-ज्योतिष्मत्-पुं० । ज्योतिरस्त्यस्य मतुप् । सूर्ये, प्लक्षद्वीपस्थे पर्वतभेदे च । लताभेदे, रात्रौ, योगशास्त्रोक्ते चित्तवृत्तिभेदे च । स्त्री० । ङीप् । वाच० । तैलविधानं तिलाऽतसीसर्षपकुसुम्भज्योतिष्मतीकरञ्जाऽऽदिनिर्गिरति । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । ज्योतिर्युक्ते, त्रि० । वाच० ।

जोइमय-ज्योतिर्मय-त्रि० । ज्ञानमये, आ० म० १ अ० २ खण्ड । प्रकाशमये, "ज्योतिर्मयीव दीपस्य, क्रिया सर्वाऽपि चिन्मयी ।" अष्ट० १३ अष्ट० ।

जोइय-यौगिक-त्रि० । शब्दभेदे, प्रश्न० । यौगिकं यदेतेषामेव नामाऽऽख्यातोपसर्गतद्धितसमाससन्धिपदानामेव द्व्यादिसंयोगवद् यथोपकरोति सेनयाऽजियात्यभिषेणयतीति । प्रश्न० २ सम्ब० द्वार ।

योजित-त्रि० । उपनीते, पञ्चा० १५ विव० । संबन्धिते, औ० । व्य० ।

जोइर-न० । देशी-स्खलिते, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोइस ज्योतिष-त्रि० । ज्योतिरधिकृत्य कृतो ग्रन्थः नि०-न०-वृद्धिः ज्योतिरयनव्यश्च । वाच० । ज्योतिःशास्त्राऽऽत्मके वेदाङ्गभेदे, आव० ३ अ० । आ० म० । उत्त० । ज्योतिश्चक्रे, कल्प० १ क्षण । " जे गहा जोइसम्मि चारं चरंति । " प्रज्ञा० ३ पद । ज्योतिष्कलक्षणे विमानविशेषे, स० । नक्षत्रे, दे० ना० ३ वर्ग ।

ज्यौतिष-पुं० । ज्योतिश्चक्रे भवा ज्यौतिषाः । ज्योतिश्चक्रस्थिते सूर्याऽऽदिके देवभेदे, पुं० । पञ्चा० २ विव० । ज्ञा० ।

जोइसंगविउ-ज्योतिषाङ्गविद्-त्रि० । ज्योतिषं ज्योतिष्कं ज्योतिःशास्त्रमङ्गानि च विदन्ति ये ते ज्योतिषाङ्गविदः । ज्योतिःशास्त्रस्य, शिक्षाऽऽद्यङ्गानां च वेत्तरि, उत्त० २ अ० ।

जोइसंचाल-ज्योतिःसंचाल-पुं० । ज्योतिषः तारकरूपस्य संचालः । "तारकाणं तिहिं ठाणेहिं ताराकवे चरेज्जा ।" इत्यादिना सूत्रेण प्रतिपादिते संचालने, स० ३ अङ्ग ।

जोइसंत-ज्योतिषान्त-पुं० । ज्योतिश्चक्रस्य पर्यन्ते, स० ।

तत्प्रमाणं यथा-

लोगंताओ णं इक्कारसएहिं एक्कारेहिं जोयणसएहिं अबाहाए जोइसंते पण्णत्ते ।

'लोकान्ताद्, णमित्यलङ्कारे, एकादश शतानि (एक्कारे त्ति) एकादशयोजनाधिकानि अबाधया बाधारहितया, कृत्वेति शेषः । (जोतिसंते त्ति) ज्योतिश्चक्रपर्यन्तः प्रज्ञप्त इति । स० ११ सम० ।

जोइसकरंडय-ज्योतिष्करण्डक-न० । सूर्यप्रज्ञप्ति उद्धृते ज्योतिषां प्रतिपादके प्रकरणग्रन्थभेदे, ज्यो० ।

तथा च ज्योतिष्करण्डकं विवृण्वन्नाह मलयगिरिः-

" सम्यग् गुरुपदाम्भोज-पर्युपास्तिप्रसादतः ।
ज्योतिष्करण्डकं व्यक्तं, विवृणोमि यथागमम् " ॥ १ ॥
ज्यो० १ पाहु० ।

ज्योतिष्करण्डकेऽर्थाधिकाराश्च-

कालपमाणं माणं निप्फत्ती, अहिगमासगस्स चिय ।
वोच्छामि ओमरत्तं, पव्वतिहीणं समत्तिं च ॥
णक्खत्तयपरिमाणं, परिमाणं वा वि चंदसूराणं ।
नक्खत्तचंदसूरा-ण गई नक्खत्तजोगं च ॥
मंडलविभागमयणं, आउट्टी मंडले मुहुत्तगई ॥
उउ विसुव वइवाए, तावं वुड्ढी च दिवसाणं ॥
अवमासपुण्णमासी, पणट्ठपव्वं च पोरिसिं वा वि ।
ववहारनयमएणं, तं पुण सुण मे अणण्णमणं ॥

इह सूर्यप्रज्ञप्तिसत्का अधिकारा एकविंशतिरूपप्राभृतनिबद्धाः, तत्र प्रथमेऽधिकारे कालस्य समयाऽऽदेः शीर्षप्रहेलिकापर्यन्तस्य प्रमाणं वक्ष्ये, द्वितीये मानं प्रमाणं संवत्सराणाम्, तृतीये अधिकमासस्य निष्पत्तिम्, तदनन्तरं चाल्पवक्तव्यत्वाद् गाथोक्तं क्रममुल्लङ्घ्य चतुर्थे पर्वतिथिसमाप्तिं वक्ष्ये, पञ्चमे अवमरात्रम्, गाथायां चान्यथा निर्देशः छन्दोवशात् । ततः षष्ठे नक्षत्राणां संस्थानाऽऽदिपरिमाणं वक्ष्यामि, सप्तमे चन्द्रसूर्यपरिमाणं, अष्टमे चन्द्रसूर्यनक्षत्राणां गतिम्, नवमे नक्षत्रयोगम्, दशमे जम्बूद्वीपे चन्द्रसूर्याणां मण्डलविभागम्, एकादशे अयनम्, द्वादशे आवृत्तिम्, त्रयोदशे चन्द्रसूर्यनक्षत्राणां मण्डले मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणम्, चतुर्दशे ऋतुपरिमाणम्, पञ्चदशे विषुवाणि, षोडशे व्यतीपातान्, सप्तदशे तापक्षेत्रम्, अष्टादशे दिवसानां वृद्ध्यपवृद्धी, एकोनविंशतितमे अमावास्यापौर्णमासीवक्तव्यताम्, विंशतितमे प्रनष्टं पर्व, एकविंशतितमे पौरुषीम् । एतांश्च एकविंशतिसंख्यानप्यर्थाधिकारान् वक्ष्ये व्यवहारनयमतेन, निश्चयनयमतेन हि कलाकलांशप्रतिकलांशगणनया परमार्थतः परमश्रुतविदो बुध्यन्ते, न शेषाः । न च तथा कथ्यमानानां श्रोतॄणाम् अञ्जसाऽवगमपथमृच्छन्ति । ततो व्यवहारनयमतेन योजनगव्यूतं कतिपयकलाकलांशप्रविभागरूपेण वक्ष्ये, तत्र तथा मे कथयतो भवानवहितमनस्को भूत्वा शृणु, तदेव निर्दिष्टा अर्थाधिकाराः । ज्यो० १ पाहु० ।

जोइसगणराय-ज्योतिर्गणराज-पुं० । ज्योतींषि ग्रहनक्षत्रतारकाणि तेषां गणः समूहस्तस्य राजाऽधिपतिर्ज्योतिर्गणराजः । चन्द्रे, सूर्ये च । चं० प्र० १ पाहु० ।

जोइसचक्क-ज्योतिश्चक्र-न० । चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्राऽऽत्मके ज्योतिषां चक्रे, ज्यो० १ पाहु० । " एक्कार एक्कवीसा, सयएक्कारा हिया य एक्कारा । मेरु अलोगाबाहे, जोइसचक्कं चरइ ठाइ " ॥ १ ॥ स० ११ सम० ।

तत्स्वरूपं यथा—

लोगाणुभावजणियं, जोइसचक्कं भणंति अरिहंता ।
सव्वे कालविसेसा, जस्स गइविसेसनिप्फन्ना ॥

यस्य ज्योतिश्चक्रस्य चन्द्रसूर्यनक्षत्राऽऽदिरूपस्य संबन्धिना, गतिविशेषेण निष्पन्नाः, सर्वे कालविशेषाश्चन्द्रमाससूर्यमासनक्षत्रमासाऽऽदिकाः, तद् ज्योतिश्चक्रं लोकानुभावजनितमनादिकालसन्ततिपतिततया शाश्वतं वेदितव्यम्, नेश्वराऽऽदिकृतमिति भणन्ति प्रतिपादयन्ति, भगवन्तोऽर्हन्तः । तीर्थकृतां च वचनमवश्यं प्रमाणयितव्यं,क्षीणसकलदोषतया तद्वचनस्य वितथार्थत्वाभावात् । उक्तं च-" रागाद् वा द्वेषाद् वा, मोहाद् वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषा-स्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ?" ॥१॥ अपि च-युक्त्याऽपि विचार्यमाणो नेश्वराऽऽदिघटां प्राञ्चति, ततस्तदभावादपि ज्योतिश्चक्रं लोकानुभावजनितमवसेयम् । यथा च युक्त्या विचार्यमाणो नेश्वराऽऽदिर्घटते, तथा तत्त्वार्थटीकाऽऽदौ विजृम्भितमिति तत एवावधार्यम् । ज्यो० १ पाहु० । (ज्योतिश्चक्रं मेरुतः कियत्या अबाधया चरतीति ' अबाहा ' शब्दे प्रथमभागे ६८२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

द्वीपबन्दिरसक्कृतप्रश्नेषु-जम्बूद्वीपगतमेरोः परितो यथैकविंशत्यधिकैकादशशतयोजनान्यबाधां कृत्वा ज्योतिश्चक्रं भ्राम्यन्ति, तथाऽन्यद्वीपगतमेरुभ्योऽपि कियतीमबाधां कृत्वा भ्रमन्ति?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र जम्बूद्वीपगतमेरोः परितो यथैकविंशत्यधिकैकादशशतयोजनान्यबाधां कृत्वा ज्योतिश्चक्रं भ्राम्यति, तथैवान्यद्वीपगतमेरुभ्योऽपीति संभाव्यते, शास्त्राक्षराणि तु व्यक्ततया दृष्टानि न स्मर्यन्ते,इति । १३प्र० । ह्री०४ प्रका० ।

जोइसपह-ज्योतिष्पथ-पुं० । ग्रहचन्द्रसूरनक्षत्ररूपाणां ज्योतिषां ज्योतिष्कलक्षणविमानविशेषाणां,ज्योतिषो वा दीपाऽऽदग्नेः पन्था ज्योतिष्पथः । ज्योतिष्कदेवानां मार्गे, अग्निमार्गे च । स० ।

ज्योतिष्प्रभ-त्रि० । ग्रहचन्द्रसूरनक्षत्ररूपाणां ज्योतिषां ज्योतिष्कलक्षणविमानविशेषाणां, ज्योतिषो वा दीपाऽऽदग्नेः प्रभा प्रकाशो यस्मिन् । ज्योतिष्कदेवसदृशप्रभे,अग्निसदृशप्रभे च । स० ।

जोइसमुहमंडग-ज्योतिषमुखमण्डक-पुं० । सूर्ये, कल्प०१क्षण ।

जोइसराय-ज्योतिष्कराज-पुं० । ज्योतींषि ग्रहनक्षत्रतारकाणि तेषां राजाऽधिपतिर्ज्योतिष्कराजः । चन्द्रे, सूर्ये च । चं० प्र० । " जोइसरायस्स पन्नत्ति ।" (४ गाथा) ज्योतिष्कराजस्य चन्द्रमसः । चं० प्र० १ पाहु० । स्था० । सू० प्र० ।

जोइसामयण-ज्योतिषामयन-न० । ज्योतिःशास्त्राऽऽत्मके वेदाङ्गभेदे, औ० । आ० चू० । कल्प० । अनु० ।

जोइसालय-ज्योतिरालय-पुं० । ज्योतिरालयो गृहं येषां ते ज्योतिरालयाः। ज्योतिष्कदेवेषु, " पंचहा जोइसालया ।" उत्त० ३६ अ० ।

जोइसिंद-ज्योतिष्केन्द्र-पुं० । सूर्ये, चन्द्रे च । स्था० ६ ठा० । " चंदिमसूरिया य एत्थ दुवे जोइसिंदा जोइसियरायाणो परिवसंति ।" चं० प्र० १ पाहु० ।

जोइसिण-ज्यो [ज्यौ] त्स्न-पुं० । ज्योत्स्नाऽन्विते शुक्ले पक्षे, ज्यो० ५ पाहु० ।

जोइसिणा-ज्योत्स्ना-स्त्री० । ज्योतिरस्त्यस्या नः, उपधालोपश्च । "सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः"। ८ । २ । ७५ । इति प्राकृतसूत्रेण स्नस्य ण्हो वा । प्रा० २ पाद । कौमुद्यां,चन्द्रकिरणे च । वाच० । ' जोइसिणाइ " स्था० २ ठा० ४ उ० ।

जोइसिणापक्ख-ज्योत्स्नापक्ष-पुं० । ज्योत्स्नाप्रधानः पक्षो ज्योत्स्नापक्षः । शुक्लपक्षे, चं० प्र० १५ पाहु० । सू० प्र० ।

जोइसिणाभा-ज्योत्स्नाभा-स्त्री० । चन्द्रस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । ज्यो० । स्था० । सू० प्र० । चं० प्र० ।

जोइसिय-ज्योतिषिक-पुं० । सूर्याऽऽदिके ज्योतिश्चक्रस्थिते देवभेदे,प्रज्ञा० २ पद । पञ्चा० । उत्तरकुरुषु भवे स्वनामख्याते द्रुमगणे, तत्र प्रदेशे बहवो ज्योतिषिका नाम द्रुमगणाः । जी० ३ प्रति० ।

विषयसूची-

(१) 'जोइसिय' शब्दस्यानुवादान्तरव्युत्पत्तिसवाच्यार्थान्तरप्रदर्शनम् ।
(२) ज्यौतिष्काणां पञ्चविधत्वप्ररूपणम् ।
(३) मनुष्यक्षेत्रवर्तिनां मानुषोत्तरपर्वतात् स्वयंभूरमणसमुद्रावधिकानां च ज्यौतिष्काणां चलत्वस्थिरत्वविचारः ।
(४) प्रसङ्गतो मनुष्यक्षेत्रं निरूप्य स्फुटं ज्यौतिष्काणां चलत्वस्थिरत्वनिदर्शनम् ।
(५) सर्वलोके प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चन्द्राऽऽदीनां परिमाणप्रतिपादनार्थमन्यतीर्थिकानां द्वादशप्रतिपत्तीरुद्भाव्य भगवत्सिद्धान्तनिरूपणम् ।
(६) जम्बूद्वीपगतचन्द्राऽऽदिसंख्यासंग्राहिके गाथे ।
(७) मनुष्यक्षेत्रगतचन्द्रसूर्याऽऽदीनां संख्यापरिमाणकथनम् ।
(८) चन्द्रसूर्यनक्षत्रताराग्रहाणां पिटकवक्तव्यतायां पिटकप्रमाणनिरुक्तिः ।
(९) मनुष्यक्षेत्रगतचन्द्रसूर्यपङ्क्तयो यावन्त्यो यथा च स्थितास्तन्निर्वचनम् ।
(१०) " नक्षत्राणां पङ्क्तिप्ररूपणा ।
(११) " ग्रहाणां पङ्क्तिनिर्देशः ।
(१२) चन्द्राऽऽदयो यत्र यथा भ्रमन्ति तन्निरूपणम् ।
(१३) चन्द्राऽऽदित्यग्रहमण्डलानामन्यमण्डलसंचारित्वेनानवस्थितत्वं, नक्षत्रतारामण्डलानां तु मेरुमभितः संचारित्वादवस्थितत्वम् ।
(१४) चन्द्रसूर्ययोर्मण्डलस्थानादूर्ध्वमधश्च संक्रमणवक्तव्यता ।
(१५) चन्द्रसूर्यनक्षत्रमहाग्रहाणां चारविशेषेण मनुष्याणां सुखदुःखविधिं प्रतिपाद्य, दीक्षाऽऽदिशुभकार्याणि शुभतिथ्याद्यवलोक्यैव विधेयानीति जिनाऽऽज्ञानिर्वचनम् ।
(१६) चन्द्रसूर्याणां तापक्षेत्रं यथा वर्धते हीयते वा तदुपपादनम् ।
(१७) तेषामेव तापक्षेत्रसंस्थानस्य वर्णनम् ।
(१८) मनुष्यक्षेत्रमध्ये चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराणां चारोपगत्वं विविच्य तेषामेव मनुष्यक्षेत्राद् बहिर्गत्यभावोद्घाटनम् ।
(१९) प्रतिद्वीपं चन्द्राऽऽदिसङ्ख्याविवेचनम् ।
(२०) प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च ग्रहनक्षत्रतारापरिमाणपरिज्ञानोपायः ।

(२१) मानुषोत्तरपर्वतस्य बहिः चन्द्रसूर्याणां तेजांस्यवस्थितान्येव, तथाऽभिजिता चन्द्राः पुष्येण च सर्वदैव युक्ताः सूर्या भवन्तीति प्रतिपादनम् ।

(२२) मनुष्यक्षेत्रबहिर्गतचन्द्रसूर्याणां पङ्क्त्यवस्थानोपपत्तिः ।

(२३) मनुष्यक्षेत्रस्यान्तर्बहिश्च चन्द्राऽऽदीनां देवानामूर्ध्वोपपन्नत्वकल्पोपपन्नत्वविमानोपपन्नत्वाऽऽदिविचारः ।

(२४) चन्द्रसूर्ययोश्च्यवनोपपातवक्तव्यतायां परतीर्थिकप्रतिपत्तिनिराकरणपूर्वकं भगवन्मतप्रदर्शनम् ।

(२५) पुष्करोदाऽऽदिषु द्वीपसमुद्रेषु चन्द्राऽऽदिसंख्याव्याहारः ।

(२६) चन्द्रसूर्ययोः परिवारकथनम् ।

(२७) चन्द्राऽऽदीनां यादृशोऽनुभावस्तत्प्रतिपाद्य तद्विषयेऽन्यतीर्थिकानां प्रतिपत्तिरुदस्य भगवत्सिद्धान्तवर्णनम् ।

(२८) चन्द्रसूर्ययोः संस्थितिविषये परतीर्थिकानां षोडशप्रतिपत्तिप्रदर्शनानन्तरं भगवन्मतोपन्यासः ।

(२९) चन्द्राऽऽदित्यचारवचनम् ।

(३०) चन्द्रसूर्याऽऽदीनां भूमेरूर्ध्वमुच्चत्वप्रमाणप्रतिपादने परेषां पञ्चविंशतिप्रतिपत्तीरुद्भाव्य भगवदभिप्रायप्रकटनम् ।

(३१) चन्द्रसूर्याणां क्षेत्रापेक्षयाऽधस्तनाः, समश्रेणिव्यवस्थिता वा ताराऽरूपविमानाधिष्ठातारो देवा द्युतिविभवाऽऽदिकमपेक्ष्य चन्द्रसूर्याभ्यां केचिदणवः केचित्तुल्या इति प्रपञ्चः ।

(३२) नक्षत्रमण्डलिकामपेक्ष्य सर्वाभ्यन्तरचारित्वमभिजिन्नक्षत्रस्य मूलाऽऽदीनां सर्वबाह्यचारित्व स्वातिनक्षत्रस्य सर्वोपरिचारित्वं भरणीनक्षत्रस्य सर्वाधश्चारित्वमिति प्रतिपादनविस्तरः ।

(३३) चन्द्रः सूर्यो वा कियत् क्षेत्रं प्रकाशयतीति विचारे द्वादश प्रतिपत्तीरितरेषां व्युदस्य भगवत्सिद्धान्तोक्तिः ।

(३४) चन्द्राऽऽदीनां जम्बूद्वीपे चारक्षेत्रविष्कम्भमानम् ।

(३५) ज्यौतिष्काणामल्पबहुत्वम् ।

(३६) चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराणां मध्ये यो यस्मात् शीघ्रगतिस्तन्निरूपणम् ।

(३७) ज्यौतिष्काणामेकमुहूर्ते यावती गतिस्तन्निरुक्तिः ।

(३८) चन्द्रसूर्यनक्षत्राणां परस्परं मण्डलभागविषयाविशेषनिर्धारणम् ।

(३९) ग्रहमधिकृत्य योगचिन्ता ।

(४०) सूर्येण सह नक्षत्रस्य योगचिन्तनम् ।

(४१) सूर्येण सह ग्रहस्य योगविचारः ।

(४२) चन्द्राऽऽदयो नक्षत्रेण (समासेन) यावन्ति मण्डलानि चरन्ति तदुपपत्तिः ।

(४३) चान्द्रमासे यावन्ति मण्डलानि चन्द्राऽऽदयश्चरन्ति तत्संख्यानकीर्तनम् ।

(४४) ऋतुमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलचारवर्णनम् ।

(४५) सूर्यमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलचारविवेकः ।

(४६) अभिवर्धितमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलचारोपपादनम् ।

(४७) एकेनाहोरात्रेण चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं यावन्ति मण्डलानि चरन्ति तत्समर्थनम् ।

(४८) एकैकं परिपूर्णमण्डलं चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं यावद्भिरहोरात्रैश्चरन्ति तदुपवर्णनम् ।

(४९) युगं चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं यावन्ति मण्डलानि चरन्ति तत्परामर्शः ।

(५०) ज्यौतिष्कदेवानां गतिविशेषविषये द्वे संग्रहगाथे ।

(५१) चन्द्रसूर्यनक्षत्रताराणामल्पर्द्धिकत्वमहर्द्धिकत्वप्रतिपादनम् ।

(१) ज्योतिषिज-पुं० । "हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम" ॥ ६ । ३ । ९ ॥ इति (पाणि०) सूत्रेण सप्तम्या अलुक् । वाच० । ज्योतिश्चक्रे जाते ज्योतिषिजः । ज्योतिश्चक्रजाते देवभेदे, पञ्चा० २ विव० ।

ज्योतिष्क-पुं० । ज्योतिरिव, इवार्थे कन् । चित्रकवृक्षे, मेथिकाबीजे, गणिकारीवृक्षे च । स्वार्थे कन् । वाच० । द्योतन्ते इति ज्योतींषि विमानानि, तन्निवासिनो ज्योतिष्काः । उत्त० २ अ० । ग्रहनक्षत्राऽऽदिषु, ध० र०। वाच०। ज्योतिष्षु नक्षत्रेषु भवा ज्योतिष्काः, शब्दव्युत्पत्तिरेवेयं, प्रवृत्तिनिमित्ताऽऽश्रयणात्तु चन्द्राऽऽदयो ज्योतिष्का इति । स्था० २ ठा० ३ उ० । सूत्र० । ज्ञा० । चं० प्र०। ज्योतिष्मतीलतायाम्, स्त्री० । मेरोः शृङ्गान्तरे, वाच०। गणितप्रतिपादके ज्योतिःशास्त्रे च । न०। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

ज्यौतिषिक-पुं० । ज्योतिष शास्त्रं वेत्त्यधीते वा ठक् । दैवज्ञे, वाच० । ज्योतिश्चक्रे भवो ज्योतिषिकः, स एव ज्यौतिषिकः । ज्योतिश्चक्रगते देवभेदे, पञ्चा० १ विव० ।

ज्यौतिष्क पुं० । ज्योतिष्कदेवानां निवासभूते देवलोकभेदे, भ० ५ श० १० उ०। ज्योतींषि विमानविशेषाः,तेषु भवा ज्यौतिष्काः । ज्योतिश्चक्रभवे देवभेदे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

(२) ते च पञ्च-" पंचविहा जोइसिया पण्णत्ता । तं जहा-चंदा सूरा गहा णक्खत्ता ताराओ । " स्था० ५ ठा० १ उ० ।

(३) चंदा १ सूरा य २ गहा ३, नक्खत्ता ४ तारया य ५ पंच इमे ।
एगे चला जोइसिया, घंटायारा थिरा अवरे ॥ ९४७ ॥

चन्द्राः,सूर्याः,ग्रहाः,नक्षत्राणि, तारकाश्चेत्येवं पञ्च ज्योतिष्कभेदा भवन्ति । तत्र चैके मनुष्यक्षेत्रवर्तिनो ज्योतिष्काश्चञ्चा मेरोः प्रादक्षिण्येन सर्वकालं भ्रमणशीलाः, अपरे पुनर्ये मानुषोत्तरपर्वतात् परेण स्वयंभूरमणसमुद्रं यावद्वर्त्तन्ते ते सर्वेऽपि स्थिराः सदाऽवस्थानस्वभावाः, अत एव घण्टाकारा अचलधर्मकत्वेन घण्टावत् स्वस्थानस्था एव तिष्ठन्तीत्यर्थः । प्रव० १९४ द्वार । चं० प्र० । उत्त० । दश० ।

(४) प्रथमतो मनुष्यक्षेत्रं प्ररूपयति-

जंबूद्दीवो लवणो-दही य दीवो य धायईसंड ।
कालोदाहिपुक्खरवर-दीवद्धो माणुसं खेत्तं ॥

प्रत्यक्षेण उपलभ्यमानः प्रथमो जम्बूद्वीपः, ततः सर्वतः परिक्षेपी लवणोदधिः, ततोऽपि परतः सामस्त्येन लवणोदधिपरिक्षेपी धातकीखण्डो द्वीपः, तस्यापि सर्वतः परिक्षेपी कालोदधिसमुद्रः, ततोऽपि परतः सर्वतस्तत्परिक्षेपि पुष्करवरद्वीपस्यार्द्धम् । एते जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करवरद्वीपार्द्धरूपा द्वीपाः, द्वौ च लवणोदधिकालोदधिरूपौ समुद्रौ, मानुषं क्षेत्रं-मनुष्याणामुत्पत्तेर्मरणस्य च भावात् । अस्मिंश्च मानुषे क्षेत्रे समा विभागाः कालविभागाः

सुषमसुषमाऽऽदयो भवन्ति, ततो मनुष्यक्षेत्रात्परतः सर्वमपि देवारण्यं देवानां क्रीडास्थानं, तत्र जन्मतो मनुष्याः, नापि तत्र कोऽपि कालविभाग इत्यर्थः ।

एतदेव स्पष्टयन्नाह-

एतं माणुसखित्तं, एत्थ विचारीणि जोइसगणाणि ।
परतो दीवसमुद्दे, अवट्ठियं जोइसं जाण ॥

एतत् अनन्तरोदितस्वरूपं मानुषं क्षेत्रम्, अस्मिंश्च मनुष्यक्षेत्रे, विचारिणो विचरणशीला ज्योतिष्कगणाश्चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारागणाः सूत्रे च नपुंसकता प्राकृतत्वात् । परतो मनुष्यक्षेत्रस्य बहिः, शेषेषु द्वीपसमुद्रेष्ववस्थितमवस्थानशीलं ज्योतिश्चक्रं जानीहि । ज्यो० ६ पाहु० ।

(५) संप्रति प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चन्द्राऽऽदीनां परिमाणप्रतिपादनाय कति चन्द्रसूर्याः सर्वलोके आख्याताः ?

इति, तत्तन्द्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कति णं चंदिमसूरिया सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति आहिता ति वदेज्जा ॥

(ता कति णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । कति किंप्रमाणाः, 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, चन्द्रसूर्याः सर्वलोके अवभासन्ते अवभासमानाः, उद्द्योतयन्तः प्रकाशयन्त आख्याता इति वदेत् ।

एवमुक्ते भगवानेतद्विषये यावन्त्यः प्रतिपत्तयस्तावतीरुपदर्शयति-

तत्थ खलु इमाओ दुवालसपडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थेगे एवमाहंसु-ता एगे चंदे एगे सूरे सव्वलोयं ओभासेति, उज्जोएति, तवेति, पभासेति, एगे एवमाहंसु १। एगे पुण एवमाहंसु-ता तिण्णि चंदा तिण्णि सूरा सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, एगे एवमाहंसु २। एगे पुण एवमाहंसु-ता आउट्टिं चंदा आउट्टिं सूरा सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, एगे एवमाहंसु ३। एगे पुण एवमाहंसु-एवं एतेणं अभिलावेणं णेतव्वं-सत्त चंदा सत्त सूरा ४। दस चंदा दस सूरा ५। बारस चंदा बारस सूरा ६। बायालीसं चंदा बायालीसं सूरा ७। बावत्तरी चंदा बावत्तरी सूरा ८। बायालीसं चंदसयं बायालीसं सूरसयं ९। बावत्तरं चंदसयं बावत्तरं सूरसयं १० । बायालीसं चंदसहस्सं, बायालीसं सूरसहस्सं ११। बावत्तरी चंदसहस्सं, बावत्तरी सूरसहस्सं सव्वलोयं ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पभासंति, एगे एवमाहंसु १२॥

(तत्थेत्यादि) तत्र सर्वलोकविषयचन्द्रसूर्यास्तित्वविषये खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपा द्वादश प्रतिपत्तयः परतीर्थिकैरभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः । तत्र तेषां द्वादशानां परतीर्थिकानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहुः-(ता इति) तेषां परतीर्थिकानां प्रथमं स्वशिष्यं प्रत्यनेकवक्तव्यतोपक्रमे क्रमोपदर्शनार्थः । एकश्चन्द्र एकः सूर्यः सर्वलोकमवभासयति, अवभासयन् उद्द्योतयन् तापयन् प्रभासयन् आख्यात इति वदेत् । अत्रैवोपसंहारमाह-(एगे एवमाहंसु) १। एके पुनरेवमाहुः-त्रयश्चन्द्रास्त्रयः सूर्याः सर्वलोकमवभासयन्त आख्याता इति वदेत् । उपसंहारवाक्यम्-(एगे एवमाहंसु)२। एके पुनरेवमाहुः-अर्द्धचतुर्थाश्चन्द्रा अर्द्धचतुर्थाः सूर्याः सर्वलोकमवभासयन्त आख्याता इति वदेत् । अत्राप्युपसंहारः-(एगे एवमाहंसु) ३। (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण एतेनानन्तरोदितेनाभिलापेन तृतीयप्राभृतोक्तप्रकारेण द्वादशप्रतिपत्तिविषयं सकलमपि सूत्रं नेतव्यम् । तच्चैवम्-"(सत्त चंदा सत्त सूरा इति) एगे पुण एवमाहंसु-ता सत्त चंदा सत्त सूरा सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ४। एगे पुण एवमाहंसु-ता दस चंदा दस सूरा सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ५। एगे पुण एवमाहंसु-ता बारस चंदा बारस सूरा सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ६। एगे पुण एवमाहंसु-ता बायालीसं चंदा बायालीसं सूरा सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ७। एगे पुण एवमाहंसु-ता बावत्तरिं चंदा बावत्तरिं सूरा सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ८। एगे पुण एवमाहंसु-ता बायालीसं चंदसयं बायालीसं सूरसयं सव्वलोए ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ९। एगे पुण एवमाहंसु-ता बावत्तरं चंदसयं बावत्तरं सूरसयं सव्वलोयं ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु १०। एगे पुण एवमाहंसु-ता बायालीसं चंदसहस्सं बायालीसं सूरसहस्सं सव्वलोयं ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ११ । एगे पुण एवमाहंसु-ता बावत्तरं चंदसहस्सं बावत्तरं सूरसहस्सं सव्वलोयं ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु १२ । "

एताश्च सर्वा अपि प्रतिपत्तयो मिथ्यारूपाः, तथा भगवान् स्वमतमेताभ्यः पृथग्भूतमाह-

वयं पुण एवं वदामो-ता अयं णं जंबुद्दीवे दीवे जाव परिक्खेवेणं ताव जंबुद्दीवे दीवे केवतिया चंदा पभासेंसु वा, पभासिंति वा, पभासिस्संति वा ?, केवतिया सूरा तविंसु वा, तवेंति वा, तविस्संति वा ?, केवतिया नक्खत्ता जोइंसु वा, जोएंति वा, जोइस्संति वा ?, केवतिया गहा चारं चरिंसु वा, चरंति वा, चरिस्संति वा ?, केवतिया तारागणकोडिकोडीओ सोभेंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा ?। ता जंबुद्दीवे णं दीवे दो चंदा पभासेंसु वा, पभासिंति वा, पभासिस्संति वा, दो सूरिया तवइंसु वा, तवंति वा, तविस्संति वा, छप्पण्णं णक्खत्ता जोगं जोएंसु वा, जोएंति वा, जोइस्संति वा, बावत्तरिगहसतं चारं चरिंसु वा, चरंति वा, चरिस्संति वा, एगं सयसहस्सं तेत्तीसं च सहस्सं णवसया पण्णसा तारागणकोडाकोडीणं सोभेंसु वा, सोभिंति वा, सोभिस्संति वा ।

(वयं पुण इत्यादि) वयं पुनरुत्पन्नकेवलज्ञानाः, एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामः । तमेव प्रकारमाह-(ता अयं णमित्यादि) इदं जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत् परिपूर्णं पठनीयं, व्याख्यानीयं

च (ता जंबुद्दीवे णं दीवे दो चंदा इत्यादि) जंबूद्वीपे द्वौ चन्द्रौ प्रतिभासितवन्तौ, प्रतिभासेते, प्रतिभासिष्येते, द्रव्यास्तिकनयमतेन सकलकालमेवंविधाया एव जगत्स्थितेः सद्भावात् । तथा द्वौ सूर्यौ तापितवन्तौ, तापयतस्तापयिष्यतः । तथा एकैकस्य शशिनोऽष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि परिवारो, जम्बूद्वीपे च द्वौ शशिनौ, ततः षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि, जम्बूद्वीपे चन्द्रसूर्याभ्यां सह योगं युक्तवन्तः, युक्तवन्ति, योक्ष्यन्ति वा । तथा एकैकस्य शशिनोऽष्टाशीतिर्ग्रहाः परिवारतः, ततः शशिद्वयसत्कग्रहमीलने सर्वसंख्यया षट्सप्तत्यधिकं ग्रहशतं भवति, ततो जम्बूद्वीपे चारं चरितवान्, चरति, चरिष्यति च । तथा एकैकस्य शशिनस्तारापरिवारः कोटाकोटीनां षट्षष्टिः सहस्राणि, नवशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि, जम्बूद्वीपे च द्वौ शशिनौ, तदेतत् ताराप्रमाणं द्वाभ्यां गुण्यते, तत एकं शतसहस्रं त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि नवशतानि पञ्चाशदधिकानि तारागणकोटीनां भवन्ति । एतावत्प्रमाणास्तारा जम्बूद्वीपे शोभितवत्यः, शोभन्ते, शोभिष्यन्ते । सू० प्र० १९ पाहु० । जी० । जं० । न० ।

(६) संप्रति विनेयजनानुग्रहाय यथोक्तजम्बूद्वीपगतचन्द्राऽऽदिसंख्यासंग्राहिके द्वे गाथे आह-

दो चंदा दो सूरा, णक्खत्ता खलु हवंति छप्पन्ना ।
बावत्तरं गहसतं, जंबुद्दीवे वियारी णं ॥१॥
एगं च सयसहस्सं, तित्तीसं खलु भवे सहस्साइं ।
णव य सता पन्नासा, तारागणकोडिकोडीणं ॥२॥

एते च द्वे अपि सुगमे, नवरं (जंबुद्दीवे वियारी णं) णमिति वाक्यालङ्कारे, ततो 'वियारीति' विभक्तिपरिणामेन चन्द्रादिभिः सह सामानाधिकरण्येन योजनीयमिति ॥ सू० प्र० १९ पाहु० । (लवणसमुद्रगतचन्द्राऽऽदिसंख्यापरिमाणम् 'लवणसमुद्द' शब्दे वक्ष्यते) (धातकीखण्डद्वीपचन्द्राऽऽदिसंख्या ' धायईसंडदीव ' शब्दे प्रतिपादयिष्यते) (कालोदसमुद्रचन्द्राऽऽदिसंख्या 'कालोद' शब्दे तृतीयभागे ५०४ पृष्ठे गता) (पुष्करवरद्वीपचन्द्राऽऽदिसंख्या, आभ्यन्तरपुष्करार्द्धगतचन्द्राऽऽदिवक्तव्यता च 'पुक्खरवरदीव' शब्दे वक्ष्यते) इह सर्वत्र तारापरिमाणचिन्तायां कोटीकोट्यः-कोटीकोट्य एव द्रष्टव्याः, तथा पूर्वसूरिव्याख्यानात् । अपरे उत्सेधाङ्गुलप्रमाणमनुश्रित्य कोटीकोटीरेव समर्थयन्ते । उक्तं च-"कोडाकोडीसन्नं, तरंतु मन्नंति केइ थोवतया । अन्ने उस्सेहंगुल-माणं काऊण ताराणं ॥१॥" इति । जी० ३ प्रति० ।

(७) संप्रति मनुष्यक्षेत्रगतसमस्तचन्द्राऽऽदिसंख्यापरिमाणमाह-

मणुस्सखेत्ते णं भंते ! कइ चंदा पभासेंसु वा, पभासिंति वा, पभासिस्संति वा, कइ सूरा तवइंसु वा, तवेंति वा, तविस्संति वा ? । गोयमा !-

"बत्तीसं चंदसयं, बत्तीसं चेव सूरियाण सयं ।
सयलं मणुस्सलोयं, चरंति एए पगासेंता ॥१॥
एक्कारस य सहस्सा, छप्पि य सोला महग्गहाणं तु ।
छच्च सया छण्णउया, णक्खत्ता तिन्नि य सहस्सा ॥२॥
अट्ठासीइ सतसहस्सा, चायालीसं सहस्स मणुयलोगम्मि ।
सत्त य सया अणूणा, तारागणकोडिकोडीणं" ॥ ३ ॥
सोभंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा ॥

"मणुस्सखेत्ते णं" इत्यादि पाठसिद्धम् । उक्तं चैवंरूपं परिमाणमन्यत्रापि । (बत्तीसमित्यादि गाथात्रयम्) तत्र द्वात्रिंशं चन्द्रशतम्, एवं द्वौ चन्द्रौ जम्बूद्वीपे, चत्वारो लवणोदे, द्वादश धातकीखण्डे, द्वाचत्वारिंशत्कालोदे, द्वासप्ततिरभ्यन्तरपुष्करार्द्धे, सर्वसंख्यया द्वात्रिंशं शतम् । एवं सूर्याणामपि द्वात्रिंशं शतं परिभावनीयम् । नक्षत्राऽऽदिपरिमाणम् अष्टाविंशत्यादिसंख्यानि नक्षत्राऽऽदीनि द्वात्रिंशेन शतेन गुणयित्वा परिभावनीयम् । जी० ३ प्रति० ।

मतभेदेनाह-

अट्ठासीतिं चत्ता-इ सतसहस्साइँ मणुयलोयम्मि ।
सत्त य सता अणुणा, तारागणकोडिकोडीणं ॥३॥

(अट्ठासीइं चत्ताइ त्ति) अष्टाशीतिः सहस्राणि चत्वारिंशत्शताधिकानि, शेषं गतार्थम् । सू० प्र० १९ पाहु० । च० प्र० । भ० । द्व० प० ।

संप्रति सकलमनुष्यलोकगततारागणस्योपसंहारमाह-

एसो तारापिंडो, सव्वसमासेण मणुयलोयम्मि ।
बहियं पुण ता तारा, जिणेहिँ भणिआ असंखेज्जा ॥१॥
एवतियं तारग्गं, जं भणियं माणुसम्मि लोगम्मि ।
चारं कलंबुयापु-प्फसंठितं जोतिसं चरति ॥ २ ॥

एषोऽनन्तरोक्तगाथोक्तस्तारापिण्डः सर्वसंख्यया मनुष्यलोके, आख्यात इति गम्यते । बहिः पुनर्मनुष्यलोकाद् यास्तारास्ता जिनैः सर्वज्ञैस्तीर्थकृद्भिर्भणिता असंख्याताः, द्वीपसमुद्राणामसंख्यातत्वात् । प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च यथायोगं संख्येयानामसंख्येयानां च ताराणां सद्भावात् ॥१॥ "एवइयं" इत्यादि । एतावत्संख्याकं तारापरिमाणं यदनन्तरं भणितं मानुषे लोके, तज्ज्योतिष्कं ज्योतिष्कदेवविमानरूपं कदम्बपुष्पसंस्थितं कदम्बपुष्पवत् अधःसंकुचितं उपरि विस्तीर्णमुत्तानीकृतार्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितमित्यर्थः । चारं चरति चारं प्रतिपद्यते, तथा जगत्स्वाभाव्यात् । ताराग्रहणं चोपलक्षणं, तेन सूर्यादयोऽपि यथोक्तसंख्याका मनुष्यलोके तथा जगत्स्वभावात् चारं प्रतिपद्यन्ते इति द्रष्टव्यम् ॥ २ ॥

संप्रत्येतद्गतमेवोपसंहारमाह-

रविससिगहणक्खत्ता, एवतिया आहिता मणुयलोए ।
जेसिं णामागोत्तं, न पागता पन्नवेहिंति ॥ ३ ॥

रविशशिग्रहनक्षत्राणि, उपलक्षणमेतत्, तारकाणि च एतावन्त्येतावत्संख्यानि आख्यातानि सर्वज्ञैर्मनुष्यलोके, येषां किमित्याह-येषां सूर्याऽऽदीनां यथोक्तसंख्याकानां सकलमनुष्यलोकभाविनां प्रत्येकनामगोत्राणि, इहान्वर्थयुक्तं नाम सिद्धान्तपरिभाषया नामगोत्रमित्युच्यते । ततोऽयमर्थः-नामगोत्राणि अन्वर्थयुक्तानि, यदि वा नामानि च गोत्राणि नामगोत्राणि, प्राकृता अनतिशायिनः पुरुषाः न कदाचनापि प्रज्ञापयिष्यन्ति, केवलं यदा तदा वा सर्वज्ञा एव, तत इदमपि सूर्याऽऽदिसंख्यानं प्राकृतपुरुषाप्रमेयं सर्वज्ञोपदिष्टमिति सम्यक् श्रद्धेयमिति ॥३॥

(८) छावट्ठिं पिडगाइं, चंदाईचाण मणुयलोयम्मि ।

दो चंदा दो सूरा, य हुंति एक्कए पिडए ॥३॥

इह द्वौ चन्द्रौ द्वौ सूर्यावेकं पिटकमुच्यते । इत्थंभूतानि चन्द्राऽऽदित्यानां पिटकानि सर्वसंख्यया मनुष्यलोके भवन्ति षट्षष्टिसंख्याकानि । अथ किंप्रमाणं पिटकम् ?, इति पिटकप्रमाणमाह-एकैकस्मिन् पिटके द्वौ चन्द्रौ, द्वौ सूर्यौ च भवतः। किमुक्तं भवति ?-द्वौ चन्द्रौ द्वौ सूर्यावित्येतावत्प्रमाणमेकैकं चन्द्राऽऽदित्यानां पिटकमिति । एवंप्रमाणं च पिटकं जम्बूद्वीपे एकम्, जम्बूद्वीपे द्वयोरेव चन्द्रमसोर्द्वयोरेव सूर्ययोर्भावात्। द्वे पिटके लवणसमुद्रे, तत्र चतुर्णां चन्द्रमसां चतुर्णां च सूर्याणां भावात् । एवं षट् पिटकानि धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे, इति भवन्ति सर्वमीलने चन्द्राऽऽदित्यानां षट्षष्टिः पिटकानि ॥ ३ ॥

छावट्ठिं पिडगाइं, णक्खत्ताणं तु मणुयलोयम्मि ।
छप्पण्णं णक्खत्ता, हुंती एक्केकए पिडए ॥ ४ ॥

(छावट्ठीत्यादि) सर्वस्मिन्नपि मनुष्यलोके सर्वसंख्यया नक्षत्राणां पिटकानि भवन्ति षट्षष्टिः । नक्षत्रपिटकप्रमाणं च शशिद्वयसंबन्धिनक्षत्रसंख्यापरिमाणम् । तथा चाह-एकैकस्मिन् पिटके नक्षत्राणि भवन्ति षट्पञ्चाशत्संख्याकानि । किमुक्तं भवति ?—षट्पञ्चाशन्नक्षत्रसंख्याकमेकैकं नक्षत्रपिटकं भवति । अत्रापि षट्षष्टिसंख्याभावना, एवमेकं नक्षत्रपिटकं जम्बूद्वीपे, द्वे लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति ॥४॥

छावट्ठिं पिडगाइं, महग्गहाणं तु मणुयलोयम्मि ।
छावत्तरं गहसतं, होई एक्केकए पिडए ॥ ५ ॥

महाग्रहाणामपि सर्वस्मिन्मनुष्यलोके सर्वसंख्यया पिटकानि भवन्ति षट्षष्टिः । ग्रहपिटकप्रमाणं च शशिद्वयसंबन्धिग्रहसंख्यापरिमाणम् । तथा चाऽऽह-एकैकस्मिन् पिटके ग्रहपिटके भवन्ति षट्सप्ततिशतं षट्सप्तत्यधिकं ग्रहशतं, सप्तत्यधिकग्रहशतपरिमाणमेकैकं ग्रहपिटकमिति । ततः षट्षष्टिसंख्याभावना च प्राग्वत्कर्तव्या ॥ ५ ॥

(९)अथ चन्द्रसूर्याणां कियत्यः पङ्क्तयः, कथं च स्थिताः ?, इत्याह-

चत्तारि य पंतीओ, चंदाइच्चाण मणुअलोयम्मि ।
छावट्ठिं छावट्ठिं, च होइ एक्किक्किया पंती ॥ ६ ॥

(चत्तारि य इत्यादि) इह मनुष्यलोके चन्द्राऽऽदित्यानां पङ्क्तयश्चतस्रो भवन्ति । तद्यथा—द्वे पङ्क्ती चन्द्राणां, द्वे सूर्याणाम, एकैका च पङ्क्तिर्भवति षट्षष्टिः २। सूर्याऽऽदिसंख्या तद्भावना चैवम्—एकः किल सूर्यो जम्बूद्वीपे मेरोर्दक्षिणभागे चारं चरन् वर्तते, एक उत्तरभागे, एकश्चन्द्रमा मेरोः पूर्वभागे, एकोऽपरभागे । तत्र यो मेरोर्दक्षिणभागे सूर्यश्चारं चरन् वर्तते तत्समश्रेणिव्यवस्थितौ द्वौ दक्षिणभागे सूर्यौ, लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशत् अभ्यन्तरपुष्करार्द्धे; अस्यां सूर्यपङ्क्तौ षट्षष्टिः सूर्याः। योऽपि च मेरोरुत्तरभागे व्यवस्थितः सूर्यश्चारं चरन् वर्तते तस्यापि समश्रेण्या व्यवस्थितौ द्वावुत्तरभागे सूर्यौ लवणसमुद्रे, धातकीखण्डे षट्, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति । अस्यामपि पङ्क्तौ सर्वसंख्यया षट्षष्टिः सूर्याः। तथा यो मेरोः किल पूर्वभागे चारं चरन् वर्तते चन्द्रमास्तत्समश्रेणिव्यवस्थितौ द्वौ पूर्वभाग एव चन्द्रमसौ लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति । अस्यां चन्द्रपङ्क्तौ सर्वसंख्यया षट्षष्टिश्चन्द्रमसः । एवं यो मेरोरपरभागे चन्द्रमास्तन्मूलायामपि पङ्क्तौ षट्षष्टिश्चन्द्रमसो वेदितव्याः ॥ ६ ॥

(१०) अथ नक्षत्राणां पङ्क्तिस्वरूपमाह-

छप्पन्नं पंतीओ, णक्खत्ताणं मणुयलोयम्मि ।
छावट्ठिं छावट्ठिं, हवई इक्किकिया पंती ॥ ७ ॥

नक्षत्राणां मनुष्यलोके सर्वसंख्यया पङ्क्तयो भवन्ति षट्पञ्चाशत्। एकैका च पङ्क्तिर्भवति षट्षष्टिषट्षष्टिनक्षत्रप्रमाणा इत्यर्थः । तथाहि-अस्मिन् किल जम्बूद्वीपे दक्षिणतोऽर्द्धभागे एकस्य शशिनः परिवारभूतानि अभिजिदादीन्यष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि क्रमेण व्यवस्थितानि चारं चरन्ति, उत्तरतोऽर्द्धभागे द्वितीयस्य शशिनः परिवारभूतानि अष्टाविंशतिसंख्याकान्यभिजिदादीन्येव नक्षत्राणि क्रमेण व्यवस्थितानि, तत्र दक्षिणतोऽर्द्धभागे यदभिजिन्नक्षत्रं तत्समश्रेणिव्यवस्थिते द्वे अभिजिन्नक्षत्रे लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति सर्वसंख्यया षट्षष्टिरभिजिन्नक्षत्राणि पङ्क्त्या व्यवस्थितानि, श्रवणाऽऽदीन्यपि दक्षिणतोऽर्द्धभागे पङ्क्त्या व्यवस्थितानि षट्षष्टिसंख्याकानि भावनीयानि । उत्तरतोऽप्यर्द्धभागे यदभिजिन्नक्षत्रं तत्समश्रेणिव्यवस्थिते उत्तरभाग एव द्वे अभिजिन्नक्षत्रे लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशत् पुष्करार्द्धे, एवं श्रवणाऽऽदिपङ्क्तयोऽपि प्रत्येकं षट्षष्टिसंख्याकाः वेदितव्याः, इति भवन्ति सर्वसंख्यया षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणां पङ्क्तयः, एकैका च पङ्क्तिः षट्षष्टिसंख्येति ॥७॥

(११) अथ ग्रहाणां पङ्क्तिस्वरूपमाह-

छावत्तरं गहाणं, पंतिसयं हवति मणुयलोयम्मि ।
छावट्ठिं छावट्ठिं, च हवइ इक्किकिया पंती ॥ ८ ॥

ग्रहाणामङ्गारकप्रभृतीनां सर्वसंख्यया मनुष्यलोके षट्सप्तत्यधिकं शतं भवति, एकैका च पङ्क्तिर्भवति षट्षष्टिषट्षष्टिग्रहसंख्या। अत्रापीयं भावना-इह जम्बूद्वीपे दक्षिणतोऽर्द्धभागे एकस्य शशिनः परिवारभूता अङ्गारकप्रभृतयोऽष्टाशीतिर्ग्रहाः, उत्तरतोऽर्द्धभागे द्वितीयस्य शशिनः परिवारभूता अङ्गारकप्रभृतय एवाष्टाशीतिः। तत्र दक्षिणतोऽर्द्धभागे योऽङ्गारकनामा ग्रहस्तत्समश्रेणिव्यवस्थितौ दक्षिणभागे एव द्वावङ्गारकौ लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशद् अभ्यन्तरपुष्करार्द्धे, इति षट्षष्टिः । एवं शेषा अपि सप्ताशीतिर्ग्रहाः पङ्क्त्या व्यवस्थिताः प्रत्येकं षट्षष्टिर्वेदितव्याः । एवमुत्तरतोऽप्यर्द्धभागे अङ्गारकप्रभृतीनामष्टाशीतिग्रहाणां पङ्क्तयः प्रत्येकं षट्षष्टिसंख्याका भावनीयाः, इति भवति सर्वसंख्यया ग्रहाणां षट्सप्तत्यधिकं पङ्क्तिशतम्, एकैका च पङ्क्तिः षट्षष्टिसंख्याकेति ॥ ८ ॥

(१२) अथैतेषां चन्द्राऽऽदीनां भ्रमणस्वरूपमाह-

ते मेरुमणु चरंती, पयाहिणाऽऽवत्तमंडला सव्वे ।
अणवट्ठियजोगेहिं, चंदा सूरा गहगणा य ॥ ९ ॥

" ते मेरुमणुचरंति " इत्यादि । ते मनुष्यलोकवर्तिनः सर्वे चन्द्राः, सर्वे सूर्याः, सर्वे च ग्रहगणाः, अनवस्थितैर्यथायोगमन्यैरन्यैर्नक्षत्रैः सह योगैरुपलक्षिताः (पयाहिणाऽऽवत्तमंडला इति)

प्रकर्षेण सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च परि समन्ताच्चन्द्राऽऽदीनां दक्षिण एव मेरुर्भवति यस्मिन्नावर्ते मण्डलपरिभ्रमणरूपे स प्रदक्षिणः,प्रदक्षिण आवर्तमण्डलो येषां ते तथा, मेरुमनु लक्षीकृत्य चरन्ति । एतेनैतदुक्तं भवति-सूर्याऽऽदयः समस्ता अपि मनुष्यलोकवर्तिनः प्रदक्षिणाऽऽवर्तमण्डलगत्या परिभ्रमन्तीति ॥६॥

(१३) इह चन्द्राऽऽदित्यग्रहाणां मण्डलानि अनवस्थितानि, यथायोगमन्यस्मिन्नन्यस्मिन् मण्डले तेषां संचारित्वात्, नक्षत्रताराणां तु मण्डलान्यवस्थितान्यत्र । तथा चाऽऽह-

णक्खत्ततारगाणं, अवट्ठिता मंडला मुणेयव्वा ।

ते वि य पदाहिणाऽऽव-त्तमेव मेरुं अणु चरंति ॥१०॥

"णक्खत्त" इत्यादि । नक्षत्राणां तारकाणां च मण्डलान्यवस्थितानि ज्ञातव्यानि । किमुक्तं भवति ?-आकालं प्रतिनियतमेकैकं नक्षत्राणां तारकाणां च प्रत्येकं मण्डलमिति । न चैवमवस्थितमण्डलत्वेऽकाचेत्रमाशङ्कनीयम-यथैतेषां गतिरेव न भवतीति । यत आह-"ते वि य" इत्यादि । तान्यपि-नक्षत्राणि, तारकाणि च । सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । प्रदक्षिणाऽऽवर्तमेव, इत्थं क्रियाविशेषणं, मेरुमनु लक्षीकृत्य चरन्ति । एतच्च मेरुं लक्षीकृत्य प्रदक्षिणाऽऽवर्तं, तेषां चरणं प्रत्यक्षत एवोपलक्ष्यत इति समवादि ॥१०॥

(१४) अथ चन्द्रसूर्ययोर्मण्डलस्थानादूर्ध्वमधश्च संक्रमणप्रतिषेधमाह—

रयणिकरदिणकराणं, उड्ढं च अहेव संकमो नऽत्थि ।

मंडलसंकमणं पुण, सब्भंतरबाहिरं तिरिए ॥ ११ ॥

"रयणिकर" इत्यादि । रजनीकरदिनकराणां चन्द्राऽऽदित्यानामूर्ध्वमधश्च संक्रमो न भवति, तथा जगत्स्वाभाव्यात् । तिर्यक् पुनर्मण्डलेषु संक्रमणं भवति । किंविशिष्टम् ?, इत्याह-साभ्यन्तरबाह्यम्, अभ्यन्तरं च बाह्यमभ्यन्तरबाह्यं, सहाऽभ्यन्तरं बाह्येन वर्तत इति साभ्यन्तरबाह्यम् । एतदुक्तं भवति-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतस्तावन्मण्डलेषु संक्रमणं यावत्सर्वबाह्यं मण्डलं, सर्वबाह्याच्च मण्डलादर्वाक् तावन्मण्डलेषु संक्रमणं यावत्सर्वाऽऽभ्यन्तरमिति ॥११॥

(१५) रयणिकरदिणकराणं, णक्खत्ताणं महागहाणं च ।

चारविसेसेण भवे, सुहदुक्खविधी मणुस्साणं ॥ १२ ॥

'रयणिकर' इत्यादि । रजनीकरदिनकराणां चन्द्राऽऽदित्यानां, नक्षत्राणां च, महाग्रहाणां च चारविशेषेण तेन तेन चारेण सुखदुःखविधयो मनुष्याणां भवन्ति । तथाहि—द्विविधानि सन्ति सदा मनुष्याणां कर्माणि । तद्यथा—शुभवेद्यानि, अशुभवेद्यानि च । कर्मणां सामान्यतो विपाकहेतवः पञ्च । तद्यथा-द्रव्यं, क्षेत्रं, कालो, भवो, भावश्च । उक्तं च-"उदयक्खयखओवसमो-वसमा जं च कम्मणो भणिया । दव्वं खेत्तं कालं, भवं च भावं च संपप्प" ॥ १ ॥ शुभकर्मणां प्रायः शुभवेद्यानां कर्मणां शुभद्रव्यक्षेत्राऽऽदिसामग्री विपाकहेतुः,अशुभवेद्यानामशुभद्रव्यक्षेत्राऽऽदिसामग्री,ततो यदा येषां जन्मनक्षत्राऽऽदिविरोधी चन्द्रसूर्याऽऽदीनां चारो भवति, तदा तेषां प्रायो यान्यशुभवेद्यानि कर्माणि तानि तां तथाविधविपाकसामग्रीमवाप्य विपाकमायान्ति, विपाकमागतानि शरीररोगोत्पादनेन, धनहानिकरणतो वा, प्रियविप्रयोगजनेन वा, कलहसंपादनतो वा दुःखमुत्पादयन्ति । यदा च एषां जन्मनक्षत्राऽऽद्यनुकूलश्चन्द्राऽऽदीनां चारस्तदा तेषां प्रायो यानि शुभवेद्यानि कर्माणि तानि तां तथाविधां विपाकसामग्रीमधिगम्य विपाकं प्रतिपद्यन्ते, प्रतिपन्नविपाकानि च तानि शरीरनीरोगतासंपादनतो,धनवृद्धिकरणेन वा, वैरोपशमनतः, प्रियसंप्रयोगसंपादनतो वा प्रारब्धाभीष्टप्रयोजननिष्पत्तिकरणतः सुखमनुजनयन्ति । अत एव महीयांसः परमविवेकिनोऽल्पमपि प्रयोजनं शुभतिथिनक्षत्रमुहूर्ताऽऽद्यावारभन्ते, न तु यथाकथञ्चन । अत एव जिनानामप्याज्ञा प्रव्राजनाऽऽदिकमधिकृत्यैवमवतिष्ठते-यथा शुभक्षेत्रे शुभाऽऽदिदिशमभिमुखीकृत्य शुभे तिथिनक्षत्रमुहूर्ताऽऽदौ प्रव्राजनव्रताऽऽरोपणाऽऽदि कर्त्तव्यं, नान्यथा ।

तथा चोक्तं पञ्चवस्तुके-

" एसा जिणाणमाणा, खित्ताईया य कम्मुणो भणिया ।

उदयाइकारणं जं, तम्हा सव्वत्थ जइयव्वं " ॥ १ ॥

अस्या अक्षरगमनिका-एषा जिनानामाज्ञा-यथा शुभक्षेत्रे शुभदिशमभिमुखीकृत्य शुभे तिथिनक्षत्रमुहूर्ताऽऽदौ प्रव्राजनव्रताऽऽरोपणाऽऽदि कर्त्तव्यं, नान्यथा । अपि च क्षेत्राऽऽदयोऽपि कर्मणामुदयाऽऽदिकारणं भगवद्भिरुक्ताः,ततोऽशुभद्रव्यक्षेत्राऽऽदिसामग्रीं प्राप्य कदाचिदशुभवेद्यानि कर्माणि विपाकं गत्वा दवमासादयेयुः,तदुदये च गृहीतव्रतभङ्गाऽऽदिदोषप्रसङ्गः । शुभद्रव्यक्षेत्राऽऽदिसामग्र्यां तु प्रायो नाशुभकर्मविपाकसंभव इति निर्विघ्नं सामायिकपरिपालनाऽऽदि । तस्मादवश्य छद्मस्थेन सर्वत्र शुभक्षेत्राऽऽदौ यतितव्यम् । ये तु भगवन्तोऽतिशयिनस्तेऽतिशयबलादेव निर्विघ्नं सविघ्नं वा सम्यगधिगच्छन्ति, ततो न शुभतिथिमुहूर्ताऽऽदिकमपेक्षन्ते इति न तन्मार्गानुसरणं छद्मस्थानां न्याय्यम् । तेन ये परममुनिपर्युपासितप्रवचनविरुद्धका अपरिमितजिनशासनोपनिषद्भूतशास्त्रगुरुपरम्परागतोपनतसमग्रावद्यदकाद्योचितसामाचारीप्रतिपन्थिनः स्वमतिकल्पितसामाचारीका आभाषन्ते-यथा न प्रव्राजनाऽऽदिषु शुभतिथिनक्षत्राऽऽदिनिरीक्षणं कर्त्तव्यं, न खलु भगवान् जगत्स्वामी प्रव्राजनायोपस्थितेषु शुभतिथ्यादिनिरीक्षणं कृतवानिति । ते अपास्ता द्रष्टव्याः ॥१२॥

(१६) अथ चन्द्रसूर्याणां केन प्रकारेण प्रकाशक्षेत्रं वर्द्धते,
कथं च हीयते ?, तदाह—

तेसिं पविसंताणं, तावक्खेत्तं तु वड्ढते णियमं ।

तेण य कमेण पुणो, परिहायति निक्खमंताणं ॥१३॥

'तेसिं' इत्यादि । तेषां सूर्याचन्द्रमसां सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं प्रविशतां तापक्षेत्रं प्रतिदिवसं क्रमेण नियमादायामतो वर्द्धते, येन च क्रमेण परिवर्द्धते तेनैव क्रमेण सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद् बहिर्निष्क्रामतां परिहीयते । तथाहि-सर्वबाह्ये मण्डले चारं चरतां सूर्याचन्द्रमसां प्रत्येकं जम्बूद्वीपचक्रवालस्य दशधा प्रविभक्तस्य द्वौ द्वौ भागौ तापक्षेत्रं, ततः सूर्यस्याभ्यन्तरं प्रविशतः प्रतिमण्डलं षष्ट्यधिकत्र्यशीतिशतप्रविभक्तस्य द्वौ द्वौ भागौ तापक्षेत्रस्य वर्द्धेते, चन्द्रमसस्तु मण्डलेषु प्रत्येकं पौर्णमासीसंभवे क्रमेण प्रतिमण्डलं चतुर्विंशतिर्भागाः,सप्तविंशतितमस्य च एकः सप्तभाग इति वर्द्धते । एवं च क्रमेण प्रतिमण्डलमभिवृद्धौ यदा सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चारं चरतः,तदा प्रत्येकं जम्बूद्वीपचक्रवालस्य त्रयः परिपूर्णा दशभागास्तापक्षेत्रं, ततः पुनरपि सर्वाभ्यन्तरमण्डलाद् बहिर्निष्क्रमणे सूर्यस्य प्रतिमण्डलं षष्ट्यधिकत्र्यशीतिशतप्रविभक्तस्य जम्बूद्वीपचक्रवालस्य द्वौ द्वौ भागौ परिहीयेते, चन्द्रमसस्तु मण्डलेषु प्रत्येकं पौर्णमासीसंभवक्रमेण प्रतिमण्डलं चतुर्विंशतिर्भागाः, सप्तविंशतितमस्य च भागस्य एकः सप्तभाग इति ।

[१७] तेसिं कलंबुयापु-प्फसंठिता हुंति तावखेत्तमुहा ।
अंतो अ संकुडा बा-हिं वित्थडा चंदसूराणं ॥ १९ ॥

(तेसिमित्यादि) तेषां चन्द्रसूर्याणां तापक्षेत्रमुखाः कलम्बुकापुष्पसंस्थिता नालिकापुष्पाऽऽकारा भवन्ति । एतदेव व्याचष्टे-अन्तर्मेरुदिशि संकुचिताः, बहिर्लवणदिशि विस्तृताः । एतच्च प्रागेव चतुर्थे प्राभृते भावितमिति न भूयो भाव्यते । सू० प्र० १६ पाहु० । जी० । मं० । द० प० । ('तावक्खेत्त' शब्देऽनैव द्रष्टव्यम्)

[१८] अंतो मणुस्सखेत्ते, हवंति चारोवगा तु उववण्णा ।
पंचविहा जोतिसिया, चंदा सूरा गहगणा य ॥ २० ॥

अन्तर्मध्ये मनुष्यक्षेत्रे मनुष्यक्षेत्रस्य, पञ्चविधा ज्योतिष्काः । तद्यथा-चन्द्राः, सूर्याः, ग्रहगणाः, चशब्दान्नक्षत्राणि, तारकाश्च, भवन्ति चारोपगाश्चारयुक्ताः ॥ २० ॥

तेण परं जे सेसा, चंदाइच्चगहतारणक्खत्ता ।
णत्थि गती ण वि चारो, अवट्ठिता ते मुणेयव्वा ॥ २१ ॥

तेनेति प्राकृतत्वात् पञ्चम्यर्थे तृतीया । ततो मनुष्यक्षेत्रात्परं यानि शेषाणि चन्द्राऽऽदित्यग्रहतारानक्षत्राणि चन्द्राऽऽदित्यग्रहतारानक्षत्रविमानानि । सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । तेषां नास्ति गतिर्न तस्मात् स्थानाच्चलनं, नापि चारो मण्डलगत्या परिभ्रमणं, किं त्ववस्थितान्येव तानि ज्ञातव्यानि ॥ २१ ॥

(१९) एवं जंबुद्दीवे, दुगुणा लवणे चउग्गुणा हुंति ।
लावणगा य तिगुणिता, ससिसूरा धायईसंडे ॥ २२ ॥

(एवं जंबुद्दीवे इत्यादि) एवं सति एकैकश्चन्द्रसूर्यौ जम्बूद्वीपे द्विगुणौ भवतः । किमुक्तं भवति ?-द्वौ चन्द्रमसौ द्वौ सूर्यौ च जम्बूद्वीपे, लवणसमुद्रे तावेकैकौ सूर्याचन्द्रमसौ चतुर्गुणौ भवतः, चत्वारश्चन्द्राः, चत्वारश्च सूर्या लवणसमुद्रे भवन्तीति भावः । लावणिकाः लवणसमुद्रभवाः शशिसूरास्त्रिगुणिता धातकीखण्डे भवन्ति; द्वादश चन्द्राः, द्वादश सूर्या धातकीखण्डे भवन्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

दो चंदा इह दीवे, चत्तारि य सागरे लवणतोए ।
धातइसंडे दीवे, बारस चंदा य सूरा य ॥ २३ ॥
धातइसंडप्पभिती-उद्दिट्ठा तिगुणिता भवे चंदा ।
आदिल्लचंदसहिता, अणंतराऽणंतरक्खेत्ते ॥ २४ ॥

"दो चंदा" इत्यादि सुगमम् । "धायइसंड" इत्यादि । धातकीखण्डः प्रभृतिरादिर्येषां ते धातकीखण्डप्रभृतयः, तेषु धातकीखण्डप्रभृतिषु द्वीपेषु समुद्रेषु च ये उद्दिष्टाश्चन्द्रा द्वादशाऽऽदयः । उपलक्षणमेतत्-सूर्या वा, ते त्रिगुणितास्त्रिगुणीकृताः सन्तः (आइल्लचंदसहित त्ति) उद्दिष्टचन्द्रयुक्ताः तद् द्वीपात् समुद्राद्वा प्राक् जम्बूद्वीपमादिं कृत्वा ये प्राक्तनाश्चन्द्राः ते आदिमचन्द्राः, तैरादिमचन्द्रैः, उपलक्षणमेतत्-आदिमसूर्यैश्च सहिता यावन्तो भवन्ति । एतावत्प्रमाणा अनन्तरं कालोदाऽऽदौ भवन्ति । तत्र धातकीखण्डे द्वीपे उद्दिष्टाः चन्द्रा द्वादश, ते त्रिगुणाः क्रियन्ते, जाताः षट्त्रिंशत् । आदिमचन्द्राः षट् । तद्यथा-द्वौ चन्द्रौ जम्बूद्वीपे, चत्वारो लवणसमुद्रे । एतैरादिमचन्द्रैः सहिता द्वाचत्वारिंशद्भवन्ति । एतावन्तः कालोदे समुद्रे चन्द्राः । एष एव करणविधिः सूर्याणामपि । तेन सूर्या अपि तत्रैतावन्तो वेदितव्याः । तथा कालोदे समुद्रे द्विचत्वारिंशच्चन्द्रमस उद्दिष्टाः, ते त्रिगुणाः क्रियन्ते, जातं षड्विंशं शतम् । आदिमचन्द्रा अष्टादश । तद्यथा-द्वौ जम्बूद्वीपे, चत्वारो लवणसमुद्रे, द्वादश धातकीखण्डे । एतैरादिमचन्द्रैः सहितं षट्त्रिंशत्, जातं चतुश्चत्वारिंशं शतम् । एतावन्तः पुष्करवरद्वीपे चन्द्राः, एतावन्त एव सूर्याः । एवं सर्वेष्वपि द्वीपसमुद्रेष्वेतत्करणवशाच्चन्द्रसंख्या प्रतिपत्तव्या ।

(२०) संप्रति प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च ग्रहनक्षत्रतारापरिमाणपरिज्ञानोपायमाह—

रिक्खग्गहतारग्गं, दीवसमुद्दे जइच्छसि णाउं ।
तस्स ससिहिं तु गुणितं, रिक्खग्गहतारगग्गं तु ॥ २५ ॥

अत्र अग्रशब्दः परिमाणवाची, यत्र द्वीपे समुद्रे वा नक्षत्रपरिमाणं ग्रहपरिमाणं तारापरिमाणं वा ज्ञातुमिच्छसि तस्य द्वीपस्य समुद्रस्य वा संबन्धिभिः शशिभिः, एकस्य शशिनः परिवारभूतं नक्षत्रपरिमाणं ग्रहपरिमाणं तारापरिमाणं च गुणितं सत् यावद्भवति, तावत्प्रमाणं तत्र द्वीपे समुद्रे वा नक्षत्रपरिमाणं ग्रहपरिमाणं तारापरिमाणमिति । यथा लवणसमुद्रे किल नक्षत्राणां परिमाणं ज्ञातुमिष्टं, लवणसमुद्रे च शशिनश्चत्वारः, तत एकस्य शशिनः परिवारभूतानि यान्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि तानि चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जातं द्वादशोत्तरं शतं, तावन्ति लवणसमुद्रे नक्षत्राणि । तथा अष्टाशीतिर्ग्रहा एकस्य शशिनः परिवारभूताः, ते चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ३५२ । एतावन्तो लवणसमुद्रे ग्रहाः । तथा एकस्य शशिनः परिवारभूतानि तारागणकोटीकोटीनां षट्षष्टिः सहस्राणि नवशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि, तानि चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जातानि कोटाकोटीनां द्वे लक्षे सप्तषष्टिसहस्राणि नव शतानि २६७९०००००००००००००००० । एतावत्यो लवणसमुद्रे तारागणकोटाकोटयः एवंरूपा च नक्षत्राऽऽदीनां संख्या प्रागेवोक्ता । एवं सर्वेष्वपि द्वीपसमुद्रेषु नक्षत्राऽऽदिसंख्यापरिमाणं परिभावनीयम् ।

तत्तद्द्वीपसमुद्रवर्तिग्रहाऽऽदिसंख्या यन्त्रकाद्वधार्या-

नाम	चन्द्र	सूर्य	ग्रह	नक्षत्र	तारा
जम्बूद्वीप	२	२	१७६	५६	१३३९५०००००००० ०००००००
लवणसमुद्र	४	४	३५२	११२	२६७९००००००००००००००००
धातकीखण्ड	१२	१२	१०५६	३३६	८०३७०००००००००००००००००
कालोदसमुद्र	४२	४२	३६९६	११७६	२८१२९५०००००००००००००० ०००
पुष्करवरद्वीप	१४४	१४४	१२६७२	४०३२	९६४४४०००००००००००००००००००
सर्वसंख्या	२०४	२०४	१७९५२	५७१२	९७५६९१८००००००००००००००००००

(२१) बहिता तु माणुसनग-स्स चंदसूराणऽवट्ठिता तेआ ।
चंदा अभिया जुत्ता, सूरा पुण हुंति पुस्सेहिं ॥ २६ ॥

" बहिता " इत्यादि । मानुषनगस्य मानुषोत्तरपर्वतस्य बहिश्चन्द्रसूर्याणां तेजांसि अवस्थितानि भवन्ति । किमुक्तं भवति ?- सूर्याः सदैवानत्युष्णं तेजसा, न तु कदाचिदपि मनुष्यलोके ग्रीष्मकाल इवात्युष्णतेजसः । चन्द्रमसोऽपि सर्वदैवानतिशीतलेश्याकाः, न तु कदाचनाप्यन्तर्मनुष्यक्षेत्रस्य शिशिरकाल इवातिशीततेजसः । तथा मनुष्यक्षेत्राद् बहिः सर्वेऽपि चन्द्राः सर्वदैवाभिजिता नक्षत्रेण युक्ताः, सूर्याः पुनर्भवन्ति पुष्येण युक्ता इति ॥२६॥ सू० प्र० १९ पाहु० । (चन्द्रसूर्याणां चन्द्रचन्द्राणां तथा सूर्यसूर्याणां च परस्परमन्तरपरिमाणप्रतिपादनम् 'अंतर' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठे गतम्)

(२२) संप्रति बहिश्चन्द्रसूर्याणां पङ्क्त्यवस्थामाह-

सूरंतरिया चंदा, चंदंतरिया य दिणयरा दित्ता ।
चित्तंतरलेसागा, सुहलेसा मंदलेसा य ॥ २७ ॥

(सूरंतरिय त्ति) नृलोकाद् बहिः पङ्क्त्या स्थिताः सूर्यान्तरिताश्चन्द्राश्चन्द्रान्तरिता दिनकराः दीप्ताः दीप्यन्ते स्म, दीप्ता भास्वरा इत्यर्थः । कथंभूतास्ते चन्द्रसूर्याः ?, इत्याह-चित्रान्तरलेश्याकाः चित्रमन्तरं लेश्या सप्रकाशरूपा येषां ते तथा, तत्र चित्रमन्तरं चन्द्राणां सूर्यान्तरितत्वात्, सूर्याणां चन्द्रान्तरितत्वात्, चित्रलेश्या चन्द्रमसां शीतरश्मित्वात्, सूर्याणामुष्णरश्मित्वात् । लेश्याविशेषप्रदर्शनार्थमाह—(सुहलेसा मंदलेसा य त्ति) सुखं लेश्याश्चन्द्रमसो, न शीतकाले मनुष्यलोक इवात्यन्तशीतरश्मय इत्यर्थः । मन्दलेश्याः सूर्याः, न तु मनुष्यलोके निदाघसमये इव एकान्ततउष्णरश्मय इत्यर्थः । आह च तत्त्वार्थटीकाकारो हरिभद्रसूरिः- नात्यन्तशीताश्चन्द्रमसो, नात्यन्तोष्णाः सूर्याः, किं तु साधारणं द्वयोरपीति ॥२६॥

(२३) इहेदमुक्तं यत्र द्वीपे समुद्रे वा नक्षत्राऽऽदिपरिमाणं
ज्ञातुमिष्यते तत्र एकशशिपरिवारभूतनक्षत्राऽऽदिपरिमाणं
तावद्भिः शशिभिर्गुणयितव्यमिति । तत एकश-
शिपरिवारभूतानां ग्रहाऽऽदीनां संख्यामाह-

अट्ठासीतिं च गहा, अट्ठावीसं च हुंति नक्खत्ता ।
एगससीपरिवारो, इत्तो ताराण वोच्छामि ॥ ३० ॥
छावट्ठि सहस्साइं, णव चेव सताइँ पंचसयराइं ।
एगससीपरिवारो, तारागणकोडिकोडीणं ॥ ३१ ॥

ता अंतोमणुस्सक्खेत्ते जे चंदिमसूरियगहगणणक्खत्तताराख्वा, ते णं देवा किं उड्ढोववण्णगा, कप्पोववण्णगा, विमाणोववण्णगा, चारोववण्णगा, चारट्ठितिया, गतिरातिया, गतिसमावण्णगा ? । ता ते णं देवा णो उड्ढोववण्णगा, णो कप्पोववण्णगा, विमाणोववण्णगा, चारोववण्णगा, णो चारट्ठितीया, गइरइया, गतिसमावण्णगा उड्ढीमुहकलंबुआपुप्फसंठाणसंठितेहिं जोअणसहस्सीएहिं तावक्खेत्तेहिं साहस्सिआहिं बाहिराहिं वेउव्वियाहिं परिसाहिं महताऽहतणट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं महया उक्किट्ठसीहणादबोलकलकलरवेणं अच्छं पव्वतरायं पदाहिणावत्तं मंडलचारं मेरुं अणु परियट्टंति ।

"अट्ठासीतिं च गहा" इत्यादि गाथाद्वयं निगदसिद्धम् । "ता अंतो मणुस्सखेत्ते" इत्यादि । अन्तर्मनुष्यक्षेत्रस्य ये चन्द्रसूर्यग्रहगणनक्षत्रताराख्पा देवास्ते किमूर्ध्वोपपन्नाः सौधर्माऽऽदिभ्यो द्वादशभ्यः कल्पेभ्य ऊर्ध्वमुपपन्नाः ?, कल्पेषु सौधर्माऽऽदिषु उपपन्नाः कल्पोपपन्नाः ?, विमानेषु सामान्येषूपपन्ना विमानोपपन्नाः ?, चारो मण्डलगत्या परिभ्रमणं, तमुपपन्ना आश्रिताश्चारोपपन्नाः ?, चारस्य यथोक्तरूपस्य स्थितिरभावो येषां ते चारस्थितिकाः ?, अपगतचारा इत्यर्थः । गतौ रतिरासक्तिः प्रीतिर्येषां ते गतिरतिकाः ? । एतेन गतौ रतिमात्रमुक्तम् । संप्रति साक्षाद्गतिं प्रश्नयति-गतिसमापन्ना गतियुक्ताः ? । एवं प्रश्ने कृते भगवानाह-"ता ते णं देवा" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । ते चन्द्राऽऽदयो देवा नोर्ध्वोपपन्नाः, नाऽपि कल्पोपपन्नाः, किं तु विमानोपपन्नाः, चारोपपन्नाश्चारसहिताः, नो चारस्थितिकाः, तथा स्वभावतोऽपि गतिरतिकाः, साक्षाद्गतियुक्ताश्च, ऊर्ध्वमुखीकृतकलम्बुकापुष्पसंस्थानसंस्थितैर्योजनसाहस्रिकैरनेकयोजनसहस्रप्रमाणैस्तापक्षेत्रैः साहस्रिकाभिरनेकसहस्रसंख्याभिर्बाह्याभिः पर्षद्भिः । अत्र बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया, वैकुर्विकाभिर्विकुर्वितनानारूपधारिणीभिः, महता रवेणेति योगः । आहतानि अक्षतानि, अनघानीत्यर्थः । यानि नाट्यानि गीतानि वादित्राणि च, याश्च तन्त्र्या वीणाः, ये च तलताला हस्ततालाः, यानि च त्रुटितानि शेषाणि तूर्याणि, ये च घना घनाकारा ध्वनिसाधर्म्यात् पटुप्रवादिना निपुणपुरुषप्रवादिता मृदङ्गाः, तेषां रवेण, तथा स्वभावतो गतिरतिकैर्वायुपर्वतनगैर्देवैर्वेगेन गच्छत्सु विमानेषु उत्कृष्टः उत्कर्षवशेन यो मुच्यते सिंहनादो, यश्च क्रियते बोलो नाम मुखे हस्तं दत्त्वा महता शब्देन फूत्करणं, यश्च कलकलो व्याकुलशब्दसमूहस्तद्रवेण, मेरुमिति योगः । किंविशिष्टम् ?, इत्याह-अच्छमत्यन्तस्वच्छमतिनिर्मलजाम्बूनदरत्नबहुलत्वात्, पर्वतराजं पर्वतेन्द्रं, प्रदक्षिणावर्त्तं मण्डलचारं यथा भवति तथा मेरुमनु लक्षीकृत्य 'परियट्टंति' पर्यटन्ति । सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० । जी० ।

(बाह्यज्योतिष्कदेवेन्द्रच्यवनम् 'इंदट्ठाण' शब्दे द्वितीयभागे ५३५ पृष्ठे गतम्)

ता बहिया णं मणुस्सखेत्तस्स जे चंदिमसूरियगह० जाव ताराख्वा ते णं देवा किं उड्ढोववण्णगा, कप्पोववण्णगा, विमाणोववण्णगा, चारोववण्णगा, चारट्ठितिया, गतिरतिया, गतिसमावण्णगा ? । ता ते णं देवा णो उड्ढोववण्णगा, णो कप्पोववण्णगा, विमाणोववण्णगा, णो चारोववण्णगा, चारट्ठितिया, णो गइरइया, णो गतिसमावण्णगा पक्किट्ठगसंठाणसंठितेहिं जोयणसतसाहस्सीएहिं तावक्खेत्तेहिं सतसाहस्सियाहिं बाहिराहिं वेउव्वियाहिं परिसाहिं महताऽहतनट्टगीयवाइय० जावरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति, सुहलेस्सा मंदलेस्सा [मंदातवलेसा] चित्तंतरलेसा अण्णोण्णसमोगाढाहिं लेस्साहिं कूडा इव ठाणट्ठिता ते पदेसे सव्वतो समंता ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पभासेंति, ता तेसि णं देवाणं जाहे इंदा चयंति

से कहमिदाणिं पकरेंति, ता० जाव चत्तारि पंच सामाणिया देवा तं ठाणं तहेव० जाव छम्मासे ।

" ता बहिया णं " इत्यादि प्रश्नसूत्रमिदं प्राग्वद् व्याख्येयम् । अथवानाह-"ता ते णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । ते मनुष्यक्षेत्राद् बहिर्वर्तिनश्च-न्द्राऽऽदयो देवा नोर्ध्वोपपन्नाः, नापि कल्पोपपन्नाः, किं तु विमानोपपन्नाः । तथा नो चारोपपन्नाश्चारयुक्ताः, किं तु चारस्थितिकाः । अत एव नो गतिरतयः, नापि गतिसमापन्नकाः, पक्वेष्टकासंस्थानसंस्थितिभिर्योजनशतसाहस्रिकैरातपक्षेत्रैर्यथा पक्वेष्टका आयामतो दीर्घा भवति, विस्तारतस्तु स्तोका, चतुरस्रा च, तथा तेषामपि मनुष्यक्षेत्राद् बहिर्व्यवस्थितानां चन्द्रसूर्याणामातपक्षेत्राण्यायामतोऽनेकयोजनशतसहस्रप्रमाणानि, विस्तरत एकयोजनशतसहस्राणि, चतुरस्राणि चेति । तैरित्थंभूतैरातपक्षेत्रैः शतसाहस्रिकाभिरनेकसहस्रसंख्याभिर्बाह्याभिः पर्षद्भिः, अत्रापि बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया । महतेत्यादि पूर्ववत् । दिव्यि भवान् दिव्यान्, भोगभोगान् भोगार्हान् शब्दाऽऽदीन् भोगान्, भुञ्जाना विहरन्ति । कथंभूता ?, इत्याह-शुभलेश्याः । एतच्च विशेषणं चन्द्रमसः प्रति, तेन नातिशीततेजसः, किं तु सुखोत्पादपरमलेश्याका इत्यर्थः । मन्दा लेश्या रश्मिसंघातो येषां ते तथा । कथंभूताश्चन्द्राऽऽदित्याः ?, इत्याह-चित्रान्तरलेश्याः-चित्रमन्तरं लेश्या च येषां ते तथा । भावार्थश्चास्य पदस्य प्रागेवोपदर्शितः । तत इत्थंभूताश्चन्द्राऽऽदित्याः परस्परमवगाढाभिर्लेश्याभिः । तथाहि—चन्द्रमसां सूर्याणां च प्रत्येकं लेश्या योजनशतसहस्रप्रमाणं, विस्तारश्चन्द्रसूर्याणां च सूचीपङ्क्त्या व्यवस्थितानां परस्परमन्तरं पञ्चाशद्योजनसहस्राणि । ततश्चन्द्रप्रभासंमिश्राः सूर्यप्रभाः, सूर्यप्रभासंमिश्राश्चन्द्रप्रभाः, इत्थं परस्परमवगाढाभिर्लेश्याभिः कूटानि च पर्वतोपरि व्यवस्थितशिखराणीव स्थानस्थिता सदैव एकत्र स्थाने स्थिताः, तान् प्रदेशान् स्वस्वप्रत्यासन्नान् अवभासयन्ति, उद्द्योतयन्ति, तापयन्ति, प्रकाशयन्ति । "ता तेसि णं जाहे इंदे चयंति" इत्यादि प्राग्वद् व्याख्येयम् । सू० प्र० १९ पाहु० । जी० । चं० प्र० ।

(२४) संप्रति चन्द्रसूर्ययोश्च्यवनोपपातौ वक्तव्याविति तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते चयणोववाते आहिए ति वदेज्जा ? । तत्थ खलु इमाओ पणवीसं पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थ एगे एवमाहंसु-ता अणुसमयमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु । एगे पुण एवमाहंसु-ता अणुमुहुत्तमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु जहेव हेट्ठा तहेव० जाव ता एगे पुण एवमाहंसु-ता अणु ओसप्पिणीउस्सप्पिणीमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, एगे एवमाहंसु । वयं पुण एवं वदामो-ता चंदिमसूरिया णं देवा महिड्डिया महाजुईया महाबला महाजसा महासोक्खा महाणुभावा वरवत्थधरा वरमल्लधरा वरगंधधरा वराभरणधारी अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिय त्ति वएज्जा ।

"ता कहं ते" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण भगवन् ! त्वया चन्द्राऽऽदीनां च्यवनोपपातौ व्याख्याताविति वदेत् ? । सूत्रे च द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात् । उक्तं च-"बहुवयणेण दुवयणं" इति । एवं प्रश्ने कृते भगवानेतद्विषये यावन्त्यः प्रतिपत्तयः सन्ति तावतीरुपदर्शयति-" तत्थ " इत्यादि । तत्र च्यवनोपपातविषये खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्चविंशतिः प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-"तत्थेगे " इत्यादि । तेषां पञ्चविंशतिपरतीर्थिकानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहुः-'ता' इति । तेषां प्रथमं स्वशिष्यं प्रत्यनेकवक्तव्यतोपक्रमे क्रमोपदर्शनार्थम्, अनुसमयमेव चन्द्रसूर्या अन्ये पूर्वोत्पन्नाश्च्यवन्ते च्यवमानाः, अन्ये अपूर्वा उत्पद्यन्ते उत्पद्यमाना आख्याता इति वदेत् । अत्रोपसंहारमाह-'ता' एके एवमाहुः । एके पुनरेवमाहुः-अनुमुहूर्तमेव चन्द्रसूर्या अन्ये पूर्वोत्पन्नाश्च्यवन्ते च्यवमानाः, अन्येऽपूर्वा उत्पद्यन्ते उत्पद्यमाना आख्याता इति वदेत् । उपसंहारमाह-" एगे एवमाहंसु जहा हिट्ठा तहेव० जाव " इत्यादि । एवमुक्तेन प्रकारेण यथा अधस्तात् षष्ठे प्राभृते ओजःसंस्थितौ चिन्त्यमानायां पञ्चविंशतिप्रतिपत्तय उक्तास्तथैवात्रापि वक्तव्याः । ता अणुओसप्पिणिउस्सप्पिणीमेव " इत्यादि चरमसूत्रम् । ताश्चैवं भणितव्याः-" एगे पुण एवमाहंसु-ता अणुराइंदियमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिया इति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ३। एगे पुण एवमाहंसु-ता अणुपक्खमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिया इति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ४। एगे पुण एवमाहंसु-ता अणुमासमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ५। एगे पुण एवमाहंसु-ता अणु उडुमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ६। एवं ता अणुअयणमेव ७। ता अणुसंवच्छरमेव ८। ता अणुजुगमेव ९। ता अणुवाससयमेव १०। ता अणुवाससहस्समेव ११। ता अणुवाससयसहस्समेव १२। ता अणुपुव्वमेव १३। ता अणुपुव्वसयमेव १४। ता अणुपुव्वसहस्समेव १५। ता अणुपुव्वसयसहस्समेव १६। ता अणुपलिओवममेव १७। ता अणुपलिओवमसयमेव १८। ता अणुपलिओवमसहस्समेव १९। ता अणुपलिओवमसयसहस्समेव २०। ता अणुसागरोवममेव २१। ता अणुसागरोवमसयमेव २२। ता अणुसागरोवमसहस्समेव २३। ता अणुसागरोवमसयसहस्समेव २४।" पञ्चविंशतितमप्रतिपत्तिसूत्रं तु साक्षादेव सूत्रकृता दर्शितम् । तदेवमुक्ताः परतीर्थिकप्रतिपत्तयः । एताश्च सर्वा अपि मिथ्यारूपाः । तत एताभ्यः पृथग्भूतं स्वमतं भगवानुपदर्शयति-" वयं पुण " इत्यादि । वयं पुनरुत्पन्नकेवलज्ञाना एवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण वदामः । तमेव प्रकारमाह-"ता चंदिम" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । चन्द्रसूर्याः, णमिति वाक्यालङ्कारे । देवा महर्द्धिकाः, महती ऋद्धिर्विमानपरिवाराऽऽदिका येषां ते तथा । तथा महती द्युतिः शरीराऽऽभरणाऽऽश्रिता येषां ते महाद्युतयः, तथा महद् बलं शारीरप्रमाणं येषां ते महाबलाः, तथा महद् विस्तीर्णं सर्वेष्वपि जगति विख्यातत्वाद् यशः श्लाघा येषां ते महायशसः । तथा महान् भवनपतिव्यन्तरेभ्योऽतिप्रभूतं, तदपेक्षया तेषां प्रशान्तत्वात्, सौख्यं येषां ते महासौख्याः, तथा महान् अनुभावो वैक्रियकरणाऽऽदिविषयोऽचिन्त्यः शक्तिविशेषो येषां ते महानुभावाः । वरवस्त्रमाल्यधरा वरगन्धधरा वराऽऽभरणधरा अव्यवच्छित्तिनयार्थतया रूपावलिकनयमतेन कालं वक्ष्यमाणप्रमाणं स्वकृता-

पुष्यैवच्छेदे, अन्ये पूर्वोत्पन्नाश्च्यवन्ते अच्यवमानाः, अन्ये तथा जगत्स्वाभाव्यात् षण्मासादारतो नियमत उत्पद्यन्ते उत्पद्यमाना आख्याता इति वदेत् स्वशिष्येभ्यः । सू० प्र० १७ पाहु० ।

[२५] ता पुक्खरवरोदे णं समुद्दे केवतिया चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा पुच्छा तहेव ?। ता पुक्खरवरोदे णं समुद्दे णं संखेज्जा चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा० जाव संखेज्जाओ तारागणकोडिकोडीओ सोभिंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा। एतेणं अभिलावेणं वरुणवरे दीवे वरुणोदे समुद्दे ४, खीरवरे दीवे खीरोदे समुद्दे ५, घतवरे दीवे घतोदे समुद्दे ६, खोतवरे दीवे खोतोदे समुद्दे ७, णंदिस्सरवरे दीवे णंदिस्सरवरे समुद्दे ८, अरुणे दीवे अरुणोदे समुद्दे ९, अरुणवरे दीवे अरुणवरे समुद्दे १०, अरुणवरोवभासे दीवे अरुणवरोवभासे समुद्दे ११, कुंडले दीवे कुंडलोदे समुद्दे १२, कुंडलवरे दीवे कुंडलवरोदे समुद्दे १३, कुंडलवरोवभासे दीवे कुंडलवरोवभासे समुद्दे १४, सव्वेसिं विक्खंभपरिक्खेवजोतिसाइं पुक्खरोदसागरसरिसाइं ।

"सव्वेसिं" इत्यादि । सर्वेषामुक्तस्वरूपाणां द्वीपसमुद्राणामन्यत्र कुण्डलवरावभाससमुद्रपर्यन्तानां विष्कम्भपरिक्षेपज्योतिषाणि पुष्करोदसागरसदृशानि च वक्तव्यानि, सङ्ख्येययोजनप्रमाणो विष्कम्भः, सङ्ख्येययोजनप्रमाणः परिक्षेपः, सङ्ख्येयाश्चन्द्राऽऽदयो वक्तव्या इत्यर्थः। सू० प्र० १६ पाहु० । चं० प्र० ।

ता रुयगे णं दीवे केवतिया चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा पुच्छा ?। ता रुयगे णं असंखेज्जाइं चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा० जाव असंखेज्जाओ तारागणकोडिकोडीओ सोभं सोभिंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा, एवं रुयगे समुद्दे, रुयगवरे दीवे, रुयगवरोदे समुद्दे, रुयगवरोवभासे दीवे, रुयगवरोवभासे समुद्दे, एवं तिपडोवयारा णेतव्वा० जाव सूरे दीवे, सूरोदे समुद्दे, सूरवरे दीवे, सूरवरे समुद्दे, सूरवरोवभासे दीवे, सूरवरोवभासे समुद्दे, सव्वेसिं विक्खंभपरिक्खेवजोतिसाइं रुयगवरदीवसरिसाइं ॥

"सव्वेसिं" इत्यादि । सर्वेषां रुचकसमुद्राऽऽदीनां सूर्यवरावभाससमुद्रपर्यन्तानां विष्कम्भपरिक्षेपज्योतिषाणि रुचकद्वीपसदृशानि वक्तव्यानि, असंख्येययोजनप्रमाणो विष्कम्भोऽसंख्येययोजनप्रमाणः परिक्षेपोऽसंख्येयाः प्रत्येकं चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारका वक्तव्या इति भावः । सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० ।

ता देवे णं दीवे केवतिया चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा पुच्छा तहेव ?। ता देवे णं दीवे असंखेज्जा चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा० जाव असंखेज्जाओ तारागणकोडिकोडीओ सोभं सोभेंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा । एवं देवोदे समुद्दे, णागे दीवे, णागोदे समुद्दे, जक्खे दीवे, जक्खोदे समुद्दे, भूते दीवे, भूतोदे समुद्दे, सयंभूरमणे दीवे, सयंभूरमणे समुद्दे सव्वे देवदीवसरिसा । सू० प्र० १९ पा० । चं० प्र० । जी० ।

(२६) चन्द्रसूर्ययोः परिवारो यथा-

एगमेगस्स णं भंते ! चंदिमसूरियस्स केवतिओ णक्खत्तपरिवारो पण्णत्तो ?, केवतिओ महग्गहपरिवारो पण्णत्तो ?, केवतिओ तारागणकोडाकोडीओ परिवारो पण्णत्तो ? । गोयमा ! एगमेगस्स णं चंदिमसूरियस्स-

"अट्ठासीइं च गहा, अट्ठावीसं च होइ णक्खत्ता ।
एगससीपरिवारो, एत्तो ताराणं वोच्छं ॥१॥
छावट्ठिसहस्साइं, णव चेव सयाइं पंचसयराइं ।
एगससीपरिवारो, तारागणकोडिकोडीणं" ॥२॥

"एगमेगस्स णं भंते ! चंदिमसूरियस्स" इत्यादि । एकैकस्य भदन्त ! चन्द्रसूर्यस्य, अनेन च पदेन यथा नक्षत्राऽऽदीनां चन्द्रः स्वामी, तथा सूर्योऽपि, तस्याऽपीन्द्रत्वादिति ख्यापयन्ति । कियन्ति नक्षत्राणि परिवारः प्रज्ञप्तः ?, कियन्तो महाग्रहा अङ्गारकाऽऽदयः परिवारः प्रज्ञप्तः ?, कियत्यस्तारागणकोटीकोट्यः परिवारः प्रज्ञप्तः ?। इह भूयान् पुस्तकेषु वाचनाभेदो, गलितानि च सूत्राणि बहुषु पुस्तकेषु, ततो यथाऽवस्थितवाचनाभेदप्रतिपत्त्यर्थं गलितसूत्रोद्धरणार्थं चैवं सुगमान्यपि विव्रियन्ते । भगवानाह-गौतम ! एकैकस्य चन्द्रसूर्यस्य अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि परिवारः प्रज्ञप्तः, अष्टाशीतिर्महाग्रहाः परिवारः प्रज्ञप्तः । "छावट्ठिसहस्साइं" इति गाथा । षट्षष्टिः सहस्राणि नव चैव शतानि पञ्चसप्ततानि एकशशिपरिवारः तारागणकोटीकोटीनाम, कोटीकोटीति कोट्य एवं संज्ञा, ततस्तारागणकोटीनामिति द्रष्टव्यम । जी० ३ प्रति० १ उ० । एते च यद्यपि चन्द्रस्यैव परिवारोऽन्यत्र श्रूयन्ते, तथापि सूर्यस्यापीन्द्रत्वादेत एव परिवारतयाऽवसेया इति । स० ८८ सम० । सं० । सू० प्र० ।

(२७) कीदृशश्चन्द्राऽऽदीनामनुभाव इति, ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते अणुभावे आहिते ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमाओ दो पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थ एगे एवमाहंसु-ता चंदिमसूरिया णं णो जीवा, अजीवा, णो घणा, झुसिरा, बादरबोंदिधरा, कलेवरा नत्थि णं तेसिं उट्ठाणे ति वा कम्मे ति वा बले ति वा विरिए ति वा पुरिसक्कारपरक्कमे ति वा, ते णो विज्जुं लवंति, णो असणिं लवंति, णो थणितं लवंति, अहे य णं बादरे वाउकाए समुच्छति, अहे य णं बादरे वाउकाए समुच्छित्ता विज्जुं पि लवंति, असणिं पि लवंति, थणितं पि लवंति, एगे एवमाहंसु । एगे पुण एवमाहंसु-ता चंदिमसूरिया णं जीवा, णो अजीवा, घणा, णो झुसिरा बादरबोंदिधरा, नो कलेवरा अत्थि णं तेसिं उट्ठाणे ति वा कम्मे ति वा बले ति वा विरिए ति वा पुरिसक्कारपरक्कमे ति वा, ते वि विज्जुं पि लवंति, असणिं पि लवंति, थणियं पि लवंति, एगे एवमाहंसु । वयं पुण एवं वदामो-ता चंदिमसूरिया णं देवा महिड्ढिया० जाव महाणुभावा वरवत्थधरा वरमल्लधरा वराभरणधारी अव्वोच्छित्तिणयट्ठताए अन्ने चयंति, अन्ने उववज्जंति ।

"ता कहं ते" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण चन्द्राऽऽदीनामनुभावः स्वरूपविशेष आख्यात इति वदेत् ?। एवमुक्ते भगवानाह-एतद्विषये द्वे प्रतिपत्ती। ते उपदर्शयति-" तत्थ खलु " इत्यादि । तत्र चन्द्राऽऽदीनामनुभावविषये खल्विमे द्वे प्रतिपत्ती परतीर्थिकाभ्युपगमरूपे प्रज्ञप्ते । तद्यथा-" तत्थेगे " इत्यादि । तत्र तेषां द्वयानां परतीर्थिकानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहुः-(ता इति) तेषां परतीर्थिकानां प्रथमं स्वाभिप्रायं प्रत्येकवक्तव्यतोपक्रमे क्रमोपदर्शनार्थं चन्द्रसूर्याः, णमिति वाक्यालङ्कारे, नो जीवा जीवरूपाः, किं त्वजीवाः। तथा नो घनानि निबिडप्रदेशोपचयाः, किं तु शुषिराः। तथा बादरबोन्दिधराः प्रधानसुजीवसुव्यक्तावयवशरीरोपेताः, किं तु कलेवराः कलेवरमात्रास्तथा नास्ति, णमिति वाक्यालङ्कारे,तेषां चन्द्राऽऽदीनाम्, उत्थानमूर्द्धीभवनम्, इतिरुपदर्शने, वाशब्दो विकल्पे, समुच्चये वा। कर्म उत्क्षेपणावक्षेपणादि, बलं शारीरप्रमाणं, वीर्यमान्तरोत्साहः,(पुरिसक्कारपरक्कमे इति)पुरुषकारः पौरुषाभिमानः,पराक्रमः स एवासाधिताभिमतप्रयोजनः । पुरुषकारश्च पराक्रमश्च पुरुषकारपराक्रममिति । वाशब्दः सर्वत्रापि पूर्ववत्। तथा ते चन्द्राऽऽदित्याः (नो विज्जुयं लवंति ति) न विद्युतं प्रवर्त्तयन्ति, नाप्यशनिं विद्युद्विशेषरूपं, नापि गर्जितं मेघध्वनिं, किं तु "अदे णं " इत्यादि। चन्द्राऽऽदित्याऽऽदीनामधो,णमिति पूर्ववत्। बादरो वायुकायिकः संमूर्च्छति,अथश्च बादरो वायुकायिकः संमूर्च्छ्य, (विज्जुं पि लवइ त्ति) विद्युतमपि प्रवर्तयन्ति,अशनिमपि प्रवर्तयन्ति, गर्जितमपि प्रवर्त्तयन्ति, विद्युदादिरूपेण परिणमन्ति इति भावः । अत्रोपसंहारमाह-(एगे एवमाहंसु) १। एके पुनरेवमाहुः-'ता' इति प्राग्वत्। चन्द्रसूर्याः,णमिति वाक्यालङ्कारे,जीवा जीवरूपाः, न पुनरजीवाः, यथाऽऽहुः परतीर्थिकाः, तथा घनाः, न शुषिराः, तथा बादरबोन्दिधराः,न कलेवरमात्राः,तथा अस्ति तेषाम् "उट्ठाणे इति वा" इत्यादि पूर्ववत् व्याख्येयम् ।(ते वि विज्जुं पि लवंति) विद्युतमपि प्रवर्त्तयन्ति, अशनिमपि प्रवर्त्तयन्ति, गर्जितमपि प्रवर्तयन्ति। किमुक्तं भवति?,विद्युदादिकं सर्वं चन्द्राऽऽदित्याः प्रवर्त्तयन्ति इति । अत्रोपसंहारमाह-(एगे एवमाहंसु) २। एवं परतीर्थिकप्रतिपत्तिद्वयमुपदर्श्य संप्रति भगवान् स्वमतं कथयति-" वयं पुण " इत्यादि । वयं पुनरेवं वदामः। कथं वदथ?, इत्याह-'ता' इति पूर्ववत्, चन्द्रसूर्याः,णमिति वाक्यालङ्कारे, देवा देवस्वरूपाः,न सामान्यतो जीवमात्राः। कथंभूतास्ते देवाः?, इत्याह-महर्द्धिकाः महती ऋद्धिर्विमानपरिवाराऽऽदिका येषां ते तथा (०जाव महाणुभावा इति) यावत्करणात्-"महज्जुइया महाबला महाजसा महेसक्खा " इति द्रष्टव्यम । तत्र महती द्युतिः शरीराऽऽभरणविषया येषां ते महाद्युतयः। तथा महद् बलं शारीरप्रमाणं येषां ते महाबलाः, तथा महद् यशः ख्यातिर्येषां ते महायशसः, तथा महेश इति महान् ईश ईश्वर इत्याख्या येषां ते महेशाख्याः। क्वचित्,"महासोक्खा" इति पाठः। तत्र महत्सौख्यं येषां ते महासौख्याः। तथा महाननुभावो विशिष्टवैक्रियकरणाऽऽदिविषया अचिन्त्या शक्तिर्येषां ते महानुभावाः, वरवस्त्रधराः वरमाल्यधरा वराभरणधारिणः, अव्यवच्छित्तिनयार्थतया द्रव्यास्तिकनयमतेन, अन्ये पूर्वोत्पन्ना आयुःक्षये च्यवन्ते, अन्ये तूत्पद्यन्ते । सू० प्र० २० पाहु० । (ज्योतिष्काणां कामभोगौ ' कामभोग ' शब्दे तृतीयभागे ४४२ पृष्ठे द्रष्टव्यौ)

(२५) संप्रति चन्द्रसूर्ययोः संस्थानमभिधित्सुः कथं श्वेततायाः संस्थितिराख्यातेति ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते सेअआए संठिती आहिता ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमा दुविहा संठिती पण्णत्ता । तं जहा-चंदिमसूरियसंठिती य, तावक्खेत्तसंठिती य। ता कहं ते चंदिमसूरियासंठिती आहिता ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमातो सोलस पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ। तत्थेगे य एवमाहंसु-ता समचउरंससंठिता चंदिमसूरियसंठिती पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु १। एगे पुण एवमाहंसु-ता विसमचउरंससंठिता चंदिमसूरियसंठिती पण्णत्ता २। एवं समचउक्कोणसंठिता ३ विसमचउक्कोणसंठिया ४ समचक्कवालसंठिता ५ विसमचक्कवालसंठिता ६ चक्कद्धचक्कवालसंठिता,एगे एवमाहंसु ७। एगे पुण एवमाहंसु-ता छत्तागारसंठिता चंदिमसूरियसंठिती पण्णत्ता ८,गेहसंठिता ९, गेहावणसंठिता १०, पासादसंठिता ११ गोपुरसंठिया १२ पेच्छाघरसंठिता १३ वलभीसंठिता १४ हम्मियतलसंठिता १५ वालग्गपोतियासंठिता चंदिमसूरियसंठिती पण्णत्ता १६। तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता समचउरंससंठिता चंदिमसूरियसंठिती पण्णत्ता, एतेणं णएणं णेतव्वा,णो चेव णं इतरेहिं ।

"ता कहं ते सेअआए संठिई आहिया ति वदेज्जा ?"। 'ता' इति पूर्ववत्। कथं भगवन् ! त्वया श्वेततायाः संस्थितिराख्याता इति भगवान् वदेत् ?। एवं भगवता गौतमेनोक्ते वर्द्धमानस्वामी भगवानाह-" तत्थ " इत्यादि । तत्र श्वेततायाविषये खल्वियं वक्ष्यमाणस्वरूपा द्विविधा संस्थितिः प्रज्ञप्ता। तामेव तद्यथेत्यादिनोपदर्शयति । तद्यथेत्यत्र तच्छब्दोऽव्ययम् । ततोऽयमर्थः-सा श्वेतता यथा येन प्रकारेण द्विविधा भवति तथोपदर्श्यते-चन्द्रसूर्यसंस्थितिस्तापक्षेत्रसंस्थितिश्च। इह श्वेतता चन्द्रसूर्यविमानानामपि विद्यते, तत्कृततापक्षेत्रस्य च, ततः श्वेततायोगादुभयमपि श्वेतताशब्देनोच्यते । तेनोक्तप्रकारेण श्वेतता द्विविधा भवति । तत्र चन्द्रसूर्यसंस्थितिविषये प्रश्नयति-" ता कहं ते " इत्यादि । 'ता' इति प्राग्वत्। कथं ते त्वया भगवन्! चन्द्रसूर्यसंस्थितिराख्याता इति वदेत् ?। इह चन्द्रसूर्यविमानानां संस्थानरूपा संस्थितिः प्रागेवाभिहिता, तत इह चन्द्रसूर्याणां संस्थितिश्चतुर्णामपि अवस्थानरूपा द्रष्टव्या । एवमुक्ते भगवानेतद्विषये यावन्त्यः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयस्तावतीरुपदर्शयति—" तत्थ " इत्यादि । तत्र चन्द्रसूर्यसंस्थितौ विचार्यमाणायां खल्विमाः षोडश प्रतिपत्तयः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-एके वादिन एवमाहुः-समचतुरस्रसंस्थिता चन्द्रसूर्यसंस्थितिः प्रज्ञप्ता। समचतुरस्रं संस्थितं संस्थानं यस्याश्चन्द्रसूर्यसंस्थितेः सा तथा। अत्रैवोपसंहारवाक्यमाह-"एगे एवमाहंसु १"। एवं सर्वत्रापि प्रत्येकमुपसंहारवाक्यं द्रष्टव्यम । एके पुनरेवमाहुः-विषमचतुरस्रसंस्थिता चन्द्रसूर्यसंस्थितिराख्याता। अत्रापि विषमचतुरस्रं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथेति विग्रहः २। (एवं समचउक्कोणसंठिय त्ति) एवमुक्तेन प्रकारेणापरेषामभिप्रायेण समचतुष्कोणसंस्थिता चन्द्रसूर्यसंस्थितिर्वक्तव्या। सा चैवम-" एगे पुण एवमाहंसु-समचउक्कोणसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । "

यत्र (समचउरंसकोणसंठिय त्ति) समाश्चत्वारः कोणा यत्र तद् समचतुष्कोणं,समचतुष्कोणं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथेति विग्रहः ३ । (विसमचउक्कोणसंठिय त्ति) विषमाश्चत्वारः कोणा यत्र तद्विषमचतुष्कोणं, तत्संस्थितं संस्थानं यस्याः चन्द्रसूर्यसंस्थितेः सा तथा, अन्येषामभिप्रायेण वक्तव्या । सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-विसमचउक्कोणसंठिया चंदमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु" ४। (समचक्कवालसंठिय त्ति) समचक्रवालं समचक्रवालरूपं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा । अपरेषामभिप्रायेण चन्द्रसूर्यसंस्थितिर्वक्तव्या । सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-समचक्कवालसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु" ५। (विसमचक्कवालसंठिय त्ति) विषमचक्रवालं विषमचक्रवालरूपं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा । अन्येषां मतेन चन्द्रसूर्यसंस्थितिर्वक्तव्या । सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-विसमचक्कवालसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता,एगे एवमाहंसु"६। (चक्कद्धचक्कवालसंठिय त्ति) चक्रस्य रथाङ्गस्य यदर्द्धचक्रवालं चक्रवालस्यार्द्धं तद्रूपं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अन्येषामभिप्रायेण वक्तव्या। सा चैवम्-"एगे पुण एवमाहंसु-चक्कद्धचक्कवालसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु " ७। "एगे पुण" इत्यादि । एके पुनराहुः-छत्राऽऽकारसंस्थिता चन्द्रसूर्यसंस्थितिः प्रज्ञप्ता । अत्रैवोपसंहारः-"एगे एवमाहंसु" ८। (गेहसंठिय त्ति) गेहस्येव वास्तुविद्योपनिबद्धस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा। अपरेषां मतेन चन्द्रसूर्यसंस्थितिर्वक्तव्या। सा चैवम्-"एगे पुण एवमाहंसु-गेहसंठिया चंदमसूरियसंठिई पन्नत्ता,एगे एवमाहंसु" ९। (गेहावणसंठिय त्ति) गृहयुक्त आपणो गृहाऽऽपणो वास्तुविद्याप्रसिद्धः,तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा। अन्येषामभिप्रायेण वक्तव्या। सा चैवम्-"एगे पुण एवमाहंसु-गेहावणसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु" १०। (पासायसंठिय त्ति) प्रासादस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अन्येषामभिप्रायेण वक्तव्या । सा चैवम्-"एगे पुण एवमाहंसु-पासायसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु " ११। (गोपुरसंठिय त्ति) गोपुरस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अन्येषां मतेनाभिधातव्या। सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-गोपुरसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु " १२ । (पेच्छाघरसंठिय त्ति) प्रेक्षागृहस्येव वास्तुविद्याप्रसिद्धस्य संस्थितं संस्थानं यस्या. सा तथा, अपरेषां मतेनाभिधातव्या । तद्यथा-"एगे पुण एवमाहंसु-पिच्छाघरसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु " १३ । (वलभीसंठिय त्ति) वलभ्या इव प्रहाणामाच्छादनस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा । अन्येषां मतेनाभिधातव्या । सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-वलभीसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु " १४ । (हम्मियतलसंठिय त्ति) हर्म्यं धनवतां गृहं, तस्य तलमुपरितनो भागस्तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अपरेषामभिप्रायेण वक्तव्या । सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-हम्मियतलसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु " १५ । (वालग्गपोत्तियासंठिय त्ति) वालाग्रपोतिकाशब्दो देशीशब्दत्वादाकाशे तडागमध्ये व्यवस्थितक्रीडास्थानलघुप्रासादमाह, तस्या इव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अपरेषां मतेन,अभिधानीया । तद्यथा-"एगे पुण एवमाहंसु-वालग्गपोत्तियासंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता,एगे एवमाहंसु" १६ । तदेवमुक्ताः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयः, एतासां च मध्ये या प्रतिपत्तिः समीचीना तामुपदर्शयति-" तत्थ " इत्यादि । तत्र तेषां षोडशानां परतीर्थिकानां मध्ये ये ते वादिन एवमाहुः-समचतुरस्रसंस्थिता चन्द्रसूर्यसंस्थितिः प्रज्ञप्ता इति, एतेन नयेन नेतव्यम्-एतेनाभिप्रायेणास्मिन्मतेऽपि चन्द्रसूर्यसंस्थितिरवधार्येति भावः। तथाहि-इह सर्वेऽपि कालविशेषाः सुषमाऽऽद्यो युगमूला युगस्य चाऽऽदौ श्रावणे मासि बहुलपक्षप्रतिपदि प्रातरुद्यसमये एकः सूर्यो दक्षिणपूर्वस्यां दिशि वर्त्तते, तद्द्वितीयस्त्वपरोत्तरस्याम, चन्द्रमा अपि तत्समये एको दक्षिणापरस्यां दिशि वर्त्तते,द्वितीय उत्तरपूर्वस्याम्,अत एते युगस्याऽऽदौ चन्द्रसूर्याः समचतुरस्रसंस्थिता वर्त्तन्ते, यत्तत्र मण्डलकृतं वैषम्यं, यथा-सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्तेते,चन्द्रमसौ सर्वबाह्य इति तदल्पमिति कृत्वा न विवक्ष्यते । तदेवं यतः सकलकालविशेषाणां सुषमसुषमाऽऽदिरूपाणामादिभूतस्य युगस्याऽऽदौ समचतुरस्रसंस्थिताः सूर्याचन्द्रमसौ भवन्ति, ततस्तेषां संस्थितिः समचतुरस्रसंस्थानोपवर्णिता, अन्यथा वा संप्रदायं समचतुरस्रसंस्थितिः परिभावनीयेति । (नो चेव णं इयरेहिं ति) नो चैव-नैव, इतरैः शेषैर्नयैश्चन्द्रसूर्यसंस्थितिर्ज्ञातव्या, तेषां मिथ्यारूपत्वात् । तदेवमुक्ता चन्द्रसूर्यसंस्थितिः । सू० प्र० ४ पाहु० । चं० प्र० । जं० । जी० । (चन्द्रविमानाऽऽदीनां संस्थानाऽऽदि ' ओइसियविमाण ' शब्देऽग्रे वक्ष्यते)

(२९) संप्रति चन्द्राऽऽदित्यचारा वक्तव्या इति, ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता कहं ते चारा आहिता ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमा दुविहा चारा पण्णत्ता । तं जहा-आदिच्चचारा य, चंदचारा य ॥

" ता कहं ते " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत्, कथं केन प्रकारेण किंप्रमाणया संख्यया ?, इत्यर्थः । चारा आख्याता इति वदेत् ?। भगवानाह-"तत्थ" इत्यादि । तत्र चारविचारविषये स्थित्वमे वक्ष्यमाणस्वरूपा द्विविधा द्विप्रकाराश्चाराः प्रज्ञप्ताः । द्वैविध्यमेवाह-तद्यथा-आदित्यचाराश्चन्द्रचाराश्च । चशब्दौ परस्परसमुच्चये ।

तत्र प्रथमतश्चन्द्रचारपरिज्ञानार्थं तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते चंदचारा आहिते ति वदेज्जा ?। ता पंचसंवच्छरिए णं जुगे अभिइणक्खत्ते सत्तसट्ठिचारे चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति ॥

"ता कहं ते" इत्यादि । 'ता' इति प्राग्वत्, कथं केन प्रकारेण, कया संख्यया ?, इत्यर्थः । त्वया भगवन् ! चन्द्रचारा आख्याता इति वदेत ?। भगवानाह-"ता पंच" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत्, पञ्चसांवत्सरिके चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धितचन्द्राभिवर्द्धितरूपपञ्चसंवत्सरप्रमाणे,णमिति वाक्यालङ्कारे,युगेऽभिजिन्नक्षत्रं सप्तषष्टिचारान् यावत् चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति योगमुपपद्यते । किमुक्तं भवति?-चन्द्रोऽभिजिन्नक्षत्रेण सह संयुक्तो युगमध्ये सप्तषष्टिसंख्यान् चारान् चरतीति । कथमेतदवसीयते इति चेत् ?। उच्यते-इह योगमधिकृत्य सकलनक्षत्रमण्डलपरिसमाप्तिरेकेन नक्षत्रमासेन भवति,नक्षत्रमासाश्च युगमध्ये सप्तषष्टिः, एतच्चाग्रे भाव-

चिन्त्यते । ततः प्रतिनक्षत्रपर्यायमेकैकं वारमभिजिता नक्षत्रेण सह चन्द्रस्य योगसंभवादुपपद्यते चन्द्रोऽभिजिता नक्षत्रेण सह संयुक्तो युगमध्ये सप्तषष्टिसंख्यान् वारान् चरतीति । एवं प्रतिनक्षत्रं भावनीयम् ।

संप्रत्यादित्यचारविषयं प्रश्नसूत्रमाह–

ता कहं ते आइच्चचारा आहिते ति वदेज्जा ?। ता पंचसंवच्छरिए णं जुगे अभिईणक्खत्ते पंच चारे सूरेण सद्धिं जोयं जोएति, एवं० जाव उत्तरासाढाणक्खत्ते पंच चारे सूरेण सद्धिं जोयं जोएति ॥

" ता कहं ते " इत्यादि । 'ता' इति प्राग्वत् । कथं किंप्रमाणया संख्यया भगवन् ! त्वया आदित्यचारा आख्याता इति वदेत् ?। भगवानाह–" ता पंचसंवच्छरिए णं " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । पञ्चसांवत्सरिके चन्द्राऽऽदिपञ्चसंवत्सरप्रमाणे, युगे युगमध्ये, अभिजिन्नक्षत्रं पञ्च वारान् यावत् सूर्येण सह योगं युनक्ति । अत्राप्ययं भावार्थः–अभिजिता नक्षत्रेण सह संयुक्तः सूर्यो युगमध्ये पञ्चसंख्यान् वारान् चरति । कथमेतदवगम्यते इति चेत् ? । उच्यते–इह योगमधिकृत्य सूर्यस्य सकलनक्षत्रमण्डलपरिसमाप्तिरेकेन सूर्यसंवत्सरेण । सूर्यसंवत्सराश्च युगे भवन्ति पञ्च । ततः प्रतिनक्षत्रपर्यायमेकैकवारमभिजिता नक्षत्रेण सह योगस्य संभवाद् घटते अभिजिता नक्षत्रेण सह संयुक्तः सूर्यो युगे पञ्च वारान् चरतीति । एवं शेषनक्षत्रेष्वपि भावना भावनीया । सू० प्र० १८ पाहु० ।

(३०) संप्रति चन्द्रसूर्याऽऽदीनां भूमेरूर्द्धमुच्चत्वप्रमाणं वक्तव्यमिति ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह–

ता कहं ते उच्चत्ते आहिते ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमाओ पणवीसं पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थेगे एवमाहंसु–ता एगं जोयणसहस्सं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं दिवड्ढं चंदे, एगे एवमाहंसु १। एगे पुण एवमाहंसु–ता दो जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २। एगे पुण एवमाहंसु–ता तिन्नि जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धुट्ठाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ३ । एगे पुण एवमाहंसु–ता चत्तारि जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धपंचमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ४ । एगे पुण एवमाहंसु–ता पंचजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धछट्ठाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ५। एगे पुण एवमाहंसु–ता छजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धसत्तमाए चंदे, एगे एवमाहंसु ६। एगे पुण एवमाहंसु–ता सत्तजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धट्ठमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ७। एगे पुण एवमाहंसु–ता अट्ठजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धनवमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ८। एगे पुण एवमाहंसु–ता नवजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धदसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ९। एगे पुण एवमाहंसु–ता दसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धएकारस चंदे, एगे एवमाहंसु १०। एगे पुण एवमाहंसु–एकारसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धबारस चंदे, एगे एवमाहंसु ११। एतेणं अभिलावेणं णेतव्वं बारस सूरे अद्धतेरस चंदे १२। तेरस सूरे अद्धचोद्दस चंदे १३। चोद्दस सूरे अद्धपण्णरस चंदे १४। पण्णरस सूरे अद्धसोलस चंदे १५। सोलस सूरे अद्धसत्तरस चंदे १६। सत्तरस सूरे अद्धअट्ठारस चंदे १७। अट्ठारस सूरे अद्धएगुणवीसं चंदे १८। एगुणवीसं सूरे अद्धवीसं चंदे १९। वीसं सूरे अद्धएगवीसं चंदे २०। एगवीसं सूरे अद्धबावीसं चंदे २१। बावीसं सूरे अद्धतेवीसं चंदे २२। तेवीसं सूरे अद्धचउवीसं चंदे २३। चउवीसं सूरे अद्धपणवीसं चंदे, एगे एवमाहंसु २४। एगे पुण एवमाहंसु–पणवीसं जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धछव्वीसं चंदे, एगे एवमाहंसु २५ । वयं पुण एवं वदामो–ता इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ सत्तणउए जोयणसए उड्ढं उप्पतित्ता हेट्ठिल्ले ताराविमाणे चारं चरति, अट्ठजोयणसए उड्ढं उप्पतित्ता सूरविमाणे चारं चरति, अट्ठअसीईए जोयणसए उड्ढं उप्पतित्ता चंदविमाणे चारं चरति, णवजोयणसताइं उड्ढं उप्पतित्ता उवरिं ताराविमाणे चारं चरति, हेट्ठिल्लाओ ताराविमाणाओ दस जोयणाइं उड्ढं उप्पतित्ता सूरविमाणे चारं चरति, नवउतिजोयणाइं उड्ढं उप्पतित्ता चंदविमाणे चारं चरति, दसुत्तरं जोयणसतं उड्ढं उप्पतित्ता उवरिल्ले तारारूवे चारं चरति, ता सूरविमाणातो असीतिजोयणाइं उड्ढं उप्पतित्ता चंदविमाणे चारं चरति, जोयणसतं उड्ढं उप्पतित्ता उवरिल्ले तारारूवे चारं चरति, ता चंदविमाणाओ णं वीसं जोयणाइं उड्ढं उप्पतित्ता उवरिल्ले तारारूवे चारं चरति । एवामेव सपुव्वावरेणं दसुत्तरजोयणसतं बाहल्ले तिरियमसंखेज्जे जोतिसविसए जोतिसं चारं चरति आहिते ति वदेज्जा ।

" ता कहं ते " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण भगवन् ! त्वया भूमेरूर्ध्वं चन्द्राऽऽदीनामुच्चत्वमाख्यातमिति वदेत् ? । एवं प्रश्ने कृते भगवानेतद्विषये यावत्यः प्रतिपत्तयस्तावतीरुपदर्शयति–" ता तत्थ " इत्यादि । तत्र उच्चत्वविषये खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्चविंशतिप्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः । ता एव " तत्थेगे " इत्यादिना दर्शयति । तत्रैतेषां पञ्चविंशतिपरतीर्थिकानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहुः–'ता' इति पूर्ववत् । एकयोजनसहस्रं सूर्यो भूमेरूर्द्धमुच्चत्वेन व्यवस्थितो, अर्द्धं सार्द्धयोजनसहस्रं भूमेरूर्द्धं चन्द्रः । किमुक्तं भवति ?–भूमेरूर्द्धं योजनसहस्रे गतेऽत्रान्तरे सूर्यो व्यवस्थितः, सार्द्धे च योजनसहस्रे गते चन्द्रः । सूत्रे च योजनसंख्यापदस्य सूर्याऽऽदिपदस्य च तुल्याधिकरणत्वाभिधेयोऽभेदोपचारात् । यथा पाटलिपुत्राद् राजगृहं नवयोजनानीत्यादौ । एवमुत्तरेष्वपि सूत्रेषु भावनीयम् । अत्रोपसंहारमाह–" एगे एवमाहंसु १ " । एके पुनरेवमाहुः–'ता' इति

पूर्ववत् । द्वे योजनसहस्रे भूमेरूर्ध्वं सूर्यो व्यवस्थितः, अर्द्ध-तृतीयानि योजनसहस्राणि चन्द्रः । अत्रोपसंहारः-" एगे एव-माहंसु २ " । एवं शेषाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि । " एएणं " इत्यादि । एतेनानन्तरोदितेनाभिलापेन शेषप्रतिपत्तिगतमपि सूत्रजातं नेतव्यम् । तच्चैवम्-"तिण्णि" इत्यादि । "एगे पुण ए-वमाहंसु-तिण्णि जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धुट्ठा-इं चंदे, एगे एवमाहंसु ३ " । " ता चत्तारि " इत्यादि । " एगे पुण एवमाहंसु-ता चत्तारि जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्च-त्तेणं अद्धपंचमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ४" । " ता पंच " इ-त्यादि । " एगे पुण एवमाहंसु-ता पंच जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धछट्ठाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ५ । एवं छ सूरे अद्धसत्तमाइं चंदे । एगे पुण एवमाहंसु-ता छजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धसत्तमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ६ । सत्त सूरे अद्धट्ठमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता सत्तजो-यणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धट्ठमाइं चंदे, एगे एवमा-हंसु ७। अट्ठ सूरे अद्धनवमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता अट्ठजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धनवमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ८। नव सूरे अद्धदसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमा-हंसु-ता नवजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धदसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ९। दस सूरे अद्धएक्कारसाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता दसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धएक्कारसाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १० । एक्कारस सूरे अद्धबा-रस चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता इक्कारसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धबारस चंदे, एगे एवमाहंसु ११ । बारस सूरे अद्धतेरसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता बारसजो-यणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धतेरसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १२। तेरस सूरे अद्धचउद्दसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता तेरसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्ध-चोद्दसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १३। चोद्दस सूरे अद्धपंचदस-माइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता चोद्दसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धपंचदसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १४। पन्नरस सूरे अद्धसोलसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता पन्नरसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धसोलसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १५ । सोलस सूरे अद्धसत्तरसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता सोलसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धसत्तरसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १६। सत्तरस-माइं सूरे अद्धट्ठारसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता स-त्तरसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धट्ठारसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १७। अट्ठारस सूरे अद्धएगुणवीसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता अट्ठारसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धएगुणवीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १८ । एगुणवीसं सूरे अद्धवीसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता एगुणवीसं जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धवीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १९। वीसं सूरे अद्धएगवीसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता वीसं जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्ध-एगवीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २० । एगवीसं सूरे अ-द्धबावीसाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु—ता इक्कवीसं जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धबावीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २१ । बावीसं सूरे अद्धतेवीसमाइं चंदे इति ।

एगे पुण एवमाहंसु-ता बावीसं जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धतेवीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २२। तेवीसं सूरे अद्धचउवीसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता तेवीसं जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धचउवीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २३। चउवीसं सूरे अद्धपंचवीसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता चउव्वीसं जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धपंचवीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २४ । पंचवि-शतितमप्रतिपत्तिसूत्रं तु साक्षाद्दर्शयति-" एगे पुण एवमाहंसु-ता पणवीसं" इत्यादि । एतानि च सूत्राणि सुगमत्वात्स्वयं भाव-नीयानि । तदेवमुक्ताः परप्रतिपत्तयः । संप्रति स्वमतं भगवानुप-दर्शयति-वयं पुनरुत्पन्नकेवलाविदस्तु एवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण वदामः । तमेव प्रकारमाह-" ता इमीसे " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभा-गादूर्ध्वं सप्तयोजनशतानि नवत्यधिकानि उत्प्लुत्य गत्वा, अत्रा-न्तरेऽधस्तनं ताराविमानं चारं चरति-मण्डलगत्या परिभ्रम-णं प्रतिपद्यते, तथा अस्या एव रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमर-मणीयाद् भूमिभागादूर्ध्वमष्टौ योजनशतान्युत्प्लुत्यात्रान्तरे सू-र्यविमानं चारं चरति । तथा अस्या एव रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्ध्वमष्टौ योजनशतान्यशीत्यधि-कानि उत्प्लुत्यात्रान्तरे चन्द्रविमानं चारं चरति, तथा अस्या एव रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्ध्वं परि-पूर्णानि नवयोजनशतान्युत्प्लुत्यात्रान्तरे सर्वोपरितनं तारा-विमानं चारं चरति, अधस्तनात्ताराविमानादूर्ध्वं दशयोजनान्यु-त्प्लुत्यात्रान्तरे सूर्यविमानं चारं चरति । तत एवाधस्तनात् ता-राविमानान्नवतियोजनान्यूर्ध्वमुत्प्लुत्यात्रान्तरे चन्द्रविमानं चारं चरति । तत एव सर्वाधस्तनात्ताराविमानाद्दशोत्तरं योजनश-तमूर्ध्वमुत्प्लुत्यात्रान्तरे सर्वोपरितनं ताराविमानं चारं चरति । "ता सूरविमाणाओ" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । सूर्यविमानादू-र्ध्वमशीतियोजनशतान्युत्प्लुत्यात्रान्तरे चन्द्रविमानं चारं चरति, तस्मादेव सूर्यविमानादूर्ध्वं योजनशतमुत्प्लुत्यात्रान्तरे सर्वोप-रितनं तारारूपं ज्योतिश्चक्रं चारं चरति । "ता चंदविमाणाओ" इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । चन्द्रविमानादूर्ध्वं विंशतियोज-नशतानि उत्प्लुत्यात्रान्तरे सर्वोपरितनं ताराविमानं ज्योति-श्चक्रं चारं चरति (एवामेवेत्यादि) एवमेव उक्तेनैव प्रकारेण (सपुव्वावरेणं ति) सह पूर्वापरेण वर्तत इति सपूर्वं, सपू-र्वं च तत् अपरं च सपूर्वापरं, तेन पूर्वापरमीलनेनेत्यर्थः । दशोत्तरयोजनशतबाहल्येन । तथाहि-सर्वाधस्तनात्तारारूपाज्ज्योतिश्चक्रादूर्ध्वं दशभिर्योजनैः सूर्यविमानं,ततोऽप्यशीत्या यो-जनैश्चन्द्रविमानं,ततो विंशत्या सर्वोपरितनं तारारूपं ज्योतिश्च-क्रचारविषयस्य दशोत्तरं योजनशतं बाहल्यं, तस्मिन् दशोत्तरे योजनशतबाहल्ये । पुनः कथंभूते ? इत्याह-तिर्यगसंख्येये यो-जनकोटाकोटीप्रमाणे ज्योतिर्विषये मनुष्यक्षेत्रविषयं ज्योतिश्चक्रं चारं चरति, चारं चरन्मनुष्यक्षेत्राद् बहिः पुनरवस्थितमा-ख्यात इति वदेत् । सू० प्र० १८ पाहु० । चं० प्र० । जं० । जी० ।

धरणियलाउ समाओ, सत्त उ नउएहिँ जोयणसएहिँ ।
हिट्ठिल्लो होइ तला, सूरो पुण अट्ठहिँ सएहिँ ॥ ७४ ॥
अट्ठसए आसीए, चंदो तह चेव होइ उवरितले ।
एगं दसुत्तरसयं, बाहल्लं जोइसस्स भवे ॥ ७५ ॥
द्वी० प० ।

(३१) देवसामर्थ्यप्रस्तावस्यैव ज्योतिष्कानधिकृत्याऽऽह-

ता अत्थि णं चंदिमसूरियाणं देवाणं हिट्ठं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि, समं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि, उप्पिं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि ?। ता अत्थि। ता कहं ते चंदिमसूरियाणं देवाणं हिट्ठं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि, समं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि, उप्पिं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि ?। ता जहा जहा णं तेसि णं देवाणं तवणियमबंभचेराइं ऊसियाइं भवंति, तहा तहा णं तेसिं देवाणं एवं भवति, तं अणुत्ते वा तुल्लत्ते वा, ता एवं खलु चंदिमसूरियाणं देवाणं हिट्ठं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि ॥

" ता अत्थि णं " इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। अस्त्येतद् भगवन्! यदुत चन्द्रसूर्याणां देवानां (हिट्ठं पि त्ति) क्षेत्रापेक्षया अधस्तना अपि ताराकरूपविमानाधिष्ठातारो देवा द्युतिविभवले-श्याऽऽदिकमपेक्ष्य केचिदणवोऽपि लघवोऽपि, भवन्तीत्यर्थः। केचित्तुल्या अपि भवन्ति। तथा समर्माप चन्द्रविमानैः सूर्यविमानैश्च क्षेत्रापेक्षया समश्रेण्याऽपि ये व्यवस्थितास्ताराकरूपास्ताराविमानाधिष्ठातारो देवाः, तेऽपि चन्द्रसूर्याणां देवानां द्युतिविभवाऽऽदिकमपेक्ष्य केचिदणवोऽपि भवन्ति, केचित्तुल्या अपि, इति गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह-(ता अत्थि त्ति) यदेतत् त्वया पृष्टं तत्सर्वं तथैवाऽस्ति। एवमुक्ते पुनः प्रश्नयति-"ता कहं ते " इत्यादि सुगमम्। भगवानाह-' ता जहा जहा " इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। यथा यथा। णमिति वाक्यालङ्कारे। तेषां देवानां ताराकरूपविमानाधिष्ठातॄणां प्राग्भवे तपोनियमब्रह्मचर्याणि उच्छ्रितानि उत्कटानि भवन्ति, तथा तथा तेषां देवानां तस्मिन् ताराकरूपविमानाधिष्ठातृभावे एवं भवति, यथा-अणुत्वं वा,तुल्यत्वं वा। किमुक्तं भवति?-यैः प्राग्भवे तपोनियमब्रह्मचर्याणि मन्दानि कृतानि ते ताराकरूपविमानाधिष्ठातृदेवभवमनुप्राप्ताश्चन्द्रसूर्येभ्यो देवेभ्यो द्युतिविभवाऽऽदिकमपेक्ष्य हीना भवन्ति, यैस्तु भवान्तरे तपोनियमब्रह्मचर्याणि अत्युत्कटान्यासेवितानि ते ताराकरूपविमानाधिष्ठातृरूपं देवत्वमनुप्राप्ता द्युतिविभवाऽऽदिकमपेक्ष्य चन्द्रसूर्यदेवैः सह समाना भवन्ति। न चैतदनुपपन्नम्। दृश्यन्ते हि मनुष्यलोकेऽपि केचिज्जन्मान्तरोपचितत्थाविधपुण्यप्राग्भारा राजत्वमप्राप्ता अपि राज्ञा सह तुल्यद्युतिविभवा इति। " ता एवं खलु " इत्यादि निगमनवाक्यं सुगमम्। सू० प्र० १८ पाहु०। चं० प्र०। जी०। जं०। (मन्दराद्यपेक्षया ज्योतिष्काणां चारः ' अबाहा ' शब्दे प्रथमभागे ६८९ पृष्ठे प्ररूपितः)

[३२] ता जंबुद्दीवे णं दीवे कतरे णक्खत्ते सव्वब्भंतरिल्लं चारं चरति, कतरे णक्खत्ते सव्वबाहिरिल्लं चारं चरति, कयरे णक्खत्ते सव्वुवरिल्लं चारं चरति, कयरे णक्खत्ते सव्वहेट्ठिल्लं चारं चरति ?। अभिई णक्खत्ते सव्वब्भंतरिल्लं चारं चरति, मूले णक्खत्ते सव्वबाहिरिल्लं चारं चरति, साती णक्खत्ते सव्वुवरिल्लं चारं चरति, भरणी णक्खत्ते सव्वहेट्ठिल्लं चारं चरति।

"ता जंबुद्दीवे णं दीवे कयरे नक्खत्ते" इत्यादि सुगमम्। नवरम्, अभिजिन्नक्षत्रं सर्वाभ्यन्तरं नक्षत्रमण्डलिकामपेक्ष्य, एवं मूलाऽऽदीनि सर्वबाह्याऽऽदीनि वेदितव्यानि। सू० प्र० १८ पाहु०। उक्तं च-" सव्वब्भंतरभिई, मूलो पुण सव्वबाहिरो भमइ। सव्वोवरिं च साई, भरणी पुण सव्वहिट्ठिमया " ॥ ६६ ॥ बृ० प०। चं० प्र०। जी०।

(३३) चन्द्रः सूर्यो वा कियत्क्षेत्रं प्रकाशयतीति ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता केवतियं खेत्तं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति, आहिता ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमाओ बारस पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ। तत्थेगे एवमाहंसु-ता एगं दीवं एगं समुद्दं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति, एगे एवमाहंसु १। एगे पुण एवमाहंसु-ता तिण्णि दीवे तिण्णि समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति, एगे एवमाहंसु २। एगे पुण एवमाहंसु-ता अद्धुट्ठे दीवे अद्धुट्ठे समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति, एगे एवमाहंसु ३। एगे पुण एवमाहंसु-ता सत्त दीवे सत्त समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ४। एगे पुण एवमाहंसु-दस दीवे दस समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ५। एगे पुण एवमाहंसु-ता बारस दीवे बारस समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ६। एगे पुण एवमाहंसु-ता बायालीसं दीवे बायालीसं समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ७। एगे पुण एवमाहंसु-बावत्तरिं दीवे बावत्तरिं समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ८। एगे पुण एवमाहंसु-ता बातालीसं दीवसतं बातालीसं समुद्दसतं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ९। एगे पुण एवमाहंसु-ता बावत्तरिं दीवसतं बावत्तरिं समुद्दसतं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु १०। एगे पुण एवमाहंसु-ता बायालीसं दीवसहस्सं बायालीसं समुद्दसहस्सं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ११। एगे पुण एवमाहंसु-ता बावत्तरिं दीवसहस्सं बावत्तरिं समुद्दसहस्सं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु १२।

" ता केवइयं " इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। कियत्क्षेत्रं, चन्द्रसूर्यबहुवचनं जम्बूद्वीपे चन्द्रद्वयस्य सूर्यद्वयस्य च भावात्। अवभासयन्ति, तत्रावभासो ज्ञानस्यापि प्रतिभासो व्यवह्रियते, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह-उद्योतयन्ति, स चोद्योतो यद्यपि सं-

के भेदेन प्रसिद्धौ, यथा-सूर्यगत आतप इति, चन्द्रगतः प्रकाश इति, तथाप्यातपशब्दश्चन्द्रप्रभायामपि वर्त्तते । यदुक्तम्-"चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना, तथा चन्द्रातपः स्मृतः ।" इति । प्रकाशशब्दः सूर्यप्रभायामपि, एतच्च प्रायो बहूनां सुप्रतीतं, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थमुभयसाधारणं भूयोऽप्येकार्थिकद्वयमाह-तापयन्ति प्रकाशयन्ति आख्याता इति । इहाऽवभासयन्तीत्यायन्तपदेनापि सह नामपदस्य समन्वयो भवति । तत एवमर्थयोजना द्रष्टव्या-कियत्क्षेत्रं चन्द्रसूर्यौ अवभासयन्त उद्द्योतयन्तस्तापयन्तः प्रकाशयन्त आख्याता भगवतेति भगवान् वदेत् ? । एवं गौतमेनोक्ते भगवानेतद्विषयं परतीर्थिकप्रतिपत्तीनां मिथ्याभावोपदर्शनाय प्रथमतस्ता एवोपदर्शयति-"तत्थ" इत्यादि । तत्र चन्द्रसूर्याणां क्षेत्रावभासनविषये इमाः खलु द्वादश प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ता । तद्यथा-"तत्थ" इत्यादि । तत्र तस्यां द्वादशानां परतीर्थिकानां मध्ये एके प्रथमास्तीर्थान्तरीया एवमाहुः-एकं द्वीपमेकं समुद्रं चन्द्रसूर्यौ अवभासयन्तौ, उद्द्योतयन्तौ, तापयन्तौ, प्रकाशयन्तौ । सूत्रे द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात् । उक्तं च-"बहुवयणेण दुवयणं" इत्यादि । द्विवचनं चात्र तात्त्विकमवसेयम, परतीर्थिकैरेकस्य चन्द्रमस एकस्य च सूर्यस्याभ्युपगमात् । संप्रति अस्यैव प्रथममतस्योपसंहारमाह-(एगे एवमाहंसु) एवं सर्वाण्युपसंहारवाक्यानि भावनीयानि । १ । एके द्वितीयाः पुनरेवमाहुः-त्रीन् द्वीपान् त्रीन् समुद्रान् चन्द्रसूर्यौ, अवभासयत उद्द्योतयतस्तापयतः प्रकाशयत इति । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् २। तद्यथा-एके पुनस्तृतीया एवमाहुः-(अद्धट्ठे इति) अर्द्धं चतुर्थं येषां ते अर्द्धचतुर्थाः,त्रयः परिपूर्णाश्चतुर्थस्य चार्द्धमित्यर्थः । अर्द्धचतुर्थान् द्वीपान्, अर्द्धचतुर्थान् समुद्रान् चन्द्रसूर्याववभासयत इत्यादि प्राग्वत् ।३। एके चतुर्थाः पुनरेवमाहुः-सप्त द्वीपान् सप्त समुद्रान् चन्द्रसूर्याववभासयतः । ४ । एके पुनः पञ्चमा एवमाचक्षते-दश द्वीपान् दश समुद्रान् चन्द्रसूर्याववभासयतः । ५ । एके पुनः षष्ठा एवमभिदधति-द्वादश द्वीपान् द्वादश समुद्रान् चन्द्रसूर्याववभासयतः । ६ । एके पुनः सप्तमा एवं भाषन्ते-द्विचत्वारिंशतं द्वीपान् द्विचत्वारिंशतं समुद्रान् चन्द्रसूर्याववभासयतः ।७। एके पुनरष्टमा एवमाहुः-द्वासप्ततिं द्वीपान् द्वासप्ततिं समुद्रान् चन्द्रसूर्याववभासयतः ।८। एके पुनर्नवमा एवमाहुः-द्विचत्वारिंशदधिकं द्वीपशतं द्विचत्वारिंशदधिकं समुद्रशतं चन्द्रसूर्याववभासयतः । ९ । एके पुनर्दशमा एवं जल्पन्ति-द्वासप्तत्यधिकं द्वीपशतं द्वासप्तत्यधिकं समुद्रशतं चन्द्रसूर्याववभासयतः ।१०। एके एकादशाः पुनरेवमाहुः-द्वाचत्वारिंशद्द्वाचत्वारिंशत्यधिकं द्वीपसहस्रं द्वाचत्वारिंशत्यधिकं समुद्रसहस्रं चन्द्रसूर्याववभासयतः । ११ । एके द्वादशाः पुनरेवमाहुः-द्वासप्ततिं द्वासप्तत्यधिकं द्वीपसहस्रं द्वासप्तत्यधिकं समुद्रसहस्रं चन्द्रसूर्याववभासयतः १२ ।

एताश्च सर्वा अपि प्रतिपत्तयो मिथ्यारूपाः, तथा च भगवानेता व्युदस्य स्वमतं भिन्नमेव कथयति-

वयं पुण एवं वदामो-ता अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं० जाव परिक्खेवेणं पन्नत्ते । से णं एगाए जगतीए सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते सा णं जगती तहेव जहा जंबुद्दीवपन्नत्तीए० जाव एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे चोद्दससलिलासतसहस्सा छप्पन्नं च सलिलासहस्सा भवंतीति मक्खाता, जंबुद्दीवे णं दीवे पंच चक्कभागं संठिता आहिता ति वदेज्जा । ता कहं जंबुद्दीवे दीवे पंचचक्कभागसंठिते आहिता ति वदेज्जा ? । ता जता णं एते दुवे सूरिया सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति, तदा णं जंबुद्दीवस्स दीवस्स तिण्णि पंचचक्कभागे ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पभासेंति तं एगे वि एगं दिवड्ढं पंचचक्कभागं ओभासेति एके, एगे वि एगं दीवड्ढं पंचचक्कभागं ओभासेति एकं । तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ, ता जता णं एते दुवे सूरिया सव्वबाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति, तदा णं जंबुद्दीवस्स दीवस्स दोण्णि पंचचक्कभागं ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पभासेंति । तं एगे वि एगं पंचचक्कभागं ओभासति, उज्जोवेइ, तवेइ, पभासेइ, एगे वि एकं पंचचक्कभागं ओभासेइ एकं, तता णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति ।

"वयं पुण" इत्यादि । वयं पुनरुत्पन्नकेवलचक्षुषः केवलचक्षुषा यथाऽवस्थितं जगदुपलभ्य, एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामः । तमेव प्रकारमाह-"ता अयं णं" इत्यादि । अत्र (जहा जंबुद्दीवपन्नत्तीए त्ति) यथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ-"अयं णं जंबुद्दीवे दीवे" इत्यारभ्य यावत् "एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे चोद्दससलिलासयसहस्साइं छप्पन्नं च सलिलासहस्सा भवंतीति मक्खायं" इत्युक्तम् । तथा एतावद्ग्रन्थसहस्रचतुष्टयप्रमाणमत्रापि वक्तव्यं, परं ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते, केवलं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिपुस्तकमेव निरीक्षणीयमिति । अयमेवंरूपो जम्बूद्वीपः पञ्चसंख्योपेतैश्चक्रभागैश्चक्रवालभागैः संस्थित आख्यातो मया इति वदेत्स्वशिष्याणां पुरतः । एवमुक्ते भगवान् गौतमः स्वशिष्याणां स्पष्टावबोधार्थं भूयः पृच्छति-"ता कहं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं भगवन् ! त्वया जम्बूद्वीपो द्वीपः पञ्चचक्रभागसंस्थित आख्यात इति वदेत् ? । भगवानाह-"ता जया णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । यदा णमिति वाक्यालङ्कारे, एतौ प्रवचनवेदिनां प्रसिद्धौ द्वौ सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः, तदा तौ समुदितौ द्वावपि सूर्यौ जम्बूद्वीपस्य त्रीन् पञ्चचक्रवालभागान् अवभासयतः, उद्द्योतयतः, तापयतः, प्रकाशयतः । कथं प्रकाशयतः ?, इति परप्रश्नावकाशमाशङ्क्य एतदेव विभागत आह-"एगे वि" इत्यादि । एकोऽपि सूर्यो जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य एकं पञ्चमं चक्रवालभागं द्व्यर्द्धमिति द्वितीयमर्द्धं यस्य स द्व्यर्द्धः पूरणार्थो वृत्तावन्तर्भूतो, यथा-तृतीयो भागस्त्रिभाग इत्यत्र, तम् । अयं च भावार्थः-एकपञ्चमं चक्रवालभागं द्वितीयस्य पञ्चमस्य चक्रवालभागस्यार्द्धेन सहितं प्रकाशयति । तथा एकोऽपि अपरोऽपि, द्वितीयोऽपीत्यर्थः।एकं पञ्चमं चक्रवालभागं द्व्यर्द्धं प्रकाशयतीति, उभयप्रकाशितभागमीलने परिपूर्णं भागत्रयं प्रकाश्यं भवति । इयमत्र भावना-जम्बूद्वीपगतं प्रकाश्यं चक्रवालं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागं कल्प्यते ३६६० । तस्य पञ्चमो भागो द्वात्रिंशदधिकसप्तशतप्रमाणः ७३२, सार्द्धः सप्त

भष्टानवत्यधिकसहस्रभागमानः १०९८। ततः सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्तमान एकोऽपि सूर्यः षट्त्रिंशच्छतसंख्यानां भागानामष्टानवत्यधिकं सहस्रं प्रकाशयति, द्वितीयोऽप्यष्टानवत्यधिकं सहस्रम्, उभयमीलने एकविंशतिशतानि षण्णवत्यधिकानि २१९६ प्रकाश्यमानानि लभ्यन्ते, तदा च द्वौ पञ्चचक्रवालभागौ रात्रिः । तद्यथा-एकतोऽपि पञ्चमो भागो द्वात्रिंशदधिकसप्तशतभागसंख्या रात्रिः, परतोऽपि एकः पञ्चमो भागो द्वात्रिंशदधिकसप्तशतभागसंख्यौ रात्रिः, उभयमीलने चतुर्दशशतानि चतुःषष्ट्यधिकानि भवन्ति । १४६४ । षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागानां रात्रिः, सर्वभागमीलने षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि भवन्ति । संप्रति तत्र दिवसरात्रिप्रमाणमाह-" तया णं " इत्यादि । तदाऽऽभ्यन्तरमण्डलचारकाले उत्तमकाष्ठां प्राप्तः परमप्रकर्षप्राप्त उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति । जघन्या द्वादश मुहूर्त्ता रात्रिः । ततो द्वितीये अहोरात्रे द्वितीयमण्डले वर्त्तमान एकोऽपि सूर्यो जम्बूद्वीपस्यैकं पञ्चमं चक्रवालभागं सार्द्धषष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागसत्कभागद्वयहीनं प्रकाशयति । अपरोऽपि सूर्य एकं पञ्चमं चक्रवालभागं सार्द्धषष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागद्वयहीनं प्रकाशयति । तृतीये अहोरात्रे तृतीये मण्डले वर्त्तमान एकोऽपि सूर्य एकं पञ्चमं चक्रवालभागं सार्द्धं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागसत्कभागचतुष्टयन्यूनं प्रकाशयति । अपरोऽप्येकं पञ्चमं चक्रवालभागं सार्द्धषष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागसत्कभागचतुष्टयन्यूनं प्रकाशयति । एवं प्रत्यहोरात्रमेकैकः सूर्यः षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागसत्कभागद्वयमोचनेन प्रकाशयन् तावद्वसेयो यावत्सर्वबाह्यं मण्डलं सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतस्त्र्यशीत्यधिकशततमं, ततः प्रतिमण्डलं भागद्वयमोचनेन यदा सर्वबाह्ये मण्डले चरति, तदा त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि भागानां त्रुट्यन्ति, त्र्यशीत्यधिकस्य शतस्य द्वाभ्यां गुणने एतावत्याः संख्याया भावात् । त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि पञ्चमचक्रवालभागस्य द्वात्रिंशदधिकसप्तशतभागप्रमाणस्यार्द्धं परिपूर्णं तत्र मण्डले त्रुट्यतीति एक एव परिपूर्णः पञ्चमचक्रवालभागस्तत्र प्रकाश्यः । तथा चाह-" ता जया णं " इत्यादि । तत्र यदा, यामिति पूर्ववत् । एतौ प्रवचनप्रसिद्धौ द्वावपि सूर्यौ सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः, तदा तौ समुदितौ जम्बूद्वीपस्य द्वौ चक्रवालपञ्चमभागौ अवभासयत उद्योतयतस्तापयतः प्रकाशयतः । तद्यथा-एकोऽपि सूर्य एकं पञ्चमं चक्रवालभागं प्रकाशयति । एकोऽपि अपरोऽपि, द्वितीयोऽपीत्यर्थः । एकं पञ्चमं चक्रवालभागं प्रकाशयति । " तया णं " इत्यादि । तदा सर्वबाह्यमण्डलचारकाले उत्तमकाष्ठाप्राप्ता उत्कर्षिका अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिः, जघन्यतो द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसः । इह यथा निष्क्रामतोः सूर्ययोर्जम्बूद्वीपविषयप्रकाशविधिः क्रमेण हीयमान उक्तः, तथा सर्वबाह्याद् मण्डलादभ्यन्तरं प्रविशतोः क्रमेण वर्द्धमानो वेदितव्यः । तद्यथा-द्वितीयस्य षण्मासस्य द्वितीये अहोरात्रे सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनेऽनन्तरे द्वितीये मण्डले वर्त्तमान एकोऽपि सूर्य एकं जम्बूद्वीपस्य पञ्चमं चक्रवालभागं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतसंख्यभागसत्कभागद्वयाधिकं प्रकाशयति । अपरोऽपि सूर्य एकं पञ्चमं चक्रवालभागं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतसंख्यभागसत्कभागद्वयाधिकं प्रकाशयति । द्वितीयस्य षण्मासस्य द्वितीयेऽहोरात्रे सर्वबाह्यान् मण्डलादर्वाक्तने तृतीये मण्डले वर्त्तमान एकं पञ्चमं चक्रवालभागं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतसंख्यभागसत्कभागचतुष्टयाधिकं प्रकाशयति । अपरोऽपि सूर्यः परत एकं पञ्चमं चक्रवालभागं यथोक्तभागचतुष्टयाधिकं प्रकाशयति । एवं प्रतिमण्डलमेकैकः सूर्यः षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागसत्कभागद्वयवर्द्धनेन प्रकाशयन् तावदवसेयो यावत्सर्वाभ्यन्तरं मण्डलम् । तस्मिंश्च सर्वाभ्यन्तरे मण्डले द्वितीयस्य पञ्चमचक्रवालभागस्यार्द्धं परिपूर्णं भवति । तत एकोऽपि सूर्यस्तत्र मण्डले एकं पञ्चमं चक्रवालभागं सार्द्धं जम्बूद्वीपस्य प्रकाशयत्यपरोऽप्येकं पञ्चमं चक्रवालभागं सार्द्धम् ।

तथा जम्बूद्वीपस्य दश भागान् परिकल्प्यान्यत्राप्युक्तम्-

" छच्चेव य दसभागे, जम्बूद्दीवस्स दो वि दिवसयरा ।
तावित्ति दित्तलेसा, अब्भिंतरमंडले संता ॥ १ ॥
चत्तारि य दसभागे, जम्बूदीवस्स दो वि दिवसयरा ।
तावित्ति मंदलेसा, बाहिरए मंडले संता ॥ २ ॥
छत्तीसे भागसए, सट्ठिं काऊण जंबुदीवस्स ।
तिरियं तत्तो दो भा-गे वड्डइ व हायइ वा ॥ ३ ॥ "

सू० प्र० ३ पाहु० । चं० प्र० । (चन्द्रसूर्ययोर्दक्षिणोत्तरचाराः ' अयण ' शब्दे प्रथमभागे ७५० पृष्ठे द्रष्टव्याः)

(३४) अथ जम्बूद्वीपे चन्द्राऽऽदीनां चारक्षेत्रविष्कम्भमानमाह-

दीवे आसिइसयं जो-यणाण तीसऽहिअ तिन्नि सय लवणे ।
खित्तं पणसय दसऽहिअ, भागा अडयाल इगसट्ठी ॥ ८ ॥

द्वीपे जम्बूद्वीपे चन्द्रयोः सूर्ययोश्च क्षेत्रं चारक्षेत्रं विष्कम्भतोऽशीत्यधिकं शतं योजनानां १८०, लवणे च त्रिंशदधिकानि त्रीणि शतानि योजनानाम् ३३० । उभयोर्मीलने दशाधिकानि पञ्चशतानि योजनानामष्टचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य ५१० । ४८/६१ । नक्षत्राणामपि चारक्षेत्रमेतदेव, सर्वाभ्यन्तरसर्वबाह्यमण्डलयोः परस्परं दशाधिकपञ्चशतयोजनप्रमाणान्तरालस्योक्तत्वात् । ग्रहाणां तारकाणां च चारक्षेत्रविष्कम्भमानं व्यक्तया शास्त्रेषु नोपलभ्यत इति । मं० ।

(३५) (ज्योतिष्काणामल्पबहुत्वं 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६४१ पृष्ठे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिपाठतो गतार्थम्, न तत इह ग्रन्थान्तरपाठो लिख्यतेऽतस्तत एवावधार्यम्)

(३६) संप्रति चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराणां कः शीघ्रगतिर्भगवताऽऽख्यात इति, ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते सिग्घगती वत्थु आहिते ति वदेज्जा ? । ता एतेसि णं चंदिमसूरियग्गहगणनक्खत्ततारारूवाणं चंदेहिंतो सूरा सिग्घगती, सूरेहिंतो गहा सिग्घगती, गहेहिंतो णक्खत्ता सिग्घगती, णक्खत्तेहिंतो तारा सिग्घगती, सव्वऽप्पगती चंदा, सव्वसिग्घगती तारा ।

"ता कहं ते" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं भगवन् ! त्वया चन्द्रसूर्याऽऽदिकं वस्तु शीघ्रगत्यात्मकं शीघ्रगति आख्यात इति वदेत् ? । भगवानाह-" ता एएसि णं " इत्यादि । एतेषां चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारकाणां पञ्चानां मध्ये चन्द्रेभ्यः सूर्याः शीघ्रगतयः, सूर्येभ्योऽपि ग्रहाः शीघ्रगतयः, ग्रहेभ्योऽपि नक्षत्राणि शीघ्रगतीनि, नक्षत्रेभ्योऽपि ताराः शीघ्रगतयः । अत एवैतेषां पञ्चानां मध्ये सर्वाल्पगतयश्चन्द्राः, सर्वशीघ्रगतयस्ताराः ।

(३७) एतस्यैवार्थस्य सविशेषपरिज्ञानाय प्रश्नं करोति—

ता एगमेगेणं मुहुत्तेणं चंदे केवतियाइं भागसताइं ग-

च्छति ? । ता जं जं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तस्स तस्स मंडलपरिक्खेवस्स सत्तरस अट्ठट्ठे भागा सते गच्छति, मंडलं सतसहस्सेणं अट्ठाणउतीए सतेहिं छेत्ता । ता एगमेगेणं मुहुत्तेणं सूरिए केवतियाइं भागसताइं गच्छति । ता जं जं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तस्स तस्स मंडलपरिक्खेवस्स अट्ठारस तीसे भागसते गच्छति, मंडलं सतसहस्सेणं अट्ठाणउतिसतेहिं छेत्ता । ता एगमेगेणं मुहुत्तेणं णक्खत्ते केवतियाइं भागसताइं गच्छति ?। ता जं जं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तस्स तस्स मंडलस्स परिक्खेवस्स अट्ठारसपणतीसे भागसते गच्छति, मंडलं सतसहस्सेणं अट्ठाणवतिसतेहिं छेत्ता ।

" ता एगमेगेणं " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एकैकेन मुहूर्तेन चन्द्रः कियन्ति मण्डलस्य भागशतानि गच्छति ?। भगवानाह-" ता जं जं " इत्यादि। यद्यद् मण्डलमुपसंक्रम्य चन्द्रश्चारं चरति, तस्य तस्य मण्डलस्य संबन्धिनः परिक्षेपस्य परिधेः सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि भागानां गच्छति, मण्डलं मण्डलपरिक्षेपमेकेन शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैश्छित्त्वा विभज्य । इयमत्र भावना-इह प्रथमतश्चान्द्रमसो मण्डलकालो निरूपणीयः, तदनन्तरं तदनुसारेण मुहूर्तगतपरिमाणं भावनीयम् । तत्र प्रथममण्डलकालनिरूपणार्थमिदं त्रैराशिकं यदि सप्तदशभिः शतैरष्टषष्ट्यधिकैः सकलयुगवर्तिभिरर्द्धमण्डलैरष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि रात्रिन्दिवानि लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यामर्द्धमण्डलाभ्यामेकेन (मण्डलेनेति भाव.) कति रात्रिन्दिवानि लभ्यन्ते ?। राशित्रयस्थापना-१७६८।१८३०।२। अत्रान्त्येन राशिना द्विकलक्षणेन मध्यस्य राशेर्गुणनं, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि । ३६६० । एतेषामाद्येन राशिना भागहरणं, लब्धे द्वे रात्रिन्दिवे, शेषं तिष्ठति चतुर्विंशत्यधिकं शतम् । १२४ । तत्रैकैकस्मिन् रात्रिन्दिवे त्रिंशन्मुहूर्ता इति,तस्य त्रिंशता गुणने जातानि सप्तत्रिंशच्छतानि विंशत्यधिकानि । ३७२० । तेषां सप्तदशभिः शतैरष्टषष्ट्यधिकैर्भागे हृते लब्धौ द्वौ मुहूर्तौ, ततः शेषस्य छेद्यच्छेदकराश्योरष्टकेनापवर्तना, जातश्छेद्यो राशिस्त्रयोविंशतिः, छेदकराशिर्द्वे शते एकविंशत्यधिके, आगता मुहूर्तस्यैकविंशत्यधिकशतद्वयभागास्त्रयोविंशतिः । [२ । २ । २३/२२१] एतावता कालेन द्वेऽर्द्धमण्डले परिपूर्णे चरति । किमुक्तं भवति ?-एतावता कालेन परिपूर्णमेकं मण्डलं चन्द्रश्चरति । तदेवं मण्डलकालपरिज्ञानं कृतम् । साम्प्रतमेतदनुसारेण मुहूर्तगतिपरिमाणं चिन्त्यते-तत्र ये द्वे रात्रिन्दिवे ते मुहूर्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्येते, जाताः षष्टिर्मुहूर्ताः ।६०। तत उपरितनौ द्वौ मुहूर्तौ प्रक्षिप्तौ, जाता द्वाषष्टिः । ६२ । एषा सवर्णनार्थं द्वाभ्यां शताभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां गुण्यते, गुणयित्वा चोपरितना त्रयोविंशतिः क्षिप्यते, जातानि त्रयोदशसहस्राणि सप्तशतानि पञ्चविंशत्यधिकानि । १३७२५ । एतदेकमण्डलकालगतमुहूर्तस्यैकविंशत्यधिकशतद्वयभागानां परिमाणं, ततस्त्रैराशिककर्मावसरः-यदि त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैरेकविंशत्यधिकशतद्वयभागानां मण्डलभागा एकं शतसहस्रमष्टानवतिशतानि लभ्यन्ते, तत एकेन मुहूर्तेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१३७२५ । १०९८०० ।१ । इहाऽन्त्यो राशिर्मुहूर्तगतैकविंशत्यधिकशतद्वयभागरूपस्ततः सवर्णनार्थमन्त्यो राशिरेकलक्षणो द्वाभ्यां शताभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां गुण्यते, जाते द्वे शते एकविंशत्यधिके । २२१ । ताभ्यां मध्यराशिर्गुण्यते, जाते द्वे कोटी द्विचत्वारिंशल्लक्षाः पञ्चषष्टिः सहस्राण्यष्टौ शतानि । २४२६५८०० । तेषां त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैर्भागो ह्रियते, लब्धानि सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि । १७६८ । एतावतो भागान् यत्र तत्र एकमण्डले चन्द्रो मुहूर्तेन गच्छति । " ता एगमेगेणं ' इत्यादि ' ता ' इति पूर्ववत् । एकैकेन मुहूर्तेन सूर्यः कियन्ति भागशतानि गच्छति ?। भगवानाह-"ता जं जं " इत्यादि । यद्यन्मण्डलमुपसंक्रम्य सूर्यश्चारं चरति तस्य तस्य मण्डलसंबन्धिनः परिक्षेपस्य परिधेरष्टादशभागशतानि त्रिंशदधिकानि गच्छति, मण्डलं शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैश्छित्त्वा । कथमेतदवसीयत इति चेत् ?। उच्यते-त्रैराशिकबलात्' तथाहि-यदि षष्ट्या मुहूर्तैरेकं शतसहस्रमष्टानवतिः शतानि मण्डलभागानां लभ्यन्ते, तत एकेन मुहूर्तेन कति भागान् लभामहे ?। राशित्रयस्थापना- ६० । १०९८००।१। अत्रान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्यस्य राशेर्गुणनं, जातः स तावानेव । "एकेन गुणितं तदेव भवति" इति वचनात्। ततस्तस्याऽऽद्येन राशिना षष्टिलक्षणेन भागो ह्रियते, लब्धान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि । १८३० । एतावतो भागान् मण्डलस्य सूर्य एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति । "ता एगमेगेणं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एकैकेन मुहूर्तेन कियतो भागान्मण्डलस्य नक्षत्रं गच्छति । भगवानाह-" ता जं जं " इत्यादि । यद्यदात्मीयमाकालप्रतिनियतमण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति तस्य तस्याऽऽत्मीयस्य मण्डलसंबन्धिनः परिक्षेपस्य परिधेरष्टादशभागशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि गच्छति, मण्डलं शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैश्छित्त्वा । इहापि प्रथमतो मण्डलकालो निरूपणाय ततस्तदनुसारेणैव मुहूर्तगतपरिमाणभावना । तत्र मण्डलकालप्रमाणाचिन्तायामिदं त्रैराशिकम्.यद्यष्टादशभिः शतैः पञ्चत्रिंशदधिकैः सकलयुगभाविभिरर्द्धमण्डलैरष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि रात्रिन्दिवानां लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यामर्द्धमण्डलाभ्यामेकेन परिपूर्णेन (मण्डलेनेति भावः) किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१८३५ । १८३० । २ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि । ३६६०। तत आद्येन राशिना भागहरणम् ।१८३५। लब्धमेकं रात्रिन्दिवम् । १ । शेषाणि तिष्ठन्त्यष्टादशशतानि पञ्चविंशत्यधिकानि । १८२५ । ततो मुहूर्ताऽऽनयनार्थमेतानि त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि । ५४७५० । तेषामष्टादशभिः शतैः पञ्चत्रिंशदधिकैर्भागे हृते लब्धा एकोनत्रिंशन्मुहूर्ताः । २९ । ततः शेषच्छेद्यच्छेदकराश्योः पञ्चकेनापवर्तना, जात उपरितनो राशिः, त्रीणि शतानि सप्तोत्तराणि । ३०७ । छेदकराशिः त्रीणि शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि । ३६७ । तत आगतमेकं रात्रिन्दिवम्, एकस्य च रात्रिन्दिवस्यैकोनत्रिंशन्मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तषष्ट्यधिकत्रिशतभागानां त्रीणि शतानि सप्तोत्तराणि । २९ । ३०७ । इदानीमेतदनुसारेण मुहूर्तगतिपरिमाणं चिन्त्यते-तत्र रात्रिन्दिवे त्रिंशन्मुहूर्ताः । ३० । तेषूपरितना एकोनत्रिंशन्मुहूर्ताः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि एकोनषष्टिर्मुहूर्तानां, ततः सा सवर्णनार्थं त्रिभिः शतैः सप्तषष्ट्यधिकैर्गुण्यते, गुणयित्वा चोपरितनानि त्रीणि शतानि सप्तोत्तराणि प्रक्षिप्यन्ते, जातान्ये-

कविंशतिसहस्राणि नवशतानि षष्ट्यधिकानि । २१९६० । तत्रैराशिकं यदि मुहूर्त्तगतसप्तषष्ट्यधिकत्रिंशद्भागानामेकविंशत्या सहस्रैर्नवभिः शतैः षष्ट्यधिकैरेकं शतसहस्रमष्टानवतिशतानि मण्डलभागानां लभ्यन्ते, तत एकेन मुहूर्त्तेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना–२१९६० । १०९८०० । १ ।अत्रान्त्यो राशिर्मुहूर्त्तगतसप्तषष्ट्यधिकत्रिंशद्भागरूपः, ततोऽन्त्योऽपि राशिस्त्रिभिः शतैः सप्तषष्ट्यधिकैर्गुण्यते, जातानि त्रीण्येव शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि ३६७ ।तैर्मध्ये राशिर्गुण्यते, जाताश्चतस्रः कोट्यो द्वे लक्षे षण्णवतिसहस्राणि षट्शतानि ।४०२९६६०० । तेषामाद्येन राशिनैकविंशतिः सहस्राणि नवशतानि षष्ट्यधिकानीत्येवंरूपेण भागो ह्रियते, लब्धान्यष्टादशशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि । १८३५ । एतावतो भागान्नक्षत्रं प्रतिमुहूर्त्तं गच्छति, तदेवं चतश्चन्द्रो यत्र तत्र वा मण्डले एकैकेन मुहूर्त्तेन मण्डलपरिक्षेपस्य सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि भागानां गच्छति, सूर्योऽष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि नक्षत्रम्, अष्टादशशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि ।ततश्चन्द्रेभ्यः शीघ्रगतयः सूर्याः, सूर्येभ्यः शीघ्रगतीनि नक्षत्राणि, ग्रहास्तु वक्रानुवक्राऽऽदिगतिभावतोऽनियतगतिप्रस्थानाः, ततो न तेषामुक्तप्रकारेण गतिप्रमाणप्ररूपणा कृता।

उक्तं च–

" चंदेहिं सिग्घयरा, सूरा सूरेहिं होंति नक्खत्ता ।
अणिययगइपत्थाणा, हवंति सेसा गहा सव्वे ॥ १ ॥
अट्ठारस पणतीसे, भागसए गच्छइ मुहुत्तेणं ।
नक्खत्तं चंदो पुण, सत्तरस सए य अडसट्ठे ॥ २ ॥
अट्ठारसभागसए, तीसे गच्छइ रवी मुहुत्तेणं ।
नक्खत्तसीमछेदो, सो चेव इहं पि नायव्वो ॥ ३ ॥ "

इदं गाथात्रयमपि सुगमम् । नवरं नक्षत्रसीमाच्छेदः स एवात्रापि ज्ञातव्य इति । किमुक्तं भवति ?–अत्रापि मण्डलमेकेन शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैः प्रविभक्तव्यमिति ।

(३८) संप्रत्युक्तस्वरूपमेव चन्द्रसूर्यनक्षत्राणां परस्परं मण्डलभागविषयविशेषं निर्द्धारयति—

ता जया णं चंदं गतिसमावण्णं भवति से णं गतिमाताए केवतियं विसेसेति ?। बावट्ठिभागे विसेसेति। ता जता णं चंदं गतिसमावण्णं णक्खत्ते गतिसमावण्णे भवइ से णं गतिमाताए केवतियं विसेसेति ?। सत्तट्ठिं भागे विसेसेति । ता जता णं सूरं गतिसमावण्णं णक्खत्ते गतिसमावण्णे भवति से णं गतिमाताए केवतियं विसेसेति ?। ता पंचभागे विसेसेति। ता जता णं चंदगतिसमावण्णे अभिईणक्खत्ते णं गतिसमावण्णे पुरच्छिमाते भागाते समासादित्ता णवमुहुत्ते सत्तावीसे च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोएति, जोअं जोएत्ता जोअं अणुपरियट्टंति,जोअं जोएत्ता विजेति, विजहंति, विप्पजहाति, विगतजोई यावि भवति । ता जता णं चंदगतिसमावण्णं समावण्णे णक्खत्ते गतिसमावण्णे पुरच्छिमातिभागा देसमासादेति, पुरच्छिमाते भागाते समासादेत्ता तीसं मुहुत्ते चंदेणं सद्धिं जोअं जोएति, जोअं जोएत्ता जोअं अणुपरियट्टावि, जोअं जोएत्ता विजेति, विजहति, विप्पजहति, विगतजोई यावि भवति । एवं एएणं अभिलावेणं णेतव्वं पणरस मुहुत्ता राई, तिसतीमुहुत्ताइं भाणियव्वाइं० जाव उत्तरासाढा ।

" ता जया णं" इत्यादि ।'ता' इति पूर्ववत् । यदा णमिति वाक्यालङ्कारे। चन्द्रगतिसमापन्नमपेक्ष्य सूर्यो गतिसमापन्नो विवक्षितो भवति।किमुक्तं भवति ?–प्रतिमुहूर्तं चन्द्रगतिमपेक्ष्य सूर्यगतिश्चिन्त्यते, तदा सूर्यो गतिमात्रया एकमुहूर्तगतगतिपरिमाणेन कियन्तो भागान्मुहूर्तान् विशेषयति ?, एकेन मुहूर्तेन चन्द्राक्रमितेभ्यो भागेभ्यः कियतोऽधिकतरान् भागान् सूर्य आक्रामतीति भावः। भगवानाह–द्वाषष्टिभागान् विशेषयति। तथाहि–चन्द्र एकेन मुहूर्तेन सप्तदशभागशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि गच्छति।१७६८। सूर्योऽष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि। १८३० । ततो भवति द्वाषष्टिभागकृतः परस्परविशेषः । " ता जया णं " इत्यादि । 'ता' इति प्राग्वत् । यदा चन्द्रगतिसमापन्नमपेक्ष्य नक्षत्रं गतिसमापन्नं विवक्षितं भवति, तदा नक्षत्रं गतिमात्रया एकमुहूर्तगतगतिपरिमाणेन कियन्तं विशेषयति ?, चन्द्राक्रमितेभ्यो भागेभ्यः कियतो भागानधिकानाक्रामतीति भावः । भगवानाह–सप्तषष्टिभागान्नक्षत्रं ह्येकेन मुहूर्तेन अष्टादशभागशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि गच्छति । चन्द्रस्तु सप्तदशभागशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि, तत उपपद्यते सप्तषष्टिभागकृतो विशेषः । " ता जया णं " इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वद् भावनीयम् । भगवानाह–" ता पंच " इत्यादि। पञ्च भागान् विशेषयति,सूर्याऽऽक्रान्तभागेभ्यो नक्षत्राऽऽक्रान्तभागानां पञ्चभिरधिकत्वात् । तथाहि–सूर्य एकेन मुहूर्तेनाष्टादशभागशतानि त्रिंशदधिकानि गच्छति । नक्षत्रमष्टादशभागशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि। ततो भवति परस्परं पञ्चभागकृतो विशेषः । " ता जया णं " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । यदा णमिति वाक्यालङ्कारे, चन्द्रगतिसमापन्नमपेक्ष्याभिजिन्नक्षत्रं गतिसमापन्नं भवति, तदा पौरस्त्याद्भागात्प्रथमतोऽभिजिन्नक्षत्रं चन्द्रमसं समासादयति। एतच्च प्रागेव भावितम् । समासाद्य च नव मुहूर्तान्, दशमस्य च मुहूर्तस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागान् चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति, करोति, एतदपि प्रागेव भावितम्। एवंप्रमाणं च कालं योगं युक्त्वा पर्यन्तसमये योगमनु परिवर्तयति । श्रवणनक्षत्रस्य योगं समर्पयतीति भावः । योगं च परावर्त्य तेन सह योगं विजहाति। किं बहुना ?, विगतयोगी चापि भवति । " ता जया णं " इत्यादि । ' ता ' इति प्राग्वत् । यदा चन्द्रं गतिसमापन्नमपेक्ष्य श्रवणनक्षत्रं समापन्नं भवति, तदा तच्छ्रवणनक्षत्रं प्रथमतः पौरस्त्याद्भागात्पूर्वेण भागेन चन्द्रमसं समासादयति,समासाद्य चन्द्रेण सार्द्धं त्रिंशन्मुहूर्तान् यावद्योगं युनक्ति, एवंप्रमाणं च कालं यावद्योगं युक्त्वा पर्यन्तसमये योगमनु परिवर्तयति । धनिष्ठानक्षत्रस्य योगं समर्पयितुमारभते इत्यर्थः । योगमनुपरिवर्त्य च तेन सह योगं विप्रजहाति । किं बहुना?, विगतयोगी चाऽपि भवति। "एवं" इत्यादि । एवमुक्तेन प्रकारेणैतेनानन्तरोपदर्शितेनाभिलापेन यानि पञ्चदश मुहूर्तानि शतभिषक्प्रभृतीनि नक्षत्राणि, यानि त्रिंशन्मुहूर्तानि श्रविष्ठाप्रभृतीनि,यानि च पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्तान्युत्तरभद्रपदाऽऽदीनि, सर्वाण्यपि क्रमेण तावद्भणितव्यानि यावदुत्तराषाढा । तत्राभिलापः सुगमत्वात्स्वयं भावनीयः, ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यत इति।

(३९) संप्रति ग्रहानधिकृत्य योगचिन्तां करोति–

ता जया णं चंदगतिसमावण्णं गहगतिसमावण्णे पुरच्छि-

माते भागाते समासादेति,पुरच्छिमाते भागाते समासादेत्ता चंदेणं सद्धिं अद्धा जोगं जुंजति,अद्धा जोगं जुंजतित्ता अद्धा जोगं अणुपरियट्टति, अद्धा जोगं अणुपरियट्टतित्ता विजेति, विजहति, विप्पजहति, विगतजोई यावि भवति।

"ता जया णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । यदा णमिति वाक्यालङ्कारे, चन्द्रं गतिसमापन्नमपेक्ष्य ग्रहो गतिसमापन्नो भवति, तदा स ग्रहः पौरस्त्याद्भागात्पूर्वेण भागेन प्रथमतश्चन्द्रमसं समासादयति, समासाद्य च यथासंभवं योगं युनक्ति, यथासंभवं योगं युक्त्वा पर्यन्तसमये यथासंभवं योगमनुपरिवर्त्तयति, यथासंभवमन्यस्य ग्रहस्य योगं समर्पयितुमारभते इति। भावयोगमनुवर्त्य च तेन सह योगं विजहाति, विप्रजहाति । किं बहुना ?, विगतयोगी चापि भवति ।

(४०) अधुना सूर्येण सह नक्षत्रस्य योगचिन्तां करोति-

ता जया णं सूरं गतिसमावण्णं अभिई णक्खत्ते गतिसमावण्णे पुरच्छिमाते भागाते समासादेति,पुरच्छिमाते भागाते समासादेत्ता चत्तारि अहोरत्ते छच्च मुहुत्ते सूरेणं सद्धिं जोयं जोएति, जोयं अणुपरियट्टति,अणुपरियट्टित्ता विजेति,विजहति,विप्पजहति,विगतजोई यावि भवति। एवं अहोरत्ता छ एकवीसं मुहुत्ता य, तेरस अहोरत्ता बारस मुहुत्ता य, वीसं अहोरत्ता तिण्णि मुहुत्ता य, ताव सव्वे भाणितव्वा जाव उत्तरासाढाणक्खत्ता।

"ता जया णं" इत्यादि । 'ता' इति प्राग्वत् । यदा सूर्यं गतिसमापन्नमपेक्ष्याभिजिन्नक्षत्रं गतिसमापन्नं भवति, तदाऽभिजिन्नक्षत्रं प्रथमतः पौरस्त्याद्भागात्सूर्यं समासादयति, समासाद्य चतुरः परिपूर्णानहोरात्रान्, पञ्चमस्य चाहोरात्रस्य षण्मुहूर्त्तान् यावत्सूर्येण सह योगं युनक्ति । एवंप्रमाणं च कालं यावद्योगं युक्त्वा पर्यन्तसमये योगमनुपरिवर्त्तयति। श्रवणनक्षत्रस्य योगं समर्पयितुमारभत इति भावः । अनुपरिवर्त्य च तेन सह योगं विजहाति,विप्रजहाति,किं बहुना ?,विगतयोगी चापि भवति। 'एवं' इत्यादि । एवमुक्तेन प्रकारेण पञ्चदशमुहूर्त्तानां शतभिषक्प्रभृतीनां षडहोरात्राः, सप्तमस्याहोरात्रस्यैकविंशतिमुहूर्त्ताः, त्रिंशन्मुहूर्त्तानां श्रवणाऽऽदीनां त्रयोदश अहोरात्राश्चतुर्दशस्याहोरात्रस्य द्वादश मुहूर्त्ताः, पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्तानामुत्तरभद्रपदाऽऽदीनां विंशतिरहोरात्राः, एकविंशतितमस्य चाहोरात्रस्य त्रयो मुहूर्त्ताः, क्रमेण सर्वे तावद्भणितव्या यावदुत्तराषाढानक्षत्रम् ।

तत्रोत्तराषाढानक्षत्रगतमभिलापं साक्षाद्दर्शयति-

ता जता णं सूरं गतिसमावण्णं उत्तरासाढाणक्खत्ते गतिसमावण्णे पुरच्छिमाते भागाते समासादेति, पुरच्छिमाते भागाते समासादेत्ता वीसं अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएति, जोयं जोएत्ता जोयं अणुपरियट्टति,जोयं अणुपरियट्टित्ता विजेति, विजहति, विप्पजहति, विगतजोई यावि भवति ।

'ता जया' इत्यादि सुगमम् । एतदनुसारेण शेषा अप्यालापाः स्वयं वक्तव्याः, सुगमत्वात्तु नात्र दर्श्यन्ते ।

(४१) संप्रति सूर्येण सह ग्रहस्य योगचिन्तां करोति-

ता जता णं सूरं गतिसमावण्णं गहे गतिसमावण्णे पुरच्छिमाते भागाते समासादेति, पुरच्छिमाते भागाते समासादेत्ता सूरेण सद्धिं अद्धा जोयं जुंजति, अद्धा जोयं जुंजित्ता अद्धा जोयं अणुपरियट्टति, अद्धा जोयं अणुपरियट्टित्ता विजेति० जाव विगतजोई यावि भवति।

"ता जया णं" इत्यादि सुगमम् ।

(४२) अधुना चन्द्राऽऽदयो नक्षत्रेण मासेन कति मण्डलानि चरन्तीत्येतन्निरूपयितुकाम आह-

ता णक्खत्तेणं मासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ? । ता तेरस मंडलाइं चरति, तेरस य सत्तट्ठिभागे मंडलस्स । ता णक्खत्तेणं मासेणं सूरे कति मंडलाइं चरति ? । ता तेरस मंडलाइं चरति, चोयालीसं च सत्तट्ठिभागे मंडलस्स । ता णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ?। ता तेरस मंडलाइं चरति, अद्धसीतालीसं च सत्तट्ठिभागे मंडलस्स ।

"ता णक्खत्तेणं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । नक्षत्रेण मासेन चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ?। एवं गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह-"ता तेरस" इत्यादि । त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य मण्डलस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागान् । कथमेतदवसीयते? इति चेत् । उच्यते-त्रैराशिकबलात् । तथाहि-यदि सप्तषष्ट्या नक्षत्रमासैरष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेन नक्षत्रमासेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-६७। ८८४ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातः स तावानेव, तस्य सप्तषष्ट्या भागहरणं, लब्धानि त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य च मण्डलस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः । १३ १३/६७ । "ता णक्खत्ते णं" इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-"ता तेरस" इत्यादि । त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य च मण्डलस्य चतुश्चत्वारिंशतं सप्तषष्टिभागान् । तथाहि-यदि सप्तषष्ट्या नक्षत्रैर्मासैर्नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि मण्डलानां सूर्यस्य लभ्यन्ते, तत एकेन नक्षत्रेण मासेन कति मण्डलानि लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-६७ । ९१५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, तत आद्येन राशिना भागहारः, लब्धानि त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य च मण्डलस्य चतुश्चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः ।१३। ४४/६७ । "ता णक्खत्ते" इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-"ता तेरस" इत्यादि । त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य च मण्डलस्य अर्द्धसप्तचत्वारिंशतं सार्धषट्चत्वारिंशतं सप्तषष्टिभागान् चरति । तथाहि-यदि सप्तषष्ट्या नक्षत्रैर्मासैरष्टादशशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि अर्द्धमण्डलानि नक्षत्रस्य लभ्यन्ते, तत एकेन नक्षत्रेण मासेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-६७ । १८३५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, तत आद्येन राशिना भागहारः, लब्धानि सप्तविंशतिरर्द्धमण्डलानि,अष्टाविंशतितमस्य चार्द्धमण्डलस्य षड्विंशतिः सप्तषष्टिभागाः २७ । २६/६७ । ततो द्वाभ्यामर्द्धमण्डलाभ्यामेकं मण्डलमित्यस्य राशेरर्द्धकरणेन लब्धानि त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य मण्डलस्य सार्द्धषट्चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः । १३ । ४६½/६७ ।

(४३) संप्रति चन्द्रमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलनिरूपणां करोति-

ता चंदेण मासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ? । चोद्दस

चउब्भागाइं मंडलाइं चरति, एगं च चउवीससयभागं मंडलस्स । ता चंदेणं मासेणं सूरे कति मंडलाइं चरति ? । ता पन्नरस चउब्भागूणाइं मंडलाइं चरति, एगं च चउवीससयभागं मंडलस्स । ता चंदेणं मासेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ? । ता पन्नरस चउभागूणाइं मंडलाइं चरति, छच्च चउवीससतभागे मंडलस्स ॥

"ता चंदेणं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । चन्द्रेण मासेन प्रागुक्तस्वरूपेण, चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ? । भगवानाह-"ता चउद्दस" इत्यादि । चतुर्दशस्य चतुर्भागमण्डलानि चतुर्भागसहितानि मण्डलानि चरति, एकं च चतुर्विंशतिशतं मण्डलस्य । किमुक्तं भवति ?-परिपूर्णानि चतुर्दश मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य चतुर्भागं चतुर्विंशत्यधिकशतसत्कैकत्रिंशद्भागप्रमाणम्, एकं च चतुर्विंशत्यधिकशतस्य भागं द्वात्रिंशतं, पञ्चदशस्य मण्डलस्य चतुर्विंशत्यधिकशतभागान् चरति । तथाहि-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेनाष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यां पर्वभ्यां किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१२४।८८४।२।अत्रान्त्येन राशिना द्विकलक्षणेन मध्यराशेर्गुणनं, जातानि सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि १७६८। तेषां चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागहरणं,लब्धानि चतुर्दश मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य द्वात्रिंशच्चतुर्विंशत्यधिकशतभागाः । १४ ३२/१२४ ।

"ता चंदेण" इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । "ता पन्नरस" इत्यादि । पञ्चदश चतुर्भागन्यूनानि मण्डलानि चरति, एकं च चतुर्विंशत्यधिकशतभागं मण्डलस्य । किमुक्तं भवति?-चतुर्दश परिपूर्णानि मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य चतुर्नवतिचतुर्विंशत्यधिकशतभागान् चरति । तथाहि-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि मण्डलानां लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यां किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१२४ । ९१५ । २ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि । १८३० । एतेषामाद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागहरणं, लब्धानि चतुर्दश मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य चतुर्नवतिचतुर्विंशत्यधिकशतभागाः । १४ ९४/१२४ । इति । "ता चंदेणं" इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-"ता पन्नरस" इत्यादि । पञ्चदश मण्डलानि चतुर्भागन्यूनानि चरति, षट्चतुर्विंशत्यधिकशतभागान्मण्डलस्य । किमुक्तं भवति ?—परिपूर्णानि चतुर्दशमण्डलानि चरति, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य नवनवतिचतुर्विंशत्यधिकशतभागान् । तथाहि-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेनाष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि अर्धमण्डलानां लभ्यन्ते,ततो द्वाभ्यां पर्वभ्यां किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१२४ । १८३५ । २ । अत्रान्त्येन राशिना द्विकलक्षणेन मध्यराशेर्गुणनं, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि सप्तत्यधिकानि । ३६७० । एतेषामाद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकशतरूपेण भागहरणं, लब्धा एकोनत्रिंशत, शेषास्तिष्ठन्ति चतुःसप्ततिः । इदं चार्धमण्डलगतं परिमाणम् । द्वाभ्यां चार्धमण्डलाभ्यामेकं परिपूर्णं मण्डलं,ततोऽस्य राशेर्द्विकेन भागहारः,लब्धानि चतुर्दश मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य नवनवतिश्चतुर्विंशत्यधिकशतभागाः । १४ ९९/१२४ ।

(४४) साम्प्रतमृतुमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलनिरूपणां करोति-

ता उडणा मासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ?। ता चोद्दसमंडलाइं चरति, तीसं च एगट्ठिभागे मंडलस्स । ता उडणा मासेणं सूरे कति मंडलाइं चरति ? । ता पण्णरस मंडलाइं चरति । ता उडणा मासेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ?। ता पण्णरस मंडलाइं चरति,पंच य बावीसमतभागे मंडलस्स ।

"ता उउमासेणं चंद" इत्यादि । ऋतुमासेन कर्ममासेन चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ?। भगवानाह-"ता चोद्दस" इत्यादि । चतुर्दश मण्डलानि चरति । पञ्चदशस्य च मण्डलस्य त्रिंशतमेकषष्टिभागान् । तथाहि-यदि एकषष्ट्या कर्ममासैरष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते,तत एकेन कर्ममासेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-६१ । ८८४ । १ । अत्रान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्यराशेर्गुणनं, जातः स तावानेव । तस्य एकषष्ट्या भागहरणं, लब्धानि परिपूर्णानि चतुर्दश मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य त्रिंशदेकषष्टिभागाः । १४ ३०/६१ । "ता उडणा मासेणं" इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-"ता पणरस" इत्यादि । पञ्चदश परिपूर्णानि मण्डलानि चरति । तथाहि-यद्येकषष्ट्या कर्ममासैर्नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि सूर्यमण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेन कर्ममासेन किं लभामहे ? । राशित्रयस्थापना-६१ । ९१५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते,जातः स तावानेव,तस्यैकषष्ट्या भागहरणं, लब्धानि परिपूर्णानि पञ्चदश मण्डलानि । १५ । "ता उडणा मासेणं"इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-"ता पणरस" इत्यादि । पञ्चदश मण्डलानि चरति,षोडशस्य च मण्डलस्य पञ्चद्वाविंशतिशतभागान् । तथाहि-यदि द्वाविंशेन कर्ममासशतेनाष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि मण्डलानि नक्षत्रस्य लभ्यन्ते,तत एकेन कर्ममासेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१२२ । १८३५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं,जातः स तावानेव,तस्याऽऽद्येन राशिना द्वाविंशत्यधिकशतरूपेण भागहरणं,लब्धानि पञ्चदश मण्डलानि, षोडशस्य च पञ्चद्वाविंशशतभागाः । १५ ५/१२२ ।

(४५) संप्रति सूर्यमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलानि निरूपयति-

ता आइच्चेणं मासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ? । ता चोद्दसमंडलाइं चरति, एक्कारस य पन्नरसभागे मंडलस्स । ता आइच्चेणं मासेणं सूरे कति मंडलाइं चरति ? । ता पण्णरस चउभागाइं मंडलाइं चरति । ता आइच्चेणं मासेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ? । ता पण्णरस चउब्भागाइं मंडलाइं चरति, पंचतीसं च वीससतभागे मंडलस्स ॥

"ता आइच्चेणं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । आदित्येन मासेन चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ? । भगवानाह-चतुर्दश मण्डलानि चरति, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य एकादश पञ्चदश भागान् । तथाहि-यदि षष्ट्या सूर्यमासैरष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि मण्डलानां चन्द्रस्य लभ्यन्ते, तत एकेन सूर्यमासेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-६० । ८८४ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातः स

तावानेव, तस्य षष्ट्या भागहरणं, लब्धानि चतुर्दश मण्डलानि, शेषाः तिष्ठन्ति चतुश्चत्वारिंशत् । ४४ । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योः चतुष्केनापवर्तना, जात उपरितनो राशिरेकादशरूपोऽधस्तनः पञ्चदशरूपः, लब्धाः पञ्चदशमण्डलस्यैकादशभागाः । १४ । ११/१५ । " ता आइच्चेणं " इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-पञ्चदशचतुर्भागाधिकानि मण्डलानि चरति । तथाहि-यदि षष्ट्या सूर्यमासैर्नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि मण्डलानां सूर्यस्य लभ्यन्ते, तत एकेन मासेन किं लभामहे ? । राशित्रयस्थापना-६० । ९१५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्यराशेर्गुणनं, जातः स तावानेव, तस्य षष्ट्या भागहरणं, लब्धानि पञ्चदश मण्डलानि, षोडशस्य च षष्टिभागविभक्तस्य पञ्चदशभागात्मकाश्चतुर्भागाः । १५ । ४/१५ । " ता आइच्चेणं" इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-"ता पण्णरस" इत्यादि । पञ्चदश मण्डलानि चतुर्भागाधिकानि पञ्चत्रिंशतं विंशत्यधिकशतभागान् मण्डलस्य चरति । किमुक्तं भवति ?-षोडशस्य च मण्डलस्य पञ्चत्रिंशतं विंशत्यधिकशतभागान् चरति । तथाहि-यदि विंशेन सूर्यमासशतेनाष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि मण्डलानां नक्षत्रस्य लभ्यन्ते, तत एकेन सूर्यमासेन किं लभ्यते ? । राशित्रयस्थापना-१२० । १८३५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुणितः, जातस्तावानेव, तस्य विंशत्यधिकेन शतेन भागहरणं, लब्धानि पञ्चदश मण्डलानि, पञ्चत्रिंशच्च विंशत्यधिकाः शतभागाः षोडशस्य । १५ । ३५/१२० ।

(४६) अधुनाऽभिवर्द्धितमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलानि निरूपयन्नाह—

ता अभिवड्ढितेणं मासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ?। ता पण्णरस मंडलाइं चरति, तेसीतिछलसीतिसतभागे मंडलस्स । ता अभिवड्ढितेणं मासेणं सूरे कति मंडलाइं चरति ?। ता सोलस मंडलाइं चरति तीहिं भागेहिं ऊणगाइं, दोहिं अडयालेहिं सएहिं मंडलं छित्ता । ता अभिवड्ढितेणं मासेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ?। ता सोलस मंडलाइं चरति, सीतालीसाएहिं भागेहिं अहियाहिं चोद्दसहिं अट्ठासीएहिं सएहिं मंडलं छेत्ता ॥

" ता अभिवड्ढितेणं " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । अभिवर्द्धितेन मासेन चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ?। भगवानाह-"ता पण्णरस " इत्यादि । पञ्चदश मण्डलानि चरति, षोडशस्य च मण्डलस्य त्र्यशीतिषडशीत्यधिकशतभागान् । तथाहि-अत्रैवं त्रैराशिकम्-इह युगेऽभिवर्द्धितमासाः सप्तपञ्चाशत्, सप्त चाहोरात्राः, एकादश मुहूर्त्तास्त्रयोविंशतिश्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य । एषां च राशिः सांऽश इति नत्रैराशिककर्मविषयः । ततः परिपूर्णमासप्रतिपत्त्यर्थमयं राशिः षट्पञ्चाशदधिकेन शतेन गुण्यते, जातानि परिपूर्णानि नवाशीतिशतान्यष्टाविंशत्यधिकान्यभिवर्द्धितमासानाम् । किमुक्तं भवति ?-षट्पञ्चाशदधिकशतसंख्येषु युगेष्वेतावन्तः परिपूर्णा अभिवर्द्धितमासा लभ्यन्ते । एतच्च द्वादशप्राभृते स्वयमेव सूत्रकृता साक्षादभिहितम् । ततस्त्रैराशिककर्मावतारः । यद्यष्टाविंशत्यधिकैरभिवर्द्धितमासैर्नवाशीतिशतैः षट्पञ्चाशदधिकशतसंख्यया युगभाविभिश्चान्द्रमण्डलानामेकलक्षं सप्तत्रिंशत्सहस्राणि नवशतानि चतुरुत्तराणि लभ्यन्ते, तत एकेनाभिवर्द्धितमासेन किं लभामहे ? । राशित्रयस्थापना ८९२८ । १३७९०४ । १ । अत्रान्त्येन राशिनैकलक्षणेन मध्यराशेस्ताडना, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन ८९२८ राशिना भागहरणं, लब्धानि पञ्चदश मण्डलानि । १५ । शेषमुद्धरति एकोनचत्वारिंशच्छतानि चतुरशीत्यधिकानि । ३९८४ । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योरष्टाचत्वारिंशताऽपवर्त्तना, जात उपरितनो राशिस्त्र्यशीतिरधस्तनः षडशीत्यधिकं शतम् । ८३/१८६ । आगतं षोडशमण्डलस्य त्र्यशीति षडशीत्यधिकशतभागाः । " ता अभिवड्ढितेणं " इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-" ता सोलस " इत्यादि । षोडश मण्डलानि त्रिभिर्भागैर्न्यूनानि चरति । मण्डलं द्वाभ्यामष्टाचत्वारिंशदधिकाभ्यां शताभ्यां छित्वा । तथाहि-यदि षट्पञ्चाशदधिकशतसंख्ययुगभाविभिरष्टाविंशत्यधिकैरभिवर्द्धितमासनवाशीतिशतैः सूर्यमण्डलानामेकं लक्षं, द्विचत्वारिंशत्सहस्राणि, सप्त शतानि चत्वारिंशदधिकानि लभ्यन्ते, तत एकेनाभिवर्द्धितमासेन किं लभामहे ? । राशित्रयस्थापना—८९२८ । १४२७४० । १ । अत्रान्त्येन राशिनैकलक्षणेन मध्यराशिर्गुण्यते, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन ८९२८ राशिना भागो ह्रियते, लब्धानि पञ्चदश मण्डलानि । १५ । शेषमुद्धरन्ति अष्टाशीतिशतानि विंशत्यधिकानि । ८८२० । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योः षट्त्रिंशताऽपवर्त्तना, जात उपरितनो राशिर्द्वे शते पञ्चचत्वारिंशदधिके । २४५ । अधस्तनो द्विशतेऽष्टचत्वारिंशदधिके । २४८ । आगतं षोडशमण्डलं त्रिभिर्भागैर्न्यूनं द्वाभ्यामष्टाचत्वारिंशदधिकाभ्यां शताभ्यां प्रविभक्तम् । २४८ । "ता अभिवड्ढितेणं" इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह -"ता सोलस" इत्यादि । षोडश मण्डलानि सप्तचत्वारिंशता भागैरधिकानि चतुर्दशभिः शतैरष्टाशीत्यधिकैर्मण्डलं छित्वा । तथाहि-यदि षट्पञ्चाशदधिकशतसंख्ययुगभाविभिरभिवर्द्धितमासनवाशीतिशतैरष्टाविंशत्यधिकैर्नक्षत्रमण्डलानामेकलक्षं त्रिचत्वारिंशत्सहस्राणि शतमेकं त्रिंशदधिकं लभ्यते, तत एकेनाभिवर्द्धितमासेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-८९२८ । १४३१३० । १ । अत्रान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्यराशेर्गुणन, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन ८९२८ राशिना भागो ह्रियते, लब्धानि षोडश मण्डलानि, शेषमुद्धरति द्वे शते द्व्यशीत्यधिके । २८२ । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योः षट्केनापवर्तना, जाता उपरि सप्तचत्वारिंशत्, अधस्तु चतुर्दश शतान्यष्टाशीत्यधिकानि । ४७/१४८८ । आगताः सप्तचत्वारिंशदष्टाशीत्यधिकचतुर्दशशतभागाः ।

(४७) संप्रत्येकैकेनाहोरात्रेण चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं कति मण्डलानि चरन्तीत्येतन्निरूपणार्थमाह-

ता एगमेगेणं अहोरत्तेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ?। ता एगं अद्धमंडलं चरति, एकतीसाए भागेहिं ऊणं णवहिं पण्णरसेहिं सतेहिं अद्धमंडलं छेत्ता । ता एगमेगेणं अहोरत्तेणं सूरिए कति मंडलाइं चरति ?। ता एगं अद्धमंडलं चरति । ता एगमेगेणं अहोरत्तेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ?। ता एगं अद्धमंडलं चरति, दोहिं भागेहिं अधियं सत्तहिं दुतीसेहिं सएहिं अद्धमंडलं छेत्ता ।

" ता एगमेगेणं " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एकैकेनाहोरात्रेण चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ? । भगवानाह -" ता एगं"

इत्यादि । एकमर्द्धमण्डलं चरति, एकत्रिंशता भागैर्न्यूनं नवभिः पञ्चदशोत्तरैः शतैरर्द्धमण्डलं छित्वा । तथाहि-रात्रिन्दिवानामष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तदश शतान्यष्टषष्ट्यधिकान्यर्द्धमण्डलानां चन्द्रस्य लभ्यन्ते, तत एकेन रात्रिन्दिवेन किं लभ्यते ?। राशित्रयस्थापना-१८३०।१७६८।१। अत्रान्त्येन राशिनैकलक्षणेन मध्यराशिर्गुण्यते, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन १८३० राशिना भागहरणं, स चोपरितनस्य राशेः स्तोकत्वाद्भागं न लभते। ततश्छेद्यच्छेदकराश्योर्द्विकेनापवर्तना, जात उपरितनो राशिरष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि, अधस्तनो नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि । ८८४/९१५ । तत आगतमेकत्रिंशता भागैर्न्यूनमेकमर्द्धमण्डलं नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैः प्रविभक्तमिति । " ता एगमेगेणं " इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह-" ता एगमेगेणं " इत्यादि । एकमर्द्धमण्डलं चरति । एतच्च सुप्रतीतमेव । " ता एगमेगेणं " इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-" ता एगमेगेणं " इत्यादि । एकमर्द्धमण्डलं द्वाभ्यां भागाभ्यामधिकं चरति, द्वात्रिंशदधिकैः सप्तभिः शतैरर्द्धमण्डलं छित्वा । तथाहि-अहोरात्राणामष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैरष्टादशशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि नक्षत्राणामर्द्धमण्डलानि लभ्यन्ते, तत एकेनाहोरात्रेण किं लभ्यते ?। राशित्रयस्थापना-१८३० । १८३५ ।१। अत्रान्त्येन राशिनैककरूपेण मध्यराशेर्गुणना; जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन १८३० राशिना भागहरणं, लब्धमेकमर्द्धमण्डलं, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्च । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योरर्द्धतृतीयैरपवर्तना, जातावुपरि द्वौ अधस्तात्सप्त शतानि द्वात्रिंशदधिकानि, २/७३२ । लब्धौ द्वौ द्वात्रिंशदधिकसप्तशतभागौ ।

(४८) अधुना एकैकं परिपूर्णं मण्डलं चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं कतिभिरहोरात्रैश्चरन्तीत्येतन्निरूपणार्थमाह-

ता एगमेगं मंडलं चंदे कतिहिं अहोरत्तेहिं चरति ? । ता दोहिं अहोरत्तेहिं चरति, एकतीसाए भागेहिं अहिएहिं चउहिं चोयालेहिं सतेहिं राइंदिएहिं छेत्ता। ता एगमेगं मंडलं सूरे कतिहिं अहोरत्तेहिं चरति ?। ता दोहिं अहोरत्तेहिं चरति । ता एगमेगं मंडलं णक्खत्ते कतिहिं अहोरत्तेहिं चरति ? । ता दोहिं अहोरत्तेहिं चरति, दोहिं भागेहिं ऊणेहिं तिहिं सत्तट्ठेहिं सतेहिं राइंदियं छेत्ता ।

" ता एगं " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एकैकं मण्डलं चन्द्रः कतिभिरहोरात्रैश्चरति ?। भगवानाह-" ता दोहिं " इत्यादि । द्वाभ्यामहोरात्राभ्यां चरति, एकत्रिंशता भागैरधिकाभ्यां चतुर्भिश्चत्वारिंशदधिकैः शतै रात्रिन्दिवं छित्वा । तथाहि-यदि चन्द्रस्य मण्डलानामष्टभिः शतैश्चतुरशीत्यधिकैरहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि लभ्यन्ते, तत एकेन मण्डलेन कति रात्रिन्दिवानि लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-८८४।१८३०। १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन राशिना चतुरशीत्यधिकाष्टशतप्रमाणेन भागहरणं, लब्धौ द्वावहोरात्रौ, शेषास्तिष्ठन्ति द्वाषष्टिः । ६२ । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योर्द्विकेनापवर्तना, जात उपरितनो राशिरेकत्रिंशत्, अधस्तनश्चत्वारि शतानि द्वाचत्वारिंशदधिकानि । ३१/४४२ । तत आगतमेकत्रिंशत् द्विचत्वारिंशदधिकचतुःशतभागाः । " ता एगमेगं " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एकैकं मण्डलं सूर्यः कतिभिरहोरात्रैश्चरति ?। भगवानाह-" ता दोहिं " इत्यादि । द्वाभ्यामहोरात्राभ्यां चरति । तथाहि-यदि सूर्यस्य मण्डलानां नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैरष्टादश शतानि त्रिंशदधिकान्यहोरात्राणां लभ्यन्ते, तत एकेन मण्डलेन कत्यहोरात्रान् लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-९१५ । १८३० । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन ९१५ राशिना भागहरणं, लब्धौ द्वावहोरात्राविति । " ता एगमेगं " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एकैकमात्मीयं मण्डलं नक्षत्रं कतिभिरहोरात्रैश्चरति ?। भगवानाह-"ता दोहिं " इत्यादि । द्वाभ्यामहोरात्राभ्यां चरति, द्वाभ्यां भागाभ्यां हीनाभ्यां त्रिभिः सप्तषष्टैः सप्तषष्ट्यधिकैः शतै रात्रिन्दिवं छित्वा । तथाहि-यदि नक्षत्रस्य मण्डलानामष्टादशभिः शतैः पञ्चत्रिंशदधिकैः षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि रात्रिन्दिवानां लभामहे, तदैकेन मण्डलेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१८३५। ३६६०।१। अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेस्ताडना, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन १८३५ राशिना भागहरणं, लब्धमेकं रात्रिन्दिवं, शेषाणि तिष्ठन्त्यष्टादश शतानि पञ्चविंशत्यधिकानि । १८२५ । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योः पञ्चकेनापवर्तना । जात उपरितनो राशिस्त्रीणि शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ३६५ । छेदकराशिस्त्रीणि शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि, ३६७ तत आगतं द्वाभ्यां सप्तषष्ट्यधिकशतभागाभ्यां हीनं द्वितीयं रात्रिन्दिवमिति ।

(४९) संप्रति चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं कति मण्डलानि युगे चरन्तीत्येतन्निरूपणार्थमाह-

ता जुगेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ?। ता अट्ठचुलसीते मंडलसते चरति । ता जुगेहिं सूरे कति मंडलाइं चरति ?। ता णव पण्णरसे मंडलसते चरति । ता जुगेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ?। ता अट्ठारस पणतीसे दुभागमंडलसते चरति ॥

" ता जुगेणं " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । युगेन कति मण्डलानि चरति ?। भगवानाह-"ता अट्ठ" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । अष्टौ मण्डलशतानि चतुरशीत्यधिकानि चरति । तथाहि-चन्द्र एकेन शतसहस्रेणाष्टानवत्या शतैः प्रविभक्तस्य मण्डलस्याष्टषष्ट्यधिकसप्तदशशतसंख्यान् भागान् एकेन मुहूर्तेन गच्छति । युगे च मुहूर्ताः सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत्सहस्राणि, नव शतानि, ततः सप्तदश शतानि अष्टषष्ट्यधिकानि चतुःपञ्चाशता सहस्रैर्नवभिश्च शतैर्गुण्यन्ते, जाता नव कोटयः, सप्तत्रिंशल्लक्षाः, त्रिषष्टिः सहस्राणि, द्वे शते ९७०६३२०० । ततोऽस्य राशेरेकेन शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैः १०९८०० मण्डलाऽऽनयनाय भागो ह्रियते, लब्धानि अष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि मण्डलानामिति । "ता जुगेणं" इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह-"ता नव पणरस" इत्यादि।'ता' इति पूर्ववत् । नव मण्डलशतानि पञ्चदशाधिकानि चरति । तथाहि-यदि द्वाभ्यामहोरात्राभ्यामेकं सूर्यमण्डलं लभ्यते, ततः सकलयुगभाविभिरष्टादशभिरहोरात्रशतैस्त्रिंशदधिकैः कति मण्डलानि लभ्यन्ते ?। राशित्रयस्थापना-२।१।१८३०। अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३०। तेषामाद्येन राशिना द्विकरूपेण भागहरणं,

लब्धानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि ६१५। " ता जुगेणं " इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम । भगवानाह-"ता अट्ठार-स" इत्यादि। अष्टादशशतानि भागमण्डलशतानि अर्द्धमण्डलशतानि पञ्चत्रिंशानि पञ्चत्रिंशदधिकानि चरति । तथाहि-नक्षत्रमेकेन शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैः प्रविभक्तस्य मण्डलस्य सकलात् पञ्चत्रिंशदधिकाष्टादशशतसंख्यात् भागात् एकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, युगं च मुहूर्त्तानां सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत्सहस्राणि, नव शतानि। ततस्तैः चतुष्पञ्चाशता सहस्रैर्नवभिः शतैरष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि गुण्यन्ते, जाता दश कोटयः, सप्त लक्षाः, एकचत्वारिंशत् सहस्राणि, पञ्चशतानि १००७४१५०० । अर्द्धमण्डलानि चेह ज्ञातुमिष्टानि, ततः एकस्य शतसहस्रस्याष्टानवतेश्च शतानामर्द्धं यानि चतुःपञ्चाशत्सहस्राणि नव शतानि, तैर्भागो ह्रियते, लब्धानि अष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि अर्द्धमण्डलानामिति । सू० प्र० १५ पाहु० । चं० प्र० । ज्यो० । द० प० ।

(४०) " चंदेहि उ सिग्घयरा, सूरा सूरेहिँ तह गहा सिग्घा ।
नक्खत्ता उ गहेहि य, नक्खत्तेहिं तु ताराओ ॥ ६४ ॥
सव्वऽप्पगई चंदा, तारा पुण हुंति सव्वसिग्घगई ।
एसो गईविसेसो, जोइसियाणं तु देवाणं ॥६५॥" द० प० ।

(४१) अथ चन्द्रसूर्यनक्षत्रताराणामल्पर्द्धिकत्वं महर्द्धिकत्वं च विवक्षुराह-

एतेसि णं भंते! चंदिमसूरियगहगणणक्खत्ततारारूवाणं कयरे सव्वमहिड्ढिआ,कयरे सव्वप्पिड्ढिआ? गोयमा! तारारूवेहिंतो णक्खत्ता महिड्ढिआ, णक्खत्तेहिंतो गहा महिड्ढिआ, गहेहिंतो सूरिआ महिड्ढिआ,सूरेहिंतो चंदा महिड्ढिआ,सव्वप्पिड्ढिआ तारारूवा,सव्वमहिड्ढिआ चंदा ।

" एतेसि णं " इत्यादि । एतेषां भदन्त ! चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराणां मध्ये कतरे सर्वमहर्द्धिकाः,कतरे च,चकारोऽत्र गम्यः। सर्वाल्पर्द्धिकाः ? । भगवानाह-गौतम ! तारारूपेभ्यो नक्षत्राणि महर्द्धिकानि, नक्षत्रेभ्यो ग्रहा महर्द्धिकाः, ग्रहेभ्यः सूर्या महर्द्धिकाः,सूर्येभ्यश्चन्द्रा महर्द्धिकाः। अत एव सर्वाल्पर्द्धिकास्तारारूपाः, सर्वमहर्द्धिकाश्चन्द्राः । इयमत्र भावना-गतिविचारणायां येभ्यः शीघ्रा उक्तास्ते तेभ्य ऋद्धिविचारणायामुत्क्रमतो महर्द्धिका ज्ञेया इति । जं० ७ वक्ष० । जी० । सू० प्र० । चं० प्र० । (चन्द्रसूर्ययोरुदयास्तमयने, तत्र बहूनां विप्रतिपत्तयस्तन्निराकरणं च ' सूरमंडल ' शब्दे वक्ष्यते) गणितप्रतिपादके ज्योतिःशास्त्रे, न० । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

जोइसियदेवित्थी-ज्योतिष्कदेवस्त्री-स्त्री० । चन्द्राऽऽदिज्योतिष्कदेवानामग्रमहिष्याम्, जी० ।

से किं तं जोइसियदेवित्थियाओ ? । जोइसियदेवित्थियाओ पंचविहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-चंदविमाणजोइसियदेवित्थियाओ, सूरविमाणजोइसियदेवित्थियाओ, गहविमाणजोइसियदेवित्थियाओ, णक्खत्तविमाणजोइसियदेवित्थियाओ, ताराविमाणजोइसियदेवित्थियाओ । सेत्तं जोइसियदेवित्थियाओ । जीव० १ प्रति० ।

जोइसियमंडल-ज्योतिष्कमण्डल-न० । चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराणां मण्डले, जं० ७ वक्ष० । (ज्योतिष्कमण्डलनिरूपणस्वरूपं ' मंडल ' शब्दे वक्ष्यते) (अथ सूर्यमण्डलानां मिथश्चन्द्रमण्डलानां चान्तराणि 'अंतर' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठे द्रष्टव्यानि)

अथ कति मण्डलानि द्वीपे, कति च लवणे चन्द्रसूर्ययोर्भवन्तीत्याह-

संततमंतरमेयं, रवीण पणसट्ठि मंडला दीवे ।
तत्थ विसट्ठि निसढे, तिन्नि अबाहाएँ तस्सेव ॥११॥

सन्ततं निरन्तरम्, एतत्पूर्वोक्तं सूर्याचन्द्रयोश्च मध्ये प्रविशतोर्बहिर्निर्गच्छतोश्च मण्डलानां परस्परमन्तरं ज्ञेयं, तत्र रव्योः पञ्चषष्टिमण्डलानि द्वीपे, तत्रापि द्वाषष्टि निषधपर्वते,त्रीणि च तस्य बाहायाम । इदं तु श्रीमुनिचन्द्रसूरिभिरुक्तं समवायावृत्तौ। त्रिषष्टिस्थाने जम्बूद्वीपस्य पर्यन्तेऽशीत्युत्तरे योजनशते पञ्चषष्टिर्भवन्ति । तत्र निषधपर्वते नीलवन्तपर्वते च त्रिषष्टिः सूर्योदयाः, सूर्यमण्डलानि इत्यर्थः । तदन्यं तु द्वे जगत्यां, शेषाणि तु लवणे इत्युक्तमस्ति। संग्रहणीवृत्त्यादावपि त्रिषष्टिः २ मण्डलानि निषधनीलवतोः, द्वे द्वे हरिवर्षकान्त्यादौ ॥ ११ ॥

चंदाणं निसढे विं अ, मंडल पण गुरूवएसि दीसंति ।
सेसाइँ मंडलाइं, दोण्ह वि जलहिस्स मज्झम्मि ॥१२॥

तथा चन्द्रयोर्निषधनीलवत्पर्वते एव पञ्च मण्डलानि गुरूपदेशे दृश्यन्ते । शेषाणि द्वयोरपि जलधौ दशैव, पञ्च शशिनश्च भवन्ति । तत्राप्ययं विशेषः—१ । २ । ३ । ४ । ५ । ११ । १२ । १३ । १४ । १५ । एतानि चन्द्रस्य सूर्यस्याऽपि साधारणानि । ६ । ७ । ८ । ९ । १० रूपाणि पुनश्चन्द्रस्यैव भवन्ति, न जातुचिदपि तेषु सूर्यः समायाति । चन्द्रस्य मण्डलान्तराणि चतुर्दश सन्ति । तत्र चतुर्षु सर्वाभ्यन्तरेषु सर्वबाह्यमण्डलान्तरेषु च सूर्यस्य प्रत्येकं द्वादश मण्डलानि स्युः, मध्यवर्त्तिषु षट्सु चन्द्रमण्डलान्तरेषु सूर्यमण्डलानि त्रयोदश भवन्ति ॥ १२ ॥ मं० ।

चन्द्रमण्डलाऽऽदिविष्कम्भो यथा-

एगट्ठिभागे छेत्तू-ण जोयणं तस्स हौंति जे भागा ।
ते चंदा छप्पन्नं, अडयालीसं तवे सूरा ॥

एकषष्ट्या योजनप्रमाणाद्भागनिष्पन्नं छित्त्वा तस्य भवन्ति ये भागा एकषष्टिसंख्याः,ते च चन्द्राश्चन्द्रमण्डलानि षट्पञ्चाशद् भवन्ति । सूर्यमण्डलं तु भवत्यष्टचत्वारिंशद्भागाः । किमुक्तं भवति ?-योजनस्यैकषष्टिभागाः षट्पञ्चाशच्चन्द्रमण्डलस्य विष्कम्भपरिमाणं सूर्यमण्डलस्याष्टचत्वारिंशत् । एतदेव गव्यूतपरिमाणेन चिन्त्यते-तत्र चतुर्गव्यूतं योजनमिति षट्पञ्चाशच्चतुर्भिर्गुण्यते, जाते द्वे शते चतुर्विंशत्यधिके । २२४ । तयोरेकषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रयः क्रोशाः, एकस्य च क्रोशस्य एकचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः । विष्कम्भार्द्धं चोत्सेध, ततोऽष्टाविंशतिरेकषष्टिभागा योजनस्योत्सेधपरिमाणं चन्द्रमण्डलस्य सार्द्धगव्यूतमेकचत्वारिंशदधिकसार्धैकषष्टिभागा गव्यूतस्य, तथा सूर्यमण्डलस्याष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जातं द्विनवत्यधिकं शतम ।१९२। तस्यैकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयः क्रोशाः,क्रोशस्य च नवैकषष्टिभागा विष्कम्भार्द्धमुत्सेधे

च इत्युत्सेधपरिमाणं चतुर्विंशत्येकषष्टिभागा योजनस्य । यदि वा अर्द्धं गव्यूतं, नव च द्वाविंशत्यधिकशतभागान् गव्यूतस्य । तथा चन्द्रस्य चन्द्रमण्डलस्य परिधेः परिमाणं द्वे योजने, त्रयः क्रोशाः, एकस्य क्रोशस्य सप्तत्रिंशदेकषष्टिभागा विशेषाधिकाः । सूर्यमण्डलस्य द्वे योजने, एकः क्रोशः, अष्टापञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागाः क्रोशस्य विशेषाधिकाः। नक्षत्राऽऽदिमण्डलानां तु विष्कम्भाऽऽदिपरिमाणं संग्रहणीटीकायां तत्त्वार्थटीकायां चाभिहितमस्माभिरिति ततोऽवधार्यम । ज्यो० ७ पाहु० । (चन्द्रसूर्यनक्षत्रग्रहताराणां मुहूर्तगतिप्रमाणं 'जोइसिय' शब्दे १६०५ पृष्ठे गतम)

जोइसियराय-ज्योतिष्कराज-पुं० । चन्द्रे, सूर्ये च । " चंदसूरिया य एत्थ दुवे जोइसिंदा जोइसियरायाणो परिवसंति । " प्रज्ञा० २ पद । स्था० । सू० प्र० ।

जोइसियविमाण-ज्योतिष्कविमान-न० । चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराणां विमाने, "एत्थ णं जोइसियाणं देवाणं तिरियमसंखेज्जा जोइसियविमाणावाससयसहस्सा हवंति । " प्रज्ञा० २ पद । (सर्वा विमानवक्तव्यता 'विमाण' शब्दे वक्ष्यते)

जोइस्सर-योगीश्वर-पुं० । योगो धर्मः शुक्लध्यानलक्षणः, स येषां विद्यते इति योगिनः साधवः, तेरीश्वरः सदुपदेशेन तेषां प्रवृत्तेस्तत्संबन्धाऽऽदेति, तेषां वा ईश्वरो योगीश्वरः । प्रभुरित्यनर्थान्तरम् । योगिनां प्रभौ, आव० ४ अ० ।

यदुक्तम्-

"चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा, शूद्रोऽथ वा तापसः,
किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि वा ? ।
इत्थस्वल्पविकल्पजल्पमुखरैः संभाष्यमाणो जनैर्नो रुष्टो न हि चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति ॥१॥ " उत्त० ३ अ० । याज्ञवल्क्यमुनौ, योगिनां श्रेष्ठे च । दुर्गायाम्, स्त्री० । ङीप् । वाच० ।

योगेश्वर-पुं० । युज्यन्त इति योगा मनोवाक्कायव्यापारलक्षणाः, तैरीश्वरः प्रधानो योगेश्वरः । योगप्रधाने, आव० ४ अ० । श्रीकृष्णे, दुर्गायां, वन्ध्याकर्कोटक्यां च, स्त्री० । ङीप् । वाच० ।

योगिस्मर्य-त्रि० । योगिनां चिन्तनीये, आव० ४ अ० ।

जोईरस्सिचारण-ज्योतीरश्मिचारण-पुं० । चारणभेदे, चन्द्रार्कग्रहनक्षत्राऽऽद्यन्यतमज्योतीरश्मिसंबन्धेन भुवीव चरणचङ्क्रमणप्रवणा ज्योतीरश्मिचारणाः । प्रव० ६७ द्वार ।

जोईरस-ज्योतीरस-न० । रत्नभेदे, रा० । ज्ञा० । आ० म० । स्था० । ज्योतीरसं नाम रत्नम् । जी० ३ प्रति० ।

जोईरसमय-ज्योतीरसमय-त्रि० । ज्योतीरसाऽऽख्यरत्नाऽऽत्मके, " जोईरसमया उत्तरंगा । " " जोईरसमया वंसा । " ज्योतीरसं नाम रत्नं तन्मया वंशाः । रा० ।

जोक्कारकरण-जोत्कारकरण-न० । पित्रादीनां जोत्कारकरणाऽऽत्मके जिनभवनविषयाशातनाभेदे, ध० २ अधि० ।

जोग-योग-पुं० । योजनं योगः। युज्-घञ् । बन्धे, योगो बन्ध इत्यनर्थान्तरमिति । पं० सू० ४ सूत्र । संबन्धे, सू० ६ स०। आतु० । स्था० । ज्ञा० । प्रश्न० । विशे० । संभवे, दश० १० दश० । अप्राप्तज्ञानाऽऽदिप्रापणे, कल्प० १ क्षण ।

(१) " जोगक्खेमं वट्टमाणा परिवहंति । " अलब्धस्येप्सितस्य वस्तुनो लाभो योगो, लब्धस्य परिपालनं क्षेम इति । ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । योगो बीजाऽऽधानोद्भेदपोषणकरणम्, क्षेमं तत्सदुपद्रवाऽऽपादनम् । रा० । संयोगे, मेलने, वर्माऽऽदिधारणे, युक्तौ, शब्दाऽऽदीनां प्रयोगे, समुदायशब्दस्यावयवार्थसंबन्धे, 'योगबलं समाख्या ' इति मीमांसकाः । " योगः कर्मसु कौशलम् " इत्युक्ते यथास्थितवस्तुनोऽन्यथारूपप्रतिपादने, वाच० । विधिकर्त्रनुकूलपरिवारसंपत्तौ, प्रति० । द्रव्यतो बाह्ये मनोवाक्कायव्यापारे, सं० । आ० म० । आ० चू० । नं० । अनु० । नि० चू० । पं० व० । प्र० । स्था० । प्रश्न० । आव० । उत्त० । सूत्र० । विशे० । योगो, व्यापारः, कर्म, क्रियेत्यनर्थान्तरमिति । विशे० । आतु० । व्य० । जीत० । "जोगा मणमाईआ ।" योगा मनोव्यापाराऽऽदयः। प्रति० । आचा० । स्था० । सूत्र० । "मणवयसकाइए जोगे वट्टमाणाणं" स्था० ६ ठा० ।

(२) स च द्विधा । द्रव्ययोगो, भावयोगश्च-

दव्वे मणवइकाए-जोगा दव्वा दुहा उ भावम्मि ।
जोगो सम्मत्ताई, पसत्थ इयरो य विवरीओ ॥

द्रव्य इति द्वारपरामर्शः । (मणवइकाए-जोगा दव्वा इति) मनोवाक्काययोग्यानि द्रव्याणि द्रव्ययोगः। इयमत्र भावना-जीवेनागृहीतानि गृहीतानि वा स्वव्यापाराप्रवृत्तानि द्रव्ययोगः । (दुहा उ भावम्मि त्ति) द्विधैव,तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद् द्विप्रकार एव,भावे भावविषयो योगः । तद्यथा-प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । तत्र प्रशस्तः सम्यक्त्वाऽऽदिः। आदिशब्दाद् ज्ञानाऽऽवरणपरिग्रहः। प्रशस्तता चास्य प्रशस्यते युज्यते अनेनाऽऽत्माऽपवर्गेणेत्यन्वर्थबलात् । इतरो मिथ्यात्वाऽऽदियोगो विपरीतोऽप्रशस्तः, युज्यतेऽनेनाऽऽत्मा अष्टविधेन कर्मणेति व्युत्पत्तिभावात् । आ० म० १ अ० २ खण्ड । " दव्वजोगो-तिण्हं चउण्हं वा जोगाणं जोगो । अहवा—मणवइकायपाओग्गाणि दव्वाणि । भावजोगो-" जोगो विरियं थामो, उच्छा-ह परक्कमो तहा चेट्ठा । सत्ती सामत्थं ति य, जोगस्स हवंति पज्जाया " ॥१॥ सो य सम्मत्तादिअणुगतो पसत्थो, मिच्छत्तअण्णाणअविरतिगओ अपसत्थो " । आ० चू० २ अ० ।

(३) मनोवाक्कायाऽऽत्मको योग एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवेन्न तूभयरूप इति प्रेरकः प्राह-

णणु मणवइकाओगा, सुभाऽसुभा वि समयम्मि दीसंति ।
दव्वम्मि मीसभावो, भवेज्ज न उ भावकरणम्मि ॥१९३६॥

ननु मनोवाक्काययोगाः शुभा अशुभाश्च, मिश्रा इत्यर्थः । एकस्मिन् समये दृश्यन्ते। तत्कथम्?। उच्यते-"सुभोऽसुभो वा स एगसमयम्मि त्ति(१९३५गाथा)"तथाहि-किञ्चिदविधिना दानाऽऽदिवितरणं चिन्तयतः शुभाशुभो मनोयोगः। तथा-किमप्यविधिनैव दानाऽऽदिधर्ममुपदिशतः शुभाशुभो वाग्योगः । तथा-किमप्यविधिनैव जिनपूजावन्दनाऽऽदिकायचेष्टां कुर्वतः शुभाशुभःकाययोग इति। तदेतदयुक्तम्। कुत इत्याह-"दव्वम्मि" इत्यादि। इदमुक्तं भवति-इह द्विविधो योगः-द्रव्यतो, भावतश्च। तत्र मनोवाक्काययोगप्रवर्त्तकानि द्रव्याणि, मनोवाक्कायपरिस्पन्दाऽऽत्मको योगश्च द्रव्ययोगः । यस्त्वेतदुभयरूपयोगहेतुरध्यवसायः

स भावयोगः । तत्र शुभाशुभरूपाणां यथोक्तचिन्तादेशनाकायचेष्टानां प्रवर्त्तकं द्विविधोऽपि द्रव्ययोगे व्यवहारनयदर्शनविवक्षामात्रेण भवदपि शुभाशुभत्वलक्षणो मिश्रभाव, न तु मनोवाक्काययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे भावकरणे भावाऽऽत्मके योगे । अयमभिप्रायः-द्रव्ययोगो व्यवहारनयदर्शनेन शुभाशुभरूपोऽपीष्यते । निश्चयनयेन तु सोऽपि शुभोऽशुभो वा केवलः समस्ति, यथोक्तचिन्तादेशनाऽऽदिप्रवर्त्तकद्रव्ययोगाणामपि शुभाशुभरूपमिश्राणां तन्मतेनाभावात् । मनोवाक्कायद्रव्ययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे तु भावकरणे भावयोगे शुभाशुभरूपो मिश्रभावो नास्ति, निश्चयनयदर्शनस्यैवाऽऽगमेऽत्र विवक्षितत्वात् । न हि शुभान्यशुभानि वाऽध्यवसायस्थानानि मुक्त्वा शुभाशुभाध्यवसायस्थानरूपस्तृतीयो राशिरागमे क्वचिद्दृश्यते, येनाध्यवसायरूपे भावयोगे शुभाशुभत्वं स्यादिति भावः । तस्माद्भावयोग एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवति, न तु मिश्रः । विशे० । प्रति० ।

(४) योगाश्च दोषाय गुणाय च भवन्ति, तदेतत्प्रतिपादयति-

मणो य वाय काओ य, तिविहो जोगसंगहो ।
ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्स य गुणावहा ॥

मनोयोगो, वाग्योगः, काययोगश्चेति त्रिविधो योगसंग्रहो भवति, संक्षेपतस्त्रिधा योगो भवतीत्यर्थः । ते मनोवाक्काययोगा अयुक्तस्यानुपयुक्तस्य दोषाय कर्मबन्धाय भवन्ति, युक्तस्य तु त एव गुणाऽऽवहाः कर्मनिर्जराकारिणः संपद्यन्ते । सू० ३ उ० । तदात्मके आश्रवद्वारभेदे, स० ५ सम० । योजनं योगो, जीवस्य वीर्यपरिस्पन्द इति यावत् । यदि वा-युज्यते धावनवल्गनाऽऽदिक्रियासु व्यापार्यते इति योगः । कर्मणि घञ् । यद्वा-युज्यते संबध्यते धावनवल्गनाऽऽदिक्रियासु जीवोऽनेनेति "पुंनाम्नि"-॥५।३।१३०॥ इति करणे घञ्प्रत्ययः । कर्म० ३ कर्म० । स० । पं०सं० । आव० । अनु० । भावतः कायाऽऽदिकरणयुक्तस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषे, स्था० १ ठा० । आव० ।

(५) स च मनोवाक्कायलक्षणसहकारिकारणभेदात्त्रिविधः-

" परिणामाऽऽलम्बणगह-णसाहणं तेण लद्धनामतिगं ॥" क०प्र० ।

अस्याक्षरगमनिका-परिणमनं परिणामः । अन्तर्भूतणिजर्थात् (व्यञ्जनात्—) ॥ ५ । ३ । १३२ ॥ इति घञ्प्रत्ययः । परिणामाऽऽपादानमित्यर्थः । आलम्ब्यत इत्यालम्बनम्, 'अनट्' । ५ । ३ । १२४ । इति भावेऽनट्प्रत्ययः । गृहीतिर्ग्रहणं, तेषां साधनं, साध्यतेऽनेनेति साधनं, योगसंज्ञि वीर्यं "करणाऽऽधारे" । ५ । ३ । १२६ । इत्यनट्प्रत्ययः । तथाहि-तेन वीर्यविशेषेण योगसंज्ञकेनौदारिकाऽऽदिशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलान् प्रथमतो गृह्णाति, गृहीत्वा च प्राणाऽपानाऽऽदिरूपतया परिणमयति, परिणमय्य च तन्निसर्गहेतुसामर्थ्यविशेषसिद्धये तानेव पुद्गलानवलम्बते । यथा मन्दशक्तिः कश्चिन्नगरे परिभ्रमणाय यष्टिमवलम्बते, ततस्तदवष्टम्भतो जातसामर्थ्यविशेषः सन् तान् प्राणापानाऽऽदिपुद्गलान् विसृजतीति । परिणामाऽऽलम्बनग्रहणसाधनं वीर्यं, तेन च वीर्येण योगसंज्ञकेन मनोवाक्कायाख्यमतो जायमानेन (लद्धनामतिगं ति) लब्धं नामत्रिकं-मनोयोगः, वाग्योगः, काययोग इति । तत्र मनसा करणभूतेन योगो मनोयोगः, वाचा योगो वाग्योगः, कायेन योगः काययोगः । कर्म० ५ कर्म० ।

(६) योगप्ररूपणायाऽऽह—

तिविहे जोगे पण्णत्ते । तं जहा-मणजोगे, वयजोगे, कायजोगे ॥

" तिविहे जोगे " इत्यादि । इह च वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमसमुत्थलब्धिविशेषप्रत्ययमभिसन्ध्यनभिसन्धिपूर्वकमात्मनो वीर्यं योगः । आह च-"जोगो विरियं थामो, उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा । सत्ती सामत्थं ति य, जोगस्स हवंति पज्जाया" ॥१॥ इति । स च द्विधा-सकरणोऽकरणश्च । तत्रालेश्यस्य केवलिनः कृत्स्नयोर्ज्ञेयदृश्ययोरर्थयोः केवलज्ञानं, दर्शनं चोपयुञ्जानस्य योऽसावपरिस्पन्दः प्रतिघो वीर्यविशेषः सोऽकरणः । स च नेहाधिक्रियते, सकरणस्यैव त्रिस्थानकावतारित्वात् । अत एतस्यैव व्युत्पत्तिः, तमेव चाऽऽश्रित्य सूत्रव्याख्या युज्यते । जीवः कर्मभिर्येन "कम्मं जोगनिमित्तं बज्झइ" इति वचनाद् युङ्क्ते वा प्रयुङ्क्ते यं पर्यायं स योगो, वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितो जीवपरिणामविशेष इति ।

आह च-

" मणसा वयसा काए-ण वा वि जुत्तस्स विरियपरिणामो ।
जीवस्स अप्पणिज्जो,स जोगसण्णो जिणक्खाओ ॥ १ ॥
तेओजोगेण जहा, रत्तत्ताई घडस्स परिणामो ।
जीवकरणप्पओगे, विरियमवि अप्पपरिणामो " ॥ २ ॥ इति ।

स्था० ३ ठा० १ उ० । औदारिकाऽऽदिशरीरस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः, औदारिकवैक्रियाऽऽहारकशरीरव्यापाराऽऽहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः । नं० । पं० सं० । स्था० । सूत्र० । मनसा करणेन युक्तस्य जीवस्य योगो वीर्यपर्यायो दुर्बलस्य यष्टिकाद्रव्यवदुपष्टम्भकरो मनोयोग इति । स चतुर्विधः-सत्यमनोयोगः, मृषामनोयोगः, सत्यमृषामनोयोगः, असत्यमृषामनोयोगश्चेति । मनसो वा योगः करणकारणानुमतिरूपो व्यापारो मनोयोगः । एवं वाग्योगोऽपि । एवं काययोगोऽपि । नवरं, स सप्तविधः, औदारिकौदारिकमिश्रवैक्रियवैक्रियमिश्राऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रकार्मणकाययोगभेदादिति । तत्रौदारिकाऽऽदयः शुद्धाः सुबोधाः । औदारिकमिश्रस्तु औदारिक एवापरिपूर्णो मिश्र उच्यते । यथा-गुडमिश्रं दधि न गुडतया नापि दधितया व्यपदिश्यते, तत्ताभ्यामपरिपूर्णत्वादेव, एवमौदारिकमिश्रं कार्मणेन नौदारिकतया, नापि कार्मणतया व्यपदेष्टुं शक्यमपरिपूर्णत्वादिति तस्य मिश्रव्यपदेशः । एवं वैक्रियाऽऽहारकमिश्रावपीति शतकटीकालेशः । प्रज्ञापनाव्याख्यांशस्त्वेवम्-औदारिकाऽऽदयः शुद्धाः पर्याप्तकस्य, मिश्रास्त्वपर्याप्तकस्येति । तत्रोत्पत्तावौदारिककायः कार्मणेन, औदारिकशरीरिणश्च वैक्रियाऽऽहारककरणकाले वैक्रियाऽऽहारकाभ्यां मिश्रो भवतीति, एवमौदारिकमिश्रः । तथा वैक्रियमिश्रो देवाऽऽद्युत्पत्तौ कार्मणेन कृतवैक्रियस्य चौदारिकप्रवेशाद्वाऽयमौदारिकेण । आहारकमिश्रस्तु साधिताऽऽहारककार्यप्रयोजनः पुनरौदारिकप्रवेशे औदारिकेणेति कार्मणस्तु विग्रहे केवलिसमुद्घातेनेति सर्व एवायं योगः पञ्चदशधेति । सङ्ग्रहोऽस्य—" सच्चं मोसं मीसं, असच्चमोसं मणो वए चेव । काओ उराल विउव्विय, आहारग मीस कम्म जोगो त्ति " ॥ १ ॥ स्था० ३ ठा० १ उ० ।

(७) कायव्यापारविशेषावेव मनोवाग्योगौ वक्ष्यते यदस्मात्ततोऽयमदोषः, न हि कायिको योगः कस्याञ्चिदप्यवस्थायां शरीरि-

णां जन्तूनां न वर्त्तते, अशरीरिणां सिद्धानामेव तत्प्रवृत्तिरित्यतो वाङ्निसर्गाऽऽदिकालेऽपि सोऽस्त्येवेति भावः ।

तर्हि समुच्छिद्यतां मनोवाग्योगकथा । नेत्याह-

किं पुण तणुसंरंभे-ण जेण मुंचइ स वाइओ जोगो ।
मण्णइ य स माणसिओ, तणुजोगो चेव य विभत्तो ॥३५९॥

'किं पुण त्ति' तथाऽपीत्यस्यार्थे । तत्रेदमुक्तं भवति-यद्यपि काययोगः सर्वत्रानुगतोऽस्ति, तथाऽपि येन मनोवाग्द्रव्याणामुपादानं करोति, स कायिको योगः। येन तु संरम्भेण तान्येव मुञ्चति, स वाचिकः। येन तु मनोद्रव्याणि चिन्तायां व्यापारयति, स मानसिकः। इत्येवं तनुयोग एवैक उपाधिभेदात्त्रिधा विभक्त इति। एतावन्मात्रभेदेन त्रयोऽप्यमी योगा व्यवह्रियन्ते। परमार्थतस्त्वेक एव सर्वत्र कायिको योग इति ॥३५९॥

तथा च प्रमाणयन्ति-

तणुजोगो च्चिअ मणवइ-जोगा काएण दव्वगहणाओ ।
आणापाणु व्व न चे, तओ वि जोगंतरं होज्जा ॥३६०॥

तनुयोग एव मनोवाग्योगौ, तदन्तर्गतावेवैतावित्यर्थः । इयं प्रतिज्ञा, कायेनैव तद्द्रव्यग्रहणादिति हेतुः, प्राणापानवदिति दृष्टान्तः । यथा-कायेन द्रव्यग्रहणात् प्राणापानव्यापारः कायिकयोगान्न भिद्यते, एवं मनोवाग्योगावपीति भावः । न चेदेवं-न चेत् त्वया प्राणापानव्यापारस्तनुयोगतयाऽभ्युपगम्यते, तर्हि तकोऽपि सोऽपि प्राणापानव्यापारो योगान्तरं स्यात्, ततो योगपञ्चकप्रसङ्गः, अनिष्टं चैतत्, तस्मात्कायिकयोग एवायमिति ॥३६०॥

अत्र परः प्राह-

तुल्ले तणुजोगत्ते, कीस व जोगंतरं तओ न कओ ? ।
मणवइजोगा व कया, भण्णइ ववहारसिद्धत्थं ॥३६१॥

ननु त्वदुक्तयुक्त्यैव सर्वेषां तुल्ये तनुयोगत्वे मनोवाग्योगवत्किमिति तकोऽसौ प्राणापानव्यापारः कायिकयोगाद् योगान्तरं न कृतः, किमिति चतुर्थो योगो न कृत इत्यर्थः? । अथ नैवं क्रियते, तर्हि तुल्येऽपि तनुयोगत्वे मनोवाग्योगौ काययोगात्किमिति पृथक् कृतौ ?, तस्मात्तनुयोगत्वस्य सर्वत्र तुल्यत्वादेक एव काययोगः क्रियताम्। उपाधिभेदेन तु चत्वारो वा योगाः क्रियन्ताम् । अन्यथा पक्षपातमात्रमेव स्यात्, न तु युक्तिरिति भावः। अत्रोत्तरमाह-"भण्णइ" इत्यादि। भण्यतेऽत्रोत्तरं, किं तत्?, इत्याह-व्यवहारस्य लोकलोकोत्तररूढस्य सिद्ध्यर्थं प्रसिद्धिनिमित्तं, मनोवाग्योगावेव पृथक्कृतौ, न प्राणापानयोग इति ॥३६१॥

व्यवहारोऽपि किमित्येवं प्रवृत्त इत्याह-

कायकिरियाऽऽइरित्तं, नाऽऽणापाणुफलं जह वईए ।
दीसइ मणसो य फुडं, तणुजोगाऽव्भंतरो तो सो ॥३६२॥

कायक्रिया कायव्यापारः, तदतिरिक्तं तदभ्यधिकं प्राणापानफलं न किमपि दृश्यते । यथा वाचो मनसश्च स्फुटं तद् दृश्यते। इदमुक्तं भवति-यथा वाचः स्वाध्यायविधानपरप्रत्यायनाऽऽदिकं, मनसश्च धर्मध्यानाऽऽदिकं, विशिष्टं स्फुटं कायक्रियाऽतिरिक्तं फलमुपलभ्यते, नैवं प्राणापानयोः, इति तनुयोगाऽभ्यन्तरवर्त्येवासौ प्राणापानव्यापारो व्यवह्रियते, न पृथक् । न च वक्तव्यं-जीवस्य जीविते जीविजननाऽऽदिकं प्राणापानफलमप्युपलभ्यत एवेति; एवंभूतस्य प्रयोजनमात्रस्य सर्वत्र विद्यमानत्वाद् धावनवल्गनाऽऽदिव्यापारस्यापि पृथग् योगत्वप्रसङ्गात्, तस्माद्विशिष्टव्यवहाराङ्गभूतपरप्रत्यायनाऽऽदिफलत्वाद्वाङ्मनोयोगावेव पृथक् कृतौ, न प्राणापानयोग इति । तदेवं तनुयोगो वाङ्निसर्गविषये व्याप्रियमाणो वाग्योगः, मनने तु व्याप्रियमाणो मनोयोगः; वाग्विषयो योगो वाग्योगः, मनोविषयो योगो मनोयोग इति कृत्वा । इत्येवं तनुयोगविशेषावेव वाङ्मनोयोगौ इत्येतद्दर्शितम् ॥३६२॥

अथवा स्वतन्त्रावेवैतौ इति दर्शयन्नाह-

अहवा तणुजोगाहिअ-वइदव्वसमूहजीववावारो ।
सो वइजोगो भण्णइ, वाया निसिरिज्जए तेणं ॥३६३॥
तह तणुवावाराहिअ-मणदव्वसमूहजीववावारो ।
सो मणजोगो भण्णइ, मण्णइ नेयं जओ तेणं ॥३६४॥

अथवा-तनुयोगेन कायव्यापारेणाऽऽहृतो गृहीतो योऽसौ वाग्द्रव्यसमूहः, तेन सहकारिकारणभूतेन तन्निसर्गार्थं योऽसौ जीवस्य व्यापारः, स वाग्योगो भण्यते; वाचा सहकारिकारणभूतया जीवस्य योगो वाग्योग इति कृत्वा । किं पुनस्तेन क्रियते?, इत्याह-सैव वाक् तेन जीवव्यापारेण निसृज्यते परप्रत्यायनार्थमुच्यत इति । तथा तनुव्यापारेणाऽऽहृतो योऽसौ मनोद्रव्यसमूहः, तेन सहकारिकारणभूतेन वस्तुचिन्तनाय योऽसौ जीवस्य व्यापारः, स मनोयोगो भण्यते, मनसा सहकारिकारणभूतेन जीवस्य योगो मनोयोग इति व्युत्पत्तेः । कुतः पुनरयं मनोयोगः?, इत्याह-यतस्तेन ज्ञेयं जिनमूर्त्यादिकं मन्यते चिन्त्यतेऽतस्तस्य मनोयोगत्वमिति। तदेवमत्र पक्षे वाग्द्रव्यनिसर्गाऽऽदिकाले तनोर्व्यापारः सन्नपि न विवक्षितः, किं तु वाङ्मनोद्रव्यसचिवस्य जीवस्यैवेति स्वतन्त्रावेव वाङ्मनोयोगौ, न तु तनुयोगविशेषभूताविति भावः । आनापानद्रव्यसाचिव्यात्, तत्स्वोचने जन्तोस्तद्योगोऽपि स्वतन्त्रः पृथक् प्राप्नोतीति चेत् । न । "भण्णइ ववहारसिद्धत्थं । (३६१ गाथा)" इत्यादिना प्रतिविहितत्वादिति ॥ विशे० ॥

(८) सामान्येन योगं प्ररूप्य विशेषतो नारकाऽऽदिषु चतुर्विंशतौ पदेषु तमतिदिशन्नाह-

एवं णेरइयाणं विगलिंदियवज्जाणं० जाव वेमाणियाणं ।

"एवं" इत्यादि कण्ठ्यं, नवरमतिप्रसङ्गपरिहारायेदमुक्तम् । (विगलिंदियवज्जाणं ति) तत्र विकलेन्द्रिया अपञ्चेन्द्रियाः, एतेषां ह्येकेन्द्रियाणां काययोग एव, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां तु काययोगवाग्योगाविति । स्था० ३ ठा० १ उ० । जी० । (योगानाश्रित्य दण्डकः 'पओग' शब्दे वक्ष्यते)

उत्पलजीवानधिकृत्य-

ते णं भंते ! जीवा किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी ?। गोयमा ! णो मणजोगी, णो वयजोगी, कायजोगी वा, कायजोगिणो वा ॥ भ० ११ श० १ उ० । जी० ।

मनुष्याणां योगो यथा-

ते णं भंते ! जीवा किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी, अजोगी ?। गोयमा ! मणजोगी वि, वइजोगी वि, कायजोगी वि, अजोगी वि ॥

योगद्वारे मनोयोगिनो, वाग्योगिनः, काययोगिनोऽयोगिनश्च । तत्रायोगिनः शैलेश्यवस्थां प्रतिपन्नाः । जी० १ प्रति० । (पुलाकाऽऽदीनां योगो 'णियंठ' शब्दे । संयताऽऽदीनां योगः 'संजय' शब्दे वक्ष्यते)

(९) नैरयिकाऽऽदिदण्डकेषु समविषमयोगावधिकृत्य योगाधिकारादेवेदमाह–

दो भंते ! णेरइया पढमसमयउववरागा किं समजोगी, विसमजोगी ?। गोयमा ! सिय समजोगी, सिय विसमजोगी । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–सिय समजोगी, सिय विसमजोगी ?। गोयमा ! आहारयाओ वा से अणाहारए, अणाहारयाओ वा से आहारए, सिय हीणे, सिय तुल्ले, सिय अब्भहिए, जइ हीणे असंखेज्जइभागहीणे वा, संखेज्जइभागहीणे वा, संखेज्जगुणहीणे वा, असंखेज्जगुणहीणे वा, अह अब्भहिए असंखेज्जइभागमब्भहिए वा, संखेज्जइभागमब्भहिए वा, संखेज्जगुणमब्भहिए वा, असंखेज्जगुणमब्भहिए वा, से तेणट्ठेणं० जाव सिय समजोगी, सिय विसमजोगी, एवं० जाव वेमाणिया ।

"दो भंते !" इत्यादि । प्रथमः समय उपपन्नयोर्ययोस्तौ प्रथमसमयोपपन्नौ, उत्पत्तिश्चेह नरकक्षेत्रप्राप्तिः, सा च द्वयोरपि विग्रहेण, ऋजुगत्या वा, एकस्य वा विग्रहेण, अन्यस्य च ऋजुगत्येति । (समजोगि त्ति) समो योगो विद्यते ययोस्तौ समयोगिनौ, एवं विषमयोगिनौ । "आहारयाओ वा" इत्यादि । आहारकाद्वा, आहारकं नारकमाश्रित्य (से त्ति) स नारकोऽनाहारकः। अनाहारकाद्वा, अनाहारकं नारकमाश्रित्याहारकः। किमित्याह ?–(सिय हीणे त्ति) यो नारको विग्रहाभावेनागत्याऽऽहारक एवोत्पन्नोऽसौ निरन्तराऽऽहारकत्वादुपचित एव, तदपेक्षया च यो विग्रहगत्याऽनाहारको भूत्वोत्पन्नोऽसौ हीनः पूर्वमनाहारकत्वेनानुपचितत्वाद्धीनयोगत्वेन च विषमयोगी स्यादिति भावः। (सिय तुल्ले त्ति) यौ समानसमयया विग्रहगत्याऽनाहारकौ भूत्वोत्पन्नौ, ऋजुगत्या वा गत्वोत्पन्नौ, तयोरेक इतरापेक्षया तुल्यः, समयोगी भवतीति भावः । (अब्भहिए त्ति) यो विग्रहाभावेनाहारक एवाऽऽगतोऽसौ विग्रहगत्यनाहारकापेक्षयोपचिततरत्वेनाभ्यधिको विषमयोगीति भावः । इह च–"आहारयाओ वा से अणाहारए" इत्यनेन हीनतायाः, "अणाहारयाओ वा आहारए" इत्यनेन चाभ्यधिकताया निबन्धनमुक्तम् । तुल्यतानिबन्धनं तु समानधर्मतालक्षणं प्रसिद्धत्वान्नोक्तमिति । भ० २५ श० १ उ० । (सयोगिमनोयोगिवाग्योगिकाययोग्ययोगिकानामल्पबहुत्वं, संसारसमापन्नजीवानां योगाल्पबहुत्वं च 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६५६ पृष्ठे द्रष्टव्यम् । एकेन्द्रियाऽऽदीनां योगसंभवो, अनन्तानुबन्ध्युदयरहिते मिथ्यादृष्टौ यावन्तो योगास्ते ऽपर्याप्तानां योगत्र्यल्पबहुत्वं स्थितिबन्धप्रस्तावे 'बंध' शब्दे द्रष्टव्याः) श्रुतोपदिष्टे संयमहेतौ सम्यग्मनोवाक्कायव्यापारे च । योगाः श्रुतोपदिष्टाः संयमहेतवः स्थ० १ उ० । योगाः सम्यग्मनोवाक्कायव्यापारा इति। अने० ३ अधि० । योगो विशिष्टमनोवाक्कायव्यापार इति च । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । समाधौ, उत्त० १ अ० । ध्यानविशेषे, षो० २ विव० । आत्माभ्यन्तरपरिणामे, द्वा० १६ द्वा० ।

(१०) कतिविधो योग इत्याह–

सालम्बनो निराल–म्बनश्च योगः परो द्विधा ज्ञेयः ।
जिनरूपध्यानं ख–ल्वाद्यस्तत्तत्त्वगस्त्वपरः ॥ १ ॥

सह आलम्बनेन चक्षुरादिज्ञानविषयेण प्रतिमाऽऽदिना वर्तत इति सालम्बनः, निरालम्बनश्चाऽऽलम्बनाद्विषयभावापत्तिरूपाद्विष्क्रान्तो निरालम्बनः, यो हि छद्मस्थेन ध्यायते, न च स्वरूपेण दृश्यते, तद्विषयो निरालम्बन इति यावत् । योगो ध्यानविशेषः, परः प्रधानो, द्विधा ज्ञेयो द्विविधो वेदितव्यः । जिनरूपस्य समवसरणस्थितस्य, ध्यानं चिन्तनं, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, आद्यः प्रथमः, सालम्बनो योगः । तस्यैव जिनस्य तत्त्वं केवलजीवप्रदेशसङ्घातरूप केवलज्ञानाऽऽदिस्वभावं, तस्मिन् गच्छतीति तत्त्वगः । तुरेवकारार्थः, अपरोऽनलम्बनः, मुक्तपरमात्मस्वरूपध्यानमित्यर्थः ॥ १ ॥

कथं पुनर्जिनरूपं ध्यातव्यमित्याह–

अष्टपृथग्जनचित्त–त्यागाद्योगिकुलचित्तयोगेन ।
जिनरूपं ध्यातव्यं, योगविधावन्यथा दोषः ॥ २ ॥

अष्ट च तानि पृथग्जनचित्तानि च, तेषां त्यागात्परिहारात्, योगिकुलस्य चित्तं मनः, तद्योगेन तत्संबन्धेन, जिनरूपं परमाऽऽत्मरूपं, ध्यातव्यं ध्येयं, योगविधौ योगविधाने, अन्यथा दोषोऽपराधः ॥ २ ॥

तान्येव चाष्टौ चित्तान्याह–

खेदोद्वेगक्षेपो–त्थानभ्रान्त्यन्यमुद्रुगाऽऽसङ्गैः ।
युक्तानि हि चित्तानि, प्रबन्धतो वर्जयेद् मतिमान् ॥ ३ ॥

खेदः श्रान्तता, क्रियास्वप्रवृत्तिहेतुः पथि परिश्रान्तवत् । खेदाभावेऽप्युद्वेगः, स्थानस्थितस्यैव उद्विग्नता, कुर्वाणोऽप्युद्विग्नः करोति न सुखं लभते । क्षेपः क्षिप्तचित्तता, अन्तराऽन्तराऽन्यत्र न्यस्तचित्तवत् । उत्थानं चित्तस्याप्रशान्तवाहिता, मनःप्रभृतीनामुद्रेकाद् मदावष्टब्धपुरुषवत् । भ्रान्तिरतस्मिंस्तद्ग्रहरूपा, शुक्तिकायां रजताध्यारोपवत् । अन्यमुद् अन्यहर्षः । रुग् रोगः, पीडाभङ्गो वा । आसङ्गोऽभिष्वङ्गः । खेदश्चोद्वेगश्च, क्षेपश्चोत्थानं च, भ्रान्तिश्चान्यमुच्च, रुक् चाऽऽसङ्गश्च, तैर्युक्तानि हि संबद्धानि हि, चित्तानि प्रस्तुतान्यष्ट, प्रबन्धतः प्रबन्धेन, वर्जयेत्परिहरेत्, मतिमान् बुद्धिमान् ॥ ३ ॥

खेदाऽऽदीश्चित्तदोषान् फलद्वारेणोपदर्शयन्नाह–

खेदे दार्ढ्याभावा–न्न प्रणिधानमिह सुन्दरं भवति ।
एतच्चेह प्रवरं, कृषिकर्मणि सलिलवद् ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

खेदे चित्तदोषे सति, दार्ढ्याभावाद् दृढत्वाभावात्, न प्रणिधानमैकाग्र्यम, इह प्रस्तुते योगे, सुन्दरं भवति। एतच्च प्रणिधानम्, इह योगे, प्रवरं प्रधानं, कृषिकर्मणि धान्यनिष्पत्तिफले, सलिलवज्जलवज्ज्ञेयम ॥ ४ ॥

उद्वेगे विद्वेषा–द्विष्टिसमं करणमस्य पापेन ।
योगिकुलजन्मबाधक–मलमेतत्तद्विदामिष्टम् ॥ ५ ॥

उद्वेगे चित्तदोषे, विद्वेषाद्योगविषयतो, विष्टिसमं राजविष्टिकल्पं, करणमस्य योगस्य, पापेन हेतुभूतेन, एतच्चैवंविधं करणम्,

योगिनां कुले यज्जन्म, तस्य बाधकम् । अनेन योगिकुलजन्मापि जन्मान्तरे न लभ्यते इति कृत्वा योगिकुलजन्मबाधकम्, अलमत्यर्थम्, एतत्तद्विदामिष्टं योगविदामभिमतम् ॥ ५ ॥

क्षेपेऽपि चाप्रबन्धा-दिष्टफलसमृद्धये न जात्वेतत् ।
नासकृदुत्पाटनतः, शालिरपि फलाऽऽवहः पुंसः ॥६॥

क्षेपेऽपि च चित्तदोषे, अप्रबन्धात्प्रबन्धस्याभावात्, चित्तस्य इष्टफलसमृद्धये विवक्षितफलसमृद्ध्यर्थं योगनिष्पत्तये, न, जातु कदाचित्, एतत्करणं, चित्तं वा भवति । किमित्यन्यत्राप्यत्र चित्तप्रक्षेपे फलसमृद्धिर्न भवतीति ? आह-नासकृदनेकशः, उत्पाटनत उत्खननात्, शालिरपि धान्यविशेषः, फलाऽऽवहः फलसंयुक्तः, पुंसः पुरुषस्य यतो भवति ॥ ६ ॥

उत्थाने निर्वेदात्, करणमकरणोदयं सदैवास्य ।
अत्यागत्यागोचित-मेतत्तु स्वसमयेऽपि मतम् ॥ ७ ॥

उत्थाने चित्तदोषे सत्यप्रशान्तवाहितायां, निर्वेदाद्धेतोः, करणं निष्पादनम्, अकरणोदयं भाविकालमाश्रित्याकरणस्यैवोदयो यस्मिंस्तत्तथा, सदैवास्य योगस्य, न विद्यते त्यागो यस्य कथञ्चिदुपादेयत्वात्तदत्यागं, त्यागायोचितं योग्यम्, अप्रशान्तवाहितादोषात् । अत्यागं च तत्त्यागोचितं च अत्यागत्यागोचितम्, एतत्तु एतत्पुनः, करणमभिसंबध्यते । स्वसमयेऽपि स्वसिद्धान्तेऽपि, मतमिष्टम् ॥ ७ ॥

भ्रान्तौ विभ्रमयोगान्न हि संस्कारः कृतेतराऽऽदिगतः ।
तदभावे तत्करणं, प्रक्रान्तविरोध्यनिष्टफलम् ॥ ८ ॥

भ्रान्तौ चित्तदोषे सति, विभ्रमयोगान्मनोविभ्रमसंबन्धात्, न हि संस्कारो नैव वासनाविशेषः, कृतेतराऽऽदिगतः-इदं मया कृतमितरदकृतम् । आदिशब्दादिदं मयोच्चारितमिदमनुच्चारितम् । एतद्गत एतद्विषयः । न हि मनोविभ्रमे कृतेतराऽऽदिसंस्कारो भवति । तदभावे संस्काराभावे, तत्करणं-तस्य प्रस्तुतस्य योगस्य करणं, प्रक्रान्तविरोधि प्रस्तुतयोगविरोधि, अनिष्टफलमिष्टफलरहितम् ॥ ८ ॥

अन्यमुदि तत्र रागात्, तदनादरताऽर्थतो महापाया ।
सर्वानर्थनिमित्तं, मुद्विषयाङ्गारवृष्ट्याभा ॥ ९ ॥

अनुष्ठीयमानादन्यत्र मुत्प्रमोदः, तस्यां सत्यां चित्तदोषरूपायां, तत्रान्यस्मिन् वा, रागादभिलाषाऽतिरेकात्, तदनादरता अनुष्ठीयमानानादरभावो, अर्थतः सामर्थ्यात्, महापाया महानपायो यस्याः सकाशात्सा तथा, सर्वानर्थनिमित्तं सर्वेषामनर्थानां हेतुः, तदनादरताऽभिसंबध्यते । मुद्विषयाङ्गारवृष्ट्याभा-मुदो हर्षस्य विषयो यस्तस्मिन्नङ्गारवृष्ट्याभाऽङ्गारवृष्टिप्रतिच्छायाऽङ्गारवृष्टिसदृशी, प्रमोदविषयार्थोपघातकारिणीत्यर्थः । इयं चान्यमुत्सुन्दरेष्वपि शास्त्रोक्तेषु चैत्यवन्दनस्वाध्यायकरणाऽऽदिषु श्रुतानुरागाच्चैत्यवन्दनाऽऽद्यनाद्रियमाणस्य तत्करणवेलायामपि तदुपयोगाभावेनतत्राऽऽसक्तचित्तवृत्तेः सदोषा, न हि शास्त्रोक्तयोरनुष्ठानयोरयं विशेषः समस्ति-यदुतैकमादरविषयो, अन्यदनादरविषय इति ॥ ९ ॥

रुजि निजजात्युच्छेदात्, करणमपि हि नेष्टसिद्धये नियमात् ।
अस्येत्यननुष्ठानं, तेनैतद्वन्ध्यफलमेव ॥ १० ॥

रुजि रोगे चित्तदोषे सति, निजजात्युच्छेदादिति । कोऽर्थः ?, करणमपि हि नेष्टसिद्धये नाभिमतफलनिष्पत्तये, नियमान्नियमेन, अस्य प्रस्तुतस्यार्थस्य, इत्यननुष्ठानम्-इतिहेतोरननुष्ठानमकरणं, तेन कारणेन, एतत्करणं, वन्ध्यफलमेवेष्टफलाभावात् । इयं हि रुग्भङ्गरूपा पीडारूपा वाऽनुष्ठानजातेरुच्छेदकरणद्वारेण सर्वानुष्ठानानां वन्ध्यफलत्वाऽऽपादनाय प्रभवति, तेन सदोषा विवेकिना परिहर्तव्येति दर्शिता ॥ १० ॥

आसङ्गेऽप्यविधाना-दसङ्गसक्त्युचितमित्यफलमेतत् ।
भवतीष्टफलदमुच्चै-स्तदप्यसङ्गं यतः परमम् ॥ ११ ॥

आसङ्गेऽपि चित्तदोषे सति विधीयमानानुष्ठाने इदमेव सुन्दरमित्येवं रूपे, अविधानाच्छास्त्रोक्तविधेरभावात्, सांकरनवरतप्रवृत्तिर्न विद्यते सङ्गो यस्यां सेयमसङ्गाऽभिष्वङ्गाभाववती, असङ्गा चासौ सक्तिश्च, तस्या उचितं योग्यमिति कृत्वा, अफलमेतदिष्टफलरहितमेतदनुष्ठानम्, भवति जायते, इष्टफलदमिष्टफलसंपादकम्, उच्चैरत्यर्थं, तदपि शास्त्रोक्तमनुष्ठानम्, असङ्गमभिष्वङ्गरहितम्, यतो यस्मात्, परमं प्रधानम् । असङ्गयुक्तं ह्यनुष्ठानं तन्मात्रगुणस्थानकस्थितिकार्येव, न मोहोन्मूलनद्वारेण केवलज्ञानोत्पत्तये प्रभवति, तस्मात्तदर्थिना आसङ्गस्य दोषरूपता विज्ञेयेति ॥ ११ ॥

एवमष्टपृथग्जनचित्तदोषान् प्रतिपाद्य, तत्त्यागद्वारेण योगिचित्तमुपदर्शयन्नाह-

एतद्दोषविमुक्तं, शान्तोदात्ताऽऽदिभावसंयुक्तम् ।
सततं परार्थनियतं, संक्लेशविवर्जितं चैव ॥ १२ ॥

एतद्दोषविमुक्तमष्टचित्तदोषवियुक्तम्, शान्तोदात्ताऽऽदिभावसंयुक्तम्-शान्त उपशमवान् । यथोक्तम्-" न यत्र दुःखं न सुखं न रागो, न द्वेषमोहौ न च काचिदिच्छा । रसः स शान्तो विहितो मुनीनां, सर्वेषु भावेषु समः प्रदिष्टः ॥ १ ॥ " उदात्त उदारः । यत उक्तम्-" अयं निजः परो वेति, गणना लघुचेतसाम् । उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम् ॥१॥ " आदिशब्दाद्गम्भीरधीराऽऽदिभावपरिग्रहः । तैः संयुक्तं समन्वितम्, सततमनवरतम्, परार्थनियतं परोपकारनियतवृत्ति, संक्लेशविवर्जितं चैव-संक्लेशो विशुद्धिप्रतिपक्षः कालुष्यं, तेन विरहितं चैव ॥ १२ ॥

सुस्वप्नदर्शनपरं, समुल्लसद्गुणगणौघमत्यन्तम् ।
कल्पतरुबीजकल्पं, शुभोदयं योगिनां चित्तम् ॥१३॥

सुस्वप्नदर्शनपरं-शोभनाः स्वप्नाः सुस्वप्नाः श्वेतसुरभिपुष्पवस्त्राऽऽतपत्रचामराऽऽदयः, तद्दर्शनप्रवृत्तम्, समुल्लसन् गुणगणौघो गुणनिकरप्रवाहो यस्मिंस्तत्समुल्लसद्गुणगणौघम्, अत्यन्तमतिशयेन, कल्पतरुबीजकल्पं, कल्पतरोर्बीजं तज्जनकं कारणं तेन तुल्यम्, शुभोदयं योगिनां चित्तं, शुभ उदयोऽस्येति शुभोदयम् ॥१३॥

कस्य पुनरेवंविधं विशेषेण योगिनश्चित्तं भवतीत्याह-

एवंविधमिह चित्तं, भवति प्रायः प्रवृत्तचक्रस्य ।
ध्यानमपि शस्तमस्य, त्वधिकृतमित्याहुराचार्याः ॥१४॥

एवंविधमेवंस्वरूपम्, इह प्रक्रमे, चित्तं मनः, भवति सम्भवति, प्रायो बाहुल्येन, प्रवृत्तचक्रस्य प्रवृत्तरात्रिन्दिवानुष्ठानसमूहस्य योगिनः, ध्यानमपि पूर्वोक्तस्वरूपम्, शस्तं प्रशस्तम्, अस्य त्वस्यैव, अधिकृतं प्रस्तुतम्, इत्याहुराचार्याः सूरयो ब्रुवते ॥१४॥

कथं पुनस्तद्ध्यानं देशाऽऽद्यपेक्षया भवतीत्याह-

शुद्धे विविक्तदेशे, सम्यक्संयमितकाययोगस्य ।
कायोत्सर्गेण दृढं, यद्वा पर्यङ्कबन्धेन ॥ १५ ॥

शुद्धे शुचौ, विविक्तदेशे जनाऽऽकीर्णाऽऽदिरहिते, सम्यग्वैपरीत्येन, संयमितकाययोगस्य नियमितसर्वकायचेष्टस्य, कायोत्सर्गेण ऊर्द्ध्वस्थानरूपेण, दृढमत्यर्थम्, यद्वा-पर्यङ्कबन्धेनाऽऽसनविशेषरूपेण ॥ १५ ॥

साध्वागमानुसारात्, चेतो विन्यस्य भगवति विशुद्धम् ।
स्पर्शाऽऽवेधात्तदिह-च्छयोगिसंस्मरणयोगेन ॥ १६ ॥

साधु यथा भवत्येवमागमानुसारात् सिद्धान्तानुसारेण, चेतश्चित्तम्, विन्यस्य निक्षिप्य, भगवति जिने, विशुद्धं विशुद्धिमत्, स्पर्शस्तत्त्वज्ञानम्, तस्याऽऽवेधात् संस्कारात्, तस्मिन्ध्याने, सिद्धाः प्रतिष्ठिता लब्धाऽऽत्मलाभा ये योगिनस्तेषां संस्मरणयोगः स्मरणव्यापारः, तेन । यो हि यत्र कर्मणि सिद्धस्तदनुस्मरणं तत्रेष्टफलसिद्धये भवति ॥ १६ ॥ षो० १४ विव० ।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति पातञ्जलोक्ते सर्वविषयेभ्योऽन्तःकरणवृत्तिनिरोधे, वाच० । योगो मनोवाक्कायनिरोध इति । संथा० । योगसंबन्धयोजनमिति । उत्त० १२ अ० । " मोक्षेण योजनादेव, योगो ह्यत्र निरुच्यते । लक्षणं तेन तन्मुख्य-हेतुव्यापारताऽस्य तु ॥ १ ॥ " इत्युक्तलक्षणे मोक्षमुख्यहेतौ व्यापारे, द्वा० ८ ।

(११) योगस्य मोक्षहेतुत्वमेव भावयन्नाह-

मोक्षहेतुर्यतो योगो, भिद्यते न ततः क्वचित् ।
साध्याभेदात्, तथाभावे, तूक्तिभेदो न कारणम् ॥ ३ ॥

मोक्षहेतुर्निर्वृत्तिनिमित्तं, यतो यस्मात् कारणात्, योगः, सर्वैर्योगशास्त्रकारैः संगीयते । भिद्यते भेदमनुभवति, न नैव, ततो मोक्षहेतुत्वाद्धेतोः, क्वचिद्योगशास्त्रे । एतदपि कुतः?, इत्याह-साध्याभेदात्-साध्यस्य योगाभ्यासनिष्पाद्यस्य मोक्षस्याभेदादेकरूपत्वात् । सकलकर्मक्लेशक्षयलक्षणो हि मोक्षः, न तत्र कश्चिद्भेद इति । एवंसति यत्सिद्धं तदाह-तथाभावे तु मोक्षाभेदभावे पुनः सति, उक्तिभेदो योगशास्त्रेषु आत्माऽऽदीनां योगाङ्गानां यो भणितः सः, न कारणं हेतुर्योगभेदस्य । न हि नाममात्रभेदेन भावा भिद्यन्ते, एकस्यापि शक्राऽऽदेरनेकेन नाम्ना व्यवह्रियमाणत्वात् ॥ ३ ॥

अथात्रैव विशेषमाह-

मोक्षहेतुत्वमेवास्य, किं तु यत्नेन धीधनैः ।
सद्गोचराऽऽदिसंशुद्धं, मृग्यं स्वहितकाङ्क्षिभिः ॥ ४ ॥

मोक्षहेतुत्वमेव मोक्षनिमित्तभाव एव, नापरं किञ्चित्, अस्य योगस्य, किं तु केवलं, यत्नेनाऽऽदरेण, धीधनैर्बुद्धिमद्भिः, मृग्यमित्युत्तरेण योगः । कीदृशम्? इति । आह-सताऽनुपचरितेन, गोचराऽऽदिनाऽऽत्मनामैव दर्शयिष्यमाणेन संशुद्धमनवद्यं, मृग्यम् । कीदृशैरात्माऽऽदिर्मोक्षहेतुर्योगो युज्यते इत्येवंरूपेण निपुणोहापोहयोगेन गवेषणीयम्?, स्वहितकाङ्क्षिभिरात्मकल्याणचिन्तकैः । योगबहुमानाद्धि सर्वपुरुषार्थप्रधानो नियमात्संपद्यते । यदवाचि-"एसो य उत्तमो जं, पुरिसत्थो एत्थ वंचिओ नियमा । वंचिज्जइ सव्वेसुं, कल्लाणेसु न संदेहो ॥ १ ॥" ॥ ४ ॥

अथ कस्मादस्य गोचराऽऽदिशुद्धिर्मृग्यते?, इत्याशङ्क्याऽऽह-

गोचरश्च स्वरूपं च, फलं च यदि युज्यते ।
अस्य योगस्ततोऽयं यद् मुख्यशब्दार्थयोगतः ॥ ५ ॥

गोचरो विषयः परिणामिजीवलक्षणः, स्वरूपं सर्वार्थसूचितप्रवृत्तिलक्षणम्, फलं मोक्षाऽऽत्मकम्, चकारा उक्तसमुच्चये । यदि इत्यभ्युपगमे । युज्यते घटते, अस्य योगस्य, योगः । ततो गोचराऽऽदियोगाद्, अयं प्रस्तुतो, यद्यस्मात्स्यात् । एतदपि कुतः?, इत्याह-मुख्यस्यानुपचरितस्य शब्दार्थस्य मोक्षेण योजनाद्योग इत्येवंलक्षणस्य योगतो घटनात् ॥ ५ ॥ यो० बि० ।

(१२) योगस्य लक्षणं निरूपयन्नाह-

मोक्षेण योजनादेव, योगो ह्यत्र निरुच्यते ।
लक्षणं तेन तन्मुख्य-हेतुव्यापारताऽस्य तु ॥ १ ॥

योगो हि योगशब्दो हि, अत्र लोके, प्रवचने वा; मोक्षेण योजनादेव, निरुच्यते व्युत्पाद्यते, तेनास्य योगस्य तु, तन्मुख्यहेतुव्यापारता, लक्षणं, निरुक्तार्थस्याप्यनतिप्रसक्तस्य लक्षणत्वानपायात् ॥ १ ॥

मुख्यत्वं चान्तरङ्गत्वात्, फलाऽऽक्षेपाच्च दर्शितम् ।
चरमे पुद्गलाऽऽवर्त्ते, यत एतस्य संभवः ॥ २ ॥
न सन्मार्गाभिमुख्यं स्या-दावर्त्तेषु परेषु तु ।
मिथ्यात्वच्छन्नबुद्धीनां, दिङ्मूढानामिवाङ्गिनाम् ॥ ३ ॥

मुख्यत्वं चान्तरङ्गत्वान्मोक्षं प्रत्युपादानत्वात्, फलाऽऽक्षेपात्फलजननं प्रत्यविलम्बत्वाच्च; दर्शितं प्रवचने, यतो यस्माद्, चरमे पुद्गलाऽऽवर्त्ते, एतस्य योगस्य संभवः । इत्थं च भव्यदूरभव्याभव्यव्यवच्छेदः कृतो भवति, एकस्य मोक्षानुपादानत्वादन्यस्य च फलविलम्बादिति ध्येयम् ॥ २ ॥ नेति स्पष्टम् ॥ ३ ॥

तदा भवाभिनन्दी स्यात्, संज्ञाविष्कम्भणं विना ।
धर्मकृत् कश्चिदेवाज्ञो, लोकपङ्क्तिकृताऽऽदरः ॥ ४ ॥

तदाऽवरमेष्वावर्त्तेषु, अज्ञः प्राणी, संज्ञाविष्कम्भणम् आहाराऽऽदिसंज्ञोदयविलक्षणं विना, कश्चिदेव धर्मकृल्लौकिकलोकोत्तरप्रव्रज्याऽऽदिधर्मकारी, लोकपङ्क्तौ लोकसदृशभावसंपादनरूपायां, कृताऽऽदरः कृतयत्नः स्यात् ॥ ४ ॥

क्षुद्रो लोभरतिर्दीनो, मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्याद्, निष्फलाऽऽरम्भसङ्गतः ॥ ५ ॥

क्षुद्रः कृपणः, लोभरतिर्याच्ञाशीलः, दीनः सदैवादृष्टकल्याणः, मत्सरी परकल्याणदुःस्थितः, भयवान्नित्यभीतः, शठो मायावी, अज्ञो मूर्खः, भवाभिनन्दी-"असारोऽप्येष संसारः, सारवानिव लक्ष्यते । दधिदुग्धाम्बुताम्बूल-पण्यपण्याङ्गनाऽऽदिभिः" ॥ १ ॥ इत्यादिवचनैः संसाराभिनन्दनशीलः, स्याद्भवेद्, निष्फलाऽऽरम्भसङ्गतः सर्वत्रासत्परिणतिवशाद्वन्ध्यक्रियासंयुक्तः ॥ ५ ॥

लोकाऽऽराधनहेतोर्या, मलिनेनान्तराऽऽत्मना ।
क्रियते सत्क्रिया सा च, लोकपङ्क्तिरुदाहृता ॥ ६ ॥

लोकाऽऽराधनहेतोर्लोकचित्ताऽऽवर्जनानिमित्तं, या मलिनेन कीर्त्तिस्पृहाऽऽदिमालिन्ययुक्ताऽन्तरात्मना चित्तरूपेण, क्रियते सत्क्रिया शिष्टसमाचाररूपा, सा च योगनिरूपणायां लोकपङ्क्तिरुदाहृता लोकशास्त्रैः ॥ ६ ॥

महत्यल्पत्वबोधेन, विपरीतफलाऽऽवहा ।
भवाभिनन्दिनो लोक-पङ्क्त्या धर्मक्रिया मता ॥ ७ ॥

महति अधरीकृतकल्पद्रुमचिन्तामणिकामधेनौ धर्मे, अल्पत्वबोधेनातितुच्छकीर्त्यादिमात्रहेतुत्वज्ञानेन, विपरीतफलाऽऽवहा दुरन्तसंसारानुबन्धिनी, भवाभिनन्दिनो जीवस्य, लोकपङ्क्त्या धर्मक्रिया मता, नात्र केवलमफलत्वमेव, किं तु विपरीतफलत्वमिति भावः ॥ ७ ॥

धर्मार्थं सा शुभायापि, धर्मस्तु न तदर्थिनः ।
क्लेशोऽपीष्टो धनार्थं हि, क्लेशार्थं जातु नो धनम् ॥८॥

धर्मार्थं सम्यग्दर्शनाऽऽदिमोक्षबीजाऽऽधाननिमित्तम, सा लोकपङ्क्तिः, दानसंमानोचितसंभाषणाऽऽदिभिश्चित्रैरुपायैः शुभाय कुशलानुबन्धायापि। धर्मस्तु तदर्थिनो लोकपङ्क्त्यर्थिनो न शुभाय, हि यतो, धनार्थं क्लेशोऽपीष्टो-धनार्थिनां राजसेवाऽऽदौ प्रवृत्तिदर्शनात्। क्लेशार्थं जातु कदाचिद्, धनं नेष्टम, न हि 'धनाद् मे क्लेशो भवतु' इति कोऽप्यिच्छति प्रेक्षावान्।

तदिदमुक्तं योगबिन्दौ-

" धर्मार्थं लोकपङ्क्तिः स्यात्, कल्याणाङ्गं महामतेः ।
तदर्थं तु पुनर्धर्मः, पापायाल्पधियामलम् ॥ ६० ॥"

तथा—

" जनप्रियत्वं शुद्धं, सत्कर्मसिद्धिफलदमलम ।
धर्मप्रशंसनाऽऽदे-र्बीज ऽऽधानाऽऽदिभावेन ॥१॥ " ॥८॥ इति ।

अनाभोगवतः साऽपि, धर्महानिकृतो वरम् ।
शुभा तत्त्वेन नैकाऽपि, प्रणिधानाऽऽद्यभावतः ॥ ९ ॥

अनाभोगवतः संमूर्च्छनजप्रायस्य स्वभावत एव वैनयिकप्रकृतेः, साऽपि लोकपङ्क्त्या धर्मक्रियाऽपि, धर्महानिकृतो धर्मे महत्त्वस्यैव यथास्थितस्याज्ञानात्क्षयोत्कर्षेच्छाया अभावेन महत्त्वस्याप्रतिपत्तेर्धर्महानिकारिणो, वरमन्यापेक्षया मनाक् सुन्दरा, तत्त्वेन तत्त्वतः, पुनर्नैकाऽपि प्रणिधानाऽऽद्यभावतो नैकाऽपि वरं, प्रणिधानाऽऽदीनां क्रियाशुद्धिहेतुत्वात् ॥ ९ ॥

तानेवाऽऽह-

प्रणिधानं प्रवृत्तिश्च, तथा विघ्नजयस्त्रिधा ।
सिद्धिश्च विनियोगश्च, एते कर्मशुभाऽऽशयाः ॥ १० ॥

कर्मणि क्रियायां, शुभाऽऽशयाः स्वपुण्यशुद्धनुबन्धहेतवः-शुभपरिणामाः पुण्योपचयः, शुद्धिश्च ज्ञानाऽऽदिगुणविघातिघातिकर्मह्रासोऽर्थानिर्मलता, इत्यवधेयम् ॥ १० ॥

प्रणिधानं क्रियानिष्ठ-मधोवृत्तिकृपाऽनुगम् ।
परोपकारसारं च, चित्तं पापविवर्जितम् ॥ ११ ॥

प्रणिधानं क्रियानिष्ठमधिकृतधर्मस्थानादविचलितस्वभावम्, अधोवृत्तिषु स्वप्रतिपन्नधर्मस्थानादधस्ताद्वर्तमानेषु, प्राणिषु कृपाऽनुगं करुणाऽन्वितं, न तु हीनगुणत्वेन तेषु द्वेषसमन्वितं, परोपकारसारं च परार्थनिष्पत्तिप्रधानं च, चित्तं पापविवर्जितं सावद्यपरिहारेण निरवद्यवस्तुविषयम् ॥ ११ ॥

प्रवृत्तिः प्रकृतस्थाने, यत्नातिशयसंभवा ।
अन्याभिलाषरहिता, चेतःपरिणतिः स्थिरा ॥ १२ ॥

प्रवृत्तिः प्रकृतस्थानेऽधिकृतधर्मविषये, यत्नातिशयसंभवा पूर्वप्रयत्नाधिकोत्तरप्रयत्नजनिता, अन्याभिलाषेणाधिकृतेतरकार्याभिलाषेण रहिता, चेतसोऽन्तरात्मनः, परिणतिः स्थिरा एकाग्रा, स्वविषय एव यत्नातिशयाज्जाता तत्रैव च तज्जननीत्यर्थः ॥१२॥

बाह्यान्तर्व्याधिमिथ्यात्व-जयव्यङ्ग्याऽऽशयाऽऽत्मकः ।
कण्टकज्वरमोहानां, जयैर्विघ्नजयः समः ॥ १३ ॥

बाह्यव्याधयः शीतोष्णाऽऽदयः, अन्तर्व्याधयश्च ज्वराऽऽदयः, मिथ्यात्वं भगवद्वचनाश्रद्धानं, तेषां जयस्तत्कृतवैक्लव्यनिराकरणं तद्व्यङ्ग्याऽऽशयाऽऽत्मकः कण्टकज्वरमोहानां जयैः समो विघ्नजयः। इत्थं च हीनमध्यमोत्कृष्टत्वेनास्य त्रिविधत्वं प्रागुक्तं व्यक्तीकृतम्। तथाहि-कस्यचित् पुंसः कण्टकाऽऽकीर्णमार्गावतीर्णस्य कण्टकाविघ्नो विशिष्टगमनविघातहेतुः, तद्रहिते तु पथि प्रवृत्तस्य निराकुलं गमनं संजायते, एवं कण्टकविघ्नजयसमः प्रथमो विघ्नजयः। तथा-तस्यैव ज्वरवेदनाऽभिभूतशरीरस्य विह्वलपादन्यासस्य निराकुलं गमनं चिकीर्षोरपि तत्कर्तुमशक्नुवतः कण्टकविघ्नादभ्यधिको ज्वरविघ्नः, तज्जयस्तु निराकुलप्रवृत्तिहेतुः एवं ज्वरविघ्नसमो द्वितीयो विघ्नजयः। तस्यैव चाध्वनि जिगमिषोर्दिङ्मोहकल्पो मोहविघ्नः, तेनाभिभूतस्य प्रेर्यमाणस्याप्यध्वनीनैर्न गमनोत्साहः कथञ्चित्प्रादुर्भवति, तज्जयस्तु स्वरसतो मार्गगमनप्रवृत्तिहेतुः। एवमिह मोहविघ्नजयसमस्तृतीयो विघ्नजयः। इति फलैकोऽभेयाः स्फलन्ते ॥ १३ ॥

सिद्धिस्तात्त्विकधर्माऽऽप्तिः, साक्षादनुभवाऽऽत्मिका ।
कृपोपकारविनया-न्विता हीनाऽऽदिषु क्रमात् ॥ १४ ॥

सिद्धिः तात्त्विकस्याभ्यासशुद्धस्य, न त्वाभ्यासिकमात्रस्य, धर्मस्य अहिंसाऽऽदेः, आप्तिरुपलब्धिः, साक्षादनुपचारेण, अनुभवाऽऽत्मिका आत्मन आत्मना आत्मनि संवित्तिरूपा ज्ञानदर्शनचारित्रैकमूर्तिका, हीनाऽऽदिषु क्रमात् कृपोपकारविनयान्विता, हीने कृपाऽन्विता, मध्यमे उपकारान्विता, अधिके च विनययुता ॥ १४ ॥

अन्यस्य योजनं धर्मे, विनियोगस्तदुत्तरम् ।
कार्यमन्वयसंपत्त्या, तदवन्ध्यफलं मतम् ॥ १५ ॥

अन्यस्य स्वव्यतिरिक्तस्य, योजनं धर्मेऽहिंसाऽऽदौ विनियोगः, तदुत्तरं सिद्ध्युत्तरं कार्यम्। तदन्वयसंपत्त्याऽविच्छेदसिद्ध्या, अवन्ध्यफलमव्यभिचारिफलं मतम्। स्वपरोपकारबुद्धिलक्षणस्यानेकजन्मान्तरसन्ततोद्बोधेन प्रकृष्टधर्मस्थानावाप्तिहेतुत्वात् ॥ १५ ॥

एतैराशययोगैस्तु, विना धर्माय न क्रिया ।
प्रत्युत प्रत्यपायाय, लोभक्रोधक्रिया यथा ॥ १६ ॥

एतैः प्रणिधानाऽऽदिभिः, आशययोगैस्तु विना धर्माय न क्रिया बाह्यकायव्यापाररूपा, प्रत्युतान्तर्मालिन्यसद्भावात् प्रत्यपायायेष्यमाणप्रतिपक्षविघ्नाय, यथा लोभक्रोधक्रिया कूटतुलाऽऽदिसङ्ग्रामाऽऽदिलक्षणा। तदुक्तम्-"तत्त्वेन तु पुनर्नैका-प्यत्र धर्मक्रिया मता। तत्प्रवृत्त्यादिवैगुण्या-ल्लोभक्रोधक्रिया यथा ॥" ॥ १२ ॥ (यो० बिं०) ॥ १६ ॥

तस्मादचरमाऽऽवर्त्ते-ष्वयोगो योगवर्त्मनः ।
योग्यत्वेऽपि तृणाऽऽदीनां, घृतत्वाऽऽदेस्तदा यथा ॥ १७ ॥

तस्मात्प्रणिधानाऽऽद्यभावात्, अचरमाऽऽवर्त्तेषु योगवर्त्मनो योगमार्गस्य, अयोगोऽसंभवः। योग्यत्वेऽपि योगस्वरूपयोग्यत्वेऽपि, तृणाऽऽदीनां, तदा तृणाऽऽदिकाले, यथा घृतत्वाऽऽदेरयोगः-तृणाऽऽदिपरिणामकाले तृणाऽऽदेर्घृताऽऽदिपरि-

आमस्वरूपयोग्यत्वेऽपि घृताऽऽदिपरिणामसहकारियोग्यताऽभावाद् यथा न घृताऽऽदिपरिणामः, तथा प्रकृतेऽपि भावनीयम् । अत एव सहकारियोग्यताऽभाववति तत्र काले कार्यानुपधानम् ।

तद् योग्यताऽभाववत्त्वेनैव साधयितुमभिप्रेत्याऽऽह
(योगबिन्दौ) हरिभद्रसूरिः–

" तस्मादचरमाऽऽवर्त्ते–ष्वध्यात्मं नैव युज्यते ।
कायस्थितितरोर्यद्व–त्तज्जन्मस्वामरं सुखम् ॥ ९३ ॥
तैजसानां च जीवानां, भव्यानामपि नो तदा ।
यथा चारित्रमित्येवं, नान्यदा योगसंभवः ॥९४॥ " इति ।१७।

नवनीताऽऽदिकल्पस्त–च्चरमाऽऽवर्त इष्यते ।
अत्रैव विमलो भावो, गोपेन्द्रोऽपि यदभ्यधात् ॥ १८ ॥

नवनीताऽऽदिकल्पो घृतपरिणामनिबन्धननवनीतदधिदुग्धाऽऽदितुल्यः, तत्तस्मात्, चरमाऽऽवर्त्त इष्यते योगपरिणामनिबन्धनम् । अत्रैव चरमाऽऽवर्त्त एव, विमलो भावो भवाभिष्वङ्गाभावाद्भवति । यद्गोपेन्द्रोऽपि अभ्यधाद् भङ्ग्यन्तरेण ॥ १८ ॥

अनिवृत्ताधिकारायां, प्रकृतौ सर्वथैव हि ।
न पुंसस्तत्त्वमार्गेऽस्मिन्, जिज्ञासाऽपि प्रवर्तते ॥ १९ ॥

अनिवृत्तः प्रतिलोमशक्त्याऽन्तर्लीनोऽधिकारः पुरुषाभिभवनरूपो यस्यास्तस्यां प्रकृतौ, सर्वथैव हि सर्वैरेव प्रकारैः, अपुनर्बन्धस्थानस्याप्यप्राप्ताविव्यर्थः । न नैव, पुंसस्तत्त्वमार्गेऽस्मिन् वक्तुमुपक्रान्ते, जिज्ञासाऽपि ज्ञातुमिच्छाऽपि, किं पुनस्तदवस्थाप्ताः ?, इत्यपिशब्दार्थः । प्रवर्तते संजायते ॥ १९ ॥

साधिकारप्रकृतिम–त्यावर्त्ते हि नियोगतः ।
पथ्येच्छेव न जिज्ञासा, क्षेत्ररोगोदये भवेत् ॥ २० ॥

साधिकारा पुरुषाभिभवप्रवृत्ता या प्रकृतिः, तद्वत्यावर्त्ते हि, नियोगतो निश्चयतः, जिज्ञासा तत्त्वमार्गपरिज्ञानेच्छा, न भवेत् । क्षेत्ररोगोदये इव पथ्येच्छा । क्षेत्ररोगो नाम–रोगान्तराऽऽधारभूतः कुष्ठाऽऽदिरोगः, ततो यथा पथ्यापथ्यधीविपर्यासः, तथा प्रकृतेऽपि ॥ २० ॥

पुरुषाभिभवः कश्चित्, तस्यामपि हि हीयते ।
युक्तं तेनैतदधिक–मुपरिष्टाद् भणिष्यते ॥ २१ ॥

तस्यामपि हि जिज्ञासायामपि हि सत्यां, कश्चित्पुरुषाभिभवः, प्रकृतेर्हीयते निवर्तते, न ह्येकान्तेनाक्षीणपापस्य विमलो भावः संभवति, तेनैतद्गोपेन्द्रोक्तं युक्तम् । अधिकमपरिणत्यात्मपक्षे तदभिभवत्वनिवृत्त्यानुपपत्तिलक्षणम्, उपरिष्टाद्द्वात्रिंशिकायां, भणिष्यते ॥ २१ ॥

भावस्य मोक्षहेतुत्वं, तेन मोक्षे व्यवस्थितम् ।
तस्यैव चरमाऽऽवर्त्ते, क्रियाया अपि योगतः ॥ २२ ॥

तेन भावस्यान्तःपरिणामस्य, मोक्षे मुख्यहेतुत्वं व्यवस्थितं, तेन स एव योग इत्युक्तं भवति । तस्यैव योगतश्चरमाऽऽवर्ते क्रियाया अपि मोक्षे मुख्यहेतुत्वम्, अतस्तस्या अपि योगत्वमिति भावः ॥ २२ ॥

रसानुवेधात्ताम्रस्य, हेमत्वं जायते यथा ।
क्रियाया अपि सम्यक्त्वं, तथा भावानुवेधतः ॥ २३ ॥

ताम्रस्य रसानुवेधात्सिद्धरससंपर्काद्, यथा हेमत्वं जायते, तथा क्रियाया अपि भावानुवेधतः सम्यक्त्वं मोक्षसंपादनशक्तिरूपम् ॥ २३ ॥

भावसात्म्ये त एवास्याः, भङ्गेऽपि व्यक्तमन्वयः ।
सुवर्णघटतुल्यां तां, ब्रुवते सौगता अपि ॥ २४ ॥

अत एवास्याः क्रियाया भावसात्म्ये स्वजननशक्त्या भावव्याप्तिलक्षणे सति, भङ्गेऽपि तथाविधकषायोदयाद्नाशेऽपि, व्यक्तं प्रकटम्, अन्वयो भावानुवृत्तिलक्षणः, तद्व्यक्त्यभावेऽपि तच्छक्त्यनपगमात् । अत एव तां भावशुद्धां क्रियां, सौगता अपि सुवर्णघटतुल्यां ब्रुवते । यथा हि सुवर्णघटो भिद्यमानोऽपि न सुवर्णानुबन्धं मुञ्चति, एवं शुभक्रिया तथाविधकषायोदयाद्भग्नाऽपि शुभफलैवेति । तदिदमुक्तम्–" भाववृद्धिरतोऽवश्यं, सानुबन्धं शुभोदयम् । गीयतेऽन्यैरपि ह्येतत्, सुवर्णघटसन्निभम् ॥ ३५१ ॥ " (यो० बिं०) इति ।२४।

शिरोदकसमो भावः, क्रिया च खननोपमा ।
भावपूर्वादनुष्ठानाद्, भाववृद्धिरतो ध्रुवा ॥२५॥

शिरोदकसमस्तथाविधकूपे सहजप्रवृत्तशिराजलतुल्यो भावः, क्रिया च खननोपमा शिराऽऽश्रयकूपाऽऽदिखननसदृशी, अतो भावपूर्वादनुष्ठानाद्भाववृद्धिर्ध्रुवा, जलवृद्धौ कूपखननस्येव भाववृद्धौ क्रियाया हेतुत्वाद्भावस्य दलत्वेऽपि बहुदलमेलनरूपाया वृद्धेरन्वयव्यतिरेकानुविधानात् ॥ २५ ॥

मण्डूकचूर्णसदृशः, क्लेशध्वंसः क्रियाकृतः ।
तद्भस्मसदृशस्तु स्याद्, भावपूर्वक्रियाकृतः ॥ २६ ॥

क्रियाकृतः केवलक्रियाजनितः, क्लेशध्वंसो रागाऽऽदिपरिक्षयः, मण्डूकचूर्णसदृशः, पुनरुत्पत्तिशक्त्यन्वितत्वात् । भावपूर्वक्रियाकृतस्तु तद्भस्मसदृशो मण्डूकभस्मसदृशः स्यात्, पुनरुत्पत्तिशक्त्यभावात् । एवं च क्लेशध्वंसविशेषजनकशक्तिविशेष एव क्रियायां भाववृद्ध्यनुकूल इति फलितम् ॥ २६ ॥

तथा च–

विचित्रभावद्वारा तत्, क्रिया हेतुः शिवं प्रति ।
अस्या व्यञ्जकताऽप्येषा, परा ज्ञाननयोचिता ॥२७॥

विचित्रो भावोऽध्यात्माऽऽदिरूपः, तद्द्वारा क्रिया, शिवं प्रति हेतुः, दण्ड इव चक्रभ्रमिद्वारा घटे । करणता च तस्याः शक्तिविशेषेण, न तु भावपूर्वकत्वेनैव, भावस्यान्यथासिद्धिप्रसङ्गात् । अस्याः क्रियायाः, व्यञ्जकताऽप्येषा हेतुता विशेषरूपा परा । अत एव भावस्य ज्ञापकत्वरूपाऽभिव्यञ्जकता ज्ञाननयोचिता ज्ञाननयप्राधान्योपयुक्ता, न तु व्यवहारतो वास्तवी, अन्यथा सत्कार्यवादप्रसङ्गादिति भावः ॥ २७ ॥

व्यापारश्चिद्विवर्तत्वाद्, वीर्योल्लासाच्च स स्मृतः ।
विविच्यमाना भिद्यन्ते, परिणामा हि वस्तुनः ॥२८॥

स योगः, चिद्विवर्तत्वाद् ज्ञानपरिणामाद्, वीर्योल्लासादात्मशक्तिस्फोरणाच्च, व्यापारः स्मृतः, क्रमवतः प्रवृत्तिविषयस्य व्यापारत्वात् । एतेन द्रव्याऽऽदेर्व्यवच्छेदः । हि यतो, विविच्यमाना भेदनयेन गृह्यमाणा, वस्तुनः परिणामा भिद्यन्ते । तथा च–न व्यापाराऽऽश्रयस्यापि व्यापारत्वमिति भावः ॥ २८ ॥

एतदेवाऽऽह–

जीवस्थानानि सर्वाणि, गुणस्थानानि मार्गणाः ।
परिणामा विवर्तन्ते, जीवस्तु न कदाचन ॥ २९ ॥

सर्वाणि चतुर्दशापि जीवस्थानानि गुणस्थानानि तावन्त्येव, मार्गणा गतीन्द्रियाऽऽद्याः परिणामा विवर्तन्ते-दशाविशेषं भजन्ते, जीवस्तु कदाचन न विवर्तते, तस्य शुद्धज्ञायकभावस्यैकस्वभावत्वात् ॥ २९ ॥

उपाधिः कर्मणैव स्या-दाचाराऽऽदौ श्रुतं ह्यदः ।
विभावानित्यभावेऽपि, ततो नित्यः स्वभाववान् ॥ ३० ॥

आचाराऽऽदौ ह्यदः श्रुतम्-यदुत उपाधिः कर्मणैव स्यात्, "कम्मुणा उवाही जायति त्ति" वचनात्। ततो विभावानां मिथ्यात्वगुणस्थानादारभ्यायोगिगुणस्थानं यावत् प्रवर्तमानानामौपाधिकभावानाम्, अनित्यभावेऽपि स्वभाववानात्मा नित्यः, तस्योपाध्यजनितत्वात्, उपाधिनिमित्तका अप्यात्मनो भावास्तद्रूपा एव युज्यन्ते इति चेत्। सत्यम्। शुद्धनयदृष्ट्याऽध्यमपुद्गलयोः स्वस्वगुणभावजननचरितार्थत्वे संयोगजभावस्य भित्तौ स्फटिकाश्वेतिम्न इव निर्विच्यमानस्यैकस्याप्यनन्तभावेन मिथ्यात्वात् ॥ ३० ॥

द्रव्याऽऽदेः स्यादभेदेऽपि, शुद्धभेदनयाऽऽदिना ।
इत्थं व्युत्पादनं युक्तं, नयसारा हि देशना ॥ ३१ ॥

द्रव्याऽऽदेः परिणामेन्द्रयः स्यात् कथञ्चिदभेदेऽपि शुद्धः केवलो यो भेदनयस्तदादिना, इत्थमुक्तरीत्या,व्युत्पादनं युक्तम्। नयसारा नयप्रधाना हि देशना शास्त्रे प्रवर्तते, अन्यथाऽनुयोगपरिणत आत्माऽपि योग इतीष्यत एव, चरणाऽऽत्मनोऽपि भगवत्यां प्रतिपादनादिति भावः॥ ३१ ॥

योगलक्षणमित्येवं, जानानो जिनशासने ।
परोक्तानि परीक्षेत, परमाऽऽनन्दवद्धधीः ॥ ३२ ॥

योगलक्षणमिति स्पष्टम् ॥ ३२ ॥ द्वा० १० द्वा० ।

(१३) स्वकीयं योगलक्षणमन्यदीययोगलक्षणे विचारिते सति स्थिरीभवतीति तदर्थमयमारम्भः-

चित्तवृत्तिनिरोधं तु, योगमाह पतञ्जलिः ।
द्रष्टुः स्वरूपावस्थानं, यत्र स्यादविकारिणि ॥ १ ॥

पतञ्जलिस्तु चित्तवृत्तिनिरोधं योगमाह। तथा च सूत्रम्-"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" (१-२) इति । तत्र चित्तपदार्थं व्याचष्टे-द्रष्टुः पुरुषस्य, स्वरूपे चिन्मात्ररूपतायाम्, अवस्थानं यत्र यस्मिन् स्यात्, अविकारिणि व्युत्पन्नविवेकख्यातेश्चित्संक्रमाभावात् कर्तृत्वाभिमाननिवृत्तौ प्रोन्मुक्तपरिणामेन । तथा च सूत्रम्-"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमिति ।" (१-३) ॥ १ ॥

आपन्ने विषयाऽऽकारं, यत्र चेन्द्रियवृत्तितः ।
पुमान् भाति तथा चन्द्र-श्चलन्नीरे चलन् यथा ॥ २ ॥

यत्र चेन्द्रियवृत्तितः इन्द्रियवृत्तिद्वारा, विषयाऽऽकारमापन्ने विषयाऽऽकारपरिणते सति, पुमान् पुरुषस्तथा भाति यथा चलन्नीरे चलन् चन्द्रः, स्वगतधर्माध्यारोपाधिष्ठानत्वेन प्रतीयत इत्यर्थः । तथा च सूत्रम्-"वृत्तिसारूप्यमितरत्रेति ।" (१-४) ॥ २ ॥

तच्चित्तं वृत्तयस्तस्य, पञ्चतय्यः प्रकीर्तिताः ।
मानं भ्रमो विकल्पश्च, निद्रा च स्मृतिरेव च ॥ ३ ॥

तच्चित्तं तस्य वृत्तिसमुदायलक्षणस्यावयविनोऽवयवभूताः पञ्चतय्यो वृत्तयः प्रकीर्तिताः । तदुक्तम्-" वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।" (सांख्य० २-३३) ('अक्लिष्टाः' योग० १-५) क्लिष्टाः क्लेशाऽऽक्रान्ताः, तद्विपरीता अपि तावत्य एव । ता एवोद्दिशति-मानं प्रमाणम्, भ्रमो, विकल्पो, निद्रा च, स्मृतिरेव च । तदाह-" प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्राः स्मृतयः । " (१-६) ॥ ३ ॥

आसां क्रमेण लक्षणमाह-

मानं ज्ञानं यथार्थं स्या-दतस्मिंस्तन्मतिर्भ्रमः ।
पुंसश्चैतन्यमित्यादौ, विकल्पोऽवस्तुशाब्दधीः ॥ ४ ॥
निद्रा च वासनाऽभाव-प्रत्ययाऽऽलम्बना स्मृता ।
सुखाऽऽदिविषया वृत्ति-र्जागरे स्मृतिदर्शनात् ॥ ५ ॥
तथाऽनुभूतविषया-संप्रमोषः स्मृतिः स्मृता ।
आसां निरोधः शक्त्याऽन्तः-स्थितिर्हेतौ बहिर्हतिः ॥ ६ ॥

मानं यथार्थं तद्वति तदवगाहि ज्ञानं स्यात्। तदाह-"अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणमिति।" भ्रमोऽतस्मिंस्तदभाववति तन्मतिः। यदाह-" विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । " (१-८) संशयोऽपि स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यतद्रूपप्रतिष्ठत्वादत्रैवान्तर्भवति । पुंसश्चैतन्यमित्यादौ अवस्तुविषया शाब्दधीर्विकल्पः । अत्र हि देवदत्तस्य कम्बल इतिवत् शब्दजनिते ज्ञाने षष्ठ्यर्थो भेदोऽध्यवसीयते, तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततेऽध्यवसायः । वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुष इति । तदाह-" शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो (असदर्थव्यवहारविषयो) विकल्पः।" (१-९) इति । अभेदेऽपि भेदविशेष एवायमस्त्विति चेत् । न । तथाविधशब्दजन्यजनकभावेनास्य विलक्षणत्वात्,विषयाभावज्ञानेऽपि प्रवृत्तेश्च। यद्भोजः-"वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो योऽध्यवसायः स विकल्प इत्युच्यते" इति ॥४॥ अभावप्रत्ययाऽऽलम्बना भावप्रत्ययाऽऽलम्बनविरहिता वासना च निद्रा स्मृता, सन्ततमुद्रिक्तत्वात्तमसः । समस्तविषयपरित्यागेन या प्रवर्तत इत्यर्थः। तदाह-"अभावप्रत्ययाऽऽलम्बना वृत्तिर्निद्रा ।" (१-१०) इयं च जागरे जाग्रदवस्थायां स्मृतिदर्शनात् सुखमहमस्वाप्समिति स्मृत्यालोचनात्सुखाऽऽदिविषया वृत्तिः,स्वापकाले सुखाननुभवे तदा तत्स्मृत्यनुपपत्तेः ॥५॥ तथाऽनुभूतविषयस्य प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्राऽनुभूतार्थस्यासंप्रमोषः संस्कारद्वारेण बुद्धावुपारोहः स्मृतिः स्मृता । तदाह-"अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिरिति।" (१-११) आसामुक्तानां पञ्चानामपि वृत्तीनाम्,हेतौ स्वकारणे,शक्त्या शक्तिरूपतया, अन्तर्बाह्याभिनिवेशनिवृत्त्याऽन्तर्मुखतया स्थितिरवस्थानं, बहिर्हतिः प्रकाशप्रवृत्तिनियमरूपाविघातः। एतदुभयं निरोध उच्यते ॥ ६ ॥

स चाभ्यासाच्च वैराग्या-त्तत्राभ्यासः स्थितौ श्रमः ।
दृढभूमिः स च चिरं, नैरन्तर्याऽऽदराऽऽश्रितः ॥ ७ ॥

स चोक्तलक्षणो निरोधश्च अभ्यासाद्वैराग्याच्च भवति । तदुक्तम्-" अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध इति ।" (१-१२) तत्राभ्यासः स्थितौ वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठे परिणामे श्रमो यत्नः पुनःपुनस्तथात्वेन चेतसि निवेशनरूपः । तदाह-" तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास इति।" (१-१३) स च चिरं चिरकालं नैरन्तर्येणाऽऽदरेण चाऽऽश्रितो दृढभूमिः स्थिरो भवति। तदाह-"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिरिति।" (१-१४) ॥ ७ ॥

या वशीकारसंज्ञा स्याद्, दृष्टाऽऽनुश्रविकार्थयोः ।
वितृष्णस्यापरं तत् स्या-द्वैराग्यमनधीनता ॥ ८ ॥

दृष्ट इहैवोपलभ्यमानः शब्दाऽऽदिः,आनुश्रविकश्चार्थो देवलोकाऽऽ-

दिः। अनुश्रूयते गुरुमुखादित्यनुश्रवो वेदः, ततः प्रतीयमान आनुश्रविक इति व्युत्पत्तेः। तयोः परिणामविरसत्वदर्शनाद्, वितृष्णस्य विगतगर्धस्य, या वशीकारसंज्ञा 'ममैवैते वश्या नाहमेतेषां वश्यः' इत्येवं विमर्शाऽऽत्मिका। तत्परं वक्ष्यमाणपरवैराग्यात्याप्राप्त्यं वैराग्यं स्यात् अनधीनता फलतः पराधीनताऽभावरूपम्। तदाह-"दृष्टाऽऽनुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यमिति।" (१-१५) ॥ ८ ॥

तत्परं जातपुंख्याते-र्गुणवैतृष्ण्यसंज्ञकम् ।
बहिर्वैमुख्यमुत्पाद्य, वैराग्यमुपयुज्यते ॥ ९ ॥

जातपुंख्यातेरुत्पन्नगुणपुरुषविवेकख्यातेः, गुणवैतृष्ण्यसंज्ञकं गुणेष्वपि तृष्णाऽभावलक्षणम्, यथार्थाभिधानं, परं प्रकृष्टं, तद्वैराग्यम्। तदाह-"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यमिति।" (१-१६) प्रथमं हि विषयविषयं, द्वितीयं च गुणविषयमिति भेदः। बहिर्बाह्यविषये वैमुख्यं दोषदर्शनजत्वात्प्रवृत्त्यभावलक्षणमुत्पाद्य वैराग्यमुपयुज्यते उपकाराऽऽधायकं भवति ॥ ९ ॥

निरोधं पुनरभ्यासो, जनयन् स्थिरतां दृढाम् ।
परमाऽऽनन्दनिष्यन्द-शान्तस्रोतःप्रदर्शनात् ॥ १० ॥

निरोधं चित्तवृत्तिनिरोधे, अभ्यासः पुनर्दृढामतिशयितां स्थिरतामचाञ्चल्यलक्षणां जनयन्, परमाऽऽनन्दनिष्यन्दस्यातिशायिसुखार्णवनिर्झरभूतस्य शान्तस्रोतसः शान्तरसप्रवाहस्य प्रदर्शनात्, उपयुज्यते इत्यन्वयः। तत्रैव सुखमग्नस्य मनसोऽन्यत्र गमनायोगात्। इत्थं च 'चित्तवृत्तिनिरोधः' इति योगलक्षणं सोपपत्तिकं व्याख्यातम् ॥ १० ॥

(१४) अथ तद् दूषयन्नाह-

न चैतद्युज्यते किञ्चि-दात्मन्यपरिणामिनि ।
कूटस्थे स्यादसंसारो-ऽमोक्षो वा तत्र हि ध्रुवम् ॥ ११ ॥

न चैतत् पूर्वोक्तं किञ्चिदपरिणामिनि आत्मनि युज्यते, तत्राऽऽत्मनि हि कूटस्थे एकान्तिकस्वभावे सति असंसारः संसाराभाव एव स्यात्, पुष्करपत्रवन्निर्लेपस्य तस्याविचलितस्वभावत्वात्। प्रकृतितद्विकारोपहितस्वभावे च तस्मिन् संसारदशायामभ्युपगम्यमाने, ध्रुवं निश्चितममोक्षो मोक्षाभावो वा स्यात्, मुक्तिदशायां पूर्वस्वभावस्य त्यागे कौटस्थ्यहानिप्रसङ्गात् ॥ ११ ॥

प्रकृतेरपि चैकत्वे, मुक्तिः सर्वस्य नैव वा ।
जडायाश्च पुमर्थस्य, कर्तव्यत्वमयुक्तिमत् ॥ १२ ॥

प्रकृतेरपि चैकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सर्वस्य मुक्तिः स्यात्, नैव वा कस्यचित्स्यात्। एकं प्रति विलीनोपधानायास्तस्याः सर्वान् प्रति तथात्वात्, एकं प्रत्यविलीनत्वाच्च सर्वान् प्रत्यतथात्वात्। अन्यथा स्वभावभेदे प्रकृतिभेदप्रसङ्गात्। किं च-आत्मनोऽव्याप्रियमाणस्य भोगसंपादनार्थमेव प्रकृतिः प्रवर्त्तत इति प्रवर्तामभ्युपगमः। तदुक्तम्-"द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।" (२-२०) "तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मेति।" (२-२१) जडायाश्च तस्याः पुमर्थस्य कर्तव्यत्वमयुक्तिमत्। पुरुषार्थो मया कर्तव्य इत्येवं विधाध्यवसायो हि पुरुषार्थकर्तव्यता, तदभावे च प्रकृतेर्जडत्वव्याघात इति ॥ १२ ॥

अथ स्वसिद्धान्ताऽऽदाय प्रकटयन् पूर्वपक्षी शङ्कते-

ननु चित्तस्य वृत्तीनां, सदा ज्ञाननिबन्धनात् ।
चिच्छायासंक्रमाद्धेतो-रात्मनोऽपरिणामिता ॥ १३ ॥

ननु चित्तस्य वृत्तीनां प्रमाणाऽऽदिरूपाणाम्, सदा सर्वकालमेव, ज्ञाननिबन्धनात्परिच्छेदहेतोः। चिच्छायासंक्रमाद्धेतोर्लिङ्गादात्मनोऽपरिणामिताऽनुमीयते। इदमुक्तं भवति-पुरुषस्य चिद्रूपस्य सदैवाधिष्ठातृत्वेन सिद्धस्य यदन्तरङ्गं निर्मलं ज्ञेयं सत्त्वं, तस्यापि सदैव व्यवस्थितत्वात्तदर्थेनोपरक्तं भवति तथाविधस्य दृश्यस्य चिच्छायासंक्रान्तिसद्भावात् सदा ज्ञातृत्वं सिद्धं भवति। परिणामित्वे त्वात्मनश्चिच्छायासंक्रमस्यासार्वदिकत्वात् सदा ज्ञातृत्वं न स्यादिति। तदिदमुक्तम्-"सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयः तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वादिति"। (४-१८) ॥ १३ ॥

ननु चित्तमेव सत्त्वोत्कर्षादि प्रकाशकं तदा तस्य स्वप्रकाशरूपत्वादर्थस्येवाऽऽत्मनोऽपि प्रकाशकत्वेन व्यवहारोपपत्तौ किं ग्रहीत्रन्तरेण ?, इत्यत आह-

स्वाऽऽभासं खलु नो चित्तं, दृश्यत्वेन घटाऽऽदिवत् ।
तदन्यदृश्यतायां चा-नवस्थास्मृतिसङ्करौ ॥ १४ ॥

चित्तं खलु, नो नैव, स्वाऽऽभासं स्वप्रकाश्यं, किं तु द्रष्टृवेद्यं, दृश्यत्वेन दृग्विषयत्वेन, घटाऽऽदिवत्। यद् यद् दृश्यं तत्तद् द्रष्टृवेद्यमिति व्याप्तेः। तदिदमुक्तम्-"न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात्।" (४-१९) अन्तर्बहिर्मुखव्यापारद्वयविरोधात्, तन्निष्पाद्यफलद्वयस्यासंवेदनाच्च बहिर्मुखतयैवार्थनिष्ठत्वेन चित्तस्य संवेदनार्थनिष्ठमेव तत्फलं, न स्वनिष्ठमिति राजमार्तण्डः। तथापि चित्तान्तरदृश्यं चित्तमस्त्वित्यत आह-तदन्यदृश्यतायां च चित्तान्तरदृश्यतायां च, चित्तस्याभ्युपगम्यमानायामनवस्थास्मृतिसङ्करौ स्याताम्। तथाहि-यदि बुद्धिर्बुद्ध्यन्तरेण वेद्येत तदा साऽपि बुद्धिः स्वयं बुद्धा बुद्ध्यन्तरं प्रकाशयितुमसमर्थेति, तस्या ग्राहकं बुद्ध्यन्तरं कल्पनीयम्, तस्याप्यन्यदित्यनवस्थानात्पुरुषायुषः सहस्रेणाप्यर्थप्रतीतिर्न स्यात्। न हि प्रतीतावप्रतीतायामर्थः प्रतीतो भवति। तथा स्मृतिसङ्करोऽपि स्यात्। एकस्मिन् रूपे, रसे वा समुत्पन्नायां बुद्धौ तद्ग्राहिकाणामनन्तानां बुद्धीनामुत्पत्तेस्तज्जनितसंस्कारैर्युगपद् बह्वीषु स्मृतिषूत्पन्नासु कस्मिन्नर्थे स्मृतिरियमुत्पन्नेति ज्ञातुमशक्यत्वात्। तदाह-"एकसमये चोभयानवधारणम्।" (४-२०) "चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्चेति" (४-२१) ॥ १४ ॥

नन्वेवं कथं विषयव्यवहार इत्यत्राऽऽह-

अजाङ्गिभावचाराभ्यां, चितिरप्रतिसंक्रमा ।
द्रष्टृदृश्योपरक्तं तत्, चित्तं सर्वार्थगोचरम् ॥ १५ ॥

चितिः पुरुषरूपा चिच्छक्तिः, अङ्गाङ्गिभावचाराभ्यां परिणामपरिणामिभावगमनाभ्याम्, अप्रतिसंक्रमाऽन्येनासंकीर्णा। यथा हि गुणाः स्वबुद्धिगमनलक्षणे परिणामेऽङ्गाङ्गिनमुपसंक्रामन्ति तद्रूपतामिवाऽऽपद्यन्ते, यथा वाऽऽलोकपरमाणवः प्रसरन्तो विषयं व्याप्नुवन्ति, नैवं चितिशक्तिः, तस्याः सर्वदैकरूपतया स्वप्रतिष्ठितत्वेन व्यवस्थितत्वादित्यर्थः। तत्सन्निधानसामर्थ्यात् बुद्धेस्तदाकारताऽऽपत्तौ चेतनायामिवोपजायमानायां, बुद्धिवृत्तिप्रतिसंक्रान्तायाश्च चिच्छक्तेर्बुद्धिविशिष्टतया संपत्तौ स्वसंवेदनमुपपन्नमित्यर्थः। द्रष्टृदृश्याभ्यामुपरक्तं द्रष्टृरूपतामिवाऽऽपन्नं, गृहीतविषयाऽऽकारपरिणामं च चित्तं, सर्वार्थगोचरं सर्वविषयग्रहणसमर्थं भवति। तदुक्तम्-"चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाऽऽकाराऽऽपत्तौ स्वबु

क्तिसंवेदनम्।"(४-२२)'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्।'(४-२३) यथा हि निर्मलं स्फटिकदर्पणाऽऽद्येव प्रतिबिम्बग्रहणसमर्थम्, एवं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं शुद्धत्वाच्चिच्छायाग्रहणसमर्थं, न पुनरशुद्धत्वाद्रजस्तमसी। ततो न्यग्भूतरजस्तमोरूपमङ्गितया सत्त्वं निश्चलप्रदीपशिखाऽऽकारं सदैवैकरूपतया परिणममानं चिच्छायाग्रहणसामर्थ्यादामोक्षप्राप्तेरवतिष्ठते, यथाऽयस्कान्तसन्निधाने लोहस्य चलनमाविर्भवति, एवं चिद्रूपपुरुषसन्निधाने सत्त्वस्याभिव्यङ्ग्यमभिव्यज्यते चैतन्यमिति ॥ १५ ॥

इत्थं च द्विविधा चिच्छक्तिरित्याह-

नित्योदिता त्वभिव्यङ्ग्या, चिच्छक्तिर्द्विविधा हि नः ।
आद्या पुमान् द्वितीया तु, सत्त्वे तत्सन्निधानतः ॥ १६ ॥

नित्योदिता, तु पुनः, अभिव्यङ्ग्या, द्विविधा हि नः-अस्माकं चिच्छक्तिः-आद्या नित्योदिता पुमान् पुरुष एव, द्वितीयाऽभिव्यङ्ग्या तु, तत्सन्निधानतः पुंसः सामीप्यात्, सत्त्वे सत्त्वनिष्ठा। यद्भोजः-"अत एतस्मिन् दर्शने द्वे चिच्छक्ती-नित्योदिता, अभिव्यङ्ग्या च। नित्योदिता चिच्छक्तिः पुरुषः तत्सन्निधानाभिव्यक्तयाऽभिव्यङ्ग्यं चैतन्यं सत्त्वमभिव्यङ्ग्या चिच्छक्तिरिति ॥ १६ ॥

इत्थं च भोगोपपत्तिमप्याह-

सत्त्वे पुंस्थितचिच्छाया-समाऽन्या तदुपस्थितिः ।
प्रतिबिम्बाऽऽत्मको भोगः, पुंसि भेदाऽऽग्रहादयम् ॥ १७ ॥

सत्त्वे बुद्धेः सात्त्विकपरिणामे, पुंस्थिता या चिच्छाया, तत्समा याऽन्या, सा स्वकीयचिच्छाया, तस्या उपस्थितिरभिव्यक्तिः, प्रतिबिम्बाऽऽत्मको भोगः। अन्यत्रापि हि प्रतिबिम्बे प्रतिबिम्ब्यमानच्छायासदृशच्छायान्तरोद्भव एव प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते। पुंसि पुनरयं भोगो भेदाऽऽग्रहादत्यन्तसान्निध्येन विवेकाग्रहणाद् व्यपदिश्यते। यत्तु व्यापकस्यातिनिर्मलस्य चाऽऽत्मनः कथं सत्त्वे प्रतिबिम्बनमिति?। तन्न। व्यापकस्याप्याकाशस्य दर्पणाऽऽदावप्रकृष्टनैर्मल्यवति च जलाऽऽदावादित्याऽऽदीनां प्रतिबिम्बदर्शनात् स्वस्थितचिच्छायासदृशचिच्छायाऽभिव्यक्तिरूपस्य प्रतिबिम्बस्य प्रतिबिम्बान्तरवैलक्षण्याच्चेति भोजः ॥ १७ ॥

इत्थं प्रत्यात्मनियतं, बुद्धितत्त्वं हि शक्तिमत् ।
निर्वाहे लोकयात्रायाः, ततः कातिप्रसञ्जनम् ? ॥ १८ ॥

इत्थमुक्तप्रकारेण, प्रत्यात्मनियतम् आत्मानमात्मानं प्रति नियतफलसंपादकम्। बुद्धितत्त्वं हि लोकयात्राया लोकव्यवहारस्य निर्वाहे व्यवस्थापने, शक्तिमत्समर्थम्, ततः कातिप्रसञ्जनं, योगादेकस्य मुक्तावन्यस्यापि मुक्त्यापत्तिरूपं, प्रकृतेः सर्वत्रैकत्वेऽपि बुद्धिव्यापारभेदेन भेदोपपत्तेः। तथा च सूत्रम्-"कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वादिति।" (२-२२) ॥ १८ ॥

यच्चोक्तम्-"अज्ञायाश्च पुमर्थस्य" इत्यादि, तत्राऽऽह-

कर्तव्यत्वं पुमर्थस्या-नुलोम्यप्रातिलोम्यतः ।
प्रकृतौ परिणामानां, शक्ती स्वाभाविके उभे ॥ १९ ॥

पुमर्थस्य कर्तव्यत्वं प्रकृतौ परिणामानां महदादीनाम्, आनुलोम्यप्रातिलोम्यतः, उभे शक्ती स्वाभाविके स्वभावसिद्धे, पुमर्थे सतीति शेषः। न त्वन्यद्, महदादिमहाभूतपर्यन्तः सत्त्वस्या बहिर्मुखतयाऽनुलोमः परिणामः, पुनः स्वकारणानुप्रवेशद्वारेणाऽस्मितान्तः प्रतिलोमः परिणामः। इत्थं च पुरुषस्य भोगपरिसमाप्तेः सहजशक्तिद्वयक्षयात् कृतार्था प्रकृतिः, न पुनः परिणाममारभते। एवंविधायां च पुरुषार्थकर्तव्यतायां प्रकृतेर्जडत्वेन कर्तव्याध्यवसायाभावेऽपि न काचिदनुपपत्तिरिति ॥ १९ ॥

ननु यदि प्रतिलोमशक्तिरपि सहजैव प्रधानस्यास्ति, तत् किमर्थं योगिभिर्मोक्षार्थं यत्नः क्रियते?। मोक्षस्य चानर्थनीयत्वे तदुपदेशकशास्त्रस्याप्यानर्थक्यमित्यत आह-

न चैवं मोक्षशास्त्रस्य, वैयर्थ्यं प्रकृतेर्यतः ।
ततो दुःखनिवृत्त्यर्थं, कर्तृत्वस्मयवर्जनम् ॥ २० ॥

न चैवं मुक्तौ प्रकृतेरेव सामर्थ्ये, मोक्षशास्त्रस्य वैयर्थ्यमानर्थक्यं, यतो यस्मात्, ततो मोक्षशास्त्राद्, दुःखनिवृत्त्यर्थं दुःखनाशाय, प्रकृतेः प्रधानस्य, कर्तृत्वस्मयस्य कर्तृत्वाभिमानस्य, वर्जनं निवृत्तिर्भवति। अनादिरेव हि प्रकृतिपुरुषयोर्भोक्तृभोग्यभावलक्षणः संबन्धः, तस्मिन् सति, व्यक्तमचेतनायाः प्रकृतेः कर्तृत्वाभिमानाद् दुःखानुभवे सति 'कथमियं दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी मम स्यात्' इति भवत्येवाध्यवसायः, अतो दुःखनिवृत्त्युपायोपदेशकशास्त्रोपदेशापेक्षाऽप्यस्य युक्तिमतीति ॥ २० ॥

व्यक्तं कैवल्यपादेऽदः, सर्वं साध्विति चेन्न तत् ।
एवं हि प्रकृतेर्मोक्षो, न पुंसस्तदिदं वृथा ॥ २१ ॥

कैवल्यपादे योगानुशासनचतुर्थपादे, अदः एतत्, व्यक्तं प्रकटं, सर्वमखिलं, साधु निर्दोषमिति। समाधत्ते-इति चेन्न तत्, यत्प्राक् प्रपञ्चितं, हि यतः, एवमुक्तरीत्या, प्रकृतेर्मोक्षः स्यात्, तस्या एव कर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या दुःखनिवृत्त्युपपत्तेः, न पुंसः, तस्याबद्धत्वेन मुक्त्ययोगाद्, मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात्। तत्तस्मादिदं वक्ष्यमाणं भवद्ग्रन्थोक्तं, वृथा कण्ठशोषमात्रफलम् ॥ २१ ॥

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राऽऽश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि, मुच्यते नात्र संशयः ॥ २२ ॥

अत्र हि पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानात् पुरुषस्यैव मुक्तिरुक्ता, सा च न संभवतीति। न च भोगव्यपदेशवन्मुक्तिव्यपदेशोऽप्युपचारादेव पुंसि संभवतीति वाच्यम्; एवं हि तत्र चैतन्यस्याप्युपचारेण सुवचत्वाऽऽपत्तेः। बाधकाभावान्न तत्र तस्योपचार इति चेत्, तत्र कृत्याऽऽदिसामानाधिकरण्यस्यानुभूयमानस्य किं बाधकम्?, येन तेषां भिन्नाऽऽश्रयत्वं कल्प्यते। आत्मनः परिणामित्वाऽऽपत्तिर्बाधिकेति चेद्, न। तत्परिणामित्वेऽप्यन्वयानपायात्, अन्यथा चित्तस्यापि तदनापत्तेः, प्रतिक्षणं चित्तस्य नश्वरत्वोपलब्धेः। "अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद् धर्माणाम्।" (४-१२) "ते व्यक्तसूक्ष्मगुणाऽऽत्मानः।" (४-१३) "परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वमिति।" (४-१४) सूत्रपर्यालोचनाद्धर्मभेदेऽपि तेषामङ्गाङ्गिभावपरिणामैकत्वाद् न चित्तानन्वय इति चेत्, तदेतदात्मन्येव पर्यालोच्यमानं शोभते, कूटस्थत्वश्रुतेः शरीराऽऽदिभेदपरत्वेनाप्युपपत्तेरिति सम्यग् विभावनीयम् ॥ २२ ॥

किञ्च-

बुद्ध्या सर्वोपपत्तौ च, मानमात्मनि मृग्यते ।
संहत्यकारिता मानं, पारार्थ्यनियता च न ॥ २३ ॥

बुद्ध्या महत्तत्त्वेन, सर्वोपपत्तौ सकललोकयात्रानिर्वाहे च सति, आत्मनि मानं प्रमाणं मृग्यते। कृत्याऽऽद्याश्रयव्यतिरिक्ते आत्मनि प्रमाणमन्वेषणीयमित्यर्थः। न च पारार्थ्यनियता परा-

र्थकत्वव्याप्त्या, संहत्यकारिता संभूयमिलितार्थक्रियाकारिता, मानमतिरिक्ताऽऽत्मनि प्रमाणं, यत्संहत्यार्थक्रियाकारि तत्परार्थं दृष्टम्, यथा शय्याशयनाऽऽसनाऽऽद्यर्थाः । सत्त्वरजस्तमांसि च चित्तलक्षणपरिणामभाञ्जि संहत्यकारीणि, अतः परार्थानि, यश्च परः स पुरुष इति । तदुक्तम्-" तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं, संहत्यकारित्वादिति । " (४-२४) ॥ २३ ॥

कुतः ?, इत्याह-

सत्त्वाऽऽदीनामपि स्वाङ्गि-न्युपकारोपपत्तितः ।
बुद्धिर्नामैव पुंसस्तत्, स्याच्च तत्त्वान्तरव्ययः ॥ २४ ॥

सत्त्वाऽऽदीनां धर्माणां, स्वाङ्गिन्यपि स्वाऽऽश्रयेऽपि, उपकारोपपत्तितः फलाऽऽधानसंभवादुक्तनियमे मानाभावात् सत्त्वाऽऽदौ संहत्यकारित्वस्य विलक्षणत्वात् । अन्यथा-असंहतरूपपराभिले धर्माणां लाश्रयत्वव्याप्तेश्च बुद्ध्यैव सफलत्वाद् नैवमात्मा कश्चिदतिरिक्तः सिद्ध्येदिति भावः । तत्तस्माद् बुद्धिः पुंसः पुरुषस्यैव नाम स्यात् । च पुनः, तत्त्वान्तरव्ययोऽहङ्काराऽऽदितत्त्वोच्छेदः स्यात् ॥ २४ ॥

तथाहि-

व्यापारभेदादेकस्य, वायोः पञ्चविधत्ववत् ।
अहङ्काराऽऽदिसंज्ञानो-पपत्तिसुकरत्वतः ॥ २५ ॥

एकस्य वायोः, व्यापारभेदादूर्ध्वगमनाऽऽदिव्यापारभेदात्, पञ्चविधत्ववत्-पञ्च वायवः प्राणापानाऽऽदिभेदादिति व्यपदेशवत् । अहङ्काराऽऽदिसंज्ञानामुपपत्तेः सुकरत्वतः सौकर्यात् । तथाहि-बुद्धिरेवाहङ्कारव्यापारं जनयन्ती अहङ्कार इत्युच्यताम्, सैव च प्रसुप्तस्वभावा साधिकारा प्रकृतिरिति व्यपदिश्यताम्, किमन्तर्गडु तत्त्वान्तरपरिकल्पनयेति ॥ २५ ॥

पुंसश्च व्यञ्जकत्वेऽपि, कूटस्थत्वमयुक्तिमत् ।
अधिष्ठानत्वमेतच्चेत्, तदेत्यादिनिरर्थकम् ॥ २६ ॥

पुंसः पुरुषस्य च व्यञ्जकत्वेऽभ्युपगम्यमाने, कूटस्थत्वमयुक्तिमदसङ्गतम् । अभिव्यञ्जकत्वं ह्यभिव्यक्तिजनकत्वम् । तथा च-" अकारणमकार्यं च पुरुषः " इति वचनं व्याहन्येतेति भावः । अधिष्ठानत्वमभिव्यक्तिदशाऽऽश्रयत्वम्, एतद् व्यञ्जकत्वं, पुरुषस्तु सदैकरूप इति चेत्, तर्हि तदेत्यादि-" तदा द्रष्टुः स्वरूपावस्थानम् । "(१-३) इति सूत्रं निरर्थकम्, तदेत्यस्य व्यवच्छेद्याभावात् । काल्पनिकत्वे चैतद्विषयस्य घटाऽऽदिव्यवहारविषयस्यापि तथात्वाऽऽपत्तौ शून्यवादिमतप्रवेश इति भावः ॥ २६ ॥

निमित्तत्वेऽपि कौटस्थ्य-मथास्यापरिणामतः ।
स्याद्भेदो धर्मभेदेन, तथापि भवमोक्षयोः ॥ २७ ॥

अथास्याऽऽत्मनो, निमित्तत्वेऽपि, सत्त्वानिष्ठाभिव्यक्तिं चिच्छक्तिं प्रति, अपरिणामतः परिणामाभावात् । कौटस्थ्यमकारणमित्यस्यानुपादानकारणमित्यर्थात् उपादानकारणस्यैव परिणामित्वात् परिणामस्य चावस्थान्तरगमनलक्षणत्वादिति भावः । तथाऽपि भवमोक्षयोः संसारापवर्गयोः, धर्मभेदेन भोगनिमित्तानिमित्तत्वधर्मभेदेन, स्यात्कथञ्चित्, भेद आवश्यकः । मोक्षेऽपि पूर्वस्वभावसत्त्वे कारणान्तराभावाच्च भोग इति को भेद इति चेत् ?। सौम्य ! कथं तर्हि न भवमोक्षोभयस्वभावे विरोधः ? । उभयैकस्वभावत्वाद् नायमिति चेद् भङ्ग्यन्तरेणायमेव स्याद्वाद इति किं वृथा खिद्यसे ?॥ २७ ॥

प्रसक्ताद्वस्थ्यं च, बुद्धेर्भेदेऽपि तत्त्वतः ।
प्रकृत्यन्ते लयं मुक्ते-र्न चेदव्याप्यवृत्तिता ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदेऽपि प्रत्यात्मनियतत्वेऽप्यभ्युपगम्यमाने, तत्त्वतः परमार्थतः, प्रकृत्यन्ते प्रकृतिविश्रान्ते, लये दुःखध्वंसे सति, प्रसक्ताद्वस्थ्यम्, एकस्य मुक्तावन्यस्यापि तदापत्तिरित्यस्यापरिहार एव, प्रकृतेरेव मुक्तेरभ्युपगम्यमानत्वात्, तस्याश्च मुक्तत्वामुक्तत्वोभयविरोधात् । एकत्र वृक्षे संयोगतदभावयोरिव प्रकृतौ विभिन्नबुद्ध्यवच्छेदेन न मुक्तत्वामुक्तत्वयोर्विरोध इत्यत आह-चेद् यदि, मुक्तेरव्याप्यवृत्तिता, न, अभ्युपगम्यत इति शेषः । तदभ्युपगमे च मुक्तेऽप्यमुक्तत्वव्यवहाराऽऽपत्तिरेव दूषणम् । किं चैवं मुक्तस्याप्यात्मनो भवस्थशरीरावच्छेदेन भोगाऽऽपत्तिरिति तत्प्रकृतिनिवृत्तिरवश्यमभ्युपेयेति द्रष्टव्यम् ॥ २८ ॥

प्रधानभेदे चैतत् स्यात्, कर्मबुद्धिगुणः पुमान् ।
स्याद् ध्रुवश्चाध्रुवश्चेति, जयताद् जैनदर्शनम् ॥ २९ ॥

उक्तदोषभिया प्रधानभेदे चाभ्युपगम्यमाने, आत्मभोगापवर्गनिर्वाहकमेतत् कर्म स्यात्, पुमान् पुरुषः बुद्धिगुणः स्यात् । बुद्धिलब्धिज्ञानानामनर्थान्तरत्वात् । स्यात्कथञ्चिद्, ध्रुवश्च द्रव्यतोऽध्रुवश्च पर्यायत इत्येवं जैनदर्शनं जयताद्, दोषलवस्याप्यस्पर्शात् । ननु च पुंसो विषयग्रहणसमर्थत्वेनैव चिद्रूपत्व व्यवस्थितम् इति विकल्पाऽऽत्मकबुद्धिगुणत्वं न युक्तम्, अन्तर्बहिर्मुखव्यापारद्वयविरोधादिति चेत् । न । अनुभूयमानक्रमिकैकोपयोगस्वभावत्वेन तदविरोधादिति ॥ २९ ॥

तथा च कायरोधाऽऽदा-वभ्यासे प्रोक्तलक्षणम् ।
एकाग्रताऽवधौ रोधे, वाच्यं च प्राचि चेतसि ॥ ३० ॥

तथा च जैनदर्शनजयसिद्धौ च, प्रोक्तलक्षणं पतञ्जल्युक्तयोगलक्षणम्, कायरोधाऽऽदावभ्यासम्, आदिना वाङ्मनोरोधाऽऽदिग्रहः । एकाग्रताऽवधावेकाग्रताविरोधमात्रमाधारणे च रोधे वाच्ये, प्राचि एकाग्रतायाः पृष्ठभाविनि, चेतस्यध्यात्माऽऽदिशुद्धे, व्यासम् ॥ ३० ॥

योगाऽऽरम्भोऽथ विक्षिप्ते, व्युत्थानं क्षिप्तमूढयोः ।
एकाग्रे च निरुद्धे च, समाधिरिति चेन्न तत् ॥ ३१ ॥

अथ विक्षिप्ते चित्ते योगाऽऽरम्भः क्षिप्तमूढयोश्चित्तयोर्व्युत्थानम्, एकाग्रे च निरुद्धे च चित्ते समाधिरिति एकाग्रतापृष्ठभाविनश्चित्तस्यालक्ष्यत्वादेव न तत्राव्याप्तिः । क्षिप्तं हि रजस उद्रेकादस्थिरं बहिर्मुखतया सुखदुःखाऽऽदिविषयेषु कल्पितेषु सन्निहितेषु वा रजसा प्रेरितम्, तच्च सदैव दैत्यदानवाऽऽदीनाम्, मूढं तमस उद्रेकात् कृत्याकृत्यविभागासंगतं क्रोधाऽऽदिभिर्विरुद्धकृत्येष्वेव नियमितम्, तच्च सदैव रक्षःपिशाचाऽऽदीनाम्, विक्षिप्तं तु सत्त्वोद्रेकात्परिहृतदुःखसाधनेष्वेव शब्दाऽऽदिषु प्रवृत्तम्, तच्च सदैव देवानाम् । एतास्तिस्रश्चित्तावस्था न समाधावुपयोगिन्यः । एकाग्रतानिरुद्धरूपे द्वे एव सत्त्वोत्कर्षाद् यथोत्तरमवस्थितत्वाच्च समाधावुपयोगं भजेते इति चेद्, न तत् ॥ ३१ ॥

योगाऽऽरम्भेऽपि योगस्य, निश्चयेनोपपादनात् ।
मदुक्तं लक्षणं तस्मात्, परमाऽऽनन्दकृत् सताम् ॥ ३२ ॥

योगाऽऽरम्भेऽपि योगप्रारम्भकालेऽपि, निश्चयेन निश्चयनयेन, यो-

गस्योपपादनाद् व्यवस्थापनात्, क्रियमाणं कृतमिति तदभ्युपगमाद् आद्यसमये तदनुत्पत्तावग्रिमसमयेष्वपि तदनुत्पत्त्यापत्तेः। वस्तुतो योगविशेषप्रारम्भकालेऽपि कर्मक्षयरूपफलान्यथाऽनुपपत्त्या व्यवहारेणापि योगसामान्यसद्भावोऽवश्यमभ्युपेय इति प्रागुक्तातिव्याप्तिर्वज्रलेपायितैव । तस्मान्मदुक्तं लक्षणं 'मोक्षमुख्यहेतुव्यापारः,' इत्येवंरूपं, सतां व्युत्पन्नानाम, अव्युत्पन्नप्रतिपत्तिद्वारा परमाऽऽनन्दकृत् ॥ ३२ ॥ द्वा० ११ द्वा० ।

(१५) योगभेदाः-अत्र मिथ्यात्वाऽऽदिहेतुगतं मनोवाक्कायव्यापारत्रयम, तच्च कर्मवृद्धिहेतुत्वात् न ग्राह्यम, किं तु मोक्षसाधनहेतुभूतं शुद्धाध्यात्मभावभावितचेतनायां परिणामसाधनकारकप्रवर्त्तनरूपं ग्राह्यं द्रव्यभावभेदं बाह्याऽऽचारविशोधिपूर्वकाभ्यन्तराऽऽचारशुद्धिरूपम्-

मोक्षेण योजनाद् योगः, सर्वोऽप्याचार इष्यते ।
विशिष्य स्थानवर्णार्था-ऽऽलम्बनैकाग्र्यगोचरः ॥ १ ॥

सकलकर्मक्षयो मोक्षः, तेन योजनाद् योग उच्यते । स च सर्वोऽप्याचारो जिनशासनोक्तः चरणसप्ततिकरणसप्ततिरूपो मोक्षोपायत्वाद् योग इष्यते । तत्र विशेषेण स्थानम् १, वर्णः २, अर्थः ३, आलम्बनम ४, एकाग्रता ५, इति पञ्चप्रकारयोगो मोक्षोपायहेतुर्मतः, इत्यनेनानादिपरभावाऽऽसक्तभवभ्रमणग्रहात् पुद्गलभोगमग्नानां न भवत्ययमभिप्रायः-यतोऽस्माकं मोक्षः साध्योऽस्ति। स च गुरुवचनस्मरणतत्त्वजिज्ञासाऽऽदियोगेन स्वरूपं निर्मलं निःसङ्गं परमाऽऽनन्दमयं स्मृत्वा तत्कथाश्रवणप्रीत्यादिकं करोति, स परम्परया सिद्धियोगी भवति । न हि मरुदेवावत् सर्वेषामल्पप्रयासा सिद्धिः, तस्या हि अनल्पाऽऽशातनादोषकारकत्वेन निष्प्रयासा सिद्धिः । अन्यजीवानां चिराऽऽशातनाबद्धगाढकर्मणां तु स्थानाऽऽदिक्रमेणैव भवति ॥ १ ॥

अथ योगपञ्चके बाह्यान्तरङ्गसाधकत्वमुपदिशति-

कर्मयोगद्वयं तत्र, ज्ञानयोगत्रयं विदुः ।
विरतेष्वेव नियमाद्, बीजमात्रं परेष्वपि ॥ २ ॥

तत्र मोक्षसाधने, कर्मयोगद्वयं, क्रियाऽऽचरणायोगरूपम, त्रयम् अर्थप्रमुखं, ज्ञानयोगं विदुः प्राहुर्बुधाः। तत्र विंशतिकाऽनुसारेण लक्षणाऽऽदिकं निरूप्यते-तत्र स्थानरूपं कायोत्सर्गाऽऽदिजैनाऽऽगमोक्तक्रियाकरणे करचरणाऽऽसनमुद्रारूपम् । उक्तं च विंशतिकायाम्-"ठाणवण्णत्थालंबण--रहिओ तंतम्मि पंचहा एसो । दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तियं नाणजोगो उ" ॥१॥ एष पञ्चप्रकारो योगः, विरतेषु देशविरतसर्वविरतेषु, नियमाद् भवति। योगपञ्चकं हि चापल्यवारणम, तेन योगवता भवितव्यम् । परेषु मार्गानुसारिप्रमुखेषु बीजमात्रं भवति किञ्चिन्मात्रं भवति । उक्तं च विंशतिकायाम्-"देसे सव्वे य तहा, नियमेण सो चरित्तिणो होइ। इयरस्स बीयमित्तं, इति चेव केइ इच्छंति ।१।"

(१६) अत्र योगोत्पत्तिहेतवः प्रोच्यन्ते—

कृपानिर्वेदसंवेग-प्रशमोत्पत्तिकारिणः ।
भेदाः प्रत्येकमत्रेच्छा-प्रवृत्तिस्थिरसिद्धयः ॥ ३ ॥

कृपा अनुकम्पा-दुःखितेषु दुःखमोचनलक्षण आर्द्रतापरिणामः । निर्वेदः भवोद्वेगः-चतुर्गतिषु चारकवद्भासनम । संवेगः मोक्षाभिलाषः, प्रशमः कषायाभावः । एते परिणामाःयो योगो मोक्षोपायः, तस्योत्पत्तिकारिणः करणशीलाः, एतादृक्परिणामपरिणतस्य संसारोद्विग्नस्य शुद्धाऽऽत्मस्वादेच्छ-

कस्य योगसाधना भवन्ति । अत्र योगपञ्चके, प्रत्येकं एकैकस्य चत्वारो भेदाः। ते च इमे-इच्छा १, प्रवृत्तिः २, स्थिरता ३, सिद्धिः ४ इत्येवं भेदा ज्ञेयाः । उक्तं च विंशतिकायाम-" इक्किको य चउद्धा, इत्थं पुण तत्तओ मुणेयव्वो । इच्छापवित्तिथिरसिद्धिभेयओ समयनीईए" ॥१॥ इत्यादि ॥ ३ ॥

इच्छा तद्वत्कथाप्रीतिः, प्रवृत्तिः पालनं परम् ।
स्थैर्यं बाधकभीहानिः, सिद्धिरन्यार्थसाधनम् ॥ ४ ॥

इच्छा साधकभावाभिलाषः, तद् योगपञ्चकं येषु विद्यन्ते तद्वन्तः श्रमणाः, तेषां कथासु गुणकथनाऽऽदिषु, प्रीतिः-इच्छा। उक्तं च हरिभद्रपूज्यैः-"तज्जुत्तकहापीई, समयाविपरिणामणी इच्छा।" इति। तस्य सम्यग्दर्शनाऽऽदिगुणवृद्धिहेतुभूतं क्रियाभ्यासपालनं परं परा प्रकृष्टा सा प्रवृत्तिः। उक्तं च-"सव्वत्थुवसमसारं, तप्पालणमो पवित्ती ओ।" इति। इत्येवं योगद्वयं बाह्यरूपत्वात् क्रियामुख्यत्वात् साध्यावलम्बिनां कारणरूपम्। शेषाणां तु शुभबन्धनिबन्धनं स्थैर्यं-बाधका अशुद्धाध्यवसाया अतीचाराः, तेषां भीभयं, तस्य हानिरभावः, निरतिचारगुणपालनारूपं यत्र तत् स्थैर्यम् । क्षयोपशमोऽपि अतिगुणसाधनापरिणमनेन सहजभावत्वात् निर्दोषगुणसाधनो भवति । उक्तं च-"तह चेव एयबाहग-चिंतारहियं थिरत्तणं नेयं । " शुद्धानामर्थानां परमात्मरूपाणां साधनं स्वरूपालम्बनं शुद्धतत्त्वसाधनं सिद्धिः । उक्तं च-" सव्वं परमत्थसाहग-रूवं पुण होइ सिद्धि त्ति । " एवं सप्रभेदं ज्ञेयम ॥ ४ ॥

यावद् ध्यानैकत्वं न भवति तावद् न्यासमुद्रावर्णशुद्धिपूर्वकमावश्यकचैत्यवन्दनप्रत्युपेक्षणाऽऽदिकमुपयोगयोगचापल्यवारणार्थमवश्यं करणीयं, महद् हितकरं सर्वजीवानां, तेन स्थानवर्णक्रमेण तत्त्वप्राप्तिरिति-

अर्थाऽऽलम्बनयोश्चैत्य-वन्दनाऽऽदौ विभावनम् ।
श्रेयसे योगिनः स्थान-वर्णयोर्यत्न एव च ॥ ५ ॥

अर्थो वाक्यस्य भावार्थः, आलम्बनं वाच्ये पदार्थे अर्हत्स्वरूपे उपयोगस्यैकत्वम्, अर्थश्च आलम्बनं च अर्थालम्बने, तयोश्चैत्यवन्दनाऽऽदौ अर्हद्वन्दनाधिकारे, विभावनं स्मरणं करणीयं, श्रेयसे कल्याणार्थं, च पुनः, स्थानं वन्दनकं कायोत्सर्गशरीरावस्थानम, आसनमुद्राऽऽदिके, वर्णा अक्षराणि, तयोर्यत्न एव शुद्धिः श्रेयसे कल्याणाय भवति । उक्तं चाऽऽवश्यके-"जं वाइद्धं, वच्चामेलियं, हीणक्खरं, अच्चक्खरं, पयहीणं, विणयहीणं, घोसहीणं, जोगहीणं, सुट्ठु दिन्नं, दुट्ठु पडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाए सज्झाइयं, सज्झाए न सज्झाइयं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं । " इत्यनेन द्रव्यतत्त्वकालविशुद्धौ भावसाधनसिद्धिः, तेन द्रव्यक्रिया हिता ॥५॥

आलम्बनमिह ज्ञेयं, द्विविधं रूप्यरूपि च ।
अरूपि गुणसायुज्यं, योगानालम्बनं परम् ॥ ६ ॥

इह जैनमार्गे, आलम्बनं द्विविधं ज्ञेयम । एकं-रूपि, अपरमअरूपि । तत्र रूप्यालम्बनं जिनमुद्राऽऽदिकपिण्डस्थपदस्थरूपस्थपर्यन्तं यावत् अर्हदवस्थाऽऽलम्बनं, तावत् कारणावलम्बनं शरीरातिशयो येन रूप्यवलम्बनं, तत्र अनादिपरभावशरीरधनस्वजनावलम्बी परत्र परिणतचेतनः विषयाऽऽस्वादाऽऽर्थं तीर्थङ्कराऽऽद्यवलम्बनमपि भवहेतुः । तथैव यः स्वरूपाऽऽनन्दपिपासिनः स्वरूपसाधनार्थं प्रथमं कारणरूपं जिनेश्वरं वीतरागाऽऽदिगुणस-

मूर्त्तेरवलम्बते यावद् मुद्राऽऽद्यालम्बनी,तावत् रूप्यावलम्बनी,स एव अर्हत्सिद्धस्वरूपं ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽद्यनन्तपर्यायविशुद्धं शुद्धाध्यात्मधर्ममवलम्बते इति। अरूप्यालम्बनी तत्र भाव्यते-अनादितो जीवो मूर्तपुद्गलस्कन्धावलम्बनपरिणतः कथं प्रथमत एवामूर्ताऽऽनन्दरूपं स्वरूपमवलम्बते?,यत अतिशयोपेतवीतरागमुद्राऽऽदिकं परं मूर्तं चालम्ब्य विषयकषायवृद्धिकरं स्त्रीधनाऽऽद्यवलम्बनं त्यजति इत्येका परावृत्तिः। पुनः स एव अतिशयाऽऽदिरूपं मूर्तं नालम्बनीयम्, अहं तु अमूर्तः,मूर्तभावरसिकत्वं नोपयुज्यते। यद्यपि अर्हतः संबद्धं तथापि औदयिकं नालम्बनम्, अनन्तगुणाऽऽलम्बनमुत्तममिति गुणावलम्बनी मूर्तान् भावान् न रसिकत्वेन गृह्णाति,सापेक्षपरत्वेन पश्यतीति द्वितीया परावृत्तिः। एवममूर्ताऽऽत्मगुणरसिको भवति, तेन परमेष्ठिस्वरूपं कारणतावधार्य स्वीयासंख्येयप्रदेशव्याप्यव्यापकभावाविच्छिन्नद्रव्याऽस्तिकपर्यायास्तिकानन्तस्वभावममलामूर्ताऽऽनन्दमयं ध्येयत्वेनावलम्बते इति तृतीया परावृत्तिरिति। साधनपद्धतिः सर्वेषां तत्स्वरूपसाधनम्, अरूपिगुणाः सिद्धगुणा, तेषां भावनं सायुज्यं तदात्मता, तया योग आत्मोपयोगयोजनं यद्यपि ईषदवलम्बनं श्रुताऽऽदीनां, तथापि अनालम्बनमेव परं उत्कृष्टो योगः। उक्तं च पाठकैः-"तत्राप्रतिष्ठितं खलु,यतः प्रवृत्तश्च लक्ष्यतस्तत्र। सर्वोत्तमो हि मनुजः,तेनानालम्बनो गीतः॥१॥" निरालम्बनयोगेन धारावाहिप्रशान्तवाहिता नाम चिन्तितस्य स्वरसत एव मनः सहजधारायां वर्तते, न प्रयासो भवति। उक्तं च विंशतिकायाम्-"आलंबणं पि एयं, रूविमरूवी य इत्थ परमो त्ति। तग्गुणपरिणइरूवो, सुहुमो आलंबणो नाम"॥१॥ एकाग्रयोगस्यैवापरनाम अनालम्बनयोग इति। एवं स्थानाऽऽद्याः पञ्च इच्छाऽऽदिगुणिता विंशतिर्भवन्ति। ते च प्रत्येकमनुष्ठानचतुष्कयोजिता अशीतिप्रकारा भवन्ति॥६॥

तत्स्वरूपनिरूपणायोपदिशति-

प्रीतिभक्तिवचोऽसङ्गैः, स्थानाऽऽद्यपि चतुर्विधम्।
तस्मादयोगियोगाऽऽप्ते-र्मोक्षयोगः क्रमाद् भवेत्॥७॥

एते स्थानाऽऽदयः, प्रीतिर्भक्तिर्वचनमसङ्ग इति भेदचतुष्टयैरशीतिभेदाः भवन्ति। तस्माद् योगात्क्रमेण अयोगिनामा योगः,तस्याऽऽप्तिः प्राप्तिर्भवति,अयोगी योगशैलेशीकरणं सकलयोगचापल्यरहितो योगस्तं प्राप्नोति,तेन पुनः क्रमाद् मोक्षः। "सर्वकर्माभावलक्षण आत्मनस्तादात्म्यावस्थानं मोक्षः।" एवं योगः संयोगः,क्रमात् अनुक्रमेण भवति। (अथ प्रीत्या-द्यनुष्ठानस्वरूपं तु षोडशकपाठेन 'अणुट्ठाण' शब्दे प्रथमभागे ३७७ पृष्ठे गतार्थम्) एवं क्रमेण योगसाधनारतः सर्वयोगरोधं कृत्वा अयोगी भवति॥७॥

स्थानाऽऽद्ययोगिनस्तीर्थो-च्छेदाऽऽद्यालम्बनादपि।
सूत्रदाने महादोषः, इत्याचार्याः प्रचक्षते॥८॥

इति स्थानाऽऽदिप्रवृत्तियोगरहितस्य सूत्रदानं महादोष इति आचार्या हरिभद्राऽऽदयः, प्रचक्षते कथयन्ति,कस्मात्?,तीर्थोच्छेदाऽऽद्यालम्बनात्, निरास्तिकस्य सूत्रदाने कदाचित् कुप्ररूपणाकरणेन तीर्थोच्छेदो भवति।

उक्तं च विंशतिकायाम्-

"तित्थस्सुच्छेयाइ वि, नालंबणमित्थ जं स एमेव।
सुत्तकिरियाइनासो, एसो असमंजसविहाणो॥१॥
सो एस वंकओ च्चिय, न य सयमयमारियाणमविसेसो।
एयं पि भावियव्वं, इह तित्थुच्छेदभीरूहिं॥२॥
मुत्तूण लोगसन्नं, नाऊण य साहुसमयसब्भावं।
सम्मं पयट्टियव्वं, बुहेण मइनिउणबुद्धीए"॥३॥

एवं प्रथमं स्थानाऽऽदिविशुद्धिं कृत्वा इच्छाऽऽदिपरिणतः क्रमेण स्वस्वरूपाऽऽलम्बनाऽऽदि गृहीत्वा प्रीत्याद्यनुष्ठानेन असङ्गानुष्ठानयोगतः सर्वज्ञो भूत्वा अयोगीभूय सिद्धो भवति,अतः क्रमसाधना श्रेयस्करी। इति व्याख्यातं योगाष्टकम्॥ अष्ट० २७ अष्ट०।

अध्यात्मं भावना ध्यानं, समता वृत्तिसंक्षयः।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तो, योगमार्गविशारदैः॥१॥

द्वा० १८ द्वा०। अष्ट०। (सर्वे भेदाः 'भावणा' शब्दे विवेचनासहिता वक्ष्यन्ते)

(१७) वृत्तिरोधोऽपि योगश्चेद्, भिद्यते पञ्चधाऽप्ययम्।
मनोवाक्कायवृत्तीनां,रोधे व्यापारभेदतः॥२७॥

मोक्षहेतुलक्षणो योगः पञ्चधा भिन्न इति प्रदर्शितं, वृत्तिरोधोऽपि चेद्योग उच्यते, अयमपि पञ्चधा भिद्यते, मनोवाक्कायवृत्तीनां रोधे व्यापारभेदतोऽनुभवसिद्धानां भेदानां दुरपह्नवत्वात्; अन्यथा द्रव्यमात्रपरिशेषप्रसङ्गादिति भावः॥२७॥

प्रवृत्तिस्थिरताभ्यां हि, मनोगुप्तिद्वये किल।
भेदाश्चत्वार इष्यन्ते, तत्रान्त्यायां तथाऽन्तिमः॥२८॥

प्रवृत्तिः प्रथमाभ्यासः,स्थिरता तत्कर्षकाष्ठाप्राप्तिः,ताभ्यां मनोगुप्तिद्वये किल आद्याश्चत्वारो भेदाः-अध्यात्मभावनाध्यानसमताख्या इष्यन्ते,व्यापारभेदादेकत्र क्रमेणोभयोः समावेशाद् यथोत्तरं विशुद्धत्वात्। तथाऽन्त्यायां चरमायां,तत्र मनोगुप्तौ, अन्तिमो वृत्तिसंक्षय इष्यते। इत्थं हि पञ्चापि प्रकारा निरपाया एव॥२८॥

विमुक्तकल्पनाजालं, समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।
आत्माऽऽरामं मनश्चेति, मनोगुप्तिस्त्रिधोदिता॥२९॥

विमुक्तं परित्यक्तं,कल्पनाजालं संकल्पविकल्पचक्रं,येन तत्;तथा समत्वे सुप्रतिष्ठितं सम्यग् व्यवस्थितम्,आत्माऽऽरामं स्वभावप्रतिबद्धं, मनः, तद्भेदैस्तद्भेदादिभिः, मनोगुप्तिस्त्रिधा त्रिभिः प्रकारैः, उदिता कथिता॥२९॥

अन्यासामवतारोऽपि, यथायोगं विभाव्यताम्।
यतः समितिगुप्तीनां, प्रपञ्चो योग उत्तमः॥३०॥

अन्यासां वाक्कायगुप्तीर्यासमित्यादीनाम्,अवतारोऽप्यन्तर्भावोऽपि, यथायोगं यथास्थानं,विभाव्यतां विचार्यतां, यतो यस्मात्, समितिगुप्तीनां प्रपञ्चो यथापर्यायं विस्तारो, योग उच्यते उत्तम उत्कृष्टः, न तु समितिगुप्तिविभिन्नस्वभावो योगपदार्थोऽतिरिक्तः कोऽपि विद्यत इति॥३०॥

उपायत्वेऽत्र पूर्वेषा-मन्त्य एवावशिष्यते।
तत्पञ्चमगुणस्थाना-दुपायोऽर्वागिति स्थितिः॥३१॥

अत्राध्यात्माऽऽदिभेदेषु योगेषु,पूर्वेषामध्यात्माऽऽदीनाम्, उपायत्वे योगोपायत्वमात्रे वक्तव्ये,अन्त्य एव वृत्तिक्षय एव योगोऽवशिष्यते। तत्तस्मात्,पञ्चमगुणस्थानादर्वाक् पूर्वसेवारूप उपायः, तत आरभ्य तु सानुबन्धयोगप्रवृत्तिरेवेति स्थितिः शास्त्रमर्यादा॥३१॥

भगवद्वचनास्थित्या, योगः पञ्चविधोऽप्ययम् ।
सर्वोत्तमं फलं दत्ते, परमाऽऽनन्दमञ्जसा ॥ ३२ ॥

निगदसिद्धोऽयम् ॥ ३२ ॥ द्वा० १८ द्वा० ।

(१८) अध्यात्माऽऽदीन् योगभेदाननुपदर्श्य तदवान्तरनानाभेदप्रदर्शनेन तद्विवेकमेवाऽऽह–

इच्छां शास्त्रं च सामर्थ्य-माश्रित्य त्रिविधोऽप्ययम् ।
गीयते योगशास्त्रज्ञै-र्निर्व्याजं यो विधीयते ॥ १ ॥

इच्छां,शास्त्रं,सामर्थ्यं चाऽऽश्रित्य त्रिविधोऽप्ययं योगो योगशास्त्रज्ञैर्गीयते, इच्छायोगः, शास्त्रयोगः, सामर्थ्ययोगश्चेति यो निर्व्याजं निष्कपटं विधीयते। सव्याजस्तु योगाऽऽभासो गणनायामेव नावतरतीति ॥ १ ॥

इच्छायोगमाह–

चिकीर्षोस्तु श्रुतार्थस्य, ज्ञानिनोऽपि प्रमादिनः ।
कालाऽऽदिविकलो योगः, इच्छायोग उदाहृतः ॥ २ ॥

चिकीर्षोः–तथाविधक्षयोपशमाभावेऽपि निर्व्याजमेव कर्तुमिच्छोः, श्रुतार्थस्य श्रुताऽऽगमस्य. अर्यतेऽनेन तत्त्वमिति, तत्त्वार्थशब्दस्याऽऽगमवचनत्वात् । ज्ञानिनोऽपि अवगतानुष्ठेयतत्त्वार्थस्यापि,प्रमादिनो विकथाऽऽदिप्रमादवतः,कालाऽऽदिना विकलोऽसंपूर्णो,योगश्चैत्यवन्दनाऽऽदिव्यापारः, इच्छायोग उदाहृतः प्रतिपादितः ॥ २ ॥

प्रधानस्येच्छायोगत्वे तदङ्गस्यापि तथात्वमिति दर्शयन्नाह–

साङ्गमप्येककं कर्म, प्रतिपन्ने प्रमादिनः ।
न त्विच्छायोगत इति, श्रवणादत्र मज्जति ॥ ३ ॥

साङ्गमपि अङ्गसाकल्येनाविकलमपि,एककं स्वल्पं किञ्चित्कर्म, प्रतिपन्ने बहुकालव्यापिनि प्रधाने कर्मण्यारब्धे, प्रमादिनः प्रमादवतः, न त्विच्छायोगत इति श्रवणात्,अत्र इच्छायोगे, मज्जति मग्नं भवति। अन्यथा हि इच्छायोगाधिकारी भगवान् हरिभद्रसूरिर्योगदृष्टिसमुच्चयप्रकरणप्रारम्भे मृषावादपरिहारेण सर्वज्ञाचित्याऽऽरम्भप्रदर्शनार्थं न त्विच्छायोगतोऽयोगमित्यादि नावक्ष्यत; वाङ्नमस्कारमात्रस्याल्पस्य विधिगुरुस्यापि संभवात् । प्रतिपन्नस्वपर्यायान्तर्भूतत्वेन च प्रकृतनमस्कारस्यापि इच्छायोगप्रभवत्वमक्षुण्णमिति विभावनीयम् ॥ ३ ॥

यथाशक्त्यप्रमत्तस्य,तीव्रश्रद्धाऽवबोधतः ।
शास्त्रयोगस्त्वखण्डार्था–ऽऽराधनादुपदिश्यते ॥ ४ ॥

यथाशक्ति स्वशक्त्यनतिक्रमेण, अप्रमत्तस्य विकथाऽऽदिप्रमादरहितस्य,तीव्रौ तथाविधमोहापगमात्पटुतरौ,यौ श्रद्धाऽवबोधौ जिनप्रवचनाऽऽस्तिक्यतत्त्वपरिच्छेदौ, तत अखण्डार्थाऽऽराधनात् कालाऽऽद्यविकलवचनानुष्ठानात् तु शास्त्रयोग उपदिश्यते ॥४॥

शास्त्रेण दर्शितोपायः, फलपर्यवसायिना ।
तदतिक्रान्तविषयः, सामर्थ्याऽऽख्योऽतिशक्तितः ॥ ५ ॥

फलपर्यवसायिना मोक्षपर्यन्तोपदेशेन शास्त्रेण दर्शितः सामान्यतो ज्ञापित उपायो यस्य, सामान्यतः फलपर्यवसायित्वाच्छास्त्रस्य द्वारमात्रबोधनेन विशेषहेतुदिक्प्रदर्शकत्वात् अतिशक्तितः शक्तिप्राबल्यात्, तदतिक्रान्तविषयः शास्त्रातिक्रान्तगोचरः सामर्थ्याऽऽख्यो योग उच्यते ॥ ५ ॥

शास्त्रातिक्रान्तविषयत्वमस्य समर्थयन्नाह–

शास्त्रादेव न बुध्यन्ते, सर्वथा सिद्धिहेतवः ।
अन्यथा श्रवणादेव, सर्वज्ञत्वं प्रसज्ज्यते ॥ ६ ॥

सिद्धिहेतवः सर्वे,सर्वथा सर्वैः प्रकारैः, शास्त्रादेव न बुध्यन्ते, अन्यथा शास्त्रादेव सर्वसिद्धिहेतूनां बोधे, सर्वज्ञत्वं प्रसज्ज्यते श्रवणादेव, सर्वसिद्धिहेतुज्ञाने सार्वज्ञ्यसिद्धयुपधायकोत्कृष्टहेतुज्ञानस्याप्यावश्यकत्वात्सदुपलम्भाऽऽख्यस्वरूपाऽऽवरणरूपचारित्रस्यापि विलम्बाभावात् सर्वसिद्धयुपायज्ञानस्य सार्वज्ञ्यव्याप्यत्वाच्च ।

तदिदमुक्तम्–

"सिद्धयाख्यपदसंप्राप्ति-हेतुभेदा न तत्त्वतः ।
शास्त्रादेवावगम्यन्ते, सर्वथैवेह योगिभिः ॥ १ ॥
सर्वथा तत्परिच्छेदात्, साक्षात्कारित्वयोगतः ।
तत्सर्वज्ञत्वसंसिद्धेः, तदा सिद्धिपदाऽऽप्तितः ॥२॥" ॥ ६ ॥

प्रातिभज्ञानगम्यस्तत्, सामर्थ्याऽऽख्योऽयमिष्यते ।
अरुणोदयकल्पं हि, प्राच्यं तत्केवलार्कतः ॥ ७ ॥

तत्तस्मात्,प्रातिभज्ञानगम्योऽयं सामर्थ्याऽऽख्यो योग उच्यते, सार्वज्ञहेतुः खल्वयं मार्गानुसारिप्रकृष्टोहस्यैव विषयो, न तु वाचाम्,क्षपकश्रेणिगतस्य धर्मव्यापारस्य स्वानुभवमात्रवेद्यत्वादिति भावः । ननु प्रातिभमपि श्रुतज्ञानमेव, अन्यथा षष्ठज्ञानप्रसङ्गात्,तथा च कथं शास्त्रातिक्रान्तविषयत्वमस्येत्यत आह–तत् प्रातिभं हि, केवलार्कतः केवलज्ञानभानुमालिनः, प्राच्यं पूर्वकालीनम्, अरुणोदयकल्पम् ॥ ७ ॥

एतदेव भावयति–

रात्रेर्दिनादपि पृथग्, यथा नो वाऽरुणोदयः ।
श्रुताच्च केवलज्ञानात्, तथेदमपि भाव्यताम् ॥८॥

यथाऽरुणोदयो रात्रेर्दिनादपि पृथग्,नो वा, अपृथगित्यर्थः। न पुनरत्रैकरूप्यं विवेचयितुं शक्यते, पूर्वापरत्वाविशेषेणोभयभागसंभवात् । श्रुतात् केवलज्ञानाच्च,तथेदमपि प्रातिभं ज्ञानं भाव्यतां, तत्काल एव तथाविधक्षयोपशमभाविनस्तस्य श्रुतत्वेन तत्त्वतोऽसंव्यवहार्यतया श्रुतादशेषद्रव्यपर्यायाविषयत्वेन, क्षायोपशमिकत्वेन च केवलज्ञानाद्विभिन्नत्वात् केवलश्रुतपूर्वापरकोटिव्यवस्थितत्वेन, तद्धेतुकार्यतया च ताभ्यामभिन्नत्वात् ॥ ८ ॥

ऋतम्भराऽऽदिभिः शब्दैः, वाच्यमेतत्परैरपि ।
इष्यते गमकत्वं चा–मुष्य व्यासोऽपि यज्जगौ ॥ ९ ॥

एतत् प्रकृतं प्रातिभज्ञानं,परैरपि पातञ्जलाऽऽदिभिः, ऋतम्भराऽऽदिभिः शब्दैर्वाच्यमिष्यते, आदिना तारकाऽऽदिशब्दग्रहः। गमकत्वं सामर्थ्ययोगज्ञापकत्वं च, अमुष्य प्रातिभस्य परैरिष्यते, यद् यस्माद्व्यासोऽपि जगौ ॥ ९ ॥

आगमेनानुमानेन, ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां, लभते योगमुत्तमम् ॥ १० ॥

आगमेन शास्त्रेण, अनुमानेन लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानरूपेण, ध्यानाभ्यासस्य रसः श्रुतानुमानप्रज्ञाविलक्षण ऋतम्भराऽऽख्या विशेषविषयः, तेन च; त्रिधा प्रज्ञां प्रकल्पयन्, उत्तमं सर्वोत्कृष्टं, योगं लभते ॥ १० ॥

द्विधाऽयं धर्मसंन्यास–योगसंन्याससंज्ञितः ।

क्षायोपशमिका धर्माः, योगाः कायाऽऽदिकर्म तु ॥११॥

द्विधा द्विप्रकारोऽयं सामर्थ्ययोगः धर्मसंन्यास-योगसंन्याससंज्ञे जाते यस्य स तथा। संज्ञा चेह तथा संज्ञायत इति कृत्वा, तत्स्वरूपमेव गृह्यते। क्षायोपशमिकाः-क्षयोपशमनिर्वृत्ताः क्षान्त्यादयो धर्माः, योगास्तु-कायाऽऽदिकर्म कायोत्सर्गकरणाऽऽद्यः कायाऽऽदिव्यापाराः ॥ ११ ॥

द्वितीयापूर्वकरणे, प्रथमस्तात्त्विको भवेत्।
आयोज्यकरणादूर्ध्वं, द्वितीय इति तद्विदः ॥ १२ ॥

द्वितीयापूर्वकरण इति। ग्रन्थिभेदनिबन्धनप्रथमापूर्वकरणव्यवच्छेदार्थं द्वितीयग्रहणं, प्रथमेऽधिकृतसामर्थ्ययोगासिद्धेः। अपूर्वकरणस्य तु तत्राऽसंजातपूर्वग्रन्थिभेदाऽऽदिफलनाभिधानाद् यथाप्राधान्यमयमुपन्यासः। चारुश्च पश्चानुपूर्व्येति समयविदः। ततो द्वितीयेऽस्मिंस्तथाविधकर्मस्थितेस्तथाविधसंख्येयसागरोपमातिक्रमभाविनि प्रथमो धर्मसंन्याससंज्ञितः सामर्थ्ययोगः तात्त्विकः पारमार्थिको भवेत्, क्षपकश्रेणियोगिनः क्षायोपशमिकक्षान्त्यादिधर्मनिवृत्तेः। अतात्त्विकस्तु प्रव्रज्याकालेऽपि भवति, प्रवृत्तिलक्षणधर्मसंन्यासवत्याः प्रव्रज्याया ज्ञानयोगप्रतिपत्तिरूपत्वात्। अत एवास्या भवविरक्त एवाधिकार्युक्तः। यथोक्तम्-"अथ प्रव्रज्याऽर्हः, आर्यदेशोत्पन्नः, विशिष्टजातिकुलान्वितः, क्षीणप्रायकर्ममलबुद्धिः, दुर्लभं मानुष्यं, जन्म मरणनिमित्तं, संपदश्चलाः, विषया दुःखहेतवः, संयोगो वियोगान्तः, प्रतिक्षणं मरणं, दारुणो विपाकः, इत्यवगतसंसारनैर्गुण्यः, तत एव तद्विरक्तः, प्रतनुकषायोऽल्पहास्याऽऽदिः, कृतज्ञो, विनीतः, प्रागपि राजामात्यपौरजनबहुमतोऽद्रोहकारी, कल्याणाङ्गः, श्राद्धः, समुपसंपन्नश्चेति"। न ह्यनीदृशो ज्ञानयोगमाराधयति, न चेदृशो नाराधयतीति भावनीयम्। सर्वज्ञवचनमागमः, तत्रायमनिरूपार्थ इति, आयोज्यकरणं केवलाऽऽभोगेनाचिन्त्यवीर्यतया भवोपग्राहिकर्माणि तथा व्यवस्थाप्य तत्क्षपणव्यापारणं शैलेश्यवस्थाफलं, तत ऊर्ध्वं द्वितीयो योगसंन्याससंज्ञित इति, तद्विदोऽभिदधति, शैलेश्यवस्थायां कायाऽऽदियोगानां संन्यासेनायोगाऽऽख्यस्य सर्वसंन्यासलक्षणस्य सर्वोत्तमस्य योगस्य प्राप्तेरिति ॥१२॥

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चेति, सामान्येन द्विधाऽप्ययम्।
तात्त्विको वास्तवोऽन्यस्तु, तदाभासः प्रकीर्तितः ॥१३॥

सामान्येन विशेषभेदानुपग्रहेण, तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चेति द्विधाऽप्ययं योग इष्यते। तात्त्विको वास्तवः, केनापि नयेन मोक्षयोजनफल इत्यर्थः। अन्योऽतात्त्विकस्तु तदाभास उक्तलक्षणविरहितोऽपि, योगोचितवेषाऽऽदिना योगवदाभासमानः प्रकीर्तितः ॥ १३ ॥

अपुनर्बन्धकस्यायं, व्यवहारेण तात्त्विकः।
अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥ १४ ॥

अपुनर्बन्धकस्योपलक्षणत्वात् सम्यग्दृष्टेश्च. अयं योगो, व्यवहारेण कारणस्यापि कार्योपचाररूपेण, तात्त्विकोऽध्यात्मरूपो, भावनारूपश्च, निश्चयेन निश्चयनयेनोपचारपरिहाररूपेणोत्तरस्य तु चारित्रिण एव ॥ १४ ॥

सकृदावर्तनाऽऽदीना-मतात्त्विक उदाहृतः।
प्रत्यपायफलप्रायः, तथावेषाऽऽदिमात्रतः ॥ १५ ॥

सकृदेकवारम्, आवर्तन्ते उत्कृष्टस्थितिं बध्नन्तीति सकृदावर्तनाः, आदिशब्दाद् द्विरावर्तनाऽऽदिग्रहः। तेषामतात्त्विको व्यवहारतो, निश्चयतश्चातत्स्वरूपोऽशुद्धपरिणामत्वादुदाहृतोऽध्यात्मभावनारूपो योगः। प्रत्यपायोऽनर्थः फलं, प्रायो बाहुल्येन, यस्य स तथा। तथा तत्प्रकारभावमाराध्याऽऽत्मभावनायुक्तयोगियोग्यं यद्वेषाऽऽदिमात्रं नेपथ्यचेष्टाभाषालक्षणं श्रद्धानशून्यं वस्तु तस्मात्, तत्र हि वेषाऽऽदिमात्रमेव स्याद्, न पुनस्तेषां काचिच्छुद्धालुतेति ॥१५॥

शुद्ध्यपेक्षो यथायोगं, चारित्रवत एव च।
हन्त! ध्यानाऽऽदिको योग-स्तात्त्विकः प्रविजृम्भते ॥१६॥

यथायोगं यथास्थानं, शुद्ध्यपेक्ष उत्तरोत्तरां शुद्धिमपेक्ष्य प्रवर्तमानचारित्रवत एव च, हन्त! तात्त्विकः पारमार्थिकैकस्वरूपो, ध्यानाऽऽदिको योगः, प्रविजृम्भते प्रोल्लसति ॥ १६ ॥

अपायभावाभावाभ्यां, सानुबन्धोऽपरश्च सः।
निरुपक्रमकर्मैवा-पायो योगस्य बाधकम् ॥ १७ ॥

अपायस्य भावाभावाभ्यां सद्भावासद्भावाभ्यां, सानुबन्धः, अपरो निरनुबन्धश्च, स योगः अपायरहितः सानुबन्धः, तत्सहितश्च निरनुबन्ध इति। योगस्य बाधकं निरुपक्रमं विशिष्टानुष्ठानचेष्टयाऽप्यनुच्छेद्यमवश्यं, स्वविपाकसामर्थ्यं वा, कर्मैव चारित्रमोहनीयाऽऽख्यमपायः ॥ १७ ॥

बहुजन्मान्तरकरः, सापायस्यैव साऽऽश्रवः।
अनाश्रवस्त्वेकजन्मा, तत्त्वाङ्गव्यवहारतः ॥ १८ ॥

बहुजन्मान्तरकरो देवमनुष्याऽऽद्यनेकजन्मविशेषहेतुः, निरुपक्रमकर्मणोऽवश्यवेदनीयत्वात्, सापायस्यैवापायवत एव, साऽऽश्रवो योगः, एकमेव वर्तमानं जन्म यत्र स त्वनाश्रवः। ननु कथमेतत्?, अयोगिकेवलिगुणस्थानादर्वाक् सर्वसंवराभावेनानाश्रवत्वासंभवादित्यत आह-तत्त्वाङ्गनिश्चयप्रापको यो व्यवहारः, ततस्तेन साम्परायिककर्मबन्धनलक्षणस्य वाऽऽश्रवस्याभ्युपगमात्तदभावे इत्वराऽऽश्रवभावेऽपि नानाश्रवयोगक्षतिरिति भावः।

तदुक्तम्-

"आश्रवो बन्धहेतुत्वाद्, बन्ध एवेह सम्मतः।
स साम्परायिको मुख्यः, तदेषोऽर्थोऽस्य सङ्गतः ॥ ३७५ ॥
एवं चरमदेहस्य, संपरायवियोगतः।
इत्वराऽऽश्रवभावेऽपि, स तथाऽनाश्रवो मतः ॥ ३७६ ॥
निश्चयेनात्र शब्दार्थः, सर्वत्र व्यवहारतः।
निश्चयव्यवहारौ यद्, द्वावप्यभिमतार्थदौ ॥३७७॥" (यो०बिं०)

निश्चयेनेत्युपलक्षणं तृतीया, ततो निश्चयेनोपलक्षितात् तत्प्रापकव्यवहारत इत्यन्वयः ॥ १८ ॥

इत्थं साऽऽश्रवानाश्रवत्वाभ्यां योगद्वैविध्यमुक्त्वा, शास्त्रसापेक्षत्वाधिकारिकत्वतद्विपर्ययाभ्यां तद्द्वैविध्याभिधानाभिप्रायवानाह-

शास्त्रेणाधीयते चायं, नासिद्धेर्गोत्रयोगिनाम्।
सिद्धेर्निष्पन्नयोगस्य, नोद्देशः पश्यकस्य यत् ॥१९॥

अयं च योगो गोत्रयोगिनां गोत्रमात्रेण योगिनाम्, असिद्धेर्मलिनान्तराऽऽत्मतया योगसाध्यफलाभावात् शास्त्रेण योगतन्त्रेण नाधीयते, तथा सिद्धेः सामर्थ्ययोगत एव कार्यनिष्पत्तेः, निष्पन्नयोगस्याशक्यानुष्ठानप्रवाहप्रदर्शनेन सिद्धयोगस्यायं शास्त्रेण नाधीयते, यद् यस्मात्, पश्यकस्य स्वत एव विदितवेद्यस्य, उ-

हिश्यत इत्युद्देशः, सदसत्कर्तव्याकर्तव्याऽऽदेशो नास्ति। यतो-ऽभिहितमाचारे-" उद्देसो पासगस्स नत्थि त्ति " ॥ २६ ॥

कुलप्रवृत्तचक्राणां, शास्त्रात् तत्तदुपक्रिया ।
योगाऽऽचार्यैर्विनिर्दिष्टं, तल्लक्षणमिदं पुनः ॥ २७ ॥

कुलयोगिनां,प्रवृत्तचक्रयोगिनां च,शास्त्राद् योगतन्त्रात्,सा वि-चित्ररूपेण प्रसिद्धा,उपक्रिया योगसिद्धिरूपा भवति। तदुक्तं योग-दृष्टिसमुच्चये-"कुलप्रवृत्तचक्रा ये, त एवास्याधिकारिणः । यो-गिनो न तु सर्वेऽपि, तथा सिद्ध्यादिभावतः"॥१॥ तेषां कुलप्रवृ-त्तचक्रयोगिनां, लक्षणं पुनरिदं वक्ष्यमाणं, योगाऽऽचार्यैर्योग-प्रतिपादकैः सूरिभिर्विनिर्दिष्टम् ॥२७॥ द्वा०१६द्वा०। (कुलयोगि-लक्षणं 'कुलजोगि' (ण्) शब्दे तृतीयभागे ५९८ पृष्ठे द्रष्टव्यम् । प्रवृत्तचक्रयोगिलक्षणं च ' पवत्तचक्क ' शब्दे वक्ष्यामः)

आद्यावञ्चकयोगाऽऽप्त्या, तदन्यद्वयलाभिनः ।
एतेऽधिकारिणो योग-प्रयोगस्येति तद्विदः ॥ २८ ॥

आद्यावञ्चकयोगस्य योगावञ्चकयोगस्य, आप्त्या प्राप्त्या हे-तुभूतया, तदन्यद्वयलाभिनः क्रियावञ्चकफलावञ्चकयोगलाभ-वन्तः, तदवन्ध्यभव्यतया तत्त्वतस्तेषां तल्लाभवत्त्वात् । एतेऽधि-कारिणो, योगप्रयोगस्याधिकृतयोगव्यापारस्य, इत्येवं, तद्विदो योगविदोऽभिदधति ॥ २८ ॥ द्वा० १६ द्वा० ।

सद्भिः कल्याणसंपन्नै-र्दर्शनादपि पावनैः ।
तथा दर्शनतो योग, आद्यावञ्चक उच्यते ॥ २९ ॥

सद्भिरुत्तमैः,कल्याणसंपन्नैर्विशिष्टपुण्यवद्भिः, दर्शनादप्यवलो-कनादपि, पावनैः पवित्रैः, तथा तेन प्रकारेण, गुणवत्तयेत्य-र्थः। दर्शनतो योगः संबन्धः, आद्यावञ्चकः सद्योगावञ्चकः, उच्यते इष्यते ॥ २९ ॥

तेषामेव प्रणामाऽऽदि-क्रियानियम इत्यलम् ।
क्रियाऽवञ्चकयोगः स्याद्, महापापक्षयोदयः ॥३०॥

तेषामेव सतामेव, प्रणामाऽऽदिक्रियानियमः, इत्यलं, क्रि-याऽवञ्चकयोगः स्याद, महापापक्षयस्य नीचैर्गोत्रकर्मक्षयस्य, उदय उत्पत्तिर्यस्मात् स तथा ॥ ३० ॥

फलावञ्चकयोगस्तु, सद्भ्य एव नियोगतः ।
सानुबन्धफलावाऽऽप्ति-र्धर्मसिद्धौ सतां मता ॥ ३१ ॥

फलावञ्चकयोगस्तु, सद्भ्य एवानन्तरोदितेभ्यः,नियोगतोऽ-वश्यंभावेन सानुबन्धस्योत्तरोत्तरवृद्धिमतः, फलस्यावाऽऽप्तिः, तथा सदुपदेशाऽऽदिना धर्मसिद्धौ विषये सतां मता ॥ ३१ ॥

इत्थं योगविवेकस्य, विज्ञानात्क्षीणकल्मषः ।
यतमाना यथाशक्ति, परमाऽऽनन्दमश्नुते ॥३२॥

इत्थमिति स्पष्टम् ॥ ३२ ॥ द्वा० १६ द्वा० ।

अनन्तरोक्तो योगविवेकः स्वाभिमतयोगभेदे परोक्तयोगाना-मवतारे सति व्यवतिष्ठते, इत्यतोऽयं निरूप्यते-

संप्रज्ञातोऽपरश्चेति, द्विधाऽन्यैरयमिष्यते ।
सम्यक् प्रज्ञायते येन, संप्रज्ञातः स उच्यते ॥ १ ॥

संप्रज्ञातः, अपरोऽसंप्रज्ञातश्चेति, अन्यैः पातञ्जलैः, अयं योगो, द्विधेष्यते, सम्यक्-संशयविपर्ययानध्यवसायरहितत्वेन, प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते, भाव्यस्य स्वरूपं येन स संप्रज्ञात उच्यते ॥ १ ॥

वितर्केण विचारेणा-ऽऽनन्देनास्मितयाऽन्वितः ।
भाव्यस्य भावनाभेदात्, संप्रज्ञातश्चतुर्विधः ॥ २ ॥

वितर्केण विचारेण,आनन्देनास्मितयाऽन्वितः क्रमेण युक्तः, भा-व्यस्य, भावनायाः विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनः पुनर्नि-वेशनलक्षणायाः, भेदात्, संप्रज्ञातश्चतुर्विधो भवति । तदुक्तम्-" वितर्कविचाराऽऽनन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञात इति । " (१-१७) ॥ २ ॥

पूर्वापरानुसन्धानात्, शब्दोल्लेखाच्च भावना ।
महाभूतेन्द्रियार्थेषु, सविकल्पोऽन्यथाऽपरः ॥ ३ ॥

पूर्वापरयोरर्थयोः,अनुसन्धानात्,शब्दोल्लेखाच्छब्दार्थोपरागाच्च; यदा भावना प्रवर्त्तते महाभूतेन्द्रियलक्षणेष्वर्थेषु स्थूलवि-षयेषु, तदा सविकल्पः-सवितर्कः समाधिः। अन्यथाऽस्मिन्नेवा-ऽऽलम्बने, पूर्वापरानुसन्धानशब्दार्थोल्लेखशून्यत्वेन भावनाया-मपरो निर्विकल्पः-निर्वितर्कः ॥ ३ ॥

तन्मात्रान्तःकरणयोः, सूक्ष्मयोर्भावना पुनः ।
दिक्कालधर्मावच्छेदात्, सविचारोऽन्यथाऽपरः ॥ ४ ॥

तन्मात्रान्तःकरणयोः सूक्ष्मयोर्भाव्ययोः,दिक्कालधर्मावच्छेदाद्-देशकालधर्मावच्छेदेन,भावना पुनः सविचारः समाधिः। अन्यथा तस्मिन्नेवाऽऽलम्बने, देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्रा-वभासित्वेन भावनायाम्, अपरो निर्विचारः समाधिः ॥ ४ ॥

यदा रजस्तमोलेशा-नुविद्धं भाव्यते मनः ।
तदा भाव्यसुखोद्रेकात्, चिच्छक्तेर्गुणभावतः ॥ ५ ॥

यदा रजस्तमसोर्लेशेनानुविद्धं मनोऽन्तःकरणतत्त्वं भाव्यते, तदा भाव्यस्य भावनाविषयस्य, सुखस्य सुखप्रकाशमयस्य स-त्त्वस्य, उद्रेकादाधिक्यात्, चिच्छक्तेर्गुणभावतोऽनुद्रेकात् ॥५॥

साऽऽनन्दोऽत्रैव भाव्यन्ते, विदेहा बद्धवृत्तयः ।
देहाहङ्कारविगमात्, प्रधानपुंसदर्शिनः ॥ ६ ॥

साऽऽनन्दः समाधिर्भवत्युक्तहेतुनः, अत्रैव समाधौ, बद्धवृत्तयो विदेहा भण्यन्ते, देहाहङ्कारविगमाद् बहिर्विषयाऽऽवेशनिवृत्तेः, प्रधानपुंसदर्शिनः प्रधानपुरुषतत्त्वाऽऽविर्भावकाः ॥ ६ ॥

सत्त्वं रजस्तमोलेशा-नाक्रान्तं यत्र भाव्यते ।
स सास्मितोऽत्र चिच्छक्ति-सत्त्वयोर्मुख्यगौणता ॥७॥

यत्र रजस्तमोलेशेनानाक्रान्तं सत्त्वं भाव्यते, स सास्मितः समाधिः। अत्र चिच्छक्तिसत्त्वयोर्मुख्यगौणता, भाव्यस्य शुद्धस-त्त्वस्य, न्यग्भावाच्चिच्छक्तेश्चोद्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्वाच्च सास्मितत्वोपपत्तिः। न चाहङ्कारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः, यतो यत्रान्तःकरणमहमित्युल्लेखेन विषयं वेदयते सोऽहङ्कारः, यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमेव भाति, साऽस्मितेति ॥ ७ ॥

अत्रैव कृततोषा ये, परमाऽऽत्मानवेक्षिणः ।
चित्ते गते ते प्रकृति-लया हि प्रकृतौ लयम् ॥ ८ ॥

अत्रैव सास्मितसमाधावेव, ये कृततोषाः परमाऽऽत्मानवे-क्षिणः परमपुरुषादर्शिनः,ते हि चित्ते प्रकृतौ लयं गते सति प्रकृ-तिलया उच्यन्ते ॥ ८ ॥

ग्रहीतृग्रहणग्राह्य-समापत्तित्रयं किल ।

अत्र सास्मितसाऽऽनन्द-निर्विचारान्तविश्रमम् ॥ ९ ॥

सास्मितसमाधिपर्यन्ते परं पुरुषं ज्ञात्वा भावनायां विवेकख्याती ग्रहीतृसमापत्तिः, साऽऽनन्दसमाधिपर्यन्ते ग्रहणसमापत्तिः, निर्विचारसमाधिपर्यन्ते च ग्राह्यसमापत्तिर्विश्रान्तेत्येतदर्थः॥९॥

मणेरिवाभिजातस्य, क्षीणवृत्तेरसंशयम् ।
तात्स्थ्यात्तदञ्जनत्वाच्च, समापत्तिः प्रकीर्तिता ॥ १० ॥

मणेरिव स्फटिकाऽऽदिरत्नस्येव, अभिजातस्य जात्यस्य, क्षीणवृत्तेः क्षीणमलस्य, असंशयं निश्चितं, तात्स्थ्यात्तत्रैकाग्रत्वात्, तदञ्जनत्वात् तन्मयत्वात्, व्यञ्जुते चित्ते विषयस्य भाव्यमानस्यैकत्वोत्कर्षात्, समापत्तिः प्रकीर्तिता । तदुक्तम्-"क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ।" (१-४१) यथा हि निर्मलस्फटिकमणेस्तद्रूपाऽऽश्रयवशात्तद्रूपताऽऽपत्तिः, एवं निर्मलचित्तसत्त्वस्य तत्तद्भावनीयवस्तूपरागात्तद्रूपताऽऽपत्तिः । यद्यपि ग्रहीतृग्रहणग्राह्येत्युक्तं, तथाऽपि भूमिकाक्रमवशेन व्यत्ययो बोध्यः । यतः-प्रथमं ग्राह्यनिष्ठः समाधिः, ततो ग्रहणनिष्ठः, ततोऽस्मितोपरागेण ग्रहीतृनिष्ठः, केवलस्य पुरुषस्य ग्रहीतुर्भाव्यत्वासंभवादिति बोध्यम् ॥ १० ॥

संकीर्णा सा च शब्दार्थ-ज्ञानैरपि विकल्पतः ।
सवितर्का परैर्भेदै-र्भवतीत्थं चतुर्विधा ॥ ११ ॥

सा च समापत्तिः, शब्दार्थज्ञानैर्विकल्पतोऽपि संकीर्णा सवितर्का । यदाह-" तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का ।" (१-४२) तत्र श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यः, स्फोटरूपो वा शब्दः, अर्थो जात्यादिः, ज्ञानं सत्त्वप्रधाना बुद्धिवृत्तिः, विकल्पः-शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्योऽर्थः, एतैः संकीर्णाः-यत्रैते शब्दाऽऽदयः परस्पराध्यासेन प्रतिभासन्ते-गौरिति शब्दो, गौरित्यर्थो, गौरिति ज्ञानमित्याकारेण, इत्थं परैर्भेदैश्चतुर्विधेयं भवति । तथाहि-" महास्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ।" (१-४३) यदाह-'उक्तलक्षणविपरीता निर्वितर्केति' । यथा च स्थूलभूताऽऽदिविषया सवितर्का, तथा सूक्ष्मतन्मात्रेन्द्रियाऽऽदिकमर्थं शब्दार्थविकल्पसहितत्वेन, देशकालधर्मावच्छेदेन च गृह्णन्ती सविचारा भण्यते, धर्मिमात्रतया च तं गृह्णन्ती निर्विचारेति । यत उक्तम्-"एतयैव सविचारा, निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ।" (१-४४) " सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ।" (१-४५) न क्वचिल्लीयते, न वा किञ्चिल्लिङ्गति गमयतीत्यलिङ्गं प्रधानं, तत्पर्यन्तमित्यर्थः । गुणानां हि परिणामे चत्वारि पर्वाणि-विशिष्टलिङ्गम्, अविशिष्टलिङ्गं, लिङ्गमात्रम्, अलिङ्गं चेति । विशिष्टलिङ्गं भूतानि, अविशिष्टलिङ्गं तन्मात्रेन्द्रियाणि, लिङ्गमात्रं बुद्धिः, अलिङ्गं च प्रधानमिति । एताश्च समापत्तयः संप्रज्ञातरूपा एव । यदाह-" ता एव सबीजः समाधिरिति ।" (१-४६) सह बीजेनाऽऽलम्बनेन वर्तत इति सबीजः, संप्रज्ञात इत्यर्थः ॥ ११ ॥

इतरासां समापत्तीनां निर्विचारफलत्वान्निर्विचारायाः फलमाह—

अध्यात्मं निर्विचारत्व-वैशारद्ये प्रसीदति ।
ऋतम्भरा ततः प्रज्ञा, श्रुतानुमितितोऽधिका ॥ १२ ॥

निर्विचारत्वस्य चरमसमापत्तिलक्षणस्य, वैशारद्ये प्रकृष्टाभ्यासवशेन नैर्मल्यं, अध्यात्मं शुद्धसत्त्वं, प्रसीदति क्लेशवासनारहितस्थितिप्रवाहयोग्यं भवति । यदुक्तम्-" निर्विचारत्ववैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ।" (१-४७) ततोऽध्यात्मप्रसादात्, ऋतम्भरा प्रज्ञा भवति । ऋतं सत्यमेव बिभर्ति, न कदाचिदपि विपर्ययेणाऽऽच्छाद्यते या सा ऋतम्भरा । तदुक्तम्-" ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।" (१-४८) सा च श्रुतानुमितित आगमानुमानाभ्यां सामान्यविषयाभ्यां विशेषविषयत्वेनाधिका । यदाह-" श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वादिति ।" (१-४९) ॥१२॥

तज्जन्मा तत्त्वसंस्कारः, संस्कारान्तरबाधकः ।
असंप्रज्ञातनामा स्यात्, समाधिस्तन्निरोधतः ॥ १३ ॥

तत ऋतम्भरप्रज्ञायाः, जन्मोत्पत्तिर्यस्य स तथा, तत्त्वसंस्कारः परमार्थविषयः संस्कारः, संस्कारान्तरस्य स्वेतरस्य-व्युत्थानजस्य, समाधिजस्य वा संस्कारस्य बाधकस्तन्निष्ठकार्यकरणशक्तिभङ्गकादिति यावत् । तदुक्तम्-" तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ।" (१—५०) तस्य निरोधतः सर्वासां चित्तवृत्तीनां स्वकारणे प्रविलयात्, संस्कारमात्रोद्दितवृत्तिलक्षणोऽसंप्रज्ञातनामा समाधिः स्यात् । तदुक्तम्-" तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधो निर्बीजः समाधिरिति ।" (१-५१) ॥ १३ ॥

विरामप्रत्ययाभ्यासात्, नेति नेति निरन्तरात् ।
ततः संस्कारशेषाच्च, कैवल्यमुपतिष्ठते ॥ १४ ॥

विरामो वितर्काऽऽदिचिन्तात्यागः, स एव प्रत्ययो विरामप्रत्ययः, तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन चेतसि निवेशनं, ततः, नेति नेति निरन्तरादन्तररहितात्, संस्कारशेषादुत्पन्नः, ततोऽसंप्रज्ञातसमाधेः । यत उक्तम्-" विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्य इति ।" (१-१८) कैवल्यमात्मनः स्वप्रतिष्ठत्वलक्षणम्, उपतिष्ठत आविर्भवति ॥ १४ ॥

(१६) तदेवमुक्तौ परानिमतौ तद्भेदौ सोत्पत्तिक्रमौ च संप्रज्ञातासंप्रज्ञाताऽऽख्यौ योगभेदौ; अथानयोर्यथासंज्ञमवतारमाह-

संप्रज्ञातोऽवतरति, ध्यानभेदेऽत्र तत्त्वतः ।
तात्त्विकी च समापत्ति-र्नाऽऽत्मनो भाव्यतां विना ॥ १५ ॥

अत्र संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोर्योगभेदयोर्मध्ये, संप्रज्ञातस्तत्त्वतो ध्यानभेदेऽवतरति, स्थिराध्यवसानरूपत्वात्; अध्यात्माऽऽदिकमारभ्य ध्यानपर्यन्तं यथाप्रकर्षं संप्रज्ञातो विश्राम्यतीत्यर्थः । यदाह योगबिन्दुकृत्-" समाधिरेष एवान्यैः, संप्रज्ञातोऽभिधीयते । सम्यक् प्रकर्षरूपेण, वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा " ॥४१८॥ इति । एष एवाध्यात्माऽऽदियोगः तात्त्विकी निरुपचरिता च समापत्तिरात्मनो भाव्यतां भावनाविषयतां विना न घटते, शुद्धस्याभाव्यत्वे विशिष्टस्यापि तत्त्वायोगात् विशेषणसंबन्धं विना वैशिष्ट्यस्यापि दुर्वचत्वाच्चेति । तथा च ग्रहीतृसमापत्तिर्ग्राह्यमात्रमेवेति भावः ॥ १५ ॥

परमाऽऽत्मसमापत्ति-र्जीवाऽऽत्मनि हि युज्यते ।
अभेदेन तथा ध्याना-दन्तरङ्गस्वशक्तितः ॥ १६ ॥

जीवाऽऽत्मनि हि परमाऽऽत्मसमापत्तिः, तथापरिणामलक्षणा युज्यते, अभेदेन तथा परमात्मत्वेन ध्यानाद् जीवाऽऽत्मनोऽन्तरङ्गाया उपादानभूतायाः स्वशक्तेस्तथापरिणमनाद्दात्मशक्तेः शक्यस्त एव व्यक्तया परिणमनस्य तथा सामग्रीतः संभवादिति भावः ॥ १६ ॥

(२०) जीवाऽऽत्मनि परमाऽऽत्मनः सत्त्वोपपत्त्यर्थमात्मत्रयं सर्वाभिहितमुपदर्शयति-

बाह्याऽऽत्मा चाऽऽन्तराऽऽत्मा च, परमाऽऽत्मेति च त्रयः।
कायाधिष्ठायकध्येयाः, प्रसिद्धा योगवाङ्मये ॥ १७ ॥

कायः स्वाऽऽत्मधिया प्रतीयमानः,-'अहं स्थूलोऽहं कृशः' इत्या-द्युल्लेखेनाधिष्ठायकः कायचेष्टाजनकप्रयत्नवान्, ध्येयश्च ध्यान-भाव्यः, एते त्रयो-बाह्याऽऽत्मा च अन्तराऽऽत्मा च, परमाऽऽत्मा चेति योगवाङ्मये योगशास्त्रे प्रसिद्धाः। एतेषां च स्वेतरभेदप्र-तियोगित्वध्यातृत्वध्येयत्वैर्ध्यानोपयोगस्ताविकातात्त्विकैकत्व-परिणामतश्च सन्निधानमतात्त्विकपरिणामनिवृत्तौ तात्त्विकप-रिणामोपलम्भश्च समापत्तिरिति ध्येयम् ॥ १७ ॥

अन्ये मिथ्यात्वसम्यक्त्व-केवलज्ञानभागिनः ।
मिश्रे च क्षीणमोहे च, विश्रान्तास्ते त्वयोगिनि ॥ १८ ॥

अन्ये पुनराहुः-मिथ्यात्वसम्यक्त्वकेवलज्ञानभागिनो बाह्याऽऽ-त्मान्तराऽऽत्मपरमाऽऽत्मानः। ते तु-मिश्रे च क्षीणमोहे चायोगिनि च गुणस्थाने क्रमेण विश्रान्ताः तत्र च बाह्याऽऽत्मतादशायामन्त-राऽऽत्मपरमाऽऽत्मनोः शक्तिः, तदेकद्रव्यत्वात्, अन्तराऽऽत्मद-शायां च परमाऽऽत्मनः शक्तिः, बाह्याऽऽत्मनस्तु पूर्वनयेन योगः। परमाऽऽत्मतादशायां च बाह्याऽऽत्मान्तराऽऽत्मनोर्द्वयोरपि भूतपूर्वनयेनैव योग इति वदन्ति । तत्त्वमत्रत्यमध्यात्ममतपरी-क्षायां व्यवस्थापितमस्माभिः ॥ १८ ॥

विषयस्य समापत्ति-रुत्पत्तिर्जीवसंज्ञिनः।
आत्मनस्तु समापत्ति-र्भावो द्रव्यस्य तात्त्विकः ॥ १९॥

विषयस्याऽऽत्मातिरिक्तस्य ग्राह्यस्य, समापत्तिर्जीवसंज्ञिनो भावाभिधानस्योत्पत्तिरुच्यते। वदन्ति हि नयज्ञाः-'अभ्युपयु-क्तो माणवकोऽप्यग्निरेवेति'। शब्दार्थप्रत्ययानां तुल्याभिधानत्वा-त् न बाह्यार्थज्ञानयोः कथञ्चिदेकद्रव्याश्रयतया एकत्वपरिणामः संभव-ति, चेतनत्वाचेतनत्वयोर्विरोधादिति भावः। आत्मनस्तु समा-पत्तिर्द्रव्यस्य परमाऽऽत्मद्रव्यस्य, तात्त्विकः सहजशुद्धो भावः परिणामः ॥ १९ ॥

अत एव च योऽर्हन्तं, स्वद्रव्यगुणपर्ययैः ।
वेदाऽऽत्मानं स एव स्वं, वेदेत्युक्तं महर्षिभिः ॥ २० ॥

यत एव द्रव्यतया परमाऽऽत्मैव जीवाऽऽत्मा, अत एव च, यो-ऽर्हन्तं तीर्थकरं, स्वद्रव्यगुणपर्यायैर्निजशुद्धाऽऽत्मकेवलज्ञान-स्वभावपरिणमनलक्षणैः, वेद जानाति, स एव स्वमात्मानं वेद तत्त्वतो जानाति, तथाज्ञानस्य तथाध्यानद्वारा तथा-समापत्तिजनकत्वादिति महर्षिभिरुक्तम् । यतः पठ्यते-
"जो जाणइ अरहंते, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं । सो जाणइ अप्पाणं, मोहो खलु जाइ तस्स लयं ॥१॥" न चैतद्गाथाकर्तु-र्दिगम्बरत्वेन महर्षित्वाभिधानं न निरवद्यमिति मूढधिया श-ङ्कनीयम्, सत्यार्थकथनगुणेन व्यासाऽऽदीनामपि हरिभद्राऽऽ-चार्यैस्तथाऽभिधानादिति द्रष्टव्यम् ॥ २० ॥

(२१) असंप्रज्ञातनामा तु, संमतो वृत्तिसंक्षयः ।
सर्वतोऽस्मादकरण-नियमः पापगोचरः ॥ २१ ॥

असंप्रज्ञातनामा तु समाधिर्वृत्तिसंक्षयः संमतः, सयोग्ययो-गिकेवलित्वकाले मनोविकल्पपरिस्पन्दरूपवृत्तिक्षयेण तद्रूप-गमात् । तदुक्तम्-" असंप्रज्ञात एषोऽपि, समाधिर्गीयते परैः । निरुद्धाशेषवृत्त्यादि, तत्स्वरूपानुवेधतः ॥४२०॥" (यो० बिं०) इति । धर्ममेघ इत्यपरस्यैव नाम । यावत्तत्त्वज्ञानेन फलमभि-प्सोः सर्वथा विवेकख्यातौ धर्ममशुक्लकृष्णं मेहति सिञ्चतीति व्युत्पत्तेः। तदुक्तम्-"प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिरिति।" (४-२९) एवमन्येषामपि तत्तत्तन्त्र-सिद्धानां शब्दानामर्थोऽत्र यथायोगं भावनीयः । तदाह-" ध-र्ममेघोऽमृताऽऽत्मा च, भवशत्रुः शिवोदयः। सत्त्वाऽऽनन्दपरश्चेति, योज्योऽत्रैवार्थयोगतः" ॥४२१॥ (यो० बिं०) अस्माद् वृत्ति-संक्षयात् फलीभूतात्, सर्वतः सर्वैः प्रकारैः,पापगोचरः पापवि-षयः,अकरणनियमः, अनुमीयत इति शेषः।नरकगमनाऽऽदिवृ-त्तिनिवृत्तेर्महारम्भपरिग्रहाऽऽदिहेत्वकरणनियमेनैवोपपत्तेः॥२१॥

ग्रन्थिभेदे यथाऽयं स्याद्, बन्धहेतुं परं प्रति ।
नरकाऽऽदिगतिष्वेवं, ज्ञेयस्तद्धेतुगोचरः ॥ २२ ॥

यथाऽयमकरणनियमो, बन्धहेतुं मिथ्यात्वं परमुत्कृष्टं सप्तति-कोटिकोट्यादिस्थितिनिमित्तं, प्रत्याश्रित्य ग्रन्थिभेदे निरूप्यते । एवं नरकाऽऽदिगतिषु निवर्तनीयासु,तद्धेतुगोचरो नरकाऽऽदि-हेतुविषयोऽकरणनियमो ज्ञेयः ॥ २२ ॥

दुःखात्यन्तविमुक्त्यादि, नान्यथा स्यात् श्रुतोदितम् ।
हेतुः सिद्धश्च भावोऽस्मि-न्निति वृत्तिक्षयौचिती ॥ २३ ॥

अन्यथा दुःखात्यन्तविमुक्त्यादि, श्रुतोदितं सिद्धान्तप्रतिपा-दितं,न स्यात् । तदाह-"अन्यथाऽऽत्यन्तिको मृत्युर्भूयस्तत्राऽऽ-गतिस्तथा । न युज्यते हि सन्न्याया-दित्यादि समयोदितम् ।" ॥४१६॥ (यो० बिं०) न च तत्त्वज्ञानेनैव दुःखात्यन्तविमुक्त्युपप-त्तौ किमकरणनियमेनेति वाच्यम् ?, तस्याऽऽपात्तिकाभ्यधिका-नवाशङ्काद्वारा हेतुत्वोपगमे तद्धेत्वकरणनियमस्यावश्याऽऽश्रय-णीयत्वादिति भावः । अस्मिंस्तत्तत्पापस्थानाकरणनियमे च, सिद्धः परापराधनिवृत्तिहेतुतत्त्वज्ञानानुगततया प्रतिष्ठितो भावोऽन्तःकरणपरिणामो हेतुः। तदुक्तम्-" हेतुमस्य परं भावं, सत्त्वापायो निवर्तनम् । प्रधानं करुणारूपं, ब्रुवते सूक्ष्मदर्शिनः" ॥ ४१७ ॥ (यो० बिं०) इति एवमकरणनियमोपपत्तौ, वृत्ति-क्षयौचिती वृत्तिक्षयस्य न्याय्यता,हेत्वकरणनियमेन फलानुत्प-त्तिपर्यायोपपत्तेस्तत्प्रागभावापगमस्यापि योग्यताविगमाऽऽत्म-स्य हेत्वकरणनियमेनैव फलवत्त्वासद्भिरहितस्य तस्य फल-नियतत्वात् । तदुक्तम्-"मण्डूकभस्मन्यायेन, वृत्तिबीजं महा-मुनिः । योग्यताऽपगमाद्दग्ध्वा, ततः कल्याणमश्नुते" ॥ ४२२ ॥ (यो० बिं०) इति ॥ २३ ॥

(२२) ननु यद्येक एव योगस्तदा कथं भेदः?, भेदे च प्रकृते किं तदन्तर्भावप्रयासेन ?, इत्यत आह-

योगे जिनोक्तेऽप्येकस्मिन्, दृष्टिभेदः प्रवर्तते ।
क्षयोपशमवैचित्र्यात्, समेघाऽऽद्योघदृष्टिवत् ॥ २४ ॥

जिनोक्ते सर्वज्ञप्रोक्ते, तत्त्वत एकस्मिन्नपि योगे, क्षयोपशमवै-चित्र्याद् दृष्टिभेदो दर्शनविशेषः प्रवर्तते,समेघाऽऽद्यौ मेघसहित-राऽऽद्यौ,ओघदृष्टिवत्-सामान्यदर्शनमिव। यथा हि एकस्मि-न्नपि दृश्ये समेघायां रात्रौ दृष्टिः किञ्चिन्मात्रग्राहिणी,अमेघायां तु मनागधिकतरग्राहिणी । एवं समेघाऽमेघयोर्दिवसयोरप्य-स्ति विशेषः । तथा सग्रहाग्रहयोश्चित्ताविभ्रमतद्भावाभ्यामर्भ-कानर्भकयोरपि मुग्धत्वविवेकाभ्याम् उपहतानुपहतलोचनयोश्च

दोषगुणाभ्यां ग्राहकयोरपि, तथा प्रकृतेऽपि योगदृष्टिभेद इति भावनीयम् । एतन्निबन्धनोऽयं दर्शनभेद इति योगाऽऽचार्याः । न खल्वयं स्थिराऽऽदिदृष्टिमतां भिन्नग्रन्थीनां योगिनां यथाविषयं नयभेदावबोधात्प्रवृत्तिरप्यमीषां परार्थं शुद्धबोधभावेन विनिवृत्ताऽऽग्रहतया मैत्र्यादिपारतन्त्र्येण गम्भीरोदाराऽऽशयत्वाच्चारिचरकसञ्जीविन्यचरकचारणनीत्येत्याहुः ॥२४॥ द्वा० २० द्वा० ।

योगस्य कारणानि विवक्षुर्योगस्य प्रथमोपायभूतां पूर्वसेवामाह-

पूर्वसेवा तु योगस्य, गुरुदेवाऽऽदिपूजनम् ।
सदाचारस्तपो मुक्त्य-द्वेषश्चेति प्रकीर्तिता ॥१॥ द्वा० १२ द्वा० ।

(यमाऽऽदीनां योगाङ्गत्वं योगबीजानि यमाऽऽदियोगाङ्गयुक्तानां मित्राद्या दृष्टयश्च ' जोगदिट्ठि ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

(२३) योगमार्गाधिकारिणस्तु-

योजनाद् योग इत्युक्तो, मोक्षेण मुनिसत्तमैः ।
स निवृत्ताधिकारायां, प्रकृतौ लेशतो ध्रुवः ॥ १४ ॥

योजनाद् घटनाद्, मोक्षेण, इत्यस्माद्धेतोः, मुनिसत्तमैः ऋषिपुङ्गवैः, योग उक्तः, स निवृत्ताधिकारायां व्यावृत्तपुरुषाभिभवायां, प्रकृतौ सत्यां, लेशतः किञ्चिद्वृत्त्या, ध्रुवो निश्चितः ॥ १४ ॥

गोपेन्द्रवचनादस्मा-देवंलक्षणशालिनः ।
परैरस्येष्यते योगः, प्रतिश्रोतोऽनुगत्वतः ॥ १५ ॥

अस्माद् गोपेन्द्रवचनात्, एवंलक्षणशालिनः शान्तोदात्तत्वाऽऽदिगुणयुक्तस्यापुनर्बन्धकस्य, परैस्तीर्थान्तरीयैः, योग इष्यते-उच्यते, प्रतिश्रोतोऽनुगच्छति यः स प्रतिश्रोतोऽनुगः, तद्भावस्तत्त्वं, तत इन्द्रियकषायानुकूला हि वृत्तिरनुश्रोतः, तत्प्रतिकूला तु प्रतिश्रोत इति । इत्थं हि प्रत्यहं शुभपरिणामवृद्धिः, सा च योगफलमित्यस्य योगौचित्यम् । तदाह-" वेलावलनवन्नद्या-स्तदापूरोपसंहृतेः । प्रतिश्रोतोऽनुगत्वेन, प्रत्यहं वृद्धिसंयुतः " ॥ २०२ ॥ (यो० बिं०) इति ॥ १५ ॥

तत्क्रियायोगहेतुत्वाद्, योग इत्युचितं वचः ।
मोक्षेऽतिदृढचित्तस्य, भिन्नग्रन्थेस्तु भावतः ॥१६॥

तद्वचः, क्रियायोगस्य सदाचारलक्षणस्य, हेतुत्वाद् योग इत्येवमुचितम्, अस्य द्रव्ययोगत्वाद्, मोक्षे निर्वाणेऽतिदृढचित्तस्यैकधाराक्रमप्रवृद्धदयस्य, भिन्नग्रन्थेर्विदारितातितीव्ररागद्वेषपरिणामस्य तु, भावतो योगः संभवति । सम्यग्दृष्टेर्हि मोक्षाऽऽकाङ्क्षैकचित्तस्य, या या चेष्टा, सा सा मोक्षप्राप्तिपर्यवसानफलिकेति तस्यैव भावतोऽयम्, अपुनर्बन्धकस्य तु न सार्वदिकस्तथा परिणाम इति द्रव्यत एवेति । तदुक्तम्-"भिन्नग्रन्थेस्तु यत् प्रायो, मोक्षे चित्तं भवे तनुः । तस्य तत्सर्व एवेह, योगो योगो हि भावतः ।२०३। (यो० बिं०) इति ॥१६॥

अन्यसक्तस्त्रियो भर्तृ-योगोऽप्यश्रेयसे यथा ।
तथाऽमुष्य कुटुम्बाऽऽदि-व्यापारोऽपि न बन्धकृत् ॥१७॥

अन्यस्मिन् स्वभर्तृव्यतिरिक्ते पुंसि, सक्ताया अनुपरतरिरंसायाः, स्त्रियो योषितः, भर्तृयोगोऽपि पतिशुश्रूषणाऽऽदिव्यापारोऽपि, यथाऽश्रेयसे पापकर्मबन्धाय, तथाऽमुष्य भिन्नग्रन्थेः, कुटुम्बाऽऽदिव्यापारोऽपि, न बन्धकृत्, पुण्ययोगेऽपि पापपरिणामेन पापस्येव बन्धवदशुभकुटुम्बचिन्तनाऽऽदियोगेऽपि शुद्धपरिणामेन सदनुबन्धस्यैवोपपत्तेः ।

तदुक्तम्-

" नार्या यथाऽन्यसक्ताया-स्तत्र भावे सदा स्थितेः ।
तद्योगः पापबन्धश्च, तथा मोक्षेऽस्य दृश्यताम् ॥ २०४ ॥
न चेह ग्रन्थिभेदेन, पश्यतो भावमुत्तमम् ।
इतरेणाऽऽकुलस्यापि, तत्र चित्तं न जायते " ॥ २०५ ॥
(यो० बिं०) १७ ॥

निजाऽऽशयविशुद्धौ हि, बाह्यो हेतुरकारणम् ।
शुश्रूषाऽऽदिक्रियाऽप्यस्य, शुद्धश्रद्धाऽनुसारिणी ॥१८॥

निजाऽऽशयविशुद्धौ हि सत्यां, बाह्यो हेतुः कुटुम्बचिन्तनाऽऽदिव्यापारोऽकारणं, कर्मबन्धं प्रति भवहेतूनामेव परिणामविशेषेण मोक्षहेतुत्वेन परिणमनात्-"जे जत्तिया य हेऊ, भवस्स ते तत्तिआ य मुक्खस्स ।" इति वचनप्रामाण्यात् । ननु किमेकेन शुभपरिणामेन?, क्रियाया अपि मोक्षकारणत्वात्, तदभावे तस्याकिञ्चित्करत्वात्; इत्यत आह-शुश्रूषाऽऽदिक्रियाऽप्यस्य सम्यग्दृशः, शुद्धश्रद्धाऽनुसारिणी जिनवचनप्रामाण्यप्रतिपत्त्यनुगामिनी, परिशुद्धोहापोहयोगस्य हि प्रकृतेरप्रवृत्तिविरोधिप्रवृत्तियोगाभ्यां सम्यगनुष्ठानावन्ध्यकारणत्वात्तेनैव तदाक्षिप्यत इति भावः ।

तदुक्तम्-

" चारु चैतद् यतो ह्यस्य, तथोहः संप्रवर्त्तते ।
एतद्वियोगविषयः, श्रद्धाऽनुष्ठानभाक् स यत् ॥२०६॥
प्रकृतेरायतश्चैव, नाप्रवृत्त्यादिधर्मताम् ।
तथा विहाय घटते, ऊहोऽस्य विमलं मनः ॥२०७॥
सति चास्मिन् स्फुरद्रत्न-कल्पे सत्त्वोल्बणत्वतः ।
भावस्तैमित्यतः शुद्ध-मनुष्ठानं सदैव हि" ॥२०८॥ (यो० बिं०)

ननु सम्यग्दृष्टिपर्यन्तमन्यत्र द्रव्ययोग एवोच्यते इति कथमत्र भावतोऽयमुक्त इति चेत् ?; चारित्रप्रतिपन्थिनामनन्तानुबन्धिनामपगमे तद्गुणप्रादुर्भावनियम इति निश्चयाऽऽश्रयणाद्दलभेदविवक्षापरेण व्यवहारेण त्वत्रायं नेष्यत एव । " एतच्च योगहेतुत्वाद्, योग इत्युचितं वचः । मुख्यायां पूर्वसेवाया-मवतारोऽस्य केवलम् " ॥ २०९ ॥ (यो० बिं०) इत्यनेनापुनर्बन्धकातिशयाभिधानं तु सम्यग्दृशो नैगमनयशुद्धिप्रकर्षकाष्ठापेक्षमिति न कश्चिद्विरोध इति विभावनीयं सुधीभिः ॥ १८ ॥

एतन्निश्चयवृत्त्यैव, यद् योगः शास्त्रसंज्ञितः ।
त्रिधा शुद्धादनुष्ठानात्, सम्यक्प्रत्ययवृत्तितः ॥ १९ ॥

एतद् यदुक्तम्-भिन्नग्रन्थेरेव भावतो योग इति, निश्चयवृत्त्यैव परमार्थवृत्त्यैव, न तु कल्पनया, यद् यस्माद्, शास्त्रेणैव संज्ञा, तद्विना त्वसंज्ञिवत् काप्यर्थे प्रवर्त्तमानो यः, तस्य, त्रिधा वक्ष्यमाणैस्त्रिभिः प्रकारैः, शुद्धान्निरवद्यात्, अनुष्ठानादाचारात्, सम्यक्प्रत्ययेनाऽऽत्मगुरुलिङ्गशुद्ध्या स्वकृतिसाध्यताऽऽद्यभ्रान्तविश्वासेन, वृत्तिः प्रवृत्तिः, ततो भवतीति ॥ १९ ॥

शास्त्रमासन्नभव्यस्य, मानमामुष्मिके विधौ ।
सेव्यं यद्विचिकित्सायाः, समाधेः प्रतिकूलता ॥२०॥

आसन्नभव्यस्याऽदूरवर्त्तिमोक्षलाभस्य प्राणिनः, आमुष्मिके विधौ पारलौकिके कर्मणि, शास्त्रं मानं, धर्माधर्मयोरतीन्द्रियत्वेन तदुपायत्वबोधने प्रमाणान्तरासामर्थ्यात् । अतः सेव्यं सर्वत्र

प्रवृत्तौ पुरस्करणीयं, न तु कश्चिदप्यंशोऽनादरणीयम् । यद् यस्माद्, विचिकित्सायाः-युक्त्या समुपपन्नेऽपि मतिव्यामोहोत्पन्नचित्तविप्लुतिरूपायाः,समाधेः चित्तस्वास्थ्यरूपस्य, ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकस्य वा, प्रतिकूलता विरोधिताऽस्ति । अर्थो हि त्रिविधः-सुखाधिगमो, दुराधिगमोऽनधिगमश्चेति श्रोतारं प्रति भिद्यते । आद्यो यथा-चक्षुष्मतश्चित्रकर्मनिपुणस्य रूपसिद्धिः,द्वितीयः सैवानिपुणस्य, तृतीयस्त्वन्धस्येति । तत्र प्रथमचरमयोर्नास्त्येव विचिकित्सा, निश्चयादसिद्धेश्च । द्वितीये तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टे धर्माधर्माऽऽदौ प्रवर्त्ता सा महानर्थकारिणी । यदागमः-" वितिगिच्छं समावन्नेणं अप्पाणेणं णो लहति समाहिं । " अतश्चित्तशुद्ध्यर्थं शास्त्रमेवाऽऽदरणीयमिति भावः । यत उक्तम्-" मलिनस्य यथाऽत्यन्तं, जलं वस्त्रस्य शोधनम् । अन्तःकरणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः " ॥ २२८ ॥ (यो० बिं०) ॥ २० ॥ द्वा० १४ द्वा० ।

(२४) आत्माऽऽदिप्रत्ययं विना न सिद्धिरित्युपक्रम्य-

सद्योगाऽऽरम्भकस्त्वेनं, शास्त्रसिद्धमपेक्षते ।
सदा भेदः परेभ्यो हि, तस्य जात्यमयूरवत् ॥ २९ ॥

सद्योगाऽऽरम्भकस्तु सानुबन्धयोगाऽऽरम्भक एव, एनमात्माऽऽदिप्रत्ययं, शास्त्रसिद्धमतीन्द्रियार्थमार्थसमर्थनसमर्थाऽऽगमप्रतिष्ठितम्,अपेक्षतेऽवलम्बते । परेभ्यो हि असद्योगाऽऽरम्भकेभ्यो हि,तस्य सद्योगाऽऽरम्भकस्य,सदा भेदो वैलक्षण्यं,जात्यमयूरवत् सर्वोपाधिविशुद्धमयूरवत् । यथाहि-जात्यमयूरोऽजात्यमयूरात् सदैव भिन्नः, तथा सद्योगाऽऽरम्भकोऽप्यन्यस्मादिति भावना । तदुक्तम्-" न च सद्योगभव्यस्य, वृत्तिरेवंविधाऽपि हि । न जात्वजात्यधर्मान् यज्जात्यः सन् भजते शिखी "।२४१। (यो० बिं०) ॥ २६ ॥

यथा शक्तिस्तदण्डाऽऽदौ, विचित्रा तद्वदस्य हि ।
गर्भयोगेऽपि मातॄणां, श्रूयतेऽत्युचिता क्रिया ॥ ३० ॥

यथा तदण्डाऽऽदौ जात्यमयूराण्डचञ्चुचरणाऽऽद्यवयवेषु, शक्तिः विचित्राऽजात्यमयूरावयवशक्तिविलक्षणा,तद्वदस्य हि सद्योगाऽऽरम्भकस्याऽऽदित एवाऽऽरम्भेतरेभ्यो विलक्षणा शक्तिरित्यर्थः । यत उक्तम्-"यश्चात्र शिखिदृष्टान्तः, शास्त्रे प्रोक्तो महात्मभिः । स तदण्डरसाऽऽदीनां, सच्छक्त्यादिप्रसाधनः " ॥ २४५ ॥ इति (यो० बिं०) अत एव सद्योगाऽऽरम्भकस्येति गम्यम् । मातॄणां जननीनां, गर्भयोगेऽपि किं पुनरुत्तरकाले?, इत्यपिशब्दार्थः । श्रूयते निशम्यते, शास्त्रेषु अत्युचिता लोकानामतिश्लाघनीया, क्रिया प्रशस्तमाहात्म्यलाभलक्षणा । यत एवं पठ्यते-"जणणी सव्वत्थ वि णि-च्छएसु सुमइ त्ति तेण सुमइ जिणो । " (४२ गाथा) तथा-"गब्भगए जं जणणी, जायसुधम्म त्ति तेण धम्मजिणो । " (४७ गाथा) तथा-"जाया जणणी जं सु-व्वय त्ति मुणिसुव्वओ तम्हा । " (५० गाथा) (आव०२ अ०) इत्यादि । इदं गर्भावस्थायामुक्तम् । उत्तरकालेऽप्यत्युचितैव तेषां क्रिया । यत उक्तम्-" औचित्याऽऽरम्भिणोऽक्षुद्राः, प्रेक्षावन्तः शुभाऽऽशयाः । अवन्ध्यचेष्टाः कालज्ञाः, योगधर्माधिकारिणः " ॥ २४४ ॥ (यो० बिं०) इति । तदेवं सिद्धः सद्योगाऽऽरम्भक इतरेभ्यो विलक्षणः, स चाऽऽत्माऽऽदिप्रत्ययमपेक्षत एवेति ॥ ३० ॥ द्वा० १४ द्वा० ।

(२५) योगस्य फलं कर्मक्षयः, तथा च कर्माण्यधिकृत्य-

क्लेशाः पापानि कर्माणि, बहुभेदानि नो मते ।
योगादेव क्षयस्तेषां, न भोगादनवस्थितेः ॥ ३१ ॥
ततो निरुपमं स्थान-मनन्तमुपतिष्ठते ।
भवप्रपञ्चरहितं, परमाऽऽनन्दमेदुरम् ॥ ३२ ॥

नोऽस्माकं,मते,पापान्यशुभविपाकानि, बहुभेदानि विचित्राणि, कर्माणि ज्ञानाऽऽवरणीयानि, क्लेशा उच्यन्ते । अतः कर्मक्षय एव क्लेशहानिरिति भावः । ननु-" नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि । अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥१॥ " इति वचनाद्योगादेव कर्मणां क्षये तस्याप्यपुरुषार्थत्वमनिवारितमेवेत्यत आह-योगादेव ज्ञानक्रियासमुच्चयलक्षणात् क्षयः, तेषां नानाभवार्जितानां प्रचितानां, न भोगादनवस्थितेर्भोगजनितकर्मान्तरस्यापि भोगनाश्यत्वादनवस्थानात् । ननु निरभिष्वङ्गभोगस्य न कर्मान्तरजनकत्वं, प्रचितानामपि च तेषां क्षयो योगजादृष्टाधीनकायव्यूहबलादुपपत्स्यत इति चेत् । न । प्रायश्चित्ताऽऽदिनाऽपि कर्मनाशोपपत्तेः कर्मणां भोगैकनाश्यत्वस्यापि व्यवस्थितौ योगेनापि तन्नाशसंभवे कायव्यूहाऽऽदिकल्पने प्रमाणाभावात् । कर्मणां ज्ञानयोगनाश्यतायाः-"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि,भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ! । " इति भगवदागमेनापि सिद्धत्वात् । नराऽऽदिशरीरसत्त्वे शूकराऽऽदिशरीरानुपपत्तेः कायव्यूहानुपपत्तेर्मनोऽन्तरप्रवेशाऽऽदिकल्पने गौरवाच्च । ये त्वाहुः पातञ्जलाः-अग्नेः स्फुलिङ्गानामिव कायव्यूहदशायामेकस्मादेव चित्तात्प्रयोजकान्नानाचित्तानां परिणामोऽस्मितामात्रादिति । तदुक्तम्-"निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् । " (४-४) "प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषामिति । " (४-५) तेषामप्यनन्तकालप्रचितानां कर्मणां नानाशरीरोपभोगनाश्यत्वकल्पनं मोह एव । तावद्दृष्टानां युगपद् वृत्तिलाभस्याप्यनुपपत्तेरिति निरुपक्रमकर्मणामेव भोगैकनाश्यत्वमाश्रयणीयमिति सर्वमवदातम् । ॥ ३१ ॥ तत इति व्यक्तम् ॥ ३२ ॥ द्वा० २५ द्वा० ।

(२६) योगस्य प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यौपयिकं माहात्म्यमुपदर्शयन्नाह-

शास्त्रस्योपनिषद् योगो, योगो मोक्षस्य वर्तिनी ।
अपायशमनो योगो, योगः कल्याणकारणम् ॥ १ ॥
संसारवृद्धिर्धनिनां, पुत्रदाराऽऽदिना यथा ।
शास्त्रेणापि तथा योगं, विना हन्त ! विपश्चिताम् ॥२॥
इहापि लब्धयश्चित्राः, परत्र च महोदयः ।
पराऽऽत्माऽऽयत्तता चैव, योगकल्पतरोः फलम् ॥ ३ ॥
योगसिद्धैः श्रुतेष्वस्य, बहुधा दर्शितं फलम् ।
दर्श्यते लेशतश्चैतद्, यदन्यैरपि दर्शितम् ॥ ४ ॥

इयं चतुःश्लोकी सुगमा । द्वा० २६ द्वा० ।

प्रायश्चित्तं पुनर्योगः, प्राग्जन्मकृतपाप्मनाम् ।
अब्धीनां निश्चयादन्तः-कोटाकोटिस्थितेः किल ॥ २३ ॥

प्राग्जन्मकृतपाप्मनां पुनः प्रायश्चित्तं योगः,तन्नाशकत्वात्तस्य । तथा किलेति सत्ये, अब्धीनां सागरोपमाणाम्, अन्तःकोटाकोटिस्थितेर्निश्चयादपूर्वकरणाऽऽरम्भेऽपि तावत्स्थितिककर्मसद्भावाऽऽवश्यकत्वस्य महाभाष्याऽऽदिप्रसिद्धत्वात्, तस्य च धर्मसंन्यासैकनाश्यत्वादिति ॥ २३ ॥

निकाचितानामपि यः, कर्मणां तपसा क्षयः ।
सोऽभिमेत्योत्तमं योग-मपूर्वकरणोदयम् ॥ २४ ॥

निकाचितानामपि उपशमनाऽऽदिकरणानसंयोग्यत्वेन व्यवस्थापितानामपि, कर्मणां यस्तपसा क्षयो, भणित इति शेषः । "तवसा उ निकाइआणं पि," इति वचनात् । सोऽपूर्वकरणोदयम्, उत्तमं योगं धर्मसंन्यासलक्षणमभिप्रेत्य, न तु यत्किञ्चित्तप इति द्रष्टव्यम । तत्त्वमत्रत्यमध्यात्मपरीक्षाऽऽदौ विपञ्चितम ॥ २४ ॥

अपि क्रूराणि कर्माणि, क्षणाद् योगः क्षिणोति हि ।
ज्वलनो ज्वालयत्येव, कुटिलानपि पादपान् ॥ २५ ॥
दृढमहारिशरणं, चिलातीपुत्ररक्षकः ।
अपि पापकृतां योगः, पक्षपातान्न शङ्कते ॥ २६ ॥
अहर्निशमपि ध्यातं, योग इत्यक्षरद्वयम् ।
अप्रवेशाय पापानां, ध्रुवं वज्रार्गलायते ॥ २७ ॥
आजीविकाऽऽदिनाऽर्थेन, योगस्य च विडम्बना ।
पवनाभिमुखस्थस्य, ज्वलनज्वालनोपमा ॥ २८ ॥
योगस्पृहाऽपि संसार-तापव्ययतपात्ययः ।
महोदयसरस्तीर-समीरलहरीभवः ॥ २९ ॥
योगानुग्राहको योऽन्यैः, परमेश्वर इष्यते ।
अचिन्त्यपुण्यप्राग्भार-योगानुग्राह्य एव सः ॥ ३० ॥
भरतो भरतक्षोण्यां, जुञ्जानोऽपि महामतिः ।
तत्कालं योगमाहात्म्याद्, बुभुजे केवलश्रियम् ॥ ३१ ॥
पूर्वमप्राप्तधर्माऽपि परमाऽऽनन्दनन्दिता ।
योगप्रभावतः प्राप, मरुदेवा परं पदम् ॥ ३२ ॥

अष्टश्लोकी सुगमा । द्वा० २६ द्वा० ।

योगमाहात्म्यमेवाऽऽह-

योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो, योगश्चिन्तामणिः परः ।
योगः प्रधानं धर्माणां, योगः सिद्धेः स्वयं ग्रहः ॥ ३७ ॥

योग एको निरुक्तः, कल्पतरुः कल्पद्रुमः, श्रेष्ठोऽन्यकल्पद्रुमेभ्योऽतिशायी । तथा योगश्चिन्तामणिश्चिन्तारत्नं, परः प्रकृष्टः, योगः प्रधानं वस्तु, धर्माणां शेषधर्मस्थानानाम । तथा योगः सिद्धेर्निर्वृत्तिलक्षणायाः, स्वयंग्रहहेतुत्वात्स्वयंग्रहः । यदत्र पुनः पुनर्योगशब्दोपादानं तदस्यात्यन्तमादरणीयताख्यापनार्थमिति ॥ ३७ ॥

तथा च जन्मबीजाग्नि-र्जरसोऽपि जरा परः ।
दुःखानां राजयक्ष्माऽयं, मृत्योर्मृत्युरुदाहृतः ॥ ३८ ॥

तथा चेति समुच्चये, जन्मबीजाग्निः पुनःपुनर्जन्मकारणकर्मशक्तिदाहकारी, तथा जरसोऽपि जराया अपि, जरा, वयोहानिकारणत्वात्, परा प्रकृष्टा । तथा दुःखानां शारीरमानसाऽऽबाधारूपाणां, राजयक्ष्मा राजमान्द्यामय, अयं योगः, तथा मृत्योरन्तकस्य मृत्युरुदाहृतः शास्त्रकारैर्निरूपितः ॥ ३८ ॥

किञ्च-

कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि, मन्मथास्त्राणि सर्वथा ।
योगवर्माऽऽवृते चित्ते, तपश्छिद्रकराण्यपि ॥ ३९ ॥

कुण्ठीभवन्ति मन्दानि जायन्ते, तीक्ष्णानि निशितानि, मन्मथास्त्राणि कामशस्त्राणि-शब्दाऽऽदिविषयरूपाणि, सर्वथा सर्वप्रकारैः । क ?, इत्याह-योगवर्माऽऽवृते योगसंनाहवति, चित्ते मनसि । कीदृशानि ? इत्याह-तपश्छिद्रकराण्यपि मासक्षपणाऽऽदितपोभ्रंशकारीण्यपि, तथाविधयोगविकलानां तपस्विनामिति ॥ ३९ ॥

अक्षरद्वयमप्येतत्, श्रूयमाणं विधानतः ।
गीतं पापक्षयायोच्चै-र्योगसिद्धैर्महात्मभिः ॥४०॥

अक्षरद्वयमपि, किं पुनः पञ्चनमस्काराऽऽदीन्यनेकान्यक्षराणीत्यपिशब्दार्थः ?। एतद् योग इति शब्दलक्षणं, श्रूयमाणमाकर्ण्यमानं, तथाविधार्थानवबोधेऽपि विधानतो विधानेन, श्रद्धासंवेगाऽऽदिशुद्धभावोल्लासकरकुड्मलयोजनाऽऽदिलक्षणेन, गीतमुक्तं, पापक्षयाय मिथ्यात्वमोहाऽऽद्यकुशलकर्मनिर्मूलनाय उच्चैरत्यर्थम । कैर्गीतम् ?, इत्याह-योगसिद्धैर्योगः सिद्धो निष्पन्नो येषां ते तथा, तैर्जिनगणधराऽऽदिभिः, महात्मभिः प्रशस्तस्वभावैरिति ॥४०॥

तथा-

मलिनस्य यथा हेम्नो, वह्नेः शुद्धिर्नियोगतः ।
योगाग्नेश्चेतसस्तद्व-दविद्यामलिनाऽऽत्मनः ॥ ४१ ॥

मलिनस्य ताम्राऽऽदिमलबहुलस्य, यथेति दृष्टान्तार्थः । हेम्नः सुवर्णस्य, वह्नेर्वैश्वानरात्, शुद्धिर्निर्मलता, नियोगतो नियमेन, शुद्धकारणानां स्वकार्याव्यभिचारात् । योगाग्नेर्योगवह्नेः, चेतसो मनसः, शुद्धितः, तद्धेमवत् । कीदृशो मनसः ?, इत्याह-अविद्यामलिनाऽऽत्मनः सद्भूतवस्तुविषयभ्रान्तिवशादुपजनितस्वरूपस्येति ॥ ४१ ॥

तथा-

अमुत्र संशयाऽऽपन्न-चेतसोऽपि ह्यतो ध्रुवम् ।
सत्स्वप्नप्रत्ययाऽऽदिभ्यः, संशयो विनिवर्तते ॥ ४२ ॥

अमुत्र परलोकविषये, संशयाऽऽपन्नचेतसो भवान्तरं समस्ति, न वेति भ्रान्तमनसः, किं पुनरन्यस्येत्यपि हीतिशब्दार्थः । अतो योगाद्, ध्रुवमसंशयं, सत्स्वप्नप्रत्ययाऽऽदिभ्यः सत्स्वप्नाभिद्रायमाणावस्थायां स्वर्गाऽऽदिभवान्तरदर्शनलक्षणाऽऽख्यः प्रत्ययः प्रतीतिर्भवान्तरस्य, आदिशब्दान्निजोहापोहतथाविधाऽऽगमाभ्यासजन्यप्रत्ययग्रहः, तेभ्यः सकाशात्, संशयः संदेहो, विनिवर्त्तते उपरमति ॥ ४२ ॥

शुद्धसमाचारा हि साधवः सत्स्वप्नप्रभावेन निजोहापोहयोगेन, सदागमाभ्यासेन च, प्राक् संशयितमनसोऽपि व्यावर्तितविपर्यासहेतुमिथ्यात्वाऽऽदिमोहोदया अप्रकगृहान्तर्ज्वलितप्रदीपप्रद्योदाहरणेन भवान्तरं निर्णयन्त्येवेति । न च वक्तव्यं स्वप्नोऽपि कथं लभ्यते इति ?।

यतः-

श्रद्धालेशान्नियोगेन, बाह्ययोगवतोऽपि हि ।
शुक्लस्वप्ना भवन्तीष्ट-देवतादर्शनाऽऽदयः ॥ ४३ ॥

श्रद्धालेशाद् बहुमानांशाद्, नियोगेन नियमेन, बाह्ययोगवतोऽपि हि तथाविधोपयोगशून्यतया भावयोगानुरूपक्रियामात्रयुक्तस्य, किं पुनरबाह्ययोगवत इत्यपि हीतिशब्दार्थः । किम् ?, इत्याह-शुक्लस्वप्ना अमलीमसाः स्वप्नाः, भवन्ति जायन्ते, इष्टदेवतादर्शनाऽऽदयः-दिवसाऽऽरब्धाऽऽराधनाजिनगुरुधार्मिकदर्शनाऽऽदिलक्षणाः ॥ ४३ ॥

तथा-

देवान् गुरून् द्विजान् साधून्, सत्कर्मस्था हि योगिनः ।
प्रायः स्वप्ने प्रपश्यन्ति, हृष्टान् सन्नोदनापरान् ॥ ४४ ॥

देवान्-आराध्यतमान् जिनाऽऽदीन्, गुरून् धर्माऽऽचार्याऽऽदीन्, मातापित्रादीन् वा; द्विजान् ब्रह्मदीक्षानामकद्वितीयजन्मनो मुनीन्, साधून् शेषशिष्टलोकान्, सत्कर्मस्थाः स्वसिद्धान्ताविरुद्धक्रियास्थिताः, हिः प्राग्वत्, योगिनो योगाभ्यासपराः प्राणिनः; किम्?, इत्याह-प्रायो बाहुल्येन, स्वप्ने प्रतीतरूपे एव, प्रपश्यन्ति प्रेक्षन्ते, हृष्टान् हर्षवतः, तथा सन्नोदनापरान् शुद्धार्थविषयप्रेरणपरायणान् ॥४४॥

न चासौ भ्रान्तेति भावयन्नाह—

नोदनाऽपि च सा यत्तो, यथार्थैवोपजायते ।
तथाकालाऽऽदिभेदेन, हन्त ! नोपप्लवस्ततः ॥ ४५ ॥

नोदनाऽपि च न केवलं देवतादर्शनाऽऽदि, सा देवाऽऽदिकृता, यत्तो यस्मात्कारणात्, यथार्थैव सूचितप्रयोजनफलैवोपजायते । कथम्?, इत्याह-तथाकालाऽऽदिभेदेन तत्प्रकारकालक्षेत्रभावविशेषेण, हन्त ! इति प्राग्वत् । न नैव, उपप्लवः वाताऽऽदिधातुविकारजनितश्चित्तसंक्षोभो वर्तते गेरणा; ततो यथार्थत्वाद् हेतोः, न हि यथार्थफलभाजः प्रतिभासा अविसंवादिरूपत्वाल्लोके उपप्लवरूपतां लभन्ते, किं तु सत्यरूपतामेवेति ॥ ४५ ॥

तथा—

स्वप्नमन्त्रप्रयोगाच्च, सत्यः स्वप्नोऽभिजायते ।
विद्वज्जनेऽविगानेन, सुप्रसिद्धमिदं तथा ॥ ४६ ॥

स्वप्नमन्त्रप्रयोगाच्च-स्वप्नलाभफलो मन्त्रविषयः, तत्प्रयोगात्, चकाराच्छुद्धयोगाच्च, सत्यः स्वप्नो यथार्थः स्वप्नः, अभिजायते आविर्भवति, एतदेव दृढीकुर्वन्नाह-विद्वज्जने मतिमल्लोके, अविगानेनाविप्रतिपत्त्या, सुप्रसिद्धमतीव ख्यातिमागतम्, इदं स्वप्नमन्त्रप्रयोगात्सत्यः स्वप्नो जायत इत्येतत्, तथा तेन प्रकारेण ॥ ४६ ॥

नैवंभूतहेतुकोऽयं व्यवहार इति दर्शयति-

न ह्येतद्भूतमात्रत्व-निमित्तं संगतं वचः ।
अयोगिनः समध्यक्षं, यन्नैवंविधगोचरम् ॥ ४७ ॥

न हि नैव, एतदुक्तरूपं देवतादर्शनाऽऽदि, भूतमात्रत्वनिमित्तं भूतमात्रत्वं केवलभूतभाव एव, निमित्तं हेतुर्यस्य तत्तथा, इत्येवं परेण प्रवर्तमानं, सङ्गतं घटमानकं, वचो वचनम्, एतत्स्वप्नदर्शनाऽऽदि, यत्किञ्चिद् भूतमात्रमित्युच्यते, तदसङ्गतं वच इत्यर्थः । कुतः?, इत्याह--अयोगिनोऽर्वाग्दर्शिनः प्रमातुः, समध्यक्षं प्रत्यक्षं चक्षुराऽऽदि, यत् यस्माद्, नैव, एवंविधगोचरम्-एवंविधाः स्वप्नदर्शनाऽऽदिरतीन्द्रियोऽर्थो भूतमात्रानिमित्तो, न तु देवताऽनुग्रहमन्त्रप्रयोगाऽऽदिनिमित्तक इत्यादिकोऽर्थो गोचरो विषयो यस्य तत्तथा । इदमुक्तं भवति-छद्मस्थस्य पृथिव्यादिरूपभूतमात्रपरिहारेणातीन्द्रिये देवताऽऽद्यर्थे विधिप्रतिषेधयोः प्रत्यक्षमक्षममेव, तस्य तदविषयत्वादिति ॥ ४७ ॥

एतदेव भावयति-

प्रलापमात्रं च वचो, यदप्रत्यक्षपूर्वकम् ।
यथेहाप्सरसः स्वर्गे, मोक्षे चाऽऽनन्द उत्तमः ॥ ४८ ॥

प्रलापमात्रमनर्थकमेव, चः समुच्चये; वचो वचनम् । कीदृशम्?, इत्याह-यदप्रत्यक्षपूर्वकं प्रत्यक्षेणानुपलभ्य यद्भाषितम् । दृष्टान्तमाह-यथा इह मर्त्यलोके, कश्चिद् वक्ति असर्वज्ञवादी मीमांसकाऽऽदिः, अप्सरसो मेनकारम्भाऽऽद्याः स्वर्गे सन्ति, मोक्षे च मुक्तौ पुनरानन्द आह्लादः, उत्तमः सर्वातिशायी; साक्षाददृष्टे हि वाच्य अप्सरःप्रमुखे ब्रुवाणो मीमांसकाऽऽदिः प्रलापमात्रकार्येव स्यात्; एवं नास्तिकोऽप्यतीन्द्रियं देवताऽऽदिकं निह्नुवान इति । अथैवमनवकाशीकृतः कदाचित्परलोकसंशयवादी, मीमांसको वा ब्रूयात् ? ॥४८॥

यथा—

योगिनो यत्समध्यक्षं, ततश्चेदुक्तनिश्चयः ।
आत्माऽऽदेरपि युक्तोऽयं, तत एवेति चिन्त्यताम् ॥४९॥

योगिनो दिव्यदृशः प्रमातुः, यत्समध्यक्षं प्रत्यक्षज्ञानं, ततस्तत्समध्यक्षाद्, चेद् यदि, उक्तनिश्चयः-अप्सरसः स्वर्गे, मोक्षे चाऽऽनन्द इति प्रागुक्तार्थनिर्णयो जायते, एवं तर्हि आत्माऽऽदेरप्यतीन्द्रियार्थस्य । किं पुनः प्रस्तुतस्य ?, इत्यपिशब्दार्थः । युक्तो घटमानोऽयं निश्चयः, तत एव योगिसमध्यक्षादेव, इत्येतच्चिन्त्यतां विमृश्यतामिति ॥४९॥

एतदेव भावयति—

अयोगिनो हि प्रत्यक्ष-गोचरातीतमप्यलम् ।
विजानात्येतदेवं च, बाधाऽत्रापि न विद्यते ॥ ५० ॥

अयोगिनोऽर्वाग्दृशः प्रमातुः, हिर्यस्मात्, प्रत्यक्षगोचरातीतमपि ऐन्द्रियकाध्यक्षविषयभावातिक्रान्तमपि आत्माऽऽदि वस्तु, किं पुनरितररूपम्?, इत्यपिशब्दार्थः । अलमत्यर्थम्, हस्ततलन्यस्तनिस्तलस्थूलमुक्ताफलावलोकनोदाहरणेन, विजानाति प्रेक्षते । एतद्योगिसमध्यक्षं, दिव्यदर्शनत्वात्तस्य । यदि नामैवं ततः किं सिद्धम्?, इत्याह-एवं च अस्मिंश्च प्रकारे सति, बाधा अघटनालक्षणा, अत्रापि आत्माऽऽदिनिश्चये, न केवलमप्सरःप्रभृतावर्थे, इत्यपिशब्दार्थः । न विद्यते नास्ति ॥५०॥

(२७) इत्थमागमगम्यत्वमभिधायाधुनाऽनुमानविषयत्वमाह-

आत्माऽऽद्यतीन्द्रियं वस्तु, योगिप्रत्यक्षभावतः ।
परोक्षमपि चान्येषां, न हि युक्त्या न युज्यते ॥ ५१ ॥

आत्माऽऽदि आत्मकर्मसर्वज्ञाऽऽदि, अतीन्द्रियमिन्द्रियविषयभावातीतं वस्तु, न हि न, युज्यते इत्युत्तरेण योगः । कीदृशम् ?, इत्याह-योगिप्रत्यक्षभावतः सर्वज्ञज्ञानविषयभावेन, परोक्षमपि च इन्द्रियज्ञानागोचरमपि, किं पुनरपरोक्षम्?, इत्यपिचशब्दार्थः । अन्येषामस्मादृशाम् अर्वाग्दृशां, न हि नैव, युक्त्या शुद्धहेतुप्रयोगरूपया, न युज्यते, किं तु युज्यत एव ।

तत्र युक्तिः-

" अचेतनानि भूतानि, न तद्धर्मो न तत्फलम् ।
चेतनाऽस्ति च यस्येह, स एवाऽऽत्मेति बुध्यताम् ॥ १ ॥
यदीयं भूतधर्मः स्यात्, प्रत्येकं तेषु सर्वदा ।
उपलभ्येत सत्त्वाऽऽदि, कठिनत्वाऽऽदयो यथा ॥ २ ॥
काठिन्यादिस्वभावानि, भूतान्यध्यक्षसिद्धितः ।
चेतना तु न तद्रूपा, सा कथं तत्फलं भवेत् ? ॥३॥" इत्यादि ।

" तुल्यप्रतापोद्यमसाहसानां,
केचिल्लभन्ते निजकार्यसिद्धिम् ।
परे न तामत्र निगद्यतां मे
कर्मास्ति हित्वा यदि कोऽपि हेतुः ॥ १ ॥
विचित्रदेहाऽऽकृतिवर्णगन्ध-

प्रभावजातिप्रभवस्वभावाः ।
केन क्रियन्ते भुवनाङ्गवर्गा-
श्चिरन्तनं कर्म निरस्य चित्राः ? ॥ २ ॥
विवर्ध्य मासान्नवगर्भमध्ये,
बहुप्रकारैः कललाऽऽदिभावैः ।
वहत्ययं निष्काशयते सवित्र्याः,
को गर्भतः कर्म विहाय पूर्वम् ? " ॥ ३ ॥ इत्यादि ।
"वीतरागोऽस्ति, सर्वज्ञः प्रमाणाबाधितत्वतः ।
सर्वदा विदितः सद्भिः, सुखाऽऽदिकमिव ध्रुवम् ॥ १ ॥
क्षीयते सर्वथा रागः, क्वापि कारणहानितः ।
ज्वलनो हीयते किं न, काष्ठाऽऽदीनां वियोगतः ॥ २ ॥
प्रकर्षस्य प्रतिष्ठानं, ज्ञानं क्वापि प्रपद्यते ।
परिमाणमिवाऽऽकाशे, तारतम्योपलब्धितः" ॥ ३ ॥ इत्यादि ।

अत्रैवाभ्युच्चयमाह—

किं चान्यद् योगतः स्थैर्यं, धैर्यं श्रद्धा च जायते ।
मैत्री जनप्रियत्वं च, प्रातिभं तत्त्वभासनम् ॥ ५२ ॥

किं च इत्यभ्युच्चये, अन्यत्प्रागुक्ताद्विलक्षणं योगफलमस्ति । तदेव दर्शयति-योगतो योगात्, स्थैर्यं स्थिरभावः प्रतिपन्ननिर्वाहणो, धैर्यं व्यसनाशनिसन्निपातेऽपि अविचलित-प्रकृतिभावः, श्रद्धा च रुचिस्तत्त्वमार्गानुगा, जायते आविर्भवति, मैत्री सर्वसत्त्वेषु मित्रभावः, जनप्रियत्वं च शिष्टलोकवल्लभभावः, प्रातिभं सहजप्रतिभाप्रभवं, तत्त्वभासनं जीवादितत्त्वावलोकनं भवतीति ॥ ५२ ॥

तथा—

विनिवृत्ताऽऽग्रहत्वं च, तथा द्वन्द्वसहिष्णुता ।
तदभावश्च लाभश्च, बाह्यानां कालसङ्गतः ॥ ५३ ॥

विनिवृत्ताऽऽग्रहत्वं च निर्मुक्तानुचितार्थाभिनिवेशित्वं च, तथा द्वन्द्वसहिष्णुता निरुपक्रमक्लिष्टकर्मोदयाऽऽपादितानामिष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगाऽऽदीनां व्यसनानां सम्यक् सहनभावः । तदभावश्च द्वन्द्वविनाशश्च प्रायः परिशुद्धयोगोपहतशक्तिकत्वाद् द्वन्द्वसंपादकोपायानाम्, लाभश्च प्राप्तिश्च बाह्यानां निर्वाहाऽऽदीनां समाधिहेतूनां, कालसङ्गतो यो यत्र काले योग्य इति ॥ ५३ ॥

तथा-

धृतिः क्षमा सदाचारो, योगवृद्धिः शुभोदया ।
आदेयता गुरुत्वं च, शमसौख्यमनुत्तरम् ॥ ५४ ॥

धृतिर्येन केनचिद् व्यसनभोजनाऽऽदिना निर्वाहमात्रनिमित्तेन सन्तोषः । क्षमा सत्येतरदोषश्रवणेन कार्यतत्त्वमविचार्यान्तर्बहिश्च कोपोदयाद् विक्रियामापाद्यमानस्याऽऽत्मनो निरोधनम् । सदाचारः सर्वोपकारप्रियवचनाकृत्रिमोचितस्नेहाऽऽदिका सज्जनचेष्टा । योगवृद्धिः सम्यग्दर्शनाऽऽदिमुक्तिबीजोत्कर्षरूपा । शुभोदया प्रशस्तफलोद्गमहेतुः । धृत्यादेः प्रत्येकविशेषणमेतत् । आदेयता परैरादरणीयवचनचेष्टनरूपता । गुरुत्वं च सर्वत्र गौरवलाभलक्षणम् । तथा शमसौख्यमतिमन्दीभूतकषायविषदोषतया प्रशमशर्म । अनुत्तरं विषयसेवाजनिताऽऽनन्दातिशायि । यतः पठ्यते-" निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम् । विनिवृत्तपराशाना-मिहैव मोक्षः सुविहितानाम् " ॥ १ ॥ इति । अत्र च श्लोकत्रये चकारास्तथाशब्दश्च समुच्चयार्थः ॥ ५४ ॥

आ विद्वदङ्गनासिद्ध-मिदानीमपि दृश्यते ।
एतत्प्रायस्तदन्यत्तु, सुबह्वागमभाषितम् ॥ ५५ ॥

आ विद्वदङ्गनासिद्धम्-आ-विद्वद्भ्यः आ-अङ्गनाभ्यश्च यो लोकः, तस्येत्यर्थः । सिद्धं प्रतीतम्, इदानीमपि दुःषमायां, किं पुनः सुषमदुःषमाऽऽदावित्यपिशब्दार्थः । दृश्यते अवलोक्यते, एतत् प्रागुक्तं योगफलं, प्रायो बाहुल्येन, तदन्यदुक्तादन्यत् पुनर्योगफलं, सुबहु अतिभूरि, आमर्षौषध्यादिकं हि प्राप्तिरूपम्, आगमभाषितम्-आवश्यकनिर्युक्त्यादिनिरूपितम् ।

यदुक्तं तत्र-

" आमोसहि विप्पोसहि-खेलोसहि जल्लमोसही चेव ।
संभिन्नसोय उज्जुमइ, सव्वोसहि चेव बोधव्वो ॥ ६८ ॥
चारण आसीविस के-वली य मणणाणिणो य पुव्वधरा ।
अरहंत चक्कवट्टी, बलदेवा वासुदेवा य " ॥ ६९ ॥ इति ।

"अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं,
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च,
योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि लिङ्गम् ॥ १ ॥
मैत्र्यादियुक्तं विषयेषु चेतः,
प्रभाववद्धैर्यसमन्वितं च ।
द्वन्द्वैरधृष्यत्वमभीष्टलाभो,
जनप्रियत्वं च तथा परं स्यात् ॥ २ ॥
दोषव्यपायः परमा च तृप्ति-
रौचित्ययोगः समता च गुर्वी ॥
वैराऽऽदिनाशोऽथ ऋतंभरा धीः,
निष्पन्नयोगस्य तु चिह्नमेतत् " ॥ ३ ॥

अथोक्तादेव योगफलात्तत्त्वान्तरप्रसिद्ध्यर्थमाह-

न चैतद्भूतसङ्घात-मात्रादेवोपपद्यते ।
तदन्यभेदकाभावे, तद्वैचित्र्याप्रसिद्धितः ॥ ५६ ॥

न च नैव, एतद्योगमाहात्म्यं भावयोगिषूपलभ्यमानं, भूतसङ्घातमात्रादेव पृथिव्यादिमहाभूतसङ्घातात् केवलादात्माऽऽदिरूपतत्त्वान्तरशून्यात्, उपपद्यते घटते । कुतः ?, इत्याह-तदन्यभेदकाभावे-तस्माद् भूतसङ्घाताद् यदन्यत्तत्त्वान्तरमात्मकाऽऽदिलक्षणं, भेदकं विशेषकारि, तस्याभावे तद्वैचित्र्याप्रसिद्धितः, तेषां भूतसङ्घातानां कायाऽऽकारपरिणतानामपि, वैचित्र्यस्य नानात्वस्य, योगमाहात्म्ययुक्तत्वेतरलक्षणस्य, अप्रसिद्धेरघटनात् । अतो बलात् अनुमिमीमहे भूतसङ्घातातिरिक्तं विचित्रशक्तिसङ्गतं तत्त्वान्तरं समस्ति, यद्वशादयं योगमाहात्म्यभावाभावलक्षणो भेदः संपद्यते ॥ ५६ ॥ यो० बि० ।

अथ निगमयन्नाह--

एवं च तत्त्वसंसिद्धे-र्योग एव निबन्धनम् ।
अतो यन्निश्चितैवेयं, नान्यतस्त्वीदृशी क्वचित् ॥ ६४ ॥

एवं चोक्तन्यायेनैव, तत्त्वसंसिद्धेः-आत्माऽदृष्टाऽऽदिप्रतीतेः, योग एव नापरं किञ्चिद्, निबन्धनं हेतुर्वर्तते । एतदपि कुतः ?, इत्याह-अतः योगात्, यत् यस्मात्, निश्चितैव भावपर्यालोचनयेव, इयं तत्त्वसिद्धिः स्याद्, न नैव, अन्यतोऽन्यस्माच्छब्दप्रतिवादाऽऽदेः, तुः पुनरर्थे, ईदृशी निश्चितरूपा तत्त्वसंसिद्धिः, क्वचित् तत्राऽऽदौ ॥ ६४ ॥

(२८) अतोऽत्र महान् यत्न-स्तत्तत्तत्त्वप्रसिद्धये ।
प्रेक्षावता सदा कार्यो, वादग्रन्थास्त्वकारणम् ॥ ६५ ॥

अतः-अस्मात्कारणात्, अत्रैव योगे, महान् अन्योपायातिशायी, यत्नः आदरः, तस्य तस्य तत्त्वस्य स्वर्गनरकाऽऽदेः, प्रसिद्ध्यै प्रतीत्यर्थं, प्रज्ञावता बुद्धिमता, सदा सर्वकालं, कार्यो विधेयः । उपायान्तरप्रतिषेधमाह-वादग्रन्थाः परपक्षनिराकरणेन स्वपक्षप्रतिष्ठापनानि तर्कप्रकरणानि, तुः प्राग्वद्, अकारणं तत्त्वप्रतीतेरहेतवः ॥६५॥

एतदेव समर्थयमान आह—

उक्तं च योगमार्गज्ञै-स्तपोनिर्धूतकल्मषैः ।
भावियोगिहितायोच्चै-र्मोहदीपसमं वचः ॥ ६६ ॥

उक्तं च निरूपितं पुनः, योगमार्गज्ञैः-अध्यात्मविद्भिः पतञ्जलिप्रभृतिभिः, तपोनिर्धूतकल्मषैः प्रशमप्रधानेन तपसा क्षीणमार्गानुसारिबोधबाधकमोहमलैः, भावियोगिहिताय-भविष्यद्विवादबहुलकलिकालयोगिहितार्थम्, उच्चैरत्यर्थं, मोहदीपसममतिमोहान्धकारप्रदीपस्थानीयम्, वचो वचनम् ॥६६॥

एतदेव दर्शयति—

वादाँश्च प्रतिवादाँश्च, वदन्तो निश्चिताँस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद्गतौ ॥६७॥

वादाँश्च पूर्वपक्षरूपान्, प्रतिवादाँश्च परोपन्यस्तपक्षप्रतिवचनरूपान्, चो समुच्चये, वदन्तो ब्रुवाणाः, निश्चितानसिद्धानैकान्तिकाऽऽदिहेतुदोषपरिहारेण, तथा तेन प्रकारेण तत्पक्षासम्प्रसिद्धेन, सर्वेऽपि दर्शनिनो मुमुक्षवोऽपि, किम् ?, इत्याह-तत्त्वान्तम् आत्माऽऽदितत्त्वप्रसिद्धिरूपं, नैव गच्छन्ति न प्रतिपद्यन्ते । तिलपीलकवद् निरुद्धाक्षसंचारतिलयन्त्रवाहननियुक्तगोमहिषाऽऽदिवत्, गतौ वहनरूपायां सत्यामपि; यथा असौ तिलपीलको गवादिर्निरुद्धाक्षतया नित्यं भ्राम्यन्नपि न तत्परिमाणमवबुध्यते, एवमेतेऽपि वादिनः स्वपक्षाभिनिवेशान्धा विचित्रं वदन्तोऽपि नोच्यमानतत्त्वं प्रतिपद्यन्त इति ॥ ६७ ॥ यो० बिं० । चन्द्रसूर्यनक्षत्राणां वृषभानुजाताऽऽदिके योगे च । सू० प्र० ।

(२६) ते च दश-

तत्थ खलु इमे दसविधे जोए पएणत्ते । तं जहा-वसभाणुजाते १, वेणुयाणुजाते २, मंचे ३, मंचाइमंचे ४, छत्ते ५, छत्तातिछत्ते ६, जुअणद्धे ७, घणे ८, पीणिते ९, मंडकप्पुत्ते णामं दसमेत्ता १० ॥

"तत्थ खलु" इत्यादि । तत्र युगे, वक्ष्यमाणो, दशविधो योगः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-वृषभानुजातः । अत्र अनुजातशब्दः सदृशवचनः, वृषभस्यानुजातः सदृशो वृषभानुजातः, वृषभाऽऽकारेण चन्द्रसूर्यनक्षत्राणि यस्मिन् योगे एव तिष्ठन्ति स वृषभानुजात इति भावना । एवं सर्वत्रापि भावयितव्यम् । वेणुर्वंशः, तदनुजातस्तत्सदृशो वेणुकानुजातः । मञ्चो मञ्चसदृशः । मञ्चात् व्यवहारप्रसिद्धात् द्वित्र्यादिभूमिकाभावतोऽतिशायी मञ्चो मञ्चातिमञ्चः, तत्सदृशो योगोऽपि मञ्चातिमञ्चः । छत्रं प्रसिद्धम्, तदाकारो योगोऽपि छत्रम् । छत्रात् सामान्यरूपात् उपर्यन्यान्यच्छत्रभावतोऽतिशायि छत्रं छत्रातिच्छत्रम्, तदाकारो योगोऽपि छत्रातिच्छत्रम्, युगमिव नद्धो युगनद्धः, यथा युगं वृषभस्कन्धयोरारोपितं वर्तते तद्वद् योगोऽपि यः प्रतिभाति, स युगनद्ध इत्युच्यते । घनः संमर्दरूपः, यत्र चन्द्रः सूर्यो वा ग्रहस्य नक्षत्रस्य वा मध्ये गच्छति, प्रीणित उपचयं नीतः यः प्रथ-

मतश्चन्द्रमसः सूर्यस्य वा एकतरस्य ग्रहेण नक्षत्रेण वा एकतरेण जातः, तदनन्तरं द्वितीयेन सूर्याऽऽदिना सहोपचयं गतः स प्रीणित इति भावः । मण्डूकप्लुतो नाम दशमः । तत्र मण्डूकप्लुत्या यो जातो योगः स मण्डूकप्लुतः, स च ग्रहेण सह वेदितव्यः, अन्यस्य मण्डूकप्लुतिगमनासंभवात् । उक्तं च-चन्द्रसूर्यनक्षत्राणि प्रतिनियतगतानि, ग्रहास्त्वनियतगतय इति । यदित्थं यथायोगं दशानामपि योगानां स्वरूपमात्रभावना कृता यथासंप्रदायमन्यथा वाच्या, तत्र युगे छत्रातिच्छत्रवर्जाः शेषा नवापि योगाः प्रायो बहुशो बहुषु च देशेषु भवन्ति । छत्रातिच्छत्रयोगस्तु कदाचित्कस्मिंश्चिदेव देशे । सू० प्र० १२ पाहु० ।

(३०) योजनाद्योगाः । यमाऽऽदिकेषु योगाङ्गेषु, (ते च 'जोगंग' शब्देऽनुपदमेव १६२८ पृष्ठे वक्ष्यन्ते) इत्साहे, षो० ३ विव० । आकाशगमनाऽऽदिफले पादलेपाऽऽदिके द्रव्यसंघाते, योगः आकाशगमनाऽऽदिफलो द्रव्यसंघातः । पिं० । योगा वशीकरणाऽऽदिप्रयोजनाद् द्रव्यसंयोगा इति । प्रश्न० २ संव० द्वार । "जोगो पुण होइ पायलेवाई ।" नि० चू० १३ उ० । "वसिकरणपायलेवाऽऽदिया तु जोगा मुणेयव्वा ।" पं०भा० । पं०चू० । पादप्रलेपाऽऽदयः सौभाग्यदौर्भाग्यकरा योगाः । ध० ३ अधि० । योगसौभाग्याऽऽदिकृद् द्रव्यनिचय इति । ग० १ अधि० । (अन्ययूथिकानां, गृहस्थानां वा योगकरणे प्रायश्चित्ताऽऽदिसूत्राणि 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४७२ पृष्ठे द्रष्टव्यानि । तेषां सूत्राणां व्याख्यारूपा गाथाः 'पासणापण्णिय' शब्दे दृश्याः) तदात्मके पञ्चदशे उत्पादनादोषे च । पिं० । (तद्वक्तव्यता 'जोगपिंड' शब्दे दृश्या) श्रुतोपधाने, "जोगा य बहुविकप्पा ।" योगा उपधानानि, बहुविकल्पाः गच्छभेदेन बहुभेदाः । व्य० १ उ० । "आगाढमणागाढे, दुविधे जोगे समासतो होइ" । जोगो दुविधो-आगाढो य, अणागाढो य । अम्मि जोगे अंतणा सो आगाढो । यथा भगवतीत्यादि । इतरो अणागाढो, यथोत्तराध्ययनाऽऽदि । नि० चू० ४ उ० । आगाढमुत्तराध्ययनभगवत्यादिकम्, अनागाढं दशवैकालिकाऽऽदिकमिति । जीत० । दर्श० । वाक्ये, वाक्यस्यैकार्थिकानधिकृत्य-"वइजोगजोगे य ।" दश० ७ अ० । ज्योतिषोक्तेषु रविचन्द्रयोगाधीनेषु विष्कुम्भाऽऽदिषु तिथिवारनक्षत्राऽऽदीनामन्यतरान्यतमानाममृतयोगाऽऽदौ योगे इत्यादिके योगविशेषे, वाच० । पाण्मासिकयोगाऽऽदौ द्विप्रत्याख्यानं कार्यते, तत् किं "सपाणभोअणं पंचदासिअं आयंबिलं पच्चक्खाइ ।" इत्यालापकाऽऽदिस्थाने पठ्यते ?, अथवा-"सपाणभोअणं पंचदासिअं एगासणं पच्चक्खाइ ।" इत्येकाशनकाऽऽदिस्थाने पठ्यते ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-"सपाणभोअणं पंचदासिअं आयंबिलं पच्चक्खाइ" इत्येवंरूपं प्रत्याख्यानं गुरुपरम्परया पठ्यमानमुपलभ्यते, न त्वन्यथेति । ७६ प्र० । सेन० १ उल्ला० । योगमध्ये रात्रावाहारग्रहणं भवति, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-रात्रौ योगिनां संघट्टकाभावात् किमपि ग्रहीतुं न कल्पते, संघट्टकं तु सायं मुत्कलयति प्रातः प्रवचनप्रवेदनानन्तरमेव तद्ग्रहणं कल्पत इति । १०३ प्र० । सेन० २ उल्ला० । आवश्यकोत्तराध्ययनाऽऽदियोगेषु पक्वान्नविकृतिगोधूममोदकान् केचन गृह्णन्ति, केचन न ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-न गृह्णन्तीति वृद्धपरम्पराऽस्तीति । १३५ प्र० । सेन० २ उल्ला० । आवश्यकयोगसंबद्धदशवैकालिकयोगप्रवेशः शुध्यति ?, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-शुध्यतीति । २३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । येन साधुना ये योगा न व्यूढाः, तेन तद्योगानां प्रवेशोऽन्तरणं कार्यते, न

वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-मुख्यवृत्त्या येन ये योगा व्यूढाः, तेन तेषामेव प्रवेशोत्सारणाऽऽदिकं विधीयते, तदभावे तु नन्द्यनुयोगद्वारयोगाऽऽदिना सर्वेष्वव्यूढयोगेषु प्रवेशः, तेभ्यो निर्गमन च कार्यते, तयोः क्रियाया असंबद्धत्वादिति परम्पराऽस्त्यकिन, परं सर्वथैव तत्क्रियाकारिता न शुद्ध्यतीति । ३६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । चतुर्विकलस्य साधोः पार्श्वे कालिकोत्कालिकयोगस्य क्रिया कृता शुद्ध्यति, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-कालिकोत्कालिकयोगक्रिया चतुर्विकलस्य साधोः पार्श्वे प्रायो न शुद्ध्यतीति ज्ञातमस्ति । ६५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

विषयसूची-

(१) अलब्धेप्सितवस्तुलाभ-बीजाऽऽधानोद्भेदपोषणकरण-संयोग-मेलन-वर्माऽऽदिधारण-युक्ति-शब्दाऽऽदिप्रयोगसमुदायशब्दनिष्पादनयथार्थसंबन्ध यथास्थितवस्त्वन्यथारूपप्रतिपादन-विविक्तानुकूलपरिवारसंपत्ति-मनोवाक्कायव्यापाराऽऽद्या योगशब्दार्थाः ।

(२) द्रव्यभावभेदेन योगस्य द्वैविध्यप्ररूपणे प्रशस्ताप्रशस्तत्वं निरूप्य द्रव्ययोगभावयोगयोर्निर्वचनम् ।

(३) योगस्य मनोवाक्कायाऽऽत्मकस्य एकस्मिन् काले युगपत् शुभाशुभत्वनिरसनम् ।

(४) मनोवाक्कायतया योगस्य द्वैविध्यमुपपाद्य, योगानामयुक्तस्य कर्मबन्धकारकत्वं युक्तस्य कर्मनिर्जराकारित्वं च भवतीति प्रतिपादनम् ।

(५) परिणामालम्बनग्रहणसाधनत्वेन मनोवाक्कायलक्षण—सहकारिकारणभेदाद् योगस्य त्रैविध्यम् ।

(६) आत्मनो वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमसमुत्थलब्धिविशेषप्रत्ययमभिसन्ध्यनभिसन्धिपूर्वकत्वं योगस्य प्रतिपादनम् ।

(७) मनोवाग्योगयोः कायव्यापारविशेषत्वेन विचारः ।

(८) सामान्ययोगप्ररूपणानन्तरं विशेषतो नारकाऽऽदिषु योगविचारः ।

(९) नैरयिकाऽऽदिदण्डकेषु समविषमयोगावधिकस्य प्ररूपणा ।

(१०) ध्यानतत्त्वरूपसालम्बनिरालम्बनत्वेन योगस्य द्वैविध्यं प्ररूप्य, ध्याननिरूपण-खेदाऽऽद्यष्टविधचित्तपरिहारप्ररूपण-तत्फलाफलत्वप्रदर्शन-शान्तोदात्ताऽऽदियुक्तचित्तव्यावर्णनाऽऽदिविस्तरः ।

(११) योगस्य मोक्षहेतुत्वेन प्रदर्शनम् ।

(१२) योगस्य लक्षणं निरूप्य, दुरभव्याभव्यलक्षणनिरूपणाऽऽद्यनेकविषयोपपत्तिः ।

(१३) स्वकीयं लक्षणं परकीयलक्षणं विचारिते सति विपरीतभवतीति पतञ्जलिप्रणीतयोगशास्त्रानुसारियोगस्य लक्षणाऽऽदिनिरूपणम् ।

(१४) विस्तरतो हि पुनस्तस्य परकीयप्ररूपितयोगस्य खण्डनम् ।

(१५) स्थानवर्णार्थालम्बनैकाग्रयरूपेण योगस्य पञ्चविधत्वं प्ररूप्य, विरतेषु तस्य नियतभावित्वं, परेषु तु बीजमात्रमेवेति विवेचनम् ।

(१६) योगोत्पत्तिहेतून् निरूप्य स्थानाऽऽदीनां प्रीतिभक्तिवचोऽसङ्गरूपतीतिभेदस्याऽऽविर्भावनं, स्थानाऽऽद्ययोगिनः सूत्रदाने दोषोद्भावनं च ।

(१७) वृत्तिनिरोधस्यापि योगत्वं तस्यापि पञ्चविधत्वाऽऽद्यनेकविषयविवेचनम् ।

(१८) योगस्येच्छाशास्त्रसामर्थ्याऽऽद्यवान्तरभेदप्रदर्शनेन तद्विवेकः ।

(१९) संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोर्यथासंभवमवतारः ।

(२०) जीवाऽऽत्मनि परमाऽऽत्मनः सत्त्वोपपत्त्यर्थमात्मत्रयस्य निरूपणानन्तरं विषयाऽऽत्मनोः समापत्त्यादिनिरुक्तिः ।

(२१) असंप्रज्ञातनाम्नः समाधेर्निर्वचनम् ।

(२२) एकस्मिन्नपि योगेऽन्येषां समावेशाऽऽदिविचारः ।

(२३) योगमार्गाधिकारिणः ।

(२४) आत्माऽऽदिप्रत्ययं विना न योगसिद्धिः ।

(२५) योगादेव कर्मक्षयो भवतीति प्रतिपादनम् ।

(२६) योगस्य माहात्म्यम् ।

(२७) योगस्याऽऽगमगम्यत्वप्रदर्शनानन्तरमनुमानगम्यत्वप्रदर्शनम् ।

(२८) योगे एव महान् यत्नो विधेय इत्युपदेशः ।

(२९) युगे योगस्य दशविधत्वप्रदर्शनम् ।

(३०) प्रकीर्णकविषयाः ।

जोगंग-योगाङ्ग-न० यमाऽऽदिके,"योगाङ्गं च यमो भवेत् ।" द्वा० २२ द्वा० । अहिंसाऽऽदियमानधिकृत्य-"योगसौकर्यतोऽमीषां, योगाङ्गत्वमुदाहृतम् ।" यथोक्तम्-"यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्येति ।" द्वा० २२ द्वा० । यो० । पुरुषसप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

जोगंत-योगान्त-पुं० । शैलेश्यवस्थायाम्, द्वा० २५ द्वा० ।

जोगंतरग-योगान्तरक-न० । अन्यो योगो व्यापारो योगान्तरम्, तदेव योगान्तरकम् । अन्यस्मिन् योगे, पञ्चा० ५ विव० ।

जोगंधरायण-यौगन्धरायण-पुं० । उदायननृपतेः स्वनामख्यातेऽमात्ये, "न हरामि नृपस्यार्थे, नाहं यौगन्धरायणः ।" आव० ४ अ० । आ० चू० ।

जोगक्खेम-योगक्षेम-न० । योगश्च क्षेमं च समाहारद्वन्द्वः । अलब्धलाभचिन्तासहिते लब्धपरिरक्षणे, "योगक्षेमं वहाम्यहम्" वाच० । "जोगक्खेमं वहमाणा परिवहति ।" ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । रा० ।

जोगक्खेमपय-योगक्षेमपद-न० । योगक्षेमाय पद्यते गम्यते येनार्थेन तत् पदं योगक्षेमपदम् । योगक्षेमार्थके पदे, "अणुत्तरं जोगक्खेमपयं लंपिए समाणे ।" सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

जोगचलणा-योगचलना-स्त्री० । चलनाभेदे, भ०१७श०३उ० । (अस्याः पञ्चविधत्वं 'चलणा' शब्दे तृतीयभागे ११६५ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

जोगचित्त-योगचित्त-त्रि० । योगबीजोपादानप्रणिधानचित्ते, द्वा० २१ द्वा० ।

जोगजुत्त-योगयुक्त-त्रि० । दशविधचक्रवालसामाचार्याऽऽचरणप्रगुणे, कर्म० १ कर्म० ।

जोगजुत्तया-योगयुक्तता-स्त्री० । अनगारगुणभेदे, "जोगसिजुत्तता ।" आव० ४ अ० । प्रश्न० ।

जोगट्ठाण-योगस्थान-न० । योगो वीर्यं, तस्य स्थानं योग-

स्थानम् । वीर्याऽऽदिविभागांशसंधाने, कर्म० ५ कर्म० । (तद्वक्तव्यता 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६५६ पृष्ठे गता)

जोगणिओग-योगनियोग-पुं० । पं० स० । कार्मणवशीकरणाऽऽदिप्रकारे, योगानयोगैः कार्मणवशीकरणाऽऽदिप्रकारैरिति । नं० ।

जोगणिग्गह-योगनिग्रह-पुं० । कायोत्सर्गे, "उस्सग्गो त्ति वा जोगणिग्गहो त्ति वा ।" आ० चू० ५ अ० ।

जोगणिरोह-योगनिरोध-पुं० । योगाश्चौदारिकाऽऽदिशरीरसंयोगसमुत्था आत्मपरिणामविशेषव्यापारा एव, तेषां निरोधनं निरोधः प्रलयकरणम्, योगनिरोधः । मनोवाक्कायव्यापारप्रलयकरणे, स एव च जिनानां ध्यानम् । " जोगणिरोहो जिणाणं तु । " आव० ४ अ० । आ० म० ।

जोगणिव्वत्ति-योगनिर्वृत्ति-स्त्री० । योगनिष्पत्तौ, भ० १ श० १ उ० । " कइविहा णं भंते ! जोगणिव्वत्ती पण्णत्ता । गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-मणजोगणिव्वत्ती, वइजोगणिव्वत्ती, कायजोगनिव्वत्ती, एवं० जाव वेमाणिया जस्स जइविहो जोगो । " भ० १६ श० ८ उ० ।

जोगतिय-योगत्रिक-न० । कृतकारितानुमतिरूपे व्यापारत्रिके, दश० १० अ० ।

जोगदिट्ठि-योगदृष्टि-स्त्री० । योगजप्रातिभज्ञाने, द्वा० १६ द्वा० । मित्राऽऽदिकायां योगदृष्टौ च । ध० १ अधि० ।

सच्छ्रद्धासंगतो बोधो, दृष्टिः सा चाष्टधोदिता ।
मित्रा तारा बला दीप्रा, स्थिरा कान्ता प्रभा परा ॥२५॥

सच्छ्रद्धया शास्त्रबाह्याभिप्रायविकलसदूहलक्षणया, संगतो, बोधो दृष्टिः, तस्या उत्तरोत्तरगुणाऽऽधानद्वारा सत्प्रवृत्तिपदाऽऽवहत्वात् । तदुक्तम्-"सच्छ्रद्धा संगतो बोधो, दृष्टिरित्यभिधीयते । असत्प्रवृत्तिव्याघात-सत्प्रवृत्तिपदाऽऽवहः " ॥ १ ॥ इति । सा चाष्टधोदिता-मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा चेति ॥ २५ ॥

तृणगोमयकाष्ठाग्नि-कणदीपप्रभोपमा ।
रत्नताराऽर्कचन्द्राऽऽभा, क्रमेणेक्ष्वादिसन्निभा ॥२६॥

मित्रा दृष्टिस्तृणाग्निकणोपमा, न तत्त्वतोऽभीष्टकार्यक्षमा, सम्यक्प्रयोगकालं यावदनवस्थानात् । अल्पवीर्यतया ततः पटुस्मृतिबीजसंस्काराऽऽधानानुपपत्तेः, विकलप्रयोगभावाद्भावतो वन्दनाऽऽदिकार्यायोगादिति । तारा दृष्टिर्गोमयाग्निकणसदृशी । इयमप्युक्तकल्पैव,तत्त्वतो विशिष्टस्थितिवीर्यविकलत्वात्,अतोऽपि प्रयोगकाले स्मृतिपाटवासिद्धेः,तदभावे प्रयोगवैकल्यात्,ततस्तथा तत्कार्याभावादिति । बला दृष्टिः काष्ठाग्निकणतुल्या । ईषद्विशिष्टोक्तबोधद्वयात् । तद्भावेनात्र मनाक् स्थितिवीर्ये,अतः पटुप्राया स्मृतिः, इह प्रयोगसमये, तद्भावे चार्थप्रयोगमात्रप्रीत्या यत्नलेशभावादिति । दीप्रा दृष्टिर्दीपप्रभासदृशी । विशिष्टतरोक्तबोधत्रयात् । अतोऽत्रोदग्रे स्थितिवीर्ये, तत्पट्व्यपि प्रयोगसमये स्मृतिः एवं भावतोऽप्यत्र द्रव्यप्रयोगो वन्दनाऽऽदौ, तथा भक्तितो यत्नभेदप्रवृत्तेरिति प्रथमगुणस्थानकप्रकर्ष एतावानिति समयविदः । स्थिरा च भिन्नग्रन्थेरेव, सा च रत्नाभा,तद्वबोधो हि रत्नभासमानः, तद्भावोऽप्रतिपाती प्रवर्द्धमानो निरपायो नापरपरितापकृत् परितोषहेतुः प्रायेण प्रणिधानाऽऽदियोनिरिति । कान्ता ताराऽऽभा, तद्वबोधस्ताराभासमानः । अतः स्थित एव प्रकृत्या निरतिचारमत्रानुष्ठानं शुद्धोपयोगानुसारि विशिष्टाप्रमादसचिवं विनियोगप्रधानं गम्भीरोदाराऽऽशयमिति । प्रभा अर्काभा । तद्वबोधस्तरणिप्रभासमानः, सद्ध्यानहेतुरेव सर्वदा, नेह प्रायो विकल्पावसरः । प्रशमसारं सुखमिह, अकिञ्चित्कराण्यत्रान्यशास्त्राणि, समाधिनिष्ठमनुष्ठानं, तत्सन्निधौ वैराऽऽदिनाशः,परानुग्रहकर्तृता,औचित्ययोगो विनयेषु,तथाऽवन्ध्या सत्क्रियेति । परा तु दृष्टिश्चन्द्राऽऽभा । तद्वबोधश्चन्द्रचन्द्रिकाभासमानः, सद्ध्यानरूप एव सर्वदा,विकल्परहितं मनः,तदा भावेनोत्तमं सुखम्, आरूढाऽऽरोहणभावतोऽनुष्ठानं प्रतिक्रमणाऽऽदि, परोपकारित्वं, यथा भव्यमवन्ध्या क्रियेति, तथा क्रमेण मित्राऽऽद्यनुक्रमेणेक्ष्वादिसन्निभा दृष्टिः; क्षुरसकक्कबगुडकल्पाः खल्वाद्याश्चतस्रः खण्डशर्करामत्स्यण्डवर्षोलकसमाश्चाग्रिमा इत्याचार्याः । इक्ष्वादिकल्पानामेव कल्याणिगोचराणां संवेगमाधुर्यभेदोपपत्तेः, नलाऽऽदिकल्पानामभव्यानां संवेगमाधुर्यशून्यत्वादिति ॥ २६ ॥

यमाऽऽदियोगयुक्तानां, खेदाऽऽदिपरिहारतः ।
अद्वेषाऽऽदिगुणस्थानां, क्रमेणैषा सतां मता ॥ २७ ॥

यमाऽऽदयो योगाङ्गत्वाद् योगाः, यथोक्तम्-"यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्येति । " (२-२६) तैर्युक्तानां खेदाऽऽदीनां ध्यानाभिधानस्थले प्रोक्तानां योगप्रत्यनीकाऽऽशयलक्षणानां परिहारतोऽद्वेषाऽऽदयो येऽष्टौ गुणाः । तदुक्तम्-"अद्वेषो जिज्ञासा, शुश्रूषा श्रवणबोधमीमांसाः । परिशुद्धा प्रतिपत्तिः, प्रवृत्तिरष्टाङ्गिकी तत्त्व ॥१॥" इति । तत्स्थानां तत्प्रतिबद्धवृत्तीनां क्रमेणैषा दृष्टिः सतां भगवत्पतञ्जलिभदन्तभास्कराऽऽदीनां योगिनां मतेष्टा ॥ २७ ॥

आद्याश्चतस्रः सापाय-पाता मिथ्यादृशामिह ।
तत्त्वतो निरपायाश्च, भिन्नग्रन्थेस्तथोत्तराः ॥ २८ ॥

आद्याश्चतस्रो मित्राऽऽद्या दृष्टयः,इह जगति,मिथ्यादृशां भवन्ति । सापायपाता दुर्गतिहेतुकर्मबलेन तन्निमित्तभावादपायसहिताः । कर्मवैचित्र्याद् भ्रंशयोगेन,सपाताश्च, न तु सपाता एव, तात्त्विकतदुत्तरभावादिति । तथोत्तराश्चतस्रः स्थिराऽऽद्या दृष्टयो भिन्नग्रन्थेस्तत्त्वतः परमार्थतश्च निरपायाः, श्रेणिकाऽऽदीनामेतद्भावोपात्तकर्मसामर्थ्ये हि तस्यापायस्यापि सदृष्ट्यविघातेन तत्त्वतोऽनपायत्वाद् वज्रतन्दुलवत्पाकेन तदाशयस्य कायदुःखभावेऽपि विक्रियाऽनुपपत्तेः, योगाऽऽचार्या एवात्र प्रमाणम् । तदुक्तम्-"प्रतिपातयुताश्चाद्या-श्चतस्रो नोत्तरास्तथा । सापाया अपि चैतास्तत्, प्रतिपातेन नेतरा ॥१॥" इति ॥ २८ ॥

प्रयाणभङ्गाभावेन, निशि स्वापसमः पुनः ।
विघातो दिव्यभवत-श्चरणस्योपजायते ॥ २९ ॥

प्रयाणस्य कान्यकुब्जाऽऽद्यनवरतगमनलक्षणस्य,भङ्गाभावेन निशि रात्रौ, स्वापसमः पुनर्विघातः प्रतिबन्धः, पुनर्दिव्यभवतः स्वर्गजन्मनः सकाशात्, चरणस्य चारित्रस्योपजायते ॥ २९ ॥

तादृश्यौदयिके भावे, विलीने योगिनां पुनः ।
जाग्रन्निरन्तरगति-प्राया योगप्रवृत्तयः ॥ ३० ॥

तादृशि स्वर्गगतिनिबन्धने सरागचारित्रदशावति, औदयिके भावे प्रशस्तरागाऽऽदिरूपे, विलीने पुनर्योगिनां जाग्रतो या निरन्तरा गतयः, तत्प्राया योगिनां प्रवृत्तयो भवन्ति, भङ्कोपवेव

मोक्षपुरप्राप्त्युपपत्तेः तथाविधकर्मक्षयक्षमाभावेन, तदपनयनार्थमापसमस्तत्रावेनाविलम्बादिति भावः ॥ ३० ॥

मिथ्यात्वे मन्दतां प्राप्ते, मित्राऽऽद्या अपि दृष्टयः ।
मार्गाभिमुखभावेन, कुर्वते मोक्षयोजनम् ॥ ३१ ॥

मिथ्यात्वे मिथ्यात्वमोहनीये कर्मणि, मन्दतां प्राप्तेऽपुनर्बन्धकत्वाऽऽदिभावेन मित्राऽऽद्या अपि दृष्टयश्चतस्रः, किं पुनः स्थिराऽऽद्या इत्यर्थः ?, मार्गाभिमुखभावेन मार्गसांमुख्येन द्रव्ययोगतया मोक्षयोजनं कुर्वते, चरमाऽऽवर्तभावित्वेन समुचितयोग्यतासिद्धेः ॥ ३१ ॥

प्रकृत्या भद्रकः शान्तो, विनीतो मृदुरुत्तमः ।
सूत्रे मिथ्यादृगप्युक्तः, परमाऽऽनन्दभागतः ॥ ३२ ॥

अत उक्तहेतोः, सूत्रे जिनप्रवचने, प्रकृत्या निसर्गेण, भद्रको निरुपमकल्याणमूर्तिः, शान्तः क्रोधविकाररहितः, विनीतोऽनुद्धतप्रकृतिः, मृदुर्निर्दम्भः, उत्तमः सन्तोषसुखप्रधानः, मिथ्यादृगपि, परमाऽऽनन्दभाक् निरतिशययोगसुखभाजनमुक्तः, शिवराजर्षिवदिति ॥३२॥ द्वा० २० द्वा० । (शिवराजर्षिचरित्रं 'सिव' शब्दे वक्ष्यते) (मित्रा-तारा-बला-दीप्रा-स्थिरा-कान्ता-प्रभा-पराणां योगदृष्टीनां व्याख्यानं स्वस्वशब्दे द्रष्टव्यम्)

जोगदुप्पणिहाण-योगदुष्प्रणिधान-न० । सावद्यप्रवर्तनालक्षणे कायवाङ्मनसां प्रणिधाने, ध० १ अधि० ।

योगदुष्प्रणिधानानि, स्मृतेरनवतारणम् ।
अनादरश्चेति जिनैः, प्रोक्ताः सामायिके व्रते ॥५८॥

योगदुष्प्रणिधानात् ते प्रक्रमात्पञ्चातिचाराः सामायिकव्रते जिनैः प्रोक्ता इत्यन्वयः । तत्र योगाः कायवाङ्मनांसि, तेषां दुष्टानि प्रणिधानानि प्रणिधयो दुष्प्रणिधानानि, सावद्ये प्रवर्त्तनालक्षणानीत्यर्थः । तत्रापि शरीरावयवानां पाणिपादाऽऽदीनामनिभृतताऽवस्थापनं कायदुष्प्रणिधानम् । वर्णसंस्काराभावोऽर्थानवगमश्चापलं च वाग्दुष्प्रणिधानम् । क्रोधलोभद्रोहाभिमानेर्ष्याऽऽदयः कार्यव्यासङ्गः संभ्रमश्च मनोदुष्प्रणिधानम् । ध० २ अधि० । (एतेषां सामायिकव्रतस्यातिचारत्वं 'सामाइय' शब्दे वक्ष्यते)

जोगपच्चक्खाण-योगप्रत्याख्यान-न० । मनोवाक्कायानां व्यापारो योगः, तस्य प्रत्याख्यानं परिहारो योगप्रत्याख्यानम् । उत्त० २९ अ० । प्राणातिपाताऽऽदिषु कृतकारितानुमतिलक्षणानां मनःप्रभृतिव्यापाराणां निरोधप्रतिज्ञाने, भ० १५ श० १ उ० ।

योगप्रत्याख्यानफलं प्रश्नपूर्वकमाह—

जोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। जोगपच्चक्खाणेणं अजोगित्तं जणयइ । अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ ॥ ३७ ॥

हे भगवन् ! योगप्रत्याख्यानेन जीवः किं जनयति ?। योगप्रत्याख्यानेन अयोगित्वं जनयति-शैलेशीभावं भजति । अयोगी हि जीवः चतुर्दशगुणस्थाने प्रवर्तमानो जीवो नवं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं कर्म निर्जरयति, क्षपयतीति भावः । उत्त० २९ अ० ।

जोगपट्ट-योगपट्ट-न० । योगाभ्यासार्थे पट्टम् । योगिधार्ये पट्टवस्त्रभेदे, वाच० । गुरूणां धार्ये विशिष्टे उत्तरपट्टे च । पुं० । "धम्मद्धयणपट्टे य, चिलिमिली धारए गुरू ।" पट्टो योगपट्ट इति । ध० ३ अधि० ।

जोगपडिक्कमण-योगप्रतिक्रमण-न० । मनोवचनकायव्यापाराणामशोभनानां व्यावर्तनरूपे प्रतिक्रमणभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

जोगपर-योगपर-त्रि० । उत्साहपरे, षो० ४ विव० ।

जोगपरिणाम-योगपरिणाम-पुं० । योग एव परिणामो योगपरिणामः । जीवपरिणामभेदे, स च मनोवाक्कायभेदात् त्रिधेति । स्था० ८ ठा० ।

जोगपिंड-योगपिण्ड-पुं० । योगो वशीकरणाऽऽदिफलो द्रव्यसंयोगः । पञ्चा० १३ विव० । योगादञ्जनाऽऽदेरवाप्तः पिण्डो योगपिण्डः । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० । योगः पादप्रलेपनाऽऽदि तत्प्रयोगेण लब्धः पिण्डो योगपिण्डः । जीत० । यदा मुग्धलोकान् सौभाग्याऽऽदिविलेपनराजवशीकरणाऽऽदितिलकेन अदृश्याऽऽकाशगमनाऽऽदिविधिमुपदिश्याऽऽहारं गृह्णाति, तदा योगपिण्डदोषः । इत्युक्तलक्षणे पञ्चदशे उत्पादनादोषे, उत्त० २६ अ० । पिं० । ग० । ध० । स्था० ।

उत्पादनादोषाधिकारे योगद्वारमधिकृत्य-"पायलेवणे जोगे" इति व्याख्यानयन्नाह-

सोभग्गदोभग्गकरा, जोगा आहारिया य इयरे य ।
अग्घत्थधूववासा, पायपलेवाइणो इयरे ॥

योगाः सौभाग्यदौर्भाग्यकरा जनप्रियत्वाप्रियत्वकराः । ते च द्विधा-आहार्याः, इतरे च । तत्राऽऽहार्या ये पानीयाऽऽदिना सहाभ्यवह्रियन्ते । तद्विपरीता इतरे । तत्राद्याः-आर्घ्यार्थाः, धूपावासाश्च । ये पानीयाऽऽदिना सह घर्षयित्वा पीयन्ते ते आर्घ्यार्थाः धूपावासाः प्रतीताः । अथ चूर्णस्य वासानां च परस्परं कः प्रतिविशेषः, द्वयोरपि क्षोदरूपत्वाविशेषात् ?। उच्यते-सामान्यद्रव्यनिष्पन्नः शुष्क आर्द्रो वा क्षोदः चूर्णः, सुगन्धद्रव्यनिष्पन्नाश्च शुष्करूपाः पिष्टाः वासाः, इतरे वाऽऽहार्या योगाः पादप्रलेपनाऽऽदयः । पिं० ।

जे भिक्खू जोगपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥७१॥
जो भिक्खु जोगपिंडं, भुंजेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ २०४ ॥

पादलेवाऽऽदिजोगेहिं आउट्टेउं जो पिंडं उप्पादेति, तस्स आणादी दोसा' नि० चू० १३ उ० । "अ सत्थादिकारणेसु वा जोगपिंडं उप्पाएज्जा ण दोसो त्ति ।" नि० चू० १३ उ० ।

अत्र दृष्टान्तं गाथात्रयेण भावयति-

नइकण्ह-विन्न-दीवे, पंचसया तावसाण निवसंति ।
पव्वदिवसेसु कुलवइ, पाडेलुवार सक्कारो ॥
जणे सावगाण खिसण, समिय खमाइ णाण लेवणं ।
सावयपयत्तकरणं, अविणय लोए चलणधोए ॥
पडिलाभिय वच्चंता, निब्बुड्ड नइकूल मिलण समियाओ ।
विम्हियपंचसया ता-वसाण पव्वज्ज साहा य ॥

"पृथ्व्यां प्रतिष्ठं नगरं, सुप्रतिष्ठः क्षितीश्वरः ।
कृष्णा वेणा च वाहिन्यौ, तिष्ठतस्तत्पुरान्तिके ॥ १ ॥
ब्रह्मद्वीपस्तयोरन्त-स्तत्राऽऽसन् केऽपि तापसाः ।
तुर्यीव पादलेपेन, तं जलोपरिचारिणः ॥ २ ॥

ऋधुः पृष्टास्तपःशक्ति-रस्माकमियमीदृशी ।
तेष्वाहनक्ततो लोकः, क्षुभिताः श्रावका अपि ॥ ३ ॥
आसतामपरे धर्माः, जिनधर्मोऽपि हीयते ।
तदाऽऽर्यसमिताऽऽचार्याः, तत्रैयुर्वज्रमातुलाः ॥ ४ ॥
श्राद्धः सुधीर्गुरोराख्यद्, भीतोदन्तं गुरुस्ततः ।
क्षुभितानां प्रबोधाय, शिक्षां तस्य ददौ रहः ॥ ५ ॥
सोऽथ गत्वा प्रजाते तान्, भीतान् सर्वानमन्त्रयत् ।
दृष्टान्तेऽसच्चरित्रेण, क्षुभिताः श्रावका अपि ॥ ६ ॥
अथाऽऽनीय गृहे सर्वान्, पादशौचे कृतोद्यमः ।
स तैर्निषिध्यमानोऽपि, भक्त्यैवाक्षालयत् क्रमात् ॥ ७ ॥
धौताश्च पादुकास्तेषां, यथेष्टं भोजितास्ततः ।
अथानुव्रजनं श्राद्धाः, भक्ताश्च इव व्यधुः ॥ ८ ॥
नद्यां प्राग्वत्प्रविष्टास्ते, ब्रुडन्तस्तारकैर्धृताः ।
तदेत्युच्चैर्जना ऊचु-र्मुग्धाः स्मश्चशतापसैः ॥ ९ ॥
तत्राऽऽचार्यास्तदाऽऽयाताः, योगं क्षिप्त्वा नदीं जगुः ।
एहि पुत्रि ! यथा यामो, वयं परतटं तव ॥ १० ॥
मिलिता द्वावपि तटौ, सर्वेषामपि पश्यताम् ।
गुरवः परतो जग्मु-र्लोकः सर्वोऽपि विस्मितः ॥ ११ ॥
तापसाः प्रतिबुद्धास्ते, तेषां पार्श्वे प्रवव्रजुः ।
ते ब्रह्मदीपवासित्वात्, तदाख्याः साधवोऽभवन् " ॥ १२ ॥
आ० क० ।

जोगवुड्ढि-योगवृद्धि-स्त्री० । सम्यग्दर्शनाऽऽदिमुक्तिबीजोत्कर्षे, यो० बिं० ।

जोगब्भास-योगाभ्यास-पुं० । योगो ध्यानं, तस्याभ्यासः परिचयो योगाभ्यासः । ध्यानपरिचये, षो० ।

योगाभ्यासमाह-

स्थानोर्णार्थाऽऽलम्बन-तदन्ययोगपरिभावनं सम्यक् ।
परतत्त्वयोजनमलं, योगाभ्यास इति तत्त्वविदः ॥ ४ ॥

स्थीयतेऽनेनेति स्थानमासनविशेषरूपम्-कायोत्सर्गपर्यङ्कबन्धप-द्माऽऽसनाऽऽदि सकलशास्त्रप्रसिद्धम् । ऊर्णः शब्दः, स च वर्णाऽऽत्मकः । अर्थः शब्दस्याभिधेयम् । आलम्बनं बाह्यो विषयः प्रतिमाऽऽदिः । तस्मादालम्बनादन्यः, तद्विरहितस्वरूपोऽनालम्बन इति यावत् । स्थानं चोर्णश्चार्थश्चाऽऽलम्बनं च तदन्यश्चेत एव योगाः, तेषां परिभावनं सर्वतोऽभ्यसनं, सम्यक् समीचीनं, परं तत्त्वं योजयतीति परतत्त्वयोजनं, मोक्षेण योजनात्, अलमत्यर्थम्, योगस्य योगाङ्गरूपस्य ध्यानस्य वाऽभ्यासः परिचयो योगाभ्यासः, 'इति' इत्थं, तत्त्वविदोऽभिवदन्ति । कथं पुनः स्थानाऽऽदीनां योगरूपत्वं, येन तत्परिभावनं योगाभ्यासो भवेत् ?। उच्यते-योगाङ्गत्वेन, योगाङ्गस्य च शास्त्रेषु योगरूपताप्रसिद्धेर्हेतुफलभावेनोपचारात् । योगाङ्गत्वं तु स्थानाऽऽदीनां प्रतिपादितमेव योगशास्त्रेषु । यथोक्तम्-" यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि । " (२-२९ पातञ्जलयोग०) ॥ ४ ॥ षो० २ विव० ।

जोगभंग-योगभङ्ग-पुं० । श्रुतोपधानभङ्गे, स च द्विविधः-सर्वभङ्गो, देशभङ्गश्च । व्य० ४ उ० । द्वा० । नि० । (योगभङ्गे प्रायश्चित्तम् 'वरियापविठ' शब्दे तृतीयभागे ११६२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

जोगभावियमइ-योगभावितमति-त्रि० । धर्मव्यापारविशेषवासितबुद्धौ, " पायं तह जोगभावियमईणं । " योगभावितमतीनां धर्मव्यापारविशेषवासितधियामिति । पञ्चा० ४ विव० ।

जोगमग्ग-योगमार्ग-पुं० । योगवर्त्मनि, " आमूलमिदं परमं, सर्वस्य हि योगमार्गस्य । " षो० १५ विव० । अध्यात्मशास्त्रपथे च । पञ्चा० १६ विव० ।

जोगमुद्दा-योगमुद्रा-स्त्री० । हस्तविन्यासविशेषाऽऽत्मके मुद्राभेदे, संघा० १ प्रस्ता० ।

योगमुद्रायाः स्वरूपमाह-

अन्नोन्नंतरिअंगुलि-कोसाकारेहिँ दोहिँ हत्थेहिँ ।
पिट्टोवरि कोप्परसं-ठिएहिँ तह जोगमुद्द त्ति ॥ १९ ॥

अन्योन्येन परस्परेण, अन्तरिता व्यवहिताः, अङ्गुलयः करशाखा ययोस्तौ, तथा तौ, कोशाऽऽकारौ च कमलकोरकाऽऽकृती, उभयजोटनेनान्योऽन्यान्तरिताङ्गुलिकोशाऽऽकारौ, ताभ्याम् । द्वाभ्यां, हस्ताभ्यां कराभ्यां, करणभूताभ्याम् । पुनः किंभूताभ्यां ?-पेट्टस्य उदरस्य, उपरि ऊर्ध्वभागे, कूर्पराभ्यां कुहणिकाभ्यां, संस्थितौ व्यवस्थितौ यौ तौ तथा ताभ्यां-पेट्टोपरिकूर्परसंस्थिताभ्याम् । तथा तेन प्रकारेणाऽऽचरणगम्येन, अथवा-पञ्चाङ्गप्रणिपातापेक्षया समुच्चयार्थस्तथाशब्दः । योगो हस्तयोर्योजनाविशेषः, समाधिर्वा, तत्प्रधाना मुद्राऽङ्गन्यासविशेषो विघ्नविशेषव्यपोहनसमर्थो योगमुद्रा, भवतीति गम्यते । इतिशब्दो योगमुद्रालक्षणसमाप्तिसंसूचकः, उपप्रदर्शनार्थो वा-'इत्येवंलक्षणा योगमुद्रेत्यर्थः' । इति गाथार्थः ॥१९॥ पञ्चा० ३ विव० । दर्श० ।

योगमुद्रया किं कर्त्तव्यम् ?, इत्याह-

थयपाढो होइ जोगमुद्दाए । (१७)

स्तवपाठः शक्रस्तवाऽऽदिपठनम्, भवति, कर्त्तव्य इति शेषः । कया ?, इत्याह-योगमुद्रया प्रदर्शितलक्षणया । ननु चतुर्विंशतिस्तवाऽऽदेरेव पाठो योगमुद्रया विधेयो, न तु शक्रस्तवस्य, तर्हि किमर्थं समाकुञ्चितवामजानुर्भूमिविन्यस्तदक्षिणजानुर्ललाटपट्टघटितकरकुड्मलः पठतीति जीवाभिगमाऽऽदिष्वभिधीयत इति ?। सत्यम् । केवलं नानन्तरोक्तविशेषणयुक्त एव तं पठतीति नियमोऽस्ति, पर्यङ्काऽऽसनस्थः शिरोऽभिनिवेशितकरकोरकस्तं पठतीत्यस्यापि ज्ञाताधर्मकथासु दर्शनात् । तथा हरिभद्राऽऽचार्येणापि चैत्यवन्दनवृत्तौ-"क्षितिनिहितजानुकरतलो भुवनगुरौ विनिवेशितनयनमानसः प्रणिपातदण्डकं पठति " इत्यस्य विध्यन्तरस्याभिधानात् । ततोऽस्य पाठे विविधविधिदर्शनात्सर्वेषां च तेषां प्रमाणग्रन्थोक्तत्वेन, विनयविशेषभूतत्वेन च निषेद्धुमशक्यत्वाद् योगमुद्रयाऽपि शक्रस्तवपाठो न विरुध्यते, विचित्ररूपत्वान्मुनिमतानाम् । न चैतानि परस्परमतिविरुद्धानि, सर्वैरपि विनयस्य दर्शितत्वादिति । पञ्चा० ३ विव० । प्रव० । दर्श० । संघा० ।

जोगरहिय-योगरहित-त्रि० । सम्यगकृतयोगोद्वहने, तदात्मके सूत्रदोषभेदे च । न० । ध० ३ अधि० ।

जोगलोयण-योगलोचन-त्रि० । योग एव लोचनमक्षि यस्य । योगबलेन यथावस्थितवस्तुपरिज्ञानवति, यो० बिं० ।

जोगवं-योगवत्-त्रि० । योजनं योगो व्यापारः तद्वान्, अतिशायने मतुप् । व्यापारवति, योगः समाधिः, सोऽस्यास्तीति योगवान् । प्रशंसायां मतुप् । समाधिमति, उत्त० ११ अ० । संयमाऽऽदियोगवति च । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

जोगवहण—योगवहन—न० । योगोद्वहने, सेन० । प्राग् योगोद्वहनं कृत्वा साधवो द्वादशाङ्गीं पठेयुः, किं वाऽन्यथा वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्—प्राग् योगमुद्वाह्य द्वादशाङ्गीं पठेयुः । कदाचित्केनचिद्योगोद्वहनं विनाऽपि द्वादशाङ्गी पठिता शास्त्रे दृश्यते, तदपि कर्त्तव्यम्, आगमव्यवहारिकृतत्वात् । यत आगमव्यवहारी यथा लाभं जानाति, तथा करोतीति । ११६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

जोगवाहि(ण्)—योगवाहिन्—पुं० । योगेन वहति, वह-णिनिः । पारदे, कासीसे च । वाच० । श्रुतोपधानकारिणि, स्था० १० ठा० । ३ उ० । टी० (एतद्वक्तव्यता 'जोगविहि' शब्दे १६४५ पृष्ठे वक्ष्यते) योगेन समाधिना सर्वत्रानुत्सुकत्वलक्षणेन वहनशीलो योगवाही । समाधिस्थायितरि, स्था० १० ठा० ।

जोगबिंदु—योगबिन्दु—पुं० । योगस्य मोक्षहेतोरनुष्ठानस्य बिन्दुरवयवो योगबिन्दुः । योगावयवे. योगाऽवयवानां प्रतिपादके आचार्यहरिभद्रसूरिविरचिते स्वनामख्याते प्रकरणग्रन्थभेदे च । यो० बि० ।

तस्य चेदमादिसूत्रम्—

नत्वाऽऽद्यन्तविनिर्मुक्तं, शिवं योगीन्द्रवन्दितम् ।
योगबिन्दुं प्रवक्ष्यामि, तत्त्वसिद्ध्यै महोदयम् ॥ १ ॥

नत्वाऽभिवन्द्य, आदिः प्रथमभावः, अन्तः पर्यवसानं, ताभ्यां विनिर्मुक्तं विरहितं, किम्?, इत्याह—शिवं सकलोपद्रवकलाविकलं देवताविशेषम् । कीदृशम्?, इत्याह—योगीन्द्रवन्दितं गणधराऽऽदिमहामुनिनमस्कृतम् । किम्?, इत्याह—योगबिन्दुम्—योगस्य मोक्षहेतोरनुष्ठानस्य, बिन्दुरवयवो योगबिन्दुः, तत्प्रतिपादकतया प्रकरणमपि योगबिन्दुरुच्यते; ततो योगबिन्दुनामकं प्रकरणं, प्रवक्ष्यामि अभिधास्ये । किमर्थम् ?, इत्याह—तत्त्वसिद्ध्यै आत्माऽऽदितत्त्वप्रतीतिनिमित्तम् । पुनरपि कीदृशं योगबिन्दुम्?, इत्याह—महोदयं महान् प्रशस्य उदयो निःश्रेयसाऽभ्युदयसंसिद्धिरूपो यस्मात् स तथा तम् ॥ १ ॥

पुनरपि कीदृशं योगबिन्दुम् ?, इत्याह—

सर्वेषां योगशास्त्राणा—मविरोधेन तत्त्वतः ।
सन्नीत्या स्थापकं चैव, मध्यस्थाँस्तद्विदः प्रति ॥२॥

सर्वेषां कपिलसुगताऽऽदिप्रणीतयोगशास्त्राणामध्यात्मग्रन्थानाम्, अविरोधेन अविघटनेनोपलक्षितं, तत्त्वत ऐदम्पर्यपर्यालोचनेन, न पुनः शब्दन्यायेनापि तस्य प्रतिदर्शनम्, अन्यथाऽन्यथाप्रवृत्तत्वात् । पठ्यते च—"प्रशान्तवाहितासंज्ञं, विसभागपरिक्षयम् । शिववर्त्म ध्रुवाऽध्वेति, योगिभिर्गीयते ह्यदः" ॥१॥ इति । तथा सन्नीत्या अन्वयव्यतिरेकशुद्धयुक्तिरूपया, स्थापकमविसंवादाऽऽपादनेन प्रतिष्ठाकारि सर्वयोगशास्त्राणामेव । चैव इति समुच्चये । ननु योगशास्त्रकाराणां निजनिजमतात्यन्ताभिनिवेशेन विप्रतिपन्नत्वात्कथं सर्वयोगशास्त्राणां संस्थापकमिदं प्रकरणं स्यात्?, इत्याशङ्क्याऽऽह—मध्यस्थान् स्वदर्शनरागपरदर्शनद्वेषयोर्मध्यभागवर्तिनः, तद्विदो योगशास्त्रविदः, श्रोतॄन् प्रति इति स्वदर्शनं प्रतीत्य, अमध्यमेषु श्रोतृषु वस्तुस्थापनाऽयोगात् । तथा चोक्तम्—"आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा । पक्षपातरहितस्य तु युक्ति—र्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्" ॥ १ ॥ इति । आद्यन्तविनिर्मुक्तमिति च विशेषणं शिवसन्तानापेक्षम् । न पुनरेकः कश्चिदनादिशुद्धः शिवः समस्ति, तस्य शास्त्रान्तरे महता प्रबन्धेन प्रतिषिद्धत्वात् । अत्र च नत्वा शिवमित्यनेन विघ्नापोहहेतुः शास्त्रमूलं मङ्गलमुक्तम् । योगबिन्दुमित्यनेन प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थमभिधेयम् । तत्त्वसिद्ध्यै इत्यनेनानन्तरप्रयोजनम् । महोदयमित्यनेन तु परम्पराप्रयोजनमभिहितम् । अभिधानाभिधेयलक्षणश्च संबन्धः स्वयमेव वाच्य इति सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन इत्युक्तम् ॥२॥ यो० बि० ।

अथास्य योगशास्त्रविरचनस्य प्रयोजनमुद्धारस्थानं स्वनाम च सूचयन् शास्त्रकार इदमाह—

स्वल्पमत्यनुकम्पायै, योगशास्त्रमहार्णवात् ।
आचार्यहरिभद्रेण, योगबिन्दुः समुद्धृतः ॥ ५२५ ॥

स्वल्पमत्यनुकम्पायै तुच्छमतिजनानुग्रहाय, योगशास्त्राण्येव तत्तत्—शास्त्रप्रसिद्धानि महार्णवो महासमुद्रः, तस्मात् । आचार्यहरिभद्रेणेति शास्त्रकृतो नाम । किम्?, इत्याह—योगबिन्दुः समुद्धृतः पृथक्कृत इति ॥ ५२५ ॥

अथ शास्त्रकृद्धवप्रणिधानमाह—

समुद्धृत्यार्जितं पुण्यं, यदेनं शुभयोगतः ।
भवाऽऽन्ध्यविरहात् तेन, जनः स्ताद्योगलोचनः ॥५२६॥

समुद्धृत्य—उद्धारस्थानाविसंवादेन पृथक्कृत्य, अर्जितमुपात्तं, पुण्यं शुभकर्म, यद्विशिष्टस्वरूपम्, एनं योगबिन्दुम्, शुभयोगतः परोपकाररूपशुभव्यापारात्, भवाऽऽन्ध्यविरहात् रागद्वेषमोहलक्षणसंसारान्ध्यभावस्य परिहारेण, तेन शुभकर्मणा, असौ भवलोकः, स्ताद्भवतु, कीदृशः?, इति आह—योगलोचनः—यथाऽवस्थितवस्तुपरिज्ञानावन्ध्यकारणत्वाद् योग एव लोचनमक्षि यस्य स तथा । विरह इति च भगवतः श्रीहरिभद्रसूरेः स्वप्रकरणाङ्कप्रद्योतक इति । यो० बि० ।

जोगविसुद्ध—योगविशुद्ध—पुं० । निरवद्यव्यापारे, "उज्जुओ जोगविसुद्धा ।" पञ्चा० १८ विव० ।

जोगविहि—योगविधि—पुं० । योगविधाने, पं० १३ विव० । उपधानवहनं विना श्राद्धस्य, योगोद्वहनं च विना साधोः स्वस्वोचितश्रुताध्ययनवाचनाऽऽदिकमधर्म इति कथनम् । योगाङ्गानि चैतानि—"तिहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अणाइयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीतीवएज्जा । तं जहा—अणिदाणयाए, दिट्ठिसंपन्नयाए, जोगवाहित्ताए ।" इति स्थानाङ्गतृतीयस्थाने । तथा—"दसहिं ठाणेहिं जीवा आगमेसिभद्दत्ताए कम्मं पकरिंति । तं जहा—अणिदाणयाए, दिट्ठिसंपन्नयाए, जोगवाहित्ताए, खंतिखमणयाए, जिइंदियत्ताए, अमाइल्लयाए, अपासत्थयाए, सुसामण्णयाए, पवयणवच्छल्लयाए, पवयणउब्भावणयाए ।" इति स्थानाङ्गदशमस्थाने । तथा—"णीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले । विणीयविणए दंते, जोगवं उवहाणवं ॥" (२७ गाथा) तथा—"पयणुकोहमाणे अ, मायालोभपयणुए । पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥" (२९गाथा) इति चतुस्त्रिंशोत्तराध्ययने । तथा—"धाणिस्सिओवहाण त्ति" समवायाङ्गे द्वात्रिंशद्योगसंग्रहाधिकारे । तथा—"नाणं पंचविहं पन्नत्तं । तं जहा—आभिणिबोहियनाणं० जाव केवलनाणं । तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं णो उद्दिसंति, णो समुद्दिसंति, णो अणुण्णविज्जंति; सुअनाणस्स उद्देसो १, समुद्देसो २, अणुण्णा ३, अणुओगो ४, पवत्तइ ।" इत्याद्यनुयोगद्वार उद्देशाऽऽदिकरणं च योगस्यैवेतिकर्तव्यता ।

एवं कालग्रहणाऽऽदिविधिरप्युत्तराध्ययनाऽऽदिगतो द्रष्टव्यः । उपधानं च यथाऽस्मिन्नाऽऽदौ भणितं,तद्विधिश्च योगविधिप्रतिपादकग्रन्थतो ज्ञेयः । कालक्रमश्च आचाराङ्गाऽऽदेस्त्रिवर्षाऽऽदिपर्यायः सूत्रोक्तः,तदुल्लङ्घनेन ददतस्तु आज्ञाभङ्गाऽऽदयो दोषा एव ।

स च कालो यथा—

" तिवरिसपरिआगस्स उ, आयारपकप्पणाममज्झयणं ।
चउवरिसस्स य सम्मं, सूअगडं नाम अंगं ति ॥ १ ॥
दसकप्पववहारा, संवच्छरपणगदिक्खिअस्सेव ।
ठाणं समवाओ त्ति अ, अंगाइं अट्ठवासस्स ॥ २ ॥
दसवासस्स विवाहा, एक्कारसवासयस्स य इमाओ ।
खुड्डिअविमाणमाई, अज्झयणा पंच णायव्वा ॥ ३ ॥
बारसवासस्स तहा, अरुणुववायाइ पंच अज्झयणा ।
तेरसवासस्स तहा, उट्ठाणसुआइआ चउरो ॥ ४ ॥
चउदसवासस्स तहा, आसीविसभावणं जिणा बिंति ।
पण्णरसवासगस्स य, दिट्ठीविसभावणं तह य ॥ ५ ॥
सोलसवासाईसु य, एक्कुत्तरवड्ढिएसु जहसंखं ।
चारणभावणमहसुविण-भावणा तेअग्गनिसग्गा ॥ ६ ॥
एगूणवीसगस्स उ, दिट्ठीवाओ दुवालसममंगं ।
संपुण्णवीसवरिसो, अणुवाई सव्वसुत्तस्स " ॥७॥ इति ।

आवश्यकाऽऽदेस्तु योगोद्वहनोत्तरकाल एव काल इत्यवसेयम् । ध० ३ अधि० ।

अहुणा मेमसाहूणं जोगविही विवाहिज्जइ । तत्थ पढमं कालग्गहणविही । जहाइ—"दिण १ वसहि २ कालवेला ३, दिसि ४ सोही ५ कालविहि ६ समवखाया । सज्झायपट्ठवणं ७,वुच्छामि जहागमं सुगमं"॥१॥ दारं । तत्थ चित्तस्स आसोयस्स य सुक्कपंचमीए, आसाढस्स कत्तियस्स य सुक्कचउद्दसीए य मज्झण्हाओ आरब्भ पाडिवयंतेसु दिणेसु लोगेसु पुण सावणपुण्णिमाए महाअसज्झायं ति काउं कालग्गहणं—अज्झयणउद्देसाइयं ण कीरइ, जगवईवज्जं जोगा य ण णिक्खिप्पंति । चित्तसुद्धएगारसीओ आरब्भ पुण्णिमंतेसु दिवसेसु अचित्तरजओहडावणत्थं पडिक्कमणाणंतरं चउज्जोअगरं चिंतयमाणो काउस्सग्गो कीरइ । अह न सुमरियं तो संवच्छरं जाव धूलीए पडंतीए असज्झाओ । सूरग्गहणे मुक्के तं चेव अहोरत्तमसज्झाइयं, अमुक्के तं चेव, अन्नं च । एवं चंदग्गहणे मुक्के सा चेव राई अमुक्के सा राई. अन्नं च अहोरत्तं ॥

यतः—

"मग्गह निव्वुड एवं, सूराई जेण हुंतिऽहोरत्ता ।
आइन्नं दिणमुक्के, सो चिय दिवसो य राई य" ॥१॥

गंधव्वनगरादिसिदाहउक्काविज्जुहिं इक्किका पोरिसी असज्झाओ । गज्जिए दो पोरिसी । रविजुयअद्दानक्खत्ताओ जाव साइयंता दस नक्खत्ता, ताव विज्जुगज्जिएहिं न असज्झाओ । धरहडे भूमिकंपे य अट्ठप्पहरा । मंसरुहिरपाडिइवुड्ढिमए सत्तघरअंतरगए य अहोरत्तं । महियाए रओवुड्ढीए महाकलहे आसन्ने पुरिसाणं इत्थीणं वा जुज्झधूलिमाइमहे गाडपलीवणे जच्चिरं दंडिए कालगए ठवियंते जाव असमंजसं, ताव असज्झाओ । निरंतरं बुब्बुयवुड्ढीए तिन्हं, सामन्नधाराए पंचएहं, फुसियमित्ताए सत्तएहं दिणाणं परेण आउक्कायभावियं ति जिन्नमासं असज्झाओ ।

वसही पुण गीयत्थेण उभयकालं दण्डाइएहिं सोहियव्वा—तत्थ तेरिच्छं सोणियमंसचम्मअट्ठिरूवं अणुच्छियं सत्तट्ठहत्थब्भंतरे परूणकालाओ पोरिसितिगमसज्झाओ । सोणियं पुण भूमिपडियं उट्ठियं न कप्पइ । मंसे पुण बहि धोए अंतो पक्के कप्पइ । अंडए भिन्ने गवाइपसूयाए तहा जराए पडिए तहेव पोरिसितिगमसज्झाओ । विरालाइणा महाकायमूसगाइगहिए अंतो सट्ठिहत्थस्स अहोरत्तमसज्झाओ । दमवाहेण वूढे अग्गिणा दड्ढे परियावन्ने विवन्ने गिलिओग्गिलिए उभयनिग्गमगरुवाहिए हंतरिए य न असज्झाओ, माणुस्सए वि नवरं हत्थसए तिसु अहोरत्तं । अट्ठिए पुण बारस वरिसाणि । दंते नट्ठे पयत्तेण गविट्ठे अदिट्ठे तस्सोहडावणट्ठं अट्ठुस्सासो उस्सग्गो कीरइ । इत्थीए मासाविए महाउपत्ताए तिन्नि दिणाणि असज्झाओ; परओ तहा पायासुयाए वसवेहिं पन्नवियाए अणत्थंताए तहेव काउस्सग्गो । पसूयाए कवडए जाव सत्तदिणे, कन्नविक्कयाए पुण अट्ठादिणं, जंगदलाइएसु बाहिं धोइयजुइखयगाढबंधिए न असज्झाइयं । तह विगलंतेहिं तिन्नि बंधा कायव्वा । अणाहमडए बाहिं नीणियमित्ते विसुज्झइ ।

"रुद्दाइगिहसुसाणे, आसिवोमाऽऽयाएँ बार वरिसाणि ।
असज्झाइयं च रुहिरे, पच्चियणाओ जाहिं खुप्पे ॥१॥
असज्झाइएँ आलोए, कालाईए अणुचरण कुज्जा ।
घाणामुत्तपुरीसे, चिलिमिलि अन्नत्थ गम्मइ वा ॥२॥"

एवं सुद्धे दिनसे पच्छिमपोरिसीए सोहितु गुरुपुरओ वसहीए पवेइयाए आवस्सए कए किरियाए कालवेलाए जहाकाले उस्सग्गेसु तिसु चउसु वा कएसु कालो सज्झायस्स घेप्पइ,न हि वाघाइओ कालो घित्तव्वो । अड्ढरत्ते पुण किच्चे अड्ढरत्तिओ, तइयपहरंतसमयए वेरत्तिओ, तओ वेरत्तियसज्झायपट्ठवणं । तस्सज्झायकरणकालं विलंबिय, जहा खलियाइणा अट्ठवेलाइए कालग्गहणवेला, पडिक्कमणवेला य पहुच्चइ, तहा पाभाइओ घेत्तव्वो । तहा तिसु तिन्नि तारगाओ त्ति पाभाइए अदिट्ठे वि वासासु अ तारगा चउरो उन्नम्मि दिट्ठा वि कालग्गहणवेलाए आयरियस्स सद्दाइकहणविक्खेवाइणा वायणायरियअभावे य कालग्गाहिणो अन्नयरीए हिंसाए निरावाहट्ठाणे उवणस्परि-

वं ठवित्तु पढमकालकाउस्सग्गं पयदिसाभिमुहो चेव करिंति ।
तं जहा–"पाउसिअ अहोरत्ते, उत्तरदिसि पुव्व पेहए कालं ।
वेरत्तियम्मि भयणा, पुव्वदिसा पच्छिमे काले" ॥ १ ॥
कालग्गाही पुण पुरिसगुणजुत्तो कालं गिण्हइ ।
" पियधम्मो दढधम्मो, संविग्गो चेवऽवज्जभीरू य ।
खेयन्ने य अभीरू, कालं पडिलेहए साहू " ॥२॥
सामन्नेण ताव कालग्गहणविही भण्णइ–
"कणगाहणंति कालं, ति पंच सत्तेव सिसिरवासेसु ।
उक्का उ सरेहा जा, रेहारहिओ भवे कणगो" ॥ ३ ॥
कणगो सरेहो, पगासविरहिओ य । उक्का महंतरेहा, पगासकारिणी य । अहवा–रेहाविरहिओ विप्फुलिंगो पगासकरो उक्का चेव । काले गिण्हमाणे कालग्गाहिणो दंडधरस्स वा वक्खंतस्स णियत्तंतस्स कालसियावणिया, काउस्सग्गे वा वंदणाणंतरं संदिसावणपवेयणसमए वा पाभाइयाइं रुयंतेहिं अच्चायासेण रुयंति अजंपिरडिंभगेण जंपिऊण अन्नेणावि वीसरसद्दरुयंतेण ठीयाछित्तयविहसियनिठुरपहरणरोसाविण्हस्स गहिं भिडिमारिहच्चाइ अणिट्ठविसएण चउव्विहम्मं ति सव्वत्थ जोइवुट्ठिखलियाइएहि य उवहविओ पाभाइओ पुण उवहओ इक्किकमंडले तिन्नि वारे घित्तुं कप्पइ । अभावे पुण तहिं चेव नववेला घिप्पइ । इमिणा विहिणा जइ संदिसावणपुव्वं भज्जइ, तो मूलाओ घिप्पइ । अह संदिसावणाणंतरं वक्खंतस्स कालमंडलस्स पडिलेहणाणंतरं पुव्वं वा भज्जइ, तो पएव निवत्तियकालगिण्हवो उवज्झायरियसमीवे खमासमणपुव्वं संदिसावणविहिणा कालमंडलं आगच्छइ । अह कालमंडले पडिलेहणाणंतरं कालकाउस्सग्गेण काउस्सग्गाणंतरं कालमंडले ठियस्स तो तत्थेव ठिओ उवज्झायरियसंमुहं ठाऊण पंचंगखमासमणपुव्वं संदिसाविय पुणो मूलाओ काउस्सग्गं करेइ । अह कालकाउस्सग्गाणंतरं गच्छंतस्स पवेयणसमए भज्जइ, तो मूलाओ घिप्पइ ।

विसेसेण कालग्गहणविही भण्णइ–तत्थ पाउसिए पढमं कालभूमिं पमज्जिय दक्खिणदिसाए उवज्झायरियं ठवित्तु कालग्गाही दंडियाहत्थवामपासट्ठियदंडधरसमीवे खमासमणपुव्वं भणइ–इच्छाकारेण संदिस्सह वाघाइअकालपडियरउं, इत्थं मत्थएण वंदामि । आवसी इत्थं आसज्ज २, निसीहि ? आसज्ज ३, निसीहि ? आसज्ज ३, निसीहि नमो खमासमणाणं भणिय कालसगासे दो वि चिट्ठंति । तओ दंडधरो दिसाऽऽलोयं करिय हत्थट्ठियदंडियासंमुहं मत्थएण वंदामि । आवसी इत्थं इच्चाइ नमो खमासमणाणं भणिय उवज्झायरियसमीवे खमासमणं दाउं एवं भणइ–इच्छाकारेण संदिसह वाघाइयं च कालं वावहइ, इत्थं मत्थएण वंदामि । आवसी इत्थं आसज्जइ ३, इत्यादि नमो खमासमणाणमित्थं भणिय कालग्गाहिसमीवे दक्खिणाभिमुहो चिट्ठइ । इत्थ गंडकमरुएहिं दिट्ठंतो नायव्वो । जइ दंडधरेण महंतसरेण घुट्ठं, तो जेण न सुयं, तस्स कालो न दिज्जइ, अहव एहिं न सुयं, तो दंडधरस्स न दिज्जइ । तओ कालग्गाही दंडियासंमुहं मत्थएण वंदामि, आवसी इत्थं आसज्जइ ३, इच्चाइ नमो खमासमणाणमित्यन्तम् । तओ उवज्झायरियसमीवे खमासमणपुव्वं इरियं पडिक्कमइ, नमोक्कारं चिंतेइ, पारित्ता नमुक्कारं भणइ खमासमणाणं पुव्विं पुत्तिं पेहिय बारसावत्तं वंदणं दाउं–इच्छाकारेण संदिसह वाघाइअकालालिआवणियं इत्थं मत्थएण वंदामि । आवसी इत्थं आसज्ज ३, नमो खमासमणाणमिच्चाइणा कालमंडले जाइ दंडधरो, वसंमुहं दंडियं धरेइ, तओ कालग्गाही तयग्गे ओहाडिउं मत्थएण वंदामि, इरियावहियं पडिक्कमिउं इत्थं इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए भणिउ काउस्सग्गे नमुक्कारं चिंतइ । पारित्ता नमुक्कारं भणिय संडासए पडिलेहिय दो वि उवविसंति । तओ कालग्गाही दाहिणचलणोवरि संवड्ढं कालमंडले रयहरणं ठविय मुहपुत्तिं उवरि कायं च पेहिय वामहत्थेण कालमंडलं संघट्टिय दाहिणहत्थगाहियरयहरणेण पाए पमज्जिय मुहपुत्तिं संगोविय दाहिणजंघमूले रयहरणं वामहत्थेण निवेसिय रयहरणदसियाहिं दाहिणहत्थं तिण्णिवारे हिट्ठोवरिं संघट्टिय कालमंडलमंडियकयसंपुडहत्थंगुट्ठएहिं नासाए दाहिणकन्ने वा तिन्नि वारे उवओगं करिय हिट्ठोवरि दोहिं हत्थेहिं एगंतरियं तिन्नि वारे आवत्तेण भूमिं परामुसिय दाहिणहत्थगाहियरयहरणेण कालमंडलट्ठियवामकरंगुट्ठअंगुलीणं अंतरे तिन्नि वारे पमज्जिय वामजाणुणा कालमंडलं संघट्टिय दंडधरहत्थाओ दंडियं गहिय पेहिय भूमीए निवेसइ । एवं तिन्नि वारे पुत्तिपेहणपुव्वं मंडलं पडिलेहिय दंडियं नमोक्कारपुव्वं दंडधरकरे समप्पेइ । तओ दोहिं हत्थेहिं कालमंडलं संघट्टिय हत्थेसु पाएसु समग्गलाइंतो निसीही नमो खमासमणाणं ति भणंतो कालमंडले पविसइ, चोलपट्टं पडिलेहेइ, सागारियस्स भावे उड्ढो होऊण रयहरणेणं तं पमज्जिय भणइ–वाघाइकालियावणियं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थूससिएणं० जाव वोसिरामि । कालग्गाहे उद्धट्ठिए दंडधरो वि उड्ढो होऊण भणइ–इच्छकारि साहवो ! उवउत्ता होह । वाघाइयकालं वावट्टइ, दंडियं तस्स रज्जे धरइ, अभिक्खणं कालग्गाहिस्स पाए पमज्जइ य, इयरे काउस्सग्गे नमुक्कारं चिंतिय साणियं वाहाओ समाहट्टु रयहरणमणाइं मुहपुत्तियं मुहे दाउं सत्तावीसुस्सासं चउवीसं थयं चिंतेइ । तओ कुसुमपुप्फियं

सामन्नपुव्वियं अज्झयणे, तइयज्झयणस्स सिलोगं च। एवमुत्तराए चिंतिय पुव्वाए दाहिणाए पच्छिमाए चिंतेइ, पुणो उत्तराए बाहाओ अवलंबिय नमुक्कारं चिंतेइ, पारित्ता नमुक्कारं कड्ढित्ता मत्थएण वंदामि आवसी इच्छं इच्चाइविहिणा ठवणायरियसमीवे पवेसिय खमासमणपुव्वं इरियं पडिक्कमइ; काउस्सग्गे नमुक्कारं चिंतिय भणित्ता य खमासमणपुव्वं पुत्तिं पेहिय वंदणं दाउं इच्छाकारेण संदिसह वाघाइअकालं पवेसिउं, इच्छं खमासमण इच्छकारि साहवो वाघाइयकालो सुज्झइ । भगवन् ! सुद्धो वाघाइओ कालो सुद्धो । तओ मंगलाइसज्झायं करंति । दंडधरो खमासमणपुव्वं भणइ–साहवो ! दिट्ठं सुयं किंचि पुच्छिए,सुद्धो कालो । एवं अड्ढरत्तियपाभाइया वि घिप्पंति । केवलं तयभावे पाभाइए इच्छाकारेण संदिसह पाभाइओ कालालिओ० जाव सुद्ध त्ति भणइ । एवं सुद्धे काले पाभाइए य ठवणायरियसमीवे गुरूहिं समं खमासमणपुव्वं पुत्तिं पेहिय वंदणे दिन्ने साहवो भणंति–इच्छाकारेण संदिसह सज्झायं संदिसाविउं । गुरू भणइ–संदिसावेह । साहवो इच्छं ति भणिय खमासमणं दाऊण भणंति–इच्छाकारेण संदिसह सज्झायं पट्ठविउं । गुरू भणइ–पट्ठवेह । साहवो इच्छं ति भणंति । तओ गुरूहिं एवं चेव पट्ठाविए सव्वे भणंति–सज्झायस्स पट्ठावणियं करेमि काउस्सग्गमिच्चाइ० जाव वोसिरामि । तओ नमुक्कारं चिंतिय सणियं सणियं बाहाओ साहट्टु सत्तावीसुस्सासं चउवीसत्थयं दुमपुप्फियं सामण्णपुव्वियं तइयज्झयणसिलोगं च चिंतिय बाहाओ अवलंबिय नमुक्कारं चिंतिय पारित्ता नमुक्कारं भणिय वंदणं दाउं गुरुं भणइ–इच्छाकारेण संदिसह सज्झायं पवेइउं इच्छं पुणो खमासमणपुव्वं भणइ–इच्छकारि साहवो सज्झाओ सुज्झइ। भगवन् ! सुद्धो सज्झाओ सुद्धो। एवं साहूहिं वि गुरुपुरओ सज्झाए पवेइए सव्वे समगं सज्झायं करिंति। तओ वंदणगं सज्झायं करिंति। तओ वंदणगं दाउं गुरूहिं वइसणगे संदिसाविए खमासमणपुव्वं वइसणगे ठामि त्ति भणिए इयरे वि तहेव करिंति। पाभाइयसज्झायं पुण तओ०जाव सुद्ध त्ति भन्नइ। अत्रापि क्षुतस्खलिताऽऽदिभिः कालव्याघातः। एवं सुद्धे सज्झाए पोरिसिं०जाव सज्झाइत्ता ठवणायरियसमीवे खमासमणपुव्वं इच्छाकारेण संदिसह सज्झायं पडिक्कमिउं इच्छं सज्झायपडिक्कमावणियं करेमि काउस्सग्गमिच्चाइ नमुक्कारचिंतणं, भणणं च। एवं कालपडिक्कमणं पि पाभाइए पुण पच्छिमपोरिसीए पुणो वि सज्झायं पट्ठविय करिय पडिक्कमिय कालो पडिक्कमेयव्वो । असुद्धे पुण पाभाइए अओ वि कालो सुपडिजग्गिओ पाभाइयट्ठाणे ठाएयव्वो ॥ दारं ॥ ए ॥

"जोगिगुणा१ जोगुक्खिव२, सुय अंगुद्देसऽणुन्न नंदी य ३।
जोगाणुट्ठाणविही ४, कप्पु ५ स्संघट्ट ६ निक्खेवो ७ ।१।

तत्थ–

गुरुभत्तो अपमत्तो, खंतो य निरुयगत्तो ।
धीरचित्तो दढसत्तो, विणयजुत्तो भवविरत्तो ॥२॥
जियलोहो जियनिद्दो, हियपियमियजंपिरो मिउ असत्थो।
अप्पाहारो अप्पो–वही य दक्खो मुदक्खिन्नो ॥३॥
पंचसमिओ तिगुत्तो, उज्जुत्तो संजमे तवे चरणे ।
परिसहसह होइ मुणी, विसेसओ जोगवाहि त्ति ॥ ४ ॥
कयसोहिलोयकम्मे, तिवासपरियाइएण कालेण ।
आयारपकप्पाई, उद्दिसिउं कप्पई जुग्गो" ॥ ५ ॥

तत्थ जोगा दुविहा–गणिजोगा, बाहिरजोगा य ।गणिजोगा विवाहपन्नत्ती, बाहिरजोगा उक्कालिया। उक्कालिया आवस्सगाई । ते पुण संघट्टयं, कालियं सुअंघट्टयं । ते दुविहा–आगाढा, अणागाढा य । आगाढा–उत्तरज्झयणासत्तिकयाविवाहपन्नत्तीपन्हवागरणमहानिसीहाणि । आगाढा नाम–सव्वसम्मत्तीए उत्तरिज्जइ त्ति काउं आगाढेसु उत्तरज्झयणवज्जेसु आउत्ताणयं च हवइ। सेसा सव्वे अणागाढा । असम्मत्तीए वि कारणे दिणतिगाणंतरं उत्तरेज्जइ त्ति गोसे पडिक्कमणाणंतरं चूलियाए पवेइयाए पडिलेहणाणंतरं वसहीए पवेइआए साहू उवओगं करिय गंधे आणिय गओ पुरओ पुत्तिं पेहिय खमासमणपुव्वं भणइ–इच्छकारि तुम्हे अम्हे जोगुक्खेवावणियं देवे वंदावेह । तओ सक्कत्थयं भणिय खमासमणपुव्वं जोगुक्खेवावणियं सत्तावीसुस्सासं काउस्सग्गं रज्जं करिय चउवीसत्थयं भणइ । कालिएसु पुण गुरूहिं जोगबाहिए सज्झायपट्ठविए जोगुक्खेवे कए सुयक्खंधस्स अंगस्स उद्देसे अणुन्ना य नंदी भवइ। तत्थ खमासमणपुव्वं अमुगसुयक्खंधं अंगउद्देसावणियं वा नंदिकड्ढावणियं वा सनिक्खेवं करेह ।एवं देवे वंदावेह । तओ वड्ढंतियाहिं थुईहिं देवे वंदिय बारसावत्तं वंदणं देइ ।तओ दो वि नंदिकड्ढावणियं सत्तावीसुस्सासं काउस्सग्गं करिंति, चउवीसत्थयं भणंति । तओ गुरू नमुक्कारपुव्वं नंदिं कड्ढइ। सा चेयं–नाणं पंचविहं पन्नत्तं। तं जहा–आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं, केवलनाणं । तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं नो उद्दिसिज्जंति, नो समुद्दिसिज्जंति, नो अणुन्नविज्जंति, सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो य पवत्तइ। जइ सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो य पवत्तइ, किं अंगपविट्ठस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो य पवत्तइ ? । अंगपविट्ठस्स जइ उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ, अंगबाहिरस्स वि

उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ । जइ अंगबाहिरस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ,किं आवस्सगस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ,आवस्सगवइरित्तस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ ?॥४॥ जइ आवस्सगवइरित्तस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ, कालियस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ। उक्कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ, दसवेयालियस्स रायपसेणियस्स जीवाजिगमस्स पन्नवणाए महापन्नवणाए नंदीए अणुओगदाराणं देविंदत्थयस्स तंदुलवेयालियस्स चंदाविज्जयस्स पोरिसिमंडलस्स मंडलिपवेसस्स गणिविज्जाए विज्जाचरणविणिच्छियस्स झाणविभत्तीए मरणविभत्तीए आयविसोहीए संलेहणासुयस्स वीयरागसुयस्स विहारकप्पस्स चरणविहीए आउरपच्चक्खाणस्स सव्वेसिं पि एएसिं उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ । जइ कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ, उक्कालियस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ । जइ आवस्सगवइरित्तस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ, कालियस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ, उक्कालियस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ ॥५॥ जइ उक्कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ,दसवेयालियस्स रायपसेणियस्स जीवाजिगमस्स पन्नवणाए महापन्नवणाए नंदीए अणुओगदाराणं देविंदत्थयस्स तंदुलवेयालियस्स चंदाविज्जयस्स पोरिसिमंडलस्स मंडलिपवेसस्स गणिविज्जाए विज्जाचरणविणिच्छियस्स झाणविभत्तीए मरणविभत्तीए आयविसोहीए संलेहणासुयस्स वीयरागसुयस्स विहारकप्पस्स चरणविहीए आउरपच्चक्खाणस्स सव्वेसिं पि एएसिं उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ ॥६॥ जइ कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ,किं उत्तरज्झयणाणं कप्पस्स ववहारस्स इसिभासियाणं निसीहस्स महानिसीहस्स सूरपन्नत्तीए जंबूदीवपन्नत्तीए चंदपन्नत्तीए दीवसागरपन्नत्तीए खुड्डियाविमाणपविभत्तीए महल्लियाविमाणपविभत्तीए अंगचूलियाए वंगचूलियाए विवाहचूलियाए अरुणोववाए देविंदोववायस्स [वरुणोववायस्स] तंदुलवेयालियस्स चंदाविज्जयस्स पोरिसिमंडलस्स मंडलिपवेसस्स गणिविज्जाए विज्जाचरणविणिच्छियस्स झाणविभत्तीए मरणविभत्तीए आयविसोहियस्स गरुलोववायस्स धरणोववायस्स वेसमणोववायस्स वेलंधरोववायस्स [देविंदोववायस्स] उट्ठाणसुयस्स समुट्ठाणसुयस्स नागपरियावलियाणं निरयावलियाणं कप्पियाणं कप्पवडिंसियाणं पुप्फियाणं पुप्फचूलियाणं वण्हियाणं वण्हिदसाणं आसीविसभावणाणं दिट्ठीविसभावणाणं चारणभावणाणं महासुमिणभावणाणं तेयग्गनिसग्गाणं सव्वेसिं वि एएसिं उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ ॥ ७ ॥ जइ अंगपविट्ठस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ, किं आयारस्स सूयगडस्स ठाणस्स समवायस्स विवाहपन्नत्तीए नायाधम्मकहाणं उवासगदसाणं अंतगडदसाणं अणुत्तरोववाइयदसाणं पण्हवागरणाणं विवागसुयस्स दिट्ठिवायस्स सव्वेसिं पि एएसिं उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ ॥८॥ इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च इमस्स साहुस्स साहुणीए वा अमुयसुयक्खंधस्स अंगस्स च उद्देसो नंदी अणुन्ना नंदी वा पवत्तइ, तओ उववासिय मंताणं सेज्जं वामदाणं ; तओ जोगवाही खमासमणं दाउं भणइ- इच्छकारि तुम्हे अमुगसुयक्खंधं अंगं वा उद्दिसह । गुरू भणइ-उद्दिसामि । बीयखमासमणेणं संदिसह-किं भणामि ?। तइए अमुगसुयक्खंधं अंगं वा उद्दिट्ठं । इच्छामि अणुसट्ठिं। गुरू भणइ-उद्दिट्ठं उद्दिट्ठं । खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभएणं जोगं करिज्जाहि । चउत्थे तुम्हाणं पवेइयं साहूणं पवेइयम्मि । पंचमे नमुक्कारेणं पयक्खिणाइं, एवं तिन्नि वारा । छट्ठे तुम्हाणं पवेइयं साहूणं माहणीणं पवेइयं संदिसह-काउस्सग्गं करेमि । सत्तमए अमुगसुयक्खंध-अंगउद्दिसावणियं करेमि काउस्सग्गं इत्यादि सत्तावीसुस्सासचिंतणं चउवीसत्थयभणनं। एवमणुन्नाए वि; नवरं सम्मं धारिज्जा, अन्नेसिं च पविज्जाहि । समुद्देसे पुण थिरपरिचियं करिज्जाहि। सुयक्खंधे उद्दिट्ठे तस्स अज्झयणाइं उद्दिसिय अज्झयणंतं उद्दिसिज्जइ। तं तिविहं-एगसरं, समुद्देसं, विसमुद्देसं च । एगसरं नाम-उद्देसगरहियं । समुद्देसं दुविहं-दुउद्देसं, चउछक्कउद्देसगं । विसमुद्देसं-तिगपणगउद्देसं । तत्थ एगसरं अज्झयणं उद्दिसिय समुद्दिसिय तिविहेण संदिसाविय खमासमणपुव्वं गिण्हामि त्ति भणिय खमासमणदुगेण कालमंडलं संदिसावेमि, पडिलेहिस्सामि,० खमासमणदुगेण वइसणए ठामि, तओ वंदणं दाउं अज्झयणमणुन्नविय खमासमणदुगेण कालमंडलं संदिसावेमि, पडिलेहियस्सामि, खमासमणदुगेण सज्झायं पडिकमिस्सामि,तिविहेण वि वइसणं संदिसावेमि, पडिलेहिस्सामि,[खमासमणदुगेण सज्झायं पडिकमिस्सामि,तिविहेण वि वइसणं संदिसावेमि,पडिलेहिस्सामि, खमासमणदुगेणं सज्झायं पडिकमिस्सामि,] तिविहेण वि वइसणं संदिसाविय खमासमणदुगेण वइसणए ठामि तओ वंदणं दाउं अज्झयणमणुन्नाविय खमासमणदुगेण कालमंडल० खमासमण० सज्झायं पडिक्कमामि, खमा-

समणसुत्तेण कालं पडिक्कमामि, तओ वइसणावंदणं । एवं एगमरे तिन्नि काउस्सग्गए एगं दिणं खुड्डेसज्झयणा वंदणं दाउं अज्झयणमुद्दिसिय पढमुद्देसए बीयउद्देसो उद्दिसिज्जइ, तं पढमुद्देसे समुद्दिसिय बीयउद्देसो उद्दिसिज्जइ । तं पढमुद्देसो समुद्देसिज्जइ, तओ बीओ, तओ अज्झयणे, तओ वायणाइयं, तओ वंदणं दाउं पढमुद्देसो अणुन्नविज्जइ. तओ बीओ, तओ अज्झयणं, तओ कालमंडलाइयं । एवं तवउवसग्गा दिणमेगं; एवं सए वि जत्थ एगो कालो नवगं आइल्ला अंतिल्ला उद्देसा इति वत्तव्वं । वग्गे वि एवं । नवरं अज्झयणं ति वत्तव्वं, चउराइयमुद्देसे वंदणं दाउं अज्झयणुद्देसपुव्वं पढमं पढमे बीओ बीए उद्देसो उद्दिसिज्जइ । तओ दो वि उद्देससमुद्देसयवायणाइयं काउं वंदणयपुव्वं दो वि अणुन्नविज्जंति । एवं उस्सग्गा सत्तदिणमेगं । एवं सेसा दो दो उद्देसा छहिं उस्सग्गेहिं एक्किक्कदिणेण वच्चंति, अंतिल्ला पुण दो उद्देसा उद्दिसिय समुद्दिसिय तओ अज्झयणं समुद्दिसिय वायणाइयं काउं उद्देसदुगमज्झयणं च अणुन्नविज्जइ । एवं अट्ठ उस्सग्गा दिणमेगं । एवं विसमुद्देसेसु वि । नवरं उद्देसमुद्दिसिय अज्झयणं समुद्दिसिज्जइ, तओ उद्देसमणुन्नविज्जइ, एवं उस्सग्गा पंच, दिणमेगं, तहा सुयखंधो । तत्थ दो दिणा–एगेण समुद्देसो, एगेण अणुन्ना । जत्थेगे दो सुयखंधे तत्थेगादिणेण सुयखंधस्स समुद्देसो, एगेण अणुन्ना । जत्थेगे दो सुयखंधा तत्थेगदिणेण सुयखंधस्स समुद्देसो, अंगसुयखंधो, उद्देससमुद्देसो, एगेण अणुन्ना । जत्थेगदिणेण सुयखंधस्स समुद्देसो, अणुन्ना य, अंगसुयखंधो उद्देसो अणुन्ना वि ण य पडिनिरुद्धं करियउं पारणगं वा निद्दिसंति आयामाइपारणगं, निव्विइयं, तओ खमासमणपुव्वं पच्चक्खाणं करेइ, तओ वइसणावंदणगं । इत्थं वइसणाणंतरं पवेइयव्वं, तो पढमं वइसणयं संदिसावणयं न किज्जइ, पच्चक्खाणाणंतरं वइसणयं वंदणेण वेसरइ, तओ खए संघट्टय मुहपत्ती खए संघट्टय संदिसाविय खए संघट्टलेओ० जाव सरीरखए संघट्टाल्लियावणियं काउस्सग्गे नमुक्कारचिंतणं, भणणं च । एवं आउत्तवाणयं पि, नवरं तइए खमासमणाणंतरं तंबा तउआ सीसा काँसा सोना रूपा हाडचामरुधिर बालसूकं मांसाऽऽदि; इत्येवमादि ओहडावणिय करेमि काउस्सग्गमित्यादि कायोत्सर्गं पूर्ववत् । भगवईए पच्चूढाए आउत्तवाणए पुत्तीओ न पेढिज्जंति, इक्किके काले दो दो सज्झाया, दो दो कालमंडलाणि, एवं सव्वं पि पढमपोरिसिमज्झे न पट्ठविज्जा, तो कालं पइ इक्किक्कं सज्झायं पट्ठविचा अणुट्ठाणं कीरइ, दो सज्झाया कालमंडलाणि य पच्छिमपोरिसाणंतरं वि करिज्जा, अह न पट्ठविज्जा, नो कयं पि अणुट्ठाणं मुल्लाओ छिज्जिज्जा, वाघाइयकाले सुद्धे अज्झयणे दिवसाइयं राईए वि करिज्जा, तहा पच्छिमपोरिसीए कालियजोगेसु वइसणावंदणं संघट्टा आउत्तवाणयं पि उट्ठावणिकाउस्सग्गं च कीरइ, संघट्टेण पुण आरंभदिणा पारइ छम्मासाणंतरं आरओ चेव पूरिज्जति ।

"आवस्सगे य एगो, सुयखंधो छच्च हुंति अज्झयणा ।
दुन्नि दिणा सुयखंधे, सव्वे वि य हुंति अट्ठ दिणा ॥१॥
दसयालियम्मि एगो, सुयखंधो बारसेव अज्झयणा ।
पंचम नवमे दो चउ, उद्देसा दिवस पन्नरसा ॥ २ ॥
छत्तीसं अज्झयणा, एगेगदिणेण तुरियमससंखा ।
दो दिण दो सुयखंधे, गुणचत्ता उत्तरज्झयणे ॥ ३ ॥
अट्ठेगसरा चउदस, एगेगदिणेण दुन्नि तइय दिणा ।
सत्तावीसं वासी..................मो ई पजिइकप्पे" ॥ ४ ॥

असंखं पुण जइ पढमपोरिसीए उद्दिसइ, तो आयंबिलेण अणुन्नविज्जइ, जइ बीयदिणे पोरिसिमज्झे, तो निव्वीएण; अह ततो बीयदिणे वि आयंबिलं । एवं जाणचत्ता अट्ठावीस दिणा छअट्ठज्झयणुद्देसा ॥

"सत्त य छ६चउ४ चउरो, छ६पंच५ अट्ठेव सत्त चउरो य ।
इक्कारस११ति३ति३ दो२दो२, दो दो सत्तेक्क एको य" ॥१॥

सुयखंधयदिणसमं आयारे सव्वदिणा पन्नत्ता । सत्थपरिण्णाए उद्देसा ७ दिण ४ लोगविजए उद्देसा ६ दिण ३ सीओसणिज्जे उद्देसा ४ दिण २ सम्मत्ते उद्देसा ४ दिण २ आवंईए उद्देसा ६ दिण ३ धुवज्झयणे उद्देसा ५ दिण ३ विमोहे उद्देसा ८ दिण ४ वहाणसुए उद्देसा ४ दिण २ महपरिण्णायज्झयणं वुच्छिन्नं, दिणमेगं सुयखंधं । णंदीए ण, एवं दिन २४ । पिंडेसणाए उद्देसा ११ दिण ६ सिज्जाए उद्देसा ३ दिण २ भासज्जायाए उद्देसा २ दिण १ पाएसणीए उद्देसा २ दिण १ उवग्गहपडिमाए उद्देसा २ दिण १ सत्तसत्तिकया आउत्तवाणएणं दिण ७ जावणज्झयणे दिण १ विमुत्तिज्झयणे दिण १ बीओ सुयक्खंधो । दिण १ अंगे दिण २ एवं आचारांगे दिण ५० । एयम्मि चूडे य कप्पजोगी हवइ, दिणसयं सव्वेसिं जोगवाहीणं कप्पइ भत्तपाणं पडिगाहित्तए ।

"पढमज्झयणउद्देसा, चउ तिय चउ दो दुगार इकसरा १६ ।
बीए सत्तिक्कसरा २३, सूयगडे सव्वदिण तीसं" ॥१॥

तीसज्झयणेसु छव्वीस दिणा दो सुयक्खंधेसु इक्किक्कं दिणं, अंगे दो दिणा, एवं तीसं दिणा ।

"इक्कसरं १ चउ २ चउ ४ तिय,उद्देसा तउ पणोगसरा १०।
ठाणा अठारस दिणा, उ सगइगदुनंदि तिन्नि दिणा"॥१॥
इयाणिं जगवई। सा य छमासेहिं छहिं दिणेहिं आउत्तवाणए एवं वच्चइ । इत्थ नत्थि सुयक्खंधो। सयाणि पुण इक्कालीसं, सत्तरिं काला । इत्थ विवाहपन्नत्तिअंगं नंदीए वाहिसिय पढमसयं उद्दिसिज्जइ । तत्थ य उद्देसा दस इक्किक्कदिणेण दो दो जंति, एवं दिणा ५ । बीयसए वि दस उद्देसगा, नवरं पढमो खंदगुद्देसओ आयंबिलदुगेण सपाणभोयणाहिं पंचहिं दत्तीहिं दोहिं दिणेहिं वच्चइ, सेसा नवुद्देसा पंचहिं दिणेहिं, एवं दिणा सत्त । तइयसए देसुद्देसो पढमउद्देसओ एगदिणेण वच्चइ, बीओ चमरुद्देसओ खंदओ व्व दोहिं दिणेहिं वच्चइ। एवं पन्नरसेहिं कालेहिं चमरेहिं अणुन्नाए ओगाहिमविगइविसज्जणत्थं अट्ठुस्सासो काउस्सग्गो कीरइ,उट्ठजोगो वि लग्गइ। पंच निव्विइया,छट्ठं आयंबिलं। तहा मोइयवधारियतीमणाइ कप्पइ । सेसा अट्ठुद्देसा चउहिं दिणेहिं वच्चंति। चउत्थसए दस उद्देसा। तत्थ पढमा अट्ठ आइल्लअंतिल्ल त्ति काउस्सग्गेहिं एगदिणेण जंति। सेसा दो उद्देसगा अट्ठुस्सग्गेहिं एगेहिं दिणेण जंति। सव्वदिणं वीसं । नवमदसमसएसु चउतीस उद्देसा, नव नव वग्गा, इक्किक्कं दिणं । इक्कारसमे सए उद्देसा १२ दिन १। बारसमे तेरसमे चउद्दसमे य उद्देसा १०दिन २। इक्किक्कदिणे पन्नरसमे गोसालए आयामदुगं, सपाणभोयणाओ तिन्नि दत्तीओ, दो दिणे, एवं एगेण चत्ताए कालेहिं गोसाले अणुन्नाए अट्ठमं जोगो लग्गइ, सत्त निव्विइया, अट्ठमं आइल्लं पुण अट्ठमचउद्दसीसु आयामं । सेसाणि छव्वीसं सयाणि नव नव उस्सग्गेहिं इक्किक्कदिणेण जंति। तत्थ सोलसमे सए उद्देसा १४। सत्तरसमे उद्देसा १७। अट्ठारसमे उद्देसा१०।एगुणवीसइमे उद्देसा१०।वीसइमे उद्देसा१०।इक्कवीसइमे उद्देसा८०। बावीसइमे उद्देसा ६०। तेवीसइमे उद्देसा५०। करिसुगसए२७ उद्देसा११। कम्मसमज्जिणणसए २८ उद्देसा ११। उव्वट्टणासए ३२ उद्देसा २८। एगिंदियजुम्मसयाणि बारस ३३। तेसु चउवीसगमयं दुहा काउं ६२। सेढीसयाणि बारस ३४ उद्देसा १२४। एगिंदियमहाकम्मसयाणि बारस ३५ उद्देसा १३२। बेइंदियमहाजुम्मसयाणि बारस ३७ उद्देसा १३२ । चउरिंदियमहाजुम्मसयाणि बारस ३९ उद्देसा १३२। सन्निपंचिंदियमहाजुम्मसयाणि बारस ४० उद्देसा १३२। रासीजुम्मसए ४१ उद्देसा १९६ । एवं काला ७५ अंगसमुद्देसे अणुन्नाए य इक्किक्कं दिणं। एवं सव्वे सत्तहत्तरिं काला अणुन्नाए नंदीए नामं ठविज्जइ ।

"नायसुए गुणवीसं, एगारसऽज्झयणा पढमसुयखंधे ।
बीए पुण दस वग्गा, पण नंदी दिवस तित्तीसं ॥१॥
दुसु दुसु वग्गेसु कमा, अज्झयणा हुंति दस य चउपन्ना ।
बत्तीसा चउ अट्ठ, धम्मकहा बीयसुयखंधे ॥२॥
सत्तमए पुण अंगे, दस अज्झयणाणि एगसरयाणि ।
चउदस दिणा नंदितियं, एगो य तहा सुयक्खंधो ॥३॥
बारस दिण अट्ठमए, अंगे वग्गट्ठएसु अज्झयणा ।
दस अट्ठ तेर दस दस, सोलस तेरस दस कमेण ॥४॥
नवमंगे सत्त दिणा, वग्गतिए तेसु अज्झयणसंखा ।
दसगं तेरस दसगं, नंदितियं एगसुयखंधो ॥५॥
दसमंगे एगसरा, दस अज्झयणाणि चउदस दिणा य ।
बूढाइ भगवईए, कप्पइ इह छट्ठजोगि व्व ॥६॥
पढमम्मी सुयखंधे, एगसरा दस हवंति अज्झयणा ।
बीए वि दसेगसरा, चउवीस दिणा विवागसुए" ॥७॥

इयाणिं उवंगा—आयारे उवाइयं१,सूयगडे रायपसेणइयं२, ठाणे जीवाभिगमो ३, समवाए पन्नवणा ४, एए उक्कालिया । भगवईए सूरपन्नत्ती ५, नायाणं जंबुद्दीवपन्नत्ती ६, उवासगदसाणं चंदपन्नत्ती ७। एए कालिया। सव्वे वि उद्देससमुद्देसअणुन्नत्थं आयंबिलतिगेण वच्चंति। अन्नेसिं पुण पन्नवणजुत्ते जोगमज्झे आयंबिलतिगपूरणत्थं त्ति वच्चंति । अंतगडदसाइपंचन्हमंगाणं निरयावलियसुयक्खंधो उवंगं। तम्मि पंच वग्गा-कप्पियाओ,कप्पवडिंसियाओ,पुप्फियाओ, पुप्फचूलियाओ। एएसु चउसु दस दस अज्झयणा। वन्हिदसासु बारस। एवं दिणा ५,सुयक्खंधे दिणा २,सव्वे दिणा७।

अहुणा छेअग्गंथा—निसीहज्झयणा एगसरा दिन १८, सुयखंधे दिन २, एवं वीसं दिणा ।

"पढमेगसरं नव सो-ल सोल बारस,चउक्क छग वीसा ।
सत्तऽज्झयणेसु नितियं, पइन्नगं तत्थ नंदीए" ॥१॥

अणुओगदाराणं तिन्नि निव्विइया । देविंदत्थया तंदुलवेयालियं चंदाविज्झया आउरपच्चक्खाणं गणिविज्जा। एवमाइसु इक्किक्कं निव्वीइयं॥ एवं आवश्यके दिन ८, दशवैकालिके दिन १५,[मंडालिके ७] उत्तराध्ययने ३९,आचारांगे ५०, सूत्रे ३०, ठाणांगे १८, समवायांगे ३,भगवती १८६,ज्ञाताधर्मकथा ३३, उपासकदशांग १४, अंतगडदशा १२,अणुत्तरोववाई ७,पण्हवागरण १४, विपाक २४,उवाई ३,रायपसेणी ३,जीवाभिगम ३,पन्नवणा ३, सूर्यप्रज्ञप्ति ३, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति ३, चन्द्रप्रज्ञप्ति ३, निरयावली ७,निशीथ १०, कल्पभाष्य २०, महानिशीथ ४५, पंचकल्प १, जीतकल्प १, नंदी ३, अनुयोगद्वार १, ग० १ । सर्वसंख्या छवीस मास, दिन ६,संपयं आउत्तवाणए कप्पाकप्पविही । तत्थ सगच्छसंथारूपच्छिमाणं जोगवाहिसम्मी असज्झायं

य न उवहणइ । उल्लासन्नासगुपसाणमज्जारार्ईणं आमिसासीणं पक्खीणं अंतिणभक्खिणोयनयरस्स गयहवखगणं छिक्का समाणी ठहं हडं चम्मं च उवहणइ। घणावंतीए वंतीए वंते अदिस्समाणे न उवहम्मइ । संभियमणुयतिरियपंचिंदियसंघट्टे उवहम्मइ । कप्पइ निव्विइगइयतिल्लाहिं कारणोपायगायगायाइ अब्भंगित्तणं सीवणतुन्नणलेवणाइयं न कप्पइ काउं। आ उड्डजोगाओ सव्वविगईहिं वावरुहत्थाए उड्डजोगलग्गे पुण ओगाहिमवज्जाहिं भत्तपाणं उवहम्मइ । पगरणसंसट्ठमाइसराबाइत्तियं च न उवहणइ । तद्दिणनवणीयमिस्सकज्जलनयणंजियाए तद्दिणतिल्लमिस्सकुंकुमपिंजरियाए अब्भंगिएण य उवहम्मइ। कडाइ थिरं विगइसंसट्ठं उत्तिविरुंवियमकप्पभायणं कुयंतरियं च न उवहणइ । एवं तिरिच्छविएसु परोप्परं संबद्धेसु दायगेसु वि एसो उवहयाणुवहयविही भत्तपाणणिमित्तं काउस्सग्गे कए दट्ठव्वो। तहा कक्कवइक्खुरसगुल्लववाणि।खंमसक्करक्खीरदुद्धमाढियाकक्करियगुलहाणी वीसदणबाटनंदिहल्लनालियरतिलयरतिल्लाइ तहा वामीपोइमक्खियमंरुल्लामोइयसत्तुयकुल्लुरियोलासिहरिणितिल्लवट्टिकरंबाइ छट्टजोगा आउरं कप्पंति। छट्ठे जोगे पुण लग्गे न तत्ताद्दिणमोइबग्घारियतीमणाइयं कप्पइ । अववाएण असुहस्स तिन्हं घाणावक्खियं विइंजणं न कप्पइ । गिहिभायणमइसन्नायणेणावि अप्पणा कप्पइ चंदपरिगाहित्तए। तहा जं जत्थ जोगे कप्पइ, तं चेव आवस्सगाइसु कप्पइ । भत्तपाणपडिलेहणकाले वीहिणुच्छंगे रयहरणं च विअणुत्तरं परागयवीहीए पत्तबंधा पडत्तारिं कप्पइ पणवीसं उवही पेहिय उवसंतो भत्तपाणअगाढिए पुत्तिरयहरणे वेइयाबाहिरा पच्छितो य पुणो वि काउस्सग्गे संघट्टं वहइ। रओहरणपुत्तिवज्जो जो सरीरसंबंधी हवइ, सो पुणो वि पडिलेहियव्वो। वेइयाबाहिरगयं उड्डजोयणोवरिगयं च भत्तं पाणं च मज्झपविट्ठं अंगुलिचउक्कोग्गाहियं तिपणाइयं मज्झपविट्ठं अंगुट्ठाहियं पत्ताइयं च उस्संघट्टिज्जइ। भत्तं पाणं वा उगुडिउभूमीए रयहरणं पुत्तिं वा भूमीए पडिए ठिओ निस्संनिमज्जे ठियस्स च अप्पेइ उगुडिउभूमीए ठियं संघट्टइ। विगहाउ असंखडं वा करेमाणो तुयट्टो वा संघट्टे वा पेयलाइई पायचारिमणुयतिरियच्छिक्के य उस्सेवट्टं २ भुंजइ, अकालसन्नं उट्ठं वा करेइ, कालमंडलाणि थंडिल्लाणि य न पडिलेहइ, दिणबुद्धी जोगनिक्खेवो वि उक्खेवसरिसो, नवरं पुत्तिं पेहिय वंदणं दाउं पच्चक्खाणं काउं विगइविसज्जावणियं अट्ठुस्सासं काउस्सग्गं करिंति, पारिए नमुक्कारं भणंति ।

"इय वुत्तो जोगविही, संखेवेणं सुयाणुसारेणं ।
जं च न इत्थ उ भणियं, गीयायरणाउ तं नेयं ॥१॥
उम्मायं गुरुरोगा-ऽधम्मभणिरियं तु सव्वसंसारं ।
जोगविहीएऽपमत्तो, वायंतो कुज्ज जहभणियं ॥२॥"

एसा जोगविही। जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ता भुज्जो भुज्जो णिग्गंथाणं निग्गंथीणं जाणियव्वा पासियव्वा फासियव्वा पालियव्वा तीरइयव्वा किट्टइयव्वा, एसा णो अतिक्कामिअव्वा । एसाए विहीए बाहिया सुत्तपडिणीया अत्थपडिणीया तदुभयपडिणीया जिणाणाए विराहगा णिण्हगा चेव अणंतसंसारिया, तेसिं पासे जोगविहीए विणा कडकिरियाकलावे एगंतओ मिच्छादिट्ठिया चेव, पुण जंबू ! एयारिसाए जोगविहीए बाहिया ते साहू कल्लाणं मंगलं देवयं चेइअमिव पज्जुवासणिज्जा मोक्खफलदायगा णेयव्वा, पुण जे जंबू ! अणुण्णाअणुओगकिरियाबाहिया साहुवेसे विहरंता वि किरियाए फडाफोवं दंसइत्ता वि ते असाहू, दिट्ठीए वि ण दट्ठव्वा; सेवं भंते भंते त्ति । "तमेव सच्चं णिस्संकं, जं जिणेहिं पवेइअं ॥" अंग० ।

(आगाढानागाढयोगविधौ स्वाध्यायभूमेर्द्विविधत्वम् 'चरियापविट्ठ' शब्दे तृतीयभागे ११५६ पृष्ठे द्रष्टव्यम) अत्र महोपाध्यायश्रीविमलहर्षगणिकृतप्रश्नो यथा-षाण्मासिकयोगोद्वाहकानां षड्दिवसाधिकैर्वा षण्मासैर्वा, षड्दिवसहीनैर्वा, षण्मास्यालोचना दीयते। यदि वाऽधिकैस्तदानीमस्वाध्यायसंबन्धिद्वादशदिनक्षेपवच्चातुर्मासिकास्वाध्यायदिनचतुष्टयमपि कथं न क्षिप्यते ?। तथा च दशदिनाधिकाः षण्मासा भवन्तीति कथमालोचनाविधिरिति प्रसाद्यम् ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-षाण्मासिकयोगवाहिनां षड्दिवसाधिकैः षण्मासैरस्वाध्यायदिनगणनानिरपेक्षमेव आलोचना दातव्येति वृद्धसंप्रदाय इति । १८ प्र० । ही० १ प्रका० । ध्य० । (योगवाहकस्य कारणे विकृतिः कल्पत इति 'विगइ' शब्दे वक्ष्यते)

जोगविरिय-योगवीर्य-न० । भाववीर्यभेदे, स च त्रिधा, मनोवाक्कायभेदात् । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

जोगबीय-योगबीज-न० । मोक्षयोजकानुष्ठानकारणे, द्वा० २१ द्वा० । (तानि च 'जोगदिट्ठि' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १६४६ पृष्ठे गतानि)

जोगसंगह-योगसंग्रह-पुं० । युज्यन्ते इति योगा मनोवाक्कायव्यापाराः, ते चेह प्रशस्ता एव विवक्षिताः, तेषां शिष्याऽऽचार्यगतानामालोचनानिरपलापाऽऽदिना प्रकारेण संग्रहणानि संग्रहाः, प्रशस्तयोगसंग्रहाः, प्रशस्तयोगसंग्रहनिमित्तत्वादालोचनाऽऽदयोऽपि योगसंग्रहाः । प्रशस्तयोगसंग्रहनिमित्तेषु आलोचनाऽऽदिषु, स० ।

ते च त्रिंशद् भवन्ति । तदुपदर्शकं श्लोकपञ्चकमाह-

आलोयण निरवलावे, आवईसु दढधम्मया ।
अणिस्सिओवहाणे य, सिक्खा णिप्पडिकम्मया ॥७३॥

(आलोयण त्ति) प्रशस्तमोक्षसाधनयोगसंग्रहाय शिष्येणाऽऽचार्याय सम्यगालोचना दातव्या १ । (निरवलावे त्ति) आचार्योऽपि प्रशस्तमोक्षसाधको योगसंग्रहायैव प्रदत्तायामालोचनायां निरपलापः स्यात्, नान्यस्मै कथयेदित्यर्थः २ । एकारान्तश्च प्राकृते प्रथमान्तो भवतीत्यसकृदावेदितम् । यथा-" कतरे आगच्छइ दित्तरूवे " इत्यादि । (आवईसु दढधम्मय त्ति) तथा योगसंग्रहायैव सर्वेण साधुना आपत्सु द्रव्याऽऽदिभेदासु दृढधर्मता कार्या, आपत्सु सतीषु, सुतरां दृढधर्मेण भवितव्यमित्यर्थः ३ । (अणिस्सिओवहाण त्ति) योगसंग्रहायैवानिश्रितोपधानेन भवितव्यम् । अथवा-अनिश्रितोपधाने च यत्नः कार्यः, उपदधातीत्युपधानं तपः । तदनिश्रितम्, निश्रितं च । तच्च तदुपधानं चेति समासः ४ । (सिक्खा त्ति) प्रशस्तयोगसंग्रहायैव शिक्षा आसेवितव्या । सा च द्विप्रकारा भवति-ग्रहणशिक्षा, आसेवनशिक्षा च ५ । (निप्पडिकम्मया त्ति) प्रशस्तयोगसंग्रहायैव निष्प्रतिकर्मशरीरेणासेवनीया, न पुनर्नागदत्तवदन्यथा वर्तितव्यमिति प्रथमगाथासमासार्थः ॥ ६ ॥ (नागदत्तदृष्टान्तः ' णिप्पडिकम्मया ' शब्दे वक्ष्यते)

अण्णायया अलोभे य, तितिक्खा अज्जवे सुई ।
सम्मदिट्ठी समाही य, आयारे विणओ वए ॥ ७४ ॥

(अण्णायय त्ति) तपसि अज्ञातता कार्या, यथाऽन्यो न जानाति तथा तपः कार्यम् । प्रशस्तयोगसंग्रहायेत्येतत्सर्वत्र योज्यम् । ७। (अलोभे य त्ति) अलोभश्च कार्यः । अथवा-अलोभेन यत्नः कार्यः ८ । (तितिक्ख त्ति) तितिक्षा कार्या, परीषहाऽऽदिजय इत्यर्थः ९ । (अज्जवे त्ति) ऋजोर्भाव आर्जवं, तच्च कर्तव्यम् १० । (सुइ त्ति) शुचिना भवितव्यं,संयमवतेत्यर्थः ११। (सम्मदिट्ठि त्ति) सम्यगविपरीता दृष्टिः कार्या, सम्यग्दर्शनशुद्धिरित्यर्थः १२ । (समाही य त्ति) समाधिश्च कार्यः, समाधानं समाधिश्चेतसः स्वास्थ्यम् १३ । (आयारे विणओ त्ति) द्वारद्वयम् । आचारोपगमः स्यात्, न मायां कुर्यादित्यर्थः १४ । तथा विनयोपगमः स्यात्,न मानं कुर्यादित्यर्थः १५। इति द्वितीयगाथासमासार्थः ॥ ७४ ॥

धिई मई य संवेगे, पणिही सुविहि संवरे ।
अत्तदोसोवसंहारे, सव्वकामविरत्तया ॥ ७५ ॥

(धिई मई य त्ति) धृतिर्मतिश्च कार्या, धृतिप्रधाना मतिरित्यर्थः १६ । (संवेग त्ति) संवेगः संसाराद्भयं, मोक्षाभिलाषो वा कार्यः १७ । (पणिहि त्ति) प्रणिधिस्त्याज्यो, माया न कार्येत्यर्थः १८ । (सुविहि त्ति) सुविधिः कार्यः १९ । (संवरो त्ति) संवरः कार्यः, न तु न कार्य इति व्यतिरेकोदाहरणमत्र ज्ञाव्रि २० । (अत्तदोसोवसंहारे त्ति) आत्मदोषोपसंहारः कार्यः २१ । (सव्वकामविरत्तय त्ति) सर्वकामविरक्तता भावनीया २२ । इति तृतीयगाथासमासार्थः ॥ ७५ ॥

पच्चक्खाणे विउस्सग्गे, अप्पमाए लवालवे ।
झाणसंवरजोगे य, उदए मारणंतिए ॥ ७६ ॥

(पच्चक्खाणे त्ति) मूलगुणोत्तरगुणविषयं प्रत्याख्यानं कार्यमिति द्वारद्वयम् २३-२४ । (विउस्सग्गे त्ति) विविध उत्सर्गो व्युत्सर्गः, स च कार्य इति द्रव्यभावभेदभिन्नः २५ । (अप्पमाए त्ति) न प्रमादोऽप्रमादः, अप्रमादः कार्यः २६ । (लवालवे त्ति) कालोपलक्षणं क्षणं क्षणे सामाचार्यनुष्ठानं कार्यम् २७ । (झाणसंवरजोगे य त्ति) ध्यानसंवरयोगश्च कार्यः, ध्यानमेव संवरयोगः २८ । (उदए मारणंतिए त्ति) वेदनोदये मारणान्तिकेऽपि न क्षोभः कार्यः २९ । इति चतुर्थगाथासमासार्थः ॥ ७६ ॥

संगाणं य परिण्णा य, पच्छित्तकरणे वि य ।
आराहणा य मरणंते, बत्तीसं जोगसंगहा ॥ ७७ ॥

(संगाणं च परिण्णा य त्ति) सङ्गानां च परिज्ञा, प्रत्याख्यानपरिज्ञाभेदेन परिज्ञा कार्या ३० । (पच्छित्तकरणे वि य त्ति) प्रायश्चित्तकरणं कार्यम् ३१ । (आराहणा य मरणंते त्ति) आराधना च मरणान्ते कार्या, मरणान्तकाल इत्यर्थः ३२ । एते द्वात्रिंशद्योगसंग्रहाः । इति पञ्चमगाथासमासार्थः ॥७७॥ आव०४ अ० । स० । ध० । " ते य इमे बत्तीसं जोगसंगहा-धम्मं सोलसविधं,एवं सुक्कं पि । एते बत्तीसं जोगसंगह त्ति ।" आ०चू० ४ अ० । (आलोचनाऽऽदीनां योगसंग्रहाणामुदाहरणाऽऽदि तत्तच्छब्दे द्रष्टव्यम्) योगविधिप्रान्ते लिखितमस्ति यत्प्राभातिककालो वैरात्रिककालस्थाने स्थाप्यते इत्यत्राकसंघट्टादिकारणायैनत्स्थापनमन्यथा वेति प्रश्ने ?, उत्तरम्-प्राभातिककालो वैरात्रिककालस्थाने स्थाप्यतामाकस्मिकसंघट्टादिकारणे सति,तथा वैरात्रिकप्राभातिककालभेदाकस्मिकसंघट्टादिसद्भावे समुद्देशानुज्ञयोर्मध्ये कारणतो यद्यन्तरं जायते, तदा अग्रे दिनमेकं वृद्धं दीयते, आगाढयोगे तु आकस्मिकपूरणात्तनाद् यावत् आचाम्लमेव कार्यं, गुर्वाज्ञया शुद्धयति, योगविध्यादौ तथैव प्रतिपादनादिति । ३७ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

जोगसच्च-योगसत्य-न० । मनोवाक्काययोगेषु सत्य योगसत्यम् । उत्त० २९ अ० । योगा मनोवाक्कायाः, तेषां सत्यमवितथत्वं योगसत्यम् । भ० १७ श० ३ उ० । मनःप्रभृतीनामवितथत्वरूपे सत्यभेदे, प्रश्न० ५ संव० द्वार । योगतः संबन्धतः सत्यं योगसत्यम् । तथा दण्डयोगाद् दण्डः, छत्रयोगाच्छत्र एव उच्यते, इत्येवंरूपे सत्यभेदे च । स्था० १० ठा० ।

योगसत्यस्य फलं प्रश्नपूर्वकमाह-

जोगसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ ॥ ५२ ॥

हे भदन्त ! योगसत्येन मनोवाक्काययोगानां सत्यं योगसत्यं, तेन योगसत्येन मनोवाक्कायसाफल्येन जीवः किं जनयति ?। तदा गुरुराह-हे शिष्य ! योगसत्येन योगान् विशोधयति मनोवाक्काययोगान् विशदीकरोतीति कर्मबन्धाभावान्निर्दोषान् करोतीति भावः ॥५२॥ उत्त० २९ अ० । योगः संबन्धः, तस्मात्सत्या योगसत्या । छत्रयोगाद् विवक्षितशब्दप्रयोगकाले छत्राभावेऽपि छत्रयोगस्य संभवात् छत्री । एवं दण्डयोगाद्दण्डीत्येवंरूपे पर्याप्तभाषाभेदे, स्त्री—टाप् । प्रज्ञा० ११ पद ।

जोगसण्णास-योगसंन्यास-पुं० । सामर्थ्ययोगमधिकृत्य-" द्विधाऽयं धर्मसंन्यास-योगसंन्याससंज्ञितः ।" द्वा० १९ द्वा० (तद्व्याख्या ' जोग ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १६२७ पृष्ठे गता)

जोगसत्थ-योगशास्त्र -न० । पातञ्जलाऽऽदिकृताध्यात्मचिन्ताशास्त्रेषु, द्वा०२३द्वा० । यो०बि० । "पट्टिया जोगसत्थेसु ।" योगशास्त्रेष्वध्या-

त्यग्रन्थेषु पातञ्जलाऽऽदिदिष्विति । पञ्चा० १ विव० । हेमचन्द्राऽऽचार्यविरचिते योगशास्त्रनामके प्रकरणग्रन्थे च ।

जोगसद्द—योगशब्द—पुं० । योगप्रतिपादके शब्दे, अत्र पाठिकत-श्रीजगमालगणिकृतप्रश्नो यथा—" आवस्सियाए जस्स जोगो सिज्झातर०" इत्यत्र योगशब्देन किमुच्यते ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-'यस्य योगो' भिक्षार्थं गच्छामिदं यमि, यस्य योगेन वस्तुना सह संबन्धो भविष्यति, तद् ग्रहीष्यामीत्यर्थः । इति ओघनिर्युक्तिवृत्तौ । १० प्र० । ही० १ प्रका० ।

जोगसिद्ध—योगसिद्ध—पुं० । योगेषु योगे वा सिद्धो योगसिद्धः । योगातिशयवति सिद्धभेदे, आ० म० ।

साम्प्रतं योगसिद्धं प्रतिपादयन्नाह—

सव्वे वि दव्वजोगा, परमच्छेरयफला ऽहवेगो वि ।
जस्सेस होज्ज सिद्धो, स जोगसिद्धो जहा समितो ॥

सर्वेऽपि कार्त्स्न्येन द्रव्ययोगाः परमाऽऽश्चर्यफलाः परमाद्भुतकार्याः । अथवा-एकोऽपि योगः परमाऽऽश्चर्यफलो यस्य भवेत सिद्धः स योगेषु योगे वा सिद्धो योगसिद्धोऽतिशयवान् । यथा समित आचार्य इति गाथाक्षरार्थः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । (कथानकं ' जोगपिंड ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १६४० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

जोगसिद्धि—योगसिद्धि—स्त्री० । योगनिष्पत्तौ, यो० बिं० ।

जोगसुद्धि—योगशुद्धि—स्त्री० । योगाः कायवाङ्मनोव्यापारलक्षणाः, तेषां शुद्धिः । सोपयोगान्तरगमननिरवद्यभाषणशुभचिन्तनाऽऽदिरूपायां शुद्धौ, ध० २ अधि० ।

जोगसुद्धितव—योगशुद्धितपस्—न० । मनोवाक्कायव्यापाराऽनवद्यतासंपादके तपोविशेषे, पञ्चा० १९ विव० । यत्र निर्विकृताऽऽचाम्लोपवासा एकैकयोगमाश्रित्य विधीयन्तेऽसौ योगशुद्धिः, इह च परिपाटीत्रयेण नव तपोदिनानि स्युरिति । पञ्चा० १६ विव० ।

जोगसुद्धिसचिव—योगशुद्धिसचिव—त्रि० । मनोवाक्कायविशुद्धिसहिते, षो० १३ विव० ।

जोगहाणि—योगहानि—स्त्री० । योगानां संयमव्यापाररूपाणां हानिः । संयमव्यापारहानौ, " संवच्छरेणावि न तेसि आसी, जोगाण हाणी दुविहे बलम्मि । " व्य० १ उ० ।

जोगहीण—योगहीन—न० । असम्यक्कृतपठपचारे श्रुतदोषभेदे, आव० ४ अ० ।

जोगाइसय—योगातिशय—पुं० । आत्माभ्यन्तरपरिणामोत्कर्षे, द्वा० १६ द्वा० ।

जोगायरिय—योगाचार्य—पुं० । पतञ्जल्यादिके, " योगाऽऽचार्यैर्यथोदितम् । " योगाऽऽचार्यैः पतञ्जल्यादिभिरिति । द्वा० २१ द्वा० । योगप्रतिपादके सूरौ च । " योगाऽऽचार्यैर्विनिर्दिष्टं, तल्लक्षणमिदं पुनः । " योगाऽऽचार्यैः योगप्रतिपादकैः सूरिभिरिति । द्वा० १९ द्वा० ।

जोगायार—योगाऽऽचार—पुं० । योगेनाऽऽचरति । आ-चर्-घञ् । बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण विज्ञानमात्रवादिनि बौद्धभेदे, बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण विज्ञानमात्रसमभिरूढो योगाऽऽचार इति । सम्म० १ काण्ड । वाच० ।

जोगारूढ—योगाऽऽरूढ—पुं० । योगमारूढः । आ-रुह्-क्तः । " यदा तु नेन्द्रियार्थेषु,न कर्मस्वनुषज्जते । सर्वसंकल्पसंन्यासी, योगाऽऽरूढस्तदोच्यते ॥१॥ " इत्युक्ते योगिभेदे, " योगाऽऽरूढस्य तस्यैव, शमः कारणमुच्यते । " इति । वाच० । योगे सम्यग्दर्शनचारित्रे आत्मीयसाधनरत्नत्रयीलक्षणे आरूढो योगाऽऽरूढः । सम्यग्दर्शनचारित्रैर्युक्ते, " योगाऽऽरूढः शमादेव, शुध्यत्यन्तर्गतक्रियः । " अष्ट० ६ अष्ट० ।

जोगि (ण्)—योगिन्—पुं० । ' जोइ (ण्) ' शब्दार्थे, षो० १५ विव० ।

जोगिणाण—योगिज्ञान—न० । 'जोइणाण' शब्दार्थे,सम्म०२काण्ड ।

जोगिणाह—योगिनाथ—पुं० । 'जोइणाह' शब्दार्थे, द्वा० १५ द्वा० ।

जोगिणीपट्टण—योगिनीपट्टन—न० । ' जोइणीपट्टण ' शब्दार्थे, ती० ४७ कल्प ।

जोगिय—यौगिक—त्रि० । 'जोइय' शब्दार्थे, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

जोगिवुड्ढि—योगिवृद्धि—स्त्री० । 'जोइवुड्ढि' शब्दार्थे, तं० ।

जोग्ग—योग्य—त्रि० । योगमर्हति । युज्-यत्,ण्यत् वा । योगार्हे, वाच० । अर्हे, " अरिहो त्ति वा, जोग्गो त्ति वा एगट्ठं । " आ० चू० १ अ० । योग्यमर्हमित्यनर्थान्तरम् । विशे० । आ० म० । उचिते, दश० १ अ० । प्रभौ, " पभु त्ति वा जोग्गो त्ति वा एगट्ठं । " नि० चू० २० उ० । घटमानके, " अजोग्गरूवं इह संजयाणं । " अयोग्यरूपमघटमानकम् । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । निपुणे, शक्ते, पुष्यनक्षत्रे च । पुं० । ऋद्धिनामौषधे,न० । वाच० । चाटौ, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोग्गा—योग्या—स्त्री० । योगमर्हति, युज्-यत्-कुत्वम् । ण्यत् वा । गुणनिकायाम्, भ० ११ श० ११ उ० । औ० । अभ्यासे, जं० ३ वक्ष० । " खुरली तु श्रमो योग्याऽभ्यासः" इति वचनात् । कल्प० ३० क्षण । शस्त्राभ्यासे, सूर्यस्त्रियां च । वाच० । गर्भधारणसमर्थायां योनौ, तं० ।

कोसायारं जोणिं, संपत्ता सुक्कमीसिया जइया ।
तइया जीवुववाए, जोग्गा भणिया जिणिंदेहिं ॥११॥

ते रुधिरबिन्दवः कोशाऽऽकारां योनिं संप्राप्ताः सन्तः शुक्रमिश्रिता ऋतुदिनत्रयान्ते पुरुषसंयोगेन असंयोगेन वा पुरुषवीर्येण मिलिताः (जइय त्ति) तदा जीवोत्पादे गर्भसंभूतिलक्षणे, योग्या भणिताः कथिताः, जिनेन्द्रैः सर्वज्ञैः ॥ ११ ॥ तं० ।

जोग्गोवयरिया—योग्योपचर्या—स्त्री० । योग्यानां देवगुरुसाधर्मिकस्वजनदीनानाथाऽऽदीनामुचितोपचर्या योग्योपचर्या । धूपपुष्पवस्त्रविलेपनाऽऽसनदानाऽऽदिभिरथाऽऽत्मिकायां देवगुरुसाधर्मिकस्वजनदीनानाथाऽऽदीनामुचितोपचर्यायाम्, ध० २ अधि० ।

जोड—यौट—सम्बन्धे,भ्वादि०-पर०-सक०-सेट् । यौटति,अयौटीत् । चङि न ह्रस्वः । वाच० । नक्षत्रे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोडिअ—पुं० । देशी-व्याधे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जो[ण]—योन—पुं० । योनिं सचित्ताऽऽदिकां चतुरशीतिलक्षसंख्यावच्छिन्नां करोतीति पयस्तात् क्विपि णिलुक् । संसारे, औ० मा० ।

जोण–योन–पुं० । अनार्यप्राये देशभेदे, ज्ञा० ।

जोणयपल्हवियइसिणियथोरुगिणिपलासियलउसियदाविडि-
सिंहलिआरबिपुलिंदिपक्कणिबहलिमुरुंडिसबरिपारसीहिं ।

योनिकाभिः, पल्हविकाभिः, इसिनिकाभिः, थोरुकिनकाभिः, लासिकाभिः, लकुसिकाभिः, द्राविडीभिः, सिंहलीभिः, आरबीभिः, पुलिन्दीभिः, पक्कणीभिः, बहलिकाभिः, मुरुण्डीभिः, शबरीभिः, पारसीभिः, नानादेशीभिरनार्यप्रायदेशोत्पन्नाभिरित्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जोणि–योनि–पुं०। स्त्री०। उत्पत्तिस्थाने, उत्त० ३ अ० । सूत्र० । मण्यादीनामुत्पत्तिस्थाने आकरे, वाच० । कारणे, पञ्चा० ४ विव० । उत्पत्तिहेतौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उपाये, स्था० ३ ठा० ३ उ० । (अर्थयोनयः 'अत्थजोणि' शब्दे प्रथमभागे ५०६ पृष्ठे भाविताः) 'यु' मिश्रणे इति वचनाद् युवन्ति तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्त औदारिकाऽऽदिशरीरयोग्यस्कन्धसमुदायेन मिश्रीभवन्ति जीवा यस्यां सा योनिः। भ० १० श० २ उ० । औणाऽऽदिको निप्रत्ययः । जीवानामुत्पत्तिस्थानविशेषे, स्था० ७ ठा० । प्रव० । आचा० । प्रज्ञा० । नं० । स० । प्रश्न० । असुमतामुत्पत्तिस्थानं योनिर्भणनीयेति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । योषिद्वाच्यदेशे, अनु० । सा च स्मरकूपिका ।

तल्लक्षणम्–

इत्थीए नाभिहिट्ठा, सिराहुगं पुप्फनालियागारं ।
तस्स य हिट्ठा जोणी, अहोमुहा संठिया कोसा ॥ ९ ॥

स्त्रिया नार्याः, नाभेरधोऽधोभागे, पुष्पनालिकाऽऽकारं सुमनोवृन्तसदृशं, शिराद्विकं धमनियुग्मं वर्तते, च पुनः, तस्य शिराद्विकस्याधो योनिः स्मरकूपिका संस्थिताऽस्ति । किंभूता ?, अधोमुखा । पुनः किंभूता ?,–(कोस त्ति) कोशा खड्गपिधानकाऽऽकारेत्यर्थः ॥ ९ ॥ तं० ।

योनिसंख्या यथा–

चोरासीइ जोणिप्पमुहसयसहस्सा पण्णत्ता ।

चतुरशीतिर्योनयो जीवोत्पत्तिस्थानानि. त एव प्रमुखानि द्वाराणि योनिप्रमुखानि, तेषां शतसहस्राणि लक्षाणि योनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । स० ८४ सम० ।

पुढवि दग अगणि मारुअ, इक्किक्के सत्त जोणिलक्खाओ ।
वण पत्तेअ अणंते, दस चउदस जोणिलक्खाओ ॥९८२॥
विगलिंदिएसु दो दो, चउरो चउरो अ नारयसुरेसु ।
तिरिएसु हुंति चउरो, चउदसलक्खाउ मणुएसुं ॥९८३॥

'यु' मिश्रणे, इत्यस्य धातोः, युवन्ति भवान्तरसंक्रमणकाले तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्तो जीवा औदारिकाऽऽदिशरीरप्रायोग्यपुद्गलस्कन्धैर्मिश्रीभवन्त्यस्यामित्यौणादिके 'नि' प्रत्यये योनिः ; जीवानामुत्पत्तिस्थानमित्यर्थः । तत्र पृथिव्युदकाग्निमरुतां संबन्धिन्येकैकस्मिन् समूहे सप्त सप्त योनिलक्षा भवन्ति । तद्यथा–सप्त पृथिवीनिकाये, सप्तोदकनिकाये, सप्ताग्निनिकाये, सप्त वायुनिकाये । वनस्पतिनिकायो द्विविधः । तद्यथा–प्रत्येकोऽनन्तकायश्च । तत्र प्रत्येकवनस्पतिनिकाये दश योनिलक्षाः, अनन्तवनस्पतिनिकाये चतुर्दश । विकलेन्द्रियेषु द्वीन्द्रियाऽऽदिषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियरूपेषु प्रत्येकं द्वे द्वे योनिलक्षे । तद्यथा–द्वे योनिलक्षे द्वीन्द्रियेषु, द्वे योनिलक्षे त्रीन्द्रियेषु, द्वे चतुरिन्द्रियेषु । तथा चतस्रो योनिलक्षा नारकाणां, चतस्रो देवानां, तथा तिर्यक्षु पञ्चेन्द्रियेषु चतस्रो योनिलक्षाः । तथा चतुर्दश योनिलक्षा मनुष्येषु । सर्वसंख्यायाम्मीलने चतुरशीतिर्योनिलक्षा भवन्ति इति । न च वक्तव्यम्, अनन्तानां जीवानामुत्पत्तिस्थानान्यप्यनन्तानि प्राप्नुवन्ति, यतो जीवानां सामान्याऽऽधारभूतो लोकोऽप्यसंख्येयप्रदेशात्मक एव, विशेषाऽऽधाररूपाण्यपि नरकनिष्कुटेष्वेव च, येन प्रत्येकसाधारणजन्तुशरीराण्यसंख्येयान्येव, ततो जीवानामानन्त्येऽपि कथमुत्पत्तिस्थानानन्त्यम् । भवतु तर्ह्यसंख्येयानीति चेत् ?। नैवम् । यतो बहून्यपि तानि केवलिदृष्टेन केनचिद्वर्णाऽऽदिना धर्मेण सदृशान्येकैव योनिरिष्यते, ततोऽनन्तानामपि जन्तूनां केवलिविवक्षितवर्णाऽऽदिसादृश्यतः परस्परान्तर्भावचिन्तया चतुरशीतिलक्षसंख्या एव योनयो भवन्ति, न हीनाधिकाः ॥९८२।९८३॥

एतदेवाऽऽह–

समवण्णाइसमेआ, बहवो वि हु जोणिलक्खभेआओ ।
सामन्ना घेप्पंति हु, एक्कगजोणीए गहणेणं ॥९८४॥

समैः सदृशैः, वर्णाऽऽदिभिर्वर्णगन्धरसस्पर्शैः, समेता युक्ताः, समानवर्णगन्धरसस्पर्शा इत्यर्थः। बहवोऽपि प्रभूता अपि, योनिभेदलक्षाः, हुर्निश्चितम्, इह एका योनिर्जातिग्रहणेन गृह्यते । कुतः ?, सामान्याद्, व्यक्तिभेदतः प्राचुर्येऽपि समानवर्णगन्धरसस्पर्शसद्भावेन सादृश्यादिति । ननु योनिकुलयोः कः प्रतिविशेषः ?। उच्यते–योनिः जीवानामुत्पत्तिस्थानं, यथा–वृश्चिकाऽऽदेर्गोमयाऽऽदि । कुलानि तु–योनिप्रभवाणि । तथाहि–एकस्यामेव योनावनेकानि कुलानि भवन्ति, यथा छगणयोनौ कृमिकुलं, कीटकुलं, वृश्चिककुलमित्यादि । यदि वा तस्यैव वृश्चिकाऽऽदेर्गोमयाऽऽद्येकयोनिसंभवोत्पन्नस्यापि कपिलरक्ताऽऽदिवर्णभेदादनेकविधानि कुलानीति । प्रव० १५१ द्वार । सम० । आचा० ।

योनिभेदाः—

तिविहा तिविहा जोणी, अंडा पोया जराउया चेव ।
बेइंदिय तेइंदिय, चउरो पंचिंदिया चेव ॥ १५४ ॥

" तिविहा " इत्यादि । अत्र हि शीतोष्णमिश्रभेदास्तथा सचित्ताचित्तमिश्रभेदास्तथा संवृतविवृततदुभयभेदास्तथा स्त्रीपुंनपुंसकभेदाच्च इत्यादीनि बहूनि योनीनां त्रिकाणि संभवन्ति । तेषां सर्वेषां संग्रहार्थं त्रिविधा त्रिविधेति वीप्सानिर्देशः । तत्र नारकाणामाद्यासु तिसृषु भूमिषु शीतैव योनिः, चतुर्थ्यामुपरितननरकेषु शीता, अधस्तननरकेषूष्णा, पञ्चमीषष्ठीसप्तमीषूष्णैव, नेतरे, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यङ्मनुष्याणामशेषदेवानां च शीतोष्णा योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसंमूर्च्छनजतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिविधाऽपि योनिः–शीता, उष्णा, शीतोष्णा चेति । तथा नारकदेवानामचित्ता, नेतरे, द्वीन्द्रियाऽऽदिसंमूर्च्छनजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिविधाऽपि योनिः सचित्ताचित्तमिश्रयोनिर्नेतरे । तथा देवनारकाणां संवृता योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतुरिन्द्रियसंमूर्च्छनजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां विवृता योनिर्नेतरे, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यङ्मनुष्याणां संवृतविवृता योनिर्नेतरे, तथा नारकानपुंसकजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां विवृता योनिर्नेतरे, गर्भयोनय एव । तिर्यञ्चस्त्रिविधाः–स्त्रीपुंनपुंसकयोनयोऽपि मनुष्या अप्येवं त्रिविधजाताः। देवाः स्त्रीपुंयोनय एव । तथा परं मनुष्ययोनेस्त्रैविध्यम् । तद्यथा–कूर्मोन्नता, तस्यां चार्हच्चक्रवर्त्यादिसत्पुरुषाणामुत्पत्तिः। तथा शङ्खाऽऽवर्त्ता, सा

च क्षीरसमस्यैव, तस्यां च प्राणिनां संभवो नास्ति, न निष्पत्तिः । तथा वंशीपत्रा, सा च प्राकृतजनस्येति । तथा परं त्रैविध्यं निर्युक्तिकृद्दर्शयति । तद्यथा-अण्डजा, पोतजा, जरायुजा चेति । तत्राण्डजाः पक्ष्यादयः, पोतजा वल्गुली-भजकलभाऽऽदयः, जरायुजा गोमहिषीमनुष्याऽऽदयः, तथा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदाच्च भिद्यन्ते । आचा०१ श्रु०१ अ०६ उ०।

सत्त्वानां योनयः प्रतिपाद्यन्ते-

कतिविहा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा जोणी पण्णत्ता । तं जहा-सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ।

"कतिविहा णं भंते ! जोणी" इत्यादि । कतिविधा कतिप्रकारा, णमिति पूर्ववत्, भदन्त ! योनिः प्रज्ञप्ता ?। अथ योनिरिति कः शब्दार्थः ?। उच्यते-"यु" मिश्रणे, युवन्ति तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्त औदारिकाऽऽदिशरीरप्रायोग्यपुद्गलस्कन्धसमुदयेन मिश्री-भवन्त्यस्यामिति योनिरुत्पत्तिस्थानम् । औणादिको निप्रत्ययः। भगवानाह-गौतम ! त्रिविधा योनिः प्रज्ञप्ता । तद्यथा-शीता, उष्णा, शीतोष्णा । तत्र शीतस्पर्शपरिणामा शीता, उ-ष्णस्पर्शपरिणामा उष्णा, शीतोष्णरूपोभयस्पर्शपरिणामा शीतोष्णा ।

योनिविशेषप्रतिपादनायाऽऽह-

नेरइयाणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! सीता वि जोणी, उसिणा वि जोणी, नो सीतोसिणा जोणी। असुरकुमाराणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! नो सीता जोणी, नो उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी, एवं० जाव थणियकुमाराणं । पुढवीकाइयाणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! सीता वि जोणी, उसिणा वि जोणी, सीतोसिणा वि जोणी । एवं आउवाउवणस्सइबेइंदियतेइंदियचउरिंदिया-ण वि पत्तेयं भाणियव्वं । तेउकाइयाणं नो सीता, उसिणा, नो सीतोसिणा । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! सीता वि जोणी, उसिणा वि जोणी, सीतोसिणा वि जोणी । संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाण वि एवं चेव । गब्भवक्कंतियमणुस्साणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! नो सीता जोणी, नो उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी । मणुस्साणं भन्ते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! सीता वि, उसिणा वि, सीतोसिणा वि जोणी । संमुच्छिममणुस्साणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! तिविहा वि जोणी । वाणमंतरदेवाणं किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! नो सीता, नो उसिणा, सीतोसिणा जोणी । जोइसियाणं वेमाणियाण वि एवं चेव ॥

तत्र नैरयिकाणां द्विविधा योनिः-शीता, उष्णा च । न तृतीया शीतोष्णा । कस्यां पृथिव्यां का योनिरिति चेत् ?, उच्यते-रत्नप्रभायां शर्कराप्रभायां वालुकाप्रभायां च यानि नैरयिकाणामुपपातक्षेत्राणि तानि सर्वाण्यपि शीतस्पर्शपरिणामपरिणतानि उपपातक्षेत्रव्यतिरेकेण चान्यत् सर्वमपि निरयेष्वपि पृथिव्यादि उष्णस्पर्शपरिणामपरिणतं, तेन तत्रस्था नैरयिकाः शीतयोनिका उष्णां वेदनां वेदयन्ते । पङ्कप्रभायां बहून्युपपातक्षेत्राणि शीतस्पर्शपरिणामपरिणतानि, स्तोकान्युष्णस्पर्शपरिणामपरिणतानि, येषु च प्रस्तटेषु नरकाऽऽवासेषु शीतस्पर्शपरिणामान्युपपातक्षेत्राणि, तेषु तद्व्यतिरेकेण चान्यत्सर्वमुष्णस्पर्शपरिणामं, तेषु प्रस्तटेषु नरकाऽऽवासेषु चोपपातक्षेत्राण्युष्णस्पर्शपरिणामानि, तेषु तद्व्यतिरेकेण चान्यत्सर्वं शीतस्पर्शपरिणामं, तेन तत्रस्था बहवो नैरयिकाः शीतयोनिका उष्णां वेदनां वेदयन्ते, स्तोका उष्णयोनिकाः शीतवेदनामिति । धूमप्रभायां बहून्युपपातक्षेत्राणि उष्णस्पर्शपरिणामपरिणतानि, स्तोकानि शीतस्पर्शपरिणामानि, येषु च प्रस्तटेषु येषु च नरकाऽऽवासेषु चोष्णस्पर्शपरिणामपरिणतान्युपपातक्षेत्राणि, तेषु तद्व्यतिरेकेणान्यत्सर्वं शीतपरिणामं, येषु च शीतस्पर्शपरिणामान्युपपातक्षेत्राणि, तेष्वन्यत्सर्वमुष्णस्पर्शपरिणामं, तेन च तत्रस्था बहव उ-ष्णयोनिकाः शीतवेदनां वेदयन्ते, स्तोकाः शीतयोनिका उष्णवेदनामिति । तमःप्रभायां तमस्तमःप्रभायां चोपपातक्षेत्राणि सर्वाण्यप्युष्णस्पर्शपरिणामपरिणतानि, तद्व्यतिरेकेण चान्यत्सर्वं तत्र शीतस्पर्शपरिणामं, तेन तत्रस्था नारका उ-ष्णयोनिकाः शीतवेदनां वेदयितार इति । भवनवासिनां गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणां व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां चोपपातक्षेत्राणि शीतोष्णरूपोभयस्पर्शपरिणामपरिणतानि, तेन तेषां योनिरुभयस्वभावा-न शीता, नाप्युष्णा । एकेन्द्रियाणामग्निकायिकवर्जानां द्वित्रिचतुरिन्द्रियसंमूर्च्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंमूर्च्छिममनुष्याणां चोपपातस्थानानि शीतस्पर्शान्युष्णस्पर्शान्युभयस्पर्शान्यपि भवन्तीति, तेषां त्रिविधा योनिः-तैजस्कायिका उष्णयोनिकाः, तथा प्रत्यक्षत उपलब्धेः । प्रज्ञा० ८ पद । (एतेषामल्पबहुत्वम 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६५७ पृष्ठे गतम्) शीताऽऽदियोनिप्रकरणार्थसंग्रहस्तु प्रायेणैवम्-" सीओसिणजोणीया, सव्वे देवा य गब्भवक्कंती । उसिणा य तेउकाए, दुह निरए तिविह सेसेसु ॥ १ ॥ " (गब्भवक्कंति त्ति) गर्भोत्पत्तिकाः । भ० १० श०२ उ०। स्था०।

भूयोऽपि प्रकारान्तरेण योनीनां त्रैविध्यं प्रतिपिपादयिषुराह-

कतिविहा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा जोणी पण्णत्ता । तं जहा-सचित्ता, अचित्ता, मीसिया ॥

" कइविहा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ?। " इत्यादि । सचित्ता जीवप्रदेशसंबद्धा, अचित्ता सर्वथा जीवविप्रमुक्ता, मिश्रा जीवविप्रमुक्ताविप्रमुक्तस्वरूपा ।

नेरइयाणं भंते ! किं सचित्ता जोणी, अचित्ता जोणी, मीसिया जोणी ?। गोयमा ! नो सचित्ता जोणी, अचित्ता, नो मीसिया जोणी । असुरकुमाराणं भंते ! किं सचित्ता जोणी, अचित्ता जोणी, मीसिया जोणी ?। गोयमा !

नो सचित्ता जोणी, अचित्ता जोणी, नो मीसिया । एवं० जाव थणियकुमाराणं । पुढवीकाइयाणं भंते ! किं सचित्ता जोणी, अचित्ता जोणी, मीसिया जोणी ?। गोयमा ! सचित्ता वि जोणी, अचित्ता वि जोणी, मीसया वि जोणी । एवं० जाव चउरिंदियाणं । सम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, सम्मुच्छिममणुस्साण य एवं चेव; गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं गब्भवक्कंतियमणुस्साण य नो सचित्ता, नो अचित्ता, मीसिया जोणी । वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं ॥

तत्र नैरयिकाणां यदुपपातक्षेत्रं तत्र न केनचिज्जीवेन परिगृहीतमिति तेषामचित्ता योनिः । यद्यपि सूक्ष्मैकेन्द्रियाः सकललोकव्यापिनः, तथाऽपि न तत्प्रदेशैरुपपातस्थानपुद्गला अन्योन्यानुगमसंबद्धा इति अचित्तैव तेषां योनिः । एवमसुरकुमाराऽऽदीनां भवनपतीनां व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां वा अचित्ता योनिर्भावनीया । पृथिवीकायिकाऽऽदीनां संमूर्छिममनुष्यपर्यन्तानामुपपातक्षेत्रं जीवैः परिगृहीतमपरिगृहीतमुभयस्वभावं च संभवतीति त्रिविधा योनिः, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणां च यत्रोत्पत्तिस्तत्र सचित्ताचित्ता अपि शुक्रशोणिताऽऽदिपुद्गलाः सन्तीति मिश्रा तेषां योनिः । प्रज्ञा० ९ पद । (अल्पबहुत्वम् 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६५८ पृष्ठे दृष्टव्यम्)

सचित्ताऽऽदियोनिप्रकरणार्थसंग्रहस्तु प्रायेणैवम्-

" अचित्ता खलु जोणी, नेरइयाणं तहेव देवाणं ।
मीसा य गब्भवासे, तिविहा पुण होइ सेसेसु " ॥ १ ॥

सत्यप्येकेन्द्रियसूक्ष्मजीवनिकायसंभवे नारकदेवानां यदुपपातक्षेत्रं तत्र केनचिज्जीवेन परिगृहीतमित्यचित्ता तेषां योनिः । गर्भवासयोनिस्तु मिश्रा, शुक्रशोणितपुद्गलानामचित्तानां गर्भाशयस्य च सचेतनस्य भावादिति । शेषाणां पृथिव्यादीनां संमूर्छजानां च मनुष्याऽऽदीनामुपपातक्षेत्रे जीवेन परिगृहीतेऽपरिगृहीते उभयरूपे चोत्पत्तिरिति त्रिविधाऽपि योनिरिति । भ० १० श० २ उ० । स्था० । प्रव० ।

भूयोऽपि प्रकारान्तरेण योनीः प्रतिपादयितुकाम आह-

कतिविहा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा जोणी पण्णत्ता । तं जहा-संवुडा जोणी, वियडा जोणी, संवुडवियडा जोणी । नेरइयाणं भंते ! किं संवुडा जोणी, वियडा जोणी, संवुडवियडा जोणी ?। गोयमा ! संवुडा जोणी, नो वियडा जोणी, नो संवुडवियडा जोणी । एवं० जाव वणस्सइकाइयाणं । बेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! नो संवुडजोणी, वियडजोणी, नो संवुडवियडजोणी । एवं० जाव चउरिंदियाणं । संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं संमुच्छिममणुस्साण य एवं चेव । गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियगब्भवक्कंतियमणुस्साण य नो संवुडा जोणी, नो वियडा जोणी, संवुडवियडा जोणी । वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा नेरइयाणं ॥

तत्र नारकाणां संवृता योनिः, नरकनिष्कुटानां नारकोत्पत्तिस्थानानां संवृतगवाक्षकल्पत्वात् । तत्र च जाताः सन्तो नैरयिकाः प्रवर्द्धमानमूर्त्तयस्तेभ्यः पतन्ति शीतेभ्य उष्णेषु, उष्णेभ्यः शीतेष्विति । भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानामपि संवृता योनिः, तेषां देवशयनीयदेवदूष्यान्तरिते उत्पादात् । "देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिए अंगुलासंखेज्जइभागमेत्ताए सरीरोगाहणाए उववज्जइ " इति वचनात् । एकेन्द्रिया अपि संवृतयोनिकाः, तेषामपि योनेः स्पष्टमनुपलक्ष्यमाणत्वात् । द्वीन्द्रियाऽऽदीनां चतुरिन्द्रियपर्यन्तानां सम्मूर्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसम्मूर्छिममनुष्याणां च विवृता योनिः, तेषामुत्पत्तिस्थानस्य जलाऽऽशयाऽऽदेः स्पष्टमुपलभ्यमानत्वात् । गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणां च संवृतविवृता योनिः, गर्भस्य संवृतविवृतरूपत्वात् । गर्भो ह्यन्तःस्वरूपतो नोपलक्ष्यते, बहिस्तूदरवृद्ध्यादिनोपलक्ष्यते इति । प्रज्ञा० ९ पद । (अल्पबहुत्वम् 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६५८ पृष्ठे गतम्)

संवृताऽऽदियोनिप्रकरणार्थसंग्रहस्तु प्राय एवम्-

" एगिंदियनेरइया, संवुडजोणी तहेव देवा य ।
विगलिंदियाण वियडा, संवुडवियडा य गब्भंमि " ॥ १ ॥

एकेन्द्रियाणां संवृता योनिः, तथास्वभावत्वात् । नारकाणामपि संवृतैव । यतो नरकनिष्कुटाः संवृतगवाक्षकल्पाः, तेषु च जातास्ते वर्द्धमानमूर्त्तयः, तेभ्यः पतन्ति शीतेभ्यो निष्कुटेभ्य उष्णेषु नरकेषु, उष्णेभ्यस्तु शीतेष्विति । देवानामपि संवृतैव । यस्माद् देवशयनीये देवदूष्यान्तरितोऽङ्गुलासङ्ख्यातभागमात्रावगाहनो देव उत्पद्यत इति । भ० १० श० २ उ० । स्था० । सूत्र० । न० ।

सम्प्रति मनुष्ययोनिविशेषप्रतिपादनार्थमाह-

कतिविहा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा जोणी पण्णत्ता । तं जहा-कुम्मुण्णया, संखावत्ता, वंसीपत्ता । कुम्मुण्णया णं जोणी उत्तमपुरिसमाऊणं कुम्मुण्णयाए णं जोणीए उत्तमपुरिसा गब्भं वक्कमंति । तं जहा-अरहंतचक्कवट्टीणं बलदेवा वासुदेवा । संखावत्ता णं जोणी इत्थीरयणस्स, संखावत्ताए णं जोणीए बहवे जीवा य पोग्गला य वक्कमंति, विउक्कमंति, चयंति, उववज्जंति, नो चेव णं निप्फज्जंति । वंसीपत्ता णं जोणी पिहुजणस्स, वंसीपत्तियाए णं जोणीए पिहुजणे गब्भं वक्कमंति ॥

"कइविहा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ?" इत्यादि । कूर्मपृष्ठमिवोन्नता कूर्मोन्नता । शङ्खस्येवाऽऽवर्त्तो यस्याः सा शङ्खावर्त्ता । संयुक्तवंशीपत्रद्वयाऽऽकारत्वाद् वंशीपत्रा । शेषं सुगमं. नवरं शङ्खावर्त्तायां योनौ बहवो जीवा जीवसंबद्धाः पुद्गलाश्चावक्रमन्ते, आगच्छन्ति, व्युत्क्रामन्ति गर्भतयोत्पद्यन्ते, तथा चीयन्ते सामान्यतश्चयमागच्छन्ति, उपचीयन्ते विशेषत उपचयमायान्ति, परं न निष्पद्यन्ते, अतिप्रबलकामाग्निपरितापतो ध्वंसगमनादिति वृद्धप्रवादः । प्रज्ञा० ६ पद ।

एतदर्थसंग्रहस्त्वेवम्-

" संखाऽऽवत्ता जोणी, इत्थीरयणस्स होइ विन्नेया ।
तीए पुण उप्पन्नो, नियमाउ विणस्सई गब्भो ॥ १ ॥
कुम्मुन्नयजोणीए, तित्थयरा चक्कि-वासुदेवा य ।

रामा वि य जायंते, सेसाए सेसगजणाओ ॥ २ ॥" इति। भ० १० श० २ उ० । स्था० । प्रब० ।

तथा शुभाशुभभेदेन योनीनामनेकत्वं गाथाभिः प्रदर्श्यते-

" सीयाऽऽदी जोणीओ, चउरासी-तीयसय-सहस्साइं ।
असुभाओ य सुभाई, तत्थ सुभाओ इमा जाण ॥१॥
असंखा उ मणुस्सा, राईसरसंजमादिआईणं ।
तित्थगरनामगोत्तं, सव्वसुहं होइ नायव्वं ॥२॥
तत्थ वि य जाइसंप-न्नतादि सेसा उ हुंति असुभाओ ।
देवेसु वि किब्बिसादी, सेसाओ हुंति असुभाओ ॥३॥
पंचिंदियतिरिएसुं, हयगयरयणे हवंति उ सुभाओ ।
सेसाओ असुभाओ, सुभवन्नेगिंदियादीया ॥४॥
देविंदचक्कवट्टि-त्तणाइँ मोत्तुं च तित्थगरभावं ।
अणगारभाविता वि य, सेसा उ अणंतसो पत्ता "॥५॥
आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अथ स्त्रीणां कियद्भ्यो वर्षेभ्यः पुनरूर्ध्वं योनिविध्वंसो भवतीत्याह-

पणपन्ना य परेणं, जोणी पमिलायए महिलियाणं ।
पणसत्तरीइ परओ,पाएण पुमं भवेऽबीओ ॥१३॥

महिलानां स्त्रीणां प्रायः प्रवाहेण (पणपन्ना य त्ति) पञ्चपञ्चाशद्वर्षेभ्यः (परेणं ति) ऊर्ध्वं योनिः प्रम्लायति, गर्भधारणाऽसमर्था भवतीत्यर्थः । तं० । (एतद्गता बहुवक्तव्यता ' गब्भ ' शब्दे तृतीयभागे ८३१ पृष्ठे द्रष्टव्या)

सम्प्रति जीवविशेषयोनिवक्तव्यतादिरर्थ उच्यते । तत्र-चेदं सूत्रम्-

अह भंते ! सालीणं वीहीणं गोधूमाणं जवाणं जवजवाणं एएसि णं धन्नाणं कोट्ठाउत्ताणं पल्लाउत्ताणं मंचाउत्ताणं मालाउत्ताणं ओलित्ताणं लित्ताणं पिहियाणं मुद्दियाणं लंछियाणं केवइयं कालं जोणी संचिट्ठइ ?। गोयमा ! जहन्नं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसं तिन्नि संवच्छराइं, तेण परं जोणी पमिलायइ, तेण परं जोणी विद्धंसइ, तेण परं बीए अबीए भवइ, तेण परं जोणीवोच्छेदे पन्नत्ते, समणाउसो ! भ० ६ श० ७ उ० ।

" भंत त्ति " पदं साधमीयमिति, अतो भंते त्ति महावीरमामन्त्रयन्नुक्तवान् गौतमाऽऽदिः । शालीनां, कलमाऽऽदिकानामिति विशेषः । शेषाणां व्रीहीणामिति सामान्यम् । यवयवा यवविशेषा एव । एतेषामभिहितत्वेन प्रत्यक्षाणां कोष्ठे कुशूले आगुप्तानि प्रक्षेपणेन संरक्षितानि कोष्ठागुप्तानि,तेषाम् । एवं सर्वत्र,नवरं पल्यं वंशकटकाऽऽदिकृतो धान्याऽऽधारविशेषः,मञ्चः स्थूणानामुपरिस्थापितवंशकटकाऽऽदिमयो जनप्रतीतः,मालको गृहस्योपरितनभागः। अभिहितं च-"अचक्खुडो होइ मंचो, मालो य घरोवरिं होइ" इति। (ओलित्ताणं ति) द्वारदेशे पिधानेन सह गोमयाऽऽदिना अवलिप्तानाम् । (लित्ताणं ति) सर्वतः (पिहियाणं ति) स्थगितानाम् (मुद्दियाणं ति) मृत्तिकाऽऽदिमुद्राप्तानाम् (लंछियाणं ति) रेखाऽऽदिभिः कृतलाञ्छनानाम् । (केवइयं ति) कियन्तं कालं योनिर्यस्यामङ्कुर उत्पद्यते, ततः परं योनिः प्रम्लायति,वर्णाऽऽदिना हीयते,प्रतिध्वस्यते विध्वंसाभिमुखीभवति । विध्वस्यते,क्षीयते । एवं च तद् बीजमबीजं भवति उप्तमपि नाङ्कुरमुत्पादयति । किमुक्तं भवति?-ततः परं योनिव्यवच्छेदः प्रज्ञप्तो मया,अन्यैश्च केवलिभिरिति शेषं स्पष्टम् । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अह भंते ! कलायमसूरतिलमुग्गमासनिप्फावकुलत्थआलिसंदगसतीणं पलिमंथमाईणं एएसि णं धन्नाणं ?। जहा सालीणं तहा एयाणि वि,णवरं पंचसंवच्छराइं,सेसं तं चेव । अह भंते ! अयसिकुसुंभगकोद्दवकंगुवरगरालगकोदूसगसणसरिसवमूलाबीयमाईणं एएसि णं धन्नाणं ?। एयाणि वि तहेव, णवरं सत्त संवच्छराइं, सेसं तं चेव। भ० ६श० ७ उ०।

अहेत्यादि सूत्रसिद्धम् । नवरम्, अथेति परप्रश्नार्थः । भदन्तेति गुर्वामन्त्रणम् । (अयसीति) अतसी कुसुम्भो रल्लः रालकः कङ्गुविशेषः सणस्त्वक्प्रधानो धान्यविशेषः, सर्षपाः सिद्धार्थकाः, मूलकः शाकविशेषः,तस्य बीजानि ककारलोपसन्धिश्च्याम "मूलाबीय त्ति" प्रतिपादितमिति । शेषाणां पर्याया लोकरूढितो ज्ञेया इति । यावद्ग्रहणात्-" मंचाउत्ताणं मालाउत्ताणं ओलित्ताणं लंछियाणं मुद्दियाणं । " इति द्रष्टव्यम् । व्याख्याऽस्य प्रागिवेति । पुनर्यावत्करणात्-"पविद्धंसइ विद्धंसइ से बीए अबीए भवइ तेण परं । " इति दृश्यम् । स्था० ७ ठा० । कोष्ठाऽऽदिषु निक्षिप्तानाम्, उपलक्षणमेतत्-पिहितानामवलिप्तानां लाञ्छितानां मुद्रितानां चोत्कृष्टानां स्थितौ सप्तवर्षाणि भवन्ति, जघन्येन पुनः सर्वेषामपि पूर्वोक्तानां धान्यानामन्तर्मुहूर्तं स्थितिर्भवेत्, अन्तर्मुहूर्तात् परतः स्वायुःक्षयादेवाचित्तं जायते । सा च परमार्थतोऽतिशयज्ञानेनैव सम्यक् परिज्ञायते, न छाद्मस्थिकज्ञानेनेति न व्यवहारपथमवतरति । अत एव च पिपासापीडितानामपि साधूनां स्वभावतः स्वायुःक्षयेणाचित्तीभूतमपि तडागोदकपानाय वर्द्धमानस्वामी भगवान् नानुज्ञातवान् । इत्थंभूतस्याचित्तीभवनस्य छद्मस्थानां दुर्लक्षत्वेन मा भूत्सर्वत्रापि तडागोदके सचित्तेऽपि पाश्चात्यसाधूनां प्रवृत्तिप्रसङ्ग इति कृत्वा । प्रव० १५४ द्वार । तं० । सू० प्र० । सूत्र० । (कियद्दूरगमनेन धान्यानामचित्तत्वमिति ' अचित्त ' शब्दे प्रथमभागे १८५ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) अन्येषामुत्पादकत्वाद् जीवे जीवस्याभिवचनान्यधिकृत्य-"जोणीए त्ति वा" योनिरन्येषामुत्पादकत्वात् । भ० २० श० २ उ० । भगनामके देवे, तद्देवताके पूर्वाफल्गुनीनक्षत्रे च । स्था० २ ठा० ३ उ० । वाच० । योनिविचारे-यत्र मनुष्योत्पत्तिस्तत्रैव द्वीन्द्रियाऽऽदीनामुत्पत्तिर्दृश्यते, तथा च योनिसङ्करः स्यात् ?, इति प्रश्ने,उत्तरम्-मनुष्यद्वीन्द्रियाऽऽदीनां योन्येकत्वेऽपि स्वस्वजातावेव योन्येकत्वव्यवहारो, न तु भिन्नजातौ । अत एव छगणाऽऽदिषु अप्युत्पन्नानां भूयसां कृमीनां द्वीन्द्रियाऽऽदीनां स्वजात्यपेक्षया योन्येकत्वं, भिन्नजातीयानामपि तत्रोत्पन्नानां स्वजात्यपेक्षयैकयोनिकत्वं, तेन न योनिसङ्करः संभाव्यत इति । १०२ । प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

जोणिघात-योनिघात-पुं० । योनिविध्वंसे, नि० चू० ४ उ० । (अस्य विस्तरः ' गब्भ ' शब्दे ८३१ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

जोणिजम्मणणिक्खमण-योनिजन्मनिष्क्रमण-न० । योन्या जन्मार्थनिष्क्रमणे, कल्प० २ क्षण ।

जोणिपाहुड-योनिप्राभृत-न० । जीवयोनिभेदस्वरूपप्रतिपादके पूर्वगताऽभिधे ग्रन्थविशेषे, बृ० १ उ० ।

जोणिप्पमुह—योनिप्रमुख—त्रि० । योनिद्वारके, विपा० १ श्रु० १ अ० । " चउरासीइजोणिप्पमुहसयसहस्सा । " स० ८४ सम० । योनिप्रमुखानि योनिप्रवाहाणि एकस्यामेव योनावनेकजातिकुलसंभवादिति । जी० ३ प्रति० । प्रव० ।

जोणिभूय—योनिभूत—त्रि० । योन्यवस्थे बीजाऽऽदौ, " जोणिब्भूए बीए, जीवोऽवक्कमइ सो व अन्नो वा । " आचा० नि० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । अत्र भूतशब्दोऽवस्थावचनः, योन्यवस्थे बीजे योनिपरिणाममजहतीत्यर्थः । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । बीजे योनिभूते योन्यवस्थां प्राप्ते योनिपरिणाममजहतीति भावः । बीजस्य हि द्विविधाऽवस्था । तद्यथा—योन्यवस्था, अयोन्यवस्था च । तत्र यदा बीजं योन्यवस्थां न जहाति, अथ चोज्झितं जन्तुना, तदा तद् योनिभूतमित्यभिधीयते । प्रज्ञा० १ पद । नि० चू० ।

जोणिमुहणिप्फाडिय—योनिमुखनिस्फटित—त्रि० । स्मरमन्दिरतुण्डनिर्गते, तं० ।

जोणिय—योनिक—त्रि० । योनदेशोद्भवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

योनिज—त्रि० । योनिस्थानाद् जायते । जन-डः । देहभेदे, जरायुजेऽण्डजे च देहे, वाच० ।

जोणिलक्खचुलसी—योनिलक्षचतुरशीति—स्त्री० । चतुरशीतियोनिलक्षसमूहे, प्रव० १५१ द्वार । (तद्वक्तव्यता ' जोणि ' शब्दे १६५२ पृष्ठे गता)

जोणिविहाण—योनिविधान—न० । योनिभेदे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

जोणिसंगह—योनिसंग्रह—पुं० । योनिरुत्पत्तिहेतुर्जीवस्य तया संग्रहोऽनेकेषामेकशब्दाभिलाप्यत्वं योनिसंग्रहः । भ० ७ श० ५ उ० । योनिभिरुत्पत्तिस्थानविशेषैर्जीवानां संग्रहो योनिसंग्रहः । योनिप्रतिपादनद्वाराऽनेकेषां जीवानामेकशब्देन प्रतिपादने, स्था० ।

योनिसंग्रहतो जीवानाह—

सत्तविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते । तं जहा—अंडजा, पोतजा, जराउया, रसया, संसेयया, संमुच्छिमा, उब्भिया ॥

" सत्तविहे " इत्यादि । योनिभिरुत्पत्तिस्थानविशेषैर्जीवानां संग्रहो योनिसंग्रहः । स च सप्तधा, योनिभेदात्सप्तधा जीवा इत्यर्थः । अण्डजाः पक्षिमत्स्यसर्पाऽऽदयः । पोतं वस्त्रं, तज्जाताः पोतादिव वा बोहित्थाज्जाताः, अजरायुवेष्टिता इत्यर्थः । पोतजा हस्तिवल्गुलीप्रभृतयो जरायौ गर्भवेष्टने जातास्तद्वेष्टिता इत्यर्थः । जरायुजा मनुष्याः, गवादयश्च । रसे तीमनकाञ्जिकाऽऽदौ जाता रसजाः । संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजाः—यूकाऽऽदयः । संमूर्च्छनेन निर्वृत्ताः संमूर्च्छिमाः कृम्यादयः, उद्भेदो भूमिभेदाज्जाता उद्भिज्जाः खञ्जनकाऽऽदयः । स्था० ७ ठा० ।

अट्ठविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते । तं जहा—अंडया, पोयया, ०जाव उब्भिया उववाइया ॥

" अट्ठविहे " इत्यादि सुगमं, नवरमौपपातिका देवनारकाः । स्था० ८ ठा० ।

संप्रति पक्षिणां प्रकारान्तरेण भेदप्रतिपादनार्थमाह—

पक्खीणं भंते ! कइविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! तिविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते । तं जहा—अंडया, पोयया, संमुच्छिमा ॥

" पक्खीणं भंते ! " इत्यादि । पक्षिणां भदन्त ! कतिविधः कतिप्रकारो योनिसंग्रहो, योन्युपलक्षितं संग्रहणमित्यर्थः ? । भगवानाह—गौतम ! त्रिविधो योनिसंग्रहः प्रज्ञप्तः । तद्यथा—अण्डजाः—मयूराऽऽदयः, पोतजाः—वल्गुल्यादयः, संमूर्च्छिमाः—खञ्जरीटाऽऽदयः । जी० ३ प्रति० ।

भुयगाणं भंते ! कइविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! तिविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते । तं जहा—अंडया, पोयया, संमुच्छिमा, एवं जहा खहयराणं ॥

" भुयगाणं भंते ! " इत्यादि । भुजगानां भदन्त ! कतिविधो योनिसंग्रहः प्रज्ञप्तः ? । इत्यादि पक्षिवत् सर्वं निरवशेषं वक्तव्यम् । जी० ३ प्रति० ।

चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—जराउया संमुच्छिमया । जराउया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—इत्थी, पुरिसा, नपुंसगा । तत्थ णं जे ते संमुच्छिमा ते सव्वे णपुंसगा ॥

" चउप्पयाणं " इत्यादि । चतुष्पदानां भदन्त ! कतिविधो योनिसंग्रहः प्रज्ञप्तः ? । भगवानाह—गौतम ! द्विविधो योनिसंग्रहः प्रज्ञप्तः । तद्यथा—पोतजाः, संमूर्च्छिमाश्च । इह ये अण्डजव्यतिरिक्तगर्भव्युत्क्रान्तास्ते सर्वे जरायुजाः, अजरायुजा वा पोतजा इति विवक्षितमतोऽत्र द्विविधो यथोक्तरूपो योनिसंग्रह उक्तः । अन्यथा गवादीनां जरायुजत्वात् तृतीयोऽपि जरायुजलक्षणो योनिसंग्रहो वक्तव्यः स्यादिति । तत्र ये पोतजाः ते त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा—स्त्रियः, पुरुषाः, नपुंसकाश्च । तत्र ये ते संमूर्च्छिमास्ते सर्वे नपुंसकाः । जी० ३ प्रति० ।

जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—अंडया, पोयया, संमुच्छिमा, एवं जहा भुयगपरिसप्पाणं ॥

" जलयराणं " इत्यादि । जलचराणां भदन्त ! कतिविधो योनिसंग्रहः प्रज्ञप्तः ? । भगवानाह—गौतम ! त्रिविधो योनिसंग्रहः प्रज्ञप्तः । तद्यथा—अण्डजाः, पोतजाः, संमूर्च्छिमाश्च । जी० ३ प्रति० ।

जोणिसमुच्छेय—योनिसमुच्छेद—पुं० । योनिविध्वंसे, " एस जोणी जगाणं दिट्ठा न कप्पइ जोणिसमुच्छेओ । " प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

जोण्ह—ज्योत्स्न—पुं० । ज्योत्स्नाऽन्विते शुक्लपक्षे, ज्यो० ४ पाहु० ।

जोण्हा—ज्योत्स्ना—स्त्री० । ' जोइसिणा ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

जोत्त—योक्त्र—न० । युज्यतेऽनेन । युज-ष्ट्रन् । ईषादण्डाऽऽदौ, युगबन्धनार्थे दामनि, वाच० । " सुकिरणतवणिज्जजोत्तकलियं " जं० ३ वक्ष० । " जोत्तसयकसप्पहारपादपणिहजाणुं । " योक्त्रं यूपे वृषभसंयमनमिति । प्रश्न० ४ संव० द्वार । ज्ञा० ।

योत्र—न० । यु-ष्ट्रन् । योक्त्रे, वाच० । सूत्र० ।

जोय—योक्त्र—न० । ' जोत्त ' शब्दार्थे, जं० ३ वक्ष० ।

जोयण–योजन–न० । युज-भावाऽऽदौ ल्युट् । संयोगे, णिच् ल्युट् । संयोगकरणे, वाच० । संबन्धने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । दश०। चतुर्गव्यूताऽऽत्मके अध्वमानविशेषे, जं०४ वक्ष०। स्था०। "चउगाउए जोयणे पण्णत्ते ।" स० १ सम० । भ०। आ० म०। प्रज्ञा० । "चउहत्थं पणधणुहं, दुन्नि सहस्साइ गाउअं तेसिं । चत्तारि गाउआ पुण, जोअणमेगं मुणेयव्वं" ॥ १ ॥ प्रव० २५६ द्वार । "अट्ठेव धणुसहस्सा, जोयणमाणं पमाणेणं ।" ज्यो० २ पाहु० ।

संप्रति मागधयोजनमाह—

मागहस्स णं जोयणस्स अट्ठधणुसहस्साइं नीहारे पण्णत्ते ।

"मागह" इत्यादि । मगधेषु भवं मागधं मगधदेशव्यवहृतं, तस्य योजनस्याध्वमानविशेषस्याष्टधनुःसहस्राणि नीहारो निर्गमः, प्रमाणमिति यावत् । (निहत्ते त्ति) क्वचित्पाठः । तत्र निधत्तं निकाचितं निश्चितं, प्रमाणमिति गम्यते । इदं च प्रमाणं परमाण्वादिना क्रमेणावसेयम् ।

तथाहि–

"परमाणू तसरेणू, रहरेणू अग्गयं च वालस्स ।
लिक्खा जूया य जवो, अट्ठगुणविवड्ढिया कमसो ॥ १ ॥"

तत्र परमाणुरनन्तानां निश्चयपरमाणूनां समुदयरूप ऊर्ध्वरेण्वादिभेदा अनुयोगद्वाराभिहिता अनेनैव संगृहीता द्रष्टव्याः, तथा पौरस्त्यादिवायुप्रेरितस्त्रस्यति गच्छतीति त्रसरेणुः, रथगमनोत्खातो रथरेणुरिति । एवं चाष्टौ यवमध्यान्यङ्गुलं, चतुर्विंशतिरङ्गुलानि हस्तः, चत्वारो हस्ता धनुः, द्वे सहस्रे धनुषां गव्यूतं, चत्वारि गव्यूतानि योजनमिति । मागधग्रहणात् क्वचिदन्यदपि योजनं स्यादिति प्रतिपादितम् । तत्र यस्मिन् देशे षोडशभिर्धनुःशतैर्गव्यूतं स्यात्तत्र षड्भिः सहस्रैश्चतुर्भिः शतैर्धनुषां योजनं भवतीति । स्था० ८ ठा० । आव० । "भरहो वि भगवओ पूयं काऊण चक्करयणस्स अट्ठाहियामहिमं करियाइ, इओ निव्वत्ताए अट्ठाहियाए तं चक्करयणं पुव्वमुहं पहावियं, भरहो सव्वबलेण तमणुगच्छिआइ, उड्ढं जोयणं गंतूण ठियं, तओ सा जोयणसंखा जाया"। आव० १ अ० ।

जोयणनीहारि [ण्]–योजननीहारिन्–त्रि० । योजनातिक्रामिणि, "जोयणनीहारिणा सरेणं ।" योजनातिक्रामिणा शब्देन । उपा० २ अ० । "जोयणनीहारी सरो ।" तीर्थकृतामेकविंशतितम अतिशयः । स० ३४ सम० ।

जोयणपरिमंडल–योजनपरिमण्डल–त्रि० । योजनं योजनप्रमाणं परिमण्डलं, गुणप्रधानोऽयं निर्देशः, पारिमाण्डल्यं यस्य स योजनपरिमण्डलः । योजनप्रमाणपरिमाण्डल्योपेते, "जोयणपरिमंडलं सुस्सरं घंटं तिक्खुत्तो उल्लालेमाणे ।" रा० ।

जोयणा–योजना–स्त्री० । युज-णिच्-युच् । संयोगकरणे, नि० चू० २ उ० । "उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत् । नीचमल्पप्रदानेन, सदृशं च पराक्रमैः" ॥१॥ दश० ३ अ० ।

जोयणिज्ज–योजनीय–त्रि० । संबन्धनीये, नि० चू० १ उ० ।

जोयत्तिय–जोगत्रिक–न० । 'जोगत्तिय' शब्दार्थे, दश० १० अ० ।

जोव–न० । देशी-बिन्दौ, स्तोके च । दे० ना० ३ वर्ग ।

जोवारी–स्त्री० । देशी-धान्ये, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोव्वण–यौवन–न० । यूनो भावः-अण् । "औत ओत्" ॥८।१।१५९ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणाऽऽदेरौत ओकारः । प्रा० १ पाद । "सैलाऽऽदौ" ॥८।२।९८ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणानादौ वर्तमानस्यान्त्यस्यानन्त्यस्य च व्यञ्जनस्य द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । तारुण्ये, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार । ज्ञा० । पं० व० । नि० चू० । "निरुवहयसरसजोव्वणकक्कसतरुणवयभावमुवगयाओ ।" निरुपहतं रोगाऽऽदिना अबाधितं सरसं च शृङ्गाररसोपेतं निरुपहतो वा रसो रसो यत्र तत्तथाविधं यौवनं, तथा कर्कशोऽश्लथाङ्गतया यस्तरुणवयोभावस्तारुण्यं, तं चोपगता यास्तास्तथा । इह च यौवनतरुणभावयोर्यद्यप्येकार्थता, तथापि सरसत्वाश्लथाङ्गत्वलक्षणयोर्मनःशरीराश्रितयोः प्रधानतया विवक्षितयोर्धर्मयोराधारतया भेदेन विवक्षणाद् न पौनरुक्त्यमिति । औ० । "जोव्वणेण य संपन्ने ।" उत्त० २१ अ० । यौवनं परमस्तरुणिमेति । प्रज्ञा० ३५ पद । "आषोडशाद् भवेद् बालस्ततस्तरुण उच्यते । वृद्धः स्यात्सप्ततेरूर्ध्वम्," इत्युक्तलक्षणेऽवस्थाभेदे, "अह जोव्वणं समणुपत्तो ।" यौवनं वयोविशेषलक्षणमिति । आ० म० १ अ० २ खण्ड । वाच० । सूत्र० । "यौवनमुदग्रकाले, विदधाति विरूपकेऽपि लावण्यम् । दर्शयति पाकसमये, निम्बफलस्यापि माधुर्यम्" ॥१॥ इति । दश० ३ अ० । "वयो अवेइ जोव्वणं च ।" वयोग्रहणेनैव यौवन्यगतत्वात्तदुपादानं प्राधान्यख्यापनार्थं, धर्मार्थकामानां तन्निबन्धनत्वात्सर्ववयसां यौवनं साधीयस्तदपि त्वरितं यातीति । उक्तं च-"नइवेगसमं चवलं, च जीवियं जोव्वणं च कुसुमसमं । सोक्खं च जं अणिच्चं, तिण्णि वि तुरमाणभोज्जाइं ॥१॥" आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

जोव्वणकरण–यौवनकरण–न० । कालकृतवयोऽवस्थाविशेषाऽऽत्मके रसायनाऽऽद्यापादितवयोऽवस्थाविशेषाऽऽत्मके च करणभेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जोव्वणकिड्डग–यौवनक्रीडक–त्रि० । तारुण्यावस्थायां क्रीडाकर्तरि, तथा चोक्तम्-"पियपुत्तभाइकिड्डगा, णत्तू किड्डगा य सयणकिड्डगा य । एते जोव्वणकिड्डगा, पच्छन्नपई महिलियाणं ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

जोव्वणग–यौवनक–न० । यौवनमेव यौवनकम् । दशा० १० अ० । यौवने, "जोव्वणगमणुप्पत्ते ।" आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

जोव्वणगुण–यौवनगुण–पुं० । युवतीनां प्रियभाषित्वाऽऽदिके गुणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जोव्वणमद–यौवनमद–पुं० । तारुण्यगर्वे, "बिइयावलेवमाडिय-हिँ जाहँ कीरंति जोव्वणमएण । वयपरिणामे सरिया-हँ ताहँ हिअए खुडुक्कंति ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

जोव्वणिया–यौवनिका–स्त्री० । यौवने, रा० ।

जोसंत–जुषत्–त्रि० । सेवमाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

जोसण–जोषण–न० । सेवने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । आव० ।

जोसणा–जोषणा–स्त्री० । प्रीतौ, सेवायां च । 'जुषी' प्रीतिसेवनयोरिति वचनात् । औ० । स० ।

जोसिय–जुष्ट–त्रि० । सेविते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

जोसियंग-योषिदङ्ग-न० । स्त्रीणामङ्गे, तथा चोक्तम्-" कार्येऽपीषन्मतिमान्-निरीक्षते योषिदङ्गमस्थिरया । अस्निग्धया दृशाऽव-ज्ञया ह्यकुपितोऽपि कुपित इव ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

जोसियाण-जोषित्वा-अव्य० । प्रीतयित्वेत्यर्थे, व्य०७ उ० ।

जोह-योध-पुं० । युध्यति शत्रून् प्रतिसंहरतीति योधः । युद्धं कृत्वा शत्रूणां जेतरि, उत्त० १४ अ० । शूरपुरुषे, " जोहाण य उप्पत्ती । " योधानां शूरपुरुषाणाम । स्था० १० ठा० । सुभटे, "यथा योधैः कृतं युद्धम् । " अष्ट०१५ अष्ट० । ते च भटेभ्यो विशिष्टतराः सहस्रयोधाऽऽदयः । औ० । भ० । रा० । ज्ञा० । सूत्र० । " सावरणो वि हु च्छलिज्जइ जोहो । " बृ० १ उ० । सहस्रयोधित्वाभावेऽपि योधित्वमिदानीम् ।

तथा च-

साहस्सीमल्ला खलु, महपाणा पुव्व आसि जोहा उ ।
तत्तुल्ल नत्थि एण्हिं, किं ते जोहा न होंती तो ? ॥

पूर्वं योधा महाप्राणाः सहस्रमल्ला आसीरन्, इदानीं तेषां तुल्या न सन्ति, किन्त्वनन्तभागहीनाः,ततः किं ते योधा न भवन्ति ?, भवन्त्येव, कालौचित्येन तेषामपि युद्धकार्यकरणादिति भावः । व्य०३ उ० । युध्यत इति योधः सुभटः, योध इव योधः । कर्मवैरिपराजयकारके बहुश्रुताऽऽदौ, " अप्पडिहयबले जोहे, एवं हवइ बहुस्सुए । " उत्त०११ अ० । भावे घञ् । युद्धे, वाच० ।

योद्धृ-पुं० । युध-तृच् । युद्धकर्तरि, वाच० ।

जोहजुज्झसज्ज-योधयुद्धसज्ज-त्रि० । योधानां युद्धं तन्निमित्तं सज्जः प्रगुणीभूतो यः स योधसज्जः। योधानां युद्धार्थं प्रगुणीभूते, जी० ३ प्रति० ।

जोहट्ठाण-योधस्थान-न० । आलीढाऽऽदिके युद्धकालभवे योधानामङ्गविन्यासविशेषे, स्था० ९ ठा० । तानि च-" सोयप्पवाए पंच ठाणाणि । तं जहा-आलीढं,पच्चालीढं.वइसाहं,मंडलं, समपायं । " आ० म० १ अ० २ खण्ड । " एयाणि पंच ठाणाणि सोयप्पवाएण सयणकरणट्ठाणि त्ति । " आ०म०१ अ० २ खण्ड । आ० चू० । उत्त० ।

तथा च योधाऽऽदिस्थानप्रतिपादनार्थमाह-

आलीढे पच्चलीढे, वेसाहे मंडले य समपाए ।

योधानां स्थानं पञ्चविधम् । तद्यथा-आलीढं, प्रत्यालीढं,वैशाखं, मण्डलं, समपादं च । एतैर्हि पञ्चभिरपि स्थानैर्योधा यथायोगं युध्यन्ते, तत एतानि योधस्थानानीति । व्य०१ उ० । "अन्ने भणंति-जं एतेसिं चेव ठाणाणं जहासंभवं चलिय ठितो पासतो पिट्ठतो वा जुज्झति, तं छट्ठं चलियणामट्ठाणं ति । " नि० चू० २० उ० । (आलीढाऽऽदीनां स्वरूपं तत्तच्छब्दे)

जोहिया-योधिका-स्त्री० । भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी०२ प्रति० ।

झड-शद्-धा० । शातने, भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् । " शदो झड-पक्खोडौ " ॥ ८ । ४ । १३० ॥ इति प्राकृतसूत्रेण शीयतेर्झडादेशः । 'झडइ' । प्रा०४ पाद । शीयते, अशदत् । वाच० ।

झर-क्षर्-धा० । सञ्चलने, भ्वादि०-पर०-अक०-सेट् । "क्षरः खिर-झर-पज्झर-पच्चड-णिच्चल-णिट्टुआः" ॥ ८ । ४ । १७३ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण क्षरतेर्झरादेशः । प्रा० ४ पाद । क्षरति, अक्षारीत् । वाच० ।

इति श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प—भट्टारक—
जैनश्वेताम्बराऽऽचार्यश्री १००८ श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-
विरचिते "अभिधानराजेन्द्रे" जकाराऽऽदिशब्द—
सङ्कलनं समाप्तम् ।

झकार

झ–झ–पुं० । 'झग' संहतौ, मदे, पिधाने वा डः । सुरगुरौ इन्दे, ध्वनौ, वाच० । स्वप्ने, शून्ये, कर्म्मक्षेपणे, विनष्टे, विवरे, भृङ्गे, एका० । को० । शब्दान्तरे, सरसीरुहसंभवे झञ्झानिले, प्रतापे, भ्रमरे, हंसके, मदे, उपाये, घर्घरध्वाने, एका० । 'झ त्ति य झाणस्स हाइ निद्देसे ।' ध्यानस्य निर्देशे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । नष्टद्रव्ये, त्रि० । वाच० ।

झअ–ध्वज–पुं० । "ध्वजे वा" । ८।२।२७ । ध्वजशब्दे संयुक्तस्य झो वा भवति । 'झओ' धओ । प्रा० २ पाद । चतुष्कोणाऽऽकारे वंशदण्डोपरिस्थिते वस्त्रखण्डे, वाच० ।

झंकारिअ–न० । देशी–अवचयने, दे० ना० ३ वर्ग ।

झंख–उप+आ+लभ–धा० । निन्दापूर्वकदुष्टवचने, परस्परदूषणे च । वाच० । "धातवोऽर्थान्तरेऽपि" । ८ । ४ । २५८ । उक्तादर्थादर्थान्तरेऽपि धातवो वर्त्तन्ते इति उपालम्भेर्झङ्खादेशः । 'झंखइ' उपालम्भने, भाषने वा । प्रा० ४ पाद । "उपालम्भेर्झङ्खपच्चारवेलवाः" ।८।४।१५६॥ इत्यनेन वा उपालम्भेर्झङ्खादेशः । 'झंखइ' 'उवालम्भइ ।' प्रा० ४ पाद । तुष्टे, दे० ना० ३ वर्ग ।

वि+लप–धा० । परिदेवनोक्तौ, वाच० । "धातवोऽर्थान्तरेऽपि" ॥ ८।४।२५८ ॥ इति विलपेर्झङ्खादेशः । "विलपेर्झङ्ख–वडवडौ" ॥८।४।१४८॥ इत्यनेन वा झंखादेशः । प्रा० ४ पाद ।

निर्+श्वस–धा० । मुखनासाभ्यन्तर्गते वायौ, वाच० । "निःश्वसेर्झङ्खः" । ८ । ४ । २०१ । निःश्वसेर्झङ्ख इत्यादेशो भवति । 'झंखइ ।' 'नीससइ ।' प्रा० ४ पाद ।

झंखर–पुं० । देशी–शुष्कतरौ, दे० ना० ३ वर्ग ।

झंखरिअ–न० । देशी–अवचयने, दे० ना० ३ वर्ग ।

झंझ–झञ्झ–पुं० । कलहविशेषे, औ० ।

झंझकर–झञ्झकर–पुं० । येन येन गणस्य भेदो भवति तत्कारिणि, येन गणस्य मनोदुःखमुत्पद्यते तद्भाषिणि च । प्रश्न० ३ संव० द्वार । आ० चू० ।

झंझकारीय–झञ्झकारीय–पुं० । झञ्झकरे, "जेण गणस्स भेदो भवति, सव्वो वा गणो झंझविओ अत्थति, तारिसं भासइ, करेइ वा ।" आव० ४ अ० ।

झंझपत्त–झञ्झप्राप्त–पुं० । द्वि० त० । कलहं क्रोधं मायां वा प्राप्ते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

झंझा–झञ्झा–स्त्री० । झमिति कृत्वा झट्यते यत्र डः । ध्वनिभेदे, तथाध्वनियुक्ते प्रचण्डानिले च । वाच० । कलहे, सू० ३ ठा० । तृष्णायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० २ उ० । क्रोधे, मायायाम्, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । लोभेच्छायाम्, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । विप्रकीर्णवचने, स्था० ८ ठा० । व्याकुलतायां च । इष्टविषयावाप्तौ रागझञ्झा । अनिष्टावाप्तौ च द्वेषझञ्झा । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

झंझाउर–झञ्झाऽऽतुर–त्रि० । तृष्णाऽऽतुरे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

झंझावाय–झञ्झावात–पुं० । अशुभे निष्ठुरे सवृष्टिके च वायौ, प्रज्ञा० १ पद । भ० ।

झंझिय–झञ्झित–त्रि० । बुभुक्षिते, आ० १ श्रु० १ अ० ।

झंट–भ्रम–धा० । चलने, दिवा०–पर०–सक०–सेट् । वाच० । "भ्रमेष्टिरिटिल्ल–ढुण्ढुल्ल–ढण्ढल्ल–चक्कम्म–भम्मड–भमड–भमाड–तलअण्ट–झण्ट–झम्प–भुम–गुम–फुम–फुस–ढुम–ढुस–परी–पराः" ॥८।४।१६१॥ इति झंटादेशः । 'झंटइ ।' प्रा० ४ पाद । स्त्रियां ङीप् । लघूर्ध्वकेशेषु, दे० ना० ३ वर्ग ।

झंटलिआ–स्त्री० । देशी–चङ्क्रमणे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झंडअ–पुं० । देशी–पीलुवृक्षे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झंडल–स्त्री० । देशी–असत्याम, क्रीडायां च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झंतर–ध्यन्तर–न० । धियो बुद्धेरन्तरं विशेषो ध्यन्तरम् । विशिष्टबुद्धौ, अने० ४ अधि० ।

झंतरजोग–ध्यन्तरयोग–पुं० । ध्यन्तरेणोपलक्षिते सत्यक्षमनोवाक्कायव्यापाररूपे असत्यक्षमनोवाक्कायनिषेधरूपे योगे, अने० ४ अधि० ।

झंप–भ्रम–धा० । चलने, भ्वा०–पर०–सक०–सेट् । वाच० । "भ्रमेष्टिरिटिल्ल०–" ॥ ८ । ४ । १६१ ॥ इत्यादिना झंपादेशः । 'झंपइ' प्रा० ४ पाद ।

झंपणी–स्त्री० । देशी–पक्ष्मणि, दे० ना० ३ वर्ग ।

झंपिअ–न० । देशी–त्रुटिते, घट्टिते च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झंसइ–क्रिया । देशी–संतप्यते, विलपति, उपालभते, निःश्वसिति च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झकिअ–न० । देशी–वचनीये, दे० ना० ३ वर्ग ।

झज्झर–झर्झर–पुं० । झर्झ–अरन् । वाच० । "नादियुज्योरन्येषाम्" । ८ । ४ । ३२७ । चूलिकापैशाचिकेऽप्यन्येषामाचार्याणां मतेन तृतीयतुर्ययोरादौ वर्त्तमानयोः युजि धातौ चाद्यद्वितीयौ न भवतः । झज्झरो, झच्छरो । प्रा० ४ पाद । 'झांझ' इति ख्याते वाद्यभेदे, पटहे, कलियुगे, नदभेदे, वाच० ।

झज्झरिय–झर्झरित–[जर्जरित]–त्रि० । सतन्त्रीककरटिकाऽऽदिवाद्यशब्दवति, स्था० १० ठा० ।

झज्झरी–स्त्री० । देशी–स्पर्शपरिहारार्थं, चण्डालाऽऽदीनां हस्तयष्टौ, दे० ना० ३ वर्ग ।

झडप्पर–झटिति–न० । वेगे, दुं० ४ पाद । "विअहा जन्ति झडप्पडहिँ, पडहिँ मणोरह पच्छि ।" प्रा० ४ पाद ३८८ सूत्र ।

झडिज्जंत–झीर्यमाण–त्रि० । हीयमाने, "वासासु सीतवातेहिं झडिज्जंते ।" आव० १ अ० ।

झमिल-जटिल-त्रि० । "जटिले जो झो वा" ॥८।१।१९४॥ जटिले अस्य जो झो वा भवति । 'झमिलो'-'जमिलो' निविडे, प्रा० १ पाद ।

झमी-स्त्री० । देशी-निरन्तरवृष्टौ, दे० ना० ३ वर्ग ।

झय-न० । देशी-गते, नष्टे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झमाल-न० । देशी-इन्द्रजाले, दे० ना० ३ वर्ग ।

झय-ध्वज-पुं० । ध्वज-अच् । शौण्डिके, सर्पे च । वाच० । चक्रसिंहाऽऽद्यङ्कलाञ्छनोपेते, भ० ९ श० ३३ उ० । चतुष्कोणाऽऽकारे वंशदण्डोपरिस्थिते वस्त्रखण्डे, वाच० । औ० । चतुर्दशानामष्टमे स्वप्नभेदे, कल्प० ।

तओ पुणो जच्चकणगलट्ठिपइट्ठिअं समूहनीलरत्तपीअसुक्किल्लसुकुमालुल्लसियमोरपिच्छकयमुद्धयं झयं अहियसस्सिरीयं फालिअसंखंककुंददगरयरययकलसपंडुरेणं मत्थयत्थेण सीहेण रायमाणेण रायमाणं भित्तुं गगणतलमंडलं चेव ववसिएणं पिच्छइ सिवमउयमारुयलयाहयकंपमाणं अइप्पमाणं जणपिच्छणिज्जरूवं ॥

"तओ पुणो जच्च" इत्यादितः "जणपिच्छणिज्जरूवं" इतिपर्यन्तम् । ततः सा त्रिशला पुनरष्टमे स्वप्ने (झयं ति) ध्वजं पश्यति । किं विशिष्टं ध्वजम्?-"जच्चकणग" इत्यादि । जात्यम् उत्तमजातीयं यत् (कणगं ति) कनकं सुवर्णं तस्य (लट्ठि त्ति) यष्टिः, तत्र (पइट्ठिअं ति) प्रतिष्ठितं, सुवर्णमयदण्डशिखरे स्थितमित्यर्थः । पुनः किं विशिष्टम् ?-(समूह त्ति) समूहीभूतानि, बहूनि इत्यर्थः । (नीलरत्तपीअसुक्किल्ल त्ति) नीलरक्तपीतशुक्लवर्णमनोहराणीत्यर्थः । (सुकुमाल त्ति) सुकुमालानि (उल्लसिय त्ति) उल्लसन्ति, वातेन लहलहायमानानि इत्यर्थः । एवंविधानि यानि (मोरपिच्छ त्ति) मयूरपिच्छानि, तैः कृता मूर्द्धजा इव केशा इव यस्य स तथा तम् । अयमर्थः--यथा मनुष्यशिरसि वेणिर्भवति, तथा तस्य ध्वजस्य वर्णस्थाने मयूरपिच्छसमूहः स्थापितोऽस्तीति । पुनः किं विशिष्टम् ?-(अहियसस्सिरीयं ति) अधिकसश्रीकम्, अतिशोभितम् इत्यर्थः। पुनः किं विशिष्टम्?-एवंविधेन सिंहेन राजमानम् इति विशेषणयोजना । अथ कीदृशेन सिंहेन?-"फालिय" इत्यादि । स्फटिकं रत्नविशेषः, शङ्खः प्रसिद्धः, अङ्कोऽपि रत्नविशेषः, (कुंद त्ति) कुन्दस्य धवलपुष्पविशेषस्य माल्यम्, (दगरय त्ति) दकरजांसि जलकणाः, (रययकलस त्ति) रजतकलशो रूप्यघटः, (पंडुरेण त्ति) उक्तसर्ववस्तुवत् उज्ज्वलवर्णेन, (मत्थयत्थेण त्ति) मस्तकस्थितेन, चित्रतया ध्वजशिरसि आलेखितेनेत्यर्थः । पुनः कीदृशेन सिंहेन ?-(रायमाणेण त्ति) राजमानेन, सुन्दरत्वात् शोभमानेनेत्यर्थः । (रायमाणं ति) राजमानम् इति तु योजितम् । पुनः कीदृशेन सिंहेन ?-(भित्तुं) भेत्तुं द्विधा कर्त्तुं, किम् ?-(गगणतलमंडलं ति) आकाशतलमण्डलम् । (चेव त्ति) उत्प्रेक्षायाम् (ववसिएण त्ति) सोद्यमेनेव । अयमर्थः-ध्वजस्तावद्वायुतरङ्गेण कम्पते । कम्पमाने च ध्वजे सिंहोऽपि गगनं प्रति उच्छलति । तथा च उत्प्रेक्षते-अयं सिंहः किं गगनतलं भेत्तुम् उद्यमं करोतीति ?। (पिच्छइ त्ति) प्रेक्षते इति प्राग्वत् । अथ पुनः किं विशिष्टं ध्वजम् ?-"सिव" इत्यादि । शिवः सौम्यः सुखकारी, अत एव (मउय त्ति) मृदुको, मन्दमन्द इति यावत् । एवंविधो यो (मारुय त्ति) मारुतो वायुः, तस्य (लय त्ति) लय आश्लेषो, मिलनमिति यावत् । तेन (आहय त्ति) आहत आन्दोलितो यः । तत एव (कंपमाण त्ति) चलनस्वभावो यः स तथा तम् । पुनः किंविशिष्टम् ?-(अइप्पमाणं ति) अतिप्रमाणम्, महान्तम् इत्यर्थः । पुनः किंविशिष्टम् ?-(जणपिच्छणिज्जरूवं ति) जनानां प्रेक्षणीयं द्रष्टुं योग्यं रूपं स्वरूपं यस्य स तथा तम् । कल्प० ३ क्षण । आ० म० । खट्वाऽङ्गे, मेढ्रे च । पुं० । न० । वाच० । स्त्रियां टाप् । औ० । ज्ञा० । नि० । स्था० । विपा० ।

झर-स्मर-धा० । स्मरणे, भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् । "स्मरेर्झर-झूर-भर-भल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः" । ८ । ४ । ७४ । इति झरादेशः । झरइ । प्रा० ४ पाद ।

झरअ-पुं० । देशी-सुवर्णकारे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झरंक-पुं० । देशी-तृणमयपुरुषे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झरग-ध्यातृ-पुं० । ध्यायतीति ध्याता । ध्यानकर्त्तरि, " भवणं करगं झरगं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं । " तं० ।

झरण-झरण-स्त्री० । क्षरणे, ध्य० १ उ० ।

झरणा-झरणा-स्त्री० । क्षरणे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

झरुअ-पुं० । देशी-मशके, दे० ना० ३ वर्ग ।

झरेयव्व-स्मर्त्तव्य-त्रि० । परिचेतव्ये, बृ० ५ उ० ।

झलक्किअ-दग्ध-त्रि० । भस्मीभूते, "तक्ष्यादीनां छोल्लाऽऽदयः" । ८ । ४ । ३९५ । इति दहस्य झअक्कादेशः, क्तप्रत्यये "स्वराणां०-" । ८ । ४ । २३८ । क-क्किः, " कगच०- " । ८ । १ । १७७ । तलुक् । स्वार्थे कः । सू-१-१ । "कग०" । ८ । १ । १७७ । कलुक् । "स्यमोरस्योत्" । ८ । ४ । ३३१ । 'अउ' झलक्किअउ । ढुं० ४ पाद । " सासानलझलक्किअउ, वाहसलिलसंसित्तउ । " प्रा० ४ पाद ३९५ सूत्र ।

झलक्किक्त-त्रि० । भस्मीभूते, प्रा० ४ पाद ।

झलझलिआ-स्त्री० । देशी-कोलिकायाम, दे० ना० ३ वर्ग ।

झला-स्त्री० । देशी-मृगतृष्णायाम, दे० ना० ३ वर्ग ।

झलुसिअ-न० । देशी-दग्धार्थे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झलुंकिअ-न० । देशी-दग्धार्थे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झल्लरी-झल्लरी-स्त्री० । झर्झति झर्झ-अरन्-पृ० । वाच० । उभयतो विस्तीर्णे चर्मावनद्धमुखे मध्ये सङ्कुले ढक्काकारे वाद्यभेदे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रज्ञा० । जी० । अल्पाङ्कुये महामुखे.(भ० ९ श० ३३ उ०) चतुरङ्गुलनालिके करटिसदृशे वलयाकारे आतोद्यविशेषे च । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । आ० म० । कल्प० । रा० । औ० । ज्ञा० । विशे० । " सत्तो णादइ गंधारं, मज्झिमं पुण झल्लरी । " स्था० ७ ठा० । अनु० ।

झल्लरीसंठिय-झल्लरीसंस्थित-त्रि० । झल्लरीसंस्थानवति, असपोच्छ्रायत्वान्महाविस्तारत्वाच्च तिर्यग्लोकक्षेत्रलोका झल्लरीसंस्थित० । भ० ११ श० १० उ० । स्था० ।

झवण-ध्यापन-न० । उपशमश्रेण्यां कर्मानुदयलक्षणे विध्यापने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

झवणा-क्षपणा-स्त्री० । क्षपणाऽपचयो निर्जरा पापकर्मणामस्यादिति क्षपणा । विशे० (९६१ गाथा) । " पावाण खवण त्ति " पापकर्मक्षपणहेतुत्वात्क्षपणा । भावाध्ययने सामायिकाऽऽदिश्रुतविशेषे, अनु० । स्था० । (अस्या निक्षेपस्तु ' खवणा ' शब्दे तृतीयभागे ७३३ पृष्ठे गतः)

झस-झष-पुं० । झष्यते कर्मणि घः । मत्स्ये, जी० ३ प्रति० । वाच० । तं० । अं० । प्रश्न० । विशे० । ज्ञा० । मीनराशौ च । भावे घः । तापे, अच् । विले वने च । न० । नागवल्ल्याम्, स्त्री० । वाच० । " झसविहगसुजायपीणकुच्छी ।" जी० ३ प्रति० । अं० । टङ्कच्छिन्ने, अयशसि, तटे, तटस्थे, दीर्घगम्भीरे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झसिअ-न० । देशी-पर्यस्ते, आकृष्टे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झसुर-न० । देशी-ताम्बूले, अर्थे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झाअइ-ध्याति-स्त्री० । "स्वरादनतो वा" । ८ । ४ । २४० । अकारान्तवर्जितात्स्वरान्ताद्धातोरन्तेऽकाराऽऽगमो वा भवति । 'झाइ' । 'झाअइ ।' प्रा० ४ पाद । ध्याने, स्था० ६ ठा० । आव० ।

झाइ-ध्याति-स्त्री० । ' झाअइ ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

झाइय-ध्यात-त्रि० । अनुप्रेक्षिते, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

झाइयव्व-ध्यातव्य-त्रि० । ध्येये, आव० ४ अ० ।

झाउल्ल-न० । देशी-कार्पासफले, दे० ना० ३ वर्ग ।

झाड-झाट-पुं० । झट्-णिच् अच् । निकुञ्जे कान्तारे, व्रणाऽऽदीनां च मार्जने, वाच० । लतागहने, दे० ना० ३ वर्ग ।

झाडन-झाटन-न० । झोषे, स्था० ५ ठा० २ उ० । प्रस्फोटने, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

झाण-ध्यान-न० । 'ध्यै' चिन्तायाम् । आ० चू० ४ अ० । ध्यायते चिन्त्यते वस्त्वनेन, ध्यातिर्वा ध्यानम् । प्रव० ६ द्वार । " साध्वसध्यह्यां झः " ॥ ८ । २ । २६ ॥ इति ध्यस्य झः । प्रा० २ पाद । चिन्तायाम्, आ० चू० ४ अ० । परिणामस्थिरतायाम्, अष्ट० ६ अष्ट० । एकाऽऽलम्बनसंस्थस्य सदृशप्रत्ययस्य च प्रत्ययान्तरानियुक्तप्रवाहे, षो० १२ विव० । आन्तर्मुहूर्तमात्रकालमेकाग्रचित्तताऽध्यवसाने, प्रव० ६ द्वार । एकावलम्बनेन मनःस्थैर्ये, विशे० । सूत्र० । योगनिरोधे, स० १ सम० । प्रश्न० । पञ्चा० । स्था० । ग० । सूत्र० ।

विषयसूची-

(१) ध्यानस्वरूपम् ।
(२) ध्यानस्य चातुर्विध्यम् ।
(३) ध्यानाध्यानयोर्विवेचनम् ।
(४) ध्यानस्यैव भेदनिरूपणम् ।
(५) प्रशस्ताप्रशस्तानि ध्यानानि ।
(६) शुभाशुभध्यानस्य विशेषतो वर्णनम् ।
(७) धर्मध्यानस्य वर्णनम् ।
(८) तत्र प्रसङ्गतो ज्ञानदर्शनचारित्रवैराग्यभावनानां स्वरूपप्रदर्शनम् ।
(९) देशद्वारे परिणतापरिणतयोगानां ध्याननिदर्शनम् ।
(१०) कालाऽऽसनाऽऽलम्बनक्रमद्वाराणि ।
(११) ध्यातव्यद्वारे ध्यातव्यभेदप्रतिपादनम् ।
(१२) ध्यातुः स्वरूपस्य निरूपणम् ।
(१३) तत्रानुप्रेक्षालेश्यालिङ्गद्वाराणि ।
(१४) फलद्वारे आलम्बनाऽऽदिविस्तरः ।
(१५) ध्यातव्यद्वारस्य विशेषतो विवरणम् ।
(१६) संसारप्रतिपक्षतया मोक्षहेतुर्ध्यानमिति निरूपणम् ।
(१७) ध्यानाष्टकेन ध्यानस्य फलाऽऽदिनिरूपणम् ।

(१) ध्यानस्वरूपम्—

उपयोगे विजातीय-प्रत्ययाव्यवधानभाक् ।
शुभैकप्रत्ययो ध्यानं, सूक्ष्माऽऽभोगसमन्वितम् ॥ ११ ॥

(उपयोग इति) उपयोगे स्थिरप्रदीपसदृशे भावरूपे ज्ञाने, विजातीयप्रत्ययेन तद्विच्छेदकारिणा विषयान्तरसंचारेणालक्ष्यकालेनापि, अव्यवधानभागनन्तरितः, शुभैकप्रत्ययः प्रशस्तैकार्थबोधो, ध्यानमुच्यते; सूक्ष्माऽऽभोगेनोत्पादाऽऽदिविषयसूक्ष्माऽऽलोचनेन, समन्वितं सहितम् । द्वा० १८ द्वा० ।

ध्यानं च विमले बोधे, सदैव हि महात्मनाम् ।
सदा प्रसृमरोऽनभ्रे, प्रकाशो गगने विधोः ॥ २० ॥

(ध्यानं चेति) विमले बोधे च सति, महात्मनां सदैव हि ध्यानं भवति, तस्य तन्नियतत्वात् । दृष्टान्तमाह-अनभ्रेऽभ्ररहिते गगने, विधोश्चन्द्रस्य प्रकाशः सदा प्रसृमरो भवति, तथाऽवस्थास्वाभाव्यादिति । द्वा० २४ द्वा० ।

(२) तच्चातुर्विध्यम्—

चत्तारि झाणा पण्णत्ता । तं जहा-अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के झाणे ।

सुगमं चैतत्-नवरं-ध्यानानि ध्यानानि, अन्तर्मुहूर्तमात्रं कालं चित्तस्थिरतालक्षणानि । उक्तं च-"अंतो मुहुत्तमित्तं, चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि । छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं ति" ॥१॥ तत्र ऋतं दुःखं, तस्य निमित्तं, तत्र वा भवम्, ऋते वा पीडिते भवमार्त्तध्यानं, रुद्रोऽध्यवसायो हिंसाऽऽद्यतिक्रौर्यानुगतं रौद्रं, श्रुतचरणधर्मादनपेतं धर्म्यं, शोधयत्यष्टप्रकारं कर्ममलं, शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम् । स्था० ४ ठा० १ उ० । विशे० । ध० । भ० । ग० । औ० । आ० चू० । तत्र ध्यातिर्ध्यानमिति भावसाधनः, तत्पुनः कालतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रं, भेदतस्तु चतुःप्रकारमार्त्ताऽऽदिभेदेन, ध्येयप्रकारास्त्वमनोज्ञविषयसम्प्रयोगाऽऽदयः । तत्र शोकाऽऽक्रन्दनविलपनाऽऽदिलक्षणमार्त्तं, तत्र उत्सन्नवधाऽऽदिलक्षणं रौद्रं, तेन जिनप्रणीतभावश्रद्धानाऽऽदिलक्षणं धर्म्यं, तेन अवधासंमोहाऽऽदिलक्षणं शुक्लम् । तेन फलं पुनरेषां तिर्यङ्नरकदेवगत्या विमोक्षाऽऽख्यमिति क्रमेण अयं ध्यानसमासार्थः । व्यासार्थस्तु-ध्यानशतकादवसेयः । तच्चेदं ध्यानशतकम्-अस्य च महार्थत्वाद्वस्तुतः शास्त्रान्तरत्वात् प्रारम्भ एव विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमाह-

वीरं सुक्कज्झाण-ऽग्गिदड्ढकम्मिंधणं पणमिऊणं ।
जोईसरं सरण्णं, झाणज्झयणं पवक्खामि ॥ १ ॥

वीरं शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धनं, प्रणम्य, ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्यामीति योगः । तत्र 'ईर' गतिप्रेरणयोरित्यस्य विपूर्वस्याजन्तस्य विशेषेण ईरयति कर्म गमयति, याति वेह शिवमिति वीरः; तं वीरं, किंविशिष्टम् ?, इत्यत आह-शुचं क्लमयतीति शु-

क्लं, शोकं ग्लपयतीत्यर्थः। 'ध्यै'-ध्यायते चिन्त्यतेऽनेन तत्त्वमिति ध्यानम्, एकाग्रचित्तनिरोध इत्यर्थः। शुक्लं च तद् ध्यानं च, तदेव कर्मेन्धनदहनाद् वह्निः शुक्लध्यानाग्निः,तथा मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगैः क्रियत इति कर्म-ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदि, तदेवातितीव्रदुःखानलनिबन्धनत्वादिन्धनं कर्मेन्धनं, ततश्च शुक्लध्यानाग्निना दग्धं स्वस्वभावापनयनेन भस्मीकृतं कर्मेन्धनं येन स तथाविधः,तं प्रणम्य,प्रकर्षेण मनोवाक्काययोगैर्नत्वेत्यर्थः। किम् ?, समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा-प्रत्ययविधानाद् ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्यामीति योगः। तत्राधीयत इत्यध्ययनं, कर्मणि ल्युट्, पठ्यत इत्यर्थः। ध्यानप्रतिपादकमध्ययनं ध्यानाध्ययनम्। तद्याथात्म्यमङ्गीकृत्य प्रकर्षेण वक्ष्येऽभिधास्ये, किंविशिष्टं वीरं प्रणम्य ?, इत्यत आह-योगेश्वरं, योगीश्वरं वा। तत्र युज्यन्त इति योगा मनोवाक्कायव्यापारलक्षणाः, तैरीश्वरः प्रधानः, तम्। तथाहि-अनुत्तरा एव भगवतो मनोवाक्कायव्यापारा इति।

यथोक्तम्-

" दुव्वमणोजोगणं, मणाणाणीणं अणुत्तराणं च ।
संसयवोच्छित्ति के-वलेण नाऊण सति कुणइ ॥ १ ॥
रिभियपयक्खरसरला मिच्छितरतिरिच्छसगिरपरिणामा ।
मणणिव्वाणी वाणी, जोयणनीहारिणी चेव ॥ २ ॥
एक्का य अणेगेसिं, संसयवोच्छेयणम्मि अपरिहया ।
न य निव्विज्जइ सोआ, तिप्पइ सव्वाउयं पि ॥ ३ ॥
सव्वसुरेहिंतो वि हु, अहिगो कंतो य कायजोगो से ।
तह वि य पसंतरूवे,कुणइ सया पाणिसंघाए" ॥४॥ इत्यादि।

युज्यते वाऽनेन केवलज्ञानाऽऽदिनाऽऽत्मेति योगो धर्मशुक्लध्यानलक्षणः । स येषां विद्यते इति योगिनः साधवः, तैरीश्वरः, तदुपदेशेन तेषां प्रवृत्तेः, तत्संबन्धादिति । तेषां वा ईश्वरो योगीश्वरः प्रभुः स्वामीत्यनर्थान्तरम्। तं योगीश्वरम्। अथवा योगिस्मार्यं- योगिनां चिन्त्यं, ध्येयमित्यर्थः। पुनरपि स एव विशेष्यते-शरण्यं-तत्र शरणे साधुः शरण्यः,तं रागाऽऽदिपरिभूताऽऽश्रितसत्त्ववत्सलं,रक्षकमित्यर्थः, ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्यामीत्येतद् व्याख्यातमेव।

अत्राऽऽह-यः शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धनः स योगीश्वर एव, यश्च योगीश्वरः स शरण्य एवेति गतार्थे विशेषणे। न। अभिप्रायापरिज्ञानात् । इह शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धनः सामान्यकेवल्यपि भवति, न त्वसौ योगेश्वरः, वाक्कायातिशयाभावात्;स एव च तत्त्वतः शरण्य इति ज्ञापनार्थमेवाऽदुष्टमेतदपि। तथा चोभयपदव्यभिचारे एकपदव्यभिचारे अज्ञानज्ञापनार्थे च शास्त्रे विशेषणाभिधानमनुज्ञातमेव पूर्वमुनिभिरित्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ १ ॥

(२) साम्प्रतं ध्यानाध्यानलक्षणं प्रतिपादयन्नाह-

जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलं तयं चित्तं ।
तं हुज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता ॥ २ ॥

यदित्युद्देशः, स्थिरं निश्चलम्,अध्यवसानं, मन एकाग्रताऽऽलम्बनमित्यर्थः। तदिति निर्देशे. ध्यानं-प्राङ्निरूपितशब्दार्थम्। तत्रश्चैतदुक्तं भवति-यत्स्थिरमध्यवसानं तद्ध्यानमभिधीयते. यच्चलमिति यत्पुनरनवस्थितं तच्चित्तम्। तच्चौघतस्त्रिधा भवतीति दर्शयति। तद्भवेद्भावना वेति-तच्चित्तं भवेत्। का ?, भावना-भाव्यत इति भावना, ध्यानाभ्यासक्रियेत्यर्थः। वा विभाषायां, अनुप्रेक्षा वेति-अनु पश्चाद्भावे,प्रेक्षणं प्रेक्षा, सा च स्मृतिः, ध्यानाद्भ्रष्टस्य चित्तचेष्टेत्यर्थः। वा पूर्ववत्। अथवा (चिंते त्ति) अथवाशब्दः प्रकारान्तरप्रदर्शनार्थः । चिन्तेति-या खलूक्तप्रकारद्वयरहिता मनश्चेष्टा, सा चिन्तेति गाथार्थः ॥ २ ॥

इत्थं ध्यानाऽध्यानलक्षणमोघतोऽभिधायाधुनाऽध्यानमेव कालस्वामिभ्यां निरूपयन्नाह-

अंतोमुहुत्तमित्तं, चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि ।
छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं तु ॥ ३ ॥

इह मुहूर्त्तः सप्तसप्ततिलवप्रमाणः कालविशेषो भण्यते। (आ०) अन्तर्मध्यकरणे,ततश्च अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं, कालमिति गम्यते। मात्रशब्दस्तदधिककालव्यवच्छेदार्थः। ततश्च भिन्नमुहूर्त्तमेव कालम्,किम् ?, चित्तावस्थानमिति-चित्तस्य मनसः,अवस्थानं चित्तावस्थानम्, अवस्थितिरवस्थानं,निष्प्रकम्पतया वृत्तिरित्यर्थः। क ?, एकवस्तुनि-एकमद्वितीयं, वसन्त्यस्मिन् गुणपर्याया इति वस्तु-चेतनाऽऽदि;एकं च तद्वस्तु च एकवस्तु,तस्मिन्। छद्मस्थानां ध्यानमिति-तत्र छादयतीति छद्म-पिधानं, तच्च ज्ञानाऽऽदीनां गुणानामावारकत्वाद् ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिलक्षणं घातिकर्म, छद्मनि स्थिताः छद्मस्थाः, अकेवलिन इत्यर्थः। तेषां छद्मस्थानां, ध्यानं प्राग्वत्। ततश्चायं समुदायार्थः-अन्तर्मुहूर्त्तकालं यच्चित्तावस्थानम् एकस्मिन् वस्तुनि तत् छद्मस्थानां ध्यानमिति। योगनिरोधो जिनानां त्विति। तत्र योगास्तत्त्वत औदारिकाऽऽदिशरीरसंयोगसमुत्था आत्मपरिणामविशेषव्यापारा एव। यथोक्तम्-" औदारिकाऽऽदिशरीरयुक्तस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः; तथौदारिकवैक्रियाऽऽहारकशरीरव्यापाराऽऽहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः; तथौदारिकवैक्रियाऽऽहारकशरीरव्यापाराऽऽहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोग इति। अमीषां निरोधो योगनिरोधः, निरोधनं निरोधः, प्रलयकरणमित्यर्थः। केषां ?, जिनानां केवलिनां, तुशब्द एवकारार्थः । स चावधारणे, योगनिरोध एव, न तु चित्तावस्थानं, चित्तस्यैवाभावात् । अथवा योगनिरोधो जिनानामेव ध्यानं, नान्येषाम्,अशक्यत्वादित्यलं विस्तरेण। यथा चायं योगनिरोधो जिनानां ध्यानं यावन्तं च कालं तद्भवत्येतदुपरिष्टाद्वक्ष्याम इति गाथार्थः ॥३॥

साम्प्रतं छद्मस्थानामन्तर्मुहूर्त्तात्परतो यद्भवति, तदुपदर्शयन्नाह—

अंतोमुहुत्तपरओ, चिंता झाणंतरं व हुज्जाहि ।
सुचिरं पि हुज्ज बहुव-त्थुसंकमे झाणसंताणो ॥ ४ ॥

अन्तर्मुहूर्त्तात्परत इति-भिन्नमुहूर्त्तादूर्ध्वं, चिन्ता प्रागुक्तस्वरूपा, तथा ध्यानान्तरं वा भवेत्। तत्रेह न ध्यानादन्यद् ध्यानं ध्यानान्तरं परिगृह्यते, किं तर्हि ?, भावनाऽनुप्रेक्षाऽऽत्मकं चेत इति। इदं च ध्यानान्तरं तदुत्तरकालभाविनि ध्याने सति भवति, तत्राप्ययमेव न्याय इति कृत्वा ध्यानसन्तानप्राप्तिर्यतः, अतस्तमेव कालमानं वस्तुसंक्रमद्वारेण निरूपयन्नाह—सुचिरमपि प्रभूतमपि, कालमिति गम्यते । भवेत्, बहुवस्तुसंक्रमे सति, ध्यानसन्तानो ध्यानप्रवाह इति। तत्र बहूनि च तानि वस्तूनि बहुवस्तूनि, आत्मगतपरगतानि गृह्यन्ते । तत्राऽऽत्मगतानि मनःप्रभृतीनि, परगतानि द्रव्याऽऽदीनीति,तेषु संक्रमः संचरणमिति गाथार्थः ॥४॥

(४) अथ ध्यानस्यैव भेदानाह-

कायाऽऽदिविहिकिक्कं, तिव्वं मउयं च मज्झं च ।
जह सीहस्स गईओ, मंदा य पुत्रा दुया चेव ॥

पुनरिहाध्यवसायाऽऽत्मकं चित्तं त्रिधा-कायिकं, वाचिकं, मानसिकं च। कायिकं नाम-यत्कायव्यापारेणोपयुक्तो मकरकच्छापिकां करोति, कूर्मवद्वा संलीनाङ्गोपाङ्गस्तिष्ठति । वाचिकं तु-मयेदृशी निरवद्या भाषा भाषितव्या, नेदृशी सावद्येति विमर्शपुरस्सरं यद्भाषते । यद्वा-विकथाऽऽदिव्युदासेन श्रुतपरावर्त्तनाऽऽदिकमुपयुक्तः करोति तद्वाचिकम् । मानसं तु-एकस्मिन् वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता । पुनरेकैकं त्रिविधं—तीव्रं, मृदुकं च, मध्यं च । तत्र तीव्रमुत्कटम्, मृदुकं च मन्दम्, मध्यं च-नातितीव्रं नातिमृदुकमित्यर्थः । यथा सिंहस्य गतयस्तिस्रो भवन्ति । तद्यथा-मन्दा च, प्लुता, द्रुता च । तत्र मन्दा—विलम्बिता, प्लुता-नातिमन्दा नातित्वरिता, द्रुता-अतिशीघ्रवेगा । बृ० १ उ० । दर्श० ।

इत्थं तावत् समसङ्गं ध्यानस्य सामान्येन लक्षणमुक्तम्;अधुना विशेषलक्षणाभिधित्सया ध्यानोद्देशं विशिष्टफलहेतुभावं च संक्षेपतः प्रदर्शयन्नाह-

(५) प्रशस्ताप्रशस्तानि ध्यानानि-

अट्टं १ रुद्दं २ धम्मं ३, सुक्कं ४ झाणाइँ तत्थ अंताइं ।
निव्वाणसाहणाइं, भवकारणमट्टरुद्दाइं ॥ ५ ॥

आर्त्तं,रौद्रं,धर्म्मं, शुक्लम् । तत्र ऋतं दुःखं, तन्निमित्तो दृढोऽध्यवसायः,ऋते भवमार्त्तं,क्लिष्टमित्यर्थः । हिंसाऽऽद्यतिक्रौर्यानुगतं रौद्रम् । चरणश्रुतधर्मानुगतं धर्म्यम् । शोधयत्यष्टप्रकारं कर्ममलं,शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम् । अमूनि ध्यानानि वर्त्तन्ते । अधुना फलहेतुत्वमुपदर्शयति-तत्र ध्यानचतुष्टये, अन्ते चरमे-सूत्रक्रमप्रामाण्याद् धर्मशुक्ले इत्यर्थः । किम् ?, निर्वाणसाधने । इह निर्वृतिर्निर्वाणं,सामान्येन सुखमभिधीयते । तस्य साधने-कारणे इत्यर्थः । ततश्च-" अट्टेण तिरिक्खगतिं, रोद्दज्झाणेण गम्मती नरयं । धम्मेण देवलोयं, सिद्धिगतिं सुक्कझाणेणं ॥ १ ॥ " इति यदुक्तं, तदपि न विरुध्यते । देवगतिसिद्धिगत्योः सामान्येन सुखाभिरूढेरिति । अथापि निर्वाणं मोक्षः,तथाऽपि पारम्पर्येण धर्मध्यानस्यापि तत्साधनत्वादविरोध इति । तथा भवकारणमार्त्तरौद्रे इति । तत्र भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिन इति भवः-संसार एव, तथाऽन्यत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेस्तिर्यङ्नारकभवग्रह इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ आव० ४ अ० । सम्म० ।

(६) अथ शुभाशुभध्यानज्ञापनार्थमिदमाह-

वण्णरसगंधफासा, इट्ठाणिट्ठा विभासिया सुत्ते ।
अहिकिच्च दव्वलेसा, ताहिं उ साहिज्जई भावो ॥

सूत्रे प्रज्ञापनाऽऽदौ, कृष्णाऽऽदीनां लेश्यानां वर्णगन्धरसस्पर्शाः, इष्टा अनिष्टाश्च, विभाषिता विविधमनेकैरुपमानैर्वर्णिताः । (लेश्यावर्णनं 'लेस्सा' शब्दे वक्ष्यते) तदेतत् सर्वमपि द्रव्यलेश्या अधिकृत्य प्रतिपत्तव्यम् । ताभिश्च द्रव्यलेश्याभिः शुभाशुभाध्यवसायरूपः साध्यते भावः । बृ० १ उ० । आव० । दर्श० । (आर्त्तध्यानवक्तव्यता ' अट्टज्झाण ' शब्दे प्रथमभागे २३५ पृष्ठे निरूपिता । रौद्रध्यानवक्तव्यता तु 'रोद्दज्झाण' शब्दे वक्ष्यते) धर्मशुक्लध्यानयोस्तु परमार्थतो ध्यानत्वादिहैव व्याख्या ।

(७) साम्प्रतं धर्म्मध्यानावसरः, तत्र तदभिधित्सयैवाऽऽदाविदं द्वारगाथाद्वयमाह-

झाणस्स भावणाओ, देसं कालं तहाऽऽसणविसेसं ।
आलंबण कम्मं झा-इयव्वयं जे य झायारो ॥ २८ ॥
तत्तोऽणुप्पेहाओ, लेस्सा लिंगं फलं च नाऊणं ।
धम्मं झाइज्ज मुणी, तग्गयजोगो तओ सुक्कं ॥ २९ ॥

ध्यानस्य प्राङ्निरूपितशब्दार्थस्य,किम् ? भावनाः-ज्ञानाऽऽद्याः, ज्ञात्वेति योगः । किं च-देशं तदुचितं, कालं, तथाऽऽसनविशेषं तदुचितमिति; आलम्बनं वाचनाऽऽदि,क्रमं मनोनिरोधाऽऽदि, तथा ध्यातव्यं ध्येयमाज्ञाऽऽदि,तथा ये च ध्यातारः-अप्रमादाऽऽदियुक्ताः,ततोऽनुप्रेक्षाः-ध्यानोपरमकालभाविन्योऽनित्यत्वाऽऽद्यालोचनारूपाः, तथा लेश्याः-शुद्धा एव, तथा लिङ्गं-श्रद्धानाऽऽदि, तथा फलं-सुरलोकाऽऽदि । चशब्दः स्वगतानेकभेदप्रदर्शनपरः । एतद् ज्ञात्वा, किम् ?, धर्म्ममिति-धर्मध्यानं, ध्यायेन्मुनिरिति । तत्कृतयोगः-धर्मध्यानकृताभ्यासः, ततः पश्चात्, शुक्लध्यानमिति गाथाद्वयसमासार्थः । व्यासार्थं तु प्रतिद्वारं ग्रन्थकारः स्वयमेव वक्ष्यति । २८ । २९ ।

तत्राऽऽद्यद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाऽऽह—

पुव्वकयब्भासो भा-वणाहिँ झाणस्स जुग्गयमुवेइ ।
ताओ अ नाणदंसण-चरित्तवेरग्गनियाओ ॥ ३० ॥
"वेरग्गजणिआओ" इति पाठान्तरम् ।

पूर्वं ध्यानात्प्रथमं, कृतो निर्वर्त्तितः, अभ्यास आसेवनालक्षणो येन स तथाविधः, काभिः पूर्वकृताभ्यासः ?-भावनाभिः करणभूताभिः,भावनासु वा भावनाविषये पश्चाद्,ध्यानस्याधिकृतस्य, योग्यताम्-अनुरूपताम्,उपैति यातीत्यर्थः। ताश्च भावना ज्ञानदर्शनचारित्रवैराग्यनियता वर्त्तन्ते, नियता इति परिच्छिन्नाः । पाठान्तरे वा जनिता इति गाथार्थः ॥ ३० ॥

(८) साम्प्रतं ज्ञानभावनास्वरूपं गुणदर्शनार्थमाह—

णाणे निच्चब्भासो, कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च ।
नाणगुणमुणिअसारो, तो झाइ सुनिच्चलमईओ ॥ ३१ ॥

ज्ञाने श्रुतज्ञाने, नित्यं सदा, अभ्यास आसेवनालक्षणः, करोति निर्वर्त्तयति, किम् ?,मनसोऽन्तःकरणस्य, चेतस इत्यर्थः। धारणमशुभव्यापारनिरोधेनावस्थानमिति भावना । तथा विशुद्धिं च, तत्र विशोधनं विशुद्धिः,सूत्रार्थयोरिति गम्यते । नाम,चशब्दाद् भवनिर्वेदं च । एवं ज्ञानगुणज्ञातसार इति-ज्ञानेन गुणानां जीवाजीवाऽऽश्रितानां, 'गुणपर्यायं च द्रव्यम्' इति वचनात्, पर्यायाणां च तदविनाभाविनां (मुणितो) ज्ञातः सारः परमार्थो येन स तथोच्यते, ज्ञानगुणेन वा ज्ञानमाहात्म्येनेति भावः । ज्ञातः सारो येन, विभक्त्येति गम्यते । स तथाविधः । ततश्च पश्चाद्, ध्यायति चिन्तयति; किंविशिष्टः सन् ?, निश्चला निष्प्रकम्पा, सम्यग्ज्ञानतोऽन्यथाप्रवृत्तिकम्परहितेति भावः । मतिर्बुद्धिर्यस्य स तथाविध इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ उक्ता ज्ञानभावना ।

साम्प्रतं दर्शनभावनास्वरूपं गुणदर्शनार्थमिदमाह-

संकाइदोसरहिओ, पसमत्थिज्जाइगुणगणोवेओ ।
होइ असंमूढमणो, दंसणसुद्धीइ झाणम्मि ॥ ३२ ॥

(संकाइदोसरहित त्ति) शङ्कनं शङ्का,आदिशब्दात्काङ्क्षाऽऽदि-

परिग्रहः । उक्तञ्च-"शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसापरपाखण्डसंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः" इति । (एतेषां च स्वरूपं प्रत्याख्यानाध्ययने व्यक्तं वक्ष्यामः) तत्र शङ्काऽऽदय एव सम्यक्त्वाऽऽख्यप्रथमगुणातिचारत्वाद्दोषाः शङ्काऽऽदिदोषाः, तैः रहितः त्यक्तः; उक्तदोषरहितत्वादेव । किम् ?-प्रशमस्थैर्याऽऽदिगुणगणोपेतः । तत्र प्रकर्षेण शमः प्रशमः खेदः । स च स्वपरसमयतत्त्वाधिगमरूपः, स्थैर्यं तु जिनशासने निष्प्रकम्पता । आदिशब्दात् प्रभावनाऽऽदिपरिग्रहः । उक्तञ्च-"सपरसमयं कोसल्लं, थिरिया जिणसासणे पभावणया । आययणसेवणत्ती, दंसणदीवा गुणा पंच" ॥१॥ प्रशमस्थैर्याऽऽदय एव गुणाः, तेषां गणः समूहः, तेनोपेतो युक्तो यः स तथाविधः । अथवा-प्रशमाऽऽदिना स्थैर्याऽऽदिना च गुणगणेनोपेतः । तत्र प्रशमाऽऽदिगुणगणः प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणः; स्थैर्याऽऽदिस्तु दर्शित एव । य इत्थम्भूतः, असौ भवत्यसंमूढमनाः, तत्त्वान्तरऽभ्रान्तचित्त इत्यर्थः । दर्शनशुद्ध्योक्तलक्षणया हेतुभूतया, क ?, ध्याने इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ उक्ता दर्शनभावना ।

साम्प्रतं चारित्रभावनास्वरूपं गुणदर्शनायेदमाह-

नवकम्माणायाणं, पोराणविणिज्जरं सुभादाणं ।
चारित्तभावणाए, झाणमयत्तेण य समेइ ॥ ३३ ॥

नवकर्मणामनादानमिति-नवानि उपचीयमानानि प्रत्यग्राणि जन्यन्ते, क्रियन्ते इति कर्माणि-ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदीनि, तेषामनादानमग्रहणम्, चारित्रभावनया समेति गच्छतीति योगः । तथा पुराणविनिर्जरां- चिरन्तनक्षपणामित्यर्थः । तथा शुभाऽऽदानमिति-शुभं पुण्यं सम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्रात्मकं, तस्याऽऽदानं ग्रहणम । किम् ?-चारित्रभावनया हेतुभूतया ध्यानं, चशब्दान्नवकर्मानादानाऽऽदि वा; अयत्नेनाक्लेशेन, समेति गच्छति, प्राप्नोतीत्यर्थः ।

तत्र चारित्रभावनयेति कोऽर्थः ?, 'चर' गतिभक्षणयोरित्यस्य "अर्तिलूधूसूखनिसहचर इत्रः" ॥३।२।१८४॥ इति (पाणि०) इत्रप्रत्ययान्तस्य चरित्रमिति भवति । चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्रं—क्षयोपशमरूपं, तस्य भावश्चारित्रम । एतदुक्तं भवति-इहान्यजन्मोपात्ताष्टविधकर्मसंचयापचयाय चरणभावः चारित्रमिति, सर्वसावद्ययोगविनिवृत्तिरूपा क्रियेत्यर्थः । तस्य भावनाऽभ्यासश्चारित्रभावनेति गाथार्थः । उक्ता चारित्रभावना ॥ ३३ ॥

साम्प्रतं वैराग्यभावनास्वरूपं गुणदर्शनार्थमाह-

सुविइअजगस्सहावो, निस्संगो निब्भओ निरासो अ ।
वेरग्गभाविअमणो, झाणम्मि सुनिच्चलो होइ ॥ ३४ ॥

सुष्ठ्वतीव विदितो ज्ञातः जगतश्चराचरस्य । यथोक्तम्-
"जगन्ति जङ्गमान्याहु-र्जगद् ज्ञेयं चराचरम् ॥"
स्वो भावः स्वभावः ।
"जन्म मरणाय नियतं, बन्धुर्दुःखाय धनमनिर्वृतये ।
तन्नास्ति यन्न विपदे, तथापि लोको निरालोकः" ॥१॥

इत्यादिलक्षणो येन स तथाविधः । कदाचिदेवंभूतोऽपि कर्मपरिणतिवशात् ससङ्गो भवत्यत आह—निःसङ्गो विषयस्नेहसङ्गरहितः । एवम्भूतोऽपि कदाचित् सभयो भवत्यत आह- निर्भयः-इहलोकाऽऽदिसप्तभयविप्रमुक्तः । कदाचिदेवम्भूतोऽपि विशिष्टपरिणत्यभावात् परलोकमधिकृत्य साऽऽशंसो भवत्यत आह-निराशश्च-इहपरलोकाऽऽशंसाविप्रमुक्तः, चशब्दात्तथाविधक्रोधाऽऽदिरहितश्च । य एवंविधो वैराग्यभावितमना भवति स खल्वज्ञानाऽऽद्युपद्रवरहितत्वात् ध्याने सुनिश्चलो भवतीति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ उक्ता वैराग्यभावना, मूलद्वारगाथाद्वये ध्यानस्य भावना इति व्याख्यातम् ।

(३) अधुना देशद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह-

निच्चं चिअ जुवइपसू-नपुंसगकुसीलवज्जिअं जइणो ।
ठाणं विअणं भणिअं, विसेसओ झाणकालम्मि ॥ ३५ ॥

नित्यमेव सर्वकालमेव, न केवलं ध्यानकाल इति । किम् ?, युवतिपशुनपुंसककुशीलपरिवर्जितं, यतेः स्थानं विजनं भणितमिति । तत्र युवतिशब्देन मनुष्यस्त्री, दैवी च परिगृह्यते । पशुशब्देन तु तिर्यक्स्त्रीति । नपुंसकं प्रतीतं, कुत्सितं निन्दितं शीलं वृत्तं येषां ते कुशीलाः, ते च तथाविधा द्यूतकाराऽऽदयः ।

उक्तञ्च-

"जूययरलोलमेंठा, वट्टा लङ्घणगाइणो जे य ।
एते हुंति कुसीला, वज्जेयव्वा पयत्तेणं" ॥ १ ॥

युवतिश्च पशुश्चेत्यादिद्वन्द्वः । युवत्यादिभिः, परि समन्तात्, वर्जितं रहितमिति विग्रहः । यतेस्तपस्विनः साधोः, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति साध्वाश्च । किं ?, स्थानमवकाशलक्षणम् । तदेव विशेष्यते--युवत्यादिव्यतिरिक्तशेषजनापेक्षया विगतं जनं विजनं, भणितमुक्तं, तीर्थंकरैर्गणधरैश्चेदमेवं नूनं नित्यमेव, अन्यत्र प्रवचनोक्तदोषसंभवात्, विशेषतो ध्यानकाल इति । अपरिणतयोगाऽऽदिनाऽन्यत्र ध्यानस्याऽऽराधयितुमशक्यत्वादिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

इत्थं तावदपरिणतयोगाऽऽदीनां स्थानमुक्तम्, अधुना परिणतयोगाऽऽदीनधिकृत्य विशेषमाह-

थिरकयजोगाणं पुण, मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं ।
गामम्मि जणाइन्ने, सुन्नेऽरन्ने व न विसेसो ॥ ३६ ॥

तत्र स्थिराः संहननधृतिभ्यां बलवन्त उच्यन्ते, कृता निर्वर्तिताः, अभ्यस्ता इति यावत् । के ?-युज्यन्त इति योगाः-ज्ञानाऽऽदिभावनाऽऽदिव्यापाराः, सत्त्वसूत्रतपःप्रभृतयो वा येस्ते कृतयोगाः, स्थिराश्च ते कृतयोगाश्चेति विग्रहः । तेषाम् । अत्र च स्थिरकृतयोगयोश्चतुर्भङ्गी भवति । तद्यथा-'थिरे णामेगे णो कयजोगे' इत्यादि । स्थिरा वा पीन पुन्यकरणेन परिचिताः कृता योगा येस्ते तथाविधाः, तेषाम् । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि ?- तृतीयभङ्गवतां, न शेषाणां, स्थिरऽभ्यस्तयोगानां वा । मुनीनामिति-मन्यन्ते जीवाऽऽदीन् पदार्थानिति मुनयो विपश्चितः साधवः, तेषाम्, तथा ध्याने अधिकृते एव धर्मध्याने, सुष्ठ्वतिशयेन निश्चलं निष्प्रकम्पं मनो येषां ते तथाविधाः, तेषाम् । एवंविधानां ध्यानं प्रतिग्रामे जनाऽऽकीर्णे, शून्येऽरण्ये वा, न विशेष इति । तत्र ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणान् इति ग्रामः, गम्यो वा कराऽऽदीनामिति ग्रामः, सन्निवेशविशेषः । इह चैकग्रहणेन तज्जातीयग्रहणान्नगरखेट-कर्बटाऽऽदिपरिग्रह इति । जनाऽऽकीर्णे जनाऽऽकुले ग्रामे एवोद्यानाऽऽदौ, तथा शून्ये तस्मिन्नेव, अरण्ये वा कान्तारे वेति, वा विकल्पेन विशेषान्न भेदः, सर्वत्र तुल्यभावत्वात् परिणतत्वात्तेषामिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

तो जत्थ समाहाणं, होइ मणोवयणकायजोगाणं ।
भूओवरोहरहिओ, सो देसो झायमाणस्स ॥ ३७ ॥

यत एवमुक्तमतस्तस्मात् कारणात्, यत्र ग्रामाऽऽदौ स्थाने, स-

माधानं स्वास्थ्यं, भवति जायते । केषाम् ?, इत्यत आह-मनोवाक्काययोगानां प्राङ्निरूपितस्वरूपाणामिति । आह-मनोयोगसमाधानमस्तु, वाक्काययोगसमाधानं त्वत्र कोपयुज्यते, न हि तन्मयं ध्यानं भवति ?। अत्रोच्यते तत्समाधानम्-तावन्मनोयोगोपकारकं ध्यानमपि च तदात्मकं भवत्येव ।

यथोक्तम्-

"एवंविधा गिरा मे, वत्तव्वा एरिसी न वत्तव्वा ।
इय वेयालिय वक्क-स्स भासओ वाइयं झाणं ॥ १ ॥"

तथा—

" सुसमाहियकरपाय-स्स अ कज्जे कारणम्मि जयणाए ।
किरियाकरणं जं तं, काइयझाणं भवे जइणो ॥१॥"

न चात्र समाधानमात्रकारित्वमेव गृह्यते, किं तु भूतोपरोधरहितः, तत्र भूतानि पृथिव्यादीनि, उपरोधस्तत्संघट्टनाऽऽदिलक्षणः, तेन रहितः परित्यक्तो यः। एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात् अनृतादत्ताऽऽदानमैथुनपरिग्रहाऽऽद्युपरोधरहितश्च,स देशो,ध्यायतः-चिन्तयतः, उचित इति शेषः । अयं गाथार्थः ॥३७॥ गतं देशद्वारम् ।

(१०) अधुना कालाऽऽसनाऽऽलम्बनक्रमद्वारेषु क्रमप्राप्तं कालद्वारमभिधित्सुराह-

कालो वि सो च्चिय जहिं, जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ ।
न उ दिवसनिसावेला-इनियमणं झाइणो भणिअं ।३८।

कलनं कालः, कलासमूहो वा, स चार्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु चन्द्रसूर्यगतिक्रियोपलक्षितो दिवसाऽऽदिरवसेयः । अपिशब्दो देशानियमेन तुल्यत्वसंभावनार्थः। तथा चाह-कालोऽपि स एव, ध्यानोचित इति गम्यते । यत्र काले, योगसमाधानं मनोयोगाऽऽदिस्वास्थ्यम्, उत्तमं प्रधानं, लभते प्राप्नोति,न तु पुनर्नैव, तुशब्दस्य पुनःशब्दार्थत्वादेवकारार्थत्वाद्वा । किम् ?, दिवसनिशावेलाऽऽदिनियमनं ध्यायिनो भणितमिति। दिवसनिशे प्रतीते। वेला सामान्यत एव तदेकदेशो मुहूर्त्ताऽऽदिः । आदिशब्दात्पूर्वाह्णापराह्णाऽऽदिपरिग्रहः । एतन्नियमनं दिवैवेत्यादिलक्षणं,ध्यायिनः सत्त्वस्य, भणितमुक्तं, तीर्थकरगणधरैर्नैवेति गाथार्थः । गतं कालद्वारम् ॥३८॥

आसनविशेषद्वारं व्याचिख्यासयाऽऽह-

जच्चिअ देहावत्था, जिआ ण झाणोवरोहिणी होइ ।
झाइज्जा तदवत्थो, ठिओ निसण्णोऽनिसण्णो वा ॥३९॥

इह यैव काचित्,देहावस्था शरीरावस्था निषण्णताऽऽदिरूपा, किम् ?,जितेत्यभ्यस्ता,उचिता वा, तथाऽनुष्ठीयमाना,न,ध्यानोपरोधिनी भवति-नाधिकृतधर्मध्यानपीडाकरी भवतीत्यर्थः। ध्यायेत, तदवस्थ इति-सैवावस्था यस्य स तदवस्थः, तमेव विशेषत आऽऽह-स्थितः कायोत्सर्गेण,ईषन्नताऽऽदिना निषण्ण उपविष्टो, वीरासनाऽऽदिनाऽनिषण्णः शयितो दण्डाऽऽयताऽऽदिना,वा विभाषायामिति गाथार्थः ॥३९॥

आह-किं पुनरयं देशकालाऽऽसनानामनियम इति?,अत्रोच्यते-

सव्वासु वट्टमाणा, मुणओ जं देसकालचिट्ठासु ।
वरकेवलाइभावं, पत्ता बहुसो समियपावा ॥ ४० ॥

सर्वास्वित्यशेषासु,देशकालचेष्टास्विति योगः। चेष्टा देहावस्था, किम् ?, वर्त्तमाना अवस्थिताः, के ?,मुनयः प्राङ्निरूपितशब्दार्थाः, यद्यस्मात्कारणात्; किम् ?,वरः प्रधानश्चासौ केवलाऽऽदिभावश्च,तं,प्राप्ता इति। आदिशब्दान्मनःपर्यायज्ञानाऽऽदिपरिग्रहः। किं सकृदेव प्राप्ताः ?, न । केवलवर्जं बहुशोऽनेकशः, किंविशिष्टाः ?, शान्तपापाः, तत्र पातयति नरकाऽऽदिष्विति पापम्, शान्तमुपशमं नीतं पापं यैस्ते तथाविधा इति गाथार्थः ॥४०॥

तो देसकालचिट्ठा-नियमो झाणस्स नत्थि समयम्मि ।
जोगाण समाहाणं, जह होइ तह पयइयव्वं ॥ ४१ ॥

यस्मादिति पूर्वगाथायामुक्तं,तेन सहास्याभिसंबन्धः,तस्मात्,देशकालचेष्टानियमो,ध्यानस्य,नास्ति न विद्यते । क्व?,समये आगमे,किं तु योगानां मनःप्रभृतीनां, समाधानं पूर्वोक्तं, यथा भवति तथा यतितव्यं यत्नः कार्य इत्यत्र नियम एवेति गाथार्थः ॥४१॥ गतमासनद्वारम् ।

अधुना आलम्बनद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाऽऽह-

आलंबणाऽऽइवायण-पुच्छणपरिअट्टणाणुचिंताओ ।
सामाइआइ एया-इ सद्धमाऽऽवस्सयाइं च ॥ ४२ ॥

इह धर्मध्यानाऽऽरोहणार्थमालम्ब्यन्त इत्यालम्बनानि, वाचना पृच्छना परावर्त्तनाऽनुचिन्ता इति। तत्र वाचनं वाचना,विनेयाय निर्जरायै सूत्राऽऽदिदानमित्यर्थः। शङ्किते सूत्राऽऽदौ संशयापनोदाय गुरुपृच्छनं प्रश्न इति। परिवर्त्तनं तु पूर्वाधीतस्यैव सूत्राऽऽदेरविस्मरणनिर्जरानिमित्तमभ्यासकरणमिति। अनुचिन्तनमनुचिन्ता, मनसैवाविस्मरणनिमित्तं सूत्रानुस्मरणमित्यर्थः। वाचना च, प्रश्नश्चेत्यादि द्वन्द्वः । एतानि च श्रुतधर्मानुगतानि वर्त्तन्ते । तथा सामायिकाऽऽदीनि सद्धर्माऽऽवश्यकानि चेति । अमूनि तु चरणधर्मानुगतानि वर्त्तन्ते। सामायिकमादौ येषां तानि सामायिकाऽऽदीनि। सामायिकं प्रतीतम्, आदिशब्दान्मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणाऽऽदिलक्षणसकलचक्रवालसामाचारीपरिग्रहः। यावत्पुनरपि सामायिकमिति। एतान्येव विधिवदासेव्यमानानि,सन्ति शोभनानि, सन्ति च तानि चारित्रधर्माऽऽवश्यकानि चेति विग्रहः। आवश्यकानि नियमतः करणीयानि । चः समुच्चये। इति गाथार्थः ॥४२॥

साम्प्रतममीषामेवाऽऽलम्बनत्वे निबन्धनमाह-

विसमम्मि समारोहइ, दढदव्वाऽऽलंबणो जहा पुरिसो ।
सुत्ताऽऽइकयाऽऽलंबो, तह झाणवरं समारुहइ ॥ ४३ ॥

विषमे निम्ने दुःसंचारे, समारोहति सम्यगपरिक्लेशेनोर्ध्वं याति । कः?, दृढं बलवत्,द्रव्यं रज्ज्वाद्यालम्बनं यस्य स तथाविधः। यथा पुरुषः पुमान्कश्चित्सूत्राऽऽदिकृताऽऽलम्बनः,वाचनाऽऽदिकृताऽऽलम्बन इत्यर्थः। तथा तेनैव प्रकारेण, ध्यानवरं धर्मध्यानमित्यर्थः। समारोहतीति गाथार्थः। गतमालम्बनद्वारम् ।

अधुना क्रमद्वारावसरः। तत्र लाघवार्थं क्रमं धर्मस्य शुक्लस्य च प्रतिपादयन्नाह-

झाणप्पडिवत्तिकम्मो, होइ मणोजोगनिग्गहाईओ ।
भवकाले केवलिणो, सेसस्स जहा समाहीए ॥ ४४ ॥

ध्यानं प्राङ्निरूपितशब्दार्थं,तस्य प्रतिपत्तिक्रम इति समासः। प्रतिपत्तिक्रमः प्रतिपत्तिपरिपाट्यभिधीयते। स च भवति मनोयोगनिग्रहाऽऽदिः। तत्र प्रथमं मनोयोगनिग्रहः,ततो वाग्योगनिग्रहः;ततः काययोगनिग्रह इति। किमयं सामान्येन सर्वस्यैवेत्थंभूतः क्रमः?; न, किं तु भवकाले केवलिनः । अत्र भवकालशब्देन मोक्षगमनप्रत्यासन्नः अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण एव शैलेश्यवस्थान्तर्गतः परिगृह्यते । केवलमस्यास्तीति केवली, तस्य शुक्लध्यान एवायं क्रमः प्रतिपत्तिक्रमः। शेषस्यान्यस्य धर्मध्यानप्रतिपत्तुः, योगकाले

स्वावाश्रित्य, किम्?, यथा समाधिनेति-यथैव स्वास्थ्ये भवति, तथैव प्रतिपत्तिरिति गाथार्थः ॥४४॥ गतं क्रमद्वारम् ।

(११) इदानीं ध्यातव्यमुच्यते-

आणा विजए अवाए, विवागे संठाणओ अ नायव्वा ।
एए चत्तारि पया, झायव्वा धम्मझाणस्स ॥ ५० ॥

तच्चतुर्भेदमाज्ञाऽऽदि । उक्तं च-आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यमित्यादि । (तत्राद्यभेदम् 'आणा' शब्दे द्वितीयभागे ११५ पृष्ठे गतम्)

अधुना द्वितीय उच्यते-

रागद्दोसकसाया-ऽऽसवाइकिरियासु वट्टमाणाणं ।
इहपरलोगावाए, झाइज्जा वज्जपरिवज्जी ॥ ५१ ॥

रागद्वेषकषायाऽऽश्रवाऽऽदिक्रियासु वर्त्तमानानां इहपरलोकापायान् ध्यायेत् । यथा-रागाऽऽदिक्रियैहिकाऽऽमुष्मिकविरोधिनी ।

उक्तं च-

" रागः सम्पद्यमानोऽपि, दुःखदो दुष्टगोचरः ।
महाव्याध्यभिभूतस्य, अपथ्यान्नाभिलाषवत्" ॥ १ ॥

तथा-

" द्वेषः सम्पद्यमानोऽपि, तापयत्येव देहिनम् ।
कोटरस्थो ज्वलन्नाशु, दावानल इव द्रुमम्" ॥ २ ॥

तथा-

" दृष्टयादिभेदभिन्नस्य, रागस्याऽऽमुष्मिकं फलम् ।
दीर्घः संसार एवोक्तः, सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः" ॥३॥ इत्यादि ।

तथा-

"दोसानलसंसत्तो, इह लोगे चेव दुक्खिओ जीवो ।
परलोगम्मि य पावो, पावइ निरयानलं तत्तो" ॥४॥ इत्यादि ।

तथा-

कषायाः क्रोधाऽऽदयः, तदपायाः पुनः-

"कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो" ॥ ५ ॥
"कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइँ पुणब्भवस्स" ॥६॥

तथा आश्रवाः कर्मबन्धहेतवो मिथ्यात्वाऽऽदयः, तदपायाः पुनः-

"मिच्छत्तमोहियमई, जीवो इहलोग एव दुक्खाइं ।
निरओवमाइ पावो, पावति पसमाऽऽइगुणहीणो" ॥७॥

तथा-

"अज्ञानं खलु कष्टं, क्रोधाऽऽदिभ्योऽपि सर्वदोषेभ्यः ।
अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनाऽऽवृतो लोकः" ॥८॥

तथा-

" जीवा पावंति इहं, पाणवहाइअविरतीए पावाए ।
नियसुयघायणमादी, दोसे जणगरहिए पावे ॥ ९ ॥
परलोगम्मि वि एवं, आसवकिरियाहि अज्जिए कम्मे ।
जीवाण चिरमवाया, निरयाइगति भमंताणं" ॥१०॥ इत्यादि ।

आदिशब्दः स्वगतानेकभेदव्यापकः; प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्धभेदग्राहक इत्यन्ये । क्रियास्तु कायिक्याऽऽदिभेदाः पञ्च । एताः पुनरुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ।

विपाकः पुनः-

" किरियासु वट्टमाणा, काइगमाईसु दुक्खिया जीवा ।
इह चेव य परलोगे, संसारपवड्ढणा भणिया ॥१॥"

ततश्चैवं रागाऽऽदिक्रियासु वर्त्तमानानामपायान् ध्यायेत् । किंविशिष्टः सन्निति?, आह-वर्ज्यपरिवर्जी-तत्र वर्जनीयं वर्ज्यमकृत्यं परिगृह्यते, तत्परिवर्जी, अप्रमत्त इति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ उक्तः खलु द्वितीयो ध्यातव्यभेदः ।

अधुना तृतीय उच्यते-

पयइट्ठिइप्पएसा-णुभावभिन्नं सुहासुहविभत्तं ।
जोगाणुभावजणिअं, कम्मविवागं विचिंतिज्जा ॥ ५२ ॥

तत्र प्रकृतिस्थितिप्रदेशानुभावभिन्नं शुभाशुभविभक्तमित्यत्र प्रकृतिशब्देनाष्टौ कर्मप्रकृतयोऽभिधीयन्ते, ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिभेदा इति । प्रकृतिरंशो भेद इति पर्यायाः । स्थितिः-तासामेवावस्थानं जघन्याऽऽदिभेदभिन्नम् । प्रदेशशब्देन जीवप्रदेशकर्मपुद्गलसंबन्धोऽभिधीयते, अनुभावशब्देन तु विपाकः । एते च प्रकृत्यादयः शुभाशुभभेदभिन्ना भवन्ति । ततश्चैतदुक्तं भवति-प्रकृत्यादिभेदभिन्नं शुभाशुभविभक्तं योगानुभावजनितं मनोयोगाऽऽदिगुणप्रभवं, कर्मविपाकं विचिन्तयेदिति गाथाक्षरार्थः ॥

भावार्थः पुनर्वृद्धविवरणादवसेयः । तच्चेदम्-" इह पयतिभिन्नं सुभासुभविभत्तं कम्मविपागं विचिंतेज्जा । तत्थ पयतीओ त्ति कम्मणो भेदा, ते य णाणावरणिज्जाइणो अट्ठ, तेहिं भिन्नं पि इतं च, सुभं पुन्नं-साताऽऽदियं, असुभं पावं, तेहिं विभिन्नं विभिन्नविपागं, जहा कम्मपगडीए तहा विसेसेण चिंतेज्जा विचिंतेज्जा । किंच ठितिभिन्नं च सुभासुभविभिन्नं कम्मविपाकं विचिंतेज्जा । ठिति त्ति तासिं चेव अट्ठण्हं पगडीणं जहन्नमज्झिमुक्कोसकालावत्था, जहा कम्मपगडीए । किं च पएसभिन्नं शुभाशुभं० जाव कृत्वा पूर्वविधानं पदयोस्तावेव पूर्ववद्यौ वर्गघनौ कुर्यात् । तां तृतीयराशेः, ततः प्राग्वत् कृत्वा पूर्वविधानमिति २५६। अमीषां घने कृते राशिरयमागच्छति । अथवा चतुर्भिरष्टौ वारा गुणितं अस्य राशेः पूर्वपदस्य घनाऽऽदि कृत्वा, तस्य वर्गाऽऽदि । ततः द्वितीयपदस्य इदमेव विपरीतं क्रियते । तत एनावेव वर्ग्येते । ततस्तृतीयपदस्य वर्गघनौ क्रियेते । एवमनेन क्रमणायं राशिः १६७७७२१६ चिंतेज्जा । पएसो त्ति जीवपएसाणं कम्मपएसेहिं सुहुमेहिं एक्कखेत्तावगाढेहिं पुग्गलाणंत-अणुबादरउट्ठेहिं भेदेहिं बन्धाणं वित्थरओ य कम्मपगडीए भणियाणं कम्मविपाकं चिंतेज्जा । किं च-अणुभावभिन्नं सुभासुभविभत्तं कम्मविवागं विचिंतेज्जा । तत्थ अणुभावो त्ति, तासिं चेवऽट्ठण्हं पगडीणं पुट्ठबद्धनिकाइयाणं उदयाओ अणुभावणं, तं च कम्मविपाकं जोगाणुभावजणियं विचिंतेज्जा । तत्थ जोगा मणवयकाया, अणुभावो जीवगुण एव । स च मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायाः, तेहिं अणुभावेण य जणियमुप्पाइयं जीवस्स कम्मं जं, तस्स विपाकं उदयं विचिंतेज्जा " इति । उक्तस्तृतीयो ध्यातव्यभेदः ।

साम्प्रतं चतुर्थ उच्यते-

जिणदेसिआइँ लक्खण-संठाणासणविहाणमाणाइं ।
उप्पायट्ठिइभंगा, पज्जाया जे अ दव्वाणं ॥ ५३ ॥

जिनाः प्राङ्निरूपितशब्दार्थास्तीर्थकराः; तैर्देशितानि कथितानि जिनदेशितानि । कानि?, अत आह-लक्षणसंस्थानाऽऽसनवि-

धानमानानि । किम्?,-'विचिन्तयेत्' इति पर्यन्ते वक्ष्यति षष्ठ्यां(?) (५८) गाथायामिति । तत्र लक्षणाऽऽदीनि विचिन्तयेद्यापि गाथान्ते द्रव्याणामित्युक्तं,तत्प्रतिपदमायोजनीयमिति । तत्र लक्षणं धर्मास्तिकायाऽऽदिद्रव्याणां गत्यादि;तथा संस्थानं मुख्यवृत्त्या पुद्गलरचनाऽऽकारलक्षणं परिमण्डलाऽऽद्यजीवानाम् । यथोक्तम्-" परिमंडले य वट्टे, तंसे चउरंस आयते चेव । " जीवशरीराणां च समचतुरस्राऽऽदि । यथोक्तम्-"समचउरंसे णिग्गोहमंडले साति वामणे खुज्जे । हुंडे वि य संठाणे, जीवाण छ मुणेयव्वा ॥ १॥ " धर्माधर्मयोरपि लोकक्षेत्रापेक्षया आवगीयमिति । उक्तं च-" हेट्ठा मज्झे उवरिं, छव्वीझल्लरिमुइंगसंठाणो । लोगो अद्धागारो, अद्धा खित्तागिई णेया ॥१॥" तथाऽऽसनान्याधारलक्षणानि धर्मास्तिकायाऽऽदीनां लोकाऽऽकाशाऽऽदीनि,स्वरूपाणि वा । तथा विधानानि धर्मास्तिकायाऽऽदीनामेव भेदानीत्यर्थः । यथा-" धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे धम्मत्थिकायस्स पदेसे " इत्यादि । तथा मानानि-प्रमाणानि धर्मास्तिकायाऽऽदीनामेवाऽऽत्मीयानि । तथा उत्पादस्थितिभङ्गाऽऽदिपर्याया ये च द्रव्याणां धर्मास्तिकायाऽऽदीनां, तान्विचिन्तयेदिति । तत्रोत्पादाऽऽदिपर्यायसिद्धिः "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् " इति वचनात् ।

युक्तिः पुनरत्र-

" घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम् ॥ १ ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः ॥
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्वं त्रयाऽऽत्मकम् ॥ २ ॥ "

ततश्च धर्मास्तिकायो विवक्षितसमयसंबन्धरूपापेक्षयोत्पद्यते, तदनन्तरातीतसमयसंबन्धरूपापेक्षया तु विनश्यति, धर्मास्तिकायद्रव्याऽऽत्मना तु नित्य इति । उक्तं च-" सर्वव्यक्तिषु नियतं, क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः । सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् ॥१॥" आदिशब्दादगुरुलघ्वादिपर्यायपरिग्रहः । चशब्दः समुच्चयार्थ इति गाथाऽर्थः ॥५३॥

किञ्च—

पंचत्थिकायमइअं, लोगमणाइनिहणं जिणक्खायं ।
नामाइभेअविहिअं, तिविहमहोलोगभेआई ॥ ५४ ॥

पञ्चास्तिकायमयं लोकमनादिनिधनं जिनाऽऽख्यातमिति,क्रिया पूर्ववत् । तत्रास्तयः प्रदेशाः,तेषां काया अस्तिकायाः,पञ्च च ते अस्तिकायाश्चेति विग्रहः। एते च धर्मास्तिकायाऽऽदयो गत्याद्युपग्रहकरा ज्ञेया इति ।

उक्तं च—

" जीवानां पुद्गलानां च, गत्युपग्रहकारणम् ।
धर्मास्तिकायो ज्ञानस्य, दीपश्चक्षुष्मतो यथा ॥ १ ॥
जीवानां पुद्गलानां च, स्थित्युपग्रहकारणम् ।
अधर्मः पुरुषस्येव, तिष्ठासोरवनिः समा ॥ २ ॥
जीवानां पुद्गलानां च, धर्माधर्मास्तिकाययोः ।
बादराणां घटो यद्व-दाकाशमवकाशदम् ॥ ३ ॥
ज्ञानाऽऽत्मा सर्वभावज्ञो, भोक्ता कर्ता च कर्मणाम् ।
नानासंसारिमुक्ताऽऽख्यो, जीवः प्रोक्तो जिनाऽऽगमे ॥४॥
स्पर्शरसगन्धवर्ण-शब्दमूर्तिस्वभावकाः ।
सङ्घातभेदनिष्पन्नाः, पुद्गला जिनदेशिताः " ॥ ५ ॥

तन्मयं तदात्मकम्; लोक्यत इति लोकस्तम्, कालतः किंभूतमिति?, अत आह-अनादिनिधनम्-अनाद्यपर्यवसितमित्यर्थः । अनेनेश्वराऽऽदिकृतव्यवच्छेदमाह । असावपि दर्शनभेदाद्विध एवेत्यत आह-जिनाऽऽख्यातं तीर्थकरप्रणीतम् ।

आह-जिनदेशितानीत्यस्माज्जिनप्रणीतधर्माधिकारोऽनुवर्तत एव, ततश्च जिनाऽऽख्यातमित्यतिरिच्यते । न । अस्याऽऽदरख्यापनार्थत्वात्, आदरख्यापनाऽऽदौ च पुनरुक्तदोषानुपपत्तेः ।

तथोक्तम्-

" अनुवादाऽऽदरवीप्सा-भृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु ।
ईषत्संभ्रमविस्मय-गणनास्मरणे न पुनरुक्तम्" ॥१॥

तथा-नामाऽऽदिभेदविहितं भेदतो नामाऽऽदिभेदावस्थापितमित्यर्थः ।

उक्तञ्च-

" नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले भवे य भावे य ।
पज्जवलोगे य तहा, अट्ठविहो लोगनिक्खेवो ॥ १ ॥ "

गाथार्थश्चतुर्विंशतिस्तवविवरणादवसेयः ।

साम्प्रतं क्षेत्रलोकमधिकृत्याऽऽह-त्रिविधं त्रिप्रकारम्, अधोलोकभेदाऽऽदीनि प्राकृतशैल्याऽधोलोकाऽऽदिभेदम्, आदिशब्दात्तिर्यगूर्ध्वलोकपरिग्रहः । इति गाथाऽर्थः ॥ ५४ ॥

किं च-तस्मिन्नेव क्षेत्रलोके इदं चेदं च विचिन्तयेदिति प्रतिपादयन्नाह-

खिइवलयदीवसागर-निरयविमाणभवणाइसंठाणं ।
वोमाइपइट्ठाणं, निच्चं लोगट्ठिइविहाणं ॥ ५५ ॥

क्षितिवलयद्वीपसागरनिरयविमानभवनाऽऽदिसंस्थानं,तत्र क्षितयः खलु धर्माऽऽद्या ईषत्प्राग्भारावसाना अष्टौ भूमयः परिगृह्यन्ते । वलयानि घनोदधिघनवाततनुवाताऽऽत्मकानि धर्माऽऽदिसप्तपृथिवीपरिक्षेपीण्येकविंशतिः । द्वीपा जम्बूद्वीपाऽऽदयः स्वयम्भूरमणद्वीपान्ता असङ्ख्येयाः । सागरा लवणसागराऽऽदयः स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्ता असङ्ख्येया एव । निरयाः सीमन्तकाऽऽद्या अप्रतिष्ठानावसानाः संख्येयाः ।

यत उक्तम्—

" तीसा य पन्नवीसा, पनरस य दसेव सयसहस्साइं ।
तिन्नेगं पंचूणं, पंच य नरगा जहा कमसो " ॥ १ ॥

विमानानि ज्योतिष्काऽऽदिसंबन्धीन्यनुत्तरविमानान्तान्यसङ्ख्येयानि, ज्योतिष्कविमानानामसङ्ख्येयत्वात् ।

भवनानि भवनवास्यालयलक्षणानि असुराऽऽदिदशनिकायसंबन्धीनि सङ्ख्येयानि ।

उक्तं च-

" सत्तेव य कोडीओ, हवंति बावत्तरिं सयसहस्सा ।
एसो भवणसमासो, भवणवईणं वियाणेज्जा ॥ १ ॥ "

आदिशब्दादसङ्ख्येयव्यन्तरनगरपरिग्रहः ।

उक्तं च -

" हेट्ठोवरि जोयणसय-रहिए रयणाए जोयणसहस्से ।
पढमे वंतरियाणं, भोमा नगरा असंखेज्जा ॥ १ ॥ "

ततश्च क्षितयश्च वलयानि चेत्यादिद्वन्द्वः । एतेषां संस्थानमाकारविशेषलक्षणं, विचिन्तयेदिति । तथा व्योमाऽऽदिप्रतिष्ठानमित्यत्र प्रतिष्ठितिः प्रतिष्ठानं,भावे ल्युट् । व्योम आकाशम् । आदिशब्दात्तन्वाताऽऽदिपरिग्रहः । व्योमाऽऽदौ प्रतिष्ठानमस्येति व्योमाऽऽदिप्रतिष्ठानं, लोकस्थितिविधानमिति योगः । विधिर्विधानं, प्रकार इत्यर्थः । लोकस्य स्थितिः लोकस्थितिः, स्थितिशब्दस्तथा मर्यादेत्यनर्थान्तरम् । तद्विधानम् । किंभूतम् ?, नित्यं शाश्वतम् । क्रिया पूर्ववदिति गाथाऽर्थः ॥ ५५ ॥

किं च-

उवओगलक्खणमणा-इनिहणमत्थंतरं सरीराओ ।
जीवमरूविं कारिं, भोइं च सयस्स कम्मस्स ॥ ५६ ॥

उपयुज्यतेऽनेनेत्युपयोगः, साकारानाकाराऽऽदिः। उक्तं च-"स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।" स एव लक्षणं यस्य स उपयोगलक्षणस्तम्, जीवमिति वक्ष्यति। तथा-अनाद्यनिधनम् अनाद्यपर्यवसितं, जवापवर्गप्रवाहापेक्षया नित्यमित्यर्थः। तथाऽर्थान्तरं पृथग्भूतं, कुतः?, शरीरात्,जातावेकवचनम्-शरीरेभ्य औदारिकाऽऽदिभ्य इति। किमिति?,अत आह-जीवति, जीविष्यति, जीवितवान् वा जीव इति, तम्। किंभूतमिति?, अत आह-अरूपिणममूर्त्तमित्यर्थः। तथा कर्त्तारं निर्वर्त्तकं, कर्मण इति गम्यते। तथा भोक्तारमुपभोक्तारम्, कस्य?-स्वकस्य आत्मीयस्य, कर्मणो ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदेरिति गाथाऽर्थः ॥ ५६ ॥

तस्स य सकम्मजणिअं, जम्माइजलं कसायपायालं ।
वसणसयसावयमणं, मोहाऽऽवत्तं महाभीमं ॥ ५७ ॥

तस्य च जीवस्य च, स्वकर्मजनितम्-आत्मीयकर्मनिर्वर्तितम्। कम्?-संसारसागरमिति वक्ष्यति। किम्भूतम्?,जन्माऽऽदिजलं, जन्म प्रतीतम्; आदिशब्दाज्जरामरणपरिग्रहः। एतान्येवातिबहुत्वाज्जलमिव जलं यस्मिन्स तथाविधस्तम्। तथा कषायपातालं-कषायाः पूर्वोक्ताः, त एवागाधजवजननसामान्येन पातालमिव पातालं यस्मिन् स तथाविधस्तम्। तथा व्यसनशतश्वापदवन्तम्-व्यसनानि दुःखानि,द्यूताऽऽदीनि वा,तथा तान्येव पीडाहेतुत्वात् श्वापदानि, तान्यस्य विद्यन्त इति तद्वान्, तं, (मणं ति) देशीशब्दो मत्वर्थीयः। उक्तं च-"मतुवत्थम्मि मुणेज्जह, आलं इल्लं मणं च मणुयं च" इति। तथा मोहाऽऽवर्तम्-मोहो मोहनीयं कर्म, तदेव तत्र विशिष्टभ्रमिजनकत्वात् आवर्तो यस्मिन् स तथाविधस्तम्। तथा महाभीमम्-अतिभयानकमिति गाथाऽर्थः ॥५७॥

किं च-

अन्नाणमारुएरिअ-संजोगविजोगवीइसंताणं ।
संसारसागरमणो-रपारमसुहं विचिंतिज्जा ॥ ५८ ॥

अज्ञानं ज्ञानाऽऽवरणकर्मोदयजनित आत्मपरिणामः, स एव तत्प्रेरकत्वान्मारुतो वायुः,तेनेरितः प्रेरितः, कः?-संयोगवियोगवीचिसन्तानो यस्मिन् स तथाविधस्तम्। तत्र संयोगः केनचित्सह संबन्धः, वियोगस्तेनैव विप्रयोगः। एतावेव सततप्रवृत्तत्वाद्वीचय ऊर्मयस्तत्प्रवाहः सन्तान इति भावना। संसरणं संसारः सागर इव संसारसागरस्तम्। किम्भूतम्?-"अणोरपारं" अनाद्यपर्यवसितम्, अशुभमशोभनं, विचिन्तयेत्, तस्य गुणरहितस्य जीवस्येति गाथाऽर्थः ॥ ५८ ॥

तस्स य संतरणसहं, सम्मद्दंसणसुबंधणं अणहं ।
नाणमयकन्नधारं, चारित्तमयं महापोअं ॥ ५९ ॥

तस्य च संसारसागरस्य, सन्तरणसहं सन्तरणसमर्थं, पोतमिति वक्ष्यति। किंविशिष्टम्?, सम्यग्दर्शनमेव शोभनं बन्धनं यस्य स तथाविधः, तम्, अनघम्-अपापम्। ज्ञानं प्रतीतं, तन्मयस्तदात्मकः, कर्णधारो निर्यामकविशेषो यस्य यस्मिन् वा स तथाविधस्तम्, चारित्रं प्रतीतम्, तदात्मकम्। महापोतमिति महाबोहित्थम्; क्रिया पूर्ववदिति गाथाऽर्थः ॥ ५९ ॥

संवरकयनिच्छिड्डं, तवपवणाऽऽविद्धजवणतरवेगं ।
वेरग्गमग्गपडिअं, विसुत्तिआवीइनिक्खोहं ॥ ६० ॥

इहाऽऽश्रवनिरोधः संवरः, तेन कृतं निश्छिद्रम्, स्थगितरन्ध्रमित्यर्थः। अनशनाऽऽदिलक्षणं तपः, तदेवेष्टपुरं प्रति प्रेरकत्वात् पवन इव तपःपवनः, तेनाऽऽविद्धस्य प्रेरितस्य, जवनतरः शीघ्रतरः, वेगो रयो यस्य स तथाविधस्तम्। तथा विरागस्य भावो वैराग्यं, तदेवेष्टपुरप्रापकत्वाद् मार्ग इव वैराग्यमार्गः, तस्मिन् पतितो गतस्तम्; तथा विस्रोतसिका अपध्यानानि, एता एवेष्टपुरप्राप्तिविघ्नहेतुत्वाद्वीचय इव विस्रोतसिकावीचयः, ताभिर्निःक्षोभ्यः निष्प्रकम्पस्तमिति गाथाऽर्थः ॥ ६० ॥

एवम्भूतं पोतम्। किम्?-

आरोढुं मुणिवणिआ, महग्घसीलंगरयणपडिपुन्नं ।
जह तं निव्वाणपुरं, सिग्घमविग्घेण पावंति ॥ ६१ ॥

आरोढुमध्यारुह्य, के?, मुनिवणिजः-मन्यन्ते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनयः, त एवातिनिपुणमायव्ययपूर्वकप्रवृत्तेर्वणिज इव मुनिवणिजः। पोत एव विशेष्यते-महार्घाणि महार्हाणि, शीलाङ्गानि पृथ्वीकायसमारम्भपरित्यागाऽऽदीनि वक्ष्यमाणलक्षणानि,तान्येवैकान्तिकाऽऽत्यन्तिकसुखहेतुत्वाद्रत्नानि,तैः प्रतिपूर्णो भृतस्तम्। यथा येन प्रकारेण, तत्प्रक्रान्तं, निर्वाणपुरं सिद्धिपत्तनं परिनिर्वाणपुरं वेति पाठान्तरम्। शीघ्रम् आशु,स्वल्पेन कालेनेत्यर्थः। अविघ्नेनान्तरायमन्तरेण, प्राप्नुवन्त्यासादयन्ति, तथा विचिन्तयेदिति वर्त्तते। इत्ययं गाथाऽर्थः ॥ ६१ ॥

तत्थ य तिरयणविणिओ-गमइअमेगंतिअं निराबाहं ।
साहाविअं निरुवमं, जह सुक्खं अक्खयमुविंति ॥६२॥

तत्र च परिनिर्वाणपुरे,त्रिरत्नविनियोगाऽऽत्मकमिति-त्रीणि रत्नानि ज्ञानाऽऽदीनि,विनियोगस्त्वेषां क्रियाकरणं, ततः प्रसूतेस्तदात्मकमुच्यते। तथैकान्तिकमिति-एकान्तभावि; निराबाधमित्याबाधारहितं, स्वाभाविकं न कृत्रिमम्, निरुपममुपमाऽतीतमिति। उक्तं च-"ण वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं।" इत्यादि। यथा येन प्रकारेण, सौख्यं प्रतीतम्, अक्षयमपर्यवसानम्, उपयान्ति सामीप्येन प्राप्नुवन्ति, क्रिया प्राग्वदिति गाथाऽर्थः ॥ ६२ ॥

किं बहुणा सव्वं चिअ, जीवाइपयत्थवित्थरोवेअं ।
सव्वनयसमूहमयं, झाइज्जा समयसब्भावं ॥६३॥

किं बहुना भाषितेन?, सर्वमेव निरवशेषमेव, जीवाऽऽदिपदार्थविस्तरोपेतं-जीवाजीवाऽऽश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाऽऽख्यपदार्थप्रपञ्चसमन्वितं, समयसद्भावमिति योगः। किंविशिष्टम्?-सर्वनयसमूहाऽऽत्मकं द्रव्यास्तिकायाऽऽदिनयसङ्घातमयमित्यर्थः। ध्यायेद्विचिन्तयेदिति भावना। समयसद्भावं सिद्धान्तार्थमिति हृदयम्। अयं गाथाऽर्थः। गतं ध्यातव्यद्वारम् ॥६३॥

(१२) साम्प्रतं येऽस्य ध्यातारस्तान्प्रतिपादयन्नाह-

सव्वप्पमायरहिआ, मुणओ खीणोवसंतमोहा य ।
झायारो नाणधणा, धम्मज्झाणस्स निद्दिट्ठा ॥६४॥

प्रमादा मद्याऽऽदयः। यथोक्तम्-" मज्जं विसयकसाया, निद्दा विकहा य पंचमी भणिया। " सर्वप्रमादैः रहिताः सर्वप्रमादरहिताः,अप्रमादवन्त इत्यर्थः। मुनयः साधवः क्षीणोपशान्तमो-

द्वाश्चेति-क्षीणमोहाः क्षपकनिर्ग्रन्थाः, उपशान्तमोहा उपशामकनिर्ग्रन्थाः। चशब्दादन्ये चाप्रमादिनः, ध्यातारश्चिन्तकाः, धर्मध्यानस्येति संबन्धः । ध्यातार एव विशेष्यन्ते-ज्ञानधना ज्ञानवित्ताः, विपश्चित इत्यर्थः। निर्दिष्टाः प्रतिपादिताः, तीर्थकरगणधरैरिति गाथाऽर्थः ॥६४॥ उक्ता धर्मध्यानस्य ध्यातारः ।

साम्प्रतं शुक्लध्यानस्याद्यभेदद्वयस्याविशेषेणैत एव यतो ध्यातार इत्यतो नान्ये पुनरभिधेया भविष्यन्तीति लाघवार्थं चरमभेदद्वयस्य च प्रसङ्गत एतानेवाभिधित्सुराह-

एए त्रि य पुव्वाणं, पुव्वधरा सुप्पसत्थसंघयणा ।
दुन्ह सजोगाजोगा, सुक्काण पराण केवलिणो ॥ ६५ ॥

एत एव येऽनन्तरमेव धर्मध्यानध्यातार उक्ताः,पूर्वयोरित्याद्ययोर्द्वयोः शुक्लध्यानभेदयोः पृथक्त्ववितर्कं सविचारम्, एकत्ववितर्कमविचारमित्यनयोः,ध्यातार इति गम्यते। अयं पुनर्विशेषः-पूर्वधराश्चतुर्दशपूर्वविदश्चत्तदुपयुक्ताः, इदं च पूर्वधरविशेषणमप्रमादवतामेव वेदितव्यम्; न निर्ग्रन्थानां, माषतुषमरुदेव्यादीनामपूर्वधराणामपि तदुपपत्तेः। सुप्रशस्तसंहनना इत्याद्यसंहननयुक्ताः,इदं पुनरोघत एव विशेषणमिति। तथा द्वयोः शुक्लयोः, परयोरुत्तरकालभाविनोः प्रधानयोर्वा सूक्ष्मक्रियानिवृत्तिव्युपरतक्रियाप्रतिपातिलक्षणयोर्यथासङ्ख्यं सयोग्ययोगिकेवलिनोः, ध्यातार इति योगः। एवं च गम्यते-"सुक्कज्झाणाइदुगवोलीणस्स तनियमपत्तस्स एयाए झाणंतरियाए वट्टमाणस्स केवलनाणं समुप्पज्जइ,केवलियसुक्कलेसो अज्झाणी य० जाव सुहुमकिरियमनियट्टि त्ति" गाथार्थः ॥ ६५ ॥ उक्तमानुषङ्गिकम् ।

(१३) इदानीमवसरप्राप्तमनुप्रेक्षाद्वारं व्याचिख्यासुरिदमाह-

झाणोवरमे वि मुणी, निच्चमणिच्चाइचिंतणोवरमो ।
होइ सुभावियचित्तो, धम्मज्झाणेण जो पुव्विं ॥६६॥

इह ध्यानं धर्मध्यानमभिगृह्यते ; तदुपरमेऽपि तदभावेऽपि, मुनिः साधुः, नित्यं सर्वकालम्, अनित्याऽऽदिचिन्तनोपरमो भवति। आदिशब्दादनित्याशरणैकत्वसंसारपरिग्रहः। एताश्चतस्रोऽनुप्रेक्षा भावयितव्याः,इष्टजनसंप्रयोगर्द्धिविषयसुखसंपद इत्यादिना ग्रन्थेन। फलं चासां सचित्ताऽऽदिष्वनभिष्वङ्गभवनिर्वेदादिति भावनीयम्। अथ किंविशिष्टोऽनित्याऽऽदिचिन्तनोपरमो भवति ?,अत आह-सुभावितचित्तः सुभावितान्तःकरणः, केन ?, धर्मध्यानेन प्राङ्निरूपितस्वरूपेण, यः कश्चित्, पूर्वमादाविति गाथाऽर्थः ॥ ६६ ॥ गतमनुप्रेक्षाद्वारम् ।

अधुना लेश्याद्वारप्रतिपिपादयिषयाऽऽह-

हुंति कम्मविसुद्धाउ, लेसाओ पीअपम्हसुक्काओ ।
धम्मज्झाणोवगय-स्स तिव्वमंदाइभेआओ ॥ ६७ ॥

इह भवन्ति संजायन्ते, क्रमविशुद्धाः परिपाटिविशुद्धाः,काः?, लेश्याः । ताश्च पीतपद्मशुक्लाः । एतदुक्तं भवति-पीतलेश्यायाः पद्मलेश्या विशुद्धा, तस्या अपि शुक्ललेश्येति क्रमः । कस्यैता भवन्ति?, अत आह-धर्मध्यानोपगतस्य, धर्मध्यानयुक्तस्येत्यर्थः। किंविशिष्टाश्चैता भवन्ति ?, अत आह—तीव्रमन्दाऽऽदिभेदा इति । तत्र तीव्रभेदाः पीताऽऽदिस्वरूपेष्वन्त्याः, मन्दभेदास्त्वाद्याः । आदिशब्दान्मध्यमपरिग्रहः । अथवौघत एव परिणामविशेषात् तीव्रमन्दाऽऽदिभेदा इति गाथाऽर्थः ॥ ६७ ॥ उक्तं लेश्याद्वारम् ।

इदानीं लिङ्गद्वारं विवृण्वन्नाह-

आगमउवएसाऽऽणा-निसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं ।
भावाणं सद्दहणं, धम्मज्झाणस्स तं लिंगं ॥ ६८ ॥

इहाऽऽगमोपदेशाऽऽज्ञानिसर्गतो यज्जिनप्रणीतानां तीर्थकृत्प्ररूपितानां, भावानां द्रव्याऽऽदिपदार्थानां, श्रद्धानम्-अवितथा एत इत्यादिलक्षणं, धर्मध्यानस्य, तल्लिङ्गमिति । तत्त्वश्रद्धानेन लिङ्ग्यते धर्मध्यानीति । इह चाऽऽगमः सूत्रमेव, तदनुसारेण कथनमुपदेशः, आज्ञा त्वर्थः, निसर्गः स्वभाव इति गाथाऽर्थः ॥ ६८ ॥

किं च-

जिणसाहुगुणुक्कित्तण-पसंसणादाणविणयसंपन्नो ।
सुअसीलसंजमरओ, धम्मज्झाणी मुणेयव्वो ॥ ६९ ॥

जिनसाधुगुणोत्कीर्तनप्रशंसादानविनयसंपन्नः। इह जिनसाधवः प्रतीताः,तद्गुणाश्च निरतिचारसम्यग्दर्शनाऽऽदयः,तेषामुत्कीर्तनं सामान्येन संशब्दनमुच्यते । प्रशंसा त्वहो श्लाघ्यतया भक्तिपूर्विका स्तुतिः,विनयोऽभ्युत्थानाऽऽदिः, दानमशनाऽऽदिप्रदानम्; एतत्संपन्न एतत्समन्वितः । तथा श्रुतशीलसंयमरतः-तत्र श्रुतं सामायिकाऽऽदिबिन्दुसारान्तं, शीलं व्रताऽऽदिसमाधानलक्षणं, संयमस्तु प्राणातिपाताऽऽदिनिवृत्तिलक्षणः। यथोक्तम्-पञ्चाऽऽश्रवादित्यादि । एतेषु भावतो रतः; किम् ?, धर्मध्यानी विज्ञातव्य इति गाथाऽर्थः ॥ ६९ ॥ गतं लिङ्गद्वारम् ।

(१४) अधुना फलद्वारावसरः। तच्च लाघवार्थं शुक्लध्यानफलाधिकारे वक्ष्यतीति। उक्तं धर्मध्यानम्। इदानीं शुक्लध्यानावसर इत्यस्य चान्वर्थः प्राङ्निरूपित एव। इहापि च भावनाऽऽदीनि फलान्तानि तान्येव द्वादश द्वाराणि भवन्ति। तत्र भावनादेशकालाऽऽसनविशेषेषु धर्मध्यानादस्याविशेष एवेत्यतस्तान्यनादृत्याऽऽलम्बनाऽऽदीन्यभिधित्सुराह-

अह खंतिमद्दवऽज्जव-मुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ ।
आलंबणेहि जेहिं, सुक्कज्झाणं समारुहइ ॥ ७० ॥

अथेत्यासनविशेषाऽऽनन्तर्ये,क्षान्तिमार्दवाऽऽर्जवमुक्तयः-क्रोधमानमायालोभपरित्यागरूपाः। परित्यागश्चाक्रोधेन वर्त्तनम्,उदयनिरोधः,उदीर्णस्य च विफलीकरणमिति। एवं मानाऽऽदिष्वपि भावनीयम् । एता एव क्षान्तिमार्दवाऽऽर्जवमुक्तयो विशेष्यन्ते-जिनमतप्रधाना इति-जिनमते तीर्थकरदर्शने, कर्मक्षयहेतुतामधिकृत्य प्रधानाः जिनमतप्रधानाः। प्राधान्यं चाऽऽसामकषायं चारित्रम्, चारित्राच्च नियमतो मुक्तिरिति कृत्वा। ततश्चैता आलम्बनानि प्राङ्निरूपितशब्दार्थानि,यैरालम्बनैः करणभूतैः शुक्लध्यानं समारोहति। तथाच क्षान्त्याद्यालम्बन एव शुक्लध्यानमासादयति, नान्य इति गाथाऽर्थः। व्याख्यातं शुक्लध्यानमधिकृत्याऽऽलम्बनद्वारम्।

(शुक्लध्यानभेदाश्च 'सुक्कज्झाण' शब्दे विलोकनीयाः)

साम्प्रतं क्रमद्वारावसरः-क्रमश्चाऽऽद्ययोर्द्वयो- र्धर्मध्यान एवोक्तः । इह पुनरयं विशेषः-

तिहुयणविसयं कमसो,संखिविउ मणं अणुम्मि छउमत्थो ।
झायइ सुनिप्पकंपो, झाणं अमणो जिणो होइ ॥७१॥

त्रिभुवनमधस्तिर्यगूर्ध्वलोकभेदं, तद्विषयं गोचर आलम्बनं

यस्य,मनस इति योगः। तत् त्रिभुवनविषयं,क्रमशः क्रमेण,परिपाट्या प्रतिवस्तुत्यागलक्षणया,संक्षिप्य संकोच्य, किम्?, मनः-अन्तःकरणम् । क?,अणौ परमाणौ, विधायेति शेषः। कः?, छद्मस्थः प्राक्निरूपितशब्दार्थः। ध्यायति चिन्तयति, सुनिष्प्रकम्पोऽतीव निश्चल इत्यर्थः। ध्यानं शुक्लं, ततोऽपि प्रयत्नविशेषान्मनः अपनीय, अमना अविद्यमानान्तःकरणो, जिनो भवत्यर्हन् भवति, चरमयोर्द्वयोर्ध्यातेति वाक्यशेषः । तत्राप्याद्यस्यान्तर्मुहूर्तेन शैलेशीमप्राप्तस्तस्यां च द्वितीयस्येति गाथाऽर्थः ॥७४॥

आह-कथं पुनः छद्मस्थः त्रिभुवनविषयं मनः संक्षिप्याणौ धारयति, केवली वा ततोऽप्यपनयति ?। (अत्र दृष्टान्तः 'जिणत्तिगिच्छ' शब्दे तृतीयभागे १५०६ पृष्ठे गतः)

अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तान्तरमभिधातुकाम आह-

ओसारिएंधणभरो, जह परिहाइ कम्मसो हुआसो वा ।
थोविंधणावसेसो, निव्वाइ तओऽवणीओ अ ॥ ७५ ॥

अपसारितेन्धनभरः—अपनीतदाह्यसंघातः, यथा परिहीयते हानिं प्रपद्यते, क्रमशः क्रमेण, हुताशो वह्निः, वा विकल्पार्थे,स्तोकेन्धनावशेषः हुताशनमात्रं भवति, तथा निर्वाति विध्यापयति, ततः स्तोकेन्धनादपनीतश्चेति गाथाऽर्थः ॥७५॥

अस्यैव दृष्टान्तस्योपनयमाह—

तह विसयंधणहीणो, मणोहुआसो कमेण तणुअम्मि ।
विसयंधणं निरुज्झइ, निव्वाइ तओऽवणीओ अ ॥७६॥

तथा विषयेन्धनहीनो गोचरेन्धनहीन इत्यर्थः । मन एव दुःखदाहकारणत्वाद् हुताशो मनोहुताशः, क्रमेण परिपाट्या, तनुके कृशे,क्व?-विषयेन्धने, अणावित्यर्थः। किम्?, निरुध्यते-निश्चयेन क्षिपते, तथा निर्वाति, ततस्तस्मादणौ अपनीतश्चेति गाथाऽर्थः ॥ ७६ ॥

पुनरप्यस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तोपनयावाह—

तोयमिव नालिआए, तत्तायसभायणोदरत्थं वा ।
परिहाइ कमेण जहा, तह जोगिमणोजलं जाण ॥७७॥

तोयमिव उदकमिव, नालिकायाः घटिकायाः,तथा-तप्तं च तदायसभाजनं लोहभाजनं, तदुदरस्थं;वा विकल्पार्थः ।परिहीयते क्रमेण यथा । एष दृष्टान्तः। अयमुपनयः-तथा तेनैव प्रकारेण, योगिमन एवाऽविकलत्वाज्जलं योगिमनोजलं, जानीहि अवबुध्यस्व। तथा-अप्रमादानलतप्तजीवभाजनस्थं मनो जलं परिहीयत इति भावना । अलमतिविस्तरेण इति गाथाऽर्थः ॥७७॥

अपनयति ततोऽपि जिनवैद्य इति वचनादेव तावत्केवली मनोयोगं निरुणद्धीत्युक्तम् ।

अधुना शेषयोगनिरोधविधिमभिधातुकाम आह-

एवं चिअ वयजोगं, निरुंभइ कमेण कायजोगं पि ।
तो सेलेसु व्व थिरो, सेलेसी केवली होइ ॥ ७८ ॥

एवमेव एभिरेव विषाऽऽदिदृष्टान्तैः, किम्?, वाग्योगं, निरुणद्धि । तथा क्रमेण काययोगमपि, निरुणद्धीति वर्तते । ततः शैलेश इव मेरुरिव, स्थिरः सन् शैलेशी केवली भवतीति गाथाऽर्थः। (आव०) (इह च भावार्थः ' सेलेसी ' शब्दे वक्ष्यते)

(१५) इदानीं ध्यातव्यद्वारं विवृण्वन्नाह-

उप्पायट्ठिइभंगा-इपज्जवाणं जमेगदव्वम्मि ।
नाणानयाणुसरणं, पुव्वगयसुआणुसारेणं ॥ ७९ ॥

उत्पादस्थितिभङ्गाऽऽदिपर्यायाणाम्, उत्पादाऽऽदयः प्रतीताः । आदिशब्दान्मूर्तामूर्तग्रहः । अमीषां पर्यायाणां, यदेकस्मिन् द्रव्ये अणवात्माऽऽदौ, किम् ?,नानानयैर्द्रव्यास्तिकायाऽऽदिभिः, अनुस्मरणं चिन्तनम् । कथम्?, पूर्वगतश्रुतानुसारेण पूर्वविदः । मरुदेव्यादीनां त्वन्यथा । तत्किमित्याह-

सविआरमत्थवंजण-जोगंतरओ तयं पढमसुक्कं ।
होइ पुहुत्तविअक्कं, सविआरमरागभावस्स ॥ ८० ॥

सविचारम्-सह विचारेण वर्तत इति सविचारम्,"विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रमः" इति आह च । अर्थव्यञ्जनयोगान्तरतः-अर्थो द्रव्यं, व्यञ्जनं शब्दः, योगो मनःप्रभृति, एतदन्तरत एतद्भेदेन,सविचारम्, अर्थाद्व्यञ्जनं संक्रामतीति विभाषा । तत्, किम्?-एतत् प्रथमं शुक्लमाद्यं शुक्लं भवति । किंनाम्ना ?, इत्यत आह-पृथक्त्ववितर्कं सविचारं-पृथक्त्वेन भेदेन विस्तीर्णभावेन अन्ये वितर्कः श्रुतं यस्मिंस्तत्तथा । कस्येदं भवति ?, इत्यत्राऽऽह-अरागभावस्य रागपरिणामरहितस्येति गाथाऽर्थः ॥८०॥

जं पुण सुनिप्पकंपं, निवायसरणप्पईवमिव चित्तं ।
उप्पायट्ठिइभंगा-इयाणमेगम्मि पज्जाए ॥ ८१ ॥

यत्पुनः सुनिष्प्रकम्पं विक्षेपरहितं, निर्वातशरणप्रदीप इव निर्गतवातगृहैकदेशस्थदीप इव, चित्तमन्तःकरणं, क्व?, उत्पादस्थितिभङ्गाऽऽदीनामेकस्मिन् पर्याये ॥८१॥

तत्किम ? अत आह-

अवियारमत्थवंजण-जोगंतरओ तयं बिइयसुक्कं ।
पुव्वगयसुआलंबण-मेगत्तविअक्कमवियारं ॥ ८२ ॥

अविचारमसंक्रमम्, कुतः?, अर्थव्यञ्जनयोगान्तरत इति पूर्ववत् । तत्, किमेवंविधम् ?,द्वितीयं शुक्लं भवति । किमभिधानमिति?,अत आह-एकत्ववितर्कमविचारं-एकत्वेनाभेदेन वितर्कः व्यञ्जनरूपः,अर्थरूपो वा यस्य तत्तथा। इदमपि च पूर्वगतश्रुताऽऽलम्बनम्, पूर्वगतश्रुतानुसारेणैव भवति । अविचाराऽऽदि पूर्ववदिति गाथाऽर्थः ॥८२॥

निव्वाणगमणकाले, केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स ।
सुहुमकिरियाऽनिअट्टिं, तइअं तणुकायकिरियस्स ॥८३॥

निर्वाणगमनकाले मोक्षगमनप्रत्यासन्नसमये, केवलिनः सर्वज्ञस्य, मनोवाग्योगद्वये निरुद्धे सति, अर्द्धनिरुद्धकाययोगस्य, किम्?, सूक्ष्मक्रियानिवर्ति-सूक्ष्मा क्रिया यस्मिन् तत्सूक्ष्मक्रियं, सूक्ष्मक्रियं च तदनिवर्ति चेति नाम-निवर्तितुं शीलमस्येति निवर्ति, प्रवर्धमानतरपरिणामात्, न निवर्ति अनिवर्ति, तृतीयं, ध्यानमिति गम्यते । तनुकायक्रियस्येति-तन्वी उच्छ्वासनिःश्वासाऽऽदिलक्षणा, कायक्रिया यस्य स तथाविधस्तस्येति गाथाऽर्थः ॥८३॥

तस्सेव य सेलेसिं, गयस्स सेलेसु व निप्पकंपस्स ।
वुच्छिन्नकिरिअमप्पडि-वाइं झाणं परमसुक्कं ॥ ८४ ॥

तस्यैव च केवलिनः शैलेशीं गतस्य, शैलेशी प्राग्वर्णिता, तां प्राप्तस्य, किंविशिष्टस्य?, निरुद्धयोगत्वाच्छैलेश इव निष्प्रकम्पस्य, मेरुरिव स्थिरस्येत्यर्थः। किम्?, व्यवच्छिन्नक्रियं,योगाभावात्, अप्रतिपाति अनुपरतिस्वभावमिति । एतदेव चास्य नाम, ध्यानं परमशुक्लं, प्रकटार्थमेव तदिति गाथाऽर्थः ॥ ८४ ॥

इत्थं चतुर्विधं ध्यानमभिधायाधुनैतत्प्रतिपत्क्रमेव वक्तव्यताशेषमभिधित्सुराह-

पढमं जोगे जोगे-सु वा मयं बिइअमेगजोगम्मि ।
तइअं च कायजोगे, सुकमजोगिम्मि अ चउत्थं ॥ ८५ ॥

प्रथमं पृथक्त्ववितर्कं सविचारं, योगे मनआदौ, योगेषु वा सर्वेषु, मतमिष्टम्, तच्चाऽऽगमिकश्रुतपाठिनः । द्वितीयम्-एकत्ववितर्कमविचारं, तदेकयोग एव, अन्यतरस्मिन् सङ्क्रमाभावात्' तृतीयं च-सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्ति, काययोगे, न योगान्तरे, शुक्लम्' अयोगिनि च शैलेशीकेवलिनि, चतुर्थम्-व्युपरतक्रियाऽप्रतिपाति, इति गाथाऽर्थः ॥ ८५ ॥

आह-शुक्लध्यानोपरिमभेदद्वये मनो नास्ति, अमनस्कत्वात् केवलिनः, ध्यानं च मनोविशेषः, 'ध्यै' चिन्तायामिति पाठात्, तदेतत्कथम् ?, इति । उच्यते-

जह छउमत्थस्स मणो, झाणं भण्णइ सुनिच्चलं संतं ।
तह केवलिणो काओ, सुनिच्चलो भण्णए झाणं ॥ ८६ ॥

यथा छद्मस्थस्य मनः, किम् ?,-ध्यानं भण्यते । सुनिश्चलं सत्, तथा तेनैव प्रकारेण, योगत्वाव्यभिचारात्, केवलिनः, कायः सुनिश्चलो भण्यते ध्यानम् । इति गाथाऽर्थः ॥ ८६ ॥

आह-चतुर्थे निरुद्धत्वादसावपि न भवति, तथाविधभावेऽपि च सर्वभावप्रसङ्गः, तत्र का वार्ता ?, इत्युच्यते-

पुव्वप्पओगओ वि अ, कम्मविणिज्जरणहेउओ चावि ।
सद्दत्थबहुत्ताओ, तह जिणचंदागमाओ अ ॥ ८७ ॥
चित्ताभावे वि सई, सुहुमोवरयकिरियाउ भण्णंति ।
जीवोवओगसब्भा-वओ भवत्थस्स झाणाइं ॥ ८८ ॥

काययोगनिरोधिनो योगिनोऽयोगिनो वा, चित्ताभावेऽपि सति सूक्ष्मोपरतक्रिये भण्येते । सूक्ष्मग्रहणात्सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्तिनो ग्रहणं, उपरतग्रहणाद्व्युपरतक्रियाऽप्रतिपातिन इति ॥ पूर्वप्रयोगादिति हेतुः, कुलालचक्रभ्रमणवदिति दृष्टान्तोऽभ्यूह्यः । यथा तच्चक्रं भ्रमणनिमित्तदण्डाऽऽदिक्रियाऽभावेऽपि भ्रमति, तथाऽस्यापि मनःप्रभृतियोगोपरमेऽपि जीवोपयोगसद्भावतो भावमनसो भावात् भवस्थस्य ध्याने इति । अपिशब्दश्चोदनानिर्णयप्रथमहेतुसंभावनाऽर्थः । चशब्दस्तु प्रस्तुतहेत्वनुकर्षणार्थः । एवं शेषहेतवोऽप्यनया गाथया योजनीयाः ॥ विशेषस्तूच्यते-कर्मविनिर्जरणहेतुतश्चापि-कर्मविनिर्जरणहेतुत्वात्, क्षपकश्रेणिवत् । भवति च क्षपकश्रेण्यामिवास्य भवोपग्राहिकर्मनिर्जरेति भावः । चशब्दः प्रस्तुतहेत्वनुकर्षणार्थः । अपिशब्दस्तु द्वितीयहेतुसम्भावनार्थ इति ॥ तथा शब्दार्थबहुत्वात्, यथैकस्यैव हरिशब्दस्य शक्रशाखामृगाऽऽद्योऽनेकेऽर्थाः, एवं ध्यानशब्दस्यापि, न विरोधः । 'ध्यै' चिन्तायाम्, 'ध्यै' काययोगनिरोधे, 'ध्यै' अयोगित्वे, इत्यादि ॥ तथा जिनचन्द्राऽऽगमाच्चैतदेवमिति । उक्तं च-" आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णं दृष्टिलक्षणम् । अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये ॥ १ ॥ " इत्यादि गाथाद्वयार्थः ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ उक्तं ध्यातव्यद्वारम् ।

ध्यातारस्तु धर्मध्यानाधिकारे उक्ताः ।

अधुनाऽनुप्रेक्षाद्वारमुच्यते-

सुक्कज्झाणसुभाविअ-चित्तो चिंतेइ झाणविरमे वि ।
णिययमणुप्पेहाओ, चत्तारि चरित्तसंपन्नो ॥ ८९ ॥

शुक्लध्यानसुभावितचित्तश्चिन्तयति ध्यानोपरमेऽपि नियतमनुप्रेक्षाश्चतस्रश्चारित्रसंपन्नः, तस्य परिणामरहितस्य तदभावादिति गाथाऽर्थः ॥ ८९ ॥

ताश्चैताः—

आसवदारावाए, तह संसारासुहाणुभावं च ।
भवसंताणमणंतं, वत्थूणं विपरिणामं च ॥ ९० ॥

आश्रवद्वाराणि मिथ्यात्वाऽऽदीनि, तदपायान् दुःखलक्षणान्, तथा-संसाराशुभानुभावं च "असुभानुभावबंधी संसारो" इत्यादि । भवसन्तानमनन्तं भाविनारकाऽऽद्यपेक्षया । वस्तूनां विपरिणामञ्च सचेतनाचेतनानाम्; "सव्वट्ठाणाणि असासयाणि" इत्यादि । एताश्चतस्रोऽप्यपायाशुभानन्तविपरिणामानुप्रेक्षा आद्यद्वयभेदसंगता एव द्रष्टव्याः । इति गाथाऽर्थः ॥ ९० ॥ उक्तमनुप्रेक्षाद्वारम् ।

इदानीं लेश्याद्वाराभिधित्सयाऽऽह-

सुक्काए लेसाए, दो तइअं परमसुक्कलेसाए ।
थिरयाजिअसेलेसं, लेसाईअं परमसुक्कं ॥ ९१ ॥

सामान्येन शुक्लायां लेश्यायां, द्वे आद्ये शुक्लध्याने, तृतीयमुक्तलक्षणमेव, परमशुक्ललेश्यायां स्थिरताजितशैलेशं मेरोरपि निष्प्रकम्पतरमित्यर्थः । लेश्याऽतीतं परमशुक्लं चतुर्थमिति गाथाऽर्थः ॥ ९१ ॥ उक्तं लेश्याद्वारम् ।

इदानीं लिङ्गद्वारं विवर्णयिषुस्तेषां नामप्रमाणस्वरूपगुणभावनार्थमाह-

अवहाऽसंमोहविवे-गवुसग्गा तस्स हुंति लिंगाइं ।
लिंगिज्जइ जेहिँ मुणी, सुक्कज्झाणोवगयचित्तो ॥ ९२ ॥
चालिज्जइ बीहेइ व, धीरो न परीसहोवसग्गेहिं ।
सुहुमेसु न संमुज्झइ, भावेसु न देवमायासु ॥ ९३ ॥
देहविवित्तं पिच्छइ, अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे ।
देहोवहिवुस्सग्गं, निस्संगो सव्वहा कुणइ ॥ ९४ ॥

अवधाऽसंमोहविवेकव्युत्सर्गाः, तस्य शुक्लध्यानस्य, भवन्ति लिङ्गानि, लिङ्ग्यते गम्यते यैर्मुनिः शुक्लध्यानोपगतचित्त इति गाथाऽक्षरार्थः ॥ ९२ ॥ अधुना भावार्थमाह-चाल्यते ध्यानात् परीषहोपसर्गैर्बिभेति वा धीरो बुद्धिमान् स्थिरो वा, न तेभ्य इत्यवधालिङ्गम् । सूक्ष्मेष्वत्यन्तगहनेषु न संमुह्यति-न संमोहमुपगच्छति, भावेषु पदार्थेषु, न देवमायास्वनेकरूपास्वित्यसंमोहलिङ्गम्, इति गाथाऽर्थः ॥ ९३ ॥ देहविविक्तं पश्यति आत्मानं, तथा च सर्वसंयोगानिति विवेकलिङ्गम् । देहोपधिव्युत्सर्गं निःसङ्गः सर्वथा करोतीति व्युत्सर्गलिङ्गमिति गाथाऽर्थः ॥ ९४ ॥ गतं लिङ्गद्वारम् ।

साम्प्रतं फलद्वारमुच्यते । इह च लाघवार्थं प्रथमोपन्यस्तं धर्मफलमभिधाय शुक्लध्यानफलमाह, धर्मफलानामेव शुभतराणामाद्यशुक्लद्वयफलत्वादत आह-

हुंति सुहाऽऽसवसंवर-विणिज्जराऽमरसुहाइँ विउलाइं ।
झाणवरस्स फलाइं, सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥ ९५ ॥

भवन्ति शुभाऽऽश्रवसंवरनिर्जरामरसुखानि-शुभाऽऽश्रवः-पुण्याऽऽश्रवः, संवरः-अशुभकर्माऽऽगमनिरोधः, विनिर्जरा-कर्मक्षयः, अमरसुखानि-देवसुखानि । एतानि च दीर्घस्थिति-विशुद्ध्युपपाताद्यां विपुलानि विस्तीर्णानि, ध्यानवरस्य ध्यानप्रधानस्य, फलानि शुभानुबन्धीनि सुकुलप्रत्ययानि पुनर्बोधिलाभभोगप्रव्रज्याकेवलशैलेश्यपवर्गानुबन्धीनि, धर्मध्यानस्येति गाथाऽर्थः ॥ ६५ ॥ उक्तानि धर्मध्यानफलानि ।

अधुना शुक्लमधिकृत्याऽऽह-

ते अ विसेसेण सुहा-ऽऽसवादओऽणुत्तरामरसुहं च ।
दुन्हं सुक्काण फलं, परिनिव्वाणं परिल्लाणं ॥ ६६ ॥

ते च विशेषेण शुभाऽऽश्रवाऽऽदयोऽनन्तरोदिताः, अनुत्तरामरसुखं च, द्वयोः शुक्लयोः, फलमाद्ययोः । परिनिर्वाणं मोक्षगमनं (परिल्लाणं ति) चरमयोर्द्वयोरिति गाथाऽर्थः ॥ ६६ ॥

अथवा सामान्येनैव संसारप्रतिपक्षभूते एते इति-दर्शयति-

आसवदारा संसा-रहेअवो जं न धम्मसुक्केसु ।
संसारकारणाइं, न तो धुवं धम्मसुक्काइं ॥ ६७ ॥

आश्रवद्वाराणि संसारहेतवो वर्त्तन्ते, तानि च यद् यस्मात् धर्मशुक्लयोर्भवन्ति । संसारकारणानि न तस्माद् ध्रुवं नियमेन धर्मशुक्लानि । इति गाथार्थः ॥ ६७ ॥

(१६) संसारप्रतिपक्षतया च मोक्षहेतु-ध्यानमित्यावेदयन्नाह--

संवरविणिज्जराओ, मुक्खस्स पहो तवो पहो तासिं ।
झाणं च पहाणंगं, तवस्स तो मुक्खहेऊ तं ॥ ६८ ॥

संवरविनिर्जरे मोक्षस्य पन्थाः-अपवर्गस्य मार्गः, तपः-पन्थाः मार्गः, तयोः संवरनिर्जरयोः ध्यानं च प्रधानाङ्गं तपस आन्तरकारणत्वात् । ततो मोक्षहेतुत्वद् ध्यानमिति गाथाऽर्थः ॥६८॥

अमुमेवार्थं सुखप्रतिपत्तये दृष्टान्तैः प्रतिपादयन्नाह-

अंबरलोहमहीणं, कमसो जह मलकलंकपंकाणं ।
सोज्झावणयणसोसे, साहंति जलानलाइच्चा ॥ ६९ ॥

अम्बरलोहमहीनां वस्त्रलोहक्षितीनां, क्रमशः क्रमेण,यथा मलकलङ्कपङ्कानां यथासंख्यं शोध्यापनयनशोषान् यथासंख्यमेव, साधयन्ति निर्वर्तयन्ति, जलानलाऽऽदित्याः । इति गाथाऽर्थः ॥९९॥

तह सुज्झाइसमत्था, जीवंबरलोहमेइणिगयाणं ।
झाणजलानलसूरा, कम्ममलकलंकपंकाणं ॥ १०० ॥

तथा शोध्यादिसमर्था जीवाम्बरलोहमेदिनीगतानां ध्यानमेव जलानलसूर्याः, कर्मैव मलकलङ्कपङ्काः, तेषामिति गाथाऽर्थः ॥ १०० ॥

किञ्च—

तावो सोसो भेओ, जोगाणं झाणओ जहा निअयं ।
तह तावसोसभेआ,कम्मस्स वि झाइणो निअमा ॥१०१॥

तापः, शोषो, भेदः, योगानां, ध्यानतो ध्यानात्, यथा नियतमवश्यम् । तत्र तापो दुःखं, तत एव शोषो दौर्बल्यम, तत एव भेदो विदारणं, योगानां वागादीनां, तथा तेनैव प्रकारेण, तापशोषभेदाः, कर्मणोऽपि भवन्ति । कस्य ?-ध्यायिनः, न यदृच्छया, नियमाद् नियमेनेति गाथाऽर्थः ॥ १०१ ॥

किं च-

जह रोगाऽऽसयसमणं, विसोसणविरेअणोसहविहीहिं ।
तह कम्माऽऽमयसमणं, झाणाणसणाइजोगेहिं ॥१०२॥

यथा रोगाऽऽशयशमनं रोगनिदानचिकित्सा, विशोषणविरेचनौषधविधिभिः-अभोजनविरेकौषधप्रकारैः; तथा कर्माऽऽमयशमनं कर्मरोगचिकित्सा, ध्यानानशनाऽऽदिभिर्योगैः, आदिशब्दाद् ध्यानवृद्धिकारकशेषतपोभेदग्रहणमिति गाथाऽर्थः ॥ १०२ ॥

किञ्च-

जह चिरसंचियमिंधण,मनलो पवणसहिओ दुअं दहइ ।
तह कम्मिंधणममिअं, खणेण झाणानलो डहइ ॥१०३॥

यथा चिरसंचितं प्रभूतकालसंचितम्, इन्धनं काष्ठाऽऽदि, अनलोऽग्निः, पवनसहितो वायुसमन्वितः, द्रुतं शीघ्रं, दहति भस्मीकरोति । तथा दुःखतापहेतुत्वात्कर्मैवेन्धनम, अमितमनेकभवोपात्तम, अनन्तं, क्षणेन समयेन, ध्यानमनल इव ध्यानानलः, असौ, दहति भस्मीकरोतीति गाथाऽर्थः ॥ १०३ ॥

जह वा घणसंघाया, खणेण पवणाहया विलयमिंति ।
झाणपवणावहूआ, तह कम्मघणा विलिज्जंति ॥१०४॥

यथा वा घनसङ्घाताः-मेघोत्कराः, क्षणेन, पवनाहता वायुप्रेरिताः,विलयं विनाशं,यान्ति गच्छन्ति । ध्यानपवनावधूता ध्यानवायुविक्षिप्ताः, तथा कर्मैव जीवस्वभावा घनाः कर्मघनाः ।

उक्तं च—

"स्थितः शीतांशुवज्जीवः, प्रकृत्या भावशुद्धया ।
चन्द्रिकावच्च विज्ञानं, तदावरणमभ्रवत्" ॥ १ ॥

इत्यादि । विलीयन्ते विनाशमुपयान्ति, इति गाथाऽर्थः ॥१०४॥

किञ्चेदमन्यदिहलोकप्रतीतमेव ध्यानफलमिति दर्शयति-

न कसायसमुत्थेहि अ, वाहिज्जइ माणसेहिँ दुक्खेहिँ ।
ईसाविसायसोगा-इएहिँ झाणोपगयचित्तो ॥१०५॥

न कषायसमुत्थैश्च न क्रोधाऽऽद्युद्भवैश्च, बाध्यते पीड्यते, मानसैः दुःखैः, मानसग्रहणात्ताप इत्याद्यपि यदुक्तम्, तच्च बाध्यते; ईर्ष्याविषादशोकाऽऽदिभिः, तत्र प्रतिपक्षाभ्युदयोपलम्भजनितो मत्सरविशेष ईर्ष्या,विषादो वैक्लव्यम्, शोको दैन्यम्,आदिशब्दाद् हर्षाऽऽदिपरिग्रहः । ध्यानोपगतचित्त इति प्रकटार्थम् । अयं गाथाऽर्थः ॥ १०५ ॥

सीआयवायएहि अ, सारीरेहि सुबहुप्पगारेहिँ ।
झाणसुनिच्चलचित्तो, न बहिज्जइ निज्जरापेही ॥१०६॥

इह कारणे कार्योपचाराच्छीताऽऽतपाऽऽदिभिश्च, आदिशब्दात् क्षुदादिपरिग्रहः । शारीरैः, सुबहुप्रकारैरनेकभेदैः, ध्यानसुनिश्चलचित्तः ध्यानभावितमतिः, न स बाध्यते, ध्यानसुखादिति गम्यते । अथवा न शक्यते चालयितुं, तत एव निर्जरापेक्षी कर्मक्षयापेक्षकः इति गाथाऽर्थः ॥१०६॥ उक्तं फलद्वारम् ।

अधुनोपसंहरन्नाह-

इयसव्वगुणाऽऽहाणं, दिट्ठादिट्ठसुहसाहणं झाणं ।
सुपसत्थं सद्धेअं, नेअं झेअं च निच्चं पि ॥ १०७ ॥

पंचुत्तरेण गाहा-सएण झाणसयं समुद्दिट्ठं ।
जिणजद्दसमासमणे-हिं कम्मसोहीकरं जइणा ॥१०८॥

' इय ' एवमुक्तेन प्रकारेण, सर्वगुणाऽऽधानमशेषगुणस्थानं, यथावत्सुखसाधनं ध्यानमुक्तन्यायात्सुष्ठु प्रशस्तं तीर्थकराऽऽदिभिरासेवितत्वात्, यतश्चैवमतः अकेयं, नान्यथैतदिति भावनया, ज्ञेयं ज्ञातव्यं, स्वरूपतः ध्येयमिति, चिन्तनीयं क्रियया । एवं च सति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रावाप्तिसेवितानि भवन्ति, नित्यमपि सर्वकालमपि । आह-एवं तर्हि शेषक्रियालोपः प्राप्नोति । न । तदासेवनस्यापि तत्त्वतो ध्यानत्वात् । नास्ति काचिदसौ क्रिया,या आगमानुसारेण क्रियमाणा साधूनां ध्यानं न भवतीति गाथार्थः ॥१०७॥ ॥ १०८ ॥ समाप्तं ध्यानशतकम् । आव० ४ अ० । पो० । संथा० । (' कयसिसमुग्घाय ' शब्दे तृतीयभागे ६६७ पृष्ठे शैलेश्यवस्थायां ध्यानमुक्तम्)

(१७) ध्यानस्वरूपं निरूपयन्नाह-

ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं, त्रयं यस्यैकतां गतम् ।
मुनेरनन्यचित्तस्य, तस्य दुःखं न विद्यते ॥ १ ॥
ध्याताऽन्तराऽऽत्मा ध्येयस्तु, परमाऽऽत्मा प्रकीर्तितः ।
ध्यानं चैकाग्र्यसंवित्तिः, समापत्तिस्तदेकता ॥ २ ॥
मणौ बिम्बप्रतिच्छाया, समापत्तिः पराऽऽत्मनः ।
क्षीणवृत्तौ भवेद् ध्याना-दन्तराऽऽत्मनि निर्मले ॥ ३ ॥
आपत्तिश्च ततः पुण्य-तीर्थकृत्कर्मबन्धतः ।
तद्भावाभिमुखत्वेन, संपत्तिश्च क्रमाद्भवेत् ॥ ४ ॥
इत्थं ध्यानफलाद्युक्तं, विंशतिस्थानकाऽऽद्यपि ।
कष्टमात्रं त्वभव्याना-मपि नो दुर्लभं भवेत् ॥ ५ ॥
जितेन्द्रियस्य धीरस्य, प्रशान्तस्य स्थिराऽऽत्मनः ।
सुखाऽऽसनस्य नासाग्र-न्यस्तनेत्रस्य योगिनः ॥ ६ ॥
रुद्धबाह्यमनोवृत्ते-र्धारणाधारया रयात् ।
प्रसन्नस्याप्रमत्तस्य, चिदानन्दसुधालिहः ॥ ७ ॥
साम्राज्यमप्रतिद्वन्द्व-मन्तरेव वितन्वतः ।
ध्यानिनो नोपमा लोके, सदेवमनुजेऽपि हि ॥ ८ ॥

अष्ट० ३० अष्ट० । " बीए झाणं झियायइ । " दिवसस्य द्वितीये प्रहरे ध्यानं ध्यायतीति प्रातिदिनक्रिया । उत्त० २६ अ० । करणप्रत्ययेन निर्विषये मनसि, उत्त० १२ अ० ।

झाणंतर-ध्यानान्तर-न० । अदृढाध्यवसायध्यानस्य ध्यानान्तरिकायाम्, बृ० १ उ० ।

झाणंतरिया-ध्यानान्तरिका-स्त्री० । ध्यानयोः शुक्लध्यानद्वितीयतृतीयभेदलक्षणयोरन्तरं मध्यं ध्यानान्तरम्, तदेव ध्यानान्तरिका । स्था० ९ ठा० । अन्तरस्य विच्छेदस्य करणमन्तरिका, ध्यानस्यान्तरिका ध्यानान्तरिका । भ० ५ श० ४ उ० । ध्यानस्य मध्यभागे, कल्प० ६ क्षण । आरब्धध्यानस्य समाप्तावपूर्वस्यानारम्भणे, भ० ५ श० ४ उ० । द्वयोऽऽदीनामन्यतमध्यानवतो यदा चित्तमुत्पद्यते-सम्प्रति शेषाणां ध्यातव्यानां कतरद् ध्यायामीत्येवंविधे विमर्शे, बृ० ।

कथं पुनर्ध्यानान्तरिकेति ?, उच्यते-

अन्नतरझाणऽतीतो, बिइअं झाणं तु सो असंपत्तो ।
झाणंतरम्मि वट्टइ, विपहे व विकुंचियमईओ ॥

अन्यतरस्माद् द्वयाऽऽद्यन्यतरवस्तुविषयाद्, ध्यानादतीतो यः कश्चिदद्यापि द्वितीयध्यानं न संप्राप्नोति, स द्वितीयं ध्यानमसंप्राप्तः सन् ध्यानान्तरे वर्तते, सा ध्यानान्तरिका भवतीति शेषः । इयमत्र भावना-द्वयाऽऽदीनामन्यतमध्यानवतो यदा चित्तमुत्पद्यते-सम्प्रति शेषाणां ध्यातव्यानां कतरद् ध्यायामीति, एवंविधो विमर्शो ध्यानान्तरिकेत्युच्यते । अत्र यथा-(विपहे व विकुंचियमईओ त्ति) द्विपथं मार्गद्वयस्थानं, ततः कश्चिदेकेन पथा गच्छन् पुरस्ताद् द्विपथे मार्गद्वये दृष्टे सति विकुञ्चितमतिकोऽनयोर्मार्गयोः कतरेण व्रजामीति विमर्शाऽऽकुलबुद्धिः स्वपान्तराले वर्तते । एवमेषोऽपि ध्यानान्तरे इति । बृ० १ उ० ।

झाणकोट्ठोवगय-ध्यानकोष्ठोपगत-पुं० । ध्यानं-धर्मध्यानं, शुक्लध्यानं च । तदेव कोष्ठः कुशूलो ध्यानकोष्ठः, तमुपगतो ध्यानकोष्ठोपगतः । यथा हि कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तं विप्रसृतं भवति, एवं ध्यानतोऽविप्रकीर्णेन्द्रियान्तःकरणवृत्तौ, रा० । चं० प्र० । प्र० । जं० । सू० प्र० । विपा० । औ० । धर्मध्यानकोष्ठमनुप्रविश्येन्द्रियमनांस्यधिकृत्य संवृताऽऽत्मनि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० । औ० ।

झाणजुत्त-ध्यानयुक्त-त्रि० । ध्यानं चित्तनिरोधः,तेन युक्तो यः स तथा । चित्तनिरोधवति, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

झाणजोग-ध्यानयोग-पुं० । ७ त० । चित्तनिरोधलक्षणे धर्मध्यानाऽऽदौ विशिष्टमनोवाक्कायव्यापारे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

झाणज्झयण-ध्यानाध्ययन-न० । ध्यानप्रतिपादके आवश्यकाध्ययने, आव० ४ अ० ।

झाणज्झयणरइ-ध्यानाध्ययनरति-स्त्री० । ७ त० । ध्यानं चाध्ययनं च ध्यानाध्ययने, अध्ययनपूर्वकत्वेऽपि ध्यानस्याल्पाक्षरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च पूर्वनिपातः । एकालम्बनसंस्थस्य सदृशप्रत्ययस्य च प्रत्ययान्तरप्रवाहस्वाध्याययोरासक्तौ,षो०१२विव० ।

झाणप्पयास-ध्यानप्रकाश-पुं० । ध्यानप्रतिपादके ग्रन्थविशेषे, उक्तञ्च ध्यानप्रकाशे-" जायविगप्पो चिरकालीओ । " अष्ट० ९ अष्ट० ।

झाणवर-ध्यानवर-न० । ध्यानश्रेष्ठे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । प्रधानध्याने, आव० ४ अ० । प्रश्न० । धर्मध्याने, आव० ४ अ० ।

झाणविभत्ति-ध्यानविभक्ति-स्त्री० । ध्यानान्यार्त्तध्यानाऽऽदीनि, तेषां विभजनं विभक्तिर्यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा । उत्कालिकश्रुतविशेषे, नं० । पा० ।

झाणसंवरजोग-ध्यानसंवरयोग-पुं० । ध्यानमेव संवरयोगो ध्यानसंवरयोगः । स० ३२ सम० ।

ध्यानसंवरयोगतामाह-

" नगरं च सिंधुवद्धण, मुंडिवगो अज्जपुस्सभूई य ।
आणयण पूसमित्ते, सुहुमे झाणे विवाओ य ॥ १ ॥ "
" आसीन्मुण्डिवको राजा, नगरे सिन्धुवर्द्धने ।
पुष्पभूत्यभिधास्तस्मि-न्नाचार्याः सुबहुश्रुताः ॥ १ ॥
बोधितस्तैः स राजेन्द्रः, परमः श्रावकोऽभवत् ।
पुष्पमित्रश्च शिष्योऽस्ति, तेषामतिबहुश्रुतः ॥ २ ॥
अवसन्नतयाऽन्यत्र, तिष्ठति स्म परं सुखी ।

अन्यदा वज्रगुरावार्याः,सूक्ष्मध्याने प्रवेशनम् ॥ ३ ॥
महाप्राणसमं तच्च, तत्र स्याच्चेतनाऽपि न ।
अगीतार्थाश्च तत्पार्श्वे, पुष्पमित्रोऽथ शङ्कितः ॥ ४ ॥
आगतः कथितं तस्य, प्रपन्नं तेन तेऽप्यथ ।
स्थित्वैकत्रापवरके, ध्यानमारेभिरे रहः ॥ ५ ॥
दत्ते ढौकं न कस्यापि, स तेषां किं तु वक्ष्यदः ।
अत्रस्था एव वन्द्यं, व्याकुलाः सन्ति सूरयः ॥ ६ ॥
दिनैः कतिपयैरन्ये-ऽमन्त्रयन् साधवो मिथः ।
कुर्वन्तः सन्ति किं पूज्याः?, एकस्तत्र न्यभालयत् ॥ ७ ॥
तावद् गुरुर्न चलति, न स्पन्दते न वक्ति च ।
आख्यत्तदर्थं सर्वेषां, रुष्टाः सर्वेऽपि साधवः ॥ ८ ॥
आर्यांऽऽख्यासि त्वमाचार्यान्, किं न कालगतानपि ? ।
सोऽवक्कालगता नैते, ध्यानं ध्यायन्ति किं त्वमी ॥ ९ ॥
व्याघातमेषां मा कार्षु-रवुस्ते धूर्तता तव ।
त्वं साधयितुकामोऽसि, वेतालं पूर्णलक्षणैः ॥ १० ॥
आचार्यैरिति ते सर्वे, तेन सार्द्धं व्यधुः कलिम् ।
आनिन्ये तैस्ततो राजा-ऽऽचार्याः कालगता इति ॥ ११ ॥
दर्शेऽसौ लिङ्गिकः किं तु, न निर्याणं कथञ्चन ।
राजा स्वयमथाऽऽलोक्य, मेने कालगतान् गुरून् ॥ १२ ॥
पुष्पमित्रमवज्ञाय, शिबिका सज्जिता ततः ।
अन्याद्यपाये महति, स्पृश्योऽङ्गुष्ठो मम त्वया ॥ १३ ॥
पुष्पस्तमिति संकेतात्, पस्पर्श प्रत्यबुद्ध सः ।
ऊचे किमार्य ! व्याघातः, सोऽवक् वः शिष्यकैः कृतः ॥ १४ ॥
उक्तास्ते न कृतं रम्यं, भङ्गो ध्यानस्य नः कृतः ।
प्रवेश्यमीदृशे ध्यानं, येन स्याद्योगसंग्रहः ॥१५॥ " आ० क० । आव० । आ०चू० । अष्टाविंशे योगसंग्रहे,प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

झाणसयग-ध्यानशतक-न० । ध्यानप्रतिपादके गाथाशतके, "पंचुत्तरेण गाहा-सएण झाणसयगं समुद्दिट्ठं"। (१०८ गाथा) आव० ४ अ० । ध० ।

झाणोवओगचित्त-ध्यानोपयोगचित्त-त्रि० । ध्यानोपयोगे विशिष्टध्यानाभ्यासे चित्तं यस्य सः । विशिष्टध्यानाभ्यासचित्ते, संथा० ।

झाम-ध्मात-त्रि० । दग्धे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । आ० चू० । ध्याम-त्रि० । अनुज्ज्वले, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

झामण-ध्मापन-न० । प्रदीपनके, व्य० २ उ० । सूत्र० ।

झामथंडिल्ल-ध्मातस्थण्डिल-न० । दग्धभूमौ, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

झामिय-ध्मामित-त्रि० । अग्निना दग्धे, व्य० ७ उ० । बृ० । " नयरं सव्वं झामियं । " आ० म० १ अ० १ खण्ड । दे० ना० ।

झाय-ध्मात-त्रि० । भस्मीकृते, न० ।

झायव्व-ध्यातव्य-त्रि० । ध्येये, आव० ४ अ० । दर्श० ।

झाया-ध्यातृ-त्रि० । चिन्तके, आव० ४ अ० । दर्श० ।

झारुअ-स्त्री० । देशी-चीर्याम, " झारुअझारुक्कणे, झिरिंडए एस जं परिहरी । " (४८ गाथा) चीरीलताग्रहणरूक्षे जीर्णकूपे एष यत पतित्वाल, इत्यर्थः । दे० ना० ३ वर्ग ।

झावण-ध्मापन-भस्मीभावकरणे, आचा० १ श्रु०१ अ० ५ उ० ।

झावणा-ध्मापना-स्त्री० । अग्निसंस्कारे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । स च भगवतो निर्वाणप्राप्तस्यान्येषां च साधूनामिक्ष्वाकूणामितरेषां च प्रथमं त्रिदशैः कृतः, पश्चाल्लोकेऽपि संजातः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

झिंगिर-झिङ्गिर-पुं० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० ।

झिंगिरड-झिङ्गिरड-पुं० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० ।

झिंझिय-झिञ्झित-त्रि० । बुभुक्षाऽऽर्ते, बृ० ६ उ० ।

झिंझिरी-झिञ्झिरी-स्त्री० । वल्लीभेदे, " झिंझिरीवल्लीए सागं सि । " आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । वल्लीपलाशके, बृ० १ उ० ।

झिम्म-जैह्म्य-न० । येन परवञ्चनाभिप्रायेण जैह्म्यं क्रियासु मान्द्यमालम्बते इत्येवम्भावे, भ० १२ श० ५ उ० ।

झियायंत-ध्यायत्-त्रि० । चिन्तयति, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

झियायमाण-ध्मायमान-त्रि० । आज्वल्यमाने, दशा० १० अ० । ज्वलति, भ० ८ श० ६ उ० । सूत्र० । दह्यमाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । ध्यायमान-त्रि० । चिन्त्यमाने, दशा० ५ अ० । भ० ।

झिरिंड-न० । देशी-जीर्णकूपे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झिल्लिया-झिल्लिका-स्त्री० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

झिल्लिरिआ-स्त्री० । देशी-चीहातृणे, मशके च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झिल्ली-झिल्ली-स्त्री० । चिल्लति-चिल-अच्-पृषो०-गौरा०-ङीष् । कीटभेदे, संज्ञायां कन् । आतपरुचौ, वर्त्यां च । वाच० । कन्दभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

झीण-क्षीण-त्रि० । क्षि-क्तः । दुर्बले, क्षामे च । वाच० । अष्ट० । क० प्र० । अङ्के, कीटे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झीर-स्त्री० । देशी-लज्जायाम, दे० ना० ३ वर्ग ।

झुंख-पुं० । देशी-तुणपाऽऽख्ये वाद्यविशेषे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झुंझिय-झुञ्झित-त्रि० । बुभुक्षिते, क्षुरितके च । भ० १६ श० ४ उ० ।

झुंझुमुसय-न० । देशी-मनोदुःखे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झुंटण-देशी-प्रवाहे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झुंबणग-झुम्बनक-न० । प्रालम्बे कर्णाऽऽभरणविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

झुट्ठ-न० । देशी-अलीके, दे० ना० ३ वर्ग ।

झुण-जुगुप्स-धा० । निन्दायाम, " जुगुप्सेर्झुणदुगुच्छदुगुञ्छाः " ॥ ८ । ४ । ४ ॥ इति जुगुप्सतेर्झुणाऽऽदेशः । 'झुणइ' प्रा० ४ पाद ।

झुणि-ध्वनि-पुं० । ध्वन्-इन् । "ध्वनिविष्वचोरुः" ॥८ । १ । ५२॥ इति आदेरस्य उत्वम् । प्रा० १ पाद । अव्यक्ते मृदङ्गाऽऽदिशब्दे, अलङ्कारोक्ते उत्तमकाव्ये च । वाच० । "झुणि कन्नइ" प्रा० ४ पाद ।

झुत्ति–स्त्री० । देशी-छेदे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झुल्लरी–देशी- गुल्मे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झुसण–जोषण–न० । सेवायाम्, स्था० २ ठा० १ उ० । कल्प० । ज्ञा० ।

झुसणा–जोषणा स्त्री० । सेवायाम्, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

झुसिय-जुषित–त्रि० । सेवित, सू० २ उ० ।

झुसिर-शुषिर-न० । शुषेः शोषस्य दानाच्छुषिरम् । आकाशे, भ० २० श० २ उ० । रन्ध्रे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । पोले, नि० चू० १२ उ० । सच्छिद्रे, ग० २ अधि० । अन्तःसाररहिते, दश० १० अ० । असारकाये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । शङ्खाऽऽदौ, रा० । काहलाऽऽदौ, रा० । आ० म० । जी० । आ० चू० । वंशाऽऽदौ वाद्ये, भ० ५ श० ४ उ० । जं० । चतुर्विधे आतोद्यशब्दे, आचा० २ श्रु० २ चू० १९ अ० । " झुसिरा जमलचुल्लीसंठाणसंठिया ।" उपा० २ अ० ।

अथ कतिविधं शुषिरमिति प्रश्नावकाशमाशङ्क्याऽऽह-
शुषिरं पञ्चविधम् । तद् यथा—पुस्तकपञ्चकं, तृणपञ्चकं, दूष्यं-वस्त्रं, तत्पञ्चकं द्विविधम्-अप्रत्युपेक्षकदूष्यपञ्चकं, दुष्प्रत्युपेक्षकदूष्यपञ्चकं च । चर्मपञ्चकं चेति ।

अथ तृणपञ्चकाऽऽदिषु दोषानाह-

तणपणगम्मि वि दोसा, विराहणा होति संजमाऽऽताए ।
सेसेसु वि पणगेसुं, विराहणा संजमे होति ॥

तृणपञ्चकेऽपि दोषा आज्ञाभङ्गाऽऽदयो भवन्ति । विराधना च संयमाऽऽत्मविषया । शेषेष्वपि दूष्यपञ्चकाऽऽदिषु संयमविषया विराधना भवति ।

इदमेव भावयति-

अहिविच्छुगविसकंटग–मादीहिं खयं व होज्ज आयाए ।
कुंथादि संजमम्मि य, जति उव्वत्तादि तति लहुगा ॥

तृणाऽऽदिषु शुषिरत्वादहिर्वृश्चिको वा, विषकण्टको वा भवेत् । एतैः, आदिशब्दान्मर्कटिकाऽऽदिभिश्च, तत्र शयान आसीनो वा उपद्रूयेत । क्षतं वा दर्भाऽऽदिषु सुप्तस्य भवेत् । एषा आत्मविराधना । कुन्थुपनकाऽऽदिप्राणिव्यपरोपणं तु संयमविराधना । तृणेषु च प्रसुप्तो (यति) यावतो वारानुद्वर्तनं परिवर्तनमाकुञ्चनं प्रसारणं वा करोति (तति) तावन्तश्चतुर्लघुकाः । बृ० ३ उ० ।

झुसिरगोलसंठिय–शुषिरगोलसंस्थित–त्रि० । अन्तःशुषिरगोलकाऽऽकारे, भ० ११ श० १० उ० ।

झूर-स्मर-धा० । भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् । "स्मरेर्झर-झूर-भर-भल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः" ॥८।४।७४॥ इति स्मरेर्झूराऽऽदेशः । 'झूरइ' । 'सरइ' । प्रा० ४ पाद । स्मरति, अस्मार्षीत् । "झूरइ त्ति" इत्ययेन विद्यते । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । कुटिले, दे० ना० ३ वर्ग ।

झूसण–जोषण–न० । प्रीतौ, सेवायां च । औ० । स्त्रियां टाप् । स्था० २ ठा० २ उ० । आ० चू० । स० ।

झूसरिअ–त्रि० । देशी–अस्यर्थे, स्वच्छे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झूसिय–जुष्ट–त्रि० । सेविते, स्था० २ ठा० २ उ० । औ० । ज्ञा० ।

झूषित–त्रि० । क्षपिते, स्था० ३ ठा० २ उ० । कल्प० ।

झेंदुअ–पुं० । देशी–कन्दुके, दे० ना० ३ वर्ग ।

झेय–ध्येय–न० । चिन्तनीये, आव० ४ अ० ।

झोंकलिअ–स्त्री० । देशी–क्षीरायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

झोट्ट–स्त्री० । देशी-अर्द्धमहिष्याम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

झोरुप्प–न० । देशी--पणके, दे० ना० ३ वर्ग ।

झोडिअ–पुं० । देशी--व्याधे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झोल्लिआ–झोल्लिका–स्त्री० । पुरुषद्वयोत्क्षिप्ते " झोली " इति ख्याते पदार्थे, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

झोस–झोष–पुं० । यथेह तीर्थे षड्मासान्तमेव तपः, ततः षण्णां मासानामुपरि यान् मासानापन्नोऽपराधी, तेषां क्षपणमनारोपणम् । प्रस्थे चतुःसेतिकाऽतिरिक्तधान्यस्येव झाटने, स्था० ५ ठा० २ उ० । नि० चू० ।

झोसण–झोषण–न० । मार्गणे, " आभोगणं ति वा मग्गणं ति वा झोसणं ति वा एगट्ठं । " व्य० २ उ० ।

झोसमाण–झोषयत्–त्रि० । क्षपयति, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

झोसिय–जुष्ट--त्रि० । सेविते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

झोषित--त्रि० । क्षपिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

झोसेमाण--जुषत्--त्रि० । आचरति, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

झोसेहि--देशी-क्रिया । गवेषयत इत्यर्थे, बृ० ३ उ० ।

इति श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प–भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्यश्री १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-विरचिते " अभिधानराजेन्द्रे " झकाराऽऽदिशब्द–सङ्कलनं समाप्तम् ।

टकार

ट-ट-'ट' इत्ययं वर्णो मूर्द्धस्थानीयः स्पर्शसंज्ञः । वाच० ।

ट-पुं० । टल-डः । वामने, पादे, निःस्वने, वाच० । धने, खुरी, करटे, धूमे, पाते, मावर्ते, भानुरश्मौ, ताडने, त्रासे, स्थिरे, अभ्रे च । एका० । करङ्के, टङ्कारे च । न० । वाच० ।

टंक-टङ्क-पुं० । टकि-घञ्, अच् वा । कोपे, कोषे, खड्गे, पाषाणभेदनेऽस्त्रे, वाच० । खड्गाऽऽदीनामग्रभागे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । मुद्राचित्रविशेषे, पञ्चा० ४ विव० । आव० । प्रज्ञा० । छिन्नतटे कूटे, नं० । भ० । एकदिशि छिन्ने पर्वते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । शत्रुञ्जयपर्वते, ती० १ कल्प० । लोमपक्षिभेदे च । जी० १ प्रति० । चतुर्माषकरूपे परिमाणे, नीलकपित्थे, खनित्रे, दर्पे च । पुं० । वाच० । खड्गे, विङ्के, खाते, जङ्घायाम, खनित्रे, भित्तौ, तटे च । दे० ना० ४ वर्ग ।

टंकण-टङ्कन-पुं० । टकि-ल्युट् । 'सोहागा' इतिख्याते क्षारभेदे, वाच० । उत्तरापथे म्लेच्छदेशवास्तव्ये स्वनामख्याते म्लेच्छविशेषे, विशे० । आ० म० । आ० चू० । सूत्र० ।

टंका-टङ्का-स्त्री० । स्वनामख्याते तीर्थे, यत्र वीरः पूज्यते । ती० ४३ कल्प ।

टंकिअ-न० । देशी-प्रसूने, दे० ना० ४ वर्ग ।

टंवरअ-त्रि० । देशी-भारिके, दे० ना० ४ वर्ग ।

टक्कर-टक्कर-पुं० । अङ्गुल्यादिना शिरआदौ टगिति करणे, व्य० १ उ० ।

टगर-तगर-पुं० । गृ-अच् । तस्य क्रोडस्य गरः । वाच० । "तगर-त्रसर-तूवरे टः" ॥ ८ । १ । २०५ ॥ इति तस्य टः । प्रा० १ पाद । स्वनामख्याते वृक्षे, वाच० ।

टमरुक-डमरुक-पुं० । "चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ" ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति डस्य टः । प्रा० ४ पाद । वाद्यभेदे, कापालिकयोगवाद्ये चमत्कारे च । वाच० ।

टसर-त्रसर-पुं० । त्रस-अरन् । तन्तुवायोपकरणभेदे, वाच० । "तगर-त्रसर-तूवरे टः" ८ । १ । २०५ । इति त्रस्य टः । प्रा० १ पाद ।

टा-टा-स्त्री० । घटिकायाम, भुवि, भूम्यायां, व्याघृतौ, निगरेऽपि च । एका० ।

टाल-टाल-न० । अबद्धास्थिनि फले, दश० ७ अ० । आचा० ।

टिंपुरी-टिम्पुरी-स्त्री० । तीर्थभेदे, ती० ।

तत्कल्पं यथा-

"श्रीपार्श्वं वङ्कचूलाभिख्यं, ध्यात्वा श्रीवीरमप्यथ ।
कल्पं श्रीटिम्पुरीतीर्थ-स्याभिधास्ये यथाश्रुतम् ॥ १ ॥
पारेतजनपदान्त-श्चर्मण्वत्यास्तटे महानद्याः ।
नानाघनवनगहना, जयत्यसौ टिम्पुरीति पुरी" ॥ २ ॥

अत्रैव भारते वर्षे विमलयशा नाम भूपतिरभूत् । तस्य सुमङ्गलादेव्या सह विषयसुखमनुभवतः क्रमाज्जातमपत्ययुगलम् । तत्र पुत्रः पुष्पचूलः, पुत्री पुष्पचूला । अनर्थसार्थमुत्पादयितुः पुष्पचूलस्य कृतं लोकैः-"वङ्कचूल" इति नाम । महाजनोपालम्भेन राज्ञा रुषितेन निःसारितो नगराद्वङ्कचूलः । गच्छंश्च पतितो भीषणायामटव्यां सह निजपरिजनेन स्वसा च स्नेहवशया । तत्र च क्षुत्पिपासाऽऽर्दितो दृष्टो भिल्लैः, नीतः स्वपल्लीं, स्थापितश्च पूर्वपल्लीपतिपदे । पर्यपालयच्चाऽऽज्यम, अलुण्टयच्च ग्रामनगरसार्थाऽऽदीन् । अन्यदा सुस्थिताचार्या अर्बुदाचलादष्टापदयात्रायै प्रस्थितास्तामेव सिंहगुहां नाम पल्लीं सगच्छाः प्रापुः । आसन्नश्च वर्षाकालः । अजनि च पृथ्वी जीवाऽऽकुला । साधुभिः सहाऽऽलोच्य मार्गयित्वा वङ्कचूलाद् वसतिं स्थितास्तत्रैव सूरयः । तेन च प्रथममेव व्यवस्था कृता । मम सीमाऽन्तर्धर्मकथा न कथनीया; यतो युष्मत्कथायामहिंसाऽऽदिको धर्मः, न चैवं मल्लोको निर्वहति । 'एवमस्तु' इति प्रतिपद्य तस्थुरुपाश्रये गुरवः । तेन चाऽऽहूय सर्वे प्रधानपुरुषा भणिताः । अहं राजपुत्रः, मत्समीपे श्रमणाऽऽद्य आगमिष्यन्ति, ततो प्रचाङ्कजीववधो, मांसमद्याऽऽदिप्रसङ्गश्च पल्ल्या मध्ये न कर्त्तव्यः । एवं कृते तु यतीनां न भक्तपानमजुगुप्सितं कल्पत इति । तैस्तथैव कृतं यावच्चतुरो मासान् । प्राप्तो विहारसमयः । अनुज्ञापितो वङ्कचूलः सूरिभिः-"समणाणं सउणाणं" इत्यादिवाक्यैः । ततस्तैः सह चलितो वङ्कचूलः स्वसीमां प्राप । तेन विज्ञप्तं-वयं परकीयसीमायां न प्रविशाम इति । भणितः सूरिभिः-वयं सीमान्तरमुपेताः, तत्किमप्युपादिशामस्तुभ्यम । तेनोक्तम-यन्मयि निर्वहति तदुपदेशेनानुगृह्यतामयं जनः । ततः सूरिभिश्चत्वारो नियमा दत्ताः । तद्यथा-अज्ञातफलानि न भोक्तव्यानि, सप्ताष्टानि पदान्यपसृत्य घातो देयः, पट्टदेवी नाभिगन्तव्या, काकमांसं च न भक्षणीयमिति । प्रतिपन्नास्तेन ते । गुरून् प्रणम्य स स्वगृहानागमत् । अन्यदा गतः सार्थस्योपरि धाट्या, शकुनकरणादागतः सार्थः । त्रुटितं च तस्य पथ्यदनम् । पीडिताः क्षुधा राजन्याः, दृष्टश्च तैः किंपाकतरुः फलितः, गृहीतानि फलानि, न जानाति तन्नामधेयमिति तेन न भुक्तानि । इतरैः सर्वैर्बुभुजिरे, मृताश्च तैः किंफलैः । ततश्चिन्तितं तेन-अहो! नियमानां फलं, तत एकाक्येवाऽऽगतः पल्लीं, रजन्यां प्रविष्टः स्वगृहं, दृष्टा पुष्पचूला दीपाऽऽलोकेन पुरुषवेषा निजपत्न्या सह प्रसुप्ता । जातस्तस्य कोपस्तयोरुपरि । द्वावप्येतौ खड्गप्रहारेण हिनस्मीति यावदचिन्तयत्तावत् स्मृतो नियमः । ततः सप्ताष्टपदान्यपक्रम्य घातं ददत्, खड्गमुपरि खड्गेन, व्याहृतं स्वसा, जीवतु वङ्कचूल इति । तद्वचः श्रुत्वा लज्जितोऽसावपृच्छत्-किमेतदिति ?। साऽपि नटवृत्तान्तमचीकथत् । कालक्रमेण तस्य तद्राज्यं शासतस्तत्रैव पल्ल्यां तस्यैवाऽऽचार्यस्य शिष्यौ धर्मऋषिधर्मदत्तनामानौ कदाचिद्वर्षारात्रमवास्थिषाताम । तत्र तयोरेकः साधुस्त्रिमासक्षपणं विदधे, द्वितीयश्चतुर्मासक्षपणम । वङ्कचूलस्तु तद्दत्तनियमानामायातिशुभफलतामवलोक्य व्यज्ञिपत् । भदन्तौ ! भवदुक्-

रूपया कमपि पेशलं धर्मोपदेशं चक्रुः। ततस्ताभ्यां चैत्यविधापनदेशना क्लेशनाशिनी विदधे। तेनापि शारविकापर्वतसमीपवर्तिन्यां तस्यामेव पल्ल्यां चर्मण्वतीसरित्तीरे कारितमुच्चैस्तरं चारु चैत्यम्। स्थापितं श्रीमन्महावीरबिम्बम्। तीर्थतया च रूढं तत्। प्रयान्ति स्म चतुर्दिग्भ्यः सङ्घाः। कालान्तरे कश्चिन्नैगमः सभार्यः सर्वथा तद्यात्रायै प्रस्थितः, प्राप्तः क्रमेण रन्तिनदीम्। नावमारूढौ च दम्पती चैत्यशिखरं व्यलोकयताम्। ततः सरभसं सौवर्णिककच्चोलके कुङ्कुमचन्दनकर्पूरं प्रक्षिप्य जलं सेक्तुमारब्धवती नैगमगृहिणी। प्रमादान्निपतितं तदन्तर्जलतलम्। तां ततो जगितं वणिजा-"अहो! इदं कच्चोलकं नैककोटिमूल्यरत्नखचितं राज्ञा ग्रहणकेऽर्पितमासीत्, ततो राज्ञः कथं छुटितव्यम्?। इति चिरं विषद्य वङ्कचूलस्य पल्लीपतेर्विज्ञापितं तत्। यथा-अस्य राजकीयवस्तुनो विचितिः कार्यताम्। तेनापि धीवर आदिष्टस्तच्छोधयितुम्। प्राविशदन्तर्नदम्। विचिन्वता चान्तर्जलतलं दृष्टं तेन हिरण्मयरथस्थं जीवन्तस्वामिश्रीपार्श्वनाथबिम्बं तावत्, पश्यति स्म स बिम्बस्य हृदये तत् कच्चोलकम्। धीवरेणोक्तम्-धन्याविमौ दम्पती, यदङ्गदत्तो वक्षसि घुसृणघनचन्दनविलेपनार्हे कच्चोलकं स्थितम्। ततो गृहीत्वा तदर्पितं नैगमस्य। तेनापि दत्तं तस्मै बहु द्रव्यम्। उक्तं च बिम्बस्य रूपं नाविकेन। ततो वङ्कचूलेन श्रद्धालुना तमेव प्रवेश्य निष्कासितं तद् बिम्बम्। कनकरथस्तु तत्रैव मुक्तः। निवेदितं हि केनापि स्वप्ने प्राग्नावता नृपतेः-यत्र क्षिप्ता सती पुष्पमाला गत्वा तिष्ठति तत्र बिम्ब शोद्धर्तामिति। तदनुसारेण बिम्बमानीय समर्पितं राज्ञे वङ्कचूलाय। तेनापि स्थापितं श्रीवीरबिम्बस्य बहिर्मण्डपे यावत् कालं नवं चैत्यमस्मै कारयामीत्यभिसंधिमता। कारिते चैत्यान्तरे यावत्तत्र स्थापनार्थमुत्थापयितुमारभन्ते राजकीयाः पुरुषास्तावद्बिम्बं नोत्तिष्ठति स्म। देवताधिष्ठानात्तत्रैव स्थितम्। अद्यापि तत्रैवाऽऽस्ते। धीवरेण पुनर्विज्ञप्तः पल्लीपतिः-यदत्र देव! मया नद्यां प्रविष्टेन बिम्बान्तरमपि दृष्टं, तदपि बहिरानयनेनोचितीमञ्चति, पूजाऽऽरूढं हि भवति। ततः पल्लीश्वरेण पृष्टा स्थविरपत्-भोः! जानीत कोऽप्यनयोर्बिम्बयोः संविधानकं?, केन स्थलतो नद्यन्तर्जलतले न्यस्ते?। इत्याकर्ण्यैकेन पुराविदा स्थविरेण विज्ञप्तम्-देव! एकोऽस्मिन्नगरे पूर्वं नृपतिरासीत्। स च परचक्रेण समुपेयुषा सार्द्धं योद्धुं सकलचमूसमूहसन्नहनेन गतः। तस्याग्रमहिषी च निजं सर्वस्वमेतच्च बिम्बद्वयं कनकरथस्थं विधाय जलदुर्गमिति कृत्वा चर्मण्वत्यां कोटिम्बके प्रक्षिप्य स्थिता। चिरं युध्यमानस्तस्य कोऽपि खलः किल वार्तामानैषीत्-यद्ययं नृपतिस्तेन परचक्राधिपतिनृपतिना व्यापादित इति। तत् श्रुत्वा देवी तत्कोटिम्बकमाक्रम्यान्तर्जलतलं प्राक्षिपत्। एकं च तयोरानीतं पूज्यमानं चास्ति। द्वितीयमपि चेद् निःसरति तदोपक्रम्यतामिति। तदाकर्ण्य वङ्कचूलः परमार्हतचूडामणिस्तमेव धीवरं तदानयनाय नद्यां प्रावीविशत्। स च तद्बिम्बं कटीदघ्नवपुर्जलतलेऽवतिष्ठमानं बहिःस्पशेषाङ्गं चावलोक्य निष्कासनोपायाननेकानकार्षीत्। न च तन्निर्गतमिति देवताप्रभावमाकलय्य समागत्य च विशामीशाय न्यवेदयत् तत्स्वरूपम्। अद्यापि तत्किल तथैवाऽऽस्ते। श्रूयतेऽद्यापि-केनापि धीवरस्थविरेण नौकायाः स्तम्भे जाते तत्कारणं विचिन्वता तस्य हिरण्मयरथस्य कीलिका लब्धा। तां कनकमयीं दृष्ट्वा लुब्धेन तेन व्यचिन्ति-यदिमं रथं क्रमात्सर्वं गृहीत्वा श्रीमान् भविष्यामीति। ततश्च रात्रौ निद्रां न लेभे।

उक्तश्च केनाप्यदृष्टपुरुषेण-यदिमां तत्रैव विमुच्य स्थेयाः, नो चेत्तव एव त्वां हनिष्यामीति। तेन भयाऽऽर्तेन तत्रैव मुक्ता युगकीलिका इत्यादि। किं न संभाव्यते दैवताधिष्ठितेषु पदार्थेषु?। श्रूयते च संप्रति काले कश्चिन्म्लेच्छः पाषाणपाणिः श्रीपार्श्वनाथप्रतिमां भङ्क्तुमुपस्थितः स्तम्भितबाहुर्जातः, महति पूजाविधौ कृते सज्जतामापन्न इति। श्रीवीरबिम्बं महत्, तदपेक्षया लघीयस्तरं श्रीपार्श्वनाथबिम्बमिति महावीरस्याग्रजरूपोऽयं देव इति भेदाक्षेण इत्याख्यां प्राचीकशत। श्रीमच्चेल्लणदेवस्य महीयस्तममाहात्म्यनिधेः पुरः ताभ्यां महर्षिभ्यां सुवर्णमुकुटमन्त्राऽऽम्नायः समाधितः प्रकाशितश्च भव्येभ्यः। सा च सिंहगुहापल्ली कालक्रमात् 'टिम्पुरी' इत्याख्यया प्रसिद्धा नगरी संजाता। अद्यापि स भगवान् श्रीमहावीरः सचेल्लणपार्श्वनाथः सकलसङ्घेन तस्यामेव पुर्यां यात्रोत्सवैराराध्यते इति। अन्यदा वङ्कचूल उज्जयिन्यां खात्रपातनाय चौर्यवृत्त्या कस्यापि श्रेष्ठिनः सद्मनि गतः, कोलाहलं श्रुत्वा ततः चलितः। ततो देवदत्ताया गणिकाया गणिकयमाणिक्यभूताया गृहं प्राविशत्। दृष्टा सा कुष्ठिना सह प्रसुप्ता। ततो निःसृत्य गतः पुरः श्रेष्ठिनो वेश्म। तत्रैकविंशोपको लभ्यकं लुपतीति पञ्चवार्गृभनिर्भर्त्स्य निःसारितो गेहात् पुत्रः श्रेष्ठिना। विरराम च यामिनी। यावद्राजकुलं यामीत्यचिन्तयत् तावदुज्जगाम धामनिधिः। पल्लीशश्च निःसृत्य नगराद्गोधां गृहीत्वा तरुतले दिनं नीत्वा पुना रात्रावागाद्राजकुलम्। भाण्डागाराद् बहिर्गोधापुच्छे विलग्य प्राविशत्कोशम्। दृष्टो राजाग्रमहिष्या। रुष्टया पृष्टश्च-कस्त्वमिति?। तेनोचे-चौर इति। तयोक्तम्-मा भैषीः, मया सह सङ्गमं कुरु। सोऽवादीत्-का त्वम्?। साऽप्यूचे-अग्रमहिष्यहमिति। चौरोऽवादीद्-यद्येवं तर्हि ममाम्बा भवसि, अतो यामि?। इति चौरेण निश्चिते, तया स्वाङ्गं नखैर्विदार्य पूत्कृतिपूर्वमाहूता रक्षकाः। गृहीतस्तैः। राज्ञा चानुनयार्थमागतेन तद् दृष्टम्। राज्ञोक्तास्ते पौरुष्यामेनं गाढं कुर्वीध्वमिति ते रक्षितः। प्रातः पृष्टः क्षितिभृता। तेनाप्युक्तम्-देव! चौर्यायाहं प्रविष्टः पश्चादेव भाण्डागारे देव्या दृष्टोऽस्मि। यावदन्यन्न कथयति तावत्तुष्टो विदितवृत्तो नरेन्द्रः, स्वीकृतः पुत्रतया। स्थापितश्च सामन्तपदे। देवी विडम्ब्यमाना रक्षिता वङ्कचूलेन। अहो! नियमानां शुभफलमित्यनवरतमयमध्यासीत्। प्रेषितश्चान्यदा राज्ञा कामरूपनृपसाधनार्थम्। घातैर्जर्जरितो विजित्य तमगात् स्वस्थानम्। व्याहृताश्च राज्ञा वैद्याः, यावद् गूढोऽपि घातव्रणो विकशति। तैरुक्तम्-देव! काकमांसेन भोजनो भवत्ययम्। तस्य च जिनदासश्रावकेण सार्द्धं प्रागेव मैत्र्यमासीत्। ततस्तदानयनाय प्रेषितः पुरुषः पुरुषाधिपतिना, येन तद्वाक्यात्काकमांसं भक्षयतीति। तदाहूतश्च जिनदासोऽवन्तीमागच्छन्नुभे देव्यौ रुदत्यावद्राक्षीत्। तेन पृष्टे-किं रुदिथः?। ताभ्यामुक्तम्-अस्माकं भर्ता सौधर्माच्च्युतः, अतो राजपुत्रं वङ्कचूलं प्रार्थयावहे, त्वयि गते स मांसं भक्षयिता, तेन गन्ता दुर्गतिम्, तेन रुदिव। तेनोक्तम्-तथा करिष्ये, यथा तन्न भक्षयिता। गतश्च तत्र राजोपरोधाद्वङ्कचूलमवोचत्-गृहाण बलिभुक्पिशितम्, यद् भुक्तः सन् प्रायश्चित्तं चरेः। वङ्कचूलोऽप्यवोचत्-जानासि त्वं यदाचर्याप्येकान्तं प्रायश्चित्तं ग्राह्यं, ततः प्रागेव तदनाचरणं श्रेय इति; "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम्।" इति वाक्यात्। निषिद्धो नृपतिः। विशेषप्रतिपन्नव्रतनिवहश्चाच्युतकल्पमगमत्। वलमानेन जिनदासेन ते देव्यौ तथैव रुदत्यौ दृष्ट्वा मो-

कम्-किमिति कथिथः ? ; न तावत्त्व मांसं प्राहितः । ताभ्याम-भिदधे-स अधिकाराधनवशादच्युतं प्राप्तः ।

" चेल्लणापार्श्वनाथस्य, कल्पमेतं यथाश्रुतम् ।
किञ्चिद्विरचयांचक्रुः, श्रीजिनप्रभसूरयः " ॥ १ ॥

इति श्रीचेल्लणापार्श्वनाथस्य कल्पः ॥

टिम्पुरीस्तवस्त्वयम्-

" वस्तुकैर्विविधैर्नैकपलमच्चाद्यैरभिभ्राजिता,
श्रीवीरप्रभुपार्श्वसुव्रतयुगाऽऽदीशाऽऽदिबिम्बैर्युता ।
पल्ली भूतलविश्रुता नियमिनः श्रीवकूचूलस्य या,
सा भूत्वा चिरमद्भुतां कलयतु प्रौढिं पुरी टिम्पुरी ॥१॥
व्योमचुम्बिशिखरं मनोहरं, रन्तिदेवताटिनीतटस्थितम् ।
अत्र चैत्यमवलोक्य यात्रिकाः, शैत्यमाशु ददति स्वचक्षुषोः॥२॥
मूलनायक इहान्त्यजिनेन्द्र-श्चारुलेपघटितोज्ज्वलमूर्तिः ।
दक्षिणे जयति चेल्लणपार्श्वो, नाग्युदक्तदपरः फणिकेतुः ॥३॥
एकत आदिजिनोऽत्र जिनोऽन्यो-ऽन्यत्र पुनर्मुनिसुव्रतनाथः ।
एवमनेकजिनेश्वरमूर्ति-स्फूर्तिमदत्र चकास्ति जिनौकः ॥४॥

अत्राम्बिकाद्वारसमीपवर्तिनौ,
श्रीक्षेत्रपालौ भुजषट्कभास्वरौ ।
सर्वज्ञपादाम्बुजसेवनालिनौ,
सङ्घस्य विघ्नौघमपोहतः क्षणात् ॥ ५ ॥
यात्रोत्सवानिह सिते सहसो दशम्या-
मालोक्य लोकसमवायविधीयमानान् ।
संभावयन्ति भविकाः कलिकालगेहे,
प्राघूर्णकं कृतयुगं ध्रुवमभ्युपेतम् ॥ ६ ॥
अमरमहितमेनत्तीर्थमाराध्य भक्त्या,
फलितसकलकामाः, सर्वभीतीर्जयन्ति ।
बहलपरिमलाऽऽढ्यं चन्दनं प्राप्य यद्वा,
क इह सहतु तापव्यापमालिङ्गिनाङ्गम् ?॥ ७ ॥
शशधरहषीकार्कक्षोणीमिते १२६१ शकवत्सरे,
प्रहमणिमहे सङ्घान्वीता उपेत्य पुरीमिमाम् ।
मुदितमनसस्तीर्थस्यास्य प्रभावमहोदधि-
रिति विरचयांचक्रुः स्तोत्रं जिनप्रभसूरयः " ॥ ८ ॥

टिम्पुरीस्तोत्रम् । ती० ४३ कल्प ।

टिंवरु-पुं० । देशी-स्थविरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

टिक्क-न० । देशी-तिलके, दे० ना० ४ वर्ग ।

टिग्घर-पुं० । देशी-स्थविरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

टिट्टिभ-टिट्टिभ-पुं० । 'टिट्टि' इत्यव्यक्तं भाषते । (टिट्टिर) पक्षिभेदे, स्वार्थे कन्, अत्रैवार्थे, वाच० । स्त्रियां ङीप् । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

टिट्टियावण-टिट्टियापन-न० । शब्दायमानकरणे, " मयूरा अं-डयं अभिक्खणं अभिक्खणं नो उव्वट्टेइ० जाव नो टिट्टियावेइ ।" ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । स्वकीयकर्णसमीपे धृत्वा टिट्टियावेति-शब्दायमानं करोति । ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । वृ० ।

टिप्पी-स्त्री० । देशी-तिलके, दे० ना० ४ वर्ग ।

टिरिटिल्ल-भ्रम-धा० । चलने, भ्वा०-पर०-अक०-सेट् । वाच० । "भ्रमेष्टिरिटिल्ल-ढुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमड-भमाड-तलअंट-झंट-झंप-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी-पराः" ८।४।१६१॥ इति टिरिटिल्लाऽऽदेशः । 'टिरिटिल्लइ', 'भमइ' । प्रा० ४ पाद ।

टिविडिक्क-मण्ड-धा० । भूषायाम्, चुरा०-उभ०-पक्षे-भ्वा०-पर०-सक०-सेट्-इदित् । वाच० । " मण्डेश्चिञ्च-चिञ्चअ-चिञ्चिल्ल-रीड-टिविडिक्काः " ८।४।११५। इति टिविडिक्काऽऽदेशः । 'टिविडिक्कइ' । प्रा० ४ पाद ।

टुंट-पुं० । देशी-छिन्नकरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

टुवर-तुवर-पुं० । तरति हिनस्ति रोगानसौ । तृ-ष्वरच् । नि०-गुणाभावः । वाच० । 'तगर-त्रसर-तूवरे टः' ॥ ८ । १ ।२०५॥ इति तस्य टः । प्रा० १ पाद । धान्यभेदे, कषायरसे च, तद्वति; त्रि० । आढक्याम्, सौराष्ट्रमृत्तिकायां च । स्त्री० । षित्वात् ङीष् । स्वार्थे कन् । तुवरिकाऽप्यत्रैव । वाच० ।

टेंटा-स्त्री० । देशी-द्यूतस्थाने, दे० ना० ४ वर्ग ।

टेक्कर-न० । देशी-स्थले, दे० ना० ४ वर्ग ।

टोक्कण-न० । देशी-मद्यपरिणामभाण्डके, दे० ना० ४ वर्ग ।

टोक्कल-टोक्कल-पुं० । एकधान्यनिष्पन्ने व्यञ्जनभेदे, एकधान्यनिष्पन्नान्यपि पूलिकास्थूलरोटकमण्डकघृतपूरकघूघरीटोक्कलधूलीघाटकणिक्काऽऽदीनि पृथक् पृथक् नामाऽऽस्वादवत्त्वेन पृथक् पृथक् द्रव्याणि । ध० २ अधि० ।

टोप्परिया-टोप्परिका-स्त्री० । " दब्बरी " इति ख्याते जलाऽऽदिनिक्षेपणार्थे वस्तुनि, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । ग० । अन्योपकरणेषु टोप्परिकाऽपि गृह्यते ।

टोलंब-देशी-मधूके, दे० ना० ४ वर्ग ।

टोल्ल-पुं० । देशी-शलभे, दे० ना० ४ वर्ग ।

टोलगइ-टोलगति-पुं० । पञ्चमे वन्दनदोषे, " टोलो व्व उ किड्डंतो, ओसक्कभिसक्कणं कुणइ ।" वृ० ३ उ० । प्रव० । पञ्चमं दोषमाह- अवष्वष्कणं पश्चाद्गमनम्, अभिष्वष्कणमभिमुखगमनं, तेऽवष्वष्कणाभिष्वष्कणे टोलवत् प्लवमानः करोति यत्र तट्टोलगतिवन्दनकमित्यर्थः । प्रव० २ द्वार । आव० । वृ० । उष्ट्राऽऽदिसमप्रचारे च । भ० ७ श० ६ उ० । जं० ।

टोलागइ-टोलाकृति-त्रि० । प्रशस्ताऽऽकारे, भ० ७ श०६ उ० ।

इति श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्यश्री १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-विरचिते " अभिधानराजेन्द्रे " टकाराऽऽदिशब्द-सङ्कलनं समाप्तम् ।

ठकार

ठ-ठ-' ठ ' इत्ययं वर्णो मूर्द्धस्थानीयः स्पर्शसंज्ञकः । वाच० ।

ठ-पुं० । महेशमहामन्त्रे, मन्त्रिणि, कूपे, वारुणे, आसने, शयने, आकाशे, जलाऽऽशये, घटे, चक्रे, मुद्रायाम, कुण्डले, भगवत्कथे, बृहद्ध्वाने, साहसे, स्तम्भे, चन्द्रमण्डले च । न० । शवे, शून्ये, मनोज्ञ, कठिने च । त्रि० । एका० ।

ठइअ-पुं० । देशी-उत्क्षिप्ते, अवकाशे, दे० ना० ४ वर्ग ।

ठकार-ठकार-पुं० । शङ्करे, विषये, हरे, भासे, शब्दनिनादे, क्रये, रौद्ररसे, ध्वनौ च । एका० ।

ठक्का-ढक्का-स्त्री० । " चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ " ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति ढस्य ठः । प्रा० ४ पाद । इवनामख्याते वाद्यभेदे, वाच० ।

ठक्कुर-ठक्कुर-पुं० । ग्रामाऽऽदिप्रभौ, विशे० । आ० म० ।

ठट्टारत्त-ठट्टारत्व-न० । शुल्वनागवङ्गकांस्यपित्तलाऽऽदीनां करणघटनाऽऽदिना जीविकायाम्, ध० २ अधि० ।

ठड्ड-स्तब्ध-त्रि० । "स्तब्धे ठ-ढौ"॥ ८ । २ । ३९॥ इति स्तब्धे संयुक्तयोर्यथाक्रमं ठढौ भवतः । ठड्ढे, प्रा० २ पाद ।

ठप्प-स्थाप्य-न० । असंव्यवहार्ये, अनु० । भ० ।

ठरिअ-न० । देशी-गौरविते, ऊर्ध्वस्थिते, दे० ना० ४ वर्ग ।

ठल्ल-पुं० । देशी-निर्धने, दे० ना० ४ वर्ग ।

ठवणपुरिस-स्थापनापुरुष-पुं० । पुरुषप्रतिमाऽऽदौ, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

ठवणप्पमाण-स्थापनाप्रमाण-न० । आकारविशेषवद्वस्तुप्रतिपादके मानानि, अनु० ।

से किं तं ठवणप्पमाणे ? ठवणप्पमाणे सत्तविहे पण्णत्ते ।
तं जहा-
"णक्खत्तदेवय-कुले, पासंड-गणे अ जीवियाहेऊ ।
आभिप्पाइयनामे, ठवणानामं तु सत्तविहं" ॥ १ ॥

अथ किं तत् स्थापनाप्रमाणम् ? स्थापनाप्रमाणं सप्तविधमित्यादि । "णक्खत्तगाहा ।" इयमत्र हृदयम्-नक्षत्रदेवताकुलपाषण्डगणाऽऽदीनि वस्तून्याश्रित्य यस्य किञ्चिन्नामस्थापनं क्रियते, सेह स्थापना गृह्यते । न पुनर्यत्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण, यच्च तत्करणीत्यादिना पूर्वं परिभाषितस्वरूपा सैव प्रमाणं तेन हेतुभूतेन नाम सप्तविधं भवति । अनु० ।

ठवणासच्च-स्थापनासत्य-न० । स्थापनया सत्यमेतदिति कल्प-
यथा अक्षाऽऽदिकल्प्यं सर्वं, स्थापनैव वा अङ्काऽऽदिद्रव्यकथा सर्वं स्थापनासत्यम् । स्था० १० ठा० ।

ठवणा-स्थापना-स्त्री० । स्थाप्यतेऽमुकोऽयमित्यभिप्रायेण क्रियते निर्वर्त्यते इति स्थापना । काष्ठकर्माऽऽदिगताऽऽवश्यकवत् सम्पादिरूपे, अनु० । स्था० । लेप्याऽऽदिकर्मणि, स्था० २ ठा० ४ उ० । सर्वस्य वस्तुनो निजे निजे आकारे, विशे० । आकारविशेषे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । लेप्याऽऽदिकर्म-अर्हदादिविकल्पेन स्थाप्यते । स्था० १० ठा० । सद्भावासद्भावरूपप्रतिकृती, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । पत्राऽऽदिलिखिते आकारे, पंचा० । आ० म० । स्था० । तच्चित्रं स्थापनेति-तस्य घटस्य चित्रं पत्राऽऽदिलिखित आकारः स्थापना ।

तल्लक्षणं चेदं वदन्ति-
"यत्तु तदर्थवियुक्तं, तदभिप्रायेण यच्च तत्करणिः ।
लेप्याऽऽदिकर्म्म तत् स्था-पनेति क्रियतेऽल्पकालं च" ॥१॥
एतदर्थोऽयम्-यद्वस्तु, तदर्थवियुक्तं भावेन्द्रार्थरहितं, तदभिप्रायेण तद्बुद्ध्या, करणिराकृतिः, यथेन्द्राऽऽद्याकृतिलेप्याऽऽदिकर्म्म क्रियते, चशब्दादाकृतिशून्यं चाक्षनिक्षेपाऽऽदि, तत् स्थापनेति; तच्चाल्पकालमित्वरमित्यर्थः । चशब्दाद् यावद्द्रव्यभावि च मृद्रूप्यमिति, घटकारणीभूता मृदेव द्रव्यघट इत्यर्थः । नयो० ।
ननु सादृश्यसंबन्धस्य स्थापना निक्षेपनियामकत्वेऽसद्भा
वस्थापनोच्छेदप्रसङ्गोऽभिप्रायसंबन्धस्यापि तन्नि-
यामकत्वं च नाम्न्यपि तस्य सुवचनत्वादति-
प्रसङ्गस्तदवस्थपदेवत्याशङ्कायामाह-

अतिप्रसङ्गो नैवं वा-ऽभिप्रायाऽऽकारयोगतः ।
यच्छ्रुतोक्तमनुल्लङ्घ्य, स्थापना नाम चान्यतः ॥ ९९ ॥

(अतिप्रसङ्ग इति) एवमुक्तासद्भावप्रकारेण च, अतिप्रसङ्गो न भवति, यत् श्रुतोक्तं सिद्धान्तवचनमनुल्लङ्घ्य, अक्षाऽऽदावेवाभिप्रायसंबन्धं, प्रतिमादावेव चाऽऽकारसंबन्धं पुरस्कृत्य, स्थापनाऽऽश्रियते, अन्यतोऽन्यस्थले च, नाम निक्षेप इति क्वातिप्रसङ्गः ? तथा च-सूत्रबोधितबलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताकतत्फलगुणस्मृतिजनकसंस्कारोद्बोधकाभिप्रायाऽऽकारान्यतरसंबन्धवत्त्वं तत्स्थापनात्वमिति फलितं भवति ॥ ९९ ॥

उक्तविशेषप्रयोजनमेवोपदर्शयितुमाह-

अत एव न धीरर्ह-त्प्रतिमायामिवार्हतः ।
भावसाधोः स्थापनायाः, द्रव्यलिङ्गिनि कीर्तिता ॥१००॥

" अत एव " इत्यादि । अत एवोक्तविशेषणनिवेशादेवाद्ये-व, अर्हत्प्रतिमायामर्हत इव, द्रव्यलिङ्गिनि प्रकटप्रतिसेविणि पार्श्वस्थाऽऽदौ, स्थापनायाः, भावसाधोः, धीः, सिद्धान्ते, न कीर्तिता ॥ १०० ॥

कुतः ?, इत्याह-

सा हि स्थाप्यस्मृतिद्वारा, भावाऽऽदरविधायिनी ।
न चोत्कटतरे दोषे, स्थाप्यस्थापकभावना ॥ १०१ ॥

सा हि स्थापनाधीर्हि, स्थाप्यस्मृतिद्वारा "एकसंबन्धिज्ञाने अपरसंबन्धिस्मृतिः" इति नियमविधया स्थाप्यस्मृतिव्यापारेण, भावाऽऽदरस्य स्थाप्यगतगुणप्रणिधानोद्रेकस्य, तज्जनितनिर्जरातिशयस्य वा, विधायिनी । न च स्थापनाविषये उत्कटतरे दोषे, प्रतिसन्धीयमाने इति शेषः । स्थाप्यस्थापकभावना, फल-

वतीति शेषः । तथा च द्रव्यलिङ्गिदर्शनादपि न भावसाधुगुणाः । ननु स्मृतिरेव तत्तथात्मकप्रतिबिम्बसादृश्यस्य स्वोद्बोधकस्य तस्याबाधितत्वात्, किं तूत्कटदोषवत्त्वेन प्रतिसंधीयमानस्य सा दुष्टा । वन्दनकनिर्युक्तौ-

" तित्थयरगुणा पडिमा-सु णऽत्थि णिस्संसयं वियाणंतो ।
तित्थयर त्ति णमंतो, सो पावइ णिज्जरं विउलं ॥५८॥
लिंगं जिणपण्णत्तं, एव णमंतस्स णिज्जरा विउला ।
जइ वि गुणविप्पहीणं, वंदइ अज्झप्पसोहीए ॥ ५९ ॥ "

(अनयोरर्थः ' किइकम्म ' शब्दे तृतीयभागे ५१६ पृष्ठे द्रष्टव्यः) इति गाथाभ्यां सादृश्यसंकल्पमात्रेणार्हत्प्रतिमाया अर्हतो द्रव्यलिङ्गिनो भावसाधोस्तटस्थेन स्मृतेरुत्थापकतयाऽध्यात्मशुद्धिप्रभवनिर्जराऽङ्गत्वेन वन्दनीयत्वं यदाशितं पूर्वपक्षिणा । तत्र । आचार्यैरेकत्रोत्कटदोषवत्त्वेनोपस्थितसमानसंवित्संवेद्यतासध्यगुणवत्सादृश्यधीस्तत्कृतदोषानुमतिरूपतया गुणवदपकर्षव्यञ्जकत्वेन तन्निदानरूपत्वेन बलवदनिष्टानुबन्धावहा, अन्यत्र चोक्तकारणाभावान्न तथात्वमिति वैषम्यमुद्भाव्यित्वा समाधानं कृतम् ।

" संता तित्थयरगुणा, तित्थयरे तेसिमं तु अज्झप्पं ।
ण य सावज्जा किरिया, इयरेसु धुवा समणुमन्ना" ॥६०॥ इति ।

अस्या अर्थः—सन्तो विद्यमानाः शोभना वा तीर्थकरत्वेन प्रतीयमानस्य गुणाः, तीर्थकरेऽर्हति, इयं च प्रतिमा,तेषां नमस्कुर्वताम्,इदमध्यात्मं-समापत्त्यादिफलकानुभूयमानतीर्थकरगुणस्मृताऽऽलम्बनम् । यद्वा-तेषां गुणानाम्, इदमध्यात्मम-ध्यारोपविषयः, तटस्थेन स्मृतौ योगजीवानुसमापत्त्यसिद्धेः । न च तासु प्रतिमासु सावद्या सपापा, क्रिया, इतरेषु पार्श्वस्थाऽऽदिषु, ध्रुवा, सती योज्यते । ततः समनुज्ञा सावद्यक्रियायुक्तपार्श्वस्थाऽऽदिप्रणमनाद्, ध्रुवेति योगः । एवं च सति प्रतिमायामुभयक्रियाभावप्रसञ्जिन उभयफलाभावस्तदालम्बनकस्याध्यगुणसंकल्परूपमनःशुद्धेरेवावश्यमेव निराक्रियमाणः पार्श्वस्थाऽऽदिवन्दनेऽपि मनःशुद्धेर्वैवश्यमेव दोषाभावं गुणोदयं च साधयितुं कथं न प्रगल्भते ?,इत्याशङ्काशेष उभयविकल एव आकारमात्रतुल्ये कतिपयगुणान्विते चोत्कृष्टगुणाध्यारोपशुभसंकल्परूपतामास्कन्दन्निर्जराहेतुः । अन्यत्र त्वसावशुभसंकल्परूपत्वेन निरवद्यकर्मानावद्यद्वेष्यकत्वस्य गौरवेणानन्तत्वात् सावद्यकर्मानुद्वेष्यकतयैव विपर्यासलक्षणसमन्वयेन वाऽनन्तक्लेशाऽऽवह इत्यभिप्रायेणाऽऽचार्यैस्तत्रैव निराकृतः ।

तथाहि-

" अह सावज्जा किरिया, णत्थि य पडिमासु एवमियरा वि ।
तयभावे णत्थि फलं, अह होइ अहेउअं होइ ॥ ६१ ॥
कामं उभयाभावो, तह वि फलं अत्थि मणविसुद्धीए ।
तीइ पुण मणविसुद्धी-इ कारणं हुंति पडिमाओ ॥ ६२ ॥
जइ वि अ पडिमा उ जहा, मुणिगुणसंकप्पकारणं लिंगं ।
उभयमवि अत्थि लिंगे, ण य पडिमासूभयं अत्थि ॥ ६३ ॥
णियमा जिणेसु उ गुणा, पडिमाओ दिस्स जं मणे कुणइ ।
अगुणे उ वियाणंतो, कं णमउ मणे गुणं काउं ? ॥ ६४ ॥
जइ वेसणगलिंगं, जाणंतस्स णमओ धुवं दोसो ।
णिद्धंधसमिय णाऊ-ण वंदमाणे धुवो दोसो" । ६५ । इति ।१०१।

(आसां गाथानामर्थः ' किइकम्म ' शब्दे तृतीयभागे ५१७ पृष्ठे गतः)

नन्वेवं स्थापनास्थले सावद्यकर्मानावद्यद्वेष्यगुणसंकल्पत्वे भावस्य निर्जराहेतुत्वमित्यागतम् । तच्चायुक्तम् । लाघवेन निरवद्यकर्मद्वेष्यकत्वेनैव तद्धेतुत्वौचित्याल्लक्षणगौरवापेक्षया कारणभावगौरवस्य महादोषत्वात् । किञ्च-स्थापनास्थलीयभावे आयुरुपाध्यन्यतरकृतातिरिक्तविशेषाभावे यथोक्तरूपेणैव हेतुत्वं मायाच्छादितदोषे आलयविहाराऽऽदिना शुक्लताप्रतिसंधानदशायां वन्द्यमाने साधौ कथं निर्जरोत्पत्तिः संगच्छते ? । न च तत्र निरवद्यकर्मयुक्ततयाऽगृहीतासंसर्गकगुणसंकल्पेन पृथगेव निर्जराहेतुत्वाददोषः । तथा सति तुल्यन्यायतया सावद्यकर्मयुक्तत्वेनागृहीतासंसर्गकगुणसंकल्पत्वेन बन्धहेतुताया एव युक्तत्वात्, प्रतिमावन्दनादुभयाभावाऽऽपत्तेः । न च सत्त्वशुद्धिविधया कारणतायामयमेव प्रकारः, स्वत्रञ्जकयोगविधया कारणतायां तु वास्तवविषयताया एव निवेशान्न दोष इति वाच्यम् । सत्त्वशुद्धिविधयैव प्रतिमावन्दनान्निर्जरोत्पत्तेः, " तह वि फलं अत्थि मणविसुद्धीए । " इत्यनेन प्रतिपादनात् । किं च--गुणदोषोभयवैकल्यमात्रेण प्रतिमायामर्हदध्यवसायस्य निर्जराऽङ्गत्वे प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितयोरविशेषाऽऽपत्तेः । न च-

" सयकारियाइ एसा, नायइ ठवणाइ बहुफला केइ ।
गुरुकारियाइ अन्ने, विहिसद्धविहिकारियाए य ॥ १ ॥
पंडिलं वि य एसा, मणुयवणाए पसत्थगा चेव ।
आयासगोमयाई-हि एत्थमुल्लेवणाइ हियं ॥ २ ॥
ववयारंगा इह सो-वओगसाहारणाए फला ।
किं च विसेसेण तओ, सव्वे वि य ते विभइअव्वा " ॥३॥

इतिपूजाविधिविंशिकावचनपर्यालोचनयाभिन्नपदेति वाच्यम् । तत्र प्रतिष्ठितत्वव्याप्यधर्मपुरस्कारेणैव मानसप्रतिष्ठापुरस्कारेण प्रवृत्तानां पूजाविधिकल्पानां विधिप्रतिष्ठितपूजाजन्यताऽवच्छेदकजातिव्याप्यजात्यवच्छेदेन, मानसाभिप्रायशोधिताविधिप्रतिष्ठितपूजाजन्यतावच्छेदकजात्यवच्छेदेन च फलभेदाद्धेतुभेदो युक्त इत्यभिप्रायेण प्रवृत्तावपि प्रतिष्ठासामान्यस्याकिञ्चित्करत्वे तात्पर्याभावात्, अन्यथा प्रतिष्ठाविधिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।

ततः प्रतिष्ठाऽऽदिविधिजनितः प्रतिमागतोऽतिशयविशेषः कश्चित्स्थापनानिक्षेपो निरूप्यतामित्याशङ्कायाम्-" संता तित्थयरगुणा " । (आव० ६० गाथा) इत्यादिगाथामेव व्याख्यानान्तरसूचितं पक्षान्तरं परिष्कुर्वन्नाह-

यद्वा प्रतिष्ठाविधिना. स्वाऽऽत्मन्येव पराऽऽत्मनः ।
स्थापना स्यात्समापत्ति-र्बिम्बे सा चोपचारतः ॥ १०२ ॥

यद्वा पक्षान्तरे, प्रतिष्ठाविधिना प्रतिष्ठाकारयितुः स्वाऽऽत्मन्येव,पराऽऽत्मनः परमगुणवतः त्रिभुवनभर्तुः ध्यानतारतम्ये च तात्स्थ्यतदञ्जनत्वस्वरूपा समापत्तिरेव स्थापना स्यात् , निश्चयतः सर्वक्रियाणां तत्फलानां च उद्देश्यसंबन्धित्वेन व्यवह्रियमाणानामपि स्वात्मसंबन्धित्वस्यैव भाष्याऽऽदौ व्यवस्थापनात् । पराऽऽत्मन इत्युपलक्षणम् । स्वभावस्याऽऽर्हत्यादिप्रतिष्ठया कारयितरि स्वभाव एव स्थाप्यते । परम्परया तु तन्मूलप्रमाणानुपपत्त्या विषयवचनाऽऽद्यप्रवर्तकत्वसंबन्धस्मारितः । तत्र च खलु प्रतिष्ठा निजभावस्य एव,देवतोद्देशात् स्वात्मन्येव,परं यत् स्थापनमिह वचनतोत्या ऊचे-" चाऽऽत्मिदं परमं यत्, परमाया एव

समरसाऽऽपत्तेः । स्थाप्येन तदपि मुख्या, इत्येवैवेति विज्ञेया ॥ १ ॥" इति । नन्वेवं निश्चयतः स्थापनाया आत्मगतायाः प्राप्तौ प्रतिमायां तद्व्यवहारः कथम् ?। अत आह-बिम्बे च, सा स्थापना उपचारतः, स्वाऽऽत्मनि स्थापितस्य भावस्याऽऽलम्बनतया समापत्तिविषयीक्रियमाणस्य परमाऽऽत्मनः साकारयोगमुद्राऽनुकारितया वा लक्षणया एव इत्यर्थः ॥ १०२ ॥

नन्वेवं यजमानगतादृष्टमेव प्रतिष्ठाफलं भवद्भिरुपपादितम्, तावता वन्दकपूजकाऽऽदीनां का सिद्धिः ?। सा हि तदा स्यात्, यदि प्रतिष्ठाऽऽहितदुश्चाण्डालाऽऽदिस्पर्शनाश्यः पूजाफलप्रयोजकः कश्चिदतिशयोऽभ्युपगतः स्यात्, प्रतिष्ठितप्रतिमावन्दनपूजनमन्त्यादिना फलविशेषहेतुत्वस्य इत्थमेव वक्तुं शक्यत्वात् । न च यजमानगतादृष्टं तदाहितं, तथा चाण्डालाऽऽदिस्पर्शेन व्यधिकरणेन तन्नाशयोगाद् यजमानस्य तददृष्टक्षये पूज्यत्वानापत्तेः। एतेन संबन्धविशेषेण यजमानगतादृष्टस्य प्रतिमागतत्वसमर्थनमपि प्रत्याख्यातम् ।

यत्तु-प्रतिष्ठाविधेर्देवतासंनिधानस्य स्वाजेदस्वीयत्वाऽऽदिज्ञानतदाहितसंस्काररूपस्य सम्पादनात् फलोत्पत्तिः, चाण्डालाऽऽदिस्पर्शे च तदभावात् फलजाव इति कस्यचिद् मतम् । तत्तु मुक्तिप्रतिष्ठितदेवताया अभिमानाभावात्; प्रतिष्ठया नतुपकरणस्य अशक्यक्रियत्वात् चाऽऽचार्यैरेव दूषितम् । तदुक्तम्-" मुक्त्यादौ तत्त्वेन, प्रतिष्ठिताया न देवतायास्तु । स्थाप्ये न च मुख्ये तत्, तदधिष्ठानाऽऽद्यभावेन" ।१। इत्यादिना च तस्या उपकारः कश्चिदत्र मुख्य इति; तदतत्त्वकल्पनैषा बालक्रीडासमा भवतीति ।

यदपि-" प्रतिष्ठितं पूजयेत् " इति विधिः प्रतिष्ठाकालीनयावदस्पृश्यस्पर्शाभावविशिष्टः प्रतिष्ठाध्वंसः, तद्विशिष्टप्रतिमापूजनं वा फलप्रदं, क्तप्रत्ययादतीतत्वलाभात्" इति गङ्गेशोपाध्यायैरुक्तम् । तदपि तुच्छम् । प्रतिष्ठारूपायां पूजायामेवाऽऽगतेः, तत्र ध्वंसस्यैव फलजनकव्यापारस्याऽऽश्रयणे चादृष्टमात्रस्यैव दत्तजलाञ्जलित्वप्रसङ्गात् । कथं चैवं प्रतिष्ठितेऽप्यप्रतिष्ठितत्वज्ञाने न पूजाफलम् ?, प्रतिष्ठाध्वंसवत्त्वेन प्रमीयमाणत्वस्य पूजाफलजनकताऽवच्छेदककोटौ निवेशेन प्रतिष्ठावत्त्वेन प्रमीयमाणत्वस्यैव निवेशौचित्यम्, इति नर्किञ्चिदेतत् ।

तस्माद् वन्दनपूजनाऽऽदिफलप्रयोजकत्वं कथं प्रतिष्ठायाः ?, इति जिज्ञासायामाह-

प्रतिष्ठितप्रत्यभिज्ञा-समापन्नपराऽऽत्मनः ।
आहार्याऽऽरोपतः सा च, द्रष्टृणामपि धर्मसूः ॥१०३॥

(प्रतिष्ठितेति) सा स्थापना, प्रतिष्ठितप्रत्यभिज्ञया, समापन्नो यः पराऽऽत्मा भगवान्, तस्य, आहार्याऽऽरोपतः, द्रष्टृणाम्, उपलक्षणाद् वन्दकानां पूजकानां च, धर्मभूः धर्मकारणं भवति । अयं भावः-प्रतिमायां भगवदभेदाऽऽरोपं विना न तावद्वन्दनपूजनाऽऽदिफलहेतुसहस्रेणापि संपद्यते, स च काष्ठपाषाणत्वाऽऽदिना भेदप्रत्यक्षे सति स्वरसतो नोदयतीत्याहार्य एव संपादनीयः। आहार्यत्वं चेच्छाजन्यत्वम् । इच्छा च इष्टसाधनताज्ञानसाध्या, इति इष्टसाधनताज्ञानसंपादनाय प्रतिष्ठितां प्रतिमां भगवदभेदेन अध्यारोपयेदिति विधिः कल्पनीयः। तथा चाऽऽहार्यभगवदध्यारोपविषयप्रतिमापूजनत्वाऽऽदिना फलविशेषहेतुत्वं आहार्यत्वप्रयोजकेच्छाजनकज्ञानविशेष्यताऽवच्छेदककुक्षिप्रविष्टत्वेन प्रतिष्ठाया अपि परम्परया प्रयोजकत्वमित्युक्तं भवति । "प्रतिष्ठितं पूजयेत्" इत्यत्रापि क्तप्रत्ययस्य, वाच्यतः शक्त्या लक्षणाऽऽदिना वा प्रतिष्ठाप्रयुक्ताऽऽहार्याऽऽरोपविषयपूजनत्वाऽऽदिनैव फलहेतुता । क्तप्रत्ययस्य चौत्सर्गिकेण क्तप्रत्ययार्थेनापूप्रत्ययत्वेनैवार्थवत्त्वेति चिन्तामणिकारादप्यतिसूक्ष्ममतिनिपुणं च वयमीक्षामहे ॥ १०३ ॥

उक्तमेव वक्ष्यमाणफलान्वयेनाऽऽह-

तत्कारणेच्छाजनक-ज्ञानगोचरबोधकाः ।
विधयोऽप्युपयुज्यन्ते, तेनेदं दुर्मतं हतम् ॥ १०४ ॥

(तत्कारणेति) तस्याऽऽहार्याऽऽरोपस्य, कारणं या इच्छा, तज्जनकं यत् "प्रतिष्ठितां प्रतिमां भगवदभेदमाध्यारोपयेत्" इति विधिजनितं ज्ञानं, तद्गोचरीभूतायाः प्रतिष्ठाया बोधकाः, इष्टसाधनत्वबोधनाऽऽदिद्वारा तदुत्पत्तिहेतव इति यावत् । विधयो विधिवाक्यानि, अप्युपयुज्यन्ते फलवन्तो भवन्ति, तैः प्रतिष्ठोत्पादने प्रतिष्ठितप्रतिमायामारोपविधिना भगवदभेदाध्यारोपोपपत्तौ पूजाफलप्रयोजकरूपसिद्धेः । तेनेदं वक्ष्यमाणं, दुर्मतमाध्यात्मिकाऽऽभासानां, हतं निराकृतम् ॥ १०४ ॥

किं तत् ?, इत्याह-

प्रतिष्ठाऽऽद्यनपेक्षायां, शाश्वतप्रतिमाऽर्चने ।
अशाश्वतार्चापूजायां, को विधिः किं निषेधनम् ? ॥१०५॥

शाश्वतप्रतिमाऽर्चने प्रतिष्ठाया आदाविह प्रथमतोऽनपेक्षायां तत्रैव तस्याः फले व्यभिचारात् । अशाश्वतार्चानां कृत्रिमप्रतिमानां पूजायां, " प्रतिष्ठितां प्रतिमां पूजयेत् " इति विधिः कः ?। "अप्रतिष्ठितं न पूजयेत्" इति निषेधनं च किम् ?, प्रतिष्ठातदभावयोरिष्टानिष्टसाधनतया व्यभिचारादभावेन तत्र विधिनिषेधार्थान्वयस्यायोग्यत्वात् । इति भावः ॥ १०५ ॥

कथमेतन्निरस्तम् ?, इत्याह-

पूजाऽऽदिविधयो ज्ञान-विध्याङ्गित्वं यदाश्रिताः ।
शाश्वताशाश्वतार्चासु, विभेदेन व्यवस्थिताः ॥ १०६ ॥

(पूजाऽऽदीति) पूजाऽऽदिविधयः-"प्रतिष्ठितां प्रतिमां पूजयेत्" इत्यादिवाक्यलक्षणाः, ज्ञानविधेः 'प्रतिष्ठितां प्रतिमां भगवदभेदेनाध्यारोपयेत्" इत्युक्तवाक्याऽऽत्मकस्य, अङ्गित्वं प्रधानत्वम्, आश्रिताः, शाश्वताशाश्वतार्चासु, विभेदेन भिन्नरूपेण, व्यवस्थिताः। तथा च-प्रतिष्ठाया न पूजासहकारित्वम्, किं तु स्वकर्तव्यताबोधकविध्युपकृताऽऽपन्नविधिविषयनिर्वाहकत्वेन प्रयोजकत्वम् । तच्चाशाश्वतप्रतिमास्थले । अन्यत्र त्वनादिप्रतिष्ठितत्वप्रत्यभिज्ञाया एव तथात्वं, तादृशशिष्टाऽऽचारेण तथैव विधिबोधनादिति विकल्पेनानयोः पूजाफलप्रयोजकव्याहतेर्न कोऽपि दोष इति । अत एव निश्रितानिश्रिताऽऽदिभेदेन स्वल्पबहुभक्तिविधानाऽऽदेर्ज्ञानविशेषाऽऽपेक्षकत्वेन व्यवस्थितविकल्पोपपादकत्वं संगच्छते । अत एव चाविधिप्रतिष्ठितेऽप्यविच्छेदाऽऽदिकारणाऽऽलम्बनोपबृंहितवैज्ञानिकविधिना विधिप्रतिष्ठिततुल्यतामामनन्ति संप्रदायवृद्धाः । भावशोधितशुद्धनिमित्तनैमित्तिकैकान्तशुद्धजावेऽपीदानीन्तनयतिधर्मपोषधाऽऽदिक्रियावत्तत्र भावशोधनमात्रेण मध्यमशुद्धप्रत्ययत्वात्तस्या अपि च शुभानुबन्धसारत्वादित्यादिकमुपपादितं प्रतिमाशतकाऽऽदौ । तस्मात् स्थापनातदृष्टेन भगवद्गुणस्मारकतया तदाहार्याऽऽरोपप्रयोजकतया वा संग्रहनयेनाप्यवश्यं स्वीकर्तव्या, इति व्यवस्थापितम् ॥ १०६ ॥

एतेन तदभ्युपगतव्यवहारोऽपि निरस्त इत्याह-

एतेन व्यवहारोऽपि, स्थापनाऽनाग्रहो हतः ।
तत्रार्द्धजरतीयं किं, नाम्नाऽपि व्यवहर्तरि ? ॥ १०७ ॥

(एतेनेति) एतेनानुपदोक्तयुक्तिकदम्बकेन संमतस्थापना-व्यवस्थापनेन, व्यवहारोऽपि, स्थापनाया अनाग्रहोऽस्वीकारो, हतो निरस्तः, केषांचिदाचार्याणाम्, यतस्तत्र व्यवहारे. नाम्नाऽपि नामनिक्षेपेणापि, व्यवहर्तारं व्यवहारमभ्युपगच्छति, किमिदमर्द्धजरतीयम् ?; यदुत स्थापनया व्यवहार इति, न हीन्द्रप्रतिमायां नेन्द्रव्यवहारो भवति, तत्राऽनवकाशोऽपि भ्रान्त एव । न वा नामाऽऽदिप्रतिपक्षव्यवहारसाङ्कर्यम्; इत्येकमाद्रियमाणस्यापरं च परित्यजतः केवलमाटोपुरुषिकामात्रमेवेति ॥ नयो० ।

अथ सामान्येनैव स्थापनायाः स्वरूपमाह-

जं पुण तदत्थसुन्नं, तयभिप्पाएण तारिसाऽऽगारं ।
कीरइ व निरागारं, इत्तरमियरं व सा ठवणा ॥२६॥

सा स्थापनाऽभिधीयते, यत्, किम् ?, इत्याह-यत्क्रियते-इन्द्राऽऽदिस्थापनारूपतया विधीयते वस्तु, पुनःशब्दो नामलक्षणात् स्थापनालक्षणस्य वैसदृश्यद्योतकः । केन ?, इत्याह-तदभिप्रायेण-तस्य सद्भूतेन्द्रस्याभिप्रायोऽध्यवसायस्तेन । कथंभूतं तद्वस्तु ?, इत्याह-तदर्थशून्यं-स चासावर्थश्च तदर्थः-सद्भूतेन्द्रलक्षणः, तेन शून्यं तदर्थशून्यम् । पुनरपि कथम्भूतम् ?, तादृशाऽऽकारं-सद्भूतेन्द्रसमानाऽऽकारं, वाशब्दस्य भिन्नक्रमत्वान्निराकारं वा, सद्भूतेन्द्राऽऽकारशून्यमित्यर्थः । चित्रलेप्यकाष्ठपाषाणाऽऽदिषु तादृशाऽऽकारं भवति, अक्षाऽऽदिषु तु निराकारमित्यर्थः । पुनः किंभूतम् ?, इत्वरम्-अल्पकालीनम् । इतरद्वा-यावत्कथिकम् । तत्रेत्वरं चित्राक्षाऽऽदिगतम् । यावत्कथिकं तु-नन्दीश्वरचैत्यप्रतिमाऽऽदि । तदपि हि 'तिष्ठतीति स्थापना' इति स्थापनात्वेन समये निर्दिष्टमेव । नन्विदमिह तात्पर्यम्-यद्वस्तु सद्भूतेन्द्रार्थशून्यं सत्तद्बुद्ध्या तादृशाऽऽकारं, निराकारं वा स्तोककालं, यावत्कथिकं वा स्थाप्यते सा स्थापनेति । प्रकृते योजना तु इत्थं क्रियते-चित्रकर्माऽऽदिगतः परममुनिः, स्थापनं स्थापना, तया मङ्गलम्, स्थाप्यते इति वा स्थापना, तथा मङ्गलं; स्थापनामङ्गलमिति व्यपदिश्यते । इति गाथाऽर्थः ॥ २६ ॥

अथ भाष्यकारः स्वयमेव नामस्थापनामङ्गलयोरुदाहरणमुपदर्शयन्नाह-

जह मंगलमिह नामं, जीवाजीवोभयाण देसीओ ।
रूढं जलणाईणं, ठवणाए सोत्थियाईणं ॥ २७ ॥

यथाशब्द उदाहरणोपन्यासार्थः । क यथा ?, इत्याह-जीवाजीवोभयानां ज्वलनाऽऽदीनां, देशीतो देशीभाषया, मङ्गलमिति नाम रूढम् । तत्र जीवस्याग्नेर्मङ्गलमिति नाम रूढम्, सिन्धुविषये अजीवस्य दवरकवलनकस्य मङ्गलमिति नाम रूढम्, लाटदेशे जीवाजीवोभयस्य तु मङ्गलमिति नाम रूढं वन्दनमालायाः, दवरिकाऽऽदीनामिहाचेतनत्वात्, पत्राऽऽदीनां तु सचेतनत्वाद् जीवाजीवोभयत्वं भावनीयम् । स्वस्तिकाऽऽदीनां तु या स्थापना लोके, तस्या रूढं स्थापनामङ्गलत्वमिति शेषः । इति गाथाऽर्थः ॥ २७ ॥ विशे० ।

" ठविओ य आरियत्ते, जम्हा तु लेण ठवण त्ति ।" पं०भा० ।

पण्डितनगर्षिकृतप्रश्नः-गणधराः प्रतिक्रमणं कुर्वाणाः स्थापनां कुर्वन्ति, न वा ?, कुर्वाणा अपि तीर्थङ्करस्य, अन्यस्य वा ?. इति प्रश्ने, उत्तरम्-तीर्थङ्करस्य देवगुरुरूपत्वेन तत्समीपे प्रतिक्रमणाऽऽदि कुर्वतां स्थापनाप्रयोजनं न स्यात्, जिनपरोक्षे तत्कुर्वतां तु स्थापनाकरणमात्मनामिवेति संभाव्यते । ६ प्र० । ही० ३ प्रका० । दीपचन्दिरसकृतप्रश्नः-अक्षमालाऽऽदिका स्थापना या नमस्कारेण विधीयते, तदुपरि उद्द्योते दृष्टिरक्षणं सुकरम्, अन्धकारे कथं च भवति ?, तद्धीना च स्थापना शुद्ध्यति, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र अक्षमालापुस्तकाऽऽदिकस्थापना नमस्कारेण स्थाप्यते, स्थापनाऽनन्तरं च क्रियाकरणं यावदुद्द्योते यथाशक्ति दृगुपयोगौ रक्ष्येते अन्धकारे, दृगुपयोगयोरन्तरे जाते तु पुनः स्थापनां कृत्वा अग्रतः क्रिया क्रियते । यतः स्थापना द्विधा-इत्वरा, यावत्कथिका च । तत्र इत्वराऽक्षमालाऽऽदिका, या नमस्कारेण स्वयं स्थापिता दृगुपयोगयोः सतोरेव तिष्ठति । यावत्कथिका चाक्षप्रतिमाऽऽदिका या गुरुसकाशात् स्थाप्यते, सा पुनः पुनः स्थापिता न विलोक्यते इति । ६ प्र० । ही० ४ प्रका० । कायोत्सर्गे वन्दनकदानावसरे च स्थापनाऽऽचार्यचालनं शुध्यति, न वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र कायोत्सर्गकरणावसरे, वन्दनकदानावसरे च स्थापनाऽऽचार्यचालनं न शुद्ध्यतीत्येकान्तो ज्ञातो नास्तीति । १४ प्र० । ही० ४ प्रका० । पण्डितगुणविजयगणिकृतप्रश्नः-स्थापनाः कियति प्रदेशे ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च दूरे स्थापिताः क्रियाशुद्धिहेतवो भवन्ति ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-अर्द्धं मस्तकात् पादयोरधस्तात् तिर्यक् च दृष्टुमशक्ये स्थाने स्थापिताः स्थापनाः क्रियाशुद्धिनिमित्तं न भवन्तीति वृद्धवादः । यत्तु-उपरितनभूम्यादौ स्थापितासु तासु अधस्तनभूम्यादौ कापि क्रियायाः क्रियमाणत्वं, तत्कारणिकमिति ज्ञेयम् । ४ प्र० । ही० २ प्रका० । स्थापने, नं० । 'णिक्खेवो' स्थापनाऽभ्यासक इत्यनर्थान्तरम् । आ० चू० १ अ० । न्यासे, पञ्चा० ४ विव० । निधानं निधिर्निक्षेपो न्यासो विरचना प्रस्तारः स्थापनेति पर्यायाः । अनु० । (जिनबिम्बस्थापना 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२७० पृष्ठे निरूपिता, सा च तत एवावधार्या) पञ्चमे उद्गमदोषे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । स्थाप्यते साधुनिमित्तं कियन्तं कालं यावन्निधीयते इति स्थापना । यद्वा-स्थापनं साधुभ्यो देयमिदमिति बुद्ध्या देयवस्तुनः कियन्तं कालं देयवस्थापनं स्थापना, तद्योगाद्देयमपि स्थापना । स्वस्थाने चुल्लीस्थाल्यादौ, परस्थाने सुस्थितकच्छब्बकाऽऽदौ चिरकालमित्वरकालं च साधुदाननिमित्तं धार्यमाणमशनाऽऽदिकं स्थापनेति व्युत्पत्तेः । प्रव० ६७ द्वार । पिं० । पं० व० । पञ्चा० । आचा० । ध० । दश० । ग० । दर्श० ।

अथ स्थापनाद्वारमाह-

सट्ठाणे परट्ठाणे, दुविहं च ठियं तु होइ नायव्वं ।
खीराऽऽदिपरंपरए, हत्थगयघरंतरं जाव ॥

स्थापितं साधुनिमित्तं, घृतभक्ताऽऽदि । तच्च द्विधा । तद्यथा-स्वस्थाने, परस्थाने च । तत्र स्वस्थानं-चुल्लयवचुल्लाऽऽदि । परस्थानं-कुम्भकाऽऽदि । एकैकं द्विधा- अनन्तरं, परम्परं च । तत्र यस्य साधुनिमित्तं स्थापितस्य सतो विकारान्तरं न भविष्यति, यथा घृताऽऽदि, तदनन्तरस्थापितम् । क्षीराऽऽदिकं तु, परम्परकं परम्परास्थापितम् । तथाहि-क्षीरं स्थापितं सद् दधि भवति, दधि भूत्वा नवनीतं, नवनीतं भूत्वा घृतं, ततो यदेव साधुनिमित्तं क्षीरं भूत्वा घृतीकृत्य ददाति, तदा तत् क्षीरं परम्परास्थापितं भवति । एवमन्यदपीक्षुरसाऽऽदिकं द-

ष्टव्यम । तथा पङ्क्तिस्थिते गृहत्रये उपयोगाशक्याऽसंभवे सति, हस्तगतासु तिसृषु भिक्षास्वेकः, साधुरेकां भिक्षां सम्यगुपयोगेन परिभावयन् गृह्णाति । द्वितीयस्तु द्वयोर्गृहयोर्हस्तगते द्वे भिक्षे परिभावयति । ततो गृहत्रयात्परतो यावद् गृहान्तरं न भवति, तावन्न तस्य स्थापनादोषः । गृहान्तरे तु साधुनिमित्तं हस्तगता भिक्षा स्थापना, तत्रोपयोगासंभवात् । तत्र एतामेव गाथां भाष्यकृद् व्याचिख्यासुः प्रथमतः स्वस्थानमाह–

चुल्ली अवचुल्लो वा, ठाणट्ठाणं तु भायणं पिढरे ।
सट्ठाणठाणम्मि य, भायणठाणे य चतुभंगा ॥

द्विविधं स्थानम । तद् यथा–स्थानस्वस्थानं, भाजनस्वस्थानं च । तत्र स्थानरूपं स्वस्थानम्–चुल्ली, अवचुल्लो वा । चुल्ल्या अव पश्चात् अवचुल्लः । राजदन्ताऽऽदित्वादवशब्दस्य पूर्वनिपातोऽवन्तता च । तत्र चुल्ली प्रतीता । अवचुल्लो अवहन्नकः । एतयोश्च स्थितं सद् भक्तं पच्यते । तत एतौ स्थानरूपं स्वस्थानम । भाजनरूपं तु स्वस्थानं–पिठरं स्थाली, तत्र स्थानस्वस्थान, भाजनस्वस्थाने च चत्वारो भङ्गाः । तद्यथा–चुल्ल्यां स्थापितं, पिठरे च । चुल्ल्यां स्थापितं, न पिठरे; छब्बकाऽऽदौ स्थापितत्वात् । न चुल्ल्यां, किं तु पिठरे । तत्र चुल्ल्यवचुल्लाभ्यामन्यत्र प्रदेशान्तरे स्थापितं द्रष्टव्यम । न चुल्ल्यां,न पिठरे, चुल्ल्यवचुल्लाभ्यामन्यत्र छब्बकाऽऽदौ स्थापितमित्यर्थः ।

संप्रति परस्थानमाह–

छब्बगवारगमाई, होइ परट्ठाणमो अणेगविहं ।
सट्ठाणे पिढरे छ– ब्बगे य एमेव दूरे य ॥

छब्बकवारकाऽऽदिकम, अनेकविधं,परस्थानं परभाजनं भवति द्रष्टव्यम् । तत्र छब्बकं–पटलिकाऽऽदिरूपम । वारको–लघुघटः । आदिशब्दात्पाकभाजनवर्जचुल्ल्यवचुल्लवर्जशेषसकलभाजनपरिग्रहः । अत्रापि स्वस्थानपरस्थानापेक्षया चतुर्भङ्गी । तद् यथा–स्वस्थाने स्वस्थाने, स्वस्थाने परस्थाने, परस्थाने स्वस्थाने, परस्थाने परस्थाने । एतामेव चतुर्भङ्गीं दर्शयति–"सट्ठाणे" इत्यादि । अत्र (सट्ठाणे पिढरे छब्बगे य इति) अनेन भङ्गद्वयं सूचितम, स्वस्थानस्य पिठरछब्बकाभ्यां प्रत्येकमभिसंबन्धात् । तद् यथा–स्वस्थाने चुल्ल्यादौ, पिठरे वा, तथा स्वस्थाने चुल्ल्यादौ, छब्बके च । परस्थाने (एमेव दूरे य त्ति) इह दूरं चुल्ल्यवचुल्लाभ्यामन्यत् प्रदेशान्तरं, तत्रापि तदपेक्षयाऽपि, एवमेव भङ्गद्वयं द्रष्टव्यम । तद् यथा–भाजनरूपे स्वस्थाने पिठरे परस्थानेऽन्यत्र प्रदेशान्तरे, तथा परस्थानेऽन्यत्र प्रदेशान्तरे परस्थाने छब्बकाऽऽदाविति । सर्वसंख्यया चत्वारो भङ्गाः । तदेतदेवं मूलगाथायाः " सट्ठाणे " इत्यादि पूर्वार्द्धं व्याख्यातम ।

अथ " खीरादिपरंपरए " इति व्याचिख्यासुराह–

एक्केकं तं दुविहं, अणंतरपरंपरे य नायव्वं ।
अविकारि कयं दव्वं, तं चेव अणंतरं होइ ॥

तत् साधुनिमित्तं स्थानम, एकैकं स्वस्थानपरस्थानगतं द्विविधं ज्ञातव्यम । तद् यथा–अनन्तरं अन्तराभावे, विकाररूपव्यवधानाभावे इत्यर्थः । परम्परके, विकारपरम्परायामित्यर्थः । तत्र यद् द्रव्यं स्वयोगेनाविकारि–भूयोऽसंभवविकारि घृतगुडाऽऽदि, तत्कृतं, न हि तस्य भूयोऽपि विकारः संभवति, तत् साधुनिमित्तं स्थापितमनन्तरस्थापितम् । उपलक्षणमेतत्–तेन क्षीराऽऽदिकमपि यस्मिन् दिने साधुनिमित्तं स्थापितं, यदि तस्मिन्नेव दिने ददाति, तर्हि तदपि दध्यादिरूपं विकारान्तरमनापद्यमानमनन्तरस्थापितं द्रष्टव्यम । तदेव तु क्षीरं साधुनिमित्तं धृतं सद् दध्यादिरूपतया परिकर्म्यमाणं परम्परास्थापितं भवति । एवमिक्षुरसाऽऽदिकमपि तस्मिन्नेव दिने स्थापितं दीयमानमनन्तरस्थापितम । कक्कबाऽऽदिरूपतया तु परिकर्म्यमाणं परम्परस्थापितमिति ।

सम्प्रति विकारोतराणि द्रव्याणि प्रतिपादयति–

उच्छुखीराईयं, विगारि अविगारि घयगुलाईयं ।
परियावज्जणदोसा, ओयणदहिमाइयं वा वि ॥

इक्षुक्षीराऽऽदिकं विकारि,तस्य कक्कबाऽऽदिदध्यादिविकारसहितत्वात् । तथा ओदनदध्यादिकमपि करम्बाऽऽदिरूपं विकारि । कुतः ?, इत्याह–पर्यायाऽऽपादनादोषात् । करम्बाऽऽदिकं हि क्रियमाणं नियमात्पर्यापद्यते, कोथमायातीत्यर्थः । ततस्तदपि विकारि द्रष्टव्यम । तदेवं विकारोतराणि द्रव्याण्यभिहितानि ।

सम्प्रति क्षीराऽऽदिकं परम्परास्थापितं भावयति—

उब्भट्ठ परिभायं, अन्नं लद्धं पच्चोयणे घेत्थी ।
रिणभीया व अगारी, दहि त्ति दाहं सुए ठवणा ॥
नवणीय मंथु तक्कं, ति जाव अत्तट्ठिया व गिण्हंति ।
देसूणा जाव घयं, कुसुणं पि य जत्तियं कालं ॥

' उब्भट्ठं ' केनापि साधुना कस्याश्चिदगारिण्याः सकाशे क्षीरमभ्यर्थितम । ततस्तया प्रतिज्ञातम्–क्षणान्तरं दास्यामि । साधुना चान्यत्रान्यत् क्षीरं लब्धम । ततः पूर्वमभ्यर्थितया अगारिण्या दुग्धसंप्राप्तौ सत्यां साधुं प्रति प्रत्यवादि–गृहाण भगवन् ! इदं दुग्धमिति । साधुना चोक्तम्–लब्धमन्यत्र मया दुग्धं, ततो यदि भूयोऽपि प्रयोजनं भविष्यति, ततो (घेत्थी) ग्रहीष्यामि । एवमुक्ते सा अगारिणी ऋणभीतेव स्वयं नो बुभुजे । किं च । एवं चिन्तयामास–श्वः कल्ये, दधि कृत्वा दास्यामीति । तत एवं चिन्तयित्वा स्थापयति । ततो द्वितीयदिने दधि जातं, तदपि साधुना न गृहीतं, तद् नवनीतं तक्रं च जातं, नवनीतमपि घृतं कृतम । इह क्षीराऽऽदिकं सकलमपि स्थापनादोषदुष्टत्वात् साधूनां न कल्पते । यद्वा–क्षीराऽऽदिकं यावद् नवनीतं, मस्तु, तक्रं वा, तावदेतानि सर्वाण्यप्यात्मार्थीकृतानि मा गृह्णीयात् साधुः कुटुम्बे भविष्यतीत्येवमात्मसात्कृतानि तु साधवो गृह्णन्ति । घृतं त्वात्मार्थीकृतमपि तेजस्कायाऽऽरम्भाद्आधाकर्मेति न कल्पते । घृतं च स्थापितं सत् तावत् घटते यावद्देशोना पूर्वकोटी । तथाहि–पूर्वकोट्यायुषा केनापि साधुना वर्षाष्टकप्रमाणेन कस्याश्चित् पूर्वकोट्यायुषोऽगारिण्याः पार्श्वे घृतं ययाचे । तयोक्तम्–क्षणान्तरे दास्यामि । साधुना चान्यत्र घृतं लब्धम् । ततः सा ऋणभीतेव तावद् घृतं धृतवती यावत् साधोरायुः । ततो मृते साधौ तदन्यत्रोपयुक्तमिति नास्ति स्थापना । (इह वर्षाष्टकस्याधः पूर्वकोटेरुपरि च चारित्रं न भवति । चारित्रियं चाधिकृत्य स्थापनादोषः, ततो देशोना पूर्वकोटीत्युक्तम) एवं गुडाऽऽदेरप्यविनाशिनो द्रव्यस्य यथायोगं स्थापनाकालपरिमाणं द्रष्टव्यम ।

(कुमुणं पि य त्ति) कुमुणितमपि-करम्बाऽऽदिरूपतया कृतमपि, यावन्तं कालमविनाशनात् कालं, तस्य स्थापना द्रष्टव्या । परतस्तु कथितत्वात् कुथ्यते एवेति भावः । तदेवं क्षीराऽऽदिकं परम्परास्थापितमुक्तम् ।

साम्प्रतमिक्षुरसाऽऽदिकमपि परम्परास्थापितमाह-

रसकक्कवपिंडगुला-मच्छंडियखंडसक्कराणं च ।
होइ परंपरठवणा, अन्नत्थ व जुज्जए तत्थ ॥

इह केनापि साधुना किमपि प्रयोजनमुद्दिश्य कोऽपीक्षुरसं याचितः । स प्रतिज्ञातवान् क्षणान्तरे दास्यामि । साधुना चान्यत्रेक्षुरसो लब्धः । पूर्वमभ्यर्थितश्च अजानीत इव तमिक्षुरसं क्कथं करोति, यावत् शर्करेति । एतेषां चेक्षुरसक्वाथाऽऽदीनामुत्तरोत्तरपिण्डगुडाऽऽदिपर्यायाऽऽपादनपुरस्सरं ध्रियमाणानां स्थापना परम्परस्थापना । एवमन्यत्रापि द्रव्यान्तरे यथैवं परम्परया स्थापना घटते, तत्र परम्परास्थापना द्रष्टव्या । यावच्च स्थापितस्य नाधाकर्मसंभवः, तावदात्मार्थीकृतं कल्पते । कृतपाकाऽऽरम्भं तु न कल्पते ।

साम्प्रति " हत्थगयघरंतरं जाव " इति व्याचिख्यासुराह-

भिक्खग्गाही एग-त्थ कुणइ बिइउ दोसु उवओगं ।
तेण परं उक्खित्ता, पाहुडिया होइ ठविया उ ॥

भिक्षाग्राही एकत्रोपयोगं करोति, द्वितीयस्तु द्वयोर्गृहयोः,तत्र त्रिषु गृहेषूपयोगसम्भवे स्थापनादोषो न भवति । गृहत्रयात्परं साध्वर्थमुत्पादिता भिक्षा प्राभृतिका स्थापना भवति । उक्तं स्थापनाद्वारम् । पिं० । स्थाप्यते इति स्थापना । वक्ष्यमाणेनाऽऽरोपणाप्रकारेण शुद्धीभूतेभ्यः सञ्चयमासेभ्यो ये शेषा मासास्तेषां प्रतिनियतदिवसग्रहणतो व्यवस्थापने, व्य० १ उ० । नि० चू० । (प्रस्थापनाभेदाः 'पडिक्कूत्त' शब्दे वक्ष्यन्ते) अनुज्ञायाम्, एतच्च पञ्चमं गौणमनुज्ञानाम । नं० । पर्युषणायाम्. वर्षाकल्पादन्या मर्यादा स्थाप्यते अनयेति व्युत्पत्तेः । नि० चू० १० उ० । (विशेषः ' पज्जुसणा ' शब्दे वक्ष्यते)

ठवणाकप्प-स्थापनाकल्प-पुं० । अकल्पस्थापनाकल्प-शैक्षस्थापनाकल्पोभयरूपे साध्वाचारे, बृ० ।

ठवणाकप्पो दुविहो, अकप्पठवणा य सेहठवणा य ।
पढमो अकप्पिएणं, आहाराऽऽदी न गिण्हावे ॥

स्थापनाकल्पो द्विविधः-अकल्पस्थापनाकल्पः, शैक्षस्थापनाकल्पश्च । तत्राकल्पिकेनानधीतपिण्डैषणाऽऽदिसूत्रार्थेन, आहाराऽऽदिकं न ग्राहयेत्-नाऽऽनाययेत् । तेन नीतं न कल्पत इत्यर्थः । एष प्रथमः-अकल्पस्थापनाकल्प उच्यते ।

अट्ठारसे य पुरिसे, वीसं इत्थीउ दस णपुंमा य ।
दिक्खेति जो ण एते, सेहट्ठवणाए सो कप्पो ॥

अष्टादश भेदाः पुरुषे पुरुषविषयाः, विंशतिः स्त्रियो, दश नपुंसकाः । एतानष्टचत्वारिंशतमनलान् शैक्षान् यो न दीक्षते,स एष कल्पकल्पयनोरभेदात् शैक्षस्थापनाकल्प उच्यते । बृ० ६ उ० । नि० चू० । पं० भा० ।

ठवणाकम्म-स्थापनाकर्मन्-न० । स्थापनं प्रतिष्ठापनं स्थापना, तस्याः कर्म करणं स्थापनाकर्म । येन ज्ञातेन परमतं दूषयित्वा स्वमतस्थापना क्रियते तत्स्थापनाकर्मेति भावः । तच्च द्वितीयाङ्गे द्वितीयश्रुतस्कन्धे प्रथमाध्ययनं पुण्डरीकाऽऽख्यम् । तत्र इदमुक्तम्-अस्ति काचित् पुष्करिणी कर्दमप्रचुरजला । तन्मध्यदेशे महापुण्डरीकम् । तदुद्धरणार्थं चतसृभ्यो दिग्भ्यश्चत्वारः पुरुषाः सकर्दममार्गं प्रवेष्टुमारब्धाः । ते चाकृततदुद्धरणा एव पङ्के निमग्नाः । अन्यस्तु तटस्थोऽसंस्पृष्टकर्दम एवामोघवचनतया तदुद्धृतवानिति ज्ञातम् । उपनयश्चायम्-अत्र कर्दमस्थानीया विषयाः, पुण्डरीकं राजाऽऽदिर्भव्यपुरुषः, चत्वारः पुरुषाः परतीर्थिकाः, पञ्चमः पुरुषः साधुः, अमोघवचनं धर्मदेशना, पुष्करिणी संसारः, तदुद्धारो निर्वाणमिति । अनेन च ज्ञातेन विषयाभिष्वङ्गवतामन्यतीर्थिकानां प्रभवस्य संसारानुत्तारकत्वं, साधोश्च तद्विपर्ययं वदता आचार्येण परमतदूषणेन स्वमतं स्थापितमतो भवतीति, इदं ज्ञातं स्थापनाकर्मेति । अथवा-आपन्नं दूषणमपोह्य स्वाभिमतस्थापना कार्येत्येवंविधार्थप्रतिपत्तिर्यतो जायते तत् स्थापनाकर्म । यथा किल-मालाकारेण केनापि राजमार्गे पुरीषोत्सर्गलक्षणापराधापोहाय तत्स्थाने पुष्पपुञ्जकरणेन किमिदमिति पृच्छतो लोकस्य हिङ्गुशिवो देवोऽयमिति वदता व्यन्तराऽऽयतनस्थापना कृतेति । एतस्मात् किलाऽऽख्यानकात्तदर्थः प्रतीयते । इदं स्थापनाकर्मेति ॥ स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अधुना स्थापनाद्वारमभिधित्सुराह—

ठवणाकम्मं एक्कं, दिट्ठंतो तत्थ पोंडरीअं तु ।
अहवा विसमदकण-हिंगुसिवकयं उदाहरणं ॥ ६६ ॥

स्थाप्यते इति स्थापना, तया, तस्याः,तस्यां वा कर्म-सम्यगभीष्टार्थप्ररूपणलक्षणा क्रिया स्थापनाकर्म । एकमिति तज्जात्यपेक्षया, दृष्टान्तो निदर्शनम् । तत्र स्थापनाकर्मणि, पौण्डरीकं तु, तुशब्दात्तथाभूतमन्यच्च । तथा च पौण्डरीकाध्ययने पौण्डरीकं प्ररूप्य प्रक्रिययैवान्यमतनिरासेन स्वमतमवस्थापितमिति । अथवेत्यादि पश्चार्द्धं सुगमम् । लौकिकं चेदमिति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः । तच्चेदम्-"जहा एगम्मि णगरे एगो मालायारो सण्णाइओ करंडे पुप्फे घेत्तूण वीहीए एइ । सो अईव अच्चाहिओ, ताहे तेण सिग्घं वोसिरिऊणं, सा पुप्फपिडिगा तस्सेव उवरि पल्हत्थिया । ताहे लोओ पुच्छइ-किमेयं ति जेणित्थ पुप्फाणि छड्डेसि ?। ताहे सो भणइ-अहं अहोविओ, एत्थ हिंगुसिवो नामं । एवं तं वाणमंतरं हिंगुसिवं नाम उप्पन्नं । लोएण परिग्गाहियं । पूया से जाया । आइं गयं, अज्ज वि तं पाडलिपुत्ते हिंगुसिवं नाम वाणमंतरं । एवं जइ किं वि उड्डाहं पावयणीयं कयं होज्जा केण वि पमाएण, ताहे तहा पच्छाएयव्वं, जहा पच्चुत्तं पवयणुब्भावणा हवइ । संजाए उड्डाहे जह गिरिसिद्धेहिं कुसलबुद्धीहिं लोयस्स धम्मसद्धा पवयणवण्णेण कुट्टू कया "। एवं तावच्चरणकरणानुयोगं लोकं चाधिकृत्य स्थापनाकर्म प्रतिपादितम् ।

अधुना द्रव्यानुयोगमधिकृत्योपदर्शयन्नाह—

सव्वभिचारं हेउं, सहसा वोत्तुं तमेव अन्नेहिं ।
उववूहइ सप्पसरं, सामत्थं चऽप्पणो नाउं ॥ ६७ ॥

सह व्यभिचारेण वर्त्तत इति सव्यभिचारः, तं हेतुं-साध्यधर्मान्वयाऽऽदिलक्षणं, सहसा तत्क्षणमेव, 'वोत्तुं' अभिधाय,तमेव हेतुमन्यैर्हेतुभिरेव, उपबृंहते समर्थयति,सप्रसरमनेकधा स्फारयन् सामर्थ्यं प्रज्ञाबलम । चशब्दो भिन्नक्रमः आत्मनश्च सत्य च ज्ञात्वा विज्ञाय, चशब्दात्परस्य चेति गाथार्थः ॥ ६७ ॥

भावार्थस्त्वयम्-इत्यास्तिकाऽऽद्यनेकनयसंकुलप्रवचनहेतोः साधुना तत्स्थापनाया नयान्तरमनापेक्ष्य सव्यभिचारं हेतुमभिधाय प्रतिपन्ननयमतानुसारतः तथा समर्थनीयः यथा सम्यगनेकान्तवादप्रतिपत्तिर्भवतीति । आह-उदाहरणभेदस्थापनाऽधिकारचिन्तायां सव्यभिचारहेतुत्वभिधानं किमर्थमिति ? । उच्यते-तदाश्रयेण भूयसामुदाहरणानां प्रवृत्तेः, तदन्वितं चोदाहरणमपि प्राय इति ज्ञापनार्थम्; अलं प्रसङ्गेन । अभिहितं स्थापनाकर्मद्वारम् । दश० नि० १ उ० ।

ठवणाकुल-स्थापनाकुल-न० । प्रतिकुष्टकुले, ध० ३ अधि० । स्थापनाकुलानि निर्दिशति । अथवा-यानि लोके गर्हितानि कुलानि स्थापितान्युच्यन्ते, तेषामपरिभोग्यतया जिनैः स्थापितत्वात्, तेभ्य आहाराऽऽदिकमुत्पादयति । व्य० १ उ० ।

इदाणिं ठवणंति-

ठवणाकुलेसु ठविए-सु वारए अलसे णिद्धम्मे ।

अस्या व्याख्या-ठवणापच्छद्धं । ठवणाकुला अतिशयकुला भण्णंति, येष्वाचार्याऽऽदीनां भक्तमानीयते, तेसु ठविएसु अलसे णिधम्मे पविसंते, णिवारेत्, इत्यर्थः । नि० चू० १ उ० । "सज्जातरसामगाइकुलाइ ठवणकुलाइ भण्णंति ।" नि० चू० ४ उ० ।

जे भिक्खू ठवणाकुलाइं अजाणिय अपुच्छिय अगवेसिय पुव्वामेव पिंडवायवडियाए अणुपविसइ,अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

(जे भिक्खू ठवणाकुलाइं इति) उप्पाकुला ठवणाकुला, अभोज्जा इत्यर्थः । साधुठवणाए वा ठविज्जंति त्ति ठवणाकुला, सज्झातरा इत्यर्थः । पुव्वदिट्ठे पुच्छा, अदिट्ठे गवेसणा । अथवा-णामेण वा गोत्तेण वा दिसाए वा पुच्छा, थूभियाइचिंधेहिं गवेसणा, पुव्वं प्रथमम, आदावेव । जो पुण पुच्छणगवेसणं करेति, तस्य पूर्वं न भवतीत्यर्थः ।

गाहा-

ठवणाकुला तु दुविधा, लोइय लोउत्तरा समासेण ।
इत्तरिय आवकहिया, दुविधा पुण लोइया होंति ॥५९॥

समासो संखेवो, लोइया दुविहा-इत्तरिया, आवकहिया य ।

इमे इत्तरिया । गाहा-

सूयगमतगकुलाइं, इत्तरिया जे य होंति णिज्जूढा ।
जे जत्थ जुंगिता खलु, ते होंती आवकधिया तु ॥६०॥

कालावधीए जे उप्पा कया ते णिज्जूढा (जे त्ति) कुला,जत्थ विसए,जुंगिता दुगुंछिता, अभोज्जा इत्यर्थः । कम्मेण वा, सिप्पेण वा,जातीए वा । कम्मे-पहाविया, सोहका, मोरपोसगा । सिप्पेहेट्ठण्हविता, तेरिमा, पयकरा, णिल्लेवा, जातीए-पाणा, डोंवा, मोरत्तिया य । खलुसद्दोऽवधारणे । ते चेव अण्णत्थ अजुंगिता, जहा सिंधुए णिल्लेवगा ।

इमे लोगुत्तरा । गाहा-

दुविधा लोउत्तरिया, वसधीसंबद्ध एतरा चेव ।
सत्तघरंतर जाव तु, सुसूणं वसाधिमंबद्धा ॥ ६१ ॥

वसहीए संबद्धा य, असंबद्धा य । वसहीए मोत्तुं सत्तघरा वसहिसंबद्धा, तेसु भत्तं वा पाणं वा वेतव्वं ।

इमा असंबद्धा । गाहा-

दाणे अभिगमसड्ढो, संमत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।
मामाए अचियत्ते, एवं इतरे वि णायव्वा ॥ ६२ ॥

अहाभद्दो दाणरुई दाणसड्ढो सम्मद्दिट्ठी गिहीताणुव्वओ अभिगमसड्ढो (सम्मत्ते त्ति) अविरयसम्मद्दिट्ठी । एतेसु पसज्जदोसा । खलुसद्दो पादपूरणे । (मिच्छत्त त्ति) अभिगहियमिच्छे साधुपडिणीए । ईसालुत्तणेणं मा मम घरं एहि समणं ति भणाइ । अण्णस्स इसा खलु अणणेण चेव-साहू घरं पविसंता अचियत्ता वायाए भणाति न किंचि वि । एतेसु विसगरपंताबणादि दोसा । (इयरे ति) असंबद्धा ॥

गाहा-

एतेसामण्णतरे, ठवणकुलं जो तु पविसती भिक्खू ।
पुव्वं अपुच्छितेणं, सो पावति आणमादीणि ॥ ६३ ॥

कंठा ।

चोदग आह-लोउत्तरे ठियाणं लोइयठवणपरिहारेण किंच अम्हं ? । आचार्य आह-

लोउत्तरम्मि ठविता-ण लोगणिव्वाहिरत्तमिच्छंति ।
लोगजढे परिचत्ता, तित्थविवड्ढी य वण्णो य ॥ ६४ ॥

पुव्वद्धं कंठं । लोगदुगुंछिया जे, ते परिहरंतेण तित्थस्स विवड्ढी कता भवति, (वण्णो त्ति) जसो पभावितो भवति त्ति भणति ।

लोइयठवणकुलेसु गेण्हंतस्स इमे दोसा । गाहा-

अयसो पवयणहाणी, विप्परिणामो तहेव य दुगुंछा ।
लोइयठवणकुलेसुं, गहणे आहारमादीणं ॥ ६५ ॥

अयसो त्ति अवण्णो, पवयणहाणी-न कश्चित्प्रव्रजति, संमत्तचरित्ता सेहा विप्परिणमंति,कावालिया इव लोए दुगुंछता भवंति, अस्पृश्या इत्यर्थः । पच्छद्धं कंठं ।

लोउत्तरिएसु दाणाइसड्ढकुलेसु पविसंतस्स इमे दोसा । गाहा-

आयरियबालवुड्ढा, खवगागिलाणा महोदराऽऽएसा ।
सव्वे वि परिचत्ता, जो ठवणकुलाइं णिव्विसति ॥६६॥

महोदरोऽयं बह्वाशी, आएसः प्राघूर्णककः, णि-आधिक्येन, विशति निविशति, प्रविशतीत्यर्थः ।

इमं पच्छित्तं । गाहा-

आयरिए य गिलाणे, गुरुगा लहुगा य खमग पाहुणए ।
गुरुगो य बालवुड्ढे,सेहे य महोदरे लहुओ ॥६७॥

जो एते ठवणाकुले णिव्विसति, तस्सिमे गुणा । गाहा-

गच्छो महाणुभागो, सबालवुड्ढाऽणुकंपिओ तेण ।

जिनकल्पिकाऽऽदिरत्नानामाकरत्वात् समुद्रवद् महानुभागः, बालवृद्धग्लानादीनां च साधारणत्वान्महानुभागः, जो तेसु ण णिव्विसति तेण सो गच्छो अणुकंपितो ।

गाहा-

उग्गमदोसा य जढा, जो ठवणकुलाइं परिहरइ ॥६८॥

उद्गमदोषाश्च परित्यक्ता भवन्ति ।

गच्छवासीणं इमा सामायारी । गच्छम्मि गाहा-

गच्छम्मि एस कप्पो, वासावासे तहेव उडुबद्धे ।

कप्पो विधी, एस वासावासे, उडुबद्धे वा ।

गामनगरनिगमेसुं, अतिसेसी ठावते सड्ढी ॥ ६९ ॥

गामणगरातिसु विहरंताणं अतिसयदव्वा उक्कोसा, ते जेसु कुलेसु लब्भंति, ते ठावियव्वा, ण सव्वसंघाडगा तेसु पविसंति (सड्ढि त्ति) संजमे सड्ढा जस्स सो सड्ढी, आयरिओ ।

मज्जाद गाहा-

मज्जादठावणेणं, पवत्तगा सव्वखेत्ते आयरिया ।

जो तु अमज्जातिल्लो, आवज्जति मासियं लहुयं ॥७०॥

मज्जाया मेरा, ताणं ठवणा, पवत्तगा य सव्वखेत्तेसु आयरिया भवंति । जो पुण आयरिओ मज्जायं ण ठवेति, ण पवत्तेति वा, सो अमज्जाइल्लो असमायारिणिप्फण्णं मासलहुं पावति । नि० चू० ४ उ० ।

अथ स्थापनामजिघृक्षुः प्रस्तावनामाह-

भत्तट्ठिया व खमगा, अमंगलं चोयण जिणाहरणं ।

जइ खमगा वंदंता, दाएंतियरे विहिं वोच्छं ॥ ७४४ ॥

ते हि साधवः क्षेत्रं प्रविशन्तो भक्तार्थिनो वा भवेयुः, क्षपका वा । यदि क्षपकाः, ततो नोदकस्य नोदना प्रेरणा-यथा प्रथममेव तावदमङ्गलमिदं यदुपवासं प्रत्याख्याय प्रविश्यते । सूरिराह-(जिणाहरणं) जिनानामुदाहरणं मन्तव्यम् । ते हि भगवन्तो निष्क्रमणसमये प्रायश्चतुर्थादि तपः कृत्वा निष्क्रामन्ति, न च तत्तेषाममङ्गलम् । एवं तत्रापि भावनीयम् । ततश्च यदि ते क्षपकाः, तदा चैत्यानि वन्दमाना एव दर्शयन्ति स्थापनाकुलानि क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः । अथ भक्तार्थिनस्ते, ततः (इयरे त्ति) इतरेषु भक्तार्थिषु यो विधिस्तं वक्ष्ये ।

तमेवाऽऽह-

भव्वे दट्ठुं उग्गा-हिएण ओदरि भयं समुप्पज्जे ।

तम्हेक्क दोहिँ तिहिँ वा, उग्गाहिय चेइए वंदे ॥७४५॥

चैत्यवन्दनार्थं गन्तुकामा यदि सर्वेऽपि पात्रकमुद्ग्राहयेयुः, ततः सर्वान् साधूनुद्ग्राहितेन पात्रकेण दृष्ट्वा अहो ! औदरिका एते इति श्रावकश्चिन्तयति । भयं च तस्य समुत्पद्यते । यथा-कथमेतावतां मयैकेन दास्यत इति ?। तस्मादेकेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा साधुभिरुद्ग्राहितपात्रकैः, शेषैः पुनरनुद्ग्राहितपात्रकैः सहिताः सूरयश्चैत्यानि वन्दन्ते ।

अथ यद्येकोऽपि साधुः पात्रकं नोद्ग्राहयति, ततः को दोषः ?, इत्याह--

सड्ढाभंगोऽणुग्गा-हियम्मि ठवणाइया चवे दोसा ।

घरचेइए आयरिए, कइपयगमणं च गहणं च ॥७४६॥

अथानुद्ग्राहिते पात्रके प्रयान्ति, ततश्चैत्यानि वन्दमानान् दृष्ट्वा कोऽपि श्रद्धावान् भक्तपानेन निमन्त्रयेत्, तदा यदि भाजनं नास्तीति कृत्वा न गृह्णते, ततः श्रद्धाभङ्गस्तस्योपजायते । अथ ब्रुवते-पात्रं गृहीत्वा यावद्वयमागच्छामः, तावदेवमेव तिष्ठतु, ततः स्थापनाऽऽदयो दोषा भवेयुः । तस्मादुद्ग्राहणीयं पात्रकम् । जिनगृहेषु च वृन्देन सर्वेऽपि चैत्यानि वन्दित्वा गृहचैत्यवन्दनार्थमाचार्येण कतिपयैः साधुभिः उद्ग्राहितपात्रकैः समं गमनं कर्तव्यं, तत्र यदि श्रावकः प्रासुकेन भक्तपानेन निमन्त्रयेत, ततो ग्रहणमपि तस्य कर्तव्यम् । बृ० १ उ० ।

कानि पुनः कुलानि चैत्यवन्दनं विदधानास्ते (सूरयः) दर्शयन्ति ? । उच्यते-

दाणे अभिगमसड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।

मामाए अचियत्ते, कुलाइं दाएंति गीतत्था ॥७१॥

राओ दिवसतो वा बाहिठिया वसहीए वा जिक्खं हिंडंता ठवणकुले दाएंति ।

दरिसितेसु गुरुणो इमा सामायारी-

दाणे अभिगमसड्ढे, संमत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।

मामाए अचियत्ते, कुलाइ ठाएंति गीयत्था ॥७२। नि० चू० ४ उ० ।

एतानि कुलानि स्थापयन्ति गीतार्थाः; अमीषु प्रवेष्टव्यममीषु नेति व्यवस्थापयन्तीत्यर्थः ।

अथ न स्थापयन्ति तदा किम् ?, इत्याह-

दाणे अभिगमसड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।

मामाए अचियत्ते, कुलाइँ अठविंति चउ गुरुगा ॥७४९॥

एतानि कुलान्यस्थापयतश्चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तम् ।

यत एवमतः-

कयउस्सग्गाऽऽमंतण, अपुच्छणे अकहिएगयरदोसा ।

ठवणाकुलाण य ठवणं, पविसइ गीयत्थसंघाडो ॥७५०॥

उत्सर्गे-चैत्यवन्दनं विधाय गतानामैर्यापथिकीकायोत्सर्गे कृते, यद्वा-(आमंत ति) आवश्यके कृते सर्वेऽपि साधवो गीतार्थाः-आमन्त्रणीयाः-आगच्छत क्षमाश्रमणाः !, आचार्याः स्थापनां प्रवर्तयिष्यन्ति । इत्थमुक्ते सर्वेऽप्यागम्य * गुरुपदकमलमभिवन्द्य रचिताञ्जलयस्तिष्ठन्ति । तत आचार्यैः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः प्रष्टव्याः-कथयत कानि कुलानि प्रवेष्टव्यानि, कानि वा नेति ?। ततस्तैरपि क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैर्यथावत्कथनीयम् । यद्याचार्याः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकांश्च पृच्छन्ति, ते च पृष्टाः सन्तो न कथयन्ति, ततस्तेषु प्रविशतां ये संयमाऽऽत्मविराधनाऽऽश्रया दोषास्तानेकतरे-सूरयः, क्षेत्रप्रत्युपेक्षका वा, प्राप्नुवन्ति । ततः कथिते सति यानि गृहीतमिथ्यात्वमामकाचियत्तानि तानि सर्वथैव स्थाप्यानि, यथा नैतेषु केनापि प्रवेष्टव्यम्, यानि तु दानश्राद्धाऽऽदीनि स्थापनाकुलानि तेषामपि स्थापनं कर्तव्यम् । कथम् ?, इत्याह-प्रविशति एक एव गीतार्थसङ्घाटकः गुर्वादिवैयावृत्यकरः, तेषु ।

इदमेव भावयति-

गच्छम्मि एस कप्पो, वासावासे तहेव उडुबद्धे ।

गामनगरनिगमेसुं, अइसेसी ठावए सड्ढी ॥ ७५१ ॥

वर्षावासे, तथैव ऋतुबद्धे, ग्रामनगरनिगमेषु तिष्ठतां गच्छे एष कल्पः कः?, इत्याह-अतिशेषाण्यतिशायीनि स्निग्धमधुरद्रव्याणि प्राप्यन्ते येषु तान्यतिशेषाणि (सड्ढि त्ति) दानश्राद्ध-

* " वा ल्यपि " ॥ ६ । ४ । ३८ ॥ अनुनासिकलोपः । आगत्य, आगम्य ।

न्ति, एवंविधानि कुलानि स्थापयेत् । एकं गीतार्थसङ्घाटकं मुक्त्वा, शेषसङ्घाटकानां तत्र प्रवेशं कारयेत् ।

आह निर्युक्तिकारः-

किं कारणं चमढणा, दव्वखओ उग्गमो वि य न सुज्झे ।
गच्छम्मि नियय कज्जं, आयरियगिलाणपाहुणए ॥७५२॥

किं कारणं को हेतुः ?, येन स्थापनाकुलेष्वेक एव सङ्घाटकः प्रविशति ? । सूरिराह-(चमढण त्ति) अन्यैरन्यैश्च सङ्घाटकैः प्रविशद्भिस्तानि कुलान्युद्वेगं प्राप्यन्ते । ततश्च द्रव्याणां स्निग्धमधुराणां क्षयो भवति । उद्गमोऽपि च न शुध्यति । गच्छे च नियतं निश्चितं प्रायोग्यद्रव्यैः कार्यं भवति । किमर्थम् ?, इत्याह-आचार्यग्लानप्राघूर्णकानां हेतोरिति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथ भाष्यकार एनामेव विवृणोति-

पुव्विं पि वीरसुणिया, भणिया छणिया पहावए तुरियं ।
सा चमढणाएँ सिग्गा, नेच्छइ दट्टुं पि गंतुं जे ॥७५३॥

" जह काइ वीरसुणिया केणइ पारद्धिएण तित्तिराईणं गहणे छिक्कारिया समाणी तित्तिराईणि गिण्हइ, पच्छा सा तेहिं सावएण विणा वि छिक्कारेइ, सा वीरसुणिया इतो तओ पहावेइ, जाव न किंचि पेच्छइ, ताहे सा वेयारिया समाणी जइ सो सावयं दट्टुं पच्छा छिक्कारेइ, तहा वि एयं पि न इच्छइ गंतुं । " अथ गाथाक्षरयोजना-यः शुनिकाद्वितीयः शस्त्राद्यपेक्षारहितो मृगयां करोति स वीरः कथ्यते । तस्य शुनिका, यथा पूर्वमदृष्टेऽपि श्वापदे भणिता छीत्कृता छोत्कृता सती (तुरियं) त्वरितमितस्ततः प्रधावति, ततः सा 'चमढणया' निरर्थकमुद्वेजनया, 'सिग्गा' श्रान्ता सती, सन्तमपि श्वापदं दृष्ट्वा, पदमपि गन्तुं, 'जे' इति पादपूरणे, नेच्छति । एष दृष्टान्तः ।

अथोपनयस्त्वेवम्-

एवं सड्ढकुलाइं, चमढिज्जंताइँ अन्नमन्नेहिं ।
नेच्छंति किंचि दाउं, संतं पि तहिं गिलाणस्स ॥७५४॥

एवममुनैव प्रकारेण, श्राद्धकुलानि (चमढिज्जंताइं ति) उद्वेज्यमानानि, अन्यान्यैः-क्षुल्लकस्थविरक्षपकाऽऽदिभिः । यद्वा-(अन्नमन्नेहिं ति) अन्योन्यैः परिफल्गुप्रायैः कारणैः । यथा एकः प्राह-ग्लानस्य शीर्षं दुष्यति, शर्करां प्रयच्छ । अपरः प्राह-ममोदरं दुष्यति, दध्नः करम्बेन प्रयोजनम् । तदपरः प्राह-प्राघूर्णक आयातोऽस्ति घृताऽऽदिकं देहि । अन्यः प्राह-अहमाचार्यस्य हेतोरायातोऽस्मि, दुग्धं सशर्करं प्रतिलाभयेत्यादि । ततस्तानि ब्रुवीरन्-यूयं सर्व एव ग्लानाः, अतो वयं कियतां प्रयच्छामः ?, को वा जानाति-यूयमाचार्याऽऽदीनां हेतोर्गृह्णीथ, आहोस्विदात्मार्थम् । इत्येवमुद्वेज्यमानानि नेच्छन्ति, सदपि विद्यमानमपि, घृताऽऽदिकं, किञ्चित् स्तोकमात्रमपि, ग्लानस्य, उपलक्षणत्वात्-आचार्यप्राघूर्णकाऽऽदेरप्यर्थाय दानम् । ततश्च यत्ते ग्लानाऽऽदयः परिताप्यन्ते, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । गतं चमढणाद्वारम् ।

अथ द्रव्यक्षयोद्गमाशुद्धिकारद्वयमाह-

अन्नो चमढणदोसो, दव्वखओ उग्गमो वि य न सुज्झे ।
खीणे दुल्लभदव्वे, नत्थि गिलाणस्स पाउग्गं ॥ ७५५॥

अन्योऽपरश्चमढनायां दोषः । कः ?, इत्याह-द्रव्यस्यावगाहिमघृताऽऽदेः, कारणमन्तरेणापि दिने दिने गृह्यमाणस्य, क्षयो भवति । ततश्च यद्यजिनवमवगाहिमाऽऽदिद्रव्यं साधूनामर्थाय करोति, क्रीणाति वा, तत उद्गमोऽपि च न शुध्यति, सद्भावत्वात् तदुत्पादितमपि न कल्पत इति भावः । ततः क्षीणे व्यवच्छिन्ने दुर्लभद्रव्ये, प्रयोजने उत्पन्नेऽपि नास्ति ग्लानस्य प्रायोग्यं, ततः परितापमहादुःखाऽऽदिका ग्लानाऽऽरोपणाद्रव्याभद्रकप्रान्तकृताश्च दोषा भवन्ति ।

तानेवाह-

दव्वक्खएण पंतो, इत्थिं घाएइ कीस ते दिन्नं ? ।
भद्दो हट्ठपहट्ठो, करिज्ज अन्नं पि साहूणं ॥७५६॥

इह कस्यापि प्रान्तस्य भार्या श्राद्धिका, ततस्तया अन्यान्यसाधूनां याचमानानां प्रायोग्यं द्रव्यं सर्वमपि प्रदत्तम् । ततस्तस्याः पतिर्भोजनार्थमुपविष्टः सन् ब्रूते-कूरं मे परिवेषय । सा प्राह-साधूनां प्रदत्तः । स प्रतिब्रूयात्-पूपलिकां तर्हि परिवेषय । सा प्राह-ता अपि प्रदत्ताः । एवं सूपदुग्धदधिप्रभृतीन्यपि साधूनां वितीर्णानि । इत्थं द्रव्यक्षयेण प्रान्तः कुपितः सन् स्त्रियं घातयेत्-कुट्टयेत् । कस्मात्किमर्थं, त्वया तेभ्यः सर्वमपि दत्तमिति कृत्वा ? । अत्र पाठान्तरम्-" दव्वक्खएण लुद्ध त्ति " लुब्धो लोभाभिभूतः, शेषं प्राग्वत् । यस्तु भद्रको गृहपतिः, स श्राद्धिकया सर्वस्मिन्नपि दत्ते, तथैव च कथिते, हृष्टप्रहृष्टो भवति; हृष्टो-नाम मनसि परितोषवान् । प्रहृष्टस्तु प्रहसितवदनः समुद्भूतरोमहर्ष इति । ततश्च कुर्यादन्यदपि, अवगाहिमाऽऽदिकं साधूनामर्थाय कारयेदित्यर्थः । एतद्दोषपरिहरणार्थमेकं गीतार्थसङ्घाटकं मुक्त्वा, शेषाः स्थापनाकुलानि न निर्विशेयुः । प्राघूर्णके चाऽऽयाते सति प्राघूर्ण्यं विधेयं, तच्च स्वभावानुमतैरेव भक्तपानैः ।

अथा चात्र दृष्टान्तमाह-

जड्डे महिसे चारिं, आसो गोणे य जे य जावसिया ।
एएसिं पडिवक्खे, चत्तारि उ संजया होंति ॥७५७॥

जड्डो हस्ती, महिषाश्वौ प्रतीतौ, गोणो बलीवर्दः । एतेषां ये यावसिका यवसस्तत्प्रायोग्यमुद्गमाषादिरूप आहारः, तेन तद्वहनेन चरन्तीति यावसिकाः, ते अनुकूलां चारीं मार्गयन्ति । एतेषां जड्डाऽऽदीनां प्रतिपक्षी प्रतिरूपः, एतत्सदृशपक्ष इत्यर्थः । तत्र चत्वारः प्राघूर्णकसंयता भवन्ति । तद्यथा-जड्डसमानो, महिषसमानः, अश्वसमानः, गोसमानश्चेति ।

अथामीषामेव व्याख्यानमाह-

जड्डो जं वा तं वा, सुकुमालं महिसओ महुरमासो ।
गोणो सुगंधिदव्वं, इच्छइ एमेव साहू वि ॥७५८॥

जड्डो हस्ती, स यद्वा तद्वा-सकर्कशकटुकाऽऽदिकमप्याहारयति । यस्तु महिषः, स सुकुमारं वंशकरील्लाऽऽदिकमभिलषति । अश्वो मधुरं मुद्गमाषाऽऽदिकमभिकाङ्क्षति । गौर्बलीवर्दः, स सुगन्धिद्रव्यमर्जुनकग्रन्थिपर्णाऽऽदिकमिच्छति । एवमेव साधवश्चत्वारश्चतुर्विधं भक्तमिच्छन्ति । " तत्थ पढमो जड्डसमाणो पाहुणगसाहू भणइ-मम जं दोसिं पंचाउलहगं वा कंजियं वा लब्भइ, तं चेव आणेहि; नवरं उदरपूरं । एवं भणिए किं दोसी-

जं चेव आणेयव्वं, न विसेसेण सोहणं तस्स आणेयव्वं । वि-इओ पाहुणयसाहू भणइ-एवं मे नेहरहिया विधूत्रालिया सु-कुमाला होउ । तइओ भणइ-महुरं नवरि मे होउ । चउत्थो भणइ-भत्तं वा पाणं वा निप्पडिगंधं मे आणेह । एवं ताणं भणंताणं जं जोग्गं तं सड्ढयकुलाहिंतो विसेसियं आणिज्जइ । तं ठवियएसु चेव सड्ढयकुलेसु लब्भइ, ता ठवियएसुं पाहुणे य कीरमाणे महंतो निज्जरालाभो, साहुक्कारो य पाविज्जइ । अतो कायव्वं तं जहाविहिं साहूहिं ति । "

आह-यद्येवं तर्हि श्राद्धकुलेषु मा कोऽपि प्रवेशमकार्षीत्, यदा प्राघूर्णकाऽऽदिकार्यं समुत्पन्नं भविष्यति, तदा प्रवेशं करिष्या-मः, ततश्च बहुतरमुत्कृष्टं च लप्स्यामहे ।

सूरिराह-

एवं च पुणो ठविए, अप्पविसंते इमे भवे दोसा ।
वीसरण संजयाणं, विसुक्कगोणीइ आरामे ॥७५९॥

एवं च तावद्ग्रहणायां दोषा अभिहिताः । पुनःशब्दो विशे-षणार्थः । यदि पुनः स्थापनाकुलानि सर्वथैव स्थाप्यन्ते, ततो (ठविए त्ति) सर्वथैव स्थापितेषु अप्रविशतां साधूनामेते दोषा भवेयुः । तद्यथा-विस्मरणं संयतानां भवति, भिक्षा दातव्येति-नियमाभावात् । अत्र च विशुष्कया गवा, आरामेण च दृष्टा-न्तः-"जहा एगस्स चोइयिज्जाइयस्स गोणी-धेणू। सा य एगो-सपच्चूसेसु कुडवं कुडवं दुद्धस्स य पयच्छइ । तस्स य दसहिं दिवसेहिं संखडी भविस्सइ। ताहे सो चिंतेइ-एसा धावी ताव बहुयं खीरं देइ, तया य दुल्लहं खीरं भविस्सइ, समयतया अवस्सं कज्जं, तो इयाणिं न दुहामि । तया चेव एक्कसराए दुहिस्सामि, वरं मे दस कुलवा हौंतया । एत्ते च संखडिदिवसे महंतं कुडयं गहाय गोणीदुहणट्ठाए ढुक्को जाव विसुक्का, चुलुओ वि नत्थि दुद्धस्स । एवं संजया वि अणाल्लियंतो तेसिं सड्ढाणं प-मुद्धा न चेव जाणंति-किं संजया अत्थि, न वा ?। ते वि संजया जम्मि दिवसे कज्जं ति मिगया जाव न संति ताणि दव्वाणि; तम्हा दोएहं वा तिएहं वा दिवसाणं अवस्सं गंतव्वं ।

अहवा आरामदिट्ठंतो-जहा एगो आरामिओ सो चिंतेइ-मम आरामे पुप्फाणं आढयं दिणे दिणे वड्ढेइ, इंदमहदिवसे अ बहुजणो पुप्फाणं कायओ भविस्सइ, तो मा दिणे दिणे पुप्फाइं उच्चिणामि, तद्दि-वसं चर बहूणि पुप्फाणि होताणि त्ति । एत्ते य इंदमहदिवसे सो प-त्थिया उ घेत्तुं गओ, ताव सो आरामो उप्फुल्लो, एगमवि पुप्फं न-त्थि । एवं ते यद्दिवसं कज्जमुप्पन्नं तद्दिवसं पविट्ठा ठवणाकुलेसु । ताहे सड्ढा भणंति-तुब्भे इहं चिय अत्थंता न मुणह वेलं अम्हं, एए चत्ता वेला अप्पविसंतेसु य न कोइ दमणं पडिवज्जइ । न वा अणुव्वए गिलाणपाउग्गं वि नत्थि । " यतश्चैवमतः प्रवेष्टव्यं स्थापनाकुलेषु गीतार्थसंघाटकेन ।

स कीदृग्दोषैर्विरहितः?, इत्यत आह-

अलसं घसिरं सुविरं, खमगं कोहमाणमायलोहिल्लं ।
कोऊहलपडिबद्धं, वेयावच्चं न कारिज्जा ॥७६०॥

अलसं निरुद्यमं, घसितारं बहुभक्षिणं, सुप्तारं स्वप्नशीलम् । "शीलाऽऽद्यर्थस्येरः" ॥८। २।१४५॥ इति प्राकृतलक्षणबलादुभ-यत्रापि तृन्प्रत्ययस्येरादेशः । क्षपकं प्रतीतं (कोहमाणमायालो-हिल्लं ति) क्रोधवन्तं, मानवन्तं, मायावन्तं, लोभवन्तम् । सर्वत्रापि मतुप्प्रत्ययः । यथा गोमानिति । (कोऊहल त्ति) मत्वर्थीयप्रत्य-यलोपात्कौतूहलिनं, प्रतिबद्धं सूत्रार्थग्रहणसक्तम् । एतान् वैयावृ-त्यमाचार्यो न कारयेदिति समासार्थः ।

अथैनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतः प्रायश्चित्तमाह-

तिसु लहुओ तिसु लहुआ, गुरुओ गुरुआ य लहुग लहुगो य ।
पेसगकरिंतगाणं, आणाइ विराहणा चेव ॥७६१॥

अलसाऽऽदीन् य आचार्यः स्ववैयावृत्त्यर्थं प्रेषयति, व्यापारय-तीत्यर्थः । यश्चैभिर्दोषैर्दुष्टः स्वयं वैयावृत्त्यं करोति; तयोः प्रेष-ककुर्वतोः प्रायश्चित्तम् । तद् यथा-त्रिषु अलसबहुभाशिनस्वापुषु लघुको मासः, त्रिषु क्षपककोपनाभिमानिषु चत्वारो लघवः, मायावति गुरुको मासः । लोभवति चत्वारो गुरुकाः । कौतूह-लवति चत्वारो लघुकाः, सूत्रार्थप्रतिबद्धे लघुमासः । आज्ञा-ऽऽदयश्च दोषाः; विराधना चाऽऽत्मसंयमविषया ।

तत्रालसस्वप्नशीलयोजनादोषानाह-

ता अत्थइ जा फिडिओ, सइकालो अलसमाविरे दोसा ।
गुरुमाई तेण विणा, विराहणुस्सक्कठवणादी ॥७६२॥

अलसः स्वप्नशीलश्च तावदुपविष्टः शयानो वा आस्ते, यावत् सन् विद्यमानकालः सत्कालः, भिक्षायाः स्फिटितोऽपक्रान्तः, तदा च पर्यटन्नसौ यद्वा तद्वा भक्तपानं लभते, न प्रायोग्यं, तेन प्रायोग्ये-ण विना या गुर्वादीनामाचार्यबालवृद्धग्लानाऽऽदीनां विराधना तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । यद्वा-अतिक्रान्तायां वेलायामायान्तं वै-यावृत्त्यकरं मत्वा प्रायोग्यस्यानुष्वष्कणं श्राद्धकानि कुर्युः, उ-त्सुरं तद्विदष्युरिति भावः । यद्वा-तदुपस्कृतं प्रायोग्यं भक्तं स्था-पयेयुः, ततः स्थापनादोषः । आदिशब्दात्साधूनामसंविभक्तं भ-क्तं कथं मुखे प्रक्षिप्यते ? , इति बुद्ध्या तेषामभुज्यमानानाम-न्तरायाऽऽदयो दोषाः ॥

अप्पत्ते वि अलंभो, हाणी ओमकणा य अइभरे ।
अणहिंडंतो अ चिरं, न लहइ जं किंचि आणेइ ॥७६३॥

अथ यदेतत् कर्मास्माकं मध्ये समापतितं तन्निर्वाहितं भ-वन्विति कृत्वा अप्राप्ते काले भिक्षामटति, तदा अलाभो-न किमपि प्राप्यते । ततश्चाऽऽचार्याऽऽदीनां हानिरसंस्तरं भवति । यस्तु अतिभक्तोऽनीव धर्मश्रद्धावान्, गूहयति सोऽवष्वष्कणं, विवक्षितकालादर्वाक् भक्तनिष्पादनं कुर्यात् । यद्वा-अप्रमावस-सत्त्वाभिज्ञानुभावाद्वा चिरमाहिण्डमानः सन् किमपि लभते; यत्किञ्चिद्वा पर्युषितं वल्लचणकाऽऽदिकं वा आनयति, तेन भुक्तेनापथ्यतया गुर्वादीनां ग्लानत्वं भवति; ततः परि-तापमहादुःखाऽऽदिका ग्लानाऽऽरोपणा ।

अथ 'घसिर त्ति' पदं भावयति-

गिण्हामि अप्पणो ता, पज्जत्तं ता गुरूण घिच्छामि ।
घेत्तुं च तेसि घेत्थं, सीयलओसक्कओमाई ॥७६४॥

यो महोदरः स वैयावृत्त्ये नियुक्तो भिक्षामटन् चिन्तयति-गृ-ह्णामि तावदात्मनो योग्यं पर्याप्तं, ततो गुरूणां हेतोर्ग्रहीष्यामि । यद्वा-तेषां गुरूणां योग्यं गृहीत्वा, तत आत्मनो अर्थाय ग्र-हीष्ये, इत्थं विचिन्त्य यदि प्रथमं गुरूणां योग्यं गृहीत्वा प-श्चादात्मार्थं गृह्णाति, ततो यावता कालेनाऽऽत्मना पूर्यते, तत्प-र्याप्तं भवति, तावता स्थापनाकुलेषु वेलाऽतिक्रमो भवेत् ।

अथ वेलाऽतिक्रमभयादेकैक एव तेषु प्रविशति, तत आत्मनोऽ- वशं भवेत्, उदरपूरणं न भवेदिति भावः । ततश्चैवमा- हारतया तस्यैव अनागाढपरितापनाऽऽदयो दोषाः ।

अथ क्षपकक्रोधवतो दोषानाह-

परिताविज्जइ खमओ, अह गिएहइ अप्पणो इयर-हाणी ।
अविदिन्ने कोहिल्लो, रूसइ किं वा तुमं देसि ? ॥७६५॥

यदि क्षपको गुरूणां हेतोः प्रायोग्यं गृह्णाति,नाऽऽत्मनः, ततः स एव परिताप्यते । अथाऽऽत्मनो गृह्णाति, तत इतरेषामाचार्याणां, हानिः परितापना । यस्तु क्रोधवान्, सोऽवितीर्णे-अदत्ते स- ति रुष्यति । रुष्टश्चागारिणं भणति-यदि भवान् न ददाति, तर्हि मा दात । किं भवदीयं गृहं दृष्ट्वाऽस्माभिः प्रव्रज्या प्र- तिपन्नेति ?। किं वा त्वं ददासि, येनैवमहं ददामीति गर्वितो भवसि ? । इत्यादिभिर्दुर्वचनैः सार्द्धं विपरिणमयति ।

मानिमायिनोर्दोषानाह-

अणुट्ठमदिन्ने, थद्धो न य गच्छए पुणो जं वा ।
माई भद्दगजोई, पंतेण व अप्पणो छाए ॥७६६॥

यः स्तब्धः मानी, स ऊने तुच्छे दत्ते, (अणुठ त्ति) अभ्युत्थाने वा अकृते (अदिन्न त्ति) सर्वथैव वा अदत्ते सति, पुनर्भूयः, तदीयं गृहं न गच्छति । भणति च-श्रावकाणामितरेषां च को विशेषः?, यदि द्वितयेऽपि साधूनामभ्युत्थानाऽऽदिविनयप्रक्रियामन्तरेण भिक्षां प्रयच्छन्ति ?; ततो नाहममुष्य गृहं भूयः प्रविशामीति । ततो (जं व त्ति) तद्गृहप्रवेशं विना प्रायोग्यस्यालाभे यत्किञ्चि- दाचार्याऽऽदीनां परितापनाऽऽदिकं भवति, तन्निष्पन्नं प्रायश्चि- त्तम् । यस्तु मायी भद्रकभोजी, प्रायोग्यमुपाश्रयाद्बहिर्भुक्त्वा प्रा- न्तमानयतीति भावः । यद्वा-प्रान्तेन वल्लचणकाऽऽदिना, आत्मनो योग्यं स्निग्धमधुरद्रव्यं छादयति, छादयित्वा च गुरूणां द- र्शयति ।

लुब्धस्य दोषानाह-

ओभासइ खीराई, दिज्जंते वा न वारई लुद्धो ।
जेऽणेगविसणदोसा, एगस्स वि ते उ लुद्धस्स ॥७६७॥

यो लुब्धः सन् स्थापनाकुलेषु क्षीराऽऽदीन्यवभाषते । यद्वा-श्रद्धा- ऽतिरेकतस्तैर्दीयमानानि स्निग्धमधुराणि न वारयति, ततश्च येऽनेकेषु स्थापनाकुलं प्रविशत्सु उद्गमाऽऽदयो दोषा व- र्णिताः, ते सर्वेऽप्येकस्यापि लुब्धस्य प्रविशतो द्रष्टव्याः ।

कुतूहलिनः सूत्रार्थप्रतिबद्धस्य च दोषानाह-

नडमाई पिच्छंतो, ता अत्थइ जाव फिट्टई वेला ।
सुत्तत्थे पडिबद्धो, ओसक्कऽभिसक्कमाईया ॥७६८॥

यः कुतूहली, स नटाऽऽदीन् प्रेक्षमाणस्तावदास्ते, यावद्वेला स्फि- टति । यस्तु सूत्रे अर्थे वा प्रतिबद्ध आसक्तः, स गुरूणां धर्म- कथाऽऽदिव्यग्रतया यदैवान्तरं लभते, तदैवाप्राप्तकालेऽपि भि- क्षार्थमवतरति । वेलाऽतिक्रमं वा कृत्वाऽकालवेलाऽऽदावयतर- ति, ततोऽवष्वष्कणाभिष्वष्कणाऽऽदयो दोषाः ।

यतश्चैवमतः किं कर्त्तव्यमिति ?, आह-

एयदोसविमुक्कं, कडजोगिं नायसीलमायारं ।

गुरुभत्तिमं विणीयं, वेयावच्चं तु कारेज्जा ॥७६९॥

एभिरनन्तरोक्तैः,दोषैर्विमुक्तं वर्जितम्।किंविशिष्टम्?,इत्याह-कृत- योगिनं गीतार्थम्।ज्ञातशीलाऽऽचारम्-ज्ञातं सम्यगवगतं,शीलं प्रि- यधर्मताऽऽदिरूपम्,आचारश्चक्रवालसामाचारीरूपो यस्य स तथा, तम् । तथा गुरव आचार्याः,तेषु भक्तिमन्तमान्तरप्रतिबन्धोपेतम्। विनीतमभ्युत्थानाऽऽदिबाह्यविनयवन्तम् । एवंविधं शिष्यं वै- यावृत्यमाचार्यः कारयेत् * ।

आह-किमर्थं वैयावृत्यकरस्येयन्तो गुणा मृग्यन्ते ?।

उच्यते-

साहंति य पियधम्मा, एसणदोसे अभिग्गहविसेसे ।
एवं तु विहिग्गहणे, दव्वं वड्ढंति गीयत्था ॥७७०॥

प्रियधर्माणः, उपलक्षणत्वादपरैरप्यनन्तरोक्तगुणैर्युक्ता वैया- वृत्यकराः (साहंति त्ति) कथयन्ति, एषणादोषान्-शङ्कितनि- क्षिप्ताऽऽदीनि । यथा-इत्थं शङ्कितदोषो भवति, इत्थं तु निक्षिप्त इत्यादि । एतैश्च दोषैर्दुष्टं साधूनां न दीयते । अभिग्रहविशेषांश्च जिनकल्पिकस्थविरकल्पिकसंबन्धिनः, कथयन्ति । एवम्-उक्तेन विधिना, स्थापनाकुलेषु ग्रहणे,श्रद्धां वर्द्धयन्तो गीतार्थाः,द्रव्यम- पि घृताऽऽदिकं वर्द्धयन्ति ।

इदमेव भावति-

एसणदोसे व कए, अकए वा जइगुणविकत्थंता ।
कहयंति असढभावा, एसणदोसे गुणे चेव ॥७७१॥

एषणादोषे शङ्किताऽऽदौ,कृते वा अकृते वा,यतिगुणान् क्षान्तिमा- र्दवाऽऽदीन्, विकत्थमानाः-विविधं श्लाघमानाः, अशठभावाः कै- तववर्जिताः, न भक्तपाननिमित्तमिति भावः । एषणादोषान् कथयन्ति । तथा गुणाः-साधूनां प्रासुकैषणीयभक्तपानप्रभवाः पापकर्मनिर्जराऽऽदयः,तांश्च,गीतार्थाः कथयन्ति । यथा-"सम- णोवासगस्स णं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ?। गोयमा ! एगंतसो निज्जरा कज्जइ,नत्थि य से पा- वकम्मे कज्जइ त्ति " ।

अथेत्थं न कथयेयुः, ततः के दोषा इति ?, आह-

बालाई परिचत्ता, अकहिंतेऽणेसणाइगहणं वा ।
न य कहपबंधदोसा,अह य गुणा साहिया होंति ॥७७२॥

तेषु श्राद्धकुलेषु जिनकल्पिका भिक्षार्थमायाताः, तेषां परमा- न्नाऽऽदिकं लपकृतमुपनीतं, तैश्च भगवद्भिः प्रतिषिद्धम् । तत- स्तानि श्राद्धकानि चिन्तयेयुः-'एत एव प्रधानाः साधवः, इतरे तु स्निग्धमधुरद्रव्यग्राहिणः सर्वेऽपि नामधारकमात्राः सा- ध्वाभासा एव' इति । ततः श्रद्धाभङ्गभाजितानि भूयः प्रायोग्यद्र- व्यं नोपढौकयेयुः । एवमभिग्रहविशेषानकथयद्भिर्गीतार्थै- र्बालाऽऽदयः परित्यक्ता भवन्ति । अनेषणातो दोषान्, शुद्धभक्तपानदानस्य च गुणाश्च कथयेयुः, ततस्तानि श्रा- द्धकान्यनेषणां कुर्युः; तत्र च यदि प्रतिषिध्यति, तदाऽपि बालाऽऽ- दयः परित्यक्ताः ; तेषां प्रायोग्याभावे संस्तरणाभावात् । अथ न प्रतिषिध्यते, ततोऽनेषणाऽऽदिग्रहणं भावयेत् । आदिशब्द एष-

* "हृक्रोरन्यतरस्याम्" ॥ १ । ४ । ५३ ॥ (पाणि०) हृक्रोर- णौ यः कर्ता स णौ कर्म वा स्यात् । "हृक्रोर्नवा" ॥ २ । २।८॥ (हैम०) हृक्रोरणिकर्ता णौ कर्म वा स्यात् ।

णादोषाणामेव स्वगतानेकभेदसूचकः । आह-गोचरप्रविष्टानां साधूनां कथाप्रबन्धः कर्तुं न कल्पते । अमी च साधव इत्यमेषणादोषाऽऽदीनां कथाप्रबन्धतः कथं न दोषभाजो भवन्तीति ?। उच्यते-न च नैवात्र, कथाप्रबन्धदोषा भवन्ति । यदिह भक्तपानलोलुपतया कथां प्रबध्नीयुः, ततो भवेयुर्दोषाः, तच्च नास्ति, एषणाशुद्धिहेतोरेव तेषामित्थं कथनात् । अथ च प्रत्युतेत्थं कथयद्भिस्तैर्गीतार्थैर्गुणाः-बालवृद्धाऽऽद्युपष्टम्भगुरुप्रभूतयः, साधिता भवन्ति ।

कथं पुनस्ते कथयन्ति ?, इत्याह-

ठाणं गमणागमणं, वावारं पिंडसोहिमुज्जोगं ।
जाणंताण वि तुब्भं, बहुवक्खेवाए कहयामो ॥७७३॥

स्थानं नाम-आत्मप्रवचनसंयमोपघातवर्जितो भूभागः । यत्र स्थितस्य गवाश्वमहिषाऽऽदेराहननाऽऽदि न भवति, स आत्मोपघातवर्जितः । यत्र तु निर्द्धमनाऽऽद्यशुचिस्थानव्यतिरिक्ते प्रदेशे स्थितस्य लोकः प्रवचनस्यावर्णं न ब्रूयात्, स प्रवचनोपघातवर्जितः । यत्र पुनः पृथिव्यादिकायानां विराधना न भवति, स संयमोपघातवर्जितः । गमनं, गच्छता षट्कायानामुपमर्दनं कुर्वता न गन्तव्यम् । एवमागमनमपि, भिक्षां गृहीत्वा साधुसंमुखमागच्छता दायकेनोपयुक्तेनाऽऽगन्तव्यम् । व्यापारः कर्त्तनकण्डनपेषणाऽऽदिकः । तं च सम्यग् ज्ञापयन्ति-ईदृशे व्यापारे भिक्षा ग्रहीतुं कल्पते, ईदृशे तु नेति । पिण्डशुद्धेरुद्योकं लेशोद्देशं कथयन्ति-इत्थमाधाकर्माऽऽदयो दोषा उपजायन्ते; इत्थमेभिर्दोषैरदुष्टः पिण्डः साधूनां दीयमानः शुद्धो बहुफलश्च भवतीत्येवं पिण्डनिर्युक्तिलेशतो ज्ञापयन्तीति भावः । तथा यद्यपि यूयमिदं साधुधर्मरूपमग्रेऽपि जानीथ, तथाऽपि युष्माकं बहुव्याक्षेपाणामविस्मरणार्थं कथयाम इति ।

अपि च-

केसिंचि अभिग्गहिया, अणभिग्गहिएसणा य केसिंचि ।
मा हु अवन्नं काहिह, सव्वे वि हु ते जिणाणाए ॥७७४॥

केषाञ्चित्साधूनाम्, अभिगृहीता एषणा । यथा-जिनकल्पिकानाम् । केषाञ्चित्तु अनभिगृहीता । यथा-गच्छवासिनाम्, सप्तस्वपि एषणासु तेषां भक्तपानस्य ग्रहणात् । एवं चापरां भक्तपानग्रहणसामाचारीं दृष्ट्वा यूयं मा अवज्ञां करिष्यथ । कुतः?, इत्याह-सर्वेऽपि ते भगवन्तो जिनकल्पिकाः स्थविरकल्पिकाश्च, जिनाऽऽज्ञायां वर्तन्ते, स्वस्वकल्पस्थितिपरिपालनात् । अतो न केऽप्यवज्ञातुमर्हन्तीति भावः ।

किं च-

संविग्गभावियाणं, लुद्धगदिट्ठंतभावियाणं च ।
मुत्तूण खेत्तकाले, भावं च कहिंति सुद्धुंछं ॥७७५॥

येषां श्राद्धानां पुरत एषणादोषाः कथ्यन्ते, ते द्विधा-संविग्नभाविताः, लुब्धकदृष्टान्तभाविताश्च । संविग्नैरुद्यतविहारिभिर्भाविताः संविग्नभाविताः । ये तु पार्श्वस्थाऽऽदिभिर्लुब्धकदृष्टान्तेन भावितास्ते लुब्धकदृष्टान्तभाविताः । कथमिति चेत् ?। उच्यते-पार्श्वस्थाः श्राद्धानित्थं प्रज्ञापयन्ति । यथा-कस्यापि हरिणस्य पृष्ठतो लुब्धको धावति, तस्य हरिणस्य पलायनं श्रेयः; लुब्धकस्यापि तत्पृष्ठतोऽनुधावनं श्रेयः । एवं साधोरप्यनेषणीयग्रहणतः पलायितुमेव युज्यते; श्रावकस्यापि तेन तेनोपायेन साधोरेषणीयमनेषणीयं वा दातुमेव युज्यते इति । इत्थं द्विविधानामपि श्राद्धानां पुरतः शुद्धं द्वाचत्वारिंशद्दोषरहितं, यदुञ्छमिवोञ्छं-स्तोकस्तोकग्रहणात्, तदुञ्छम्, उत्सर्गपदमित्यर्थः । तत्कथयन्ति । किं सर्वदैव ?, नेत्याह-मुक्त्वा क्षेत्रकालौ, भावं चेति । क्षेत्रं कर्कशक्षेत्रमध्वानं वा, कालं दुर्भिक्षाऽऽदिकं, भावं ग्लानत्वाऽऽदिकं प्रतीत्य, ते श्राद्धाः किञ्चिदपवादमपि ग्राह्यन्ते ।

अपि च-इदमपि ते श्राद्धा ज्ञापनीयाः-

संथरणम्मि असुद्धं, दोण्ह वि गिण्हंतदिंतयाणऽहियं ।
आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥७७६॥

संस्तरणं नाम-प्राशुकमेषणीयं वा अशनाऽऽदि पर्याप्तं प्राप्यते, न च किमपि ग्लानत्वं विद्यते; तत्राशुद्धम्-अप्राशुकमनेषणीयं च, गृह्णतो ददतश्च, द्वयोरपि, अहितमपथ्यम्; गृह्णतः संयमबाधाविधायित्वात् । ददतस्तु भवान्तरे स्वल्पायुर्निबन्धनकर्मोपार्जनात् । तदेवाशुद्धम्, असंस्तरणे अनिर्वाहे, दीयमानं च हितं पथ्यं भवति । आह-कथं यदेवाकल्प्यं, तदेव च कल्प्यं भवितुमर्हतीति ?। उच्यते-आतुरो रोगी, तस्य दृष्टान्तेनेदं मन्तव्यम् । यथा हि-रोगिणः काञ्चनावस्थामाश्रित्य भक्तौषधाऽऽदिकमपथ्यं भवति, काञ्चित्पुनः समाश्रित्य तदेव पथ्यम्; एवमिहापि भावनीयम् । तदेवं भावितम्-" साहंति य पियधम्मा, एसणदोसे अभिग्गहविसेसे । " (७७० गाथा) इति ।

अथ यदुक्तम्-(एवं तु विहिग्गहणे त्ति) तत्र विधिग्रहणं भावयति—

संचइयमसंचइयं, नाऊण असंचयं तु गिण्हंति ।
संचइयं पुण कज्जे, निब्बंधे चेव संतरितं ॥७७७॥

प्रायोग्यद्रव्यं द्विधा-सञ्चयिकमसञ्चयिकं च । सञ्चयिकं-घृतगुडमोदकाऽऽदि । असञ्चयिकं तु-दुग्धदधिशालिसूपाऽऽदि । तत्र यदसञ्चयिकं, तत् स्थापनाकुलेषु प्रभूतं ज्ञात्वा गृह्णन्ति । सञ्चयिकं पुनर्ग्लानप्राघूर्णकाऽऽदौ महति कार्ये उत्पन्ने गृह्णन्ति । अथ श्राद्धानां महानिर्बन्धो भवति, ततोऽग्लाना अपि गृह्णन्ति, परं सान्तरितम्; न दिने दिने इति भावः । एष सञ्चयिकग्रहणस्यापवाद उक्तः ।

अथापवादस्यापवादमाह-

अहवण सद्धाविभवे, कालं भावं च बालवुड्ढाई ।
नाउं निरंतरगहणं, अछिन्नभावे य ठायंति ॥७७८॥

"अहवण त्ति" अखण्डमव्ययं प्रकारान्तरद्योतनार्थम् । श्रावकाणां श्रद्धां दानरुचिं तीव्रां परिज्ञाय, विभवं च विपुलतरं तदीयगृहेऽवगम्य, कालं दुर्भिक्षाऽऽदिकं, भावं च ग्लानत्वाऽऽदिकं, ज्ञात्वा, बालवृद्धाऽऽदयो वा आप्यायिता भवन्तीति ज्ञात्वा, निरन्तरग्रहणमपि कुर्वन्ति; सञ्चयिकमपि दिने दिने गृह्णन्तीति भावः । यावच्च दायकस्य दानभावो न व्यवच्छिद्यते, तावदच्छिन्ने भावे तिष्ठन्ति; दीयमानं प्रतिषेधयन्तीत्यर्थः । यथा तेषां भूयोऽपि श्रद्धा जायते ।

अथ स्थापनाकुले भक्तपानग्रहणे सामाचारीमभिधित्सुराह-

दव्वपमाणं गणणा, खारिय फोडिय तहेव अद्धा य ।
संविग्ग एगठाणे, अणेगसाहूसु पन्नरस ॥७७९॥

द्रव्यं शाल्यादि, तस्य प्रमाणं ज्ञातव्यम्-कियदत्र गृहे रसवत्यां शालिमुद्गाऽऽदि दिने दिने प्रविशति ?। गणना नाम-कियन्ति घृतपलान्यत्र प्रविशन्ति। यद्वा-कियन्ति मानुषाण्यत्र जेम (य) न्ति। क्षारो लवणं, तेन संस्कृतानि क्षारितानि-करीराऽऽदीनि व्यञ्जनानि, तानि कियन्त्यत्र पच्यन्त इति ?। (फोडिय त्ति) स्फोटितानि मरिचजीरकाऽऽदिकटुभाण्डधूपितानि शालनकानि। एतेषामपि तथैव प्रमाणं ज्ञातव्यम्। अद्धा कालः, स ज्ञातव्यः-किमत्र प्रहरे वेला, उत सार्द्धप्रहरे, आहोस्वित्प्रहरद्वये इति। एतद् द्रव्यप्रमाणाऽऽदि विज्ञाय संविग्नो मोक्षाभिलाषी। (एगट्ठाणे त्ति) एकः संघाटकः, तत्र प्रविशति। यदि पुनरनेके साधवः स्थापनाकुलेषु प्रविशन्ति, ततः पञ्चदशाऽऽधाकर्माऽऽदयोऽनिसृष्टान्ता उद्गमदोषा भवन्ति, अध्यवपूरकस्य मिश्रजातपक्षान्तर्भावात्। एष संग्रहगाथासमासार्थः।

अस्या एव भाष्यकृद् व्याख्यानमाह-

असणाऽऽदव्वमाणे, दमपरिमिए एगभत्तमुव्वरति।
सो एगदिणं कप्पइ, निच्चं तुऽज्झोयरो ऽहरा * ॥९८०॥

अशनमोदनमुद्गाऽऽदि, आदिग्रहणात्पानकखादिमस्वादिमपरिग्रहः। एतेषां द्रव्याणां परिमितानामपरिमितानां च मानं प्रमाणं ज्ञातव्यम्। यत्र परिमितमशनाऽऽदि द्रव्यं प्रविशति, तत्र दशानां मानुषाणां हेतोरुपस्क्रियमाणे, एकस्यापरस्य योग्यं भक्तं भक्तार्थमुद्धरति। स च भक्तार्थ एकस्य साधोः परिपूर्णोऽऽहारमात्ररूप एकं दिनं ग्रहीतुं कल्पते। इतरथा यदि द्वितीयाऽऽदिदिवसेषु गृह्णन्ति, तदा (निच्चं तु त्ति) स साधुभिः प्रतिदिवसं गृह्यमाणो भक्तार्थो नित्यजेमनमेव तैः आकर्णयेत, ततश्च तदर्थमध्यवपूरकः प्रक्षिप्येत। एवं तावत्परिमितमाश्रित्योक्तम्।

अथापरिमितमधिकृत्याऽऽह-

अपरिमियारद्धेण वि, दसएहमुव्वरइ एगभत्तट्ठो।
वंजणसमितिमपिट्ठे, वेसणमाईसु य तहेव ॥९८१॥

यत्र पुनरपरिमितं राध्यते, तत्र दशानां मानुषाणामथवाऽपि नवाद्याऽऽदिसङ्ख्याकानामपि हेतोः, राद्धे, एकस्य योग्यो भक्तार्थ उद्धरति। स च दिने दिने कल्पत इति। आह च चूर्णिकृत्-"अपरिमिए पुण भत्ते, दसण्हट्ठारेण वि एगस्स भत्तट्ठो दिणे दिणे कप्पइ चेव।" तथा व्यञ्जनानि तीमनवटिकाभर्जिकाऽऽदीनि। (समितिम त्ति) समिता कणिका, तया निष्पन्नाः समितिमाः-मण्डकाः, पूपलिका वा, पिष्टं मुण्डेरकाऽऽदि। सक्तुप्रभृति वा। (वेसणं) मरिचजीरकहिङ्गुप्रभृतिकं कटुभाण्डम्। आदिग्रहणाल्लवणगुडखण्डादिपरिग्रहः। एतेषामपि परिमाणं तथैव द्रष्टव्यं, यथा अशनाऽऽदीनाम्। एतावता द्रव्यप्रमाणं गणना क्षारितस्फोटितानीति गाथादलं भावितम्।

अथ " अद्धा य त्ति " पदं व्याचष्टे-

सतिकालद्धं नाउं, कुले कुले ताहि तत्थ पविसंति।
ओसक्कणाइ दोसा, अलंभे बालाइहाणी य ॥९८२॥

सत्कालाद्धा-भिक्षायाः संबन्धी यः, तत्र देशकालरूपोऽद्धा, तं ज्ञात्वा, कुले कुले, तस्मिन् देशे, तत्र काले, प्रविशन्ति। अथ देशकाले अतिक्रान्तेऽप्राप्ते वा प्रविशन्ति, ततोऽवष्वष्कणाऽऽदयो दोषाः। अथावष्वष्कणाऽऽदिकं तानि श्राद्धकाण्यशुद्धदानदोषभयाद्व्युत्पन्नमतीनि न कुर्युः, ततः प्रायोग्यद्रव्यस्यालाभे बालाऽऽदीनां हानिर्भवेदिति।

एगो व होज्ज गच्छो, दोन्नि व तिन्नि ठवणा असंविग्गे।
सोही गिलाणमाई, असईइ दवाइ एमेव ॥९८३॥

विवक्षितक्षेत्रे एको वा गच्छो भवेत्, द्वौ वा, त्रयो वा। तत्रैकं गच्छमाश्रित्य विधिरुक्तः। अथ द्व्यादीन् गच्छानधिकृत्य विधिरभिधीयते-(ठवणा असंविग्गे त्ति) येषु असंविग्नाः प्रविशन्ति, तेषां श्राद्धकुलानां स्थापना कर्त्तव्या। न तेषु प्रवेष्टव्यम्। अथ प्रविशन्ति, ततः पञ्चदशोद्गमदोषानापद्यन्ते। (सोहि त्ति) तद्दोषनिष्पन्ना शोधिः प्रायश्चित्तम्। यद्वा-"सोहि त्ति पदं गिलाणमाई" इत्युत्तरपदेन सह योज्यते। अतोऽयमर्थः-ग्लानप्राघूर्णकाऽऽदीनामर्थाय, असंविग्नभावितेष्वपि कुलेषु शोधिरेषणाशुद्धिः; तया शुद्धं भक्तं गृह्यते, न कश्चिद्दोषः। "(असई दवाइ एमेव त्ति)" अन्यत्रासति अविद्यमाने, द्रवाऽऽदिकमप्येवमेव-असंविग्नभावितकुलेषु ग्रहीतव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवरीषुराह-

संविग्गमणुन्नाते, अतिंति अहवा कुले विरंचिंति।
अण्णातुंछं च सहू, एमेव य संजईवग्गे ॥९८४॥

इह यैस्तत् क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं, तेषु पूर्वस्थितेषु ये अन्ये साधवः समायान्ति, ते साम्भोगिकाः, असाम्भोगिकाश्च। तत्र चासाम्भोगिकेषु संविग्नेषु विधिरुच्यते-संविग्नैर्वास्तव्यसाधुभिः, अनुज्ञाते पूर्वस्थापनाकुलेषु, 'प्रविशत, वयमज्ञातोञ्छं गवेषयिष्यामः,' इत्येवमनुज्ञायां प्रदत्तायामागन्तुकाः संविग्नाः स्थापनाकुलेषु (अतिंति त्ति) प्रविशन्ति। वास्तव्यास्तु स्थापनाकुलवर्जेषु गुरुबालवृद्धाऽऽदीनामात्मनश्च हेतोर्भक्तपानमुत्पादयन्ति। अथवा वास्तव्या असहिष्णवः, ततो यावन्तो गच्छाः, तावद्भिर्भागैः स्थापनाकुलानि विरचयन्ति-आर्याः! एतावत्सु कुलेषु भवद्भिः प्रवेष्टव्यम्, एतावत्सु पुनरस्माभिरिति। अथवा यद्यागन्तुकाः (सहू इति) सहिष्णवः समर्थशरीराः, ततोऽज्ञातोञ्छं गवेषयन्तः पर्यटन्ति। एवमेव च संयतीवर्गेऽपि द्रष्टव्यम्। ता अपि द्व्यादिगच्छसद्भावे एवंविधमेवं विधिं कुर्वन्तीत्यर्थः।

एवं तु अण्णसंभो-इआण संभोइआण ते चेव।
जाणित्ता निब्बंधं, वत्थव्वेणं स तु पमाणं ॥९८५॥

एवं, तुः पुनरर्थे, एवं पुनर्विधिरन्यसाम्भोगिकानामुक्तः ये तु साम्भोगिकाः परस्परमेकसामाचारीकाः, तेषामागन्तुकानामर्थाय त एव वास्तव्याः स्थापनाकुलेभ्यो भक्तपानमानीय प्रयच्छन्ति। अथ श्राद्धाः प्राघूर्णकभद्रका अतीव निर्बन्धं कुर्युः। यथा-प्राघूर्णकसंघाटकोऽप्यस्मद्गृहे प्रस्थापनीयः। ततो निर्बन्धं ज्ञात्वा, वास्तव्यसंघाटकेनाऽऽगन्तुकसंघाटकं गृहीत्वा तत्र गन्तव्यम्। यदि च-तत्र प्रचुरप्रायोग्यं प्राप्यते, तत आगन्तुकसंघाटकेन गवेषणा न कर्त्तव्या। यथा-किमित्येतावत्प्रचुरं दीयते?। किं तु, (स तु) स एव वास्तव्यसंघाटकः, तत्र प्रमाणं यावन्मात्रं ग्रहीतव्यम्, यद्वा कल्पनीयं, तदेतत्सर्वमपि स एव जानातीति भावः। एष एकस्यां वसतौ स्थितानां विधिरुक्तः। बृ० १ उ०। ओघ०।

* "सो एगदिणं कप्पतिऽणेकातिएं ओदरो इहरा।" इति प्राचीनपुस्तकस्थपाठः।

अथ पृथग्वसतिव्यवस्थितानामाह-

असइ वसहीएँ वीसुं, रायणिए वसहिभोयणा गम्मा * ।
असहू अपरिणया वा, ताहे वीसुं सहू वियरे ॥७७६॥

विस्तीर्णाया वसतेरसत्यभावे, विष्वक् पृथग्, अन्यस्यां वसतौ स्थितानाम्, आगन्तुको वास्तव्यो वा यो रत्नाधिक आचार्यः, तस्य वसतावागम्यावमरत्नाधिकेन भोजनं कर्तव्यम् । अथैकस्मिन् गच्छे, द्वयोर्वा गच्छयोरसहिष्णवो ग्लाना भवेयुः; अपरिणता वा शैक्षाः-परस्परमिलिताः सन्तोऽसंखडं कुर्युः, तदा (वीसुं ति) अपरिणतान् पृथक् पृथग् भोजयन्ति। (सहू वियरे त्ति) अकारप्रश्लेषादसहिष्णूनां प्रथमालिकां वितरन्ति प्रयच्छन्ति, ततोऽपरिणतान् वसतौ स्थापयित्वा कृतमालिकान् सहिष्णून् गृहीत्वा, सर्वेऽपि रत्नाधिकवसतौ गत्वा मण्डल्यां भुञ्जते।

अथ वोत्तरार्द्धमन्यथा व्याख्यायते-(असहू इति) यद्यवमरत्नाधिक आचार्यः स्वयमसहिष्णुर्न शक्नोति रत्नाधिकाऽऽचार्यसन्निधौ गन्तुं, न वा तावतीं वेलां प्रतिपालयितुं शक्तः, अपरिणता वा अगीतार्थास्तस्य शिष्याः, तेषां नास्ति कोऽपि सामाचार्या उपदेष्टा, आलोचनाया वा प्रतीच्छकः। ततो विष्वग्वसतौ द्वावप्याचार्यौ समुद्दिशतः (सहू वियरे त्ति) अथवा-यदि रत्नाधिकः सहिष्णुः, तत इतरस्यावमरत्नाधिकस्योपाश्रयं गत्वा समुद्दिशति। एवं तावद् द्वयोर्गच्छयोर्विधिरुक्तः।

अथ त्रयो गच्छा भवेयुः, ततः को विधिरिति ?, आह-

तिएहं एकेण समं, भत्तट्ठं अप्पणो अवहं तु ।
पच्छा इयरेण समं, आगमणे विरेगो सो चेव ॥७७७॥

यद्येक आचार्यो वास्तव्यो भवति, द्वौ चाऽऽगन्तुकौ, तत इत्थं त्रयाणामाचार्याणां सङ्गमे द्वयोरागन्तुकयोर्मध्याद् यो रत्नाधिकः, तस्य संबन्धी यो वैयावृत्त्यकरः, तेनैकेन समं वास्तव्याऽऽचार्यवैयावृत्त्यकरः पर्यटन् प्राघूर्णकाऽऽचार्यस्य हेतोर्भक्तार्थं परिपूर्णाऽऽहारमात्ररूपम्, आत्मनश्चाऽऽत्मीयाऽऽचार्यार्थमर्धाऽर्धमात्रं, श्राद्धकुलेभ्यो गृह्णाति। पश्चादितरेणाऽऽगन्तुकावमरत्नाधिकाऽऽचार्यसंबन्धिना वैयावृत्त्यकृता समं पर्यटन् तथैव तद्योग्यं भक्तार्थमात्मनश्चार्धमात्रं गृह्णाति। (आगमणे विरेगो सो चेव त्ति) यदि त्रिचतुःप्रभृतीनामाचार्याणामागमनं भवति, ततः स एव विरेको विभजनम्। किमुक्तं भवति ?-तदीयैरपि वैयावृत्त्यकरैः समं यथाक्रमं पर्यटता वास्तव्यसाधुना आत्मीयाऽऽचार्यार्थं तथा ऽर्धादिविभागैर्भक्तार्थं विभज्य भक्तं ग्रहीतव्यं, यथा सर्वान्तिमवैयावृत्त्यकरेण समं पर्यटत आत्मगुरूणां भक्तार्थं परिपूर्यतीति।

अथ "गिलाणमाई असति त्ति" पदं विवृणोति-

अतरंतस्स उ जोगा-सइइ इयरेहिँ भाविओवमिउं।
अन्नमहाणसुवक्खड, जं वा सन्नी सयं भुंजे ॥७७८॥

अतरन्तो ग्लानः, तस्य, उपलक्षणत्वाद्-आचार्यस्यापि, यद्योग्य प्रायोग्यं, तस्यासत्यलाभे, इतरे नाम असंविग्नाः, तैर्भावितेषु श्राद्धकुलेषु, प्रविश्य, यस्मिन्महानसे तेऽसंविग्ना अध्यवपूरकाऽऽदिदोषदुष्टां भिक्षां गृह्णते, तद्वर्जयित्वा, यदन्यस्मिन्महानसे केवलं गृहार्थमेवोपस्कृतं, ततो ग्लानाऽऽद्यर्थं गृह्यते। यद्वा भक्तं पृथगुपस्कृतं, सन्नी स गृहस्वामी श्रावकः, स्वयं भुङ्क्ते, ततो वा गृह्यते, अन्यदीयाद्वा कुलोऽपि गृहाद्यत्प्रदेशकाऽऽदिकमायातं तद् गृह्यते।

अथ 'दवाइ एमेव त्ति' पदं व्याख्यानयन्ति-

असतीए व दवस्स व, परिसित्तियकंजिगुलदवाईणि ।
अत्तट्ठियाइँ गिण्हइ, सव्वालम्भे विमिस्साई ॥७७९॥

यदि ग्लानस्य गच्छस्य वा योग्यं द्रवं पानकं संविग्नभावितेष्वपि कुलेषु (परिसित्तिय त्ति) येनोष्णोदकेन दधिभाजनानि संप्रक्षाल्यन्ते, तत् परिषिक्तपानकं काञ्जिकमारनालम्, गुडद्रवं नाम यस्यां कवल्लिकायां गुड उत्काल्यते, तस्यां यत्तप्ततप्तं वा पानीयं तद् गुडोपक्षिप्तं द्रवं गुडद्रवम्। आदिग्रहणात्त्रिफलापानकाऽऽदिपरिग्रहः। एतानि पानकानि यदि तैः श्राद्धैरात्मार्थिकानि प्रथममेवाऽऽत्मार्थं कृतानि, ग्लानाद्यर्थं गृह्णाति। (सव्वालम्भे त्ति) यदि सर्वथैव ग्लानस्य वा गच्छस्य वा योग्यमेषणीयं न लभ्यते, तदा (विमिस्साइ त्ति) विमिश्राणि असंविग्नानां श्रावकाणां चार्थायाचित्तीकृतानि, तान्यपि द्वितीयपदे गृह्यन्ते।

अथ "असईइ दवाइ" इत्यत्र योऽयमादिशब्दः, तस्य सफलतामुपदर्शयन्नाह-

पाणट्ठाणपविट्ठो, विसुद्धमाहारछंदिओ गिण्हे ।
अद्धाणाइअसंथरे, जइउं एमेव जदसुद्धं ॥७८०॥

पानकार्थं वा प्रविष्टो यदि विशुद्धेनैषणीयेनाऽऽहारेण गृहपतिना छन्द्यते निमन्त्र्यते, ततश्छन्दितः सन् तमपि गृह्णाति। तथा-(अद्धाणाइ त्ति) अध्वनिर्गतानां साधूनां हेतोः, आदिशब्दादवमौदर्याशिवाऽऽदिपु वा असंस्तरणे, असंविग्नभावितकुलेषु, एवमेव ग्लानोक्तविधिना शुद्धान्वेषणं, यतित्वा यत्नं कृत्वा, ततो यदशुद्धमनेषणीयं, तदप्यागमोक्तनीत्या गृह्णन्ति। उक्तं स्थविरकल्पिकानधिकृत्य विहारद्वारम्। बृ० १ उ०।

ठवणाणंतय-स्थापनानन्तक-न०। स्थापनानन्तकं यदक्षाद्यनन्तकमिति स्थाप्यते। तस्मिन्ननन्तकभेदे, स्था० १० ठा०। (इद च 'अणंतग' शब्दे प्रथमभागे २६० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

ठवणाणय-स्थापनानय-पुं०। स्थापनाप्राधान्यमिच्छति नये, स्थापनानय आह- स्थापनेत्याकारः। तथा च-"प्रमाणमिदमेवार्थस्याऽऽकारमयतां प्रति। नामाऽऽदि न विनाऽऽकारं, यतः केनापि वेद्यते" ॥१॥ तथाहि-नाम्नोऽर्थान्तरेऽपि वर्तयितुं शक्यत्वाद् न तदुल्लेखेऽप्याकारावगाहमन्तरेण नियतनीलाऽऽद्यर्थग्रहणमित्याकारग्रहण एव ग्रहात् सर्वस्य सिद्धमाकारमयत्वम्, ततो ज्ञानज्ञेयाभिधानाभिधेयाऽऽदिसकलमाकाराऽऽरोपितमेव संव्यवहारावतारि, तद्विकलस्य खपुष्पस्येवासत्त्वात्। उत्त० १ अ०।

आगारो च्चिय मइस-द्दवत्थुकिरियाफलाभिहाणाइं ।
आगारमयं सव्वं, जमणागारं तयं नत्थि ॥६४॥

आकार एव आकारमात्ररूपाण्येव, कानि?, इत्याह-मतिश्च शब्दश्चेत्यादिद्वन्द्वः। तत्र मतिस्तावज्ज्ञेयाऽऽकारग्रहणपरिणतत्वादाकारवती। तदनाकारवत्त्वे तु-"नीलस्येदं संवेदनं न पीताऽऽदेः," इति नैयत्यं न स्यात्, नियामकाभावात्। नीलाऽऽद्याकारो हि नियामकः, यदा च स नेष्यते, तदा 'नीलग्राहिणी मतिर्न पीताऽऽदिग्राहिणी" इति कथं व्यवस्थाप्येत?, विज्ञानाभा-

* गतुं, इति प्राचीनपुस्तके पाठः।

वात्, तस्मादाकारवत्येव मतिरभ्युपगन्तव्या । शब्दोऽपि पौद्गलिकत्वादाकारवानेव । घटाऽऽदिकं तु वस्त्वाकारवत्त्वेन प्रत्यक्षसिद्धमेव । क्रियाऽप्युत्क्षेपणावक्षेपणाऽऽदिका क्रियावतोऽनन्यत्वादाकारवत्येव । फलमपि कुम्भकाराऽऽदिक्रियासाध्यं घटाऽऽदिकं मृत्पिण्डाऽऽदिवस्तुपर्यायरूपत्वादाकारवदेव । अभिधानमपि शब्दः; स च पौद्गलिकत्वादाकारवानित्युक्तमेव । तस्माद् यदस्ति तत्सर्वमाकारमयमेव । यत्त्वनाकारं तन्नास्त्येव, वन्ध्यापुत्राऽऽदिरूपत्वात्तस्येति गाथाऽर्थः ॥ ६४ ॥

अथ प्रयोगद्वारेणानाकारं वस्तु निराचिकीर्षुराह–

न पराणुमयं वत्थुं, आगाराऽभावओ खपुप्फं व ।
उवलंभव्ववहारा–भावाओ नाणऽऽगारं च ॥ ६५ ॥

परस्याऽऽकारवद्वस्तुनिषेधकस्य, अनुमतमभिप्रेतं, सामर्थ्याद् यदनाकारवद् वस्तु, तन्नास्ति, आकाराभावात्, खपुष्पवत् । अपरमपि हेतुद्वयमाह–"उवलंभ" इत्यादि । (नाणगारमिति) नास्त्यनाकारं वस्तु, सर्वथैवानुपलभ्यमानत्वात्, तेनाणीयसोऽपि व्यवहारस्याभावाच्च इति पर्यन्तवर्ती, चकारोऽत्र योजनीयः, खपुष्पवादिति दृष्टान्तो हेतुद्वयेऽपि स एवेति गाथाऽर्थः । ॥ ६५ ॥ विशे० ।

ठवणापुरिस–स्थापनापुरुष–पुं० । पुरुषप्रतिमाऽऽदौ, स्था० ३ ठा० १ उ० । काष्ठाऽऽदिनिर्मिते जिनप्रतिमाऽऽदिके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

ठवणायरिय-स्थापनाऽऽचार्य-पुं० । अक्षवराटकाऽऽदिषु स्थापिते आचार्ये, (ध०) श्रावकस्य स्थापनाऽऽचार्यविचारः–ननु "गुरुविरहम्मि उ ठवणा, गुरूवएसोवदंसणत्थं च । जिणविरहम्मि व जिणबिं–बसेवणामंतणं सहलं ॥१॥" इत्यादिविशेषाऽऽवश्यकवचनप्रामाण्याद् यतिसामायिकप्रस्तावे भदन्तशब्दं व्याख्यानयता भाष्यकृता साधुमाश्रित्य स्थापनाऽऽचार्यस्थापनमुक्तं, न श्रावकमाश्रित्येति कुतस्तेषां स्थापनाऽधिकार इति चेत्? न । भदन्तशब्दं भणतां तेषां स्थापनाऽऽचार्यस्थापनं युक्तमेव । अन्यथा भदन्तशब्दपठनं व्यर्थमेव स्यात् । अथ च स्थापनाऽऽचार्यस्थापनमन्तरेणापि वन्दनाऽऽद्यनुष्ठानं विधीयते, तदा वन्दनकनिर्युक्तौ–"आयप्पमाणमित्तो, चउद्दिसिं होइ उग्गहो गुरुणो ।" इत्यक्षरैर्गुरोरवग्रहप्रमाणमुक्तम्, तत्कथं घटते? । न हि गुर्वभावे गुरुगतावग्रहप्रमाणं घटमानं स्यात्, प्रामाणाभावे तत्सीमाव्यवस्थावत् । ध० २ अधि० । (त्रयोदशाङ्गप्रतिलेखनाभिः स्थापनाऽऽचार्यस्य प्रतिलेखना 'पडिलेहणा' शब्दे वक्ष्यते)

ठवणावीर–स्थापनावीर–पुं० । वीरवर्द्धमानस्वामिस्थापनावत् सुभटस्य स्थापनायाम्, सू० प्र० २० पाहु० ।

ठवणासच्च–स्थापनासत्य–न० । स्थाप्यत इति स्थापना, यल्लेप्याऽऽदिकर्माऽर्हदादिविकल्पेन स्थाप्यते तद्विषये सत्यं स्थापनासत्यम् । यथा–अजिनोऽपि जिनोऽनाचार्योऽप्याचार्योऽयमिति । स्था० १० ठा० । जिनप्रतिमाऽऽदिषु जिनाऽऽदिव्यपदेशे, प्रश्न० २ संव० द्वार । स्थापना सत्या यथाविधमङ्काऽऽदिविन्यासं मुद्राविन्यासं चोपलभ्य प्रयुज्यते, यथा–एककं पुरतो बिन्दुद्वयसहितमुपलभ्य शतमिदमिति, बिन्दुत्रयसहितं सहस्रमिदमिति । तथाविधं मुद्राविन्यासमुपलभ्य मृत्तिकाऽऽदिषु माषोऽयं कार्षापणोऽयमिति । प्रज्ञा० ११ पद । ध० ।

ठवणिंद–स्थापनेन्द्र–पुं० । इन्द्राऽऽकारलक्षिते, स्था० ३ ठा० १ उ० । (व्याख्या चास्य 'इंद' शब्दे द्वितीयभागे ५३३ पृष्ठे गता)

ठविआ–स्त्री० । देशी–प्रतिमायाम्, दे० ना० ४ वर्ग ।

ठवित्ता–स्थापयित्वा–अव्य० । प्ररूप्येत्यर्थे, व्य० १ उ० ।

ठविय–स्थापित–त्रि० । संयतार्थं स्वस्थाने परस्थाने वा स्थापिते स्थापनादोषदुष्टे, व्य० ३ उ० । "ठवियं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलम ।" (६५गाथा) दश० ५ अ० १ उ० । स्थापितं द्विविधम्–चिरस्थापितम्, अचिरस्थापितं च । तत्र चिरस्थापिते मासलघु । बृ० १ उ० । ऊर्ध्वे, निकटे, हिक्कायां च । दे० ना० ४ वर्ग ।

ठवियगभोइ(ण्)–स्थापनकभोजिन्–त्रि० । स्थापनादोषदुष्टप्राभृतकभोजिनि, व्य १ उ० ।

ठविया–स्थापिता–स्त्री० । आरोपणाभेदे, (स्था०) यत्प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्य स्थापितं कृतं, न वाहयितुमारब्धमित्यर्थः । आचार्याऽऽदिवैयावृत्त्यकरणार्थम्, तद्धि वहन्न शक्नोति वैयावृत्त्यं कर्तुम्, वैयावृत्त्यसमाप्तौ तु तत्करिष्यतीति स्थापितोच्यत इति । स्था० ५ ठा० २ उ० । "मासाऽऽदी निक्खित्तं, जं सेसं दिज्जए तस्सु ।" नि० चू० १ उ० । यदि पुनर्यन्मासाऽऽदिकमापन्नं तद् वैयावृत्त्यमाचार्याऽऽदीनां करोतीति स्थापितं क्रियते, तस्मिश्च स्थापिते यदन्यत् शेषमुद्घातमनुद्घातं वाऽऽपद्यते, तत्सर्वमपि प्रमादनिवारणार्थमनुद्घातं दीयते सा 'हारुहडा' आरोपणा । व्य० १ उ० ।

ठा–स्था–धा० । गतिनिवृत्तौ, "स्थष्ठाथक्कचिट्ठनिरप्पाः" ॥ ८ । ४ । १६ ॥ इति तिष्ठतेष्ठाऽऽदेशः 'ठाइ' ठाअइ 'ठाणं' । प्रा० ४ पाद । "जाहे एया जिव्वइ ताहे णवं ठाहेति ।" नि० चू० १ उ० ।

ठाउं–स्थातुम्–अव्य० । 'ष्ठा' गतिनिवृत्तौ इत्यस्य तुमुन्प्रत्ययान्तस्य भवति । अवस्थायेत्यर्थे, आव० ५ अ० । "इच्छामि ठाउं काउस्सग्गं ।" आव० ५ अ० ।

ठाऊण–स्थित्वा–अव्य० । अवस्थायेत्यर्थे, पञ्चा० १८ विव० ।

ठाग–स्ताघ– अवकाशे, बृ० ३ उ० ।

ठाण–स्थान–न० । 'स्था' धात्वाऽऽदौ ल्युट् । "स्थष्ठाथक्कचिट्ठनिरप्पाः" ॥ ८ । ४ । १६ ॥ इति स्थाधातोष्ठाऽऽदेशः । प्रा० ४ पाद । अवस्थितिविशेषे, आव० ५ अ० । एकत्रैव (दश० ४ अ०) उपवेशने, दशा० ३ अ० । निषद्यायाम्, स्था० १० ठा० । निषदनस्थाने, त्वग्वर्तनस्थाने, भ० १४ श० ८ उ० । पादन्यासविशेषे, भ० ७ श० ९ उ० । अवस्थाने, प्रव० ११२ द्वार । आसने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । गमनादुपरम्य निवेशं कृत्वा क्वचित् प्रदेशेषु अवस्थाने, बृ० १ उ० । स्थितौ, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । बृ० । कुड्याऽऽदिषु स्थाने, नि० चू० १ उ० । माने, दे० ना० ४ वर्ग ।

जे भिक्खू अणंतरहियाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥ जे भिक्खू

ससरक्खाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥ जे भिक्खू ससणिद्धाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥ जे भिक्खू चित्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलुए कोलावासंसि वा दारुए जाव पइट्ठिए सअंडे सपाणे सबीए सहरिए सउत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कडयसंताणयंसि ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

ससणिद्धससरक्खसिलालेलुकोलावासा सअंडे सपाणे सबीए सउत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कडगसंकमणं, एते सुत्तपदा ।

इमं वक्खाणं । गाहा-

पुढवीमादी ठाणा, जत्तियमित्ता उ आहिया सुत्ते ।
तेसु ठाणादीणी, चेतेंताऽऽणादिणो दोसो ॥ २ ॥

ठाणं काउस्सग्गं, आदिसद्दातो णिसीयणतुयट्टणा, चेयणं करणं, अणंतरहिया णाम सचित्ता, तम्मि सट्ठाणे पच्छित्तं चउलहु ।

अहवा । गाहा-

अंतररहिताऽणंतर, ईसिं उल्ला उ होति ससणिद्धा ।
अंतरणविभिन्ना फा-सुगाय पुढवी तु ससरक्खा ॥ ३ ॥

अंतरं ववधाणं, तेण रहिता, निरंतरमित्यर्थः । अहवा-पुढवी अणंतभावेण रहिता असंखातजीविका, पज्जत्तं पडुच्च संखेया वि । अथवा-जीए पुढवीए अंतो जीवेहिं रहिया ण अंतरहिया अणंतरहिता, सर्वा सचेतना, न मिश्रा इत्यर्थः । ईसिं उल्ला ससणिद्धा, सेयं पुढवी अचित्ता, सचित्तेण आरण्णएण विभिन्ना ससरक्खा ।

गाहा-

चित्तं जीवो भणितो, तेणं सह संगया तु होति सचित्ता ।
पासाणसिला रुंदा, लेलू पुण मट्टिया लेट्टू ॥ ४ ॥

सचेयणा रुंदा महासिला, सचित्तो वा लेलू लेट्टुओ ।

गाहा-

कोला उ घुणा तेसिं, आवासो तप्पतिट्ठियं दारुं ।
अंडा तु मुइंगादी, पाणग्गहणे तसा चउरो ॥ ५ ॥
बितियं तु अप्परूढं, तदेव रूढं तु होति हरिताऽऽदी ।
कीडगनगरुत्तिंगो, सअंकुर णिरंकुरो पणगो ॥ ६ ॥

कोला घुणा, तेसिं आवासदारुए वा, जीवपतिट्ठिए सपाणे दारुए, पुढवीए वा । एवं सबीए दारुए, पुढवीए वा, अणंकुरियं बीयं, तं चेव अंकुरुब्भिन्नं हरितं, कीडयणगरगो-उत्तिंगो, पगगब्भा वा; पणगो पंचवण्णो-संकुरो अणंकुरो वा ससावेहो, अंडगा मुइंगाऽऽदिगा, दगमट्टिया-चिक्खल्लो, सचित्तो, मीसो वा ।

गाहा-

मक्कडसंताणो पुण, लूतापुडतो उ अफुडितो जाव ।
संकमणे तस्सेव उ, पिपीलिकादीणि अ तेसिं ॥ ७ ॥

कोलियपुडगं अफुडियं संताणगं, तस्सेव पुडयस्स गमणकाले संकमणं भवति । अहवा-संताणगं संकमणं पिपीलियमक्कोडगादीणं भवति । ठाणं उद्धाणं, सेज्जा आसणं, निसीहिका सज्झायकरणं । एएसिं चेयणं करणं, आवसंताणं, पच्छित्तं, आणादिया य दोसा, आय संजमे य दोसा जहासंभवं जाणियव्वं।

पुढवादिएगिंदियाण संघट्टणादिकरणे वेयणोवमा इमा ।

गाहा-

थेरुवमा अक्कंते, मत्ते सुत्ते व जारिसं दुक्खं ।
एमेव य अव्वत्ता, वियणा एगिंदियाणं तु ॥ ८ ॥

जहा थेरस्स जराए जिण्णस्स वरिससतायुस्स तरुणेण बलवता जमलपाणिणा सव्वायामेण अक्कंतस्स जारिसा वेयणा, तारिसा पुढविकाईयाण अधिकतरा ठाणादिट्ठियक्कंतेहिं वेयणा भवति । वेयणा य जीवस्स भवति, णो अजीवस्स, ते य जीवलिंगा एगिंदिएसु अव्वत्ता जहा मत्ते सुत्ते वा अव्वत्तं सुहदुक्खलिंगं, एवं एगिंदिएसु वि अव्वत्ता वेयणा दट्ठव्वा, लिंगं च ।

किं च-एगिंदियाण उवयोगपसाहगा इमे दिट्ठंता । गाहा-

जोयणे वा खित्तिए वा, जहा णेहो तणुट्ठितो ।
पावल्ले नेहकज्जेसु, कारेतुं जे अपच्चलो ॥ ९ ॥

जहा तक्के ति जोयणे सुहुमो णेहगुणो अत्थि जा, ता तेणाहारिएण सरीरोवचयो भवति, ण य अव्वत्तणओ लक्खिज्जति । तहा पुढवीए अत्थि नेहो सुहुमो, सो वि सुहुमत्तणेणं ण दिस्सति, जओ पुढवीए तणुट्ठितो अल्पः, ततो तेण प्राबल्ये नेहकज्जे हत्थादिसरीरमक्खणं कर्तुमशक्यम् ।

अस्स दिट्ठंतस्स उवसंघारो । गाहा-

कोहातिया परीणामा, तहा एगिंदिआण तु ।
पावल्ले तेसु कज्जेसु, कारेतुं जे अपच्चलं ॥ १० ॥

एगिंदियाणं कोहादिया परिणामा, सागारिया य उवयोगा, तहा सातादियाओ वेयणातो, एते सव्वे भावा सुहुमत्तणओ अणतिसयस्स अणुवलक्खा । जहा सण्णी पज्जत्ता कोहुदया उक्कोसंति, तिवलिं भिगुडिं वा करेति, तेसु ते अप्पीतिकज्जेसु तहा प्राबल्येन एगिंदिया अपच्चला, असमर्था इत्यर्थः । जम्हा पुढवीकाया एवंविधवेदणमणुभवंति, तम्हा तेसु ठाणादियं ण कायव्वं ।

अववादतो वा करेज्ज । गाहा-

वोसट्ठकायअसिवो, गेलण्णऽद्धाणसंभमगतो वा ।
वसहीवाघाएण य, असती जयणा य जा जत्थ ॥ ११ ॥

वोसट्ठकायो पाओवगतो, सो परप्पओगा अणुकंपपडिणीयत्तणेण वा अणंतरहियाठाणेसु ठविज्जेज्जा, असिवगहिया वसहिमलभंता रुक्खादिहेट्ठेसु ठायंति, वेज्जट्ठा, ओसहिट्ठा वा गिलाणो जया णिज्जति, तदा वसहिअभावे अथंडिले ठाएज्ज, अद्धाणं पडिवण्णा वा ठायंति, अगणिमादिसंभमे वा वसहिणिग्गता ठायंति, वसहिवाघाए वा ठायंति, सव्वहा वा वसहिअभावे ठायंति, अणंतरहितादिएसु ठिताण जा जत्थ जयणा संभवति पडिलेहणपमज्जणादिणा वा, सा सव्वा वि कायव्वा ॥

सुत्तं-

जे भिक्खू थूणंसि वा गिहेलुयंसि वा उसुकालंसि वा कामजलंसि वा ठाणं वा सिज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

गाहा-

थूणाऽऽदी ठाणा खलु, जत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते ।
तेसिं ठाणादीणी, चेतेंताऽऽणादिणो दोसा ॥१२॥

थूणा वेली, गिहेलुको उंबरो, उसुकालं उक्खलं, कामजलं ण्हाणपीढं ।

गाहा-

थूणा उ होति वियली, गिहेलुओ उंबरो उ नायव्वो ।
उक्खलं उसुकालं, सिणाणपीढं तु कामजलं ॥ १३ ॥

गतार्थो । णवरं-सिणाण मज्जणा वो वि एगट्ठा ।

बितियपदं । गाहा-

वोसिट्ठकाएँ असिवे, गेलण्णऽद्धाणसंभमेगतरे ।
वसहीवाघाएण य, असती जयणा य जा जणिया ॥१४॥

पूर्ववत् ।

जे भिक्खू कुलियंसि वा भित्तिंसि वा लेलुयंसि वा अंतरिक्खजायंसि वा ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

कुलियं कुड्डं, तं जनो णिम्मयतराति, इयरा मह करजएण जित्ती, मट्टणं वा तत्थ जित्ती, सिला लेट्ठू पुव्वुत्ता पढमसुत्ते णियमा सचित्ता इह भणिज्जा । शेषं पूर्ववत् ।

गाहा-

कुलियादी ठाणा खलु, जत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते ।
तेसु ठाणादीणी, चेतेंता आणमादीणि ॥ १५ ॥

पूर्ववत् ।

वोसिट्ठकाएँ असिवे, गेलण्णऽद्धाणसंभमेगतरे ।
वसहीवाघाएण य, असती जयणा य जा जणिया ।१६।

पूर्ववत् ।

सुत्तं-

जे भिक्खू खंधंसि वा फलिहंसि वा अकुडंसि वा गिहमालंसि वा दुब्बंधे दुन्निक्खित्ते चलचले ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएइ चेयंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

(जे भिक्खू खंधंसि वा इत्यादि) खंधं पागारो, पेढं वा, फलिहो अग्गला, अकुडो मंचो । सो य मंडवो । गिहोवरि मालो दुभूमिगादीणि । जहा गवक्खोवसोभितो पासादो सव्वोवरि वाता जं हम्मितलं भूमितलं तरं वा हम्मतलं । एस सुत्तत्थो ।

इमा णिज्जुत्ती । खंधादिगाहा-

खंधो खलु पायारो, पेढं फलिहा तु अग्गला होति ।
अहवा खंधो उ घरो, मंचो अकुडो गिहमालो ॥१७॥

अहवा खंधो घरो, गृहे इट्टकदारुसंघातो, स्कन्ध इत्यर्थः । दुबंधे त्ति । बंधो दुविधो-रज्जुबंधो, कट्ठादिसु वेहबंधो वा । तेणं सुबद्धं दुबद्धं, दुणिक्खित्तं ति-णिहितं, स्थापितमित्यर्थः । तेण सुणिक्खित्तं, कंसि त्ति दुण्णिक्खित्तं ति आलावगो, तं अपडिलेहियं दुप्पडिलेहियं वा, तं निप्पकंपं अणिप्पकंपं, अनिष्प्रकम्पित्वादेव चलाचलं चलनाचलनस्वभावं, तादृशे स्थानाऽऽदि न कर्त्तव्यम्-

रज्जुव्वेहो बंधो, णिहयाणिहतं तु होति निक्खवणं ।
अनिरिक्खअपडिलेहा, चलाचलमणिप्पकंपं तु ॥ १८ ॥

पवडंतो कायवहे, आउवघाओ य जाणजेदादी ।
तस्सेव पुणो करणे, अहिगरणं अण्णकरणे वा ॥ १९ ॥

गतार्थो । णवरं (णिहताणिहय त्ति) णिक्खयमणिक्खयं वा । तारिसे सदोसे ठाणाई करेंतस्स इमे दोसा—

ततो पडंतो छण्हं कायाणं विराहणं करेज्ज, अप्पणो वा से हत्थपादादिविराहणा हवेज्जा । भाणादिं वा उवकरणजातं विराधेज्जा । तस्स य थूणादियस्स पाडियस्स रज्जुबद्धस्स वा ओडितस्स वा वि संघातियस्स पुणो करणे अण्णस्स वा अहिणवस्स करणे, अधिकरणं भवति । पडिसिद्धकरणे आणादिया दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं ।

वोसिट्ठकाएँ असिवे, गेलण्णऽद्धाण संजमेगतरे ।
वसहीवाघाएण य, असती जयणा य जा जत्थ ॥२०॥

पूर्ववत् । नि० चू० १३ उ० । स्वरूपप्राप्तौ, सम्म० ३ काण्ड । ऊर्ध्वस्थाने, व्य० ४ उ० । कायोत्सर्गे, बृ० १ उ० । नि० चू० । ओघ० । पं० भा० । आचा० । स्था० । आव० । सूत्र० ।

पञ्च स्थानानि मुक्त्वा निर्ग्रन्थैर्निर्ग्रन्थीभिश्चैकत्र कायोत्सर्गो न कार्यः—

पंचहिं ठाणेहिं निग्गंथा य निग्गंथीओ य एगयओ ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएमाणा णाइक्कमंति । तं जहा—अत्थेगइया निग्गंथा य निग्गंथीओ य एगं महं आगामियं छिन्नावायं दीहमद्धमडविमणुपविट्ठा, तत्थेगयाओ ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएमाणा णाइक्कमंति १। अत्थेगइया णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य गामंसि वा नगरंसि वा० जाव रायहाणिं वा वासं उवगया एगइया जत्थ उवस्सयं लभंति, एगइया णो लभंति, तत्थेगयाओ ठाणं वा० जाव णाइक्कमंति २। अत्थेगइया य णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य णागकुमारावासंसि वा सुवन्नकुमारावासंसि वा वासं उवगया, तत्थेगयाओ ठाणं वा० जाव णाइक्कमंति ३ । आमोसगा दीसंति इच्छंति णिग्गंथीओ चीवरपडियाए पडिगाहेत्तए, तत्थेगयाओ ठाणं वा० जाव णाइक्कमंति ४। जुवाणा दीसंति ते इच्छंति णिग्गंथीओ मेहुणवडियाए पडिगाहेत्तए, तत्थेगयाओ ठाणं वा० जाव णाइक्कमंति ५। इच्चेहिं पंचहिं ठाणेहिं० जाव णाइक्कमंति ।

" पंचहिं " इत्यादि सुगमम् । नवरम् (एगयाओ त्ति) एकत्र (ठाणं ति) कायोत्सर्गः, उपवेशनं वा । (सेज्ज त्ति) शयनम् । (निसीहिय त्ति) स्वाध्यायस्थानं, चेतयन्तः कुर्वन्तो नातिक्रामन्ति-न लङ्घयन्ति, आज्ञामिति गम्यते । (अत्थि त्ति) सन्ति भवन्ति, (एगइय त्ति) एके केचन, एकामद्वितीयां, महतीं विपुलामग्रामिकामकामिकां वा अनभिलषणीयां छिन्नाम, आपाताः सार्थगोकुलाऽऽदीनां यस्यां सा तथा, ताम् । दीर्घोऽध्वा मार्गो यस्यां सा तथा, तां दीर्घाध्वाम् । मकारस्त्वागमिकः । दीर्घोऽद्धा वा कालो निस्तरणे यस्यां सा दीर्घाद्धा, तामटवीं कान्तारम्, अनुप्रविष्टा दुर्भिक्षाऽऽदिकारणवशात् ; तत्राटव्याम् (एगयओ त्ति) एकतः, एकत्रेत्यर्थः । स्थानाऽऽदि कुर्वन्त नाम-

मोक्षसामाचारीं नातिक्रामन्ति १। तथा राजधानी-यत्र राजाऽभिषिच्यते, वासमुपगताः, निवासं प्राप्ता इत्यर्थः। (एगइया य त्ति) एकका एकतरा, निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थिका वा, चः पुनरर्थः। अत्र ग्रामाऽऽदौ उपाश्रयं गृहपतिगृहाऽऽदिकमिति ।२। तथा (अत्थेगे त्ति) अथ गृहपतिगृहाऽऽदिकमुपाश्रयमप्राप्ता। (एगइया) एकेकेन नागकुमाराऽऽवासाऽऽदौ वासमुपगताः। अथवा (अत्थि त्ति) इह संबध्यते, अस्ति सन्ति भवन्ति, निवासमुपगताः, तस्य च नागकुमाराऽऽवासाऽऽदेरतिशून्यत्वात्। अथवा बहुजनाऽऽश्रयत्वाद् नायकत्वाच्च निर्ग्रन्थिकारक्षार्थमेकत्र स्थानाऽऽदि कुर्वाणा नातिक्रामन्तीति ३। तथा आमुष्णन्तीत्यामोषकाश्चौराः, दृश्यन्ते च इच्छन्ति निर्ग्रन्थिकाः (चीवरवडियाए त्ति) चीवरप्रतिज्ञया वस्त्राणि गृहीष्याम इत्यभिप्रायेण, प्रतिग्रहीतुं यत्रेति गम्यते। तत्र निर्ग्रन्थास्तद्रक्षणार्थमेकतः स्थानादिकमिति ४। तथा मैथुनप्रतिज्ञया-मैथुनार्थमिति ५। इदमपवादसूत्रम्। उत्सर्गश्चापवादसहितो भाष्यगाथाभिरवसेयः।

ताश्चेमाः--

" जयणपयाण चउण्हं, अप्पतरज्जुए उ संजए संते।
जे निक्खू विहरेज्जा, अह वा वि करिज्ज सज्झायं " ॥ १ ॥
(एकः साधुरेका स्त्रीत्यादिभङ्गकानामित्यर्थः)।
" असणादि वा हारी, उच्चारादिं च आयरिज्जाहिं।
निट्ठुरमसाधुजुत्तं, अणंतरकहं च जो कहए ॥ २ ॥ "
(स्त्रीभिः सहेति)
" सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं तहा दुविहं।
पावइ जम्हा तेणं, एए उ पए वि वज्जेज्जा ॥ ३ ॥ "
" बीयपयमणप्पज्झे गेलन्नुवसग्गरोहगद्धाणे।
संजमभयचासासु य, जांतियमाईण णिक्खमणे ॥ ४ ॥ " त्ति।

(अपवादोऽनात्मवश इत्यर्थः) स्था० ५ ठा० २ उ०। परमाण्वादीनां स्थितिपरिणामे, विशे०। स्थीयते अनेनेति स्थानम्। कायोत्सर्गपर्यङ्कबन्धपद्माऽऽसनाऽऽदिसकलशास्त्रप्रसिद्धे आसनविशेषे, षो० १२ विव०। प्रकारे, स्था० १० ठा०। भेदे, आ० चू० ४ अ०। स०। स्था०। पदे, स्था० १० ठा०। उत्कर्षापकर्षरूपे (उत्त० ३४ अ०) गुणविशेषे, स्था० ५ ठा० ३ उ०। आकारे, ओघ०। पर्याये, आव० ४ अ०। कारणे, स्था० २ ठा० ४ उ०। सू०। उपादानकारणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। आचा०। निमित्ते, स० २६ सम०। तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानम्। सामान्ये, भ० १ श० १ उ०। आचा०। दश०। वस्तुनि, स्था० ९ ठा०। ज्योतिःस्थाने, यक्षस्थाने च। नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ०। आश्रये, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। स्था०। आव०। आवासे, उत्त० ५ अ०।

स्थानस्य पञ्चदशधा निक्षेपमाह-

नामं ठवणा दविए, खेत्तऽद्धा उड्ढ उवरई वसही।
संजम पग्गह जोहे, अचल गणण संधणा भावे ॥८३॥

तत्र द्रव्यस्थानं-ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्याणां सचित्ताचित्तमिश्राणां स्थानमाश्रयः। क्षेत्रस्थानं-भरताऽऽदि, ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकाऽऽदि चेति; यत्र क्षेत्रे स्थानं व्याख्यायते। अद्धा-कालस्तत्स्थानं-द्विधा, कायस्थिति-भवस्थितिभेदात्। तत्र कायस्थितिः पृथिव्यप्तेजोवायूनामसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः। वनस्पतेस्तु ता एवानन्ताः, विकलेन्द्रियाणामसंख्येया वर्षसहस्राः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुजानां सप्ताष्टौ वा, भवस्थितिस्तु वायूदकवनस्पतिपृथिवीनां त्रिसप्तदशद्वाविंशतिवर्षसहस्राऽऽत्मिका, तेजसस्त्रीण्यहोरात्राणि, द्वीन्द्रियाणां शङ्खाऽऽदीनां द्वादश वर्षाणि, त्रीन्द्रियाणां पिपीलिकानामेकोनपञ्चाशदहोरात्राणि, चतुरिन्द्रियाणां भ्रमराऽऽदीनां षण्मासाः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां त्रीणि पल्योपमानि, देवानां नारकाऽऽदीनां च कायस्थितेरभावाद् भवस्थितिः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति। इयमुत्कृष्टा। जघन्या तु सर्वेषामन्तर्मुहूर्ताऽऽत्मिका, नवरं देवनारकयोर्दशवर्षसहस्राणीति। अथवा अद्धास्थानं-समयावलिकामुहूर्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगपल्योपमसागरोपमोत्सर्पिण्यवसर्पिणीपुद्गलपरावर्तातीतानागतसर्वाद्धारूपमिति। ऊर्ध्वस्थानं तु-कायोत्सर्गाऽऽदिकम्, अस्योपलक्षणत्वान्निषद्याऽऽद्यपि गृह्यते, उपरतिर्विरतिः, तत्स्थानं-देशं सर्वं च श्रावकसाधुविषयम्। वसतिस्थानं-यो यत्र ग्रामगृहाऽऽदौ वसति। संयमस्थानं-संयमः सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराये यथाख्यातरूपः, तस्य पञ्चविधस्याप्यसंख्येयानि संयमस्थानानि। किं तदसंख्यम् ? इति चेत्, अतीन्द्रियत्वाद्-अर्थस्य न साक्षान्निर्देष्टुं शक्यते। आगमानुसारोपमया तूच्यते-इहैकसमयत्वेन सूक्ष्माग्निजीवा असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणा उत्पद्यन्ते, तेभ्योऽग्निकायत्वेन परिणता असंख्येयगुणाः, ततोऽप्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणाः, ततोऽप्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणानि संयमस्थानान्यप्येतावन्त्येवेति सामान्यतः। विशेषतस्तूच्यते-सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धीनां प्रत्येकमसंख्येयलोकाऽऽकाशतुल्यानि संयमस्थानानि सूक्ष्मसंपरायस्यान्तर्मौहूर्तिकत्वादन्तर्मुहूर्तसमयतुल्यान्यसंख्येयानि संयमस्थानानि, यथाख्यातस्य त्वेकमेवाजघन्योत्कृष्टं संयमस्थानम्। अथवा-संयमश्रेण्यन्तर्गतानि संयमस्थानानि ग्राह्याणि; सा चानेन क्रमेण भवति। तद्यथा-अनन्तचारित्रपर्यायनिष्पादितमेकं संयमस्थानमसंख्येयसंयमस्थाननिर्वर्तितं कण्डकं, तैश्चासंख्येयैर्जनितं षट्स्थानकं, तदसंख्येयाऽऽत्मिका श्रेणीति। प्रग्रहस्थानं तु-प्रकर्षेण गृह्यते वाचोऽस्येति प्रग्रहः, ग्राह्यवाक्यो नायक इत्यर्थः। स च लौकिको, लोकोत्तरश्च। तस्य स्थानं प्रग्रहस्थानम्। लौकिकं तावत्पञ्चविधम्। तद्यथा-राजा, युवराजो, महत्तरः, अमात्यः, कुमारश्चेति। लोकोत्तरमपि पञ्चविधम्। तद्यथा-आचार्योपाध्यायप्रवर्तिस्थविरगणावच्छेदिभेदात्। योधस्थानं पञ्चधा। तद्यथा---आलीढप्रत्यालीढवैशाखमण्डलसमपादभेदात्। अचलस्थानं तु-चतुर्धा, सादिसपर्यवसानभेदात्। तद्यथा-सादिसपर्यवसानं परमाणवादेर्द्रव्यस्यैकप्रदेशाऽऽद्यवस्थानं जघन्यत एकं समयम्, उत्कृष्टतश्चासंख्येयकालमिति। साद्यपर्यवसानानां सिद्धानां भविष्यदद्धारूपम्; अनादिसपर्यवसानमतीताद्धारूपस्य शैलेश्यवस्थाऽन्त्यसमये कार्मणतैजसशरीरसंयोगानां चेति। अनाद्यपर्यवसानं धर्माधर्माऽऽकाशानामिति। गणनास्थानम्-एकाऽऽदिकं शीर्षप्रहेलिकापर्यन्तम्। सन्धानस्थानं द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च। पुनरप्येकैकं द्विधा, छिन्नाच्छिन्नभेदात्। तत्र द्रव्यच्छिन्नसन्धानं कञ्चुकाऽऽदेः। अच्छिन्नसन्धानं तु पक्ष्मोत्पद्यमानतन्त्वादेरिति। भावस्थानमपि---प्रशस्ताप्रशस्तभेदाद् द्वेधा। तत्र प्रशस्ताच्छिन्नभावसन्धानमुपशमक्षपकश्रेण्यामारोहतो अन्तो-

रपूर्वसंयमस्थानान्यच्छिन्नान्येव भवन्ति ; श्रेणिव्यतिरेकेण वा प्रवर्द्धमानकण्डकस्येति । छिन्नप्रशस्तभावसन्धानं पुनरौपशमिकाऽऽदिजावादौदयिकाऽऽदिजावान्तरगतस्य पुनरपि शुभपरिणामवतस्तत्रैव गमनम् । अप्रशस्ताच्छिन्नभावसन्धानमुपशमश्रेण्यां प्रतिपततोऽविशुध्यमानपरिणामस्यानन्तानुबन्धिमिथ्यात्वोदयं यावत्, उपशमश्रेणिमन्तरेणापि कषायवशाबन्धाध्यवसायस्थानान्युत्तरोत्तराण्यवगाहमानस्य वा इति । अप्रशस्तच्छिन्नसन्धानं पुनरौदयिकभावादौपशमिकाऽऽदिभावान्तरसंक्रान्तौ सत्यां पुनस्तत्रैव गमनमिति । इह द्वारद्वयं यौगपद्येन व्याख्यातम् । तत्र सन्धानस्थानं द्रव्यविषयम्, इतरत्तु जावविषयमिति । उक्तं स्थानम् ।

अथवा भावस्थानं कषायाणां यत् स्थानमिह परि-
गृह्यते, तेषामेव अतूद्रव्यत्वेनाधिकृतत्वात्तेषां
किं स्थानं, यदाश्रित्य च ते भवन्ति ?। शब्दा-
ऽऽदिविषयानाश्रित्य च ते भवन्तीति

तद्दर्शयति-

पंचसु कामगुणेसुं, सद्दफरिसरसरूवगंधेसु ।
जस्स कसाया वट्टं-ति मूलठाणं तु संसारं ॥ ७४ ॥

तत्रेच्छाऽनङ्गरूपः कामः, तस्य गुणाः,यानाश्रित्यासौ चेतसो विकारमादर्शयति । ते च शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः, तेषु पञ्चस्वपि व्यस्तेषु समस्तेषु वा विषयभूतेषु,यस्य जन्तोर्विषयसुखपिपासोन्मुखस्यापरमार्थदर्शिनः संसाराभिष्वङ्गिणो रागद्वेषतिमिरोपप्लुतमनोज्ञेतरविषयोपलब्धौ सत्यां कषाया वर्तन्ते प्रादुर्भवन्ति,तन्मूलश्च संसारपादपः प्रादुर्भवतीत्यतः शब्दाऽऽदिविषयोद्भूतकषायाः,संसारे संसारविषयं,मूलस्थानमेवेति । एतदुक्तं भवतिरागाऽऽद्युपहतचेताः परमार्थमजानानोऽतत्स्वभावेऽपि तत्स्वभावाऽऽरोपणेनान्धादप्यन्धतमः कामी मोदते । तत आह-

" दृश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्यन्धः पुरोऽवस्थितं,
रागान्धस्तु यदस्ति तत्परिहरन् यन्नास्ति तत्पश्यति ।
कुन्देन्दीवरपूर्णचन्द्रकलशश्रीमल्लतापल्लवा-
मारोप्याशुचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते ॥ १ ॥ "

द्वेषं वा कर्कशशब्दाऽऽदौ व्रजतीति । ततश्च मनोज्ञेतरशब्दाऽऽदिविषयाः कषायाणां मूलस्थानं, ते च संसारस्येति गाथातात्पर्यार्थः । आचा० नि० १ श्रु० २ अ० १ उ० । उत्त० । नि० चू० । सूत्र० ।

कहि णं भंते ! बादरपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पएणत्ता ?। गोयमा ! सहाणेणं अट्ठसु पुढवीसु । तं जहा--रयणप्पभाए, सक्करप्पभाए, वालुयप्पभाए, पंकप्पभाए, धूमप्पभाए, तमप्पभाए, तमतमप्पभाए, अट्ठे सत्तमाए ईसिप्पब्भाराए, अहोलोए पायालेसु जवणेसु जवणपत्थडेसु निरएसु निरयावलियासु निरयपत्थडेसु, उड्ढलोए कप्पेसु विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थडेसु, तिरियलोए टंकेसु कूडेसु सेलेसु सिहरिसु पब्भारेसु विजयेसु वक्खारेसु वासेसु वासहरपव्वएसु वा वेलासु वेइयासु दारेसु तोरणेसु दीवेसु समुद्देसु। एत्थ णं बादरपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पएणत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सहाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे ।

'कहि णं भंते !' इत्यादि । (कहि त्ति) कस्मिन्, ' णं ' शब्दो वाक्यालङ्कारे । जदन्तेति परमगुर्वामन्त्रणम् । बादरपृथिवीकायिकानां पर्याप्तानां स्थानानि स्वस्थानाऽऽदीनि प्रज्ञप्तानि प्ररूपितानि ?। एवं गौतमस्वामिना प्रश्ने कृते भगवान् वर्द्धमानस्वाम्याह-गौतम ! "सट्ठाणेणं" इत्यादि । ननु गौतमोऽपि जगवानुपचितकुशलमूलो गणधरः तीर्थकरभाषितमातृकापदश्रवणमात्रावाप्तप्रकृष्टश्रुतज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमश्चतुर्दशपूर्ववित् सर्वाक्षरसन्निपाती विवक्षितार्थप्रतिज्ञानसमन्वित एव, ततः किमर्थं पृच्छति ?, न हि चतुर्दशपूर्वविदः सर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसमन्वितस्य किञ्चित् प्रज्ञापनीयमविदितमस्ति । यत उक्तम्-" संखाईए वि भवे, साहइ जं वा परो उ पुच्छेज्जा । नयणं अणाइसंसी, वियाणई एस छउमत्थो " ॥ १ ॥ सत्यमेतत् । केवलं जानन्नेव गौतमस्वामी भगवान् अन्यत्र विनेयेभ्यः प्रतिपाद्य तत्संप्रत्ययनिमित्तं विवक्षितार्थं पृच्छति ! यदि वा-प्रायः सर्वत्र गणधरप्रश्नतीर्थकरनिर्वचनरूपं सूत्रम्,अतो भगवानार्यश्यामोऽपीत्थमेव सूत्रं रचयति । अथवा सम्भवति तस्यापि गणभृतो गौतमस्वामिनोऽनाभोगः,छद्मस्थत्वात्। उक्तं च-"न हि नामानाभोगः,छद्मस्थस्येह कस्यचिन्नास्ति। ज्ञानाऽऽवरणीयं हि, ज्ञानाऽऽवरणप्रकृतिकर्म ॥१॥" ततो जातसंशयः सन् पृच्छतीति न कश्चिद्दोषः। 'गोयमा!' इति लोकप्रथितमहाविशिष्टगोत्राभिधायकोपमाऽऽमन्त्रणध्वनिः। हे गौतम ! गौतमगोत्रेति भावार्थः । (सट्ठाणेणं इति) स्वस्थानं यत्राऽऽसते बादरपृथिवीकायिकाः पर्याप्ताः,आसनाश्च वर्णाऽऽदियिजागनाऽऽदेष्टुं शक्यन्ते तत्स्वस्थानमिति भावः। स्वस्थानग्रहणमुपपातसमुद्घातस्थाननिवृत्त्यर्थम्,तेन स्वस्थानेन,स्वस्थानमङ्गीकृत्येति भावः। अष्टासु पृथिवीषु, सर्वत्र बादरपृथिवीकायिकानां पर्याप्तानां स्थानानीति योगः। ता एवाष्टौ पृथिवीर्नामग्राहमाह-" तं जहा " इत्यादि । तद्यथा-रत्नप्रभायां यावदष्टम्यामीषत्प्राग्भारायाम्, तथाऽधोलोके-पातालेषु पातालकलशेषु वलयामुखप्रभृतिषु, भवनेषु भवनपतिनिकायाऽऽवासरूपेषु भवनभूमिकारूपेषु । इह भवनग्रहणेन भवनानामेव केवलानां ग्रहणम्; भवनप्रस्तटग्रहणेन तु भवनानामपान्तरालस्यापि; तथा नरकेषु प्रकीर्णकरूपेषु नरकाऽऽवासेषु, नरकाऽऽवलिकासु आवलिकाव्यवस्थितेषु नरकाऽऽवासेषु, नरकप्रस्तटेषु नरकभूमिरूपेषु, अत्रापि नरकनरकाऽऽवलिकाग्रहणेन केवला एव नरकाऽऽवासाः परिगृह्यन्ते, नरकप्रस्तटग्रहणेन तु नरकापान्तरालमपि । ऊर्ध्वलोके-कल्पेषु सौधर्मिकाऽऽदिकल्पेषु, अनेन द्वादश देवलोकपरिग्रहः । विमानेषु ग्रैवेयकसम्बन्धिषु प्रकीर्णकरूपेषु, विमानाऽऽवलिकासु आवलिकाप्रविष्टेषु ग्रैवेयकाऽऽदिविमानेषु, विमानप्रस्तटेषु विमानभूमिकारूपेषु; अत्रापि प्रस्तटग्रहणं विमानान्तरालभाविनामपि यथासंभवभाविनां बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकानां स्थानपरिग्रहार्थं; तथापि तिर्यग्लोके-टङ्केषु छिन्नटङ्केषु, कूटेषु सिद्धाऽऽयतनकूटप्रभृतिषु, शैलेषु शिखरहीनपर्वतेषु, शिखरिषु शिखरयुक्तेषु पर्वतेषु, प्राग्भारेषु ईषत्कुब्जेषु, विजयेषु कच्छाऽऽदिषु, वक्षस्कारेषु विद्युत्प्रभाऽऽदिषु पर्वतेषु, वर्षेषु भरताऽऽदिषु, वर्षधरेषु हिमवदादिपर्वतेषु, वेलासु समुद्राऽऽदिपानीयरमणभूमिषु, वेदिकासु जम्बूद्वीपजगत्यादिसंबन्धिनीषु, द्वारेषु विजयाऽऽदिषु, तोर-

षेषु ग्रामाऽऽदिसंनिवेशेषु, किं बहुना ?, सामस्त्येन सर्वेषु द्वीपेषु समुद्रेषु । "एत्थ णं" इत्यादि । अत्र एतेषु स्थानेषु बादरपृथिवीकायिकानां पर्याप्तानां स्थानानि प्रज्ञप्तानि, मया, अन्यैरपि तीर्थकृद्भिः । " उववाएणं " इत्यादि । उपपातो बादरपृथिवीकायिकानां पर्याप्तानां यदनन्तरमुक्तं तत्प्राप्त्याभिमुख्यमिति भावः, तेनोपपातमङ्गीकृत्येति भावः । लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्यासङ्ख्येयभागे । अत्रैके व्याचक्षते-ऋजुसूत्रनयो विचित्रः, ततो यदा परिस्थूरऋजुसूत्रनयदर्शनेन बादरपृथिवीकायिकाः पर्याप्ताश्चिन्त्यन्ते, तदा ये स्वस्थानप्राप्ता आहाराऽऽदिपर्याप्तिपरिसमाप्त्या विशिष्टविपाकतो बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकाऽऽयुर्वेदयन्ते,त एव ग्रहीतव्याः,नापान्तरालगतावपि,तदानीं विपाकाऽऽयुर्वेदनासंभवात् । स्वस्थानं च तेषां रत्नप्रभाऽऽदिकं समुदितमपि लोकस्यासङ्ख्येयभागे वर्तते । तत उपपातेनापि लोकस्यासङ्ख्येयभागगता वेदितव्याः । अन्ये त्वभिदधति-पर्याप्ता हि नाम-बादरपृथिवीकायिकाः सर्वस्तोकाः, ततस्तेऽपान्तरालगतावपि परिगृह्यमाणा लोकस्यासङ्ख्येयभाग एवेति न कश्चिद्दोषः । तथा च-समुद्घातेनापि लोकस्यासङ्ख्येयभाग एव वक्ष्यन्ते । अन्यथा समुद्घातावस्थायामपि स्वस्थानातिरेकेण क्षेत्रान्तरवर्तित्वसंभवादसङ्ख्येयभागवर्तिता नोपपद्यत इति । तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्ति, विशिष्टश्रुतविदो वा । तथा-(समुग्घाएणं लोगस्स असंखेज्जइ भागे इति) समुद्घातेन समुद्घातमधिकृत्य,लोकस्यासङ्ख्येयभागे । इयमत्र भावना-यदा बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकाः सोपक्रमायुषा, निरुपक्रमायुषा वा त्रिभागाऽऽद्यवशेषायुषः परभविकमायुर्बद्धा मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहन्यन्ते,तदा ते विक्षिप्ताऽऽत्मप्रदेशदण्डा अपि लोकस्यासङ्ख्येयतम एव भागे वर्तन्ते, स्तोकत्वात् । बादरपृथिवीकायिकपर्याप्तायुश्चाद्याप्यसंवेदयन्तीति पर्याप्तबादरपृथिवीकायिका अपि लभ्यन्ते । इह पूर्वं पृथिव्यादिषु स्वस्थानमात्रमुक्तम् । इदानीं स्वस्थानेनापि कियति लोकस्य भागे वर्त्तन्ते इति निरूपयति-(सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइ भागे इति) स्वस्थानं रत्नप्रभाऽऽदि । तच समुदितमपि लोकस्यासंख्येयभागवर्त्ति । तथाहि-रत्नप्रभा अशीतियोजनसहस्राधिकलक्षप्रमाणपिण्डभावा, एवं शेषा अपि पृथिव्यः स्वस्वघनभावेन वक्तव्याः । पातालकलशा अपि योजनलक्षावगाहाः,नरकाऽऽवासास्त्रिसहस्रयोजनोच्छ्रयाः, विमानान्यपि द्वात्रिंशद्योजनशतबहुलानि; ततः सर्वेषामपि परिमितभावात् समुदितानामप्यसंख्येयभागवर्त्तितेति ॥

कहि णं भंते ! बादरपुढविकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! जत्थेव बादरपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता, तत्थेव बादरपुढविकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे ॥

बादरापर्याप्तपृथिवीकायिकसूत्रे-(उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए इति) इहापर्याप्ता बादरपृथिवीकायिका अपान्तरालगतावपि स्वस्थानेऽपि चापर्याप्तबादरपृथिवीकायिकाऽऽयुर्विशिष्टविपाकतो वेदयन्ते, तथा देवनैरयिकवर्जेभ्यः शेषसर्वकायेभ्यश्चोपपद्यन्ते, उद्वृत्ता अपि च देवनैरयिकवर्जेषु शेषेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु गच्छन्ति । ततोऽपान्तरालगतावपि वर्त्तमाना अमी गृह्यन्ते इति । प्रभूताश्च स्वभावतोऽपीत्युपपातेन समुद्घातेन च सर्वलोके वर्त्तन्ते । अन्ये तु अभिदधति-स्वभावत एवामी बहव इति,उपपातेन समुद्घातेन च सर्वलोकव्यापिनः, तत्रोपपातः केषाञ्चिद्वक्रगत्या, तत्र ऋजुगतिः सुप्रतीता । वक्रस्थापना चेयम्-अत्र यदैव प्रथमं वक्रमेके संहरन्ति, तदैवापरे तद्वक्रदेशमापूरयन्ति, एवं द्वितीयवक्रदेशसंहरणेऽपि, तत्रोत्पत्तावपि प्रवाहतो निरन्तरमापूरणं भावनीयम् । (सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइभागे इति) यथा पर्याप्तानां भावितं, तथा अपर्याप्तानामपि भावनीयम्, तन्निश्रयैस्तेषामुत्पादभावात् ।

कहि णं भंते ! सुहुमपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाण य ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सुहुमपुढविकाइया जे पज्जत्तगा, जे य अपज्जत्तगा, ते सव्वे एगविहा अविसेसा अनाणत्ता सव्वलोए परियावण्णगा पण्णत्ता समणाउसो ! । प्रज्ञा० २ पद ।

कहि णं भंते ! अणंतरोववण्णगबायरपुढविकाइयाणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सट्ठाणेणं अट्ठसु पुढवीसु । तं जहा-रयणप्पभा जहा सट्ठाणपदे० जाव दीवसमुद्देसु । एत्थ णं अणंतरोववण्णगाणं बादरपुढविकाइयाणं ठाणा पण्णत्ता । उववातेणं सव्वलोए,समुग्घाएणं सव्वलोए,सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइभागे । (भ०) सट्ठाणेणं सव्वेसिं जहा ठाणपदे, तेसिं पज्जत्तगाणं बायराणं उववायसमुग्घायसट्ठाणाणि जहा तेसिं चेव अपज्जत्तगाणं बादराणं,सुहुमाणं सव्वेसिं जहा पुढवीकाइयाणं भणिया, तहेव भाणियव्वा० जाव वणस्सइकाइय त्ति । भ० ३४ श० १ उ० ।

कहि णं भंते ! बादरआउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु घणोदधिसु सत्तसु घणोदधिवलएसु, अहोलोए पायालेसु भवणेसु भवणपत्थडेसु,उड्ढलोए कप्पेसु विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थडेसु, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु सरेसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु णिज्झरेसु चिल्ललेसु, पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु जलजूभिआसु । एत्थ णं बादरआउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे० । कहि णं भंते ! बायरआउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! जत्थेव बादरआउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा, तत्थेव बादरआउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! सुहुमआउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सुहुमआउकाइया जे य पज्जत्तगा, जे य अपज्जत्तगा, ते सव्वे एगविहा अविसेसा

अनाणत्ता सव्वलोए परियावन्नगा पन्नत्ता समणाउसो ! । कहि णं भंते ! बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता । ? गोयमा ! सट्ठाणेणं अंतोमणुस्सखेत्ते अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु निव्वाघाए पन्नरससु कम्मभूमीसु वाघायं पडुच्च पंचसु महाविदेहेसु । एत्थ णं बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! बादरतेउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता ? । गोयमा ! जत्थेव बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा, तत्थेव बादरतेउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता । उववाएणं लोयस्स दोसु उड्ढकवाडेसु तिरियलोयतट्टे य, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! सुहुमतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाण य ठाणा पन्नत्ता ? । गोयमा ! सुहुमतेउकाइयाणं जे पज्जत्तगा अपज्जत्तगा य, ते सव्वे एगविहा अविसेसा अनाणत्ता सव्वलोए परियावन्नगा पन्नत्ता समणाउसो ! । कहि णं भंते ! बादरवाउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता ? । गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु घणवाएसु, सत्तसु घणवायवलएसु, सत्तसु तणुवाएसु सत्तसु तणुवायवलएसु, अहोलोए पायालेसु भवणेसु भवणपत्थडेसु भवणच्छिद्देसु भवणनिक्खुडेसु निरएसु निरयावलियासु निरयपत्थडेसु निरयच्छिद्देसु निरयनिक्खुडेसु, उड्ढलोए कप्पेसु विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थडेसु विमाणच्छिद्देसु विमाणनिक्खुडेसु, तिरियलोए सु पाईणपडीणदाहिणउदीणेसु सव्वेसु चेव लोगागासच्छिद्देसु लोगनिक्खुडेसु य । एत्थ णं बादरवाउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु । कहि णं भंते ! बादरवाउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता ? । गोयमा ! जत्थेव बादरवाउकाइयाणं पज्जत्तगाणं, तत्थेव बादरवाउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता । उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु । कहि णं भंते ! सुहुमवाउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता ? । गोयमा ! सुहुमवाउकाइयाणं जे पज्जत्ता अपज्जत्ता य, ते सव्वे एगविहा अविसेसा अनाणत्ता सव्वलोयपरियावन्नगा पन्नत्ता समणाउसो ! । कहि णं भंते ! बादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता ? । गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु घणोदहीसु सत्तसु घणोदहिवलएसु, अहोलोए पायालेसु भवणेसु भवणपत्थडेसु, उड्ढलोए कप्पेसु विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थडेसु, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु निज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु । एत्थ णं बादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता । उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! बादरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता ? । गोयमा ! जत्थेव बादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा, तत्थेव बादरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता । उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! सुहुमवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाण य ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सुहुमवणस्सइकाइया जे पज्जत्तगा जे अपज्जत्तगा य, ते सव्वे एगविहा अविसेसा अनाणत्ता सव्वलोयपरियावण्णगा पण्णत्ता समणाउसो ! । कहि णं भंते ! बेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! उड्ढलोए तदेकदेसभागे, अहोलोए तदेकदेसभागे, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु नदीसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु उज्झरेसु निज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु । एत्थ णं बेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! तेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! उड्ढलोए तदेकदेसभाए, अहोलोए तदेकदेसभाए, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु निज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु । एत्थ णं तेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! चउरिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता ? । गोयमा ! उड्ढलोए तदेगदेसभाए, अहोलोए तदेगदेसभागे, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु निज्झरेसु उज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पि-

णेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु । एत्थ णं चउरिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। कहि णं भंते ! पंचिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! उड्ढलोए तदेकदेसभागे, अहोलोए तदेकदेसभागे, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु णिज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु । एत्थ णं पंचिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! नेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! नेरइया परिवसंति ?। गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु पुढवीसु । तं जहा–रयणप्पभाए सक्करप्पभाए वालुयप्पभाए पंकप्पभाए धूमप्पभाए तमप्पभाए तमतमप्पभाए । एत्थ णं नेरइयाणं चउरासिं निरयावाससयसहस्साइं भवंतीति मक्खायं। ते णं णरगा अंतो वट्टा,बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेदवसापूयरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊयगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा असुभा नरएसु वेयणाओ। एत्थ णं नेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। एत्थ णं बहवे नेरइया परिवसंति। काला कालाभासा गंभीरलोमहरिसा,भीमा,उत्तासणगा,परमकण्हा वण्णेणं पण्णत्ता। ते णं तत्थ णिच्चं भीया णिच्चं तत्था णिच्चं तासिया णिच्चं उव्विग्गा णिच्चं परममसुभसंबद्धनरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । कहि णं भंते ! रयणप्पभापुढविनेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? ; कहि णं भंते ! रयणप्पभापुढविनेरइया परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्समोगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसहस्से। एत्थ णं रयणप्पभापुढविनेरइयाणं तीसं निरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं। ते णं नरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेदवसापूयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊयगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा असुभा नरगेसु वेदणाओ। एत्थ णं रयणप्पभापुढविनेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे,समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे रयणप्पभापुढविनेरइया परिवसंति । काला, कालाभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा,उत्तासणगा,परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो ! । ते णं णिच्चं भीया णिच्चं तत्था णिच्चं तासिया णिच्चं उव्विग्गा णिच्चं परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । कहि णं भंते ! सक्करप्पभापुढविनेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?। कहि णं भंते ! सक्करप्पभापुढविणेरइया परिवसंति ?। गोयमा ! सक्करप्पभापुढवीए बत्तीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए, उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे तीसुत्तरजोयणसयसहस्से । एत्थ णं सक्करप्पभापुढविणेरइयाणं पणवीसं णिरयावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । ते णं नरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया णिच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरणक्खत्तजोइसपहा मेयवसापूयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊयगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा, असुभा नरगेसु वेयणाओ। एत्थ णं सक्करप्पभापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे सक्करप्पभापुढविणेरइया परिवसंति। काला, कालाभासा, गंभीरलोमहरिसा,भीमा, उत्तासणगा, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो !। ते णं निच्चं भीता निच्चं तत्था निच्चं तासिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। कहि णं भंते! वालुयप्पभापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! वालुयप्पभापुढवीए अट्ठावीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं उग्गाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे छव्वीसुत्तरजोयणसयसहस्से। एत्थ णं वालुयप्पभापुढविणेरइयाणं पण्णरस निरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं । ते णं नरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरणक्खत्तजोइसपहा मेयवसापू–

पूयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊअगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा, असुभा णरएसु वेयणा । एत्थ णं वालुयप्पभापुढवीणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे वालुयप्पभापुढवीणेरइया परिवसंति । काला, कालाभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो ! । ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभमसंबद्धं णरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । कहि णं भंते ! पंकप्पभापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! पंकप्पभापुढवीए वीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठारसुत्तरे जोयणसयसहस्से । एत्थ णं पंकप्पभापुढविनेरइयाणं दस निरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं । ते णं णरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेयवसापूयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊअगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा, असुभा नरगेसु वेयणाओ । एत्थ णं पंकप्पभापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे पंकप्पभापुढविणेरइया परिवसंति । काला, कालोभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो ! । ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभमसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । कहि णं भंते ! धूमप्पभापुढविनेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! धूमप्पभापुढवीए अट्ठारसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए, उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे सोलसुत्तरे जोयणसयसहस्से । एत्थ णं धूमप्पभापुढविणेरइयाणं तिण्णि निरयावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । ते णं नरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेयवसापूयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊअगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा असुभा नरगेसु वेयणाओ । एत्थ णं धूमप्पभापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे धूमप्पभापुढविणेरइया परिवसंति । काला, कालाभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो ! । ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ।

कहि णं भंते ! तमप्पभापुढविनेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तमापुढवीए सोलसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे चोद्दसुत्तरे जोयणसहस्से । एत्थ णं तमप्पभापुढविणेरइयाणं एगे पंचूणे नरगावाससयसहस्से हवंतीति मक्खायं । ते णं नरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेदवसापूयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा असुभा नरगेसु वेयणाओ । एत्थ णं तमापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे तमप्पभापुढविणेरइया परिवसंति । काला, कालाभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो ! । ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । कहि णं भंते ! तमतमापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । गोयमा ! तमतमापुढवीए अट्ठुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि अद्धतेवण्णजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता, हेट्ठा वि अद्धतेवण्णजोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे तिसु जोयणसहस्सेसु । एत्थ णं तमतमापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं पंचदिसिं पंच अणुत्तरा महइमहालगा महानिरया पण्णत्ता । तं जहा-काले, महाकाले, रोरुए, महारोरुए, अपइट्ठाणे । ते णं नरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया, निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेयपूयवसारुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा

कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा असुभा नरगेसु वेअणाओ। एत्थ णं तमतमापुढविनेरइयाणं ठाणा पत्नत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभाए, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभाए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभाए। तत्थ णं बहवे तमतमापुढविनेरइया परिवसंति। काला, कालोभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणया, परमकिण्हा वन्नेणं पन्नत्ता समणाउसो!। ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति।

"आसीयं बत्तीसं, अट्ठावीसं च होइ वीसं च।
अट्ठारस सोलसगं, अट्ठुत्तरमेव हेट्ठिमया॥ १॥
अट्ठुत्तर बत्तीसं, छव्वीसं चेव सयसहस्सं तु।
अट्ठारस सोलसगं, चोद्दसमहियं तु छट्ठीए॥ २॥
अद्धतिवन्न सहस्सा, उवरिमहो वज्जिऊण तो भणियं।
मज्झे उ तिसु सहस्से-सु होंति नरगा तमतमाए॥ ३॥
तीसा य पन्नवीसा, पन्नरस दसेव सयसहस्साइं।
तिन्नि य पंचूणेगं, पंचेव अणुत्तरा नरगा॥ ४॥"

कहि णं भंते! पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता?। गोयमा! उड्ढलोए तदेक्कदेसभाए, अहोलोए तदेकदेसभाए, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु निज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु। एत्थ णं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता। उववाएणं लोगस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे।

कहि णं भंते! मणुस्साणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता?। गोयमा! अंतोमणुस्सखित्ते पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पन्नाए अंतरदीवेसु। एत्थ णं मणुस्साणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे।

कहि णं भंते! भवणवासीणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता?, कहि णं भवणवासी देवा परिवसंति?। गोयमा! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहुत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं भवणवासीणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं सत्त भवणकोडीओ बावत्तरिं च भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा बाहिं वट्टा, अंतो समचउरंसा, अहे पुक्खरकन्नियासंठाणसंठिया उक्किन्नंतरविउलगंभीरखायफलिहा पागारट्टालयकवाडतोरणपडिदुवारदेसभागा जंतसयग्घिमुसलमुसंढिपरिवारिया अउज्झा सया जया सया अजेया सदा गुत्ता अडयालकोट्ठरइया अडयालकयवणमाला खेमा सिवा किंकरामरदंडोवरक्खिया लाउल्लोइयमहिया गोसीससरसरत्तचंदनदद्दरदिन्नपंचंगुलितला उवचियचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवन्नसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिया कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवरगंधगंधिया गंधवट्टीभूया अच्छरगणसंघसंविकिन्ना दिव्वतुडियसद्दसंपनादिता सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा सस्सिरिया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। एत्थ णं भवणवासीणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता। उववाएणं लोगस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे भवणवासी देवा परिवसंति।

तं जहा-

"असुरा नागसुवन्ना, विज्जू अग्गी य दीव उदही य।
दिसि पवणथणियणामा, दसहा एए भवणवासी॥ १॥"

चूडामणिमउडरयणभूसणा फणिगरुलवइरपुन्नकलससंकिउप्फेसा सीहमगरमयंकअस्सवरवद्धमाणनिज्जुत्तचित्तचिंधगता सुरूवा महिड्ढिया महज्जुतिया महायसा महाबला महाणुभावा महासोक्खा हारविराइयवत्था कडगतुडियथंभियभुया अंगदकुंडलमट्ठगंडतलकन्नपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं वन्नेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुत्तीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेस्साए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं भवणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं तायत्तीसाणं साणं साणं लोगपालाणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाह-

स्सीणं अन्नेसिं च बहूणं भवणवासीणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा पालेमाणा महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजेमाणा विहरंति ।

कहि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! असुरकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से एत्थ णं असुरकुमाराणं देवाणं चोवट्ठिं भवणावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं । ते णं भवणा बाहिं वट्टा, अंतो चउरंसा, अहे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिया उक्किन्नंतरविउलगंभीरखायफलिहा पागारट्टालयकवाडतोरणपडिदुवारदेसभागा जंतसयग्घिमुसलमुसंढिपरिवारिया अउज्झा सदा जया सदा गुत्ता अडयालकोट्ठगरइया अडयालकयवणमाला खेमा सिवा किंकरामरदंडोवरक्खिया लाउल्लोइयमहिया गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितला उवचियचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिया कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कडज्झंतधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवरगंधगंधिया गंधवट्टिभूया अच्छरगणसंघसंविकिण्णा दिव्वतुडियसद्दसंपणदिया सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा सस्सिरिया सउज्जोया पासाइया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा । एत्थ णं असुरकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे असुरकुमारा देवा परिवसंति । काला, लोहियक्खा, बिंबोट्ठा, धवलपुप्फदंता, असियकेसा, वामेयकुंडलधरा, अद्दचंदणाणुलित्तगत्ता ईसीसिलिंधपुप्फपगासाइं असंकिलिट्ठाइं सुहुमाइं वत्थाइं पवरपरिहिया, वयं च पढमं समइक्कंता, बिइयं च असंपत्ता, भद्दे जोव्वणे वट्टमाणा तलभंगयतुडियपवरभूसणनिम्मलमणिरयणमंडियभुया दसमुद्दामंडियग्गहत्था चूडामणिविचित्तचिंधगता सुरूवा महिड्ढिया महज्जुइया महायसा महब्बला महाणुभागा महासोक्खा हारविराइयवच्छा कडयतुडियथंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगंडतलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा । ते णं तत्थ साणं साणं भवणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं तायत्तीसाणं साणं साणं लोगपालाणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं भवणवासीणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा पालेमाणा महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति । चमरबलिणो इत्थ दुवे असुरकुमारिंदा असुरकुमाररायाणो परिवसंति । काला, महानीलसरिसा, नीलगुलियगवलअयसिकुसुमप्पगासा, वियसियसयवत्तनिम्मलईसीसियरत्ततंबनयणा गरुलाययउज्जुतुंगनासा उवचियसिलप्पवालबिंबफलसन्निहाहरोट्ठा पंडुरससिसगलविमलनिम्मलदहिघणसंखगोखीरकुंददगरयमुणालियाधवलदंतसेढी हुयवहणिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहा अंजणघणकसिणरुयगरमणिज्जणिद्धकेसा वामेयकुंडलधरा अद्दचंदणाणुलित्तगत्ता ईसीसिलिंधपुप्फप्पगासाइं असंकिलिट्ठाइं सुहुमाइं वत्थाइं पवरपरिहिया, वयं च पढमं समइक्कंता, बिइयं च असंपत्ता, भद्दे जोव्वणे वट्टमाणा तलभंगयतुडियपवरभूसणनिम्मलमणिरयणमंडियभुया दसमुद्दामंडियग्गहत्था चूडामणिविचित्तचिंधगता सुरूवा महिड्ढिया महज्जुइया महायसा महब्बला महाणुभागा महासोक्खा हारविराइयवच्छा कडयतुडियथंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगंडतलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा । ते णं तत्थ साणं साणं भवणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं तायत्तीसाणं साणं साणं लोगपालाणं साणं साणं

अग्गमहिसीणं साणं साणं परिसाण साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साण आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं भवणवासीणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजेमाणा विहरंति ।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं असुरकुमारदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! दाहिणिल्ला णं असुरकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहुत्तरिजोयणसयसहस्से । एत्थ णं दाहिणिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाणं देवीण य चोत्तीसं भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । ते णं भवणा बाहिं वट्टा, अंतो चउरंसा, सो चेव वण्णओ० जाव पडिरूवा । एत्थ णं दाहिणिल्लाणं असुरकुमारदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे दाहिणिल्ला असुरकुमारदेवा देवीओ परिवसंति । काला, लोहियक्खा तहेव० जाव भुंजेमाणा विहरंति । एवं सव्वत्थ भाणियव्वं भवणवासीणं ।

चमरे इत्थ असुरकुमारिंदे असुरकुमारराया परिवसइ । काले महानीलसरिसे० जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ चउत्तीसाए भवणावाससयसहस्साणं चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं पंचण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं चउण्हं च चउसट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं दाहिणिल्लाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं० जाव विहरंति ।

कहि णं भंते ! उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! उत्तरिल्ला असुरकुमारा देवा परिवसंति ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहुत्तरिजोयणसयसहस्से । एत्थ णं उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाणं देवीण य तीसं भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । ते णं भवणा बाहिं वट्टा, अंतो चउरंसा, सेसं जहा दाहिणिल्लाणं० जाव विहरंति । बली इत्थ वइरोयणिंदे वइरोयणराया परिवसइ, काले महानीलसरिसे० जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ तीसाए भवणावाससयसहस्साणं सट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं पंचण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं चउण्हं सट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं० जाव कुव्वमाणे विहरंति ।

कहि णं भंते ! नागकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! नागकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए, उवरि एगं जोयणसहस्सं वज्जिऊण, मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसहस्से । एत्थ णं नागकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं चुलसीइभवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । ते णं भवणा बाहिं वट्टा, अंतो चउरंसा० जाव पडिरूवा । तत्थ णं नागकुमाराणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे नागकुमारा देवा परिवसंति महिड्डिया महज्जुइया सेसं जहा ओहियाणं० जाव विहरंति । धरणभूयाणंदा एत्थ दुवे नागकुमाररायाणो परिवसंति महिड्डिया, सेसं जहा ओहियाणं० जाव विहरंति । कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! दाहिणिल्ला णं नागकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए, उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसहस्से । एत्थ णं दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं चोयालीसं भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । ते णं भवणा बाहिं वट्टा० जाव पडिरूवा । एत्थ णं दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता, तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे । एत्थ णं बहवे दाहिणिल्ला णं नागकुमारा देवा परिवसंति महिड्डिया० जाव विहरंति । धरणे एत्थ नागकुमारिंदे नागकुमारराया परिवसंति महिड्डीए० जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ चोयालीसाए भवणावाससयसहस्साणं छण्हं सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं छण्हं अग्गमहिसीणं

सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं चउवीसाए आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं० जाव कुव्वमाणे विहरंति।

कहि णं भंते ! उत्तरिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! उत्तरिल्ला नागकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसहस्से। एत्थ णं उत्तरिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं चत्तालीसं भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा बाहिं वट्टा, सेसं जहा दाहिणिल्लाणं० जाव विहरंति। भूयाणंदे इत्थ नागकुमारिंदे नागकुमारराया परिवसइ महिड्डिए० जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ चत्तालीसाए भवणावाससयसहस्साणं आहेवच्चं० जाव विहरइ।

कहि णं भंते ! सुवण्णकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए० जाव एत्थ णं सुवण्णकुमाराणं देवाणं बावत्तरिभवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा बाहिं वट्टा० जाव पडिरूवा, तत्थ णं सुवण्णकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति महिड्डिया, सेसं जहा ओहियाणं० जाव विहरंति। वेणुदेवे वेणुदाली य इत्थ दुवे सुवण्णकुमारिंदा सुवण्णकुमाररायाणो परिवसंति, महिड्डिया० जाव विहरंति।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! दाहिणिल्ला सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे० जाव मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसहस्से। एत्थ णं दाहिणिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं अट्ठत्तीसं भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा बाहिं वट्टा० जाव पडिरूवा। तत्थ णं दाहिणिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे। एत्थ णं बहवे सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति। वेणुदेवे इत्थ सुवण्णिंदे सुवण्णकुमारराया परिवसंति, सेसं जहा नागकुमाराणं।

कहि णं भंते ! उत्तरिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! उत्तरिल्ला सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए० जाव एत्थ णं उत्तरिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं वत्तव्वया भणिया, तहा सेसाण वि चोद्दसण्हं इंदाणं भाणियव्वा; नवरं भवणनाणत्तं इंदाण नाणत्तं वण्णेण नाणत्तं परिहाणनाणत्तं च इमाहिं गाहाहिं अणुगंतव्वं–

"चोवट्ठी असुराणं, चुलसीती चेव होइ नागाणं।
बावत्तरिं सुवण्णे, वाउकुमाराण छण्णउती॥ १॥
दीवदिसाउदहीणं, विज्जुकुमारिंदथणियमग्गीणं।
छण्हं पि जुवलयाणं, छावत्तरिमो सयसहस्सा॥ २॥
चोत्तीसा चोयाला, अट्ठतीसं होइ सयसहस्साइं।
पण्णा चत्तालीसा, दाहिणओ होंति भवणाइं॥ ३॥
तीसा चत्तालीसा, चोत्तीसं चेव सयसहस्साइं।
छायाला छत्तीसा, उत्तरओ होंति भवणाइं॥ ४॥
चउसट्ठी सट्ठी खलु, छच्च सहस्सा उ असुरवज्जाणं।
सामाणियाउ एए, चउग्गुणा आयरक्खाओ॥ ५॥
चमरे धरणे तह वे-णुदेवहरिकंतअग्गिसीहे य।
पुण्णे जलकंते य, अमिए वेलंबे घोसे य॥ ६॥
बलि भूयाणंदे वे-णुदालिहरिस्सहऽग्गिमाणवविसिट्ठे।
जलप्पभे अमियवाहणे, पभंजणे वा महाघोसे॥७॥"

उत्तरिल्लाणं० जाव विहरंति।

"काला असुरकुमारा, नागा उदही य पंडुरा दो वि।
वरकणगणिहसगोरा, होंति सुवण्णा दिसा थणिया॥१॥
उत्तत्तकणगवण्णा, विज्जू अग्गी य होंति दीवा य।
सामा पियंगुवण्णा, वाउकुमारा मुणेयव्वा॥ २॥
असुरेसु होंति रत्ता, सीलिंधपुप्फभा य णा उदही।
आसासयवसणधरा, होंति सुवण्णा दिसा थणिया॥३॥
नीलाणुरागवसणा, विज्जू अग्गी य होंति दीवा य।
संझाऽणुरागवसणा, वाउकुमारा मुणेयव्वा॥४॥"

कहि णं भंते ! वाणमंतराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! वाणमंतरा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडयस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरि एगं जोयणसयं ओगाहित्ता, हिट्ठा वि एगं जोयणसयं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु। एत्थ णं वाणमंतराणं देवाणं तिरियमसंखेज्जाओ भोमेज्जानगरावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भोमेज्जा णगरा बाहिं वट्टा, अंतो चउरंसा, अहे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिया, उक्किण्णंतरविउलगंभीरखायफलिहा पागारऽट्टालयकवाडतोरणपडिदुवारदे–

सज्झागा जंतसयग्घिमुसलमुसंढिपरिवारिया अउज्झा सया जया सया गुत्ता अडयालकुट्टरइयअडयालकयवणमाला खेमा सिवा किंकरामरदंडोवरक्खिया लाउल्लोइयमहिया गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितला उवचियचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिया कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवरगंधिया गंधवट्टिभूया अच्छरगणसंघविकिण्णा दिव्वतुडियसद्दसंपणादिया पडागमालाउलाभिरामा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा ससिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा । एत्थ णं वाणमंतराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा परिवसंति । तं जहा-पिसाया भूया जक्खा रक्खसा किंनरा किंपुरिसा भुयगवतिणो य महाकाया गंधव्वगणा य निउणगंधव्वगीतरइणो अणवण्णियपणवण्णियइसिवाइयभूयवाइयकंदियमहाकंदियकोहंडपयंगदेवा चलचवलचित्तकीलणदवप्पिया गहिरहसियपिया गीयणच्चणरती वणमालाऽऽमेलमउलकुंडलसच्छंदविउव्वियाभरणचारुभूसणधरा सव्वोउयसुरभिकुसुमसुरइयपलंबसोहंतकंतवियसितचित्तवणमालरइयवच्छा कामकामा कामरूवदेहधरा णाणाविहवण्णरागवरवत्थसलितचित्तचिल्लगणियंसणा विविहदेसनेवत्थगहियवेसा समुइयकंदप्पकलहकेलिकोलाहलप्पिया-हासबोलबहुला असिमोग्गरसत्तिकुंतहत्था अणेगमणिरयणविविहनिज्जुत्तविचित्तचिंधगया सुरूवा महिड्ढिया महज्जुतिया महायसा महाबला महाणुभागा महासोक्खा हारविराइयवच्छा कडगतुडियथंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगंडयलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिकल्लाणगपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं एएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा ! ते णं तत्थ साणं साणं भोमेज्जाणगरावाससयसहस्साणं असंखिज्जाणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं सपरिसाणं साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अण्णेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा पालेमाणा महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजेमाणा विहरंति ।

कहि णं भंते ! पिसायाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! पिसाया देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडयस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरिं एगं जोयणसयं ओगाहित्ता, हिट्ठा वेगं जोयणसयं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु, एत्थ णं पिसायाणं देवाणं तिरियमसंखेज्जा भोमेज्जानगरावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । ते णं भोमेज्जा नगरा बाहिं वट्टा, जहा ओहिओ भवणवण्णओ, तहा भाणियव्वो० जाव पडिरूवा । एत्थ णं पिसायाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे पिसाया परिवसंति महिड्ढिया जहा ओहिया० जाव विहरंति । काला, महाकाला, इत्थ दुवे पिसाइंदा पिसायरायाणो परिवसंति महिड्ढिया महज्जुइया० जाव विहरंति ।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं पिसायाणं देवाणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! दाहिणिल्ला पिसाया देवा परिवसंति ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडयस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरिं एगं जोयणसयं ओगाहित्ता, हिट्ठा चेगं जोयणसयं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु, एत्थ णं दाहिणिल्लाणं पिसायाणं देवाणं तिरियमसंखिज्जा भोमेज्जानगरावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । ते णं भवणा जहा ओहिओ भवणवण्णओ तहेव भाणियव्वो० जाव पडिरूवा, एत्थ णं दाहिणिल्लाणं पिसायाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता, तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे दाहिणिल्ला पिसाया देवा परिवसंति, महिड्ढिया जहा ओहिया० जाव विहरंति । काले जत्थ पिसाइंदे पिसायराया परिवसति महिड्ढिए० जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ तिरियमसंखेज्जाणं भोमेज्जा णगरावाससयसहस्साणं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं दाहिणिल्लाणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं० जाव विहरंति ।

उत्तरिल्लाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहेव दाहिणिल्लाणं वत्तव्वया, तहेव, उत्तरिल्लाणं पि, नवरं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं महाकाले एत्थ पिसाइंदे पिसायराया परिवसति॰ जाव विहरति। एवं जहा पिसायाणं तहा भूयाणं पि॰जाव गंधव्वाणं,नवरं इंदेसु नाणत्तं भाणियव्वं, इमेणं पि विहिणा भूयाणं सुरूवपडिरूवा, जक्खाणं पुण्णभद्दमाणिभद्दा, रक्खसाणं भीममहाभीमा, किन्नराणं किन्नरकिंपुरिसा, किंपुरिसाणं सप्पुरिसमहापुरिसा.महोरगाणं अइकायमहाकाया, गंधव्वाणं गीतरई गीतजसा॰ जाव गीयजसे विहरति।

"काले य महाकाले, सुरूव पडिरूव पुण्णभद्दे य।
अमरवइ माणिभद्दे, भीमे य तहा महाभीमे ॥१॥
किन्नर किंपुरिसे खलु, सप्पुरिसे खलु तहा महापुरिसे।
अइकाए महाकाए, गीयरती चेव गीयजसे" ॥२॥ विहरति।

कहि णं भंते ! अणवन्नियाणं देवाणं ठाणा पण्णत्ता ?;कहि णं भंते ! अणवन्निया देवा परिवसंति?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडयस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरि हिट्ठा य एगं जोयणसयं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु,एत्थ णं अणवन्नियाणं देवाणं तिरियमसंखिज्जा नगरा वाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं॰जाव पडिरूवा, एत्थ णं अणवन्नियाणं देवाणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोगस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोगस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं अणवन्निया देवा परिवसंति,महिड्ढिया जहा पिसाया॰जाव विहरंति, सन्निहियसामाणा,इत्थ दुवे अणवन्निंदा अणवन्नियकुमाररायाणो परिवसंति महिड्ढिया,जहा कालमहाकाला, एवं जहा कालमहाकालाणं दोण्हं पि दाहिणिल्लाणं उत्तरिल्लाण य भणिया, तहा संनिहियसामाणाणं पि भाणियव्वा ॥

संगहणिगाहा–

"अणवन्निएँ पणवन्निएँ, इसिवाइएँ भूयवाइए चेव।
कंदिएँ य महाकंदिएँ, कोहंडएँ पयंगदेवा य ॥१॥"

इमे इंदा–

"संनिहिए सामाणिएँ, धाइ विधाए इसी य इसिवाले।
ईसरे महेसरे वि य, हवइ सुवच्छे विसाले य ॥ १ ॥
हासे हासरई वि य, सेए य भवे तहा महासेए।
पयगे पयगवए वि य, नेयव्वा आणुपुव्वीए ॥ २ ॥"

कहि णं भंते ! जोइसियाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! जोइसिया देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ सत्तणउए जोयणसए उड्ढं उप्पइत्ता, दसुत्तरं जोयणसयं बाहल्ले, तिरियमसंखिज्जे जोइसविसए। एत्थ णं जोइसियाणं देवाणं तिरियमसंखिज्जा जोइसियविमाणा वाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं विमाणा अद्धकविट्ठगसंठाणसंठिया सव्वफालियामया अब्भुग्गयमूसियपहसिया इव विविहमणिकणगरयणभत्तिचित्ता वाउद्धूतविजयवेजयंतीपडागा छत्ताइच्छत्तकलिया तुंगा गगनतलमहिलंघमाणसिहरा जालंतररयणपंजरुम्मीलिय व्व मणिकणगथूभियागा वियसियसयवत्तपोंडरीया तिलगरयणद्धचंदचित्ता नानामणिमयदामालंकिया अंतो बाहिं च सण्हा तवणिज्जरुइलवालुया पत्थडा सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, एत्थ णं जोइसियाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे जोइसिया देवा परिवसंति। तं जहा–बहस्सई,चंदा,सूरा,सुक्का,सणिच्छरा, राहुधूमकेतुबुधा,अंगारगा, तत्ततवणिज्जकणगवण्णा जे गहा जोइसम्मि चारं चरंति, केतू य गतिरइया अट्ठावीसइविहा य नक्खत्ता देवयगणा नाणासंठाणसंठियाओ य पंचवण्णाओ तारयाओ वि य ठियलेस्साचारिणो अविस्सामममंडलगई पत्तेयं णामंकपागडियचिंधमउडा महिड्ढिया॰जाव पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं विमाणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं जोइसियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं॰ जाव विहरंति। चंदिमसूरिया य, एत्थ दुवे जोइसिंदा जोइसियरायाणो परिवसंति महिड्ढिया॰ जाव पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं जोइसियविमाणावाससयसहस्साणं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं जोइसियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं॰ जाव विहरंति।

कहि णं भंते ! वेमाणियाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! वेमाणिया देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियगहनक्खत्ततारारूवाणं बहूइं जोयणसयाइं बहूइं जोयणसहस्साइं बहुगाओ जोयणकोडीओ बहुगाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता, एत्थ णं सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलोगलंतयमहासुक्कसहस्सारआणयपाणय–

आरणअच्चुयगेविज्जाणुत्तरेसु तत्थ इत्थ णं वेमाणियाणं देवाणं चउरासीइविमाणसयसहस्सा सत्ताणउइंजवे सहस्साओ तेवीसं विमाणा हवंतीति मक्खायं । ते णं विमाणा सव्वरयणामया अत्था सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पहा सस्सिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, इत्थ णं वेमाणियाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे वेमाणिया देवा परिवसंति । तं जहा-सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलोगलंतगमहासुक्कसहस्सारआणयपाणयआरणअच्चुयगेविज्जगाणुत्तरोववाइया देवा, ते णं मियमहिसवराहसीहछगलदद्दुरहयगयवइभुयगखग्गउसभंकविडिमपागडियचिंधमउडा पसढिलवरमउडतिरीडधारिणो वरकुंडलुज्जोइयाणणा मउडदित्तसिरया रत्ताभा पउमपम्हगोरा जासेया सुहवण्णगंधफासा उत्तमवेउव्विणो पवरवत्थगंधमल्लाणुलेवणधरा महिड्ढिया महज्जुइया महायसा महब्बला महाणुभागा महासोक्खा हारविराइयवच्छा कडगतुडियथंभियभुया अंगदकुंडलमट्ठगंडतलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउली कल्लाणपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं वण्णेणं, दिव्वेणं गंधेणं, दिव्वेणं फासेणं, दिव्वेणं संघयणेणं, दिव्वेणं संठाणेणं, दिव्वाए इड्ढीए, दिव्वाए जुईए, दिव्वाए पभाए, दिव्वाए छायाए, दिव्वाए अच्चीए, दिव्वेणं तेएणं, दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं विमाणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं तायत्तीसगाणं साणं साणं लोगपालाणं साणं साणं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं वेमाणियाणं देवाण देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा पालेमाणा महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति ।

कहि णं भंते ! सोहम्मगदेवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! सोहम्मगदेवा परिवसंति ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियगहगणनक्खत्तताराणं बहूणि जोयणसयाइं बहूणि जोयणसहस्साइं बहूणि जोयणसयसहस्साइं बहुगाओ जोयणकोडीओ बहुगाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता एत्थ णं सोहम्मे नामं कप्पे पण्णत्ते । पाईणपडीणायते उदीणदाहिणवित्थिन्ने अद्धचंदसंठाणसंठिए अच्चिमालिभासरासिवण्णाभे असंखेज्जाओ जोयणकोडीओ असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं सव्वरयणामए अत्थे सण्हे लण्हे घट्ठे मट्ठे० जाव पडिरूवे । तत्थ णं सोहम्मगदेवाणं बत्तीसं विमाणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । ते णं विमाणा सव्वरयणामया अत्था० जाव पडिरूवा । तेसि णं विमाणाणं बहुमज्झदेसभाए पंच वडेंसया पण्णत्ता । तं जहा-असोगवडेंसए, सत्तवण्णवडेंसए, चंपगवडेंसए, चूयवडेंसए, मज्झे तत्थ सोहम्मवडेंसए । ते णं वडेंसया सव्वरयणामया अत्था० जाव पडिरूवा, एत्थ णं सोहम्मगदेवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता, तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे सोहम्मगदेवा परिवसंति महिड्ढिया० जाव पभासेमाणा । ते णं तत्थ साणं साणं विमाणावाससयसहस्साणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं एवं जहेव ओहियाणं तहेव एतेसिं पि भाणियव्वं० जाव आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं सोहम्मगकप्पवासीणं वेमाणियाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं० जाव विहरंति । सक्के इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ वज्जपाणी पुरंदरे सयक्कऊ सहस्सक्खे मघवं पागसासणे दाहिणड्ढलोगाहिवई बत्तीसविमाणावाससयसहस्साहिवई एरावणवाहणे सुरिंदे अरयंबरवत्थधरे आलइयमालमउडे नवहेमचारुचित्तचंचलकुंडलविलिहिज्जमाणगंडे महिड्ढिए० जाव पभासेमाणे से णं तत्थ बत्तीसाए विमाणावाससयसहस्साणं चउरासीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं सोहम्मकप्पवासीणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं कुव्वमाणे० जाव विहरति ।

कहि णं भंते ! ईसाणगदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! ईसाणगदेवा परिवसंति ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियगहगणनक्खत्ततारारूवाणं बहूइं

जोयणसयाइं बहूइं जोयणसहस्साइं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं ईसाणे नामं कप्पे पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिन्ने, एवं जहा सोहम्मे० जाव पडिरूवे। तत्थ णं ईसाणगदेवाणं अट्ठावीसं विमाणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं विमाणा सव्वरयणामया० जाव पडिरूवा। तेसि णं बहुमज्झदेसभाए पंच वडेंसगा पण्णत्ता। तं जहा-अंकवडेंसए, फलिहवडेंसए, रयणवडेंसए, ० जाव सुरूववडेंसए, मज्झे इत्थ ईसाणवडेंसए। ते णं वडेंसया सव्वरयणामया० जाव पडिरूवा। इत्थ णं ईसाणाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, सेसं जहा सोहम्मगदेवाणं० जाव विहरंति, ईसाणे इत्थ देविंदे देवराया परिवसति सूलपाणी वसभवाहणे उत्तरड्ढलोगाहिवई अट्ठावीसविमाणावाससयसहस्साहिवई अरयंबरवत्थधरे, सेसं जहा सक्कस्स० जाव पभासेमाणे, तत्थ अट्ठावीसाए विमाणावाससयसहस्साणं असीतीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं चउण्हं असीतीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं ईसाणकप्पवासीणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं कुव्वमाणे० जाव विहरइ।

कहि णं भंते ! सणंकुमारदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! सणंकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! सोहम्मस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं बहूइं जोयणसयाइं बहूइं जोयणसयसहस्साइं बहुगाओ जोयणकोडीओ बहुगाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता, तत्थ णं सणंकुमारे नामं कप्पे पण्णत्ते, पाईणपडीणायए, उदीणदाहिणविच्छिन्ने, जहा सोहम्मे कप्पे० जाव पडिरूवे। तत्थ णं सणंकुमाराणं देवाणं बारस विमाणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं विमाणा सव्वरयणामया० जाव पडिरूवा, तेसि णं विमाणाणं बहुमज्झदेसभागे पंचवडेंसगा पण्णत्ता। तं जहा-असोगवडेंसए, सत्तवण्णवडेंसए, चंपगवडेंसए, चूयवडेंसए, मज्झे जत्थ सणंकुमारवडेंसए, ते णं वडेंसया सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा। तत्थ णं सणंकुमारदेवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे सणंकुमारा देवा परिवसंति महिड्ढिया० जाव पभासेमाणा विहरंति, नवरं अग्गमहिसीओ णत्थि सणंकुमारे, इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ, अरयंबरवत्थधरे, सेसं जहा सक्कस्स, से णं तत्थ बारसण्हं विमाणावाससयसहस्साणं बावत्तरीए सामाणियसाहस्सीणं, सेसं जहा सक्कस्स अग्गमहिसीवज्जं, नवरं चउण्हं बावत्तरीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं० जाव विहरइ।

कहि णं भंते ! माहिंदाणं देवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! माहिंदगा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! ईसाणस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं० जाव बहुगाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता, तत्थ णं माहिंदे णामं कप्पे पण्णत्ते, पाईणपडीणायए० जाव एवं जहेव सणंकुमारे, नवरं अट्ठ विमाणावाससयसहस्सा वडेंसया, जहा ईसाणे, नवरं मज्झे तत्थ देविंदे देवराया परिवसइ, अरयंबरवत्थधरे, एवं जहा सणंकुमारे० जाव विहरइ. नवरं अट्ठण्हं विमाणावाससयसहस्साणं सत्तरीए सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं सत्तरीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं० जाव विहरइ।

कहि णं भंते ! बंभलोगदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! बंभलोगा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! सणंकुमारमाहिंदाणं कप्पाणं उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं बंभलोए नामं कप्पे पाईणपडीणायते, उदीणदाहिणविच्छिन्ने, पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिए अच्चिमाली भासरासिप्पभे, अवसेसं जहा सणंकुमाराणं, नवरं चत्तारि विमाणावाससयसहस्सा वडेंसगा, जहा सोहम्मस्स वडेंसया, नवरं मज्झे इत्थ बंभलोयवडेंसए, इत्थ णं बंभलोगाणं देवाणं ठाणा पण्णत्ता। सेसं तहेव० जाव विहरंति। बंभे इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ अरयंबरवत्थधरे, एवं जहा सणंकुमारे० जाव विहरति, नवरं चउण्हं विमाणावाससयसहस्साणं सट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं चउण्ह य सट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं० जाव विहरइ।

कहि णं भंते ! लंतगदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! लंतगदेवा परिवसंति ?। गोयमा ! बंभलोगस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं बहूइं जोयणसयाइं० जाव बहुईओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता, इत्थ णं लंतए नामं कप्पे पण्णत्ते। पाईणपडीणायते जहा बंभलोए, नवरं पण्णासा विमाणावाससहस्सा हवंतीति मक्खायं, वडेंसगा जहा ईसाणवडेंसगा, नवरं मज्झ इत्थ लंतगवडेंसए देवा तहेव० जाव विहरंति, लंतए इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ, जहा सणंकुमारे, नवरं पण्णासाए विमाणावाससहस्साणं, पण्णासाए सामाणियसाह-

स्सीणं चउण्हं पन्नासाणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं० जाव विहरइ ।

कहि णं भंते ! महासुक्काणं देवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! महासुक्का देवा परिवसंति ?। गोयमा ! लंतगस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं महासुक्के नामं कप्पे पण्णत्ते, पाईणपडीणायते, उदीणदाहिणवित्थिन्ने, जहा बंभलोए, नवरं चत्तालीसं विमाणावाससहस्सा हवंतीति मक्खायं, वडेंसगा जहा सोहम्मवडेंसगा, नवरं मज्झे तत्थ महासुक्कवडेंसए० जाव विहरइ। महासुक्के इत्थ देविंदे देवराया जहा सणंकुमारे, नवरं चत्तालीसाए विमाणावाससाहस्सीणं चत्तालीसाए सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं चत्तालीसाणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं० जाव विहरंति ।

कहि णं भंते ! सहस्सारदेवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! सहस्सारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! महासुक्कस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं सहस्सारे नामं कप्पे पण्णत्ते, पाईणपडीणायते, जहा बंभलोए, नवरं छ विमाणावाससहस्सा हवंतीति मक्खायं, देवा तहेव वडेंसगा, जहा ईसाणस्स वडेंसगा, नवरं मज्झे जत्थ सहस्सारवडेंसए० जाव विहरंति । सहस्सारे इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ, जहा सणंकुमारे, नवरं छण्हं विमाणावाससहस्साणं तीसाए सामाणियसाहस्सीणं चउण्ह य तीसाणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं ०जाव आहेवच्चं पोरेवच्चं कारेमाणे विहरति ।

कहि णं भंते ! आणयपाणयदेवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! आणयपाणयदेवा परिवसंति ?। गोयमा! सहस्सारस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं आणयपाणयणामेणं दुवे कप्पा पण्णत्ता, पाईणपडीणायते, उदीणदाहिणवित्थिन्ना, अद्धचंदसंठाणसंठिआ अच्चिमाली भासरासिप्पभा, सेसं जहा सणंकुमारे० जाव पडिरूवा । तत्थ णं आणयपाणयदेवाणं चत्तारि विमाणावाससया हवंतीति मक्खायं० जाव पडिरूवा वडेंसगा, जहा सोहम्मे, नवरं मज्झे पाणयवडेंसए, ते णं वडेंसगा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा, इत्थ णं आणयपाणयदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता; तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे आणयपाणयदेवा परिवसंति, महिड्ढिया० जाव पभासेमाणा। ते णं तत्थ साणं साणं विमाणावाससयाणं० जाव विहरंति । पाणए एत्थ देविंदे देवराया परिवसंति, जहा सणंकुमारे, नवरं चउण्हं विमाणावाससयाणं वीसाए सामाणियसाहस्सीणं असीतीए आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं० जाव विहरंति ।

कहि णं भंते ! आरणच्चुयाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? ; कहि णं भंते ! आरणच्चुया देवा परिवसंति ?। गोयमा ! आणयपाणयाणं कप्पाणं उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं इत्थ णं आरणच्चुया नाम दुवे कप्पा पण्णत्ता , पाईणपडीणायता, उदीणदाहिणवित्थिन्ना, अद्धचंदसंठाणसंठिया अच्चिमाली भासरासिवन्नाभा असंखिज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं, असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला णिप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा । इत्थ णं आरणच्चुयाणं देवाणं तिन्नि विमाणावाससया हवंतीति मक्खायं । ते णं विमाणा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, तेसि णं विमाणाणं बहुमज्झदेसभाए पंच वडेंसया पण्णत्ता। तं जहा–अंकवडेंसए, फलिहवडेंसए, रयणवडेंसए० जाव रूयवडेंसए, मज्झे जत्थ अच्चुयवडेंसए, ते णं वडेंसया सव्वरयणामया० जाव पडिरूवा; इत्थ णं आरणच्चुयाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे आरणच्चुया देवा० जाव विहरंति। अच्चुए तत्थ देविंदे देवराया परिवसइ। जहा पाणए० जाव विहरति, नवरं तिण्हं विमाणावाससयाणं दसण्हं सामाणियसाहस्सीणं चत्तालीसाए आयरक्खदेवसाहस्सीणं आहेवच्चं० जाव कुव्वेमाणे विहरति ।

" बत्तीसऽट्ठावीसा, बारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा ।
पन्ना चत्तालीसा, छच्च सहस्सा सहस्सारे ॥ १ ॥
आणयपाणयकप्पे, चत्तारि सयाऽऽरणच्चुए तिन्नि ।
सत्त विमाणसयाइं, चउसु वि एएसु कप्पेसु ॥ २ ॥"

सामाणियसंगहणीगाहा–

" चउरासीइ असीई, बावत्तरि सत्तरी य सट्ठीए ।
पन्ना चत्तालीसा, तीसा वीसा दस सहस्सा ॥ १ ॥ "

एए चेव आयरक्खा चउग्गुणा ।

कहि णं भंते ! हिट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! हेट्ठिमगेविज्जगा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! आरणच्चुयाणं कप्पाणं उप्पिं० जाव उड्ढं दूरं उप्पइत्ता, इत्थ णं हेट्ठिमगेविज्जाणं देवाणं तओ गेवेज्जविमाणपत्थडा पण्णत्ता, पाईणपडीणायया उदीणदा-

हिणवित्थिण्णा पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिया अच्चिमाली भासरासिवण्णाभा, सेसं जहा बंभलोगे० जाव पडिरूवा । तत्थ णं हेट्ठिमगेविज्जगाणं देवाणं एक्कारसुत्तरे विमाणावाससए हवंतीति मक्खायं । ते णं विमाणा सव्वरयणामया ० जाव पडिरूवा, इत्थ णं हेट्ठिमगेविज्जगाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे हेट्ठिमगेविज्जगा देवा परिवसंति, सव्वे सममहिड्डिया सव्वे समज्जुतीया सव्वे समजसा सव्वे समबला सव्वे समाणुभावा महासोक्खा अणिंदा अप्पेस्सा अपुरोहिया अहमिंदा नामं ते देवगणा पण्णत्ता, समणाउसो ! ।

कहि णं भंते ! मज्झिमगाणं गेविज्जगदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! मज्झिमगेविज्जगदेवा परिवसंति ? । गोयमा ! हेट्ठिमगेविज्जगाणं उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं मज्झिमगेविज्जगदेवाणं तओ गेविज्जगविमाणपत्थडा पण्णत्ता, पाईणपडीणायता, जहा हेट्ठिमगेविज्जगाणं, नवरं सत्तुत्तरे विमाणावाससए हवंतीति मक्खाए । ते णं विमाणा० जाव पडिरूवा, इत्थ णं मज्झिमगेवेज्जाणं देवाणं० जाव तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे मज्झिमगेवेज्जगा देवा परिवसंति ० जाव अहमिंदा नामं देवगणा पण्णत्ता, समणाउसो ! ।

कहि णं भंते ! उवरिमगेवेज्जगाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! उवरिमगेविज्जगा देवा परिवसंति ? । गोयमा ! मज्झिमगेवेज्जगदेवाणं उप्पिं० जाव उप्पइत्ता, तत्थ णं उवरिमगेवेज्जगाणं देवाणं तओ गेविज्जगविमाणपत्थडा पण्णत्ता, पाईणपडीणाओ, सेसं जहा हेट्ठिमगेविज्जगाणं, नवरं एगे विमाणावाससए हवंतीति मक्खायं, सेसं तहेव भाणियव्वं० जाव अहमिंदा नामं ते देवगणा पण्णत्ता, समणाउसो ! ।

“ एक्कारसुत्तरं हेट्ठिमए सत्तुत्तरं च मज्झिमए ।
सयमेगं उवरिमए, पंचेव अणुत्तरविमाणा ” ॥ १ ॥

कहि णं भंते ! अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! अणुत्तरोववाइया देवा परिवसंति ? । गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियगहगणनक्खत्ततारारूवाणं बहूइं जोयणसयाइं बहूइं जोयणसहस्साइं बहूइं जोयणसयसहस्साइं बहुगाओ जोयणकोडीओ बहुगाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलोगलंतगसुक्कसहस्सारआणयपाणयआरणअच्चुयकप्पा तिण्णि य अट्ठारसुत्तरे गेविज्जविमाणावाससए वीतीवइत्ता ते णं परं दूरं गता णीरया निम्मला वितिमिरा विसुद्धा पंचदिसिं पंच अणुत्तरा महतिमहालया महाविमाणा पण्णत्ता । तं जहा-विजए, वेजयंते, जयंते, अपराजिए, सव्वट्ठसिद्धे । ते णं विमाणा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा ससिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, इत्थ णं अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे अणुत्तरोववाइया देवा परिवसंति, सव्वे सममहिड्डिया सव्वे समबला सव्वे समाणुभावा महासोक्खा अणिंदा अप्पेस्सा अपुरोहिया अहमिंदा ते देवगणा पण्णत्ता, समणाउसो ! ।

कहि णं भंते ! सिद्धाणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! सिद्धा परिवसंति ? । गोयमा ! सव्वट्ठस्स महाविमाणस्स उवरिल्लाओ थूभियग्गाओ दुवालसजोयणे उड्ढं अबाहाए, इत्थ णं ईसीपब्भारा नामं पुढवी पण्णत्ता । पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, एगं जोयणकोडीओ बायालीसं च सयसहस्साइं तीसं सहस्साइं दोण्णि य अउणापण्णे जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ता, ईसीपब्भाराए णं पुढवीए बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणिए खेत्ते अट्ठजोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते, ततो अणंतरं च णं मायाए २ पएसपरिहाणी २ परिहायमाणी २ सव्वेसु चरिमंतेसु मच्छियपत्तातो तणुयरी अंगुलस्स संखेज्जइभागे बाहल्लेणं पण्णत्ता, ईसीपब्भाराए णं पुढवीए दुवालसनामधेज्जा पण्णत्ता, ईसीति वा ईसीपब्भाराइ वा तणुयरीति वा तणुतणुयरीति वा सिद्धीति वा सिद्धालएति वा मुत्तीइ वा मुत्तालएइ वा लोयग्गेति वा लोयग्गथूभियाति वा लोयपडिबुज्झणाइ वा सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहाइ वा ईसीपब्भारा णं पुढवी सेता संखदलविमलसोत्थियमुणालदगरयतुसारगोक्खीरहारवण्णा उत्ताणयछत्तसंठाणसंठिया सव्वज्जुणसुवण्णमई अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा ससिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, ईसीपब्भाराए णं सीताए जोयणम्मि लोगंतो, तस्स णं जोयणस्स जे से उवरिल्ले गाउए, तस्स णं गाउयस्स जे से उवरिल्ले छब्भागे, एत्थ णं सिद्धा भगवंतो सादिया अपज्जवसिया अणेगजातिजरामरणजोणिसंसारकलंकलीभावपुणब्भवगब्भवासवसही० एवं च समइक्कंता सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठंति । तत्थ वि य ते

अवेदा अवेयणा निम्ममा असंगा य संसारविप्पमुक्का पदेसनिव्वत्तिसंठाणा ।

अत्र शिष्यः पृच्छन्नाह-

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहिं बोंदिं चइत्ता णं, कत्थ गंतूण सिज्झइ ? ॥ १ ॥

" कहिं पडिहया सिद्धा " इत्यादि । ' कहिं ' इत्यत्र सप्तमी तृतीयार्थे,प्राकृतत्वात् । यथा " तिसु तिसु अलंकिया पुहवी " इत्यादि । ततोऽयमर्थः-केन प्रतिहताः केन स्खलिताः ?, सिद्धाः मुक्ताः,तथा क कस्मिन् स्थाने, सिद्धाः, प्रतिष्ठिता अवस्थिताः, तथा क कस्मिन् क्षेत्रे,बोन्दिस्तनुः शरीरमित्यनर्थान्तरं, तां त्यक्त्वा, क गत्वा सिद्ध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्ति ?। " सिज्झइ " इत्यत्रानुस्वारलोपो द्रष्टव्यः, अथ चैकवचनोपन्यासोऽपि सूत्रशैल्या न विरोधभाक् । तथा चान्यत्राप्येवं प्रयोगः-" वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य । अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥१॥ " इति ।

एवं शिष्येण प्रश्ने कृते सूरिराह-

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया ।
इह बोंदिं चइत्ता णं, तत्थ गंतूण सिज्झइ ॥ २ ॥

"अलोए पडिहया सिद्धा" इत्यादि । अत्रापि सप्तमी तृतीयार्थे । अलोकेन केवलाऽऽकाशास्तिकायरूपेण, प्रतिहताः स्खलिताः, सिद्धाः, इह तत्र धर्मास्तिकायाऽऽद्यभावात्तदानन्तर्यावृत्तिरेव प्रतिस्खलनं, न तु संबन्धे सति विघातः, अप्रतिघत्वात्, सप्रतिघानां हि संबन्धे सति विघातो, नान्येषामिति । तथा लोकस्य पञ्चास्तिकायाऽऽत्मकस्य, अग्रे मूर्द्धनि, प्रतिष्ठिता अपुनरागत्या व्यवस्थिताः, इह मनुष्यलोके, बोन्दिं तनुं, त्यक्त्वा, तत्र लोकाग्रे, समयान्तरप्रदेशान्तरास्पर्शनेन गत्वा सिद्ध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्ति ।

संप्रति तत्र गतानां यत्संस्थानमानं तदभिधित्सुराह-

दीहं वा हस्सं वा, जं चरिमभवे हविज्ज संठाणं ।
तत्तो तिभागहीणा, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥ ३ ॥

" दीहं वा हस्सं वा " इत्यादि । दीर्घं वा पञ्चधनुःशतप्रमाणं, ह्रस्वं वा हस्तद्वयप्रमाणं, वाशब्दाद् मध्यमं वा विचित्रं, यच्चरमभवे पश्चिमभवे, भवेत् संस्थानं,ततस्तस्मात्संस्थानात्, त्रिभागहीना वदनोदरादिरन्ध्रपूरणेन तृतीयेन भागेन हीना, सिद्धानामवगाहना, अवगाहन्ते अस्यामित्यवगाहना स्वावस्थैव, भणिता तीर्थकरगणधरैरिति । अत्र गतस्य संस्थानप्रमाणापेक्षया त्रिभागहीनं तत्र संस्थानमिति भावः ।

एतदेव स्पष्टतरमुपदर्शयति-

जं संठाणं तु इहं, भवं चयंतस्स चरमसमयम्मि ।
आसी य पदेसघणं, तं संठाणं तहिं तस्स ॥ ४ ॥

" जं संठाणं तु इहं " इत्यादि । यत्संस्थानं यावत्प्रमाणं संस्थानम्, इह मनुष्यभवे आसीत्, तदेव, भवन्ति प्राणिनः कर्मवशवर्तिनोऽस्मिन्निति भवं शरीरं, त्यजतः परित्यजतः, कायांगं परिजिहानस्येति भावः । चरमसमये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानबलेन वदनोदराऽऽदिरन्ध्रपूरणात्त्रिभागेन हीनं प्रदेशघनमासीत् (तं संठाणं तहिं तस्स त्ति) तदेव च प्रदेशघनं सूक्ष्मप्रमाणापेक्षया त्रिभागहीनप्रमाणं संस्थानं, तत्र लोकाग्रे, तस्य सिद्धस्य, नान्यदिति ।

साम्प्रतमवगाहनामुत्कृष्टाऽऽदिभेदभिन्नामभिधित्सुराह-

तिन्नि सया तेत्तीसा, धणुत्तिभागो य होइ नायव्वो ।
एसा खलु सिद्धाणं, उक्कोसोगाहणा भणिया ॥ ५ ॥
चत्तारि य रयणीओ, रयणि तिभागूणिया य बोधव्वा ।
एसा खलु सिद्धाणं, मज्झिम ओगाहणा भणिया ॥६॥
एगा य होइ रयणी, अट्ठेव य अंगुलाइ साहियाइं ।
एसा खलु सिद्धाणं, जहन्न ओगाहणा भणिया ॥ ७ ॥

त्रीणि शतानि, त्रयस्त्रिंशानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि,धनुस्त्रिभागश्च भवति बोद्धव्यः । एषा खलु सिद्धानामुत्कृष्टावगाहना भणिता तीर्थकरगणधरैः, सा च पञ्चधनुःशततनुकानामवसेया । ननु मरुदेवा नाभिकुलकरपत्नी,नाभेश्च पञ्चविंशत्यधिकानि पञ्चधनुःशतानि शरीरप्रमाणं, यदेव च तस्य शरीरमानं तदेव मरुदेवाया अपि, " संघयणं संठाणं, उच्चत्तं चेव कुलगरेहिं समं " इति वचनात् । मरुदेवा च भगवती सिद्धा, ततस्तस्या देहमानस्य त्रिभागे पातिते सिद्धावस्थायाः सार्द्धानि त्रीणि धनुःशतान्यवगाहना प्राप्नोति, कथमुक्तप्रमाणा उत्कृष्टावगाहना घटते ? इति । नैष दोषः । मरुदेवायाः नाभेः किञ्चिन्न्यूनप्रमाणत्वात्, स्त्रियो हि उत्तमसंस्थाना उत्तमसंस्थानेभ्यः पुरुषेभ्यः स्वस्वकालापेक्षया किञ्चिन्न्यूनप्रमाणा भवन्ति । ततो मरुदेवाऽपि पञ्चधनुःशतप्रमाणेति न कश्चिद् दोषः। अपि च-हस्तिस्कन्धाधिरूढा संकुचिताङ्गी सिद्धा । ततः शरीरसंकोचनभावादधिकावगाहनासंभव इत्यविरोधः । आह च भाष्यकृत्-" कह मरुदेवामाणं, नाभीतो जेण किंचिदूणा सा । तो किर पंच सय च्चिय, अहवा संकोचतो सिद्धा " ॥ ५ ॥ (३१६७ विशे०) " चत्तारि य रयणीओ" इत्यादि । चतस्रो रत्नयो, रत्निश्च त्रिभागोना च बोधव्या, एषा खलु सिद्धानामवगाहना भणिता मध्यमा । आह-जघन्यपदे सप्तहस्तोच्छ्रितानामागमे सिद्धिरुक्ता, तत एषा जघन्या प्राप्नोति, कथं मध्यमा ?। तदयुक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । जघन्यपदं हि सप्तहस्तानां सिद्धिरुक्ता तीर्थकरापेक्षया, सामान्यकेवलिनां तु हीनप्रमाणानामपि भवति । इदमपि चावगाहनामानं चिन्त्यते सामान्यसिद्धापेक्षया, ततो न कश्चिद्दोषः ॥६॥ "एगा य होइ" इत्यादि । एका रत्निः परिपूर्णा अष्टौ चाङ्गुलान्यधिकानि, एषा भवति सिद्धानामवगाहना जघन्या । सा च कूर्मापुत्राऽऽदीनां द्विहस्तानामवसेया । यदि वा-सप्तहस्तोच्छ्रितानामपि यन्त्रपीलनाऽऽदिना संवर्तितशरीराणाम् ।

आह च भाष्यकृत-

" जेट्ठा उ पंचधणुसय, एवं मज्झा य सत्तहत्थस्स ।
देहत्तिभागहीणा, जहन्निया जा विहत्थस्स" ॥ ३१६६ ॥
"सत्तूसिएसु सिद्धी, जहन्नतो कहमिहं विहत्थेसु ? ।
सा किर तित्थयरेसुं, सेसाणं सिज्झमाणाणं ॥३१६८॥
ते पुण होज्ज विहत्था, कुम्मापुत्ताइओ जहन्नेणं ।
अन्ने संवट्टियस-त्तहत्थसिद्धस्स हीण त्ति ॥ ३१६९ ॥"
(विशे०) ॥ ७ ॥

साम्प्रतमुक्तानुवादेनैव लक्षणं सिद्धानामभिधित्सुराह-

ओगाहणाए सिद्धा, भवत्तिभागेण होइ परिहीणा ।

संठाणमणित्थंथं, जं जरामरणविमुक्काणं ॥ ८ ॥

" ओगाहणाए " इत्यादि सुगमं, नवरम् (अणित्थंथमिति) इदंप्रकारमापन्नमित्थम्, इत्थं तिष्ठतीति इत्थंस्थः, न इत्थंस्थम् अनित्थंस्थं, वदनाऽऽदिशुषिरप्रतिपूरणेन पूर्वाऽऽकारान्यथात्वभावतोऽनियताऽऽकारमिति भावः। योऽपि च सिद्धाऽऽदिगुणेषु "सिद्धे न दीहे न हस्से " इत्यादिना दीर्घत्वाऽऽदीनां प्रतिषेधः सोऽपि पूर्वाऽऽकारापेक्षया संस्थानस्यानित्थंस्थत्वात्प्रतिपत्तव्यः, न पुनः सर्वथा संस्थानस्याभावतः।

आह च भाष्यकृत्-

" सुसिरपरिपूरणाओ, पुव्वागारऽन्नहावत्थाओ ।
संठाणमणित्थंथं, जं भणियं अणिययागारं ॥ ३१७४ ॥
एत्तो चिय पडिसेहो, सिद्धाइगुणेसु दीहयाऽऽईणं ।
जमणित्थंथं पुव्वा-ऽऽगारावेक्खाए नाभावो ॥ ३१७३ ॥ "
(विशे०) ॥ ८ ॥

नन्वेते सिद्धाः परस्परं देशभेदेन व्यवस्थिताः, उत नेति ? । नेति तद् ब्रूमः । कस्मादिति चेत् ?, उच्यते-

जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अनंता भवक्खयविमुक्का ।
अन्नोन्नसमोगाढा, पुट्ठा सव्वे वि लोयंते ॥ ९ ॥

"जत्थ य" इत्यादि । यत्रैव देशे, चशब्दस्य एवकारार्थत्वात्, एकः सिद्धो निर्वृतः,तत्रानन्ता भवक्षयविमुक्ताः। अत्र भवक्षयग्रहणेन स्वेच्छया भवावतरणशक्तिमत्सिद्धव्यवच्छेदमाह । अन्योन्यसमवगाढाः, तथाविधाचिन्त्यपरिणामत्वाद्धर्मास्तिकायाऽऽदिवत् । तथा स्पृष्टा लग्नाः सर्वेऽपि लोकान्ते ॥ ९ ॥

फुसइ अणंते सिद्धे, सव्वपएसेहिँ नियमसो सिद्धा ।
ते वि असंखेज्जगुणा, देसपदेसेहिँ जे पुट्ठा ॥ १० ॥

"फुसइ" इत्यादि । स्पृशत्यनन्तान् सिद्धान् सर्वप्रदेशैरात्मसंबन्धिभिर्नियमशः सिद्धः। तथा तेऽपि सिद्धाः सर्वप्रदेशस्पृष्टेभ्योऽसंख्येयगुणा वर्त्तन्ते,ये देशप्रदेशैः स्पृष्टाः। कथमितिचेत्?,उच्यते-इहैकस्य सिद्धस्य यदवगाहनक्षेत्रं, तत्रैकस्मिन्नपि परिपूर्णेऽवगाढा अन्येऽप्यनन्ताः सिद्धाः प्राप्यन्ते। अपरे तु ये तस्य क्षेत्रस्य एकैकं प्रदेशमाक्रम्यावगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ताः,एवं द्वित्रिचतुष्पञ्चाऽऽदिप्रदेशवृद्ध्या येऽवगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ताः, तथा तस्य मूलक्षेत्रस्य एकैकं प्रदेशं परित्यज्य येऽवगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ताः । एवं च सति प्रदेशवृद्धिहानिभ्यां ये समवगाढाः,ते परिपूर्णैकक्षेत्रावगाढेभ्योऽसंख्येयगुणा भवन्ति, अवगाहप्रदेशानामसंख्येयात्मत्वात् ।

आह च भाष्यकृत्-

" एगक्खेत्तेऽणंता, पएसपरिवुड्ढिहाणिओ तत्तो ।
हुंति असंखेज्जगुणा-ऽसंखपएसो जमवगाहो " ॥ ३१८० ॥
(विशे०) ॥ १० ॥

सम्प्रति सिद्धानेव लक्षणतः प्रतिपादयति-

असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दंसणे य नाणे य ।
सागारमणागारं, लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ॥ ११ ॥

" असरीरा " इत्यादि । अविद्यमानशरीरा अशरीराः; औदारिकाऽऽदिपञ्चविधशरीररहिता इत्यर्थः। जीवाश्च ते घनाश्च वदनोदराऽऽदिशुषिरपूरणात् जीवघनाः; उपयुक्ता दर्शने-केवलदर्शने, ज्ञाने च-केवलज्ञाने । यद्यपि सिद्धत्वप्रादुर्भावसमये केवलज्ञानमिति ज्ञानं प्रधानं, तथाऽपि सामान्यविशेषलक्षणमेतदिति ज्ञापनार्थमादौ सामान्याऽऽलम्बनं दर्शनमुक्तम् । तथा च सामान्यविषयं दर्शनं, विशेषविषयं ज्ञानमिति । ततः साकारानाकारं, सामान्यविशेषोपयोगरूपमित्यर्थः । सूत्रे मकारोऽलाक्षणिकः। लक्षणं-तदन्यव्यावृत्तिस्वरूपम्, एतत् अनन्तरोक्तं, तुशब्दो वक्ष्यमाणनिरुपमसुखविशेषणार्थः, सिद्धानां निष्ठितार्थानामिति ॥ ११ ॥

सम्प्रति केवलज्ञानदर्शनयोरशेषविषयतामुपदर्शयति-

केवलणाणुवउत्ता, जाणंती सव्वभावगुणभावे ।
पासंति सव्वओ खलु, केवलदिट्ठीहिऽणंताहिं ॥ १२ ॥

" केवलणाणुवउत्ता " इत्यादि । केवलज्ञानेनोपयुक्ताः, न त्वन्तःकरणेन, तदभावादिति केवलज्ञानोपयुक्ताः,जानन्त्यवगच्छन्ति,सर्वभावगुणभावान् सर्वपदार्थगुणपर्यायान् । प्रथमो भावशब्दः पदार्थवचनः, द्वितीयः पर्यायवचनः । गुणपर्याययोस्त्वयं विशेषः-सह वर्त्तिनो गुणाः, क्रमवर्त्तिनः पर्याया इति । तथा पश्यन्ति सर्वतः खलु,खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् सर्वत एव, केवलदृष्टिभिरनन्ताभिः, अनन्तैः केवलदर्शनैरित्यर्थः । केवलदर्शनानां चानन्तता, सिद्धानामनन्तत्वात् , इहाऽऽदौ ज्ञानग्रहणं प्रथमतया तदुपयोगवन्तः सिद्ध्यन्तीति ज्ञापनार्थम् ॥ १२ ॥

सम्प्रति निरुपमसुखभाजस्ते इति दर्शयति-

न वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं नत्थि सव्वदेवाणं ।
जं सिद्धाणं सुक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं ॥ १३ ॥

" न वि अत्थि " इत्यादि । नैव अस्ति मनुष्याणां चक्रवर्त्यादीनामपि, तत्सौख्यं, नैव सर्वदेवानामनुत्तरपर्यन्तानामपि, यत् सिद्धानां सौख्यम्, अव्याबाधामुपगतानां, न विविधा बाधा अव्याबाधा, ताम्, उप सामीप्येन गतानां प्राप्तानाम् ॥ १३ ॥

यथा नास्ति तथा भङ्ग्या उपदर्शयति-

सुरगणसुहं समत्तं, सव्वद्धापिंडियं अणंतगुणं ।
न वि पावइ मुत्तिसुहं-ऽणंताहिँ वि वग्ग वग्गूहिं ॥ १४ ॥

"सुरगणसुहं" इत्यादि । सुरगणसुखं देवसङ्घातसुखं, समस्तं सम्पूर्णम्, अतीतानागतवर्त्तमानकालोद्भवमित्यर्थः । पुनः सर्वाद्धापिण्डितं सर्वकालसमयगुणितम्, तथाऽनन्तगुणमिति, तदेवं प्रमाणं किलासत्कल्पनया एकैकाऽऽकाशप्रदेशे स्थाप्यते, इत्थेवं सकलाऽऽकाशप्रदेशपूरणेन यद्यप्यनन्तं भवति, तदनन्तरमप्यनन्तैर्वर्गैर्वर्गितम्, तथाऽप्येवं प्रकर्षगतमपि मुक्तिसुखं सिद्धसुखं, न प्राप्नोति ॥ १४ ॥

एतदेव स्पष्टतरं भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादयति-

सिद्धस्स सुहोरासी, सव्वद्धापिंडिए जइ हविज्जा ।
सोऽणंतवग्गभइओ, सव्वागासे ण माइज्जा ॥ १५ ॥

" सिद्धस्स सुहोरासी " इत्यादि । सुखानां राशिः सुखराशिः सुखसङ्घातः, सिद्धस्य सुखराशिः सिद्धसुखराशिः, सर्वाद्धापिण्डितः सर्वथा साद्यपर्यवसिततया अद्धया, यत्सुखं, सिद्धः प्रतिसमयमनुभवति, तदेकत्र पिण्डीकृतमिति भावः। सोऽनन्तवर्गभक्तोऽनन्तैर्वर्गमूलैरपवर्तितः, अनन्तैर्वर्गमूलैस्तावदपवर्त्तितो यावत्सर्वाकाशरूपेण गुणकारेण गुणने यदधिकं जातं,तस्य सर्वस्या-

पर्यन्तैः सिद्धस्याद्यः समयभाविसुखमात्रतां प्राप्त इति भावः । सर्वाकाशे न माति-एतावन्मात्रेऽपि सर्वाकाशे न माति, सर्वस्तु दूरापास्तप्रसर एवेति ज्ञापनार्थं पिण्डयित्वा पुनरपवर्तनं सुखराशेः । इयमत्र भावना-इह किल विशिष्टाऽऽह्लादरूपं सुखं परिगृह्यते, ततश्च यत आरभ्य शिष्टानां सुखशब्दप्रवृत्तिः, तमाह्लादमधिकृत्य एकैकगुणवृद्धितारतम्येन तावदसावाह्लादो विशिष्यते, यावदनन्तगुणवृद्ध्या निरतिशयनिष्ठामुपगतः, सोऽयमत्यन्तोपमाऽतीतैकान्तौत्सुक्यविनिवृत्तिरूपस्तिमिततमकल्पः परमाऽऽह्लादः सदा सिद्धानां यस्मात् सततः प्रथमसमयादूर्ध्वमपान्तरावर्तिनो ये गुणास्तारतम्येनाऽऽह्लादविशेषरूपाः, ते सर्वाऽऽकाशप्रदेशेभ्योऽप्यतिभूयांसः । ततः किमुक्तम्-"सव्वाऽऽगासे न माएज्जा" इति । अन्यथा यत्सर्वाऽऽकाशे न माति, तत्कथमेकस्मिन् सिद्धे मायात् ?, इति पूर्वसूरिसम्प्रदायः ॥१५॥

साम्प्रतमस्य सिद्धसुखस्य निरुपमतां प्रतिपादयति-

जह नाम कोइ मिच्छो, नगरगुणे बहु विजाणंतो ।

ण चएइ * परिकहेउं, उवमाए तहिँ असंतीए ॥१६॥

"जह नाम" इत्यादि । यथा नाम कश्चिन्म्लेच्छो नगरगुणान् गृहनिवासाऽऽदीन्, बहुविधान् अनेकप्रकारान्, विजानन्, अरण्याऽऽगतः सन् अन्यम्लेच्छेभ्यो न शक्नोति परिकथयितुम् । कस्माद् न शक्नोति ?, इत्यत आह-उपमायां तत्रासत्याम् । "निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम् ।" इति न्यायाद् हेतौ सप्तमी । तत्र उपमाया अभावादिति तात्पर्यम् । एष गाथाऽक्षरार्थः ॥ भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्-"एगो महारण्णवासी मिच्छोऽरण्णे चिट्ठति । इतो य एगो राया आसेण अवहरितो तं अडविं पवेसितो । तेण दिट्ठो सक्कारेऊण जणवयं नीतो । रन्ना वि सो नगरे पच्छा उवगारि त्ति गाढमुपचरितो-जहा राया चिट्ठइ धवलघराइभोगेण वि, सो नागरुकालेण अरण्णं सरिउमारद्धो, रन्ना विसज्जिओ, ततोऽरण्णगा पुच्छंति-केरिसं नयरं ति ?। सो वियाणंतो वि तत्थोवमाऽभावा न सक्केइ नयरगुणे परिकहेउं । एस दिट्ठंतो" ॥१६॥

अयमर्थोपनयः-

इय सिद्धाणं सोक्खं, अणोवमं नत्थि तस्स ओवम्मं ।

किंचि विसेसेणित्तो, सारिक्खमिणं सुणह वोच्छं ॥१७॥

"इय सिद्धाणं" इत्यादि । इति एवं, सिद्धानां सौख्यमनुपमं वर्तते । किमिति ?, तत आह-यतो नास्ति तस्यौपम्यं, तथापि बालजनप्रतिपत्तये किञ्चिद्विशेषेण, "इत्तो" इति । आर्षत्वादस्येत्यर्थः । सादृश्यमिदं वक्ष्यमाणं, शृणुत ॥ १७ ॥

जह सव्वकामगुणियं, पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोइ ।

तण्हाछुहाविमुक्को, अच्छिज्ज जहा अमियतित्तो ॥१८॥

"जह सव्व" इत्यादि । यथेत्युदाहरणोपदर्शनार्थः । भुज्यत इति भोजनं, सर्वकामगुणितं सकलसौन्दर्यसंस्कृतं, कोऽपि पुरुषो, भुक्त्वा, क्षुत्तृड्विमुक्तः सन्, यथा अमृततृप्तः, तथा तिष्ठति ॥१८॥

इय सव्वकालतित्ता, अउलं निव्वाणमुवगया सिद्धा ।

सासयमव्वाबाहं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥ १९ ॥

"इय" इत्यादि । इति एवं, निर्वाणं मोक्षमुपगताः सिद्धाः, सर्वकालं साद्यपर्यवसितं कालं, तृप्ताः सर्वथौत्सुक्यनिवृत्तिनाऽ-वतः परमसन्तोषमधिगताः, अतुलमनन्यसदृशम्, उपमातीतत्वात्; शाश्वतं प्रतिपाताभावात्; अव्याबाधं लेशतोऽपि व्याबाधाया असम्भवात्; सुखं प्राप्ताः, अत एव सुखिनस्तिष्ठन्ति ॥१९॥

एतदेव सविशेषतरं भावयति-

सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य, पारगत त्ति य परंपरगत त्ति ।

उम्मुक्ककम्मकवया, अजरा अमरा असंगा य ॥ २० ॥

"सिद्ध त्ति य" इत्यादि । सितं बद्धमष्टप्रकारं कर्म, ध्मातं भस्मीकृतं, यैस्ते सिद्धाः । "पृषोदराऽऽदयः" ॥३।२।१५५॥ (हैम०) इति रूपनिष्पत्तिः, निर्दग्धानेकभवकर्मेन्धना इत्यर्थः । ते च सामान्यतः कर्माऽऽदिसिद्धा अपि भवन्ति । यत उक्तम्-"कम्मे सिप्पे य विज्जाए, मंते जोगे य आगमे । अत्थ-जत्ता-अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय" ॥२६२॥ (आव० नि०)(३०२७ विशे०) ततः कर्माऽऽदिसिद्धव्यपोहायाऽऽह-(बुद्ध त्ति) अज्ञाननिद्राप्रसुप्ते जगति अपरोपदेशेन जीवाऽऽदिरूपं तत्त्वं बुद्धवन्तो बुद्धाः, सर्वज्ञसर्वदर्शिस्वभावबोधरूपा इति भावः । एतेऽपि च संसारनिर्वाणोभयपरित्यागेन स्थितवन्तः कैश्चिदिष्यन्ते, "संसारे न च निर्वाणे, स्थितो भुवनभूतये । अचिन्त्यः सर्वलोकानां; चिन्तारत्नाधिको महान्" ॥ १ ॥ इतिवचनात् । ततस्तन्निरासार्थमाह-पारगताः-पारं पर्यन्तं संसारस्य, प्रयोजनव्रातस्य वा, गताः पारगताः । तथा भव्यत्वाऽऽक्षिप्तसकलप्रयोजनसमाप्त्या निरवशेषकर्तव्यशक्तिविप्रमुक्ता इति भावः । इत्थंभूता अपि कैश्चिद् यदृच्छावादिभिरक्रमसिद्धत्वेनापि गीयन्ते । तथोक्तम्-"नैकादिसङ्ख्याक्रमतो, विना प्राप्तिनियोगतः । दरिद्रराज्याऽऽप्तिसमा, तन्मुक्तिः कथिता किम ?॥ १ ॥" ततस्तन्मतव्यपोहायाऽऽह-परम्परागता इति । परम्परया ज्ञानदर्शनचारित्ररूपया, मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतिप्रमत्ताप्रमत्तनिवृत्त्यनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहसयोग्ययोगिकेवलिगुणस्थानभेदभिन्नया, गताः । एवं च कैश्चित्सर्वथाऽनुन्मुक्तकर्मकवचा अभ्युपगम्यन्ते, तीर्थनिकारदर्शनादिहाऽऽगच्छन्तीति वचनतः पुनः संसारावतरणाभ्युपगमात्तन्मतापाकरणार्थमाह-उन्मुक्तकर्मकवचाः-उत्प्राबल्येनापुनर्भवरूपतया मुक्तं परित्यक्तं कर्म कवचमिव कर्मकवचं यैस्ते उन्मुक्तकर्मकवचाः । अत एव अजराः शरीराभावतो जरसोऽभावात्, अमरा अशरीरत्वादेव प्राणत्यागासम्भवात् । उक्तं च-"वयसो हाणीह जरा, पाणच्चाओ य मरणमाइट्ठं । सइ देहम्मि तदुभयं, तदभावे नेव कस्सेव ॥१॥" असङ्गाः-बाह्याभ्यन्तरसङ्गरहितत्वात् ॥ २० ॥

णित्थिण्णसव्वदुक्खा, जातिजरामरणबंधणविमुक्का ।

अव्वाबाहं सुक्खं, अणुहोंती सासयं सिद्धा ॥ २१ ॥

"णित्थिण्ण" इत्यादि । निस्तीर्णं लङ्घितं सर्वं दुःखं यैस्ते निस्तीर्णसर्वदुःखाः । कुतः ?, इत्याह-(जातिजरामरणबंधणविमुक्का) जातिर्जन्म, जरा वयोहानिलक्षणा, मरणं प्राणत्यागरूपं, बन्धनानि तन्निबन्धनरूपाणि कर्माणि, तैर्विशेषतो निःशेषापगमेन मुक्ता जातिजरामरणबन्धनविमुक्ताः । हेत्वन्वयं प्रथमा । यतो जरामरणबन्धनविमुक्तास्ततो निस्तीर्णसर्वदुःखाः, कारणाभावात् । ततोऽव्याबाधं सौख्यं शाश्वतं सिद्धा अनुभवन्ति ॥२१॥ प्रज्ञा० २ पद । औ० । एतदर्थप्रतिपादकं प्रज्ञापनाया द्वितीये पदे, प्रज्ञा० २ पद । आ० म० । तिष्ठन्ति अनवस्थाननिबन्धनकर्माभावेन सदाऽवस्थिता भवन्ति यत्र तत् स्थानम् । क्षीणकर्मणो जीवस्य स्व-

---

* "शकेश्चय तर-तीर-पाराः" ॥ ८ । ४ । ८६ ॥ शक्नोतेरेते चत्वार आदेशा भवन्ति । 'चयइ' । त्यजतेरपि 'चयइ' ।

रूपे, लोकाग्रे वा । भ० १ श० १ उ० । औ० । सं० । तिष्ठन्ति सकलकर्मक्षयावाप्तानन्तज्ञानसुखरूपाव्याबाधाः शुद्धात्मानोऽस्मिन्निति स्थानम् । सम्म० २ काण्ड । व्यवहारतः सिद्धिक्षेत्रे, निश्चयतो यथाऽवस्थितस्वरूपे, स्थानस्थानिनोरभेदोपचारात् सिद्धिगतिनामधेये, जी० ३ प्रति० । प्रदेशे, पा० । ग० । तिष्ठन्ति मुमुक्षवो येषु तानि स्थानानि । महाव्रतेषु, पञ्चा० १२ विव० । आ० म० । स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानम् । दुर्गतिगमनाऽऽदिके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अवगाहनायाम्, आ० म० २ अ० । तिष्ठन्ति साधवोऽत्रेति स्थानम् । वसतौ, बृ० २ उ० । तिष्ठन्त्यस्मिन् कर्माणि प्रायश्चित्ताऽऽचरणेन इति स्थानम् । पाराञ्चिते, जी० १ प्रति० । तिष्ठन्त्यस्मिन्प्रतिपाद्यतया जीवाऽऽदय इति स्थानम् । स्थानाङ्गाऽऽख्ये प्रवचनपुरुषस्य तृतीयेऽङ्गे, स० १ अङ्ग । समुदाये, कर्म० ५ कर्म० ।

ठाणंग-स्थानाङ्ग-न० । तिष्ठन्ति प्रतिपाद्यतया जीवाऽऽदयः पदार्था अस्मिन्निति स्थानम् । नं० । स० । तिष्ठन्ति आसते वसन्ति यथावदभिधेयतयैकत्वाऽऽदिविशेषिता आत्माऽऽदयः पदार्था यस्मिन् तत्स्थानम् । अथवा-स्थानशब्देनेहैकाऽऽदिकः सङ्ख्याभेदोऽभिधीयते, ततश्चाऽऽत्माऽऽदिपदार्थगतानामेकाऽऽदिदशान्तानां स्थानानामभिधायकत्वेन आचाराभिधायकत्वादाचारवदिति स्थानं, तच्च प्रवचनपुरुषस्य क्षायोपशमिकभावरूपस्याङ्गमिवाङ्गमिति समुदायार्थः । स्था० १ ठा० । प्रवचनपुरुषस्य तृतीयेऽङ्गे, स० १ अङ्ग ।

से किं तं ठाणे ? । ठाणेणं जीवा ठाविज्जंति, अजीवा ठाविज्जंति, जीवाजीवा ठाविज्जंति, ससमए ठाविज्जइ, परसमए ठाविज्जइ, ससमयपरसमए ठाविज्जइ, लोए ठाविज्जइ, अलोए ठाविज्जइ, लोयालोए ठाविज्जइ । ठाणेणं टंका कूडा सेला सिहरिणो पब्भारा कुंडाइं गुहाओ आगरा दहा नईओ आघविज्जंति । ठाणेणं एगाइयाए एगुत्तरियाए वुड्डीए दसट्ठाणगविवड्डियाणं भावाणं परूवणा आघविज्जइ । ठाणस्स णं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, से णं अंगट्ठयाए तइए अंगे एगे सुयक्खंधे दस अज्झयणा एगवीसं उद्देसणकाला एगवीसं समुद्देसणकाला बावत्तरिपयसहस्सा पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति, से एवं आया एवं नाया एवं विन्नाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, से तं ठाणे ।

" से किं तं " इत्यादि । अथ किं तत् स्थानम् ? । तिष्ठन्ति प्रतिपाद्यतया जीवाऽऽदयः पदार्था अस्मिन् इति स्थानम् । तथा चाऽऽह सूरिः-" ठाणेणं " इत्यादि । स्थानेन, स्थाने वा, आङ्गमिति वाक्यालङ्कारे, जीवाः स्थाप्यन्ते यथाऽवस्थितस्वरूपप्ररूपणया व्यवस्थाप्यन्ते, शेषं प्रायो निगदसिद्धं, नवरं (टंक त्ति) छिन्नतटं टङ्कम्, कूटानि पर्वतस्योपरि । यथा-वैताढ्यस्योपरि सिद्धाऽऽयतनकूटाऽऽदीनि नव कूटानि, शैला हिमवदादयः, शिखरिणः शिखरेण समन्विताः, ते च वैताढ्याऽऽदयः । तथा यत् कूटमुपरि कुब्जाग्रवत् कुब्जं तत्प्राग्भारम् । यद्वा-यत् पर्वतस्य उपरि हस्तिकुम्भाऽऽकृति कुब्जं विनिर्गतं, तत्प्राग्भारम् । कुण्डानि गङ्गाकुण्डाऽऽदीनि, गुहास्तमिस्रागुहाऽऽदयः, आकरा रूप्यसुवर्णाऽऽद्युत्पत्तिस्थानानि, ह्रदाः पौण्डरीकाऽऽदयः, नद्यो गङ्गासिन्ध्वादयः, आख्यायन्ते । तथा स्थानेन । अथवा-स्थाने, णमिति वाक्यालङ्कारे । एकाद्येकोत्तरिकया वृद्ध्या दशस्थानं यावद् विवर्द्धितानां भावानां प्ररूपणा आख्यायते । किमुक्तं भवति?-एकसंख्यायां द्विसंख्यायां यावद्दशसंख्यायां ये ये भावा यथाऽन्तर्भवन्ति, तथा ते ते प्ररूप्यन्ते इत्यर्थः । यथा " एगे आया " इत्यादि, तथा " जं इत्थं च णं लोगे तं सव्वं दुप्पडोयारं जीवा चेव अजीवा चेव " इत्यादि । " ठाणस्स णं परित्ता वायणा " इत्यादि सर्वं प्राग्वत्परिभावनीयम् । पदपरिमाणं च पूर्वस्मादङ्गादुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नङ्गे द्विगुणमवसेयं, शेषं पाठसिद्धं यावन्निगमनम् । नं० । निपुणबुद्ध्यादिगुणगणमाणिक्यरोहणधरणीकल्पेन ज्ञाताऽऽकारनियुक्तेनेव गणधरेण पूर्वकाले चतुर्वर्णश्रमणसङ्घभट्टारकस्य तत्सन्तानस्य चोपकाराय निरूपितस्य विविधार्थरत्नसारस्य देवताऽधिष्ठितस्य विद्याक्रियाबलवताऽपि पूर्वपुरुषेण केनापि कुतोऽपि कारणादननुमुद्रितस्यात एव च केषाञ्चिदनर्थिनीकृतां मनोरथगोचरातिक्रान्तस्य महानिधानस्येव स्थानाङ्गस्य तथाविधविद्याऽऽदिबलविकलैरपि केवलं धार्ष्ट्यप्रधानैः स्वपरोपकारार्थविनियोजनाभिलाषिभिरत एव चाविगणितस्वयोग्यतैर्निपुणपूर्वपुरुषप्रयोगानुपसृत्य किञ्चित् समस्योत्प्रेक्ष्य तथाविधवर्त्तमानजनानापृच्छ्य च तदुपायान् दूताऽऽदिमहाव्यसनोपेतैरिवास्माभिरनुयोगः प्रारभ्यत इति शास्त्रप्रस्तावना । तस्य चानुयोगस्य फलाऽऽदिद्वारनिरूपणतः प्रवृत्तिः । यत उक्तम्-" तस्स फलजोगमंगल-समुदायत्था तहेव दाराइं । तब्भेयनिरुत्तिकम-पयोयणाइं च वच्चाइं " ॥१॥ इति । तत्र प्रेक्षावतां प्रवृत्तये फलमवश्यं वाच्यम् । अन्यथा हि निष्प्रयोजनत्वमस्याऽऽशङ्कमानाः श्रोतारः कण्टकशाखामर्दन इव न प्रवर्त्तेरन्निति । तच्चानन्तरपरम्परभेदाद् द्विधा । तत्रानन्तरमर्थावगमः, तत्पूर्वकानुष्ठानतश्चापवर्गप्राप्तिर्या सा परम्परप्रयोजनमिति । तथा योगः सम्बन्धः । स च यदि उपायोपेयभावलक्षणो, यदुतानुयोग उपायः, अर्थावगमाऽऽदि चोपेयमिति, तदा सप्रयोजनाभिधानादेवाभिहित इत्यथ गुरुपर्वक्रमलक्षणः सम्बन्धोऽस्य वाच्यः । कोऽस्य दाने संबन्धोऽवसर इति, भाव्यो योग्यो वा दाने अस्य क इति ? । तत्र भव्यस्य मोक्षमार्गाभिलाषिणः स्थितगुरूपदेशस्य प्राणिनोऽष्टवर्षप्रमाणप्रव्रज्यापर्यायस्यैव सूत्रतोऽपि स्थानाङ्गं देयमिति । अयमवसरो, योग्योऽपि चायमेवेति ।

यथोक्तम्-

" तिवरिसपरियागस्स उ, आयारपकप्पणाममज्झयणं ।
चउवरिसस्स य सम्मं, सूयगडं नाम अंग ति ॥ १ ॥
दसकप्पव्ववहारा, संवच्छरपणगदिक्खियस्सेव ।
ठाणं समवाओ वि य, अंगे ते अट्ठवासस्स ॥ २ ॥ " इति ।

अन्यथा दानेऽस्याऽऽज्ञाभङ्गाऽऽदयः दोषा इति । स्था० १ ठा० ।

ठाणंतर-स्थानान्तर-न० । स्वस्थानात्परस्थाने, पं० २ अधि० ।

ठाणकप्प–स्थानकल्प–पुं० । कल्पभेदे, "अधुणा तु ठाणकप्पो, उद्दट्ठाणादिओ मुणेयव्वो । ठितकप्पसंजतस्स वि, अणुपालो वहितस्सेव ॥१॥" पं० भा० । पं० चू० ।

ठाणगुण–स्थानगुण–पुं० । स्थानं स्थितिर्गुणः कार्यं यस्य स स्थानगुणः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । जीवपुद्गलानां स्थितिपरिणतानां स्थित्युपष्टम्भहेतौ गुणतोऽधर्मास्तिकाये, भ० १ श० १ उ० ।

ठाणचंचल–स्थानचञ्चल–पुं० । चञ्चलशब्दोक्तार्थके चञ्चलभेदे, बृ० १ उ० ।

ठाणठवणा–स्थानस्थापना–स्त्री० । उचितस्थानन्यासे, पञ्चा० ८ विव० ।

ठाणठाइ[ण्]–स्थानस्थायिन्–पुं० । उचितस्थानस्थातरि, बृ० १ उ० । नि० चू० ।

ठाणठिइ–स्थानस्थिति–स्त्री० । विहारान्तरं वसतिप्रवेशात्प्राक् मध्ये स्थितौ, ओघ० । (एतद्वक्तव्यता च 'मासकप्पविहार' शब्दे वक्ष्यते)

ठाणठिय–स्थानस्थित–त्रि० । उत्तरोत्तरविशिष्टसंयमस्थानास्थासिनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

षष्ठे द्वारे स्थानस्थितो भवतीत्युक्तं, स च एभिः कारणैः–

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे जए णइफाणे ।
फिडिएँ गिलाणे कालगएँ,वासे ठाणट्ठिओ होइ ।।१७७

अशिवे देवताजनितोपद्रवे सति तस्मिन् यत्राभिप्रेतं गमनं कदाचिदपान्तराले भवति, ततश्चानेन कारणेन स्थानस्थितो भवति । (ओमोयरिए त्ति) दुर्भिक्षे विवक्षिते देशे जाते अपान्तराले वा, ततश्च स्थानस्थितो भवति । (रायदुट्ठ त्ति) राजद्विष्टं कदाचित्तत्र भवत्यभिप्रेतदेशे, अपान्तराले वा, तेन च कारणेन स्थानस्थितो भवति । स्तेनाऽऽदिभयं विवक्षिते देशे,अपान्तराले वा, ततस्तेन कारणेन स्थानस्थितो भवति । (नइ त्ति) कदाचिन्नदी विवक्षिते देशे अपान्तराले वा भवति, तेन प्रतिबन्धेन स्थानस्थितो भवति । (फिडिय त्ति) कदाचिदसावाचार्यस्तस्मात् क्षेत्रात् च्युतोऽपगतो भवति, ततश्च तावदास्ते यावद्वार्त्ता लभ्यते, अनेन कारणेन स्थानस्थितो भवति । (गिलाणे त्ति) ग्लानः कदाचिदसावाचार्यो जायते, तेन प्रतिबन्धेन स्थानस्थितो भवति । (कालगए त्ति) कदाचिदसावाचार्यः कालगतो मृतो जायते तथाच यावत्सन्निश्रयो भवति तावत् स्थानस्थितो भवति । (वासे त्ति) वर्षाकालः संजातस्ततस्तत्प्रतिबन्धात् स्थानस्थितो भवति, तत्रैव ग्रामाद्यावास्ते । इयं द्वारगाथा ॥१७७॥

इदानीं निर्युक्तिकार एव तानि विहाराणि व्याख्यानयन्नाह–

तत्थेव अंतरा वा, असिवाऽऽदी सोउ परिरयस्सऽसति ।
संचिट्ठे जाव सिवं,अहवा वी ते तओ फिडिया ।।१७८।।

(तत्थ त्ति) तत्र योऽसौ विवक्षितो देशः,तत्रैव(अंतरा)अन्तराले वा, अशिवाऽऽदयो जाता इति श्रुत्वा आकर्ण्य । आदिग्रहणात् अवमौदरिकराजद्विष्टभयानि परिगृह्यन्ते ।(परिरयस्सऽसइ त्ति) 'अभावयस्स' असति अभावे तिष्ठति । एतदुक्तं भवति–यदि गन्तुं शक्नोति श्रमणः ततोऽपान्तरालं परिहृत्याभिलषितस्थानं गच्छति, अथ न शक्यते गन्तुं ततः (संचिट्ठे त्ति) संतिष्ठते । कियन्तं कालं यावत् ?, अत आह–(जाव सिवं) यावत् शिवं निरुपद्रवं जातमिति । (अहवा वी ते तओ फिडिया) अथवा ते आचार्याऽऽदयस्तस्मात् क्षेत्रादपगता भ्रष्टा इति, ततश्च वार्त्तोपलम्भं यावत् तिष्ठति ॥ १७८ ॥

इदानीं भाष्यकृत् शेषद्वाराणि व्याख्यानयन्नाह–

पुन्ना य नई चउमा–सवाहिणी वि य न कोइ उत्तारे ।
तत्थंतरालदेसे, उट्ठिउ ण वि लब्भइ पवित्ती ।।१७९।।

पूर्णा भृता, का ?, नदी, किंविशिष्टा ?, चतुर्मासवाहिनी, न च कश्चिदुत्तारयति, ततोऽपान्तराले एव तिष्ठति । तत्र, अन्तराले वा देशे, उत्थित उद्गमितः, न च प्रवृत्तिवार्ता लभ्यते, अतस्तिष्ठति तावत् ॥१७९॥

फिडिएसु जा पवत्ती, सयं गिलाणो परं व पडियरइ ।
कालगय त्ति पवित्ती, ससंकिए जाव निस्संकं ।।१८०।।

(फिडिएसु) तस्मात् क्षेत्रादपगतेषु सत्सु (जा पवत्ती) यावद्वार्त्ता भवति, तावत्तिष्ठति । तथा–(सयं गिलाणो) स्वयमेव ग्लानो जातः, ततस्तिष्ठति । (परं व पडियरइ) अन्यं वा ग्लानं सन्तं प्रतिचरति (कालगय त्ति पवित्ती) अथवा–कालगतास्ते आचार्याः, इति एवम्भूता,प्रवृत्तिः श्रुता, ततः (ससंकिए जाव निस्संकं) सशङ्कायां वार्त्तायामनिश्चितायां तावदास्ते, यावन्निःशङ्कं संजातमिति ॥१८०॥

वासासुं उब्भिन्ना, वीयाऽऽई तेण अंतरा चिट्ठे ।
तेगिच्छि भोगि सार–क्खणट्ठे य ठाणमिच्छंति ।।१८१।।

वर्षासूद्भिन्ना बीजाऽऽदयः, आदिशब्दादनन्तकायः, तेन कारणेन अन्तराल एव तिष्ठति । मन्दश्च (तेगिच्छि त्ति) चिकित्सकं, तथा (भोग त्ति) भोगिकं ग्रामस्वामिनं पृच्छति । किमर्थं पुनः वैद्यभोगिकयोः पृच्छनं करोतीत्यत आह–(सारक्खणट्ठे) वैद्यं पृच्छति मन्दतायां सत्यां (दढे त्ति) दृढीकरणार्थम्, भोगिकं पृच्छति संरक्षणार्थं परिभवाऽऽदेः, ततः स्थानं च वसनमिच्छन्ति कश्चित् ॥१८१॥

तत आह–

संविग्गसन्निभद्दग–अहप्पहाणेसु भोइयघरे वा ।
ठवणा आयरियस्सा, सामायारी पउंजणया ।। १८२ ।।

वैद्यभोगिकयोः कथयित्वा संविग्नेषु मोक्षाभिलाषिषु तिष्ठति, (सन्नि त्ति) सञ्ज्ञी श्रावकः, तद्गृहे तिष्ठति, भद्रकः साधूनां भद्रकारः, तद्गृहे तिष्ठति, तद्गृहे निवासं करोति । (अहप्पहाणेसु त्ति) यथाप्रधानेष्विति–यो यत्र ग्रामाऽऽदौ प्रधानः प्रथितस्तेषु यथाप्रधानेष्विति । एतेषामभावे (भोइयघरे व त्ति) भोगिकगृहे वा ग्रामस्वामिगृहे वा तिष्ठति । तत्र च तिष्ठन् किं करोतीति ?,अत आह–(ठवणा आयरियस्सा) दण्डकाऽऽदिमाचार्यं कल्पयति निराबाधे प्रदेशे; अयमाचार्य इति मत्वा चातः सकलां चक्रवालसामाचारीं प्रयुङ्क्ते, विधत्ते करोतीत्यर्थः ॥१८२॥

एतच्च कारणिकद्वारम्–

एवं ता कारणिओ, दूइज्ज जुत्तो अप्पमाएणं ।
निक्कारणिओ एत्तो, चइओ आहिंडओ चेव ।। १८३ ।।

एवं तावत्कारणिकः, (दूइज्ज त्ति) विहरति । कथं विहरति ?, (जुत्तो अप्पमाएणं) अप्रमादेन युक्तः, प्रयत्नपर

इत्यर्थः । निष्कारणिकोऽत ऊर्ध्वमुच्यते, स द्विविधः (चइओ) त्याजितः सारणवारणाऽऽदिभिस्त्याजितः; आहिण्डकः-अगीतार्थत्वात्सूत्राऽऽदिदर्शनप्रवृत्तः ॥१०३॥

तत्र तावत् त्याजित उच्यते-

जह सागरम्मि मीणा, संखोहं सागरस्स असहंता ।
णिंति तओ सुहकामी, निग्गयमेत्ता विणस्संति ॥१०४॥

यथा सागरे समुद्रे, मीना मत्स्याः, संक्षोभं सागरस्य असहमानाः, निर्गच्छन्ति, ततः समुद्रात्, सुखकामिनः सुखाभिलाषिणः, निर्गतमात्राश्च विनश्यन्ति ॥१०४॥

एवं गच्छसमुद्दे, सारणवीईहिँ चोइया संता ।
णिंति तओ सुहकामी, मीणा व जहा विणस्संति ।१०५।

एवं गच्छसमुद्रे सारणवारणा एव वीचयः, ताभिस्त्याजिताः सन्तो निर्गच्छन्ति, ततो गच्छात्, सुखाभिलाषिणो, मीना इव मीना यथा विनश्यन्ति । उक्तं त्याजितद्वारम् ॥१०५॥ ओघ० ।
(आहिण्डकस्तु 'आहिंडग' शब्दे द्वितीयभागे ५२७ पृष्ठे प्रतिपादितः)

ठाणणिउत्त-स्थाननियुक्त-त्रि० । स्थाने पदे नियुक्तो व्यापारितः स्थाननियुक्तः । प्रवर्तकत्वविरगणावच्छेदकेषु, ग०१ अधि० । सामान्यसाधौ, ध० ३ अधि० ।

ठाणतिग-स्थानत्रिक-न० । स्थानत्रये, ध० । पिण्डग्रहणं कुर्वता स्थानत्रयं परिहरणीयम् । तद्यथा-आत्मोपघाति, संयमोपघाति, प्रवचनोपघाति चेति । ध० ३ अधि० ।

ठाणपडिमा-स्थानप्रतिमा-स्त्री० । स्थानं कायोत्सर्गाऽऽद्यर्थं आश्रयः, तत्र प्रतिमा स्थानप्रतिमा । स्थानविषयके तथाऽभिधेऽभिग्रहे, "चत्तारि ठाणपडिमा ।" (स्था०) स्थानं कायोत्सर्गाऽऽद्यर्थं आश्रयः, तत्र प्रतिमाः स्थानप्रतिमाः । तत्र कस्यचिद् भिक्षोरेवंभूतोऽभिग्रहो भवति-यदहमचित्तं स्थानमुपाश्रयिष्यामि, तत्र चाऽऽकुञ्चनप्रसारणाऽऽदिकां क्रियां करिष्ये, तथा किञ्चिदचित्तं कुड्यादिकमवलम्बयिष्ये, तथा तत्रैव स्तोकं पादविहरणं समाश्रयिष्यामीति प्रथमा प्रतिमा । द्वितीया तु आकुञ्चनप्रसारणाऽऽदिक्रियामवलम्बनं च करिष्ये, न पादविहरणमिति । तृतीया तु आकुञ्चनप्रसारणमेव, नालम्बनपादविहरणे इति । चतुर्थी पुनर्यत्र त्रयमपि न विद्यते । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

ठाणपरिणाम-स्थानपरिणाम-पुं० । परिणमनं परिणामः, तत्तद्भावगमनमित्यर्थः । यदाह-परिणामो ह्यर्थान्तराऽऽगमनं, न च सर्वथा व्यवस्थानं, न च सर्वथा विनाशः । परिणामभेदे, स्था० १० ठा० ।

ठाणभट्ठ-स्थानभ्रष्ट-त्रि० । स्थानाचारित्राद्, गुरुकुलाऽऽवासाऽऽदिकात्, सिद्धान्तव्याख्यानरूपाद्वा सूत्रप्ररूपणेन भ्रष्टे, दुराचारे च । तं० ।

ठाणरय-स्थानरत-त्रि० । कायोत्सर्गकारिणि, आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

ठाणविच्छुय-स्थानवृश्चिक-न० । सम्मूर्छिमनपुंसकजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

ठाणसत्तिक्कय-स्थानसप्तैकक-पुं० । आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे सप्तैककानां प्रथमे, आचा० २ श्रु० २ चू० । स्था० ।
(अत्रत्यः सर्वो विषयो 'वसहि' शब्दे वक्ष्यते)

ठाणाइगा-स्थानायतिका-स्त्री० । ऊर्ध्वस्थायाम, बृ० । नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः स्थानायतयो भवितुं स्थानायतं नामोर्ध्वस्थानरूपमायतं स्थानं, तद्यस्यामस्ति सा स्थानायतिका । बृ० ५ उ० ।
स्थानादिगा-स्त्री० । ऊर्ध्वस्थायाम, क्वचित्तु 'ठाणाइगा' इति पठन्ति । तत्रायमर्थः-सर्वेषां निषदनाऽऽदीनां स्थानानामादिभूतमूर्ध्वस्थानमतः स्थानानामादौ गच्छतीति स्थानाऽऽदिगं तदुच्यते, तद्योगादार्यिकाऽपि स्थानाऽऽदिगेति व्यपदिश्यते । बृ० ५ उ० । (एतच्च 'आसन' शब्दे द्वितीयभागे ४७० पृष्ठे उक्तम)

ठाणाइय-स्थानातिद-पुं० । स्थानं कायोत्सर्गाऽऽदिकमतिशयेन ददाति प्रकरोति अतिगच्छति चेति । स्था० ७ ठा० । भ० । कायोत्सर्गकारिणि, धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् कायक्लेशभेदे च । स्था० ७ ठा० ।
स्थानातिग-पुं० । कायक्लेशभेदे, स्था० ७ ठा० ।
स्थानायतिक-पुं० । कायक्लेशभेदे, स्था० ७ ठा० ।

ठाणायय-स्थानाऽऽयत-न० । ऊर्ध्वस्थानरूपे आयतस्थाने, बृ० ५ उ० ।

ठाणि [ण्]-स्थानिन्-पुं० । त्रि० । स्थानानि विद्यन्ते येषां ते स्थानिनः । स्थानवत्सु, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

ठाणुक्कुडुय-स्थानोत्कुटुक-त्रि० । स्थानमासनमुत्कुटुकमाधारे पुनालगनरूपं यस्यासौ स्थानोत्कुटुकः । आसनाभिग्रहविशेषवति, भ० २ श० १ उ० ।

ठाणुप्पाइयमह-स्थानोत्पातिकमह-पुं० । स्वनामख्याते अपूर्वे उत्सवविशेषे, बृ० १ उ० ।

ठावण-स्थापन-न० । आरोपणे, पो० १२ विव० । धारणे, पञ्चा० १२ विव० ।

ठावणा-स्थापना-स्त्री० । निक्षेपे, न्यासे, स्था० १ ठा० । प्रतिष्ठायाम, बृ० । प्रतिष्ठा स्थापना स्थानं व्यवस्था संस्थितिः स्थितिरवस्थानम, अवस्था चैकार्थिकानि पदानि । बृ० ५ उ० ।

ठावित्ता-स्थापयितृ-त्रि० । स्थापनशीले, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

ठिअलेस्स-स्थितलेश्य-न० । लेश्यभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।
(अर्थस्तु 'बालमरण' शब्दे वक्ष्यते)

ठिइ-स्थिति-स्त्री० । अवस्थाने, आव० ४ अ० । विशे० । आ० चू० । स्थाने, स्था० ५ ठा० २ उ० । जीतं स्थितिः कल्पो व्यवस्था समयो मर्यादेति हि पर्यायाः । नं० । दर्श० । "दुविहा ठिई पण्णत्ता । तं जहा-कायट्ठिई चेव, भवट्ठिई चेव ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । आव० । आ० चू० । (व्याख्या 'कप्पट्ठिइ' शब्दे तृतीयभागे २३३ पृष्ठे प्रदर्शिता) स्थितिः प्रकल्पमवस्थानं विकल्पनमित्येकार्थम् । स्था० ४ ठा० ३ उ० । स्वभावव्यवस्थायाम, द्वा० २१ द्वा० । क्रमे, स्था० ४ ठा० १ उ० । आयुषि, भ० १४ श० ५ उ० । प्रश्न० । तत्कारणके आयुषि, कल्प० ६ क्षण ।

नैरयिकाणाम्-

नेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ।

नैरयिकाणां भदन्त ! कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता ? । तत्र स्थीयते ऽवस्थीयते अनयाऽऽयुष्कर्मानुभूत्येति स्थितिः, स्थितिरायुष्कर्मानुभूतिर्जीवनमिति पर्यायाः । यद्यप्यत्र जीवेन मिथ्यात्वाऽऽदिभिर्हेतुभिः कर्मतया परिगृहीतानां कर्मपुद्गलानां ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिरूपतया परिणतानां यदवस्थानं सा स्थितिरिति प्रसिद्धं, तथापि नारकाऽऽदिव्यपदेशहेतुरायुष्कर्मानुभूतिः । तथाहि-यद्यपि नरकगतिपञ्चेन्द्रियजात्यादिनामकर्मोदयाऽऽश्रयो नारकत्वपर्यायः, तथाऽपि नारकाऽऽयुःप्रथमसमयसंवेदनकाल एव तन्निबन्धननारकक्षेत्रमप्राप्तोऽपि नारकस्य व्यपदेशं लभते । तथा च भगवत्यां प्रवचनम्-" नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववज्जइ, अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ ?। गोयमा ! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ,नो अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ" इत्यादि । ततः सैवाऽऽयुष्कर्मानुभूतिरिह यथोक्तव्युत्पत्त्या स्थितिरभिधीयते इति । अत्र निर्वचनमाह-" गोयमा ! " इत्यादि । एतच्च पर्याप्तापर्याप्तविभागाभावेन सामान्यत उक्तम् ।

यदा तु पर्याप्तापर्याप्तविभागेन चिन्ता, तदेदं सूत्रम्--

अपज्जत्तगनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।

" अपज्जत्तगनेरइयाणं भंते ! " इत्यादि । इहापर्याप्ता द्विविधाः--लब्ध्या,करणैश्च । तत्र नैरयिका देवाः संख्येयवर्षायुष्कतिर्यङ्मनुष्याः करणैरेवापर्याप्ताः, न लब्ध्या, लब्ध्यपर्याप्तकानां तेषु मध्ये उत्पादासम्भवात् । तत एते उपपातकाल एव करणैः कियन्तं कालमपर्याप्ता द्रष्टव्याः । शेषास्तु तिर्यङ्मनुष्या लब्ध्या अपर्याप्ता उपपातकाले च ।

उक्तं च—

" नारगदेवा तिरिमणु-यगब्भजा जे असंखवासाऊ ।
एए अपज्जत्ती, उववाए चेव बोधव्वा ॥ १ ॥
सेसा य तिरियमणुया, लद्धिं पप्पोववायकाले य ।
दुहओ वि य भइयव्वा, पज्जत्तियरे य जिणवयणं ॥ २ ॥ "

अपर्याप्तकाश्च जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्त्तम् । अत उक्तम्-" गोयमा ! जहन्नेणं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं " ।

पज्जत्तगनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ॥

अपर्याप्ताद्धाऽपगमे च शेषकालः पर्याप्ताद्धा । तत उक्तं पर्याप्तसूत्रे--" गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । " एतच्च पृथिव्यविभागेन चिन्तितम् ।

सम्प्रति पृथिवीविभागेन चिन्तयति-

रयणप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं सागरोवमं । अपज्जत्तयरयणप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयरयणप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तूणं । प्रज्ञा० ४ पद । अनु० स० ।

इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए अत्थेगइयाणं नेरइयाणं तेवीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । सम० २३ सम० ।

सक्करप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं एगं सागरोवमं, उक्कोसेणं तिन्नि सागरोवमाइं । अपज्जत्तयसक्करप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयसक्करप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं तिन्नि सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

वालुयप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं तिण्णि सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्त सागरोवमाइं । अपज्जत्तयवालुयप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयवालुयप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं तिण्णि सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सत्त सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

पंकप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं सत्त सागरोवमाइं,उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं । अपज्जत्तयपंकप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयपंकप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं सत्त सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

धूमप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस सागरोवमाइं,उक्कोसेणं सत्तर सागरोवमाइं । अपज्जत्तयधूमप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयधूमप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सत्तर सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ॥

तमप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं सत्तर सागरोवमाइं, उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं । अपज्जत्तयतमप्पभापुढ-

विनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयतमप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं सत्तर सागरोवमाई अंतोमुहुत्तूणाई, उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

अहेसत्तमपुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं । अपज्जत्तयअहेसत्तमपुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयअहेसत्तमपुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

देवानां स्थितिः-

देवाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं । अपज्जत्तयदेवाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयदेवाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

देवीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं पणपन्न पलिओवमाइं । अपज्जत्तगदेवीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयदेवीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं पणपन्न पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

भवणवासीणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमं। अपज्जत्तयभवणवासीणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयभवणवासीणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

भवणवासिणीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अद्धपंचमाइं पलिओवमाइं । अपज्जत्तियाणं भंते ! भवणवासिणीणं देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तियाणं भंते ! भवणवासिणीणं देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं अद्धपंचमाइं पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

असुरकुमाराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं साइरेगं सागरोवमं। अपज्जत्तयअसुरकुमाराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयअसुरकुमाराणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमं अंतोमुहुत्तूणं ॥

असुरकुमारीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अद्धपंचमाइं पलिओवमाइं । अपज्जत्तियाणं असुरकुमारीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहण्णेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तियाणं असुरकुमारीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं अद्धपंचमाइं पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

नागकुमाराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं,उक्कोसेणं दोण्णि पलिओवमाइं देसूणाइं । अपज्जत्तयाणं भंते ! नागकुमाराणं देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयाणं भंते ! नागकुमाराणं देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं दोण्णि पलिओवमाइं देसूणाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

नागकुमारीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं देसूणं पलिओवमं। अपज्जत्तियाणं नागकुमारीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तियाणं नागकुमारीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं,उक्कोसेणं देसूणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

सुवण्णकुमाराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई प-

एणत्ता ?। गोयमा ! जहणेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं देसूणाइं। अपज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं देसूणाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

सुवण्णकुमारीणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं देसूणं पलिओवमं। अपज्जत्तियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं; उक्कोसेणं देसूणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं।

एवं एएणं अभिलावेणं ओहियअपज्जत्तपज्जत्तसुत्तत्तयं देवाण य देवीण य णेयव्वं० जाव थणियकुमाराणं जहा नागकुमाराणं।

पुढविकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं। प्रज्ञा० ४ पद।

सण्हपुढवीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं एगं वाससहस्सं। सुद्धपुढवीपुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस वाससहस्सा। वालुयापुढवीपुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं चउद्दस वाससहस्सा। मणोसिलापुढवीपुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सोलस वाससहस्साइं। सक्करापुढवीपुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठारस वाससहस्साइं। खरपुढवीपुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्सा।

"सण्हपुढविकाइयाणं" इत्यादि। श्लक्ष्णपृथिवीकायिकानां भदन्त ! कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता ?। भगवानाह-गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्तम, उत्कर्षेण एकं वर्षसहस्रम्। एवमन्येनाभिलापेन शेषाणामपि पृथिवीनाम। शुद्धपृथिव्या द्वादश वर्षसहस्राणि, वालुकापृथिव्याश्चतुर्दश वर्षसहस्राणि, मनःशिलापृथिव्याः षोडश वर्षसहस्राणि, शर्करापृथिव्या अष्टादश वर्षसहस्राणि, खरपृथिव्या द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि। सर्वासामपि चामूषां पृथिवीनां जघन्येन स्थितिरन्तर्मुहूर्तं वक्तव्या। जी० ३ प्रति०।

अपज्जत्तयपुढविकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयपुढविकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं। सुहुमपुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। अपज्जत्तयसुहुमपुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयसुहुमपुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। बादरपुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं। प्रज्ञा० ४ पद।

बायरस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पन्नत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता। जी० ६ प्रति०। अपज्जत्तयबादरपुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयबादरपुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

आउकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्त वाससहस्साइं। अपज्जत्तयआउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयआउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्त वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणिआइं। आउकाइयाणं ओहियाणं अपज्जत्तयाणं पज्जत्तयाणं जहा सुहुमपुढविकाइयाणं तहा भाणियव्वं। बादरआउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्त वाससहस्साइं। अपज्जत्तयबादरआउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्त वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

तेउकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि राइंदियाइं। अपज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि राइंदियाइं अंतोमुहुत्तूणाइं। सुहुमतेउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। अपज्जत्तापज्जत्ताणं सुहुमाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। बायरतेउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि राइंदियाइं। अपज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि राइंदियाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

वाउकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि वाससहस्साइं।

अपज्जत्तयवाउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । सुहुमवाउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । अपज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । बादरवाउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं तिन्नि वाससहस्साइं । अपज्जत्तबादरवाउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तबादरवाउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

वणस्सइकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं । अपज्जत्तयाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । सुहुमवणस्सइकाइयाणं ओहियाणं अपज्जत्तपज्जत्ताण य अंतोमुहुत्तं । बादरवणस्सइकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं । अपज्जत्तबादरवणस्सइकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तबादरवणस्सइकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

बेइंदियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं । अपज्जत्तबेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तबेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

तेइंदियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं एगूणपन्नराइंदियाइं । अपज्जत्तयतेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्ततेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं एगूणपन्नराइंदियाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

चउरिंदियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छम्मासा । अपज्जत्तयचउरिंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयचउरिंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं छम्मासा अंतोमुहुत्तूणा ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं । अपज्जत्तयपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । अपज्जत्तयसंमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयसम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा । गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं । अपज्जत्तगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं पुव्वकोडी । अपज्जत्तजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा । सम्मुच्छिमजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं पुव्वकोडी । अपज्जत्तयसम्मुच्छिमजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तसम्मुच्छिमजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा । गब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं पुव्वकोडी । अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगब्भवक्कंतयजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा ।

चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। अपज्जत्तयचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं चउरासीइं वाससहस्साइं । अपज्जत्तयसम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगसम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं चउरासीइं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी। अपज्जत्तयउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा ।

सम्मुच्छिमसामण्णपुच्छा कायव्वा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं तेवण्णवाससहस्साइं। अपज्जत्तगसम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तगसम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेवण्णवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । गब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी। अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तगगब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा।

भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं पुव्वकोडी। अपज्जत्तयभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा। सम्मुच्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बायालीसं वाससहस्साइं । अपज्जत्तयसम्मुच्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगसम्मुच्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं बायालीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । गब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयगब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा ।

खहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागे। अपज्जत्तयखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागे अंतोमुहुत्तूणं। सम्मुच्छिमखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावत्तरिवाससहस्साइं । अपज्जत्तयसम्मुच्छिमखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयसम्मुच्छिमखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावत्तरिवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । गब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागे। अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतो-

मुहुत्तं । पज्जत्तयगब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्खजो-णियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्को-सेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागो अंतोमुहुत्तूणो ।

मणुस्साणं भंते! केवइयं कालं ठिई पएणत्ता?। गोयमा! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिएिण पलिओवमाइं। अ-पज्जत्तयमणुस्साणं पुच्छा ?। गोयमा! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयमणुस्साणं पुच्छा ?। गोयमा! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिएिण पलिओव-माइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद ।

(निर्ग्रन्थानां स्थितिः ' णिग्गंथ ' शब्दे वक्ष्यते)

स्त्रीणाम्—

मणुस्सित्थीणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पएणत्ता ?। गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिएिण पलिओवमाइं। धम्मचरणं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । कम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पएणत्ता ?। गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिएिण पलिओ-वमाइं । धम्मचरणं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्को-सेणं देसूणा पुव्वकोडी । भरहेरवयकम्मभूमगमणुस्सि-त्थीणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पएणत्ता ?। गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिएिण पलि-ओवमाइं । धम्मचरणं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । पुव्वविदेहअवरविदेहक-म्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पएण-त्ता ?। गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उ-क्कोसेणं पुव्वकोडी । धम्मचरणं पडुच्च जहएणेणं अं-तोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। अकम्मभूमगमणु-स्सित्थीणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पएणत्ता ?। गो-यमा ! जम्मणं पडुच्च जहएणेणं देसूणं पलिओवमं, प-लिओवमस्स असंखेज्जतिभागेणं ऊणगं, उक्कोसेणं तिएिण पलिओवमाइं । संहरणं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । हेमवए एरन्नवए जह-एणेणं देसूणं पलिओवमं, पलिओवमस्स असंखेज्जइ-भागेणं ऊणगं, उक्कोसेणं पलिओवमं । संहरणं पडुच्च ज-हएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । हेम-वए एरन्नवए पडुच्च जहएणेणं देसूणं पलिओवमं, पलिओ-वमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगं, उक्कोसेणं पलिओवमं। संहरणं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । हरिवासरम्मगवासअकम्मभूमगमणुस्सित्थी-णं भंते ! केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ?। गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहएणेणं देसूणाइं दो पलिओव-माइं, पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं ऊणाइं, उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं । संहरणं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उ-क्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमग-मणुस्सित्थीणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पएणत्ता ?। गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहएणेणं देसूणाइं तिएिण पलि-ओवमाइं, पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेणं ऊणगाइं, उक्कोसेणं तिएिण पलिओवमाइं । संहरणं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। अंतरदीवगअ-कम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते ! केवतियं कालं ठिती प-एणत्ता ?। गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहएणेणं देसूणं पलि-ओवमं, पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेणं ऊणयं, उ-क्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं । संहरणं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी ॥

मनुष्यस्त्रीणां क्षेत्रं प्रतीत्य, क्षेत्राऽऽश्रयणेनेति भावः । जघन्य-तोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देवकुर्वादिषु, भरताऽऽदिष्वपि च, एका-न्तसुषमाऽऽदिकाले त्रीणि पल्योपमानि । धर्मचरणं धर्मसेवनं प्र-तीत्य, जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमेव । तच्च तद्भवस्थितताया एव परि-णामवशतः प्रतिपातापेक्षया द्रष्टव्यम् । चरणधर्मस्य मरणम-न्तरेण सर्वस्तोकतयाऽप्येतावन्मात्रकालावस्थानभावात् । त-थाहि-काचित् स्त्री तथाविधक्षयोपशमभावतः सर्वविरतिं प्र-तिपद्य तावन्मात्रक्षयोपशमभावात् अन्तर्मुहूर्तानन्तरं भूयोऽ-पि अविरतसम्यग्दृष्टिं, मिथ्यात्वं च प्रतिपद्यते इति । अथवा-धर्मचरणमिह देशचरणं प्रतिपत्तव्यं, न सर्वचरणम्; देशचरण-प्रतिपत्तिस्तु जघन्यतोऽप्यन्तर्मौहूर्त्तिकी, तस्या भङ्गबहुलत्वा-त् । अथोभयाऽऽचरणसंभवे किमर्थमिह देशचरणं परिगृह्यते ?। उच्यते-देशचरणपूर्वकं प्रायः सर्वचरणमिति ख्यापनार्थम् । अत एवोक्तं वृद्धैः-" सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपुहुत्तेण सावओ होइ । चरणुवसमो खयाणं, सागरसंखंतरा होंति ॥ १ ॥ अविरवाकृत" इत्यादि । उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, अष्टसांव-त्सरिकया चरणधर्मप्राप्तेः, तदूर्ध्वं चरमान्तर्मुहूर्त्तं यावदप्रतिप-तितपरिणामभावात् । पूर्वपरिमाणं चेदम्-" पुव्वस्स उ परि-माणं, सयरिं खलु वासकोडिलक्खाओ । छप्पएणं च सहस्सा, बोधव्वा वासकोडीणं ॥१॥" इति । सम्प्रति कर्मभूमिकाऽऽदिवि-शेषस्त्रीणां वक्तव्यतामाह (कम्मभूमगमणुस्सित्थीणं इत्यादि) अक्षरगमनिका सुगमा । भावार्थस्त्वयम्-कर्मभूमिकमनुष्य-स्त्रीणां क्षेत्रं कर्मभूमिसामान्यलक्षणमधिकृत्य जघन्यतो-ऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । तानि च भरतै-रावतेषु सुषमसुषमालक्षणे अरके वेदितव्यानि। धर्मचरणमधि-कृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । भावना प्रागिव द्रष्टव्या । एवमुत्तरसूत्रद्वयेऽपि । अत्रैव विशेष-चिन्तां चिकीर्षुराह-"भरहेरवयवासकम्मभूमग" इत्यादि सु-गमं, नवरं भरतैरवतेषु त्रीणि पल्योपमानि, सुषमायां पूर्व-विदेहापरविदेहेषु क्षेत्रतः पूर्वकोटिः, तत ऊर्ध्वं तत्र तथा क्षेत्र-स्वाभाव्यादायुषोऽसम्भवात् । (अकम्मभूमगेत्यादि) जन्म प्रती-त्येति । 'अकर्मभूमिषूत्पत्तिमाश्रित्य,' जघन्यतो देशोनं पल्योपमं,

तृतीयभागन्यूनमपि देशोनं भवति । ततो विशेषव्यापनाया-ऽऽह-पल्योपमस्यासंख्येयभागोनम् । एतच्च हैमवतैरण्यवतक्षेत्रापेक्षया द्रष्टव्यम् । तत्र जघन्यतः स्थितेरेतावत्प्रमाणाया: संभवात्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, तानि च देवकुर्वपेक्षया । (संहरणं पडुच्चेत्यादि) संहरणं नाम—कर्मभूमिजायाः स्त्रियोऽकर्मभूमिषु नयनं, तत्प्रतीत्य तदाश्रित्य, जघन्येनान्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । इयमत्र भावना-इह कर्मभूमिकाऽप्यकर्मभूमिषु संहृता अकर्मभूमिकेति व्यवह्रियते, तत्क्षेत्रसंबन्धभावात् । यथा लोके कश्चित् मगधाऽऽदिदेशात् सुराष्ट्रान् प्रस्थितो, गिरिनगरेषु निवासं कल्पयितुकामः सुराष्ट्रपर्यन्तग्रामं प्राप्तः सन् समुत्पद्यमानेषु तथाविधेषु प्रयोजनेषु सौराष्ट्र इति व्यवह्रियते, तद्वदत्राधिकृताऽपि तत्र संहृता सती काचिदन्तर्मुहूर्तं जीवति । ततोऽपि वा भूयोऽपि संह्रियते काचित्पूर्वकोट्यायुष्का यावज्जीवमपि तत्रावतिष्ठते, ततो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुक्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटीति ।

आह-भरतैरवतान्यपि कर्मभूमौ वर्तन्ते; तत्र चैकान्तसुषमाऽऽदौ त्रीण्यपि पल्योपमानि स्थितिरस्या भवति, संहरणं च संभवति, तत्कथं देशोना पूर्वकोटी भण्यते इति ?। अत्रोच्यते-कर्मकालविवक्षयाऽभिधानात्तस्य चैतावन्मात्रत्वादिति हैमवतैरण्यवतकर्मभूमिकमनुष्यस्त्रीणां जन्मतो जघन्येन देशोनं पल्योपमं, पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनम्, उत्कर्षतः परिपूर्णं पल्योपमम् । संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी; भावना प्रागिव । एवं "हरिवासरम्मग" इत्याद्यपि सूत्रत्रयं भावनीयम् । नवरं हरिवर्षरम्यकयोर्जन्मतो जघन्येन द्वे पल्योपमे, पल्योपमासंख्येयभागन्यूने । उत्कर्षतः परिपूर्णे द्वे पल्योपमे । देवकुरूत्तरकुरुषु जन्मतो जघन्येन त्रीणि पल्योपमानि, पल्योपमासंख्येयभागहीनानि । उत्कर्षतः परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि । अन्तरद्वीपेषु जघन्यतो जघन्येन देशोनपल्योपमासंख्येयः । कियता देशोन इति चेत् ?, अत आह-पल्योपमासंख्येयभागोनः । किमुक्तं भवति ?-उत्कृष्टात् पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणादायुषो जघन्यमायुःपल्योपमासंख्येयभागन्यूनम्, नवरमूनताहेतुः पल्योपमासंख्येयो भागोऽतीव स्तोको द्रष्टव्यः । संहरणमधिकृत्य सर्वत्रापि जघन्यत उत्कर्षतश्च तावदेव प्रमाणम् । जी० २ प्रति० ।

नपुंसकानाम्—

मणुस्सणपुंसगस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? । गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । धम्मचरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । कम्मभूमगभरहेरवयपुव्वविदेहअवरविदेहमणुस्सणपुंसगस्स वि तहेव । अकम्मभूमगमणुस्सणपुंसगस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?। गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । संहरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । एवं० जाव अंतरदीवगाणं ॥

सामान्यतो मनुष्यनपुंसकस्यापि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षतः पूर्वकोटी । कर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षतः पूर्वकोटी । धर्मचरणं चाऽऽश्रित्य सर्वविरतिप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तं, तत ऊर्ध्वं मरणाऽऽदिभावात् । उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, संवत्सराष्टकादूर्ध्वं प्रतिपद्य जन्मपालनात् । भरतैरवतकर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य च क्षेत्रं, धर्मचरणं च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैवमेव वक्तव्यम् । अकर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य जन्म प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेणापि अन्तर्मुहूर्तम् । अकर्मभूमौ हि संमूर्च्छिमा मनुष्या नपुंसका एव भवन्ति, न गर्भव्युत्क्रान्तिकाः, युगलधर्मिकाणां नपुंसकत्वाभावात् । संमूर्च्छिमाश्च जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्तायुषः, केवलं जघन्यादुत्कृष्टमन्तर्मुहूर्तं बृहत्तरमवसेयम् । संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, संहरणादूर्ध्वमामरणान्तमवस्थानसंभवात् । देशोनता च पूर्वकोट्या गर्भनिर्गतस्य संभवात् । एवं विशेषचिन्तायां हैमवतैरण्यवताकर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य, अन्तरद्वीपकमनुष्यनपुंसकस्य च जन्म, संहरणं च प्रतीत्यैवमेव वक्तव्यम् । जी० ३ प्रति० ।

सम्मुच्छिममणुस्साणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । गब्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं । अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद ।

उत्तरकुरुमनुष्याणां जघन्येन पल्योपमस्यासंख्येयभागेनोनानि त्रीणि पल्योपमानि, उत्कर्षात् परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि । जी० ३ प्रति० ।

वाणमंतराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं पलिओवमं । अपज्जत्तयवाणमंतरदेवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयवाणमंतरदेवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं । प्रज्ञा० ४ पद । प० द० ।

अकामकायक्लेशतपस्विनां व्यन्तरेषूपपन्नानां दश वर्षसहस्राणि स्थितिः । औ० । बालमरणेन मृतानां व्यन्तरेषूपपन्नानां द्वादश वर्षसहस्राणि स्थितिः । औ० । विधवानामल्पारम्भप्रवृत्तानां व्यन्तरेषूपपन्नानां चतुर्दश वर्षसहस्राणि स्थितिः । औ० । अकामकायक्लेशतपस्विनीनां स्त्रीणां व्यन्तरेषूपपन्नानां चतुःषष्टिवर्षसहस्राणि स्थितिः । औ० । उदकद्वितीयाऽऽदीनां पाखण्डव्रतिनां निर्विकृतिकानां व्यन्तरेषूपपन्नानां चतुरशीतिवर्षसहस्रं स्थितिः । औ० ।

वाणमंतरीणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं । अपज्जत्तियाणं भंते ! वाणमंतरीणं देवीणं पुच्छा ?। गो-

यमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तियाणं भंते ! वाणमंतरीणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

जोइसियाणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ?। गोयमा ! जहएणेणं पलिओवमट्ठभागो, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं । अपज्जत्तयजोइसियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयजोइसियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं पलिओवमट्ठभागो अंतोमुहुत्तूणो, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं ॥

जोइसिणी णं भंते ! देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं पलिओवमट्ठभागो, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पएणासवाससहस्समब्भहियं । अपज्जत्तियाणं जोइसिणी णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तियाणं जोइसिणी णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं पलिओवमट्ठभागो अंतोमुहुत्तूणो, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पएणासवाससहस्सेहिं अब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं ॥ प्रज्ञा० ४ पद । जी० ।

होतृकाऽऽदीनां वानप्रस्थानां ज्योतिष्केषूपपन्नानां वर्षशतसहस्राधिकं पल्योपमं स्थितिः । औ० ।

चंदविमाणे णं भंते ! देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउब्भागपलिओवमं, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं । चंदविमाणे णं भंते ! अपज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । चंदविमाणे णं भंते ! पज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउब्भागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं ।

चंदविमाणे णं भंते ! देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पएणासाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं । चंदविमाणे णं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । चंदविमाणे णं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउब्भागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पएणासाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं ।

सूरविमाणे णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ?। गोयमा ! जहएणेणं चउब्भागपलिओवमं, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससहस्समब्भहियं । सूरविमाणे णं अपज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सूरविमाणे णं पज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउब्भागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससहस्समब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं ।

सूरविमाणे णं भंते ! देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउब्भागपलिओवमं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पंचहिं वाससएहिं अब्भहियं । सूरविमाणे णं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सूरविमाणे णं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पंचहिं वाससएहिं अब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं ।

गहविमाणे णं भंते ! देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउब्भागपलिओवमं, उक्कोसेणं पलिओवमं । गहविमाणे णं अपज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । गहविमाणे णं पज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

गहविमाणे णं भंते ! देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं । गहविमाणे णं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । गहविमाणे णं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

णक्खत्तविमाणे णं भंते ! देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं । णक्खत्तविमाणे णं अपज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । णक्खत्तविमाणे णं पज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउब्भागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

णक्खत्तविमाणदेवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं सातिरेगं चउभागपलिओवमं । णक्खत्तविमाणे णं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । णक्खत्तविमाणे णं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं सातिरेगं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

ताराविमाणे णं भंते ! देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अट्ठभागपलिओवमं, उक्कोसेणं चउब्भागपलिओवमं । ताराविमाणे णं अपज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ताराविमाणे णं पज्ज-

त्तदेवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं चउब्भागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं । ताराविमाणे णं भंते ! देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमं, उक्कोसेणं साइरेगं अट्ठभागपलिओवमं । ताराविमाणे णं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ताराविमाणे णं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं साइरेगं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

वेमाणियाणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं । अपज्जत्तवेमाणियाणं भंते ! देवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तवेमाणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद । सू०प्र० । जी० । जं० ।

वेमाणिणीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं पणपन्नं पलिओवमाइं । अपज्जत्तियाणं देवीणं वेमाणिणीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयाणं वेमाणिणीणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पणपण्णं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

सूरियाभस्स णं भंते ! देवस्स केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?। गोयमा ! चत्तारि चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता । सूरियाभस्स णं भंते ! देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगाणं देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता । रा० । स्था० । जी० ।
(शक्राऽऽदीनां देवानां पर्षत्सु स्थितिः 'परिसा' शब्दे वक्ष्यते)

सोहम्मे णं भंते ! कप्पे देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं । प्रज्ञा० ४ पद । स० । द० प० । सोहम्मे कप्पे अपज्जत्तदेवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सोहम्मे कप्पे पज्जत्तदेवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

सोहम्मे कप्पे देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं पन्नासं पलिओवमाइं । सोहम्मे कप्पे अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सोहम्मे कप्पे पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पन्नासं पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

सोहम्मे कप्पे परिग्गहियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं सत्त पलिओवमाइं । सोहम्मे कप्पे परिग्गहियाणं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सोहम्मे कप्पे परिग्गहियाणं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं सत्त पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

सोहम्मे कप्पे अपरिग्गहियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं पन्नासं पलिओवमाइं । सोहम्मे कप्पे अपरिग्गहियाणं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सोहम्मे कप्पे अपरिग्गहियाणं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पण्णासं पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

ईसाणे कप्पे देवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगं पलिओवमं, उक्कोसेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं । ईसाणे कप्पे अपज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ईसाणे कप्पे पज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं सातिरेगं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं सातिरेगाइं दो सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद ।

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अग्गमहिसीणं नव पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता । स्था० ९ ठा० ।

ईसाणे कप्पे देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं सातिरेगं पलिओवमं, उक्कोसेणं पणपण्णपलिओवमाइं । ईसाणे कप्पे देवीणं अपज्जत्तियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ईसाणे कप्पे पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पणपन्नपलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

ईसाणे कप्पे परिग्गहियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगं पलिओवमं, उक्कोसेणं नव पलिओवमाइं । ईसाणे कप्पे परिग्गहियाणं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ईसाणे कप्पे परिग्गहियाणं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं नव पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

ईसाणे कप्पे अपरिग्गहियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगं पलिओवमं, उक्कोसेणं पणपन्नपलिओ-

वमाइं । ईसाणे कप्पे अपरिग्गहियाणं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ईसाणे कप्पे अपरिग्गहियाणं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पणपन्न पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ॥

ईसाणस्स णं देविंदस्स मज्झिमए परिसाए देवाणं छ पलिओवमा ठिई पण्णत्ता । स्था० ६ ठा० ।

(' लोगपाल ' शब्दे सर्वेन्द्राणां लोकपालानां स्थितिर्वक्ष्यते) कन्दर्पिकाऽऽदीनां श्रमणानामुत्कर्षेण सौधर्मकल्पे कन्दर्पिकेषु देवेषूपपन्नानां वर्षसहस्रमभ्यधिकं पल्योपमं स्थितिः । औ० । भ० । द० प० । स्था० ।

सणंकुमारे कप्पे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं दो सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्त सागरोवमाइं । सणंकुमारे कप्पे अपज्जत्तगाणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सणंकुमारे कप्पे पज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं दो सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सत्त सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

माहिंदे कप्पे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्त साहियाइं सागरोवमाइं । माहिंदे कप्पे अपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । माहिंदे कप्पे पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सत्त साहियाइं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ? । सोहम्मे कप्पे देवाणं उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । ईसाणे कप्पे देवाणं उक्कोसेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । सणंकुमारे कप्पे देवाणं जहण्णेणं दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । माहिंदे कप्पे देवाणं जहन्नेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

बंभलोए कप्पे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं सत्त सागरोवमाइं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं । बंभलोए अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । बंभलोए पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं सत्त सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

मस्करिसाङ्ख्ययौगिकापिलाऽऽदीनां चरकपरिव्राजकानामुत्कर्षेण ब्रह्मलोककल्पे देवेषूपपन्नानां दश सागरोपमा स्थितिः-

तद् यथा-

ते णं परिव्वायगा एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं परियाइं पाउणिंति, बहूइं वासाइं परियाइं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तहिं तेसिं गई दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । सेसं तं चेव ॥१२॥ औ० ।

अम्मडस्य देवस्य ब्रह्मलोककल्पे देवेषूपपन्नस्य दश सागरोपमा स्थितिः । औ० ।

लंतए पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं दस सागरोवमाइं, उक्कोसेणं चउदस सागरोवमाइं । लंतए अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । लंतए पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं चउदस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद ।

ग्रामाऽऽकराऽऽदिषु प्रव्रजितानामाचार्याऽऽदिप्रत्यनीकानामुत्कर्षेण लान्तके कल्पे देवकिल्बिषिकेषूपपन्नानां त्रयोदश सागरोपमा स्थितिः । औ० ।

तद् यथा-

से इमे गामाऽऽगरजाणसंनिवेसेसु पव्वइया समणा भवंति । तं जहा-आयरियपडिणीया, उवज्झायपडिणीया, कुलपडिणीया, गणपडिणीया, आयरियउवज्झायाणं अयसकारगा अवण्णकारगा अकित्तिकारगा बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा विहरित्ता बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणिंति, बहुयस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं लंतए कप्पे देवकिब्बिसिएसु देवकिब्बिसियत्ताए उववत्तारो हवंति । तहिं तेसिं गती तेरस सागरोवमाइं ठिती अणाराहगा, सेसं तं चेव ॥ १५ ॥ औ० ।

महासुक्के देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं चउदस सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्तर सागरोवमाइं । महासुक्के अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । महासुक्के पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं चोद्दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सत्तर सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

सहस्सारे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं सत्तर सागरोवमाइं, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमाइं । सहस्सारे अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सहस्सारे पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं सत्तर सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद ।

संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकापर्याप्तकानां शुभैः परिणामैः संज्ञिपूर्वजातिस्मरणे समुत्पन्ने स्वयमेव पञ्चाणुव्रतानि परिवर्जयित्वा बहूनि शीलव्रतगुणविरमणप्रत्याख्यानपोषधोपवासाऽऽदिनाऽऽत्मना भावयमानानामुत्कर्षेण सहस्रारे कल्पे देवेषूपपन्नानामष्टादश सागरोपमा स्थितिः । औ० ।

आणए कप्पे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठारस सागरोवमाइं, उक्कोसेणं एगूणवीसं सागरोवमाइं । आणए अपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । आणए पज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठारस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं एगूणवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

पाणए कप्पे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं एगूणवीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमाइं । पाणए अपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पाणए पज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं एगूणवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । आरणे कप्पे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं वीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं एगवीसं सागरोवमाइं । आरणे अपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । आरणे पज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं वीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं एक्कवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

अच्चुए कप्पे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं एक्कवीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं । अच्चुए अपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । अच्चुए पज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं एक्कवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद ।

आजीवकानामच्युते कल्पे देवेषूपपन्नानामात्मोत्कर्षिकादीनां ग्रामाऽऽकराऽऽदिसन्निवेशेषु प्रव्रजितानां श्रमणानामुत्कर्षेणाच्युते कल्पे आभियोगिकेषु देवेषूपपन्नानां च द्वाविंशतिसागरोपमा स्थितिः । औ० ।

हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं तेवीसं सागरोवमाइं । हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जगअपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जगपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

हिट्ठिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं तेवीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं चउवीसं सागरोवमाइं । हिट्ठिममज्झिमगेविज्जगअपज्जत्तगदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । हिट्ठिममज्झिमगेविज्जगपज्जत्तगदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं तेवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं चउवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

हिट्ठिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउवीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं पणवीसं सागरोवमाइं । हेट्ठिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । हिट्ठिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं पणवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

मज्झिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं पंचवीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं छव्वीसं सागरोवमाइं । मज्झिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । मज्झिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं पणवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं छव्वीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

मज्झिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं छव्वीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्तावीसं सागरोवमाइं । मज्झिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । मज्झिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं छव्वीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सत्तावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

मज्झिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं सत्तावीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं अट्ठावीसं सागरोवमाइं । मज्झिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । मज्झिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं सत्तावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं अट्ठावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

उवरिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अट्ठावीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं एगूणतीसं सागरोवमाइं । उवरिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । उवरिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जह-

एणेणं अट्ठावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं एगूणतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

उवरिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं एगूणतीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं तीसं सागरोवमाइं । उवरिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । उवरिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं एगूणतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

उवरिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं तीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं । उवरिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । उवरिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद । औ० ।

विजयवेजयंतजयंतअपराजिएसु णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ? । गोयमा ! जहएणेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं । विजयवेजयंतजयंतअपराजितदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । विजयवेजयंतजयंतअपराजितदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ? । गोयमा ! अजहएणमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पएणत्ता । सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सव्वट्ठसिद्धदेवाणं पज्जत्ताणं केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ? । गोयमा ! अजहएणमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ठिई पएणत्ता । प्रज्ञा० ४ पद । जं० । औ० ।

(देवस्थितिविषये यथा ऋषिभद्रपुत्रः "जहन्नेणं दस वाससहस्साइं ठिई पएणत्ता । तेण परं समाहिया दुसमाहिया० जाव दससमाहिया संखेज्जसमाहिया, असंखेज्जसमाहिया, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पएणत्ता । तेण परं वोच्छिन्ना देवा य, देवलोगा य ।" इति प्रतिपेदे, भगवता वीरजिनेन च सत्यात्वेन मतः, तथा 'इसिभद्दपुत्त' शब्दे द्वितीयभागे ६२४ पृष्ठेऽस्माभिरदर्शि)

भव्याऽऽदिदेवानां स्थितिः-

भवियदव्वदेवाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं । णरदेवाणं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं सत्त वाससयाइं, उक्कोसेणं चउरासीतिपुव्वसयसहस्साइं । धम्मदेवाणं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणाइं पुव्वकोडी । देवाहिदेवाणं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं बावत्तरिं वासाइं, उक्कोसेणं चउरासीइपुव्वसयसहस्साइं । भावदेवाणं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ।

"भवियदव्वदेवाणं" इत्यादि । (जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं ति) अन्तर्मुहूर्त्तायुषोः पञ्चेन्द्रियतिरश्चोः, देवेषूत्पादाद्भव्यद्रव्यदेवस्य जघन्याऽन्तर्मुहूर्त्तस्थितिः । (उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं ति) उत्तरकुर्वादिमनुजाऽऽदीनां देवेष्वेवोत्पादात् ते भव्यद्रव्यदेवाः, तेषां चोत्कर्षतो यथोक्ता स्थितिरिति । (सत्त वाससयाइं ति) यथा ब्रह्मदत्तस्य (चउरासीतिपुव्वसयसहस्साइं ति) यथा भरतस्य । धर्मदेवानाम (जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं ति) योऽन्तर्मुहूर्त्तावशेषाऽऽयुश्चारित्रं प्रतिपद्यते तदपेक्षमिदम् । (उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी ति) यो देशोनपूर्वकोट्यायुश्चारित्रं प्रतिपद्यते तदपेक्षमिति । ऊनता च पूर्वकोट्या अष्टाभिर्वर्षैः, अष्टवर्षस्यैव प्रव्रज्याऽर्हत्वात् । यच्च षड्वर्षत्रिवर्षो वा प्रव्राजिताऽतिमुक्तको वैरस्वामी वा, तत्काराचित्कमिति न सूत्रावतारीति । देवाधिदेवानाम (जहएणेणं बावत्तरिं वासाइं ति) श्रीमन्महावीरस्येव । (उक्कोसेणं चउरासीइपुव्वसयसहस्साइं ति) ऋषभस्वामिनो यथा । भावदेवानाम (जहएणेणं दस वाससहस्साइं ति) यथा व्यन्तराणाम् । (उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ति) यथा सर्वार्थसिद्धदेवानाम् । भ० १२ श० ए उ० ।

एएसि णं अट्ठविहाणं लोगंतियाणं देवाणं अजहन्नमणुक्कोसेणं अट्ठ सागरोवमाइं ठिई पएणत्ता ॥ स्था० ७ ठा० ।

(वेदनीयस्य कर्मणः स्थितिः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २७८ पृष्ठे स्थितिकर्मप्रस्तावे उक्ता)

पुंनपुंसकानां स्थितिः-

पुरिसस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पएणत्ता ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं । तिरिक्खजोणियपुरिसाणं मणुस्सपुरिसाणं जं चेव इत्थीणं ठिती, सा चेव जाणियव्वा ।

"पुरिसस्स णं भंते !" इत्यादि । पुरुषस्य स्वभवभावमजहतो भदन्त ! कियन्तं कालं यावत् स्थितिः प्रज्ञप्ता ? । भगवानाह-जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तत ऊर्द्ध्वं मरणभावात् । उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । तान्यनुत्तरसुरापेक्षया द्रष्टव्यानि, अन्यस्य एतावत्याः स्थितेरसंभवात् । तिर्यग्योनिकानामौघिकानां जलचराणां स्थलचराणां खचराणां यथा स्त्रीणां स्थितिरुक्ता, तथा वक्तव्या । मनुष्यपुरुषस्यौघिकस्य कर्मभूमकस्य सामान्यतो विशेषतो भरतैरावतकस्य पूर्वविदेहापरविदेहकस्याकर्मभूमकस्य सामान्यतो विशेषतो हैमवतैरण्यवतिकस्य हरिवर्षरम्यकदेवकुरूत्तरकुरुकस्य अन्तरद्वीपकस्य येवाऽऽत्मीये आत्मीये स्थाने स्थितिः, सैव पुरुषस्यापि वक्तव्या । तद्यथा-सामान्यतस्तिर्यग्योनिकपुरुषाणां जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम, उत्कर्षतः त्रीणि पल्योपमानि । जलचरपुरुषाणां

जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतः पूर्वकोटी । चतुष्पदस्थलचरपुरुषाणां जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । उरःपरिसर्पस्थलचरपुरुषाणां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षतः पूर्वकोटी । एवं भुजपरिसर्पस्थलचरपुरुषाणामपि खचरपुरुषाणां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतः पल्योपमस्यासंख्येयो भागः, सामान्यतो मनुष्यपुरुषाणां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् । एतच्च बाह्यलिङ्गप्रव्रज्याप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य वेदितव्यम् । अन्यथा चरणपरिणामस्यैकसामायिकस्यापि सम्भवादेकं समयमिति ब्रूयात् । अथवा देशचरणमधिकृत्येदं वक्तव्यम् । देशचरणप्रतिपत्तेर्भङ्गबहुलतया जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तसंभवात् । तत्र सर्वचरणसम्भवेऽपि देशचरणमधिकृत्योक्तम् । तद्देशचरणपूर्वकं प्रायः सर्वचरणमिति प्रतिपत्त्यर्थम् । तथा चोक्तम्—" सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपुहुत्तेण सावओ होइ । चरणोवसमखयाणं, सागरसंखंतरा होंति ॥ १ ॥ " (पं० सू० टी०) अत्र यद्यद्व्याख्यातं, तत्तत् स्त्रीवेदचिन्तायामपि द्रष्टव्यम्; यच्च स्त्रीवेदचिन्तायां व्याख्यातं, तदत्रापीति । उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, वर्षाष्टकादूर्ध्वमुत्कर्षतोऽपि पूर्वकोट्यायुष एव चरणप्रतिपत्तिसंभवात् । कर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । चरणप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । भरतैरावतकर्मभूमिकमनुष्याणां पुरुषाणां क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । तानि च सुषमसुषमाऽरके वेदितव्यानि । धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । धर्मचरणं प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । सामान्यतोऽकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागन्यूनमेकं पल्योपमम्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षेण देशोना पूर्वकोटी । पूर्वविदेहकस्यापरविदेहकस्य वा अकर्मभूमौ संहृतस्य जघन्यत उत्कर्षतश्च एतावदायुःप्रमाणसंभवात् । हैमवतैरण्यवताकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्येन पल्योपमं पल्योपमासंख्येयभागन्यूनम्, उत्कर्षतः परिपूर्णं पल्योपमम् । संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । भावना प्रागिव । हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्यतो द्वे पल्योपमे पल्योपमासंख्येयभागन्यूने, उत्कर्षतः परिपूर्णे द्वे पल्योपमे । संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्यतः पल्योपमासंख्येयभागन्यूनानि त्रीणि पल्योपमानि । उत्कर्षतः परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि । संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । अन्तरद्वीपकाकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्येन देशोनः पल्योपमासंख्येयभागः, उत्कर्षतः परिपूर्णः पल्योपमासंख्येयभागः, संहरणमधिकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटीति ॥ जी० २ प्रति० ।

सम्प्रति स्थितिप्रतिपादनार्थमाह–

नपुंसगस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ॥

"नपुंसगस्स णं भंते !" इत्यादि सुगमं, नवरमन्तर्मुहूर्त्तं तिर्यङ्मनुष्यापेक्षया द्रष्टव्यम् । त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सप्तमपृथिवीनारकापेक्षया । जी० २ प्रति० । " वासाण य दहाणं, वासहराणं महाणईणं च । दीवाणं उदहीणं, पम्हिओवमगाउयठिईणं " ॥ १ ॥ द्वी० । स्थितिप्रतिपादके प्रज्ञापनायाश्चतुर्थपदे, प्रज्ञा० ४ पद । (त्रसाऽऽदिजीवानां स्थितिः ' वणप्फइ ' शब्दे द्रष्टव्या) (कषायाणां स्थितिः ' कसाय ' शब्दे तृतीयभागे ३६७ पृष्ठे प्ररूपिता)

ठिइअव्वट्टणा–स्थित्यपवर्त्तना–स्त्री० । स्थितिकर्मविषयकापवर्त्तनाकरणे, पं० सं० ५ द्वार । क० प्र० । ('अवव्वट्टणा' शब्दे प्रथमभागे ७६६ पृष्ठेऽस्या व्याख्या)

ठिइउदय–स्थित्युदय–पुं० । अबाधाकालरूपायाः स्थितेः क्षयेण उदीरणाकरणरूपेण प्रयोगेण वा कर्मोदयरूपे उदयभेदे, पं० सं० ५ द्वार । क० प्र० । (स च ' उदय ' शब्दे द्वितीयभागे ७७५ पृष्ठे व्याख्यातः)

ठिइउदीरणा–स्थित्युदीरणा–स्त्री० । स्थितिकर्मविषयकोदीरणाकरणे, पं० सं० ५ द्वार । क० प्र० ।

ठिइउव्वट्टणा–स्थित्युद्वर्तना–स्त्री० । स्थितिकर्मविषयकोद्वर्तनाकरणे, क० प्र० । पं० सं० । (सा च ' उव्वट्टणा ' शब्दे द्वितीयभागे ११११० पृष्ठे व्याख्याता)

ठिइकप्प–स्थितिकल्प–त्रि० । प्रथमचरमजिनसाधूनां सततासेवनेनावस्थिते आचेलक्याऽऽदिदशविधे कल्पे, प्रव० ७७ द्वार ।

ठिइकम्म [ण्]–स्थितिकर्मन्–न० । कर्मभेदे, कर्म० ५ कर्म० ।

ठिइकरण–स्थितिकरण–न० । स्थापने, स० १० अङ्ग ।

ठिइकल्लाण–स्थितिकल्याण–न० । स्थितित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणा कल्याणं येषां ते । सर्वोत्कर्षस्थितिकेषु, स० ८०० सम० ।

ठिइकारण–स्थितिकारण–न० । "धानेरिता जया इव, पकंपमाणाण तरुणमाईणं । होति थिरा वहंतो, तह च थिरकरणतेणं तु ॥ १ ॥ " इति निरूपितायां सप्तदश्यां गौणाऽनुज्ञायाम्, पं० भा० । नं० ।

ठिइक्खय–स्थितिक्षय–पुं० । आयुष्काऽऽदिकर्मणां स्थितेर्निर्जरणे, भ० ७ श० ७ उ० । आयुषः स्थितिबन्धक्षये, स्था० ७ ठा० । वेदने, भ० २ श० १ उ० । विगमने, विपा० २ श्रु० १० अ० । स्थितिवैक्रियशरीरे अवस्थानं, तस्याः क्षयेऽपूरणीकरणे । कल्प० १ क्षण ।

ठिइघाय–स्थितिघात–पुं० । बृहत्प्रमाणाया ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मस्थितेरपवर्त्तनाकरणेन खण्डने, कर्म० १ कर्म० । क० प्र० । पं० सं० । (स च " उवसमसेढि " शब्दे द्वितीयभागे १०४४ पृष्ठे उक्तः)

ठिइठाण–स्थितिस्थान–न० । आयुषो विभागे, भ० १ श० ५

स० । क० प्र० । पं० सं० । (नैरयिकाऽऽदीनां स्थितिस्थानमाश्रित्य वक्तव्यता "जीव" शब्दे चतुर्थभागे १५४२ पृष्ठे उक्ता)

ठिइणामणिहत्ताउय--स्थितिनामनिधत्तायुष्--न० । स्थितिर्यथा स्थातव्यं तेन भवेनाऽऽयुर्दलिकस्य सैव नाम परिणामो, धर्म इत्यर्थः । स्थितिनाम गतिजात्यादिकर्मणां च प्रकृत्यादिभेदेन चतुर्विधानां यः स्थितिरूपो भेदस्तत् स्थितिनाम, तेन सह निधत्तमायुः स्थितिनामनिधत्ताऽऽयुः । आयुर्बन्धभेदे, स० । स्था० । भ० । प्रज्ञा० ।

ठिइपरिणाम-स्थितिपरिणाम-पुं० । आयुषो वाऽन्तर्मुहूर्त्तादित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमान्ता स्थितिर्भवति स स्थितिपरिणामः । आयुःपरिणामभेदे, स्था० ६ ठा० ।

ठिइप्पकप्प-स्थितिप्रकल्प-पुं० । स्थितौ अवस्थाने चारित्राऽऽविषये प्रकल्पः सङ्कल्पः स्थितिप्रकल्पः । अवस्थानविषयके सङ्कल्पे, भ० ३ श० १ उ० । स्थितिप्रकल्पमवस्थानं विकल्पनम्-तेष्वहं तिष्ठेयमिति, एते वा मम तिष्ठन्तु स्थिरीभवान्त्वत्येवंरूपे, स्थित्या वा मर्यादया विशिष्टः प्रकल्पः । आचाराऽऽसेवायाम्, स्था० ३ ठा० ३ उ० । यानीमानि सुप्रसिद्धतया प्रत्यक्षाणि स्थविराणां स्थविरकल्पिकानां स्थितौ समाचारे प्रकल्पानि प्रकल्पनीयानि योग्यानि विशुद्धपिण्डशय्याऽऽदीनि स्थितप्रकल्पानि । पिण्डाऽऽदिकानां च कल्पानां मासकल्पाऽऽदिकानां च स्थितीनां द्वन्द्वे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

ठिइबंध-स्थितिबन्ध-पुं० । अध्यवसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिकस्य स्थितिकालनियमने, कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० । अष्टानां ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मप्रकृतीनां जघन्याऽऽदिभेदभिन्नावस्थानस्य निवर्त्तने, स० १ सम० । स्था० । मूलोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टभेदे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । कर्म० । क० प्र० । पं० सं० । (एकेन्द्रियाऽऽदिजीवानाश्रित्याल्पबहुत्वम् " अप्पाबहुय " शब्दे प्रथमभागे ६१८ पृष्ठे वक्ष्यते) (अत्रत्यं सर्वं " बंध " शब्दे प्रदर्शयिष्यामि) ।

ठिइबंधपरिणाम-स्थितिबन्धपरिणाम-पुं० । येन पूर्वभवाऽऽयुःपरिणामेन परभवाऽऽयुषो नियतां स्थितिं बध्नाति, स स्थितिबन्धपरिणामः । यथा तिर्यगायुःपरिणामेन देवाऽऽयुष उत्कर्षतोऽष्टादश सागरोपमाणीति । आयुःपरिणामभेदे, स्था० ६ ठा० ।

ठिइवडिय-स्थितिपतित-त्रि० । कुलक्रमादागते पुत्रजन्मानुष्ठाने, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । कुलस्य लोकस्य वा मर्यादायां गतायां पुत्रजन्ममहप्रक्रियायाम्, ज्ञा० ११ श० ११ उ० । रा० । विपा० । ज्ञा० ।

ठिइसंकम-स्थितिसंक्रम-पुं० । मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च स्थितेरुत्कर्षणेऽपकर्षणे प्रकृत्यन्तरस्थितौ नयनं, (स्था०) " ठिइसंकमो त्ति वुच्चइ, मूलुत्तरपगइओ उ जा हि ठिई । उव्वट्टिया व ओव-ट्टिया व पगई निया वऽण्णं " ॥ १ ॥ स्था० ४ ठा० २ उ० । क० प्र० । पं० सं० । (स च ' संकम ' शब्दे वक्ष्यते)

ठिइसंतकम्म-स्थितिसत्कर्म--न० । कर्मस्थितिसत्कर्मसत्कर्मणि, क० प्र० । पं० सं० । ('संतकम्म' शब्दे प्ररूपयिष्यते.)

ठिइसाहण-स्थितिसाधन-न० । दीक्षामर्यादाकथने, पञ्चा० १२ विव० ।

ठिइसिद्धि-स्थितिसिद्धि-स्त्री० । व्यवस्थानसाधने, द्वा० २५ अष्ट० ।

ठिय-स्थित--त्रि० । व्यवस्थिते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अवस्थिते, स्था० २ ठा० ४ उ० । उत्त० । पञ्चा० । उपा० । अप्रच्युते, अनु० । आ० म० । निषण्णे, उपगते, अगतिपरिणामे, नि० चू० १ उ० । कटीस्तम्भेन ऊर्ध्वस्थाने, बृ० १ उ० । ऊर्ध्वस्थानस्थिते, भ० ६ श० ३३ उ० । सूत्राऽऽदित आरभ्य पठनक्रियां यावदन्यदेवाविस्मरणतश्चेतसि स्थितत्वात् स्थितम् । द्वितीये आगमतो द्रव्याऽऽवश्यकभेदे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । आ० चू० । विशे० । प्रथमे कल्पभेदे, " अत्थे विणओवकारिओ ठियस्स जहा विज्जाओ फलं पयच्छंति । " नि० चू० १ उ० ।

ठियकप्प-स्थितकल्प-पुं० । अवस्थितसमाचारे, बृ० ६ उ० । नि० चू० । ज्ञ० । प्रव० । पञ्चा० । नि० । (प्रथमचरमयोस्तीर्थकरयोराचेलक्याऽऽद्यो दश कल्पा अवस्थिता एवेति 'कप्प" शब्दे तृतीयभागे २२५ पृष्ठे दर्शिताः)

अयमपरः स्थितकल्पः-

ठितकप्पमो तु तत्तो, वोच्छामि गुरूवदेसेणं ।
गच्छाणुकंपताए, सुत्तत्थविसारए य आयरिए ॥
आगाढे पढमसंजय-उवगाहिए य कप्पढुए ।
गच्छो जदि हारिज्जा, आयरियं वाऽतिवायते कोइ ॥
एरिसए आगाढे, जस्स तु जो होति लद्धीओ ।
सो न पमादेती पढ-मणियंठे पुलागलद्धीओ ॥
गच्छोवग्गहहेउं, करणपकप्पिट्टितोऽणुण्णा ॥
दुपए ति साहुसाहुणि, तदट्ठहेतुं तु एव मूलगुणे ।
भणिता सेवा एसा, सीसो पुच्छति तु अह इणमो ॥
जह कारणम्मि भणिता, मूलगुणेसुं तु एव पडिसेवा ।
तह होज्ज कारणम्मी, पडिसेवा उत्तरगुणे वि ? ॥
गुरुयतरएसु एवं, मूलगुणेसुं तु जदि भवेऽणुण्णा ।
उत्तरगुणेसु तत्तो, लहुयतरेसुं भवेऽणुण्णा ॥
ठितकप्पो सो भणितो, ... । पं० भा० ।

" इयाणिं ठियकप्पो । तत्थ गाहा-(गच्छाणु०) आयरिया वा उवज्झाया वा गच्छो वा हीरिज्जा, उवगरणं आसियावेज्जइ हेमंते, ताहे मारिया चेव भवंति सीएण, एएहिं कारणेहिं आगाढे जइ अत्थि पुलागलद्धी, अण्णं वा सामत्थं, ताहे परिक्कमइ । ओवग्गहिओ नाम-गच्छोपग्रहकरः। एकप्पट्ठियस्स एवमणुण्णायं । गाहा-(दुपए त्ति) साहूणं साहूणीण य पडिसेवणा, एवं मूलगुणेहिं भणिया पडिसेवणा। सीसो पुच्छइ-जहा मूलगुणेसु पडिसेवा भणिया, तहा उत्तरगुणेसु वि होज्जा ? । उच्यते-जइ ताव गुरुएसु अणुण्णाया, उत्तरगुणेसु लहुएसु पागेव अणुण्णाया । ट्ठियकप्पो नाम एसु कारणेसु एतेसु अवस्सं कायव्वं । एस ट्ठियकप्पो । " पं० चू० ।

कप्पट्ठितमाट्ठिए पुण, वोच्छामऽहुणा समासेणं ।
संघयणवज्जिओ वि हु, दुक्खक्खयकारओ पणगजाओ ।
संघयणसमग्गस्स वि, अजातचतुरो अमोक्खाए ।
पंच तु महव्वयाइं, पणगं तेसिं करे पयत्तं तु ॥

जाओ जो निष्फएणो, अजातो णियमा अणिप्फएणो ।
ठियमट्ठिए विकप्पे, संघयणेणावि जो विहीणो तु ॥
सो कुणति दोक्खमोक्खं, जो पुण न करे पयत्तं तु ।
पंचसु महव्वएसुं, संघयणेणं तु जदि वि संपएणो ॥
सो चउगतिसंसारे, जमतो ण य पावती मोक्खं । पं० भा० ।

" इयाणिं ठियमट्ठिया समा चेव जंति । चोदग आह-अस्मिन् काले संहननवर्जितानां साधूनां कीदृशी संयमशुद्धिः ? । तत्थ गाहा-(संघयण०) उच्यते-वत्स ! संहननवर्जितोऽपि अलं पर्याप्तिसुपयामव्रतेषु । यद्यपि ऋषभादिसंहननम्, अजकाले सेवर्त्तसंहननिनः साधवः पञ्चमहाव्रतयुक्ताश्च, तथापि दुःखक्षयं कुर्वन्ति, संहननसंपन्नो तु जइ बलवीरियं गूहइ, जइ न करेइ पंचसु महव्वएसु पयत्तं, सो चउसु गइसु अणुपरि गई जाइ, न य से मोक्खो अत्थि, एवं ठियकप्पे अठियकप्पे वि आयरतो विमुच्चइ संसाराओ, इयरो चउगइसु अणुपरि गई गच्छइ, पुव्वयत्थिया व एए ठियमट्ठियकप्पा । " पं० चू० ।

ठियच्चि-स्थितार्चिस्-त्रि० । स्थिता शुद्धस्वभावाऽऽत्मना अर्चिर्लेश्या यस्य स भवति स्थितार्चिः । सुविशुद्धस्थिरलेश्ये, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

ठियप्पा-स्थिताऽऽत्मन्-पुं० । स्थितो व्यवस्थितोऽशेषकर्मविगमादात्मस्वरूप आत्मा यस्य स भवति स्थितात्मा । ज्ञानक्रिययोः प्रधानफलयोगेन मुक्त्यर्हे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । महासत्त्वे, दश० ६ अ० । ज्ञानाऽऽदिके मोक्षाध्वनि, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । सम्यक्मार्गे, सूत्र० १ श्रु १० अ० ।

ठीण-स्त्यान-न० । "ईः स्त्यानखल्वाटे" ॥ ८।१।७४ ॥ स्त्यानखल्वाटयोरादेरात ईर्भवति । "स्त्यानचतुर्थार्थे वा" ॥८।२।३३॥ एषु संयुक्तस्य ठो वा भवति । 'ठीणं' 'थीणं' । प्रा० २ पाद । 'स्त्यै' भावे क्तः, तस्य नः । स्नेहे, घनत्वे, संहतौ, आलस्ये, प्रतिशब्दे च । कर्त्तरि क्तः । संहतिकारके, ध्वनिकारके च । त्रि० । वाच० ।

ठुंठ-पुं० । छिन्नावशिष्टवनस्पतीनां शुष्कावयवे, जं० १ वक्ष० । बृ० प्र० ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प—
श्रीमद्भट्टारक—जैनश्वेताम्बराचार्यश्रीश्री १००८ श्री
विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
ठकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

डकार

ड-ड-पुं० । डकारो व्यञ्जनवर्णभेदः चतुर्थवर्गीयः मूर्द्धस्थानीयः स्पर्शसंज्ञः । डीङ्-डः । वाडवाग्नौ, शब्दे, वाद्यविशेषे, शिवे, वाच० । भयङ्करनादे, चन्द्रे, वडवायोषिति, जिह्वायाम्, कुण्डलिन्याम्, एका० । शङ्करे, विषये, दरे, त्रासे, शङ्खनिनादे, क्षये, वीररसे, ध्वनौ च । एका० । वाचि, सत्तायाम्, प्रज्ञायाम्, स्त्री० । भये, तथे, पटौ, डमरुके, आन्दोलने, डामरे च । न० । एका० ।

डओयर-दकोदर-न० । जलोदरनाम्नि रोगे, नि० चू० १ उ० ।

डंक-दङ्क-पुं० । वृश्चिकाऽऽदिकण्टके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । नि० चू० । आव० ।

डंख-संतप-धा० । संतापे, " संतपेर्झङ्खः " ।८।४।१४। संतप्यतेर्झङ्ख इत्यादेशो वा भवति । 'झंखइ,' पक्षे-'संतप्पइ' प्रा० ४ पाद ।

डंड-दण्ड-पुं० । न० । " दशनदष्टदग्धदोलादण्डदरदाहदम्भदर्भकदनदोहदे दो वा डः " ॥ ८ । १ । २१७ ॥ इति दस्य वा डः । प्रा० १ पाद । दण्ड-अच् । निग्रहे, विपा० १ श्रु० ३ अ० । त्रिंशत्क्षणात्मके काले, ग्रहणशब्दवाच्ये, 'काठी' इतिख्याते लगुडे, व्यूहभेदे, प्रकाण्डे, अश्वे, कोणे, मन्थनदण्डे, सैन्ये च । पुं० । दण्ड्यतेऽनेन दम-डः । नस्य च नत्वम् । षष्टिपलाऽऽत्मके काले, 'काठा' इतिप्रसिद्धे भूमिमानभेदे, सूर्यानुचरे, पुं० । दण्ड-भावे अच् । अर्थापहाररूपे राज्ञां चतुर्थोपाये, दण्ड-कर्तरि अच् । यमे, पुं० । वाच० । सूच्या सङ्कुचितेषु पक्ष्मशालेषु, दे० ना० ४ वर्ग ।

डंडअ-पुं० । देशी-रथ्यायाम्, दे० ना० ४ वर्ग ।

डंडग-दण्डक-पुं० । साधूपकरणे दण्डे, आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० १ उ० । नि० चू० ।

डंडगा-दण्डका-स्त्री० । दण्डकाऽरण्ये जनस्थाननामके वने, वाच० । आ० क० ।

डंडगि-दण्डकि-पुं० । दक्षिणापथे कुम्भकारकटनगरस्य राज्ञि, यत्पुरोहितेन पालकनाम्ना पूर्वं वादपराजितस्कन्दकाचार्यः स्कन्दकः सशिष्य भगिनीं पुरन्दरयशसं द्रष्टुमागतो मारितः सन् अग्निकुमारेषूपपन्नः । नि० चू० १६ उ० । व्य० ।

डंडणअणगार-दण्डणानगार-पुं० । स्वनामख्यातेऽनगारे, यस्य यमुनातीरे यमुनावक्रोद्याने यमुनाराजेन हतस्य केवले उत्पन्ने महिमार्थं शक्र आगतः । यो० विं० । आ० चू० । आव० । ती० । संथा० ।

डंडय-दण्डक-पुं० । 'डंडग' शब्दार्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० १ उ० । नि० चू० ।

डंडया-दण्डका-स्त्री० । 'डंडगा' शब्दार्थे, वाच० । आ० क० ।

डंडि [न्] दण्डिन्-पुं० । दण्डधारके, औ० ।

डंडिखंडवसण-दण्डिखण्डवसन-पुं० । दण्डिखण्डरूपं वसनं वस्त्रं येषां ते । दाण्डिखण्डरूपवस्त्रावति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

डंभ-दम्भ-पुं० । " दशनदष्ट०- " ॥ ८ । १ । २१७ ॥ इत्यादिना दस्य डः । ' डंभो ' दम्भः । प्रा० १ पाद । दम्भ-घञ् । कपटे, शाठ्ये च । वाच० । मायाप्रयोगे, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

डंभण-दम्भन-न० । सुवर्णाद्ये दम्भकारके अङ्कुलिषु प्रक्षेप्ये शस्त्रविशेषे, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

डंभिअ-पुं० । देशी-द्यूतकारे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डंवर-पुं० । देशी-घर्मे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डंस-दंश-धा० । दंशने, भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् । वाच० । " दंशदहोः " ॥ ८ । १ । २१८ ॥ इति धात्वादेर्दस्य डः । 'डसइ' । प्रा० १ पाद । सूत्र० । आ० म० ।

डक्क-दष्ट-त्रि० । " अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम् " ॥ ८ । २ । ८९ ॥ इति पदस्यानादौ वर्तमानस्य द्वित्वम् । 'डक्को' प्रा० २ पाद । " शक्तमुक्तदष्टरुग्णमृदुत्वे को वा " ॥ ८ । २ । २ ॥ इति संयुक्तस्य वा कः । ' डक्को, ' ' दट्ठो ' । प्रा० २ पाद । दशनाऽऽहते, नि० चू० १ उ० । प्रश्न० । आव० । दंष्ट्राविषाऽऽदिना दष्टस्य प्राणिनः पीडाकारिणि विषपरिणामे, व्य० ६ उ० । दन्तगृहीते, दे० ना० ४ वर्ग ।

डगण-डगण-न० । यानविशेषे, बृ० १ उ० ।

डगलग-डगलक-पुं० । न० । अतीव पक्वेष्टकासु, ओघ० । लघुपाषाणाऽऽदौ, ओघ० । पक्वेष्टकाखण्डे, पिं० । पुरीषोत्सर्गानन्तरमपानप्रोञ्छनकपाषाणाऽऽदिखण्डके, पिं० । बृ० ।

डगल-पुं० । देशी-भवनोपरिभूमितले, दे० ना० ४ वर्ग ।

डज्झमाण-दह्यमान-पुं० । दह-कवच् । " दहो ज्झः " ॥ ८ । ४ । २४५ ॥ दहोऽन्त्यस्य कर्मभावे द्विरुक्तो ज्झो वा भवति, तत्सन्नियोगे क्यस्य लुक् च । प्रा० ४ पाद । भस्मसात्क्रियमाणे, उत्त० १४ अ० । आव० । प्रति० । आ० म० । भ० । नि० चू० । सूत्र० । प्रश्न० ।

डज्झमाणधूव-दह्यमानधूप-पुं० । भस्मसात्क्रियमाणे अनेकसुगन्धद्रव्यसंयोगसमुद्भूते दशाङ्गाऽऽदिधूपके, कल्प० २ क्षण ।

डड्ढ-दग्ध-त्रि० । " दशनदष्ट०- " ॥ ८ । १ । २ । २१७ ॥ इत्यादिना दस्य वा डः । 'डड्ढो' 'दड्ढो' । दशनाऽऽहते, प्रा० १ पाद ।

दग्ध-त्रि० । भस्मीकृते, आतु० ४ अ० । प्रश्न० । औ० । नि० चू० । बृ० । संथा० ।

डद्दाड-स्त्री० । देशी-दवमार्गे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डप-डप-धा० । संहतौ, चुरा० । पक्षे-भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् । डापयति, डपयते, डपते । अडीडपत, अडीडपत, अडापिष्ट । वाच० । ' डप ' ' रिपुण ' संघाते । डपन्ति मिलन्ति । संथा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

डप्फ-न० । देशी-सेल्लाऽऽख्ये आयुधे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डब्भ-दर्भ-पुं० । 'दम्भ' भावे घञ् । " दशनदष्ट०- " ॥ ८ । १ ।

२१७ ॥ इत्यादिना दस्य वा डः । 'डब्भो' 'दब्भो' । प्रा० १ पाद । "कुशाः काशा बल्वजाश्च, तथाऽन्ये तीक्ष्णरोमशाः । मौञ्जाश्च शाद्वलाश्चैव, षड् दर्भाः परिकीर्तिताः" ॥१॥ इत्युक्तेषु काशाऽऽदिषु षट्सु तृणेषु, वाच० ।

डभग-डभक-पुं० । म्लेच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

डमर-डमर-पुं० । न० । स्वराष्ट्रक्षोभे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । परराजकृतोपद्रवे, जं० २ वक्ष० । स्वचक्रपरचक्रकृते विप्लवे, प्रव० ४ द्वार । कलहे, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ० । ज्ञा० । विग्रहे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । विड्वरे, औ० । प्रश्न० । राजकुमाराऽऽदिकृतविड्वरे, रा० । नि० । ज्ञा० । कुमाराऽऽद्युत्थाने, स्था० ६ ठा० । अशोभने, आव० १ अ० ।

डमरगर-डमरकर-त्रि० । परस्परेण कलहविधायके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विड्वरकारिणि, भ० ६ श० ३३ उ० । औ० । धाकावमनोभिर्विविधताडनकरणशीले, आ० म० २ अ० ।

डमरय-डमरक-पुं० । न० । अशोभने, आव० १ अ० ।

डमरुग-डमरुक-न० । चूलिकापैशाचिकेऽन्येषामाचार्याणां मतेन तृतीयस्य स्थाने प्रथमे प्राप्ते "नादियुज्योरन्येषाम्" ॥ ८ । ४ । ३२७ ॥ इति निषेधाच्च टः । 'डमरुगो' प्रा० ४ पाद । वाद्यभेदे, वाच० ।

डमरुयमणिनाय-डमरुकमणिन्याय-पुं० । एकस्यैव पदस्य पूर्वस्मिन् परस्मिंश्च पदे वाक्ये वा संबन्धद्योतके न्याये, विशे० । उत्त० ।

डर-त्रस-धा० । उद्वेगे, "त्रसेर्डरबोज्जवज्जाः" ॥ ८ । ४ । १९८ ॥ त्रसेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति । 'डरइ,' 'बोज्जइ,' 'वज्जइ' 'तसइ' प्रा० ४ पाद ।

डर-अव्य० । दृ-अप् । "दशनदष्ट०-" ॥ ८ । १ । २१७ ॥ इत्यादिना दस्य वा डः । 'डरो,' 'दरो' । प्रा० १ पाद । ईषदर्थे, भये, गर्ते च । पुं० । न० । कन्दरे, पुं० । स्त्री० । स्त्रीत्वे ङीप् । वाच० ।

डल्ल-पुं० । देशी-लोष्टे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डल्ल-न० । देशी-पिटिकायाम्, दे० ना० ४ वर्ग ।

डल्लग-डल्लक-न० । वंशाऽऽदिरचिते 'डाला' इतिख्याते पात्रविशेषे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । वाच० ।

डव्व-पुं० । देशी-वामकरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डसण-दशन-न० । भावे-ल्युट् । "दशनदष्ट०" ॥ ८ । १ । २१७ ॥ इत्यादिना दस्य डः । 'डसणं' 'दसणं ।' दशनाऽऽहते, प्रा० १ पाद । करणे ल्युट् । दंष्ट्रायाम्, वाच० ।

डह-दह-धा० । दाहे, भ्वादि०-पर०-सक०-अनिट् । वाच० । 'दंशदहोः' ॥ ८ । १ । २१८ ॥ इति दहधातोर्दस्य डः । प्रा० १ पाद । "दहेरहिऊलाऽऽलुंखौ" । ८ । ४ । २०८ । "दहेरेतावादेशौ वा भवतः । 'अहिऊलइ,' 'आलुंखइ,' 'डहइ ।' प्रा० ४ पाद ।

डहण-दहन-पुं० । दह-ल्युट् । भस्मीकरणे, बृ० १ उ० । आचा० । अग्नौ, चित्रकवृक्षे, भल्लातके, दुष्टचेतसि च । वाच० । भावे ल्युट् । दाहे, न० । वाच० । कथञ्चित्समुत्पन्नस्याग्निना वेदनीयस्य भस्मसात्करणे, शेषस्य च दग्धरज्जुतुल्यस्याऽऽपादने च । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । पाटलिपुत्रवास्तव्यस्य हुताशनब्राह्मणस्य स्वनामख्याते पुत्रे, स च पितृभ्यां भ्रात्रा च सह प्रव्राजितः । आव० १ अ० ।

डहर-डहर-पुं० । लघौ, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । बृ० । ओघ० । ज्यो० । दशा० । पुत्रनप्त्रादौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । बालके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आचा० । अप्राप्तवयसि, दश० ६ अ० १ उ० । यावत्परिपूर्णानि पञ्चदशवर्षाणि षोडशवर्षादर्वाक् तावड्डहरकं ब्रुवते समयविदः । व्य० ३ उ० । क्षुल्लके, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

डहरयगाम-डहरकग्राम-पुं० । क्षुल्लकग्रामे, व्य० ७ उ० ।

डहरिया-डहरिका-स्त्री० । जन्मतोऽष्टादशवर्षावधिकायां योषिति, जन्मपर्यायेण यावदष्टादशिका अष्टादशवर्षप्रमाणा तावद्भवति डहरिका । व्य० ४ उ० ।

डाकुलीजामेसर-डाकुलीजामेश्वर-पुं० । स्वनामख्याते तीर्थे, यत्र श्रीपार्श्वनाथः पूज्यते । ती० ४३ कल्प । ('जिणपडिमा' शब्दोऽत्र १४६४ पृष्ठे विलोक्यः)

डाग-डाक-पुं० । शाके, पिं० । प्रश्न० । सू० प्र० । स० । पत्रशाके, दशा० १ अ० । नि० चू० । डालप्रधाने शाके, आचा० २ श्रु० २ चू० १२ उ० । वास्तुकाऽऽदिभर्जिकायाम्, भ० ७ श० १० उ० । चं० प्र० । वृन्ताकचिर्भिटकाचणकाऽऽदयः संस्कृताः पत्रशाकास्ता डाकशब्देन भण्यन्ते । प्रव० २ द्वार । आव० ।

डागवच्च-डाकवर्चस्-न० । यत्र पतितो डाकः सटनेन वर्चो भवति तादृशे स्थले, आचा० २ श्रु० ३ चू० १० अ० ।

डागिणी-डाकिनी-स्त्री० । पूतनायाम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

डाय-डाक-पुं० । 'डाग' शब्दार्थे, पिं० । प्रश्न० । सू० प्र० । स० ।

डायाल-डायाल-न० । हर्म्यतले, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

डाल-डाल-न० । शाखायाम् , पञ्चा० १९ विव० । स्था० । शाखैकदेशे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १० उ० ।

डाला-डाला-स्त्री० । शाखायाम्, "लिङ्गमतन्त्रम्" । ८ । ४ । ४४५ ॥ अपभ्रंशे लिङ्गमतन्त्रं व्यभिचारि प्रायो भवतीत्यनेन
"सिरि चडिआ खंति फलइँ, पुणु डालइँ मोडंति ।
तो वि महद्दुम सउणाहं, अवराहिउ न करंति" ॥ १ ॥
इत्यत्र डालइँ इति स्त्रीलिङ्गस्य नपुंसकत्वम् । प्रा० ४ पाद ।

डाली-डाली-स्त्री० । शाखायाम्, नि० चू० १ उ० । दे० ना० ।

डाव-पुं० । देशी-वामकरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डाह-दाह-पुं० । "दशनदष्ट०-" ॥ ८ । १ । २१७ ॥ इत्यादिना दस्य वा डः । 'डाहो' दाहः । भस्मीकरणे, प्रा० १ पाद । आचा० । अनु० ।

डिंगर-डिङ्गर-पुं० । पादमूलिके, नि० चू० १५ उ० ।

डिंडिम-डिण्डिम-पुं० । 'डिण्डि' इति शब्दं मिनोति प्रकाशयति । पटहाऽऽदिवाद्यविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । रा० । आ० चू० । प्रथमप्रस्तावनासूचके पणवविशेषे, जं० ३ वक्ष० ।

जी० । गर्भे, बृ० ३ उ० । कांस्यभाजने, न० । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ० ।

डिंडिल्लिअ–न० । देशी–खलिखचितवस्त्रे, स्खलितहस्ते च । दे० ना० ४ वर्ग ।

डिंडी–स्त्री० । देशी–सूच्या सङ्घटितेषु वस्त्रखण्डेषु, दे० ना० ४ वर्ग ।

डिंडीबंध–डिण्डीबन्ध–पुं० । गर्भसम्भवे, नि० चू० ११ उ० ।

डिंडीर–डिण्डीर–पुं० । 'डिण्डि' इति शब्दोऽस्त्यस्य रः । पूर्वपददीर्घः । समुद्रफेने, वाच० । फेने, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

डिंफिअ–न० । देशी–जलपतिते, दे० ना० ४ वर्ग ।

डिंब–डिम्ब–पुं० । डिबि–घञ् । शिशौ, अण्डे, प्लीहनि, विप्लवे, शब्दे, कलले, परण्डे, भयहेतुके ध्वनौ, भये, डमरे, फुप्फुसे, वाच० । वध्ये, स्था० ९ ठा० । प्र० । औ० । आचा० । नि० । रा० । ज्ञा० । स्वदेशोत्थविप्लवे, न० । अं० २ वक्ष० । जी० । परासमीतशृगालिके, पुं० । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

डिंभ–डिम्भ–पुं० । डिभि–अच् । लघुतरवयसि बालके, बृ० ३ उ० । आ० म० । नि० । आ० क० । ज्ञा० ।

डंस्–धा० । अधःपतने, "स्रंसेर्ल्हसडिम्भौ" ॥ ८ । ४ । १९७ ॥ इति स्रंसेर्डिभाऽऽदेशः । 'डिंभइ' 'संसइ' । प्रा० ४ पाद ।

डिअल्ली–स्त्री० । देशी–स्थूणायाम्, दे० ना० ४ वर्ग ।

डिडुर–न० । देशी–भेके, दे० ना० ४ वर्ग ।

डिल्ली–डिल्ली–पुं० । ग्राहभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

डीण–डीन–त्रि० । डी–क्तः । "क्तः कः क्वचित्तु डः" ॥ ८ । २ । २ ॥ क्तस्य को भवति, क्वचित्तु डोऽपि । 'खीणं', 'छीणं ।' 'झीणं ।' प्रा० २ पाद । डयने, काले च । वाच० । अवतीर्णे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डीणोवय–न० । देशी–उपरि, दे० ना० ४ वर्ग ।

डीर–देशी–कन्दले, दे० ना० ४ वर्ग ।

डुंग–डुङ्ग–न० । शिलावृन्दे, अं० २ वक्ष० ।

डुंगर–डुङ्गर–पुं० । शिलोच्चयमात्ररूपे पर्वते, म० १ श० २ उ० । नि० चू० । आ० चू० । "जिम डुंगर तिम कुड्डरइं" । प्रा० ४ पाद । शैले, दे० ना० ४ वर्ग ।

डुंघ–पुं० । देशी–नारिकेरमये उदकपानविशेषे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डुडुअ–पुं० । देशी–जीर्णघटे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डुंब–डोम्ब–पुं० । एकविंशतितमे म्लेच्छभेदे, प्रव० ६ द्वार । पं० चू० । व्य० । नी० । श्वपचे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डुमवण–द्रुमवन–न० । वृक्षसमूहे, प्रति० ।

डुहिल–द्रुहिल–पुं० । द्रोहस्वभावे, विशे० ।

डेवण–डेपन–पुं० । आत्मनः प्रतिक्षेपे, व्य० ३ उ० । आ० म० । गर्तवरणाऽऽदीनां रयेणोल्लङ्घने, जीत० । व्य० । महा० । ग० । ओघ० ।

डेवेमाण–डेपयत्–पुं० । अतिक्रामति, भ० १ श० ७ उ० ।

डोंगर–डुङ्गर–पुं० । 'डुंगर' शब्दार्थे, भ० १ श० २ उ० ।

डोंगिली–स्त्री० । देशी–ताम्बूलभाजनविशेषे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डोंब–डोम्ब–पुं० । एकविंशतितमे म्लेच्छभेदे, प्रव० ६ द्वार ।

डोंबिलग–डोम्बिलक–पुं० । म्लेच्छजातीये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । प्रज्ञा० ।

डोअ–पुं० । देशी–दारुहस्ते, दे० ना० ४ वर्ग ।

डोल–डोल–पुं० । तिडाऽऽख्ये प्राणिनि, बृ० १ उ० । जी० । उत्त० । मधूकफलाऽऽदौ, पं० व० २ द्वार । प्रव० ।

डोला–दोला–स्त्री० । दुल–अच्–टाप् । "दशनदष्ट०–" ॥ ८ । १ । २१७ ॥ इत्यादिना दस्य डः । 'डोला' दोला । प्रा० १ पाद । 'डोली' इतिख्याते यानभेदे, उद्यानाऽऽदौ क्रीडाऽर्थे दोलनयन्त्रे च । स्वार्थे कन् । पूर्वोक्तार्थे, वाच० ।

डोलायमाण–दोलायमान–त्रि० । पुं० । दोलां दोलनमयते । अय्–शानच् । वाच० । शिविकायाम, दे० ना० ४ वर्ग । चलचित्तवृत्तौ, नि० चू० १० उ० । दोलनं कुर्वति, दोलायन्त्रकटे च । वाच० ।

डोल्लणग–दोल्लनक–पुं० । उदकसंजाते संस्वेदजे जीवे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

डोलिअ–पुं० । देशी–कृष्णसारे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डोव–पुं० । देशी–दर्व्याम, नं० ।

डोहल–दोहद–पुं० । न० । "दशनदष्ट०–" ॥ ८ । १ । २१७ ॥ इत्यादिना दस्य डः । 'डोहलो, दोहलो' । प्रा० १ पाद । मनोरथे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आव० । नि० चू० । गर्भिणीतदपत्ययोर्हृद्द्वयमत्र गर्भे दोहमाकर्षं ददातीति दा–कः । गर्भिणयभिलाषे, लालसायां च । चिह्ने, गर्भलक्षणे च । न० । वाच० ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प–
श्रीमद्भट्टारक—जैनश्वेताम्बराचार्यश्रीश्री १००८ श्री–
विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
डकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

ढकार

ढ–ढ–पुं० । ढकारो व्यञ्जनवर्णभेदो मूर्द्धस्थानीयः स्पर्शसंज्ञः । ढक्कायाम्, निर्गुणे, शब्दे, एका० । ध्वनि, नागकुमारे, ध्वनौ च । वाच० । गोमुखे, न० । एका० ।

ढंक–ढङ्क–पुं० । काकपक्षिविशेषे, जं० २ वक्ष० । सूत्र० । उत्त० । प्रज्ञा० । आ० म० । आ० चू० । स्था० । भ० । श्रावस्त्यां तिन्दुकोद्याने पञ्चशतानि साधूनां सहस्रं साध्वीनां ढङ्केन कुम्भकारश्रावकेण जमालिं मुक्त्वा प्रतिबोधितानीति । आ० क० । आ० म० । विशे० । वायसे, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढंकण–ढङ्कन–पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

ढंकणग–ढङ्कनक–पुं० । पिधाने, अनु० । आचा० ।

ढंकणय–ढङ्कनक–पुं० । 'ढंकणग' शब्दार्थे, अनु० ।

ढंकणी–स्त्री० । देशी–पिधानिकायाम्, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढंकवत्थुल–ढङ्कवास्तुल–पुं० । शाकविशेषे, ध० २ अधि० । प्रव० ।

ढंकुण–पुं० । देशी–मत्कुणे, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढंखरी–स्त्री० । देशी–वीणाभेदे, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढंढण–ढण्ढन–पुं० । नेमितीर्थकरशिष्ये, भरतेश्वरवृत्तौ ।

ढंढणी–स्त्री० । देशी–कपिकच्छूरूपेऽर्थे, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढंढरीअ–पुं० । देशी–ग्रामनटी, कर्दमे, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढंढल्ल–भ्रम–धा० । चलने, पर०–अक०–सेट् । वाच० । "भ्रमेष्टिरिटिल्ल०–" ॥८।४।१६१॥ इत्यादिना ढण्ढल्लाऽऽदेशः । 'ढंढलइ' 'भमइ' । प्रा० ४ पाद । भ्रमति, अभ्रमीत । फणा० । भ्रेमतुः, बभ्रमतुः । क्वचि न ह्रस्वः । ज्वला० । भ्रमः, भ्रामः । वाच० ।

ढंढसिअ–पुं० । देशी–ग्रामयक्षे, ग्रामतटी, कर्दमे, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढंढोल्ल–गवेष–धा० । अन्वेषणे, अदा०–चुरा०–आत्म०–सेट् । "गवेषेर्डुण्डुल्लढंढोल्लगमेसघत्ताः" ॥८।४।१८९॥ 'ढंढोलइ ।' 'गवेसइ ।' प्रा० ४ पाद । गवेषयते, अजगवेषत् । वाच० ।

ढंस–वि–वृत्–धा० । "विवृतेर्ढंसः" ॥८।४।११८॥ विवृतेर्ढंस इत्यादेशो वा भवति । 'ढंसइ' 'विवट्टइ' । प्रा० ४ पाद । विवर्त्तते । वाच० ।

ढंसय–न० । देशी–अयशसि, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढक्क–छदि–धा० । उद्–णिच् । आवरणे, "छदेर्णेर्णुमनूमसंनुमढक्कौम्बालपव्वालाः" ॥८।४।२१॥ इति छदेर्ण्यन्तस्य ढक्काऽऽदेशः । 'ढक्कइ', 'छायइ' "पइ पइ वज्जइ ढक्क" । प्रा० ४ पाद ।

ढक्कय–न० । देशी–तिलके, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढक्करि–अद्भुत–न० । "शीघ्राऽऽदीनां वहिल्लाऽऽदयः" ॥८।४।४२२॥ इत्यनेन अद्भुतस्य ढक्करिः । आकस्मिके ढक्कापाताऽऽदौ, "हियडा पई एँहु बोल्लिअउ, महु अग्गइ सयवार ॥ फुट्टिसु पिएं पवसंति हउं, भंडय ढक्करि सार ॥१॥" प्रा० ४ पाद ।

ढक्का–ढक्का–स्त्री० । ढक इति कायति । कै–कः । भम्भायाम्, जी० ३ प्रति० । स्था० । भेर्याम्, आ० म० १ अ० १ खण्ड । यशःपटहे, स्वनामख्याते वाद्यभेदे च । वाच० ।

ढक्किय–ढक्कित–त्रि० । स्थगितद्वारे, व्य० ६ उ० । समाराचिते, व्य० ४ उ० । अनु० ।

ढक्केयव्व–ढक्कितव्य–त्रि० । पिधानीये, दश० २ अ० ।

ढड्ढ–पुं० । देशी–भेर्याम्, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढड्ढर–ढड्ढर–न० । एकार्थिशे अन्दनकदोषे, "उच्चसरेणं वंदइ, ढड्ढर एयं तु होइ बोधव्वं ।" उच्चस्वरेण महता शब्देन वन्दनकमुच्चारयन् यद्वन्दते तदेतद् ढड्ढरमिति बोद्धव्यम् । वृ० ३ उ० । पं० व० । आ० चू० । प्रव० । आ० क० । ध० ।

ढिंकण–ढिङ्कन–पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उत्त० ३६ अ० ।

ढिंकुण–ढिङ्कुन–पुं० । क्षुद्रजीवविशेषे, जं० २ वक्ष० ।

ढिंग–ढिङ्ग–पुं० जीवविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

ढिक्क–गर्ज–धा० । ऊर्जाहेतुकशब्दे, भ्वादि०–पर०–सक०–सेट् । वाच० । 'वृषेर्ढिक्कः' ॥८।४।९९॥ वृषकर्तृकस्य गर्जेर्ढिक्काऽऽदेशः । 'ढिक्कइ', वृषो गर्जतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

ढुंढुण–ढुण्ढुण–न० । तीर्थभेदे, ती० ४ कल्प ।

ढुंढुल्ल–गवेष–धा० । अन्वेषणे, अदा०–चुरा०–आत्म०–सेट् । "गवेषेर्डुण्डुल्ल०–" ॥८।४।१८९॥ इत्यादिना "ढुंढुल्ल," आदेशः । 'ढुंढुलइ, गवेसइ ।' प्रा० ४ पाद ।

भ्रम–धा० । चलने, पर०–सक०–सेट् । वाच० । "भ्रमेष्टिरिटिल्ल०–" ॥८।४।१६१॥ इत्यादिना ढुंढुल्लाऽऽदेशः । 'ढुंढुल्लइ' । 'भमइ' । प्रा० ४ पाद ।

ढेंकिय–गर्जित–न० । वृषशब्दे, आव० ४ अ० ।

ढेंकी–स्त्री० । देशी–बलाकायाम, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढेणियालग–ढेणिकालक–पुं० । पक्षिविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

ढेणी–ढेणी–स्त्री० । पक्षिविशेषे, प्रज्ञ० ३ वर्ग १ अ० ।

ढेल्ल–पुं० । देशी–निर्धने, दे० ना० ४ वर्ग ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्री–
विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
ढकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

ढंढण–'अलाभपरीसह' शब्दे प्रथमभागे ७७२ पृष्ठे कथा
गता । उत्त० २ अ० ।

णकार

ण—ण—पुं०।'ण'इति टवर्गस्य पञ्चमो वर्णो मूर्धन्यः। संस्कृते णत्वे-कारादिभिधा णकाराऽऽद्यः शब्दा न सन्ति। ये चोपदेशे 'णम' प्रह्वत्वे, शब्दे च, इत्यादयो धातवः पठ्यन्ते, तेषामपि "णो नः" ॥ ६। १। ६५ ॥ (पाणि०) इति नत्वेन नमतीत्यादीनि नकारा-ऽऽदीन्येव रूपाणि भवन्ति। प्राकृते तु नकाराऽऽद्योऽपि नकाराद्यः शब्दाः "नो णः" ॥ ८। १। २२८ ॥ इति णत्वे कृते णकाराऽऽदि-तां भजन्तीति, अस्माभिर्निवेशिष्यमाणा णाऽऽद्यः शब्दा नाद्योऽपि बुद्धा पठेत्यवधेयम् । 'णक्ष' गतौ डः । पृषो०-णत्वम् । बिन्दुदेवे, भूषणे, गुणवर्जिते, अलस्थाने, निर्णये, ज्ञाने च । वाच०। निर्गुणे, जये, योग्ये, बुद्धे, क्रोडे, तस्करे, पशुपुच्छे च । एका० ।

"णो निर्गुणे जये योग्ये, बुद्धे क्रोडे च तस्करे ।
पशुपुच्छे स्त्रियां णा स्त्री, बृहन्माने च णः पुमान् ॥ ४८ ॥
संप्रत्यये तथा स्वार्थे, णः कोणे चैकचक्रुषि ।
क्षीरे रणे धने स्थाने, णीः पुमान् णीर्णियौ णियः ॥ ४६ ॥
न्यमे स्वरे वधे वारे, चरणे णिश्चोऽनयात्मकः । "
इति विश्वदेवशम्भुमुनिः । एका० ।

अन्यच्च-

"त्रिलिङ्गयां निर्गुणे गूढे, सौम्ये सव्यापसव्ययोः ।
णशब्दः कलकृते रागे, भेरावणौ ध्वजे पुमान् ॥ ३६ ॥
णा तु स्त्री रजनीशय्या-धेनुनासाक्रूपास्वपि ।
णं सरोजजले ज्ञाने, गमने चरणे रणे ॥ ४० ॥
णशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु भवेद् णस्तुणवस्तुनि"॥ इति माधवः। एका०।

न—अव्य० । 'नह' बन्धने डः । प्रतिषेधे, नि० चू० १ उ० । नञ्-शब्दस्थाननशब्दोऽप्यस्ति;अत एव न एकं नैकं,नायं नञ्,किन्तु न इति; अन्यथा न लोपः स्यादिति । आ० म० १ अ० २ खण्ड। नि० चू० । तत्र क्रियायोगे अभावे, तद्भिन्नयोगे तु भेदे, "नकारो संजोगमाइसु पडिसेहे ।" नकारः पुनः संयोगाऽऽदिषु संयोगसमवायसामान्यविशेषचतुष्टये प्रतिषेधं करोति ।

अत्रोदाहरणम्-

अथ संयोगाऽऽदिविषयं नकारप्रतिषेधं भावयति-

संजोगे समवाए, सामन्ने खलु तहा विसेसे अ ।
कालतिए पडिसेहो, जत्थुवओगो नकारस्स ॥८२२॥

संयोगे, समवाये, सामान्ये, विशेषे चेति चतुर्धा प्रतिषेधो नकारस्य भवति । स च प्रत्येकमतीतानागतवर्तमानलक्षणका-लत्रिकविषयत्वादेकैकः त्रिविध इति सर्वसंख्यया द्वादशविधो नकारप्रतिषेधः। यत्र च क्वापि नकारस्योपयोगो भवति तत्रा-मीषां द्वादशानां भेदानामन्यतमः प्रतिषेधः प्रतिपत्तव्य इति ।

अथ संयोगाऽऽदिषु यथाक्रमं प्रतिषेधमुदाहरति-

नत्थियरे जिणदत्तो, पुव्वपसिद्धाण तेसि दोण्हं पि ।
संजोगो पडिसिज्झइ,न सव्वसो तेसिँ अत्थित्तं ॥८२३॥
समवाए खरसिंगं, सामन्ने नत्थि एरिसो चंदो ।
नत्थि घडयप्पमाणा, विसेसओ होंति मुत्ताओ ॥८२४॥

'नास्ति गृहे जिनदत्तः' इत्यत्र प्रयोगे पूर्वप्रसिद्धयोस्तयोर्गृहजि-नदत्तयोर्द्वयोरपि संयोगः संबन्धमात्रं प्रतिषिध्यते, न पुनः सर्वथैव तयोरस्तित्वमिति संयोगप्रतिषेधः। समवायप्रतिषेधे तु खरशृङ्गमुदाहरणं, खरोऽप्यस्ति, शृङ्गमप्यस्ति,परं खरशिरसि शृङ्गं नास्तीति समवायः,'एकत्र संश्लेषः उभयोरपि' प्रति-षिध्यते इति समवायप्रतिषेधः । सामान्यप्रतिषेधो यथा-ना-स्त्यस्मिन् स्थानेऽन्य ईदृशश्चन्द्रमा इति । विशेषमाश्रित्य पुनरयं प्रतिषेधः-न सन्ति घटप्रमाणा मुक्ताः,मुक्ताफलानीत्यर्थः। सन्ति मुक्ताफलानि, परं न घटप्रमाणानीति घटप्रमाणत्वलक्षण-स्य विशेषस्य प्रतिषिध्यमानत्वाद्विशेषप्रतिषेधो भावितः । भावितः संयोगाऽऽदिचतुष्टयप्रतिषेधः ।

सम्प्रति कालत्रयविषयं तमेव भावयति-

नेवासी न भविस्सइ,णेव घडो अत्थि इति तिहा कालो ।
पडिसेहेइ नकारो, सज्जं तु अकारनोकारा ॥८२५॥

नैवाऽऽसीत् भविष्यति, नैवास्ति घट इति यथाक्रमम-तीतानागतवर्तमानभेदात् त्रिधा कालविषयं वस्तु नकारः प्रति-षेधयति । अकारनोकारौ तु सद्यो वर्तमानकालमेव प्रायः प्र-तिषेधयतः। यथा-अकरोषि त्वं,नो कल्पते तावत्प्रलम्बं प्रतिगृ-हीतुमित्यादि। नाकारस्य त्रिविधकालप्रतिषेधकत्वं पूर्वमुक्तमे-वेति न पुनरुच्यते। बृ० १ उ० । नि० चू० । सूत्र० । उपमायां बन्धे, प्रस्तुते च । वाच० । नराऽऽदिषु, एका० ।

"नो नरे च समाधेऽपि, नो नाथेऽपि प्रदर्शने ।
नृशब्दोऽपि नरे नाथे, ना नरौ नर इत्यपि ॥ ७६ ॥
ननौ इति निपातौ द्वौ, नू दर्पेऽपि तथोदितः ।
पृच्छायां तु वितर्केऽपि, निर्निशब्दौ तथाऽव्ययम् ॥ ७७ ॥
नीरन्तो ब्रह्मवाच्यः स्या-न्नेतरि नियौ नियः ।
नु स्तुतौ दीर्घह्रस्वे स्त्री, नेनौश्च तरणौ स्त्रियाम् ॥ ७८ ॥
नृशब्दः पालके पुंसि, वायौ क्लीबे तु वारिणि ।
नं ब्रह्मणि तथाऽनन्ते, सानन्दे नं च नन्दने ॥ ७६ ॥"
इति विश्वदेवशम्भुमुनिः । एका० ।
"नकारस्तु स्त्रियां नाभौ, नं नाट्यज्ञानयोर्भवेत् ।
नशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु, पठ्यते भिन्नसूक्ष्मयोः ॥ ५३ ॥
प्रस्तुते वा परिच्छिन्ने, शुद्धे निर्णेतरि स्मृतः ।
नुः स्त्रियां नु स्तुतौ नावि, नौरनर्थेव निरूप्यते ।
नुनशब्दस्त्रिलिङ्गः स्या-त्प्रयुक्तार्थवाचकः ।
अव्ययं प्रतिषेधेऽल्पे,नकारः स्थिरनिश्चये ॥ ५५ ॥
नानाप्रकारे नेदं स्यात्, भावे मन्यवधारणे ॥" इति माधवः। एका० ।

नञ्—अव्य० । सर्वनिषेधे, पर्युदासे, सं० । वा० । कुत्सार्थे, य-था कुत्सितो ब्राह्मणोऽब्राह्मणः । ध० १ अधि० । कुत्सितं शील-

मशीलमिति । अनु० । दुःशब्दार्थे, यथा अशीलाः, दुःशीला इत्यर्थः । स्था० ३ ठा० ३ उ० । अल्पार्थे, यथाऽयं पुमानज्ञः, स्वल्पज्ञान इत्यर्थः । आचा० १ श्रु० ६ अ० ६ उ० ।

णइ–णइ–अव्य० । अवधारणे,"णइ चेअ चिअ च अवधारणे" ॥८।२।१८४॥ इत्यवधारणे णइ इति प्रयोगः । 'णइ' प्रा०२ पाद ।

नति–स्त्री० । नमने, नम्रीभवने, वाच० ।

णइग्गाम–नदीग्राम–पुं० । "समासे वा" ॥ ८ । २ । ९७ ॥ इति समासे द्वित्वं वा, द्वित्वे ह्रस्वः । नदीतटस्थे ग्रामे, प्रा०२ पाद ।

णइसोत्त–नदीस्रोतस्–न० । " दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ " ॥८।१।४ ॥ इति दीर्घकारस्य वा ह्रस्वः । नद्याः प्रवाहे, प्रा० १ पाद ।

णइसंतार–नदीसन्तार–पुं० । ' णईसंतार ' शब्दार्थे, जीत० ।

णई–नदी–स्त्री० । सरिति, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ५ उ० । दश० । ज्ञा० । सलिलायाम, भ० ९ श० २ उ० । प्रश्न० । गङ्गा नदी पञ्चारके रथपथप्रमाणा भविष्यति, न वा, चेन्नविष्यति, तदाऽन्याश्चतुर्दशसहस्रमिता नद्यः क यास्यन्तीति प्रश्ने ?, उत्तरम्–गङ्गा यथोक्तप्रमाणा भविष्यति, अन्यास्तु चतुर्दशसहस्रमिता नद्यः पृथिव्या भूयस्तरतापवशेन शोषं यास्यन्तीति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्तावस्ति । ६७ प्र० सेन० १ उल्ला० । तथा जम्बूद्वीपमध्ये चतुर्दशलक्षषट्पञ्चाशत्सहस्राश्चान्तरनद्यो महाविदेहमध्यविजयविभेदविधायः षट् नद्योऽन्याः प्रान्तवैताढ्यमध्यगोन्मग्ना निमग्नाभिधाना नद्यश्च संख्यामध्ये कथं नागताः ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्–पूर्वाचार्याणां विवक्षैव प्रमाणं, जम्बूद्वीपसंग्रहणीकारेण तु साधिकसप्तदशलक्षमिता नद्यो जम्बूद्वीपमध्ये संकलिताः सन्तीति । ६८ प्र० । सेन० प्र० १ उल्ला० ।

(सलिला महानद्योऽन्तरनद्यश्च "जंबूदीव" शब्दे चतुर्थभागे १३७५ पृष्ठे उक्ताः) (गङ्गासिन्ध्वोर्वक्तव्यता स्वस्वस्थाने)

णईकच्छ–नदीकच्छ–पुं० । नदीगहने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णईगाम–नदीग्राम–' णइग्गाम ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

णईजल–नदीजल–न० । सामान्यनदीजले, गङ्गानदीजलं यथा लवणाब्धौ विश्राम्यति तथा मानुषोत्तरपर्वतसंमुखविनिर्गतनदीजलमपि कुत्र विश्राम्यतीति प्रश्ने ?, उत्तरम्–मानुषोत्तराभिमुखनिर्गतनदीजलं पुष्करवरसमुद्रे विश्राम्यतीति स्थानाऽऽद्यावस्तीति । २६४ प्र० । सेन० प्र० ३ उल्ला० ।

णईपमुह–नदीप्रमुख–त्रि० । नदीह्रदाऽऽदिके, प्रव० ८२ द्वार ।

णईमासय–न० । देशी–जलोद्भवे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णईसंतार–नदीसन्तार–पुं० । नद्युत्तरणे, नदीसन्तारश्चतुर्धा–जङ्घार्धदघ्नोदकः, संघट्टस्तदूर्ध्वं नाभिद्वयसोदकः, लेपस्तदूर्ध्वजलो, लेपोपरि बाहुभ्यामुडुपैर्वा चतुर्थः । चतुर्ष्वत्र प्रायः कायोत्सर्गः । जीत० ।

जलोत्तरणप्रकाराः–

जंघातारिम कत्थइ, कत्थइ बाहाहि अप्प ण तरेज्जा ।
कुंभे दतिए तुंबे, णावा उडुवे य पण्णी य ॥ १९१ ॥

समासतो जलसंतरणं दुविहं–थाहं, अथाहं च । जं थाहं तं तिविहं संघट्टो, लेवो, लेवोवरियं च । एयं तिविहं पि जंघासंतारिमग्गहणेण गहियं । (कत्थइ त्ति) कस्मिंश्चिद्देशे ईदृशं भवतीत्यर्थः । बितियं (कत्थइ त्ति) कस्मिंश्चिद्देशे अत्थाहं भवतीत्यर्थः । एत्थ य बाहाहिं अप्पणा णो तरेज्जा, हस्ताऽऽदिप्रक्षेपे बहूदकोपघातत्वात् । जलजाणेहिं इमेहिं संतरणं कायव्वं–कुंभेण, तदभावा दतिएण, तदभावा तुंबेण, तदभावा उडुपेण, तदभावा पण्णीए, तदभावा णावाए । बंधऽणुलोमा मज्झे णावागहणं कतं ।

एत्तो एगतरेणं, तरियव्वं कारणम्मि जातम्मि ।
एतेसिं विवच्चासे, चाउम्मासा भवे लहुया ॥ १९२ ॥

गाहा कंठा । णवरं (विवच्चासे त्ति) सति कुंभस्स दतिएण तरति तो चउलहुयं । एवं एक्केक्कस्स विवच्चासे चउलहुयं दट्ठव्वं । सव्वते कुंभाती इमाए जयणाए घेत्तव्वा ।

णावं पुण अहिकिच्च भण्णति–

णवाऽणवे विजासा तु, भाविताऽभाविते त्ति य ।
दगऽसभाविए चेव, उल्लाऽणोल्ला य मग्गणा ॥ १९३ ॥

सा णावा अहाकडेण य जाति, संजयट्ठा वा अहाकडाए गंतव्वं । असति अहाकडाए संजयट्ठाए वि जा जाति, ताए वि गंतव्वं । सा दुविहा–(णवाऽणवे विजास त्ति) णवा, पुराणा वा । णवाए गंतव्वं, न पुराणाए, सप्रत्यपायत्वात् । णवा दुविहा–(भाविताऽभाविय त्ति) उदगभाविता, अभाविता य । जा उदगे वूढपुव्वा, सा उदगभाविया । इतरा अभाविया । भावियाए गंतव्वं, ण इतराए । मा उदगशस्त्रं भविष्यतीति कृत्वा । तदुदयभाविया दुविहा–(उल्लाऽणोल्ल त्ति) समाणा उल्लाविता, अणोल्ला सुक्का । उल्लाए गंतव्वं, ण इयराए, उदगाकर्षणभयात् । (मग्गणे त्ति) एषा एव मार्गणा, याऽभिहिता, परिसरणाए पुण गच्छति । नि० चू० १ उ० ।

(चत्वारो नौसंतरणप्रकाराः ' णावा ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

महार्णवसूत्रम्–

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाओ पंच महण्णवाओ महानदीओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वंजियाओ अंतोमासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा । तं जहा–गंगा, जउणा, सरऊ, कोसिया, मही ।

नो कल्पन्ते न युज्यन्ते । सूत्रे एकवचननिर्देशः प्राकृतत्वात् । निर्ग्रन्थानाम्, इमाः प्रत्यासन्नाः पञ्च महार्णवा बहूदकतया महासमुद्रगामिन्यो महानद्यो गुरुनिम्नगा उद्दिष्टाः सामान्येनाभिहिताः, यथा महानद्य इति । गणिता यथा पञ्चेति । व्यञ्जिता व्यक्तीकृता यथा गङ्गेत्यादि । अन्तर्मध्ये मासस्य द्विःकृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा उत्तरीतुं बाहुजङ्घाऽऽदिना, संतरीतुं नावादिना । तद्यथा–गङ्गा १ यमुना २ सरयू ३ कौशिकी ४ मही ५ । एष सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यकारः कानिचिद्विषमपदानि विवृणोति–

इमाओ त्ति सुत्तउत्ता, उद्दिट्ठ नदीउ गणिय पंचेव ।
गंगादि वंजिताओ, बहुउदगा महण्णवाओ तु ॥ ७१४ ॥

(इमा इति) प्रत्यक्षवाचिना सर्वनाम्ना सूत्रोक्ता उच्यन्ते । उद्दिष्टा नद्य इति । गणिताः पञ्चेति । व्यञ्जिता गङ्गाऽऽदिपदैः

ष्वेकीकृताः, यास्तु बहूदकास्ता महार्णवा उच्यन्ते । कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः-

पंचण्हं गहणेणं, सेसा वि तु सूइया महासलिला ।
तत्थ पुरा विहरिंसु, ण य ताओ कयाइ सुक्खंति ॥७१५॥

पञ्चानां गङ्गाऽऽदीनां ग्रहणेन शेषा अपि या महासलिला बहूदका अविच्छेदवाहिन्यस्ताः सूचिता मन्तव्याः । स्याद् बुद्धिः किमर्थं गङ्गाऽऽदीनां ग्रहणम् ?, इत्याह-(तत्थ इत्यादि) येषु गङ्गाऽऽदयः पञ्च महानद्यो वहन्ति,तेषु पुरा साधवो विहृतवन्तः, न च ताः कदाचिदपि शुष्यन्ति, अतस्तासां ग्रहणम् ।

पंच पडुवेकाणं, णावासंतारिमं तु जं जत्थ ।
उत्तरणम्मि वि लहुगा,तत्थ वि आणाऽऽदिणो दोसा॥७१६।

पञ्चापि महानदीः प्ररूप्य, या यादृशी यद्विषये, तां तथा वर्णयित्वा प्रस्तुतमभिधातव्यम् । तचेदम्-नौसंतारिमं यच्चोदकं तत्र यः षट्कायविराधनां प्राप्नोति, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तं, यत्रापि जङ्घाऽऽदिनोत्तरणं भवति, तत्रापि चतुर्लघुकाः । अपिशब्दात्संतरणेऽपि चतुर्लघु । तत्राप्युत्तरणे आज्ञाऽऽदयो दोषाः, किं पुनः संतरणे ?, इत्यपिशब्दार्थः । बृ० ४ उ० । स्था० । ग० । नि० चू० ।

सन्तरणे दोषाः । तत्र संतरणे तावद्दोषानाह-

अणुकंपा पडिणीया, व होज्ज बहवो य पच्चवायाओ ।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥७१७॥

अनुकम्पादोषाः, प्रत्यनीकदोषाः, बहवो वा प्रत्यपाया नावमारूढानां भवन्ति । एतेषां च नानात्वं विभागं यथाऽऽनुपूर्व्या वक्ष्यामि ।

तदेवाऽऽह-

तुभणं जले थलातो, अण्णे वोत्तारिता तुभति साहू ।
ठवणं व पत्थिताए, दट्ठुं णावं व आणाती ॥७१८॥

साधुं तरणार्थिनं ज्ञात्वा नौवाणिजो, नाविको वा अनुकम्पया नावं स्थलाज्जले प्रक्षिपेत् । ये वा पूर्वं नावमारोपिताः, तानुदके, तटे वाऽवतार्य साधून् प्रक्षिपेत्, नावमारोपयेदित्यर्थः । संप्रस्थिता वा नावं साधव उत्तरिष्यन्तीति कृत्वा स्थापयेत् । साधून् वा दृष्ट्वा परकूलान्नावमानयेत् ।

अत्र चामी दोषाः-

णावियसाधुपदोसा, णियत्तणत्थंतगा य हारियाऽऽदी ।
जं तेणसावएहि व, पवहण अण्णाएँ किण्णं वा ॥७१९॥

ये वणिकाद्या अवतारिताः, ते नाविकस्य वा, साधूनां वा प्रद्वेषं गच्छेयुः । यद्वा-ते निवर्तमानास्तत्रैव तिष्ठन्तो हरिताऽऽदीनां विराधनामन्यद्वाऽधिकरणं यत् कुर्वन्ति । यद्वा-स्तेनश्वापदेभ्य उपद्रवं प्राप्नुवन्ति, अवहन्तीं वा नावं यत्प्रवाहयिष्यन्ति, अन्यस्या नावः क्रयणं करिष्यन्ति ते, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

परकूलान्नावानयने दृष्टान्तमाह-

मज्जणगतो मुरुंडो, णावं दट्ठूण अप्पणा णेति ।
कहिगा णवि य कलेसा,तवि लहुगा मग्गणा पच्छा ॥७२०॥

मज्जनगतः स्नानं कुर्वन्, मुरुण्डो राजा साधून् दृष्ट्वा नावमात्मना नयति,ततो नावारूढः साधुः कथिकाः कथयितुं लग्नः,यावन्तश्च तत्र वस्तुकक्लेपास्तावन्ति चतुर्लघूनि,पश्चाच्च साधूनां मार्गणा-संयमविराधना १, आत्मविराधना २, उभयविराधना वा । यदि वा उदकमवतरतः, नावारूढस्य, नाव उत्तरतश्चेति । एतेषां त्रयाणामेकतरस्मिन् बहवः प्रत्यपाया भवन्ति । उक्तं संतरणम् ।

उत्तरणे जङ्घासंघट्टाऽऽदिदोषाः । अथोत्तरणमाह-

उत्तरणम्मि परूविते, उत्तरमाणस्स चउलहू होंति ।
आणाऽऽदिणो य दोसा, विराहणा संजमाऽऽताए ॥७२९॥

उत्तरणं नाम नावं विना वक्ष्यमाणैः संघट्टाऽऽदिभिः प्रकारैरुत्तीर्यते, तस्मिन्नुत्तरणे प्ररूपिते सतीदमभिधीयते, यदि जङ्घाऽऽदिनाऽप्युत्तरति, तदा चतुर्लघु, आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः, संयमाऽऽत्मविराधना च भवति ।

तस्य चोत्तरणस्यैते भेदाः-

जंघद्धा संघट्टो, संघट्टुवरिं तु लेवो जा णाभी ।
तेण परं लेवोवरि, तुंबाऽऽदी णावउज्जेसु ॥७२०॥

यस्मिन् कूले उत्तरतां पादतलादारभ्य जङ्घाया अर्द्धं ब्रुडति स संघट्टः, तस्यैव संघट्टस्योपरि यावन्नाभिरेव तावद्यत् प्रविशति स लेपः । ततः परं नाभेरारभ्योपरि सर्वमपि लेपोपरि भण्यते । तच्च द्विधा-स्ताघमस्ताघं च । यत्र नासिका न ब्रुडति तत् स्ताघं, यत्र तु नासिका ब्रुडति तदस्ताघम् । तत्र तुम्बोडुपाऽऽदिभिर्नौवर्जितैर्यदुत्तार्यते तदुत्तरणं मन्तव्यम् ।

तत्रोत्तरणे एते संयमाऽऽत्मविराधनादोषाः-

संघट्टणा य सिंचण, उवगरणे पडण संजमे दोसा ।
चिक्खल्लखाणुकंटग, सावतजयवाहणे आया ॥७२१॥

लोकेन साधोः संघट्टनं भवेत्, साधुर्वा जलं सङ्घट्टयेत्,सङ्घट्टनग्रहणात् परितापनमपद्रावणं च सूचितम् । एतेषु कायनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । प्रत्यनीकः साधुमुपधिं वा सिञ्चति, स्वयं वा साधुरात्मानं सिञ्चेत्, साधोरुपकरणस्य जले पतनम् । एते संयमे दोषाः । तथा चिक्खल्ले निमज्जति,जलमध्ये वा चक्षुरविषयतया स्थाणुना कण्टकेन वा विध्यते, मकराऽऽदिश्वापदभयं वा भवति, नदीवाहेन वा वाहनम् । एषा सर्वाऽप्यात्मविराधना ।

ऐरावतीकुणालायां सूत्रम्-

अह पुण एवं जाणिज्जा-एरवई कुणालाए जत्थ चक्किया एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा, एवं एहं कप्पइ अंतोमासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा; नो चक्किया एवं एहं नो कप्पइ अंतोमासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा ।

अथ पुनरेवं जानीयात्-ऐरावती नाम नदी कुणालायाः नगर्याः समीपे जङ्घार्द्धप्रमाणेनोद्वेधेन वहति, तस्यामन्यस्यां वा यत्रैव (चक्किया) शक्नुयात्, उत्तरीतुमिति शेषः । कथमिति ?, आह-एकं पादं जले कृत्वा, एकं पादं स्थले आकाशे कृत्वा । एवं एहमिति वाक्यालङ्कारे । यत्रोत्तरीतुं शक्नुयात्, तत्र कल्पते अन्तर्मासस्य द्विःकृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा उत्तरीतुं लङ्घितुम्,संतरीतुं भूयः प्रत्यागन्तुं,यत्र पुनरेवमुत्तरीतुं न शक्नुयात्, तत्र नो कल्पते अन्तर्मासस्य द्विःकृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा उत्तरीतुं लङ्घितुं,संतरीतुं भूयः प्रत्यागन्तुम्,यत्र पुनरेवमुत्तरीतुं न श-

वनुयात, तत्र नो कल्पते अन्तर्मासस्य द्विःकृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा उत्तरीतुं वा संतरीतुं वा । इति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यकृद्विषमपदानि व्याचष्टे-

एरवइ जहिं चक्किय, जलथलकरणे इमं तु णाणत्तं ।
एगो जलम्मि एगो, थलम्मि इहइं थलागासं ॥७३२॥

ऐरावती नाम यत्र नदी, तस्यां जलस्थलयोः पादकरणेनोत्तरीतुं शक्यम् । इदमेव चात्र नानात्वं, यत्सर्वसूत्रोक्तासु महानदीषु मासान्तर्द्वौ त्रीन् वारान् न कल्पते । यच्चात्रैको जले, एकश्च पादः स्थले इत्युक्तं, तदिह स्थलमाकाशमुच्यते ।

एरवइ कुणालाए, वित्थिएणा अद्धजोयणं वहति ।
कप्पति तत्थ अपुण्णे, गंतुं जा एरिसी अएणा ॥७३३॥

ऐरावती नदी कुणालानगर्या अदूरे अर्द्धयोजनविस्तीर्णा वहति । सा चोद्वेधेन च जङ्घार्द्धप्रमाणा, तत्र ऋतुबद्धे काले मासकल्पे अपूर्णे, त्रिःकृत्वो भिक्षाग्रहणसंपाऽऽनयनाऽऽदौ कार्ये यतनया गन्तुं कल्पते, या चेदृशी अन्याऽपि नदी, तस्यामपि त्रिःकृत्वो गन्तुं कल्पते । कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता ।

सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः-

संकमथले य णो-थल पासाणजले य वालुगजले य ।
सुद्धदगे पंकमीसे, परित्तऽणंते तसा चेव ॥७३४॥

नदीमुत्तरतस्तु ये पन्थानः । तद्यथा-संक्रमस्थलं, नोस्थलं च तत्र यदेकाङ्गिकाऽऽदिना संक्रमेण गम्यते, तत् संक्रमस्थलं, नद्यां कूर्परेण वरणेन वा यद् नदीजलं परिहृत्य गम्यते । नोस्थलं चतुर्विधम्-पाषाणजलं, वालुकाजलं, शुद्धोदकं, पङ्कमिश्रजलम् । एतेषु चतुर्ष्वपि गच्छतां यथासंभवं परीत्तानन्तकायास्त्रसाश्च विराधनां प्राप्नुवन्ति ।

तथा—

उदए चिक्खल्लपरि-त्तऽणंतकाइगतसे य मीसे य ।
अक्कंतमणक्कंते, संजोए होति अप्पबहुं ॥७३५॥

उदके चिक्खल्लाऽऽदिकः पृथिवीकायो, वनस्पतयश्च परीत्तकायिकाः, अनन्तकायिका वा, त्रसाश्च द्वीन्द्रियाऽऽदयो भवेयुः । एते च सर्वेऽपि यथासंभवं मिश्राः सचित्ता अचित्ता वा, आक्रान्ता अनाक्रान्ता वा, स्थिरा अस्थिरा वा, सप्रत्यपाया निष्प्रत्यपाया वा भवेयुः । एतेषु बहवः संयोगा उपयुज्य वक्तव्याः । तेषु यत्राल्पबहुत्वं भवति, अल्पतरसंयमाऽऽत्मविराधनादोषाः, बहवश्च गुणा भवन्तीत्यर्थः । तत्र कारणे समुत्पन्ने गन्तव्यम् ।

यत्र च संक्रमो भवति, तत्रामी भङ्गविकल्पा भवेयुः-

एगंगिचलथिरपारि-साडिसालंबवज्जिए सभए ।
पडिवक्खेसु तु गमणं, तज्जातितरे य संडेवा ॥७३६॥

संक्रमः एकाङ्गिको वा स्याद्, अनेकाङ्गिको वा । एकाङ्गिको य एकेन फलकाऽऽदिना कृतः । अनेकाङ्गिको योऽनेकफलकाऽऽदिनिर्मितः । अनेकाङ्गिकेन गन्तव्यम्, न अनेकाङ्गिकेन । एवं स्थिरेण, न च चलेन । अपरिशाटिना, नो परिशाटिना । सालम्बेन गन्तव्यं, न वर्जितेन; निरालम्बेनेत्यर्थः । सालम्बोऽपि द्विधा-एकतः सालम्बः, द्विधा सालम्बश्च । पूर्वं द्विधा सालम्बेन, तत एकतः सालम्बेनापि । तथा निर्भयेन गन्तव्यं, न सभयेन ।

अत एवाऽऽह-(पडिवक्खेसु य गमणं ति) अनेकाङ्गिकचलपरिशाटिनिरालम्बसभयाऽऽख्यानां पञ्चानां पदानां, ये एकाङ्गिकाऽऽदयः प्रतिपक्षाः, तेषु गमनं कर्तव्यम् । अत्र पञ्चभिः पदैर्द्वात्रिंशद्भङ्गाः । एकाङ्गिकः, स्थिरोऽपरिशाटी, सालम्बो, निर्भय इत्यादि । एषु प्रथमो भङ्गः शुद्धः, शेषा अशुद्धाः । तेष्वपि बहुगुणतरेषु गमनं, यतना च कर्तव्या । सण्डेवका अपि संक्रमभेदा एव । तथा-नकाः, इतरे वा अनुद्यानकाः सण्डेवका भवेयुः । अत आह-तज्जातास्तज्जाताः, शिलाऽऽदयः । अन्यतः स्थानादानीय स्थापिता अतज्जाताः, इष्टकाऽऽदयः । तेष्वपि चलाचलाऽऽक्रान्ताक्रान्ताऽऽदयो भेदाः कर्तव्याः । उक्तः संक्रमः ।

अथ स्थलमाह—

नदिकोप्परवरणेण य, थलमुदयं णोथलं तु तं चउहा ॥
उवलजलवालुगजलं, सुद्धमहीपंकमुदगं च ॥ ७३७॥

नद्या आकुञ्चितकूर्पराऽऽकारजलेन नदीकूर्परमुच्यते । जलोपरि कपाटानि मुक्त्वा पालिबन्धः क्रियते, स वरण उच्यते । एताभ्यां यदुदकं परिहृत्य गम्यते, तत् स्थलं द्रष्टव्यम् । अथ नोस्थलं, तच्चतुर्विधम् । उपलजलम्-अधः पाषाणाः, उपरि जलम् । वालुकाजलम्-अधो वालुकाः, उपरि पानीयं च । शुद्धोदकम्-अधः शुद्धा मही, उपरि जलम् । पङ्कोदकम्-अधः कर्दम उपरि जलम् ।

पङ्कोदकस्य चामूनि विधानानि-

लत्तगपहे य खलुए, तहऽद्धजंघाएँ जाणुउवरिं च ।
लेवो य लेवउवरिं, अक्कंतादी उ संजोगा ॥ ७३८॥

यावन्मात्रमलक्तकेनेव पादो रज्यते, तावन्मात्रो यत्र पथि कर्दमः स लक्तकपथः । खलुकमात्रः पादघुण्टकप्रमाणः, अर्धजङ्घामात्रो जङ्घार्द्धं यावद् भवति, जानूपरि जानुमात्रं यावद्भवति, लेपो नाभिप्रमाणः, तत ऊर्द्ध्वं सर्वोऽपि लेपोपरि । एते सर्वेऽपि कर्दमप्रकाराश्चतुर्विधे नोस्थले कर्दमे च, आक्रान्तानाक्रान्तसभयनिर्भयाऽऽदयः संयोगा यथासंभवं वक्तव्याः ।

सदोषः पन्थाः । अमुना दोषेण युक्तः पन्थाः परिहर्तव्यः-

जो वि पहो अक्कंतो, हरियादितसेहिँ चेव परिहीणो ।
तेण वि तु ण गंतव्वं, जत्थ अवाया इमे होंति ॥७३९॥

योऽपि च पन्था आक्रान्तो दरमलितो, हरिताऽऽदिभिस्त्रसैश्च परिहीणो भवति, ततोऽपि न गन्तव्यम्, यत्रामी अपाया भवन्ति ।

गिरिनदि पुण्णा वाला-हिकंटगा दूरपारमावत्ता ।
चिक्खल्लकल्लुगाणि य, गारा सेवाल उवला य ॥७४०॥

यत्र पथि गिरिनदी पूर्णा तीव्रवेगा वहति । मकराऽऽदयो व्याला अहयो वा यत्र जलमध्ये भवन्ति, कण्टका वाऽऽपूरेणाऽऽनीताः, दूरपारम्, आवर्तबहुलं वा जलं भवेत् । चिक्खल्लो वा नदीषु तद्देशो-यत्र पादौ निमज्जति, कल्लुकाः, गाथायां नपुंसकत्वं प्राकृतत्वात् । पाषाणेषु द्वीन्द्रियजातिविशेषा भवन्ति, ते पादौ छिद्रयन्ति । गाराः पाषाणशर्कराः, सेवालः प्रसिद्धः, उपलाः छिन्नपाषाणाः । एभिरपायैर्वर्जितेन पूर्वं स्थलेन गन्तव्यम्, तदभावे संक्रमेण, तदभावे नोस्थलेनापि । तत्र चतुर्विधे नोस्थले पूर्वममुना गन्तव्यम्-

उवलजलेण तु पुव्वं, अक्कंते निरवाएण गंतव्वं ।

तस्सऽसति अणक्कंते, निरच्चएणं तु गंतव्वं ।।७४१।।

उपलजले कर्दमो न भवति, स्थिरसंहननं च तद् भवति, अतः पूर्वं तेनाऽऽक्रान्ते निरत्ययेन सुखनिष्प्रत्यपायेन गन्तव्यम् । तदभावे अनाक्रान्ते निरत्ययेनापि गन्तव्यम् ।

एमेव सेसएसु वि, सिगतजलादीहिँ होंति संजोगा ।
पंकमहुसित्थलत्तग-खलऽद्धजंघा य जंघा य ।।७४२।।

उपलाद् वालुका अल्पसंहनना, तत उपलजलाभावे वालुकाजलेन गन्तव्यम् । वालुकायाः शुद्धा पृथिवी स्वल्पतरसंहनना, ततो वालुकाजलानन्तरं शुद्धोदकेन गम्यते,तेष्वपि सिकताजलादि, शेषपदेषु एवमेव प्राग्वदाक्रान्तानाक्रान्ताऽऽदयः संयोगा भवन्ति । पङ्कजलं बहुप्रत्यपायमतः सर्वेषामुपलजलाऽऽदीनामभावे तेन गम्यते । स च यो मधुसिक्थाऽऽकृतिकमलक्तकमात्रेण केवलं लगति, यो वा अलक्तकमात्रस्तेन पूर्वं गम्यते, पश्चात् खलुकमात्रेण, पश्चादर्द्धजङ्घामात्रेण,ततो जङ्घामात्रेणापि,जानुप्रमाणेनेत्यर्थः । यस्तु जानुप्रमाणादुपरि पङ्कस्तेन न गन्तव्यम् ।

यत आह-

अद्धोरुगमित्तातो, जो खलु उवरिं तु कद्दमो होति ।
कंटादिजढो वि य सो, अत्थाहजलं व सावायं ।।७४३।।

अर्द्धोरुकमात्राद् जानुप्रमाणादुपरि यः कर्दमो भवति, स कण्टकाऽऽद्यपायवर्जितोऽप्यस्ताघजलमिव गन्तुमशक्यत्वात् सापायो मन्तव्यः । एष विधिः सर्वोऽपि सचित्तपृथिव्यामुक्तः ।

अथाचित्तपृथिव्यां तमेवाऽऽह-

जत्थ अचित्ता पुढवी, तहियं आउतरुजीवसंजोगो ।
जोणिपरित्तथिरेहि य, अक्कंतणिरच्चएहिँ च ।।७४४।।

यत्र पृथिवी अचित्ता तत्राप्कायजीवानां तरुजीवानां च संयोगाः कर्त्तव्याः। तद्यथा-पृथिवी सर्वत्राप्यचित्ता किमप्कायेन गच्छतु किं वा वनस्पतिना?। उच्यते-अप्काये नियमाद्वनस्पतिरस्ति, तस्मात्तेन मा गात् । वनस्पतिना गच्छतु तत्रापि परीत्तयोनिकेन स्थिरसंहननेन आक्रान्तेन निरत्ययेन निष्प्रत्यपायेन । अत्र षोडश भङ्गाः। तद्यथा-प्रत्येकयोनिकः स्थिर आक्रान्तो निष्प्रत्यपायः। एष प्रथमो भङ्गः । सप्रत्यपायेन द्वितीयः । अनाक्रान्तेऽप्येवमेव द्वौ विकल्पौ । एवं स्थिरे चत्वारो विकल्पा लब्धाः । अस्थिरेऽप्येवं चत्वारः। एते प्रत्येकयोनिकेनाष्टौ भङ्गा लब्धाः। अनन्तयोनिकेऽप्येवमेवाष्टौ लभ्यन्ते । एवं सर्वसंख्यया वनस्पतिकाये परीत्ताऽऽदिभिः पदैः षोडश भङ्गा भवन्ति ।

अथाप्कायस्य, त्रसानां च संयोगानाह-

एमेव य संजोगा, उदगस्स चउव्विहेहि तु तसेहिं ।
अक्कंतथिरसरीरे, णिरच्चएहिं तु गंतव्वं ।।७४५।।

चतुर्विधास्त्रसा द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चेति । एतैश्चतुर्विधैरपि त्रसैराक्रान्ताऽऽदिभिः पदैरेवमेव उदकेन सह संयोगाः कार्याः। तद्यथा-आक्रान्ताः स्थिराः सप्रत्यपायाः। एव त्रिभिः पदैरष्टौ भङ्गा भवन्ति । एते च द्वीन्द्रियाऽऽदिषु चतुर्ष्वपि प्रत्येकमष्टावष्टौ लभ्यन्ते, जाता भङ्गकानां द्वात्रिंशत् ।

अथ सान्तरनिरन्तरं विकल्पविवक्षा क्रियते, तत्रचतुःषष्टिसंयोगा उपतिष्ठन्ते । अत्र चाऽऽक्रान्तादिस्थिरनिरत्ययैः सान्तरैर्गन्तव्यम्, नाप्काये गाथा-

तेउवाउविहूणा, एवं सेसा वि सव्वसंजोगा ।
उदगस्स उ कायव्वा, जेणऽहिगारो इहं उदए ।।७४६।।

तेजोवायुकाययोर्गमनं न संभवतीति कृत्वा तेजोवायुविहीनाः । एवं शेषा अपि संयोगाः सर्वेऽपि कर्त्तव्याः । तत्राप्कायस्य वनस्पतिना त्रसैश्च सह भङ्गका उक्ताः । (बृ०)

"अंतो मासस्स तओ दगलेवा" इत्यादिसूत्रं व्याख्याति-

एरवइ जत्थ चक्किय, तारिसए ण उवहम्मती खेत्तं ।
पडिसिद्धं उत्तरणं, अण्णासति खेत्तऽणुण्णातं ।।७४७।।

या ऐरावती नदी कुणालाजनपदे योजनार्द्धं विस्तीर्णा अर्द्धजानुमुदकं वहति,तस्याः केचित्प्रदेशाः शुष्काः,न तत्रोदकमस्ति। तामुत्तीर्य यदि भिक्षाचर्यां गम्यते,तदा ऋतुबद्धे तु ये उदकसंघट्टाः,ते च गताऽऽगतेन षड् भवन्ति । वर्षासु सप्त दकसंघट्टाः,ते च गताऽऽगतेन चतुर्दश भवन्ति । एवमीदृशे संघट्टप्रमाणे क्षेत्रं नोपहन्यते । इत एकेनाप्यधिके संघट्टे उपहन्यते । अन्यतोऽन्यत्रापि यत्राधिकतरसंघट्टाः, तदोत्तरणं प्रतिषिद्धम् । पूर्णे मासकल्पे, वर्षावासे वा ऋतुबद्धानामपरं मासकल्पप्रायोग्यं क्षेत्रमस्ति, ततो नोत्तरणीयम् । अथानुबद्धानामन्यत् क्षेत्रं नास्ति, ततः असति क्षेत्रे उत्तरणमनुज्ञातम् ।

इदमेव व्याचष्टे-

सत्त उ वासासु भवे, दगघट्टा तिण्णि होंति उडुबद्धे ।
जे तु ण हणंति खेत्तं,भिक्खायरियं व ण हणंति ।।७४८।।

सप्तोदकसंघट्टाः वर्षासु, त्रयः संघट्टा ऋतुबद्धे भवन्ति। ये एतावन्तः क्षेत्रं नोपघ्नन्ति, न वा भिक्षाचर्यामुपघ्नन्ति ।

जइ कारणम्मि पुण्णे, अंतो तह कारणम्मि असिवाऽऽदी ।
उवहिस्स गहणलिंपण-नावोदगतं वि जतणाए ।।७४९।।

यथा कारणे पूर्णे मासकल्पे,वर्षावासे वा अपरक्षेत्राभावे दकमुत्तरणं, तथा मासस्यान्तरेऽप्यशिवाऽऽदिभिः कारणैः, उपधेर्वा ग्रहणार्थं,लेपस्याऽऽनयनार्थं चोत्तरणीयम्,कारणे यत्र नावाऽप्युदकं तार्यते,तत्रापि यतनया संतरणीयम्।

तत्र चायं विधिः-

नावथललेवहिट्ठा, लेवो वा उवरि एव लेवस्स ।
दोण्हादिवड्डएगं, अद्धं णावाएँ परिहाती ।। ७५० ।।

तत्र पूर्वार्द्धपश्चार्द्धपदानां यथासंख्येन योजना । नावुत्तरणस्थानाद् यदि द्वे योजने वक्रस्थलेन गम्यते, तेन गन्तव्यं, न च नौरारोढव्या । (लेवहिट्ठ त्ति) लेपस्याधस्ताद् दकसंघट्टेन यदि सार्द्धयोजनपरिरयेण गम्यते, ततस्तत्र गम्यतां, न च नावमधिरोहेत् । एवं योजनपरिहारेण लेपेन गच्छतु, न च नावमधिरोहेत । अर्द्धयोजनपरिहारेण स्थलेन एकयोजनपरिरयेण संघट्टेन अर्द्धयोजनपरिहारेण वा लेपेन गम्यताम्, न च लेपोपरिणा । लेपोत्तरणस्थानादेकयोजनपरिहारेण स्थलेनार्द्धयोजनपरिहारेण वा संघट्टेन गन्तव्यं, न लेपेन । संघट्टोत्तरणस्थानादर्द्धयोजनपरिहारेण स्थलेन गम्यतां, न च संघट्टेन । एतेषां परिहरमाणानामभावे नावा लेपोपरिणा लेपेन संघट्टेन वा गम्यते, न कश्चिद्दोषः ।

अथ 'नावथल त्ति' पदं व्याचष्टे-

दो जोयणाइँ गंतुं, जहियं गम्मति थलेण तेण वए ।

मा य दुरूहे नावं, तत्थावाया बहू वुत्ता ॥ ७५१ ॥

द्वे योजने गत्वा यत्र स्थलेन गम्यते, तेन पथा व्रजेत्, मा च नावमारोहेत्। यतस्तत्र बहवोऽपायाः पूर्वमेवोक्ताः। कारणे तु तत्रापि गम्यते।

तत्र संघट्टे गच्छतां तावद्यतनामाह-

थलसंकमणे जयणा, पलोगणा पुच्छिऊण उत्तरणं ।
परिहरिऊणं गमणं, जति पंथो तेण जयणाए ॥७५२॥

स्थलसंक्रमणे यतना कार्या; एकं पादं जले, एकं पादं स्थले कुर्यादित्यर्थः। प्रलोकना नाम-लोकमुत्तरन्तं प्रलोकयति, यस्मिन् पार्श्वे जङ्घाऽर्द्धमात्रमुदकं तत्र गच्छति। अथोत्तरतो न पश्यति, ततः प्रातिपथिकम्, अन्यं वा पृच्छति। ततो यत्र नीचतरमुदकं, तत्रोत्तरणं विधेयम्। (परिहरिऊण) इत्यादि। यदि तस्योदकस्य परिहारेण पन्था विद्यते, तदा तं परित्यज्य यतनया तेन गन्तव्यम्।

अथ स्थलपदे अमी दोषा भवेयुः-

समुदाणं पंथो वा, वसही वा थलपथेण जति णत्थि ।
सावयतेणभयं वा, संघट्टेणं ततो गच्छे ॥ ७५३ ॥

समुदानं भिक्षा तत्र नास्ति, स्थलपथ एव वा नास्ति, वसतिर्वा स्थलपथेन यदि न समस्ति, श्वापदभयं, स्तेनभयं वा तत्र विद्यते, ततः स्थलपथं मुक्त्वा संघट्टेन प्रथमतो गच्छेत्, तदभावे लेपेन।

तत्रेयं यतना-

निब्भएऽगारत्थाणं, तु मग्गतो चोलपट्टमुस्सारे ।
सभये अत्थाघे वा, उत्तिणेसुं घणं पट्टं ॥ ७५४ ॥

यदि स साधुर्गृहिसार्थसहायः, तत उदकसमीपं गत्वोर्ध्वकायं मुखवस्त्रिकया, अधःकायं रजोहरणेन प्रमार्ज्योपकरणमेकतः कृत्वा, यदि निर्भयं चौरभयं नास्ति, ततो गृहस्थानां मार्गतः सर्वतः पश्चादुदकमवतरति, यथा यथा चोदकमुण्डतरं जलमवगाहते, तथा तथोपर्युपरि चोलपट्टकमुत्सारयेत्; येन न तीम्यते। अथ तत्र सभयम, अस्ताघं वा जलं. ततो यदा कियन्तोऽपि गृहस्था अग्रतोऽवतीर्णाः, तदा मध्ये साधुनाऽवतरणीयम्, चोलपट्टकं च घनं दृढं बध्नीयात्।

एतेन विधिनोत्तीर्णस्य यदि चोलपट्टकोऽन्यद्वा किञ्चिदुपकरणजातं तीमितं तदाऽयं विधिः-

दगतीरे ता चिट्ठे, णिप्पगलो जाव चोलपट्टो तु ।
सभए पलंबमाणं, गच्छति काएण अफुसंतो ॥७५५॥

उदकतीरे स्निग्धपृथिव्यामप्कायरक्षणार्थं तावत्तिष्ठेद् यावच्चोलपट्टकोऽन्यद्वोपकरणं निष्प्रगलं भवति। अथ तत्र तिष्ठतः सभयं, ततः प्रगलन्तमेव तं चोलपट्टकं कायेनास्पृशन् बाहायां प्रलम्बमानं नयन् गच्छति।

यत्र सार्थविरहित एकाकी समुत्तरति, तत्रायं विधिः-

असइ गिहि णालियाए, आणक्खेउं पुणोऽवि पडियरणं ।
एगाभोगं च करे, उवगरणं लेव उवरिं च ॥७५६॥

गृहिणामभावे सर्वोपकरणमवतरणतीरे मुक्त्वा नालिकामात्मप्रमाणाच्चतुरङ्गुलातिरिक्तां यष्टिं गृहीत्वा, तदा (आव-क्षेउं) अस्ताघतामनुमीय, तीरात् पुनरपि जले प्रतिचरणं करोति, प्रत्यागच्छतीत्यर्थः। आगत्य च तदुपकरणमेकाभोगं करोति, एकत्र नियन्त्रयतीत्यर्थः। ततस्तद् गृहीत्वा, तेन परीक्षितजलपथेनोत्तरति। एष लेपे, लेपोपरी वा विधिरुक्तः। बृ०४उ०।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो परेहिं सद्धिं परिजविय परिजविय गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा [७४०] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से जंघासंतारिमे उदए सिया, से पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पादे य पमज्जेज्जा, से पुव्वामेव पमज्जित्ता० जाव एगं पादं जले किच्चा एगं पादं थले किच्चा, तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदगे अहारियं रीएज्जा [७४१] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जंघासंतारिमे उदगे अहारियं रीयमाणे णो हत्थेण वा हत्थं पादेण वा पादं काएण वा कायं आसाएज्जा, से अणासादए अणासायमाणे तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीएज्जा [७४२] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीयमाणे णो सायावडियाए णो परिदाहवडियाए महति महालयंसि उदगंसि कायं वितिसेज्जा, तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीएज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा-पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए, तओ संजयामेव उदउल्लेण वा ससणिद्धेण वा काएण उदगतीरे चिट्ठेज्जा [७४३]

'से' इत्यादि स्पष्टम्। नवरमयं सामाचारी-यज्जङ्घदघ्ने जलं तत्स्वत एव यावन्निष्प्रगलं भवति, तावदुदकतीर एव स्थेयम्। अथ चौराऽऽदिभयाद् गमनं स्यात्, ततः प्रलम्बमानं कायेनास्पृशता नेयमिति। तथा 'से' इत्यादि कण्ठ्यम्। नवरं (परिजविय इत्ति) परैः सार्द्धं भृशमुल्लापं कुर्वन्न गच्छेदिति। इदानीं जङ्घासन्तरणविधिमाह-"से" इत्यादि। तस्य भिक्षोर्ग्रामान्तरं गच्छतो यदन्तराले आजानुदघ्नाऽऽदिकमुदकं स्यात्, तत ऊर्ध्वकायं मुखवस्त्रिकया, अधः कायं च रजोहरणेन प्रमृज्योदकं प्रविशेत्प्रविष्टश्च पादमेकं जले कृत्वा, अपरं स्थले आकाशे कृत्वा पादावुत्क्षिपन्गच्छेत्, न जलमालोडयता गन्तव्यमित्यर्थः। (अहारियं रीयेज्ज त्ति) यथा ऋजु भवति तथा गच्छेद्, नार्द्धवितर्द्दं विकारं वा कुर्वन् गच्छेदिति। 'से' इत्यादि। स भिक्षुर्यथार्थमेव गच्छन् महत्युदके महाश्रये वक्षःस्थलाऽऽदिप्रमाणे जङ्घासंतरणीये नदीह्रदाऽऽदौ पूर्वविधिनैव कायं प्रवेशयेत्। प्रविष्टश्च यदुपकरणं निर्वाहयितुमसमर्थस्ततः सर्वम्, असारं वा परित्यजेत्। अथैवं जानीयाच्छक्तोऽहं पारगमनाय, ततस्तथाभूत एव गच्छेत्। उत्तीर्णश्च कायोत्सर्गाऽऽदि पूर्ववत् कुर्यादिति। आचा०२ श्रु०१ चू० ३ अ० २ उ०।

अथापवादमाह-

पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ। तं जहा-भयंसि वा, दुब्भिक्खंसि वा पव्वहेज्ज व णं कोइ, दओघंसि वा एज्जमाणंसि महता वा, अणारिएहिं।

(पंथेत्यादि) अथ राजप्रत्यनीकाऽऽदेः सकाशादुपद्रवाद्युपद्रवे सति १, दुर्भिक्षे वा भिक्षाऽभावे सति २, (पव्वहेज्ज त्ति) प्रव्यथते बाधते, अन्तर्भूतकारितार्थत्वाद्वा प्रवाहयेत् कश्चित् प्रत्यनीकस्तत्रैव गङ्गाऽऽदौ प्रक्षिपेदित्यर्थः ३ । (दओघंसि त्ति) उदकौघे वा गङ्गाऽऽदीनामुन्मार्गगामित्वेनागच्छति सति, तेन प्लाव्यमानानामित्यर्थः। महता वा आटोपेनेति शेषः ४ । (अणारियेहिं ति) विभक्तिव्यत्ययादनार्यैर्म्लेच्छाऽऽदिभिर्जीवितचारित्रापहारिभिः, अभिभूयमानामिति शेषः । ५ । म्लेच्छेषु वा, आगच्छत्स्विति शेषः। एतानि पुष्टान्यालम्बनानीति तत्तरणेऽपि न दोष इति ।

उक्तञ्च–

" सालंबणो पडतो, विअप्पयं दुग्गमे वि धारेइ ।
इय सालंबणसेवी, धारेइ जई असढभावं ॥ १ ॥
आलंबणहीणो पुण, निवडइ खलिओ अहे दुरुत्तारे ।
इय निक्कारणसेवी, पडइ भवोहे अगाहम्मि " ॥ २ ॥ इति । आ० ५ ग० २ उ० ।

अथ नावं यैः कारणैरारोहेत्, तानि दर्शयति–

विइयपयं तेणसावय–भिक्खे वा कारणे व आगाढे ।
कज्जुवहिमगरवुज्झण–नावोदग तं पि जतणाए ॥७५७॥

द्वितीयपदमत्रोच्यते । स्थलसंघट्टाऽऽदिपथेषु शरीरोपधिस्तेनाः, सिंहाऽऽदयो वा श्वापदा भवेयुः, भैक्ष्यं वा न लभ्यते, आगाढं वा कारणमहिदष्टविषविसूचिकाऽऽदिकं भवेत्, तत्र त्वरितमौषधान्यानेतव्यानि, कुलाऽऽदिकार्यं वा आक्षेपेण करणीयमुपस्थितम्, उपधिरुत्पादकेनोदके प्रक्षिप्येत, तत एकाभोगकृतेषु भाजनेषु विलग्नस्तरतीति । (नावोदगतं पि जयणाए त्ति) यदि बलाभियोगेन नावुदकस्योत्सेचापनं कार्यते, तदा तदपि यतनया कर्त्तव्यम् ।

कथं पुनरेकाभोगमुपकरणं करोतीत्याह–

पुरतो दुरुहणमेगं–ते पडिलेह पुव्व पच्छ समगं व ।
सीसे मग्गतो मज्झे, वितियं उवगरण जयणाए ॥७५८॥

गृहिणां पुरत उपकरणं न प्रत्युपेक्षते, न वा एकाभोगं करोति, (दुरुहण त्ति) नावमारोढुकामेन एकान्तमपक्रम्योपकरणं प्रत्युपेक्षणीयं, ततोऽधःकायं रजोहरणेन, उपरिकायं मुखानन्तकेन प्रमृज्य भाजनान्येकत्र बध्नाति, तेषामुपरिष्टादुपधिं सुनियन्त्रितं करोति। (पुव्व पच्छ समगं व त्ति) किं गृहिभ्यः पूर्वमारोढव्यम्, उत पश्चात्, उताहो समकम् ?। अत्रोत्तरम्–यदि भद्रका नाविकाऽऽदयो, यदि च स्थिरा नौर्न दोलायते, ततः पूर्वं समारोढव्यम् । अथ प्रान्तास्ततः पूर्वं नारुह्यते, मा अमङ्गलमिति कृत्वा प्रद्वेषं गमन्; तेषां प्रान्तानां भावं ज्ञात्वा समकं, पश्चाद्वा आरोहणीयम् । (सीसे त्ति) नावः शिरसि न स्थातव्यं, देवतास्थानं तदिति कृत्वा, मार्गतोऽपि न स्थातव्यं, निर्यामकपार्श्वे तिष्ठतीति कृत्वा, मध्येऽपि यत्र कूपकस्थानं, तत्र न स्थातव्यं, तन्मुक्त्वा यदपरं मध्यस्थानं, तत्र स्थेयम् । अथ मध्ये नास्ति स्थानं, ततः शिरसि पृष्ठतो वा यत्र ते स्थापयन्ति, तत्र निराबाधे स्थीयते, साकारं भक्तं प्रत्याख्याय नमस्कारपरस्तिष्ठति । उत्तरन्नपि न पूर्वमुत्तरति, न वा पश्चात्, किं तु मध्ये उत्तरति । सागारिकैः पूर्वमेवोपसागारिकैः क्रियते, यदन्तप्रान्तं चीवरं, तत्प्रावृणोति, यदि च तरपण्यं नाविको मार्गयति, तदा धर्मकथा, अनुशिष्टिश्च क्रियते । अथ न मुञ्चति, ततो द्वितीयपदे यदन्तप्रान्तमुपकरणं, तद् यतनया दातव्यम् । अथ नेच्छति, भिक्षार्थं वा, ततोऽनुकम्पया यदन्यो ददाति तदा न वारणीयः । बृ० ४ उ० ।

साम्प्रतं नौगमनविधिमधिकृत्याऽऽह–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से णावासंतारिमे उदए सिया, सेज्जं पुण णावं जाणेज्जा–अस्संजए भिक्खुपडियाए किणेज्ज वा, पामिच्चेज्ज वा, णावाए वा णावापरिणामं कट्टु थलाओ वा णावं जलंसि ओगाहेज्जा, जलाओ वा णावं थलंसि उक्कसेज्जा, पुण्णं वा णावं उस्सिंचेज्जा, सण्णं वा णावं उप्पीलावेज्जा, तहप्पगारं णावं उड्ढगामिणिं वा अहेगामिणिं वा तिरियगामिणिं वा परं जोयणमेराए अद्धजोयणमेराए वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा णो दुरूहेज्ज गमणाए । [७३३]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा पुव्वामेव तिरिच्छसंपातिमं णावं जाणेज्जा, जाणित्ता से तमायाए एगंतमवक्कमेत्ता भंडगं पडिलेहेज्जा, पडिलेहित्ता एगओ भोयणभंडगं करेज्जा, करित्ता ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जेज्जा, पमज्जित्ता सागारियभत्तं पच्चक्खाएज्जा, पच्चक्खाइत्ता एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा, तओ संजयामेव णावं दुरूहेज्जा । [७३४]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा णावं दुरूहमाणे णो णावाए पुरओ दुरूहेज्जा, णो णावाए अग्गओ दुरूहेज्जा, णो णावाए मज्झतो दुरूहेज्जा, णो बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलीए उवदंसिय २ ओणमिय २ णिज्झाएज्जा । से णं परो णावागतो णावागयं वएज्जा–आउसंतो ! समणा ! एयं तुमं णावं उक्कसाहि वा, वोक्कसाहि वा, खिवाहि वा, रज्जुए वा गहाय आगसाहि, णो सेयं परिण्णं परिजाणिज्जा, तुसिणीओ उवेहेज्जा । से णं परो णावागतो णावागयं वएज्जा–आउसंतो ! समणा ! णो संचाएसि तुमं णावं उक्कसित्तए वा, वोक्कसित्तए वा, खिवित्तए वा, रज्जुयाए वा गहाय आकसित्तए, आहर एतं णावाए रज्जुयं, सयं चेव णं वयं णावं उक्कसिस्सामो वा० जाव रज्जुए वा गहाय आकसिस्सामो, णो सेयं परिण्णं परिजाणिज्जा, तुसिणीओ उवेहेज्जा । से णं परो णावागओ णावागयं वएज्जा–आउसंतो ! समणा ! एयं ता तुमं णावं अलित्तेण वा पीढेण वा वंसेण वा वलएण वा अवल्लएण वा वाहेहि, णो सेयं परिण्णं० जाव उवेहेज्जा । से णं परो णावागओ णावागतं वदेज्जा–आउसंतो ! समणा ! एतं ता तुमं णावाए उदयं हत्थेण वा पाएण वा मत्तेण वा पडिग्गहेण वा णावा उस्सिंचणेण वा उस्सिंचाहि, णो सेयं परिण्णं परिजाणेज्जा । से णं परो णावागतो णावागतं वएज्जा–आउसंतो ! समणा ! एतं ता तुमं णावाए

उत्तिंगं हत्थेण वा पाएण वा बाहुणा वा ऊरुणा वा उदरेण वा सीसेण वा काएण वा णावाउस्सिंचणेण वा चेलेण वा मट्टियाए वा कुसपत्तएण वा कुरुविंदेण वा पेहेहि, णो सेवं परिखं परिजाणेज्जा ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा णावाए उत्तिंगेणं उदयं आसवमाणं पेहाए उवरुवरि णावं कज्जलावेमाणं पेहाए णो परं उवसंकमित्तु एवं बूया-आउसंतो ! गाहावइ ! एयं ते णावाए उदयं उत्तिंगेण आसवति, उवरुवरि वा णावा कज्जलावेति, एतप्पगारं मणं वा वायं वा णो पुरओ कट्टु विहरेज्जा, अप्पुस्सुए अबहिलेस्से एगंतिगएणं अप्पाणं विओसेज्ज समाहीए, तओ संजयामेव णावासंतारिमे उदए अहारियं रीएज्जा । एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं, जं सव्वट्ठेहिं सहिते सदा जएज्जासि त्ति बेमि । (७३१)

स भिक्षुर्ग्रामान्तराले यदि नौसेचनार्थमुदकं आनीयाच्च वेवंभूतां विजानीयात् । तद्यथा-असंयतो गृहस्थां भिक्षुप्रतिज्ञया नावं क्रीणीयात्, अन्यस्माद्वा उच्छिन्नां वा गृह्णीयात्, परिवर्तनं वा कुर्यात् । एवं स्थलादाऽऽनयनाऽऽदिक्रियोपेतां नावं ज्ञात्वा नारोहेदिति । शेषं सुगमम् । इदानीं कारणजाते नावारोहणविधिमाह-'से' इत्यादि सुगमम् । तथा 'से' इत्यादि स्पष्टं, नवरं नो नाव अग्रभागमारुहेद्, निर्यामकोपद्रवसंभवात् । नावारोहिणां वा पुरतो नाऽऽरोहेत्, प्रवर्त्तनाधिकरणसंभवात् । तत्रस्थश्च नौव्यापारं नापरेण चोदितः कुर्यात्, नाप्यन्यं कारयेत् । (उत्तिंग त्ति) रन्ध्रं (कज्जलावेमाणं ति) प्लाव्यमानाम्, (अप्पुस्सुए त्ति) अविमनस्कः शरीरोपकरणाऽऽदौ मूर्च्छामकुर्वन् तस्मिन्नुदकमावगच्छन् (अहारियमिति) यत्र तार्थे नयति, तथा गच्छे शिष्टाध्यवसायो यायादित्यर्थः । एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति । आचा०२ श्रु०१ चू०३ अ०१ उ० ।

जे भिक्खू अणट्ठाए णावं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥

णो अट्ठाए अणट्ठाए, दुरूहइ त्ति, विलग्गइ त्ति, आरुभति त्ति एगट्ठं । आणाऽऽदिया दोसा चउलहुं ॥

गाहा-

बारसमे उद्देसे, नावासंतारिमम्मि जे दोसा ।
ते चेव अणट्ठाए, अट्ठारसमे निरवसेसा ॥ १ ॥

कंठ्या ।

अणट्ठे दंसेति । गाहा-

अंतो मण केरिसिया, णावारूढेहिं गम्मति कहं वा ? ॥
अहवा णाणादिजढं, दुरूहणं होतऽणट्ठाए ॥ २ ॥

केरिसि अब्भंतर त्ति चक्खुदंसणपडियाए आरुहति, गमणकुतूहलेण वा दुरुहति । अहवा णाणादिजढं दुरूहंतस्स सेसं सव्वं अणट्ठा ।

अपवादेण आगाढे कारणे दुरूहेज्जा थलपहेण संघट्टातियजलेण वा जइ इमे दोसा हवेज्जा । गाहा-

बितियपद तेणसावय-भिक्खेवा कारणे व आगाढे ।
कज्जुवहिमगरवुज्झण-नावोदग तं पि जयणाए ॥ ४ ॥

एस बारसमुद्देसे जहा, तहा भाणियव्वा ।

सुत्तविदुकारया विलग्गियव्वं, केरिसं पुण णावं विलग्गति, केरिसं वा ण विलग्गति ?, अतो सुत्तं भण्णति-

जे भिक्खू णावं किणइ, किणावेइ, किणावंतं दिज्जमाणं णावं दुरूहइ, दुरूहंतं वा किणावेइ, किणावंतं वा साइज्जइ ।२।

जे भिक्खू णावं पामिच्चेइ, पामिच्चावेइ, पामिच्चियमाहट्टु दिज्जमाणं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे भिक्खू णावं परियट्टेइ, परियट्टावेइ, परियट्टियमाहट्टु दिज्जमाणं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू णावं अच्छिज्जं अणिसिट्ठं अभिहडमाहट्टु दिज्जमाणं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

अप्पणा किणइ, अण्णेण वा किणावेति, अणुमोयति वा, तथा पामिच्चेति, पामिच्चावेति, पामिच्चंतं अणुमोदति । पामिच्चितं णाम उच्छिण्णं जो णावं परियट्टेति ॥ ३ ॥ तहा उहरियणावाए महल्लं णावं परिणावेति साहू ।

एतेहिं सुत्तपदेहिं सव्वे उग्गमुप्पायणेसणादोसा य सूचिता, तेण णावणिज्जुत्ति भण्णति । गाहा-

णावा उग्गमउप्पा-यणेसणा सुत्तसूइया दोसा ।
आवुत्तरणमकारण, अट्ठविहा ताव निज्जुत्ती ॥ ५ ॥

उग्गमदोसेसु जे चउलहुआ, ते अहासंजयं णावं पडुच्च वत्तव्वा ।

गाहा-

उच्चत्त जत्तिए वा, दुविहा किणणा उ होति णावाए ।
हीणाहियणावाए, जंरुगुरू तेण पामिच्चे ॥ ६ ॥

साधुअट्ठाए उच्चत्ताए णावं किणति, सर्वथा आत्मीकरोतीत्यर्थः । (जत्तिए त्ति) भाडएणं गेण्हति अप्पणा, से णावा हीणप्पमाणा, अहियप्पमाणा वा । अहवा-(भंरुगुरु त्ति) जं तत्थ भंरुमारोविज्जति, तं गुरुं, साहू य णो आमिहिति त्ति, ता एवमादिकज्जेहिं णावं पामिच्चेति ।

अहवा-सा णावा स्वयमेव गुरु, गुरुत्वाद् न शीघ्रगामिनीत्यर्थः । गाहा-

दोण्ह वि उवट्ठिताणं, जत्ताए हीणअहियसिग्घट्ठा ।
णावा परियट्टिज्जइ, एवं माहंसु आयरिया ॥ ७ ॥

दो वाणिया जत्ताए णावाहिं उवट्ठिता, तत्थ य एगस्स हीणा, अवरस्स अहिया, तो परोप्परं णावा परिणामं करेंति, नावा नाव परावर्त्तयन्तीत्यर्थः । अहवा-मन्दगामिनीं शीघ्रगामिन्या परावर्तयन्ति, एवं साध्वर्थमपि ।

गाहा-

एमेव सेसएसु वि, उप्पायणएसणाइदोसेसुं ।
जं जं जुज्जति सुत्ते, विभासियव्वं दुवत्ताए ॥ ८ ॥

कीयकडादिणावासुत्तेसु जं जं जुज्जति, तं तं पिंडणिज्जुत्तीए भाणियव्वं । दुवत्ता बायालीसा-सोलस उग्गमदोसा, सोलस उप्पायणादोसा, दस एसणादोसा । एते भणिया बातालीस

उग्गमउप्पायणेसणा तिविधा दारगाहा।

संजोगादियाण चउण्हं इमा विभासा। गाहा-

संजोए तणमादी, अलेण णावाएँ होति माणं तु।
सुहवयणो इंगालं, छड्डी खोहाऽऽदिम् धूमो ॥ ९ ॥

साहुअट्ठाए तणमादि किंचि कडं संजोएति, आसण्णमज्झदूरगमणा अप्पमाणसाहुपमाणाओ य हीणं सुत्तमभियं पमाणेण वा णावा होज्ज (सुहवयणो त्ति) रागेण इंगालसरिसं चरणं करेति, णावागमणे छड्डी हवइ, छड्डा वाइया वा णावागयस्स सरीरसंखोहो भवति, कंपो, मुच्छा, सिरत्ती य। एवमादिदोसा चरणधूमिकरणेण समं करेति।

गाहा-

कारणे विलग्गियव्वं, अकारणे चउलहू मुणेयव्वं।
किं पुण कारण होज्जा, असिवादि पलासति दुरूहेइ ॥ १० ॥

णावागमणे कारणेण य दुरूहियव्वं, णिक्कारणे चउलहुं। असिवाइकारणे वा गच्छंतस्स तं णावातारिमं चउव्विहं। गाहा-

णावासंतारपहो, चउव्विहो वण्णितो उ जो पुव्वं।
णिज्जुत्तीएँ सुविहिए, सो चेव इहं पि णायव्वो ॥ ११ ॥

निज्जुत्तीपेढं इमस्सेव जहा पेढया आउक्कायाहिगारेण भाणिया, तहा भाणियव्वा।

गाहा-

तिरिओगाणुज्जाणो, समुद्दगामी य चेव नावाए।
चउलहुगा अंतगुरू, जोयणमद्धऽद्ध जाणु पदं ॥ १२ ॥

तत्र इदं। गाहा-

वीयपदं तेणसावए, भिक्खे वा कारणे व आगाढे।
वत्थूवहिमगरवुड्डण-नावोदग तं पि जयणाए ॥ १३ ॥

बारसमे पूर्ववत्।

सुत्तं-

जे भिक्खू थलाओ णावं जले ओकसावेइ, ओकसावंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

स्थलस्थं जले कारेति।

जे भिक्खू जलाओ णावं थले उक्कसावेइ, उक्कसावंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

जलस्थं स्थले कारेति।

सुत्तं-

जे भिक्खू पुण्णणावं उस्सिचइ, उस्सिचंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खू सएणं णावं उप्पिलावेइ, उप्पिलावंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

(सण्ण त्ति) कद्दमे खुत्ता (उप्पिलावेइ त्ति) ततो उक्खणति।

गाहा-

गाहेइ जलाउ थलं, जाव थलाओ जलयमोगाहे।
सण्णं व उप्पिलावे, दोसा ते तउ बितियपदं ॥ १४ ॥

दोसा जे बारसमे भणिता, ते भवंति, बितियपदं जं तत्थेव भणियं, तं चेव जाणियव्वं।

जे भिक्खू पडिणाविय कट्टणावाए दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥ जे भिक्खू उड्डगामिणि वा णावं अहेगामिणि वा णावं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ जे भिक्खू जोयणवेलागामिणि वा अद्धजोयणवेलागामिणिं वा णावं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ जे भिक्खू णावं आकसइ, आकसावेइ, आकसावंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥ जे भिक्खू णावं खेवावेइ, खेवावंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू णावं रज्जुणा वा कड्ढावेइ, कड्ढावंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥ जे भिक्खू णावं अलित्तएण वा पडिएण वा दंडएण वा वंसेण वा वल्लेण वा वाहेइ, वाहंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥ जे भिक्खू णावाए उदगं हत्थेण वा पडिग्गहेण वा मत्तेण वा णावाउस्सिचणएण वा उस्सिचइ, उस्सिचंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू उव्वद्धियं णावं उत्तिंगं वा उदगं आसिंचमाणिं वा उवरुवरि वा कज्जलावेमाणिं पेहाए हत्थेण वा पाएण वा असिपत्तेण वा कुसपत्तेण वा मट्टियाए वा चेलेण वा पडिपिहेइ, पडिपिहंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

जओ णावं वेलाए हीरहि त्ति वीहरज्जुए तडंसि रुक्खे वा कीलगे वा बद्धं वा मुत्तिता वाहेज्जा, बुज्झमाणिं वा बंधेज्जा, उत्तिंगेण वा भरिसं भरिज्जमाणिं वा जो उस्सिंचति सबलपाणियस्स, रित्तं वा थिमिता गच्छउ त्ति पाणियस्स भरेति, तस्स चउलहुं।

गाहा-

उव्वद्धएँ वाहेती, बंधइ बुज्झंतँ भरिएँ उस्सिचे।
रित्ती वा पूरेती, ते दोसा तं बितियपदं ॥ १५ ॥

कंठा।

जे णावं आगसति वा इत्यादि। जे णावाए उदगं हत्थेण वा० जाव उस्सिचति, णावाए उत्तिंगं० जाव पिहितं वा साइज्जइ।

एतेसिं सुत्ताणं पदा सुत्तसिद्धा चेव, तहा वि कोइ पदे सुत्तफासिणा फुसति। गाहा-

नावाएँ खिवणवाहण-उस्सिचणपिहणसाहणं वा वि।
जे भिक्खू कुज्जाही, सो पावति आणमादीणि ॥ १६ ॥

अप्पणावट्ठितो अछितो तडट्ठिओ वा णावपराहुत्तं खिवति, णावऽप्पतरणयणप्पगारेण णवणं वाहणं भण्णति। उत्तिंगादिणा णावाविद्धमुदगं अण्णयरेण कट्ठाऽऽदिणा उस्सिचणएण उस्सिचति। उत्तिंगाऽऽदिणा उदगहत्थाऽऽदिणा पिहति, एवमप्पणा करेति, अण्णस्स वा कहेति, आणादि, चउलहुं च।

एतेसु य अण्णेसु य सुत्तपदेसु इमं बितियपदं। गाहा-

बितियपदं तेणसावए, भिक्खे वा कारणे व आगाढे।
कज्जोवहिमगरवुड्डण-णावोदग तं पि जतणाए ॥ १७ ॥

पूर्ववत्।

गाहा-

आकड्ढणमाकमणं, उक्कसणं पेल्लणं तु जत्थ उदगं।
उड्डमहातिरियकड्ढण, रज्जुए कट्ठम्मि वा पेतुं ॥ १८ ॥

अप्पणो तेण आकड्ढणमाकसणं, उदगसोत्तेण प्रेरणं उक्कसणं । (उद्धे त्ति) णईगए समुद्दे वा वेलापाणियस्स प्रतिकूलं उद्धं (अह त्ति) तस्सेव उदगस्स श्रोतोनुकूलम अहो भवति । णो प्रतिकूलं, णो अनुकूलं वि तिरिच्छं तिरियं जयति । एयं उद्धं अहं तिरियं वा रज्जुए कट्ठम्मि वा वेत्तुं कड्ढंति ।

गाहा-

तणुयमतिथं आसो, पत्ते सिरसो पिहो हवति कंदो ।
वंसे णावा उ गम्मति, वक्खण्ण वलिज्जती णावा ॥ १९ ॥

तणुयमवीहं, (अलित्तमिति) अलित्तं आसो दो वि पत्तो, तस्स पत्तस्स सिरसो कंदो पिहो जयति, वंसो वेणू, तस्स अवठंजेण, पादेहिं परिलावे णावा गच्छति, जेण वामं दक्खिणं वा वलिज्जति, सो वलतारवं पि जयति ।

गाहा-

मूले कंद अवल्ला, अंते तणुगा वहंति णायव्वा ।
दव्वी तणुगी लहुगी, दोणी वाहिज्ज वीतीयं ॥ २० ॥

पुव्वद्धं कंठं । लहुगी जा दोणी, सा तीए दव्वीए वाहिज्जति । णावाउर्स्सिचणगं च तुगं दव्वगादि वा भवति । जत्तियं णामगिहं, तं हत्थमाईहिं पिहेंति ।

गाहा-

इसिगाइ विप्पिनंती, होति उ उसुमट्टिया य तम्मिस्सा ।
मोयगुलवंजणाती, अहुवा कही कुविंदो उ ॥ २१ ॥

अहवा सरलकुट्ठी ईसिग त्ति, तस्सेव उवरिं तस्स कुट्ठी, सो य मुंजो वब्बो वा ; पत्ते विप्पितंति, कुट्टिया पुणो मट्टियाए सह कुट्टिज्जंति । एस उसुमट्टिता, कुसुमट्टिया वा मोदगुलवंजणाती, आदिसद्दातो वरूपिप्पलआसंतवमादिदाणवक्को मट्टियाए सह कुट्टिज्जति, सो कुविंदो जयति । अहवा चेलेण सह मट्टिया कुट्टिया चेलमट्टिया जयति । एवमाइएहिं तं उत्तिंगं पिहेति जो, तस्स चउलहुं, आणादिया य दोसा । सुत्तं-(जे णावाए उदगं आसवमाणं पेहाए इत्यादि) उत्तिंगेण णावाए उदगं आसवति, पेहेति, प्रेक्षय उवरुवरिं कज्जलमाणे । विज्जरिज्जमाणं पक्खित्ता परस्स दायति, आणादिया चउलहुं च ।

गाहा-

उत्तिंगो पुण छिड्डं, तेणासिवें उवरिएण कज्जलणं ।
वितियपदेण दुरूढो, णावाए जंकतो वा ॥ २२ ॥

पुव्वद्धं गतार्थम । असिवादिकारणादिकारणेहिं दुरूढो जावं जहा जंतं तहा णिव्वाघातभूतेण भवियव्वं । सव्वसुत्ते जाणि वा पच्छित्ताणि, ताणि कारणारूढो सव्वाणि सयं करेज्जा, कारवेज्ज वा, जओ तत्थ साहुणो णिव्वाघाते वट्टं कोइ पडिणीओ जले पक्खिवेज्ज नि० चू० १८ उ० ।

नौगतस्य विधान्तरम्-

से णं परो णावागए णावागयं वएज्जा-आउसंतो ! समणा ! एयं ता तुमं छत्तगं वा० जाव चम्मच्छेयणगं वा गिण्हाहि, एयाणि तुमं विरूवरूवाणि सत्थजायाणि धारेहि, एयं ता तुमं दारगं वा दारियं वा पज्जेहि, णो से तं परिणं परिजाणेज्जा, तुसिणीओ उवेहेज्जा । [७१३]

(से णमित्यादि) अपरो गृहस्थाऽऽदिर्नाव्यवस्थितः तत्स्थमेव साधुमेवं ब्रूयात् । तद्यथा-आयुष्मन् श्रमण ! एतावदीयं तावच्छत्रकाऽऽदि गृहाण, तथैतानि शस्त्रजातान्यायुधविशेषाद् धारय, तथा दारकाऽऽयुदकं पायय, इत्येतां परिज्ञां प्रार्थनां परस्य न शृणुयादिति ।

तदकरणे च परः प्रद्विष्टः सन् यदि नावः प्रक्षिपेत्, तत्र यत्कर्त्तव्यं तदाह-

से णं परो णावागओ णावागयं वदेज्जा-आउसंतो ! एस णं समणे णावाए भंडभारिए भवति, से णं बाहाए गहाय णावाओ उदगंसि पक्खिवह । एतप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म से य चीवरधारी सिया खिप्पामेव चीवराणि उव्वेढेज्ज वा, णिव्वेढेज्ज वा, उप्पोसं वा करेज्जा [७१४] अह पुण एवं जाणेज्जा-अभिकंतकूरकम्मा खलु बाला बाहाहिं गहाय णावाओ उदगंसि पक्खिवेज्जा । से पुव्वामेव वएज्जा-आउसंतो ! गाहावती ! मा मेत्तो बाहाए गहाय णावाओ उदगंसि पक्खिवह । सयं चेव णं अहं णावातो उदगंसि ओगाहिस्सामि । से णेवं वयंतं परो सहसा बलसा बाहाहिं गहाय णावाए उदगंसि पक्खिवेज्जा । तं णो सुमणे सिया, णो दुम्मणे सिया, णो उच्चावयं मणं णियच्छेज्जा, णो तेसिं बालाणं घाताए वहाए समुट्ठेज्जा, अप्पुस्सुए० जाव समाहीए, ततो संजयामेव उदगंसि पवज्जेज्जा । [७१५]

(से णमित्यादि) स परः, णमिति वाक्यालङ्कारे । नौगतस्तं साधुमुद्दिश्य अपरमेवं ब्रूयात् । तद्यथा-आयुष्मन् ! अयमत्र श्रमणो जाड्यत्वविशेषत्वाद् गुरुः, भाण्डेन वा उपकरणेन गुरुः, तदेनं बाहुग्राहं नाव उदके प्रक्षिपत यूयमित्येवंप्रकारं शब्दं श्रुत्वा, तथाऽन्यतो वा कुतश्चिच्छ्रुत्वा अवगम्य, स साधुर्गच्छगतो निर्गतो वा, तेन च चीवरधारिणैतद्विधेयं-क्षिप्रमेव चीवराणि गुरुत्वान्निर्वाहयितुमशक्यानि चोद्वेष्टयेत्-पृथक्कुर्यात्, तद्विपरीतानि तु निर्वेष्टयेत, सुबद्धानि कुर्यात् । तथा (उप्पोसं वा करेज्ज त्ति) शिरोवेष्टनं वा कुर्यात् । येन संवृतोपकरणो निर्व्याकुलत्वात् सुखेनैव जलं तरति, तांश्च धर्मदेशनया अनुकूलयेत् । अथ पुनरेवं जानीयादित्यादि कण्ठ्यमिति ।

साम्प्रतमुदकं प्लवमानस्य विधिमाह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उदगंसि पवमाणे णो हत्थेण हत्थं पाएण पायं काएण कायं आसादेज्जा, से अणासादए अणासायमाणे तओ संजयामेव उदगंसि पवेज्जा । [७१६] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उदगंसि पवमाणे णो उम्मज्जणिमज्जियं करेज्जा, मा मेयं उदगं कण्णेसु वा अच्छीसु वा णक्कंसि वा मुहंसि वा परियावज्जेज्जा, तओ संजयामेव उदगंसि पवेज्जा । [७१७] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उदगंसि पवमाणे दोब्बलियं पाउणेज्जा, खिप्पामेव उवधिं विगिंचेज्ज वा, विसोहेज्ज वा, णो चेव णं सातिज्जेज्जा । अह पुण एवं जाणेज्जा-पारए सिया उदगाओ

तीरं पाउणित्तए, तओ संजयामेव उदउल्लेण वा ससिणिद्धेण वा काएण उदगतीरे चिट्ठेज्जा [७३८] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उदउल्लं वा ससिणिद्धं वा कायं णो आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, संलिहेज्ज वा, णिल्लिहेज्ज वा, उव्वलेज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा, आयावेज्ज वा, पयावेज्ज वा । अह पुण एवं जाणेज्जा–विगतोदए मे काए छिन्नसिणेहे तहप्पगारं कायं आमज्जेज्ज वा० जाव पयावेज्ज वा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा । (७३९)

'से' इत्यादि । स भिक्षुरुदके प्लवमानो हस्ताऽऽदिकं हस्ताऽऽदिना नाऽऽसादयेद् न संस्पृशेत्, अप्कायाऽऽदिसंरक्षणार्थमिति भावः। ततस्तथा कुर्वन् संयत एवोदकं प्लवेदिति । तथा 'से' इत्यादि । स भिक्षुरुदके प्लवमानो मज्जनोन्मज्जने नो विदध्यादिति सुगममिति । किञ्च–'से' इत्यादि । स भिक्षुरुदके प्लवमानो दौर्बल्यात् श्रमं प्राप्नुयात्ततः क्षिप्रमेवोपधिं त्यजेत्, तद्देशं वा विशोधयेत् त्यजेदिति नैवोपधावाशक्तो भवेत् । अथ पुनरेवं जानीयात्–(पारए सिय त्ति) समर्थोऽहमस्मि सोपधिरेवोदकपारगमनाय, ततस्तस्मादुदकादुत्तीर्णः स संयत एवोदकाऽऽर्द्रेण गलद्बिन्दुना कायेन सस्निग्धेन वा उदकतीरे तिष्ठेत्, तत्र चेर्यापथिकां च प्रतिक्रामेत् चैतत् कुर्यात् । आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ० ।

णणु–ननु–अव्य० । असूयायाम्, आव० ४ अ० ।

णउअ–नि [न्य] युत–न० । चतुरशीतिलक्षगुणिते नियुताङ्गे, स्था० २ ठा० ४ उ० । जी० । अनु० । भ० ।

णउअंग–नि [न्य] युताङ्ग–न० । चतुरशीतिलक्षगुणिते प्रयुते, अनु० । स्था० । जी० ।

णउल–नकुल–पुं० । वभ्रौ, उपा० २ अ० । सूत्र० । 'नेवला' इति ख्याते जीवे, प्रज्ञा० १ पद । माद्रीजाते पाण्डुराजपुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । वाद्यभेदे, आ० चू० १ अ० । रा० । (नकुलोदाहरणम् "अणुओग" शब्दे प्रथमभागे ३८७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

णउलय–नकुलक–पुं० । 'नौली' इतिख्याते रूप्यकभरणथके, बृ० ४ उ० ।

णउली–न (ना) कुली–स्त्री० । सर्पविद्याप्रतिपक्षभूतायां विद्यायाम्, विशे० । जी० । कल्प० । आ० म० । आ० क० । ती० ।

णओवएस–नयोपदेश–पुं० । जिनप्रवचने, सर्वं वस्त्वनन्तधर्माऽऽत्मकतया संकीर्णस्वभावमिति तत्परिच्छेदकेन प्रमाणेनापि तथैव भवितव्यमित्यसंकीर्णप्रतिनियतधर्मप्रकारकव्यवहारसिद्धये समर्थानां नयानां व्युत्पादने, तदर्थगर्भे ग्रन्थे च । नयो० ।

तद्विषयश्च यशोविजयकृतनयामृततरङ्गिणीनाम्न्यां नयोपदेशटीकायां दर्शितो यथा–

" नयोपदेशटीकेयं, नयामृततरङ्गिणी ।
सेव्यताममृतप्राप्त्यै, मिथ्यात्वविषतापहृत् ॥ १ ॥
सकलविषयसन्निविष्टधर्म–
व्यतिकरसङ्करसाङ्कर्याऽऽविलानाम् ।
अयमिह भयवतो नयोपदेशः,
प्रकुरविशावनिभूतां हितं विधातुम् ॥ २ ॥
इह खलु न हि नः स्मयो न रोषो,
न च परबुद्धिपराभवाभिलाषः ।
अपि तु पितुरिव प्रजाहितस्य,
प्रथमगुरोर्वचनाऽऽदरो निमित्तम् ॥ ३ ॥
न च नयवचनेषु पक्षपातः,
कवचन समाकलितप्रमाणदृष्टेः ।
अभिमतविषये हि गोपनीया–
ननभिमते यदमी विगोपनीयाः ॥ ४ ॥
भजति फलवति प्रमाणवाक्ये,
नयवचनं बहुरूपमङ्गभावम् ।
तदिह विविधभङ्गजालयुक्तं,
ग्रथितमिदं न विशङ्कनीयमार्यैः ॥ ५ ॥
प्रथम इह लौकिकोऽर्थबोध–
स्तदनु नयात्मक एव मध्यमः स्यात् ।
तदुपरि परितः प्रसर्पिभङ्ग–
व्यतिकरसंवलितः प्रमाणबोधः ॥ ६ ॥
श्रुतमय उदितः किलाऽऽद्यबोधोऽ–
मतहतनयचिन्तया द्वितीयः ।
कुमतमदहरः परस्तृतीयः,
सकलजगद्धितकाम्यया पवित्रः ॥ ७ ॥
नयमिदमधिकृत्य लोकलोको–
त्तरपथभङ्गभयं ननाश यस्मात् ।
गुरुमत इव चोपपत्तिकार्ये,
न हि परिपन्थि विरम्य बोधकत्वम् ॥ ८ ॥
अपि च नियतकृत्स्नजन्यबोधा–
विषमविधौ विरहोऽत्र शाब्दबोधे ।
अनियतमनुयायि तत्परत्वं,
तदिह मतस्तदतत्कृतबोधभेदः ॥ ९ ॥
न च शुकवचनादतत्परात्–
व्यधिगमदर्शनतः प्रतीपमेतत् ।
श्रुतमयमपहाय बोधियुग्मे,
यदिह न तत्परताधियोऽनपेक्षाः ॥ १० ॥
वक्तुस्तात्पर्यमज्ञात्वा–ऽप्येतज्ज्ञेयं वास्तवम् ।
प्रामाण्यमप्रमाणेऽपि, वाक्ये सम्यग्दृशां मतम् ॥ ११ ॥
सम्यक्श्रुतस्य मिथ्यात्वं, मिथ्यादृष्टिपरिग्रहात् ।
मिथ्याश्रुतस्य सम्यक्त्वं, सम्यग्दृष्टिग्रहादतः ॥ १२ ॥
लौकिकान्यपि वाक्यानि, प्रमाणानि श्रुतार्थतः ।
तात्पर्यार्थे प्रमाणं तु, सप्तभङ्ग्याऽऽत्मकं वचः ॥ १३ ॥
नाप्रमाणं प्रमाणं वा, स्वतः किं स्वार्थतः श्रुतम् ।
इति यत् कल्पभाष्योक्तं, तदित्थमुपपद्यते ॥ १४ ॥
तात्पर्यं वस्त्वपेक्षानय इति च समं स्थापितं शास्त्रगर्भे,
तत्कल्लोलैर्विचित्रैः समयजलनिधौ जायते चित्रिवर्गः ।
यत् त्वेकं निस्तरङ्गं परमसुखमयं ब्रह्म सर्वातिशायि,
ध्यायि ज्ञानस्वभावं तदिह ददतु वोऽनल्पसंकल्पजालम् ॥१५॥
निक्षेपा वा नया वा तदुभयजनिताः सप्तभङ्ग्यात्मका वा,
शृङ्गाराः सार्वभावाः परगुणरचनाजातरोचिष्णुभावाः ।
यस्याग्रे भान्ति किञ्चिन्न निरुपधिविधुवद्गुरूच्चस्वभावात्,
तद्रूपं स्वीयमुच्चैः प्रकटय भगवन् ! वाङ्मयात्मन् ! प्रसीद" ॥१६॥
इति महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्री-

लाभविजयगणिशिष्यावतंसपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यतिलकपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलसेविना पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेणोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचिताऽमृततरङ्गिणी नाम्नी नयोपदेशटीका संपूर्णा । नयो० ।

णं-णं-अव्य०। ननर्थे, "णं नन्वर्थे"॥८।४।२८३॥ शौरसेन्यां नन्वर्थे णमिति निपातः प्रयोक्तव्यः । णं अफलोदया, णं अय्यमिस्सेहिं पढमं य्येव आणत्तं, णं भवं मे अग्गदो चलदि । आर्षे वाक्यालङ्कारेऽपि दृश्यते-नमोऽत्थु णं । जया णं । तया णं । प्रा० ४ पाद । ते णं काले णं ते णं समए णं । णमिति वाक्यालङ्कारे । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । ति० । प्रश्न० । रा० । औ० । कल्प० । स० । आ० म० । विशे० । स्था० । प्रश्ने, अभ्युपगमसूचने, सम्म० २ काण्ड । निपातानामनेकार्थत्वात् (प्रज्ञा० १५ पद) वाक्योपसंहारवाक्यम् । रा० । "णे णं मि अम्मि अम्ह मम्ह मं ममं मिमं अहं अमा" ॥ ८ । ३ । १०७ ॥ इत्यनेन अमासहितस्यास्मदो णमादेशः । प्रा० ३ पाद । 'णं' इत्यात्मनिर्देशे, नि० चू० २ उ० ।

णंगल-लाङ्गल-न०। "लाहल-लाङ्गल-लाङ्गूले वाऽऽदेर्णः"॥८।१।२५६॥ इत्यनेन सूत्रेण आदिलस्य णत्वं वा । ईषायाम्, प्रा० १ पाद ।

णंगलग्गाम-लाङ्गलग्राम-पुं० । स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र वासुदेवगृहे वीरजिनः प्रतिमया स्थितः, तेन सह विहरन् गोशालो डिम्भत्रासनयाऽक्षिविक्रियां कुर्वन् तत्पित्रादिभिः कुट्टितो मुनिपिशाच इत्युपेक्षितः । कल्प० ६ क्षण । आ० म० । आ० चू० ।

णंगलिय-लाङ्गलिक-पुं० । गलावलम्बितसुवर्णाऽऽदिमयलाङ्गलप्रतिकृतिधारिणि भट्टविशेषे, ज्ञा० ५ श० ३ उ० । औ० । कल्प० । औ० ।

णंगुल-लाङ्गूल-न०। "लाहल-लाङ्गल-लाङ्गूले वाऽऽदेर्णः"॥ ८ । १ । २५६ । इति सूत्रेण आदिलस्य णत्वं वा । पुच्छे, प्रा० १ पाद । अं० ।

णंगोलिय-लाङ्गोलिक-पुं० । हिमवतः पश्चिमायां दिशि पर्यन्तादारभ्य पश्चिमोत्तरस्यां दिशि त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्योपरि दंष्ट्रायां चतुर्थेऽन्तरद्वीपे, कर्म० १ कर्म० । नं० । जी० । स्था० । तद्वासिनि मनुष्ये च । प्रज्ञा० १ पद ।

णंतग-न०। देशी-वस्त्रे, वस्त्रवृक्षेषु परिहीयमाणेषु भगवता वस्त्रोत्पादननिमित्तं वस्त्रशिल्पमुत्पादितम् । आ० म० १ अ० १ खण्ड । यथा-'मुहणंतगं' मुखवस्त्रिका । आव० ५ अ० ।

णंद-नन्द-पुं० । नन्दयति, नन्दतीति वा नन्दः । समृद्धे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । "जय जय णंदा ! जय जय भद्दा !" नन्दति समृद्धो भवतीति नन्दः। तस्य सम्बोधनं हे नन्दा ! । दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । कल्प० ५ क्षण । प्रश्न० । स्वनामख्याते राजगृहजे मणिकारश्रेष्ठिनि, स च मणिकारश्रेष्ठी राजगृहे वीरजिनान्तिके श्रावको भूत्वाऽपि मिथ्यात्वं गतः। श्रेणिकाऽऽज्ञया राजगृहस्य बहिरारोग्यशालाऽऽदिशोभितवनखण्डचतुष्कपरिवृतां नन्दापुष्करिणीं निर्माप्य तदध्यवसायेन मृत्वा तस्यामेव पुष्करिण्यां दर्दुरो जातः । ततो जातिस्मरणेन वीरसमवसरणमागच्छन् श्रेणिकाश्वकिशोरेणाऽऽक्रान्तो मृत्वा सौधर्मे कल्पे दर्दुरेऽवतंसके दर्दुरो नाम देवो जातः, ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यति । ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । (इति 'दद्दुर' शब्दे वक्ष्यते) अरिष्टनेमेः प्रथमभिक्षादे श्रावके, कल्प० ७ क्षण । आ० चू० । ति० । आ० म० । काशीस्थे नाविकभेदे, ती० ।

तद्वृत्तम्-

काश्यां नन्दाभिधानो नाविकस्तरिपण्याजिघृक्षया मुमुक्षुं धर्मरुचिं विराध्य तस्य हुङ्कारेण भस्मीभूय गृहकोकिलहंससिंहभवान् यथासंख्यं सभामृगाङ्कतीराञ्जनगिरिष्वाप्य तस्यैवानगारस्य तेजोनिसर्गेण विपद्य वाराणस्यामेव (काश्यां) पुर्यां बटुर्भूत्वा तत्रैव निधनमभिगत्य तस्यामेव राजा समजनिष्ट जातिस्मरः सार्द्धं श्लोकमकरोत्, मन्त्रिपुत्रस्तत्रैवाऽऽगतं तमनगारं समस्यापूरणाद्विज्ञायामथवानपुरस्सरमुपगत्य च क्षमयित्वा परमाऽऽर्हतोऽभूत, सिद्धश्च धर्मरुचिः क्रमात् ।

सा चेयं समस्या विज्ञेया-

" गंगाए नाविओ नंदो, सभाए घरकोइलो ।
हंसो मयंगतीराए, सीहो अंजणपव्वए ॥ १ ॥
वाणारसीए बडुओ, राया तत्थेव आगओ ।
एएसिं घायओ जाओ, सो इत्थेव समागओ ॥ २ ॥"

ती० ३७ कल्प । आ० क० । आ० म० । सं० । ('राग' शब्दे उदाहरणम्) वीरमोक्षात्पञ्चाशत्समे वर्षे जाते पाटलिपुत्रस्य महाराजे, ति० । नव नन्दा आसन्, तत्र प्रथमस्य यावदष्टमस्य वृत्तं कथाऽनुयोगादवसेयम्, अत्र नोपन्यस्यते । नवमेन नन्देन चाणक्यो विप्रो यथा कदर्थितो, यथा च-" कोशैश्च भृत्यैश्च निबद्धमूलं, पुत्रैश्च भृत्यैश्च विवृद्धशाखम् । उत्पाट्य नन्दं परिवर्तयामि, महाद्रुमं वायुरिवोग्रवेगः " ॥ १ ॥ इति प्रतिज्ञाऽनुसारेण नन्दमुन्मूलितवान् । आ० क० । नं० । आचा० । आ० चू० । आ० म० । आव० । ('पउम चंदगुत्त' शब्दे तृतीयभागे १०६८ पृष्ठे दर्शितम्) (चन्द्रगुप्तस्य बिन्दुसारः, तस्य चाशोकश्रीः, तस्य कुणालः, तस्य संप्रतिमहाराज इत्येवं मौर्यवंश्यस्याशोकाभिधः श्रेणिकापरनामत्वाङ्गीकारे नन्दवंशो वीरजिनात् पूर्वमेव द्वितीये तृतीये वा शतके जायते इति युक्तं स्यात्, तद् न संभाव्यते, तस्मान्मौर्यादशोकश्रीनाम्नोऽशोकचन्द्रापरनामा वीरजिनसमकालीनः श्रेणिकोऽन्य इति वीरजिनमोक्षादर्वागेव नन्दवंशो मौर्यवंशश्च पाटलिपुत्रराज्यमकार्षीत् इति प्रतिजानीते) (नवानां नन्दानां कल्पकवंश्या मन्त्रिण आसन् इति ' कप्पय ' शब्दे तृतीयभागे २३२ पृष्ठे उक्तम्) (नवमनन्दस्य मन्त्रितां शकटालसुतः स्थूलभद्रोऽनङ्गीकृत्य प्रव्राजीदिति 'थूलभद्द' शब्दे वक्ष्यते) ('नंदराय' शब्देऽनुपदमेव १७५० पृष्ठेऽस्य संक्षिप्तवक्तव्यतां वक्ष्यामि) वीरजिनकाले ब्राह्मणग्रामे स्वनामख्याते प्रधानपुरुषे, कल्प० । ततः स्वामी ब्राह्मणग्राममगात् , तत्र नन्दोपनन्दभ्रातृद्वयसंबन्धिनौ द्वौ पाटकौ, स्वामी नन्दपाटके प्रविष्टः , प्रतिलाभितश्च नन्देन । गोशालस्तूपनन्दगृहे पर्युषितान्नदानेन रुष्टः, यद्यस्ति मे धर्माचार्यस्य तपस्तेजस्तदाऽस्य गृहं दह्यतामिति शशाप । तदनु तद्गृहमासन्नदेवता ददाह । कल्प० ६ क्षण । आ० चू० । आ० म० । श्रेयांसजिनस्य प्रथमभिक्षादायके, आ० म० १ अ० १ खण्ड । स० । पाटलिपुत्रे स्वनामख्याते लुब्धवणिजि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । (उदाहरणं ' लोभ ' शब्दे वक्ष्यते)। उत्सर्पिण्यां जनिष्यमाणे प्रथमवासुदेवे, स० । नि० । नासिक्यपुरे सुन्दरीजनिते, नं० । वृत्तलोहासने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । ज० । आ० म० । मुहूर्तयोगभेदे, द० प० । नन्दने, कल्प० ७ क्षण । सप्तमदेवलोकस्थे विमानभेदे, सप्तमदेवलोके नन्दाऽऽख्यानि विमानानि । स० ।

" जे देवा णंदं सुणंदं णंदावत्तं णंदप्पभं णंदकंतं णंदवण्णं णंदलेस्सं णंदज्झयं णंदसिंगं णंदसिट्ठं णंदकूडं णंदुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववन्ना । " स० १५ सम० ।

णंदग-नन्दक-पुं० । चक्रच्छिकारके नन्दकाभिधाने वासुदेवखड्गे, स० ।

णंदण-नन्दन-पुं० । नन्दतीति नन्दनः । 'टुनदि' समृद्धौ, "नन्दि-ग्रहिपचाऽऽदिभ्यो ल्युणिन्यचः" ॥३।१।१३४॥ इति (पा०) ल्युट् । न० । पुत्रे, कल्प० ७ क्षण । भरतवर्षे जाते सप्तमे बलदेवे, प्रव० २०९ द्वार । ति० । ती० । आव० । स० । पञ्चविंशे भवे श्रीवीरजिने, पञ्चविंशतिभवे इहैव भरतक्षेत्रे छत्रिकायां नगर्यां जितशत्रुनृपतेर्भद्रादेव्याः कुक्षौ पञ्चविंशतिवर्षलक्षाऽऽयुर्नन्दनो नाम पुत्रः । कल्प० २ क्षण । आ० म० । आ० चू० । स० । श्रेणिकपुत्रवध्वा नन्दनाया अपत्ये, स च वीरजिनान्तिके प्रव्रज्य द्वौ वर्षौ प्रव्रज्या-पर्यायं पालयित्वा मृत्वाऽच्युते कल्पे देवो भूत्वा महाविदेहे सेत्स्यति । इति कल्पावतंसिकाया दशमेऽध्ययने सूचितम् । नि०१ श्रु० २ वर्ग १ अ० । सर्वाङ्गसुन्दर्याः पूर्वभवसत्कभ्रातृजाययोः साकेतनगरे उत्पन्नयोः पितरि, आ० म०१ अ० २ खण्ड । (सर्वाङ्गसुन्दर्या लोभे उदाहरणम्) पूर्वभवे मल्लितीर्थकृज्जीवे, स० । मोकाया नगर्या बहिश्चैत्ये, " तीसे णं मोयाए नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए णंदणनामं चेइए होत्था । " भ० ३ श० १ उ० । भृत्ये, दे० ना० ४ वर्ग ।

णंदणकर-नन्दनकर-त्रि० । वृद्धिकरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

णंदणकूड-नन्दनकूट-न० । नन्दनवनकूटे, स० ५०० सम० । नि० । ('कूड' शब्दे तृतीयभागे ६२२ पृष्ठे वर्णक उक्तः)

णंदणभद्द-नन्दनभद्र-पुं० । आर्यसंभूतविजयस्य माठरसगोत्रस्य प्रथमशिष्ये, कल्प० ८ क्षण ।

णंदणवण-नन्दनवन-न० । मेरोः पञ्चयोजनशतोच्छ्रितप्रथममेखलाभाविनि पञ्चयोजनशतोच्छ्रिते स्वनामके द्वितीयवने, स० ६७ सम० । ज्यो० । द्वा० । सूत्र० । जं० । " दो णंदणवणा । " मेरोश्चत्वारि वनानि-

" भूमीए भद्दसालं, मेहलजुयलम्मि दोण्णि रम्माइं ।
णंदणसोमणसाइं, पंडगपरिमंडियं सिहरं ॥ १ ॥ "

इति वचनाद् मेरोर्द्वित्वे नन्दनवनस्यापि द्वित्वम् । स्था० २ ठा० ३ उ० । ओघ० ।

नन्दनवनवक्तव्यता-

कहि णं भंते ! मंदरे पव्वए णंदणवणे णामं वणे पण्णत्ते ? । गोयमा ! भद्दसालवणस्स बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ पंच जोयणसयाइं उड्ढं उप्पइत्ता, एत्थ णं मंदरे पव्वए णंदणवणे णामं वणे पण्णत्ते, पंच जोअणसयाइं चक्कवालविक्खंभेणं वट्टे वलयाकारसंठिए, जेणं मंदरं पव्वयं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता णं चिट्ठइ । णव जोअणसहस्साइं णव य चउप्पण्णे जोअणसए छच्चेगारसभाए जोअणस्स बाहिंगिरिविक्खंभो । एगत्तीसं जोअणसहस्साइं चत्तारि अ अउणासीए जोअणसए किंचि विसेसाहिए बाहिं गिरिपरिरए णं । अट्ठ जोअणसहस्साइं णव य चउप्पण्णे जोअणसए छच्चेगारसभाए जोअणस्स अंतोगिरिविक्खंभो । अट्ठावीसं जोअणसहस्साइं तिण्णि य सोलसुत्तरे जोयणसए अट्ठ य इक्कारसभाए जोयणस्स अंतो गिरिपरिरये णं । से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते वण्णओ० जाव देवा आसयंति । मंदरस्स णं पव्वयस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं महं एगे सिद्धायणे पण्णत्ते । एवं चउद्दिसिं चत्तारि सिद्धायणा, विदिसासु पुक्खरिणीओ, तं चेव पमाणं सिद्धाययणाणं पुक्खरिणीणं च, पासायवडेंसगा तहेव सक्केसाणाणं, तेणं चेव पमाणेणं ।

"कहि णं" इत्यादि प्रश्नः प्रतीतः । उत्तरसूत्रे-गौतम ! भद्रशालवनस्य बहुसमरमणीयाद् भूमिभागात्पञ्चयोजनशतान्यूर्द्धमुत्पत्य गत्वाऽग्रतो, वर्द्धिष्णुरिति गम्यम् । मन्दरे पर्वते एतस्मिन् प्रदेशे नन्दनवनं नाम वनं प्रज्ञप्तम् । पञ्च योजनशतानि चक्रवालविष्कम्भेन-चक्रवालविशेषस्य सामान्येऽनुप्रवेशात् समचक्रवालं, तस्य यो विष्कम्भः स्वपरिक्षेप्यस्य सर्वतः समप्रमाणतया विष्कम्भस्तेन, अनेन विषमचक्रवालाऽऽदिविष्कम्भनिरासः । अत एव वृत्तं, तच्च मोदकाऽऽदिवद् घनमपि स्यादत आह-वलयाऽऽकारं मध्ये शुषिरं यत् संस्थानं तेन संस्थितम् । इदमेव द्योतयति-मन्दरं पर्वतं सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य वेष्टयित्वा तिष्ठति । अथ मेरोर्बहिर्विष्कम्भाऽऽदिमानमाह-(णव जोयण इत्यादि) मेखलाविभागे हि गिरीणां बाह्याभ्यन्तररूपं विष्कम्भद्वयं भवति, तत्र मेरौ बाह्यविष्कम्भोऽयम्-नव योजनसहस्राणि नवशतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि षट् चैकादश भागा योजनस्य । तथाहि-मेरोरूर्द्धमेकस्मिन् योजने गते विष्कम्भसंबन्धी एकादशभागो योजनस्य गतो लभ्यते इति प्रागुक्तं, ततोऽत्र त्रैराशिकं यदि एकयोजनाऽऽरोहे मेरोरुपरि व्यासस्यापचयः सर्वत्रैकादशभागो योजनस्यैको लभ्यते, ततः पञ्चशतयोजनाऽऽरोहे कोऽपचयो लभ्यते ?। लब्धानि ४५ योजनानि ५/११ । एतत् समभूतलगतव्यासाद् दशयोजनसहस्ररूपात् त्यज्यते, जातं यथोक्तं मानम् । एतच्च नन्दनवनस्य बहिः पूर्वापरयोरुत्तरदक्षिणयोर्वा अन्तयोः संभवति, अतो नन्दनवनाद् बहिर्वर्तित्वेन बाह्यो गिरिविष्कम्भः । तथा एकत्रिंशद्योजनसहस्राणि चत्वारि शतानि एकोनाशीत्यधिकानि, किञ्चिद्विशेषाधिकानि । इत्ययं बाह्यो गिरिपरिरयो, मेरुपरिधिरित्यर्थः । णमिति वाक्यालङ्कारे । अन्तर्गिरिविष्कम्भो नन्दनवनादर्वाक् यो गिरिविस्तारः सोऽष्टयोजनसहस्राणि नव च योजनशतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि षट् च एकादश भागा योजनस्येत्येतावत्प्रमाणः । अयं च बाह्यगिरिविष्कम्भे सहस्रोने यथोक्तः स्यात् । तथा अष्टाविंशतियोजनसहस्राणि, त्रीणि च योजनशतानि षोडशाधिकानि, अष्ट चैकादश भागा योजनस्यैतावत्प्रमाणोऽन्तर्गिरिपरिरय इति । णमिति प्राग्वत् । अथात्र पद्मवरवेदिकाऽऽह-" से णं एगाए पउम " इत्यादि व्यक्तम् । अथात्र सिद्धायतनाऽऽदिवक्तव्यतामारभते-(मंदरस्स णमित्यादि) मन्दरस्य पूर्वस्याम्, अत्र नन्दने पञ्चाशद् योजनातिक्रमे महदेकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तम् । (एवमिति) भद्रशालवनानुसारेण चतसृषु दिक्षु चत्वारि

सिद्धाऽऽयतनानि,विदिक्षु पुष्करिण्यः। तदेव प्रमाणं सिद्धाऽऽयतनानां पुष्करिणीनां च यन्नन्दनवने उक्तम्। प्रासादावतंसकास्तथैव शक्रेशानयोर्योग्याः, यथा भद्रशाले, दक्षिणदिक्संबद्धविदिग्वर्त्तिनः प्रासादाः शक्रस्य, तथोत्तरदिक्संबद्धविदिग्वर्त्तिनस्तु ईशानेन्द्रस्य,तेनैव प्रमाणेन पञ्चयोजनशतोच्चत्वाऽऽदिनेति॥ अत्र च पुष्करिणीनां नामानि सूत्रकारानभिहितत्वात्, लिपिप्रमादाद्वा आदर्शेषु न दृश्यन्ते इति। तत्रैशान्यादिप्रासादक्रमादिमानि नामानि द्रष्टव्यानि पूज्यप्रणीतक्षेत्रविचारतः- नन्दोत्तरा १ नन्दा २ सुनन्दा ३ वर्द्धना ४। तथा नन्दिषेणा १ अमोघा २ गोस्तूपा ३ सुदर्शना ४। तथा सुभद्रा १ विशाला २ कुमुदा ३ पुण्डरीकिणी ४। तथा विजया १ वैजयन्ती २ अपराजिता ३ जयन्ती ४ इति। जं० ४ वक्ष०। स्था०। (अत्र नन्दनाऽऽदीनि नव कूटानि 'कूड' शब्दे तृतीयभागे ६२२ पृष्ठे उक्तानि) द्वारिकायां रैवताचलपर्वतस्य वने, अन्त० ५ वर्ग २ अ०। "तस्स णं रेवयगस्स पव्वयस्स अदूरसामंते,एत्थ णं णंदणवणे णामं उज्जाणे होत्था।" नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ०। आ० चू०। आ० म०। ज्ञा०। विजयपुरनगरस्योद्याने, विपा० २ श्रु० ४ अ०।

णंदणीपिया-नन्दनीपितृ-पुं०। श्रावस्तीनगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, उपा०।

तद्वक्तव्यता-

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी णयरी, कोट्ठए चेइए,जियसत्तू राया। तत्थ णं सावत्थीए णंदणीपिया णामं गाहावई परिवसइ। अड्ढे चत्तारि हिरण्णकोडीओ णिहाणपउत्ता,वुड्ढिपवित्थरपत्ताओ चत्तारि, वया दस गोसाहस्सिएणं वएणं, अस्सिणी भारिया। सामी समोसढो,जहा आणंदो तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ। सामी बहिया विहरइ। तए णं से णंदणीपिया समणोवासए जाए विहरइ, तए णं तस्स णंदणीपियस्स बहूहिं सीलव्वयगुणव्वयं० जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छरा विइक्कंता, तहेव जेट्ठपुत्तं ठवेइ। धम्मपण्णत्तिं वीसं वासाइं परियायं पाउणित्ता अरुणगविमाणे उववाए महाविदेहे वासे सिज्झिहि त्ति। उपा० ९ अ०। स्था०। आ० म०।

णंदमाण-नन्दत्-त्रि०। सौख्यं भुञ्जाने, तं०।

णंदराय-नन्दराज-पुं०। पाटलिपुत्रमहाराजे नन्दे, ती०।

तद्यथा-

पाटलीनाम्ना पाटलिपुत्रं पत्तनमासीत्। असमकुसुमबहुलतया च कुसुमपुरमित्यपि नाम रूढम्। तन्मध्ये श्रीनेमिचैत्यं राज्ञाऽकारि। तत्र पुरे गजाश्वरथशालाप्रासादसौधप्राकारगोपुरपुण्यशालासत्राऽऽगाररम्ये चिरं राज्यं जैनधर्मं चापालयदुदायिनरेन्द्रः। तस्मिन्नुपात्तपौषधेऽभ्यदोदायिमारकेण स्वर्गाऽऽतिथ्यं प्रापिते नापितकासुतो नन्दः श्रीवीरमोक्षाच्च षष्टिवत्सर्यामतीतायां क्षितिपतिरजनि। तदन्वये सप्त नन्दा नृपा जाताः। नवमनन्दे राजनि परमार्हत्कल्पकान्वयी शकटालो मन्त्र्यभूत्। तस्य पुत्रौ स्थूलभद्रश्रीयकौ, सप्त च पुत्र्यो यक्षायक्षदत्ताभूताभूतदत्तासेणावेणारेणाऽऽख्याः क्रमादेकादिसप्ताऽऽवारश्रुतपाठिन्योऽजनिषत। तत्रैव पुरे कोशा वेश्या, तज्जामिरुपकोशा चाभूताम्। तत्रैव च चाणक्यः सचिवो नन्दं समूलमुन्मूल्य मौर्यवंश्यं श्रीचन्द्रगुप्तं न्यधीविशद्विशां पतित्वे। तद्वंशे तु बिन्दुसारोऽशोकश्रीः कुणालस्तत्सुनुस्त्रिखण्डभरताधिपः परमार्हतोऽनार्यदेशेष्वपि प्रवर्त्तितश्रमणविहारः संप्रतिमहाराजश्चाभवत्। मूलदेवः सकलकलाकलापज्ञो बलसार्थवाहो महाधनी, देवदत्ता च गणिक्यं तत्रैव प्रागभवत्। उमास्वातिवाचकः कौभीषणिगोत्रः पञ्चशतसंस्कृतप्रकरणप्रसिद्धः तत्रैव तत्त्वार्थाधिगमसूत्रं सभाष्यं व्यरचयत्। चतुरशीतिवादशालाश्च तत्रैव विदुषां परितोषाय पर्यणंसिषुः। तत्रैव चोत्तुङ्गतरङ्गोत्सङ्गितगगनाङ्गणा परिवहति महानदी गङ्गा,तस्यैव चोत्तरस्यां दिशि विपुलं वालुकास्थलं नातिदूरे। यत्राऽऽकल्कि कल्की,प्रातिपदाऽऽचार्यप्रमुखसङ्घश्च सलिलप्लवात्तिस्तरीता। तत्रैव च भविष्यति कल्किनृपतिः। धर्मदत्तजितशत्रुमेघघोषाऽऽदयश्च तद्वंश्याः। तत्रैव च विद्यन्तेऽन्तर्निहितनन्दसत्कनकनवतिद्रव्यकोटयः पञ्च स्तूपाः, येषु धनाशया श्रीलक्ष्मणावतीसुरत्राणस्तांस्तानुपायानुपक्रमतोपक्रमान्। ते च तत्सैन्योपप्लवायैवाकल्पन्त। तत्रैव विहृतवन्तः श्रीभद्रबाहुमहागिरिसुहस्तिवज्रस्वाम्यादयो युगप्रवराऽऽगमाः,विहरिष्यन्ति च प्रातिपदाऽऽचार्याऽऽदयः। तत्रैव महाधनधनश्रेष्ठिनन्दना रुक्मिणी श्रीवज्रस्वामिनं प्रतीयन्ती, प्रतिबोध्य तेन भगवता निर्लोभचूडामणिना प्रव्राजिता। तत्रैव सुदर्शनश्रेष्ठी महर्षिरभयाराज्या व्यन्तरीभूतया भूयस्तरमुपसर्गितोऽपि न क्षोभमभजत। तत्रैव स्थूलभद्रमहामुनिः षड्रसाऽऽहारपरः कोशाया चित्रशालायामुल्लासितमदश्चकार वर्षारात्रं चतुर्मासीम्। सिंहगुहावासिमुनिरपि तत्स्पर्द्धिष्णुस्तत्रैव कोशाया तदानीतरत्नकम्बलस्य चन्द्रनिकाप्रक्षेपेण प्रतिबोध्य पुनश्चारुतरां चरणश्रियमङ्गीकारितः। तत्रैव द्वादशाब्दे दुर्भिक्षे गच्छे देशान्तरं प्रोषिते सति सुस्थिताऽऽचार्यशिष्यौ क्षुल्लकावदृश्यीकरणाञ्जनकचक्षुषौ चन्द्रगुप्तनृपतिना सह बुभुजाते कियन्त्यपि दिनानि। तदनु गुरुप्रत्युपालम्भाच्चाणक्यगुप्त एव तयोर्निर्वाहमकरोत्। तत्रैव श्रीवज्रस्वामी पौरस्त्रीजनमनःसंक्षोभरक्षणार्थं प्रथमदिने सामान्यमेव रूपं विकृत्य, द्वितीयेऽह्नि चाहो नास्य भगवतो गुणानुरूपं रूपमिति देशनारसहृतहृदयजनमुखात् संलापान् श्रुत्वाऽनेकलब्धिमान् महद्भागप्रतिरूपं रूपं विकुर्व्य सौवर्णसहस्रपत्रे निषद्य देशनां विधाय राजादिजनताममोदयत। तस्यैव पुरस्य मध्ये सप्रभावातिशया मातृदेवता या आसन्,तदनुभावात् तत्पुरं परैरप्रहवद्भिरपि न खलु ग्रहीतुमशाकि। चाणिक्यवचसोत्पाटिते पुनर्जनैर्मातृमण्डले गृहीतवन्तौ चन्द्रगुप्तचाणक्यौ। पञ्चमाद्यनेकसंविधानकनिधाने तत्र नगरेऽष्टादशसु विद्यासु स्मृतिषु पुराणेषु च द्वासप्ततौ कलासु भरतवात्स्यायनचाणिक्यलक्षणं रसक्षयम्,मन्त्रतन्त्रयन्त्रविद्यासु रसवादधातुनिधिवादाञ्जनगुटिकापादप्रलेपरत्नपरीक्षावास्तुविद्यास्त्रीगजाश्ववृषभाऽऽदिलक्षणेन्द्रजालाऽऽदिग्रन्थेषु काव्येषु च नैपुण्यचणास्ते ते पुरुषाः प्रत्यूषकीर्तनीयनामधेयाः। आर्यरक्षितोऽपि हि चतुर्दशविद्यास्थानानि तत्राधीत्य दशपुरमागमत्। आद्यास्तु तत्रैवंविधा वसन्ति स्म, ये एके योजनसहस्रगमने यानि गजपदानि भवेयुस्तानि प्रत्येकं स्वर्णसहस्रेण पूरयितुमीशते। अन्ये च तिलानामाढके प्रकटे सुफलिते यावन्तस्तिलाः स्युः, तावन्ति हेमसहस्राणि विभ्रति गृहे। अपरेऽथवनामकाः प्रवरगिरिनदीप्रवाहपूरस्यैकदिनोत्पन्नेन

पञ्चाङ्गनवनीतेन संभरं विरचय्य पयोरयं स्खलयितुमक्षम । अन्यतमे चैकहेलाकृजात्यनवकिशोराणां समुत्कृतैः स्कन्धकेशैः पाटलिपुत्रं समन्ताद्वेष्टयितुमचेष्टत् । इतरे च शालिरत्नद्वयं वेश्मनि विमर्शयांबभूवुः । तत्रैकः शालिर्निशामिषशालिबीजप्रसूतिमान्, अन्यश्च गर्दभिकाशालियों लूनलूनः पुनः पुनः फलति। ती० ३५ कल्प ।

णंदवई-नन्दवती-स्त्री० । श्रेणिकमहाराजभार्यायाम्, सा च राजगृहे स्वनामख्याता वीरान्तिके प्रव्रजिता विंशतिवर्षपर्याया सिद्धा । अन्त०१ अ० । रतिकरपर्वते शक्रसामानिकानां दक्षिणदिक्स्थायां राजधान्याम्, द्वी० ।

णंदसंहिया-नन्दसंहिता-स्त्री० । नन्दनिर्मितग्रन्थपद्धतौ, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णंदसिरी-नन्दश्री-स्त्री० । वाराणस्यां भद्रसेनजीर्णश्रेष्ठिनः सुतायाम्, ती०। "वाणारसीएँ कोट्ठएँ, पासे गोवालिभद्दसेणे य । णंदसिरी पउमद्दह-रायगिहे सेणिए वीरे " ॥ १ ॥ अत्रैव पुर्यां भद्रसेनो जीर्णश्रेष्ठी, तस्य भार्या नन्दा । तयोः पुत्री नन्दश्रीर्वरवर्जिता। अत्रैव कोष्ठके चैत्ये अन्यदा पार्श्वस्वामी समवासरत्; नन्दश्रीः प्राव्राजीद् गोपालिप्रवर्तिन्याः शिष्यतयाऽर्पिता । सा च पूर्वमुग्रं विहृत्य पश्चाद्वकुशीभूता हस्तपादाऽऽद्यक्षालयत्,साध्वीभिर्वार्यमाणा तु भिन्नकायां वसतौ स्थिता, तदनालोच्य मृता क्षुल्लहिमवति पद्मद्रहे श्रीदेवी जज्ञे देवगणिका, भगवतः श्रीवीरस्य राजगृहे समवसृतस्याग्रे नाट्यविधिमुपदर्श्य गता । अन्ये त्वाहुः-करिणीरूपेण वातनिसर्गमकरोत्, श्रेणिकेन तस्याः स्वरूपे पृष्टे भगवानाख्यत् तस्याः पूर्वभवावसक्तवृत्तम् । ती० ३७ कल्प । आ० क० । आव० ।

णंदा-नन्दा-स्त्री० । ज्योतिषसङ्केतिते तिथिभेदे, तत्र प्रतिपत्, षष्ठी, एकादशी च नन्दा । चं० प्र०१० पाहु०। जं०। सू० प्र० । द० प० । श्रीशीतलजिनस्य मातरि, प्रव० १२ द्वार । ति० । आव०। स० । स्था० । वीरजिनसत्कस्य अचलभ्रातुर्नाम गणधरस्य मातरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । श्रेणिकभार्यायामभयकुमारमातरि, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । अनु० । सा च वेन्नातटनगरे कस्यचित् क्षीणधनस्य श्रेष्ठिनो दुहिताऽपि अनाऽऽदृता श्रेणिकेन तत्र गत्वा परिणीता, क्रमेणाभयकुमारं नाम पुत्रं जनितवती । तेन च वयःप्राप्तेन साकं राजगृहमागता श्रेणिकेन संमानिता राजभोगानुपसिषेवे । नं० । (इति 'उप्पत्तिया ' शब्दे द्वितीयभागे ८४७ पृष्ठे क्षुल्लकोदाहरणावसरे प्रत्यपादि)

तदनन्तरम्-

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे, गुणसिलए चेइए, सेणिए राया । वण्णओ । तस्स णं सेणियस्स रण्णो णंदा नामं देवी होत्था । वण्णओ । सामी समोसढे, परिसा णिग्गया, तते णं सा णंदा देवी इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठा कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्तिा जा णं जहा पउमावती० जाव एक्कारस अंगाइं अहिज्जित्ता वीसं वासाइं परियायं० जाव सिद्धा । अन्त० ७ वर्ग १ अ० । ज्ञा० । आ० म० । कल्प० । कौशाम्बीराजशतानीकमन्त्रिणः सुगुप्तस्य भार्यायां शतानीकराजमहिष्या मृगावत्याः सख्याम्, तथा च सूर्पकोणस्थकुल्माषाभिग्रहवन्तं वीरभगवन्तं प्रतिलाभयन्त्या,तद्ग्रहणपराङ्मुखं दृष्ट्वा अभिग्रहविशेषवानयमिति निश्चित्य मृगावतीद्वारा शतानीको राजोपालब्धः । तदनु दधिवाहनभूभुक्पुत्र्या वसुमत्या धनश्रेष्ठिना पुत्रीत्वेन कीलया चन्दनानाम्न्या पूरितोऽभिग्रहः । आ० क० । आ० म० । (इति 'वीर ' शब्दे वक्ष्यते) वाराणस्यां नन्दश्रीमातरि भद्रासनश्रेष्ठिभार्यायाम्, आ० चू० ११ अ० । ती० । आव० । तालफलाऽऽहतपुरुषजाति(?)भ्यां श्रीऋषभदेवेन परिणीतायां बाहुबलीसुन्दरीतिमिथुनकमातरि, आ० म० १ अ० १ खण्ड । पौरस्त्यरुचकपर्वतस्य द्वितीयतपनीयकूटवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० क० । द्वी० । ती० । स्था० । जं० । उत्तरपौरस्त्ये रतिकरपर्वते ईशानाग्रमहिष्याः कृष्णराजराजधान्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ० । ती० । जी० । आ० चू० । स्वनामप्रसिद्धायां पुष्करिण्याम्, तत्र शाश्वतपुष्करिण्यः सर्वा अपि सामान्येन नन्दायुच्यन्ते । विशेषेण तु-१ नन्दा २ नन्दोत्तरा ३ आनन्दा ४ नन्दिवर्धनेति चतस्रोऽञ्जनकपर्वतवर्णके वर्णिताः । स्था० ४ ठा० ३ उ०। जी०। रा०। ज्ञा०। (राजगृहे नन्देन मणिकारश्रेष्ठिना कारितायाः नन्दायाः पुष्करिण्याः वर्णको 'दद्दुर ' शब्दे वक्ष्यते) गाथि, दे० ना० ४ वर्ग ।

णंदावत्त-नन्द्यावर्त्त-पुं० । प्रतिदिङ्नवकोणके स्वस्तिके, जं०२ वक्ष० । रा० । प्रज्ञा० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० ।

णंदि-नन्दि (न्दी)-पुं० । स्त्री० । 'टुनदि' धातोः नुमि नन्दनं नन्दिः । हर्षे, नन्दिहेतुत्वाद् ज्ञानपञ्चके, नन्दन्ति प्राणिनोऽनेनास्मिन् वेति नन्दिः। इप्रत्ययः । ज्ञाने, आ० म० १ अ०१ खण्ड । अथ नन्दिरिति कः शब्दार्थः?। उच्यते-'टुनदि' समृद्धौ इत्यस्य धातोः "इदितो नुम्०-" ॥७।१।५८॥ इति नुमि विहिते नन्दनं नन्दिः, प्रमोदो हर्ष इत्यर्थः । नन्दिहेतुत्वात् ज्ञानपञ्चकाभिधायकमध्ययनमपि नन्दिः । नन्दन्ति प्राणिनोऽनेनास्मिन् वेति नन्दिः । इदमेव प्रस्तुतमध्ययनम् आविष्टलिङ्गत्वाऽध्ययनेऽपि वर्तमानस्य नन्दिशब्दस्य पुंस्त्वम् "इः सर्वधातुभ्यः" । इत्यौणादिक इः प्रत्ययः। अपरे तु नन्दीति पठन्ति,ते "ईकङ्गुणादिभ्यः" इति सूत्रादीकप्रत्ययं समानीय स्त्रीत्वेऽपि वर्णयन्ति । ततश्च "इतोऽक्त्यर्थात्" ॥२।४।३२॥ इति ङीप्रत्ययः । स च नन्दिश्चतुर्धा । तद्यथा-नामनन्दिः, स्थापनानन्दिः, द्रव्यनन्दिः, भावनन्दिश्च । तत्र नामनन्दिर्यस्य कस्यचिज्जीवस्याऽजीवस्य वा नन्दिशब्दार्थरहितस्य नन्दिरिति नाम क्रियते, स नाम्ना नन्दिर्नामनन्दिः। यद्वा-नामनामवतोरभेदोपचाराद् नाम चासौ नन्दिश्च नामनन्दिः॥ नन्दिरिति नामवान् नामनन्दिः । तथा-सद्भावमाश्रित्य लेप्यकर्मादिषु,असद्भावं वाऽऽश्रित्याक्षवराटकाऽऽदिषु भावनन्दिर्मतः । स्थाप्यादेर्या स्थापना स स्थापनानन्दिः । अथवा द्वादशविधतूर्यैकपदन्यासनन्दिस्थापना स्थापनानन्दिः । द्रव्यनन्दिर्द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो नन्दिपदार्थस्य ज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तः, अनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात् । नोआगमतस्तु त्रिधा । तद्यथा-ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः, भव्यशरीरद्रव्यनन्दिः, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यनन्दिश्च । तत्र च-

नन्दिपदार्थज्ञस्यापगतजीवितस्य शरीरं सिद्धशिलातलाऽऽदिगतं तद् भूतभावतया ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः । यस्तु बालको नेदानीं नन्दिशब्दार्थमवबुध्यते, अथ चावश्यमायत्यां तेनैव शरीरसमुच्छ्रयेण भोत्स्यते, स भाविभावनिबन्धनत्वाद् भव्यशरीरद्रव्यनन्दिः । इह हि यद् भूतभावं, भाविभावं वा वस्तु, तद् यथाक्रमं विवक्षितभूतभाविभावापेक्षया द्रव्यमिति तत्त्ववेदिनां प्रसिद्धिमुपागमत् । उक्तं च-" भूतस्य भाविनो भावाः, भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः, सचेतनाचेतनं कथितम् " ॥ १ ॥ ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तस्तु द्रव्यनन्दिः क्रियाविशिष्टो द्वादशविधतूर्यसमुदायः । उक्तं च-" दव्वे तूरसमुदओ । " तानि च द्वादशविधतूर्याण्यमूनि-" भंभा १ मुकुंद २ मद्दल, ३ कडंब ४ झल्लरि ५ हुडुक्क ६ कंसाला ७ । काहल ८ तलिमा ९ वंसो १०, संखो ११ पणवो १२ य बारसमो " ॥२॥ भावनन्दिर्द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो नन्दिपदार्थस्य ज्ञाता, तत्र चोपयुक्तः, "उपयोगो भावनिक्षेपः" इतिवचनात् । नोआगमतः पञ्चप्रकारो ज्ञानसमुदयः, " भावम्मि य पंच नाणाइं " इति वचनात् । नं० । अथवा पञ्चप्रकारज्ञानस्वरूपमात्रप्रतिपादकोऽध्ययनविशेषो भावनन्दिः, नोशब्दस्यैकदेशवाचित्वात्, अस्य चाध्ययनस्य सर्वश्रुतैकदेशत्वात् । तथाहि—अयमध्ययनविशेषः सर्वश्रुताद्भ्यन्तरभूतो वर्त्तते, तत एकदेशः । अत एव चायं सर्वश्रुतस्कन्धाऽऽरम्भेषु सकलप्रत्यूहनिवृत्तये मङ्गलार्थमादौ तत्त्ववेदिभिरभिधीयते । नं० । पा० । विशे० । तदुक्तम्-" नंदी चउक्कदव्वे, संखाबारसगतूरसंघातो । भावम्मि नाणपणगं, पच्चक्खियरं च तं दुविहं ॥ १ ॥ " बृ० १ उ० । " णंदी य मंगलट्ठा, चउरग दुग तिग दुगे च चोद्दसए । अंगगयमणंगगए, का तत्थ परूवणा एगतं ॥ २ ॥ " इति वक्तव्यार्थेन प्रतिज्ञायाऽऽह कल्पकारः-

नंदी मंगलहेऊ, न यावि सा मंगला हि वइरित्ता ।
कज्जाभिलप्पनेया, अपुढो य पुढो य जह सिद्धा ॥३॥

नन्दिर्ज्ञानपञ्चकरूपो, मङ्गलहेतुर्मङ्गलनिमित्तं वक्तव्यः । आह-यदि मङ्गलनिमित्तं नन्दिर्वक्तव्यः,ततः स मङ्गलादेकान्तेन भिन्नः प्राप्तः,अन्यथा तदुत्पादननिमित्तं तस्योपादानमिति व्यवहारानुपपत्तेः । उपादानं हि तस्य सिद्धस्य सतो भवति,उत्पाद्यं चाद्याप्यसिद्धं, ततः कथमनयोरभेदः, किं तु भेद एव ?। तत आह-न चापि स नन्दिर्मङ्गलाद् व्यतिरिक्तः, अपिशब्दादव्यतिरिक्तोऽपि स्यात्, व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्त इत्यर्थः । कथमेतत् श्रद्धेयमिति चेत् ?। अत आह-(कज्जेत्यादि) यथा कार्याभिलाप्यज्ञेयानि कारणाभिलापज्ञानेभ्यः पृथक्त्वापृथक्त्वसिद्धानि, तथा नन्दिर्मङ्गलमपि । तथाहि-कार्यं पटः, कारणं तन्तवः । तत्र तन्तव एव पुरुषव्यापारमपेक्ष्य तानवितानभावेन परिणममानाः पटकार्यरूपतया परिणमन्ते, तेषु च तथा परिणतेषु सत्सु न कार्यकारणयोर्भेदः, किं त्वभेदः । एवमिहापि नन्दिर्ज्ञानपञ्चकाभिधानरूप उत्तरोत्तरशुभाध्यवसायविशेषसंभवसव्यपेक्षतरतमभावेन परिणममानो वाञ्छिताधिगतिलक्षणमङ्गलरूपतया परिणमते इति नन्दिमङ्गलयोरभेदः; प्राचीनां त्ववस्थामपेक्ष्य भेदः । यथा-तन्तुभ्यः पटस्य, तथा अभिलापशब्देन कदाचिदभिलाप्यस्याभिलाप्यमानतोच्यते, अभिलपनमभिलाप इति व्युत्पत्तेः । कदाचित्तद्वाचकशब्दः, अभिलाप्यते यस्याभिलाप्यमनेनेति व्युत्पादनात् । तत्र यदा अभिलाप्यमानतोच्यते, तदाऽभिलाप्याभिलापकयोरभेदो, धर्मधर्मिभावात् । यदा तु तद्वाचकशब्दः, तदा भेदः, शब्दार्थयोर्भिन्नदेशत्वाद्भिन्नस्वरूपत्वाच्च । ज्ञानशब्देनापि कचिद् ज्ञेयस्य ज्ञानमत्तोच्यते, ज्ञातिर्ज्ञानमिति भावे व्युत्पादनात् । कदाचिदात्मधर्मो, ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति करणे व्युत्पत्तेः । तत्र यदा ज्ञायमानता, तदा ज्ञानज्ञेययोरभेदो, धर्मधर्मिभावात् । यदा त्वात्मधर्मः,तदा भेदो, भिन्नस्वरूपत्वात् । एवमिहापि नन्दिशब्दो यदा भाववचनो नन्दनं नन्दिरिति, तदा नन्दनं समृद्धीभवनं वाञ्छितस्याधिगतिरित्यनर्थान्तरं, मङ्गलमपि चैवंस्वरूपमिति परस्परमभेदः । यदा तु प्राचीनावस्थामपेक्ष्य करणसाधनो नन्दिशब्दो, नन्द्यतेऽनेनेति नन्दिर्ज्ञानं, तदा भेदः, कालभेदेन भेदादिति । बृ० १ उ० । आ० चू० । नमस्काररूपे मङ्गले, ध० २ अधि० । विशे० । श्रावकश्राविकाणां नन्दीसूत्रश्रावणं " नाणं पंचविहं पण्णत्तं " इत्यादिरूपं, नमस्कारत्रयरूपं वा क्रियते ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र श्रावकश्राविकाणां नन्दीसूत्रं नमस्कारत्रयरूपं श्राव्यते इति । ३१ प्र० । ही० ४ प्रका० ।

साम्प्रतं पञ्चमः-

अइगरुअमोहविहुणिय-सुहबोहा केइ धम्ममगणिता ।
कारेंति नंदिमाई, सड्ढीणं संजईहिंतो ॥ १ ॥

अतिगुरुकमोहविधूनितशुभबोधा वृद्धतरमूढताकम्पितप्रधानमतयः, केचनैके, धर्मं क्षान्त्यादिकम्, अगणयन्तस्तिरस्कुर्वाणाः, कारयन्ति विधापयन्ति, नन्द्यादिकं, मकारोऽत्र प्राकृतप्रभवः । आदिशब्दाद्विविधानुष्ठानाऽऽदिग्रहः । तत्र नन्दिरुपधानाऽऽदिषु समयप्रतीतो विधिः, श्राद्धीनां श्राविकाणां, (संजईहिंतो त्ति) संयतिनीभ्यो व्रतिनीभ्यः सकाशात् । ' हिंतो त्ति ' पञ्चम्याः स्थाने निर्देशः, " ङसेस्तोदोदुहिहिन्तोलुकः " ॥ इति प्राकृतेन । स च दर्शित एव । अयमभिप्रायः-स्वयं विहारं व्रजन्तोऽन्येषु स्वाचार्येषु बहुश्रुताऽऽदिषु विद्यमानेषु विज्ञार्यिकाभिः श्राविकाणां नन्द्यादि कारयन्ति । यदि पुनरेकोऽप्याचार्यस्तत्र भवति, ततः सामाचार्या अविरुद्धमपि भवेदिति गाथाऽर्थः ॥ १ ॥

एतस्यापि आगमसंवादपूर्वकप्रतिषेधपूर्वं जीवोपदेशमाह—

आरेण अज्जरक्खिय-इच्चाइवयणओ न तं जुत्तं ।
रागद्दोसविमुक्को, रे जीव ! तहिं पि मा मुज्झ ॥२॥

(आरेणेति) अर्वाक्, ' आरोवणं पच्छित्तदाणं चेति ' द्वयं, सुबोधं च । अयमभिप्रायः-निगोदजीवविचाराख्याताऽऽर्यरक्षितनन्दिताऽऽर्यरक्षिताऽऽचार्यात् पूर्वं सामायिकाऽऽदिषु आर्यिकाणामनुज्ञा, अर्वाक् पुनर्नास्ति । सामायिकाऽऽदिकं च नन्दिपूर्वकं क्रियते, अतस्तत्प्रतिषेधादेतदपि प्रतिषिद्धं बोद्धव्यम् । अतो नेति निषेधे, एतत् संगतम् । रागद्वेषविमुक्तोऽभिष्वङ्गमत्सररहितो, जीव ! इत्यामन्त्रणे, तत्रापि नन्द्यादिकरणेऽपि, न केवलं पूर्वोक्तेषु, इत्यपिशब्दार्थः । मेति निषेधे, मुह्यस्व मोहं विधेहीति गाथाऽर्थः । समाप्तोऽयमार्यिकानन्दिवक्तव्यताऽऽख्यः पञ्चमः साध्वीनां पाठः । जीवा० ५ अधि० ।

अन्यतीर्थीयः कश्चिद्यदि तुर्यव्रतमुच्चारयति, तदा किं

नन्दिं विनाऽप्युच्चारयति, उत नन्दिसहितमेव ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्रान्यतीर्थीयः कश्चिद्व्रतमुच्चारयति, तदा नन्दिं विनाऽपि उच्चार्यते, तदाश्रित्य निषेधः कोऽपि ज्ञातो नास्तीति । ३६ प्र० । ही० ४ प्रका० । तपःसंयमयोगानां स्फीतौ, बृ० १ उ० ।

नंदंति जेण तवसं-जमेसु नेव य दर त्ति खिज्जंति ।
जायंति न दीणा वा, नंदी अ ततो समयसण्णा ॥

येन द्रव्येणाभ्यवहृतेन तपःसंयमयोर्नन्दन्ति समाधिमनुभवन्ति, तन्नन्दिः । तथा येन द्रव्येणोपभुक्तेन नैव (दर त्ति) मनाक् क्लिश्यन्ते, न कृशीभवन्तीत्यर्थः, तन्नन्दिः । अथ वा येनोपभुक्तेन न दीना जायन्ते, तदपि निरुक्तिवशान्नन्दिः । अत्र पाठान्तरम्-(जायंति नंदिया व त्ति) नन्द्या ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽत्मिकया समृद्धा युक्ताः साधवो यतस्तेन द्रव्येण जायन्ते, ततस्तस्य नन्दिरिति समयसंज्ञा आगमपरिभाषा । बृ० १ उ० । नि० चू० । नन्दनं नन्दिः । आनन्दे, स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रमोदे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । मनस्तुष्टौ, आचा० १ श्रु० ३ अ० ६ उ० । समृद्धौ, अ० २ अधि० । अनु० । "छिंदे मो पयओ नमो जिणमए, नंदी सया संजमे" । आ० चू० ५ अ० । गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० । द्वादशतूर्याणां घोषे, उत्त० ११ अ० । ज्ञा० । ध० । जं० । प्रश्न० । पञ्चा० । औ० । वृक्षभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

नन्दिन्-पुं० । महेश्वराऽऽश्रयवन्तरस्य शिष्ये, आ० चू० ४ अ० । आ० क० । आव० ।

णंदिअ-न० । देशी-सिंहरुते, दे० ना० ४ वर्ग ।

णंदिक्ख-पुं० । देशी-सिंहे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णंदिगर-नन्दिकर-त्रि० । वृद्धिकरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णंदिगाम-नन्दिग्राम-पुं० । मङ्गलावतीविजये स्वनामख्याते ग्रामे, आ० चू० १ अ० । आ० म० । मगधदेशान्तर्गते ग्रामे, यत्र जातो नन्दिषेणो गौतमपुत्रः पित्रोर्मृतयोर्दीक्षां जगृहे । आ० क० । आ० चू० । वीरजगत्पितृमित्रनन्दीवासस्थानग्रामे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० ।

णंदिघोस-नन्दिघोष-पुं० । द्वादशविधतूर्यनिनादे, जं० । रा० । ज्ञा० । नन्दीसदृशघोषकारके, तं० । उत्त० ।

णंदिचुण्णग-नन्दिचूर्णक-न० । द्रव्यसंयोगनिष्पादितौष्ठम्रक्षणचूर्णे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

णंदिज्ज-नन्दीय-न० । स्थविरादार्यरोहणान्निर्गतस्य उद्देहगणस्य पञ्चमे कुले, कल्प० ८ क्षण ।

णंदिज्जमाण-नन्द्यमान-त्रि० । जय जय नन्देतिसमृद्धिमुपनीयमाने, औ० ।

णंदिणी-नन्दिनी-स्त्री० । नन्दयति नन्द-णिनिः । वसिष्ठधेनौ, सुतायाम्, ननान्दरि, गङ्गायाम्, ननान्दरि, व्याडिमातरि, रेणुकौषधौ च । वाच० । पार्श्वनाथस्य प्रथमआर्यिकायाम्, आ० चू० १ अ० । नप्त्रि, दे० ना० ४ वर्ग ।

णंदित-नन्दित-त्रि० । हृष्टे, क्षुभिते च । प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णंदितूर-नन्दितूर्य-न० । युगपद् वाद्यमाने द्वादशविधतूर्यसमुदाये, बृ० १ उ० । आव० ।

णंदिपिणद्ध-नान्दीपिनद्ध-त्रि० । कुम्भिकायुक्ते, ज्यो० २ पाहु० ।

णंदिपुर-नन्दिपुर-न० । शाण्डिल्यदेशराजधान्याम्, प्रव० २७५ द्वार । प्रज्ञा० । नन्दिपुरनगरराजस्य मित्राभिधानस्य श्रीको नाम महानसिकोऽभूत् । स्था० १० ठा० ।

णंदिफल-नन्दिफल-न० । नन्दिवृक्षाभिधानतरुफले, तदुदाहरणप्रतिपादके तृतीये ज्ञाताऽध्ययने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आ० चू० । स० । आव० । प्रश्न० ।

नन्दिफलोदाहरणं चेत्थम्-

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेइए, जितसत्तू राया । तत्थ णं चंपाए नगरीए धण्णे नामं सत्थवाहे होत्था । अड्ढे० जाव अपरिभूए । तीसे णं चंपाए णयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए अहिच्छत्ता नामं नयरी होत्था रिद्धित्थियसमिद्धा, वण्णओ । तत्थ णं अहिच्छत्ताए नयरीए कणगकेऊ नामं राया होत्था, महया वण्णओ । तेणं तस्स धण्णस्स सत्थवाहस्स अन्नदा कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि इमे एयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-सेयं खलु मम विपुलं पणितं भंडमायाए अहिच्छत्तं णगरिं वाणिज्जाए गमेत्तए एवं संपेहेइ, गणिमं च० ४ चउव्विहं भंडं गेण्हावि, गेण्हइत्ता सगडीसागडं सज्जेति, सगडीसागडं भरेति, कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुज्झे देवाणुप्पिए ! चंपाए नगरीए सिंघाडग० जाव पहेसु एवं खलु देवाणुप्पिए ! धण्णे सत्थवाहे विउलं पणियं गहाय इच्छति अहिच्छत्तनगरिं वाणिज्जाए गमेत्तए । तं जे णं देवाणुप्पिया ! चरए वा चीरिए वा चम्मखंडिए वा भिक्खुंडे वा पंडरागे वा गोतमे वा गोव्वतिए वा गिहिधम्मे वा धम्मचिंतए वा अविरुद्धविरुद्धवुड्ढसावगरत्तपडनिग्गंथप्पभितियपासंडे वा गिहत्थे वा धण्णेण सद्धिं अहिच्छत्तं नगरिं गच्छति, तस्स णं धण्णे अच्छत्तगस्स छत्तगं दलयइ, अणुवाहणस्स वाहणं दलयति, अकुंडियस्स कुंडियं दलयति, अपत्थयणस्स पत्थयणं दलयति, अपक्खेवगस्स पक्खेवगं दलयति, अंतरा वि य से पडियस्स वा भग्गलुग्गसाहज्जं दलयति, सुहं सुहेण य अहिच्छत्तं संपावेइ त्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चं पि घोसेह, घोसेत्तिा मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा० जाव एवं वयासी-हंदि ! णिसुणंतु भवंतो ! चंपाणगरी वत्थव्वा, बहवे चरग० जाव पच्चप्पिणंति । तए णं ते कोडुंबिपुरिसाणं अंतिए सोच्चा चंपाए बहवे चर० जाव गिहत्था जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छति । तए णं धण्णे सत्थवाहे तेसिं चरगाण य० जाव गिहत्थाण य अच्छत्तगस्स छत्तं दलयति० जाव पत्थयणं दलाति, दलातित्ता एवं वयासी-गच्छह

णं तुमे देवाणुप्पिया ! चंपाए नगरीए बहिया अणु-ज्जाणंसि ममं पडिलाभेमाणा पडिलाजेमाणा चिट्ठह । तए णं ते चरगा य धणेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता स-माणा० जाव चिट्ठंति । तए णं ते धणे सत्थवाहे सो-हणंसि तिहिकरणणक्खत्तंसि विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खमावेइ, उवक्खमावेइत्ता मित्तं आमं-तेति,जोयणा भोयावेति,भोयावेतित्ता आपुच्छति,सगडीसा-गडं जोयावेति,जोयावेतित्ता चंपाए णगरीए निग्गच्छति,णा-तिविगिट्ठेहिं अद्धाहिं वसमाणे २ सुहेहिं वसहिपाय-रासीहिं अंगजणवयं मज्झं मज्झेणं जेणेव देसग्गे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सगडीसागडं मोयावेति,सत्थ-निवेसं करेइ,कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयइ-तुज्झे णं देवाणुप्पिया ! मम सत्थनिवेसंसि महया मह-या सद्दं उग्घोसेमाणा एवं वयह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! इमीसे आगमियाए छिन्नावायाए दीहमद्धाए अवीए बहुमज्झदेसजाए बहवे णंदिफला णामं रुक्खा पण्णत्ता किण्हा० जाव पत्तिया पुप्फिया फलिया हरिया रिज्जमा-णा सिरीए अईव २ उवसोजेमाणा चिट्ठंति, मणुण्णा व-ण्णेणं० जाव मणुण्णा फासेणं, मणुण्णा छाया, ते जो णं देवाणुप्पिया ! तेसिं णंदिफलाणं रुक्खाणं मूलाणि वा कंदतयपत्तपुप्फफलबीयाणि वा हरियाणि वा आहारेइ, छायाए वा वीसमति, तस्स णं आवाए भद्दए जवति, तनो उ पच्छा परिणममाणा अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेति । तं मा णं देवाणुप्पिया ! केइ तेसिं नंदिफलाणं मूलाणि वा० जाव छायाए मा वीसमउ, मा णं सेविय अ-काले चेव जीवियाओ ववरोविज्जति,तुब्भे णं देवाणुप्पिए ! अन्नेसिं रुक्खाणं मूलाणि य० जाव हरियाणि य आहा-रेह,छायासु वीसमह त्ति घोसेणं घोसह०जाव पच्चप्पिणंति। तए णं धणे सत्यवाहे सगडीसागडं जोएत्ता जेणेव णंदिफला रुक्खा, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तेसिं णंदिफलाणं अदूरसामंते सत्थणिवेसं करेति, दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयइ-तुज्झे णं देवाणुप्पिए! मम सत्थनिवेसंसि उग्घोसेमाणा २ एवं वयह-एए णं देवाणुप्पिए! ते णंदिफला किण्हा० जाव मणुण्णा छायाए, ते जो णं देवाणुप्पिए ! एएसिं णंदिफलाणं रुक्खाणं मूलाणि वा कंदपुप्फतयपत्तफल० जाव अकाले चेव जीवियाओ वव-रोवेति । तं मा णं तुब्भे वीसमह, मा णं अकाले०जाव जीविया-ओ ववरोविस्सह । अन्नेसिं रुक्खाणं मूलाणि य० जाव वीस-मह त्ति कट्टु घोसेणं पच्चप्पिणंति। तत्थ णं अप्पेगइया पुरिसा धणस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं सद्दहंति० जाव रो-यंति, एयमट्ठं सद्दहमाणा रोएमाणा तेसिं णंदिफलाणं दूरेणं परिहरमाणा, अन्नेसिं रुक्खाणं मूलाणि य० जाव वीसमंति ; तेसि णं आवाए नो भद्दए जवति, ततो पच्छा परिणममाणा २ सुहरूवत्ताए य भुज्जो २ परिणमं-ति । एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा० जाव पंचसु कामगुणेसु नो सज्जति, नो र-ज्जति, से णं इहजवे चेव बहूणं समणाणं समणीणं णिग्गंथाणं णिग्गंथीणं अच्चणिज्जे परलोए नो आगच्छ-ति० जाव वीतीवतिस्सति,जहा वा ते पुरिसा । तत्थ णं अप्पे-गतिया पुरिसा धणस्स एयमट्ठं नो सद्दहंति, धणस्स एयमट्ठं असद्दहमाणा जेणेव ते णंदिफला, तेणेव उवाग-च्छंति, तेसिं णंदिफलाणं मूलाणि य० जाव वीसमंति, तेसि णं आवाए भद्दए जवति, तओ पच्छा परिणममाणा० जाव ववरोवेंति । एवामेव समणाउसो! जो अम्हं निग्गं-थो वा निग्गंथी वा पव्वइए पंचसु कामगुणेसु सज्जति० जाव अणुपरियट्टिस्सति, जहा व ते पुरिसा । तए णं से धणे सगडीसागडं जोयावेति, जेणेव अहिच्छत्ता नगरी, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अहिच्छत्ताए नगरीए बहिया अग्गोज्जाणंसि सत्थनिवेसं करेति, सगडीसागडं मोयावेति। तए णं से धणे सत्थवाहे महत्थं रायारिहं पाहुडं गिण्हेति, बहूहिं पुरिसेहिं सद्धिं संपरिवुडे अहिच्छत्त-णगरस्स मज्झं मज्झेणं अणुप्पविस्सति, जेणेव कणगकेऊ राया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता करयल० जाव वद्धावेति, वद्धावेतित्ता तं महत्थं पाहुडं उवणेति । तए णं से कणगकेऊ राया हट्ठतुट्ठ०धणस्स सत्थवाहस्स तं मह-त्थं० ३ जाव पडिच्छति, धणं सत्थवाहं सक्कारेति, सक्का-रेतित्ता संमाणेति, संमाणेतित्ता उस्सुक्कं वियरति, वियर-तित्ता पडिविसज्जेति,पडिविसज्जेतित्ता भंडविणिमयं करेति, करेतित्ता पडिभंडं गिण्हति, सुहं सुहेणं जेणेव चंपा णग-री तेणेव उवागच्छति,उवागच्छतित्ता मित्तणाति अभिसम-ण्णागए विउलाइं माणुस्सगाइं भोग० जाव विहरति । तेणं कालेणं तेणं समएणं थेरागमणं, धणे धम्मं सोच्चा जि-ट्ठपुत्ते कुडुंबे ठवेत्ता पव्वइए, सामाइयमाइयाइं एक्कारसंगाइं बहूणि वासाणि सामण्णपरियाए अण्णयरेसु देवलोगे-सु देवत्ताए उववण्णे महाविदेहे वासे सिज्झिहिति ।

अधुना पञ्चदशं विविच्यते, अस्य चैवं पूर्वेण सह संबन्धः- पूर्वस्मिन्नप्रमादतोऽविषयस्याशः प्रतिपादितः, इह तु जिनोपदे-शात् । तत्र च कार्यार्थप्राप्तिः, तदभावे त्वनर्थप्राप्तिरभिधीयते, इत्येवं संबन्धमिदं सर्वं सुगमं, नवरं (चरए वेत्यादि) तत्र च रको धाटीभिक्षाचरः, चीरिको रथ्यापतितचीवरपरिधानः, ची-वरोपकरण इत्यन्ये । चर्मखण्डिकश्चर्मपरिधानः, चर्मोप-

करण इति चान्ये। भिक्कोण्डो भिक्षाभोजी, सुगतशासनस्थ इत्यन्ये। पाण्डुरागः शैवः। गौतमः-लघुतराक्षमालाचर्चितविचित्रपादपतनाऽऽदिशिक्षाकलापवत्प्रतिवृषभकोपायतः कणभिक्षाग्राही। गोव्रतिकः-गोचर्याऽनुकारी। उक्तं च-"गावीहिँ समं निग्गमपवेसठाणाऽऽसणाइ पकरिंति। भुंजंति जहा गावी, तिरिक्खवासं विभावेंता ॥ १ ॥" गृहधर्मा गृहस्थधर्म एव श्रेयानित्यभिसंधाय तद्यथोक्तकारी। धर्मचिन्तको धर्मसंहितापरिज्ञानवान्। सभासद् अविरुद्धो वैनयिकः। उक्तं च-"अविरुद्धो विणयकारी, देवाईण य पराए भत्तीए। जह वेसियायणसुओ, एवं अन्ने वि नायव्वा ॥ १ ॥" विरुद्धोऽक्रियावादी, परलोकानभ्युपगमात् सर्ववादिभ्यो विरुद्ध एव। वृद्धस्तापसः, प्रथममुत्पन्नत्वात्प्रायो वृद्धकाले च दीक्षाप्रतिपत्तेः। श्रावको ब्राह्मणः। अन्ये तु वृद्धश्रावक इति व्याचक्षते। स च ब्राह्मण एव। रक्तपटः परिव्राजकः। निर्ग्रन्थः साधुः। प्रभृतिग्रहणात् कपिलाऽऽदिपरिग्रह इति। (पत्थयणं ति) पथ्यदनं शम्बलं (पक्खेव त्ति) अर्द्धपथे त्रुटितसंबलस्य संबलपूरणं द्रव्यं प्रक्षेपकः। (पडियस्स त्ति) वाहनात्पतितस्य, रोगे वा पतितस्य (भग्गलुग्गस्स त्ति) वाहनात्स्खलनात्पतने भग्नस्य, रुग्णस्य च जीर्णतां गतस्येत्यर्थः। "हंदि त्ति" आमन्त्रणे। (नाइविगिट्ठेहिं अद्धाहिं ति) नातिविकृष्टेषु नातिदीर्घेष्वध्वसु प्रयाणकमार्गेषु वसन् शुभैरनुकूलैर्वसतिग्रामनगराऽऽरामावासस्थानैः, प्रातर्भोजनकालैश्चेत्यर्थः। 'देसग्गं ति' देशान्तम्। इहोपनयस्तत्राभिहित एव।

विशेषतः पुनरेवं तं प्रतिपादयन्ति-

"चंपा इव मणुयगती, धणो व्व भयवं जिणो दयेक्करसो।
अहिछत्तानयरिसमं, इह निव्वाणं मुणेयव्वं ॥ १ ॥
घोसणया इव तित्थ-करस्स सिवमग्गदेसणमणग्घं।
चरगाइणो व्व इत्थं, सिवसुहकामा जिया बहवे ॥ २ ॥
नंदिफलाइ व्व इहं, सिवपहपडिवन्नगाण विसयाओ।
तब्भक्खणा उ मरणं, जह तह विसएहिँ संसारो ॥ ३ ॥
तव्वज्जणेण जह इ-ट्ठपुरगमो विसयवज्जणेण तहा।
परमाणंदणिबंधण-सिवपुरगमणं मुणेयव्वं" ॥ ४ ॥ ज्ञा० १ श्रु० १५ अ०।

णंदिवद्धण-नन्दिवर्धन-पुं०। गौतमस्वामिप्रतिष्ठितस्य वल्लभ्यागतस्य चन्द्रप्रभस्य पूजके, ती० ४३ कल्प। पाएरुधस्थापिते मूलकुण्डग्रामे महावीरस्वामिनो ज्येष्ठभ्रातरि, चेटकराजसुतायाः चेल्लणास्वसुः ज्येष्ठायाः पत्यौ, आ० चू० ४ अ०। कल्प०। आ० म०। आव०। आचा०। लोकोत्तररीत्या कार्तिकमासे, कल्प० ६ क्षण। नन्दिषेणमुनेर्गुरौ, आ० चू० ४ अ०। आव०। मथुरायां श्रीदामराजपुत्रे, विपा०।

तत्कथा-

एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं महुरा णयरी, भंडीरे उज्जाणे, सुदरिसणे जक्खे, सिरिदामे राया, बंधुसिरी भारिया, पुत्ते णंदिवद्धणे णामं कुमारे अहीण० जाव जुवराया। तस्स णं सिरिदामस्स सुबंधू णामं अमच्चे होत्था, सामदंडभेय०। तस्स णं सुबंधुस्स अमच्चस्स बहुमित्ती पुत्ते णामं दारए होत्था, अहीण०। तस्स णं सिरिदामस्स रण्णो चित्ते णामं अलंकारिए होत्था। सिरिदामस्स रण्णो चित्ते बहुविहं अलंकारियकम्मं करेमाणे सव्वट्ठाणेसु सव्वभूमियासु य अंतेउरे य दिण्णवियारे यावि होत्था। तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे, परिसा राया य णिग्गओ० जाव गया। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स जेट्ठे० जाव रायमग्गं ओगाढे, तहेव हत्थी आसे पुरिसे। तेसिं च णं पुरिसाणं मज्झगयं एगं पुरिसं पासइ० जाव णरणारीसंपरिवुडं। तए णं तं पुरिसं रायपुरिसा चच्चरंसि तत्तंसि अओमयंसि समजोइयंसि सिंहासणंसि णिवेसावेइ। तयाणंतरं च णं पुरिसाणं मज्झगयं बहूहिं अयकलसेहिं तत्तेहिं समजोइभूएहिं अप्पेगइयाणं तंबभरिएहिं, अप्पेगइयाणं तउयभरिएहिं, अप्पेगइयाणं सीसगभरिएहिं, अप्पेगइयाणं कलकलभरिएहिं, अप्पेगइयाणं खारतेल्लभरिएहिं, महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचइ। तयाणंतरं च णं तत्तअओमयं समजोइभूयं अओमयसंडासगं गहाय हारं पिणद्धइ। तयाणंतरं च णं हारं अद्धहारं० जाव पट्टं मउडं चिंता तहेव० जाव वागरेइ। एवं खलु गोयमा! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे सीहपुरं णामं णयरे होत्था रिद्धत्थि०। तत्थ णं सीहपुरे सीहरहे णामं राया। तस्स णं सीहरहस्स रण्णो दुज्जोहणे णामं चारगपालए होत्था अहम्मिए० जाव दुप्पडियाणंदे। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स इमे एयारूवे चारगभंडे होत्था। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे अयकुंडीओ अप्पेगइयाओ तंबभरियाओ, अप्पेगइयाओ तउयभरियाओ, अप्पेगइयाओ सीसगभरियाओ, अप्पे० कलकलभरियाओ, अप्पे० खारतेल्लभरियाओ, अगणिकायंसि अद्दहियाओ चिट्ठंति। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे उट्टियाओ आसमुत्तभरियाओ, अप्पेगइयाओ हत्थिमुत्तभरियाओ, अप्पे० उट्टमुत्तभरियाओ, अप्पे० गोमु०, अप्पे० एलयमु०, अप्पे० महिसमु०, बहुपडिपुण्णाओ चिट्ठइ। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे हत्थंडुयाण य पायंडुयाण य हडीण य णियलाण य संकलाण य पुंजा य णिगरा य संणिक्खित्ता चिट्ठंति। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे वेणुलयाण य चिंचाछिवाण य कसाण य वायरासीण य पुंजा णिगरा चिट्ठंति। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे सिलाण य लउडाण य मोग्गराण य कणंगराण य पुंजा णिगरा चिट्ठइ। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स वरत्ताण य वागरज्जूण य वालसुत्तरज्जूण य पुंजा णिगरा संचिट्ठइ। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे असिपत्ताण य करपत्ताण य खुरपत्ताण य कलंबचीरपत्ताण य पुंजा णिगरा संचिट्ठइ।

तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे लोहखीलाण
य कडसक्कराण य चम्मपट्टाण य अलिपत्ताण य पुंजा
णिगरा संचिट्ठइ । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स
बहवे सूईण य डंभणाण य कोट्टिल्लाण य पुंजा णिगरा
संचिट्ठइ । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे स-
त्थाण य पिप्पलाण य कुहाडाण य णहच्छेयणाण य
दब्भाण य पुंजा णिगरा संचिट्ठइ । तस्स णं से दुज्जो-
हणस्स चारगपालस्स सीहरहस्स रण्णो बहवे चोरे य
पारदारिए य गंठिभेदे य रायावकारी य अणाहारए य
बालघाते य वीसंभघाते य जुइकरे य खंडपट्टे य पुरिसेहिं
गिण्हावेइ, गिण्हावेइत्ता उत्ताणए पाडेइ, लोहदंडेण मुहं
विहाडेइ, अप्पेगइए तत्तं तंबं पज्जेइ, अप्पे० तउयं पज्जेइ,
अप्पे० सीसगं पज्जेइ, अप्पे० कलकलं पज्जेइ, अप्पे०
खारतेल्लं पज्जेइ, अप्पे० तेणं चेव अभिसेगं करेइ, अप्पे०
उत्ताणए पाडेइ, अप्पे० आसमुत्तं पज्जेइ, अप्पे० हत्थिमुत्तं
पज्जेइ० जाव एलयमुत्तं पज्जेइ, अप्पे० हिट्ठा मुहं पाडेइ,
अप्पे० बलस्स वमावेइ, अप्पे० तेणं चेव उवीलं दलयइ,
अप्पे० हत्थंडुयाहिं बंधावेइ, अप्पे० पायंडुयाहिं बंधावेइ,
अप्पे० हडिबंधणं करेइ, अप्पे० णियलबंधणं करेइ, अप्पे०
संकोडियं करेइ, अप्पे० संकलबंधणं करेइ, अप्पे० हत्थ-
च्छिण्णए करेइ० जाव सत्थोवाडिए करेइ, अप्पे०
वेणुलयाहि य० जाव वेयरासीहि य एहावेइ,
अप्पे० उत्ताणए करेइ, करेइत्ता उरे सिलं द-
लावेइ, दलावेइत्ता लउलं दावेइ, पुरिसेहिं उकंपा-
वेइ, अप्पे० तंतीहि य० जाव सुत्तरज्जूहि य हत्थेसु
य पादेसु य बंधावेइ, अगडम्मि ओचूलं पायगं पज्जेइ,
अप्पे० असिपत्तेहि य० जाव कलंबचीरपत्तेहि य प-
च्छावेइ, खारतेल्लेणं अब्भंगावेइ, अप्पे० णिलाडेसु य
अवदुसु य कोप्परेसु य जाणुसु य खलुएसु य लोह-
कीलएसु य कडसक्करासु य दलावेइ, अलए भंजावेइ,
अप्पे० सूईओ य दंभणाणि य हत्थंगुलियासु य पायंगुलि-
यासु य कोट्टिल्लएहिं आउडावेइ, आउडावेइत्ता भूमिं
कंडूयावेइ, अप्पे० सत्थएहि य० जाव णहच्छेदणएहि य
अंगं पच्छावेइ, दब्भेहि य कुसेहि य उल्लदब्भेहि य
वेढावेइ, आयवंसि दलयइ, सुक्के समाणे चडचडस्स उप्पा-
डेइ । तए णं से दुज्जोहणचारए एयकम्मे० सुबहुपावं स-
मज्जिणित्ता एगतीसं वाससयाइं परमाउयं पालइत्ता काल-
मासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसं बावीसं सागरोवमाइं
ठिइएसु णेरइएसु उववण्णे । से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता
इहेव महुराए णयरीए सिरिदामस्स रण्णो बंधुसिरीए

देवीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववण्णे । तए णं बंधुसिरी
णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं० जाव दारगं पयाया ।
तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णिव्वत्तबारसाहे इमं
एयारूवं णामधेज्जं करेइ–होउ णं अम्हं दारगे णंदिसेणे
णामेणं । तए णं से णंदिसेणे कुमारे पंचधाइपरिवुडे० जाव
परिवड्ढइ । तए णं से णंदिसेणे कुमारे उम्मुक्कबालभावे०
जाव विहरइ० जाव जुवराया जाए यावि होत्था । तए
णं से णंदिकुमारे रज्जे य० जाव अंतेउरे य मुच्छिए० ४
इच्छइ सिरिदामं रायं जीवियाओ ववरोवित्ता सयमेव
रज्जसिरिं कारेमाणे पालेमाणे विहरित्तए । तए णं से णंदि-
सेणे कुमारे सिरिदामस्स रण्णो अंतरं अलभमाणे अण्णया
कयाइ चित्तं अलंकारियं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–
तुमं णं देवाणुप्पिया! सिरिदामं रायं सव्वट्ठाणेसु सव्वभूमिया-
सु य अंतेउरे य दिण्णवियारे सिरिदामं रायं अभिक्खणं अभि-
क्खणं अलंकारियकम्मं करेमाणे विहरइ । तं णं तुम्हं देवा-
णुप्पिया! सिरिदामं रायं अलंकारियकम्मं करेमाणे गीवाए
खुरं णिवेसेहि, ता णं अहं तुब्भं अद्धरज्जियं करेस्सामि, तुमं
अम्हेहिं सद्धिं उराले भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरिस्सह ।
तए णं से चित्ते अलंकारिए णंदिसेणस्स कुमारस्स वयणं ए-
यमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता–तए णं तस्स चित्तस्स अलं-
कारियस्स इमे एयारूवे० जाव समुप्पज्जित्था । जइ णं ममं
सिरिदामे राया एयमट्ठं आगमेइ, तए णं ममं ण णज्जइ
केणइ असुभेणं कुमरणेणं मारिस्सति त्ति कट्टु भीए० ४,
जेणेव सिरिदामे राया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता
सिरिदामं रायं रहसि एवं करयल० जाव एवं वयासी–
एवं खलु सामी! णंदिसेणे कुमारे रज्जे य० जाव मु-
च्छिए० ४ इच्छइ तुब्भे जीवियाओ ववरोवित्ता सयमेव
रज्जसिरिं कारेमाणे पालेमाणे विहरित्तए । तए णं से सि-
रिदामे राया चित्तस्स अलंकारियस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा
णिसम्म आसुरुत्ते० ४ जाव साहट्टु णंदिसेणं कुमारं पु-
रिसेहिं गिण्हावेइ, एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेइ । तं
एवं खलु गोयमा! णंदिसेणे पुत्ते० जाव विहरइ । णं-
दिसेणे कुमारे भयवं! इओ चुओ कहिं गच्छिहिति, कहिं
उववज्जिहिति?। गोयमा!। णंदिसेणे कुमारे सट्ठिवासाइं
परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्प-
भाए पुढवीए संसारो तहेव; ततो हत्थिणाउरे णयरे
मच्छत्ताए उववज्जिहिति । से णं तत्थ मच्छिएहिं वधिए
समाणे तत्थेव सेट्ठिकुले बोहिं पाउणित्ता सोहम्मे कप्पे म-
हाविदेहे वासे सिज्झिहिति, बुज्झिहिति, मुच्चिहिति, परिणि-
व्वाहिति । विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

णंदिवद्धणा–नन्दिवर्द्धना–स्त्री० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वे रुचकवरस्य पर्वतस्य रजतकूटवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, स्था० ८ ठा० । आ० म० । आ० चू० । जं० । आ० क० । शाश्वतपुष्करिणीभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ० । ती० । जी० ।

णंदिभाण–नन्दिभाजन–न० । औपग्रहिकोपकरणभेदे, बृ० ।

तदुपयोगश्च–

एक्कं भरेमि भाणं, अणुकंपा नंदिभाण दरिसेंति ।
निंति व तं वइगाऽऽइसु, गालिंति तह चम्मकरएणं ॥

अथ प्रतिपन्नानां कोऽप्यनुकम्पया ब्रूयात्–अहं युष्मत्यं दिने दिने एकं भाजनं बिभर्मि पूरयामि, ततस्तत्र नन्दिभाजनं बिभर्ति पूरयति,ततस्तत्र नन्दीभाजनं दर्शयन्ति । अथवा–तद् नन्दिभाजनं भिक्षाचर्यया व्रजिकाऽऽदिषु नयन्ति । तथा प्रासुकं तद् द्रव्यं पानकं चर्मकरकेण गालयन्ति । बृ० १ उ० । ओघ० । नि० चू० ।

इदानीमेतदेव भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह–

वेयावच्चगरो वा, नंदीभाणं धरे उवग्गहियं ।
सो खलु तस्स विसेसो, पमाणजुत्तं तु सेसाणं ॥१०५॥

वैयावृत्त्यकरो वा नन्दीपात्रं धारयत्यौपग्राहिकम्, आचार्येण समर्पितं,निजं वा स खलु तस्यैव वैयावृत्त्यकरस्य विशेषः । एतदुक्तं भवति–यदतिरिक्तपात्रकधारणम्, अयं तस्यैव वैयावृत्त्यकरस्य विशेषः क्रियते । शेषाणां साधूनां प्रमाणयुक्तमेव पात्रकं भवति, उदरप्रमाणयुक्तमित्यर्थः ॥१०५॥

एतच्च प्रमाणातिरिक्तेन पात्रकेन प्रयोजनं भवति–

देज्जाहि भाणपूरं, तु रिद्धिमं कोइ रोहमाईसु ।
तत्थ वि तस्सुवओगो, सेसं कालं तु पडिकुट्ठो ॥१०६॥

दद्याद् भाजनपूरं कश्चिदृद्धिमान् पात्रकभरणं कश्चिदीश्वरः कुर्यात् । कदा ?, पत्तनरोधकाऽऽदौ । तत्र पात्रकभरणे तस्य नन्दीपात्रस्योपयोगः, शेषकालमुपयोगः तस्य प्रतिकुष्टः प्रतिषिद्धः, कारणमन्तरेणेत्यर्थः । ओघ० । पं० व० ।

णंदिमित्त–नन्दिमित्र–पुं० । भाविनि द्वितीये वासुदेवे, ती० २० कल्प । मल्ल्या सह प्रव्रजिते राजपुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

णंदिमुइंग–नन्दिमृदङ्ग–पुं० । एकतः संकीर्णेऽन्यत्र विस्तृते मुरजविशेषे, रा० । आ० चू० ।

णंदिमुह–नन्दिमुख–पुं० । द्व्यङ्गुलप्रमाणशरीरके पक्षिविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । औ० । रा० ।

णंदिय–नन्दित–त्रि० । समृद्धितरतामुपगते, औ० । स्वनामख्याते स्थविरे, कल्प० । " मिउमद्दवसंपन्नं, उवउत्तं नाणदंसणचरित्ते । थेरं च णंदियं पि य, कासवगुत्तं पणिवयामि " ॥ १ ॥ कल्प० ८ क्षण ।

णंदियगपोसण–नन्दितकपोषण–न० । मनोज्ञाऽऽहाराऽऽदिभिर्वृषभपशोः परिपालने, बृ० १ उ० ।

णंदियावत्त–नन्द्यावर्त–पुं० । प्रतिदिङ्नवकोणके स्वस्तिके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । जं० । रा० । औ० । प्रव० । ब्रह्मलोके कल्पे तदिन्द्रस्य पारियानिके विमाने, स्था० १० ठा० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । स्तनितकुमारेन्द्रस्य घोषस्य महाघोषस्य च लोकपालभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । सिद्धश्रेणिकापरिकर्मभेदे, स० १२ अङ्ग० ।

णंदिराय–नन्दिराज–पुं० । श्रीवर्द्धमानस्वामिज्येष्ठभ्रातरि नन्दिवर्द्धने, कल्प० ५ क्षण ।

नन्दिराग–पुं० । समृद्धौ सत्यां हर्षे, भ० २ श० ५ उ० ।

णंदिरुक्ख–नन्दिवृक्ष–पुं० । धवक्षे, अश्वत्थवृक्षे, तुणे, कुबेरके, मेषशृङ्ग्यां च । वाच० । प्रज्ञा० । औ० । ति० । स० । रा० ।

णंदिसूरि–नन्दिसूरि–पुं० । श्रीशत्रुञ्जयतीर्थोद्धारकारके स्वनामके सूरौ, ती० २ कल्प ।

णंदिसेण–नन्दिषेण–पुं० । मथुरायां श्रीदामराजसुते युवराजे नन्दिवर्धनापरनामके, स्था० १० ठा० । विपा० । स्वनामख्याते पार्श्वापत्यीये आचार्ये, यो हि भद्दिकापुर्यां वीरे भगवत्यागते प्रतिमया स्थितं श्रीरग्राम्यारक्षकपुरुषेण मृत्वाऽऽहतो जातावधिः स्वर्जगाम । कल्प० ५ क्षण । आ० म० । आ० चू० । नन्दिग्रामे गौतमपुत्रे नन्दिवर्धनसूरिशिष्ये, आ० क० ।

" मगधे हि नन्दिग्रामे, गौतमः कणवृत्तिकः ।
तत्पत्नी धारणी तस्याः, गर्भे षाण्मासिके पिता ॥ १ ॥
मृतो माताऽपि जाते च, मातुलेन स वर्द्धितः ।
नन्दिषेणाऽभिधस्तस्य, गृहे कर्म चकार सः ॥ २ ॥
प्रतारितः स्म लोकेन, मातुलेन स्थिरीकृतः ।
मा श्रौषीर्लोकवाक्यानि, तिस्रः सन्ति सुता मम ॥ ३ ॥
दास्यामि तव नैषुस्ताः, कुरूपमिति तं परम् ।
निर्विण्णः सोऽथ निर्गत्य, मुमूर्षुर्वीक्ष्य कुत्रचित् ॥ ४ ॥
नन्दिवर्द्धनसूरीणां, सन्निधौ व्रतमग्रहीत् ।
स षष्ठतपकः ख्यातः, यशःकीर्तिरभून्मुनिः ॥ ५ ॥
वैयावृत्त्येऽभिग्रही च, बालग्लानाऽऽदिसाधुषु ।
शक्रोऽशंसत्तमेकोऽथ्या–श्रद्दधानः सुरोऽभ्यगात् ॥ ६ ॥
चक्रे श्रमणरूपं द्वे, बहिरेकोऽतिसारकी ।
स्थितोऽगात्परो मध्ये, साधूपान्ते ब्रवीदिदम् ॥ ७ ॥
ग्लानर्षिः पतितोऽस्त्येको, वैयावृत्त्यकरोऽस्ति चेत् ।
स समुत्तिष्ठतु तच्छ्रुत्वा, षष्ठपारणकेऽपि हि ॥ ८ ॥
सहसा नन्दिषेणर्षि–र्मुक्त्वा कवलमुत्थितः ।
ऊचेऽर्थः केन सोऽवादीद्, जलेनाऽऽगात् स तत्कृते ॥ ९ ॥
अनेषणां सुरश्चक्रे–ऽनेषणीयं न सोऽग्रहीत् ।
भ्रान्त्वा त्रिभिः स शुद्धाम्भो, गृहीत्वाऽऽगात्सदन्तिके ॥ १० ॥
आचुक्रोश स तं ग्लानो, मुनिं निष्ठुरया गिरा ।
त्वं वैयावृत्त्यकारीति, श्रुतो मामेव वर्त्तसे ॥ ११ ॥
स तद्गिरं सुधासारां, मन्यमानः क्षमानिधिः ।
अशोकः क्षालयामास, तं विष्ठाऽऽक्तिमप्युपिम् ॥ १२ ॥
अथाऽऽहोत्तिष्ठ यामान्त–र्नीरुजं त्वां करोमि यत् ।
ग्लानोऽवक्न क्षमः सोऽवक्, पृष्ठमारोह तर्हि मे ॥ १३ ॥
पृष्ठमारोप्य तं गच्छ–स्तेन देवेन मायया ।
नन्दिषेणः पुरीषेण, लिप्तोऽतीव विगन्धिना ॥ १४ ॥
आकुष्टश्च कथं वेग–भङ्गान्मे मृतमारणम् ।
करोषि भोकुकामस्त्वं, व्रजन्नत्यन्तरंहसा ॥ १५ ॥
मुनिश्चास्पकलेपं तं, मन्वानोऽमेध्यलेपनम् ।
आकांक्षं चाऽऽशिषं दध्यौ, कथं स्यादस्य निर्वृतिः ? ॥ १६ ॥
देवस्तुष्टोऽथ संहृत्य, मायां नत्वा च तं मुनिम् ।
शक्रप्रशंसां चाऽऽवेद्य, स्वं विमानं जगाम सः ॥ १७ ॥

वसती मुनिरध्यागा-दुरोदाहोऽथ चुक्रुधान् ।
एवमासमितिः पाल्या, तदेवं मुनिपुङ्गवैः " ॥ १८ ॥
आ० क० । आव० । सं० । नि० चू० । स्था० । श्रेणिकस्य पुत्रे, स च पूर्वभवे कस्यचिद् धिग्जातिकस्य दास आसीत्, तेन च यज्ञवाटे नियुक्तेन स्वामिनो यज्ञशेषं याचित्वा साधवे दत्वा तत्पुण्येन देवलोके गत्वा ततः च्युत्वा श्रेणिकस्य पुत्रो जज्ञे (आ० चू० ४ अ० । आव०) स च वीरजिनान्तिके प्रव्रज्यां जगृहे, तस्य साधोः श्रेणिकपुत्रस्य नन्दिषेणस्य स्वशिष्यस्य व्रतमुज्झितुकामस्य स्थिरीकरणाय भगवद्वर्द्धमानस्वामिवन्दननिमित्तचलितमुक्ताऽऽभरणश्वेताम्बरपरिधानरूपसम्पन्नीयताविनिर्जितामरसुन्दरीकं स्वान्तःपुरदर्शनं कारितम् । (सा पारिणामिकी बुद्धिः) स हि [नन्दिषेणस्य] तादृशमन्तःपुरं नन्दिषेणः परित्यक्तं दृष्ट्वा दृढतरं संयमे स्थिरो बभूव । नं० । आ० क० । आ० चू० । ती० । आ० म० । शीलाचलने चारणमुनौ, महा० । स चावसीदन् मुमूर्षां चकार ।

तद् यथा—

"ता गोयम ! णंदिसेणेणं, गिरिपडणं जाव पत्थुयं ।
ताव आयासे इमा वाणी, पडिओ वि णो मरेज्ज तं ॥
दिसामुहाइं जा जोए, ता पेच्छा चारणं मुणिं ।
अकाले नत्थि ते मच्चू, विरम विसयादितो गओ ॥
ताहे वि अणहियासेहिं, विसएहिं जाव पीडिओ ।
ताव चिंता समुप्पन्ना, जहा किं जीविएण मे ? ॥
कुंदेंदुनिम्मलयरागं, तित्थं पावमती अहं ।
उड्डाहिंतो य सिज्झिस्सं, कत्थ गंतुमणारिओ ? ॥
अहवा सलंछणो चंदो, कुंदस्स उणका पहा ।
कलिकलुसकलंकेहिं, वज्जियं जिणसासणं ॥
ता एयं सयलदालिद्द-दुहकिलेसक्खयं-करं ।
पवयणं खिंसाविंतो, कत्थ गंतूण सिज्झिहं ? ॥
दुग्गुच्छकं गिरी रोढुं, अप्पाणं चुण्णिमो धुवं ।
जाव विसयवसेणाहं, किंचि उड्डाहयं करे ॥
एवं पुणो वि आरोढुं, टंकुच्छिन्नं गिरीतडं ।
संचरे किल निरागारं, गयणे पुणरवि जाणियं ॥
अकाले नत्थि ते मच्चू, चरिमं तुज्झ इमं तणुं ।
ता बद्धपुट्ठं भोगहलं, वेइत्ता संजमं कुरु ॥
एवं तु जाव वेवारा, चारणसमणेहि सेहिओ ।
ताहे गंतूण सो लिंगं, गुरुपायमूले निवेदिओ" ॥ महा० ६ अ० ।

भरतक्षेत्रजाभिनन्दनतीर्थकृत्समकालीने ऐरवतजे तीर्थकरे, ति० । ती० । शत्रुञ्जयतीर्थे जिनशान्तिविधायके गणेशे, ती० १ कल्प । द्वीपसमुद्रविशेषाधिपतौ, द्वी० । अजितशान्तिस्तवग्रन्थकारके आचार्ये, जै० इ० ।

णंदिसेणा—नन्दिषेणा—स्त्री० । पूर्वस्मिन्नञ्जनकपर्वते पूर्वस्यां दिशि नन्दापुष्करिण्याम्, जी० ३ प्रति० । ती० । द्वी० । स्था० । अञ्जनकपर्वतानामुत्तरस्यां नन्दापुष्करिण्याम्, द्वी० । नन्दिवर्द्धनापरनामिकायां पूर्वरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, द्वी० । स्था० । रतिकरपर्वतानामुत्तरदिक्स्थासु शक्रसामानिकराजधानीषु, द्वी० ।

णंदिसेणिया—नन्दिषेणिका—स्त्री० । स्वनामख्यातायां श्रेणिकभार्यायाम्, सा च वीरान्तिके प्रव्रजिता सिद्धा, इति अन्तकृद्दशानां सप्तमे वर्गे चतुर्थेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ६ वर्ग १६ अ० ।

णंदिस्सर—नन्दिस्वर—पुं० । द्वादशतूर्यसंघातस्वरे, जी० ३ प्रति० । सं० । रा० ।

नन्दीश्वर—पुं० । महेश्वराऽऽख्यव्यन्तरस्य शिष्यभेदे, आ० चू० ४ अ० । आ० क० । नन्दी समृद्धिः, तस्या ईश्वरो द्वीपो नन्दीश्वरः । अनु० । " जंबू लवणे धायइ-कालोयपुक्खराइ जुयलाइ । वारुणिखीरघयक्खू, नंदीसरअरुणदीवुदही ॥ १ ॥ " इति गणनयाऽष्टमे द्वीपे, स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रव० । रा० ।

तत्कल्पं यथा-

" आराध्य श्रीजिनाधीशान्, सुराधीशार्चितक्रमान् ।
कल्पं नन्दीश्वरद्वीप-स्याऽऽख्येऽहं विश्वपावनम् ॥ १ ॥
अस्ति नन्दीश्वरो नाम्ना-ऽष्टमो द्वीपो सुर्वाजनः ।
तत्परिक्षेपिणा नन्दी-श्वरेणाम्भोधिना युतः ॥ २ ॥
एतद्वलयविष्कम्भे, लक्षाशीतिश्चतुर्युता ।
योजनानां त्रिषष्टिश्च, कोट्यः कोटिशतं तथा ॥ ३ ॥
असौ विविधविन्यासो-द्यानवान् देवभोगभूः ।
जिनेन्द्रपूजासंसक्त-सुरसंपातसुन्दरः ॥ ४ ॥
अस्य मध्यप्रदेशे तु, क्रमात्पूर्वाऽऽदिदिक्षु च ।
अञ्जनवर्णाश्चत्वार-स्तिष्ठन्त्यञ्जनपर्वताः ॥ ५ ॥
दशयोजनसाहस्रा-तिरिक्ताविस्तृतास्तले ।
सहस्रयोजनाश्चोर्ध्वं, क्षुद्रमेरूच्छ्रयाश्च ते ॥ ६ ॥
तत्र प्राग्देवरमणो, नित्योद्योतश्च दक्षिणः ।
स्वयंप्रभः प्रतीच्यस्तु, रमणीयोदकस्थिरः ॥ ७ ॥
शतयोजन्यायतानि, तदर्द्धं विस्तृतानि च ।
द्विसप्ततियोजनोच्चा-न्यर्हच्चैत्यानि तेषु च ॥ ८ ॥
पृथग्द्वाराणि चत्वार्यु-च्चानि षोडशयोजनम् ।
प्रवेशो योजनान्यष्ट, विस्तारोऽप्यष्ट तेषु तु ॥ ९ ॥
तानि देवासुरनाग-सुपर्णानां दिवौकसाम् ।
समाश्रयास्तेषामेव, नामभिर्विश्रुतानि च ॥ १० ॥
षोडशयोजनाऽऽयामा-स्तावन्मात्राश्च विस्तृतौ ।
अष्टयोजनकोत्सेधा-स्तन्मध्ये मणिपीठिकाः ॥ ११ ॥
सर्वरत्नमया देव-च्छन्दकाः पीठिकोपरि ।
पीठिकाभ्योऽधिकाऽऽयामो-च्छ्रयभाजश्च तेषु तु ॥ १२ ॥
ऋषभो वर्द्धमानस्तु, तथा चन्द्राननोऽपि च ।
वारिषेणो चेति नाम्ना, पर्यङ्कासनसंस्थिताः ॥ १३ ॥
रत्नमय्यो युताः स्वस्व-परिवारेण हारिणा ।
शाश्वतार्हत्प्रतिमाः प्र-त्येकमष्टोत्तरं शतम् ॥ १४ ॥
द्वे द्वे नागयक्षभूत-कुण्डभृत्प्रतिमे पृथक् ।
प्रतिमानां पृष्ठतस्तु, छत्रभृत्प्रतिमैकका ॥ १५ ॥
तेषु धूपघटीदाम-घण्टाष्टमङ्गलध्वजाः ।
छत्रतोरणचङ्गेर्यः, पटलान्यासनानि च ॥ १६ ॥
षोडश पूर्णकलशाः, दीप्यच्चन्दनानि च ।

सुवर्णकपिशरत्नो-वालुकास्तत्र भूमयः ॥ १७ ॥
आयतनप्रमाणेन, रुचिरा मुखमण्डपाः ।
प्रेक्षार्थमण्डपा अक्ष-वाटिका मणिपीठिकाः ॥ १८ ॥
रम्याश्च स्तूपप्रतिमा-श्चैत्यवृक्षाश्च सुन्दराः ।
इन्द्रध्वजाः पुष्करिण्यो, दिव्याः सन्ति यथाक्रमम् ॥ १९ ॥
प्रतिमाः षोडश चतु-र्द्वारस्तूपेषु सर्वतः ।
शतं चतुर्विंशमेवं, ताः साष्टशतयुताः ॥ २० ॥
प्रत्येकमञ्जनाद्रीणां, ककुप्सु च चतसृष्वपि ।
गते लक्षे योजनानां, निर्मत्स्यस्वच्छवारयः ॥ २१ ॥
सहस्रयोजनोद्वेधाः, विष्कम्भे लक्षयोजनाः ।
पुष्करिण्यः सन्ति तासां, क्रमान्नामानि षोडश ॥ २२ ॥
नन्दिषेणा चामोघा च, गोस्तूपाऽथ सुदर्शना ।
तथा नन्दोत्तरा नन्दा, सुनन्दा नन्दिवर्द्धना ॥ २३ ॥
भद्रा विशाला कुमुदा, पुण्डरीकिणिका तथा ।
विजया वैजयन्ती च, जयन्ती चापराजिता ॥ २४ ॥
प्रत्येकमासां योजन-पञ्चशत्या परत्र च ।
योजनानां पञ्चशतीं, यावद्विस्तारभाञ्जि तु ॥ २५ ॥
लक्षयोजनदीर्घाणि, महोद्यानानि तानि तु ।
अशोकसप्तच्छदक-चम्पकचूतसंज्ञया ॥ २६ ॥
मध्ये पुष्करिणीनां च, स्फाटिकाः कल्पमूर्त्तयः ।
सलामण्डपोद्यानानि, चिह्ना दधिमुखाद्रयः ॥ २७ ॥
चतुःषष्टिसहस्रोच्चाः, सहस्रं चावगाहिनः ।
सहस्राणि दशाधस्ता-दुपरिष्टाच्च विस्तृताः ॥ २८ ॥
अन्तरे पुष्करिणीनां, द्वौ द्वौ रतिकराचलौ ।
ततो भवन्ति द्वात्रिंश-देते रतिकराचलाः ॥ २९ ॥
शैलेषु दधिमुखेषु, तथा रतिकराद्रिषु ।
शाश्वतान्यर्हच्चैत्यानि, सन्त्यञ्जनगिरिष्विव ॥ ३० ॥
चत्वारो द्वीपविदिक्षु, तथा रतिकराचलाः ।
दशयोजनसाहस्रा-ऽऽयामविष्कम्भशालिनः ॥ ३१ ॥
योजनानां सहस्रं तु, यावदुच्चयशोभिताः ।
सर्वरत्नमया दिव्याः, झल्लर्याकारधारिणः ॥ ३२ ॥
तत्र द्वयोः रतिकरा-चलयोर्दक्षिणस्थयोः ।
शक्रस्येशानस्य पुन-रुत्तरास्थितयोः पृथक् ॥ ३३ ॥
अष्टानां महादेवीनां, राजधान्योऽष्टदिक्षु ताः ।
लक्षोद्वेधा लक्षमानाः, जिनाऽऽयतनभूषिताः ॥ ३४ ॥
सुजाता सौमनसा चा-र्चिर्माली च प्रभाकरा ।
पद्मा शिवाशुभाञ्जने, भूता भूतावतंसिका ॥ ३५ ॥
गोस्तूपासुदर्शने अ-प्यमलाप्सरसौ तथा ।
रोहिणी नवमी चाथ, रत्ना रत्नोच्चयाऽपि च ॥ ३६ ॥
सर्वरत्ना रत्नसंच-या वसुर्वसुमित्रिका ।
वसुभागाऽपि च वसुं-धरानन्दोत्तरे अपि ॥ ३७ ॥
नन्दोत्तरकुरुर्देव-कुरुः, कृष्णा ततोऽपि च ।
कृष्णराजीरमाराम-रक्षिताः प्राक्क्रमादमूः ॥ ३८ ॥
सर्वर्द्ध्यस्तासु देवाः, कुर्वते सुपरिच्छदाः ।
चैत्ये ह्याष्टाह्निकाः पुण्य-तिथिषु श्रीमदर्हताम् ॥ ३९ ॥
प्राच्येऽञ्जनगिरौ शक्रः, कुरुतेऽष्टाह्निकोत्सवम् ।
प्रतिमानां शाश्वतीनां, चतुर्द्वारे जिनालये ॥ ४० ॥
तस्य चाद्रेः चतुर्दिक्स्थ-महावापीविचार्विषु ।
स्फाटिकेषु दधिमुख-पर्वतेषु चतुर्ष्वपि ॥ ४१ ॥
चैत्येष्वर्हत्प्रतिमानां, शाश्वतीनां यथाविधि ।
चत्वारः शक्रदिक्पालाः, कुर्वतेऽष्टाह्निकोत्सवम् ॥ ४२ ॥
ईशानेन्द्रस्त्वौत्तराहे-ऽञ्जनाद्रौ विदधाति तम् ।
तल्लोकपालास्तद्वापी-दधिमुखाद्रिषु कुर्वते ॥ ४३ ॥
चमरेन्द्रो दाक्षिणात्ये-ऽञ्जनाद्रावुत्सवं चरेत् ।
तद्वाप्यन्तर्दधिमुखे-ष्वस्य दिक्पतयः पुनः ॥ ४४ ॥
पश्चिमे त्वञ्जनशैले तु, बलीन्द्रः कुरुते महम् ।
तद्दिक्पालास्तु तद्वाप्य-न्तर्गतदधिमुखाद्रिषु ॥ ४५ ॥
सर्वद्वीपदिमाऽऽरच्या-नुपवासान् कृतिनो ।
कुर्वन्नन्दीश्वरोपास्त्यै, श्रेयसीं श्रियमार्जयेत् ॥ ४६ ॥
भक्त्या चैत्यानि वन्दारु-स्तवस्तोत्रस्तुतिपाठनात् ।
नन्दीश्वरमुपासीनो-ऽनुपर्वाह्नकलुत्तरम् ॥ ४७ ॥
प्रायः पूर्वाऽऽचार्य-प्रथितैरेवायमाचितः श्लोकैः ।
श्रीनन्दीश्वरकल्पो, लिखित इति श्रीजिनप्रभाऽऽचार्यैः" ॥४८॥

इति श्रीनन्दीश्वरकल्पः । ती० ४९ कल्प ।

णंदी-नन्दी-स्त्री० । 'णंदि' शब्दार्थे, आ० म० द्वि० । गवि, दे० ना० ४ वर्ग ।

णंदीचुण्णग-नन्दीचूर्णक-न० । 'णंदिचुण्णग' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

णंदीसरवर-नन्दीश्वरवर-पुं० । नन्दीश्वर एव वरश्च मनुष्यद्वीपापेक्षया बहुतरजिनभवनाऽऽदिसद्भावेन तस्य वरत्वादिति । अष्टमे द्वीपे, स्था० ४ ठा० २ उ० । जी० । द्वी० ।

तद्वक्तव्यता चैवम्-

खोदोदं णं समुदं णंदीसरवरे णामं दीवे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते तहेव० जाव परिक्खेवो पउमवरवणसंडे परिदारा दारंतरपदेसा जीवा तहेव ॥ से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-णंदीसरवरो दीवो णंदीसरवरो दीवो ? । गोयमा ! देसे देसे बहुओ खुड्डा खुड्डियाओ वावीओ० जाव विलपंतियाओ खोदोदगपडिहत्थातो उप्पातपव्वया सव्ववइरामया अच्छा०जाव पडिरूवा. अदुत्तरं च णं गोयमा ! णंदीसरदीवचक्कवालविक्खंभबहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं चउद्दिसिं चत्तारि अंजणपव्वया पण्णत्ता ।

(खोदोदं णं समुद्दमित्यादि) क्षोदोदं,णमिति पूर्ववत् । समुद्रं,नन्दीश्वरवरो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थितः, सर्वतः समन्तात्, संपरिक्षिप्य तिष्ठति । चक्रवालविष्कम्भपरिक्षेपाऽऽदिवक्तव्यता प्राग्वत्, यावत् जीवोपपातसूत्रम् । सम्प्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह-(से केणट्ठेणमित्यादि) अथ केन कारणेन एवमुच्यते-नन्दीश्वरवरो द्वीपः नन्दीश्वरवरद्वीप इति ?। भगवानाह-गौतम ! नन्दीश्वरद्वीपे बहवः " खुड्डा खुड्डियाओ, वावीओ" इत्यादि प्रागुक्तं सर्वं तावद्वक्तव्यं, यावत् "वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति०जाव विहरंति) नवरमत्र वाप्यादयः क्षोदोदकप्रतिपूर्णा वक्तव्याः, पर्वतकाः, पर्वतकेष्वासनानि, गृहकाणि , गृहकेष्वासनानि, मण्डपकाः, मण्डपकेषु शिलापट्टकाः सर्वाऽऽत्मना वज्रमयाः, शेषं तथैव । (अदुत्तरं च णं गोयमा ! इत्यादि) अथान्यद् गौतम ! नन्दीश्वरे चत्वारो दिशः समाहृताश्चतुर्दिक्, तस्मिन् चक्रवालविष्कम्भेण बहुमध्यदेशभागे एकैकस्यां दिशि एकैकभावेन चत्वारोऽञ्जनकपर्वताः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-पूर्वस्यां दिशि, एवं पश्चिमायां, दक्षिण-

स्यामुत्तरस्याम् । जी० ३ प्रति० । प्रव० । चं० प्र० । सू० प्र० । स्था० । (अञ्जनकपर्वताः स्वस्थाने उक्ताः) "णंदीसरवरदीवस्स णं दीवस्स अंतो सत्त दीवा पण्णत्ता । तं जहा-जंबुद्दीवे, धायइसंडे, पुक्खरवरे, वारुणिवरे, खीरवरे, घयवरे, खोयवरे । णंदीसरवरस्स णं दीवस्स अंतो सत्त समुद्दा पण्णत्ता । तं जहा-लवणे, कालोए, पुक्खरोदे, वरुणोदे, खीरोदे, घओदे, खोओए । स्था० ७ ठा० ।

णंदीसरवरोद-नन्दीश्वरवरोद-पुं० । नन्दीश्वरद्वीपस्याऽऽवृतः समुद्रे, जी० ।

णंदीसरवरे णं दीवे णंदीसरवरोदे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिए० जाव सव्वं तहेव अट्ठो, जहा खोदोदगस्स० जाव सुमणसोमणसा य एत्थ दो देवा महिड्डिया० जाव परिवसंति, सेसं तहेव० जाव तारग्गं ॥

"णंदीसरवरे णं" इत्यादि । नन्दीश्वरवरं, णमिति पूर्ववत् । नन्दीश्वरवरोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति । यथैव क्षोदोदकसमुद्रस्य वक्तव्यता, तथैवास्यापि अर्थसहिता वक्तव्यता, नवरमत्र सुमनसौमनसौ च द्वौ देवौ वक्तव्यौ, तावतिशयेन स्फीताविति । जी० ३ प्रति० ।

णंदुत्तर-नन्दोत्तर-पुं० । भवनपतीन्द्राणां रथानीकाधिपतिषु, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

णंदुत्तरा-नन्दोत्तरा-स्त्री० । उत्तरपौरस्त्ये रतिकरपर्वते ईशानस्य देवेन्द्रस्य कृष्णाया अग्रमहिष्या राजधान्याम्, जी० ३ प्रति० । स्वनामख्यातायां शाश्वतनन्दापुष्करिण्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ० । मन्दरस्य पर्वतस्य रिष्टकूटवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, जं० ५ वक्ष० । द्वी० । स्था० । ति० । ती० । जी० । आ० म० । स्वनामख्यातायां श्रेणिकमहाराजभार्यायाम्, सा च वीरजिनान्तिके प्रव्रज्य सिद्धा, इत्यन्तकृद्दशानां सप्तमे वर्गे तृतीयेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ७ वर्ग० १ अ० । ती० ।

णकर-नगर-न० । "चूलिकापैशाचिके तृतीयचतुर्थयोराद्यद्वितीयौ" ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति गस्य कः । प्रा० ४ पाद । प्रांशुप्राकारबद्धे सन्निवेशे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

णक्क-नासिक्य-न० । नासिकान्तर्मांसे, विपा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० ।

नक्र-न० । 'नाक' इति ख्याते जलचरभेदे, प्रज्ञा० १ पद । प्रश्न० । मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति० ।

णक्ख-नख-पुं० । "सेवाऽऽदौ वा" ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । कररुहे, जी० ३ प्रति० । औ० । करजे, भद्नाङ्कुशे च । पुं० । न० । हैम० । नखेषु, दे० ना० ४ वर्ग ।

णक्खणिया-नखार्चनिका-स्त्री० । नखहरणिकायाम्, "नक्खक्षणं नक्खकंटाई" नखार्चनं नखहरणिका, सा नखच्छेदनार्थं, कण्टकाऽऽदिशल्योद्धरणार्थं वा गृह्यते । बृ० १ उ० ।

णक्खत्त-नक्षत्र-न० । ज्योतिष्कभेदे, स० प० ।

विषयसूची-

(१) योग इति वस्तुनो नक्षत्रजातस्य क्रमेण चन्द्रसूर्यैः सह संपातविषये पञ्च प्रतिपत्तीरुद्भाव्य भगवन्मतनिरूपणम् ।

(२) यानि नक्षत्राणि प्रत्येकं द्वे द्वे, तेषां प्रतिपादनम् ।

(३) अष्टाविंशतेर्नक्षत्राणामष्टाविंशतिदेवतानां सामान्यतो नामनिदर्शनम् ।

(४) जम्बूद्वीपेऽभिजिद्वर्जितैः सप्तविंशतिनक्षत्रैर्व्यवहारो भवतीति प्रतिपादनम् ।

(५) येषु नक्षत्रेषु गमनप्रस्थानाऽऽदीनि कार्याणि कर्तव्यानि, येषु नेति, तदुद्घाटनम् ।

(६) पादोपगमनलोचकर्माऽऽदीनि येषु नक्षत्रेषु कर्तव्यानि वर्ज्यनक्षत्राण्युद्दिश्य तेषां निरूपणम् ।

(७) क्षिप्रमृदुसंज्ञकानि स्वाध्यायाऽऽदिनक्षत्राणि ।

(८) तपःकर्मोपकरणगणसंग्रहनक्षत्रप्ररूपणं, करणप्ररूपणं च ।

(९) ज्ञानवृद्धिकराणां नक्षत्राणां निदर्शनम् ।

(१०) प्रतिनक्षत्रं मुहूर्तपरिमाणविचारे चन्द्रेण सार्द्धं नक्षत्रयोगप्रतिपादनम् ।

(११) तथैव सूर्येणापि सार्कं तदभिधानम् ।

(१२) नक्षत्राणामादानविसर्गपरिज्ञाननिमित्तनिरूपणम् ।

(१३) चन्द्रसूर्ययोगे नक्षत्रशोधनपरामर्शः ।

(१४) यावन्ति भागानि नक्षत्राणि चन्द्रेण सह युज्यन्ते, तेषां प्रतिपादनम् ।

(१५) यानि प्रमर्दयोगीनि नक्षत्राणि, तेषामभिधानम् ।

(१६) यावन्ति नक्षत्राणि यावन्ति भागानि पूर्णिमाऽमावास्यां, तत्परामर्शः ।

(१७) यद् नक्षत्रं यावच्चारं भवति, तन्निर्देशः ।

(१८) यावन्ति नक्षत्राणि स्वयमस्तंगमनाहोरात्रपरिसमापकतया यं मासं नयन्ति, तन्निरूपणम् ।

(१९) येषां नक्षत्राणां या देवतास्तासामभिजिन्नक्षत्रत उत्तराषाढापर्यन्तं विशिष्य विवेचनम् ।

(२०) नक्षत्राणां गोत्राणि ।

(२१) नक्षत्रेषु यानि भोजनानि, तन्निरूपणम् ।

(२२) यन्नक्षत्रं यद्द्वारिकं, तत्प्रदर्शनम् ।

(२३) नक्षत्रविचयनिदर्शनम् ।

(२४) सायं प्रातश्च नक्षत्रचन्द्रयोगविचारः ।

(२५) पूर्णिमासु चन्द्रनक्षत्रयोगस्य सूर्यनक्षत्रयोगस्य च प्ररूपणम् ।

(२६) यस्मिन् देशे यन्नक्षत्रं यावता कालेन भूयश्चन्द्रेण सह सूर्येण वा सार्कं योगमुपागच्छति, तावतः कालस्य प्ररूपणम् ।

(२७) नक्षत्राणां संस्थानानि ।

(२८) नक्षत्राणामन्तर्बहिश्च चारप्रतिपादनम् ।

(१) तत्संख्या-

ता जोए ति वत्थुस्स आवलियनिवाते आहिते ति वदेज्जा । ता कहं ते जोगे ति वत्थुस्स आवलियनिवाते आहिते ति वदेज्जा ? । तत्थ खलु इमाओ पंच पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थेगे एवमाहंसु-ता सव्वे वि णं णक्खत्ता कत्तिआदीआ भरणीपज्जवसिआ आहितेति वदेज्जा, एगे

एवमाहंसु । १ । एगे पुण एवमाहंसु-ता सव्वे वि णं णक्खत्ता महाऽऽदीआ अस्सेसापज्जवसिआ आहितेति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु । २ । एगे पुण एवमाहंसु-ता सव्वे वि णं णक्खत्ता धणिट्ठाऽऽदिया सवणपज्जवसिया आहिता ति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु । ३ । एगे पुण एवमाहंसु-ता सव्वे वि णं णक्खत्ता अस्सिणीआदिआ रेवतिपज्जवसिआ आहिता ति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु । ४ । एगे पुण एवमाहंसु-ता सव्वे वि णक्खत्ता भरणीआदिआ अस्सिणीपज्जवसिता आहितेति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु ।५। वयं पुण एवं वदामो-ता सव्वे वि णं णक्खत्ता अभिजिताऽऽदिआ उत्तरासाढापज्जवसिआ आहिता ति वदेज्जा । तं जहा-अभिजिए, सवणो, धणिट्ठा, सतभिसता, पुव्वभद्दवता, उत्तराभद्दवता, रेवती, अस्सिणी, भरणी, कत्तिया, रोहिणी, मिगसिरं, अद्दा, पुणव्वसू, पुस्सो, असिलेसा, मघा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साती, विसाहा, अणुराहा, जेट्ठा, मूलो, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा ।

अत्र चायमर्थाधिकारः । यथा-योगमिति किं भगवन् ! त्वया समाख्यायत इति ? । ततस्तद्विषयं निर्वचनसूत्रमाह-" ता जोगे ति वत्थुस्स " इत्यादि । ' ता ' इति । आस्तां तावदन्यत्कथनीयम्, इदानीं तावदेतदेव कथ्यते-योग इति वस्तुनो नक्षत्रजातस्य (आवलियनिवाते त्ति) आवलिकया क्रमेण, निपातश्चन्द्रसूर्यैः सह संपातः, आख्यातो मयेति वदेत् स्वशिष्येभ्यः । एवमुक्ते भगवान् गौतमः पृच्छति-" ता कहं ते " इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत्, कथं केन प्रकारेण, भगवन् ! त्वया योग इति योगस्य वस्तुनो नक्षत्रजातस्याऽऽवलिकानिपातः, स आख्यात इति वदेत् ? । भगवानाह-" तत्थ खलु " इत्यादि । तत्र तस्मिन् नक्षत्रजातस्याऽऽवलिकानिपातविषये, खल्विमाः पञ्च प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-तत्र तेषां पञ्चानां परतीर्थिकानां मध्ये, एके परतीर्थिका एवमाहुः-' ता ' इति पूर्ववत् । सर्वाण्यपि नक्षत्राणि कृत्तिकाऽऽदीनि भरणीपर्यवसानानि प्रज्ञप्तानि । क्लीबत्वे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । तत्रैवोपसंहारमाह-" एगे एवमाहंसु १ " । एवं शेषप्रतिपत्तिचतुष्टयगतान्यपि सूत्राणि परिभावनीयानि । तदेवं परप्रतिपत्तीरुपदर्श्य संप्रति स्वमतमुपदर्शयति-" वयं पुण " इत्यादि । वयं पुनरेवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण वदामः । तमेव प्रकारमाह-" ता सव्वे वि णं " इत्यादि । " ता " इति पूर्ववत् । सर्वाण्यपि नक्षत्राण्यभिजिदादीनि, उत्तराषाढापर्यवसानानि प्रज्ञप्तानि । कस्मात् ?, इति चेत् । उच्यते-इह सर्वेषामपि सुषमसुषमाऽऽदिरूपाणां कालविशेषाणामादिर्युगम्, " एए उ सुसमसुसमादओ अद्धाविसेसा जुगाइणा सह पवत्तंते, जुगं तेण सह समप्पंति, इति श्रीपादलिप्तसूरिवचनप्रामाण्यात्, युगस्य चाऽऽदिः प्रवर्तते श्रावणे मासि बहुलपक्षे प्रतिपदि तिथौ बालवकरणे अभिजिति नक्षत्रे चन्द्रेण सह योगमुपगच्छति ।

तथा चोक्तं ज्योतिष्करण्डके-

" सावणबहुलपडिवए, बालवकरणे अभीइनक्खत्ते । सव्वत्थ पढमसमए, जुगस्स आइं वियाणाहि ॥ १ ॥ "

अत्र (सव्वत्थेति) भरते ऐरवते महाविदेहे च, शेषं सुगमम् । ततः सर्वेषामपि कालविशेषाणामादौ चन्द्रयोगमधिकृत्याभिजिन्नक्षत्रस्य प्रवर्तमानत्वादभिजिदादीनि नक्षत्राणि प्रज्ञप्तानि । तान्येव तद् यथेत्यादिनोपदर्शयति-"अभिई सवणो" इत्यादि । सू० प्र० १० पाहु० १ पाहु० ।

(२) एतानि नक्षत्राणि प्रत्येकं द्वे द्वे-

दो कत्तियाओ, दो रोहिणीओ, दो मियसिराओ, दो अद्दाओ, एवं जाणियव्वं-

"कत्तिय रोहिणि मियसिर, अद्दा य पुणव्वसू य पुस्सो य ।
तत्तो वि अस्सलेसा, महा य दो फग्गुणीओ य ॥ १ ॥
हत्थो चित्ता साई, य विसाहा होंति अणुराहा ।
जेट्ठा मूलो पुव्वा-आसाढा उत्तरा चेव ॥ २ ॥
अभिई सवण धणिट्ठा, सयभिसया दो य होंति भद्दवया ।
रेवइ अस्सिणि भरणी, णेयव्वा आणुपुव्वीए" ॥ ३ ॥

एवं गाहाणुसारेण णायव्वं० जाव दो भरणीओ ।

द्वे कृत्तिके नक्षत्रापेक्षया, न तु तारकाऽपेक्षया, इत्येवं सर्वत्रेति । " कत्तिय " इत्यादि गाथात्रयेण नक्षत्रसूत्रसंग्रहः ।

(३) कृत्तिकाऽऽदीनामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां क्रमेणाग्न्यादयोऽष्टाविंशतिरेव देवता भवन्ति । ता आह-

दो अग्गी, दो पयावई, दो सोमा, दो रुद्दा, दो अदिई, दो बहस्सई, दो सप्पा, दो पिई, दो भगा, दो अज्जमा, दो सविया, दो तट्ठा, दो वाऊ, दो इंदग्गी, दो मित्ता, दो इंदा, दो निरई, दो आऊ, दो विस्सा, दो बम्हा, दो विण्हू, दो वसू, दो वरुणा, दो अया, दो विविद्धी, दो पूसा, दो अस्सा, दो जमा ।

द्वावग्नी १, एवं प्रजापती २, सौमौ ३, रुद्रौ ४, अदिती ५, बृहस्पती ६, सर्पौ ७, पितरौ ८, भगौ ९, अर्यमणौ १०, सवितारौ ११, त्वष्टारौ १२, वायू १३, इन्द्राग्नी १४, मित्रौ १५, इन्द्रौ १६, निर्ऋती १७, आपः १८, विश्वौ १९, ब्रह्माणौ २०, विष्णू २१, वसू २२, वरुणौ २३, अजौ २४, विवृद्धी (२५) । ग्रन्थान्तरे अहिर्बुध्नाख्यौ २५ । पूषणौ २६, अश्विनौ २७, यमाविति २८ ।

ग्रन्थान्तरे पुनरश्विनीत आरभ्यैता एवमुक्ताः-

"अश्वियमदहनकमलज-शशिशूलभृददितिजीवफणिपितरः ।
योन्यर्यमदिनकृत्त्व-ष्टृपवनशक्राग्निमित्राऽऽख्याः ॥ १ ॥
ऐन्द्रो नैर्ऋतितोऽयं, विश्वौ ब्रह्मा हरिर्वसुर्वरुणः ।
अजपादोऽहिर्बुध्नः, पूषा चेतीश्वरा भानाम् " ॥ २ ॥

स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

(४) जंबुद्दीवे दीवे अभिईवज्जेहिं सत्तावीसाए णक्खत्तेहिं संववहारे वट्टति ।

जम्बूद्वीपे, न धातकीखण्डाऽऽदौ, अभिजिद्वर्जैः सप्तविंशत्या नक्षत्रैर्व्यवहारः प्रवर्तते, अभिजिन्नक्षत्रस्योत्तराषाढचतुर्थपादानुप्रवेशनादिति । स० २७ सम० ।

(५) केषु नक्षत्रेषु कानि कार्याणि गमनप्रस्थानाऽऽदीनि कर्त्तव्यानि-

पुस्सऽस्सिणि मिगसिर रे-वई य हत्थो तहेव चित्ता य ।
अणुराह जिट्ठ मूलो, नव णक्खत्ता गमणसिद्धा ॥११॥
मिगसिर महा य मूलो, विसाह तहचेव होइ अणुराहा ।
हत्थुत्तर रेवइ अ-स्सिणी य सवणे य णक्खत्ते ॥१२॥
एएसु य अद्धाणं, पत्थाणं ठाणयं च कायव्वं ।
जइ य गहत्थ न चिट्ठइ, संझामुक्कं च जइ होइ ॥१३॥
उप्पन्नजत्तपाणो, अद्धाणम्मि उ सया उ जो होइ ।
फलपुप्फवग्गुवेभो, गमो वि खेमेण सो एइ ॥ १४ ॥

सन्ध्यागताऽऽदीनि-

संझागयं रविगयं, विड्डेरं सग्गहं विलंबिं च ॥
राहुहयं गहभिन्नं, च वज्जए सत्त नक्खत्ते ॥ १५ ॥
अत्थमणे संझागय, रविगय जह पट्ठिओ उ आइच्चो ।
विड्डेरमविदारिय, सग्गह कूरग्गहठियं तु ॥ १६ ॥
आइच्चपिट्ठओ जं, विलंबि राहूहयं जहिं गहणं ।
मज्झेण गहो जस्स उ, गच्छइ तं होइ गहभिन्नं ॥१७॥
संझागयम्मि कलहो, होइ विवाओ विलंबि नक्खत्ते ।
विड्डेरे परविजओ, आइच्चगए अणिव्वाणि ॥ १८ ॥
जं सग्गहम्मि कीरइ, नक्खत्ते तत्थ निग्गहो होइ ।
राहुहयम्मि य मरणं, गहभिन्ने सोणिउग्गालो ॥ १९ ॥
संझागयं गहगयं, आइच्चगयं च दुब्बलं रिक्खं ।
संझाऽऽइच्चविमुक्कं, गहमुक्कं चेव बलियाइं ॥ २० ॥

(६) पादोपगमनलोचकर्माऽऽदीनि-

पुस्सो हत्थो अभिई य, अस्सिणी भरणी महा ।
एएसु य रिक्खेसु य, पाओवगमणं करे ॥ २१ ॥
सवणेण धणिट्ठाई, पुणव्वसू न वि करिज्ज निक्खमणं ।
सयभिसयस्स न बंभे, विज्जाऽऽरंभे पविचिज्जा ॥२२॥
हत्थाइ पंच रिक्खा, वत्थुस्स पसत्थगा विणिद्दिट्ठा ।
उत्तर तिन्नि धणिट्ठा, पुणव्वसू रोहिणी पुस्सो ॥२३॥ द० प० ।
पुणवसुणा पुस्सेणं, सवणेण धणिट्ठया ।
एएहिँ चउरिक्खेहिं, लोयकम्माणि कारए ॥ २५ ॥
द० प० । विशे० । व्य० । आ० म० । पं० व० ।

कत्तियाहि विसाहाहिं, मघाहिँ भरणीहि य ।
एएहिँ चउरिक्खेहिं, लोयकम्माणि वज्जए ॥ २६ ॥
तिहिँ उत्तराहिँ तह रो-हिणीहिँ कुज्जा उ सेहनिक्खमणं ।
सेहोवट्ठावणं कुज्जा, अणुन्ना गणिवायए ॥ २७ ॥
गणसंगहणं कुज्जा, गणहरं चेव ठावए ।
उग्गहं वसहिट्ठाणं, थावराणि पवत्तए ॥ २८ ॥

(७) स्वाध्यायाऽऽदिनक्षत्राणि क्षिप्रमृदुसंज्ञकानि-
पुस्सो य हत्थो अभिई, अस्सिणी य तहेव य ।
चत्तारि खिप्पकारीणि, विज्जाऽऽरंभेसु सोहणा ॥२९॥
विज्जाणं धारणं कुज्जा, बंभजोगे य साहए ।
सज्झायं च अणुन्नं च, उद्देसो य समुद्देसो ॥ ३० ॥
अणुराहा रेवई चेव, चित्ता मिगसिरं तहा ।
मिऊ णेयाणि चत्तारि, मिउकम्मं तेसु कारए ॥ ३१ ॥
भिक्खाचरणऽमत्ताणं, कुज्जा गहणधारणं ।
संगहोवग्गहं चेव, बालवुड्ढाण कारए ॥ ३२ ॥
(८) अद्दा अस्सेस जिट्ठा य, मूलो चेव चउत्थओ ।
गुरुणो कारए पडिमं, तवोकम्मं च कारए ॥ ३३ ॥
दिव्वमाणुस्सतेरिच्छ-उवसग्गेऽहियासए ।
गुरूसु चरणकरणं, उग्गहोवग्गहं करे ॥ ३४ ॥
महा भरणि पुव्वाणि, तिन्निओ य वियाहिया ।
एएसु य तवं कुज्जा, सब्भितरयबाहिरं ॥ ३५ ॥
तिन्नि सयाणि सट्ठाणि, तवोकम्मा य आहिया ।
उग्गनक्खत्तजोएसु, तेसुमन्नतरं करे ॥ ३६ ॥
कत्तिया य विसाहा य, उण्हा एयाणि दुन्निओ ।
लिंपणं सिंचणं कुज्जा, संचारग्गहधारणं ॥ ३७ ॥
उवगरणभंडमाईणं, विवायं चीवराण य ।
उवगरणं विजागं च, आयरियाणं च कारए ॥ ३८ ॥
धणिट्ठा सयभिसा साई, सवणो य पुणव्वसू ।
एएसु गुरुसुस्सूसं, चेइयाणं च पूयणं ॥ ३९ ॥
सज्झायकरणं कुज्जा, विज्जाऽऽरम्भे य कारए ।
वेओवट्ठावणं कुज्जा, अणुन्नं गणिवायए ॥ ४० ॥
गणसंगहणं कुज्जा, सेहनिक्खमणं तहा ।
संगहोवग्गहं कुज्जा, गणावच्छेइयं तहा ॥ ४१ ॥
बव१बालवं च२तह को-लवं च३तेत्तिलयं४गराइं च५ ।
वणियं६ विट्ठी७ य तहा, सुद्धपक्खिवए निसाईया ॥४२॥
सउणि चउप्पय नागं, किंतुग्घं च करणा धुवा हुंति ।
किण्हचउद्दसिरत्तिं, सउणी पडिवज्जए करणं ॥ ४३ ॥
काऊण तिहिं चि करणं, जम्हेगो साहए न पुण काले ।
सत्ताहि हरिज्ज भागं, जं सेसं तं भवे करणं ॥ ४४ ॥
द० प० । स० । स्था० । चं० प्र० ।

(९) ज्ञानवृद्धिकराणि नक्षत्राणि-
दस नक्खत्ता नाणवुड्ढिकरा पण्णत्ता । तं जहा-
"मिगसिर अद्दा पुस्सो, तिन्नि अ पुव्वाइ मूलमस्सेसा ।
हत्थो चित्ता य तहा, दस वुड्ढिकरा य नाणस्स" ॥१॥
स० १० सम० । द० प० ।

(१०) चन्द्रनक्षत्रयोगः-
ता कहं ते मुहुत्तग्गं आहिते ति वदेज्जा ?। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ते, जे णं णव मुहुत्ते,

सत्तावीसं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोयं जोएति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं पन्नरस मुहुत्ते णं चंदेण सद्धिं जोयं जोइंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं तीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोगं जोइंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं पणतालीसं मुहुत्ते णं चंदेण सद्धिं जोगं जोइंति । ता एएसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं कयरे णक्खत्ते, जे णं नव मुहुत्ते, सत्तावीसं च सत्तट्ठिभाए मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोयं जोएति ? । कयरे णक्खत्ता, जे णं पणरस मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोइंति ? । कयरे णक्खत्ता, जे णं तीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोगं जोइंति ? । कयरे णक्खत्ता, जे णं पणयालीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोइंति ?। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं तत्थ जे ते णक्खत्ते, जे णं णव मुहुत्ते, सत्तावीसं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोयं जोएति; से णं एगे अभिई। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं पन्नरस मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोइंति; ते णं छ। तं जहा-सतभिसया, भरणी, अद्दा, अस्सेसा, साती, जेट्ठा । तत्थ जे णं तीसं मुहुत्तं चंदेण सद्धिं जोगं जोइंति; ते पन्नरस । तं जहा-सवणो, धणिट्ठा, पुव्वाभद्दवता, रेवती, अस्सिणी, कत्तिया, मगसिरं, पुस्सो, महा, पुव्वाफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, अणुराहा, मूलो, पुव्वासाढा । तत्थ जे ते णक्खत्ता, ते णं पणतालीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोगं जोइंति, ते णं छ । तं जहा-उत्तराभद्दवता, रोहिणी, पुणव्वसू, उत्तराफग्गुणी, विसाहा, उत्तरासाढा ।

'ता' इति पूर्ववत्। कथं भगवन् ! प्रतिनक्षत्रं मुहूर्त्ताग्रं मुहूर्त्तपरिमाणमाख्यातमिति वदेत् ?। एवमुक्ते भगवानाह-"ता एएसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत्। एतेषामष्टाविंशतिनक्षत्राणां मध्ये, अस्ति नक्षत्रं, यन्नव मुहूर्त्तान्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिसप्तषष्टिभागान् चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति उपैति । तथाऽस्ति निपातत्वादव्ययत्वाद्वा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि पञ्चदश मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगमुपयान्ति । तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि त्रिंशतं मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगमश्नुवते। तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि पञ्चचत्वारिंशतं मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगं युञ्जन्ति। एवं सामान्येन भगवतोक्ते विशेषनिर्द्धारणार्थं भगवान् पृच्छति गौतमः-" ता एएसि णं " इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये, कतरद् नक्षत्रं, यन्नव मुहूर्त्तान्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिसप्तषष्टिभागान् यावच्चन्द्रेण सह योगं युनक्ति ?। तथा कतराणि तानि नक्षत्राणि, यानि पञ्चदश मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगं युञ्जन्ति ?। तथा कतराणि तानि नक्षत्राणि, यानि त्रिंशतं मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगमश्नुवते ?। तथा कतराणि तानि नक्षत्राणि, यानि पञ्चचत्वारिंशतं मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सार्द्धं योगमुपयान्ति ? । एवं गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह-" ता एएसि णं " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामष्टाविंशतिनक्षत्राणां मध्ये यन्नक्षत्रं नव मुहूर्त्तान्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिसप्तषष्टिभागान् यावच्चन्द्रेण सह योगं युनक्ति । तदेकमभिजिन्नक्षत्रमवसेयम् । कथमिति चेत् ?। उच्यते-इह अभिजिन्नक्षत्र सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रस्यैकविंशतिभागान् चन्द्रेण सह योगमुपैति । ते चैकविंशतिरपि भागा मुहूर्त्तगतभागकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि षट्शतानि त्रिंशदधिकानि ६३० । तथा चैतावान् कालमधिकृत्य सीमाविस्तारोऽभिजिन्नक्षत्रस्यान्यत्राप्युक्तः-"इक्कवीस सया तीसा, भागाणं अभिइ सीमविक्खंभो । दिट्ठो सव्वदरिसीहिं, सव्वेहिंऽणंतनाणीहिं ॥ १ ॥ " तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा नव मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागाः । ९ । २७/६७ । उक्तं च-" अभिइस्स चंदजोगो, सत्तट्ठी खंडिओ अहोरत्तो । भागा य एगवीसं, ते पुण अहिया नव मुहुत्ता " ॥ १ ॥ तथा " तत्थ " इत्यादि । तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि पञ्चदश मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगमश्नुवते, तानि षट् । तद्यथा- " सतभिसया " इत्यादि । तथाहि-एतेषां षण्णामपि नक्षत्राणां प्रत्येकं सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रस्य सत्कान् सार्द्धान् त्रयस्त्रिंशद्भागान् यावच्चन्द्रेण सह योगो भवति, ततो मुहूर्त्तगतसप्तषष्टिभागकरणार्थं त्रयस्त्रिंशत् त्रिंशता गुण्यते, जातानि नवशतानि नवत्यधिकानि ९९० । यदपि सार्द्धं, तदपि त्रिंशता गुणयित्वा द्विकेन भज्यते, लब्धाः पञ्चदश मुहूर्त्तस्य सप्तषष्टिभागाः, ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातं पूर्वराशिसहस्रं पञ्चोत्तरम् १००५ । तथा चैतेषां प्रत्येकं कालमधिकृत्य सीमाविस्तारो मुहूर्त्तगतसप्तषष्टिभागानां पञ्चोत्तरं सहस्रमुक्तः-"सयभिसया भरणीए, अद्दा अस्सेस साइ जिट्ठा य । पंचोत्तरं सहस्सं, भागाणं सीमविक्खंभो ॥१॥ " अस्य पञ्चोत्तरसहस्रस्य सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धाः पञ्चदश मुहूर्त्ताः। उक्तं च-"सयभिसया भरणीओ, अद्दा अस्सेस साइ जिट्ठा य । एए छ नक्खत्ता, पन्नरस मुहुत्तसंजोगा ॥ १ ॥ " तथा-तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि त्रिंशतं मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगं युञ्जन्ति, तानि पञ्चदश । तद्यथा-" सवणो " इत्यादि । तथाहि-एतेषां कालमधिकृत्य प्रत्येकं सीमाविष्कम्भो मुहूर्त्तगतसप्तषष्टिभागानां दशोत्तरे द्वे सहस्रे २०१० । ततस्तयोः सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रिंशन्मुहूर्त्ताः । तथा-तत्र यानि नक्षत्राणि पञ्चचत्वारिंशतं मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सार्द्धं योगं युञ्जन्ति, तानि षट् । तद्यथा-उत्तरभाद्रपदा इत्यादि । तेषां हि प्रत्येकं कालमधिकृत्य सीमाविष्कम्भो मुहूर्त्तगतसप्तषष्टिभागानां त्रीणि सहस्राणि पञ्चदशोत्तराणि ३०१५ । ततस्तेषां सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धाः पञ्चचत्वारिंशदेव मुहूर्त्ता लभ्यन्ते ।

उक्तं च-

" तिन्नेव उत्तराइं, पुणव्वसू रोहिणी विसाहा य ।
एए छ नक्खत्ता, पणयालमुहुत्तसंजोगा ॥ १ ॥
अवसेसा नक्खत्ता, पनरसए हुंति तीसइमुहुत्ता ।
चंदम्मि एस जोगो, नक्खत्ताणं समक्खाओ ॥ २ ॥ "
तदेवमुक्तो नक्षत्राणां चन्द्रेण सह योगः ।

(११) संप्रति सूर्येण सह तमभिधित्सुराह-

ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ते, जे णं चत्तारि अहोरत्ते छच्च मुहुत्ते णं सूरेण सद्धिं

जोयं जोएति । अत्थि णक्खत्ता, जे णं छ अहोरत्ते एगवीसं च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति । अत्थि णक्खत्ता, जे णं तेरस अहोरत्ते बारस य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति । अत्थि णक्खत्ता, जे णं वीसं अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति । ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं कतरे णक्खत्ते, जं चत्तारि अहोरत्ते छच्च मुहुत्ते णं सूरेण सद्धिं जोयं जोएति ?। कतरे णक्खत्ता, जे णं छ अहोरत्ते एगवीसं च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति ?। कतरे णक्खत्ता, जे णं तेरस अहोरत्ते बारस य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति ? । कतरे णक्खत्ता, जे णं वीसं अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति । ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं, तत्थ जे से णक्खत्ते, जे णं चत्तारि अहोरत्ते छ च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएति, से णं एगे अभिई । तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं छ अहोरत्ते एगवीसं च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति, ते णं छ । तं जहा-सताभिसया, भरणी, अद्दा, असेसा, साती, जेट्ठा । तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं तेरस अहोरत्ते दुवालस य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति, ते णं पण्णरस । तं जहा-सवणो, धणिट्ठा, पुव्वभद्दवता, रेवती, अस्सिणी, कत्तिया, मगसिरं, पुस्सो, महा, पुव्वाफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, अणुराधा, मूलो, पुव्वासाढा । तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं वीसं अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति, ते णं छ । तं जहा-उत्तराभद्दवता, रोहिणी, पुणव्वसू, उत्तराफग्गुणी, विसाहा, उत्तरासाढा ।

"ता एतेसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामनन्तरोदितानामष्टाविंशतिनक्षत्राणां मध्ये अस्ति तन्नक्षत्रं, यच्चतुरो अहोरात्रान् षट् च मुहूर्त्तान् यावत्सूर्येण सार्द्धं योगमुपैति । तथाऽस्तीति सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि षडहोरात्रानेकविंशतिं च मुहूर्त्तान् सूर्येण सार्द्धं योगं युञ्जन्ति । तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि त्रयोदश अहोरात्रान्, द्वादश च मुहूर्त्तान् यावत्सूर्येण सह योगमुपयान्ति । तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि विंशतिमहोरात्रान् त्रीन् मुहूर्त्तान् यावत्सूर्येण समं योगं युञ्जन्ति । एवं भगवता सामान्येनोक्ते विशेषावगमनिमित्तं भूयोऽपि भगवान् गौतमः पृच्छति-"ता एतेसि णं" इत्यादि सुगमम् । भगवान् निर्वचनमाह-"ता एतेसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यन्नक्षत्रं चतुरो अहोरात्रान् षट् च मुहूर्त्तान् सूर्येण सार्द्धं योगं युनक्ति, तदेकमभिजिन्नक्षत्रमवसेयम् ।

तथाहि-सूर्ययोगविषयं पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शितमिदं करणम्-

" जं रिक्खं जावइए, वच्चइ चंदेण भाग सत्तट्ठी ।
तं पणभागे राइं-दियस्स सूरेण तावइए " ॥ १ ॥

अस्या अक्षरगमनिका-यत् ऋक्षं नक्षत्रं यावतो रात्रिन्दिवस्याहोरात्रस्य सम्बन्धिनः सप्तषष्टिभागान् चन्द्रेण सह योगं व्रजति, तन्नक्षत्रं रात्रिन्दिवस्य पञ्च भागान् तावतः सूर्येण समं व्रजति । तत्राभिजिदेकविंशतिसप्तषष्टिभागान् चन्द्रेण समं वर्त्तते, तत एतावतः पञ्चभागानहोरात्रस्य सूर्येण समं वर्त्तमानमवसेयम् । एकविंशतिश्च पञ्चभिर्भागे हृते लब्धाश्चत्वारोऽहोरात्राः, एकः पञ्चमो भागोऽवतिष्ठते, स मुहूर्त्ताऽऽनयनाय त्रिंशता गुण्यते, जाता त्रिंशत्, तस्याः पञ्चभिर्भागे हृते लब्धाः षण्मुहूर्त्ता इति ।

उक्तं च-

" अभिई छ च मुहुत्ते, चत्तारि य केवले अहोरत्ते ।
सूरेण समं वच्चइ, इत्तो सेसाण वुच्छामि ॥ १ ॥ "

तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि षडहोरात्रानेकविंशतिं च मुहूर्त्तान् यावत् सूर्येण समं योगमुपयान्ति । तानि षट् । तद्यथा-"सयभिसया" इत्यादि । तथा हि-एतानि नक्षत्राणि प्रत्येकं चन्द्रेण समं सार्द्धान् त्रयस्त्रिंशत्संख्याकान् सप्तषष्टिभागानहोरात्रस्य व्रजन्ति, अपार्द्धत्रयस्त्रिंशदेतेषाम्, तत एतावतः पञ्चभागानहोरात्रस्य सूर्येण समं व्रजन्तीति प्रत्येतव्यं, प्रागुक्तकरणप्रामाण्यात् । त्रयस्त्रिंशतश्च पञ्चभिर्भागे हृते लब्धाः षडहोरात्राः, पश्चादवतिष्ठन्ते सार्द्धास्त्रयः पञ्चभागाः, ते सवर्णनायां जाताः सप्त, मुहूर्त्ताऽऽनयनाय त्रिंशता गुण्यन्ते, जाते द्वे शते दशोत्तरे २१० । एते च मुहूर्त्तार्द्धगते, ततः परिपूर्णमुहूर्त्ताऽऽनयनाय दशभिर्भागो ह्रियते, लब्धा एकविंशतिर्मुहूर्त्ताः । उक्तं च-" सयभिसया भरणीओ, अद्दा अस्सेस साइ जिट्ठा य । वच्चंति मुहुत्ते इग-वीसं छ च्चेवऽहोरत्ते ॥१॥ "

तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि त्रयोदश अहोरात्रान् द्वादश मुहूर्त्तान् यावत् सूर्येण समं योगं युञ्जन्ति, व्रजन्तीति पाठान्तरे । तानि पञ्चदश । तद्यथा-"सवणो" इत्यादि । तथाहि-अमूनि परिपूर्णान् सप्तषष्टिभागान् चन्द्रेण समं व्रजन्ति, ततः सूर्येण सह एतानि पञ्चभागानप्यहोरात्रस्य सप्तषष्टिसंख्यान् गच्छन्ति । सप्तषष्टेश्च पञ्चभिर्भागे हृते लब्धास्त्रयोदश अहोरात्राः, शेषौ च द्वौ भागौ तिष्ठतः, तौ त्रिंशता गुण्येते, जाता षष्टिः, तस्याः पञ्चभिर्भागे हृते लब्धा द्वादश मुहूर्त्ताः । उक्तं च-"अवसेसा नक्खत्ता, पनरस वि सूरसहगया जंति । बारस चेव मुहुत्ते, तेरस य समे अहोरत्ते" ॥१॥ तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि विंशतिमहोरात्रान् त्रीन् मुहूर्त्तान् यावत्सूर्येण समं योगमश्नुवते, तानि षट् । तद्यथा-"उत्तरभद्दवया" इत्यादि । एतानि हि षडपि नक्षत्राणि प्रत्येकं चन्द्रेण समं सप्तषष्टिभागानां, शतमेकस्य च सप्तषष्टिभागस्यार्द्धं व्रजन्ति । तत एतावतः पञ्च भागान् अहोरात्रस्य सूर्येण समं व्रजन्तीत्येवमवगन्तव्यम्, शतस्य च पञ्चभिर्भागे हृते लब्धा विंशतिरहोरात्राः । यदपि चैकस्य पञ्चभागस्यार्द्धमुद्वरति, तदपि त्रिंशता गुण्यते, जाता त्रिंशत्, तस्या दशभिर्भागे हृते लब्धास्त्रयो मुहूर्त्ताः । सू० प्र० १० पाहु० २ पाहु० । ज्यो० ।

(१२) नक्षत्राणामादानविसर्गपरिज्ञाननिमित्तं निरूपणम्-

एएसिं रिक्खाणं, आयाणविसग्गजाणणाकरणं ।
चंदम्मि य सूरम्मि य, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

एतेषामनन्तरोदितानां नक्षत्राणामष्टाविंशतिसंख्यानाम्, आदानविसर्गज्ञानकरणमादानविसर्गपरिज्ञाननिमित्तम् । तत्र विवक्षिते दिने चन्द्रेण सूर्येण वा सह वर्त्तते यन्नक्षत्रं, तस्य किल चन्द्रेण सूर्येण वा कृतः परिग्रह इत्यादानम् । पाश्चात्यानि नक्षत्राणि गतानि, तानि किल मुक्तानि, परित्यक्तानि, तेषां परित्यागो विसर्गः । तयोः परिज्ञानं-केन नक्षत्रेण सह चन्द्रस्य सूर्यस्य वा

योगो वर्तते ?, कानि च प्रागतीतानि ?, इति सम्यग् ज्ञानं, तन्निमित्तं करणं, चन्द्रे सूर्ये च प्रत्येकं यथाऽनुपूर्व्या क्रमेण वक्ष्यामि । तत्र यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात् प्रथमतः चन्द्रविषयं करणमाह–

पव्वं पन्नरसगुणं, तिहिसहियं ओमरत्तपरिहीणं ।
बासीइए विभत्ते, लद्धे अंसे वियाणाहि ॥
जं हवइ भागलद्धं, कापव्वं तं चउग्गुणं णियमा ।
अभिइस्स एक्कवीसा, जागे सोहेहि लद्धम्मि ॥
सेसाणं रासीणं, सत्तावीसा तु मंडला सोज्झा ।
अभिइस्स सोहणाऽसं–जवे तु इणमो विही होइ ॥
सेसाओ रासीओ, रूवं घेत्तूण सत्तसट्ठि काऊणं ।
पक्खिव लद्धेसु पुणो, अभिजिइ सोहेउ पुव्वकमा ॥
पंच दस तेरसऽट्ठा–रसे य बावीस सत्तवीसा य ।
सोज्झा दिवड्ढखेत्तं, तं जइवई असाढंता ॥
एयाणि सोहइत्ता, जं सेसं तं हविज्ज नक्खत्तं ।
सोज्झा तीसगुणाओ, सत्तट्ठिहते मुहुत्ताओ ॥

यस्मिन् दिने चन्द्रेण सह युक्तं नक्षत्रं ज्ञातुमिष्यते, तस्माद् दिनात् प्राक् यानि पर्वाणि युगमध्येऽतीतानि, तानि संख्यया परिज्ञाय तत्संख्या ध्रियते । सूत्रे च पर्वसंख्याऽप्युपचारात् पर्वत्यभिहिता । पर्व पञ्चदशतिथ्यात्मकम्, अतस्तत् पञ्चदशभिर्गुण्यते, गुणयित्वा च तेषां पर्वणामुपरि विवक्षितायास्तिथेर्याः प्रागतीतास्तिथयः, ताभिः सहितं संयुक्तं पञ्चदशगुणनाऽनन्तरं पर्वोपरिवर्तिन्योऽतीतास्तिथयो मध्ये प्रक्षिप्यन्त इति । ततो येऽवमरात्रा अतिक्रान्तेषु पर्वसु गताः, तैः परिहीणं क्रियते, ततोऽपनीयत इत्यर्थः । ततो द्व्यशीत्या भागो ह्रियते । तत्र भागे हृते यल्लब्धं, ये चांशा अवतिष्ठमानाः, तदेतत्सर्वं विजानीहि, बुद्ध्या सम्यगवधारयेति भावः । लब्धं चोपरि स्थापय, अंशांश्चाऽधस्तात्, लब्धश्च राशिरिति व्यवह्रियते, अंशाश्च शेषो राशिरिति ॥ तत्र यद् भवति वर्तते भागलब्धं, तद् नियमाच्चतुर्गुणं कर्तव्यं, कृते च सति लब्धरूपात् राशेरभिजितो नक्षत्रस्य सम्बन्धिन एकविंशतिभागान् शोधय ॥ शेषाणां तु राशीनामधस्तनस्थानवर्तिनां मध्यात्सप्तविंशतिसंख्यं नक्षत्रमण्डलं शोध्यं, सप्तविंशतिः शोध्या इत्यर्थः ॥ अथोपरितनो राशिः स्तोकतया एकविंशतिरूपं शोधनं न सहते, तत आह–"सेसाओ" इत्यादि । शेषात् अधस्तनरूपात् राशेरेकं रूपं गृहीत्वा सप्तषष्टिभागीक्रियते, कृत्वा च पुनस्ते सप्तषष्टिभागा लब्धेषु लब्धराशिमध्ये प्रक्षिपेत् । प्रक्षिप्य च ततोऽभिजिदष्टादशनक्षत्रसंबन्धिनेकविंशतिभागान्, पूर्वक्रमात् पूर्वक्रमानुसारेण शोधय ॥ शोधयित्वा च पञ्चदशत्रयोदशाष्टादशद्वाविंशतिसप्तविंशतिरूपान् शोध्यान् द्व्यर्द्धक्षेत्रान् द्व्यर्द्धक्षेत्रपर्यन्तसूचकान्, तानपि शोधय । एतदेव व्यक्तमाचष्टे–भाद्रपदाऽऽदीन् आषाढान्तान्, उत्तरभाद्रपदान्, उत्तराषाढापर्यन्तसूचकानित्यर्थः । तथाहि–पञ्चकं श्रवणादारभ्योत्तरभाद्रपदारूपद्व्यर्द्धक्षेत्रपर्यन्तसूचकः । दशको रोहिणीरूपद्व्यर्द्धक्षेत्रसीमासूचकः । त्रयोदशकः पुनर्वसुरूपद्व्यर्द्धक्षेत्रपर्यन्तव्यापकः । अष्टादशक उत्तरफाल्गुनीरूपद्व्यर्द्धक्षेत्रसीमापरिज्ञापकः । द्वाविंशतिर्विशाखारूपद्व्यर्द्धक्षेत्रसीमासूचिकेत्यर्थः । सप्तविंशतिरुत्तराषाढारूपद्व्यर्द्धक्षेत्रसीमासूचकः । शोधितेषु चामूषु तदुपरितनेषु यदस्ति तत् त्रिंशता गुणयित्वा, सप्तषष्ट्या भागे हृते ये लब्धास्ते मुहूर्ता ज्ञातव्याः । तत्राप्यवशेषांशा मुहूर्तस्य सप्तषष्टिभागा अवसेया इति करणगाथाक्षरार्थः ।

संप्रति भावना क्रियते–

युगस्य प्रथमे संवत्सरे दशसु पर्वसु गतेषु पञ्चम्यां केन नक्षत्रेण सह योक्तव्यम् ?, इति जिज्ञासायां पर्वसंख्या दशको ध्रियते, ते च दश पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातं पञ्चाशदधिकं शतम् १५० । पञ्चम्यां च नक्षत्रेण सह चन्द्रस्य योगो ज्ञातुमिष्ट इति दशानां पर्वणामुपरितनास्तिथयोऽतिक्रान्ताः, ताः प्रक्षिप्यन्ते, जातं चतुष्पञ्चाशदधिकं शतम् १५४ । दशसु पर्वसु द्वाववमरात्रौ, ततस्तौ तस्मात्पात्येते, जातं द्विपञ्चाशदधिकं शतम् १५२ । तस्य द्व्यशीत्या भागो ह्रियते, लब्धमेकं रूपं, तच्च उपरि न्यस्यते, न्यस्य च चतुर्भिर्गुण्यते, जाताश्चत्वारः ४ । शेषं चाधस्तात्तिष्ठति सप्ततिः । तत्रोपरितनो राशिः स्तोकत्वादेकविंशतिरूपं शोधनं न सहते, ततः सप्ततेरेकं रूपं गृहीत्वा सप्तषष्टिखण्डीक्रियन्ते ते च सप्तषष्टिभागा उपरितनराशिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते जात उपरितनो राशिरेकसप्ततिः ७१ । अधस्तादेकोनसप्ततिः ६९ । तत उपरितनराशेरभिजित एकविंशतिः शोध्यते, अधस्तनराशेश्च नक्षत्रमण्डलं सप्तविंशतिः, तत उपरि पञ्चाशत् जाताः ५० । अधस्ताद् द्विचत्वारिंशज्जाताः ४२ । ततः पुनरप्युपरितनराशेरेकविंशतिः शुद्धाः, अधस्ताच्च सप्तविंशतिः । तत उपरि एकोनत्रिंशत् २९ जाताः, अधस्तात् पञ्चदश १५ । ततो भूयोऽप्युपरितनराशेरभिजित एकविंशतिः शोध्यते ८ । अधस्ताच्च पञ्चदशसु त्रयोदशकमष्टकस्थानं पुनर्वसुनक्षत्रपर्यन्तस्तवकम्, अतः पुनर्वसुपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि । शेषौ द्वौ तिष्ठतः । तस्य द्वे नक्षत्रे शुद्धे । तद्यथा–पुष्यः, आश्लेषा च । उपरि च तिष्ठन्त्यष्टौ । ते त्रिंशता गुण्यन्ते, जाते द्वे शते चत्वारिंशदधिके २४० । तयोः सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रयो मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः । एकस्य च मुहूर्तस्य सत्केष्वेकोनचत्वारिंशत्संख्येषु सप्तषष्ट्या भागेषु चन्द्रेण भुक्तेषु पञ्चम्यां सूर्य उदित इति ॥ तथा युगे प्रथमदिवसे प्रतिपदि केन नक्षत्रेण सह युक्तश्चन्द्रः ?, इति चिन्तायां पाश्चात्ययुगपर्वसंख्या ध्रियते चतुर्विंशं शतं १२४ । ततः पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातानि षष्ट्यधिकान्यष्टादशशतानि १८६० । युगे च त्रिंशदवमरात्रा इति तेभ्यस्त्रिंशत्पात्यते, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । तेषां द्व्यशीत्या भागो ह्रियते, लब्धा द्वाविंशतिः । सा उपरि न्यस्यते, न्यस्य च चतुर्भिर्गुण्यते, जाता अष्टाशीतिः । शेषमधस्तात्तिष्ठति षड्विंशतिः २६ । तत्रोपरितनराशेरेकविंशतिरभिजितः शोध्यते, स्थिता पश्चात् सप्तषष्टिः ६७ । तथा च किलैकं नक्षत्रं लभ्यते । अधस्ताच्च षड्विंशतिरिति सर्वसंकलनया सप्तविंशतिरपि नक्षत्राण्युत्तराऽषाढापर्यन्तानि शुद्धानि । तत आगतमुदयसमये एवाभिजिन्नक्षत्रं चन्द्रेण सह योगमुपयातीति ॥ तथा युगे द्वितीयेऽहोरात्रे द्वितीयायां केन नक्षत्रेण सह युक्तश्चन्द्रः ?, इति चिन्तायां पाश्चात्या तिथिरतिक्रान्ता प्रतिपल्लक्षणा, तत्संख्या एकको ध्रियते, स द्व्यशीत्या भागं न सहते, ततः सप्तषष्टिभागीक्रियते, तस्मादेकविंशतिरभिजितः शोध्यते, स्थिता पश्चात् षट्चत्वारिंशत् ४६ । सा मुहूर्तकरणार्थम् ३० त्रिंशता गुण्यते । जातानि त्रयोदशशतान्यशीत्यधिकानि

१३७० । तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा मुहूर्त्ता विंशतिः २० । स्थिताः पश्चात् चत्वारिंशत् ४० । आगतं श्रवणनक्षत्रं विंशतिमुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु चन्द्रेण भुक्तेषु युगे द्वितीये अहोरात्रे द्वितीयायां सूर्यं उदयते । एवं सर्वत्रापि भावनीयम् । ज्यो० ए पाहु० ।

[१३] पव्वं पन्नरसगुणं, तिहिसहियं ओमरत्तपरिहीणं ।
तिहि उत्तहत्तएहिं, भागे सेसम्मि सोहणगं ॥

युगमध्ये विवक्षिताद् दिनात् प्राक् यानि पर्वाणि अतीतानि, तत्संख्या स्थाप्यते, स्थापयित्वा च पञ्चदशभिर्गुण्यते, ततो विवक्षिताद् दिनात् प्राक् पर्वणामुपरि यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्ताभिः सहिता क्रियते । ततस्तदनन्तरमधिकृताद् दिनादर्वाग् ये गता अवमरात्राः, तैः परिहीना क्रियते, ते ततः पात्यन्त इत्यर्थः । ततः शेषस्य त्रिभिः शतैः षट्षष्ट्यधिकैर्विभजेत भागं हरेत्, भागे च हृते यत् शेषं, तस्मिन् शेषे, शोधनकं वक्ष्यमाणस्वरूपं कुर्यात् ।

तत्र यस्मिन् शोधनके शुद्धे यन्नक्षत्रं शुद्धं भवति, तदेतान्निरूपयन्नाह–

चउवीसं च मुहुत्ता, अट्ठेव य केवला अहोरत्ता ।
एए पुस्से सेसा, एत्तो सेसाण वोच्छामि ॥

चतुर्विंशतिर्मुहूर्त्ताः, अष्टौ च केवलाः परिपूर्णा अहोरात्राः एते एतावन्तो मुहूर्त्ताः, अहोरात्राश्च पुष्ये पुष्यनक्षत्रे, शोध्याः । किमुक्तं भवति ?–एतेषु शोधितेषु पुष्यनक्षत्रं शोधितं भवति । अत ऊर्ध्वं शेषाणां नक्षत्राणां शोधनकानि वक्ष्ये ।

तानि च क्रमेण आह–

राइंदिया विसट्ठी, य मुहुत्ता बारमुत्तरा मुच्छा ।
सोलससयं विसाहा, वीसंदेवा य तेसीयं ॥

द्वाषष्टिर्द्वाषष्टिसंख्यानि, रात्रिन्दिवानि, द्वादश च मुहूर्त्ताः, एतावति शोधिते उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं शुद्धं भवति । तथा षोडशशतं षोडशाधिकं शतं, विशाखा विशाखापर्यन्तसूचकं, ततस्तस्मिन् शोधिते विशाखाऽन्तानि नक्षत्राणि शोधितानि भवन्तीति भावः । तथा त्र्यशीतं त्र्यशीत्यधिकं शतं, विश्वग्देवा विश्वग्देवाधिपतिरुत्तराषाढा इत्यर्थः । अत्राऽयं भावार्थः– त्र्यशीत्यधिकं शतमुत्तराषाढापर्यन्तसूचकमिति ।

दो चउपन्ने उच्चे–व मुहुत्ता उत्तरा उ पोट्ठवया ।
तिण्णेव एक्कवीसा, छच्च मुहुत्ता उ रोहिणिया ॥

द्वे शते चतुष्पञ्चाशे चतुष्पञ्चाशदधिके, षट् च मुहूर्त्ताः, उत्तराप्रोष्ठपदा–उत्तराभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदपर्यन्तसूचका इत्यर्थः । ततस्त्रीणि शतान्येकविंशत्यधिकानि, षट् च मुहूर्त्ताः, रोहिणी–रोहिणीसूचका इति योगः ।

तिन्नेगट्ठा बारस, य मुहुत्ता सोधणं पुणव्वसुणो ।
जं सोहणं न गच्छइ, नक्खत्तं तं तु सूरगयं ॥

त्रीणि शतान्येकषष्ट्यधिकानि द्वादश मुहूर्त्ताः, एतावत् शोधनकं पुनर्वसोः पुनर्वसुनक्षत्रस्य । एतानि च शोधकानि पुष्यं मुक्त्वा शेषाणि द्व्यर्द्धक्षेत्रपर्यन्तानामुक्तानि । तत एतेषामपान्तराले यानि नक्षत्राणि, तान्यात्मीयेन प्रमाणेन शोध्यन्ते । तद्यथा–अर्द्धक्षेत्राणि षड्भिरहोरात्रैरेकविंशत्या च मुहूर्त्तैः; समक्षेत्राणि त्रयोदशभिर्दिनैर्द्वादशभिश्च मुहूर्त्तैः; द्व्यर्द्धक्षेत्राणि विंशत्या दिनैस्त्रिभिश्च मुहूर्त्तैरिति । यत्पुनरुद्धरितं शोधनं न गच्छति, तन्नक्षत्रं सूर्यगतमवसेयम् । याऽपि राशिः स्तोकतया षट्षष्ट्यधिकशतत्रयभागं न सहते, तत्रापि यथायोगं शोधनं कर्त्तव्यम् । उक्तं करणम् ।

सम्प्रत्येतद्विषया भावना क्रियते–

युगस्य प्रथमे संवत्सरे चान्द्रे दशसु पर्वस्वतिक्रान्तेषु पञ्चम्यां केन नक्षत्रेण सह योगो दिवसाधिपतेः ?, इति चिन्तायां पर्वसंख्या दश ध्रियते, ततः पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातं पञ्चाशदधिकं शतम् १५० । दशानां च पर्वणामुपरि पञ्चम्याः प्राक् तिथयोऽतिक्रान्ताश्चतस्रः, ततस्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातं चतुःपञ्चाशदधिकं शतम् १५४ । दशसु च पर्वसु द्वाववमरात्रौ । ततस्तौ तस्मात् पात्येते, जातं द्विपञ्चाशदधिकं शतम् १५२ । अयं च राशिः षट्षष्ट्यधिकं शतत्रयभागं न सहते, ततो यथासंभवं शोधनकं कर्त्तव्यम् । तत्र षोडशाधिकेन शतेन विशाखाऽन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, शेषाणि षट्त्रिंशत् । ततोऽनुराधा त्रयोदशभिरहोरात्रैर्द्वादशभिर्मुहूर्त्तैः शुद्धा, शेषास्तिष्ठन्ति द्वाविंशतिर्दिवसाः, अष्टादश च मुहूर्त्ताः । पुनः षड्भिर्दिवसैरेकविंशत्या च मुहूर्त्तैर्ज्येष्ठा शुद्धा, शेषाः पञ्चदश दिवसाः सप्तविंशतिर्मुहूर्त्ता अवतिष्ठन्ते । तेभ्यस्त्रयोदशभिर्दिवसैर्द्वादशभिश्च मुहूर्त्तैर्मूलनक्षत्रं शुद्धं, शेषौ द्वौ दिवसौ, पञ्चदश मुहूर्त्तास्तिष्ठन्ति । एतावान् कालः पर्वदशकातिक्रमे पञ्चम्यां पूर्वाषाढाप्रविष्टस्य सूर्यस्याभूत् ॥ तथा युगस्य प्रथमसंवत्सरपर्यन्ते केन नक्षत्रेण सह समेतो भास्करः ?, इति चिन्तायां प्रथमसंवत्सरे पर्वाणि चतुर्विंशतिः, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि ३६० । संवत्सरे च षडवमरात्रा इति षट् तेभ्यः पात्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि ३५४ । अत्रापि त्रिभिः शतैः षट्षष्ट्यधिकैर्भागो न पूर्यते, ततो यथासंभवं शोधनं कर्त्तव्यम् । तत्र त्रिभिः शतैरेकविंशत्याऽधिकैः षड्भिश्च मुहूर्त्तै रोहिण्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, शेषास्तिष्ठन्ति द्वात्रिंशदहोरात्राश्चतुर्विंशतिश्च मुहूर्त्ताः । तेभ्योऽपि त्रयोदशभिर्दिवसैर्द्वादशभिश्च मुहूर्त्तैर्मृगशिरो नक्षत्रं, शेषा अवतिष्ठन्ते एकोनविंशतिरहोरात्राः, द्वादश च मुहूर्त्ताः । तेभ्योऽपि षड्भिर्दिवसैरेकविंशत्या च मुहूर्त्तैरार्द्रा नक्षत्रं शुद्धं, शेषास्तिष्ठन्ति द्वादश दिवसाः, एकविंशतिर्मुहूर्त्ताः । एतावान् कालस्तदानीं पुनर्वसुनक्षत्रप्रविष्टस्य सूर्यस्याभवत् । इह यन्नक्षत्रमहोरात्रं कालं यावच्चन्द्रेण सह योगमपारूढं वर्त्तते, तस्य सूर्येण सह यावन्तं कालं योगः, तस्य त्रिंशत्तमभागप्रमाण एकः सूर्यमुहूर्त्तः । एवं त्रयोदश मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य किञ्चित्समधिकाः सार्द्धास्त्रिपञ्चाशद्भागाः । एवंप्रमाणा मुहूर्त्ता अर्द्धक्षेत्राणां पञ्चदश, समक्षेत्राणां त्रिंशत्, द्व्यर्द्धक्षेत्राणां पञ्चचत्वारिंशत् । तत्र द्वादशभिर्दिनैरेकविंशत्या च मुहूर्त्तैर्ये चतुष्पञ्चाशदधिकशतत्रयस्योपरि द्वादश द्वाषष्टिभागाश्चन्द्रसंवत्सरसत्काः, ते चाष्टाविंशतिसंख्याः किञ्चित्समधिकाः सूर्यमुहूर्त्ता भवन्ति, शेषास्तु किञ्चित्समधिकाः । एवंप्रमाणाः सूर्यमुहूर्त्ताः षोडश तिष्ठन्ति । तदुच्यते सूर्यप्रज्ञप्तौ–" जे णं दोच्चस्स चंदसंवच्छरस्स आई, से णं पढमस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे, अणंतरपच्छाकडे समए । तं समयं च णं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएइ, जोएत्ता उत्तराहिं आसाढाहिं उत्तराणं आसाढाणं छव्वीसं मुहुत्ता, छ-

इक्कवीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स,बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता चउप्पण्णं चुण्णिया भागा सेसा। तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएइ, जोइत्ता पुणव्वसुस्स सोलस मुहुत्ता अट्ठ य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता वीसं चुण्णिया भागा सेसा " इति ।

संप्रति पञ्चाशदधिकेन शतेन भागे हृते लब्धाः पञ्चाहोरात्राः, शेषं तिष्ठति पञ्चोत्तरं शतं, ततो मुहूर्त्ताऽऽनयनाय छेदराशेरर्द्धक्षेत्राऽऽदीनां नक्षत्राणां कालपरिमाणज्ञानार्थं करणमाह-

नक्खत्तचंदजोगे, नियमा सत्तट्ठिए समुप्पन्ने ।
पणएण सएण भए, लद्धई सूरस्स सो जोगो ॥

नक्षत्राणां यावत्प्रमाणो योगः सप्तषष्ट्या नियमानिश्चयेन, प्रत्युत्पद्यते इत्यर्थः तस्मिन् चन्द्रनक्षत्रयोगे सप्तषष्ट्या प्रत्युत्पन्ने पञ्चाशेन पञ्चाशदधिकेन शतेन भजेत् भागहारं कुर्यात्, भागे हृते यद् लब्धं, स तावत्कालप्रमाणः सूर्यस्य योगः ।

इयमत्र भावना-कोऽपि पृच्छति-यस्मिन् क्षेत्रे पञ्चदश मुहूर्त्तानवतिष्ठते चन्द्रः,तत्र सूर्यः कियन्तं कालमवस्थानं करोति ?। तत्र पञ्चदश सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जातं पञ्चोत्तरं सहस्रम् १००५। तस्य पञ्चाशदधिकशतरूपस्य त्रिंशता भागहरणं, लब्धाः पञ्च, तेन पञ्चोत्तरशतस्य भागे हृते लब्धा एकविंशतिर्मुहूर्त्ताः। एतावानर्द्धक्षेत्राणां प्रत्येकं सूर्येण समं योगः । तथा समक्षेत्राणां त्रिंशन्मुहूर्त्ताश्चन्द्रयोगपरिमाणं, ततस्त्रिंशत्सप्तषष्ट्या गुण्यते, जाते द्वे सहस्रे दशोत्तरे २०१० । तेषां पञ्चाशदधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धाः त्रयोदश अहोरात्राः, शेषास्तिष्ठन्ति षष्टिः, ततो मुहूर्त्ताऽऽनयनात् छेदराशेस्त्रिंशता भागहरणं, स्थिताः पञ्च, तैः षष्टेर्भागो ह्रियते, लब्धा द्वादश मुहूर्त्ताः, एतावान् समक्षेत्राणां प्रत्येकं सूर्येण सह योगः। तथा द्व्यर्द्धक्षेत्राणां पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्ताश्चन्द्रयोगः पञ्चचत्वारिंशत्सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातानि त्रीणि सहस्राणि पञ्चदशोत्तराणि ३०१५। तेषां पञ्चाशदधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धा विंशतिरहोरात्राः, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चदश, ततो मुहूर्त्ताऽऽनयनाय छेदराशेस्त्रिंशता भागहरणं, स्थिताः पञ्च, तथा दशानां भागे हृते लब्धास्त्रयः पञ्च मुहूर्त्ताः, एतावान् द्व्यर्द्धक्षेत्राणां प्रत्येकं सूर्येण समं योगः ।

साम्प्रतं यथा सूर्ययोगपरिमाणदर्शनतः चन्द्रयोगपरिमाणज्ञानं भवति, तथा प्रतिपादयति-

नक्खत्तसूरजोगो, मुहुत्तरासीकओ उ पंचगुणो ।
सत्तट्ठीएँ विभत्तो, लद्धो चंदस्स सो जोगो ॥

नक्षत्राणामर्द्धक्षेत्राऽऽदीनां यः सूर्येण सह योगः स मुहूर्तराशीक्रियते, कृत्वा च पञ्चभिर्गुण्यते, ततः सप्तषष्ट्या भागे हृते यल्लब्धं, स चन्द्रस्य योगः। अत्रापीयं भावना-कोऽपि शिष्यः पृच्छति-यत्र सूर्यः षड् दिवसान् एकविंशतिं च मुहूर्त्तान् अवतिष्ठते, तत्र चन्द्रः कियन्तं कालं तिष्ठतीति ?। तत्र मुहूर्तराशिकरणार्थं षड् दिवसाः त्रिंशता गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरि एकविंशतिर्मुहूर्त्ताः प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते एकोत्तरे २०१ । ते पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जातं पञ्चोत्तरं सहस्रम् १००५। तस्य सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धाः पञ्चदश मुहूर्त्ताः,एतावानर्द्धक्षेत्राणां प्रत्येकं चन्द्रेण समं योगः। तथा समक्षेत्राणां सूर्ययोगस्त्रयोदशदिवसा द्वादश मुहूर्त्ताः, तत्र दिवससंख्या मुहूर्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि नवत्यधिकानि ३९० । उपरितनाश्च द्वादश मुहूर्त्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि चत्वारि शतानि द्व्युत्तराणि ४०२। तानि पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे सहस्रे दशोत्तरे २०१०। तेषां सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रिंशन्मुहूर्ताः ३०। एतावान् समक्षेत्राणां प्रत्येकं चन्द्रयोगः।तथा द्व्यर्द्धक्षेत्राणां सूर्ययोगः विंशतिरहोरात्रास्त्रयो मुहूर्त्ताः, तत्राहोरात्रसंख्या मुहूर्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यते, जातानि षट् शतानि, उपरितनाश्च त्रयो मुहूर्त्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते,जातानि षट् शतानि त्र्युत्तराणि ६०३। तानि पञ्चभिर्गुण्यन्ते,जातानि त्रीणि सहस्राणि पञ्चदशोत्तराणि ३०१५। तेषां सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धाः पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्ताः ४५ । एतावान् द्व्यर्द्धक्षेत्राणां प्रत्येकं चन्द्रेण सह योगः ।

संप्रत्युपसंहारमाह-

नक्खत्ताणं जोगा, चंदाऽऽइच्चेसु करणसंजुत्ता ।
भणिया [मुणाहि एत्तो, पविभागं मंडलाणं तु] ॥

नक्षत्राणां चन्द्राऽऽदित्येषु चन्द्रविषये, आदित्यविषये च करणसंयुक्ता योगा भणिताः प्रतिपादिताः। ज्यो० ९ पाहु० ।

(१८) कति भागानि नक्षत्राणि चन्द्रेण सह युज्यन्ते-

ता कहं ते एवंभागा आहिता ति वदेज्जा ?। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पुव्वंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता । अत्थि णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पच्छंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता । अत्थि णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता णत्तंभागा अवड्ढखेत्ता पण्णरस मुहुत्ता पण्णत्ता । अत्थि णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता उभयंभागा दिवड्ढखेत्ता पणयालीस मुहुत्ता पण्णत्ता । ता एएसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं कतरे णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पुव्वंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता ? । कतरे णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पच्छंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता ?। कतरे णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता णत्तंभागा अवड्ढक्खेत्ता पण्णरस मुहुत्ता पण्णत्ता ? । कतरे णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता उभयंभागा दिवड्ढक्खेत्ता पणयालीसइमुहुत्ता पण्णत्ता ? । ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं, तत्थ णं जे ते णक्खत्ता,जे णं णक्खत्ता पुव्वंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता। ते णं छ। तं जहा-पुव्वभद्दवया १, कत्तिता २, महा ३, पुव्वफग्गुणी ४, मूलो ५, पुव्वासाढा ६ । तत्थ णं जे ते णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पच्छंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता। ते णं दस। तं जहा-अभिई १, सवणो २, धणिट्ठा ३, रेवती ४, अस्सिणी ५, मिगसिरं ६, पुस्सो ७, हत्थो ८, चित्ता ९, अणुराहा १० एवं पच्छंभागा दस हवंति। तत्थ णं जे ते णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता णत्तंभागा अवड्ढक्खेत्ता पण्णरस मुहुत्ता पण्णत्ता।

ते णं छ। तं जहा-सतभिसया १, भरणी २, अद्दा ३, असेसा ४, साती ५, जेट्ठा ६। तत्थ णं जे ते णक्खत्ता उभयंभागा दिवड्ढक्खेत्ता पणयालीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता। ते णं छ। तं जहा-उत्तरभद्दवया १, रोहिणी २, पुणव्वसू ३, उत्तराफग्गुणी ४, विसाहा ५, उत्तरासाढा ६।

"ता कहं ते" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्, कथं केन प्रकारेण भगवन्! त्वया एवंभागानि वक्ष्यमाणप्रकारभागानि नक्षत्राणि आख्यातानि इति भगवान् वदेत्?। एवमुक्ते भगवानाह- "ता एएसि णं" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्येऽस्तीति सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि पूर्वभागानि-दिवसस्य पूर्वभागश्चन्द्रयोगस्याऽऽदिमधिकृत्य विद्यते येषां तानि पूर्वभागानि, समक्षेत्राणि-समं पूर्णं क्षेत्रमहोरात्रप्रमितं चन्द्रयोगमधिकृत्यास्ति येषां तानि समक्षेत्राणि ; अत एव त्रिंशन्मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि। तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि पश्चाद्भागानि-दिवसस्य पश्चात्तनो भागः चन्द्रयोगमधिकृत्य विद्यते येषां तानि पश्चाद्भागानि, समक्षेत्राणि त्रिंशन्मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि। तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि नक्तंभागानि-नक्तं रात्रौ चन्द्रयोगस्याऽऽदिमधिकृत्य भागोऽवकाशो येषां तानि। तथा अपार्द्धक्षेत्राणीति-अपगतमर्द्धं यस्य तदपार्द्धम्, अर्द्धमात्रमित्यर्थः। अपार्द्धमर्द्धमात्रं क्षेत्रमहोरात्रप्रमितं येषां चन्द्रयोगस्याऽऽदिमधिकृत्य तान्यपार्द्धक्षेत्राणि। अत एव पञ्चदश मुहूर्तानि-पञ्चदश चन्द्रयोगमधिकृत्य मुहूर्ता विद्यन्ते येषां तानि। तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि,यानि नक्षत्राणि उभयभागानि उभयं दिवसं रात्रिः,तस्य उभयस्य-दिवसस्य,रात्रेश्चेत्यर्थः। चन्द्रयोगस्याऽऽदिमधिकृत्य भागो येषां तानि। तथा द्व्यर्द्धक्षेत्राणि-द्वितीयमर्द्धं यस्य तत् द्व्यर्द्धं, सार्द्धमित्यर्थः। द्व्यर्द्धं सार्द्धमहोरात्रप्रमितं क्षेत्रं येषां तानि तथा। अत एव पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि। एवं सामान्येनोक्ते विशेषावबोधनार्थं भगवान् गौतमः पृच्छति-"ता एतेसि णं" इत्यादि सुगमम्। भगवान् प्रतिवचनमाह-"ता एतेसि णं" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि पूर्वभागानि समक्षेत्राणि त्रिंशन्मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि, तानि षट्। तद्यथा-"पुव्वभद्दवया" इत्यादि। (एतच्चानन्तरे एव प्राभृतप्राभृते योगस्याऽऽदौ चिन्त्यमाने भावयिष्यते)। तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि पश्चाद्भागानि समक्षेत्राणि त्रिंशन्मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि। तानि दश। तद्यथा-"अभिई" इत्यादि। तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि नक्तंभागानि अपार्द्धक्षेत्राणि पञ्चदश मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि। तानि षट्। तद्यथा-"सयभिसया" इत्यादि। तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राण्युभयभागानि द्व्यर्द्धक्षेत्राणि पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्तानि। तानि षट्। तद् यथा-"उत्तरभद्दवया" इत्यादि। चं० प्र० १० पाहु० ३ पाहु०। सू० प्र०।

(१५) प्रमर्दयोगीनि नक्षत्राणि-

अट्ठ णक्खत्ता णं चंदेण सद्धिं पमद्दं जोगं जोएंति। तं जहा-कत्तिया, रोहिणी, पुणव्वसू, महा, चित्ता, विसाहा, अणुराहा, जिट्ठा।

(पमद्दं ति) प्रमर्दश्चन्द्रेण स्पृश्यमानता, तल्लक्षणं योगं योजयन्ति, आत्मनश्चन्द्रेण सार्द्धं कदाचित्, न तु तमेव सर्वदेति। उक्तं च-"पुणवसु रोहिणि चित्ता, मह जेट्ठऽणुराह कत्तिय विसाहा। चंदस्स उभयजोगी" इति। यानि च दक्षिणोत्तरयोगीनि, तानि प्रमर्दयोगीन्यपि कदाचिद्भवन्ति, यतो लोकश्रीटीकाकृतोक्तम्-एतानि नक्षत्राण्युभययोगीनि चन्द्रस्य दक्षिणेनोत्तरेण च युज्यन्ते, कथञ्चिच्चन्द्रेण भेदमप्युपयान्तीति। एतत्फलं चेदम्-"एतेषामुत्तरगाः, ग्रहाः सुभिक्षाय चन्द्रमा नितराम्।" इति। स्था० १० ठा०।

(१६) कति नक्षत्राणि कति भागानि पूर्णिमाऽमाभ्याम्-

ता कहं ते जोगस्सादी आहिता ति वदेज्जा?। ता अभिई, सवणो खलु दुवे णक्खत्ता पच्छंभागा समक्खेत्ता सातिरेगउणतालीसमुहुत्ता तं पढमताए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोइंति। ततो पच्छा अवरं सातिरेगं दिवसं। एवं खलु अभिई, सवणो दुवे णक्खत्ता एगं रातिं एगं च सातिरेगं दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएंति, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टंति, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं धणिट्ठाणं समप्पेंति, समप्पेंतित्ता धणिट्ठा खलु णक्खत्ते पच्छंभागे समक्खेत्ते तीसतिमुहुत्ते तप्पढमताए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति। ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु धणिट्ठा णक्खत्ते एगं रातिं एगं च दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टति, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं सतभिसताणं समप्पेति। ता सतभिसता खलु णक्खत्ते णत्तंभागे अवड्ढक्खेत्ते तप्पढमताए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, णो लभति अवरं दिवसं। एवं खलु सतभिसता णक्खत्ते एगं रातिं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, जोगं जोइत्ता अणुपरियट्टति, अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं पुव्वाणं पोट्ठवयाणं समप्पेति, ता पुव्वा पोट्ठवता खलु णक्खत्ते पुव्वंभागे समक्खेत्ते तीसतिमुहुत्ते तप्पढमताए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, पच्छा अवरं राइं। एवं खलु पुव्वा पोट्ठवता णक्खत्ते एगं च दिवसं एगं च रातिं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, जोगं जोइत्ता अणुपरियट्टति, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं उत्तराणं पोट्ठवताणं समप्पेति। उत्तरपोट्ठवता खलु णक्खत्ते पणयालीसतिमुहुत्ते तप्पढमताए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, अवरं च रातिं, ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु उत्तरापोट्ठवता णक्खत्ते दो दिवसे, एगं च रातिं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टति. जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं रेवतीणं समप्पेति। ता रेवती खलु णक्खत्ते पच्छंभागे समक्खेत्ते जहा धणिट्ठा० जाव सायं चंदं अस्सिणीणं समप्पेति। भरणी खलु णक्खत्ते णत्तंभागे अवड्ढ० जहा सतभिसता० जाव पातो चंदं

कत्तिताणं समप्पेति० जाव पातो चंदं रोहिणीणं समप्पेति, रोहिणी जहा उत्तरभद्दवया, मिगसिरं जहा धणिट्ठा। एवं जहा सतभिसता, तहा णत्तंभागा णेयव्वा। एवं जहा पुव्वाभद्दवता, तहा पुव्वंभागा अवि णेयव्वा। जहा धणिट्ठा तहा पच्छंभागा अट्ठ णेयव्वा० जाव एवं खलु उत्तरासाढा दो दिवसे एगं च रातिं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टति, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं अभिईसवणाणं समप्पेइ।

"ता कहं ते" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्, कथं ते त्वया भगवन्! योगस्याऽऽदिराख्यात इति वदेत्?। इह निश्चयनयमतेन चन्द्रयोगस्याऽऽदिता सर्वेषामपि नक्षत्राणामप्रतिनियतकालप्रमाणा, ततः सा करणवशादवगन्तव्या। तच्च करणं ज्योतिष्करण्डके समस्तीति तट्टीकां कुर्वता तत्रैव सप्रपञ्चं भावितमतस्ततोऽवधार्यम्। अत्र तु व्यवहारनयमधिकृत्य बाहुल्येन यस्य नक्षत्रस्य यदा चन्द्रयोगस्याऽऽदिर्भवति तमभिधित्सुराह-"ता अभिई" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। द्वे अभिजिच्छ्रवणाऽऽख्ये नक्षत्रे पश्चाद्भागे समक्षेत्रे। इहाभिजिन्नक्षत्रं समक्षेत्रं, नाप्यर्द्धक्षेत्रं, नापि द्व्यर्द्धक्षेत्रं, केवलं श्रवणेन सह संबद्धमुपात्तमित्यभेदोपचारात् तदपि समक्षेत्रमुपकल्प्य समक्षेत्रम् इत्युक्तम्। सातिरेकैकोनचत्वारिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणे। तथाहि-सातिरेका नव मुहूर्त्ता अभिजितः, त्रिंशन्मुहूर्त्ताः श्रवणस्येत्युभयमीलने यथोक्तं मुहूर्त्तपरिमाणं भवति। तत्प्रथमतया चन्द्रयोगस्य प्रथमतया, सायं विकालवेलायाम्, इह दिवसस्य कतिनभाक्चरमाद्भागादारभ्य यावद्रात्रेः कतितमो भागो यावन्नापि परिस्फुटनक्षत्रमण्डलाऽऽलोकः, तावान् कालविशेषः सायमिति द्रष्टव्यः; तथा लोके व्यवहारदर्शनात्। तस्मिन् सायं समये, चन्द्रेण सार्द्धं योगं युङ्क्तः। इहाभिजिन्नक्षत्रं यद्यपि युगस्याऽऽदौ प्रातश्चन्द्रेण सह योगमुपैति, तथाऽपि श्रवणेन सह सम्बद्धमिह तद्विवक्षितम्। श्रवणनक्षत्रं च मध्याह्नादूर्ध्वमपसरति, दिवसे चन्द्रेण सह योगमुपादत्ते। तन्नस्तत्साहचर्यात्तदपि सायं समये चन्द्रेण सार्द्धं युज्यमानं विवक्षितं ततः सामान्यतः सायं चन्द्रेण सार्द्धं योगं युञ्जन्तीत्युक्तम् *। अथवा युगस्याऽऽदिमतिरिच्यान्यदा बाहुल्यमधिकृत्येदमुक्तं, ततो न कश्चिद्दोषः। "ततो पच्छा" इत्यादि। पश्चात्तदूर्द्ध्वम्, अपरमन्यं सातिरेकदिवसं यावत्। एतदेवोपसंहारव्याजेन व्यक्तीकरोति-"एवं खलु" इत्यादि। एवमुक्तेन प्रकारेण, खल्विति निश्चये, अभिजिच्छ्रवणौ द्वे नक्षत्रे, सायं समयादारभ्य एकां रात्रिमेकं च सातिरेकं दिवसं, चन्द्रेण सार्द्धं युङ्क्तः। एतावन्तं च कालं युक्त्वा तदनन्तरं योगमनुपरिवर्त्तयतः, आत्मनश्च्यावयत इत्यर्थः। योगं चानुपरिवर्त्य सायं दिवसस्य कतितमे पश्चाद्भागे चन्द्रं धनिष्ठायां समर्पयतः। तदेवमभिजित् श्रवणं धनिष्ठा सायं समये चन्द्रेण सह प्रथमतो योगं युञ्जन्ते। तेनामूनि त्रीण्यपि पश्चाद्भागान्यवसेयानि। ततः समर्पणादनन्तरं धनिष्ठा खलु नक्षत्रं पश्चाद्भागं सायं समये तस्य प्रथमतश्चन्द्रेण सह युज्यमानत्वात् समक्षेत्रं त्रिंशन्मुहूर्त्तं तत्प्रथमतया सायं समये चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति। चन्द्रेण सह योगं युक्त्वा ततः सायं समयादूर्द्ध्वं, ततः पश्चाद्रात्रीः, अपरं च दिवसं यावद् योगं युनक्ति। एतदेवोपसंहारव्याजेनाऽऽचष्टे-" एवं खलु " इत्यादि सुगमं, यावद् योगमनुपरिवर्त्य सायं समये चन्द्रं शतभिषजः समर्पयति। प्रायः परिस्फुटनक्षत्रमण्डलावलोके तत इदं नक्षत्रं नक्तंभागं द्रष्टव्यम्। तथा चाऽऽह-(ता इत्यादि) 'ता' इति। ततः समर्पणादनन्तरं शतभिषग्नक्षत्रं खलु नक्तंभागमपार्द्धक्षेत्रं पञ्चदशमुहूर्त्तं तत्प्रथमतया चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति। तच्च तथा युक्तं सन्न लभते अपरं दिवसं, पञ्चदशमुहूर्त्तप्रमाणत्वात्, किन्तु रात्रित एव योगमधिकृत्य परिसमाप्तिमुपैति। तथा चाऽऽह-"एवं खलु" इत्यादि सुगमम्। यावद् योगमनुपरिवर्त्य प्रातश्चन्द्रं पूर्वयोः प्रोष्ठपदयोर्भद्रपदयोः समर्पयति। इह पूर्वप्रोष्ठपदानक्षत्रस्य प्रातश्चन्द्रेण सह प्रथमतया योगः प्रवृत्त इतीदं पूर्वभागमुच्यते। तथा चाऽऽह-(ता पुव्वेत्यादि) ततः समर्पणादनन्तरं पूर्वप्रोष्ठपदा खलु नक्षत्रं पूर्वभागं समक्षेत्रं त्रिंशन्मुहूर्त्तं तत्प्रथमतया प्रातश्चन्द्रेण सह योगं युनक्ति। तच्च तथा युक्तं सत्ततः समयादूर्द्ध्वं तं सकलं दिवसम्, अपरां च रात्रिं यावद्वर्त्तते। एतदेवोपसंहारव्याजेनाऽऽह-"एवं खलु" इत्यादि सुगमं, यावद् योगमनुपरिवर्त्य प्रातश्चन्द्रमुत्तरयोः प्रोष्ठपदयोः समर्पयति। इदं किलोत्तराभाद्रपदाऽऽख्यं नक्षत्रमुक्तप्रकारेण प्रातश्चन्द्रेण सह योगमधिगच्छति, केवलं प्रथमान् पञ्चदश मुहूर्त्तानधिकानपनीय समक्षेत्रत्वं कल्पयित्वा यदा योगश्चिन्त्यते, तदा नक्तमपि योगोऽस्तीत्युभयभागमवसेयम्। तथा चाऽऽह-ततः समर्पणादनन्तरं प्रोष्ठपदा नक्षत्रं खलूभयभागं द्व्यर्द्धक्षेत्रं पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्तं तत्प्रथमतया प्रातश्चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति। तच्च तथा युक्तं सत्सकलमपि दिवसमपरां च रात्रिं ततः पश्चादपरं दिवसं यावद्वर्त्तते। एतदेवोपसंहारव्याजेन व्यक्तीकरोति-(एवं खलु) इत्यादि सुगमम्, यावद्योगमनुपरिवर्त्य सायं समये चन्द्रं रेवत्याः समर्पयति। ततो रेवतीनक्षत्रं सायं समये चन्द्रेण सह योगमधिगच्छति; ततस्तत्पश्चाद्भागमवसेयम्। तथा चाऽऽह-"ता रेवती" इत्यादि। 'ता' इति। ततः समर्पणादनन्तरं, शेषं सुगमम्। इदं च चन्द्रेण युक्तं सत् सायं समयादूर्द्ध्वं सकलां रात्रिमपरं च दिवसं यावदवतिष्ठते, समक्षेत्रत्वात्। एतदेवोपसंहारत आह-"एवं खलु" इत्यादि सुगमम्। यावद् योगमनुपरिवर्त्य सायं समये चन्द्रमश्विन्याः समर्पयति। तत इदमप्यश्विनी नक्षत्रं सायं समये चन्द्रेण सह युज्यमानत्वात् पश्चाद्भागमवसेयम्। तथा चाऽऽह-"ता" इत्यादि सुगमं, नवरमिदमप्यश्विनी नक्षत्रं समक्षेत्रत्वात् सायं समयादारभ्य तां सकलां रात्रिमपरं च दिवसं यावच्चन्द्रेण सह युक्तमवतिष्ठते। एतदेवोपसंहारव्याजेनाऽऽह-"एवं खलु" इत्यादि सुगमम्। यावद् योगमनुपरिवर्त्य सायं प्रायः परिस्फुटनक्षत्रमालावलोकसमये चन्द्रं भरण्याः समर्पयति। इदं च भरणी नक्षत्रमुक्तयुक्त्या रात्रौ चन्द्रेण सह योगमुपैति, ततो नक्तंभागमवसेयम्। तथा चाऽऽह-"भरणी" इत्यादि पाठसिद्धम्। नवरमिदमपार्द्धक्षेत्रत्वाद्रात्रौ तं योगं परिसमापयति, ततो न लभते चन्द्रेण सह युक्तमपरं दिवसम्। एतदेवोपसंहारव्याजेनाऽऽह-"एवं खलु" इत्यादि सुगमम्। यावद् योगमनुपरिवर्त्य प्रातश्चन्द्रं कृत्तिकानां समर्पयति। इदं च कृत्तिकानक्षत्रमुक्तयुक्त्या प्रातः चन्द्रेण सह योगमुपैति, ततः पूर्वभागमवसेयम्। एतदेवोपसंहारव्याजेन व्यक्तीकरोति-"एवं खलु" इत्यादि सुगमं, यावद्योगमनुपरिवर्त्य प्रातश्चन्द्रं रोहिण्याः समर्पयति। इदं च रोहिणीनक्षत्रं द्व्यर्द्धक्षेत्रम्, अतः प्रागुक्तयुक्तिवशादुभयभागं प्रतिपत्तव्यम्। (रोहिणी जहा उत्तरभद्दवया इति) रोहिणी यथा प्रागुत्तरभद्रपदा उक्ता, तथा

* बहुत्वं प्राकृतानुवादवशात्।

वक्तव्या। सा चैवम्-" ता रोहिणी खलु णक्खत्ते उभयंभागे दिवड्ढक्खेत्ते पणयालीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, अवरं च राइं, ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु रोहिणी णक्खत्ते दो दिवसे एगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ,जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं मिगसिरस्स समप्पेइ।" इति। " मिगसिरं जहा धणिट्ठा।" मृगशिरो नक्षत्रं यथा प्राक् धनिष्ठोक्ता तथा वक्तव्यम्। तद्यथा-"ता मिगसिरे खलु णक्खत्ते पच्छंभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमताए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु मिगसिरे णक्खत्ते एगं राइं एगं च दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं * चंदं अद्दाए समप्पेइ" इति। "एवं जहा सयभिसया, तहा णत्तभागा णेयव्वा। एवं जहा पुव्वाभद्दवया तहा पुव्वंभागा छप्पि णेयव्वा। जहा धणिट्ठा तहा पच्छंभागा अट्ठ णेयव्वा" इति। एवमुक्तेन प्रकारेण यथा शतभिषगुक्ता, तथा सर्वाण्यपि नक्तंभागानि नेतव्यानि। यथा पूर्वाभद्रपदा, तथा पूर्वभागानि षडपि नेतव्यानि। यथा धनिष्ठा तथा पश्चाद्भागानि अष्ट नेतव्यानि। उपलक्षणमेतत्। तेन यथोत्तराभद्रपदा, तथा सर्वाण्यप्युभयभागानि द्रष्टव्यानि। तानि चैवम्-" ता अद्दा खलु णक्खत्ते णत्तंभागे अवड्ढक्खेत्ते पण्णरसमुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, णो लहइ अवरं दिवसं। एवं खलु अद्दा एगं राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ,जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं पुणव्वसूणं समप्पेइ।" इदं पुनर्वसुनक्षत्रं द्व्यर्द्धक्षेत्रत्वात् प्रागुक्तयुक्तेरुभयभागमवसेयम्। ततश्चैवं तत्सूत्रम्-" ता पुणव्वसू णक्खत्ते उभयंभागे दिवड्ढक्खेत्ते पणयालीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, अवरं च राइं, ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु पुणव्वसू णक्खत्ते दो दिवसे एगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ,जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं पुस्सस्स समप्पेइ"। इदं च पुष्यनक्षत्रं सायं समये दिवसावसानरूपे चन्द्रेण सह योगमधिगच्छति, ततः पश्चाद्भागमवसेयम्। तत एवं तत्सूत्रम्-"ता पुस्से य खलु णक्खत्ते पच्छंभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु पुस्से णक्खत्ते एगं राइं एगं च दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं असिलेसाए समप्पेइ।" इदं चाऽऽश्लेषा नक्षत्रं सायं समये परिस्फुटनक्षत्रमालाऽऽलोकरूपे प्रायश्चन्द्रेण सह योगमुपैति; तत इदं नक्तंभागमवसेयम्, अपार्द्धक्षेत्रत्वाच्च तस्यामेव रात्रौ योगं परिसमापयति। तत एवं तत्सूत्रम्-"ता असिलेसा खलु णक्खत्ते नत्तंभागे अवड्ढक्खेत्ते पण्णरसमुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता नो लभइ अवरं दिवसं। एवं खलु असिलेसा णक्खत्ते एगं राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं मघाणं समप्पेइ" इति। इदं तु मघानक्षत्रमुक्तयुक्त्या प्रातश्चन्द्रेण सह योगमश्नुते, ततः पूर्वभागमवसेयम्। एवं च तत्सूत्रम्-"ता मघा खलु णक्खत्ते पुव्वंभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, ततो पच्छा अवरं राइं। एवं खलु मघा णक्खत्ते एगं दिवसं एगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं पुव्वाफग्गुणीणं समप्पेइ"। इदमपि पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रं प्रातश्चन्द्रेण सह योगमुक्तनीत्या समधिगच्छति, ततः पूर्वभागं प्रत्येतव्यम्। एवं च तत्सूत्रम्-"ता पुव्वाफग्गुणी णक्खत्ते पुव्वंभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, ततो पच्छा अवरं राइं, एवं खलु पुव्वाफग्गुणीणक्खत्ते एगं च दिवसमेगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदमुत्तराणं फग्गुणीणं समप्पेइ।" एतच्चोत्तराफाल्गुनीनक्षत्रं द्व्यर्द्धक्षेत्रम्, अतः प्रागुक्तयुक्तिवशादुभयभागं वेदितव्यम्। एवं च तत्सूत्रम्-"ता उत्तराफग्गुणी णक्खत्ते उभयभागे दिवड्ढक्खेत्ते पणयालीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, अवरं च राइं, ततो पच्छा अवरं च दिवसं। एवं खलु उत्तराफग्गुणी णक्खत्ते दो दिवसे एगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं हत्थस्स समप्पेइ"। एतच्च हस्तनक्षत्रं सायं दिवसावसानसमये चन्द्रेण सह योगमधिरोहति, तेन पश्चाद्भागमवसेयम्। तत्सूत्रं चैवम्-" ता हत्थे खलु णक्खत्ते पच्छंभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु हत्थे नक्खत्ते एगं राइमेगं च दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं चित्ताणं समप्पेइ।" इदमपि चित्रा नक्षत्रं सायं समये प्रायो दिवसावसानसमये चन्द्रेण सह योगमुपैति, तत इदमपि पश्चाद्भागमवसेयम्। एवं च तत्सूत्रम्-" ता चित्ता खलु णक्खत्ते पच्छंभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु चित्ता णक्खत्ते एगं राइमेगं च दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता चंदं सायं साईए समप्पेइ"। स्वातिश्च सायं समये प्रायः परिस्फुटं दृश्यमाने नक्षत्रमण्डलरूपे चन्द्रेण सह योगमुपैति। तत इयं नक्तंभागा प्रत्येया। तत्सूत्रं चेत्थम्-" ता साई खलु णक्खत्ते णत्तंभागे अवड्ढक्खेत्ते पण्णरसमुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, नो लभइ अवरं दिवसं। एवं खलु साई णक्खत्ते एगं राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं विसाहाणं समप्पेइ"। इदं च विशाखानक्षत्रं द्व्यर्द्धक्षेत्रं, ततः प्रागुक्तयुक्तिवशादुभयभागमवसेयम्। एवं च तत्सूत्रम्-" विसाहा खलु णक्खत्ते उभयंभागे दिवड्ढक्खेत्ते पणयालीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, अवरं च राइं, ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु विसाहा णक्खत्ते दो दिवसे एगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ,जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं अणुराहाए समप्पेइ।" इदं चानुराधानक्षत्रं सायं समये दिवसावसानरूपे चन्द्रेण सह योगमुपैति, ततः प्रागुक्तयुक्तिवशात् पश्चाद्भागमवसेयम्। इत्थं च तत्सूत्रम्-" ता अणुराहा खलु णक्खत्ते पच्छंभागे स-

* अत्र सायमिति प्रायः परिस्फुटनक्षत्रमालाऽऽलोकसमये, अत एवैतन्नक्तंभागम्।

नक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ । ततो पच्छा अवरं दिवसं । एवं खलु अणुराहा णक्खत्ते एगं च राइं एगं च दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं जेट्ठाए समप्पेइ ।" ज्येष्ठायाश्च सायं समयं समर्पयति प्रायः परिस्फुटं दृश्यमाननक्षत्रमण्डले, तत इदं ज्येष्ठा नक्षत्रं नक्तंभागमवसेयम् । तत्सूत्रं चैवम्-" ता जेट्ठा खलु णक्खत्ते नत्तंभागे अवड्ढक्खेत्ते पन्नरसमुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, णो लभइ अवरं दिवसं । एवं खलु जेट्ठा णक्खत्ते एगं राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं मूलस्स समप्पेइ ।" मूलनक्षत्रं चोक्तप्रकारेण प्रायश्चन्द्रेण सह योगमधिगच्छति प्रातः, तत इदं पूर्वभागमवसातव्यम् । तत्सूत्रं चेदम्-" ता मूलणक्खत्ते पुव्वंभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, ततो पच्छा अवरं राइं । एवं खलु मूलणक्खत्ते एगं च दिवसमेगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं पुव्वासाढाणं समप्पेइ ।" इदमपि पूर्वाषाढानक्षत्रं प्रातश्चन्द्रेण सह योगमुक्तयुक्त्या समुपैतीति पूर्वभागमवसेयम् । एवं च तत्सूत्रम्-" ता पुव्वासाढा खलु णक्खत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, अवरं च राइं । एवं खलु पुव्वासाढा णक्खत्ते एगं च दिवसमेगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं उत्तरासाढाणं समप्पेइ ।" उत्तराषाढा नक्षत्रं च द्व्यर्धक्षेत्रत्वादुभयभागं वेदितव्यम् । तत्सूत्रं चैवम्-" ता उत्तरासाढा खलु णक्खत्ते उभयंभागे दिवड्ढक्खेत्ते पणयालीसं मुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, अवरं च राइं, ततो पच्छा अवरं दिवसं ।" अत ऊर्ध्वं चैतद्गतं सूत्रं साक्षादाह-" ०जाव एवं खलु उत्तरासाढा दो दिवसे " इत्यादि । यावत्करणात् पाश्चात्यग्रन्थगतानि सूत्राण्यनुक्तान्यपि द्रष्टव्यानि । तानि च तथोपदर्शितानि । तदेवं बाहुल्यमधिकृत्योक्तप्रकारेण यथोक्तेषु कालेषु नक्षत्राणि चन्द्रेण सह योगमुपयान्ति, ततः कानिचित्पूर्वभागानि, कानिचित्पश्चाद्भागानि, कानिचिन्नक्तंभागानि, कानिचिदुभयभागानि । चं० प्र० १० पाहु० ४ पाहु० । सू० प्र० । नं० । (अमापूर्णिमाभिर्नक्षत्रचन्द्रयोगः 'अमावसा' शब्दे प्रथमभागे ७४३ पृष्ठे उक्तः) (कुलोपकुलकुलोपकुलसंज्ञकानि नक्षत्राणि 'कुल' शब्दे तृतीयभागे ५७२ पृष्ठे उक्तानि)

(१७) किं नक्षत्रं कतितारम्-

ता कहं ते तारग्गे आहितेति वदेज्जा ? । ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अभिई णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ? । तितारे पण्णत्ते । सवणे णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ? । तितारे पण्णत्ते । धणिट्ठा णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ? । पंचतारे पण्णत्ते । सतभिसया णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ? । सततारे पण्णत्ते । पुव्वापोट्ठवता णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ? । दुतारे पण्णत्ते । एवं उत्तरा वि । रेवती णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ? । बत्तीसइतारे पण्णत्ते । अस्सिणी णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ? । तितारे पण्णत्ते । एवं सव्वे पुच्छिज्जंति । भरणी तितारे पण्णत्ते । कत्तिया छत्तारे पण्णत्ते । रोहिणी पंचतारे पण्णत्ते । मिगसिरे तितारे पण्णत्ते । अद्दा एगतारे पण्णत्ते । पुणव्वसू पंचतारे पण्णत्ते । पुस्से णक्खत्ते तितारे पण्णत्ते । अस्सेसा छत्तारे पण्णत्ते । महा सत्ततारे पण्णत्ते । पुव्वाफग्गुणी दुतारे पण्णत्ते । एवं उत्तरा वि । हत्थे पंचतारे पण्णत्ते । चित्ता एगतारे पण्णत्ते । साती एगतारे पण्णत्ते । विसाहा पंचतारे पण्णत्ते । अणुराहा चउतारे पण्णत्ते । जेट्ठा तितारे पण्णत्ते । मूले एगारसतारे पण्णत्ते । पुव्वासाढा चउतारे पण्णत्ते । उत्तरासाढा णक्खत्ते चउतारे पण्णत्ते ।

"ता कहं ते" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण ते त्वया भगवन् ! नक्षत्राणां तारा‍ग्रं ताराप्रमाणमाख्यानमिति वदेत् ? । एवं सामान्यतः प्रश्नं कृत्वा संप्रति नक्षत्रं पृच्छति-"ता एएसि णं " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्येऽभिजिन्नक्षत्रं कतितारं प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह-अभिजिन्नक्षत्रं त्रितारं प्रज्ञप्तम् । एवं शेषाण्यपि प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि भावनीयानि ।

ताराप्रमाणसंग्राहिके चेमे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसत्के गाथे-

" तिग तिग पंचग सय दुग, दुग बत्तीसं तिगं तह तिगं च ।
छ प्पंचग तिग एक्कग, पंचग तिग छक्कगं चेव ॥ १ ॥
सत्तग दुग दुग पंचग, इक्केक्कग पंच चउ तिगं चेव ।
इक्कारसग चउक्कं, चउक्कगं चेव तारग्गं " ॥ २ ॥

सू० प्र० १० पाहु० ६ पाहु० । स्था० ।

" जेट्ठापज्जवसाणाणं एगोणवीसाए णक्खत्ताणं अट्ठाणउइओ ताराओ तारग्गेणं पण्णत्ताओ ।" स० ९९ सम० ।

(१८) कति नक्षत्राणि स्वयमस्तंगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया कं मासं नयन्तीति-

ता कहं ते णेता आहिते ति वदेज्जा ? । ता वासाणं पढमं मासं कति णक्खत्ता णेंति ? । ता चत्तारि णक्खत्ता णेंति । तं जहा-उत्तरासाढा, अभिई, सवणो, धणिट्ठा । उत्तरासाढा चोद्दस अहोरत्ते णेति, अभिई सत्त अहोरत्ते णेति, सवणो अट्ठ अहोरत्ते णेति, धणिट्ठा एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि चउरंगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे दो पदाइं चत्तारि य अंगुलाणि पोरिसी भवति । ता वासाणं दोच्चं मासं कति णक्खत्ता णेंति ? । ता चत्तारि णक्खत्ता णेंति । तं जहा-धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वापोट्ठवया, उत्तरापोट्ठवया । धणिट्ठा चोद्दस अहोरत्ते णेति, सयभिसया सत्त अहोरत्ते णेति, पुव्वाभद्दवया अट्ठ अहोरत्ते णेति, उत्तरापोट्ठवता एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि अट्ठंऽगुले पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे दो पदाइं अट्ठंऽगुलाइं पोरिसी

भवति । ता वासाणं ततियं मासं कति णक्खत्ता णेति ?। ता तिष्मि णक्खत्ता णेंति । तं जहा—उत्तरापोट्ठवता, रेवती, अस्सिणी । उत्तरापोट्ठवता चोद्दस अहोरत्ते णेति, रेवती पण्णरस अहोरत्ते णेति, अस्सिणी एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि दुवालसंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे लेहट्ठाणि तिपदाइं पोरिसी भवति । ता वासाणं चउत्थमासं कति णक्खत्ता णेंति ? । ता तिण्णि णक्खत्ता णेंति । तं जहा—अस्सिणी, भरणी कत्तिया । अस्सिणी चउद्दस अहोरत्ते णेति । भरणी पन्नरस अहोरत्ते णेति । कत्तिया एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि सोलसंगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टइ । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे तिन्नि पयाइं चत्तारि अंगुलाइं पोरिसी भवति । ता हेमंताणं पढमं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?। ता तिष्मि णक्खत्ता णेंति । तं जहा—कत्तिया, रोहिणी, संठाणा । कत्तिया चोद्दस अहोरत्ते णेति । रोहिणी पण्णरस अहोरत्ते णेति । संठाणा एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि वीसंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे तिष्मि पदाइं अट्ठंऽगुलाइं पोरिसी भवति । ता हेमंताणं दोच्चे मासे कति णक्खत्ता णेंति ? । चत्तारि णक्खत्ता णेंति । तं जहा—संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू, पुस्सो । संठाणा चोद्दस अहोरत्ते णेति, अद्दा सत्त अहोरत्ते णेति, पुणव्वसू अट्ठ अहोरत्ते णेति, पुस्सो एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि चउवीसंगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे लेहट्ठाणि चत्तारि पदाइं पोरिसी भवति । ता हेमंताणं ततियं मासं कति णक्खत्ता णेंति ? । ता तिण्णि णक्खत्ता णेंति । तं जहा—पुस्से, अस्सेसा, महा । पुस्से चोद्दस अहोरत्तं णेति, अस्सेसा पंचदस अहोरत्ते णेति, महा एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि वीसंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे तिष्मि पदाइं अट्ठंऽगुलाइं पोरिसी भवति । ता हेमंताणं चउत्थमासं कति णक्खत्ता णेंति ?। ता तिष्मि णक्खत्ता णेंति । तं जहा—महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी । महा चोद्दस अहोरत्ते णेति । पुव्वाफग्गुणी पण्णरस अहोरत्ते णेति । उत्तराफग्गुणी एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि सोलस अंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे तिष्मि पदाइं चत्तारि अंगुलाइं पोरिसी भवति । ता गिम्हाणं पढमं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?। ता तिण्णि णक्खत्ता णेंति । तं जहा—उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता । उत्तराफग्गुणी चोद्दस अहोरत्ते णेति । हत्थो पण्णरस अहोरत्ते णेति । चित्ता एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि दुवालसअंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे लेहट्ठाणि तिष्मि पदाइं पोरिसी भवति । ता गिम्हाणं बितियं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?। ता तिण्णि णक्खत्ता णेंति । तं जहा—चित्ता, साई, विसाहा । चित्ता चोद्दस अहोरत्ते णेति । साती पण्णरस अहोरत्ते णेति । विसाहा एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि अट्ठंऽगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे दो पदाइं अट्ठंऽगुलाइं पोरिसी भवति । गिम्हाणं ततियं मासं कति णक्खत्ता णेंति ? । ता चत्तारि णक्खत्ता णेंति । तं जहा—विसाहा, अणुराधा, जेट्ठा, मूलो । विसाहा चोद्दस अहोरत्ते णेति । अणुराहा सत्त, जेट्ठा अट्ठ, मूले एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि चउरंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे दो पदाणि चत्तारि य अंगुलाणि पोरिसी भवति । ता गिम्हाणं चउत्थं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?। तिन्नि णक्खत्ता णेंति । तं जहा—मूलो, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा । मूलो चोद्दस अहोरत्ते णेति । पुव्वासाढा पण्णरस अहोरत्ते णेति । उत्तरासाढा एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि वट्टाए समचउरंससंठाणसंठिताए णग्गोधपरिमंडलाए सकायमणुरंगिणीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे लेहट्ठाणि दो पदाइं पोरिसी भवति ।

(ता कहं ते णेता आहिते ति वदेज्जा) 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण भगवन् ! ते त्वया स्वयमस्तंगमनेनाहोरात्रपरिसमापको नक्षत्ररूपो नेता आख्यात इति वदेत् ? । एतदेव प्रतिमासं पिपृच्छिषुराह—(ता वासाणमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । वर्षाणां वर्षाकालस्य चतुर्मासप्रमाणस्य प्रथमं मासं श्रावणलक्षणं कति नक्षत्राणि स्वयमस्तंगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया नयन्ति गमयन्ति ? । भगवानाह—(ता चत्तारीत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । चत्वारि नक्षत्राणि स्वयमस्तंगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया क्रमेण नयन्ति । तद्यथा—उत्तराषाढा, अभिजित्, श्रवणो, धनिष्ठा च । तत्रोत्तराषाढा प्रथमान् चतुर्दश अहोरात्रान् स्वयमस्तंगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया नयति, तदनन्तरमभिजिन्नक्षत्रं सप्ताहोरात्रान्नयति । ततः परं श्रवणनक्षत्रमष्टौ अहोरात्रान्नयति । एवं च सर्वसंकलनया श्रावणमासस्यैकोनत्रिंशदहोरात्रा गताः । ततः परं श्रावणमासस्य संबन्धिनं चरममेकमहोरात्रं धनिष्ठा नक्षत्रं स्वयमस्तंगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया नयति । एवं चत्वारि नक्षत्राणि श्रावणमासं नयन्ति । (तंसि च णं-

मित्यादि) तस्मिंश्च श्रावणे मासे चतुरङ्गुलपौरुष्या चतुरङ्गुलाधिकपौरुष्या छायया सूर्योऽनु प्रतिदिवसं परावर्त्तते । किमुक्तं भवति ? -श्रावणे मासे प्रथमादहोरात्रादारभ्य प्रतिदिनमन्यान्यमण्डलसंक्रान्त्या तथा कथञ्चनापि परावर्त्तते, यथा तस्य श्रावणमासस्य पर्यन्ते चतुरङ्गुलाधिका द्विपदा पौरुषी भवति । तदेवाऽऽह-(तस्स णमित्यादि) तस्य श्रावणमासस्य चरमे दिवसे द्वे पदे चत्वारि चाङ्गुलानि पौरुषी भवति ।(ता वासाणमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । वर्षाणां वर्षाकालस्य चतुर्मासप्रमाणस्य द्वितीयं भाद्रपदलक्षणं मासं कति नक्षत्राणि नयन्ति ?। अस्य वाक्यस्य भावार्थः प्राग्वद्भावनीयः । भगवानाह-('ता' इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । चत्वारि नक्षत्राणि नयन्ति । तद्यथा-धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वाप्रोष्ठपदा, उत्तराप्रोष्ठपदा च । तत्र धनिष्ठा तस्मिन् भाद्रपदे मासे प्रथमान् चतुर्दश अहोरात्रान् स्वयमस्तंगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया नयति । तदनन्तरं शतभिषक् नक्षत्रं सप्ताहोरात्रान्, ततः परमष्टावहोरात्रान् पूर्वाप्रोष्ठपदा । तदनन्तरमेकमहोरात्रमुत्तराप्रोष्ठपदा । एवमेनं भाद्रपदं मासं चत्वारि नक्षत्राणि नयन्ति । (तंसि च णमित्यादि) तस्मिंश्च 'णं' इति वाक्यालङ्कारे । मासे भाद्रपदे अष्टाङ्गुलपौरुष्या अष्टाङ्गुलाधिकपौरुष्या छायया सूर्यो ऽनु प्रतिदिवसं परावर्त्तते । अत्राप्ययं भावार्थः-भाद्रपदे मासे प्रथमादहोरात्रादारभ्य प्रतिदिवसमन्यान्यमण्डलसंक्रान्त्या तथा कथमपि परावर्त्तते, यथा तस्य भाद्रपदस्य मासस्यान्ते अष्टाङ्गुलिका पौरुषी भवति । एतदेवाऽऽह-(तस्स णमित्यादि) सुगमम् । एवं शेषमासगतान्यपि सूत्राणि भावनीयानि, नवरं (लेहट्ठाणि तिपदाइं ति) रेखा पादपर्यन्तवर्त्तिनी सीमा, तत्स्थानि त्रीणि पदानि पौरुषी भवति । किमुक्तं भवति ?-परिपूर्णानि त्रीणि पदानि पौरुषी भवति । एषा चतुरङ्गुला प्रतिमासं वृद्धिस्तावदवसेया यावत्पौषमासः, तदनन्तरं प्रतिमासं चतुरङ्गुला हानिर्वक्तव्या । सा च तावद् यावदाषाढो मासः । तेनाऽऽषाढपर्यन्ते द्विपदा पौरुषी भवति । इदं च पौरुषीपरिमाणं व्यवहारत उक्तं, निश्चयतः सार्द्धत्रिंशता अहोरात्रैश्चतुरङ्गुला वृद्धिर्हानिर्वा वेदितव्या ।

तथा च निश्चयतः पौरुषीपरिमाणप्रतिपादनार्थमिमाः
पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शिताः सव्याख्याः करणगाथाः-

" पव्वे पण्णरसगुणे, तिहिसहिए पोरिसीएँ आणयणे ।
छलसीइसयविभत्ते, जं लद्धं तं वियाणाहि " ॥ १ ॥

व्याख्या-युगमध्ये यस्मिन् पर्वणि यस्यां तिथौ पौरुषीपरिमाणं ज्ञातुमिष्यते, ततः पूर्वयुगाऽऽदित आरभ्य यानि पर्वाण्यतिक्रान्तानि, तानि ध्रियन्ते, धृत्वा च पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, गुणयित्वा च विवक्षितायास्तिथेर्याः प्रागतिक्रान्तास्तिथयः, ताभिः सहितानि क्रियन्ते, कृत्वा च षडशीत्यधिकेन शतेन तेषां भागो ह्रियते । इह एकस्मिन्नयने त्र्यशीत्यधिकमर्कमण्डलशतपरिमाणे चन्द्रनिष्पादितानां तिथीनां षडशीत्यधिकं शतं भवति, ततस्तेन भागहरणं, भागे च हृते यल्लब्धं तद्विजानीहि, सम्यगवधारयेत्यर्थः ॥ १ ॥

"अह होइ विसम लद्धं, दक्खिणमयणं हविज्ज नायव्वं ।
अह हवइ समं लद्धं, नायव्वं उत्तरं अयणं" ॥ २ ॥

तत्र यदि लब्धं विषमं भवति, यथा-एकस्त्रिकः, पञ्चकः, सप्तको, नवको वा; तदा तत्पर्यन्तवर्त्ति दक्षिणमयनं ज्ञातव्यम् । अथ भवति लब्धं समम् । तद्यथा-द्विकश्चतुष्कः, षट्कोऽष्टको, दशको वा । तदा तत्पर्यन्तवर्त्ति उत्तरायणमवसेयम् । तदेवमुक्तो दक्षिणायनोत्तरायणपरिज्ञानोपायः ॥ २ ॥

सम्प्रति षडशीत्यधिकेन शतेन भागे हृते यच्छेषमवतिष्ठते, यदि वा भागासंभवेन यच्छेषं तिष्ठति, तद्गतविधिमाह-

"अयणगए तिहिरासी, चउग्गुणे पव्वपायभइयव्वं ।
जं लद्धमंगुलाणि य, खयवुड्ढी पोरिसीए उ" ॥ ३ ॥

'अयणगए' इत्यादि । यः पूर्वं भागे हृते, भागासंभवे वा शेषीभूतोऽयनगतस्तिथिराशिर्वर्त्तते, स चतुर्भिर्गुण्यते, गुणयित्वा च पर्वपादेन-युगमध्ये यानि सर्वसंख्यया पर्वाणि चतुर्विंशत्यधिकशतसंख्यानि, तेषां पादेन चतुर्थेनांशेन, एकत्रिंशता इत्यर्थः । तथा भागे हृते यल्लब्धं, तान्यङ्गुलानि, चकारादङ्गुलांशाश्च पौरुष्याः क्षयवृद्ध्योर्ज्ञातव्यानि । दक्षिणायने पदध्रुवराशेरुपरि वृद्धौ ज्ञातव्यानि; उत्तरायणे पदध्रुवराशेः क्षये ज्ञातव्यानीत्यर्थः ॥ अथैवंभूतस्य गुणकारस्य भागहारस्य वा कथमुपपत्तिः ?। उच्यते-यदि षडशीत्यधिकेन तिथिशतेन चतुर्विंशतिरङ्गुलानि क्षये वृद्धौ वा प्राप्यन्ते, तत एकस्यां तिथौ का वृद्धिः, क्षयो वा ?। राशित्रयस्थापना-१८६ । २४ । १ । तत्रान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्यमो राशिश्चतुर्विंशतिरूपो गुण्यते, जातः स तावानेव, 'एकेन गुणितं तदेव भवति' इति वचनात् । तत आद्येन राशिना षडशीत्यधिकशतरूपेण भागो ह्रियते, तत्रोपरितनराशेः स्तोकत्वाद्भागो न लभ्यते, ततः छेद्यच्छेदकराश्योः षट्केनापवर्त्तना, जात उपरितनो राशिश्चतुष्करूपोऽधस्तनः एकत्रिंशत्, लब्धमेकस्यां तिथौ चत्वार एकत्रिंशद्भागाः क्षये वृद्धौ चेति चतुष्को गुणकार उक्त एकत्रिंशद्भागहार इति ॥ ३ ॥

इह यल्लब्धं तान्यङ्गुलानि क्षये वृद्धौ वा ज्ञातव्यानीत्युक्तं, तत्र कस्मिन्नयने कियत्प्रमाणध्रुवराशेरुपरि वृद्धौ, कस्मिन् वा अयने । किं प्रमाणध्रुवराशेः क्षये ?, इत्येतन्निरूपणार्थमाह-

"दक्खिणेँ वुड्ढी दुपया-उ अंगुलाणं तु होइ नायव्वा ।
उत्तरअयणे हाणी, कायव्वा चउहिँ पायाहिं" ॥ ४ ॥

"दक्खिणेँ वुड्ढी" इत्यादि । दक्षिणायने द्विपदात् पदद्वयस्योपरि अङ्गुलानां वृद्धिर्ज्ञातव्या, उत्तरायणे चतुर्भ्यः पादेभ्यः सकाशादङ्गुलानां हानिः ॥ ४ ॥

तत्र युगमध्ये प्रथमे संवत्सरे दक्षिणायने यतो दिवसादारभ्य वृद्धिः, तन्निरूपयति-

"सावणबहुलपडिवए, दुपया पुण पोरिसी धुवा होइ ।
चत्तारि अंगुलाइं, मासेणं वड्ढए तत्तो ॥ ५ ॥
इक्कतीसइ भागा, तिहिए पुण अंगुलस्स चत्तारि ।
दक्खिणअयणे वुड्ढी, जाव उ चत्तारि उ पयाइं" ॥ ६ ॥

"सावण" इत्यादिगाथाद्वयम् । युगस्य प्रथमे संवत्सरे श्रावणे मासि बहुलपक्षे प्रतिपदि पौरुषी द्विपदा पदद्वयप्रमाणा ध्रुवा भवति, ततस्तस्याः प्रतिपद आरभ्य प्रतितिथिक्रमेण तावद्वर्धते यावन्मासेन सूर्यमासेन सार्द्धत्रिंशदहोरात्रप्रमाणेन चन्द्रमासापेक्षयैकत्रिंशता तिथिभिरित्यर्थः । चत्वारि अङ्गुलानि वर्धन्ते ॥५॥ कथमेतदवसीयते, यथा मासेन सूर्यमासेन सार्द्धत्रिंशदहोरात्रप्रमाणेनैकत्रिंशत्तिथ्यात्मकेनेति ?, अत आह-("इक्कतीस" इत्यादि) यत एकस्यां तिथौ चत्वार एकत्रिंशद्भागा वर्द्धन्ते, एतच्च प्रागेव भावितम् । परिपूर्णे तु दक्षिणायने वृद्धिः । परिपूर्णानि चत्वारि पदानि । ततो मासेन सूर्यमासेन सार्द्धत्रिंशदहोरात्रप्रमाणेनैकत्रिंशत्तिथ्यात्मकेनेत्युक्तम् । तदेवमुक्ता वृद्धिः ॥ ६ ॥

संप्रति हानिमाह—

"उत्तरअयणे हाणी, चउहिँ पायाहिँ जाव दो पाया ।
एवं तु पोरिसीए, वुड्ढिखया हुंति नायव्वा" ॥ ७ ॥

"उत्तर" इत्यादि । युगस्य प्रथमे संवत्सरे माघमासे बहुलपक्षे सप्तम्या आरभ्य चतुर्भ्यः पादेभ्यः सकाशात्प्रतितिथ्येकत्रिंशद्भागचतुष्टयहानिस्तावदवसेया, यावदुत्तरायणपर्यन्ते द्वौ पादौ पौरुषीति । एष प्रथमसंवत्सरगतो विधिः । द्वितीये संवत्सरे श्रावणमासि बहुलपक्षे त्रयोदशीमादौ कृत्वा वृद्धिः । माघमासे शुक्लपक्षे चतुर्थीमादिं कृत्वा क्षयः । तृतीये संवत्सरे श्रावणमासे शुक्लपक्षे दशमी वृद्धेरादिः । माघमासे बहुलपक्षे प्रतिपत् क्षयस्याऽऽदिः । चतुर्थे संवत्सरे श्रावणमासे बहुलपक्षे सप्तमी वृद्धेरादिः । माघमासे बहुलपक्षे त्रयोदशी क्षयस्याऽऽदिः । पञ्चमे संवत्सरे श्रावणमासे शुक्लपक्षे दशमी वृद्धेरादिः । माघमासे बहुलपक्षे प्रतिपत् क्षयस्याऽऽदिः । चतुर्थे संवत्सरे श्रावणे चतुर्थी वृद्धेरादिः । माघमासे शुक्लपक्षे दशमी क्षयस्याऽऽदिः । एतच्च करणगाथाऽनुपात्तमपि पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शितव्याख्यानादवसितम् । संप्रत्युपसंहारमाह—"एवं तु" इत्यादि । एवमुक्तेन प्रकारेण पौरुष्यां पौरुषीविषये वृद्धिक्षयौ यथाक्रमं दक्षिणायनेषूत्तरायणेषु वेदितव्यौ । तदेवमक्षरार्थमधिकृत्य व्याख्याता करणगाथा ॥ ७ ॥

संप्रत्यस्य करणस्य भावना क्रियते—कोऽपि पृच्छति-युग आदित आरभ्य पञ्चाशीतितमे पर्वणि पञ्चम्यां तिथौ कतिपदा पौरुषी भवति ? । तत्र चतुरशीतिर्ध्रियते, तस्याश्चाधस्तात्पञ्चम्यां तिथौ पृष्टमिति । पञ्च चतुरशीतिश्च पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातानि द्वादश शतानि षष्ट्यधिकानि १२६० । एतेषु मध्येऽधस्तनाः पञ्च प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि १२६५ । तेषां षडशीत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धाः षट्, आगतं षट् अयनान्यतिक्रान्तानि, सप्तममयनं वर्त्तते । तद्गतं च शेषमेकोनपञ्चाशदधिकं शतं तिष्ठति १४९ । ततश्चतुर्भिर्गुण्यते, जातानि पञ्चशतानि षण्णवत्यधिकानि ५९६ । तेषामेकत्रिंशता भागहरणे लब्धा एकोनविंशतिः । शेषास्तिष्ठन्ति सप्त । तत्र द्वादशाङ्गुलानि पाद इत्येकोनविंशतेर्द्वादशभिः पदं लब्धम् । शेषाणि तिष्ठन्ति सप्त अङ्गुलानि, षष्ठं चायनमुत्तरायणं, तदनन्तरं सप्तमं तु दक्षिणायनं वर्त्तते । ततः पदमेकं, सप्ताङ्गुलानि पदद्वयप्रमाणे ध्रुवराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि त्रीणि पदानि सप्ताङ्गुलानि । ये च सप्त एकत्रिंशद्भागाः शेषीभूता वर्त्तन्ते, तान् यवान् कुर्मः । तत्राष्टौ यवा अङ्गुलं इति ते सप्त अष्टभिर्गुण्यन्ते, जाताः षट्पञ्चाशत् ५६ । तस्या एकत्रिंशता भागे हृते लब्ध एको यवः । शेषास्तिष्ठन्ति यवस्य पञ्चविंशतिरेकत्रिंशद्भागाः । आगतं पञ्चाशीतितमे पर्वणि पञ्चम्यां त्रीणि पदानि, सप्ताङ्गुलानि, एको यवः, एकस्य च यवस्य पञ्चविंशतिरेकत्रिंशद्भागाः इत्येतावती पौरुषीति । तथाऽपरः कोऽपि पृच्छति-सप्तनवतितमे पर्वणि पञ्चम्यां तिथौ कतिपदा पौरुषी भवति ? । तत्र षण्णवतिर्ध्रियते, तस्याश्चाधस्तात् पञ्च षण्णवतिश्च पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातानि चतुर्दश शतानि चत्वारिंशदधिकानि १४४० । तेषां मध्येऽधस्तनाः पञ्च प्रक्षिप्यन्ते । जातानि चतुर्दशशतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि १४४५ । तेषां षडशीत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धानि सप्त अयनानि । शेषं तिष्ठति त्रिचत्वारिंशदधिकं शतम् १४३ । तच्चतुर्भिर्गुण्यते, जातानि पञ्च शतानि द्विसप्तत्यधिकानि ५७२ । तेषामेकत्रिंशता भागो ह्रियते, लब्धान्यष्टादश अङ्गुलानि १८ । तेषां मध्ये द्वादशभिरङ्गुलैः पदमिति लब्धमेकं पदमङ्गुलानि, उपरि चांशा उद्वरन्ति चतुर्दश, ते यवाऽऽनयनार्थमष्टभिर्गुण्यन्ते, जातं द्वादशोत्तरं शतम् ११२ । तस्यैकत्रिंशता भागे हृते लब्धास्त्रयो यवाः, शेषास्तिष्ठन्ति यवस्यैकोनविंशतिरेकत्रिंशद्भागाः, सप्त चायनान्यतिक्रान्तानि । अष्टमं वर्त्तते, अष्टमं चायनमुत्तरायणम्, उत्तरायणे च पदचतुष्टयरूपात् ध्रुवराशेर्हानिर्वक्तव्या, तत एकं पदं षडङ्गुलानि, त्रयो यवाः, एकस्य च यवस्यैकोनविंशतिरेकत्रिंशद्भागा इति पदचतुष्टयात् पात्यते, शेषं तिष्ठति द्वे पदे चत्वारि चाङ्गुलानि, चत्वारो यवाः, एकस्य च यवस्य द्वादश एकत्रिंशद्भागाः । एतावती युगे आदित आरभ्य सप्तनवतितमे पर्वणि पञ्चम्यां तिथौ पौरुषीति । एवं सर्वत्र भावनीयम् ।

संप्रति पौरुषीपरिमाणतोऽयनगतपरिमाणज्ञापनार्थमियं करणगाथा—

"वुड्ढी वा हाणी वा, जावइया पोरिसीएँ दिट्ठाओ ।
तत्तो दिवसगएणं, जं लद्धं तं खु अयणगयं ॥ ८ ॥"

"वुड्ढी वा" इत्यादि । पौरुष्यां यावती वृद्धिर्हानिर्वा दृष्टा, ततः सकाशाद् दिवसगतेन प्रवर्तमानेन वा त्रैराशिककर्मानुसारतो यल्लब्धं, तदयनगतमयनस्य तावत्प्रमाणं गतं वेदितव्यम् । एष करणगाथाऽक्षरार्थः ॥ ८ ॥

भावना त्वियम्—तत्र दक्षिणायने पदद्वयस्योपरि चत्वार्यङ्गुलानि वृद्धौ दृष्टानि । ततः कोऽपि पृच्छति—कियद् गतं दक्षिणायनस्य ? । अत्र त्रैराशिककर्मावतारः; यदि चतुर्भिरङ्गुलस्यैकत्रिंशद्भागैरेका तिथिर्लभ्यते, ततश्चतुर्भिरङ्गुलैः कति तिथीर्लभामहे ? । राशित्रयस्थापना—४ । १ । ४ । अत्रान्त्यो राशिरङ्गुलरूप एकत्रिंशद्भागकरणार्थमेकत्रिंशता गुण्यते, जातं चतुर्विंशत्यधिकं शतम् १२४ । तेन मध्यो राशिर्गुण्यते, जातं तदेव चतुर्विंशत्यधिकं शतम् १२४, 'एकेन गुणितं तदेव भवति' इति वचनात् । तस्य चतुष्करूपेणाऽऽदिराशिना भागो ह्रियते, लब्धा एकत्रिंशत्तिथयः । आगतं दक्षिणायने एकत्रिंशत्तमायां तिथौ चतुरङ्गुला पौरुष्यां वृद्धिरिति । तथा उत्तरायणे पदचतुष्टयादङ्गुलाष्टकं हीनं पौरुष्यामुपलभ्य कोऽपि पृच्छति—कियद् गतमुत्तरायणस्य ? । अत्रापि त्रैराशिकम् । यदि चतुर्भिरङ्गुलस्यैकत्रिंशद्भागैरेका तिथिर्लभ्यते, ततोऽष्टभिरङ्गुलैर्हीनैः कति तिथयो लभ्यन्ते ? । राशित्रयस्थापना—४ । १ । ८ । अत्रान्त्यो राशिरेकत्रिंशद्भागकरणार्थमेकत्रिंशता गुण्यते, जाते द्वे शतेऽष्टाचत्वारिंशदधिके २४८ । ताभ्यां मध्यो राशिरेकरूपो गुण्यते, जाते ते एव द्वे शते अष्टाचत्वारिंशदधिके २४८ । तयोराद्येन राशिना चतुष्करूपेण भागहरणम्, लब्धा द्वाषष्टिः ६२ । आगतमुत्तरायणे द्वाषष्टितमायां तिथावष्टावङ्गुलानि पौरुष्यां हीनानीति ।

"तंसि च णं मासंसि वट्टाए" इत्यादि । तस्मिन्नाषाढे मासे प्रकाश्यस्य वस्तुनो वृत्तस्य वृत्तया, समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितस्य च समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितया, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानस्य न्यग्रोधपरिमण्डलया । उपलक्षणमेतत्-शेषसंस्थानसंस्थितस्य प्रकाश्यस्य वस्तुनः शेषसंस्थितया । आषाढे हि मासे प्रायः सर्वस्यापि प्रकाश्यस्य वस्तुनो दिवसस्य चतुर्भागेऽतिक्रान्ते शेषे वा स्वप्रमाणा छाया भवति । निश्चयतः पुनराषाढमासस्य चरममण्डले, तत्रापि सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्तमाने सूर्ये । ततो यत्प्रकाश्यं वस्तु यत्संस्थानं भवति, तस्य छायाऽपि तथासंस्थानैवोपजायते । तत्र च-

कं वृषस्य वृषया इत्यादि । एतदेवाऽऽह-स्वकायमनुरङ्गि-ण्या-स्वस्य स्वकीयस्य छायानिबन्धनस्य वस्तुनः कायः शरीरं स्वकायः, तमनुरज्यते अनुकारं विदधातीत्येवंशीला स्वकायानुरङ्गिणी । "संपृचानुरुधाङ्यमाङ्यसपरिसृसंसृजप-रिदेवि संज्वरपरिक्षिपपरिरटपरिवदपरिदहपरिमुहदुषद्विष-द्रुह०-" ॥ ३ । २ । १४२ ॥ (पाणि०) इत्यादिना घिनुण् प्रत्ययः । तया स्वकायमनुरङ्गिण्या छायया सूर्योऽनु प्रतिदिवसं परावर्तते । एतदुक्तं भवति-आषाढस्य प्रथमादहोरात्रादारभ्य प्रतिदिवसमन्यान्यमण्डलसंक्रान्त्या तथा कथञ्चनापि सूर्यः परावर्तते, यथा सर्वस्यापि प्रकाश्यस्य वस्तुनो दिवसस्य चतुर्भागेऽतिक्रान्ते, शेषे वा स्वानुकारा स्वप्रमाणा च छाया भवतीति । शेषं सुगमम् । सू० प्र० १० पाहु० १ पाहु० । (नक्षत्राण्यधिकृत्य चन्द्रमार्गाः 'चंदमग्ग' शब्दे तृतीयभागे १०८५ पृष्ठे उक्ताः)

(१६) नक्षत्राणां देवताः-

ता कहं ते देवताणं अज्झयणा आहिता ति वदेज्जा ? । ता एएसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अभिई णक्खत्ते किं-देवताए पण्णत्ते ? । ता बंभदेवताए पण्णत्ते । सवणे णक्खत्ते किंदेवताए पण्णत्ते ? । ता विण्हुदेवताए पण्णत्ते । धणिट्ठा णक्खत्ते किंदेवताए पण्णत्ते ? । ता वसुदेवताए पण्णत्ते । सयभिसया णक्खत्ते किंदेवताए पण्णत्ते ? । ता वरुणदे-वताए पण्णत्ते । पुव्वापोट्ठवया णक्खत्ते किंदेवताए पण्ण-त्ते ? । अजदेवताए पण्णत्ते । उत्तरापोट्ठवया णक्खत्ते किं-देवताए पण्णत्ते ? । ता अहिवड्ढिदेवताए पण्णत्ते । एवं सव्वे वि पुच्छिज्जंति । रेवती पुस्सदेवयाए, अस्सिणी अस्सदेवयाए, भरणी जमदेवयाए, कत्तिया अग्गिदेवयाए, रोहिणी पयावइदेवयाए, संठाणा सोमदेवयाए, अद्दा रुद्द-देवयाए, पुणव्वसू अदितिदेवयाए, पुस्सो बहस्सइदेवयाए, अस्सेसा सप्पदेवयाए, महा पितिदेवयाए, पुव्वाफग्गुणी भगदेवयाए, उत्तराफग्गुणी अज्जमदेवयाए, हत्थे सवित-देवयाए, चित्ता तट्ठदेवयाए, साती वाउदेवयाए, विसाहा इंदग्गिदेवयाए, अणुराधा मित्तदेवयाए, जेट्ठा इंददेव-याए, मूले णिरितिदेवयाए, पुव्वासाढा आउदेवयाए, उत्तरासाढा विस्सदेवयाए पण्णत्ता ॥

"ता कहं ते देवताणं" इत्यादि । 'ता' इति । पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण भगवन् ! त्वया नक्षत्राधिपतीनां देवतानामध्ययनानि, अधीयन्ते ज्ञायन्ते यैस्तान्यध्ययनानि, नामानीत्यर्थः । आख्यातानीति वदेत् ? । एवं प्रश्ने कृते भगवानाह-"ता एएसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामनन्तरोदितानामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्येऽभिजिन्नक्षत्रं किंदेवताकं किंनामधेयदेवताकं प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह-'ता' इत्यादि । 'ता' इति प्राग्वत् । ब्रह्मदेवताकं ब्रह्माभिधदेवताकं प्रज्ञप्तम् । श्रवणनक्षत्रं किंदेवताकं प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह-'ता' इत्यादि । विष्णुदेवताकं विष्णुनामदेवताकं प्रज्ञप्तम् । एवं शेषाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि ।

देवताऽभिधानसंग्राहिकाश्चेमास्तिस्रः प्रवचनप्र-सिद्धाः संग्रहणिगाथाः-

"बम्हा विण्हू य वसू, वरुणो तह अजो अणंतरं होइ ।
अभिवड्ढि पूस अंस-म्ब जेव परतो जमो होइ ॥ १ ॥
अग्गि पयावइ सोमे, रुद्दे अदिई बहस्सई चेव ।
सप्पे पिइ भग अज्जम, सविया तट्ठा य वाऊ य ॥ २ ॥
इंदग्गी मित्तो वि य, इंदे निरई य आउ विस्सो अ ।
नामाणि देवयाणं, हवंति रिक्खाण जहकमसो ॥ ३ ॥"
जं० ७ वक्ख० । सू० प्र० १० पाहु० १४ पाहु० ।

(२०) नक्षत्राणां गोत्राणि-

ता कहं ते गोत्ता आहिता ति वदेज्जा ? । ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अभिई णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । ता मोग्गलायणसगोत्ते पण्णत्ते । सवणे ण-क्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । संखायणसगोत्ते पण्णत्ते । धणिट्ठा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । अग्गतावसगोत्ते प-ण्णत्ते । सतभिसया णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । क-ण्णायणसगोत्ते पण्णत्ते । पुव्वापोट्ठवता णक्खत्ते किं-गोत्ते पण्णत्ते ? । जाउकण्णीयसगोत्ते पण्णत्ते । उत्तरा-पोट्ठवता णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । धणंजयसगोत्ते पण्णत्ते । रेवती णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । पुस्सायणसगोत्ते पण्णत्ते । अस्सिणी णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । अस्साय-णसगोत्ते पण्णत्ते । भरणी णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । भग्गवेससगोत्ते पण्णत्ते ? । कत्तिया णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । अग्गिवेससगोत्ते पण्णत्ते ? । रोहिणी ण-क्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । गोतमसगोत्ते पण्णत्ते । संठाणा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । भारद्दायसगोत्ते पण्णत्ते । अद्दा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । लोहि-च्चायणसगोत्ते पण्णत्ते । पुणव्वसू णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । वासिट्ठसगोत्ते पण्णत्ते । पुस्से णक्खत्ते किं-गोत्ते पण्णत्ते ? । ओमजायणसगोत्ते पण्णत्ते । अस्सेसा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । मंडव्वायणसगोत्ते पण्ण-त्ते । महा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । पिंगायणस-गोत्ते पण्णत्ते ? । पुव्वाफग्गुणी णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । गोवल्लायणसगोत्ते पण्णत्ते । उत्तराफग्गुणी णक्खत्ते किं-गोत्ते पण्णत्ते ? । कासवगोत्ते पण्णत्ते । हत्थे णक्खत्ते किं-गोत्ते पण्णत्ते ? । कोसियगोत्ते पण्णत्ते । चित्ता णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । दब्भायणसगोत्ते पण्णत्ते । साई णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । चामरच्छगोत्ते पण्णत्ते । विसाहा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । सुंगायणसगोत्ते प-ण्णत्ते । अणुराधा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । गोल-व्वायणसगोत्ते पण्णत्ते । जेट्ठा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? ।

तिगिच्छायणसगोत्ते पण्णत्ते । मूले णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। कच्चायणसगोत्ते पण्णत्ते । पुव्वासाढा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। बज्झियायणसगोत्ते पण्णत्ते । उत्तरासाढा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। वग्घावच्चसगोत्ते पण्णत्ते ।

इह नक्षत्राणां स्वरूपतो न गोत्रसंभवः, यत इदं गोत्रस्य स्वरूपं लोके प्रसिद्धिमुपागमत्-प्रकाशकाऽऽद्यपुरुषाभिधानस्तदपत्यसन्तानो यन्नामाभिधानो गोत्रमिति । न चैवंस्वरूपं नक्षत्राणां गोत्रं संभवति, तेषामौपपातिकत्वात् । तत इत्थं गोत्रसंभवो द्रष्टव्यः-यस्मिन्नक्षत्रे शुभैरशुभैर्वा ग्रहैः समानं यस्य गोत्रस्य यथाक्रमं शुभमशुभं वा भवति, तत्तस्य गोत्रम्, ततः प्रश्नोपपत्तिः । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं त्वया नक्षत्राणां गोत्राणि आख्यातानीति वदेत् ?। भगवानाह-" ता एएसि णं " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्येऽभिजिन्नक्षत्रं मौद्गल्यायनसगोत्रं मौद्गल्यायनेन सह गोत्रेण वर्त्तते यत्तथा । श्रवणनक्षत्रं सङ्ख्यायनसगोत्रम् । एवं शेषाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि ।

क्रमेण गोत्रसंग्राहिकाश्चेमा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसत्काश्चतस्रः संग्रहणिगाथाः-

" मोग्गल्लायण संखा-यणे य तह अग्गभाव कण्णिल्ले ।
तत्तो य जाउकण्णे, धणंजए चेव बोधव्वे ॥ १ ॥
पुस्सायणे अस्साय-णे, य भग्गवेसे य अग्गिवेसे य ।
गोयम भारद्दाए, लोहिच्चे चेव वासिट्ठे ॥ २ ॥
ओमज्जायणे मंडु-व्वायण पिंगायणे य गोवल्ले ।
कासव कोसिय दब्भा-यण चामरच्छा य सुंगा य ॥ ३ ॥
गोलव्वायण तिगिच्छा-यणे य कच्चायणे हवइ मूले ।
तत्तो य वज्झियायणे, वग्घावच्चे य गोत्ताइं ॥ ४ ॥ "

(जं० ७ वक्ख०) सू० प्र० १० पाहु० १६ पाहु० । चं० प्र० ।

(२१) संप्रति भोजनानि वक्तव्यानि. ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते भोयणा आहिता ति वदेज्जा ?। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं कत्तियाहिं दधिणा भोच्चा कज्जं साधेति ?। रोहिणीहिं वसभमंसं भोच्चा कज्जं साहेति । संठाणाहिं मिगमंसं भोच्चा कज्जं साहेति । अद्दाहिं णवणीतेण भोच्चा कज्जं साहेति । पुणव्वसुणा घतेणं भोच्चा कज्जं साधेति । पुस्सेणं खीरेणं भोच्चा कज्जं साधेति । अस्सेसाहिं दीवगमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । महाहिं कसोरिं भोच्चा कज्जं साधेति । पुव्वाफग्गुणीहिं मेढगमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । उत्तराहिं फग्गुणीहिं णखीमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । हत्थेणं वच्छाणीयपच्छेणं भोच्चा कज्जं साधेति । चित्ताहिं मुग्गसूवेणं भोच्चा कज्जं साधेति । सादिणा फलाइं भोच्चा कज्जं साधेति । विसाहाहिं आसित्तिआ भोच्चा कज्जं साधेति । अणुराहाहिं मासाकूरं भोच्चा कज्जं साधेति । जेट्ठाहिं कोलट्ठिएणं भोच्चा कज्जं साधेति । मूलेण मूलगसागेणं भोच्चा कज्जं साधेति । पुव्वाहिं आसाढाहिं आमलगसारिएणं भोच्चा कज्जं साधेति । उत्तराहिं आसाढाहिं बिल्लेहिं भोच्चा कज्जं साधेति । अभिइणा पुप्फेहिं भोच्चा कज्जं साधेति । सवणेणं खीरेणं भोच्चा कज्जं साधेति । धणिट्ठाहिं जूसेणं भोच्चा कज्जं साधेति । सयभिसयाए तुवरीओ भोच्चा कज्जं साधेति । पुव्वाहिं पोट्ठवयाहिं कारिल्लएहिं भोच्चा कज्जं साधेति । उत्तराहिं पोट्ठवताहिं वराहमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । रेवतीहिं जलयरमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । अस्सिणीहिं तित्तिरमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । भरणीहिं तिलतंदुलकं भोच्चा कज्जं साधेति ।

ता कहं ते भोयणा इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण नक्षत्रविषयाणि भोजनानि आख्यातानीति वदेत् ?। भगवानाह-"ता एएसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामनन्तरोदितानामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये कृत्तिकाभिः पुमान् कार्यं साधयति दध्ना संमिश्रमोदनं भुक्त्वा । किमुक्तं भवति ?-कृत्तिकासु प्रारब्धं कार्यं दध्नि भुक्ते प्रायो निर्विघ्नं सिद्धिमासादयतीति भावः । एवं शेषेष्वपि सूत्रेषु भावना द्रष्टव्या । सू० प्र० १० पाहु० १७ पाहु० । चं० प्र० ।

(२२) किं नक्षत्रं किं द्वारिकम्-

ता कहं ते जोतिसस्स दारा आहिता ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमाओ पंच पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थेगे एवमाहंसु-ता कत्तियादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । १ । एगे पुण एवमाहंसु-ता अणुराहादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । २ । एगे पुण एवमाहंसु-ता धणिट्ठादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । ३ । एगे पुण एवमाहंसु-अस्सिणीयादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । ४ । एगे पुण एवमाहंसु-ता भरणियादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता । ५ । तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता कत्तियादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, ते एवमाहंसु-तं जहा-कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू, पुस्सो, अस्सेसा । महादिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता । तं जहा-महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साई, विसाहा । अणुराधादिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता । तं जहा-अणुराधा, जेट्ठा, मूले, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा, अभिई, सवणो । धणिट्ठादिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता । तं जहा-धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वापोट्ठवता, उत्तरापोट्ठवता, रेवती, अस्सिणी, भरणी । तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता महादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, ते एवमाहंसु-तं जहा-पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साती, विसाहा । अणुराधादिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता ।

तं जहा—अणुराधा, जेट्ठा, मूले, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा, अभिई, सवणो । धणिट्ठाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता । तं जहा—धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वापोट्ठवता, उत्तरापोट्ठवता, रेवती, अस्सिणी, भरणी । कत्तियाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता । तं जहा—कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू, पुस्सो, अस्सेसा । तत्थ जे ते एवमाहंसु—ता धणिट्ठाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, ते एवमाहंसु—तं जहा—धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वाभद्दवया, उत्तराभद्दवया, रेवती, अस्सिणी, भरणी । कत्तियाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता । तं जहा—कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू, अस्सेसा । महाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता । तं जहा—महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साती, विसाहा । अणुराधाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता । तं जहा—अणुराधा, जेट्ठा, मूले, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा, अभिई, सवणो । तत्थ जे ते एवमाहंसु—ता अस्सिणीआदिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, ते एवमाहंसु—तं जहा—अस्सिणी, भरणी, कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू । पुस्साऽऽदिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता । तं जहा—पुस्सा, अस्सेसा, महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता । सातीआदिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता । तं जहा—साती, विसाहा, अणुराहा, जेट्ठा, मूलो, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा । अभिईआदिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता । तं जहा—अभिई, सवणो, धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वाभद्दवया, उत्तराभद्दवया, रेवती । तत्थ जे ते एवमाहंसु—ता भरणीआदिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, ते एवमाहंसु—तं जहा—भरणी, कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू, पुस्सो । अस्सेसाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता । तं जहा—अस्सेसा, महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साई । विसाहाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता । तं जहा—विसाहा, अणुराहा, जेट्ठा, मूलो, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा, अभिई । सवणाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता । तं जहा—सवणो, धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वापोट्ठवया, उत्तरापोट्ठवया, रेवती, अस्सिणी । एते एवमाहंसु । वयं पुण एवं वदामो—ता अभिईआदिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता । तं जहा—अभिई, सवणो, धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वापोट्ठवया, उत्तरापोट्ठवया, रेवती । अस्सिणीआदिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता । तं जहा—अस्सिणी, भरणी, कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू । पुस्साऽऽदिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता । पुस्से, अस्सेसा, महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता । सातीआदिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता । तं जहा—साती, विसाहा, अणुराहा, जेट्ठा, मूले, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा ॥

" ता कहं ते जोइसदारा " इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण, केन क्रमेणेत्यर्थः ? ज्योतिषो नक्षत्रचक्रस्य, द्वाराणि आख्यातानीति वदेत् ? । एवमुक्ते भगवानेतद्विषये यावत्यः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयः, तावतीरुपदर्शयति—(तत्थेत्यादि) तत्र द्वारविचारविषये खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्च परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयः प्रज्ञप्ताः । ता एव क्रमेणाऽऽह—" तत्थेगे " इत्यादि । तत्र तेषां पञ्चानां परतीर्थिकसंघातानां मध्ये एके एवमाहुः—कृत्तिकाऽऽदीनि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारकाणि प्रज्ञप्तानि । इह येषु नक्षत्रेषु पूर्वस्यां दिशि गच्छतः प्रायः शुभमुपजायते, तानि पूर्वद्वारकाणि । एवं दक्षिणद्वारकाऽऽदीन्यपि वक्ष्यमाणानि भावनीयानि । अत्रैवोपसंहारमाह—"एगे एवमाहंसु" । एके पुनरेवमाहुः—अनुराधाऽऽदीनि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारकाणि प्रज्ञप्तानि । अत्राप्युपसंहारमाह—"एगे एवमाहंसु" । एवं शेषाण्युपसंहारवाक्यानि योजनीयानि । एके पुनरेवमाहुः—धनिष्ठाऽऽदीनि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारकाणि । एके पुनरेवमाहुः—अभिजिदादीनि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारकाणि प्रज्ञप्तानि । एके पुनरेवमाहुः—भरण्यादीनि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारकाणि । संप्रत्येतेषामेव पञ्चानामपि मतानां भावनिकामाह—" तत्थ जे ते एवमाहंसु " इत्यादि सुगमम् । भगवान् स्वमतमाह—" वयं पुण " इत्यादि पाठसिद्धम् । सू० प्र० १० पाहु० २१ पाहु० ।

(२३) नक्षत्रविचयः—

ता कहं ते णक्खत्तविचए आहिते ति वदेज्जा ? । ता अयं णं जंबुद्दीवे दीवे० जाव परिक्खेवेणं । ता जंबुद्दीवे णं दीवे दो चंदा पभासेंसु वा, पभासेंति वा, पभासिस्संति वा । दो सूरिया तविंसु वा, तवेंति वा, तविस्संति वा । छप्पण्णं णक्खत्ता जोयं जोएंसु वा, जोयंति वा, जोइस्संति वा । तं जहा—दो अभिई, दो सवणा, दो धणिट्ठा, दो सतभिसया, दो पुव्वापोट्ठवया, दो उत्तरापोट्ठवया, दो रेवती, दो अस्सिणी, दो भरणी, दो कत्तिया, दो रोहिणी, दो संठाणा, दो अद्दा, दो पुणव्वसू, दो पुस्सा, दो अस्सेसा, दो महा, दो पुव्वाफग्गुणी, दो उत्तराफग्गुणी, दो हत्था, दो चित्ता, दो साई, दो विसाहा, दो अणुराधा, दो जेट्ठा, दो मूला, दो पुव्वासाढा, दो उत्तरासाढा । ता एएसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ता, जे णं णव मुहुत्ते, सत्तावीसं

च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता,जे णं पण्णरस मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता,जे णं तीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं पणयालीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं कतरे णक्खत्ते, जे णं णव मुहुत्ते सत्तावीसं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति ?। कतरे णक्खत्ता, जे णं पण्णरस मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति ?। कतरे णक्खत्ता, जे णं तीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति ?। कतरे णक्खत्ता, जे णं पणतालीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति ?। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं, तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं णव मुहुत्ते सत्तावीसं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति । ते णं दो अभिई । तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं पण्णरस मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं बारस । तं जहा—दो सतभिसया, दो भरणी, दो अद्दा,दो असेसा,दो साती,दो जेट्ठा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं तीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति । ते णं तीसं । तं जहा—दो सवणा, दो धणिट्ठा, दो पुव्वाभद्दवया, दो रेवती, दो अस्सिणी, दो कत्तिया, दो संठाणा, दो पुस्सा, दो महा, दो पुव्वाफग्गुणी, दो हत्था, दो चित्ता, दो अणुराधा, दो मूला, दो पुव्वासाढा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं पणयालीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति । ते णं बारस । तं जहा—दो उत्तरापोट्ठवया, दो रोहिणी, दो पुणव्वसू,दो उत्तराफग्गुणी, दो विसाहा, दो उत्तरासाढा॥ ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ता, जे णं चत्तारि अहोरत्ते छच मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं छ अहोरत्ते एक्कवीसं च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति । अत्थि णक्खत्ता, जे णं तेरस अहोरत्ते बारस मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं वीसं अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताण कयरे णक्खत्ता, जे णं तं चेव उच्चारेयव्वं ?। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं, तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं चत्तारि अहोरत्ते छच मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं दो अभिई। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं छ अहोरत्ते एक्कवीसं च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति । ते णं बारस । तं जहा—दो सतभिसया, दो भरणी, दो अद्दा, दो अस्सेसा, दो साती, दो जेट्ठा । तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं तेरस अहोरत्ते बारस मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति । ते णं तीसं । तं जहा—दो सवणा० जाव दो पुव्वासाढा । तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं वीसं अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति । ते णं बारस । तं जहा—दो उत्तरापोट्ठवया० जाव दो उत्तरासाढा ।

"ता कहं ते" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण (णक्खत्तविचए त्ति) विपूर्वश्चिञ् स्वभावात् स्वरूपनिर्णये वर्तते । तथा चोक्तमन्यत्र-" आप्तवचनं प्रवचनं, ज्ञाता विचयस्तदर्थनिर्णयनम् । " तत्र विचयनं विचयः, नक्षत्राणां विचयो नक्षत्रविचयः-नक्षत्राणां स्वरूपनिर्णयः, आख्यात इति वदेत् ?। भगवानाह-" ता अयं णं " इत्यादि । इदं जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत् परिपूर्णं स्वयं कृत्वा परिभावनीयम् । " ता जंबुद्दीवे णं " इत्यादि । तत्र जम्बूद्वीपे, णमिति वाक्यालङ्कारे । द्वीपे द्वौ चन्द्रौ प्रभासितवन्तौ, प्रभासेते, प्रभासिष्येते । द्वौ सूर्यौ तापितवन्तौ, तापयतः, तापयिष्यतः । षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि चन्द्राऽऽदिभिः सह योगमयुञ्जन्, युञ्जन्ति, योक्ष्यन्ति । तत्र तान्येव षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि दर्शयति-(तं जहा) इत्यादि सुगमम् । इह भरतक्षेत्रे प्रतिदिवसमष्टाविंशतिरेव नक्षत्राणि चारं चरन्ति । ततः पूर्वमस्य दशमस्य प्राभृतस्य द्वितीये प्राभृतप्राभृतेऽष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां चन्द्रमसा सूर्येण च सह योगपरिमाणं चिन्तितम् । संप्रति पुनः सकलमेव जम्बूद्वीपमधिकृत्य नक्षत्राणि चिन्त्यमानानि वर्तन्ते, तानि च सर्वसंख्यया षट्पञ्चाशत् । ततस्तेषां सर्वेषामपि चन्द्रसूर्याभ्यां सह योगमधिकृत्य मुहूर्तपरिमाणं चिचिन्तयिषुरिदमाह-" ता एएसि णं " इत्यादि । एतच्च प्रागुक्तद्वितीयप्राभृतप्राभृतवत्परिभावनीयम् । तदेवं कालमधिकृत्य चन्द्रमसा सूर्येण च सह योगपरिमाणं चिन्तितम् ।

संप्रति क्षेत्रमधिकृत्य तं चिचिन्तयिषुः प्रथमतः सीमाविष्कम्भविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते सीमाविक्खंभे आहिते ति वदेज्जा ?। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ता,जेसि णं छसया तीसा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो । अत्थि णक्खत्ता, जेसि णं सहस्सं पंचोत्तरं सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो । अत्थि णक्खत्ता, जेसि णं दो सहस्सा दसुत्तरा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। अत्थि णक्खत्ता, जेसि णं तिण्णि सहस्सा पण्णरसुत्तरा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो । ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं कतरे णक्खत्ता, जेसि णं छसया तीसा० तं चेव उच्चारेयव्वं ?। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं तत्थ जे ते णक्खत्ता, जेसि णं छसया तीसा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। ते णं दो अभिई। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जेसि णं सहस्सं पंचोत्तरं सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। ते णं बारस। तं जहा—दो सतभिसया० जाव दो जेट्ठा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जेसि णं दो सहस्सा दसुत्तरा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। ते णं तीसं। तं जहा—दो सवणा० जाव दो पुव्वासाढा । तत्थ जे ते णक्खत्ता, जेसि णं ति-

एिण सहस्सा पएणरसुत्तरा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो । ते णं बारस । तं जहा–दो उत्तरापोट्ठवता० जाव दो उत्तरासाढा ।

"ता कहं ते" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण, कियत्या विभागसंख्यया इत्यर्थः । भगवन् ! त्वया सीमाविष्कम्भ आख्यात इति वदेत् ? । भगवानाह–"ता एतेसि णं" इत्यादि । इहाष्टाविंशत्या नक्षत्रैः स्वगत्या स्वकालपरिमाणेन क्रमशो यावत् क्षेत्रं बुद्ध्या व्याप्यमानं संभाव्यते, तावदेकमर्द्धमण्डलमुपकल्प्यते, एतावत्प्रमाणमेव द्वितीयमर्द्धमण्डलम्, इत्येवंप्रमाणं बुद्धिपरिकल्पितमेकं परिपूर्णमण्डलम् । तस्य मण्डलस्य "मंडलसयसहस्सेण अट्ठाणउतीए सयहिं छेत्ता इमेस णक्खत्तखेत्तपरिभागे णक्खत्तविचए पाहुडे आहिए त्ति बेमि" इति वक्ष्यमाणवचनात् अष्टानवतिशताधिकशतसहस्रविभागैर्विभज्यते । किमेवं संख्याकं भागानां कल्पते निबन्धनमिति चेत् ? । उच्यते–इह त्रिविधानि नक्षत्राणि । तद्यथा–समक्षेत्राणि, अर्द्धक्षेत्राणि, द्व्यर्द्धक्षेत्राणि च । तत्र यावत्प्रमाणं क्षेत्रमहोरात्रेण गम्यते नक्षत्रैः, तावत्क्षेत्रप्रमाणं चन्द्रेण सह योगमुपयान्ति गच्छन्ति, तानि समक्षेत्राणि । तानि पञ्चदश । तद्यथा–श्रवणो, धनिष्ठा, पूर्वाभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरः, पुष्यः, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्तं, चित्रा, अनुराधा, मूलम्, पूर्वाषाढा इति । तथा यानि अहोरात्रप्रमितस्य क्षेत्रस्यार्द्धं च चन्द्रेण सह योगमश्नुवते, तान्यर्द्धक्षेत्राणि, तानि च षट् । तद्यथा–शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वातिर्ज्येष्ठेति । तथा द्वितीयमर्द्धं यस्य तद् द्व्यर्द्धं, सार्द्धमित्यर्थः । द्व्यर्द्धमर्द्धाधिकं क्षेत्रमहोरात्रप्रमितं चन्द्रेण योगयोग्यं येषां तानि द्व्यर्द्धक्षेत्राणि । तान्यपि षट् । तद्यथा–उत्तराभाद्रपदा, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, रोहिणी, पुनर्वसु, विशाखा चेति । तत्र सीमापरिमाणचिन्तायामहोरात्रः सप्तषष्टिभागीक्रियते, इति समक्षेत्राणां क्षेत्रं प्रत्येकं सप्तषष्टिभागाः परिकल्प्यन्ते । अर्द्धक्षेत्राणां त्रयस्त्रिंशदर्द्धं च द्व्यर्द्धक्षेत्राणां शतमेकमर्द्धं च अभिजिन्नक्षत्रस्यैकविंशतिसप्तषष्टिभागाः । समक्षेत्राणि च नक्षत्राणि पञ्चदशेति सप्तषष्टिः पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातं सहस्रं पञ्चोत्तरम् १००५ । अर्द्धक्षेत्राणि षडिति । ततः सार्द्धा त्रयस्त्रिंशत्षड्भिर्गुण्यते, जाते द्वे शते एकोत्तरे २०१ । द्व्यर्द्धक्षेत्राण्यपि षट् । ततः शतमेकमर्द्धं च षड्भिस्ताड्यते, जातानि षट् शतानि व्युत्तराणि ६०३ । अभिजिन्नक्षत्रस्य एकविंशतिः, सर्वसंख्यया जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । एतावद्भागपरिमाणमेकमर्द्धमण्डलम्, एतावद्भागमेव द्वितीयमिति त्रिंशदधिकान्यष्टादशशतानि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि ३६६० । एकैकस्मिन्नहोरात्रे किल त्रिंशन्मुहूर्ता इति प्रत्येकमेतेषु षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतसंख्येषु भागेषु त्रिंशद्भागकल्पनायां त्रिंशता गुण्यन्ते, जातमेकं शतसहस्रमष्टानवतिशतानि । १०९८०० । तत इत्थं मण्डलस्य भागान् परिकल्प्य भगवान् प्रतिवचनं ददाति–"ता" इति । तत्र एतेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये, अस्तीति निपातत्वादार्षत्वाद्वा स्तः, ते नक्षत्रे, ययोः प्रत्येकं षट् शतानि त्रिंशानि त्रिंशदधिकानि, सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः सीमापरिमाणम् । तथाऽस्तीति सन्ति तानि नक्षत्राणि, येषां प्रत्येकं पञ्चोत्तरं सहस्रं सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः । सन्ति तानि नक्षत्राणि, येषां प्रत्येकं द्वे सहस्रे दशोत्तरे सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः । सन्ति तानि नक्षत्राणि, येषां प्रत्येकं त्रीणि सहस्राणि पञ्चदशोत्तराणि, सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः । एवं भगवता सामान्येनोक्ते भगवान् गौतमो विशेषावगमनिमित्तं भूयः प्रश्नयति–"ता एतेसि णं" इत्यादि । तत्र एतेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये कतराणि तानि नक्षत्राणि, येषां षट्शतानि त्रिंशानि सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः ? । (तं चेव उच्चारेयव्वं ति) तदेवानन्तरोक्तमुक्तप्रकारेणोच्चारयितव्यम् । तद्यथा–"कयरे खलु णक्खत्ता, जेसिं सहस्सं पंचोत्तरं सत्तट्ठिभागतीसइभागाणं सीमाविक्खंभो ? । कयरे णक्खत्ता, जेसिं दो सहस्सा दसुत्तरा सत्तट्ठिभागतीसइभागाणं सीमाविक्खंभो" इति । चरमं तु सूत्रं साक्षादाह–"कयरे णक्खत्ता" इत्यादि । एतानि त्रीणि सूत्राणि सुगमानि । भगवानाह–"ता एतेसि णं" इत्यादि । तत्र एतेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि, येषां षट्शतानि त्रिंशानि सप्तषष्टिभागत्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः । ते द्वे अभिजिन्नक्षत्रे । कथमेतदवसीयते ?, इति चेत् । उच्यते–इह एकैकस्याभिजितो नक्षत्रस्य सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रगम्यस्य क्षेत्रस्य सत्का एकविंशतिर्भागाश्चन्द्रयोगयोग्याः, एकैकस्मिंश्च भागे त्रिंशद्भागपरिकल्पनादेकविंशतिस्त्रिंशता गुण्यते, जातानि षट् शतानि त्रिंशदधिकानि ६३० । तथा तत्र तेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि, येषां प्रत्येकं पञ्चोत्तरं सहस्रं सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः । तानि द्वादश । तद्यथा–द्वे शतभिषजौ (०जाव दो जेट्ठाओ त्ति) यावच्छब्दकरणादेवं द्रष्टव्यम्–"दो भरणीओ, दो अद्दाओ, दो असलेसाओ, दो साईओ, दो जेट्ठाओ" इति । तथाहि–एतेषां द्वादशानामपि नक्षत्राणां प्रत्येकं सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रगम्यस्य क्षेत्रस्य सत्काः सार्द्धास्त्रयस्त्रिंशद्भागाश्चन्द्रयोगयोग्याः, ततस्त्रयस्त्रिंशत् त्रिंशता गुण्यते, जातानि नवशतानि नवत्यधिकानि ९९० । अर्द्धस्यापि च त्रिंशता गुणयित्वा द्वाभ्यां भागे हृते लब्धाः पञ्चदश १५, सर्वसंख्यया जातं पञ्चोत्तरं सहस्रम् १००५ । तथा तत्र तेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि, येषां द्वे सहस्रे दशोत्तरे सप्तषष्टिभागत्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः । तानि त्रिंशत् । तद्यथा–द्वौ श्रवणौ (०जाव दो पुव्वासाढा इति) यावच्छब्दादेवं पाठो द्रष्टव्यः–"दो धणिट्ठा, दो पुव्वाभद्दवया, दो रेवई, दो अस्सिणी, दो कत्तिया, दो मिगसिरा, दो पुस्सा, दो महा, दो पुव्वाफग्गुणीओ, दो हत्था, दो चित्ता, दो अणुराहा, दो मूला, दो पुव्वासाढा" इति । तथाहि–एतानि नक्षत्राणि समक्षेत्राणि । तत एतेषां सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रगम्यस्य क्षेत्रस्य सत्काः परिपूर्णाः सप्तषष्टिभागाः प्रत्येकं चन्द्रयोगयोग्याः । तेन सप्तषष्टिस्त्रिंशता गुण्यते, जाते द्वे सहस्रे दशोत्तरे इति २०१० । तथा तत्र तेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि, येषां प्रत्येकं त्रीणि सहस्राणि पञ्चदशोत्तराणि सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः । तानि द्वादश । तद्यथा–द्वे उत्तरे प्रोष्ठपदे (०जाव दो उत्तरासाढा इति) यावच्छब्दकरणादेवं द्रष्टव्यम्–"दो रोहिणी, दो पुणव्वसू, दो उत्तराफग्गुणी, दो विसाहा, दो उत्तरासाढा" इति । एतानि हि नक्षत्राणि द्व्यर्द्धक्षेत्राणि । ततः सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रगम्यस्य क्षेत्रस्य सत्काश्चन्द्रयोगयोग्या भागाः, शतमेकमर्द्धं च प्रत्येकमवगन्तव्याः । तत्र शतं त्रिंशता गुण्यते, जातानि त्रीणि

सहस्राणि, अर्द्धमपि त्रिंशता गुणयित्वा द्वाभ्यां विभज्यते, लब्धाः पञ्चदशेति । सू० प्र० १० पाहु० २२ पाहु० ।

(२४) सायं प्रातर्नक्षत्रचन्द्रयोगः-

ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं किं सता पादो चंदेणं सद्धिं जोयं जोएति ?। किं सता सायं चंदेण सद्धिं जोयं जोएति ? । किं सता दुहओ पविट्ठित्ता पविट्ठित्ता चंदेण सद्धिं जोयं जोएति ?। ता एतेसि णं णक्खत्ताणं णो सया पादो चंदेण सद्धिं जोयं जोएति, णो सया सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, णो सया दुहओ पविट्ठित्ता पविट्ठित्ता चंदेण सद्धिं जोयं जोएति । णऽण्णत्थ दोहिं अभिईहिं । ता एतेसि णं दो अभिईआ पायं चिय पायं चिय चोत्तालीसं अमावासं जोएंति, णो चेव णं पुण्णिमासिणिं ॥

" ता एतेसि णं " इत्यादि । ' ता ' इति । तत्र तेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये किं नक्षत्रं यत्सदा प्रातरेव चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति ?, किं नक्षत्रं यत्सदा सायं दिवसावसानसमये चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति ?, किं तन्नक्षत्रं यत्सदा द्विधा प्रातः सायं च समये, प्रविश्य प्रविश्य चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति ?। भगवानाह-" ता एतेसि णं " इत्यादि । तत्रैतेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये न किमपि तन्नक्षत्रमस्ति, यत् सदा प्रातरेव चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति, नापि तन्नक्षत्रमस्ति यत्सदा सायं समये चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति, नापि तदस्ति नक्षत्रं, यत्सदा द्विधा प्रातः सायं समये च, प्रविश्य प्रविश्य चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति । किं सर्वथा ?, नेत्याह-" णऽण्णत्थ " इत्यादि । नेति प्रतिषेधे, अन्यत्र द्वाभ्यामभिजिद्भ्यामवसेयः । कस्मात् ?, इत्याह-"ता एतेसि णं" इत्यादि । 'ता' इति । तत्र तेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये, एते अनन्तरोदिते द्वे अभिजिती, अभिजिन्नक्षत्रे युगे युगे प्रातरेव प्रातरेव चतुश्चत्वारिंशत्तमाममावास्यां चन्द्रेण सह योगमुपगम्य युङ्क्तः परिसमापयतः, नो चैव पौर्णमासीम् । अथ कथमेतदवसीयते-यथा युगे युगे चतुश्चत्वारिंशत्तमाममावास्यां सदैव प्रातः समये अभिजिन्नक्षत्रं चन्द्रेण सार्द्धं योगमुपागम्य परिसमापयतीति ?। उच्यते-पूर्वाऽऽचार्योपदर्शितकरणवशात् । तथाहि-तिथ्यानयनार्थं तावत्करणमिदम्-

" तिहिरासिमेव बाव-ट्ठीमइए सेसमेगसट्ठिगुणं ।
बावट्ठीऍ विभत्ते, सेसा अंसा तिहिसमत्ती " ॥ १ ॥

अस्या अक्षरगमनिका-ये युगमध्ये चन्द्रमासा अतिक्रान्ताः, ते तिथेरानयनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, गुणयित्वा च तस्य राशेर्भागो द्वाषष्ट्या ह्रियते, हृते च भागे यदवतिष्ठते, तस्मिन्नेकषष्ट्या गुणयित्वा द्वाषष्ट्या विभक्ते ये अंशा उद्धरन्ति, सा विवक्षिते दिने विवक्षिततिथिपरिसमाप्तिः । ततश्चतुश्चत्वारिंशत्तमायाममावास्यायां चिन्त्यमानायां त्रिचत्वारिंशच्चन्द्रमासाः, एकं च चन्द्रमासस्य पर्वातीयते । ततस्त्रिचत्वारिंशत् त्रिंशता गुण्यन्ते, आतानि द्वादश शतानि नवत्यधिकानि १२९० । तत उपरितनाः पर्वगताः पञ्चदश प्रक्षिप्यन्ते, आतानि त्रयोदश शतानि पञ्चोत्तराणि १३०५ । तेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा एकविंशतिः, सा त्यज्यते, शेषास्तिष्ठन्ति त्रयः, ते एकषष्ट्या गुण्यन्ते, आतं त्र्यशीत्यधिकं शतम् १८३ । तस्य द्वाषष्ट्या भागे हृते लब्धौ द्वौ, तौ त्यक्तौ, शेषास्तिष्ठन्त्येकोनषष्टिः ५९ । आगतमेकोनषष्टिर्द्वाषष्टिभागाः, तस्मिन् दिने अमावास्यासु पौर्णमासीषु च नक्षत्राऽऽनयनार्थं प्रागुक्तमेव करणम् । तत्र ध्रुवराशिः षट्षष्टिर्मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकः सप्तषष्टिभागः ६६ । ६२ । ६७ । तत्र चतुश्चत्वारिंशत्तमा अमावास्या चिन्तयितुमारब्धा, ततश्चतुश्चत्वारिंशता सा गुण्यते, आतानि मुहूर्त्तानामेकोनत्रिंशच्छतानि चतुरुत्तराणि २९०४ । एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागानां द्वे शते विंशत्यधिके २२० । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः ४४/६७ । तत्र पुनर्वसुप्रभृतिकमुत्तराषाढापर्यन्तं चत्वारि शतानि द्विचत्वारिंशदधिकानि मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्चत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागाः ४४२ । ४६/६२ । इत्येवं प्रमाणं शोध्यते, आतानि मुहूर्त्तानां चतुर्विंशतिशतानि द्वाषष्ट्यधिकानि २४६२ । एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुःसप्तत्यधिकं शतं द्वाषष्टिभागानाम् १७४ । ततोऽभिजिदादिसकलनक्षत्रमण्डलशोधनकमष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः; एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागाः ८१९ । २४ । ६६ । इत्येवंप्रमाणं यावत्संभवं शोधनीयम् । तत्र त्रिगुणमपि शुद्धिमासादयतीति त्रिगुणं कृत्वा शोध्यते, स्थिताः पश्चात् षड् मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तत्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः ६ । ३७ । ४७ । आगतं चतुश्चत्वारिंशत्तमाममावास्यामभिजिन्नक्षत्रं, षट्सु मुहूर्त्तेषु सप्तमस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु गतेषु परिसमापयति ।

(२५) संप्रत्यमावास्यापौर्णमासीप्रक्रमादेव तत्प्ररूपणां विकीर्षुरिदमाह-

तत्थ खलु इमाओ बावट्ठिं पुण्णिमासिणीओ बावट्ठिं अमावासाओ पण्णत्ताओ । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं पुण्णिमासिणिं चंदे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे चरिमं बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं जोएति, ता एतेणं पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता, एत्थ णं से चंदे पढमं पुण्णिमासिणिं जोएति । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं पुण्णिमासिणिं चंदे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे पढमं पुण्णिमासिणिं जोएति, ता एतेणं पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता, एत्थ णं से चंदे दोच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं पुण्णिमासिणिं चंदे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे दोच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति, ता एतेणं पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता, एत्थ णं तच्चं चंदे पुण्णिमासिणिं जोएति । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दुवालसमं पुण्णिमासिणिं चंदे कंसि देसंसि

जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे तच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दोण्णि अट्ठासीते भागसते उवातिणावेत्ता एत्थ णं से चंदे दुवालसमं पुण्णिमासिणिं जोएति ॥ एवं खलु एतेणुवाएणं ताते २ पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुवत्तीसं दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता तंसि तंसि देसंसि तं तं पुण्णिमासिणिं चंदे जोएति । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चरमं बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं चंदे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स पाईणपडीणाऽऽयतउदीणदाहिणाऽऽयताए जीवाए मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दाहिणिल्लंसि चउब्भागमंडलंसि सत्तावीसं च भागे उवातिणावेत्ता अट्ठावीसतिभागं वीसहा छेत्ता अट्ठावीसतिभागे उवातिणावेत्ता तिहिं भागेहिं दोहि य कलाहिं पच्चच्छिमिल्लचउब्भागमंडलं असंपत्ते एत्थ णं से चंदे चरिमं बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं जोएति ।

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं पुण्णिमासिणिं सूरे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि सूरे चरिमं बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता चउणउतिभागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से सूरे पढमं पुण्णिमासिणिं जोएइ । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं पुण्णिमासिणिं सूरे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि सूरे पढमं पुण्णिमासिणिं जोएइ, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता चउणउतिभागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से सूरे दोच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं पुण्णिमासिणिं सूरे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि सूरे दोच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता चउणउतिभागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से सूरे तच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दुवालसमं पुण्णिमासिणिं सूरे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि सूरे तच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता अट्ठचत्ताले भागसते उवातिणावेत्ता एत्थ णं से सूरे दुवालसमं पुण्णिमासिणिं जोएति । एवं खलु एतेणुवाएणं ताते २ पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता चउणउतिचउणउतिभागे उवातिणावेत्ता तंसि तंसि देसंसि तं तं पुण्णिमासिणिं सूरे जोयं जोएति । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चरिमं बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं सूरे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स पाईणपडीणाऽऽयतउदीणदाहिणाऽऽयताए जीवाए मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता पुरच्छिमिल्लंसि चउब्भागमंडलंसि सत्तावीसभागे उवातिणावेत्ता अट्ठावीसतिभागं वीसधा छेत्ता अट्ठारसभागे उवातिणावेत्ता तिहिं भागेहिं दोहि य कलाहिं दाहिणिल्लचउब्भागमंडलं असंपत्ते एत्थ णं से सूरे चरिमं बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं जोएति ।

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं अमावासं चंदे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे चरिमं बावट्ठिं अमावासं जोएति, ताते अमावासट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से चंदे पढमं अमावासं जोएति । एवं जेणेव अभिलावेणं चंदस्स पुण्णिमासिणीओ भणिताओ, तेणेव अभिलावेणं अमावासाओ जाणितव्वाओ । तं जहा–बितिया, ततिया, दुवालसमी । एवं खलु एतेणुवाएणं ताते २ अमावासट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुतीसं दुतीसं भागे उवातिणावेत्ता तंसि तंसि देसंसि तं तं अमावासं चंदे जोएति । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चरमं बावट्ठिं अमावासं चंदे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे चरिमं बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता सोलसभागे ओसक्कावइत्ता एत्थ णं से चंदे चरिमं बावट्ठिं अमावासं जोएति । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं अमावासं सूरे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि सूरे चरिमं बावट्ठिं अमावासं जोएति, ताते अमावासट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता चउणउतिभागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से सूरे पढमं अमावासं जोएति । एवं जेणेव अभिलावेणं सूरस्स पुण्णिमासिणीओ, तेणेव अमावासाओ वि । तं जहा–बितिया, ततिया, दुवालसमी । एवं खलु एतेणुवाएणं ताते अमावासट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छेत्ता चउणउतिचउणउतिभागे उवातिणावेत्ता तंसि तंसि देसंसि तं तं अमावासं सूरे जोएति । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चरिमं बावट्ठिं अमावासं सूरे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि सूरे चरिमं बावट्ठिं अमावासं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता सत्तालीसं भागे ओसक्कावइत्ता एत्थ णं से सूरे चरिमं बावट्ठिं अमावासं जोएति ।

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं पुण्णिमासिणिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता धणिट्ठाहिं, धणिट्ठाणं

तिन्नि मुहुत्ता, एगूणवीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता पण्णट्ठिचुण्णियाभागा सेसा ।

" तत्थ खलु " इत्यादि । तत्र युगे खलु इमा वक्ष्यमाणस्वरूपाः द्वाषष्टिः पौर्णमास्यो, द्वाषष्टिरमावास्याः प्रज्ञप्ताः । एवमुक्ते भगवान् गौतमः पृच्छति-" ता " इत्यादि । 'ता' इति । तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां चन्द्राऽऽदीनां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमां पौर्णमासीं चन्द्रः कस्मिन् देशे युनक्ति परिसमापयति ?। भगवानाह-" ता जंसि णं " इत्यादि । तत्र यस्मिन् देशे चन्द्रश्चरमां पाश्चात्ययुगपर्यन्तवर्तिनीं द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं युनक्ति परिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानाच्चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिस्थानात् परतो मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्य, तद्गतान् द्वात्रिंशद्भागानुपादाय गृहीत्वा, अत्र द्वात्रिंशद्भागरूपे देशे चन्द्रः प्रथमां पौर्णमासीं युनक्ति परिसमापयति । भूयः प्रश्नं करोति-"ता एतेसि णं" इत्यादि । " ता " इति । तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये या द्वितीया पौर्णमासी, तां चन्द्रः कस्मिन् देशे परिसमापयति ?। भगवानाह-" ता जंसि णं " इत्यादि । तत्र यस्मिन् देशे चन्द्रः प्रथमां पौर्णमासीं युनक्ति परिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानात् प्रथमपौर्णमासीपरिसमाप्तिस्थानात् परतो मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा तद्गतान् द्वात्रिंशद्भागानुपादायात्र प्रदेशे स चन्द्रो द्वितीयां पौर्णमासीं परिसमापयति । एवं तृतीयपौर्णमासीविषयमपि सूत्रं व्याख्येयम् । एवं द्वादशपौर्णमासीविषयमपि । नवरं (दोण्णि अट्ठासीते भागसते त्ति) तृतीयस्याः पौर्णमास्याः परतो द्वादशी किल पौर्णमासी नवमी भवति, ततो नवभिर्द्वात्रिंशतो गुणने द्वे शतेऽष्टाशीत्यधिके भवतः २८८ । संप्रत्यतिदेशमाह-"एवं खलु" इत्यादि । एवमुक्तेन प्रकारेण खलु निश्चितमेतेनानन्तरोदितेनोपायेन यां पौर्णमासीं यत्र यत्र देशे परिसमापयति, तस्याः तस्याः पौर्णमास्यास्ततोऽनन्तरां पौर्णमासीं तस्मात्तस्मात् पाश्चात्यपाश्चात्यपौर्णमासीपरिसमाप्तिस्थानाद् मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा परतस्तद्गतान् द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशतं भागानुपादाय तस्मिन् तस्मिन् देशे तां तां पौर्णमासीं चन्द्रः परिसमापयति । स चैवं परिसमापयंस्तावद्वेदितव्यो, यावद् भूयोऽपि चरमां द्वाषष्टिं पौर्णमासीं तस्मिन् देशे परिसमापयति, यस्मिन् देशे पाश्चात्ययुगे चरमां द्वाषष्टिं पौर्णमासीं परिसमापितवान् । कथमेतदवसीयते ?, इति चेत् । उच्यते-गणितक्रमवशात् । तथाहि-पाश्चात्ययुगे चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिस्थानात् परतो मण्डलस्य चतुर्विंशत्यधिकशतप्रविभक्तस्य सत्कानां द्वात्रिंशतो भागानामतिक्रमे तस्यास्तस्याः पौर्णमास्याः परिसमाप्तिः, द्वाषष्टिश्च सर्वसंख्यया युगे पौर्णमास्यः । ततो द्वात्रिंशद् द्वाषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकोनविंशतिशतानि चतुरशीत्यधिकानि १९८४ । तेषां चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धाः षोडश सकलमण्डलपरावर्ताः, समस्तस्यापि च राशेर्निर्लेपीभवनादागतं-यस्मिन् देशे पाश्चात्ययुगसंबन्धिचरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिः, तस्मिन्नेव देशे विवक्षितस्यापि च युगस्य चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिः । संप्रति चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिदेशं पृच्छति-" ता एतेसि णं " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं चन्द्रः कस्मिन् देशे युनक्ति परिसमापयति ?। भगवानाह-(ता जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । जम्बूद्वीपस्य, जम्बिति वाक्यालङ्कारे । द्वीपस्योपरि प्राचीनापाचीनाऽऽयतया, इह प्राचीनग्रहणेनोत्तरपूर्वा गृह्यते, अपाचीनग्रहणेन दक्षिणापरा । ततोऽयमर्थः-पूर्वोत्तरदक्षिणापराऽऽयतया; एवमुदीच्यदक्षिणाऽऽयतया, पूर्वदक्षिणोत्तरापराऽऽयतया जीवया प्रत्यञ्चया, दवरिकया इत्यर्थः । मण्डलं चतुर्विंशेन शतेन चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्य, भूयश्चतुर्भिर्विभज्यते । ततो दाक्षिणात्ये चतुर्भागमण्डले एकत्रिंशद्भागप्रमाणे सप्तविंशतिभागानुपादायाष्टाविंशतितमं च भागं विंशतिधा छित्त्वा, तद्गतानष्टाविंशतिभागानुपादाय शेषैस्त्रिभिर्भागैश्चतुर्थस्य भागस्य द्वाभ्यां कलाभ्यां पाश्चात्यचतुर्भागमण्डलमसंप्राप्तोऽत्र प्रदेशे चन्द्रो द्वाषष्टितमां चरमां पौर्णमासीं परिसमापयति । तदेवं चन्द्रस्य पौर्णमासीपरिसमाप्तिदेशा उक्तः ।

संप्रति सूर्यस्य पौर्णमासीपरिसमाप्तिदेशं प्रतिपिपादयिषुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह—(ता एतेसि णं इत्यादि) 'ता' इति । तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमां पौर्णमासीं सूर्यः कस्मिन् देशे स्थितः सन् युनक्ति-परिसमापयति ?। भगवानाह-(ता जंसि णं इत्यादि) तत्र यस्मिन् देशे स्थितः सन् सूर्यश्चरमां पाश्चात्ययुगवर्तिनीं द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं युनक्ति-परिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानात् चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनात् स्थानात् परतो मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्य, तद्गतान् चतुर्नवतिभागान् उपादाय, अत्र प्रदेशे सूर्यः प्रथमां पौर्णमासीं परिसमापयति । किमत्र कारणमिति चेत् ?, उच्यते-इह परिपूर्णेषु त्रिंशदहोरात्रेषु परिसमाप्तेषु सत्सु स एव सूर्यस्तस्मिन्नेव देशे वर्तमानः प्राप्यते, न कतिपयभागन्यूनेषु; पौर्णमासी च चन्द्रमासपर्यन्ते परिसमाप्तिमुपैति; चन्द्रमासस्य च परिमाणमेकोनत्रिंशदहोरात्राः, एकस्य चाहोरात्रस्य द्वात्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः । ततस्त्रिंशत्तमेऽहोरात्रे द्वात्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु गतेषु सूर्यश्चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनात् स्थानात् चतुर्नवतौ चतुर्विंशत्यधिकशतभागेष्वतिक्रान्तेषु प्रथमां पौर्णमासीं परिसमापयन्नवाप्यते । किमुक्तं भवति ?-त्रिंशता भागैस्तमेव देशमप्राप्तः सन्नवाप्यते, त्रिंशतो द्वाषष्टिभागानामहोरात्रसत्कानामद्यापि स्थितत्वात् । भूयः प्रश्नयति-(ता एतेसि णमित्यादि) 'ता' इति । तत्र युगे एतेषां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये द्वितीयां पौर्णमासीं सूर्यः कस्मिन् देशे स्थितः सन् युनक्ति—परिसमापयति ?। भगवानाह-(ता जंसि णमित्यादि) 'ता' इति । तत्र यस्मिन् देशे स्थितः सन् सूर्यः प्रथमां पौर्णमासीं परिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानात् प्रथमपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनात् स्थानात् परतो मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा तद्गतान् चतुर्नवतिभागान् उपादाय अत्र देशे स्थितः सन् सूर्यो द्वितीयां पौर्णमासीं परिसमापयति । एवं तृतीयपौर्णमासीविषयमपि सूत्रं वक्तव्यम् । एवं द्वादशपौर्णमासीविषयमपि । नवरं (अट्ठचत्ताले भागसते त्ति) तृतीयस्याः पौर्णमास्याः परतो द्वादशी किल पौर्णमासी नवमी, ततश्चतुर्नवतिर्नवभिर्गुण्यते, जातान्यष्टौ शतानि षट्चत्वारिंशदधिकानि ८४६ । संप्रति शेष-

पौर्णमासीविषयमतिदेशमाह-(एवं खलु इत्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण,खलु निश्चितम्,एतेनानन्तरोदितेनोपायेन यां यां पौर्णमासीं यत्र यत्र देशे परिसमापयति,तस्यास्तस्याः पौर्णमास्यास्तां तामनन्तरामनन्तरां पौर्णमासीं तस्मात् तस्मात् पाश्चात्यपाश्चात्यपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनात् स्थानात् मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा परतस्तद्गतान् चतुर्नवतिचतुर्नवतिभागानुपादाय तस्मिन् तस्मिन् देशे स्थितः सन् सूर्यस्तां तां पौर्णमासीं परिसमापयति । स चैवं परिसमापयन् तावद् वेदितव्यो यावद् भूयोऽपि चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं तस्मिन् देशे परिसमापयति यस्मिन् देशे पाश्चात्ययुगसंबन्धिनीं चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापितवान् । एतच्चावसीयते गणितक्रमवशात् । तथाहि-पाश्चात्ययुगचरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनात् स्थानात् परतो मण्डलस्य चतुर्विंशत्यधिकशतप्रविभक्तस्य सत्कानां चतुर्नवतिभागानामतिक्रमे तस्याः तस्याः पौर्णमास्याः परिसमाप्तिः, ततश्चतुर्नवतिर्द्वाषष्ट्या गुण्यते, जातान्यष्टापञ्चाशच्छतानि अष्टाविंशत्यधिकानि ५८२८ । तेषां चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तचत्वारिंशत् सकलमण्डलपरावर्त्ताः । न च तैः प्रयोजनं, केवलं राशेर्निर्लेपीभवनादागतं-यस्मिन् देशे स्थितः सन् पाश्चात्ययुगसंबन्धिचरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमापकः, तस्मिन्नेव देशे विवक्षितस्यापि युगस्य चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापयतीति । संप्रति चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनं देशं पृच्छति-"ता एतेसि णं" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-"ता जंबुद्दीवस्स णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य प्राचीनापाचीनाऽऽयतया, अत्रापि प्राचीनग्रहणेनोत्तरपूर्वा दिग् गृह्यते । अपाचीनग्रहणेन दक्षिणाऽपरा । ततोऽयमर्थः-उत्तरपूर्वदक्षिणापराऽऽयतया, एवमुदीच्यदक्षिणाऽऽयतया, उत्तरापरदक्षिणपूर्वाऽऽयतया जीवया दवरिकया, मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्य भूयश्चतुर्भिर्भक्त्वा (पुरच्छिमिल्लंसि त्ति) पूर्वदिग्वर्तिनि चतुर्भागमण्डले एकत्रिंशद्भागप्रमाणे सप्तविंशतिभागानुपादायाष्टाविंशतितमं च भागं विंशतिधा छित्त्वा तद्गतानष्टादशभागानुपादाय शेषैस्त्रिभिर्भागैश्चतुर्थस्य च भागस्य द्वाभ्यां कलाभ्यां, विंशतितमाभ्यामित्यर्थः । दाक्षिणात्यचतुर्भागमण्डलमसंप्राप्तः अत्र प्रदेशे स सूर्यश्चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापयति । तदेवं सूर्याचन्द्रमसोः पौर्णमासीपरिसमाप्तिदेश उक्तः ।

संप्रति तयोरेवामावास्यापरिसमाप्तिदेशं प्रतिपिपादयिषुः प्रथमतः चन्द्रविषयं प्रश्नसूत्रमाह-(ता एतेसि णमित्यादि) तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमाममावास्यां चन्द्रः कस्मिन् देशे स्थितः परिसमापयति ?। भगवानाह-(ता जंसि णमित्यादि) तत्र यस्मिन् देशे स्थितः सन् चन्द्रश्चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां परिसमापयति, ततोऽमावास्यास्थानादमावास्यापरिसमाप्तिस्थानात्, परतो मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा तद्गतान् द्वात्रिंशतं भागान् उपादायात्र प्रदेशे स चन्द्रः प्रथमाममावास्यां परिसमापयति । (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण येनैवाभिलापेन चन्द्रस्य पौर्णमास्यो भणिताः, तेनैवाभिलापेनामावास्या अपि भणितव्याः । तद्यथा-द्वितीया, तृतीया, द्वादशी च । तानेवम्-" ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं अमावासं कंसि देसंसि जोएइ ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे पढमं अमावासं जोएइ, ताओ णं अमावासट्ठाणाओ मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छित्ता दुवत्तीसं भागे उवाइणावेत्ता एत्थ णं से चंदे तच्चं अमावासं जोएइ । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दुवालसमं अमावासं चंदे कंसि देसंसि जोएइ ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे तच्चं अमावासं जोएइ,ताओ णं अमावासट्ठाणाओ मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छेत्ता दोण्णि अट्ठासीए भागसए उवाइणावेत्ता एत्थ णं चंदे दुवालसमं अमावासं जोएइ । " संप्रति शेषास्वमावास्यास्वतिदेशमाह-"एवं खलु" इत्यादि । एतत् प्राग्वद् व्याख्येयम् । संप्रति चरमद्वाषष्टितमामावास्यापरिसमाप्तिनिबन्धनं देशं पृच्छति-" ता एतेसि णं " इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-(ता जंसि णमित्यादि) तत्र यस्मिन् देशे स्थितः सन् चन्द्रो द्वाषष्टितमां चरमां पौर्णमासीं युनक्ति परिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानात्-पौर्णमासीपरिसमाप्तिस्थानात् मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्य पूर्वं षोडशभागानवष्वष्क्य । चरमा हि द्वाषष्टितमा अमावास्या चरमद्वाषष्टितमपौर्णमास्याः पक्षेण पश्चात्पक्षेण च विवक्षितप्रदेशात् षोडशभिश्चतुर्विंशत्यधिकशतजातैः परतः प्ररूप्यते, मासेन द्वात्रिंशता भागैः परतो वर्त्तमानस्य लभ्यमानत्वात् । ततः षोडशभागान् पूर्वमवष्वष्क्येत्युक्तम् । अत्रास्मिन् प्रदेशे स्थितः सन् चन्द्रश्चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां परिसमापयति । संप्रति सूर्यस्यामावास्यापरिसमाप्तिनिबन्धनं देशं पिपृच्छिषुराह-(ता एतेसि णमित्यादि) एतत्प्राग्वद् व्याख्येयम् । (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण येनैवाभिलापेन सूर्यस्य पौर्णमास्य उक्ताः,तेनैवाभिलापेनामावास्या अपि वक्तव्याः । तद्यथा-द्वितीया, तृतीया, द्वादशी च । तानेवम्-" एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं अमावासं सूरे कंसि देसंसि जोएइ ?। ता जंसि णं देसंसि सूरिए पढमं अमावासं जोएइ, ताओ अमावासट्ठाणाओ मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छेत्ता चउणउइभागे उवाइणावेत्ता एत्थ णं से सूरे दोच्चं अमावासं जोएइ । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं अमावासं सूरे कंसि देसंसि जोएइ ?। ता जंसि णं देसंसि दोच्चं अमावासं जोएइ,ताओ णं अमावासट्ठाणाओ मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छेत्ता चउणउइभागे उवाइणावेत्ता तच्चं अमावासं जोएइ । ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दुवालसमं अमावासं सूरे कंसि देसंसि जोएइ ?। ता जंसि णं देसंसि सूरे तच्चं अमावासं जोएइ, ताओ अमावासट्ठाणाओ मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छेत्ता अट्ठछत्ताले भागसए उवाइणावेत्ता एत्थ णं से सूरे दुवालसमं अमावासं जोएइ । " संप्रति शेषास्वमावास्यासु अतिदेशमाह-(एवं खल्वित्यादि) एतत् प्राग्वद् व्याख्येयम् । संप्रति चरमद्वाषष्टितमामावास्यापरिसमाप्तिनिबन्धनं देशं पृच्छति-" ता एतेसि णं " इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-(ता जंसि णमित्यादि) यस्मिन् देशे स्थितः सन् सूर्यश्चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां परिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानात् पौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनाद् देशात् मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्यार्वाक् सप्तचत्वारिंशतं भागानवष्वष्क्य अत्र प्रदेशे स्थितः सन् सूर्यश्चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां युनक्ति परिसमापयति । अथ कां पौर्णमासीं केन नक्षत्रेण युक्तश्चन्द्रः सूर्यो वा परिसमापयति ?, इति प्रष्टुकाम आह-(ता एतेसि णमित्यादि)

'ता' इति। तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमां पौर्णमासीं चन्द्रः। उपलक्षणमेतत्-सूर्यो वा; केन नक्षत्रेण सह योगमुपागतः सन् युनक्ति-परिसमापयति ?। भगवानाह-(ता धणिट्ठाहिं इत्यादि) 'ता' इति। तत्र तेषां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमां पौर्णमासीं चन्द्रः परिसमापयति धनिष्ठाभिः; धनिष्ठानक्षत्रस्य पञ्चतारत्वात् तदपेक्षया बहुवचनम्; अन्यथा त्वेकवचनं द्रष्टव्यम्। तासां च धनिष्ठानां त्रयो मुहूर्त्ताः,एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनविंशतिर्द्वाषष्टिभागाः,एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा पञ्चषष्टिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः। तथाहि-पौर्णमासीविषयस्य चन्द्रनक्षत्रयोगस्य परिज्ञानार्थं करणं प्रागेवोक्तं,तत्र षट्षष्टिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागाः,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टिभागः ६६। $\frac{५}{६२}$ $\frac{१}{६७}$ इत्येवंरूपो ध्रुवराशिर्ध्रियते;धृत्वा च प्रथमायां पौर्णमास्यां चन्द्रनक्षत्रयोगो ज्ञातुमिष्ट इत्येकेन गुण्यते,'एकेन गुणितं तदेव भवति' इति तावानेव जातः,तस्मादभिजितो नव मुहूर्त्ताः। एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागाः; इत्येवंप्रमाणं शोधनकं शोध्यते। तत्र षट्षष्टेर्नव मुहूर्त्ताः शुद्धाः, स्थिताः पश्चात् सप्तपञ्चाशत्, तेभ्य एको मुहूर्त्तो गृहीत्वा द्वाषष्टिभागीकृतः, ते च द्वाषष्टिरपि भागा द्वाषष्टिभागराशौ पञ्चकरूपे प्रक्षिप्यन्ते, जाताः सप्तषष्टिर्द्वाषष्टिभागाः, तेभ्यश्चतुर्विंशतिः शुद्धाः, स्थिताः पश्चात् त्रिचत्वारिंशत्,तेभ्य एकं रूपमादाय सप्तषष्टिभागाः क्रियन्ते। ते च सप्तषष्टिरपि भागाः सप्तषष्टिभागैकमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाता अष्टषष्टिः सप्तषष्टिभागाः। तेभ्यः षट्षष्टिः शुद्धाः, स्थितौ द्वौ पश्चात्सप्तषष्टिभागौ, ततस्त्रिंशता मुहूर्तैः श्रवणः शुद्धः,स्थिताः पश्चान्मुहूर्त्ताः षड्विंशतिः। तत इदमागतम्-धनिष्ठानक्षत्रस्य त्रिषु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनविंशतिसंख्येषु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चषष्टिसंख्येषु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु प्रथमपौर्णमासीं परिसमाप्तिमुपयाति।

संप्रति सूर्यनक्षत्रयोगं पृच्छन्नाह-

तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता पुव्वाहिं फग्गुणीहिं अट्ठावीसं मुहुत्ता, अट्ठतीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता दुवत्तीसं चुण्णियाभागा सेसा। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं पुण्णिमासिणिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता उत्तराहिं पोट्ठवताहिं, उत्तराणं पोट्ठवताणं सत्तावीसं मुहुत्ता, चोद्दस य बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता चउसट्ठिचुण्णियाभागा सेसा।

(तं समयं च णमित्यादि) तं समयमित्यत्र "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" ॥ २ । २ । ४२ ॥ इत्यधिकरणत्वेऽपि द्वितीया। ततोऽयमर्थः-तस्मिन् समये, यस्मिन् समये धनिष्ठा नक्षत्रं चन्द्रेण युक्तं यथोक्तविशेषं परिसमापयति, तस्मिन् क्षणे इत्यर्थः। सूर्यः केन नक्षत्रेण युक्तः सन् तां प्रथमां पौर्णमासीं परिसमापयति। भगवानाह-" ता पुव्वाहिं " इत्यादि। 'ता' इति। तदा पूर्वाभ्यां फाल्गुनीभ्यां, पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रस्य द्वितारत्वात्तदपेक्षया द्विवचनम्। द्विवचने च प्राप्ते प्राकृते बहुवचनम्। तयोश्च पूर्वाफाल्गुन्योस्तदानीमष्टाविंशतिर्मुहूर्त्ताः, अष्टात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काः द्वात्रिंशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः। तथाहि-स एव षट्षष्टिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टिभाग इत्येवंप्रमाणो ध्रुवराशिर्ध्रियते ६६।५।१। धृत्वा च एकेन गुण्यते,'एकेन च गुणितं तदेव भवति' इति तावानेव जातः,ततस्तस्मात् पुष्यशोधनकमेकोनविंशतिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागाः,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः १९।४३।३३। इत्येवंप्रमाणं शोध्यते। अथैतावत्प्रमाणस्य पुष्यशोधनकस्य कथमुत्पत्तिरिति ?। उच्यते-इह पूर्वयुगपरिसमाप्तिवेलायां पुष्यस्य त्रयोविंशतिः सप्तषष्टिभागाः परिसमाप्ताः, चत्वारिंशदवतिष्ठते। ततस्ते चतुश्चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागा मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रयोदश शतानि विंशत्यधिकानि १३२०। तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा एकोनविंशतिर्मुहूर्त्ताः। शेषास्तिष्ठन्ति सप्तचत्वारिंशत् ४७। ते द्वाषष्टिभागाऽऽनयनार्थं द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि एकोनत्रिंशच्छतानि चतुर्दशोत्तराणि २९१४। तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धास्त्रिचत्वारिंशद्द्वाषष्टिभागाः $\frac{४३}{६२}$। एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः $\frac{३३}{६७}$। एतद् ध्रुवराशेः शोध्यते। तद्यथा-षट्षष्टिर्मुहूर्तेभ्य एकोनविंशतिर्मुहूर्ताः शुद्धाः, स्थिताः पश्चात्सप्तचत्वारिंशत्, तेभ्य एको मुहूर्तो गृह्यते, स्थिताः षट्चत्वारिंशत्। गृहीतस्य च मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागान् कृत्वा द्वाषष्टिभागराशौ पञ्चकरूपे प्रक्षिप्यन्ते, जाता द्वाषष्टिभागाः सप्तषष्टिः, तेभ्यस्त्रिचत्वारिंशत् शोध्यन्ते, स्थिताः पश्चाच्चतुर्विंशतिः, तेभ्य एकं रूपमुपादीयते, जाता त्रयोविंशतिः, गृहीतस्य च रूपस्य सप्तषष्टिभागाः क्रियन्ते, कृत्वा च सप्तषष्टिभागैकमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाता अष्टषष्टिः सप्तषष्टिभागाः। तेभ्यस्त्रयस्त्रिंशत् शुद्धाः,स्थिताः पञ्चत्रिंशत्। ततः पञ्चदशभिर्मुहूर्तैरश्लेषा, त्रिंशता च मुहूर्तैर्मघाः शुद्धाः, स्थितः पश्चादेको मुहूर्तः, एकस्य च मुहूर्तस्य त्रयोविंशतिर्द्वाषष्टिभागाः। एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चत्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः १। $\frac{२३}{६२}$। $\frac{३५}{६७}$ तत आगतं पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रस्याष्टाविंशतौ मुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्याष्टात्रिंशति द्वाषष्टिभागस्य द्वात्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु सूर्यः प्रथमां पौर्णमासीं परिसमापयति। एते च सूर्यमुहूर्ता एवंभूतैश्च सूर्यमुहूर्तैस्त्रिंशता त्रयोदश रात्रिन्दिवानि, एकस्य च रात्रिन्दिवस्य द्वादश व्यावहारिका मुहूर्ता भवन्ति। तत एतदनुसारेण गतैकदिवसभागगणना, शेषस्थितदिवसगणना च पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रस्य स्वयं कर्तव्या। एवमुत्तरसूत्रेष्वपि सूर्यनक्षत्रयोगे परिभावनीयम्।" ता एतेसि णं " इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह-(ता उत्तराहिं इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। उत्तराभ्यां प्रोष्ठपदाभ्याम्, अत्रापि द्विवचनम्, उत्तराप्रोष्ठपदानक्षत्रस्य द्वितारकत्वात्, बहुवचनं च सूत्रे प्राकृतत्वात्। उत्तरयोश्च प्रोष्ठपदयोः सप्तविंशतिर्मुहूर्ताः, चतुर्दश च द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्ट्या छित्त्वा तस्य सत्काश्चतुःषष्टिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः। तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६। ५। १ द्वितीयपौर्णमासीचिन्तायां द्वाभ्यां गुण्यते, मुहूर्तानां जातं द्वात्रिंशतं शतम् १३२। एकस्य च मुहूर्तस्य दश द्वाषष्टिभागाः १०। एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वौ सप्तषष्टिभागौ २, ततः पूर्वराश्या अभिजितो

नव मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्काः षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागाः शोध्यन्ते, जातं द्वात्रिंशं शतं मुहूर्त्तानाम्,एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयः सप्तषष्टिभागाः १२२ । ४७/६२ । ३/६७ । ततस्त्रिंशता मुहूर्त्तैः श्रवणः, त्रिंशता धनिष्ठा, पञ्चदशभिः शतभिषक्,त्रिंशता पूर्वाभाद्रपदा शुद्धेति स्थिताः पश्चात्सप्तदश मुहूर्त्ताः १७ । शेषं तथैव ।४७।३। तत आगतम्-उत्तराभाद्रपदानक्षत्रस्य सप्तविंशतौ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्दशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुःषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु गतेषु शेषेषु द्वितीया पौर्णमासी परिसमाप्तिमुपैति । सू० प्र० १० पाहु० २२ पाहु० । चं० प्र० ।

संप्रत्यस्यामेव पौर्णमास्यां सूर्यनक्षत्रयोगं चन्द्रनक्षत्रयोगं च पृच्छति-

तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता उत्तराहिं फग्गुणीहिं. उत्तराणं फग्गुणीणं सत्त मुहुत्ते, तेत्तीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता एक्कतीसं चुण्णियाभागा सेसा । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं पुण्णिमासिणिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता अस्सिणीहिं,अस्सिणीणं एक्कवीसं मुहुत्ता, णव य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता तेवट्ठिं चुण्णियाभागा सेसा । तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता चित्ताहिं, चित्ताणं एगो मुहुत्तो, अट्ठावीसं च बावट्ठिभागं मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता तीसं चुण्णियाभागा सेसा । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दुवालसमं पुण्णिमासिणिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता उत्तराहिं आसाढाहिं,उत्तराणं आसाढाणं छव्वीसं मुहुत्ता, छव्वीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता चउपण्णं चुण्णियाभागा सेसा । तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएइ ?। ता पुणव्वसुणा,पुणव्वसुस्स सोलस मुहुत्ता,अट्ठ य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता वीसं चुण्णियाभागा सेसा । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चरमं बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता उत्तराहिं आसाढाहिं,उत्तराणं आसाढाणं चरमसमए । तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता पुस्सेणं, पुस्सस्स एगूणवीसं मुहुत्ता. तेत्तालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता तेत्तीसं चुण्णियाभागा सेसा ॥

"तं समयं च णं" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-(ता उत्तराहिं इत्यादि) 'ता ' इति पूर्ववत् । उत्तराभ्यां फाल्गुनीभ्यां, तयोश्च उत्तरयोः फाल्गुन्योस्तदानीं द्वितीयपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायां सप्त मुहूर्त्ताः, त्रयस्त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागाः मुहूर्त्तस्य, द्वाषष्टिभागं च सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का एकत्रिंशत् चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिर्ध्रियते ६६ । ५ । १ । धृत्वा च द्वितीयस्याः पौर्णमास्याः संप्रति चिन्तेति द्वाभ्यां गुण्यते, जातं द्वात्रिंशं शतं मुहूर्त्तानाम्,एकस्य च मुहूर्त्तस्य दश द्वाषष्टिभागाः,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वौ सप्तषष्टिभागौ । १३२ । १०/६२ । २/६७ । तत एतस्मात् पुष्यशोधनकमेकोनविंशतिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशत् सप्तषष्टिभागाः १९ । ४३/६२ । ३३/६७ । इत्येवं परिमाणं पूर्वरीत्या शोध्यते,स्थितं पश्चाद् द्वादशोत्तरं शतं मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टाविंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्त्रिंशत् सप्तषष्टिभागाः ११२ । २८/६२ । ३६/६७ । ततः पञ्चदशभिर्मुहूर्त्तैरश्लेषा,त्रिंशता मघा,त्रिंशता पूर्वाफाल्गुनी शुद्धा,स्थिताः पश्चान्मुहूर्त्ताः सप्तत्रिंशत्, शेषं तथैव । तत आगतं-सूर्येण युक्तमुत्तराफाल्गुनीनक्षत्रं सप्तमुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयस्त्रिंशत्द्वाषष्टिभागेषु. एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकत्रिंशत्सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु द्वितीयां पौर्णमासीं परिसमापयति । अधुना तृतीयपौर्णमासीविषयं चन्द्रनक्षत्रयोगं पृच्छति-"ता एतेसि णं" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-(अस्सिणीहिं इत्यादि) अश्विनीनक्षत्रं त्रितारमिति तदपेक्षया बहुवचनम्, तदानीं च तृतीयपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायामश्विनीनक्षत्रस्य एकविंशतिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य नव द्वाषष्टिभागाः, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रिषष्टिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ । तृतीया पौर्णमासी चिन्त्यमाना वर्त्तत इति त्रिभिर्गुण्यते,जातमष्टानवत्यधिकं शतं मुहूर्त्तानाम्,एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चदश द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयः सप्तषष्टिभागाः १९८ । १५/६२ । ३/६७ । "तत उगुणठ पोठवया" इत्यादिवचनात् एकोनषष्ट्यधिकेन शतेन चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीन्युत्तराभाद्रपदपर्यन्तानि षड् नक्षत्राणि शुद्धानि, पश्चादवतिष्ठन्तेऽष्टात्रिंशद् मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्विपञ्चाशत् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वारः सप्तषष्टिभागाः ३८ । ५२/६२ । ४/६७ । ततस्त्रिंशता मुहूर्त्तैः रेवती नक्षत्रं शुद्धं, तिष्ठन्त्यष्टौ मुहूर्त्ताः, तत आगतं चन्द्रयुक्तमश्विनीनक्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य नवसु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिसमापयति । संप्रत्यस्यामेव तृतीयस्यां सूर्यनक्षत्रयोगं पृच्छति- "तं समयं च णं" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-"ता चित्ताहिं" इत्यादि । चित्रायुक्तः सूर्यः परिसमापयति । तदानीं च तृतीयपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायां चित्राया एको मुहूर्त्तः, एकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टाविंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रिंशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६।५।१। संप्रति तृतीयपौर्णमासीचिन्तेति त्रिभिर्गुण्यते, जातमष्टानवत्यधिकं शतं मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चदश द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयः सप्तषष्टिभागाः १९८ । १५/६२ । ३/६७ । तत एतस्मात्पुष्यशोधनकम् १९ । ४३ । ३३ पूर्वोक्तप्रकारेण शोध्यते, स्थितं पश्चादेकोनाशीत्यधिकं मुहूर्त्तानां शतम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयस्त्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तत्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः १७९ । ३३/६२ । ३७/६७ । ततः पञ्चाशदधिकेन मुहूर्त्तशतेनाश्लेषाऽऽदीनि हस्तपर्यन्तानि पञ्च नक्षत्राणि शुद्धानि । शेषास्तिष्ठन्त्येकोनत्रिंशतिर्मुहूर्त्ताः । शेषं तथैव २९। ३३। ३७। तत आगतम्-सूर्येण सह संप्रयुक्तं चित्रानक्षत्रमेकस्मिन् मुहूर्त्ते,एकस्य च मुहू-

तेष्वष्टाविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु तृतीयां पौर्णमासीं परिसमापयति । संप्रति द्वादश्यां पौर्णमास्यां चन्द्रनक्षत्रयोगं पृच्छति-" ता एतेसि णं " इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-" ता उत्तराहिं " इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । उत्तराभ्यामाषाढाभ्यां द्वादशीं पौर्णमासीं चन्द्रः परिसमापयति । तदानीं च तयोरुत्तराषाढयोः षड्विंशतिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काश्चतुष्पञ्चाशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः-६६ । ५ । १ । द्वादशी किल पौर्णमासी चिन्त्यते इति द्वादशभिर्गुण्यते, जातानि सप्तशतानि द्विनवत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षष्टिर्द्वाषष्टिभागाः । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादश सप्तषष्टिभागाः ७९२ । ६० । १२ । तत एतस्मात् " मूले सत्तेव चोयाला " इत्यादिवचनात् सप्तभिश्चतुश्चत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्त्तानां शतैः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि मूलपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, ततस्त्रिंशता मुहूर्त्तैः पूर्वाषाढा, शेषं तिष्ठन्त्यष्टादश मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चत्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः १८ । ३५ । १३ । तत आगतं—चन्द्रेण युक्तमुत्तराषाढानक्षत्रं द्वादशीं पौर्णमासीं षड्विंशतौ मुहूर्त्तेषु,एकस्य च मुहूर्त्तस्य षड्विंशतौ द्वाषष्टिभागस्य चतुष्पञ्चाशत्सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिसमापयति । संप्रत्यस्यामेव द्वादश्यां पौर्णमास्यां सूर्यनक्षत्रयोगं पृच्छति-" तं समयं च णं " इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-" ता पुणव्वसुणा " इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । पुनर्वसुना युक्तः सूर्यः परिसमापयति । तदानीं च द्वादशीपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायां पुनर्वसुनक्षत्रस्य षोडश मुहूर्त्ताः, अष्टौ च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य,एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का विंशतिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ द्वादशभिर्गुण्यते, जातानि सप्त शतानि द्विनवत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षष्टिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादश सप्तषष्टिभागाः ७९२ । ६० । १२ । तत एतस्मात्पुष्यशोधनकं ११ । ४३ । ३३ पूर्वोक्तप्रकारेण शोध्यते, स्थितानि पञ्चाशत्सप्तशतानि त्रिसप्तत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम्,एकस्य च मुहूर्त्तस्य षोडश द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः । ७७३ । १६ । ४६ । तत एतस्मात्सप्तभिः शतैश्चतुश्चत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरश्लेषाऽऽद्यानि पुष्यपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, पश्चादवतिष्ठन्ते अष्टाविंशतिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिपञ्चाशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः २८ । ५३ । ४७ । तत आगतं पुनर्वसुनक्षत्रं सूर्येण सह योगमुपागतं षोडशसु मुहूर्त्तेषु शेषेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु द्वादशीं पौर्णमासीं परिसमापयति । " ता एतेसि णं " इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-" ता उत्तराहिं " इत्यादि । उत्तराभ्यामाषाढाभ्यां युक्तश्चन्द्रश्चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापयति । तदानीं च-चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायामुत्तराषाढयोश्चरमसमयः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ । चरमा द्वाषष्टितमा पौर्णमासी संप्रति चिन्त्यमाना वर्त्तते, इति द्वाषष्ट्या गुण्यते, जातानि मुहूर्त्तानां चत्वारिंशच्छतानि द्विनवत्यधिकानि, एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागानां त्रीणि शतानि दशोत्तराणि, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाषष्टिः सप्तषष्टिभागाः ४०९२ । ३१० । ६२ । तत एतस्मात्-" अट्ठसय गुणवीसा, सोहणग उत्तराण साढाणं । चउवीसं खलु भागा, छावट्ठी चुण्णियाओ य " ॥ १ ॥ इत्येवंप्रमाणमेकं सकलनक्षत्रपर्यायशोधनकं पञ्चभिर्गुणयित्वा शोध्यते । तच्च पूर्वोक्तेन प्रकारेण शोध्यमानं परिपूर्णं शुद्धिमासादयतीति न किञ्चित्पश्चादवतिष्ठते । तत आगतम्-उत्तराषाढानक्षत्रं चन्द्रेण सह युक्तं चरमसमये चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापयति । संप्रत्यस्यामेव द्वाषष्टितमायां पौर्णमास्यां सूर्यनक्षत्रयोगं पृच्छति-"तं समयं च णं" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-" ता पुस्सेणं " इत्यादि । पुष्येण युक्तः सूर्यश्चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापयति । तदानीं च द्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायामेकोनविंशतिर्मुहूर्त्ता—स्त्रिचत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, द्वाषष्टिभागं च सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रयस्त्रिंशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ द्वाषष्ट्या गुण्यते, जातानि मुहूर्त्तानां चत्वारिंशच्छतानि द्विनवत्यधिकानि, एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागानां त्रीणि शतानि दशोत्तराणि, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाषष्टिः सप्तषष्टिभागाः ४०९२ । ३१० । ६२ । इह पुष्यस्य दशमुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टादशसु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेष्वतिक्रान्तेषु पाश्चात्ययुगं परिसमाप्तिमुपैति, तदनन्तरमन्ययुगं प्रवर्त्तते । पुष्यस्यापि च तावन्मात्रादतिक्रान्तात् परतो यावद् भूयोऽपि तावन्मात्रस्य पुष्यस्यातिक्रमः, एतावत्प्रमाण एकः परिपूर्णो नक्षत्रपर्यायः । तस्य च प्रमाणमष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम्,एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागाः ८१९ । २४ । ६६ । तत एतत् पञ्चभिर्गुणयित्वा प्राक्तनाद् ध्रुवराशेर्द्वाषष्टिगुणिताच्छोध्यते, तच्च परिपूर्णं शुद्धानि, पश्चाच्च राशिर्निर्लेपो जायते, तत आगतं-पुष्यस्य सूर्येण युक्तस्य दशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य अष्टादशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु अतिक्रान्तेषु एकोनविंशतौ च मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु चरमा द्वाषष्टितमा पौर्णमासी परिसमाप्तिमगमदिति । तदेवं पौर्णमासीविषयश्चन्द्रनक्षत्रयोगः, सूर्यनक्षत्रयोगश्चोक्तः । सू० प्र० १० पाहु० २२ पाहु० । चं०प्र० । (अमावास्याविषयश्चन्द्रनक्षत्रयोगः, सूर्यनक्षत्रयोगश्च ' अमावसा ' शब्दे प्रथमभागे ७४३ पृष्ठे निरूपितः)

(२६) संप्रति यन्नक्षत्रं यन्नामकं तदेव वा तस्मिन्नेव देशे अन्यस्मिन् वा यावता कालेन भूयश्चन्द्रेण सह योगमुपागच्छति तावन्तं कालं निर्दिदिक्षुराह—

ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं चंदे जोयं जोएति जंसि देसंसि,से णं इमाणि अट्ठ एगूणवीसाणि मुहुत्तसताइं, चउवी-

सं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता बावट्ठिं चुण्णियाभागे उवातिणावेत्ता पुणरवि से चंदे अण्णेणं सरिसएणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति अण्णंसि देसंसि। ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं चंदे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमाइं सोलस अट्ठतीसं मुहुत्तसताइं अउणापण्णं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता पण्णट्ठिं चुण्णियाभागे उवातिणावेत्ता पुणरवि से चंदे तेणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति अण्णंसि देसंसि। ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं चंदे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमाइं चउप्पण्णं मुहुत्तसहस्साइं, णव य मुहुत्तसताइं उवातिणावेत्ता पुणरवि से चंदे अण्णेणं तारिसएणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति तंसि देसंसि। ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं चंदे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमे एगं मुहुत्तसयसहस्सं अट्ठाणउतिं चेव मुहुत्तसताइं उवातिणावेत्ता पुणरवि से चंदे तेणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति तंसि तंसि देसंसि।

" ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं " इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत्। येन नक्षत्रेण सह चन्द्रो अद्य विवक्षिते दिने योगं युनक्ति करोति यस्मिन् देशे, स चन्द्रः, णमिति वाक्यालङ्कारे । इमानि वक्ष्यमाणसंख्याकानि । तान्येवाह-अष्टौ मुहूर्तशतान्येकोनविंशान्येकोनविंशत्यधिकानि, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिद्वाषष्टिभागान्, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्वा द्वाषष्टिचूर्णिकाभागानुपादाय गृहीत्वा, अतिक्रम्येत्यर्थः । पुनरपि स चन्द्रोऽन्येन द्वितीयेन सदृशनाम्ना नक्षत्रेण योगं युनक्ति अन्यस्मिन् देशे । इयमत्र भावना-इह चन्द्रसूर्यनक्षत्राणां मध्ये नक्षत्राणि सर्वशीघ्राणि, तेभ्यो मन्दगतयः सूर्याः, तेभ्योऽपि मन्दगतयश्चन्द्रमसः । (एतच्चाग्रे स्वयमेव प्रपञ्चयिष्यते) षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि प्रतिनियतापान्तरालदेशानि चक्रवालमण्डलतया व्यवस्थितानि सदैवैकरूपतया परिभ्रमन्ति । तत्र किल युगस्याऽऽदावभिजिता नक्षत्रेण सह योगमभिगच्छति चन्द्रमाः, स च योगमुपागतः सन् शनैः शनैः पश्चादवष्वष्कते; तस्य नक्षत्रेभ्योऽतीव मन्दगतित्वात् । ततो नवानां मुहूर्तानामेकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिद्वाषष्टिभागानाम, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिसप्तषष्टिभागानामतिक्रमे पुरतः श्रवणेन सह योगमायाति । ततस्ततश्चन्द्रोऽपि शनैः पश्चादवष्वष्कमाणस्त्रिंशता मुहूर्तैः श्रवणेन सह योगं समाप्य पुरतो धनिष्ठया सह योगमुपागच्छति । एवं स्वं स्वं कालमपेक्ष्य सर्वैरपि नक्षत्रैः सह योगस्तावद्वक्तव्यो यावदुत्तराषाढानक्षत्रयोगपर्यन्तः । एतावता च कालेनाष्टौ मुहूर्तशतानि, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागा अभवन् । तथाहि-षड् नक्षत्राणि, पञ्चचत्वारिंशन् मुहूर्तानीति षट् पञ्चचत्वारिंशता गुण्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तत्यधिके २७० । षट् च नक्षत्राणि पञ्चदश मुहूर्तानीति भूयः षट् पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जाता नवतिः पञ्चदश त्रिंशन्मुहूर्तानीति पञ्चदश त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि चत्वारि शतानि पञ्चाशदधिकानि ४५० ।

अभिजितो नव मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागा इति भवति सर्वेषामेकत्र मीलने यथोक्ता मुहूर्तसंख्या । एष एतावान् नक्षत्रमासः । ततस्तदनन्तरं यदभिजिन्नक्षत्रमतिक्रान्तं तदपरेण द्वितीयेनाभिजिता नक्षत्रेण सह नवमुहूर्ताऽऽदिकाले योगमुपागच्छति, ततः परमपरेण द्वितीयाष्टाविंशतिसंबन्धिना श्रवणेन सह योगमश्नुते, एवं पूर्ववत् तावद्वाच्यं यावदुत्तराषाढा, तदनन्तरं भूयः प्रथमेनैवाभिजिता नक्षत्रेण सह योगं याति । ततः प्रागुक्तक्रमेण श्रवणाऽऽदिभिः, एवं सकलकालमपि ततो विवक्षिते दिने यस्मिन् देशे येन नक्षत्रेण सह योगमगमच्चन्द्रमाः स यथोक्तमुहूर्तसंख्याऽतिक्रमे भूयस्तादृशेनैवापरेण नक्षत्रेण सह अन्यस्मिन् देशे योगमादत्ते, न तेनैवापि तस्मिन्नेव देशे इति । तथा (ता जेणमित्यादि) अद्य विवक्षिते दिने येन नक्षत्रेण सह योगं युनक्ति यस्मिन् यस्मिन् देशे चन्द्रमाः, स इमानि वक्ष्यमाणसंख्याकानि । तान्येवाह-षोडश मुहूर्तशतानि अष्टात्रिंशदधिकानि, एकोनपञ्चाशतं द्वाषष्टिभागान् मुहूर्तस्य, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्वा तस्य सत्कान् पञ्चषष्टिचूर्णिकाभागानुपादायातिक्रम्य पुनरपि स चन्द्रस्तेनैव नक्षत्रेण सह योगं युनक्ति, परमन्यस्मिन् देशे, न तु तस्मिन्नेव । कुतः?, इति चेत् । उच्यते-इह भूयस्तस्मिन्नेव देशे तेनैव नक्षत्रेण सह योगः, युगद्वयकालातिक्रमे तथा केवलवेदसा ज्योतिश्चक्रगतेरुपलब्धेः जम्बूद्वीपे च षट्पञ्चाशदेव नक्षत्राणि, ततो विवक्षितनक्षत्रयोगे सति तत आरभ्य षट्पञ्चाशन्नक्षत्रातिक्रमेण तेन नक्षत्रेण सह योगमादत्ते, षट्पञ्चाशन्नक्षत्रातिक्रमश्च प्रागुक्ताष्टाविंशतिनक्षत्रमुहूर्तसंख्यया । तत उक्तम्-" सोलस अट्ठतीस मुहुत्तसया " इत्यादि । तदेवं तादृशेन तेन वा नक्षत्रेण सह अन्यस्मिन् देशे यावता कालेन भूयोऽपि योग उपजायते, तावान् कालविशेष उक्तः । संप्रति तस्मिन्नेव देशे तादृशेन तेन वा नक्षत्रेण सह भूयोऽपि योगो यावता कालेन भवति, तावन्तं कालविशेषमाह-(ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं इत्यादि) अद्य विवक्षिते दिने येन नक्षत्रेण सह योगं चन्द्रो युनक्ति यस्मिन् देशे, स चन्द्रमा इमानि वक्ष्यमाणसंख्याकानि । तान्येवाह-चतुःपञ्चाशन्मुहूर्तसहस्राणि । नव च मुहूर्तशतान्युपादायातिक्रम्य पुनरपि स चन्द्रोऽन्येन तादृशेनैव नक्षत्रेण सह योगं युनक्ति तस्मिन्नेव देशे । इयमत्र भावना-विवक्षिते युगे विवक्षितानामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये येन नक्षत्रेण सह यस्मिन् देशे यदा चन्द्रमसो योगो जातो, भूयस्तस्मिन्नेव देशे तदेव तेनैव नक्षत्रेण सह योगो विवक्षितयुगादारभ्य तृतीये युगे, न तु द्वितीये । कुतः?, इति चेत् । उच्यते-इह युगाऽऽदित आरभ्य प्रथमे नक्षत्रमासे यान्येकान्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि समतिक्रामन्ति द्वितीयेन नक्षत्रमासेन, तेभ्योऽपराणि द्वितीयानि ततो भूयस्तृतीयेन नक्षत्रमासेन, तान्येव प्रथमान्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि चतुर्थेन भूयस्तान्येव द्वितीयानि । एवं सकलकालं युगे च नक्षत्रमासाः सप्तषष्टिः । सा च सप्तषष्टिसंख्या विषमेति विवक्षितयुगपरिसमाप्तौ तस्यानन्तरस्य युगस्य प्रारम्भे यानि विवक्षितयुगस्याऽऽदौ भुक्तानि नक्षत्राणि, तेभ्योऽपराण्येव द्वितीयानि योगमायान्ति, न तु तान्येव, युगद्वये च चतुस्त्रिंशदधिकनक्षत्रमासशतं भवति । सा च चतुस्त्रिंशन्नक्षत्रमासशतसंख्या समेति द्वितीययुगपरिसमाप्तौ षट्पञ्चाशदपि नक्षत्राणि समाप्तिमुपयान्ति, ततो विवक्षितयुगादारभ्य तृतीये युगे तेनैव नक्षत्रेण तस्मिन्नेव देशे

तदा चन्द्रमसो योगः, युगे चाहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि; एकैकस्मिंश्चाहोरात्रे मुहूर्तास्त्रिंशत्; ततोऽष्टादशानां शतानां त्रिंशदधिकानां त्रिंशता गुणने भवति यथोक्ता मुहूर्तसंख्या, यथोक्तमुहूर्तसंख्याऽतिक्रमे च तादृशेनैव नक्षत्रेण सह योगः चन्द्रमसस्तस्मिन्नेव देशे,न तु तेन नक्षत्रेण, अन्यस्मिन्वा देशे इति । (ता जेणमित्यादि) इदं सूत्रमक्षरार्थमधिकृत्य सुगमम् । भावना तु प्रागेव कृता, नवरं युगद्वयकालं षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि अहोरात्राणाम्, एकैकस्मिंश्चाहोरात्रे त्रिंशन्मुहूर्ता इति षट्त्रिंशच्छतानां षष्ट्यधिकानां त्रिंशता गुणने यथोक्ता मुहूर्तसंख्या भवति । तदेवं तादृशेन तेन वा नक्षत्रेण सहान्यस्मिन् तस्मिन् वा देशे चन्द्रमसो योगे कालप्रमाणमुक्तम् ।

संप्रति सूर्यविषये तदाह-

ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं सूरे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमाइं तिण्णि छावट्ठाइं राइंदियसताइं उवातिणावेत्ता पुणरवि से सूरिए अण्णेणं तारिसएणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति तंसि देसंसि । ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं सूरे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमाइं सत्तदुवत्तीसं राइंदियसताइं उवातिणावेत्ता पुणरवि से सूरे तेणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति तंसि देसंसि । ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं सूरे जोयं जोएति जंसि देसंसि,से णं इमाइं अट्ठारस तीसाइं राइंदियसताइं उवातिणावेत्ता पुणरवि सूरे अण्णेणं तारिसएणं चेव णक्खत्तेणं जोगं जोएति तंसि देसंसि । ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं सूरे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमाइं छत्तीसं सट्ठाइं राइंदियसयाइं उवातिणावेत्ता पुणरवि से सूरे तेणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति तंसि देसंसि । ता जया णं इमे चंदे गतिसमावण्णए भवति, तता णं इतरे वि चंदे गतिसमावण्णए भवति, जता णं इतरे वि चंदे गतिसमावण्णए भवति, तता णं इमे वि चंदे गतिसमावण्णए भवति । ता जया णं इमे सूरिए गतिसमावण्णे भवति, तया णं इयरे वि सूरिए गतिसमावण्णे भवति, जता णं इतरे सूरिए गतिसमावण्णे भवति,तया णं इमे वि सूरिए गतिसमावण्णे भवति । एवं गहे वि, णक्खत्ते वि । ता जता णं इमे चंदे जुत्ते जोगेणं भवति, तता णं इतरे वि चंदे जुत्ते जोगेणं भवति, जया णं इयरे चंदे जुत्ते जोगेणं भवति, तता णं इमे वि चंदे जुत्ते जोगेणं भवति । एवं सूरे वि, गहे वि, णक्खत्ते वि । सया वि णं चंदा जुत्ता जोएहिं, सता वि णं सूरा जुत्ता जोगेहिं, सया वि णं गहा जुत्ता जोगेहिं, सया वि णं णक्खत्ता जुत्ता जोगेहिं । दुहतो वि णं चंदा जुत्ता जोगेहिं, दुहतो वि णं सूरा जुत्ता जोगेहिं, दुहतो वि णं गहा जुत्ता जोगेहिं, दुहतो वि णं णक्खत्ता जुत्ता जोगेहिं ।

"ता जेणं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । अद्य विवक्षिते दिने येन नक्षत्रेण सह सूर्यो यस्मिन् देशे योगं युनक्ति, स इमानि त्रीणि षट्षष्ट्यधिकानि रात्रिंदिवशतानि उपादाय अतिक्रम्य, पुनरपि स सूर्यस्तस्मिन्नेव देशे तादृशेनैवान्येन नक्षत्रेण सह योगं युनक्ति, न तु तेनैव । कुतः ?, इति चेत् । उच्यते-इह चन्द्रो नक्षत्रमासेनैकेनाष्टाविंशतिनक्षत्राणि भुङ्क्ते । सूर्यस्तु त्रिभिरेवाहोरात्रशतैः षट्षष्ट्यधिकैः । त्रीणि चाहोरात्रशतानि षट्षष्ट्यधिकानि एकः सूर्यसंवत्सरः । ततोऽन्यैस्त्रिभिरहोरात्रशतैः षट्षष्ट्यधिकैरन्यानि द्वितीयान्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि परिभुङ्क्ते । तदनन्तरं भूयस्तान्येव प्रथमान्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि तावत्याऽहोरात्रसंख्यया क्रमेण युनक्ति । ततः षट्षष्ट्यधिकरात्रिन्दिवशतत्रयातिक्रमेण सूर्यस्य तस्मिन्नेव देशे तादृशेनैवापरेण नक्षत्रेण सह योगः, न तु तेनैव । (ता जेणं इत्यादि) इदं सूत्रमक्षरार्थमधिकृत्य सुगमम्, भावना च प्रागेव कृता । (ता जेणमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । अद्य विवक्षिते दिने येन नक्षत्रेण सह सूर्यो यस्मिन् देशे योगं युनक्ति, स इमानि अष्टादश रात्रिंदिवशतानि त्रिंशदधिकानि उपादायातिक्रम्य,पुनरपि तस्मिन्नेव देशेऽन्येनैव तादृशेन नक्षत्रेण सह योगं युनक्ति,न तु तेनैव । कस्मात् ?, इति चेत् । उच्यते-इह रात्रिन्दिवानामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि युगे भवन्ति । तत्र सूर्यो विवक्षितदिनादारभ्य तस्मिन्नेव देशे तदैव दिने तेनैव नक्षत्रेण सह योगमागच्छति । तृतीये संवत्सरे युगे च सूर्यवर्षाणि पञ्च; ततस्तृतीये पञ्चमे वा सूर्यसंवत्सरे सूर्यः तेनैव नक्षत्रेण तस्मिन्नेव काले योगमाधत्ते, न तु युगातिक्रमे षष्ठे वर्षे इति । "ता जेणं" इत्यादि सुगमं, नवरं षट्त्रिंशद्रात्रिंदिवशतानि षष्ट्यधिकानि युगद्वये भवन्ति,युगद्वये च दश सूर्यवर्षाणि । ततो युगद्वयातिक्रमे एकादशे वर्षे सूर्यस्य तेनैव नक्षत्रेण सह तस्मिन्नेव देशे योग उपपद्यत इति । इह जम्बूद्वीपे द्वौ चन्द्रमसौ,द्वौ सूर्यौ,एकैकस्य चन्द्रमसो भिन्नो ग्रहाऽऽदिकः परिवार इति श्रुत्वा कश्चिदेवमपि मन्येत-यथा भिन्नकालं मण्डलेषु चन्द्राऽऽदीनां गतिः,भिन्नकालं च तेषां नक्षत्राऽऽदिभिः सह योग इति । ततस्तदाशङ्काऽपनोदार्थमाह-(ता जया णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । यदा यस्मिन् काले, अयं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानो भरतक्षेत्रे प्रकाशयन् विवक्षितश्चन्द्रः, विवक्षिते मण्डले इति गम्यते । गतिसमापन्नो गतियुक्तो भवति, तदा तस्मिन् काले इतरोऽपि ऐरावतं क्षेत्रं प्रकाशयन् तस्मिन्नेव विवक्षिते मण्डले गतिसमापन्नो भवति । एवं शेषाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि । नवरम् (एवं गहे वि, एवं णक्खत्ते वि त्ति) एवमुक्तेन प्रकारेण ग्रहेऽपि द्वावालापकौ वक्तव्यौ, नक्षत्रेऽपि च । तद्यथा-"ता जया णं इमे गहे गइसमावण्णे भवइ, तया णं इतरे वि गहे गइसमावण्णे भवइ, ता जया णं इतरे गहे गइसमावण्णे भवइ, तया णं इमे वि गहे गइसमावण्णे भवइ ।" एवं नक्षत्रेऽपि वाच्यम् । "ता जया णं इमे चंदे जुत्ते जोगेणं" इत्यादि सुगमं, नवरं (दुहतो वि त्ति) उभयतोऽपि दक्षिणोत्तरयोः, पूर्वपश्चिमयोर्वा । सू० प्र० १० पाहु० २२ पाहु० । (संवत्सरान्तेषु नक्षत्रचन्द्रयोगः 'संवच्छर' शब्दे वक्ष्यते) (संवत्सरेषु चन्द्रः केन नक्षत्रेणाऽऽवृत्तिं योजयतीति 'आउट्टि' शब्दे द्वितीयभागे ३३ पृष्ठे उक्तम्) (अर्द्धमासे केन नक्षत्रेण चन्द्रश्चारं चरतीति 'चंदमंडल' शब्दे तृतीयभागे १०८१ पृष्ठे उक्तम्)

(२७) नक्षत्राणां संस्थानानि-

ता कहं ते णक्खत्तसंठिती आहिता ति वदेज्जा ?। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अभिई णक्खत्ते गो-

सीसाऽऽवलिसंठिए पएणत्ते १, सवणे णक्खत्ते काहारसंठिए पएणत्ते २, धणिट्ठा णक्खत्ते सउणिपलीणगसंठिए पएणत्ते ३, सतभिसया णक्खत्ते पुप्फोवयारसंठिए पएणत्ते ४, पुव्वापोट्ठवया णक्खत्ते ५, उत्तरपोट्ठवया णक्खत्ते अ वावीसंठिए पएणत्ते ६, रेवती णक्खत्ते णावासंठिए पएणत्ते ७, अस्सिणी णक्खत्ते अस्सखंधगसंठिए पएणत्ते ८, भरणी णक्खत्ते भगसंठिए पएणत्ते ९, कत्तिया णक्खत्ते छुरघरसंठिए पएणत्ते १०, रोहिणी णक्खत्ते सगडसंठिए पएणत्ते ११, मगसिरे णक्खत्ते मगसीसाऽऽवलिसंठिए पएणत्ते १२, अद्दा णक्खत्ते रुहिरबिंदुसंठिते पएणत्ते १३, पुणव्वसू णक्खत्ते तुलासंठिए पएणत्ते १४, पुस्से णक्खत्ते वद्धमाणगसंठिए पएणत्ते १५, असिलेसा णक्खत्ते पडागसंठिए पएणत्ते १६, मघा णक्खत्ते पागारसंठिए पएणत्ते १७, पुव्वाफग्गुणी णक्खत्ते अद्धपलियंकसंठिए पएणत्ते १८, उत्तरा वि एवं चेव १९, हत्थे हत्थसंठिए पएणत्ते २०, चित्ता णक्खत्ते मुहफुल्लगसंठिए पएणत्ते २१, साई णक्खत्ते खीलगसंठिए पएणत्ते २२, विसाहा णक्खत्ते दामणिसंठिए पएणत्ते २३, अणुराहा णक्खत्ते एगावलिसंठिए पएणत्ते २४, जेट्ठा णक्खत्ते गजदंतसंठिए पएणत्ते २५, मूले णक्खत्ते विच्छुयलंगूलसंठिए पएणत्ते २६, पुव्वासाढा णक्खत्ते गयविक्कमसंठिए पएणत्ते २७, उत्तरासाढा णक्खत्ते सीहणिसाइसंठिए पएणत्ते २८ ।

नक्षत्राणां संस्थानं वक्तव्यमिति तत्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह– "ता कहं ते" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण भगवन् ! नक्षत्राणां संस्थितिः संस्थानमाख्यातमिति वदेत् ? । एवमुक्ते भगवानाह– "ता एतेसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामनन्तरोदितानामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्येऽभिजिन्नक्षत्रं गोशीर्षाऽऽवलिसंस्थिति प्रज्ञप्तम् । गोः शीर्षं, तस्याऽऽवली तत्पुद्गलानां दीर्घरूपा श्रेणिः, तत्समं संस्थानं प्रज्ञप्तम् । श्रवणनक्षत्रं कासारसंस्थितं प्रज्ञप्तम् । एवं शेषाण्यपि स्वस्वसंस्थानानि नक्षत्राणि भावनीयानि, नवरं दामनी पशुबन्धनं, शेषं प्रायः सुगमम् ।

संस्थानसंग्राहिकाश्चेमा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसत्कास्तिस्रो गाथाः–

"गोसीसाऽऽवलि काहा–र सउणि पुप्फोवयार वावी य ।
नावा आसक्खंधग, भग छुरघरए य सगडुद्धी ॥ १ ॥
मिगसीसाऽऽवलि रुहिर–त्त बिंदु तुल वद्धमाणग पडागा ।
पागारे पल्लंके, हत्थे मुहफुल्लए चेव ॥ २ ॥
खीलग दामणि एगा–वली य गयदंत विच्छुअयले य ।
गयविक्कमे य तत्तो, सीहनिसाई य संठाणा" ॥ ३ ॥ इति ।

जं० ७ वक्ष० । चं० प्र० १० पाहु० ७ पाहु० । (नक्षत्राणां चक्रयः 'ओइसिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६९३ पृष्ठे उक्ताः) (२८) (नक्षत्राणामन्तर्बहिश्च चारः 'ओइसिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६०३ पृष्ठे प्रत्यपादि)

णक्खत्तचंदजोग–नक्षत्रचन्द्रयोग–पुं० । सप्तविंशत्या नक्षत्रैः साकल्येन चन्द्रस्य योगे, ज्यो० २ पाहु० । (नक्षत्रस्य चन्द्रेण योगो 'णक्खत्त' शब्दे १७८० पृष्ठे समुक्तः)

णक्खत्तणाम [ण्]–नक्षत्रनामन्–न० । नक्षत्राणामभिधायके शब्दे, अनु० ।

नक्षत्राण्याश्रित्य यन्नाम स्थाप्यते तद्दर्शयति–

से किं तं णक्खत्तणामे ? । णक्खत्तणामे अणेगविहे पएणत्ते । तं जहा–कत्तिआहिं जाए कत्तिए, कत्तियादिन्ने, कत्तियाधम्मे, कत्तियासम्मे, कत्तियादेवे, कत्तियादासे, कत्तियासेणे, कत्तियारक्खिए । रोहिणीहिं जाए रोहिणीए, रोहिणीदिन्ने, रोहिणीधम्मे, रोहिणीसम्मे, रोहिणीदेवे, रोहिणीदासे, रोहिणीसेणे, रोहिणीरक्खिए । एवं सव्वणक्खत्तेसु णामा भाणियव्वा ।

एत्थ संगहणिगाहाओ–

"कत्ति अ रोहिणि मगसिर, अद्दा य पुणव्वसू अ पुस्से अ ।
तत्तो अ अस्सिलेसा, महा उ दो फग्गुणीओ अ ॥ १ ॥
हत्थो चित्ता साती, होइ विसाहा तहा य अणुराहा ।
जेट्ठा मूला पुव्वा–साढा तह उत्तरा चेव ॥ २ ॥
अभिई सवण धणिट्ठा, सतभिसया दो अ होंति भद्दवया ।
रेवइ अस्सिणि भरणी, एसा णक्खत्तपरिवाडी" ॥ ३ ॥

सेत्तं णक्खत्तणामे ।

कृत्तिकासु जातः कार्त्तिकः, कृत्तिकाभिर्दत्तः कृत्तिकादत्तः । एवं कृत्तिकाधर्मः, कृत्तिकाशर्मः, कृत्तिकादेवः, कृत्तिकादासः, कृत्तिकासेनः, कृत्तिकारक्षितः । एवमन्यान्यपि रोहिण्यादिसप्तविंशतिनक्षत्राण्याश्रित्य नामस्थापना द्रष्टव्या । तत्र सर्वनक्षत्रसंग्रहार्थं "कत्तिया रोहिणी" इत्यादि गाथात्रयं सुगमम् । नवरमभिजिन्नक्षत्रेण सह पठ्यमानेषु नक्षत्रेषु कृत्तिकाऽऽदिरेव क्रम इत्यश्विन्यादिक्रममुल्लङ्घ्येत्थमेव पठितव्यानीति । अनु० ।

णक्खत्तणेमी–देशी–विष्णौ, दे० ना० ४ वर्ग ।

णक्खत्तमंडल–नक्षत्रमण्डल–न० । नक्षत्राणां संबन्धिनि मण्डले, जं० ।

नक्षत्रमण्डलस्य अष्टभिर्द्वारैः प्ररूपणा—तत्राष्टौ द्वाराणि यथा—मण्डलसंख्याप्ररूपणा १, मण्डलचारक्षेत्रप्ररूपणा २, अभ्यन्तराऽऽदिमण्डलस्थायिनामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां परस्परमन्तरनिरूपणा ३, नक्षत्रविमानानामायामाऽऽदिनिरूपणम् ४, नक्षत्रमण्डलानां मेरुतोऽबाधानिरूपणम् ५, तेषामेवाऽऽयामाऽऽदिनिरूपणम् ६, मुहूर्त्तगतिप्रमाणनिरूपणम् ७, नक्षत्रमण्डलानां चन्द्रमण्डलैः समवतारनिरूपणम् ८ ।

तत्राऽऽदौ मण्डलसंख्याप्ररूपणाप्रश्नमाह १–

कइ णं भंते ! णक्खत्तमंडला पएणत्ता ? । गोयमा ! अट्ठ णक्खत्तमंडला पएणत्ता ।

"कइ णं भंते !" इत्यादि । कति भदन्त ! नक्षत्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि ? । भगवानाह–गौतम ! अष्ट नक्षत्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि, अष्टाविंशतेरपि नक्षत्राणां प्रतिनियतस्वस्वमण्डलेष्वेतावत्स्वेव संचरणात् ।

एतदेव क्षेत्रविभागं प्रश्नयति–

जंबुद्दीवे दीवे केवइयं ओगाहित्ता केवइया णक्खत्तमंडला पएणत्ता ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे असीयं जोयण-

सयं ओगाहित्ता एत्थ णं दो णक्खत्तमंडला पण्णत्ता। लव-णे णं समुद्दे केवइयं ओगाहेत्ता केवइया णक्खत्तमंडला पण्णत्ता ?। गोयमा ! लवणे णं समुद्दे तिण्णि तीसे जोयणसए ओगाहित्ता एत्थ णं छ णक्खत्तमंडला पण्णत्ता। एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे लवणसमुद्दे अट्ठ णक्खत्तमंडला भवंतीति मक्खायं ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे कियत्क्षेत्रमवगाह्य कियन्ति नक्षत्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि ?। भगवानाह-गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे अशीतमशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्यात्रान्तरे द्वे नक्षत्रमण्डले प्रज्ञप्ते । लवणसमुद्रे कियदवगाह्य कियन्ति नक्षत्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि ?। भगवानाह-गौतम ! लवणसमुद्रे त्रीणि त्रिंशदधिकानि योजनशतान्यवगाह्यात्रान्तरे षट् नक्षत्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि । अत्रोपसंहारवाक्येनोक्तसंख्यां मीलयति-एवमेव सपूर्वापरेण जम्बूद्वीपे द्वीपे लवणसमुद्रे चाष्टौ नक्षत्रमण्डलानि भवन्ति, इत्याख्यातम् । मकारोऽत्राऽऽगमिकः।

अथ मण्डलचारक्षेत्रप्ररूपणा २-

सव्वब्भंतराओ णं भंते ! णक्खत्तमंडलाओ केवइआए अबाहाए सव्वबाहिरए णक्खत्तमंडले पण्णत्ते ?। गोयमा ! पंचदसुत्तरे जोयणसए अबाहाए सव्वबाहिरए णक्खत्तमंडले पण्णत्ते ॥

सर्वाभ्यन्तराद् भदन्त ! नक्षत्रमण्डलात् कियत्या अबाधया सर्वबाह्यं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-गौतम ! पञ्चदशोत्तराणि योजनशतान्यबाधया सर्वबाह्यं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् । इदं च सूत्रं नक्षत्रजात्यपेक्षया बोद्धव्यम्, अन्यथा सर्वाभ्यन्तरमण्डलस्थायिनामभिजिदादिद्वादशनक्षत्राणामवस्थितमण्डलकत्वेन सर्वबाह्यमण्डलस्यैवाभावात् । तेनायमर्थः संपन्नः-सर्वाभ्यन्तरनक्षत्रमण्डलजातीयात् सर्वबाह्यं नक्षत्रमण्डलजातीयमियत्या अबाधया प्रज्ञप्तमिति बोध्यम् ।

अथाभ्यन्तराऽऽदिमण्डलस्थायिनामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां परस्परमन्तरनिरूपणा ३-

णक्खत्तमंडलस्स णं भंते ! णक्खत्तमंडलस्स य एस णं केवइयाए अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दो जोयणाइं णक्खत्तमंडलस्स णक्खत्तमंडलस्स य अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥

"णक्खत्त" इत्यादि । नक्षत्रमण्डलस्य नक्षत्रविमानस्य, नक्षत्रमण्डलस्य नक्षत्रविमानस्य च भदन्त ! कियत्या अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-गौतम ! द्वे योजने नक्षत्रविमानस्य नक्षत्रविमानस्य च अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम्। अयमर्थः-अष्टास्वपि मण्डलेषु यत्र यत्र मण्डले यावन्ति नक्षत्राणां विमानानि, तेषामन्तरबोधकमिदं सूत्रम् । यथा अभिजिन्नक्षत्रविमानस्य श्रवणविमानस्य च परस्परमन्तरं द्वे योजने, न तु नक्षत्रसत्कसर्वाभ्यन्तराऽऽदिमण्डलानामन्तरसूचकम्, अन्यथा नक्षत्रमण्डलानां वक्ष्यमाणचन्द्रमण्डलसमवतारसूत्रेण सह विरोधात् ।

अथ नक्षत्रविमानानामायामाऽऽदिप्ररूपणा ४-

णक्खत्तमंडले णं भंते ! केवइयं आयामविक्खंभेणं, केवइयं परिक्खेवेणं, केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! गाउयं आयामविक्खंभेणं, तंतिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं, अद्धगाउयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

" णक्खत्त " इत्यादि । नक्षत्रमण्डलं भदन्त ! कियदायामविष्कम्भाभ्यां, कियत् परिक्षेपेण, कियद् बाहल्येनोच्चैस्त्वेन प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-गौतम ! गव्यूतमायामविष्कम्भाभ्यां, तत्त्रिगुणयात् विशेषात् परिक्षेपेण, अर्द्धगव्यूतं बाहल्येन प्रज्ञप्तमिति ।

सम्प्रत्येषामेव मेरुमधिकृत्याबाधाप्ररूपणा ५-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए सव्वब्भंतरे णक्खत्तमंडले पण्णत्ते ?। गोयमा ! चोआलीसं जोयणसहस्साइं अट्ठ य वीसे जोयणसए अबाहाए सव्वब्भंतरे णक्खत्तमंडले पण्णत्ते ।

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वाभ्यन्तरं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-गौतम ! चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि, अष्ट च विंशत्यधिकानि योजनशतान्यबाधया सर्वाभ्यन्तरं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ।

अथ बाह्यमण्डलाऽबाधां पृच्छति-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए सव्वबाहिरए णक्खत्तमंडले पण्णत्ते ?। गोयमा ! पणयालीसं जोयणसहस्साइं तिण्णि अ तीसे जोयणसए अबाहाए सव्वबाहिरए णक्खत्तमंडले पण्णत्ते ।

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वबाह्यं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-गौतम ! पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि, त्रीणि च त्रिंशदधिकानि योजनशतान्यबाधया सर्वबाह्यं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ।

अथ तेषामेवाऽऽयामाऽऽदिनिरूपणम् ६-

सव्वब्भंतरेणं भंते ! णक्खत्तमंडले केवइयं आयामविक्खंभेणं, केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! णवणउतिजोयणसहस्साइं छच्च चत्ताले जोयणसए आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोयणसयसहस्साइं पण्णरस सहस्साइं एगूणणवतिं च जोयणाइं किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते ।

'सव्वब्भंतरेणं' इत्यादि प्राग्वत् ।

अथ सर्वबाह्यमण्डलं पृच्छति-

सव्वबाहिरए णं भंते ! णक्खत्तमंडले केवइयं आयामविक्खंभेणं, केवइयं आयामपरिक्खेवेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! एगं जोयणसहस्सं छच्च सट्ठे जोयणसए आयामविक्खंभेणं, तिण्णि अ जोयणसयसहस्साइं अट्ठारस य सहस्साइं तिण्णि अ पण्णरसुत्तरे जोयणसए ।

" सव्वबाहिरए " इत्यादि प्राग्वत् । मध्यमेषु षट्सु मण्डलेषु तु चन्द्रमण्डलानुसारेणाऽऽयामविष्कम्भपरिक्षेपाः परिभाव्याः, यद्यपि नक्षत्रमण्डलानि चन्द्रमण्डले समवतरन्तीति भणिष्यमाणत्वात् ।

अथ मुहूर्त्तगतिद्वारम् ७-

जया णं परिक्खेवेणं भंते ! णक्खत्ते सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइयं खेत्तं गच्छइ ?। गोयमा ! पंच जोयणसहस्साइं दोण्णि अ पणसट्ठे जोयणसए अट्ठारस भागसहस्से दोण्णि अ तेवट्ठे भागसए गच्छइ मंडलं एकवीसाए भागसहस्सेहिं णवहि अ सट्ठेहिं सएहिं छेत्ता ।

"जया णं" इत्यादि । यदा भदन्त ! परिक्षेपेण नक्षत्रं सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, तदैकेन मुहूर्त्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति ?। नक्षत्रमित्यत्र जात्यपेक्षयैकवचनम्, अन्यथाऽभ्यन्तरमण्डलगतिचिन्तायां द्वादशानामपि नक्षत्राणां संग्रहाय बहुवचनस्यौचित्यात् । भगवानाह-गौतम ! पञ्च योजनसहस्राणि, द्वे च पञ्चषष्ट्यधिकयोजनशते, अष्टादश च भागसहस्राणि, द्वे च त्रिषष्ट्यधिके भागशते गच्छति मण्डलमेकविंशत्या भागसहस्रैर्नवभिश्च षष्ट्यधिकैः शतैः छित्त्वा इति । अत्रोपपत्तिः-इह नक्षत्रमण्डलकाल एकोनषष्टिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तषष्ट्यधिकत्रिंशद्भागानां त्रीणि शतानि सप्तोत्तराणीति ५९। ३०७/३६७। इदानीमेतदनुसारेण मुहूर्त्तगतिश्चिन्त्यते-तत्र रात्रिंदिवे त्रिंशन्मुहूर्त्ताः, तेषु उपरितना एकोनत्रिंशन्मुहूर्त्ताः प्रक्षिप्यन्ते, जाता एकोनषष्टिर्मुहूर्त्तानाम् । ततः सवर्णनार्थं त्रिभिः शतैः सप्तषष्ट्यधिकैर्गुणयित्वा उपरितनानि त्रीणि शतानि सप्तोत्तराणि प्रक्षिप्यन्ते, जातान्येकविंशतिसहस्राणि नव शतानि षष्ट्यधिकानि २१९६० । अयं प्रतिमण्डलं परिधेः छेदकराशिः । तत्र सर्वाभ्यन्तरमण्डलपरिधिः ३१५०८९ । अयं च योजनाऽऽत्मको राशिर्भागाऽऽत्मकेन राशिना भजनार्थं त्रिभिः सप्तषष्ट्यधिकैः शतैः ३६७ गुण्यते । जातम् ११५६३७६६३ । अस्य राशेरेकविंशत्या सहस्रैर्नवभिः शतैः षष्ट्यधिकैर्भागे हृते लब्धानि ५२६५ । शेषम् १८२६३२ १९६० भागाः । एतावती सर्वाभ्यन्तरमण्डलेऽभिजिदादीनां द्वादशनक्षत्राणां मुहूर्त्तगतिः ।

अथ बाह्यनक्षत्रमण्डले मुहूर्त्तगतिं पृच्छति-

जया णं भंते ! णक्खत्ते सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइयं खेत्तं गच्छइ ?। गोयमा ! पंच जोयणसहस्साइं तिण्णि अ एगूणवीसए जोयणसए सोलस य भागसहस्से तिण्णि अ पण्णट्ठे भागसए गच्छइ मंडलं एगवीसाए भागसहस्सेहिं णवहि अ सट्ठेहिं सएहिं छेत्ता ।

"जया णं" इत्यादि । यदा भदन्त ! नक्षत्रं सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, तदा एकैकेन मुहूर्त्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति ?। अत्राप्येकवचनं प्राग्वत् । भगवानाह-गौतम ! पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि चैकोनविंशत्यधिकानि योजनशतानि षोडश च भागसहस्राणि त्रीणि च पञ्चषष्ट्यधिकानि भागशतानि गच्छति मण्डलमेकविंशत्या भागसहस्रैर्नवभिश्च षष्ट्यधिकैः शतैः छित्त्वा इति । अत्रोपपत्तिः-अत्र मण्डले परिधिः ३१८३१५ । अयं त्रिभिः सप्तषष्ट्यधिकैः शतैः ३६७ गुण्यते, जातम्-११६८२१६०५। अस्य राशेरेकविंशत्या सहस्रैर्नवभिः शतैः षष्ट्यधिकैः भागे लब्धानि ५३१९ योजनानि । शेषम् १६३६५२१९६० भागाः। एतावती सर्वबाह्यनक्षत्रमण्डले मृगशीर्षप्रभृतीनामष्टानां नक्षत्राणां मुहूर्त्तगतिः । उक्ता तावत् सर्वाभ्यन्तरसर्वबाह्यमण्डलवर्त्तिनां नक्षत्राणां मुहूर्त्तगतिः ।

अथ नक्षत्रतारकाणामवस्थितमण्डलकत्वेन प्रतिनियतगतिकत्वेन चावशिष्टेषु षट्सु मण्डलेषु मुहूर्त्तगतिपरिज्ञानं दुष्करमिति तत्कारणभूतं मण्डलपरिज्ञानं कर्त्तुं नक्षत्रमण्डलानां चन्द्रमण्डलेषु समवतारप्रश्नमाह ८-

एते णं भंते ! अट्ठ णक्खत्तमंडला कतिहिं चंदमंडलेहिं समोअरंति ?। गोयमा ! अट्ठहिं चंदमंडलेहिं समोअरंति । तं जहा-पढमे चंदमंडले, ततिए, छट्ठे, सत्तमे, अट्ठमे, दसमे, इक्कारसमे, पण्णरसमे चंदमंडले ।

"एते णं" इत्यादि । एतानि भदन्त ! अष्टौ नक्षत्रमण्डलानि कतिषु चन्द्रमण्डलेषु समवतरन्ति अन्तर्भवन्ति ?, चन्द्रनक्षत्राणां साधारणमण्डलानि कानीत्यर्थः ?। भगवानाह-गौतम ! अष्टासु चन्द्रमण्डलेषु समवतरन्ति । तद्यथा-प्रथमे चन्द्रमण्डले प्रथमं नक्षत्रमण्डलं चारक्षेत्रम्, संचारिणामनवस्थितचारिणां च सर्वेषां ज्योतिष्काणां जम्बूद्वीपे अशीत्यधिकयोजनशतमवगाह्यैव मण्डलप्रवर्त्तनात् । तृतीये चन्द्रमण्डले द्वितीयं नक्षत्रमण्डलम् । एते च द्वे जम्बूद्वीपे । षष्ठे लवणे भाविनि चन्द्रमण्डले तृतीयम् । तत्रैव भाविनि सप्तमे चतुर्थम् । अष्टमे पञ्चमम् । दशमे षष्ठम् । एकादशे सप्तमम् । पञ्चदशे अष्टमम् । शेषाणि तु द्वितीयाऽऽदीनि सप्त चन्द्रमण्डलानि नक्षत्रैर्विरहितानि । तत्र प्रथमे चन्द्रमण्डले द्वादश नक्षत्राणि । तद्यथा-अभिजित्, श्रवणः, धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, भरणी, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, स्वातिश्च । द्वितीये पुनर्वसु, मघा च । तृतीये कृत्तिका । चतुर्थे रोहिणी, चित्रा च । पञ्चमे विशाखा । षष्ठे अनुराधा । सप्तमे ज्येष्ठा । अष्टमे मृगशिरः, आर्द्रा, पुष्यः, अश्लेषाः, मूलो, हस्तश्च । पूर्वाषाढोत्तराषाढयोर्द्वे द्वे तारे अभ्यन्तरतो, द्वे द्वे बाह्यत इति । एवं स्वस्वमण्डलावतारसत्कचन्द्रमण्डलपरिध्यनुसारेण प्रागुक्तरीत्या द्वितीयाऽऽदीनामपि नक्षत्रमण्डलानां मुहूर्त्तगतिः परिभावनीया । उक्ता प्रतिमण्डलं चन्द्राऽऽदीनां योजनाऽऽत्मिका मुहूर्त्तगतिः । जं० ७ वक्ष० ।

णक्खत्तमास–न (ना) क्षत्रमास–पुं० । चन्द्रस्य नक्षत्रमण्डले परिवर्त्तमाने निष्पन्न इत्युपचारतो मासोऽपि नक्षत्रं,नक्षत्रेषु भवो नाक्षत्रः, स चासौ मासश्च । चन्द्रश्चारं चरन् यावता कालेनाभिजित आरभ्योत्तराषाढानक्षत्रपर्यन्तं गच्छति तत्कालप्रमाणे मासभेदे, व्य० १ उ० । नि० चू० । स्था० । तन्मानम्–नक्षत्रमासः–सप्तविंशतिरहोरात्राः, एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य । नक्षत्रसंवत्सरे अहोरात्राणां त्रीणि शतानि सप्तविंशत्यधिकानि, एकपञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य । ततस्तेषां शतानां सप्तविंशत्यधिकानां द्वादशभिर्भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तविंशतिरहोरात्राः, शेषास्त्रयस्तिष्ठन्ति । तेऽपि सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जाते द्वे शते एकोत्तरे । २०१ । येऽपि च उपरितना एकपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागाः, तेऽपि

च तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके २५२ । तेषां द्वादशभिर्भागे हृते लब्धा एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः, आगतं यथोक्तं नक्षत्रमासपरिमाणम् । ज्यो० २ पाहु० । नि० चू० । वृ० । "एगमेगेणं णक्खत्तमासे सत्तावीसाहिं राइं-दियाहिं राइंदियग्गेणं पण्णत्ते" । स० २७ सम० । ('मास' शब्देऽन्यद् वक्ष्यते)

णक्खत्तमुह-नक्षत्रमुख-न० । चन्द्रे, " णक्खत्ताण मुहं बूहि, णक्खत्ताण मुहं चंदो । " उत्त० २५ अ० ।

णक्खत्तविचय-नक्षत्रविचय-पुं० । विपूर्वश्चिञ् स्वभावात् स्वरूपनिर्णये वर्तते । तथा चोक्तमन्यत्र-"आसवचनं प्रवचनं, ज्ञात्वा विचयस्तदर्थनिर्णयनम् ।" तत्र विचयनं विचयः,नक्षत्राणां विचयो नक्षत्रविचयः । नक्षत्राणां स्वरूपनिर्णये, सू० प्र० १ पाहु० । (स च 'णक्खत्त' शब्देऽत्रैव भागे १७७७ पृष्ठे उक्तः)

णक्खत्तसंवच्छर-न [ना] क्षत्रसंवत्सर-पुं० । नक्षत्रेषु भवो नाक्षत्रः । किमुक्तं भवति ?-चन्द्रश्चारं चरन् यावता कालेनाभिजित आरभ्योत्तराषाढानक्षत्रपर्यन्तं गच्छति तत्प्रमाणो नाक्षत्रो मासः । यदि वा चन्द्रस्य नक्षत्रमण्डले परिवर्तननानिष्पन्न इत्युपचारतो मासोऽपि नक्षत्रम् । स च द्वादशगुणो नक्षत्रसंवत्सरः । जं० ७ वक्ष० । चन्द्रस्य नक्षत्रमण्डलभोगकालो नक्षत्रमासः, स च सप्तविंशतिर्दिनानि, एकविंशतिः सप्तषष्टिभागा दिवसस्येत्येवंविधद्वादशमासमिते संवत्सरभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । स चायं त्रीणि शतानि अह्नां सप्तविंशत्युत्तराणि एकपञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागा इति । स्था० ५ ठा० ३उ० ।

संप्रति नक्षत्रसंवत्सरमाह-

णक्खत्तचंदजोगो, बारसगुणिओ उ णक्खत्तो ।

नक्षत्रचन्द्रयोगः सप्तविंशत्या नक्षत्रैः साकल्येन च एकत्र चन्द्रेण योगः, एष द्वादशभिर्गुणितो नक्षत्रो नक्षत्रसंवत्सरो भवति । अत्र पुनरेकः समस्तनक्षत्रयोगपर्याय एव नक्षत्रमासः । स च सप्तविंशतिरहोरात्राः, एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य, एष राशिर्यदा द्वादशभिर्गुण्यते तदा त्रीण्यहोरात्रशतानि सप्तविंशत्यधिकानि, एकपञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य । एतावत्प्रमाणो नक्षत्रसंवत्सरः । ज्यो० २ पाहु० ।

नामनिरुक्तिमुक्त्वाऽथ तेषां भेदानाह-

णक्खत्तसंवच्छरे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुवालसविहे पण्णत्ते । तं जहा-सावणे, भद्दवए, आसोए० जाव असाढे । जं वा विहप्फई महग्गहे दुवालसेहिं संवच्छरेहिं सव्वणक्खत्तमंडलं समाणेइ । सेत्तं णक्खत्तसंवच्छरे ॥

"णक्खत्त" इत्यादि । नक्षत्रसंवत्सरो भगवन् ! कतिविधः प्रज्ञप्तः ? । भगवानाह-गौतम ! द्वादशविधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-श्रावणः, भाद्रपदः, आश्विनः । यावत्पदात् कार्तिकाऽऽदिसंग्रहः । आषाढः । अयं भावः-इहैकः समस्तनक्षत्रयोगपर्यायो द्वादशभिर्गुणितो नक्षत्रसंवत्सरः । ततो ये नक्षत्रसंवत्सरस्य पूरका द्वादश समस्तनक्षत्रयोगपर्यायाः श्रावणभाद्रपदाऽऽदिनामानः, तेऽवयवे समुदायोपचाराद् नक्षत्रसंवत्सरः । ततः श्रावणाऽऽदिद्वादशविधो नक्षत्रसंवत्सरः । वा इति पक्षान्तरसूचने । अथवा बृहस्पतिर्महाग्रहो द्वादशभिः संवत्सरैर्योगमधिकृत्य यत् सर्वं नक्षत्रमण्डलमभिजिदादीन्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि परिसमापयति, तावान् कालविशेषो द्वादशवर्षप्रमाणो नक्षत्रसंवत्सरः । जं० ७ वक्ष० । चं० प्र० । अक्षरूपे प्रमाणसंवत्सरभेदे, वक्ष्यमाणस्वरूपे प्रमाणसंवत्सरभेदे, वक्ष्यमाणस्वरूपे लक्षणसंवत्सरभेदे च ।

तत्स्वरूपं च—

ता णक्खत्तेणं संवच्छरस्स पंचविहं लक्खणं पण्णत्ते । तं जहा-"समगं णक्खत्ता जोगं,जोएंति समगं उऊ परिणमंति । णऽच्चुण्ह णातिसीते, बहुउदओ होति णक्खत्तो " ॥ १ ॥

"ता णक्खत्त" इत्यादि । 'ता' इति । तत्र नक्षत्रसंवत्सरस्य लक्षणमधिकृत्य पञ्चविधः प्रज्ञप्तः । किमुक्तं भवति ?-नक्षत्रसंवत्सरस्य पञ्चविधं लक्षणं प्रज्ञप्तमिति । तदेव गाथयाऽऽह-(समगं णक्खत्ता जोगं जोएंति त्ति) यस्मिन् संवत्सरे समकं समकमेव-एककालमेव, ऋतुभिः सहेति गम्यते । नक्षत्राणि उत्तराषाढाप्रभृतीनि, योगं युञ्जन्ति स्वाभिहितां पौर्णमासीं परिसमापयन्ति । तथा समकमेव-एककालमेव, तया तया परिसमाप्यमानया पौर्णमास्या सह ऋतवो निदाघाऽऽद्याः परिणमन्ति परिसमाप्तिमुपयान्ति । इयमत्र भावना-यस्मिन् संवत्सरे नक्षत्रैर्मासस‌दृशनामकैस्तत्तस्य तस्य ऋतोः पर्यन्तवर्ती मासः परिसमाप्यते, तेषु च तां तां पौर्णमासीं परिसमापयत्सु तया तया पौर्णमास्या सह ऋतवोऽपि निदाघाऽऽदिकाः परिसमाप्तिमुपयान्ति । यथा-उत्तराषाढानक्षत्रे आषाढीं पौर्णमासीं परिसमापयति, तया आषाढ्या पौर्णमास्या सह निदाघोऽपि ऋतुः परिसमाप्तिमुपैति, स नक्षत्रसंवत्सरः, नक्षत्रानुरोधेन तथापरिणममानत्वात् । एतेन च लक्षणद्वयमभिहितं द्रष्टव्यम् । तथा न विद्यते अतिशयेन उष्णम् उष्णरूपः परितापो यस्मिन् स नात्युष्णः, तथा न विद्यते अतिशयेन शीतं यत्र स नातिशीतः । बहु उदकं यस्मिन् स बहूदकः । एवंरूपैः पञ्चभिः समग्रैर्लक्षणैरुपेतो भवति नक्षत्रसंवत्सरः । चं० प्र० १० पाहु० २० पाहु० । स्था० ।

णक्खि [ण्]-नखिन्-त्रि० । नखाः करजा विद्यन्ते येषां ते नखिनः । प्रशंसायामत्र मतुप्, यथा रूपवती कन्येत्यादिषु । " द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः " । ८ । २ । ९० । द्वितीयतुर्ययोर्द्वित्वप्रसङ्गे उपरि पूर्वी भवतः * इति खकारस्य ककारः, द्वित्वं च । सूत्रकृ०, वृ० १ उ० ।

णग-नग-पुं० । पर्वते, औ० । जी० । तं० । सूत्र० । ज्ञा० । प्रश्न० । " जहा से णगाणं पवरे सुमहं मंदरे गिरी ।" उत्त० ११ अ० । वृक्षे च । वाच० ।

णग्ग-नाग्न्य-न० । नग्नस्य भावो नाग्न्यम् । सरजस्कत्वे,"जूरुगहणं अह नग्गाणं " । संथा० ।

णगर-नकर-न० । नास्मिन् करोऽस्तीति नकरम् । नखाऽऽदित्वान्नञोऽकाराभावः । वृ० १ उ० । उत्त० । आचा० । नि० चू० । कल्प० । स्था० । अष्टादशकररहिते, प्र० १ ठा० १ उ० । प्रज्ञा० । स्था० । उत्त० । व्य० । ज्ञा० । ग० । अकरदायिलोकाऽऽवासे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

* यथा-"वक्खाणं, वग्घो, मुच्छा, णिज्झरो," इत्यादि ।

नगर-न० । चतुर्गोपुरोद्भासिनि पत्तने, औ० । जं० ।

"ग्रामो वृत्त्यावृतः स्यात्, नगरमुरुचतुर्गोपुरोद्भासिशोभम्,
खेटं नद्यद्रिवेष्टं, परिवृतमभितः कर्बटं पर्वतेन ।
ग्रामैर्युक्तं मड (ड) म्बं, मिलितदशशतैः पत्तनं रत्नयोनिः,
द्रोणाऽऽख्यं सिन्धुवेलावलयितमथ संवाधनं वाऽद्रिशृङ्गे" ॥१॥

सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

"पुण्यक्रियाऽऽदिनिपुणै-श्चातुर्वर्ण्यजनैर्युतम् ।
अनेकजातिसंबद्धं, नैकशिल्पिसमाकुलम् ॥
सर्वदैवतसंबद्धं, नगरं त्वभिधीयते ।" वाच० ।

नगरवासिषु प्रकृतिषु, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । सैन्यनिवासिप्रकृतिषु, भ० ७ श० ६ उ० ।

णगरगुत्तिय-नगरगुप्तिक-पुं० । नगररक्षके, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०। कोट्टपाले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णगरट्ठाण-नगरस्थान-न० । उद्वसग्रामस्थाने, कल्प० ४ क्षण ।

णगरणिद्धमण-नगरनिर्धमन-न० । नगरजलनिर्गमने, भ० ३ श० ७ उ० । नगरजलनिर्गमनद्वारे, ज्ञा० १ श्रु०२ अ० ।

णगरणिवेस-नगरनिवेश-पुं० । नगरवासकल्पनायाम्, स० ७२ सम० ।

णगरधम्म-नगरधर्म-पुं० । नगराऽऽचारे, स्था० १० ठा० ।

णगरमाण-नगरमान-न० । नगरस्य द्वादशयोजनाऽऽयामनवयोजनव्यासाऽऽदिपरिज्ञाने, कलशाऽऽदिनिरीक्षणपूर्वकसूत्रन्यासयथास्थानवर्णाऽऽदिव्यवस्थापरिज्ञाने, जं० । पञ्चसप्ततितमोऽयं कलाभेदः । जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । स० ।

णगरमारी-नगरमारी-स्त्री० । नगरवासिलोकानां मारिकृते प्राणक्षये, जी० ३ प्रति० ।

णगररक्खिय-नगररक्षिक-पुं० । नगरं रक्षति यः स नगररक्षिकः । कोट्टपाले, नि० चू० ४ उ० ।

णगरवह-नगरवध-पुं० । सर्वेषां नगरवासिनामपराध्यमपराध्यविवेकेन प्रत्यनीकराजाऽऽज्ञया मारणे, "से सुव्वई नगरवहे व सद्दे ।" अथ तेषां मारकाणां भयानकशब्दो नगरवध इव श्रूयते । यथा नगरसंबन्धी महानाक्रन्दः स्यात्तादृशो, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

णगराय-नगराज-पुं० । मन्दरे, मेरौ च, स्था० ६ ठा० ।

णगरावास-नगराऽऽवास-पुं० । नगराणामावासेषु, नगररूपेषु वा आवासेषु, स० ।

णगरी-नगरी-स्त्री० । पुर्याम्, औ० ।

तद्वर्णकः-

ते णं काले णं ते णं समए णं चंपा नामं नयरी होत्था-रिद्धत्थिमियसमिद्धा, पमुइयजणजाणवया, आइण्णजणमणुस्सा, हलसयसहस्ससंकिट्ठविकिट्ठलट्ठपण्णत्तसेउसीमा, कुक्कुडसंडेयगामपउरा, उच्छुजवसालिकलिया, गोमहिसगवेलगप्पभूया, आयारवंतचेइयजुवइविविहसंणिविट्ठबहुला,* उक्कोडियगायगंठिभेयभडतक्करखंडरक्खरहिया, खेमा, णिरुवद्दवा, सुभिक्खा, वीसत्थसुहावासा, अणेगकोडिकुडुंबियाऽऽइण्णणिव्वुयसुहा, णडणट्टगजल्लमल्लमुट्ठियवेलंबयकहगपवगलासगआइक्खगलंखमंखतूणइल्लतुंबवीणियअणेगतालायराणुचरिया, आरामुज्जाणअगडतलागदीहियवप्पिणगुणोववेया, * नंदणवणसन्निभप्पगासा उव्विद्धविउलगंभीरखायफलिहा, चक्कगयमुसुंढिओरोहसयग्घिजमलकवाडघणदुप्पवेसा, धणुकुडिलवंकपागारपरिक्खित्ता, कविसीसयवट्टरइयसंठियविरायमाणा, अट्टालयचरियदारगोपुरतोरणउण्णयसुविभत्तरायमग्गा, छेयायरियरइयदढफलिहइंदकीला, विवणिवणियछेत्तसिप्पियाऽऽइण्णणिव्वुयसुहा, सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरपणियाऽऽवणविविहवत्थुपरिमंडिया, सुरम्मा, नरवइपविइण्णमहिवइपहा, अणेगवरतुरगमत्तकुंजररहपहकरसीयसंदमाणीयाऽऽइण्णजाणजुग्गा विमुउलणवणलिणिसोभियजला, पंडुरवरभवणसण्णिमहिया, उत्ताणणयणपेच्छणिज्जा, पासाईया, दरिसणिज्जा, अभिरूवा पडिरूवा ।

तत्र योऽयं णंशब्दः स वाक्यालङ्कारार्थः । 'ते' इत्यत्र च य एकारः, स प्राकृतशैलीप्रभवः । यथा-"करेमि भंते !" इत्यादिषु । ततोऽयं वाक्यार्थो जातः-तस्मिन् काले तस्मिन् समये, यस्मिन्नसौ नगरी बभूवेति । अधिकरणे चेयं सप्तमी । अथ कालसमययोः कः प्रतिविशेषः ?। उच्यते-काल इति सामान्यकालः वर्तमानावसर्पिण्याश्चतुर्थविभागलक्षणः । समयस्तु तद्विशेषः, यत्र सा नगरी, स राजा, वर्द्धमानस्वामी च बभूव । अथवा-तृतीयैवेयम् । ततश्च तेन कालेन अवसर्पिणीचतुर्थाऽऽरकलक्षणेन हेतुभूतेन, समयेन तद्विशेषभूतेन हेतुना चम्पा नाम नगरी (होत्थ त्ति) अभवदासीदित्यर्थः । ननु चेदानीमपि साऽस्ति, किं पुनरधिकृतग्रन्थकरणकाले, तत्कथमुक्तमासीदिति ?। उच्यते-अवसर्पिणीत्वात्कालस्य वर्णकग्रन्थवर्णितविभूतियुक्ता सा इदानीं नास्तीति । (रिद्धत्थिमियसमिद्धा) ऋद्धा भवनाऽऽदिभिर्वृद्धिमुपगता, स्तिमिता भयवर्जितत्वेन स्थिरा, समृद्धा धनधान्याऽऽदियुक्ता । ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः । (पमुइयजणजाणवया) प्रमुदिता हृष्टाः, प्रमोदकारणवस्तूनां सद्भावात्; जना नगरीवास्तव्यलोकाः, जानपदाश्च जनपदभवाः, तत्राऽऽयाताः सन्तो यस्याम्, सा प्रमुदितजनजानपदा । पाठान्तरे-"पमुइयजणुज्जाणजणवया" । तत्र प्रमुदितजनान्युद्यानानि जनपदाश्च यस्यां सा तथा । (आइण्णजणमणुस्सा) मनुष्यजनेनाऽऽकीर्णा संकीर्णा, मनुष्यजनाऽऽकीर्णेति वाच्ये राजदन्ताऽऽदिदर्शनादाकीर्णजनमनुष्येत्युक्तम् । आकीर्णो वा गुणव्याप्तो मनुष्यजनो यस्यां सा तथा । (हलसयसहस्ससंकिट्ठविकिट्ठलट्ठपण्णत्तसेउसीमा) हलानां लाङ्गलानां शतैः, सहस्रैश्च, शतसहस्रैर्वा लक्षैः, संकृष्टा विलिखिता विकृष्टं दूरं यावत्, अविकृष्टा वा आसन्ना, लष्टा मनोज्ञा, कर्षकाभिमतफलसाधनसमर्थत्वात् । (पण्णत्त त्ति) योग्यीकृता बीजवपनस्य सेतुसीमा मार्गसीमा यस्याः सा तथा । अथवा संकृष्टाऽऽदिविशेषणविशिष्टानि सेतूनि कुल्या जलसेकक्षेत्राणि सीमासु यस्याः सा तथा । अथवा-हलशतसहस्राणां सं-

* 'अरिहंतचेइयजणवयविसण्णिविट्ठबहुला' इति पाठान्तरम् ।

* 'णंदणवणसण्णिभप्पगासा' इति क्वचित् पाठः ।

कृष्टेन संकर्षणेन विकृष्टा दूरवर्तिभ्यो लष्टाः प्रज्ञपिताः कथिताः सेतुसीमा यस्याः सा तथा; अनेन तज्जनपदस्य लोकबाहुल्यं, क्षेत्रबाहुल्यं चोक्तम् । (कुक्कुडसंडेयगामपउरा) कुक्कुटाः ताम्रचूडाः, षण्डेयाः षण्डपुत्रकाः षण्ढा एव, तेषां ग्रामाः समूहास्ते प्रचुराः प्रभूताः यस्यां सा तथा; अनेन लोकप्रमुदितत्वं व्यक्तीकृतम्; प्रमुदितो हि लोकः क्रीडाऽऽर्थं कुक्कुटान् पोषयति, षण्डांश्च करोतीति । (उच्छुजवसालिकलिया) पाठान्तरेण-" उच्छुजवसालिमालिणीया ।" एतद्व्याप्तेत्यर्थः । अनेन च जनप्रमोदकारणमुक्तं, न ह्येवंप्रकारवस्त्वभावे प्रमोदो जनस्य स्यादिति । (गोमहिसगवेलगप्पभूता) गवादयः प्रभूताः प्रचुरा यस्यामिति वाक्यम्; गवेलका उरभ्राः (आयारवंतचेइयजुवइविविहसण्णिविट्ठबहुला) आकारवन्ति सुन्दराऽऽकाराणि, आकारचित्राणि वा यानि चैत्यानि देवताऽऽयतनानि, युवतीनां च तरुणीनां,पण्यतरुणीनामिति हृदयम् । यानि विविधानि सन्निविष्टानि सन्निवेशनानि पाटकाः, तानि बहुलानि यस्यां सा तथा । " अरिहंतचेइयजणवइविसण्णिविट्ठबहुला" इति पाठान्तरम् । तत्रार्हच्चैत्यानां जनानां व्रतिनां च विविधानि यानि सन्निविष्टानि पाटकास्तैर्बहुलेति विग्रहः । " सुजागचित्तचेइयजूयचिइसण्णिविट्ठबहुला " इति च पाठान्तरम् । तत्र च सुयागाः शोभनयज्ञाः, चित्रचैत्यानि प्रतीतानि, यूपचितयो यज्ञेषु यूपचयनानि, द्यूतानि वा क्रीडाविशेषाश्चितयस्तेषां सन्निविष्टानि निवेशाः, तैर्बहुला या सा तथा । (उक्कोडियगायगंठिभेयभडतक्करखंडरक्खरहिया) उत्कोटा उत्कोचा, लञ्चेत्यर्थः । तया ये व्यवहरन्ति ते औत्कोटिकाः, गात्रात् मनुष्यशरीरावयवविशेषात् कट्यादेः सकाशाद् ग्रन्थिं कार्षापणाऽऽदिपुट्टलिकां भिन्दन्त्याच्छिन्दन्तीति गात्रग्रन्थिभेदकाः । " उक्कोडियगाहगंठिभेय " इति च पाठान्तरं व्यक्तम् । भटाश्चारभटाः बलात्कारप्रवृत्तयः,तस्करास्त एव चौर्यं कुर्वन्तीत्येवंशीलाः, खण्डरक्षा दण्डपाशिकाः, शुल्कपाला वा, एभी रहिता या सा तथा; अनेन तत्रोपद्रवकारिणामभावमाह । (खेमा) अशिवाभावात् । (णिरुवद्दवा) निरुपद्रवा, अविद्यमानराजाऽऽदिकृतोपद्रवेत्यर्थः । (सुभिक्खा) सुष्ठु मनोज्ञा प्रचुरा भिक्षा भिक्षुकाणां यस्यां सा सुभिक्षा, अत एव पाषण्डिनां गृहस्थानां च (वीसत्थसुहावासा) विश्वस्तानां निर्भयानामनुत्सुकानां वा सुखः सुखस्वरूपः शुभो वाऽऽवासो यस्यां सा तथा । (अणेगकोडिकुडुंबियाऽऽइण्णणिव्वुयसुहा) अनेकाः कोटयो द्रव्यसङ्ख्यानां स्वरूपपरिमाणे वा येषां ते अनेककोटयः, तैः कौटुम्बिकैः कुटुम्बिभिराकीर्णा सङ्कुला या सा तथा । सा चासौ निर्वृता च सन्तुष्टजनयोगात्सन्तोषवतीति कर्मधारयः; अत एव सा चासौ सुखा च शुभा वेति कर्मधारयः । (नडनट्टगजल्लमल्लमुट्ठियवेलंबयकहगपवगलासगआइक्खगलंखमंखतूणइल्लतुंबवीणियअणेगतालायराणुचरिया) नटाः नाटकानां नाटयितारः, नर्तका ये नृत्यन्ति, अङ्किला इत्येके । जल्ला वरत्राखेलकाः, राज्ञस्तोत्रपाठका इत्यन्ये । मल्लाः प्रतीताः । मौष्टिका मल्ला एव, ये मुष्टिभिः प्रहरन्ति । विडम्बकाः विदूषकाः, कथकाः प्रतीताः, प्लवका ये उत्प्लवन्ते, नद्यादिकं वा तरन्ति । लासका ये रासकान् गायन्ति, जयशब्दप्रयोक्तारो वा, भाण्डा वा इत्यर्थः । आख्यायका ये शुभाशुभमाख्यान्ति । लङ्खा महावंशाग्रखेलकाः, मङ्खाश्चित्रफलकहस्ता भिक्षुकाः, 'तूणइल्ला' तूणाभिधानवाद्यविशेषवन्तः,तुम्बवीणिका वीणावादकाः, अनेके च ये तालाचराः-तालाऽऽदानेन प्रेक्षाकारिणः,तैरनुचरिता आसेविता या सा तथा । (आरामुज्जाणअगडतलागदीहियवप्पिणगुणोववेया) आरमन्ति येषु माधवीलतागृहाऽऽदिषु दम्पत्यादीनि क्रीडन्ति ते आरामाः,उद्यानानि पुष्पाऽऽदिसद्वृक्षसङ्कुलान्युत्सवाऽऽदौ बहुजनभोग्यानि (अगड त्ति) अवटाः कूपाः, तडागानि प्रतीतानि,दीर्घिका सारणी, (वप्पिण त्ति) केदारः । एतेषां ये गुणाः रम्यताऽऽदयः,तैरुपपेता युक्ता या सा तथा । उप अप इत इत्येतस्य शब्दत्रयस्य स्थाने शकन्ध्वादिदर्शनादकारलोपे उपपेतेति भवति । क्वचित्पठ्यते-" नंदणवणसण्णिभप्पगासा " नन्दनवनं मेरोर्द्वितीयवनं, तत्प्रकाशसन्निभः प्रकाशो यस्यां सा तथा । इह चकस्य प्रकाशशब्दस्य लोप उष्ट्रमुख इत्यादाविवेति । (उव्विद्धविउलगंभीरखायफलिहा) ' उविद्धं ' ऊर्द्धं विपुलं विस्तीर्णं गम्भीरमलब्धमध्यं खातमुपरि विस्तीर्णम् अधः सङ्कटं,परिखा च अध उपरि च समा खातरूपा यस्यां सा तथा ।(चक्कगयभुसुंढिओरोहसयग्घिजमलकवाडघणदुप्पवेसा) चक्राणि रथाङ्गानि, अरघट्टाङ्गानि वा, गदाः प्रहरणविशेषाः, मुसुण्ढयोऽप्येवम् । अवरोधः प्रतोलिद्वारेष्ववान्तरप्रकारः संभाव्यते । शतघ्न्यो महायष्टयः, महाशिला वा , या उपरिष्टात्पातिताः सत्यः शतानि पुरुषाणां घ्नन्तीति, यमलानि समसंस्थितद्वयरूपाणि यानि कपाटानि घनानि च निश्छिद्राणि तैर्दुष्प्रवेशा या सा तथा । (धणुकुडिलवंकपागारपरिक्खित्ता) धनुः कुटिलं कुटिलधनुः, ततोऽपि वक्रेण प्राकारेण परिक्षिप्ता या सा तथा । (कविसीसयवट्टरइयसंठियविरायमाणा) कपिशीर्षकैर्वृत्तिरचितैर्वर्तुलकृतैः संस्थितैर्विशिष्टसंस्थानवद्भिर्विराजमाना शोभमाना या सा तथा । (अट्टालयचरियदारगोपुरतोरणउण्णयसुविभत्तरायमग्गा) अट्टालकाः प्राकारोपरिवर्त्याश्रयविशेषाः, चरिका अष्टहस्तप्रमाणा नगरप्राकारान्तरालमार्गाः, द्वाराणि प्राकारद्वारिकाः, गोपुराणि पुरद्वाराणि, तोरणानि प्रतीतानि, उन्नतानि गुणवन्ति उच्चानि च यस्यां सा तथा । सुविभक्ताः विविक्ता राजमार्गा यस्यां सा तथा । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । (छेयायरियरइयदढफलिहइंदकीला) छेकेन निपुणेनाऽऽचार्येण शिल्पिना रचितो दृढो बलवान् परिघोऽर्गला, इन्द्रकीलश्च गोपुरावयवविशेषो यस्यां सा तथा । (विवणिवणियच्छेत्तसिप्पियाऽऽइण्णणिव्वुयसुहा) विपणीनां वणिक्पथानां हट्टमार्गाणां, वणिजां च वाणिजकानां च क्षेत्रं स्थानं या सा तथा । शिल्पिभिः कुम्भकाराऽऽदिभिराकीर्णा, अत एव जनप्रयोजनसंसिद्धिर्जनानां निर्वृतत्वेन सुखितत्वेन च निर्वृतसुखा च या सा तथा । वाचनान्तरे-छेत्तशब्दस्य स्थाने छेयशब्दोऽधीयते । तत्र च छेकशिल्पिकाऽऽकीर्णेति व्याख्येयम् । (सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरपणियाऽऽवणविविहवत्थुपरिमंडिया) शृङ्गाटकं त्रिकोणं स्थानं, त्रिकं यत्र रथ्यात्रयं मिलति, चतुष्कं रथ्याचतुष्कमेलकं, चत्वरं बहुरथ्याऽऽपातस्थानं, पणितानि भाण्डानि, तत्प्रधाना आपणा हट्टा विविधवस्तूनि अनेकविधद्रव्याणि,एभिः परिमण्डिता या सा तथा । पुस्तकान्तरेऽधीयते-"सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु पणियाऽऽपणविविहवेसपरिमंडिया ।" तत्र चतुर्मुखं चतुर्द्वारं देवकुलाऽऽदि,महापथो राजमार्गः,पन्थास्तदितरः,ततश्च शृङ्गाटकाऽऽदिषु पणिताऽऽपणैर्विविधवेशैश्च जनैर्विविधनेपथ्याभिर्वा परिमण्डिता या सा तथा । (सुरम्मा)अतिरमणीया,(नरवइपविइण्णमहिवइपहा)

नरपतिना राज्ञा प्रविकीर्णो गमनाऽऽगमनाभ्यां व्याप्तो महीपतिपथो राजमार्गो यस्यां सा तथा । अथवा-नरपतिना प्रविकीर्णा विक्षिप्ता निरस्ताऽन्येषां महीपतीनां प्रभा यस्यां सा तथा । अथवा-नरपतिभिः प्रविकीर्णा महीपतेः प्रभा यस्यां सा तथा । (अणेगवरतुरगमत्तकुंजररहपकरसीयसंदमाणियाऽऽइसजाणजुग्गा) अनेकैर्वरतुरगैर्मत्तकुञ्जरैः (रहपकरे त्ति) रथनिकरैः शिबिकाभिः स्यन्दमानाभिराकीर्णा व्याप्ता यानैर्युग्यैश्च या सा तथा । अथवा-अनेके वरतुरगाऽऽदयो यस्यामाकीर्णानि च गुणवन्ति यानाऽऽदीनि यस्यां सा तथा । तत्र शिबिकाः कूटाऽऽकारेण छादिताः ' जम्पान ' विशेषाः, स्यन्दमानिकाः पुरुषप्रमाणा जम्पानविशेषाः, यानानि शकटाऽऽदीनि, युग्यानि गोल्लविषयप्रसिद्धानि द्विहस्तप्रमाणानि वेदिकोपशोभितानि जम्पानान्येवेति । (विमुउलणवणलिणिसोभियजला) विमुकुलाभिर्विकसितकमलाभिर्नवाभिर्नलिनीभिः शोभितानि जलानि यस्यां सा तथा । (पंडुरवरभवणसन्निमहिया) पाण्डुरैः सुधाधवलैः वरभवनैः प्रासादैः सम्यक् निरन्तरं महितेव महिता पूजिता या सा तथा । (उत्ताणणयणपेच्छणिज्जा) सौभाग्यातिशयाद्धत्तानिकैरनिमिषितैर्नयनैर्लोचनैः प्रेक्षणीया या सा तथा । (पासाईया) चित्तप्रसत्तिकारिणी । (दरिसणिज्जा) यां पश्यच्चक्षुः श्रमं न गच्छति । (अभिरूवा) मनोज्ञरूपा । (पडिरूवा) द्रष्टारं द्रष्टारं प्रति ' रमणीयं ' रूपं यस्याः सा तथेति । औ० । चं० प्र० । ज्ञा० । रा० ।

णगाहिराय-नगाधिराज-पुं० । श्रीशत्रुञ्जयपर्वते, ती० १ कल्प ।

णगिंद-नगेन्द्र-पुं० । पर्वतप्रधाने मेरौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

णगिण-नग्न-त्रि० । भावतो निर्ग्रन्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

णग्ग-नग्न-त्रि० । नज-क्तः । " अधो मनयाम् " । ८ । २ । ७८ । इति संयुक्तस्य नस्य लुक् । प्रा० २ पाद । " अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम् " ॥ ८ । २ । ८९ ॥ इत्यनादौ वर्तमानस्य गस्य द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । दिगम्बरे, नं० । आ० म० ।

णग्गइ-नग्नजित्-पुं० । गन्धारविषये पुरुषपुराधिपतौ स्वनामख्याते राज्ञि, आव० ४ अ० । " नमी राया विदेहेसु, गंधारेसु य णग्गई ।" प्रव्रजित इति शेषः । उत्त० १८ अ० ।

अथास्य पूर्वभवचरितनिबद्धं वृत्तमुद्भाव्यते-

अस्मिन् भरते पुण्ड्रवर्द्धनं नाम नगरमस्ति । तत्र सिंहरथो राजा वर्तते गन्धारदेशाधिपतिः । तस्य राज्ञोऽन्यदा द्वावश्वौ प्राभृते समायातौ । तयोः परीक्षार्थमेकस्मिन् तुरङ्गे राजाऽधिरूढः, द्वितीये तुरङ्गेऽपरो नर आरूढः । तेन सममपरैश्चाश्ववारशतैः परिवृतो भूपतिर्वाह्यालिकायां गतः । परीक्षां कुर्वता च राज्ञाऽश्वः प्रधानगत्या विमुक्तः । सोऽपि बलवता वेगेन निर्ययौ । यथा यथा राजा वल्गामाकर्षयति, तथा तथा स वायुवेगोऽभवत् । पुरोपवनान्यतिक्रम्य सोऽश्वो राजानं लात्वा महाटव्यां प्रविष्टः । श्रान्तेन नृपेन तदाऽस्य वल्गा विमुक्ता । अथ यदा वल्गामोचनेऽश्वः स्थिरीबभूव, तदा राजैनं विपरीतमश्वं मन्यते स्म, ततस्तस्मादुत्तीर्य राजा भूमिचरो बभूव । तं च पानीयं पाययित्वा वृक्षे बबन्ध, स्वप्राणवृत्तिं च फलैर्विदधे । तत एकं नगमारुह्य कस्मिंश्चित्प्रदेशे सुन्दरमेकं महावासं ददर्श । राजा कुतूहलात्तस्मिन्नावासे प्रविष्टः । तत्रैकाकिनीं पवित्रगात्रीं कन्यां भूपतिर्दृष्टवान् । सा राजानमागच्छन्तं दृष्ट्वा भूरिहर्षाऽऽसनं ददौ । राज्ञा ऊचे-का त्वम् ?, कोऽयमद्भिनिवासः ?, किमिदं रम्यं धाम ? । सा प्राऽऽह-भूपाल ! प्रथमं मत्पाणिग्रहणं कुरु, साम्प्रतं सिंहविशिष्टं लग्नमस्ति, पश्चात्सर्वं वृत्तान्तमहं कथयिष्यामि । तयेत्युक्ते नरपतिस्तत्र कन्यया समं पूजितं जिनबिम्बं प्रणम्योद्वाहमाङ्गल्यमलञ्चकार । नृपतिना परिणीता सा कन्या विविधान् भोगोपचारान् चकार, विचित्राश्च भक्तीर्दर्शयामास । अवसरे राजा तां प्रत्येवमाह-विमलः पुण्यैरावयोः संबन्धो जातोऽस्ति, परं त्वं स्ववृत्तान्तं वद-काऽसि त्वम् ?, कथमत्रैकाकिनी वससि ? । स्वभर्त्रैवमुक्ते सा स्वसंबन्धं मूलतो वक्तुमारेभे-क्षितिप्रतिष्ठे नगरे जितशत्रुर्नृपोऽस्ति, सोऽन्यदा परदेशाऽऽयातचरानेवमाह-अहो ! मद्राज्ये किञ्चिद् न्यूनमस्ति । ते प्राऽऽहुः-सर्वमस्ति तव राज्ये, परं विचित्राचित्रा सभा नास्ति । ततो नृपतिश्चित्रकरानाकार्य सभागृहभित्तिभागास्तेषां सर्वेषां समाश्चित्रयितुं दत्ताः । सर्वेऽपि चित्रकराः स्वस्वभित्तिभागान् गाढोद्यमेन चित्रयन्ते । तत्रैको वृद्धश्चित्रकरः सकलचित्रकलावेदी स्वभित्तिभागं चित्रयितुमारब्धवान् । सहायशून्यस्य तस्य निरन्तरं गृहतः कनकमञ्जरी रूपवती तत्पुत्री भक्तं तत्राऽऽनयति । अन्यदा सा स्वगृहाद् भक्तमानयन्ती राजमार्गे गच्छन्त्यश्ववारमेकं ददर्श । स च बालस्त्रीवराकाऽऽदिजनसङ्कीर्णेऽपि राजमार्गे त्वरितमश्वमवाहयत् । लोकास्तु तद्भयादितस्ततो नष्टाः । साऽपि क्वचिल्लग्ना स्थिता, पश्चात् तत्राऽऽयाता । भक्तपात्रहस्तां तामागतां वीक्ष्य स वृद्धश्चित्रकरः पुरीषोत्सर्गार्थं बहिर्जगाम । एकत्राऽऽहारपात्रमाच्छादयित्वा सा क्वचिद्भित्तिदेशे वर्णकैर्मयूरपिच्छमालिलेख । अथ तत्र राजा संप्राप्तः । भित्तिचित्राणि पश्यन् कुमार्या लेखिते केकिपिच्छे साक्षात्पिच्छं मन्यमानः करं चिक्षेप । भित्त्यास्फालनतो नखभङ्गेन विलक्षीभूतं तं नृपं सामान्यपुरुषमेव जानन्ती सा चित्रकरपुत्र्येवमाह-चतुर्थः पादस्त्वं मया लब्धः । नृपः प्राऽऽह-पूर्वं त्वया केन त्रयः पादा लब्धाः, साम्प्रतमहं कथं त्वया चतुर्थः पादो लब्धः ? । सा प्राऽऽह-श्रूयताम्-योऽत्र राजमार्गे त्वरितमश्वं वाहयन् बालस्त्रीप्रमुखजनानां त्रासमुत्पादयन् दृष्टः, स मूर्खत्वे प्रथमः पादः । द्वितीयः पाद इतो राजा, यः कुटुम्बलोकसहितैश्चित्रकरैः समं भित्तिभागं जराऽऽतुरस्यैकस्यैव मम पितुर्ददौ । तृतीयः पादो मम पिता, यो नित्यं भक्ते समायाते बहिर्याति । चतुर्थस्तु त्वम्, योऽस्मिन् भित्तिदेशे मल्लिखिते मयूरपिच्छे करं चिक्षेप । किमित्येवं त्वया न विमृष्टम्-यदत्र सुधाघृष्टे भित्तिदेशे निराधारा मयूरपिच्छस्थितिः कथम् ? । एवं तस्या वचश्चातुरीरञ्जितो राजा तत्पाणिग्रहणवाञ्छकः सन् तस्याः पितुः समीपे स्वमन्त्रिणं प्रेषयित्वा तां प्रार्थितवान् । पित्राऽपि सा दत्ता, सुमुहूर्ते परिणीता, राज्ञः प्रकामं प्रेमपात्रा बभूव । सर्वान्तःपुरीषु च मुख्या जाता । विविधानि वस्त्राणि, रत्नाऽऽभरणानि चाऽऽससाद । एकदा तया मदनाभिधाना स्वदासी रहस्येवं बभाषे-भद्रे ! यदा मदनशान्तो नृपतिः स्वपिति, तदा त्वयाऽहमेवं प्रष्टव्या-स्वामिनि ! कथां कथयेति । तयोक्तम्-अवश्यमहं तदानीं प्रक्ष्यिष्ये । अथ रात्रिसमये राजा तद्गृहे समायातः, तां भुक्त्वा रतश्रान्तो यावत् स्वपिति, तावता दास्या इयं पृष्टा-स्वामिनि ! कथां कथय । राज्ञी प्राऽऽह-यावद्राजा निद्रां नाऽऽप्नोति तावन्मौनं कुरु, पश्चात् त्वदग्रे यथेष्टं कथां कथयिष्यामि । राजाऽपि तां कथां श्रोतुकामः कपटनिद्रया सुष्वाप । पुनर्दास्या साम्प्रतं कथां कथयेति पृष्टा चित्रकरपुत्री कथां कथयितुमारेभे-

मधुपुरे चरणश्रेष्ठयेककरप्रमाणं देवकुलमकारयत्, चतुःकरप्रमाणो देवस्तत्र स्थापितः,स तस्मै देवश्चिन्तितार्थदायको बभूव। अथ दासी प्राऽऽह-एकहस्ते देवकुले चतुःकरप्रमाणो देवः कथं माति ?, इति तया पृष्टे सा राज्ञी प्राऽऽह-इमं रहस्यं तव कल्यरात्रौ कथयिष्यामि, अद्य तु निद्रा समायातीति प्रोच्य सा राज्ञी राज्ञः शय्यायाः पुरो भूमौ सुप्ता । सा दासी तां तथा दृष्ट्वा स्वगृहे गता । राजा मनस्येवं चिन्तयामास-कल्यरात्रावपीदं कथानकं मया श्रोतव्यमिति निश्चित्य सुप्तः सुखानिद्राममाप । द्वितीयदिनेऽपि राजा तस्या एव गृहे रात्रौ समायातः, रात्र्यर्द्धं यावत् सुखं भेजे, पश्चाद्रतश्रान्तोऽपि पूर्वकथानकश्रवणाय कपटनिद्रया सुप्तः । दासी प्राऽऽह-स्वामिनि! कल्यकथितकथानकरहस्यं वद । राज्ञी प्राऽऽह-एकहस्ते देवकुले चत्वारः करा यस्य स चतुःकरो देवो नारायणाऽऽदिस्तत्र स्थापित इति रहस्यम् । इति एका कथा १ ।

अथ तृतीयदिनरात्रावपि राजा तथैव कपटनिद्रया सुप्तः । पुनः कथामद्य कथयेति दासी तामाह । सा प्राऽऽह-विन्ध्याचले पर्वते कोऽपि रक्ताशोकद्रुमः प्रौढोऽस्ति, तस्य घनानि पत्राणि सन्ति, परं छाया नास्ति । दासी प्राऽऽह-एवमाऽऽवृतस्य तस्य छाया कथं न जायते ? । राज्ञी प्राऽऽह-एतद्रहस्यं तव कल्यरात्रौ कथयिष्यामि, अधाहं रतश्रान्ता निद्रासुखमनुभविष्यामीत्युक्त्वा सुप्ता । सा दासी तु स्वगृहे गता । अपररात्रावपि राजा भोगान् भुक्त्वा तथैव तत्र सुप्तः। दासी प्राऽऽह-स्वामिनि! कल्यसत्ककथारहस्यं कथनीयम् । राज्ञी प्राऽऽह-तस्य वृक्षस्य सूर्याऽऽतपस्य मूर्द्धि छाया नास्ति, किन्त्वध एव छायाऽस्ति । इति द्वितीया कथा २ ।

अथ पुनस्तथैव रात्रौ नृपे सुप्ते दासीपृष्टा राज्ञी प्राऽऽह-कश्चिन्निवेशे कश्चिदुष्ट्रश्चरन् कदाऽपि बब्बूलतरुं ददर्श । तदभिमुखां ग्रीवां कुर्वन्नप्राप्तशाखः प्रकामं खिन्नस्तस्यैव बब्बूलतरोरुपरि पुरीषोत्सर्गं कृतवान् । दासी राज्ञीं पप्रच्छ-हे स्वामिनि ! कथमेतद् घटते, स्वग्रीवया बब्बूलतरुमप्राप्तः तदुपरि कथमसावुत्सर्गं चकार? । राज्ञी प्राऽऽह-अद्य निद्रा समायाति, तेनैतत्कथारहस्यं कल्यरात्राववश्यं कथयिष्यामीत्युक्त्वा सुप्ता । कल्यदिनरात्रावपि तथैव नृपे सुप्ते दासीपृष्टा राज्ञी तत्कथातत्त्वं प्राऽऽह-स उष्ट्रः कूपमध्यस्थं तं बब्बूलतरुं ददर्शेति घटत एवेदम् । इति तृतीया कथा ३।

पुनस्तथैव नृपे सुप्ते रात्रौ दासीपृष्टा सा राज्ञी कथामाचख्यौ-कस्मिंश्चिन्नगरे काचित्कन्या भृशं रूपसौभाग्यवत्यासीत्, तद्वरणार्थं तन्मातापितृभ्यां त्रयो नरा आहूताः समायाताः । तदानीं फणिना दष्टा सा कन्या मृता । तया समं मोहादेको वरस्तचितायां प्रविष्टो भस्मसाद् बभूव । द्वितीयस्तद्भस्मापि गङ्गाऽऽदाता तद्भस्मोपरि वासं चकार । तृतीयस्तु सुरमाराध्यामृतं प्राप्तः । तदमृतेन तच्चितायां सिक्तायां कन्यां, प्रथमं वरं च सद्योऽजीवयत् । कन्याऽप्युत्थिता तान् त्रीन् वरान् ददर्श । राज्ञी दासीं प्राऽऽह-हे सखि ! ब्रूहि, तस्याः कन्यायाः को वरो युक्तः?। दासी प्राऽऽह-अहं न वेद्मि त्वमेव ब्रूहि । राज्ञी प्राऽऽह-अद्य निद्रा समायाति, कल्यरात्रौ कथयिष्यामीत्युक्त्वा सुप्ता । द्वितीयदिनरात्रौ दासीपृष्टा साऽवदत्-यस्तस्याः संजीवकः स पिता, यः सहोद्भूतः स बन्धुः । यो भस्मापि गङ्गाऽऽदाता, स तत्पतिरिति । इति चतुर्थी कथा ४।

तथैवान्यरात्रौ नृपे सुप्ते दासीपृष्टा राज्ञी प्राऽऽह-कश्चिद् नृपः सपत्न्यै दिव्यमलङ्कारवरं सुगुप्तभूमिगृहे रत्नाऽऽलोकात् सुवर्णकारैरजीघटत् । तत्रैकः सुवर्णकारः सन्ध्यां पतितां ज्ञातवान् । राज्ञी प्राऽऽह-हे सखि ! तेन रत्नाऽऽलोकसहिते सुगुप्तभूमिगृहे यामिनीमुखं कथं ज्ञातम् ?। दासी प्राऽऽह-नाहं वेद्मि, त्वमेव ब्रूहि । राज्ञी प्राऽऽह-साम्प्रतं निद्रा समायातीत्युक्त्वा सुप्ता । द्वितीयदिनरात्रौ दासीपृष्टा सा प्राऽऽह-स सुवर्णकारो राज्यन्ध आसीदिति ज्ञातं तेन । इति पञ्चमीकथा ५ ।

पुनरेकदा रात्रौ सुप्ते नृपे दासीपृष्टा सा प्राऽऽह-केनापि राज्ञा द्वौ मलिम्लुचौ निश्छिद्रपेटयां क्षिप्तौ समुद्रमध्ये प्रवाहितौ,क्वापि तटे सा पेटी लग्ना केनचिद् नरेण गृहीता, उद्घाटय तौ दृष्ट्वा पृष्टौ-भोः !युवयोरत्र क्षिप्तयोः कतमो दिवसोऽयम् ? । तयोर्मध्ये चैकः प्राऽऽह-अद्य चतुर्थो दिवसः। राज्ञी प्राऽऽह-हे सखि ! तेन चतुर्थो दिवसः कथं ज्ञातः ?। दासी प्राऽऽह-अहं न वेद्मि, त्वमेव ब्रूहि । राज्ञी तु साम्प्रतं निद्रा समायातीत्युक्त्वा सुप्ता । द्वितीयदिने रात्रौ दासीपृष्टा राज्ञी प्राऽऽह-स चतुर्थदिनवक्ता पुरुषस्तुर्येज्वरी वर्त्तते स्मेति तेन तथा प्ररूपितम् । इति षष्ठी कथा ६ ।

पुनरन्यदा दासीपृष्टा सा राज्ञी रात्रौ कथामाचख्यौ-काचित् स्त्री सपत्नीभयेन निजाङ्गभूषणानि पेटयां निक्षिप्य मुद्रां च दत्वाऽऽलोकभूमौ मुमोच । अन्यदा सा स्त्री सखीनिवासे गता, सपत्नी च विजनं विलोक्य तां पेटीमुद्घाट्यानेकाऽऽभरणेभ्योऽमध्यादेकं हारं निष्काश्य स्वतनयायै ददौ । तनया च स्वपतिगृहे तं गुप्तं चकार । कियत्कालानन्तरं सा स्त्री तत्राऽऽयाता, तां पेटीं दूरादवलोक्यैव ज्ञातवती-यदस्याः पेटया मध्यान्मम हारोऽनयाऽपहृत इति सपत्नीं चौर्येण दूषयामास । सपत्नी शपथान् कुर्वती हारापहारं न मन्यते स्म । तदा सा स्त्री तां सपत्नीं शुद्धदेवपादस्पर्शशपथायाऽऽकर्षितवती, तदानीं भयभ्रान्ता सपत्नी तं हारं तनयागृहादानीय तस्यै ददौ । दासी प्राऽऽह-हे स्वामिनि ! तया कथं ज्ञातो हारापहारः ? । राज्ञी प्राऽऽह-कल्ये रात्रौ कथयिष्यामीत्युक्त्वा सुप्ता । द्वितीयदिनरात्रौ पुनस्तया पृष्टा राज्ञी प्राऽऽह-सा पेटी स्वच्छकाचमयी बभूवेति ज्ञातं तया । इति सप्तमी कथा ७ ।

कस्यचिद्राज्ञः कन्या केनापि खेऽटेनापहृता । तस्य राज्ञश्चत्वारः पुरुषाः सन्ति-एको निमित्तवेदी, द्वितीयो रथकृत्, तृतीयः सहस्रयोधा, चतुर्थो वैद्यः । तत्र निमित्तवेदी दिशं विवेद । रथकृद्दिव्यं रथं चकार । नभोगामिनं तं रथमारुह्य सहस्रयोधा, वैद्यश्च विद्याधरपुरं गतौ । सहस्रयोधी तं खेऽटं हतवान् । हन्यमानेन तेन खेऽटेन कन्याशिरश्छिन्नम्, तदैव तेन वैद्येनौषधेन शिरः संयोजितम् । राजा तु पश्चादागतेभ्य एतेभ्यश्चतुर्भ्यस्तां सुतां ददौ । कन्या प्राऽऽह-एषु मध्ये यो मया सह चिताप्रवेशं करिष्यति, तमहं वरिष्यामि । इति प्रोच्य सा कन्या सुरङ्गाद्वारि रचितायां चितायां प्रविष्टा । यस्तया सह तत्र प्रविष्टः, स तां कन्यामूढवान् । दासी प्राऽऽह-हे स्वामिनि ! चतुर्षु मध्ये कोऽत्र प्रविष्टः?। राज्ञी प्राऽऽह-अद्य रतिश्रान्ताया मे निद्रा समायातीत्युक्त्वा सुप्ता । द्वितीयवासररात्रौ पुनर्दासीपृष्टा राज्ञी प्राऽऽह-निमित्तवेदी-'इयं न मरिष्यति' इति मत्वा चितां प्रविष्टस्ततस्तामूढवान् । इत्यष्टमी कथा ८ ।

पुनरपि रात्रौ दासीपृष्टा राज्ञी कथामाह-जयपुरनगरे सुन्दरनामा राजाऽऽसीत् । स चान्यदा विपरीताश्वेनैक एवाटव्यां नीतः, ततो वल्गां शिथिलीकृत्याश्वस्य स राजा समुत्तीर्णः ।

तमश्वं क्वचित्तरौ बद्ध्वा स्वयमितस्ततो भ्रमन् स कस्मिंश्चित् सरसि जलं पपौ। तत्रैकां सुरूपां तापसपुत्रीं ददर्श। तापसपुत्र्याहूतः स तापसाऽऽश्रमं प्राप। तत्र तापसास्तस्य भृशं सत्कारं चक्रुः। सा कन्या तापसैर्दत्ता, राज्ञा च परिणीता। तां नवोढां कन्यां गृहीत्वा तमेवाश्वमधिरुह्य पश्चाद्वलितोऽन्तरालमार्गे कस्मिंश्चित् अरण्यां राजा सुप्तोऽपि जाग्रदेवाऽऽसीत्। राज्ञी तु निद्राणा। केनचिद्राक्षसेन तत्राऽऽगत्य नृपस्यैवं कथितम्-षण्मासान् यावद् बुभुक्षितोऽहं त्वां भक्ष्यं प्राप्याद्य तृप्तो भविष्यामि, अन्यथा मह्यमीप्सितं देहि। राज्ञोक्तम्-ब्रूहि स्ववाञ्छितम्। तेनोक्तम्—कश्चिद्द्वादशवर्षीयो ब्राह्मणपुत्रः शिरसि पितृदत्तपादस्तथा खड्गेन हतः सप्तदिनमध्ये बलिर्दीयते, तदाऽहं त्वां मुञ्चामि, नान्यथा इति। राज्ञा प्रतिपन्नम्। प्रभाते राजा चलितः कुशलेन स्वपुरं गतः। सैनिकाः सर्वेऽपि मिलिताः। राज्ञा स्वमन्त्रिणं प्रति राक्षसवृत्तान्तः कथितः। मन्त्री सुवर्णपुरुषं निर्माय पटहवादनपूर्वं नगरे भ्रामयामास। तेनैवं चोद्घोषितम्-यो हि ब्राह्मणपुत्रो राक्षसाय स्वजीवितदानेन नृपजीवितं रक्षते, तस्य पित्रोरयं सुवर्णपुरुषो दीयते। इत्युद्घोषणा षड् दिनानि यावत् तत्र जाता। सप्तमदिने एकत्र प्राज्ञो ब्राह्मणपुत्रस्तां निर्घोषणां श्रुत्वैवं मातापितरावबोधयत्-प्राणा गत्वराः सन्ति, मातापित्रोरनृणत्वं मम प्राणैः कृत्वा भवेत्, तदा वरं, तेनाहं नृपजीवितरक्षाऽर्थं स्वजीवितं राक्षसाय दत्त्वा सुवर्णपुरुषं दापयामि। एवं भृशमाग्रहेण मातापित्रोरनुमतिं गृहीत्वा राज्ञः समीपे गतः। राज्ञा तु तत्पितुः पादौ शिरसि दापयित्वा स्वयमाकृष्य खड्गस्तस्य पृष्ठतो भूत्वा राक्षसस्य समीपमानीतः। यावता राक्षसो हन्तुं लग्नस्तावता नृपेणोक्तम्-भो ब्राह्मणपुत्र! इष्टं स्मर। एवं नृपेणोक्तः स ब्राह्मणपुत्र इतस्ततो नेत्रे निक्षिपन् जहास। तदानीं राक्षसस्तुष्टः प्राऽऽह-यदिष्टं तन्मार्गयेति। स प्राऽऽह-यदि त्वं तुष्टस्तदा हिंसां त्यज, जिनोदितं दयाधर्मं कुरु। राक्षसेनापि तद्वचसा दयाधर्मः प्रतिपन्नः। राजादयोऽपि तं दारकं प्रशंसितवन्तः। अथ दासी प्राऽऽह-हे राज्ञि! तस्य ब्राह्मणपुत्रस्य को हास्यहेतुः?। तयोक्तम्-साम्प्रतं मे निद्रा समायातीत्युक्त्वा सा सुप्ता। द्वितीयदिने दासीपृष्टा सा राज्ञी प्राऽऽह-हे हले! अयं तस्य हास्यहेतुः-नृणां हि माता, पिता, नृपः शरणं, ते त्रयोऽपि मत्पार्श्वस्थाः, अहं पुनः कमन्यं शरणं श्रयामि?, इति विचिन्त्य तस्य हास्यमुत्पन्नम्। इति नवमी कथा ९।

एवं सा चित्रकरसुता कथाभिर्मुहुर्मुहुर्मोहयन्ती राजानं वशीचकार। राजा तु तस्यामेवाऽऽसक्तोऽन्यासां राज्ञीनां नामापि न जग्राह। ततस्तस्याश्छिद्राणि पश्यन्त्यः सर्वा अपि सपत्न्यः परमद्वेषं वहन्ति स्म। चित्रकरसुता तु निरन्तरं मध्याह्ने रहस्येकाकिनी कपाटयुगलं दत्त्वा गृहान्तः प्रविश्य पूर्ववस्त्राणि प्रावृत्याऽऽत्मानमेवं शिक्षयामास-आत्मन्! तवायं पूर्ववेषः, साम्प्रतं राजप्रसादादुत्कृष्टामवस्थां प्राप्य गर्वं मा कुर्याः। एवमात्मनः शिक्षां ददतीं दृष्ट्वा सपत्न्यो राजानमेवं विज्ञपयामासुः-स्वामिन्! एषा क्षुद्रा तवाहर्निशं कार्मणं कुरुते, यद्यस्माकं वचनं न मन्यसे, तदा मध्याह्ने स्वयं तद्गृहं गत्वा तस्याः स्वरूपं विलोकय। नृपतिस्तासां वाक्यं निशम्य मध्याह्ने तस्या गृहं गतः। सा तु तथैव पूर्वनेपथ्यं परिधायाऽऽत्मनः शिक्षां ददती नृपतिना दृष्टा। सर्वाणि तद्वाक्यान्यपि श्रुतानि। राजा तस्या निर्गर्वतां ज्ञात्वा परमं प्रमोदमवाप। इमां च पट्टराज्ञीं चकार। राज्ञो विनोदाय मनोविनोदमियं व्यधात्। अन्यदा तन्नगरोद्याने विमलाऽऽचार्याः समायाताः। राज्या सह नृपस्तद्वन्दनाय तत्र गतः, नगरलोकोऽपि तद्वन्दनार्थं गतः। तदा विमलाऽऽचार्यो देशनां चकार। चित्रकरसुता, नृपश्च द्वावपि प्रतिबुद्धौ श्रावकधर्मं गृहीतवन्तौ, परस्परमबाधया त्रिवर्गसाधनं कुरुतः। अन्येद्युस्तया दत्तपञ्चपरमेष्ठिनमस्कारस्तत्पिता मृतो व्यन्तरो जातः। कालान्तरेणाऽऽर्हतं धर्ममाराध्य चित्रकरसुता राज्ञी मृता देवीत्वं प्राप। ततश्च्युत्वा वैताढ्ये तोरणाभिधे पुरे दृढशक्तिखेचरस्य पुत्री कनकमाला बभूव। प्राप्तयौवनां तामेकदा वीक्ष्य कन्दर्पतप्तो वासवनामा कश्चित् खेचरोऽपहृत्यात्र महाद्रौ मुक्त्वा स्वचित्ते प्रमोदं चकार। अथ विद्याबलात् समग्रां सामग्रीं विधाय स वासवविद्याधरो यावत्कन्योद्वाहाय समुत्सुकोऽभवत्, तावत् कनकमालाऽग्रजः सुवर्णतेजास्तदनुपदिकस्तत्राऽऽयातस्तं वासवं विद्याधरमधिक्षिप्तवान्। तौ द्वावपि कोपाद् घोरं युद्धं कुर्वाणौ परस्परप्रहाराद् मृतौ। कनकमाला तु भृशं भ्रातृशोकं चकार। तदानीं कश्चिद्देवस्तत्राऽऽगत्य कनकमालां प्रत्येवमवदत्-पुत्रि! भ्रातृशोकं मुञ्च, चित्तं स्वस्थं कुरु, ईदृश एव संसारोऽस्ति, त्वं मम पूर्वभवे पुत्र्यभूः, तिष्ठ त्वमत्रैव गिरौ। अत्र स्थितायास्तव सर्वं भव्यं भविष्यति। एवं देववचनमाकर्ण्य कनकमाला चिन्तयामास-कोऽसौ देवः?, कथमस्याहं पुत्री?, असौ मयि स्निह्यते, अहमप्यस्मिन् स्निह्यामि। यावदेवं कनकमाला चिन्तयति-तावत्तज्जनको विद्याधरेन्द्रो दृढशक्तिनामा धावन् तत्राऽऽयातः, स्वपुत्रं स्वर्णतेजसं, विरोधिनं वासवविद्याधरं च मृतं दृष्ट्वा छिन्नमस्तकां च तां पुत्रीं दृष्ट्वैवं विचारयामास-अयं सुतः, इयं सुता, अयं शत्रुश्चायोऽप्यमी ईदृगवस्थां प्राप्ताः। स्वप्नोपमं जगत्सर्वं दृश्यते। एवं ध्यायतस्तस्य दृढशक्तिविद्याधरस्य जातिस्मरणमुत्पन्नम्। ततोऽसौ शासनदेवीप्रदत्तवेषश्चारणश्रमणो यतिरभूत्। अथ स व्यन्तरस्तया पुत्र्या सह तं श्रमणं ननाम। जीवन्तीं तां पुत्रीं वीक्ष्य स चारणश्रमणस्तं व्यन्तरं नमन्तमपृच्छत्-किमिदमिन्द्रजालं मया दृष्टम्?। व्यन्तरः प्राऽऽह-तव पुत्रः शत्रुश्च मिथो नियुध्य मृतौ। इयं च कन्या जीवन्त्यपि मया तव मृता दर्शिता। मुनिः प्राह-कथं त्वया मृता कृता?। स व्यन्तरः स्मृत्वैवमाह-हे मुनिनायक! एतद्वार्तां शृणु-क्षितिप्रतिष्ठनृपतेर्जितशत्रोरियं प्राग्भवे पत्न्यभवत्, चित्राङ्गदनाम्नश्चित्रकृतो ममैषा पुत्र्यभवत्, एतया प्राग्भवेऽन्त्यसमये मम नमस्कारा दत्ताः, तत्प्रभावादहं व्यन्तरो जातः। एषा अपि मृता देवी जाता, देवीत्वमनुभूय तव सुताऽत्र भवे जज्ञे। तेन विद्याधरेणापहृत्यात्र चैत्ये मुक्ता, यात्रार्थमायातेन मया दृष्टा, एतस्या बन्धौ वीरे च मृते यावदिमामहमाश्रयामि तावद्भवन्तोऽत्र प्राप्ताः। मया विमृष्टम्-इयमनेन जनकेन समं मा यास्यतीति मयैतस्या गोपनमाया विहिता। यच्च निराशत्वं मया तदानीं कृतं, तत् क्षन्तव्यम्। मुनिरूचे-अहो! व्यन्तर! या त्वया तदा माया कृता, सा ममत्वमायापहारिणी जाता, तेन मम भवतोपकृतं, न किमप्यपराधः। एवमुक्त्वा स मुनिर्धर्माऽऽशिषं दत्त्वाऽन्यत्र विजहार। अथ प्राग्भववृत्तान्तं श्रुत्वा सा कन्या जातिस्मृतिभागभूत्, प्राग्जन्मजनकं व्यन्तरं प्राऽऽह-तात! तं पूर्वभवपतिं मेलय। व्यन्तरः प्राऽऽह-स ते प्राग्भवभर्ता जितशत्रुनृपतिर्देवीभूय च्युतः साम्प्रतं सिंहरथो नाम राजा जातोऽस्ति। स गन्धारदेशे पुण्ड्रवर्धननगरादश्वापहृतोऽत्र समायास्यति। स हि त्वामत्रैव सकलसामग्र्या परिणेष्यति। यावत् स इहाभ्येति ता-

चत्र त्वमत्रैव तिष्ठेत्युक्त्वा स व्यन्तरः पुराबहे शाश्वतजिनबिम्बानि नन्तुं गतवान् ।

इदं सर्वं वृत्तान्तं कथयित्वा सा कन्या राजानं प्रत्याह–स्वामिन् ! त्वमत्र मन्त्रप्रभावाऽऽकर्षितः समायातः । सिंहरथराजाऽपीमां पूर्वभवकथां श्रुत्वा पूर्वभवश्वशुरं तं व्यन्तरमस्मरत् । तेन स्मृतः स व्यन्तरस्तत्राऽऽगत्य, दिव्यवादित्रनिर्घोषं कृतवान् । मध्याह्ने जिनबिम्बान्यभ्यर्च्य नृपो भुङ्क्ते स्म । ततस्तेन व्यन्तरेण पूरिताशेषवाञ्छितोऽसौ नृपतिस्तत्र मासमेकं स्थितवान् । चिरकालेन स्वराज्यानिष्टशङ्कया राजा तां दयितां प्रतीदमाह–प्रिये ! प्रबलो वैरिवर्गो मे राज्यमुपद्रोष्यति, ततोऽहं स्वपुरं यामि । दयिता जगाद–यदि राज्यं मोक्तुं न शक्यते, तदा व्योमगमनसाधिकां प्रज्ञप्तिविद्यां मन्मुखाद् गृहाण, यतस्ते व्योमगतिर्यथासुखं स्यात् । प्रियाप्रदत्तां तां विद्यामासाद्य सिंहरथो राजा विद्याधराग्रणीर्बभूव । प्राग्भवप्रेमपूर्णां तां प्रियामापृच्छ्य स राजा स्वपुरे व्योममार्गेण समागतः । तत्र पुरे कियद्दिनानि स्थित्वा सिंहरथनृपतिस्तं पर्वतं पुनर्गतः । एवं स्वनगरात् तस्मिन्नगे नित्यं गताऽऽगतं कुर्वन् नृपतिः सिंहरथो लोकान्नग्गतिरितिनामप्रसिद्धिं प्राऽऽप । अन्यदा तत्र नगे तं नृपं स व्यन्तर एवमाह–अहं मत्स्वामिनिदेशाद् देशान्तरं गमिष्यामि, त्वं मत्पुत्रीं स्वनगरे नीत्वेमं नगं शून्यं मा कार्षीः । एवमुक्त्वा स व्यन्तरः स्थानान्तरमगात् । नृपस्तन्नगे महन्नगरं व्यधात्, तस्य नग्गतिपुरमिति नाम कृतवान् । तत्रासौ राजा तया राज्ञ्या सह भोगान् भुञ्जानः सुखेन कालं निर्गमयति स्म । तत्र राज्यं पालयतस्तस्य बहुतरः कालो ययौ । अन्यदा नग्गतिर्नृपः पुरपरिसरे वसन्तोत्सवं द्रष्टुं जगाम, मार्गे च मञ्जरीपुञ्जमञ्जुलमाम्रवृक्षमद्राक्षीत् । तत एकां मञ्जरीं नृपतिर्लीलया स्वकरेण जग्राह । ततो "गतानुगतिकाः प्रायो, दृश्यन्ते बहवो नराः । स्वभूपमनुवर्त्तन्ते, यथा राजा तथा प्रजाः ॥ १ ॥" इति न्यायात् सर्वे तस्य मञ्जरीपत्राऽऽदिकं जगृहुः । भूमिपालः क्रीडां कृत्वा ततः पश्चाद्वलितस्तमाम्रवृक्षं काष्ठशेषमालोक्यैवं चिन्तितवान्–अयमाम्रवृक्षो नेत्रप्रीतिकरो, यो मया पूर्वं गच्छता दृष्टः, सोऽयं काष्ठशेषो विगतशोभः साम्प्रतं दृश्यते यथा, तथा सर्वोऽपि जीवः कुटुम्बधनधान्यदेहाऽऽदिसौन्दर्यभ्रष्टो नैव शोभां प्राप्नोति । एतच्च सर्वं विनश्वरं यावन्न क्षीयते तावत्संयमे यत्नः कार्यं इति चिन्तयन्नग्गतिः प्रतिबुद्धो जातः, शासनदेवीप्रदत्तवेषः संयममाददे । उत्त० ६ अ० । आव० । आ० चू० । क्षत्रियपरिव्राजकभेदे, औ० ।

णगगयमग्ग–नगगतमार्ग–पुं० । विषमपर्वतमार्गे, तं० ।

णग्गभाव–नग्नभाव–पुं० । अचेलत्वे, "समणाणं णिग्गंथाणं नग्गभावे मुंडभावे ।" स्था० ६ ठा० ।

णग्गिया–नग्निका–स्त्री० । अवस्त्रायाम्, विशे० ।

णग्गोह–न्यग्रोध–पुं० । वटे, प्रज्ञा० १ पद । नि० चू० ।

णग्गोहपरिमंडल–न्यग्रोधपरिमण्डल–न० । न्यग्रोधवत्परिमण्डलं यस्य स तथा । यथा न्यग्रोध उपरि संपूर्णप्रमाणोऽधस्तु हीनः, तथा यत् संस्थानं नाभेरुपरि संपूर्णम्, अधस्तनु, तस्मिन् संस्थानभेदे, तं० ।

णग्गोहवरपायव–न्यग्रोधवरपादप–पुं० । वटप्रधानवृक्षे, अन्त० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ० ।

णच्च–नृत–धा० । गात्रविक्षेपे, "व्रजनृतमदां च्चः ॥ ८ । ४ । २२५ ॥" एषामन्त्यस्य द्विरुक्तः 'च्च' इति च्चः । 'णच्चइ,' नृत्यति । प्रा० ४ पाद ।

नृत्य–न० । पादजङ्घोरुकटपुदरबाहुकुलिवदननयनभ्रूमुखाऽऽदिविकारकरणे, नि० चू० १७ उ० । नाटये, स्था० ६ ठा० ।

णच्चंत–नृत्यत्–त्रि० । अङ्गविकारकारके, औ० । नि० चू० । "णच्चंताणि वा हसंताणि वा रमंताणि वा ।" आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ० । "णच्चंतकबंधपउरे ।" नृत्यन्ति कबन्धानि शिरोरहितकलेवराणि प्रचुराणि यत्र स तथा । प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णच्चग–नर्तक–पुं० । नटानां नायके, व्य० ६ उ० ।

णच्चा–ज्ञात्वा–अव्य० । "त्वथ्वद्ध्वां च्छछजझाः क्वचित्" ॥ ८ । २ । १५ ॥ प्रा० २ पाद । अवगम्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । अवबुध्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । दश० । आचा० । उत्त० । "सव्वं णच्चा अहिट्ठिए ।" सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

णच्चाविय–नर्तित–न० । नृत्यवादित्र कृते, स्था० ६ ठा० ।

णच्चिर–पुं० । देशी–रमणशीले, दे० ना० ४ वर्ग ।

णज्ज–न्याय्य–त्रि० । न्यायोपपन्ने युक्ते, द्वा० २६ अष्ट० ।

णज्जंत–ज्ञायमान–त्रि० । "ज्ञो णव्वणज्जौ" ॥ ८ । ४ । २५२ ॥ इति जानातेः कर्मणि भावे वा 'णज्ज' इत्यादेशः । अवगम्यमाने, प्रा० ४ पाद । नि० ।

णज्जर–पुं० । देशी–मलिने, दे० ना० ४ वर्ग ।

णज्झर–पुं० । देशी–विमले, दे० ना० ४ वर्ग ।

णट्ट–नाट्य–न० । नटस्य भावः कर्म वा । करचरणाऽऽदिविशिष्टपरिस्पन्दविशेषे, आव० ३ अ० । नृत्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० । जं० । जी० । स्था० । करपादभ्रूशिरोऽक्ष्योष्ठाऽऽदीनां सविकारे चलने, ध० ३ अधि० । नृत्ये, प्र० १५ श० ६ उ० । साभिनयनिरभिनयभेदभिन्ने ताण्डवे, जं० ५ वक्ष० । उत्त० । "चउव्विहे णट्टे पण्णत्ते । तं जहा–अंचिए, रिभिए, आरभडे, भसोले ।" एतच्च संप्रदायाभावान्न विवृतम् । स्था० ४ ठा० ४ उ० । आ० चू० । एतेऽङ्गहाराऽऽदयश्चत्वारोऽपि भेदा नाट्यशास्त्रप्रसिद्धाः । अथवा–"नट्टं होइ अगीयं, गीयजुयं नाडयं तु नायव्वं ।" बृ० १ उ० । एते नाट्यविधयो भरताऽऽदिशास्त्रेभ्योऽवसेयाः । जं० ५ वक्ष० । "बत्तीसतिविहे णट्टे पण्णत्ते ।" द्वात्रिंशद्विधं नाट्यमभिनयविषयवस्तुभेदाद्, यथा राजप्रश्नकृताभिधानद्वितीयोपाङ्ग इति संभाव्यते । द्वात्रिंशत्पात्रप्रतिबद्धमिति केचित् । स० ३२ सम० ।

तते णं से सूरियाभे देवे समणं भगवं महावीरं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी–तुब्भे णं भंते ! सव्वं जाणह सव्वं पासह, दंसित्तए त्ति कट्टु समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदइ, णमंसइ, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणति, समोहणतित्ता संखिज्जाइं जोयणाइं उड्ढं दंडं निस्सरइ, निस्सरइत्ता अहाबायरे दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं० जाव बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं विउव्वइ । से

जहानामए आलिंग पुक्खरेति वा० जाव मणीणं फासो । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे पेच्छाघरमंडवे विउव्वइ, अणेगखंभसयसंनिविट्ठं वण्णओ । अंतो बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं विउव्वइ, उल्लोचं अक्खाडगं मणिपेढियं विउव्वइ । तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं सीहासणं सपरिवारं० जाव दामो चिट्ठंति । तए णं से सूरियाभे देवे समणस्स भगवओ महावीरस्स आलोए पणामं करेति, पणामं करेत्तिा अणुजाणउ मे भगवं ति कट्टु सीहासणवरगयतित्थयराभिमुहे सन्निसन्ने । तए णं से सूरियाभे देवे तप्पढमयाए णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहणिउणोवचियमिसमिसंतविरतियमहाभरणकडगतुडियवरभूसणुज्जलं पीवरपलंबं दाहिणभुयं पसारेति । तओ णं सरिसयाणं सरिसतयाणं सरिसवयाणं सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाणं एगाभरणवसणगहियणिज्जोगाणं दुहतो संवेल्लियग्गणियत्थाणं आविद्धतिलयामेलाणं पिणद्धगेविज्जकंचुयाणं उप्पीलियचित्तपट्टपरियरसफेणगावत्तरइयसंगयपलंबवत्थंतचित्तचिल्ललगनियंसणाणं एगावलिकंठरइयसोभंतवच्छपरिहत्थभूसणाणं अट्ठसयं णट्टसज्जाणं देवकुमाराणं णिग्गच्छइ । तयाणंतरं च णं णाणामणि०जाव पीवरपलंबं वामभुयं पसारेइ । तओ सरिसयाणं सरिसतयाणं सरिसवयाणं सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाणं एगाभरणवसणगहियनिज्जोयाणं दुहतो संवेल्लियग्गनियत्थाणं आविद्धतिलयामेलाणं पिणद्धगेविज्जकंचुयाणं णाणामणिकणगरयणभूसणविराइयंगुवंगाणं० जाव अट्ठसयं नट्टसज्जाणं देवकुमारियाणं णिग्गच्छइ । तते णं से सूरियाभे देवे अट्ठसयं संखाणं विउव्वइ, अट्ठसयं संखवायगाणं विउव्वइ, अट्ठसयं संगाणं विउव्वइ, अट्ठसयं संगवायगाणं विउव्वइ, अट्ठसयं संखियाणं विउव्वइ, अट्ठसयं संखियावायगाणं विउव्वइ, अट्ठसयं खरमुहीणं विउव्वइ, अट्ठसयं खरमुहीवायगाणं विउव्वइ, अट्ठसयं पेयाणं विउव्वइ, अट्ठसयं पेयावायगाणं विउव्वइ, अट्ठसयं पिरिपिरियाणं विउव्वइ, ० एवमादियाणं एगूणपण्णं आउज्जविहाणाइं विउव्वति, विउव्वित्ता ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य सद्दावेइ । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य सूरियाभेणं देवेणं सद्दाविया समाणा हट्ठतुट्ठ० जाव हियया जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सेणेव सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं० जाव वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी–संदिसंतु मे देवाणुप्पिया ! जं अम्हेहिं कायव्वं । तए णं से सूरियाभे देवे बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेह, करेतित्ता वंदह, णमंसह, वंदित्ता णमंसित्ता गोयमाऽऽइयाणं समणाणं निग्गंथाणं तं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं बत्तीसइबिहं नट्टविहिं उवदंसेह, उवदंसित्ता खिप्पामेव एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठकरयल० जाव पडिसुणेंति, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता समणं भगवं महावीरं० जाव णमंसित्ता जेणेव गोयमाऽऽइया समणा णिग्गंथा, तेणेव णिग्गच्छंति । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समामेव समोसरणं करेंति, समामेव समोसरणं करेत्ता समामेव पंती बंधंति, समामेव पंती बंधेत्ता नमंसंति, नमंसित्ता समामेव उवणमंति, उवणमंतित्ता समामेव उन्नमंति, समामेव उण्णमंतित्ता, एवं सहितामेव ओणमंति, ओणमंतित्ता थिमियामेव उन्नमंति, उन्नमंतित्ता संगयामेव उण्णमंति, उण्णमंतित्ता० जाव समामेव आउज्जविहाणाइं गिण्हंति, समामेव य वाइंसु, पगाइंसु, पणच्चिंसु । किं ते उरेणं मंदं सिरेणं तारं कंठेण य तारं समयरेयगरइयं गुंजावंककुहरोवगूढं रत्तं तिट्ठाणकरणसुद्धं सकुहरगुंजंतवंसतंतीतलताललयगहसुसंपउत्तं महुरसमसुललियं मणहरं मिउरिभियपयसंचारं सुरइसुनतिवरचारुरूवं दिव्वं नट्टसज्जं गेयं पगिया वि होत्था । किं ते उद्धुमंताणं संखाणं संगाणं संखियाणं खरमुहीणं पेयाणं पिरिपिरियाणं, आहणंताणं पणवाणं पडहाणं, अप्फालिज्जंतीणं भंभाणं होरंभाणं, तालिज्जंतीणं भेरीणं झल्लरीणं दुंदुभीणं, आलवंताणं मुरजाणं मुइंगाणं नंदिमुइंगाणं, उत्तालिज्जंताणं आलिंग कुसुंबीणं गोमुहीणं मद्दलाणं, मुच्छिज्जंताणं वीणाणं विपंचीणं वल्लकीणं, कुट्टिज्जंतीणं महतीणं कच्छभीणं चित्तवीणाणं, सारिज्जंतीणं बद्धीसाणं सुघोसाणं णंदिघोसाणं, फुरिज्जंतीणं भामरीणं परिवाइणीणं, फासंतीणं तूणाणं तुंबवीणाणं, आमोडिज्जंतीणं णउलाणं, मुच्छिज्जंतीणं मुगुंदाणं हुडुक्कीणं चिच्चिकीणं, वाइज्जंताणं करडाणं डिंडिमाणं किणियाणं कडंबाणं, उत्ताडिज्जंताणं दद्दराणं दद्दरियाणं कुडुंबरूणं कलसियाणं मड्डयाणं, आताडिज्जंताणं तलाणं तालाणं कंसतालाणं, घट्टिज्जंताणं गिरिसियाणं लत्तियाणं मगरियाणं सुंसमारियाणं, फूमिज्जंताणं वंसाणं वेणूणं वालीणं पिरिलीणं बद्धगाणं, तते णं से दिव्वे णट्टे दिव्वे गीए दिव्वे वा–

इए,एवं अब्भुए सिंगारे उराले मणुण्णे मणहरे गीए वाइए णट्टे, कप्पिजलभूए कहकहभूए दिव्वे देवरमणे पवत्ते यावि होत्था । तए णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स सोत्थियसिरिवच्छनंदियावत्तवद्धमाणभद्दासणकलसमच्छदप्पणमंगलभत्तिचित्तं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १ । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीयाओ य समामेव समोसरणं करेंति,समोसरणं करेत्ता तं चेव जाणियव्वं०जाव दिव्वे देवरमणे पवत्ते यावि होत्था । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीयाओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स आवडपच्चावडसेढिपसेढिसोत्थियसिरिवच्छपूसमाणगवद्धमाणगमच्छंडमगरंडजारामारापुप्फावलिपउमपत्तसागरतरंगवासंतीलयपउमलयभत्तिचित्तं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति २ । एवं एक्केकियाए णट्टविहीए समोसरणादिए सा वत्तव्वया० जाव देवरमणे पवत्ते यावि होत्था । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीयाओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स ईहामियउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिंनररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ३ । एगओवंकं दुहओवंकं एगओचक्कवालं दुहओचक्कवालं चक्कद्धचक्कवालं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ४ । चंदावलिपविभत्तिं सूरावलिपविभत्तिं च वलयावलिपविभत्तिं च हंसावलिपविभत्तिं च एगावलिपविभत्तिं च तारावलिपविभत्तिं च मुत्तावलिपविभत्तिं च कणगावलिपविभत्तिं च रयणावलिपविभत्तिं च आवलिपविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ५ । चंदुग्गमणपविभत्तिं च सूरुग्गमणपविभत्तिं च उग्गमणुग्गमणपविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ६ । चंदागमणपविभत्तिं च सूरागमणपविभत्तिं च आगमणागमणपविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ७ । चंदावरणपविभत्तिं च सूरावरणपविभत्तिं च आवरणावरणपविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ८ । चंदत्थमणपविभत्तिं च सूरत्थमणपविभत्तिं च अत्थमणत्थमणपविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ९ । चंदमंडलपविभत्तिं च सूरमंडलपविभत्तिं च नागमंडलपविभत्तिं च जक्खमंडलपविभत्तिं च भूयमंडलपविभत्तिं च रक्खसमहोरगगंधव्वमंडलपविभत्तिं च मंडलपविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १० । उसभललियविक्कंतं सीहललियविक्कंतं हयविलंबियं गयविलंबियं हयविलसियं गयविलसियं मत्तहयविलसियं मत्तगयविलसियं मत्तहयविलंबियं मत्तगयविलंबियं दुयविलंबियं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ११ । सागरपविभत्तिं च नागरपविभत्तिं च सागरनागरपविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १२ । णंदापविभत्तिं च चंपापविभत्तिं च णंदाचंपापविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १३ । मच्छंडापविभत्तिं च मगरंडापविभत्तिं च जारापविभत्तिं च मारापविभत्तिं च मच्छंडामगरंडाजारामारापविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १४ । क त्ति ककारपविभत्तिं च ख त्ति खकारपविभत्तिं च ग त्ति गकारपविभत्तिं च घ त्ति घकारपविभत्तिं च ङ त्ति ङकारपविभत्तिं च ककारखकारगकारघकारङकारपविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १५ । एवं चकारवग्गो वि १६ । टकारवग्गो वि १७ । तवग्गो वि १८ । पवग्गो वि १९ । असोयपल्लवपविभत्तिं च अंबपल्लवपविभत्तिं च जंबुपल्लवपविभत्तिं च कोसंबपल्लवपविभत्तिं च पल्लवपविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति २० । पउमलयापविभत्तिं च नागलयापविभत्तिं च०जाव सामलयापविभत्तिं च लयापविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति २१ । दुयणामं णट्टविहिं उवदंसेंति २२ । विलंबियं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २३ । दुयविलंबियं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २४ । अंचियं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २५ । रिभियं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २६ । अंचियरिभियं णामं०उवदंसेंति २७ । आरभडं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २८ । भसोलं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २९ । आरभडभसोलं० उवदंसेंति ३० । उप्पायणिवायपरिणिवायपसत्तं संकुचियं पसारियं रेवयारचियंभंतं संभंतं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ३१ । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समामेव समोसरणं करेंति० जाव दिव्वे देवरमणे पवत्ते यावि होत्था । तए णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स पुव्वभवचरियणिबद्धं देवलोयचरियणिबद्धं चवणचरियणिबद्धं च गब्भसंहरणचरियणिबद्धं च जम्मणचरियणिबद्धं च अभिसेयचरियणिबद्धं च बालभावचरियणिबद्धं च जोव्वणचरियणिबद्धं च कामभोगचरियणिबद्धं च णिक्खमणचरियणिबद्धं च तवचरणचरियणिबद्धं च णाणुप्पायचरियणिबद्धं च तित्थपवत्तणचरियणिबद्धं च परिणिव्वाणचरियणिबद्धं च चरमचरियणिबद्धं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ३२ । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य चउव्विहं वाइत्तं वायंति । तं जहा—ततं,विततं,घणं, झुसिरं । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य चउव्विहं गेयं गायंति । तं जहा—उक्खित्तं, पायंतं, मंदायं, रोइयावसाणं च । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य चउव्विहं णट्टविहिं उवदंसेंति । तं जहा—अंचियं १,रिभियं २, आरभडं ३, भसोलं च ४ । तते णं ते बहवे देवकुमारा

य देवकुमारीओ य चउव्विहं अभिणयं अभिणयंति । तं जहा-दिट्ठंतियं, पाडियंतियं, सामंतोवायणिवाइयं, अंतोमज्झावसाणियं । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य गोयमाऽऽदियाणं समणाणं णिग्गंथाणं दिव्वं देवड्ढिं दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं बत्तीसइविहं णाडगं उवदंसित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति, वद्धावेंतित्ता एवमाणत्तियं पच्चप्पिणंति ।

" तए णं " इत्यादि । ततः सूर्याभो देवस्तीर्थकरस्य भगवत आलोके प्रणामं करोति । कृत्वा चानुजानातु भगवान् मामित्यनुज्ञापनां कृत्वा सिंहासनवरगततीर्थकराभिमुखः सन्निषण्णः । ' तए णं ' इत्यादि । ततः सूर्याभो देवस्तत्प्रथमतया-तस्य नाट्यविधेः प्रथमतायां, दक्षिणं भुजं प्रसारयति । कथंभूतम्?, इत्याह-(णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहणिउणोवचियमिसमिसंतविरतियमहाभरणकडगतुडियवरभूसणुज्जलमिति) नानाविधानि मणिकनकरत्नानि येषु तानि नानामणिकनकरत्नानि, मणयो नानाविधाश्चन्द्रकान्ताऽऽदयः । कनकानि नानावर्णतया, रत्नानि नानाविधानि कर्केतनाऽऽदीनि, तथा विमलानि निर्मलानि, तथा महान्तमुपभोक्तारमर्हन्ति, यदि वा महद्-उत्सवं क्षणमर्हन्तीति महार्हाणि, तथा निपुणं निपुणबुद्धिगम्यं यथा भवति (एवमुवचिय त्ति) परिकर्मितानि । (मिसमिसंत इति) दीप्यमानानि, विरचितानि महाभरणानि यानि कटकानि कलाचिकाऽऽभरणानि, त्रुटितानि बाहुरक्षिकाः, अन्यानि च यानि वरभूषणानि, तैरुज्ज्वलं भास्वरम् । तथा पीवरं स्थूलं प्रलम्बं दीर्घं (तओ णं इत्यादि) । ततस्तस्माद् दक्षिणभुजात् अष्टशतमष्टाधिकं शतं देवकुमाराणां निर्गच्छति । कथंभूतानाम्?, इत्याह-सदृशानां, समानाऽऽकाराणामित्यर्थः । समाऽऽकारेण कस्यचित् सदृशोऽपि वर्णतः सदृशो न भवति, ततः सदृग्वर्णत्वप्रतिपादनार्थमाह-(सरिसतयाणमिति) सदृशी सदृग्वर्णा त्वग् येषां ते तथा । सदृक्त्वगपि कश्चिद् वयसा विसदृशः संभाव्येत, तत आह-(सरिसवयाणं) सदृक् समानं वयो येषां ते । (सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाणामिति) सादृश्येन लावण्येन लवणिम्ना, अतिस्निग्धया शरीरकान्त्येति भावः । रूपेण आकृत्या यौवनेन यौवनिकया गुणैर्दक्षत्वप्रियंवदत्वाऽऽदिभिरुपपेताः सदृशलावण्यरूपयौवनगुणोपपेताः, तेषाम् । (एगाभरणवसणगहियनिज्जोगाणामिति) । एकः समान आभरणवसनलक्षणो गृहीतो निर्योग उपकरणमर्थान्नाट्योपकरणं यैस्ते तथा, तेषाम् । (दुहतो संवेल्लियग्गनियत्थाणं ति) द्विधातो द्वयोः पार्श्वयोः संवेल्लितानि अग्राणि यस्य तद् द्विधातः संवेल्लिताग्रं, निवसनं सामर्थ्याद्दुत्तरं यैस्ते तथा, तेषाम् । तथा-(उप्पीलियचित्तपट्टपरियरसफेणगावत्तरइयसंगयपलंबवत्थंतचित्तचिल्ललगनियत्थाणामिति) उत्पीडित अत्यन्तबद्धश्चित्रपट्टो विचित्रवर्णपट्टरूपः परिकरो यैस्ते तथा, तथा यस्मिन्नावर्तेनैव फेनविनिर्गमो भवति स फेनकाऽऽवर्तः, तेन रचितः संगता नाट्यविधावुपपन्नाः प्रलम्बा वस्त्रान्ता यस्य निवसनस्य तत्तथा; तच्च चित्रं वर्णै 'चिल्ललगं' देदीप्यमानं निवसनं परिधानं येषां ते तथा । ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः । तेषाम्, (एगावलिकंठरइयसोभंतवच्छपडिहत्थभूसणाणमिति) एकावली या कण्ठे रचिता तया शोभमानं वक्षो येषां ते तथा । ' पडिहत्थ' शब्दो देश्यः परिपूर्णवाचकः । पडिहत्थानि पूर्णानि भूषणानि येषां ते तथा । ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः, तेषां (नट्टसज्जाणं) नृत्ये सज्जाः प्रगुणीभूता नृत्यसज्जाः, तेषाम् । तदनन्तरं च यथोक्तविशेषणविशिष्टं वामं भुजं प्रसारयति, तस्मात् वामभुजादष्टशतं देवकुमारिकाणां विनिर्गच्छति । कथंभूतम् ?, इत्याह-"सरिसयाणं सरिसतयाणं सरिसवयाणं सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाणं एगाभरणवसणगहियनिज्जोगाणं दुहतो संविल्लियग्गनियत्थाणं" इति पूर्ववत् । (आविद्धतिलयामेलाणामिति) आविद्धस्तिलक आमेलश्च शेखरको यकाभिस्ता आविद्धतिलकाऽऽमेलाः, तासां (पिणद्धगेविज्जकंचुयाणामिति) पिनद्धं ग्रैवेयकं ग्रीवाऽऽभरणं कञ्चुकश्च यकाभिस्तथा, तासां (णाणामणिकणगरयणभूसणविराइयंगमंगाणमिति) नानाविधानि मणिकनकरत्नानि येषु भूषणेषु तानि नानामणिकनकरत्नभूषणानि, तैर्विराजितान्यङ्गोपाङ्गानि यासां तास्तथा, तासाम् । वाचनान्तरेण-" चंदाणणाणं चंदद्धसमनिडालाणं चंदाहियसोमदंसणाणं उक्का इव उज्जोवमाणीणं " इति सुगमम् । तथा-" सिंगारागारचारुवेसाणं हसियभणियचिट्ठियविलाससललियसंलावनिउणजुत्तोवयारकुसलाणं गहियाउज्जाणं नट्टसज्जाणं" इति पूर्ववत् । 'तए णं से सूरियाभे देवे' इत्यादि । ततः सूर्याभो देवोऽष्टशतं शङ्खानां विकुर्वति, अष्टशतं शङ्खवादकानाम्, अष्टशतं शृङ्गाणामष्टशतं शृङ्गवादकानाम् १, अष्टशतं शङ्खिकानामष्टशतं शङ्खिकावादकानाम्, ह्रस्वः शङ्खो जात्यन्तराऽऽत्मकः शङ्खिका, तस्या हि स्वरो मनाक् तीक्ष्णो भवति, न तु शङ्खवदतिगम्भीरः २, तथाऽष्टशतं खरमुखीनाम्-काहलानाम्, अष्टशतं खरमुखीवादकानाम् ३, अष्टशतं पेयानां, पेया नाम महती काहला, अष्टशतं पेयावादकानाम् ४, अष्टशतं पिरिपिरिकाणां कौलिकपुटावनद्धमुखवाद्यविशेषरूपाणाम्,(एवमादियाणमिति) अष्टशतं पिरिपिरिकावादकानाम् ५, अष्टशतं पणवानां, पणवो भाण्डं पटहो वा, अष्टशतं पणववादकानाम् ६, अष्टशतं पटहानामष्टशतं पटहवादकानाम् ७, अष्टशतं भम्भानां, भम्भा ढक्का, अष्टशतं भम्भावादकानाम् ८, अष्टशतं होरम्भाणां, होरम्भा महाढक्का, अष्टशतं होरम्भावादकानाम् ९, अष्टशतं भेरीणां ढक्काऽऽकृतिवाद्यविशेषरूपाणाम्, अष्टशतं भेरीवादकानाम् १०, अष्टशतं झल्लरीणां, झल्लरी नाम चर्मावनद्धा विस्तीर्णवलयाऽऽकारा, अष्टशतं झल्लरीवादकानाम् ११, अष्टशतं दुन्दुभीनाम्, अष्टशतं दुन्दुभिवादकानां, दुन्दुभिर्भेर्याकारा संकटमुखी देवाऽऽतोद्यविशेषः १२, अष्टशतं मुरजानां, महाप्रमाणो मर्दलो मुरजः, अष्टशतं मुरजवादकानाम् १३, अष्टशतं मृदङ्गानां, लघुमर्दलो मृदङ्गः, अष्टशतं मृदङ्गवादकानाम् १४, अष्टशतं नन्दीमृदङ्गानाम्, नन्दीमृदङ्गो नाम एकतः संकीर्णोऽन्यत्र विस्तृतो मुरजविशेषः, अष्टशतं नन्दीमृदङ्गवादकानाम् १५, अष्टशतमालिङ्गानाम्, आलिङ्गो मुरजवाद्यविशेष एव । अष्टशतमालिङ्गवादकानाम् १६, अष्टशतं कुस्तुम्बीनां, कुस्तुम्बीचर्मावनद्धपुटो वाद्यविशेषः । अष्टशतं कुस्तुम्बीवादकानाम् १७, अष्टशतं गोमुखीनां, गोमुखी लोकतोऽवसेया, अष्टशतं गोमुखी-

वादकानाम् १८, अष्टशतं मर्दलानां, मर्दलः मध्यतः समः, अष्टशतं मर्दलवादकानाम् १९, अष्टशतं विपञ्चीनां, विपञ्ची त्रितन्त्री वीणा, अष्टशतं विपञ्चीवादकानाम् २०, अष्टशतं वल्लकीनां, वल्लकी सामान्यतो वीणा । अष्टशतं वल्लकीवादकानाम् २१, अष्टशतं भ्रमरीणाम्, अष्टशतं भ्रमरीवादकानाम् २२, अष्टशतं भ्रामरीणाम्, अष्टशतं भ्रामरीवादकानाम् २३, अष्टशतं परिवादिनीनां, परिवादिनी सप्ततन्त्री वीणा । अष्टशतं परिवादिनीवादकानाम् २४, अष्टशतं बब्बीसानाम्, अष्टशतं बब्बीसावादकानाम् २५, अष्टशतं सुघोषाणाम्, अष्टशतं सुघोषावादकानाम् २६, अष्टशतं नन्दीघोषाणाम्, अष्टशतं नन्दीघोषावादकानाम् २७, अष्टशतं महतीनाम्, अष्टशतं महतीवादकानाम् २८, अष्टशतं कच्छपीनाम्, अष्टशतं कच्छपीवादकानाम् २९, अष्टशतं चित्रवीणानाम्, अष्टशतं चित्रवीणावादकानाम् ३०, अष्टशतमामोदानाम्, अष्टशतमामोदवादकानाम् ३१, अष्टशतं दण्ढानाम्, अष्टशतं दण्ढवादकानाम् ३२, अष्टशतं नकुलानाम्, अष्टशतं नकुलवादकानाम् ३३, अष्टशतं तूणानाम्, अष्टशतं तूणावादकानाम् ३४, अष्टशतं तुम्बवीणानां, तुम्बयुक्ता वीणा याऽद्यकल्यप्रसिद्धा । अष्टशतं तुम्बवीणावादकानाम् ३५, अष्टशतं मुकुन्दानां, मुकुन्दो मुरजो वाद्यविशेषो योऽतिलीनं प्रायो वाद्यते, अष्टशतं मुकुन्दवादकानाम् ३६, अष्टशतं हुडुक्कीनाम्, अष्टशतं हुडुक्कीवादकानाम्, हुडुक्की प्रतीता । ३७, अष्टशतं चिच्चिकीनाम्, अष्टशतं चिच्चिकीवादकानाम् ३८, अष्टशतं करटीनाम्, अष्टशतं करटीवादकानाम्, करटी प्रतीता ३९, अष्टशतं डिण्डिमानाम्, अष्टशतं डिण्डिमवादकानाम्, प्रथमप्रस्तावनासूचकः पणवविशेषो डिण्डिमः ४०, अष्टशतं किणितानाम्, अष्टशतं किणितवादकानाम् ४१, अष्टशतं करुम्बानाम्, अष्टशतं करुम्बावादकानाम्, करुम्बा करटिका ४२, अष्टशतं दर्दरकाणाम्, अष्टशतं दर्दरकवादकानाम्, दर्दरकः प्रतीतः ४३, अष्टशतं दर्दरिकाणाम्, अष्टशतं दर्दरिकावादकानाम्, लघुर्दर्दरी दर्दरिका ४४, अष्टशतं कुतुम्बरूणाम्, अष्टशतं कुतुम्बरुवादकानाम् ४५ अष्टशतं कलशिकानाम्, अष्टशतं कलशिकावादकाम ४६, अष्टशतं तलानाम्, अष्टशतं तलवादकानाम् ४७, अष्टशतं तालानाम्, अष्टशतं तालवादकानाम् ४८, अष्टशतं कांस्यतालानाम्, अष्टशतं कांस्यतालवादकानाम ४९, अष्टशतं गिरिशिकानाम्, अष्टशतं गिरिशिकावादकानाम ५०, अष्टशतं मकरिकाणाम्, अष्टशतं मकरिकावादकानाम् ५१, अष्टशतं शिशुमारिकाणाम्, अष्टशतं शिशुमारिकावादकानाम् ५२, अष्टशतं वंशानाम्, अष्टशतं वंशवादकानाम ५३, अष्टशतं वालीनाम्, अष्टशतं वालीवादकानाम्, वाली तृणविशेषः, स हि मुखे दत्त्वा वाद्यते ५४। अष्टशतं वेणूनाम्, अष्टशतं वेणुवादकानाम ५५, अष्टशतं पिरिलीनाम्, अष्टशतं पिरिलीवादकानाम ५६, अष्टशतं बद्धकानाम्, अष्टशतं बद्धकवादकानाम्, बद्धकस्तूर्यविशेषः ५७, अव्याख्यातास्तु भेदा लोकतः प्रत्येतव्याः । एवमादीनि बहून्यातोद्यानि, आतोद्यवादकांश्च विकुर्वति । सर्वसंख्यया तु मूलभेदापेक्षयाऽऽतोद्यभेदापेक्षया आतोद्यभेदा एकोनपञ्चाशत्, शेषास्तु भेदा एतेष्वेवान्तर्भवन्ति । यथा वंशाऽऽतोद्यविधाने वालीवेणुपिरलीबद्धका इति । यथा चाऽऽह-"एवमाइयाइं एगूणपन्नं आउज्जविहाणाइं विउव्वइ त्ति"। विकुर्व्य च तावत् स्वयं विकुर्वितान् बहून् देवकुमारान् देवकुमारिकाश्च शब्दयति । ते च

शब्दिताः सन्तो हृष्टतुष्टाऽऽनन्दितचित्ताः सूर्याऽऽभसमीपमागच्छन्ति, आगत्य च करतलपरिगृहीतं दशनखं शिरसावर्त्तं मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वा जयेन विजयेन वर्द्धापयित्वा एवमवादिषुः-सन्दिशन्तु देवानां प्रियाः! यदस्माभिः कर्त्तव्यम् । ततः स सूर्याभो देवस्तान् देवकुमारान् देवकुमारिकाश्च एवमवादीत्-गच्छत यूयं देवानां प्रियाः! श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिःकृत्वः, आदक्षिणप्रदक्षिणं कुरुत, कृत्वा वन्दध्वं, नमस्यत, वन्दित्वा नमस्यित्वा गौतमाऽऽदीनां श्रमणानां निर्ग्रन्थानां तां देवजनप्रसिद्धां दिव्यां देवर्द्धिं दिव्यां देवद्युतिं दिव्यं देवानुभावं दिव्यं द्वात्रिंशद्विधं नाट्यविधिमुपदर्शयत, उपदर्श्य चैतामाज्ञप्तिकां क्षिप्रमेव प्रत्यर्पयत । "तए णं" इत्यादि । ततस्ते बहवो देवकुमारा देवकुमारिकाश्च सूर्याभेन देवेन एवमुक्ताः सन्तो हृष्टा यावत्प्रतिशृण्वन्ति, अभ्युपगच्छन्तीत्यर्थः । प्रतिश्रुत्य च यत्र श्रमणो भगवान् महावीरस्तत्रोपागच्छन्ति, उपागत्य च श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिःकृत्व आदक्षिणप्रदक्षिणं कुर्वन्ति, कृत्वा च वन्दन्ते, नमस्यन्ति, वन्दित्वा नमस्यित्वा च यस्मिन् प्रदेशे गौतमाऽऽदयः श्रमणास्तत्र समकालमेव एककालमेव समवसरन्ति, मिलन्तीत्यर्थः । समवसृत्य च समकमेव एककालमेव अवनमन्ति, अधो नीचा भवन्ति । अवनम्य च समकमेव उन्नमन्ति, ऊर्ध्वमवतिष्ठन्त इति भावः । तदनन्तरं चैव क्रमेण सहितं संगमम्, स्तिमितं चावनमनमुन्नमनं च वाच्यम् । अमीषां च संहिताऽऽदीनां भेदः सम्यक्कौशलोपेतनाट्योपाध्यायादवगन्तव्यः । ततः स्तिमितं समकमुन्नम्य समकमेव प्रसरन्ति, प्रसृत्य च समकमेव यथायोगमातोद्यविधानानि गृह्णन्ति । गृहीत्वा च समकमेव वादितवन्तः, समकमेव प्रगीतवन्तः, समकमेव प्रनर्तितवन्तः । 'किं ते' इत्यादि । केचिद् देवकुमारा देवकुमारिकाश्च एवं प्रगीता अप्यभवन्निति योगः । कथम् ?, इत्याह-(उरेण मंदमिति) सर्वत्र सप्तम्यर्थे तृतीया । उरसि मन्द्रं यथा भवति एवं प्रगीताः । (सिरेण तारं कंठेण व तारमिति) शब्देन यथायोगलक्षणोपेतम् । किमुक्तं भवति ?-उरसि प्रथमतो गीतमुत्क्षिप्यते, उत्क्षेपकाले च गीतं मन्द्रं भवति । "आदिमिउमारभंता," इति वचनात् । अन्यथा गीतगुणक्षतेः, तत उक्तमुरसि मन्द्रमिति । ततो गायतां मूर्द्धानमभिघ्नन् स्वर उच्चैस्तरो भवति । स्थानकं च द्वितीयं तृतीयं वा समधिरोहति । ततः शिरसि तारमित्युक्तं, शिरसश्च प्रतिनिवृत्तः सन् स्वरः कण्ठे घुलति, घुलनध्वनिमधुरो भवति । (समयरेयगरइयमिति) (गुंजावक्ककुहरोवगूढं) गुञ्जनं गुञ्जा, तत्प्रधानानि यानि वक्राणि शब्दमार्गाप्रतिकूलानि कुहराणि तेषूपगूढं गुञ्जावक्रकुहरोपगूढम् । किमुक्तं भवति ?-तेषां देवकुमाराणां देवकुमारिकाणां च तस्मिन् प्रेक्षागृहमण्डपे गायतां गीतं तेषु प्रेक्षागृहमण्डपसत्केषु च कुहरेषु स्वानि रूपाणि प्रतिशब्दसहस्राण्युत्थापयद्वर्त्तते इति । (रत्तमिति) रक्तम्, इह यद् गेयरागानुरक्तेन गीतं गीयते तत् रक्तमिति । तद् द्विधा प्रसिद्धं (तिठाणकरणसुद्धमिति) त्रीणि स्थानानि उरःप्रभृतीनि तेषु करणेषु क्रियया शुद्धं त्रिस्थानकरणशुद्धम् । तद् यथा-उरःशुद्धं, कण्ठशुद्धं, शिरोविशुद्धं च । तत्र यदि उरसि स्वरः स्वभूमिकाऽनुसारेण विशालो भवति, तत उरोविशुद्धं, स एव यदि कण्ठे वर्त्तितो भवति अस्फुटितश्च, ततः कण्ठविशुद्धं, यदि पुनः शिरः प्राप्तः सन् सानुनासिको भवति, ततः शिरोविशुद्धम् । यदि वा यत् उरःकण्ठशिरोभिः श्लेष्मणाऽव्याकुलितैर्विशुद्धैर्गीयते तत् उरःकण्ठशिरोविशुद्ध-

स्वात् त्रिस्थानकरणविशुद्धम् । तथा सकुहरो गुञ्जन् यो वंशो,ये
च तन्त्रीतलतालतयग्रहाः, तेषु सुष्ठु अतिशयेन सम्प्रयुक्तं सकु-
हरगुञ्जद्वंशतन्त्रीतलतालतयग्रहसुसम्प्रयुक्तम् । किमुक्तं भवति?-
सकुहरे वंशे गुञ्जति तन्त्र्यां च वाद्यमानायां यत् वंशतन्त्री-
स्वरेणाविरुद्धं तत् सकुहरगुञ्जद्वंशतन्त्रीसुसम्प्रयुक्तं, तथा
परस्परहतहस्ततलस्वरानुवर्ति यत् तत् तलसुसम्प्रयुक्तं,
मुरजकांशिकाऽऽदीनामातोद्यानामाहतानां यो ध्वनिः यश्च नृत्यं
पादोत्क्षेपः, तेन समं यत् तत् तालसुसम्प्रयुक्तम्, तथा शृङ्गमयो
दारुमयो दन्तमयोऽङ्गुलिकोशिकस्तेनाऽऽहताया तन्त्र्याः स्व-
रप्रकारो लयस्तमनुसरद् गेयं लयसुसम्प्रयुक्तम्, तथा यः
प्रथमं वंशतन्त्र्यादिभिः स्वरो गृहीतस्तन्मार्गानुसारि ग्रहसुस-
म्प्रयुक्तम्, तथा (महुरमिति) मधुरस्वरेण गीयमानं मधुरं
कोकिलारुतवत्, तथा (सममिति) तलवंशस्वराऽऽदिसम-
नुगतं समं (सललियं ति) यत् स्वरघोलनाप्रकारेण ललतीव,
सह ललितेन ललनेन वर्त्तते इति । श्रोत्रेन्द्रियस्य शब्दस्पर्श-
नमतीव सूक्ष्ममुत्पादयति सुकुमारमिव च प्रतिभासते तत्
सललितमिति । अत एव मनोहरम् । पुनः कथंभूतम् ?, इत्याह-
(मिउरिभितपदसंचारं) तत्र मृदु मृदुना स्वरेण युक्तो नि-
ष्ठुरेण, तथा यत्र स्वरोऽक्षरेषु घोलनास्वरविशेषेषु च संचरन्
रङ्गतीव प्रतिभासते,स पदसञ्चारो रिभित उच्यते । मृदुः रिभितः
पदेषु गेयनिबद्धेषु संचारो यत्र गेये तत् मृदुरिभितपदसंचारं,
तथा (सुरइ इति) शोभना रतिर्यस्मिन् श्रोतृणां तत् सुरति,तथा
शोभना नतिरवनामोऽवसानो यस्मिन् तत् सुनति, तथा वरं
प्रधानं चारु विशिष्टचङ्क्रमोपेतं रूपं स्वरूपं यस्य तद् वरचारुरूपं
दिव्यं प्रधानं नृत्तसज्जं गेयं प्रगीता अप्यभवन् । " किं ते "
इत्यादि । किञ्च-ते देवकुमारा देवकुमारिकाश्च प्रगीतवन्तः,
प्रनर्तितवन्तश्च (उद्धमंताणं संखाणमित्यादि) अत्र सर्वत्रा-
पि षष्ठी सप्तम्यर्थे । ततोऽयमर्थः-यथायोगमुध्मायमानाऽऽदिषु
शङ्खाऽऽदिषु, इह शङ्खशृङ्गशङ्खिकाखरमुहीपेयापिरिपिरिकाणां
वादनमुद्ध्मातमिति प्रसिद्धम् । पणवपटहानामाहननम्,
भम्भाहोरम्भाणामास्फालनम्, भेरीझल्लरीदुन्दुभीनां ताडनम्,
मुरजमृदङ्गनन्दीमृदङ्गानामालपनम्, आलिङ्गकुस्तुम्बगोमु-
खीमर्दलानामुत्ताडनम्, वीणाविपञ्चीवल्लकीनां मूर्च्छनम्,
महतीकच्छपीतन्त्रिचित्रवीणानां कुट्टनम्, बद्धीसासुघोषानन्दिघोषाणां
सारणं, भ्रामरीषड्भ्रामरीपरिवादिनीनां स्पन्दनम्, तूणतुम्बवीणानां स्प-
र्शनम्, नकुलानामामोटनम्,मुकुन्दहुडुक्काचिच्चिकीनां मूर्च्छनम्, क-
रटाडिण्डिमकिणिककडम्बानां वादनम्, दर्दरदर्दरिकाकुतुम्बरु-
कलशिकामड्डुकानामुत्ताडनम्, तलताल्कांस्यतालानामाताड-
नं, गिरिशिकालत्तिकामकरिकाशिशुमारिकाणां घट्टनं, वंशवे-
णुवालीपिरिलीबद्धकानां फुत्करणम् । अत उक्तम्-"उद्धमंताणं
संखाणं" इत्यादि । (तए णं से दिव्वे णट्टे दिव्वे गीए इत्या-
दि) यत एवं प्रगीतवन्त इत्यादि, ततो यामिति पूर्ववत् ।
तद् दिव्यं गीतं, दिव्यं वादितं, दिव्यं नृत्यमभूदिति योगः ।
दिव्यं नाम प्रधानम् । एवम्-(अब्भुए गीए अब्भुए वाइए अब्भुए
णट्टे) अद्भुतमाश्चर्यकारि, (सिंगारे गीए, सिंगारे वाइए,
सिंगारे णट्टे) शृङ्गारं शृङ्गाररसोपेतत्वात् । अथवा शृङ्गारं
नामालङ्करणमुच्यते, तत्र यदन्यस्य विशेषकरणेनालङ्कृतमिव
गीतं वादनं नृत्यं वा तत् शृङ्गारमिति । (उराले गीए उराले
वाइए उराले णट्टे) उदारं स्फारं परिपूर्णगुणोपेतत्वात्, न तु

क्वचिदपि हीनं, (मणुण्णे गीए मणुण्णे वाइए मणुण्णे णट्टे)
मनोज्ञं मनोऽनुकूलं द्रष्टृणां श्रोतृणां च मनोनिर्वृत्तिकरमिति
भावः । तच्च मनोनिर्वृत्तिकरत्वं सामान्यतोऽपि स्यादतः प्रक-
र्षविशेषप्रतिपादनार्थमाह-(मणहर इति) (मणहरे गीए
मणहरे वाइए मणहरे णट्टे) मनो हरति आत्मवशं नयति, त-
द्विधमप्यतिचमत्कारकारितयेति मनोहरम् । एतदेवाऽऽह-(उ-
प्पिंजलभूए) उत्पिञ्जलमाकुलम्, आकुलभूते । किमुक्तं भ-
वति ?-महर्द्धिकदेवानामप्यतिशायितया परमक्षोभोत्पादकत्वेन
सकलदेवासुरमनुजसमूहचित्ताऽऽक्षेपकारीति । (कहकहभूते
इति) कहकहेत्यनुकरणं, कहकहेतिभूतं प्राप्तं कहकहभूतम् ।
किमुक्तं भवति ?-निरन्तरं तत्तद्विशेषदर्शनतः समुच्छलितप्र-
मोदभरपरवशसकलदिक्चक्रवालवर्त्तिप्रेक्षकजनकृतप्रशंसाव-
चनबोलकोलाहलव्याकुलीभूतमिति । अत एव दिव्यं देवरमण-
मपि देवानामपि रमणं क्रीडनं प्रवृत्तमभूत् । रा० । आ० म० ।

इह द्वात्रिंशद् नाट्यविधयः । ते च येन क्रमेण भगवतो वर्द्ध-
मानस्वामिनः पुरतः सूर्याभदेवेन भाविताः राजप्रश्नीयोपाङ्गे च द-
र्शिताः, तेन क्रमेण विनेयजनानुग्रहार्थमुपदर्श्यन्ते-तत्र स्वस्तिक-
श्रीवत्सनन्द्यावर्तवर्द्धमानकभद्रासनकलशमत्स्यदर्पणरूपाष्टम-
ङ्गलाऽऽकाराभिनयाऽऽत्मकः प्रथमो नाट्यविधिः । द्वितीय आवर्त-
प्रत्यावर्त्तश्रेणिप्रतिश्रेणिस्वस्तिकश्रीवत्सपुष्पमाणवकवर्द्धमानक-
मत्स्याण्डकमकराण्डकजारमारपुष्पावलिपद्मपत्रसागरतरङ्ग-
वासन्तीलतापद्मलताभक्तिचित्राभिनयाऽऽत्मकः । तृतीय ईहामृ-
गऋषभतुरगनरमकरविहगव्यालकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवन-
लतापद्मलताभक्तिचित्राऽऽत्मकः । चतुर्थं एकतश्चक्रद्विधातश्चक्र
एकतश्चक्रवालद्विधातश्चक्रवालचक्रार्द्धचक्रवालाभिनयाऽऽत्मकः ।
पञ्चमः चन्द्राऽऽवलिप्रविभक्तिसूर्याऽऽवलिप्रविभक्तिवलयाऽऽव-
लिप्रविभक्तिहंसाऽऽवलिप्रविभक्तिएकाऽऽवलिप्रविभक्तितारा ऽऽव-
लिप्रविभक्तिमुक्ताऽऽवलिप्रविभक्तिकनकाऽऽवलिप्रविभक्तिरत्नाऽऽ-
वलिप्रविभक्तियुक्ताऽऽवलिप्रविभक्तिनामा । षष्ठश्चन्द्रोद्गमप्र-
विभक्तिसूर्योद्गमप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मक उद्गमोद्गमप्रविभक्ति-
नामा । सप्तमश्चन्द्राऽऽगमनप्रविभक्तिसूर्याऽऽगमनप्रविभक्त्य-
भिनयाऽऽत्मक आगमनागमनप्रविभक्तिनामा । अष्टमश्चन्द्राऽऽ-
वरणप्रविभक्तिसूर्याऽऽवरणप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मक आवरणा-
वरणप्रविभक्तिनामा । नवमश्चन्द्रास्तमनप्रविभक्तिसूर्यास्तमनप्र-
विभक्त्यभिनयाऽऽत्मकोऽस्तमयास्तमयप्रविभक्तिनामा । दशम-
श्चन्द्रमण्डलप्रविभक्तिसूर्यमण्डलप्रविभक्तिनागमण्डलप्रविभक्ति-
यक्षमण्डलप्रविभक्तिभूतमण्डलप्रविभक्तिराक्षसमहोरगगन्धर्व-
मण्डलप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मको मण्डलप्रविभक्तिनामा । ए-
कादश ऋषभमण्डलप्रविभक्तिसिंहमण्डलप्रविभक्तिहयविल-
म्बितगजविलम्बितहयविलसितगजविलसितमत्तहयविलसित-
मत्तगजविलसितमत्तहयविलम्बितमत्तगजविलम्बिताभिनयो
द्रुतविलम्बितनामा । द्वादशः सागरप्रविभक्तिनागरप्रविभक्त्यभि-
नयाऽऽत्मकः सागरनागरप्रविभक्तिनामा । त्रयोदशो नन्दाप्रविभ-
क्तिचम्पाप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मको नन्दाचम्पाप्रविभक्त्यात्मकः ।
चतुर्दशो मत्स्याण्डकप्रविभक्तिमकराण्डकप्रविभक्तिजारप्रवि-
भक्तिमारप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मको मत्स्याण्डकमकराण्डक-
जारमारप्रविभक्तिनामा । पञ्चदशः क इति ककारप्रविभक्ति
ख इति खकारप्रविभक्ति ग इति गकारप्रविभक्ति घ इति घ-
कारप्रविभक्ति ङ इति ङकारप्रविभक्तिरित्येवंक्रमनादिक-
काराऽऽदिप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मकः ककारखकारगकारघकार-

ञकारप्रविभक्तिनामा । एवं षोडशः ञकारझकारजकारछकार-चकारप्रविभक्तिनामा । सप्तदशः-टकारठकारडकारढकारण-कारप्रविभक्तिनामा । अष्टादशस्तकारथकारदकारधकारनकार-प्रविभक्तिनामा । एकोनविंशतितमः पकारफकारबकारभकारम-कारप्रविभक्तिनामा । विंशतितमोऽशोकपल्लवप्रविभक्त्याम्रप-ल्लवप्रविभक्तिजम्बूपल्लवप्रविभक्तिकोशाम्बपल्लवप्रविभक्त्यभिन-याऽऽत्मकः पल्लवप्रविभक्तिनामा । एकविंशतितमः पद्मलताप्रवि-भक्तिनागलताप्रविभक्त्यशोकलताप्रविभक्तिचम्पकलताप्रविभ-क्तिचूतलताप्रविभक्तिवनलताप्रविभक्तिवासन्तीलताप्रविभक्त्य-तिमुक्तकलताप्रविभक्तिश्यामलताप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मको लताप्रविभक्तिनामा । द्वाविंशतितमो द्रुतनामा । त्रयोविंशतितमो विलम्बितनामा । चतुर्विंशतितमो द्रुतविलम्बितनामा । पञ्चविं-शतितमस्त्वञ्चितनामा । षड्विंशतितमो रिभितनामा । सप्तविं-शतितमोऽञ्चितरिभितनामा । अष्टाविंशतितम आरभटनामा । ए-कोनत्रिंशत्तमो भसोलनामा । त्रिंशत्तम आरभटभसोलनामा । ए-कत्रिंशत्तम उत्पातनिपातपरिनिपातप्रसक्तसंकुचितप्रसारितरे-चकारचितभ्रान्तसंभ्रान्तनामा । द्वात्रिंशत्तमस्तु चरमनामनिब-द्धनामा । स च सूर्याऽऽभदेवेन भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः पुरतो भगवतश्चरमपूर्वमनुष्यभवचरमदेवलोकभवचरमच्यवनचरम-गर्भसंहरणचरमभरतक्षेत्रावसर्पिणीतीर्थकरजन्माभिषेकचरम-बालभावचरमयौवनचरमकामभोगचरमनिष्क्रमणचरमतपश्च-रणचरमज्ञानोत्पादचरमतीर्थप्रवर्त्तनचरमनिर्वाणाभिनयाऽऽत्म-को भावितः ३२ । तत्रैतेषां द्वात्रिंशतो नाट्यविधीनां मध्ये कांश्चन नाट्यविधीन् उपन्यस्यति-अप्येकका देवा द्रुतं द्रुतनामकं द्वाविंशतितमं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति । एवमप्येकका विलम्बितं नाट्यविधिम्,अप्येकका अञ्चितं नाट्यविधिम्,अप्येकका रिभितं नाट्यविधिम्, अप्येकका अञ्चितरिभितं नाट्यविधिम्, अप्येकका आरभटं नाट्यविधिम्, अप्येकका भसोलं नाट्यविधिम्, अप्येकका आरभटभसोलं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति । अप्येकका देवा उत्पातनिपातम्, उत्पातपूर्वो निपातो यस्मिन् स उत्पात-निपातः, तम् । एवं निपातोत्पातं, संकुचितं प्रसारितं, रेच-कारचितमिति गमनागमनं भ्रान्तं संभ्रान्तं नाम नाट्यविधिं सामान्यतो नर्त्तनविधिं द्वात्रिंशद्व्युत्कीर्णमुपदर्शयन्ति । अप्ये-कका देवाश्चतुर्विधं वाद्यं वादयन्ति । तद्यथा-ततं मृदङ्गप-टहाऽऽदि, विततं वीणाऽऽदिकं, घनं कांसिकाऽऽदि,शुषिरं काह-लाऽऽदि । अप्येकका देवाश्चतुर्विधं गेयं गायन्ति । तद्यथा-प्र-थमतः समारभ्यमाणमुत्क्षिप्तम्, उत्क्षेपावस्थातो विक्रान्तं मना-क् भरेण प्रवर्त्तमानं पादान्तम् । (मंदायमिति) मध्यभागे मूर्छना-ऽऽदिगुणोपेततया मन्दं मन्दं घोलनाऽऽत्मकम् । रोचितावसान-मिति रोचितं यथोचितलक्षणोपेततया भावितं, सत्यापितमिति यावत्, अवसानं यस्य तत् रोचितावसानम् । जी० ३ प्रति० ।

नट्-धा० । नृत्ते, भ्वादि०-परस्मै०-सेट् । "शकाऽऽदीनां द्वि-त्वम्" ॥ ८ । ४ । २३० ॥ इत्यन्त्यस्य द्वित्वम् । 'णट्टइ,' नट-ति । प्रा० ४ पाद ।

णट्टग-नर्त्तक-पुं० । स्वयं नृत्यकर्त्तरि, कल्प० ५ क्षण । औ० । रा० । ज्ञा० । प्रश्न० । अनु० ।

णट्टपाल-नाट्यपाल-पुं० । नाट्यस्वामिनि सूत्रधारे, "णट्ट-पालो णिवत्तो तेण गीतवाउत्तकधाऽऽदीहिं आवज्जिओ ।" आ० चू० १ अ० ।

णट्टमालय-नृत्यमालक-पुं० । खण्डकप्रपातगुहानां स्वामिषु देवेषु, यावत्यः खण्डकप्रपातगुहास्तावन्तो नृत्यमालकाः । स्था० २ ठा० ३ उ० । आ० म० । सुषमसुषमभाविनि कल्प-द्रुमविशेषे, जं० २ वक्ष० ।

णट्टवत्थु-नाट्यवस्तु-न० । नृत्यप्रतिपादके पापश्रुते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । आव० ।

णट्टवाइत्त-नाट्यवादित्र-न० । नर्तकीत्वे, बृ० ५ उ० ।

णट्टविहि-नाट्यविधि-पुं० । ६ त० । नृत्यकरणप्रकारे, स्था० ६ ठा० । नायकचरिताभिनये, भ० ११ श० ११ उ० । सामान्यतो नर्त्तन-विधौ, जी० ३ प्रति० । (तस्य द्वात्रिंशत्प्रकाराः 'णट्ट' शब्दे १८०३ पृष्ठे दर्शिताः)

णट्टाणीय-नाट्यानीक-पुं० । ष० । नाट्यकारकजनसमूहे, भ० १४ श० ६ उ० ।

णट्ठ-नष्ट-त्रि० । सर्वथाऽदृश्यीभूते, आ० म० १ अ० १ खण्ड । व्य० । अपगते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । हारिते, बृ० ३ उ० । "णट्ठे ति वा विगए ति वा अंतद्धाणे ति वा एगट्ठा ।" आ० चू० १ अ० । "णट्ठसप्पहसब्भावे" नष्टोऽपगतः सत्पथः सद्-भावः सन्मार्गः परमार्थो येभ्यस्ते । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । रात्रिन्दिवस्य सप्तदशे मुहूर्त्ते, स० ३० सम० ।

णट्ठमइय-नष्टमतिक-त्रि० । मत्या स्वविषयकानिश्चायके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णट्ठरय-नष्टरजस्-त्रि० । नष्टं सर्वथाऽदृश्यीभूतं रजो यत्र स तथा । जी० ३ प्रति० । अदृश्यमानरजस्के, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णट्ठवं-नष्टवत्-त्रि० । अहोरात्रस्य षड्विंशे मुहूर्त्ते, स० ३० सम० ।

णट्ठसण्ण-नष्टसंज्ञ-त्रि० । मनसा भ्रान्ते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णट्ठसुइय-नष्टश्रुतिक-पुं० । निर्यामके, शास्त्रेण दिगादिविवेचन-स्य करणेऽशक्ते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णड-नट-पुं० । "टो डः" ॥ ८ । १ । १९५ ॥ इति टस्य डः । प्रा० १ पाद । नाटकानां नाटयितरि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । अनु० । नटा ये नाटकानि नर्त्तयन्ति । व्य० ३ उ० । नि० चू० । कल्प० । औ० । "णडा दुविहा-अंसका, वग्गुरिया य ।" पं० चू० । नटति नट् अच् । नाटकाऽऽदिदृश्यकाव्याभिनयकर्त्तरि नर्त्तके-भेदे, जायाजीविनि वर्णसङ्करभेदे, अशोकवृक्षे, शोनाकवृक्षे, नले, किष्कुपर्वणि, गोदन्तहरिताले च । वाच० ।

णड्-धा० । व्याकुलीभावे, दिवा०-पर०-सक०-सेट् । "गुपे-र्विरणडौ ॥ ८ । ४ । १५० ॥ इति गुप्यतेर्णडाऽऽदेशः । 'णडइ' 'गुप्यति' । प्रा० ४ पाद ।

णडखाइता-नटखादिता-स्त्री० । नटस्येव संवेगविकलधर्म-कथाकरणोपार्जितभोजनाऽऽदीनां खादितं भक्षणं यस्यां सा नटखादिता । प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णडपिडय-नटपिटक-पुं० । स्वनामख्याते भृगुकच्छासन्नान्तरा-लग्रामे, यत्र कश्चिद् गुरुप्रेषितः साधुः वर्षापातेनावरुद्धः

सामाचारीमुपयुक्त एवाऽऽचरन् मथालये उदाहरणम् । आ० क० । आव० ।

णडपेहा–नटप्रेक्षा–स्त्री० । नटा नाटकानां नाटयितारः, तेषां प्रेक्षा नटप्रेक्षा । नटप्रेक्षणके, जी० ३ प्रति० । वीरसाधूनामु-त्तजरूत्ये,कल्प० १ क्षण । बृ० । (नटप्रेक्षोदाहरणम् 'कप्प' शब्दे तृतीयभागे २२६५ पृष्ठे गतम्)

णडाइणाय–नटाऽऽदिज्ञात–न० । नर्तकप्रभृत्युदाहरणे, पञ्चा० १६ विव० ।

णडाल–ललाट–न० । "ललाटे च" ॥८।१।२५७॥ इति लस्य णः । "एकाऽऽङ्गारललाटे वा" ॥८।१।४७॥ इत्यादेरत इत्त्वाभावपक्षे । मस्तके, प्रा० १ पाद ।

णडिय–नटित–त्रि० । विडम्बिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

णडी–नटी–स्त्री० । नर्तक्याम्, बृ० ३ उ० । नटभार्यायाम्, स्था० ६ ठा० ।

णडीरंग–नटीरङ्ग–पुं० । नर्तकीरङ्गे नाट्यस्थाने, बृ० ३ उ० ।

णडुरी–देशी–भेके, दे० ना० ४ वर्ग ।

णडुल–नड्वल–त्रि० । नडाः सन्त्यत्र ड्वलच् । नडयुक्ते देशे,वाच० । कारणं कार्योपचाराद् नड्वलः पादरोग इति । विशे० । आचा० ।

णडुली–स्त्री० । देशी–कच्छपे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णणु–ननु–अव्य० । आशङ्कितावधारणे, नि० चू० १ उ० । वितर्के, षो० १६ विव० । अक्षमायाम्, दश० १ अ० । जी० । विशे० । प्रति० । असूयायाम्, विशे० ।

णण्णसूरि–नन्नसूरि–पुं० । चन्द्रगच्छोद्भवे श्रीबप्पभट्टिसूरिशिष्ये सर्वदेवसूरिगुरौ, स च विक्रमसंवत्सरे ९०० मिते विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

णत्त–नक्त–न० । रात्रौ, चं० प्र० १० पाहु० ३ पाहु० ।

णत्तंदिव–नक्तन्दिव–न० । अहोरात्रे, अष्ट० ६ अष्ट० ।

णत्तंभाग–नक्तम्भाग–पुं० । नक्तं रात्रौ चन्द्रयोगस्याऽऽदिमधिकृत्य विद्यन्ते येषां तानि नक्षत्राणि तथा । चं० प्र० १० पाहु० ३ पाहु० । चन्द्रस्य समयोगिषु नक्षत्रेषु, " अद्दाऽसेसा साई,सयभिस अभिई य जेट्ठसमजोगा । " स्था० ६ ठा० ।

णत्तिअ–नप्तृक–पुं० । " इदुतौ वृष्टवृष्टिपृथक्मृदङ्गनप्तृके " ।८।१।१३७। इति ऋत इकारोकारौ । प्रा० १ पाद । पुत्रस्य दुहितुर्वा पुत्रे, नि० चू० ४ उ० । आ० म० । बृ० । विशे० ।

णत्तिआ–नप्तृका–स्त्री० । पौत्र्यां, दौहित्र्यां च । विपा० १ श्रु० ३ अ० । ग० ।

णत्तुअ–नप्तृक–पुं० । 'णत्तिअ' शब्दार्थे, नि० चू० २ उ० । आ० म० । बृ० । विशे० ।

णत्तुआ–नप्तृका–स्त्री० । " णत्तिआ " शब्दार्थे, विपा० १ श्रु० ३ अ० । ग० ।

णत्तुआवइ–नप्तृकापति–पुं० । पौत्रीणां दौहित्रीणां वा भर्तृषु, बृ० १ उ० ।

णत्तुइणी–नप्तृकिनी–स्त्री० । पौत्रदौहित्रभार्यायाम्, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

णत्थ–न्यस्त–त्रि० । साध्वर्थमुपकल्पिते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । स्थापिते, अष्ट० ३० अष्ट० ।

णत्थिअ–नास्तिक–पुं० । नास्ति जीवः परलोको वेत्येवं मतिर्यस्य सः । अक्रियावादिनि,स्था० ४ ठा० ४ उ० । आचा० । सूत्र० । (८४ भेदाः 'अकिरियावाइ (ण्) ' शब्दे प्रथमभागे १२७ पृष्ठे उक्ताः) नास्तिकवादिगणमतम्–न सन्ति सत स्वपरसंस्थाः । स्था० ४ ठा० ४ उ० । सूत्र० ।

तद् यथा–

नत्थि जीवो, न जाइ, इह परे वा लोए न य किंचि वि फुसइ पुण्णपावं, नत्थि फलं सुकयदुकयाणं, पंचमहब्भूतियं सरीरं भासंति हं वातजोगजुत्तं, पंच य खंधे भणंति केइ, मणं च मणजीविका वदंति, वाउजीवो त्ति एवमाहंसु, सरीरं सादियं सनिधणं इहभवे एगे भवे तस्स विप्पणासंसि सव्वनासो त्ति एवं जंपंति मुसावाई ॥

शून्यमिति,जगदिति गम्यते, कथम् ?, आत्माऽऽद्यभावात्,एतदाह–नास्ति जीवः,तत्प्रसाधकप्रमाणाभावात् । स हि न प्रत्यक्षग्राह्यः, अतीन्द्रियत्वेन तस्याभ्युपगमत्वात् । नाप्यनुमानग्राह्यः, प्रत्यक्षाप्रवृत्तावनुमानस्याप्यप्रवृत्तेः । आगमानां च परस्परतो विरुद्धत्वेनाप्रमाणत्वादिति । असत्त्वादेवासौ न याति न गच्छति । इहेति मनुष्यापेक्षया मनुष्यलोके, 'परे वा' परस्मिन् तदपेक्षयैव देवाऽऽदिलोके,न च किञ्चिदपि स्पृशति बध्नाति पुण्यपापं शुभाशुभं कर्म, नास्ति फलं सुकृतदुष्कृतानां पुण्यपापकर्मणां, जीवासत्त्वेन तयोरप्यसत्त्वात् । तथा पञ्चमहाभौतिकं शरीरं भाषन्ते । 'हं' इति निपातो वाक्यालङ्कारे । वातयोगयुक्तं प्राणवायुना सर्वक्रियासु प्रवर्त्तितमित्यर्थः । तत्र पञ्चमहाभौतिकमिति, महान्ति च तानि लोकव्यापकत्वाद् भूतानि च सद्भूतवस्तूनि महाभूतानि । तानि चामूनि–पृथिवी कठिनरूपा, आपो द्रवलक्षणाः, तेज उष्णरूपम्, वायुश्चलनलक्षणः, आकाशं शुषिरलक्षणमिति । एतन्मयमेव शरीरं,नापरः शरीरवर्ती तद्भिन्नपादकोऽस्ति जीव इति विवक्षा । तथाहि–भूतान्येव सन्ति, प्रत्यक्षेण तेषामेव प्रतीयमानत्वात् । तदितरस्य तु सर्वथाऽप्रतीयमानत्वात् । यत्तु चैतन्यं भूतेषूपलभ्यते, तद् भूतेष्वेव कायाऽऽकारपरिणतेष्वभिव्यज्यते, मद्याङ्गेषु समुदितेषु मदशक्तिवत् । तथा न भूतेभ्योऽतिरिक्तं चैतन्यं, कार्यत्वात्, मृदो घटवदिति । ततो भूतानामेव चैतन्याभिव्यक्तिर्जलस्य बुद्बुदाभिव्यक्तिवदिति । अलीकवादिता चैषामात्मनः सत्त्वात्,सत्त्वं च प्रमाणोपपत्तेः । प्रमाणं च सर्वजनप्रतीतं जातिस्मरणाऽऽद्यन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणमनेकधा शास्त्रान्तरप्रसिद्धमिति । न च भूतधर्मश्चैतन्यं, तद्भावेऽपि तस्याभावाद्,विवक्षितभूताभावेऽपि प्रेत[illegible]वस्थायां चैतन्यसद्भावाच्चेति । (पंच य खंधे भणंति केइ त्ति) पञ्च च स्कन्धान् रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराऽऽख्यान्, भणन्ति केचिदिति बौद्धाः । तत्र रूपस्कन्धः पृथिवीधात्वादयो, रूपाऽऽदयश्च । वेदनास्कन्धः पुनः सुखदुःखासुखदुःखेति त्रिविधवेदनास्वभावः । विज्ञानस्कन्धस्तु रूपाऽऽदिविज्ञानलक्षणः । संज्ञास्कन्धश्च संज्ञानिमित्तोद्ग्रहणाऽऽत्मकः प्रत्ययः । संस्कारस्कन्धः पुनः पुण्यापुण्याऽऽदिधर्मसमुदाय इति । न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तः कश्चिदात्माऽऽख्यः पदार्थोऽध्यक्षाऽऽदिभिरुपलभ्यत इति । तथा–(मणं च मणजीविया वयंति त्ति) न केवलं पञ्चैव स्कन्धान्, मनश्च मनस्कारो रूपाऽऽदिज्ञानलक्षणानामुपादानकारणभूतः,यमाश्रित्य परलोकोऽभ्युपगम्यते बौद्धैः; मन एव जीवो येषां ते म-

नोजीवाः,त एव मनोजीविकाः। अलीकवादिता चैषां सर्वथाऽननुगामिनि मनोमात्ररूपे जीवे कल्पितेऽपि परलोकासिद्धेः। तदसिद्धिश्च-अवस्थितस्यैकस्याऽऽत्मनोऽसत्त्वात्, मनोमात्राऽऽत्मनः क्षणान्तरस्यैवोत्पादादकृताभ्यागमाऽऽदिदोषप्रसङ्गात्। कथञ्चिदननुगामिनि तु मनसि जीवत्वाभ्युपगमः सम्यक् पक्ष एवेति। तथा (वाउजीवो त्ति एवमाहंसु त्ति) वात उच्छ्वासाऽऽदिलक्षणो जीव इत्याहुरेके। तद्भावाभावयोर्जीवनमरणव्यपदेशाद् नान्यः परलोकयाय्यात्माऽस्तीति। अलीकवादिता चैषां वायोर्जडत्वेन चैतन्यजीवरूपत्वायोगात्। तथा शरीरं साऽऽदि,उत्पन्नत्वात्,सनिधनं,क्षयदर्शनात्। (इह भवे एगे भव त्ति) इह भवे एव प्रत्यक्षजन्मैव एको भव एकं जन्म,नान्यः परलोकोऽस्ति, प्रमाणाविषयत्वात्, तस्य शरीरस्य, विविधैः प्रकारैः प्रकृष्टो नाशः प्रणाशस्तस्मिन् सति सर्वनाश इति नाऽऽत्मा शुभाशुभरूपं वा कर्मावनष्टमवशिष्यते। एवमेव उक्तप्रकारं 'जंपंति' जल्पन्ति मृषावादिनः। मृषावादिता चैषां जातिस्मरणाऽऽदिना जीवपरलोकसिद्धेः। प्रश्न० २ आश्र० द्वार। दश०। यथावस्थितं हि वस्त्वनेकान्ताऽऽत्मकं, तन्नास्त्येकान्ताऽऽत्मकमेव चास्तीति प्रतिपत्तिमन्तः सर्वेऽपि नास्तिकाः। स्था० ८ ठा०।

एकान्ताभिनिवेशे तु जात्या सर्वेषां तुल्यत्वमेवेत्याह-

स्वरूपतस्तु सर्वेऽपि, स्युर्मिथोऽनिश्रिता नयाः।
मिथ्यात्वमिति को भेदो, नास्तित्वास्तित्वनिर्मितः? ॥१२५॥

स्वरूपतस्त्विति स्पष्टः। (मिथोऽनिश्रिता इति) स्याद्वादमुद्रया परस्पराऽऽकाङ्क्षारहिता इत्यर्थः ॥१२५॥

ननु नास्तिकास्तिकव्यवहारप्रयोजकतयैवैतेषां भेदो भविष्यतीत्यत आह-

धर्म्यंशे नास्तिको ह्येको, बार्हस्पत्यः प्रकीर्तितः।
धर्मांशे नास्तिका ज्ञेयाः, सर्वेऽपि परतीर्थिकाः ॥१२६॥

(धर्म्यंशे इति) धर्मिण आत्मनोंऽशे नास्तित्वभागे, एको बार्हस्पत्यश्चार्वाको नास्तिकः प्रकीर्तितः। धर्माणामात्मनः शरीरप्रमाणत्वनानात्वपरिणामित्वध्रुवत्वसर्वज्ञजातीयत्वाऽऽदीनामंशे नास्तित्वपक्षे सर्वेऽपि नैयायिकवैशेषिकवेदान्तिसाङ्ख्यपातञ्जलजैमिनीयाऽऽदयः परतीर्थिका नास्तिका ज्ञेयाः। यत्र यथा यदस्तित्वं तत्र तथा तदनभ्युपगमस्य, स्वरसतो भगवद्वचनाश्रवणस्यैव वा नास्तिकपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वादिति भावः। चार्वाकाऽऽदिभिन्नदर्शनस्वीकर्तृत्वमेवास्तिकत्वमिति रूढिस्त्वनुकम्पामात्रम्। नयो०। आ० म०। ('वसन्त' शब्दे द्वितीयभागे ११२४ पृष्ठे ललिताङ्गदेववक्तव्यतायां नास्तिकवादिनं सुबुद्धिं प्रति स्वयंबुद्धकृत उपदेशो द्रष्टव्यः)

णत्थिभाव-नास्तिभाव-पुं०। अविद्यमानभावे, " णत्थिभावो त्ति वा अविज्जमाणभावो त्ति वा एगट्ठा।" आ० चू० १ अ०।

णत्थून-नष्ट्वा-अव्य०। नश-क्त्वा।" तूनत्थूनौ ष्टः" ॥ ८।४।३१२॥ इति ष्ट्वा इत्यस्य स्थाने त्थूनाऽऽदेशः। अदर्शनीभूयेत्यर्थे, प्रा० १ पाद।

णदिगाययण-नद्यायतन-न०। नद्याः प्रधानस्थाने, यत्र तीर्थस्थानेषु लोकाः पुण्यार्थं स्नानाऽऽदि कुर्वन्ति। आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ०।

णदी-नदी-स्त्री०। गङ्गासिन्धुमहीकोशीप्रभृतिषु सरित्सु, स० २ अङ्ग। प्रश्न०। गिरिनद्यादिषु, प्रश्न० ११ पद।

णद्दिय-नर्दित-न०। घोषे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ०।

णद्ध-नद्ध-त्रि०। नियन्त्रिते, तं०। आरूढे, दे० ना० ४ वर्ग।

णपुंसग-नपुंसक-पुं०। न०। न स्त्री न पुमान् नपुंसकम्। ग० १ अधि०। स्त्रीपुरुषोभयाभिलाषिणि पुरुषाऽऽकृतौ पुरुषे, ध० २ अधि०। " स्तनाऽऽदिश्मश्रुकेशाऽऽदि-भावाभावसमन्वितम्। नपुंसकं बुधाः प्राहु-र्मोहानलसुदीपितम् ॥ १ ॥ " तं०।

तिविहा णपुंसगा पण्णत्ता। तं जहा-णेरइयणपुंसगा, तिरिक्खजोणियणपुंसगा, मणुस्सणपुंसगा। तिरियणपुंसगा तिविहा पण्णत्ता। तं जहा-जलचरा, थलचरा, खहचरा। मणुयणपुंसगा तिविहा पण्णत्ता। तं जहा-कम्मभूमिया, अकम्मभूमिया, अंतरदीवया। स्था० ३ ठा० १ उ०।

"स्तनकेशवती स्त्री स्या-ल्लोमशः पुरुषः स्मृतः। उभयोरन्तरं यच्च, तदभावे नपुंसकम् ॥ १ ॥" स्था० ३ ठा० १ उ०। नपुंसकः पण्डक इति पर्यायौ। वृ० ४ उ०। आव०। (पण्डकलक्षणानि 'पंडग' शब्दे वक्ष्यन्ते) " अज्झवसायविसेसं तं इह ते हुंति णपुंसगे।" महा० १ अ०।

दश नपुंसकाः-

पंडए १ वाइए २ कीवे, ३ कुंभी ४ ईसालुए ५ त्ति य।
सउणी ६ तक्कम्मसेवी अ ७, पक्खिआपक्खिए इअ ८ ॥८००॥
सोगंधिए अ ९ आसत्ते १०, दस एए नपुंसगा।
संकिलिट्ठ त्ति साहूणं, पव्वावेउं अकप्पिआ ॥८०१॥

प्रव० १०९ द्वार।

पण्डकाऽऽदयो दश नपुंसकाः संक्लिष्टचित्ता इतिकृत्वा साधूनां प्रव्राजयितुमकल्प्याः। संक्लिष्टत्वं चैषां सर्वेषामप्यविशेषतो नगरदाहसमानकामाध्यवसायसंपन्नत्वेन स्त्रीपुरुषसेवामाश्रित्य विज्ञेयम्, उभयसेविनो ह्येते। ध० ३ अधि०।

नपुंसकानामिमे षड् भेदाश्चान्येऽपि-

........................., वद्धिए विप्पितच्चिए।
मंतोसहिउवहतए, इसिसत्ते देवसत्ते य ॥ २३९ ॥

नि० चू० ११ उ०। पं० भा०। पं० चू०। आव०।

नपुंसका द्विविधाः-स्त्रीनेपथ्यकाः, पुरुषनेपथ्यकाश्च।

तद् यथा—

एमेव होंति दुविहा, पुरिसनपुंसा वि सन्नि असन्नी।
मज्झत्थाऽऽभरणपिया, कंदप्पा काहिया चेव ॥४३२॥

पुरुषसागारिकालाभे कदाचिन्नपुंसकसागारिकः प्रतिश्रयो लभ्यते, तत्राप्येवमेव भेदाः कर्तव्याः। तत्र नपुंसका द्विधा-स्त्रीनेपथ्यकाः, पुरुषनेपथ्यकाः। ये पुरुषनेपथ्यकाः ते द्विधा-प्रतिसेविनः, अप्रतिसेविनश्च। ये तु स्त्रीनेपथ्यकास्ते नियमात्प्रतिसेविनः। तत्र पुरुषनपुंसका अपि, न केवलं पुरुषा इत्यपिशब्दार्थः। संज्ञिनः, असंज्ञिनश्चेति द्विविधाः। उभयेऽपि चतुर्विधाः-मध्यस्थाः, आभरणप्रियाः, कान्दर्पिकाः, काथिकाश्च।

एक्केका ते तिविहा, थेरा तह मज्झिमा य तरुणा य।
एवं सन्नी बारस, असन्निणो होंति एक्केके ॥४३३॥

ते मध्यस्थाऽऽदयस्त्रिविधाः-स्थविराः,मध्यस्थाः,तरुणाश्च। एवं संज्ञिनो द्वादश। असंज्ञिनोऽपि द्वादश भवन्ति। वृ० १ उ०। नि० चू०।

'नपुंसको भवति' इति महाभाष्यप्रयोगात् अस्य पुंस्त्वमपि । लिङ्गस्य शब्दगतत्वेऽपि शब्दार्थे तद्व्यवहारस्तु अभेदाऽऽरोपात् । तद् यथा-लिङ्गत्वं च प्राकृतगुणगतावस्थाऽऽत्मको धर्म एव,तद्विशेषश्च पुंनपुंसकत्वाऽऽदिः । तथाहि-सर्वेषां त्रिगुणप्रकृतिकार्यतया शब्दानामपि तथात्वेन गुणगतविशेषाच्छब्देषु विशेष इति कल्प्यते । स च विशेषः शास्त्रे इत्थमभ्यधायि । विकृतसत्त्वाऽऽदीनां तुल्यरूपेणावस्थानाद् नपुंसकत्वं, सत्त्वस्याऽऽधिक्ये पुंस्त्वम्, रजआधिक्ये स्त्रीत्वमिति । एवं च लिङ्गस्य शब्दधर्मत्वेऽपि शब्देन सहार्थाभेदारोपादसति बाधकेऽर्थेऽपि साक्षात् तत्पारतन्त्र्येण वा सर्वत्र तस्य विशेषणत्वम्, शाब्दबोधे शब्दज्ञानस्येष्टत्वाच्च, शब्दस्य नामार्थतावत् तद्गतलिङ्गस्यापि नामार्थतौचित्यात् " न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते । " इति हर्युक्तेः, " शब्देऽपि यदि भेदेन, विवक्षा स्यात्तदा तथा । नो चेत् श्रोत्राऽऽदिभिः सिद्धोऽप्यसावर्थेऽवभासते ॥१॥ " इति हर्युक्तेश्च,शब्दानां तदर्थताऽवगतेः । तथा प्रातिपदिकार्थः । अभेदविवक्षायां तु श्रोत्राऽऽदिभिरेव सिद्धो ज्ञानः सन् अर्थे प्रकारतया भासते इति तदर्थः । युक्तं चैतत्-'पुंलिङ्ग शब्दः' इति व्यवहारात् " स्वमोर्नपुंसकात् " ॥ ७ । १ । २३ ॥ इति पाणिनिसूत्रे शब्दस्यैव नपुंसकत्वव्यपदेशात् । दारानित्यादौ पुंस्त्वान्वयबाधाच्च लिङ्गस्य शब्दधर्मत्वम्, अन्यथैतेषु लिङ्गानन्वयाऽऽपत्तेर्व्यवहारसूत्रनिर्देशासङ्गत्यापत्तेश्च । तथा अर्थभेदाच्छब्दभेदवद् लिङ्गभेदादपि शब्दभेद इति कल्प्यते, प्रागुक्तधर्मविशेषरूपभेदकसद्भावात् । उक्तं च भाष्ये-"एकार्थे शब्दान्यत्वाद् दृष्टं लिङ्गान्यत्वम्" इति एवं च तटाऽऽदिशब्दानामनेकलिङ्गत्वव्यवहारः समानानुपूर्वीकत्वेनैव । वस्तुतस्तेषां भिन्नानामेव लिङ्गत्वमिति दिक् । वाच० । जीवाभिगमाऽऽदिषु नपुंसकस्य धर्मचरणमुक्तं, तत्सम्यक्त्वं देशसंयमं, सर्वसंयमं वा ?। पञ्चदश भेदाः सिद्धानां प्रोक्ताः, तत्र मूलनपुंसकत्वे, कृत्रिमत्वे वा मोक्षः ?, तत् साक्षरं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-जातिनपुंसकस्य सम्यक्त्वं देशविरतिं च यावत्प्रतिपत्तिर्भवति,न तु परतस्तेन न मोक्षाऽऽप्तिः,मोक्षावाप्तिरपि कृत्रिमनपुंसकानामिति । १६६ प्र० । सेन० प्र० ३ उल्ला० ।

णपुंमगपण्णवणी-नपुंसकप्रज्ञापनी-स्त्री० । स्तनाऽऽदिश्मश्रुकेशाऽऽदिभावाभावाऽऽदिसमन्वितमित्यादिलक्षणायां नपुंसकलक्षणाभिधायिन्यां भाषायाम्,शब्दव्यवहारानुगतं नपुंसकलक्षणमाश्रित्यैतल्लक्षणाऽघटनेऽपि उच्यमाना वाक् न मृषेति भाषाशब्दे, प्रज्ञा० ११ पद ।

णपुंमगलिंगसिद्ध-नपुंसकलिङ्गसिद्ध-पुं० । तीर्थकरप्रत्येकबुद्धवर्जिते नपुंसकलिङ्गशरीरनिर्वृत्तिरूपे व्यवस्थिते सति सिद्धे, नं० । पा० ।

णपुंसगवयण-नपुंसकवचन-न० । पीठं देवकुलमित्यादिके नपुंसकलिङ्गे शब्दे, आचा० २ श्रु०१ चू० ४ अ०१ उ० । प्रज्ञा० । अनु० । मध्यकगुणसंदोहे नपुंसकलिङ्गं प्रयुज्यते । जी० १ प्रति० ।

णपुंमगवेय-नपुंसकवेद-पुं० । वेद्यत इति वेदः, नपुंसकस्य वेदो नपुंसकवेदः । प्रज्ञा० २१ पद । स्त्रीपुंसयोरुपर्यभिलाषे, तद्धेतुके वेदनीयकर्मणि, यदुदये नपुंसकस्य स्त्रीपुंसयोरुभयोरभिलाषः पित्तश्लेष्मणोरुदये मज्जिताभिलाषवत्, स महानगरदाहाग्निसमानो नपुंसकवेदः । स्था० ६ ठा० । कर्म० । वृ० । पं० सं० । जी० । स०।

णभ-नभस्-न० । न भाति न दीप्यते इति नभः । प्र० २० श० २ उ० । " खघथधभाम् " ॥ ८ । १ । १८७ ॥ इत्यस्य प्रायिकत्वाद् न हः । प्रा० १ पाद । " स्नमदामशिरोनभः " ॥ ८ । १ । ३२ ॥ इति नभःपर्युदासान्न पुंस्त्वम् । प्रा० १ पाद । आकाशे, औ० । सूत्र० ।

णहप्पईव-नभःप्रदीप-पुं० । नभ आकाशं प्रदीपयति यस्तस्था । सूर्ये, कल्प० ३ क्षण ।

णहसूर-नभःसूर-पुं० । चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णतो राहोः कृष्णपुद्गलभेदे, सू० प्र० २० पाहु० ।

णभसेण-नभःसेन-पुं० । अष्टचत्वारिंशे ऋषभदेवपुत्रे, कल्प० ७ क्षण ।

णमंसण-नमस्यत्-न० । नमसित्यव्ययस्य " नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् ॥३।१।१९॥ इति क्यच् । दर्श० १ अ० । प्रणमने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । नि० । औ० । आव० । संथा० । स्था० ।

णमंसित्तए-नमस्यितुम्-अव्य० । प्रणामपूर्वकप्रशस्तध्वनिभिर्गुणोत्कीर्तनं कर्तुमित्यर्थे, उपा० १ अ० । स्था० । रा० । प्रति० । आ० चू० ।

णमंसित्ता-नमस्यित्वा-अव्य० । प्रणम्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

णमण-नमन-न० । शिरसा प्रणाममात्रे, बृ० १ उ० । नि० । पं० भा० । नमस्कारे, उत्त० १ अ० । विनयकरणे, उत्त० ५ अ० । प्रह्वीकरणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

णमणी-नमनी-स्त्री० । "गिहिसाधूहि णमिज्जति, तम्हा जं होति णमणि त्ति । " पं० भा० । तृतीयगौणानुज्ञायाम्,नं० ।

णमंत-नमत्-त्रि० । आचार्याऽऽदेः प्रणामं कुर्वति, आचा०१ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

णमि-नमि-पुं० । स्वनामख्याते विदेहराजे, उत्त० ।

अत्र निर्युक्तिकृत-

णिक्खेवो उ नमिम्मी,चउव्विहो दुविहो उ होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमओ, नोआगमओ य सो तिविहो ॥९५॥
जाणगसरीर भविए, तव्वइरित्ते य से भवे तिविहो ।
एगभविय बद्धाउय, अभिमुहओ नामगोत्ते य ॥९६॥
नमिआउनामगोयं, वेयंतो भावओ नमी होइ (९७)

निक्षेपो न्यासः, तुः पूरणे, नमौ नमिविषयश्चतुर्विधश्चतुर्भेदो नामाऽऽदिः। तत्र च नामस्थापने सुगमे । द्विविधो भवति द्रव्ये द्रव्यविषयः । तमेवाऽऽह-आगमनोआगमतः। तत्राऽऽगमतो ज्ञातानुपयुक्तो, नोआगमतश्च । स त्रिविधः-(जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते य त्ति)नमिशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धाद् ज्ञशरीरनमिर्भव्यशरीरनमिः, तद्व्यतिरिक्तनमिश्च । स तद्व्यतिरिक्तनमिर्भवेत् त्रिविधः-एकभविको, बद्धाऽऽयुष्को-ऽभिमुखनामगोत्रश्च । एतत्स्वरूपं च प्राग्वत् । तथा नम्यायुर्नामगोत्रं वेदयन् भावतो नमिर्भवति । उत्त० ९ अ० ।

अथ तृतीयप्रत्येकबुद्धनमिचरित्रमुच्यते-

मालवमण्डलमण्डनं सुदर्शनपुरमस्ति ; तत्र मणिरथो

राजा, तस्य भ्राता युगबाहुर्वर्तते स्म। तस्य भार्या सुशीला सुरूपा मदनरेखा वर्तते स्म। सा बाल्यावस्थात आरभ्य सम्यक्त्वमूलद्वादशव्रतानि जग्राह। तस्याः पुत्रश्चन्द्रयशा वर्तते स्म। अन्यदा मणिरथेन मदनरेखा दृष्टा, तद्रूपमोहितो नृप एवं चिन्तयति स्म-इयं मदनरेखा मम कथं वशवर्तिनी भवतु ?। भवतु, प्रथमं तावत् साधारणैः कृत्यैस्तां विश्वासयामि, पश्चात्कामाभिलाषमपि तस्याः समये कारयिष्येऽहम्। दुष्करं कार्यं बुद्ध्या किं न सिद्ध्यति ?। एवं चिन्तयित्वा राजा तस्यै ताम्बूलकुसुमवस्त्रालङ्काराऽऽदिकं प्रेषयति स्म। साऽपि निर्विकारा ज्येष्ठप्रेषितत्वात् सर्वं गृह्णाति स्म। एकदा मणिरथस्तामेकान्ते स्वयमित्युवाच-भद्रे ! त्वं मां भर्तारं विधाय यथेष्टं सुखं भुङ्क्ष्व। सा जगौ-राजन् ! तव लघुबन्धुकलत्रे मय्येतादृशं वचनमयुक्तम्; त्वं निष्कलङ्को भूरिसत्त्वश्च पञ्चमो लोकपालोऽसि, एवं वदंस्त्वं किं न लज्जसे ?, शस्त्राग्निविषयोगैर्मृत्युसाधनं वरं, निजकुलाऽऽचाररहितं जीवितं न श्रेयः। परस्त्रीलम्पटाः स्वजीवितं यशश्च नाशयन्ति। तयैवं प्रतिबोधितोऽपि नृपः कदाग्रहं न मुमोच। एवं च व्यचिन्तयत्-यदाऽस्याः प्रीतिपात्रं मद्बन्धुर्युगबाहुर्व्यापाद्यते, तदेयं मम वशीभविष्यति। अन्यदा मदनरेखा स्वप्ने पूर्णेन्दुं ददर्श। तया युगबाहवे निवेदितः स्वप्नः। युगबाहुना कथितम्-तव सुलक्षणः पुत्रो भविष्यति। तस्या गुरुदेववन्दनार्चनदोहदमुत्पन्नं युगबाहुरपूरयत्। अन्यदा युगबाहुर्वसन्ते मदनरेखया सममुद्याने रन्तुं गतः, तत्रैव रात्रौ कदलीगृहे सुप्तः। परिवारः समन्तात्तद्गृहं वेष्टयित्वा स्थितः। तदाऽवसरं ज्ञात्वा मणिरथनृपस्तत्रैकाकी समायातः। 'अद्य युवराजोऽत्र कथं सुप्तः?' इति यामिकान् प्रत्युवाच। युगबाहुरपि कदलीगृहाद् बहिरागत्य मणिरथपादौ ननाम। नमतोऽस्य स्कन्धदेशे मणिरथः खड्गं चिक्षेप। उवाच चैवम्-धिग् मे प्रमादतः करात् खड्गं पतितं, मणिरथेङ्गिताऽऽकारेण तद्दुष्कर्म ज्ञात्वाऽपि स्वामिन्युपेक्षितः। इतोऽवसरे मणिरथः सद्यस्ततो गतः। पितृघातवार्तां निशम्य चन्द्रयशाः पुत्रो घातचिकित्सकैः परिवृतस्तत्राऽऽयातः। चिकित्सकैरन्त्यावस्थागतं युगबाहुं निरीक्ष्य धर्म एवास्यौषधमिति प्रोक्तम्। मदनरेखा स्वभर्तुरन्त्यावस्थां विलोक्य विधिनाऽऽराधनां कारयामास-हे दयित ! मे विज्ञप्तिं शृणु, धनाङ्गनाऽऽदिषु मोहं त्यज, जैनधर्मं स्वीकुरु, हितं भजस्व, धर्मप्रसादादेव प्रधानं कुटुम्बदेहगेहाऽऽदिकं भवान्तरे प्राप्स्यसि, सर्वाण्यपि पापानि सिद्धसाक्षिकमालोचय, पुण्यान्यनुमोदय, सर्वजीवान् क्षामय, अष्टादश पापस्थानानि व्युत्सृज, अनशनं च कुरु, शुभभावनां भावय, चतुःशरणान्याश्रय, परमेष्ठिमन्त्रस्मरणं कुरु, मनसा सम्यक्त्वमाश्रय। इत्येवं मदनरेखावचनानि श्रद्दधानः पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रं स्मरन् युगबाहुः परलोकमसाधयत्। मदनरेखा मनस्येवं व्यचिन्तयत्-अथ स्वतन्त्रो ज्येष्ठो मम शीलं विध्वंसयिष्यति, ततो निःसरणावसरो मम साम्प्रतमेवास्तीति निश्चित्य मदनरेखा वेगतो निर्गता, सा एकाकिन्येव व्रजन्त्युत्पथमाश्रित्य क्वापि महाटव्यां प्राप्ता, विभावरी विरराम, जातं प्रभातं, देवगुरूणां स्मरणं चकार, मध्याह्ने सा प्राणयात्रां फलैरेवाकरोत्। तस्यामेवाटव्यां रात्रौ सुप्तायास्तस्याः शीलप्रभावेण न किञ्चिद्भयं बभूव। सा सती चार्द्धरात्रौ पुत्रं सुषुवे, पितृनामाङ्कितमुद्रिका तस्याङ्गुलौ क्षिप्त्वा रत्नकम्बलेन वेष्टयित्वा शुचिभूमौ निक्षिप्य मदनरेखा शौचार्थं सरसि गता। तत्र स्नानं कुर्वती जलकारिणा शुण्डादण्डेन गृहीता नभसि उत्क्षिप्ता। नभसोऽपि पतन्तीं च तां कश्चित्तरुणविद्याधरो वैताढ्यं निनाय। सा विद्याधरं प्राऽऽह-बन्धो ! अहमद्य निशि अटव्यां पुत्रमजीजनम्। स तु रत्नकम्बलवेष्टितो मया तत्रैव मुक्तोऽस्ति। अहं तु सरसि स्नानं कुर्वती जलकरिणोत्क्षिप्ता त्वया गृहीताऽत्राऽऽनीता। अथ त्वं ततो मत्पुत्रमिहाऽऽनय, मां वा तत्र नय। अन्यथा बालस्य तत्र मरणाऽऽपद्भविष्यति, त्वं प्रसीद, मां पुत्रेण मेलय, पुत्रभिक्षाप्रदानेन त्वं मे दयां कुरु। सोऽपि युवा विद्याधर एतस्यां सरागं चक्षुः क्षिपन्नेवमुवाच-गन्धारदेशे रत्नवाहं नाम नगरमस्ति। तत्र विद्याधरेन्द्रो मणिचूडो वर्तते। तस्य प्रिया कमलावती मणिप्रभनामानं पुत्रं मामसूत। यौवनावस्थां च गतस्य मे श्रेणिद्वयं राज्यं दत्त्वा मणिचूडः स्वयं प्रव्रज्यां जग्राह। स चारणमुनिश्चतुर्ज्ञानी भूत्वा साम्प्रतमष्टमे द्वीपे जिनबिम्बानि नन्तुं समायातोऽस्ति। अहं तं वन्दितुं गच्छन्नभूवम्। अन्तराले त्वां दृष्ट्वा लात्वा चाहं पुनरत्राऽऽगतः। अतः परं त्वं मे प्रिया भव, तवाऽऽदेशकरोऽहमस्मि, तव पुत्रसंबन्धो मया प्रज्ञप्तिविद्यया ज्ञातः, अश्वापहृतो मिथिलेश्वरः पद्मरथाऽऽख्यस्तत्राऽऽयातः, तं बालं सुरूपं दृष्ट्वा गृहीत्वा च स्वपत्न्यै दत्तवान्, तत्रायं प्रकामं सुखजातोऽस्ति। एवं तद्वचः श्रुत्वा मदनरेखाऽचिन्तयत्-असौ स्वतन्त्रो युवा इतः शीलभङ्गं मे करिष्यति, तावत्कालं मे विलम्बः श्रेयान्, यावदस्य पिता साधुर्न वन्द्यते, तदुपदेशात् सर्वं भविष्यतीति ध्यात्वा मदनरेखाऽवदत्-हे भद्र ! त्वं मां प्रथमं नन्दीश्वरे नय, यथाऽहं तज्जिनबिम्बानि वन्दे, पश्चात् कृतकृत्याऽहं तवेप्सितं करिष्यामि। एवं तयोक्ते सहर्षो मणिप्रभस्तां विमानान्तर्निधाय नन्दीश्वरद्वीपे गतः। तत्र शाश्वतजिनबिम्बानि नत्वा मदनरेखाऽऽत्मानं कृतार्थं मन्यमाना मणिप्रभेण समं चतुर्ज्ञानधरं चारणश्रमणं प्रासादमण्डपोपविष्टं मणिचूडमुनिं प्रणनाम। स मुनिस्तां सतीं मत्वा स्वसुतं च लम्पटं ज्ञात्वा तथा देशनां विस्तारयामास, यथाऽसौ विद्याधरः स्वदारसन्तोषव्रतं जग्राह। मदनरेखां च स्वां भगिनीं मेने। हृष्टमानसा सती स्वपुत्रस्य कुशलोदन्तं पप्रच्छ। मुनिराह-महानुभावे ! शोकं मुक्त्वा सर्वं सुतवृत्तान्तं शृणु-जम्बूद्वीपे पुष्कलावतीविजयोऽस्ति, तत्र मणितोरणपुरी, तस्यां मितयशा राजा। स च चक्रवर्त्यभूत्, तस्य पुष्पवती कान्ता, तयोः पुष्पसिंहरत्नसिंहाभिधानौ पुत्रावभूतां, तौ सदयौ धर्मकर्मरतौ विनीतौ स्तः। अन्यदा तौ राज्ये स्थापयित्वा चक्रवर्ती तपस्यां जग्राह। तौ द्वावपि भ्रातरौ चतुरशीतिलक्षपूर्वं यावद्राज्यं प्रपालयतः स्म। एकदा च तौ दीक्षां गृहीतवन्तौ, षोडश पूर्वलक्षाणि यावद्दीक्षां पालयतः स्म, अन्ते समाधिना मृत्वाऽच्युतकल्पे सामानिकौ देवौ जातौ। ततश्च्युत्वा धातकीखण्डभरते हरिषेणराज्ञः समुद्रदत्ताजायासुतौ सागरदेवदत्ताभिधानौ धार्मिकौ जातौ। अन्यदा तौ द्वादशतीर्थङ्करस्य दृढसुमतस्य बहुव्यतिक्रान्ते तीर्थे सुगुरुसमीपे दीक्षामगृह्णीताम्। तृतीये दिवसे तौ द्वावपि विद्युत्पातेन मृत्वा शुक्रदेवलोके महर्द्धिकौ देवावभूताम्। अन्येद्युस्तौ देवावत्रैव भरते श्रीनेमिजिनेश्वरमिति पृच्छन्तौ-भगवन् ! आवयोरपि कियान् संसारस्तिष्ठति ?। स भगवान् प्राऽऽह-युवयोर्मध्ये एकोऽत्रैव भरते मिथिलापुर्यां विजयसेननृपतेः पद्मरथाऽऽख्यः पुत्रो भावी, एकस्तु सुदर्शनपुरे युगबाहुपुत्रो मदनरेखाकुक्षिसंभूतो नमिनामा भविष्यति। तस्मिन् भवे द्वावपि युवां शिवपदं प्राप्स्यथ। एवं नेमिजिनवच-

वं निशम्य निजमायुः पूर्णं विभाव्यैको मिथिलापुर्यां पद्मरथो नृपोऽभवत्। तेन पद्मरथेनाश्वापहृतेन तस्मिन् वने समायातेन हे महानुभावे ! स पुत्रो दृष्टो, गृहीतश्च, मिथिलायां नीत्वा स्वपत्न्यै च समर्पितः। तज्जन्ममहोत्सवो महान् विहितः॥" अत्रान्तरे तत्र नन्दीश्वरप्रासादेऽन्तरिक्षादेकं विमानमवततार। तन्मध्यादेको दिव्यविभूषाधरः सुरो निर्गत्य मदनरेखां त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य प्रथमं प्रणनाम, पश्चात् मुनिं प्रणम्याग्रे निविष्टः सुरः। मणिरथविद्याधरेन्द्रेण विनयविपर्यासकारणं पृष्टम्। स सुरः प्राऽऽह-अहं पूर्वभवे युगबाहुर्मणिरथनाम्ना वृद्धभ्रात्रा निहतः, अनया ममाऽऽराधनानशनाऽऽदिकृत्यानि कारितानि, तत्प्रभावादहमीदृशो देवो ब्रह्मदेवलोके जातः। ततो धर्माऽऽचार्यत्वादहमिमां प्रथमं प्रणतः। एवं खेचरं प्रतिबोध्य स सुरो मदनरेखां जगौ-हे साध्वि ! त्वं समादिश, किं ते प्रियं कुर्वे ?। सा प्राऽऽह-मम मुक्तिरेव प्रिया, नान्यत्किमपि, तथाऽपि सुताऽऽननं द्रष्टुमुत्सुकां मां त्वमितो मिथिलां पुरीं नय, तत्राहं निर्वृताऽऽत्मना परलोकहितं करिष्यामि। इत्युक्तवतीं तां देवो मिथिलां पुरीं निनाय। तत्र प्रथमं मदनरेखा जिनचैत्यानि नत्वा श्रमणीनामुपाश्रये जगाम। वन्दित्वा पुरो निविष्टां तां प्रवर्तिन्येवं प्रतिबोधयामास-मूढचेतसो जना धर्मोज्झिता भवकूपनिपतन्तोऽपि मोहवशेन पुत्राऽऽदिषु स्नेहं कुर्वन्ति। संसारे हि मातृपितृबन्धुभगिनीदयितावधूप्रियतमपुत्राऽऽदीनामनन्तशः संबन्धो जातः। लक्ष्मीकुटुम्बदेहाऽऽदिकं सर्वं विनश्वरम्, धर्म एवैकः शाश्वतः। इत्यादिसाध्वीवाक्यैः प्रतिबुद्धा सा सती देवेन पुत्रदर्शनार्थं प्रार्थितेवमाह-भववृद्धिकरेण प्रेमपूरेण ममालम्, अतः परं तु साध्वीचरणा एव शरणमित्युक्त्वा साध्वीसमीपे सा प्रव्रज्यां जग्राह। देवस्तां वन्दित्वा स्वस्थाने जगाम। पद्मरथस्य गृहे यथा यथाऽयं बालो वर्द्धते, तथा तथा तस्यान्ये राजानोऽनमन्। ततः पद्मरथराजा तस्य बालस्य नमिरिति नाम कृतवान्। वृद्धिं व्रजतस्तस्य बालस्य कलाऽऽचार्यसेवनात् सर्वाः कलाः समायाताः, सकललोकलोचनहरं यौवनमप्यस्याऽऽयातम्। पित्रा चाष्टाधिकसहस्रराजकन्यानां पाणिग्रहणं कारितम्। पद्मरथोऽस्मै राज्यं दत्त्वा स्वयं तपस्यां गृहीत्वा केवलज्ञानं प्राप्य मोक्षं गतवान्। नमिराजा प्राज्यं राज्यं पालयामास, न्यायेन यशःपात्रमभूत्॥ अथ पूर्वं युगबाहुं हत्वा मणिरथो नृपोऽसिद्धमनोरथः स्वधाम प्राप्तस्तत्र तदानीमेव प्रचण्डसर्पेण दष्टस्तुर्यं नरकं जगाम। द्वयोर्भ्रात्रोरौर्ध्वदेहिकीं क्रियां कृत्वा मन्त्रिभिर्युगबाहुपुत्रश्चन्द्रयशा राज्येऽभिषिक्तः। स न्यायेन राज्यं पालयति स्म। अन्यदा नमिराज्ञो धवलकान्तिर्गजो मदोन्मत्त आलानस्तम्भमुन्मूल्यापरान् हस्तिनोऽश्वान्मनुष्यानपि त्रासयन् चन्द्रयशोनृपनगरसीम्नि समायातः। चन्द्रयशा नृपस्तमागतं श्रुत्वा समन्तात्सुभटैर्वेष्टयित्वा स्वयं वशीकृत्य च जग्राह। नमिराजाऽप्यभिज्ञैस्तां वार्तां श्रुत्वा चन्द्रयशोऽन्तिके दूतं प्रेषितवान्। दूतोऽपि तत्र गत्वा धवलकरिणं मार्गयामास। कुपितश्चन्द्रयशा दूतं गले धृत्वा नगराद् बहिर्निष्कासयामास। दूतोऽपि नमेः पुरो गत्वा स्वाऽपमानं जगौ। कुपितो नमिराजाऽतुलसैन्यैर्वेष्टितोऽविच्छिन्नप्रयाणैः सुदर्शनपुरसमीपे समायातः। चन्द्रयशा नृपतिः स्वसैन्यवेष्टितो यावदभिमुखं युद्धार्थं चलितः, तावदपशकुनैर्वारितो मन्त्रिभिरेवमूचे-स्वामिन् ! कोट्टं सज्जीकृत्य तत्र साम्प्रतं पुरान्तरेऽवस्थातुं युक्तम्, कालविलम्बेनैतत्कार्यं कर्तव्यम्। ततश्चन्द्रयशाः कोट्टं शतघ्नीभिर्जलाऽऽपूरपूरैश्च सज्जीकृतवान्, नमिस्तं कोट्टं स्वसैन्यैरवेष्टयत्। उभयोः सैनिकैः सहोत्थितानां सैनिकानां महान् संग्रामः प्रवृत्ते स्म। नमिः कोट्टभङ्गे विविधानुपायान् विदधाति स्म। चन्द्रयशा नृपस्तु कोट्टरक्षणे विविधानुपायान् करोति स्म। अस्मिन्नवसरे तयोर्माता साध्वी मदनरेखा प्रवर्तिनीमनुज्ञाप्य तत्संग्रामवारणार्थं प्रथमं नमिराजसैन्ये समायाता। नमिरपि तां साध्वीं ननाम। आसने चोपविश्य नमेः पुरः सा साध्वी एवं वाचं विस्तारयामास-अनन्तदुःखैकभाजनेऽस्मिन् संसारे नृजन्म प्राप्य पापैस्त्वं किं मुह्यसे ?, राजन् ! तव बन्धुना चन्द्रयशसा स्वयमागतो हस्ती चेद् गृहीतः, तर्हि तेन समं किं युद्धं करोषि ?, क्रुद्धस्त्वं न किञ्चिद्वेत्सि। यदुक्तम्-" लोभी पश्येद् धनप्राप्तिं, कामिनीं कामुकस्तथा। भ्रमं पश्येद्यथोन्मत्तो, न किञ्चन क्रुधाऽऽकुलः॥ १॥" इदं साध्वीवचो निशम्य नमिश्चिन्तयामास-'अयं चन्द्रयशा युगबाहुभवोऽस्ति, अहं तु पद्मरथपुत्रोऽस्मि, इयं साध्वी सत्यवादिनी सती कथं मम चानेन समं भ्रातृत्वं वदति' इति विमृश्य साध्वीं प्रत्येवं भाषते स्म-हे पूज्ये ! असौ क ?, अहं क ?, भिन्नकुलसंभवयोर्नृपतयोः कथं भ्रातृत्वं वदसि ?। इति नमिनोक्ता साध्वी प्राऽऽह-वत्स ! यौवनैश्वर्यजं मदं मुक्त्वा यदि शृणोषि, तदा सकलं स्वरूपं कथ्यते। अथ श्रोतुमुत्सुकाय नमिनृपाय सर्वं पूर्वस्वरूपं साध्वी जगाद। पुनरेवं बभाषे-सुदर्शनपुरस्वामी युगबाहुस्तवास्य च पिता, अहं मदनरेखा तव मातेति। पद्मरथस्तु तव पालकः पितेति। अनेन भ्रात्रा समं मा विरोधं कुरु, युष्मस्य हितमिति साध्वीप्रोक्तं युगबाहुनामाङ्कितकरमुद्रादर्शनतः सर्वं नमिः सत्यं विवेद। तां साध्वीं प्रकामं विशेषोल्लासेन स्वमातरं मत्वा विशेषाञ्जलिभिः प्रणनाम। उवाच च-मातः ! यत् त्वया प्रोक्तं, तत् सर्वं तथ्यमेव। नात्र काचिद्विचारणाऽस्ति, ममेयं करमुद्रा युगबाहुसुतत्वं ज्ञापयति। अयं चन्द्रयशा मे ज्येष्ठभ्राता भवत्येव, परं लोकः कथं प्रत्याय्यते ?। लघुभ्रातृवात्सल्यतो ज्येष्ठश्चेत् संमुखमायाति, तदाऽहमुचितं विनयं कुर्वन् शोभामुद्वहामि। एवं नमिनृपोक्तमाकर्ण्य सा साध्वी दुर्गद्वारवर्त्मना प्रविश्य राजसौधे जगाम। चन्द्रयशा नृपस्तु तामकस्मादागतामुपलक्ष्य स्वमातरं साध्वीं विशेषादभ्युत्थाय नतवान्, उचिताऽऽसनोपविष्टां तां साध्वीं वृत्तान्तं पृष्टवान्। साध्वी सकलं वृत्तान्तं नमिराजमिलनं यावत् कथयामास। चन्द्रयशा नृपस्तं नमिं निजलघुभ्रातरं मत्वा सभालोकान् प्रत्येवमुवाच-" सुलभाः सन्ति सर्वेषां, पुत्रपत्न्यादयः शुभाः। दुर्लभः सोदरो बन्धु-र्लभ्यते सुकृतैर्यदि॥१॥" इत्युक्त्वा चन्द्रयशा नृपोऽपि पुराद् बहिर्निर्गतः। नमिरपि तं ज्येष्ठभ्रातरमभ्यागच्छन्तं दृष्ट्वा सिंहाऽऽसनादुत्थाय भूतलमिलच्छिकुरः प्रणनाम। चन्द्रयशा नृपोऽपि स्वकराभ्यां भूतलादुत्थाप्य भृशमालिलिङ्ग। तुल्याऽऽकारौ तुल्यवर्णौ तावेकमातृपितृसंभूतत्वेन तदा परमप्रीतिपदं जातौ, लोकैः सहोदरौ ज्ञातौ। चन्द्रयशा नृपस्तु तदानीमेव नमिबान्धवे सुदर्शनपुरराज्यं ददौ, स्वयं संग्रामाङ्गणमध्ये दीक्षां ललौ। क्रमेण राज्यद्वयं पालयन्नमिः क्षितौ प्रचण्डाऽऽज्ञो जज्ञे। अन्यदा नमेर्वपुषि दाहज्वरो जातः। पूर्वकर्मदोषेण तस्य षाण्मासिकी पीडा महती उत्पन्ना, तथा निद्रामपि न लेभे, अन्तःपुरीनूपुरशब्दा अपि कर्णशूलायाऽऽसन्।

नमिराज्ञो दाघज्वरशान्तये स्वयं चन्दनं घर्षयन्तीनामन्तःपुरीणां वलयशब्दाः रोमसु भग्नप्राया बभूवुः। तत्र ताभिर्वलयानि समस्तान्युत्तारितानि, केवलमेकैकं मङ्गलाय रक्षितम्। तदानीं नूपुरकङ्कणशब्दाऽश्रवणेन नमिना कश्चिन्निकटस्थः सेवकः पृष्टः-कथमधुना कङ्कणशब्दा न श्रूयन्ते ?। तेनोक्तम्-स्वामिन् ! भवत्पीडाकरत्वेनान्तःपुरीभिः कङ्कणान्युत्तारितानि,केवलमेकैकं मङ्गलाय रक्षितमिति,तेन नैकैककङ्कणशब्दाः श्रूयन्ते, परस्परघर्षाभावात्। एवं तद्वचः श्रुत्वा प्रतिबुद्धो नमिरेवं चिन्तयामास-यथा संयोगतः शुभा अशुभाः शब्दा जायन्ते, तथा रागाऽऽदिका दोषाः संयोगत एव भवन्ति। यद्यस्माद्रोगादहं मुक्तः स्यां, तदा सर्वसङ्गं विमुच्य दीक्षां ग्रहीष्यामि। तस्येति ध्यायमानस्य रात्रौ सुखेन निद्रा समायाता। निद्रायां स्वप्नमेवं ददर्श-गजमारुह्याहं मन्दरगिरिमारूढः। प्रातः प्रतिबुद्धो नीरोगो जातः। स एवं व्यचिन्तयत्-अमुं पर्वतं क्वाप्यहमपश्यम्, एवमूहाऽपोहं कुर्वतस्तस्य जातिस्मरणमुत्पन्नम्। एवं च पूर्वभवमपश्यत्-यदाऽहं पूर्वभवे शुक्रकल्पे सुरोऽभवम्, तदाऽर्हज्जन्माभिषेककरणायाहमस्मिन् मेरावगमम्। अथ कङ्कणदृष्टान्तेनैकत्वं सुखकारीति चिन्तयन् प्रत्येकबुद्धत्वं प्राप्य प्रव्रजितो नमिः। तदा राज्यमन्तःपुरमेकपदे त्यजन्तं नमिं ब्राह्मणरूपधरः शक्रः समागत्य परीक्षितवान्, प्रणतवांश्च। शक्रपरीक्षासमये नमिराजस्य शक्रप्रश्ननमिराजर्ष्युत्तररूपमुत्तराध्ययनान्तर्गतं नवममध्ययनं संजातम्। उत्त० ९ अ०। इह हि करकण्डूद्विमुखनमिनग्गतिराजानश्चत्वारोऽपि प्रत्येकबुद्धाः संयमिनो विहरन्ति स्म। एकदा ते क्षोणीप्रतिष्ठनगरं प्राप्ताः, तत्र चतुर्मुखदेवकुले क्रमतः पूर्वाऽऽदिषु चतुर्दिग्द्वारेषु युगपत्प्रविष्टाः, तेषामादरकरणार्थं चतुर्मुखो यक्षः समन्तात् संमुखोऽभवत्। तदानीं करकण्डुः स्वदेहकण्डूरोगोपशमनाय कर्णधृतां शलाकां गोपयन् द्विमुखेन संयमिनोक्तः-पुरमन्तःपुरं राज्यं देशं च विमुच्य पुनस्त्वं किं सञ्चयं कुरुषे ?। करकण्डूमुनिर्यावत् तं प्रति वक्ति,तावन्नग्गतिनमिराजर्षिणा द्विमुखं प्रत्येवमुक्तम्-सर्वाणि राजकार्याणि मुक्त्वा पुनस्त्वया किमिति शिक्षारूपं कार्यं वक्तुमारब्धम्?। यावद् द्विमुखो मुनिर्नमिराजर्षिं प्रति प्रत्युत्तरं दत्ते, तावन्नग्गतिराजर्षिरेवमुवाच-यदा राज्यं परित्यज्य भवान् मुक्तावुत्सहते, तदाऽन्यानिकमप्याख्यातुं नार्हति। अथ करकण्डूमुनिस्तान् त्रीन् प्रत्येवमुवाच-साधुषु साधुर्हितं वदन् न दूषणाय भवति, कण्डूपशमनाय कर्णधृतशलाकासञ्चयोऽयुक्त एव, परमसहृता मयेयं धृताऽस्तीति। एवं चत्वारोऽपि परस्परं संबुद्धाः सत्त्वादिनः सर्वथा संयमाऽऽराधकाः केवलज्ञानमासाद्य शिवं जग्मुः। उत्त० ९ अ०। (करकण्ड्वादीनामुत्पत्तिकथा, प्रव्रज्याकारणं च करकण्ड्वादीनामवसरे तृ०भागे ३५७ पृष्ठे, चतुर्थभागे १७७५ पृष्ठे प्रतिपादितम्, द्विमुखस्य 'दुमुह' शब्दे वक्ष्यते)

तथा च नमिचरित्रं क्रमादुपन्यस्यते-

मिहिलावइस्स णमिणो,
छम्मासाऽऽतंकवेज्जपडिसेहो ।
कत्तिऍ सुविणगदंसण,
अहिमंदर णंदिघोसे य ॥ १ ॥
दोण्णि वि नमी विदेहा,
रज्जाइं पजहिऊण पव्वइया ।
एगो नमि तित्थयरो,
एगो पत्तेयबुद्धो उ ॥ २ ॥
जो से नमितित्थयरो,
सो साहस्सीयपरिवुडो भगवं ।
गंधमवहाय पव्वइऍ,
पुत्तं रज्जे ठवेऊणं ॥ ३ ॥
बितिओ वि नमी राया,
रज्जं चइऊण गुणगणसमग्गं ।
गंधमवहाय पव्वऍ,
अहिगारो एत्थ बिइएणं ॥ ४ ॥
पुप्फुत्तराओ चवणं,
पव्वज्जा होइ एगसमएणं ।
पत्तेयबुद्धकेवलि-
सिद्धिगया एगसमएणं ॥ ५ ॥
सेयं सुजायं सुविभत्तसिंगं,
जो पासिया वसहं गोट्ठमज्झे ।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिया णं,
कलिंगराया वि समिक्ख धम्मं ॥ ६ ॥
वुड्ढिं च हाणिं वसभस्स दट्ठुं,
पूरावरेगं च महाणईणं ।
अहो अणिच्चं अधुवं च णच्चा,
पंचालराया वि समिक्ख धम्मं ॥ ७ ॥
जा इंदकेउं सुअलंकियं तु,
दट्ठुं पडंतं वि विलुप्पमाणं ।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिया णं,
पंचालराया वि समिक्ख धम्मं ॥ ८ ॥
बहुयाण सद्दयं सोच्चा,
एगस्स य असद्दयं ।
वलयाणं नमी राया,
निक्खंतो मिहिलाहिवो ॥ ९ ॥
जो चूयरुक्खं तु मणाभिरामं,
समंजरीपल्लवपुप्फचित्तं ।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहियाणं,
गंधाररायावि समिक्ख धम्मं ॥ १० ॥
जहा रज्जं च रट्ठं च, पुरं अंतेउरं तहा ।
सव्वमेयं परिच्चज्ज, संचयं किं करेसिमं ? ॥ ११ ॥
जया ते पेइए रज्जे, कया किच्चकरा बहू ।
तेसिं किच्चं परिच्चज्ज, अज्ज किच्चकरो भवं ? ॥ १२ ॥
जया सव्वं परिच्चज्ज, मोक्खाय घडसी भवं ।

परं गरिहसी कीस, अत्तनिस्सेसकारए ? ॥ १३ ॥

मोक्खमग्गं पवन्नेसु, साहूसुं बंभयारिसु ।

अहियत्थं निवारिंतो, न दोसं वत्तुमरिहसि ॥ १४ ॥

एतदर्थस्तु प्रायः संप्रदायादवसेय इति तावत् स एवोच्यते। अक्षरार्थस्तु स्पष्ट एव। नवरं मिथिला नाम नगरी, तस्याः पतिः स्वामी मिथिलापतिः, तस्य, अनेनान्येषामपि नमीनां संभवात्तद्व्यवच्छेदार्थमाह-नमेर्नमिनाम्नः,(छम्मासा ऽऽयंकवेज्जपडिसेहा त्ति) षण्मासानामातङ्को दाहज्वराऽऽत्मको रोगः षण्मासाऽऽतङ्कः, तत्र वैद्यैर्भिषग्भिः प्रतिषेधो निराकरणम्-अचिकित्स्योऽयमित्यभिधानरूपः, षण्मासाऽऽतङ्कवैद्यप्रतिषेधः। (कत्तिए त्ति) कार्तिकमासे (सुविणगदंसणमिति) स्वप्न एव स्वप्नकः, तस्मिन् दर्शनं स्वप्नकदर्शनम्, अभूदिति शेषः। कयोः ? (अहिमंदर त्ति) अहिमन्दरयोर्नागराजाचलराजयोः, (नंदिघोसे य त्ति) द्वादशतूर्यसंघातो नन्दी, तस्या घोषः, स च स्वप्नमवलोकयतो जातः, तेन चासौ प्रतिबोधित इत्युपस्कारः॥१॥ इह च मिथिलापतिर्नमिरित्युक्तौ मा भूत्तथाविधस्य तीर्थकरस्यापि नमेः संभवाद् व्यामोह इति द्वौ नमी वैदेहावित्याद्युक्तम् ॥२॥ तथा [पुप्फुत्तर त्ति] पुष्पोत्तरविमानात् च्यवनं भ्रंसनम्, एकसमयेनेति योज्यते । प्रव्रज्या च निष्क्रमणं भवत्येकसमयेनैव । तथा प्रत्येकमिति-एकैकं हेतुमाश्रित्य बुद्धा अवगततत्त्वाः प्रत्येकबुद्धाः, केवलिन उत्पन्नकेवलज्ञानाः, सिद्धिंगता मुक्तिपदप्राप्ताः, त्रयाणामपि कर्मधारयः। एकसमयेनैव इति; चतुर्णामपि समसमयसंभवात् ॥५॥ तथा [सेयं सुजायं ति] श्वेतं वर्णतः, सुजातं प्रथमत एवाहीनसमस्ताङ्गोपाङ्गतया, सुष्ठु शोभने, विभक्ते विभागेनावस्थिते, शृङ्गे विषाणे यस्य स तथा तम्, ऋद्धिं वृद्धोपचयाऽऽत्मिकाम्, मार्द्दिं तस्यैव बलापचयात्त्यंकाऽऽदिपरिभवरूपां, (समुपेहिया णं ति) सम्यगुत्प्रेक्ष्येति पर्यालोच्य; पाठान्तरतः समुत्प्रेक्ष्यमाणो वा, कालङ्गराजोऽपीत्यत्रापिशब्दः उत्तरापेक्षया समुच्चये ॥६॥ तथा (पूरावरेयं ति) पूरः पूर्णता, अवरेको रिक्तता, अनयोः समाहारः पूरावरेकम् ॥७॥ तथेन्द्रकेतुमिन्द्रध्वजं, प्रविलुप्यमानम् इति, जनैः स्वस्वबलात्तदङ्गाऽऽदिग्रहणत इतश्चेतश्च विक्षिप्यमाणम् ॥८॥ तथा (समंजरीपल्लवपुप्फचित्तं ति) सह मञ्जरीभिः प्रतीताभिः, पल्लवैश्च किसलयैर्यानि पुष्पाणि कुसुमानि, तैश्चित्रः कर्बुरः समञ्जरीपल्लवपुष्पचित्रः, तम्; यद्वा-सह मञ्जरीपल्लवपुष्पैर्वर्तते यः स तथा, चित्र आश्चर्योत्पादकश्च, द्वयोर्विशेषणसमासः। [समिक्ख त्ति] आर्षत्वात्समीक्ष्यते पर्यालोचयत्यनेकार्थत्वादङ्गीकुरुते वा, वर्तमाननिर्देशः प्राग्वत् । यद्वा-(समिक्ख त्ति) समीक्ष्य समीक्षितवान्, धर्मं यतिधर्मम् ॥१०॥ यदा ते त्वया पैतृके पितुरागते राज्ये कृता विहिताः, कृत्यानि कुर्वन्त्यनुतिष्ठन्ति कृत्यकरा नियोगिनः, बहवः प्रभूताः, तदैव कृत्यकरत्वं स्वयं तथा तव कर्तुमुचितमासीदित्युपस्कारः। तेषामिति कृत्यकराणां कृत्यं परापराधपरिज्ञानाऽऽदिकर्त्तव्यं परित्यज्य प्रमादाङ्गीकारादपहाय, अद्य कृत्यकरो नियुक्तकोऽन्यदोषचिन्तापरः त्वं, किमिति जात इति शेषः ? ॥१२॥ तथा [मोक्खाय घडसीति] प्राकृतत्वाद् मोक्षाय मोक्षार्थं, घटते चेष्टते, तथा (अत्तनिस्सेसकारए त्ति) आत्मनो निःशेषमिति शेषाभावं, प्रक्रमात् कर्मणः, करोति विधत्ते इत्यात्मनिःशेषकारकः। यद्वा-(निस्सेस त्ति) निःश्रेयसो मोक्षः, तत्कारकः ॥१३॥ मोक्षमार्गं मुक्त्युपायं प्रतिपन्नेष्वङ्गीकृतवत्सु साधुषु ब्रह्मचारिषु (अहियत्थं ति) अहितार्थं, निवारयन्निषेधयन्, न दोषं परापवादलक्षणम्, अस्येति शेषः, वक्तुमभिधातुमर्हसि। यथा हि प्रधानहितान्निवारयन् कथमर्हतीत्याह, एवं नमिरपि अद्य कृत्यकरो भवान्निति कृत्यकरत्वलक्षणादहितान्निवारयति, तथा कुर्वन्नोऽपि संयतं किं करोषीति सप्रयत एवाहितान्निषेधतीति नायं परापवाद इति वक्तुमुचितम्। यद्वा-(अहियत्थं निवारंतो त्ति) सुब्व्यत्ययादहितार्थान्निवारयन्तं (न दोसमिति) मनुष्योपात्तं दोषमिति न दोषवन्तं वक्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

संप्रति सूत्राऽऽलापकनिष्पन्नस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवतीति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम्। तच्चेदम्-

चइऊण देवलोगा, उववन्नो माणुसम्मि लोगम्मि ।

उवसंतमोहणिज्जो, सरई पोराणियं जाई ॥ १ ॥

च्युत्वा देवलोकात् प्रतीतात्, उत्पन्नो जातो, मानुषे मानुषसंबन्धिनि, लोके प्राणिगणे, उपशान्तमनुदयप्राप्तं, मोहनीयं दर्शनमोहनीयं यस्यासावुपशान्तमोहनीयः, स्मरति चिन्तयति, स्मेति शेषः। वर्तमाननिर्देशो वा प्राग्वत्। कामित्याह-(पोराणयं ति) पुराणामेव पौराणिकीं, विनयाऽऽदित्वात् ठक्। चिरन्तनीमित्यर्थः। जातिमुत्पत्तिं, देवलोकाऽऽदाविति प्रक्रमः। तत्कृतसकलबोधोपलक्षणं चेह जातिरिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

ततः किमित्याह-

जाइं सरित्तु भयवं, सहसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे ।

पुत्तं ठवेत्तु रज्जे, अभिणिक्खमई नमी राया ॥ २ ॥

जातिमुक्तरूपां स्मृत्वा, भगशब्दो यद्यपि धैर्याऽऽदिष्वनेकार्थेषु वर्तते । यदुक्तम्-" धैर्यसौभाग्यमाहात्म्य-यशोऽर्कश्रुतिधीश्रियः। तपोऽर्थोपस्थपुण्येश-प्रयत्नतनवो भगाः ॥१॥" इति । तथाऽपीह प्रस्तावाद् बुद्धिवचन एव गृह्यते, ततो भगो बुद्धिर्यस्यास्तीति भगवान्, (सह त्ति) स्वयमात्मनैव संबुद्धः सम्यगवगततत्त्वः सहसंबुद्धः, नान्यप्रतिबोधित इत्यर्थः। अथवा-(सहसं ति) आर्षत्वात् सह जातिस्मृत्यनन्तरं झगित्येव, बुद्धः। क ?, इत्याह-अनुत्तरे प्रधाने, धर्मे चारित्रधर्मे, पुत्रं सुतं, स्थापयित्वा निवेश्य, क ?, राज्ये, अभिनिष्क्रामति धर्माभिमुख्येन गृहस्थपर्यायान्निर्गच्छति, स्मेतीहापि शेषः। ततश्च प्रव्रजितवानित्यर्थः। प्राग्वत्तिव्यत्ययेन वा व्याख्येयम्। नमिर्नमिनामा, राजा पृथ्वीपतिरिति सूत्रार्थः ॥२॥

स्यादेतत्, कुत्रावस्थितः कीदृशान् वा भोगान् भुक्त्वा संबुद्धः किं वाऽभिनिष्क्रामन् करोतीत्याह-

सो देवलोगसरिसे, अंतेउरवरगओ वरे भोए ।

भुंजित्तु नमी राया, बुद्धो भोगे परिच्चयइ ॥ ३ ॥

स इत्यनन्तरमुद्दिष्टः, (देवलोगसरिस त्ति) देवलोकभोगैः सदृशा देवलोकसदृशाः, मयूरव्यंसकाऽऽदित्वान्मध्यमपदलोपी समासः। (अंतेउरवरगओ त्ति) वरं प्रधानं, तच्च तदन्तःपुरं च वरान्तःपुरं, तत्र गतः स्थितो वरान्तःपुरगतः। प्राकृतत्वाच्च वरशब्दस्य परनिपातः। वरान्तःपुरं हि रागहेतुरिति तद्गतस्यास्य भोगपरित्यागाभिधानेन जीववीर्योल्लासातिरेक उक्तः। तत्रापि कदाचिद्वराः शब्दाऽऽदयो न स्युः, तत्संभवेऽपि वा सुबन्धुरिव कुतश्चिन्निमित्तान्न भुञ्जीताऽपीत्याह-वरान् प्रधानान् भोगान् मनोज्ञशब्दाऽऽदीन्, भुक्त्वा आसेव्य, नमिनामा राजा,

बुद्धो विज्ञाततत्त्वो, भोगानुत्कटरूपान्, परित्यजति, त्यजतीति शेषः। इह पुनर्भोगग्रहणमतिविस्मरणशीला अप्यनुस्मारणीया एवेति ख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

किं भोगानेव त्यक्त्वाऽभिनिष्क्रान्तवान्, उतान्यदपि ?, इत्याह–

मिहिलं सपुरजणवयं, बलमवरोहं च परियणं सव्वं।
चिच्चा अभिनिक्खंतो, एगंतमहिट्ठिओ भयवं ॥ ४ ॥

मिथिलां मिथिलानाम्नीं नगरीं, सह पुरैरन्यनगरैर्जनपदेन च वर्तते या सा तथोक्ता, तां, न त्वेककामेव, बलं हस्त्यश्वाऽऽदिचतुरङ्गम्, अवरोधं चान्तःपुरं, परिजनं परिवर्गं, सर्वं निरवशेषं, न तु तथाविधप्रतिबन्धाभावप्यदं किञ्चिदेव, त्यक्त्वाऽपहाय, अभिनिष्क्रान्तः प्रव्रजितः, (एगंत त्ति) एकोऽद्वितीयः कर्मणामन्तो यस्मिन्निति मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात्समासः। तत एकान्तो मोक्षः, तमधिष्ठित इवाऽऽश्रितवानिवाधिष्ठितः, तदुपायसम्यग्दर्शनाऽऽद्यासेवनाद्, अधिष्ठित एव वा, इहैव जीवन्मुक्त्यवाप्तेः। यद्वा-एकान्तं द्रव्यतो विजनमुद्यानाऽऽदि। भावतश्च "एकोऽहं न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित्। तं तं पश्यामि यस्याहं, नासौ दृश्योऽस्ति यो मम ॥१॥" इति भावनात् एक एवाहमित्यन्तो निश्चय एकान्तः, प्राग्वत्समासः। तमधिष्ठितो भगवानिति धैर्यवान्, श्रुतवान् वेति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

तत्रैवमभिनिष्क्रामति यदभूत्तदाह; यदि वा यदुक्तं 'सर्वं परित्यज्याभिनिष्क्रान्तः', इति, तत्र कीदृक् तत्त्यज्यमानमासीत् ?, इत्याह–

कोलाहलगसंभूयं, आसी मिहिलाएँ पव्वयंतम्मि।
तइया रायरिसिम्मी, नमिम्मि अभिणिक्खमंतम्मि ॥ ५ ॥

कोलाहलो विलपिताऽऽक्रन्दितकः, कोलाहल एव कोलाहलकः, संभूत इति जातो यस्मिन् तत् कोलाहलकसंभूतम्, आहिताऽऽदेराकृतिगणत्वाद् निष्ठान्तस्य परनिपातः। यदि वा भूतशब्द उपमार्थः, ततः कोलाहलकसंभूतमिति कोलाहलकरूपतामिवाऽऽपन्नम्-हा तात! हा मातरित्यादिकलकलाऽऽकुलितम्, आसीदभूत्, मिथिलायां, सर्वं गृहविहाराऽऽरामाऽऽदीति प्रक्रमः। क्व सति ?, प्रव्रज्यामाददाने, तदा तस्मिन् काले, राजा चासौ राज्यावस्थामाश्रित्य, ऋषिश्च तत्कालापेक्षया राजर्षिः, यदि वा-राज्यावस्थायामपि ऋषिरिव ऋषिः, कोपाऽऽदिषड्वर्गजयात्। तथा च राजनीतिः–"कामः क्रोधस्तथा लोभो, हर्षो मानो मदस्तथा। षड्वर्गमुत्सृजेदेनं, तस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः ॥ १ ॥" तस्मिन्नमौ नमिनाम्न्यभिनिष्क्रामति गृहात्कषायाऽऽदिभ्यो वा निर्गच्छति। इति सूत्रार्थः ॥५॥

पुनरत्रान्तरे यद्वृत्तं तदाह (शक्रसंवादः)–

अब्भुट्ठियं रायरिसिं, पव्वज्जाठाणमुत्तमं।
सक्को माहणवेसेण, इमं वयणमब्बवी ॥ ६ ॥

अभ्युत्थितमभ्युद्यतं, राजर्षिं प्राग्वत्, प्रव्रज्यैव स्थानं-तिष्ठन्ति सम्यग्दर्शनाऽऽदयो गुणा अस्मिन्निति कृत्वा प्रव्रज्यास्थानं, प्रतीति शेषः। उत्तमं प्रधानं, सुप्व्यत्ययेन सप्तम्यर्थे वा द्वितीया। ततः प्रव्रज्यास्थाने उत्तमेऽभ्युद्यतं तद्विषयोद्यमवन्तं, शक्र इन्द्रो, माहनवेषेण ब्राह्मणवेषेण, आगत्येति शेषः। तदा हि तस्मिन्महात्मनि प्रव्रज्यां ग्रहीतुमनसि तदाशयं परीक्षितुकामः स्वयमिन्द्र आजगाम, ततः स इदं वक्ष्यमाणम्, उच्यते इति वचनं वाक्यम्, अब्रवीदुक्तवानिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

यदुक्तवांस्तदाह–

किं णु भो अज्ज मिहिलाए, कोलाहलगसंकुला।
सुव्वंति दारुणा सद्दा, पासाएसु गिहेसु य ॥ ७ ॥

किमिति परिप्रश्ने, नु इति वितर्के, भो इत्यामन्त्रणे। अद्यास्मिन् दिने, मिथिलायां नगर्यां कोलाहलकेन बहलकलकलाऽऽत्मकेन संकुला व्याकुलाः कोलाहलकसंकुलाः, श्रूयन्ते इत्याकर्ण्यन्ते, शब्दा ध्वनय इति संबन्धः। ते च कदाचिन्नन्दिवृन्दोदीरिता अपि स्युः, तन्निराकरणायाऽऽह-दारयन्ति मनमनांसीति दारुणा विलपिताऽऽक्रन्दिताऽऽदयः, क्व पुनस्ते ?, प्रासादेषु सप्तभूमाऽऽदिषु, गृहेषु सामान्येन वेश्मसु, तथा 'प्रासादो देवतानरेन्द्राणाम्' इति वचनात् प्रासादेषु देवतानरेन्द्रसंबन्धिष्वावासेषु, गृहेषु तदितरेषु, चशब्दात् त्रिकचतुष्कचत्वराऽऽदिषु चेति सूत्रार्थः ॥७॥

ततश्च–

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ ८ ॥

एवमनन्तरोक्तम्, अर्थमिति, उपचारादर्थाभिधायिनं ध्वनिं, निशम्याऽऽकर्ण्य, हिनोति गमयति विवक्षितमर्थमिति हेतुः, स च पञ्चावयववाक्यरूपः, कारणं चान्यथाऽनुपपत्तिमात्रं, ताभ्यां चोदितः प्रेरितो हेतुकारणचोदितः, कोलाहलकसंकुलाः दारुणाः शब्दाः श्रूयन्त इत्यनेन हि उभयमेतत् सूचितम्। तथाहि-अनुचितमिदं भवतोऽभिनिष्क्रमणमिति प्रतिज्ञा, आक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दहेतुत्वादिति हेतुः, प्राणव्यपरोपणाऽऽदिवदिति दृष्टान्तः, यद्यदाक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दहेतुस्तत्तद् धर्मार्थिनोऽनुचितं, यथा प्राणव्यपरोपणाऽऽदि, तथा चेदं भवतोऽभिनिष्क्रमणमित्युपनयः, तस्मादाक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दहेतुत्वादनुचितं भवतोऽभिनिष्क्रमणमिति निगमनमिति पञ्चावयवं वाक्यमिह हेतुः, शेषावयवविवक्षाविरहितं त्वाक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दहेतुत्वं भवदभिनिष्क्रमणानुचितत्वं विनाऽनुपपन्नमित्येतावन्मात्रं कारणम्, अनयोस्तु पृथगुपादानं प्रतिपाद्यभेदतः साधनवाक्यवैचित्र्यसूचनार्थम्। तथा च श्रुतकेवली–"कत्थ वि पंचावयवं, दसहा वा सव्वहा ण पडिसिद्धं। न य पुण सव्वं भण्णति, हंदी सवियारमक्खायं ॥१॥" तथा–"जिणवयणं सिद्धं चिय, भण्णति कत्थ वि उदाहरणं। आसज्ज उ सोयारं, हेऊ वि कहिं वि वत्तव्वो ॥१॥" (नि०) अथवाऽन्वयव्यतिरेकलक्षणो हेतुः, उपपत्तिमात्रं तु दृष्टान्ताऽऽदिरहितं कारणम्। यथा निरुपमसुखः सिद्धो, ज्ञानाऽनाबाधप्रकर्षात्, अन्यत्र हि निरुपमसुखासंभवान्नोदाहरणमस्ति। दृष्टाश्च प्रकृष्टमत्यादिज्ञानानाबाधाः परमसुखिनो मुनय इति ज्ञानानाबाधप्रकर्षो निरुपमसुखत्वे हेतुरुच्यते। तथा च पूज्याः–"हेऊ अणुगमवतिरे-गलक्खणो सज्झवत्थुपज्जाओ। आहरणं दिट्ठंतो, कारणमुववत्तिमेत्तं तु ॥१७७॥" (विशे०) इहापि आक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दहेतुत्वमेव हेतुः, तस्योक्तन्यायेनान्वयान्वितत्वात्सति चान्वये व्यतिरेकस्यापि संभवात्। इदमेव चान्वयव्यतिरेकविकलतया विवक्षितमुपपत्तिमात्रं कारणम्। एवं सर्वत्र कारणभावना कार्येत्यलं प्रसङ्गेन। प्रकृतमेव सूत्रमनुश्रियते–ततः प्रेरणानन्तरं, नमिर्नमिनामा, राजर्षिर्देवेन्द्रं शक्रमिदं वक्ष्यमाणमब्रवीदुक्तवानिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

किं तदुक्तवानित्याह–

मिहिलाए चेइए वच्छे, सीयच्छाए मणोरमे।
पत्तपुप्फफलोवेए, बहूणं बहुगुणे सया ॥ ९ ॥

मिथिलायां पुरि, चितिरिह प्रस्तावात्पत्रपुष्पाऽऽद्युपचयः, तत्र साधु चित्यं,ततः प्रज्ञाऽऽदेराकृतिगणत्वात् स्वार्थिकेऽणि चैत्यमुद्यानम्। तस्मिन्(वच्छे त्ति) सूत्रत्वाद्विभक्तिलोपे वृक्षैः,शीता शीतला छाया यस्य तच्छीतलच्छायं, तस्मिन्, मनश्चित्तं रमते धृतिमवाप्नोति यस्मिन् तन्मनोरमम्-मनोरमाभिधानं,तस्मिन्, पत्रपुष्पफलानि प्रतीतानि, तैरुपेतं युक्तं पत्रपुष्पफलोपेतं,तस्मिन्, बहूनां प्रक्रमात् खगाऽऽदीनां, बहवो गुणा यस्मात्तत्तथा,तस्मिन्। कोऽर्थः?, फलाऽऽदिभिः प्रचुरोपकारकारिणि,सदा सर्वकालमिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

तत्र किम् ?, इत्याह—

वाएण हीरमाणम्मि, चेइयम्मि मणोरमे ।
दुहिया असरणा अत्ता, एए कंदंति भो ! खगा ॥१०॥

वातेन वायुना, ह्रियमाणे इतस्ततः क्षिप्यमाणे; वातश्च तदा शक्रेणैव कृत इति संप्रदायः। चितिरिहेष्टकाऽऽदिचयः, तत्र साधुर्योग्यश्चित्यः प्राग्वत्, स एव चैत्यः, तस्मिन्। किमुक्तं भवति?-अधो बद्धपीठिके उपरि चोच्छ्रितपताके मनोरमे मनोऽभिरतिहेतौ, वृक्षे इति शेषः। दुःखं संजातं येषां ते दुःखिताः,अशरणास्त्राणरहिताः,अत एवाऽऽर्ताः पीडिताः,एते प्रत्यक्षाः,क्रन्दन्त्याक्रन्दशब्दं कुर्वन्ति,भो इत्यामन्त्रणम्, खगाः पक्षिणः। 'इह च किमद्य मिथिलायां दारुणाः शब्दाः श्रूयन्ते?' इति यत् स्वजनजनाऽऽक्रन्दनमुक्तं, तत् खगक्रन्दनप्रायम्, आत्मा च वृक्षकल्पः, ततो हि नियतकालमेव सहावस्थितत्वेन, उत्तरकालं च स्वस्वगतिगामितया द्रुमाऽऽश्रितखगोपमा एवाऽमी स्वजनाऽऽदयः।

उक्तं हि-

"यद्वद् द्रुमे महति पक्षिगणा विचित्राः,
कृत्वाऽऽश्रयं हि निशि यान्ति पुनः प्रभाते ।
तद्वज्जगत्यसकृदेव कुटुम्बजीवाः,
सर्वे समेत्य पुनरेव दिशो भजन्ते ॥१॥" इति ।

ततश्चाऽऽक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दहेतुत्वेनाभिधीयमानमसिद्धम् । एते हि स्वजनाऽऽदयो वातेन प्रेर्यमाणा द्रुमाद्विश्लिष्यत्खगा इव स्वस्वप्रयोजनहानिमेवाऽऽशङ्कमानाः क्रन्दन्ति ।

आह च-

"आत्मार्थं सीदमानं स्वजनपरजनो रौति हा हा कुलाऽऽर्तो,
भार्या चाऽऽत्मोपभोगं गृहविभवसुखं स्वं वयस्याश्च कार्यम् ।
क्रन्दन्त्यन्योऽन्यमन्यास्त्विह हि बहुजनो लोकयात्रानिमित्तं,
यश्चान्यस्तत्र कश्चिद् मृगयति हि गुणं रोदितीष्टः स तस्मै"॥१॥

एवं चाऽऽक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दानामभिनिष्क्रमणहेतुकत्वमसिद्धम्, स्वप्रयोजनहेतुकत्वात्तेषाम्, तथा च भवदुक्तहेतुकारणे असिद्धे एवेत्युक्तं भवतीति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

ततश्च-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ ११॥

एनमर्थं निशम्य हेतुकारणयोरनन्तरसूत्रसूचितयोः, चोदितः-असिद्धोऽयं भवदभिहितो हेतुः, कारणं चेत्यनुपपत्त्या प्रेरितो हेतुकारणचोदितः, ततो नमिं राजर्षिं देवेन्द्र इदं वक्ष्यमाणमब्रवीदिति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

किं तत् ?, इत्याह—

एस अग्गी य वाऊ य, एयं डज्झइ मंदिरं ।
भयवं ! अंतेउरंते णं, कीस णं नावपेक्खह ? ॥ १२ ॥

एष इति प्रत्यक्षोपलभ्यमानोऽग्निश्च वैश्वानरो, वातश्च पवनः, तथैतदिति प्रत्यक्षं, दह्यते भस्मसात् क्रियते, प्रक्रमाद्वातेरितेनाग्निनैव, मन्दिरं वेश्म, भवत्संबन्धीति शेषः। भगवन्निति पूर्ववत् । (अंतेउरंते णं ति) अन्तःपुराभिमुखं, (कीस त्ति) कस्मात्, णमिति वाक्यालङ्कारे। नावप्रेक्षसे नावलोकयसे ?। इह च यद्यदात्मनः स्वं तत्तद्रक्षणीयं, यथा ज्ञानाऽऽदि, स्वं चेदं भवतोऽन्तःपुरमित्यादिहेतुकारणभावना प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

ततश्च--

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ १३ ॥

प्राग्वत् ॥१३॥

किमब्रवीत् ?, इत्याह--

सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किंचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचण ॥ १४ ॥

सुखं यथा भवत्येवं वसामस्तिष्ठामो,जीवामः प्राणान् धारयामः, येषां (मो इति) अस्माकं, नास्ति न विद्यते, किञ्चन वस्तुजातम् । यतः--"एकोऽहं न मे कश्चित्, स्वः परो वाऽपि विद्यते । यदेको जायते जन्तु-र्म्रियतेऽप्येक एव हि ॥ १ ॥" इति न किञ्चिदन्तःपुराऽऽदि मत्सत्कं, यतश्चैवमतो-मिथिलायामस्यां पुरि दह्यमानायां न मे दह्यते किञ्चित् स्वल्पमिति ॥ मिथिलाग्रहणं तु-न केवलमन्तःपुराऽऽद्येव न मत्संबन्धि, किं त्वन्यदपि स्वजनाऽऽदि, स्वस्वकर्मफलभुजो हि जन्तवस्तथा तथाऽस्मिन् भ्राम्यन्तीति किमत्र कस्य स्वं परं वेति ख्यापनार्थम् ॥ ततश्चानेन प्रागुक्तहेतोरसिद्धत्वमुक्तं, तत्त्वतो ज्ञानाऽऽदिव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यास्वकीयत्वादित्यादि प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥१४॥

एतदेव भावयितुमाह-

चत्तपुत्तकलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जए किंचि, अप्पियं पि न विज्जए ॥१५॥
बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगंतमणुपस्सओ ॥ १६ ॥

त्यक्ताः परिहृताः-पुत्राश्च सुताः, कलत्राणि च दाराः, येन स तथा, तस्य, अत एव निर्व्यापारस्य परिहृतकृषिपाशुपाल्याऽऽदिक्रियस्य, भिक्षोरुक्तरूपस्य, प्रियमिष्टं, न विद्यते नास्ति, किञ्चिदल्पमपि, अप्रियमप्यनिष्टमपि, न विद्यते नास्ति, प्रियाप्रियविभागाश्रितत्वे हि सति पुत्रकलत्रत्यागं न कुर्यात्, एतयोरेवातिप्रतिबन्धविषयत्वादिति भावः । एतेन यदुक्तं-नास्ति किञ्चनेति तत्समर्थितं, तत् स्वकीयत्वं हि पुत्राऽऽद्यत्यागतोऽभिष्वङ्गतः स्यात्, स च निषिद्ध इति ॥ एवमपि कथं सुखेन वसनं जीवनं च ?,इत्याह-बहु विपुलं, खुरवधारणे, बहुेव,मुनेस्तपस्विनो,भद्रं कल्याणं सुखं च, अनगारस्य भिक्षोरिति च प्राग्वत्। सर्वतो बाह्यादभ्यन्तराच्च । यद्वा-स्वजनात्परजनाच्च, विप्रमुक्तस्येति पूर्ववत् । एकान्तमेव-कोऽहमित्याद्युक्तरूपैकत्वभावनाऽऽत्मकम्, अनुपश्यतः पर्यालोचयत इति सूत्रद्वयार्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥

पुनरपि-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ १७ ॥

प्राग्वत् ॥१७॥

पागारं कारइत्ता णं, गोपुरऽट्टालगाणि य ।

उस्सूलगसयग्घीओ, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥ १८ ॥

प्रकर्षेण कुर्वन्ति तमिति प्राकारः, तं, धूलीष्टकाऽऽदिविरचितं, कारयित्वा विधाप्य, गोपुराट्टालकानि च-तत्र गोभिः पूर्यन्ते इति गोपुराणि प्रतोलीद्वाराणि, गोपुरग्रहणमर्गलाकपाटोपलक्षणम् । अट्टालकानि प्राकारकोष्ठकोपरिवर्तीन्यायोधनस्थानानि, (उस्सूलग त्ति) खातिका परबलपातार्थमुपरिच्छादितगर्त्ता, (सयग्घीओ त्ति) शतं घ्नन्ति शतघ्न्यः, ताश्च यन्त्रविशेषरूपाः, तत एवं सकलं निराकुलीकृत्य (गच्छसि इति) तिङ्व्यत्ययाद् गच्छ । क्षतात् त्रायत इति क्षत्रियः, तत्र संबोधनं क्षत्रिय !, हेतूपलक्षणं चेदम् । स चायम्-यः क्षत्रियः स पुररक्षां प्रत्यवहितो, यथोदितोदयाऽऽदिः, क्षत्रियश्च भवान्, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥

ततः-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ १९ ॥

प्राग्वत् ॥ १९ ॥

सद्धं च नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं ।
खंतिं निउण-पागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसगं ॥ २० ॥
धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च इरियं सया ।
धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेणं पलिमंथए ॥ २१ ॥
तवनारायजुत्तेणं, भेत्तूणं कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चइ ॥ २२ ॥

श्रद्धां तत्त्वरुचिरूपाम्, अशेषगुणगणधारणतया नगरीं पुरीं, कृत्वा हृदि विधाय, अनेन च प्रशमसंवेगाऽऽदीनि गोपुराणि कृत्वेत्युपलक्ष्यते, अर्गलाकपाटं तर्हि किम् ?, इत्याह-तपोऽनशनाऽऽदि बाह्याभ्यन्तरप्रधानः संवर आश्रवनिरोधलक्षणस्तपःसंवरः, तं, मिथ्यात्वाऽऽदिदुष्टनिवारकत्वेनार्गला परिघः, तत्प्रधानं कपाटमप्यर्गलेत्युक्तम्, ततोऽत्रार्गलाकपाटं, कृत्वेति संबन्धः । प्राकारः कः ?, इत्याह-क्षान्तिः क्षमा, निपुणमिव निपुणं शत्रुरक्षणं प्रति, अत्राविरोधनन्तानुबन्धिकपायरोधतया प्राकारं, कृत्वेति संबन्धः । उपलक्षणं चैषां मानाऽऽदिनिरोधिनां मार्दवाऽऽदीनाम् । तिसृभिरट्टालककोष्ठकशतघ्नीस्थानीयाभिर्मनोगुप्त्यादिगुप्तिभिर्गुप्तम् । मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात्समासः । प्राकारस्य विशेषणम् । अत एव दुःखेन प्रधृष्यते परैरभिभूयत इति दुःप्रधर्षः, स एव दुःप्रधर्षकः, तम् । पठन्ति च-"खंतिं निउण-पागारं, तिगुत्तिं दुप्पधंसयं" इति स्पष्टम् । इत्थं यदुक्तं प्राकाराऽऽदीन् कारयित्वेति तत्प्रतिवचनमुक्तम् ॥ संप्रति तु प्राकाराट्टालकेष्ववश्यं योद्धव्यम्, तच्च सत्सु प्रहरणाऽऽदिषु, प्रतिविधेये च वैरिणि संभवति । अत आह-धनुः कोदण्डं, पराक्रमं जीववीर्योल्लासरूपमुत्साहं कृत्वा, जीवां च प्रत्यञ्चां च, ईर्यामीर्यासमितिम्, उपलक्षणत्वाच्छेषसमितीश्च, सदा सर्वकालं, तद्विरहितस्य जीववीर्यस्याप्यकिञ्चित्करत्वात् । धृतिं च धर्माभिरतिरूपां, केतनं शृङ्गमयधनुर्मध्ये काष्ठमयमुष्टिकाऽऽत्मकम्; तदुपरि स्नायुना निबध्यते, इदं तु केन बन्धनीयम् ?, इत्याह-सत्येन मनःसत्याऽऽदिना (पलिमंथए त्ति) बध्नीयात् ॥ ततः किम् ?, इत्याह-तपः षड्विधमाभ्यन्तरं परिगृह्यते, तदेव कर्मप्रत्यभिभेदतया नाराचः-अयोमयो बाणः, तद्युक्तेन प्रक्रमाद्धनुषा, भित्त्वा विदार्य, कर्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदि, कञ्चुक इव कर्मकञ्चुकः, तम् । इह कर्मकञ्चुकग्रहणेनाऽऽत्मैवाऽऽवृतो वैरीत्युक्तं भवति । वक्ष्यति च-"अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ।" कर्मणस्तु कञ्चुकत्वं तद्गतमिथ्यात्वाऽऽदिप्रकृत्युदयवर्तिनः अज्ञानशरमुपरुन्धत आत्मनो दुर्निवारत्वात्, मुनिः प्राग्वत् । कर्मभेदे जयस्य जिनत्वाद् विगतः संग्रामो यस्य यस्माद्वेति विगतसंग्राम उपरताऽऽयोधनः सन्, भवन्त्यस्मिन् शारीरमानसानि दुःखानीति भवः संसारः, तस्मात्परिमुच्यते । एतेन च यदुक्तम्-प्राकारं कारयित्वेत्यादि, तत्सिद्धसाधनम् । इत्थं अज्ञानपररक्षणाभिधानाद्भवतश्च तत्त्वतस्तद्विहितेति चोक्तं भवति । न च भवदभिमतप्राकाराऽऽदिकरणे सकलशारीरमानसक्लेशविप्रमुक्तिलक्षणा मुक्तिरवाप्यते, इतस्तु तदवाप्तिरपीति सूत्रत्रयार्थः ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

एवं च तेनोक्ते-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ २३ ॥

प्राग्वत् ॥ २३ ॥

पासाए कारइत्ता णं, वद्धमाणगिहाणि य ।
वालग्गपोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥ २४ ॥

प्रसीदन्ति नृणां नयनमनांसि येषु ते प्रासादाः, तानुक्तरूपान्, वर्द्धमानगृहाणि चानेकधा वास्तुविद्याऽभिहितानि । (वालग्गपोइय त्ति) देशीपदं वलभीवाचकम्, ततो वलभीश्च कारयित्वा; अन्ये त्वाकाशतडागमध्यास्थितं क्षुल्लकप्रासादमेव " वालग्गपोइयाओ त्ति" देशीपदाभिधेयमाहुः । ततस्ताश्च क्रीडास्थानभूताः कारयित्वा, ततोऽनन्तरं गच्छ क्षत्रिय ! । एतेन च यः प्रेक्षावान् स सति सामर्थ्ये प्रासादाऽऽदि कारयिता, यथा ब्रह्मदत्ताऽऽदिः, प्रेक्षावांश्च सति सामर्थ्ये भवानित्यादिहेतुकारणयोः सूचनमकारीति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥

एवं च शक्रेणोक्ते-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ २५ ॥

प्राग्वत् ॥ २५ ॥

संसयं खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणई घरं ।
जत्थेव गंतुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं ॥ २६ ॥

संशीतिः संशयः-इदमित्थं भविष्यति, न वा ?, इत्युभयांशाऽऽवलम्बनप्रत्ययः, तं, खलुरेवकारार्थः । ततः संशयमेव, स कुरुते; यथा-मम कदाचिद् गमनं भविष्यतीति । यो मार्गे कुरुते गृहं । गमननिश्चये तु करणायोगात्; अहं तु न संशयितेत्याशयः; सम्यग्दर्शनाऽऽदीनां मुक्तिप्रत्ययानन्यहेतुत्वेन मया निश्चितत्वाद्यथाख्याच्च । यदि नाम न संशयितस्तथापि किमिहैव गृहं न कुरुषे ?। अत आह-यत्रैव विवक्षितप्रदेशे, गन्तुं यातुम्, इच्छेत् अभिलषेत् । (तत्थेति) व्यवच्छेदफलत्वाद्वाक्यस्य तत्रैव-जिगमिषितप्रदेशे, कुर्वीत विदधीत, स्वस्याऽऽत्मनः, आश्रयो वेश्म स्वाश्रयः, तम् । यद्वा-शाश्वतं नित्यं, प्रक्रमाद् गृहमेव । ततोऽयमर्थः-इदं तावदिहावस्थानं मार्गावस्थानप्रायमेव, यत्र तु जिगमिषितप्रदेशे कुर्वीत विदधीतास्माभिस्तन्मुक्तिपदं, तदाश्रयविधाने च प्रवृत्ता एव वयम्, ततस्तत्करणप्रवृत्तत्वात् कथं प्रेक्षावत्क्षतिः ?। तथा च यः प्रेक्षावानित्याद्यपि तत्त्वतः सिद्धसाधनतयैवावस्थितमिति सूत्रार्थः ॥ २६ ॥

ततः पुनरपि-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।

तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ २७ ॥

प्राग्वत् ॥२७॥

आमोसे लोमहारे य, गंठिभेए य तक्करे ।
नगरस्स खेमं काऊणं, तओ गच्छसि खत्तिआ ! ॥२८॥

आ समन्तात् मुष्णन्ति स्तैन्यं कुर्वन्तीत्यामोषाः, तान्, लोमानि हरन्ति व्यपनयन्ति प्राणिनां ये ते लोमहाराः । किमुक्तं भवति ?-निर्घृणतया, आत्मविघाताऽऽशङ्कया च प्राणान् निहत्यैव ततः सर्वस्वमपहरन्ति । तथा च वृद्धाः-" लोमहाराः प्राणहाराः " इति । तांश्च, ग्रन्थिं द्रव्यसंबन्धिनीं भिन्दन्ति घुर्घुरककर्तिकाऽऽदिना विदारयन्तीति ग्रन्थिभेदाः, तान्, चशब्दो भिन्नक्रमः । तदेव कुर्वन्ति तस्कराः, सर्वकालं चौर्यकारिणः, तांश्च । यत आहुर्वैयाकरणाः-"तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च ।" (वार्ति०) इह चोरत्वादेति गम्यते, प्रविश्य पिण्डीमित्युक्तौ भक्षयेतिवत् । यद्वा-तस्करयेत्थं,बह्वर्थे चैकवचनम्, ततश्चाऽऽमोषाऽऽदिषूपतापकारिषु सत्सु,नगरस्य पुरस्य क्षेमं सुस्थं, कृत्वा विधाय, ततस्तदनन्तरं, गच्छ क्षत्रिय ! । एतेनापि यः सधर्मा नृपतिः, स इहाधर्मकारिनिग्रहकृत्, यथा भरताऽऽदिः, सधर्मनृपतिश्च भवानित्यादिहेतुकारणसूचना कृतैवेति सूत्रार्थः ॥२८॥

इत्थं शक्रोक्तौ-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ २९ ॥

असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छा दंडो पउंजइ ।
अकारिणोऽत्थ बज्झंति, मुच्चई कारओ जणो ॥ ३० ॥

असकृदनेकधा, तुरेवकारार्थः, ततश्चासकृदेव, मनुष्यैर्मनुजैः,मिथ्या व्यलीकः । किमुक्तं भवति ?-अनपराधिष्वप्यज्ञानाहङ्काराऽऽदिहेतुभिरपराधिष्विव, दण्डनं दण्डो-देशत्यागशरीरनिग्रहाऽऽदिः,प्रयुज्यते व्यापार्यते । कथमिदम् ?,इत्याह-अकारिण आमोषाऽऽद्यविधायिनः, अत्रेत्यस्मिन् प्रत्यक्षत उपलभ्यमानमनुष्यलोके, बध्यन्ते निगडाऽऽदिभिर्नियन्त्र्यन्ते; मुच्यते त्यज्यते,कारको विधायकः, प्रक्रान्तत्वादामोषणाऽऽदीनाम् । जनो लोकः । तदनेन यदुक्तम्-प्रागामोषकाऽऽद्युत्सादनेन नगरस्य क्षेमं कृत्वा गच्छेति, तत्र तेषां ज्ञातुमशक्यतया क्षेमकरणस्याप्यशक्यत्वमुक्तम् । यत्तु यः सधर्मेत्यादि सूचितम्, तत्रापरिज्ञानतोऽनपराधिनामपि दण्डमाददतां सधर्मनृपतित्वमपि तावन्नास्त्यमित्यसिद्धता हेतोरिति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥ ३० ॥

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ ३१ ॥

प्राग्वत् ॥३१॥

नयरमियता स्वजनान्तःपुरपुरप्रासादनृपतिधर्मविषयः
किमस्याभिष्वङ्गोऽस्ति, नेति वेति विमृश्य, संप्रति प्रणामाभावं विवेकुमिच्छुर्विजिगीषुतामूलत्वात् प्रेषस्य, तामेव परीक्षितुकामः शक्र
इदमुक्तवान्-

जे केइ पत्थिवा तुज्झं *, नाणमंति नराहिवा ! ।
वसे ते ठावइत्ता णं, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥३२॥

ये केचिदिति सामस्त्योपदर्शकम्,पार्थिवा भूपालाः,(तुम्भं ति) तुभ्यं, नानमन्ति न मर्यादया प्रह्वीभवन्ति, तुभ्यमिति नमतीतियोगेऽपि चतुर्थी,"मात्रे पित्रे सवित्रे च,नमामि" इत्यादिवद्दुष्टेव । वाचनान्तरे पठ्यते च-(तुज्झं ति) तत्र च तवेति शेषविवक्षया षष्ठी । 'नराहिवा !' इत्यत्राऽऽकारो "ह्रस्वदीर्घौ मिथो वृत्तौ" ॥ ८ । १ । ४ ॥ इति लक्षणात् * । ततश्च हे नराधिप ! नृपते !, वशे इत्यात्माऽऽयत्ते, तानित्यन्यान्पार्थिवान्, स्थापयित्वा निवेश्य, कृत्वेति यावत् । ततो गच्छ क्षत्रिय ! । इहापि यो नृपतिः स नाममत्पार्थिवं नमयिता, यथा भरताऽऽदिरित्यादिहेतुकारणे भवेत भाविते, इति सूत्रार्थः ॥ ३२ ॥

एवं तु सुरपतिनोक्ते-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ ३३ ॥

सूत्रं प्राग्वत् ॥३३॥

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥ ३४ ॥

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ? ।
अप्पणा चेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥ ३५ ॥

पंचिंदियाणि कोहं, मायं माणं तहेव लोभं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥ ३६ ॥

य इत्यनुद्दिष्टनिर्देशे,सहस्रं दशशताऽऽत्मकं, सहस्राणां प्रक्रमात् सुभटानाम्,संग्रामे युद्धे, दुर्जये दुरापपरपरिभवे, जयेदभिभवेत् । संभावने लिङ् । एकमद्वितीयं, जयेद् यदि कथञ्चिज्ज्ञानवीर्योल्लासतोऽभिभवेत्, कम् ?, आत्मानं स्वं,दुराचारप्रवृत्तमिति गम्यते । एषोऽनन्तरोक्तः,(से इति) तस्य जेतुः, सुभटदशशतसहस्रजयात्परमः प्रकृष्टो, जयः परेषामभिभवः,तदनेनाऽऽत्मन एवातिदुर्जयत्वमुक्तम् ॥ ३४ ॥ तथा च (अप्पाणमेव त्ति) तृतीयार्थे द्वितीया । ततश्चात्मनैव सह, युध्यस्व संग्रामं कुरु । यद्वा-युधेरन्तर्भावितण्यर्थत्वाद्युध्यस्वेति योधयस्व । कम् ?, आत्मानम्, इहाप्यात्मनैव सहेति शेषः । किम् ?, न किञ्चिदित्यर्थः । ते तव, युद्धेन संग्रामेण, बाह्यत इति बाह्यं पार्थिवाऽऽदिकमाश्रित्य, यदि वा बाह्य इति तृतीयार्थे तसिः,ततो बाह्येन युद्धेनेति संबध्यते । एवं च (अप्पणा चेव त्ति) आत्मनैवान्यव्यतिरिक्तेन, आत्मानं स्वं, [जइत्त त्ति] जित्वा, सुखमैकान्तिकात्यन्तिकमुक्तिसुखाऽऽत्मकम्, एधत इति-अनेकार्थत्वाद्धातूनां प्राप्नोति । (अहवा सुहमेहए त्ति) शुभं पुण्यमेधते-अन्तर्भावितण्यर्थत्वाद् वृद्धिं नयति॥३५॥ कथमात्मन्येव जिते सुखावाप्तिः ?,इत्याह-पञ्चेन्द्रियाणि श्रोत्राऽऽदीनि, क्रोधः कोपो,मानोऽहङ्कारो,माया निकृतिः,तथैव लोभश्च गार्ध्यलक्षणो, दुर्जयो दुरभिभवः, चः समुच्चये । एवेति पूरणे । अतति सततं गच्छति तानि तान्यध्यवसायस्थानान्तराणीति व्युत्पत्तेरात्मा मनः, सर्वत्र च सूत्रत्वादात्मना निर्देशः । सर्वमक्रोधमिन्द्रियादि, उपलक्षणत्वाद् मिथ्यात्वाऽऽदि च,आत्मनि जीवे, जितेऽभिभूते, जितमित्यभिभूतमेव । ननु मनसि जिते जितानि

* तुज्झमिति पाठान्तरम् ।

* अयं तु प्रमादेनोल्लेखः, यतो हि 'ङो दीर्घो वा' ॥८।३।३८॥ इतिसूत्रं विवेचयता हेमचन्द्रसूरिणा प्राप्ताप्राप्तविभाषात्वमस्य सूत्रस्य समर्थितम् । तद् यथा-हे गुरू, हे गुरु, हे पहू, हे पहु, एषु प्राप्ते विकल्पः । हे गोयमा !, हे गोयम ! इह त्वप्राप्ते विकल्पः ।

पञ्चेन्द्रियाऽऽदीनीति,किं पृथक् तदभिधानेन ?। सत्यम्-तथाऽपि प्रत्येकं दुर्जयत्वख्यापनाय पृथगुपन्यास इत्यदोषः। यद्वा-[दुजयं चेव अप्पाणं ति] चकारो हेत्वर्थः,एवोऽवधारणे,भिन्नक्रमश्च-आत्मशब्दानन्तरं द्रष्टव्यः। ततश्च यस्मादात्मैव जीव एव दुर्जयस्ततः सर्वमिन्द्रियाऽऽद्यात्मनि जिते जितम्। अनेन चेन्द्रियाऽऽदीनामेव दुःखहेतुत्वात्तज्जयतः सुखप्राप्तिः समर्थिता भवति। एवं च फलोपदर्शनद्वारेणैवंविधैव जिगीषुता श्रेयसीत्यावेदे। ततश्च यो नृपतिरित्याद्यपि वस्तुतो विजिगीषुत्वव्यभिचारात् सिद्धसाधनतया प्रत्युक्तमिति सूत्रत्रयार्थः ॥३६॥

भूयोऽपि-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ ३७ ॥

प्राग्वत् ॥३७॥

नवरमनन्तरपरीक्षातो द्वेषोऽप्यनेन परिहृत इति निश्चित्य, जिनप्रणीतधर्मं प्रति स्थैर्यं परीक्षितुकामः शक्र इदमवोचत्-

जइत्ता विउले जन्ने, भोइत्ता समणमाहणे ।
दच्चा भोच्चा य जिट्ठा य, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥३८॥

[जइत्त त्ति] याजयित्वा विपुलान् विस्तीर्णान्, यज्ञान् यागान्, भोजयित्वा-अभ्यवहार्य, श्रमणाश्च निर्ग्रन्थाऽऽदयो,ब्राह्मणाश्च द्विजाः,श्रमणब्राह्मणाः,तान्,द्विजाऽऽदिभ्यो गोभूमिसुवर्णाऽऽदीन् दत्त्वा,भुक्त्वा च मनोज्ञशब्दाऽऽदीन्,इष्ट्वा च राजर्षित्वात् स्वयमेव यज्ञान्, ततो गच्छ क्षत्रिय ! । अनेन यद्यत्प्राणिप्रीतिकरं तत्तद् धर्माय,यथा हिंसोपरमाऽऽदि, प्राणिप्रीतिकराणि चामूनि यागाऽऽदीनीत्यादिनीत्या हेतुकारणे सूचिते एवेति सूत्रार्थः ॥३८॥

शक्रवचनानन्तरम्-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥३९॥

सूत्रं प्राग्वत् ॥३९॥

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए ।
तस्सा वि संजमो सेओ, अदिंतस्स वि किंचण ॥ ४० ॥

यः सहस्रं सहस्राणां दशलक्षाऽऽत्मकं, मासे मासे, गवां धेनूनां, (दए त्ति) दद्यात्,तस्याप्येवंविधस्य दातुर्यदि कथञ्चिच्चारित्रमोहनीयक्षयोपशमेन संयम आश्रवाऽऽद्विरमणाऽऽत्मकः स्यात्,तदा स एव श्रेयानतिशयप्रशस्यः। कथंभूतस्यापि ?, अददतोऽप्ययच्छतोऽपि, किञ्चन स्वल्पमपि वस्तु। यद्वा-(तस्सा वि त्ति)तस्मादप्युक्तरूपाद् ददतुरभावित्वेन विवक्षितात्संयच्छति प्राणिहिंसाऽऽदिभ्यः सम्यगुपरमतीति,सर्वधातूनां पचाऽऽदिषु दर्शनादचि संयमः संयमवान्, साधुरित्यर्थः । श्रेयान् प्रशस्यतरः। अथवा तस्यापि दातुः, प्रक्रमाद्गोदानधर्मात्,संयम एकरूपः, श्रेयान्। शेषं पूर्ववत्। गोदानं चेह यागाऽऽद्युपलक्षणमतिप्रभूतजनाऽऽचरितमित्युपात्तम्। एवं च संयमस्य प्रशस्यतरत्वमभिदधता यागाऽऽदीनां सावद्यत्वमर्थादावेदितम्। तथा च यज्ञप्रणेतृभिरुक्तम्-"षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनाद्, न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ १ ॥" इयत्स्वस्तु वधे च कथमसावद्यता नाम ?। तथा दानान्यप्यशनाऽऽदिविषयाणि,धर्मोपकरणगोचराणि च धर्माय वर्ण्यन्ते ?। यत आह-"अशनाऽऽदीनि दानानि, धर्मोपकरणानि च । साधुभ्यः साधुयोग्यानि, देयानि विधिना बुधैः" ॥१॥ शेषाणि तु सुवर्णगोभूम्यादीनि प्राण्युपमर्दहेतुतया सावद्यान्येव, योगानां तु सावद्यत्वं सुप्रसिद्धम्;तथा च प्राणिप्रीतिकरत्वादित्यसिद्धो हेतुः। प्रयोगश्च-यत्सावद्यं तत्प्राणिप्रीतिकरं न, यथा हिंसाऽऽदि, सावद्यानि च यागाऽऽदीनीति सूत्रार्थः ॥४०॥

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ ४१ ॥

'एयमट्ठं' सूत्रं प्राग्वत् ॥४१॥

नवरम्, इत्थं जिनधर्मस्थैर्यमवधार्य, प्रव्रज्यां प्रति दृढोऽयमुत नेति परीक्षणार्थं शक्र इदमब्रवीत्-

घोराऽऽसमं चइत्ता णं, अन्नं पत्थेसि आसमं ।
इहेव पोसहरओ, भवाहि मणुयाहिवा ! ॥ ४२ ॥

घोरोऽत्यन्तदुरनुचरः, स चासावाश्रमश्च, आश्रिनि स्वपरप्रयोजनाभिव्याप्त्या,श्राम्यन्ति खेदमनुभवन्त्यस्मिन्निति कृत्वा घोराऽऽश्रमो गार्हस्थ्यम्,तस्यैवाल्पसत्त्वैः दुष्करत्वात्। यत आहुः-"गृहाऽऽश्रमसमो धर्मो,न भूतो न भविष्यति। पालयन्ति नराः शूराः,क्लीबाः पाखण्डमाश्रिताः ॥१॥" तं,त्यक्त्वाऽपहाय, "जहित्ता णं ति" क्वचित्पाठः। तत्र च हित्वा, अन्यमेतद्व्यतिरिक्तं कृषिपाशुपाल्याऽऽद्यशक्तकातरजनाभिनन्दितं, प्रार्थयसेऽभिलषसि,आश्रमं प्रव्रज्यालक्षणं,नेदं क्लीबसत्त्वानुचरितं भवादृशामुचितमित्यभिप्रायः। तर्हि किमुचितम् ?,इत्याह-इहैवास्मिन्नेव गृहाश्रमे,स्थित इति गम्यते। पोषं धर्मपुष्टिं धत्त इति पोषधः,अष्टम्यादितिथिषु व्रतविशेषः, तत्र रत आसक्तः पोषधरतो, (भवाहि त्ति)भव. अणुव्रताऽऽद्युपलक्षणमेतत्, अस्यैवोपादानं पोषधादिनेष्ववश्यंभावतत्तपोऽनुष्ठानख्यापकम्। यत आह आश्वसेनः-"सर्वेष्वपि तपोयोगः, प्रशस्तः कालपर्वसु । अष्टम्यां पञ्चदश्यां च,नियतः पोषधं चरेत् ॥१॥" इति। मनुजाधिप ! नृपते !,अत्र च घोरपदेन हेतुराक्षिप्तः। तथाहि-यद्यद् घोरं तत्तद्धर्मार्थिनाऽपि अनुष्ठेयं, यथाऽनशनाऽऽदि, तथा चायं गृहाऽऽश्रमः, शेषमेतदनुसारतोऽभ्यूह्यमिति सूत्रार्थः ॥४२॥

ततश्च-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ ४३ ॥

प्राग्वत् ॥४३॥

मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए ।
न सो सुअक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥४४॥

"मासे मासे" इति वीप्सायां द्विर्वचनम्, तुरिहोत्तरत्र चैवकारार्थः, ततश्च मासे मास एव, न त्वेकस्मिन्नेव मासे, अर्द्धमासाऽऽदौ वेति, यः कश्चिद् बालोऽविवेकः, कुशाग्रेणैव तृणविशेषप्रान्तेन, भुङ्क्ते । एतदुक्तं भवति-यावत् कुशाग्रेऽवतिष्ठते तावदेवाभ्यवहरत्,नातोऽधिकम्;अथवा कुशाग्रेणेति आत्मावेकवचनम्। तृतीया तु ओदनेनासौ भुङ्क्त इत्यादिवत् साधकतमत्वेनान्यथाविवक्ष्यमाणत्वेऽपि विवक्षितत्वात्। नेति निषेधे। स इति यः कुशाग्रैर्भुङ्क्ते स एवंविधकष्टानुष्ठाय्यपि, सुष्ठु शोभनः सर्वसावद्यविरतिरूपत्वात्,आङिति अभिव्याप्त्या, ख्यातस्तीर्थकराऽऽदिभिः कथितः स्वाख्यातः,स चासौ

धर्मो यस्य सोऽयं स्वाख्यातधर्मा, तस्य, चारित्रिण इत्यर्थः। कलां भागमपि,अर्हति घोरशीं षोडशीपूरणीम् ॥ इदमुक्तं भवति- स समोऽपि न भवति, किं पुनस्तुल्यः, अधिको वा। ततो यदु- क्तं-यदद् घोरं न तत्कर्मार्थिनाऽनुष्ठेयम्,अनशनाऽऽदिवदित्यत्र घोरत्वादित्यनैकान्तिको हेतुः। घोरस्यापि स्वाख्यातधर्मस्यैव धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयत्वात्, अन्यस्य त्वात्मविघाताऽऽदिवदन्य- थात्वात्। प्रयोगश्चात्र-यत् स्वाख्यातधर्मरूपं न भवति घोरम- पि न तद्धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयम्, यथा-आत्मवधाऽऽदिः, तथा च गृहाऽऽश्रमः, तद्रूपत्वं चास्य सावद्यत्वाद् हिंसाऽऽदिवदित्यलं प्रसङ्गेन। शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥४४॥

ततश्च—

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ ४५ ॥

'एयं' सूत्रं प्राग्वत् ॥ ४५ ॥

नवरं यतिधर्मे दृढोऽयमिति निश्चित्य, लुब्धोऽ- यमभिष्वङ्ग इति तद्भावं परीक्षितमपि पुनः परीक्षितुमिन्द्र उवाच-

हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं, कंसं दूसं च वाहणं।
कोसं वड्ढावइत्ता णं, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥ ४६ ॥

हिरण्यं सुवर्णं, स्वर्णं शोभनवर्णं, विशिष्टवर्णकमित्यर्थः। यद्वा-हिरण्यं घटितस्वर्णम्,इतरत्तु सुवर्णं,मणयश्चेन्द्रनीलाऽऽद- यः, मुक्ताश्च मौक्तिकानि, मणिमुक्तम्। तथा कांस्यं कांस्यभाज- नाऽऽदि, दूष्यं वस्त्राणि, चः स्वगतानेकभेदसंसूचकम्। वाहनं रथाश्वाऽऽदि। वाचनान्तरे पठन्ति च-(सवाहणं ति) सह वाह- नैर्वर्तत इति सवाहनम्,हिरण्याऽऽदीति संबन्धः। कोशं भाण्डा- गारं धर्मलाभाऽऽद्यनेकवस्तुस्वरूपं [वड्ढावइत्ता णं ति] वृद्धिं प्रापय्य, ततः समस्तवस्तुविषयेच्छापरिपूर्तौ, गच्छ क्षत्रिय !। अयमाशयः-यः साऽऽकाङ्क्षो, नासौ धर्मानुष्ठानयोग्यो भवति, यथा मम्मणवणिक्, साऽऽकाङ्क्षश्च भवान्, आकाङ्क्षणीयहिर- ण्याऽऽदिवस्त्वपरिपूर्तेः, तथाविधद्रमकवदिति। शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ ४६ ॥ [तत्कथा 'मम्मण' शब्दे वक्ष्यते]

ततः-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ ४७ ॥

प्राग्वत् ॥४७॥

सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥ ४८ ॥

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिं सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥ ४९ ॥

सुवर्णं रूप्यं च सुवर्णरूप्यमिति समाहारः। तस्य, तुः पूरणे। यद्वा-आर्षत्वाद्विभक्तिलोपः, तुशब्दश्च समुच्चये, ततः सुवर्णस्य रूप्यस्य च पर्वता इव पर्वताः पर्वतप्रमाणा राशयः,(भवे त्ति) भवेयुः स्युः,पर्वतप्रमाणत्वेऽपि च लघुपर्वतप्रमाणा एव स्युः,अत आह-[सिया हु त्ति] स्यात् कदाचित्, हुरवधारणे, भिन्नक्रम- श्च, ततः कैलाशसमा एव कैलाशपर्वततुल्या एव, न त्वन्य- लघुपर्वतप्रमाणाः, तेऽप्यसंख्यकाः संख्याविरहिताः, न तु द्वित्रा एव, नरस्य पुरुषस्य, उपलक्षणत्वात् स्त्रियः, षण्ढकस्य वा। न तैः कैलाशसमैरसंख्यैरपि सुवर्णरूप्यपर्वतैः, किञ्चिदल्पमपि, परितोषोत्पादनं प्रति क्रियत इति शेषः। वाचनान्तरे पठ्यते च-[न तेण त्ति] अत्र च सूत्रत्वाद्वचनव्यत्ययः। कुतः पुनरिद- म् ?, इत्याह-इच्छा अभिलाषो,हुरिति यस्मात्, आकाशेन समा तुल्या आकाशसमा, अनन्तिका अन्तरहिता। तथा चैतदनु- वादी वाचकः-"न तुष्टिरिह शताज्जन्तो-र्न सहस्राच्च कोटितः। न राज्याच्चैव देवत्वा-दैन्द्रत्वादपि विद्यते ॥ १ ॥" ॥ ४८ ॥

किं सुवर्णरूप्ये केवले एव नेच्छापरिपूर्तये?,इत्याशङ्क्याऽऽह- पृथ्वी मही, शालयो लोहितशाल्यादयः,यवाः प्रतीताः, चः शेष- धान्यसमुच्चयार्थः। एवोऽवधारणे,स च भिन्नक्रमो नेत्यस्यान्तरं योज्यते। हिरण्यं सुवर्णं, ताम्राऽऽद्युपलक्षणमेतत्, पशुभिर्गवा- श्वाऽऽदिभिः, सह सार्द्धं,प्रतिपूर्णं समस्तम्। वाचनान्तरे पठन्ति च-(सव्वं तं ति) सर्वमशेषं, न तु कियदेव, तत् पृथिव्यादि। नेति नैव,अलं समर्थं, अक्रमादिच्छापरिपूर्त्तये। एकस्याद्वितीयस्य,ज- न्तोरिति गम्यते। इत्येतत् श्लोकद्वयोक्तम्, (विज्ञ त्ति)सूत्रत्वाद्वि- दित्वा। यद्वा-इतीत्यस्माद्धेतोः, विद्वान् पण्डितः,तपो द्वादशविधं, चरेदासेवेत। तत एव निस्पृहतयेच्छापरिपूर्तिसंभवादिति भावः। अनेन च संतोष एव निराकाङ्क्षतायां हेतुर्न तु हिरण्याऽऽ- दिवर्द्धनमित्युक्तम्। तथा च हिरण्याऽऽदि वर्द्धयित्वेत्यत्र यद- नुमानमुक्तं, तत्र साकाङ्क्षत्वलक्षणो हेतुरसिद्धः, न चाऽऽकाङ्क्ष- णीयवस्त्वपरिपूर्तेस्तस्य सिद्धत्वं, संतुष्टतया ममाऽऽकाङ्क्षणीय- वस्तुन एवाभावादिति सूत्रार्थः ॥४९॥

भूयोऽपि—

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ ५० ॥

'एयमट्ठं' सूत्रं प्राग्वत् ॥५०॥

नवरम्, अविद्यमानविषयेषु विषयवाञ्छाभिभूतोऽयमिति निश्चित्य,सत्सु तेष्वभिषङ्गोऽस्तु, न वा ?,इति विवेचयितुमिन्द्र उवाच-

अच्छेरयमब्भुदए, भोए जहसि पत्थिवा !।
असंते कामे पत्थेसि, संकप्पेण विहम्मसि ॥ ५१ ॥

(अच्छेरयं ति) आश्चर्यं वर्तते,यत् त्वमेवंविधोऽपि (अब्भुदए त्ति) अद्भुतकानाश्चर्यरूपान्, भोगान् कामान्, जहासि त्यज- सि। वाचनान्तरे पठ्यते च-(चयसि त्ति)पार्थिव !पृथिवीपते ! पाठान्तरं च-क्षत्रिय !। अथवा-(अब्भुदए त्ति) अभ्युदये; त- तश्च यदभ्युदयेऽपि भोगाँस्त्वं जहासि तदाश्चर्यं वर्तते। तथा- ऽसत्यागतश्च-असतोऽविद्यमानान्, कामान्, प्रार्थयसेऽभिलषसि यत्,तदप्याश्चर्यमिति संबन्धः। अथवा-कस्तवात्र दोषः ?, संकल्पेन उत्तरोत्तराप्राप्तभोगाभिलाषरूपेण विकल्पेन, वि- हन्यसे विविधं बाध्यसे, एवंविधसंकल्पस्यापर्यवसितत्वादु- क्तम्; अमीषां स्थूलसूक्ष्माणामिन्द्रियार्थाभिलाषिणां शक्राऽऽ- दयोऽपि नो तृप्तिविशेषाणामुपागताः। यद्वा-(अच्छेरगमब्भु- दए त्ति) मकारोऽलाक्षणिकः। ततश्चाऽऽश्चर्याद्भुतयोरेकार्थ- त्वेऽप्युपादानमतिशयख्यापनार्थम्। अतिशयाद्भुतान् भोगान् जहासि पार्थिव !, असतश्च कामान् प्रार्थयासि यत्,तत्संकल्पे- नैवोक्तरूपेण,विहन्यसे बाध्यसे। कथं ह्यन्यथा विवेकिनस्तवैत- त्संभवेत्,एतेन च यः सद्विवेको, नासौ प्राप्तान् विषयानप्राप्ताऽऽ-

काङ्क्षया परिहरति; यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्यादिः, सद्विवेकश्च भवानित्यादिहेतुकारणे सूचिते इति सूत्रार्थः ॥ ५१ ॥ (तत्कथा ' बंभदत्त ' शब्दे)

तदनु—

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ ५२ ॥

प्राग्वत् ॥ ५२ ॥

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा य, अकामा जंति दुग्गइं ॥ ५३ ॥

(सल्लं ति) देहान्तश्चलतीति शल्यं शरीरान्तःप्रविष्टं तोमराऽऽदि, शल्यमिव शल्यम् । के ते ?, काम्यमानत्वात् कामाः, मनोज्ञशब्दाऽऽदयः । यथा हि-शल्यमन्तश्चलद्विविधबाधाविधायि, तथैतेऽपि, तत्त्वत एषामपि सदा बाधाविधायित्वात् । तथा वेवेष्टि व्याप्नोतीति विषं तालपुटाऽऽदि, विषमिव विषं कामाः, यथैव हि तदुपभुज्यमानं मधुरमित्यापातसुन्दरमिवाऽऽभाति, अथ परिणतावतिदारुणम्, एवमेते अपि कामाः, तथा कामाः-आश्यो दंष्ट्राः, तासु विषमस्येत्याशीविषः, तदुपमाः । यथा ह्ययमकैरवलोक्यमानः स्फुरन्मणिफणाभूषित इति शोभन इव विभाव्यते, स्पर्शनाऽऽदिभिरनुभूयमानश्च विनाशायैव भवति, तथैतेऽपि कामाः ? । किञ्च-कामान् प्रार्थयमाना अभिलषन्तः, अपि शब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात्प्रार्थयमाना अपि, अकामा इष्यमाणकामाभावाद्, यान्ति गच्छन्ति, दुर्गतिं दुष्टां नरकाऽऽदिगतिम् । तदनेन न केवलं शल्याऽऽदिवदनुभूयमाना एवामी दोषकारिणः, किं तु प्रार्थ्यमाना अपीत्युक्तं भवति । तथा यः सद्विवेको, नासौ प्राप्तमप्राप्ताऽऽकाङ्क्षया जहातीत्यादौ सद्विवेकत्वमनैकान्तिको हेतुः । न ह्ययमेकान्तः, यथा-प्राप्तमप्राप्तार्थेन; प्राप्तस्याप्यपायहेतोस्तदुच्छेदकाप्राप्तार्थे विवेकिभिः परिह्रियमाणत्वात्; अनभ्युपगतोपालम्भश्चायम्, मुमुक्षूणां कचिदाकाङ्क्षाया एवासंभवात् । उक्तं हि- "मोक्षे भवे च सर्वत्र, निःस्पृहो मुनिसत्तमः" इति सूत्रार्थः ॥५३॥

कथं पुनः कामान् प्रार्थयमाना दुर्गतिं यान्ति ?, अत आह-

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।
माया गइपडीघाओ, लोभाओ दुहओ भयं ॥ ५४ ॥

अधो नरकगतौ, व्रजति गच्छति, क्रोधेन कोपेन, मानेनाहङ्कारेण, अधमा नीचा गतिः, भवतीति गम्यते । (माय त्ति) सुब्व्यत्ययात् मायया परवञ्चनाऽऽत्मिकया, गतेः-प्रस्तावात् सद्गतेः, प्रतिघातो विनाशो गतिप्रतिघातो भवति । लोभात्-गार्ध्यलक्षणात्, (दुहओ त्ति) द्विधा द्विःप्रकारम्-ऐहिकं, पारत्रिकं च । बिभ्यत्यस्मादिति भयं दुःखं, तदाशङ्कने साध्वसं च । कामेषु प्रार्थ्यमानेष्ववश्यंभावी क्रोधसंभवः, स चेदृगिति कथं न, तत्प्रार्थनातो दुर्गतिगमनमित्यभिप्रायः । यद्वा-सर्वमपि यदिन्द्रेणोक्तं तत्कषायानुपातीति तद्विपाकानुवर्णनमिदमिति सूत्रार्थः ॥ ५४ ॥

एवं बहुभिरप्युपायैस्तमिन्द्रः क्षोभयितुमशक्तः किमकरोत् ?, इत्याह-

अवउज्झिऊण माहण-रूवं च विउव्विऊण इंदत्तं ।
वंदइ अभित्थुणंतो, इमाहि महुराहि वग्गूहिं ॥ ५५ ॥

अहो ! ते निज्जितो कोहो, अहो ! माणो पराजितो ।
अहो ! निरक्किया माया, अहो ! लोभो वसीकओ ॥ ५६ ॥

अहो ! ते अज्जवं साहु, अहो ! ते साहु मद्दवं ।
अहो ! ते उत्तमा खंती, अहो ! ते मुत्ति उत्तमा ॥ ५७ ॥

(अवउज्झिऊण त्ति) अपोह्य त्यक्त्वा, ब्राह्मणरूपं धिग्वर्णवेषं, (विउव्विऊणं ति) विकृत्य, इन्द्रत्वमुत्तरवैक्रियरूपमिन्द्रभावं, वन्दतेऽनेकार्थत्वात् प्रणमति, अभिष्टुवन्नाभिमुख्येन स्तुतिं कुर्वन्, इमाभिरनन्तरवक्ष्यमाणाभिः, मधुराभिः श्रुतिसुखाभिः, (वग्गूहिं ति) आर्षत्वाद् वाग्भिर्वाणीभिः ॥५५॥ तद्यथा-अहो ! इति विस्मये, (ते त्ति) त्वया, नितरामतिशयेन जितोऽभिभूतो निर्जितः, क्रोधः कोपः, यतस्त्वमनानमत्पार्थिववशीकरणप्रेरणायामपि न क्षुभित इत्यभिप्रायः । तथा अहो ! त्वया मानोऽहमितिप्रत्ययहेतुः, पराजितोऽभिभूतः, यस्त्वं मन्दिरं दह्यत इत्याद्युक्तेऽपि कथं मयि जीवतीदमिति नाहङ्कृतिं कृतवानिति ॥५६॥ तथा-(अहो निरक्किय त्ति) प्राकृतत्वान्निराकृताऽपास्ता माया, यस्त्वं पुनः रक्षाहेतुप्राकाराट्टालकोच्चूलकाऽऽदिषु निकृतिहेतुकेष्वामोषकोत्सादनाऽऽदिषु च न मनो निहितवान् । तथा-अहो ते लोभो वशीकृत इति नियन्त्रितः, यस्त्वं हिरण्याऽऽदि वर्द्धयित्वा गच्छेति सहेतुकमभिहितोऽपि इच्छाया आकाशसमत्वमेवोदाहृतवान्, अत एव अहो ! ते तवाऽऽर्जवं विनयवत्त्वं, साधु शोभनम्, अहो ! ते साधु मार्दवं मृदुत्वम्, अहो ! ते उत्तमा प्रधाना क्षान्तिः कोपोपशमलक्षणा, अहो ! ते मुक्तिर्निर्लोभता, उत्तमा; व्यत्ययनिर्देशस्त्वनानुपूर्व्यापि प्ररूपणाङ्गमितिकृत्वेति सूत्रार्थः ॥५७॥

इत्थं गुणोपवर्णनद्वारेणाभिष्टुत्य संप्रति फलोपदर्शनद्वारेण प्रस्तुवन्नाह-

इहं सि उत्तमो भंते !, पच्छा होहिसि उत्तमो ।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं, सिद्धिं गच्छसि नीरओ ॥ ५८ ॥

इहास्मिन् जन्मनि, असि भवसि, उत्तमः प्रधानः, उत्तमगुणान्वितत्वात् । (भंते त्ति) पूज्याभिधानम् । पश्चात् प्रेत्य परलोके भविष्यस्युत्तमः । कथमित्याह-लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य, उत्तममुपरिवर्ति लोकोत्तमम् । उत्तमं-सर्वलोकाऽऽद्यपेक्षया प्रधानम् । अथवा-(लोगुत्तममुत्तम त्ति) मकारोऽलाक्षणिकः, ततो लोकस्य लोके वा, उत्तमोत्तममतिशयप्रधानं लोकोत्तमम्, तिष्ठन्त्यस्मिन्नातः परं गच्छन्तीति स्थानं, किं तत् ?, इत्याह-सिद्धिं मुक्तिं, गच्छसि सूत्रत्वाद् गमिष्यसि, निर्गतो रजसः कर्मणः, इति सूत्रार्थः ॥५८॥

उपसंहारमाह-

एवं अभित्थुणंतो, रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए ।
पायाहिणं करेंतो, पुणो पुणो वंदई सक्को ॥ ५९ ॥

एवमनुनोक्तन्यायेन, अभिष्टुवन् राजर्षिमुक्तरूपं, प्रक्रमान्नमिम्, उत्तमया प्रधानया, श्रद्धया भक्त्या, (पायाहिणं ति) प्रदक्षिणां, कुर्वन् विदधत्, पुनः पुनः वन्दते प्रणमति, शक्रः पुरन्दरः, इति सूत्रार्थः ॥५९॥

अनन्तरं च यत् कृतवाँस्तदाह-

तो वंदिऊण पाए, चक्कंकुसलक्खणे मुणिवरस्स ।
आगासेणुप्पइओ, ललियचवलकुंडलतिरीडी ॥ ६० ॥

ततस्तदनन्तरं, पादान्तरतश्च-(स इति) शक्रः, वन्दित्वा, पादौ चरणौ, चक्रं चाङ्कुशश्च प्रतीतावेव, तत्प्रधानानि लक्षणानि

ययोस्तौ, तथा मुनिवरस्य, नमिनाम्न इति प्रक्रमः। तत आकाशेन नभसा, उत्पतितः ऊर्ध्वं-देवलोकाभिमुखं, पतितो गत उत्पतितः, ललिते च ते सविलासे तथा, चपले च चञ्चले तथा ललितचपले, तथाविधे कुण्डले कर्णाऽऽभरणे यस्यासौ ललितचपलकुण्डलः, स चासौ तिरीटी च मुकुटवान्, ललितचपलकुण्डलतिरीटीति सूत्रार्थः ॥ ६० ॥

स एवंविधः स्वयमिन्द्रेणाभिष्टूयमानः किमुत्कर्ष मनस्यास्थवान्, उत न ?, इत्याह-

नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ ।
चइऊण गेहं वइदेही, सामण्णे पज्जुवट्ठिए ॥६१॥

नमिर्नमयति भावतः प्रह्वीभवन्तमात्मानं स्वं तत्त्वभावनया विशेषतः प्रगुणयन् नम्रच्छिन्नकतां नयति। तत्कालापेक्षया लट्। कथंभूतः सन् ?, साक्षात् प्रत्यक्षतामुपगम्य, शक्रेणेन्द्रेण,(चोइओ त्ति) प्रेरितः,त्यक्त्वाऽपहाय,गेहं गृहं, (वइदेहि त्ति)सूत्रत्वात् विदेहनामा जनपदः,सोऽस्यास्तीति वैदेही,विदेहजनपदाधिपः, न त्वन्य एव कश्चिदिति भावः। यद्वा-विदेहेषु भवा वैदेही मिथिलापुरी, सुपूत्यत्ययात् तां च, त्यक्त्वेति संबन्धनीयम। श्रामण्ये श्रमणभावे पर्युपस्थिते, उद्यतोऽभूदिति शेषः । यद्वा--नमिर्नमयति संयमं प्रति प्रवणीकरोत्यात्मानम,कीदृशः?, शक्रेण प्रेरितः, कथम?, साक्षात् स्वयं, न त्वन्यपार्श्वप्रहितसंदेशकाऽऽदिना, श्रामण्ये पर्युपस्थितः, न तु तत्प्रेरणतोऽपि धर्मे प्रति विप्लुतोऽभूदिति भावः। इति सूत्रार्थः॥६१॥

किमेष एवैवंविधः, उतान्येऽपि ?, इत्याह-

एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से नमी रायरिसी ॥६२॥ त्ति बेमि।

(एवमिति) यथैतेन नमिना निश्चलत्वं कृतं, तथाऽन्येऽपि कुर्वन्ति, उपलक्षणत्वादकार्षुः, करिष्यन्ति च। न त्वयमेव, निदर्शनतयैवास्योपात्तत्वात् । कीदृशाः पुनरन्येऽप्येवं कुर्वन्ति ?, संबुद्धा मिथ्यात्वापगमतोऽवगतजीवाजीवाऽऽदितत्त्वाः। पण्डिताः सुनिश्चितशास्त्रार्थाः, प्रविचक्षणा अभ्यासातिशयतः क्रियां प्रति प्रावीण्यवन्तः,तथाविधाश्च सन्तः किं विदधति?, विनिवर्तन्ते विशेषेण तदनासेवनादुपरमन्ति, केभ्यः?,(भोगेसु त्ति) भोगेभ्यः, किंवत्?, यथा स नमिर्नमिनामा राजर्षिर्निश्चलो भूत्वा तेभ्यो निवृत्त इति॥ यद्वा-उपदेशपरमेतद्,यत एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः पण्डिताः प्रविचक्षणाः। एवमिति कथम्?, इत्याह--भोगेभ्यो विनिवर्तन्ते विशेषेणात्यन्तनिश्चलतालक्षणेन, निवर्तन्ते, यथा स नमिनामा राजर्षिः, ततो भवद्भिरप्येवंविधैरित्थमेव विधेयमिति सूत्रार्थः ॥ ६२ ॥ इति ब्रवीमीति पूर्ववच्चयाश्च प्राग्वदिति । उत्त० ९ अ० । सूत्र० । आ० चू० । आव० । ऋषभजिनसहप्रव्रजितस्य कच्छस्य सुते विनमिभ्रातरि, यो हि कुसुमोच्चयेन भगवन्तं प्रसाद्य धरणेन्द्राऽऽदेशाद् विद्याधरर्द्धिसंप्राप्तो वैताढ्ये नगे दक्षिणश्रेण्यां राज्यं चकार । (आ०म०१ अ०१ खण्ड।कल्प०। आ० चू०) ततो विजयप्रवृत्तेन भरतचक्रिणा पराजितो रत्नानि दत्वा क्षमयां बभूव। आव० १ अ० । आ० म० । (शत्रुञ्जयेऽस्य प्रतिमाः)"आत्तासिना विनमिना, नमिना च निषेवितः। स्वर्गाऽऽरोहणचैत्ये च,श्रीनाभेयः प्रभासते ॥१॥" ती०१कल्प। स्वनामके खेचरर्षौ, " श्रीस्मभ्रमीविनम्याख्यौ, खेचरेन्द्रमहाऋषी। कोटिद्वया महर्षीणां,सहितौ सिद्धिमीयतुः ॥१॥" ती०१ कल्प। अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजे एकविंशे तीर्थंकरे,परीषहोपसर्गाऽऽदिनामनाद् "नमेन्तु वा" इति विकल्पेनोपान्त्यस्याकाराभावपक्षे नमिः। धर्म०२ अधि०। प्राकृतशैल्या शब्दस्याऽलक्षणान्तरसंभवाच्च "तत्थ सव्वे वि परीसहोवसग्गा णामिया कसाय त्ति सामण्णं, विसेसो पुण-"पणया पच्चंतनिवा, दंसियमित्ता जिणम्मि तेण णमी ।" (४१) आव० २ अ० । तथा गर्भस्थे भगवति परचक्रनृपैरपि प्रणतिः कृतेति नमिः । ध० २ अधि० । अनु० । ('तित्थयर' शब्दे सर्वं वक्ष्यते) " नवरं नमीणं अरहा दसवाससहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे० जाव पहीणे ।" स्था० १० ठा०। कल्प० । "नमिस्स णं अरहओ एगूणचत्तालीसं आहोहियसया होत्था।" स०३९ सम० । "नमिस्स णं अरहओ एगचत्तालीसं अज्जियासाहस्सीओ होत्था।"स०४०सम०। प्रव० । आ० चू० । अन्तकृद्दशानां प्रथमाऽऽध्ययनोक्तवक्तव्यताकेऽन्तकृत्साधौ, * स्था० १० ठा० ।

णमिऊण-नत्वा-अव्य० । प्रणम्येत्यर्थे, दश०१ अ० । "णमिऊणऽरहंताणं, सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं ।" नि० चू० १ उ० । पञ्चा० । पं० सं० ।

णमिपव्वज्जा-नमिप्रव्रज्या-स्त्री० । नमेः प्रव्रज्याऽभिधीयते इति नमिप्रव्रज्या । मिथिलाराजस्य नमेः प्रव्रज्यायां शक्रसंवादरूपे नवमे उत्तराध्ययने, उत्त० ९ अ० । स० । ("णमि" शब्दे चैतद्वक्तव्यतोक्ता)

णमिय-नमित-त्रि० । नम्रे, जी० ३ प्रति० । "कुसुमफलभारनमियसाला ।" जी० ३ प्रति० । नीचैर्भावं प्रापिते,जं० १ वक्ष० ।

नत्वा-अव्य० । प्रणम्येत्यर्थे, कर्म० ४ कर्म० ।

णमियणमिय-नमितनमित-त्रि०। देवर्षिवन्दिते, पं०सू० १ सूत्र।

णमिसाहु-नमिसाधु-पुं० । थारापद्रपुरीयगच्छीयश्रीशान्तिभद्रसूरिशिष्ये, अनेन रुद्रटरचितकाव्यालङ्कारग्रन्थोपरि टिप्पणं कृतम । अयं च ११२५ वि० वर्षे विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

णमुदय-नमुदय-पुं० । आजीविकोपासकभेदे, भ० ७ श० १० उ० ।

णमोक्कार-नमस्कार-पुं०। नमस्करणं नमस्कारः। नमस्-कृ-घञ् । "नमस्कारपरस्परे द्वितीयस्य" ॥ ८ । १ । ६२ ॥ अनयोर्द्वितीयस्यात ओत्वम, इत्योत्वमतः । प्रा० १ पाद । " ष्कस्कयोर्नाम्नि " ॥ ८ । २ । ४ ॥ इति नाम्नीति निर्देशाच्च खः । प्रा० २ पाद । अञ्जलिबन्धशिरोनमनाऽऽदिलक्षणे प्रणाममात्रे, कायेन प्रणमने, आ०१अ०१अ०।ध० । अर्हदादिप्रणतौ, विशे०। सङ्घा०।

(१) नमस्कारस्य व्याख्यानं चोत्पत्त्याऽऽद्यनुयोगद्वारैर्विधेयम्, तानि चामूनि-

उप्पत्ती निक्खेवो, पयं पयत्थो परूवणा वत्थुं ।
अक्खेव पसिद्धि कमो, पओयण फलं नमोक्कारो ॥२८०५॥

उत्पदनमुत्पत्तिः-प्रसूतिः, सा चास्य नमस्कारस्य नयानुसारेण चिन्त्या । तथा--निक्षेपणं निक्षेपो न्यासः, स चास्य कार्यः । पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति पदं नामिकाऽऽदि,तच्चेह चिन्तनीयम । पदस्यार्थः पदार्थः,स चास्य वक्तव्यः। प्रकृष्टा रूपणा प्ररूपणा,

---

* परमस्यान्तकृद्दशासु नामापि न श्रूयते ।

न्ना चास्य द्विविधाऽऽदिभेदतो विधेया । यस्मिन्यस्मिन् गुणा इति वस्तु, तच्च नमस्कारार्हं वाच्यम् । आक्षेपणमाक्षेपः पूर्वपक्षो वाच्यः। प्रसिद्धिस्तत्परिहाररूपा वक्तव्या । क्रमोऽर्हदादिरभिधेयः । प्रयोजनमर्हदादिक्रमस्य कारणं वाच्यम् । अथवा-येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तन्नमस्कारस्य प्रयोजनमपवर्गाऽऽख्यं वाच्यम् । तथा-फलं च नमस्करणाऽऽदिक्रियाऽनन्तरभावि स्वर्गाऽऽदिकं निरूपणीयम् । अन्ये तु व्यत्ययेन प्रयोजनफलयोरर्थं प्रतिपादयन्ति-(नमोक्कारो त्ति) नमस्कारः आत्मभिद्वारैश्चिन्तनीयः । इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥ २८०५ ॥

(२) अथ निर्युक्तिकार एवोत्पत्तिद्वारं विस्तरेणाऽऽह-

उप्पण्णाऽणुप्पण्णो, इत्थ नया णेगमस्सऽणुप्पण्णो ।

सेसाणं उप्पण्णो, जइ कत्तो तिविहसामित्ता ॥२८०६॥

उत्पन्नश्चासावनुत्पन्नश्चेत्युत्पन्नानुत्पन्नो नमस्कारो मन्तव्यः । आह-कथमेक एवोत्पन्नोऽनुत्पन्नश्च भवति, विरोधात् ?, इत्याह-(इत्थ इत्यादि) अत्र नयाः प्रवर्तन्ते । ते च नैगमाऽऽदयः सप्त । नैगमो द्विविधः-सर्वसंग्राही, देशसंग्राही च । तत्राऽऽदिनैगमस्य सामान्यमात्रावलम्बित्वात्, तस्य चोत्पादव्ययरहितत्वात् नमस्कारस्यापि तदन्तर्गतत्वादनुत्पन्नः । (सेसाणं उप्पण्णो त्ति) शेषा विशेषग्राहिणः, तेषां शेषाणां विशेषग्राहित्वात्, तस्य चोत्पादव्ययवत्त्वात्, उत्पादव्ययशून्यस्य वान्ध्येयाऽऽदिवदवस्तुत्वात्, नमस्कारस्य तु वस्तुत्वादुत्पन्न इति । (जइ कत्तो त्ति) यद्युत्पन्नः, कुतः ?; इत्याह-(तिविहसामित्ता) त्रिविधं च तत्स्वामित्वं चेति समासः । तस्मात्त्रिविधस्वामित्वात् त्रिविधस्वामिभावात्त्रिविधकारणादित्यर्थः ॥ २८०६ ॥

तदेव त्रिविधस्वामित्वं दर्शयति-

समुट्ठाणवायणाल-द्धिओ य पढमे नयत्तिए तिविहं ।

उज्जुसुयपढमवज्जं, सेसनया लद्धिमिच्छंति ॥ २८०७ ॥

(समुट्ठाणेत्यादि) समुत्थानतः, वाचनातः, लब्धितश्च, ' नमस्कार उत्पद्यते ' इति वाक्यशेषः । तत्र सम्यक् सङ्गतं योत्तिष्ठतेऽस्मादिति समुत्थानम्, निमित्तमित्यर्थः । किं पुनस्तदिह ?, इति । उच्यते-अन्यस्याश्रुतत्वात्, तदाधारतया प्रत्यासन्नत्वाद्देहोऽत्र परिगृह्यते; देहो हि नमस्कारकारणम्, तद्भावभावित्वात्, बीजवदङ्कुरस्य, इत्येवं देहलक्षणात् समुत्थानात् नमस्कार उत्पद्यते । तथा-वचनं वाचना गुरुभ्यः श्रवणमधिगम इत्यर्थः, तस्याश्च वाचनायाः सकाशाद् नमस्कारो जायते । तथा-लब्धिस्तदावरणक्षयोपशमलक्षणा, तस्याश्चायमुपजायते । इत्येतत्त्रिविधं कारणं, प्रथमे नैगमसंग्रहव्यवहारलक्षणे त्रिके, नैगमाऽऽदिनयत्रयमतेनावगन्तव्यमित्यर्थः । तथा-ऋजुसूत्रस्य प्रथमवर्जं वाचनालब्धिद्वयं नमस्कारस्य कारणम्, तच्छून्यस्य अन्तोर्देहमात्रसद्भावेऽपि नमस्काराऽऽख्यकार्योत्पत्तिव्यभिचारात् । शेषनयास्तु शब्दाऽऽदयो लब्धिमेवैकां नमस्कारकारणत्वेनेच्छन्ति, वाचनाया अपि लब्धिशून्येष्वभव्याऽऽदिषु नमस्काराजनकत्वात्, लब्धियुक्तेषु तु प्रत्येकबुद्धाऽऽदिषु तदभावेऽपि तत्सद्भावतो व्यभिचारित्वात् । इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः ॥ २८०७ ॥

" उप्पण्णाऽणुप्पण्णो " (२८०६) इत्यत्र भाष्यम्-

सत्तामेत्तग्गाही, जेणाऽऽइम-नेगमो तओ तस्स ।

उप्पज्जइ नाभूयं, भूयं न य नासए वत्थुं ॥ २८०८ ॥

येन यस्मात्कारणात्, आद्यनैगमः सत्तामात्रग्राही, ततस्तस्याऽऽद्यनैगमस्य मतेन सर्वं वस्तु नाभूतं नाऽविद्यमानं, किं तु सर्वदैव सर्वं सदेव । ततः किम् ?, इत्याह-(उप्पज्जइ न) इत्येवमिहापि नञ् संबध्यते, आवृत्तिव्याख्यानात् । इदमुक्तं भवति-यत्सर्वदैव सत्, तन्नोत्पद्यते । यथा-नभः, तस्याप्युत्पादाभ्युपगमे उत्पन्नस्याप्युत्पादप्रसङ्गेनानवस्थाप्राप्तेः । तथा-यद् भूतं विद्यमानं सर्वदैव सद्वस्तु, तन्न नश्यति, सर्वथा सर्वदैव सतो विनाशायोगादिति ॥ २८०८ ॥

तो तस्स नमोक्कारो, वत्थुत्तणओ नहं व सो निच्चो ।

संतं पि न तं सव्वो, मुणइ सरूवं व वरणाओ ॥२८०९॥

यत एवम्, ततस्तस्याऽऽद्यनैगमस्य, स नमस्कारो नित्य एव, वस्तुत्वात्, नभोवत्, नोत्पद्यते, नाऽपि विनश्यतीत्यर्थः । अत एवैतन्मतेनानुत्पन्नोऽसावभिधीयते । आह-ननु यदि नमस्कारः सर्वदैव संस्तर्हि मिथ्यादृष्ट्यवस्थायां किमित्यसौ न लक्ष्यते ?, इत्याह-(संतं पीत्यादि) सर्वावस्थासु सन्तमपि नमस्कारमतिशयज्ञानिनं विहाय न सर्वोऽपि ' मुणति ' जानातीति प्रतिज्ञा । (वरणाओ त्ति) आवरणकर्मसद्भावादिति हेतुः, आत्मनः स्वरूपवदिति दृष्टान्तः । इदमुक्तं भवति-मिथ्यादृष्ट्यवस्थायामपि द्रव्यरूपतया नमस्कारोऽस्ति । सर्वथाऽसतः खरविषाणस्येव पश्चादप्युत्पादायोगात्, केवलं ज्ञानाऽऽवरणेनाऽऽवृतत्वाद् छद्मस्थजन्तवस्तद्रूपतया सन्तमपि तं नमस्कारं न लक्षयन्ति, यथाऽऽत्मनः स्वरूपम् । न हि आत्मनः स्वरूपं नास्ति, केवलममूर्तत्वात् सर्वदा सदपि तत्केवलिनं विहाय न कोऽपि लक्षयति । एवं नमस्कारोऽपि । इत्यतः सर्वदैव सत्त्वादसावाद्यनैगमाभिप्रायेणानुत्पन्न उच्यत इति ॥२८०९॥

" सेसाणं उप्पण्णो " [२८०६] इत्येतद् गाथावयवं व्याचिख्यासुराह-

सेसमयं नत्थि तओ-ऽणुप्पायविणासओ खपुप्फं व ।

जमिहऽत्थि तदुप्पाय-व्वयधुवधम्मं जहा कुंभो ॥२८१०॥

शेषाणां विशेषवादिनयानाम्, एतन्मतम्-तकोऽसौ पराभिमतो नमस्कारो नास्ति, इति प्रतिज्ञा । अनुत्पादविनाशात्-उत्पादविनाशाभावादिति हेतुः । खपुष्पवदिति दृष्टान्तः । इह यदस्ति तत्सर्वमुत्पादव्ययध्रुवधर्मकम्, यथा कुम्भः; यस्य पुनरुत्पादाऽऽदयो न सन्ति, तत्सदपि न भवति; यथा खरविषाणम्, उत्पाद-विनाशशून्यश्च परैर्नमस्कारोऽभ्युपगम्यते, ततो नास्त्यसावपि ॥ २८१० ॥

यदुक्तम्-आवरणात्सतोऽप्यस्याग्रहणम्, तत्राऽऽह-

आवरणादग्गहणं, नाभावाउ त्ति तत्थ को हेऊ ? ।

जयाऽऽवरणं नमोक्कारो, कहमत्थि य सा नयग्गहणं ? ॥२८११॥

नन्वावरणाद् ज्ञानाऽऽवरणोदयात् सन्नपि नमस्कारः सर्वेण न गृह्यते, न पुनरभावादित्यत्र को हेतुः-किं नियामकम् ?, न किञ्चिदित्यर्थः । अभावादेवायं सर्वेण सर्वदा न गृह्यते, न पुनरावरणोदयादिति शेषनयाभिप्रायः । किञ्च-तीर्थकराऽऽदिषु भक्तिर्नमस्कारोऽभिधीयते, सा च सर्वदाऽस्ति, न च मिथ्यादृष्ट्यवस्थायां गृह्यत इति परस्परव्याहतमिदम् । तस्मादुत्पन्नोऽसौ गृह्यते, अनुत्पन्नस्तु न गृह्यते, इत्येतदेव सुन्दरम्, किमावरणाऽऽदिकल्पनया ?; इत्यभिप्रायः ॥ २८११ ॥

अथाऽऽद्यनैगमनयमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अह परसंतो त्ति तओ, संतो किं नाम कस्स नासंतं ? ।
अहणाऽऽइब्बवएसो, नेवं न य परधणाफलया ॥२८१२॥

अथैवं ब्रूषे-(परसंतो त्ति तओ संतो त्ति) परसन्ताने सर्वदैवास्ति नमस्कारः, नानाजीवेषु तस्य सर्वकालमव्यवच्छेदात् । योऽयमत्र नोपलभ्यते, तत्राप्यसौ [संतो त्ति] सन्नुच्यते । अत्रोत्तरमाह-[किं नाम कस्स नासंतं ? ति] यदि हि अन्यसन्तानवर्त्यपि वस्त्वन्यस्य सदुच्यते, तर्हि किं नाम वस्तु धनाऽऽदिकं कस्य नासत् ?, अपि तु सर्वं सर्वस्यास्त्याप्नोति । अस्य चोपलक्षणत्वात्-' इत्थं सर्वं सर्वस्य समाप्नोति ' इत्यपि द्रष्टव्यम् । ततश्चैवम्-ईश्वरधनेन दरिद्राणामधनानामपि धनवत्त्वाद्धनव्यपदेशः कस्यापि न स्यात् । न चेत्थं परधनस्याफलता भवेत्, अन्यधनस्यान्यत्रापि सत्त्वात्, तथा च तत्फलस्यापि सद्भावादिति ॥२८१२॥

ततः किं भवेद् ?, इत्याह—

सव्वधणं सामन्नं, पावइ भत्तीफलं व सेसं च ।
किरियाफलमेवं वा-ऽकयागमो कयविणासो य ॥२८१३॥

एवं सति यदेकस्येश्वरस्य संबन्धि तत्सर्वेषां दरिद्राणामपि धनं सामान्यं साधारणं प्राप्नोति । यद्वा-यदेकस्य नमस्कारवतोऽर्हदादिभक्तिफलं, तन्मिथ्यादृशामपि नमस्कारशून्यानां सामान्यं प्राप्नोति; तथा शेषं च यद्दान-ध्याना-हिंसा-ऽमृषावादाऽऽदिक्रियाफलं, तत्सर्वेषां सामान्यं प्राप्नोति । एवं च सत्यकृतस्यापि पुण्य-पाप-सुखदुःखाऽऽदेरागमः, कृतस्यापि च पुण्यपापाऽऽदेर्विनाशः स्यादिति ॥ २८१३ ॥

पुनरपि नैगममतमाशङ्क्य परिजिहीर्षवः शेषनयाः प्राऽऽहुः-

अह जत्तिमंतसंता-णओ स निच्चो त्ति कहमणुप्पण्णो ? ।
नणु संताणित्तणओ, स होइ बीयंकुराइ व्व ॥२८१४॥

अथानुत्पन्ननमस्कारवादिन् ! एवं ब्रूषे-भक्तिमतां सम्यग्दृष्टीनां यः सन्तानः प्रवाहः, तस्मात् तमाश्रित्य, नित्यो नमस्कारः । सम्यग्दृष्टीनां हि सन्तानो न कदाचिद् व्यवच्छिद्यते । अव्यवच्छिन्नत्वाच्च नित्योऽसौ, यच्च नित्यं तदाकाशवन्नोत्पद्यते । ततः किलानुत्पन्नो नमस्कार इति परस्याऽऽकूतम् । अत्रोत्तरमाह-(कहमणुप्पण्णो त्ति) नन्वेवमपि कथमनुत्पन्नो नमस्कारः ?, न कथञ्चिदित्यर्थः । कुतः ?, इत्याह-(नणु इत्यादि) ननु यद्यपि सम्यग्दृष्टीनां सन्तानो नित्यः, तथाऽपि सम्यग्दृष्टयः सन्तानिनो नित्या एव, मनुष्याऽऽदिभावेन तेषामुत्पादविनाशादिति । सम्यग्दृष्ट्यव्यतिरेकाच्च नमस्कारोऽपि सन्तानी, सन्तानित्वाच्च (स होइ त्ति) स नमस्कारो भवत्युत्पद्यते, बीजाङ्कुराऽऽदिसन्तानिवदिति । इह यः सन्तानी स उत्पद्यते, यथा बीजाङ्कुराऽऽदिः, सम्यग्दृष्टिसन्तान्यव्यतिरेकात्, सन्तानी च नमस्कार इति उत्पद्यत एव । ततः कथमनुत्पन्नोऽसौ ?, इति ॥ २८१४ ॥

किञ्च—

होज्जाहि नमोक्कारो, नाणं सद्दो व कायकिरिया वा ।
अहवा तस्संजोगो, न सव्वहा सो अणुप्पत्ती ॥२८१५॥

नमस्कारो हि ज्ञानं वा भवेत्, " नमो अरिहंताणं " इत्यादिशब्दो वा, शिरोनमनकरकुड्मलमीलनाविकृतावयवसंकोचनाऽऽदिलक्षणा कायक्रिया वा, द्विकाऽऽदिको वा ज्ञानाऽऽदिसंयोगो भवेदिति चत्वारः पक्षाः । किञ्चातः ?, इत्याह-(न सव्वहा सो अणुप्पत्ति त्ति) सर्वथा सर्वैरपि प्रकारैर्नायमनुत्पत्तिमाननुत्पन्नो घटत इत्यर्थः। ज्ञानाऽऽदीनां चतुर्णामप्युत्पादाऽऽदिधर्मकत्वादिति ॥ २८१५ ॥

अथ नैगमः प्राऽऽह-ननु ज्ञानाऽऽदीनामुत्पादाऽऽदिधर्मकत्वमसिद्धं, नित्यत्वात्, आकाशवत् । तत्र ज्ञानस्य तावन्नित्यत्वं साधयन्नाह-

नणु जीवाओऽणन्नं, नाणं णिच्चो य सो तओ तं पि ।
निच्चुग्घाडो य सुए, जमक्खराणंतभागो त्ति ॥२८१६॥

ननु जीवादनन्यदभिन्नं ज्ञानं, नित्यश्चासौ जीवः, ततस्तदव्यतिरेकात्तदपि, 'नित्यम्' इति शेषः। ततो नोत्पादाऽऽदिधर्मकं ज्ञानम्, नित्यत्वात्, नभोवदिति भावः। एवमुत्तरत्रापि भावार्थो वक्तव्यः । किञ्च-"सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडियओ " इति वचनाद् न क्षरति न विनश्यतीत्यक्षरं केवलज्ञानम्, तस्यानन्तभागो नित्योद्घाटो नित्यावस्थितोऽनावृत एव सर्वदा तिष्ठतीति यदस्माच्छ्रुतेऽभिहितम्, तस्माच्च नित्यं ज्ञानं, नित्यानावृतत्वात्, नभोवदिति ॥ २८१६ ॥

अहवा अरूवगुणओ, नाणं निच्चं नहावगाहो व्व ।
अयणप्पयासपरिणा-मओ य सव्वं जहा अणवो ॥२८१७॥

अथवा-नित्यं ज्ञानम्, अरूपद्रव्यगुणत्वात्, यथा नभोद्रव्यस्यावगाहगुणः। अथवा-सर्वमपि ज्ञानशब्दाऽऽदिकं नित्यं, अयनप्रकाशपरिणामत्वात्, तिरोभावाऽऽविर्भावधर्मकत्वादित्यर्थः, यथा परमाणव इति ॥ २८१७ ॥

अथ विशेषतोऽपि शब्दस्य नित्यत्वं साधयन्नाह-

दरिसणपरत्थयाओ, अइंदियत्थत्तओऽणवत्थाओ ।
संबंधनिच्चयाओ, सद्दावत्थाणमणुमेअं ॥ २८१८ ॥

इह शब्दस्यावस्थानं सदाऽवस्थितत्वं नित्यत्वमनुमेयं साध्यम् । (दरिसणपरत्थयाओ त्ति) दर्शनं प्रकटनं शब्दस्योच्चारणं व्यापारणं प्रयोग इति यावत्, तस्य दर्शनस्य शब्दप्रयोगस्य परार्थत्वं परप्रत्यायकत्वं, तस्माद्दर्शनपरार्थत्वादिति हेतुः । इदमुक्तं भवति-न खलु वक्तृभिः शब्दोत्पादनमात्रार्थमेव शब्दप्रयोगः क्रियते, किं तु परार्थत्वात् परप्रत्यायननिमित्तत्वादिति; यच्च परार्थं व्यापार्यते तत् तद्व्यापारकालात् प्रागप्यस्ति, यथा-घटाऽऽदिच्छेदनक्रियानिमित्तं व्यापार्यमाणः कुठारः छेदनक्रियाव्यापारकालात्प्रागप्यस्ति; ततः शब्दः सदाऽऽवस्थितत्वान्नित्यः सिद्धः ।

अत्रैव द्वितीयं हेतुमाह-(अइंदियत्थत्तओ त्ति) अतीन्द्रिया मेरुस्वर्गाऽऽदयोऽर्था अभिधेयत्वेन यस्यासावतीन्द्रियार्थः, तद्भावोऽतीन्द्रियार्थत्वं, तस्मादतीन्द्रियार्थत्वान्नित्यः शब्दः, केवलज्ञानवत् । इदमुक्तं भवति-ये इन्द्रियग्राह्या घटाऽऽदयोऽर्थाः, तेषु संकेतवशात्कृतक एव किल वाच्यवाचकत्वसंबन्धः, अतस्तस्मात्तच्छब्दस्य नित्यत्वं न सिध्यति; ये त्वतीन्द्रिया मेरुस्वर्गाऽऽदयोऽर्थाः, तेषामतीन्द्रियत्वेनैव किल संकेतः कर्तुं न शक्यते, अतोऽनादिकालसंसिद्धोऽकृतक एव शब्दस्य तेषु वाच्यवाचकभावसंबन्धः। अतोऽतीन्द्रियार्थैः सहानादिकालसंसिद्धाकृतकत्वेन नित्याद्

वाच्यवाचकभावसंबन्धासिद्धं किल शब्दस्य नित्यत्वम् । न हि स्वयमनित्यत्वयाऽनादिकालसंसिद्धैर्नित्यैर्मेर्वादिभिरर्थैः सह वाच्यवाचकभावसंबन्धः सिद्ध्यतीति भावः । तर्हि घटाऽऽदिवाचकशब्दानां कथं नित्यत्वं सिध्यति ?, इति चेत् । उच्यते-मेर्वादिवाचकशब्दानां नित्यत्वे सिद्धे तेषामपि तत्साध्यते; तद्यथा-नित्या घटाऽऽदिवाचकशब्दाः, शब्दत्वाद्, मेर्वादिशब्दवदिति ।

अत्रैव तृतीयहेतुमाह-(अणवत्थाओ त्ति) अयं च विपर्यये बाधक एव हेतुः । मूलहेतुस्त्वयं द्रष्टव्यः-नित्याः सर्वेऽपि घटाऽऽदिवाचकाः शब्दाः, अनादिकालात् तद्वाचकत्वेन तेषां सिद्धत्वाद्, इह यदनादिकालसिद्धं तन्नित्यं दृष्टम्, यथा चन्द्रार्कविमानाऽऽदयः, अनादिकालसिद्धाश्च घटाऽऽदिवाचकशब्दाः, तस्मान्नित्या इति । ननु साङ्केतिका एव घटाऽऽदिवाचकशब्दास्ततोऽसिद्धममीषामनादिकालसिद्धत्वमिति चेत् । तदयुक्तम् । सङ्केतस्य कर्तुमशक्यत्वात् । कुतः ?, इत्याह-अनवस्थातः, अनवस्थाप्रसङ्गोऽत्र बाधकं प्रमाणमित्यर्थः । तथाहि-येन शब्देन सङ्केतः क्रियते, तत्रापि सङ्केतकारकं शब्दान्तरमपेक्षणीयम्, तत्राप्यन्यत्, पुनस्तत्राप्यपरमिति, एवमनवस्थाप्रसङ्गतोऽशक्यं सङ्केतकरणम् । अथ पर्यन्ते कश्चिदकृतसङ्केतोऽपि ध्वनिरिष्यते, तर्हि प्राक्तना अपि सर्वे ध्वनयोऽकृतसङ्केताः, शब्दत्वात्, पर्यन्तध्वनिवत्, इत्यसाङ्केतिकत्वात्सिद्धं घटाऽऽदिवाचकशब्दानामनादिकालसिद्धत्वमिति ।

चतुर्थं हेतुमाह-(संबंधनिच्चयाओ त्ति) नित्यः शब्दः, उक्तन्यायेन तस्य घटाऽऽदिभिः सह वाच्यवाचकभावसंबन्धस्य नित्यत्वात्; तस्यानित्यत्वे वाच्यवाचकभावसंबन्धानित्यत्वानुपपत्तेरिति । इत्थं च ज्ञानाऽऽदीनां नित्यत्वे सिद्धे सिद्धोऽनुत्पन्नस्तदात्मको नमस्कार इत्याद्यनैगमाभिप्राय इति ॥२८१८॥

अथ शेषनया एतैरेव जीवानन्यत्वाऽऽदिहेतुभिर्ज्ञानाऽऽदीनामनित्यत्वं साधयन्ति-

जेणं चिय जीवाओ-ऽणन्नं तेणेव नाणमुप्पाइ ।
उप्पज्जइ जं जीवो, बहुहा देवाऽऽइभावेण ॥ २८१९ ॥

येनैव कारणेन जीवादनन्यदभिन्नं ज्ञानं, तेनैव तदुत्पद्यते, यद्यस्माद्, बहुधा जीवो देवाऽऽदिभावेनोत्पद्यते, तदुत्पादे च ज्ञानस्याप्युत्पादादिति ॥ २८१९ ॥

यदुक्तम्-"निच्चुग्घाडो य सुए"(२८१६) इति तत्राऽऽह-

अविसिट्ठऽक्खरभागो, सुत्तऽभिहिओ न सम्मनाणं ति ।
कोऽवसरो तस्स इहं, सम्मंनाणाहिगारम्मि ? ॥२८२०॥

अक्षरस्य योऽनन्ततमो भागो नित्योद्घाटः श्रुतेऽभिहितः, सोऽविशिष्ट एव सम्यग्मिथ्याविशेषरहित एवोक्तः, न तु सम्यग्ज्ञानरूपः । ततः सम्यग्ज्ञानविचारेऽत्र प्रस्तुते कस्तस्याधिकारः ? । इदमुक्तं भवति—यद्यविशिष्टज्ञानरूपोऽक्षरानन्तभागो नित्योद्घाटत्वेन नित्यः, तर्हि नमस्काररूपस्य सम्यग्ज्ञानस्य नित्यत्वं किमायातम् ?, अतो यत्किञ्चिदेतदिति ॥ २८२० ॥

यदुक्तम्-" अहवा अरूवगुणओ नाणं निच्चं " (२८१७) इत्यादि तत्राऽऽह-

अवगाहणाऽऽइओ णणु, गुणत्तओ चेव पत्तधम्म व्व ।
उप्पायाऽऽइसहावा, तह जीवगुणा वि को दोसो ? ॥२८२१॥

नन्ववगाहनाऽऽदय उत्पादाऽऽदिधर्मका एव, गुणत्वात्, पत्रधर्मा-ऽऽदिगुणवद्; एवं जीवगुणा अपि नमस्काराऽऽदय उत्पादाऽऽदिधर्मका एव, गुणत्वात्, पत्रधर्मवत्, इत्यपि त्वदुक्तविपरीतं ब्रुवतां को दोषः ?, न कश्चिदिति ॥२८२१॥

किञ्च-

अवगाढारं च विणा, कुओऽवगाहो त्ति तेण संजोगो ? ।
उप्पाई सोऽवस्सं, गच्चुवगाराऽऽदओ चेवं ॥ २८२२ ॥

अवगाढारं चावगाहकं जीव-परमाण्वादिकं विना विचार्यमाणः कुतोऽन्योऽवगाह इति वक्तव्यम् ? । तेनावगाह्येन नभसा सहावगाहकस्य जीवाऽऽदेः, तेन चावगाहकेन जीवाऽऽदिना सहावगाह्यस्य नभसः संयोगोऽवगाह इति चेत् । ननु यद्येवं, जितमस्माभिः, यतोऽवश्यमुत्पादी असौ, संयोगत्वात्, अङ्गुल्याऽऽदिसंयोगवदिति । एवं गतेरुपकारो गत्युपकारः, स आदिर्येषां स्थित्युपकाराऽऽदीनां ते गत्युपकाराऽऽदयो धर्मास्तिकायाऽऽदिगुणाः, तेऽप्येवमेवोत्पादवन्तो द्रष्टव्याः, गुणत्वाद्, अवगाहगुणवदिति ॥ २८२२ ॥

अपि च, आकाशपरमाण्वादिदृष्टान्ततो भवता नित्यत्वं साध्यते, तत्राऽऽकाशाऽऽदीनां नित्यत्वमस्माकमसिद्धम्; कुतः ?, इत्याह-

न य पज्जवओ भिन्नं, दव्वमिहेगंतओ जओ तेण ।
तन्नासम्मि कहं वा, नहाऽऽदओ सव्वहा निच्चा ? ॥२८२३॥

न च पर्यायाद् घटाऽऽदिसंयोगवर्णगन्धाऽऽदेः सकाशाद्, यतो यस्माद्, द्रव्यमेकान्ततो भिन्नम्, किन्त्वभिन्नमपि तत्तस्मादिष्यते, तेन तस्मात्कारणात्, तन्नाशे पर्यायविनाशे, कथं वा केन वा प्रकारेण, नभःपरमाण्वादयः सर्वथा नित्याः ?। कथञ्चिद्यदि नित्या भवन्ति, तर्हि भवन्तु । यत्तु सर्वथा नित्यत्वं, तत्तेषां न घटते, पर्यायविनाशे तद्रूपतया तेषामपि विनाशादिति भावः । तत एकान्तनित्यत्वे साध्ये नैतेषां दृष्टान्तत्वं युक्तमिति ॥२८२३॥

यदुक्तम्-"दरिसणपरत्थयाओ " (२८१८) इत्यादि, तत्र दूषणातिदेशमाह-

निच्चत्तसाहणाणि य, सद्दस्सासिद्धयाऽऽइदुट्ठाइं ।
संभवओ वच्चाइं, पक्खोदाहरणदोसा य ॥ २८२४ ॥

दर्शनपरार्थत्वाऽऽदीनि शब्दस्य नित्यत्वसाधनानि यानि उक्तानि, तानि न्यायमार्गानुसारिभिः स्वयमेवाभ्यूह्य यथासंभवमसिद्धताऽऽदिदोषदुष्टानि वाच्यानि । तथाहि-दर्शनपरार्थत्वादित्यसिद्धो हेतुः, स्वावबोधार्थमपि क्वचिच्छब्दप्रयोगदर्शनात्; तथाऽनैकान्तिकश्च, विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् । विरुद्धो वा, प्रयोगानन्तरमेव विशरारुत्वदर्शनात्; कृतकत्वाद्वा शब्देऽनित्यत्वस्यैव दर्शनात् । इत्यादिदूषणानि सर्वत्राभ्यूह्य वक्तव्यानि । तथा-पक्षोदाहरणदोषाश्च वाच्याः, वयं तु साक्षान्न ब्रूमः, ग्रन्थविस्तरभयात् । तत्र प्रत्यक्षाऽऽदिबाधितः पक्षः, साध्यसाधनविकलमुदाहरणम् । इत्यादिदोषाः स्वयमेव द्रष्टव्या इति ॥ २८२४ ॥

तदेवं नैगमोक्तं दूषयित्वा स्वपक्षसिद्ध्यर्थं शेषनयाः प्राऽऽहुः-

धणिरुप्पाई इंदिय-गज्झत्ताओ पयत्तजत्ताओ ।
पुग्गलसंचुईओ, पच्चयभेए य जेयाओ ॥ २८२५ ॥
उप्पाइ नाणमिट्ठं, निमित्तसब्भावओ जहा कुंभो ।
तह सद्दकायकिरिया, तस्संजोगो य जोऽभिमओ ॥२८२६॥

उत्पद्यत इत्युत्पादी ध्वनिरिति प्रतिज्ञा, इन्द्रियग्राह्यत्वात्, घटवदिति । तथा-प्रयत्नाज्जायत इति प्रयत्नजः, तद्भावः प्रयत्नजत्वं, तस्मात्प्रयत्नजत्वात् । तथा-पुद्गलेभ्यः संभूतेः । तथा-ताल्वादिप्रत्ययभेदभेदित्वादुत्पादी शब्दः घटवदिति सर्वत्र द्रष्टव्यम् । यश्चोत्पादी स विनाशित्वादनित्य इति सिद्धमेवेति ॥२८२५॥

तथा-उत्पादि ज्ञानं नमस्कारज्ञानमिदमिति प्रतिज्ञा, निमित्तसद्भावादिति हेतुः, जिनाऽऽदिविषयाज्जायमानत्वादित्यर्थः । यथा कुम्भ इति दृष्टान्तः । न केवलं ज्ञानं, तथा शब्दशिरोनमनाऽऽदिका कायक्रिया, तेषां च ज्ञानाऽऽदीनां यो द्विकाऽऽदिसंयोगो नित्यत्वेनाऽभिमतः परस्य, एतत्सर्वमुत्पादि, निजनिजनिमित्ताज्जायमानत्वात्, यथा कुम्भः । ततो ज्ञानाऽऽद्यात्मको नमस्कार उत्पन्न इति सिद्धम् । तदेवं "सेसाणं उप्पन्नो"(२८०६) इति व्याख्यातम् ॥ २८२६ ॥

" जइ कत्तो तिविहसामित्ता ?" (२८०६) इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

उप्पत्तिमओऽवस्सं, निमित्तमस्स उ णयत्तियं तिविहं ।
इच्छइ णिमित्तमेत्तो, जमणहा नत्थि संभूई ॥२८२७॥

यदि नामोत्पन्नो नमस्कारस्ततः किम् ?। अत्रोच्यते-उत्पत्तिमतश्च वस्तुनोऽवश्यं निमित्तम्, 'अस्ति' इति क्रियाऽध्याहारः । तथा च सत्यस्य नमस्कारस्योत्पत्तिमत्त्वादविशुद्धनैगमसंग्रहव्यवहारलक्षणं प्रथमनयत्रिकं समुत्थान-वाचनालब्धिस्वरूपं त्रिविधं निमित्तमिच्छति । कुतः ?, इत्याह-(एत्तो इत्यादि) यद्यस्मादेतस्मात्त्रिविधाद् निमित्तादन्यथाऽन्येन प्रकारेण नमस्कारस्य नास्ति संभूतिरुत्पत्तिरिति ॥ २८२७॥

तत्र समुत्थानलक्षणं निमित्तं व्याचिख्यासुराह-

देहसमुत्थाणं चिय, हेऊ भवपच्चयाव्वहिस्सेव ।
पुव्वुप्पन्नस्स वि से, इहभवभावो समुत्थाणं ॥२८२८॥

सम्यक् सङ्गतं वा उत्तिष्ठति जायतेऽस्मादिति समुत्थानम्, देह एव समुत्थानं, तदेव तावद्धेतुर्निमित्तम्, 'से' तस्य नमस्कारस्य । आह-यदाऽयमन्यभव एव स्वाऽऽवरणक्षयादुत्पन्नः स्यात्तदा कथमयं देहो हेतुः ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-(पुव्वुप्पन्नस्स वि से इहभवभावो समुत्थाणं ति) प्राग्भवे उत्पन्नस्यापि नमस्कारस्येहभवभाव इहभवशरीरं समुत्थानं कारणं भवति, एतद्भावभावित्वात्तस्य । दृष्टान्तमाह-(भवपच्चयावहिस्सेव त्ति) यथा हि भवप्रत्ययोऽवधिस्तीर्थकराऽऽदिसंबन्धी प्रागुत्पन्नोऽप्येतद्भवशरीरमन्तरेण न भवति । ततश्चेहभवशरीरं तस्य समुत्थानमेवं नमस्कारस्यापीति । एतदुक्तं भवति-यथा पूर्वोत्पन्ना अपि घटाऽऽदयो दीपेनाभिव्यज्यन्ते, तथा पूर्वोत्पन्नोऽपि नमस्कार इहभवदेहेनाभिव्यज्यते, इत्यसौ तस्य निमित्तं व्यपदिश्यत इति ॥२८२८॥

अत्र परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अन्ने सयमुत्थाणं, सविरियमन्नोवगारविमुहं ति ।
तदजुत्तं तदवत्थे, चुयलद्धे लद्धिओ णवं ॥ २८२९ ॥

अन्ये सूरयः स्वकमुत्थानं स्वमुत्थानं, स्ववीर्यमित्याचक्षते । कुतः ?, इत्याह-(अन्नोवगारविमुहं ति) अन्येनापान्तरालवर्तिना कारणान्तरेण कृत उपकारोऽन्योपकारः, तद्विमुखं तन्निरपेक्षं, यतोऽनन्तरकारणमित्यर्थः, तस्मादन्योपकारविमुखत्वादनन्तरकारणत्वात्स्ववीर्यं नमस्कारस्य समुत्थानं कारणमिति । एतन्निरासार्थमाह-(तदजुत्तं ति) तद्वीर्यमयुक्तम्, नमस्कारानन्तरकारणतया व्यभिचारित्वात् । कुतः ?, इत्याह-(तदवत्थे इत्यादि) यतस्तदवस्थेऽपि विद्यमाने वीर्ये कस्यापि लब्धोऽपि नमस्कारः स्वाऽऽवरणोदयात्पुनरपि च्यवते भ्रश्यति; च्युतोऽपि कदाचित् तदावरणक्षयोपशमात्पुनरपि लभ्यते । तत एवं तदवस्थेऽपि वीर्ये च्युतलब्धे नमस्कारे सति विज्ञायते-लब्धितो नान्यद्वीर्यं किमपि नमस्कारकारणमस्ति, व्यभिचारित्वात् । व्यभिचारित्वं च नमस्कारस्य तदन्वयव्यतिरेकाननुविधायित्वात् । लब्धिस्तु तस्याव्यभिचारि कारणम्, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादिति ॥ २८२९ ॥

तदेवं समुत्थानं व्याख्याय वाचनालब्धिस्वरूपं व्याचिख्यासुराह-

परओ सवणमहिगमो, परोवएसो त्ति वायणाऽभिमया ।
लद्धी य तयाऽऽवरण-क्खओवसमओ सयं लाभो ॥२८३०॥

परतो गुरुभ्यो यच्छ्रवणम्, तथा-अधिगमः, परोपदेशश्च, सा वाचनाऽभिधीयते । लब्धिस्तु का ?, इत्याह-परतो वाचनामन्तरेण नमस्कारस्य यः स्वयं लाभः । कुतः पुनर्या लब्धिः ?, इत्याह-तदावरणक्षयोपशमात्-नमस्काराऽऽवरणकर्मक्षयोपशमादित्यर्थः । आह-ननु तदावरणक्षयोपशम एव लब्धिरन्यत्र प्रसिद्धा, तत् कथमिह तत्कार्यभूतो नमस्कारलाभो लब्धित्वेनोच्यते, नमस्कारकारणस्यैवेह चिन्तयितुं प्रस्तुतत्वात् यथोक्ताया एव च लब्धेर्नमस्कारकारणत्वात् ?। सत्यम्, किन्तु तत्कार्यभूतोऽपि नमस्कारलाभोऽत्र लब्धिरुक्ता, कारणे कार्योपचारादिति । एतदविशुद्धनैगमसंग्रहव्यवहारनयमतेन त्रिविधं नमस्कारकारणं मन्तव्यमिति ॥ २८३० ॥

ऋजुसूत्रमतेन तु द्विविधमेव कारणमिति दर्शयन्नाह-

उज्जुसुयणयमयमिणं, पुव्वुपन्नस्स किं समुत्थाणं ?।
अह संपइमुप्पज्जइ, न वायणालद्धिभिन्नं तं ॥२८३१॥

ऋजुसूत्रनयस्येदं मतम्-यदि पूर्वभवोत्पन्नो नमस्कारः, तदेहभवदेहलक्षणं समुत्थानं तस्य किं करोति ?, न किञ्चिदित्यभिप्रायः; उत्पन्नस्य कारणापेक्षायोगादिति । अथ साम्प्रतमिहभवे समुत्पद्यते नमस्कारः, तर्हि यस्तस्य कारणं तद्वाचनालब्धिभ्यां भिन्नं व्यतिरिक्तं न किञ्चित्पश्यामः; अत इदमेवं द्विविधं तस्य कारणमिति ॥ २८३१ ॥

इदमेव भावयन्नाह-

परओ सयं व लाभो, जइ परओ वायणा सयं लद्धी ।
जं न परओ सयं वा, तओ किमन्नं समुत्थाणं ? ॥२८३२॥

नमस्कारस्य हि लाभो जायमानः परतोऽपि भवेत्, स्वयं वा ?, इति द्वयी गतिः, तत्र यदि परत इति पक्षः, तर्हि (वायण त्ति) गुरूपदेशलक्षणा वाचनैव तत्र कारणम् । अथ स्वयमिति पक्षः, तर्हि (लद्धि त्ति) तदावरणक्षयोपशमलक्षणा लब्धिरेव तत्र कारणं, नापरम् । यत्तु परतः स्वयं वा नोत्पद्यते, तत्खरविषाणकल्पमवस्त्वेवेत्यध्याहारः; वस्तुन उत्पत्तौ यथोक्तप्रकारद्वयस्यैव संभवात्, अनुत्पन्नस्य चावस्तुत्वादिति । ततस्तस्माद्वाचनालब्धिभ्यामन्यत्किं नाम समुत्थानं, यत्स्वयं परतो वाऽनुत्पन्नस्यावस्तुनः कारणं भवेदिति ? ॥ २८३२ ॥

अथ परभवे समुत्पन्नस्य नमस्कारस्येहभवे स्वतः परतो वाऽनुत्पन्नस्य तस्याभिव्यक्तिलक्षणाया उत्पत्तेः कारणं समुत्थानं भविष्यति । तदप्ययुक्तम् । कुतः ?, इत्याह–

उप्पज्जइ नाईयं, तक्किरिओवरमओ कयघडो व्व ।
अहवा कयं पि कीरइ, कीरउ निच्चं कओ णिट्ठा ? ॥२८३३॥

इहातीतोत्पादक्रियं वस्त्वतीतमभिप्रेतम् । तदेवंभूतं पूर्वभवेऽतीतोत्पादक्रियमतीतं नमस्कारलक्षणं वास्त्विह भवे पुनरपि नोत्पद्यत इति प्रतिज्ञा । (तक्किरिओवरमओ त्ति) तस्य नमस्कारस्योत्पादलक्षणा क्रिया तत्क्रिया, तस्या उपरमो विरामः तत्क्रियोपरमः, तस्मादिति हेतुः । कृतघटवदिति दृष्टान्तः । इह यस्योत्पत्तिक्रियोपरता तत्पुनरपि नोत्पद्यते, यथा पूर्वकृतो घटः; उपरतोत्पत्तिक्रियश्च पूर्वभवोत्पन्नो नमस्कार इष्यते, तत इहभवे पुनरपि नोत्पद्यत इति ॥ अथवा पूर्वं कृतमपि पुनः क्रियते, तर्हि पुनः पुनर्नित्यमेव क्रियताम्, पूर्वकृतत्वाविशेषात् । तथा च सति कुतः करणक्रियाया निष्ठा ?, इति । तदेवं च इहोत्पद्यते नासौ पूर्वोत्पन्न इति सामर्थ्यादुक्तम् ॥ २८३३ ॥

अथवा–भवतु पूर्वोत्पन्नः, तथाऽपि मत्पक्षसिद्धिरिति दर्शयन्नाह–

होउ व पुव्वुप्पाओ, तह वि न सो लद्धिवायणाभिन्नो ।
जेण पुरा वि सयं वा, परओ वा होज्ज से लाभो ॥२८३४॥

भवतु वा नमस्कारस्य पूर्वजन्मन्युत्पादः, तथाऽपि न स तदुत्पादो लब्धिवाचनाभ्यां भिन्नः–न लब्धिवाचनालक्षणकारणद्वयव्यतिरेकेण समुत्थानलक्षणेन कारणेन नमस्कारो जन्यत इत्यर्थः । कुतः ?, इत्याह–येन यस्मात्पुरा परभवेऽपि प्रवृत्तोऽसि त्वं स्वयं वा परतो वा (से) तस्य नमस्कारस्य लाभ इति वक्तव्यम् ? । यदि स्वयं, तर्हि लब्धिरेव तत्कारणम् । अथ परतः, तर्हि वाचना तद्धेतुरिति न किमप्येतत्कारणद्वयव्यतिरिक्तं समुत्थानलक्षणं कारणं पश्याम इति ॥२८३४॥

अथ " सेसनया लद्धिमिच्छंति " (२८०७) इत्येतद्व्याचिख्यासुराह–

सद्दाऽऽइमयं न लहइ, जं गुरुकम्मा पवायणाए वि ।
पावइ य तयावरण–क्खओवसमओ जओऽन्नस्सं ॥२८३५॥

शब्दसमभिरूढैवंभूतनयानामेतन्मतम्–यस्मात्कारणाद् गुरुकर्मा प्राणी गुरुभ्यः प्रवाचनायां सत्यामपि नमस्कारं न लभते, लघुकर्मा तु वाचनामन्तरेणाऽपि तदावरणकर्मक्षयोपशमाद् यतोऽवश्यमेव नमस्कारं प्राप्नोति ॥ २८३५ ॥

तो हेऊ लद्धि च्चिय, न वायणा जइ मइक्खओवसमो ।
तक्कारणो त्ति तम्मि वि, नणु साऽणेगंतिगी दिट्ठा ॥२८३६॥

(तो हेऊ लद्धि च्चिय त्ति) ततस्तस्माद्वाचनाया नमस्कारजनने व्यभिचारित्वात्तदावरणक्षयोपशमलक्षणा लब्धिरेव तद्धेतुर्न वाचनेति । यदि तु ऋजुसूत्रः कथमप्येवं ब्रूयात्–ननु मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयोपशमस्तत्कारणो वाचनाजन्यः, तथा च सति तत्क्षयोपशमजन्यस्य नमस्कारस्य पारम्पर्येण वाचनाऽपि कारणं भवति । अत्रोच्यते–ननु तस्मिन्नपि मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयोपशमे जन्ये सा वाचनाऽनैकान्तिकी दृष्टा, गुरुकर्मणां वाचनातोऽपि यथोक्तक्षयोपशमादर्शनादिति ॥ २८३६ ॥

अथ कस्यापि तावद्वाचनातः कर्मक्षयोपशमो भवन्नुपलभ्यते, तमाश्रित्य वाचना नमस्कारकारणं भविष्यति । तदप्ययुक्तम् । कुतः ?, इत्याह–

जस्स वि स तन्निमित्तो, तस्स वि तम्मत्तकारणं होज्जा ।
न नमोक्कारस्स तई, कम्मक्खओवसमजन्नस्स ॥२८३७॥

यस्यापि जीवस्य स मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयोपशमस्तन्निमित्तो वाचनाहेतुको दृश्यते, तस्यापि तन्मात्रकारणं यथोक्तक्षयोपशममात्रनिमित्तं (तइ त्ति) सा वाचना भवेत्, न तु नमस्कारस्य कारणं सा युज्यते । कथंभूतस्य ?, इत्याह–कर्मक्षयोपशमजन्यस्य । इदमुक्तं भवति–एवमपि मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिक्षयोपशमादेवानन्तरं नमस्कार उत्पद्यते, न तु वाचनातः, ततोऽसावेव तत्कारणं युज्यते, न तु वाचना, तस्या यथोक्तक्षयोपशमजनकत्वेनाऽन्यकारणत्वादिति ॥ २८३७ ॥

पुनरपि परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह–

अह कारणोवगारि, त्ति कारणं तेण कारणं सव्वं ।
पाएण बज्झवत्थुं, को नियमो सद्दमेत्तम्मि ? ॥२८३८॥
अह पच्चासण्णतरं, कारणमेगंतियं तओ लद्धि ।
पडिवज्ज न चेदेवं, न वायणामेत्तनियमो ते ॥२८३९॥

अथ कारणस्य यथोक्तक्षयोपशमस्योपकारिणी वाचनेति, अतः कारणकारणत्वादसौ नमस्कारस्य कारणमिष्यते । अत्रोच्यते–(तेणेत्यादि) तेन तर्हि प्रायेण सर्वमपि क्षितिशय्याऽऽसनाऽऽहार–वस्त्र–पात्राऽऽदिकं बाह्यं वस्तु नमस्कारकारणस्य यथोक्तक्षयोपशमस्योपकारित्वात्परम्परया नमस्कारस्य कारणं प्राप्नोति । अतः को नाम वाचनालक्षणे शब्दमात्रे तत्कारणत्वनियमः ?, इति ॥२८३८॥ अथ परम्परया सर्वस्य बाह्यवस्तुनो नमस्कारकारणोपकारित्वे सत्यपि यदेव प्रत्यासन्नतरं वाचनालक्षणं वस्तु, तदेवाऽऽसन्नोपकारित्वान्नमस्कारस्य कारणमिष्यते । ननु तथाऽपि नमस्कारजनने तदेवैकान्तिकमित्युक्तमेव । तत एकान्तिकमानन्तर्येणातिप्रत्यासन्नतरं लब्धिमेव तत्कारणं प्रतिपद्यस्व । न चेदेवं प्रतिपद्यसे, तर्हि न वाचनामात्रस्य नमस्कारकारणत्वनियमः ' ते ' तव सिध्यति; क्षित्यादेरपि पूर्वोक्तनीत्या तत्कारणत्वप्राप्तेः । तदेवं प्रथमनयत्रयस्य त्रिविधं कारणम्, ऋजुसूत्रस्य द्विविधं, शब्दनयास्तु लब्धिमेवैकां नमस्कारकारणमिच्छन्तीति स्थितम् । इति द्वात्रिंशद्गाथार्थः ॥ २८३९ ॥ तदेवमभिहितमुत्पत्तिद्वारम् ।

(३) इदानीं निक्षेपद्वारमुच्यते–तत्र नमस्कारस्य निक्षेपश्चतुर्धा–नामनमस्कारः, स्थापनानमस्कारः, द्रव्यनमस्कारः, भावनमस्कारश्चेति । तत्र नामस्थापने सुगमे, ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यनमस्काराऽभिधित्सया पुनराह–

निण्हाऽऽइ दव्व भावो–वउत्त जं कुज्ज सम्मदिट्ठी उ ।
नेवाइयं पयं द–व्वभावसंकोयण पयत्थो ॥ २८४० ॥

नमस्कारतद्वतोरभेदोपचारान्निह्नवाऽऽदिर्द्रव्यनमस्कारः, भा-

दिशब्दाद् यो द्रव्यार्थं विद्यामन्त्रदेवताऽऽदीनां नमस्कारः क्रियते, सोऽपि द्रव्यनमस्कारः । निह्नवाऽऽदिनमस्कारस्य च द्रव्यत्वमप्राधान्यात्, अप्राधान्यं च तेषां मिथ्यात्वाऽऽदिकलुषितत्वादिति । भावनमस्कारस्त्वागमतः स विज्ञेयो, यमुपयुक्तः सम्यग्-दृष्टिरर्हदादीनां कुर्यादिति द्वारम् ॥

(४) अथ पदद्वारमुच्यते-पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति पदम् । तच्च पञ्चधा-नामिकम्, नैपातिकम्, औपसर्गिकम्, आख्यातिकम्, मिश्रं चेति । तत्र 'अश्वः' इति नामिकम् । 'खलु' इति नैपातिकम्, 'परि' इत्यौपसर्गिकम् । 'धावति' इत्याख्यातिकम् । 'संयतः' इति मिश्रम् । एवं नामिकाऽऽदिपञ्चप्रकारपदसंभवे सत्याह-(नेवाइयं पयं ति) निपतत्यर्हदादिपदानामादिपर्यन्तयोरिति निपातः, निपाताद्गतं, तेन वा निर्वृत्तं, स एव वा स्वार्थिकप्रत्ययविधानान्नैपातिकम् 'नमः' इति पदम् । इति पदद्वारम् ।

(५) अथ पदार्थद्वारमुच्यते-(दव्वभावसंकोयण पयत्थो त्ति) इह 'नमोऽर्हद्भ्यः' इत्यादिषु यत् 'नमः' इति पदं, तस्य नम इति पदस्यार्थः पदार्थः, स च पूजालक्षणः । सा च का ?, इत्याह-(दव्वभावसंकोयण त्ति) द्रव्यसंकोचनम्, भावसंकोचनं च । तत्र द्रव्यसंकोचनं करशिरःपादाऽऽदिसंकोचः, भावसंकोचनं तु विशुद्धस्य मनसोऽर्हदादिगुणेषु निवेशः । अत्र च भङ्गचतुष्टयम् । तद्यथा-द्रव्यसंकोचो न भावसंकोचः, यथा पालकाऽऽदीनाम्, भावसंकोचो न द्रव्यसंकोच इत्यनुत्तरसुराऽऽदीनाम्; द्रव्यसंकोचो भावसंकोचश्च, यथा शाम्बस्य; न द्रव्यसंकोचो न भावसंकोच इति शून्यः । इह च भावसंकोचप्रधानो द्रव्यसंकोचोऽपि तच्छुद्धिनिमित्तः ॥ इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥ २८४० ॥

अथ नमस्कारस्य भाष्यकारो नामाऽऽदिनिक्षेपं विस्तरतो व्याचिख्यासुराह-

नामाऽऽइचउब्भेओ, निक्खेवो मंगलं च सो नेओ ।
नामं नमोऽभिहाणं, ठवणा नासोऽहवाऽऽगारो ॥२८४१॥

नामस्थापनाऽऽदिचतुर्भेदो नमस्कारस्य निक्षेपः । स चाधस्तादुक्तमङ्गलस्येव विस्तरतो विज्ञेयः । संक्षेपतस्त्विहाप्युच्यते-(नामं ति) नामनमस्कारो 'नमः' इत्यभिधानम् । स्थापनानमस्कारस्तु-'नमः' इत्यक्षरद्वयस्य विन्यासः । अथवा-नमस्कारकरणप्रवृत्तस्य संकोचितकरचरणस्य काष्ठपुस्तकचित्राऽऽदिगतस्य साध्वादेराकारः स्थापनानमस्कार इति ॥ २८४१ ॥

द्रव्यनमस्कारमाह-

आगमओऽणुवउत्तो, अज्झेया दव्वओ नमोक्कारो ।
नोआगमओ जाणय-भव्वसरीराइरित्तोऽयं ॥२८४२॥

द्रव्यनमस्कारो द्वेधा-आगमतः, नोआगमतश्च । तत्रानुपयुक्तो नमस्कारस्याध्येता-आगमतो द्रव्यनमस्कारः । नोआगमतोऽयं द्रव्यनमस्कारो ज्ञशरीर-भव्यशरीर-तद्व्यतिरिक्तभेदात्त्रिविध इति । तत्र ज्ञशरीर-भव्यशरीरवक्तव्यता सुगमा ॥ २८४२ ॥

तद्व्यतिरिक्तं तु द्रव्यनमस्कारमाह-

मिच्छोवहया जं भा-वओ वि कुव्वंति निन्हवाऽऽईया ।
सो दव्वनमोक्कारो, सम्माणुवउत्तकरणं च ॥ २८४३ ॥

मिथ्यात्वोपहता निह्नवाऽऽदयो भावतोऽपि यं नमस्कारं कुर्वन्ति, स ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तोऽप्रधानत्वाद् द्रव्यनमस्कारः । तथा सम्यग्दृष्टिरप्यनुपयुक्तो यं नमस्कारं करोति स तद्व्यतिरिक्तो द्रव्यनमस्कार इति ॥ २८४३ ॥

आह-ननु भावतोऽपि कुर्वतां निह्नवाऽऽदीनां किमिति द्रव्यनमस्कारः ? । अत्रोच्यते-अज्ञानित्वात् । अज्ञानित्वं च तेषां मिथ्यादृष्टित्वात्, 'मिथ्यादृष्टेरज्ञानम्' एतदपि कुतः ?, इत्याह-

सदसदविसेसणाओ, भवहेउ जदिच्छिओवलंभाओ ।
नाणफलाभावाओ, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ॥२८४४॥

प्रागसकृद् व्याख्यातार्था ॥ २८४४ ॥

प्रकारान्तरेणापि द्रव्यनमस्कारमाह-

जो वा दव्वत्थमसं-जयस्स व भयाइणाऽहवा सो वि ।
दव्वनमोक्कारो च्चिय, कीरइ दमएण रन्नो व्व ॥२८४५॥

यो वा द्रव्यार्थं क्रियते स द्रव्यनमस्कारः । अथवा-द्रव्यलाभं विनाऽपि योऽसंयतस्य राजाऽऽदेर्भयाऽऽदिकारणतो द्रमकाऽऽदिना क्रियते, सोऽपि तद्व्यतिरिक्तो द्रव्यनमस्कार इति ॥२८४५॥

अथाऽऽगमतो नोआगमतश्च द्विविधं भावनमस्कारमाह-

आगमओ तन्नाया, तच्चित्तो भावओ नमोक्कारो ।
नोआगमओ सो च्चिय, सेसयकरणोवउत्तो त्ति ॥२८४६॥

तस्मिन् नमस्कारार्थे चित्तमुपयोगो यस्य नान्यत्र-असौ तच्चित्तो विज्ञाता आगमतो भावनमस्कारः, स एव मनस्करणेनोपयुक्तो नमस्कारकर्त्ता यदा शेषकाभ्यामपि वाक्कायकरणाभ्यामुपयुक्तो नमस्कारं करोति-वचनेन 'नमोऽर्हद्भ्यः' इति ब्रुवाणः, कायेन तु संकोचितकरचरणो यदा नमस्कारं करोतीत्यर्थः, तदाऽसौ नोआगमतो भावनमस्कार उच्यते, उपयोगलक्षणस्याऽऽगमस्य वाक्कायकरणक्रियामिश्रत्वात्, नोशब्दस्य चेह मिश्रवचनत्वादिति ॥ २८४६ ॥

अथामुं नामाऽऽदिनिक्षेपमपि नयैर्विचारयन्नाह-

भावं चिय सद्दनया, सेसा इच्छंति सव्वनिक्खेवे ।
ठवणावज्जे संगह-ववहारा केइ इच्छंति ॥२८४७॥

भावमेव भावनमस्कारमेव इच्छन्ति त्रयोऽपि शब्दनयाः, शुद्धत्वात् । शेषास्तु ऋजुसूत्रान्ताश्चत्वारो नयाः, सर्वांश्चतुरोऽपि निक्षेपानिच्छन्ति, अविशुद्धत्वात् । केचित्तु व्याचक्षते-संग्रहव्यवहारौ स्थापनावर्जांस्त्रीन्निक्षेपानिच्छतः, सद्भावाऽसद्भावस्थापनायाः किल साङ्केतिकनामाभिधेयत्वेन नामनिक्षेप एवान्तर्भावादिति ॥ २८४७ ॥

तथा-

दव्वट्ठवणावज्जे, उज्जुसुओ तं न जुज्जए जम्हा ।
इच्छइ सुयम्मि भणियं, सो दव्वं किं तु न पुहत्तं ॥२८४८॥

द्रव्यस्थापनावर्जौ शेषौ द्वावेव नामभावनिक्षेपाविच्छति ऋजुसूत्रः । तदेतद् व्याख्यानं न युज्यते, यस्मादसौ ऋजुसूत्रो द्रव्यमिच्छत्येव, केवलं पृथक्त्वं नेच्छति-बहूनि द्रव्याऽऽवश्यकाऽऽदीनि नेच्छतीत्यर्थः । एतच्च सूत्रेऽनुयोगद्वारलक्षणे,

भणितं प्रतिपादितम् । तद्यथा-" उज्जुसुयस्स एगे अणुवउत्ते आगमओ एगं दव्वावस्सयं पुहत्तं नेच्छइ " इति ॥ २८४८ ॥

स्थापनेच्छामप्यस्याऽऽह—

इच्छंतो य स दव्वं, तदणागारं तु भावहेउ त्ति ।

नेच्छेज्ज कहं ठवणं, सागारं भावहेउ त्ति ? ॥२८४९॥

इच्छंश्च ऋजुसूत्रस्तत्प्रसिद्धं सुवर्णाऽऽदिकं द्रव्यं पिण्डाव-स्थायामनाकारं तथाविधकटककेयूराऽऽद्याकाररहितम्, विशिष्टेन्द्राऽऽद्याकाररहितं वा । कुत इच्छन् ?, इत्याह-भावहेतुर्यत-स्तद्- भविष्यत्कुण्डलाऽऽदिपर्यायलक्षणभावहेतुत्वादित्यर्थः। कथं नाम नेच्छेत्स्थापनाम् ?। कथंभूताम् ?,साकारां विशिष्टेन्द्राऽऽ-द्याकारसहितामपीत्यर्थः । पुनरपि किंविशिष्टाम् ?, इत्याह-भावहेतुभूतां-साकारत्वेन विशिष्टेन्द्राऽऽद्यभिप्रायकारणभूता-मित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-यो ह्यनाकारमपि भावहेतुत्वाद् द्रव्यमिच्छति ऋजुसूत्रः, स साकारामपि विशिष्टेन्द्राऽऽदिभा-वहेतुत्वात् स्थापनां किमिति नेच्छेत् ?, इच्छेदेव, नात्र संशय इति ॥ २८४९ ॥

उपपत्त्यन्तरेणापि द्रव्यस्थापनेच्छामस्य साध-यन्नाह-

नामं पि होज्ज सन्ना, तव्वयं वा तदत्थपरिसुन्नं ।

हेउ त्ति तदिच्छंतो, दव्वट्ठवणा कहं नेच्छे? ॥२८५०॥

ननु ऋजुसूत्रस्तावन्नाम निर्विवादमिच्छति । तच्च नाम इन्द्राऽऽदिसंज्ञामात्रं वा भवेत्, तद्वाच्यं वा तदर्थपरिशून्यमि-न्द्रशब्दवाच्यं वा, इन्द्रार्थरहितं वा गोपालदारकाऽऽदि वस्तु भवेदिति द्वयी गतिः । इदं चोभयरूपमपि नामहेतुर्भावका-रणमिति कृत्वा इच्छन्नसौ ऋजुसूत्रो द्रव्यस्थापने कथं नाम नेच्छेत् ?, भावकारणत्वाविशेषादिति भावः ॥ २८५० ॥

अह नामं भावम्मि वि,तेणेच्छइ तेण दव्वठवणा वि ।

भावस्साऽऽसन्नयरा, हेऊसद्दो उ बज्झयरो ॥२८५१॥

अथेन्द्राऽऽदिकं नाम भावेऽपि भावेन्द्रेऽपि संनिहितमस्ति, तेन तस्मादिच्छति तदृजुसूत्रः । तेन तर्हि जितमस्माभिः, अस्य न्यायस्य द्रव्यस्थापनापक्षे सुसमतरत्वात् । तथाहि-द्रव्यस्थापने अपि भावस्येन्द्रपर्यायस्यासन्नतरौ हेतू, शब्दस्तु तन्नामल-क्षणो बाह्यतर इति । एतदुक्तं भवति-इन्द्रमूर्तिलक्षणं द्रव्यं, विशिष्टतदाकाररूपा तु स्थापना, एते द्वे अपीन्द्रपर्यायस्य तादात्म्यसंबन्धेनावस्थितत्वात् संनिहिततरे, शब्दस्तु नामल-क्षणो वाच्यवाचकभावसंबन्धमात्रेणैव स्थितत्वाद् बाह्यतर इति । अतो भावे संनिहितत्वान्नामेच्छन् ऋजुसूत्रो द्रव्यस्थापने संनिहिततरत्वात्सुतरामिच्छेदिति । तदेवमृजुसूत्रस्य चतुर्वि-धनिक्षेपेच्छासाधनेनानन्तरोक्तत्वात्परिहृतं तद्विषयं दुर्व्याख्यान-म ॥ २८५१ ॥

अथ प्राग् यदुक्तम्-" ठवणावज्जे संगहववहारा " [२८४७] इत्यादि, तत्परिहरन्नाह-

संगहिउ असंगहिओ, सव्वो वा नेगमो ठवणमिच्छे ।

इच्छइ जइ संगहिओ, तं नेच्छे संगहो कीस ? ॥२८५२॥

इह संग्राहिकोऽसंग्राहिकः सर्वो वा नैगमस्तावन्निर्विवादं स्थापनामिच्छत्येव । तत्र संग्राहिकः संग्रहमतावलम्बी, सामा-न्यवादीत्यर्थः । असंग्राहिकस्तु-व्यवहारनयमतानुसारी, विशे-षवादीत्यर्थः, सर्वस्तु समुदितः । ततश्च यदि संग्राहिकः संग्र-हमतावलम्बी नैगमस्तां स्थापनामिच्छति, तर्हि संग्रहस्तत्स-मानमतोऽपि तां किमिति नेच्छति ?, इच्छेदेवेत्यर्थः॥२८५२॥

अहव मयमसंगहिओ, तो ववहारो वि किं न तद्धम्मा ?।

अह सव्वो तो तस्सम-धम्माणो दो वि ते जुत्ता ॥२८५३॥

(अहव मयमित्यादि) ' अथवा ' इत्यव्ययोऽथाऽर्थे । अथ परस्य मतम्-यद्यपि सामान्येन सर्वो नैगमः स्थापनामि-च्छति, तथापि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरसंग्राहिकोऽसौ तामिच्छतीति प्रतिपत्तव्यम् । ' न संग्राहिकः ' इत्यध्याहारः, न ततः संग्रहस्य स्थापनेच्छा निषिध्यत इति भावः । अत्रो-त्तरमाह-' तो ' इत्यादि । तर्ह्येकत्र संधिरस्ततोऽन्यत्र प्रच्यव-ते, एवं हि सति व्यवहारोऽपि स्थापनां किमिति 'नेच्छति' इति शेषः । कुतः ?, इत्याह-यतस्तद्धर्माऽसौ-असंग्राहिकनैगम-समानधर्मा व्यवहारनयोऽपि वर्तते, विशेषवादित्वात् । ततश्चै-षोऽपि स्थापनामिच्छेदेवेति, निषिद्धा चास्यापि त्वया,"ठ-वणावज्जे संगहववहारा " इति वचनादिति । अथ सर्वोऽख-ण्डः परिपूर्णो नैगमः स्थापनामिच्छति, न तु संग्राहिकोऽसंग्राहि-को वेति भेदवान्, अतस्तद्दृष्टान्तात्संग्रहव्यवहारयोर्न स्था-पनेच्छा साधयितुं युक्तेति भावः । अत्रोच्यते-' तो ' इत्या-दि । ततस्तर्हि तत्समधर्माणौ नैगमसमानधर्माणौ द्वावपि स-मुदितौ ताविति संग्रहव्यवहारौ युक्तावेव । इदमत्र हृदयम्-तर्हि प्रत्येकं तयोरेकतरनिरपेक्षयोः स्थापनाऽभ्युपगमो मा भूदिति समुदितयोस्तयोः संपूर्णनैगमरूपत्वात्तदभ्युपगमः केन वार्येत, अविभागस्थाद् नैगमात्प्रत्येकं तदेकैकताग्रहणात् ?, इति ॥ २८५३ ॥

इतश्च स्थापनाऽभ्युपगमः संग्रहव्यवहारयोर्युक्तः । कुतः ?, इत्याह-

जं च पवेसो नेगम-नयस्स दोसु बहुसो समक्खाओ ।

तो तम्मयं पि जिट्ठं, मयमियरेसिं विभिन्नाणं ॥ २८५४ ॥

यच्च यस्मात् प्रवेशोऽन्तर्भावः, " जो सामन्नग्गाही सो नेगमो संगहं गओ " इत्यादिना ग्रन्थेन प्रागन्यत्र च नैगमनय-स्य द्वयोः संग्रहव्यवहारयोर्बहुशोऽनेकधा समाख्यातः प्रति-पादितः । ततस्तन्मतमपि स्थापनाऽभ्युपगमलक्षणं नैगमनय-मतमपीतरयोः संग्रहव्यवहारयोर्विभिन्नयोर्भेदवतोर्भिन्नं पृथ-ग्मतं सम्मतमिति । इदमुक्तं भवति-यथा विभिन्नयोः संग्रह-व्यवहारयोर्नैगमोऽन्तर्भूतः, तथा स्थापनाऽभ्युपगमलक्षणं तन्म-तमपि तयोरन्तर्भूतमेव; ततो भिन्नं भेदेन तौ तदिच्छत एव-स्थापनासामान्यं संग्रह इच्छति, स्थापनाविशेषाँस्तु व्यव-हार इत्येतदेव युक्तं, तदनिच्छा तु सर्वथाऽनयोर्न युक्ते-ति ॥ २८५४ ॥

अत्रैवोपचयमाह-

सामण्णाऽऽइविसिट्ठं, वज्झं पि जमुज्जुसुत्तपज्जंता ।

इच्छंति वत्थुधम्मं, तो तेसिं सव्वनिक्खेवो ॥ २८५५ ॥

यस्माच्च सामान्याऽऽदिविशिष्टं बाह्यमपि च विचित्रं बहुप्र-कारमृजुसूत्रपर्यन्ता नया वस्तुधर्ममिच्छन्ति, ततस्तेषां सर्वेऽ-पि नामाऽऽदयो निक्षेपाः संमता एवेति । अतः " ठवणावज्जे संगहववहारा " (२८४७) इत्यादिना यत्केषाञ्चिन्मतं, त-दसंगतमेवेति ॥ २८५५ ॥

'नेवाइयं पयं' [२०५०] इत्येतद्
व्याचिख्यासुराह-

निवयइ पयाऽऽइपज्जं-तओ जओ तो नमो निवाउ त्ति ।
सो चिय निययत्थपरो, पयमिह नेवाइयं नाम ॥२०५६॥
पूयत्थमिणं सा पुण, सिरकरपायाऽऽइदव्वसंकोओ ।
भावस्स य संकोओ, मणसा सुद्धस्स विणिवेसो ॥२०५७॥

यतो यस्मान्निपतति पदाऽऽदिपर्यन्तयोरन्ततो 'नमः' इति पदं निपातो भण्यते । स एव 'नमः' इति निपातो निजकार्थपरः स्वार्थिकप्रत्ययोपादानो नैपातिकं पदमित्युच्यत इति ॥ २०५६ ॥ इदं च 'नमः' इति पदं पूजार्थम्, शेषं सुगमम् ॥ २०५७ ॥

अत्र च भावसंकोचलक्षणं भावकरणमेव प्रधानमिति-
दर्शयन्नाह-

एत्थं तु भावकरणं, पहाणमेगंतियं ति तस्सेव ।
बज्झं सुद्धिनिमित्तं, भावावेयं तु तं विफलं ॥२०५८॥
जं जुज्जंतो वि तयं, न तप्फलं लहइ पालगाइ व्व ।
तव्विरहिया लहंति य, फलमिह जयणुत्तराऽऽईया ॥२०५९॥
तह वि विसुद्धी पाए-ण बज्झसहियस्स जा न सा इहरा ।
संजायइ तेणोभय-सिद्धं संघस्स वा नमओ ॥२०६०॥

सुगमाः, गतार्थाश्च । नवरं भावापेतं भावरहितं तद् बाह्यकरणं विफलमेव । इति विंशतिगाथार्थः ॥ २८५८।२८५९।२०६० ॥

(६) अथ प्ररूपणाद्वारमाह-

दुविहा परूवणा छ-प्पया य नवहा य छप्पया इ णमो ।
किं कस्स केण व कहिं, केवचिरं कइविहो व भवे ? ॥२०६१॥

द्विविधा द्विप्रकारा, प्रकृष्टा प्रधाना, प्रगता वा रूपणा वर्णना प्ररूपणेति । तदेव द्वैविध्यमाह-षट्पदा च षट्प्रकारा, नवधा च नवप्रकारा, चशब्दात्पञ्चपदा, चतुष्पदा च । तत्र षट्पदा 'णमो' इति पदं किं, कस्य, केन वा, क्व वा, कियच्चिरं, कतिविधो वा भवेन्नमस्कारः ? । इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥२०६१॥

तत्र किंद्वारव्याख्यानार्थमाह-

किं जीवो तप्परिणओ, पुव्वपडिवन्नओ य जीवाणं ।
जीवस्स य जीवाण य, पडुच्च पडिवज्जमाणं तु ॥२०६२॥

किं वस्तु नमस्कारः ?, इत्याह-(जीवो त्ति) सामान्येन अविशुद्धनैगमाऽऽदिनयानां जीवः, तद्ज्ञानलब्धियुक्तो योऽयो वा नमस्कारः। शब्दाऽऽदिविशुद्धनयमतं त्वधिकृत्याऽऽह-(तप्परिणओ त्ति) शब्दाऽऽदिविशुद्धनयमतेन तु जीवः, तत्परिणतो नमस्कारपरिणामपरिणत एव नमस्कारो, नापरिणत इति । उक्तं किंद्वारम् ।

अथ कस्येतिद्वारमुच्यते-तत्र च यदा पूर्वप्रतिपन्नो नमस्कारश्चिन्त्यते, तदा जीवानामसौ विज्ञेयः, बहुजीवस्वामिक इत्यर्थः । प्रतिपद्यमानं तु नमस्कारं प्रतीत्य यदा एको जीवस्तं प्रतिपद्यते, तदा जीवस्यासौ विज्ञेयः, एकजीवस्वामिक इत्यर्थः । यदा तु बहवो जीवास्तं प्रतिपद्यन्ते, तदा जीवानामेव ज्ञातव्यः, बहुजीवस्वामिक इत्यर्थः। इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ।२०६२।

अथ किंद्वारविषयं भाष्यम्-

किं होज्ज नमोक्कारो, जीवोऽजीवोऽहवा गुणो दव्वं ।
जीवो नो खंधो त्ति य, तह नोगामो नमोक्कारो ॥२०६३॥

किं वस्तु नमस्कारो भवेत् ?-जीवः, अजीवो वा । जीवाजीवत्वेऽपि किं गुणो, द्रव्यं वा नमस्कारः ?, इति प्रश्ने नैगमाऽऽद्यविशुद्धनयमतमङ्गीकृत्याऽऽह-जीवो नमस्कारः, नाऽजीवः । स च संग्रहनयापेक्षया मा भूदविशिष्टः पञ्चास्तिकायमयः स्कन्धः । यथाऽऽहुस्तन्मतावलम्बिनः-" पुरुष एवेदं ग्निं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति " इत्यादि । तथा संग्रहनयविशेषापेक्षयैव मा भूदविशिष्टग्राम इति, 'अतो नो स्कन्धो नो ग्रामः' इति निर्युक्तिगाथायां वाक्यशेषः । पञ्चास्तिकायमयस्कन्धैकदेशत्वान्नोशब्दस्य च देशवचनत्वान्नोस्कन्धो जीवो नमस्कारः, तथा- चतुर्दशविधभूतग्रामैकदेशत्वाद् नोशब्दस्य च देशवचनत्वाद् नोग्रामरूपः प्रतिनियतः कोऽपि जीवो नमस्कार इति ।२०६३।

ननु कस्माज्जीवो नमस्कारः, नाऽजीवः ?, इत्याह-

जं जीवो णाणमओ-ऽणन्नो नाणं च जं नमोक्कारो ।
तो सो जीवो दव्वं, गुणो त्ति सामाइएऽभिहियं ॥२०६४॥

यद्यस्माद् ज्ञानमयो जीवः, ज्ञानं च यस्मात् श्रुतज्ञानरूपो नमस्कारः, अनन्यश्चाव्यतिरिक्तश्च ज्ञानाज्जीवः । ततः स नमस्कारो 'जीवो त्ति' जीव एव, नाजीवः, तस्य ज्ञानशून्यत्वादिति । भवतु जीवो नमस्कारः, केवलं द्रव्यमसौ, गुणो वा ?, इति वक्तव्यमित्याह-' द्रव्यं गुणो वा नमस्कारः ' इत्येतत्सामायिके ' किं सामायिकं ' इति द्वारे-" जीवो गुणपडिवन्नो, नयस्स दव्वट्ठियस्स सामइयं । सो चेव पज्जवट्ठिय-नयस्स जीवस्स एस गुणो ॥ १ ॥ " (२६४३) इत्यादिना ग्रन्थेनाभिहितमेव, केवलं सामायिकस्थाने नमस्कारो वाच्य इति । ॥ २०६४ ॥

भवतु जीवो नमस्कारः, किन्तु नोस्कन्धो नोग्रामश्च कथमसौ ?, इत्याह-

सव्वत्थिमओ खंधो, तदेकदेसो य जं नमोक्कारो ।
देसपडिसेहवयणो, नोसद्दो तेण नोखंधो ॥२०६५॥
भूयग्गामो गामो, तदेकदेसो तउ त्ति नोगामो ।
देसो त्ति सो किमेको-ऽणेगो नेओ नयमयाओ ॥२८६६॥

सर्वे पञ्चास्तिकायाः, तन्मयस्तैर्निर्वृत्तः परिपूर्णः, स्कन्ध उच्यते । तदेकदेशश्च यस्मान्नमस्कारवान् जीवः, नमस्कारतद्वतोश्चाभेदोपचारान्नमस्कारोऽपि तदेकदेशः । देशप्रतिषेधवचनश्च नोशब्दः, तेन तस्मात्स्कन्धैकदेशो जीवः, अभेदोपचारान्नमस्कारश्च नोस्कन्ध इति । तथा-"एगिंदिय सुहुमियरा, सन्नियरपणिंदिया सबितिचउ । पज्जत्तापज्जत्ता, भेएणं चउद्दसग्गामा ।१।" इति वचनाच्चतुर्दशविधो भूतग्रामो ग्राम उच्यते । तदेकदेशश्च यस्मादेकोऽसौ नमस्कारवान् देवमनुष्याऽऽदिजीवोऽभेदोपचारान्नमस्कारोऽपि तदेकदेश इत्यतोऽसौ नोग्रामोऽभिधीयते । 'देसो त्ति' पृच्छति विनेयः-भूतग्रामस्य देशः सन् स नमस्कारः, किमेकोऽनेको वा ?, इति वक्तव्यम् । गुरुराह-ज्ञेयो नयमतात्-एकत्वमनेकत्वं च तस्य नयमताद्विज्ञेयमित्यर्थः । तदेतावता ' किं जीवो ' (२८६२) इति व्याख्यातम् ॥ २८६५। २०६६ ॥

अथ ' तप्परिणओ ' (२८६२) इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

तप्परिणओ चिय जया, सद्दाईणं तया नमोक्कारो ।
सेसाणमणुवउत्तो, वि लद्धिसहिओऽहवा जोग्गो ॥२०६७॥

तत्परिणत एव नमस्कारपरिणामपरिणत एव, यदा जीवो भवति, तदाऽसौ शब्दाऽऽदिनयत्रयमतेन नमस्कारोऽभिधीयते। शेषाणां तु नैगमाऽऽदिनयानामनुपयुक्तोऽपि नमस्कारो जीवो नमस्कार उच्यते। किं सर्वः ?, नेत्याह-लब्धिसहितस्तदावरणकर्मक्षयोपशमयुक्तः, अथवा-योग्यो भव्यशरीराऽऽदिको राज्यार्हकुमारराजवदिति ॥ २८६७ ॥

अथ कथं पुनर्नयमतेन नमस्कारस्यैकत्वमनेकत्वं च ज्ञेयम् ?, इत्याह-

संगहनओ नमोका-रजाइसामन्नओ सया एगं ।
इच्छइ ववहारो पुण, एगमिहेगं बहू बहवो ॥२८६८॥
उज्जुसुयाऽऽईणं पुण, जेण सयं संपयं व वत्थुं ति ।
पत्तेयं पत्तेयं, तेण नमोकारमिच्छंति ॥ २८६९ ॥

द्वे अपि सुगमे, नवरं व्यवहारनयः पुनरेकं नमस्कारवन्तं जीवमेकं नमस्कारमिच्छति, बहूँस्तद्वतो बहून्नमस्कारानिच्छति, लोकव्यवहारपरत्वात्, लोके चेत्थं दर्शनादिति। ऋजुसूत्राऽऽदयस्तु बहुत्वं नेच्छन्ति, वर्तमानसमयवर्तिनः स्वकीयस्यैवैकस्य प्रत्येकं प्रत्येकमभ्युपगमादिति ॥ व्याख्यातं किमितिप्ररूपणाद्वारम् ॥ २८६८ ॥ २८६९ ॥

अथ कस्येतिद्वारे " पुव्वपडिवण्णओ य जीवाणं " (२८६२) इत्यादि व्याचिख्यासया प्राऽऽह-

पडिवज्जमाणओ पुण, एगोऽणेगे व संगहं मोत्तुं ।
इट्ठो सेसनयाणं, पडिवन्ना णियमओऽणेगे ॥२८७०॥

प्रतिपद्यमानको नमस्कारस्यैकोऽनेके वा जीवा भवन्तीत्ययं पक्षः संग्रहनयं मुक्त्वा शेषनयानामिष्टः संमतः, पूर्वप्रतिपन्नास्तु नियमेनानेके तेषामिष्टाः, गतिचतुष्टयेऽपि पूर्वप्रतिपन्नस्य सम्यग्दृष्टीनामसंख्येयानां सदैव लाभात् । संग्रहनयस्तु-बहुत्वं सर्वत्र नेच्छतीति तद्वर्जनमिति । तदेवं 'कस्य नमस्कारः ?', इति पृष्टे एकानेकजीवस्वामिको नमस्कार इति निर्णीतम् ॥ २८७० ॥

अथ जीवस्वामिके सत्यपि 'किं नमस्कार्यजीवस्वामिको नमस्कारः, नमस्कर्तृजीवस्वामिको वा ?', इति जिज्ञासायां नयैर्निर्णयमाह-

कस्स त्ति नमोकारो, पुज्जस्स य संपयाणजावाओ ।
नेगमववहारमयं, जह भिक्खा कस्स जइणो त्ति ॥२८७१॥

कस्य नमस्कारः-किंस्वामिकोऽसौ ?, इति पृष्टे गुरुराह-नैगमव्यवहारनयमतमिदम्-पूज्यस्य नमस्कार्यस्य नमस्कारः, न पुनस्तत्कर्तुः । कुतः ?; संप्रदानभावत्-तेन पूज्यस्यैव संप्रदीयमानत्वात् । लोकेऽपि वक्तारो भवन्ति-कस्य भिक्षा ?, 'यतेः,' इति, न पुनस्तद्दातुः ॥ २८७१ ॥

हेत्वन्तरेणापि नमस्कार्यस्वामिकत्वं नमस्कारस्यैतौ समर्थयतः । कथम् ?, इत्याह-

पुज्जस्स व पज्जाओ, तप्पच्चयओ घडाऽऽयधम्म व्व ।
तद्धेउजावओ वा, घडविण्णाणाभिहाणं व ॥ २८७२॥

अथवा-पूज्यस्यैव पर्यायो नमस्कार इति प्रतिज्ञा । (तप्पच्चयओ त्ति) पूज्ये पूज्योऽयमिति प्रत्ययजनकत्वादिति हेतुः। (घडाऽऽयधम्म व्व त्ति) घटस्याऽऽत्मीयरूपाऽऽदिवदिति दृष्टान्तः, यथा-घटे घटप्रत्ययजनकत्वात्तद्रूपाऽऽदयस्तत्पर्याया इत्यर्थः । अथवा-अस्यामेव प्रतिज्ञायां तद्धेतुभावादिति हेतुः-नमस्कारोत्पत्तिहेतुत्वादित्यर्थः । घटविज्ञानाभिधानवदिति दृष्टान्तः । इयमत्र भावना-नमस्कार्येऽर्हदादौ दृष्टे भव्यजन्तोः विशिष्टोल्लासो नमस्कारकरणाभिप्राय उत्पद्यते, ततस्तन्नमस्कारस्य नमस्कार्यो हेतुः, ततस्तद्धेतुभावान्नमस्कार्यस्यैव पूज्यस्यैव पर्यायो नमस्कारः; यथा घटविषयविज्ञानाभिधाने घटहेतुकत्वाद् घटपर्यायाविति ॥ २८७२ ॥

किञ्च-युक्त्यन्तरेणापि पूज्यस्वामिक एव नमस्कारः; कथम् ?, इत्याह-

अहवा स करेंतो चे-व तस्स जं जिच्चजावमावण्णो ।
का तस्स नमोकारे, चिंता दासक्खरोवम्मे ॥ २८७३ ॥

अथवा-यद्यस्मात् स नमस्कारकर्ता नमस्कारं कुर्वाण एव तस्य नमस्कार्यस्याऽर्हदादेर्भृत्यभावं दासत्वमापन्नः; ततस्तस्य नमस्कारकर्तुर्नमस्कारे का चिन्ता ?-किं ममत्वम् ?। ननु नमस्कारस्तावद् दूरे तिष्ठतु, तस्याऽऽत्माऽपि नात्मीयः, पूज्यस्य भृत्यभावेन समर्पणात् । किंविशिष्टे नमस्कारे चिन्ता न विधेया?, इत्याह-(दासक्खरोवम्मे त्ति) दाससंबन्धिना खरेणौपम्यमुपमानं यस्य तस्मिंस्तथाभूते । इदमुक्तं भवति-" दासेण मे खरो कीओ, दासो वी मे खरो वी मे ।" इति सिद्धान्तोक्तन्यायाद्दासकल्पो नमस्कारकर्ता, खरकल्पस्तु नमस्कारः, द्वावप्येतौ नमस्कार्यस्यार्हदादेरेव, न पुनर्नमस्कारकर्तुः किञ्चिदिति किं तस्य चिन्तया ?, इति । तदेवं पूज्यस्यैव नमस्कार इति नैगमव्यवहारनयमतेन प्रतिष्ठितम् ॥ २८७३ ॥

पूज्यं च वस्तु द्विविधं--जीवरूपं जिनाऽऽदि, अजीवरूपं च तत्प्रतिमाऽऽदि । अस्य च जीवाजीवपदद्वयस्यैकवचनबहुवचनाभ्यामष्टौ भङ्गा भवन्ति । तद्यथा-जीवस्य १, अजीवस्य २, जीवानाम् ३, अजीवानाम् ४, जीवस्याऽजीवस्य च ५, जीवस्याजीवानां च ६, जीवानामजीवस्य च ७, जीवानामजीवानां च ८ । इमामेवाष्टभङ्गीं सोदाहरणां भाष्यकारः प्राऽऽह-

जीवस्स सो जिणस्स व,अज्जीवस्स उ जिणिंदपडिमाए ।
जीवाण जईणं पि व, अज्जीवाणं तु पडिमाणं ॥२८७४॥
जीवस्साऽजीवस्स य, जइणो बिंबस्स चेगओ समयं।
जीवस्साऽजीवाण य, जइणो पडिमाण चेगत्थं ॥२८७५॥
जीवाणमजीवस्स य, जईणं बिंबस्स चेगओ समयं ।
जीवाणमजीवाण य, जईण पडिमाण चेगत्थं ॥२८७६॥

तिस्रोऽपि गतार्थाः ॥ २८७४।२८७५।२८७६ ॥

अथ परमतमाशङ्कय परिहरन्नाह-

जीवो त्ति णमोक्कारो, णणु सव्वमयं कहं पुणो भेओ ?।
इह जीवस्सेव सओ,भण्णइ सामित्तचिंतेयं ॥२८७७॥

ननु " किं जीवो तप्परिणओ " (२८६२) इत्यत्र पूर्वं जीवो नमस्कार इति सर्वनयसंमतं समानाधिकरणमुक्तम् । इह तु " जीवस्स सो जिणस्स व " (२८७४) इत्यादिषष्ठीनिर्देशात्कथं भेदोऽभिधीयते ? । अत्रोच्यते-(इहेत्यादि) इहास्यामष्टभङ्ग्यां जीवस्यैव सतो नमस्कारस्य तथैव समाना-

धिकरणभाजः सतो नमस्कारस्येत्यर्थः । किम् ?, अत आह-स्वामित्वचिन्तेयं भण्यते-'स जीवरूपो नमस्कारः किं नमस्कार्यस्य संबन्धी, नमस्कर्तुर्वा ?,' इत्येतदिह चिन्त्यत इति भावः । एतच्च नैगमव्यवहारनयमतेन चिन्तितम् ॥ २८७७ ॥

अथ संग्रहनयमतेन चिन्तयन्नाह-

सामन्नमेत्तगाही, सपरजिएयरविसेसनिरवेक्खो ।
संगहनओऽभिमन्नइ, तमिहेगस्साविसिट्ठस्स ॥२८७८॥

सामान्यमात्रग्राही संग्रहनयोऽभिमन्यते तमिह नमस्कारं, संबन्धितया कस्य ?, इत्याह-एकस्य । कथंभूतस्य ?, अविशिष्टस्य जीवाजीवविशेषणरहितस्यैकस्यैवाविशिष्टस्य सामान्यरूपस्य संबन्धितया नमस्कारमसौ मन्यते, न तु द्वयोः, बहूनां वेत्यर्थः । अत्रोपपत्तिमाह-" सपरजिएयरविसेसनिरवेक्खो त्ति । " स्वश्च परश्च स्वपरौ, स्वपरौ च तौ जीवौ च स्वपरजीवौ, तौ चेतरेऽजीवाश्च स्वपरजीवेतराः, तेषां विशेषा एकाद्व्यादयः, स्वपरजीवेतराश्च ते विशेषाश्च स्वपरजीवेतरविशेषाः, तन्निरपेक्षो यतोऽसौ, ततस्तन्निरपेक्षत्वात् सामान्यमात्रस्यैव संग्रहो नमस्कारं मन्यत इति ॥२८७८॥

एतदेव भावयति-

जीवस्साऽजीवस्स व,सस्स परस्स व विसेसणेऽभिन्नो ।
न य भेयमिच्छइ सया, स नमोसामन्नमेत्तस्स ॥२८७९॥

(जीवस्सेत्यादि) जीवस्याऽजीवस्य वा स्वस्य परस्य वा नमस्कारस्येत्येवं विशेषणे कर्त्तव्येऽभिन्नोऽभेदवानसौ एतैर्भेदैर्नमस्कारं न विशेषयति, किं तु सामान्यमात्रग्राहित्वात् सामान्यमात्रस्यैव नमस्कारमसौ मन्यत इत्यर्थः । नन्वेवं, किं तु नमःशब्दरूपं नमस्कारं स्वस्वरूपेणाऽऽधाराऽऽदिभेदाद्भिन्नमसौ मन्यते, अभिन्नं वा ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-न च नमस्कारसामान्यमात्रस्याऽऽधाराऽऽदिभेदेऽपि सदा सर्वकालं स संग्रहनयो भेदमिच्छति, सर्वतः सामान्यमात्रग्राहित्वादिति ॥२८७९॥

अथवा जीवस्य नमस्कार इति षष्ठ्या भेदनिर्देशं मूलतः संग्रहो न मन्यत एव, किमनया तस्य स्वामित्वचिन्तया ?, इति दर्शयन्नाह-

जीवो नमु त्ति तुल्ला-हिगरणयं बेइ न उ स जीवस्स ।
इच्छइ वाऽसुद्धयरो, तं जीवस्सेव नऽन्नस्स ॥२८८०॥

(जीवो इत्यादि) संग्रहः"जीवो नमस्कारः" इति तुल्याधिकरणतां समानाधिकरणतामेव ब्रवीति,न पुनरसौ जीवस्य नमस्कार इति व्यधिकरणमिच्छति, जीवनमस्काराऽऽद्यर्थानां सर्वेषामप्यभेदवादित्वादिति । किमयमेक एव प्रकारस्तस्य?, नेत्याह-(इच्छइ इत्यादि) इच्छति वाऽशुद्धतरः संग्रहनयस्तं नमस्कारं संबन्धितया, कस्य ?, जीवस्यैव जीवसामान्यस्यैव, न पुनरन्यस्याऽऽत्मभूतरहितस्य देशसप्तभङ्गीगतस्याजीवाऽऽदेरिति ।२८८०।

अथ ऋजुसूत्रमधिकृत्याऽऽह-

उज्जुसुयमयं नाणं, सद्दो किरिया च जं नमोक्कारो ।
होज्ज न हि सव्वहा सो, जुत्तो तक्कत्तुरन्नस्स ॥२८८१॥

ऋजुसूत्रनयस्येदं मतम्-यच्चज्ज्ञानमुपयोगरूपं, शब्दो वा " नमोऽर्हद्भ्यः " इत्यादिकः, क्रिया वा शिरोनमनाऽऽदिरूपा नमस्कारो भवेद् ?, इति त्रयी गतिः । ततो न हि नैव, सर्वथा सर्वैरपि प्रकारैः, तत्कर्त्तारं विनाऽन्यस्य युक्तः स नमस्कारः । तस्मान्नमस्कर्तृस्वामिक एवासौ युज्यते, न तु नमस्कार्यस्वामिक इतीह भावार्थः ॥ २८८१ ॥

कुतः ?, इत्याह-

नाणं जीवाणऽन्नं, तं कहमत्थंतरस्स पुज्जस्स ? ।
जीवस्स होउ कह वा, पडिमाए जीवरहियाए ? ॥२८८२॥

(नाणमित्यादि) यदि ज्ञानं नमस्कारस्तदा गुणत्वेन तन्नमस्कर्तृजीवादनन्यदव्यतिरिक्तं वर्त्तते, तत्कथमर्थान्तरस्य पूज्यस्य नमस्कार्यस्यार्हदादेः संबन्धि वक्तुं युज्यते ? । यदि वा-अघटमानकमप्यभ्युपगम्य ब्रूमः-जीवस्य पूज्यस्यापि संबन्धि तद् भवतु, जीवरहितायास्त्वचेतनायाः प्रतिमायाः कथं वा केन प्रकारेण तद्भवेत् ?, तस्याः सर्वथा ज्ञानशून्यत्वेन कष्टतरं महासाहसमिदमित्यभिप्रायः ॥ २८८२ ॥

एवं सद्दो किरिया, य सद्द-किरियावओ जओ धम्मो ।
न य धम्मो दव्वंतर-संचारी तो न पुज्जस्स ॥ २८८३ ॥

एवं शब्दः क्रिया च यस्माच्छब्दक्रियावतो नमस्कर्तुर्धर्मः, धर्मश्च न द्रव्यान्तरसंचारी, ततो न पूज्यस्य नमस्कार्यस्य नमस्कार इति ॥ २८८३ ॥

कुतः पुनर्धर्मो द्रव्यान्तरसंचारी न स्याद् ?, इत्याह-

एवं च कयविणासा-ऽकयागमेगत्तसंकराऽऽईया ।
अन्नस्स नमोक्कारे, दोसा बहवो पसज्जंति ॥ २८८४ ॥

एवं ह्यनेन पूजकेन कृते नमस्कारे, अन्यस्य पूज्यस्याभ्युपगम्यमाने बहवो दोषाः प्रसज्जन्ते । के ?, इत्याह-कृतनाशाकृताऽऽगमैकत्वसङ्कराऽऽदयः । तत्र येन कृतस्तस्यानभ्युपगमात्कृतनाशः, येन च न कृतः पूज्येन, तत्स्वामित्वाभ्युपगमेऽकृताऽऽगमः । तथा-द्वयोरप्यभिन्ननमस्कारधर्मकत्वादेकत्वं, सङ्करो वा । आदिशब्दात्सहोत्पत्तिविनाशाऽऽदय इति ॥ २८८४ ॥

नैगमाऽऽदिनयवादी पूर्वपक्षयन्नाह-

जइ सामिभावओ हो-ज्ज पूयणिज्जस्स सो तो को दोसो ? ।
अत्थंतरभूयस्स वि, जह गावो देवदत्तस्स ॥२८८५॥

यदि पूजकादर्थान्तरभूतस्यापि पूजनीयस्य पूजके स्थितोऽपि स्वामिभावेन स नमस्कारो भवेत्, तर्हि को दोषः स्यात् ?-धर्मस्य द्रव्यान्तरे संचरणाभ्युपगमान्न कश्चिदित्यर्थः । यथाऽन्यत्र स्थितानामपि गवां देवदत्तः स्वामीति ॥२८८५॥

ऋजुसूत्र उत्तरमाह-

अस्सेदं ववएसो, हवेज्ज दव्वम्मि न उ गुणे जुत्तो ।
पडयस्स सुक्कभावो, जम्हा न हि देवदत्तस्स ॥२८८६॥

अन्यत्र स्थितेऽपि गवादिके द्रव्ये, अन्यत्र स्थितस्यापि देवदत्ताऽऽदेरस्येदमिति स्वामित्वव्यपदेशो भवेद्युज्येत, गुणे त्वयं न्यायो न युक्तः; न हि पटस्य शुक्लभावः शुक्लगुणो देवदत्तस्य भण्यते, साङ्कर्यैकत्वाऽऽदिदोषप्रसङ्गादिति ॥ २८८६ ॥

पुनरपि परः प्राऽऽह-

ववएसाभावम्मि वि, ननु सामित्तमणिवारियं चेव ।
अन्नाधाराणं पि हु, सगुणाण व जोगभावाओ ॥२८८७॥

ननु गुणेष्वप्ययं न्यायो दृश्यत एव; तथाहि-अन्याऽऽधाराणामपि देवदत्तसंबन्धिपटाऽऽदिगतानामपि, शुक्लाऽऽदिगुणानामिति शेषः । देवदत्तस्यैते शुक्लाऽऽदिगुणा इति व्यपदेशाभावेऽपि ननु तस्य तत्स्वामित्वमनिवारितमेव । कुतः ?, इत्याह-भोगभावादिति, निजपटाऽऽदिगतशुक्लाऽऽदिगुणानां देवदत्तेन भुज्यमानत्वादित्यर्थः । केषां यथा कस्य स्वामित्वम् ?, इत्याह-

यथा-स्वगुणानां रूपाऽऽदीनां देवदत्तस्य स्वामित्वम् । ततः पूजके स्थितस्यापि नमस्कारस्य यदि पूज्यः स्वामी भवेत्, तदा को दोषः ?, इति प्रकृतम् ॥ २८८७ ॥

ऋजुसूत्रः प्राऽऽह-तथाऽपि पूज्यस्य नमस्कार इति न मन्यामहे । कुतः ?, इत्याह-

एवं पि न सो पुज्ज-स्स तप्फलाभावओ परधणं व ।
जुत्तो फलभावाओ, सधणं पि व पूजयंतस्स ॥२८८८॥

एवमपि न स नमस्कारः पूज्यस्य युक्तः, तत्फलस्य स्वर्गाऽऽदेरभावात्परधनवदिति । युक्तः पुनरसौ पूजकस्य, स्वर्गाऽऽदेः फलस्य सद्भावात्, स्वधनवदिति ॥ २८८८ ॥

पुनरपि नैगमाऽऽदिनयमतमाशङ्क्य ऋजुसूत्रः परिहरन्नाह-

णणु पुज्जस्सेव फलं, दीसइ पूया न पूजयंतस्स ।
नाणुवजीवित्तणओ,तं तस्स फलं जहा नभसो ॥२८८९॥

ननु पूज्यस्यैव पूजालक्षणं फलं प्रत्यक्षतो दृश्यते,न तु पूजकस्य, ततः तत्फलाभावादित्यसिद्धो हेतुः । एवं नैगमाऽऽदिनादिना प्रोक्ते ऋजुसूत्रः प्राऽऽह--न तत्तस्य पूज्यस्य पूजालक्षणं फलम्, अनुपजीवित्वात्, यथा नभसः । इह यो यस्यानुपजीवी न तत्तस्य फलं,यथा नभसो दह्यमानागुरुकर्पूराऽऽदिधूमपटलप्रसरत्सुमनोगन्धाऽऽदि फलं न भवति,किं तु तदुपजीवकस्य देवदत्ताऽऽदेरेव, अनुपजीवी च पूजाया वीतरागः, अतो न तस्य तत्फलं किं तु पूजकस्यैवेति ॥ २८८९ ॥

न य दिट्ठफलत्थोऽयं, जुत्तो पुज्जस्स वोवगाराय ।
किं तु परिणामसुद्धी, फलमिट्ठं सा य पूजयओ ॥२८९०॥

न च दृष्टमेव प्रत्यक्षं पूजाऽऽदिकं फलमर्थः प्रयोजनं यस्याऽसौ दृष्टफलार्थोऽयं नमस्कर्तुः नमस्कारो युक्तः, नापि च पूज्योपकारायासौ, किं त्वनन्तरं परिणामविशुद्धिः फलमिष्टं नमस्कारस्य, परम्पराफलं तु स्वर्गापवर्गाऽऽदि । सा च परिणामशुद्धिः, तच्च स्वर्गप्राप्त्यादिकं फलं पूजयतः पूजकस्यैव भवति, न तु पूज्यस्येति । तस्मात्स नमस्कारस्तस्य नमस्कर्तुरेव, न नमस्कार्यस्येति ॥ २८९० ॥

ऋजुसूत्रनयप्रतिज्ञाहेतुनाऽऽह-

कत्तुरहीणत्तणओ, तग्गुणओ तप्फलोवजोगाओ ।
तस्स क्खओवसमओ, तज्जोगाओ य सो तस्स ॥२८९१॥

कर्तुरेवाधीनत्वात्, तदधीनत्वं च तेनैव क्रियमाणत्वादिति । तथा तद्गुणत्वाद्, ज्ञानशब्दक्रियारूपत्वेन नमस्कारस्य कर्तुर्गुणत्वादित्यर्थः । तथा--तस्य नमस्कारस्य यत् फलं स्वर्गाऽऽदिकं तदुपभोगादिति । तथा--तस्य नमस्कारस्य यः कारणभूतः कर्मक्षयोपशमः, तस्य कर्तर्येव सद्भावात्, कारणपरित्यागेन च कार्यस्यान्यत्रायोगादिति । तथा--तद्योगात्-तत्परिणामरूपत्वादिति । दृष्टान्तास्तु पञ्चस्वपि हेतुषु स्वधनवदित्यादयः स्वयमभ्यूह्या इति ॥ २८९१ ॥

अथ शब्दाऽऽदिनयत्रयमतेन स्वामित्वचिन्तामाह-

जं नाणं चेव नमो, सद्दाऽऽईणं न सद्दकिरियाओ ।
तेण विसेसेण तयं, वज्झस्स न तेऽणुमण्णंति ॥२८९२॥

यद् यस्माद् नमो नमस्कारः शब्दाऽऽदिनयमतेनोपयोगरूपं ज्ञानमेव,न तु शब्दक्रिये,शुद्धत्वेन ज्ञानवादित्वात् तेषामिति भावः। तेन विशेषत एव तं नमस्कारं ते शब्दाऽऽदयो बाह्यस्य जिनेन्द्राऽऽदेस्तत्प्रतिमाऽऽदेर्वा नाऽनुमन्यन्ते नेच्छन्ति,किं तु तदुपयोगवतोऽन्तरङ्गस्यैव पूजकजीवस्य ते तमिच्छन्ति । इति त्रिगाथार्थः ॥ २८९२ ॥ गतं कस्येति प्ररूपणाद्वारम् ।

अथ केनेति द्वारमाह-

नाणाऽऽवरणिज्जस्स य, दंसणमोहस्स जो खओवसमो ।
जीवमजीवे अट्ठसु, भंगेसु य होइ सव्वत्थ ॥ २८९३ ॥

ज्ञानाऽऽवरणीयस्येत्यनेन मतिश्रुतज्ञानाऽऽवरणद्वयं गृह्यते; नमस्कारस्य मतिश्रुतज्ञानान्तर्गतत्वाद्; ज्ञानस्य च सम्यक्त्वसहचरितत्वाद्दर्शनमोहनीयमप्याक्षिप्यते । ततो मतिश्रुतज्ञानाऽऽवरणद्वयस्य, दर्शनमोहनीयस्य च कर्मणो यः क्षयोपशमः 'तेन हेतुभूतेन नमस्कारो लभ्यते' इत्यध्याहारः । तस्य चाऽऽवरणस्य द्विविधानि स्पर्द्धकानि भवन्ति-सर्वोपघातीनि, देशोपघातीनि च । तत्र सर्वेषु सर्वघातिषु हतेषु देशोपघातिनां च प्रतिसमयमनन्तैर्भागैर्विमुच्यमानः क्रमेण नमस्कारस्य प्रथमं नमस्कारलक्षणमक्षरं लभते । एवमेकैकवर्णप्राप्त्या समस्तनमस्कारं प्राप्नोतीति । गतं केनेतिद्वारम् ।

अथ कस्मिन्नितिद्वारमभिधित्सुराह--[जीवमजीवे इत्यादि] मकारोऽलाक्षणिकः । नमस्कारस्य जीवगुणत्वाज्जीवः, ततो नमस्कारवान् जीवो यदा गजेन्द्राऽऽदौ जीवेऽधिकरणे वर्तते तदा जीवे नमस्कारोऽभिधीयते, यदा तु कटाऽऽद्यजीवे तदाऽजीवेऽसौ व्यपदिश्यते । यदा तु जीवाजीवोभयाऽऽत्मके वस्तुनि तदा जीवाजीवयोः । इत्येकबहुवचनाभ्यां प्रागुक्तेष्वष्टसु भङ्गेषु सर्वत्रायं भवति ॥ इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥ २८९३ ॥

विस्तरार्थं त्वभिधित्सुर्भाष्यकारः प्राऽऽह-

केणं ति णमोक्कारो, साहिज्जइ लब्भए व जणियम्मि ।
कम्मक्खओवसमओ, किं कम्मं को खओवसमो? ॥२८९४॥

केन हेतुना नमस्कारः साध्यते, लभ्यते वा ?, इति भणिते गुरुराह-कर्मक्षयोपशमतोऽसौ लभ्यते । विनेयः प्राऽऽह-किं तत्कर्म, कश्च क्षयोपशमः ?, इति ॥ २८९४ ॥

तत्र कर्म तावदाह-

मइसुयनाणाऽऽवरणं, दंसणमोहं च तदुवघाईणि ।
तप्फड्डयाइँ दुविहा-इँ सव्वदेसोवघाईणि ॥ २८९५ ॥
सव्वेसु सव्वघाई-सु हएसु देसोवघाइयाणं च ।
भागेहिँ मुच्चमाणो, समए समए अणंतेहिं ॥ २८९६ ॥
पढमं लहइ नकारं, एक्केक्कं वन्नमेवमन्नं पि ।
कमसो विसुज्झमाणो, लहइ समत्तं नमोक्कारं ॥२८९७॥

तिस्रोऽपि गतार्थाः, नवरं मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिस्पर्द्धकानि तीव्रमन्दमध्यमाऽऽदिभेदभिन्नरसविशेषरूपाणि स्थानान्तरादवसेयानीति ॥ २८९५ ॥ २८९६ ॥ २८९७ ॥

यदुक्तम्-' कश्च क्षयोपशमः ? ' इति, तत्राऽऽह-

खीणमुइन्नं सेसय-मुवसंतं भण्णई खओवसमो ।
उदयविघाय उवसमो,जा समुइन्नस्स य विसुद्धी ॥२८९८॥

पूर्वार्द्धमेवोत्तरार्द्धेन व्याचष्टे-अनुदितस्योदयविघात उपशमः,

समुदीर्णस्योदितस्य पुनर्या विशुद्धिः क्षपणं, स क्षय इति शेषः। क्षयेणोपलक्षित उपशमः क्षयोपशम इति समासः ॥ २८९८ ॥

अथ मतिश्रुताऽऽवरणद्वयस्य, दर्शनमोहनीयस्य च क्षयोपशम इह किमिति गृह्यते ?, इत्याह–

सो सुयनाणं मइमणु–गयं च तं जं च सम्मदिट्ठिस्स ।
तो तल्लाभे जुगवं, मइसुयसम्मत्तलाभो त्ति ॥ २८९९ ॥

स नमस्कारस्तावत्स्वयं श्रुतज्ञानं, तच्च श्रुतज्ञानम् " मइपुव्वं जेण सुयं " इत्यादिवचनान्मत्यनुगतं मतिपूर्वमेव भवति । एते च मतिश्रुते यस्मात्सम्यग्दृष्टेरेव भवतः । ततस्तल्लाभे नमस्कारलाभे, युगपत्समकालं, मतिश्रुतसम्यक्त्वानां लाभो भवतीति । अतो मतिश्रुतज्ञानाऽऽवरणीयद्वयस्य, दर्शनमोहनीयस्य च क्षयोपशमोऽत्र गृह्यत इति ॥ २८९९ ॥ तदेवं व्याख्यातं केनेति द्वारम् ।

अथ कस्मिन्निति द्वारं व्याचिख्यासुराह–

कम्हि नमोक्कारोऽयं, बाहिरवत्थुम्मि कत्तुराहारो ।
नेगमववहारमयं, जीवादावट्ठभेयम्मि ॥ २९०० ॥
जं सो जीवाणन्नो, तेण तओ जत्थ सो वि तत्थेव ।
एगम्मि अणेगेसु य, जीवाजीवोभएसुं च ॥ २९०१ ॥

कस्मिन् वस्तुन्याधारभूते नमस्कारोऽयं भवतीति विनेयेन पृष्टे गुरुराह–नैगमव्यवहारमतं तावदिदम्–अष्टभेदे पूर्वोक्तभङ्गाष्टकनिर्दिष्टे नमस्कर्तृजीवस्याऽऽधारभूते जीवाऽऽदौ बाह्यवस्तुनि नमस्कारो भवतीति ॥ २९०० ॥ कस्मात्पुनर्नमस्कर्तृजीवाऽऽधारे वस्तुन्ययं भवति ?,इत्याह–(जमित्यादि) यस्मादसौ नमस्कारो नमस्कर्तृजीवादनन्यः,तेन तस्मात्तकोऽसौ नमस्कर्तृजीवो यत्रैकस्मिन्–जीवे, अजीवे, उभयस्मिन् वा; अनेकेषु–जीवेषु, अजीवेषु, उभयेषु वा भवति, सोऽपि नमस्कारः, तत्रैव स्याद्, अन्यथा–अभेदायोगादिति ॥ २९०१ ॥

एवमुक्ते पूर्वापरविरोधमुद्भावयन्नाह–

नणु नेगमाऽऽइवयणं, पुज्जस्स तओ कहं न तत्थेव ? ।
तस्स य न य तम्मि तओ, धणं व नरस्स खेत्तम्मि ॥ २९०२ ॥

ननु नैगमाऽऽदिवचनं पूर्वमेवं व्याख्यातम्–पूज्यस्य संबन्धी तकोऽसौ नमस्कारः, तत्कथमसौ तत्रैव पूज्ये न भवति ? । सत्यम्–(तस्स य त्ति) तस्यैव पूज्यस्य नैगमाऽऽदिमतेन नमस्कार इति मन्यामहे, न हि किञ्चिद्विस्मृतमिदम्, केवलम् (न य तम्मि तओ त्ति) तस्मिन्नेव पूज्ये तकोऽसौ नमस्कार इति न नियमः । न हि यद्यस्य संबन्धि तस्य स एवाऽऽधारः, अन्यथाऽपि दर्शनात्; यथा–धान्यं भवति देवदत्ताऽऽदिनरस्य संबन्धि, न च तत्रैव, किं तु क्षेत्रे आधारभूते तद्विति ॥ २९०२ ॥

संग्रहमतेन नमस्कारस्याऽऽधारमाह–

सामन्नमेत्तगाही, सपरजिएयरविसेसनिरवेक्खो ।
संगहनओऽभिमन्नइ, आहारे तमविसिट्ठम्मि ॥ २९०३ ॥

व्याख्या पूर्ववत्, नवरमविशिष्टे सामान्यमात्रे आधारे संग्रहस्तं नमस्कारं मन्यत इति ॥ २९०३ ॥

एतदेव भावयति–

जीवम्मि अजीवम्मि व, सम्मि परम्मि व विसेसणेऽभिन्नो ।
न य भेदमिच्छइ सया, नमोसामन्नमेत्तस्स ॥ २९०४ ॥

आधारस्य जीवाऽऽदिविशेषणे कर्तव्ये सामान्यवादित्वाद्यस्मादभिन्नोऽभेदतत्परोऽसौ, तस्मादविशिष्टे आधारे नमस्कारं मन्यत इति । न वाऽऽधाराऽऽदिभेदेन नमस्कारसामान्यमात्रस्यापि सदा भेदमिच्छत्यसौ, किं त्वभेदमेवेच्छति, सामान्यवादित्वादेवेति ॥ २९०४ ॥

अथवा–अन्योऽन्यत्र वर्तत इति व्यधिकरणं संग्रहो मूलत एव नेच्छति, इच्छति वा कोऽप्यशुद्धतरो नमस्कारं जीव एव, नाजीवे, इत्येतद्दर्शयन्नाह–

जीवो नमो त्ति तुल्ला–हिगरणयं वेइ न उ स जीवम्मि ।
इच्छइ वाऽसुद्धयरो, तं जीवे चेव नन्नम्मि ॥ २९०५ ॥

गतार्था ॥ २९०५ ॥

अथ ऋजुसूत्रनयमतेनाऽऽधारचिन्तामाह–

उज्जुसुयमयं नाणं, सद्दो किरिया च जं नमोक्कारो ।
होज्ज न हि सव्वहा सो, मओ तदत्थंतरत्थो ॥ २९०६ ॥

प्रागुक्तार्था, नवरं न खलु सर्वथाऽसौ नमस्कारः, तस्मात्कर्तुरर्थान्तरभूतो मतः, किं तु कर्तर्येवाऽऽधारे नमस्कार इति भावः ॥ २९०६ ॥

एतदेव समर्थयति–

सगुणम्मि नमोक्कारो, तग्गुणओ नीलया व पत्तम्मि ।
इहरा गुणसंकरओ, सव्वगयाऽऽदओ दोसा ॥ २९०७ ॥

स्वस्याऽऽत्मनो गुणी स्वगुणी, तस्मिन् स्वगुणिनि कर्तरि नमस्कारः,नान्यत्रेति प्रतिज्ञा । तद्गुणत्वादिति हेतुः । पत्रे नीलतावदिति दृष्टान्तः । विपर्यये बाधकमाह–इतरथा–अन्यगुणस्य अन्यत्र गमने, गुणानां परस्परं साङ्कर्याद्, गुणिनां सर्वेषामपि साङ्कर्यैकत्वाऽऽदयो दोषा भवेयुरिति ॥ २९०७ ॥

अत्र कश्चित्प्रेरयति–

निआऽऽधारं पीच्छइ, नणु रिउसुत्तो जहा वसइ खम्मि ।
दव्वं तत्थाहिगयं, गुणगुणिसंबंधचिंतेयं ॥ २९०८ ॥

ननु भिन्नाऽऽधारमपि अन्यस्यान्यमप्याधारमृजुसूत्र इच्छत्येव,यथा–अनुयोगद्वारेषु वसतिदृष्टान्तमृजुसूत्रमतेनाभिदधता प्रोक्तम्–' क वसति भवान् ?' 'खे आकाशे वसामीति' । तत्कथमिह निआऽऽधारता निषिध्यते ?, इति । अत्रोत्तरमाह–(दव्वमित्यादि) इदमत्र हृदयम्–द्रव्यं देवदत्ताऽऽदिकं द्रव्यान्तरे आकाशे वर्तत इति मन्यत एव ऋजुसूत्रः । इह तु गुण–गुणिसंबन्धचिन्ता प्रस्तुता । ततोऽन्यगुणोऽन्यत्र वर्तत इतीहासौ न मन्यत इति न कश्चिद्विरोध इति ॥ २९०८ ॥

एतदेव व्यक्तीकरोति–

सो संमयइ न गुणं, निययाहारं तया सयं इहरा ।
को दोसो जइ दव्वं, हवेज्ज दव्वंतराऽऽहारं ? ॥ २९०९ ॥

गतार्था, नवरं निजादाधाराद्वाधारान्तरमाश्रयो यस्य स तथा, तमेवंभूतं गुणं न संमन्यतेऽसाविति ॥ २९०९ ॥

शब्दाऽऽदिनयमतमधिकृत्याऽऽह-

जं नाणं चेव नमो, सद्दाऽऽईणं न सद्दकिरिया वि ।
तेण विसेसेण तयं, वज्झम्मि न तेऽणुमन्नंति ॥२९१०॥
इच्छइ अवि उज्जुसुओ, किरियं पि स तेण तस्स काए वि ।
इच्छंति न सद्दनया, नियमा तो तेसि जीवम्मि ॥२९११॥

यद् यस्माच्छब्दाऽऽदिमते नमो नमस्कारो ज्ञानमेव, न तु शब्दक्रिये अपि, तेन विशेषत एव तं नमस्कारं तत्कर्तुर्जीवाद् बाह्ये वस्तुनि ते शब्दाऽऽदयो नानुमन्यन्त इति ॥२९१०॥ तर्हि ऋजुसूत्राच्छब्दाऽऽदीनां न कश्चिद्भेदः, सर्वैरपि कर्तरि नमस्कारस्याभ्युपगमात् । तदयुक्तम् । यत इच्छत्यपि ऋजुसूत्रः (किरियं पि) क्रियारूपमपि, अपिशब्दाच्छब्दरूपमपि नमस्कारं, तेन तस्य मते " नमोऽर्हद्भ्यः " इत्यादिशब्दमुच्चारयतः शिरोनमनाऽऽदिक्रियां च कुर्वतः कर्तुः कायेऽपि स नमस्कारो भवति । शब्दनयास्तु शब्दक्रियारूपं नमस्कारं नेच्छन्त्येव । किं तूपयोगरूपं ज्ञानमेव तमिच्छन्ति । अतस्तेषां मते नियमात् तदुपयोगवति कर्तृजीव एव नमस्कारो, न काये इति विशेषः । इत्यष्टादशगाथार्थः ॥ २९११ ॥ व्याख्यातं कस्मिन्निति द्वारम् ।

अथ कियच्चिरं कालं नमस्कारो भवतीति द्वारम्, तत्राऽऽह-

उवओग पडुच्चंतो, मुहुत्त लद्धीएँ होइ उ जहन्ना ।
उक्कोसट्ठिया छाव-ट्ठि सागरा अरिहाऽऽइ पंचविहो ॥२९१२॥

उपयोगं प्रतीत्य जघन्यतः, उत्कृष्टतश्च नमस्कारस्यान्तर्मुहूर्तं स्थितिर्भवति । लब्धेस्तु तदावरणक्षयोपशमरूपाया जघन्याऽन्तर्मुहूर्तमेव स्थितिः । उत्कृष्टतस्तु साधिकानि षट्षष्टिः सागरोपमाणि स्थितिर्भवति । इदं च-" दो वारे विजयाइसु " (२७६२) इत्यादिना मतिज्ञानाऽऽदीनामिव भावनीयेति द्वारम् ।

अथ कतिविधो नमस्कार इति द्वारमाह-(अरिहाऽऽइ इत्यादि) अर्हत्सिद्धाऽऽदिपञ्चपदानामादौ नम इति पदस्य निपातात्पञ्चविधो नमस्कारः । इति निर्युक्तिगाथाऽर्थः ॥ २९१२ ॥

अत्र भाष्यम्-

सो कइविहो त्ति भणिए, पंचविहो भणइ णणु पुराऽभिहियं ।
इक्कं नमोऽभिहाणं, केण विहाणेण पंचविहं ? ॥२९१३॥

स नमस्कारः कतिविधः ?, इति भणिते पृष्टे गुरुराह-पञ्चविध इति । अत्र भणति प्रेरकः-ननु पुरा पूर्वं "नेवाइयं पदं" (२८४०) इत्यत्राभिहितं प्रतिपादितम्, एकमेव ' नमः ' इत्यभिधानम् । तत्केन विधानेन केन भेदेन पञ्चविधमुच्यते ?, इति ॥ २९१३ ॥

अत्रोत्तरमाह-

एगं नमोऽभिहाणं, तदरुहयाईयसन्निवायाओ ।
जायइ पंचविगप्पं, पंचविहत्थोवओगाओ ॥ २९१४ ॥

सत्यम्, एकविधमेव नमोऽभिधानं, किं त्वर्हदादिपञ्चपदानामादौ सन्निपातात्पञ्चविधेऽर्हदादिकेऽर्थे उपयोगान्नमस्करणक्रिययोपयुज्यमानत्वात्पञ्चविकल्पं पञ्चभेदं जायत इति ॥२९१४॥

अथवा " एकं नमोऽभिधानम् " (२९१४) इत्यासिद्धं नैपातिकमिति, सान्वर्थाभिधानेनैव प्रागपि तस्यानेकविधत्वसूचनाऽऽदिति दर्शयन्नाह-

अहवऽन्नपयाइनिवा-यणा हि नेवाइयं च ताइं च ।
पंचारुहयाऽऽईणि य, पयाणि तं निवयए जेसु ॥२९१५॥

अथवा-अन्यपदानामादौ निपातनान्नैपातिकं पदमिदं प्रागुक्तम् । तच्च येष्वन्यपदेष्वादौ निपतति तान्यर्हत्सिद्धाऽऽदीनि पञ्च पदानि, अतः पञ्चानामन्यपदानामादौ निपतनान्नैपातिकमित्यन्वर्थत एव पञ्चविधमिदं सामर्थ्यात्प्रागप्युक्तम् । अत्र तु कतिविधो नमस्कार इति द्वारे स एवार्थो व्यक्तीकृत इति ॥ २९१५ ॥

अथवा-पूर्वं पदद्वार एव पञ्चविधो नमस्कार उक्तः, इह तु कतिविधो भवेत् ?, इति द्वारे पञ्चविधानामर्हदादिपदानामर्थः कथ्यत इत्येतद्दर्शयन्नाह-

अहवा नेवाइयपय-पयत्थमेत्ताभिहाणओ पुव्वं ।
इहमरिहदाइपंचवि-हपयपयत्थोवदेसणया ॥ २९१६ ॥

अथवा-नैपातिकं यत्पदं तस्य यत्पदार्थमात्रं पञ्चानामर्हदादिपदानामादौ निपतनाद् नैपातिकमित्येवंस्वरूपं तस्य यदभिधानं कथनं तस्मान्नैपातिकपदपदार्थमात्राभिधानात्पूर्वमेव पदद्वारे सामर्थ्यात 'पञ्चविधो नमस्कार उक्तः' इति शेषः । इह तु ' कतिविधो नमस्कारः ?' इति द्वारे तेषामेव पञ्चानामर्हदादिपदानां " नमोऽर्हद्भ्यो, नमः सिद्धेभ्यो, नम आचार्येभ्यः " इत्यादिको यः पदार्थस्तस्यैवोपदेशना कथना कार्या, तस्या एव प्रागनुक्तत्वादिति ॥ २९१६ ॥

अत्र परस्य प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

णणु वत्थुम्मि पयत्थो, न जओ तव्वकहणं तहिं जुत्तं ।
तह वि पयत्थं तत्थे-व लाघवत्थं पवोच्छिहिइ ॥२९१७॥

नन्वग्रे वस्तुद्वारेऽर्हदादिपदानामर्थो वक्ष्यते, तत्कथमुच्यते- ' इहार्हदादिपदानामर्थोपदेशनात ' इति ? । तदेतत् परोक्तं न, यतो यस्मादिह ' नमोऽर्हद्भ्यः ' इत्यादिके पदार्थे कथिते सति ततस्तत्र वस्तुद्वारेऽर्हदादीनां " देवासुरमणुएसुं, अरिहा पूयं सुरुत्तमा जम्हा । अरिणो हंता रयं हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति " ॥ १ ॥ इत्यादिकं, (तव्व कहणं ति) तत्त्वकथनं स्वरूपनिवेदनं युक्तं भवति । क्रियतां तर्ह्येवं, कथ्यतामत्र पदार्थ इति चेत् । अत्राऽऽह-(तह वि इत्यादि) यद्यप्यत्र पदार्थे कथिते सति तत्र स्वरूपकथनं युज्यते, तथाऽपि नेह पदार्थः कथ्यते, किं तु ग्रन्थलाघवार्थं तत्रैव वस्तुद्वारे पदार्थं वक्ष्यतीति; अन्यथा यत्रार्हदादिपदानामर्थः, तत्र त्वर्हदादीनां स्वरूपकथनमिति ग्रन्थगौरवमेव स्यादिति गाथापञ्चकार्थः । तदेवमुक्ता षड्विधप्ररूपणा ॥ २९१७ ॥

अथ नवविधां तामभिधित्सुराह-

संतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च खेत्त फुसणा य ।
कालो य अंतरं भा-गभावअप्पाबहुं चेव ॥२९१८॥

इति द्वारगाथा । एतैः सत्पदप्ररूपणाऽऽदिभिर्नवभिर्द्वारैर्नमस्कारस्य नवविधेयं प्ररूपणा प्रोच्यते ॥२९१८॥

तत्र प्रथमद्वारमधिकृत्याऽऽह-

संतपयं पडिवन्ने, पडिवज्जंते य मग्गणा गइसु ।
इंदिय काए जोए, वेए य कसाय-लेसासु ॥२९१९॥

सम्मत्तनाणदंसण-संजयउवओगओ य आहारे ।
भासगपरित्तपज्ज-त्तसुहुमसन्नी य भवचरिमे ॥२९२०॥

सच्च तत्पदं च सत्पदं, विद्यमानार्थं पदमित्यर्थः; तच्चेह नमस्कारलक्षणम् । तस्य नमस्कारलक्षणस्य सत्पदस्य पूर्वप्रतिपन्नान्, प्रतिपद्यमानकांश्चाऽऽश्रित्य (मग्गण त्ति) मार्गणा अन्वेषणा कर्त्तव्या । कासु ?, चतसृष्वपि गतिषु । तद्यथा-नमस्कारः किमस्ति, न वा ? । अस्तीति ब्रूमः । तत्र चतुष्प्रकारायामपि गतौ नमस्कारस्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमतो विद्यन्ते, प्रतिपद्यमानास्तु विवक्षितकाले भाज्याः-कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्नेति । एवमिन्द्रियाऽऽदिष्वपि चरमान्तेषु द्वारेषु यथा पीठिकायां मतिज्ञानस्य सत्पदप्ररूपणा कृता, तथा नमस्कारस्यापि कर्त्तव्या, तयोरभिन्नस्वामित्वेनैकवक्तव्यत्वादिति । तदेवं गतं सत्पदप्ररूपणताद्वारम् ॥ २११९ ॥ २१२० ॥

अथ द्रव्यप्रमाणद्वारमुच्यते-तत्र नमस्कारवज्जीवद्रव्यप्रमाणं वक्तव्यम् । एकस्मिन् समये कियन्तो नमस्कारं प्रतिपद्यन्ते, सर्वे वा कियन्त इति ? । क्षेत्रमिति क्षेत्रं वक्तव्यम्-कियति क्षेत्रे नमस्कारः संभवति ? । स्पर्शना च वक्तव्या-कियत्क्षेत्रं नमस्कारवन्तः स्पृशन्ति । इदं च द्वारत्रयमधिकृत्याऽऽह-

पलियमसंखेज्जइमो, पडिवन्नो होज्ज खेत्त लोगस्स ।
सत्तसु चोद्दसभागे-सु होज्ज फुसणा वि एमेव ॥२९२१॥

(पलियेत्यादि) इह सूचनात्सूत्रमित्यायमर्थः-नमस्कारस्य प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य लोके कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्नेति । यदि भवन्ति जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा, उत्कृष्टतस्तु सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागप्रदेशराशितुल्या इति । पूर्वप्रतिपन्नास्तु जघन्यतः सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागप्रदेशराशिपरिमाणा एव, उत्कृष्टतस्तेभ्यो विशेषाधिका इति । (खेत्त त्ति) क्षेत्रद्वारमुच्यते-तत्र नमस्कारवान् जीव ऊर्ध्वमनुत्तरसुरेषु गच्छन् लोकस्य सप्तसु चतुर्दशभागेषु भवति, अधस्तु षष्ठपृथिव्यां गच्छन् पञ्चसु चतुर्दशभागेषु भवतीति द्रष्टव्यम् । स्पर्शनाद्वारमप्येवं वक्तव्यम् । क्षेत्रस्पर्शनयोस्तु प्रागुक्तो विशेष इति ॥ २१२१ ॥

कालान्तरभावलक्षणं द्वारत्रयमधिकृत्याऽऽह-

एगं पडुच्च हेट्ठा, जहेव नाणाजियाण सव्वद्धा ।
अंतर पडुच्चमेगं, जहन्नमंतोमुहुत्तं तु ॥ २९२२ ॥
उक्कोसऽणंतकालं, अवड्ढपरियट्टगं च देसूणं ।
णाणाजीवे णत्थि उ, भावे य भवे खओवसमे ॥२९२३॥

एकं नमस्कारवन्तं जीवं प्रतीत्य (हेट्ठा जहेव त्ति) यथैवाऽधस्तादनन्तरमिहैव "उवओग पडुच्चंतो,मुहुत्तमक्खीर्ए होइ अ जहन्ना ।" (२११२) इत्यादिना काल उक्तः, तथेहापि वक्तव्यः । नानाजीवानां तु नमस्कारः सर्वाद्धा सर्वकालं भवति, लोके तस्य सर्वदाऽविच्छेदादिति प्रतिपत्तिः । तस्य पुनरन्तरमेकं जीवं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं भवति ॥ २१२२ ॥

उत्कृष्टतस्त्वपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तलक्षणोऽनन्तकाल इति । नानाजीवांस्तु प्रतीत्य नास्त्यन्तरं, तदविच्छित्तेरेवेति । भावे तु क्षायोपशमिके नमस्कारो भवेदिति प्राचुर्यमङ्गीकृत्येतदुक्तम्, अन्यथा-क्षायिकौपशमिकयोरप्येके वदन्ति, क्षायिके यथा-श्रेणिकाऽऽदीनाम्, औपशमिके श्रेण्यन्तर्गतानामिति ॥ २१२३ ॥

भागद्वारमाह-

जीवाणऽणंतभागो, पडिवन्नो सेसगा अणंतगुणा ।
वत्थुं तरहंताई, पंच भवे तेसिमो हेऊ ॥ २९२४ ॥

जीवानामनन्ततमो भागो नमस्कारस्य प्रतिपन्नः प्राप्यते । शेषकास्तु तदप्रतिपन्ना मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः । इदं च भागद्वारं गाथायां भावद्वारात्पूर्वमुपन्यस्तमपि व्यत्ययेन निर्दिष्टं, विचित्रत्वात्सूत्रगतेः । अल्पबहुत्वद्वारमपि नेह विवृतम् । पीठिकायां मतिज्ञानस्येव च भावनीयमिति । साम्प्रतं चशब्दाऽऽक्षिप्तां पञ्चविधाऽऽदिप्ररूपणामनभिधाय वस्तुद्वारं तावदाह-(वत्थुमित्यादि) वस्तु द्रव्यं दलिकं नमस्कारस्य योग्यमर्हमित्यनर्थान्तरम्, तच्चेह नमस्कारार्हाः पञ्चार्हदादयो मन्तव्याः । तेषां च वस्तुत्वेन नमस्कारार्हत्वेऽयं वक्ष्यमाणलक्षणो हेतुः । इति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ॥ २१२४ ॥

इह " एगं पडुच्च हेट्ठा जहेव " (२१२२) इत्यादिना नमस्कारस्य कालद्वारं निरूपितम् । अथवा-अन्यथा तच्चिन्तनीयं, कथम् ?, इत्याह भाष्यकारः-

अहवोसप्पुस्सप्पिणि-कालो नियओ य तव्विसिट्ठो य ।
तत्थऽत्थि नमोक्कारो, न व त्ति णेयं जहा सुत्तं ॥२९२५॥

अथवा-अत्रोत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणः कालो गृह्यते । स च भरतैरवतेषु नियतः प्रतिनियतेन निजस्वरूपेण वर्त्तते, हैमवतहरिवर्षदेवकुरूत्तरकुरुमहाविदेहरम्यकैरण्यवतेषु पुनस्तद्विशिष्टः । तस्मादुत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालाद्विशिष्टो विशेषितस्तत्प्रतिभागरूप एव कालोऽस्ति । तत्र द्विविधेऽपि काले नमस्कारोऽस्ति, न वा ?, इति चिन्तायां यथा श्रुतं श्रुतसामायिकं पूर्वमुक्तं, तथाऽत्रापि ज्ञेयं, नमस्कारस्यापि श्रुतविशेषरूपत्वादिति ॥ २१२५ ॥

इह च "संतपयपरूपणया" (२११८) इत्यादिनवद्वाराणां किञ्चिद्व्याख्यातं, किञ्चिन्नेत्यतो भाष्यकारोऽतिदेशमाह-

मइसुयनाणं नवहा, नंदीए जह परूवियं पुव्वं ।
तह चेव नमोक्कारो, सो वि सुयब्भंतरो जम्हा ॥२९२६॥

सुगमा ॥२९२६॥ विशे० । आ० म० ।
(आभिनिबोधिकश्रुतज्ञानशब्दावलोकनावसेया चेयम्)

अथ चशब्दसूचितां पञ्चविधप्ररूपणामाह-

आरोवणा य भयणा, पुच्छा तह दायणा य निज्जवणा ।
एसा वा पंचविहा, परूवणा रोवणा तत्थ ॥२९२७ ॥

आरोपणा च भजना, पृच्छा तथा-दायना दर्शना दापना वा, निर्यापना वक्ष्यमाणरूपा, एषा वा प्ररूपणा पञ्चविधा ज्ञेया इति ॥ २१२७ ॥

तत्राऽऽरोपणा का ?, इत्याह-

किं जीवो होज्ज नमो, नमो व जीवो त्ति जं परोप्परओ ।
अज्झारोवणमेसो, पज्जणुजोगो मया रुवणा ॥ २९२८ ॥

किं जीव एव भवेन्नमस्कारः, नमस्कार एव वा जीव इति यत् परस्परावधारणाद्ध्यारोपणं पर्यनुयोजनमेव पर्यनुयोग आरोपणा मता संमतेति ॥ २१२८ ॥

भजनाव्याख्यानमाह-

जीवो नमोऽनमो वा, नमो उ नियमेण जीव इति भयणा।
जह चूत्रो होइ दुमो,दुमो उ चूत्रो अचूत्रो वा ॥२९२९॥

जीवस्तावदनवधारित एव नमो नमस्कारो वा स्यात्सम्यग्दृष्टिः, अनमोऽनमस्कारो वा स्यान्मिथ्यादृष्टिः । नमो नमस्कारस्त्ववधारितो नियमेन जीव एव भवति, अजीवस्य नमस्काराऽसंभवात्। यथा चूतो द्रुम एव भवति,द्रुमस्तु चूतोऽचूतो वा खदिराऽऽदिः स्यादिति । एषा एकपदव्यभिचाराद्भजनेति ।२९२९।

पृच्छास्वरूपमाह-

तो जइ सव्वो जीवो, न नमोकारो उ तो मया पुच्छा ।
सो होज्ज किंविसिट्ठो,को वा जीवो नमोकारो ?॥२९३०॥

ततो यदि सर्वोऽपि जीवो न नमस्कारः,किं तर्हि ?,कश्चिदेव । ततः पृच्छा मया पृच्छामो भवतः-यो जीवो नमस्कारः, स किंविशिष्टो भवेदिति कथ्यतां ?, को वा जीवो नमस्कारः ?, इत्यपि निवेद्यतामिति । एषा पृच्छेति॥ २९३० ॥

दापनानिर्यापनयोर्व्याख्यानमाह-

अह दायणा नमोक्का-रपरिणओ जो तओ नमोक्कारो ।
निज्जवणाए सो च्चिय,जो सो जीवो नमोक्कारो।२९३१।

अथानन्तरोक्तप्रश्नस्य निर्वचनरूपा दापनोच्यते-किं पुनस्तन्निर्वचनम् ?,यो नमस्कारपरिणतो जीवस्तकोऽसौ नमस्कारः, यस्तु तदपरिणतः स त्वनमस्कार इति निर्यापनायां स एव नमस्कारपरिणत एव, योऽसौ जीवः स एव नमस्कारः, नमस्कारोऽपि जीवपरिणाम एव नाजीवपरिणाम इति ॥२९३१॥

अथ दापनानिर्यापनयोः को विशेषः ?, इत्याह-

दायणनिज्जवणाणं, को भेओ दायणा तयत्थस्स ? ।
वक्खाणं निज्जवणा, पच्चुच्चारो निगमणं ति ॥२९३२॥

दापनानिर्यापनयोः को भेदः कः प्रतिविशेषः ? । अत्रोच्यते-दापना तदर्थस्य " सो होज्ज किंविसिट्ठो, को वा जीवो नमोक्कारो । " (२९३०) इत्येवं पृच्छापृष्टस्य तस्य नमस्कारस्यार्थस्तदर्थो भण्यते। यथा-" नमोक्कारपरिणओ जो तओ नमोक्कारो त्ति । " निर्यापना तु दापनादर्शितस्यैवार्थस्य प्रत्याख्यासः प्रत्युच्चारणं निगमनं, यथा-स एव नमस्कारपरिणत एव योऽसौ जीवः स एव नमस्कारः,नमस्कारोऽपि जीवपरिणाम एव नाऽजीवपरिणाम इति । एवं च निगमनीयम् । निगमनकृत एव च दापनानिर्यापनयोर्भेदः, न त्वात्यन्तिक इति भावनीयम् ।२९३२।

अथवा-अन्यथाऽनयोर्भेदो दर्श्यते। कथम् ?, इत्याह-

तप्परिणय एव जहा, जीवो अवहिओ वा तहा जुज्जो ।
तप्परिणओ स एव हि,निज्जवणाए मओऽणन्नो ।२९३३।

अथवा—यथा दापनायां जीवो (अवहिओ त्ति) जीवोऽवधृतो नियमितः । तद्यथा—तत्परिणत एव नमस्कारपरिणत एव जीवो नमस्कारो नान्य इति । (तहा जुज्जो त्ति) तथा तेनैव प्रकारेण निर्यापनायां भूयोऽपि प्रकारान्तरतोऽवधार्यते। कथम् ?,इत्याह- (तप्परिणओ स एव हि त्ति) यथा दापनायां नमस्कारपरिणत एव जीवो नमस्कार इत्यवधृतं, तथाऽत्र निर्यापनायां तत्परिणतो नमस्कारपरिणतो जीवः स एव मतो नमस्कार एव मत इति भूयोऽवधार्यते। कुतः ?,इत्याह--अनन्य इति कृत्वा,अनन्यत्वादभिन्नत्वादित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-यथाऽनुपयुक्तो माणवकस्तदुपयोगानन्यत्वादग्निरेव भवति, तथा नमस्कारपरिणतो जीवस्तदुपयोगानन्यत्वान्नमस्कार एव निर्यापनायां भवति । इति दापनानिर्यापनयोर्विशेष इति । तदेवमभिहिता षड्विधाऽपि प्ररूपणा ॥ २९३३ ॥

अथवा चतुर्विधा प्ररूपणा सा, कथम् ?, इत्याह-

पयईए अगारेण य, नोगारोभयनिसेहओ वा वि ।
इह चिंतिज्जइ जुज्जो, को होज्ज तओ नमोक्कारो? ।२९३४।

प्रकृत्या स्वभावेन, अकारेण च प्रतिषेधवाचकेन, नोकारेण, निषेधोभयेन च सहितोऽत्र भूयोऽपि नमस्कारश्चिन्त्यते । तत्र प्रकृतिपक्षे नमस्कारः, अकारसहितस्त्वनमस्कारः, नोकारयुक्तस्तु नोनमस्कारः, निषेधोभयसहितस्तु नोअनमस्कार इति । एवं च चिन्त्यमाने ततः कः किं वस्तु नमस्कारो भवेत् ? । उपलक्षणं चेदं, को वाऽनमस्कारः, कश्च नोनमस्कारः, को वा नोअनमस्कार इत्यपि वक्तव्यमिति ॥ २९३४ ॥

एवं च जिज्ञासिते सति भाष्यकारः प्राऽऽह-

पयइ त्ति नमोक्कारो, जीवो तप्परिणओ स चाभिहिओ ।
अनमोक्कारो परिणइ-रहिओ तल्लद्धिरहिओ वा ।२९३५।

प्रकृतिस्तावन्नमस्कारः । स च कः ?, इति यदि पृच्छ्यते, तदाऽसौ जीवस्तत्परिणतो नमस्कारपरिणतो नमस्कार इति प्रागभिहितमेव । अनमस्कारस्तु परिणतिरहितो नमस्कारपरिणतिवर्जितोऽनुपयुक्तः सम्यग्दृष्टिः । तल्लब्धिविरहितो वा नमस्कारकारणकर्मक्षयोपशमशून्यो वा मिथ्यादृष्टिरिति ।२९३५।

नोनमस्कारस्तर्हि कः ?, इत्याह-

नोपुव्वो तप्परिणय-देसो देसपडिसेहपक्खम्मि ।
पुणरनमोक्कारो च्चिय, सो सव्वनिसेहपक्खम्मि ॥२९३६॥

नोपूर्वस्तु नोशब्दोपपदो नमस्कारो, नोनमस्कार इत्यर्थः । (तप्परिणयदेसो त्ति) देशप्रतिषेधवचने नोशब्दे तत्परिणतस्य नमस्कारपरिणामयुक्तस्य सम्यग्दृष्टिजीवस्य देश एकदेशो भण्यते। सर्वनिषेधवचने तु नोशब्दे स नोनमस्कारः पुनरप्यनमस्कार एव गम्यत इति ॥ २९३६ ॥

नोअनमस्कारः कः ?, इत्याह-

नोअनमोक्कारो पुण, दुनिसेहपगइगमयभावाओ ।
होइ नमोक्कारो च्चिय, देसनिसेहम्मि तद्देसो ॥२९३७॥

नोअनमस्कारः पुनर्नोशब्दस्य सर्वनिषेधपक्षे नमस्कार एव भवति, द्वयोर्निषेधयोः प्रकृतिगमकभावात् " द्वौ नञौ प्रकृत्यर्थं गमयतः" इति न्यायादित्यर्थः। देशनिषेधवचने तु नोशब्दे तस्य पूर्वोक्तस्वरूपस्य नमस्कारस्यैकदेशः प्रतीयत इति ॥२९३७॥

इह च " नमस्कारोऽनमस्कारः " इत्यादिभङ्गचतुष्टये यदुपचारितं, यच्च वास्तवं, तन्निर्धारयन्नाह-

उवयारदेसणाओ, देस पएस त्ति नोनमोक्कारो ।
नोअनमोक्कारो वा, पयइनिसेहाउ सब्भूया ॥२९३८॥

(देस पएस त्ति) इह यथासंख्येन संबन्धः । तृतीयभङ्गे यो देशो नमस्कारैकदेशो (नोनमोक्कारो त्ति) नोनमस्कारवक्तुः, यश्च चतुर्थभङ्गे प्रदेशोऽनमस्कारैकदेशो (नोअन-

मोक्कारो त्ति) नोअनमस्कार उक्तः, स उपचारदेशनादिति संबन्धः । औपचारिकत्वं चेह नोनमस्कारकरूपस्य, नोअनमस्कारकरूपस्य च देशप्रतिषेधवचने नोशब्दे संपूर्णस्य वस्तुनोऽभावादिति । अथ सद्भूतभङ्गकप्रतिपादनार्थमाह-(पयईत्यादि) प्रकृतिः प्रथमो भङ्गः, निषेधकस्तु द्वितीयभङ्गः, एतौ द्वावपि सद्भूतौ निरुपचरितौ, एतद्भङ्गवाच्यस्य नमस्कारानमस्कारकरूपस्य वस्तुनः संपूर्णस्य सद्भावादिति । तुशब्दादुपरिमावपि द्वौ भङ्गौ सर्वनिषेधवचने नोशब्दे सति सद्भूताविति द्रष्टव्यम्, तद्वाच्यस्यापि नमस्काराऽनमस्कारकरूपस्य वस्तुनः संपूर्णस्य सद्भावादिति ॥ २६३८ ॥

अथैतांश्चतुरो भङ्गाञ्शब्दनयैर्निरूपयन्नाह-

सव्वो वि नमोक्कारो, अनमोक्कारो य वंजणनयस्स ।
होउं चउरूवो वि हु, सेसाणं सव्वजेया वि ॥२९३९॥

इह शब्दनयास्त्रयोऽपि शुद्धत्वादखण्डं संपूर्णं देशप्रदेशरहितमेव वस्तु इच्छन्ति । शेषास्तु नैगमाऽऽदयोऽविशुद्धत्वाद्देशप्रदेशरूपमपि मन्यन्त इति । एवं च स्थिते व्यञ्जननयस्य त्रिविधस्यापि शब्दनयस्य भङ्गकप्ररूपणामात्रेण प्रकृत्यकारनोकारतदुभययोगाच्चतूरूपोऽपि नमस्कारो भूत्वा परिशिष्टः सर्वोऽपि नमस्कारोऽनमस्कारश्चेति द्विरूप एवावशिष्यते, प्रथमद्वितीयभङ्गवाच्य एवावतिष्ठते । तृतीयचतुर्थभङ्गकौ तु तन्मतेन शून्यावेव, तद्वाच्यस्य देशस्य प्रदेशस्य चासत्त्वादिति । शेषाणां तु नैगमाऽऽदिनयानां सर्वे चत्वारोऽपि भङ्गरूपा भेदाः सद्भूतार्था एव, तन्मतेन देशस्य प्रदेशस्य च सत्त्वादिति । तदेवमुक्ता चतुर्विधाऽपि प्ररूपणा, तद्भणने च गतं सप्रसङ्गं प्ररूपणाद्वारम् ॥ २६३९ ॥ विशे० । आ० म० । आ० चू० । " णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो बंभीए लिवीए । " भ० १ श० १ उ० । दशा० ।

(७) नमस्कारस्याऽऽर्षत्वम्-

ये तु वदन्ति-नमस्कारपाठ एव नाऽऽर्षः, युक्तिरिक्तत्वात्-सिद्धानामभ्यर्हितत्वेन पूर्वमर्हन्नमस्कारस्याऽघटमानत्वात् ; आचार्याऽऽदिना सर्वसाधवो न वन्दनीया इति तथास्थितपञ्चमपदानुपपत्तेश्चेति । पापिष्ठतरास्तेऽप्यनाकर्णनीयवाचोऽदृष्टव्यमुखाः । स्वकपोलकल्पिताऽऽशङ्कया व्यवस्थितसूत्रत्यागायोगात्, ईदृशकदाशङ्कानिराशपूर्वमसांक्रमाविस्तृतस्य नमस्कारपाठस्य क्षितक्रमस्य निर्युक्तिकृतैव व्यवस्थापितत्वाच्च ।

तदाह-

" न वि संखेवो न वित्थारो, संखेवो दुविह सिद्ध-साहूणं ।
*वित्थरओऽणेगविहो, पंचविहो न जुज्जए तम्हा ॥ ३२०१ ॥
अरिहंताऽऽई नियमा, साहू साहू उ तेसु भइयव्वा ।
तम्हा पंचविहो खलु, हेउनिमित्तं हवइ सिद्धो" ॥ ३२०२ ॥
" पुव्वाणुपुव्वि न कमो, नेव य पच्छाणुपुव्विए स भवे ।
सिद्धाऽऽईआ पढमा, बीयाए साहुणो आई " ॥ ३२१० ॥
अरिहंतुवएसेणं, सिद्धा नज्जंति तेण अरहाऽऽई ।
न वि कोई परिसाए, पणमित्ता पणमए रन्नो *॥ ३२१३ ॥ विशे० ।

इत्यादिना सामान्यतः सर्वसाधुनमस्करणेन च नाह्याद्यविनयकरणाऽऽदिदूषणम् । अत एव-" सिद्धाण णमो किच्चा, संजयाणं च भावओ । " इत्याद्युत्तराध्ययनोक्तं संगच्छत इति । पञ्चपदनमस्कारश्च सर्वश्रुतस्कन्धाभ्यन्तरभूतो, नवपदश्च समूलत्वात् पृथक् श्रुतस्कन्ध इति प्रसिद्धमाम्नाये । अस्य हि निर्युक्तिचूर्ण्यादयः पृथगेव प्रभूता आसीरन्, कालेन तद्व्यवच्छेदे मूलसूत्रमध्ये तल्लेखनं कृतं पदानुसारिणा वज्रस्वामिनेति महानिशीथपञ्चमाध्ययने व्यवस्थितम् । प्रति० ।

तथा च तद्ग्रन्थः-

एयं तु जं पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स वक्खाणं, तं महया पबंधेणं अणंतगमपज्जवेहिं सुत्तस्स य पियभूयाहिं णिज्जुत्तिभासचुण्णीहिं जहेव अणंतनाणदंसणधरेहिं तित्थयरेहिं वक्खाणियं, तहेव समासओ वक्खाणिज्जं तं आसि, अहऽन्नया कालपरिहाणिदोसेणं ताओ णिज्जुत्तिभासचुण्णीओ वुच्छिन्नाओ । इओ य वच्चंतेणं कालेणं समएणं महिड्ढिपत्ते पयाणुसारी वइरसामी नाम दुवालसंगसुअहरे समुप्पन्ने । तेण य पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स उद्धारो मूलसुत्तस्स मज्झे लिहिओ । मूलसुत्तं पुण सुत्तत्ताए गणहरेहिं अत्थत्ताए अरिहंतेहिं भगवंतेहिं धम्मतित्थयरेहिं तिलोगमहिएहिं वीरजिणिंदेहिं पन्नवियं ति एस वुड्ढसंपयाओ । महा० ५ अ० ।

(तद्विषयोपधानाध्ययनविधिश्च ' उवहाण ' शब्दे द्वितीभागे १०५० पृष्ठे उक्तः)

जहुत्तविहाणेणं चेव पंचमंगलपभिइसुयनाणस्स वि उवहाणं करेज्जा, से णं गोयमा ! नो हीलिज्जा सुत्तं, नो हीलिज्जा अत्थं, णो हीलिज्जा सुत्तत्थोभए, से णं नो आसाइज्जा तिकालभावी तित्थयरे, णो आसाइज्जा तिलोगसिहरवासी विहूयरयमले सिद्धे, णो आसाइज्जा आयरियउवज्झायसाहुणो, सुट्ठुयरं चेव भवेज्जा पियधम्मे दढधम्मे भत्तिजुत्ते, एसंतेणं भावेज्जा सुत्तत्थाणुरंजियमाणससद्धासंवेगमावन्नो, से एस णं ण लभेज्जा पुणो पुणो भवचारगे गब्भवासाइयं अणेगहा जंतणं ति । णवरं गोयमा ! जे णं बाले जाव अविन्नायपुन्नपावाणं विसेसो, ताव णं से पंचमंगलस्स णं गोयमा ! एगंतेणं अउग्गे, तस्स णं पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स एगमवि आलावगं ण दायव्वं, जओ अणाइभवंतरसमज्जियाऽसुहकम्मरासिदहणट्ठमिणं लभित्ताणं न बाले सम्ममाराहेज्जा । लहुत्तं च जणइत्ता तस्स केवलं धम्मकहाए गोयमा ! भत्ती समुप्पाइज्जा । तओ नाऊण पियधम्मं दढधम्मं भत्तिजुत्तं, ताहे जावइयं पच्चक्खाणं निव्वाहेउं समत्थो भवइ, तावइयं कारवेज्जइ, राईभोयणं च दुविहतिविहचउव्विहेणं वा जहासत्तीए पच्चक्खाविज्जइ, गोयमा ! णं पणयालाए नमोकारसहियाणं चउत्थं चउवीसाए पोरिसीहिं बारसहिं पुरिमड्ढेहिं दसहिं अवड्ढेहिं छहिं निव्विइएहिं चउहिं एगट्ठाणगेहिं

* एतदर्थस्वरूपेऽस्मिन्नेव शब्दे आक्षेपद्वारे स्पष्टीभविष्यति ।

दोहिं आयंबिलेहिं एगेणं सुद्धत्थायंबिलेणं अव्वावारत्ताए रोद्दज्झाणविगहाविरहियस्स सज्झाएगग्गचित्तस्स गोयमा ! एवमायंबिलं मासक्खमणं विसेसेज्जा, तओ य जावइयं तवोवहाणमवि समंतो करेज्जा, तावइयं अणुगणेऊणं जाहे जाणेज्जा-जहा णं जत्तियमित्तेणं तवोवहाणेणं पंचमंगलस्स जोग्गीहूओ, ताहे आउत्तो पढेज्जा,ण अण्णह त्ति । से भयवं ! पभूयं कालाइक्कमं एयं, जइ कहमवि अंतराले पंचत्तमुवगच्छे, तओ नमोकारविरहिए कह मुत्तिमट्ठं साहेज्जा ?। गोयमा ! जं समयं चेव सुत्तोवयारनिमित्तेणं असढभावत्ताए जहासत्तीए किंचि तवमारभेज्जा, तं समयमेवमहीयसुत्तत्थोभयं दट्ठव्वं । जओ णं सो तं पंचनमोकारं सुत्तत्थोभयं ण अविहीए गेण्हे, किं तु तहा गेण्हे,जहा भवंतरेसु वि ण विप्पणस्से,एयस्सेव अज्झवसायत्ताए आराहगो भवेज्जा । से भयवं ! जेण उ ण अच्छेसिमहीयमाणाणं सुयावरणखओवसमेण कण्णहारित्तणेणं पंचमंगलमहियं भवेज्जा, से वि य किं तवोवहाणं करेज्जा ?। गोयमा ! करेज्जा । से भयवं केणं अट्ठेणं ?। गोयमा ! सुलभबोहिलाभनिमित्तेणं । एवं चेइयाइअकुव्वमाणे नाणकुसीले णेए तहा गोयमा ! णं पव्वज्जादिवसप्पभिइए जहुत्तविणओवहाणेणं ॥ महा० ३ अ० ।

" एसो पंचणमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं " ॥ १ ॥

(८) नमस्कारसूत्रसंपदः । अक्षराणि च पदसंपत्कृतानीत्यतोऽक्षरपदसंपदिति द्वारत्रयं प्रस्तावाऽऽयातम्, तत्र च प्रथमं तावत्पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारमा-श्रित्य तदाह--

वण्णऽट्ठसट्ठि नवपयँ, नवकारे अट्ठ संपया तत्थ ।
सगसंपय पयतुल्ला, सतरऽक्खर अट्ठमी दुपया ॥२९०॥

अथ कोऽत्र व्याख्यानेऽवसरः, चैत्यवन्दनाविधानस्याधिकृतत्वात् ? । सत्यम् । यदा जिनबिम्बाभावे स्थापनाऽऽचार्यपुरतश्चैत्यवन्दना विधीयते, तदाऽनेन पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रेणाऽनाकारस्थापनयाऽक्षाऽऽदिषु जिनाऽऽदयः स्थाप्यन्ते । यदुक्तं बृहद्भाष्ये-" जिणबिंबाभावे पुण, ठवणा गुरुसक्खिया वि कीरंति । चिइवंदण च्चिय इमा, तत्थ वि परमेट्ठिठवणा उ " ॥१॥ इति । यथा श्रेयोभूतं चैतत् स्तुतिस्तोत्राऽऽदिप्रधानं चैत्यवन्दनाविधानं स्वर्गापवर्गाबन्ध्यनिबन्धनसम्यग्दर्शनाऽऽदिहेतुत्वात्;तथा चाऽऽगमः-"थयथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। थयथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्तं, बोहिलाभं च जणयइ । नाणदंसणचरित्तसंपन्नेणं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहेइ" इति । अतो निर्विघ्नैतद्विधानसिद्ध्यर्थं प्रथमं पञ्चमङ्गलमेव व्यावर्ण्यते । तथा चोक्तं महानिशीथचतुर्थाध्ययने-*"तस्स य सयलसुक्खहेउभूयस्स न इट्ठदेवयाणमुक्कारविरहिए केइ पारं गच्छेज्जा, इट्ठदेवयाणं च नमुक्कारो पंचमंगलमेव गोयमा ! नो णमन्नं ति, ता नियमओ पंचमंगलस्सेव पढणं ताव विणओवहाणं कायव्वं ।" इत्यलं विस्तरेण ।

संप्रति भाष्यगाथा व्याख्यायते---वर्णा अक्षराणि अष्टषष्टिः, नमस्कारे पञ्चपरमेष्ठिमहामन्त्ररूपे भवन्तीति शेषः । उक्तं च---" पंचपयाणं पणती---स वण्ण चूलाइवण्ण तित्तीसं । एवं इमो समप्पइ, फुडमक्खरमट्ठसट्ठीए " ॥ १ ॥ तथा नवपदानि विवक्षिताऽवधियुक्तानि " नमो अरिहंताण"मित्यादीनि, न तु स्याद्यन्तानि । भणितं च-"सत्त १ पण २ सत्त ३ सत्त य, ४ नव ५ अट्ठ य ६ अट्ठ ७ अट्ठ ८ नव ९ पढुमि । इय पयअक्खरसंखा, असट्ठ पूरेइ अडसट्ठी ॥ १ ॥" तथाऽष्टौ संपदो विश्रामस्थानानि (तत्थ त्ति) तासष्टासु संपत्सु मध्ये क्रमेण सप्त संपदः-पदैः पूर्वोक्तस्वरूपैस्तुल्याः समानाः । अष्टमी पुनः संपत् सप्तदशाऽक्षरप्रमाणा, पर्यन्तपदवर्त्तिपदद्वयाऽऽत्मिका च । यथा-" मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।" यदुक्तं चैत्यवन्दनाभाष्यप्रवचनसारोद्धाराऽऽदिषु-" पंचपरमिट्ठिमंते, पएँ पए सत्त संपया कमसो । पज्जंते सत्तरऽक्खर-परिमाणा अट्ठमी भणिया ॥ १ ॥" तथा एवं वा चतुर्थपदस्य पाठः--" नवऽक्खरऽट्ठमी दुपयछट्ठी " ॥ अष्टमी संपत्---" पढमं हवइ मंगलं " इति नवाऽक्षरप्रमाणा ज्ञेया । षष्ठी पुनः---" एसो पंचनमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो । " इति । द्विपदमाना । अभ्यधायि--" अंतिमचूलाइतियं, सोल १ ऽट्ठ २ नवक्खरा तयं चेव ३ । जो पढइ भत्तिजुत्तो, सो पावइ सासयं ठाणं ॥ ४ ॥ " एवं च त्रयस्त्रिंशदक्षरप्रमाणचूलिकासहितो नमस्कारो भणनीय इत्युक्तं भवति । तथा चोक्तं बृहन्नमस्कारफले-"सत्त पण सत्त सत्त य, नवऽक्खरपमाणपयरूपंचपयं । तित्तीसऽक्खरचूलं, सुमिरह नवकारवरमंतं ॥१॥ " सिद्धान्तेऽपि स्फुटाक्षरैः--"हवइ मंगलं" इति भणितम् । तथाहि महानिशीथचतुर्थाऽध्ययने सूत्रम्-" तहेव च तदत्थाणुगमियं इक्कारसपयपरिच्छिन्नं ति आलावगतित्तीसऽक्खरपरिमाणं "एसो पंचनमुक्कारो,सव्वपावप्पणासणो । मंगलाणं च सव्वेसिं,पढमं हवइ मंगलं ॥१॥ इय चूल त्ति अहिज्जंति त्ति ।" तत्र प्रकृतं तदेवम्-" हवइ मंगलं " इत्यस्य साक्षादागमे भणितत्वात्, प्रभुश्रीवज्रस्वामिप्रभृतिसुबहुश्रुतसुविहितसंविग्नपूर्वाऽऽचार्यसंमतत्वाच्च " पढमं हवइ मंगलं " इतिपाठेन अष्टषष्ट्यक्षरप्रमाण एव नमस्कारः पठनीयः । तथा च महानिशीथे-" एयं तु जं पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स वक्खाणं तं महया पबंधेण अणंतगमपज्जवेहिं सुत्तस्स य पियभूयाहिं निज्जुत्तिभासचुण्णीहिं जहेव अणंतनाणदंसणधरेहिं तित्थयरेहिं वक्खाणियं, तहेव समासओ वक्खाणिज्जं तं आसि । अह ऽन्नया कालपरिहाणिदोसेणं ताओ निज्जुत्तिभासचुण्णीओ वुच्छिन्नाओ,इओ य वच्चंतेणं कालेणं समएणं महिड्ढिपत्ते पयाणुसारी वइरसामी दुवालसंगसुयहरे समुप्पन्ने, तेणासो पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स उद्धारो मूलसुत्तस्स मज्झे लिहिओ, मूलसुत्तं पुण सुत्तत्ताए गणहरेहिं अत्थत्ताए अरिहंतेहिं भगवंतेहिं धम्मतित्थगरेहिं तिलोयमहिएहिं वीरजिणिंदेहिं पन्नविअं ति,एस वुड्ढसंपयाओ एत्थ य । जत्थ य पयंपएणाणुलग्गं सुत्तालावगं न संपज्जइ,तत्थ तत्थ सुयहरेहिं ति कोच्छाए वि कुलिहियदोसो न दायव्वु त्ति, किं तु जो सो एयस्स अचिंतचिंतामणिकप्पभूयस्स महानिसीहसुयक्खंधस्स पुव्वायरिसो आसि महुराए सुपासनाहथूभे पन्नरसएहिं उववासेहिं विहिएहिं सासणदेवीए मम अपिओ त्ति तहिं चेव खंडाखंडीए उद्दिहियाइएहिं हेऊहिं बहवे पक्खा परिसडिया,

तहा वि अणंतसुमहत्थाइसयं ति इमं महानिसीहसुयक्खंधं कसिणपवयणस्स परमसारभूयं परं तत्तं महत्थं ति क-लिऊण पवयणवच्छल्लत्तणेणं बहुभव्वसत्तोवयारयं च काउं तहा य आयहियट्ठयाए आयरियहरिभद्देणं जं तत्थायरिसे दिट्ठं, तं सव्वं समतीए सोहिऊणं लिहियं ति अन्नेहिं पि सिद्ध-सेणदिवायरवुड्ढवाइजक्खसेणदेवगुत्तजसवद्धणखमासमण--सीसरविगुत्तनेमिचंदजिणदासगणिखवगसच्चसिरिपमुहेहिं जु-गप्पहाणसुयहरेहिं बहु मन्नियमिणं ति ॥"(महा० ३ अ०)अन्यत्र तु संप्रति वर्त्तमानाऽऽगमः, तत्र मध्ये न कुत्राऽप्येवं नवपदा-ऽष्टसंपदादिप्रमाणो नवकार उक्तो दृश्यते । यतो भगवत्यादा-वेवं पञ्चपदान्युक्तानि--" नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, न-मो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, णमो बंभीए लिवीए " इ-त्यादि । क्वचिद्- " नमो लोए सव्वसाहूणं " इति पाठ इति । तद्दूलिप्रत्याख्यानपारणाप्रस्तावे चूर्णाविदमुक्तम्-" नमो अरि-हंताणं ५ " भणित्वा पारयति । नवकारनिर्युक्तिचूर्णौ त्वेवमु-क्तम्-" सो नमुक्कारो कमा पयाणि छ वा, दस वा । तत्थ छ-प्पयाणि-नमो १ अरिहंत २ सिद्ध ३ आयरिय ४ उव-ज्झाय ५ साहूणं ६ ति । दश त्वेवम्-" अरिहंताणं नमो ३ सिद्धाणं ४ " इत्यादि । यत्पुनर्नमस्कारनिर्युक्तावशीतिप-दमाना विंशतिगाथाः सन्ति । यथा-" अरिहंतनमुक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ । " (३५७) इत्यादयस्ता नवकार-माहात्म्यप्रतिपादका न पुनर्नवकाररूपं भवितुमर्हन्ति, बहु-पदत्वात् तासाम्, नवकारस्य तु नवपदाऽऽत्मकत्वात् । किञ्च-तास्वपि गाथासु वर्षशतात् तद्द्वयाच्च पूर्वपूर्वतरप्रतिषु "हवइ" इति पाठो दृश्यते । श्रीमलयगिरिणाऽप्यावश्यकवृत्तिं कुर्व-ता वृत्तिमध्ये ता गाथा " हवइ " इति पाठेन एव लिखि-ताः; एतन्निश्चयार्थिना तद्वृत्तिर्निरीक्षणीया; इति परमार्थं ज्ञात्वा कदाग्रहाभिनिवेशाऽऽदिविलसितकल्पितमागमानुक्तं "होइ" इति मुक्त्वा साक्षात्परमागमसूत्रान्तर्गतं श्रीवज्रस्वामि-प्रभृतिदशपूर्वधराऽऽदिबहुश्रुतसंविग्नसुविहितव्याख्यातमादृतं " हवइ " त्ति पाठेनोऽष्टषष्टिवर्णप्रमाणं परिपूर्णं नवकारसूत्रम-ध्येतव्यम् । तच्चैवम्-"नमो अरिहंताणं १,नमो सिद्धाणं २, नमो आयरियाणं ३, नमो उवज्झायाणं ४, नमो लोए सव्वसाहूणं ५ । एसो पंचनमुक्कारो ६, सव्वपावप्पणासणो ७ । मंगलाणं च सव्वेसिं ८, पढमं हवइ मंगलं ९ "॥१॥ अस्य च व्याख्यानं यदेव श्रीवज्रस्वाम्यादिभिः छेदग्रन्थाऽऽदिमध्ये लिखितं, तदेव भक्ति-बहुमानातिशयतो विशेषतश्च भव्यसत्त्वोपकारकमिति दर्श्यते । तथाहि-" से भयवं ! किमेयस्स अचिंतचिंतामणिकप्पभूय-स्स णं पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स सुत्तत्थं पन्नत्तं । तं जहा-जे णं एस पंचमंगलमहासुयक्खंधे से णं सयलागमंतरोववत्ती तिलतेल्लकमलमयरंदसव्वलोयपंचत्थिकायामिव जहत्थकिरि-याऽणुगयसब्भूयगुणकित्तणे अहिच्छिए य फलप्पसाहगे चेव परमत्थुइवाए । सा य परमत्थुई केसिं कायव्वा ? । सव्वजगुत्त-माणं । सव्वजगुत्तमुत्तमे य जे केइ भूए, जे केइ भवंति, जे केइ भविस्संति, ते सव्वे चेव अरिहंतादओ चेव णो णमसेसिं । ते य पंचहा-अरिहंते १, सिद्धे २, आयरिए ३, उवज्झाए ४, साहुणो ५ । तत्थ एएसिं चेव गब्भत्थसब्भावो इमो । तं जहा-सनरामरासुरस्स णं सव्वस्सेव जगस्स अट्ठमहापाडिहेराइ-पूयाइसओवलक्खियं अणन्नसरिसमचिंतमप्पमेयकेवलाहि-ट्ठियं पवरुत्तमत्तं । (महा० ३ अ०) "अरिहंति वंदणनमं-सणाणि अरिहंति पूयसक्कारं । सिद्धिगमणं च अरिहा, अरिहंता तेण वुच्चंति" ॥१॥ (आ० म० द्वि०) सल्पा० १ अधि० ३ प्रस्ता० ।

(६) वस्तुद्वारम्-

अथ यदुक्तम्-" वत्थुं तरहंताऽऽई, पंच भवे तेसिमो हेऊ । " (२६२४) इति तदेतत्प्ररूपणायामसमर्थितायामन्तराले प्रागुपन्य-स्तत्वात्सांन्यासिकं कृतमासीत् । तत्रेदानीं प्ररूपणायाः समर्थि-तत्वात्पर्याऽवसराऽऽयातं वस्तुद्वारं विस्तरेण व्याचिख्यासुराह-

वत्थुं अरहा पुज्जा, जोग्गा के जे नमोऽभिहाणस्स ।
संति गुणरासओ ते, पंचारुहयाऽऽइजाईया ॥ २९४० ॥

वस्तु दलिकम्, अर्हाः पूज्याः योग्या नमोऽभिधानस्य के ?, इति पृष्टे गुरुराह-ये नमोऽभिधानस्य योग्यास्ते पञ्च सन्तीति संबन्धः । किंविशिष्टास्ते ?, गुणराशयो गुणसमूहाः । पुनः किं प्रकाराः ?.इत्याह-अर्हदादिजातीया अर्हदादिप्रकाराः-अर्हत्सि-द्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधव इत्यर्थः । तदेवमत्र वस्त्वर्हदादयो गु-णराशयः सन्ति, इतिगुणगुणिनोरभेद उक्तः ॥ २६४० ॥

अथ तयोर्भेदोपचारादिदमाह-

भेओवयारओ वा, वसंति नाणाऽऽदओ गुणा जत्थ ।
तं वत्थुमसाहारण-गुणाओ पंचजाईयं ॥ २९४१ ॥

सुबोधा । नवरं "घटे रूपाऽऽदयः" इत्यादिष्विव गुणगुणिनो-र्भेदोपचारादिदमेवमुच्यते-वसन्ति ज्ञानाऽऽदयो गुणा यत्र तत्प-ञ्चप्रकारं वस्त्वस्तीति ॥ २९४१ ॥

अथ तानेव विशेषेणाऽऽह-

ते अरिहंता सिद्धा-ऽऽयरिओवज्झायसाहवो नेया ।
जे गुणमयभावाओ, गुणा व पुज्जा गुणत्थीणं ॥२९४२॥

ते पञ्चविधवस्तुरूपा अर्हत्सिद्धाऽऽदयो ज्ञेयाः, ये ज्ञानाऽऽदि-गुणसमूहमयत्वान्मूर्त्तज्ञानाऽऽदिगुणा इव गुणार्थिनां ज्ञानाऽऽ-दिगुणाभिलाषिणां भव्यजीवानां पूज्या इति । तदत्राऽर्हदादीनां पूज्यत्वे " गुणमयत्वात् " इति हेतुरुक्तः ॥ २६४२ ॥

अथवा हेत्वन्तरमप्याह-

मोक्खत्थिणो व जं मो-क्खहेयओ दंसणाऽऽदितियगं व ।
तो तेऽभिवंदणिज्जा,जइ व मई हेयओ कह ते ? ॥२९४३॥

यस्माद्वा मोक्षार्थिनो भव्यसत्त्वस्य मोक्षहेतवोऽर्हदादयः, त-तस्तेऽभिवन्दनीयाः पूज्याः,मोक्षहेतुत्वात्, दर्शनाऽऽदित्रिकवदि-ति । यदि वा-इहैवंभूता परस्य मतिः स्यात्कथं केन हेतुना ते मोक्षहेतवः ?, तदा तमपि हेतुं कथयामः । इति सप्तदश गाथार्थः ॥ २६४३ ॥

यथा ते हेतवस्तथाऽऽह--

मग्गो अविप्पणासो, आयारे विणयया सहायत्तं ।
पंचविहनमोक्कारं, करेमि एएहिं हेऊहिं ॥ २९४४ ॥

अर्हतां नमस्काराऽर्हत्वे मार्गः सम्यग्दर्शनाऽऽदिलक्षणो हेतुः, यस्मादसौ तैः प्रदर्शितः, तस्माच्च मुक्तिः, ततश्च पारम्पर्येण मुक्तिहेतुत्वात्पूज्यास्त इति । (अविप्पणासो त्ति) सिद्धा-नां तु नमस्कारार्हत्वे अविप्रणाशः शाश्वतत्वं हेतुः । त-थाहि-तदविप्रणाशमवगम्य प्राणिनः संसारवैमुख्येन मोक्षाय घटन्त इति । (आयारे त्ति) आचार्याणां तु नमस्कारार्हत्वे आचार एव हेतुः । तथाहि-नामाचारवत आचारख्यापकांश्च

प्राप्य प्राणिन आचारस्य विज्ञातारोऽनुष्ठातारश्च भवन्तीति । (विणयय त्ति) उपाध्यायानां तु नमस्काराऽर्हत्वे विनयता विनयो हेतुः, यतस्तान् स्वयं विनीतान् प्राप्य कर्मविनयनसमर्थस्य ज्ञानाऽऽदिविनयस्यानुष्ठातारो भवन्ति । (सहायत्तं ति) साधूनां तु नमस्काराऽर्हत्वे सहायत्वं हेतुः, यतस्ते सिद्धिवधूसङ्गमैकलालसानां जन्तूनां तद्वाञ्छितक्रियासाहाय्यमनुतिष्ठन्तीति । अत एवाऽऽह-पञ्चविधं नमस्कारं करोम्येभिर्हेतुभिरिति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥ २९४४ ॥

विस्तरार्थं त्वभिधित्सुर्भाष्यकारः प्राऽऽह-

मग्गोवएसणाओ, अरिहंता हेयओ हि मोक्खस्स ।
तब्भावे भावाओ, तयभावेऽभावओ तस्स ॥२९४५॥

अर्हन्तो यस्मात् मोक्षहेतवस्तस्मात् पूज्या इति प्रक्रमः। सम्यग्दर्शनाऽऽदेस्तन्मार्गस्योपदेशनादिति हेतुः । श्रुतज्ञानवदिति दृष्टान्तः स्वयं द्रष्टव्यः। यदि नाम ते तन्मार्गमुपदिशन्ति तथाऽपि कथं मोक्षहेतवः ?, इत्याह-(तब्भावे इत्यादि) तस्य सम्यग्दर्शनाऽऽदिमार्गस्य भावे भावात्, तदभावे चाभावात् तस्य मोक्षस्येति ॥ २९४५ ॥

यद्येवं, तर्हि सम्यग्दर्शनाऽऽदिमार्ग एव मोक्षहेतुः, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् तस्य; ये तु तदुपदेशकत्वेन तस्य मार्गस्य हेतवोऽर्हन्तस्ते कथं मोक्षहेतवो न युक्ताः ?, इत्येतत्प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

मग्गो च्चिय सिवहेऊ, जुत्तो तद्देयओ कहं जुत्ता ? ।
तद्दाणत्तणओऽहव, कारण कज्जोवयाराओ ॥२९४६॥

प्रेरकोपन्यस्तं पूर्वार्द्धमुक्तार्थमेव । उत्तरमाह-(तद्दाणत्तणओ इत्यादि) सत्यम्, मार्ग एव मोक्षहेतुः, केवलमर्हन्तोऽपि तद्धेतव एव, तस्यापि मार्गस्य तदुपदेशज्ञेयत्वेन तदधीनत्वादिति । अथवा-मोक्षहेतवोऽर्हन्तः, कारणेऽर्हल्लक्षणे मार्गलक्षणकार्यधर्मस्य मोक्षहेतुत्वस्योपचारादध्यारोपादिति ॥ २९४६ ॥

आह-नन्वेतावता मार्गस्योपदेशकत्वेनोपकारिणोऽर्हन्तस्ततो मार्गजन्यस्य मोक्षस्य तेऽपि हेतवोऽभिधीयन्त एव इत्युक्तम्, एवं चातिप्रसङ्गः । कथम् ?, इत्याह-

मग्गोवयारिणो जइ, पुज्जा गिहिणो वि तो तदुवगारी ।
तस्साहणदाणाओ, सव्वं पुज्जं परंपरया ॥ २९४७ ॥

(तस्साहणदाणाओ त्ति) तस्य मार्गस्य साधनानि यानि वस्त्रपात्राऽऽहारशय्याऽऽसनाऽऽदीनि तद्दानादिति । शेषं सुगमम् ॥ २९४७ ॥

अत्रोत्तरमाह-

जं पच्चासन्नतरं, कारणमेगंतियं च नाणाइं ।
मग्गो तद्दायारो, सयं च मग्गो त्ति ते पुज्जा ॥२९४८॥

सत्यपि विश्वत्रयस्य परम्परया मार्गोपकारित्वे यत्प्रत्यासन्नतरमैकान्तिकं च मोक्षस्य कारणं ज्ञानाऽऽदित्रयं मोक्षस्य मार्ग इति, तस्य दातारस्तावदर्हन्त एव, न तु गृहस्थाः, नापि वस्त्राऽऽहारशय्याऽऽसनाऽऽदीनि तत्साधनानि, तेषामर्हद्भ्यो लब्धस्य ज्ञानाऽऽदित्रयस्योपकारित्वमात्र एव वर्तनादिति । स्वयमपि च मोक्षस्य मार्गोऽर्हन्तः, दर्शनमात्रेणैव भव्यजन्तूनां तत्प्राप्तिहेतुत्वात्, अतो ज्ञानाऽऽदिमार्गदातृत्वात्, स्वयमपि च मार्गत्वाच्चार्हन्त एव पूज्याः, न तु गृहस्थाऽऽदयः, इति नातिप्रसङ्गः ॥ २९४८ ॥

एतदेवाऽऽह-

भत्ताई-बज्झयरो, हेऊ न य नियमओ सिवस्सेव ।
तद्दायारो गिहिणो, सयं न मग्गो त्ति नो पुज्जा ॥२९४९॥

भक्तपानवस्त्राऽऽदिभिर्बाह्यतरो दूरवर्ती परम्परया मोक्षस्य हेतुः । न च ज्ञानाऽऽदित्रयवद्भक्ताद्येव नियमतः शिवस्य मोक्षस्य हेतुः, तमन्तरेणाऽप्यन्तकृत्केवल्यादीनां तत्सिद्धेः । अतस्तस्य बाह्यतरानैकान्तिकहेतोर्भक्तपानाऽऽदेर्दातारः, तद्दातारो गृहिणो न पूज्याः, अर्हतामिव तेषामन्तरङ्गैकान्तिकमोक्षहेतुज्ञानाऽऽदित्रयदातृत्वाभावादिति । न च तेऽर्हन्त इव स्वयं मोक्षमार्गः, तद्दर्शनाऽऽदिना मुक्त्यनवाप्तेः, इत्यतोऽपि न ते पूज्या इति ॥ २९४९ ॥

अथाविप्रणाशलक्षणं सिद्धनमस्काराऽर्हत्वे हेतुं व्याचिख्यासुराह-

मग्गेणाणेण सिवं, पत्ता सिद्धा जमविप्पणासेणं ।
तेण कयत्थत्तणओ, ते पुज्जा गुणमया जं च ॥२९५०॥

यद्यस्मात्सिद्धाः संप्राप्तनिर्वाणसुखा अनेन मार्गेण ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणेन शिवं मोक्षं प्राप्ताः । कथम् ?, अविप्रणाशेनाऽनुच्छिन्नसम्भावेन, तस्मात्कृतार्थत्वात्ते पूज्याः । अत्र प्रयोगः-पूज्याः सिद्धाः, अविप्रणाशबुद्धिजनकत्वेन मार्गोपकारित्वात्, जिनेन्द्रवदिति । (गुणमया जं च त्ति) इतश्च ते पूज्याः-ज्ञानाऽऽदिगुणसमूहाऽऽत्मकत्वात्, जिनाऽऽचार्याऽऽदिवदिति ॥ २९५० ॥

अत्र प्रेरकः प्राऽऽह-

गुणपूयामेत्ताओ, फलं ति तप्पूयणं पवज्जामो ।
जं पुण जिणु व्व मग्गो-वयारिणो ते तयं कत्तो ? ॥२९५१॥

गुणानां सम्यग्ज्ञानाऽऽदीनां पूजामात्रतोऽपि फलं विशिष्टं स्वर्गापवर्गाऽऽदिकमस्तीति तत्पूजनं तेषां गुणवतां सिद्धानां पूजनं प्रतिपद्यामहे । यत्पुनरुच्यते-' जिनवत् सिद्धा अपि मार्गोपकारिणः ' इति, तत्तेषां सिद्धानां कुतः ?, न मन्यामहे एतदित्यर्थः, इह तेषामभावात्, असतश्चोपकारायोगादित्यभिप्रायः ॥२९५१॥

अत्रोत्तरमाह-

जइ तग्गुणपूयाओ, फलं पवन्नं नणूवगारो सो ।
तेहिंतो तदभावे, का पूया किं फलं वा से ? ॥२९५२॥

यदि तद्गुणपूजातो गुणवत्सिद्धगुणपूजनात्फलमस्तीति त्वया प्रतिपन्नं, तर्हि नन्वसावेव तेभ्यः सिद्धेभ्य उपकारस्त्वयाऽपि प्रतिपन्नः, अन्यथा तदभावे सिद्धाभावे का तेषां पूजा, किं वा ' से ' तस्य पूजकस्य फलम् ? । एवं च सति निर्वृतानविप्रणाशबुद्धिरपि सिद्धाभावे न भवतीत्ययमुपकारस्तेभ्यः किं नेष्यते ?, इति ॥ २९५२ ॥

अथवा " अविप्रणाशबुद्धिहेतुत्वान्मार्गोपकारिणः सिद्धाः " इत्ययमर्थोऽन्यथाऽपि साध्यते । कथम् ?, इत्याह-

गंतुरणासाओ वा, सम्मग्गोऽयं जहिच्छियपुरस्स ।
सिद्धो सिद्धेहिंतो, तदभावे पच्चओ कत्तो ? ॥२९५३॥

अथवा-अयं सम्यग्दर्शनचारित्रलक्षणो मार्गो यथेप्सितपुरस्य मोक्षनगरस्य सन्मार्ग इत्येवं सिद्धेभ्य एव सिद्धो निश्चितः, नान्यस्मात् । कुतः ?, इत्याह-(गंतुरवणासाओ त्ति) मोक्षपुरं गन्तुर्मुमुक्षोरपायाभावतोऽनाशादविप्रणाशात् । तदभावे च सन्मार्गोऽयं सम्यग्दर्शनाऽऽदिको मोक्षपुरस्य मार्ग इत्येवं मुमुक्षूणां प्रत्ययोत्पादात् । तदभावे तु सिद्धाविप्रणाशे कुतोऽयं प्रत्ययः स्यात् ?, न कुतश्चिदित्यर्थः । इदमत्र हृदयम्-यथा पाटलिपुत्राऽऽदिनगरमार्गः कश्चिद् यथेप्सितपुरं गन्तुः सार्थवाहस्य निरपायगमनेनाविप्रणाशात्सन्मार्गोऽयमिति निश्चीयते, एवं सम्यग्दर्शनाऽऽदिको मोक्षपुरमार्गोऽपि तदभीष्टं मोक्षपुरं गन्तुर्भव्यजन्तुसार्थस्य निरपायगमनेनाविप्रणाशात्सन्मार्गोऽयमिति निश्चीयते । अत एवंभूतनिश्चयजनकत्वान्मार्गोपकारिणः सिद्धाः, ततः पूज्या इति ॥ २६५३ ॥

अपि च-

मग्गम्मि रुई तदवि-प्पणासओ तप्फलोवलंभाओ ।

जं जायइ तेहिंतो, नेयरहा तदुवगारो से ॥ २९५४ ॥

यदस्मात्सम्यग्दर्शनाऽऽदिको मोक्षमार्गो यथावदयमित्येवं रुचिः प्रीतिर्जायते उत्पद्यते भव्यजन्तूनां (तेहिंतो त्ति) तेभ्यः सिद्धेभ्य एव, नेतरथा नाऽन्यथा । कुतः ?, इत्याह-तदविप्रणाशात्-तेषां सिद्धानां शाश्वतभावोपगमात्; तथा-तत्फलोपलम्भात्-तेषामेव सिद्धानां शाश्वतानुपमसुखलक्षणस्य फलस्योपलम्भात् । ततस्तदुपकारोऽसौ मार्गे रुच्याविर्भावलक्षणः सिद्धकृतोऽस्यासुपकार इति ॥ २९५४ ॥

अत्र परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

नणु जिणवयणाउ च्चिय, तदत्थिया तप्फलोवलंभो य ।

सव्वं तहा वि तप्फल-सब्भावाओ रुई होइ ॥२६५५॥

ननु जिनवचनाज्जिनोपदेशादेव, तदर्थिता तत्र मार्गे रुचिलक्षणाऽर्थिता, तस्य मार्गस्य यत्फलं सिद्धिसुखलक्षणं तदुपलम्भश्च सर्वमिदं जायते, तत्किमविप्रणाशहेतूपन्यासेन ? । सत्यम् । तथाऽपि तस्य मार्गस्य यत्फलं सिद्धत्वप्राप्तिलक्षणं तस्य सद्भावादविप्रणाशाच्छाश्वतभावाद्विशेषिततरा मार्गे रुचिर्भवति इति । अतो वक्तव्य एव सिद्धानामविप्रणाशलक्षणो हेतुरिति ॥ २९५५ ॥

पुनरपि परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अप्प च्चिय सिवमग्गो, निच्छयओ तह रुई सपरं ति ।

मग्गोवयारिणो जह, जिणा तहा खीणसंसारा ॥२६५६॥

ननु " सुप्पत्थिओ अमित्तं, अप्पा सुप्पत्थिओ हवइ मित्तं । " इत्यादिवचनान्निश्चयतो निश्चयनयमतेनाऽऽत्मैव शिवमार्गो मोक्षमार्गः, तथा-रुचिश्च सम्यक्त्वमात्मैव नापर इति, अतः किमत्र बाह्येनाविप्रणाशहेतुनोपन्यस्तेन ?। सत्यम् । तथाऽपि व्यवहारनयमतेन यथा मार्गोपदेशनाज्जिनास्तीर्थकरा मार्गोपकारिण उच्यन्ते, तथा क्षीणसंसारा अपि सिद्धा अविप्रणाशेन मार्गोपकारिणोऽभिधीयन्त इति न दोषः ॥ २६५६ ॥

अथाऽऽचार्याणामुपाध्यायानां च नमस्कारार्हहेतुत्वं व्याचिख्यासुराह-

आयारदेसणाओ, पुज्जा परमोवगारिणो गुरवो ।

विणयाऽऽइगाहणा वा, उवज्झाया सुयदा जं च ॥२९५७॥

पूज्याः परमोपकारिणो गुरवः, स्वयमाचारपरत्वात्, परेभ्यश्चाऽऽचारदेशनादिति । तथा-पूज्या उपाध्यायाः, स्वयं विनयवत्त्वात्, शिष्याणां च विनयग्राहणाद्विनयशिक्षणात् । यतश्च सूत्रपाठदास्ते, अतोऽपि पूज्या इति ॥ २६५७ ॥

अथ साधूनां पूज्यार्हत्वकारणम्, तथा-पञ्चानामप्यर्हदादीनां सामान्यं तत्कारणमुपदर्शयन्नाह-

आयारविणयसाहण-साहज्जं साहओ जओ दिंति ।

तो पुज्जा ते पंच वि, तग्गुणपूयाफलनिमित्तं ॥२९५८॥

ततः साधवः पूज्याः; यतः किम् ?, इत्याह-(आयार इत्यादि) आचारवत्त्वात्, विनयवत्त्वात्, मोक्षसाधने साहाय्यदानात्पूज्यास्ते इति भावार्थः । तथा-सामान्येन पञ्चाप्यर्हदादयः पूज्याः, तद्गुणानां ज्ञानाऽऽदीनां या पूजा, तस्या यत्फलं स्वर्गापवर्गाऽऽदिकं, तन्निमित्तं ते भवन्तीति कृत्वा, तद्गुणपूजाफलनिमित्तत्वादित्यर्थः । इति चतुर्दशगाथार्थः ॥ २६५८ ॥

एवं तावत्समासेनार्हदादीनां नमस्काराऽर्हत्वद्वारेण मार्गदेशकत्वाऽऽदयो गुणा उक्ताः ।
साम्प्रतं संसाराटवीमार्गदेशकत्वभवसमुद्रनिर्यामकत्वषड्विधजीवनिकागोपनत्वप्ररूपणाऽऽदिना प्रपञ्चेनार्हतां गुणानुपदर्श-
यन्नाह-

अडवीए देसयत्तं, तहेव निज्जामया समुद्दम्मि ।

छक्कायरक्खणट्ठा, महगोवा तेण वुच्चंति ॥ २९५९ ॥

भवाटव्यां देशकत्वं मार्गोपदेशकत्वं कृतमर्हद्भिः, तथैव निर्यामकाः संसारसमुद्रे भगवन्त एव, षड्जीवरक्षणार्थं यतः प्रयत्नं च कुर्वन्ति महागोपा इत्युच्यन्ते ॥ इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥२६५९॥

अथ " जह निव्वुइपुरमग्गं " इत्यादिका विस्तरार्थप्रतिपादनपराः सप्तदश गाथाः सुगमाः । सति च वैषम्ये मूलाऽऽवश्यकटीकाऽनुसारतो भावनीया इति न प्रतिपादिताः ।

तदेवमुक्तप्रकारेणार्हतां नमस्कारार्हत्वे हेतवो गुणाः प्रतिपादिताः, साम्प्रतं तु प्रकारान्तरेण तद्धेतुभूतानेव गुणान् प्रतिपादयन्नाह-

रागद्दोसकसाए, य इंदियाणि य पंच वि परीसहे ।

उवसग्गे नामयंता, नमोऽरिहा तेण वुच्चंति ॥२९६०॥

रागद्वेषकषायान् इन्द्रियाणि च पञ्चाऽपि परीषहान्, उपसर्गान्नमयन्तोऽर्हन्तो नमोऽर्हाः॥ इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः॥२६६०॥
(एतद्व्याख्यानरूपं भाष्यं तु नेह प्रपञ्चितं विस्तरभयात्, किन्तु रागद्वेषाऽऽदिशब्देषु यथास्थानेषु द्रष्टव्यम्)

अथ "नामयंता नमोऽरिहा" (२६६०) इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

पहवीकरणं नामण-महवा नासणमओ जहाजोगं ।

नेयं रागाऽऽईणं, तन्नामाओ नमोऽरिहा ॥ ३००८ ॥

रागाऽऽदीनां प्रह्वीकरणं वश्यभावाऽऽपादनं नमनमुच्यते, मूलतो नाशनं वा । अतो रागाऽऽदीनामेवंविधं नमनं यथायोगं यथासम्भवमात्मकं ज्ञेयम् । तन्नामनाच्च नमो नमस्कारस्यार्हा अर्हन्त इति ॥ ३००८ ॥

साम्प्रतं प्राकृतशैल्या अनेकधाऽर्हच्छब्दनिरुक्तसंभव इति

दर्शयन्नाह-'इंदिय' इत्यादि चतस्रो गाथाः, एता अपि तथैव। इदानीममोघताख्यापनार्थमपान्तरालिकं नमस्कारफलमुपदर्शयति-

अरहंतनमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥३००९॥

इह नामस्थापनाद्रव्यभावलक्षणनमस्कारश्चतुर्विधो गृहीतः, तत्राऽर्हच्छब्देन बुद्धिस्था अर्हदाकारवती स्थापना गृह्यते, तस्या नमस्कारः स्थापनानमस्कार इति व्युत्पत्त्या स्थापनानमस्कारः संगृहीतः । (नमोक्कारो त्ति) इत्यनेन नामनमस्कारः । (कीरमाणो त्ति) अञ्जलिप्रग्रहाऽऽदिना क्रियमाण इत्यनेन द्रव्यनमस्कारः । (भावेण त्ति) अनेन तु भावनमस्कार इति । तत्राऽर्हन्नमस्कारः क्रियमाणो जीवं मोचयति भवसहस्रात्, प्रस्तावादनन्तभवेभ्य इत्यर्थः । अनन्तभवमोचनाच्च मोक्षं प्रापयतीत्युक्तं भवति । यद्यपि च कश्चित्तद्भव एव मोक्षं न प्रापयति, तथाऽपि भावेनोपयोगविशेषेण क्रियमाणो भावनाविशेषत एवान्यस्मिन्नपि जन्मनि पुनरपि बोधिलाभाय भवति । बोधिलाभश्च निश्चितोऽचिरान्मोक्षहेतुरिति । एवं बाह्याभ्यन्तरेण नामाऽऽदिचतुर्विधविधानेन नमस्कारः क्रियमाणो जीवं भवाद् मोचयति, पुनर्बोधिबीजं च जायते ॥ इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ३००९ ॥

अत्र भाष्यम्-

अरहंताऽऽगारवई, ठवणा नामं मयं नमोक्कारो ।
भावेणं ति य भावो, दव्वं पुण कीरमाणो त्ति ॥३०१०॥
इय नामाऽऽइचउव्विह-बज्झऽब्भंतरविहाणकरणाओ ।
सो मोएइ भवाओ, होइ पुणो बोहिबीयं च ॥ ३०११ ॥

गतार्थे ॥३०१०।३०११॥

तथा चाऽऽह-

अरहंतनमोक्कारो, धन्नाण भवक्खयं करंताणं ।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियावारओ होइ ॥३०१२॥

धनं ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणमर्हन्तीति धन्याः साध्वादयः, तेषां भवक्षयं तद्भवजीवितक्षपणं कुर्वतां यावज्जीवं हृदयमनुन्मुञ्चन् विस्रोतसिकाया विमार्गगमनस्यापध्यानस्य चाऽऽवारकोऽर्हन्नमस्कारो भवति । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ३०१२ ॥

भाष्यम्-

धन्ना नाणाऽऽइधणा, परित्तसंसारिणो पयणुकम्मा ।
भवजीवियं पुणभवो, तस्सेह खयं करिंताणं ॥३०१३॥
इह विस्सोत्तोगमणं, चित्तस्स विसोत्तिया अवज्झाणं ।
अरहंतनमोक्कारो, हिययगओ तं निवारेइ ॥ ३०१४ ॥

गतार्थे ॥३०१३।३०१४॥

अथाऽर्हन्नमस्कारस्यैव महाऽर्थतां दर्शयति-

अरहंतनमोक्कारो, एवं खलु वण्णिओ महत्थो त्ति ।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरई बहुसो ।३०१५।

अर्हन्नमस्कार एवं खलु वर्णितो महार्थ इति महान् अर्थो यस्य स महार्थोऽल्पाक्षरोऽपि द्वादशाङ्गार्थग्राहित्वान्महार्थः । कथं पुनरेतदेवम् ?, इत्याह-यो नमस्कारो मरणे प्राणोपरमलक्षणे उपाग्रे समीपभूते, अभीक्ष्णमनवरतं क्रियते बहुशोऽनेकशः । ततश्च महत्यामापदि द्वादशाङ्गीं मुक्त्वा तत्स्थानेऽनुस्मरणान्महार्थः ॥ इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ३०१५ ॥

कथं पुनर्द्वादशाङ्गार्थो नमस्कारः ?, इत्याशङ्क्य युक्तिमाह भाष्यकारः-

जलणाऽऽइभए सेसं, मोत्तुं एगं पि जह महामोल्लं ।
जुधि वाऽतिभए घेप्पइ, अमोहमत्थं जह तहेह ॥३०१६॥
मोत्तुं पि बारसंगं, मरणाऽऽइभएसु कीरए जम्हा ।
अरहंतनमोक्कारो, तम्हा सो बारसंगत्थो ॥ ३०१७ ॥
सव्वं पि बारसंगं, परिणामविसुद्धिहेउमित्तागं ।
तक्कारणभावाओ, कह न तयत्थो नमोक्कारो ? ॥३०१८॥
न हु तम्मि देसकाले, सक्को बारसविहो सुयक्खंधो ।
सव्वो अणुचिंतेउं, धंतं पि समत्थचित्तेणं ॥ ३०१९ ॥

चतस्रोऽपि सुगमाः, नवरं (देसकाले त्ति) देशः प्रस्तावः, तद्रूपः कालो देशकालः, तस्मिन्मरणलक्षणे देशकाल इति । (धंतं पि त्ति) ध्मातमत्यर्थमिति ॥ ३०१६ । ३०१७ । ३०१८ । ३०१९. ॥

एकस्मिन्नपि यत्र वीतरागोक्ते पदे सति जीवः संवेगं गच्छति, येन च पदेन विरागत्वं भवति निर्वेदमुपैति, तत्तस्यैकमपि पदं समस्तमोहजालोच्छेदहेतुत्वात्संपूर्णद्वादशाङ्गरूपं ज्ञानमेव भवति, तत्कार्यकर्तृत्वात्, किं पुनरनेकपदाऽऽत्मको नमस्कारः सम्पूर्णं द्वादशाङ्गज्ञानं न भविष्यति ?, इत्यनया भङ्ग्या नमस्कारस्य द्वादशाङ्गरूपतां साधयन्नाह-

एगम्मि वि जम्मि पए, संवेगं कुणइ वीयरायमए ।
तं तस्स होइ नाणं, जेण विरागत्तणमुवेइ ॥३०२०॥
एगम्मि वि जम्मि पए, संवेगं कुणइ वीयरागमए ।
सो तेण मोहजालं, छिंदइ अज्झप्पओगेणं ॥३०२१॥
ववहाराओ मरणे, तं पयमेक्कं मयं नमोक्कारो ।
अन्नं पि निच्छयाओ, तं चेव य बारसंगत्थो ॥३०२२॥

गतार्था एव, नवरं किं पुनः प्रस्तुते तदेकं पदम् ?, इत्याह-" ववहाराओ " इत्यादि । यथा लोकव्यवहारे ' साम्प्रतमल्पस्तन्दुलः, प्रचुरो गोधूमः, संपन्नो यवः, ' इत्यादावनेकमप्येकमुच्यते, तथा मरणसमये क्रियमाणः " पंच नमोक्कारो " अनेकपदाऽऽत्मकोऽपि व्यवहारत एकं पदमभिमतः । निश्चयनयमतेन तदन्यदपि सुबन्तं तिङन्तं वा यत्त्रापि यत्संवेगकरं निर्जराफलं पदं तदेतद् द्वादशाङ्गार्थं इति ॥ ३०२० । ३०२१ । ३०२२ ॥

यदुक्तं निर्युक्तिकृता-' अभिक्खणं कीरई बहुसो ' । (३०१५) इति । तत्र किं कारणम् ?, इत्याशङ्क्याऽऽह—

जं सोऽतिनिज्जरत्थो, पिढयत्थो वण्णिओ महत्थो वि ।
कीरइ निरंतरमभि-क्खणं तु बहुसो बहू वारा ॥३०२३॥

यद् यस्मादसौ नमस्कारोऽतिनिर्जरार्थः, तथा द्वादशाङ्गगणिपिटकार्थो महार्थश्चोक्तप्रकारेण वर्णितः, तस्मादभीक्ष्णं निरन्तरं बहुशो बहवो वाराः क्रियते ॥ इति गाथाऽक्षरार्थः ॥ ३०२३ ॥

अथ निर्युक्तिकृदुपसंहरन्नाह-

अरहंतनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।

मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥ ३०२४ ॥

अत्र "सव्वपावप्पणासणो" इत्यस्य व्याख्यानमाह–

पंसेइ पिबइ व हियं, पाइ जवे वा जियं तओ पावं ।
तं सव्वमट्ठसाम–न्नजाइभेयं पणासेइ ॥ ३०२५ ॥

पांशयति मलिनयति जीवमिति पापम्, पिबति वा हितमिति पापम्, पाति वा भव एव रक्षति जीवं, न पुनस्तस्मान्निःसर्तुं ददातीति पापम्; तच्च सर्वं, कर्मेहाभिप्रेतम् । कथंभूतम् ?, इत्याह–(अट्ठसामन्नजाइभेयं ति) अष्टौ सामान्येन ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदयो जातिभेदा यस्य तदष्टसामान्यजातिभेदं प्रणाशयत्युच्छेदयतीति सर्वपापप्रणाशन इति ॥ ३०२५ ॥

" मंगलाणं च सव्वेसिं " (३०२४)
इत्यादेर्व्याख्यानमाह—

नामाऽऽइमंगलाणं, पढमं ति पहाणमहव पंचण्हं ।
पढमं पहाणतरयं, व मंगलं पुव्वभणियत्थं ॥३०२६॥

अर्हन्नमस्कारलक्षणं मङ्गलं नामस्थापनाऽऽदिमङ्गलानां मध्ये प्रथमं प्रधानम्, मोक्षलक्षणप्रधानपुरुषार्थसाधकत्वात् । अथवा–प्रस्तुतानामेव पञ्चानामर्हत्सिद्धाऽऽदिप्रावमङ्गलानामेतत्प्रथममाद्यम्, आदावेव निर्दिष्टत्वात् । अथवा–प्रधानतरं प्रथमं, सिद्धाऽऽद्यपेक्षयाऽर्हतां प्रधानतरपरोपकारार्थसाधकत्वादिति । " मंगालयइ जवाओ, " (२४) इत्यादिना च मङ्गलं पूर्वभणितशब्दार्थमेव । इति गाथात्रयार्थः ॥३०२६॥ इत्यर्हन्नमस्कारः समाप्तः । विशे० । (सिद्धनमस्कारशब्दार्थः ' सिद्ध ' शब्देऽभिधास्यते)

संप्रति सिद्धनमस्कारवक्तव्यतामाह–

सिद्धाण नमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥
सिद्धाण नमोक्कारो, धन्नाण भवक्खयं करेंताणं ।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियाऽऽवारओ होइ ॥
सिद्धाण नमोक्कारो, एवं खलु वन्निओ महत्थो त्ति ।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरए बहुसो ॥
सिद्धाण नमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, बीयं हवइ मंगलं ॥

गाथाचतुष्टयमप्यर्हन्नमस्कार इव वेदितव्यम् । उक्तः सिद्धनमस्काराधिकारः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । (सिद्धशब्दार्थः ' सिद्ध ' शब्दे वक्ष्यते)

साम्प्रतमाचार्यनमस्कारावसरः–

आयरियनमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥
आयरियनमोक्कारो, धन्नाण भवक्खयं करेंताणं ।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियाऽऽवारओ होइ ॥
आयरियनमोक्कारो, एवं खलु वण्णिओ महत्थो त्ति ।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरए बहुसो ॥
आयरियनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, तइयं हवइ मंगलं ॥

गाथाचतुष्टयमप्यर्हन्नमस्कारवदवसेयम्, विशेषस्तु सुगम एव इत्युक्त आचार्यनमस्काराधिकारः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । (आचार्यशब्दार्थस्तु ' आयरिय ' शब्दे द्वितीयभागे ३०२ पृष्ठे निरूपितः)

साम्प्रतमुपाध्यायनमस्कारः–

उवज्झायनमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥
उवज्झायनमोक्कारो, धन्नाण भवक्खयं करेंताणं ।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियाऽऽवारओ होइ ॥
उवज्झायनमोक्कारो, एवं खलु वन्निओ महत्थो त्ति ।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरए बहुसो ।
उवज्झायणमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, चउत्थं हवइ मंगलं ॥

गाथाचतुष्टयमपि सामान्यार्हन्नमस्कारवदवसेयम् । विशेषस्तु सुगमं एवेत्युक्त उपाध्यायनमस्काराधिकारः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । (उपाध्यायशब्दार्थस्तु ' उवज्झाय ' शब्दे द्वितीयभागे ८८२ पृष्ठे गतः)

अथ साधुनमस्कारः–

साहूण नमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥
साहूण नमोक्कारो, धन्नाण भवक्खयं करेंताणं ।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियाऽऽवारओ होइ ।
साहूण नमोक्कारो, एवं खलु वन्निओ महत्थो त्ति ।
जो मरणम्मि उवग्गए, अभिक्खणं कीरए बहुसो ॥
साहूण नमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पंचमं हवइ मंगलं ॥

इदं गाथाचतुष्टयमप्यर्हन्नमस्कारवदवसेयम्, विशेषस्तु सुखोन्नेयः ।

एसो पंचनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं ॥

पाठसिद्धा । तदेवं गतं वस्तुद्वारम् । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

(१०) अथाऽऽक्षेपद्वारं वक्तव्यम् । तत्र परः प्राऽऽह–

न वि संखेवो न वित्थारो, संखेवो दुविह सिद्धसाहूणं ।
वित्थरओऽणेगविहो, पंचविहो न जुज्जए तम्हा ॥३२०१॥

इह किल सूत्रं संक्षेपविस्तरावतिक्रम्य न वर्तते । तत्र संक्षेपवद् यथा सामायिकसूत्रम्, विस्तरवद् यथा चतुर्दश पूर्वाणि । इदं पुनर्नमस्कारसूत्रमुभयातीतम्, यतोऽत्र न संक्षेपो, नाऽपि विस्तरः । तथा–(संखेवो दुविह त्ति) यद्ययं संक्षेपः स्यात्ततस्तस्मिन् सति द्विविध एव नमस्कारो भवेत्सिद्धसाधुभ्यामिति, परिनिर्वृताऽर्हदादीनां सिद्धशब्देन ग्रहणात्, संसारिणां तु साधुशब्देनेति ; संसारिणो ह्यर्हदाचार्योऽऽदयो न साधुत्वमतिवर्तन्ते । अथायं विस्तरतः । तदप्ययुक्तम् । यतो वि-

स्तरतोऽनेकविधो नमस्कारः प्राप्नोति । तथाहि-ऋषभाऽजित-संभवाऽऽदिभ्यो नामग्राहं सर्वतीर्थकरेभ्यः; तथा-सिद्धेभ्यो-ऽप्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चाऽऽदिसमयसिद्धेभ्यो यावदनन्तसमयसिद्धेभ्यः,तथा-तीर्थसिद्धप्रत्येकबुद्धाऽऽदिविशेषणविशिष्टेभ्य इत्यादिभिर्भेदैर्विस्तरतोऽनन्तभेदो नमस्कारः प्राप्नोति । यतश्चैवं, तस्मादमुं पक्षद्वयमङ्गीकृत्य पञ्चविधोऽयं नमस्कारो न युज्यत इति ॥ ३२०१ ॥ तदेवमुक्तमाक्षेपद्वारम् ।

(११) अथ प्रसिद्धिद्वारम् । तत्र प्रसिद्धिराक्षेपस्य प्रतिविधानमभिधीयते। इह चेदं प्रतिविधानम्-'न संक्षेपो, नाऽपि विस्तरतः' इत्येतदसिद्धम, संक्षेपत्वादस्य। अथ संक्षेपकारणवशात्कृतार्थाकृतार्थपरिग्रहेण सिद्धसाधुमात्रक एवोक्त इति चेत् । तदयुक्तम् । कारणान्तरस्यापि सद्भावात् । तथा चाऽऽह-

अरिहंताऽऽई नियमा, साहू साहू उ तेसु भइयव्वा ।
तम्हा पंचविहो खलु,हेउनिमित्तं हवइ सिद्धो ॥३२०२॥

इहार्हदादयो नियमात्साधवः, तद्गुणानामपि तत्र भावात् । साधवस्तु तेष्वर्हदादिषु भक्तव्या विकल्पनीयाः, यतस्ते न सर्वेऽप्यर्हदादयः, किं तर्हि ?, केचिदर्हन्तः, येषां तीर्थकरनामकर्मोदयोऽस्ति,केचित्तु सामान्यकेवलिनः,अन्ये त्वाचार्या विशिष्टसूत्रार्थदेशकाः, अपरे तूपाध्यायाः सूत्रपाठकाः, अन्ये त्वेतद्विशिष्टाः सामान्यसाधव एव शिक्षकाऽऽदयो,न पुनरर्हदादयः। तदेवं साधूनामर्हदादिषु व्यभिचारात् तन्नमस्करणेऽपि नाऽर्हदादिनमस्कारसाध्यस्य विशिष्टस्य फलस्य सिद्धिः । ततश्च संक्षेपेण द्विविधनमस्करणमयुक्तमेव, अव्यापकत्वादिति । अत्र प्रयोगः-साधुमात्रनमस्कारो विशिष्टोऽर्हदादिगुणनमस्कृतिफलप्रापणसमर्थो न भवति,तत्सामान्याभिधाननमस्कारत्वात्,मनुष्यमात्रनमस्कारवद्, जीवमात्रनमस्कारवद्वेति । तस्मात्संक्षेपतोऽपि पञ्चविध एव नमस्कारो, न तु द्विविधः, अव्यापकत्वात्; विस्तरतस्तु नमस्कारो न विधीयते, अशक्यत्वात् । तथा-"मग्गो अविप्पणासो" इत्यादिको यः पूर्वं पञ्चविधो हेतुरुक्तः, तन्निमित्तमप्ययं पञ्चविधः सिद्धो भवति। इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥३२०२॥

अथ भाष्यकार आक्षेपविवरणमाह-

निव्वुयसंसारिकया-कयत्थञ्चक्खणविहाणओ जुत्तो ।
संखेवनमोक्कारो, दुविहोऽयं सिद्धसाहूणं ॥ ३२०३ ॥
उसभाऽऽईणमणंतर-सिद्धाऽऽईणं जिणाऽऽइयाणं च ।
वित्थरओ पंचविहो, न वि संखेवो न वित्थारो ॥३२०४॥

गतार्थे ॥ ३२०३।३२०४ ॥

अथ प्रसिद्धिविवरणमाह-

जइ वि जइग्गहणाओ, होइ कयं गहणमरुहयाऽऽईणं ।
तह वि न तग्गुणपूया, जइगुणसामन्नपूयाओ ॥३२०५॥
परिणामविसुद्धिहेउं, व पयत्तो सा य वज्झवत्थूओ ।
पायं गुणाहिआओ, जा सा न तदूणगुणलब्भा ।३२०६।
जह मणुयाऽऽइग्गहणे, होइ कयं गहणमरुहयाऽऽईणं ।
न य तब्बिसेसबुद्धी, तह जइसामन्नगहणम्मि ।३२०७।

जइ एवं वित्थरओ, जुत्तो तदणंतगुणविहाणाओ ।
जम्हा तदसज्झमओ, पंचविहो हेउभेयाओ ॥३२०८॥
मग्गोवएसणाई, सोऽभिहिओ तप्पभेयओ भेओ ।
जह लावगाऽऽइभेओ,दिट्ठो लवणाऽऽइकिरियाओ।३२०९।

एता अपि गतार्था एव ॥३२०५।३२०६॥ नवरं (तह जईत्यादि) तथा तेनैव प्रकारेण, यतेः साधोः सामान्यं, तद्ग्रहणे सति नार्हदादिविशेषवति बुद्धिरुत्पद्यत इति ॥ ३२०७ ॥

(तदनंतगुणेत्यादि) तेषामर्हदादीनां ये अनन्ता गुणाः प्रत्येकं क्षेत्रकालजातिगोत्रप्रमाणाऽऽकृतिवयःसंयमाऽऽदिविशेषरूपा उपाधयस्तैः कृत्वा विधानाद् नमस्कारस्य करणादिति ॥३२०८॥

(जह लावगाऽऽईत्यादि) यथा लावक-प्लावक-पाचक-पाठक-याचकाऽऽदीनां लवन-प्लवन-पचन-पठन-याचनाऽऽदिक्रियातो भेदो दृष्टः ॥ ३२०९ ॥

(१२) अत्र क्रमद्वारविचारमाह-

पुव्वाणुपुव्वि न कमो, नेव य पच्छाणुपुव्वि एस भवे ।
सिद्धाऽऽईया पढमा, बिइयाए साहुणो आई ॥३२१०॥

इह क्रमस्तावद् द्विविधः—पूर्वानुपूर्वी वा, पश्चानुपूर्वी चेति । अनानुपूर्वी किल क्रम एव न भवति, असमञ्जसत्वात् । तत्रायमर्हदादिक्रमः पूर्वानुपूर्वी न भवति, सिद्धानामादावनभिधानादेकान्तकृतकृत्यत्वेन । तथा—"सिद्धाण नमोक्कारं, काऊण-मभिग्गहं तु सो गिण्हे।" इति वचनादर्हन्नमस्कार्यत्वेन च सिद्धानां प्रधानत्वात्, प्रधानस्य चाऽभ्यर्हितत्वेन पूर्वाभिधानादिति भावार्थः । तथा-नैव च पश्चानुपूर्व्येव क्रमो भवेत्, साधूनां प्रथममनभिधानात्, इहाऽप्रधानत्वात्सर्वेपाश्चात्त्या हि साधवः। ततश्च नानादौ प्रतिपाद्य यदि पर्यन्ते सिद्धाऽभिधानं स्यात्,तदा भवेत्पश्चानुपूर्वी। तस्मात्प्रथमायाः सिद्धाऽऽदित्वात्, द्वितीयायास्तु साध्वादित्वाद् नेयं पूर्वानुपूर्वी, नापि पश्चानुपूर्वी॥ इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥३२१०॥

एतदेव भाष्यकारः प्राऽऽह-

जेण कयत्था सिद्धा, न जिणा सिद्धाऽऽइओ कमो जुत्तो ।
पच्छक्कमो व जइ सं-जयाऽऽइसिद्धावसाणो तो ।३२११।
जं च जिणाण वि पुज्जा, सिद्धा जं तेसि निक्खमणकाले ।
कयसिद्धनमोक्कारा, करेंति सामाइयं सव्वे ॥ ३२१२ ॥

गतार्थे ॥ ३२११ ॥ ३२१२ ॥

अत्रोत्तरमाह-

अरहंतुवएसेणं, सिद्धा नज्जंति तेण अरहाऽऽई ।
न वि कोई परिसाए, पणमित्ता पणमई रन्नो ॥३२१३॥

इह तावदयं पूर्वानुपूर्वीक्रम एव । यदप्युक्तम्-" सिद्धादिरयं प्राप्नोति "। तदयुक्तम् । यतोऽर्हदुपदेशेनैव सिद्धा अपि ज्ञायन्ते, प्रत्यक्षाऽऽदिगोचरातीतत्वेनाऽऽगमगम्यत्वात् तेषाम् । तेन तस्मादर्हदादिरेव, पूर्वानुपूर्वीक्रम इति गम्यते । अत एव चार्हतामभ्यर्हितत्वमवसेयम् । कृतकृत्यमप्यल्पकालव्यवहितत्वात् प्रायः समानमेव । तथा-नमस्कार्यत्वमप्यसाधकमेव,अर्हन्नमस्कारपूर्वकमेव सिद्धत्वप्राप्तेरर्हतामपि वस्तुतः सिद्धनमस्कार्यत्वादिति ।

आह-यद्येवं तर्ह्याचार्याऽऽदिभिः क्रमः प्राप्तः, अर्हतामप्याचार्योपदेशेन परिज्ञानादिति । तदयुक्तम् । यस्मादर्हत्सि-

कयोरेवायं वस्तुतस्तुल्यबलयोर्विचारः श्रेयान्, परमनायकप्रवर्तित्वात्तयोः । अथाचार्यास्त्वर्हतां परिषत्कल्पा एव वर्तन्ते । नाऽपि कश्चित्परिषदे (पणमित्ता) प्रणामं कृत्वा, ततः प्रणमति राज्ञे; इत्यतोऽप्रेयमेवेदम् । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ३२१३ ॥

भाष्यकारः प्राऽऽह-

जइ एवं आयरिओ-वएसओ जं जिणाऽऽइपडिवत्ती ।
तेणाऽऽयरियाऽऽइकमो, जुत्तो नो चेदणेगंतो ॥३२१४॥

यद्यर्हदुपदेशेन सिद्धा ज्ञायन्त इत्यर्हतामादौ नमस्कारः, तर्ह्येवं सत्याचार्योपदेशत एव यस्माज्जिनाऽऽदीनामर्हदाऽऽदीनां प्रतिपत्तिर्भव्यलोकस्योपजायते, तस्मादाचार्यादिरेव क्रमो युक्तः, न चेदेवमिष्यते, तर्ह्यनैकान्तोऽयं-यदुपदेशेन यो ज्ञायते तस्य प्राधान्यमितरस्य च गुणभाव इति ॥ ३२१४ ॥

पर एवाऽऽह--

जुत्तो व गणहराणं, जिणाऽऽइओ जं जिणोवएसेणं ।
जाणंति ते विसेसे, सेसा उ गुरूवएसेणं ॥ ३२१५ ॥

काका वदति-युक्तो वा गणधराणां गौतमाऽऽदीनामयं जिनाऽऽदिरर्हदादिक्रमः, यस्मात्ते गौतमाऽऽदयो जिनस्याऽर्हत एवोपदेशेनाशेषान् सिद्धाऽऽचार्याऽऽदीन् जानन्ति, शेषास्तु गणधरशिष्यप्रशिष्याऽऽदयो निजनिजगुरूपदेशेन सिद्धाऽऽदीनर्हतश्च जानन्ति, ततः केषाञ्चिदर्हदादिः, केषाञ्चिदाचार्याऽऽदिः क्रमस्त्वदभिप्रायतोऽनियमेन भवत्विति ॥ ३२१५ ॥

तथा पर एवाऽऽह-

अहवा आयरिउ च्चिय, सो तेसिं मइ तओ पसत्तो भे ।
आयरियाऽऽइउ च्चिय, एवं मइ सव्वसाहूणं ॥३२१६॥

अथवा मतिः-स जिनो भगवानाचार्य एव तेषां गणधराणामाचारप्रवर्तकत्वमाश्रित्येति भावः । ततश्चैवं सति-'भे' भवतामाचार्याऽऽदिरेव सर्वसाधूनां गणधराऽऽदीनां क्रमः प्रसक्तः प्राप्त इति ॥ ३२१६ ॥

अत्र सूरिरुत्तरमाह-

पढमोवएसगहणं, तं चारुहओ न सेसएहिंतो ।
गुरवो वि तदणुवाइ-त्त चेव अणुभासया नवरं ॥३२१७॥
अरहंतगुरूवज्झा-यभावओ तस्स गणहराणं पि ।
जुत्तो तयाइउ च्चिय, न गुरु त्ति तओ जिणे न जवे ॥३२१८॥
स जिणो जिणाऽऽइसयओ, सो चेव गुरू गुरूवएसाओ ।
करणाऽऽइविणयणाओ, सो चेव मओ उवज्झाओ ।३२१९।

इह यद्यप्याचार्याऽऽदयोऽप्यर्हदादीनुपदिशन्ति, तथाऽपि यत्प्रथममुपदेशग्रहणं गणधराणां तदधिकृत्योच्यते । तच्चाऽर्हत एव सकाशात्, न शेषेभ्य आचार्योपाध्यायाऽऽदिभ्यः । येऽपि गुरव आचार्याऽऽदयोऽर्हदादीनुपदिशन्ति, तेऽपि तदुपदिष्टस्याऽर्हदुपदिष्टस्यैव, केवलमनुभाषकाः, न पुनः स्वातन्त्र्येण देशका इति ॥३२१७॥ अथवा यद्यप्याचार्याऽऽद्युपदेशेनाऽर्हन्तो ज्ञायन्त इत्यभ्युपगम्यते, तथाऽप्यर्हदादिरेव क्रमः । कुतः?, इत्याह-(अरहंतेत्यादि) गणधराणाम्, अपिशब्दाच्छेषाऽऽचार्याऽऽदीनामपि, तदादिरर्हदादिरेव क्रमो युक्तः । कुतः?, इत्याह-तस्याऽर्हत एवाऽर्हद्गुरूपाध्यायभावतः । स एव हि महावीराऽऽदिर्भगवानष्टमहाप्रातिहार्याऽऽद्यतिशययोगादर्हन्, स एव तत्त्वोपदेशाऽऽदिभ्यो गुरुराचार्यः, स एव चेन्द्रियकषाययोगाऽऽदिविनयनादुपाध्यायः, ततश्चाऽऽचार्याऽऽदिक्रमेऽपि परेणाऽऽपाद्यमाने सामर्थ्यादर्हदादिरेव क्रमः संपद्यत इति भावः ॥३२१८॥ न चाऽयं गुरुराचार्य इत्यतो जिनोऽर्हन्न भवेत्, किं तु भवेदेव, जिनातिशययोगादिति । एतदेवाऽऽह-(स जिणो इत्यादि) गतार्था ।३२१९।

अथ यदुक्तम्-"जं च जिणाण वि पुज्जा सिद्धा" (३२१२)

इत्यादि; तत्राऽऽह-

जइ सिद्धनमोक्कारं, छउमत्थो कुणइ न य तदाईओ ।
तं पइ तया न दोसो, न हि सो तक्कालमरुहंतो ॥३२२०॥

यदि निष्क्रमणकाले भगवाँश्छद्मस्थो गुणाधिकानां सिद्धानां नमस्कारं करोति, करोतु नाम तदा, न कश्चिद्दोषः । कं प्रति न दोषः?, इत्याह-तं छद्मस्थतीर्थकरं प्रति । न ह्यसौ तत्कालमर्हन्, केवलोत्पत्तावेव तद्भावादिति । यदि छद्मस्थतीर्थकरापेक्षया गुणाधिकाः सिद्धा भवद्भिरपीष्यन्ते, तर्हि कथं छद्मस्थतीर्थकराऽऽदिनमस्कारः?, इति चेत् । तदयुक्तम् । कुतः?, इत्याह-न च तदादिश्छद्मस्थतीर्थकराऽऽदिर्नमस्कार इष्यतेऽस्माभिः, किं तु समुत्पन्नकेवलज्ञानाऽर्हदादिरेव । स च केवल्यर्हन् सिद्धाऽऽदिवस्तुस्तोमस्वरूपोपदेशदानतः सिद्धेभ्यो गुणाधिक इत्युक्तमेवेति; अतोऽर्हदादिरेव नमस्कार इति ॥३२२०॥

अत्राऽऽक्षेपपरिहारौ प्राऽऽह--

एवमकयत्थकाले, सिद्धाऽऽई होउ भण्णइ तया वि ।
अन्ने संतरुहंता, तओ तयाई तओ निच्चं ॥ ३२२१ ॥

यदि छद्मस्थतीर्थकरापेक्षया गुणाधिकाः सिद्धाः, तर्ह्येवं सत्यकृतार्थछद्मस्थतीर्थकरकाले सिद्धाऽऽदिर्नमस्कारो भवतु, न्यायोपपन्नत्वादिति । उच्यतेऽत्रोत्तरम्-हन्त ! यदाऽत्र भरताऽऽदौ छद्मस्थतीर्थकरस्तदाऽपि महाविदेहेष्वन्ये केवलिनोऽर्हन्तः सन्ति, ततस्तदादिरर्हदादिरेव, तकोऽसौ नमस्कारो, नित्यं सर्वदा ॥ इति गाथाऽष्टकार्थः ॥ ३२२१ ॥ तदेवमुक्तं क्रमद्वारम् ।

(१३) अथ प्रयोजनफलयोर्दर्शनार्थमाह-

एत्थ य पओयणमिणं, कम्मक्खयमंगलाऽऽगमो चेव ।
इहलोयपारलोइय-दुविहफलं तत्थ दिट्ठंता ॥ ३२२२ ॥

अत्र च नमस्कारकरणे प्रयोजनमिदम् । यदुत-करणकाल एवाऽऽक्षेपेण ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयः, अनन्तकर्मपुद्गलापगममन्तरेण भावतो नमस्कारस्याऽप्यप्राप्तेरित्युक्तमेव । तथा-मङ्गलाऽऽगमश्चैव यः करणकालभावीति, तथा-कालान्तरभावि पुनरैहलौकिकपारलौकिकभेदभिन्नं द्विविधं फलम् । तत्र दृष्टान्ता वक्ष्यमाणलक्षणा इति ॥ ३२२२ ॥

तदेव द्विविधं फलं तावद्विवृण्वन्नाह—

इहलोए अत्थकामा, आरोग्गं अभिरई य निप्फत्ती ।
सिद्धी य सग्गसुकुल-प्पच्चायाऽऽई य परलोए ॥३२२३॥

इहलोके नमस्कारादर्थकामौ भवतः, आरोग्यं नीरुजत्वमुपजायते । एते चाऽर्थादयः शुभविपाकिनोऽस्माद्भवन्ति । तथा चाऽऽह-आभिमुख्येन रतिरभिरतिः, सा चेहलोकेऽप्यर्थादिभ्यो भवति, परलोकविषया तु तेभ्य एव, शुभानुबन्धित्वात्; निष्पत्तिः 'पुण्यस्य' इति गम्यते । अथवा-'अभिरतेश्च निष्पत्तिः' इत्येकवाक्यतैव । तथा-सिद्धिश्च, मुक्तिश्च, स्वर्गः, सुकुलप्रत्यायाऽऽदिश्च परलोके इत्यस्याऽऽमुष्मिकफलमिति ॥३२२३॥

(१४) अथाऽत्र द्विविधेऽपि फले पूर्वापक्किसान् दृष्टान्तानाह-

इहलोयम्मि तिदंडी, सा दिव्वं माउलुंगवणमेव ।
परलोए चंडपिंगल,हुंडियजक्खो य दिट्ठंता॥३२४॥ विशे०।

इहलोके नमस्कारार्थमुदाहरणं त्रिदण्डी—

"एगस्स सावगस्स पुत्तो धम्मं न य लेइ। सो य सावगो कालगतो। सो वि बाहिराइओ (विग्गाहिओ) एवं चेव विहरइ। अन्नया तेसिं घरसमीवे परिव्वायगो आवासितो। सो तेण समं मेत्तिं करेइ। अन्नया भणइ-आणेह निरुवहयं अणाहं मडयं, जेण ते ईसरियं करेमि। तेण मग्गिओ, लद्धो उव्वद्धो मणुस्सो। सो मसाणं नीतो। जं च तत्थ पाउग्गं तं च नीयं। सो य दारगो पियरेण नमोक्कारं सिक्खावितो, भणितो य-जाहे बीहेज्जासि,ताहे एयं पढिज्जासि, विज्जा एसा। सो य तस्स मयगस्स पुरतो ठविओ। तस्स य मयगस्स हत्थे असी दिन्नो। परिव्वायगो विज्जं परियट्टेइ। उट्ठेतुमारद्धो वेयालो। सो दारगो भीतो हियए नमोक्कारं परियट्टेइ। सो वेयालो पडितो। पुणो वि जवति। पुणो वि उट्ठिओ। सुट्ठुतरगं परियट्टेइ। पुणो वि पडितो। तिदंडी भणइ-किं वि जाणसि ?। भणइ-न किं पि जाणामि। पुणो वि जवइ। तइयवारं पुणो वि उट्ठितो। पुणो नमोक्कारं परियट्टेइ। ताहे वाणमंतरेण रूसिऊण तं खग्गं गहाय सो तिदंडी दो खंडा कओ। सुवण्णकारी (खाडी) जातो। अंगोवंगाणि य से जुत्तजुत्ताइं काउं सव्वरत्तिं कूडं। ईसरो नमोक्कारपभावेण जातो। जइ न होंतो नमोक्कारो, तो वेयालेण मारिज्जंतो सो सुवण्णं होंतो"।

कामनिप्फत्ती नमोक्कारतो कहं ?-

"एगा साविगा आसी, तीसे भत्ता मिच्छादिट्ठी अण्णं भज्जं आणेउं मग्गइ, तीसे तणए न लब्भइ त्ति। स सवत्तगं ति चिंतेइ-कहं मारेमि ?। अण्णया कण्हसप्पो घडए छुभित्ता आणीतो, संगोवितो य। जिमितो भणइ-आणेह पुप्फाणि अमुगे घडए ठवियाणि। सा पविट्ठा अंधकारं ति नमोक्कारं परियट्टंती चिंतेइ-जइ वि मे कोइ खाएज्जा, तो वि मे मरंतीए नमोक्कारो न नस्सिहिति। ता छूढो हत्थो। सप्पो देवयाए अवहितो पुप्फमाला कया। सा गहिया, दिन्ना य से। सो संभंतो चिंतेइ-अन्नाणि एयाणि। पुच्छइ य। तीए कहियं-ततो चेव घडातो आणीयाणि एयाणि। गतो तत्थ पेच्छइ घडगं, पुप्फगंधं च। न वि तत्थ कोइ सप्पो। ततो आउट्टो पाए पडितो सव्वं कहेइ, खामेइ य। पच्छा सा चेव घरसामिणी जाया। एवं कामावहो नमोक्कारो"।

आरोग्गाभिरईए उदाहरणं—

"एगं नगरं नदीतीरे। सरकाइएण सरीरचिंताए निग्गएणं नदीए वुज्झंतं माउलुंगं दिट्ठं। रायाए उवणीयं। रन्ना सूयस्स हत्थे दिन्नं। तेण जिमियंतस्स उवणीयं पमाणेण वन्नेण गंधेण य अइरित्तं। तस्स मणुसस्स राया तुट्ठो। दिन्ना भोगा। राया भणइ-अणुनदीए मग्गह जाव लद्धं भवे। पत्थयणं गहाय पुरिसा गया। दिट्ठो वणसंडो। जो फलाणि गेण्हइ सो मरइ। रन्नो कहियं। भणइ-अवस्सं आणेयव्वाणि, गोलग-(अक्ख) पडिया वच्चंतु। एवं गया आणेंति। तत्थ जस्स गोलगो आगतो सो एगो वणे पविसइ। पविसित्ता फलाणि बाहिं छुभइ, ततो अन्ने आणेंति। जो छुहइ सो मरइ। एवं काले वच्चंते सावगस्स परिवाडी आया। तत्थ गतो चिंतेइ-मा विराहियसामण्णो को वि होज्ज त्ति निसीहियं भणित्ता नमोक्कारं पढंतो दुक्कइ। वाणमंतरस्स चिंता आया-कत्थ मए एयं सुयपुव्वं ?, णायं, संबुद्धो वंदइ, भणइ य-अहं तत्थेव साहरामि। गतो रन्नो कहियं। रन्ना संमाणितो। तस्स अद्दसीलए दिणे दिणे ठवेइ। एवं तेण अभिरई,भोगा य लद्धा। जीवियातो य किं अन्नं आरोग्गं ?। राया वि परितुट्ठो त्ति"।

परलोगे वि नमोक्कारफलं-

"वसंतपुरे नयरे जियसत्तू राया। तस्स गणिया साविया। सा चंडपिंगलेण चोरेण समं वसति। अन्नया कयाइ तेण रन्नो घरं हयं (खायं),हारो आणीतो,भीएहिं संगोविज्जइ। अण्णया उज्जाणियाए गमणं। सव्वाओ विभूसियाओ गणियाओ वच्चंति। तीए सव्वातो अतिसयामि त्ति सो हारो आविद्धो। जीसे देवीए सो हारो, तीए दासीए सो नातो। कहियं रन्नो। सा केण समं वसइ ?। कहिए चंडपिंगलो गहितो सूले भिन्नो। तीए वि चिंतियं-मम दोसेण मारिओ त्ति सा से नमोक्कारं देइ, भणइ य निदाणं। करेहि जहा एयस्स रन्नो पुत्तो आयासि त्ति। कयं निदाणं। अग्गमहिसीए उदरे उववन्नो। दारगो जातो। सा साविया कीलावणधाती जाया। अन्नया चिंतेइ-कालो समो गब्भस्स मरणस्स य होज्ज। कयाइ रमावंती भणइ-मा रोव चंडपिंगल ! त्ति जाई सरिया। संबुद्धो राया मतो। सो राया जातो। सुचिरेण कालेणं दो वि पव्वइयाणि"।

एवं सुकुलप्पच्चायातीतं सग्गगमणं सिद्धिगमणमिति।

अह वा बितियं उदाहरणं-

"महुराए नयरीए जिणदत्तो सावगो। तत्थ हुंडिओ चोरो नगरं परिमुसइ। सो कयाइ गहिओ सूले भिन्नो। रन्ना भणियं-पडिचरह बितिया वि से नज्जिहिं ति। ततो रायमणूसा पडिचरंति। सो जिणदत्तो सावगो तस्स नाइदूरे वीतीवयइ। सो चोरो भणइ-सावग ! तुममणुकंपगो सि त्ति साहतोऽहं,देह मम पाणियं, जा मरामि। सावगो भणइ-इमं नमोक्कारं पढेज्जा, ते आणेमि पाणियं। जइ विस्सारेसि तो ते आणीयं पि न देमि। सो ताए लोलयाए पढइ। सावगो वि पाणियं गहाय आगतो। ता वेला पयाय (पक्कलं पाहामि) त्ति णमोक्कारं घोसंतस्सेव निग्गतो जीवो। जक्खो उववन्नो। सावगो तेहिं मणुस्सेहिं गहितो; चोरभत्तदायगो त्ति रन्नो निवेइयं। राया भणइ-एयं पि सूले भिंदह। आघायणं निज्जइ। जक्खो ओहिं पउंजइ। पेच्छइ सावगं अप्पणो य सरीरं। ततो पव्वयं उप्पाडेऊण नयरस्स उवरिं ठवेइ। भणइ य-सावगं भट्टारयं न याणह, खामेह, मा भे सव्वे चूरेहामि। ततो मुक्को खामितो विभूईए नयरं पवेसितो। नयरस्स पुव्वेण जक्खस्स आययणं कयं। एवं नमोक्कारेण फलं लब्भइ।" उक्ता नमस्कारनिर्युक्तिः। आ०म० १ अ० ४ खण्ड।

अथ भाष्यकारः प्रयोजनफलयोर्विवरणमाह-

सयओवओगकिरिया-गुणलाभो तप्पओयणमिहेव।
कालंतरनिप्फत्तिं, फलमिहपरलोगमोक्खेसु ॥३२५॥
कम्मक्खओऽणुसमयं, तल्लाभे चेव तदुवओगाओ।
सव्वत्थेसु य मंगल-पविग्घहेऊ नमोक्कारो ॥३२६॥

तस्य नमस्कारस्य प्रयोजनं तत्प्रयोजनमिहैवेहलोक एव। किमिति ?। अत्रोच्यते-तद्विषयस्तत्तोपयोगक्रियया यः कर्मक्षय-क्षयोपशमाऽऽदिगुणस्य लाभः। फलं तु नमस्कारस्य (का-

लंतरनिप्फत्ति त्ति) । कालान्तरे निष्पत्तिर्यस्य तत्कालान्तरनिष्पत्ति, कालान्तरभावीत्यर्थः । तत्र (इह त्ति) इहलोके,अर्थकामाऽऽदिकम् । (परलोए त्ति) परलोके स्वर्गाऽऽदिकं, मोक्षे तु जरामरणाभावाऽऽदिकमिति । तदेवं सामान्यतः प्रयोजनं फलं चोपदर्शितम् ॥ ३२२५ ॥ अथ प्रयोजनं विशेषतो दर्शयति-(कम्मेत्यादि) (तल्लाभे चेव त्ति) तस्य नमस्कारस्य लाभकाल एव, तदुपयोगान्नमस्कारोपयोगादनुसमयं कर्मक्षयो भवति । तथा-सर्वार्थेषु च सर्वकार्येषु प्रवृत्तानां मङ्गलमविघ्नहेतुर्नमस्कारः संपद्यत इति ॥ ३२२६ ॥

अत्र कश्चिदाह-"ननु नमस्कारोपयोगात्कर्मक्षयो भवति" इत्येतत्कुतः ?, इत्याह-

सुयमागमो त्ति य तओ, सुओवओगप्पओयणो तं च ।
आयहियपरिण्णाभा-वसंवराऽऽइ-बहुविगप्पं च ॥३२२७॥

तकोऽसौ नमस्कारः श्रुतमागम इत्यर्थः । स च श्रुतोपयोगप्रयोजनः श्रुतोपयोगः प्रयोजनं फलमस्येति कृत्वा । तच्च श्रुतोपयोगप्रयोजनमात्महितभावसंवराऽऽदिभेदेन बहुविकल्पं बहुभेदम् । उक्तं च-" आयहियपरिण्णा-वसंवरो नवनवो य संवेगो । निक्कंपया तओ नि-ज्जरा य परदेसियत्तं च ॥ १ ॥" इत्यादि । अतो नमस्कारस्य श्रुतरूपत्वाच्छ्रुतत्वेन तदुपयोगात्कर्मक्षय इति ॥ ३२२७ ॥

(१५) अत्र प्रेरकः प्राऽऽह-

पूयाफलप्पया न हि, नहं व कोवप्पसायविरहाओ ।
जिणसिद्धा दिट्ठंतो, वइधम्मेणं निवाऽऽईया ॥३२२८॥

नमस्कारलक्षणायाः पूजायाः फलं पूजाफलं तत्प्रदौ न हि नैव जिनसिद्धौ, कोपप्रसादरहितत्वात्, नभोवदिति । ये तु पूजाफलदाः ते कोपप्रसादरहिता न भवन्ति, यथा नृपाऽऽदय इत्येष वैधर्म्येण दृष्टान्त इति ॥ ३२२८ ॥

एतदेव समर्थयन्नाह-

पूयाऽणुवगाराओ, अपरिग्गहाओ विमुत्तिभावाओ ।
दूराऽऽइभावओ वा, विफला सिद्धाऽऽइपूय त्ति ॥३२२९॥

विफला सिद्धाऽऽदिपूजेति प्रतिज्ञा । हेतूनाह-पूजाया अनुपक्रियमाणत्वात्, तदपरिग्राहित्वात्, अमूर्तत्वात्, दूराऽऽदिभावात्, नभोवदिति ॥ ३२२९ ॥

अत्र प्रतिविधानमाह-

जिणसिद्धा दिंति फलं, पूयाए केण वा पवण्णमिणं ? ।
धम्माऽधम्मनिमित्तं, फलमिह जं सव्वजीवाणं ॥३२३०॥
ते य जओ जीवगुणा, तओ न देया न वा समादेया ।
कयनासाऽकयसंजो-गसंकरेगत्तदोसाओ ॥३२३१॥

सम्यगमनुक्तोपालम्भः सर्वोऽपि पूर्वोक्तः, यस्माद् "जिनसिद्धाः पूजायाः फलं ददति" इति केनेदं प्रपन्नम् ?। धर्माधर्मनिमित्तमेव हि यस्मात् स्वर्गनरकाऽऽदिकं फलमिह सर्वजीवानामिति ॥ तौ च धर्माधर्मौ यतो जीवगुणौ, ततो न कस्यापि देयौ दातव्यौ,नाऽपि कुतश्चित्समादेयौ ग्राह्यौ,ज्ञानाऽऽदिगुणवत् । कुतः ?, इत्याह-(कयनासेत्यादि) यदि ह्येते जिनसिद्धाः कुपिताः सन्तः कस्याऽपि धर्ममपहरेयुरधर्मं च प्रयच्छेयुः, तदा कोपविषयभूतस्य प्राणिनः कृतस्य धर्मस्य नाशः, अकृतस्य चाऽधर्मस्याऽऽगमः स्यात्, प्रसन्ना वा यदि कस्याऽप्याकस्मिकं धर्मं प्रयच्छेयुः,अधर्मं चापहरेयुः,तदाऽकृतस्य धर्मस्याऽऽगमः,कृतस्य चाधर्मस्य नाशो भवेदिति । एवं यदा ते प्रसन्नाः कुपिता वा कस्याऽपि संबन्धिनौ धर्माधर्मावाच्छिद्यान्यस्य दद्युः, अन्यस्य संबन्धिनौ चापरस्य, तदा प्राणिनां परस्परं धर्माधर्मयोः संकरः, एकत्वं वा स्यात् । एवं स्वर्गनरकाऽऽदिके धर्माधर्मफलेऽपि कृतनाशाऽऽदिभावना कार्येति ॥ ३२३० ॥ ३२३१ ॥

अपि च-

नाणानावाहसुहं, मोक्खो पूयाफलं जओऽभिमयं ।
तं नाऽऽयपज्जयाओ, देयं जीवाऽऽइभावो व्व ॥३२३२॥

ज्ञाने सत्यनाबाधस्य यत्सुखं तद्रूपो यो मोक्षः, स एव यस्मान्नमस्कारलक्षणायाः पूजायाः परमार्थतो मुख्यं फलमभिमतं,स्वर्गाऽऽदेरानुषङ्गिकफलत्वात् । तच्च यथोक्तं सुखं न कस्याऽपि देयं दातुं शक्यम्, आत्मपर्यायत्वात्, जीवचैतन्याऽऽदिभाववत् । ततश्च पूजाफलदाननिषेधे सिद्धसाधनमेवेति ।३२३२।

यदि पूजाफलं न देयं, तर्हि किं देयमिह भवेद् ?, इत्याह-

भत्ताऽऽइ होज्ज देयं, न तदत्थो पूयणप्पयत्तोऽयं ।
तं पि सकओदयं चिय, बज्झनिमित्तं परो नवरं ।३२३३।

शाल्योदनाऽऽदिरूपं भक्ताऽऽदिकं परस्मै देयं भवेत्, स्थूलपुद्गलस्कन्धमयत्वात्, घटाऽऽदिवत् । केवलं तदर्थो भक्ताऽऽद्यर्थोऽयं पूजनप्रयत्नो न भवति, किं तु मोक्षार्थः । किञ्च-तदपि भक्ताऽऽदिकं स्वकृतात्कर्मण उदय उत्पत्तिर्यस्य तत्स्वकृतोदयं, स्वकृतकर्मजनितमेवेत्यर्थः । यस्तु परः कश्चिद्दाता दृश्यते, स केवलं बाह्यनिमित्तमात्रमेव । निश्चयतस्तु बाह्यो न कोऽपि कस्यापि दाता, अपहर्ता चेति ॥ ३२३३ ॥

एतदेव समर्थयन्नाह-

कम्मं सुहाऽऽइहेऊ, बज्झयरं कारणं जया देहो ।
सद्दाऽऽइ बज्झतरयं, जइ दायारे कहा का णु ? ॥३२३४॥
तम्हा सकारणं चिय, सुहाऽऽइ बज्झं निमित्तमेत्तायं ।
को कस्स देइ हरइ व,निच्छयओ का कहा सिद्धे ? ।३२३५।

यदि हन्त ! सुखदुःखानामन्तरङ्गं कर्मैव हेतुः, देहस्तु यदा तेषां बाह्यतरं कारणं, शब्दरूपाऽऽदिकं तु शुभाशुभमपि बाह्यतरं कारणं, तदाऽतिबाह्यतरादपि परभूते दातरि काऽत्र किल कारणत्वकथा ?, इति ॥३२३४॥ तस्मात्स्वमात्मीयं कर्मैव कारणं यस्य तत्स्वकारणमेव सुखाऽऽदि, बाह्यं तु देहशब्दरूपाऽऽदिकं निमित्तमात्रकमेव । ततो निश्चयतः कः कस्मै ददाति, अपहरति वा ?, न कश्चिदित्यर्थः । तथा च सति क्षीणरागद्वेषे सिद्धे का नमस्कारफलदातृत्वकथा ?, इति ॥ ३२३५ ॥

अत्र परप्रेर्यं परिहारं चाऽऽह-

जइ सव्वं सकयं चिय, न दाणहरणाइफलमिहाऽऽवन्नं ।
णणु जत्तो च्चिय सकयं,तत्तो च्चिय तप्फलं जुत्तं ।३२३६।
दाणाऽऽइपराणुग्गह-परिणामविसेसओ सओ चेव ।
पुन्नं हरणाऽऽइपरो-वघायपरिणामओ पावं ॥ ३२३७ ॥
तं पुन्नं पावं वा, ठियमत्ताणि बज्झपच्चयावेक्खं ।
कालंतरपागाओ, देइ फलं न परओ लब्भं ॥ ३२३८ ॥

यथुक्तप्रकारेण यल्लोकः शुभमशुभं वा फलमनुभवति, तत्स-

र्थं स्वकृतमेवेष्यते, न पुनः कोऽपि कस्याऽपि किमपि ददात्यपहरति वा; तर्हि दानापहरणाऽऽदीनामिह दातुरपहर्तुर्वा न किञ्चित्फलमित्यापन्नं, स्वकृतस्यैव फलेन तस्य प्राप्तत्वादिति । सूरिराह—ननु यत एव तत्स्वकृतं, तत एव तत्फलं दातुरपहर्तुश्च युक्तम् । दाता हि दानसमये परानुग्रहपरिणामविशेषात्स्वत एव पुण्यं बध्नाति; अपहर्ता तु परोपघातपरिणामात् स्वत एव पापं बध्नाति । अतस्तयोस्तत्पुण्यपापलक्षणं फलं स्वकृतमेवेति कथं न युक्तम् ?, युक्तमेवेति ॥३२३६॥ एतदेवाह–(दाणाऽऽईत्यादि) आदिशब्दाद्धयाऽऽदिपरिग्रहः । (सओ चेव त्ति) स्वत एव स्वकृतमेव दातुः पुण्यं, स्वत एव चापहर्तुः पापम् । शेषं गतार्थमिति ॥३२३७॥ तच्च पुण्यं पापं वा स्वपरिणामजनितमात्मन्येव स्थितं, किं तु बाह्यनिमित्तमात्रापेक्षं कालान्तरे विपाकाच्छुभमशुभं वा फलं ददातीति " परकृतम् " इति व्यपदिश्यते, न पुनः परमार्थतस्तत् पुण्यपापफलं परतो लभ्यमिति ॥ ३२३८ ॥

ननु परतस्तल्लाभे को दोष- ?, इत्याह–

जइ वा परञ्जहियव्वं, तत्तो च्चिय जेण तप्पारिग्गहियं ।
तो तम्मि सिवं पत्ते,कुगइगए वा कुओ लब्भं ?।।३२३९।।

स्पष्टा ॥३२३९॥

अपि च–यदि येन यद्दत्तं तस्मै तद्देयम्, यस्य चाऽऽपहृतमसावपि तस्याऽऽहरति, तर्हीदं दूषणम् । किं तत् ?, इत्याह–

लहइ अदिंतो व कओ, साहू जं देज्ज पुव्वदायस्स ? ।
कत्तोऽवहारिणो तं,जं पडिहारिज्ज से धणिणो ।।३२४०।।
अह व मई जं तेण वि, दिन्नं अण्णस्स तं तओ लद्धुं ।
पडिदेइ तहाऽऽहारी, हारीओ अन्नओ लद्धुं ।।३२४१।।

वा अथवा, इह निर्ग्रन्थत्वेन साधुर्दानमददत्प्रयच्छन्मृत्वा भवान्तरं प्राप्तः पूर्वमदत्तत्वात्कुतः कस्मादाहाराऽऽदिकं तल्लभते, यत्पूर्वभवसंबन्धिन आहाराऽऽदिदातुस्तदानीं दद्यात् ?, इति । यो वा पूर्वभवे कस्याऽपि संबन्धिनमपहृत्य मृतो जन्मान्तरे निःस्वो जातः (से) तस्य परधनाऽपहारिणः कुतस्तद्धनं यत्पूर्वभवधनिना प्रतिह्रियते ?, इति ॥ ३२४० ॥ अथ मतिः परस्य भवेत्–तेनापि साधुना यदनेकभवेष्वन्यस्याऽऽहाराऽऽदिकं दत्तं तत् ततो लब्ध्वा पूर्वभवदातुः प्रतिददाति । तथा–योऽपि पूर्वभवे परधनमपहृत्येहभवे निःस्वो जातस्तस्यापि संबन्धिनं नानाभवेष्वन्येनान्येन वाऽपहृतमास्ते, ततश्चासौ ततः स्वधनापहारिणोऽन्यतः सकाशात्स्वापहृतं लब्ध्वा यस्य सत्कं तेन पूर्वमपहृतं तस्मै, 'प्रतिदद्यात्', इति शेषः ॥ ३२४१ ॥

तदेतत्सर्वमयुक्तम्, कुतः ?, इत्याह–

एवं होउऽणवत्था, दाणग्गहणाणमपरिभोगो य ।
जइ परओ लद्धव्वं,दिन्नं वा तस्स तं चेव ।।३२४२।।

यदि दानाऽऽदिविषयस्वपरिणामवशात्पुण्यपापे नेष्येते,किं तु यद्यस्मै दत्तं तत्तस्मादेव परतो लभ्यमित्यभ्युपगम्यते । यस्माद्वा यदाहाराऽऽदिकं कदाऽपि लब्धं, तस्यैवाऽन्यदा दत्तं, न पुनर्वाधिकेन ग्राहकस्य किमप्यधिकं कृतमिति चेष्यते; तदैवं सति दानग्रहणयोरनवस्था प्राप्नोति; यस्मै दानं तस्मात्पुनर्ग्रहणं, पुनरपि चान्यस्मै दानं, पुनरपि तस्माद् ग्रहणमित्यादि । ततश्च दानग्रहणपरम्पराव्यापृतस्य मोक्षाभावप्रसङ्गः, दानफलस्य च स्वयमपरिभोगः प्राप्नोति, अन्योन्यदानग्रहणाभ्यामायव्ययविशुद्धत्वादिति ॥ ३२४२ ॥

तदेवं तीर्थिकविशेषाणां सौत्रान्तिकाऽऽदीनां मतमपाकृत्योपसंहारपूर्वकं स्वाऽभिमतमुपदर्शयन्नाह–

तम्हा सपराणुग्गह–परिणामाओ सुपत्तविणिओगा ।
दाया पुण्णं पावइ, जं तत्तो से फलं होइ ।।३२४३।।

तस्मात्स्वपरानुग्रहपरिणामेन सुपात्रेषु वित्तविनियोगाद्दाता यत्पुण्यं प्राप्नोति, ततः (से) तस्य दातुः फलं स्वर्गाऽऽदिकं भवतीति ॥ ३२४३ ॥

तदेवमुक्तनीत्या दाता स्वत एवेदं स्वर्गाऽऽदिफलं लभते,न तु परतः, गृहीताऽप्येवमेव द्रष्टव्य इति दर्शयन्नाह–

जह सो पत्ताणुग्गह–परिणामाओ फलं सओ लहइ ।
तह गेण्हंतो वि फलं, तदणुग्गहओ सओ लहइ ।३२४४।

गतार्था ॥ ३२४४ ॥

एवं परधनापहार्यपि स्वत एव वधबन्धननरकाऽऽदिकं पापफलं लभते, न परत इति दर्शयति–

हारी वि हरणपरिणा–मदूसिओ वज्झपच्चयावेक्खं ।
पावो पावं पावइ, जं तत्तो से फलं होइ ॥ ३२४५ ॥

इयमप्युक्तार्थप्राया ॥ ३२४५ ॥

अथ प्रकृतयोजनामाह–

जह मायत्तं दाणे, परिणामाओ फलं तहेहावि ।
निययपरिणामओ च्चिय,सिद्धं जिणसिद्धपूयाए।।३२४६।।

प्रकटार्थप्राया ॥ ३२४६ ॥

(१६) अथ जिनाऽऽदिपूजाप्रतिष्ठार्थं प्रमाणयन्नाह–

कज्जा जिणाऽऽइपूया, परिणामविसुद्धिहेउओ निच्चं ।
दाणाऽऽदउ व्व मग्ग–प्पभावणाओ य कहणं व ।३२४७।

कार्या नित्यं जिनाऽऽदिपूजेति प्रतिज्ञा,स्वपरिणामविशुद्धिहेतुत्वादिति हेतुः, दानाऽऽदिवदिति दृष्टान्तः । अथवा–कार्या नित्यमेव जिनाऽऽदिपूजा, मोक्षमार्गप्रभावकत्वात्, धर्मकथनवदिति ॥३२४७॥

" कोपप्रसादरहितत्वात्" इति परोक्तहेतोरनैकान्तिकतां दर्शयन्नाह–

कोवप्पसायरहियं, पि दीसए फलदमन्नपाणाऽऽइं ।
कोवप्पमायरहियं, ति निप्फलं तो अणेगंतो ।।३२४८।।

पूर्वार्द्धं सुबोधम् । ततः "कोपप्रसादरहितं वस्तु निष्फलम् " इत्यनेकान्तः, अन्नपानाऽऽदिभिर्व्यभिचारादिति ॥ ३२४८ ॥

अपि च–विरुद्धोऽप्ययं हेतुरिति दर्शयन्नाह–

कोवाऽऽइविरहियं चिय,सव्वं जमणुग्गहोवघायाय ।
दीसइ तेण विरुद्धं, फलमिह कोवप्पमायाओ ।।३२४९।।

इहाऽऽकाशान्नपानपीयूषविषचिन्तामणिपन्धोपलकल्पद्रुमविषवृक्षगुडनागरहरीतकीमरीचाऽऽद्यौषधाऽऽदिकं सर्वमपि वस्तु कोपप्रसादविरहितमेव यस्मादनुग्रहोपघातयोः प्रवर्तमानं दृश्यते, तेन तस्मादिह कोपप्रसादतः सकाशात्फलमुच्यमानं विरुद्धमेव

संभवयते । तथाहि-कोपाऽऽदिविरहिताद्देषाऽऽकाशाऽऽदेर्मेण उपघातः, पङ्कबन्धाऽऽदेस्त्वनुग्रहः; हितमितापथ्यापानाऽऽदेरनुग्रहः, तस्माद्विपरीतात्पुनरुपघातः । एवं पीयूषविषाऽऽदेरपि सकाशात्कोपाऽऽदिविरहितादेवानुग्रहोपघातौ दृश्येते । ततो विरुद्धोऽयं हेतुः, विपक्ष एव वृत्तिदर्शनादिति ॥ ३२४९ ॥

अथ राजाऽऽदीनां हरणप्रदानहेतवः कोपप्रसादा भवन्तीति प्रत्यक्षत एव दृष्टमिति परस्य मतिर्भवेत्; ननु तदपि सर्वस्वाऽऽहरणं, प्रदानं वा स्वपापपुण्यकृतमेव । यस्तु परः, स तत्र केवलं निमित्तमात्रमेवेति प्रागेव भणितमिति दर्शयन्नाह-

हरणप्पयाणहेऊ, हवेज्ज कोवाऽऽदओ मई तं पि ।
णणु सकयं चिय जणियं, निमित्तमेत्तं परो नवरं ॥३२५०॥

गतार्था ॥ ३२५० ॥

अथवाऽपहरणप्रदानाऽऽदिकं स्वकृतं नेष्यते, तत्राऽऽह-

जइ वा न सकयहेउं, तं तो कोवप्पसाययं राया ।
सो सव्वसेवयाणं, समानफलदो कहं न भवे ? ॥३२५१॥

पाठसिद्धा ॥ ३२५१ ॥

अपि च-

दीसइ य विसमफलदो, विफलो य समाणसेवयाणं पि ।
भण्णइ य सुकयपुण्णो, तो से रायप्पसाउ त्ति ॥ ३२५२ ॥

समानसेवकानामपि विषमफलदः केषाञ्चिद्विफलश्च दृश्यते राजा । ततो ज्ञायते-स्वकृतपुण्यपापकृतमेवेदं सर्वमपि वैचित्र्यम्, राजाऽऽदिस्तु तत्र निमित्तमात्रमेवेति । अपरं च लोकेऽपि भण्यते लोकेऽप्येवं वक्तारो भवन्ति-"सुकृतपुण्यः स देवदत्ताऽऽदिः.(तो से त्ति) ततः 'से' तस्यैव राजप्रसादो जातः" इति । तत एवमादिलोकोक्तेश्च स्वकृतपुण्यपापानुमानं प्रवर्तत इति ।३२५२।

अपि च-

कोवप्पसायहेउं, च जं फलं न हि तदत्थमारंभो ।
न परप्पसायणत्थं, किं तु नियपप्पसायत्थं ॥ ३२५३ ॥

कोपप्रसादहेतुकं च यत्किमपि फलं तदर्थो नैवायमस्माकमर्हदादिनमस्कारपूजाऽऽरम्भः, नाऽपि परप्रसादनार्थं, किं तु निजकचित्तस्य यः प्रसादः प्रसत्तिरर्हदादिगुणबहुमानेन शुभरूपता, तदर्थोऽयमारम्भ इति ॥ ३२५३ ॥

परप्रसादनार्थं नाऽऽरम्भ इत्याह-

धम्माऽधम्मा न पर-प्पसायकोवाणुवत्तिणो जम्हा ।
तो न परो त्ति पसण्णो, धम्मो कुविउ त्ति वाऽधम्मो ।३२५४।

धर्मार्थो ह्ययमारम्भः । धर्माऽधर्मौ च यस्मान्न परप्रसादकोपानुवर्तिनौ, किं तर्हि ?, जीवगतशुभाशुभपरिणामानुयायिनौ; ततः 'परः प्रसन्नः' इत्येतावता न धर्मः, नापि 'परः कुपितः' इत्येतावन्मात्रेणाऽधर्मः, किं तु निजशुभाशुभपरिणामवशाद्धर्माधर्मौ । तत्र च शुभाशुभपरिणामस्याऽऽलम्बनमर्हदादयो नमस्क्रियमाणाः संपद्यन्ते । शुभपरिणामाच्च धर्मः । तस्माच्चार्थकामाऽऽदयः, स्वर्गापवर्गौ च भवतः । इति संपद्यत एवार्हन्नमस्कारस्य यथोक्तं फलमितीह तात्पर्यमिति ॥ ३२५४ ॥

यदि परप्रसादकोपाऽनुवर्तिनौ धर्माधर्मौ स्यातां,
ततः को दोषो भवेत् ?, इत्याह-

तम्हाहणासुभस्स वि, जइ वा धम्मो परप्पसायाओ ।
तो जो जस्स पसन्नो, स तस्स देज्जा जगद्धम्मं ।३२५५।
कुविओ हरेज्ज सव्वं, दिज्जा धम्मं व तह य पावं ति ।
अकयाऽऽगमकयनासा, मोक्खगयाणं पि चापडणं ।३२५६।

वाशब्दः प्रस्तावनायां, सा च कृतैव । तस्य धर्मस्य दयादानप्रशमब्रह्मचर्याऽर्हदादिपूजाऽऽदीनि साधनानि, तैः शून्यस्यापि यदि धर्मः परप्रसादमात्राद्वेष्यते, ततस्तर्हि य ईश्वराऽऽदिर्यस्य देवदत्ताऽऽदेः प्रसन्नः स ईश्वराऽऽदिर्जगतोऽपि संबन्धिनं धर्ममपहृत्य तस्यैवैकस्य देवदत्ताऽऽदेः सर्वं दद्यात् । तथा-कुपितः स एव तस्य देवदत्ताऽऽदेः संबन्धिनं सर्वं धर्ममपहरेत्, अधर्मं वा सर्वमपि प्रयच्छेत् । तथा च सत्यकृताऽऽगमकृतनाशौ प्राप्नुतः, एकस्याकृतयोरपि धर्माऽधर्मयोरागमात्, अन्येषां तु स्वयंकृतयोरपि तयोर्नाशादिति । मोक्षगतानामपि च सिद्धानामेवं पतनं स्यात्तदीयपूर्वसुकृतस्यान्यत्र संचरणात्, अन्यदीयाधर्मस्य च तेषु प्रक्षेपादिति ॥ ३२५५ ॥ ३२५६ ॥

किञ्च-परकीयकोपप्रसादाभावेऽपि धर्माऽधर्मौ तथापि प्रसिद्धौ । कथम् ?, इत्याह—

जइ वीयरागदोसं, मुणिमक्कोसिज्ज कोइ दुट्ठऽप्पा ।
कोवप्पसायरहिओ, मुणि त्ति किं तस्स नाधम्मो ? ।३२५७।
सवओ तस्साऽधम्मो, जइ वंदंतस्स तो धुवं धम्मो ।
कोवप्पसायरहिए, तइ जिणसिद्धे वि को दोसो ? ।३२५८।

वीतावपगतौ रागद्वेषौ यस्य तं वीतरागद्वेषं मुनिं यदि दुष्टाऽऽत्मा कश्चिदाक्रोशेत्, तदा "वीतरागद्वेषत्वात्कोपप्रसादरहितः स मुनिः" इत्येतावन्मात्रेण किं तस्याऽऽक्रोष्टुर्नाऽधर्मः स्यात् ?, ननु स्यादेवाऽसौ, सकलशास्त्रलोकप्रतीतत्वादिति ॥ ३२५७ ॥

ततश्च (सवओ त्ति) मुनिं शपमानस्य तस्याऽऽक्रोष्टुर्यद्यधर्मोऽभ्युपगतस्त्वया, ततस्तर्ह्यन्यस्य कस्यापि शुभपरिणामस्य तमेव मुनिं वन्दमानस्य ध्रुवं निश्चितं धर्मोऽप्येष्टव्य एव, स्वपरिणाममात्रनिबन्धनत्वस्येहाऽपि समानत्वादिति । यदि नामैवं, ततः प्रकृते किम् ?, इत्याह-तथा तेनैवोक्तप्रकारेण कोपप्रसादरहिते जिने सिद्धे च नमस्कर्तुर्निजशुभपरिणामवशाद्यथोक्तफलप्राप्तौ को दोषः ?, न कश्चिदिति ॥ ३२५८ ॥

(१७) दृष्टान्तान्तरेणाऽप्यर्हदादिभ्यः फलप्राप्तिं समर्थयन्नाह-

हिंसामि मुसं भासे, हरामि परदारमाविसामि त्ति ।
चिंतेज्ज कोइ न य चिं-तियाण कोवाऽऽइसंभूई ॥३२५९॥
तह वि य धम्माधम्मो-दयाऽऽइ संकप्पओ तहेहावि ।
वीयकसाए सवओ-ऽधम्मो धम्मो य संथुणओ ॥३२६०॥

"हिनस्मि हरिणाऽऽदीन्, मृषा भाषेऽहं, तद्भाषणाच्च वञ्चयामि देवदत्ताऽऽदीन्, धनमपहरामि तेषामेव, परदारानाविशामि निषेवेऽहम्," इत्यादि कश्चिच्चिन्तयेत् । न च तेषां चिन्तितानां हिंसाऽऽदिचिन्ताविषयभूतानां हरिणाऽऽदीनां तत्कालं कोपाऽऽदिसंभूतिः कोपाऽऽदिसंभवोऽस्ति ॥३२५९॥ तथाऽपि हिंसाऽऽदिचिन्तकस्याधर्मः, दयाऽऽदिसंकल्पतस्तु तद्वतो धर्मो भवति । इत्यावयोरविवादेन प्रसिद्धमेव, तथेहापि प्रस्तुते वीतकषायानप्यर्हत्सिद्धाऽऽदीन् शपमानस्याऽधर्मः, संस्तुवतस्तु धर्म इति किं नेष्यते ?, इति ॥ ३२६० ॥

अथोपसंहारपूर्वकं प्रस्तुतमुपदर्शयन्नाह-

तम्हा धम्माऽधम्मा, जुत्ता निययप्पसायकोवाओ ।
धम्मत्थिणा पयत्तो, कज्जो तो सप्पसायम्मि ॥३२६१॥
सो य नियपप्पसाओ-ऽवस्सं जिणसिद्धपूयणाउ त्ति ।
जस्स फलमप्पमेयं, तेण तयत्थो पयत्तोऽयं ॥३२६२॥

सुगमे, नवरं यस्य निजमनःप्रसादस्याप्रमेयमनन्तं फलं येनानन्तफलोऽसौ, तेन कारणेन तदर्थो निजमनःप्रसादार्थ एवार्हदादिनमस्कारप्रयत्न इति ॥ ३२६१ ॥ ३२६२ ॥

अस्यैवार्थस्य साधनार्थं प्रमाणमाह-

नाणाऽऽइमयत्ते सइ, पुज्जा कोवप्पसायविरहाओ ।
नियपप्पसायहेउं,नाणाऽऽइतियं व जिणसिद्धा ॥३२६३॥

निजमनःप्रसादहेतोः पूज्या जिनसिद्धा इति प्रतिज्ञा, ज्ञानाऽऽदिमयत्वे सति कोपप्रसादविरहादिति हेतुः, ज्ञानाऽऽदित्रिकवदिति दृष्टान्तः । कोपाऽऽदिविरहिता लेष्टुकाष्ठाऽऽदयोऽपि विद्यन्ते, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं ज्ञानाऽऽदिमयत्वे सतीति हेतोर्विशेषणमिति ॥ ३२६३ ॥

(१८) परः प्राऽऽह-

पुज्जा जिणाऽऽइवज्जा, न हि मोक्खत्थं सरागदोस त्ति ।
अकयत्थभावओ वि य, दव्वट्ठाए दरिद्द व्व ॥३२६४॥

जिनसिद्धान्वर्जयित्वा शेषा आचार्योपाध्यायसाधवो, न हि नैव, मोक्षार्थं पूज्या इति प्रतिज्ञा, सरागद्वेषत्वात्, अत एवाऽकृतार्थभावाच्च, द्रव्यार्थं दरिद्रा इवेति ॥ ३२६४ ॥

अत्र प्रतिविधानमाह-

कलुसफलेण न जुज्जइ, किं चित्तं तत्थ जं विगयरागो ।
संते वि जो कसाए, न गिण्हई सो वि तत्तुल्लो ॥३२६५॥

किं तत्र चित्रं किमाश्चर्यं, यद्विगतरागः कलुषफलेन कषायजनितेन चित्तकालुष्येण न युज्यते, विगतकषायोदयत्वात्तस्य । ननु सोऽपि तत्तुल्यो वीतरागसमान एव यः सतोऽपि कषायान्न गृह्णाति । ततश्चास्मात्परमगुरुवचनादाचार्याऽऽदयोऽपि वीतरागतुल्या एव, सतामपि कषायाणां निग्रहात् । ततः सरागद्वेषत्वादित्यसिद्धो हेतुरिति भावः। इयं च गाथा केषुचिदादर्शेषु न दृश्यते, पूर्वटीकाकारैरपि न व्याख्याता; अस्माभिस्तु बहुष्वादर्शेषु दर्शनात्सोपयोगत्वाच्च लिखितेति ॥ ३२६५ ॥

'अकृतार्थत्वात्' इत्ययमपि हेतुरनैकान्तिकः, अकृतार्थत्वे सत्यपि कारणान्तरतोऽपि पूजासंभवादिति दर्शयन्नाह-

न परोवयारओ चिय, धम्मो न परोवयारहेउं च ।
पूयाऽऽरंभो नणु सप-रिणामसुद्धत्थमक्खाओ ॥३२६६॥

'अकृतार्थभावात्' इति ब्रुवतस्तव किलायमभिप्रायः-'स्वयमकृतार्थाः सन्त आचार्याऽऽदयो न परोपकारक्षमाः, अतस्तदसामर्थ्या दरिद्रा इव न ते नमस्करणीयाः' इति । एतच्चायुक्तम् । यतो न परस्मादर्हदादेरुपकारत एव धर्मो नमस्कर्तुः, नापि परस्यार्हदादेरुपकारहेतोस्तस्य नमस्कारपूजाऽऽरम्भः । ननु स्वपरिणामशुद्ध्यर्थमाख्यातोऽसौ । ततः किञ्चिदकृतार्थत्वे सत्यपि स्वशुभपरिणामनिबन्धनत्वात्पूज्या एवाऽऽचार्याऽऽदय इति ॥ ३२६६ ॥

अथ पञ्चानामपि पूज्यत्वसमर्थनार्थं प्रमाणमाह-

पूया परोवयारा-भावे वि सिवाय जिणवराऽऽईणं ।
परिणामसुद्धिहेउं, सुजकिरियाओ य बंभं व ॥३२६७॥

शिवाय मोक्षार्थं भवति पूजा, परोपकाराभावेऽपि पञ्चानामपि जिनवराऽऽदीनामिति साध्यम्, पूजकपरिणामशुद्धिहेतुत्वात्, तन्नमस्कारक्रियायाश्च ज्ञानाऽऽदिगुणविषयबहुमानत्वेन निरवद्यत्वेन च शुभत्वात्, ब्रह्मचर्याऽऽदिवदिति ॥ ३२६७ ॥

अथ सुप्रसिद्धदृष्टान्तोपदर्शनेनापि जिनाऽऽदिपूजा परोपकाराभावेऽपि शिवायेति समर्थयन्नाह-

परहिययगया मेत्ती, करेइ भूयाण कमुवयारं सा ।
अवयारं दूरत्थो, कं वा हिंसाऽऽइसंकप्पो ? ॥३२६८॥
धम्माऽधम्मानिमित्तं, तहा वि तह चेह निरुवगारो वि ।
पूयासुहसंकप्पो, धम्मानिमित्तं जिणाऽऽईणं ॥ ३२६९ ॥

परहृदयगता साधुहृदयस्थिता सर्वभूतेषु या मैत्री सा तेषां पृथिव्यादिभूतानां कमुपकारं करोति ?, न कञ्चित् । तथा-कं वा देवदत्ताऽऽदिहृदयगतो दूरस्थहरिणाऽऽदिभूतग्रामविषयो दूरस्थहरिणाऽऽद्यपेक्षया दूरस्थो हिंसास्तेयाऽऽदिसंकल्पोऽपकारं कुर्यात् ?, न कञ्चित्; तथाऽपि मैत्री हिंसाऽऽदिसंकल्पश्च भूतानामुपकाराऽपकारविरहेऽपि द्वावपि यथासंख्यं धर्माऽधर्मनिमित्तं भवत एव । तथा चैवं लोकप्रकारेण निरुपकारोऽपि जिनाऽऽदीनामुपकारमकुर्वन्नपि भूतानां साधुगतमैत्रीसंकल्पवज्जिनाऽऽदीनां पूजा शुभसंकल्पः पूजकस्य धर्मनिमित्तं भवतीति ॥ ३२६९ ॥

(१९) आह-ननु यथा दानं साध्वादीनामुपकारं करोति, नैवं जिनाऽऽदीनां नमस्कारपूजा, तत्कथमसौ धर्मनिमित्तं भवति ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-

दाणे वि पराऽणुग्गह-लक्खणसंकप्पमेत्तओ चेव ।
फलमिह न उ पच्छा त-क्कओवगाराऽवगाराओ ॥३२७०॥
इहरोवउत्तभत्ता-जिण्णाऽऽइ वहम्मि दक्खिणेयस्स ।
दिंतस्स वहावत्ती, तेणाऽऽदाणप्पसंगोऽयं ॥ ३२७१ ॥

साध्वादिदानेऽपि पराऽनुग्रहलक्षणसंकल्पमात्रत एवेह दातुः फलनिष्पत्तिः, न पुनः पश्चात्तत्कृताद् दानकृतादुपकारादपकाराद्वेति ॥ ३२७० ॥ इतरथोपयुक्ते साध्वादिना भुक्ते योऽजीर्णाऽऽदिदोषस्तेन दाक्षिणेयस्य-दक्षिणा दानं तद्विषयभूतस्य साध्वादेर्वधे मरणे सति दातुर्वधाऽऽपत्तिर्हिंसाऽऽदिदोषसमापत्तिः। तेन च हिंसाऽऽदिदोषेणाऽऽदानप्रसङ्गोऽयं प्राप्नोति; अनिष्टं चैतत्, दातुर्विशुद्धपरिणामत्वात् । न हि तेन साध्वादिजिघांसया दानं दत्तं, किं तु तद्गुणबहुमानाऽऽदिपरिणामेन । न चैवं विशुद्धपरिणामस्यापि पापसंबन्धो घटते, अन्यथा मातृस्तन्यपानादजीर्णाद् बालस्य मरणे मातुस्तद्वधकृतपापप्रसङ्गादिति । तदेवं प्राग् यदुक्तं "पूयाऽणुवगाराओऽपरिग्गहाओ"(३२२६) इत्यादि, तत्र पूजाऽनुपकारादित्ययं हेतुरपाकृतः ॥ ३२७१ ॥

अथ "अपरिग्रहात्" इत्यमुं निराचिकीर्षुराह-

न परपरिग्गहउ च्चिय,धम्मो किं तु परिणामसुद्धीओ ।
पूया अपरिगहम्मि वि, सा य धुवा तो तदारंभो ।३२७२।

न खलु पूजायाः परेण पूज्येन परिग्रहादेव स्वीकारादेव ध-

र्मः, किं तु स्वपरिणामशुद्धितः । सा च परिणामशुद्धिः पूजायाः परेणापरिग्रहेऽपि ध्रुवा निश्चिता स्वसंवेदनसिद्धा समस्ति, ततस्तदारम्भो नमस्कारपूजाऽऽरम्भ इति ॥ ३२७२ ॥

किञ्च—दानस्यापरिग्रहत्वमभ्युपगम्योक्तं, वस्तुतस्तु तन्नास्त्येवेति दर्शयन्नाह-

इह चोयगमणुमोयग-पडिसेहगमेव संपयाणं ति ।
बहुमुणिपडिमाऽऽइ जओ, न दाणमपरिग्गहं तेण ॥३२७३॥

इह यतो यस्मात्सत्कृत्य सम्यग्दत्वा प्रदीयते यस्मै तत्संप्रदानम् । तच्च त्रिविधम् । तद्यथा-' दीयतां मह्यं, बहुफलं भवतां भविष्यति' इत्यादिवचनप्रपञ्चेन किञ्चित्प्रेरकं, यथा बटुर्ब्राह्मणः; अपरं स्थितमप्रेरकमपि दानस्य ग्रहणपरिभोगाभ्यामनुमोदकं भवति । यथा मुनिः साधुः; अन्यत्तु पुण्याऽऽयनिषेधादनिषेधकं, यथाऽर्हत्प्रतिमाऽऽदि, सर्वत्र संप्रदानाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् । तेन तस्मान्न क्वचिद्दानमपरिग्रहमस्तीति ॥ ३२७३ ॥

अपि च-किमनया दानस्य परिग्रहापरिग्रहचिन्तया ?, कार्यस्यान्यथैव स्थितत्वात्; कथम् ?, इत्याह—

दाणमपरिग्गहम्मि वि, धम्मो निययपरिणामसुद्धीओ ।
अपरिग्गहे वि जइ सा, को नाम परिग्गहग्गाहो ? ॥३२७४॥
किं च परहियपनियया, मेत्ती जुएहिँ संपरिग्गहिया ।
हिंसासंकप्पो वा, जं धम्माधम्महेउ त्ति ॥ ३२७५ ॥
एवं जिणाऽऽइपूया, सद्धासंवेगसुद्धिहेउओ ।
अपरिग्गहा वि धम्मा-य होइ सीलव्वयाऽऽइं व ॥३२७६॥

तिस्रोऽपि व्यक्तार्थाः ॥ ३२७४।३२७५।३२७६ ॥

अथ "विमूर्तिभावात्" इत्यस्य हेतोर्निरासार्थमाह-

जं चिय मुत्तिविउत्ता, मुत्ता गुणरासओ विसेसेणं ।
तेणं चिय ते पुज्जा, नाणाऽऽइतियं व मोक्खत्थं ॥३२७७॥

यस्मादेव मूर्तिवियुक्ता अमूर्त्ता मुक्ताः सिद्धाः, तेनैव ते शरीरसंबन्धजनितसकलक्लेशविमुक्तत्वाद् गुणराशयः सन्तो विशेषेण मोक्षार्थे पूज्याः, ज्ञानाऽऽदित्रिकवदिति ॥ ३२७७ ॥

अपि च-

मुत्तिमओ वि न मुत्ती, पूइज्जइ किंतु जे गुणा तस्स ।
ते मुत्तिविउत्त च्चिय, नणु सिद्धगुणा विसेसेणं ॥३२७८॥

मूर्तिमतोऽपि संबन्धिनी मूर्तिर्न पूज्यते, किं तु गुणाः, ते च मूर्तिवियुक्ता एवामूर्ता एव । ततश्च " न पूज्याः सिद्धाः, अमूर्त्तत्वात्, नभोवत," इति त्वदुक्तप्रमाणे विरुद्धाव्यभिचारित्वाद् विरुद्धो हेतुः । तथाह्येतदपि शक्यते वक्तुम्-पूज्याः सिद्धाः, अमूर्त्तत्वात्, मूर्त्तसाधुसंबन्ध्यमूर्त्तज्ञानाऽऽदिगुणवदिति । अथ सिद्धगुणा अमूर्ता न भवन्तीति चेदित्याह-ननु सिद्धगुणाः विशेषेणैवामूर्त्ताः; मूर्त्तसाधुगुणा हि ज्ञानाऽऽदयो मूर्त्तादव्यतिरिक्तत्वात् कथञ्चिन्मूर्त्ता अपि शक्यन्ते वक्तुम्; सिद्धगुणास्तु नैवम्, ततो विशेषेण ते अमूर्त्ता एव; इति न तेषां पूजाविरोध इति ॥ ३२७८ ॥

अथ परमतमाक्षिप्य परिहरन्नाह-

अह व मई मुत्तिपओ, गुणपूया होइ मुत्तिपूयाओ ।
तग्गुणसंबंधाओ, सिद्धगुणाणं तु सा नत्थि ॥३२७९॥
पूया मुत्तिगुणाणं, संबंधे फलमितीह को हेऊ ? ।
अन्नो परिणामाओ, तस्स य को केण संबंधो ? ॥३२८०॥
हिययत्थो * परिणामो, बज्झत्थालंबणानिमित्तमित्तागो ।
देइ फलं सव्वो च्चिय, सिद्धगुणाऽऽलंबणो चेवं ॥३२८१॥

सुगमाः ॥ ३२७९ ॥ नवरम् (पूयेत्यादि) परिहारवचनं, पूजा च मूर्तिश्च गुणाश्च, तेषां पूजामूर्तिगुणानां त्रयाणामपि, संबन्ध एवाऽभिमतं फलमवाप्यत इतीह स्वगतविशुद्धपरिणामादन्यः को हेतुः ?, न कोऽपीति । तस्य च स्वगतपरिणामस्य कः संबन्धः केनचिद् बाह्येन ?, न कश्चिदिति ॥ ३२८० ॥ केवलं निजहृदयस्थशुभपरिणामो यथा बाह्यार्हदाद्यालम्बननिमित्तमात्रकः सर्वोऽपि ददात्यभिमतफलमेवममूर्त्तसिद्धगुणाऽऽलम्बनोऽपीति ॥ ३२८१ ॥

अथ यदुक्तं-"दूराऽऽइभावओ वा, विफला सिद्धाइपूय त्ति" (३२२६) तत्र दूराभावादित्यस्य हेतोर्निराकरणार्थमाह-

जह दूरत्थे वि धिई, बंधुम्मि सरीरपुट्ठिवलहेऊ ।
तणुदोब्बल्लाइफलो, कत्थइ सोगाऽऽइसंकप्पो ॥३२८२॥
तह परिणामो सुद्धो, धम्मफलो हि दूरसंथे वि ।
अविसुद्धो पावफलो, दूरासन्नं ति को भेओ ? ॥३२८३॥
अहवाऽऽयसब्भावोऽयं, परिणामो तेण सव्वमेवेह ।
दूरमहाऽऽलंबणओ, तस्साऽऽसन्नं तओ सव्वं ॥३२८४॥

यथा दूरस्थेऽपि बन्धौ बान्धवजने सुखानि श्रुते तत्सुखवार्तासंकल्पजनिता धृतिः कस्याऽपि तद्बान्धवस्य दूरस्थस्यापि शरीरपुष्टिबलहेतुर्भवति; क्वचित्तु प्रस्तावे तस्मिन्नपि दुःखिनि श्रुते शोकाऽऽदिसंकल्पस्तनुदौर्बल्याऽऽदिफलः संपद्यते ॥३२८२॥ तथा तेनैव प्रकारेण दूरसंस्थेऽपि सिद्धाऽऽद्यालम्बने तद्गुणबहुमानरूपत्वाच्छुद्धपरिणामः सद्धर्मफलोऽविशुद्धस्तु पापफलः संजायते । अतो दूरस्थमासन्नं वा सिद्धाऽऽद्यालम्बनमिति को भेदः ? कथं निष्फला तद्भेदचिन्ता ?, इत्यर्थः ॥ ३२८३ ॥ अथवा-आत्मस्वभावोऽयं तद्गुणबहुमानलक्षणशुभपरिणामस्तेन तस्मादिह यदनात्मस्वभावं किमपि वस्तु तत्सर्वमप्यस्य विपरीतरूपत्वाद् दूरस्थमेव । अथाऽऽलम्बनत आलम्बनभावमाश्रित्य चिन्त्यते, ततस्तर्हि सर्वमप्यर्हत्सिद्धाऽऽदिकं वस्तु तस्य यथोक्ताऽऽत्मपरिणामस्याऽऽसन्नमेवेति; अतः का सिद्धेषु दूरस्थता ?, इति ॥ ३२८४ ॥

अत्राऽऽक्षेपपरिहारावाह-

जइ सपरिणामउ च्चिय, धम्मोऽधम्मो व्व किं त्थ बज्झेण ।
जं बज्झाऽऽलंबणओ, सो होइ तओ तदत्थं तं ॥३२८५॥

ननु यदि स्वगतपरिणामादेव धर्मोऽधर्मश्च भवति, तर्हि किमत्र बाह्येनाऽर्हत्सिद्धाऽऽद्यालम्बनेनापेक्षितेन, स्वपरिणामत एव कार्यसिद्धेः तदपेक्षाया निष्फलत्वात् ?, इति । सूरिराह-यस्मात्सोऽपि परिणामो बाह्याऽऽलम्बनत एव भवति, नाऽन्यथा, ततस्तदर्थं स्वपरिणामोत्पादनार्थं तद् बाह्याऽऽलम्बनमपेक्ष्यत इति ॥ ३२८५ ॥

एतदेव भावयति-

परिणामो बज्झाऽऽलं-बणो सया चेव चित्तधम्मो त्ति ।
निच्चाणं पि व तम्हा, सुहबज्झाऽऽलंबणपयत्तो ॥३२८६॥

* ' नियत्थो ' इति पाठान्तरम् ।

शुभोऽशुभो वा परिणामः सदैव बाह्याऽऽलम्बनत एव प्रवर्तते, चित्तधर्मत्वात्, विज्ञानवदिति । यथा विज्ञानं बाह्यं नीलपीताऽऽदिकं वस्तु विना न प्रवर्तते, एवं परिणामोऽपीति भावः । तस्मादिह मोक्षाधिकारे शुभबाह्याऽऽलम्बनप्रयत्नो मोक्षार्थिनामिति ॥ ३२८६ ॥

अत्र परः प्राऽऽह–

जत्तो तत्तो व सुभो, होइ किमा–लंबणप्पभेएण ।
जह नाऽणाऽऽलंबणओ, विवरीयाओ वि सो न तहा ॥ ३२८७ ॥

ननु यतस्ततो वाऽऽलम्बनात् शुभपरिणामो भवतु, किमिह शुभाशुभभेदेन आलम्बनप्रभेदेन–किमिति शुभाऽऽलम्बनादेव शुभः परिणाम इष्यते ?, इति भावः । गुरुराह–(जह नाऽणाऽऽलंबणओ त्ति) यथाऽनालम्बन आलम्बनरहितः शुभपरिणामो न प्रवर्तते, तथा विपरीतादप्यशुभाऽऽलम्बनादसौ न भवति, अन्यथा नीलाऽऽदेरपि शुक्लाऽऽदिज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गादिति ॥ ३२८७ ॥

यदि विपरीताऽऽलम्बनान्न शुभः परिणामः, तर्हि कुतोऽसौ भवति ?, इत्याह–

किं तु सुभाऽऽलंबणओ, पाएण सुभो वि धम्मओ इयरो ।
जं होइ तं पयत्तो, सुभासुभाऽऽदाणवोसग्गो ॥ ३२८८ ॥

सुगमा, नवरं शुभस्याऽऽलम्बनस्याऽऽदाने, अशुभस्य तु तस्य व्युत्सर्गे शुभपरिणामार्थिना प्रयत्नः कर्तव्य इति ॥ ३२८८ ॥

प्रायोग्रहणस्य व्यवच्छेद्यमाह–

अन्नाणिणो मुणिम्मि वि, न सुभो दिट्ठो सुभो य निस्सीले ।
जइ परिणामाउ च्चिय, फलमिह किं पत्तचिंताए ? ॥ ३२८९ ॥

अज्ञानिनोऽभव्यस्य दूरभव्यस्य वा शुभाऽऽलम्बनरूपे मुनावपि न शुभपरिणामो दृष्टः, शुभश्चाऽसौ तस्य निःशीले नास्तिकाऽऽदौ दृष्टः, ततोऽनन्तरगाथायां "सुभालंबणओ पाएण सुभो वि" (३२८८) इत्यत्र "प्रायेण" इत्युक्तमिति भावः । प्रेरकः प्राऽऽह–यद्येवं, तर्ह्यन्यत् प्रेर्यमापन्नं, परिणामादेव भवद्भिस्तावत्फलमिष्यते, ततः किं पात्रापात्रचिन्तया ?, इति । अयमत्र भावार्थः–यदि निःशीलेऽपि पात्रे शुभपरिणामो दृष्टः, 'शुभपरिणामाच्च शुभं फलं भवति' इति भवद्भिरपि प्रागसकृत् समर्थितं, ततः किं सुशीलनिःशीलपात्रचिन्तया, निःशीलेऽपि पात्रे शुभपरिणामदर्शनात्, तस्माच्च शुभफलभावात् ?, इति ॥ ३२८९ ॥

अत्रोत्तरमाह–

सुहपरिणामनिमित्तं, होज्ज सुहं जइ तओ सुहो होज्ज ।
उम्मत्तस्स व न उ सो, सुहो विवज्जाससब्भावाओ ॥ ३२९० ॥

ननु तस्य मिथ्यादृष्टेः शुभपरिणामनिमित्तं शुभपरिणामहेतुकं शुभं फलं स्वर्गाऽऽदिकं भवेत्, को वै न मन्यते, यदि तस्याऽऽदित एव तकोऽसौ निःशीलपात्रविषयपरिणामः शुभो भवेत् ? । न चोन्मत्तस्येव तस्याऽसौ शुभः । कुतः ?, इत्याह–विपर्याससद्भावान्निःशीलेऽपि सुशीलाध्यवसायादिति कुतस्तस्य फलं शुभम् ?, इति । यदप्यस्माभिरुक्तम्–"सुभो य निस्सीले" (३२८९) इति, तदपि तदपेक्षयैव । स हि मिथ्यादृष्टिस्तं शुभपरिणामं मन्यते, तत्त्ववेदिनस्तु तस्य शुभत्वं नेच्छन्त्येव, विपर्यासादिति ॥ ३२९० ॥

पुनरपि परः प्राऽऽह–

ननु मुणिवेसच्छन्ने, निस्सीले वि मुणिबुद्धिए देंतो ।
पावइ मुणिदाणफलं, तह किं न कुलिंगदाया वि ॥ ३२९१ ॥

ननु मुनेर्वेषो मुनिवेषस्तेन छन्नोऽविज्ञातो य उदायिनृपमारकाऽऽदिस्तस्मिन्निःशीलेऽपि मुनिबुद्ध्या दानं ददद्दाता मुनिदानफलं स्वर्गाऽऽदिकं प्राप्नोति, इत्येतद्भवतामपि तावत्संमतम्, तथा तेनैव प्रकारेण कुत्सितलिङ्गी कुलिङ्गी सरजस्काऽऽदिस्तस्मै दाता कुलिङ्गदाता, सोऽपि किं न मुनिफलं प्राप्नोति, मुनिबुद्धेस्तस्यापि तत्र सद्भावात् ?, इति ॥ ३२९१ ॥

गुरुराह–

जं ठाणं मुणिलिंगं, गुणाण सुन्नं पि तेण पडिम व्व ।
पुज्जं ठाणमईए, वि कुलिंगं सव्वहा जुत्तं ॥ ३२९२ ॥

यस्मान्मुनिलिङ्गं ज्ञानाऽऽदिगुणानां स्थानमाश्रयः, तेन तस्मात्कस्याऽपि मायाविनः संबन्धि तच्छून्यमपि गुणैरविज्ञातं पाषाणाऽऽदिनिर्मिताऽर्हत्प्रतिमावत्स्थानमत्याऽपि पूज्यम् । कुलिङ्गं तु सर्वथा पूजयितुं न युक्तं, ज्ञानाऽऽदिगुणानां सर्वथैवाऽनाश्रयत्वादिति ॥ ३२९२ ॥

पुनरपि परः प्राऽऽह–

ननु केवलं कुलिंगे, वि होइ तं भावलिंगओ न तओ ।
मुणिलिंगमंगभावं, जाइ जओ तेण तं पुज्जं ॥ ३२९३ ॥

ननु केवलं केवलज्ञानं कुलिङ्गेऽपि वर्तमानानामन्यतीर्थिकानां भवतीत्यागमे श्रूयते, तत्किमिति स्थानबुद्ध्या तत्पूज्यं नेष्यते ? । गुरुराह–तत्केवलज्ञानं भावलिङ्गतो भवति, न पुनस्ततः कुलिङ्गात्, तस्य केवलज्ञानानङ्गत्वात् । मुनिलिङ्गं पुनर्यस्मादङ्गभावं केवलज्ञानस्य कारणतां याति, तेन तस्मात्तत्पूज्यमिति ॥ ३२९३ ॥

(२०) तदेवं कोपप्रसादविरहाऽऽदीन् पक्षानपि परोपन्यस्तहेतून्निराकृत्योपसंहरन्नाह–

तेण सुहाऽऽलंबणओ, परिणामविसुद्धिमिच्छया निच्चं ।
कज्जा जिणाऽऽइपूया, भव्वाणं बोहणत्थं च ॥ ३२९४ ॥

येनैवं, तेन तस्मात्परिणामविशुद्धिमिच्छता कार्या विधेया जिनाऽऽदीनां नित्यमेव पूजा । कुतः ?, इत्याह–शुभाऽऽलम्बनतः शुभाऽऽलम्बनरूपत्वात् । न केवलं स्वपरिणामविशुद्धिनिमित्तं, भव्यजनावबोधनार्थं च विधेया जिनाऽऽदिपूजा । तद्दर्शने ह्यनेके भव्याः प्रतिबुध्यन्ते, जिनधर्ममासादयन्ति, समासादिते च स्थिरीभवन्ति । अत एव तत्करणकारणानुमोदनाऽऽदिप्रवृत्तसंवेगातिशयात्क्षपितकर्मणोऽन्तकृत्केवलिनो भूत्वाऽनन्तेन कालेनाऽनन्ताः सिद्धान्ते सिद्धाः श्रूयन्ते ॥ इति सप्ततिगाथार्थः ॥ ३२९४ ॥ तदेवमवसितः पञ्चनमस्कारः । विशे० । ल० । ध० ।

("णमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं " इति शक्रस्तवः 'चेइयवंदण' शब्दे तृतीयभागे १३१७ पृष्ठे, "णमो जिणाणं जियभयाणं" इति च तस्मिन्नेव शब्दे १३१८ पृष्ठे "सिद्धाणं बुद्धाणं" इत्यपि तस्मिन्नेव शब्दे १३१९ पृष्ठे सूत्रपाठक्रमेणोक्तः । व्याख्या चैषां प्रतिपदं तत्तत्स्थानेषु । "इक्को वि णमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स । संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं व ॥ १ ॥" इत्यपि "चेइयवंदण" शब्दे तृतीयभागे १३२० पृष्ठे उपपादितम् । " जो देवाण वि देवो " इत्यपि तत्रैव पृष्ठे निरूपितम्)

"सर्वान् देवान्नमस्यन्ति, नैकं देवं समाश्रिताः । जितेन्द्रिया जितक्रोधाः, दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १ ॥" द्वा० १२ द्वा० ।

विषयसूची--

(१) नमस्कारस्य व्याख्यानार्थमुत्पत्ति-निक्षेप-पद-पदार्थ-प्ररूपणा-वस्त्वाक्षेप-प्रसिद्धि-क्रम-प्रयोजन-फलरूपाणां द्वाराणां संग्रहः ।

(२) नमस्कारोत्पत्तिद्वारविस्तरे ज्ञानशब्दयोर्नित्यत्वानित्यत्वविचारः ।

(३) निक्षेपद्वारे नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभेदेन निक्षेपस्य चातुर्विध्यम् ।

(४) पदद्वारे नामिक-नैपातिकौपसर्गिकाऽऽख्यातिक-मिश्रभेदेन पदस्य पञ्चविधत्वम् ।

(५) द्रव्यसंकोचो न भावसंकोचः, भावसंकोचो न द्रव्यसंकोचः, द्रव्यसंकोचो भावसंकोचश्च, न द्रव्यसंकोचो न भावसंकोच इति भङ्गचतुष्टयप्रतिपादनपुरस्सरं पदार्थद्वारम् ।

(६) प्ररूपणाद्वारे "किं कस्य केन क्व कियच्चिरं कतिविधो वा नमस्कारः," "इन्द्रियकाययोगवेदकषायलेश्याऽऽहाराऽऽदिचरमान्तः," इत्यादिषट्प्रकारनवप्रकाराभ्यां प्ररूपणाया द्वैविध्यम् ।

(७) नमस्कारपाठस्य युक्तायुक्तत्वे विचार्यमाणे पञ्चपदस्य सर्वश्रुतस्कन्धाभ्यन्तरभूतत्वं, नवपदस्य पृथक् श्रुतस्कन्धत्वमित्यत्र श्रीमहानिशीथसूत्रसंवादः।

(८) नमस्कारसूत्रसंपत्स्वष्टषष्टिवर्ण-नवपदविवेचनम् ।

(९) वस्तुद्वारे गुणगुणिनोर्भेदाभेदपक्षनिरूपणपुरस्सरमर्हत्सिद्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधूनां नमस्कारार्हत्वे मार्गदेशकत्वाऽऽदिगुणनिरूपणानन्तरं संसाराटवीमार्गदेशकत्व-भवसमुद्रनिर्यामकत्व-षड्विधजीवनिकायगोपनत्वं प्ररूप्यार्हदादीनां नमस्कारफलप्रदर्शनम् ।

(१०) आक्षेपद्वारे सिद्धसाधुभ्यामेव द्वाभ्यां नमस्कारः कथं न ?, परिनिर्वृतार्हदादीनां सिद्धशब्देन, आचार्याऽऽदीनां संसारिणां साधुशब्देन ग्रहणात् । तथा-ऋषभाजितसंभवाऽऽदिभ्यो नामग्राहं तीर्थकरेभ्यः, सिद्धेभ्योऽपि एकद्वित्रिचतुष्पञ्चाऽऽदिसमयेभ्यो यावदनन्तसिद्धेभ्यस्तीर्थलिङ्गप्रत्येकबुद्धाऽऽदिविशेषणविशिष्टेभ्य इत्यनन्तभेदस्य नमस्कारस्य पञ्चविधत्वं न युज्यते इति पञ्चविधनमस्काराऽऽक्षेपः ।

(११) प्रसिद्धिद्वारे तदाक्षेपस्य प्रतिविधानम् ।

(१२) क्रमद्वारेऽर्हदादीनां नमस्कारे पौर्वापर्यक्रमव्युत्क्रमाऽऽक्षेपप्रतिविधानविस्तरः ।

(१३) प्रयोजनफलद्वारयोरैहलौकिकपारलौकिकफलप्रदर्शनम् ।

(१४) द्विविधेऽपि फले दृष्टान्तपञ्चकप्रदर्शनम् ।

(१५) अर्हतां पूजाफलदत्वं किमस्ति, न वेति विचारविस्तरः।

(१६) जिनाऽऽदिपूजाऽर्थे सोपपत्तिकप्रमाणोपन्यासः।

(१७) "हनस्मि हरिणाऽऽदीन्, मृषा भाषेऽहं, तद्भाषणाच्च वञ्चयामि देवदत्ताऽऽदीन्, धनमपहरामि तेषामेव, परदारान् निषेवेऽहम्" इत्यादिचिन्तया न हि तेषां चिन्तितानां तत्कालं कोपाऽऽदिसंभूतिः, तथापि हिंसाऽऽदिचिन्तकस्याधर्मः, दयाऽऽदिसंकल्पतस्तु तद्वतो धर्मः, तथेहापि तीर्थकरसिद्धाऽऽदीन् शपमानस्याधर्मः, संस्तुवतस्तु धर्म इत्यर्हदादिभ्यः फलप्राप्तिसमर्थनम् ।

(१८) सरागद्वेषत्वात् कृतार्थत्वाच्चाऽऽचार्योपाध्यायसाधवो वन्दनीया न चेत्याक्षेपपरिहारौ ।

(१९) साध्वादीनां दानमुपकारं यथा करोति नैवं जिनाऽऽदीनां नमस्कारपूजा, तत्कथमसौ धर्मनिमित्तेति शङ्कानिरासाय युक्तिप्ररूपणम् ।

(२०) परिणामविशुद्धिमिच्छता जिनाऽऽदीनां नित्यमेव पूजा विधेयेत्युपसंहारः ।

णमोक्कारणिज्जुत्ति-नमस्कारनिर्युक्ति-स्त्री० । नमस्कारप्रतिपादकाऽऽवश्यकनिर्युक्तिगाथाकदम्बे, आ० क० ।

णमोक्कारसहियपच्चक्खाण-नमस्कारसहितप्रत्याख्यान-न० । अद्धाप्रत्याख्यानभेदे, (ध०)

साम्प्रतं सूत्रार्थौ-

उग्गए सूरे नमुक्कारसहियं पच्चक्खाइ, चउव्विहं पि आहारं-असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरइ ।

उद्गते सूर्ये, सूर्योद्गमादारभ्येत्यर्थः । नमस्कारेण परमेष्ठिस्तवेन सहितं युक्तं नमस्कारसहितं, प्रत्याख्याति " सर्वे धातवः करोत्यर्थेन व्याप्ताः " इति न्यायाद् नमस्कारसहितं प्रत्याख्यानं करोति, विधेयतयाऽभ्युपगच्छतीत्यर्थः । इदं गुरोरनुवादभङ्ग्या वचनम् । शिष्यस्तु 'प्रत्याख्यामि' इत्याह । एवं व्युत्सृजतीत्यत्रापि वाच्यम् । कथं प्रत्याख्याति ?, इत्याह-चतुर्विधमप्याहारमिति न पुनरेकविधाऽऽदिकम्, आहारमभ्यवहार्यं, व्युत्सृजतीत्युत्तरेण योगः । इदं चतुर्विधाऽऽहारस्यैव भवतीत्युक्तमेव, रात्रिभोजनतीरणप्रायत्वादस्य, तथा मुहूर्तमानं नमस्कारोच्चारणावसानं च । ननु कालस्यानुक्तत्वात्सङ्केतप्रत्याख्यानमेवेदम् । नैवम् । सहितशब्देन मुहूर्तस्य विशेषणात् । अथ मुहूर्तशब्दो न श्रूयते तत्कथं तस्य विशेष्यत्वम् ?। उच्यते-अद्धाप्रत्याख्यानमध्येऽस्य पाठबलात्, पौरुषीप्रत्याख्यानस्य च वक्ष्यमाणत्वादवश्यं तदर्वाग्मुहूर्त एवावशिष्यते । अथ मुहूर्तद्वयाऽऽदिकमपि कुतो न लभ्यते?। उच्यते-अल्पाऽऽकारत्वादस्य, पौरुष्यां हि षडाकाराः, तदस्मिन् प्रत्याख्याने आकारद्वयवति स्वल्प एव कालोऽवशिष्यते, स च नमस्कारेण सहितः, पूर्णेऽपि काले नमस्कारपाठमन्तरेण प्रत्याख्यानस्याऽऽपूर्यमाणत्वात्, सत्यपि नमस्कारपाठे मुहूर्ताभ्यन्तरे प्रत्याख्यानभङ्गात् । नसिद्धमेतत्-मुहूर्तमानकालं नमस्कारसहितप्रत्याख्यानमिति । अथ चतुर्विधाऽऽहारमेव व्यक्त्या प्रदर्शयति-अशनम् १, पानम् २, खादिमम् ३, स्वादिमं चेति ४। तत्राश्यते इति अशनम्, 'अश भोजने' इत्यस्य ल्युडन्तस्य भवति । तथा-पीयत इति पानम्, 'पा' धातोः । तथा-खाद्यत इति खादिमम्, 'खाद भक्षणे' इत्यस्य बहुलवचनादिमप्रत्ययान्तस्य । एवं स्वाद्यत इति स्वादिमम्, 'स्वद आस्वादने' इत्यस्य च रूपम् । अथवा-खाद्यं स्वाद्यं चेति । अशनाऽऽद्याहारविभागश्चैवं श्राद्धविधिवृत्तौ-"अशनं-शाल्यादि सक्त्वादि पेयाऽऽदि मोदकाऽऽदि क्षीराऽऽदि सूरणाऽऽदि मण्डकाऽऽदि च ।

यदाह-

" असणं ओअणसत्तुग-मुग्गजगाराऽऽइ खज्जगविही अ ।
खीराऽऽइ सूरणाऽऽई, मंडगपभिई अ विन्नेयं ॥ १ ॥ "

पानं-सौवीरयवाऽऽदिधावनं सुराऽऽदि सर्वमप्कायः कर्कट-जलाऽऽदिकं च ।

यदाह-

" पाणं सोवीरजवो-दगाऽऽइ चित्तं सुराऽऽइयं चेव ।
आउक्काओ सव्वो, कक्कडगजलाऽऽइयं च तहा ॥ २ ॥ "

खाद्यं-भृष्टधान्यगुडपर्पटिकाखर्जूरनालिकेरद्राक्षाकर्कट्याम्रपनसाऽऽदि ।

यदाह-

" भत्तोसं दंताऽऽई, खज्जूरगनालिकेरदक्खाऽऽई ।
कक्कडिअंबगफणसाऽऽ-इ बहुविहं खाइमं नेयं ॥ ३ ॥ "

स्वाद्यं-दन्तकाष्ठताम्बूलतुलसिकापिण्डार्जकमधुपिप्पल्यादि ।

यदाह-

" दंतवणं तंबोलं, चित्तं तुलसी कुहेडगाऽऽईयं ।
महुपिप्पलिसुंठाऽऽई, अणेगहा साइमं होइ ॥ ४ ॥ "

(अणेगहेति) सुण्ठी-हरीतकी-पिप्पली-मरीच-जीरक-अजमक-जातिफल-जावत्री-कसेल्लक--कत्थक- खदिरवटिका-ज्येष्ठीमधु-तमालपत्र-एला-लवङ्ग-कार्ठीविडङ्ग-विडलवण-अजक-अजमोद-कुलिञ्जण-पिप्पलीमूल-चिणीकबाबा--कच्चूरक-मुस्ता--कण्टासेलि-ओ-कर्पूर-सौवर्चल-हरडा-बिभीतक-कुम्बठो-बब्बूल-धव-खदिर-खीचडाऽऽदिकच्छलीपत्र-पूग-हिङ्गुलाष्टक-हिङ्गुत्रेवीसु-पञ्चकूल-जवासकमूल-बावची-तुलसी-कर्पूरीकन्दाऽऽदिकम् । जीरकं स्वभाष्यप्रवचनसारोद्धाराभिप्रायेण स्वाद्यम्, कल्पवृत्त्यभिप्रायेण तु खाद्यम्, अजमकं खाद्यमिति केचित् । सर्वं स्वाद्यम् एलाकर्पूराऽऽदिजलं च द्विविधाऽऽहारप्रत्याख्याने कल्पते । वेसण-वरिहाली-सोआ-कोठवडी-आमला-गण्ठी-आंबागोली-कवचिली-चूरपत्रप्रमुखं खाद्यत्वाद् द्विधाऽऽहारे न कल्पते । त्रिविधाऽऽहारे तु जलमेव कल्पते । शास्त्रेषु मधुगुडशर्कराखण्डाऽऽद्यपि खाद्यतया द्राक्षाशर्कराऽऽदिजलं तक्राऽऽदि च पानकतयोक्तमपि द्विविधाऽऽहाराऽऽदौ न कल्पते । उक्तं च-"दक्खापाणाऽऽईयं, पाणं तह साइमं गुडाऽऽईयं । पढिअं सुअम्मि तह वि हु, तित्तीजणगं ति नाऽऽयरिअं " ॥१॥ अनाहारतया व्यवह्रियमाणान्यपि प्रसङ्गतो दर्श्यन्ते । यथा-पञ्चाङ्गनिम्ब-गुडूची-कडुकिरिआतुं-अतिविस-चीडि-सुकडि-रक्षा-हरिद्रा-रोहिणी-उपलोट-वज-त्रिफला-बावलछल्लीत्यन्ये धमासो-नाहिआ-सन्धिरीङ्गणी-एलीओ-हरडीदल-वउणि-बदरी--कंथेरिकरीरमूल-पुंआड-मजीठ-बोलबीउ-कुंआरि-चित्रक-कुन्दरप्रभृत्यनिष्टाऽऽस्वादानि रोगाऽऽद्यापदि चतुर्विधाहारेऽप्येतानि कल्प्यानीति कृतं प्रसङ्गेन । अत्र नियमभङ्गभयादाकारावाह-(अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं) अत्र पञ्चम्यर्थे तृतीया, अन्यत्रेति परिवर्जनार्थः, यथा-' अन्यत्र द्रोणभीष्माभ्यां, सर्वे योद्धाः पराङ्मुखाः ।' इति । ततोऽन्यत्रानाभोगात् सहसाकाराच्च, एतौ वर्जयित्वेत्यर्थः । तत्रानाभोगोऽत्यन्तविस्मृतिः, सहसाकारोऽतिप्रवृत्तयोगानिवर्त्तनमिति । ध० २ अधि० । पं० व० । आव० । प्रव० । ल० ।

पण्डितआनन्दसागरगणिकृतप्रश्नो यथा-

नमस्कारसहितप्रत्याख्यानं रात्रिप्रत्याख्यानमध्ये, पृथग् वा ? । तेन प्रत्याख्यानेन श्राद्धः पौरुषीं यावत्स्थितस्तस्य पौरुष्या लाभो द्विघटिकसत्को वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-नमस्कारसहितप्रत्याख्यानं दिनमध्ये आयाति, न तु रात्रिमध्ये, तथा-तत्प्रत्याख्यानं विधाय पौरुषीं यावदनुपयोगेन स्थीयते तदा न लाभाय, उपयोगपूर्वं तु लाभायेति । २ प्र० ही० ३ उल्ला० ।

णमोरिह-नमोऽर्हत्-पुं० । जिने, आ० म० ।

पालेंति जहा गावो, गोवा अहिसावयाऽऽइदुग्गेहिं ।
पउरतणपाणियाणि य, वणाणि पावेंति तह चेव ॥
जीवनिकाया गावो, जं ते पालेंति ते महागोवा ।
मरणाऽऽइभयाहि जिणा, निव्वाणवणं च पावेंति ॥
ते उवगारित्तणतो, नमोऽरिहा भवियजीवलोगस्स ।
सव्वस्सेह जिणिंदा, लोगुत्तमभावतो तह य ॥

यथा गोपाः गाः पालयन्ति रक्षन्ति अहिश्वापदाऽऽदिदुर्गेभ्यः, वनानि च, प्रचुरतृणपानीयानि प्रापयन्ति, तथैव च जीवनिकाया एव गावः जीवनिकायगावः, तान् ते भगवन्तोऽर्हन्तो जिना महागोपाः, पालयन्ति रक्षन्ति मरणाऽऽदिभयेभ्यो, निर्वाणवनं च प्रापयन्ति । एवं ते जिनेन्द्रा इह अस्मिन् जीवलोके उपकारित्वतो हेतोः सर्वस्य भव्यजीवलोकस्य नमोऽर्हाः ।

एवं तदुक्तेन प्रकारेण नमोऽर्हत्वहेतवो गुणाः प्रतिपादिताः । साम्प्रतं प्रकारान्तरेण नमोऽर्हत्वहेतुगुणाऽभिधित्सयाऽऽह-

रागद्दोसकसाए, इंदियाणि य पंच वि ।
परीसहे उवसग्गे, नामयंता नमोरिहा ॥

रागद्वेषकषायानिन्द्रियाणि च पञ्चापि परीषहानुपसर्गान् नमयन्तो नमोऽर्हाः । इति गाथासमासार्थः । आ०म० १ अ० २खण्ड ।

णम्मया-नम्रता-स्त्री० । औचित्येन नमनशीलतायाम्, द्वा० १४ द्वा० ।

नर्मदा-स्त्री० । रेवापर्याये अमरकण्टकाद्युद्गतस्य पश्चिमसमुद्रं प्रविष्टे नदीभेदे, " दिवा काकरवाद् भीता, रात्रौ तरति नर्मदाम् । " आव० २ अ० ।

णय-नत-त्रि० । प्रह्वीभूते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । ज्ञा० । आचा० ।

नय-पुं० । नयत्यनेकांशाऽऽत्मकं वस्त्वेकांशावलम्बनेन प्रतीतिपथमारोपयतीति, नीयते वा अनेन तस्मिन् ततो वा नयनं नयः । उत्त० १ अ० । पं० चू० । नीयते परिच्छिद्यतेऽनेनास्मादिति वा नयः । अनन्तधर्माऽऽत्मकस्य वस्तुन एकांशपरिच्छित्तौ, अनु० । स्था० । आ० म० । अनन्तधर्माऽऽत्मकस्य वस्तुनो नियतैकधर्माऽऽत्मकावलम्बनेन प्रतीतौ प्रापणे, उत्त० १ अ० । "नयंतीति नया वत्थुतत्तं अवबोहगोयरं पावयंति त्ति" । अन्ये भणन्ति-नयन्तीति नयाः कारकाः, व्यञ्जकाः, प्रकाशका इत्यर्थः । आ० चू० १ उ० । नि० चू० । विशे० ।

विषयसूची-

(१) नयनिरुक्तिः ।
(२) नयलक्षणनिरूपणपुरस्सरं नयतत्त्वप्ररूपणम् ।
(३) नयस्वरूपोपपत्तिः ।
(४) वस्तूनामनन्तधर्माऽऽत्मकत्वनिरूपणम् ।
(५) नय इति यदुच्यते, यावद्भागमात्रं, तन्निरूपणम् ।
(६) नयार्थो आपेक्षिकाः ।
(७) अपेक्षाऽऽत्मकं वाक्यं नयः ।

(८) सामान्यविशेषविचारः ।
(९) सप्तभङ्ग्यां नयविभागोपदर्शनम् ।
(१०) एकधानेकधाऽऽकारा प्रमाणधीः ।
(११) नयानां प्रमाणाप्रमाणत्वनिर्णयः ।
(१२) संमत्यादौ यदभिनिविष्टतरनयवादनं तस्साधनंनि-
मित्तं बौद्धाऽऽदिनयपरिग्रहा अपि शुद्धपर्यायाऽऽदिव-
स्तुप्राप्त्या फलतो न मिथ्यारूपा इत्यादिनिरूपणम् ।
(१३) नयविभागे द्रव्यपर्यायार्थिकतया नयस्य संक्षेपतो
द्वैविध्यम् ।
(१४) संग्रहविशेषौ द्रव्यपर्यायौ सामान्यविशेषशब्दवा-
च्याविस्यत्र विचारः ।
(१५) द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्नैगमाऽऽदिनयानामन्त-
र्भावः ।
(१६) सप्तसु नैगमाऽऽदिषु मूलनयेषु विचारे नैगमाऽऽदीनां
मतसंग्रहः ।
(१७) सिद्धसेनदिवाकरमते षड् नयाः, नैगमस्य संग्रह-
व्यवहारयोरन्तर्भावात् ।
(१८) प्रस्थकवसतिप्रदेशदृष्टान्तेन नयप्रमाणपरामर्शः ।
(१९) तत्र प्रस्थकदृष्टान्तः ।
(२०) वसतिदृष्टान्तः ।
(२१) प्रदेशदृष्टान्तः ।
(२२) सर्वे नयाः स्वस्वस्थाने शुद्धाः ।
(२३) ७०० सप्त शतानि नयाः ।
(२४) असंख्याता नया इति मतान्तरनिरूपणम् ।
(२५) निक्षेपनययोजना ।
(२६) द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्मिथो विचारः ।
(२७) तौ सव्यपेक्षौ प्रमाणम् ।
(२८) यद् दर्शनं यस्मान्नयाद् जातं सामान्यतस्तन्निरूपणम् ।
(२९) निश्चयव्यवहारयोः सर्वनयान्तर्भावः ।
(३०) दिगम्बरमते नयाः ।
(३१) व्यवहारनयात् साङ्ख्यं प्रवृत्तम् ।
(३२) वेदान्तिसाङ्ख्यदर्शनयोः शुद्धाशुद्धत्वम् ।
(३३) नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावः ।
(३४) ये शब्दनया ये चार्थनयास्तेषां निरूपणम् ।
(३५) नयोत्पादितेष्वपरिमितेषु दर्शनेषु यस्य मिथ्यात्वं,
यस्य च सम्यक्त्वं तन्निरूपणम् ।
(३६) नयफलविमर्शः ।
(३७) ज्ञानक्रियानयद्वारे संग्रहाऽऽदीनां समवतारो भव-
तीति तत्स्वरूपनिरूपणम् ।
(३८) नयानां पार्थक्ये यैः समवतारः, यत्र वाऽनवतारस्त-
न्निरूपणम् ।
(३९) आलोचनाऽऽख्यसनयानां निरूपणम् ।

(१) अथ नयनिरुक्तिमाह-

स नयइ तेण तहिं वा,तओऽहवा वत्थुणो व जं नयणं ।
बहुहा पज्जायाणं, संभवओ सो नओ नाम ॥ ९१४ ॥

स एव वक्ता संभवद्भिः पर्यायैर्वस्तु नयति गमयतीति नयः । अथवा-नीयते परिच्छिद्यते अनेन, अस्मिन्, अस्माद् वेति नयः; अनन्तधर्माध्यासिते वस्तुन्येकांशग्राहको बोध इत्यर्थः । यदि वा-बहुधा वस्तुनः पर्यायाणां संभवाद्विवक्षितपर्यायेण यन्नयनमधिगमनं परिच्छेदनमसौ नयो नाम ॥ ९१४ ॥ विशे० । इह हि जिनप्रवचने सर्वं वस्त्वनन्तधर्माऽऽत्मकतया संकीर्णस्व-भावमिति तत्परिच्छेदकेन प्रमाणेनाऽपि तथैव भवितव्यमि-त्यसंकीर्णप्रतिनियतधर्मप्रकारकव्यवहारसिद्धयं नयानामेव सा-मर्थ्यम् । नयो० ।

(२) नयतत्त्वं प्ररूपयन्ति-

नीयते येन श्रुताऽऽख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदि-
तरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ॥ १ ॥

अत्रैकवचनमतन्त्रम्, तेनांशावंशा वा, येन परामर्शविशेषेण श्रुतप्रमाणप्रतिपन्नवस्तुनो विषयीक्रियन्ते तदितरांशौदासीन्या-पेक्षया स नयोऽभिधीयते । तदितरांशप्रतिक्षेपे तु तदाभास-ता भविष्यते ('णयाभास' शब्दे) ।

प्रत्यपादयाम च स्तुतिद्वात्रिंशति-

" अहो ! चित्रं चित्रं तव चरितमेतन्मुनिपते ! ,
स्वकीयानामेषां विविधविषयव्याप्तिवशिनाम् ।
विपक्षापेक्षाणां कथयसि नयानां सुनयतां,
विपक्षक्षेप्तॄणां पुनरिह विभो ! दुर्नयताम् ॥१॥ "

पञ्चाशति च-

" निःशेषांशजुषां प्रमाणविषयीभूयं समासेदुषां,
वस्तूनां नियतांशकल्पनपराः सप्त श्रुताऽऽसङ्गिनः ।
औदासीन्यपरायणास्तदपरे चांशे भवेयुर्नया-
श्चेदेकान्तकलङ्कपङ्ककलुषास्ते स्युस्तदा दुर्नयाः ॥ १ ॥ "

रत्ना० ७ परि० ।

(३) नयलक्षणे नयस्वरूपोपपत्तिमाह-

सत्त्वाऽसत्त्वाऽऽद्युपेतार्थे-ष्वपेक्षावचनं नयः ।
न विवेचयितुं शक्यं, विनाऽपेक्षां हि मिश्रितम् ॥ २ ॥

(सत्त्वाऽसत्त्वेति) सत्त्वाऽसत्त्वाऽऽदयो ये धर्माः, आदिना नि-त्याऽनित्यत्वभेदाऽभेदाऽऽदिरिति परिग्रहः । तैरुपेतास्तदात्मका येऽर्थाः जीवपुद्गलाऽऽदयः, तेष्वपेक्षावचनं प्रतिनियतधर्मप्रकार-कापेक्षाऽऽश्रयशाब्दबोधजनकं वचनम्, नयवाक्यमित्यर्थः । इदं वचनरूपस्य नयस्य लक्षणं, ज्ञानरूपस्य तु नयस्य-अपेक्षाऽऽत्म-कशाब्दबोधत्वमेवेति द्रष्टव्यम् । अपेक्षात्वं च क्षयोपशमज-न्यताऽवच्छेदको जातिविशेषो, विषयताविशेषो वेत्यन्यदेतत् ॥ ननु घटोऽस्तीत्यादिवाक्यश्रवणाद् घटविषयकं शाब्दज्ञानं मम जातमित्येव लोकाः प्रतियन्ति;न तु तत्रापेक्षात्वमपीत्यपेक्षाऽऽ-त्मकनयज्ञानसत्त्वे किं प्रमाणम् ?; अत आह-हि निश्चितं,मिश्रितं विरुद्धत्वेन प्रतीयमानैर्नानाधर्मैः करम्बितं वस्तु, अपेक्षां विना विवेचयितुं विवक्षितैकधर्मप्रकारकनिक्षेपविषयीकर्तुं,न शक्यम्; तद्विरुद्धधर्मवत्ताज्ञानस्यानपेक्षाऽऽत्मकस्या[स्या]नुपपत्तेर्बाधप्र-तिबध्यताऽऽवच्छेदककोटौ लाघवेनाऽनपेक्षाऽऽत्मकत्वस्यैव निवे-शात्,अव्याप्यवृत्तित्वज्ञानकालीनाऽऽहार्यदोषविशेषजन्याऽऽदी-नामपेक्षाऽऽत्मकत्वेनैव तद्बाधकविशेषणानुपादानात् । तथा च त-द्धर्मप्रतिपक्षधर्मवत्तया ज्ञातेऽपि तद्धर्मवत्तया ज्ञायमानस्य[ऽऽहा-र्यदोषविशेषजन्या]ऽऽदीनामपेक्षाऽऽत्मकतयाऽन्यथाऽनुपपत्तिरे-वाऽपेक्षात्वे मानम्,तस्या एव सर्वतो बलवत्प्रमाणत्वात् । तदाह श्रीहर्षः-"अन्यथाऽनुपपत्तिश्चेद्-स्तु वस्तुप्रसाधिका*।पिनष्टव-त्पुवैमत्यं,यतः सर्वबलाधिका"।१। इति । न चाऽपेक्षां विना लौकिको-ऽपि व्यवहारः संगच्छते,अग्राऽऽद्यवच्छेदेन कपिसंयोगाभाववति

* - इत्यपेक्षाप्रसाधिकेति पाठः स्यात् ।

वृक्षे शाखाऽऽपेक्षयैव कपिसंयोगवत्त्वव्यवहारात्। न चाऽवच्छेदकावगाहित्वात्[व्यवहारो]न त्वपेक्षाऽऽत्मक इति वाच्यम्, शाखाऽवच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोगवान्, न तु संपूर्ण इति प्रत्ययस्य स्कन्धदेशापेक्षां विनाऽनुपपत्तेः । कथं चैवं सामान्यविशेषापेक्षां विना "घटपटयोः रूपं, घटपटयोर्न रूपम्" इत्यादयो विचित्रनयापेक्षाप्रत्ययाः समर्थनीयाः। संग्रहनयाऽऽश्रयणेनैव हि घटपटोभयरूपसामान्यवृत्त [न] त्वविवक्षया घटपटयो रूपमिति प्रत्ययस्योपपत्तेः,द्वयोर्भेदविवक्षायां प्रत्येकाऽन्वयस्य धर्मद्वयावच्छिन्नवाचकपदोपादानस्थल एव व्युत्पन्नत्वात् । व्यवहाराऽऽश्रयणात्तु प्रकृतप्रयोगोऽनुपपन्न एव, मिलितवृत्तित्वान्वय एव तस्य साकाङ्क्षत्वाद् घटपटयोर्न रूपमिति बोधस्यैव तस्मादुत्पत्तेः । यत्तु घटपटयोर्न रूपमिति वाक्यं तात्पर्यभेदेन योग्यायोग्यं-घटपटयोः रूपत्वावच्छिन्नाभावान्वयतात्पर्येऽयोग्यमेव, रूपत्वावच्छेदेन घटपटोभयवृत्तित्वाभावान्वयतात्पर्ये च योग्यमेव; घटपटयो रूपमित्यादौ च घटपटोभयवृत्तित्वस्यापि रूपत्वाऽऽदिसामानाधिकरण्येन अन्वयबोध एव साकाङ्क्षत्वाद् न तयोर्घटरूपमित्यपि स्यादिति कैश्चित्कल्प्यते । तदसत् । प्रतिवस्तुन्याकाङ्क्षावैचित्र्यस्यापेक्षाबोधाऽऽत्मकफलवैचित्र्यार्थमेवाऽऽश्रयणात्, उभयरूपसामान्यस्य प्रत्येकरूपविशेषात्कथञ्चिद्भेदानभ्युपगमे त्वदुक्तान्वयव्युत्पत्तिग्रहाद् घटपटयोर्घटरूपमिति जायमानस्य बोधस्य प्रामाण्याऽऽपत्तेश्च; अस्माकं तु स्याद्वर्थानुप्रवेशात्सैवातिप्रसङ्गभञ्जकत्वान्न दोषः । किञ्चैवम्-द्वयोर्गुरुत्वं न गन्ध इत्यादौ का गतिः ?, गुरुत्वसामानाधिकरण्येनैव गन्धत्वसामानाधिकरण्येनाऽपि पृथिवीजलोभयत्वा[ऽऽश्रयत्वापत्त्वा]त् विधिनिषेधविषयार्थानिरुक्तेः । अत्र सप्तम्याः स्वार्थान्वयिताऽवच्छेदकस्वरूपत्वादुभयाख्याऽतिरिक्तैवाऽऽधेयताऽर्थः (?)। तत्र च प्रकृत्यर्थस्य तन्निष्ठनिरूपितत्वविशेषणान्वयात्पृथिवीजलोभयविशिष्टाऽऽधेयतात्वेन गुरुत्वं विधेयतया, गन्धश्च निषेध्यतया प्रतीयते, इत्युक्तौ च नामान्तरेण गुरुत्वसामान्यस्यैव विधेयत्वं, गन्धसामान्यस्यैव च निषेध्यत्वमायुष्मनामनतिरिक्ताऽऽधारताया अनिरूपणात्। अन्यथा घटपटयोर्न घटरूपमित्यादौ जातिघटयोर्न सत्त्वमित्यादाविव घटपटोभयनिरूपितत्वाभाववदाधेयतावद् घटरूपमित्यन्वयोपपादनेऽपि घटपटरूपे इत्यस्योपपादयितुमशक्यत्वाद् घटरूपत्वाऽऽदिस्वरूपाया आधेयताया उभयानिरूपितत्वात् । नत्र द्वित्वाऽऽदिस्वरूपैवाऽऽधेयतेति चेद्, द्वयोः प्रत्येकरूपावच्छेदेन द्वित्वाभावान्निषेधस्याऽपि प्रवृत्तिः स्यात्। अनुयोगिताऽवच्छेदकावच्छेदेनैव सप्तम्यर्थाऽऽधेयत्वान्वयव्युत्पत्तेर्नाऽयं दोष इति चेत्,तथाऽपि घटरूपाऽऽकाशे इत्यादिकं कथम् ?, एतद्वित्वाऽऽदिस्वरूपाया आधेयताया उभयानिरूपितत्वात्, तत्र तात्पर्यवशाद् द्वित्वान्वयेऽप्युभयस्यानाधेयत्वाभावात् ; तस्मान्नयापेक्षाभेदेनाऽत्र विचित्र एव बोधः स्वीकार्यः ॥ २ ॥

(४) नन्वनन्तधर्ममिश्रितं वस्तु कथं विवेचयितुमशक्यम् ?,
अनन्तानामपि धर्माणां धर्मि[स्थं]भिन्नत्वेन धर्मिग्राहकप्रत्याक्षाऽऽदेरेव तद्विवेकरूपत्वात्, सति च तद्विवेके किमपेक्षाऽऽश्रयणेन ?, इत्याशङ्कयाऽऽह-

यद्यप्यनन्तधर्माऽऽत्मा, वस्तु प्रत्यक्षगोचरः ।
तथाऽपि स्पष्टबोधः स्यात्, सापेक्षो दीर्घताऽऽदिवत् ॥३॥

यद्यपि वस्तु घटपटाऽऽदिकम् अनन्तधर्माऽऽत्मकं सत् प्रत्यक्षगोचरः प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणविषय एकस्मिन् घटाऽऽदौ गृह्यमाणे गृह्यमाणधर्मोपरागेण द्रव्यार्थादेशेनातीतानागतवर्तमानानां तद्वृत्तिधर्माणां यावतामेव ग्रहात् परेषां सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिस्थानेऽभिषिक्तस्य घटविषयकातिर्यक्सामान्योपयोगस्य प्रत्यासत्तिताया व्यापकविषयताकप्रत्यक्षत्वं तादृशज्ञानत्वं वा यथा कार्यताऽवच्छेदकत्वं तथा तद्विषयकोर्ध्वतासामान्यस्य तादात्म्यसंबन्धिनाऽऽधेयत्वसंबन्धेन वा घटव्यापकविषयताकप्रत्यक्षत्वस्य तादृशज्ञानत्वस्य वा कार्यताऽवच्छेदकताया न्यायसिद्धत्वात् । अत एव-" जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ " इति पारमर्षवचनानुरोधोऽपि, एकवस्तुग्रहे तद्गतस्वपरपर्यायकुक्षिप्रवेशेन सर्वेषां ग्रहादनुवृत्तिव्यावृत्तिसंबन्धपर्यालोचनं तावत्प्रमाणस्यैव वस्तुनोऽनुभवात् । तदाह महावादी सम्मतौ-"एगदवियम्मि जे अत्थपज्जवा वयणपज्जवा वा वि । तीयाणागयभूआ, तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ ३१ ॥" (सम्म० १ काण्ड) इति । नन्वेवं सर्वस्य सार्वज्ञ्याऽऽपत्तिरिति चेत् । न । द्रव्यार्थे इष्टत्वात्; उक्तभगवद्वचनरुच्यनुवेधेन सम्यक्त्वसंपन्नत्वानतिप्रसङ्गाद् यद्यप्येवं, तथापि स्पष्टबोधः सत्त्वासत्त्वाऽऽदिप्रतिनियतधर्मप्रकारको बोधः, सदसदाद्याकारको वा बोधः सापेक्षः शाब्दस्थले नयापेक्षया जनितः, प्रत्यक्षस्थले चावध्यवच्छेदकाऽऽदिज्ञानापेक्षः स्यात् । किंवत् ?, दीर्घताऽऽदिवत्-आदीयतेऽनेनेत्यादि ज्ञानं, दीर्घताप्रत्यक्षवदित्यर्थः । यथा हि दण्डाऽऽदिज्ञानकाले तत्परिमाणग्रहेऽप्ययमस्माद्दीर्घ इति दीर्घत्वप्रकारकं ज्ञानं नियतावध्यपेक्षयैव, तथा सदसदाद्यात्मकवस्तुग्रहेऽपि सत्त्वाऽऽदिप्रकारकं ज्ञानं स्वद्रव्याऽऽद्यपेक्षयैवेत्यर्थः; अयमेव तदपेक्षया दीर्घ इतिवत् स्वद्रव्याऽऽद्यपेक्षया सन् परद्रव्याऽऽद्यपेक्षयाऽसन्नित्येव व्यवहारात् । नन्वेवं व्यवहार एव सापेक्षो,न तु बोध इति चेत्। न । व्यवहर्तव्यज्ञाने सति सन्ध्यां चेच्छायां व्यवहारेऽपि तदपेक्षणात् । अन्यथाऽभावज्ञानेऽपि प्रतियोग्यपेक्षा न स्यात्,तद्व्यवहार एव सप्रतियोगिकत्वोपपत्तेः। अथ दीर्घो दण्ड इति ज्ञानं चक्षुःसन्निकर्षमात्राज्जायते एवानुक्तापेक्षया दीर्घ इति दीर्घत्वस्वावान्तरजात्यवगाहिज्ञान एव चावधिज्ञानापेक्षेति चेत् । न । ह्रस्वत्वेन ज्ञाने दीर्घत्वेन ज्ञानस्यैवापेक्षां विनाऽनुपपत्तेः । तद्वदिहापि परद्रव्याऽऽदिनाऽसत्त्वेन स्वद्रव्याऽऽद्यपेक्षयैव सत्त्वज्ञानमिति प्रतिपत्तव्यम् । अवच्छेदकानवगाहिनस्तु अनवधारणरूपत्वादेवानुपयोगः, द्विहस्ताऽऽदिमात्रेऽनुवृत्तैकहस्तावच्छेदेन महत्त्वग्रहस्तु देशापेक्षयैवेति तस्य निरपेक्षत्वम् । अत एवाऽऽवरणापगमे स्कन्धापेक्षया परिणामे द्विहस्तत्वग्रहेऽपि तावदवच्छेदेन हस्तत्वग्रहस्य नाप्रामाण्यं, देशस्कन्धभेदेनोभयोपपत्तेः। एतेन द्वयोऽवयवावच्छेदेन चक्षुःसंयोगाभावान्नार्द्धनिमग्नवंशाऽऽदेर्द्विहस्ताऽऽदेः परिमाणग्रह इति प्राच्यनैयायिकानां प्रलापो निरस्तः । यावति भागे नाऽऽवरणं तावति भागे परिमाणवत इव परिमाणस्य ग्रहादेव स्कन्धपर्याप्तपरिमाणग्रहे तत्पर्याप्त्यवच्छेदकयावदवयवावच्छेदेनाऽऽवरणाभावलक्षणयोग्यतायां एव हेतुत्वे दोषाभावात् । किञ्च-भूयोऽवयवावच्छेदेनेत्यस्य कोऽर्थः ?, यावदवयवमभिव्यक्तस्य तदाप्यसंभवात्, अनेकहस्तद्वयोगस्य चातिप्रसञ्जकत्वाद् भूयोऽवयवावच्छिन्नत्वोपलक्षिताऽऽधारताविशेषस्य च देशस्कन्धापेक्षावैचित्र्यमुखानिरीक्षकत्वादिति न किञ्चिदेतत् । यत्तु विषयतासंबन्धेन परिमाणसाक्षात्कारत्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्धेन तत्तदावरकसंयोगत्वेन प्रतिबन्धकत्वाद् ना-

र्द्धनिखातवंशाऽऽदिपरिमाणग्रहः। यद्वा-अर्द्धनिखातवंशाऽऽदेर्मह-
त्त्वाऽऽदिकं गृह्यत एव, महानयं वंश इति प्रतीतेः। तद्वान्तरवै-
जात्यं तु नानुभूयत इति तद्वैजात्यग्रहं प्रत्यावरकसंयोगस्य वि-
रोधिता। न च निखाताऽनिखातसदृशवंशयोः सन्निकर्षकतायां
तन्महत्त्वाऽऽदिवृत्तिवैलक्षण्यानुभवाद् वैजात्यप्रत्यक्षं [प्रत्यक्षं]
प्रत्यावरकसंयोगानां प्रतिबन्धकत्वासंभव इति वाच्यम्; तादृश-
वैलक्षण्यप्रकारकं प्रत्यक्षं प्रत्येव तेषां विरोधित्वात्। विशेष्यत्वं
प्रतिबध्यताऽवच्छेदकः संबन्धः, स्वाश्रयमेव तत्त्वं प्रतिबन्धता-
वच्छेदकम्, इत्यनतिप्रसङ्गात्। न चैवम्, निखातसंनिकर्षात् ता-
दृशवैलक्षण्यविशेष्यकसाक्षात्काराऽऽपत्तेर्दुर्वारत्वात्। किञ्च-ए-
वमावृतैकपार्श्वविच्छेदेन यस्य चक्षुःसंयोगालोकवैजात्यस्य ग्र-
हः, तस्यैवान्यदा पुरुषान्तरस्य वा तदानीं पार्श्वान्तरावच्छेदेन
चक्षुःसंयोगेऽप्यग्रहः स्यात्, आवरकसंयोगस्य विरोधिनः स-
त्त्वात्। तत्तत्कालीनतत्तत्पुरुषीयमहत्त्वाऽऽदिप्रत्यक्षं प्रत्येवोक्तप्र-
तिबन्धकत्वे त्वनावरणकालीनस्य विलक्षणमहत्त्वाऽऽदिप्रत्यक्ष-
स्याऽऽवरणदशायामुत्पत्तिप्रसङ्गः। न हि तत्रापि सन्निकर्षं
विना अन्यद्विशिष्टकारणं क्लृप्तं, येन तद्विलम्बाद्विलम्बः
स्यात्। अपि च-एवमावृतादृष्टतद्दृष्टत्वे प्रतिबद्धाप्रसिद्धिः स्व-
प्राचीनतत्पुरुषीयैकवैजात्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्न एव स्वप्र-
तीच्यवच्छिन्नाऽऽवरकसंयोगत्वेन प्रतिबन्धकत्वे तु द्रव्यचाक्षुषेऽ-
प्येवमित्यादिसंयोगप्रतिबन्धकत्वेन निर्वाहे व्यवहितार्थादर्शना-
न्यथाऽनुपपत्त्या चक्षुःप्राप्यकारित्वसाधनप्रयासस्य वैफल्याऽऽ-
पत्तिरिति न किञ्चिदेतत्। एतेन तादृशवैलक्षण्यसाक्षात्कारप्र-
योजकतया चक्षुरादिसंयोगनिष्ठवैजात्यान्तरस्वीकारेणैव निर्वा-
ह इति कल्पनाऽपि तेषामपास्ता, तद्भूतेरिति न्यायेनाऽऽभि-
मुख्यविशेषेणाऽऽवरणाभावविशेषेण वा निर्वाहे तादृशवैजा-
त्यकल्पनायां महागौरवात्, मध्यापेक्षयैव स्वदेशापेक्षयाऽपि
न्यूनाधिकभावरूपवैजात्यानुभवस्यापेक्षां विनाऽनुपपत्तेश्चेति
दिक् ॥ २ ॥ नयो० । द्रव्या० ।

(५) तत्र नय इति किमुच्यते ?, कतिभेदश्चायम् ?, इत्याह-

एगेण वत्थुणोऽणे-गधम्मुणो जमवधारणेणेव ।
नयणं धम्मेण तओ, होइ नओ सत्तहा सो य ॥२१८०॥

अनेकधर्मणोऽनन्तधर्माऽऽत्मकस्य वस्तुनो यदेकेन नित्यत्वाऽऽ-
दिना, अनित्यत्वाऽऽदिना वा धर्मेणावधारणेनैव सावधारणं
नयनं प्ररूपणं तकोऽसौ नयो भवति । अनन्तधर्माऽऽत्मकं व-
स्त्वेकांशेनैव नयति प्ररूपयतीति नयः। कथं पुनरेकस्य वस्तु-
नो युगपदनन्तधर्माऽऽत्मकत्वम् ?। अत्रोच्यते-सर्वमेव वस्तु
तावत्सपर्यायम्। ते च पर्याया द्विविधाः-रूपरसाऽऽदयो युग-
पद्भाविनः, नवपुराणाऽऽदयस्तु क्रमभाविनः। पुनः शब्दार्थपर्या-
यभेदात्सर्वेऽपि द्विविधाः। तत्र " इन्द्रो पुरुच्यवनो हरिः "
इत्यादिशब्दैर्येऽभिलप्यन्ते, ते सर्वेऽपि शब्दपर्यायाः। ये त्व-
भिलपितुं न शक्यन्ते श्रुतज्ञानविषयत्वातिक्रान्ताः केवलाऽऽदि-
ज्ञानविषयास्तेऽर्थपर्यायाः। पुनरेते द्विविधाः-स्वपर्यायाः, पर-
पर्यायाश्च। पुनस्तेऽपि केचित्स्वाभाविकाः, केचित्तु पूर्वापरा-
ऽऽदिशब्दवदापेक्षिकाः। पुनरेते सर्वेऽप्यतीतानागतवर्तमान-
कालभेदात्त्रिविधा इत्यादिना प्रकारेण समयानुसारतः सु-
धिया वस्तुनो युगपदनन्तधर्मकत्वं भावनीयम्। स च नयः
सप्तविधः सप्तप्रकार इति ॥ २१८० ॥ विशे० । आ० म० ।

ननु नयस्य प्रमाणाद्भेदेन लक्षणप्रणयनमयुक्तम्, स्वार्थव्यव-
सायाऽऽत्मकत्वेन तस्य प्रमाणस्वरूपत्वात्। तथाहि-नयः प्रमाण-
मेव, स्वार्थव्यवसायकत्वादिष्टप्रमाणवत्, स्वार्थव्यवसायक-
स्याप्यस्य प्रमाणत्वानभ्युपगमे प्रमाणस्यापि तथाविधस्य
प्रमाणत्वं न स्यादिति कश्चित्। तदसत्। नयस्य स्वार्थैकदेशनि-
र्णीतिलक्षणत्वेन स्वार्थव्यवसायकत्वासिद्धेः। ननु नयविषय-
तया सम्मतोऽर्थैकदेशोऽपि यदि वस्तु तदा तत्परिच्छेदी नयः
प्रमाणमेव, वस्तुपरिच्छेदलक्षणत्वात्प्रमाणस्य। स न चेद्वस्तु
तर्हि तद्विषयो नयो मिथ्याज्ञानमेव स्यात्, तस्यावस्तुविषयत्व-
लक्षणत्वादिति चेत्। तदवद्यम्। अर्थैकदेशस्य वस्तुत्वावस्तु-
त्वपरिहारेण वस्त्वंशतया प्रतिज्ञानात्।

तथा चाऽवाचि-

" नाऽयं वस्तु न चाऽवस्तु, वस्त्वंशः कथ्यते बुधैः ।
नाऽसमुद्रः समुद्रो वा, समुद्रांशो यथैव हि ॥ १ ॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे, शेषांशस्याऽसमुद्रता ।
समुद्रबहुता वा स्यात्, तत्त्वे कास्तु समुद्रवित् ? ॥ २ ॥ "

यथैव हि समुद्रांशस्य समुद्रत्वे शेषसमुद्रांशानामसमुद्रत्व-
प्रसङ्गात् समुद्रबहुत्वाऽऽपत्तेर्वा तेषामपि प्रत्येकं समुद्रत्वात्;
तस्याऽसमुद्रत्वे वा शेषसमुद्रांशानामप्यसमुद्रत्वात् क्वचिद-
पि समुद्रव्यवहारायोगात् समुद्रांशः समुद्रांश एवोच्यते, त-
था-स्वार्थैकदेशो नयस्य न वस्तु, स्वार्थैकदेशान्तराणामवस्तु-
त्वप्रसङ्गाद् वस्तुबहुत्वानुषक्तेर्वा; नाप्यवस्तु, शेषांशानामप्य-
वस्तुत्वेन क्वचिदपि वस्तुव्यवस्थाऽनुपपत्तेः। किं तर्हि वस्त्वंश
एवासौ तादृक्प्रतीतेर्बाधकाभावात् ? ततो वस्त्वंशे प्रवर्तमा-
नो नयः स्वार्थैकदेशव्यवसायलक्षणो न प्रमाणं, नापि मिथ्या-
ज्ञानमिति ॥ १ ॥ (रत्ना०)

नयप्रकारसूचनायाऽऽहुः-

स व्याससमासाभ्यां द्विप्रकारः ॥ २ ॥

स प्रकृतो नयः व्यासो विस्तरः, समासः संक्षेपः, ताभ्यां द्वि-
भेदः-व्यासनयः, समासनयश्चेति ॥ २ ॥

व्यासनयप्रकारान् प्रकाशयन्ति-

व्यासतोऽनेकविकल्पः ॥ ४ ॥

एकांशगोचरस्य हि प्रतिपत्त्रभिप्रायविशेषस्य नयस्वरूपत्व-
मुक्तं, ततश्चानन्तांशाऽऽत्मके वस्तुन्येकैकांशपर्यवसायिनो याव-
न्तः प्रतिपत्तॄणामभिप्रायास्तावन्तो नयाः, ते च नियतसंख्यया
संख्यातुं न शक्यन्त इति व्यासतो नयस्यानेकप्रकारत्वमुक्त-
म् ॥ ४ ॥

समासनयं भेदतो दर्शयन्ति-

समासतस्तु द्विभेदो-द्रव्यार्थिकः, पर्यायार्थिकश्च ॥५॥

नय इत्यनुवर्तते; द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत् तांस्तान् पर्या-
यानिति द्रव्यं, तदेवार्थः, सोऽस्ति यस्य विषयत्वेन स द्रव्या-
र्थिकः। पर्येत्युत्पादविनाशौ प्राप्नोतीति पर्यायः स एवार्थः,
सोऽस्ति यस्यासौ पर्यायार्थिकः। एतावेव च द्रव्यास्तिक-
पर्यायास्तिकाविति, द्रव्यस्थितपर्यायस्थिताविति, द्रव्यार्थप-
र्यायार्थाविति च प्रोच्येते। ननु गुणविषयस्तृतीयो गुणार्थि-
कोऽपि किमिति नोक्त इति चेत्, गुणस्य पर्याय एवान्तर्भू-
तत्वेन पर्यायार्थिकेनैव तत्संग्रहात्। पर्यायो हि द्विविधः-क्र-
मभावी, सहभावी च। तत्र सहभावी गुण इत्यभिधीयते;
पर्यायशब्देन तु पर्यायसामान्यस्य व्यक्तिव्यापिनोऽभिधा-
नान्न दोषः। ननु द्रव्यपर्यायव्यतिरिक्तौ सामान्यविशेषौ वि-

चेत् ततस्तत्रोत्तरमपरमपि नयद्वयं प्राप्नोतीति चेत्। नैतद्- युपपन्नम्। द्रव्यपर्यायाभ्यां व्यतिरिक्तयोः सामान्यविशेषयोर- प्रसिद्धेः। तथाहि-द्विप्रकारं सामान्यमुक्तम्-ऊर्ध्वतासामान्यं, तिर्यक्सामान्यं च। तत्रोर्ध्वतासामान्यं द्रव्यमेव; तिर्यक्सा- मान्यं तु प्रतिव्यक्तिसदृशपरिणामलक्षणं व्यञ्जनपर्याय एव। स्थूलाः कालान्तरस्थायिनः शब्दानां सङ्केतविषया व्यञ्जनपर्या- या इति प्रावचनिकप्रसिद्धेः। विशेषोऽपि वैसदृश्यविवर्तलक्षणः पर्याय एवान्तर्भवतीति नैताभ्यामधिकनयावकाशः ॥ ५ ॥

द्रव्यार्थिकभेदानाहुः-

आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रेधा ॥ ६ ॥

आद्यो द्रव्यार्थिकः ॥ ६ ॥

तत्र नैगमं प्ररूपयन्ति-

धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विव- क्षणं स नैकगमो नैगमः ॥ ७ ॥

पर्याययोर्द्रव्ययोर्द्रव्यपर्याययोश्च मुख्यामुख्यरूपतया यद्विव- क्षणं स एवंरूपो नैके गमा बोधमार्गा यस्याऽसौ नैगमो नाम नयो ज्ञेयः ॥ ७ ॥

अथास्योदाहरणाय सूत्रत्रयीमाहुः-

सच्चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः ॥ ८ ॥

प्रधानोपसर्जनभावेन विवक्षणमितीहोत्तरत्र च सूत्रद्वये योज- नीयम्। अत्र चैतन्याऽऽख्यस्य व्यञ्जनपर्यायस्य प्राधान्येन वि- वक्षणम्, विशेष्यत्वात्। सत्त्वाऽऽख्यस्य तु व्यञ्जनपर्यायस्यो- पसर्जनभावेन; तस्य चैतन्यविशेषणत्वादिति धर्मद्वयगोचरो नैगमस्य प्रथमो भेदः ॥ ८ ॥

वस्तुपर्यायवद् द्रव्यमिति धर्मिणोः ॥ ९ ॥

अत्र हि पर्यायवद् द्रव्यं वस्तु वर्तत इति विवक्षायां पर्या- यवद् द्रव्याऽऽख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन प्राधान्यम्, वस्त्वा- ख्यस्य तु विशेषणत्वेन गौणत्वम्। यद्वा—किं वस्तु पर्याय- वद् द्रव्यमिति विवक्षायां वस्तुनो विशेष्यत्वात् प्राधान्यम्, पर्यायवद् द्रव्यस्य तु विशेषणत्वाद् गौणत्वमिति धर्मियु- ग्मगोचरोऽयं नैगमस्य द्वितीयो भेदः ॥ ९ ॥

क्षणमेकं सुखी विषयाऽऽसक्तजीव इति धर्मधर्मिणोः ॥ १० ॥

अत्र हि विषयाऽऽसक्तजीवाऽऽख्यस्य धर्मिणो मुख्यता, विशे- ष्यत्वात्, सुखलक्षणस्य तु धर्मस्याप्रधानता, तद्विशेषणत्वेनो- पात्तत्वादिति धर्मधर्म्यालम्बनोऽयं नैगमस्य तृतीयो भेदः। न चास्यैवं प्रमाणाऽऽत्मकत्वानुषङ्गो धर्मधर्मिणोः प्राधान्येनात्र ज्ञप्तेरसंभवात् तयोरन्यतर एव हि नैगमनयेन प्रधानतयाऽनु- भूयते। प्राधान्येन द्रव्यपर्यायद्वयाऽऽत्मकं चार्थमनुभवद्विज्ञानं प्रमाणं प्रतिपत्तव्यं नान्यत् ॥ १० ॥ (रत्ना०)

अथ संग्रहस्वरूपमुपवर्णयन्ति-

सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः ॥ १३ ॥

सामान्यमात्रमशेषविशेषरहितं सत्त्वद्रव्यत्वाऽऽदिकं गृह्णाती- त्येवंशीलः, समेकीभावेन पिण्डीभूततया विशेषराशिं गृह्णा- तीति संग्रहः। अयमर्थः-स्वजातेर्दृष्टेष्टाभ्यामविरोधेन विशे- षाणामेकरूपतया यद् ग्रहणं स संग्रह इति ॥ १३ ॥

अमुं भेदतो दर्शयन्ति-

अयमुभयविकल्पः-परोऽपरश्च ॥ १४ ॥

तत्र परसंग्रहमाहुः-

अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मा- त्रमभिमन्यमानः परसंग्रहः ॥ १५ ॥

परामर्श इत्यत्रेतनेऽपि योजनीयम् ॥ १५ ॥

उदाहरन्ति-

विश्वमेकं सदविशेषादिति यथा ॥ १६ ॥

अस्मिन् उक्ते हि सदिति ज्ञानाभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितस- त्ताकत्वेनैकत्वमशेषार्थानां संगृह्यते ॥ १६ ॥ (रत्ना०)

अथापरसंग्रहमाहुः-

द्रव्यत्वाऽऽदीन्यवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु ग- जनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः ॥ १७ ॥

द्रव्यत्वमादिर्येषां पर्यायत्वप्रभृतीनां तानि तथा, अवान्तर- सामान्यानि सत्ताऽऽख्यमहासामान्यापेक्षया कतिपयव्यक्तिनि- ष्ठानि तद्भेदेषु द्रव्यत्वाऽऽद्याश्रयभूतविशेषेषु द्रव्यपर्यायाऽऽदिषु गजनिमीलिकामुपेक्षाम् ॥ १७ ॥

उदाहरन्ति-

धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामैक्यं द्रव्य- त्वाभेदादित्यादिर्यथा ॥ २० ॥

अत्र द्रव्यं द्रव्यमित्यभिन्नज्ञानाभिधानलक्षणलिङ्गानुमितद्रव्य- त्वाऽऽत्मकत्वेनैक्यं षण्णामपि धर्माऽऽदिद्रव्याणां संगृह्यते। आदिशब्दाच्चेतनाचेतनपर्यायाणां सर्वेषामेकत्वम्; पर्यायत्वा- विशेषादित्यादि दृश्यम् ॥ २० ॥ (रत्ना०)

अथ व्यवहारनयं व्याहरन्ति-

संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येना- भिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः ॥ २३ ॥

संग्रहगृहीतान् सत्त्वाऽऽद्यर्थान् विधाय, न तु निषिध्य यः प- रामर्शविशेषः, तानेव विभजते, स व्यवहारनयस्तज्ज्ञैः की- र्त्यते ॥ २३ ॥

उदाहरन्ति-

यथा यत्सत्तद् द्रव्यं पर्यायो वेत्यादिः ॥ २४ ॥

आदिशब्दादपरसंग्रहगृहीतार्थगोचरव्यवहारोदाहरणं दृ- श्यम्। यद् द्रव्यं तज्जीवाऽऽदि षड्विधं, यः पर्यायः स द्विविधः- क्रमभावी, सहभावी चेति। एवं यो जीवः स मुक्तः संसारी च, यः क्रमभावी पर्यायः स क्रियारूपः, अक्रियारूपश्चेत्या- दि ॥ २४ ॥ (रत्ना०)

द्रव्यार्थिकं त्रेधाऽभिधाय पर्यायार्थिकं प्रपञ्चयन्ति-

पर्यायार्थिकश्चतुर्द्धा-ऋजुसूत्रः, शब्दः, समभिरूढः, ए- वंभूतश्च ॥ २७ ॥

एषु ऋजुसूत्रं तावद्वितन्वन्ति-

ऋजु वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्न- भिप्राय ऋजुसूत्रः ॥ २८ ॥

ऋजु अतीतानागतकालक्षणलक्षणकौटिल्यवैकल्यात् प्राञ्ज- लम्; अयं हि द्रव्यं सदपि गुणीभावान्नार्पयति, पर्यायांस्तु क्ष- णध्वंसिनः प्रधानतया दर्शयतीति ॥ २८ ॥

उदाहरन्ति-

यथा सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्तीत्यादिः ॥ २९ ॥

अनेन हि वाक्येन क्षणस्थायिसुखाऽऽख्यं पर्यायमात्रं प्राधान्येन प्रदर्श्यते, तदधिकरणभूतं पुनरात्मद्रव्यं गौणतया नार्प्यते; आदिशब्दात् दुःखपर्यायोऽधुनाऽस्तीत्यादिकं प्रकृतनयनिदर्शनमभ्यूहनीयम् ॥ २९ ॥ (रत्ना०)

शब्दनयं शब्दयन्ति-

कालाऽऽदिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः ॥ ३१ ॥

कालाऽऽदिभेदेन कालकारकलिङ्गसंख्यापुरुषोपसर्गभेदेन ॥ ३२ ॥

उदाहरन्ति-

यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादिः ॥ ३३ ॥

अत्राऽतीतवर्त्तमानभविष्यल्लक्षणकालत्रयभेदात् कनकाऽचलस्य भेदं शब्दनयः प्रतिपद्यते । द्रव्यरूपतया पुनरभेदममुष्योपेक्षते । एतच्च कालभेदे उदाहरणम् । करोति क्रियते कुम्भ इति कारकभेदे, तटस्तटी तटमिति लिङ्गभेदे, दाराः कलत्रमित्यादि संख्याभेदे, एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पितेति पुरुषभेदे, संतिष्ठतेऽवतिष्ठत इत्युपसर्गभेदे ॥ ३३ ॥ (रत्ना०)

समभिरूढनयं वर्णयन्ति-

पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः ॥ ३६ ॥

शब्दनयो हि पर्यायभेदेऽप्यर्थाभेदमभिप्रैति, समभिरूढस्तु पर्यायभेदे भिन्नानर्थानभिमन्यते, अभेदं त्वर्थगतं पर्यायशब्दानामुपेक्षत इति ॥ ३६ ॥

उदाहरन्ति-

इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिषु यथा ॥ ३७ ॥

इत्यादिषु पर्यायशब्देषु यथा निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन्नभिप्रायविशेषः समभिरूढः, तथाऽन्येष्वपि घटकुटकुम्भाऽऽदिषु द्रष्टव्यः ॥ ३७ ॥ (रत्ना०)

एवंभूतनयं प्रकाशयन्ति-

शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाऽऽविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाऽभ्युपगच्छन्नेवंभूतः ॥ ४० ॥

समभिरूढनयो हीन्दनाऽऽदिक्रियायां सत्यामसत्यां च वासवाऽऽदेरर्थस्येन्द्राऽऽदिव्यपदेशमभिप्रैति, पशुविशेषस्य गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत् तथा रूढेः सद्भावात् । एवंभूतः पुनरिन्दनाऽऽदिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्राऽऽदिव्यपदेशभाजमभिमन्यते; न हि कश्चिदक्रियाशब्दोऽस्यास्ति, गौरश्व इत्यादिजातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वात्— गच्छतीति गौः, आशुगामित्वादश्व इति । शुक्लो नील इति गुणशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव-शुचिभवनात् शुक्लो, नीलनान्नील इति । देवदत्तो यज्ञदत्त इति यदृच्छाशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव-देव एनं देयात्, यज्ञ एनं देयादिति । संयोगिद्रव्यशब्दाः समवायिद्रव्यशब्दाश्चाभिमताः क्रियाशब्दा एव-दण्डोऽस्याऽस्तीति दण्डी, विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यादिक्रियाप्रधानत्वात् । पञ्चतयी तु शब्दानां व्यवहारमात्रात् न निश्चयादित्ययं नयः स्वीकुरुते ॥ ४० ॥

उदाहरन्ति-

यथेन्दनमनुभवन्निन्द्रः, शकनक्रियापरिणतः शक्रः, पूर्दारणप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यते ॥ ४१ ॥ रत्ना० ७ परि० ।

(६) ननु सर्वत्र वास्तव्येवापेक्षा नयप्रवृत्तिहेतुः, उत वैज्ञानिक्यपि ? । उच्यते क्वचिद् वैज्ञानिक्यपि, यत्र मतभेदोऽध्यवसायः । तथा चाऽऽह-

नानानयमयो व्यक्तो, मतभेदो ह्यपेक्षया ।
कोट्यन्तरनिषेधस्तु, प्रस्तुतोत्कटकोटिकृत् ॥ ४ ॥

(नानेति) हि निश्चितं मतभेदः—बौद्धौपनिषदादिदर्शनभेदः, नानानयमयः-स्वेच्छानिर्धारितत्वेनाऽनेकनयाविकारकपः, वस्तुस्थप्रकृतिरूपो वा; अपेक्षया व्यक्तः, शुद्धपर्यायशुद्धद्रव्याऽऽद्यपेक्षयैव तत्तदर्थव्यवस्थितेः । नयविशेषतात्पर्यमेतद्, न त्वपेक्षेति चेत् । न । तात्पर्यस्याऽपि वस्तुसंबन्धरूपापेक्षामात्रस्य प्रवृत्तेः, असति संबन्धे तात्पर्यस्य प्रामाण्याप्रसरात् । सा चेयमपेक्षा वैज्ञानिकः संबन्धः; अत एव विकल्पसिद्धस्य धर्मिणः प्रतिषेधाऽऽदिसाधनमामनन्ति साम्प्रदायिकाः । ईश्वरो नास्ति, प्रकृतिर्नास्तीत्यादौ विशिष्टज्ञानाऽऽकारविषयत्वेन तत्र धर्मिणो विकल्पसिद्धत्वाद्विशिष्टवस्तुसिद्धौ कथं विशिष्टाऽऽकारो भवेदिति चेत् ?; यथा तत्र विशिष्टानतिरेकेऽपि विशिष्टाभावोऽतिरिक्तः प्रतिबिम्बबलात् सिद्धः, तथा मम विशिष्टाऽऽकारोऽपीति किं बाधकम् ?; खण्डशः प्रसिद्धधर्मधर्मिरूपसद्रुपरागेणासदाकारोत्पत्तेर्नास्त्यव्यानिप्रसङ्गः [?] । यद्वा-आलयविज्ञानसन्ततिरूप आत्माऽपि यदि क्षणिकः, किं पुनर्वाच्यं बाह्यवस्तुष्विति वैराग्यप्रतिपन्थितृष्णोच्छेदकानित्यभावनोद्देशेन बौद्धदर्शनस्य ?; मुमुक्षुणा सर्वं परित्यज्य स्वात्मनिष्ठेन भवितव्यम्; स च एक एवेति शोकद्वेषाऽऽदिनिबन्धनानेकसंबन्धबुद्धिमलप्रक्षालनगङ्गाजलसमानैकत्वभावनोद्देशेन च वेदान्तिकदर्शनस्य प्रवृत्तेः; तत्तद्दर्शनार्थज्ञानेषु तत्तद्भावनोद्देशप्रयुक्तमेवापेक्षात्वं, तेनैव तस्य सुनयत्वव्यवस्थितेः । अन्यथा बौद्धसिद्धान्ते बाह्यार्थज्ञानाऽऽदिवादानां, वेदान्तिसिद्धान्ते च प्रतिबिम्बाभासावच्छेदादिसृष्टिवादाऽऽदीनामन्योऽन्यविप्रतिषिद्धत्वेन ज्ञात्वा दुर्नयत्वं सम्यग्दृष्टिपरिग्रहेणाऽपि निराकर्तुमशक्यत्वात् । न हि ज्ञात्वा हलाहलं सद्वैद्यहस्तोपादानमात्रेणाऽमृतायते, रसायनीकरणं तु तदयोक्तापेक्षयैवेति द्रष्टव्यमवधेयम् ।

ननूक्तापेक्षयाऽभिशुद्धर्जुसुत्राऽऽदीनामितरनयार्थप्रतिषेधवृत्तौ कथं न दुर्नयत्वम् ?, इतरांशौदासीन्यस्यैव सुनयलक्षणत्वात् । दृश्यन्ते च ते नयाः स्वसमये, परसमये च स्वेतरनयार्थबाधेन प्रगल्भमाना इत्याशङ्कयाऽऽह-कोट्यन्तरस्येतरनयार्थस्य, निषेधो निराकरणं, प्रस्तुता या उत्कटकोटिस्तत्कारी, विशिष्टविधेर्विशेषणविभागेन प्रस्तुतकोटेरुत्कटत्वकारीत्यर्थः । अयं भावः-यदीतरनयार्थप्रतिषेधो द्वेषबुद्ध्या तदा दुर्नयत्वमेव, यदि चोक्तभावनादार्ढ्यानुगतस्वविषयोत्कर्षाऽऽधानाय, तदा सुनयत्वमेव, ज्ञात्वा दुर्नयस्याऽपि चिन्ताज्ञानेन फलतः सुनयीकरणाद्, भावनाज्ञानेन ऐदम्पर्यार्थप्रधानकरणप्रमाणवाक्यैकदेशत्वाऽऽपादनाच्च ।

तदाहुः श्रीहरिभद्रसूरयः षोडशप्रकरणे-

"ऐदम्पर्यं शुद्ध्यति, यत्राऽसावागमः सुपरिशुद्धः ।
तदभावे तद्देशः, कश्चित् स्याद्-व्यवग्रहणात् ॥ १२ ॥"

अस्य व्याख्या-ऐदम्पर्यं तात्पर्यं पूर्वोक्तं,शुध्यति स्फुटीभवति य-त्राऽऽगमे,असावागमः सुपरिशुद्धः प्रमाणभूतः,तदभावे ऐदम्पर्य-शुद्ध्यभावे,तद्देशः परिशुद्धाऽऽगमैकदेशः,कश्चिदन्य आगमः स्यात्, न तु मूलाऽऽगम एव,अन्यथाग्रहणाद् मूलाऽऽगमैकदेशस्य सतो विषयस्याऽन्यथाप्रतिपत्तेर्यतः सम्यग्ताभवलम्बमानास्तेऽपि लघ-यन्तीति॥१२॥(षो० १६ विव०)नत्राऽपि च न द्वेषः कार्यो,विषयस्तु यत्नतो मृग्यः,तस्याऽपि न सद्वचनं सर्वं यत्प्रवचनादन्यदिति ।

नन्वयं स्वसमयनयवाक्येभ्यः परसमयनयवाक्यानां को विशेषः, फलतो जातितश्च शुद्ध्यशुद्ध्योरविशेषात् ?। न हि ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽदिवादेषु स्वसमये स्थितप-क्षोऽपि स्वविषये प्राधान्यं विदधानः ज्ञानाऽऽदिनयवि-षये च तन्निराकुर्वाणो जात्या शुद्धत्वमङ्गीकुरुते । तथा च स्थितपक्षवचनम्-" अम्हा दंसणनाणा, संपुण्णफलं न दिंति पत्तेयं । चारित्तजुआ दिंति उ, विसिस्सए तेण चारित्तं " ॥१॥ इति । अत्र हि ज्ञानाऽऽदिनये नैतद्वक्तुं शक्यम्, यथा त्वया सं-पूर्णफलप्रापकत्वेन चारित्रमुत्कृष्यते, तथा मया तदुपनायक-त्वेन " दासेण मे * " इत्यादिन्यायाद् व्यापारतया चारित्रान्य-थासिद्ध्यापादनाच्च ज्ञानाऽऽदिकमेवोत्कर्षमारोपणीयमिति । विजृम्भितं चेदमध्यात्ममतपरीक्षायां बहुधाऽस्माभिः । तथा च प्राधान्यस्याप्यव्यवस्थितत्वात् कुत्र केन नयेन जात्या व्यवस्थे-यम् ?,फलतः शुद्धिस्तु स्वपरसमययोरविशिष्टेति चेत्,अत्रास्मा-कमाभाति-यथा देशप्रदेशवादपरमाणुवादीनां स्कन्ध[संबन्ध-] संबन्धाभ्यां भेदः, तथा स्वसमयपरसमयव्यवस्थितनयानां प्र-माणवाक्यान्तर्भावबहिर्भावाभ्याम् । तौ च पदार्थवाक्यार्थाऽऽदि-न्यायेन साकाङ्क्षतया,स्वातन्त्र्येण निराकाङ्क्षतया चेति न जातिभे-दाऽनुपपत्तिः। स्वसमये नयेषु निराकाङ्क्षप्रमाणबोधपर्यवसाने तद-ध्यवसायकर्त्तृकज्ञानफलोद्देशः, परसमये नयेषु च उक्तताव-न्मात्रफलोद्देश इति फलतोऽपि भेदो व्यक्त एवेति सर्वमवदातम् ।

ननु यद्येवं नयार्था आपेक्षिकाः, तदा अवयव्येकत्व-मपि द्वित्वाऽऽदिवद्बुद्धिजन्यमेव स्यात्; उभयमपि वा ज्ञा-नाऽऽकारमात्रं इति चेत् । न । एकत्वद्वित्वाऽऽदीनामन-न्तानां संख्यापर्यायाणामेकद्रव्यवृत्तीनामेव सतां यथा क्षयो-पशमबुद्धिविशेषेण प्रतिनियतानामेव ग्रहणमित्यभ्युपगमात् । युक्तं चैतत् । अन्यथा एकत्रैव घटे तद्रूपतद्गमनयोरैक्यमि-त्यादिना द्विवचनप्रयोगस्य , बहुषु करि-तुरग-रथ-पदातिषु सेनेत्येकवचनप्रयोगस्याऽनुपपत्तेः। अथैकत्वद्वित्वाऽऽदितत्तद्ध-र्मप्रकारकबुद्धिविषयत्वाऽऽदिकं गौणमेव द्वित्वाऽऽदिव्यवहार-निमित्तं, तच्च तत्तद्धर्मावच्छेदेन पर्याप्तमिति नैको द्वावित्यादेः प्रसङ्गः;मुख्यं तु द्वित्वम्-अपेक्षाबुद्धिजन्यं द्वित्वमन्यदेवेति न दोष इति चेत् । न । उक्तविषयतारूपद्वित्वाऽऽदेरप्येकत्वपर्याप्तत्वात् तत्तद्धर्मप्रकारतानिरूपितत्वविशिष्टविषयताया अपि कथंचित्सं-बन्धाऽऽदिभेदेन प्रकारताभेदादेकस्या अभावात्;भावेऽपि च द्व-यस्य प्रत्येकानतिरिक्तत्वेन एकधर्मावच्छेदेन द्वित्वाऽऽदिपर्याप्ति-प्रसङ्गाद्,धर्मगतद्वित्वस्यैव तत्पर्याप्त्यवच्छेदकताऽवच्छेदकत्व-स्वीकारे च तथाऽपि द्वित्वस्य वास्तवस्याऽभावाद् रूपत्वरसत्वाऽऽ-दिप्रकारकबुद्धिविषयत्वस्यैव गौणस्य स्वीकारं,तत्पर्याप्त्यवच्छे-दकाऽऽदिगवेषणेऽनवस्थाने वास्तवद्वित्वाऽऽद्यभावे ज्ञानाऽऽकार-तापर्यवसानेन साकारवादप्रसङ्गात् । तस्माद् द्रव्यस्वाभा-विकमेकत्वाऽऽदेः पर्याप्तिस्वीकारेऽनेकान्तवाद एवानाविलो व्य-वस्थेति ध्येयम् । अत एव-" दव्वट्ठयाए एगे अहं, नाणदंस-णट्ठयाए दुवे अहं ।" इत्यादि पारमर्षम् ।

इदमप्यत्र विचार्यते-द्वित्वाऽऽदिकमपेक्षाबुद्ध्या जन्यं वा,व्यङ्ग्यं वेति ?। तत्र जन्यमेवेति नैयायिकाः। व्यङ्ग्यमिति प्राभाकराः। तत्र नैयायिकानामयमाशयः-द्वित्वस्य व्यङ्ग्यत्वनये अपेक्षाबुद्धेर्द्वित्वत्व-प्रकारकलौकिकप्रत्यक्षत्वकार्यताऽवच्छेदकत्वं वाच्यम्, जन्यत्व-नये तु द्वित्वमेवेति लाघवम् । न च व्यङ्ग्यत्वनयेऽपि लौकिकप्र-कारतासंबन्धेन द्वित्वमेव तत्कार्यताऽवच्छेदकं वक्तुं शक्यम्,गु-णत्वसंख्यात्वतद्व्यक्तित्वाऽऽदिना विनाऽप्यपेक्षाबुद्धिं तत्प्रत्यक्षप्र-सङ्गात्,तेन रूपेण तत्प्रत्यक्षं प्रति तस्या हेतुत्वकल्पने चातिगौर-वात् । न च स्वाश्रयविषयतया द्वित्वत्वस्य कार्यताऽवच्छेदकतया न दोष इति वाच्यम् । तथाऽपि व्यङ्ग्यत्वनये स्वाश्रयविषयत्वं कार्यताऽवच्छेदकताऽवच्छेदकः संबन्धः,जन्यत्वनये तु समवाय इति जन्यत्वपक्ष एव श्रेयान्,लाघवात् । अथ द्वित्वप्रत्यक्षेऽपि प्रत्य-क्षत्वमेव कार्यताऽवच्छेदकम्, द्वित्ववृत्तिविषयतायाः कार्यताऽव-च्छेदकसंबन्धत्वेनैवानतिप्रसङ्गात् । अन्यथा द्वित्वप्रत्यक्षस्य नि-र्विषयतया द्वित्वस्याऽऽद्यापि जायमानत्वेन व्यभिचारात् अपे-क्षाबुद्धित्वं कारणताऽवच्छेदकं, तच्च मानसत्वव्याप्यो जातिवि-शेषः;कारणताऽवच्छेदकः संबन्धः स्वविषयपर्याप्तत्वम्;तेन घट-पटैकत्वबुद्धित्वेनाऽपेक्षाबुद्धेर्घटपटद्वित्वप्रत्यक्षहेतुत्वेऽनन्तकार्य-कारणभावाऽऽपत्तिः, द्वित्वप्रत्यक्षताऽवच्छिन्नेऽपेक्षाबुद्धित्वेन सा-मान्यतो हेतुत्वेऽपि घटपटद्वित्वप्रत्यक्षकाले घटकुड्यद्वित्वप्र-त्यक्षाऽऽपत्तिः,स्वविषयवृत्तित्वसंबन्धेनापेक्षाबुद्धेस्तत्राऽपि स-त्त्वादित्यादिदूषणानवकाशः। घटपटैकत्वबुद्धेर्घटकुड्यद्वित्वे स्व-विषयपर्याप्तत्वसंबन्धेनाऽसत्त्वादिति व्यङ्ग्यत्वनयेऽपि न गौरव-मिति चेत् । न । एवं सति प्रत्यक्षत्वं वा कार्यताऽवच्छेदकं,ज्ञान-त्वं वाऽनुभवत्वं वेत्यादौ विनिगमकाभावात् । किञ्च-व्यङ्ग्य-त्ववादिना मैत्रीयापेक्षाबुद्ध्या संनिकर्षाऽऽदिवशाद् चैत्रीयप्रत्य-क्षोत्पत्तिवारणाय चैत्रीयापेक्षाबुद्धित्वस्य चैत्रीयप्रत्यक्षत्वाऽऽदिना कार्यकारणभावो वाच्य इति गौरवमेव । अथ तव पुरुषान्त-रापेक्षाबुद्धिजनितद्वित्वस्य पुरुषान्तराप्रत्यक्षत्वाय द्वित्वनिष्ठवि-षयतासंबन्धेन चैत्रीयप्रत्यक्षे मैत्रीयद्वित्वाऽऽदिभेदस्याऽपि हेतु-त्वं कल्पनीयम् । यद्वा-चैत्रीयद्वित्वप्रत्यक्षं प्रति चैत्रापेक्षाबु-द्धिजन्यद्वित्वेन हेतुता कल्पनीया, कार्यताऽवच्छेदकः संबन्धो द्वित्वनिष्ठविषयताकारणताऽऽवच्छेदकस्तादात्म्यम् । अत एव-चै-त्रमैत्रापेक्षाबुद्धिभ्यां तुल्यविषयाभ्यां युगपदुत्पन्नाभ्यामुत्पादितं द्वित्वमेकमेवेति मतेऽपि न क्षतिरिति कल्पनायामाधिकं गौरवमिति चेत् । न । तद्गौरवस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वात् । य-द्यपि द्वित्वाऽऽद्यपेक्षाबुद्धेर्नैकत्वावगाहिबुद्धित्वेन हेतुता, अयं घट एक इति बुद्धितोऽपि द्वित्वोत्पत्त्यापत्तेः; नाऽपि नैकत्वा-वगाहिबुद्धित्वेन,अयमेकश्चिरन्तनो घटश्चैक इति बुद्धितोऽपि त-दापत्तेः;तथाऽपि द्वित्वाऽऽदिजनकताऽवच्छेदका मानसत्वव्याप्या नानाजातयो वाच्याः, अन्यथा कदाचिद् द्वित्वं कदाचित्त्रित्व-मिति नियमो न स्यात् । न च स्मृतित्वव्याप्यत्वमेव तासां न कुतः?, इति वाच्यम् ; यदृच्छाविशेषवत्वैकस्मरणं कस्याऽपि न जा-तं, तत्र स्मरणाऽनुभवकार्यकारणभावकल्पने संस्कारव्यवधा-नेन क्षणत्रयविलम्बे च गौरवात्,स्मृतित्वव्याप्यत्वेऽपि स्मरणाऽऽत्म-कैकत्वबुद्धिकल्पनापक्षे मानसोत्पत्तौ बाधकाभावादुपनायकज्ञा-नघटितसामग्रीसत्त्वात् मानसं प्रति तत्तत्स्मृतिसामग्र्याः प्र-तिबन्धकत्वकल्पने च महागौरवात् । सन्तु वा बहुत्वाऽऽदि-

* " दासेण मे खरो कीओ,दासो वी मे खरो वि मे " इतिन्यायः ।

व्याप्या नानाजातयः, द्वित्वाऽऽदौ नानाजाताभावात्; नव इत्यादिविलक्षणबुद्धेर्विजातीयत्वात् प्रकारभेदं विनाऽसंभवात्। अन्यथा-सर्वत्र विषयनिरपेक्षैरेव ज्ञानैस्तद्व्यवहारजननप्रसङ्गात् । न च द्वावित्यादिबुद्धेर्विजातीयत्वं विषयः, प्रत्यासत्त्यभावाऽऽपत्तेः। न च 'इमौ द्वौ मधुपौ; एते त्रयः कमलकह्लारकलहंसाः'' इत्यादौ युगपदेव द्वित्वत्रित्वप्रतीतिः, एकत्र बुद्धौ द्वित्वजनकताऽवच्छेदकजात्यभ्युपगमे जातिसंकरप्रसङ्ग इति वाच्यम्; द्वित्वत्रित्वोत्पादकापेक्षाबुद्धेरुत्पादे सूक्ष्मकालभेदकल्पनात्, 'गिरिरयं वह्निमान्, अहं तद्वत्तानवान्' इत्यनुमितिप्रत्यक्षयोरिव। अथ तत्र भिन्नविषयेऽनुमितिसामग्र्या प्रतिबन्धकत्वादस्तु तयोर्युगपदनुत्पादः, न तु प्रकृत इति चेत्, तर्हि प्रतिबन्धकं किञ्चिदत्राऽपि कल्प्यताम्, अन्यथाऽनुपपत्तेर्बलीयस्त्वात् । अस्तु वा तत्रापेक्षाबुद्धावुभयजनकताऽवच्छेदको जातिविशेषः; स च द्वित्वत्रित्वयोस्तज्जन्यताऽवच्छेदको जातिविशेषः। एतेन समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानामविशिष्टत्वे द्वित्वत्रित्वाऽऽद्युत्पत्तिनियमे किं कारणम्?, द्वाभ्यामेकत्वाभ्यां द्वित्वं त्रिभिस्त्रित्वमारभ्यते इति वक्तुमशक्यत्वात्, एकत्वेषु द्वित्वाऽऽदेरभावात्। न च त्रुटनयापेक्षाबुद्ध्या द्वित्वं, द्वित्वसहितया च तया त्रित्वमुत्पाद्यते इत्यपि सुवचम्, द्वित्वत्रित्वयोर्युगपदेव तत्प्रत्ययविषयत्वात् । न चैकस्येव द्वित्वाऽऽदिजनकताऽवच्छेदका जातिविशेषा अभ्युपेयाः, तत एव द्वित्वाऽऽदिव्यवहारोपपत्तौ द्वित्वाऽऽद्युच्छेदप्रसङ्गादित्यादिपर्यनुयोगो निरस्तः; अपेक्षाबुद्धिनिष्ठद्वित्वत्रित्वाऽऽदिजनकताऽवच्छेदकजातिभेदेनैव ततः सामग्रीभेदात् एकापेक्षाधीजन्यद्वित्वत्रित्वयोरप्यन्यत्र परिपुष्टभेदवज्जातीयत्वेनैव भेदात् ॥ उदयनाऽऽचार्याः-तद् द्वित्वप्रागभावगर्भैव द्वित्वसामग्री, त्रित्वप्रागभावगर्भा च त्रित्वसामग्रीति तयोर्विशेषः। इतोऽपि हि प्रागभावसिद्धिः; अन्यथा तयोर्विशेषो न स्यात्, पर्याप्तिसंबन्धेन द्वित्वाऽऽदिकं प्रति पर्याप्तिसंबन्धेन तत्प्रागभाव एव नियामकः; अत एवैकस्मिन्पर्याप्तिसंबन्धेन द्वित्वाऽऽदिप्रत्ययः तत्प्रागभावस्यैकस्मिन्पर्याप्तभावेन तत्राऽपि तदभावादित्याहुः ॥ अथापेक्षाबुद्धिजन्यत्वे द्वित्वस्य 'द्वे द्रव्ये' इति लौकिकप्रत्यक्षानुपपत्तिः; अपेक्षाबुद्धिरथ द्वित्वम्, अथ द्वित्वत्वं निर्विकल्पकं, ततो द्वित्वत्वविशिष्टं प्रत्यक्षं, तदेव च द्वित्वत्वनिर्विकल्पकेन स्वोत्तरवृत्तिविशेषगुणविषया जनितोऽपेक्षाबुद्धिविनाशः, ततश्च 'द्वे द्रव्ये' इति लौकिकप्रत्यक्षं, तदेव चापेक्षाबुद्धिविनाशाद् द्वित्वविनाश इति द्वित्वस्याऽभिमता व्यवस्था, साऽत्रानुपपन्ना; अपेक्षाबुद्धेस्तज्जन्यसंस्कारेण द्वित्वनिर्विकल्पकोत्पत्तिक्षण एव नाशात् । योग्यविभुविशेषगुणनाशं प्रति स्वोत्तरवृत्तियोग्यजातीयविभुविशेषगुणत्वेन हेतुत्वात् सुषुप्तिप्राक्कालवर्तिज्ञाननाशकतयैव तत्सिद्धेः, अन्यथाऽनुभवध्वंसेनैव संस्काराऽन्यथासिद्धेरिति चेत्। न। अपेक्षाबुद्धेः संस्काराजनकत्वादपेक्षाबुद्धिजन्यस्यापि संस्कारजनकताऽवच्छेदककोटिप्रवेशात् । न चैवमप्यपेक्षाबुद्धिजनितैकत्वाऽऽदिविशिष्टबुद्ध्या अपेक्षाबुद्धिनाशप्रसङ्गः। तदुक्तम्-''अपेक्षाबुद्धिः संस्कारान्न माकार्षीत्, विशिष्टबुद्धिस्तु कुर्यादेव'' इति वाच्यम्; विशिष्टबुद्धिजननेऽपि द्वित्वसामग्र्यादेरेव फलबलेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनात् । वस्तुतोऽपेक्षाबुद्धिनाशे द्वित्वलौकिकप्रत्यक्षस्य विशिष्य कारणत्वकल्पनान्न दोषः। न च तथाऽपि पूर्वापेक्षाजनितद्वित्वनिर्विकल्पकेन स्वद्वितीयक्षणोत्पन्नेनापेक्षाबुद्धेस्तृतीयक्षणे नाशप्रसङ्गः, प्रतियोगितयाऽपेक्षाबुद्धिनाशे स्वविषयजनकत्वसंबन्धेन द्वित्वलौकिकप्रत्यक्षत्वेन हेतुत्वात् । नन्वेवमपि 'द्वे द्रव्ये' इति लौकिकप्रत्यक्षं कथं, तदुत्पत्तिक्षणे द्वित्वनाशादिति चेत्?। नैवम्। द्वित्वस्य हि तत्प्रत्यक्षे विषयविधया हेतुत्वं, न तु कार्यसहवर्तितयेति दोषाभावात् । न हि सर्वेषां कारणानां कार्यसहवर्तितयैव हेतुत्वम्, प्रागभावपक्षताऽऽदेरहेतुत्वप्रसङ्गादिति ॥ प्राभाकरवृद्धानुसारिणस्तु-सोऽयं नैयायिकाऽऽशयो न युक्तः, अनन्तद्वित्वाऽऽदिध्वंसप्रागभावाऽऽदिकल्पनायां गौरवात्, तत्प्रत्यक्षत्वपक्षस्यैव युक्तत्वात्। अन्यथा नानापुरुषीयकर्म काऽपेक्षाबुद्धिः?, समसंख्यतुल्यव्यक्तिकनानाद्वित्वाऽऽदिकल्पनेऽपि महागौरवात्। मम तु नित्यानामेव तेषां तत्तदपेक्षाबुद्धिव्यङ्ग्यत्वाद् दोषाभावात् । न चैवं तेषां जातित्वाऽऽपत्तिः, असमवायित्वे सत्यनेकसमवेतत्वस्य, समवेतत्वस्यैव वा जातिव्यवहारनिमित्तत्वात् । न च विशेषेऽतिप्रसङ्गः, तत्र मानाभावात् । किञ्च-द्वित्वाऽऽदेर्जन्यत्वे प्रतियोगितया नाशजन्यतनाशे स्वप्रतियोगिजन्यत्वसंबन्धेनापेक्षाबुद्धिनाशत्वेन हेतुता वाच्या; तथा च-द्व्यणुकपरिमाणहेतुपरमाणुद्वित्वस्येश्वरापेक्षाबुद्धिजन्यस्य नाशानुपपत्तिः। न च तैर्जीवद्वित्वनाशे चेत्रापेक्षाबुद्धिनाशो हेतुरित्येवं विशेष्यैव कल्प्यते; परमाणुद्वित्वे तु यादृशोपाधिविशिष्टाया ईश्वरापेक्षाबुद्धेर्हेतुत्वं, तादृशोपाधिनाशादेव तन्नाशः, अविशिष्टायास्तस्या हेतुत्वे सर्वदा द्वित्वोत्पत्तिप्रसङ्गादिति वाच्यम् ; स्वाऽव्यवहितपूर्वक्षणावच्छिन्नत्वेनैव तस्यापेक्षाबुद्धित्वमिति तन्नाशात्परमाणुद्वित्वनाशे तस्य क्षणिकत्वप्रसङ्गात्, अतिरिक्तानुगमोपाधेश्चानिर्वचनात्। अपि च-एवं तत्तद्द्वित्वनाशे तत्तदपेक्षाबुद्धिनाशत्वेन हेतुत्वे महागौरवम्। न च फलमुखत्वाददोषत्वम्, अस्यां कल्पनायामेव तावद् गुरुतरं कल्पनीयमिति प्रागेवोपस्थितौ तद्दोषतायाः वज्रलेपत्वात्, तद्दोषत्वे प्रागनुपस्थितेरेव बीजत्वात् । अपि च-नानात्वाऽऽदिव्याप्यजातिविशेषैरपेक्षाबुद्धेर्द्वित्वाऽऽदिहेतुत्वे ईश्वरापेक्षाबुद्ध्या परमाणुद्वित्वाऽऽदिजननापत्तिः, ईश्वरज्ञानसाधारणद्वित्वाऽऽदिजनकताऽवच्छेदकजातिस्वीकारे च जन्यसाक्षात्कारित्वाऽऽदिना साङ्कर्यम्, नित्याऽऽद्युत्पत्तिकाले द्वित्वाऽऽद्यापत्तिश्च दुर्निवारा। एतेन द्वित्वाऽऽदिजनकताऽवच्छेदकतयाऽपेक्षाबुद्धिनिष्ठलौकिकविषयत्वस्वीकारोऽपि निरस्तः, परार्धाऽऽदिसंख्याऽनुत्पत्तिप्रसङ्गाच्च, तदाश्रयावयवद्रव्यवृत्तिलौकिकविषयताया असंभवात्, ईश्वरीयापेक्षाबुद्धेरेव तदुत्पत्त्यङ्गीकारे चाऽन्यत्रापि कारणान्तरोच्छेद इति न किञ्चिदेतदित्याहुः॥ केचित्तु द्वित्वत्रित्वाऽऽदिकं तुल्यव्यक्तिवृत्तिकमेव सामान्यम्, अनित्यस्य संयोगाऽऽदेरिव नित्यस्याऽपि द्वित्वाऽऽदेर्व्यासज्यवृत्तित्वे विरोधाभावात्, भिन्नेन्द्रियग्राह्याणां रूपरसाऽऽदीनामिव समानेन्द्रियग्राह्याणामपि सत्यप्येकावच्छेदेन समानदेशत्वे प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वे विरोधाभावात्, सहचारदर्शनमात्रस्याकिञ्चित्करत्वात् । भेदश्च विरुद्धधर्माऽध्यासात् । स च न्यूनाधिकदेशपर्याप्तवृत्तिकत्वमित्याहुः॥ परे तु घटकुटकुम्भकलशेषु द्वित्वत्रित्वाऽऽदिप्रतीतावेकतरनाशे तद्गतद्वित्वाऽऽदेरपि संयोगाऽऽदेरिव विनाशप्रत्ययादनित्यवृत्तिनानाव्यक्तिकमेव द्वित्वाऽऽदिकम्, आश्रयविनाशोत्पादाभ्यामेव तस्योत्पादविनाशौ । असमवायिकारणं तु चाऽऽश्रयस्यैकत्वं, परिणामं वा, एकवृत्तिकमेकत्वमिव तुल्यव्यक्तिवृत्तिकं द्वित्वाऽऽद्यपि नाऽनेकम्, तुल्यव्यक्तिवृत्तिकद्वित्वाऽऽदेः प्रतिबन्धकत्वात् । बुद्धिविशेषस्तद्व्यञ्जको, न तूत्पादको, नित्येषु चैकव्यक्तिकमनेकव्यक्तिकं वा नित्यमित्याहुः ॥ वयं तु ब्रूमः-जन्यत्वमथ अपेक्षाबुद्धेर्जन्यता-

वच्छेदकमेकत्वान्यसंख्यात्वं वाच्यम् । यद्वा-एकत्वजन्यताऽवच्छेदकतया द्वित्वमारभ्य परार्द्धपर्यन्तमेका जातिः सिध्यति, लाघवात् । ननु जन्यसंख्यात्वमेवैकत्वजन्यताऽवच्छेदकं,कारणकार्यैकार्थप्रत्यासत्तिभेदात् इति तस्यैव द्वित्वाऽऽदिपरार्द्धपर्यन्तसंख्यावृत्तिजातिविशेषितस्य तथात्वम् । व्यञ्जकत्वनये चैकत्वाऽन्यसंख्याप्रत्यक्षत्वम् , उक्तजातिविशेषप्रत्यक्षत्वं वाऽपेक्षाबुद्धेर्जन्यताऽवच्छेदकं वाच्यम् । द्वयोरप्यनयोर्मतयोरेको धान्यराशिरित्यादिप्रत्ययसिद्धेः सामूहिकैकत्वे व्यभिचारः । न च तत्रैकत्वं गौणमेव; वस्तुतस्त्वपेक्षाबुद्ध्या राशि-सेना-वनाऽऽदौ बहुत्वविशेष एवोत्पाद्यते,व्यज्यते वेति वाच्यम्;स्वारसिकैकत्वानुभवविरोधात् । एते बहवः कणाः,एते बहवः करि-तुरग-रथ-पदातयः, एते बहव आम्र-निम्ब-धव-खदिरा इत्यादौ राशित्व-सेनात्व-वनत्वाऽऽद्यनापत्तेश्च । अपेक्षाबुद्ध्या तत्र राशित्वाऽऽदिरूपस्यैव बहुत्वस्यैकत्वद्वित्वान्यसंख्यात्वं त्रित्वमारभ्य परार्द्धपर्यन्तवृत्ति जातिविशेषो वा,राशित्वाऽऽदिरूपबहुत्वे चापेक्षाबुद्धिविशेषजन्यताऽवच्छेदकस्तद्व्याप्य एव जातिविशेषः । बहुत्वं च तदवच्छिन्नोत्पत्तिकमेकवचनान्तराश्यादिपदं वेति शाब्दबोधस्थले नानुपपत्तिः । प्रत्यक्षे च बहव इत्यादौ कश्चित् दोषवशात्तद्ग्रहान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम्; अनुभूयमानैकत्वप्रतीतेर्बहुत्वविशेषेण समर्थने द्वित्वाऽऽदिप्रतीतेरप्येकत्वविशेषेणैव समर्थयितुं शक्यत्वात्;वास्तवाभावे गौणानुपपत्तेरप्युक्तत्वाच्च । न च 'ताविमौ नीलपीतौ' इति गौणद्वित्वाऽऽदिलक्षणं द्वाविमौ घटपटावित्यत्र द्वित्वमनुभूयते । न चैकत्र ज्ञाने द्वित्वं प्रकारः, अन्यत्र तु नेत्यपि विनिगन्तुं शक्यम्; विजातीयज्ञानविषयत्वसंबन्धेन स्वविशिष्टस्वप्रकारतया बुद्धेर्द्वैरूप्योपपादनमप्युभयत्र तुल्ययोगक्षेमम् । एकत्राऽपि च घटे नीलत्वघटत्वाभ्यां द्वित्वमनुभूयत एव,अनुभूयते एव चैते वृक्षा वनमिति बहुत्वाऽवच्छिन्नेऽपि केनचिदुपाधिना एकाकारत्वमिति स्वसामग्रीप्रभवैकत्वद्वित्वानन्तपर्यायोपेतद्रव्य एवापेक्षाबुद्धिहेतोरपेक्षाऽऽत्मकभावपथा क्षयोपशमं कदाचिदेकत्वप्रकारकं कदाचिच्च द्वित्वाऽऽदिप्रकारकं ज्ञानं जायते,इत्यपेक्षाबुद्धिगम्यत्वमेव द्वित्वाऽऽदेर्युक्तम् । अत एव नयरूपत्वादस्या नयान्तरसंयोजनया सप्तभङ्गीरीतिरपि संगता । यादृशविषयताविशिष्टाया अपेक्षाबुद्धेः परैर्जनकत्वं व्यञ्जकत्वं वा स्वीक्रियते, तादृशविषयतानिरूपितापेक्षात्वाऽऽख्यविषयता द्वित्वाऽऽदौ नाऽस्माकमसुलभा । सामान्यविशेषत्वाऽऽदेरापेक्षिकत्वेऽपीयमेव रीतिरनुसर्तव्या । न चैवमनपेक्षैकत्वद्वित्वाऽऽदिप्रत्ययाऽनुपपत्तिः,द्रव्यनयावलम्बनेनानपेक्षाऽऽत्मकविषयतान्तरस्याऽपि स्वीकारात् । अत एव सापेक्षत्वमपि स्याद्वादः, अस्मदुक्तपक्ष एवापेक्षाबुद्धिद्वित्वबुद्ध्योः पौर्वापर्यानवभासोपपत्तिः, अनन्तकार्यकारणभावप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाऽऽदिकल्पनागौरवदूषणानवकाशश्चेति सर्वमवदातम् ।

(७) तस्मात्स्वसमये परसमये एकत्वद्वित्वाऽऽदिप्रकारकनानाविधलौकिकव्यवहारे च नयापेक्षयैव विविक्तो बोध इति स्थितम् । फलितमाह-

तेन सापेक्षभावेषु, प्रतीत्यवचनं नयः ।
भावाभावरूपत्वात्, सापेक्षत्वं विधावपि ॥ ५ ॥

(तेनेति) तेनोक्तहेतुना सापेक्षत्वभावेषु परस्परप्रतियोगिषु धर्मेषु प्रतीत्यवचनमपेक्षाऽऽत्मकं वाक्यं नय इति सिद्धम् । नन्वेवं घटाभावोऽस्त्येवेत्येकवचनं नयः स्यात्, न तु स्यादस्त्येवेति; तदर्थस्य विधेरप्रतियोगिकत्वात् । अत एवाऽऽह-विधावपि-अस्तित्वाऽऽदिभावेऽपि, भावाभावरूपत्वान्नास्तित्वाऽऽद्यभावरूपस्यापि तेन रूपेण प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणतया सापेक्षत्वमस्त्येव ।

अयं भावः-अभावज्ञानेऽपि न सर्वत्र प्रतियोगिज्ञानापेक्षा,प्रतियोगिज्ञानं विनाऽपीदमस्त्वप्रमेयत्वाऽऽदिनानाभावभानस्य सार्वजनीनत्वात् । घटाभावत्वाऽऽदिना घटाऽभावाऽऽदिज्ञाने घटज्ञानाऽऽद्यपेक्षाप्रतियोगिनिरूपणेन तेषां सप्रतियोगिकत्वं ग्रहीष्यते, तर्हि नास्तित्वाभावत्वाऽऽदिनाऽस्तित्वाऽऽदीनां तेन रूपेण तथात्वे तुल्यमभावाभावः प्रतियोग्येवेति परेषामपि मूलसिद्धान्तात् संयोगाऽऽद्यावेव विशेषणतात्वकल्पनया निर्वाहेण नास्तीति प्रतीतिबलादतिरिक्त एव स इति नव्यमतनिर्युक्तिकत्वात् । तस्मात्स्वरूपतोऽभावाभावत्वयोरपि निष्प्रतियोगिकत्वं, विशिष्टतया तु द्वयोरपि सप्रतियोगिकत्वमिति स्याद्वाद एव श्रेयान् । अथ निष्प्रतियोगिकाभावपक्षे प्रतियोगिज्ञानस्याऽभावं प्रत्यहेतुत्वे विना प्रतियोगिज्ञानेनेत्याकारकप्रत्ययाऽऽपत्तिः । न चाभावत्वस्याऽखण्डस्येन ग्रहादापादकाभावः प्रथममभावाभावत्वयोर्निर्विकल्पकेऽभाव इत्याकारकप्रत्यक्षाऽऽपत्तेर्दुर्वारत्वादिन्द्रियस्य चक्षुस्त्वगादिभेदभिन्नत्वेन महागौरवम् । न च पृथक्प्रतियोगिधीहेतुत्वेऽपि नेत्याकारकप्रत्यक्षाऽऽपत्तिः, उपस्थितस्य प्रतियोगिनोऽभावे वैशिष्ट्यभाने बाधकाभावात् । न चाऽभावो न घटीय इत्यादिबाधधीदशायां तदापत्तिः, अभावत्वावच्छेदेनाभावे तादृशबाधधिय आहार्यत्वात्, अभावत्वसामानाधिकरण्येन च तद्दशायामपि प्रतियोगिवैशिष्ट्यभानसंभवात् । यद्वा-घटत्वाऽऽद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावविषयताकस्य प्रत्यक्षे घटाऽऽदिधियो हेतुत्वम्, अन्यथा घटाऽऽद्यभाव इत्याकारकप्रत्यक्षं च न जायते, निखिलप्रतियोगिज्ञानकार्यताऽवच्छेदकाऽऽक्रान्तदृशप्रत्यक्षे यत्किञ्चित्प्रतियोगिज्ञानं असंभवात्, यावत्प्रतियोगिज्ञानस्य चाऽसंभवात्, अभावत्वांशे निर्विकल्पकत्व, भावांशे यत्किञ्चित्प्रतियोगिविशिष्टविषयत्वाद् यत्किञ्चित्प्रतियोगित्वात् साध्यमेवेति नानुपपत्तिरिति चेत् । न । प्रतियोगिज्ञानाभावेऽप्यभावत्वमात्रेण प्रत्यक्षस्येष्टत्वात्, शून्यमिदं दृश्यते इत्यादिप्रत्ययात् तत्सामग्र्यभावत्वस्य भावभेदस्य पिशाचाऽऽदिभेदवद् योग्यस्य घटो नाऽस्तीत्यादौ स्वरूपतो भानमिति प्राचां वचनस्योपपत्तेः । न नूत्नेस्तु प्रतियोगिवाचकपदनियतो न सार्वत्रिकः । किञ्च-उक्तरीत्या प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वे केवलाऽभावत्वनिर्विकल्पकाऽऽपत्तिः, अभावत्वस्याखण्डत्वात् । अन्यथाऽभावविशिष्टबुद्धावपि तन्निर्विकल्पकायोगात् । अपि च-घटपटौ नेत्यादि प्रत्यक्षं घटज्ञानपटज्ञानाऽऽदिकार्यताऽवच्छेदकाऽनाऽऽक्रान्ततया तद्विरहेऽपि स्यात्, तस्माद् घटपटत्वाऽऽद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविषयताकप्रत्यक्षत्वमेव लाघवाद् घटाऽऽदिधीकार्यताऽवच्छेदकं युक्तमिति घटाऽस्तित्वनास्तित्वयोः सप्रतियोगिताऽप्रतियोगिकत्वे तुल्ययोगक्षेमे; त्वदुक्तहेतुसत्त्वेऽपि लाघवाद् भावांशत्यागेन केवलाऽभावस्येव केवलभावस्याऽपि न भानमिति वक्तुं शक्यत्वात्, निर्विकल्पके प्रमाणाभावात् क्षयोपशमविशेषेणैव सन्निविशिष्टज्ञानोपपत्तौ तस्य तदकल्पकत्वात् । अत एव "द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः । क कदा केन किंरूपाः, दृष्टा मानेन केन वा ? " ॥१॥ इत्यस्मत्संप्रदायवृद्धाः संगिरन्ते । शुद्धाभावप्रत्यक्षप्रतियोगितासंबन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितभावविषयताकप्रत्यक्ष एव विशेषणतया हेतुत्वात्त भवतोऽप्यपि रिक्तं वचः; प्रतियोगितामात्रेण रूपं नास्ति, मेयं नास्तीत्यादे-

रापत्तेः; प्रकारीभूतकिञ्चिद्धर्मावच्छिन्नस्यैव प्रतियोगितायिशेषणेऽपि न निस्तारः, घटाऽभावपटाऽभावयोरुभयोः संनिकर्षे घटाऽभावांशे प्रतियोगिविशेषितस्य पटाभावांशे च तदविशेषितस्य समूहाऽऽलम्बनस्य प्रमाणात् । किञ्चैवमिदन्त्वादिनाऽभावप्रत्यक्षं न स्यात्, न स्याद्वाऽभावप्रतियोगिघट इत्याद्याकारं, तादृशप्रत्यक्षेष्वपि पृथक्कारणत्वकल्पने चाऽतिगौरवम् । तस्मात्सन्निकर्षमात्रस्यैव किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नविषयतानिरूपितविषयताकप्रत्यक्षत्वाऽवच्छिन्ने, विशिष्टाऽऽकारप्रत्यक्षत्वाऽवच्छिन्ने वा हेतुत्वम् । अतो नापायमात्रस्य विचारजन्यचरमशुद्धद्रव्योपयोगित्वमुच्यतेति भावांशेऽभावांशे वा न शुद्धविषयकं प्रत्यक्षमित्यभाव एव सापेक्षो, न भाव इति किमिदमर्धजरतीयम् । एतेनाऽभावलौकिकप्रत्यक्षस्य घटाऽऽद्यन्यतमविशिष्टविषयकत्वनियमाद्विशेषसामग्रीं विना सामान्यसामग्रीमात्रात् कार्यानुत्पत्तेर्भावनिर्विकल्पकं, नैस्याकारकप्रत्यक्षं वा; विशेषणाऽऽदिज्ञानरूपविशेषसामग्र्यभावात्। न चाऽभावलौकिकप्रत्यक्षत्वघटत्वाऽऽदिविशिष्टविषयकप्रत्यक्षत्वयोर्व्याप्यव्यापकभावाऽभावात्कथं विशेषसामग्रीत्वमिति वाच्यम्, कार्यताऽवच्छेदकीभूतधर्माऽऽश्रययत्किञ्चिद्व्यक्तिनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताऽवच्छेदकधर्मवत्त्वस्य तद्धर्मावच्छिन्नसामग्रीत्वाद्वश्यं कार्यतद्धर्मावच्छिन्नोत्पत्तिरित्येव नियमात्, तद्धर्मव्याप्यधर्माऽवच्छिन्नयत्किञ्चिद्व्यक्तिनिष्ठकार्यतानिरूपितेत्यादावुक्तौ व्याप्तिज्ञानपरामर्शयोः सत्त्वे बाधधीसत्त्वेऽप्यनुमित्यापत्तौ [सद्धर्म] तद्धर्मव्याप्यव्यापकधर्माऽवच्छिन्नयत्किञ्चिद्व्यक्तिनिष्ठकार्यतानिरूपितेत्यादावुक्तौ गौरवात् । घटत्वाऽऽदिविशिष्टवैशिष्ट्यविषयकप्रत्यक्षत्वस्याऽभावलौकिकप्रत्यक्षत्वव्याप्यत्वाद्भावालौकिकप्रत्यक्षत्वव्याप्यतत्तद्भावलौकिकप्रत्यक्षत्वव्यापकत्वात्प्रकृतासिद्धेरित्यादि नव्यकल्पनाऽपि निरस्ता । एवं सति द्रव्यविषयकप्रत्यक्षस्य, वस्तुविषयकप्रत्यक्षस्य वा यत्किञ्चित्पर्यायसिद्धिनिर्णायविषयकत्वनियमेन भावनिर्विकल्पकस्य शुद्धभावप्रत्यक्षस्याऽपि चाऽसंभवात्। अत एव सविचारया सामान्यदृष्ट्या सर्वं निर्विकल्पकम्, विशेषदृष्ट्या च सर्वं सविकल्पकमित्यनेकान्तः पुरुषदृष्टान्तेन सम्मतौ प्रतिपादितः ।

तथाहि-

"वंजणपज्जायस्स उ, पुरिसो पुरिसो त्ति निच्चमविअप्पो ।
बालाऽऽइवियप्पं पुण, पासइ से अत्थपज्जाओ ॥ ३४ ॥
सवियप्प णिव्वियप्पं, इय पुरिसं जो भणेज्ज अवियप्पं ।
सवियप्पमेव वा णि-च्छएण ण य णिच्छिओ समए ॥३५॥"

व्याख्या-व्यञ्जयति व्यनक्ति अर्थानिति व्यञ्जनं शब्दः, न पुनः शब्दनयः, तस्य ऋजुसूत्रसमानपर्यायविषयत्वात् । तस्य पर्यायो वाच्यता तद्ग्राहकनयेन पुरुषः पुरुष इति पुरुषत्वप्रकारकज्ञानविषय इति नित्यमाजन्मनो मरणान्तं यावदविकल्पः पुरुषत्वाऽतिरिक्तप्रकारकज्ञानाविषयः। इदमुपलक्षणम्-द्रव्यवस्तुत्वाऽऽदिनाऽप्यविकल्पत्वस्य शुद्धद्रव्योपयोगे तु पदद्वयस्य निर्धर्मकत्वलक्षणया शुद्धधर्मिविषयकभानविषयत्वमेवाविकल्पकत्वं द्रष्टव्यम् । 'से' तस्य पुरुषस्याऽर्थपर्याय ऋजुसूत्राद्यर्थग्राहकनयः पुनर्बालाऽऽदिविकल्पमेव वा, निश्चयमविकल्पं स्यात्काराऽङ्कितदुर्नयपदघटितमहावाक्यवाच्यरूपपुरुषद्रव्यं यो भणेद्-अविकल्पमेव सविकल्पमेव वा निश्चयनैकान्तेन स्वसमये परमार्थे न निश्चितः-निश्चयो निश्चितं तदस्यास्तीति निश्चितः, अर्श आदित्वादच्प्रत्ययो, न तद्भ्यस्येत्यर्थः । दुर्नयाभिनिवेशान्मयक्त्वाद्वा संपूर्णानेकान्तवस्तुस्वरूपापरिच्छेदादिति रहस्यम् ॥ तदेवं निषेधवद् विधावपि पदार्थे प्रतिपादितम्। एवं स्वद्रव्याऽऽद्यपेक्षया सत् परद्रव्याऽऽद्यपेक्षयाऽसत् इति तृतीयोऽङ्किव्यभावावच्छेदकप्रतीत्याऽपि सापेक्षत्वं भावनीयम् । अत एव पदेऽपि व्याप्यवृत्त्यव्याप्यवृत्तावेव प्रतीतिबलात् तत्तदवच्छिन्नवृत्तिकल्पनं स्वीकुर्वते इति दिक् । नयो० । रत्ना० ।

(७) सामान्यविशेषः। एवं निर्विकल्पसविकल्पस्वरूपे प्रतिपादिते पुरुषाऽऽदिवस्तुनि तद्विपर्ययेण तद्वस्तु प्रतिपादयन् वस्तुस्वरूपानवबोधस्वात्मनि ख्यापयतीति दर्शनार्थमाह-

सविअप्पणिव्विअप्पं, इय पुरिसं जो भणेज्ज अविअप्पं ।
सविअप्पमेव वा णि-च्छएण ण य निच्छिओ समए ॥३५॥

सविकल्पनिर्विकल्पं स्यात्कारपदलाञ्छितं पुरुषं द्रव्यं यः प्रतिपादकस्तद्वस्तु ब्रूयादविकल्पमेव सविकल्पमेव वा, निश्चयेनैत्यवधारणेन, स यथाऽवस्थितवस्तुप्रतिपादने प्रवृत्तेऽन्यथाभूतं वस्तुतत्त्वं प्रतिपादयन्न निश्चित इति निश्चितं तदस्यास्तीति निश्चितः, अर्श आदित्वादच्। समये परमार्थिनो वस्तुसत्त्वस्य परिच्छेत्तेति यावत् । तथाहि-प्रमाणपरिच्छिन्नं तथैव बाधविसंवादि वस्तु प्रतिपादयन् वस्तुनः प्रतिपादक इत्युच्यते। न च तथाभूतं वस्तु केनचित्कदाचित् प्रतिपन्नं प्राप्यते वा, येन तथाभूतं तद्वचस्तत्र प्रमाणं भवेत्; तथाभूतवचनाभिधानात् । न चाप्रमाणतया लोके व्यपदेशमासादयेत् ।

परस्परकान्तभेदाभेदाऽऽत्मकस्य वस्तुनः सदसद्भावमभिधायकस्य वचसः पुरुषस्याऽपि तदभिधानद्वारेण सम्यग् मिथ्यावादित्वं प्रतिपाद्याधुना भावविषयं तत्रैवैकान्तानेकान्ताऽऽत्मकमंशं प्रतिपादयतो विवक्षया सुनयदुर्नयप्रमाणरूपतां तत्प्रतिपादकं वचो यथाऽनुभवति, तथा प्रपञ्चतः प्रतिपादयितुमाह । यद्वा-यथैव तद्वस्तु व्यवस्थितं तथैव वचनात्प्रतिपादयतो निपुणत्वं भवति । अन्यथा साङ्ख्यबौद्धकणभुजामिव भिन्नाभिन्नपरस्परनिरपेक्षोभयवस्तुस्वरूपाभिधानाद्वा-वस्तुधर्ममर्हन्मतानुसारिणामपि स्याद्वस्त्यादिसप्तविकल्परूपतामनापन्नवचनलक्षणस्यात्कारपदलाञ्छितवस्तुधर्मप्रतिपादयतामनिपुणता भवेदिति प्रपञ्चतः सप्तविकल्पोत्थानिमित्तमुपदर्शयितुं गाथासमूहमाह-

अत्थंतरभूएहि अ, नियएहि य दोहि समयमाईहिं ।
वयणविसेसाऽऽईयं, दव्वमवत्तव्वयं पडइ ॥ ३६ ॥

अस्याक्षरगमनिकाऽर्थः-अर्थान्तरभूतः पटाऽऽदिः, निजो घटः, ताभ्यां भिन्नार्थान्तरभूताभ्यां सदसत्त्वं घटवस्तुनः प्रथमद्वितीयभङ्गनिमित्तं प्रधानगुणभावेन भवतीति प्रथमद्वितीयौ भङ्गौ । यदा तु द्वाभ्यामपि युगपत्सदसत्त्वाभिधानमभीष्टं भवति, तदाऽवक्तव्यभङ्गनिमित्तं तथाभूतस्य वस्तुनोऽभावात् तत्प्रतिपादकवचनातीतत्वात् तृतीयभङ्गसद्भावो, वचनस्य वा तथाभूतस्याभावादवक्तव्यं वस्तु । तथाहि-प्रसरत्वोपसर्जनसत्त्वप्रतिपादने प्रथमो भङ्गः, तद्विपर्ययेण तत्प्रतिपादने द्वितीयः, द्वयोस्तु धर्मयोः प्राधान्येन गुणभावेन च प्रतिपादने न किञ्चिद्वचः समर्थं, यतो न तावत्समासवचनं तत्प्रतिपादकम्; नापि वाक्यं संभवति । समासः षड्विधः । तावन्न बहुव्रीहिस्तत्र समर्थः, तस्याऽन्यपदार्थप्रधानत्वात्, अत्र चोभयप्रधानत्वात् । अव्ययीभावोऽपि नात्र प्रवर्त्तते, तदर्थाभावेऽसंभवात् । द्वन्द्वसमासे तु यद्यप्युभयपद-

प्राधान्यं, तथाऽपि द्रव्यवृत्तित्वाच्च प्रकृतार्थप्रतिपादकः, गुणवृत्तिरपि द्रव्याऽऽश्रितगुणप्रतिपादको, द्रव्यमन्तरेण गुणानां तेषु स्नानादिक्रियाऽऽधारत्वासंभवात्तस्या द्रव्याऽऽश्रितत्वात् न प्रधानाऽऽश्रितयोर्गुणयोः प्रतिपादकत्वम्। तत्पुरुषोऽपि नाऽत्र विषये प्रवर्तते, तस्याऽप्युत्तरपदार्थप्रधानत्वात्। नाऽपि द्विगुः, संख्यावाचिपूर्वपदत्वात्तस्य। कर्मधारयोऽपि न, गुणाऽऽधारद्रव्याऽऽश्रयत्वात्। न च समासान्तरसद्भावः, येन युगपद्गुणद्वयं प्रधानभावेन समासपदवाच्यं स्यात्। अत एव न वाक्यमपि तथाभूतगुणद्वयप्रतिपादकं संभवति, तस्यापि पृथग्भिन्नार्थत्वात्। न च केवलं पदं वाक्यं वा लोकप्रसिद्धम्, तस्याऽपि परस्परापेक्षद्रव्याऽऽदिविषयतया तथाभूतार्थप्रतिपादकत्वायोगात्। न च-"तौ सत्" ॥३।२।१२७॥ (पाणि०) इति शतृशानचोरिव साङ्केतिकपदवाच्यत्वम्, विकल्पप्रभवशब्दवाच्यत्वप्रसक्तेः, विकल्पानां च युगपदप्रवृत्तेर्नैकदा तयोस्तद्वाच्यतासंभवः, न च तेनार्थान्तरैकान्ताभ्युपगमेऽप्यर्थस्य वाच्यता, तथाभूतस्यात्यन्तासत्त्वात्, सर्वथा सत्त्वेऽनयोर्व्याप्तसत्त्वान्महासामान्यवद्घटार्थत्वानुपपत्तेः, अर्थान्तरत्वे पररूपादिव स्वरूपादपि व्यावृत्तौ खरविषाणवदसत्त्वादवाच्यतैव। न च घटत्वे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्ते विधिरूपे सिद्धे असंबद्ध एव अर्थान्तरत्वे पररूपादपि तत्र पटाऽऽद्यर्थप्रतिषेध इति वाच्यम्, पटाऽऽदेस्तत्राभावाभावत्वे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य घटत्वस्यैवासिद्धेः, शब्दानां चार्थज्ञापकत्वं न कारकत्वमिति तथाभूतार्थप्रकाशेन तथाभूतेन शब्देन विधेयमिति नासंबद्धस्तत्र पटाऽऽद्यर्थप्रतिषेधः। अथवा-सर्वं सर्वाऽऽत्मकमिति सांख्यमतव्यवच्छेदार्थं तत्प्रतिषेधो विधीयते, तत्र तस्य प्रतीत्यभावात्। यद्वा-नामस्थापनाद्रव्यभावाभिधेषु विधित्सिताविधित्सितप्रकारेण प्रथमद्वितीयौ भङ्गौ, न च तत्प्रकाराभ्यां युगपद्वादिष्टोऽयम्, तथाऽभिधेयपरिणामरहितत्वात्तस्य, यतो यद्यपि विधित्सितरूपेणाऽपि घटः स्यात्, प्रतिनियतनामाऽऽदिभेदव्यवहाराभावप्रसक्तिः। तथा च विधित्सितस्याऽपि नाऽऽत्मलाभ इति सर्वाभाव एव भवेत्। तथा यद्यविधित्सितप्रकारेणाऽप्यघटः स्यात्, तदा तन्निबन्धनव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेरेव, एकपक्षाभ्युपगमेऽपि तदितराभावे तस्याप्यभाव इत्यपि वाच्यः। अथवा-स्वीकृतप्रतिनियतप्रकारे तत्रैव नामाऽऽदिके यः संस्थानाऽऽदिस्तत्स्वरूपेण घटः, इतरेण चाघट इति प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्तेरवाच्यः। विवक्षितसंस्थानाऽऽदिनेव यदीतरेणाऽपि, घटरूपानेकस्य सर्वघटाऽऽत्मकत्वप्रसक्तिः। अथ विवक्षितेन, अघटे पटाऽऽदाविव घटार्थिनस्तत्राऽप्यप्रवृत्तिप्रसक्तिः। एकान्ताभ्युपगमेऽपि तथाभूतस्य प्रमाणाऽविषयत्वेनाऽसत्त्वादवाच्यः॥३॥ यदि वा-स्वीकृतप्रतिनियतसंस्थानाऽऽदौ मध्यावस्थायां निजरूपम्, कुशूलकपालाऽऽदिलक्षणे पूर्वोत्तराऽवस्थेऽर्थान्तररूपम्, ताभ्यां सदसत्त्वे प्रथमद्वितीयौ, युगपत्ताभ्यामभिधातुमसामर्थ्यादवाच्यलक्षणस्तृतीयो भङ्गः। तथाहि-मध्यावस्थावदितरावस्थायामपि यदि घटः स्यात्तस्यानाऽऽद्यनन्तत्वप्रसक्तिः। अथ मध्यावस्थारूपेणाऽप्यघटः, सर्वदा घटाभावप्रसक्तिः। अतीतानागतवर्तमानक्षणरूपतया सदसत्त्वात् प्रथमद्वितीयभङ्गौ, ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्तेरवाच्यलक्षणस्तृतीयः। तथाहि-यदि वर्तमानक्षणवत्पूर्वोत्तरक्षणयोरपि घटः स्याद्वर्तमानक्षणत्वमेवाऽसौ भजेत्, पूर्वोत्तरयोर्वर्तमानताप्राप्तेः। न च वर्तमानक्षणमात्रमपि, पूर्वोत्तरापेक्षस्य तदभावेऽभावात्। अथाऽतीतानागतवर्तमानक्षणरूपतयाऽप्यघटः, एवं सति सर्वदा तस्याभावप्रसक्तिः, एकान्तपक्षेऽप्ययमेव दोष इत्यभावादेवावाच्यः॥५॥ यद्वा-क्षणपरिणतिरूपे घटे लोचनजप्रतिपत्तिविषयत्वाभ्यां निजार्थान्तरभूताभ्यां सदसत्त्वात् प्रथमद्वितीयौ भङ्गौ, ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्योऽवाच्यः। तथाहि-लोचनजप्रतिपत्तिविषयत्वेनेव यदीन्द्रियान्तरजप्रतिपत्तिविषयत्वेनाऽपि घटः स्यादिन्द्रियान्तरकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तिः, इन्द्रियसङ्करप्रसक्तिश्च। अथेन्द्रियान्तरजप्रतिपत्तिविषयत्वेनेव चक्षुर्जप्रतिपत्तिविषयत्वेनापि न घटः, तर्हि तस्याऽरूपत्वप्रसक्तिरेकान्तवादेऽपि तदितराभावे तस्याप्यभावादवाच्य एव। अथ वा-लोचनजप्रतिपत्तिविषये तस्मिन्नेव घटे घटशब्दवाच्यता निजं रूपं, कुटशब्दाभिधेयत्वमर्थान्तरभूतं रूपं, ताभ्यां प्रथमद्वितीयौ, युगपत्ताभ्यामभिधातुमिष्टोऽवाच्यः। यदि हि घटशब्दवाच्यत्वेनेव कुटशब्दवाच्यत्वेनापि घटः स्यात्तर्हि त्रिजगत एकशब्दवाच्यताप्रसक्तिः, घटस्य वाऽशेषपटाऽऽदिशब्दवाच्यत्वप्रतिपत्तौ समस्ततद्वाचकशब्दप्रतिपत्तिप्रसङ्गश्च। तथा घटशब्देनाऽपि यद्यवाच्यः स्यात्, घटशब्दोच्चारणवैयर्थ्यप्रसक्तिः। एकान्ताभ्युपगमेऽपि घटस्यैव सत्त्वात्सङ्केतद्वारेणाऽपि न तद्वाचकः कश्चिच्छब्द इत्यवाच्य एव। अथवा-घटशब्दाभिधेये तत्रैव घटे हेयोपादेयान्तरबहिरङ्गोपयोगायोगरूपतया सदसत्त्वात्प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः। यदि हि हेयबहिरङ्गानर्थक्रियाकार्यसन्निहितरूपेणार्थक्रियाक्षमाऽऽदिरूपेणेव घटः स्यात्, तदा पटाऽऽदीनामपि घटत्वप्रसक्तिः, तर्हि घटोपादेयसन्निहिताऽऽदिरूपेणाप्यघटः स्यात्। अन्तरङ्गस्य वक्त्रगतहेतुफलभूतघटाकारावबोधकत्वे तस्योपयोगस्याऽप्यभावे घटस्याऽप्यभावप्रसङ्ग इत्यवाच्यः, एकान्ताभ्युपगमेऽप्ययमेव प्रसङ्ग इत्यवाच्यः। अथवा-तत्रैवोपयोगरूपेऽर्थावबोधकत्वानभिमतार्थाऽनवबोधकत्वेन सदसत्त्वात् प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः, विवक्षितार्थप्रतिपादकत्वेनेवेतरेणाऽपि यदि घटः स्यात्प्रतिनियतोपयोगाभावः, तथाऽभ्युपगमे प्रतिनियतरूपोपयोगप्रतिपत्तिश्च न भवेत्। तदुपयोगरूपेणापि यद्यघटो भवेत्, तदा सर्वाभावो, विशेषप्रसङ्गो वा। न चैवम्, तथाऽप्रतीतेः; एकान्तपक्षेऽप्ययमेव प्रसङ्ग इत्यवाच्यः॥९॥ अथवा सत्त्वमसत्त्वं वाऽर्थान्तरभूतं, निजं घटत्वं, ताभ्यां प्रथमद्वितीयावभेदेन, ताभ्यामनिर्दिष्टो घटोऽवक्तव्यो भवति। तथाहि-यदि सत्त्वमासाद्य घटत्वं विधीयते तदा सत्त्वस्य घटत्वव्याप्तेर्घटस्य सर्वगतत्वप्रसङ्गः, तथाऽभ्युपगमे प्रतिभासबाध्यव्यवहारविलोपश्च। तथा-असत्त्वमर्थमनूद्य यदि घटत्वं विधीयते, तर्हि प्रागभावाऽऽदेश्चतुर्विधस्याऽपि घटेन व्याप्तेरघटत्वप्रसङ्गः, अघटत्वमनूद्य सत्त्वं विधीयते तदा घटत्वं सदसत्त्वे प्रसज्येत। तथा च-घटाऽऽदीनां प्रागभावाऽऽदीनां वा भावप्रसक्तिरिति प्राक्तनन्यायेन विशेषणविशेष्यलोपात्स न घट इत्येवमवक्तव्योऽघट इत्येवमप्यवक्तव्यः; न चैनसो वाच्यः, अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवाच्य इति न कश्चिद्दोषः॥१०॥ यद्वा व्यञ्जनपर्यायोऽर्थान्तरभूतस्तद्गताविषयत्वात्तस्य घटार्थपर्यायस्यान्यथाप्रवृत्तेर्निजः, ताभ्यां प्रथमद्वितीयाभ्यां भेदेन ताभ्यां निर्देशो वक्तव्यः, यतोऽत्रापि यदि व्यञ्जनमस्तं घटपर्यायविधिः, तदा तस्याऽशेषघटाऽऽत्मकताप्रसक्तिरिति भेदनिबन्धनतद्व्यवहारविलोपः। अथाऽर्थपर्यायमनूद्य व्यञ्जनपर्यायविधिः, तथापि कार्यकारणव्यतिरेकाभावप्रसक्तिः, सिद्धविशेषानुवादेन घटत्वसामान्य-

विधाने तस्याकार्यत्वात् । एवं च घटस्याभावादवाच्यः, अनेकान्तपक्षेऽपि युगपदभिधातुमशक्यत्वात् कथञ्चिदवाच्यः सिद्धः ॥११॥ यद्वा-सर्वमर्थान्तरभूतं,तस्य विशेषवदेकत्वादनन्यार्थरूपता,अत एव न सम्बन्धाभावमन्याविशेषवत्,अन्यार्थविशेषस्तु भिन्नः सोऽप्यवाच्यः, असम्भवात् । प्रत्येकमवक्तव्याभ्यां ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवक्तव्यः । अथवा-सद्भूतरूपाः सत्त्वाऽऽदयो घट इत्यत्र दर्शने अर्थान्तरभूताः सत्त्वाऽऽदयो भिन्नसद्भूतरूपत्वाभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, यतः सद्भूतरूपस्य सत्त्वरजस्तमःस्वरूपत्वे रजस्तमसामभावप्रसक्तिः, तेषां परवैलक्षण्येनैव सत्त्वासद्भूतरूपत्वे च वैलक्षण्याभावादभाव इति विशेष्याभावादवाच्यः । असत्त्वे त्वसत्कार्योत्पादप्रसङ्गः । न चैतदभ्युपगम्यते,अभ्युपगमेऽपि विशेषणाभावादवाच्यः। अथैवं रूपाऽऽदयोऽर्थान्तरभूता असद्भूतरूपमेवं भिन्नं,ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्यः,यथा ह्यरूपाऽऽदिव्यावृत्ता रूपाऽऽदयः,त एव च रूपाऽऽदीनां घटतामवाच्याः,रूपाऽऽदित्वाद् घटस्य,न हि परस्परविलक्षणबुद्धिग्राह्या रूपाऽऽदय एकानेकाऽऽत्मकप्रत्ययग्राह्यरूपाऽऽदिरूपघटतां प्रतिपद्यन्ते, इयं घटता अवाच्यरूपाऽऽदित्वाद् घटस्य न हि परस्परविलक्षणेति विशेष्यासंपादवाच्यः। यदि वा-रूपाऽऽदयोऽर्थान्तरभूताः, असद्भूतार्थो भिन्नः, ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, रूपाऽऽद्यात्मकैकाभासप्रत्ययविषयव्यतिरेकेणापरसंबन्धाभ्युपगमेर्विशेष्याभावाद्रूपाऽऽदिमान् घट इत्यबाह्यगतैकाकारप्रतिभासाद् व्यतिरेकेणापररूपाऽऽदिप्रतिभास इति विशेषणाभावादप्यवाच्यः, अनेकान्ते तु कथञ्चिदवाच्यः ॥ १५ ॥ अथवा-बाह्योऽर्थान्तरभूतः,उपयोगस्तु भिन्नः,ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्यः । तथाहि-य उपयोगः स घट इति यद्युपेतः,तदुपयोगमात्रकमेव घट इति सर्वोपयोगस्य घटत्वप्रसक्तिरिति प्रतिनियतस्वरूपाभावादवाच्यः । अथाऽयं घटस्य उपयोग इत्युच्यते, तथाऽप्युपयोगस्यार्थत्वप्रसक्तिरित्युपयोगाभावे घटस्याऽप्यभावः, ततश्च कथञ्चिदवाच्यः ॥ १६ ॥ एते च त्रयो भङ्गा गुणप्रधानभावेन सकलधर्माऽऽत्मकैकवस्तुप्रतिपादकाः स्वयं तथाभूताः सन्तो निरवयवप्रतिपत्तिद्वारेण सकलादेशाः । वक्ष्यमाणास्तु चत्वारः सावयवप्रतिपत्तिद्वारेणाशेषधर्माऽऽक्रान्तं वस्तु प्रतिपादयन्तोऽपि विकलादेशा इति केचित्प्रतिपन्नाः । वाक्यं च सर्वमेकानेकाऽऽत्मकं तस्याभिधेयमपि तथाभूतमवबोधयति,यतो न तावन्निरवयवेन वाक्येन वस्तुस्वरूपाभिधानं संभवति । अनन्तधर्माऽऽक्रान्तैकाऽऽत्मकत्वाद्वस्तुनो निरवयववाक्यस्य चैकस्वभाववस्तुविषयत्वात्तथाभूतस्य च वस्तुनोऽसंभवान्निरवयवस्य तस्य वाक्यमभिधायकम्,नाऽपि सावयवं वाक्यं वस्त्वभिधायकं संभवति; वस्तुन एकत्वात् । न च वस्तुनो व्यतिरिक्तास्तद्देशाः, तद्व्यतिरेकेण तेषामप्रतीतेरेकस्वरूपव्याप्त्याऽनेकांशप्रतिभासः,न च तदेकाऽऽत्मकमेव,अनेकांशानुरक्तस्यैवैकाऽऽत्मनः प्रतिभासनात्,अतो वस्तुन एकानेकस्वभावत्वात्तथाभूतवस्त्वभिधायकाः शब्दा अपि तथाभूता एव,नैकान्ततः सावयवाः,उत नैकान्ततो निरवयवरूपा वा;तत्र विवक्षाकृतप्रधानभावः सदेकधर्माऽऽत्मकत्वापेक्षितोऽपराशेषधर्मकोडीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्यात्कारपदलाञ्छितवाक्यताप्रतीतेः,स्यादस्ति घटः, स्यान्नाऽस्ति घटः,स्यादवक्तव्यो घटः,इत्येते त्रयो भङ्गा इति सकलादेशाः। विवक्षाविरचिताद्विविधधर्मानुरक्तस्य स्यात्कारपदसंसूचितसकलधर्मस्वभावस्य धर्मिणो वाक्यार्थरूपस्य प्रतिपत्तेश्चत्वारो वक्ष्यमाणका विकलादेशाः-स्यादस्ति च नास्ति घट इति प्रथमो विकलाऽऽदेशः, स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च घट इति द्वितीयः, स्यान्नास्ति चाऽवक्तव्यश्च घट इति तृतीयः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति चतुर्थः । एत एव सप्त भङ्गाः स्यात्पदलाञ्छनविरहिणोऽवधारणैकस्वभावा विषयाभावतो दुर्नया भवन्ति । धर्मान्तरोपादानप्रतिषेधाकरणात् स्वार्थमात्रप्रतिपादनप्रवणा एत एव सुनयरूपतामासादयन्ति;स्यात्पदलाञ्छनविवक्षितैकधर्मावधारणवशाद्वा सुनयाः । द्रव्यादेरेकदेशस्य व्यवहारनिबन्धनत्वेन विवक्षितत्वाद् धर्मान्तरस्य वा निषिद्धत्वादतः स्यादस्तीत्यादिप्रमाणमस्त्येवेत्यादिर्दुर्नयः, अस्तीत्यादिकः सुनयः ।

नन्‌ संव्यवहारात् स्यादस्त्येवेत्यादिः सुनय एव व्यवहारकारणम्, स्वपरव्यावृत्तवस्तुविषयप्रवर्त्तकवाक्यव्यवहारकारणत्वात्, अन्यथाऽतद्योगाद्वैवं निरवयववाक्यस्वरूपं दर्शयितुमाह-

अह देसो सब्भावे, देसोऽसब्भावपज्जवे णियओ ।
तं दवियमत्थि नात्थि य, आएसविसेसियं जम्हा ॥३७॥

(अथेति) यदा देशो वस्तुनोऽवयवसद्भावेऽस्तित्वे नियतः सत्त्वेनायमित्येवं निश्चितोऽपरश्च देशोऽसद्भावे एव पर्याये नास्तित्व एव नियतोऽसत्त्वेनायमित्यवगमः; अवयवेभ्योऽवयविनः कथञ्चिदभेदादवयवधर्मैस्तस्याऽपि तथाव्यपदेशो यथा कुण्ठो देवदत्त इति; ततोऽवयवसत्त्वासत्त्वाभ्यामवयव्यपि सन्न संभवति । ततस्तद् द्रव्यमस्ति च नास्ति चेति भवत्युभयप्रधानावयवभागेन विशेषितं यस्मात् । तथाहि-यदवयवो न विशिष्टधर्मिणोऽस्ति, परद्रव्याऽऽदिरूपेण च स एव नाऽस्ति। तथा च पुरुषाऽऽदिवस्तुविवक्षितपर्यायेण बालाऽऽदिना परिणतं, कुमाराऽऽदिना वा परिणतमित्यादिष्टमिति योज्यम् ।

पूर्वभङ्गकप्रदर्शितन्यायेन पञ्चमभङ्गकप्रदर्शनमाह—

सब्भावे आइट्ठो, देसो देसो य उभयहा जस्स ।
तं अत्थि अवत्तव्वं, च होइ दविअं वियप्पवसा ॥३८॥

सद्भावेऽस्तित्वे यस्य वस्य संभवति घटाऽऽदेर्धर्मिणो देशो धर्म आदिष्टोऽवक्तव्यानुविद्धस्वभावः,अन्यथा तदसत्त्वात्,न ह्यपरधर्माप्रविभक्ततामन्तरेण विवक्षितधर्मास्तित्वमस्य संभवति । खरविषाणाऽऽदेरिव तस्यैवापरो देश उभयथाऽस्तित्वनास्तित्वप्रकाराभ्यामेकदैव विवक्षितोऽस्तित्वानुविद्ध एवावक्तव्यस्वभावः;अन्यथा तदसत्त्वप्रसक्तिः। न ह्यस्तित्वाभावे उभयानिर्दिष्टता शशशृङ्गाऽऽदेरिव तस्य संभवति, प्रथमतृतीयभङ्गकजन्मन्युदासस्तथाविवक्षावशात्कृतो द्रष्टव्यः, तत्र प्रथमतृतीययोर्भङ्गकयोः परस्पराविशेषणभूतयोः प्रतिपाद्यमाधिमन्तुमिष्टत्वात्, प्रतिपादकेनाऽपि तथैव विवक्षितत्वाद्, तत्र तु तद्विपर्ययाद्नकर्माऽऽत्मकस्य धर्मिणः प्रतिपाद्यानुरोधेन तथाभूतधर्माऽऽक्रान्तत्वेन च वक्तुमिष्टत्वात्तद्द्रव्यमस्ति चाऽवक्तव्यम्, तद्धर्मविकल्पनवशात् ।

धर्मयोस्तथापरिणतयोस्तथा व्यपदेशे धर्मोऽपि तद्द्वारेण तथैव व्यपदिश्यतेति षष्ठभङ्गकं दर्शयितुमाह-

आइट्ठोऽसब्भावे, देसो देसो अ उभयहा जस्स ।
तं णाऽत्थि अवत्तव्वं, च होइ दवियं वियप्पवसा ॥३९॥

आदेशान्तरेण विवक्षितधर्मास्तित्वमस्य न संभवति, यस्य वस्तुनो देशोऽसत्त्वे नियतोऽसत्त्वेनावाच्यत्वेनाऽनुविद्धोऽपरस्मादनुविद्ध उभयथा सत्त्वासत्त्वाभ्यां युगपन्नियतस्तदा तद्द्रव्यं नास्ति चावक्तव्यं च भवति, विकल्पवशात् व्यपदेशात् द्रव्यमपि तद्व्यपदेशमासादयति । केवलद्वितीयतृतीयभङ्गकव्युदासेन षष्ठभङ्गः प्रदर्शितः ।

सप्तमप्रदर्शनायाऽऽह-

सब्भावाऽसब्भावे, देसो देसो य उभयहा जस्स ।
तं अत्थि णत्थिऽवत्त-व्वयं च दवियं वियप्पवसा ॥४०॥

यस्य देशिनो देशोऽवयवो देशो धर्मो वा सद्भावे नियतो निश्चितोऽपरस्त्वसद्भावादभावेऽसत्त्वे, तृतीयश्चोभयथेत्येवं देशानां सदसत्त्वावक्तव्यः, व्यपदेशात्तदपि द्रव्यमस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च भवति, विकल्पवशात्; तथाभूतविशेषणाभ्यासितस्य द्रव्यस्यानेन प्रतिपादनादपरभङ्गव्युदासः । एते च परस्परकृपापेक्षया सप्तभङ्गाऽऽत्मकाः प्रत्येकं स्वार्थं प्रतियन्ति, नान्यथेति प्रत्येकं तत्समुदायो वा सप्तभङ्गाऽऽत्मकः प्रतिपाद्यमपि तथाभूतं दर्शयतीति व्यवस्थितमत्र चाऽऽद्यभङ्गकस्त्रिधा; द्वितीयोऽपि त्रिधैव; तृतीयो दशधा; चतुर्थोऽपि दशधैव; पञ्चमाऽऽदयस्तु त्रिंशदधिकशतपरिमाणाः । प्रत्येकं श्रीमन्मल्लवादिप्रभृतिभिर्दर्शिताः, पुनश्च षट्त्रिंशत्यधिकाः चतुर्दशशतपरिमाणास्त एव च द्व्यादिसंयोगकल्पनया कोटिशो भवन्तीत्यभिहितं तैरेव । अत्र तु ग्रन्थविस्तरभयात्तथा न प्रदर्शिताः, तत एवावधार्याः । अथानन्तधर्माऽऽत्मके वस्तुनि तत्प्रतिपादकवचनस्य सप्तधा कल्पनेऽष्टमवचनविकल्पपरिकल्पनमपि किं न क्रियते? इति न वक्तव्यम्, तत्परिकल्पननिमित्ताभावात् । तथाहि-नैतत्सत्त्वाऽसत्त्वाऽऽत्मकादपरं निमित्तं तत्परिकल्पयितुं युक्तम्, चतुर्थाऽऽदिवचनविकल्पेषु तस्यान्तर्भावप्रसक्तेः । नाऽपि निरवयवाऽऽत्मकमन्योन्यानिमित्तकं तत्परिकल्पनामर्हति, प्रथमाऽऽदिषु तत्पूर्वप्रसक्तेः। न च गत्यन्तरमस्तीति नाऽष्टमभङ्गपरिकल्पना युक्ता । किञ्चाऽसौ क्रमेण चोतधर्मद्वयं प्रतिपादयति, यौगपद्येन वा प्रथमपक्षे गुणप्रधानभावेन तत्प्रतिपादने प्रथमद्वितीययोरन्तर्भावः प्रधानभावेन तत्प्रतिपादने चतुर्थे, यौगपद्येन तत्प्रतिपादने तृतीये, भङ्गकसंयोगकल्पनया भङ्गान्तरकल्पनायां प्रथमद्वितीयभङ्गक एव प्रसज्यते । प्रथमतृतीयसंयोगात्पञ्चमप्रसक्तिः, द्वितीयतृतीयसंयोगात् षष्ठप्रसक्तिः, प्रथमद्वितीयतृतीयसंयोगात्सप्तमः, प्रथमसंयोगे द्विसंयोगकल्पनायां पुनरुक्तदोषः, तस्माच्च कथञ्चिदष्टमभङ्गसंभव इत्युक्तन्यायाद्वस्तुप्रतिपादने सप्तविध एव वचनमार्गः ।

अन्योऽन्यापरित्यागव्यवस्थितस्वरूपवाक्यनयानां शुद्धाशुद्धिविभागेन संग्रहाऽऽदिव्यपदेशमासादयतां द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयावेव मूलाधार इति प्रदर्शनार्थमाह-

एवं सत्तवियप्पो, वयणपहो होइ अत्थपज्जाए ।
वंजणपज्जाए पुण, सवियप्पो णिव्वियप्पो उ ॥४१॥

एवमित्यनन्तरोक्तप्रकारेण सप्तविकल्पः सप्तभेदः वचनमार्गो वचनपथो भवत्यर्थपर्यायेऽर्थनये संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रलक्षणे सप्ताप्यनन्तरोक्ता भङ्गका भवन्ति । तत्र प्रथमः संग्रहे सामान्यग्राहिणि, द्वितीयस्तु नास्तीत्ययं तु व्यवहारे विशेषग्राहिणि, ऋजुसूत्रे तृतीयः, चतुर्थः संग्रहव्यवहारयोः, पञ्चमः संग्रहर्जुसूत्रयोः, षष्ठो व्यवहारर्जुसूत्रयोः, सप्तमः संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रेषु । व्यञ्जनपर्याये शब्दनये सविकल्पः, प्रथमे पर्यायशब्दवाच्यताविकल्पसद्भावेऽप्यर्थस्यैकत्वात् । द्वितीयतृतीये निर्विकल्पः, द्रव्यार्थसामान्यलक्षणान्तर्गतपर्यायाभिधायकत्वात्, समभिरूढस्य पर्यायभेदभिन्नार्थत्वात्, एवंभूतस्याऽपि विवक्षितक्रियाकालार्थत्वाल्लिङ्गसंख्याक्रियाभेदेन भिन्नस्यैकशब्दवाच्यत्वात् शब्दाऽऽदिषु तृतीयः, प्रथमद्वितीयसंयोगे चतुर्थः, तेष्वेव चानभिधेयसंयोगे पञ्चमषष्ठसप्तमा वचनमार्गा भवन्ति । अथवा-प्रदर्शितस्वरूपा सप्तभङ्गी संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रेषु चार्थनयेषु भवतीत्याह-"एवं सत्तवियप्पा" इत्यादिगाथाम् । अस्यास्तात्पर्यार्थः-अर्थनय एव सप्तभङ्गाः, शब्दाऽऽदिषु त्रिषु नयेषु प्रथमतृतीयावेव भङ्गौ । यो ह्यर्थमाश्रित्य वक्तृस्थसंग्रहव्यवहारसूत्राऽऽख्यप्रत्ययः प्रादुर्भवति सोऽर्थनयः, अर्थवशेन तदुत्पत्तेः, अर्थं प्रधानतयाऽसौ व्यवस्थापयतीति कृत्वा । शब्दं तु स्वप्रभवमुपसर्जनतया व्यवस्थापयति, तत्प्रयोगस्य परार्थत्वात् । यस्तु श्रोतरि तच्छब्दश्रवणादुदेति शब्दसमभिरूढएवंभूताऽऽख्यः प्रत्ययस्तस्य शब्दप्रधानं, तद्वशेन तदुत्पत्तेः, अर्थः प्रधानं तथाऽप्युपसर्जनं तदुत्पत्तावनिमित्तत्वात्, स शब्दनय उच्यते । तत्र च वचनमार्गः सविकल्पनिर्विकल्पतया द्विविधः- सविकल्पं सामान्यनिर्विकल्पपर्यायः, तदभिधानाद्वचनमपि तथा व्यपदिश्यते । तत्र शब्दसमभिरूढौ संज्ञाक्रियाभेदेऽप्यभिन्नमर्थं प्रतिपादयत इति तदभिप्रायेण सविकल्पो वचनमार्गः प्रथमभङ्गकरूपः । एवंभूतस्तु क्रियाभेदाद्भिन्नमेवार्थं तत्क्षणे प्रतिपादयतीति निर्विकल्पो द्वितीयभङ्गकरूपस्तद्वचनमार्गः । अवक्तव्यभङ्गकस्तु व्यञ्जननये न संभवत्येव, यतः श्रोत्रभिप्रायो व्यञ्जननयः, स च शब्दश्रवणादर्थं प्रतिपद्यते, न शब्दाश्रवणात् । अवक्तव्यस्तु शब्दाभावविषय इति नावक्तव्यभङ्गको व्यञ्जनपर्याये संभवतीत्यभिप्रायवता व्यञ्जनपर्याये तु सविकल्पनिर्विकल्पौ प्रथमद्वितीयावेव भङ्गावभिहितावाचार्येण । तुशब्दस्य गाथायामेवकारार्थत्वात् ।

इदानीं परस्परकृतापरित्यागप्रवृत्तसंग्रहाऽऽदिनयप्रादुर्भूततथाविधा एव वाक्यनयास्तथाविधार्थप्रतिपादका इत्येतत्प्रतिपाद्यान्यथाऽभ्युपगमे तेषामप्यव्यक्तविरोधतोऽमात्र एवैकान्तदुर्दर्शनाय केवलानां तेषां तावन्मतमुपन्यस्यति-

जह दवियमप्पियं तं, तहेव अत्थि त्ति पज्जवणयस्स ।
ण य स समयपन्नवणा, पज्जवणयमेत्तपडिपुण्णा ॥ ४२ ॥

यथा वर्त्तमानकालसंबन्धितया यद् द्रव्यमर्पितं प्रतिपादयितुमभीष्टं, तत्तथैवाऽस्ति, नान्यथा, अनुत्पन्नविनष्टयोरभिधीयमानत्वेनाप्रतिपत्तेः; अप्रतीयमानयोश्च प्रतिपादयितुमशक्तेरिति प्रसङ्गात् वर्त्तमानसंबन्धेनैव तस्य प्रतीतेरिति पर्यायार्थिकनयवाक्यस्याऽभिप्रायः । एतदेकान्तवादी दूषयितुमाह-नेति प्रतिषेधे, स इति तथाविधो वाक्यनयः परामृश्यते, समय इति सम्यग् मीयते परिच्छिद्यत इति समयोऽर्थः, तस्य प्रज्ञापना प्ररूपणा, पर्यायनयमात्रे द्रव्यनयनिरपेक्षे पर्यायनये प्रतिपूर्णा पुष्कला संपद्यते । न स वाक्यनयः सम्यगर्थप्रत्यायनं पूरयतीति पर्यायनयस्य साधारणैकान्तप्रतिपादनरूपस्याव्यक्तबाधनात् । तच्चार्थो चाग्रतः प्रतिपादयिष्यते ।

द्रव्यार्थिकवाक्यनयेऽप्ययमेव न्याय इति तदभिप्रायं तावदाह-

पडिपुत्रजोव्वणगुणो, जह लज्जइ बालभावचरिएहिं ।
कुणइ य गुणपणिहाणं, अणागयसुहोवहाणत्थं ॥४३॥

प्राप्तयौवनगुणः पुरुषो लज्जते बालभावसंवृत्ताऽऽत्मीयानुष्ठानस्मरणात्-पूर्वमहममध्यस्पृश्यसंस्पर्शाऽऽदिव्यवहारमनुष्ठितवान् । यथेत्युदाहरणार्थो गाथायामुपन्यस्तः, यथैवं ततोऽतीतवर्त्तमानयोरेकत्वमवसीयते । करोति च गुणेषूत्साहाऽऽदिषु प्रणिधानमेकाग्र्यम, अनागतं यत्सुखं तस्योपधानं प्राप्तिः, तस्यै तदर्थमपि, तस्मात्सुखसाधनात्सुखं प्राप्तव्यमिति, यतश्चैवमतोऽनागतवर्त्तमानयोरैक्यम् ।

अत्राऽपि मते यथाऽवस्थितवस्तुस्वरूपप्ररूपणा न प्रतिपूर्यत इति सूत्रान्तरेण दर्शयति-

ण य होइ जोव्वणत्थो, बालो अन्नो वि लज्जइ ण तेण ।
ण वि य अणागयवयगुण-पसाहणं जुज्जइऽविभत्ते ॥४४॥

न च भवति यौवनस्थः पुरुषो बालः,अपि त्वन्य एव,अन्योऽपि न लज्जते बालचरितेन पुरुषान्तरवत् , तेनाऽन्येन । अथाऽनागतवृद्धावस्थायां सुखप्रसाधनार्थमुत्साहस्तस्य युज्यते अत्यन्तभेदे । एतदेवाऽऽह-विभक्त इति । विभक्तिर्भेदः । अकारप्रश्लेषादविभक्ते भेदाभावे अविचलितस्वरूपतया तत्प्रसाधकगुणयत्नासंभवात्,तस्मादभेदमात्रं तत्त्वं, कथञ्चिद्भेदव्यवहारप्रतिभासबाधितत्वात्, नापि भेदमात्रम, एकत्वव्यवहारप्रतिपत्तिनिराकृतत्वादिति भेदाभेदाऽऽत्मकं तत्त्वमभ्युपगन्तव्यम । अन्यथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः ।

एवमभेदभेदाऽऽत्मकस्य पुरुषतत्त्वस्य यथाऽतीतानागतदोषगुणाभिन्दाऽभ्युपगमाभ्यां संबन्धः, तथैव भेदाऽभेदाऽऽत्मकस्य तस्य संबन्धाऽऽदिभिर्योग इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपसंहारार्थमाह-

जाइकुलरूवलक्खण-सण्णासंबधओ अहिगयस्स ।
बालाऽऽइभावदिट्ठवि-गयस्स जह तस्स संबंधो ॥४५॥

जातिः पुरुषत्वाऽऽदिका,कुलं प्रतिनियतपुरुषजन्यत्वम,रूपं सुरूपकुरूपाऽऽदित्वं,लक्षणं तिलकाऽऽदि सुखाऽऽदिसूचकम,संज्ञा प्रतिनियतशब्दाभिधेयत्वम । एभिर्यः संबन्धस्तदात्मपरिणामः, ततस्तमाश्रित्याधिगतस्य ज्ञानस्य तदात्मकत्वेनाभिभावभासविषयस्य । यद्वा-संबन्धो जन्यजनकभावः,एभिरधिगतस्य लक्षणतत्स्वभावस्यैकाऽऽत्मकस्येति यावत् । बालाऽऽदिभावैर्दृष्टविगतस्य तैरुत्पादविगमाऽऽत्मकस्य तथा भेदप्रतीतेस्तस्य,यथा तस्य संबन्धो भेदाभेदपरिणतिरूपो,भेदाभेदाऽऽत्मकत्वप्रतिपत्तेर्बाह्याध्यक्षेणाध्यात्मिकाऽध्यक्षतोऽपि तथा प्रतीतेः ।

तथारूपं तद्वस्त्विति प्रतिपादयन्नाह दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपसंहारेण-

तेहिँ अतीतानागय-दोसगुणदुगंछणब्भुवगमेहिं ।
तह बंधमोक्खसुहदु-क्खपत्थणा होइ जीवस्स ॥४६॥

ताभ्यामतीतानागतदोषगुणजुगुप्साऽभ्युपगमाभ्यां यथा भेदाभेदाऽऽत्मकस्य पुरुषतत्त्वस्य सिद्धिः,तदा दार्ष्टान्तिकेऽपि (तह बंधमोक्खसुहदु-क्खपत्थणा होइ जीवस्स इति) तथा बन्धमोक्षसुखदुःखप्रार्थना; तत्र च बन्धनोपादानपरित्यागाद्भेदेन भेदाभेदाऽऽत्मकस्यैव जीवद्रव्यस्य भवति, बालाऽऽद्यात्मकपुरुषद्रव्यवत् । ततो जीवस्य पूर्वोत्तरभावानुभवितुरभावाद्बन्धमोक्षभावाभावः, उत्पादव्ययध्रौव्याऽऽत्मकतयाऽभ्यनन्तस्य प्रसाधितत्वात् । तथाहि-मरणचित्तं भावाऽऽयुत्पादस्थित्यात्मकं, मरणचित्तत्वात्, जीवद्वस्थाविनाशचित्तवत् । तथा जन्माऽऽदौ चित्तप्रादुर्भावोऽतीतचित्तस्थितिविनाशाऽऽत्मकः,चित्तप्रादुर्भावत्वात्,मध्यावस्थाचित्तप्रादुर्भाववत् । अन्यथा तस्याप्यभावप्रसक्तिः । न चास्याभावः,हर्षविषादाऽऽद्यनेकाविवर्त्ताऽऽत्मकस्यानन्यत्वात् बाह्यस्यान्तर्मुखाऽऽकारतया स्वसंवेदनाऽध्यक्षतः शरीरवैलक्षण्यतोऽनुभूतेः । न च तथा प्रतीयमानस्याप्यभावः,शरीराऽऽदेरपि बहिर्मुखाऽऽकारतया प्रतीयमानस्याऽभावप्रसक्तेः । न च नित्यैकान्तरूपे आत्मनि जन्ममरणेऽप्यसंभवः, कुतो बन्धमोक्षप्रसक्तिः ? । न च नित्यस्याऽप्यात्मनोऽभिनवबुद्धिशरीरेन्द्रियैर्योगो जन्म, तद्वियोगो मरणमितिकल्पना संगता, अस्याः पूर्वं निषिद्धत्वात् । न चैकान्तोत्पादविनाशाऽऽत्मके विषये इहलोके परलोके च परलोकव्यवस्था,बन्धाऽऽदिव्यवस्था वा युक्ता । यत ऐहिककायत्यागेनाऽऽमुष्मिकतदुपादानमेकस्यापरलोकः, पूर्वग्रामपरित्यागाद्य तदितरैकपुरुषरूपवत् । न च दृष्टान्तेऽप्येकत्वमसिद्धम,उभयावस्थायास्तस्यैकत्वेन प्रतिपत्तेः । न चेयं मिथ्या,बाधकाभावात्,विरुद्धधर्मसंसर्गाऽऽदेः बाधकस्याऽध्यक्षबाधाऽऽदिना निरस्तत्वात् । न च पूर्वावस्थात्याग एकस्योत्तरावस्थोपादानमन्तरेण दृष्टः,पृथुबुध्नोदराऽऽद्याकारविनाशवन्मृद्द्रव्यस्य कपालोत्पादनमन्तरेण दर्शनात् । न च कपालोत्पादनमन्तरेण घटविनाश एव न सिद्धः, घटकपालव्यतिरेकेणाऽपरस्य नाशस्याप्रतीतेरिति वक्तव्यम् , कपालोत्पादस्यैव कथञ्चिद् घटविनाशाऽऽत्मकतया प्रतिपत्तेः, अत एव सहेतुकत्वं विनाशस्य,कपालोत्पादस्य सहेतुकत्वात् । न च कपालानां भावरूपतैव केवला, घटानिवृत्तौ तद्विविक्ततायाः नेष्टभावप्रसक्तेः । न चैकस्योभयत्र व्यापारविरोधः, दृष्टत्वात । न च घटनिवृत्तिकपालयोरेकान्तेन भेदः,कथञ्चिदेकत्वप्रतीतेः । न च मुद्गराऽऽदीनां प्रत्यक्षव्यापारे कश्चिदभ्युपयोगे कपालेषु न तदुपयोगः,अन्यावस्थायामपि घटक्षणान्तरोत्पत्तिप्रसक्तेः, तस्य तदुत्पादनसामर्थ्याविनाशात्,नस्य स्वर [स]तो विनाशात्तद्व्यतिरेकसामर्थ्यस्याविनाशः । न पूर्वं तद्विनाशेऽपि तस्याविनाशो विरोधिमुद्गरसन्निधानात् । ननु समानजातीया क्षणान्तरं जनयतीति चेत् । न । घटविरोधी न च तद्विनाशयतीति व्याहतत्वात् । न च तद्धेतुत्वभावात्सामर्थ्याभावः,तथाविधकार्यजननसमर्थहेतोर्भावात् । अन्यथा प्रागपि तथाविधफलोत्पत्तिर्न भवेत् । न च स्वहेतुनिर्वर्त्तित एव दण्डाऽऽदिसन्निधौ सामर्थ्याभावः,दण्डाऽऽदिसन्निधिमपेक्षमाणस्य तस्य तद्धेतुत्वोपपत्तेः, अन्यत्रापि तद्भावस्य तन्मात्रनिबन्धनत्वात् । न च तद्व्यापारानन्तरं तदुपलम्भात्तस्य तत्कार्यत्वे मृद्द्रव्यस्याऽपि तत्कार्यताप्रसक्तिः, तस्य सर्वदोपलम्भात्, सर्वदा तस्यानभ्युपगमे उत्पादविनाशयोरभावप्रसक्तिश्चेति प्रतिपादितत्वाच्च; तस्यैव तद्रूपतया परिणतौ कथञ्चिदुत्पादस्यापीष्टत्वात् । यदि च पूर्वोत्तराऽऽकारत्यागोपादानतयैकं मृदादिवस्त्वध्यक्षतोऽनुभूयते, तदा तत्तदपेक्षकारणं कार्यविनष्टं च वस्तुत्पन्नं चैककालमनेककालं च भिन्नमभिन्नं चेति कथं नाभ्युपगमविषयः ? । न चाऽत्र विरोधः, मृद्व्यतिरिक्ततया घटकपालयोरुत्पादविनष्टस्थितिस्वभावतया प्रतीतेः । न च प्रतीयमाने वस्तुस्वरूपे विरोधः,अन्यथा ग्राह्यग्राहकाऽऽकाराभ्यामेकत्वेन स्वसंवेदनाऽध्यक्षतः प्रतीयमानस्य संवेदनस्य विरोधप्रसक्तेः । न च संशयदोषप्रसक्तिरिति, उत्पत्तिस्थितिनिरोधानां निश्चितरूपतया वस्तुन्यधिगमात् । न च दृष्टायुर्वा

पुरुषो वेति प्रतिपत्त्यादिव प्रकृतानिश्चये सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशय इति निमित्तमस्ति। न च व्यधिकरणेनादोषप्रसक्तिरिति, घटकपालविनाशोत्पादयोर्मृद्रूप्याऽऽधिकरणतया प्रतिपत्तेः। न चोभयदोषानुषङ्गः, द्व्यात्मकस्य वस्तुनो जात्यन्तरत्वात्। सङ्करदोषप्रसक्तिरपि नास्ति, अनुगतव्यावृत्तेस्तदात्मके वस्तुनि स्वस्वरूपेणैव प्रतिभासनात्। अनवस्थादोषोऽपि न संभवी, भिन्नोत्पादव्ययध्रौव्यव्यतिरेकेण तदात्मकस्य वस्तुनोऽध्यक्षे प्रतिभासनात् स्वयमतदात्मकस्याऽपरयोगेऽपि तदात्मकताऽनुपपत्तेः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। तथा प्रतिभासादेवाभावाद्दोषोऽपि न संभवी, अबाधितप्रतिभासस्य तद्भावेऽभावाद्, भावे वा न तावदवस्तुव्यवस्थितिरिति सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः। न च द्व्यात्मकत्वमन्तरेण घटस्य कपालदर्शनाद्विनाशानुमानं संभवति, तत्र तेषां प्रतिबन्धानवकाशात्। न हि तद्विनाशनिमित्तानि मुद्गराऽऽदीनि, हेतुत्वाद् भावस्य कारणत्वात्तस्यासत्त्वाच्च यद्यपि घटहेतुकानि तानि, तथाऽपि घटसद्भावमेव गमयेयुर्न तद्भावम्, न हि धूमः पावकहेतुकस्तदभावगमक उपलब्धः, न वा भिन्ननिमित्तजन्यता तयोः प्रतिबन्धः, भावस्यांशकार्यताऽभ्युपगमात्। नाऽपि तादात्म्यलक्षणः, तयोस्तादात्म्यायोगात्। न च घटस्वरूपव्यावृत्तत्वात्तेषां तदभावप्रतिपत्तिजनकत्वम्, सकलत्रैलोक्याभावप्रतिपत्तिजनकत्वप्रसक्तेः, तेषां ततोऽपि व्यावृत्तस्वरूपत्वात्। न च घटविनाशरूपत्वात्तेषां नायं दोषः, तेषां वस्तुरूपत्वाद्विनाशस्य च निःस्वभावत्वात्, तथा च तादात्म्यविरोधः, अन्यथा घटानुपलम्भवत्तेषामपि तदनुपलब्धिर्भवेत्, तस्मात्प्रागभावाऽऽत्मकः सन् घटः प्रध्वंसाभावाऽऽत्मकतां प्रतिपद्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा पूर्वोक्तदोषानिवृत्तिः। सत्त्वलक्षणस्याऽपि हेतोर्गमकत्वमनेनैव प्रकारेण संभवति। अन्यथोत्पत्त्यभावाद्रहितत्वाभावः, तदभावे विनाशस्याऽप्यभावः, असतो विनाशायोगादिति द्व्यात्मकमेकं वस्त्वभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा तदनुपपत्तेरिति प्राक् प्रदर्शितत्वाद् न पुनरुच्यते। यथा चाऽऽत्मनः परलोकगामित्वं शरीरमात्रव्यापकत्वं च तथा प्रतिपादितमेव। ननु शरीरमात्रव्यापित्वे तस्य गमनाभावाद्देशान्तरे तद्ग्रहणोपलब्धिर्न भवेत्, न च तदधिष्ठितशरीरस्य गमनाविरोधात्पुरुषाधिष्ठितदारुयन्त्रवत्। न च मूर्तामूर्तयोर्घटाऽऽकाशयोरिव प्रतिबन्धाभावान्मूर्तशरीरगमनेऽपि नामूर्तस्याऽऽत्मनो गमनमिति वक्तव्यम्, संसारिणस्तस्यैकान्तेनामूर्तत्वासिद्धेस्तत्र प्रतिबद्धत्वाभावासिद्धेः।

एतदेवाऽऽह-

अन्नोन्नाऽणुगयाणं, इमं व तं व त्ति विभयणमजुत्तं।
जह दुद्धपाणियाणं, जावंतविसेसपज्जाया ॥ ४७ ॥

अन्योन्यानुगतयोः परस्परानुप्रविष्टयोरात्मकर्मणोरिदं वा तद्वेतीदं कर्म अयमात्मेति विभजनं पृथक्करणं तदयुक्तमघटमानकम्, प्रमाणाभावेन कर्तुमशक्यत्वात्, यथा दुग्धपानीययोः परस्परप्रवेशानुप्रविष्टयोः। किंपरिमाणोऽयमविभागो जीवकर्मप्रदेशयोरित्याह- यावन्तो विशेषपर्यायाः, तावान्, अत एवमवस्तुत्वप्रसक्तेरन्त्यविशेषपर्यन्तत्वात्सर्वविशेषाणाम्।

अन्य इति विशेषणाऽन्यथाऽनुपपत्तेर्जीवकर्मणोरन्योऽन्यानुप्रवेश इत्याह-

रूवाऽऽइपज्जवा जे, देहे जीवदवियम्मि सुद्धम्मि।
ते अन्नोन्नाऽणुगया, पन्नवणिज्जा भवत्थम्मि ॥ ४८ ॥

रूपरसगन्धस्पर्शाऽऽदयो ये पर्याया देहाऽऽश्रिता जीवद्रव्ये विशुद्धरूपे च ये ज्ञानाऽऽदयस्तेऽन्योन्यानुगता जीवे रूपाऽऽदयो देहे ज्ञानाऽऽदय इति प्ररूपणीया भवस्थे संसारिणि, अकारप्रश्लेषाद्वाऽसंसारिणि। न च संसारावस्थायां देहाऽऽत्मनोरन्योन्यानुबन्धादूपाऽऽदिभिस्तद्व्यपदेशः, मुक्तावस्थायां तु तदभावादसौ युक्त इति वक्तव्यम्, तदवस्थायामपि देहाऽऽश्रितरूपाऽऽदिग्रहणपरिणतज्ञानदर्शनपर्यायद्वारेणाऽऽत्मनस्तथाविधत्वात्, तथा व्यपदेशसंभवादात्मपुद्गलयोश्च रूपाऽऽदिज्ञानाऽऽदीनामन्योऽन्यानुप्रवेशात्कथञ्चिदेकत्वमनेकत्वं च मूर्तत्वममूर्तत्वं वा व्यतिरेकात्सिद्धमिति।

एतदेवाऽऽह-

एवं एगे आया, एगे दंडो य होइ किरियाए।
करणविसेसेण य तिवि-हजोगसिद्धी उ अविरुद्धा ॥४९॥

एवमित्यनन्तरोदितप्रकारेण मनोवाक्कायद्रव्याणामात्मन्यनुप्रवेशादात्मैव, न तद्व्यतिरिक्तास्त इति तृतीयाङ्गेऽभिधान (एगे आया इति) प्रथमस्तत्र प्रतिपादितः सिद्ध एक आत्मा एको दण्ड एका क्रियेति भवति, मनोवाक्कायेषु दण्डक्रियाशब्दौ प्रत्येकमभिसंबन्धनीयौ, करणविशेषेण च मनोवाक्कायस्वरूपेणाऽऽत्मन्यप्रवेशाद्वा त्रिविधयोगस्वरूपत्वात्त्रिविधयोगसिद्धिरपि आत्मनोऽविरुद्धैवेति। एकस्य सतस्तस्य त्रिविधयोगाऽऽत्मकत्वादनेकान्तरूपता व्यवस्थितैव; न चाऽन्योन्यानुप्रवेशादेकाऽऽत्मकत्वे बाह्याभ्यन्तरविभागाभाव इति। अत्र हर्षविषादाऽऽद्यनेकविवर्ताऽऽत्मकमेकं चैतन्यं, यथेह बालकुमारयौवनाऽऽद्यनेकावस्थैकाऽऽत्ममेकं शरीरमध्यक्षतः संवेद्यत इत्यस्याविरोधः, बाह्याभ्यन्तरविभागावपि निमित्तान्तरतद्व्यपदेशसंभवात्।

एतदेवाऽऽह-

ण य बाहिरओ भावो, अब्भिंतरओ य अत्थि समयम्मि।
णोइंदियं पुण पडु-च्च होइ अब्भिंतरो भावो ॥५०॥

आत्मपुद्गलयोरन्योऽन्यानुप्रवेशादुक्तप्रकारेणार्हत्प्रणीतशासने न बाह्यो भावोऽभ्यन्तरो वा संभवति, मूर्तामूर्त्युपादितत्वादनेकाऽऽत्मकत्वाच्च, संसारोदरवर्तिनः सकलवस्तुनोऽभ्यन्तर इति व्यपदेशस्तु नोइन्द्रियमनःप्रतीतस्याऽऽत्मपरिणतिरूपस्य पराप्रत्यक्षत्वाच्छरीरस्थानिव। न च शरीराऽऽत्मावयवयोः परस्परानुप्रवेशात् शरीराभेदे आत्मनोऽपि तद्वत्परप्रत्यक्षताप्रसक्तिः; इन्द्रियज्ञानस्याशेषपदार्थस्वरूपग्राहकत्वायोगादित्यस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। अतः शरीरप्रतिबद्धत्वमात्मनो न भवति, अमूर्तत्वात्। अत्र योगे हेतुरसिद्धः, यदि चात्मपरिणतिरूपमनसः शरीरादात्यन्तिको भेदः स्यात्तद्विकाराविकाराभ्यां शरीरस्य तत्त्वं न स्यात्, तदुपकारापकाराभ्यां वा आत्मनः सुखदुःखानुभवश्च न भवेत्, शरीरविघातकृतश्च हिंसकत्वमनुपपन्नं भवेत्। शरीरपुष्ट्यादे रागाऽऽद्युपचयहेतुत्वं, शरीरस्य कृशोऽहं स्थूलोऽऽहमिति प्रत्ययविषयत्वं च दूरोत्सारितं भवेत्। पुरुषान्तरशरीरस्येव घटाऽऽकाशयोरपि प्रदेशोऽन्योन्यप्रदेशलक्षणो बन्धोऽस्त्येवेत्ययुक्तो दृष्टान्तः, अन्यथा घटस्यावस्थितिरेव न भवेत्, न वाऽन्योन्यानुप्रवेशसद्भावेऽप्याकाशवच्छरीरपरतन्त्रताऽऽत्मनोऽनुपपन्ना, मिथ्यात्वाऽऽदेः पारतन्त्र्यनिमित्तस्याऽऽत्मनि भावात्, आकाशे

च तद्भावात्। न च शरीराऽऽत्मत्वे सति तस्य मिथ्यात्वाऽऽदिबन्धहेतुभिर्योगः, तस्माच्च तत्प्रतिबद्धमितीतरेतराश्रयत्वम्, अनादित्वाभ्युपगमेनास्य निरस्तत्वात्। न च शरीरसंबन्धात् प्रागात्मनोऽमूर्त्तत्वम्, यदा तैजसकार्मणशरीरसंबन्धात् संसारावस्थायां तस्यान्यथाभावात् स्थूलशरीरसंबन्धित्वायोगात्। पुद्गलोपष्टम्भव्यतिरेकेणोर्ध्वगतिस्वभावस्यापरदिग्गमनासंभवात्स्थूलशरीरेणातिसूक्ष्मस्य रज्ज्वादिनेवाऽऽकाशस्य संबन्धायोगात् संसारिशून्यमन्यथा जगत्स्यादिति संसारात्मनः सूक्ष्मशरीरसंबन्धित्वं सर्वदाऽभ्युपगन्तव्यम्। अथ शरीराऽऽत्मनोरेतादात्म्ये शरीरावयवच्छेदे आत्मावयवस्यापि छेदप्रसक्तिः, अच्छेदे तयोर्भेदप्रसङ्गः। न। कथञ्चिच्छेदस्याभ्युपगमात्, अन्यथा शरीरात्पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न भवेत्। न च छिन्नावयवानुप्रविष्टस्य पृथगात्मत्वप्रसक्तिः, तत्रैव पश्चादनुप्रवेशाच्छिन्ने हस्ताऽऽदौ कम्पाऽऽदितल्लिङ्गादर्शनादियं कल्पना। न चाऽन्यत्र गमनात् तस्य तल्लिङ्गानुपलब्धिरेकत्वादात्मनः, शेषस्याऽपि तेन सह गमनप्रसक्तावेकत्र संततावनेक आत्मेत्येकज्ञानवद् ज्ञानिनामेकत्राऽनुभवाधारे प्रतिभासप्रसक्तेः, शरीरान्तरव्यवस्थितात्मान्तरवत्। न च पृथग्भूतहस्ताऽऽद्यवयवव्यवस्थितोऽसौ, न तत्रैव विनष्ट इति कल्पनाऽपि युक्तिसंगता, शेषस्याऽप्येकत्वेन तद्वद्विनाशप्रसक्तेः। ततोऽन्यत्रागतेस्तत्रासत्त्वाद्विनष्टत्वाच्च तदनुप्रवेशोऽवसीयते, गत्यन्तराभावात्। न चैकत्वे आत्मनो विभागाभावात् छेदाभाव इति वक्तव्यम्, शरीरद्वारेण तस्यापि सविभागत्वात्। अन्यथा सावयवशरीरव्यापिता तस्य कथं भवेत्?। न चामूर्त्तद्रव्याऽऽदिवच्छिन्नावयवस्य संबन्धेन तस्य तथाभावः, उत्तरकालमपि तदवयवोपलम्भोपलब्धस्यार्थस्य तथैव स्मरणादन्यथा त्वतद्दर्शनात्। न चासावारभ्य मूर्त्तद्रव्यवद्व्यणुकाऽऽदिप्रक्रमेणावयवितसंयोगैस्तैरभावः, येन तद्वत्स्वस्य तथैव नाशप्रसक्तिः। न चानारब्धस्वावयवस्य निरवयवत्वं, शरीरसर्वगतत्वाभावप्रसक्तेः। न च शरीरासर्वगतोऽसौ, तत्र सर्वत्रैव स्पर्शोपलम्भात्। न तद्व्यापकस्य तच्छेदे छेदः, अतिप्रसङ्गात्। न च तदवयवच्छेदेन भिन्नः, तत्र कम्पाऽऽद्युपलब्धेस्तस्यैवानुप्रविष्ट एकत्वादिति ज्ञायते कथं भिन्नाभिन्नयोः संघटनं पश्चादिति। न चैकान्तेन छेदाभावात्पद्मनालतन्तुवद् विच्छेदाभ्युपगमाद् विघटनमपि तथाभूतादृष्टवशादविरुद्धमेव। न चाऽऽत्मनः शरीरमात्रव्यापकत्वेऽन्यशरीरगात्मान्तरसंबन्धान्यथानुपपत्त्या गतिक्रियाप्रसक्तेरनित्यत्वप्रसक्तिर्दोषः, कथञ्चित्तस्येष्टत्वात्, गृहान्तर्गतप्रदीपप्रभावत् संकोचविकाशाऽऽत्मकत्वेन तस्य न्यायप्राप्तत्वात्। न च देहाऽऽत्मनोरन्योन्यानुप्रवेशरूपत्वे देहे ज्ञानसाक्षात्वे आत्मनोऽपि तथात्वप्रसक्तिः, क्षीरोदकवृत्तयोर्लक्षणभेदाभेदात्। न हि भिन्नस्वरूपयोरन्योन्यानुप्रवेशे सत्यप्येकत्वयोऽपरस्य क्षयात्, यथा पच्यमाने क्षीरे प्रथममुदकक्षयोऽपि न क्षीरक्षयः। न चेह लक्षणभेदो नास्ति। तथाहि–रूपरसगन्धस्पर्शाऽऽदिधर्मवन्तः पुद्गलाः, चेतनालक्षणश्चात्मेति सिद्धस्तयोर्लक्षणभेदः। यथा चैकान्तामूर्त्ताऽऽदिरूपत्वेऽर्थक्रियाऽऽदेर्व्यवहारस्याभावस्तथा प्रतिपादितमनेकधेति मूर्त्तामूर्त्ताद्यनेकान्ताऽऽत्मकत्वमात्मनोऽभ्युपगन्तव्यम्।

अस्य च मिथ्यात्वाऽऽदिपरिणतिवशोपात्तपुद्गलान्ताद् विभागलक्षणो बन्धः, तद्वशोपनतसुखदुःखाऽऽद्यनुभवस्वरूपश्च भोगोऽनेकान्ताऽऽत्मत्वे सत्युपपद्यते। अन्यथा तयोरयोग इति प्रतिपादनार्थमाह–(दव्वट्ठियस्सेत्यादि) अथवा परस्परसापेक्षद्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकयोः प्ररूपणा प्रदर्शितन्यायेन संभविनी, निरपेक्षयोः कथं सा?, इत्याह–

दव्वट्ठियस्स आया, बंधइ कम्मं फलं च वेएइ।
बिइयस्स भावमेत्तं, ण कुणइ ण य कोइ वेएइ ॥५१॥

द्रव्यास्तिकस्यैवं प्ररूपणाऽऽत्मैकस्थायी कर्म ज्ञानाऽऽदिनिबन्धकं बध्नाति स्वीकरोति, तस्य कर्मणः फलं च कार्यभूतं वेदयते भुङ्क्ते आत्मैव। द्वितीयस्य तु पर्यायार्थिकस्यैवं प्ररूपणा–नैवाऽऽत्माऽप्यस्ति, किं तु भावमात्रं विज्ञानमात्रमिति न करोति, न च कश्चिद्वेदयते, उत्पत्तिक्षणानन्तरध्वंसिनः कर्तृत्वानुभवितृत्वायोगात्।

तथैवमपि तथाभूतयोः प्ररूपणेत्याह–

दव्वट्ठियस्स जो चे–व कुणइ सो चेव वेयई णियमा।
अण्णो करेइ अण्णो, परिभुंजइ पज्जवणयस्स ॥ ५२ ॥

य एव करोति स एव वेदयते, नित्यत्वात्, द्रव्यास्तिकस्यैतन्मतम्। अन्यः करोत्यन्यश्च भुङ्क्ते, क्षणिकत्वात्, पर्यायस्य नयस्यैतन्मतम्। ननु पूर्वगाथोक्तमेव पुनरपि तदेव तावत्पिष्टपेषणमाभावेन फलं भवेत्। न। उत्पत्तिसमनन्तरमेव करणं भोगो वा संभवीति प्राक् प्रतिपादितम्, इहोत्पत्तिक्षण एव कर्त्ता तदनन्तरक्षणश्च भोक्तेति न पुनरुक्तम्। भोक्तृत्वं च परैः भुक्तिर्वचनां क्रिया सैव कारकः सैव चोच्यत इति।

इयमसंयुक्तयोरनयोः स्वसमयप्ररूपणा न भवति, या तु स्वसमयप्ररूपणा, तामाह–

जं वयणिज्जवियप्पा, संजुज्जंतेसु होंति एएसु।
सा ससमयपण्णवणा, तित्थयरासायणा अण्णा ॥ ५३ ॥

ये वचनीयस्याभिलाप्यस्य विकल्पास्तत्प्रतिपादका अभिधानभेदाः, संयुज्यमानयोरन्योऽन्यसंबद्धयोर्भवन्त्यनयोर्द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकवाक्यनययोः, ते च कथञ्चिन्नित्य आत्मा कथञ्चिदमूर्त्त इत्येवमादयः, सैषा स्वसमयस्येति तदर्थस्य प्रज्ञापना निदर्शना। अन्या तु निरपेक्षयोरनयोरेव नययोर्या प्ररूपणा तीर्थकरस्याऽऽशातनाऽधिक्षेपः। "एगमेगेणं जीवस्स पएसे अणंतेहिं णाणावरणिज्जपोग्गलेहिं आवेढिए परिवेढिए" इति तीर्थकृद्वचने प्रमाणोपपन्ने सत्यपि "नामूर्त्तं मूर्त्ततामेति, मूर्त्तं नायात्यमूर्त्तताम्। द्रव्यं कालत्रयेऽपीत्थं, च्यवते नात्मरूपतः" ॥१॥ इति तीर्थकृन्मतमेतन्नयवादनिरपेक्षमिति कैश्चित्प्रतिपाद्यमानस्तस्याधिक्षेपप्रदानात् परस्परनिरपेक्षयोः नययोः प्रज्ञापना तीर्थकराऽऽशातनेति।

अस्यापवादमाह–

पुरिसज्जायं तु पडु–च्च जाणओ पण्णविज्ज अण्णयरं।
परिकम्मणानिमित्तं, दाएही सो विसेसं पि ॥ ५४ ॥

पुरुषजातं प्रतिपन्नपर्यायान्यतरस्वरूपं श्रोतारं वा प्रतीत्याऽऽश्रित्य ज्ञायकः स्याद्वादवित्, प्रज्ञापयेद्वक्तीत, अन्यतरत् पर्यायं द्रव्यं वाऽभ्युपेतपर्यायं द्रव्यमेवाङ्गीकृतद्रव्यार्थं च पर्यायमेव कथयेत्। किमित्येकमेव कथयेत्?, परिकर्मनिमित्तं बुद्धिसंस्कारार्थं, परिकर्मितमते दर्शयिष्यते। सः स्याद्वादाभिज्ञः विशेषमपि द्रव्यपर्याययोः परस्पराविनिर्भागरूपम्, एकांशविषयविज्ञानस्यान्यथा विपर्ययरूपताप्रसक्तिः स्यात्; अद्वितराभावे तद्विषयस्याऽ-

प्यभावात्। सम्म० १ काण्ड । स्या०। (सप्तभङ्गीवक्तव्यता तु ' सत्तभंगी ' शब्दे वक्ष्यते)

(७) अथ सप्तभङ्गयामित्थं नयविभागमुपदर्शयन्ति श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः-

"एवं सत्तविअप्पो, वयणपहो होइ अत्थपज्जाए।
वंजणपज्जाए पुण, सविअप्पो णिव्विअप्पो अ" ॥४१॥ (स०१का०)

एवमनन्तरोक्तप्रकारेण सप्तविकल्पः सप्तभेदो वचनपथो भवत्यर्थपर्यायेऽर्थनये संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रलक्षणे। तत्र प्रथमो भङ्गः संग्रहे सामान्यग्राहिणि, द्वितीयस्तु नास्तीत्ययं व्यवहारे विशेषग्राहिणि, ऋजुसूत्रे तृतीयः, चतुर्थः संग्रहव्यवहारयोः, पञ्चमः संग्रहर्जुसूत्रयोः, षष्ठो व्यवहारर्जुसूत्रयोः, सप्तमः संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रेष्विति। प्रयोगश्चैतेभ्यस्तुर्यतृतीययोर्व्यत्यये नेष्यते इति न तृतीये ऋजुसूत्रयोजनाऽनुपपत्तिः। अत्र सद्धर्मप्रकारकः संग्रहाऽऽख्यो बोधः प्रथमभङ्गफलत्वेनाभिमतः, तद्धर्माभावप्रकारको व्यवहाराऽऽख्यो बोध एव द्वितीयभङ्गफलत्वेनेष्टव्यः। तेन स्याद् घटः स्यान्नीलघट इत्यादिसामान्यविशेषसंग्रहव्यवहाराभ्यां न सप्तभङ्गीप्रवृत्तिः; न चैकवचनबहुवचनाऽऽदिना भङ्गान्तरवृद्धिरित्यवधेयम्। अथ तृतीयभङ्गस्यर्जुसूत्रनिमित्तकतायां किं बीजम्?, युगपत्सत्त्वान्यासात्, इदं हि संग्रहव्यवहाराभ्यवक्तव्यमेव सूनः, संग्रहव्यवहारौ युगपदुभयथा दिशत एव नेति चेत्, ऋजुसूत्रोऽपि कथं तथा देष्टुं प्रगल्भताम्?, मध्यमक्षणरूपायाः सत्तायास्तेनाप्यभ्युपगमात् संग्रहाभिमतयावदनुवृत्तसामान्यानभ्युपगमात्। ऋजुसूत्रेणावक्तव्यभङ्ग उत्थाप्यत इति चेत्, सोऽयं प्रत्येकावक्तव्यत्वकृतोऽवक्तव्यत्वभङ्गः, तदुत्थापने च संग्रहोऽपि समर्थः। ऋजुसूत्राभिमतमध्यमक्षणरूपसत्तानभ्युपगन्त्रा तेनाऽपि तदुत्थापनस्य सुकरत्वादिति चेत्। अत्रेदमाभाति-संग्रहव्यवहारौ युगपदुभयथा देष्टुं प्रगल्भेते, स्वानभिमतांशादेशेऽनिष्टसाधनत्वप्रतिसंधानात्, ऋजुसूत्रस्य तु वर्तमानपर्यायमात्रग्राहिणस्तिर्यगूर्ध्वताऽऽकारांशान्यतररूपं सामान्यम्, अन्यापोहरूपो विशेषश्चेति द्वावपि संवृतावेवेति तदपेक्षया युगपदुभयथाऽऽहार्यतदादेशसंभवादवक्तव्यभङ्गोत्थानमनाबाधम्। न चैवमपि तज्जनितबोधस्य प्रसङ्गरूपत्वाद् विपर्ययपर्यवसाने संग्रहव्यवहारान्यतरसामान्यमिति वाच्यम्, विषयाबाधे कूटलिङ्गजाऽनुमितिरिव प्रकृतभङ्गजबोधस्य प्रमात्वेन विपर्ययपर्यवसानकदर्थनाऽनवकाशात्, व्यञ्जनपर्याये शब्दनये पुनः सविकल्पः, प्रथमे पर्यायशब्दवाच्यताविकल्पसद्भावादर्थस्यैकत्वाच्च, द्वितीयतृतीययोर्निर्विकल्पश्च, रूढ्यार्थात्सामान्यलक्षणाश्रितस्य पर्यायरूपस्य विकल्पस्याभिधायकत्वात्तयोः। तथा च घटो नाम घटवाचकयावच्छब्दवाच्यः। शब्दनयेऽस्त्येव समभिरूढैवंभूतयोर्नास्त्येवेति द्वौ भङ्गौ लभ्येते, लिङ्गसंख्याक्रियाभेदेन भिन्नस्यैकशब्दवाच्यत्वात् शब्दाऽऽदिषु तृतीयः, प्रथमद्वितीयसंयोगाच्चतुर्थः, तेष्वेव चानभिधेयसंयोगे पञ्चमषष्ठसप्तमा वचनमार्गा भवन्ति। अथवा शब्दनये पर्यायान्तरसहिष्णौ सविकल्पो वचनमार्गः, तदसहिष्णौ तु निर्विकल्प इति द्वावेव भङ्गौ, अवक्तव्यभङ्गस्तु व्यञ्जननये न संभवत्येव, श्रोतरि शब्दोपरक्तार्थबोधनस्यैव तत्प्रयोजनत्वात्, अवक्तव्यबोधनस्य च तन्नये संप्रदायविरुद्धत्वेन तथा बुबोधयिषाया एवासंभवादिति। अधिकमस्मत्कृतानेकान्तव्यवस्थायाम्॥ तदेवं प्रतिपर्यायं सप्तप्रकारकबोधजनकतापर्याप्तिमद्वाक्यं प्रमाणवाक्यमिति लक्षणं सिद्धम्॥ इत्थं च तदन्तर्भूतस्य तद्बहिर्भूतस्य वाऽन्यतरभङ्गस्य प्रवेशपरमाणुदृष्टान्तेन नयवाक्यत्वमेवेत्यर्थतो लभ्यते। इतरप्रतिक्षेपी तु नयो नयाभासो, दुर्नयो वेत्युच्यते॥ मलयगिरिचरणास्तु-नयो दुर्नयः सुनयश्चेति दिगम्बरव्यवस्था, न त्वस्माकम्, नयदुर्नययोरर्थाविशेषात्स्याच्छब्देन विवक्षितधर्मोपरागेण कालाऽऽदिभिरेतद्वृत्त्याऽभेदोपरागाद्वाऽनन्तधर्माऽऽत्मकवस्तुप्रतिपादने प्रमाणवाक्यस्यैव व्यवस्थितेः। अत एव स्याच्छब्दलाञ्छिततयैव सर्वत्र साधूनां भाषाविनयो विहितः। अवधारणीयभाषा च निषिद्धा; तस्या नयरूपत्वात्, नयानां च सर्वेषां मिथ्यादृष्टित्वात्। तथा चानुस्मरन्ति-" सव्वे णया मिच्छावाइणो त्ति। " न च सप्तभङ्ग्यात्मकं प्रमाणवाक्यम्, एकभङ्ग्यात्मकं च नयवाक्यमित्यपि नियन्तुं शक्यम्, सप्तभङ्ग्याः सप्तविधजिज्ञासोपाधिनिमित्तत्वात्। न च तासां सार्वत्रिकत्वम्। 'को जीवः?' इति प्रश्ने लक्षणमात्रजिज्ञासया "स्याद् ज्ञानाऽऽदिलक्षणो जीवः" इति प्रमाणवाक्यरूपस्योत्तरस्य सिद्धान्तसिद्धत्वात्। स्यात्पदस्य चात्राऽनन्तधर्माऽऽत्मकत्वद्योतकत्वेन प्रमाणाङ्गत्वम्। द्योतकत्वं चात्रोपसंपादनकी शक्तिर्लक्षणा वेत्यन्यदेतत्। तत्र च गुणपदप्रतिपादनधर्मांशे लौकिकी विषयता स्यात्पदद्योत्या; अनन्तधर्माऽऽत्मकत्वांशे च लोकोत्तरेति विशेष इत्यपि निःसंदधेते। सम्मतमनुरुद्ध्य प्रमाणलक्षणान्तरं समुच्चिनोति च पुनर्वाक्यमेकधर्मकं प्रतिनियतैकधर्मप्रतिपिपादयिषया प्रयुक्तं स्यात्पदात्परे येऽनन्ता धर्मास्तानुत्क्षिपतीत्येवंशीलं वाक्यं तदपि प्रमाणवाक्यं व्यवहर्तव्यमित्यर्थः। अयं च समुच्चयरूढ्यमपि संप्रदायमनमिति कृत्वा समुन्नीतः। वस्तुतो नयदुर्नयप्रमाणविभागेनैवादर एव। हेमसूरिभिरपि-"सदेव सत्स्यात्सदिति त्रिधाऽर्थो, मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः २८"(स्या०) इत्यादित्रिभज्याभिधानात्; आकरे नयतदाभासानां व्यक्तोदाहृतत्वाच्च। अवधारणी च भाषा एकान्तवादाऽऽत्मिकैव निषिद्धा, न तु नयरूपाणि, तस्याः प्रमाणपरिकल्पितत्वेन तत्रावधारणीयत्वस्य निश्चायकत्वरूपभाषालक्षणान्वयेनैव सिद्धान्तसिद्धत्वात्। अत एव निराकाङ्क्षनासत्त्वाऽऽदिस्थले शाब्दसमानाकारमानसस्वीकारे किमपराद्धं शाब्दबोधेनेति पर्यनुयोगो मानसस्य संशयाऽऽकारस्यापि संभवान्निश्चायकरूपशाब्दबोधानुपपत्तेरेव यौक्तिकैर्निराकृतः। न च भाषामात्रस्यावधारणीयत्वेऽप्याराधकत्वविराधकत्वतदुभयानुभयैः सत्याऽऽदिभेदचतुष्टयोपदेशाश्रयभाषाया देशाऽऽराधकत्वेन तृतीयभङ्ग एव निक्षेपात्साधूनामनादरणीयत्वमित्यपि युक्तम्, चतुर्धा विभागस्य द्रव्यभावभाषायामेवोपदेशात्, तत्र च परिगणितमिश्रभाषाभेददशकानामन्तर्भावादेव नयभाषायां दोषाभावात्, श्रुतभावभाषायां च तृतीयभाषायामेवानधिकृतत्वाच्चारित्रभावभाषायामाद्यन्तयोर्भाषयोराधिकृतत्वेऽप्ययुक्ततया चतसृणामपि भावतोऽपराधकत्वाविरोधस्य प्रज्ञापनाऽऽदावुक्तत्वात्। किञ्च-प्रतीत्यसत्यात्वलक्षणमत्र स्फुटमेव किं नोपात्ते?, न च सप्तभङ्ग्यात्मकवाक्यस्यैव प्रतीत्यसत्यात्वम्; अपेक्षाऽऽत्मकबोधजनकवाक्यत्वस्यैव तल्लक्षणत्वात्, अन्यथैकत्रापेक्षया ह्रस्वदीर्घाऽऽदिलौकिकवचनस्यालक्ष्यत्वाऽऽपत्तेः। न च सत्या सर्वत्रालौकिक्येव लक्ष्या, जनपदसत्याऽऽदिभेदानामसंग्रहाऽऽपत्तेः। ननु तथाऽप्युत्सर्गतोऽनादरणीयनयदुर्नयभाषयोरविशेषः। तथोक्तं वादिना-"सीमन्धरविस्पारण-मिच्छत्थोऽयं कओ समुल्लावो। इहरा कहामुहं चेव अत्थि एवं ससमयम्मि॥२५॥"(सम्म०३ काण्ड) इति चेत्। न।

शिष्यमतिविस्तारकत्वं हि नयवाक्यस्य प्रमाणात्मकमहावाक्यजन्यशाब्दबोधजनकावान्तरवाक्यार्थज्ञानजनकत्वं, तदनुकूलाऽऽकाङ्क्षोत्थापकत्वं वा, तेन नयाऽऽवृत्तीयत्वस्यैव सिद्धेः। तदुक्तं वादिनैव-"पुरिसज्जायं तु पडुच्च जाणओ पन्नविज्ज अन्नयरं। परिकम्मणानिमित्तं, दाएही सो विसेसं पि" ॥४९॥ (सम्म० १ का०) इति । प्रमाणवाक्यमपि ह्यनेकान्तद्वयशासिनं पुरुषविशेषमधिकृत्यैव प्रयुज्यते; तदनयोर्द्वयोरपि कारणिकत्वे प्राप्ते स्वस्वकाले औत्सर्गिकत्वमेव न्यायसिद्धम्; विप्रतिषिद्धकारणविधित्वे तथाव्युत्पत्तेः। तस्मात् "स्याद् ज्ञानाऽऽदिलक्षणो जीवः" इत्यपि सुनयवाक्यमेव, एकभङ्गरूपत्वात्। प्रमाणवाक्यता तत्राऽध्युत्थाप्याऽऽकाङ्क्षाक्रमेण भङ्गषट्कसंयोजनयैव। सकलाऽऽदेशत्वं च प्रतिभङ्गमनन्तधर्माऽऽत्मकत्वद्योतनेन; अन्यथा च विकलाऽऽदेशत्वमित्येके ॥ अखण्डवस्तुविषयत्वेन त्रिष्वेवाऽऽद्यभङ्गेषु तत्, चतुर्षु चोपरितनेषु एकदेशविषयत्वेन विकलाऽऽदेशत्वमित्यन्ये ॥ अयं व्युत्पत्तिविशेषः सर्वसप्तभङ्गीसाधारणः, स्याच्छब्दलाञ्छितैकमात्रेण तु न प्रमाणवाक्यविश्रामः, सुनयवाक्यार्थस्यैव ततः सिद्धेः। अत एव कृष्णः सर्प इत्यादिविशेषणविशेष्यभावबोधकवाक्येऽपि सर्पमात्रे कृष्णत्वव्याप्याद्यनन्ते व्यभिचारात् पृष्ठावच्छेदेन कृष्णोऽप्युदरावच्छेदेन शुक्ल्योपलम्भनात् स्याच्छब्दसंयोजनया नयवाक्यत्वमित्याह समन्तभद्रः। लक्ष्यलक्षणाऽऽदिव्यवहारोऽपि नयवाक्यैरेव सिद्ध्यति, उद्देश्यलौकिकबोधस्यानतिप्रसक्तस्य तेभ्य एव सिद्धेः। प्रमाणवाक्यत्वं लौकिकबोधार्थं सप्तभङ्ग्यात्मकमेवाऽऽश्रयणीयम्। अत एव तद्व्यापकत्वं सम्मत्यादौ महता च यत्नेन साधितमिति किमतिविस्तरेण ? ॥ ६ ॥

(१०) नन्वेकत्र वस्तुन्यनेकाऽऽकारा प्रमाणधीः, एकाऽऽकारा च नयधीः कथमुत्पद्यते ?, इति जिज्ञासायामाह-

यथा नैयायिकैरिष्टा, चित्रेऽनेकैकरूपधीः ।
नयप्रमाणभेदेन, सर्वत्रैव तथाऽऽर्हतैः ॥ ७ ॥

(यथेति) यथा नैयायिकैश्चित्रे नीलपीताऽऽदिना शबले पटाऽऽदावनेकरूपा नीलपीताऽऽद्याकारा, एकरूपा च चित्राऽऽकारा धीरिष्टाऽभ्युपगता, तथाऽनुभवात्, स्वाभिमतभेदाऽऽश्रयणाद्वा; तथा सर्वत्रैव वस्तुन्येकानेकरूपतया चित्रे प्रमाणनयभेदेन द्विविधा बुद्धिरार्हतैरिष्टा, अनुभवसिद्धेऽर्थे विरोधाभावादिति भावः। यथा च सर्वस्य वस्तुनश्चित्रत्वं तथोक्तमस्माभिरात्मख्यातौ, विस्तरभिया नेह प्रतन्यते।

चित्ररूपे तु मतभेदं तर्करसिकव्युत्पत्त्यर्थमुपदर्शयामः- तत्र नीलं नीलान्यरूपासमवायिकारणं न वेति चित्ररूपे विप्रतिपत्तिः, विधिकोटिः सामानाधिकरण्येन, निषेधकोटिरवच्छेदकावच्छेदेन। तेन नांऽशतो बाधः, सिद्धसाधनं वा। यत्तु नीलरूपासमवायिकारणकं पीतरूपासमवायिकारणकं न वेति प्रतिपत्तिरिति। तन्न। नीलरूपासमवायिकारणस्य नीलस्य पक्षत्वे बाधात्। चित्ररूपस्य पक्षत्वे आश्रयासिद्धेः। यदपि नीलरूपासमवायिकारणकवृत्तित्वविशिष्टरूपत्वं पीतरूपासमवायिकारणवृत्ति न वेति केषाञ्चिद्विप्रतिपत्त्युद्भावनम्। तदपि न रमणीयम्। विशिष्टस्य, विशिष्टाऽऽधेयताया वाऽनतिरिक्तत्वादिति दिक्।

तत्र नाकप्रशायिकाः-नानारूपवदवयवाऽऽरब्धे वस्तुनि नीलपीताऽऽदिभिरेकं संभूय चित्ररूपमारभ्यते। न च सामग्रीसत्त्वान्नीलाऽऽदिभिर्नीलाऽऽदेरपि तत्र जननाऽऽपत्तिः, अगत्या नीलेतररूपाऽऽदेर्नीलाऽऽदिकप्रतिबन्धकत्वकल्पनात्; प्रतिबन्धकताऽवच्छेदकः संबन्धः स्वसमवायिसमवेतत्वम्, प्रतिबध्यतावच्छेदकश्च समवायः। चित्रत्वावच्छिन्नेऽपि नीलेतरपीतेतररूपत्वाऽऽदिनैव हेतुना, तेन न केवलनीलकपालाऽऽरब्धे चित्रोत्पत्तिप्रसङ्गः। यत्स्वावयवनिष्ठनीलाभावाऽऽदिषट्कस्यैव चित्रं प्रति हेतुत्वमिति। तन्न। नीलपीतोभयकपालाऽऽरब्धे घटपाकनाशितावयवपीते स्वचित्रेऽवयवे व्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिकाले चित्रोत्पत्तेः। न च कार्यसहभावेन नीलाभावाऽऽदीनां तद्धेतुत्वादयमदोषः, नीलपीतश्वेतावयवकपालाऽऽरब्धे पीतश्वेतयोः क्रमेण नाशे श्वेतनाशकालेऽपि तदापत्तेरिति; पाकजचित्रे च न व्यभिचारः। पाकादवयवे नानारूपः, अन्यत्रानन्तरमेवावयविनि चित्रस्वीकारात्; पाकचित्रस्वीकारे च विजातीयचित्रं प्रति नीलेतरत्वाऽऽदिना हेतुना, अग्निसंयोगजचित्रे चावच्छेदकत्वसंबन्धावच्छिन्न [प्रति] योगिताका नीलजनकाग्निसंयोगाऽऽदेरभावरूपजनकविजातीयाग्निसंयोगाश्च हेतवः। अस्तु वा तेजःसंयोगमात्रजन्ये विजातीये चित्रे विजातीयतेजःसंयोगस्य हेतुत्वं, पाकयोरजन्ये विजातीये चित्रे चोभयोरेव रूपमात्रजाऽतिरिक्त एव वा विजातीयतेजःसंयोगो हेतुः, फलबलेन वैजात्यकल्पनात्। न चाग्निसंयोगजमात्रातिरिक्ते रूपमेव हेतुरस्तु इति विनिगमकाभावः। उभयपक्षे नीलेतराऽऽदिसमाजाभावस्यैव विनिगमकत्वादित्याहुः॥ शिरोमणिभट्टाऽऽचार्यमतानुसारिणस्तु- चित्रघटेऽव्याप्यवृत्त्येव नीलपीताऽऽदीनि नानारूपाणि, एकरूपमिति प्रतीतेरेकोऽवयवीति वत्समूहैकत्वविषयत्वात्; सविषयावृत्तिव्याप्यवृत्तिजातेरव्याप्यवृत्तित्वविरोधस्तु प्रामाणिक एव। अत एव "लोहितो यस्तु वर्णेन, मुखे पुच्छे च पाण्डुरः। श्वेतः खुरविषाणाभ्यां, स नीलो वृष उच्यते" ॥१॥ इति स्मृतिरप्युपपद्यते। अथाऽव्याप्यवृत्तिनीलाऽऽदिकल्पने गौरवम्। तथाहि- अवच्छेदकतासंबन्धेन नीलाऽऽदिकं प्रति समवायेन नीलेतररूपाऽऽदीनां प्रतिबन्धकत्वमस्मिन् पक्षे वाच्यम्, अन्यथा पीतावयवावच्छेदेन नीलोत्पत्तिप्रसंगात्। न च नीलस्य स्वाश्रयावच्छेदेन नीलजन्यत्वस्वाभाव्यादेव न तदापत्तिः, विनैतादृशप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावं तथा स्वाभाव्यानिर्वाहात्। ननु समवायेन नीलं जायत एव पीतावयवावच्छेदेनेत्यत्र चाऽऽपादकाभाव इति चेत्। न। समवायस्येवावच्छेदकताया अपि कारणनियम्यत्वात्। एवं च नीलाऽऽदौ नीलेन रूपाऽऽदीनां, नीलेतररूपाऽऽदौ वा नीलाऽऽदीनां प्रतिबन्धकत्वे विनिगमकाभावः। मम नीलेतररूपाऽऽदौ नीलाऽऽदीनां न प्रतिबन्धकत्वम्। नीलपीताऽऽरब्धे नीलरूपत्वप्रसङ्गस्य बाधकत्वादिति चेत्। नैवम्। ममाऽपि नीलत्वाऽऽदिकमेव प्रतिबध्यताऽवच्छेदकं, न तु नीलेतररूपत्वाऽऽदि; गौरवादिति वक्तुं शक्यत्वात्। न च नीलत्वेन प्रतिबन्धकत्वं, न तु नीलेतरत्वेन, गौरवादित्येव किं न स्यादिति वाच्यम्; प्रतिबन्धकताऽवच्छेदकगौरवस्यादोषत्वात्। अस्तु वाऽवच्छेदकतया नीलाऽऽदौ समवायेन नीलाऽऽदीनामेव हेतुत्वम्। न च नानारूपवत्कपालाऽऽरब्धघटनीलस्य तत्कपालावच्छेदेनोत्पत्तिप्रसङ्गः, केवलनीलत्वाऽऽदिनैव तद्धेतुत्वात्। न च केवलत्वं नीलाभावसमानाधिकरणत्वमिति गौरवम्, अनवच्छिन्नसमवायेन नीलाऽऽदिहेतुत्वस्यैव तदर्थत्वात्। समवायेन नीलाऽऽदौ च स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्धेन नीलाऽऽदीनां हेतुत्वं, व्याप्यवृ-

त्तिनीलरूपस्येऽव्याप्यवृत्तित्ववारणाय चावच्छेदकतया नीलाऽऽदौ स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायित्वसंबन्धेन नीलेतररूपाऽऽदीनां हेतुत्वमित्यव्याप्यवृत्तित्वपक्षेऽप्यावश्यकाः कार्यकारणभावाः, चित्ररूपपक्षेऽप्येतावन्त एव । चित्ररूपे नीलेतररूपाऽऽदीनां षट्कस्य, नीलाऽऽदौ च नीलाऽऽदिषट्कस्य हेतुत्वम्, नीलेतराऽऽदिषट्कस्य च नीलाऽऽदौ प्रतिबन्धकत्वमित्यादिनाऽऽधिक्याभावात् । वस्तुतोऽवच्छेदकतया नीलाऽऽदौ स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायिसमवेतत्वसंबन्धेन नीलेतररूपाविशिष्टनीलत्वाऽऽदिनैव हेतुत्वम् । न च नीलेतरत्वाऽऽद्यवच्छिन्नं प्रति नीलविशिष्टनीलेतरत्वाऽऽदिना हेतुत्वे विनिगमकाभावः, नीलत्वापेक्षया नीलेतरत्वस्य गुरुत्वात्, इत्थं चाभिनिष्कर्षेऽस्माकं द्वादशैव कार्यकारणभावा इति लाघवादित्याहुः । तदसत् । चित्ररूपस्वीकारपक्षेऽपि नीलाऽऽदौ नीलेतराऽऽदिप्रतिबन्धकत्वेनैव शुक्लावयवमात्राऽऽरब्धे नीलाऽऽद्यनुत्पत्तिनिर्वाहात्, नीलाऽऽदौ नीलाऽऽदिहेतुत्वाकल्पनात्, कार्यकारणभावसंख्यासाम्येऽप्यव्याप्यवृत्तिनानारूपतत्प्रागभावभावाध्वंसाऽऽदिकल्पने परं परस्यैव गौरवात् । किञ्च-अव्याप्यवृत्तिरूपपक्षेऽवच्छेदकतासंबन्धेन रूपे उत्पन्ने पुनस्तेनैव संबन्धेनावयवे रूपोत्पत्तिवारणायावच्छेदकतासंबन्धेन रूपं (प्रत्यवच्छेदकतासंबन्धेन रूपं) प्रतिबन्धकं कल्पनीयमिति गौरवम् । न चावयविनि समवायेनोत्पद्यमानमवयवेऽवच्छेदकतयोत्पत्तुमर्हतीत्यवयविनि रूपस्य प्रतिबन्धकस्य सत्त्वेन रूपसामग्र्यभावादेव नावयवेऽवच्छेदकतया तदा रूपोत्पत्त्यापत्तिरिति वाच्यम् । एवं ह्यवयविनिष्ठरूपाभावोऽवच्छेदकतासंबन्धेन रूपं प्रति हेतुर्वाच्यः, तथा च नानारूपवत्कपालाऽऽरब्धघटस्य नीलरूपाऽऽदेर्नीलकपालिकाऽवच्छेदेनानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, तदवयविनि कपाले रूपसत्त्वात् । अपि च-नीलपीतवत्याम्निसंयोगात्कपालनीलनाशात्तदवच्छेदेनानुत्पत्तिर्न स्यात्, समवायेन रूपं प्रति तेन रूपस्य प्रतिबन्धकत्वात्, नद्वच्छिन्नरूपे तदवच्छिन्नरूपस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पने चातिगौरवम् । अथावच्छिन्ननीलाऽऽदौ नीलाभावाऽऽदिघट्कमवयवगतमवयविगतं च हेतुः, रक्तनीलाऽऽरब्धे रक्तनाशकपाकेन व्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तौ चावयविनि नीलाभावाभावादवच्छिन्ननीलोत्पत्तिः, केवलनीले पाकेन कथाचिद्रक्तोत्पत्तौ च प्राक्तननीलनाशादेवावच्छिन्ननीलोत्पत्तिरिति चेत् । न । नीलपीतभेनाऽऽरब्धे भेनाऽऽद्यवच्छेदेन नीलजनकपाके सति प्राक्तननीलनाशेन तत्तदवच्छिन्ननानानीलकस्य नाशापेक्षया एकचित्रकल्पनाया एव लघुत्वात् । अथ व्याप्यवृत्तिरूपस्या[व्य]वच्छेदकत्वीकारादवच्छेदकतया नीलाऽऽदिकं प्रत्येव समवायेन नीलाऽऽदेर्हेतुत्वम् । न चैवं घटेऽपि तथा नीलाऽऽद्युपपत्तिः; अवयवनीलत्वेन, द्रव्यविशिष्टनीलत्वेन वा तद्धेतुत्वात् । न च नीलमात्रपीतमात्रकपालिकाद्वयाऽऽरब्धनीलपीतकपाले तदापत्तिः, नीलकपालिकाऽवच्छिन्नतदवच्छेदेन तदुत्पत्तेरिष्टत्वात्, अस्तु वा तथा नीलाऽऽदौ नीलेतररूपाऽऽदेरेव विरोधित्वमिति चेत् । न । नीलाऽऽदौ नीलेतररूपाऽऽदिप्रतिबन्धकतयैवोपपत्तौ तत्र नीलाऽऽदिहेतुतायां मानाभावात्, नानारूपवदवयवाऽऽरब्धे चित्ररूपस्यैव प्रामाणिकत्वाद् व्याप्यवृत्तेरवच्छेदकायोगान्नीलेतराऽऽदौ नीलाऽऽदेः प्रतिबन्धकत्वेऽविनिगमात् । यदि च-स्वाऽऽश्रयसंबन्धेन नीलं प्रति स्वव्यापकसमवायेन नीलरूपं हेतुरुपेयते, नीलपीताऽऽद्यारब्धस्थले च स्वाऽऽश्रयसंबन्धेन नीलरूपस्य पीतकपालेऽपि संभवेन व्यभिचारात्, रूपसंबन्धेन हेत्वभावादेव न तत्र नीलोत्पत्तिरिति विभाव्यते, तदा नीलं प्रति नीलेतररूपाऽऽदेः प्रतिबन्धकत्वे चित्ररूपत्वाऽऽदिना न कल्पनीयमित्यतिलाघवम् । एवं च सामानाधिकरण्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको नीलेतराभावः समानावच्छेदकत्वप्रत्यासत्त्या नीलहेतुरित्यपि निरस्तम्; समानाधिकरणस्य व्याप्यवृत्तित्वेन तत्संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराभावासत्त्वादेति बहवः संप्रदायं समादधते । केचित्तु-विजातीयचित्रं प्रति स्वविजातीयत्वस्वसंयुक्तत्वोभयसंबन्धेन रूपविशिष्टरूपत्वेनैव हेतुत्वम् । स्ववैजात्यं च चित्रत्वाद्यतिरिक्तं यत्स्ववृत्ति तद्भिन्नधर्मसमवायित्वम्, स्वसंवलितत्वं च स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायिवृत्तित्वम् । न च सत्त्वाननुगमः, संबन्धमध्ये तत्तत्प्रवेशात्संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां हेतुत्वादित्याहुः ॥ परे तु नीलपीतोभयाभावपीतरक्तोभयाभावाऽऽदीनां स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिकानां समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां विजातीयपाकोभयाभावाऽऽदीनां यावत्तावच्छिन्नप्रतियोगिताक एको भावश्चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुरित्याहुः ॥ रूपत्वेनैव चित्रं प्रति हेतुत्वम्, कार्यसहभावेनाचित्रेतराभावस्याहेतुत्वेनातिप्रसङ्गादित्यन्ये ॥ परे तु-चित्रत्वावच्छिन्ने रूपत्वेनैव हेतुत्वम्, नीलपीतोभयाऽऽरब्धवृत्तिचित्रत्वावान्तरवैलक्षण्यावच्छिन्ने च नीलपीतोभयत्वेन हेतुता । एवं नीलाभयाऽऽरब्धे सन्निनयत्वेन, नीलपीतोभयाऽऽदिमात्राऽऽरब्धे च नीलपीतान्यतराऽऽदितररूपत्वेन प्रतिबन्धकत्वाच्च चित्रतारतम्यचित्रवति त्रितयाऽऽरब्धसंप्रयोगः । न चैवं गौरवम्, प्रामाणिकत्वात् । वस्तुतः समवायेन त्रितयजचित्राऽऽदौ स्वाधिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्वसंबन्धेनैव त्रितयाऽऽदीनां हेतुत्वम्, नातः प्रागुक्तप्रतिबन्धकत्वकल्पनागौरवमित्याहुः । उच्छृङ्खलास्तु नीलपीतरक्ताऽऽद्यारब्धघटाऽऽदौ नीलपीतरक्ताऽऽदिष्वेव नीलपीतोभयजपीतरक्तोभयजतात्रितयजादीनामुत्पत्तिः, सर्वेषां सामग्रीसत्त्वात् । नात्र चरमं व्याप्यवृत्ति, इतराणि त्वव्याप्यवृत्तीनीति विशेषः । न चैकमेव तत्र तिष्ठतीति वाच्यम्, तत्तदवयवद्वयमात्रावच्छेदेन त्रयसन्निकर्षे विलक्षणविलक्षणचित्रोपलम्भात् । न च नीलपीताऽऽदिविशिष्टचित्रेणावान्तरचित्रप्रतीतिसंभवोऽवधारणे, सामान्यचित्रत्वेनावान्तरचित्राणां सामानाधिकरण्यप्रत्ययात् । न चैवं तदा नीलाऽऽद्यविशेषिता ये नीलाऽऽदिभेदास्तत्तदाश्रयरूपसमुदायेनानुगतचित्रप्रतीतेश्चित्रत्वं नीलाऽऽदिभेदसमुदायेन नीलाऽऽद्यनुगतप्रतीतिसम्भवान्नीलत्वाऽऽदिकमपि च विलीयेतेति जातेरव्याप्यवृत्तित्वे पुनरस्त्वेकमेव यत्किञ्चिदवच्छेदेन तत्र नीलत्वपीतत्वरक्तत्वविलक्षणचित्रत्वाऽऽदिसंभवादित्याहुः ॥ तदिदमखिलमशिक्षितप्रलापमात्रम् ॥ चित्रपटोचिते च रूपप्रतिपत्तेरनुभवविरुद्धत्वात्, शुक्लाऽऽदिरूपाणामपि परस्परभिन्नानां साक्षात्संबन्धेन निर्विभागानं तत्र प्रतीतेः, प्रत्येकव्यक्तिकल्पनागौरवेण प्रतीतिबाधे रूपाऽऽदेस्तु तन्मात्रगतत्वाऽऽपत्तेः । तदिदमाहुः संमतिटीकाकृतः-"न च चित्रपटाऽऽद्यवयवानां शुक्लाऽऽदिविशेषरूपमात्रं तदुपलम्भान्यथानुपपत्त्याऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्, कथं चित्ररूपः पट इति प्रतिभासाभावप्रसक्तेरिति, एकाधिकरणावच्छिन्नशुक्लाऽऽद्यवयवावच्छेदः, एवं कथञ्चित्समुदायातिरिक्तचित्रमिति, तत्र शुक्लाऽऽद्यग्रहे चित्राग्रहप्रसक्तिरित्येव तात्पर्यम् । किञ्च शुक्लावयवावच्छेदेनाऽपि चक्षुःसंनिकर्षेण चित्रोपलम्भः स्यात्; अथ चित्रत्वग्रहे परम्परयाऽवयवगतनीलेतररूपपीतेतररूपाऽऽदिमत्त्वग्रहो हेतुः, अतएव व्यधिकरणचित्रं चक्षुषा न गृह्यत इत्याचार्याः । न च चित्रत्वनिष्ठविषयतया चित्र-

त्वग्रहे स्वविशेषणसमवेतत्वसंबन्धेनोक्तस्य हेतुत्वे यद्यवयवगतत्वग्रहात् शुक्लावयवावच्छेदेन चित्रपटसंनिकर्षेऽपि तद्रूपचित्रत्वप्रत्यक्षाऽऽपत्तिरिति वाच्यम्, विशेष्यतया चित्रत्वप्रकारकप्रत्यक्ष एव चरमसमवेतत्वविनिर्मुक्तसंबन्धेन तद्धेतुत्वात् । न च नीलेतररूपत्वाऽऽद्यवच्छिन्नप्रकारताग्रहो न हेतुर्नीलपीतत्वाऽऽदिनाऽवयवगतनीलपीताऽऽदिग्रहेऽप्यवयविचित्रप्रत्यक्षोत्पादादिति वाच्यम्, विलक्षणचित्रप्रत्यक्षे तेन तेन रूपेण तत्तद्रूपग्रहस्यापि हेतुत्वात् । वस्तुतो नीलेतररूपत्वाऽऽदिव्याप्यत्वेन नीलेतररूपत्वपीतत्वाऽऽद्यनुगमान्न क्षतिरिति चेत् । न । द्व्यणुकचित्ररूपाग्रहे चतुरणुकचित्रप्रत्यक्षानुपपत्तेः, चित्रावयवाऽऽरब्धे चित्रग्रहेऽवयविविषयकनीलेतररूपत्वाऽऽदिव्याप्यचित्रत्वावच्छिन्नप्रकारकग्रहस्यैव हेतुत्वात् । यदि च नीलेतररूपपीतेतररूपाऽऽदिमदवयवावच्छिन्नेन्द्रियसंनिकर्षस्यावयवनीलाऽऽदिगतनीलत्वाऽऽदिग्रहप्रतिबन्धकदोषाभावानां च चित्रप्रत्यक्षे हेतुत्वम्, अतस्त्रसरेणुचित्रस्याऽपि चक्षुषा ग्रह इत्युच्यते, तदाऽनन्तहेतुहेतुमद्भावकल्पनागौरवात्, चित्रत्वं व्यासज्यवृत्त्यैव, तत्र च समानाधिकरणनानारूपग्रहव्यञ्जकत्वमित्येव कल्प्यमानं शोभते । न ह्येवं गौरवं, चित्रत्वग्रहे सामानाधिकरण्येन रूपविशिष्टरूपग्रहत्वेनैव हेतुत्वात्कुक्तहेत्वभावे चित्रत्वविनिर्मुक्तचित्रप्रत्यक्षस्य चोभयोस्तुल्यत्वात् । यदि च नानाऽवयवावच्छिन्नपर्यां [य] तद्वृत्ति एकं चित्रमप्यनुभूयतेऽत एवैकावयवावच्छेदेन चित्राज्ञानप्रतीतेरप्युपपत्तिरिति स्वीक्रियते, तदैकानेकचित्रद्रव्यस्वभावाभ्युपगमं विना न काऽप्युपपत्तिः, देशस्कन्धनियतधर्माणां तद्ग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वेनैवोपपत्तेः । देशस्कन्धपरिमाणविशेषग्रहेऽपीयमेव गतिरिति दिक् । किञ्च-नीलेतररूपाऽऽदिषट्कस्यैव चित्ररूपे हेतुत्वमित्येतावतैव नोपपत्तिः, अवयवगतोत्कर्षापकर्षनीलाभ्यामपि चित्रसंभवात् । ते चोत्कर्षापकर्षा विचार्यमाणा अनन्ता एव ।

तदाह श्रीसिद्धसेनः-

"पच्चुप्पण्णम्मि वि प-ज्जयम्मि भयणागइं पडइ दव्वं ।
जं एगगुणाऽऽईया, अणंतकप्पा गुणविसेसा" ॥६॥ (स० ३ का०)

व्याख्या-प्रत्युत्पन्ने वर्त्तमानेऽपि पर्याये भजनागतिं भेदाभेदप्रकारं पतत्यासादयति द्रव्यम्, यस्मादेकगुणाऽऽदयः कृष्णत्वाऽऽदयोऽनन्तप्रकारास्तत्र गुणविशेषाः प्रकारवाचिनः ।

तेषां च मध्ये केनचिदेव गुणविशेषेण युक्तं तदिति कृष्णं हि द्रव्यं द्रव्यान्तरेण तुल्यमधिकमूनं वा भवेत्, प्रकारान्तराभावात् । आद्ये सर्वतुल्यत्वे तदेकताऽऽपत्तिः । इतरयोः संख्येयाऽऽदिभागगुणवृद्धिहानिभ्यां षट्स्थानकप्रनिपातिरवश्यंभाविनी । तथा च प्रतिनियतहानिवृद्धियुक्तकृष्णाऽऽदिपर्यायेण सत्त्वं, नाऽन्येनेति । इत्थं च नीलत्वाऽऽद्यवान्तरजातीनामनन्तत्वात् तरतमशब्दमात्रेण तदनुगमस्य कर्तुमशक्यत्वात् । तत्तदवान्तरजातीयनीलपीताऽऽदीनामनन्तानां चित्रहेतुत्वकल्पने गौरवमिति षट्स्थानपतितवर्णपर्यायेण चित्रद्रव्यमेव स्वसामग्रीप्रभवमभ्युपगन्तव्यम्; आर्थसमाजसिद्धधर्मस्याऽपि तथा जन्यत्वकार्यतावच्छेदकत्वस्वीकारात् । एतेन चित्रप्रत्यक्षमनेकताऽवच्छेदकमपि चक्षुःसंयोगनिष्ठं वैजात्यं स्वीकर्त्तव्यमित्यपि निरस्तम् । सूक्ष्मेक्षिकयाऽनन्तावान्तरवैजात्यानुगमादनन्तवैजात्यकल्पनाऽऽपत्तेरनन्तप्रामाणिकत्वादिति द्रष्टव्यम् । अव्याप्यवृत्तिरूपपक्षेऽप्यवयवगतोत्कर्षापकर्षनीलाभ्यामवयविनीलयोरवच्छिन्नयोः सामान्यसामग्रीवशादयोऽनवच्छिन्नस्य नीलस्योत्पत्तिप्रसङ्गोऽवयविनीलेतरत्वाऽऽद्यवच्छिन्नं प्रत्यवयवनीलेतरत्वाऽऽदिना हेतुत्वे नीलत्वावच्छिन्नस्याऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गः । किमाकस्मिकत्वमिति चेत् ?, तद्धर्मावच्छिन्नार्थे तदाप्रवृत्तिविरहः, एतत्कारणसत्त्वे नीलत्वावच्छिन्नस्यावश्यमुत्पत्तिरित्यनियमश्च प्रतीयते । तत्र नीलसामान्यमनवच्छिन्नम्, अवच्छिन्नाश्च तद्विशेषाः । केवलशुक्लेऽपि च स्वरूपबहुत्वयावदवच्छेदेनेन्द्रियसंनिकर्षेऽणुमहत्त्वोपेतशुक्लविशेषाः, तदनुगतं शुक्लसामान्यं चैकानेकवर्णविशिष्टद्रव्यपरिणामाभ्युपगमं विना न कथमपि निस्तारः । एतेनाऽव्याप्यवृत्तिनीलाऽऽदिकल्पने ग्राहकान्तरकल्पने अव्याप्यवृत्तिद्रव्यसमवेतप्रत्यक्षत्वाऽवच्छिन्नं प्रति चक्षुःसंयोगकावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसंबन्धावच्छिन्नाऽऽधारतासंनिकर्षेण संयोगाऽऽदिप्रत्यक्षस्थले चक्षुस्तेनैवातिप्रसङ्गात् । नीलपीतोभयकपालाऽऽरब्धघटीयनीले च नीलकपालेनैव परम्परयाऽवच्छेदकत्वाभ्युपगमादित्यादि निरस्तम् । शाखामूलोभयावच्छिन्नदीर्घतन्तुतरुसंयोगवन्नीलेतरोभयाऽऽद्यवयवावच्छिन्नविलक्षणरूपस्याऽनुभवसिद्धत्वेन तद्ग्राहकोभयाऽर्द्धपर्याप्तावच्छेदकताकाऽधिकरणतागर्भसंनिकर्षाऽऽदिकल्पनाया अप्यावश्यकत्वादुपदर्शितसंयोगस्थलेऽपि एकैकावच्छिन्नसंयोगद्वयस्वीकारे च तद्विलक्षणता सर्वैश्च नीलेतराऽऽरब्धेऽवयविनि नीलानीलं स्वस्वावच्छेदेन समुत्पद्यमानं रूपमविरोधाद् व्यापकमेवोत्पद्यते, सजातीयविजातीयेषु नानापदार्थेषु जायमानं समूहाऽऽलम्बनमिवैकं ज्ञानमिति सर्वं विलुलशीर्णं स्यात्, यथा दर्शनसंस्कारतात्पर्याभ्यां नानैकसंयोगरूपाभ्युपगमे व्यञ्जितं स्याद्विनैव (?) । एतेन नानारूपवदवयवाऽऽरब्धे व्याप्यावृत्तीन्येव नीलपीताऽऽदीन्युत्पद्यन्ते, नीलाऽऽदिकं प्रति नीलेतराऽऽदिप्रतिबन्धकत्वमीलाऽऽदिकारणत्वकल्पनापेक्षया व्याप्यवृत्तिनीलपीताऽऽदिकल्पनाया एव न्याय्यत्वादित्यपि परेषां मतं निरस्तम्, नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसंनिकर्षे पीताऽऽदेरुपलम्भाऽऽपत्तेरपि तत्र दोषत्वात् । तदाह सम्मतिटीकाकारः-"आश्रयव्यापित्वेऽप्येकावयवसहितेऽप्यवयविन्युपलभ्यमानेऽपरावयवानुपलम्भादप्यनेकरूपप्रतिपत्तिः स्यात्, सर्वरूपाणामाश्रयव्यापित्वादिति ।" न च नीलाऽऽद्यवयवावच्छिन्नसंनिकर्षस्य नीलाऽऽदिग्राहकत्वकल्पनाददोषः, पीतकपालिकाऽवच्छिन्ननीलपीतोभयकपालावच्छेदेन संनिकर्षेऽपि नीलग्रहप्रसङ्गात् । न च केवलनीलावयवावच्छिन्नसंनिकर्ष एव ग्राहक इति वाच्यम्, नीलपीतोभयद्व्यणुकाऽऽरब्धत्रसरेणुनीलप्रत्यक्षाऽऽपत्तेः । परमाणुसंनिकर्षेऽस्यैव परमाण्ववच्छिन्नसंनिकर्षस्याऽपि द्रव्याग्राहकत्वेन तत्तद्रूपाग्राहकतया चित्रस्वभावत्वमानुभविकम्, तथा ग्राहके ज्ञानेऽपि तत्राकारानया एकाऽऽकारतायाः, सकारणानां च नानाऽऽकारताविशेष्यतासांसर्गिकाविषयतानां नयनिरूपितानां शुद्धानां चानुलोमप्रतिलोमभावेन समानम्, सांवित्संवेद्यतानियामकवैचित्र्यशालिनीनां च बह्वीनामनुभवात् । अत एव "सावज्जजोगविरओ, तिगुत्तो छसु संजओ । उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइयं होइ ॥१॥" इति सप्तनयाऽऽत्मकमहावाक्यार्थज्ञाने एकाऽवच्छिन्ना प्रमाणाऽऽकारता, अनेकाभ्यांशिकयो नयविषयतापरस्परसंयोगजाश्च बह्व्योऽनुभूयन्ते । नैयायिकास्तु-विशेषणं, तत्र च विशेषणान्तरम् १, विशिष्टस्य वैशिष्ट्यम् २, एकविशिष्टेऽपरवैशिष्ट्यम् ३, एकत्र द्वयम् ४; इत्येवं चतुर्धा

विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धिः । तत्र प्रथमद्वये विशेषेण विशेष्यताऽवच्छेदकप्रकारकनिश्चयत्वाभ्यां हेतुता, इतरद्वये तु विशेषणज्ञानासंसर्गाग्रहयोः, विशेष्ये विशेषणमितिरीत्या बुद्धित्वं - रक्तत्वाऽऽद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितदण्डत्वाऽऽद्यवच्छिन्नप्रकारकबुद्धित्वम्, तेन दण्डो रक्तो दण्डवान्पुरुष इति समूहाऽऽलम्बने नातिप्रसङ्गः, तत्र दण्डत्वावच्छिन्नप्रकारतायाः रक्तत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितत्वात् । न च विशिष्टवैशिष्ट्यविषयतास्वीकारे रक्तदण्डवानित्यत्र विशेष्ये विशेषणमितिविषयितायां दण्डो रक्तो दण्डवान्पुरुष इति समूहालम्बनव्यावृत्तायां मानाभावः । रक्तरूपदण्डत्वोभयावच्छिन्नदण्डनिष्ठप्रकारताभिन्नाया रक्तरूपत्वाऽवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितशुद्धदण्डत्वावच्छिन्नप्रकारताया आनुभाविकत्वम् । किञ्च-रक्तदण्डवानित्यादिवाक्यादयुगपदुपस्थितसघटकाखिलपदार्थाज्जायमानाया अनन्विताभ्वयबुद्धेः रक्तो दण्डो दण्डवान्पुरुष इति वाक्यजसमूहाऽऽलम्बनवैलक्षण्ये रक्तदण्डाभाववानित्यादिबाधधीकालेऽप्युत्पत्त्यापत्तिरिति तत्प्रतिबध्यताऽवच्छेदकतयैव तत्सिद्धिः रक्ताधिया रक्तरूपत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितशुद्धदण्डत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपुरुषत्वाऽवच्छिन्नविशेष्यताकाधियैव प्रतिबध्यत्वाद्विशिष्टवैशिष्ट्यविषयताया बाधप्रतिबध्यतावच्छेदकत्वे उक्तस्थल एवानुपपत्तेः। अपि च-विशकलितज्ञानाद् व्यापकविषयताशालिमानसस्वीकारेण तत्साधारण्येनैव प्रतिबध्यत्वं युक्तिमत् । अथैवं दण्डो रक्तो न वेति संशयकाले रक्तवाक्याद्विशेष्ये विशेषणमिति रीत्याऽन्वयबोधाऽऽपत्तिरिति चेत् । न । प्रथममिष्टत्वात्, अनन्तरं च विशिष्टस्य वैशिष्ट्यमिति रीत्याऽन्वयधियः संभवात् । तदनुभवोऽप्यविरुद्धः, प्रात्यक्षिकी बुद्धिरप्युक्तसंशयकाले रक्तत्वांशे संशयाकारा इष्टैव । यत्तु घटघटत्वाऽऽदिनिर्विकल्पकोत्तरं घटवादित्याकारा धीर्विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या जायत इति । तत्र घटाऽऽद्यंशे तद्धीप्रकारताया निरवच्छिन्नत्वेऽपसिद्धान्तः, जात्यतिरिक्तस्य किञ्चित्प्रकारेणैव भानात् । तादृशधीविरोधिनोऽसंसर्गाग्रहस्यासंभवात्तथा विशेषणधियोऽहेतुत्वाच्च । तस्या घटत्वाऽऽद्यवच्छिन्नत्वे तु तद्धियो घटो नास्तीत्यादिबुद्धिवद्विशिष्टवैशिष्ट्यधीत्वस्यैवाप्यवसितप्रकारकज्ञानमेवोपनायकम्, तस्य च कार्यतावच्छेदकं लौकिकविषयिताशून्यम्, तद्विषयिकज्ञानत्वापेक्षया लाघवाद्विशिष्टवैशिष्ट्याऽऽश्रयविषयताशालिप्रत्यक्षत्वमेवेति घटत्वप्रकारकज्ञानोत्तरं जायमानायां घटवादिति बुद्धौ विशिष्टवैशिष्ट्यधीत्वमेव; निर्विकल्पकोत्तरं तु विशेष्ये विशेषणमितिरीत्या लौकिकविषयताशालिज्ञानस्यैव स्वीकारात् । न च दण्ड इत्याद्यात्मकमानसबोधासंग्रहः, तत्र ज्ञानांशे दण्डस्य प्रकारकत्वात् । न चास्मन्मुपनीतभावे च ज्ञानाभावेऽपि तत्रागत्या लौकिकविषयताशून्यत्वं निवेशनीयम्; तादात्म्येन स्वस्मिन् स्वप्रकारकत्वाभ्युपगमादित्यादि निरस्तम् । नव्यमते निर्विकल्पकसाधारणप्रत्यासत्तिस्वीकारेणोपनयकार्यतावच्छेदके लौकिकविषयिताशून्यत्वस्यैव निवेशात् घटवदित्यादौ सर्वत्र विशेष्ये विशेषणमितिरीत्या विषयतायां प्रागसत्त्वादुक्तबाधकस्यैव न साम्राज्यार्थेति(?)भावः, दण्डो न वेति संशयकाले दण्डाभाववानितिधीर्विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या स्यात्, तथाऽभावे प्रतियोगिताऽवच्छेदकविशिष्टप्रतियोगिनो बुद्धेरप्रसिद्ध्या तत्प्रतिबन्धकत्वस्याप्ययोगादिति चेत् । न । तादृशबुद्धेरप्रसिद्धत्वे दण्डाभावसंसर्गाग्रहाऽऽदिसामान्यसामग्र्या विशिष्टवैशिष्ट्यविषयिताबोध एव हेतुत्वात्, तादृशबुद्धेरापादकाभावाद्विशेष्ये विशेषणमिति विषयितायाः वैशिष्ट्यविषयिताकबोध एव हेतुत्वात्, तादृशबुद्धेरापादकाभावाद्विशेष्ये विशेषणमिति विषयिताया विशिष्टवैशिष्ट्यविषयिताव्यापकत्वे दण्डाभाववदिति ज्ञानेऽपि तस्याः सत्त्वेन तदवच्छिन्नं प्रति प्रतिबन्धकत्वसंभवाच्च । अत एव दण्डो रक्तो न वेति संशयकाले यदि विशेष्ये विशेषणमिति रीत्याऽपि रक्तदण्डवानिति धियो नोत्पत्तिः, तदा तत्र दण्डो रक्त इत्यादिनिश्चयाभावविशिष्टो दण्डो रक्तो न वेत्यादिसंशयः प्रतिबन्धकः स्वीक्रियते । इत्थं च व्यापकत्वाद् विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या विषयतैवानुमितिप्रवृत्त्यादिजनकताऽवच्छेदिका । विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वं तु रक्तदण्डत्वाऽऽदिविशिष्टपर्याप्तप्रकारताकबुद्धित्वं रक्तदण्डेन जानामीति प्रतीतेरिति संप्रदायविदः । तदसत् । अस्या एवाऽनुमित्यादिजनकताऽवच्छेदकत्वे विशिष्टवैशिष्ट्यविषयितायां मानस्य दूरापास्तत्वात् । रक्तदण्डवानित्यादिज्ञानेऽपि रक्तत्वाऽऽदिप्रकारतानिरूपितदण्डाऽऽदिनिष्ठविशेष्यताया एवानुभवात् रक्ताऽऽदेर्दण्डाऽऽदिविशेष्य इत्येव प्रतीतेः। तस्माद्विशिष्टवैशिष्ट्यविषयताकबुद्धित्वमेवानुमित्यादिजनकताऽवच्छेदकम् । विशेष्ये विशेषणमिति बुद्धित्वं तु विशेषणताऽवच्छेदकसंशयकालीनज्ञानसाधारणमित्यलं संशयप्रतिबन्धकत्वेन, विशिष्टपर्याप्तप्रकारत्वाऽसंभवभिया परामर्शवैशिष्ट्यबुद्धित्वमित्यपि न युक्तम् । वह्निव्याप्यधूमवानित्यादौ विशिष्टव्याप्तेरसिद्धत्वेन प्रकारत्वासंभवभिया परामर्शः,दीधितौ खण्डशो निरुक्तेरानर्थक्याऽऽपातात् । अनेन वैशिष्ट्यं च वैज्ञानिकम्, तेन लोहितवह्निमानित्यादौ न विशिष्टवैशिष्ट्यबोधानुपपत्तिरिति मथुरानाथाद्युक्तमपास्तम् । विशिष्टवैशिष्ट्यविषयताविशेषणताऽवच्छेदकसंबन्धभेदेन भिन्नेति सर्वैः स्वीकारेण समवायाऽऽदिघटिततत्संभवस्य वैज्ञानिकसंबन्धेन समाधातुमशक्यत्वाच्च, तत्तत्संबन्धेन विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्य तत्तत्संबन्धनिरूपितवैज्ञानिकसंबन्धेनैव विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वाऽवच्छिन्नं प्रति हेतुत्वकल्पने स्वातिगौरवम्, संशयदशायामपि शुद्धसंबन्धेन कार्याऽऽपत्तिश्च । न चेष्टापत्तिः, अनुभवविरोधात्, अन्यथा विशिष्टवैशिष्ट्यं न कार्यतावच्छेदकम्, अर्थसमाजसिद्धत्वाद्विशेषणज्ञानद्वयादेव तादृशबोधाऽऽपत्तिरिति मिश्रमतसाम्राज्याऽऽपत्तिः,दण्डो रक्तो न वेति संशयानन्तरमजायमानस्य, दण्डो रक्त इति निश्चयानन्तरं च जायमानस्य बोधस्याऽनुभवसिद्धत्वात् । एवं हि तत्रोक्तकार्यकारणभावेन तन्मतं निराक्रियते, नियतसंबन्धगर्भत्वेऽप्ययमेव युक्तिरिति । इदं तु स्याद्रक्तदण्डवानित्यत्र दण्डाऽऽश्रितैव प्रकारता, तदवच्छेदकता च रक्तदण्डत्वे न पर्याप्ता, रक्तेन दण्डत्वेन चामुमत्र जानामीति प्रतीतेर्व्यधिकरणस्याप्यवच्छेदकत्वात् । तत्त्ववच्छेदकत्वाऽऽदिकम् इदं रजतमित्यादि पीतशङ्खवदित्यादिभ्रमयद्विरुद्धम् । साऽवच्छेदकता तत्तद्धर्मांशे समानाधिकरणव्यधिकरणतत्तत्संबन्धावच्छिन्ना, तत्र निरूपकबुद्धित्वं विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वं वह्निव्याप्ये धूमवानित्यादावपि संभवतीत्यलं दीधितिकृतः खण्डशो निरुक्ताः; व्ययमेवानुमित्यादिजनकताऽवच्छेदिका नानाप्रकारताऽऽदिघटितधर्मस्य जनकताऽऽद्यवच्छेदकत्वे गौरवादिति । अथ दण्डो रक्त इति निर्णयस्य रक्तत्वदण्डत्वोभयधर्मावच्छिन्नप्रकारताकत्वं जन्यताऽवच्छेदकमित्यभ्युपगमेऽपि रक्तत्वधर्मिताऽवच्छेदकदण्डत्वप्रकारकनिर्णयजन्ये दण्डरक्तवानिति विशिष्टवैशिष्ट्यबोधे व्यभिचार इति चेत् । न । रक्तत्वप्रकारतानिरूपितदण्डत्वावच्छिन्न-

विशेष्यताशालित्वस्याऽपि तादृशनिर्णयजन्यतावच्छेदके प्रवेशात्, उक्तस्थले दण्डत्वप्रकारतानिरूपितरक्तत्वावच्छिन्नविशेष्यताया एव सत्त्वात् । उभयधर्मावच्छिन्नप्रकारतां परित्यज्योभयपर्याप्तप्रकारतानिवेशेन हेतुत्वस्वीकारे तु पर्वतो लौहित्याभाववानिति ज्ञानकाले लोहितवह्निमानिति विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्ध्यवगमाऽऽपत्तिः; पर्वतो न लोहित इति ज्ञानस्य लौहित्यप्रकारकपर्वतविशेष्यकज्ञान एव प्रतिबन्धकत्वात् । न च रक्तत्वावच्छिन्नविशेष्यताकरक्तप्रकारकस्य रक्तो रक्त इति स्मरणस्य प्रसङ्गः, तत्र तथा निर्णयस्य हेतुत्वादिति वाच्यम्; रक्तत्वावच्छिन्नविशेष्यतायास्तत्र रक्तत्वप्रकारतानिरूपितत्वेऽपि रक्तत्वावच्छिन्नविशेष्यतात्वे तस्यास्तादृशप्रकारतानिरूपितत्वानभ्युपगमात्, तेन रूपेण रक्तत्वप्रकारतानिरूपितत्वेऽपि रक्तत्वावच्छिन्नविशेष्यतात्वे तच्छालित्वं ज्ञानस्यैव, रक्तो रक्त इत्याकारकस्मृतिजनकतया तादृशस्मरणाऽऽपत्त्यसंभवात् । दण्डो रक्तो न वेति संशयानुव्यवसायस्तु वस्तुत्वाविशिष्टदण्डवैशिष्ट्यावगाही रक्तदण्डेन संदेहीत्यप्रत्ययात्, किं तु रक्तत्वतदभावप्रकारकत्वदण्डविशेष्यकत्वावगाही रक्तत्वेन तदभावेन च दण्डं संदेहीति प्रत्ययादिति न तत्र व्यभिचार इति केचित् । तच्चिन्त्यम् । समुच्चयानुव्यवसायवत्तद्विशेषणद्वयनिरूपितवैशिष्ट्यविषयताशालित्वस्यैव वक्तुं शक्यत्वात् । रक्तदण्डे न संदेहीत्यनभिलापस्य दण्डकं जानामीत्यनभिलापवदेवोपपत्तेर्ज्ञानत्वेन संदेहाऽनुव्यवसाये चोक्तप्रकाराभावाद्विशेषणापर्युल्लिख्यमानस्य विशेषणताऽवच्छेदकस्य विशेष्यनिष्ठसंबन्धावगाहिताया यथोक्तज्ञाने समर्थने चान्यत्राप्यतिप्रसङ्गात् । तस्माद्विशेष्ये विशेषणमिति रीत्यैव संशयानुव्यवसाय इति न व्यभिचार इति बहवः । न च संदेहीत्यनुव्यवसायस्य विशेषणमिति रीत्याऽभ्युपगमे रक्तदण्डो द्रव्यमिति व्यवसायानन्तरमपि रक्तदण्डं जानामीत्यनुव्यवसायप्रसङ्ग इति वाच्यम्, रक्तविशिष्टप्रकारतानिरूपितविषयित्वसांसर्गिकविषयितानिरूपितविशेष्यतासंबन्धेनाऽनुव्यवसायं प्रति रक्तत्वप्रकारतानिरूपितदण्डत्वावच्छिन्नविशेष्यताकत्वेन व्यवसायहेतुताया आवश्यकत्वात् । अन्यथा रक्तो दण्ड इति प्रत्यक्षानन्तरं रक्तवान् दण्डश्चेति समूहाऽऽलम्बनस्मरणाऽऽदिस्थले रक्तदण्डं स्मरामीत्यनुव्यवसायोपपत्तेः । न च दण्डो रक्त इति ज्ञानोपरमेऽपि रक्तदण्डं करोमीत्याकारककृतिसाक्षात्कारोत्पत्त्या व्यभिचारः, हेतुताऽवच्छेदके ज्ञानज्ञाननिवेशे च रक्तदण्ड इत्युद्बुद्धसंस्काराद्रक्तत्वनिर्विकल्पकदशाया विशिष्टबोधाऽऽपत्तिः, उद्बोधकानां संस्कारजविशिष्टवैशिष्ट्यबोधहेतुत्वेऽपि तदभावे सामान्यसामग्र्या फलजननेनाबाधकभावादिति वाच्यम्, कृतिसाक्षात्कारपूर्वं नियमतो दण्डो रक्त इति स्मरणानभ्युपगमात् । वस्तुतः संस्कारव्यावृत्तज्ञानेच्छाकृतिवृत्तिजातिविशेषं कल्पयित्वा विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकविजातीयगुणत्वेनैव हेतुत्वं स्वीक्रियते, अनन्तस्मृतिव्यक्तिहेतुत्वकल्पनापेक्षया तादृशजातिकल्पनाया एवोचितत्वात् । न च कृतिसाक्षात्कारपूर्वं विषयस्मृतिकल्पनमावश्यकम्, अन्यथोपनायकज्ञानविरहेण विषयज्ञानासंभवेन कृतिसाक्षात्कारानुदयप्रसङ्गादिति वाच्यम्; ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तेरपीच्छाकृतिसाधारणतद्विषयकविजातीयगुणत्वेनैव हेतुत्वोपगमात् । अवश्यं च गुणमानसजनकतावच्छेदकतया संस्काराऽऽदिव्यावृत्तजातिविशेषकल्पनम् । अन्यथा संस्काराऽऽदिमानसताऽऽपत्तेरिति विशिष्टवैशिष्ट्यानुभवत्वमेव च जन्यताऽवच्छेदकमाश्रीयते, स्मरणे च तादृशविषयतानियामक इति बहवः । केचित्तु अनुभवत्वजातौ मानाभावेन ज्ञानत्वस्याऽपि नित्यसाधारणतया जन्यताऽवच्छेदकत्वाजन्यप्रत्यक्षवृत्तिजातिविशेष एव विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकनिर्णयजन्यताऽवच्छेदकोऽनुमित्यादौ च परामर्शाऽऽदिरेव तादृशविषयतानियामकः, एवं शाब्दबोधेऽवान्तरवाक्यार्थबोध एव, तथाऽप्यविजातीयप्रत्यक्षत्वस्य तज्जन्यताऽवच्छेदकत्वं इतरव्यापकीभूताभावप्रतियोगिपृथिवीत्ववति पृथिवीत्याकारकपरामर्शादितरभेदत्वप्रकारकज्ञानदशायामिव तच्छून्यदशायामपि पृथिवीतरभेदवतीत्याकारकविशिष्टवैशिष्ट्यविषयताशालिन्याऽनुमितेरापत्तिः, तादृशानुमितावन्वयव्याप्तिज्ञानस्यैव हेतुत्वापत्तिरस्त्युक्तौ च स्वातन्त्र्येणेतरभेदत्वप्रकारकज्ञानस्य सत्त्वे तादृशानुमित्यनुदयाऽऽपत्तिः । न च पृथिव्यामितरभेदविशेष्यकानुमितेरेव स्वीकाराऽऽवश्यकमापत्तिः, साध्यविशेष्यकानुमितौ साध्यप्रसिद्धेर्विरोधितया तत्र तादृशानुमित्युत्पादासंभवात् । न च विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या पृथिवीतरभेदवतीत्याकारानुमितिस्तत्र जायत एवेति वाच्यम्, तथा सति साध्यज्ञानशून्यकाले तादृशपरामर्शात्पृथिव्यामितरभेदः पृथिवीतरभेदवतीत्याद्याकारकद्विविधविषयताशालिन्या अनुमितेरापत्तेः । न च विशिष्टबुद्धिं प्रति विशेषणज्ञानस्य हेतुत्वान्नेयमापत्तिः, एवमपि प्रमेयत्वेनेतरभेदज्ञानकाले तथाविधानुमितेरापत्तिसंभवात् । न च प्रमेयत्वाऽऽदिना साध्यज्ञानकाले साध्यविशेष्यकानुमितिप्रतिबन्धकीभूतसाध्यसिद्धिसत्त्वे तत्र तथाविधविषयताशाल्यनुमित्यापत्तिरिति वाच्यम्, साध्यताऽवच्छेदकप्रकारकसिद्धेरेव साध्यविशेष्यकानुमितिविरोधित्वात् । अन्यथेतरभेदत्वरूपेण भेदान्तरावगाहिसिद्धिकाले तादृशानुमितिवारणाय तत्र पक्षविषयतानिवेश्यासिद्धेः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावान्तराऽऽपत्तेः, तस्मादितरभेदत्वप्रकारकज्ञानकालीनव्यतिरेकव्याप्तिज्ञानजन्यानुमितिविशिष्टवैशिष्ट्यविषयतास्वीकार आवश्यकः, तत्साधारण्यं च विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकज्ञानजन्यताऽवच्छेदकस्यावश्यकम् । तथा च सतीतरभेदत्वप्रकारकज्ञानशून्यकाले विशेष्ये विशेषणमिति रीत्येतरभेदत्वप्रकारकद्विविधविषयताशाल्यनुमित्यापत्तिः, विशिष्टवैशिष्ट्यानवगाहिन्या विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या जायमानाया अनुमितेरप्रसिद्धेः । विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिन्यां च विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकनिर्णयस्य हेतुत्वादिति चेत्, एवमप्यनुमितौ स्वातन्त्र्येणैव हेतुत्वम्, अनुमितिसाधारणजन्यताऽवच्छेदकत्वे नित्यव्यावर्तनाय जन्यत्वनिवेशस्यावश्यकत्वम्, मिथो विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेण नानाकार्यकारणभावस्याऽऽवश्यकत्वादवच्छेदकप्रकारकज्ञानशून्यकालीनस्मरणे ईश्वरज्ञाने च विशेष्ये विशेषणमित्येतादृशविषयतामात्रमभ्युपेयते, अतो न व्यभिचारः, न वा नित्यसाधारणमित्याहुः । केचित्तु-विशेषणताऽवच्छेदकसंशयकाले विशिष्टवैशिष्ट्यबोधं स्वीकृत्य विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेनैव हेतुत्वमाहुः । तदसत् । संशयसाधारणज्ञानस्य हेतुत्वेऽप्रामाण्यनिर्णयस्यैवोत्तेजकतया निर्णयत्वेन हेतुत्वे स्वप्रामाण्यज्ञानस्यैव तथात्वे निर्णयत्वेन हेतुत्वकल्पनाया एवोचितत्वात् । अन्यथा विशेषणताऽवच्छेदप्रकारकज्ञानीयनिर्णयत्वापेक्षया गुरुशरीरस्याप्रामाण्यज्ञानानिर्णयत्वस्य निवेशने महागौरवप्रसङ्गात् । अथ विशेषणताऽवच्छेदकसंशयकाले तत्र चाप्रामाण्यशङ्कायां भवन्मतस्य

इव ममापि विशिष्टवैशिष्ट्यबोधो न जायते, इत्यप्रामाण्यज्ञानत्वावच्छिन्नाभावस्यैव निवेशे क दोषः ?, इति चेत्, एवमपि संशयसाधारणज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यबोधहेतुत्वेऽनुमित्यादिकं प्रति परामर्शहेतुत्वे व्याप्त्याद्यंशे निर्णयत्वानिवेशे महागौरवाद्विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्य चानाहार्यस्यैव हेतुत्वस्वीकारादाहार्यतदुत्तरोत्पन्नज्ञाने व्याप्त्यंशे निर्णयत्वनिवेशानावश्यकत्वात् । ननु तथाऽपि विशेष्ये विशेषणमितिज्ञानसाधारण्ये चाऽतिरिक्तप्रकारिताऽस्तु, तदवच्छिन्नेऽप्रामाण्यनिश्चयाभावकूटविशिष्टसंशयाभावस्य नियामकत्वात् — प्रामाण्यज्ञानाभावकूटविशिष्टनिश्चयत्वावच्छिन्नतो लघुत्वादियमेव योग्यता ज्ञानाऽऽदेर्निष्ठहेतुताऽवच्छेदिका, बाधाऽऽदिप्रतिबन्धकताऽवच्छेदिका च । अत एवानन्विताऽन्वयबुद्धेर्बाधाऽऽदिप्रतिबध्यत्वप्रतिबन्धकत्वे, अत एव च व्याप्तिप्रकारकं निश्चयोत्तरमपि व्याप्यभावांशे आहार्यसंशयाऽऽत्मकतथाविधज्ञानादनुमित्यनापत्तिः, कार्यतासहभावेन तथाविधसंशयस्य प्रतिबन्धकत्वादिति चेत् । न । अप्रामाण्यनिश्चयत्वावच्छिन्नाभावविशिष्टनिरुक्तसंशयाभावत्वेन हेतुत्वे गौरवात्, प्रतियोगिताऽवच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्य प्रतियोगिताऽवच्छेदकविशिष्टविषयकेऽभावस्य प्रत्यक्षे हेतुत्वं कल्पमानमभावांशाप्रवेशेन लाघवात्तादृशज्ञान एव युक्तमिति तद्बलेन निश्चयजन्यताऽवच्छेदकविशिष्टवैशिष्ट्यविषयतासिद्धेश्च; शाकपाकजत्वाऽऽदौ साध्यव्यापकत्वसंदेहेनाहिते हेतौ साध्यव्यापकत्वव्यभिचारसंदेहः; उपाधिर्दीधित्युक्तस्तु फलीभूतसंदेहे शाकपाकजत्वविशिष्टे साध्यव्यापकत्वाऽविशेषणात् । अन्यथा तु द्रव्यत्वाऽऽदौ तस्य निश्चयात्तत्र तद्विशेषणे तु साध्यव्यापकत्वांशे विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या संशयाऽऽकार एव स रक्तो दण्डो न वेति संशयकालीनो रक्तो दण्डवानिति प्रात्यक्षिकबोध इव रक्तत्वांश इति द्रष्टव्यम् । इदं तु बोध्यम्-किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ने यद्विशेषणताऽवच्छेदकं तत्प्रकारकनिश्चयत्वेनैव हेतुत्वमन्तरा धर्मिताऽवच्छेदकानियन्त्रितस्थले दण्डवदित्यादौ तु दण्डत्वाऽऽदिप्रकारकज्ञानत्वेनैव निर्धर्मिताऽवच्छेदकनिश्चयत्वस्य दुर्वचत्वात्, तत्प्रवेशे वैयर्थ्याच्चेति । विशिष्टवैशिष्ट्यमिति बुद्धित्वं तु रक्तदण्डत्वोभयधर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितप्रकारताशालिबुद्धित्वम् । कारणता च तत्र दण्डत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितरक्तत्वप्रकारताशालिनिर्णयत्वेन । कार्यता च रक्तत्वविशिष्टदण्डत्वावच्छिन्नविशेष्यताशालिज्ञानत्वेनैव । तेनैकद्वयमिति रीत्या दण्डो रक्तोऽप्रमेयश्चेति ज्ञाने न व्यभिचारः, तत्र दण्डत्वविशिष्टविशेष्यताया रक्तत्वानवच्छिन्नत्वेन, रक्तत्वं धर्मितावच्छेदकीकृत्य प्रमेयत्वाऽऽदिबाधकालेऽपि तथाविधज्ञानाऽऽपत्तिरिति तादृशविशेष्यताया रक्तत्वावच्छिन्नत्वमावश्यकमिति वाच्यम् । एकाऽपि प्रमेयत्वाऽऽदिप्रकारतानिरूपितदण्डत्वावच्छिन्नविशेष्यताभिन्नाया एव रक्तत्वावच्छिन्नविशेष्यताया अभ्युपगमादेकस्या विशेष्यताया रक्तदण्डत्वोभयानवच्छिन्नत्वेनाव्यभिचारात्; तत्रापि रक्तत्वधर्मिताऽवच्छेदकदण्डत्वप्रकारकनिर्णयजन्ये दण्डो रक्तः प्रमेय इत्येतादृशबोधे व्यभिचारवारणाय तादृशविशेष्यताया रक्तप्रकारकताऽऽदिनिरूपितदण्डत्वावच्छिन्नविशेष्यताभिन्नत्वं निवेशनीयम् । एकत्र द्वयमिति विषयिता च प्रकारिताद्वयावच्छिन्नविशेष्यतारूपा । यथा-चैत्रो दण्डी कुण्डलीत्यत्र । न चैकमेकत्र द्वयादिकमप्यतिरिच्येत, एकत्र द्वयमिति संज्ञयैव संग्रहात् । अयं च दण्डी चैत्रो न कुण्डली, दण्डी चैत्रः कुण्डलीत्युभयत्र सत्त्वादुद्देश्यताऽवच्छेदकत्वविधेयत्वयोः प्रकारताविशेषत्वात् तादृशबाधधीप्रतिबध्यताऽवच्छेदकत्वादेव चास्याश्चैत्रत्वेन शरीरद्वयेनेदं कुण्डलग्रहादेकत्र चैत्रो दण्डी कुण्डली चेति विधियो विशेषो रक्तदण्डाभावधियः समूहालम्बनादिव, इयं चैकाविशिष्टेऽपरवैशिष्ट्यविषयिताव्यापिका दण्डी कुण्डली चैत्रो द्रव्यमित्यत्रेव दण्डी कुण्डली चैत्र इत्यत्राऽपि सत्त्वात्तत्प्रयोजकसामग्रीव्यापकसामग्रीकत्वाच्चेति वदन्ति । तदसत् । सामान्यविशेषापेक्षयैकानेकाऽऽत्मकवस्त्वनभ्युपगमे एकान्तवादस्य कुत्राप्यघटमानत्वात् । विशिष्टबुद्धिष्वपि हि सामान्यत एका, विशेषतश्च परनिरूपितत्वेन बहुतरा अपि विषयता अनुभूयन्त इति चतुर्थैवेति कोऽभिनिवेशः ?। अत एवैकत्र द्वयस्थलेऽप्येकत्र भासमानयोर्विशेषणयोः परस्परमपि सामानाधिकरण्येन वैशिष्ट्यभानाद्विषयताभेदः, यदि च तत्र प्रकारकतया तयोर्निरूपितत्वविशेषाद्यतिरेकः, तदा विशिष्टवैशिष्ट्यस्थलेऽपि एकप्रकारताऽवच्छिन्नापरप्रकारतयोपपत्तावतिरेके किं मानम् ?। विशेष्ये विशेषणमिति स्थले हि रक्तत्वप्रकारतानिरूपिता दण्डत्वावच्छिन्ना प्रकारता, विशिष्टवैशिष्ट्यस्थले च रक्तप्रकारताऽवच्छिन्ना दण्डत्वावच्छिन्ना प्रकारतेत्येवं विशेषसंभवात् । स्वीक्रियतां वा तत्रावच्छेदकत्वाऽऽदेरित्येव प्रकारताप्रकारताद्वयघटितरूपेण तु यथा हेतुतावच्छेदकत्वं तथा प्रागुक्तमेव, यथा संनिवेशधौव्येणेति न रक्तत्वदण्डत्वोभयावच्छिन्नप्रकारतयैव रक्तदण्डस्यैव विशिष्टवैशिष्ट्यविषयता । अन्यथा रक्तदण्डद्रव्यवानित्यतो रक्तदण्डवानित्यस्य वैलक्षण्यात् रक्तत्वदण्डस्यैव त्वनिष्ठद्वित्वावच्छिन्नपर्याप्तधीरनाकारवच्छेदकताकप्रकारताऽऽश्रयेऽतिगौरवात् । गुणवान् दण्डवानित्यतो वैलक्षण्यसंपादनाय रक्तत्वत्वविशिष्टदण्डत्वोभयापर्याप्तावच्छेदताकप्रकारकतानुधावने रक्तत्वेन दण्डो, पीतान्नग्राहिनि तादृशबोधेऽगतेश्च तस्माद् रक्तत्वावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपकदण्डत्वावच्छिन्नप्रकारताकबुद्धित्वमेव रक्तदण्डवानिति विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वमाश्रयणीयम् । अनुमितिहेतुपरामर्शेऽपि हेतुताऽवच्छेदकतानिरूपितप्रतियोगित्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिताधिकरणनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिताधेयत्वावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपितहेतुताऽवच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताकत्वमेव निवेश्यताम् । न च यत्र व्याप्तिधूमत्वयोरेकत्वे द्वयमिति रीत्यैव हेतुनिष्ठप्रकारताऽवच्छेदकत्वे तादृशपरामर्शादनुमित्यापत्तिः, इष्टापत्तौ च विरोधव्यभिचारयोर्हेत्वाभासत्वानुपपत्तिः, तादृशज्ञानस्य तद्ज्ञानाप्रतिबध्यत्वादिति तत्साधारण्याय व्याप्तिप्रकारतानिरूपितविशेष्यतात्वेन धूमत्वावच्छिन्नप्रकारता निवेशनीया । तत्त्वेन धूमत्वावच्छिन्नत्वं च धूमप्रकारतायां तत्रैव यत्र धूमत्वस्य व्याप्तिधर्मिताऽवच्छेदकत्वम्; अन्यत्र तु धूमप्रकारकत्वेनैवेति नाऽतिप्रसङ्गः । तथा च-प्रागुक्तरीत्या व्याप्यत्वाऽवच्छिन्ननिवेशस्यैवौचित्यात् । न चाऽयमेकान्तोऽपि युक्तः, परस्परानिरूपितावान्तरावयवैः स्थानीयविषयताया अप्यनुभवात् । न च विशिष्टपर्याप्तप्रकारतैकान्तपक्षोऽपि युक्तः, विशिष्टविशिष्टपर्याप्तप्रकारतान्तरस्याऽपि सिद्ध्यापत्तेः, तत्सिद्धावनिष्टापत्तेः । दण्डविशिष्टपुरुषविशिष्टभूतलपर्याप्तप्रकारताकबुद्धौ च दण्डांशे निश्चयाऽऽत्मकदण्डविशिष्टपुरुषवद् भूतलमिति निश्चयो हेतुः, अत एव दण्डांशे पुरुषांशे च संशयनिश्चयाऽऽत्मकतादृशज्ञानाद् दण्डांशे विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या पुरुषांशे विशिष्टनिरूपितवैशिष्ट्यविषयताशालिज्ञानाऽनुत्पत्तिरित्यभ्युपगमे च विशेषणविशिष्टवै-

शिष्टबुद्धिकाले नवत्यंशे निश्चयाऽऽत्मकमेकं ज्ञानं हेतुभूतं कल्पनीयम्। ततः पूर्वं चैकैकह्रासेनाष्टानवतिज्ञानानि पश्चानुपूर्व्या हेतुभूतानि कल्पनीयानीति सर्वमिदमनुभवसिद्धम्। तत्र विशृङ्खलोपस्थितत्वाद्विशेषणमिति रीत्या बोधस्याकारे च तत्र दृष्टांशेऽनुभूयमानस्य निश्चयाऽऽकारस्य नियामकः, तत्र संशयसामग्र्यभाव एवाऽऽश्रयः। तथा च-विशिष्टवैशिष्ट्यविषयिता वह्निव्याप्यतदभाववद्धूमवानित इव पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवाञ्चेत्यादितोऽपि व्यावृत्ताऽस्तु, तदवच्छिन्ननियामकश्च तत्तत्संशयसामग्र्यभाव एवेति विषयताविशेषपर्यनुयोगे किमुत्तरम् ?, तस्मात् क्षयोपशमविशेषजन्यताऽवच्छेदिकाः समनियता एवैता विषयिताः, अत्राऽपेक्षाभेदेन प्रतीयमाना असमुदितपर्यायाः अनेकाः प्रतिपत्तव्याः, ग्राह्यस्येव ग्राहकस्य चित्रस्वभावस्यापेक्षयैव विवेचयितुं शक्यत्वात्। इत्थमखण्डोऽपि विषयताविशेषः सिद्धयेत, सामान्यदृष्ट्या तथाऽप्यनुभवात्। तथा च-एतेनैव परामर्शाऽऽदेर्हेतुत्वाऽऽपत्तिरिति चेत्। सत्यम्। भावसंग्रहेण विषयविशेषणे शक्तिविशेषणे वा हेतुत्वेऽभावसंग्रहेण चाभावविशेषणे तथात्वे बाधकाभावाद् व्यवहारोच्छेदस्य व्यवहारनयसिद्धकार्यकारणभावे तैरेव निराकरणात्। अनुभवसिद्धास्तु ग्राह्यग्राहकनिष्ठाः सामान्यविशेषधर्मा न कल्पनामात्रेणाऽपादितुं शक्या इति दिक्।

" उल्लसन्तु विकल्पवीचिनिचयाः पर्यायमर्यादया,
द्रव्यार्थाऽऽदियुते तु चेतसि चिरं शाम्यन्तु तत्रैव ते ।
वस्तु प्रस्तुतमस्तु सागरसमं सर्वोपपत्तिक्षमं,
बाह्यं वा स्फुटमान्तरं समुचितस्याद्वादमुद्राङ्कितम् ॥१॥
ईहाऽपायपरम्परापरिचयः सर्वोऽप्ययं युज्यते,
यस्त्वंशेऽप्युपयोगमाकलयतामन्तर्मुहूर्तावधि ।
अन्येषां तु विकल्पशिल्पघटितो बोधस्तृतीयक्षण-
ध्वंसी ध्वस्तसमस्तहेत्वमिमिलितः कस्मिन् विचारे क्रमः ? ॥२॥

तदेवमेकानेकरूपा नयप्रमाणप्रतिपत्तयः प्रामाणिका इति स्थितम् ॥ ७ ॥ नयो० ।

(११) ननु यदि प्रमाणं नयाः तर्हि 'प्रमाणनयैरधिगमः' इति प्रमाणनयभेदकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तिः। अथाप्रमाणं, तथाऽप्याधिगमानुपपत्तिः; तत्पृथग्भूतस्यापरस्यासंवेदनात्, प्रमाणाभावाप्रसक्तिश्च। असदेतत्। यतोऽप्रमाणं नयाः, नयन्तीतररूपसापेक्षं स्वविषयं परिच्छिन्दन्तीति नया इति व्युत्पत्तेः। न चापरिच्छेदकाः, नयतेर्गत्यर्थत्वेन ज्ञानार्थत्वात्, ज्ञानस्य च परिच्छेदाऽऽत्मकत्वात्। न च परिच्छेदाऽऽत्मकत्वेऽपि प्रमाणता, समस्तनयविषयीकृतानेकान्तवस्तुग्राहकत्वेन प्रकृष्टं मानं प्रमाणम्, इतरांशसव्यपेक्षस्वांशग्राही नय इति, तत्स्वतत्त्वव्यवस्थितेः। न चाऽनेकान्ताऽऽत्मकवस्तुग्राहिणो नया न भवन्ति, प्रत्येकं स्वविषयनियतत्वात् तेषां तद्व्यतिरिक्तस्य चाऽन्यस्य तद्विषयस्याऽननुभवात्। प्रमाणाभावोऽपि न आत्मनः, कथञ्चित् तदव्यतिरिक्तस्य प्रमाणत्वेनानुभवसिद्धत्वात्। नयविषयीकृताशेषवस्त्वंशाऽऽत्मकैकद्रव्यग्राहकत्वस्य तत्र प्रतीतेः। न च संशयाऽऽदिज्ञानैरात्मनः प्रमाणत्वेऽतिप्रसङ्गः; प्रमीयतेऽनेन प्रमिणोतीति वा प्रमाणमिति प्रशब्देन तस्य निरस्तत्वात्। न चाऽऽत्मनः कर्तृत्वात् करणरूपप्रमाणताऽनुपपत्तिः, उत्पादव्ययध्रौव्याऽऽत्मकस्य तस्याऽनेकरूपत्वेन कर्तृकरणभावाविरोधात्। एतेन प्रत्येकं मिथ्यादृष्टयो नयाः समुदिताः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्त इत्यत्र नयसमुदायार्थे दृष्टे प्रत्येकमदृष्टत्वाद् आत्यन्धसमूहवदित्येतन्निरस्तम्, अदृष्टतत्समूहसम्यक्त्वानभ्युपगमात्, स्वविषयपरिच्छेदकत्वाच्च नयानामदृष्टत्वाच्च। नयानामदृष्टत्वादिति हेतुरसिद्धः, परिपूर्णवस्त्वनधिगन्तृत्वाऽऽदिहेतौ प्रतिज्ञार्थैकदेशाऽसिद्धिः; सिद्धसाध्यता च समुदायिनो दृष्टत्वनिषेधे साध्ये; अथ तत्समुदायस्य दृष्टत्वनिषेधः साध्यः, तदाऽध्यक्षविरोधः, समुदायव्यतिरिक्तस्यैकान्तेन समुदायस्याभावात् धर्मिणोऽप्रसिद्धिः, साध्यतावचनसमुदायाभावे नया एव परस्परव्यावृत्तस्वरूपा इति न क्वचित् सम्यक्त्वम्, नयप्रमाणाऽऽत्मकैकवैषम्यप्रतिपत्तेः, रत्नावलीवदिति।

एतदाह-

जहऽणेगलक्खणगुणा, वेरुलियाऽऽईमणी विसंजुत्ता ।
रयणावलिववएसं, न लहंति महग्घमुल्ला वि ॥ २२ ॥

यद्वा-यत् प्रत्येकं न नयेषु सम्यक्त्वं तत्तेषां समुदायेऽपि न भवति, यथा सिकतासु प्रत्येकमभवत् तैलं तासां समुदायेऽपि न भवति। अत्र हेतोरनैकान्तिकताप्रतिपादनार्थमाह-(जहऽणेगलक्खणेत्यादि) यथाऽनेकप्रकाराः-विविधानि हेतुत्वाऽऽदीनि लक्षणानि नीलत्वाऽऽदयश्च गुणा येषां ते, वैडूर्याऽऽदयोऽमर्धमणयः पृथग्भूता रत्नावलीव्यपदेशं न लभन्ते महार्घमूल्या अपि।

तह णिययवायसुविणि-च्छिया वि अण्णोण्णपक्खणिरवेक्खा ।
सम्मद्दंसणसद्दं, सव्वे वि णया ण पावेंति ॥ २३ ॥

तथा प्रमाणावस्थायामितरसव्यपेक्षस्वविषयपरिच्छेदकाले वा स्वविषयपरिच्छेदकत्वेन सुनिश्चिता अप्यन्योऽन्यपक्षनिरपेक्षाः प्रमाणमित्याख्यां सर्वेऽपि नया न प्राप्नुवन्ति निजकवादनिरपेक्षाः, सामान्याऽऽदिवादे सुविनिश्चिता हेतुप्रदर्शनकुशला अन्योऽन्यपक्षनिरपेक्षत्वात् सम्यग्दर्शनशब्दं सुनया इत्येवं रूपं सर्वेऽपि संग्रहाऽऽदयो नया न प्राप्नुवन्ति।

जह पुण ते चेव मणी, जहा गुणविसेसभागपडिबद्धा ।
रयणावलि त्ति भण्णइ, जहंति पाडिक्कसण्णाओ ॥२४॥

यथा पुनस्त एव मणयो यथा गुणविशेषपरिपाट्या प्रतिबद्धा रत्नावलीत्याख्यामासादयन्ति, प्रत्येकाभिधानानि च त्यजन्ति, रत्नानुविद्धतया रत्नावल्यास्तदनुविद्धतया च रत्नानां प्रतीतेः रत्नावलीति तत्र व्यपदेशः, न पुनः प्रत्येकाभिधानम् ॥ २४ ॥

तह सव्वे णयवाया, जहाऽणुरूवं विणिउत्तवत्तव्वा ।
सम्मद्दंसणसद्दं, लहंति ण विसेससण्णाओ ॥ २५ ॥

तथा सर्वे नयवादा यथाऽनुरूपं विनियुक्तवक्तव्या इति। यथेति वीप्साऽर्थे, अनुरिति सादृश्ये, रूपमिति स्वभावः, तेनानुरूपमित्यव्ययीभावः। पुनर्यथाशब्देन स एव "यथा सादृश्ये" ।२।१।७। (पाणि०) इत्यनेन। यद्यदनुरूपं तत्र विनियुक्तं वक्तव्यम्, उपचारात्तद्वाचकः शब्दो येषां ते तथा, यथाऽनुरूपं द्रव्यध्रौव्याऽऽदिषु प्रमाणाऽऽत्मकत्वेन व्यवस्थिताः सम्यग्दर्शनं प्रमाणमित्याख्यां लभन्ते, न विशेषसंज्ञाः पृथग्भूताभिधानानि; एकाऽऽत्मकत्वेन चैतन्यप्रतिपत्तेः, अन्यथा चाऽप्रतिपत्तेरिति। ननु नयप्रमाणाऽऽत्मकचैतन्यस्याध्यक्षसिद्धत्वेन रत्नावलीतिदृष्टान्तोपादानं व्यर्थम्, न। अध्यक्षसिद्धमप्यनेका-

न्तमनभ्युपगच्छन्तं प्रति व्यवहारसाधनाय दृष्टान्तोपादानस्य साफल्यात् । प्रवर्तितश्च तेनाऽपि तत्रानेकान्तव्यवहारः ।

दृष्टान्तगुणप्रतिपादनायाऽऽह-

तोऽयपरिच्छियमुहो-ऽणिच्छयवयणपडिवत्तिमग्गो य ।

अह पएणवणाविसओ, त्ति तेण वीसत्थमुवणीओ ॥२६॥

व्युत्पत्तिकरणात् युक्तं प्राप्तिसमूहसुखग्राह्यत्वमेकानेकाऽऽत्मकभावविषयवचो वाऽऽगमजनकत्वं वा । अथेत्यवधारणार्थः, अनन्तधर्माऽऽत्मकवस्तुप्ररूपकवाक्यविषयत्वं दृष्टान्तस्यैव तैः कारणैः शङ्काव्यवच्छेदेनायमुपदर्शित इति गाथातात्पर्यार्थः ।

न चाऽऽवल्यवस्थायाः प्रागुत्तरकालं च रत्नानां पृथगुपलम्भादिह च सर्वदा तथोपलम्भाभावाद्विषममुदाहरणमिति वक्तव्यम्, अवस्थाया उदाहरणत्वेनोपन्यासात् । न च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सर्वथा साम्यम्, तत्र तद्भावानुपपत्तेः । रत्नाऽऽदिकारणेष्वावल्यादि कार्यं सदेवेति साङ्ख्यः, तेषामेवानेन रूपेण व्यवस्थितत्वात् । तद्व्यतिरिक्तं विकारमात्रं कार्यं सदेवेति सांख्यविशेष एव । न कार्यं कारणे विद्यते इति तेभ्यस्तत् पृथग्भूतं, न हि कारणमेव कार्यरूपेण व्यवतिष्ठते परिणमते इति वैशेषिकाऽऽदयः । न च कार्यं कारणं वाऽस्ति, द्रव्यमात्रमेव तत्त्वमित्यपरः । एवंभूताभिप्रायवन्त एकान्तवादिनो दृष्टान्तस्य साध्यसमतां मन्यन्ते । तान् प्रत्याह-

इहरा समूहसिद्धो, परिणामकओ व्व जो जहिं अत्थो ।

ते तं च ण तं तं चे-व व त्ति नियमेण मिच्छत्तं ॥२७॥

इतरथोक्तप्रकारादन्यथा, समूहे रत्नानां, सिद्धो निष्पन्नः परिणामकृतो वा मण्यादिष्वावल्यादिः, क्षीराऽऽदिषु दध्यादिर्वा । यो यत्राऽर्थः तं ते मण्यादय आवल्यादिकार्यं, क्षीरं दध्यादिकं, तत्र तत्सद्भावाय, तस्य तत्परिणामरूपत्वात् समूहः सिद्धः परिणामकृतो वेति च अथोपादानं लौकिकव्यवहारापेक्षया । परमार्थतस्तु परमाणुसमूहपरिणामाऽऽत्मकत्वात् सर्व एव समूहकृतः, परिणामकृतो वेति न भेदः । अयं चाभ्युपगमो मिथ्या (मिथ्यात्वं च सम्मतौ विवृतम्) । सम्म० १ काण्ड ।

(१२) ननु नयग्रन्थे सम्मत्यादौ बौद्धाऽऽदिदर्शनपरिग्रहेण नैयायिकाऽऽदिदर्शनखण्डनं श्रूयते, तत्र दुर्नयपरिग्रहे किं न मिथ्यात्वैकान्त इत्याशङ्क्याऽऽह-

बौद्धाऽऽदिदृष्टयोऽप्यत्र, वस्तुस्पर्शेन नाऽप्रमाः ।

उद्देश्यसाधने रत्न-प्रभायां रत्नबुद्धिवत् ॥ ११ ॥

(बौद्धाऽऽदीति) अत्र नयग्रन्थे उद्देश्यं यदपि निर्विष्टेतरमतखण्डनं, तत्साधने तत्साधननिमित्तं, बौद्धाऽऽदिदृष्टयोऽपि बौद्धाऽऽदिनयपरिग्रहा अपि, वस्तुस्पर्शेन शुद्धपर्यायाऽऽदिवस्तुप्राप्त्या, नाप्रमाः फलतो न मिथ्यात्वरूपा इत्यर्थः । किंवत् ?, रत्नप्रभायां रत्नबुद्धिवत् । यथा हि तत्राऽरत्ने रत्नावगाहितया स्वरूपतो न प्रामाण्यम्, दूरविप्रकर्षात्तु वस्तुप्रापकतया फलतः प्रमाण्यम्, तथा दुर्नयान्तरच्छेदाय दुर्नयान्तरपरिग्रहेऽपीति न कश्चिद्दोषः ॥ ११ ॥

(१३) एवं सामान्यलक्षणं विविच्य तद्विभागमाह-

अयं संक्षेपतो द्रव्य-पर्यायार्थतया द्विधा ।

द्रव्यार्थिकमते द्रव्यं, तत्त्वं नेष्टमतः पृथक् ॥ १२ ॥

(अयमिति) अयं सामान्यलक्षणलक्षितो नयः संक्षेपतोऽवान्तरभेदापरिग्रहेण द्रव्यपर्यायतया द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति द्विधा द्विप्रकारः, तीर्थङ्करवचनसंग्रहविशेषप्रस्तारमूलत्वेनेत्थमेव मूलनयविभजनात् । तदाह वादी-"तित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थारमूलवागरणी । दव्वट्ठिओ य पज्ज-वणओ य सेसा वियप्पा सिं ॥३॥" इति । (सम्म०१ काण्ड) तत्राऽऽदौ द्रव्यार्थिकमत आह-द्रव्यार्थिकस्य मते द्रव्यं तत्त्वं परमार्थसदतः द्रव्यात् पृथग् भिन्नं विकल्पासिद्धं गुणपर्यायस्वरूपं तत्त्वं नेष्टम् संप्राप्ति सतोऽपि तस्य परमार्थतोऽसत्त्वादिति भावः ॥१२॥ नयो० । द्रव्या० ।

(१४) अत्र कुशाग्रधियोऽप्यन्तेवासिनो योग्यताप्रतिपादनार्थः प्रकरणाऽऽरम्भः प्रतिपादितः । सा च विशिष्टसामान्यविशेषाऽऽत्मकतदुपायभूतार्थप्रतिपादनमन्तरेणातः प्रकरणान्न संपद्यत इति प्रकरणाभिधेयं योग्यतोपायभूतमर्थम्-

तित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थारमूलवागरणी ।

दव्वट्ठिओ य पज्जव-णओ य सेसा वियप्पा सिं ॥३॥

इत्यनया गाथया निर्दिशति । अस्याश्च समुदायार्थः पातनिकयैव प्रतिपादितः । अवयवार्थस्तु-तरन्ति संसारार्णवं येन तत्तीर्थं द्वादशाङ्गम्,तदाधारो वा सङ्घः,तत्कुर्वन्त्युत्पद्यमानमुत्पादयन्ति तत्स्वाभाव्यात्तीर्थकरनामकर्मोदयाद्वेति हेत्वाद्यर्थे टच् । तीर्थकराणां वचनमाचाराऽऽदि, अर्थतस्तस्य तदुपदिष्टत्वात्, तस्य संग्रहविशेषौ द्रव्यपर्यायौ सामान्यविशेषशब्दवाच्यावभिधेयौ, तयोः प्रस्तारः-प्रस्तार्यते येन नयराशिना संग्रहाऽऽदिकेन स प्रस्तारः, तस्य संग्रहव्यवहारप्रस्तारस्य मूलव्याकरणी आद्यवक्ता ज्ञाता वा द्रव्यास्तिकः श्रुतिर्नेवमं द्रव्यं सत्तेति यावत् । तत्राऽस्तीति मतिरस्य द्रव्यास्तिकः "सह सुपा"। २ । १ । ४ । इत्यत्र "सुपा सह" इति योगविभागाद्, मयूरव्यंसकाऽऽदित्वाद्वा द्रव्यास्तिकशब्दयोः समासः । द्रव्यमेव वाऽर्थोऽस्येति द्रव्यार्थिकः, द्रव्ये वा स्थितो द्रव्यस्थितः । परि समन्तादवनमवः पर्यवो विशेषः, तद् ज्ञाता वक्ता वा यो नयः नीतिः स पर्यवनयः। अत्र छन्दोभङ्गभयात्पर्यायास्तिक इति वक्तव्ये पर्यवनय इत्युक्तम्, तेनाऽत्राऽपि पर्याय एवाऽस्तीति द्रव्यास्तिकवद् व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या । स च विशेषप्रस्तारस्य ऋजुसूत्रशब्दाऽऽदेराद्यो वक्ता । ननु च मूलव्याकरणीति.अस्य द्रव्यास्तिकपर्यायनयावभिधेयाविति द्विवचनेन भाव्यं, न प्रत्येकं, वाक्यपरिसमाप्तेः । अत एव चकारद्वयं सूत्रनिर्दिष्टम् । शेषास्तु नैगमाऽऽदयो विकल्प्या भेदाः, अनयोर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोः (सिमिति) प्राकृतशैल्या "बहुवयणेण दुवयणं" इति द्विवचनस्य बहुवचनम् । तथाहि-परस्परविविक्तसामान्यविशेषविषयत्वाद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकावेव नयौ । न च तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति, यद्विषयोऽन्यस्ताभ्यां व्यतिरिक्तो नयः स्यात् । तृतीयविषयस्य चाऽसंभवः, भेदाभेदविनिर्मुक्तस्य भावात् प्रकृतविकल्पानतिवृत्तेः; तत्स्वभावातिक्रमे वा खपुष्पसदृशत्वप्रसक्तेः, ताभ्यां तद्वतोऽर्थान्तरस्य सर्वथा संबन्धप्रतिपादनापायासंभवात्समयस्य तैरसंबन्धे तद्व्यपदेशानुपपत्तेः समवायान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेर्विशेषणविशेष्यसंबन्धकल्पनायामप्यपरापरतत्कल्पनाप्रसक्तेर्न संबन्धसिद्धिः । ततः स्थितमेतन्न किञ्चिदयद्वयबहिर्भावविभावस्वभावान्तरविकल्पनाऽऽविद्धं विश्वमिव प्ररूपणान्तरमिति । केवलं तयोरेव शुद्धा-

शुद्धिभ्यामनेकधा वस्तुस्वरूपनिरूपणविकल्पाऽभिधानवृत्तयो व्यवतिष्ठन्ते । तत्र शुद्धो द्रव्यास्तिको नयग्रहनयाभिमतविषयप्ररूपकः । तथा च-संग्रहनयाभिप्रायः-सर्वमेव सत्, अविशेषात् । सम्म० १ काण्ड । विशे० । (द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकयोर्मतम् 'दव्वट्ठिय-पज्जवट्ठिय' शब्दयोर्द्रष्टव्यम्)

(१५) तदेवमुक्तौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकलक्षणौ मूलनयभेदौ, अनयोर्नैगमाऽऽदिषु मतभेदेन यथाऽन्तर्भावस्तथाऽऽह-

तार्किकाणां त्रयो भेदाः, आद्या द्रव्यार्थतो मताः ।
सैद्धान्तिकानां चत्वारः, पर्यायार्थगताः परे ॥ १८ ॥

(तार्किकाणामिति) तार्किकाणां वादिसिद्धसेनमतानुसारिणामाद्यास्त्रयो भेदाः नैगमसंग्रहव्यवहारलक्षणाः द्रव्यार्थतो मता द्रव्यमेवार्थं विषयीकृत्याभिप्रेताः, आद्यास्त्रयो भेदास्तार्किकमते द्रव्यार्थिका इति संमुखोऽर्थः । सैद्धान्तिकानां जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणवचनानुसारिणां चत्वार आद्या ऋजुसूत्रसहिताः, द्रव्यार्थिका इति शेषः । परे तु उक्तशेषाः, उभयेषामपि पर्यायार्थगताः पर्यायार्थिकाः-ऋजुसूत्राऽऽदयश्चत्वारः पर्यायार्थिका वादिनः; शब्दाऽऽदयस्त्रय एव च क्षमाश्रमणानामिति निर्गलितोऽर्थः। ऋजुसूत्रो यदि द्रव्यं नाभ्युपेयात्, तदा " उज्जुसुयस्स एगे अणुवउत्ते एगं दव्वावस्सयं पुहत्तं णेच्छइ " इति सूत्रं विरुध्येतेति सैद्धान्तिकाः । तार्किकानुसारिणस्तु-अतीतानागतपरकीयभेदपृथक्त्वपरित्यागादनु सूत्रेण स्वकार्यसाधकत्वेन स्वकीयप्रवर्तमानवस्तुन एवोपगमादस्य तुल्यांशध्रुवांशलक्षणद्रव्याभ्युपगमः; अत एव नास्यासङ्कटितचूलनादिपर्यायकारणत्वद्रव्यत्वाभ्युपगमोऽपि, अध्रुवधर्माऽऽधारांशे द्रव्यमपि नास्य विषयः, शब्दनयेष्वतिप्रसङ्गात्। उक्तसूत्रं त्वनुपयोगांशमादाय वर्तमानाऽऽवश्यकपर्यायद्रव्यपदोपचारात्समाधेयम्, पर्यायार्थिकेन मुख्यद्रव्यपदार्थस्यैव प्रतिक्षेपात् । यदि चैवमप्येकोऽनुपयुक्त एकं द्रव्यावश्यकमित्यत्रानुपयोगस्य विषयानियन्त्रितत्वेनार्थिक्यादुद्देश्यविधेयभावानुपपत्तिरिति विभाव्यते, यथा द्रव्याऽऽवश्यकपदं द्रव्याऽऽवश्यकत्वेन व्यवहर्तव्यम्, परं विवरणपरतया चेतद्योजनीयमिति न कश्चिद् दोष इत्यालोचयामः ॥१८॥ (नयो०) सर्वधर्मविरहः शून्यतेति शुद्धतरपर्यायास्तिकमतावलम्बी ऋजुसूत्र एव व्यवस्थितः, अथवा सौत्रान्तिकवैभाषिकौ बाह्यार्थमाश्रिताबृजुसूत्रशब्दौ, यथाक्रमं वैभाषिकेण नित्याऽनित्यशब्दवाच्यपुद्गलस्याऽभ्युपगमात् । शब्दनये तु प्रवेशः,तस्य चार्थप्रतिक्षेपेण विज्ञानमात्रसमभिरूढो योगाचारः, एकानेकधर्मविकलतया विज्ञानमात्रस्याप्यभाव इत्येवंभूतो व्यवस्थितः, एवंभूतो माध्यमिक इति व्यवस्थितमेतत् । तस्य तु शब्दाऽऽदयः शाखाः सूक्ष्मभेदा इति न योगाचारवत्, शेषास्तु योगाचारेष्वपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ मूलव्याकरणिनावित्ति दर्शयत्यनयोर्व्यापकताम् । सम्म० १ काण्ड । अनु० । विशे० ।

(१६) नैगमाऽऽदयो मूलनयाः-

से किं तं णए ?। सत्त मूलणया पण्णत्ता। तं जहा-णेगमे, संगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूए।।अनु०।

नैगमः संग्रहश्चैव, व्यवहारर्जुसूत्रकौ ।
शब्दः समभिरूढाऽऽख्यः, एवंभूतश्च सप्त ते ॥ १९ ॥

(नैगम इति) स्पष्टः, ते मूलनयप्रभेदाः ॥ १९ ॥ नयो० । अनु० । विशे० । दश० । स्था० । ज्ञा० । ग० । आव० । प्रव० । आ० म० ।

तत्र नैगमनयस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावात्, शेषाणां संग्रहाऽऽदीनां षण्णां नयानां संक्षिप्य मतं तावदुपदर्शयन्नाह--

सामण्णमह विसेसो, पच्चुप्पन्नं च भावमेत्तं च ।
पइसद्दं च जहत्थं, च वयणमिह संगहाऽऽईणं ॥३५८६॥

इह सामान्यमेवास्ति न विशेष इति संग्रहस्य वचनम्, विशेषा एव सन्ति न सामान्यमिति व्यवहारस्य वचः । प्रत्युत्पन्नं च वर्तमानमेव वस्त्वस्ति न त्वतीतमनागतं चेति ऋजुसूत्रस्य वचनम् । नामाऽऽदिनिक्षेपाणां मध्ये भावेन्द्राऽऽदिकं भावनिक्षेप एवास्ति, न नामाऽऽदिक्षेपा इति शब्दनयस्य वचः । इन्द्रशक्रपुरन्दराऽऽदिशब्दानां प्रतिशब्दमन्यान्य एवाऽर्थो वाच्यः, न त्वेक एवेति समभिरूढस्य वचः । यथार्थमेव स्वाभिधायकशब्दवाच्यमर्थं कुर्वदेव घटाऽऽदिकं वस्तु भवति, नाऽन्यथा, इत्येवंभूतनयस्य वचनम् । इत्युक्तप्रकारं संग्रहाऽऽदीनां वचनं मतं संक्षेपेणावगन्तव्यमिति ॥ ३५८६ ॥ विशे० ।

स्वरूपमाह-

नैगमो देशसंग्राही, व्यवहारर्जुसूत्रकौ ।
शब्दः समभिरूढश्चे-त्येवमेते प्रचक्षते ॥ ४५ ॥

(नैगम इति) नैगमो नैगमनयः देशसंग्राही अवान्तरसंग्रहः, सर्वसंग्रहस्य सन्मात्रार्थत्वात् तत्त्यागः। व्यवहारर्जुसूत्रकौ व्यवहारनय ऋजुसूत्रनयश्च शब्दः समभिरूढश्चेत्येते नया एवं प्रचक्षते ॥ ४५ ॥

भावमौदयिकं गृह्ण-न्नेवंभूतो भवास्थितम् ।
जीवं प्रवक्त्यजीवं तु, सिद्धं वा पुद्गलाऽऽदिकम् ॥४६॥

(भावमिति) एवंभूतनयस्तु औदयिकं भावं व्युत्पत्तिनिमित्तमेव प्रवृत्तिनिमित्ततया गृह्णन् भवास्थितं संसारिणं जीवं प्रवक्ति-जीवशब्देन व्यपदिशति, अजीवमजीवपदार्थं तु सिद्धं वा पुद्गलाऽऽदिद्रव्यं वेच्छत्यसौ ॥ ४६ ॥

नो अजीवश्च नो जीवो, न जीवाऽजीवयोः पृथक् ।
देशप्रदेशौ नास्येष्टा-विति विस्तृतमाकरे ॥ ४७ ॥

(नो इति) नो जीवो नो अजीवश्च एतन्नये जीवाजीवयोर्वक्तव्ययोः सतोः पृथग् न पार्थक्यं नापद्यते, यतोऽस्य नयस्य देशप्रदेशौ नेष्टाविति, नोशब्दः सर्वनिषेधार्थ एव घटते, इत्येतदाकरेऽनुयोगद्वाराऽऽदौ विस्तृतम् ॥ ४७ ॥

इत्थं स्वसमयसिद्धामेवंभूतनयार्थप्रक्रियामुपपाद्य,तथा दिगम्बरोक्तप्रक्रियां दूषयति-

सिद्धो निश्चयतो जीवः, इत्युक्तं यद्दिगम्बरैः ।
निराकृतं तदेतेन, यन्नयेऽन्त्येऽन्यथा मता ॥ ४८ ॥

(सिद्ध इति) एतेन पूर्वोक्तेन सिद्धो निश्चयतो जीव इति यद्दिगम्बरैरुक्तम्-"तिक्काले च दुपाणा, इंदियबलमाउ आणपा-

णा य । ववहारा सो जीवो, णिच्छयदो दुचेदणा जस्स ॥१॥" इत्यादिना, तन्निराकृतम् । यद् यस्माद्स्ये एवंभूतनयेऽन्यथा प्रथाऽप्रसिद्धो जीव इत्येव प्रसिद्धिः, शुद्धनिश्चयश्च स एवेति कथं निश्चयतः सिद्धो जीव इति वक्तुं शक्यमिति ? ॥४८॥

नन्वेवंभूतः पर्यायार्थिकेष्वेव शुद्धनिश्चयस्तेनाऽस्मदुक्तावनुपपत्तावपि द्रव्यार्थिकप्रभेदेन सर्वसंग्रहनयेन शुद्धनिश्चयेन तदुपपादयिष्याम इत्याकाङ्क्षायामाह–

आत्मत्वमेव जीवत्व–मित्ययं सर्वसंग्रहः ।
जीवत्वप्रतिभूः सिद्धेः, साधारण्यं निरस्य न ॥४९॥

(आत्मत्वमिति) आत्मत्वमेव जीवत्वं जीवपदप्रवृत्तिनिमित्तं, पारिणामिकभावस्य कालत्रयानुगतत्वेन सत्यत्वात्, औदयिकभावस्य चौपाधिकत्वेन कालत्रयानुगतत्वेन च तुच्छत्वादित्यर्थः । सर्वसंग्रहनयस्तु सिद्धिसाधारण्यं भवस्थतौल्यं निरस्य जीवत्वसाधने न प्रतिभूः, सर्वत्र तुल्यजीवत्वादेवैको व्यवहारतो जीवोऽन्यश्च निश्चय इति विभागकरणमसमीक्षिताभिधानमेवाऽऽपद्येत, सर्वसंग्रह एव हि कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिकः,तेन च संसारि चैतन्यमपि निरुपरागं शुद्धमिति परिभाष्यत एव । तदुक्तं द्रव्यसंग्रहे–"मग्गणगुणठाणेहि अ, चउदस य हवंति तह असुद्धणया । विण्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा उ सुद्धणया ॥ १ ॥" इति । न च संसारिचैतन्यस्य संग्रहनयेन शक्त्या शुद्धचैतन्यं, निश्चयेऽपि व्यक्त्या शुद्धचैतन्यस्य सिद्ध एव निश्चयाच्च साधारण्यमिति शङ्कनीयम, संग्रहस्य शक्तिग्राहकत्वेन शक्तिग्राहकताया व्यवहार एव विश्रान्तेर्निश्चयतो हि चेतनाशाली सिद्ध एव जीव इत्यस्य व्याघातात् ॥ ४९ ॥

नन्वेवं निश्चयतः सिद्धस्याऽजीवत्वे भवद्भिरिष्यमाणे भवतामेव ग्रन्थे संसारिसिद्धसाधारणजीवपदार्थाभिधानं कथमित्याशङ्कायामाह–

यज्जीवत्वं क्वचिद् द्रव्य–भावप्राणान्वयात् स्मृतम् ।
विचित्रनैगमाऽऽकूतात्, तद् ज्ञेयं न तु निश्चयात् ॥५०॥

(यदिति) यज्जीवत्वं क्वचिद् ग्रन्थे द्रव्यप्राणानां भावप्राणानां चान्वयादेवीकरणात् स्मृतं, संसारिसिद्धसाधारणमिति विशेषः । तद्विचित्रो विविधावस्थो यो नैगमस्तस्याऽऽकूतादभिप्रायाद् ज्ञेयं, न तु निश्चयादेवंभूतनयात्, तथा चैवंभूतनयेनैव सिद्धमजीवं वयं प्रतिजानीमहे, न तु नयान्तराभिमतेन जीवत्वेऽपि विप्रतिपद्यामहे, इति शुद्धाशुद्धेन नैगमनयेन साधारणजीवत्वाभ्युपगमेऽपि न क्षतिः । इयांस्तु विशेषःप्रसिद्धनैगम औदयिकभावोपलक्षितमात्मत्वाऽऽख्यं पारिणामिकभावमेव जीवपदप्रवृत्तिनिमित्तमभ्युपैति, तद्विशेषश्च कश्चिदुपचारोपजीवी द्रव्यभावप्राणान्यतरवत्त्वेनानुगतमौदयिकक्षायिकभावद्वयमिति नेदं सिद्धान्तार्णवे नयविकल्पकल्लोलवैचित्र्यं तत्संसत्र्व्यसनविक्रीजाऽऽवहम ॥ ५० ॥

ननु 'जीव' प्राणधारणे इत्यत्र भावप्राणधारणत्वमेव धात्वर्थस्य विवक्षितत्वाद्, निश्चयतः सिद्धस्य जीवत्वं समर्थयिष्याम इत्याकाङ्क्षायामाह–

धात्वर्थे भावनिक्षेपा–त्परोक्तं न च युक्तिमत् ।
प्रसिद्धार्थोपरोधेन, यन्नयान्तरमार्गणा ॥ ५१ ॥

(धात्वर्थे इति) धात्वर्थे जीवत्यर्थे भावनिक्षेपाद् भावसंकेतग्रहात् परोक्तं निश्चयतः सिद्ध एव जीव इति दिगम्बरोक्तं न च नैव युक्तिमत् । यद् यस्मात्प्रसिद्धोऽनादिधातुपाठाऽऽदिप्रतीयमानो योऽर्थस्तदनुरोधेन नयान्तरस्य मार्गणा विचारणा भवति । तथा च यादृशधात्वर्थमुपलक्षणीकृत्येतरनयार्थप्रतिसन्धानं तादृशधात्वर्थप्रकारकजिज्ञासयैवभूताऽभिधानस्य सांप्रदायिकत्वात्र तत्र भावनिक्षेपाऽऽश्रयणं युक्तमित्यर्थः । अन्यथा तत्राऽपि निक्षेपान्तराऽऽश्रयणेऽनवस्थानात्प्रकृतमात्रापर्यवसानाद्न्ततो ज्ञानाद्वैते शून्यतायां वा पर्यवसानात् । किञ्चैतादृगुपरितनैवंभूतस्य प्राक्तनैवंभूताभिधानात् पूर्वमेवाभिधानं युक्तम,अन्यथाऽप्राप्तकालत्वप्रसङ्गात् । तस्माद् व्यवहाराऽऽद्यभिमतव्युत्पत्त्यनुरोधेनौदयिकभावग्राहकत्वमेवास्य सूरिभिरुक्तं युक्तमिति स्मर्तव्यम् । न चेन्द्रियरूपप्राणानां क्षयोपशमिकत्वात्कथमेवंभूतस्यौदयिकभावमात्रग्राहकत्वमित्यप्याशङ्कनीयम, प्राधान्येनायुःकर्मोदयलक्षणस्यैव जीवनार्थस्य ग्रहणात् । उपहतेन्द्रियेऽप्यायुरुदयेनैव जीवननिश्चयादिति दिक् ॥ ५१ ॥

शङ्काशेषमुपन्यस्य परिहरति–

शैलेश्यन्त्यक्षणे धर्मो, यथा सिद्धिस्तथाऽसुमान् ।
वाच्यं नेत्यपि यत्तत्र, फले चिन्तेह धातुगा ॥५२॥

(शैलेश्यन्त्यक्षण इति) शैलेश्या अयोगिगुणस्थानस्यान्त्यक्षणे च चरमक्षणे यथा निश्चयतो धर्मस्तदर्वाक्तनकालभावी तु व्यवहारत एव । तदुक्तं धर्मसंग्रहण्यां हरिभद्राऽऽचार्यैः–"सो उभयक्खयहेऊ, सेलेसीचरमसमयभावी ओ । सेसो पुण णिच्छयओ, तस्सेह पसाहगो भणिओ" ॥ १ ॥ इति । तथाऽसुमान् जीवोऽपि निश्चयतः सिद्ध एव भविष्यतीत्यपि न वाच्यम । यतस्तत्र "सो उभयक्खय" इत्यादिगाथायां धारयति सिद्धिगतावात्मानमिति धर्मः, इति फले फलरूपे धात्वर्थे चिन्ता । सा च कुर्वद्रूपत्वेन कारणत्वं वदत एवंभूतनयस्य मते शैलेश्यन्त्यक्षण एव धर्मपदार्थसिद्धिसाक्षिणि,तदनन्तरं सिद्धिसाधारणरूपसाफल्यव्यवधानात्,इह तु धातुगा धात्वर्थावच्छिन्नस्वरूपविषयिणी चिन्ता,सा च केन सहाव्यवधानं गवेषयतु ? । स्वरूपं तु प्रसिद्ध्यनुरोधेन संसारिण्येव पर्यवसाययेन्न तु सिद्ध इति महान् विशेषः । स्यादेतत् । धर्मपदेऽपि धात्वर्थो धारणसामान्यमेव, तच्च यतो विशेषणात्पर्यवशात्सिद्धिसाधारणरूपविशेषे पर्यवस्यति,तथा जीवपदार्थोऽपि विशेषे पर्यवस्यति, सिद्ध एव इत्यपरो भविष्यति । मैवम् । 'जीव' प्राणधारणे इत्यत्र प्राणपदसमभिव्याहृतसाधारणस्य भूरिप्रयोगवशादौदयिकप्राणधारण एव पर्यवसानात् । अत एव गोपदस्य नानाऽर्थत्वेऽपि ततो भूरिप्रयोगवशात्सास्नाऽऽदिमत एवोपस्थितेः,अश्वाऽऽदेस्तु पदान्तरसमभिव्याहाराऽऽदिनेति तान्त्रिकाः । तदेवमेवंभूतनयाभिप्रायेण सिद्धो न जीव इति व्यवस्थापितम् । यदि पुनः प्रस्थकन्यायाद्विशुद्धतरनैगमभेदमाश्रित्य प्रागुक्तस्वग्रन्थगाथाव्याख्यायते परैः तदा न किञ्चिदस्माकं दुष्यतीति किमल्पायासदृढतरक्रोदेन ? ।

"ऐन्द्री नतिः प्रणयिपुण्यमिवाङ्कुराग्रैर्यत्पादपद्मकिरणैः कलयन्त्युदीतम ।
स्नात्राम्भसा दलितपापदबद्धुष्टकष्टं,
शङ्खेश्वरप्रभुमिमं शरणीकरोमि ॥ ५२ ॥"

('जीव' शब्दे १५२१ पृष्ठेऽयं विषयः प्रासङ्गिकत्वेनैकोऽपि नयपरत्वेन भावोपेक्षितः)

(१७) सिद्धसेनीयाः पुनः षडेव नयानभ्युपगतवन्तः, नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावविवक्षणात् । तथाहि-यदा नैगमः सामान्यप्रतिपत्तिपरस्तदा संग्रहेऽन्तर्भवति, सामान्याभ्युपगमपरत्वात् । विशेषाभ्युपगमनिष्ठस्तु व्यवहारे ।

आह च सिद्धसेनीयमतमुपसंजिघृक्षुर्भाष्यकृत्-

जो सामन्नग्गाही, स नेगमो संगहं गतो अहवा ।
इअरो ववहारमितो, जो तेण समाणनिद्देसो ॥ १७ ॥

आ० म० ? अ० ? खण्ड । विशे० ।

(नैगमाऽऽदीनां नयानां पृथक् पृथक् मतं स्वस्वस्थाने द्रष्टव्यम्)

(१८) शुद्ध्यशुद्धी नयानां, प्रस्थकाऽऽदिदृष्टान्तत्रयेण-

से किं तं णयप्पमाणे? । णयप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-पत्थगदिट्ठंतेणं, वसहिदिट्ठंतेणं, पएसदिट्ठंतेणं ।

(से किं तं णयप्पमाणे इत्यादि) अनन्तधर्मणो वस्तुन एकांशेन नयनं नयः, स एव प्रमाणं नयप्रमाणं त्रिविधं प्रज्ञप्तमिति । यद्यपि नैगमसंग्रहाऽऽदिभेदतो बहवो नयाः, तथाऽपि प्रस्थकाऽऽदिदृष्टान्तत्रयेण सर्वेषामिह निरूपयितुमिष्टत्वात् त्रैविध्यमुच्यते । तथा चाऽऽह । तद्यथा-प्रस्थकदृष्टान्तेनेत्यादि प्रस्थकाऽऽदिदृष्टान्तत्रयेण हेतुभूतेन त्रिविधं नयप्रमाणं प्रवर्तत इत्यर्थः ।

(१९) प्रस्थकदृष्टान्तं दर्शयति-

से किं तं पत्थगदिट्ठंतेणं? । पत्थगदिट्ठंतेणं से जहानामए केइ पुरिसे परसुं गहाय अडवीसंमुहत्तो गच्छेज्जा, तं पासित्ता कोइ वएज्जा-कहिं भवं! गच्छसि?। अविसुद्धो नेगमो भणइ-पत्थयस्स गच्छामि । तं च कोइ छिंदमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं! छिंदसि?। विसुद्धो नेगमो भणइ-पत्थयं छिंदामि । तं च कोइ तच्छमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं तच्छसि?। विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-पत्थयं तच्छामि । तं च कोइ उक्कीरमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं! उक्कीरसि?। विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-पत्थयं उक्कीरामि । तं च कोइ लिहमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं! लिहसि?। विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-पत्थयं लिहामि । एवं विसुद्धतरणेगमस्स नामाउडिओ पत्थओ । एवामेव ववहारस्स वि संगहस्स मिउमेज्जसमारूढो पत्थओ । उज्जुसुयस्स पत्थओ वि पत्थओ, मेज्जं पि पत्थओ, तिण्हं सद्दनयाणं पत्थयस्स अत्थाहिगारं जाणओ, जस्स वा वसेणं पत्थओ निप्फज्जइ, से तं पत्थयदिट्ठंतेणं ।

नदु यथा नाम-कश्चित्पुरुषः परशुं कुठारं गृहीत्वा, अटवीसंमुखो गच्छेदित्यादि । इदमुक्तं भवति-प्रस्थको मागधदेशप्रसिद्धो धान्यमानविशेषः । तद्धेतुभूतकाष्ठकर्तनाय कुठारव्यग्रहस्तं तक्षाऽऽदिपुरुषमटवीं गच्छन्तं दृष्ट्वा कश्चिदन्यो वदेत्-क भवान् गच्छति ?। तत्राऽविशुद्धनैगमो भणति, अविशुद्धनैगमनयमतानुसारी सन्नसौ प्रत्युत्तरयतीत्यर्थः । किमित्याह-प्रस्थकस्य गच्छामि । इदमुक्तं भवति-नैको गमो वस्तुपरिच्छेदो यस्याऽपि तु बहवः, स निरुक्तवशात्ककारलोपतो नैगम उच्यते । अतो यद्यप्यत्र प्रस्थककारणभूतकाष्ठनिमित्तमेव गमनं,न तु प्रस्थकनिमित्तम्, तथाऽप्यनेकप्रकारवस्त्वभ्युपगमपरत्वात्कारणे कार्योपचारः । तथा व्यवहारदर्शनादेवमप्यभिधत्तेऽसौ-प्रस्थकस्य गच्छामि इति । तं च कश्चित् छिन्दन्तं वृक्षं पश्येत्, दृष्ट्वा च वदेत्-किं भवाँश्छिनत्ति ?। ततः प्राक्तनात्किञ्चिद्विशुद्धनैगमनयमतानुसारी सन्नसौ भणति-प्रस्थकं छिनद्मि । अत्रापि कारणे कार्योपचारात् तथा व्यवहृतिदर्शनादेव काष्ठेऽपि छिद्यमाने प्रस्थकं छिनद्मीत्युत्तरं, केवलं काष्ठस्य प्रस्थकं प्रति कारणताभावस्याऽत्र किञ्चिदासन्नत्वाद्विशुद्धत्वं प्राक्पुनरतिव्यवहितत्वाद् मलीमसत्वम्, एवं पूर्वपूर्वापेक्षया यथोत्तरस्य विशुद्धता भावनीया, नवरं तक्ष्णुवन्तं तनूकुर्वन्तम्, उत्किरन्तं वेधनकेन मध्याद्विकिरन्तं लेखन्या मृष्टं कुर्वाणम् । एवमेतेन प्रकारेण तावन्नेयं यावद्विशुद्धतरनैगमस्य (नामाउडिओ त्ति) आकुट्टितनामा प्रस्थकोऽयमित्येवं नामाङ्कितो निष्पन्नः प्रस्थक इति । एवमेव व्यवहारस्याऽपीति लोकव्यवहारप्राधान्येन यो व्यवहारनयः, लोके च पूर्वोक्तावस्थासु सर्वत्र प्रस्थकव्यवहारो दृश्यते, अतो व्यवहारनयोऽप्येवमेव प्रतिपद्यते इति भावः । (संगहस्सेत्यादि) सामान्यरूपतया सर्वं वस्तु संगृह्णाति क्रोडीकरोतीति संग्रहः, तस्य मतेन चिताऽऽदिविशेषणविशिष्ट एव प्रस्थो भवति, नान्यः । तत्र चितो धान्येन व्याप्तः । स च देशतोऽपि भवत्यत आह-मितः पूरितः । अनेनैव प्रकारेण मेयं समारूढं यत्र स आहिताऽऽदेराकृतिगणत्वात् मेयसमारूढः । अयमत्र भावार्थः-प्राक्तननयद्वयस्याऽविशुद्धत्वात्प्रस्थककारणमपि प्रस्थक उक्तो निष्पन्नः प्रस्थकोऽपि स्वकार्याकरणकालेऽपि प्रस्थक इष्टः, अस्य तु ततो विशुद्धत्वाद्धान्यमानलक्षणं स्वार्थं कुर्वन्नेव प्रस्थकः,तस्य तदर्थत्वात् । तदभावे च प्रस्थकव्यपदेशोऽतिप्रसङ्गादिति यथोक्त एव प्रस्थकः । सोऽपि प्रस्थकसामान्याद् व्यतिरेकाद् व्यतिरेकप्रस्थकत्वप्रसङ्गात्सर्व एक एव प्रस्थक इति प्रस्तुतनयो मन्यते,सामान्यवादित्वादिति । (उज्जुसुयस्सेत्यादि) ऋजुसूत्रः पूर्वोक्तशब्दार्थः,तस्य निष्पन्नस्वरूपोऽर्थक्रियाहेतुः प्रस्थकोऽपि प्रस्थकः, तत्परिच्छिन्नं धान्याऽऽदिकमपि वस्तु प्रस्थकः, उभयत्र प्रस्थकोऽयमिति व्यवहारदर्शनात्तथा प्रतीतेः । अपरं चाऽसौ पूर्वस्माद्विशुद्धत्वाद्वर्तमाने एव मानमेये प्रस्थकत्वेन प्रतिपद्यते, नाऽतीताऽनागतकाले, तयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनासत्त्वादिति । (तिण्हं सद्दनयाणं इत्यादि) शब्दप्रधाना नयाः शब्दनयाः शब्दसमभिरूढैवंभूताः, शब्देऽन्यथा स्थितेऽर्थमन्यथा नेच्छन्त्यमी, किं तु यथैव शब्दो व्यवस्थितस्तथैव शब्देनार्थं गमयन्तीत्यतः शब्दनया उच्यन्ते । आद्यास्तु यथा कथञ्चिच्छब्दाः प्रवर्तन्तामर्था एव प्रधानमित्यभ्युपगमपरत्वादर्थनयाः प्रकीर्त्यन्ते । अत एषां त्रयाणां शब्दनयानां प्रस्थकार्थाधिकारज्ञः प्रस्थकस्वरूपपरिज्ञानोपयुक्तः प्रस्थकः । भावप्रधानास्तु ते नया इत्यतो भावप्रस्थकमेवेच्छन्ति, भावप्रस्थकोपयोगोऽन्तः स प्रस्थकः,तदुपयोगवानपि च, ततोऽव्यतिरेकात्प्रस्थकः । यो हि यत्रोपयुक्तः सोऽमीषां मते स एव भवति, उपयोगलक्षणो जीवः, उपयोगश्चेत्प्रस्थकाऽऽदिविषयतया परिणतः किमन्यजीवस्य रूपान्तरमस्ति ? यत्र व्यपदेशान्तरं स्यादिति भावः । (जस्स वा वसेणेत्यादि) यस्य वा प्रस्थककर्तृगतस्योपयोगस्य वशेन प्रस्थको निष्पद्यते, तत्रोपयोगे वर्तमानः कर्ता प्रस्थकः । न हि प्रस्थकेऽनुपयुक्तः

प्रस्थकं निर्वर्तयितुं कर्ता समर्थः, ततस्तदुपयोगानन्यत्वात्स एव प्रस्थकः । इमां च तेऽत्र युक्तिमभिदधति-सर्वं वस्तु स्वात्मन्येव वर्तते, न स्वात्मव्यतिरिक्ते आधारे वक्ष्यमाणयुक्त्या, एतन्मतेनाऽन्यस्याऽन्यत्र वृत्त्ययोगात्,प्रस्थकश्च निश्चयाऽऽत्मकं मानमुच्यते, निश्चयश्च ज्ञानम, तत्कथं जडाऽऽत्मनि काष्ठभाजने वृत्तिमनुभविष्यति ?,चेतनाचेतनयोः सामानाधिकरण्याभावात्, तस्मात्प्रस्थकोपयुक्त एव प्रस्थकः । " से तं " इत्यादि निगमनम् । अनु० ।

प्रस्थकदृष्टान्तं विवेचयति-

प्रस्थकार्थं व्रजामीति, वने गच्छन् ब्रवीति यत् ।
आदिमो ह्युपचारोऽसौ, नैगमव्यवहारयोः ॥ ६२ ॥

(प्रस्थकार्थमित्यादि) प्रस्थको मगधदेशप्रसिद्धो धान्यमानहेतुर्द्रव्यविशेषः, तदर्थं व्रजामीति वने गच्छन् यद् ब्रवीति कश्चित्,असौ नैगमव्यवहारयोर्हि निश्चितमादिम उपचारः ॥६२॥

नन्वत्र प्रस्थकार्थं वने गच्छतः प्रस्थकच्छाया मुख्यार्थस्याबाधितत्वात्कथं प्रस्थकपदस्योपचार इति ?।

अत्र आह-

अत्र प्रस्थकशब्देन, क्रियाऽऽविष्टत्वनैकधीः ।
प्रस्थकेऽहं व्रजामीति, ह्युपचारोऽपि च स्फुटः ॥ ६३ ॥

(अत्रेति) अत्राधिकृतप्रयोगे क्वेत्यधिकरणाकाङ्क्षया, प्रस्थकार्थमिति चतुर्थी, प्रकृतार्थेनैव निवृत्तेः प्रस्थकदलयोग्यवृक्षप्रासिरूपक्रियाऽऽविष्टत्वमस्यैकाऽद्वितीया धीरिति, तत्रोपचार आवश्यक इत्यर्थः । ननु तथाऽपि सप्तम्यन्तप्रश्ने सप्तम्यन्तमेवोत्तरमुचितमित्यत आह-क्व भवान् गच्छतीति प्रश्ने प्रस्थकेऽहं व्रजामीति सप्तम्यन्तप्रस्थकपदस्योपचारोऽपि वने स्फुट एव दृश्यत इत्यर्थः । तथा च वनगमने प्रस्थकशब्देन वनाभिधानं नैगमव्यवहारयोः प्रथम उपचार इति सिद्धम् ॥ ६३ ॥

छिनद्मि प्रस्थकं तक्ष्णो-म्युत्किराम्युल्लिखामि च ।
करोमि चेति तदनू-पचाराः शुद्धताभृतः ॥ ६४ ॥

(छिनद्मीति) किं भवान् छिनत्तीति प्रश्ने प्रस्थकं छिनद्मीत्युत्तरे प्रस्थकपदस्य छेदकयोग्ये काष्ठे उपचारः, स पूर्वस्मात् शुद्धः । एवं क्रमेण किं भवान् तक्ष्णोति, उत्किरति, उल्लिखति, करोतीति प्रश्नेषु, प्रस्थकं तक्ष्णोमि, उत्किरामि, उल्लिखामि, करोमीत्युत्तरेषु प्रस्थकपदस्य तक्षणाऽऽदिक्रियायोग्यकाष्ठरूपार्थाद् यथोत्तरं प्रवृत्तः क्रमेण शुद्धताभृतो भवन्ति । ननु सर्वत्र प्रस्थकपदस्य प्रस्थकयोग्यकाष्ठ एक एवोपचारः, तत्क्रियाविशेषितार्थधीश्च तत्तत्क्रियावाचकपदसमभिव्याहारादेव भविष्यतीति कथमेतावन्त उपचारा यथाक्रमशुद्धा उच्यन्त इति चेत् ?। सत्यम् । दुग्धमायुर्दध्यायुर्घृतमायुरित्यादौ दुग्धाऽऽदिकारणे आयुःकार्योपचारस्यातिशयविशेषेण तारतम्यवत् प्रकृतेऽपि छेदनाऽऽदिक्रियाव्यापाराऽऽवेशेन तदन्यावयवसंयोगाऽऽदिविशेषजन्यतया वा विलक्षणेषु काष्ठद्रव्येषु काष्ठप्रस्थकपर्यायोत्पत्तिव्यवधानाऽव्यवधानाभ्यां प्रस्थकपदोपचारतारतम्यस्यानुभवसिद्धत्वात् ॥ ६४ ॥

तमेतावतिशुद्धौ तू-त्कीर्णनामानमाहतुः ।
चितं मितं तथा मेया-रूढमेवाऽऽह संग्रहः ॥ ६५ ॥

(तमिति) अतिशुद्धौ एवैतौ नैगमव्यवहारनयौ तं प्रस्थकमुत्कीर्णनामानं प्रस्थकपर्यायवन्तं प्रस्थकमाहतुः, अनुत्कीर्णनाम्नोऽद्रव्यादविशेषादिति भावः । संग्रहनयस्तु चितमासादितं प्रस्थकपर्यायं, मितमाकुट्टितनामानं, मेयं धान्यविशेषम, आरूढं प्रस्थकमाह, मेयारूढपदेन तदनारूढस्यान्यद्रव्याविशिष्टस्यासंग्रहाद् नैगमोपदर्शितार्थसंकोचकत्वेन स्वनाम्नोऽन्वर्थत्वसिद्धेः । अयं हि विशुद्धत्वात् कारणे कार्योपचारं कार्यकारणकाले प्रस्थकं च नाङ्गीकुरुते । न च तदा तस्य घटाऽऽद्यात्मकत्वप्रसङ्गः,तदर्थक्रियां विना तत्त्वायोगात् । घटाऽऽदिशब्दार्थक्रिया यथा कथञ्चित्तत्रास्त्येवेति चेत्, साधारणतदर्थक्रियाकारित्वस्यैव तदात्मकत्वप्रयोजकत्वात्, तथाऽपि प्रस्थकक्रियाविरहे नाऽयं प्रस्थको घटाऽऽद्यनात्मकत्वाच्च नाप्रस्थक इत्यनुभयरूपः स्यात्स्यात्,प्रतियोगिकोटौ स्वस्याऽपि प्रवेशेन यावद् घटाऽऽद्यनात्मकत्वासिद्धेः । अर्थक्रियाभावाभावाभ्यां द्रव्यभेदाभ्युपगमे ऋजुसूत्रमतानुप्रवेश इति चेत् । न । नैगमनयोपगतार्थसंकोचनाय कादाचित्कनयोपगमेऽपि सर्वत्र तथाऽभ्युपगमाभावेन तदननुप्रवेशात्,इत्थं चार्थक्रियाकारितदकारिप्रस्थकव्यक्तिभेदादर्थक्रियाजनकप्रस्थकव्यक्तौ प्रस्थकत्वसामान्यमपि नास्तीत्यभ्युपगमेऽपि न कश्चिद्दोषः । वस्तुतो व्यावृत्तिविशेषाऽऽश्रयातिरिक्तेन वैयायिकाऽऽदिकल्पितसामान्ये न कश्चिदपि निर्वाहः, तन्मते घटत्वाऽऽदिसामान्यस्याऽपि समर्थयितुमशक्यत्वात् । मृत्स्वर्णरजतपाषाणाऽऽदिघटेषु मृत्त्वस्वर्णत्वाऽऽदिना साङ्कर्येण तदसिद्धेः,अस्तु मृत्त्वे स्वर्णत्वाऽऽदिव्याप्यता,नैवं घटत्वम् । कुलालस्वर्णकारजन्यताऽऽद्यवच्छेदकतया तत्सिद्धेस्तस्याऽऽवश्यकत्वात् । न हि स्वर्णघटाऽऽदौ चक्राऽऽदिकं मृद्घटाऽऽदौ च लोहवर्त्तुलाऽऽदिकं हेतुः,अननुगतधीस्तु कथञ्चित् सौसादृश्यात्,घटपदं तु नानार्थकमित्यभ्युपगमे कथञ्चिदित्याद्यनिर्वचनेनैवाशङ्किताविष्कृतते । अननुगतानां जातीनामिव व्यक्तीनामपि सौसादृश्येनैवानुगमसंभवेन जात्युच्छेदाऽऽपत्तिः,घटपदस्य नानार्थत्वे स्पष्ट एव लौकिकव्यवहारबाधश्च,घटत्वाऽऽदेरेकमेकत्वव्यवृत्त्यैव मृत्त्वाऽऽदिकमेव वा, तथा कुम्भकारस्वर्णकाराऽऽदेर्विजातीयकृतिमत्त्वेन चक्राऽऽदिवर्त्तुलाऽऽदेश्च कथञ्चिद्विजातीयव्यापारकत्वेन हेतुत्वमित्यादिनवीनकल्पना तु(?)दोषादेकत्वाग्रहेऽपि घटत्वाऽऽदिग्रहादेकत्वव्यवहारसिद्धिः, एकत्वस्यैकत्वात्स्वरूपेण कार्यकारणभावोच्छेदे व्यवहारविलोपाच्चानुपपत्तेरिति नयविशेषेण तत्र तत्र व्यावृत्तिविशेषरूपसामान्याभ्युपगमं विना न निर्वाह इति प्रकृते कार्याकरणकाले व्यावृत्तविशेषरूपप्रस्थकत्वसामान्याभावाभ्युपगमे न क्षतिरिति किमति प्रपञ्चितेन ? ॥६५॥

प्रस्थकश्चर्जुसूत्रस्य, मानं मेयमिति द्वयम् ।
न ह्यकर्तृगताज्ञाना-च्छब्दानां सोऽतिरिच्यते ॥ ६६ ॥

(प्रस्थकश्चेति) ऋजुसूत्रस्य मानं मेयं चेति द्वयमेव प्रस्थकस्वरूपं, तन्मेयधान्ये च समवहित एव प्रस्थकव्यवहारादेकतरविनाशभावे तत्परिच्छेदासंभवात् । किञ्च-मेयाऽऽरूढः प्रस्थकः प्रस्थकत्वेन व्यपदेश्य इति संग्रहनयमते मेयारूढः प्रस्थकः, प्रस्थकाऽऽरूढं मेयं वा,नत्वत्र विनिगमकाभावादुभयमेव प्रस्थकपदशक्यतावच्छेदकत्वं युक्तम् । कथं तर्हि प्रस्थकेन धान्यं मीयत इति प्रयोग एकोत्तरोभयवाचकपदैकस्यानुपस्थापनादिति चेत् । न । एतन्नयेन कथञ्चित्प्रस्थकपदशक्यतावच्छेदकस्य व्यासज्यवृत्तित्वेन विवक्षाभेदात् करणरूपानुप्रवेशस्या-

ऽपि संभवात्र तदनुपपत्तिरिति दृष्टव्यम् ॥ शब्दानां शब्दसमभिरूढैवंभूताऽऽख्यानां त्रयाणां नयानां मते स प्रस्थकः प्रस्थकगताङ्गोपयोगातिरिच्यते न भिद्यते। ज्ञस्य कर्ता च ज्ञकर्तारौ,ज्ञकर्त्रोर्गतो ज्ञकर्तृगतः,तस्मादिति समासः। प्रस्थकात् ज्ञगतात् प्रस्थककर्तृगताद्वा प्रस्थकोपयोगादतिरिक्तं प्रस्थकं ते न सहन्ते निश्चयज्ञानात्मकप्रस्थकस्य जडवृत्तित्वायोगात्, बाह्यप्रस्थकस्याऽप्यनुपलम्भकालेऽसत्त्वेनोपयोगानतिरेकाऽऽश्रयणादन्ततो ज्ञानाद्वैताय पर्यवसानाद्वा। न च ज्ञानाऽऽत्मकत्वोऽन्यनयविषयसमावेशविरोधात्प्रत्येकमनयत्वमाशङ्कनीयम्, तादात्म्येनोभयरूपासमावेशेऽपि विषयत्वतादात्म्याभ्यां तदुभयसमावेशात्। विषयत्वमपि कथञ्चित्तादात्म्यमिति तु नयान्तराऽऽकूतम्, यदाभिधेयं 'अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेयाः' इति प्राचीनैर्गीयत इति दिग् ॥ ६६ ॥ विवेचितः प्रस्थकदृष्टान्तः । नयो० । विशे० ।

(२०) वसतिदृष्टान्तः-

से किं तं वसहिदिट्ठंतेणं ? । वसहिदिट्ठंतेणं से जहानामए केइ पुरिसे किंचि पुरिसं वएज्जा-कहिं भवं वससि ?। अविसुद्धो णेगमो भणइ-लोगे वसामि। लोगे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-उड्ढलोए, अहोलोए, तिरिअलोए । तेसु सव्वेसु भवं वससि ?। विसुद्धो णेगमो भणइ-तिरिअलोए वसामि । तिरिअलोए जंबुदीवाऽऽइआ सयंभूरमणपज्जवसाणा असंखिज्जा दीवसमुद्दा पण्णत्ता, तेसु सव्वेसु भवं वससि ?। विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-जंबुद्दीवे वसामि । जंबुद्दीवे दस खेत्ता पण्णत्ता । तं जहा-भरहे, एरवए, हेमवए, एरण्णवए, हरिवस्से, रम्मगवस्से, देवकुरू, उत्तरकुरू, पुव्वविदेहे, अवरविदेहे। तेसु सव्वेसु भवं वससि ?। विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-भरहे वासे वसामि। भरहे वासे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-दाहिणड्ढभरहे, उत्तरड्ढभरहे अ । तेसु सव्वेसु भवं वससि ?। विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-दाहिणड्ढभरहे वसामि । दाहिणड्ढभरहे अणेगाइं गामागरणगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाहसण्णिवेसाइं,तेसु सव्वेसु भवं वससि ? । विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-पाडलिपुत्ते वसामि । पाडलिपुत्ते अणेगाइं गिहाइं, तेसु सव्वेसु भवं वससि ? । विसुद्धो णेगमो भणइ-गब्भघरे वसामि । एवं विसुद्धस्स णेगमस्स वसमाणो वसइ। एवमेव ववहारस्स वि। संगहस्स संथारसमारूढो वसइ। उज्जुसुअस्स जेसु आगासपएसेसु ओगाढो तेसु वसइ । तिण्हं सद्दनयाणं आयभावे वसइ । सेत्तं वसहिदिट्ठंतेणं ।

(से किं तं वसहीत्यादि) वसतिर्निवासः, तद्दृष्टान्तेन नयविचार उच्यते। तद्यथानामकः कश्चित्पुरुषः पाटलिपुत्राऽऽदौ वसन्तं कञ्चित्पुरुषं वदेत्-क भवान् वसति ?। तत्राविशुद्धो नैगमो भणति-अविशुद्धनैगमनयमतानुसारी स खल्वसौ प्रत्युत्तरं प्रयच्छति-लोके वसामि। तन्निवासकेनस्याऽपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकादनर्थान्तरत्वात्, इत्यमपि च व्यवहारदर्शनात्। विशुद्धनैगमस्य त्विव्याप्तिपरत्वादिदमसङ्गतं मन्यते। ततस्तिर्यग्लोके वसामीति संक्षिप्योत्तरं ददाति विशुद्धतरास्त्वियम्। अथातिविशुद्धतरस्त्विदमप्यतिव्याप्तिमिद्धं मन्यते। ततो जम्बूद्वीपे वसामीति संक्षिप्ततरमाह । एवं भारतवर्षदक्षिणार्द्धभरतपाटलिपुत्रदेवदत्तगृहमध्यगृहेष्वपि भावनीयम् । (एवं विसुद्धस्स णेगमस्स वसमाणो वसइ त्ति) एवमुत्तरोत्तरभेदापेक्षया विशुद्धतरनैगमस्य वसन्नेव वसति, नान्यथा। इदमुक्तं भवति-यत्र गृहाऽऽदौ सर्वदा निवासत्वेनाऽसौ विवक्षितस्तत्र तिष्ठन्नेव एव तत्र वसतीति व्यपदिश्यते। यदि पुनः कारणवशतोऽन्यत्र रथ्यादौ वर्तते, तदा तत्र विवक्षिते गृहाऽऽदौ वसतीति न प्रोच्यते, अतिप्रसङ्गादिति भावः। (एवमेवेत्यादि) लोकव्यवहारनिष्ठो हि व्यवहारनयः, लोके च नैगमोक्तप्रकाराः सर्वेऽपि दृश्यन्ते इति भावः। अथ चरमनैगमोक्तप्रकारो लोके नेष्यते, कारणतो ग्रामाऽऽदौ वर्तमानेऽपि देवदत्ते पाटलिपुत्रे एव वसतीति व्यपदेशदर्शनादिति चेत्। नैतदेवम्। प्रोषिते देवदत्ते स इह वसति न वेति केनचित् पृष्टो, प्रोषितोऽसौ नेह वसतीत्यस्याऽपि लोकव्यवहारस्य दर्शनादिति । (संगहस्सेत्यादि) प्राक्तनाविशुद्धत्वात्संग्रहनयस्य गृहाऽऽदौ तिष्ठन्नपि संस्तारकाऽऽरूढ एव शयनक्रियावान् वसतीत्युच्यते। इदमुक्तं भवति-संस्तारेऽवस्थानादन्यत्र निवासार्थ एव न घटते,चलनाऽऽदिक्रियावत्त्वान्मार्गाऽऽदिप्रवृत्तवत्। संस्तारके च वसतो गृहाऽऽदौ वसतीति व्यपदेशायोग एव, अतिप्रसङ्गात् । तस्मात् क्वाऽसौ वसतीति निवासजिज्ञासायां संस्तारके शय्यामात्रस्वरूपे वसतीत्येतदेवास्य मतेनोच्यते,नान्यदिति भावः। स च नानादेशाऽऽश्रितोऽप्येक एव, संग्रहस्य सामान्यवादित्वादिति । ऋजुसूत्रस्य तु पूर्वस्माद्विशुद्धत्वाद् येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढः,तेष्वेव वसतीत्युच्यते, न संस्तारके, सर्वस्याऽपि वस्तुवृत्त्या नभस्येवावगाहात्। येषु प्रदेशेषु संस्तारको वर्तते, संस्तारकेणैवाऽऽक्रान्तास्तत्तो येष्वेव प्रदेशेषु स्वयमवगाढस्तेष्वेव वसतीत्युच्यते। स च वर्तमानकाले एवास्ति, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनैतन्मतेऽसत्त्वादिति। त्रयाणां शब्दनयानामात्मभावे स्वस्वरूपे सर्वोऽपि वसति, अन्यस्याऽन्यत्र वृत्त्ययोगात्। तथाहि-अन्योऽन्यत्र वर्तमानः किं सर्वाऽऽत्मना वर्तते?, देशाऽऽत्मना वा ?। यद्याद्यः पक्षस्तर्हि तस्याऽऽधारव्यतिरेकिणा स्वकीयरूपेणाप्रतिभासनप्रसङ्गः। यथा हि-संस्तारकाऽऽद्याधारस्य स्वरूपं सर्वाऽऽत्मना तत्र वृत्तं न तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यते, एवं देवदत्ताऽऽदिरपि सर्वाऽऽत्मना तत्राधीयमानस्तद्व्यतिरेकेण नोपलभ्यते। अथ द्वितीयो विकल्पः स्वीक्रियते, तर्हि तत्राऽपि देशेऽनेन वर्तितव्यम्। ततः पुनरपि विकल्पद्वयम्-किं सर्वाऽऽत्मना वर्तते, देशाऽऽत्मना वेति ?। सर्वाऽऽत्मपक्षे देशिनो देशरूपताऽऽपत्तिः। देशाऽऽत्मपक्षे तु पुनस्तत्रापि देशो देशिना वर्तितव्यं, ततः पुनरपि तदेव विकल्पद्वयम्; तदेव दूषणमित्यनवस्था। तस्मात्सर्वोऽपि स्वस्वभाव एव निवसति, तत्परित्यागेनान्यत्र निवासे तस्य निःस्वभावताप्रसङ्गादित्यलं बहुभाषितया।" सेत्तं " इत्यादि निगमनम्। अनु०। नयो०। ननु वसनं नाम वर्त्तनमुच्यते। तथा च-देवदत्तो गृहे वसतीति। किमुक्तं भवति?-देवदत्तो गृहे वर्तते, तच्च वर्त्तनं सर्वस्याऽपि वस्तुनः स्वस्वरूप एव, नाऽन्यत्र, तथा प्रत्यक्षत उपलभ्यमानत्वात्। तथाहि-यद् घटगतं स्वरूपं तत् घटे एव वर्त्तते, नाऽन्यत्र भूतले पटाऽऽदौ वेति । प्रसिद्धमेतत्, देवद-

ताऽऽदिलक्षणं वस्तु स्वरूपमपहाय कथमन्यत्र विलक्षणस्वरूपे वस्तुनि आकाशलक्षणे वर्त्तितुमुत्सहते । तथा चाऽत्र प्रयोगः- यद्वस्तु सत् तत् सर्वमात्मस्वरूपे वर्त्तते, यथा चेतना जीवे, वस्तु च देवदत्ताऽऽदिकमिति तदपि स्वस्वरूप एव वर्त्तते, नान्यत्रेति । अथवाऽयं व्यतिरेकमुखेन प्रयोगः-विवादाऽऽस्पदीभूतो देवदत्तो नाऽऽकाशप्रदेशेष्ववतिष्ठते, ततो विलक्षणत्वात्, यद् यतो विलक्षणं न तत्तत्र वर्त्तते, यथा छाया आतपे, विलक्षणाश्चाचेतनत्वेन देवदत्तादाकाशप्रदेशा इति नासौ तत्र वर्त्तते ।

उक्तं च भाष्यकारैः-

" आगासे वसइ त्ति य, जमिह भणइ किह अन्नमन्नम्मि ।
मोत्तूणाऽऽयसहावं, वसेज्ज वत्थुं विहम्मम्मि ॥ २२४१ ॥
वत्थुं वसइ सहावे, सत्ताओ चेयणा व जीवम्मि ।
न विलक्खणत्तणाओ, भिन्ने छायातवे चेव ॥ २२४२ ॥

एव वसतिदृष्टान्तः ।

(२१) संप्रति प्रदेशदृष्टान्तभावना-

तत्र प्रकृष्टो देशः प्रदेशः, स एव दृष्टान्तः प्रदेशदृष्टान्तः । स चायम्-नैगमो वदति-षण्णां जगति प्रदेशः । तद्यथा-धर्मास्तिकायप्रदेशः, अधर्मास्तिकायप्रदेशः, आकाशास्तिकायप्रदेशः, जीवप्रदेशः, स्कन्धप्रदेशः, स्कन्धगतैकदेशप्रदेशश्च । सर्वत्र षष्ठीतत्पुरुषः समासः । यथा धर्मास्तिकायस्य प्रदेशो धर्मास्तिकायप्रदेशः । एवं सर्वत्रापि । स च धर्मास्तिकायप्रदेशाऽऽदिः सामान्यविवक्षया एको, विशेषविवक्षयाऽनेक इति । एवं वदति नैगमे संग्रहो वदति-यदुक्तं-षण्णां प्रदेश इत्यादि । तन्न भवति । यस्माद् यः स्कन्धगतैकदेशप्रदेशः, स तस्यैव स्कन्धस्य प्रदेशः, देशस्य स्कन्धाव्यतिरिक्तत्वात् । तथा च लोकेऽपि वक्तारः-" दासेन मे खरः क्रीतो, दासोऽपि मे खरोऽपि मे । " एवं यत्स्कन्धस्य संबन्धिनो देशस्य प्रदेशः, स तस्यैव स्कन्धस्य । ततो मैवं वादीः-यदुत षण्णां प्रदेश इत्यादि, किं त्वेवं वद-यथा पञ्चानां प्रदेशः । तद्यथा-धर्मास्तिकायप्रदेशः, अधर्मास्तिकायप्रदेशः, आकाशास्तिकायप्रदेशः, जीवप्रदेशः, स्कन्धप्रदेश इति । अत्र च धर्मास्तिकायप्रदेशः स्वस्वधर्मास्तिकायाऽऽद्यनुगतः सर्वोऽप्येक एव द्रष्टव्यः, सामान्यविवक्षणात् । एवं च संग्रहोऽविशुद्धः प्रतिपत्तव्यः, अपरसामान्याभ्युपगमात् । एवमभिदधानं संग्रहं प्रति व्यवहारोऽभिधत्ते-यद्वदति भवान् पञ्चानां प्रदेश इति, तन्न्यथा । न चैतदस्ति । तस्मादेवं वक्तव्यम्-पञ्चविधः प्रदेशः । तद्यथा-धर्मास्तिकायप्रदेशो यावत् स्कन्धप्रदेश इति । एवमुक्ते व्यवहारेण ऋजुसूत्रो वदति-यज्जल्पते भवान्-पञ्चविधः प्रदेश इत्यादि । तदसम्यक् । तत्राऽपि शब्दार्थे विचार्यमाणेऽतिप्रसङ्गदोषापत्तेः । तथाहि-पञ्चविधः प्रदेश इत्युक्ते शब्दार्थपर्यालोचनायां यो यः प्रदेशः स पञ्चविध इति प्राप्तम्, एवं च सत्येककः प्रदेशः पञ्चविंशतिविधः प्रदेशः प्रसक्तः । न चैतदस्ति । तस्मादेवमत्र वक्तव्यम्-भाज्यः प्रदेशः । तद्यथा-स्याद्धर्मास्तिकायप्रदेशः, स्यादधर्मास्तिकायप्रदेशः, स्यादाकाशास्तिकायप्रदेशः, स्याज्जीवप्रदेशः, स्यात् स्कन्धप्रदेशः । एवमाचक्षाणमृजुसूत्रं शब्दनयः प्रत्याचष्टे-यद्वदसि भाज्यः प्रदेश इत्यादि । तन्न भवति । कथमुच्यते ? । यदि भाज्यः प्रदेश इति स्यात् ततः स्यात्पदलाञ्छने प्रतिनियते धर्मास्तिकायाऽऽद्यनुगतप्रदेशस्वरूपावधारणासंभवात्, धर्मास्तिकायप्रदेशोऽपि स्यादधर्मास्तिकायप्रदेशः, अधर्मास्तिकायप्रदेशोऽपि स्याद्धर्मास्तिकायप्रदेश इत्यादि । तत एवं वक्तव्यम्-धर्मास्तिकायः प्रदेशः प्रदेशोऽधर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः प्रदेशः प्रदेशो धर्मास्तिकाय इत्यादि । एवं हि वदतः शब्दनयस्यायमभिप्रायः-य एव धर्मास्तिकायाऽऽदिरूपो देशी स एव देशः प्रदेशो वा न स्यात्, तदव्यतिरिक्तत्वात् । न खलु देशिनो भिन्नो देशः प्रदेशो वा भवितुमर्हति, भेदे सति तस्याऽसौ देशः प्रदेशो वेति संबन्धानुपपत्तेः । न हि घटः पटस्येति सचेतसा वक्तुं शक्यम्, संबन्धश्चेत्तर्हि संबन्धस्याऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वाद्देशः प्रदेशो वा देशिनः सकाशादभिन्नः प्रतिपत्तव्यः, तथा च सति य एव देशी स एव देशः प्रदेशश्चेति सिद्धं सामानाधिकरण्यम् । एतदेव च सामानाधिकरण्यं समभिरूढोऽपि मन्यते । एवंभूतस्तु प्रदेशवस्तुनो देशः प्रदेशो वा, युक्त्ययोगात् । तथाहि-देशः प्रदेशो वा देशिनो भिन्नोऽभिन्नो वा, गत्यन्तराभावात् । यदि भेदस्तस्येति संबन्धानुपपत्तिः । अथाभेदस्ततो देशः प्रदेशो वा देश्येव, तदव्यतिरिक्तत्वात्, स्वरूपवत् । तथा च सति यौ देशप्रदेशशब्दौ तौ परमार्थतो धर्मास्तिकायाऽऽदिदेशप्रतिपादकौ, ततो यथा पर्यायशब्दत्वादेककालमेकस्मिन् वस्तुनि घटकुटावोच्चार्येते, एकेनाऽपि शब्देन तदर्थस्य प्रतिपादने द्वितीयशब्दप्रयोगस्य नैरर्थक्यात् । एवमिहापि धर्मास्तिकायाऽऽदिरूपे वस्तुनि धर्मास्तिकायाऽऽदिशब्दो देशप्रदेशाऽऽदिशब्दश्च नैककालमुच्चारणमर्हतः, द्वयोरप्येकार्थत्वेनैकेनापि तदर्थस्याऽभिधानत्वेऽपरशब्दप्रयोगस्य वैयर्थ्यात् । तथा च सति धर्मास्तिकायप्रदेशः, अधर्मास्तिकायप्रदेश इत्यादि वचनजातं सर्वमुपपन्नम् । देशप्रदेशशब्दयोः परमार्थतो धर्मास्तिकायाऽऽदिरूपदेशिवाचकतया पौनरुक्त्यदोषानुषङ्गात् । योऽपि च नोशब्द एकदेशवचनः, सोऽप्येतन्मते सर्वथाऽनुपपन्नः, तत्राप्युक्तदोषानतिक्रमात् । तथाहि-नोशब्दः सम्पूर्णं वस्त्वभिदध्यात्, वस्त्वेकदेशं वा ? यदि सम्पूर्णं, ततस्तस्य प्रयोगो निरर्थकः, धर्मास्तिकायाऽऽदिपदेनैव तस्याऽभिधानात् । अथ वाऽस्त्येकदेशमिति पक्षः । सोऽप्यसमीचीनः, वस्तुनो देशाभावात् । न हि वस्तुनो भिन्नो देश उपपद्यते, तस्येति संबन्धाऽभावात् । अभेदे तु देश्येव, न देश इत्युपपादितमेतत् ।

उक्तं च भाष्यकारैः-

" नो सद्दो वि समत्तं, देस व भणिज्ज जइ समत्तं तो ।
तस्स पओगोऽणत्थो, अह देसो तो न सो वत्थुं ॥२२५६॥ "

अत्र (न सो वत्थु त्ति) न स देशो वस्तु, भेदपक्षेऽभेदपक्षे वा, तस्यासंभवादिति । येऽपि च नीलोत्पलाऽऽदयः शब्दा लोकप्रसिद्धाः, तेऽप्येतन्मतेन विचार्यमाणाः सर्वथाऽनुपपन्नाः । तथाहि-तन्मतेन सर्वं वस्तु प्रत्येकमखण्डरूपं, न तस्य गुणाः पर्याया वा देशाः प्रदेशा वा सर्वथा कथञ्चिद्भिन्ना वस्त्वन्तररूपा वर्त्तन्ते, ततो नीलशब्देनाऽपि तदेव वस्त्वखण्डमभिधीयते, उत्पलशब्देनाऽपि तदेवेति, नीलोत्पलशब्दयोरन्यतरशब्देन तदर्थस्याभिधानात् । द्वितीयशब्दप्रयोगो व्यर्थ इत्ययुक्ता नीलोत्पलाऽऽदयः शब्दाः । प्रकृते प्रदेशदृष्टान्तभावनाऽपि तथैव । तदेवमुक्ता नयाः । एतेषां च नयानामाद्याश्चत्वारो नया अर्थनयाः, मुख्यवृत्त्या जीवाऽऽद्यर्थसमाश्रयणात् । शेषास्तु त्रयः शब्दाऽऽदयो नयाः शब्दनयाः, शब्द एवार्थभेदोपयोगात् ।

उक्तं च-

" चत्वारोऽर्थनया ह्येते, जीवाऽऽद्यर्थविनिश्चयात् ।
त्रयः शब्दनयाः सत्य-पदविद्यां समाश्रिताः " ॥१॥

तत्र (सप्तशतविधाः समाश्रिता इति) सत्यानि अविपरीतानि, शब्दानुशासनोपदर्शितयथोक्तलक्षणोपेतानीति भावः । तानि च तानि पदानि सत्यपदानि, तेषां विद्या परिज्ञानं कारकाऽऽदिभेदतोऽवगमः । तां समाश्रिताः, तद्वशाद्व्यत्तद्भेदमभ्युपगच्छन्त इत्यर्थः ।

सम्प्रत्येतेषामेव नयानां प्रभेदसंख्याप्रदर्शनार्थमाह निर्युक्तिकारः-

इक्केको य सयविहो, सत्त नयसया हवंति एमेव ।

अन्नो वि य आएसो, पंचेव सया नयाणं तु ॥२२६४॥

नया मूलभेदापेक्षया यथोक्तरूपा नैगमाऽऽदयः सप्त, एकैकश्च प्रभेदतः शतविधः शतभेदः, ततः सर्वप्रभेदगणनया सप्त नयशतानि भवन्ति । एवमन्येऽपि च आदेशाः पञ्चशतानि भवन्ति नयानां शब्दाऽऽदीनामेकत्वादेकैकस्य च शतविधत्वादिति हृदयम् । अपिशब्दात् षट् चत्वारि द्वे वा शते । तत्र षट् शतान्येवम्-नैगमः सामान्यग्राही संग्रहे प्रविष्टो, विशेषग्राही व्यवहारे । उक्तं च भाष्यकारैः-"जो सामन्नग्गाही, स नेगमो संगहं गओ अहवा । इयरो ववहारमिओ, जो तेण समाणनिद्देसो " ॥ ३६ ॥ ततः षडेव मूलनयाः, एकैकश्च प्रभेदतः शतभेदः, इति षट् शतानि । अपरादेशाः संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा इति चत्वार एव मूलनयाः, एकैकश्च शतविध इति चत्वारि शतानि । शतद्वयं तु नैगमाऽऽदीनामृजुसूत्रपर्यन्तानां द्रव्यास्तिकत्वात्, शब्दाऽऽदीनां तु पर्यायास्तिकत्वात्, तयोश्च प्रत्येकं शतभेदत्वात् । अथ वा यावन्तो वचनपथाः, तावन्तो नया इत्यसंख्याताः प्रतिपत्तव्याः । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

प्रदेशदृष्टान्तस्तु-

से किं तं पएसदिट्ठंतेणं ? । पएसदिट्ठंतेणं णेगमो भणइ-छण्हं पएसो । तं जहा-धम्मपएसो, अधम्मपएसो, आगासपएसो, जीवपएसो, खंधपएसो, देसपएसो । एवं वयंतं णेगमं संगहो भणइ-जं भणसि छण्हं पएसो, तं न भवइ, कम्हा ?, जम्हा देसपएसो, सो तस्स दव्वस्स एव, जहा को दिट्ठंतो-"दासेण मे खरो कीओ,दासो वि मे खरो वि मे ।" तं मा भणाहि छण्हं पएसो, भणाहि-पंचण्हं पएसो । तं जहा-धम्मपएसो, अधम्मपएसो, आगासपएसो, जीवपएसो, खंधपएसो । एवं वयंतं संगहं ववहारो भणइ-जं भणसि-पंचण्हं पएसो,तं न भवइ,कम्हा ?, जइ जहा पंचण्हं गोट्ठिआणं पुरिसाणं केइ दव्वजाए सामन्ने भवइ । तं जहा-हिरन्ने वा, सुवन्ने वा, धणे वा, धण्णे वा, तहा पंचण्हं पएसो, तं मा भणाहि पंचण्हं पएसो, भणाहि-पंचविहो पएसो । तं जहा-धम्मपएसो, अधम्मपएसो, आगासपएसो, जीवपएसो, खंधपएसो । एवं वयंतं ववहारं उज्जुसुओ भणइ-जं भणसि-पंचविहो पएसो, तं न भवइ,कम्हा ?,जइ ते पंचविहो पएसो,एवं ते एक्केको पएसो पंचविहो, एवं ते पणवीसविहो पएसो भवइ,तं मा भणाहि पंचविहो पएसो, भणाहि-भइयव्वो पएसो, सिअ धम्मपएसो, सिअ अधम्मपएसो,सिअ आगासपएसो, सिअ जीवपएसो, सिअ खंधपएसो । एवं वयंतं उज्जुसुयं पइ सद्दनओ भणइ-जं भणसि-भइयव्वो पएसो, तं न भवइ, कम्हा ?, जइ भइयव्वो पएसो, एवं ते धम्मपएसो वि सिअ अधम्मपएसो सिअ आगासपएसो सिअ जीवपएसो सिअ खंधपएसो; अधम्मपएसो वि सिअ धम्मपएसो० जाव खंधपएसो । जीवपएसो वि सिअ धम्मपएसो० जाव सिअ खंधपएसो, खंधपएसो वि सिअ धम्मपएसो० जाव सिअ खंधपएसो । एवं ते अणवत्था भविस्सइ, तं मा भणाहि भइयव्वो पएसो, भणाहि-धम्मे पएसे से पएसे धम्मे, अहम्मे पएसे से पएसे अहम्मे, आगासे पएसे से पएसे आगासे,जीवे पएसे से पएसे नो जीवे, खंधे पएसे से पएसे नो खंधे । एवं वयंतं सद्दनयं समभिरूढो भणइ-जं भणसि-धम्मे पएसे से पएसे धम्मे, जीवे पएसे से पएसे नोजीवे, खंधे पएसे से पएसे नोखंधे, तं न भवइ,कम्हा ?,इत्थं खलु दो समासा भवंति । तं जहा-तप्पुरिसे अ, कम्मधारए अ । तं ण णज्जइ कयरेणं समासेणं भणसि,किं तप्पुरिसेणं ?,किं कम्मधारएणं ? । जइ तप्पुरिसेणं भणसि, तो मा एवं भणाहि, अह कम्मधारएणं भणसि,तो विसेसओ भणाहि-धम्मे अ से पएसे अ से से पएसे धम्मे, अहम्मे अ से पएसे अ से से पएसे अहम्मे, आगासे अ से पएसे अ से से पएसे आगासे, जीवे अ से पएसे अ से से पएसे नो जीवे,खंधे अ से पएसे अ से से पएसे नो खंधे । एवं वयंतं समभिरूढं पइ एवंभूओ भणइ-जं जं भणसि तं तं सव्वं कसिणं पडिपुण्णं निरवसेसं एगगहणगहितं, देसे वि मे अवत्थू, पएसे वि मे अवत्थू । से तं पएसदिट्ठंतेणं । से तं नयप्पमाणे ॥

(से किं तं पएसदिट्ठंतेणमित्यादि) प्रकृष्टो देशः प्रदेशो, निर्विभागो भाग इत्यर्थः । स एव दृष्टान्तः, तेन नयमतानि चिन्त्यन्ते । तत्र नैगमो भणति-षण्णां प्रदेशः । तद्यथा-(धम्मपएस इत्यादि) धर्मशब्देन धर्मास्तिकायो गृह्यते, तस्य प्रदेशो धर्मप्रदेशः । एवमधर्माऽऽकाशजीवास्तिकायेष्वपि योज्यम् । स्कन्धः पुद्गलद्रव्यनिचयः, तस्य प्रदेशः स्कन्धप्रदेशः, देशः एषामेव पञ्चानां धर्मास्तिकायाऽऽदिद्रव्याणां प्रदेशद्वयाऽऽदिनिष्पन्नोऽवयवः,तस्य प्रदेशो देशप्रदेशः । अयं च प्रदेशसामान्याव्यभिचारात् षण्णां प्रदेश इत्युक्तम्, विशेषविवक्षायां तु षट् प्रदेशाः, एवं वदन्तं नैगमं प्रति निपुणतरः संग्रहो भणति, यद्भणसि-षण्णां प्रदेश इति,तन्न भवति तन्न युज्यते । कस्मात् ?, यस्माद्यो देशप्रदेश इति षष्ठे स्थाने भवता प्रतिपादितं, तदसङ्गतमेव । यतो धर्मास्तिकायाऽऽदिद्रव्यस्य संबन्धी यो देशस्तस्य यः प्रदेशः, स वस्तुवृत्त्या तस्यैव द्रव्यस्य यत्संबन्धी देशो विवक्ष्यते, द्रव्याव्यतिरिक्तस्य देशस्य यः प्रदेशः स द्रव्यस्यैव भवति । यथा कोऽत्र दृष्टान्त इत्याह-" दासेणेत्यादि " लोकेऽ-

ण्येवं व्यवहृतिर्दृश्यते । यथा कश्चिदाह-मदीयदासेन खरः क्रीतः, तत्र दासोऽपि मदीयः, खरोऽपि मदीयः, दासस्य मदीयत्वात् तत्क्रीतः खरोऽपि मदीय इत्यर्थः । एवमिहाऽपि देशस्य द्रव्यसंबन्धित्वात् तत्प्रदेशोऽपि द्रव्यसंबन्ध्येवेति भावः । तस्मान्मा भण-षण्णां प्रदेशः, अपि त्वेवं भण-पञ्चानां प्रदेश इति, स्वदुक्तषष्ठदेशस्यैवाऽघटनादित्यर्थः । तदेव दर्शयति-तद्यथा-धर्मप्रदेश इत्यादि । एतानि पञ्च द्रव्याणि, तत्प्रदेशाश्चेत्येवमविशुद्धसंग्रह एवं मन्यते, अवान्तरद्रव्यसामान्याऽऽश्रयाभ्युपगमात् । विशुद्धस्तु द्रव्यवाद्रव्यं प्रदेशकल्पनां च नेच्छत्येव, सर्वस्यैव वस्तुसामान्यक्रोडीकृतत्वेनैकत्वादित्यलं प्रसङ्गेन । प्रकृतमुच्यते-एवं वदन्तं संग्रहं ततोऽपि निपुणो व्यवहारो भणति-यद्भणसि-पञ्चानां प्रदेश इति, तन्न भवति न युज्यते, कस्मात् ?, यदि यथा पञ्चानां गोष्ठिकानां पुरुषाणां किञ्चित् द्रव्यं सामान्यमेकं भवति । तद्यथा-हिरण्यं वेत्यादि । एवं यदि प्रदेशोऽपि स्यात्ततो युज्यते वक्तुं पञ्चानां प्रदेश इति । इदमुक्तं भवति-यथा केषाञ्चित्पञ्चानां पुरुषाणां साधारणं किञ्चिद्धिरण्याऽऽदि भवति, एवं पञ्चानामपि धर्मास्तिकायाऽऽदिद्रव्याणां यद्येकः कश्चित्साधारणप्रदेशः स्यात्तदेयं वाचो युक्तिर्घटेत, न चैतदस्ति, प्रतिद्रव्यं प्रदेशभेदात् । तस्मान्मा भण-पञ्चानां प्रदेशः । अपि तु पञ्चविधः पञ्चप्रकारः प्रदेशः, द्रव्यलक्षणस्याऽऽश्रयस्य पञ्चविधत्वादिति भावः । तदेवाऽऽह-धर्मप्रदेश इत्यादि । एवं वदन्तं व्यवहारमृजुसूत्रो भणति—यद्भणसि—पञ्चविधः प्रदेशः, तन्न भवति, कस्मात् ?, यस्मादेवं पञ्चविधः प्रदेशः, एवमेकैको धर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशः पञ्चविधः प्रसक्तः, शब्दादत्र वस्तुव्यवस्था, शब्दे त्वेवमेव प्रतीतिर्भवति । एवं च सति पञ्चविंशतिविधः प्रदेशः प्राप्नोति । तन्मा भण-पञ्चविधः प्रदेशः, किं त्वेवं भण-भाज्यः प्रदेशः स्याद्धर्मप्रदेश इत्यादि । इदमुक्तं भवति-भाज्यो विकल्पनीयो विभजनीयः प्रदेशः कियद्भिर्विभागैः स्याद्धर्मप्रदेश इत्यादि पञ्चभिः, ततश्च पञ्चभेद एव प्रदेशः सिध्यति । स च यथा स्वमात्मीयमात्मीय एवाऽस्ति, न परकीयः, तस्यार्थक्रियासाधकत्वात्, प्रस्तुतनयमतेनासत्त्वादिति । एवं भणन्तमृजुसूत्रं प्रति शब्दनयो भणति-यद्भणसि-भाज्यः प्रदेशः,तन्न भवति, कुतः ?,यदि भाज्यः प्रदेशः, एवं ते धर्मास्तिकायप्रदेशोऽपि कदाचिदधर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशः स्यात्, अधर्मास्तिकायप्रदेशोऽपि कदाचिद्धर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशः स्यात्, इत्थमपि भजनाया अनिवारितत्वात्, यथा एकोऽपि देवदत्तः कदाचिद्राज्ञो भृत्यः,कदाचिदमात्याऽऽदेरिति । एवमाकाशास्तिकायाऽऽदिप्रदेशोऽपि वाच्यम् । तदेवं नैयत्याभावादनवस्था प्रपद्यते । तन्मैवं भण-भाज्यः प्रदेशः,अपि तु इत्थं भण-"धम्मे पएसे से पएसे धम्मे" इत्यादि । इदमुक्तं भवति-धर्मप्रदेश इति,धर्माऽऽत्मकः प्रदेश इत्यर्थः। अत्राऽऽह-नन्वयं प्रदेशः सकलधर्मास्तिकायादव्यतिरिक्तः सन् धर्माऽऽत्मक इत्युच्यते,आहोस्वित् तदेकदेशाव्यतिरिक्तः सन् , यथा सकलजीवास्तिकायैकदेशैकजीवद्रव्याव्यतिरिक्तः संस्तत्प्रदेशो जीवाऽऽत्मक इति व्यपदिश्यत इत्याह-(से पएसे धम्मे त्ति) स प्रदेशो धर्मः, सकलधर्मास्तिकायादव्यतिरिक्त इत्यर्थः । जीवास्तिकाये हि परस्परं भिन्नान्येवानन्तानि जीवद्रव्याणि भवन्त्यतो य एकजीवद्रव्यस्य प्रदेशः, स निःशेषजीवास्तिकायैकदेशवृत्तिरेव सन् जीवाऽऽत्मक इत्युच्यते । अत्र तु धर्मास्तिकाय एकमेव द्रव्यं, ततः सकलधर्मास्तिकायाव्यतिरिक्त एव संस्तत्प्रदेशो धर्माऽऽत्मक उच्यत इति भावः । अधर्माऽऽकाशास्तिकाययोरप्येकैकद्रव्यत्वादेवमेव भावनीयम् । जीवास्तिकाये तु (जीवे पएसे पएसे नो जीवे त्ति) जीवः प्रदेश इति, जीवास्तिकायाऽऽत्मकः प्रदेश इत्यर्थः । स च प्रदेशो नोजीवः, नोशब्दस्येह देशवचनत्वात्, सकलजीवास्तिकायैकदेशवृत्तिरित्यर्थः । यो ह्येकजीवो द्रव्याऽऽत्मकः प्रदेशः स कथमनन्तजीवद्रव्याऽऽत्मके समस्तजीवास्तिकाये वर्तेत इति भावः । एवं स्कन्धाऽऽत्मकः प्रदेशो नोस्कन्धः, स्कन्धद्रव्याणामनन्तत्वादेकदेशवर्तीत्यर्थः । एवं वदन्तं शब्दनयं नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः प्राऽऽह-यद्भणसि-धर्मः प्रदेशो धर्म इत्यादि, तन्न भवति न युज्यते, कस्मात् ?,इत्याह--इह खलु द्वौ समासौ भवतः । तद्यथा-तत्पुरुषः, कर्मधारयश्च । इदमुक्तं भवति--"धम्मे पएसे से पएसे धम्मे " इत्युक्ते समासद्वयाऽऽरम्भकवाक्यद्वयमत्र संभाव्यते । तथाहि--यदि धर्मशब्दात् सप्तमीयं तदा सप्तमीतत्पुरुषस्याऽऽरम्भकमिदं वाक्यम् । यथा वने हस्तीत्यादि । अथवा-प्रथमा, तदा कर्मधारयस्य । यथा-नीलमुत्पलमित्यादि । ननु यदि वाक्यद्वयमेवाऽत्र संभाव्यते, तर्हि कथं द्वौ समासौ भवत इत्युक्तम् ?। उच्यते-समासाऽऽरम्भकवाक्ययोः समासोपचारात् । अथवा-अलुक्समासविवक्षया समासावप्येतौ भवतः, यथा-कण्ठे काल इत्यादीत्यदोषः । यदि नाम द्वौ समासावत्र भवतः, ततः किमित्याह--तन्न ज्ञायते कतरेण समासेन भणसि ?-किं तत्पुरुषेण ?, कर्मधारयेण वा ?। यदि तत्पुरुषेण भणसि, तन्मैवं भण, दोषसंभवादिति शेषः । स चाऽयं दोषः-धर्मे प्रदेश इति भेदाऽऽपत्तिः, यथा कुण्डे बदराणीति । न च प्रदेशप्रदेशिनौ भेदेनोपलभ्येते । अथ अभेदेऽपि सप्तमी दृश्यते । यथा-घटे रूपमित्यादि । एवमुभयत्र दर्शनात्संशयलक्षणो दोषः स्यात् । अथ कर्मधारयेण भणसि, ततो विशेषेण (धम्मे अ से पएसे अ से त्ति) धर्मश्च स प्रदेशश्च स इति समानाधिकरणः कर्मधारयः । एवं च सप्तम्याशङ्काऽभावतो न तत्पुरुषसंभव इति भावः । आह-नन्वयं प्रदेशः समस्तादपि धर्मास्तिकायादव्यतिरिक्तः सन् समानाधिकरणतया निर्दिश्यते, उत तदेकदेशवृत्तिः सन् ?, यथा जीवास्तिकायैकदेशवृत्तिर्जीवप्रदेश इत्याशङ्क्याऽऽह-(से से पएसे धम्मे त्ति) स च प्रदेशः सकलधर्मास्तिकायाऽऽद्यव्यतिरिक्तो, न पुनस्तदेकदेशवृत्तिरित्यर्थः । शेषभावना पूर्ववत् । " से पएसे नो जीवे से पएसे नो खंधे " इत्यत्राऽपि पूर्ववदेवार्थकथनम् । एवं वदन्तं समभिरूढं प्रत्येवंभूतो भणति-यद्यद् धर्मास्तिकायाऽऽदिकं वस्तु भणसि, तत्तत्सर्वं समस्तं कृत्स्नं देशप्रदेशकल्पनारहितं प्रतिपूर्णमात्मस्वरूपेणाऽविकलं निरवशेषं तदेवैकत्वान्निरवयवम्, एकग्रहणगृहीतम् एकाभिधानाभिधेयं, नामानि ह्येकस्मिन्नर्थे नेच्छन्ति, अभिधानभेदे वस्तुभेदाभ्युपगमात् । तदेवंभूतं तद् धर्मास्तिकायाऽऽदिकं वस्तु भण, न तु प्रदेशाऽऽदिरूपतया, यतो देशप्रदेशौ ममाप्यवस्तुभूतौ, अखण्डस्यैव वस्तुनः सत्त्वेनोपगमात् । तथाहि-प्रदेशप्रदेशिनोर्भेदोऽभेदो वा ?। यदि प्रथमः पक्षः, तर्हि भेदेनोपलब्धिप्रसङ्गः, न च तथोपलब्धिरस्ति । अथाऽभेदस्तर्हि धर्मप्रदेशशब्दयोः पर्यायतैव प्राप्ता , एकार्थविषयत्वात् । न च पर्यायशब्दयोर्युगपदुच्चारणं युज्यते, एकेनैव तदर्थप्रतिपादने

ह्निनीयस्य वैयर्थ्यात्, तस्मादेकाभिधानाभिधेयं परिपूर्णमेकमेव वस्तिवति । तदेवमेते निजनिजार्थसत्यताप्रतिपादनपरा विप्रतिपद्यन्ते नयाः । एते च परस्परं निरपेक्षा दुर्नयाः सौगताऽऽदिसमयवत्, परस्परसापेक्षास्तु सुनयाः, तैश्च परस्परसापेक्षैः समुदितैरेव संपूर्णजिनमतं भवति, नैकैकावस्थायाम् ।

उक्तं च स्तुतिकारेण–

" उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते,प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः"॥१॥

एते च नया ज्ञानरूपाः,ते जीवगुणत्वेन यद्यपि गुणप्रमाणेऽन्तर्भवन्ति, तथाऽपि प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणेभ्यो नयरूपतामात्रेण पृथक् सिद्धत्वाद् बहुविचारविषयत्वाज्जिनाऽऽगमे प्रतिस्थानमुपयोगित्वाच्च गुणप्रमाणात् पृथगुक्ताः, तदेतत्प्रदेशदृष्टान्तेनेति निगमनम् । प्रस्थकाऽऽदिदृष्टान्तत्रयेणैव नयप्रमाणं प्रतिपाद्योपसंहरति–तदेतन्नयप्रमाणमिति । अनेन च दृष्टान्तत्रयेण दिङ्मात्रदर्शनमेव कृतं, यावता यत्किमपि जीवाऽऽदिवस्त्वस्ति, तत्र सर्वत्र नयविचारः प्रवर्तते, इत्यलं बहुजल्पितेनेति । अनु० ।

(२२) एतैर्दृष्टान्तैरयमस्मादयमशुद्ध इति कथं ज्ञेयम्?,इत्याह–

शुद्धा ह्येतेषु सूक्ष्मार्थाः, अशुद्धाः स्थूलगोचराः ।
फलतः शुद्धतां स्याद्–व्यवहारे न निश्चये ॥ ७४ ॥

(शुद्धा हीति) एतेषु नयेषु उक्तदृष्टान्तरीत्या ये यतः सूक्ष्मार्थाः ते ततः शुद्धाः, ये च यतः स्थूलगोचराः ते ततोऽशुद्धाः, सूक्ष्मत्वं स्थूलत्वं चाऽर्थानां तादृशतादृशबुद्धिविषयत्वेनानुगमनीयम्, न तु बह्वल्पविषयभावेन, तथासत्युत्तरोत्तरेभ्यः पूर्वपूर्वेषां सूक्ष्मार्थत्वप्राप्तेः । यत उक्तम् * –' पूर्वः पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः, परः परस्तु परिमितविषयः ॥ ४६ ॥ सन्मात्रगोचरात् संग्रहान्नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः ॥ ४७ ॥ सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद् बहुविषयः ॥ ४८ ॥ वर्तमानविषयादृजुसूत्राद् व्यवहारस्त्रिकालविषयाऽवलम्बित्वादनल्पार्थः ॥ ४९ ॥ कालाऽऽदिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दादृजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वान्महार्थः ॥ ५० ॥ प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विपर्ययानुयायित्वात्प्रभूतविषयः ॥ ५१ ॥ प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवंभूतात् समभिरूढस्तदन्यथाऽर्थस्थापकत्वाद् महागोचरः ॥५२॥ " इति । एवं सदृजुसूत्राऽऽदेर्व्यवहारस्य बह्वर्थत्वेन सूक्ष्मार्थत्वं स्यादिति बहुविचारसहत्वं सूक्ष्मार्थत्वम्, अल्पविचारसहत्वं च स्थूलार्थत्वमित्यादिकं वा यथासमयं परिभाषणीयम्, इत्थं च निश्चयनया एवैतेषु शुद्धाः, व्यवहारनयास्त्वशुद्धा इति फलितम् । निश्चयत्वं च व्यवहारतदुपजीवनयान्यनयत्वं व्यवहारतदुपजीवितयाऽन्यतरत्वमिति विवेकः । " अहवा सव्वणयमयं, विणिच्छओ इगमयं च ववहारो (विशे०)" इति भाष्योक्तं पक्षान्तरं च निश्चयस्य सप्तभङ्ग्यादिविशेषितत्वोपपादनीयम् । अयं च निश्चयव्यवहारयोः शुद्धाशुद्धत्वोपन्यासः स्वरूपतः, फलतः शुद्धतां त्वभियुक्ता व्यवहारनये प्राहुर्न तु निश्चये ॥ ७४ ॥ नयो० । द्र० ॥

(२३) के पुनस्ते प्रभेदाः?, इत्याह–

इक्किक्को य सयविहो, सत्त नयसया हवंति एमेव ।
अन्नो वि य आएसो, पंचेव सया नयाणं तु ॥२२६४॥

एतेषां मूलजातिभेदतः सप्तानां नैगमाऽऽदिनयानामेकैकः प्रभेदतः शतविधः शतभेदः । एवं च सर्वैरपि प्रभेदैः सप्त नयशतानि भवन्ति । अन्योऽपि चाऽऽदेशः प्रकारः, तेन पञ्च नयशतानि भवन्ति । शब्दाऽऽदिभिस्त्रिभिरपि नयैर्यदा एक एव शब्दनयो विवक्ष्यते तदा पञ्चैव मूलनया भवन्ति, एकैकस्य च शतविधत्वात्पञ्चशतविधत्वं नयानाम् । (अन्नो वि य त्ति) अपिशब्दात्षट्, चत्वारि, द्वे वा शते नयानाम् । तत्र यदा सामान्यग्राहिणो नैगमस्य संग्रहे, विशेषग्राहिणस्तु व्यवहारेऽन्तर्भावो विवक्ष्यते, तदा मूलनयानां षड्विधत्वादेकैकस्य च शतभेदत्वात्षट् शतानि नयानाम्; यदा तु संग्रहव्यवहारऋजुसूत्रलक्षणास्त्रयोऽर्थनयाः विवक्ष्यन्ते, एकस्तु शब्दनयः पर्यायास्तिकस्तदा चत्वारो मूलनया भवन्ति, प्रत्येकं च शतभेदत्वाच्चत्वारि नयशतानि । यदा तु नैगमाऽऽदयश्चत्वारोऽप्येको द्रव्यास्तिकः, शब्दनयास्तु त्रयोऽप्येक एव पर्यायास्तिक इत्येवं द्वावेव नयौ विवक्ष्येते, तदा अनयोः प्रत्येकं शतभेदत्वाद् द्वे नयशते भवतः । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥२२६४॥

(२४) अथवा किमनेन स्तोकभेददर्शनेन ?, उत्कृष्टतोऽसंख्याता अपि नया भवन्ति, तेऽपि चापिशब्दाद् उत्कृष्टत्या इति दर्शयन्नाह–

जावंतो वयणपहा, तावंतो वा नया विसद्दाओ ।
ते चेव य परसमया, सम्मत्तं समुदिया सव्वे ॥२२६५॥

' वा ' अथवा, यावन्तो वचनपथा वचनमार्गाः वचनप्रकारास्तेऽपीहापिशब्दात्संगृहीताः । य एव च नयास्त एव च सावधारणाः सर्वेऽपि परसमयास्तीर्थिकसिद्धान्ताः, समुदितास्तु निरवधारणाः स्याच्छब्दलाञ्छिताः सर्वेऽपि नयाः सम्यक्त्वं जिनशासनभावं प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः । आह च स्तुतिकारः–" उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः । न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः " ॥ १ ॥ इति ॥ २२६५ ॥

एतदक्षममाणः परः प्राऽऽह–

न समेंति न य समेया, सम्मत्तं नेव वत्थुणो गमगा ।
वत्थुविघायाय नया, विरोहओ वेरिणो चेव ॥२२६६॥

न समयन्ति न समुदायभावमापद्यन्ते नयाः, नाऽपि समेतास्ते सम्यक्त्वं भवन्ति, प्रत्येकावस्थायां मिथ्यादृष्टित्वात्, तत्समुदाये महामिथ्यात्वप्रसङ्गात्, प्रचुरविषलवसमुदाये विषप्राचुर्यवत् । नाऽपि ते समेता वस्तुनो गमकाः, प्रत्येकावस्थायां तदगमकत्वात् । समुदिताश्च ते विवदमानाः प्रत्युत वस्तुविघातायैव भवन्ति, न पुनस्तद्गमकाः । कुतः पुनस्ते न समयन्ति ?, न च समुदिताः सम्यक्त्वं, नाऽपि वस्तुगमकाः ?, इत्याह–विरोधित्वाद्वैरिवदिति ॥ २२६६ ॥

अत्रोत्तरमाह–

सव्वे समयंति सम्मं, चेगवसाओ नया विरुद्धा वि ।
भिच्चववहारिणो इव, राओदासीणवसवत्ती ॥ २२६७ ॥

परस्परविरुद्धा अपि नयाः सर्वेऽपि समयन्ति समुदिता जायन्ते, सर्वे च सम्यक्त्वं भवन्ति । कुतः ?, इत्याह–एकस्य जिनसाधोर्वशवर्तित्वात्, राजवशवर्तिनानाऽभिप्रायभृत्यवर्गवत् । अथवा–व्यवहारिण इवोदासीनवशवर्तिनः । इदमुक्तं भवति–यथा नयदर्शिना आज्ञासारेण एकेन राज्ञा विरोधाऽऽदिभावमा-

* प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे ।

यथा बहवोऽपि भृत्याः सम्यगुपायतो विरोधाऽऽदिकारणान्यपनीय एकत्र मील्यन्ते, सत्प्रवृत्तिं च कार्यन्ते; यथा वा धनधान्यभूम्याद्यर्थं परस्परं विवदमाना बहवोऽप्यर्थिप्रत्यर्थिलक्षणा व्यवहारिणः सम्यग् न्यायदर्शिना केनाऽप्युदासीनेन युक्तिभिर्विवादकारणान्यपनीय मील्यन्ते, सन्मार्गे च प्राह्यन्ते, तथेहापि परस्परविरुद्धान्बहूनपि नयान् सम्यग्ज्ञानी जैनसाधुस्तेषां सावधारणतालक्षणं विरोधकारणमपनीय एकत्र मीलयति, सावधारणत्वे च मिथ्यात्वकारणेऽपनीते तान् सम्यग्रूपतां ग्राहयति । प्रचुरविषलवा अपि हि प्रौढमन्त्रवादिना निर्विषीकृत्य कुष्ठाऽऽदिरोगिणो दत्ता अमृतरूपतां प्रतिपद्यन्त एवेति ॥२२६७॥

प्रत्येकावस्थायामेकैकांशग्राहित्वात्समुदिता अपि कथं ते वस्तुगमकाः ?, इत्याह-

देसगमगत्तणाओ, गमग च्चिय वत्थुणो सुयाऽऽइ व्व ।
सव्वे समत्तगमगा, केवलमिव सम्मजावम्मि ॥२२६८॥

इह नया वस्तुनस्तावत्सामान्येन गमका अवबोधकाः, प्रापका इति पक्षः, तद्देशगमकत्वात् । ननु वस्तुनो देशमात्रमेव प्रत्येकममी गृह्णन्ति, तत्कथं वस्तुगमका उच्यन्ते ?, इत्याह-श्रुताऽऽदिवत् । इदमुक्तं भवति-घटाऽऽदीनां रूपमात्रमेव चक्षुर्गृह्णाति, न रसाऽऽदिधर्मान्; पर्वताऽऽदीनां चार्वाग्देशमात्रमेव गृह्णाति, न परभागमिति । एवं देशग्राहकमपि सद्वस्तु गमयत्येव, एवं नया अपि । किञ्च-एत एव सर्वे नयाः मिथ्यात्वापगमेन सम्यक्त्वसद्भावे क्रमेण विशुद्ध्यमानाः सर्वाऽऽवरणप्रतिबन्धाभावात्समस्तवस्तुगमका भवन्ति, केवलज्ञानमिवेति ॥२२६८॥

आह-ननु यदि ते प्रत्येकमपि वस्तुगमकाः, तर्हि मिथ्यादृष्टयः कथम् ?, इत्याह-

जमणेगधम्मणो व-त्थुणो तदंसे च सव्वपडिवत्ती ।
अंध व्व गयावयवे, तो मिच्छद्दिट्ठिणो वीसुं ॥२२६९॥

यद्यस्मादनेकधर्मस्यानेकधर्माऽऽत्मकस्य वस्तुनस्तदंशेऽपि गृहीतेऽनित्यत्वादेकधर्ममात्रेऽपि परिच्छिन्ने बौद्धाऽऽदेर्मेयवादिनः " समस्तं वस्तु मया गृहीतम् " इत्येवंभूता प्रतिपत्तिर्भवति; ततस्तस्माद्विश्वक्पृथगेकैकशो मिथ्यादृष्टयः, विपर्यस्तबुद्धित्वात्, एकस्मिन्पुच्छपादाऽऽद्यवयवे समस्तगजप्रतिपत्तारोऽन्धा इवेति ॥ २२६९ ॥

समुदिता अपि तर्हि कथं ते सम्यग्दृष्टयः ?, इत्याह-

जं पुण समत्तपज्जा-यवत्थुगमग त्ति समुदिया तेणं ।
सम्मत्तं चक्खुमओ, सव्वगयावयवगहणे व्व ॥२२७०॥

यस्मात् तु समुदिता नयाः समस्तपर्याया यस्य वस्तुनः, तत्समस्तपर्यायं वस्तु, तस्य गमकाः प्रापकाः भवन्ति । तेन ते सम्यक्त्वं सम्यग्वादिनो व्यपदिश्यन्ते । यथा समस्तगजावयवग्रहणे सर्वगजावयवसमुदायाऽऽत्मकगजवादिनश्चक्षुष्मन्तः । निरवधारणोऽपरनयसापेक्षः स्यात्पदलाञ्छित एकोऽपि नयः सम्यग्वादी, ये तु सावधारणा अन्योन्यमनपेक्षाः स्यात्पदलाञ्छिताः ते बहवोऽपि समुदिता मिथ्यादृष्टय एवेतीह तात्पर्यम् । अत एव ये सावधारणास्ते बहवोऽपि समुदितव्यपदेशं न लभन्ते, तत्त्वतस्तेषामसमुदितत्वात् । निरवधारणास्तु नयाः पृथगपि स्थिताः परस्परं सापेक्षत्वेन समुदिता भण्यन्त इति ॥ २२७० ॥

दृष्टान्तान्तरेणाऽपि समुदितानां समस्तवस्तुगमकत्वं समर्थयन्नाह-

न समत्तवत्थुगमगा, वीसुं रयणाऽऽवलीएँ मणओ व्व ।
सहिया समत्तगमगा, मणओ रयणाऽऽवलीए व्व ॥२२७१॥

न समस्तवस्तुगमकाः पृथग्भूता नयाः, परस्परनिरपेक्षत्वात्, पृथक्स्थितरत्नावलीव्यपदेशानर्हमणय इव । त एव समुदिताः समस्तवस्तुगमकाः, यथास्थानविनियोगेन परस्परसापेक्षत्वात्, एकसूत्रक्रमप्रोतरत्नावलीमणय इवेति ॥ २२७१ ॥

अथ परस्परं विवदमानान्नयान्समीक्ष्य ये मुह्यन्ति, ' न किञ्चिदिह परस्परं मिलति ' इत्यादि प्रायणतः समयाऽऽशातनां च कुर्वन्ति, तदुपदेशगर्भमुपसंहरन्नाह-

एवं सविसयसच्चे, परविसयपरंमुहत्तए नाउं ।
नेएसु न संमुज्झइ, न य समयाऽऽसायणं कुणइ ॥२२७२॥

एवमुक्तप्रकारेण यो यस्य द्रव्यास्तिकायाऽऽदिनयस्याऽऽत्मीयो नित्यत्वाऽऽदिको विषयस्तन्मात्रप्रतिपादने सत्योऽवितथो नयः, परस्य तु पर्यायास्तिकाऽऽदिनयस्य योऽनित्यत्वाऽऽदिको विषयस्तत्र पराङ्मुखः, न तं निराकरोति, निरवधारणत्वेन सव्यभवत्वात्, नाऽपि तं स्थापयति, नयत्वेनैकांशग्राहित्वादित्यर्थः । एवंभूतान् सर्वानपि नयान् ज्ञात्वाऽन्योऽन्यरूपतया तेषां स्वविषयप्रतिपादनेऽपि नयविधिज्ञः साधुर्ज्ञेयेषु वस्तुषु न संमुह्यति, न दोलायमानमानसो भवति । नाऽपि निन्दाऽऽदिभिः समयाऽऽशातनां विधाय मिथ्यात्वमुपगच्छति, किं तु ' कथञ्चिदेतदप्यस्ति, कथञ्चिदिदमपि च घटते ' इत्यादिरूपतया नयान्विषयविभागेन व्यवस्थाप्य वस्त्वर्थं गमयतीति ॥२२७२॥ विशे० । उत्त० । आ० ।

(२५) वस्तुनिबन्धनाऽध्यवसायनिमित्तव्यवहारमूलकारणतामनयोः प्रतिपाद्याधुनाऽध्यारोपितानध्यारोपितनामस्थापनाद्रव्यभावनिबन्धनव्यवहारनिबन्धनतामनयोरेव प्रतिपादयन्नाहाऽऽचार्यः-

नामं ठवणा दविए, तिएसु दव्वट्ठियस्स निक्खेवो ।
भावो उ पज्जवट्ठिअ-परूवणा एस परमत्थो ॥ ६ ॥

(नामं ठवणेत्यादि) अस्याश्च समुदायार्थः-नामस्थापनाद्रव्यमित्येष द्रव्यार्थिकस्य निक्षेपः । भावस्तु पर्यायार्थिकनिरूपणाया निक्षेप इत्येष परमार्थः । सम्म० १ काण्ड । (नामाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने । नामस्थापनाद्रव्यभावनयानां स्वस्वस्थाने मतानि)

तदेवं नामाऽऽदिनयानां परस्परविप्रतिपत्तिमुपदर्श्योपसंहारपूर्वकं मिथ्येतरभावं दर्शयितुमाह-

एवं विवयंति नया, मिच्छाऽभिनिवेसओ परोप्परओ ।
इयमिह सव्वनयमयं, जिणमयमणवज्जमच्चंतं ॥ ७२ ॥

एवमुक्तप्रकारेण परस्परतो मिथ्याभिनिवेशाद् विवदन्ते विवादं कुर्वन्ति नामनयाऽऽदयो नयाः । ततश्च मिथ्यादृष्टय एते, असंपूर्णार्थग्राहित्वात्, गजगात्रभिन्नदेशसंस्पर्शने बहुविधविवादमुखरजात्यन्धवृन्दवत् । यदि नामैते मिथ्यादृष्टयः, तर्हि निर्मिथ्यं किम् ?, इत्याह-इदमिहैव लोके वर्त्तमानमनुभवप्रत्यक्षलिङ्गं जिनमतं जैनाऽभ्युपगमरूपम् । कथंभूतम् ?, सर्वनयमयं निःशेषनयसमूहाभ्युपगमनिर्वृत्तम्, अत्यन्तमनवद्यं नामाऽऽदिनयपरस्परोद्भावितास्वविद्यमाननिःशेष-

दोषम, सम्पूर्णाऽर्थग्राहित्वात्, चक्षुष्मतां समन्तात् समस्तहस्तिशरीरदर्शनोल्लापवत् ॥ इति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

तथा च सम्पूर्णाऽर्थग्राहकत्वं जिनमतमेव दर्शयति–

नामाऽऽइभेअसद्द–त्थबुद्धिपरिणामभावओ निययं ।
जं वत्थुमत्थि लोए, चउपज्जायं तयं सव्वं ॥ ७३ ॥

घटपटाऽऽदिकं यत् किमपि वस्त्वस्ति लोके,तत् सर्वं प्रत्येकमेव नियतं निश्चितं चत्वारः पर्याया नामाऽऽकारद्रव्यभावलक्षणा यत्र तच्चतुष्पर्यायम्; न पुनर्यथा नामाऽऽदिनयाः प्राहुः, यथा-केवलनाममयं वा, केवलाऽऽकाररूपं वा, केवलद्रव्यमात्रिलष्टं वा, केवलभावाऽऽत्मकं वेति भावः । कुतश्चतुष्पर्यायमेव ?, इत्याह-(नामादिभेअ इत्यादि) नामाऽऽदिभेदेष्वेकत्वपरिणतिसंवलितनामाऽऽकार–द्रव्य–भावेष्वेवेत्यर्थः । शब्दश्चाऽर्थश्च बुद्धिश्च शब्दाऽर्थबुद्धयस्तासां परिणामस्तस्य भावः सद्भावस्तस्मात्,नामाऽऽदिभेदेषु समुदितेष्वेव योऽयं शब्दाऽर्थबुद्धीनां परिणामसद्भावस्तस्माद्धेतोः सर्वं चतुष्पर्यायं वस्त्वित्यर्थः । प्रयोगः–यत्र शब्दार्थबुद्धिपरिणामसद्भावः, तत् सर्वं चतुष्पर्यायम्, चतुष्पर्यायत्वाभावे शब्दाऽऽदिपरिणामभावोऽपि न दृष्टः, यथा शशशृङ्गे, तस्माच्छब्दाऽऽदिपरिणामसद्भावे सर्वत्र चतुष्पर्यायत्वं निश्चितमिति भावः । इदमुक्तं भवति–अन्योऽन्यसंवलितनामाऽऽदिचतुष्टयाऽऽत्मन्येव वस्तुनि घटाऽऽदिशब्दस्य तदभिधायकत्वेन परिणतिर्दृष्टा, अर्थस्याऽपि पृथुबुध्नोदराऽऽद्याकारस्य नामाऽऽदिचतुष्टयाऽऽत्मकतयैव परिणामः समुपलब्धः, बुद्धेरपि तदाकारग्रहणरूपतया परिणतिस्तदात्मन्येव वस्तुन्यवलोकिता । न चेदं दर्शनं भ्रान्तम्, बाधकाऽभावात् । नाऽप्यदृष्टाऽऽशङ्कयाऽनिष्टकल्पना युक्तिमती, अतिप्रसङ्गात्, न हि दिनकराऽस्तमयोदयोपलब्धरात्रिन्दिवाऽऽदिवस्तूनां बाधकसम्भावनयाऽन्यथात्वकल्पनासङ्गतिमावहति । न चेहाऽपि दर्शनाऽदर्शने विहायाऽन्यद् निश्चायकं प्रमाणमुपलभामहे, तस्मादेकत्वपरिणत्यापन्ननामाऽऽदिभेदेष्वेव शब्दाऽऽदिपरिणतिदर्शनात् सर्वं चतुष्पर्यायं वस्त्विति स्थितम् । इति गाथाऽर्थः ॥ ७३ ॥

आह–ननु यदि नामाऽऽदिचतुष्पर्यायं सर्वं वस्तु, तर्हि किं नामाऽऽदीनां भेदो नास्त्येव ?, इत्याह–

इय सव्वभेअसंघा–यकारिणो भिन्नलक्खणा एते ।
उप्पाया इति जं पि व, धम्मा पइवत्थुमाउज्जा ॥७४॥

इत्येवं ये पूर्वं भिन्नलक्षणा भिन्नस्वरूपा धर्मा नामाऽऽदयः प्रोक्ताः, ते प्रतिवस्त्वायोज्या आयोजनीया इति सम्बन्धः । कथम्भूताः सन्तः ?, इत्याह–भेदश्च सङ्घातश्च भेदसङ्घातौ, सर्वस्य स्वाऽऽश्रयभूतवस्तुनो भेदसङ्घातौ, तौ कर्तुं शीलं येषां ते सर्वभेदसङ्घातकारिणो, निजाऽऽश्रयस्य सर्वस्याऽपि वस्तुनः कथञ्चिद् भेदकारिणः,कथञ्चिच्चाभेदकारिण इत्यर्थः । तथाहि–केनचिदिन्द्र इत्युच्चारिते अन्यः प्राऽऽह–किमनेन नामेन्द्रो विवक्षितः, आहोस्वित् स्थापनेन्द्रः, द्रव्येन्द्रः, भावेन्द्रो वा ?। नामेन्द्रोऽपि द्रव्यतः किं गोपालदारकः, हालिकदारकः, क्षत्रियदारकः, ब्राह्मणदारकः, वैश्यदारकः, शूद्रदारको वा ? इत्यादि । तथा क्षेत्रतोऽपि नामेन्द्रः किं भारतः, ऐरवतः, महाविदेहजो वा ?, इत्यादि । कालतोऽपि किमतीतकालसंभवी, वर्तमानकालभावी, भविष्यन् वा ? इत्यादि; अतीतकालभाव्यपि किमितोऽनन्ततमसमयभावी, असङ्ख्याततमसमयभावी, संख्याततमसमयभावी वा ?, इत्यादि । भावतोऽपि किं कृष्णवर्णः, गौरवर्णः, दीर्घः, मन्थरो वा ? इत्यादि । तदेवमेकोऽपि नामेन्द्रस्याऽऽश्रयभूतोऽर्थस्तावद् द्रव्य–क्षेत्रकालभावभेदाऽधिष्ठितोऽनन्तभेदत्वं प्रतिपद्यते । तथा स्थापना-द्रव्य-भावाऽऽश्रयस्याऽप्युक्ताऽनुसारतः प्रत्येकमनन्तभेदत्वमनुसरणीयम् । इत्येवमेते नामाऽऽदयो भेदकारिणः । अभेदकारिणस्तर्हि कथम् ?,इति चेत् । उच्यते–यदेकस्मिन्नपि वस्तुनि नामाऽऽदयश्चत्वारोऽपि प्रतीयन्ते, तदाऽभेदविधायिनः । तथाहि–एकस्मिन्नपि शचीपत्यादौ 'इन्द्र' इति नाम, तदाकारस्तु स्थापना, उत्तरावस्थाकारणत्वं तु द्रव्यत्वम्, दिव्यरूप-सम्पत्तिकुलिशधारण-परमैश्वर्याऽऽदिसंपन्नत्वं तु भाव इति चतुष्टयमपि प्रतीयते । तस्मादेवं सर्वस्य स्वाऽऽश्रयभूतस्य वस्तुनो भेदसङ्घातकारिणो भिन्नलक्षणा एते नामाऽऽदयो धर्मा उत्पादव्ययध्रौव्यत्रिकवत् प्रतिवस्त्वायोजनीयाः परस्पराऽविनाभाविनः प्रतिवस्तु द्रष्टव्या इति तात्पर्यम् । इति गाथार्थः ॥ ७४ ॥

" नत्थि नएहिँ विहूणं, सुत्तं अत्थो अ जिणमए किंचि ।
आसज्ज उ सोयारं, नएण य विसारओ बूया " ॥ १ ॥

इति वचनाज्जिनमते सर्वं वस्तु प्रायो नयैर्विचार्यते,
अतो नामस्थापनाऽऽदीनपि प्रस्तुतान्
नयैर्विचारयन्नाह–

नामाऽऽइतियं दव्व–ट्ठियस्स भावो य पज्जवनयस्स ।
संगहववहारा पढ–मगस्स सेसा य इयरस्स ॥७५॥

एतेषु नामाऽऽदिषु मध्ये नामस्थापना–द्रव्यनिक्षेपत्रयं द्रव्यास्तिकनयस्यैवाऽभिमतं, न पर्यायास्तिकस्य, नामाऽऽदिनिक्षेपत्रयस्य विवक्षितभावशून्यत्वात्, पर्यायास्तिकस्य तु भावग्राहित्वादिति । भावो भावनिक्षेपः पुनः पर्यायास्तिकनयस्याऽभिमतो नेतरस्य, तस्य द्रव्यमात्रग्राहित्वेन भावाऽनवलम्बित्वादिति । आह–ननु नया नैगमाऽऽदयः प्रसिद्धाः, ततस्तैरेवाऽयं विचारो युज्यते, अथ तेऽत्रैव द्रव्य–पर्यायास्तिकनयद्वयेऽन्तर्भवन्ति, तर्ह्युच्यतां कस्य कस्मिन्नन्तर्भावः ?, इत्याशङ्कयाऽऽह–(संगहेत्यादि) नैगमस्तावत् सामान्यग्राही संग्रहेऽन्तर्भवति, विशेषग्राही तु व्यवहारे, संग्रहव्यवहारौ तु प्रस्तुतनयद्वयस्य मध्ये प्रथमकस्य द्रव्यास्तिकस्य मतमभ्युपगच्छतः द्रव्यास्तिकमतेऽन्तर्भवत इति तात्पर्यम् । शेषास्तु ऋजुसूत्राऽऽदय इतरस्य द्वितीयस्य पर्यायास्तिकस्य मतमभ्युपगच्छन्तोऽत्रैवाऽन्तर्भवन्तीति हृदयम् । आचार्यसिद्धसेनमतेन चेह ऋजुसूत्रस्य पर्यायास्तिकेऽन्तर्भावो दर्शितः, सिद्धान्ताऽभिप्रायेण तु संग्रहव्यवहारवद् ऋजुसूत्रस्याऽपि द्रव्यास्तिक एवान्तर्भावो द्रष्टव्यः । तथा चोक्तं सूत्रे–" उज्जुसुयस्स एगे अणुवउत्ते आगमओ एगं दव्वावस्सयं पुहत्तं नेच्छइ " इति ।

[अस्याऽर्थः–ऋजुसूत्रस्यैकोऽनुपयुक्त आगमत एकं द्रव्यावश्यकं पृथक्त्वं नेच्छति । अनुयोगद्वारसूत्रस्थोऽयं पाठः । तट्टीका चेयम्–" उज्जुसुयस्सेत्यादि "–ऋजु अतीताऽनागतपरकीयपरिहारेण प्राञ्जलं वस्तु सूत्रयत्यभ्युपगच्छतीति ऋजुसूत्रः, अयं हि वर्तमानकालभाव्येव वस्तु अभ्युपगच्छति, नाऽतीतम्; विनष्टत्वात्; नाऽप्यनागतम्, अनुत्पन्नत्वात्; वर्तमानकालभाव्यपि स्वकीयमेव मन्यते, स्वकार्यसाधकत्वा-

त्, स्वधनवत्, परकीयं तु नेच्छति, स्वकार्याऽप्रसाधकत्वात्, परधनवत् । तस्मादेको देवदत्ताऽऽदिरनुपयुक्तोऽस्य मते आगमत एकं द्रव्याऽऽवश्यकमिति । " पुहत्तं नेच्छइ त्ति " अतीताऽनागतभेदतः परकीयभेदतश्च पृथक्त्वं पार्थक्यं नेच्छत्यसौ, किं तर्हि ?, वर्तमानकालीनं स्वकमेव चाऽभ्युपैति, तच्चैकमेवेति ।]

तदनेनाऽस्य द्रव्यवादित्वं दर्शितम्, इति कथं पर्यायास्तिकेऽन्तर्भावः स्यात् ? । इति गाथाऽर्थः ॥ ७५ ॥

आह-ननु संग्रहाऽऽदिनया नामनिक्षेपं सर्वमप्येकत्वेनेच्छन्ति, भेदेन वा ?, एवं स्थापनाऽऽदिनिक्षेपेष्वपि प्रत्येकं वक्तव्यम्, इत्याशङ्क्याऽऽह-

जं सामन्नग्गाही, संगिएहइ तेण संगहो निययं ।
तेण विसेसग्गाही, ववहारो तो विसेसेइ ॥ ७६ ॥
सद्दुज्जुसुया पज्जा-यवायगा भावसंगहं वेंति ।
उवरिमया विवरीआ, भावं भिंदंति तो नियय ॥ ७७ ॥

यद् यस्मात् कारणात् संग्रहनयः सामान्यग्राही सामान्यवादी, तेन कारणेन संगृह्णात्येकत्वेनाऽध्यवस्यति प्रत्येकं त्रितयं नामस्थापनाद्रव्यनिक्षेपलक्षणं यानि कानिचिद् नाममङ्गलानि तत् सर्वमप्येकं नाममङ्गलम्, तथा स्थापनामङ्गलान्यशेषाण्यप्येकं स्थापनामङ्गलम्, एवं द्रव्यमङ्गलान्यपरिशिष्टान्यप्येकं द्रव्यमङ्गलमित्यर्थः । व्यवहारनयस्तु येन कारणेन विशेषग्राही, ततो नामाऽऽदिनिक्षेपान् विशेषयति भेदेनेच्छति-नाममङ्गलानि सर्वाण्यपि पृथक् नाममङ्गलत्वेनेच्छति, एवं स्थापनाऽऽदिनिक्षेपेष्वपि वाच्यम् ॥ ७६ ॥ (सद्दुज्जुसुयेत्यादि) शब्दर्जुसूत्रनयौ पुनः पर्यायैरेकार्थभिन्नाऽभिधानैर्वस्तु वक्तुं शीलं ययोस्तौ पर्यायवाचिनौ सन्तौ नामस्थापनाद्रव्यनिक्षेपपरिहारेणैकस्यैव भावस्य भावनिक्षेपस्य संगृहीतिः संग्रहोऽभिन्नत्वमेकत्वं भावसंग्रहस्तं ब्रूतः प्रतिपादयतः । इदमुक्तं भवति-ऋजुसूत्रशब्दनयौ पूर्वनयेभ्यो विशुद्धत्वाद् नाम-स्थापना-द्रव्यनिक्षेपं तावद् नेच्छतः, किन्त्वेकमेव भावनिक्षेपमभ्युपगच्छतः, केवलं समभिरूढैवंभूतनयाऽपेक्षयाऽविशुद्धत्वाद् विभिन्नाऽनेकपर्यायाऽभिधेयत्वेऽपि भावनिक्षेपस्य संग्रहमेकत्वमेव प्रतिपद्यते, न भिन्नत्वमिति भावः । ततश्चैतन्मतेन यदेव मङ्गलशब्दवाच्यं भावमङ्गलं प्रत्यूहोपशमकाऽनिष्टविघातकृद् विघ्नापहरणाऽऽदिशब्दानामपि तदेव वाच्यम्, न भिन्नम्, इति तात्पर्यम् । (उवरिमया विवरीआ इत्यादि) उपरितनौ तु समभिरूढैवंभूतौ नयौ ऋजुसूत्रशब्दनयाऽपेक्षया विपरीतौ भिन्नाऽनेकपर्यायाऽभिधेयस्य भावस्यैकत्वं नेच्छतः, किन्तु भिन्नत्वमभ्युपगच्छतः । तथाहि-समभिरूढमतेनाऽन्यदेव मङ्गलशब्दवाच्यं भावमङ्गलम्, अन्यच्च प्रत्येकं प्रत्यूहोपशमकाऽऽदिपर्यायवाच्यम् । एवम्भूतस्याऽप्येवमेव, केवलमयं पूर्वस्माद् विशुद्धत्वादेकपर्यायाभिधेयमपि भावमङ्गलं भावमङ्गलकार्यं कुर्वदेव मन्यते, नाऽन्यदा, यथा धर्मोपकरणाऽन्वितः सम्यक् चारित्रोपयोगे वर्त्तमानः साधुरिति । तदेवमृजुसूत्रशब्दनयाऽभ्युपगमापेक्षया विपरीताऽभ्युपगमपरत्वाद् विपरीतावेतौ (तो त्ति) तस्माद् भावं भावमङ्गलाऽऽदिकमर्थं नियतं निश्चितं पर्यायभेदाद् भिन्तः-भेदेनेच्छत इत्यर्थः। यदि हि पर्यायभेदेऽपि वस्तुनो न भेदः, तर्हि घट-पटाऽऽदीनामपि स न स्यादित्यादियुक्तेः पर्यायभेदेन भिन्नमेव भावमङ्गलमभ्युपगच्छत इति भावः । इति गाथाद्वयाऽर्थः ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ विशे० ।

(२६) परस्परं द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ-

तत्क्षणक्षयप्रधाने प्रत्यक्षाऽऽदेः प्रमाणस्यानवताराद्बाधकत्वेन च तस्यैकत्वाध्यवसायिनः प्रवृत्तिप्रतिपादनाद् न पर्यायास्तिकाभिमतपूर्वापरक्षणविविक्तमध्यक्षणमात्रं वस्तु, किं त्वतीताऽनागतपर्यायाऽऽधारमेकं द्रव्यं वास्तवमिति द्रव्यार्थिकनिक्षेपः सिद्धः, द्रव्यं वा न भूतपर्यायमनुभविष्यत, पर्यायं चैकमेव, तेनाऽनुभूतपर्यायशब्देन तत्कदाचिदभिधीयते, कदाचिच्चानुभविष्यत्पर्यायशब्देन, यथाऽतीतघृतसंबन्धो घटो घृतघट इत्यभिधीयते; भविष्यत्तत्संबन्धोऽपि तथैवाभिधानगोचरचारी, शुद्धतरपर्यायास्तिकेन च निराकारस्य ज्ञानस्याऽर्थग्राहकत्वाऽसंभवात्, साकारस्य ज्ञानार्थग्राहकत्वासंभवात् साकारं ज्ञानमभ्युपगतं, तत्संवेदनमेव चाऽर्थसंवेदनं ज्ञानाऽनुभवव्यतिरेकेणाऽपरस्याऽर्थानुभवस्याभावाद् घटोपयोग एव घटः, तन्मतेन तत्पर्यायेणाऽतीतेन परिणस्यद्वा द्रव्यं तच्छब्दवाच्यं द्रव्यार्थिकमतेन व्यवस्थितं पूर्ववत्, अत एव घटाऽऽद्यर्थाभिन्नस्तत्र चानुपयुक्तो द्रव्यमिति प्रतिपादितो द्रव्यार्थिकनिक्षेपश्च, द्रव्यमागमं वाच्यमनेकधा प्रतिपादितम्, इह तु युक्तिसंस्पर्शमात्रमेव प्रदर्श्यते । तदर्थत्वात्प्रयासस्य । भवति विवक्षितवर्तमानसमयपर्यायरूपेणोत्पद्यत इति भावः "विभाषा ग्रहः" ॥ ३ । १ । १४३ ॥ (पाणि०) इत्यत्र सूत्रे केचिद्भवतेश्चेत्यपीष्यते । अथवा-भूतिर्भावो वज्रकिरीटाऽऽदिधारणवर्त्तमानपर्यायेण इन्द्राऽऽदिरूपतया वस्तुनो भवनं, तद्ग्रहणपर्यायेण वा ज्ञानस्य भवनं, यथा चायं पर्यायार्थिकप्ररूपणा तथा प्रदर्शित एव प्राक्, न पुनरुच्यते । एष एव नयनिक्षेपानुयोगः प्रतिपादितः, उभयप्रविभागः परमार्थः, परमं हृदयमागमस्यैतद्व्यतिरिक्तविषयत्वात्सर्वनयवादानाम्, न हि शास्त्रपरमहृदयनयव्यतिरिक्तः कश्चिन्नयो विद्यते । सामान्यविशेषस्वरूपविषयद्वयव्यतिरिक्तविषयोऽन्तराभावाद्विषयिणोऽप्यपरस्य नयान्तरस्याऽभाव इति प्राक् प्रतिपादितम् ।

एतदपि नयद्वयं शास्त्रस्य परमहृदयम्-द्रव्य पर्यायाशून्यं, पर्यायाश्च द्रव्यविरहिण इत्येवंभूतार्थप्रतिपादनपरम्, नाऽन्यथेत्येतस्याऽर्थस्य प्रदर्शनार्थमाह-

पज्जवनिस्सामण्णं, वयणं दव्वट्ठियस्स अत्थि त्ति ।
अवसेसो वयणविही, पज्जवभयणा सपडिवक्खो ॥७॥

परस्परनिरपेक्षस्य नयद्वयस्य प्रत्येकमेवं वचनविधिः-द्रव्यास्तिकस्यानुपचरितशेषं वचनमस्तीत्येतावन्मात्रं पर्यायास्तिकस्य स्वपरामृष्टसत्तास्वभावं द्रव्यं पृथिवी घटः शुक्ल इत्याद्याश्रितपर्यायं परस्परनिरपेक्षं चोभयनयवचोऽसदेव, वचनार्थासत्त्वाद्वचनमसदर्थमिति तदर्थस्याऽप्यसत्त्वमावेदितं भवतीति समुदायार्थः ।

अवयवार्थस्तु-पर्यायनयेन सह निःसामान्यमसाधारणं वचनं द्रव्यास्तिकस्याऽस्तीत्येतद् भेदवादभ्युपगतस्य, विशेषस्य त्वनुरूपानुप्रवेशात, एतच्च वचो निर्विषयं निर्विशेषत्वाद् वियत्कुसुमाऽभिधानवत् । "निर्विशेषं हि सामान्यं, भवेत् शशविषाणवत् ।" इति प्रसाधितत्वात् नाऽव्याप्तिः, हेतोरसिद्धिः पराऽभ्युपगमादेव परिहृता । तत्रा एकान्तभावनाप्रवृत्तस्य द्रव्यास्तिकनयस्य परमार्थता, पर्यायास्तिकस्याऽप्येवंप्रवृत्तस्य न सेवि

पश्चार्द्धेन प्रतिपादयति-अवशेष इति शेषः, स चोपयुक्तादन्यः; वचनविधिर्वचनभेदः सत्ताविकल्पविशेषप्रतिपादकः; पर्यायेषु सत्ताव्यतिरिक्तेष्वसत्सु भजनात् सत्ताया आरोपणात्,सत्प्रतिपक्ष इति-सतः प्रतिपक्षो विरोध्यसन् भवति ॥ तथाहि-प्रतिपादको वचनविधिरवस्तुविषयो, निःसामान्यत्वात्, खपुष्पवत् । भावना तु द्रव्यार्थिकवचनविपर्ययेण प्रयोगस्य कार्या । अथवा-अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया इत्यनयोः स्वरूपमभिधायाभिधानस्य द्रव्यास्तिकस्वरूपस्य तदभिधायकस्य प्रतिपादनार्थमाह-(पज्जवणिस्सामण्णमित्यादि) पर्यायान्निष्क्रान्तं तन्निष्कलं, सामान्यं संग्रहस्वरूपं यस्मिन् वचने तत्पर्यायनिःसामान्यं वचनम् । किं पुनस्तदित्याह-अस्तीति,तच्च द्रव्यार्थिकस्य रूपं,प्रतिपादकं वा । यद्वा-पर्यायऋजुसूत्रनयविषयादन्यो द्रव्यत्वाऽऽदिविशेषः,स एव च निश्चितं सामान्यं वचनं, द्रव्यत्वाऽऽदिसामान्यविशेषाऽभिधायीति यावत् । तच्चाशुद्धद्रव्यार्थिकसंबन्धि, तत्प्रतिपादकत्वेन तत्स्वरूपत्वेन वा अवशेषो वचनविधिर्वर्णपद्धतिः, स प्रतिपक्षोऽस्य वचनस्य पर्यायार्थिकनयरूपः, तत्प्रतिपादको वा पर्यायमेव, अन्यथा कथमवशेषवचनविधिः स्यात्, यदि विशेषं नाऽऽश्रयेत् ? ।

एवं तावद् द्रव्यार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्यानेकान्तभावाभावतश्चैषां सत्यता नास्त्येतत्प्रतिपादनार्थं ज्ञानानेकान्तमेव तावदाह-

पज्जवणयवोक्कंतं, वत्थुं दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं ।
जाव दविओवओगो, अपच्छिमवियप्पनिव्वयणो ॥८॥

द्रव्यास्तिकस्य वक्तव्यं परिच्छेद्यो विषयो, निश्चयकर्तृवचनं च विकल्पनिर्वचनं, विद्यते पश्चिमं यस्मिन् विकल्पनिर्वचने तत्तथा, ततः परं विकल्पवचनाप्रवृत्तेः, यावदपश्चिमविकल्पनिर्वचनो द्रव्योपयोगः प्रवर्तते, तावद् द्रव्यार्थिकस्य विषयो वस्तुतत्त्वपर्यायाऽऽक्रान्तमेव । अन्यथा ज्ञानार्थयोरप्रतिपत्तेरसत्त्वप्रसक्तिः । न हि पर्यायानाक्रान्तसत्तामात्रसद्भावग्राहकं प्रत्यक्षमनुमानं वा प्रमाणमस्ति, द्रव्याऽऽदिपर्यायाऽऽक्रान्तस्यैव सर्वदा सत्तारूपस्य ताभ्यामवगतेः । यद्वा-यद्वस्तु सूक्ष्मतरतमाऽऽदिबुद्धिना पर्यायनयेन स्थूलरूपत्यागेनोत्तरतत्सूक्ष्मरूपाऽऽश्रयणाद् व्युत्क्रान्तं गृहीतत्यक्तम्, यथा किमिदंभूतसामान्यं घटाऽऽदिभिर्विना प्रतिपत्तिविषयः, तावत् शुक्लतमरूपस्वरूपोऽन्यो विशेष एव, न द्रव्यार्थिकस्य वस्तुविषयो, यतो यावदपश्चिमविकल्पनिर्वचनोऽन्यो विशेषस्तावद् द्रव्योपयोगो द्रव्यज्ञानं प्रवर्तते । न हि द्रव्याऽऽदयो विशेषान्ताः सदादिप्रत्यया विशिष्टैकान्तव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यतया प्रतीयन्ते, तथाऽप्रतीयमानास्तथाऽभ्युपगमार्हाः, अतिप्रसङ्गात् ।

तदेवं न सत्ता विशेषविरहिणी, नाऽपि विशेषाः सत्ताविकला इति प्रदर्श्योपसंहरन्नाह-

दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा, नत्थि णओ नियम सुद्धजाईओ ।
न य पज्जवट्ठिओ णा-म कोय भयणाय उ विसेसो ॥ ९ ॥

तस्माद् द्रव्यार्थिक इति नयः शुद्धजातीयो विशेषविनिर्मुक्तो नास्ति नियमेनेत्यवधारणाऽर्थः, विषयाभावेन विषयिणोऽप्यभावात् । न च पर्यायार्थिकोऽपि कश्चिन्नयो नामेति प्रसिद्धोऽर्थो नियमेन शुद्धस्वरूपः संभवति, सामान्यविकलात्यन्तव्यावृत्तविशेषविषयाभावेन विषयिणोऽप्यभावात् । यदि विषयाभावादिमौ नयौ न स्तः, यदुक्तम्-'तीर्थकरवचनसंग्रह' इत्यादि, तद्विरुध्यते इत्याह-(भयणाय उ विसेसो त्ति) भजनायास्तु विवक्षाया एव विशेष इदं द्रव्यमयं पर्याय इत्ययं भेदः, तथा तद्भेदाद्विषयिणोऽपि तथैव भेद इत्यभिप्रायः । भजना च सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुन्यस्मिन्नुपसर्जनीकृतविशेषं यदन्वयिरूपं तद्द्रव्यम् इति विवक्ष्यति यदा तदा द्रव्यार्थिकविषयः, यदा तूपसर्जनीकृतान्वयिरूपं तस्यैव वस्तुनो यदसाधारणं रूपं तद्विवक्ष्यते तदा पर्यायनयविषयस्तद्भवतीति ।

एवंरूपभजनाकृतमेव भेदं दर्शयितुमाह-

दव्वट्ठियवत्तव्वं, अवत्थु णियमेण होइ पज्जाए ।
तह पज्जव वत्थु अव-त्थुमेव दव्वट्ठियनयस्स ॥ १० ॥

पर्यायास्तिकस्य द्रव्यास्तिकाभिधेयमस्तित्वमवस्त्वेव, भेदरूपापन्नत्वात्, द्रव्यास्तिकस्याऽपि पर्यायास्तिकाभ्युपगता भेदा अवस्तुरूपा एव भवन्ति, सत्तारूपाऽऽपन्नत्वात् । अतो भजनामन्तरेणैकत्र सत्ताया अपरत्र भेदानां महत्त्वादिदं द्रव्यमेते च पर्याया इति नास्ति भेदः । न च प्रतिभासमानयोर्द्रव्यपर्याययोः कथं पर्यायास्तिकद्रव्यास्तिकाभ्यां प्रतिवक्तव्यम् ?, यतः प्रतिभासोऽप्रतिभासस्य बाधकः, न तु मिथ्यात्वस्य, मिथ्यारूपस्यापि प्रतिभासनात् । तथाहि-पर्यायास्तिकः प्राऽऽह-न मया द्रव्यप्रतिभासो निषिध्यते, तस्याऽनुभूयमानत्वात्, किं तु विशेषव्यतिरेकेण द्रव्यस्याप्रतिभासनाद्व्यतिरेके तु व्यक्तिस्वरूपवत्तस्यानन्वयात्, उभयरूपतायाश्चैकत्र विरोधाऽऽदिगत्यन्तराभावाद् द्रव्याऽप्रतिभासस्तत्र मिथ्यैव, विशेषप्रतिभासस्त्वन्यथा, बाधकाभावात्, यतः प्रतिक्षणं वस्तुनो वृत्तेर्नाशोत्पादौ पर्यायलक्षणं न स्थितिः । द्रव्यार्थिकस्तु भजनोत्थापितास्वरूपः प्राऽऽह-अस्माकमप्ययमेवाभ्युपगमः, न विशेषप्रतिभासप्रतिक्षेपः, किं तु तस्य भेदोभयविकल्पैर्बाध्यमानत्वाद् मिथ्यारूपतैव, अभेदप्रतिभासस्त्वनुत्पादव्ययलक्षणस्य द्रव्यतद्विषयसर्वदाऽवस्थितेरबाध्यमानत्वात् सत्य इति कल्पना ।

व्यवस्थापितपर्यायास्तिकद्रव्यास्तिकयोरेवंलक्षणप्रदर्शितस्वरूपयोर्मिथ्यारूपताप्रतिपत्तिः सुकरा भविष्यतीत्याह—

उप्पज्जंति वयंति अ, भावा नियमेण पज्जवणयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥ ११ ॥

उत्पद्यन्ते प्रागभूत्वा भवन्ति,विशेषेण निरन्वयरूपतया व्रजन्ति गच्छन्ति नाशमनुभवन्ति भावाः पदार्था नियमेन इति अवधारणे । पर्यायनयस्य मतेन प्रतिक्षणमुत्पादविनाशस्वभावा एव भावाः पर्यायनयस्याऽभिमताः, द्रव्यार्थिकस्य सर्वं वस्तु सदाऽनुत्पन्नमविनष्टम्,आकालं स्थितिस्वभावमेवेति मतम् । एतच्च नयद्वयस्याऽभिमतवस्तुकस्य सर्वं वस्तु सदाऽनुत्पन्नमिति प्राक् प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते ।

परस्परानिरपेक्षे च उभयनयप्रदर्शितं वस्तु प्रमाणाभावतो न संभवतीत्याह-

दव्वं पज्जवविजुयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पायट्ठिइभंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं ॥ १२ ॥

द्रव्यं पर्यायविमुक्तं नास्ति, मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलाऽऽद्यनुगतमृत्सामान्यप्रतीतेः । द्रव्यविरहिताश्च पर्याया न सन्ति, अनुगतैकाऽऽकारमृत्सामान्यात्तु विरुद्धतया मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलाऽऽदीनां विशेषाणां प्रतिपत्तेः । अतो द्रव्यार्थिकाभिमतं वस्तु पर्यायाऽऽक्रान्तमेव,न तद्विविक्तं पर्यायाऽभिमतमपि द्रव्यार्पानुषक्तं तद्विकलं,परस्परविविक्तयोः कदाचिदप्यप्रतिभासनात् । किं-

भूतं पुनर्द्रव्यमस्ति ?, इत्याह-उत्पादस्थितिभङ्गा यथा व्यावर्णितस्वरूपाः परस्पराविनिर्भागवर्तिनः, हन्दीत्युपप्रदर्शने । द्रव्यलक्षणं द्रव्यास्तिकस्य व्यापको धर्म एव दृश्यताम्, यतः पूर्वोत्तरपर्यायपरित्यागोत्पादाऽऽत्मिकैका स्वयं प्रतिपत्तिः तथाभूतद्रव्यसत्त्वं प्रतिपादयतीति उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं वस्त्वभ्युपगन्तव्यम् । एतच्च त्रितयं परस्परानुविद्धम्, अन्यतमाभावे तदितरयोरप्यभावात् । सम्म० १ काण्ड ।

(२७) एते च परस्परसव्यपेक्षा द्रव्यलक्षणं न स्वतन्त्रा इति प्रदर्शनायाऽऽह-

एए पुण संगहओ, पाडिक्कमलक्खणं दुविएहं पि ।
तम्हा मिच्छद्दिट्ठी, पत्तेयं दो वि मूलणया ॥ १३ ॥

एते उत्पादादयः संग्रहतः शिबिकोद्वाहिपुरुषा इव परस्परस्वरूपोपादानेनैव लक्षणं, प्रत्येकमेकका उत्पादादयो द्वयोरपि द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकयोरलक्षणम्, उक्तवत्तथाभूततद्विषयाभावे तद्ग्राहकयोरपि तथाभूतयोरभावात्, उत्पादादीनां च परस्परविविक्तरूपाणामसंभवात् । तस्मान्मिथ्यादृष्टी एव प्रत्येकं परस्परविविक्तौ द्वावप्येतौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकस्वरूपौ मूलनयौ समस्तनयराशिकारणभूतस्योत्पादे ।

तद्भवतु परस्परनिरपेक्षयोर्मिथ्यात्वम्, उभयनयाऽऽरब्ध-स्त्वेकः सम्यग्दृष्टिर्भविष्यतीत्याह-

ण य तइओ अत्थि णओ, ण य सम्मत्तं ण तेसु पडिपुण्णं ।
जेण दुवे एगंता, विभज्जमाणा अणेगंता ॥ १४ ॥

न च तृतीयः परस्परसापेक्षोभयरूपोऽस्ति नयः कश्चित्, तथाभूतार्थस्यानेकान्ताऽऽत्मकत्वात्तद्ग्राहिणः प्रत्ययस्य नयाऽऽत्मकत्वानुपपत्तेः । न च सम्यक्त्वं न तयोः प्रतिपूर्णम्, प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थविगतेः, अशेषं हि प्रामाण्यं सापेक्षं गृह्यमाणयोरेव विषययोर्व्यवस्थितम्, येन द्वावप्येकान्तरूपतया व्यवस्थितौ मिथ्यात्वनिबन्धनतत्परित्यागेनान्वयव्यतिरेकौ विशेषण परस्परात्यागरूपेण भज्यमानौ गृह्यमाणावनेकान्तौ भवत इति सम्यक्त्वहेतुत्वमेतयोरिति । एवं सापेक्षद्वयग्राहिणो नयत्वानुपपत्तेस्तृतीयनयाभावः ।

प्रदर्शितनिरपेक्षग्राहिणा तु मिथ्यात्वं दर्शयितुमाह-

जह एए तह अण्णे, पत्तेयं दुण्णया णया अन्ने ।
हंदि हु मूलणयाणं, पण्णवणा वावडा ते वि ॥ १५ ॥

यथैतौ निरपेक्षद्वयग्राहिणौ मूलनयौ मिथ्यादृष्टी, तथा तद्भयवादरूपेण व्यवस्थितानामपि परस्परनिरपेक्षत्वस्य मिथ्यात्वनिबन्धनस्य तुल्यत्वात् प्रत्येकमितरानपेक्षा अन्येऽपि दुर्नयाः । न च प्रकृतनयद्वयव्यतिरिक्तनयान्तराऽऽरब्धत्वादुभयवादस्य नयानामपि वैचित्र्यादन्यत्राऽऽरोपयितुमशक्यत्वात् तद्रूपस्यान्ये सम्यक् प्रत्यया भविष्यन्तीति वक्तव्यम्, यतः हन्दीत्येवं गृह्यताम्, हुरिति हेतौ, मूलनयद्वयपरिच्छिन्नवस्तुनि ये व्यापृतास्तेऽपि तद्विषयव्यतिरिक्तविषयान्तराऽभावात् सर्वनयवादानां च सामान्यविशेषोभयैकान्तविषयत्वात् तत्र नयान्तरसद्भावः, यतस्तदारब्धोभयवादे नयान्तरं भवेत् ।

ननु संग्रहाऽऽदिनयसद्भावात् कथं तद्व्यतिरिक्तनयान्तराभावः ? । सत्यम् । सन्ति संग्रहाऽऽदयः, किं तु तद्विषयव्यतिरिक्तविषयान्तराभावतस्तदादिनयविषयास्तेऽपि तद्दूषणेनैव दूषिता यतो न मूलच्छेदे तच्छाखास्तदवस्थाः संभवन्तीत्याह-

सव्वणयसमूहम्मि वि, णत्थि णओ उभयवायपण्णवओ ।
मूलणयाण उ आणं, पत्तेयविसेसियं विंति ॥ १६ ॥

संग्रहाऽऽदिसकलनयसमूहेऽपि नास्ति कश्चिन्नय उभयवादप्ररूपकः, यतो मूलनयाभ्यामेव यत् प्रतिज्ञातं वस्तु तदेवाऽऽश्रित्य प्रत्येकरूपाः संग्रहाऽऽदयः पूर्वपूर्वनयाधिगतांशविशिष्टमंशान्तरमधिगच्छन्तीति न विषयान्तरगोचरः ।

अतोऽवस्थितं परस्परात्यागप्रवृत्तसामान्यविशेषविषयसंग्रहाऽऽद्यात्मकनयद्वयाधिगमाऽऽत्मकत्वात् वस्त्वप्युभयाऽऽत्मकं न केवलं बाह्यघटाऽऽदि वस्तु उभयात्मकं, तथाविधप्रमाणग्राह्यत्वात्, किन्त्वान्तरमपि, हर्षशोकभयकरुणोदासीन्याऽऽद्यनेकाऽऽकारविवर्ताऽऽत्मकैकचेतनास्वरूपं तदात्मकहर्षाऽऽद्यनेकाविकाराऽनेकाऽऽत्मकं च स्वसंवेदनाध्यक्षप्रतीतं, तस्य भेदैकान्तैकरूपताऽभ्युपगमे दृष्टाऽदृष्टविषयसुखदुःखसाधनस्वीकारत्यागार्थप्रवृत्तिनिवृत्तिस्वरूपसकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिरिति प्रतिपादयितुमाह—

ण य दव्वट्ठियपक्खे, संसारो णेव पज्जवणयस्स ।
सासयवियत्तिवाई, जम्हा उच्छेअवाईआ ॥ १७ ॥

द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयाऽभिमते वस्तुनि न संसारः संभवति, शाश्वतव्यक्तिप्रतिक्षणाभ्यस्तैकान्ताऽऽत्मकचैतन्यग्राहकाविषयीकृतत्वात्, पावकज्ञानविषयीकृते उदकवत् । तथाहि-संसारः संसृतिः, सा चैकान्तनित्यस्य पूर्वावस्थापरित्यागे सति न संभवति; तत्परित्यागेनैव गतेर्भवान्तराऽऽपत्तेर्वा संसृतेः संभवात् । नाऽप्युच्छेदे उत्पत्त्यनन्तरनिरन्वयध्वंसलक्षणे संसृतिः संभवति, गतेर्भवान्तरापत्तेर्वा कथञ्चिदन्वयिरूपमन्तरेणायोगात् । अथैकस्य पूर्वापरशरीराभ्यां वियोगयोगौ संसारः, असावपि सदाऽविकारिणि न संभवति, नित्यस्य पूर्वाऽपरशरीराभ्यां वियोगयोगाऽनुपपत्तेः । निरन्वयक्षणध्वंसिनोऽप्येकाधिकरणत्वाऽसंभवान्न तल्लक्षणः संसारः, न चाऽमूर्तस्याऽऽत्मनः सर्वगतैकमनोऽभिष्वक्तशरीरेण विशिष्टयोगयोगौ संसारो, मनसोऽकर्तृकत्वेन शरीरसंबन्धस्याऽनुपपत्तेः । यो ह्यदृष्टस्य विधाता स तन्निर्वर्तितशरीरेण सह संबध्यते, न चैवं मनः । न च मनसः शरीरसंबन्धेऽपि तत्कृतसुखदुःखोपभोक्तृत्वमात्मनि तस्याऽपगमात्, तदर्थं च शरीरसम्बन्धोऽभ्युपगम्यत इति तत्सम्बन्धपरिकल्पनं मनसो व्यर्थम्, मनसि सुखदुःखोपभोक्तृत्वाभ्युपगमे वा आत्मनः कल्पनावैयर्थ्यम्, मनस आत्मसिद्धेः ॥ १७ ॥

सुहदुक्खसंपओगो, ण जुज्जई णिच्चवायपक्खम्मि ।
एगंतुच्छेयम्मि वि, सुहदुक्खवियप्पणमजुत्तं ॥ १८ ॥

सुखेनाऽऽबाधस्वरूपेण, दुःखेन बाधनालक्षणेन, संप्रयोगः संबन्धो, न युज्यते न घटते आत्मनः, नित्यवादपक्षे द्रव्यास्तिकाभ्युपगमे सुखस्वभावस्याऽविचलितरूपत्वात् सदा सुखरूपतैवाऽऽत्मनो न दुःखसंप्रयोगः, दुःखस्वभावत्वे तद्रूपतैव, तत्त्वादेव, एकान्तोच्छेदे च पर्यायास्तिकपक्षे सुखदुःखसंप्रयोगो न युज्यत इति संबन्धः । तथा पक्षद्वयेऽपि सुखार्थं दुःखवियोगार्थं च विशिष्टनयनं कल्पतेऽत्र यतनार्थत्वात्, अयुक्तमघटमानकं सुखदुःखोपादानत्यागार्थप्रयत्नस्याप्ययुक्तत्वम्, उक्तन्यायात् । संसरति निरुपभोगभावैरधिवासितं लिङ्गमिति साङ्ख्यमतमपि निरस्तम्, न्यायस्य सर्वैकान्तसाधारणत्वात् ।

एकान्तपक्षे आत्मसुखदुःखोपभोगनिर्वर्तकशरीरसंबन्धहे-
त्वदृष्टोत्पादकाभिमतानामप्यसंभवं दर्शयन्नाह-

कम्मं जोगनिमित्तं, बज्झइ बंधट्ठिई कसायवसा ।
अपरिणउच्छिन्नेसु य, बंधट्ठिइकारणं णत्थि ॥ १९ ॥

कर्माऽदृष्टं योगनिमित्तं मनोवाक्कायव्यापारनिमित्तं,बध्यते आ-दीयते, बध्यत इति बन्धोऽदृष्टमेव, तस्य स्थितिः कालान्तरफल-दातृत्वेनाऽऽत्मन्यवस्थानम्,सा कषायवशात्क्रोधाऽऽदिसामर्थ्या-त् । एतदुभयमप्येकान्तवाद्यभ्युपगत आत्मचैतन्यलक्षणे जीवे अपरिणते उच्छिन्ने च बन्धस्थितिकारणम्,नास्ति। न ह्यपरिणामि-न्यत्यन्तानाधेयातिशये आत्मनि क्रोधाऽऽदयः संभवन्ति । नाऽ-प्येकान्तोत्सन्नेऽनुसन्धानविकले अहमनेनाकुष्ट इति द्वेषसंभवः। तथा चाऽस्य आकुष्टोऽन्यो व्यापन्नोऽपरो बद्धोऽपरश्च मुक्त इति कुशलाऽकुशलकर्मगोचरप्रवृत्त्याद्यारम्भवैफल्यप्रसक्तिः, न ह्येकसन्ततिनिमित्तोऽयं व्यवहारः, क्षणिकैकान्तपक्षे सन्ततिक-ल्पनाबीजभूतोपादानोपादेयभावस्यैवाऽघटमानत्वात् । न चै-वमनुसन्धानप्रतिपत्तिः, मिथ्याहर्षगर्वशोकाऽसन्तोषाऽऽदीनाम-न्योन्यविरुद्धस्वभावानां क्रमवर्तिनां चिद्विवर्तानां स्वसंवेदना-ध्यक्षसिद्धानां तथा तथाऽनुभवितुश्च संशयविपर्यासादर्शनागोचरीकृतस्यैकस्य चैतन्यानुभवात् । न च बाधारहितानुभवविषयस्यापह्नवः,सुखाऽऽदेरप्यनुभवविषयस्यापह्नुतिप्रसङ्गात् । तथा च प्रमाणप्रमेयाऽऽदिव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः । यदपि मिथ्याऽध्या-रोपाहानार्थं यत्ने सत्यपि मोक्षहेतुरित्युक्तं,तदप्यनेनैव प्रतिविहितम्, यथोक्तप्रतिपत्तेर्मिथ्यात्वासिद्धेः।न चाऽनुमानान्निश्चितेऽर्थे आरो-पबुद्धेरुत्पत्तिर्धूमनिश्चयावगतधूमध्वज इव । न च मिथ्याज्ञा-नस्य सहजत्वाद्विपरीतार्थोपस्थापकानुमानप्रवृत्तिः,तथाऽभ्युप-गमे बोधसन्तानवत्तस्य सर्वदाऽनिवृत्तिरित्यनुमितिप्रसक्तिः, असहजं तु तत्त्वज्ञानप्रादुर्भावोऽवश्यं निवर्तते शुक्तिकावगमे रजतभ्रम इव, अनिवृत्तौ वा न प्रमाणबाधकं भवेत् । न च क्ष-णक्षयनिश्चये स एवाऽहमितिप्रत्ययो युक्तः, अपि तु स इवेति स्यात्, न हि गवयनिश्चये गौरेवेति प्रत्ययो दृष्टः, अपि तु गौरि-वेति । न च क्रमवत्स्वभिव्यक्तहर्षाऽऽदिपर्यायेषु चैतन्याऽनुस्यू-तिप्रत्ययस्य मानसत्वमात्मनि क्षणक्षयम्, अनुमानानिश्चितत्वे-ऽपि तदेव स्पष्टमनुभूयमानत्वाद्, विकल्पद्वयस्य युगपदुत्पत्तिः परैर्नेष्टेति विकल्परूपत्वे एकत्वप्रत्ययस्य क्षणिकत्वनिश्चयसमये सद्भावो न भवेदित्येकान्तनित्याऽनित्यच्युतोभयपक्ष एव बन्ध-स्थितिकारणं युक्तिसङ्गतम् ।

किञ्चैकान्तवादिनां संसारनिवृत्तितत्सुखमुक्तिप्राप्त्यर्थाप्रवृ-
त्तिश्चासङ्गतेत्याह-

बंधम्मि अपूरंते, संसारभओहदंसणं मोज्झं ।
बंधं च विणा मोक्खसु-हपत्थणा णत्थि मोक्खो य ॥२०॥

बन्धे चासति संसारो जन्ममरणाऽऽदिप्रबन्धः, तत्र तत्का-रणे वा मिथ्यात्वाऽऽदावुपचारात् तच्छब्दवाच्ये भयौघो भीति-प्राचुर्यं,तस्य दर्शनम्-सर्वं चतुर्गतिपर्यटनं दुःखाऽऽत्मकमिति पर्यालोचनं, मौढ्यं मूढताऽनुपपद्यमानं संसारदुःखौघस्याविषय-त्वाद् मिथ्याज्ञानं बन्धानुजनितबाध्यगोचरमितिविषय-पर्यालोचनविद्, मिथ्याज्ञानपूर्विका च प्रवृत्तिर्विसंवादिन्येव बन्धं विना संसारनिवृत्तिः, तत्सुखप्रार्थना च न भवत्येव । अथ मोक्षस्याऽनुपपत्तौ निरपराधपुरुषवद्बद्धस्य मोक्षसंभवात्, बन्धाभावश्च योगकषाययोः, प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाऽऽत्मक-बन्धहेत्वोरेकान्तपक्षे विरुद्धत्वात् । न चैकरूपत्वाद् ब्रह्मणो ब-न्धाऽऽद्यभावप्ररूपणा न दोषाय, चेतनाऽचेतनाऽऽदिभेदरूपतया जगतः प्रतिपत्तेः । न च भेदप्रतिपत्तिर्मिथ्याऽविद्यानिर्मितत्वा-दिति वक्तव्यम्, अविद्यायाः प्रतिपत्तिजननविरोधात्, अ-विरोधे विद्यारूपताप्राप्तेः द्वैतप्राप्तिरिति प्रतिविहितश्चाद्वैत-वाद इति न पुनः प्रतन्यते ।

तदेवमेकान्ताभ्युपगमे बन्धहेत्वाद्यनुपपत्तेरैहिकाऽऽमुष्मिक-सर्वव्यवहारविलोप इत्येकान्तव्यवस्थापकाः सर्वेऽपि मिथ्यादृ-ष्टयो नयाः, अन्योऽन्यविषयापरित्यागवृत्तयस्तु त एव सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्त इत्युपसंहरन्नाह-

तम्हा सव्वे वि णया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा ।
अन्नोन्नणिस्सिआ उण, हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥२१॥

यस्मादेकान्तनित्याऽनित्यवस्त्वभ्युपगमो बन्धाऽऽदिकारण-योगकषायाऽभ्युपगमबाधितः, तदभ्युपगमोऽपि नित्याऽऽद्येका-न्ताऽभ्युपगमप्रतिहत इत्येवंभूतपूर्वोत्तराभ्युपगमस्वरूपाः, त-स्मान्मिथ्यादृष्टयः सर्वेऽपि नयाः स्वपक्षप्रतिबद्धाः-स्व आ-त्मीयः पक्षोऽभ्युपगमः, तेन प्रतिबद्धाः प्रतिहता यस्त इति, नयज्ञानानां च मिथ्यात्वे तद्विषयस्य तदभिधानस्य च मिथ्यात्वमेव । तेनैवं प्रयोगः-मिथ्या सर्वनयवादाः, स्वप-क्षेणैव प्रतिहतत्वात्, चौरवाक्यवत् ॥ अथ तेषां मिथ्यात्वे बन्धाऽऽद्यनुपपत्तौ सम्यक्त्वाऽनुपपत्तिः सर्वत्रेत्याह-अन्यो-ऽन्यनिःसृताः परस्परापरित्यागेन व्यवस्थिताः, पुनरिति त एव सम्यक्त्वस्य यथाऽवस्थितवस्तुप्रत्ययस्य, सद्भावा भ-वन्तीति न बन्धाऽऽद्यनुपपत्तिः । ननु यदि नयाः प्रत्येकं सन्ति, कथं प्रत्येकावस्थायां तेषां सम्यक्त्वाभावः?, स्वरूप-व्यतिरेकेणापरसम्यक्त्वाभावात्, तस्य च तेष्वभ्युपगमा-त् । अथ न सन्ति, कथं तेषां समुदायः सम्यक्त्वनिबन्धनो भवेत्, असतां समुदायानुपपत्तेः? । न चाऽसतोऽपि सम्यक्त्वं, नयवादिष्वपि सम्यक्त्वप्रसक्तेः । न च प्रत्येकं तेषां सता-मसम्यक्त्वेऽपि तत्समुदाये सम्यक्त्वं भविष्यति, "दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा, णत्थि णओ" (६) इत्याद्युपसंहारः, तत्र विरोधात् । न च प्रत्येकमेकैकांशग्राहिणः संपूर्णवस्तुग्राहकाः समुदिता इति सम्यक्त्वव्यपदेशमासादयन्ति,तत्तत्स्वगोचरापरित्यागेन तत्रा-ऽपि विषयान्तरे तेषामप्रवृत्तेः।न च प्रत्येकमसम्यक्त्वे समुदायेऽ-पि सम्यक्त्वं युक्तम्,सिकतासु तैलवत् असतः सदुत्पत्तेर्विरोधा-च । अत्राऽभिधीयते-प्रत्येकमप्यपेक्षितेतरांशस्वविषयग्राहकतयैव सन्तो नयाः, तद्व्यतिरिक्तरूपतया त्वसन्त इति सतां तत्समुदाये सम्यक्त्वे न कश्चिद्दोषः । नन्वितरेतरविषयापरित्यागवृत्तीनां ज्ञानानां कथं समुदायः संभवी?, येन तत्र सम्यक्त्वमभ्युपग-म्येत?,अनुक्तोपालम्भ एषः, न ह्येकज्ञानोत्पादकत्वेन तेषां समुदायो विवक्षितोऽपि तु स्वपरित्यक्तेतररूपविषयाध्यवसाय एव समु-दायः, "अन्योऽन्यनिश्रिताः" इत्यनेनानेकार्थः प्रतिपादितः । न हि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभ्यामत्यन्तपृथग्भूताभ्यामङ्गुलिद्व-यसंयोगवदुभयवादोऽपरप्रारब्धः । सम्म० १ काण्ड ।

(२०) अथ दर्शनयोजनामभिधित्सुराह-

जातं द्रव्यास्तिकाच्छुद्धा-दर्शनं ब्रह्मवादिनाम् ।
तत्रैके शब्दसन्मात्रं, चित्सन्मात्रं परे जगुः ॥ ११० ॥

(जातमित्यादि) शुद्धाद् द्रव्यास्तिकाद् ब्रह्मवादिनां दर्शनं जातम् । तदाह वादी-"दव्वट्ठियनयपयडी, सुद्धा संगहपरूवणा विसओ ॥" (४) इति । तत्रैके ब्रह्मवादिनः शब्दसन्मात्रमिच्छन्ति, अन्ये च चित्सन्मात्रम् । तत्राऽऽद्यमतावलम्बी शब्दब्रह्मवादी सर्वेषां शब्दानां सर्वेषां चार्थानां प्रकृतिरित्यभ्युपैति । नयो० । सम्म० । सर्वमेकं सत्, अविशेषादिति द्रव्यास्तिकाऽभिप्रायः । सम्म० ३ काण्ड । स्या० । (शब्दब्रह्मवादिनां मतम् ' सद्द ' शब्दे वक्ष्यते)

(२९) अथवा व्यवहारनिश्चयनयद्वये तेषां समवतारोऽतस्तस्यैव व्यवहारनिश्चयनयद्वयस्य स्वरूपमुपदर्शयन्नाह—

लोगव्ववहारपरो, ववहारो भणइ कालओ भमरो ।
परमत्थपरो मण्णइ, निच्छइओ पंचवण्णो त्ति ॥३५८९॥

लोकव्यवहाराऽभ्युपगमपरो नयो व्यवहारनय उच्यते । स च कालवर्णस्यैव उत्कटत्वेन लोके व्यवह्रियमाणत्वाद्भ्रमरं प्रतिपादयति कालको भ्रमर इति । परमार्थपरस्तु पारमार्थिकार्थवादी नैश्चयिको निश्चयनय उच्यते । स पुनर्मन्यते-'पञ्चवर्णो भ्रमरः' बादरस्कन्धत्वेन तच्छरीरस्य पञ्चवर्णपुद्गलैर्निष्पन्नत्वात्, शुक्लाऽऽदीनां च न्यग्भूतत्वेनानुपलक्षणादिति ॥ ३५८९ ॥ विशे० ।

निश्चयव्यवहारौ हि, द्वौ च मूलनयौ स्मृतौ ।
निश्चयो द्विविधस्तत्र, शुद्धाऽशुद्धाविभेदतः ॥ १ ॥

(निश्चय इति) हि निश्चितम्, अध्यात्मभाषायां मूलनयौ द्वौ स्मृतौ । तौ च निश्चयव्यवहारौ, निश्चिनोति तत्त्वमिति निश्चयः । १ । व्यवह्रियते इति व्यवहारः । २ । तत्राऽपि निश्चयो नाम द्विविधो द्विप्रकारः, एकः शुद्धनिश्चयनयः, द्वितीयोऽशुद्धनिश्चयनयः । एवं द्विप्रकारो ज्ञेयः ॥ १ ॥

यथा केवलज्ञानाऽऽदि-रूपो जीवोऽनुपाधिकः ।
शुद्धो मत्यादिकस्त्वात्मा-ऽशुद्धः सोपाधिकः स्मृतः ॥२॥

यथा हि केवलज्ञानाऽऽदिरूपो जीवोऽनुपाधिकः, उपाधिः कर्मजन्यः, तेन विहीनोऽनुपाधिकः, शुद्ध इति शुद्धनिश्चयभेदेन प्रथमः । अत्र हि केवलज्ञानमासाद्य शुद्धगुणमयाऽऽत्मकरूपेण जीवस्याऽभेदो दर्शितः । तथा च मतिज्ञानाऽऽदिक आत्मा अशुद्धनिश्चयभेदेन द्वितीयः । अत्र हि आत्मनः सोपाधिकस्याऽऽवरणक्षयजनितज्ञानविकल्पेनाऽऽत्मा मतिज्ञानी अशुद्ध उपलक्ष्यते । सोपाधिकत्वात् केवलज्ञानाऽऽख्यो गुणः शुद्धगुणस्तदुपेत आत्माऽपि शुद्धस्तन्नामनयोदयात् शुद्धनिश्चयनयः । १ । मतिज्ञानाऽऽदिगुणोऽशुद्धस्तदुपेत आत्माऽप्यशुद्धस्तदाख्यया नयोऽपि अशुद्धनिश्चय इति । निश्चयशब्द आत्ममात्रपरः, शुद्धशब्दः कर्माऽऽवरणविशिष्टः । आवरणक्षये शुद्धः, सति तस्मिन्नशुद्धः ॥ २ ॥

अथ व्यवहारस्य भेदं दर्शयति-

सद्भूतश्चाऽप्यसद्भूतो, व्यवहारो द्विधा भवेत् ।
तत्रैकविषयस्त्वाद्यः, परः परमतो मतः ॥ ३ ॥

व्यवहारोऽपि सद्भूतः पुनरसद्भूत इति भेदाभ्यां द्विधा द्विप्रकारः । तत्र आद्यः प्रथम एकविषय एकद्रव्याऽऽश्रितः सद्भूतव्यवहारः । परः परविषयः परद्रव्याऽऽश्रितोऽसद्भूतव्यवहार इति ॥ ३ ॥

उपचरितसद्भूता-नुपचरितभेदतः ।
आद्यो द्विधा च सोपाधि-गुणगुणिनिदर्शनात् ॥ ४ ॥

उपचरितसद्भूतभेदेन, अनुपचरितसद्भूतभेदेन च आद्यः एकद्रव्याऽऽश्रितसद्भूतव्यवहारो द्विधा द्विप्रकारः । तत्र च सोपाधिकगुणगुणिभेदात् प्रथमो भेदो भवति ॥ ४ ॥

यथोपचारतो लोके, जीवस्य मतिरुच्यते ।

यथा जीवस्य मतिज्ञानम् । अत्र हि मतिरुपाधिः कर्माऽऽवरणकलुषिताऽऽत्मनः सकलज्ञानत्वेन ज्ञानमिति कल्पनं सोपाधिकम्, उपचारतो जातमिदम् ।

अथ द्वितीयभेदमाह-

अनुपचरितसद्भूतो-ऽनुपाधिगुणतद्वतोः ॥ ५ ॥

उपाधिरहितेन गुणेन अनुपाधिक आत्मा यदा संपद्यते, तदा अनुपाधिकगुणगुणिनोर्भेदाद्भिन्नोऽनुपचरितसद्भूतोऽपि द्वितीयो भेदः समुत्पद्यते इति ॥ ५ ॥

अथास्योदाहरणं श्लोकार्द्धेनाऽऽह-

केवलाऽऽदिगुणोपेतो, गुणयात्मा निरुपाधिकः ।

केवलाऽऽदिगुणोपेतः केवलज्ञानसहितः कर्मक्षयाविर्भूतप्रभूतानुभवभावाऽऽत्मको जीवो निरुपाधिकगुणोपेतो निरुपाधिको गुणी भवति । आत्मा हि संसारावस्थायाम् अष्टकर्मजनिताऽऽवरणपरिस्फुटप्रभावभावितः सोपाधिकगुणैर्मत्यादिभिस्तद्वानिति सोपाधिक आत्मेति व्यपदेशभाग् भवति । अत्र तु तदभावे तद्भावाद् निरुपाधिकगुणगुणिभेदभावनासमुत्पादादनुपचरितसद्भूतभेदोऽपि समुत्पन्नः । केवलाऽऽदिरिति केवलस्यैकत्वात् आदिरिति तदुत्थानन्तगुणोदयात् केवलादिरिति कथनम् ।

अथाऽसद्भूतव्यवहारस्यापीत्थमेव भेदद्वयं प्रकटयन्नाह श्लोकार्द्धेन-

असद्भूतव्यवहारो, द्विधैवं परिकीर्तितः ॥ ६ ॥

(असद्भूतेति) असद्भूतव्यवहारोऽपि एवं पूर्वोक्तसद्भूतवद् द्विधा द्विप्रकारः परिकीर्तितः कथित इति ॥ ६ ॥

अथैतस्यासद्भूतव्यवहारस्य भेदद्वयं सोदाहरण—पूर्वकं प्रकटयन्नाह-

असंश्लेषितयोगेऽन्त्यो, देवदत्तधनं यथा ।
स्यात्संश्लेषितयोगेऽन्यो, यथाऽऽस्ते देहमात्मनः ॥७॥

(असंश्लेषितेति) अत्र द्वयोरपि भेदयोर्मध्ये, अन्त्यः अन्ते भवोऽन्त्यो मुख्यः प्रथमः, असंश्लेषितयोगे कल्पितसंबन्धविषये उपचरितासद्भूतव्यवहारो भवेत् । यथा-देवदत्तधनम् । इह धनेन देवदत्तस्य संबन्धः स्वस्वामिभावरूपश्च जायते, तदपि कल्पितत्वात् उपचरितम् । यतो देवदत्तः पुनर्धनं चैकद्रव्यं, न हि तस्माद्भिन्नद्रव्यत्वादसद्भूतभावनाकरणेनासद्भूतव्यवहार इति । तथा द्वितीयोऽन्यः संश्लेषितयोगे कर्मजसंबन्धे भवति । यथा आत्मनो जीवस्य देहमिति आस्ते तिष्ठति । अत्र हि आत्मदेहयोः संबन्धे देवदत्तधनसंबन्धमिव कल्पनं नास्ति विपरीतभावनानिवर्तकत्वात् यावज्जीवव्यवस्थितत्वादनुपचरितं, तथा भिन्नविषयत्वादसद्भूतव्यवहार इति ॥७॥

अथोक्तविषयस्वामित्वमाह—

नयाश्चोपनयाश्चैते, तथा मूलनयावपि ।
इत्थमेव समादिष्टं, नयचक्रेऽपि तत्कृता ॥ ८ ॥

(नयेति) एते नया उक्तलक्षणाः, च पुनरुपनयास्तथैव द्वौ मूलनयौ, अपि निश्चयेन इत्थममुना प्रकारेण एव, नय— चक्रेऽपि दिगम्बरदेवसेनकृते शास्त्रे नयचक्रेऽपि, तत्कृता तस्य नयचक्रस्य कृता उत्पादकेन समादिष्टं कथितम् । एतावता दिगम्बरमतानुगतनयचक्रग्रन्थपाठपठितनयोपनयमू- लनयाऽऽदिकं सर्वमपि सर्वज्ञप्रणीतसदागमोक्तयुक्तियोजनास- मानतन्त्रत्वमेवाऽऽस्ते, न किमपि विसंवादितयाऽस्तीति । ८ ।

अथ पुनरपि श्वेताम्बरदिगम्बरयोः समानतन्त्रत्व- मुपदिशन्नाह-

यद्यपीहार्थभेदो न, तस्याऽस्माकमपि स्फुटम् ।
तथाऽप्युत्क्रमशैल्याऽसौ, दह्यते चाऽन्तराऽऽत्मना ॥९॥

यद्यपि तस्य देवसेनस्य दिग्वाससोऽपि, तथा अस्माकं श्वेतभिक्षूणां,स्फुटं प्रकटं यथा स्यात्तथा,इह द्रव्याऽऽदिपरिज्ञा- नोपयोगीनि नयविचारे, अर्थभेदो विषयभेदो नास्ति, अनयो- रप्यर्थाऽऽदेशे विषयाभेदत्वमेव,शब्दाऽऽदेशे किमपि पाठान्तर- त्वाद् न किमपि दोषः । यथा हि अर्थे प्रयोजनवन्तस्तार्किकाः, शब्दस्याऽप्रयोजकत्वात् । तथाऽप्यसौ देवसेनो दिगम्बर उ- त्क्रमशैल्या विपरीतपरिभाषया अर्थस्य तादृशत्वेन शब्दस्या- तादृशत्वेन च उत्क्रमशैल्या कृत्वा, अन्तराऽऽत्मना अन्तरङ्गपरि- णामेन ईर्ष्यालुत्वाद्,दह्यते खिद्यते । ईर्ष्यालवो हि अन्तस्तापता- पपरा एव भवन्ति निष्कारणमेवेति । यतः-" यद्यपि न भवति हानिः,परकीयां चरति रासभो द्राक्षाम् । असमञ्जसं तु दृष्ट्वा, तथाऽपि परिखिद्यते चेतः ॥१॥ " इति वचनाद् यथोक्तभागवत- सिद्धान्तशुद्धपरिभाषां त्यक्त्वा स्वकपोलकल्पितसंस्कृतभाषया श्रीवीतरागोक्तार्थविषयमङ्गीकृत्य नवीनग्रन्थं विरचय्य प्रभावं ख्यापयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

(३०) अथ बोटिकमताऽभिमतविपरीतपरिभाषां दर्श- यन्नाह-

तत्त्वार्थेऽपि नयाः सप्त, पञ्चाऽऽदेशान्तरेऽपि वा ।
अन्तर्भूतौ समुद्धृत्य, नवेति किमु कल्पते ? ॥१०॥

तत्त्वार्थसूत्रे नयाः सप्त उक्ताः, पुनरादेशान्तरे मतान्तरे तत्रैव नयाः पञ्च प्रतिपादिताः । तथा च तत्सूत्रम्--" सप्त मूलनयाः, पञ्च इत्यादेशान्तरे " इति । शब्दः, समभिरूढः, एवंभूत इति नयत्रिकं शब्दनय इति नाम्ना संगृहीतानां नयानामेकैकं नाम शब्दनय इति जायते, ततः प्रथमे चत्वारोऽतस्तैः सह पञ्च न- या इति । अथैकैकस्य भेदानां शतमस्ति, तत्र च सप्तशतं तथा पञ्चशतम्,एवं मतद्वयेऽपि भेदकल्पनम् । तथोक्तमावश्यके–"इ- क्किक्को य सयविहो, सत्त णयसया हवंति एमेव । अन्नो वि हु आएसो, पंचेव सया नयाणं तु " ॥ (२२६४) एता- दृशीं शास्त्रपरिभाषां त्यक्त्वा द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनामानौ एवान्तर्भाविताचेव उद्धृत्य दूरे कृत्वा नव नयाः कथिताः, इति किमु कल्पते देवसेनेन कः प्रपञ्चः क्रियते ? ॥ १० ॥

पुनरप्यर्थं कथयन्नाह-

यदि पर्यायद्रव्यार्थ-नयौ भिन्नौ विलोकितौ ।
अर्पितानर्पिताभ्यां तु, स्युर्नैकादश तत्कथम् ? ॥११॥

(यदीति) यदि पर्यायार्थद्रव्यार्थनयौ भिन्नौ विलोकितौ पृथक् दृष्टौ, तत्तस्मान्नव नया इति कथम् ?, अर्पितानर्पिताभ्यां सह एकादश नया इति कथं न स्युः, अपि तु स्युः । भावार्थस्त्वय- म्-नैगमसंग्रहव्यवहारभेदाद् आद्यो द्रव्यार्थिकस्त्रिधा, पर्या- यार्थिकश्चतुर्धा-ऋजुसूत्र, शब्दः, समभिरूढः, एवंभूतश्चेति । अर्पितानर्पितभेदावपि सामान्यविशेषपर्यायौ, तौ च द्रव्यप- र्याययोश्चेति । तथाहि–सामान्यं द्विप्रकारम्, ऊर्ध्वतासामान्यं, तिर्यक्सामान्यं च । तत्र ऊर्ध्वतासामान्यं द्रव्यमेव, तिर्यक्सा- मान्यं तु प्रतिव्यक्ति सदृशपरिणतिलक्षणं व्यञ्जनपर्याय एव, स्थूलाः कालान्तरस्थायिनः शब्दानां सङ्केतविषया व्यञ्जनपर्याया इति प्रावचनिकप्रसिद्धेः । विशेषोऽपि वैसदृश्यविवर्त्तलक्षणः पर्याय एवान्तर्भवतीति, नैताभ्यामधिकनयावकाशः ॥११॥

संग्रहे व्यवहारे च, यदीमौ युङ्क्थ केवलम् ।
तदाद्यन्तनयस्तोके, किं न युङ्क्थ हि तावपि ? ॥१२॥

अथ संग्रहे च पुनर्व्यवहारे यदि इमौ अर्पितानर्पितौ युङ्क्थ, तर्हि आद्यन्तनयस्तोके तावपि[द्रव्यपर्यायौ]किं न युङ्क्थ इति ?। यदि एवं कथयथ अर्पितानर्पितसिद्धेरित्यादिसूत्रेषु अर्पिता वि- शेषाः,अनर्पिताः सामान्याः । तत्र अर्पिता व्यवहाराऽऽदिविशेष- नयेषु अन्तर्भवन्ति, अनर्पिताः संग्रहेऽन्तर्भवन्ति, तदा आद्येषु प्रथमेषु, अन्त्येषु पाश्चात्येषु नयस्तोकेषु इमौ द्रव्यपर्यायौ कथं न युञ्जीत सप्तनयसंबन्धसिद्धेरिति विचारणीयम् ?। सि- द्धान्ते श्रीजिनवाणी सप्तनयाऽवतारिका एवाऽस्ति, न न्यूना- धिका । यतः–"से किं तं नए ?। सत्त मूलनया पण्णत्ता । तं जहा- णेगमे १, संगहे २, ववहारे ३, उज्जुसुए ४, सद्दे ५, सम- भिरूढे ६, एवंभूए ७ । " इत्यादिसूत्रपाठोऽपि ज्ञेयोऽतस्तत्सूत्र- मार्गं त्यक्त्वा नया नव इत्यधिकयोजना न साधीयसी । अथ अन्तर्भूतानां पृथक्करणमपि पिष्टपेषणमेवेति ॥१२॥ द्रव्या० ८ अध्या० ।

(३१) व्यवहारनयात्साङ्ख्यम्-

अशुद्धाद् व्यवहाराख्या-त्ततोऽभूत्साङ्ख्यदर्शनम् ।
चेतनाऽचेतनद्रव्या-ऽनन्तपर्यायदर्शकम् ॥ १११ ॥

(अशुद्धादिति) व्यवहाराऽऽख्याद् व्यवहारनामधेयादशुद्धात्त- तो द्रव्यार्थिकनयात् साङ्ख्यदर्शनमभूत् । कीदृशं तत् ?, चेतनाचेतनद्रव्यं चानन्तपर्यायाश्चाविर्भावतिरोभावाऽऽ- त्मकास्तेषां दर्शकं प्रतिपादकमिति । (१११) नयो० । अशुद्धस्तु द्रव्यार्थिको व्यवहारनयमतार्थावलम्बी एकान्तनि- त्यचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकसाङ्ख्यदर्शनाभितोऽत एव तन्मता- ऽनुसारिणः साङ्ख्याः। सम्म० १ काण्ड ।

(३२) अथ वेदान्तिसाङ्ख्यदर्शनयोः शुद्धाशुद्धद्रव्या- र्थिकप्रकृतिकत्वं यदुक्तं, तन्नाऽविशेष- दृष्ट्या भेदबीजाभावमाशङ्कते-

यद्यप्येतन्मतेऽप्यात्मा, निर्लेपो निर्गुणो विभुः ।
अध्यासाद् व्यवहारश्च, ब्रह्मवादेऽपि संमतः ॥ ११२ ॥

(यद्यपीत्यादि) यद्यपि एतन्मतेऽपि साङ्ख्यमतेऽप्यात्मा निर्लेपः कर्तृत्वाऽऽदिलेपरहितो निर्गुणो गुणस्पर्शशून्यो विभु- र्व्यापकश्चेति शुद्धाऽऽत्माऽभ्युपगमेनोभयत्र शुद्धतौल्यम् । न च

भोक्तृत्वस्योपचरितस्याऽऽत्मन्यभ्युपगमेन साङ्ख्यदर्शने वेदान्तदर्शनापेक्षयाऽशुद्धत्वम्, यतोऽध्यासाद् व्यवहारो ब्रह्मवादेऽपि संमतः, ब्रह्मवादिनोऽपि हि बुद्धिगुणान् ज्ञानाऽऽदीनात्मनि कल्पितानेवाऽभ्युपयन्ति, न पारमार्थिकानिति नायमपि प्रकारद्वयोः शुद्ध इति विशेषः ॥ ११२ ॥

प्रत्युताऽऽत्मनि कर्तृत्वं, साङ्ख्यानां प्रातिभासिकम् ।
वेदान्तिनां त्वनिर्वाच्यं,मतं तद् व्यावहारिकम् ॥११३॥

(प्रत्युतेति) प्रत्युत वैपरीत्येन साङ्ख्यानां मते कर्तृत्वम्, उपलक्षणाद्भोक्तृत्वाऽऽदि च, प्रातिभासिकमन्यथमेवान्यत्राऽऽरोपितम् । वेदान्तिनां तु मतेऽन्तःकरणधर्माणां कर्तृत्वाऽऽदीनां कल्पितम्, तच्च परमार्थतोऽसदपि व्यवहारतः सदिति स्थूलव्यवहाराऽनुरोधाद्वेदान्तदर्शन एवाशुद्धत्वं स्यात्, अविद्ययाऽन्यधर्ममात्मन्यध्यारोपयत्युपचारेण च व्यवहारबलं कुण्ठगतिनिश्चयबलं चोत्तेजति साङ्ख्यदर्शन एव शुद्धत्वं स्यादिति भावः ॥ ११३ ॥

किञ्च-सत्कार्यवादित्वादपि साङ्ख्यस्य न व्यवहाराऽनुरोधित्वम्, व्यवहारनयो हि कारणव्यापारानन्तरमेव कार्योत्पत्तिं पश्यन् सत्कार्यपक्षमेवाऽऽश्रयते,न च क्षणिकासत्कार्यानभ्युपगममात्रेणास्य व्यवहारपक्षपातित्वम्, तदनभ्युपगमेऽप्युत्पत्त्यनभ्युपगमेन व्यवहारबहिर्भावादित्यभिप्रायस्पष्टीकरणपूर्वं निगमयन्नाह—

अनुत्पन्नत्वपक्षश्च, निर्युक्तौ नैगमे श्रुतः ।
नेति वेदान्तिसाङ्ख्योक्त्योः, संग्रहव्यवहारता ॥११४॥

अनुत्पन्नपक्षश्च निर्युक्तौ नमस्कारनिर्युक्तौ नैगमे नैगमनये श्रुतः " उप्पन्नाणुप्पन्नो, इत्थ नया णेगमस्सऽणुप्पन्नो । सेसाणं उप्पन्नो, जइ कत्तो तिविहसामित्ता ? ॥ ८०६ ॥ " इति (आवश्यकनिर्युक्ति-) वचनात् । तथा चानुत्पत्तिवादी साङ्ख्यो नैगमनयमेवोपजीवी, व्यावहारिकोत्पत्तिवादी वेदान्ती च व्यवहारनयमिति भावः । इति हेतोर्वेदान्तिसाङ्ख्योक्त्योस्तद्दर्शनयोः संग्रहव्यवहारता संग्रहव्यवहाराऽऽश्रयशुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकप्रकृतिकता न भवति । तथा च संमतौ तथोक्तेः का गतिरिति भावः ? ॥ ११४ ॥

समाधत्ते तथापीतिद्वयेन-

तथाऽप्युपनिषद् दृष्टि-सृष्टिवादाऽऽत्मिका परा ।
तस्यां स्वप्नोपमे विश्वे, व्यवहारलवोऽपि न ॥ ११५ ॥

तथाऽपि उपनिषद्वेदान्तदर्शनप्रवृत्तिः दृष्टिसृष्टिवादाऽऽत्मिका परा उत्कृष्टा मूलाभियुक्ता, अभ्युपगतत्वात्, तस्यां चाज्ञातसत्त्वाभावेन स्वप्नोपमे विश्वे जगति सति व्यवहारस्य लवोऽपि लेशोऽपि नाऽस्ति, तन्मते आप्तव्यवहारस्य स्वप्नव्यवहारतुल्यत्वात् । तथा च मौलस्य वेदान्तदर्शनस्य व्यवहारापेतत्वे न व्यवहारप्रकृतिता, किं त्वेकाऽऽत्मसंग्रहप्रवणतया संग्रहप्रकृतितैवाऽऽकाशोदकपातकल्पमूलदर्शनप्रवृत्तावेव चेयं नयप्रकृतिचिन्तेति भावः । अर्वाचीनवेदान्तिनां मिथो विरुद्धकल्पनाकोटिक्रमपराहतानां व्यवहाराभ्याससमर्थनेनाऽपि प्रतिभुतव्याहतिरिति हृदयम् ॥ ११५ ॥

साङ्ख्यशास्त्रे च नानाऽऽत्म-व्यवस्था व्यवहारकृत् ।
इत्येतावत्पुरस्कृत्य, विवेकः संमतावयम् ॥ ११६ ॥

(साङ्ख्येति) साङ्ख्यशास्त्रे च नानाऽऽत्मनां व्यवस्था प्रतिनियतजन्ममरणाऽऽदि व्यवहारकृद्भवति इत्येतावत्पुरस्कृत्य तात्पर्यविषयीकृत्याऽयं विवेकः सम्मतौ । यदुत-व्यवहारप्रकृतिकं साङ्ख्यदर्शनं,संग्रहप्रकृतिकं च वेदान्तदर्शनमिति वेदान्तप्रकृतिभूतसंग्रहनयेनैव तथाविषयीकृतस्याऽऽत्मनो भेदकरणेन संग्रहविषयभेदकत्वलक्षणसमन्वयाद् व्यवहारप्रकृतिकत्वं साङ्ख्यदर्शनस्य विवक्षितमिति तात्पर्यम् । तेन सत्कार्याऽऽद्यंशे व्यवहारप्रकृतित्वाऽभावेऽपि न क्षतिः, आत्मन एव सकलशास्त्रप्रयोजनभागित्वेन मुख्यत्वात् , मुख्योद्देशेनैव च नयानां प्रकृतिविकृतिचिन्ताया युक्तत्वादिति भावः ॥ ११६ ॥ नयो० ।

अत्र च नैगमसंग्रहव्यवहारलक्षणास्त्रयो नयाः शुद्ध्यशुद्धिभ्यां द्रव्यास्तिकमताश्रिताः, ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतास्तु शुद्धितारतम्यतः पर्यायनयभेदाः । तथाहि-संग्रहमतं तावत्प्रदर्शितमेव । येषां तु मते न नैगमनयस्य सद्भावस्तस्य स्वरूपमेव वर्णितम्, राश्यन्तरोपलब्धं नित्यत्वमनित्यत्वं च नयतीति निगमव्यवस्थाभ्युपगमपरो नैगमनयः । निगमो हि नित्याऽनित्यसदसत्कृतकाकृतकस्वरूपेषु भावेष्वपास्तसाङ्कर्यस्वभावः सर्वथैव धर्मधर्मिभेदेन संपद्यत इति । स पुनर्नैगमोऽनेकधा व्यवस्थितः, प्रतिपत्तुरभिप्रायवशाश्रयव्यवस्थानात् । प्रतिपत्तारश्च नानाभिप्रायाः । यतः केचिदाहुः-" पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि " यदाश्रित्योक्तम्-" ऊर्ध्वमूलमधः शाख-मश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥" पुरुषोऽप्येकत्वनानात्मभेदात्कैश्चिदभ्युपगतो द्वेधा,नानात्वेऽपि तस्य कर्तृत्वाऽकर्तृत्वभेदोऽपरैराश्रितः । कर्तृत्वेऽपि सर्वगतेतरभेदः,असर्वगतत्वेऽपि शरीरव्याप्त्यव्याप्तिभ्यां भेदः, व्यापिमूर्तेतरविकल्पाद्भेद एव । अपरैस्तु प्रधानकारणिकं जगदभ्युपगतं,तत्राऽपि सेश्वरनिरीश्वरभेदाद्भेदोऽभ्युपगतः, अन्यैस्तु परमाणुप्रभवत्वमभ्युपगतं जगतः,तत्रापि सेश्वरनिरीश्वरभेदाद्भेदोऽभ्युपगतः,सेश्वरपक्षेऽपि स्वकृतकर्मसापेक्षानपेक्षत्वाभ्यां तदवस्थ एव भेदाभ्युपगमः । कैश्चित्स्वभावकालयदृच्छाऽऽदिवादाः समाश्रिताः, तेष्वपि सापेक्षत्वानपेक्षत्वाभ्युपगमाद् भेदव्यवस्थाऽभ्युपगतैव। तथा कारणं नित्यं कार्यमनित्यमित्यपि द्वैतं कैश्चिदभ्युपगतम्, तत्राऽपि कार्यं स्वरूपं नियमेन त्यजति, न वेत्ययमपि भेदाभ्युपगमः । एवं मूर्तैरेव मूर्तमारभ्यते, मूर्तैर्मूर्तं मूर्तैरमूर्तमित्याद्यनेकधा प्रतिपत्त्रभिप्रायतोऽनेकधा निगमनान्नैगमोऽनेकभेदः । व्यवहारनयस्त्वपास्तसमस्तभेदादेकमभ्युपगच्छतोऽध्यक्षीकृतभेदनिबन्धनव्यवहारविरोधप्रसक्तेः कारकज्ञापकभेदे परिकल्पनाऽनुरोधेन व्यवहारमारचयन् प्रवर्तते इति कारणस्याऽपि न सर्वदा नित्यत्वं, कार्यस्याऽपि नैकान्ततः प्रक्षय इति । ततश्च न कदाचिदनीदृशं जगदिति प्रवृत्तोऽयं व्यवहारो न केनाऽपि प्रवर्त्यते, अन्यथा प्रवर्तकावस्थाप्रसक्तिः, ततो व्यवहारशून्यं जगत् । न च प्रमाणाविषयीकृतः पक्षोऽभ्युपगन्तुं युक्तः,अदृष्टपरिकल्पनाप्रसक्तेः । दृष्टानुरोधेन ह्यदृष्टमपि वस्तु कल्पयितुं युक्तम्, अन्यथा कल्पनासंभवादिति । संग्रहनैगमाभ्युपगतवस्तुविवेकाल्लोकप्रतीतपथाऽनुसारेण प्रतिपत्तिः,गौरवपरिहारेण प्रमाणप्रमेयप्रमितिप्रतिपादनं व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं परीक्षकैः समाश्रितमिति व्यवहारनयाभिप्रायः । ततः स्थितं नैगमसंग्रहव्यवहाराणां द्रव्यास्तिकनयप्रभेदत्वं, विषयभेदश्चैषां प्रतिपादितः ।

तदुक्तम्-

" शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य, संग्रहस्तदशुद्धितः ।
नैगमव्यवहारौ स्तां, शेषाः पर्यायमाश्रिताः ॥ १ ॥
अन्यदेव हि सामान्य-मभिन्नज्ञानकारणम् ।
विशेषोऽप्यन्य एवेति, मन्यते नैगमो नयः ॥ २ ॥
सद्रूपताऽनतिक्रान्त-स्वस्वभावमिदं जगत् ।
सत्तारूपतया सर्वं, संगृह्णन् संग्रहो मतः ॥ ३ ॥
व्यवहारस्तु तामेव, प्रतिवस्तुव्यवस्थिताम् ।
तथैव दृश्यमानत्वाद्, व्यवहारयति देहिनः" ॥ ४ ॥ इति ।

पर्यायनयभेदा ऋजुसूत्राऽऽदयः ।

"तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्या-च्छुद्धपर्यायसंश्रिता ।
नश्वरस्यैव भावस्य, भावात्स्थितिवियोगतः" ॥ १ ॥ सम्म० १ काण्ड ।

(३३) यद्येवं संग्रहव्यवहारौ वेदान्तिसांख्यदर्शनप्रवर्तकौ, नैगमनयस्तर्हि कस्य दर्शनस्य प्रवर्तकः ?, इति जिज्ञासायामाह-

हेतुर्मतस्य कस्याऽपि, शुद्धाऽशुद्धो न नैगमः ।
अन्तर्भावो यतस्तस्य, सङ्ग्रहव्यवहारयोः ॥ ११७ ॥

(हेतुरिति) सामान्यविशेषाऽऽत्मकनयग्राहित्वेन शुद्धाशुद्धो नैगमनयः कस्याऽपि मतस्य दर्शनस्य न हेतुर्न प्रकृतिः,यतः सामान्यग्रहाय प्रवृत्तस्य संग्रह एव, विशेषग्रहाय च प्रवृत्तस्य व्यवहार एवान्तर्भाव इति । तदुभयभिन्नं स्वात्मानमेवालभमानस्य न भिन्नदर्शनप्रकृतित्वमभिधातुं युज्यत इति ॥ ११७ ॥

कुतस्तर्हि वैशेषिकदर्शनमुत्पन्नं, कथं वा तस्य न सम्यक्त्वम् ?, इत्याकाङ्क्षायामाह-

द्वाभ्यां नयाभ्यामुन्नीत-मपि शास्त्रं कणाऽशिना ।
अन्योऽन्यनिरपेक्षत्वा-न्मिथ्यात्वं स्वमताग्रहात् ॥११८॥

(द्वाभ्यामिति) द्वाभ्यां सामान्यविशेषग्राहिभ्यां संग्रहव्यवहाराभ्यां नयाभ्यामुन्नीतं पृथग् व्यवस्थापितमपि कणाऽशिना कणादमुनिना शास्त्रम्, अन्योऽन्यनिरपेक्षत्वात्परस्परविविक्तद्रव्यपर्यायोभयावगाहित्वात् स्वमताग्रहात् स्वकल्पनाऽभिनिवेशान्मिथ्यात्वम् ॥ न हि नयद्वयावलम्बनमेव शास्त्रस्य सम्यक्त्वप्रयोजकं, किं तु यथास्थाने तद्विनियोगः । स च स्वप्रयुक्तनयद्वयेतरयावन्नयानां स्याद्वादलाञ्छितानां परस्परसाकाङ्क्षाणां तात्पर्यविषयतया संपद्यते, एकतरस्याऽप्यतात्पर्ये सिद्धान्तविराधनाया अपरिहारात् । तदाह-" जे वयणिज्जवियप्पा, संजुज्जंतेसु होंति एएसु । सा ससमयपण्णवणा, सिद्धंतविराहणा अण्णा " ॥१॥ इति । तदिह सामान्यविशेषयोः कुतस्तरामन्येषां नयानामिति स्फुटमेव मिथ्यात्वम्, अतिरिक्तसामान्यविशेषापेक्षां विना महासामान्यान्त्यविशेषयोरिव वस्तुमात्रस्य स्वत एव सामान्यविशेषाऽऽत्मकत्वमित्यर्थस्यैव यथावन्नयद्वयविनियोगरूपत्वात्, अन्यथाऽनवस्थानात् । तदिदमुक्तम्-"स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो, भावा न भावान्तरनेयरूपाः । परात्मतत्त्वादतथाऽऽत्मतत्त्वाद्, द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥४॥" (स्या०) इति । एतेन नैयायिकदर्शनमपि व्याख्यातम्, पदार्थप्रमाणाऽऽदिभेदं विना प्रायस्तस्य वैशेषिकदर्शनसमानविषयत्वादिति दिग् ॥ ११८ ॥

ननु संग्रहव्यवहारयोरेव विषयविवेकेन नैगमस्यान्तर्भावे तस्य पार्थक्ये किं बीजम् ?। अदर्शनेऽपि किञ्चित्कल्पयिष्याम इति चेत्,तर्हि इदं स्वतन्त्रद्रव्यपर्यायोभयविषयत्वमेव तथाऽस्तु । तथा च तत एव कणादमतोत्पत्तिर्युक्तेति परीक्षापूर्वमाह-

स्वतन्त्रव्यक्तिसामान्य-ग्रहा येऽत्र तु नैगमे ।
औलूक्यसमयोत्पत्तिं, ब्रूमहे तत एव हि ॥ ११९ ॥

(स्वतन्त्रेति) स्पष्टः । अत्र चार्थे प्रदर्शितन्यायेन द्रव्यपर्यायरूपमुभयमपि परस्परविविक्तमेकत्र विद्यत इत्यभिप्रायो नैगमोऽशुद्धद्रव्यास्तिकप्रकृतिरिति सम्मतिवृत्तिस्वरसोऽपीति ध्येयम् ॥ ११९ ॥

ऋजुसूत्राऽऽदितः सौत्रा-न्तिकवैभाषिकौ क्रमात् ।
अभूवन् सौगता योगा-चारमाध्यमिकाविति ॥१२०॥

(ऋजुसूत्राऽऽदित इति) ऋजुसूत्राऽऽदित ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतेभ्यः क्रमात् सौत्रान्तिकवैभाषिकयोगाचारमाध्यमिका इति चत्वारः सौगता अभूवन्नुदपद्यन्ते ।

एतेषां स्वरूपमेतेन काव्येन ज्ञेयम्-

" अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणेष्यते,
प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकैराश्रितः ।
योगाऽऽचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा,
मन्यन्ते बत मध्यमाः कृतधियः स्वच्छां परां संविदम्" ॥१॥ इति ।

एतद्विशेषाऽवगमपुष्पमदार्थिना तु मत्कृतलताद्वयं परिशीलनीयम् । अत्र वैभाषिकस्य शब्दनयपक्षपातित्वं, नित्यानित्यशब्दवाच्यपुद्गलाभ्युपगमात्, ज्ञानार्थलक्षणयौगपद्यरूपत्वं अनपर्यायप्रधानत्वाच्चावगन्तव्यम् । योगाचारमाध्यमिकयोश्च शुद्धशुद्धतरत्वेन समभिरूढैवंभूतपक्षवर्तित्वमिति ॥ १२० ॥

नयसंयोगजः शब्दा-लङ्काराऽऽदेश्च विस्तरः ।
कियान् वाच्यो वचस्तुल्यसंख्या ह्यभिहिता नयाः ॥१२१॥

(नयेति) शब्दालङ्काराऽऽदेर्व्याकरणसाहित्याऽऽदिशास्त्रस्य च विस्तरो नयसंयोगजो नानानयमयः, आदित एव तत्प्रवृत्तौ नानानयविवक्षायामुपजीवनात् । अन्यथा सार्वपार्षदत्वानुपपत्तिः । अत एव मीमांसका अपि द्रव्यपर्याययोः सार्वजनीनभेदाभेदाऽऽद्युपपत्तये व्यवहारनयमानन्त्यव्यभिचाराभ्यां बिभ्यतो व्यक्तिशक्तिमपहाय जातौ शक्तिव्युत्पत्तये संग्रहनयं चाद्रियमाणाः स्वमतप्रवृत्तौ नयसंयोगमेवाऽऽद्रियपेक्षन्ते । यत्तु मीमांसकमतस्याशुद्धद्रव्यास्तिकव्यवहारनयप्रकृतित्वं सम्मतिवृत्तौ नामनिक्षेपावसरे भाषितं, "तच्छब्दार्थयोर्नित्यसंबन्धमात्रवादापेक्षया, औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः" इति, तत्सूत्रे औत्पत्तिक इत्यस्य विपरीतलक्षणया नित्य इति व्याख्यानात् पूर्वपूर्वसंकेतापेक्षायामनवस्थानां नित्यपदसंबन्धाभ्युपगम एव । प्रवृत्तिमूलव्यवहाराऽऽद्यन्तशुद्धशास्त्रैश्वपर्यपर्यालोचनायां तु तस्य नयसंयोगत्वमेवमुक्तम् । अन्यथा-शब्दानुशासनेऽपि स्फोटविचारे शब्दसन्मात्रसंग्रहप्राधान्येन नयसंयोगजत्वं न स्यात्,नयसंयोगजत्वे शब्दाऽऽदीनां कथं न स्वसमयतुल्यत्वमिति चेत्,मूढनयानां तेषां यथावद्विभागाकरणात् । अत एव यथावन्नयविभागचिकीर्षया "सिद्धिः स्याद्वादात्"॥१।१।२॥ इति (हैम०) सूत्रमुपन्यस्य श्रीहेमसूरयः स्वोपज्ञशब्दानुशासनस्य स्वसमयान्तर्भावेन हृदयमाधयमार्बभक्तुः । संक्षेपमभिप्रेत्याह उक्तो विस्तरः कियान् वाच्यो, हि यतः, वचस्तुल्यसंख्या नया अभिहिताः ॥१२१॥

स्याद्वादनिरपेक्षैश्च, तैस्तावन्तः परागमाः ।
ज्ञेयोपयुज्य तदिदं, दर्शने नययोजना ॥ १२२ ॥

(स्याद्वादेति) तैर्नयैः स्याद्वादनिरपेक्षैः स्याद्वादैकवाक्यतारहितैस्तावन्तो नयस्तुल्यसंख्या एव परागमाः परसिद्धान्ता भवन्ति, अभिनिवेशाऽन्वितनयस्यैव परसमयलक्षणत्वात् । इदमुक्तं सम्मतितृतीयकाण्डे-" जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति णयवाया । जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया " ॥ ४७ ॥ एतावत्तु नयेष्विच्छाकल्पितसंयोगजभेदेऽपि समवायान्तराक्षेपकः सुलभ एव, इयं दर्शने नययोजनोपयुज्य ज्ञेया, न त्वापातत एव; आपातज्ञानस्य स्वसमयपरसमयविपर्यासफलत्वात् । अत एव वस्तुस्थितिविचारे-"जे पज्जवेसु णिरदा, जीवा परसमयगतिविणिद्दिट्ठा । आयसहावम्मि ठिया, ते सगसमया मुणेयव्वा " ॥ १ ॥ इति दैगम्बरं वचनं वक्तुः सम्यक् स्वसमयानिष्णाततामभिव्यञ्जयति । द्रव्यास्तिकाभिप्रायः स्वसमयः, पर्यायास्तिकाभिप्रायः परसमय इत्यस्य स्याद्वादनिरपेक्षस्यान्नयवाक्यमेवैतदिति चेत्, तर्हि प्रवचनप्रक्रियाव्युत्पादने क इवास्योपयोगः ?, स्थूलसूक्ष्मनयार्थानां क्रमव्युत्पादनस्यैव शास्त्रार्थत्वादिति मुग्धवन्धनमात्रमेतत् । यदपि प्रावचनिकानां जिनभद्रसिद्धसेनप्रभृतीनां स्वस्वतात्पर्यविरुद्धविषये सूत्रे परतीर्थिकवक्तव्यताप्रतिबन्धप्रतिपादनं, तदप्यभिनिवेशेन चेन्तदा प्रावचनिकत्वक्षतिरिति । तत्र परतीर्थिकपदं भिन्नपरम्परायाततात्पर्यानुसारिपदम्; अत एव नयाभिप्रायेण प्रवृत्तत्वादिति हेत्वभिधानोपपत्तिः । अत एव च नयाभिप्रायेणान्नयसमाधानमस्माभिर्ज्ञानबिन्दौ विहितमिति । एवमन्यत्राऽपि दर्शनप्रयोजनाख्यामुपयोगो विधेयः समयनिष्णातैः ॥१२२॥ नयो० ।

(३४) के पुनरेषु नयेष्वर्थप्रधानाः, के च शब्दनया इति दर्शयन्ति-

एतेषु चत्वारः प्रथमेऽर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयाः ॥४४॥
शेषास्तु त्रयः शब्दवाच्याऽर्थगोचरतया शब्दनयाः ॥४५॥

कः पुनरत्र बहुविषयः,को वाऽल्पविषयो नय इति विवेचयन्ति-

पूर्वः पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः, परः परस्तु परिमितविषयः ॥ ४६ ॥

तत्र नैगमसंग्रहयोस्तावन्न संग्रहो बहुविषयो नैगमात्परः, किं तर्हि नैगम एव संग्रहात्पूर्व इत्याहुः--

सन्मात्रगोचरात्संग्रहान्नैगमो भावाऽभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः ॥ ४७ ॥

भावाऽभावभूमिकत्वाद्भावाऽभावविषयत्वाद्, भूमविषयो बहुविषयः ॥ ४७ ॥

संग्रहाद् व्यवहारो बहुविषय इति विपर्ययमपास्यन्ति-

सद्विशेषप्रकाशकाद्व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद् बहुविषयः ॥ ४८ ॥

व्यवहारो हि कतिपयान् सत्प्रकारान् प्रकाशयतीत्यल्पविषयः, संग्रहस्तु सकलसत्प्रकाराणां समूहं ख्यापयतीति बहुविषयः ॥ ४८ ॥

व्यवहारात् ऋजुसूत्रो बहुविषय इति विपर्यासं निरस्यन्ति-

वर्त्तमानविषयादृजुसूत्राद्व्यवहारस्त्रिकालविषयाऽवलम्बित्वादनल्पार्थः ॥ ४९ ॥

वर्तमानक्षणमात्रस्थायिनमर्थमृजुसूत्रः सूचयतीत्यसावल्पविषयः, व्यवहारस्तु कालत्रितयवर्त्यर्थजातमवलम्बत इत्ययमनल्पार्थ इति ॥ ४९ ॥

ऋजुसूत्राच्छब्दो बहुविषय इत्याशङ्कामपसारयन्ति-

कालाऽऽदिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दादृजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वान्महार्थः ॥ ५० ॥

शब्दनयो हि कालाऽऽदिभेदाद्भिन्नमर्थमुपदर्शयतीति स्तोकविषयः, ऋजुसूत्रस्तु कालाऽऽदिभेदतोऽप्यभिन्नमर्थं सूचयतीति बहुविषय इति ॥ ५० ॥

शब्दात्समभिरूढो महार्थ इत्यारेकां पराकुर्वन्ति-

प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विपर्ययाऽनुयायित्वात् प्रभूतविषयः ॥ ५१ ॥

समभिरूढनयो हि पर्यायशब्दानां व्युत्पत्तिभेदेन भिन्नार्थतामर्थयत इति तनुगोचरोऽसौ, शब्दनयस्तु तेषां तद्भेदेनाऽप्येकार्थतां समर्थयत इति समधिकविषयः ॥ ५१ ॥

समभिरूढादेवम्भूतो भूमविषय इत्यप्याकूतं प्रतिक्षिपन्ति-

प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवंभूतात्समभिरूढस्तदन्यथाऽर्थस्थापकत्वान्महागोचरः ॥ ५२ ॥

एवंभूतनयो हि क्रियाभेदेन भिन्नमर्थं प्रतिजानीत इति तुच्छविषयोऽसौ, समभिरूढस्तु तद्भेदेनाऽप्यभिन्नं भावमभिप्रैतीति प्रभूतविषयः ॥ ५२ ॥

अथ यथा नयवाक्यं प्रवर्त्तते तथा प्रकाशयन्ति-

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्त्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुव्रजति ॥ ५३ ॥

नयवाक्यम्-प्रागुक्तविकलाऽऽदेशस्वरूपं; न केवलं सकलाऽऽदेशस्वभावं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दाऽर्थः । स्वविषये स्वाऽभिधेये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां परस्परविभिन्नार्थनययुग्मसमुत्थविधाननिषेधाभ्यां कृत्वा सप्तभङ्गीमनुगच्छति, प्रमाणसप्तभङ्गीवदेतद्विचारः कर्त्तव्यः, नयसप्तभङ्ग्यामपि प्रतिभङ्गं स्यात्कारस्यैवकारस्य च प्रयोगसद्भावात् । तासां विकलाऽऽदेशत्वादेव सकलाऽऽदेशाऽऽत्मिकायाः प्रमाणसप्तभङ्ग्या विशेषव्यवस्थापनात् । विकलाऽऽदेशस्वभावा हि नयसप्तभङ्गी, वस्त्वंशमात्रप्ररूपकत्वात्; सकलाऽऽदेशस्वभावा तु प्रमाणसप्तभङ्गी सम्पूर्णवस्तुस्वरूपप्ररूपकत्वादिति ॥ ५३ ॥ रत्ना० ७ परि० ।

यावदेवं भेदाभेदरूपं वस्तूपदर्श्य भेदस्य पर्यायार्थिकविषयस्य द्वैविध्यमाह--

सो पुण समासओ चिय,वंजणणियओ य अत्थणियओ य ।
अत्थगओ य अभिन्नो, जइगओ वंजणवियप्पो ॥ ३० ॥

स पुनर्विभागः समासतः संक्षेपतो व्यञ्जननियतः शब्दनयनिबन्धनोऽर्थनियतश्चार्थनयनिबन्धनश्च, तत्राऽर्थगतस्तु विभागोऽभिन्नः संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रार्थप्रधाननयाविषयोऽर्थपर्यायोऽभिन्नोऽसद्द्रव्यातीतानागतव्यवच्छिन्नाभिन्नार्थपर्यायरूपत्वात्तद्विषया नया अप्यर्थगतो विभागोऽभिन्न इत्युच्यते ।

भाव्यो व्यञ्जनविकल्प इति विकल्पितः शब्दपर्यायो भिन्नोऽभिन्नश्चानेकाभिधान एकः, एकाभिधानश्चैक इति कृत्वा समानलिङ्गसंख्याकालाऽऽदिरनेकशब्दो घटः कुटः कुम्भ इत्यादिक एकार्थ इति शब्दनयः। समभिरूढस्तु-भिन्नाभिधेयौ घटकुटशब्दौ भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वाद्रूपरसाऽऽदिशब्दवदित्येकार्थ एकशब्द इति मन्यते। एवंभूतस्तु चेष्टासमय एव घटो घटशब्दवाच्यः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्।

तदेवमभिन्नोऽर्थो वाच्योऽस्य त्वभिन्नार्थो घटशब्द इति मन्यते यत्तदन्यतो विलक्षणेन स्वरूपेणैकमनेकं च वस्तूक्तं तदनन्तप्रमाणमित्याख्यातुमाह-

एगदवियम्मि जे अ-त्थपज्जवा वयणपज्जवा वा वि ।
तीयाऽणागयभूया, तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ ३१ ॥

एकस्मिन् जीवाऽऽदौ द्रव्येऽर्थपर्याया अर्थग्राहकाः सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्राख्यास्तद्ग्राह्या वाऽर्थभेदा वचनपर्यायाः शब्दनयाः शब्दसमभिरूढैवंभूतास्तत्परिच्छेद्या वस्त्वंशा वा, ते चातीताऽनागतवर्त्तमानरूपतया सर्वदा विवर्तन्ते, विवृत्ताः,विवर्तिष्यन्त इति, तेषामानन्त्याद्वस्त्वपि तावत्प्रमाणं भवति॥ तथा हि-अनन्तकालेन सर्वेण वस्तुना सर्वावस्थानां परस्परानुगमेनाssदितत्वादवस्थातुश्चावस्थानां कथञ्चिदनन्यत्वाद् घटाऽऽदिवस्तु कुटपुरुषाऽऽदिरूपेणाऽपि कथञ्चिद्भूतमिति सर्वं सर्वाऽऽत्मकं कथञ्चिदिति स्थितम्। दृश्यते चैकं पुद्गलद्रव्यमतीतानागतवर्त्तमानद्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषपरिणामाऽऽत्मकं युगपत्क्रमेणापि तत्तथाभूतमेव, एकान्तासत उत्पादायोगात्, सतश्च निरन्वयविनाशासंभवादिति प्रतिपादितत्वात्।

एवं तावद् बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधस्याऽपि वस्तुनोऽनेकान्ताऽऽत्मकत्वं प्रतिपाद्य तत्प्रतिपादनवाक्यनयानामपि तथाविधमेव स्वरूपं नान्यादृग्भूतमस्तीति प्रतिपादयन्नाह-

पुरिसम्मि पुरिससद्दो, जम्माऽऽई मरणकालपज्जंतो ।
तस्स उ बालाऽऽईया, पज्जवजोया बहुवियप्पा ॥ ३२ ॥

अथवा-अर्थव्यञ्जनपर्यायैः शक्तिव्यक्तिरूपैरनन्तैरनुगतोऽर्थः सविकल्पो, निर्विकल्पकश्च। प्रत्यक्षतोऽवगत इति इदानीं पुरुषदृष्टान्तद्वारेण व्यञ्जनपर्यायं तदविकल्पत्वनिबन्धनमर्थपर्यायं च। तत्र सविकल्पत्वनिमित्तमाह-"पुरिसम्मि" इत्यादिना सूत्रेण, अतीतानागतवर्त्तमानानन्तार्थव्यञ्जनपर्यायाऽऽत्मके पुरुषवस्तुनि पुरुष इति शब्दो यस्याऽसौ पुरुषशब्दस्तद्वाच्योऽर्थो जन्माऽऽदिर्मरणपर्यन्तोऽभिन्न इत्यर्थः, पुरुष इत्यभिन्नाभिधानप्रत्ययव्यवहारप्रवृत्तेः। तस्यैव बालाऽऽदयः पर्याययोगाः परिणतिसंबन्धा बहुविकल्पा अनेकभेदाः प्रतिक्षणसूक्ष्मपरिणामान्तर्भूता भवन्ति, तत्रैव तथा व्यतिरेकज्ञानोत्पत्तेः। एवं च स्यादेक इत्यविकल्पः, स्यादनेक इति सविकल्पः सिद्धः। अन्यथाऽभ्युपगमे तदभाव एवेति विपक्षः "अत्थि त्ति णिव्वियप्पं (३३)" इत्यनन्तरगाथया बाधां दर्शयिष्यति, द्वितीयपातनिकया न। गाथार्थस्तु-पुरुषवस्तुनि पुरुषध्वनिर्व्यञ्जनपर्यायः, शेषो बालाऽऽदिधर्मकलापोऽर्थपर्याय इति गाथासमुदायार्थः। ननु कोऽयं पुरुषशब्दः, कथं वा शब्दोऽर्थस्य पर्यायः,ततोऽत्यन्तभिन्नत्वाद् घटस्येव पटः॥ (३२) सम्म० १ काण्ड।

यच्च कथं शब्दो वस्त्वन्तरत्वात्पुरुषाऽऽदेर्वस्तुनो धर्मः?, येनाऽसौ तस्य व्यञ्जनपर्यायो भवेदित्युक्तम्। तत्र नामनयाऽभिप्रायात् "नामनामवतोरभेदात्" पुरुषशब्द एव पुरुषार्थस्य व्यञ्जनपर्यायः। यद्वा-पुरुष इति शब्दो वाचको यस्याऽर्थगततद्वाच्यधर्मस्याऽसौ पुरुषशब्दः,स चाभिधेयपरिणामरूपो व्यञ्जनपर्यायः कथं नाऽर्थधर्म्मः, स च व्यञ्जनपर्यायः पुरुषोत्पत्तेरारभ्याऽऽपुरुषविनाशाद्भवतीति जन्माऽऽदिर्मरणसमयपर्यन्त उक्तः, तस्य तु बालाऽऽदयः पर्याययोगा बहुविकल्पाः,तस्य पुरुषाभिधेयपरिणामवतो बालकुमाराऽऽदयस्तत्रोपलभ्यमाना अर्थपर्याया भवन्त्यनन्तरूपाः।

एवं च पुरुषो व्यञ्जनपर्यायेणैको, बालाऽऽदिभिस्त्वर्थपर्यायैरनेको, यथा पुरुषस्तथा सर्वं वस्त्वेकमनेकं वा, सर्वस्य तथैवोपलब्धेः, अन्यथाऽभ्युपगमे एकान्तरूपमपि तत्र भवेदिति दर्शयन्नाह-

अत्थि त्ति णिव्वियप्पं, पुरिसं जो भणइ पुरिसकालम्मि ।
सो बालाऽऽइवियप्पं, न लहइ तुल्लं वयावेज्जा ॥ ३३ ॥

अस्तीत्येवं निर्विकल्पं निष्क्रान्ताशेषभेदस्वरूपं पुरुषमेकरूपं पुरुषद्रव्यं यो ब्रवीति पुरुषकाले पुरुषोत्पत्तिक्षण एवाऽसौ बालाऽऽदिभेदं न लभते, बालाऽऽदिभेदरूपतया नाऽसौ स्वयमेव व्यवस्थितिं प्राप्नुयात्, नाऽपि तद्रूपतया अपरमसौ पश्येदेवं वा भेदरूपमेव तत् पुरुषवस्तु प्रसज्येत,तुल्यं वा प्राप्नुयात्,तदप्यभेदरूपं बालाऽऽदितुल्यत्वमेव भावरूपतया प्राप्नुयाद्भेदाप्रतीतावभेदस्याप्यप्रतीतेरभाव इति भावः। यद्वा-अस्तीत्येवं निर्विकल्पं-निश्चिनोति विकल्पो भेदो यस्मिन् पुरुषद्रव्ये तन्निर्विकल्पं भेदरूपं पुरुषं तत्स्वरूपलाभकाले भणत्यसौ बालाऽऽदिविकल्पं न लभत तुल्यमिति द्रव्यतुल्यनामेवाऽसौ प्राप्नुयात्, अत्राऽपि पूर्ववत् तदग्रहे तदग्रहाद्भेदरूपताया अप्यभाव इति भावः। न चैवमेवास्तीति वक्तव्यम्, सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेरिति भेदाऽभेदरूपमेव वस्तु।

अस्यैवोपसंहारार्थमाह-

वंजणपज्जायस्स उ, पुरिसो पुरिसो त्ति णिच्चमवियप्पो ।
बालाऽऽइवियप्पं पुण, पासइ से अत्थपज्जाओ ॥ ३४ ॥

शब्दपर्यायेणाविकल्पः पुरुषः, बालाऽऽदिना त्वर्थपर्यायेण सविकल्पः सिद्ध इति गाथातात्पर्यार्थः। व्यञ्जयति,व्यनक्ति वाऽर्थानिति व्यञ्जनं शब्दो,न पुनः शब्दनयः, तस्य ऋजुसूत्रार्थनयविषयत्वादिति केचित्। तस्य पर्याय आ जन्मनो मरणान्तं यावदभिन्नस्वरूपपुरुषद्रव्यप्रतिपादकत्वं, तद्वशेन तत्प्रतिपाद्यं वस्तुस्वरूपमत्र ग्राह्यम्, उपचारात्। एवं च त्रितयमप्येतत्पुरुषः पुरुष इत्यभेदरूपतया न भिद्यते,व्यञ्जनपर्यायमतेन पुरुषवस्तु सदाऽविकल्पं, भेदं न प्रतिपद्यत इति यावत्। बालाऽऽदिविकल्पं बालाऽऽदिभेदं पुनस्तस्यैव पश्यत्यर्थपर्याय ऋजुसूत्राऽऽद्यर्थनयः। अत्रापि विषयिणा विषय ऋजुसूत्राऽऽद्यर्थनयविषयेऽभिन्ने पुरुषरूपे भेदे स्वरूपो निर्दिष्टः, उपचारात्। एवं चाभिन्नं पुरुषवस्तु भेदं प्रतिपद्यत इति यावत्। सम्म० १ काण्ड। स्था०।

(३५) नयेषु मिथ्यात्वसम्यक्त्वे। अथ नयोत्पादितेष्वपरिमितेषु दर्शनेषु कस्मिन् मिथ्यात्वं, कस्मिंश्च सम्यक्त्वमिति जिज्ञासायामाह-

नास्ति नित्यो न नो कर्ता, न भोक्ताऽऽत्मा न निर्वृतिः ।
तदुपायश्च नेत्याहु-र्मिथ्यात्वस्थानकानि षट् ॥१२३॥

(नास्तीत्यादि) नाऽस्त्यात्मेति चार्वाकमते, न नित्य इति क्षणिकवादिमते, न कर्ता न भोक्तेति साङ्ख्यमते। यद्वा-न कर्तेति साङ्ख्यमते, न जोक्तत्युपचरितभोक्तृत्वस्यानभ्युपगमात् वेदान्तिमते, नास्ति निर्वृत्तिः सर्वदुःखविमोक्षलक्षणेति नास्तिकप्रायाणां सर्वज्ञानभ्युपगन्तॄणां यज्वनां मते, अस्ति मुक्तिः परं तदुपायो नास्ति, सर्वभावानां नियतत्वेनाकस्मादेव भावादिति नियतिवादिमते। इत्येतानि षट् मिथ्यात्वस्थानकान्याहुः पूर्वसूरयः॥ १२३॥

षडेतद्विपरीतानि, सम्यक्त्वस्थानकान्यपि ।
मार्गत्यागप्रवेशाभ्यां, फलतस्तत्त्वमिष्यते ॥ १२४ ॥

(षडेतदिति) एतेभ्यः प्रागुक्तेभ्यो विपरीतानि षट् सम्यक्त्वस्थानकान्यपि भवन्ति-अस्त्यात्मा नित्यः कर्ता साक्षाद्भोक्ता, अस्ति मुक्तिरस्ति च तत्कारणं रत्नत्रयसाम्राज्यमिति । तदिदमुक्तम्-" अत्थि जिओ तह णिच्चो, कत्ता भुत्ता स पुण्णपावाणं । अत्थि धुवं निव्वाणं, तस्सोवाओ अ छट्ठाणा ॥१॥ " इति चार्वाकाऽऽदिपक्षनिरासश्चातिभूयानिति तताऽऽदित एव तदवगमो विधेयः। नया०।

नयाः समुदिताः सम्यक्त्विनः। आद्यस्तुतिकारोऽप्यवोचत-
" नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे,
रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो,
भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥१॥" आ०म०१अ०१खण्ड।

अधुना परदर्शनानां परस्परविरुद्धार्थसमर्थकतया मत्सरित्वं प्रकाशयन् सर्वज्ञोपज्ञसिद्धान्तस्यान्योऽन्यानुगतसर्वनयमयतया मात्सर्याभावमाविर्भावयति-

अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्,
यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।
नयानशेषानविशेषमिच्छ-
न्न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ ३० ॥

प्रकर्षेणोद्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति प्रवादाः। यथा येन प्रकारेण, परे भवच्छासनादन्ये, प्रवादाः दर्शनानि मत्सरिणः-अतिशायने मत्वर्थीयविधानात् सातिशयाऽसहनताशालिनः क्रोधकषायकलुषितान्तःकरणाः सन्तः पक्षपातिनः इतरपक्षतिरस्कारेण स्वकक्षीकृतपक्षव्यवस्थापनप्रवणा वर्तन्ते। कस्मादेतेमत्सरिणः?,इत्याह-अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात्। पच्यते व्यक्तीक्रियते साध्यधर्मवैशिष्ट्येन हेत्वादिभिरिति पक्षः-कक्षीकृतधर्मप्रतिष्ठापनाय साधनोपन्यासः। तस्य प्रतिकूलः पक्षः प्रतिपक्षः। पक्षस्य प्रतिपक्षो विरोधी पक्षः, तस्य भावः पक्षप्रतिपक्षभावः। अन्योऽन्यं परस्परं यः पक्षप्रतिपक्षभावः पक्षप्रतिपक्षत्वमन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावस्तस्मात्। तथाहि-य एव मीमांसकानां नित्यः शब्दः इति पक्षः, स एव सौगतानां प्रतिपक्षः, तन्मते शब्दस्याऽनित्यत्वात्। य एव सौगतानाम्-अनित्यः शब्दः इति पक्षः, स एव मीमांसकानां प्रतिपक्षः। एवं सर्वप्रयोगेषु योज्यम्। तथा तेन प्रकारेण, ते तव, सम्यग् एति गच्छति शब्दोऽर्थमनेनेति " पुन्नाम्नि घः " ॥५।३।१३०॥ समयः सङ्केतः। यद्वा-सम्यगवैपरीत्येनाऽऽयन्ते ज्ञायन्ते जीवाऽजीवाऽऽदयोऽर्था अनेनेति समयः सिद्धान्तः। अथवा-सम्यगयन्ते गच्छन्ति जीवाऽऽदयः पदार्थाः स्वस्मिन् रूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति अस्मिन्निति समय आगमः। न पक्षपाती नैकपक्षानुरागी। पक्षपातित्वस्य हि कारणं मत्सरित्वं परप्रवादेषूक्तम्। त्वत्समयस्य च मत्सरित्वाभावाच्च पक्षपातित्वम्। पक्षपातित्वं हि मत्सरित्वेन व्याप्तम्। व्यापकं च निवर्तमानं व्याप्यमपि निवर्तयतीति मत्सरित्वे निवर्तमाने पक्षपातित्वमपि निवर्तत इति भावः। 'तव समयः' इति वाच्यवाचकभावलक्षणे सम्बन्धे षष्ठी। सूत्रापेक्षया गणधरकर्तृकत्वेऽपि समयस्याऽर्थापेक्षया भगवत्कर्तृकत्वाद्भगवद्वाच्यवाचकभावो न विरुध्यते-"अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।" (११९६) इति (भाष्य) वचनात्। अथवा-उत्पादव्ययध्रौव्यप्रपञ्चः समयः, तेषां च भगवता साक्षान्मातृकापदरूपतयाऽभिधानात्। तथा चार्षम्-" उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा " इत्यदोषः। मत्सरित्वाभावमेव विशेषणद्वारेण समर्थयति-" नयानशेषानविशेषमिच्छन् " इति। अशेषान् समस्तान्नयान् नैगमाऽऽदीन् अविशेषं निर्विशेषं यथा भवत्येवमिच्छन्नाकाङ्क्षन्, सर्वनयाऽऽत्मकत्वादनेकान्तवादस्य। यथा विशकलितानां मुक्तामणीनामेकसूत्रानुस्यूतानां हारव्यपदेशः, एवं पृथगभिसन्धीनां नयानां स्याद्वादलक्षणैकसूत्रप्रोतानां श्रुताऽऽख्यप्रमाणव्यपदेश इति। ननु प्रत्येकं नयानां विरुद्धत्वे कथं समुदितानां निर्विरोधिता?। उच्यते-यथा हि समीचीनं मध्यस्थं न्यायनिर्णेतारमासाद्य परस्परं विवदमाना अपि वादिनो विवादाद्विरमन्ति, एवं नया अन्योऽन्यं वैरायमाणा अपि सार्वज्ञं शासनमुपेत्य स्याच्छब्दप्रयोगोपशमितविप्रतिपत्तयः सन्तः परस्परमत्यन्तसुहृद्भूतयाऽवतिष्ठन्ते। एवं च सर्वनयाऽऽत्मकत्वे भगवत्समयस्य सर्वदर्शनमयत्वमविरुद्धमेव, नयरूपत्वाद्दर्शनानाम्। न च वाच्यम्, तर्हि भगवत्समयस्तेषु कथं नोपलभ्यत इति?, समुद्रस्य सर्वसरिन्मयत्वेऽपि विभक्तासु तास्वनुपलम्भात्।

तथा च वक्तृवचनयोरैक्यमध्यवस्य श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः-
" उदधाविव सर्वसिन्धवः,
समुदीर्णास्त्वयि नाथ! दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते,
प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः " ॥ १ ॥

अन्ये त्वेवं व्याचक्षते-यथा-' अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात्परे प्रवादा मत्सरिणस्तथा तव समयः सर्वनयान् मध्यस्थतयाऽङ्गीकुर्वाणो न मत्सरी। यतः कथंभूतः?, पक्षपाती, पक्षमेकपक्षाभिनिवेशं पातयति तिरस्करोतीति पक्षपाती, रागस्य जीवनाशं नष्टत्वात् '। अत्र च व्याख्याने मत्सरीति विधेयपदं, पूर्वस्मिंश्च पक्षपातीति विशेषः। अत्र च किलशब्दः किलछव्याख्यायामविवेको विवेकिभिः स्वयं कार्य इति काव्यार्थः ॥ ३० ॥ स्या०। अष्ट०। सम्म०। न कारणमेव कार्यं परिणामो वा, परिणामो न कार्यं नापि कारणम्, अपि तु द्रव्यमात्रं तत्त्वमिति, तदेव वेति नियमेनैकान्ताभ्युपगमे सर्वं एवैते मिथ्यावादाः, उक्तन्यायेन नियमेन मिथ्यात्वमित्यभिधानात्। कथञ्चिदभ्युपगमे सम्यग्वादा एवैते। इत्युक्तं भवति-यत उत्पादव्ययध्रौव्याऽऽत्मकत्वे वस्तुनः स्थिते, तद्वस्तु तत्तदपेक्षया कार्यमकार्यं च कारणमकारणं च कारणे कार्यं सदसत्त्व कारणं कार्यकाले विनाशवदविनाशवच्च, तथैव प्रतीतेः, अन्यथा चाप्रतीतेः। अत एकान्तरूपस्य वस्तुनोऽभावात् सर्वेऽपि नयाः

स्वविषयपरिच्छेदसमर्था अपीतरनयविषयव्यवच्छेदेन स्वविषये वर्त्तमाना मिथ्यात्वं प्रतिपद्यन्त इत्युपसंहरन्नाह-

णिययवयणिज्जसच्चा, सव्वनया परवियालणे मोहा ।
ते पुण ण दिट्ठसमओ, विभयइ य सच्चे व अलिए वा ॥२८॥

निजकवचनीये स्वांशे परिच्छेद्ये सत्याः सम्यग्ज्ञानरूपाः सर्व एव नयाः संग्रहाऽऽदयः परविचालने परविषयोत्खनने मोहाः मुह्यन्तीति मोहा मिथ्याप्रत्ययाः, परविषयस्याऽपि सत्त्वेनोन्मूलयितुमशक्यत्वात् तदभावे स्वविषयस्याऽप्यव्यवस्थितेस्ततश्च परविषयस्यासत्त्वे स्वविषयस्याप्यसत्त्वात् । तत्प्रत्ययस्य मिथ्यात्वमेव, तद्व्यतिरिक्तग्राह्यग्राहकप्रमाणस्य वा भावात्तानेव नयान् पुनःशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, नेति प्रतिषेधे, विभजनक्रियाया दृष्टः समयः सिद्धान्तवाच्यमनेकान्ताऽऽत्मकं वस्तुतत्त्वं येन पुंसा स तथा सन् विभजते सत्येतरतया स्वेतरविषयमवधारयमाणोऽपि तथा तत्रैव विभजते । अपि त्वितरनयविषयसव्यपेक्षमेव स्वनयाऽभिप्रेतं विषयं सत्यमेवावधारयतीति यावद् ग्राह्यसत्यासत्ये इत्येवमभिधानम् । तच्च दृष्टाऽनेकान्ततत्त्वस्य विभजनम्, स्यादस्त्येव द्रव्यार्थत इत्येवंरूपः ।

अतो नयप्रमाणाऽऽत्मकैकरूपतान्यवस्थितमात्मस्वरूपमनुगतव्यावृत्ताऽऽत्मकमुत्सर्गापवादरूपग्राह्यग्राहकाऽऽत्मकत्वाद् व्यवतिष्ठत इत्यर्थप्रदर्शनायाऽऽह-

दव्वट्ठियवत्तव्वं, सव्वं सव्वेण णिच्चमवियप्पं ।
आरद्धो अविभागो, पज्जववत्तव्वमग्गो य ॥२९॥

यत् किञ्चिद् द्रव्यार्थिकस्य संग्रहाऽऽदेः सदादिरूपेण व्यवस्थितं वस्तु वक्तव्यं परिच्छेद्यं तत्सर्वं सर्वेण प्रकारेण नित्यं सर्वकालमविकल्पं निर्भेदं,सर्वस्य सद्विशेषाऽऽत्मकत्वात् । तच्च भेदेन संपृक्तमिति दर्शयितुमाह-आरब्धश्चाविभागः, स एवाविभागः सत्तारूपो यो द्रव्याऽऽदिनाऽऽकारेण प्रस्तुतः, चशब्दस्य प्रक्रान्ताविभागाच्च कर्षणार्थत्वात्; पर्यायवक्तव्यमार्गश्च पर्यायार्थिकस्य यद्वक्तव्यं विशेषस्तस्य मार्गः पन्थाः जातः पर्यायार्थिकपरिच्छेद्यस्वभावो विशेषः संपन्न इति । सम्म० १ काण्ड ।

(३६) एवं नयस्य लक्षणसंख्याविषयान् व्यवस्थाप्येदानीं फलं स्फुटयन्ति-

प्रमाणवदस्य फलं व्यवस्थापनीयम् ॥ ५४ ॥

प्रमाणस्येव प्रमाणवत्, अस्येति नयस्य, यथा आनन्तर्येण प्रमाणस्य संपूर्णवस्त्वज्ञाननिवृत्तिः फलमुक्तम्, तथा नयस्याऽपि वस्त्वेकदेशाज्ञाननिवृत्तिः फलमानन्तर्येणावधार्यम् । यथा च पारम्पर्येण प्रमाणस्योपादानहानोपेक्षाबुद्धयः संपूर्णवस्तुविषयाः फलत्वेनाभिहिताः, तथा नयस्याऽपि वस्त्वंशविषयाः,ताः परम्पराफलत्वेनावधारणीयाः । तदेतद् द्विप्रकारमपि नयस्य फलं, नतः कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नं वाऽवगन्तव्यम्, नयफलत्वान्यथाऽनुपपत्तेः । कथञ्चिद्भेदाभेदप्रतिष्ठा च नयफलयोः प्रागुक्तप्रमाणफलयोरिव कुशलैः कर्त्तव्या । रत्ना० ७ परि० ।

नन्वनेन संमोहहेतुना नयविचारेण मूलत एव किं प्रयोजनम् ?, इत्याह-

अत्थं जो न समिक्खइ, निक्खेवनयप्पमाणओ विहिणा ।
तस्साजुत्तं जुत्तं, जुत्तमजुत्तं व पडिहाइ ॥ २२७३ ॥
परसमएगनयमयं, तप्पडिवक्खनयओ निवत्तेज्जा ।
समए व परिग्गहियं, परेण जं दोसबुद्धीए ॥२२७४॥

यो नामस्थापनाऽऽदिद्वारेण, तथा नैगमाऽऽदिनयैः, प्रत्यक्षाऽऽदिभिश्च प्रमाणैरर्थं सूक्ष्मेक्षिकया विचार्य न समीक्षते न परिभावयति, तस्याऽविचारितरमणीयतया अयुक्तं युक्तं प्रतिभाति, युक्तमपि वाऽन्यतयाऽयुक्तं प्रतिभाति; अतः कर्त्तव्यो नयविचारः ॥ २२७३ ॥ किञ्च-बौद्धाऽऽदिपरसमयरूपमनित्यत्वाऽऽदिप्रतिपादकस्य ऋजुसूत्राऽऽदिकनयस्य यन्मतं तन्नयविधिज्ञः साधुः (तप्पडिवक्खनयओ त्ति) तस्यानित्यत्वाऽऽदिप्रतिपादकनयस्य प्रतिपक्षभूतो नित्यत्वाऽऽदिप्रतिपादको यो द्रव्यास्तिकाऽऽदिनयस्तस्मात्तो निवर्त्तयेन्निराकुर्यात् । अथवा-समये स्वसिद्धान्ते, जैनागमेऽपीत्यर्थः । यदज्ञानद्वेषाऽऽदिदोषकलुषितेन परेण दोषबुद्ध्या किमपि जीवाऽऽदिकं वस्तु परिगृहीतं भवति, तदपि नयविधिज्ञो निवर्त्तयेत्-नयाभिज्ञगुणरूपतया तत्स्थापयेदित्यर्थः । अस्मात्कर्त्तव्यो नयविचार इति गाथा (द्वया) ऽर्थः ॥ २२७४ ॥

आह-किं सर्वत्र सर्वदा सर्वोऽपि कर्तव्यो नयविचारः ?, न, इत्याह-

एएहिँ दिट्ठिवाए, परूवणा सुत्त-अत्थकहणा य ।
इह पुण अणब्भुवगमो, अहिगारो तीहिँ ओसन्नं ॥२२७५॥

एभिर्नैगमाऽऽदिभिर्नयैः सप्रभेदैर्दृष्टिवादे सर्ववस्तुप्ररूपणा सूत्राऽर्थकथना च, क्रियते इति शेषः । इह पुनः कालिकश्रुतेऽनभ्युपगमो, नावश्यं नयैर्व्याख्या कार्या । यदि च-श्रोत्रपेक्षया नयविचारः क्रियते, तदा त्रिभिराद्यैरुत्सन्नं प्रायेणात्राधिकार इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २२७५ ॥

किमिति त्रिभिरेवाऽऽद्यनयैरिहाधिकारो, न शेषैः ?,इत्याह-

पायं संववहारो, ववहारं तीहिँ णिहिँ य जं लोए ।
तेण परिकम्मणत्थं, कालियसुत्ते तदहिगारो ॥२२७६॥

सुगमा । नवरं शिष्यमतिपरिकर्मणार्थं तैः स्थूलसंव्यवहारार्थप्रतिपादकैरेव नैगमसंग्रहव्यवहारनयैरिहाधिकार इति गाथार्थः ॥ २२७६ ॥

आह-नन्विह पुनर्नाभ्युपगम इत्यभिधाय पुनस्त्रिनयानुज्ञा किमर्थम् ?, इत्याह-

नत्थि नएहिँ विहूणं, सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि ।
आसज्ज उ सोयारं, नए नयविसारओ बूया ॥२२७७॥

सूत्रमर्थो वा नास्ति जिनमते नयैर्विहीनं किञ्चिदपि, तथाऽप्याचार्यैशिष्याणां मतिमान्द्यापेक्षया सर्वनयविचारनिषेधः कृतः । विमलमतिं श्रोतारं पुनरासाद्य नयविशारदः सूरिः समनुज्ञातमाद्यनयत्रयं शेषान् वा नयान् ब्रूयादिति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २२७७ ॥

अत्र भाष्यम्-

भासिज्ज वित्थरेण वि, नयमयपरिणामणासमत्थम्मि ।
तदसत्ते परिकम्मण-मेगनएणं पि वा कुज्जा ॥२२७८॥

सुगमा । नवरं आद्यनयत्रयेण त्रयेण वा शिष्यमतिपरिक-

मेणां कुर्यात्, तथाविधमतिमान्द्ये तु नैकमपि नयं भाषेत,इत्येतदपि वक्ष्यमिति ॥२२७७॥ तदेवमुक्तं नयद्वारम् । विशे० । अनु० ।

(३९) अथवा ज्ञानक्रियानयद्वये संग्रहाऽऽदीनां समवतारोऽतस्तत्स्वरूपमाह–

नाणाहीणं सव्वं, नाणनओ भणइ किं व किरियाए ।
किरियाए करणनओ, तदुभयगाहो य सम्मत्तं ॥३५९१॥

ज्ञानाधीनमेव सर्वमैहिकाऽऽमुष्मिकं सुखम्,किमत्र क्रियया कर्तव्यम् ? । युक्तिश्चेहानन्तरमेव वक्ष्यति । करणनयस्तु क्रियानयो वक्ष्यमाणयुक्तेरेव सर्वमैहिकाऽऽमुष्मिकं सुखं क्रियाया एवाऽऽधीनमिति भणति । उभयग्राहश्चेह सम्यक्त्वं स्थितपक्ष इति ॥ ३५९१ ॥ विशे० । आव० । सूत्र० । सम्म० । नि० चू० । अनु० । आचा० । आ० म० । विपा० । आ० चू० । (ज्ञानक्रियाशब्दयोर्मतमनयोरवलोकनीयम् । ' अणुओग ' शब्दे प्रथमभागे ३५८ पृष्ठे, ' अज्जरक्खिय ' शब्दे २१४ पृष्ठे च नयानां पार्थक्यमार्यवैरेण कृतम्)

(४०) क्वैतेषां नयानां समवतारः, क्व वाऽनवतारः ?, इति संशयापनोदार्थमाह–

मूढनइयं सुयं का–लियं तु न नया समोयरंति इहं ।
अपुहत्ते समोयारो, नत्थि पुहत्ते समोयारो ॥२२७९॥

मूढा अविभागस्था नया यत्र तन्मूढनयं,तदेव मूढनयिकम्, किं तत् ?, कालिकं श्रुतम्–काले प्रथमचरमपौरुषीलक्षणे कालग्रहणपूर्वकं पठ्यत इति कालिकं, तत्र न नयाः समवतरन्त्यत्र प्रतिपदं न भण्यन्त इत्यर्थः । क्व पुनस्तर्ह्यमीषां समवतार आसीत्, कदा चाऽयमनवतारस्तेषामभूद् ?,इत्याह–(अपुहत्ते इत्यादि) चरणकरणाऽनुयोगधर्मकथाऽनुयोगगणिताऽनुयोगद्रव्याऽनुयोगानामपृथग्भावोऽपृथक्त्वं प्रतिसूत्रमविभागेन वक्ष्यमाणेन विभागाभावेन प्रवर्तनं प्ररूपणमित्यर्थः । तस्मिन्नपृथक्त्वे नयानां विस्तरेणाऽऽसीत् समवतारः । चरणकरणाऽऽद्यनुयोगानां पुनर्वक्ष्यमाणलक्षणे पृथक्त्वे नाऽस्ति समवतारो नयानाम्, भवति वा कश्चित्पुरुषापेक्षोऽसौ । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २२७९ ॥

भाष्यकारव्याख्या–

अविभागत्था मूढा, नय त्ति मूढनइयं सुयं तेण ।
न समोयरंति संता, पइप्पयं जं न भण्णंति ॥२२८०॥
अपुहत्तमेगभावो, सुत्ते सुत्ते सवित्थरं जत्थ ।
भण्णंतणुओगा चर–णधम्मसंखाण दव्वाणं ॥२२८१॥
तत्थेव नयाणं पि हु, पइवत्थुं वित्थरेण सव्वेसिं ।
देसिंति समोयारं, गुरवो भयणा पुहत्तम्मि ॥२२८२॥
एगो च्चिय देसिज्जइ, जत्थऽणुओगो न सेसया तिण्णि ।
संता वि तं पुहत्तं, तत्थ नया पुरिसमासज्ज ॥ २२८३ ॥

सन्तोऽपि नयार्थाः,नवरं प्रथमगाथोत्तरार्द्धे यदुक्तं–सन्तोऽपि प्रतिपदं न भण्यन्ते.अपृथक्त्वं किमुच्यते ?, इत्याह–एकभावः । एकभावमेव विवृणोति–(सुत्ते सुत्ते इत्यादि) यत्र सूत्रे सूत्रेऽनुयोगा व्याख्यानानि भण्यन्ते । केषाम् ? इत्याह–(चरणेत्यादि) संख्यानं गणितमुच्यते । ततश्चेदमत्र हृदयम्–यत्रैकैकस्मिन् सूत्रे चरणकरणाऽनुयोगः, धर्मकथानुयोगः, गणितानुयोगः, द्रव्यानुयोगश्च सविस्तरं व्याख्यायते, न तु वक्ष्यमाणेन पार्थक्येन तदपृथक्त्वमिति शेषः । पृथक्त्वं तु किमुच्यते ?, इत्याह–(एगो च्चिय इत्यादि) इदं च "कालियसुयं च" (२२८४) इत्यादिवक्ष्यमाणगाथायां व्यक्तीभविष्यतीति +॥ २२८० ॥ २२८१ ॥ २२८२ ॥ २२८३ ॥

आह–कियन्तं कालं यावत्पुनरिदं पृथक्त्वमासीत ?, कुतो वा पुरुषविशेषादारभ्य पृथक्त्वमभूदित्याह–

जावंति अज्जवइरा, अपुहत्तं कालियाऽणुओगस्स ।
तेणाऽऽरेण पुहत्तं, कालियसुय दिट्ठिवाए य ॥२२८४॥

यावदार्यवैरा गुरवो महामतयस्तावत्कालिकश्रुताऽनुयोगस्यापृथक्त्वमासीत्,तदा व्याख्यातॄणां श्रोतॄणां च तीक्ष्णप्रज्ञत्वात् । कालिकग्रहणं च प्राधान्यख्यापनार्थम्, अन्यथोत्कालिकेऽपि सर्वत्र प्रतिसूत्रं चत्वारोऽप्यनुयोगास्तदाऽऽसन्नेवेति । तदारतस्त्वार्यरक्षितेभ्यः समारभ्य कालिकश्रुते दृष्टिवादे चाऽनुयोगानां पृथक्त्वमभूत् । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २२८४ ॥

भाष्यम्–

अपुहत्तमासि वइरा, जावं ति पुहत्तमारओऽभिहिए ।
के ते आसि कया वा, पसंगओ तेसिमुप्पत्ती ॥२२८५॥

आर्यवैराद् यावदपृथक्त्वमासीत्, तदारतस्तु पृथक्त्वमुक्तम्; एतस्मिंश्चाऽभिहिते क एते आर्यवैराः, कदा च ते आसन् ? इति विनेयपृच्छायां प्रसङ्गत आर्यवैराणामुत्पत्तिरुच्यत इति गाथार्थः ॥२२८५॥ विशे० । (' अज्जरक्खिय ' शब्दे २१२ पृष्ठे सर्वं वृत्तम्)

नयविभागे विशेषतः कारणमाह–

सविसयमसद्दहंता, नयाण तम्मत्तयं च गिण्हंता ।
मण्णंता य विरोहं, अपरीणामाऽतिपरिणामा ॥२२९२॥
गच्छेज्ज मा हु मिच्छं, परिणामा य सुहुमाइबहुजेए ।
होज्जाऽसत्त घेत्तुं,न कालिए तो नयविभागो ॥२२९३॥

(सविसयेत्यादि) इह शिष्यास्त्रिविधाः । तद्यथा–अपरिणामाः, अतिपरिणामाः, परिणामाश्चेति । तत्राऽविपुलमतयोऽभावितार्था अपरिणतजिनवचनरहस्या अपरिणामाः । अतिव्याप्त्या–ऽपवाददृष्टयोऽतिपरिणामाः । सम्यक्परिणतजिनवचनास्तु मध्यस्थवृत्तयः परिणामाः । तत्र ये अपरिणामास्ते नयानां यः स्वः स्व आत्मीय आत्मीयो विषयो "ज्ञानमेव श्रेयः क्रिया चाऽश्रेयः" इत्यादिकः, तमश्रद्दधानाः । ये त्वतिपरिणामास्तेऽपि यदेकैकेन नयेन क्रियाऽऽदिकं वस्तु प्रोक्तं तदेव तन्मात्रं प्रमाणतया गृह्णन्त एकान्तनित्याऽऽदिकवस्तुप्रतिपादकनयानां च परस्परविरोधं मन्वाना मिथ्यात्वमागच्छेयुः, येऽप्युक्तस्वरूपाः परिणामाः शिष्यास्ते यद्यपि मिथ्यात्वं न गच्छन्ति, तथाऽपि विस्तरेण नैगमाख्यायमानैर्नयैः सूक्ष्मैः सूक्ष्मतराश्च तद्भेदाः,तान् गृहीतुमशक्ता असमर्था भवेयुरिति मत्वा तत आर्यरक्षितसूरिभिः कालिक इत्युपलक्षणत्वात्सर्वस्मिन्नपि श्रुते नयविभागो विस्तरव्याख्यारूपो न कृत इति गाथा(द्वया)र्थः ॥२२९२॥ ॥२२९३॥ विशे० । आ० चू० । आ० क० । आ० म० । अभिप्रायविशेषे, सं० प्र० १ पाहु० । आ० म० । न्याये, औ० । नीतौ च । विशे० ।

+ इयं च गाथा ग्रन्थतोऽवसेया, नेह गृहीता ।

(११) तमेव नयमष्टप्रकारमाह—

आलोयणा य विणए,खेत्त दिसाऽभिग्गहे य काले य।
रिक्खगुणसंपदा वि य,अभिवाहारे य अट्ठमए ।।३३९६।

इहाऽभिमुख्येन गुरोरात्मदोषप्रकाशनमालोचना;विनयश्च बाह्य आसनदानाऽभ्युत्थानाऽऽदिः, अभ्यन्तरस्तु बहुमानाऽऽदिः; तथा क्षेत्रमिक्षुक्षेत्राऽऽदि, तथा दिगभिग्रहश्च वक्ष्यमाणलक्षणः, कालश्च दिवसाऽऽदिः, तथा ऋक्षसंपन्नक्षत्रसंपदिति, गुणाः प्रियधर्मत्वाऽऽदयः, तत्संपत्प्राप्तिरिति; अभिव्याहरणमभिव्याहारः कालिकाऽऽदिश्रुतविषय उद्देशसमुद्देशाऽऽदिरिति। अयं चाऽष्टमो नय इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥३३९६॥ विशे० । आ० म० । औ० । (आलोचनाऽऽदिनयानां विवरणं 'सामाइय' शब्दे दर्शयिष्यामि) द्यूतभेदे, कर्त्तरि अच्। नेतरि,न्याय्ये च । त्रि० । वाच० ।

णयकप्प–नयकल्प–पुं० । नयतत्त्वसमाचारे, पं० चू० ।

………………… , णयकप्पमियाणि वोच्छामि ॥
सव्वेसिं पि णयाणं, आदेसणयंतरं पि सट्ठाणे ।
एस णयंतरकप्पो, पुव्वगए विसालमादीसुं ॥
सव्वे वि णेगमाऽऽदी,आदिस्सति जो णयो स आदेसो ।
णयतो अण्णो वि णओ, णयंतरं होति णायव्वं ॥
सट्ठाणे सट्ठाणे, सव्वे बलिया हवंति सविसए ।
एसो णयकप्पो तू, पुव्वगतम्मी समक्खाओ ॥
उप्पयपुव्व विसालं, तमादि काउं तु सव्वपुव्वेसु ।
जाणतो तु णयविजाणो, पच्छं चोदेति अह सीसो ॥
कम्हा कालियसुत्ते, ण णया तु समोयरंति हु कहं वा ?।
नयविरहे होति साहण–मोक्खस्स तु भण्णति सुणाहि ॥
णयवज्जिओ वि हु अलं,दुक्खक्खयकारओ जतिजणस्स।
चरणकरणाणुओगो, तेण उ पढमं कयं दारं ॥
आयारपकप्पधरो, कप्पव्ववहारधारओ अज्जो ! ।
णयसुत्तवज्जिओ वि हु, गणपरियट्टी अणुण्णातो ॥
पच्छित्तकरण अणुपा–लणा य जणिता उ कप्पववहारे।
एतेण सत्थधारी, गणधारी जो चरणधारी ॥
अज्जो ! त्ती आमंतण–णिद्देसे वा णयस्स सुत्ताइं ।
जाति तु दिट्ठिवाते, पच्छित्तं दिज्जते तह तु ॥
तेहिं विणा विजाणति, आयारपकप्पधारओ जम्हा ।
तम्हा तु अणुण्णातो, गणपरियट्टी तु सो णियमा ॥
करणाऽणुपालयालं, पज्जवकसिणं समासतो णाणं ।
करणाऽणुपालणजुतं, पज्जवकसिणं जते तिविहं ॥
दु–ति–पण–छक्कणयं–तरेसु सोलस हवंति ठाणाइं ।
करणट्ठाणपसत्था, करणट्ठाणा उ अपसत्था ॥
एयाइं ठाणाइं, दोहि वि गाहाहिँ जाइँ भणिताइं ।
तेसिं परूवणमिणमो, समासतो होति बोधव्वा ॥
करणं तु किया होती, पडिलेहणमादि सामयारी तु ।
तं पालेज्ज तु णाणे–ण तं च दुविहं मुणेयव्वं ॥ दारं ।
पज्जवकसिण समासो,पज्जवकसिणं तु चोदसं पुव्वा ।
सामासियं पकप्पो, होति समासो मुणेयव्वो ॥
पज्जवकसिणं तिविहं, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव ।
एमेव समासो वि हु,तेहिँ तु पालिज्जए चरणं ॥
तस्स णएहिं मग्गणा, ते उ समासेण होंति दुविहा तु ।
दव्वट्ठपज्जवट्ठिय–णया उ अविसेसियविसिट्ठा ॥
णएहादिसमुदियं तू, दव्वट्ठी दव्वमिच्छते णियमा ।
तं चेव पज्जवणओ, दव्वाइविसेसियं इच्छे ॥
अहवा वि तिण्हि वि णया, दव्वट्ठिय-पज्जवट्ठिय-गुणट्ठी ।
पज्जायविसेस च्चिय, सुहुमतरागा गुणा होंति ॥
एगगुणकालगाऽऽदिसु, परिसंखगुणट्ठितो तु णायव्वो ।
दव्वा उ गुणा णएहे, गुणा विसेस त्ति एगट्ठा ॥
आदिल्ल तिण्हि तु णया,एक्को वितिओ य होति उज्जुसुओ।
सद्दादि तिण्हि चेक्को, तिण्हि णया होंति एवं वा ॥
अहवा णिग्गमसंगह–ववहारुज्जुसुए होंति चउरेते ।
सद्दणया तिण्हि एक्को, पंच णया होंति एवं तु ॥
अहवा वि होज्ज छक्कं, णेगमो संगाहिगो असंगाही ।
संगहिगो संगहं तू, ववहारपविट्ठऽसंगाही ॥
तम्हा तु संगहणओ, ववहारो चेव होति उज्जुसुओ ।
सद्दो य समभिरूढो, एवंभूतो य छ त्तु णया ॥
एतेहिं पुण सव्वे, वा दुग–तिग–पण-छक्क-मेलिया संता ।
सोलस णयंतराइं,समासओ होंति एयाइं ॥
जदि कुणति दवियकप्पं, एतेहिँ णयंतरेहिँ तु विसुद्धं ।
करणट्ठाणे पसत्था, ते खलु होंती मुणेयव्वा ॥
अकरंते अपसत्था,कप्पे स णयंतरे समक्खाओ ।पं०भा० ।

इयाणि नयंतरकप्पो-गाहा-(सव्वेसिं पि नयाणं) आदेसनओ-जो जाणओ आइस्सइ । नयंतरं नाम-नयाओ नयस्स अंतरं । एस णयंतरकप्पो पुव्वगए भणिओ विसालाइसु, उप्पायपुव्वमेव विसालं । तत्थ किर सव्वाणि वि आकरिसिज्जंति । आह–कालियसुत्ते कम्हा नया न समोयरंति ?। उच्यते-(नयवज्जिओ वि हु अलं गाहा) सिद्धम, नया इति कोऽर्थः ?, नयन्तीति नयाः । अथवा–नयः नीतिमार्गः, पन्थाः, दृष्टिग्राहक इत्यर्थः । ते च नैगमाऽऽद्याः जीवाऽऽदयः पदार्थाः विविधैः प्रकारैः नयन्ति उपपादयंति उपदर्शयन्तीत्यर्थः । तेषां च दृष्टिवादे समवतारः । आह–अस्मिन् चरणकरणाऽनुयोगनयवादेऽप्यनभिज्ञानां कथं चरणविशुद्धिर्भवति ?। उच्यते–श्रूयताम् । (आयारपकप्पधरो गाहा) आचरणमाचारः, क्रिया इत्यर्थः । स चाऽष्टप्रकारः–पञ्चसमितयः, गुप्तित्रयम् । एष चारित्राचारः । आचारप्रकल्पधरो नाम–निशीथेषु सूत्रार्थधर इत्यर्थः । किं च–कल्पव्यवहारधरश्च । अज्जो ! त्ति आमन्त्रणे निर्देशो वा (नयसुत्तवज्जिओ त्ति) नयन्तीति नयाः,हुः पादपूरणे । दुक्खक्खयकारओ जम्हा एवं गणपरियट्टी अणुण्णाओ । आह–कदमनुज्ञातः?। गाहा-(पच्छित्तकरण) जम्हा पायच्छित्तकरणं अणुपालयंति,तम्हा गणो

अणुपालिज्जइ, तं पकप्पयकप्पववहारेसु भणियं, एण सत्थधारी जो सो गणपरियट्टी अणुण्णाओ वज्जुत्तो जइ भवइ । गाहा-(करणाणुपालणाणं) तं दुविहं-पज्जवकसिणं, समासतश्च । पज्जवकसिणं णाम-चोद्दसपुव्वाणि समासओ आयारपकप्पो, समासः संक्षेप इत्यर्थः । यथा समुद्रभूतस्तडागः, चन्द्रमुखी देवदत्ता, सिंहो माणवकः; एकदेशेनाप्यौपम्यं क्रियते । चतुर्दशपूर्वधरः, सर्वपर्यायेषु सूत्रार्थेषु ये चरणकरणाऽऽदयः पदार्थाः, तान् प्रकाशयितुं समर्थः । आचारकल्पधरस्त्वेकदेशतः । दोएह वि चरणकरणं अणुपालेउं समत्था । तेनैकदेशाऽभिहितत्वं प्रतीत्य यथा समासतोऽप्यर्थधराः कल्पव्यवहाराऽऽदयो गणपरिपालनसमर्था भवन्ति । (पज्जवकसिणं तिविहं, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव) गाहा-(तिग-पणग) तिगं ति दव्वट्ठियपज्जवट्ठियगुणाट्ठिया । अहवा-नेगमसंगहववहारा एगं चेव, उज्जुसुओ बिइओ, तइओ सद्दो । अहवा पंच-नेगमसंगहववहारा, उज्जुसुओ, सद्दो (छक्को त्ति) नेगमो दुविहो-संगहिओ, असंगहिओ य । संगहिओ संगहं पविट्ठो, असंगहिओ ववहारे । एए छ नयंति । एएसु नयंतरेसु सोलस ठाणाइं भवंति । कयराइं ताइं सोलस ? । उच्यते-छव्विहकप्पे सोलस सोलसविहो अजीवदवियकप्पो । आहाराइ जीवकप्पं न सोहणे त्ति । एयाइं जइ करेंतो करणठाणाइं पसत्थाइं, अकरेंतस्स ताणि चेव अप्पसत्थाणि । एस नयकप्पो । पं० चू० ।

णयगइ-नयगति-स्त्री० । नयानां सर्वेषां परस्परसापेक्षाणां प्रमाणाबाधितवस्तुव्यवस्थापने,नैगमाऽऽदीनां नयानां स्वस्वमतपोषणे च । प्रज्ञा० १६ पद ।

णयचंदसूरि-नयचन्द्रसूरि-पुं० । हम्मीरमहाकाव्यरम्भामञ्जर्याद्यनेकग्रन्थकर्तर्याचार्ये, जै० इ० ।

णयचक्क-नयचक्र-न० । दिगम्बरदेवसेनकृते नयप्रतिपादके शास्त्रे, द्रव्या० ८ अध्या० । पूर्वविद्भिः सकलनयसंग्राहीणि सप्तनयशतान्युक्तानि, यत्प्रतिपादकं सप्तशतारं नयचक्राध्ययनमासीत् । उक्तं च-"एक्केको य सयविहो,सत्त नयसया हवंति एमेव । " (२२६४) इत्यादि । सप्तानां च नयशतानां संग्राहकाः पुनरपि विध्यादयो द्वादश नयाः, यत्प्ररूपकमिदानीमपि द्वादशारं नयचक्रमस्ति । अनु० ।

णयण-नयन-न० । नी-ल्युट् । प्रापणे,आ०म० १ अ० १ खण्ड । उत्त० । करणे ल्युट् । नीत्वा निवेशने,पं० सं० ५ द्वार । विशे० । लोचने,प्रश्न० १ आश्र० द्वार । को० । "वाऽक्ष्यर्थवचनाऽऽद्याः" ॥ ८ । १ । ३३ ॥ इति नयनशब्दस्य प्राकृते स्त्रीत्वमपि-" नयना नयणाइं " प्रा० १ पाद ।

णयणकीया-नयनकीका-स्त्री० । नेत्रमध्यतारायाम्, रा० । ज्ञा० । औ० ।

णयणभूसणकर-नयनभूषणकर-त्रि० । ६ त० । नेत्राऽऽनन्दकरे, नयनयोर्हि आनन्द एव भूषणम । कल्प० ३ क्षण ।

णयणमाला-नयनमाला-स्त्री० । श्रेणीभूतजननेत्रपङ्क्तौ, भ० ६ श० ३३ उ० ।

णयणविस-नयनविष-न० । दृष्टिविषे, रोषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । भ० ।

णयणामय-नयनामय-पुं० । कामलाऽऽदौ नेत्ररोगे,भ० ६ उ० ।

णयणिउण-नयनिपुण-त्रि० । नैगमाऽऽदिषु नयेषु निपुणे, सम्म० । नयनिपुणतया नयवक्तव्यताऽवसरे सम्यक्सप्रपञ्चवैविक्त्येन नयानभिधत्ते । सम्म० १ काण्ड ।

णयण्णु-नयज्ञ-त्रि० । सर्वनयरहस्यविदि, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

णयप्पमाण-नयप्रमाण-न० । नया नैगमाऽऽदयः सप्त, द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकभेदात् । ज्ञाननयक्रियानयभेदाद् वा द्वौ तौ एतावेव वा प्रमाणं वस्तुतत्त्वपरिच्छेदनं नयप्रमाणम् । आपेक्षिकप्रमाकरणे, स० ५ अङ्क । (प्रस्थाऽऽदिदृष्टान्तैर्नयप्रमाणं 'णय' शब्दे १८७६ पृष्ठे उक्तम)

णयप्पहाण-नयप्रधान-त्रि० । नैगमाऽऽदिभिः सप्तभिः प्रत्येकं शतविधैर्नयैः शेषजनप्रधाने, यस्य वा नयाः प्रधानास्तस्मिन्, रा० ।

णयररक्खणपुर-नगररक्षणपुर-न० । नासिक्यपुरस्थानभेदे, ती० ४७ कल्प ।

णयरवलीवद्द-नगरवलीवर्द-पुं० । वर्द्धितगवे, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

णयरी-नगरी-स्त्री० । राजधानीकल्पे नगरे,यथा-आमलकल्पा । (रा०) चम्पा । औ० । सू० प्र० ।

णयविजय-नयविजय-पुं० । तपागच्छे श्रीविजयदेवसूरिवराणां शिष्ये यशोविजयोपाध्यायगुरौ, श्रीहीरविजयसूरिशिष्यकल्याणविजयशिष्यलाभविजयशिष्यजीतविजयसतीर्थ्ये स्वनामख्याते आचार्ये, द्वा० ।

" प्रकाशार्थं पृथ्व्यास्तरणिरुदयाद्रेरिह यथा,
यथा वा पाथोभृत्सकलजगदर्थं जलनिधेः ।
तथा वाराणस्याः सविधमनजन् ये मम कृते,
सतीर्थ्यास्ते तेषां नयविजयविज्ञा विजयिनः " ॥ ५ ॥ (इति यशोविजयोक्तेः) द्वा० ३२ द्वा० । प्रति० । अष्ट० । नय० ।

णयविहि-नयविधि-पुं० । नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतेषु नयभेदेषु, उत्त० २८ अ० ।

णयविहिण्णु-नयविधिज्ञ-त्रि० । नैगमाऽऽदीनां नयानां नीतीनां वा प्रकारज्ञे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णयसार-नयसार-पुं० । प्रथमभवे पश्चिममहाविदेहे स्वनामख्याते वीरस्वामिजीवे, कल्प० २ क्षण । आ० क० ।

णयाभास-नयाऽऽभास-पुं० । नयान्तरानिरपेक्षे नये दुर्नये,आ० म० १ अ० २ खण्ड । स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापिनि नये, स्या० ।

नयाऽऽभासं दर्शयन्ति—

स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाऽऽभासः ॥ २ ॥

पुनःशब्दो नयाद् व्यतिरेकं द्योतयति । नयाऽऽभासो नयप्रतिबिम्बाऽऽत्मा दुर्नय इत्यर्थः । यथा तीर्थिकानां नित्याऽनित्याऽऽद्येकान्तप्रदर्शकं सकलं वाक्यमिति ॥ २ ॥ (रत्ना०)

अथ नैगमाऽऽभासमाहुः-

धर्मद्वयाऽऽदीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाऽऽभासः ॥ ११ ॥

आदिशब्दाद् धर्मिद्वयधर्मधर्मिद्वययोः परिग्रहः । ऐकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिरैकान्तिकऽभिप्रायो नैगमाऽऽभासो नैगमदुर्नय इत्यर्थः ॥ ११ ॥

अत्रोदाहरन्ति-

यथाऽऽत्मनि सत्त्वचैतन्ये परस्परमत्यन्तं पृथग्भूते इत्यादिः ॥ १२ ॥

आदिशब्दात्सत्त्वाख्यपर्यायवद् द्रव्याऽऽख्ययोर्धर्मिणोः सुखजीवलक्षणयोर्धर्मधर्मिणोश्च सर्वथा पार्थक्येन कथनं तदाभासत्वेन द्रष्टव्यम् । नैयायिकवैशेषिकदर्शनं चैतदाभासतया ज्ञेयम् ॥ १२ ॥ (रत्ना०)

संग्रहाऽऽभासमाहुः-

सत्ताऽद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणस्तदाभासः ॥ १७ ॥

अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानो हि परामर्शविशेषः संग्रहाख्यां भजते, न चाऽयं तथेति तदाभासः ॥ १७ ॥

उदाहरन्ति-

यथा सत्तैव तत्त्वं ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात् ॥ १८ ॥

अद्वैतवादिदर्शनान्यखिलानि साङ्ख्यदर्शनं चैतदाभासत्वेन प्रत्येयम् । अद्वैतवादस्य सर्वस्याऽपि दृष्टेष्टाभ्यां विरुध्यमानत्वात् ॥ १८ ॥ (रत्ना०)

व्यवहाराऽऽभासं वर्णयन्ति-

यः पुनरपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः ॥ २५ ॥

यः पुनः परामर्शविशेषः कल्पनाऽऽरोपितद्रव्यपर्यायप्रविवेकं मन्यते, सोऽत्र व्यवहारदुर्नयः प्रत्येयः ॥ २५ ॥

उदाहरन्ति-

यथा चार्वाकदर्शनम् ॥ २६ ॥

चार्वाको हि प्रमाणप्रतिपन्नं जीवद्रव्यपर्यायाऽऽदिप्रविभागं कल्पनाऽऽरोपितत्वेनापह्नुते, अविचारितरमणीयं भूतचतुष्टयप्रविभागमात्रं तु स्थूललोकव्यवहारानुयायितया समर्थयत इत्यस्य दर्शनं व्यवहारनयाऽऽभासतयोपदर्शितम् ॥ २६ ॥ (रत्ना०)

ऋजुसूत्राऽऽभासं ब्रुवते-

सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः ॥ ३० ॥

सर्वथा गुणप्रधानभावाभावप्रकारेण तदाभास ऋजुसूत्राऽऽभासः ॥ ३० ॥

उदाहरन्ति-

यथा तथागतमतम् ॥ ३१ ॥

तथागतो हि प्रतिक्षणविनश्वरान् पर्यायानेव पारमार्थिकतया समर्थयते, तदाधारभूतं तु प्रत्यभिज्ञाऽऽदिप्रमाणप्रसिद्धं त्रिकालस्थायि द्रव्यं तिरस्कुरुत इत्येतन्मतं तदाभासतयोदाहृतम् ॥ ३१ ॥ (रत्ना०)

शब्दाऽऽभासं ब्रुवते-

तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः ॥ ३४ ॥

तद्भेदेन कालाऽऽदिभेदेन तस्य ध्वनेस्तमेवार्थभेदमेव, तदाभासः शब्दाभासः ॥ ३४ ॥

उदाहरन्ति-

यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेवाऽर्थमभिदधति, भिन्नकालशब्दत्वात्, तादृक्सिद्धान्यशब्दवदित्यादिः ॥ ३५ ॥

अनेन हि तथाविधपरामर्शोत्थेन वचनेन कालाऽऽदिभेदाद्भिन्नस्यैवाऽर्थस्याभिधायकत्वं शब्दानां व्यञ्जितम् । एतच्च प्रमाणविरुद्धमिति तद्वचनस्य शब्दनयाऽऽभासत्वम् । आदिशब्देन करोति क्रियते कट इत्यादिशब्दनयाभासोदाहरणं सूचितम् ॥ ३५ ॥ (रत्ना०)

समभिरूढनयाऽऽभासमाभाषन्ते-

पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः ॥ ३८ ॥

तदाभासः समभिरूढाऽऽभासः ॥ ३८ ॥

उदाहरन्ति-

यथेन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाऽभिधेया एव, भिन्नशब्दत्वात्, करिकुरङ्गतुरङ्गशब्दवदित्यादिः ॥ ३९ ॥ [रत्ना०]

एवंभूताऽऽभासमाचक्षते-

क्रियाऽनाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभासः ॥ ४२ ॥

क्रियाऽऽविष्टं वस्तु ध्वनीनामभिधेयतया प्रतिजानानोऽपि यः परामर्शस्तदनाविष्टं तत्तेषां तथा प्रतिक्षिपति न तूपेक्षते, स एवंभूतनयाऽऽभासः, प्रतीतिविघातात् ॥ ४२ ॥

उदाहरन्ति-

यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाऽऽख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्, पटवदित्यादिः ॥ ४३ ॥

अनेन हि वचसा क्रियाऽनाविष्टस्य घटाऽऽदेर्वस्तुनो घटाऽऽदिशब्दवाच्यतानिषेधः क्रियते, स च प्रमाणबाधित इति तद्वचनमेवंभूतनयाऽऽभासोदाहरणतयोक्तम् ॥४३॥ रत्ना० ७ परि० ॥

णर-नर-पुं० । नृणन्ति विवेकमासाद्य नयधर्मपरा भवन्तीति नराः । कर्म० ४ कर्म० । "चाऽऽदी" । ८ । १ । २२१ । असंयुक्तस्याऽऽदौ वर्तमानस्य नस्य णः । इति नस्य णः । प्रा०१ पाद । मनुष्ये, आ०म०१अ०२ खण्ड । आचा० । औ० । प्रश्न० । कर्म० । रा० । नराश्चतुर्विधाः-सम्मूर्छिमाः, कर्मभूमिकाः, अकर्मभूमिकाः, अन्तर्भूमिकाः । आ० म०१ अ०१ खण्ड । सामान्यमनुष्ये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । रा० । प्राकृतपुरुषे, शास्त्रावबोधविकले, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । पुरुषे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । पुंसि, ध० १ अधि० । औ० ।

णरउसभ-नरवृषभ-पुं० । अङ्गीकृतकार्यभरनिर्वाहकत्वाद् वृषभोपमिते नरे, औ० ।

णरकंतप्पवाय-नरकान्तप्रपात-पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरतो रम्यकवर्षे नरकान्तानद्या अग्रमप्रपातह्रदे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णरकंता–नरकान्ता–स्त्री० । रम्यकवर्षे पूर्वाऽर्णवगामिन्यां महानद्याम्, जं० ४ वक्ष० । नरकान्ता महापुण्डरीकह्रदाद्दक्षिणतोरणेन विनिर्गत्य रम्यकवर्षे भजतीति हरिकान्तातुल्यवक्तव्या पूर्वसमुद्रमधिगता । स्था० २ ठा० ३ उ० । रा० । जं० । स० ।

णरकंताकूम–नरकान्ताकूट–न० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरेण रुक्मिवर्षधरपर्वतस्य चतुर्थे कूटे, स्था० ८ ठा० ।

णरकिंदग–नरकेन्द्रक–पुं० । सीमान्तकाऽऽदिषु नरकवरेषु, स्था० ६ ठा० ।

णरग–नरक–पुं० । नरान् कायन्ति शब्दयन्ति योग्यतया अनतिक्रमेणाऽऽकारयन्ति जन्तून् स्वस्वस्थाने इति नरकाः । नं० । आ० म० । 'कै' 'गै' 'रै' शब्दे इति धातोः नरान् शब्दयन्तीत्यर्थः । आव० १ अ० । पापकर्मिणां यातनास्थानेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । निरये, स्था० ४ ठा० १ उ० । रत्नप्रभाऽऽदिषु नारकोत्पत्तिस्थानेषु, उत्त० ३ अ० ।

(१) नरकपदनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह–

णिरए छक्कं दव्वं, णिरयाउ इहेव जे जवे असुभा ।
खेत्तं णिरओगासो, कालो णिरएसु चेव ठिई ॥ ६४ ॥
भावे उ णिरयजीवा, कम्मुदओ चेव णिरयपाओग्गो ।
सोऊण णिरयदुक्खं, तवचरणे होइ जइयव्वं ॥ ६५ ॥

" णिरए छक्कं " इत्यादि गाथाद्वयम् । तत्र नरकशब्दस्य नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे । द्रव्यनरक आगमतः, नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञाता, तत्र चाऽनुपयुक्तः । नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तः । इहैव मनुष्यभवे, तिर्यग्भवे, केचनाऽशुभकारित्वादशुभाः सत्त्वाः कालकसौकरिकाऽऽदय इति । यदि वा–यानि कानिचिदशुभानि स्थानानि चारकाऽऽदीनि, याश्च नरकप्रतिरूपा वेदनाः, ताः सर्वा द्रव्यनरका इत्यभिधीयन्ते । यदि वा–कर्मद्रव्यनोकर्मद्रव्यभेदाद् द्रव्यनरको द्वेधा–तत्र नरकवेद्यानि यानि बद्धानि कर्माणि तानि चैकजाविकस्य बद्धायुष्कस्याऽभिमुखनामगोत्रस्य चाऽऽश्रित्य द्रव्यनरको जवति । नोकर्मद्रव्यनरकास्त्विहैव येऽशुभा रूपरसगन्धवर्णशब्दस्पर्शा इति ॥ क्षेत्रनरकस्तु नरकावकाशकालमहाकालरौरवमहारौरवप्रतिष्ठानाऽभिधानाऽऽदिनरकाणां चतुरशीतिलक्षसंख्यानां विशिष्टो जूभागः ॥ कालनरकस्तु यत्र यावती स्थितिरिति ॥ भावनरकस्तु ये जीवा नरकाऽऽयुष्कमनुभवन्ति । तथा नरकप्रायोग्यः कर्मोदय इति । एतदुक्तं भवति–नरकान्तर्वर्तिनो जीवास्तथा नरकाऽऽयुष्कोदयाऽऽपादिताऽसातावेदनीयाऽऽदिकर्मोदयाश्चैतद् द्वितयमपि भावनरक इत्यभिधीयते । तदेवं श्रुत्वाऽवगम्य तीव्रमसह्यं नरकदुःखं क्रकचपाटनकुम्भीपाकाऽऽदिकं परमाऽधार्मिकाऽऽपादितं परस्परोदीरणाकृतं स्वाभाविकं च, तपश्चरणे संयमाऽनुष्ठाने नरकपातपरिपन्थिनि स्वर्गापवर्गगमनैकहेतौ याऽऽत्माहितमिच्छता प्रवर्तितव्यम्–परित्यक्तान्यकर्तव्येन यत्नो विधेय इति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । नरकविभक्तिः समाप्ता ।

(२) नरकपृथिव्यः सप्त–

रयणप्पजा, सक्करप्पभा, वालुकप्पभा, पंकप्पजा, धूमप्पजा, तमप्पभा, तमतमप्पजा । प्रज्ञा० २ पाद ।

(३) साम्प्रतं पृथ्वीनामगोत्रं वक्तव्यम्–

पढमा णं जंते ! पुढवी किंनामा ?, किंगोत्ता पण्णत्ता ? । गोयमा ! घम्मा नामेणं, रयणप्पभा गोत्तेणं । दोच्चा णं जंते ! पुढवी किंनामा किंगोत्ता पण्णत्ता ? । गोयमा ! वंसा नामेणं, सक्करप्पभा गोत्तेणं । एवं एतेणं अजिलावेणं सव्वासिं पुच्छा । नामाणि इमाणि–सेला तच्चा, अंजणा चउत्था, रिट्ठा पंचमा, मघा छट्ठा, माघवती सत्तमा । वालुयप्पभा० जाव तमतमप्पभा गोत्तेणं पण्णत्ता ।

तत्र नामगोत्रयोरयं विशेषः–अनादिकालप्रसिद्धमन्वर्थरहितं नाम, सान्वर्थं नाम गोत्रमिति । तत्र नामगोत्रप्रतिपादनार्थमाह–(इमा णं जंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी किंनामा किमनादिकालप्रसिद्धान्वर्थरहितनामा ?, किंगोत्रा किमन्वर्थयुक्तनामगोत्रा ? । भगवानाह–गौतम ! नाम्ना घर्मेति प्रज्ञप्ता, गोत्रेण रत्नप्रभा । तथा चात्रान्वर्थमुपदर्शयन्ति पूर्वसूरयः–रत्नानां प्रभा बाहुल्यं यत्र सा रत्नप्रजा, रत्नबहुलेति भावः । एवं शेषसूत्राण्यपि प्रतिपृथिवीप्रश्ननिर्वचनरूपाणि जावनीयानि । नवरं शर्कराप्रभाऽऽदीनामयमन्वर्थभावना–शर्कराणां प्रभा बाहुल्यं यत्र सा शर्कराप्रजा । एवं वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा इत्यपि भावनीयम् । तथा धूमस्येव प्रभा यस्यां सा धूमप्रभा । तथा तमसः प्रभा बाहुल्यं यत्र सा तमःप्रभा, तमस्तमसः प्रकृष्टतमसः प्रजा बाहुल्यं यत्र सा तमस्तमःप्रजा ।

अत्र कचुचित् पुस्तकेषु संग्रहणी गाथे–
" घम्मा वंसा सेला, अंजण रिट्ठा मघा य माघवती ।
सत्तएहं पुढवीणं, एए नामा उ नायव्वा ॥ १ ॥
रयणा सक्कर-वालुय-पंका धूमा तमा तमतमा य ।
सत्तएहं पुढवीणं, एए गोत्ता मुणेयव्वा " ॥ २ ॥

(४) अधुना प्रतिपृथिवीबाहल्यमभिधित्सुराह–

इमा णं जंते ! रयणप्पजा पुढवी केवतिया बाहल्लेणं पण्णत्ता ? । गोयमा ! इमा णं रयणप्पजा पुढवी असीउत्तरं जोयणसयसहस्सं बाहल्लेणं पण्णत्ता ।

एवं एतेणं अभिलावेणं इमा गाथा अणुगंतव्वा–
" आसीतं वत्तीसं, अट्ठावीसं तहेव वीसं च ।
अट्ठारस सोलसगं, अट्ठुत्तरमेव हेट्ठिमया " ॥ १ ॥

(इमा णं जंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी कियद् बाहल्येन प्रज्ञप्ता ? । अत्र गोत्रेण प्रश्नो नाम्नो गोत्रं प्रधानम्, न च प्रश्नोपपन्नमिति न्यायप्रदर्शनार्थः । उक्तं च–" न हीना वाग् सदा सतामिति । " भगवानाह–अशीत्युत्तरम्–अशीतियोजनसहस्राभ्यधिकं योजनशतसहस्रं बाहल्येन प्रज्ञप्ता । एवं सर्वाण्यपि सूत्राणि जावनीयानि ।

अत्र संग्रहणी गाथा–
" आसीयं बत्तीसं, अट्ठावीसं तहेव वीसं च ।
अट्ठारस सोलसगं, अट्ठुत्तरमेव हेट्ठिमया ॥ १ ॥ "

(५) काण्डानि–

इमा णं जंते ! रयणप्पजा पुढवी कतिविधा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिविधा पण्णत्ता । तं जहा–खरकंडे, पंकबहुले कंडे, आवबहुले कंडे ।

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी कतिविधा कतिप्रकारा-कतिविभागा प्रज्ञप्ता ? । भगवानाह-गौतम ! त्रिधा त्रिविभागा प्रज्ञप्ता । तद्यथा-(खरकंडमित्यादि) काण्डं नाम-विशिष्टो भूभागः, खरं कठिनं पङ्कबहुलमब्बहुलं चान्वर्थतः प्रतिपत्तव्यम् । क्रमश्चैतेषामेवमेव । तद्यथा-प्रथमं खरकाण्डं, तदनन्तरं पङ्कबहुलं, ततोऽब्बहुलमिति ।

(६) खरकाण्डवक्तव्यतामाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरकंडे कतिविधे पण्णत्ते ?। गोयमा ! सोलसविधे पण्णत्ते । तं जहा-रयणे, वइरे, वेरुलिए, लोहितक्खे, मसारगल्ले, हंसगब्भे, पुलए, सोइंधिए, जोतिरसे, अंजणे, अंजणपुलए, रयते, जातरूवे, अंके, फलिहे, रिट्ठे कंडे ॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां खरकाण्डं कतिविधं प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह-गौतम ! षोडशविधं षोडशविभागं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा-(रयणे इति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् रत्नकाण्डम्-तच्च प्रथमम्, द्वितीयं वज्रकाण्डम्, तृतीयम्-वैडूर्यकाण्डम्, चतुर्थम्-लोहिताक्षकाण्डम् । पञ्चमम्-मसारगल्लकाण्डम्, षष्ठम्-हंसगर्भकाण्डम्, सप्तमम्-पुलककाण्डम्, अष्टमम्-सौगन्धिककाण्डम्, नवमम्-ज्योतीरसकाण्डम्, दशमम्-अञ्जनकाण्डम्, एकादशमम्-अञ्जनपुलाककाण्डम्, द्वादशम्-रजतकाण्डम्, त्रयोदशम्-जातरूपकाण्डम्, चतुर्दशम्-अङ्ककाण्डम्, पञ्चदशम्-स्फटिककाण्डम्, षोडशम्-रिष्टकाण्डम् ॥ तत्र रत्नानि कर्केतनाऽऽदीनि तत्प्रधानं काण्डं रत्नकाण्डम्, वज्ररत्नप्रधानं काण्डं वज्रकाण्डम् । एवं शेषाण्यप्येकैकं च काण्डं योजनसहस्रबाहुल्यम् ।

(७) रत्नकाण्डवक्तव्यतामाह--

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणकंडे कतिविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते । एवं० जाव रिट्ठे ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पंकबहुले कंडे कतिविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए आवबहुले कंडे कतिविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवी कतिविधा पण्णत्ता ?। गोयमा ! एगागारा पण्णत्ता । एवं० जाव अहे सत्तमाए ।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां रत्नकाण्डं कतिविधं कतिप्रकारं, कतिविभागमिति भावः । प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह-एकाकारं प्रज्ञप्तम् । एवं शेषकाण्डविषयाण्यपि प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि क्रमेण भणनीयानि । एवं पङ्कबहुलाऽब्बहुलविषयाण्यपि । जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० ।

(८) संप्रति प्रतिपृथिवीनरकाऽऽवाससंख्याप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए केवतिया णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तीसं निरयावाससतसहस्सा पण्णत्ता । एवं एतेणं अभिलावेणं सव्वासिं पुच्छा ।

इमा गाथा अणुगंतव्वा-

"तीसा य पण्णवीसा, पण्णरस दसेव तिण्णि य हवंति ।
पंचूण सतसहस्सं, पंचेव अणुत्तरा णरगा ॥ १ ॥"

०जाव अहे सत्तमाए पंच अणुत्तरा महतिमहालया महाणरगा पण्णत्ता । तं जहा-काले, महाकाले, रोरुए, महारोरुए, अपतिट्ठाणे ॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) सुगमम् । नवरमियमत्र सङ्ग्रहणी गाथा-" तीसा य पण्णवीसा, पण्णरस दसेव सयसहस्साइं । तिण्णेगं पंचूणं, पंचेव अणुत्तरा णिरया ॥ १ ॥" अधः सप्तम्यां च पृथिव्यां कालाऽऽदयो महानरका अप्रतिष्ठानाऽभिधानकस्य नरकस्य पूर्वाऽऽदिक्रमेण । उक्तं च-" पुव्वेण होइ कालो, अवराइणा अप्पइट्ठ महकालो । रोरु दाहिणपासे, उत्तरपासे महारोरू ॥ १ ॥ " रत्नप्रभाऽऽदिषु च तमःप्रभापर्यन्तासु षट्सु पृथिवीषु प्रत्येकं नरकाऽऽवासा द्विविधाः । तद्यथा-आवलिकाप्रविष्टाः, प्रकीर्णकरूपाश्च ।

तत्र रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रयोदश प्रस्तटाः । प्रस्तटा नाम-वेश्मभूमिकाकल्पाः । तत्र प्रथमे प्रस्तटे पूर्वाऽऽदिषु दिक्षु प्रत्येकमेकोनपञ्चाशत् नरकाऽऽवासाः, चतसृषु च विदिक्षु प्रत्येकमष्टचत्वारिंशत्, मध्ये च सीमान्तकाऽऽख्यो नरकेन्द्रकः, सर्वसंख्यया प्रथमप्रस्तटे नरकाऽऽवासानामावलिकाप्रविष्टानामेकोननवत्यधिकानि त्रीणि शतानि ३८९, शेषेषु च द्वादशसु प्रस्तटेषु प्रत्येकं यथोत्तरं दिक्षु विदिक्षु च एकैकनरकाऽऽवासहानिभावात् अष्टकाष्टकहीना नरकाऽऽवासा द्रष्टव्याः । ततः सर्वसंख्यया रत्नप्रभायां पृथिव्यामावलिकानरकाऽऽवासाश्चतुश्चत्वारिंशत् शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि ४४३३ । शेषास्तु एकोनत्रिंशल्लक्षाणि पञ्चनवतिसहस्राणि पञ्चशतानि सप्तषष्ट्यधिकानि २९९५५६७ प्रकीर्णकाः । तथा चोक्तम्-" सत्तट्ठी पंच सया, पणनउइ सहस्स लक्ख गुणतीसं । रयणाए सेढिगया, चोयालसया उ तेत्तीसं ॥ १ ॥ " उभयमीलने त्रिंशल्लक्षा नरकाऽऽवासानाम् ३०००००० ।

शर्कराप्रभायामेकादश प्रस्तटाः; नरकपटलानि अधोऽधो द्व्यूनानीति वचनात् । तत्र प्रथमे प्रस्तटे चतसृषु दिक्षु षट्त्रिंशत् आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः, विदिक्षु पञ्चत्रिंशत्, मध्ये चैको नरकेन्द्रकः । सर्वसंख्यया द्वे शते पञ्चाशीत्यधिके २८५, शेषेषु दशसु प्रस्तटेषु प्रत्येकं क्रमेणाधोऽधोऽष्टकाष्टकहानिः, प्रतिदिक् २ एकैकनरकाऽऽवासहानेः, ततस्तत्र सर्वसंख्यया आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः षड्विंशतिशतानि पञ्चनवत्यधिकानि २६९५, शेषाश्चतुर्विंशतिलक्षाः सप्तनवतिसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि २४९७३०५ पुष्पावकीर्णकाः । उक्तं च-"सत्ताणवइ सहस्सा, चउवीसलक्ख तिसयपंचहिं । बीयाए सेढिगया, छव्वीससया उ पणनउया " ॥१॥ उभयमीलने पञ्चविंशतिलक्षा नरकाऽऽवासानाम् २५००००० ।

वालुकाप्रभायां नव प्रस्तटाः । प्रथमे च प्रस्तटे एकैकस्यां दिशि आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः पञ्चविंशतिः २,विदिशि चतुर्विंशतिः, मध्ये चैको नरकेन्द्रक इति । सर्वसंख्यया सप्तनवतिशतम् । शेषेषु चाष्टसु प्रस्तटेषु प्रत्येकं क्रमेणाऽधोऽधोऽष्टकहानिः । तत्र च कारणं प्रागेवोक्तम् । ततः सर्वसंख्यया तत्राऽऽवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाश्चतुर्दश शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि १४८५ । शेषास्तु पुष्पावकीर्णकाः चतुर्दशलक्षा अष्टानवतिसहस्राणि पञ्च शतानि पञ्चदशाऽधिकानि १४९८५१५ । उक्तं च-" पंचसया पन्नरसा, अडनवइ सहस्स लक्ख चोद्दसया । तइयाए सेढिगया, पणसीया चोद्दससया उ ॥१॥" उभयमीलने पञ्चदश लक्षा नरकाऽऽवासानाम् १५०००००।

पङ्कप्रभायां सप्त प्रस्तटाः । प्रथमे च प्रस्तटे प्रत्येकं दिशि षोडश आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः,विदिशि पञ्चदश,मध्ये चैको नरकेन्द्रकः । सर्वसंख्यया पञ्चविंशं शतम् १२५ । शेषेषु षट्सु प्रस्तटेषु पूर्ववत् प्रत्येकं क्रमेणाधोऽधोऽष्टकाष्टकहानिः, ततः सर्वसंख्यया तत्राऽऽवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः सप्त शतानि सप्तोत्तराणि ७०७ । शेषास्तु पुष्पाऽवकीर्णका नव लक्षा नवनवतिसहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्यधिके ९९९२९३ । उक्तं च-" ते णउया दोन्नि सया, नवनउयसहस्स नव य लक्खा य । पंकाए सेढिगया, सत्त सया होंतिसत्तहिया ॥१॥" उभयमीलने नरकाऽऽवासानां दश लक्षाः १०००००० ।

धूमप्रभायां पञ्च प्रस्तटाः । प्रथमे च प्रस्तटे एकैकस्यां दिशि नव नव आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः, विदिशि अष्टौ,मध्ये चैको नरकेन्द्रकः । इति सर्वसंख्यया एकोनसप्ततिः ६९ । शेषेषु च चतुर्षु प्रस्तटेषु पूर्ववत् प्रत्येकं क्रमेणाधोऽधोऽष्टकहानिः,ततः सर्वसंख्यया तत्राऽऽवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासा द्वे शते पञ्चषष्ट्यधिके, शेषाः पुष्पाऽऽवकीर्णकाः द्वे लक्षे नवनवतिसहस्राणि सप्त शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि २९९७३५ । उक्तं च-" सत्त सया पणतीसा, नवनवइ सहस्स दो य लक्खा य । धूमाए सेढिगया, पणसट्ठा दो सया होंति ॥१॥" सर्वसंख्यया तिस्रो लक्षा नरकाऽऽवासानाम् ।

तमःप्रभायां त्रयः प्रस्तटाः । तत्र प्रथमे प्रस्तटे प्रत्येकं दिशि चत्वार आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः, विदिशि त्रयः त्रयः, मध्ये चैको नरकेन्द्रक इति । सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशत् २९,शेषयोस्तु प्रस्तटयोः प्रत्येकं क्रमेणाऽधोऽधोऽष्टकहानिः, ततः सर्वसंख्यया आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासास्त्रिषष्टिः । शेषास्तु नवनवतिसहस्राणि नव शतानि द्वात्रिंशत्यधिकानि पुष्पावकीर्णकाः ९९९३२ । उक्तं च-" नवनउइसयसहस्सा, नव चेव सया हवंति बत्तीसा । पुढवीए छट्ठीए, पइण्णगाणेस संखेवो ॥१॥" उभयमीलने पञ्चोनं नरकाऽऽवासानां लक्षम् । ९९९९५ ।

(९) संप्रति प्रतिपृथिवीघनोदध्यस्तित्वप्रतिपादनार्थमाह-

अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे घणोदधि त्ति वा घणवाते ति वा तणुवाते ति वा उवासंतरे ति वा ? । हंता अत्थि एवं० जाव अहे सत्तमा ।

(अत्थि णं भंते ! इत्यादि) अस्ति भदन्त ! अस्याः प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाया रत्नप्रभायाः पृथिव्या अधो घनः स्त्यानीभूतोदक उदधिर्घनोदधिरिति वा, घनः पिण्डीभूतो वातो घनवात इति वा, तनुवात इति वा, अवकाशान्तरमिति वा । अवकाशान्तरं नाम-शुद्धमाकाशम् ? । भगवानाह-हन्त अस्ति; एवं प्रतिपृथिवी तावद्वाच्यं यावदधः सप्तम्याः ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरकंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! सोलस जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः संबन्धि यत् प्रथमं खरं खराऽभिधानं काण्डं तत् कियद् बाहल्येन प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह-गौतम ! षोडशयोजनसहस्राणि बाहल्येन प्रज्ञप्तम् ।

(१०) रत्नकाण्डम्-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणकंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! एक्कंजोयणसहस्सबाहल्लेणं पण्णत्ते, एवं० जाव रिट्ठे ।

(इमीसे णं इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नं रत्नाऽभिधान काण्डं तत् कियत् बाहल्येन प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह-गौतम ! एकं योजनसहस्रम् । शेषाण्यपि काण्डानि वक्तव्यानि, यावत् रिष्टं रिष्टाऽभिधानं काण्डम् । एवं पङ्कबहुलाब्बहुलकाण्डसूत्रे अपि व्याख्येये ।

(११) पङ्कबहुलम्-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पंकबहुले कंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! चतुरसीतिजोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

पङ्कबहुलं काण्डं चतुरशीतियोजनसहस्राणि बाहल्येन ।

(१२) अब्बहुलं काण्डम्-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए अब्बहुले कंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! असीतिं जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

अशीतियोजनसहस्राणि सर्वसंख्यया रत्नप्रभायां बाहल्यमशीतिसहस्राधिकं लक्षम् ।

(१३) घनोदधिघनवातयोर्बाहल्यम्-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधि केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! वीसं जोअणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवाते केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ताइं । एवं तणुवाते वि , एवं उवासंतरे वि ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए घणोदधि केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! वीसं जोअणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ताइं ।

सक्करप्पभाए पुढवीए घणवाते केवइए पण्णत्ते ? । गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ताइं ।

एवं तणुवाए वि,उवासंतरे वि,जहा सक्करप्पभाए पुढवीए । एवं० जाव अहे सत्तमाए ।

तस्या अधो घनोदधिः विंशतियोजनसहस्राणि बाहल्येन, तस्या अधो घनवातोऽसंख्येयानि योजनसहस्राणि बाहल्येन, तस्या अप्यधोऽसंख्येयानि योजनसहस्राणि तनुवातो बाहल्येन, तस्या अप्यधोऽसंख्येयानि योजनसहस्राणि बाहल्येनावकाशान्तरम् । एवं शेषाणामपि पृथिवीनां घनोदध्यादयः प्रत्येकं तावदुक्तव्या यावदधः सप्तम्याः ।

(१४) क्षेत्रच्छेदेन छिद्यमानायाः पृथिव्याः-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसतसहस्सबाहल्लाए खेत्तच्छेदेणं छिज्जमाणाए अत्थि दव्वाइं वण्णतो-कालनीललोहितहालिद्दसुक्किलाइं, गंधतो-सुब्भिगंधाइं दुब्भिगंधाइं, रसतो-तित्तकडुयकसायअंबिलमहुराइं, फासओ-कक्खडमउयगरुलहुयसीतउसिणणिद्धलुक्खाइं, संठाणतो-परिमंडलवट्टतंसचउरंसआययसंठाणपरिणयाइं अन्नमन्नबद्धाइं अण्णमण्णपुट्ठाइं अण्णमन्नओगाढाइं अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धाइं अन्नमण्णघडत्ताए चिट्ठंति ? । हंता ! अत्थि ।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यामशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रबाहल्यायां क्षेत्रच्छेदेनबुद्ध्यामतरकाण्डविभागेन छिद्यमानायाम्, अस्तीति निपातोऽत्र बहुवचनार्थगर्भः-सन्ति द्रव्याणि, वर्णतः-कालानि नीलानि लोहितानि हारिद्राणि, शुक्लानि, गन्धतः-सुरभिगन्धीनि, दुरभिगन्धीनि च, रसतः-तिक्तरसानि, कटुकानि, कषायाणि, अम्लानि, मधुराणि, स्पर्शतः-कर्कशानि, मृदूनि, गुरुकाणि, लघूनि, शीतानि, उष्णानि, स्निग्धानि, रूक्षाणि, संस्थानतः-परिमण्डलानि, वृत्तानि, त्र्यस्राणि, चतुरस्राणि, आयतानि । कथंभूतान्येतानि सर्वाण्यपीत्यत आह-(अन्नमन्नपुट्ठाइं इत्यादि) अन्योऽन्यं परस्परं स्पृष्टानि स्पर्शमात्रोपेतानि । तथा-अन्योऽन्यं परस्परमवगाढानि यत्रैकं द्रव्यमवगाढं तत्राऽन्यदपि देशतः, क्वचित्सर्वतोऽवगाढमित्यर्थः । तथाऽन्योऽन्यं परस्परं स्नेहेन प्रतिबद्धानि येनैकस्मिन् चाल्यमाने गृह्यमाणे वा अपरमपि चलनाऽऽदिधर्मोपेतं भवति । (एवमन्नोऽन्नघडत्ताए चिट्ठंति इति) अन्योऽन्यं परस्परं घटन्ते संबध्नन्तीति अन्योऽन्यघटाः, तद्भावोऽन्योऽन्यघटता, तया परस्परं संबद्धतया तिष्ठन्ति । भगवानाह-(हंता ! अत्थि) हन्तेति प्रत्यवधारणे, सन्त्येवेत्यर्थः ।

(१५) खरकाण्डस्य-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरस्स कंडस्स सोलसजोयणसहस्सबाहल्लस्स खेत्तच्छेदेणं छिज्जंतं चेव० जाव हंता अत्थि, एवं० जाव रिट्ठस्स ॥

एवमस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां खरकाण्डस्य षोडशयोजनसहस्रप्रमाणबाहल्यस्य, तदनन्तरं रत्नकाण्डस्य योजनसहस्रबाहल्यस्य ततो वज्रकाण्डस्य० यावद्रिष्टकाण्डस्य ।

(१६) पङ्कबहुलस्य-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पंकबहुलस्स कंडस्स चउरासीतिं जोयणसहस्सबाहल्लस्स खेत्तं तं चेव । एवं आवबहुलस्स वि असीतिजोअणसहस्सबाहल्लस्स ॥

तदनन्तरमस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां पङ्कबहुलकाण्डस्य चतुरशीतियोजनसहस्रबाहल्यस्य तदनन्तरमब्बहुलकाण्डस्य अशीतियोजनसहस्रबाहल्यस्य ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदहिस्स वीसं जोयणस्स बाहल्लस्स खेत्तच्छेदे तहेव । एवं घणवातस्स असंखेज्जजोयणस्स बाहल्लस्स तं चेव ।

तदनन्तरमस्या एव रत्नप्रभाया घनोदधेर्योजनविंशतिसहस्रप्रमाणबाहल्यस्य, ततोऽसंख्यातयोजनप्रमाणबाहल्यस्य घनवातस्य तत एतावत्प्रमाणबाहल्यस्य तनुवातस्य, ततोऽवकाशान्तरस्य तावत्प्रमाणस्य ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए बत्तीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए खेत्तच्छेदेणं छिज्जमाणाए अत्थि दव्वाइं, वण्णतो० जाव घडत्ताए चिट्ठंति ? । हंता ! अत्थि । एवं घणोदहिस्स वीसं जोअणसहस्सबाहल्लस्स घणवातस्स असंखेज्जजोयणसहस्सबाहल्लस्स । एवं० जाव उवासंतरस्स जहा सक्करप्पभाए, एवं० जाव अहे सत्तमाए ।

ततः शर्कराप्रभायाः पृथिव्याः द्वात्रिंशत्सहस्रोत्तरयोजनसतसहस्रबाहल्यपरिमाणायाः तस्या एवाधस्ताद् यथोक्तबाहल्यानां घनवाततनुवाताऽवकाशान्तराणामेवं यावदधः सप्तम्याः पृथिव्या अष्टसहस्राधिकयोजनशतसहस्रपरिमाणबाहल्यायास्ततः तस्या एवाऽधः सप्तमपृथिव्या अधस्तान्मध्ये घनोदधिघनवाततनुवातावकाशान्तराणां प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि यथोक्तद्रव्यविषयाणि भावनीयानि ।

(१७) सम्प्रति संस्थानप्रतिपादनार्थमाह-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किंसंठिता पण्णत्ता ? । गोयमा ! झल्लरिसंठिया पण्णत्ता ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरे कंडे किंसंठिते पण्णत्ते ? । गोयमा ! झल्लरिसंठिते पण्णत्ते ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणे कंडे किंसंठिते पण्णत्ते ? । गोयमा ! झल्लरिसंठिते पण्णत्ते । एवं० जाव रिट्ठे । एवं पंकबहुले आवबहुले वि । घणोदधि वि, घणवाए वि, उवासंतरे वि, सव्वे झल्लरिसंठिया पण्णत्ता ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवी किंसंठिया पण्णत्ता ? । गोयमा ! झल्लरिसंठिया पण्णत्ता ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए घणोदधि किंसंठिए पण्णत्ते ? । गोयमा ! झल्लरिसंठिए पण्णत्ते । एवं० जाव उवासंतरे जहा सक्करप्पभाए वत्तव्वता, एवं० जाव अहे सत्तमाए वि ।

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं प्रत्यक्षत उपलभ्यमाना, णमिति वाक्यालङ्कृतौ । रत्नप्रभा पृथिवी, किमिव संस्थिता प्रज्ञप्ता ? । भगवानाह-गौतम ! झल्लरीव संस्थिता प्रज्ञप्ता; विस्तीर्णवलयाऽऽकारत्वात् । एवमस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां खरकाण्डं, तत्राऽपि रत्नकाण्डं, ततो वज्रकाण्डम्, ततो यावत्

रिष्टकाण्डम्,तदनन्तरं पङ्कबहुलं काण्डम्,ततो जलकाण्डम्,तदनन्तरमस्या एव रत्नप्रभायाः पृथिव्या अधस्तात् क्रमेण घनोदधिघनवाततनुवातावकाशान्तराणि, एवं यावदधः सप्तमी पृथिवी । तस्या अधस्तात् क्रमेण घनोदधिघनवाततनुवातावकाशान्तराणि झल्लरीसंस्थानानि वक्तव्यानि । ननु चैताः सप्तापि पृथिव्यः सर्वासु दिक्षु किमलोकस्पर्शिन्यः ?, उत नेति ब्रूमः । यद्येवं ततः ।

(१८) लोकान्तादबाधा—

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ केवतियं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुवालसहिं जोयणेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते । एवं दाहिणिल्लातो पच्चच्छिमिल्लातो उत्तरिल्लाओ ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ केवतिअं अबाहाए लोयंते पण्णत्ते ?। गोयमा ! तिभागूणेहिं तेरसहिं जोयणेहिं अबाहाए लोयंते पण्णत्ते, एवं चउदिसिं ।

वालुयप्पभाए णं भंते ! पुढवीए पुरच्छिमिल्लाओ पुच्छा ?। गोयमा ! सतिभागेहिं तेरसेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते । एवं चउद्दिसिं पि, एवं सव्वासिं चउसु विदिसासु पुच्छियव्वं ।

पंकप्पभाए चोद्दसहिं जोयणेहिं अबाहाए लोयंते पण्णत्ते । धूमप्पभाए तिभागूणेहिं पण्णरसेहिं जोयणेहिं अबाहाए लोयंते पण्णत्ते । छट्ठी सतिभागेहिं पण्णरसेहिं जोयणेहिं अबाहाए लोयंते पण्णत्ते । सत्तमाए सोलसएहिं जोयणेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते, एवं० जाव उत्तरिल्लातो ॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः (पुरच्छिमिल्लाओ इति) पूर्वदिग्भाविनश्चरमान्तात् (केवइयाए इति) कियत्या अबाधया अपान्तरालरूपया लोकान्तोऽलोकावधिपरिच्छिन्नः प्रज्ञप्तः ?। भगवानाह-द्वादशयोजनानि, द्वादशयोजनप्रमाणो य इत्यर्थः । अबाधया लोकान्तः प्रज्ञप्तः । किमुक्तं भवति ?-रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पूर्वस्यां दिशि चरमपर्यन्तात् परतो लोकादर्वाग् अपान्तरालं द्वादशयोजनानि,एवं दक्षिणस्यामपरस्यामुत्तरस्यां चापान्तरालं वक्तव्यम् । दिग्ग्रहणं चोपलक्षणम्, तेन सर्वास्वपि विदिक्ष्वपि यथोक्तमपान्तरालमवसातव्यम् । शेषाणां तु पृथिवीनां सर्वासु दिक्षु च चरमपर्यन्तादलोकः क्रमेणाधोऽधस्त्रिभागोनेन योजनेनाधिकैर्द्वादशभिर्योजनैरवगन्तव्यः । तद्यथा-शर्कराप्रभायाः पृथिव्याः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च चरमपर्यन्तादलोकादर्वागपान्तरालं त्रिभागोनानि त्रयोदश योजनानि । वालुकाप्रभायाः सत्रिभागानि त्रयोदश योजनानि । पङ्कप्रभायाः परिपूर्णानि चतुर्दश योजनानि, धूमप्रभायास्त्रिभागोनानि पञ्चदश योजनानि । अधः सप्तमपृथिव्याः परिपूर्णानि षोडश योजनानि । सूत्राक्षराणि पूर्ववद् योजनीयानि । जी० ३ प्रति० ।

(१९) रत्नप्रभादीनामधः-

अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे गेहाइ वा, गेहावणाइ वा ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए इमीसे अहे गामाइ वा० जाव सन्निवेसाइ वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे उराला बलाहया संसेयंति संमुच्छंति वासं वासंति ?। हंता ! अत्थि, तिन्नि वि पकरेइ, देवो वि पकरेइ, असुरो वि, नागो वि । अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बादरे थणियसद्दे ?। हंता अत्थि तिन्नि वि पकरेंति । अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बादरे अगणिकाए ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, णण्णत्थ विग्गहगइसमावन्नएणं । अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए चंदिम० जाव तारारूवा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए चंदाभाइ वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । एवं दोच्चाए पुढवीए भाणियव्वं, एवं तच्चाए वि भाणियव्वं । णवरं देवो वि पकरेइ, असुरो वि पकरेइ, नो नाओ पकरेइ, चउत्थीए वि,नवरं देवो एक्को पकरेइ, नो असुरो, नो नाओ, एवं हेट्ठिल्लासु देवो एक्को पकरेइ ।

(बादरे अगणिकाए इत्यादि) ननु यथा बादराग्नेर्मनुष्यक्षेत्र एव तद्भावान्निषेध इहोच्यते, एवं बादरपृथिवीकायस्याऽपि निषेधो वाच्यः स्यात्, पृथिव्यादिष्वेव स्वस्थानेषु तस्य भावादिति । सत्यम् । किं तु नेह यद्यत्र नास्ति तत्तत्र सर्वं निषिध्यते, मनुष्याऽऽदिवत्, विचित्रत्वात् सूत्रगतेरतोऽसतोऽपीह पृथिवीकायस्य न निषेध उक्तः । अप्कायवायुवनस्पतीनां त्विह घनोदध्यादिभावेन भावान्निषेधाभावः सुगम एवेति । (नो नाओ त्ति) नागकुमारस्य तृतीयायाः पृथिव्या अधो गमनं नास्तीत्यत एवाऽनुमीयते । (नो असुरो नो नागो त्ति) इहाप्यत एव वचनाच्चतुर्थ्यादीनामधोऽसुरकुमारनागकुमारयोर्गमनं नाऽस्तीत्यनुमीयते । भ० ६ श० ८ उ० ।

(२०) अथाऽमूनि रत्नप्रभाऽऽदीनां द्वादशयोजनप्रमाणाऽऽदीनि अपान्तरालानि किमाकाशरूपाणि, उत घनोदध्यादिव्याप्तानि ?। उच्यते-घनोदध्यादिव्याप्तानि, तत्र कस्मिन्नपान्तराले कियान् घनोदध्यादिरिति प्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते कतिविधे पण्णत्ते ?। गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-घणोदधिवलए, घणवायवलए, तणुवातवलए ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए दाहिणिल्ले चरिमंते कतिविधे पण्णत्ते ?। गोयमा ! तिविधे पण्णत्ते । तं जहा, एवं चेव० जाव उत्तरिल्ले, एवं सव्वासिं० जाव अहे सत्तमाए उत्तरिल्ले । .

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पूर्वदिग्भावी चरमान्तोऽपान्तराललक्षणः कतिविधः कतिप्रकारः, कतिविभाग इत्यर्थः । प्रज्ञप्तः ?। भगवानाह-गौतम ! त्रिविधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा--घनोदधिवलयो वलयाऽऽकारघनोदधिरूप इत्यर्थः । एवं घनवातवलयस्तनुवातवलयश्च । इयमत्र भावना-सर्वासां पृथिवीनामधो यत् प्राक् बाहुल्येन

घनोदध्यादीनां परिमाणमुक्तं, तन्मध्यभागे द्रष्टव्यम् । ते हि मध्यभागे यथोक्तप्रमाणबाहल्याः, ततः प्रदेशहान्या प्रदेशहान्या हीयमानाः स्वस्वपृथिवीपर्यन्तेषु तनुतरभूताः; तनुतरीभूत्वा स्वस्वपृथिवीवलयाऽऽकारेण वेष्टयित्वा स्थिताः। अत एवामूनि वलयान्युच्यन्ते, तेषां वलयानामुच्चैस्त्वं सर्वत्र स्वस्वपृथिव्यनुसारेण परिभावनीयम्, तिर्यग्बाहल्यं पुनरग्रे वक्ष्यते । इदानीं तु विभागमात्रमेवापान्तरालस्य प्रतिपादयितुमिष्टमिति तदेवोक्तम्, एवमस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्याः शेषासु दिक्षु, एवं शेषाणामपि पृथिवीनां चतसृष्वपि दिक्षु प्रत्येकं विभागसूत्रं भणितव्यम् ।

(२१) संप्रति घनोदधिवलयस्य तिर्यग्बाहल्यमानमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! छज्जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः सर्वासु दिक्षु चरमान्ते घनोदधिवलयः कियद् बाहल्येन तिर्यग् बाहल्येन प्रज्ञप्तः ? । भगवानाह--गौतम ! षड् योजनानि बाहल्येन प्रज्ञप्तः ।

तत ऊर्ध्वं प्रतिपृथिवि योजनस्य त्रिभागो वक्तव्यः । तद्यथा-

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए घणोदधिवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! सतिभागाइं छज्जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते । वालुयप्पभाए पुच्छा?। गोयमा ! तिभागूणाइं सत्त जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते । एवं एतेणं अभिलावेणं पंकप्पभाए सत्त जोयणाइं बाहल्लेणं, धूमप्पभाए सतिभागाइं सत्त जोयणाइं पण्णत्ते । तमप्पभाए तिभागूणाइं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते । अहे सत्तमाए अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

शर्कराप्रभायाः सत्रिभागानि, वालुकाप्रभायास्त्रिभागोनानि सप्त योजनानि, पङ्कप्रभायाः परिपूर्णानि सप्त योजनानि, धूमप्रभायाः सत्रिभागानि सप्त योजनानि, तमःप्रभायाः त्रिभागोनानि अष्टौ योजनानि, अधः सप्तमपृथिव्याः परिपूर्णानि अष्टौ योजनानि । सूत्राक्षराणि तु सर्वत्र पूर्ववद् योजनीयानि ।

(२२) संप्रति घनवातवलयस्य तिर्यग् बाहल्यपरिमाण-प्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवातवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! अद्धपंचमाइं जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

सक्करप्पभाए पुच्छा ?। गोयमा ! कोसूणाइं पंच जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

एवं एएणं अभिलावेणं वालुयप्पभाए पंच जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

पंकप्पभाए सकोसाइं पंच जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

धूमप्पभाए अद्धछट्ठाइं जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

तमप्पभाए कोसूणाइं छ जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

अहे सत्तमाए छ जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्याः घनवातवलयः तिर्यग् बाहल्येन अर्द्धपञ्चमानि सार्द्धानि चत्वारि योजनानि प्रज्ञप्तः । अत ऊर्ध्वं तु प्रतिपृथिवि गव्यूतं वर्द्धनीयम् । तथा चाऽऽह-द्वितीयस्याः पृथिव्याः क्रोशोनानि पञ्च योजनानि, तृतीयस्याः पृथिव्याः परिपूर्णानि पञ्च योजनानि, चतुर्थ्याः पृथिव्याः सक्रोशानि पञ्च योजनानि, पञ्चम्याः पृथिव्या अर्द्धषष्ठानि सार्द्धानि पञ्च योजनानि, षष्ठ्याः पृथिव्याः क्रोशोनानि षड् योजनानि, सप्तम्याः पृथिव्याः परिपूर्णानि षड् योजनानि ।

(२३) संप्रति तनुवातवलयस्य तिर्यग् बाहल्यपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तणुवातवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! छक्कोसेणं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

एवं एतेणं अभिलावेणं सक्करप्पभाए सतिभागे छक्कोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

वालुयप्पभाए तिभागूणे सत्तकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

पंकप्पभाए पुढवीए सत्तकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

धूमप्पभाए सतिभागे सत्तकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

तमप्पभाए तिभागूणे अट्ठकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

अहे सत्तमाए पुढवीए अट्ठकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्यास्तनुवातवलयः कियत् किंप्रमाणं बाहल्येन प्रज्ञप्तः ? । भगवानाह-षट्क्रोशं बाहल्येन प्रज्ञप्तः । अत ऊर्ध्वं तु पृथिवीक्रोशस्य त्रिभागो वर्द्धनीयः । तथा चाऽऽह-द्वितीयस्याः पृथिव्याः सत्रिभागोनान् षट् क्रोशान् बाहल्येन प्रज्ञप्तः । तृतीयस्याः पृथिव्याः त्रिभागोनान् सप्त क्रोशान्, चतुर्थ्याः पृथिव्याः परिपूर्णान् सप्त क्रोशान्, पञ्चम्याः पृथिव्याः सत्रिभागान् सप्त क्रोशान्, षष्ठ्याः पृथिव्याः त्रिभागोनान् अष्टौ क्रोशान्, अधः सप्तम्याः पृथिव्याः परिपूर्णान् अष्टौ क्रोशान् ।

उक्तं च-

" छच्चेव अद्ध पंचम, जोयणसड्ढं च होइ रयणाए।
उदहीघणतणुवाया, जहसंखेणं विणिद्दिट्ठा ॥ १ ॥
तिभागो गाउयं चेव, तिभागो गाउयस्स य।
आइ धुवे पक्खेवो, अहे अहो जाव सत्तमिया ॥ २ ॥ "

एतेषां च त्रयाणामपि घनोदध्यादिविभागानाम् एकत्र मीलने प्रतिपृथिवि यथोक्तमपान्तरालमानं भवति ।

(२४) संप्रति एतेष्वेव घनोदध्यादिवलयेषु क्षेत्रच्छेदेन कृष्णवर्णाऽऽद्युपेतद्रव्यास्तित्वप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलयस्स छज्जोयणबाहल्लस्स खेत्तच्छेएणं छिज्जमाणस्स अत्थि दव्वाइं वण्णओ काल० जाव हंता अत्थि ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए घणोदधिवलयस्स सतिभाग-

ढजोयणबाहल्लस्स खेत्तच्छेएणं छिज्जमाणस्स०जाव हंता अत्थि, एवं० जाव अहे सत्तमाए जं जस्स बाहल्लं।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवायवलयस्स अद्धपंचमजोयणबाहल्लस्स खेत्तच्छेदेण छिज्ज० जाव हंता अत्थि एवं० जाव अहे सत्तमाए जं जस्स बाहल्लेणं, एवं तणुवातवलयस्स वि० जाव अहे सत्तमा जं जस्स बाहल्लं।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलए किंसंठिए पएणत्ते ?। गोयमा ! वट्टवलयागारसंठाणसंठित पएणत्ते। जेणं इमं रयणप्पभं पुढविं सव्वतो समंता संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठति। एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए घणोदधिवलए, णवरं अप्पाणं पुढविं संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठंति।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवातवलए किंसंठिते पएणत्ते ?। गोयमा ! वट्टवलयागारे तहेव० जाव जेणं इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलयं सव्वतो समंता संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठइ। एवं० जाव अहे सत्तमाए घणवातवलयं। इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तणुवातवलए किंसंठिते पएणत्ते ?। गोयमा ! वट्टवलयागारसंठाणसंठिए० जाव जेणं इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवातवलयं सव्वतो समंता संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठंति। एवं० जाव अहे सत्तमाए तणुवातवलयं॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः घनोदधिवलयः किमिव संस्थितः किंसंस्थितः प्रज्ञप्तः ?। भगवानाह–गौतम ! वृत्तः चक्रवालतया परिवर्तुलो वलयस्य मध्ये शुषिरवृत्तविशेषस्याऽऽकार आकृतिर्वलयाऽऽकार इव संस्थानं वलयाऽऽकारसंस्थानं, तेन संस्थितो वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थितः। कथमेवं गम्यते ?–वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थित इति ?। तत आह–(जेणमित्यादि) येन कारणेन इमां रत्नप्रभां पृथिवीं सर्वतः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च संपरिक्षिप्य सामस्त्येन वेष्टयित्वा तिष्ठति वर्तते, तेन कारणेन वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थितः प्रज्ञप्तः।

एवं घनवातवलयसूत्रं, तनुवातवलयसूत्रं च परिभावनीयम्। नवरं घनवातवलयो घनोदधिवलयं संपरिक्षिप्येति वक्तव्यम्, तनुवातवलयो घनवातवलयं संपरिक्षिप्येति। एवं शेषास्वपि पृथिवीषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सूत्राणि भावनीयानि।

(२५) आयामविष्कम्भौ पृथ्वीनाम्–

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी केवतियं आयामविक्खंभेणं पएणत्ता ?। गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पएणत्ता। एवं० जाव अहे सत्तमा॥

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी कियता आयामविष्कम्भेण, समाहारो द्वन्द्वः। आयामविष्कम्भाभ्यां प्रज्ञप्ता। भगवानाह–असंख्येयानि योजनसहस्राणि आयामविष्कम्भेन। किमुक्तं भवति ?–असंख्येयानि योजनसहस्राणि आयामतोऽसंख्येयानि योजनसहस्राणि विष्कम्भेन, आयामविष्कम्भयोस्तु परस्परमल्पबहुत्वचिन्तने तुल्यत्वम्, तथा असंख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण परिधिना प्रज्ञप्ता। एवमेकैका पृथिवी तावद्वक्तव्या यावदधः सप्तमी पृथिवी।

(२६) अन्तर्बहिर्वा समाः पृथ्व्यः–

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी अंते य मज्झे य सव्वत्थ समा बाहल्लेणं पएणत्ता ?। हंता गोयमा ! इमा णं रयणप्पभा पुढवी अंते य मज्झे य सव्वत्थ समा बाहल्लेणं एवं० जाव अहे सत्तमा॥

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी अन्ते च मध्ये च सर्वत्र समा बाहल्येन पिण्डभावेन प्रज्ञप्ता ?। भगवानाह–(गौतम ! इत्यादि) सुगमम्। एवं क्रमेणैकैका पृथिवी तावद्वक्तव्या यावत्सप्तमी।

(२७) पृथिवीषु जीवाः सर्वत्र उपपन्नपूर्वाः–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए सव्वजीवा उववन्नपुव्वा सव्वजीवा उववन्ना ?। गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए सव्वजीवा उववन्नपुव्वा, नो चेव णं सव्वजीवा उववन्ना, एवं० जाव अधे सत्तमाए पुढवीए॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वजीवाः सामान्येन उपपन्नपूर्वाः कालक्रमेण तथा सर्वजीवा उपपन्ना उत्पन्ना युगपत्। भगवानाह–गौतम ! अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वजीवाः सांव्यवहारिकजीवराश्यन्तर्गताः प्रायो वृत्तिमाश्रित्य सामान्येन उपपन्नपूर्वा उत्पन्नपूर्वाः कालक्रमेण संसारस्याऽनादित्वात्, न पुनः सर्वजीवा उपपन्ना उत्पन्ना युगपत्, सकलजीवानामेककालं रत्नप्रभापृथिवीत्वेनोत्पादे सकलदेवनारकाऽऽदिभेदाभावप्रसक्तेः। न चैतदस्ति, तथा जगत्स्वाभाव्यात्। एवमेकैकस्याः पृथिव्यास्तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तम्याः।

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी सव्वजीवेहिं विजढपुव्वा सव्वजीवेहिं विजढा ?। गोयमा ! इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी सव्वजीवेहिं विजढपुव्वा, नो चेव णं सव्वजीवेहिं विजढा, एवं० जाव अहे सत्तमा॥

(इमा णं इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी (सव्वजीवेहिं विजढपुव्वा इति) सर्वजीवैः कालक्रमेण परित्यक्तपूर्वा; तथा सर्वजीवैर्युगपद् विजढा परित्यक्ता। भगवानाह–गौतम ! इयं रत्नप्रभा पृथिवी प्रायो वृत्तिमाश्रित्य सर्वजीवैः सांव्यवहारिकैः कालक्रमेण परित्यक्तपूर्वा, न तु युगपत्, परित्यागस्यासंभवात् तथानिमित्ताभावात्, एवं तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तमी पृथ्वी।

(२८) पृथ्वीषु सर्वे जीवाः प्रविष्टपूर्वाः–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए सव्वपोग्गला पविट्ठपुव्वा, सव्वपोग्गला पविट्ठा ?। गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए सव्वपोग्गला पविट्ठपुव्वा, नो चेव

णं सव्वपोग्गला पविट्ठा, एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए ॥

(इमीसे णं इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वे पुद्गला लोकोदरविवरवर्तिनः कालक्रमेण प्रविष्टपूर्वाः, तद्भावेन परिणतपूर्वाः; तथा सर्वे पुद्गलाः प्रविष्टा एककालं तद्भावेन परिणताः ?। भगवानाह-गौतम ! अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वे पुद्गलाः लोकवर्तिनः प्रविष्टपूर्वाः-तद्भावेन परिणतपूर्वाः, संसारस्याऽनादित्वाद्, न पुनरेककालं सर्वपुद्गलाः प्रविष्टाः-तद्भावेन परिणताः, सर्वपुद्गलानां तद्भावेन परिणतौ रत्नप्रभाव्यतिरेकेणाऽन्यत्र सर्वत्राऽपि पुद्गलाभावप्रसक्तेः, न चैतदस्ति, तथाजगत्स्वाभाव्यात् । एवं सर्वासु पृथिवीषु क्रमेण वक्तव्यं, यावदधः सप्तम्यां पृथिव्यामिति ।

(२९) सर्वे पुद्गलाः त्यक्तपूर्वाः-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी सव्वपोग्गलेहिं विजढपुव्वा, सव्वपोग्गले विजढा ?। गोयमा ! इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी सव्वपोग्गलेहिं विजढपुव्वा, नो चेव णं सव्वपोग्गले विजढा, एवं० जाव अहे सत्तमा ॥

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी सर्वपुद्गलैः कालक्रमेण (विजढपुव्वा इति) परित्यक्तपूर्वा, तथा सर्वपुद्गलैरेककालं परित्यक्ता ?। भगवानाह-गौतम ! इयं रत्नप्रभा पृथिवी सर्वपुद्गलैः कालक्रमेण परित्यक्तपूर्वा, संसारस्याऽनादित्वात्, न पुनः सर्वपुद्गलैरेककालं परित्यक्ता, सर्वपुद्गलैरेककालं परित्यागे तस्याः सर्वथा स्वरूपाभावप्रसक्तेः । न चैतदस्ति, तथा जगत्स्वाभाव्यतः शाश्वतत्वात् । एतच्चानन्तरमेव वक्ष्यति । एवमेकैका पृथिवी क्रमेण तावद्वाच्या, यावदधः सप्तमी पृथिवी ।

(३०) शाश्वती, अशाश्वती वा रत्नप्रभा ?-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं सासता, असासता ?। गोयमा ! सिय सासता, सिय असासता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सिय सासता, सिय असासता ?। गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासता, वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासता, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति-तं चेव० जाव सिय असासता, एवं० जाव अहे सत्तमा ।

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी किं शाश्वती, अशाश्वती ?। भगवानाह--गौतम ! स्यात् कथञ्चित्, कस्याऽपि नयस्याऽभिप्रायेणेत्यर्थः। शाश्वती । स्यात् कथञ्चित् अशाश्वती। एतदेव सविशेषं जिज्ञासुः पृच्छति-(से केणट्ठेणमित्यादि) ' से ' शब्दोऽथशब्दार्थः । स च प्रश्ने, केन अर्थेन कारणेन भदन्त ! एवमुच्यते-यथा स्यात् शाश्वती, स्यादशाश्वतीति ?। भगवानाह-गौतम ! (दव्वट्ठयाए इत्यादि) द्रव्यार्थतया शाश्वती, तत्र द्रव्यं सर्वत्राऽन्वयि सामान्यमुच्यते, द्रवति गच्छति तान् तान् पर्यायान् विशेषानिति वा द्रव्यमिति व्युत्पत्तेः, द्रव्यमेवाऽर्थः तात्त्विकपदार्थो यस्य, न तु पर्यायाः, स द्रव्यार्थो द्रव्यमात्रास्तित्वप्रतिपादको नयविशेषः, तद्भावो द्रव्यार्थता, तया द्रव्यमात्रास्तित्वप्रतिपादकतयाऽभिप्रायेणेति यावत् । शाश्वती द्रव्यार्थिकनयमतपर्यालोचनायामेवंविधस्य रत्नप्रभायाः पृथिव्या आकारस्य सदाभावाद् वर्णपर्यायैः कृष्णाऽऽदिभिः, गन्धपर्यायैः सुरभ्यादिभिः, रसपर्यायैस्तिक्ताऽऽदिभिः, स्पर्शपर्यायैः कठिनत्वाऽऽदिभिः, अशाश्वती अनित्या, तेषां वर्णाऽऽदीनां प्रतिक्षणं कियत्कालानन्तरं वाऽन्यथाऽन्यथाभवनात्, अतादवस्थ्यस्य चाऽनित्यत्वात् । न चैवमपि भिन्नाधिकरणे नित्यत्वाऽनित्यत्वे द्रव्यपर्याययोर्भेदाभेदोपगमात्, अन्यथोभयोरप्यसत्त्वाऽऽपत्तेः । तथाहि-शक्यते वक्तुं परपरिकल्पितं द्रव्यमसत्, पर्यायव्यतिरिक्तत्वात्, बालत्वाऽऽदिपर्यायशून्यवन्ध्यासुतवत्, तथा परपरिकल्पिताः पर्याया असतः द्रव्यत्वव्यतिरिक्तत्वात्, वन्ध्यासुतगतबालत्वाऽऽदिपर्यायवत् । उक्तं च--"द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः । क कदा केन किंरूपाः, दृष्टा मानेन केन वा ? ॥१॥" इति कृतं प्रसङ्गेन । विस्तरार्थिना धर्मसंग्रहणिटीका निरूपणीया । " (से एएणऽट्ठेणमित्यादि) उपसंहारमाह-' से ' शब्दोऽथशब्दार्थः । स चाऽत्र वाक्योपन्यासे, अथ एतेनाऽनन्तरोदितेन कारणेन गौतम ! एवमुच्यते-स्यात् शाश्वती, स्यादशाश्वती । एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तमी पृथिवी । इह यद् यावत्संभवाऽऽरूपदं तच्च तावन्तं कालं शश्वद्भवति, तदा तदपि शाश्वतमुच्यते । यथा तन्त्रान्तरे-" आकप्पट्ठाई पुढवी सासया " इत्यादि । ततः संशये किमेषा रत्नप्रभा पृथिवी सकलकालावस्थायित्वचिन्तया शाश्वती ? उताऽन्यथा ?। यथा तन्त्रान्तरीयैरुच्यते इति, ततस्तदपनोदार्थं पृच्छति ।

(३१) कालस्थितिः-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी कालतो केवचिरं होति ?। गोयमा ! ण कदा वि ण आसि, ण कदा वि णत्थि, ण कदा वि ण भविस्सति, भुविं य, भवति य, भविस्सति य, धुवा णियता सासता अक्खया अव्वया अवट्ठिता णिच्चा एवं० जाव अहे सत्तमा ।

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी कालतः कियच्चिरं कियन्तं कालं यावद्भवति ?। भगवानाह-गौतम ! न कदाचिन्नासीत्, सदैवासीदिति भावः । अनादित्वात् । तथा न कदाचिन्न भवति, सर्वदैव वर्तमानकालचिन्तायां भवतीति भावः । अत्रापि स एव हेतुः, सदा भावादिति । तथा न कदाचिन्न भविष्यति, भविष्यच्चिन्तायाः सर्वदैव भविष्यतीति भावः, अपर्यवसितत्वात् । तदेवं कालत्रयचिन्तायां नास्तित्वप्रतिषेधं विधाय संप्रत्यस्तित्वं प्रतिपादयति-(भुविं चेत्यादि) अभूत्, भवति, भविष्यति च। एवं त्रिकालभावित्वेन ध्रुवा, ध्रुवत्वादेव नियता नियतावस्थाना, धर्मास्तिकायाऽऽदिवत्, नियतत्वादेव च शाश्वती शश्वद्भावे प्रलयाभावात्, शाश्वतत्वादेव च सततं गङ्गासिन्धुप्रवाहप्रवृत्तावपि पौण्डरीकह्रद इवान्यतरपुद्गलविघटनेऽप्यन्यतरपुद्गलोपचयभावादक्षया, अक्षयत्वादेव चाव्यया मानुषोत्तराद् बहिः समुद्रवत्, अव्ययत्वादेवावस्थिता स्वप्रमाणावस्थिता सूर्यमण्डलाऽऽदिवत्, एवं सदाऽवस्थानेन चिन्त्यमाना नित्या जीवस्वरूपवत् । यदि वा ध्रुवाऽऽदयः शब्दा इन्द्रशक्राऽऽदिवत् पर्यायशब्दा नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमुपन्यस्ता इत्यदोषः । एवमेकैका पृथिवी क्रमेण तावद्वक्तव्या, या-

बहवः सप्तमी । (पृथिवीषु विभागतोऽन्तरवक्तव्यता 'अंतर' शब्दे प्रथमभागे ७१ पृष्ठे गता)

(३२) पृथिव्यो बाहल्येन तुल्याः-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी दोच्चं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं किं तुल्ला विसेसाहिया संखेज्जगुणा, वित्थारेणं किं तुल्ला विसेसहीणा संखेज्जगुणहीणा ?। गोयमा ! इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी दोच्चं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं णो तुल्ला, विसेसाहिता, नो संखेज्जगुणा, वित्थारेणं णो तुल्ला विसेसहीणा, णो संखेज्जगुणहीणा । दोच्चा णं भंते ! पुढवी तच्चं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं किं तुल्ला, एवं चेव भाणियव्वा । एवं तच्चा चउत्थी पंचमी छट्ठी । छट्ठी णं भंते ! पुढवी सत्तमिं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं किं तुल्ला विसेसाहिया संखेज्जगुणा, एवं चेव भाणियव्वं, सेवं भंते ! भंते ! त्ति ।

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी द्वितीयां शर्कराप्रभां प्रणिधायाऽऽश्रित्य बाहल्येन पिण्डभावेन किं तुल्या, विशेषाधिका, संख्येयगुणा ?, बाहल्यमाधिकृत्येदं प्रश्नत्रयम । ननु एकाऽशीत्युत्तरयोजनलक्षमाना, अपरा द्वात्रिंशदुत्तरयोजनलक्षमाना इत्युक्तम, तत्तदर्थावगमे सत्युक्तलक्षणं प्रश्नत्रयमयुक्तम, विशेषाधिकेति स्वयमेवाऽर्थपरिज्ञानात् । सत्यमेतत् । केवलमप्रश्नोऽयं तदन्यमोहाऽपोहार्थः । एतदपि कथमवसीयते ? इति चेत्, स्वावबोधाय प्रश्नान्तरोपन्यासात् । तथा चाऽऽह-विस्तरेण विष्कम्भेन किं तुल्या, विशेषहीना, संख्येयगुणहीनेति ?। भगवानाह-गौतम ! इयं रत्नप्रभा पृथिवी द्वितीयां पृथिवीं प्रणिधाय बाहल्येन न तुल्या, किं तु विशेषाधिका, नाऽपि संख्येयगुणा । कथमेतदेवमिति चेत् ?। उच्यते-इह रत्नप्रभा पृथिवी अशीत्युत्तरयोजनलक्षमाना, शर्कराप्रभा द्वात्रिंशदुत्तरयोजनलक्षमाना, तदन्तरमष्टाचत्वारिंशद् योजनसहस्राणि, ततो विशेषाधिका घटते, न तुल्या, नाऽपि संख्येयगुणा; विस्तरेण न तुल्या, किं तु विशेषहीना, नाऽपि संख्येयगुणा, प्रदेशाऽऽदिवृद्ध्या प्रवर्द्धमाने तावति क्षेत्रे शर्कराप्रभाया एव वृद्धिसंभवात् । एवं सर्वत्र भावनीयम । जी० ३ प्रति० १ उ० ।

(३३) संप्रति कस्यां पृथिव्यां कस्मिन् प्रदेशे नरकाऽऽवासा इत्येतत् प्रतिपादनार्थं तावदिदमाह-

कइ णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ? । गोयमा ! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-रयणप्पभा० जाव अहे सत्तमा ।

(कइ णं भंते ! इत्यादि) कति भदन्त ! पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः ?, इति विशेषाऽभिधानार्थमेतदभिहितम । उक्तं च-"पुव्वभणियं अं भण्णइ तत्थ कारणं अत्थि पडिसेहो, अणुण्णा, कारणविसेसोवलंभो वा "। भगवानाह-गौतम ! सप्त पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-रत्नप्रभा, यावत्तमस्तमःप्रभा ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसतसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवतियं ओगाहित्ता, हेट्ठा केवतियं वज्जेत्ता, मज्झे केवतिए केवतिया निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ?। गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता हेट्ठा वि एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठुत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं रयणप्पभाए पुढवीए नेरतियाणं तीसं निरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खाया ।

(इमीसे णं इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या उपरि कियत् किंप्रमाणमवगाह्य, उपरितनभागात् कियत् अतिक्रम्येत्यर्थः । अधस्तात् कियत् किंप्रमाणं वर्जयित्वा मध्ये कियति किंप्रमाणे कियन्ति नरकाऽऽवासाः शतसहस्राणि प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम ! अस्याः रत्नप्रभायाः पृथिव्या अशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रबाहल्याया उपरि एकं योजनसहस्रमवगाह्य, अधस्तादेकं योजनसहस्रं वर्जयित्वा, मध्ये मध्यभागे अष्टसप्तत्युत्तरे अष्टसप्ततिसहस्राधिके योजनशतसहस्रम, अत्र एतस्मिन् रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकाणां योग्यानि त्रिंशन्नरकाऽऽवासशतसहस्राणि भवन्तीत्याख्यातं मया, शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, अनेन सर्वतीर्थकृतामविसंवादिवचनता प्रवेदिता ।

(३४) वर्णकः-

ते णं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा० जाव असुभा णरएसु वेयणा, एवं एएणं अभिलावेणं उववज्जिऊण भाणियव्वं, ठाणपयाणुसारेणं जत्थ जं बाहल्लं जत्तिया वा णेरइयावाससयसहस्सा० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए, अहे सत्तमाए मज्झे केवतिए कति अणुत्तरा महतिमहालया महाणिरया पण्णत्ता ?; एवं पुच्छियव्वं वागरेयव्वं पि तहेव छट्ठी सत्तमासु काओअगणिवण्णाभा भाणियव्वा ।

(ते णं णरगा इत्यादि) ते नरका अन्तर्मध्यभागे वृत्ता वृत्ताकारा बहिर्बहिर्भागे चतुरस्राः चतुरस्राऽऽकाराः, इदं च पीठोपरिवर्तिनं मध्यभागमधिकृत्य प्रोच्यते । सकलपीठाऽऽद्यपेक्षया तु आवलिकाप्रविष्टा वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रसंस्थानाः, पुष्पावकीर्णास्तु नानासंस्थानाः प्रतिपत्तव्याः । एतच्चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यति-[अहे खुरप्पसंठाणसंठिया इति] अधो भूमितले क्षुरप्रस्येव प्रहरणविशेषस्य यत् संस्थानमाकारविशेषः-तीक्ष्णतालक्षणः, तेन संस्थिताः क्षुरप्रसंस्थानसंस्थिताः । तथाहि-तेषु नरकाऽऽवासेषु भूमितले मसृणत्वाभावतः शर्करिले पादेषु न्यस्यमानेषु शर्करामात्रसंस्पर्शेऽपि क्षुरप्रेच पादाः कृत्यन्ते [कृत्यन्ते] [निच्चंधकारतमसा इति] नित्यान्धकारा उद्योताभावतो यत्तमस्तेन तमसा नित्यं सर्वकालमन्धकारो येषु नित्यान्धकाराः । नत्रापवरकाऽऽदिष्वपि नामान्धकारोऽस्ति, केवलं बहिः सूर्यप्रकाशे मन्दं तमो भवति, नरकेषु तु तीर्थकरजन्मदीक्षाऽऽदिकालव्यतिरेकेणान्यदा सर्वकालमपि उद्योतलेशस्याऽप्यभावतो जात्यन्धस्येव मेघच्छन्नकालाऽर्द्धरात्र इवातीव बहलतरो भवति । तत उक्तं-तमसा नित्यान्धकाराः, तमश्च तत्र सदावस्थितम, उद्द्योतकारिणामभावात् । तथाऽऽह-[ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा] व्यपगतः परिभ्रष्टो ग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्ररूपाणाम, उपलक्षणमेतत्-ताराऋपाणां ज्योतिष्काणां पन्थाः मार्गो यत्र व्यपगतग्रहसूर्यनक्षत्रज्योतिष्कपथाः । तथा-[मेयवसापूयरुहिरमंस-

चिक्खल्ललित्ताणुलेवणतला इति] स्वभावतः संपकैर्मेदोवसापूतिरुधिरमांसैर्यश्चिक्खल्लः कर्दमस्तेन लिप्तमुपदिग्धमनुलेपनेन सकृल्लिप्तस्य पुनःपुनरुपलेपनेन तलं भूमिका येषां ते मेदोवशापूतिरुधिरमांसचिक्खल्ललिप्तानुलेपनतलाः, अत एवाशुचयोऽपवित्राः, बीभत्सा दर्शनेष्वतिजुगुप्सोत्पत्तेः, परमदुरभिगन्धा मृतगवादिकलेवरेभ्योऽप्यतीवानिष्टदुरभिगन्धाः (काओअगणिवण्णाभा इति) लोहे धम्यमाने यादृक्कपोतो बहुकृष्णरूपोऽग्निवर्णः। किमुक्तं भवति?-यादृशी बहुकृष्णवर्णरूपा अग्निज्वाला विनिर्गच्छतीति तादृशी आभा वर्णस्वरूपं येषां ते कपोताग्निवर्णाभाः, तथा कर्कशोऽतिदुस्सहोऽसिपत्रस्येव स्पर्शो येषां ते कर्कशस्पर्शाः, अत एव-[दुरहियासा इति] दुःखेनाध्यस्यन्ते दुरध्यासाः, अशुभा दर्शनतो नरकास्तथा गन्धरसस्पर्शशब्दैरशुभा अतीवासातरूपाः नरकेषु वेदनाः, एवं सर्वास्वपि पृथिवीष्वालापको वक्तव्यः। जी० ३ प्रति०। (' ठाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०० पृष्ठे दर्शित आलापः) (नरकाऽऽवाससंख्या उपर्यधश्चैकैकं योजनसहस्रं मुक्त्वा यावत्प्रमाणं नरकाऽऽवासयोग्यं पृथिवीबाहल्यं, तत्सर्वं संग्रहणीगाथाभिः ' ठाण ' शब्दे १७०२ पृष्ठे प्रतिपादितम)

(३५) संप्रति नरकाऽऽवाससंस्थानप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरगा किंसंठिता पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविधा पण्णत्ता। तं जहा-आवलियपविट्ठा य, आवलियबाहिरा य। तत्थ णं जे ते आवलियपविट्ठा ते तिविहा पण्णत्ता। तं जहा-वट्टा,तंसा,चउरंसा। तत्थ णं जे ते आवलियबाहिरा, ते णाणासंठाणसंठिता पण्णत्ता। तं जहा-अयकोट्ठसंठिया, पिट्ठपयणगसंठिया,कंडूसंठिया, लोहीसंठिया, कडाहसंठिया, थालीसंठिया,पिहडगसंठिया, किण्हगसंठिया, उडजसंठिया,मुरयसंठिया, मुइंगसंठिया, णंदिमुइंगसंठिया, आलिंगसंठिया, सुघोससंठिया, दद्दरसंठिया, पणवसंठिया, पडहसंठिया, भेरीसंठिया, झल्लरिसंठिया, कुत्थुंबकसंठिया,नालीसंठिया,एवं०जाव तमाए।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः किमिव संस्थिताः प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम ! नरका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-आवलिकाप्रविष्टाश्च, आवलिकाबाह्याश्च । चशब्दावुभयेषामप्यशुभतासूचकौ । आवलिकाप्रविष्टा नाम-अष्टासु दिक्षु समश्रेण्या व्यवस्थिताः, आवलिकासु श्रेणिषु प्रविष्टा व्यवस्थिता आवलिकाप्रविष्टाः, ते संस्थानमधिकृत्य त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-वृत्ताः त्र्यस्राः, चतुरस्राः। तत्र ये ते आवलिकाबाह्याः, ते नानासंस्थानसंस्थिताः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-अयःकोष्ठो लोहमयकोष्ठस्तद्वत् संस्थिताः (पिट्ठपयणगसंठिया इति) यत्र सुरासंधानाय पिष्टं पच्यते तत् पिष्टपचनकं, तद्वत् संस्थिताः ।

अत्र संग्रहणीगाथे-

"अयकोट्ठपिट्ठपयणग-कंडूलोहीकडाहसंठाणा।
थालीपिहडगकिण्हग-उडए मुरए मुइंगेसु।
नंदिमुइंगे आलिं-गि सुघोसे दद्दरे य पणवे य।
पडहगझल्लरिभेरी-कुत्थुंबगनालिसंठाणा" ॥

कण्डूः पाकस्थानं, लोहीकटाहौ प्रतीतौ, तद्वत्संस्थानाः, स्थाली तथा,पिहडगं यत्र प्रचुरजनयोग्यं धान्यं पच्यते, उटजस्तापसाऽऽश्रमः, मुरजो मर्दलविशेषः, नन्दीमृदङ्गो द्वादशविधतूर्यान्तर्गतो मृदङ्गः। स च द्विधा । तद्यथा-मुकुन्दो, मर्दलश्च । तत्रोपरि संकुचितोऽधो विस्तीर्णो मुकुन्दः, उपर्यधश्च समो मर्दलः। आलिङ्गो मृन्मयो मुरजः, सुघोषो देवलोकप्रसिद्धो घण्टाविशेषः, आतोद्यविशेषो वा, दर्दरो वाद्यविशेषः,पणवो भाण्डानाम,पटहः प्रतीतः, भेरी ढक्का, झल्लरी चर्मावनद्धा विस्तीर्णवलयाऽऽकारा, कुस्तुम्बकः संप्रदायगम्यः, नाडी घटिका। एवं शेषास्वपि पृथिवीषु तावद् वक्तव्यं यावत् षष्ठ्याः। सूत्रपाठस्त्वेवम्-"सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए णरगा किंसंठिया पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहाआवलियापविट्ठा य, आवलियाबाहिरा य।" इत्यादि।

(३६) अधः सप्तमीविषयं सूत्रं साक्षादुपदर्शयति-

अहे सत्तमाए णं भंते ! पुढवीए नरगा किंसंठिया पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-वट्टे य, तंसा य।

(अहे सत्तमाए णं भंते ! इत्यादि) अधः सप्तम्यां भदन्त ! पृथिव्यां नरकाः किमिव संस्थिताः ?। भगवानाह-गौतम ! द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-(वट्टे य तंसा य इति) अधः सप्तम्यां हि पृथिव्यां नरका आवलिकाप्रविष्टा एव, नावलिकाबाह्याः, आवलिकाप्रविष्टा अपि पञ्च, नाधिकाः, तत्र मध्ये अप्रतिष्ठानाभिधाननरकेन्द्रको वृत्तः, सर्वेषामपि नरकेन्द्रकाणां वृत्तत्वात्। शेषास्तु चत्वारः पूर्वाऽऽदिषु दिक्षु ते त्र्यस्रकाः, तत उक्तं-वृत्ताश्च त्र्यस्राश्च।

(३७) संप्रति नरकाऽऽवासानां बाहल्यप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नरया केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिण्णि जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ता। तं जहा-हेट्ठिल्ले चरिमंते घणा सहस्सं, मज्झे सुसिरा सहस्सं, उप्पिं संकुइया सहस्सं, एवं० जाव अहे सत्तमाए ॥

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः कियद् बाहल्येन बहलस्य भावो बाहल्यं-पिण्डभावः, उत्सेध इत्यर्थः। तेन प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम ! त्रीणि योजनसहस्राणि बाहल्येन प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-अधस्तात् पादपीठे घना निचिताः सहस्रं योजनसहस्रं मध्ये पीठस्योपरि मध्यभागे शुषिराः सहस्रं योजनसहस्रं (तत उप्पिं ति) उपरि संकुचिताः शिखरीकृत्य संकोचनमुपगता योजनसहस्रं, तत एवं सर्वसंख्यया नरकाऽऽवासानां त्रीणि योजनसहस्राणि बाहल्यतो भवन्ति, एवं पृथिव्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तम्याम्।

तथा चोक्तमन्यत्रापि-

"हेट्ठा घणा सहस्सं, उप्पिं संकोचतो सहस्सं तु।
मज्झे सहस्स सुसिरा, तिण्णि सहस्सूसिया णरया ॥१॥"

(३८) संप्रति नरकाऽऽवासानामायामविष्कम्भप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नरगा केवतियं आयामविक्खंभेणं,केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविधा पण्णत्ता। तं जहा-संखेज्जवित्थडा य, असंखेज्ज-

वित्थडा य । तत्थ णं जे ते संखेज्जवित्थडा ते णं संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ता । तत्थ णं जे ते असंखेज्जवित्थडा ते णं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ता । एवं० जाव तमाए ॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः किंप्रमाणमायामविष्कम्भेन, समाहारो द्वन्द्वः, आयामविष्कम्भाभ्यामित्यर्थः । कियत् परिक्षेपेण परिरयेण प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम ! द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-संख्येयविस्तृताश्च, असंख्येयविस्तृताश्च । संख्येयं संख्येययोजनप्रमाणं विस्तृतं विस्तारो येषां ते संख्येयविस्तृताः; एवमसंख्येयं विस्तृतं येषां तेऽसंख्येयविस्तृताः । चशब्दौ स्वगतानेकभेदप्रकाशनपरौ । तत्र ये ते संख्येयविस्तृतास्ते संख्येयानि योजनसहस्राणि आयामविष्कम्भेण, संख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण । तत्र ये तेऽसंख्येयविस्तृतास्ते असंख्येयानि योजनसहस्राणि आयामविष्कम्भेण, असंख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः। एवं प्रतिपृथिवि तावद् वक्तव्यं यावत् षष्ठी पृथ्वी । सूत्रपाठस्त्वेवम्-" सक्करप्पभाए णं पुढवीए नरगा केवइयं आयामविक्खंभेणं, केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संखेज्जवित्थडा य, असंखेज्जवित्थडा य । " इत्यादि ॥

अहे सत्तमाए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! दुविधा पण्णत्ता ?। तं जहा-संखेज्जवित्थडे य, असंखेज्जवित्थडा य। तत्थ णं जे से संखेज्जवित्थडे, से णं एक्कं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं, तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलस सहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसए तिण्णि कोसे अट्ठावीसं धणुसयाइं तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलयं च किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते । तत्थ णं जे ते असंखेज्जवित्थडा, ते णं असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाइं० जाव परिक्खेवेणं पण्णत्ता ।

(अहे सत्तमाए णं भंते ! इत्यादि) अधः सप्तम्यां भदन्त ! पृथिव्यां नरकाः कियदायामविष्कम्भेण, कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम ! द्विविधाः। तद्यथा-सङ्ख्येयविस्तृत एकः; स चाप्रतिष्ठानाऽभिधानो नरकेन्द्रकोऽवसातव्यः। असंख्येयविस्तृताश्चत्वारः। तत्र योऽसौ संख्येयविस्तृतोऽप्रतिष्ठानाऽभिधानो नरकेन्द्रकः, स एकं योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भेण, त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश सहस्राणि द्वे योजनशते सप्तविंशे सप्तविंशत्यधिके त्रयः क्रोशा अष्टाविंशं धनुश्शतं त्रयोदश अङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुलं च किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः । इदं परिक्षेपपरिमाणं गणितभावनया जम्बूद्वीपपरिक्षेपपरिमाणवद्भावनीयम् । ये ते शेषाश्चत्वारोऽसंख्येयविस्तृतास्तेऽसंख्येयानि योजनशतसहस्राण्यायामविष्कम्भेण, असंख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः ।

(३९.) संप्रति नरकाऽऽवासानां वर्णप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए नरया केरिसया वण्णेणं पण्णत्ता ?। गोयमा ! काला, कालावभासा, गंभीरलोमहरिसा भीमा उत्तासणया परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता, एवं० जाव अहे सत्तमाए ।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः कीदृशा वर्णेन प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम ! कालाः, तत्र कोऽपि निष्प्रभतया मन्दकालोऽपि आशङ्क्येत, ततस्तदाशङ्काव्यवच्छेदार्थं विशेषणान्तरमाह-कालाऽवभासाः कालः कृष्णोऽवभासः प्रतिभाविनिर्गमो येभ्यस्ते कालावभासाः, कृष्णप्रभापटलोपचिता इति भावः । अत एव गम्भीररोमहर्षाः-गम्भीरोऽतीवोत्कटो रोमहर्षो भयवशाद् येभ्यस्ते गम्भीररोमहर्षाः । किमुक्तं भवति ?-एवं नाम ते कृष्णाः कृष्णाऽवभासाः, यद्दर्शनमात्रेण नारकजन्तूनां भयसंपादनेन रोमहर्षमुत्पादयन्तीति । अत एव भीमा भयानकाः, भीमत्वादेव उत्त्रास्यन्ते नारका जन्तव एभिरिति उत्त्रासनाः, उत्त्रासना एव उत्त्रासनकाः, वर्णेन वर्णमधिकृत्य परमकृष्णाः प्रज्ञप्ताः; यत ऊर्द्ध्वं न किमपि भयानकं कृष्णमस्तीति भावः । एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तम्याम् ।

(४०) गन्धमधिकृत्याऽऽह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरगा केरिसया गंधेणं पण्णत्ता ?। गोयमा ! से जहानामए अहिमडे ति वा, गोमडे ति वा, सुणमडे ति वा, मज्जारमडे ति वा, मणुस्समडे ति वा, महिसमडे ति वा, मूसगमडे ति वा, आसमडे ति वा, हत्थिमडे ति वा, सीहमडे ति वा, वग्घमडे ति वा, विगमडे ति वा, दीवियमडे ति वा, मयकुहियचिरविनट्ठकुणिमवावण्णदुरभिगंधे असुइविलीणविगयवीभच्छदरिसणिज्जे किमिजालाउलसंसत्ते। भवे एयारूवे सिया ?। णो इणट्ठे समट्ठे गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए णरगा एत्तो अणिट्ठतरका चेव अकंततरका चेव० जाव अमणामतरा चेव गंधेणं पण्णत्ता । एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए ॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! तद्यथा नाम-अहिमृत इति वा, अहिमृतो नाम-मृताहिदेहः, एवं सर्वत्र भावनीयम् । गोमृत इति वा, श्वमृत इति वा, मार्जारमृत इति वा, हस्तिमृत इति वा, सिंहमृत इति वा, व्याघ्रमृत इति वा, द्वीपकमृत इति वा, द्वीपकश्चित्रकः । सर्वत्र अहिश्चासौ मृतश्च अहिमृत इत्येवं विशेषणसमासः । इह मृतकं सद्यःसंपन्नं न विगन्धि भवति । तत आह-(मयकुहियचिरविणट्ठकुणिमवावण्णेत्यादि) मृतः सन् कुथितः पूतिभावमुपगतो मृतकुथितः, स चोच्छूनावस्थामात्रगतोऽपि भवति । न च स तथा विगन्धस्तत आह-चिरविनष्ट उच्छूनावस्थां प्राप्य स्फुटित इति भावः । सोऽपि तथा दुरभिगन्धः, तथा न भवति, तत आह-(कुणिमवावण्णेति) व्यापन्नं विशराबभूतं कुणिमं मांसं यस्य स तथा । ततो विशेषणसमासः । दुरभिगन्ध इति । दुरभिः सर्वेषामाभिमुख्येन दुष्टो गन्धो यस्याऽसौ दुरभिगन्धः। अशुचिविलीनो मनसः कलिमलप-

रिणामहेतुः (विगयं इति) विप्रगतं तदभिमुखतया प्राणिनां गतं गमनं यस्मिन् स तथा, बीभत्सया निन्दयाऽदर्शनीयो बीभत्सादर्शनीयः, ततो विशेषणसमासः, अशुचिर्विगतबीभत्सादर्शनीयः (किमिजालाउलसंसत्ते इति) संसक्तः सन् कृमिजालाकुलो जातः कृमिजालाकुलसंसक्तः, मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात् समासः, संसक्तशब्दस्य च परनिपातः । एतावदुक्ते गौतम ! आह-(भवे एयारूवे सिया इति) स्यात् कदाचिदेतद् यदुत भवेयुरेतद्रूपा यथोक्तविशेषणविशिष्टाऽहिमृताऽऽदिरूपगन्धेनाधिकृता नरकाः, सूत्रे च बहुवचनेऽपि एकवचनं प्राकृतत्वात् । भगवानाह-गौतम ! नायमर्थः समर्थः-नायमर्थं उपपन्नः, यतोऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरका इतो यथोक्तविशेषणविशिष्टाऽहिमृतादनिष्टतरा एव; तत्र किञ्चिद्द्रव्यमपि कस्याऽप्यनिष्टतरं भवति । तत आह-अकान्ततरा एव स्वरूपतोऽप्यकमनीयतरा एव, अभव्या एवेति भावः । तथाऽकान्तमपि कस्याऽपि प्रियं भवति, यथा गर्ताशूकरस्याशुचिः, तत आह-अप्रियतरा एव, न कस्यापि प्रिया इति भावः । अत एवामनोज्ञतरा एव गन्धमधिकृत्य प्रज्ञप्ताः, तत्र मनोज्ञं मनोऽनुकूलमात्रं यत् पुनः स्वविषये मनोऽत्यन्तमासक्तं करोति तद्, न मनोज्ञममनोज्ञम् । एकार्थिका वा एते सर्वे शब्दाः शक्रेन्द्रपुरन्दराऽऽदिवद् नानादेशजविनेयजनानुग्रहार्थमुपात्ताः, एवं पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तम्याम् ।

(४१) स्पर्शमधिकृत्याऽऽह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरया केरिसया फासेणं पण्णत्ता ? । गोयमा ! से जहानामए असिपत्तेइ वा खुरपत्तेइ वा कलंबचीरियापत्तेइ वा सत्तग्गेति वा कुंतग्गेति वा तोमरग्गेति वा नारायग्गेति वा सूलग्गेति वा लउडग्गेति वा भिंडिमालग्गेति वा सूचिकलावएति वा कविकच्छुत्ति वा विच्छुकंटेति वा इंगालेति वा जालाएति वा मुम्मुरएति वा अच्चि त्ति वा अलाएति वा सुद्धागणिएति वा । भवे एयारूवे सिया ? । णो इणट्ठे समट्ठे । गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए णरगा एत्तो अणिट्ठतरा चेव० जाव अमणामतरा चेव वा फासेणं पण्णत्ता । एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए ॥

(इमीसे णमित्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! तद्यथा नाम-असिपत्रमिति वा-असिः खड्गं, तस्य पत्रमसिपत्रं, क्षुरपत्रमिति वा, कदम्बचीरिकापत्रमिति वा, कदम्बचीरिका तृणविशेषः-स च दर्भादप्यतीव तुदकः, शक्तिः प्रहरणविशेषः, तदग्रमिति वा, कुन्ताग्रमिति वा, तोमराग्रमिति वा, भिण्डिमालः प्रहरणविशेषः, तदग्रमिति वा, सूचीकलाप इति वा, कपिकच्छूरिति वा, कपिकच्छूः कण्डूतिजनको वल्लीविशेषः, वृश्चिकदंश इति वा, अङ्गार इति वा, अङ्गारो निर्धूमाग्निः, ज्वालेति वा, ज्वाला अनलसंबद्धा (मुम्मुर इति वा) मुर्मुरः फुम्फुकाऽऽदौ मसृणोऽग्निः, अर्चिरिति वा, अर्चिरनलविच्छिन्ना ज्वाला, अलातमुल्मुकम्, शुद्धाग्निरयःपिण्डानुगतोऽग्निः, विद्युदादिर्वा, इतिशब्दः सर्वत्रापि उपमाभूतवस्तुस्वरूपपरिसमाप्तिद्योतकः, वाशब्दः परस्परसमुच्चये । इह कस्याऽपि नरकस्य स्पर्शः शरीरावयवच्छेदकोऽपरस्य भेदकोऽन्यस्य व्यथाजनकोऽपरस्य दाहक इत्यादि । ततः साम्यप्रतिपत्त्यर्थमसिपत्राऽऽदीनां नानाविधानामुपमानानामुपादानम् (भवे एयारूवे सिया इत्यादि) प्राग्वत् ।

(४२) संप्रति नरकाऽऽवासानां महत्त्वमभिधित्सुराह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नरगा किं महालया पण्णत्ता ? । गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतरए सव्वखुड्डाए वट्टे तेल्लापूत [तेल्लपूप] [तेल्लापूप] संठाणसंठिते वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिते वट्टे रहचक्कवालसंठाणसंठिते वट्टे पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिते एक्कं जोयणसतसहस्सं आयामविक्खंभेणं० जाव किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं, देवे णं महिड्डिए० जाव महाणुभागे० जाव इणामेव त्ति कट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं तिहिं अच्छराणिवाएहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, से णं देवे ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए सिग्घाए जइणाए छेइयाए उद्धुयाए दिव्वाए देवगईए वीतीवयमाणे जहन्नेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा, उक्कोसेणं छम्मासे वीईवएज्जा, अत्थेगतिए णरगे वीईवएज्जा, अत्थेगतिए णो वीतीवएज्जा, महालया णं गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए णरगा पण्णत्ता । एवं० जाव अहे सत्तमाए अत्थेगतियं नरगं वीईवएज्जा, अत्थेगइयं नरगं नो वीईवएज्जा ।

(इमीसे णं इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः किं महान्तः किंप्रमाणा महान्तः प्रज्ञप्ताः ? । पूर्वं त्वसंख्येयविस्तृता इति कथितं, तच्चासंख्येयत्वं नावगम्यते इति भूयः प्रश्नः । अत एवाऽत्र निर्वचनं भगवानुपमयाऽभिधत्ते-गौतम ! अयमिति यत्र स्थिता वयं, णमिति वाक्यालङ्कारे, अद्यापि अनोऽच्छिन्नतया रत्नमय्या जम्ब्वा उपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपः, सर्वद्वीपसमुद्राणां धातकीखण्डलवणाऽऽदीनां सर्वाभ्यन्तर आदिभूतः, सर्वक्षुल्लकः सर्वेभ्यो द्वीपसमुद्रेभ्यः क्षुल्लको ह्रस्वः सर्वक्षुल्लकः । तथाहि-सर्वे लवणाऽऽदयः समुद्राः सर्वे धातकीखण्डाऽऽदयो द्वीपा अस्माद् जम्बूद्वीपादारभ्य प्रवचनोक्तक्रमेण द्विगुणद्विगुणाऽऽयामविष्कम्भपरिधयः, ततोऽयं शेषसर्वद्वीपसमुद्रापेक्षया सर्वलघुरिति, तथा वृत्तो, यतस्तैलापूपसंस्थानसंस्थितः, तैलेन पक्वोऽपूपस्तैलापूपः, तैलेन हि पक्वोऽपूपः प्रायः परिपूर्णवृत्तो भवति, न घृतेन पक्व इति तैलविशेषणं, तस्येव संस्थानं, तेन संस्थितस्तैलापूपसंस्थानसंस्थितः, तथा वृत्तो, यतः पुष्करकर्णिकासंस्थानसंस्थितः, तथा वृत्तो, यतो रथचक्रवालसंस्थानसंस्थितः, तथा वृत्तो, यतः परिपूर्णचन्द्रसंस्थानसंस्थितः, अनेकधोपमानोपमेयभावो नानादेशजविनेयप्रतिपत्त्यर्थः । एकं योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भेण, त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश सहस्राणि द्वे योजनशते सप्तविंशे त्रयः क्रोशा अष्टाविंशं धनुःशतं त्रयोदश अङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुलं च किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः । परिक्षेपपरिमाणगणितभावना क्षेत्रसमासटीकातो, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीकातो वा वे-

वितव्या । (देवे य णमित्यादि) देवश्च, णमिति वाक्यालङ्कारे । महर्द्धिकः महती ऋद्धिर्विमानपरिवाराऽऽदिका यस्य स महर्द्धिकः, महती द्युतिः शरीराभरणविषया यस्य स महाद्युतिकः, महद् बलं शरीरं प्राणा यस्य स महाबलः, महद् यशः ख्यातिर्यस्य स महायशाः, तथा (महेसक्खे इति) महेश इति महान् ईश्वर इत्याख्या यस्य स महेशाख्यः । अथवा-ईशनमीशो भावे घञ्प्रत्ययः, ऐश्वर्यमित्यर्थः, 'ईश' ऐश्वर्ये इतिवचनात् । तत ईशमैश्वर्यमात्मनः ख्यातिः, अन्तर्भूतण्यर्थतया ख्यापयति प्रथयति, ईशाख्यः महाँश्चासावीशाऽऽख्यश्च महेशाख्यः । क्वचित् " महासोक्खे " इति पाठः । तत्र महत् सौख्यं यस्य प्रभूतसद्वेद्योदयवशात् स महासौख्यः । अन्ये पठन्ति-"महासक्खे इति" तत्रायं शब्दसंस्कारो महाश्वाक्षः । इयं चात्र पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शिता व्युत्पत्तिः, आशुगमनादश्वो मनः, अक्षाणि इन्द्रियाणि स्वविषयव्यापकत्वात्, अश्वश्चाक्षाणि च अश्वाक्षाणि, महान्ति अश्वाक्षाणि यस्याऽसौ महाश्वाक्षः । तथा-(महाणुभागे इति) अनुभागो विशिष्टवैक्रियाधिकरणविषया अचिन्त्या शक्तिः, "भागो चिंता सत्ती" इति वचनात् । महान् अनुभागो यस्य स महानुभागः । अमूनि महर्द्धिक इत्यादीनि विशेषणानि तत्सामर्थ्यातिशयप्रतिपादकानि । यावदिति चप्पुटिकात्रयकरणकालावधिप्रदर्शनपरम् । "इणामेव त्ति कट्टु " एवमेव मुधिकया, " एमेव मोरकल्ला (कुल्ला), मुहा य मुहिय त्ति नायव्वा । " इति वचनात् । अवक्रयेति भावः । उक्तं च मूलटीकायाम्-(इणामेवेति कट्टु) एवमेव मुधिकया अवक्रयेति इतिकृत्वेति हस्तदर्शितचप्पुटिकात्रयकरणसूचकम्, केवलकल्पं परिपूर्णं जम्बूद्वीपं त्रिभिरप्सरोनिपातैः । अप्सरोनिपातो नाम-चप्पुटिका, तत्र तिसृभिश्चप्पुटिकाभिरिति द्रष्टव्यम् । चप्पुटिकाश्च कालोपलक्षणं, ततो यावता कालेन तिस्रश्चप्पुटिकाः पूर्यन्ते, तावत्कालमध्ये इत्यर्थः । त्रिःसप्तकृत्व एकविंशतिवारान्, अनुपरिवर्त्य सामस्त्येन परिभ्रम्य, 'हव्वं' शीघ्रमागच्छेत्, स इत्थम्भूतगमनशक्तियोग्यो देवस्तया देवजनप्रसिद्धया उत्कृष्टया प्रशस्तविहायोगतिनामोदयात् प्रशस्तया, शीघ्रसंचरणात् त्वरितया, त्वरा संजाता अस्यामिति त्वरिता, तया त्वरितया, शीघ्रतरमेव तया प्रदेशान्तराक्रमणमिति; चपलेव चपला, तया, क्रोधाविष्टस्येव श्रमासंवेदनात् चण्डेव चण्डा, तया, निरन्तरं शीघ्रगुणयोगात् शीघ्रा, तया शीघ्रया, परमोत्कृष्टवेगपरिणामोपेता जवना, तया । अन्ये तु जैनया विपक्षजेतृत्वेनेति व्याचक्षते; छेकया निपुणया, वातोद्धूतस्य दिगन्तव्यापिनो रजस इव या गतिः सा उद्धूता, तया । अन्ये त्वाहुः-उद्धूतया तद्दर्पातिशयेनेति, दिव्या दिवि देवलोके भवा दिव्या, तया, देवगत्या व्यतिव्रजन् जघन्यत एकाहं वा एकमहर्यावत्, एवं द्व्यहं त्र्यहमुत्कर्षतः षण्मासान् यावत् व्यतिव्रजन्, तत्राऽस्त्येतद् यदुत एककान् कांश्चन नरकान् व्यतिव्रजेत् उल्लङ्घ्य परतो गच्छेत्, तथाऽस्त्येतत् यदुत-इत्थंभूतयाऽपि गत्या षण्मासानपि यावद् निरन्तरं गच्छन् एककान् कांश्चन नरकान् न व्यतिव्रजेत् नोल्लङ्घ्य परतो गच्छेत्, अतिप्रभूतायामतया तेषामन्तस्य प्राप्तुमशक्यत्वात्, एतावन्तो महान्तो गौतम! अस्यां रत्नप्रभायां नरकाः प्रज्ञप्ताः । एवमेकैकस्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं, यावदधः सप्तम्यां, नवरमधः सप्तम्यामेवं वक्तव्यम्-" अत्थेगइयं णरगं वीईवएज्जा, अत्थेगइए नरगे नो वीईवएज्जा । " अप्रतिष्ठानाऽभिधस्यैकस्य नरकस्य लक्षयोजनाऽऽयामविष्कम्भतया अन्तस्य प्राप्तुं शक्यत्वात्, शेषाणां च चतुर्णामपि प्रभूतासंख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणत्वेनान्तस्य प्राप्तुमशक्यत्वात् ।

(४३) संप्रति किंमया नरकाः?, इति निरूपणार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नरगा किंमया पन्नत्ता ? । गोयमा ! सव्ववइरामया पण्णत्ता । तत्थ णं णरएसु बहवे जीवा य पोग्गला य अवक्कमंति, विउक्कमंति, चयंति, उववज्जंति, सासता णं ते नरगा दव्वट्ठयाए वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासता, एवं० जाव अहे सत्तमा ॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः किम्मयाः किंविकाराः प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम ! (सव्ववइरामया इति) सर्वाऽऽत्मना वज्रमयाः प्रज्ञप्ताः, वज्रशब्दस्य सूत्रे दीर्घता प्राकृतत्वात् । तत्र च येषु नरकेषु णमितिवाक्यालङ्कारे, बहवो जीवाश्च खरबादरपृथिवीकायिकरूपाः, पुद्गलाश्च अपक्रामन्ति, च्यवन्ते, व्युत्क्रामन्ति, उत्पद्यन्ते । एतदेव शब्दद्वयं यथाक्रमं पर्यायद्वयेन व्याचष्टे-(चयंति उववज्जंति) च्यवन्ते, उत्पद्यन्ते । किमुक्तं भवति ?-एके जीवाः पुद्गलाश्च यथायोगं गच्छन्ति, अपरे त्वागच्छन्ति । यस्तु प्रतिनियतसंस्थानाऽऽदिरूप आकारः स तदवस्थ एवेति । अत एवाऽऽह-(सासता णमिति) पूर्ववत्, ते नरका द्रव्यार्थतया तथाविधप्रतिनियतसंस्थानाऽऽदिरूपतया वर्णपर्यायैः गन्धपर्यायैः रसपर्यायैः स्पर्शपर्यायैः पुनरशाश्वता वर्णाऽऽदीनामन्यथाभवनात् । एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तमी पृथिवी । जी० ३ प्रति० ।

(४४) किंप्रतिष्ठिता नरकाः?-

तिपइट्ठिया णरगा पन्नत्ता । तं जहा-पुढवीपइट्ठिया णरगा, आगासपइट्ठिया, आयपइट्ठिया । णेगमसंगहववहाराणं पुढविपइट्ठिया, उज्जुसुयस्स आगासपइट्ठिया, तिण्हं सद्दणयाणं आयपइट्ठिया ।

स्फुटं केवलं नारका नरकाऽऽवासा आत्मप्रतिष्ठिताः स्वरूपप्रतिष्ठिताः । तत्प्रतिष्ठानं नयैराह-(णेगमेत्यादि) नैकेन सामान्यविशेषग्राहकत्वात् तथाऽनेकेन ज्ञानेन मिनोति परिच्छिनत्तीति नैगमः । अथवा-निगमा निश्चितार्थबोधाः, तेषु कुशलो भवो वा नैगमः । अथवा-नैको गमोऽर्थमार्गो यस्य स प्राकृतत्वेन नैगमः ॥ १ ॥ संग्रहणं भेदानां संगृह्णाति वा तान् संगृह्यन्ते वा ते येन स संग्रहः, सामान्यमात्राभ्युपगमपर इति ॥ २ ॥ व्यवहरणं व्यवह्रियते वा तेन विशेषेण वा सामान्येन व्यवह्रियते निराक्रियतेऽनेनेति लोकव्यवहारपरो व्यवहारो विशेषमात्राभ्युपगमपरः ॥३॥ एतेषां नयानां मतेनेति गम्यम् । ऋजु अवक्राभिमुखं श्रुतं श्रुतज्ञानं यस्येति ऋजुश्रुतः, ऋजु वाऽतीतानागतवक्रपरित्यागाद् वर्तमानं वस्तु सूत्रयति गमयतीति ऋजुसूत्रः, स्वकीयं सांप्रतं च वस्तु नान्यदित्यभ्युपगमपरः । शप्यते अभिधीयते अभिधेयमनेनेति शब्दो वाचको ध्वनिः, नयन्ति परिच्छिन्दन्ति अनेकधर्माऽऽत्मकं सद् वस्तु सावधारणतयैकेन धर्मेणेति नयाः शब्दप्रधाननयाः । ते च त्रयः-शब्दसमभिरूढैवंभूताऽऽख्याः । तत्र शपनमभिधानं, शप्यते वा येन वस्तु स शब्दः, तदभिधेयविमर्शनपरो नयोऽपि शा-

च्द एवेति । स च भावनिक्षेपरूपं वर्तमानमभिन्नलिङ्गवाचकं बहुपर्यायमपि च वस्त्वभ्युपगच्छतीति । वाचकं वाचकं प्रति वाच्यभेदं समभिरोहत्याश्रयति यः स समभिरूढः । स ह्यनन्तरोक्तविशेषणस्याऽपि वस्तुनः शक्रपुरन्दराऽऽदिवाचकभेदेन भेदमभ्युपगच्छति, घटपटाऽऽदिवदिति । यथा शब्दार्थो घटते चेष्टत इति घट इत्यादिलक्षण एवमिति तथाभूतः सत्यो घटाऽऽदिरर्थो, नान्यथेत्येवमभ्युपगमपर एवंभूतो नयः । अयं हि भावनिक्षेपाऽऽदिविशेषणोपेतं व्युत्पत्त्यर्थाऽऽविष्टमेवार्थमिच्छति, जलाऽऽहरणाऽऽदिचेष्टावन्तं घटमेवेति । तत्राऽऽद्यत्रयस्याऽशुद्धत्वात् प्रायो लोकव्यवहारपरत्वाच्च पृथिवीप्रतिष्ठितत्वं नारकाणामिति तत्त्वम्, चतुर्थस्य शुद्धत्वात् आकाशस्य च गच्छतां तिष्ठतां वा सर्वभावानामैकान्तिकाऽऽधारत्वाद् पृथ्व्योऽनैकान्तिकत्वाच्चाऽऽकाशप्रतिष्ठितत्वमिति, त्रयाणां तु शुद्धतरत्वात् सर्वभावानां स्वभावलक्षणाऽधिकरणस्याऽन्तरङ्गत्वादव्यभिचारित्वाच्च आत्मप्रतिष्ठितत्वमिति । न हि स्वस्वभावं विहाय परस्वभावाधिकरणा भावाः कदाचनाऽपि भवन्तीति । यत आह भाष्यकारः-" वत्थुं वसइ सहावे, सत्ताओ चेयणं व्व जीवम्मि । न विलक्खणत्तणाओ, भिन्ने अन्नाययवे चेव" ॥२२४२॥ (विशे०) इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० [उपपातः 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे ९१५ पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्यः] [एवं शरीरावगाहनावगाहनेऽपि स्वस्थाने]

(४५) नरकदुःखवर्णनम्-

पुच्छिस्सहं केवलियं महेसिं,
कहंऽभितावा णरगा पुरत्था ।
अजाणओ मे मुणि ! बूहि जाणं,
कहिं नु बाला नरए उर्विति ? ॥१॥

जम्बूस्वामिना सुधर्मस्वामी पृष्टः । तद्यथा--भगवन् ! किंभूता नारकाः, कैर्वा कर्मभिरसुमतां तेषूत्पादः, कीदृश्यो वा तत्रत्या वेदनाः ?, इत्येवं पृष्टः सुधर्मस्वाम्याह-यदेतद्भवताऽहं पृष्टस्तदेतत् केवलिनमतीतानागतवर्तमानसूक्ष्मव्यवहितपदार्थवेदिनं, महर्षिमुग्रतपश्चरणकारिणमनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुं श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिनं, पुरस्तात् पूर्वं पृष्टवानस्मि । यथा-कथं किंभूता अभितापान्विता नरका नरकाऽऽवासा भवन्ति?, इत्येतदजानतो मे मम हे मुने ! जानन् पूर्वमेव केवलज्ञानेनावगच्छन्, ब्रूहि कथय । कथं नु केन प्रकारेण किमनुष्ठायिनः ?। नुरिति वितर्के । बाला अज्ञा हिताहितप्राप्तिविवेकरहिताः, तेषु नरकेषूप सामीप्येन तद्योग्यकर्मोपादानतया, यान्ति गच्छन्ति ।१।

(४६) किंभूताश्च तत्र गतानां वेदनाः प्रादुःषन्तीत्येतच्चाऽऽह-

एवं मए पुट्ठे महाणुभावे,
इणमो ऽब्बवी कासवे आसुपन्ने ।
पवेदइस्सं दुहमट्ठदुग्गं,
आदीणियं दुक्कडियं पुरत्था ॥ २ ॥

एवमनन्तरोक्तं, मया विनेयेनोपगम्य पृष्टो महाँश्चतुस्त्रिंशदतिशयरूपोऽनुभावो माहात्म्यं यस्य स तथा । प्रश्नोत्तरकालं चेदं वक्ष्यमाणम्, "मो" इति वाक्यालङ्कारे, केवलाऽऽलोकेन परिज्ञाय मत्प्रश्ननिर्वचनमब्रवीदुक्तवान् । कोऽसौ ?, काश्यपो वीरो वर्द्धमानस्वामी, आशुप्रज्ञः, सर्वत्र सदोपयोगात्, स चैवं मया पृष्टो भगवानिदमाह-यथा यदेतद्भवता पृष्टं तदहं प्रवेदयिष्यामि कथयिष्याम्यग्रतो दत्तावधानः शृणुतेति । तदेवाऽऽह-दुःखमिति नरकं दुःखहेतुत्वात् असदनुष्ठानम् । यदि वा नरकाऽऽवास एव दुःखयतीति दुःखम् । अथवा-असातावेदनीयोदयात् तीव्रपीडाऽऽत्मकं दुःखमित्येतच्चाऽर्थतः परमार्थतो विचार्यमाणं दुर्गं गहनं विषमं दुर्विज्ञेयम् असर्वज्ञेन, तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावादित्यभिप्रायः । यदि वा [दुहमट्ठदुग्गं ति] दुःखमेवार्थो यस्मिन् स दुःखनिमित्तो वा दुष्प्रयोजनो वा दुःखार्थो नरकः, स च दुर्गो विषमो दुरुत्तरत्वात्, तं प्रतिपादयिष्ये । पुनरपि तमेव विशिनष्टि-आ समन्ताद्दीनमादीनं तद्विद्यते यस्मिन् स आदीनिकोऽत्यन्तदीनसत्त्वाऽऽश्रयः तद्, दुष्कृतमसदनुष्ठानं पापं वा तत्फलं वा, असातावेदनीयोदयरूपं तद्विद्यते यस्मिन् स दुष्कृतिकः, तं, पुरस्तादग्रतः प्रतिपादयिष्ये । पाठान्तरं वा-(दुक्कडिणं ति) दुष्कृतं विद्यते येषां ते दुष्कृतिनो नारकास्तेषां संबन्धि चरितं पुरस्तात् पूर्वस्मिन् जन्मनि नरकगतिगमनयोग्यं यत्कृतं प्रतिपादयिष्यत इति ।

यथाप्रतिज्ञातमेवाऽऽह-

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी, पावाइँ कम्माइँ करंति रुद्दा ।
ते घोररूवे तमिसंधयारे, तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥३॥

ये केचन महारम्भपरिग्रहपञ्चेन्द्रियवधपिशितभक्षणाऽऽदिके सावद्यानुष्ठाने प्रवृत्ता बाला अज्ञा रागद्वेषोत्कटास्तिर्यङ्मनुष्याः, इहास्मिन् संसारेऽसंयमजीवितार्थिनः पापोपादानभूतानि कर्माण्यनुष्ठानानि रौद्राः प्राणिनां भयोत्पादकत्वेन भयानकहिंसाऽनृताऽऽदीनि कर्माणि कुर्वन्ति, त एवंभूतास्तीव्रपापोदयवर्तिनो घोररूपेऽत्यन्तभयानके (तमिसंधयारे ति) बहुलतमोऽन्धकारे यत्राऽऽत्माऽपि नोपलक्ष्यते-चक्षुषा केवलमवधिनाऽपि मन्दं मन्दमुलूका इवाह्नि पश्यन्ति । तथा चाऽऽगमः-"कण्हलेस्से णं भंते ! णेरइए कण्हलेस्सं णेरइयं पणिहाए ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणे केवइयं खेत्तं जाणइ, केवइयं खेत्तं पासइ ?। गोयमा ! नो बहुययरं खेत्तं जाणइ, णो बहुययरं खेत्तं पासइ । इत्तरियमेव खेत्तं जाणइ, इत्तरियमेव खेत्तं पासइ ।" इत्यादि । तथा तीव्रो दुःसहः खदिराङ्गारमहाराशितापादनन्तगुणोऽभितापः संतापो यस्मिन् स तीव्राभितापस्तस्मिन् एवंभूते नरके बहुवेदनेऽपरित्यक्तविषयाऽभिष्वङ्गाः स्वकृतकर्मगुरवः पतन्ति, तत्र च नानारूपा वेदनाः समनुभवन्ति च ।

तथा चोक्तम्-

" अच्छिंदियविसयसुहे, परुइ आविज्झावसिहिसिहाणिवहे ।
संसारोदहिवलए-ऽसुहम्मि दुक्खाऽऽगरे निरए ॥ १ ॥
पूयकलीरवलगुह-कुहरुच्छलिए रुहिरगंद्धमे ।
कक्खालिकलियदुहा-विरिक्किविवइण्णदेहत्थे ॥ २ ॥
अंतंतरभिअंतु-च्छलंतसंसद्दभरियदिसिविवरे ।
मज्जंतुप्फिडियसमु-च्छलंतसीसाट्ठिसंघाए ॥ ३ ॥
सुक्कंदकडाहु-क्कढंतदुक्कयकयंतकम्मंते ।
मूलविभिन्नुक्खित्तु-द्धदेहणिवंतपब्भारे ॥ ४ ॥
बहुंधयारदुग्गं-धबंधणायारदुक्करकिलेसे ।
भिन्नकरचरणसंकर-रुहिरवसादुग्गमप्पवहे ॥ ५ ॥

गिद्धमुहणिद्दकिय-सवंधणोम्मुहकंधरकबंधे ।
दढगहियतत्तसंडा-सयमाविलमुक्कुडियअीहे ॥ ६ ॥
तिक्खंकुसग्गकड्डिय-कंटयरुक्खग्गजज्जरसरीरे ।
निमिसंतरं पि दुलहं-सुक्खेऽवक्खेवदुक्खम्मि ॥ ७ ॥
इय भीसणम्मि निरए, पडंति जे विविहसत्तवहनिरया ।
सच्चब्भट्ठा य नरा, जयम्मि कयपावसंघाया ॥८॥ " इत्यादि ।

किञ्चान्यत्--

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य,
जे हिंसति आयसुहं पडुच्च ।
जे लूसए होइ अदत्तहारी,
ण सिक्खती सेयवियस्स किंचि ॥ ४ ॥

(तिव्वं तसेत्यादि) तथा तीव्रमतिनिरनुकम्पं रौद्रपरिणामतया हिंसायां प्रवृत्तः,त्रस्यन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियाऽऽदयः, तान्, तथा स्थावरांश्च पृथिवीकायाऽऽदीन्, यः कश्चिन्महामोहोदयवर्ती, हिनस्ति व्यापादयति, आत्मसुखं प्रतीत्य, स्वशरीरसुखकृते नानाविधैरुपायैर्यः प्राणिनां लूषक उपमर्दकारी भवति, तथा अदत्तमपहर्तुं शीलमस्यासावदत्तहारी परद्रव्यापहारकः, तथा न शिक्षते नाभ्यसति नादत्ते (सेयवियस्स त्ति) सेवनीयस्याऽऽत्महितैषिणा सदनुष्ठाने यस्य संयमस्य किञ्चिदिति । एतदुक्तं भवति-पापोदयाद् विरतिपरिणामं काकमांसाऽऽदेरपि मनागपि न विधत्ते इति ॥ ४ ॥

तथा--

पागब्भि पाणे बहुणं-तिवाती,
अनिव्वते घातमुवेति बाले ।
णिहो णिसं गच्छति अंतकाले,
अहो सिरं कट्टु उवेइ दुग्गं ॥ ५ ॥

प्रागल्भ्यं धार्ष्ट्यं तद्विद्यते यस्य स प्रागल्भी, बहूनां प्राणिनां प्राणानतीव पातयितुं शीलमस्य स भवत्यतिपाती । एतदुक्तं भवति-अतिपात्यपि प्राणिनः प्राणानतिधार्ष्ट्याद् वदति-यथा वेदाऽभिहिता हिंसा अहिंसैव भवति, तथा राज्ञामयं धर्मो यदुत आखेटकेन विनोदक्रिया । यदि वा-"न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला " ॥१॥ इत्यादि । तदेवं क्रूरसिंहकृष्णसर्पवत् प्रकृत्यैव प्राणातिपातानुष्ठायी,अनिर्वृतः कदाचिदप्यनुपशान्तः क्रोधाग्निना दह्यमानः । यदि वा लुब्धकमत्स्याऽऽदिवधकजीविकाप्रसक्तः सर्वदा परिणामपरिणतोऽनुपशान्तो, हन्यते प्राणिनः स्वकृतकर्मविपाकेन यस्मिन् स घातो नरकस्तमुप सामीप्येन एति याति,कः?,बालोऽज्ञो रागद्वेषोदयवर्ती, सोऽन्तकाले मरणकाले (णिहो त्ति) न्यगधस्तात् (णिसं ति) अधोऽन्धकारं गच्छतीत्यर्थः, यथा तेन दुश्चरितेन अधः शिरः कृत्वा दुर्गं विषमं यातनास्थानमुपैति, अवाक्शिरा नरके पततीत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

(४७) दशविधवेदनाः--

नेरइया णं दसविहं वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति । तं जहा-सीयं, उसिणं, खुहं, पिवासं, कंडुं, परज्झं, भयं, सोगं, जरं, वाहिं ॥

" नेरइया " इत्यादि कण्ठ्यम् । नवरं वेदनां पीडां, तत्र शीतस्पर्शजनिता शीता,तां, सा च चतुर्थ्यादिनरकपृथिवीष्विति । एवमुष्णां प्रथमाऽऽदिषु, क्षुधं बुभुक्षां,पिपासां तृषं, कण्डूं खर्जूम्, (परज्झं ति) परतन्त्रतां, भयं भीतिं, शोकं दैन्यं, जरां वृद्धत्वं, व्याधिं ज्वरकुष्ठाऽऽदिकमिति । स्था० १० ठा० ।

(४८) साम्प्रतं पुनरपि नरकवर्तिनो नारका यदनुभवन्ति तद्दर्शयितुमाह-

हण छिंदह भिंदह णं दहेति,
सद्दे सुणित्ता परहम्मियाणं ।
ते नारगाओ भयभिन्नसन्ना,
कंखंति कं नाम दिसं वयामो ? ॥ ६ ॥

तिर्यङ्मनुष्यभवात् सत्त्वा नरकेषूत्पन्ना अन्तर्मुहूर्तेन निलूनाण्डजसन्निभानि शरीराण्युत्पादयन्ति पर्याप्तिभावमागताश्चातिभयानकान् शब्दान् परमाधार्मिकजनितान् शृण्वन्ति । तद्यथा-हत मुद्गराऽऽदिना,छिन्त खड्गाऽऽदिना, भिन्त शूलाऽऽदिना, दहत मुर्मुराऽऽदिना, णमिति वाक्यालङ्कारे । तदेवंभूतान् कर्णासुखान् शब्दान् भैरवान् श्रुत्वा, ते तु नारका भयोद्भ्रान्तलोचना भयेन भीत्या भिन्ना नष्टा संज्ञाऽन्तःकरणवृत्तिर्येषां ते तथा, नष्टसंज्ञाश्च कां दिशं व्रजामः?, कुत्र गतानामस्माकमेवंभूतस्याऽस्य महाघोरारवदारुणस्य दुःखस्य त्राणं स्यादित्येतत् काङ्क्षन्तीति ।

(४९) ते च भयोद्भ्रान्ता दिक्षु नष्टा यदनुभवन्ति तद्दर्शयितुमाह-

इंगालरासिं जलियं सजोतिं,
तेणोवमं भूमिमणुक्कमंता ।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति,
अरहस्सरा तत्थ चिरट्ठितीया ॥ ७ ॥

(इंगालेत्यादि) अङ्गारराशिं खादिराङ्गारपुञ्जं ज्वलितं ज्वालाऽऽकुलं, तथा सह ज्योतिषोद्द्योतेन वर्तत इति सज्योतिर्भूमिस्तेनोपमा यस्याः सा तदुपमा, तामङ्गारसन्निभां भूमिमाक्रमन्तस्ते नारका दन्दह्यमानाः करुणं दीनं स्तनन्त्याक्रन्दन्ति । तत्र बादराग्नेरभावात्, तदुपमां भूमिमित्युक्तम् । एतदपि दिग्दर्शनार्थमुक्तम्,अन्यथा नारकतापस्येहत्याग्निना नोपमा घटते । ते च नारका महानगरदाहाधिकेन तापेन दह्यमाना अरहःस्वरा अप्रकटस्वरा महाशब्दाः सन्तः, तत्र तस्मिन्नरकावासे, चिरं प्रभूतं कालं स्थितिरवस्थानं येषां ते, तथा उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि तिष्ठन्तीति ।

जइ ते सुया वेयरणीऽभिदुग्गा,
णिसिओ जहा खुर इव तिक्खसोया ।
तरंति ते वेयरणिंऽभिदुग्गं,
उसुचोइया सत्तिसु हम्ममाणा ॥ ८ ॥

(जइ ते सुया इत्यादि) सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रतीदमाह-यथा भगवतेदमाख्यातम्-यदि ते त्वया श्रुता श्रवणपथमुपागता वैतरणी नाम क्षारोष्णरुधिराऽऽकारजलवाहिनी नदी आभिमुख्येन दुर्गाऽभिदुर्गा दुःखोत्पादिका । तथा निशितो यथा क्षुरस्तीक्ष्णानि शरीरावयवानां कर्तकानि स्रोतांसि यस्याः सा तथा, ते च नारकास्तप्ताङ्गारसन्निभां भूमिं विहायोदकं पिपासवोऽभितप्ताः सन्तस्तापापनोदायाभिषिषिक्षवो वा तां

वैतरणीमभिदुर्गां तरन्ति । कथंभूताः?, इषुणा शरेण प्रतोदेनेव चोदिताः प्रेरिताः, शक्तिभिश्च हन्यमानास्तामेव भीमां वैतरणीं तरन्ति । तृतीयार्थे सप्तमी ॥ ८ ॥

किञ्च-

कीलेहिँ विज्झंति असाहुकम्मा,
नावं उविंते सइविप्पहूणा ।
अन्ने तु सूलाहिँ तिसूलियाहिँ,
दीहाहि विद्धूण अहे करंति ॥ ९ ॥

तांश्च नारकानत्यन्ततक्षारोष्णेन दुर्गन्धेन वैतरणीजलेन अभितप्तानायसकीलाकुलां नावमुपगच्छन्तः पूर्वाऽऽरूढा असाधुकर्माणः परमाधार्मिकाः कीलेषु कण्टकेषु विध्यन्तीति, ते च विध्यमानाः कलकलायमानेन सर्वस्रोतोऽनुयायिना वैतरणीजलेन नष्टसंज्ञा अपि सुतरां स्मृत्या विप्रहीणा अपगतकर्तव्यविवेका भवन्ति । अन्ये पुनर्नरकपाला नारकैः क्रीडन्तस्ताञ्छूलाभिः शूलिकाभिर्दीर्घिकाभिरायताभिर्विद्ध्वा अधो भूमौ कुर्वन्तीति ॥९॥

अपि च--

केसिं च बंधित्तु गले सिलाओ ।
उदगंसि बोलंति महालयंसि ।
कलंबुयावालुयँ मुम्मुरे य,
लोलंति पच्चंति अ तत्थ अन्ने ॥ १० ॥

(केसिं च इत्यादि) केषाञ्चिन्नारकाणां परमाधार्मिकाणां महतीं शिलां गले बध्वा महत्युदके (बोलंति त्ति) निमज्जयन्ति, पुनस्ततः समाकृष्य वैतरणीनद्याः कलम्बुकावालुकायां मुर्मुराग्नौ च लोलयन्ति अतितप्तवालुकायां चणकानिव समन्ततो लोलयन्ति, तथाऽन्ये तत्र नरकाऽऽवासे स्वकर्मपाशावपाशितान् नारकान् शूलके प्रोतकमांसपेशीवत् पचन्ति भर्जयन्तीति ॥१०॥

तथा-

असूरियं नाम महाभितावं,
अंधंतमं दुप्पतरं महंतं ।
उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु ।
समाहिओ जत्थऽगणी झियाइ ॥ ११ ॥

(असूरियमित्यादि) न विद्यते सूर्यो यस्मिन् सोऽसूर्यो नरको बहलान्धकारः कुम्भीपाकाऽऽकृतिः, सर्व एव वा नरकाऽऽवासोऽसूर्यो व्यपदिश्यते । तमेवंभूतं महाभितापमन्धतमसं दुष्प्रतरं दुरुत्तरं महान्तं विशालं नरकं महापापोदयाद् व्रजन्ति । तत्र च नरके ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च सर्वतः समाहितः सम्यगाहितो व्यवस्थापितोऽग्निर्ज्वलतीति । पठ्यते च-(समूसिओ जत्थऽगणी झियाइ) यत्र नरके सम्यगूर्ध्वं श्रितः समुच्छ्रितोऽग्निः प्रज्वलति, तं तथाभूतं नरकं वराका व्रजन्ति ॥ ११ ॥

किञ्चान्यत्-

जंसी गुहाए जलणेऽतिउट्टे,
अविजाणओ डज्झइ लुत्तपण्णो ।
सया य कलुणं पुण घम्मठाणं,
गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ॥ १२ ॥

(जंसी गुहाए इत्यादि) यस्मिन्नरकेऽतिगतोऽसुमान् गुहामिवोष्ट्रिकाकृतौ नरके प्रवेशितो ज्वलनेऽग्नावतिवृत्तो वेदनाऽभिभूतत्वात् स्वकृतं दुश्चरितमजानन् लुप्तप्रज्ञोऽपगतावधिविवेको दन्दह्यते । तथा सदा सर्वकालं पुनः करुणप्रायं कृत्स्नं वा घर्मस्थानमुष्णप्रधानं, तापस्थानमित्यर्थः । (गाढं ति) अत्यर्थमुपनीतम् ढौकितं दुष्कृतकर्मकारिणां यत् स्थानं तत्ते व्रजन्ति । पुनरपि तदेव विशिनष्टि-अतिदुःखरूपो धर्मः स्वभावो यस्मिन्निति । इदमुक्तं भवति—अक्षिनिमेषमात्रमपि कालं न तस्य दुःखस्य विश्राम इति । तदुक्तम्—
" अच्छिनिमीलणमेत्तं, णत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं ।
णिरए णेरइयाणं, अहोणिसं पच्चमाणाणं " ॥ १ ॥ १२ ॥

अपि च-

चत्तारि अगणिओ समारभित्ता,
जेहिं कूरकम्माऽभितविंति बालं ।
ते तत्थ चिट्ठंतिऽभितप्पमाणा,
मच्छा व जीवंतुवजोतिपत्ता ॥ १३ ॥

चतसृष्वपि दिक्षु चतुरोऽग्नीन् समारभ्य प्रज्वाल्य, यस्मिन्नरकाऽऽवासे क्रूरकर्माणो नरकपाला आभिमुख्येनात्यर्थं तापयन्ति अभितापयन्ति बालमज्ञं नारकं पूर्वकृतदुश्चरितं, ते तु नारकजीवा एवमभितप्यमानाः कदर्थ्यमानाः स्वकर्मनिगडिताः तत्रैव प्रभूतं कालं महादुःखाऽऽकुले नरके तिष्ठन्ति । दृष्टान्तमाह-यथा जीवन्तो मत्स्या मीना उपज्योतिरग्नेः समीपे प्राप्ताः परवशत्वादन्यत्र गन्तुमसमर्थाः, तत्रैव तिष्ठन्त्येवं नारका अपि, मत्स्यानां तापासहिष्णुत्वादभावस्यम्तं दुःखमुत्पद्यत इत्यतस्तद्ग्रहणमिति ॥ १३ ॥

किञ्चान्यत्-

संतच्छणं णाम महाहितावं,
ते नारया जत्थ असाहुकम्मा ।
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं,
फलगं व तच्छंति कुहाडहत्था ॥ १४ ॥

(संतक्षणमित्यादि) समेकीभावेन तक्षणं संतक्षणं, नामशब्दः संभावनायां, यदेतत्संतक्षणं तत्सर्वेषां प्राणिनां महाभितापं महादुःखोत्पादकमित्येवं संभाव्यते । यदेवं ततः किमित्याह-ते नारका नरकपाला यत्र नरकाऽऽवासे स्वभवनादागता असाधुकर्माणः क्रूरकर्माणो निरनुकम्पाः कुठारहस्ताः परशुपाणयः,तान्नारकानत्राणान् हस्तैः पादैश्च बध्वा संयम्य फलकमिव काष्ठशकलमिव, तक्ष्णुवन्ति तनूकुर्वन्ति, छिन्दन्तीत्यर्थः॥१४॥

अपि च-

रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सियंगे,
भिन्नुत्तमंगे परिवत्तयंता ।
पयंति णं णेरइए फुरंते,
सजीवमच्छे व अयोकवल्ले ॥ १५ ॥

ते परमाधार्मिकास्तान् नारकान् स्वकीये रुधिरे तप्तकवल्यां प्रक्षिप्य पुनः पचन्ति । वर्चःप्रधानानि समुच्छ्रितान्यङ्गानि वा येषां ते तथा तान्, भिन्नं चूर्णितमुत्तमाङ्गं शिरो येषां ते तथा, तानिति । कथं पचन्तीत्याह-परिवर्तयन्त

उत्तानानवाङ्मुखान् वा कुर्वन्तः, णमिति वाक्यालङ्कारे । तान् स्फुरत इतश्चेतश्च विह्वलमात्मानं निक्षिपतः सजीवमत्स्यानिवाऽऽयसकवल्यामिति ॥ १५ ॥

णो चेव ते तत्थ मसीभवंति,
ण मिज्जती तिव्वऽभिवेयणाए ।
तमाणुभागं अणुवेदयंता,
दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥ १६ ॥

(णो चेवेत्यादि) ते च नारका एवं बहुशः पच्यमाना अपि (णो) नैव तत्र नरके पाके वा नरकानुभवे वा सति मषीभवन्ति नैव भस्मसाद्भवन्ति । तथा तत्तीव्राभिवेदनया नापरमग्निप्रक्षिप्तमत्स्याऽऽदिकमप्यस्ति, यन्मीयते उपमीयते; अनन्यसदृशीं तीव्रां वेदनां वाचामगोचरामनुभवन्तीत्यर्थः । यदि वा-तीव्राभिवेदनयाऽप्यननुभूतस्वकृतकर्मत्वान्न म्रियन्ते इति । प्रभूतमपि कालं यावत्तत्तादृशं शीतोष्णवेदनाजनितं, तथा दहनच्छेदनभेदनतक्षणत्रिशूलाऽऽरोपणकुम्भीपाकशाल्मल्यारोहणाऽऽदिकं परमाधार्मिकजनितं परस्परोदीरणनिष्पादितं चानुभागं कर्मणां विपाकमनुवेदयन्तः समनुवेदयन्तः समनुभवन्तस्तिष्ठन्ति । तथा स्वकृतेन हिंसाऽऽदिनाऽष्टादशपापस्थानरूपेण सततोदीर्णदुष्कृतेन दुःखिनो दुःखयन्ति पीड्यन्ते; नाक्षिनिमेषमपि कालं दुःखेन मुच्यन्त इति ॥१६॥

किञ्चान्यत्-

तेहिं च ते लोलणसंपगाढे,
गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति ।
न तत्थ सायं लहईऽभिदुग्गे,
अरहियाऽभितावा तह वी तविंति ॥ १७ ॥

तस्मिंश्च महायातनास्थाननरके, तमेव विशिनष्टि-नारकाणां लोलने सम्यक् प्रगाढो व्याप्तो भृतः स तथा तस्मिन् नरके, शीतार्ताः सन्तो गाढमत्यर्थं सुष्ठु तप्तमग्निं व्रजन्ति । तत्राऽप्यग्निस्थानेऽभिदुर्गे दह्यमानाः सातं सुखं मनागपि न लभन्ते, अरहितो निरन्तरोऽभितापो दाहो येषां ते अरहिताभितापास्तथाऽपि तान्नारकाँस्ते नरकपालास्तापयन्तीत्यर्थः, तप्ततैलाग्निना दहन्तीति ॥१७॥

अपि च-

से सुचई नगरवहे व सद्दे,
दुहोवणीयाणि पयाणि तत्थ ।
उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा,
पुणो पुणो ते सरहं दुहेंति ॥ १८ ॥

'से' शब्दोऽथशब्दार्थे । अथाऽनन्तरं तेषां नारकाणां नरकपालैः रौद्रैः कदर्थ्यमानानां भयानको हाहारवप्रचुर आक्रन्दनशब्दो नगरवध इव श्रूयते समाकर्ण्यते, दुःखेन पीडयोपनीतानि उच्चरितानि करुणाप्रधानानि यानि पदानि-हा मातस्तात ! कष्टम् अनाथोऽहं शरणाऽऽगतस्तव त्रायस्व मामित्येवमादीनां पदानां तत्र नरके शब्दः श्रूयते, उदीर्णमुदयप्राप्तं कटुविपाकं कर्म येषां तथोदीर्णकर्माणो नरकपाला मिथ्यात्वहास्यरत्यादीनामुदये वर्तमानाः पुनः पुनर्बहुशस्ते (सरहं ति) सरभसं सोत्साहं नारकान् दुःखयन्त्यतस्तदसह्यं नानाविधरूपैर्दुःखमसातवेदनीयमुत्पादयन्तीति ॥१८॥

तथा-

पाणेहि णं पाव विओजयंति,
तं भे पवक्खामि जहातहेणं ।
दंडेहिँ तत्था सरयंति बाला,
सव्वेहिँ दंडेहिँ पुराकएहिं ॥ १९ ॥

(पाणेहि णमित्यादि) णमिति वाक्यालङ्कारे । प्राणैः शरीरेन्द्रियाऽऽदिभिस्ते पापाः पापकर्माणो नरकपाला वियोजयन्ति शरीरावयवानां पाटनाऽऽदिभिः प्रकारैर्विकर्तनादवयवान् विश्लेषयन्ति । किमर्थमेवं कुर्वन्तीत्याह-तद् दुःखकारणं 'भे' युष्माकं प्रवक्ष्यामि याथातथ्येनावितथं प्रतिपादयामीति । दण्डयन्ति पीडामुत्पादयन्तीति दण्डा दुःखविशेषास्तैर्नारकाणामापादितैर्बाला निर्विवेका नरकपालाः पूर्वकृतं स्मारयन्ति । तद्यथा-तदा हृष्टस्त्वं खादसि समुत्कृत्य प्राणिनां मांसं, तथा पिबसि तद्रसं, मद्यं च, गच्छसि परदारान्, साम्प्रतं तद्विपाकापादितेन कर्मणाऽभितप्यमानः किमेवं रारटीषीत्येवं सर्वैः पुराकृतैर्दण्डैर्दुःखविशेषैः स्मारयन्तस्तादृगभूतमेव दुःखविशेषमुत्पादयन्तो नरकपालाः पीडयन्तीति ॥१९॥

तथा-

ते हम्ममाणा णरगे पडंति,
पुन्ने दुरूवस्स महाऽभितावे ।
ते तत्थ चिट्ठंति दुरूवभक्खी,
तुट्टंति कम्मोवगया किमीहिं ॥ २० ॥

(ते हम्ममाणा इत्यादि) ते वराका नारका हन्यमानास्ताड्यमाना नरकपालेभ्यो नरकेऽन्यस्मिन् घोरतरे नरकैकदेशे पतन्ति गच्छन्ति । किंभूते नरके ?, पूर्णे भृते, दुष्टं रूपं यस्य तद् दुरूपं विष्ठाऽसृङ्मांसाऽऽदिकं मलं तस्य भृते, तथा महाभितापिते सन्तापोपेते, ते नारकाः स्वकर्मावबद्धास्तत्रैवंभूते नरके, दुरूपभक्षिणोऽशुच्यादिभक्षकाः प्रभूतं कालं यावत्तिष्ठन्ति । तथा कृमिभिः नरकपालाऽऽपादितैः परस्परकृतैश्च स्वकर्मोपगताः स्वकर्मढौकितास्तुद्यन्ते व्यथ्यन्ते इति । तथा चाऽऽगमः-" छट्ठी-सत्तमासु णं पुढवीसु नेरइया महंताई लोहिकुंथुरूवाइं विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स कायं समतुरंगेमाणा २ अणुखायमाणा अणुखायमाणा चिट्ठंति " ॥२०॥

किञ्चान्यत्-

सया कसिणं पुण घम्मठाणं,
गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ।
अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देहं,
वेहेण सीसं सेऽभितावयंति ॥ २१ ॥

(सया कसिणमित्यादि) सदा सर्वकालं, कृत्स्नं संपूर्णं, पुनरन्यत्र नरके घर्मप्रधानम् उष्णप्रधानं स्थितिः स्थानं नारकाणां भवति । तत्र हि प्रलयातिरिक्ताग्निवाताऽऽदीनामत्यन्तोष्णरूपत्वात् तच्च दृढैर्निधत्तनिकाचितावस्थैः कर्मभिर्नारकाणामुपनीतं ढौकितम् । पुनरपि विशिनष्टि-अतीव दुःखमसातावेदनीयं धर्मः स्वभावो यस्य तत्तथा, तस्मिंश्चैवंविधे स्थाने स्थितोऽसुमान् अन्दुषु निगडेषु देहं विहत्य प्रक्षिप्य च यथा

शिरश्च 'से' तस्य नारकस्य वेधेन रन्ध्रोत्पादनेनाऽभितापयन्तीति ॥ २१ ॥

अपि च-

छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं,
उट्ठे वि छिंदंति दुवे वि कन्ने ।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं *,
तिक्खाहि सूलाहिऽभितावयंति ॥ २२ ॥

(छिंदंति बालस्सेत्यादि) ते परमाधार्मिकाः पूर्वदुश्चरितानि स्मारयित्वा बालस्याज्ञस्य निर्विवेकस्य प्रायशः सर्वदा वेदनासमुद्घातोपगतस्य क्षुरप्रेण नासिकां छिन्दन्ति । तथोष्ठावपि, द्वावपि कर्णौ छिन्दन्ति, तथा मद्यमांसरसाभिलाषिणो मृषाभाषिणो जिह्वां वितस्तिमात्रामाक्षिप्य तीक्ष्णाभिः शूलाभिरभितापयन्त्यपनयन्ति ॥ २२ ॥

तथा-

ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व,
राइंदियं तत्थ थणंति बाला ।
गलंति ते सोणियपूयमंसं,
पज्जोइया खारपइद्धियंगा ॥ २३ ॥

(ते तिप्पमाणेत्यादि) ते छिन्ननासिकौष्ठजिह्वाः सन्तः शोणितं तिप्यमानाः क्षरन्तो यत्र यस्मिन् प्रदेशे रात्रिन्दिवं गमयन्ति, तत्र बाला अज्ञास्तालसंपुटा इव पवनेरितशुष्कतालपत्रसंचया इव सदा स्तनन्ति दीर्घविस्वरमाक्रन्दन्तस्तिष्ठन्ति । तथा प्रद्योतिता वह्निना ज्वलिताः, तथा क्षारेण प्रदिग्धाङ्गाः शोणितं पूयं मांसं च अहर्निशं गलन्तीति ॥ २३ ॥

किञ्च-

जइ ते सुता लोहितपूअपाई,
बालागणीतेअगुणा परेणं ।
कुंभी महंताऽहियपोरिसीया,
समूसिता लोहियपूयपुण्णा ॥ २४ ॥

(जइ ते सुता इत्यादि) पुनरपि सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य भगवद्वचनमाविष्करोति—यदि ते त्वया श्रुता आकर्णिता, लोहितं रुधिरं पूयं रुधिरमेव पक्वं, ते द्वे अपि पक्तुं शीलं यस्यां सा लोहितपूयपाचिनी कुम्भी । तामेव विशिनष्टि-बालोऽभिनवः प्रत्यग्रोऽग्निस्तेन तेजोऽभितापः स एव गुणो यस्याः सा बालाग्नितेजोगुणा, परेण प्रकर्षेण तप्तेत्यर्थः । पुनरपि तस्या एव विशेषणम्-महती बृहत्तरा (अहियपोरिसीयं ति) पुरुषप्रमाणाधिका समुच्छ्रितोष्ट्रिकाऽऽकृतिरूर्ध्वं व्यवस्थिता, लोहितेन पूयेन च पूर्णा सैवंभूता कुम्भी समन्ततोऽग्निना प्रज्वालिता अतीव बीभत्सदर्शनेति भावः ॥ २४ ॥

(५०) तासु च यत् क्रियते तद्दर्शयितुमाह—

पक्खिप्प तासुं पवयंति बाले,
अट्टस्सरे ते कलुणं रसंते ।
तण्हाइया ते तउयं च तत्तं,
पज्जिज्जमाणाऽऽट्टतरं रसंति ॥ २५ ॥

(पक्खिप्प इत्यादि) तासु प्रत्यग्निना दीप्तासु लोहितपूयशरीरावयवकिल्बिषपूर्णासु दुर्गन्धासु च बालानारकांस्त्राणरहितानार्तस्वरान् करुणं दीनं रसतः प्रक्षिप्य प्रपचन्ति, ते च नारकास्तथा कदर्थ्यमाना विरसमाक्रन्दन्तः तृषार्त्ताः सलिलं प्रार्थयन्तो मद्यं ते अतीव प्रियमासीदित्येवं स्मारयित्वा तप्तं त्रपु पाय्यमाना आर्त्ततरं रसन्ति आरटन्तीति ॥ २५ ॥

उपसंहारमाह—

अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता,
भवाहमे पुव्वसते सहस्से ।
चिट्ठंति तत्था बहु कूरकम्मा,
जहा कडं कम्म तहा सि भारे ॥ २६ ॥

(अप्पेणेत्यादि) इहाऽस्मिन् मनुष्यभवे आत्मना परवञ्चनप्रवृत्तेन स्वत एव परमार्थत आत्मानं वञ्चयित्वा अल्पेन स्तोकेन परोपघातसुखेन आत्मानं वञ्चयित्वा बहुशो भवानां, मध्ये अधमा भवाधमा मत्स्यबन्धकलुब्धकाऽऽदीनां भवास्तान् पूर्वजन्मसु शतसहस्रशः समनुभूय तेषु भवेषु विषयोन्मुखतया सुकृतपराङ्मुखत्वेन बाऽवाप्य महाघोरमतिदारुणं नरकवासं तत्र तस्मिन् मनुष्याः क्रूरकर्माणः परस्परतो दुःखमुदीरयन्तः प्रभूतं कालं यावत्तिष्ठन्ति । अत्र कारणमाह-यथा पूर्वजन्मसु यादृग्भूतेन अध्यवसायेन जघन्यजघन्यतराऽऽदिना कृतानि कर्माणि, तथा तेनैव प्रकारेण (से) तस्य नारकजन्तोर्भारा वेदनाः प्रादुर्भवन्ति स्वतः, परतः, उभयतो वेति ।

तथाहि-मांसादाः स्वमांसान्येवाग्निना प्रताप्य भक्ष्यन्ते, तथा मांसरसपायिनो निजपूयरुधिराणि तप्तत्रपूणीव पाय्यन्ते, तथा मत्स्यघातकलुब्धकाऽऽदयस्तथैव छिद्यन्ते भिद्यन्ते यावन्मार्यन्ते, तथाऽनृतभाषिणां तत्स्मारयित्वा जिह्वाश्छेद्यन्ते, तथा पूर्वजन्मनि परकीयद्रव्यापहारिणामङ्गोपाङ्गान्यपह्रियन्ते, तथा पारदारिकाणां वृषणच्छेदः शाल्मल्युपगूहनाऽऽदि च तैः कार्यन्ते । एवं महापरिग्रहाऽऽरम्भवतां क्रोधमानमायालोभिनां च जन्मान्तरस्वकृतक्रोधाऽऽदिदुष्कृतस्मारणेन तादृग्विधमेव दुःखमुत्पाद्यत इति कृत्वा सुष्ठूच्यते तथाविधं कर्म तादृग्विधभूत एव तेषां तत्कर्मविपाकाऽऽदितो भार इति ॥ २६ ॥

तत्र किञ्चान्यत्-

समज्जिणित्ता कलुसं अणज्जा,
इट्ठेहि कंतेहि य विप्पहूणा ।
ते दुब्भिगंधे कसिणे अफासे,
कम्मोवगा कुणिमे आवसंति ॥ २७ ॥

(समज्जिणित्ता इत्यादि) अनार्या अनार्यकर्मकारित्वाद् हिंसाऽनृतस्तेयाऽऽदिभिराश्रवद्वारैः कलुषं पापं समर्ज्याशुभकर्मोपचयं कृत्वा, ते क्रूरकर्माणो दुरभिगन्धे नरके आवसन्तीति संटङ्कः । किंभूताः?-इष्टैः शब्दाऽऽदिभिर्विषयैः कान्तैः कमनीयैः

* वितस्तिवसतिभरतकातरमातुलिङ्गे हः ॥ ८ । १ । २१४ ॥
इति तस्य हः ।

विविधं प्रकर्षेण हीना विप्रमुक्ता नरके वसन्ति, यदि वा बद्ध्वं कलुषं समर्जयन्ति. तैर्मातापुत्रकलत्राऽऽदिभिः कान्तैश्च विषयैर्विप्रमुक्ता एकाकिनस्ते दुरभिगन्धेन कुथितकलेवरातिशायिनि नरके कृत्स्ने संपूर्णेऽत्यन्ताशुभस्पर्शे एकान्तोद्वेजनीये शुभकर्मोपगताः (कुणिमे त्ति) मांसपेशीरुधिरपूयान्त्रफिफिसकश्मषाऽऽकुले सर्वामेध्याधमे बीभत्सदर्शने हाहाऽऽरवाऽऽक्रन्देन कष्टं मा तावदित्यादिशब्दावधीरितदिगन्तराले परमाधमे नरकाऽऽवासे वा समन्तादुत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावद्वस्यां वा नरकपृथिव्यां यावदायुस्तावद्वसन्ति तिष्ठन्ति । (नैरयिकानामुद्वर्तना ' उव्वट्टणा ' शब्दे १११ पृष्ठे द्वितीयभागे,उपपातश्च ' उववाय ' शब्दे ६९५ पृष्ठे उक्तः । नैरयिकविषयाद्भुत्य तीर्थकृत्त्वाऽऽदिलाभः, अन्तक्रियाश्च ' अंतकिरिया ' शब्दे प्रथमभागे ५६ पृष्ठे द्रष्टव्याः)

(५१) संप्रति नरकेषु पृथिव्यादिस्पर्शस्वरूपमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया केरिसयं पुढवीफासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ? ।

गोयमा ! अणिट्ठं० जाव अमणामं एवं० जाव अहे सत्तमाए ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया केरिसयं आउफासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ? ।

गोयमा ! अणिट्ठं० जाव अमणामं, एवं० जाव अहे सत्तमाए, एवं० जाव वणस्सई फासं अहे सत्तमाए पुढवीए ।

(रयणप्पभेत्यादि) रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त ! कीदृशं पृथिवीस्पर्शं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति ?। भगवानाह-गौतम ! (अनिट्ठं अकंतं अप्पियं अमणुन्नं अमणामं) अस्यार्थः प्राग्वत् । एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावत् तमस्तमायाम् । एवमप्तेजोवायुवनस्पतिस्पर्शसूत्राण्यपि भावनीयानि । नवरं तेजःस्पर्श उष्णरूपतापरिणतनरककुड्यादिस्पर्शः, परोदीरितवैक्रियरूपो वा वेदितव्यः, न तु साक्षाद् बादराग्निकायस्पर्शः, तत्राऽसंभवात् ।

(५२) पृथ्वीनां बाहल्याऽऽदि-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए दोच्चं पुढविं पणिहाय सव्वमहंतिया बाहल्लेणं, सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु ?। हंता गोयमा ! ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए दोच्चं पुढविं पणिहाय० जाव सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु ? । हंता गोयमा ! ।

दोच्चा णं भंते ! पुढवी तच्चं पुढविं पणिहाय सव्वमहंतिया बाहल्लेणं पुच्छा ? । हंता गोयमा ! ।

दोच्चा णं पुढवी० जाव खुड्डिया सव्वंतेसु, एवं एएणं अभिलावेणं० जाव छट्ठिया पुढवी अहे सत्तमिं पुढविं पणिहाय० जाव सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु ॥

(५३) महाकर्मतया वेदनाश्च-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए निरयपरिसामंतेसु जे पुढवीकाइया० जाव वणस्सइकाइया ते णं भंते ! जीवा महाकम्मतरा चेव, महाआसवतरा चेव, महावेयणतरा चेव ? । हंता गोयमा ! ।

इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए निरयपरिसामंतेसु तहेव० जाव महावेयणतरका चेव, एवं० जाव अहे सत्तमाए ॥

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु एक्कमेक्कंसि निरयावासंसि सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता पुढवीकाइयत्ताए० जाव वणस्सइकाइयत्ताए णेरइयत्ताए उववन्नपुव्वा ? ।

हंता गोयमा ! असइं, अदुवा अणंतखुत्तो, एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए, णवरं जत्थ जत्तिया णारगा ।

(इमीसे णं इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रिंशति नरकावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् नरकाऽऽवासे सर्वे प्राणा द्वीन्द्रियाऽऽदयः सर्वे भूता वनस्पतिकायिकाः, सर्वे सत्त्वाः पृथिव्यादयः सर्वे जीवाः पञ्चेन्द्रियाऽऽदयः ।

उक्तं च-

" प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ताः, भूताश्च तरवः स्मृताः ।
जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥ १ ॥ "

पृथिवीकायिकतया अप्कायिकतया वायुकायिकतया वनस्पतिकायिकतया नैरयिकतया उपपन्नपूर्वाः । भगवानाह-(हंतेत्यादि) हन्तेतिप्रत्यवधारणे । गौतम ! असकृत् अनेकवारम्, अथवा-अनन्तकृत्वोऽनन्तान् वारान् संसारस्यानादित्वात् । एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यम्, यावदधः सप्तमी पृथिवी । नवरं यत्र यावन्तो नरकास्तत्र तावन्त उपयुज्य वक्तव्याः ।

क्वचिदिदमपि सूत्रं दृश्यते-

" इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरयपरिसामंतेसु णं जे बायरपुढविकाइया० जाव वणस्सइकाइया ते णं भंते ! जीवा महाकम्मतरा चेव महाकिरियतरा चेव महावेयणतरा चेव ? । हंता गोयमा !० जाव महावेयणतरा चेव, एवं० जाव अहे सत्तमा । "

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकपरिसमन्तेषु नरकाऽऽवासपर्यन्तवर्तिषु प्रदेशेषु बादरपृथिवीकायिकाः (० जाव वणस्सइकाइया इति) बादराप्कायिकाः बादरवायुकायिका बादरवनस्पतिकायिकास्ते भदन्त ! जीवा महाकर्मतरा एव महत् प्रभूतमसातवेदनीयं कर्म येषां ते महाकर्माणः, अतिशयेन महाकर्माणो महाकर्मतराः, चेत्यवधारणे । महाकर्मतरा एव कुत इत्याह-(महाकिरियतरा एव) महती क्रिया प्राणातिपाताऽऽदिका आसीत्प्राग्जन्मनि, तद्भवे तु तदध्यवसायानिवृत्त्या येषां ते महाक्रियाः, अतिशयेन महाक्रियतराः " निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम् " इति न्यायात् । हेतावत्र प्रथमा । ततोऽयमर्थः-यतो महाकर्मतरा एव । महाक्रियतरत्वमपि कुत इत्याह-महाश्रवतरा एव महान्त आश्रवाः पापोपादानहेतव आरम्भाऽऽदयो येषामासीरन् ते महाश्रवा अतिशयेन महाश्रवा महाश्रवतराः, चैवेति पूर्ववत्, तदेवं यतो महाकर्मतरा एव, ततो महावेदनतरा एव, नरकेषु क्षेत्रस्वभावजाया अपि वेदनाया अतिदुःसहत्वात् । भगवानाह-हन्त गौतम ! (ते णं

जीवा महाकम्मतरा चेवेत्यादि) प्राग्वत् । एवं प्रतिपृथिवि तावद् वक्तव्यं यावदधः सप्तमी । जी० ।

(एकैकस्मिन् नरके सर्वे जीवा उपपन्नपूर्वा इति 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे १८० पृष्ठे चिन्तितम्)

(५४) संप्रत्युद्देशकार्थसंग्रहणिगाथाः प्राऽऽह-

पुढविं ओगाहित्ता, नरगा संठाणमेव बाहल्ले ।
विक्खंजपरिक्खेवो, वण्णो गंधो य फासो य ॥ १ ॥
तामे महालयाए, उवमा देवेण होइ कायव्वा ।
जीवा य पोग्गलाऽव-क्कमंति तह सासया निरया ॥२॥
उववायपरीमाणं, अवहारुच्चत्तमेव संघयणं ।
संठाणवण्णगंधा, फासा ऊमासमाहारे ॥ ३ ॥
लेस्सा दिट्ठी णाणे, जोगुवओगे तहा समुग्घाए ।
तत्तो खुहा पिवासा, विउव्वणा वेयणा य जए ॥४॥
उववाओ पुरिसाणं, ओवम्मं वेयणाएँ दुविहाए ।
ठिइ उव्वट्टण फासो, उववाओ सव्वजीवाणं ॥ ५ ॥

आसामक्षरमात्रगमनिका-[पुढवीओ इति] पृथिव्य अभिधेयाः । तद्यथा-[कइ णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?, इत्यादि] तदनन्तरम [ओगाहित्ता नरगा इति] यस्यां पृथिव्यां यदवगाह्य यादृशाश्च नरकाः, तदभिधेयम् [इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवइयं ओगाहित्ता ? इत्यादि] ततो नरकाणां संस्थानम्, ततो बाहल्यं, तदनन्तरं विष्कम्भपरिक्षेपौ, ततो वर्णः, ततो गन्धः, तदनन्तरं स्पर्शः, ततस्तेषां नरकाणां महत्तायामुपमा देवेन भवति कर्तव्या, ततो जीवाः पुद्गलाश्च तेषु नरकेषु व्युत्क्रामन्तीति, तथा शाश्वताश्च नरका इति वक्तव्यं, तत उपपातो वक्तव्यः । तद्यथा-[इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए कतो उववज्जंति ? इत्यादि] तत एकसमयेनोत्पद्यमानानां परिमाणं, ततोऽपहारः, तत उच्चत्वं, तदनन्तरं संहननं, ततः संस्थानं, ततो वर्णः, तदनन्तरं गन्धः, ततः स्पर्शः, तत उच्छ्वासवक्तव्यता, तदनन्तरमाहारः, ततो लेश्या, ततो दृष्टिः, तदनन्तरं ज्ञानं, ततो योगः, तत उपयोगः, तदनन्तरं समुद्घातः, ततः क्षुत्पिपासे ततो विकुर्वणाः। तद्यथा-(रयणप्पभापुढविनेरइयाणं भंते! किं एगत्तं पभू विउव्वित्तए पहुत्तं पभू विउव्वित्तए इत्यादि) ततो वेदना, ततो भयं, तदनन्तरं पुरुषाणां पञ्चानामधः सप्तम्यामुपपातः, तत औपम्यं वेदनाया द्विविधायाः, शीतवेदनाया उष्णवेदनायाश्चेत्यर्थः । ततस्तास्स्थितिर्वक्तव्या, तदनन्तरमुद्वर्तना, ततः स्पर्शः-पृथिव्यादिस्पर्शो वक्तव्यः, ततः सर्वजीवानामुपपातः । तद्यथा-(इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि सव्वे पाणा सव्वे भूया इत्यादि) । जी० ३ प्रति० २ उ० ।

(५५) पुद्गलपरिणामः-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया केरिसयं पुग्गलपरिणामं पच्चणुभवमाणा विहरंति ? । गोयमा ! अणिट्ठं० जाव अमणामं, एवं० जाव अहे सत्तमाए एवं णेयव्वं ।

(रयणप्पभेत्यादि) रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त ! कीदृशं पुद्गलपरिणाममाहाराऽऽदिपुद्गलविपाकं प्रत्यनुभवन्तः प्रत्येकं वेदयमाना विहरन्ति ? । भगवानाह-गौतम ! अनिष्टमित्यादि प्राग्वत्, एवं प्रतिपृथिवि तावद् वक्तव्यं, यावदधः सप्तमी । एवं वेदनालेश्यानामगोत्रारतिभयशोकक्षुत्पिपासाव्याध्युच्छ्वासानुतापक्रोधमानमायालोभाऽऽहारमैथुनपरिग्रहसंज्ञासूत्राणि वक्तव्यानि ।

अत्र संग्रहणीगाथे-

पोग्गलपरिणामं वे-यणा य लेसा य णामगोए य ।
अरई भए य सोए, खुहा पिवासा य वाही य ॥ १ ॥
उस्सासे अणुतावे, कोहे माणे य माएँ लोभे य ।
चत्तारि य सण्णाओ, नेरइयाणं तु परिणामा ॥ २ ॥

(५६) संप्रति सप्तमनरकपृथिव्यां ये गच्छन्ति, तान् प्रतिपादयति-

एत्थ किर अतिवतंती, णरवसभा केसवा जलयरा य ।
मंडलिया रायाणो, जे य महारंभ कोडुंबी ॥ ३ ॥

(एत्थ किरेत्यादि) इह परिग्रहसंज्ञापरिणामवक्तव्यतायां चरमसूत्रं सप्तमनरकपृथिवीविषयं, तदनन्तरं च इयं गाथा, तत "एत्थ" इत्यनन्तरमुक्ताधः सप्तमी पृथिवी परामृश्यते । तत्र अधः सप्तमनरकपृथिव्यां, किलेत्याप्तवादसूचने, आप्तवचनमेतदिति भावः । अतिव्रजन्ति अतिशयेन बाहुल्येन गच्छन्ति, नरवृषभाः केशवा वासुदेवा जलचराश्च तन्दुलमत्स्यप्रभृतयो, माण्डलिका वसुप्रभृतय इव, राजानश्चक्रवर्तिनः सुभूमाऽऽदय एव, ये च महारम्भाः कुटुम्बिनः कालसौकरिकाऽऽदय इव ॥ ३ ॥

संप्रति नरकेषु प्रस्तावात् तिर्यगादिषु चोत्तरवैक्रियावस्थानकालमानमाह-

भिन्नमुहुत्तो नरए-सु तिरियमणुएसु होइ चत्तारि ।
देवेसु अद्धमासो, उक्कोसविउव्वणा भणिया ॥ ४ ॥

(भिन्नमुहुत्तो निरएसु इत्यादि) भिन्नः अपरो मुहूर्तो भिन्नमुहूर्तः, अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः । नरकेषूत्कर्षतो विकुर्वणा स्थितिकालः, तिर्यग्मनुष्येषु चत्वारि, अन्तर्मुहूर्तानि देवेष्वर्द्धमासः, उत्कर्षतो विकुर्वणाऽवस्थानकालो भणितः तीर्थकरगणधरैः ॥४॥

संप्रति नरकेषु आहाराऽऽदिस्वरूपमाह-

जे पोग्गला अनिट्ठा, णियमा सो तेसिँ होइ आहारो ।
संठाणं पि य तेसिं, नियमा हुंडं तु णायव्वं ॥ ५ ॥

(जे पोग्गलेत्यादि) ये पुद्गला अनिष्टाः नियमात् स तेषां भवत्याहारः, संस्थानं तु संस्थानं पुनः हुण्डं हुण्डमपि अत्यन्तमतिनिकृष्टं वेदितव्यम् । एतच्च भवधारणीयशरीरमधिकृत्य वेदितव्यम्, उत्तरवैक्रियसंस्थानस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । इयं च प्रागुक्तार्थसंग्रहगाथा, ततो न पुनरुक्तदोषः ॥ ५ ॥

संप्रति विकुर्वणास्वरूपमाह-

असुभा विउव्वणा खलु, नेरइयाणं तु होइ सव्वेसिं ।
वेउव्वियं सरीरं, असंघयणं हुंडसंठाणं ॥ ६ ॥

सर्वेषां नैरयिकाणां विकुर्वणा खलु निश्चितमशुभा भवति । यद्यपि शुभं विकुर्वणेयं चिन्तयति, तथाऽपि तथाविधप्रतिकूलकर्मोदयतस्तेषामशुभैव विकुर्वणा भवति, तदपि च वैक्रियमुत्तरवैक्रियं शरीरमसंहननम्, अस्थ्यभावात्, उपलक्षणमेतत्, भवधारणीयं च वैक्रियशरीरं च संहननं, तथा हुण्डसंस्थानं, तत उत्तरवैक्रियं शरीरं हुण्डस्थाननाम्न एव भवप्रत्यय उदयभावात् ॥ ६ ॥

अस्साओ उववन्नो, अस्साओ चेव जहइ निरयभवं ।
सव्वपुढवीसु जीवा, सव्वेसु ठिई विसेसेसु ॥ ७ ॥

(अस्साओ उववन्नो इत्यादि) कश्चिद् जीवः सर्वास्वपि पृथिवीषु रत्नप्रभाऽऽदिषु तमस्तमापर्यन्तासु, सर्वेष्वपि च स्थितिविशेषेषु जघन्याऽऽदिरूपेषु असातोऽसातोदयकलित उपपन्न उत्पत्तिकालेऽपि प्राग्भवमरणकाले चूतमहादुःखानुवृत्तिभावात्, उत्पत्त्यनन्तरमपि असात एवासातोदयकलित एव, सकलमपि निरयभवं (जहइ) त्यजति क्षपयति, न तु जातुचिदपि सुखलेशमप्यास्वादयति । आह-किं तत्र कदाचित् सातोदयोऽपि भवति येनैवमुच्यते ?। उच्यते-भवति ॥ ७ ॥

तथा चाऽऽह-

उववाएण व सातो, नेरइओ देवकम्मुणा वा वि ।
अज्झवसाणनिमित्तं, अहवा कम्माणुभावेण ॥ ८ ॥

(उववाएणेत्यादि) "उववाएणं" इत्यत्र सप्तम्यर्थे तृतीया, उपपातकाले सातं सातवेदनीयकर्मोदयं कश्चिद्वेदयते, यः प्राग्भवे दाहच्छेदाऽऽदिव्यतिरेकेण मरणमुपगतोऽनतिसंक्लिष्टाध्यवसायी समुत्पद्यते, तदा न हि तस्य प्राग्भवानुबद्धमाधिरूपं दुःखं, नाऽपि क्षेत्रस्वभावजं, नाऽपि परमाधार्मिककृतं, नाऽपि परस्परोदीरितम् । तत एवंविधदुःखाभावादसौ सातं वेदयते इत्युच्यते । (देवकम्मुणा वा वि इति) देवकर्मणा पूर्वसामन्तिकदेवप्रयुक्तया क्रियया । तथाहि-गच्छति पूर्वं सामन्तिको देवः, पूर्वपरिचितस्य नैरयिकस्य वेदनोपशमनार्थं, यथा बलदेवकृष्णवासुदेवस्य । स च वेदनोपशमो देवकृतो मनाक् कालमात्र एव भवति । तत ऊर्ध्वं नियमात् क्षेत्रस्वभावजा, अन्या वा वेदना प्रवर्तते, तथास्वाभाव्यात् । (अज्झवसाणनिमित्तमिति) अध्यवसाननिमित्तं सम्यक्त्वोत्पादकाले, तत ऊर्ध्वं वा कदाचित् तथाविधविशिष्टशुभाध्यवसायप्रत्ययं कश्चिन्नैरयिको बाह्यक्षेत्रस्वभावजवेदनासद्भावेऽपि सातोदयमेवानुभवति, सम्यक्त्वोत्पादकाले हि जात्यन्धस्य चक्षुर्लाभ इव महान् प्रमोद उपजायते, तदुत्तरकालमपि कदाचित् तीर्थकरगुणानुमोदनाऽऽद्यनुगतां विशिष्टां भावनां भावयतः, ततो बाह्यक्षेत्रस्वभावजवेदनासद्भावेऽप्यन्तःसातोदयो विजृम्भमाणो न विरुध्यते । (अहवा कम्माऽणुभावेणमिति) अथवा कर्मानुभावेन बाह्यतीर्थकरजन्मदीक्षाज्ञानापवर्गकल्याणसंभूतिलक्षणसंज्ञानिमित्तमधिकृत्य तथाविधस्य सातवेदनीयस्य कर्मणोऽनुभावेन विपाकोदयेन कश्चिन् सातं वेदयते । न चैतद् व्याख्यानमनार्षम् । यत उक्तं वसुदेवचरिते-इह नैरयिकाः कुम्भ्यादिषु पच्यमानाः कुन्ताऽऽदिभिर्भिद्यमाना वा भयोत्त्रस्तास्तथाविधप्रयत्नवशादूर्ध्वमुत्प्लवन्ते ॥ ८ ॥

ततस्तदुत्पातपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह-

नेरइयाणुप्पाओ, उक्कोसं पंचजोयणसयाइं ।
दुक्खेणाऽभिहुयाणं, वेयणसतसंपगाढाणं ॥ ९ ॥

(नेरइयाणुप्पाओ इति) नैरयिकाणां दुःखेनाऽभिद्रुतानां सर्वाऽऽत्मना व्याप्तानां वेदनाशतसंप्रगाढानां वेदनाशतानि अपरिमिता वेदनाः संप्रगाढानि अवगाढानि येषां ते वेदनाशतसंप्रगाढाः । सुखाऽऽदिदर्शनाद् निष्ठान्तस्य परनिपातः । तेषां, हेतुहेतुमद्भावश्चात्र-यतो वेदनाशतसंप्रगाढाः ततो दुःखेनाऽभिद्रुताः । तेषां जघन्यत उत्पातो गव्यूतमात्रम्, एतच्च संप्रदायादवसीयते, तथा च दृश्यते क्वचिदेवमपि पाठः-" नेरइयाणुप्पाओ, गाउयउक्कोसपंचजोयणसयाइं । " इति । उत्कर्षतः पञ्चयोजनशतानि दुःखेनाऽभिहतानामित्युक्तम् ॥ ९ ॥

ततो दुःखमेव निरूपयति--

अच्छिनिमीलणमेत्तं, नत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं ।
नरए नेरइयाणं, अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥ १० ॥
अतिसीयं अतिउण्हं, अइतण्हा अइखुहा अइभयं च ।
नरए नेरइयाणं, दुक्खसताइं अविस्सामं ॥ ११ ॥

(अच्छिनिमीलणमेत्तमित्यादि) नरके नैरयिकाणामुष्णवेदनायाः शीतवेदनाया वा अहर्निशं पच्यमानानां नाऽक्षिनिमीलनमात्रमपि अक्षिनिकोचकालमात्रमपि अस्ति सुखं, किं तु दुःखमेव केवलं प्रतिबद्धमनुबद्धं, सदाऽनुगतमिति भावः ॥ १० ॥ ११ ॥

अथ यत्तेषां वैक्रियशरीरं तत्तेषां मरणकाले कथं भवतीति निरूपणार्थमाह-

तेयाकम्मसरीरा, सुहुमसरीरा य जे अपज्जत्ता ।
जीवेण विप्पमुक्का, वच्चंति सहस्ससो भेदं ॥ १२ ॥

(तेयाकम्मेत्यादि) तैजसकार्मणशरीराणि यानि सूक्ष्मशरीराणि सूक्ष्मनामकर्मोदयवतां पर्याप्तानामपर्याप्तानां चौदारिकशरीराणि वैक्रियाऽऽहारकशरीराणि च तेषामपि प्रायो मांसचक्षुरग्राह्यतया सूक्ष्मत्वात्, तथा यानि अपर्याप्तानि अपर्याप्तशरीराणि, तानि जीवेन मुक्तमात्राणि सन्ति सहस्रशो भेदं व्रजन्ति; विशकलितास्तत्परमाणुसङ्घाता भवन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

एतासामेव गाथानां संग्राहिकां गाथामाह-

एत्थ य भिन्नमुहुत्तो पुग्गल असुभा य होइ अस्साओ ।
उववाओ उप्पाओ, अच्छिसरीरा य नायव्वा ॥ १३ ॥

(एत्थ य भिन्नेत्यादि) प्रथमा गाथा (एत्थ) इतिपदोपलक्षिता । द्वितीया-(भिन्नमुहुत्तो इति) तृतीया-(पोग्गला इति) (जे पोग्गला अनिट्ठा इत्यादि) चतुर्थी-(असुभा इति) (असुभा विउव्वणा खलु इत्यादि) । एवं शेषपदान्यपि भावनीयानि ॥ १३ ॥ जी० ३ प्रति० ३ उ० । (स्त्रीणां सप्तमनरकपृथिवीगमनविचारः 'इत्थिलिंगसिद्ध' शब्दे द्वितीयभागे ५६१ पृष्ठे गतः)

सुया मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई ।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥ १४ ॥

'मे' मया नरके स्थानानि श्रुतानि, या गतिर्नरकाऽऽदि अशीलानां गतिर्विद्यते । यत्र यस्यां गतौ क्रूरकर्मणां बालानां मूर्खाणाम् आत्महितविध्वंसकानां प्रगाढा वेदनाऽस्ति ॥ १४ ॥ उत्त० ५ अ० ।

विषयसूची–

(१) नरकनिक्षेपः ।
(२) सप्तनरकपृथिवीनामानि ।
(३) पृथ्वीनामगोत्रनिरूपणम् ।
(४) प्रतिपृथिवि बाहल्यप्ररूपणम् ।
(५) त्रिविधकाण्डप्रतिपादनम् ।
(६) तत्र खरकाण्डवक्तव्यता ।
(७) रत्नकाण्डविचारः ।
(८) प्रतिपृथिवि नरकावाससंख्यासंख्यानम् ।
(९) प्रतिपृथिवि घनोदध्यस्तित्वप्ररूपणा ।
(१०) रत्नकाण्डबाहल्याऽऽख्यानम् ।
(११) पङ्कबहुलकाण्डवक्तव्यता ।
(१२) अब्बहुलकाण्डस्य बाहल्यम् ।
(१३) घनोदधिघनवातयोर्बाहल्यम् ।
(१४) क्षेत्रच्छेदेन छिद्यमानायाः पृथिव्या द्रव्याणां वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानवर्णनम् ।
(१५) खरकाण्डाऽऽदीनां बाहल्यवर्णाऽऽदिप्ररूपणम् ।
(१६) पङ्कबहुलकाण्डाऽऽदीनां बाहल्यवर्णाऽऽदिनिरूपणम् ।
(१७) रत्नप्रभाऽऽदीनां संस्थानप्रतिपादनम् ।
(१८) लोकान्तादबाधा ।
(१९) रत्नप्रभापृथिव्यादीनामधो गृहाऽऽदिसत्तानिराकरणम् ।
(२०) अमूनि रत्नप्रभाऽऽदीनामपान्तरालानि घनोदध्यादिव्याप्तानि, तत्र कस्मिन्नपान्तराले कियान् घनोदध्यादिरिति प्रतिपादनम् ।
(२१) घनोदधिवलयस्य तिर्यग्बाहल्यमानम् ।
(२२) घनवातवलयस्य तिर्यग्बाहल्यपरिमाणप्रतिपादनम् ।
(२३) तनुवातवलयस्य तिर्यग्बाहल्यपरिमाणनिरूपणम् ।
(२४) पञ्चेव घनोदध्यादिवलयेषु क्षेत्रच्छेदेन कृष्णवर्णाऽऽद्युपेतद्रव्यास्तित्वप्ररूपणम् ।
(२५) पृथ्वीनामायामविष्कम्भौ ।
(२६) पृथ्व्यः समा अन्तर्बहिर्वा ।
(२७) पृथिवीषु जीवाः सर्वत्र उपपन्नपूर्वाः ।
(२८) सर्वे जीवाः पृथ्वीषु प्राग्वद्पूर्वाः ।
(२९) त्यक्तपूर्वाः सर्वे पुद्गलाः ।
(३०) रत्नप्रभायाः शाश्वतत्वाशाश्वतत्वविचारः ।
(३१) रत्नप्रभायाः कालस्थितिः ।
(३२) पृथिव्यो बाहल्येन तुल्याः ।
(३३) यस्यां पृथिव्यां यस्मिन् प्रदेशे नरकाऽऽवासास्तत्प्रतिपादनम् ।
(३४) नरकवर्णकः ।
(३५) नरकावाससंस्थानविवरणम् ।
(३६) अधःसप्तमीविषयं संस्थानवर्णनम् ।
(३७) नरकावासानां बाहल्यप्रतिपादनम् ।
(३८) नरकावासानामायामविष्कम्भप्ररूपणम् ।
(३९) नरकावासानां वर्णप्रतिपादनम् ।
(४०) तत्र गन्धविवेकः ।
(४१) तथा स्पर्शप्ररूपणम् ।
(४२) नरकावासानां महत्त्वाभिधानम् ।
(४३) नरका यन्मयास्तत्प्ररूपणम् ।
(४४) नरका यत्प्रतिष्ठितास्तत्प्रतिपादनम् ।
(४५) नरकदुःखवर्णनम् ।
(४६) तत्र गतानां यादृशी वेदना प्रादुर्भवति तन्निरूपणम् ।
(४७) दशविधवेदनावर्णनम् ।
(४८) नरकवर्तिनां नारकाणां वेदनानुभवस्य प्रतिपादनम् ।
(४९) नारका भयोद्भ्रान्ता दिक्षु नष्टा यदनुभवन्ति तत्प्ररूपणम् ।
(५०) कुम्भ्यादिषु यत् क्रियते तत्प्रदर्शनम् ।
(५१) नरकेषु पृथिव्यादिस्पर्शस्वरूपनिरूपणम् ।
(५२) पृथ्वीनां बाहल्याऽऽदिप्ररूपणम् ।
(५३) महाकर्ममया वेदनाः ।
(५४) पूर्वोक्तार्थप्रतिपादिकाः संग्रहगाथाः ।
(५५) पुद्गलपरिणामः ।
(५६) सप्तमनरकपृथिव्यां ये गच्छन्ति तेषां प्रतिपादनं, तत्रस्तावादाहारविकुर्वणातदुत्पातपरिमाणाऽऽदिनिरूपणम् ।

णरगगइ–नरकगति–स्त्री० । नृणन्ति विवेकमासाद्य नयधर्मपरा भवन्तीति नरा मनुष्याः, तेषु विषये गतिर्नरकगतिः (कर्म०) नरानुपलक्षणत्वात्तिरश्चोऽपि प्रभूतपापकारिणः कायन्तीवाऽऽह्वयन्तीवेति नरका नरकावासाः, तत्रोत्पन्ना जन्तवोऽपि नरकाः, नरको वा विद्यते येषां ते " अभ्राऽऽदिभ्यः " । ७ । २ । ४६ । [हैम०] इत्यप्रत्यये नरकाः, तेषु विषये गतिर्नरकगतिः । गतिभेदे, कर्म० ४ कर्म० । आव० ।

णरगछिद्द–नरकच्छिद्र–त्रि० । नरकगतिनिवारके. अष्ट० २० अष्ट० ।

णरगजायणा–नरकयातना–स्त्री० । नरकेषु दुःखयोगे, नरकपीडायाम्, [उत्त०]

" प्रदीप्ताङ्गारकल्पेषु, वज्रकुण्डेष्वसन्धिषु ।
कूजन्तः करुणं केचिद्, दह्यन्ते नरकाग्निना ॥ १ ॥
अग्निभीताः प्रधावन्तो, गत्वा वैतरणीं नदीम् ।
शीततोयामिमां ज्ञात्वा, क्षाराम्भसि पतन्ति ते ॥ २ ॥
क्षारदग्धशरीराश्च, मृगवेगोत्थिताः पुनः ।
असिपत्रवनं यान्ति, छायायां कृतबुद्धयः ॥ ३ ॥
शक्त्यसिप्रासकुन्तैश्च, खड्गतोमरपट्टिशैः ।
छिद्यन्ते कृपणास्तत्र, पतद्भिर्वातकम्पितैः ॥४॥ " उत्त० ३ अ० ।

णरगतिग–नरकत्रिक–न० । नरकगति–नरकानुपूर्वी–नरकायुष्कस्वरूपे नरकत्रये, कर्म० ३ कर्म० । पं० सं० ।

णरगपुढवी–नरकपृथिवी–स्त्री० । रत्नप्रभाऽऽद्यासु पृथिवीषु, उत्त० ३६ अ० । प्रव० ।

णरगवाल–नरकपाल–पुं० । पञ्चदशप्रकारे परमाधार्मिके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

णरगविभत्ति–नरकविभक्ति–स्त्री० । नरकाणां विभागो विभजनं विभक्तिः । नरकप्रविभागे, तदर्थप्रतिपादके सूत्रकृतः प्रथमश्रुतस्कन्धस्य पञ्चमेऽध्ययने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आ० चू० । स० । " पुढवीफासं अपणा—णुवक्कमं णिरयपालवहणं च । तिसु वेदंति असाया, अणुभागं

चेव लेसासु ॥६७॥" सूत्र०नि० १ श्रु०५ अ० १ उ० । (नरकविभक्तिवर्णकः 'णरग' शब्दे १६०४ पृष्ठे गतः)

णरगाउ-नरकायुष्-न० । नारकायुष्के, कर्म० १ कर्म० ।

णरगावास-नरकावास-पुं० । नरकरूपे आवासे, स्था० ८ ठा० ।

णरगिंद-नरकेन्द्र-पुं० । बृहत्त्वात्प्रधानत्वाच्च तथाविधे नरके, चतुर्थ्यां नरकपृथ्व्यां सप्त नरकेन्द्रकाः । यथोक्तम्-" आरे मारे यारे, तच्चे य मए य बोधव्वे । कंकोडक्खडे य खडखडे, इंदयनिरया चउत्थीए ॥१॥" स्था० ६ ठा० ।

णरणारीसंपरिवुड-नरनारीसंपरिवृत-त्रि० । नरैर्नारीभिश्च समन्तात् परिवृते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णरदत्ता-नरदत्ता-स्त्री० । श्रीमुनिसुव्रतस्य शासनदेव्याम्, प्रव० २७ द्वार । ती० ।

णरदुग-नरद्विक-न० । नरगतिनरानुपूर्वीलक्षणे, कर्म० ३ कर्म० ।

णरदेव-नरदेव-पुं० । नराणां देवाः नरदेवाः । चक्रवर्तिषु, स्था० ५ ठा० १ उ० । " पोग्गलपरियट्टद्धं, जं नरदेवंतरं सुए भणियं । " (८०५) विशे० । स्वनामख्याते श्रीऋषभदेवपुत्रे, कल्प० ७ क्षण ।

णरजम्म-नरजन्म-पुं० । ६ त० । मनुष्याणां जन्मसु, कर्म० ५ कर्म० ।

णररुहिर-नररुधिर-न० । मनुष्यरुधिरे, तद्धि लोहितवर्णोत्कटमिति रक्तत्वेनोपमीयते । रा० ।

णरवइ-नरपति-पुं० । राजनि, रा० । दश० । औ० । स्था० । आव० । विश्रुते राजनि, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार । नरनायके, नरस्वामिनि, स० । औ० । ज्ञा० ।

णरवइदत्तपयार-नरपतिदत्तप्रचार-पुं० । नृपानुज्ञातकामचारे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णरवइदिन्नपयार-नरपतिदत्तप्रचार-पुं० । नृपानुज्ञातकामचारे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णरवरीसर-नरवरेश्वर-पुं० । नराणां श्रेष्ठराजनि, " सगरंतं चइत्ता णं, भरहं नरवरीसरो । " उत्त० १८ अ० । उत्क्षिप्तकार्यभारनिर्वाहकत्वात् । स० ।

णरवसह-नरवृषभ-पुं० । नराणां मध्ये गुणैः प्रधानत्वात् (प्रश्न० ४ आश्र० द्वार) धराभारधुरन्धरत्वाद् वृषभकल्पे, कल्प० ३ क्षण ।

णरवाहण-नरवाहन-पुं० । स्वनामख्याते भृगुकच्छनरेश्वरे, आव० १ अ० । ती० । आ० म० । आ० चू० । कुबेरे, वाच० । (स च महाधनः शालिवाहनेन रुद्ध इति 'पालित्त' शब्दे वक्ष्यते)

णरवाहणा-नरवाहना-स्त्री० । कुबेरायां देव्याम्, ती० ८ कल्प ।

णरविग्गहगइ-नरविग्रहगति-स्त्री० । निरयविग्रहगतौ, स्था० १० ठा० ।

णरवेय-नरवेद-पुं० । पुरुषस्य स्त्रियं प्रत्यभिलाषे, कर्म० ४ कर्म० ।

णरसंघाडग-नरसंघाटक-न० । नरयुग्मे, अं० १ वक्ष० ।

णरसीह-नरसिंह-पुं० । शूरत्वात् (प्रश्न० ४ आश्र० द्वार) दुःसहपराक्रमत्वात् (कल्प० ३ क्षण) विक्रमयोगात् (स०) सिंहत्वोपमिते नरे, शरीरार्द्धतो नरे शरीरार्द्धतः सिंहे च । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । विशे० । मानतुङ्गसूर्यन्वयाये जाते स्वनामख्याते सूरौ, " श्रीदेवानन्दगुरु-विक्रमसूरिर्गुरुश्च नरसिंहः । बोधितसिंहकयक्षः " । ग० ४ अधि० ।

णरसुंदर-नरसुन्दर-पुं० । ताम्रलिप्तीनगरीश्वरे स्वनामख्याते राजनि, (ध० र०)

तत्कथा पुनरेवम्-

" पयडियवन्नया बहुविह-सत्ता वरकव्वगंथवित्ति व्व ।
नवरं बंधविमुक्का, अत्थि पुरी तामलित्तीह ॥ १ ॥
सम्मंपरिणयजिणसमय-अमयरसहाणियविसयविसपसरो ।
गिहिवाससिढिलचित्तो, राया नरसुंदरो तत्थ ॥ २ ॥
निरुवमलावण्णरूवा, बंधुमई नाम आसि से जइणी ।
उज्जेणिसामिणा सा, अवंतिनाहेण परिणीया ॥ ३ ॥
सो तीए अणुरत्तो, आसत्तो मज्जपाणवसणम्मि ।
जूयम्मि अइपसत्तो, मत्तो वोलेइ बहुकालं ॥ ४ ॥
तम्मि निवम्मि पमत्ते, रज्जे रट्ठे विणस्सयमाणम्मि ।
रज्जपहाणनरेहिं, सचिवेहि य मंतियं सम्मं ॥ ५ ॥
पुत्तं ठवेमि रज्जे, मज्ज पाइत्तु निसि पसुत्तो सो ।
देवीइ समं नियमा-णुसेहिँ उज्झाविओ रन्ने ॥ ६ ॥
चेलंचले य बद्धो, लेहोऽणागमणसूयगो तस्स ।
अह गोसे पडिबुद्धो, जा निच्चइ निवइ राया ॥ ७ ॥
हरिहरिणरुहसद्द-समंकुलं सव्वओ वि ता रन्नं ।
तं लेहं च निरिक्खिय, सविसाओ जणइ इय हिययं ॥ ८ ॥
ओ पिच्छ पिच्छ पावा-ण ताण सामंतमंतिपमुहाणं ।
तह तह उवयारियाणं, वियारयगुरुदाणमाणाणं ॥ ९ ॥
निच्चं गुरुगुरुतरबहु--पसायपावियपसिद्धिरिद्धीणं ।
अवराहपए वि सया, सिणिद्धदिट्ठीइ दिट्ठाणं ॥ १० ॥
अविभिन्नरहस्साणं, संसइयत्थेसु पुच्छणिज्जाणं ।
नियकुलकमाणुरूवं, चिट्ठियमेयंविहं सुयणु ! ॥ ११ ॥
इय विरसं जंपंतो, अविज्जावियदुट्ठदिव्वपरिणामो ।
राया बंधुमईए, सुजुत्तिजुत्तं इमं वुत्तो ॥ १२ ॥
किं चिंतिएण सामिय !, विहलीकयमयगलपुरिसयारस्स ।
अघडंतघडणरुइणो, हयविहिणो विलसियपणमिणा ? ॥ १३ ॥
लहु पहु ! चयसु विसायं, गच्छामो तामलित्तिनयरीए ।
नरसुंदरनरनाहं, पिच्छामो तत्थ सप्पणयं ॥ १४ ॥
रन्ना पडिवन्नमिणं, गंतु पयट्टाइँ ताइँ तो कमसो ।
पत्ताइँ तामलित्ती, पुरीसमीवट्ठउज्जाणे ॥ १५ ॥
अह बंधुमई जंपइ, इहेव चिट्ठसु सामि ! खणमेगं ।
तुह आगमणं गंतू-ण भाउणो जाव साहेमि ॥ १६ ॥
कह कह वि होउ एवं, ति जंपिए नरवरेण अह पत्ता ।
निविडपडिबंधबंधुर-बंधवगेहम्मि बंधुमई ॥ १७ ॥
तत्थ य महंतसामं-तविंदसेविज्जमाणपयजुयलो ।
पासट्ठियपणतरुणी-करचालियचामरुप्पीलो ॥ १८ ॥
जय जीव जीव इय से-वगेहिँ वुच्चंतओ य पइवयणं ।
सिंघासणोवविट्ठो, दिट्ठो नरसुंदरो तीए ॥ १९ ॥

तेण वि विम्हियमणसा, भगिणी अवितक्कियागया दट्ठुं ।
कवियपडिवत्तिपुव्वं, पुट्ठा सयलं पि वुत्तंतं ॥ २० ॥
तो तीइ वि सो कहिओ, जह जाओ जाव विच्छइ निवु त्ति ।
सन्निहिओ तओ सो, तयभिमुहं पट्ठिओ झ त्ति ॥ २१ ॥
सो पुण अवंतिणाहो, अइगाढछुहाइ पीडिओ तइया ।
बाउंकिभक्खणत्थं, पगम्मि व चिब्भिडीकच्छे ॥ २२ ॥
अणदारेणं चोरु, व्व पविसमाणो स काय य नरेण ।
मम्मपएसम्मि हओ, मुट्ठीए तह य लट्ठीए ॥ २३ ॥
निट्ठुरपहारविहुरो, पलायमाणो तओ इमो तुरियं ।
धरणीवट्ठे पडिओ, निविट्ठो कट्ठघडिओ व्व ॥ २४ ॥
इत्तो नरसुंदरनर-वरो वि नियविजयरहवराकढो ।
भगिणीवइस्सऽभिमुहं, तम्मि पएसम्मि संपत्तो ॥ २५ ॥
नवरं तरलतुरंगम-निट्ठुरखुरखणियरेणुपूरेण ।
उच्छुरतिमिरक्कंतं, व नहयलं तक्खणे जायं ॥ २६ ॥
तो दंसणविरहाओ, नरवरहतितक्खचक्कधाराए ।
तह निव्वाडियस्स कंठो, दुहा कओऽवंतिनाहस्स ॥ २७ ॥
अह पुव्वुत्तुज्जाणे, अवंतिनाहं निवो अपिच्छंतो ।
संभंतो भइणीए, वुत्तंतमिमं कहावेइ ॥ २८ ॥
हा दिव्व ! दिव्व ! किमिमं, ति मंतमुच्छंततरलतारच्छी ।
बंधुमई बंधुगिरं, निसामिउं आगया तत्थ ॥ २९ ॥
तो अवलोयंतीए, पणट्ठरयणं व निउणदिट्ठीए ।
कह कहमवि तमवत्थं, संपत्तो तीइ सो दिट्ठो ॥ ३० ॥
अह नाउ मयं सपइं, गुरुमुग्गरचूरिय व्व सा सहसा ।
पडिया अतुच्छमुच्छा-निमीलियच्छी महीपीढे ॥ ३१ ॥
पासट्ठियपरियणविहि-यसिसिरउवयारलद्धचेयन्ना ।
परिमुक्कपिक्कमुक्कं, एवं विलवेइ दीणमणा ॥ ३२ ॥
हा हियय ! दइय ! पिययम ! गुणनिवहनिवास ! पणयकयतोस ! ।
केणं पाविट्ठेणं, एयमवत्थं तुमं नीओ ? ॥ ३३ ॥
हा नाह ! तायसु मइं, विओगवज्जासणीइ भिज्जंतं ।
हिययं हिययसुहावह !, कीस उविक्खेसि चिरकालं ? ॥३४॥
हयदिव्व ! किं न तुट्ठो, रज्जवहारेण देसचाएण ।
सुहिजणविओयणेण य, जमेयमवि ववसिओ पाव ! ॥ ३५ ॥
इच्चाइविलवमाणी, धारिज्जंती वि बंधवनिवेण ।
सा नियपइणा सद्धिं, पविया जालाउले जलणे ॥ ३६ ॥
अह निव्वेओवगओ, राया नरसुंदरो विचिंतेइ ।
अविचिंतणीयरूवा, अहो अणिच्चा जयस्स ठिई ॥३७॥
जत्थ सुही वि हु दुहिओ, निवो वि रोरो सुमित्तमवि सत्तू ।
संपत्ती वि विवत्ती, निमेसमित्तेण परिणमइ ॥ ३८ ॥
कहमहुणा भइणीए, चिरकालाओ समागमो जाओ ? ।
कहमिण्हि पि विओगो, धिरत्थु संसारवासस्स ॥ ३९ ॥

अवि य-

जे खलु तिहुयणजणपलय-ताणकरणक्खमा जिणवरिंदा ।
सययं अखिज्जमाए, उररीकीरंति ते वि इहा ! ॥ ४० ॥
रणसवडंमुहडंभड-भिडंतरिउसुहडचक्कअक्कमणे ।
जे पहुणो ते वि जओ-ण चक्किणो जंति हा निहणं ॥ ४१ ॥
जे गुरुभुयबलबलभ-इलंभया दलियदप्पपडिवक्खा ।
ते वि हु हरिणो हरिणु, व्व हवेइ हा हा कयंतहरी ॥ ४२ ॥
अन्ने करिकन्नसुरिं-दचावतडिचावलेन निम्मवियं ।
इत्थं वत्थुसमत्थं, तेणं जुत्तमिच्छिउं ति ॥ ४३ ॥
एवंविहे य जं इह, जणमवि निवसंति मुणियपरमत्था ।
वीसत्था सगिहेसुं, अहह महाधिट्ठिमा तेसिं ॥ ४४ ॥
इय सो विरत्तचित्तो, संबद्धो वि हु घणाइसु कहं पि ।
भावेण अपडिबद्धो, गेहम्मि गमेइ कइ वि दिणे ॥ ४५ ॥
कालेण नंदणे र--ज्जभारधरणुद्धुरे ठविय रज्जं ।
सिरिसेणगुरुसमीवे, दिक्खं गिण्हइ महीनाहो ॥ ४६ ॥
नयराइसु गामाइसु, समयाइसु कोहमाणमाईसु ।
दव्वे खित्ते काले, भावे परिमुक्कपडिबंधो ॥ ४७ ॥
काऊण अणसणं सो-लसणं भणे जिणवराण धारंतो ।
देहे वि अपडिबद्धो, मरिउं गेवे सुरो जाओ ॥ ४८ ॥
तत्तो य कमकलस-सुरनरसिरिमणुहविउं कइ वि भवे ।
पव्वज्जं पडिवज्जिय, सो संपत्तो पयं परमं ॥ ४९ ॥
श्रुत्वेवं नरसुन्दरस्य चरितं, हेतोर्गरीयस्तरात्,
कस्माद्प्यनलंभविष्णुमनसो, दीक्षां गृहीतुं द्रुतम् ।
संबद्धा अपि देहगेहविषय-द्रव्याऽऽदिषु द्रव्यतो,
भावेन प्रतिबन्धबुद्धिमसमां, मैतेषु भव्याः ! कृत ॥ ५० ॥
ध० र० ७४ गाथा ॥

णराअ—नाराच–न० । "वाऽव्ययोत्खातादावदातः" । ८ । १ । ६७ । इत्यातोऽत्त्वम् । ('णाराय' प्रकरणे वक्ष्यमाणेऽर्थे) प्रा० १ पाद ।

णराहिव–नराधिप–पुं० । राजनि, उत्त० ६ अ० । "कुंथू नाम नराहिवो ।" उत्त० ६ अ० ।

णरिंद–नरेन्द्र–पुं० । नराणामिन्द्रो नरेन्द्रः । दशा० १० अ० । "ह्रस्वः संयोगे दीर्घस्य" ॥ ८ ॥ १ । ८४ । इति ह्रस्वः । प्रा० १ पाद । परमैश्वर्ययोगात् (स० । औ०) समस्तभरताधिपे (प्रश्न० ४ आश्र० द्वार) राजनि, औ० । चक्रवर्त्यादौ, ध० २ अधि० । आ० म० । उत्त० । प्रजापतौ, व्य० २ उ० । बृ० ।

णरिंदप्पह–नरेन्द्रप्रभ–पुं० । हर्षपुरीयगच्छोद्भवे ताराचन्द्रसूरिशिष्ये, अनेन अलङ्कारमहोदधिः, काकुत्स्थकेलिश्चेति द्वौ ग्रन्थौ रचितौ । जै० इ० ।

णरिंदवसह–नरेन्द्रवृषभ–पुं० । राजमुख्ये, उत्त० १८ अ० । "एवं नरिंदवसहा, निक्खंता जिणसासणे ।" उत्त० १ अ० ।

णरिंदसमणी–नरेन्द्रश्रमणी–स्त्री० । मासराजकुलपालितायां श्रमण्याम्, सा चाऽदत्ताऽऽदानेन संसारं पर्यटितेति ।

सा उण लद्दिऊण अदत्तादाणगं मासरायकुलबालिया णरिंदसमणी गोयमा ! तेणं मायासल्लभावदोसेणं उववन्ना विज्जुकुमाराणं वाहणत्ताए नउलीरूवेणं किंकरी देवेसु तओ चूया समाणी पुणो पुणो उववज्जंती वावज्जंती आहिंडियमाणुसतिरियच्छेसु सयलदोहग्गस्स दुक्खदारिद्दपरिगया सव्वलोयपरिभूया सकम्मफलमणुभवमाणी गोयमा ! जाव णं कह वि कम्माणं खओवसमेणं बहुभवंतरेसु तं आयरिए य पाविऊण निरइयारसामण्णपरिवालणेणं सव्वत्थामेसुं च सव्वए मायालंबणविप्पमुक्केणं तु उज्जमिऊणं निद्दड्ढावसेसीकयभवंकुरे तहा वि गोयमा ! जा सा सरागा चक्खुणाऽऽलोइया तक्कमदोसेणं माहणिच्छित्ताए परिनिव्वुडेणं से रायकुलबालियाणरिंदसमणीजीवे । महा० २ चू० ।

णरीसर-नरेश्वर-पुं० । नृपे, " इक्खागुरायवसहो,कुंथू नाम नरीसरो । " उत्त० १८ अ० ।

णरीसरत्तण-नरेश्वरत्व-न० । नृपत्वे, पञ्चा० ।

सामन्ने मणुयत्ते, धम्माओ णरीसरत्तणं णेयं ।
इय मुणिऊणं सुंदर !, जत्तो एयम्मि कायव्वो ॥१७॥

सामान्ये बहूनां प्राणिनां साधारणे, मनुजत्वे नरत्वे, धर्मात् कुशलकर्मणः नरेश्वरत्व नृपत्वं भवतीति ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । इत्येतद् ज्ञात्वा अवगम्य, सुन्दर ! नरप्रधान ! यत्न उद्यमः, अत्र धर्मे, कर्तव्यो विधेयो भवति । इति गाथार्थः ॥१७॥ पञ्चा० ६ विव० ।

णरोत्तम-नरोत्तम-पुं० । श्रीऋषभदेवस्य चतुश्चत्वारिंशे पुत्रे, कल्प० ७ क्षण ।

णल-नल-पुं० । नस्य णः, रस्य तु "रो लः" । ८ । १ ।२०२। इति लः । प्रा० १ पाद । तृणविशेषे, जी० ३ प्रति० २ उ० । प्रज्ञा० । आचा० । शुषिरशराऽऽकारे यवाऽऽदीनां करकुरे, स्था० ५ ठा० २ उ० । चन्द्रवंश्ये नृपभेदे, वानरभेदे, आऽऽदेवे, पितृगणभेदे, दैत्यभेदे, पद्मे, न० । वाच० ।

णलकूवर-नलकूवर-पुं० । नलः कूबरो युगन्धरोऽस्य । कुबेरपुत्रे, वाच० । "अट्ठपुत्ते पयाहिसि सिरीए नलकूवरसमाणे । " आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णलगिरि-नलगिरि-पुं० । प्रद्योतनृपतेर्हस्तिरत्ने, अनलगिरिरिति तन्नामान्तरम् । आ० क० । आ० म० । आ० चू० । नि० चू० । आव० ।

णलत्थंभ-नलस्तम्भ-पुं० । वृक्षविशेषे, आव० ३ अ० ।

णलदाम[ण्]-नलदामन्-न० । स्वनामख्याते कुविन्दे, स्था० ४ ठा०३ उ० । दश० । ध्य०। आ० म० । (अधर्मयुक्ते हेतौ नलदामकुविन्दोदाहरणम् ' अधम्मजुत्त ' शब्दे प्रथमभागे ५६७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

णलय-नलद्-पुं० । देशी-उशीरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णलाग्गि-नलाग्नि-पुं० । नलदहनप्रसूतेऽग्नौ, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

णलाड-ललाट-न० । " ललाटे लडोः " ॥ ८ । २ । १२३ ॥ इति ललाटशब्दे रुलयोर्व्यत्ययः । " णलाडं । णडालं " प्रा० २ पाद ।

णलिअ-देशी-गृहे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णलिण-नलिन-न० । ईषद्रक्ते कमले, चं० प्र० १ पाहु० १ पा. हु० पाहु० । रा० । ईषद्रक्तपद्मे, रा० । जं० । आ० म० । प्रज्ञा० । ईषन्नीले पद्मे, जं० १ वक्ष० । जलजकुसुमविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । चतुरशीतिलक्षगुणिते नलिनाङ्गे, भ० ६ श० ७ उ० । जी० । ज्यो० । जं० । अनु० । स्था० । कच्छाऽऽदिषु द्वाविंशे विजयक्षेत्रयुगले, " दो णलिणा । " स्था० २ ठा० ३ उ० । स्वनामख्याते विमाने, स० १८ सम० । स्था० । रुचकपर्वतस्य दाक्षिणात्ये कूटे, द्वी० । स्था० । जम्ब्वाः सुदर्शनायाः पूर्वस्यां दिशि पुष्करिण्याम्, जं० ४ वक्ष० । जी० ।

णलिणंग-नलिनाङ्ग-न० । चतुरशीतिलक्षगुणिते पद्मशतसहस्रे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । अनु० । जं० । स्था० ।

णलिणकूड-नलिनकूट-पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यां शीताया महानद्या उत्तरकूले वक्षस्कारपर्वते, स्था० २ ठा० ३ उ० । " दो णलिणकूडा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

कहि णं भंते ! महाविदेहे वासे णलिणकूडे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते ? । गोयमा ! णीलवंतस्स दाहिणेणं सीआए उत्तरेणं मंगलावत्तस्स विजयस्स पच्चच्छिमेणं आवत्तस्स विजयस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं महाविदेहे वासे णलिणकूडे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते । उत्तरदाहिणायए पाईणपडीणविच्छिण्णे सेसं जहा चित्तकूडस्स० जाव आसयंति । णलिणकूडे णं भंते ! कति कूडा पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि कूडा पण्णत्ता । तं जहा-सिद्धाययणकूडे, णलिणकूडे, आवत्तकूडे, मंगलावत्तकूडे, कूडा पंचसइआ रायहाणीओ उत्तरेणं । जं० ४ वक्ष० ।

णलिणगुम्म-नलिनगुल्म-न० । श्रेणिकभार्याया नलिनगुल्माया अपत्ये, स च वीरान्तिके प्रव्रजितस्त्रीणि वर्षाणि प्रव्रज्यापर्यायं परिपाल्य सहस्रारे उपपन्नः, ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यति, इति कल्पावतंसिकाया अष्टमेऽध्ययने सूचितम् । नि० १ श्रु० १ वर्ग ८ अ० । अर्हता महापद्मेन प्रव्राजिष्यमाणे स्वनामख्याते राजनि, स्था० ८ ठा० । अष्टमदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० १८ सम० । "णलिणगुम्मे विमाणे देवत्ताए उववण्णा । " आ० चू० १ अ० । उत्त० । नलिनीगुल्ममप्यत्र । विशे० । स्वनामख्याते अध्ययने च । " अन्यदा पर्दोषकाले आर्यारया णलिणगुम्मं अज्झयणं परियट्टति । " आव० ४ अ० ।

णलिणवण-नलिनवन-न० । पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिण्या नगर्या उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे स्वनामख्याते वने, ज्ञा० १ श्रु० १९ अ० । आ० म० । उत्त० । अनु० ।

णलिणावई-नलिनावती-स्त्री० । कच्छाऽऽदिषु चतुर्विंशे विजयक्षेत्रयुगले, स्था० २ ठा० ३ उ० । ज्ञा० ।

णलिणी-नलिनी-स्त्री० । पद्मिन्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रज्ञा० । आ० क० ।

णलिणीकुमार-नलिनीकुमार-पुं० । महापद्मतीर्थकृतः प्रथमपुत्रे, " जेठ णलिणकुमारं, रज्जे ठाउं तं महापउमो । " ति० ।

णलिणोदग-नलिनोदक-न० । समुद्रभेदे, " गोतित्थेहि विरहियं, लेसं नलिणोदगसमुद्दे । " द्वी० ।

णव-नव-त्रि० । संख्याविशेषे ६ विशिष्टे, नि० चू० १ उ० । "नव खोडा । " प्रतिलेखनायाम, नव खोटकाः, ते च त्रयस्त्रयः प्रमार्जनानां त्रयेण त्रयेण अन्तरिताः कार्याः, इति पदद्वयेनापि पञ्चमी अप्रमादप्रत्युपेक्षणीका । स्था० ६ ठा० । ध० । नि० चू० । प्रत्यग्रे, दश० १ अ० । चं० प्र० । सूत्र० । अपूर्वे, ज्ञा० १ उ० । अजीर्णे, जं० ३ वक्ष० । अभिनवे, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० । नवकर्मणामनादानम् । नवान्युपचीयमानानि । आव० ४ अ० । " ते वारसो होइ नवो ।" प्रव्रज्यापर्यायेण यस्य त्रीणि वर्षाणि नाधिकानि स्येष त्रिवर्षो भवति नवः । व्य० ३ उ० । " नवदइयभासंतपत्तंधयारगंभीरदरिसणिज्जा " इति । नवेन

प्रत्यग्रेण हरितेन नीलेन भासमानेन स्निग्धत्वाद्दीप्यमानेन पत्रभारेण दलसंचयेन यो जातोऽन्धकारस्तेन गम्भीरा अलब्धमध्यभागाः सन्तो दर्शनीयाः। जी० ३ प्रति० ४ उ०। "नवहेमचारुचित्तचंचलकुंडलविलिहिज्जमाणगंडे।" नवमिव प्रत्यग्रमिव हेम यत्र ते नवहेमनी, नवहेमभ्यां चारु चित्राभ्यां चञ्चलाभ्यां कुण्डलाभ्यां विलिख्यमानौ गण्डौ यस्य स तथा। औ० ४ प्रति० २ उ०।

नम्-धा०। प्रह्वत्वे शब्दे, "रुदनमोर्वः" ॥ ८। ४। २२६॥ इत्यनेन अन्त्यस्य नस्य वः। 'नवइ' नमति। प्रा० ४ पाद।

णवंगसुत्तपडिबोहिया-नवाङ्गसुप्तप्रतिबोधिता-स्त्री०। नवाङ्गानि श्रोत्र २ चक्षु २ घ्राण २ रसना १ त्वग् १ मनो १ लक्षणानि सुप्तानि सन्ति प्रतिबोधितानि यौवनेन यस्याः सा तथा। विपा० २ श्रु० १ अ०। नवयौवनायाम, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ०। विपा०। औ०। "नवंगसुत्तपडिबोहियाए।" द्वे अक्षिणी द्वौ कर्णौ द्वौ नासापुटौ जिह्वा स्पर्शनं नवमं मनः, एतानि नव अङ्गानि यावद्यापि यौवनं न भवति तावत्सुप्तानि भवन्ति, न खलु तदानीमेतेषामतीवाराभिव्यक्तसुखं भवति, ततः सुप्तानीति व्यपदिश्यन्ते, यौवने तु प्राप्तस्वकालगुणेन प्रतिबुद्धानि जायन्ते। व्य० १० उ०।

णवकोडिपरिसुद्ध-नवकोटिपरिशुद्ध-त्रि०। ३ त०। नवभिर्विभागैर्निर्दोषे, "नवकोडीपरिसुद्धे, भिक्खे पण्णत्ते।" नवभिर्विभागैर्निर्दोषे, स्था० ९ ठा०।

णवक्ख-नव-त्रि०। "शीघ्रादीनां वहिल्लादयः" ॥ ८। ४। ४२२॥ इत्यपभ्रंशे नवशब्दस्य णवक्खाऽऽदेशः। प्रत्यग्रे, प्रा० ४ पाद।

णवगणिवेस-नवकनिवेश-पुं०। प्रथमावासे, नि० चू०।

जे भिक्खू नवआसु गामंसि वा णगरंसि वा [णगारंसि वा] जाव सन्निवेसंसि वा अणुप्पविसित्ता असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥ नि० चू० ५ उ०।

(अत्र 'गोयरचरिया' शब्दः तृतीयभागे ६६१ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

णवग्गह-नवग्रह-पुं०। अभिनवग्रहणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

णवच्छिद्द-नवच्छिद्र-त्रि०। नवरन्ध्रोपेते, तं०।

णवजोयणिय-नवयोजनिक-त्रि०। नवयोजनाऽऽयामे, "जंबूद्दीवे णं दीवे नवजोयणिया मच्छा।" स्था० ९ ठा०।

णवणवमिया-नवनवमिका-स्त्री०। नव नवमानि दिनानि यस्यां सा नवनवमिका, नव नवमानि च भवन्ति नवसु नवकेष्विति तत्परिमाणेयमिति। एकाशीतिदिनैः समाप्येऽभिग्रहविशेषे, (स्था०)

णवणवमिया णं भिक्खुपडिमा एकासीएहिं राइंदिएहिं चउहि य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं अहासुत्ता० जाव आराहिया यावि भवइ ॥

(णवणवमिया णं) इत्यादि कण्ठ्यं, नवरं नव नवमानि दिनानि यस्यां सा नवनवमिका, नव नवमानि च भवन्ति नवसु नवकेष्विति तत्परिमाणेयमिति, नव च नवकान्येकाशीतिरिति कृत्वा एकाशीत्या रात्रिन्दिवैरहोरात्रैर्भवति। तथा प्रथमनवके प्रतिदिनमेका दत्तिः पानकस्य भोजनस्य चैवमेकोत्तरया वृद्ध्या नवमे नवके नव दत्तयः। ततश्च सर्वसङ्कलनया चतुर्भिश्च पञ्चोत्तरैर्भिक्षाशतैर्यथासूत्रं यथाकल्पं यथामार्गं यथातत्त्वं सम्यक्कायेन स्पृष्टा पालिता शोभिता तीरिता कीर्तिता आराधिता चाऽपि भवतीति। स्था० ९ ठा०। प्रव०। स०। औ०। अन्त०।

णवणवसंवेग-नवनवसंवेग-पुं०। अपूर्वापूर्वे वैराग्ये, [वृ०]

अथ "नव नवो य संवेगो" इति व्याख्यानयन्नाह-

जह जह सुयमोगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं।
तह तह पल्हाइ मुणी, णवणवसंवेगसद्धाओ ॥

यथा यथा श्रुतमागमं पूर्वमवगाहते, कथंभूतम्?-अतिशयरसप्रसरसंयुतम्। अतिशया अर्थविशेषास्तेषु यो रसः श्रोतृणामाक्षेपकारी गुणविशेषः, तस्य यः प्रसरः अतिरेकः, तेन संयुतं युक्तम्। यद्वा-श्रवणं श्रुतं, तत्कथंभूतम्?-अतिशयस्याऽर्थस्य रस आस्वादस्तत्र यः प्रसरो गमनं तेन संयुतम्, अपूर्वं यथा यथाऽवगाहते तथा तथा मुनिः प्रह्लादते शुभभावसुखासिकया मोदते। कथंभूतः? इत्याह-नवनवोऽपूर्वापूर्वो यः संवेगो वैराग्यं, तद्वा श्रद्धा मुक्तिमार्गाभिलाषलक्षणा यस्य स नवनवसंवेगश्रद्धाक इति। गतं नवनवसंवेगद्वारम्। वृ० १ उ०।

णवणवसंवेगो खलु, णाणावरणक्खओवसमजाओ।
तत्ताहिगमो य तहा, जिणवयणायन्नणस्स गुणा ॥३॥

नवनवसंवेगः प्रत्यग्रः प्रत्यग्रः संवेग आर्द्रान्तःकरणता, मोक्षसुखाऽभिलाष इत्यन्ये। खलुशब्दः पूरणार्थः, संवेगस्य शेषगुणनिबन्धनत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थो वा। तथा ज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमभावः ज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमसक्तः संवेगादेव। तत्त्वाधिगमश्च तत्त्वाऽवतत्त्वपरिच्छेदश्च तथा, जिनवचनाऽऽकर्णनस्य तीर्थकरभाषितश्रवणस्य एते गुणा इति ॥ ३ ॥ षो०।

णवणाम [ण्]-नवनामन्-न०। नवपदार्थनामनि, अनु०।

नवनामनिदर्शयन्नाह-

से किं तं णवणामे ? णवणामे णव कव्वरसा पण्णत्ता। तं जहा-

वीरो सिंगारो अ-ब्भुओ य रोद्दो अ होइ बोद्धव्वो।
वेलणओ बीभच्छो, हासो कलुणो पसंतो अ ॥१॥

(से किं तं णवणामे इत्यादि) नवनामे नव काव्यरसाः प्रज्ञप्ताः। तत्र कवेरभिप्रायः काव्यं, रस्यन्तेऽन्तराऽऽत्मनाऽनुभूयन्त इति रसाः, तत्तत्सहकारिकारणसन्निधानोद्भूताः चेतोविकारविशेषा इत्यर्थः। उक्तं च-" बाह्यार्थाऽऽलम्बनो वस्तुविकारो मानसो भवेत्। स भावः कथ्यते सद्भिः, तस्योत्कर्षो रसः स्मृतः ॥ १ ॥" काव्येबद्धानिबद्धा रसाः काव्यरसाः, वीरशृङ्गाराऽऽदयः। तानेवाऽऽह-(वीरो सिंगारो) इत्यादि। गाथा सुगमा, नवरम् 'शूर वीर' विक्रान्तौ, इति वीरयति विक्रामय-

ति रागमपोवैरिनिग्रहेषु प्रेरयति प्राणिनामिति उत्तमप्रकृतिपुरुषचरितश्रवणाऽऽदिहेतुसमुद्भूतो दानाऽऽद्युत्साहप्रकर्षाऽऽत्मको वीरो रसः, इतिः सर्वत्र प्रयुज्यते ॥ १ ॥ शृङ्गं सर्वरसेभ्यः परमप्रकर्षकोटिलक्षणमियर्ति गच्छतीति कमनीयकामिनीदर्शनाऽऽदिसंभवो रतिप्रकर्षाऽऽत्मकः शृङ्गारः सर्वरसप्रधान इत्यर्थः । अत एव " शृङ्गारहास्यकरुणाः, रौद्रवीरभयानकाः । बीभत्साद्भुतशान्ताश्च, नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥१॥ " इत्यादिष्वयं सर्वरसानामादावेव पठ्यते । अत्र तु त्यागतपोगुणौ वीररसे वर्तेते, त्यागितपस्वी च " त्यागो गुणो गुणशतादधिको मतो मे । " "परं लोकातिगं धाम, तपः श्रुतमिति द्वयम् । " इत्यादिवचनात् समस्तगुणप्रधान इत्यनया विवक्षया वीररसस्याऽऽदावुपन्यास इति भुतम् ॥ २ ॥ अद्भुतं त्यागतपःशौर्यकर्माऽऽदि वा सकलभुवनातिशायि किमप्यपूर्वं वस्त्वद्भुतमुच्यते; तद्दर्शनश्रवणाऽऽदिभ्यो जातो रसोऽप्युपचारात् विस्मयरूपोऽद्भुतः ॥३॥ रोदयत्यतिदारुणतया अश्रूणि मोचयति इति रौद्रं, रिपुजनमहद्वारण्यान्धकाराऽऽदितद्दर्शनाऽऽद्युद्भवो विकृताध्यवसायरूपो रसोऽपि रौद्रः ॥ ४ ॥ व्रीडयति लज्जामुत्पादयति लज्जनीयवस्तुदर्शनाऽऽदिप्रभवो मनोऽवलीकताऽऽदिस्वरूपो व्रीडनकः, अस्य स्थाने भयजनकसंग्रामाऽऽदिवस्तुदर्शनाऽऽदिप्रभवो भयानको रसः पठ्यतेऽन्यत्र, स चेह रौद्ररसान्तर्भावविवक्षणात् पृथग् नोक्तः ॥५॥ शुक्रशोणितोच्चारप्रश्रवणाऽऽद्यतिकुत्सितमुद्वेजनीयं वस्तु बीभत्समुच्यते, तद्दर्शनश्रवणाऽऽदिप्रभवो जुगुप्साप्रकर्षस्वरूपो रसोऽपि बीभत्सः ॥ ६ ॥ विकृतासंबद्धपरवचनवेषालङ्काराऽऽदिहास्याईपदार्थप्रभवो मनःप्रकर्षाऽऽदिचेष्टाऽऽत्मकोऽपि रसो हास्यः ॥ ७ ॥ कुत्सितं रौत्यनेनेति निरुक्तवशात् करुणः, करुणाऽऽस्पदत्वात् करुणः प्रियविप्रयोगाऽऽदिदुःखहेतुसमुत्थः शोकप्रकर्षस्वरूपः करुणो रस इत्यर्थः ॥ ८ ॥ प्रशाम्यति क्रोधाऽऽदिजनितौत्सुक्यरहितो भवत्यनेनेति प्रशान्तः, परमगुरुवचःश्रवणाऽऽदिहेतुसमुल्लसित उपशमप्रकर्षाऽऽत्मा प्रशान्तो रस इत्यलं विस्तरेण ॥ ९ ॥ अनु० । (एषां नवानां नवकाव्यरसानां लक्षणानि स्वस्वशब्दे द्रष्टव्यानि)

णवणिहि-नवनिधि-पुं० । भजागृहतीर्थे पार्श्वनाथप्रतिमायाम्, ती० २ कल्प ।

णवणीइया-नवनीतिका-स्त्री० । पुष्पप्रधाने वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । " णवणीइया गुम्मा । " जं० २ वक्ष० ।

णवणीय-नवनीत-न० । म्रक्षणे, औ० । नि० । आ० चू० । आव० । स्था० । ज्ञा० । (मक्खन) (नेनू) (मसका) इतिख्याते, ध० र० । रा० । प्रश्न० । जं० । नि० चू० । भ० । कल्प० । प्रज्ञा० । जी० । आ० म० । " नवनीतं यथा दध्न-श्चन्दनं मलयादिव । अह्यादरं वै पुराणेभ्य-स्तथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ १ ॥ " उत्त० २५ अ० । नवनीतं हि महाविकृतितया निर्विकृतिकैरभक्ष्यम् । स्था० ६ ठा० । नवनीतमपि गोमहिष्यजाऽविसंबन्धेन चतुर्धा, तदपि सूक्ष्मजन्तुराशिसंमिश्रत्वात्याज्यमेव । यतः-" अन्तर्मुहूर्तात्परतः, सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः । यत्र मूर्छन्ति तन्नाद्यं, नवनीतं विवेकिभिः ॥ १ ॥ " इति । ध० २ अधि० ।

णवत्तयकुसंत-नवत्वक्कुशान्त-पुं० । नवा त्वक् येषां ते नवत्वचः कुशान्ता दर्भपर्यन्ताः, नवत्वचश्च ते कुशान्ताश्च नवत्वक्कुशान्ताः । प्रत्यक्कृत्तदर्भपर्यन्ते, रा० । जी० ।

णवधम्म [ग्]-नवधर्मन्-त्रि० । अभिनवश्रावके, सू० १ श्रु० ।

णवपज्जवण-नवपायन-न० । नवं प्रत्यग्रं 'पज्जणं ति' प्रतापितस्याऽयोघनकुट्टनेन तीक्ष्णीकृतस्य पायनं जलनिबोलनं यस्य तन्नवपायनम्, सद्योऽग्नितप्तं तीक्ष्णीकृतं जलक्षेपेण शीतीकृते, " णवपज्जणएणं असिपत्तणं पडिसाहरिया । " भ० १५ श० ७ उ० ।

णवपुव्वि (ण्)-नवपूर्विन्-पुं० । परिपूर्णनवपूर्वधरे, इहासतां नवपूर्विणः परिपूर्णनवपूर्वधराः, किं तु नवमस्य पूर्वस्य यत्तृतीयमाचारनामकं वस्तु, तावन्मात्रधारिणोऽपि नवपूर्विणः । व्य० १ उ० ।

णवबंभचेरगुत्त-नवब्रह्मचर्यगुप्तिगुप्त-त्रि० । नवब्रह्मचर्याणि गुप्तिशब्दलोपाद् वसतिकथाद्या नवब्रह्मचर्यगुप्तयस्ताभिर्गुप्तः संरक्षितो नवब्रह्मचर्यगुप्तिगुप्तः । पा० । नवभिर्मैथुनव्रतस्य रक्षाप्रकारैः सुसंवृत्ते, पा० । नि० चू० ।

णवम-नवम-त्रि० । नवसंख्यापूरके, उत्त० १ अ० । स्था० ।

णवमल्लइ-नवमल्लकिन्-पुं० । क्षत्रियविशेषजातीये, वीरस्वामिमोक्षगमनतिथिरात्रौ नवमल्लकिभिः पोषधोपवासः कृतः, तत्र नवमल्लकिजातीयाः काशिदेशस्य राजानः । कल्प० ६ क्षण ।

णवमालिया-नवमालिका-स्त्री० । (नेवारी) पुष्पप्रधाने वनस्पतिभेदे, कल्प० ३ क्षण । आचा० ।

णवमिया-नवमिका-स्त्री० । सुपुरुषस्य किम्पुरुषेन्द्रस्य द्वितीयायामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । ज० । ती० । (अस्याः पूर्वभवः 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे गतः) शक्रस्य देवेन्द्रस्य षष्ठ्यामग्रमहिष्याम्, (अस्याः पूर्वभवकथा ' अग्गमहिसी ' शब्दे प्रथमभागे १७२ पृष्ठे उक्ता) मन्दरस्य पश्चिमे रुचकवरपर्वतस्य रुचकोत्तमकूटे परिवसन्त्यां दिक्कुमार्याम्, स्था० ८ ठा० । आव० । आ० चू० । जं० । आ० म० ।

णवमी-नवमी-स्त्री० । अष्टमीदशम्यन्तराले तिथौ, द० प० । विशे० । ज्यो० ।

णवमीपक्ख-नवमीपक्ष-पुं० । नवम्यास्तिथेः पक्षो ग्रहो यस्य तिथिमेलपाताऽऽदिषु तथादर्शनात् तिथिपाते यत्कृत्यस्याष्टमे च क्रियमाणत्वात् स नवमीपक्षः । अष्टमे दिवसे, " चित्तबहुलस्स णवमीपक्खेणं । " जं० ३ वक्ष० ।

णवय-नवत-पुं० । कर्णाविशेषमये 'जीन' इति लोकप्रसिद्धेऽर्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आचा० ।

णवयारचिंतणाइय-नमस्कारचिन्तनाऽऽदिक-त्रि० । परमेष्ठिपञ्चकनमस्कृतिध्यानप्रभृतिके, पञ्चा० १ विव० ।

णवरं-नवरम्-अव्य० । केवलमित्यर्थे, पञ्चा० १८ विव० । ग० । प्रश्न० । विपा० । स्था० । " णवरं केवले " ॥ ८ । २ । १८७ ॥ इति केवलेऽर्थे णवरमिति प्रयोगः । " णवरं पि आइक्खिअजिअवरं ति । " प्रा० २ पाद । दे० ना० ।

णवरि-नवरि-अव्य० । आनन्तर्ये, " आनन्तर्ये णवरि " ॥ ८।२। १८८ ॥ आनन्तर्ये णवरीति प्रयोक्तव्यमिति । तथा प्रयोगः-"ज-

वरि अ से रहुवइणा । " केचित्तु केवलानन्तर्यार्थयोर्णवरणवरि-इत्येकमेव सूत्रं कुर्वते, तन्मते तु उभावप्युभयार्थौ । प्रा० २ पाद । दे० ना० ।

णवरिअ–देशी–सहसार्थे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णवलग–नवलक–पुं० । नवकमये पञ्चसरकजालकमये वा (नव-सरी वसमी कांरवा आली आवी इति ख्याते) मुद्राकोशे, कोऽपि कस्याऽपि पार्श्वे सुवर्णपणमृतं नवलकं क्षिप्तवान् । नं० ।

णवलया–देशी–नियमविशेषे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णवल्ल–नव–त्रि० । " ल्लो नवैकाद् वा " ॥ ८ । २ । १६५ ॥ इति स्वार्थे ल्लः । नूतने, प्रा० २ पाद ।

णवविगइ–नवविकृति–स्त्री० । नवसु क्षीराऽऽदिविकृतिषु, "नव-विगईओ पण्णत्ताओ । तं जहा-खीरं, दहिं, णवणीयं, सप्पिं, तिल्लं, गुलो, महुं, मज्जं, मंसं । " स्था० ६ ठा० । (एतासां विस्तरः ' विगइ ' शब्दे वक्ष्यते)

णवसुत्त–नवसूत्र–त्रि० । नवं सूत्रं वल्कलाऽऽदि यस्मिन् स तथा । नवसूत्ररचिते, "आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्लाइं संकमट्ठाए ।" (१५) सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

णवसोयपरिस्सवा–नवस्रोतःपरिस्रवा–स्त्री० । नवभिः स्रोतोभिः छिद्रैः परिस्रवति मलं क्षरति इति नवस्रोतःपरिस्रवा । छिद्र-नवकेन मलं क्षरन्त्याम, स्था० ।

णवसोयपरिस्सवा बोंदी पण्णत्ता । तं जहा–दो सोया, दो णित्ता, दो घाणा, मुहं, पोसए, पाऊ ।

(णवेत्यादि) नवभिः स्रोतोभिः छिद्रैः परिस्रवति मलं क्षर-तीति नवस्रोतःपरिस्रवा बोन्दी शरीरमौदारिकमेवैवंविधं, द्वे श्रोत्रे कर्णौ, नेत्रे नयने, घ्राणे नासिके, मुखमास्यम्, (पोसए त्ति) उपस्थम्, पायुरपानमिति । स्था० ६ ठा० ।

णवा–नवा–स्त्री० । प्रत्यग्रयौवनायाम्, अतिनवोढायां वा स्त्रिया-म् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । व्रतपर्यायेण यावत्त्रिवर्षायां श्रमण्याम्, व्य० ४ उ० ।

णवि–अव्य० । वैपरीत्ये, " णवि वैपरीत्ये " ॥ ८ । २ । १७८ ॥ णवीति वैपरीत्ये प्रयोक्तव्यमिति । " णवि हावणे । " प्रा० २ पाद । दे० ना० ।

णविअ–नत–न० । " क्ते " ॥ ८ । ३ । १५६ ॥ इत्यत इत्वम् । नमने, प्रा० ३ पाद ।

णव्विय–नव्य–त्रि० । अभिनवे, आचा० २ श्रु० २ चू० २ अ० ।

णवोद्धरण–देशी उच्छिष्टे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णवोसुर–देशी–उच्छिष्टे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णव्व–नव्य–त्रि० । तत्कालमुत्पन्ने, ध० २ अधि० ।

णव्वाउत्त–देशी–ईश्वरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णसंतिपरलोगवाइ[ण्]–नशान्तिपरलोकवादिन्–पुं० । न विद्यते शान्तिश्च मोक्षः परलोकश्च जन्मान्तरमित्येवं यो वदति स तथा । अक्रियावादिभेदे, (स्था०) तथाहि–नास्त्यात्मा, प्रत्यक्षाऽऽदि-प्रमाणाविषयत्वात्, खरविषाणवत्, तदभावाच्च पुण्यपापलक्षणं कर्म तदभावाच्च परलोको, नाऽपि मोक्ष इति । क्षणिकमैकान्त्यं नन्वनुतधर्म इति । नास्याऽर्कवादिना स्फुटैव । न चैतत्स मतं संगच्छते, प्रत्यक्षाऽऽद्यप्रवृत्त्या आत्माऽऽदीनां निराकर्तुमश-क्यत्वात्, सत्यपि वस्तुप्रमाणप्रवृत्त्यदर्शनादागमविरोधात्सद्भावा-च, भूतधर्मताऽपि न चैतन्यस्य, विपरिणतभूतावस्थायामपि अचि-त्त्वात्ताऽप्रदर्शनादिति । स्था० ८ ठा० ।

णसण–न्यसन–न० । न्यसनापने, विशे० । न्यासे, आरोपणे, ओ० १ प्रति० ।

णस्समाण–नश्यत्–त्रि० । " नशेर्णिरिणासणिवहावसेहप-डिसासेहावहराः " ॥ ८ । ४ । १७८ ॥ इति नशेर्णिरयादे-शाभावे । प्रा० ४ पाद । " शत्राऽऽदीनां श्रित्वम " ॥ ४ । ४ । ४३० ॥ इति शत्रिस्वम । तस्मात्प्रत्यक्षमाने, दशा० ७ अ० ।

णह–नख–पुं० । सुरानखजाने, भ० १२ श० ४ उ० । करजे, तं० । प्रश्न० । स० । प्रव० । पाणिपादजे, प्रव० ४० द्वार । गन्धद्रव्य-भेदे च । आ० म० ।

नभस्–न० । "स्नमदामशिरोनभः" ॥ ८ । १ । ३२ ॥ इतिनभः पर्युदासान्नपुंसकत्वम । प्रा० १ पाद । आकाशे, दश० ७ अ० । कल्प० ।

णहच्छेज्ज–नखच्छेद्य–न० । नखच्छेदनविधिविशेषे कलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

णहच्छेदणग–नखच्छेदनक–न० । नखकर्तन्याम, आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० १ उ० ।

णहमुह–देशी–घूके, दे० ना० ४ वर्ग ।

णहयल–नभस्तल–न० । व्योम्नि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० । " ओवियपमि नहयले । " प्रा० ४ पाद ।

णहरी–देशी–क्षुरिकायाम, दे० ना० ४ वर्ग ।

णहरणी–नखरदनी–स्त्री० । वेषवादिमध्यां नखशोधन्याम, पं० व० ३ द्वार ।

णहवाहण–नभोवाहन–पुं० । स्वनामख्याते भरुकच्छराजे प-द्मावतीपतौ, यद्भार्यया पद्मावत्याः काव्यप्रयोगेन पूर्वं सा-ननः पश्चान्निरलङ्कारोऽपरिवारो वज्रभूतिराचार्यः । व्य० ३ उ० । आव० । विशे० ।

णहसिर–नखशिरस्–न० । नखाग्रे, भ० ५ श० ४ उ० ।

णहसिहा– नखशिखा–स्त्री० । नखाग्रभागे, कल्प० ७ क्षण । नि० चू० ।

णहसेण–नभःसेन–पुं० । उग्रसेनतनये कमलायाः पत्यौ, विशे० ।

णहहरणी–नखहरणी–स्त्री० । नखकर्तन्याम, यया नखा क-र्त्यन्ते । बृ० ३ उ० ।

णहि [ण्]–नखिन्–त्रि० । नखप्रधाने, अनु० ।

णहु–नहु–अव्य० । नैवेत्यर्थे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । आव० । व्य० ।

णाअ–ज्ञात–त्रि० । " ज्ञो जाणमुणौ " ॥ ८ । ४ । ७ ॥ इति ज्ञाधातोर्जाणमुणाऽऽदेशाभावे ' णाअं ' । अवबुद्धे, प्रा० ४ पाद ।

णाआ–देशी–गर्विष्ठे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णाइ-ज्ञाति-स्त्री० । पूर्वापरसम्बद्धे स्वजने, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । भ० । समानजातौ, नि० १ श्रु० १ वर्ग ५ अ० । कल्प० । औ० । विपा० । अष्ट० । सूत्र० । मातापितृपुत्रकलत्रादौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । उत्त० । ज्ञा० । ज्ञाने, संविदि, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

णाइं-अव्य० । नञर्थे, " णणाइं नञर्थे " ॥ ८ । २ । १९० ॥ इति नञर्थे ' णाइं ति ' प्रयोगः । " णाइं करेमि रोसं । " प्रा० २ पाद ।

णाइमट्टिअ-नातिमृत्तिक-त्रि० । नातिकर्दमे, भ० १५ श० ।

णाइय-नादित-त्रि० । वर्णनिमाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विपा० । भ० । प्रतिशब्दे, कल्प० ५ क्षण । रा० । जं० । लपिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० ।

णाइल-नागिल-पुं० । आर्यवज्रसेनस्यान्तेवासिनि, यत आर्यनागिला शाखा निर्गता । कल्प० ८ क्षण । आ० चू० । नागिलकुलवंशवर्तिनां साधूनामाचाराद्दारभ्य यावदनुत्तरोपपातिकदशाङ्गान्तावर्जास्ति आचाम्लम् । व्य० १ उ० । दुष्प्रसहानगारसमये भविष्यति श्रावके, यदनुशिष्टो दुष्प्रसहोऽनगारः प्रव्रजिष्यति । ति० । महा० । " सही य नाइलो नाम गाहवती सावगाण पच्छिमओ । " (३४) ति० । ती० । "पविरलगामे जणवए, पविरलमणुएसु नाम देसेसु । नामेण नाइलो नाम गणहरो होहिइ महप्पा ॥२०॥ " ति० । इति भविष्यत्सम्बन्धे सुमतिभ्रातरि, महा० ।

अत्थि इहेव भारहे वासे मगहा णाम जणवओ । तत्थ कुसत्थलं नाम पुरं । तम्मि य उवलद्धपुन्नपावे सुमुणियजीवाऽऽदिपयत्थे सुमइ-णाइल-णामधिज्जे दुवे महोयरे महिड्ढिए सड्ढगे अहेसि । अहन्नया अंतरायकम्मोदएणं वियलियं विहवं तेसिं, ण उण सत्तं परक्कमं ति । एवं अचलियसत्तपरक्कमाणं तेसिं अच्चंतपरलोगभीरूणं विरयकूडकवडालीयाणं पडिवन्नजहोवइट्ठदाणाइचउक्खंधउवासगधम्माणं अपिसुणामच्छरीणं अमायावीणं किं बहुणा ? गोयमा ! ते उवासगे णं आवमहगुणरयणाणं पभवा खंतीनिवासे सुयणमेत्तीणं, एवं तेसिं बहुवासरवण्णणिज्जगुणरयणाणं पि जाहे असुहकम्मोदएणं न बहुप्पए संपया ताहे ण पहुप्पंति अट्ठाहियामहिमादओ इट्ठदेवयाणं जहिच्छिए पूयासक्कारे साहम्मियसम्माणे बंधुजणसंववहारे य । अहन्नया अचलंतेसु अतिहिसक्कारेसु अपूरिज्जमाणेसु पणइजणमणोरहेसु विहडंतेसु य सुहिसयणमित्तबंधवकलत्तपुत्तणत्तुगगणेसु विसायमुवगएहिं गोयमा ! चिंतियं तेहिं सड्ढगेहिं । तं जहा-

"जा विहवो ता पुरिस-स्स होइ आणापडिच्छओ लोओ ।
गलिओदयं घणं वि-ज्जुला वि दूरं परिच्चयइ " ॥१॥

एवं च चिंतिऊण परोप्परं भणिउमारद्धे ।

तत्थ पढमो-

"पुरिसेण माणधणव-ज्जिएण परिहीणभागधेज्जेणं ।
ते देसा गंतव्वा, जत्थ ण वासादि दीसंति" ॥१॥

तह बीओ-

"जस्स धणं तस्स जणो, जस्सऽत्थो तस्स बंधवा बहवे ।
धणरहिओ उ मणूसो, होइ समो दासपेसेहिं" ॥२॥

अह एवं परोप्परं संजोज्जिऊण गोयमा ! कयं देसपरिच्चायनिच्छयं तेहिं ति ।

जहा-

"वच्चामो देसंतरं, ति तत्थ णं कयाइ पुज्जंति ।
चिरचिंतिए मणोरहे, हवइ पवज्जाए सह संजोगो" ॥१॥

जइ दिव्वो बहुमन्नेज्जा जाव णं उज्झिऊणं कयरं कुसत्थलं, पडिवन्नं विदेसगमणं । अहन्नया अणुप्पंथेहेणं गच्छमाणेहिं दिट्ठं पंच साधुणो [छट्ठं समणो] वासगं ति । तओ भणिअं णाइलेण । जहा-भो भो सुमती भद्दमुह ! पेच्छ केरिसो साहुसत्थो ?, ता एएणं चेव साहुसत्थेणं गच्छामो, जइ पुणो वि तए गंतव्वं । तेण भणियं-एवं होउ त्ति । तओ सन्निविट्ठा तत्थ सत्थे जाव णं पयाणगमावहंति, ताव णं भणिओ सुमती णाइलेणं । जहा-णं भद्दमुह ! मए हरिवंसतिलयमरगयच्छविणो सुगहियनामधेज्जस्स बावीसइमस्स तित्थयरस्स णं अरिट्ठनेमिनाहस्स पायमूले सुहनिसन्नेणं एवमवधारियं आसी । जहा-जे एवंविहे अणगाररूवे भवंति, ते य कुसीले, ते दिट्ठीए वि निरिक्खिउं न कप्पंति, ता एते साहुणो तारिसे, ण कप्पइ एतेसिं समं अम्हाण गमणं, संसग्गं वा । ता वयंतु एते, अम्हे अप्पसत्थेणं चेव वइस्सामो, न कीरइ तित्थयरवयणस्सातिक्कमो, जओ णं ससुरासुरस्सावि जगस्स अलंघणिज्जा तित्थयरवाणी, अन्नं च जाव एतेहिं संघं गच्छइ, ताव णं चिट्ठउ, ताव दरिसणआलावादीणि य मा भवंतु, ता किं तुम्हेहिं तित्थयरवाणिं उल्लंघियत्ता णं गंतव्वं । एवं तमणुभाणिऊण तं सुमतिं हत्थे गहाय निव्वट्टिओ नाइलो साहुसत्थाओ, निविट्ठो य चक्खुविसोहिए फासुगभूपएसे । तओ भणियं सुमइणा ।

जहा-

"गुरुणो मायापित्त-स्स जेट्ठभाया तहेव भइणीणं ।
जत्थुत्तरं न दिज्जइ, हा देव ! भणामि किं तत्थ ? ॥१॥
आएसमवी माणं, पमाणपुव्वं तह त्ति नायव्वं ।
मंगलममंगलं वा, तत्थ वियारो न कायव्वो ॥२॥
णवरं एत्थ य णं मे, दायव्वं अज्जमुत्तरमिमस्स ।
खरफरुसकक्कसानि-ट्ठदुट्ठनिट्ठुरसरेहिं तु ॥३॥

अहवा कह उच्छल्लउ, जीहा मे जिक्कलाउणो पुरओ ।
जस्सुच्छंगे वि ठियं, मए सदेहं असुइविलित्तं ? ॥ ४ ॥
अहवा कीस ण लज्जइ, एस सयं चेव एव पजणंतो ।
जं तु कुसीले एते, दिट्ठीए वी ण दट्ठव्वे" ॥ ५ ॥ साहुणो त्ति ।

जाव न वयइ ताव णं इंगियागारकुसलेणं मुणियं नाइलेण-जहा णं अलीयकसाइओ एस मणगं सुमती, ता किमहं पडिभणामि त्ति चिंतिउं समाढत्तो ।

जहा-

"कज्जेण विणा अकंडे, एस एकुविओ हु ताव संचिट्ठे ।
संपइ अणुणिज्जंतो, ण जाणिमो किं च बहु मन्ने ? ॥ १ ॥
ता किं अणुणेमि इमं, उयाहु वोलउ खणद्ध ताऽहं वा ।
जेणुवसमियकसाओ, पडिवज्जइ नं तहा सव्वं ॥ २ ॥
अहवा पत्थावमिणं, एयस्स वि संसयं अवहरेमि ।
एस ण जाणइ भद्दं, जाव विसेसं ण परिकहियं" ॥ ३ ॥

इति चिंतिऊण भणिउमाढत्तो-

"णो देमि तुज्झ दोसं, ण यावि कालस्स देमि दोसमहं ।
जं पियबुद्धीए सहो-यरा वि भणिया पकुव्वंति ॥ १ ॥
जीवाणं वि ण एत्थं, दोसं कम्मट्ठजालकसिणाणं ।
जं चउगइनिप्फाडिणं, हिओवएसं न बुज्झंति ॥ २ ॥
घणरागदोसकुग्गा-हमोहमिच्छत्तखवलियमणा णं ।
भावियविसकालउडं, हिओवएसाइ मन्नंति" ॥ ३ ॥

एवमाइ सुणिऊण तओ भणिअं सुमइणा-जहा तुमं चेव सत्थवादी भणसु एयाए, णवरं ण जुत्तमेयं जं साहूणं अवन्नवायं भासिज्जइ, अन्नं तु किं न पेच्छसि तुमं एएसिं महाणुभागाणं चेट्ठियं- छट्ठऽट्ठमदसमदुवालसमासखमणाईहिं आहारग्गहणं, गिम्हे ता वणट्ठाणं वीरासणउक्कुडुयासणनाणाभिग्गहधारणेणं च कट्ठतवोऽणुचरणेणं च सुक्कं मंसमोणियं ति, महाउवासगोऽसि तुमं, कहं महाभासासमिती विहिया तए, जेण एरिसगुणजुत्ताणं पि महाणुभागाणं साहूणं कुसील त्ति नामं संकप्पियं ति । तओ भणियं नाइलेणं जहा-मा वच्छ ! तुमं एतेणं परितोसमुवयासु जहा अहयं अतिचारेणं परिमुसिओ, अकामनिज्जराए वि किंचि कम्मक्खयं भवइ, किं पुण जं बालतवेणं, ता एते बालतवस्सिणो दट्ठव्वे, जओ ण किंचि उस्सुत्तं मग्गं आयारियं एएसिं पओसे, अन्नं च वच्छ ! सुमइ ! णत्थि ममं इमाणोवरि को वि सुहुमो वि मणसा वि पओसो, जेणाहमेएसिं दोसग्गहणं करेमि, किं तु मए भगवओ तित्थयरस्स सगासे एरिसमवधारियं जहा-कुसीले अदट्ठव्वे । ताहे भणिअं सुमइणा जहा-जारिसो तुमं निबुद्धीओ, तारिसो सो वि तित्थयरो, जेणं तुज्झमेयं वायरियं ति । तओ एवं भणमाणस्स सहत्थेणं झंपिअं मुहकुहरं सुमइस्स नाइलेणं, भणिओ य जहा-भद्दमुह ! मा जगेक्कगुरुणो तित्थयरस्सासायणं कुणसु, मए पुण भणसु जहिच्छियं, नाहं ते किं वि पडिभणामि । तओ भणियं सुमइणा जहा-जइ एते वि साहुणो कुसीला, ता एत्थ जगे ण कोइ सुसीलो अत्थि । तओ भणिअं णाइलेण जहा-भद्दमुह सुमइ ! इत्थ जयाऽलंघणिज्जवक्कस्स भगवओ वयणमायरेयव्वं जं वच्छ ! कयाइ ण विमंवएज्जा णो णं बालतवस्सीणं चेट्ठियं, भओ णं जिणिंदवयणेणं नियमओ ताव कुसीले इमे दीसंति, पव्वज्जाए पुण गंधं पि ण दीसइ एएसिं, जेणं पिच्छ पिच्छ तावेयस्स साहुणो विपज्जयमुहणंतगं दीसइ, ता एस ताव अहिगपरिग्गहदोसेणं कुसीलो, ण एयं साहूणं भगवया इट्ठं जमाहियपरिग्गहविधारणं कीरे, ता वच्छ ! हीणसत्ताणं एस वेसो मणसाऽज्झवसिअं जहा जइ ममेयं मुहणंतगं विप्पणस्सिहिइ, ता कीसं कत्थ पावेज्जा ?, नो एवं चिंतइ मूढो जहा अहिगाणुवओगोवहिधारणेणं मज्झं परिग्गहवयस्स भंगं होही । अहवा किं संजमेऽभिरओ एस मुहणंतगाइसंजमोवओगधम्मोवगरणेणं विसीएज्जा नियमओ ण विहीए णवरमत्ताणपहीणसत्तोऽहमिइ पायरूं उम्मग्गायरणं च पयंसेइ, पवयणं च मइलेइ त्ति एसो उण पेच्छसि सामन्नवतो एएणं कल्लं तीए वि णीयं सेणाए इत्थीए अंगजट्ठिं निज्झाइऊण जमालोइयं पडिक्कंतं तं किं तए ण विन्नायं, एस उण पेच्छमि परूढविप्फोडगविच्छिहया णाणा एते य संपयं चेव लोयट्ठाए सहत्थेण अदिन्नं छारगहणं कयं, तए च दिट्ठमेयं ति एसो उ ण पेच्छसि, परूढविप्फोडगं पेच्छसि, संघाडियकल्लो पएणं अणुग्गए सूरिए उट्ठेह, वक्खामो उग्गयं सूरियं ति तहा विहमियमिणं एसो उण पेच्छसि एनिं जिट्ठमेहो एसो अज्ज रयणीए अणुवउत्तो पसुत्तो विज्जुकाए फुसिओ ण एतेणं कप्पगहणं कयं, तहा पभाए हरियतणं वासाकप्पंचलेणं संघट्टियं, तहा बाहिरोदगस्स णं परिभोगं कयं, बीयकायस्सोवरेणं फरिसं कओ अविहीए, एस खारथंडिलाओ महुरं थंडिलं संकमिओ, तहा पहपडिवन्नेणं साहुणा कम्मसुयाइ कम्मे इरियं पडिक्कमियव्वं, तहा चरेयव्वं, तहा चिट्ठेयव्वं, तहा आसेयव्वं, तहा सएयव्वं, जहा छक्कायमइगयाणं जीवाणं सुहुमबायरपज्जत्तापज्जत्तगमागमसव्वजीवपाणभूयसत्ताणं संघट्टणपरियावणकिलामणोद्दवणं वा ण भवेज्जा । ता एतेसिं पव्वइयाणं एयस्स एक्कमवि ण एत्थ दीसइ, जं पुण मुहणंतगं पडिलेहमाणो अज्ज मए एस चोइओ-जहा एरिसं पडिलेहणं करेइ, जेण वाउकायस्स फडः

फरुस्स संघट्टेज्जा, सचित्तं च पडिक्कमेणाए संतियं कारणं ति अस्संरिसं. जइ णं एरिसं मोत्तब्भोगं बहुं काहिसि मंजयं ण मंदइं असंजयरिससमाउत्तलणं तुज्झ ति, एत्थ च तएहिं वि णिवारिज्जा जहा णं मूगोवाईणं अम्हाणं साहूहिं समं किंचि भणियव्वं कप्पे ता किमेयं ते विसुमरियं, ता भद्दमुह! एएणं समं संजमट्ठाणं नराणं एगमवि णो परिक्खिवयं, ता किमेस साहू जवेज्जा अस्संरिसं पयत्तलणं, णो एस साहू जस्सेरिसं णिद्धम्मसंपलत्तणं, जइमुह! पेच्छ पेच्छ मूणो इव णिच्चि सो अकायणिमइखा कह अभिरमे एसो। अहवा वरं मूणो, जस्स णं सुहममवि नियमवयभंगं णो जवेज्जा, एसो उ णियमभंगं करेमाणो केणं उवमेज्जा, ता वच्छ! सुमइ! जइमुह! ण एरिसकत्तव्वायरणाओ जवंति साहू, एतेहिं च कत्तव्वेहिं तित्थयरवयणं सरेमाणो को एतेसिं वंदणगमवि करेज्जा, अन्नं च एएसिं संसग्गेणं कयाइ अम्हाणं पि चरणकरणेसु सिढिलत्तं भवेज्जा, जेणं पुणो पुणो आहिंडिमो घोरभवपरंपरं। तओ जणियं सुमइणा, जहा ण एए कुसीला, जइ एए कुसीले तहा वि मए एएहिं समं पव्वज्जा कायव्वा, जं पुण तुमं कहेसि तमेव धम्मं, खवरं को अज्ज तं असुकरं समायरिउं सक्का? ता मए एतेहिं समं गंतव्वं जाव णो दूरं वयंति से साहुणो ति। तओ जणियं णाइलेण-भद्दमुह सुमइ! णो कल्लाणं एतेहिं समं गच्छमाणस्स तुज्झ ति, अहयं च तुज्झ हियवयणं जणामि एवं, तए जं चेव बहुगुणं तमेवाणुसेवय, णाहं तए दुक्खेण धरेमि। अह अन्नया अणेगोवाएहिं पि णिवारिज्जंतो ण उ ठिओ सो मंदभग्गो सुमती, गोयमा! पव्वइओ य। अह अन्नया वच्चंतेणं मासपंचगेणं आगओ महारोरवो दुवालससंवच्छरिओ दुब्भिक्खो, तओ ते साहुणो तक्कालदोसेण अणालोइयपडिक्कंता मरिऊणं उववन्ने भूयजक्खरक्खसपिसायादीणं वाणमंतरदेवाणं वाहणत्ताए, तओ चविऊणं मिच्छजातीए कुणिमाहारकूरज्झवसायदोसओ सत्तमाए, तओ उव्वट्टिऊणं तइयाए चउवीसिगाए संमत्तं पाविहिंति। तओ य संमत्तलभजवाओ तइए जवे चउरो सिज्झिहिंति, एगो ण सिज्झिहिइ जो, सो पंचमगो सव्वजेट्ठो, जओ णं से एगंतमिच्छद्दिट्ठी अभव्वो य। महा० ४ अ० । ग० ।

णाइवं-ज्ञातिवत्-त्रि० । ज्ञातिर्विद्यते यस्य स ज्ञातिवान् । स्वजनवति, "मित्तवं णाइवं होइ ।" उत्त० ४ अ० ।

णाइविगट्ठ-नातिविकृष्ट-त्रि० । अनत्यन्तदीर्घे, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

णाइसंग-ज्ञातिसङ्ग-पुं० । मातापितृकलत्राऽऽदिसङ्गे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

णाइसीय-नातिशीत-त्रि० । न विद्यतेऽतिशयेन शीतं यत्र स नातिशीतः । अतिशीताऽऽबाधारहिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

णाउल्ल-देशी-गोमति, दे० ना० ४ वर्ग ।

णाउं-ज्ञात्वा-अव्य० । विज्ञायेत्यर्थे, पञ्चा० ६ विव० । विनिश्चित्येत्यर्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णाऊण-ज्ञात्वा-अव्य० । विज्ञायेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

णाग-नाक-पुं० । न० । स्वर्गे, ध० २ अधि० ।

नाग-पुं० । भवनपतिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । प्रश्न० । जी० । औ० । अनु० । नागकुमारे, नं० । भ० । ज्ञा० । स० । हस्तिनि, भ० १२ श० ७ उ० । नागवंशप्रसूते, औ० । ज्ञा० । दश० । आ० क० । प्रज्ञा० । सर्पे, औ० । भद्रिलपुरे नगरे सुलसयाः आविकोत्तमायाः पत्यौ, आ० म० १ अ० २ खण्ड । स्था० । अन्त० । कल्प० । आव० । आर्यरक्षस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, कल्प० ७ क्षण । द्रुमविशेषे, रा० । कल्प० । आचा० । ध्रुवकरणानां चतुष्पदाऽऽदीनामन्यतमे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । जं० । विशे० । कल्प० । स्वनामख्याते द्वीपभेदे, समुद्रभेदे च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । नागकेशरे, नागदन्तके, मुस्तके, देहस्थे उद्गारकारके पवनभेदे, पर्वतभेदे, रङ्गे, सीसके च । वाच० ।

णागकुमार-नागकुमार-पुं० । नागाश्च ते कुमाराश्च नागकुमाराः । प्रज्ञा० १ पद । द्वितीयभवनपतिषु, स्था० ३ ठा० ४ उ० । प्रज्ञा० । स्था० । स० । (नागकुमारवक्तव्यताऽन्यत्र)

णागकेउ-नागकेतु-पुं० । चन्द्रकान्तानगरीराजविजयसेननृपसखश्रीकान्तव्यवहारिभार्यायाः श्रीसख्याः सुते, येन हि स्तनन्धयेनापि पर्युषणायामष्टमं तपश्चक्रे, (कल्प०) चन्द्रकान्ता नगरी, तत्र विजयसेनो नाम राजा, श्रीकान्ताख्यश्च व्यवहारी, तस्य श्रीसखी भार्या, तया च बहुप्रार्थित एकः सुतः प्रसूतः । स च बालक आसन्ने पर्युषणापर्वणि कुटुम्बकृताष्टमवार्तामाकर्ण्य जातजातिस्मृतिः स्तन्यपोऽप्यष्टमं कृतवान् । ततस्तं स्तन्यपानमकुर्वाणं पर्युषितमालतीकुसुममिव म्लानमालोक्य मातापितरावनेकान् उपायांश्चक्रतुः । क्रमाच्च मूर्च्छाप्राप्तं तं बालं मृतं ज्ञात्वा स्वजना भूमौ निक्षिपन्ति स्म । ततश्च विजयसेनो राजा तं पुत्रं तद्दुःखेन तत्पितरं च मृतं विज्ञाय तद्धनग्रहणाय सुभटान् प्रेषयामास । इतश्च अष्टमप्रभावात् प्रकम्पिताऽऽसनो धरणेन्द्रः सकलं तत्स्वरूपं विज्ञाय भूमिष्ठं तं बालकममृतवृष्ट्या आश्वास्य विप्ररूपं कृत्वा धनं गृह्णतस्तान् निवारयामास । तत् श्रुत्वा राजाऽपि त्वरितं तत्रागत्योवाच-भो भूदेव! परम्पराऽऽगतमिदमस्माकमपुत्रधनग्रहणं कथं निवारयसि ? । धरणोऽवादीत्-राजन्! जीवत्यस्य पुत्रः । कथं कुत्रास्तीति राजाऽऽदिनिरुक्तः भूमेस्तं जीवन्तं बालकं साक्षात्कृत्य निधानमिव दर्शयामास । ततः सर्वैरपि सविस्मयैः स्वामिन्! कस्त्वं कोऽयमिति पृष्टे सोऽवदत्-अहं धरणेन्द्रो नागराजः कृताष्टमतपसोऽस्य महात्मनः साहाय्यार्थमागतोऽस्मि । राजाऽऽदिनिरुक्तम-स्वामिन्! जातमात्रेणानेन अष्टमतपः कथं कृतम्? धरणेन्द्र उवाच-राजन्! अयं हि पूर्वभवे कस्यचिद्वणिक्पुत्रो बाल्येऽपि मृतमातृक आसीत्, स च अपरमात्राऽत्यन्तं पीड्यमानो मित्राय स्वदुःखं कथयामास । सोऽपि त्वया पूर्वजन्मनि तपो न कृतं तेनैवं पराभवं लभसे इत्युपदिष्टवान् । ततोऽसौ

यथाशक्ति तपोनिरत आगामिन्यां पर्युषणायामष्टममहं करिष्यामीति मनसि निधाय तृणकुटीरे सुष्वाप । तदा च तत्प्रावसरया विमात्रा, आसन्नप्रदीपकाद्ग्निकणस्तत्र निक्षिप्तः, तेन च कुटीरके ज्वलिते सोऽपि मृतः, अष्टमध्यानाच्च अयं श्रीकान्तमहेभ्यनन्दनो जातः । ततोऽनेन पूर्वभवचिन्तितमष्टमतपः साम्प्रतं कृतं, तदसौ महापुरुषो लघुकर्माऽस्मिन् भवे मुक्तिगामी यस्मात् पालनीयः, भवतामपि महते उपकाराय भविष्यतीति उक्त्वा नागराजः स्वहारं तत्कण्ठे निक्षिप्य स्वस्थानं जगाम । ततः स्वजनैः श्रीकान्तस्य मृतकार्यं विधाय तस्य नागकेतुरिति नाम कृतं, क्रमाच्च स बाल्यादपि जितेन्द्रियः परमश्रावको बभूव । एकदा च विजयसेनराजेन कश्चिद् अचौरोऽपि चौरकलङ्केन हतो व्यन्तरो जातः समग्रनगरविघाताय शिलां रचितवान्, राजानं च पादप्रहारेण रुधिरं वमन्तं सिंहासनाद् भूमौ पातयामास । तदा स नागकेतुः कथमिमं सङ्घप्रासादविध्वंसं जीवन् पश्यामीति बुद्ध्या प्रासादशिखरमारुह्य शिलां पाणिना दध्रे । ततः स व्यन्तरोऽपि तत्तपः-शक्तिमसहमानः शिलां संहृत्य नागकेतुं नतवान् । तद्वचनेन नृपालमपि निरुपद्रवं कृतवान् । अन्यदा च नागकेतुर्जिनेन्द्रपूजां कुर्वन् पुष्पमध्यस्थितसर्पेण दष्टोऽपि तथैवाऽऽद्यप्रो भावनाऽऽरूढः केवलज्ञानमासादितवान्, ततः शासनदेवताऽर्पितमुनिवेषश्चिरं विहरति स्म । कल्प० १ क्षण ।

णागकेसर–नागकेशर–पुं० । स्वनामख्याते पुष्पप्रधाने वनस्पतौ, वाच० । आव० ।

णागग्गह-नागग्रह-पुं० । नागावेशोत्थे ज्वराऽऽद्यौ, जी० ३ प्रति० ।

णागघर–नागगृह–न० । उरगप्रतिमायुक्ते चैत्ये, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

णागजण्ण-नागयज्ञ-पुं० । नागपूजायाम्, नागोत्सवे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

णागजसा-नागयशस्-स्त्री० । पन्थकपुत्र्यां अर्हद्दत्तवणिग्भार्यायाम्, उत्त० १३ अ० ।

णागज्जुण–नागार्जुन-पुं० । हिमवदाचार्याणां शिष्ये, (नं०)

मिउमद्दवसंपण्णे, अणुपुव्विं वायगत्तणं पत्ते ।
ओहसुयसमायारे, नागज्जुणवायए वंदे ॥ ४० ॥

(मिउ इत्यादि) मृदुमार्दवसंपन्नान् मृदु कोमलं मनोज्ञं सकलभव्यजनमनःसन्तोषहेतुत्वाद् यन्मार्दवं चोपलक्षणं, तेन क्षान्तिमार्दवाऽऽर्जवसन्तोषसंपन्नानिति द्रष्टव्यम् । तथा आनुपूर्व्या वयःपर्यायपरिपाट्या वाचकत्वं प्राप्तान्; इदं च विशेषणमैदंयुगीनसूरीणां सामाचारीप्रदर्शनपरमवसेयम् । (नं०) तथा ओघश्रुतसमाचारकान् ओघश्रुतमुत्सर्गश्रुतमुच्यते, तत्समाचरन्ति ये ते ओघश्रुतसमाचारकाः, तान् नागार्जुनवाचकान् वन्दे ॥ ४० ॥ नं० ।

आचाराङ्गाऽऽदिषु नागार्जुनीयानां पाठभेदोऽस्ति, स च नागार्जुनोऽयमेवेति प्रतीयते । अन्योऽपि पादलिप्तसूरीणां शिष्यः श्राद्धो महाप्रभावकः सिद्धनागार्जुननामा आसीत् । तत्कथा चैवम्-

" पुरमत्थि पाडलिपुरं, गंधियहट्टं सुरहिगंधड्ढं ।
तत्थ मुरंडो निवई, ईसरसयसहस्सनमियकमो ॥ १ ॥
कयमयणदमो बहुसु-त्तआगमो संगमु त्ति वरसूरी ।
दूरीकयपावभरो, विहरंतो तत्थ संपत्तो ॥ २ ॥
गुणबुद्धिभावकलिओ, सङ्घिरियासंकिओ करसद्दी ।
लक्खणगंधु व्व सम-त्थि तस्स एगो पवरसीसो ॥ ३ ॥
सो बालो वि भवाम-प्पइण्णागुणरयणरोहणसमाणो ।
आणिय अउत्थरसियं, कया वि इय कहइ गुरुपुरओ ॥ ४ ॥
अंबं तंबच्छीए, अपुप्फियं-पुप्फदंतपंतीए ।
नवसालिकंजियं नव-बहूइ कुडएण मे दिन्नं ॥ ५ ॥
तो गुरुणा संलत्तो, वच्छ ! पलित्तो सि वहसि जं एवं ।
सो आह मह विहिज्जउ, आयारेणं पसाउ त्ति ॥ ६ ॥
तह विहिए गुरुणा सो, अणेण पालित्तओ त्ति सो वुत्तो ।
बहुलिद्धिसुओ बाई, ठविओ सूरीहिँ नियपए ॥ ७ ॥
कइया वि वसहिबाहिं, वच्चिअंतो सो कहिं पि कज्जम्मि ।
जा चिट्ठइ ता तहियं, संपत्ता वाइणो के वि ॥ ८ ॥
पुच्छंति सूरिनिलयं, कहइ इमो वंकदीहरवहेण ।
कालविलंबकए लहु, वसहीइ सयं पुणो पत्तो ॥ ९ ॥
दाउं कवाडे कवडे-ण सुवइ जा मुणिवरो तहिं ताव ।
पत्ता वाई पुच्छं-ति कत्थ पालित्तओ सूरी ॥ १० ॥
अह पभणंति विणेया, सुहं सुहेणं सुयंति किर गुरुणो ।
उवहासकए विहिओ, कुक्कुरसद्दो तओ तेहिं ॥ ११ ॥
गुरुणा वि विरालीए, सद्दो विहिओ कहंति तो एए ।
लीलाइ तए जिणिया, अम्हे सव्वे वि मुणिनाह ! ॥ १२ ॥
दिज्जउ दंसणमिण्हिं, तो लहु उट्ठेइ सो तयं लहुयं ।
दट्ठुं तज्जिणवत्थं, पवाइणो इय पयंपंति ॥ १३ ॥
पालित्तय ! कहसु फुडं, सयलं महिमंडलं भमंतेण ।
दिट्ठो कह वि सुओ वा, चंदणरससीयलो अग्गी ॥ १४ ॥
"श्रीकालः सूरिराजो नमिविनमिकुलोत्तंसरत्नायमान-
स्तच्छिष्यो वृद्धवादी द्विजकुलतिलकः सिद्धसेनो बभूव ।
बिभ्राणः कूटनिद्रां कपट इति जने विश्रुतो विश्वरूपः,
संजातः संगमोऽयं तदनु च गणभृत् पादलिप्तस्ततोऽहम् ॥१५॥"
इय जिणपवयणगहयल-ससिणो वरवाइणो महाकविणो ।
कहियमियपुव्वपुरिसे, पणमियं पालित्तपवरेयं ॥ १६ ॥
अयसाणिवायमज्जिज-म्मियस्स पुरिसस्स सुद्धहिययस्स ।
होइ वहंतस्स पुणो, चंदणरससीयलो अग्गी ॥ १७ ॥
इय निज्जिणिया वाए, अपवयाए वि वाइणो गुरुणो ।
णवरसतरंगलोला, तरंगलोलाकहा य कया ॥ १८ ॥
समिया य सिरोविणया, अड्डस्स मुरुंडराइणो गहे य ।
विहियं तं पहुसं (पढमं) जं, अज्ज वि कइणो न पावंति ॥१९॥
तथाहि–
दीहरफणिंदनाले, महिहरकेसरदिसामुहदलिल्ले ।
उअ पियइ कालभमरो, जणमयरंदं पुहइपउमे ॥ २० ॥
जे सद्दलक्खणाभावे-ण सूरिणा गूढसुत्तमाइया ।
भाया बहुया भावा, वित्थरगंथाउ ते नेया ॥ २१ ॥
अट्ठमिमाइपव्वेसु, पालित्तो सेविऊण नियचलणे ।
रेवयविमलगिरीसुं, वंदइ देवे नहपहेणं ॥ २२ ॥
पुनश्च—
इत्तो सुरट्ठविसए, अज्जुणरससिद्धिलद्धमाहप्पो ।
सव्वत्थ लद्धलक्खो, जोगी नागज्जुणो अत्थि ॥ २३ ॥
सो एउ भणइ सूरिं, वियरसु नियपायलेवसिद्धिं मे ।
गिण्हेसु मज्झ कंचण-सिद्धिं तो भणइ मुणिपवरो ॥ २४ ॥
भो कंचणसिद्ध ! अकिं-चणस्स मह कंचणस्स सिद्धीए ।
किं कज्जमवज्जाए, कंचणसिद्धा वि किं बमत्थि ? ॥ २५ ॥

तुह पायलेवसिद्धिं, सावज्जं तेण न हु पयच्छेमि ।
जं सावज्जुवएसो, मुणीण नो कप्पए भद्द ! ॥ २६ ॥
तत्तो इमो विलक्खो, सुलक्खलक्खो लहुं पि सिक्खेइ ।
समणोवासगकिरियं, चिइवंदणवंदणाईयं ॥ २७ ॥
तित्थागयाण सूरी-ण वंदणं देइ चरणकमलेसु ।
कुसलत्तणेण पुरओ, ठाउं सव्वेसि सड्ढाणं ॥ २८ ॥
गुरुचरणं तो काउं, नियमउलिं नमइ तयणु गंधेण ।
लक्खइ स लद्धलक्खो, सत्तुत्तरमोसहीण सयं ॥ २९ ॥
तेणं ओसहिनियरे-ण पायलेवं सयं कुणइ एसो ।
तव्वसओ गयणे कु-क्कुडु व्व उप्पडइ पडइ पुणो ॥ ३० ॥
पुणरागएण गुरुणा, दिट्ठो पुट्ठो य कहइ सो एवं ।
पहु ! तुह पायपसायं, गंधेण मए इमं नायं ॥ ३१ ॥
पहु ! पसिय कहसु सम्मं, जोगं जेणं हवेमि सुकयत्थो ।
गुरुउवएसेण विणा, जम्हा ण हवंति सिद्धीओ ॥ ३२ ॥
तो चिंतइ मुणिणाहो, सुलक्खलक्खत्तणं इमस्स अहो ! ।
जं हेलाए नाओ, धम्मो तह ओसहिगणो य ॥ ३३ ॥
अन्नं पि इमो नाही, सुहेण इय चिंतिउं भणइ सूरी ।
जइ होसि मज्झ सीसो, कहेमि तो तुह अहं जोगं ॥ ३४ ॥
सो आह नाह ! नाहं, सत्तो जइधम्मभारमुव्वहिउं ।
किं तु पहु ! तुह समीवे, गिहत्थधम्मं पवज्जिस्सं ॥ ३५ ॥
एवं करेसु इय भणि-य सूरिणा गाहिओ इमो सम्मं ।
सम्मत्तमूलममलं, गिहिधम्मं पभणिओ य इमं ॥ ३६ ॥
सट्ठियतंडुलसलिले-ण कुणसु तं पायलेवमेयं ति ।
कुणइ तह च्चियमेसो, जाया नहगमणलद्धी से ॥ ३७ ॥
तीए पभावओ सो, वंदइ उज्जितमाइसु जिणिंदे ।
पालित्ता णं च पुरं, संठावइ सूरिनामेणं ॥ ३८ ॥
गिरिनारगिरिसमीवे, तुरगसुरंगा दसारमंडवओ ।
चेईयमुहं विहियं, तेणं नेमिस्स भत्तीए ॥ ३९ ॥
एवं गिहत्थधम्मं, जिणसासणवन्नइं च काऊण ।
इह परलोए कल्लाण-भायणं एस संजाओ ॥ ४० ॥
नागार्जुनस्येति फलं विशिष्टं, सलब्धलक्षस्य निशम्य सम्यक् ।
गुणेऽत्र निःशेषगुणप्रधाने, कृतप्रयत्ना भविका भवन्तु " ॥ ४१ ॥
ध० र० । आ० क० । स्वनामख्याते काञ्च्यामिभ्यधनेश्वरे, " काञ्च्यामिभ्यधनेश्वरेण महता, नागार्जुनेनाऽर्चितः । यायात्स्तम्भनके पुरे स भवतः, श्रीपार्श्वनाथो जिनः ॥ १ ॥" ती० ५ कल्प ।

णागणिय–नाग्न्य–न० । निर्ग्रन्थभावे संयमानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

णागदंत–नागदन्त–पुं० । गजदन्ते, तदाकारे गृहान्निर्गते नकुण्टके, अक्कुटके, जी० ३ प्रति० । रा० । (वर्णकस्तु ' विजय ' शब्दे विजयद्वारस्य नैषेधिकीवक्तव्यताऽवसरे वर्णयिष्यते)

णागदत्त–नागदत्त–पुं० । स्वनामख्याते राजपुत्रे, स च पूर्वभवे क्षुल्लकसाधुः कोपेन मृतो ज्यौतिष्केषूपपद्य ततश्च्युतो राजसुततयोत्पन्नः प्रव्रजितः कोपरूपं भावापायं परिहृत्य केवलीभूय सिद्धः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । दश० । (' अपाय ' शब्दे प्रथमभागे ५०३ पृष्ठे अस्य सर्वो वृत्तान्त उदाहृतः) ऋषभपुत्राणामन्यतमे, कल्प० ७ क्षण । प्रतिष्ठानपुरवास्तव्यनागवसुश्रेष्ठिनः सुते, आ० क० । आव० । आ० चू० । (स च प्रव्रज्याऽयोग्योऽपि सन् निष्प्रतिकर्मतां गृहीत्वा पतित इति ' णिप्पडिकम्म (ण)' शब्दे उदाहरिष्यते) नागदेवताऽऽराधनालब्धे लक्ष्मीपुरवास्तव्यदत्तश्रेष्ठिपुत्रे, आ० क० । आव० । आ० चू० । आ० म० । (स च गन्धर्वकलानिपुणो गन्धर्वनागदत्त इति ख्यातः सर्पक्रीडापरः पूर्वभवमित्रदेवसर्पैर्भक्षितोऽपि... क्रीडेति कषायप्रतिक्रमणे ' पडिक्कमण ' शब्दे उदाहरिष्यते) बलराजभार्यायाः सुभद्राया आत्मजस्य महाबलकुमारस्य पूर्वभवसत्कजीवे मणिनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते नरे, विपा० २ श्रु० ७ अ० ।

णागदार–नागद्वार–न० । ती० ६ कल्प । सिद्धायतनानां पश्चिमदिक्स्थे नागावासभूते द्वारे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णागधर-नागधर-पुं० । हस्तिधारकपुरुषे, औ० ।

णागपडिमा–नागप्रतिमा–स्त्री० । नागदैवतप्रतिमायाम्, "तेसि णं जिणपडिमाणं पुरओ दो दो नागपडिमाओ पण्णत्ताओ ।" जी० ३ प्रति० ।

णागपरियावणिया–नागपरिज्ञा–स्त्री० । नागा नागकुमारास्तेषां परिज्ञा यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा नागपरिज्ञा । कालिकश्रुतभेदे, तस्याश्चेयं चूर्णिकृता उपदर्शिता भावना–" जाहे तमज्झयणं समणे णिग्गंथे परियट्टइ ताहे अकयसंकप्पस्स चित्ते नागकुमारा तत्थत्था चेव तं समणं परियाणंति वंदंति नमंसंति बहुमाणं च करेंति सिंगनादितकज्जेसु य वरदा भवंति । " नं० । पा० ।

णागपव्वय-नागपर्वत-पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमेन शीतोदाया महानद्या उत्तरेण वक्षस्कारपर्वते, स्था० ५ ठा० २ उ० । " दो णागपव्वया ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

णागपुप्फ–नागपुष्प–न० । नागकेशरकुसुमे, जं० ४ वक्ष० ।

णागपुर–नागपुर–न० । हस्तिनापुरे राजधानीलक्षणे कुरुजनपदप्रधाननगरे, स्था० १० ठा० । ज्ञा० ।

णागवल्ली–नागवल्ली–स्त्री० । ताम्बूलीलतायाम्, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

णागभद्द-नागभद्र-पुं० । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । नागद्वीपाधिपतौ देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० ।

णागभूय–नागभूत–न० । स्थविरादार्यरोहणान्निर्गतस्य उद्देहगणस्य प्रथमे कुले, कल्प० ८ क्षण ।

णागमह–नागमह–पुं० । नागदेवताके उत्सवे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

णागमहाभद्द–नागमहाभद्र–पुं० । नागाऽऽख्यद्वीपाधिपतौ देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० ।

णागमहावर–नागमहावर–पुं० । नागसमुद्राधिपतौ देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० ।

णागमित्त-नागमित्र-पुं० । आर्यमहागिरिशिष्याणामन्यतमे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

णागर–नागर–पुं० । स्त्री० । नगरवासिनि, कल्प० ३ क्षण । आ० म० । प्रश्न० । देवरे, नागरङ्गे, जम्बरभेदे, वाच० ।

णागराइ–नागराज–पुं० । नागकुमारे, " वेसमणनागराईणं " स० १७ सम० । स्था० । अष्ट० । अनन्ते, सर्पे, ऐरावते, गजे च । वाच० ।

णागरिय–नागरिक–त्रि० । नगरधर्मैरुपयुक्ते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

णागरुक्ख–नागवृक्ष–पुं० । स्वनामख्याते वृक्षभेदे, "णागरुक्खे भुयंगाणं ।" स्था० ८ ठा० । प्रज्ञा० । स० ।

णागलया–नागलता–स्त्री० । तिर्यक्शाखाप्रसराभावाद् लताकल्पेषु द्रुमविशेषेषु, जं० १ वक्ष० । रा० । जी० । प्रज्ञा० । यस्य तिर्यक् तथाविधा शाखा प्रशाखा वा न प्रसृता सा लतेत्यभिधीयते । रा० । जी० । औ० । प्रज्ञा० ।

णागलयामंडवग–नागलतामण्डपक–पुं० । नागलतामयमण्डपके, जी० ३ प्रति० ।

णागलोगेस–नागलोकेश–पुं० । उरगपतौ, अष्ट० २० अष्ट० ।

णागवर–नागवर–पुं० । प्रधानगजे, औ० । जं० । गजवरे, तं० । हस्तिप्रधाने, भ० ६ श० ३३ उ० । नागसमुद्राधिपतौ देवे, सू० प्र० १६ पाहु० । चं० प्र० ।

णागवसु–नागवसु–पुं० । प्रतिष्ठानपुरे नागश्रियाः पत्यौ नागदत्तपितरि, आ० क० । आव० । आ० चू० ।

णागवाण–नागवाण–पुं० । दिव्यास्त्रभेदे, जी० ३ प्रति० ।

णागवीही–नागवीथी–स्त्री० । हयवीथ्यां, ऐरावणपदे, "भरणीस्वात्याग्नेयं, नागाख्या वीथिरुत्तरे मार्गे ।" स्था० ६ ठा० ।

णागसाहस्सी–नागसाहस्री–स्त्री० । नागकुमारदेवसहस्रे, स० ७२ सम० । नागिलभार्यायां निर्नामिकाया मातरि, आ० क० । आ० चू० । आ० म० ।

णागसिरी–नागश्री–स्त्री० । प्रतिष्ठाननगरवास्तव्यनागवसुश्रेष्ठिभार्यायां, नागदत्तमातरि, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । चम्पानगरवास्तव्यसोमद्विजस्य भार्यायाम्, यया धर्मरुचये विषयुक्तालाबु दत्तं पश्चाद् भवेषु भ्रान्त्वा द्रौपदीजन्म लब्धम् । आ० क० । आ० चू० ।

णागसुदाढ–नागसुदाढ–पुं० । सुदाढनामके नागकुमारे, स च पूर्वभवे सिंहस्त्रिपृष्ठेन विदारितो नागकुमारतयोपपन्नो वीरजिनाधिष्ठितां नावं बोलितुमारब्धः । आ० क० ।

णागसुहुम–नागसूक्ष्म–न० । स्वनामख्याते मिथ्यादृक्परिकल्पिते श्रुते , तच्चेदानीं नोपलभ्यते । अनु० ।

णागसेण–नागसेन–पुं० । उत्तरवाचालायां जाते स्वनामके गृहपतौ, स च उत्तरवाचालायां स्वामिनं क्षीरेण प्रतिलम्भितवान् पञ्च दिव्यानि जातानि । कल्प० ६ क्षण । आ० क० । आ० म० । आ० चू० ।

णागहत्थि[ण्]–नागहस्तिन्–पुं० । आर्यनन्दिलक्षपणशिष्ये,(नं०)

वड्ढउ वायगवंसो, जसवंसो अज्जनागहत्थीणं ।
वागरणकरणभंगिय–कम्मप्पयडीपहाणाणं ॥ ३४ ॥

(वड्ढउ इत्यादि) विनेयान् वाचयन्तीति वाचकाः, तेषां वंशः क्रमभाविपुरुषपर्वप्रवाहः, स वर्द्धतां वृद्धिमुपयातु, मा कदाचिदपि तस्य वृद्धिमुपगच्छतो विच्छेदो भूयादिति यावत् । वर्धतामित्यत्राऽऽशंसायां पञ्चमी । कथंभूतो वाचकवंशः ?, इत्याह–यशोवंशो मूर्तो यशसा वंश इव पर्वप्रवाह इव यशोवंशः, अनेनापयशःप्रधानपुरुषवंशव्यवच्छेदमाह । तथा

अपयशःप्रधानामामपारसंसारसरित्पतिस्रोतःपतितानां परममुनिजनोपधूनलिङ्गविडम्बकानाम् मलं सम्मानपरिवृद्ध्येति । केषां संबन्धी वाचकवंशः परिवर्द्धतामित्यादि । आर्यनागहस्तिनामार्यनन्दिलक्षपणशिष्याणाम् । कथंभूतानामित्याह–व्याकरणकरणभङ्गीकर्मप्रकृतिप्रधानानां, तत्र व्याकरणं संस्कृतशब्दव्याकरणं, प्राकृतशब्दव्याकरणं, प्रश्नव्याकरणं च; करणं पिण्डविशुद्ध्यादि । उक्तं च–"पिंडविसोही ४ समिई ५, भावण १२ पडिमा य १२ इंदियनिरोहो ५। पडिलेहण २५ गुत्तीओ ३, अभिग्गहा ४ चेव करणं तु" ॥१॥ भङ्गी भङ्गबहुलं श्रुतं, कर्मप्रकृतिः प्रतीता । एतेषु प्ररूपणामधिकृत्य प्रधानानाम् । नं० । आ० चू० ।

णागिंद–नागेन्द्र–पुं० नागराजे नागकुमाराणामिन्द्रे, "असुरिंदसुरिंदणागिंदा ।" स० । स्वनामख्याते साधुकुले, "नागेन्द्रगच्छगोविन्द–वक्षोऽलङ्कारकौस्तुभाः । ते विश्ववन्द्या नन्द्यासु–रुदयप्रभसूरयः ॥ ६ ॥ " स्था० । तदुत्पत्तिश्च महा दुर्भिक्षान्ते पोतद्वारा धान्यागमने जाते जिनदत्तः श्रावको नागेन्द्रनामपुत्रसहितो वज्रसेनसूरीणामन्तिके दीक्षां जग्राह, ततो नागेन्द्रशाखा प्रवृत्तेति भाति । कल्प० ८ क्षण ।

णागिल–नागिल–पुं० । कुमारनन्दिनः स्त्रीलोलसुवर्णकारस्य मित्रे श्रमणोपासके, आ० म०१ अ०२ खण्ड । गच्छविशेषाश्रितेषु साधुषु, कल्प० ८ क्षण । यथा नागिला रजोहरणमूर्ध्वमुखं कृत्वा कायोत्सर्गं कुर्वन्ति । व्य० १ उ० । धातकीखण्डपूर्वविदेहेषु नन्दिग्रामपतौ ललिताङ्कदेवदेव्याः स्वयंप्रज्ञायाः पूर्वभवजीवनिर्नामिकायाः पितरि, आ० क० ।

णागी–नागी–स्त्री० । सर्पिण्याम्, " मायामई अ णागी, णियडिकवडवंचणाकुसला ।" मायाऽऽत्मिका नागी निकृतिकपटवञ्चनाकुशला । आव० ४ अ० ।

णाडइज्ज–नाटकीय–न० । नाटकप्रतिबद्धपात्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विपा० ।

णाडइणी–नाटकिनी–स्त्री० । नर्तक्याम्, बृ० ३ उ० । तत्प्रतिपादके श्रुते च । स्था० ६ ठा० । संथा० । जं० । अनु० । आ० म० । (द्वात्रिंशद्विधमपि नाटकं ' नट्ट ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७७८ पृष्ठ उक्तम्)

णाडग–नाटक–न० । अभिनयविशेष, बृ० ।

णट्टं होइ अगीयं, गीयजुयं नाडयं तु णायव्वं ।

इहागीतं गीतविरहितं नाट्यं भवति, यत्पुनर्गीतयुक्तं तन्नाटकं ज्ञातव्यम् । बृ० १ उ० ।

णाडीय–नाडीक–पुं० । नाडीवृक्षस्य फलानि स नाडीकः । वनस्पतिविशेष, भ० १० श० ७ उ० ।

णाण–ज्ञान–न० । ज्ञातिर्ज्ञानम्, भावेऽनट्प्रत्ययः । अथवा ज्ञायते वस्तु परिच्छिद्यतेऽनेनेति ज्ञानम्, करणेऽनट् । नं० । पा० । अनु० । नि० चू० । पं० सं० । सम्म० । कर्म० । " ज्ञो जाणमुणौ" ॥ ८ । ४ । ७॥ इति जानातेर्जाणमुणाऽऽदेशस्य बाहुलकत्वाज्ज मुणाऽऽदेशः । प्रा० ४ पाद । "म्नज्ञोर्णः" ॥ ८ । २ ।४२॥ इति ज्ञकारस्य णादेशः । प्रा०२ पाद। उत्त० । विमर्शपूर्वके बोधे, उत्त० १ अ० । संविज्ञानमवगमो भावोऽभिप्राय इत्यनर्थान्तरम् । आ० म० १ अ० १ खण्ड । व्य० । यथास्थ–

नपदार्थपरिच्छेदने. आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। द्वा० । अष्ट०। स्था० । द्रव्यपर्यायविषये बोधे, स्था० २ ठा० २ उ० । विशेषावबोधे, औ० । अष्ट० । स्वपरपरिच्छेदिनि जीवस्य परिणामे ज्ञानाऽऽवरणविगमव्यक्ते तत्त्वार्थपरिच्छेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । अष्ट० । स्था० । औ० । सत्त्वप्रधानायां बुद्धिवृत्तौ, द्वा० १ द्वा० ।

(१) पर्यायार्थिकस्य विशेष एव वस्तु, स एव गृह्यते येन तज्ज्ञानमभिधीयते । " विसेसियं नाण । " सम्म० २ काण्ड । ज्ञातिर्ज्ञानमिति भावसाधनः, संविदित्यर्थः । ज्ञायते वाऽनेनास्माद्वेति ज्ञानं, तदावरणस्य क्षयः, क्षयोपशमो वा । ज्ञायते वाऽस्मिन्निति ज्ञानमात्मा, तदावरणक्षयक्षयोपशमपरिणामयुक्तो, जानातीति वा ज्ञानम् । स्था० ५ ठा० ३ उ० । "एगे णाणे।" नं० । आ० म० । ज्ञायन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनाऽस्मिन् अस्माद्वेति ज्ञानं ज्ञानदर्शनाऽऽवरणयोः क्षयः, क्षयोपशमो वा, ज्ञातिर्वा ज्ञानमावरणद्वयक्षयाऽऽद्याविर्भूत आत्मपर्यायविशेषः। सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि विशेषांशग्रहणप्रवणः सामान्यांशग्राहकश्च ज्ञानपञ्चकाज्ञानत्रयदर्शनचतुष्टयरूपः, स चानेकमप्यवबोधसामान्यात्, एकमुपयोगापेक्षया वा । तथाहि-लब्धितो बहूनां बोधविशेषाणामेकदा संभवेऽप्युपयोगत एक एव संभवत्येकोपयोगत्वाद् जीवानामिति । स्था० १ ठा० । उत्त० ।

(२) ज्ञानानि-

णाणं पंचविहं पण्णत्तं । तं जहा-आभिणिबोहियणाणं, सुयणाणं, ओहिणाणं, मणपज्जवणाणं, केवलणाणं ।

(णाणं पंचविहं पण्णत्तमित्यादि) ज्ञातिर्ज्ञानं, भावेऽनट्प्रत्ययः। अथवा-ज्ञायते वस्तु परिच्छिद्यतेऽनेनेति ज्ञानं, करणेऽनट् । शेषास्तु व्युत्पत्तयो मन्दमतीनां संमोहहेतुत्वान्नोपदिश्यन्ते । पञ्चेति संख्यावाचकः, विधानं विधा, "उपसर्गादातः" ॥ ५ । ३ । ११० ॥ इत्यङ्प्रत्ययः । पञ्च विधाः प्रकारा यस्य तत्पञ्चविधं पञ्चप्रकारं, प्रज्ञप्तं प्ररूपितं, तीर्थकरगणधरैरिति सामर्थ्यादवसीयते, अन्यस्य स्वयं प्ररूपकत्वेन प्ररूपणासंभवात् । नं० । ज्ञानं तीर्थकरैरपि सकलकालावलम्बिसमस्तवस्तुस्तोमसाक्षात्कारिकेवलप्रज्ञया पञ्चविधमेव प्राप्तं, गणधरैरपि तीर्थकृद्भिरुपदिश्यमानं निजप्रज्ञया पञ्चविधमेव प्राप्तं, न तु वक्ष्यमाणनीत्या द्विभेदमेवेति । अथवा-प्राज्ञात्तीर्थकरादाप्तं प्राज्ञाप्तं, गणधरैरिति गम्यते । अथवा -प्राज्ञैर्गणधरैराप्तं तीर्थकरादित्यनुमीयते; तदर्थेत्युदाहरणोपदर्शनार्थः। आभिनिबोधिकज्ञानं, श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं, मनःपर्यायज्ञानं, केवलज्ञानं च । नं० । भ० । रा० । कर्म० । सूत्र० । ध० र० । विशे० । आ० म० । आतु० । प्रव० । दर्श० । अनु० ।

(३) ज्ञानभेदकारणानि-

ननु सकलमपीदं ज्ञानं ज्ञप्त्येकस्वभावं, ततो ज्ञप्त्येकस्वभावत्वाविशेषे किंकृत एष आभिनिबोधिकाऽऽदिभेदः? । ज्ञेयभेदकृत इति चेत् । तथाहि-वार्तमानिकं वस्त्वाभिनिबोधिकस्य ज्ञानस्य ज्ञेयं, त्रिकालसाधारणः समानः परिणामो ध्वनिगोचरः श्रुतज्ञानस्य, रूपिद्रव्याणि अवधिज्ञानस्य, मनोद्रव्याणि मनःपर्यायज्ञानस्य, समस्तपर्यायान्वितं सर्वं वस्तु केवलज्ञानस्य । तदेतदसमीचीनम् । एवं सति केवलज्ञानस्य भेदबाहुल्यप्रसक्तेः । तथाहि-ज्ञेयभेदाद् ज्ञानस्य भेदः । यानि च ज्ञेयानि प्रत्येकमाभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानानामिष्यन्ते तानि सर्वाण्यपि केवलज्ञानेऽपि विद्यन्ते, अन्यथा केवलज्ञानेन तेषामग्रहणप्रसङ्गादविषयत्वात्, तथा च सति केवलिनोऽप्यसर्वज्ञत्वप्रसङ्गः, आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानचतुष्टयविषयज्ञानस्य तेनाग्रहणात् । न चैतदिष्टमिति । अथोच्येत-प्रतिपत्तिप्रकारभेदतः आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानभेदः । तथाहि-न यादृशी प्रतिपत्तिराभिनिबोधिकस्य ज्ञानस्य तादृशी श्रुतज्ञानस्य, किन्त्वन्यादृशी । एवमवध्यादिज्ञानानामपि प्रतिपत्तव्यं, ततो भवत्येव प्रतिपत्तिभेदतो ज्ञानभेदः । तदप्ययुक्तम् । एवं सत्येकस्मिन् अपि ज्ञानेऽनेकभेदप्रसक्तेः । तथाहि-तत्तद्देशकालपुरुषस्वरूपभेदेन विविच्यमानमेकैकं ज्ञानं प्रतिपत्तिप्रकारानन्त्यं प्रतिपद्यते, तन्नैषोऽपि पक्षः श्रेयान् । स्यादेतत्, अस्त्यावारकं कर्म, तच्चानेकप्रकारं, ततस्तद्भेदात्तेनावार्यं ज्ञानमप्येकतां प्रतिपद्यते, ज्ञानावारकं च कर्म पञ्चधा, प्रज्ञापनाऽऽदौ तथाऽभिधानात् । ततो ज्ञानमपि पञ्चधा प्ररूप्यते, तदेतदतीव युक्त्यसङ्गतम् । यत आवार्यापेक्षमावारकमत आवार्यभेदादेव तद्भेदः, आवार्यं च ज्ञप्तिरूपापेक्षया सकलमप्येकरूपं, ततः कथमावारकस्य पञ्चरूपता, येन तद्भेदाद् ज्ञानस्यापि पञ्चविधो भेद उदीर्येत ?। अथ स्वभावत एवाऽऽभिनिबोधाऽऽदिको ज्ञानस्य भेदो, न च स्वभावः पर्यनुयोगमश्नुते, न खलु किमिह दहनो दहति, नाकाशमिति कोऽपि पर्यनुयोगमाचरति । अहो महती महीयसी भवतः शेमुषी । ननु यदि स्वभावत एवाऽभिनिबोधाऽऽदिको ज्ञानस्य भेदः, तर्हि भगवतः सर्वज्ञत्वहानिप्रसङ्गः । तथाहि-ज्ञानमात्मनो धर्मः, तस्य चाभिनिबोधाऽऽदिको भेदः स्वभावत एव व्यवस्थितः, ततः क्षीणाऽऽवरणस्यापि तद्भावप्रसङ्गः। सति च तद्भावेऽस्मादृशस्येव भगवतोऽप्यसर्वज्ञत्वमापद्यते, केवलज्ञानभावतः समस्तवस्तुपरिच्छेदाद् नासर्वज्ञत्वमिति चेत्, ननु यदा केवलोपयोगसंभवः, तदा भवतु भगवतः सर्वज्ञत्वं, यदा त्वाभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानोपयोगसंभवः, तदा देशतः परिच्छेदसंभवादस्मादृशस्येव तस्यापि बलादसर्वज्ञत्वमापद्यते । न च वाच्यं तस्य तदुपयोग एव न भविष्यत्यात्मनः स्वभावत्वेन तस्याऽपि क्रमेणोपयोगस्य निवारयितुमशक्यत्वात्, केवलज्ञानानन्तरं केवलदर्शनोपयोगवत्, ततः केवलज्ञानोपयोगकाले सर्वज्ञत्वं, शेषज्ञानोपयोगकाले चासर्वज्ञत्वमापद्यते, तच्च विरुद्धमतोऽनिष्टमिति ।

आह च-

" नभेगसहावत्ते, आभिणिबोहाइ किं कओ भेओ ? ।
नेयविसेसाउ च्चिय, न सव्वविसयं जओ चरिमं ॥ १ ॥
अह पडिवत्तिविसेसा, नेगम्मि अणेगभेयभावाओ ।
आवरणविभेओ वि हु, सभावभेयं विणा न भवे ॥ २ ॥
तम्मि य सइ सव्वेसिं, खीणावरणस्स पावई भावो ।
तद्धम्मत्ताउ च्चिय, जुत्तविरोहा स चाणिट्ठो ॥ ३ ॥
अरहा वि असव्वन्नू, आभिणिबोहाइभावओ णियमा ।
केवलभावाउ च्चिय, सव्वन्नू नणु विरुद्धमिणं" ॥ ४ ॥

तस्मादिदमेव युक्तियुक्तं पश्यामो-यदुतावग्रहज्ञानादारभ्य यावदुत्कर्षप्राप्तपरमावधिज्ञानं तावत्सकलमप्येकं, तच्चासकलसंज्ञितम्, अशेषवस्तुविषयत्वाभावात् । अपरं च केवलिनः, तच्च सकलसंज्ञितमिति द्वावेव भेदौ । उक्तं च-" तम्हा अवग्गहाओ, आरज्झ इहेगमेव नाणं ति । जुत्तं छउमत्थस्सा, सगलं इयरं च केवलिणो ॥ १ ॥ "

अत्र प्रतिविधीयते—तत्र यत्तावदुक्तं सकलमपीदं ज्ञानं ज्ञप्त्येकस्वभावं, ततो ज्ञप्त्येकस्वभावत्वाविशेषे किं कृत एष आभिनिबोधाऽऽदिको भेद इति ?। तत्र ज्ञप्त्येकस्व-

ज्ञावता किं सामान्यतो भवताऽभ्युपगम्यते, विशेषतो वा ?। तत्र न तावदाद्यः पक्षः क्षितिमाधत्ते, सिद्धसाध्यतया तस्य बाधकत्वायोगात् । बोधरूपताकृपसामान्यापेक्षया हि सकलमपि ज्ञानमस्माभिरेकमभ्युपगम्यत एव, ततः का नो हानिरिति ?। अथ द्वितीयः पक्षः, तदयुक्तम्, असिद्धत्वात् । न हि नामविशेषतोऽपि ज्ञानमेकमेवोपलभ्यते, प्रतिप्राणि स्वसंवेदनप्रत्यक्षेणोत्कर्षदर्शनात् । अथ यद्युत्कर्षापकर्षमात्रभेददर्शनाद् ज्ञानभेदस्तर्हि तावुत्कर्षापकर्षौ प्रतिप्राणि देशकालापेक्षया शतसहस्रशो भिद्येते, ततः कथं पञ्चरूपता ?। नैष दोषः । परिस्थूरनिमित्तभेदतः पञ्चधात्वस्य प्रतिपादनात् । तथाहि-सकलघातिक्षयो निमित्तं केवलज्ञानस्य, मनःपर्यायज्ञानस्य त्वामर्षौषध्यादिलब्ध्युपेतस्य प्रमादलेशेनाप्यकलङ्कितस्य विशिष्टो विशिष्टाध्यवसायानुगतोऽप्रमादः, " तं संजयस्स सव्व-प्पमायरहियस्स विविहरिद्धिमतो । " इतिवचनप्रामाण्यात् । अवधिज्ञानस्य पुनस्तथाविधानीन्द्रियरूपिद्रव्यसाक्षादवगमनिबन्धनं क्षयोपशमविशेषः, मतिश्रुतज्ञानयोस्तु लक्षणभेदाऽऽदिकं तथाऽग्रे वक्ष्यते ।

उक्तं च—

" नणेगम्रहावत्तं, ओहेण विसेसओ पुण असिद्धं ।
एगंतत्तस्सहाव-त्तणे उ कह हाणिवुड्ढीओ ? ॥ १ ॥
जं अविचलियसहावे, तत्ते एगं न तस्सहावत्तं ।
न य तं तहोवलद्धा, उक्करिसावगरिसविसेसा ॥ २ ॥
तम्हा परिथूराओ, निमित्तभेयाओ समयसिद्धाओ ।
उववत्तिसंगओ वि य, आभिणिबोहाइओ भेओ ॥ ३ ॥
घाइक्खओ निमित्तं, केवलणाणस्स वण्णिओ समए ।
मणपज्जवणाणस्स उ, तहाविहो अप्पमाउ त्ति ॥ ४ ॥
ओहिं सोऽवस्स तहा, अणिंदिएसुं पि जो खओवसमो ।
मइसुयनाणाणं पुण, लक्खणभेयादिओ भेओ ॥ ५ ॥ "

यदप्युक्तं ज्ञेयभेदकृत इत्यादि, तदप्यनभ्युपगमतिरस्कृतत्वाद् दूरापास्तप्रसरम् । न हि वयं ज्ञेयभेदमात्रतो ज्ञानस्य भेदमिच्छामः, एकेनाऽप्यवग्रहाऽऽदिना बहुविधवस्तुग्रहणोपलम्भात् । यदपि च प्रत्यपादि- प्रतिपत्तिप्रकारभेदकृत इत्यादि, तदपि न नो बाधामाधातुमलम् । यतस्ते प्रतिपत्तिप्रकाराः देशकालाऽऽदिभेदेनाऽऽनन्त्यमपि प्रतिपद्यमाना न परिस्थूरनिमित्तभेदेन व्यवस्थापितानाभिनिबोधिकाऽऽदीन् जातिभेदा नातिक्रामन्ति, तत्कथमेकस्मिन् एकभेदभावप्रसङ्गः । उक्तं च-"न य पडिवत्तिविसेसो, एगम्मि अणेगभेयभावो त्ति । जं ते तहा विसिट्ठे, न जाइभेए विलंघेइ ॥ १ ॥ " यदप्यवादीदावार्यापेक्षं ज्ञावरकमित्यादि, तदपि न नो मनोबाधायै । यतः-परिस्थूरनिमित्तभेदमधिकृत्य व्यवस्थापितो ज्ञानस्य भेदः; ततस्तदपेक्षमावारकमपि तथा भिद्यमानं न युष्मादृशां दुर्जनवचनीयतामास्कन्दति । एवमुक्ते जिनो भूयः सावष्टम्भं परः प्रश्नयति-ननु परिस्थूरनिमित्तभेदव्यवस्थापिता अमी आभिनिबोधिकाऽऽदयो भेदा ज्ञानस्याऽऽत्मभूताः, उताऽनात्मभूताः ?। किं चातः-उभयथाऽपि दोषः । तथाहि-यद्यात्मभूताः, ततः क्षीणाऽऽवरणेऽपि तद्भावप्रसङ्गः । तथा चासर्वज्ञत्वं प्रागुक्तनीत्या तस्याऽऽपद्यते । अथाऽनात्मभूताः, तर्हि न ते पारमार्थिकाः, ततः कथमावार्यापेक्षो वास्तव आवारकभेदः। तदपि न मनोरमम्, सम्यग् वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । इह हि सकलघनपटलविनिर्मुक्तशारददिनमणिरिव समन्ततः समस्तवस्तुस्तोमप्रकाशनैकस्वभावो जीवः, तस्य च तथाभूतस्वभावः केवलज्ञानमिति व्यपदिश्यते । स च यद्यपि सर्वघातिना केवलज्ञानाऽऽवरणेन आव्रियते, तथाऽपि तस्यानन्ततमो भागो नित्योद्घाटित एव, " सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्सऽणंतो भागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुणो सो वि आवरिज्जा तेण जीवा अजीवत्तणं पावेज्जा।" इत्यादिवक्ष्यमाणवचनप्रामाण्यात् । ततस्तस्य केवलज्ञानाऽऽवरणाऽऽवृतस्य घनपटलाऽऽच्छादितस्येव सूर्यस्य यो मन्दः प्रकाशः सोऽपान्तरालावस्थितमतिज्ञानाऽऽद्यावरणक्षयोपशमभेदसंपादितं नानात्वं भजते । यथा घनपटलाऽऽवृतसूर्यस्य मन्दप्रकाशोऽपान्तरालावस्थितकटकुड्याऽऽद्यावरणं विवरप्रदेशभेदतः, स च नानात्वं तत्क्षयोपशमानुरूपं तथा प्रतिपद्यमानं तत्क्षयोपशमानुसारेणाभिधानभेदमश्नुते । यथा-मतिज्ञानाऽऽद्यावरणक्षयोपशमजनितः स मन्दः प्रकाशो मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमजनितः श्रुतज्ञानमित्यादि, तत आत्मस्वभावभूताज्ञानस्याऽभिनिबोधिकाऽऽदयो भेदाः, ते च प्रवचनोपदर्शितपरिस्थूरनिमित्तभेदतः पञ्चसंख्याः,ततस्तदपेक्षमावारकमपि पञ्चधोपवर्ण्यमानं न विरुध्यते । न चैवमात्मस्वभावभूतत्वे क्षीणाऽऽवरणस्याऽपि तद्भावप्रसङ्गः । यत एते मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिक्षयोपशमरूपोपाधिसंपादितसत्ताकाः, यथा-सूर्यस्य घनपटलाऽऽवृतस्य मन्दः प्रकाशभेदः कटकुड्याऽऽवरणविवरभेदोपाधिसंपादितः । ततः कथं ते तथारूपक्षयोपशमाभावे भवितुमर्हन्ति, न खलु सकलघनपटलकटकुड्याऽऽद्यावरणापगमे सूर्यस्य ते तथारूपा मन्दप्रकाशभेदा भवन्ति । उक्तं च-" कडविवरागयकिरणा, गेहंतरियस्स जह दिणेसस्स । ते कडगेहावगमे, न होंति जह तह इमाइं पि " ॥ १ ॥ ततो यथा जन्माऽऽदयो भावा जीवस्य आत्मभूता अपि कर्मोपाधिसंपादितसत्ताकत्वात्तदभावे न सन्ति, तद्वदाभिनिबोधिकाऽऽदयोऽपि भेदा ज्ञानस्याऽऽत्मभूता अपि मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयोपशमसापेक्षत्वात् तदभावे केवलिनो न भवन्ति, ततो नासर्वज्ञत्वदोषः । उक्तं च-" जमिह छउमत्थधम्मा, जम्माईया न होंति सिद्धाणं । इय केवलीणमाभिणि-बोहियभावम्मि को दोसो ?॥ १ ॥ " इति । नं० । आ० म० । आव० । संथा० । कर्म० । सम्म० । स्था० ।

(४) तदेवं ज्ञानपञ्चकस्याऽप्यभिधानार्थे कथिते आह कश्चित्-नन्वादौ मतिश्रुतोपन्यासः किमर्थः ?, इति । अत्राऽऽचार्य आह-

जं सामि-काल-कारण-विसय-परोक्खत्तणेहिँ तुल्लाइँ ।
तब्भावे सेसाणि य, तेणाईए मइसुयाइं ॥८५॥

तेन कारणेनाऽऽदौ मतिश्रुते निर्दिष्टे। येन किम् ?,इत्याह-(जं सामीत्यादि)इति संटङ्कः। मतिशब्दोऽत्राभिनिबोधिकसमानार्थो द्रष्टव्यः आभिनिबोधिकं श्रोत्रपत्तिक्याऽऽदिमतिप्रधानत्वाद् मतिरित्युच्यते। यद् यस्मात् कारणात् स्वामिकालकारणविषयपरोक्षत्वैस्तुल्ये समानस्वरूपे मतिश्रुते, तेनाऽऽदौ निर्दिष्टे इत्यर्थः । तत्र स्वामी तावदनयोरेक एव, " जत्थ मइनाणं तत्थ सुयनाणं " इत्याद्यागमवचनादिति । कालोऽपि द्विधा-नानाजीवापेक्षया, एकजीवापेक्षया च । स चायं द्विविधोऽप्यनयोस्तुल्य एव नानाजीवापेक्षया द्वयोरपि सर्वकालमनुच्छेदाद्; एकजीवापेक्षया तूभयोरपि निरन्तरसातिरेकसागरोपमषट्षष्टिस्थितिकत्वेनाऽवाभिधास्यमानत्वादिति । कारणमपीन्द्रियमनोलक्षणं, स्वा-

वरणक्षयोपशमस्वरूपं च द्वयोरपि समानम् । उभयस्यापि सर्वद्रव्याऽऽदिविषयत्वाद् विषयतुल्यता । परनिमित्तत्वाच्च परोक्षत्वसमता । ननु यद्येवमनयोः परस्परं तुल्यता, तर्ह्येकत्र द्वयोरप्युपन्यासोऽस्तु, आदावेव तु तदुपन्यासः कथम्?,इत्याह-(तब्भावे इत्यादि) तद्भावे मतिश्रुतज्ञानसद्भाव एव शेषाण्यवध्यादीनि ज्ञानान्यवाप्यन्ते, नाऽन्यथा,न हि स कश्चित् प्राणी भूतपूर्वः, अस्ति, भविष्यति वा, यो मति-श्रुतज्ञाने अनासाद्य प्रथममेवाऽवध्यादीनि शेषज्ञानानि प्राप्तवान्, प्राप्नोति, प्राप्स्यति वेति भावः । ततस्तद्भावी शेषज्ञानावाप्तिरित्याऽऽदौ मतिश्रुतोपन्यासः । इति गाथाऽर्थः ॥ ८५ ॥

भवतु तर्ह्यादौ मति-श्रुतोपादानं, केवलं पूर्वं मतिः, पश्चात्तु श्रुतमित्यत्र किं कारणं, यावता विपर्ययोऽपि कस्मान्न भवति?, इत्याह-

मइपुव्वं जेण सुयं, तेणाईए मइ विसिट्ठो वा ।
मइभेओ चेव सुयं, तो मइसमणंतरं भणियं ॥ ८६ ॥

मतिः पूर्वं प्रथममस्येति मतिपूर्वं, येन कारणेन श्रुतज्ञानं, तेन श्रुतस्याऽऽदौ मतिः तीर्थकर-गणधरैरुक्तेति शेषः । न ह्यवग्रहाऽऽदिरूपे मतिज्ञाने पूर्वमप्रवृत्ते क्वापि श्रुतप्रवृत्तिरस्तीति भावः । (विसिट्ठो वा, मइभेओ चेव सुयं ति) यदि वा इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तद्वारेणोपजायमानं सर्वं मतिज्ञानमेव, केवलं परोपदेशादागमवचनत्वाच्च भवन् विशिष्टः कश्चिन्मतिभेद एव श्रुतं; नान्यत् । ततो मूलभूताया मतेरादौ विन्यासः,तद्भेदरूपं तु श्रुतज्ञानं तत्समनन्तरं भणितमित्यदोषः । " मइपुव्वं जेण सुयं " इत्यादिकश्चार्थः पुरतः प्रपञ्चेन भणिष्यते । इति गाथार्थः ॥ ८६ ॥

अथ मतिश्रुतानन्तरमवधेस्तत्समनन्तरं च मनःपर्यायज्ञानस्योपन्यासे कारणमाह-

कालविवज्जयसामि-त्तलाभसाहम्मओऽवही तत्तो ।
माणसमित्तो छउम-त्थविसयभावादिसामण्णा ॥ ८७ ॥

ततो मतिश्रुताभ्यामनन्तरमवधिर्निर्दिष्टः । कुतः ?, इत्याह— कालविपर्ययस्वामित्वलाभसाधर्म्यात् । तत्र नानाजीवापेक्षया, एकजीवापेक्षया च मतिश्रुताभ्यां सहावधेः समानस्थितिकालत्वात् कालसाधर्म्यम् । यथा च मिथ्यात्वोदये मतिश्रुतज्ञाने अज्ञानरूपं विपर्ययं प्रतिपद्येते, तथाऽवधिरपि, इति विपर्ययसाधर्म्यम् । य एव च मति-श्रुतयोः स्वामी, स एवावधेरपीति स्वामिसाधर्म्यम् । लाभोऽपि कदाचित्कस्यचिदमीषां त्रयाणामपि ज्ञानानां युगपदेव भवतीति लाभसाधर्म्यम् । (माणसमित्तो इत्यादि) इतोऽवधेरनन्तरं मनोविषयत्वान्मनसि भवं मानसं मनःपर्यायज्ञानं युक्तम् । कुतः ?, इत्याह-छद्मस्थविषयभावाऽऽदिसामान्यात्;भावादिशब्दात् प्रत्यक्षत्वाऽऽदिसामान्यं गृह्यते, समानस्य भावः सामान्यं,साम्यं, तस्मादित्यर्थः। तत्र यथाऽवधिज्ञानं छद्मस्थस्यैव भवति, तथा मनःपर्यायज्ञानमपीति छद्मस्थसाम्यम् । उभयोरपि पुद्गलमात्रविषयत्वाद् विषयसाम्यम्, द्वयोरपि क्षायोपशमिकभाववर्तित्वाद्भावसाम्यम्, द्वितयस्यापि साक्षादर्थदर्शित्वात् प्रत्यक्षत्वसाम्यम् । एवमन्याऽपि प्रत्यासत्तिरभ्यूह्येति गाथाऽर्थः ॥ ८७ ॥

अथ केवलज्ञानस्य सर्वोपरि निर्देशे कारणमाह-

अंते केवलमुत्तम-जइसामित्तावसाणलाभाओ ।
इत्थं च मइसुयाइं, परोक्खमियरं च पच्चक्खं ॥ ८८ ॥

अन्ते सर्वज्ञानानामुपरि केवलज्ञानमभिहितम् । कुतः?, इत्याह-भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य उत्तमत्वात्,सर्वोत्तमं हि केवलज्ञानम्, अतीतानागतवर्तमानाशेषज्ञेयस्वरूपाऽवभासित्वादिति । यथा च मनःपर्यायज्ञानस्य यतिरेव स्वामी, तथा केवलज्ञानस्यापि, ततो यतिस्वामित्वसाम्याद् मनःपर्यायज्ञानाऽनन्तरं केवलज्ञानमभिहितम् । तथा समस्ताऽपरज्ञानानामवसान एवाऽस्य लाभादवसान एव निर्देश इति । तदेवमुपन्यासक्रमे समर्थिते सत्याह कश्चित्-नन्वेतानि पञ्च ज्ञानानि किं परोक्षस्वरूपाणि, आहोस्वित् प्रत्यक्षाणि ? इति । अत्राऽऽह-(इत्थं चेत्यादि) एतेषु पञ्चसु ज्ञानेषु मध्ये मतिश्रुते परोक्षे, इतरत्त्ववध्यादिज्ञानत्रयं प्रत्यक्षमिति गाथार्थः ॥ ८८ ॥ विशे० ।

(५) तथा चाऽऽगमः-

दुविहे णाणे पण्णत्ते । तं जहा-पच्चक्खे चेव, परोक्खे चेव । पच्चक्खणाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-केवलणाणे चेव, णोकेवलणाणे चेव ।

ज्ञानं विशेषावबोधः, अश्नाति भुङ्क्ते, अश्नुते वा व्याप्नोति ज्ञानेनार्थानित्यक्ष आत्मा,तं प्रति यद्वर्तते इन्द्रियमनोनिरपेक्षत्वेन तत्प्रत्यक्षमव्यवहितत्वेनार्थसाक्षात्करणादक्षमिति । आह च- " अक्खो जीवो अत्थ-व्वावणभोयणगुणन्निओ जेण । तं पइ वट्टइ नाणं, जं पच्चक्खं तमिह तिविहं " ॥ १ ॥ इति । परेभ्योऽक्षापेक्षया पुद्गलमयत्वेन द्रव्येन्द्रियमनोभ्योऽक्षस्य जीवस्य यत्तत्परोक्षं निरुक्तिवशादिति । आह च-" अक्खस्स पोग्गलकया, जं दव्विंदियमणापरा तेण । तेहिंतो जं णाणं, परोक्खमिह तमणुमाणं वा " ॥१॥ इति । अथवा-परैरक्षं संबन्धनं अन्यजनकभावलक्षणमस्येति परोक्षम् । इन्द्रियमनोव्यवधानेनाऽऽत्मनोऽर्थप्रत्ययकर्मसाक्षात्कारीत्यर्थः । स्था० २ ठा० १ उ० । (प्रत्यक्षज्ञानभेदाः ' पच्चक्ख ' शब्दे वक्ष्यन्ते) प्रत्यक्षं द्विविधं-केवलज्ञानं, नो केवलज्ञानं च । (केवलज्ञानभेदाः 'केवलणाण' शब्दे तृतीयभागे ६४७ पृष्ठे गताः)

(६) केवलणाणे दुविहे पण्णत्ते । ओहिणाणे चेव, मणपज्जवणाणे चेव ॥ स्था० २ ठा० १ उ० । आ० म० । आव० । संथा० । कर्म० । सम्म० ।

(अवधिज्ञानभेदः ' ओहि ' शब्दे तृतीयभागे १४० पृष्ठे गतः)
(मनःपर्यायज्ञानभेदाः ' मणपज्जवणाण ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

परोक्खणाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-आभिणिबोहियणाणे चेव, सुयणाणे चेव ।

(परोक्षज्ञानभेदाः ' परोक्खणाण ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

(७) स्वाम्यादिभेदाद् मतिश्रुतभेदः । साम्प्रतं " जं सामि-काल-कारण-विसय-परोक्खत्तणेहिँ तुल्लाइं । (८५) " इति यदुक्तं प्राक्, तदुपजीव्य परः प्राऽऽह—

सामित्ताइविसेसा-भावाओ मइसुएगया नाम ।
लक्खणभेयादिकयं, नाणत्तं तयविसेसे वि ॥ ८९ ॥

परः प्राऽऽह-ननु पूर्वं मतिश्रुतयोः स्वामिकालाऽऽदिभिः तुल्यत्वमभिदधानैर्भवद्भिः स्वहस्ताङ्गाराऽऽकर्षणमनुष्ठितम्,यत एवं सति

स्वामित्वाऽऽदिभिर्विशेषाभावान्मतिश्रुतयोरेकत्वमेव प्राप्तं, न भेदः स्यात्; तथा च न ज्ञानपञ्चकसिद्धिः, धर्मभेदे हि वस्तूनां भेदः स्यात्, तदभेदे तु घटतत्स्वरूपयोरिवाभेद एव श्रेयानिति भावः । अत्राऽऽचार्यः प्रत्युत्तरमाह-(लक्खणेत्यादि) तेषां स्वामित्वाऽऽदीनामविशेषस्तदविशेषस्तत्र सत्यपि मतिश्रुतयोर्नानात्वं भिन्नत्वमस्ति । किंकृतम् ?, इत्याह-लक्षणभेदाऽऽदिकृतम्,आदिशब्दाद् वक्ष्यमाणकार्यकारणभावाऽऽदिपरिग्रहः। इदमुक्तं भवति-यद्यपि स्वामिकालाऽऽदिभिर्मतिश्रुतयोरेकत्वम्, तथाऽपि लक्षणकार्यकारणभावाऽऽदिभिर्नानात्वमस्त्येव, घटाऽऽकाशाऽऽदीनामपि हि सत्त्वप्रमेयत्वार्थक्रियाकारित्वाऽऽदिभिः साम्येऽपि लक्षणाऽऽदिभेदाद्भेद एव । यदि पुनर्बहुभिर्धर्मैर्भेदे सत्यपि कियद्धर्मसाम्यमात्रादेवार्थानामेकत्वं प्रेर्यते, तदा सर्वं विश्वमेकं स्यात्; किं हि नाम तद्वस्त्वस्ति यस्य वस्त्वन्तरैः सह कैश्चिद्धर्मैर्न साम्यमस्ति ? । तस्मात्स्वाम्यादिभिस्तुल्यत्वेऽपि लक्षणाऽऽदिभिर्मति-श्रुतयोर्भेदः । इति गाथार्थः ॥ ९६ ॥

तान्येव लक्षणाऽऽदीनि पुरतो विस्तराभिधेयानि संपिण्ड्यैकगाथया दर्शयति-

लक्खणभेया हेऊ-फलभावओ भेयइंदियविभागा ।
वागऽक्खरमूएयर-भेया भेओ मइसुयाणं ॥९७॥

लक्षणभेदाद्भिन्नलक्षणत्वाद् मतिश्रुतयोर्भेदः । तथा-मतिज्ञानं हेतुः, श्रुतं तु तत्फलं तत्कार्यम्, इति हेतुफलभावात् तयोर्भेदः । तथा-(भेय त्ति) विभागशब्दोऽत्रापि योज्यते, ततश्च भेदानां विभागो विशेषो भिन्नत्वं भेदविभागः, तस्मादपि मतिश्रुतयोर्भेदः, अवग्रहाऽऽदिभेदादष्टाविंशत्यादिभेदं हि मतिज्ञानं वक्ष्यते " अक्खर सण्णी सम्मं " इत्यादिवक्ष्यमाणवचनाच्चतुर्दशाऽऽदिभेदं च श्रुतज्ञानमिति भेदविभागात्तयोर्भेद इति भावः । (इंदियविभाग त्ति) तत्त्वतः श्रोत्रविषयमेव श्रुतज्ञानम्, शेषेन्द्रियविषयमपि मतिज्ञानम्, इत्येवं वक्ष्यमाणादिन्द्रियविभागाच्च तयोर्भेदः । (वागेत्यादि) वल्कश्चाक्षरं च मूकं च वल्काऽऽदिप्रतिपक्षभूतानीतराणि च वल्काक्षरमूकेतराणि, तैर्योऽसौ भेदः तस्मादपि मतिश्रुतयोर्भेद इत्यर्थः । तथाहि-" अन्ने मन्नंति मई, वागसमा सुंबसरिसयं तु सुयं । (१५४) " इत्यादिना ग्रन्थेन कारणत्वाद् वल्कसदृशं मतिज्ञानं, शुम्बसदृशं तु श्रुतज्ञानम्, कार्यत्वादित्यत्रैव वक्ष्यते । तत्र वल्कः पलाशाऽऽदित्वग्रूपः, शुम्बं तु इतरशब्देनेहोपात्तं तन्निर्मिता दवरिकोच्यते । ततश्चायमभिप्रायः-यथा वलनाऽऽदिसंस्कृतो विशिष्टावस्थाऽऽपन्नः सन् वल्को दवरिकेत्युच्यते, तथा परोपदेशार्हद्वचनसंस्कृतं विशिष्टावस्थाप्राप्तं सद् मतिज्ञानं श्रुतमभिधीयते, इत्येवं वल्केतरभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदः । तथा-" अन्ने अणक्खराऽक्खर-विसेसओ मइसुयाइँ भिंदंति । जं मइनाणमणक्खर-मक्खरमियरं च सुयनाणं" ॥ १६२ ॥ इत्यादिग्रन्थेन वक्ष्यमाणादक्षरेतरभेदात्तयोर्भेदः । तथा-" सपरप्पच्चायणओ, भेओ मूएयराण वाऽभिहिओ । जं तु सुयं मइनाणं, सपरप्पच्चायगं सुत्तं" ॥ १७१ ॥ इत्याद्यभिधास्यमानवचनान्मूकेतरभेदान्मतिश्रुतयोर्भेदः । इति गाथासंक्षेपार्थः। विस्तरार्थं तु भाष्यकारः स्वत एव वक्ष्यति । इयं च गाथा बहुष्वादर्शेषु न दृश्यते, केवलं क्वचिदादर्शेऽपि दृष्टा,अतीव सोपयोगा च, इत्यस्माभिः किञ्चिद् व्याख्यातेति ॥९७॥

तत्र " यथोद्देशं निर्देशः " इति कृत्वा लक्षणभेदं तावदाह-

जमभिनिबुज्झइ तमभिनि-बोहो जं सुणइ तं सुयं भणियं ।
सद्दं सुणइ जइ तओ, नाणं तो नाऽऽयभावो तं ॥९८॥

यज्ज्ञानं कर्तृ, वस्तु कर्मताऽऽपन्नमभिनिबुध्यते अवगच्छति,तज्ज्ञानमाभिनिबोधः तदाभिनिबोधिकं तन्मतिज्ञानमिति यावत् । (जं सुणइ इत्यादि) यत्पुनर्जीवः शृणोति तच्छ्रुतम् ; इत्येवं सूत्रोक्तलक्षणभेदान्मतिश्रुतयोर्भेदः । तथा च सूत्रम्-"जइ वि सामित्ताईहिं अविसेसो, तह वि पुणोऽत्थाऽऽयरिया णाणत्तं पण्णवयंति । तं जहा-अभिनिबुज्झइ त्ति आभिणिबोहियं,सुणेइ त्ति सुयं । " इत्यादि । अत्राऽऽह प्रेरकः-यदि नाम यदात्मा शृणोति तत् श्रुतमिति श्रुतज्ञानस्य लक्षणमुच्यते, हन्त ! तर्हि शब्दमेव शृणोति जीव इति सकलजगत्प्रतीतमेव । ततः किं सूयते ?, इत्याह-(जइ तओ इत्यादि) यदि च सकः स शब्दो ज्ञानं श्रुतरूपम्, (तो त्ति) ततो नाऽऽत्मनो जीवस्य भावः परिणामः तच्छ्रुतं प्राप्नोति, शब्दस्य श्रुतत्वेनेष्टत्वात्, तस्य च पौद्गलिकत्वेन मूर्तत्वात्, आत्मनस्त्वमूर्तत्वाद्, मूर्तस्य चामूर्तपरिणामत्वायोगाद्, आत्मनः परिणामश्च श्रुतज्ञानमिष्यते तीर्थकराऽऽदिभिः,इति कथं न विरोधः?,इति भावः । इति गाथार्थः ॥ ९८ ॥

अत्राऽऽचार्यः प्रत्युत्तरयति-

सुयकारणं जओ सो, सुयं च तक्कारणं ति तो तम्मि ।
कीरइ सुओवयारो, सुयं तु परमत्थओ जीवो ॥९९॥

यतो यस्मात् कारणात् स शब्दो वक्त्राऽभिधीयमानः श्रोतृगतस्य श्रुतज्ञानस्य कारणं निमित्तं भवति, श्रुतं च वक्तृगतश्रुतोपयोगरूपं व्याख्यानकरणाऽऽदौ तस्य वक्त्राऽभिधीयमानस्य शब्दस्य कारणं जायते, इत्यतः तस्मिन् श्रुतज्ञानस्य कारणभूते कार्यभूते वा शब्दे श्रुतोपचारः क्रियते । ततो न परमार्थतः शब्दः श्रुतं, किं तूपचारत इत्यदोषः । परमार्थतस्तर्हि किं श्रुतम् ?, इत्याह-(सुयं त्वित्यादि) परमार्थतस्तु जीवः श्रुतं,ज्ञानज्ञानिनोरनन्यभूतत्वात् । तथा च पूर्वमभिहितम्-शृणोतीति श्रुतमात्मैवेति । तस्माच्छ्रूयत इति श्रुतमिति कर्मसाधनपक्षे द्रव्यश्रुतमेवाऽभिधीयते, शृणोतीति श्रुतमिति; कर्तृसाधनपक्षे तु भावश्रुतमात्मैव; इति न काचिदनात्मभावता श्रुतज्ञानस्य । इति गाथार्थः ॥ ९९ ॥

(८) अथ प्रकारान्तरेणाऽपि मतिश्रुतयोर्लक्षणभेदमाह-

इंदियमणोनिमित्तं, जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं ।
नियय त्थुत्तिसमत्थं, तं भावसुयं मई सेसं ॥ १०० ॥

इन्द्रियाणि च स्पर्शनाऽऽदीनि, मनश्च, इन्द्रियमनांसि, तानि निमित्तं यस्य तदिन्द्रियमनोनिमित्तम्,इन्द्रियमनोद्वारेण यद्विज्ञानमुपजायत इत्यर्थः । तत् किम् ?,इत्याह-तद्भावश्रुतं श्रुतज्ञानमित्यर्थः । इन्द्रियमनोनिमित्तं च मतिज्ञानमपि भवति, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह-श्रुतानुसारेणेति श्रूयत इति श्रुतम् । द्रव्यश्रुतरूपं शब्द इत्यर्थः,स च सङ्केतविषयपरोपदेशरूपः श्रुतग्रन्थाऽऽत्मकश्चेह गृह्यते,तदनुसारेणैव यदुत्पद्यते तत् श्रुतज्ञानं,नान्यत् । इदमुक्तं भवति-सङ्केतकालप्रवृत्तं,श्रुतग्रन्थसंबन्धिनं वा घटाऽऽदि-

शब्दमनुसृत्य वाच्यवाचकभावेन संयोज्य 'घटो घटः' इत्याद्यन्तर्जल्पाकारमन्तःशब्दोल्लेखान्वितमिन्द्रियाऽऽदिनिमित्तं यज्ज्ञानमुदेति तच्छ्रुतज्ञानमिति । तच्च कथंभूतम् ?, इत्याह-'निजकाऽर्थोक्तिसमर्थमिति' निजकः स्वस्मिन् प्रतिभासमानो योऽसौ घटाऽऽदिरर्थः तस्योक्तिः परस्मै प्रतिपादनं तत्र समर्थं क्षमं निजकार्थोक्तिसमर्थम्। अयमिह भावार्थः-शब्दोल्लेखसहितं विज्ञानमुत्पन्नं स्वप्रतिभासमानार्थप्रतिपादकं शब्दं जनयति, तेन च परः प्रत्याय्यते, इत्येवं निजकार्थोक्तिसमर्थमिदं भवति, अभिलाप्यवस्तुविषयमिति यावत्। स्वरूपविशेषणं चैतत्, शब्दानुसारेणोत्पन्नज्ञानस्य निजकार्थोक्तिसामर्थ्याऽव्यभिचारादिति। (मइसेसं ति) शेषमिन्द्रियमनोनिमित्तमश्रुतानुसारेण यदवग्रहाऽऽदिज्ञानं तन्मतिज्ञानमित्यर्थः । अत्राऽऽह कश्चित्-ननु यदि शब्दोल्लेखसहितं श्रुतज्ञानमिष्यते, शेषं तु मतिज्ञानम्, तदा वक्ष्यमाणस्वरूपोऽवग्रह एव मतिज्ञानं स्यात्, न पुनरीहापायाऽऽदयः, तेषां शब्दोल्लेखसहितत्वात्; मतिज्ञानभेदत्वेन चैते प्रसिद्धाः, तत् कथं श्रुतज्ञानलक्षणस्य नातिव्याप्तिदोषः ?, कथं च न मतिज्ञानस्याव्याप्तिप्रसङ्गः ? । अपरं च-अङ्गानङ्गप्रविष्टाऽऽदिषु "अक्खर सन्नी सम्मं, साईयं खलु सपज्जवसियं च ।" इत्यादिषु च श्रुतभेदेषु मतिज्ञानभेदस्वरूपाणामवग्रहेहाऽऽदीनां सद्भावात् सर्वस्याऽपि तस्य मतिज्ञानत्वप्रसङ्गात्, मतिज्ञानभेदानां चेहापायाऽऽदीनां साभिलापत्वेन श्रुतज्ञानत्वप्राप्तेरुभयलक्षणसंकीर्णतादोषश्च स्यात् । अत्रोच्यते-यत्तावदुक्तम्-अवग्रह एव मतिज्ञानं स्यात्, न त्वीहाऽऽदयः, तेषां शब्दोल्लेखसहितत्वात् । तदयुक्तम्। यतो यद्यपि ईहाऽऽदयः साभिलापाः, तथाऽपि न तेषां श्रुतरूपता, श्रुतानुसारिण एव साभिलापज्ञानस्य श्रुतत्वात् । अथावग्रहाऽऽदयः श्रुतनिश्रिता एव सिद्धान्ते प्रोक्ताः, युक्तितोऽपि चेहाऽऽदिषु शब्दाभिलापः संकेतकालाऽऽकर्णितशब्दानुसरणमन्तरेण न संगच्छते, अतः कथं न तेषां श्रुतानुसारित्वम् ?। तदयुक्तम्। पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमतेरेवैते समुपजायन्त इति श्रुतनिश्रिता उच्यन्ते, न पुनर्व्यवहारकाले श्रुतानुसारित्वमेतेष्वस्ति। वक्ष्यते च-"पुव्वं सुयपरिकम्मिय-मइस्स जं संपयं सुयाऽऽईयं। तं सुयनिस्सियं" इत्यादि । यदपि युक्तितोऽपि चेत्याद्युक्तम्, तदपि न समीचीनम्, संकेतकालाऽऽकर्णितशब्दपरिकर्मितबुद्धीनां व्यवहारकाले तदनुस्मरणमन्तरेणाऽपि विकल्पपरम्परापूर्वकविविधवचनप्रवृत्तिदर्शनात्, न हि पूर्वप्रवृत्तसंकेताः, अधीतश्रुतग्रन्थाश्च व्यवहारकाले प्रतिविकल्पन्ते-एतच्छब्दवाच्यत्वेनैतत् पूर्वं मयाऽवगतमित्येवंरूपं संकेतम्, तथाऽमुकस्मिन् ग्रन्थे एतदित्थमभिहितमित्येवं श्रुतग्रन्थं चाऽनुस्मरन्तो दृश्यन्ते, अभ्यासपाटववशात् तदनुस्मरणमन्तरेणाऽप्यनवरतं विकल्पभाषणप्रवृत्तेः । यत्र तु श्रुतानुसारित्वं तत्र श्रुतरूपताऽस्माभिरपि न निषिध्यते । तस्मात् श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतत्वाभावादीहापायधारणानां सामस्त्येन मतिज्ञानत्वान्न मतिज्ञानलक्षणस्याव्याप्तिदोषः, श्रुतरूपतायाश्च श्रुतानुसारित्वेन साऽभिलापज्ञानविशेषेषु भावात् न श्रुतज्ञानलक्षणस्याऽतिव्याप्तिको दोषः। अपरं च-अङ्गाऽनङ्गप्रविष्टाऽऽदिश्रुतभेदेषु 'मतिपूर्वमेव श्रुतम्' इति वक्ष्यमाणवचनात्प्रथमं शब्दाऽऽद्यवग्रहणकालेऽवग्रहाऽऽदयः समुपजायन्ते, एते चाश्रुतानुसारित्वान्मतिज्ञानम्, यस्तु तेष्वङ्गानङ्गप्रविष्टश्रुतभेदेषु श्रुताऽनुसारी ज्ञानविशेषः स श्रुतज्ञानम् । ततश्च-अङ्गानङ्गप्रविष्टाऽऽदिश्रुतभेदानां सामस्त्येन मतिज्ञानत्वाभावाद्, ईहाऽऽदिषु च मतिभेदेषु श्रुताऽनुसारित्वाभावेन श्रुतज्ञानत्वाऽसंभवान्नोभयलक्षणसंकीर्णतादोषोऽप्युपपद्यत इति सर्वं सुस्थम् । न चेह मतिश्रुतयोः परमाणुकरिणोरिवाऽऽत्यन्तिको भेदः समन्वेषणीयः, यतः प्रागिहैवोक्तम्-विशिष्टः कश्चिन्मतिविशेष एव श्रुतं, पुरस्तादपि च वक्ष्यते-वल्कसदृशं मतिज्ञानं तज्जनितदवरिकारूपं श्रुतज्ञानम्, न च वल्कशुम्बयोः परमाणुकुञ्जरवदात्यन्तिको भेदः, किं तु कारणकार्यभावकृत एव, स चेहाऽपि विद्यते, मतेः कारणत्वेन, श्रुतस्य तु कार्यत्वेनाभिधास्यमानत्वात् । न च कार्यकारणयोरैकान्तिको भेदः; कनककुण्डलाऽऽदिषु, मृत्पिण्डकुण्डाऽऽदिषु च तथाऽदर्शनात् । तस्मात्तदवग्रहापेक्षयाऽनभिलापत्वाद्, ईहाऽऽद्यपेक्षया तु साभिलापत्वात् साभिलापानभिलापं मतिज्ञानम्, अश्रुतानुसारि च; सङ्केतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसंबन्धिनो वा शब्दस्य व्यवहारकाले अननुस्मरणात् । श्रुतज्ञानं तु साभिलापमेव, श्रुतानुसार्येव च, सङ्केतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसंबन्धिनो वा शब्दरूपस्य श्रुतस्य व्यवहारकालेऽवश्यमनुसरणादिति स्थितमिति गाथार्थः ॥ १०० ॥

अथ श्रुतज्ञानलक्षणस्याऽव्याप्तिदोषमुद्भावयन्नाह परः-

जइ सुयलक्खणमेयं, तो न तमेगिंदियाण संभवइ ।
दव्वसुयाणुभावम्मि वि, भावसुयं सुत्तजइणो व्व ॥ १०१ ॥

यदि श्रुतस्याऽनन्तरगाथोक्तं लक्षणमिष्यते- श्रुतानुसारि ज्ञानं यदि श्रुतमभ्युपगम्यत इत्यर्थः, तदा तदेकेन्द्रियाणां न संभवति न घटते, शब्दानुसारित्वस्य तेष्वसंभवात्; तदसंभवश्च मनःप्रभृतिसामग्र्यभावात् । इष्यते चाऽऽगमे-"एगिंदिया नियमं दुयन्नाणी । तं जहा-मइअन्नाणी य, सुयअन्नाणी य" इति वचनादेकेन्द्रियाणामपि श्रुतमात्रम्, इत्यव्यापकमेवैतद् लक्षणम् । अत्रोत्तरमाह-(दव्वसुयेत्यादि) द्रव्यश्रुतं शब्दस्तस्याभावेऽप्येकेन्द्रियाणां भावश्रुतमभ्युपगन्तव्यम्, सुप्तयतेरिव । इदमुक्तं भवति-यद्यप्येकेन्द्रियाणां कारणवैकल्याद् द्रव्यश्रुतं नास्ति, तथाऽपि स्वापाऽऽद्यवस्थायां साध्वादेरिवाशब्दकारणम्, अशब्दकार्यं च श्रुताऽऽवरणक्षयोपशममात्ररूपं भावश्रुतं केवलिदृष्टमेषां मन्तव्यम्; न हि स्वापाऽऽद्यवस्थायां साध्वादिः शब्दं न शृणोति, न विकल्पयतीत्येतावन्मात्रेण तस्य श्रुतज्ञानाभावो व्यवस्थाप्यते, किं तु स्वापाऽऽद्यवस्थोत्तरकालं व्यक्तीभवद्भावश्रुतं दृष्ट्वा पयसि सर्पिरिव प्रागपि तस्य तदासीदिति व्यवह्रियते, एवमेकेन्द्रियाणामपि सामग्रीवैकल्याद् यद्यपि द्रव्यश्रुताभावः, तथाऽप्यावरणक्षयोपशमरूपं भावश्रुतमवसेयम्, परमयोगिभिर्दृष्टत्वाद् वल्ल्यादिष्वाहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाऽऽदेस्तल्लिङ्गस्य दर्शनाच्चेति । आह-ननु सुप्तयतिदृष्टान्तेऽपि भावश्रुतं नावगच्छामः। तथाहि-श्रुतोपयोगपरिणत आत्मा शृणोतीति श्रुतं, श्रूयते तदिति वा श्रुतमित्यनयोर्मध्ये कया व्युत्पत्त्या सुप्तसाधोः श्रुतमभ्युपगम्यते?। तत्राऽऽद्यपक्षो न युक्तः, सुप्तस्य श्रुतोपयोगासंभवात् । द्वितीयोऽपि न संगतः, तत्र शब्दस्य वाच्यत्वात्, तस्यापि च सुप्तेऽसंभवादिति । सत्यम् । किं तु शृणोत्यनेन, अस्माद्, अस्मिन्वेति व्युत्पत्तिरिहाश्रीयते, एवं च श्रुतज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमो वाच्यः संपद्यते, स च सुप्तयतेः, एकेन्द्रियाणां चास्तीति न किञ्चित्परिहीयते । इति गाथार्थः ॥ १०१ ॥

अथ दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्याऽऽपादनेनैकेन्द्रियाणां श्रुतसद्भावं विघटयन्नाह-

भावसुयं भासासो-यलद्धिणो जुज्जए न इयरस्स ।
भासाऽभिमुहस्स जयं, सोऊण य जं हवेज्जाहि ॥१०२॥

भावश्रुतं युज्यत इति संबन्धः । कस्य युज्यते ?, इत्याह-भाषाश्रोत्रलब्धिमतः-भाषालब्धिमतः, श्रवणेन्द्रियलब्धिमतश्चेत्यर्थः । कथंभूतं यद्भावश्रुतम् ?, इत्याह-भाषाऽभिमुखस्य शब्दमभिधित्सोः 'प्रथममेव मध्ये एतत्प्रतिपादयामि' इत्युपयोगरूपं यद्भवेत्, श्रुत्वा वा परोदीरितां भाषां यद्भवेद् 'एतदनेन प्रतिपादितमिति ।' इह च यथासंख्यमवगन्तव्यम्-भाषालब्धिमतः प्रथमं भवेत्, श्रवणेन्द्रियलब्धिमतस्तु द्वितीयं भवेदिति । (न इयरस्स त्ति) इतरस्य तु भाषाश्रोत्रलब्धिरहितस्य भावश्रुतं न युज्यते । अयमभिप्रायः-यस्य सुप्तसाधोर्भाषाश्रोत्रलब्धिरस्ति, तस्योत्थितस्य परप्रतिपादनपरोदीरितशब्दश्रवणाऽऽदिलक्षणं भावश्रुतकार्यं दृश्यते, तद्दर्शनाच्च सुप्तावस्थायामपि तस्य लब्धिरूपतया तदाऽऽसीदित्यनुमीयते, यस्य त्वेकेन्द्रियस्य भाषाश्रोत्रलब्धिरहितत्वेन कदाचिदपि भावश्रुतकार्यं नोपलभ्यते, तस्य कथं तदस्तीति प्रतीयेत ?। इति गाथाऽर्थः ॥ १०२ ॥

अत्रोत्तरमाह-

जह सुहुमं भाविंदिय-नाणं दव्विंदियावरोहे वि ।
तह दव्वसुयाभावे, भावसुयं पत्थिवाईणं ॥ १०३ ॥

इह केवलिनो विहाय शेषसंसारिजीवानां सर्वेषामप्यतिस्तोकबहुबहुतरबहुतमाऽऽदितारतम्यभावेन द्रव्येन्द्रियेष्वसत्स्वपि सर्वेन्द्रियपञ्चकाऽऽवरणक्षयोपशमः समस्त्येवेति परममुनिवचनम् । ततश्च यथा येन प्रकारेण पृथिव्यादीनामेकेन्द्रियाणां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनलक्षणानां प्रत्येकं निर्वृत्युपकरणरूपाणां द्रव्येन्द्रियाणां तत्प्रतिबन्धककर्माऽऽवृतत्वादवरोधेऽप्यभावेऽपि सूक्ष्ममव्यक्तं लब्ध्युपयोगरूपं श्रोत्राऽऽदि भावेन्द्रियज्ञानं भवति, लब्धीन्द्रियाऽऽवरणक्षयोपशमसंभूताणीयसी ज्ञानशक्तिर्भवतीत्यर्थः । तथा तेनैव प्रकारेण द्रव्यश्रुतस्य द्रव्येन्द्रियस्थानीयस्याभावेऽपि भावश्रुतं भावेन्द्रियज्ञानकल्पं पृथिव्यादीनां भवतीति प्रतिपत्तव्यमेव । इदमुक्तं भवति-एकेन्द्रियाणां तावच्छ्रोत्राऽऽदिद्रव्येन्द्रियाभावेऽपि भावेन्द्रियज्ञानं किञ्चिद् दृश्यत एव, वनस्पत्यादिषु स्पष्टतल्लिङ्गोपलम्भात् । तथाहि-कलकण्ठोद्गीर्णमधुरपञ्चमोद्गारश्रवणात्सद्यः कुसुमपल्लवाऽऽदिप्रसवो विरहकवृक्षाऽऽदिषु श्रवणेन्द्रियज्ञानस्य व्यक्तं लिङ्गमवलोक्यते । तिलकाऽऽदितरुषु पुनः कमनीयकामिनीकमलदलदीर्घशरदिन्दुधवललोचनकटाक्षविक्षेपात् कुसुमाऽऽद्याविर्भावश्चक्षुरिन्द्रियज्ञानस्य, चम्पकाऽऽदिपादपेषु तु विविधसुगन्धिगन्धवस्तुनिकुरम्बोन्मिश्रविमलशीतलसलिलसेकात्तत्प्रकटनं घ्राणेन्द्रियज्ञानस्य, बकुलाऽऽदिभूरुहेषु तु रम्भाऽतिशायिप्रवररूपवरतरुणभामिनीमुखप्रदत्तस्वच्छसुस्वादुसुरभिवारुणीगण्डूषाऽऽस्वादनात् तदाविष्करणं रसनेन्द्रियज्ञानस्य, कुरबकाऽऽदिविटपिष्वशोकाऽऽदिद्रुमेषु च घनपीनोन्नतकठिनकुचकुम्भविभ्रमाभ्राजितकुम्भीनकुम्भरणन्मणिवलयकणत्कङ्कणाऽऽभरणभूषितभव्यभामिनीभुजलताऽवगूहनसुखाविष्पष्टपरागचूर्णशोणतलतत्पादकमलपार्ष्णिप्रहाराच्च क्षणमिति प्रसूनपल्लवाऽऽदिप्रभवः स्पर्शनेन्द्रियज्ञानस्य स्पष्टं लिङ्गमभिवीक्ष्यते । ततश्च यथैतेषु द्रव्येन्द्रियासत्त्वेऽप्येतद्भावेन्द्रियजन्यं ज्ञानं सकलजनप्रसिद्धमस्ति, तथा द्रव्यश्रुताभावे भावश्रुतमपि भविष्यति । दृश्यते हि जलाऽऽद्याहारोपजीवनाद्वनस्पत्यादीनामाहारसंज्ञा, संकोचनवल्ल्यादीनां तु हस्तस्पर्शाऽऽदिभीत्याऽवयवसंकोचनाऽऽदिभ्यो भयसंज्ञा, विरहकतिलकचम्पककेशराशोकाऽऽदीनां तु मैथुनसंज्ञा दर्शितैव, बिल्वपलाशाऽऽदीनां तु निधानीकृतद्रविणोपरि पादमोचनाऽऽदिभ्यः परिग्रहसंज्ञा । न चैताः संज्ञाः भावश्रुतमन्तरेणोपपद्यन्ते । तस्माद्भावेन्द्रियपञ्चकाऽऽवरणक्षयोपशमाद्भावेन्द्रियपञ्चकज्ञानवद्भावश्रुताऽऽवरणक्षयोपशमसद्भावाद् द्रव्यश्रुताभावेऽपि यच्च यावच्च भावश्रुतमस्त्येवैकेन्द्रियाणाम्, इत्यलं विस्तरेण । तर्हि-"जं विन्नाणं सुयाणुसारेणं" (१००) इति श्रुतज्ञानलक्षणं व्यभिचारि प्राप्नोति, श्रुतानुसारित्वमन्तरेणाप्येकेन्द्रियाणां भावश्रुताभ्युपगमादिति चेत् । नैवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, शब्दोल्लेखसहितं विशिष्टमेव भावश्रुतमाश्रित्य तल्लक्षणमुक्तम्, यत्त्वेकेन्द्रियाणामौघिकमविशिष्टभावश्रुतमात्रं तदावरणक्षयोपशमस्वरूपम्, तच्छ्रुतानुसारित्वमन्तरेणाऽपि यदि भवति, तथाऽपि न कश्चिद् व्यभिचारः । इति गाथाऽर्थः ॥ १०३ ॥

पुनरप्याह परः-

एवं सव्वपसंगो, न तदावरणाणमक्खओवसमा ।
मइसुयनाणाऽऽवरण-क्खओवसमओ मइसुयाइं ॥ १०४ ॥

यदि भाषाश्रोत्रलब्धिरहितानामपि काष्ठकल्पानां पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणां स्पष्टं किमप्यनुपलभ्यमानमपि केनाऽपि बाह्याङ्गस्वरमात्रेण ज्ञानं व्यवस्थाप्यते, तर्हि सर्वेषामपि केवलज्ञानपर्यन्तानां पञ्चानामपि ज्ञानानां प्रसङ्गः सद्भावस्तेषां प्राप्नोतीत्यर्थः । पञ्चापि ज्ञानानि एकेन्द्रियाणां सन्ति, इत्येतदपि कस्मान्नोच्यते ?, स्पष्टानुपलम्भस्य विशेषाभावादिति भावः । अत्रोत्तरमाह-तदेतन्न । कुतः ?, इत्याह-तदावरणानामवधिमनःपर्यायकेवलज्ञानाऽऽवारककर्मणामक्षयोपशमादिति, अक्षयाच्चेति स्वयमपि द्रष्टव्यम् । इदमुक्तं भवति-केवलज्ञानं तावत् स्वावारककर्मणः क्षय एव जायते, अवधिमनःपर्यायज्ञाने तु तस्य क्षयोपशमे भवतः, एतच्चैकेन्द्रियाणां नास्ति, तत्कार्यादर्शनाद्, आगमेऽनुक्तत्वाच्च, इति न सर्वज्ञानप्रसङ्गः । मतिश्रुतेऽपि तर्हि मा भूताम्, इति चेत् । इत्यत्राऽऽह-(मईत्यादि) मतिश्रुतज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमस्यैकेन्द्रियाणामस्त्येव, तत्कार्यदर्शनात्, सिद्धान्तेऽभिहितत्वाच्च । ततश्च तत्क्षयोपशमसद्भावान्मतिश्रुते भवत एव तेषाम् । इति गाथाऽर्थः ॥ १०४ ॥

तदेवं सप्रसङ्गः प्रदर्शितो लक्षणभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदः, साम्प्रतं हेतुफलभावात् तमुपदर्शयन्नाह-

मइपुव्वं सुयमुत्तं, न मई सुयपुव्विया विसेसोऽयं ।
पुव्वं पूरणपालण-भावाओ जं मई तस्स ॥ १०५ ॥

"मइपुव्वगं सुत्तं" इति वचनादागमे मतिः पूर्वं यस्य तद् मतिपूर्वं श्रुतमुक्तम्, न पुनर्मतिः श्रुतपूर्विका, इत्यनयोरयं विशेषः । यदि ह्येकत्वं मतिश्रुतयोर्भवेत्, तदा एवंभूतो नियमेन पूर्वपश्चाद्भावो घटतत्स्वरूपयोरिव न स्याद्, अस्ति चाऽयम्, ततो भेद इति भावः । किमिति पुनर्मतिपूर्वमेव श्रुतमुक्तम् ?, इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् तस्य श्रुतस्य मतिः पूर्वं प्रथममेवोपपद्य-

ते। कुतः ?, इत्याह-पूरणेत्यादि 'पॄ' धातुः पालनपूरणयोरर्थयोः पठ्यते, तस्य च पिपर्तीति पूर्वमिति निपात्यते। ततश्च श्रुतस्य पूरणात् पालनाच्च मतिर्यस्मात्पूर्वमेव युज्यते, तस्मान्मतिपूर्वमेव श्रुतमुक्तम्, पूर्वशब्दश्चायमिह कारणपर्यायो द्रष्टव्यः, कार्यात् पूर्वमेव कारणस्य भावात्, "सम्यग्ज्ञानपूर्विका पुरुषार्थसिद्धिः" इत्यादौ तथादर्शनाच्च। ततश्च मतिपूर्वं श्रुतमिति कोऽर्थः ?, श्रुतज्ञानं कार्यम्, मतिस्तु तत्कारणम्, कार्यकारणयोश्च मृत्पिण्डघटयोरिव कथञ्चिद् भेदः प्रतीत एवेति भावः। इति गाथाऽर्थः ॥ १०५ ॥

पूरणाऽऽदिधर्मानेव मतेर्भावयन्नाह-

पूरिज्जइ पाविज्जइ, दिज्जइ वा जं मईए नाऽमइणा।
पालिज्जइ य मईए, गहियं इहरा पणस्सेज्जा ॥ १०६ ॥

अनुप्रेक्षाऽऽदिकाले अभ्यूह्य श्रुतपर्यायवर्द्धनेन मत्यैव श्रुतज्ञानं पूर्यते पोष्यते पुष्टिं नीयत इत्यर्थः, तथा मत्यैवान्यतः तत् प्राप्यते गृह्यते, तथा मत्यैव तदन्यस्मै दीयते व्याख्यायते, नामत्या न मतिमन्तरेणेत्यर्थः, प्राकृतत्वात्पुँल्लिङ्गनिर्देशः। तथा गृहीतं सदेतत्परावर्तनचिन्तनद्वारेण मत्यैव पाल्यते स्थिरीक्रियते, इतरथा मत्यभावे तद् गृहीतमपि प्रणश्येदेवेत्यर्थः। श्रुतज्ञानस्यैते पूरणाऽऽदयोऽर्था विशिष्टाभ्यूहधारणाऽऽदीनन्तरेण कर्तुं न शक्यन्ते, अभ्यूहाऽऽदयश्च मतिज्ञानमेव, इति सर्वथा श्रुतस्य मतिरेव कारणम्, श्रुतं तु कार्यम्, कार्यकारणभावश्च भेदे सत्येवोपपद्यते, अभेदे घटतत्स्वरूपयोरिव तदनुपपत्तेः। तस्मात् कारणकार्यरूपत्वाद् मतिश्रुतयोर्भेदः। इति गाथाऽर्थः ॥ १०६ ॥

अथ श्रुतस्य मतिपूर्वतां विघटयन्नाह-

णाणाऽण्णाणाणि य, समकालाइं जओ मइसुयाइं।
तो न सुयं मइपुव्वं, मइणाणे वा सुयन्नाणं ॥ १०७ ॥

इह मतिश्रुते वक्ष्यमाणयुक्त्या द्विविधे- सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानस्वरूपे, मिथ्यादृष्टेस्त्वज्ञानस्वभावे। तत्र ज्ञाने अज्ञाने चैते प्रत्येकं समकालमेव भवतः, तत्क्षयोपशमलाभस्यापगमे युगपदेव निर्देशात्। यतश्चैते ज्ञाने अज्ञाने च मतिश्रुते पृथक् समकाले भवतः, ततो न श्रुतं मतिपूर्वं युज्यते, न हि सममेवोत्पन्नयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव पूर्वपश्चाद्भावः सङ्गच्छते। अथोत्सूत्रोऽप्यसदाग्रहवशात्स न त्यज्यते, इत्याह-(मइनाणे वा इत्यादि) इदमुक्तं भवति-मतिज्ञाने समुत्पन्ने तत्समकालं च श्रुतज्ञानेऽनभ्युपगम्यमाने श्रुताऽज्ञानं जीवस्य प्रसज्यते, श्रुतज्ञानानुत्पादेऽपि तदनिवृत्तेः, न च ज्ञानाऽज्ञानयोः समकालमवस्थितिरागमे कश्चिदप्यनुमन्यते, विरोधात्-ज्ञानस्य सम्यग्दृष्टिसंभवित्वात्, अज्ञानस्य तु मिथ्यादृष्टिभावित्वादिति गाथार्थः ॥ १०७ ॥

अत्र प्रतिविधानमाह-

इह लद्धिमइसुयाइं, समकालाइं न तूवओगो सिं।
मइपुव्वं सुयमिह पुण, सुओवओगो मइप्पभवो ॥ १०८ ॥

ननु व्यामोहविजृम्भितमिदं परस्य, अभिप्रायापरिज्ञानात्। तथाहि-द्विविधे मतिश्रुते तदावरणक्षयोपशमरूपलब्धितः, उपयोगतश्च। तत्रेह लब्धितो ये मतिश्रुते ते एव समकालं भवतः, यस्त्वनयोरुपयोगः स युगपन्न भवत्येव, किं तु केवलज्ञानदर्शनयोरिव तथास्वाभाव्यात् क्रमेणैव प्रवर्तते। अत्र तर्हि लब्धिमङ्गीकृत्य मतिपूर्वता श्रुतस्योक्ता भविष्यतीति चेत्। नैवम्, इत्याह-मतिपूर्वं श्रुतम्, इह तु श्रुतोपयोग एव मतिप्रभवोऽङ्गीक्रियते, न लब्धिरिति भावः। श्रुतोपयोगो हि विशिष्टमन्तर्जल्पाऽऽकारं श्रुतानुसारि ज्ञानमभिधीयते, तच्चावग्रहेहाऽऽदीनन्तरेणाऽऽकस्मिकं न भवति, अवग्रहाऽऽदयश्च मतिरेव, इति तत्पूर्वता श्रुतस्य न विरुध्यते। इति गाथार्थः ॥ १०८ ॥

तदेवं मतिपूर्वं श्रुतमिति समर्थितम्, परस्तु मतेरपि श्रुतपूर्वताऽऽपादनेनाऽविशेषमुद्भावयन्नाह-

सोऊण जा मई जे, सा सुयपुव्व त्ति तेण न विसेसो।
सा दव्वसुयप्पभवा, भावसुयाओ मई नत्थि ॥ १०९ ॥

परस्माच्छब्दं श्रुत्वा तद्विषया (जे) भवतामपि या मतिरुत्पद्यते सा श्रुतपूर्वा श्रुतकारणैव, शब्दस्य श्रुतत्वेन प्रागुक्तत्वात्, तस्याश्च मतेः तत्प्रभवत्वेन भवतामपि सिद्धत्वात्। ततश्च (न विसेसो त्ति) अन्योऽन्यपूर्वभावितायां मतिश्रुतयोर्न विशेष इत्यर्थः। तथा च सति "न मई सुयपुव्विय त्ति" यदुक्तं प्राक्, तदयुक्तं प्राप्नोतीति भावः। अत्रोत्तरमाह-परस्माच्छब्दमाकर्ण्य या मतिरुत्पद्यते, सा हन्त! शब्दस्य द्रव्यश्रुतमात्रत्वाद् द्रव्यश्रुतप्रभवा, न भावश्रुतकारणा, एतत्तु न केनाऽपि वार्यते, किं त्वेतदेव वयं ब्रूमो यदुत-भावश्रुताद् मतिर्नास्ति, भावश्रुतपूर्विका मतिर्न भवतीत्यर्थः, द्रव्यश्रुतप्रभवा तु भवतु; को दोषः ?। इति गाथाऽर्थः ॥ १०९ ॥

ननु भावश्रुतादूर्ध्वं मतिः किं सर्वथा न भवति ?, इत्याह-

कज्जतया न उ कमसो, कमेण को वा मइं निवारेइ ?।
जं तत्थावत्थाणं. सुयस्स सुत्तोवओगाओ ॥ ११० ॥

भावश्रुताद् मतिः कार्यतयैव नास्तीत्यनन्तरोक्तगाथाऽवयवेन संबन्धः (न उ कमसो त्ति) क्रमशस्तु मतिर्नास्तीत्येवं न, किं तर्हि ?, क्रमशः साऽस्ति, इत्येतत् सर्वोऽपि मन्यते, अन्यथा आमरणावधि श्रुतमात्रोपयोगप्रसङ्गात्। यदि क्रमशः साऽस्ति, तर्हि क्रमेण भवन्त्यास्तस्या भवन्तः किं कुर्वन्ति ?, इत्याह-(कमेणेत्यादि) वाशब्दः पातनार्थे, सा च कृतैव, क्रमेण भवन्तीं मतिं को निवारयति ?, मत्या श्रुतोपयोगो जन्यते, तदुपरमे तु निजकारणकलापात् सदैव प्रवृत्ता पुनरपि मतिरवतिष्ठते, पुनस्तथैव श्रुतम्, तथैव च मतिः, इत्येवं क्रमेण भवन्त्या मतेर्निषेधका वयं न भवाम इत्यर्थः। किमिति ?, इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् तत्र तस्यां मतौ अवस्थानं स्थितिर्भवति, श्रुतोपयोगात् च्युतस्य ततः क्रमेण मतिं न निषेधयामः। इदमुक्तं भवति-यथा सामान्यभूतेन सुवर्णेन स्वविशेषरूपाः कङ्कणाङ्गुलीयकाऽऽदयो जन्यन्ते, अतस्ते तत्कार्यव्यपदेशं लभन्त एव, सुवर्णे त्वतज्जन्यत्वात् तत्कार्यतया न व्यवह्रियते, तस्य कारणान्तरेभ्यः सिद्धत्वात्, कङ्कणाऽऽदिविशेषोपरमे तु सुवर्णावस्थानं क्रमेण न निवार्यते; एवं मत्याऽपि सामान्यभूतया स्वविशेषरूपश्रुतोपयोगो जन्यते, अतस्तत्कार्यं स उच्यते, मतिस्त्वतज्जन्यत्वात्तत्कार्यतया न व्यपदिश्यते, तस्या हेत्वन्तरात् सदा सिद्धत्वात्, स्वविशेषभूतश्रुतोपयोगोपरमे तु क्रमाऽऽयातं मत्यवस्थानं न निवार्यते, आमरणान्तं केवलश्रुतोपयोगप्रसङ्गादिति गाथार्थः ॥ ११० ॥

तदेवं भावश्रुतं मतिपूर्वं व्यवस्थाप्य मतान्तरमुपदर्शयन्नाह-

दव्वसुयं मइपुव्वं, भासइ जं नाऽविचिंतियं केइ।

भावसुयस्साभावो, पावइ तेसिं न य विसेसो ॥१११॥

(केइ त्ति) मतिपूर्वं श्रुतमित्यत्राऽऽगमवचने केचिदेवं व्याचक्षते । किम् ?, इत्याह-द्रव्यश्रुतं शब्दरूपं मतिपूर्वम्, न भावश्रुतम् । तत्र युक्तिमाह-(भासइ जं नाविचिंतियं ति) यद् यस्मात् कारणादविचिन्तितम् अविवक्षितं न कोऽपि भाषते न शब्दमुदीरयति, यच्च विवक्षाज्ञानं तच्च किल मतिरिति तेषामभिप्रायः, ततश्च मतिपूर्वं द्रव्यश्रुतं सिद्धं भवति । एतस्मिन् व्याख्याने दोषमाह-तेषामेवं व्याख्यातॄणां भावश्रुतस्य सर्वथैवाभावः प्राप्नोति, यतो वक्तृगतं विवक्षोपयोगज्ञानं तैरेव मतित्वेन व्याख्यातम्, अन्यथा शब्दस्य मतिपूर्वकत्वाभावात्, श्रोतुरपि शब्दं श्रुत्वा प्रथमं यदवग्रहाऽऽदिज्ञानं तदपि तन्मतिरेव, ऊर्ध्वमपि च तस्या भावश्रुतं नाभ्युपगन्तव्यम्, मतिपूर्वं भावश्रुतमित्यस्मत्पक्षवर्तित्वप्रसङ्गात् । यदशृण्वतोऽभाषमाणस्य चानुप्रेक्षाऽऽदिष्वन्तर्जल्पाकारितं ज्ञानं विपरिवर्तते तद्भावश्रुतं भविष्यतीति चेत् । तदयुक्तम्, यतस्तदपि यद्यवग्रहाऽऽद्यात्मकमतिपूर्वं तदा भावश्रुतं नेष्टव्यम्, अस्मत्पक्षाभ्युपगमप्राप्तेरेव । अथ मतिपूर्वं तन्नेष्यते, तथाऽपि तत्सविकल्पकत्वेन मतिरेव, शब्दविवक्षाज्ञानवत्; शब्दविवक्षाज्ञानेऽपि हि शब्दविकल्पोऽस्ति, तमन्तरेण शब्दाभिधानासंभवात् । न चाऽसौ भावश्रुतत्वेनेष्टः; तस्माद् मतेरनन्तरं सर्वत्र शब्दमात्रस्यैवोत्थानम्, न भावश्रुतस्य; अस्मत्पक्षाङ्गीकरणप्रसङ्गात्; विकल्पज्ञानानि च विवक्षाज्ञानवन्मतित्वेनोक्तान्येव, इति सर्वत्र भावश्रुताभावः प्रसजति । भवतु स तर्हि, इति चेत् । इत्याह-(न य विसेसो त्ति) भावश्रुताभावे मतिश्रुतयोर्विशेषो भेदश्चिन्त्यमानो न स्यात्, स हि द्वयोरेवोपपद्यते । यदा च मतिरेवाऽस्ति, न भावश्रुतम्, तदा तस्याः केन सह भेदचिन्ता युज्येत ?, इति भावः । द्रव्यश्रुतरूपेण शब्देन सह मतेर्भेदचिन्ता भविष्यतीति चेत् । तदयुक्तम् । ज्ञानपञ्चकविचारस्य इहाधिकृतत्वात्, तदधिकारे च शब्देन सह भेदचिन्ताया अप्रस्तुतत्वात् । चिन्त्यतां वा ' मतिपूर्वं द्रव्यश्रुतम् ' इत्येवं मतेः शब्देनापि सह विशेषः, किं तु सोऽपि न घटते । इति गाथाऽर्थः ॥ १११ ॥

कुतो न घटते ?, इत्याह-

दव्वसुयं बुद्धीओ, सा वि तओ जमविसेसओ तम्हा ।
भावसुयं मइपुव्वं, दव्वसुयं लक्खणं तस्स ॥ ११२ ॥

यदिति यस्मात् कारणाद् यथा द्रव्यश्रुतं शब्दो बुद्धेर्मतेः सकाशाद् भवतीति भवद्भिः प्रतिपाद्यते, तथा हन्त ! साऽपि बुद्धिस्ततः शब्दात् श्रोतुर्भवत्येव । ततश्च " मइपुव्वं सुयमुत्तं, न मई सुयपुव्विया विसेसोऽयं । " (१०५) इति मतिश्रुतयोर्भेदप्रतिपादनार्थं योऽसौ विशेषोऽत्र प्रतिपादयितुं प्रस्तुतः, स द्वयोरप्यन्योन्यं पूर्वभावितायाः समानत्वान्न प्राप्नोति, इत्यनन्तरगाथापर्यन्तावयवेन संबन्धः । तस्मात्तेषां मतेऽविशेषतः कारणाद् यदस्माभिः प्राक् समर्थितम्-भावश्रुतं मतिपूर्वमिति, तदेव युक्तियुक्तम् । शब्दलक्षणं तु द्रव्यश्रुतं तस्य भावश्रुतस्य लक्ष्यते गम्यतेऽनेनेति लक्षणं लिङ्गमिति गाथाऽर्थः ॥ ११२ ॥

कुतस्तत्तस्य लक्षणम् ?, इत्याह-

सुयविण्णाणप्पभवं, दव्वसुयमियं जओ विचिंतेउं ।
पुव्वं पच्छा भासइ, लक्खिज्जइ तेण भावसुयं ॥११३॥

श्रुतविज्ञानप्रभवं सविकल्पकविवक्षाज्ञानकार्यं शब्दरूपं द्रव्यश्रुतमिदं यत्परैर्मतिपूर्वत्वेन इष्यते, कथं पुनस्तद्भावश्रुतप्रभवं विज्ञायते ?, इत्याह-यतः सर्वोऽपि पूर्वं विचिन्त्य वक्तव्यमर्थं चित्ते विकल्प्य पश्चात् शब्दं भाषते, यच्च तद्विचिन्ताज्ञानं तत् श्रुतानुसारित्वाद् भावश्रुतम्, इति भावश्रुतप्रभवता द्रव्यश्रुतस्य विज्ञायते; यच्च यस्मात् प्रभवति तत्तस्य कार्यम्, यतस्तेन कार्यभूतेन द्रव्यश्रुतेन स्वकारणभूतं भावश्रुतं लक्ष्यत इति तत् तस्य लक्षणमुक्तम्, अस्ति भावश्रुतमत्र, तत्कार्यस्य शब्दस्य श्रवणाद्, इत्येवं तेन भावश्रुतस्य लक्ष्यमाणत्वादिति । द्रव्यश्रुतस्य च भावश्रुतलक्षणता मतान्तरवादिनां विपर्यस्तत्वप्रतिपादनार्थमुपदर्शिता, भावश्रुतप्रभवस्याऽपि शब्दस्य तैर्मतिपूर्वत्वप्रतिपादनादिति गाथाऽर्थः ॥ ११३ ॥

अथ यथा मतिश्रुतयोः कार्यकारणभावाद् भेदः, तथा तयोः प्रत्येकं स्वस्वामिनेऽपि सम्यक्त्वमिथ्यात्वपरिग्रहाद् भेद एवेत्यनुषङ्गतो दर्शयितुं नन्द्यध्ययनाऽऽगमे मतिश्रुतयोः कार्यकारणभावेन भेदप्रतिपादनानन्तरमिदं सूत्रमस्ति ।

तद्यथा-

" अविसेसिया मई-मइनाणं च, मइअन्नाणं च । विसेसिया मई-सम्मद्दिट्ठिस्स मई मइनाणं, मिच्छादिट्ठिस्स मई मइअन्नाणं । एवं अविसेसियं सुयं सुयनाणं, सुयअन्नाणं च; विसेसियं सुयं-सम्मद्दिट्ठिस्स सुयं सुयनाणं, मिच्छादिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाणं । "

सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिसंबन्धतोऽविशेषितेन मतिशब्देन मतिज्ञानं, मत्यज्ञानं च द्वे अपि प्रतिपाद्येते, सम्यग्दृष्टित्वविशेषितेन तु मतिध्वनिना मतिज्ञानमेवोच्यते, मिथ्यादृष्टित्वविशेषितेन तु तेनैव मत्यज्ञानमेवाभिधीयते, एवं श्रुतेऽपि वाच्यमिति सूत्रभावार्थः ।

तदेतदानुषङ्गिकं सूत्रोक्तमनुवर्तमानो भाष्यकारोऽप्याह—

अविसेसिया मइ च्चिय, सम्मद्दिट्ठिस्स सा मइन्नाणं ।
मइअन्नाणं मिच्छा-दिट्ठिस्स सुयं पि एमेव ॥११४॥

सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिभावेनाविशेषिता मतिर्मतिरेवोच्यते, न तु मतिज्ञानं मत्यज्ञानं चेति निर्धार्य व्यपदिश्यते, सामान्यरूपायां तस्यां ज्ञानाज्ञानविशेषयोर्द्वयोरप्यन्तर्भावात् । यदा तु सम्यग्दृष्टिरेव संबन्धिनी सा मतिर्विवक्ष्यते, तदा मतिज्ञानमिति निर्दिश्यते । यदा तु मिथ्यादृष्टिसंबन्धिनी तदा मत्यज्ञानम् । एवं श्रुतमप्यविशेषितं श्रुतमेव, विशेषितं तु सम्यग्दृष्टेः श्रुतज्ञानम्, मिथ्यादृष्टेस्तु श्रुताज्ञानम्, सम्यग्दृष्टिसंबन्धिनो बोधस्य सर्वस्यापि ज्ञानत्वात्; मिथ्यादृष्टिसत्कस्य त्वज्ञानत्वादिति गाथाऽर्थः ॥ ११४ ॥

ननु यथा मतिश्रुताभ्यां सम्यग्दृष्टिर्घटाऽऽदिकं जानीते, व्यवहरति च; तथा मिथ्यादृष्टिरपि, तत्किमिति तस्य सत्कं सर्वमप्यज्ञानमुच्यते ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-

सदसदविसेसणाओ, भवहेउजदिच्छिओवलंभाओ ।
नाणफलाभावाओ, मिच्छादिट्ठिस्स अन्नाणं ॥ ११५ ॥

सच्चासच्च सदसती, तयोरविशेषणमविशेषतः, तस्माद्धेतोः,

मिथ्यादृष्टेः संबन्धि व्यवहारमात्रेण ज्ञानमपि निश्चयतोऽज्ञानमुच्यते, सतो ह्यसत्त्वेन असद् विशिष्यते, असतोऽपि च सत्त्वेन सन्निश्चते। मिथ्यादृष्टिश्च घटे सत्त्वप्रमेयत्वमूर्तत्वाऽऽदीन्, स्तम्भकुम्भाऽम्भोरुहाऽऽदिव्यावृत्त्यादींश्च पटाऽऽदिधर्मान् सतोऽप्यसत्त्वेन प्रतिपद्यते, 'सर्वप्रकारैर्घट एवायम्' इत्यवधारणात्। अनेन ह्यवधारणेन सन्तोऽपि सत्त्वप्रमेयत्वाऽऽदयः पटाऽऽदिधर्मा न सन्तीति प्रतिपद्यते, अन्यथा सत्त्वप्रमेयत्वाऽऽदिसामान्यधर्मद्वारेण घटे पटाऽऽदीनामपि सद्भावात् 'सर्वथा घट एवायम्' इत्यवधारणानुपपत्तेः, 'कथञ्चिद् घट एवायं' इत्यवधारणे त्वनेकान्तवादाभ्युपगमेन सम्यग्दृष्टित्वप्रसङ्गात्, तथा पटपुटनटशकटाऽऽदिरूपं घटेऽसदपि सत्त्वेनायमभ्युपगच्छति 'सर्वैः प्रकारैर्घटोऽस्त्येव' इत्यवधारणात्, 'स्यादस्त्येव घटः' इत्यवधारणे तु स्याद्वादाऽऽश्रयणात् सम्यग्दृष्टित्वप्राप्तेः। तस्मात्सदसतोर्विशेषाभावादुन्मत्तकस्येव मिथ्यादृष्टेर्बोधोऽज्ञानम् । तथा विपर्यस्तत्वादेव भवहेतुत्वात् तद्बोधोऽज्ञानम्। तथा पशुवधहेतुत्वात् तद्बोधोऽज्ञानम्। तथा पशुवधतिलाऽऽदिदहनजलाऽऽद्यवगाहनाऽऽदिषु संसारहेतुषु मोक्षहेतुत्वबुद्धेः, दयाप्रशमब्रह्मचर्याऽकिञ्चन्यादिषु तु मोक्षकारणेषु भवहेतुत्वाध्यवसायतो यदृच्छोपलम्भात् तस्याऽज्ञानम् । तथा विरत्यभावेन ज्ञानफलाभावाद् मिथ्यादृष्टेरज्ञानमिति गाथाऽर्थः ॥ ११५ ॥

तदेवं सप्रसङ्गः प्रतिपादितो हेतुफलभावादपि मतिश्रुतयोर्भेदः, साम्प्रतं भेदभेदात्तयोस्तमभिधातुमाह-

भेयकयं च विसेसण-मट्ठावीसइविहंगभेयाइं ।
इंदियविभागओ वा,मइसुयभेओ जओऽभिहियं ॥११६॥

भेदाऽवग्रहाऽऽदयः, अङ्गानङ्गप्रविष्टत्वाऽऽदयश्च, तत्कृतं वा मतिश्रुतयोर्विशेषणं भेदः, यतोऽवग्रहाऽऽदिभेदादष्टाविंशत्याविधं मतिज्ञानं, 'वक्ष्यते' इति शेषः। श्रुतज्ञानं त्वङ्गानङ्गप्रविष्टत्वाऽऽदिभेदमभिधास्यते । अथवा-इन्द्रियविभागान्मतिश्रुतयोर्भेदः, यतोऽन्यत्र पूर्वगतेऽभिहितमिति गाथाऽर्थः ॥११६॥

किमभिहितम् ?, इत्याह-

सोइंदिओवलद्धी, होइ सुयं सेसयं तु मइनाणं ।
मोत्तूणं दव्वसुयं, अक्खरलंभो य सेसेसु ॥ ११७ ॥

इन्द्रो जीवः, तस्येदमिन्द्रियम्, श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम्, तच्च तदिन्द्रियं चेति श्रोत्रेन्द्रियम्, उपलम्भनमुपलब्धिर्ज्ञानम्, श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरिति तृतीयासमासः; श्रोत्रेन्द्रियस्य वा उपलब्धिः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरिति षष्ठीसमासः; श्रोत्रेन्द्रियद्वारकं ज्ञानमित्यर्थः । श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिर्यस्येति बहुव्रीहिणाऽन्यपदार्थे शब्दोऽप्यधिक्रियते । तत्रश्चाऽऽद्यसमासद्वये श्रोत्रेन्द्रियद्वारकमभिलापप्लावितोपलब्धिलक्षणं भावश्रुतमुक्तं द्रष्टव्यम्, बहुव्रीहिणा तु तस्यां भावश्रुतोपलब्ध्यावनुपयुक्तस्य वदतो द्रव्यश्रुतम्, तदुपयुक्तस्य तु वदत उभयश्रुतमभिहितं वेदितव्यम्। इह च व्यवच्छेदफलत्वात् सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति; इष्टश्चावधारणविधिः प्रवर्तते; ततः 'चैत्रो धनुर्धर एव' इत्यादिष्विवेहायोगव्यवच्छेदेनावधारणं द्रष्टव्यम्। तद्यथा-श्रुतं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव, न तु श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतमेवेति; श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिस्तु श्रुतं मतिर्वा भवति, यथा धनुर्धरश्चैत्रोऽन्यो वेति, श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धेरवग्रहेहाऽऽदिरूपाया मतित्वात्, श्रुतानुसारिण्यास्तु श्रुतत्वादिति । यदि पुनः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतमेवेत्यवधार्यते, तदा तदुपलब्धेर्मतित्वं सर्वथैव न स्यात्, इष्यते च कस्याश्चित् तदपीति भावः । यदि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतं, तर्हि शेषं किं भवतु ?, इत्याह-(सेसयं तिच्चादि) श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिं विहाय 'शेषकं' यच्चक्षुरादीन्द्रियचतुष्टयोपलब्धिरूपं तन्मतिज्ञानं, भवति इति वर्तते। तुशब्दः समुच्चये, स चैवं समुच्चिनोति, न केवलं शेषेन्द्रियोपलब्धिर्मतिज्ञानं,किं तु श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिश्च काचिदवग्रहेहाऽऽदिमात्ररूपा मतिज्ञानं भवति; तथा च सत्यनन्तरमवधारणव्याख्यानमुपपन्नं भवति । "सेसयं तु मइनाणं" इति सामान्येनैवोक्ते शेषस्य सर्वस्याप्युत्सर्गेण मतित्वे प्राप्ते सत्यपवादमाह-(मोत्तूणं दव्वसुयं ति) पुस्तकाऽऽदिलिखितं यद् द्रव्यश्रुतं तन्मुक्त्वा परित्यज्यैव शेष मतिज्ञानं द्रष्टव्यम्, पुस्तकाऽऽदिन्यस्तं हि भावश्रुतकारणत्वात् शब्दवत् द्रव्यश्रुतमेव, इति कथं मतिज्ञानं स्याद् ?, इति भावः । न केवलं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतम्, किं तु यश्च शेषेषु चतुर्षु चक्षुरादीन्द्रियेषु श्रुतानुसारिसाभिलापविज्ञानरूपोऽक्षरलाभः सोऽपि श्रुतम्, न त्वक्षरज्ञानमात्रं, तस्येहापायाऽऽद्यात्मके मतिज्ञानेऽपि सद्भावादिति । आह-यदि चक्षुरादीन्द्रियाक्षरलाभोऽपि श्रुतं, तर्हि यदाद्यगाथाऽवयवे 'श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव श्रुतम्' इत्यवधारणं कृतम्, तन्नोपपद्यते। शेषेन्द्रियोपलब्धेरपीदानीं श्रुतत्वेन समर्थितत्वात् । नैतदेवम्, शेषेन्द्रियाक्षरलाभस्याऽपि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरूपत्वात् । स हि श्रुतानुसारिसाभिलापज्ञानरूपोऽत्राधिक्रियते, श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरपि चैवंभूतैव श्रुतमुक्ता । ततश्च साभिलापविज्ञानं शेषेन्द्रियद्वारेणाऽप्युत्पन्नं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव मन्तव्यम्, अभिलापस्य सर्वस्यापि श्रोत्रेन्द्रियग्रहणयोग्यत्वादिति । अत्राऽऽह-ननु "सोइंदिओवलद्धी होइ सुयं ।" तथा-"अक्खरलंभो य सेसेसु ।" इत्युभयवचनात् श्रुतज्ञानस्य सर्वेन्द्रियनिमित्तता सिद्धा । तथा-"सेसयं तु मइनाणं" इति वचनात्, तुशब्दस्य समुच्चयार्थत्वात् मतिज्ञानस्यापि सर्वेन्द्रियकारणता प्रतिष्ठिता; भवद्भिस्तु इन्द्रियविभागाद् मतिश्रुतयोर्भेदः प्रतिपादयितुमारब्धः; स चैवं न सिध्यति, द्वयोरपि सर्वेन्द्रियनिमित्ततायास्तुल्यत्वप्रतिपादनादिति । अत्रोच्यते-साधूक्तं भवता, किं तु यद्यपि शेषेन्द्रियद्वाराऽऽयातस्तत्त्वतोऽक्षरलाभः शेषेन्द्रियोपलब्धिरुच्यते, तथाऽप्यभिलापाऽऽत्मकत्वादसौ श्रोत्रेन्द्रियग्रहणयोग्य एव, ततश्च तत्त्वतः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेवाऽयम् । तथा च सति परमार्थतः सर्वं श्रोत्रविषयमेव श्रुतज्ञानम्, मतिज्ञानं तु तद्विषयं शेषेन्द्रियविषयं च सिद्धं भवति, अत इत्थमिन्द्रियविभागान्मतिश्रुतयोर्भेदो न विहन्यते; इत्यलं विस्तरेण । इति पूर्वगतगाथासंक्षेपार्थः ॥ ११७ ॥

अथ विस्तरार्थमभिधित्सुर्भाष्यकार एव परेण पूर्वपक्षं कारयितुमाह-

सोओवलद्धि जइ सुयं, न नाम सोउग्गहादओ बुद्धी ।
अह बुद्धीओ न सुयं, अहोभयं संकरो नाम ॥११८॥

'श्रोत्रोपलब्धिरेव श्रुतम्' इत्यवधारणार्थमनवगच्छतः 'श्रुतमेव तदुपलब्धिः' इत्येवं च तदर्थमवबुध्यमानस्य परस्य वचनमिदम्। तद्यथा-यदि श्रोत्रोपलब्धिः श्रुतमेव, तर्हि 'नाम'

इति कोमलाऽऽमन्त्रणे, अहो ! श्रोत्रेन्द्रियद्वारोत्पन्ना अवग्रहेहाऽऽदयो बुद्धिर्मतिज्ञानं न प्राप्नुवन्ति, तदुपलब्धेः सर्वस्याऽपि श्रुतत्वेनावधारणात्। मा भूवंस्ते मतिज्ञानम्, किं नः क्रियते ?, इति चेत्, नैवम्। तथा सति तस्य वक्ष्यमाणाष्टाविंशतिभेदभिन्नत्वहानेः। अथैतद्दोषभयाद् बुद्धिस्तेऽभ्युपगम्यन्ते, ततस्तर्हि न ते श्रुतम्, तथा च सति–" सोइंदिओवलद्धी, होइ सुयं " (११७) इत्यसङ्गतं प्राप्नोति। अथोभयदोषपरिहारार्थम्, 'उभयं बुद्धिश्च श्रुतं च ते इष्यन्ते, तर्हि एवं सत्येकस्थानमीलितक्षीरनीरयोरिव संकरः, संकीर्णता मतिश्रुतयोराप्नोति, न पृथग्भावः। अथ वा–' यदेव मतिः, तदेव च श्रुतं, यदेव च श्रुतं तदेव मतिः, इत्येवमभेदोऽप्यनयोः स्याद्, इति स्वयमेव द्रष्टव्यम्। भेदश्चेह तयोः प्रतिपादयितुं प्रस्तुतः, तदेतत् शान्तिकरणप्रवृत्तस्य वेतालोत्थानमिति प्रेरकगाथार्थः॥ ११८॥

तदेतत्प्रेर्यं केचित् यथा परिहरन्ति, तथा तावद्दर्शयन्नाह–

केई बेंतस्स सुयं, सद्दो सुणओ मइ त्ति तं न भवे ।
जं सव्वो च्चिय सद्दो, दव्वसुयं तस्स को भेदो ? ॥११९॥

" सोइंदियोवलद्धी " (११७) इत्यत्र श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिर्यस्येति केवलबहुव्रीह्याश्रयणात् श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः शब्द एवेति केचिन्मन्यन्ते, स च प्रज्ञापकस्य ब्रुवतः श्रूयत इति कृत्वा श्रुतम्, शृण्वतस्तु श्रोतुरवग्रहेहापायाऽऽदिरूपेण मन्यते ज्ञायत इति मतिः। एवं च सत्युभयमुपपन्नं भवति, श्रोत्रगतावग्रहाऽऽदीनां च श्रुतत्वं परिहृतं भवति। आचार्यः प्राऽऽह–'तं न भवे त्ति' तदेतत् केषाञ्चिद् मतं युक्तं न भवति। कुतः ?, इत्याह–यद्यस्मात् कारणात् ब्रुवतः श्रोतुश्च संबन्धी सर्व एव शब्दो द्रव्यश्रुतम्, द्रव्यश्रुतमात्रत्वेन च सर्वत्र तुल्यस्य समस्तस्य शब्दस्य को भेदः को विशेषः ?, येनासौ वक्तरि श्रुतम्, श्रोतरि तु मतिः स्यात्। यदपि श्रूयत इति श्रुतम्, मन्यते इति मतिः। उच्यते--तत्रापि धात्वन्तरमात्रकृत एव विशेषः, शब्दस्तु स एव श्रूयते स एव मन्यते, इति न कश्चिदुभयं दृश्यते। इति गाथाऽर्थः॥ ११९॥

दूषणान्तरमप्याह–

किं वा णाणेऽहिगए, सद्देणं जइ य सद्दविन्नाणं ।
गहियं तो को भेदो, भणओ सुणओ व जो तस्स ? ॥१२०॥

यदि वा ज्ञाने ज्ञानविचारे अधिकृते किं पुद्गलसंघातरूपेण शब्देन गृहीतेन कार्यम्, अप्रस्तुतत्वात् ?। अथ श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिशब्देन शब्दविज्ञानं गृह्यत इति। अत्राऽऽह–(जइ येत्यादि) यदि च श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धेः शब्दस्य कारणभूतत्वात् कार्यभूतत्वाच्चोपचारतो वक्तृगतं श्रोतृगतं च शब्दविज्ञानं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिशब्दवाच्यत्वेन गृहीतम्, तच्च ब्रुवतः श्रुतं, शृण्वतस्तु मतिरित्युच्यते। हन्त ! ततस्तर्हि तस्य विज्ञानस्य ब्रुवतः शृण्वतो वा यो भेदो विशेषः, स कः ?, इति कथ्यतां, येन तद्वक्तुः श्रुतं, श्रोतुश्च मतिः स्यात् ?, इति नास्त्यसौ विशेषः, शब्दज्ञानत्वाविशेषादिति भावः। किं च–एवं सति श्रोतुरपि कदाचित् श्रुत्यनन्तरमेव ब्रुवतः सैव शब्दजनिता तन्मतिरविशिष्टा श्रुतं प्रसजति, " बेंतस्स, सुयं " (११९) " सुणओ मइ " (११९) इत्यभ्युपगमात्; ततश्च तदेवैकत्वं मतिश्रुतयोः, इति कोऽतिशयः कृतः स्याद् ? इति। किं च–यदि–शृण्वतः सर्वदैव मतिरित्ययमेकान्तः, तर्हि यदेतद् व्यक्तं सर्वत्रोच्यते–आचार्यपारम्पर्येणेदं श्रुतमायातमिति, तदसत् प्राप्नोति, तीर्थकरादर्वाक् सर्वेषामपि श्रोतृत्वेन मतिज्ञानस्यैवोपपत्तेः। अथ नैवम्, तर्ह्येकत्वं मतिश्रुतयोरिति गाथाऽर्थः॥ १२०॥

तदेवम्–" केई बेंतस्स सुयं " (११९) इत्यादि
दूषयित्वा प्रस्तुतप्रकरणोपसंहारव्याजेन
परमेव शिक्षयन्नाह–

भणओ सुणओ व सुयं, तं जमिह सुयाणुसारि विन्नाणं ।
दोण्हं पि सुयाईयं, जं विन्नाणं तयं बुद्धी ॥ १२१ ॥

तस्माद् ब्रुवतः श्रुतम्, शृण्वतस्तु मतिः, इत्येतन्न युक्तम्, उक्तदूषणाद्, अनागमिकत्वाच्च। किं तर्हि युक्तम् ?, इति चेत्। उच्यते–भणतः शृण्वतो वा यत्किमपि श्रुतानुसारि परोपदेशार्हद्वचनानुसारि विज्ञानम्, तदिह सर्वं श्रुतम्, यत्पुनर्द्वयोरपि वक्तृश्रोत्रोः श्रुतातीतं हृषीकमनोमात्रनिमित्तमवग्रहाऽऽदिरूपं विज्ञानम्, तत्सर्वं बुद्धिर्मतिज्ञानमित्यर्थः। तदेवं द्वयोरपि वक्तृश्रोत्रोः प्रत्येकं मतिश्रुते यथोक्तस्वरूपे अभ्युपगन्तव्ये, न पुनरेकैकस्यैकैकमिति भावः। इति गाथाऽर्थः॥ १२१॥

भवत्वेवम्, किं तु–" सोओवलद्धि जइ सुयं, न नाम सोउग्गहादओ बुद्धी " (११८) इत्यादिना यः परेण पूर्वपक्षोऽभ्यधायि, तस्य तर्हि कः परिहारः ?, इत्याशङ्क्य भाष्यकार एवेदानीम् "सोइंदिओवलद्धी, होइ सुयं " (११७) इत्यादिमूलगाथां विवृण्वन्नाह—

सोइंदियोवलद्धी, चेव सुयं न उ तई सुयं चेव ।
सोइंदिओवलद्धी, वि काइ जम्हा मइन्नाणं ॥१२२॥

इह श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिशब्दस्य तृतीयाषष्ठीसमासः, बहुव्रीहिश्च; आद्यसमासद्वयेन भावश्रुतम्, बहुव्रीहिणा तु भावश्रुतानुपयुक्तस्य वदतो द्रव्यश्रुतम्, तदुपयुक्तस्य तु ब्रुवत उभयश्रुतं गृहीतमिति प्राग् वृत्तौ दर्शितं सर्वं द्रष्टव्यम्। अवधारणविधिमपि प्रागुपदर्शितमाह–श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव श्रुतम्, इत्येवमवधारणीयम्। (न उ तइ त्ति) न पुनः सा श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतमेवेति। कुतो नैवमवधार्यते ?, इत्याह–यस्मात् श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरपि काचित् श्रुतानुसारिणी अवग्रहेहाऽऽदिमात्ररूपा मतिज्ञानमेव, अतः 'श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतमेव' इति नावधार्यत इति भावः। एवं च सति " न नाम सोउग्गहादओ बुद्धी " (११८) इत्यादि परेण यत्प्रेरितम्, तत्परिहृतं भवति, श्रोत्रावग्रहाऽऽदीनामपि बुद्धिरूपतायाः समर्थितत्वादिति गाथाऽर्थः॥ १२२॥

तदेवमवधारणविधिना श्रोत्रावग्रहाऽऽदीनां मतित्वं समर्थितं, यदि वा " सेसयं तु मइनाणं " (११७)
इत्यत्र योऽसौ तुशब्दः, ततोऽपि तेषां तत्समर्थ्यत इति दर्शयन्नाह–

तुसमुच्चयवयणाओ, व काइ सोइंदिओवलद्धी वि ।
मइरेवं सइ सोउ–ग्गहादओ हुंति मइभेया ॥१२३॥

" सेसयं तु मइनाणं " (११७) इत्यत्र योऽसौ तुशब्दः समुच्चयवचनः, ततश्च किमुक्तं भवति ?–शेषकं मतिज्ञानम्, काचिदनपेक्षितपरोपदेशार्हद्वचना श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिश्च मति–

ज्ञानमित्येवं वा श्रोत्रावग्रहाऽऽदयो भवन्ति मतिभेदाः । तथा च सति मतेरष्टाविंशतिभेदत्वं न परिहीयते, ततश्च "न नाम सोऽवग्रहादयो बुद्धी" (११८) इत्यादि परप्रेर्यं प्रतिक्षिप्तमेवेति गाथार्थः ॥१२३॥

मूलगाथायाः व्याख्यातशेषं व्याख्यानयन्नाह-

पत्ताइगयं सुयका-रणं ति सद्दो व्व तेण दव्वसुयं ।
जावसुयमक्खराणं, लाभो सेसं मइन्नाणं ॥१२४॥

मूलगाथायां 'श्रोत्रावग्रहाऽऽदयः, शेषकं च मतिज्ञानम्' इत्युक्ते शेषस्य सर्वस्यापि उत्सर्गतो मतित्वे प्राप्ते, अपवादः- "मोत्तूणं दव्वसुयं ति" (११७) इत्युक्तम् । तत्र किं तद् द्रव्यश्रुतं यदिह वर्ज्यते ?, इत्याह भाष्यकारः-पत्राऽऽदिगतं पुस्तकपत्राऽऽदिन्यस्तम्, तेन कारणेन द्रव्यश्रुतम्; येन किम् ?, इत्याह-श्रुतकारणमिति । किंवद् ?, इत्याह-शब्दवदिति यथा भावश्रुतकारणत्वात् शब्दो द्रव्यश्रुतम्, तथा-पुस्तकपत्राऽऽदिन्यस्तमपि तत्कारणत्वाद् द्रव्यश्रुतमित्यर्थः। तन्मुक्त्वा शेषचक्षुरादीन्द्रियोपलब्धिरूपं मतिज्ञानम् । (भावसुयमक्खराणमित्यादि) न केवलं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतम्, यश्च श्रुतानुसारित्वाद् भावश्रुतं भावश्रुतरूपः, शेषेषु चक्षुरादीन्द्रियेष्वक्षराणां लाभः परोपदेशार्हद्वचनानुसारिण्यक्षरोपलब्धिरित्यर्थः, सोऽपि श्रुतम्, इत्येवं मूलगाथायां संबन्धः कार्य इति हृदयम्, स च प्राग् वृत्तौ कृत एव । तस्माच्चाक्षरलाभाच्चक्षुरादीन्द्रियेषु यच्छेषमश्रुतानुसार्यवग्रहेहाऽऽद्युपलब्धिरूपम्, तन्मतिज्ञानम्, इत्येवमिहाप्येतत् संबध्यते । इति गाथाऽर्थः ॥ १२४ ॥

अथ परः पूर्वापरविरोधमुद्भावयन्नाह-

जइ सुयमक्खरलाभो, न नाम सोओवलद्धिरेव सुयं ।
सोओवलद्धिरेव-क्खराइँ सुइसंभवाओ त्ति ॥ १२५॥

इयमपि प्राग् मूलगाथावृत्तौ दर्शितार्थैव, तथाऽपि विस्मरणशीलानामनुग्रहार्थं किञ्चिद् व्याख्यायते-ननु यद्युक्तन्यायेन शेषेन्द्रियाक्षरलाभोऽपि श्रुतम्, तर्हि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव श्रुतम्, इति यदवधारणं कृतम्, तदसङ्गतं प्राप्नोति, शेषेन्द्रियाक्षरलाभस्यापि श्रुतत्वात् । अत्रोत्तरमाह-" सोओवलद्धिरेवेत्यादि ।" यद्यसौ शेषेन्द्रियाक्षरलाभोऽपि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिर्न स्यात्, तदा स्यादेवावधारणमसङ्गतम्, तच्च नास्ति, यतः शेषेन्द्रियद्वाराऽऽयातज्ञानेऽपि प्रतिभासमानान्यक्षराणि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव । अहो ! महदाश्चर्यम्, यतो यदि शेषेन्द्रियाक्षरलाभः, कथं श्रोत्रोपलब्धिः ?; सा चेत्, कथं शेषेन्द्रियाक्षरलाभः ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-(सुइसंभवाओ त्ति) शेषेन्द्रियज्ञानप्रतिभासमानान्यक्षराणि श्रोत्रोपलब्धिरेव । कुतः?, इत्याह-तेषां श्रुतेः श्रवणस्य संभवात् । इदमुक्तं भवति-अभिलापरूपाणि हि एतानि अक्षराणि, अभिलापश्च तस्मिन् वा विवक्षिते काले, अन्यदा वा; तत्र वा विवक्षिते पुरुषे, अन्यत्र वा श्रवणयोग्यत्वात् श्रोत्रेणोपलभ्यते । अतः श्रोत्रोपलम्भयोग्यत्वेन श्रुतिसंभवात् सर्वोऽप्यभिलापः श्रोत्रोपलब्धिरेव; इति न किञ्चिदवधारणं विरुध्यते । इति गाथाऽर्थः ॥१२५॥

किं सर्वोऽपि शेषेन्द्रियाक्षरलाभः श्रुतम्, आहोस्वित् कश्चिदेव ?, इत्याह-

सो वि हु सुयऽक्खराणं, जो लाभो तं सुयं मई सेसा ।
जइ वा अणक्खर च्चिय, सा सव्वा न प्पवत्तेज्जा ॥१२६॥

सोऽपि च शेषेन्द्रियाक्षरलाभः स एव श्रुतम्, यः किम् ?, इत्याह-यः श्रुताक्षराणां लाभः, न सर्वः, यः संकेतविषयशब्दानुसारी, सर्वज्ञवचनकारणो वा विशिष्टः श्रुताक्षरलाभः, स एव श्रुतम्, न त्वश्रुतानुसारी; ईहाऽपायाऽऽदिषु परिस्फुरदक्षरलाभमात्रमित्यर्थः । (जइ व त्ति) यदि पुनरक्षरलाभस्य सर्वस्याऽपि श्रुतेन क्रोडीकरणादनक्षरैव मतिरभ्युपगम्येत, तदा सा यथाऽवग्रहेहाऽपायधारणरूपा सिद्धान्ते प्रोक्ता, तथा सर्वाऽपि न प्रवर्तेत, सर्वाऽपि मतित्वं नानुभवेदित्यर्थः, किं त्वनक्षरत्वादवग्रहमात्रमेव मतिः स्यात्, न त्वीहाऽऽदयः, तेषामक्षरलाभाऽऽत्मकत्वात् । तस्मात् श्रुतानुसार्येवाक्षरलाभः श्रुतम्, शेषं तु मतिज्ञानमिति गाथाऽर्थः ॥ १२६ ॥

तदेवं व्याख्याता भाष्यकृताऽपि " सोइंदिओवलद्धी " (११७) इत्यादिगाथा, साम्प्रतं त्वस्यां यः श्रुतविषयः पर्यवसितोऽर्थः प्रोक्तो भवति, तं संपिण्ड्योपदर्शयति-

दव्वसुयं भावसुयं, उभयं वा किं कहं व होज्ज त्ति ।
को वा भावसुयं सो, दव्वाइसुयं परिणमेज्जा ? ॥१२७॥

इह " सोइंदियोवलद्धी " (११७) इत्येतस्यां गाथायां " मोत्तूणं दव्वसुयं " (११७) इत्यनेन पुस्तकाऽऽदिन्यस्तं द्रव्यश्रुतमुक्तम्, अक्षरलाभवचनात्तु भावश्रुतम्, श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिवचनेन तु शब्दः, तद् विज्ञानं चेत्युभयश्रुतमुक्तम् । अत्रानन्तरवक्ष्यमाणपूर्वगतगाथायामेतच्चिन्त्यते-किं तद् द्रव्याऽऽदिश्रुतम् ?, कथं वा तद्भवति ?, को वा कियान् वा इत्यर्थः, भावश्रुतस्यांशो भागो द्रव्यश्रुतं द्रव्यश्रुतरूपतया, आदिशब्दादुभयश्रुतरूपतया वा परिणमेदिति गाथाऽर्थः ॥ १२७ ॥

का पुनरसौ पूर्वगतगाथा ?, इत्याह-

बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे, जे भासइ तं सुयं मईसहियं ।
इयरत्थ वि होज्ज सुयं, उवलद्धिसमं जइ भणेज्जा ॥१२८॥

मतिश्रुतयोर्भेदोऽत्र विचार्यत्वेन प्रस्तुतः, इत्यतः केचिदेनां गाथां तद्गुर्वार्थत्वेन व्याख्यानयन्ति; भाष्यकारस्तु तेनापि प्रकारेण पश्चाद् व्याख्यास्यति, साम्प्रतं प्रस्तावानुयायित्वेन तावद् व्याख्यायते-तत्र बुद्धिः श्रुतरूपेह गृह्यते, तया दृष्टा गृहीताः पर्यालोचिता बुद्धिदृष्टा अभिलाप्या अर्थाः पदार्थाः, ते च बहवः सन्ति, अतस्तन्मध्याद् वक्ता यान् भाषते वक्ति तद् श्रुतम् । कथं यान् भाषते ?, इत्याह-मतिः श्रुतोपयोगरूपा तत्सहितं यथा भवति । एवं यान् यावान् भाषते तत् श्रुतमुभयरूपमित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-श्रुताऽऽत्मकबुद्ध्युपलब्धानर्थान् तदुपयुक्तस्यैव वदतो द्रव्यश्रुतभावश्रुतरूपमुभयश्रुतं भवति, तत् श्रुतमित्युक्तेऽपि सामर्थ्यादुभयश्रुतं लभ्यते " जे भासइ " इत्यनेन शब्दरूपस्य द्रव्यश्रुतस्य सूचितत्वात् " बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे " इत्यनेन " मइसहियं " इत्यनेन च भावश्रुतस्याऽभिधित्सितत्वादिति । तदेतावता " सोइंदिओवलद्धी " (११७) इत्यादिगाथोक्तस्य उभयश्रुतस्य स्वरूपमुक्तम्; यान् पुनः प्रथमं श्रुतबुद्ध्या दृष्टानपि पश्चादन्याऽऽसक्तत्वादेवानुपयुक्तो वक्ति, तद् द्रव्यश्रुतम्, इत्येतावद्गाथायामनुक्तमपि सामर्थ्याद् गम्यते; तथा यान् श्रुतबुद्ध्या पश्यत्येव, न तु मनसि स्फुरतोऽपि भाषते तद्भावश्रुतम्, इतीदमपि स्व-

यमेवावगन्तव्यम् । तदेतावता किं तद् द्रव्याऽऽदिश्रुतम् ?, कथं वा तद्भवति ?, इत्येवं चिन्तितम् । अथ-" को वा भावसुयं सो " (१२७) इत्यादि चिन्त्यते-तत्र भावश्रुतमुभयश्रुताद् द्रव्यश्रुताच्चानन्तगुणम्, एतस्मात् तु उभयश्रुतं द्रव्यश्रुतं चानन्ततमे भागे वर्तत इति भावनीयम्, वाचः क्रमवर्तित्वात्, आयुषश्च परिमितत्वात् सर्वेषामपि भावश्रुतविषयभूतानामर्थानामनन्ततममेव भागं वक्ता भाषत इति भावः । ततश्च भावश्रुतस्यानन्ततम एव भागो द्रव्यश्रुतत्वेन उभयश्रुतत्वेन च परिणमतीत्युक्तं भवति । एतच्च सर्वमनन्तरमेव भाष्यकारः स्वयमेव विस्तरतो भणिष्यति, इत्यलं विस्तरेण ।

आह-ननु यानुपयुक्तो भाषते तदुभयश्रुतम्, यांस्त्वनुपयुक्तो वक्ति तद् द्रव्यश्रुतमित्युक्तम्; यांस्तर्हि न भाषते, केवलं श्रुतबुद्ध्या पश्यत्येव, तत्राऽपि द्रव्यश्रुतरूपता, उभयश्रुतरूपता च किमिति नेष्यते ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-" इयरत्थ वि " इत्याद्युत्तरार्द्धम् । " जे भासइ तं च सुयं " इत्युक्ते तत्प्रतियोगित्वरूपमभाषमाणावस्थाभावि भावश्रुतमेव इतरत्र शब्दवाच्यं भवति । ततश्चायमर्थः-द्रव्यश्रुतोभयश्रुताभ्यामितरत्राऽपि भावश्रुते भवेत् श्रुतम् द्रव्यश्रुतरूपता, उभयश्रुतरूपता वा भवेदित्यर्थः । यदि किं स्याद् ?, इत्याह-उपलम्भनमुपलब्धिः, तत्समं तत्प्रमाणं यदि भवेत्--यावद्वस्तुनिकुरम्बमुपलभते तावत्सर्वमुपयुक्तोऽनुपयुक्तो वा यदि वदेदित्यर्थः । एतच्च नास्ति, श्रुतोपलब्ध्या उपलब्धानामर्थानामनन्तत्वात्, वाचः क्रमवर्तित्वाद्, आयुषश्च परिमितत्वादिति । तस्मादभिलाप्यानां श्रुतोपलब्ध्या समुपलब्धानां भावानां मध्यात् सर्वेणापि जन्मना अनन्ततममेव भागं भाषते वक्ता, अतस्तत्रैवानुपयुक्तस्य वदतो द्रव्यश्रुतरूपता, उपयुक्तस्य तु वदत उभयश्रुतरूपता भवेत्, नेतरत्र भावश्रुते, भाषणस्यैवासंभवात् । इति पूर्वगतगाथाऽर्थः ॥ १२८ ॥

तदेवं व्याख्याताऽस्माभिरियं गाथा,

साम्प्रतं भाष्यकारस्तद्व्याख्यानमाह-

जे सुयबुद्धिद्दिट्ठे, सुयमइसहिओ पभासई भावे ।
तं उभयसुयं भणइ, दव्वसुयं जे अणुवउत्तो ॥ १२९ ॥

गतार्थैव । नवरं सुखार्थं किञ्चिद् व्याख्यायते--श्रुतरूपा यका बुद्धिस्तया दृष्टाः पर्यालोचिता ये भावास्तन्मध्याद् " मइसहियं " (१२८) इत्यस्य तात्पर्यव्याख्यानमाह-श्रुताऽऽत्मकमतिसहितः, श्रुतोपयुक्त इति यावत् । यान् भावान् प्रभाषते तद् द्रव्यभावरूपमुभयश्रुतं भण्यते । यान् पुनरनुपयुक्तो भाषते तद् द्रव्यश्रुतं, शब्दमात्रमेवेत्यर्थः । यांस्तु श्रुतबुद्ध्या पर्यालोचयत्येव केवलम्, न तु भाषते, तद्भावश्रुतमित्यर्थाद् गम्यते । इति गाथाऽर्थः ॥ १२९ ॥

उत्तरार्द्धव्याख्यानमाह-

इयरत्थ वि भावसुए, होज्ज तय तस्समं जइ भणिज्जा ।
न य तरइ तत्तियं सो, जमणेगगुणं तयं तत्तो ॥ १३० ॥

यद्भाषते तदुभयश्रुतं, द्रव्यश्रुतं वेत्युक्तं भावश्रुतमेवेतरत्र शब्दवाच्यं गम्यते । ततश्चेतरत्रापि भावश्रुते भवेत् तद् द्रव्यश्रुतमुभयश्रुतं वा, यदि तत्सममुपलब्धिसमं भणेत्, तच्च नास्ति, यस्माच्छ्रुतज्ञानी स्वबुद्ध्या यावदुपलभते तावद्वक्तुं ' न तरति ' न शक्नोति । कुतः ?, इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् ततो भाषाविषयीकृतात् श्रुतात् तदशक्यभाषणाकियं भावश्रुतमनेकगुणमनन्तगुणम्, अतो नोपलब्धिसमं भणतीति गाथाऽर्थः ॥ १३० ॥

उपलब्धिसममित्येतस्य समासविधिमाह--

सह उवलद्धीए वा, उवलद्धिसमं तया व जं तुल्लं ।
जं तस्समकालं वा, न सव्वहा तरइ वोत्तुं जे ॥ १३१ ॥

यद् भाषणमुपलब्ध्या सह वर्तते तदुपलब्धिसमम्, प्राकृतशैलीनिपातनात् सहस्य समभावः, या या श्रुतोपलब्धिस्तया तया सह यद्भाषणं तदुपलब्धिसममित्यर्थः । (तया व जं तुल्लं ति) तया चोपलब्ध्या यत् तुल्यं समानं तदुपलब्धिसमम्-यावती काचित् श्रुतोपलब्धिस्तत्तुल्यं तत्संख्यं यद्भाषणं तदुपलब्धिसममित्यर्थः । (जं तस्समकालं वेति) तया उपलब्ध्या समकालं वा यद्भाषणं तदुपलब्धिसमम् । यथा मध्ये शूलं वेदयतस्तत्समकालमेवान्यस्मै तद्व्यथाकथनम्, एवमन्तः सर्वामपि श्रुतोपलब्धिमनुभवतस्तत्समकालमेव यद् भाषणं तद्वा उपलब्धिसममिति भावः । किं बहुना ?, सर्वथा सर्वस्मिन्नपि समासविधावयं तात्पर्यार्थः । कः ?, इत्याह-श्रुतज्ञानी यावत् श्रुतबुद्ध्या समुपलभते, तावत्सर्वं न तरति न शक्नोति वक्तुं (जे इति) पादपूरणार्थोऽलङ्कारमात्रे । इति गाथाऽर्थः ॥ १३१ ॥

(९) अथ कथं पुनरन्ये एतां गाथां मतिश्रुतभेदार्थं व्याख्यानयन्ति ?, इत्याह-

केई बुद्धिद्दिट्ठे, मइसहिए भासओ सुयं तत्थ ।
किं सद्दो मइरुभयं, भावसुयं सव्वहा जुत्तं ॥ १३२ ॥

इह केचनाप्याचार्या मतिश्रुतयोर्भेदं प्रतिपिपादयिषवो "बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे, जे भासइ " (१२८) इत्यादि मूलगाथायां बुद्धिः श्रुतबुद्धिरिति न व्याख्यानयन्ति, किं तु ' बुद्धिर्मतिरिति ' व्याचक्षते । ततश्च बुद्ध्या मत्या दृष्टेषु बहुष्वर्थेषु मध्ये कांश्चित् तदृष्टानर्थान्मतिसहितान् भाषमाणस्य श्रुतं भवति । आह-ननु मतिज्ञान्येव मतिसहितो भवति, तत्कथमर्थानां मतिसहितत्वं विशेषणम् ? । सत्यम्, किं तु मूलगाथायां " मइसहियं " (१२८) इति वचनान्मत्युपयोगे वर्तमानोऽत्र वक्ता गृह्यते, अतस्तस्य मत्युपयोगसहितत्वादर्थानामप्युपचारस्ततस्तत्सहितत्वमुच्यते । तस्मान्मतिज्ञानदृष्टानर्थान् तदुपयुक्तस्यैव भाषमाणस्य श्रुतं भवतीति तात्पर्यम्; अनुपयुक्तस्य तु वदतो द्रव्यश्रुतम्, पारिशेष्यादभाषमाणस्य पदार्थपर्यालोचनमात्ररूपं मतिज्ञानम्, इति मतिश्रुतयोर्भेदः । तदेवं कैश्चिन्मूलगाथायाः पूर्वार्द्धे व्याख्याते सूरिर्दूषणमाह (तत्थ किंसद्दो इत्यादि) तत्र तैरेवं व्याख्याते भावश्रुतं सर्वथैवायुक्तं स्यात् सर्वथा तदभावः प्राप्नोतीत्यर्थः । तथाहि-किं भाष्यमाणः शब्दो भावश्रुतम्, मतिर्वा, उभयं वा ?, इति त्रयी गतिः । अस्य च त्रितयस्य मध्ये नैकमपि भावश्रुतं युक्तमिति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ १३२ ॥

कथम् ?, इत्याह-

सद्दो वा दव्वसुयं, मई आभिणिबोहियं न वा उभयं ।
जुत्तं उभयाभावे, भावसुयं कत्थ तं किं वा ? ॥ १३३ ॥

मत्युपयुक्तस्य शब्दमुदीरयतो वक्तावत् शब्दः स द्रव्यश्रुतमेव, इति कथं भावश्रुतं स्यात् ?, मतिस्त्वाभिनिबोधिकज्ञानम् । भवतु तर्हि मतिशब्दलक्षणमुभयं समुदितं भावश्रुतम्, इत्या-

इ-(न या उभयं, सुत्तं ति) नैव यथोक्तमुभयं समुदितमपि भावश्रुतं युक्तम्, प्रत्येकावस्थायां तद्भावाभावात्, न हि प्रत्येकं सिकताकणेषु असत् तैलं समुदितावस्थायामपि भवतीति भावः । तदेवमुभयस्य स्वतन्त्रस्याऽस्वतन्त्रस्य वा भावश्रुतत्वेऽभावे सति तद् भावश्रुतं क्व शब्दाऽऽदौ ?, किं वा तत् ?, न किञ्चिदिति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ १३३ ॥

अथ भाषापरिणतिकाले मतेः किमप्याधिक्यमुपजायते, इति उभयस्य श्रुतत्वं न विरुध्यते, इत्याह-

भासापरिणइकाले, मईए किमहियमहऽण्णहत्तं वा ।
भासासंकप्पविसे-समेत्तओ वा सुयमजुत्तं ॥ १३४ ॥

मतेरन्तर्विज्ञानविशेषस्य भाषापरिणतिकाले शब्दप्रारम्भवेलायां पूर्वावस्थातः किमधिकं रूपं संपद्यते ?, येनोभयावस्थायां सा ज्ञानान्तरं स्यात्, श्रुतव्यपदेशः स्यादित्यर्थः । (अहऽण्णहत्तं वेति) अथवा-अन्यथात्वं किं मतेर्भाषापरिणतिकाले निर्मूलत एव अन्यथाभावः कः, येन श्रुतत्वं स्यात् ?, न कश्चिदिति भावः । भाषाऽऽरम्भ एवात्र विशेषः,इति चेत् ?, इत्याह (भासेत्यादि) भाषायाः संकल्पः प्रारम्भः, स एव विशेषमात्रम्, मात्रशब्दो मनागपि विकारभवननिषेधार्थः, तस्माद् भाषासंकल्पविशेषमात्राद् मतेः श्रुतत्वमयुक्तम् । एतदुक्तं भवति-अन्तर्विज्ञानस्य स्वयमविशिष्टस्य बाह्यक्रियाऽऽरम्भाद्यन्यज्ञानभेदाभ्युपगमे धावनवल्गनकराऽऽस्फोटनाऽऽदिबाह्यक्रियाऽऽनन्त्यान्मतेरानन्त्यमेव स्यात्, स्वयं चाऽनुपजातविशेषाणां ज्ञानानां शब्दपरिणतिसंनिधानमात्रत एव ज्ञानान्तरत्वेऽतिप्रसङ्गः स्यात्, अवध्यादिष्वपि तथाप्राप्तेरिति गाथाऽर्थः ॥ १३४ ॥

तदेवं कैश्चिद्विहितं मूलगाथायाः पूर्वार्द्धव्याख्यानं दूषितम्,
अथोत्तरार्द्धव्याख्यानमुपदर्श्य दूषयितुमाह-

इयरत्थ वि मइनाणे, होज्ज सुयं ति किह तं सुयं होइ ? ।
किह व सुयं होइ मई,मलक्खणाऽऽवरणभेयाओ ॥ १३५ ॥

" बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे " (१२८) इत्यत्र बुद्धिर्यैर्मतिज्ञानं व्याख्यातम्, तन्मतेन " इयरत्थ वि होज्ज सुयं, उवलद्धिसमं जइ भणेज्जा । " (१२८) इत्युत्तरार्द्धगतस्य इतरत्रशब्दस्य मतिज्ञानमेव वाच्यम्, शब्दसहितमतेर्द्रव्यभावश्रुतत्वेनोक्तत्वात्, तदितरस्य मतिज्ञानस्यैव तत्र संभवात् । ततश्च तद्व्याख्यानमनूद्य दूषयति-इतरत्रापि मतिज्ञाने श्रुतं भवेद् यद्युपलब्धिसमं भाषेत, इति यत्तैरुच्यते, तदयुक्तम्, यतो हन्त ! यन्मतिज्ञानम्, तत्कथं श्रुतं भवितुमर्हति ? । श्रुतं चेत्, कथं वा तन्मतिर्भवेत् ? । कुतः पुनरित्थं न भवति ?, इत्याह-मतिश्रुतयोर्यत् स्वकीयं लक्षणम्, कर्म चाऽऽवारकम् , तयोर्भेदेनाऽऽगमे प्रतिपादनात् । यदि च यदेव मतिज्ञानं तदेव श्रुतम्, यदेव च श्रुतं तदेव मतिज्ञानं स्यात्, तदा लक्षणाऽऽवरणभेदोऽपि तयोर्न स्यादिति गाथाऽर्थः ॥ १३५ ॥

तदेवम्-" बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे, जे भासइ " (१२८) इत्यादि मूलगाथां मतिश्रुतभेदप्रतिपादनपरतया व्याचक्षाणस्य परस्य मतिर्भावश्रुतं न युज्यत इति प्रतिपादितम् । यदि तु द्रव्यश्रुतं साऽभ्युपगम्यते तदा न दोषः, इत्युपदर्शयन्नाह-

अहव मई दव्वसुय-त्तमेउ भावेण सा विरुज्झेज्जा ।
जो असुयक्खरलाभो, तं मइसहिओ पभासेज्जा ॥ १३६ ॥

अथवा मतिर्द्रव्यश्रुतत्वमेतु आगच्छतु, न तत्र वयं निषेद्धारः, केवलमेतदेव निर्बन्धेनाभिदध्मो यदुत-भावेन भावश्रुतत्वेन सा मतिर्विरुध्येत दर्शितन्यायेन विरोधमनुभवेत् । इदमुक्तं भवति-" केई बुद्धिद्दिट्ठे, मइसहिए भासओ सुयं " (१३२) इत्यत्र गाथार्द्धे योऽसौ श्रुतशब्दः स यदि द्रव्यश्रुतवाचित्वेन व्याख्यायेत तदा विरोधो न भवति । कथम् ?, इति चेत् । उच्यते-बुद्धिर्मतिस्तद्दृष्टान् मत्युपयोगसहितानर्थान् भाषमाणस्य सा मतिः शब्दलक्षणस्य द्रव्यश्रुतस्य कारणत्वाद् द्रव्यश्रुतम्, अभाषमाणस्य तु मतिज्ञानम्, इत्येवं मतिद्रव्यश्रुतयोर्भेदः प्रोक्तो भवति, न तु मतिश्रुतज्ञानयोः केवलं विरोधपरिहारमात्रमित्थमुपकल्पितं भवति । अत्राऽऽह कश्चित्-ननु यदि मत्युपयोगे वर्तमानो भाषेत कश्चित् , तदा द्रव्यश्रुतकारणत्वाद् मतिः स्याद् द्रव्यश्रुतम् , एतच्च न भविष्यति, इत्याह-(जो असुयेत्यादि) योऽश्रुतानुसार्यक्षरलाभः, त मत्युपयोगे वर्तमानो भाषेत वक्ता, नाऽत्र कश्चित् संदेहः; यस्तु श्रुतानुसार्यक्षरलाभस्तं श्रुतोपयोग एव वर्तमानो भाषेत, अतो न तच्छब्दस्य मतिः कारणम्, श्रुतपूर्वत्वात्तस्येति भावः । इदमुक्तं भवति-यः परोपदेशार्हद्वचनलक्षणं श्रुतमनुश्रित्याक्षरलाभोऽन्तः स्फुरति तं श्रुतोपयोग एव वर्तमानो भाषते, यस्त्वश्रुतानुसारी स्वमत्यैव पर्यालोचितेहाऽपायेषु स्फुरत्यक्षरलाभः, तं यदा मत्युपयोगसहित एव भाषते, तदा तस्य शब्दलक्षणस्य द्रव्यश्रुतस्य कारणत्वाद् भवत्येव मतिर्द्रव्यश्रुतम् । इति गाथाऽर्थः ॥ १३६ ॥

अथास्मिन्नेव मतेर्द्रव्यश्रुतत्वपक्षे " इयरत्थ वि होज्ज
सुयं" (१२८) इत्यादौ मूलगाथाया उत्तरार्द्धे योऽर्थः
संपद्यते, तमाचार्यः प्रदर्शयन्नाह-

इयरम्मि वि मइनाणे, होज्ज तयं तस्समं जइ भणेज्जा ।
न य तरइ तत्तियं सो, जमणंतगुणं तयं तत्तो ॥ १३७ ॥

भाषमाणस्य मतिर्द्रव्यश्रुतमित्युक्तम् , अतोऽभाषमाणावस्थाभावि मतिज्ञानमितरत्र शब्दवाच्यं भवति । ततश्चेतरत्राप्यभाषमाणावस्थाभाविनि मतिज्ञाने भवेत् तद् द्रव्यश्रुतं यदि तत्समं मतिज्ञानोपलब्धिसमं भणेत्, यावद् मतिज्ञानेनोपलभते तावत्सर्वं वदेदित्यर्थः; एतच्च नास्ति । कुतः ?, इत्याह-(न च) नैव 'तरति' शक्नोति स यावन्मतिज्ञानेनोपलभते तावद् वक्तुम् । कुतः ?, इत्याह-यद् यस्मात् ततो वक्तुं शक्यात्सर्वमपि मतिज्ञानोपलब्धमनेकगुणमनन्तगुणमिति गाथाऽर्थः ॥ १३७ ॥

अत्र विनेयः प्राऽऽह-

कह मइसुओवलद्धा, तीरंति न भासिउं बहुत्ताओ ।
सव्वेण जीविएण वि, भासइ जमणंतभागं सो ॥ १३८ ॥

नन्वनन्तरगाथायां मत्युपलब्धाः सर्वेऽपि वक्तुं न शक्यन्त इत्युक्तम्, पूर्वं तु श्रुतोपलब्धा अपि सर्वेऽभिधातुं न पार्यन्त इत्यभिहितम्; तदेतत्कथम्, यन्मतिश्रुतोपलब्धा भावा न तीर्यन्ते भाषितुम् ?। अत्राऽऽह-बहुत्वात्-प्राचुर्यात् । तन्नैतत् स्यात्-कुतः पुनरेतावद्बहुत्वं तेषां निश्चितम् ?, इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् सर्वेणाऽप्यायुषा सः मतिश्रुतज्ञानी स्वमुपलब्धानामर्थानामनन्ततममेव भागं भाषत इत्यागमे निर्णीतम्, तस्माद् बहुत्वावगमः । इति गाथाऽर्थः ॥ १३८ ॥

अथ मत्याद्युपलब्धार्थानां सामस्त्येनाभिधानाशक्यत्वे पूर्वोक्तम्, अपरमपि च हेतुं विषयविभागेनाभिधित्सुराह-

तीरंति न वोत्तुं जे, सुओवलद्धा बहुत्तजावाओ ।
सेसोवलद्धभावा, सा भव्वबहुत्तओऽभिहिया ॥१३९॥

सर्वेऽपि श्रुतोपलब्धा भावा न तीर्यन्ते न पार्यन्ते वक्तुम् । 'जे' इति पूर्ववदेव । कुतस्ते वक्तुं न पार्यन्ते ?, इत्याह-बहुत्वभावात् बहुत्वसद्भावादेवेत्यवधारणीयम्, न तु तत्स्वाभाव्यादित्यभिप्रायः । (सेसोवलद्धभावा, सा भव्व त्ति) शेषं श्रुतादन्यत् प्रस्तुतं मतिज्ञानम्, समानवक्तव्यताप्रस्तावलब्धानि मत्यवधिमनःपर्यायकेवलानि वा शेषाणि, तेन तैर्वा उपलब्धा ज्ञाताः शेषोपलब्धाः, ते च ते भावाश्चेति समासः, स्वाभाव्यादेव अनभिलाप्याऽऽत्मकत्वादेव न तीर्यन्ते भाषितुम् । आह-नन्वेते यथाऽनभिलाप्यत्वादभिधातुं न शक्यन्ते, तथा बहुत्वादपि, तत् किमित्यनभिलाप्यस्वभावत्वमेवैकमत्र हेतुत्वेनोच्यते?; सत्यम्, किं त्वभिलाप्यत्वे सति बहुत्वाल्पत्वचिन्ता क्रियमाणा विभ्राजते, ये तु मूलत एवानभिलाप्यास्तेषु बहुत्वलक्षणो हेतुरुच्यमानोऽपि निष्फल एव, अनभिलाप्याऽऽत्मकत्वेनैवाभिधानाशक्यत्वस्य सिद्धत्वादिति । किं च-(बहुत्तओऽभिहिय त्ति) बहुत्वाच्छेषोपलब्धा भावा यथा वक्तुं न शक्यन्ते, तथा "कह मइसुओवलद्धा, तीरंति न भासिउं बहुत्ताओ ।" (१३८) इत्याद्यनन्तरगाथायामभिहिता एव, इति किं बहुत्वहेतूपन्यासेन ?, पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् । शेषज्ञानेषु मध्ये मतिरेव स तत्र प्रोक्तः, अत्र त्ववध्यादीन्यपि गृहीतानि सन्ति, अतस्तदर्थमयमिहापि वक्तव्य इति चेत्, नैवम्, मतेरुपलक्षणत्वेनावध्यादिष्वप्यसौ तत्र द्रष्टव्य इत्यदोषः । यद्येवम्, तर्हि श्रुतस्यापि बहुत्वलक्षणो हेतुः प्रागुक्त एव, किमितीह पुनरप्युच्यते ?, इति चेत् । सत्यम्, किं तु श्रुतोपलब्धा बहुत्वात्, शेषोपलब्धास्तु तत्स्वाभाव्याच्च शक्यन्ते अभिधातुम्, इति विषयविभागदर्शनार्थं तस्येह पुनरुपन्यासः । अपरस्त्वाह-ननु मत्याद्युपलब्धानामपि केषांचिदभिलाप्यत्वात् किमुच्यते?-(सेसोवलद्धभावा,सा भव्व त्ति) सत्यम्, किं तु तेषां श्रुतविषयत्वेनैवाभिधानाशक्यत्वस्यैकत्वाददोषः । इति गाथाऽर्थः ॥ १३९ ॥

विनेयः पृच्छति-

कत्तो एत्तियमेत्ता, भावसुयमईण पज्जया जेसिं ।
जामइ अणंतभागं, भण्णइ जम्हा सुएऽभिहियं ॥१४०॥

कुतः पुनरेतावन्तो भावश्रुतमत्योः पर्याया उपलब्धार्थविषया विशेषाः, येषां सर्वेणापि जन्मनाऽनन्तभागमेव प्राप्त इति प्रागुक्तम् ? । अत्र गुरुराह-भण्यतेऽत्रोत्तरम्-यस्मात् सूत्रे आगमे वक्ष्यमाणमभिहितम्,तस्मात् तयोरेतावन्तः पर्यायाः । इति गाथाऽर्थः ॥ १४० ॥

किं तत्सूत्रेऽभिहितम् ?, इत्याह-

पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुयनिबद्धो ॥ १४१ ॥

प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्त इति प्रज्ञापनीया वचनपर्यायत्वेन श्रुतज्ञानगोचरा इत्यर्थः । के ?, भावा ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकान्तर्निविष्टभूभवनविमानग्रहनक्षत्रतारकाकेन्द्रादयस्ते सर्वेऽपि किमिताः । किम् ?, इत्याह-अनन्ततम एव भागे वर्तन्ते । केषाम्?, अत्राऽऽह-अनभिलाप्यानामर्थपर्यायत्वेनावचनगोचराऽऽपन्नानामित्यर्थः, अनभिलाप्यवस्तुराशेरभिलाप्यपदार्थसार्थः सर्वोऽप्यनन्ततम एव भागे वर्तत इत्यर्थः । प्रज्ञापनीयपदार्थानां पुनरनन्तभाग एव चतुर्दशपूर्वलक्षणे श्रुते निबद्धो भगवद्भिर्गणधरैः साक्षाद् ग्रथितः । इति गाथाऽर्थः ॥ १४१ ॥

कुतः पुनरेतद् विज्ञायते यदुत-प्रज्ञापनीयानामनन्तभाग एव श्रुतनिबद्धः ?, इत्याह-

जं चोद्दसपुव्वधरा, छट्ठाणगया परोप्परं होंति ।
तेण उ अणंतभागो, पण्णवणिज्जाण जं सुत्तं ॥१४२॥

यद् यस्मात् कारणात् चतुर्दशपूर्वधराः षट्स्थानपतिताः परस्परं भवन्ति, हीनाधिक्येनेति शेषः । तथाहि-सकलाभिलाप्यवस्तुवेदितया य उत्कृष्टः चतुर्दशपूर्वधरः, ततोऽन्यो हीनहीनतराऽऽदिः, आगमे इत्थं प्रतिपादितः । तद्यथा-" अणंतभागहीणे वा, असंखेज्जभागहीणे वा, संखेज्जभागहीणे वा, संखेज्जगुणहीणे वा, असंखेज्जगुणहीणे वा, अणंतगुणहीणे वा । " यस्तु सर्वस्तोकाऽभिलाप्यवस्तुज्ञायकतया सर्वजघन्यः, ततोऽन्य उत्कृष्ट उत्कृष्टतराऽऽदिरप्येवं प्रोक्तः । तद्यथा-"अणंतभागब्भहिए वा, असंखेज्जभागब्भहिए वा, संखेज्जभागब्भहिए वा, संखेज्जगुणब्भहिए वा, असंखेज्जगुणब्भहिए वा, अणंतगुणब्भहिए वा । " तदेवं यतः परस्परं षट्स्थानपतिताः चतुर्दशपूर्वविदः, तस्मात् कारणाद् यत्सूत्रं चतुर्दशपूर्वलक्षणं तत् प्रज्ञापनीयानां भावानामनन्तभाग एवेति । यदि पुनर्यावन्तः प्रज्ञापनीया भावास्तावन्तः सर्वेऽपि सूत्रे निबद्धा भवेयुः, तदा तद्वेदिनां तुल्यतैव स्यात्, न षट्स्थानपतितत्वमिति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ १४२ ॥

आह-ननु यदि सर्वेऽपि चतुर्दशपूर्वविदः, तर्हि कथं तेषां परस्परं हीनाऽऽधिक्यम् ?, इत्याह-

अक्खरलंभेण समा, ऊणऽहिया होंति मइविसेसेहिं ।
ते वि अ मईविसेसे, सुयनाणऽब्भंतरे जाण ॥ १४३ ॥

चतुर्दशपूर्वगतसूत्रलक्षणेनाक्षरलाभेन समास्तुल्याः सर्वेऽपि चतुर्दशपूर्वविदः,ऊनाधिकास्ते मतिविशेषैर्भवन्ति क्षयोपशमवैचित्र्याद् यथोक्ताक्षरलाभानुसारिभिरेव तैस्तैर्गम्यार्थविषयैर्विचित्रैर्बुद्धिविशेषैर्हीनाधिका भवन्तीत्यर्थः । इह च मतिशब्दोपादानविभ्रमात् ते मतिविशेषा मा भूवन्नाभिनिबोधिकज्ञानविशेषाः, इत्यत आह-' ते वि चेत्यादि ' । इदमुक्तं भवति-मतिशब्देनेह श्रुतमतिर्विवक्षिता, न त्वाभिनिबोधिकमतिः । ततश्च यैश्चतुर्दशपूर्वविदो हीनाधिकास्तानपि च मतिविशेषान् श्रुतज्ञानाभ्यन्तरे जानीहि श्रुतज्ञानान्तर्भाविन एव विद्धि, न त्वाभिनिबोधिकान्तर्वर्तिन इति भावः । यद्येवम " ते वि य मईविसेसे, सुयनाणं चेव जाणाहि । " इत्येवमेव प्रगुणं कस्मान्नोक्तम्, किमभ्यन्तरशब्दोपादानक्लेशेन ? । नैतदेवम्, अस्याऽपि न्यायस्य इष्टत्वाद्, अङ्गाभ्यन्तराऽऽदिव्यपदेशवद्.यथा ह्यङ्गमेवाङ्गाभ्यन्तरम्, एवं श्रुतमेव श्रुताभ्यन्तरमित्युक्तं भवति । अथवा-छन्दोभङ्गभयादभ्यन्तरग्रहणं, यदि वा-" सुयनाण- " इत्यनेन चतुर्दशपूर्वलक्षणं श्रुतमधिक्रियते,ततश्च तानपि गम्यान् मतिविशेषांश्चतुर्दशपूर्वाक्षरलाभरूपस्य श्रुतस्यैवाभ्यन्तरे जानीहि स्वम्, न व्यतिरिक्तानिति शिष्योपदेशः, चतुर्दशभिरपि हि पूर्वैः काश्चित् साक्षात्, काश्चित्तु गम्यतया सर्वोऽप्यभिलाप्यः

पदार्थोऽभिधीयत एव; ततश्च गम्या अपि मतिविशेषास्तदन्तर्भाविन एव, तदनुसारित्वादिति गाथाऽर्थः ॥१४३॥

चतुर्दशपूर्वलक्षणश्रुतानुसारित्वेन यदेतद् मतिविशेषाणां तदन्तर्भावित्वमुक्तम्, तदेव समर्थयन्नाह-

जे अक्खराणुसारेण मइविसेसा तयं सुयं सव्वं ।
जे उण सुयनिरवेक्खा, सुद्धं चिय तं मइनाणं ॥१४४॥

ये अक्षरानुसारेण श्रुतग्रन्थमनुसृत्य जायन्ते मतिविशेषाः तत्सर्वं श्रुतमेव, इत्यसकृदुक्तम् । ये तु यथोक्तश्रुतनिरपेक्षाः स्वयमेवोत्प्रेक्षितवस्तुतत्त्वा मतिविशेषाः समुत्पद्यन्ते तच्छुद्धं मतिज्ञानमेव, इत्येतदप्यनेकधा प्रागप्यभिहितम् । तस्माच्चतुर्दशपूर्वगताक्षरानुसारेण जायमानाः प्रस्तुतमतिविशेषाः सर्वे; श्रुतमेवेति गाथाऽर्थः ॥ १४४ ॥

(१०) तदेवं द्रव्यश्रुताऽऽदिश्रुतस्वरूपप्रतिपादनप्रकारेण "बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे जे भासइ" (१२७) इत्यादि मूलगाथां व्याख्याय "केई बुद्धिद्दिट्ठे, मइसहिए भासओ" (१३२) इत्यादिना दर्शितमपि विशेषदूषणाऽभिधित्सया पुनरपि मतान्तरमुपदर्शयन्नाह-

केइ अभासिज्जंता, सुयमणुसरओ वि जे मइविसेसा ।
मन्नंति ते मइ च्चिय, भावसुयाभावओ तन्नो ॥ १४५ ॥

केचिद् व्याख्यातारः (मन्नंति ते मइ च्चिय त्ति) तान् मतिविशेषान् श्रुतमनुसरतोऽपि मतिरेवेति मन्यन्ते । ये किम् ?, इत्याह-येऽभाष्यमाणाः, येषु शब्दप्रवृत्तिर्नास्तीत्यर्थः । श्रुतानुसारिणोऽपि मतिविशेषा ये प्रवृत्तिरहिताः केवलं हृद्येव विपरिवर्तन्ते, ते मतिज्ञानमेवेति केचिद् मन्यन्त इति भावः । तदेतद् न । कुतः ?, इत्याह-भावश्रुताभावप्रसङ्गात्, तदभावश्च "किं सद्दो मइरुभयं, भावसुयं सव्वहा जुत्तं । (१३२)" "सद्दो ता दव्वसुयं, मइराभिणिबोहियं न वा उभयं ।" (१३२) इत्यादि पूर्वोक्तग्रन्थाद् भावनीयम् । इति गाथाऽर्थः ॥ १४५ ॥

किं च-

किह मइसुयनाणविऊ, छट्ठाणगया परोप्परं होज्जा ।
भासिज्जंतं मोत्तुं, जइ सव्वं सेसयं बुद्धी ॥ १४६ ॥

यदि भाष्यमाणं मुक्त्वा शेषकं सर्वमपि बुद्धिर्मतिज्ञानमित्यर्थः, तर्हि मतिश्रुतज्ञानाभ्यां विदन्तीति मतिश्रुतज्ञानवेदिनः परस्परं स्वस्थाने परस्थाने च कथं षट्स्थानपतिताः स्युः ?, न कथञ्चिदित्यर्थः । तथाहि-सर्वेणापि जन्मना मतिश्रुतोपलब्धानामर्थानामनन्तभाग एव भाष्यत इति प्रागिहैवोक्तम् । ततश्च मतिज्ञानी श्रुतज्ञानिनः सकाशात् सदैवानन्तगुणाधिकः, श्रुतज्ञानी त्वितरस्मान्नित्यमनन्तगुणहीन एव प्राप्नोति, इति न तावत्परस्थाने षट्स्थानपतितत्वम् । स्वस्थानेऽपि श्रुतज्ञानी अन्यस्मात् श्रुतज्ञानिनः संख्यातेनैव हीनोऽधिको वा स्यात्, न त्वसंख्यातेन, अनन्तेन वा, भाषकचतुर्दशपूर्वविदां संख्येयवर्षाऽऽयुष्कत्वेन असंख्येयस्यानन्तस्य वा भाषणस्यैवासंभवादिति । अस्यैव च विशेषदूषणस्याभिधानार्थं पुनरत्रेदं मतान्तरमुपन्यस्तम् । अन्यथा हि-"केई बुद्धिद्दिट्ठे, मइसहिए भासओ सुयं (१३२)" इत्यादिना सर्वमिदं प्रागभिहितमेवेति गाथाऽर्थः ॥ १४६ ॥

तदेवं "बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे" (१२८) इत्यादिपूर्वगतगाथाश्रुतस्वरूपाभिधायिना प्रकारेण व्याख्याता, मतिश्रुतयोश्च भेदस्य व्याख्येयत्वेन प्रस्तुतत्वात्तदभिधायकत्वेनाऽपि मतान्तरेण व्याख्याता, तच्च व्याख्यानमयुक्तत्वाद् दूषितम् । अथाऽऽत्माऽभिमतेन निरवद्यमतिश्रुतभेदप्रकारेणैतां व्याख्यातुमाह-

सामन्ना वा बुद्धी, मइसुयनाणाइँ ताएँ जे दिट्ठा ।
भासइ संभवमित्तं, गहियं न उ भासणामित्तं ॥१४७॥
मइसहियं भावसुयं, तं नियमभासओ वि मइरत्ता ।
मइसहियं ति जमुत्तं, सुओवउत्तस्स भावसुयं ॥१४८॥

स्वविहितप्रथमव्याख्यानापेक्षया वाशब्दो यदि वेत्यर्थः, "बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे (१२८)" इत्यत्र येयं बुद्धिः, असौ सामान्या गृह्यते, ततः किम् ?, इत्याह-(मइसुयनाणाइं ति) मतिश्रुतज्ञाने द्वे अपि बुद्धिरिहेत्यर्थः, तया बुद्धिश्रुतज्ञानाऽऽत्मिकया बुद्ध्या ये दृष्टा भावास्तेषु मध्ये यान् भाषते तद्भावश्रुतमित्युत्तरगाथायां संबन्धः । भाषत इत्यत्र च भाषणस्य संभवमात्रं गृहीतम्, न तु भाषणमात्रम् । ततश्चेदमुक्तं भवति-तत्राऽन्यत्र वा देशे, तदाऽन्यदा वा काले, स चान्यो वा पुरुषः, मति सामग्रीसंभवे निश्चयेनैतान् भाषत एव, इत्येवं यान् भावानन्तर्विकल्पे प्लवमानान् भाषणयोग्यतायां व्यवस्थापयति, ते ऽभाष्यमाणा अपि भाषणयोग्याः सन्तो भावश्रुतं भवन्ति, न तु भाष्यमाणा एवेति भावः । एवं च सति मत्युपलब्धानामनभिलाप्यानामर्थानां भाषणायोग्यत्वाद्भावश्रुतत्वमपाकृतं भवति । भाषणयोग्यानां त्वभाष्यमाणानामपि सर्वेषां विकल्पप्रतिभासिनामर्थानां भावश्रुतत्वमावेदितं भवति ॥ १४७ ॥

अत एव पर्यवसितमर्थं द्वितीयगाथायामाह-नियतं निश्चितं तद्भावश्रुतमभाषमाणस्याऽपि भवति, योग्यतामात्रेणैव भाषणस्य गृहीतत्वादिति भावः । आह-ये सामान्यबुद्धिदृष्टा अर्था ये भाषणयोग्याः, यदि तेषां भावश्रुतत्वम्, तर्हि मतिज्ञानान्तर्वर्त्यपायविकल्पावभासिनामपि तत्प्रसङ्गः, न हि तेऽपि न भाषणयोग्याः, इत्याशङ्कयाऽऽह-"मतिसहितमिति ।" अस्य व्याख्यानमाह-(मइसहियं तीत्यादि) मतिसहितमिति यदुक्तं तस्य कस्तात्पर्यार्थः ?, इत्याह-श्रुतोपयुक्तस्यैव भाषमाणस्य, अभाषमाणस्य वा भावश्रुतं भवति, नान्यस्य । इदमुक्तं भवति-मतिसहितमिति श्रुतमतिसहितं यथा भवति, एवं यान् भावते न एव भावश्रुतम्, नान्य, ततश्च श्रुतोपयुक्तस्यैव भाषणयोग्यानर्थान् विकल्पयतो भावश्रुतं सिद्धं भवति । एवं च सति श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतोपयुक्तत्वस्याऽसंभवाद् मतिविकल्पस्य भाषणयोग्यत्वे सत्यपि कुतो भावश्रुतत्वम् ?, इति । आह-ननु सामान्या बुद्धिरिह गृहीता, श्रुतोपयुक्तत्वे च गृह्यमाणे कथं मतिदृष्टत्वमर्थानां संभवति ?, श्रुतबुद्धिदृष्टत्वस्यैव तत्र संभवात् । नैतदेवम्, मतिपूर्वं हि श्रुतम्, ततो यत्र श्रुतबुद्धिदृष्टत्वं तत्र मतिदृष्टत्वमस्त्येव, इति न काचित् क्षतिः, इत्यलमतिचर्चितेन । तदेवं श्रुतज्ञानोपयुक्तः सामान्यबुद्धिदृष्टानर्थान् संभवतो यान् भाषते तद्भावश्रुतमिति स्थितम् । नन्वर्थानां कथं भावश्रुतत्वम् ?, ज्ञानस्यैव तत्संभवात् । सत्यम्, किं तु विषयविषयिणोरभेदोपचाराद् भावश्रुते प्रतिभासमाना अर्था अपि भावश्रुतम्, इत्यदोषः । (मइरत्ता त्ति) यथोक्ताद्भावश्रुताद् अन्या व्यतिरिक्ता मतिरूपत्वया । इदमुक्तं भवति-येऽभिलाप्या अपि

न्मो यदाऽऽद्यः श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतोपयुक्तैर्न विकल्प्यन्ते, ये वाऽर्थपर्यायत्वेन वाचकध्वनेरभावाद् मूकत एवाभिलपितुमशक्या अनभिलाप्याः, ते यस्यां विज्ञप्तौ प्रतिभासन्ते, सा मतिरित्यवगन्तव्या, न तु श्रुतम्, अभिलाप्यवस्तुविषयायां श्रुतानुसारित्वाभावाद्, अनभिलाप्यवस्तुविषयायां तु भाषणायोग्यत्वादिति गाथाद्वयार्थः ॥ १४८ ॥

अथेहतोऽवधारणविधिमुपदर्शयन्नाह—

जे भासइ चेव तयं, सुयं तु न तु भासओ सुयं चेव ।
केइ मइए वि दिट्ठा, जं दव्वसुयत्तमुवयंति ॥१४९॥

"बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे, जे भासइ" (१२८) इत्यत्र याम् कदाचित् संभवमात्रेण भाषत एव तत् श्रुतमित्येवमेवावधारणीयम्, न तु भाषमाणस्य श्रुतमेवेति याम् भाषते तत् श्रुतमेवेत्येवं नावधार्यत इत्यर्थः। कुतः ?, इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् केचिदभिलाप्याः पदार्था मत्याऽपि दृष्टा अवग्रहेणावगृहीताः, ईहया त्वीहिताः, अपायविकल्पेन तु निश्चिता इत्यर्थः, द्रव्यश्रुतत्वमुपयान्ति, शब्दलक्षणेन द्रव्यश्रुतेन भाष्यन्त इत्यर्थः। यदि च भाषमाणस्य श्रुतमेवेत्यवधार्येत, तदा एषामपि श्रुतत्वं स्यात्, न चैतदिष्यते, श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतोपयुक्तत्वस्य तेष्वसंभवात, तस्माद् यथोक्तमेवावधारणमिति गाथाऽर्थः ॥ १४९ ॥

अथ यथोक्तव्याख्यानलब्धमतिश्रुतभेदोपदर्शनपूर्वकमुपसंहरन्नाह-

एवं धणिपरिणामं, सुयनाणं उभयहा मइनाणं ।
जं भिन्नसहावाइं, ताइं तो भिन्नरूवाइं ॥ १५० ॥

एवं प्रागुक्तप्रकारेण केवलाऽभिलाप्यार्थविषयत्वात् सर्वमपि श्रुतज्ञानं ध्वनिपरिणाममेव, ध्वनेः शब्दस्य परिणमनं विपरिवर्त्तनं परिणामो यत्र तद् ध्वनिपरिणामं भवत्येव, श्रुतानुसारित्वेनोत्पन्नमेव ह्येतदिष्यते, श्रुतं च संकेतकालभाविपरोपदेशरूपः, श्रुतग्रन्थरूपश्च द्विविधः शब्दोऽत्राधिकृतः, तदनुसारेण चोत्पन्ने ज्ञाने ध्वनिपरिणामो भवत्येवेति। मतिज्ञानं तूभयथाऽपि भवति-शब्दपरिणामम्, अशब्दपरिणामं च, अभिलाप्यानभिलाप्यपदार्थविषयं होतत्। ततश्च श्रुतानपेक्षस्वमत्यैव विकल्प्यमानेष्वभिलाप्येषु ध्वनिपरिणामोऽस्मिन्नपि प्राप्यते। अनभिलाप्यविषयतायां तु नाऽसौ तत्र लभ्यते। अनभिलाप्यपदार्था हि स्वयमेव बुध्यमाना अपि वाचकध्वनेरभावाद्विकल्पयितुं, परस्मै प्रतिपादयितुं वा न शक्यन्ते, यथा नालिकेरद्वीपाऽऽयातस्य इक्ष्वादयः क्षीरेक्षुगुडशर्कराऽऽदिमाधुर्यतारतम्याऽऽदयो वा; इति कुतस्तद्विषयतायां ध्वनिपरिणामः ?। अभिलाप्यपदार्थेभ्योऽनन्तगुणाश्चानभिलाप्याः सन्ति, ततोऽभिलाप्यानभिलाप्यवस्तुविषयत्वात् शब्दाशब्दपरिणामं मतिज्ञानमिति स्थितम्। अथोपसंहरति-(तो त्ति) तस्मात्ते मतिश्रुते स्वामिकालाऽऽदिभिरविशेषेऽपि भिन्नरूपे भेदवती मन्तव्ये। कुतः ?, इत्याह-यद् यस्मात् कारणाद् द्वे अपि भिन्नस्वभावे, उक्तन्यायेनैकस्य ध्वनिपरिणामित्वात्, अपरस्य तूभयस्वभावत्वादिति गाथाऽर्थः ॥ १५० ॥

तदेवं मूलगाथायाम्-"बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे, जे भासइ तं सुयं मईसहियं।" (१२८) इत्येतत् पूर्वार्द्धम्-"सामन्ना वा बुद्धी" (१४७) इत्यादिना व्याख्यातम्। अथ-"इयरत्थ वि होज्ज सुयं, उवलद्धिसमं जइ भणेज्जा।" (१२८) इत्येतदुत्तरार्द्धं व्याचिख्यासुराह-

इयर त्ति मइनाणं, तओ वि जइ होइ सद्दपरिणामो ।
तो तम्मि वि किं न सुयं, भासइ जं नोवलद्धिसमं ? ।१५१।

"इयरत्थ वि होज्ज सुयं," (१२८) इति मूलगाथोत्तरार्द्धे इतरशब्दस्य किं वाच्यम् ?, इत्याह-इतरदिति मतिज्ञानं नाऽभिसंबध्यते, इत्याचार्येणोक्ते परः प्राऽऽह-(तओ वि जइ होइ सद्दपरिणामो। तो तम्मि वि किं न सुयं ति) तत इति सप्तम्यन्तात्तस्प्रत्ययः, ततश्च-"उभयहा मइनाणं" (१५०) इति वचनाद् यदि तस्मिन्नपि मतिज्ञाने शब्दपरिणामो भवति, ततस्तस्मिन्नपि किं न श्रुतं-तदपि भावश्रुतरूपतां किं न प्रतिपद्यते ? इत्यर्थः, शब्दपरिणामस्य श्रुतत्वेन उक्तत्वादिति भावः। अत्राऽऽचार्य उत्तरमाह—(भासइ जं नोवलद्धिसमं ति) यद् यस्मात् कारणादुपलब्धिसमं मतिज्ञानी न भाषते, ततो न मतिज्ञानस्य श्रुतरूपतेति गाथाऽर्थः ॥ १५१ ॥

कथं पुनरुपलब्धिसममसौ न भणति ?, इत्याह-

अभिलप्पाऽणभिलप्पा, उवलद्धा तस्समं च नो भणइ ।
तो होउ उभयरूवं, उभयसहावं ति काऊणं ॥१५२॥

प्रागुक्तन्यायेन अभिलाप्यानभिलाप्याः पदार्था मतिज्ञानोपलब्धाः, एवंभूतोपलब्ध्या च समं भणितुं न शक्नोत्येव, अनभिलाप्यानां सर्वथैव वक्तुमशक्यत्वादिति भावः। अत्र परः प्राऽऽह—(तो होउ इत्यादि) ततस्तर्हि भवतु मतिज्ञानमुभयरूपं श्रुतमतिरूपम्। कुतः ?, इत्याह—उभयस्वभावमिति कृत्वा, अभिलाप्यानभिलाप्यवस्तुविषयत्वेन द्विस्वभावत्वादित्यर्थः। इदमुक्तं भवति-यदभिलाप्यपदार्थान् उपलभते भाषते च, तत् श्रुतज्ञानमस्तु, अनभिलाप्यपदार्थांस्तु भाषणायोग्यान् यदवगच्छति, तन्मतिज्ञानं भवति। इति गाथाऽर्थः ॥ १५२ ॥

अत्रोत्तरमाह—

जं भासइ तं पि जओ, न सुयाऽऽदेसेण किं तु समईए ।
न सुओवलद्धितुल्लं,ति वा जओ नोवलद्धिसमं ॥१५३॥

यदपि किञ्चिदभिलाप्यवस्तूपलब्धं मतिज्ञानी भाषते तदपि यतो न श्रुताऽऽदेशेन, किं तु स्वमत्या, अतो न तत् श्रुतमिति। इदमुक्तं भवति-परोपदेशः, श्रुतग्रन्थश्च श्रुतमिहोच्यते, तदादेशेन तु तदनुसारेण विकल्प्य यदा भाषते, तदा श्रुतोपयुक्तस्य भाषणात् श्रुतमुपपद्यत एव; यत्र तु स्वमत्यैव पर्यालोच्य भाषते न तु श्रुतानुसारेण, तत्र श्रुतोपयुक्तत्वाभावान्मतिज्ञानमेव। तदेवम्-"भासइ जं नोवलद्धिसमं" (१५१) इत्यस्य गाथाऽवयवस्य "अभिलप्पाणभिलप्पा, उवलद्धा" (१५२) इत्यादिना व्याख्यानं कुर्वताऽऽचार्येण मतिज्ञानी मतिज्ञानोपलब्ध्या समं न भाषते, अतस्तत्रोपलब्धिसमं भाषणं न भवति, इत्यतो न मतिज्ञाने श्रुतरूपतेत्युक्तम्; श्रुतज्ञानी त्वभिलाप्यानुपलभते, तांश्च भाषतेऽतस्तत्रैवोपलब्धिसमत्वस्य सद्भावात् श्रुतरूपतेति भावः। साम्प्रतं तु मतिज्ञानी श्रुतोपलब्ध्या तुल्यं समं न भाषते, इत्येवमुपलब्धिसमत्वाभावमुपदर्शयन्नाह-(न सुओवलद्धीत्यादि) वाशब्दः प्रकारान्तरद्योतकः, ततश्च न श्रुतोपलब्ध्या तुल्यं मतिज्ञानी भाषत

इति वा,यतो यस्मात् कारणात् नोपलब्धिसमं मतिज्ञानिनो भाषणम्, तस्मान्न तत्र श्रुतरूपता। इदमुक्तं भवति-श्रुतोपलब्धौ परोपदेशार्हद्वचनलक्षणश्रुतानुसारेणोपलब्धानर्थान् भाषते, मत्युपलब्धौ तु तदुपलब्धानेव, इत्यतो न मतिज्ञानिनो भाषणं श्रुतोपलब्धिसमम्, ततश्च न तत्र श्रुतसंभवः। इति गाथार्थः ॥ १५३ ॥

तदेवम्-" सोइंदिओवलद्धी होइ सुयं " (११७) इत्यादिमूलगाथया तत्त्वतः श्रोत्रेन्द्रियविषयमेव श्रुतज्ञानम्, सर्वेन्द्रियविषयं च मतिज्ञानमित्येवं मतिश्रुतयोर्भेदः प्रतिपादितः; तत्प्रतिपादनक्रमे च " बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे, जे भासइ " (१२०) इत्यादिगाथा समायाता, सा च द्रव्य-भावोभयश्रुतरूपाऽभिधायकत्वेन मतिश्रुतयोर्भेदाऽभिधानपरतया च व्याख्याता, तद्व्याख्याने चावसिते इन्द्रियविभागादपि मतिश्रुतयोर्भेदः।

साम्प्रतं वल्कशुम्बोदाहरणात्तमभिधित्सुराह-

अन्ने मन्नंति मई, वग्गसमा सुंबसरिसयं सुत्तं ।
दिट्ठंतोऽयं जुत्तिं, जहोवणीओ न संसहइ ॥ १५४ ॥

अन्ये केचनाप्याचार्या मन्यन्ते। किम् ?, इत्याह-वल्कसमा वल्कसदृशी मतिः, ततः सैव यदा शब्दतया संदर्भिता भवति-तज्जनितो यदा शब्द उत्तिष्ठतीत्यर्थः, तदा तदुत्थशब्दसहिता श्रुतमुच्यते, तच्च शुम्बसदृशं वल्कजनितदवरिकातुल्यं श्रुतं भवति, एवं तदभ्युपगमः शोभन इति चेत्, नैवमित्याह-(दिट्ठंतोऽयमित्यादि) अयं वल्कशुम्बदृष्टान्तो यथा तैरुपनीतः-तत्प्रकारेण प्रकृते योजितः, तथा युक्तिं न सहते-न क्षमते, अन्यथा त्वस्मदभिमतवक्ष्यमाणप्रकारेणोपनीयमान एषोऽपि युक्तिक्षमो भविष्यतीति भावः। इति गाथार्थः ॥ १५४ ॥

कुतो न संसहते ?, इत्याह-

भावसुयाभावाओ, संकरओ निव्विसेसभावाओ ।
पुव्वुत्तलक्खणाओ, सलक्खणाऽऽवरणभेयाओ ॥ १५५ ॥

नैष दृष्टान्तो युक्तिं क्षमत इति सर्वत्र साध्यम्, मतेरनन्तरं शब्दमात्रस्यैव भावेन भावश्रुतस्याभावप्रसङ्गात्। अथ मतिसहितोऽयं शब्दो न केवल इति तत्र भावश्रुतत्वं भविष्यति। तदयुक्तम्। कुतः ?, इत्याह-संकरः साङ्कर्यम्, संकीर्णत्वम्, मिश्रत्वमिति यावत्, मतिश्रुतयोस्तस्य प्राप्तेः। निर्विशेषभावाद् वा-यदेव मतिज्ञानम्, तदेव भावश्रुतमिति प्रतिपादनादेकमेव किञ्चित्स्यात्, नोभयमिति भावः। अस्तु विशेषाभाव इति चेत्, नैवम्। कुतः ?, इत्याह-स्वलक्षणाऽऽवरणभेदात्। कथम्भूताद् ?, इत्याह-पूर्वोक्तलक्षणात् "किह व सुयं होइ मई, सलक्खणाऽऽवरणभेयाओ।" (१३५) इति पूर्वाभिहितगाथाऽवयवोक्तस्वरूपात्। इदमुक्तं भवति-अभिनिबुध्यत इत्याभिनिबोधिकम्, श्रूयत इति श्रुतम्, इत्यादिकं मतिश्रुतयोर्यत् स्वकीयं स्वकीयं लक्षणम्, आवारकं च कर्म,तयोर्भेदात् पूर्वोऽभिहितस्वरूपाद् मतिश्रुतयोर्निर्विशेषभावो न युज्यते। यदि हि तयोर्निर्विशेषता एकत्वं स्यात्, तदा लक्षणभेदः, आवरणभेदश्च पूर्वोक्तस्वरूपो न स्यादिति भावः। इति गाथार्थः ॥ १५५ ॥

अथ द्रव्यभावश्रुतयोरनेन दृष्टान्तेन भेदः प्रतिपाद्यते, सोऽपि न युक्तः, इति दर्शयन्नाह-

कप्पेज्ज व सो भा-वदव्वसुत्तेसु तेसु वि न जुत्तो ।
मइसुयभेयावसरे, जम्हा किं सुयविसेसेणं ? ॥ १५६ ॥

यदि वा भावद्रव्यश्रुतयोः सः-वल्कशुम्बोदाहरणाद् भेदः कल्पेत-भावश्रुतं हि कारणत्वात् किल वल्कसदृशम्, शब्दलक्षणं तु द्रव्यश्रुतं कार्यत्वात् शुम्बप्रतिमम्, इत्येवमनयोर्भेद इष्यतेति भावः। तयोरप्यसौ न युक्तः। कुतः ?, इत्याह-यस्मान्मतिश्रुतयोर्भेदाभिधानेऽवसरप्राप्ते (किं सुयविसेसेणं ति) श्रुतयोर्द्रव्यभावश्रुतलक्षणयोर्विशेषो भेदः श्रुतविशेषस्तेनाऽभिहितेन किम् ?, असंबद्धत्वान्न किञ्चिदित्यर्थः। इति गाथार्थः ॥ १५६ ॥

अथान्यथा पराभिप्रायमाशङ्कमानः प्राऽऽह-

अनुयऽक्खरपरिणामा, व जा मई वग्गकप्पणा तम्मि ।
दव्वसुयं सुंबसमं, किं पुण तेसिं विसेसेणं ? ॥ १५७ ॥

श्रुतानुसार्यक्षरपरिणामो यस्यां सा श्रुतानुसार्यक्षरपरिणामा, न तथा-श्रुताननुसारित्वरहितशब्दमात्रपरिणामान्विता वा मतिरित्यर्थः। तस्यां वा वल्ककल्पना क्रियते, तज्जनितशब्दरूपं तु द्रव्यश्रुतं शुम्बसदृशम्, अतस्तयोः प्रस्तुतोदाहरणाद् भेदो युक्तियुक्तो भविष्यति। श्रुतानुसार्यक्षरपरिणामा मतिर्भावश्रुतमेव स्याद्,अतः पूर्वस्मान्न विशिष्येत; इत्यश्रुताक्षरपरिणामित्वं विशेषणम्। सा च पर्युदासाऽऽश्रयणाद् श्रुताननुसारिणा शब्देनैवान्विता गृह्यते, न तु शब्दपरिणामरहिताऽवग्रहरूपा, तस्याः शब्दजनकत्वाभावेनानन्तरं शुम्बसदृशद्रव्यश्रुताभावादिति। अत्रोत्तरमाह-(किं पुण तेसिं विसेसेणं ति) किं पुनस्तयोर्यथोक्तमतिद्रव्यश्रुतयोर्विशेषेण भेदेनोक्तेन ?-अप्रस्तुतत्वान्न किञ्चिदित्यर्थः। श्रुतज्ञानेनैव सहात्र मतेर्भेदो विचारयितुं प्रक्रान्तः, इत्यतः किं द्रव्यश्रुतेन सह तच्चिन्तया ?,इति भावः। इति गाथार्थः ॥ १५७ ॥

एतदेव भावयन्नाह-

इहइं जेणाहिकओ, नाणविसेसो न दव्वभावाणं ।
न य दव्वभावमेत्ते, वि जुज्जए सोऽसमंजसओ ॥ १५८ ॥

इहास्मिन् प्रक्रमे येन कारणेन ज्ञानयोरेव मतिश्रुतलक्षणयोर्विशेषो भेदोऽधिकृतो न तु द्रव्यभावयोर्मतिज्ञानद्रव्यश्रुतलक्षणयोः, इत्यतः किं तद्भेदाभिधानेन ? इति। न च यथोक्तद्रव्यभावयोरप्यसौ युज्यते। कुतः ?, इत्याह-असमञ्जसतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैसदृश्यादिति गाथार्थः ॥ १५८ ॥

तथाहि-

जह वग्गा सुंबत्तण-मुविंति सुंबं च तं तओऽणण्णं ।
न मई तहा झणित्तण-मुवेइ जं जीवभावो सा ॥ १५९ ॥

यथा वल्काः शुम्बत्वमुपयान्ति आत्माऽव्यतिरिक्तशुम्बपरिणामाऽऽपन्नाः शुम्बमित्युच्यन्ते, न तु शुम्बाद् व्यतिरिक्ताः; तदपि च शुम्बं तेभ्यो वल्केभ्योऽनन्यरूपमव्यतिरिक्तं, न तथा मतिर्ध्वनित्वमुपैति, यद् यस्मात् कारणात् सा मतिराभिनिबोधिकज्ञानत्वेन जीवभावो जीवपरिणामः, शब्दस्तु मूर्तत्वान्न जीवभावः; इत्यतः कथममूर्तपरिणामा मतिर्मूर्तध्वनिपरिणाममुपगच्छेत ?, अमूर्तस्य मूर्तपरिणामविरोधात्। तस्माद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यादिदमपि व्याख्यानमुपेक्षणीयमिति गाथार्थः ॥ १५९ ॥

पुनः परवचनमाशङ्क्य तस्यैव शिक्षणार्थमाह-

अह उवयारो कीरइ, पज्जवइ अत्थंतरं पि जं जत्तो ।

तं तम्मयं ति भएणइ,तो मइपुव्वं जओ नावियं ॥१६०॥
भावसुयं तेण मई, वग्गसमा सुंबसरिसयं तं च ।
जं चिंतिऊण य तया, तो सुयपरिवाडिमणुसरइ ॥१६१॥

यथोपचारः क्रियते-उपचारविधिराश्रीयते, ततश्चार्थान्तरमपि यद् यस्मात् प्रभवति तत्तन्मयमिति भण्यते, यथा-' तदन्नमयमियमस्तं चिक्रियाधिक्यमरमुपगतम्,' 'तदेकं वचनमेतावन्तं विपाकमापन्नम्' इत्यादि; ततश्चातन्मयेऽपि श्रुते मतिमना ज्ञानमयतोपचर्यते । तथा च सति वल्कशुम्बसादृश्येन मतिश्रुतयोरयं भेदः सिद्धो भवति । एवमुक्ते आचार्यः सुहृद् भूत्वा परं शिक्षयति-(नो मइपुव्वं इत्यादि) हन्त ! यद्युपचारवादी भवान्, ततो मतिपूर्वं भावश्रुतं यस्मादागमे भणितम्, तेन कारणेन मतिर्वल्कसमा, तच्च भावश्रुतं शुम्बसदृशम्, इत्येवं दृष्टान्तोपनयं कुरु, येनोपचारमन्तरेणाऽपि सर्वं सुस्थं भवति, यथा हि वल्काः शुम्बकारणम्, तथा मतिरपि भावश्रुतस्य, यथा च शुम्बं वल्कानां कार्यं तथा भावश्रुतमपि मतेः । कुतः ?, इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् तया मत्या चिन्तयित्वा ततः श्रुतपरिपाटीमनुसरति-वाच्यवाचकभावेन परोपदेशश्रुतग्रन्थयोजनां वस्तुनि करोति; तस्मान्मतिश्रुतयोर्वल्कशुम्बयोरिव कार्यकारणभावाद् भेदसिद्धिः, इत्येवं दृष्टान्तोपनयो युक्तिं संसहते,न तु परोक्तप्रकारेणेति गाथाऽर्थः ॥ १६० ॥ १६१ ॥

तदेवं वल्कशुम्बोदाहरणादप्यभिहितो मतिश्रुतयोर्भेदः; साम्प्रतं त्वक्षरानक्षरभेदात्तमभिधित्सुः पराभिप्रायं तावदुपन्यस्यन्नाह-

अएणे अणक्खरऽक्खर-विसेसओ मइसुयाइँ भिंदंति ।
जं मइनाणमणक्खर-मक्खरमियरं च सुयनाणं ॥१६२॥

अन्ये केचनाऽपि सूरयोऽनक्षराक्षरविशेषतो मतिश्रुते भिन्दन्ति, यद् यस्मात् किल मतिज्ञानमनक्षरम्, श्रुतज्ञानं त्वक्षरवद्भवति, इतरच्चानक्षरवदुच्छ्वसितादीत्यर्थः । इति गाथाऽर्थः ॥ १६२ ॥

अत्राऽऽचार्यो दूषणमाह-

जइ मइरणक्खर च्चिय,भविज्ज नेहाऽऽदओ निरभिलप्पे ।
थाणुपुरिसाइपज्जा-यविवेगो किह णु होज्जाहि ? ॥१६३॥

यदि हन्त ! मतिरनक्षरैव स्यात्-अक्षराभिलापरहितैव भवताऽभ्युपगम्यते, तर्हि निरभिलाप्ये प्रतिभासमानाऽभिलापे स्थाण्वादिके वस्तुनि ईहाऽऽदयो न प्रवर्तेरन् । ततः किम् ?, इत्युच्यते-तस्यां मतावनक्षरत्वेन स्थाण्वादिविकल्पाभावात् ' स्थाणुरयं पुरुषो वा ' इत्यादिपर्यायाणां वस्तुधर्माणां विवेको वितर्कोऽन्वयव्यतिरेकाऽऽदिना परिच्छेदो न स्यात् । तथाहि-यदनक्षरं ज्ञानं न तत्र स्थाणुपुरुषपर्यायाऽऽदिविवेकः, यथाऽवग्रहे, तथा चेहाऽऽदयः, तस्मात्तेष्वपि नासौ प्राप्नोतीति गाथाऽर्थः ॥ १६३ ॥

अथ विभ्रान्तस्य परस्योत्तरमाह-

सुयणिस्सियवयणाओ,अह सो सुयओ मओ न बुद्धीओ ।
जइ सो सुयवावारो, तओ किमन्नं मइन्नाणं ? ॥ १६४ ॥

आगमे मतिज्ञानं द्विधा प्रोक्तम्-श्रुतनिःश्रितमवग्रहेहाऽऽदिचतुष्कम्,अश्रुतनिश्रितं चौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयम् । ततश्च सूरिरिदं पराभिप्रायमाशङ्कते-अथैवं परो ब्रूयात्-आगमे श्रुतनिःश्रितत्वेनाऽपि मतिज्ञानस्य भणनाद् श्रुतात् श्रुततोऽक्षराऽऽत्मकादसौ स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकः मतः, न बुद्धेर्मतेः सकाशात्, तस्याः स्वयमनक्षररूपत्वात् । अत्रोत्तरमाह-(जइ सो इत्यादि) यदि हन्त ! स स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकः श्रुतव्यापारस्तर्ह्यवग्रहं मुक्त्वा किमन्यद् मतिज्ञानम् ?, न किञ्चिदित्यर्थः । यदि स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकोऽक्षराऽऽत्मकत्वात् श्रुतव्यापार इष्यते, तदेहाऽपायाऽऽदयो मतिभेदाः सर्वेऽप्यक्षराऽऽत्मकत्वात् श्रुतत्वमापन्नाः, इत्यतोऽक्षराभिलापरहितमवग्रहं मुक्त्वाऽशेषस्येहाऽऽदिभेदभिन्नस्य सर्वस्याऽपि मतिज्ञानस्याभावप्रसङ्गः । इति गाथाऽर्थः ॥ १६४ ॥

अथान्यथा परस्य वचनमाशङ्क्य दूषयितुमाह-

अह सुयओ वि विवेगं, कुणओ न तयं सुयं सुयं नत्थि ।
जो जो सुयवावारो, अन्नो वि तओ मई जम्हा ॥१६५॥

अथ श्रुतादपि स्थाणुपुरुषाऽऽदिविवेकं कुर्वतः प्रमातुर्न तत् श्रुतम्, किं तु मत्यभावभीत्या मतित्वेनाभ्युपगम्यते, हन्त ! तर्ह्येकत्र सन्निधत्ततोऽन्यतः प्रच्यवते, यत एवं सति श्रुतं क्वचिदपि नास्ति-श्रुताभावः प्राप्नोतीत्यर्थः । कुतः ?, इत्याह-यो यश्चरणकरणाऽऽदिप्रतिपादनलक्षणोऽन्योऽपि श्रुतस्याऽऽचाराऽऽदेर्व्यापारः सकोऽसौ यस्मान्मतिज्ञानमेव, अक्षराऽऽत्मकत्वात्, स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकवदिति गाथाऽर्थः ॥ १६५ ॥

अथ स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेको मतिश्च श्रुतं च भविष्यति; अतो नैकस्याप्यभावप्रसङ्ग इत्याह-

मइकाले वि जइ सुयं, तो जुगवं मइसुओवओगा ते ।
अह नेवं एगयरं, पवज्जओ जुज्जए न सुयं ॥ १६६ ॥

स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकलक्षणे मतिकालेऽपि यदि श्रुतव्यापार इष्यते, ततो युगपदेव मतिश्रुतोपयोगौ ते तव प्रसज्येते, न चैतद् युक्तम्, समकालं ज्ञानद्वयोपयोगस्य निषिद्धत्वात् । अथैतद्दोषभयाद् नैवमुपयोगद्वयं युगपदभ्युपगम्यते, तर्ह्येकतरं प्रतिपद्यमानस्य स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेककाले मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानं वा इत्यतो भवत इत्यर्थः, किम् ?, इत्याह-(जुज्जए न सुयं ति) श्रुतमिह प्रतिपत्तुं न युज्यते, किं तु मतिज्ञानमेव । इदमुक्तं भवति-" सावकाशानवकाशयोरनवकाशो विधिर्बलवान् " इति न्यायादन्यत्रानवकाशं मतिज्ञानमेवैकं तदेकतरं प्रतिपद्यमानस्येह प्रतिपत्तुं युज्यते; न तु श्रुतं, तस्याऽन्यत्र श्रुतानुसारिण्याचाराऽऽदिज्ञानविशेषे सावकाशत्वात् । एवं च सति स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेको मतेरेव, न तु श्रुतात्, स चाऽक्षराभिलापसमनुगत एव, इति नैकान्तेन मतिज्ञानमनक्षरमिति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ १६६ ॥

किं च-अक्षरानुगतत्वमात्रमुपलभ्य स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेको भवता श्रुतनिश्रित उक्तः, एवं चातिप्रसङ्गः प्राप्नोतीति दर्शयति-

जइ सुयनिस्सियमक्खर-मणुसरओ तेण मइचउक्कं पि ।
सुयनिस्सियमावन्नं, तुह तं पि जमक्खरप्पभवं ॥१६७॥

यदि स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकविधानेनाक्षरमनुसरतः प्रमातुर्ज्ञानं श्रुतनिश्रितं भवता प्रोच्यते, तेन तर्ह्यौत्पत्तिक्यादिमतिचतुष्कमपि तव श्रुतनिश्रितमापन्नम्, यस्मात्तदप्यक्षरप्रभवं वर्णाऽभिलाप्यमित्यर्थः । तदपि हि नेहाऽऽदिविरहेण जायते, ईहाऽऽदयश्च न वर्णाऽभिलापमन्तरेण संभवन्ति; तस्मान्मतिचतु-

कमपि त्वदभिप्रायेण श्रुतनिश्रितमायातम्, न चैतदिष्टम्, आगमेऽश्रुतनिश्रितत्वेन तस्याभिधानात् । तस्माद्देवानांप्रियेणाद्यापि श्रुतनिश्रितस्य स्वरूपमेव नावगम्यते, तत् किं वयं ब्रूमः ? । इति गाथाऽर्थः ॥ १६७ ॥

तदेवं श्रुतनिश्रितवचनश्रवणमात्राद्विभ्रान्तस्तत्स्वरूपमजानानः परो युक्तिभिर्निराकृतोऽपि विप्रतीभूतः प्राऽऽह-

जइ तं सुएण न तओ, जाणइ सुयनिस्सियं कहं भणियं ?।
जं सुयकओवयारं, पुव्विं इण्हिं तयणवेक्खं ॥ १६८ ॥

यदि तं स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकसंघातं श्रुतेन न जानाति असकोऽसौ ज्ञानी, तर्हि श्रुतनिश्रितमेवावग्रहाऽऽदिकं सूत्रे कथं केन प्रकारेण भणितम् ?-मतिः स्वयमनक्षरैव, यस्त्ववग्रहाक्षरोपलम्भः स यदि श्रुतनिश्रितो नेष्यते, तर्हि कथमन्यथाऽसौ घटिष्यते ?। इति विस्मयभयाऽऽपूरितहृदयस्य परस्याऽयं प्रश्न इति भावः । अत्रोच्यते-ननु भवानेव प्रष्टव्यो योऽसमीक्षितमित्थं प्रलापवांश्च-योऽक्षरोपलम्भः स सर्वोऽपि श्रुतनिश्रित इति । अथ न ज्ञायते भवता, तर्हि वयमेवं ब्रूमः, श्रूयताम् (जं सुय इत्यादि) श्रुतं द्विविधम्-परोपदेशः, आगमग्रन्थश्च । व्यवहारकालात् पूर्वं तेन श्रुतेन कृत उपकारः संस्काराऽऽधानरूपो यस्य तत् कृतश्रुतोपकारम्, यद् ज्ञानमिदानीं तु व्यवहारकाले तस्य पूर्वप्रवृत्तस्य संस्काराऽऽधायकश्रुतस्यानपेक्षमेव प्रवर्तते तत् श्रुतनिश्रितमुच्यते, न त्वक्षराभिलापयुक्तत्वमात्रेणेति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ १६८ ॥

एतदेव भावयन्नाह-

पुव्वं सुयपरिकम्मिय-मइस्स जं संपयं सुयाऽऽईयं ।
तं निस्सियमियरं पुण, अणिस्सिअं मइचउक्कं तं ॥ १६९ ॥

व्यवहारकालात् पूर्वं यथोक्तरूपेण श्रुतेन परिकर्मिता-आहितसंस्कारा मतिर्यस्य स तथा तस्य साध्वादेर्यत्साम्प्रतं व्यवहारकाले श्रुतातीतं श्रुतनिरपेक्षं ज्ञानमुपजायते तच्छ्रुतनिश्रितमवग्रहाऽऽदिकं सिद्धान्ते प्रतिपादितम् । इतरत्पुनरश्रुतनिश्रितम्, तदौत्पत्तिक्यादिमतिचतुष्कं द्रष्टव्यम्, श्रुतसंस्कारानपेक्षया सहजत्वात् तस्य । अत्राऽऽह-ननु "भरनित्थरणसमत्था, तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला । उभयलोगे फलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धी ॥ १ ॥" इत्यादिवचनात् तत्राऽपि मतिचतुष्के वैनयिकी मतिः श्रुतनिश्रिता समस्ति । सत्यम्, किं तु स्वल्पश्रुतनिश्रितत्वे सत्यपि बाहुल्यमङ्गीकृत्याश्रुतनिश्रितं तदुच्यते इत्यदोषः * । तस्माद् यदुक्तम्-" जं मइनाणमणक्खर-मियरं सुयनाणमिति " (१६२) तदयुक्तम्, मतेरनक्षरत्वे स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकाभावप्रसङ्गात्, श्रुतनिश्रितत्वस्य चान्यथा समर्थितत्वादिति स्थितम् । इति गाथाऽर्थः ॥१६९॥

यद्यनक्षरा मतिर्न भवति, तर्हि " लक्खणभेया हेऊ, फलभावओ (९७) " इत्यादिगाथायां प्रतिज्ञातोऽक्षरानक्षरभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदः कथं गमनीयः ?, इत्याह-

उभयं भावऽक्खरओ, अणक्खरं होज्ज वंजणऽक्खरओ ।
मइनाणं सुत्तं पुण, उभयं पि अणक्खरऽक्खरओ ॥१७०॥

इहाक्षरं तावद् द्विविधम्-द्रव्याक्षरम्, भावाक्षरं च । तत्र द्रव्याक्षरं पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताऽऽकाराऽऽदिरूपम्, ताल्वादिकारणजन्यः शब्दो वा; एतच्च व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनाक्षरमप्युच्यते । भावाक्षरं त्वन्तःस्फुरदकाराऽऽदिवर्णज्ञानरूपम् । एवं च सति (भावऽक्खरओ त्ति) भावाक्षरमाश्रित्य मतिज्ञानं भवेत् । कथंभूतम् ?, इत्याह-(उभयं ति) उभयरूपम्-अक्षरवत्, अनक्षरं चेत्यर्थः; मतिज्ञानभेदे ह्यवग्रहे भावाक्षरं नास्तीति तदनक्षरमुच्यते, ईहाऽऽदिषु तु तद्भेदेषु तदस्तीति मतिज्ञानमक्षरवत् प्रतिपाद्यत इति भावः । (अणक्खरं होज्ज वंजणऽक्खरओ त्ति) व्यञ्जनाक्षरं द्रव्याक्षरमित्यनर्थान्तरम्, तदाश्रित्य मतिज्ञानमनक्षरं भवेत्, न हि मतिज्ञाने पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताकाराऽऽदिकं शब्दो वा व्यञ्जनाक्षरं विद्यते, तस्य द्रव्यश्रुतत्वेन रूढत्वात्, द्रव्यमतित्वेनाप्रसिद्धत्वादिति । (सुत्तं पुणेत्यादि) सूत्रं श्रुतज्ञानम्, पुनरुभयमपि-द्रव्यश्रुतम्, भावश्रुतं च इत्यर्थः, प्रत्येकमनक्षरतः, अक्षरतश्च भवेत् । इदमुक्तं भवति-"ऊससियं नीससियं, निच्छूढं खासियं च छीयं च । निस्सिंघियमणुसारं, अणक्खरं छेलियाईयं" ॥१॥ इत्यादिवचनाद् द्रव्यश्रुतमनक्षरम्-पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षररूपम्, शब्दरूपं च; तदेव साक्षरं भावश्रुतमपि श्रुतानुसार्यकाराऽऽदिवर्णविज्ञानाऽऽत्मकत्वात्साक्षरम्, पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताकाराऽऽद्यक्षररहितत्वात् शब्दाभावाच्च तदेवानक्षरम्, पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षरस्य शब्दस्य च द्रव्यश्रुतान्तःपातित्वेन भावश्रुतेऽसत्त्वात्; तदेवं मतेर्भावश्रुतस्य च साक्षरानक्षरकृतो नास्ति विशेषः; प्रत्येकं द्वयोरप्यक्षरानक्षररूपत्वेनोक्तत्वात्, केवलं सामान्येन 'श्रुतम्' इत्युक्ते तन्मध्ये द्रव्यश्रुतं लभ्यत इति कृत्वा तत्र द्रव्यश्रुतमाश्रित्य द्रव्याक्षरमस्ति, मतौ तु तन्नास्ति, तस्या द्रव्यमतित्वेनाऽऽरूढत्वादिति । एवमनयोर्द्रव्याक्षरापेक्षया साक्षरानक्षरत्वकृतो भेदः । इति गाथाऽर्थः ॥ १७० ॥

तदेवमक्षरेतरभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदमभिधाय मूकेतरभेदात् तमभिधित्सुराह-

सपरप्पच्चायणओ, भेओ मूएयराण वाऽभिहिओ ।
जं मूयं मइनाणं, सपरप्पच्चायगं सुत्तं ॥१७१॥

अन्यैस्तु कैश्चिदाचार्यैः स्वपरप्रत्यायनतो मतिश्रुतयोर्भेदोऽभिहितः । कयोरिव ?, इत्याह-मूकेतरयोरिव, यथा हि मूकः स्वमात्मानमेव प्रत्याययति प्रतीतिपथं नयति, न तु परम्, तत्प्रत्यायनहेतुवचनाभावाद्; इतरस्त्वमूकः स्वं परं च प्रत्याययति, वचनसद्भावात् । तथा सति यथा मूकमुखरयोर्भेदः, एवं मतिश्रुतयोरपि, यद् यस्मात् परप्रत्यायनहेतुद्रव्याक्षराभावाद् मूकं मतिज्ञानम्, मुखरं तु श्रुतज्ञानम्,

* इममेवाऽभिप्रायं नन्द्यध्ययने अस्या एव गाथाया विवरणस्थले श्रीमन्मलयगिरिसूरिरप्याह । तथाहि-"नन्वश्रुतनिश्रिता बुद्धयो वक्तुमभिप्रेताः, ततो वैनयिक्यास्त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वम्, ततोऽश्रुतनिश्रितत्वे नोपपद्यते, न हि श्रुताभ्यासमन्तरेण त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वं संभवति । अत्रोच्यते-इह प्रायो वृत्तिमाश्रित्याऽश्रुतनिश्रितत्वमुक्तम्, ततः स्वल्पश्रुतभावेऽपि न कश्चिद्दोषः " इति ।

" इहातिगुरुकार्ये दुर्निर्वहत्वाद् भर इव भरस्तन्निस्तरणे समर्था भरनिस्तरणसमर्थाः, त्रयो वर्गास्त्रिवर्गो लोकरूढ्या धर्मार्थकामास्तदर्जनोपायप्रतिपादकं यत् सूत्रं यश्च तदर्थस्तौ त्रिवर्गसूत्रार्थौ, तयोर्गृहीतं 'पेयालं' प्रमाणं सारो वा यया सा तथाविधा ।" इति नन्दिटीकायां व्याख्यातोऽस्या अर्थः ।

कुतः ?, स्वपरप्रत्यायकत्वात्-द्रव्याक्षरसद्भावेन परप्रत्यायकत्वस्यापि तत्र लभ्यमानत्वादिति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥१७१॥

एतदाचार्यो मतिश्रुतयोस्तुल्यताऽऽपादनेन किञ्चिद् दूषयितुमाह-

सुयकारणं ति सद्दो, सुयमिह सो य परबोहणं कुणइ ।
मइहेयवो वि हि परं, बोहिंति कराइचेट्ठाओ ॥१७२॥

इह तावद्भवन्तं पृच्छामः-हन्त ! शब्दः श्रुतमुच्यते, उपलक्षणत्वात्पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षरविन्यासश्च श्रुतमभिधीयते (सुयकारणं ति) श्रुतकारणत्वात्-कारणे कार्योपचारादिति भावः । स च शब्दः,पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षरविन्यासश्च परबोधनं परप्रत्यायनं करोतीत्येवं परतः श्रुतज्ञानं परप्रत्यायकमुच्यते, न तु स्वतः;इति तावद्भवतोऽभिप्रायः। एतच्च मतिज्ञानेनाऽपि समानम्। कुतः?, इत्याह-हि यस्मान्मतिहेतवोऽपि मतिजनका अपि कराऽऽदिचेष्टाविशेषाः परं बोधयन्त्येव । तथाहि-अक्षराऽऽत्मकत्वात् किलशब्दः,पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षरविन्यासश्च श्रुतस्य कारणं, करशीर्षाऽऽदिचेष्टास्त्वक्षररहितत्वात् किल मतिज्ञानस्य हेतवः-करचक्रसंयोगे हि कृते भुजिक्रियाविषया किल मतिरुत्पद्यते, शीर्षे च धूनिते निवृत्तिप्रवृत्तिविषया सा समुपजायते, इत्येवं मतिहेतवः कराऽऽदिचेष्टाऽपि परप्रबोधिका एवेति गाथाऽर्थः ॥ १७२ ॥

यदि मतिहेतवोऽपि परं प्रबोधयन्ति, ततः किम् ?, इत्याह-

न परप्पबोहयाइं, जं दो वि सरूवओ मइसुयाइं ।
तक्कारणाइँ दोण्ह वि,बोहेंति तओ न भेओ सिं ॥१७३॥

मतिहेतूनामपि परप्रबोधकत्वे सति न (भेओ सिं) अनयोर्मतिश्रुतयोर्न भेदः।कुतः?,इत्याह-(तउ त्ति) ततस्तस्मात् कारणात्। कस्मात् ?, इत्याह-यद् यस्माद् द्वे अप्येते मतिश्रुते स्वरूपतो विज्ञानाऽऽत्मना न परप्रबोधके, विज्ञानस्य मूकत्वेन परप्रबोधकत्वायोगात, अवध्यादिवदिति । अथ श्रुतस्य यत्कारणं शब्दाऽऽदिकं तत्परप्रबोधकम्, इत्येतावता मतिज्ञानाद् विशिष्यते श्रुतज्ञानम् । नन्वेतद् मतिज्ञानेऽपि समानम्, तत्कारणस्याऽपि करचेष्टाऽऽदेः परावबोधकत्वादिति । एतदेवाऽऽह-तानि च तानि पूर्वोक्तरूपाणि कारणानि च तत्कारणानि द्वयोरपि मतिश्रुतज्ञानयोर्यथासंख्यं शब्दाऽऽदीनि, करचेष्टाऽऽदीनि च परं बोधयन्त्येव, इति कोऽनयोर्विशेषः ?, न कश्चिदित्यर्थः । इति किमुच्यते-मूकेतरभेदाद् भेदः ? । इति गाथार्थः ॥ १७३ ॥

तदेवं परोक्ते व्यभिचारिते ततो निरुत्तरं विलक्षीभूतं
तूष्णींभावमापन्नं परमवलोक्य संजातकारुण्यः
स्वयमेव सूरिरुत्तरमाह—

दव्वसुयमसाहारण-कारणओ परविबोहयं होज्जा ।
रूढं ति व दव्वसुयं, सुयं ति रूढा ण दव्वमई ॥१७४॥

द्रव्यश्रुतं पुस्तकन्यस्ताक्षरशब्दरूपं श्रुतज्ञानस्यैव कारणम्, न तु मतेः, इति श्रुतज्ञानं प्रत्यसाधारणकारणत्वाद् द्रव्यश्रुतं परप्रबोधकं भवेत्, न तु कराऽऽदिचेष्टाः, तासां मतिश्रुतोभयकारणत्वेन साधारणकारणत्वादिति भावः । इदमुक्तं भवति-पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षररूपं,शब्दाऽऽत्मकं च द्रव्यश्रुतम्,श्रुतज्ञानस्य मतिपूर्वकत्वाद् यद्यप्यानन्तर्येणावग्रहेहाऽऽदीन् जनयति, तथाऽप्यक्षररूपत्वाद् मुख्यतया श्रुतज्ञानस्यैव किलासाधारणं कारणमुच्यते, कारणत्वेनोपचारतः श्रुतज्ञाने ऽन्तर्भवति, परप्रबोधकत्वेन च तत्सर्वस्यापि विदितमिति । एवं कारणस्य परप्रबोधकत्वात् श्रुतज्ञानं परप्रबोधकं घटते, कराऽऽदिचेष्टास्तु मतिज्ञानस्यासाधारणकारणं न भवन्ति, श्रुतज्ञानहेतुत्वादपि करचक्रसंयोगाऽऽदिकायां हि करचेष्टायां दृष्टायां न केवलं तद्विषयाऽवग्रहाऽऽदय उत्पद्यन्ते, किं तु-"भोक्तुमिच्छत्ययम्" इत्यादिश्रुतानुसारिविकल्पाऽऽत्मकं श्रुतज्ञानमप्युपजायते इति । अतोऽसाधारणकारणत्वाभावात् कराऽऽदिचेष्टाः परमार्थतो मतिज्ञानस्य कारणमेव न संभवन्ति, ततश्च न तत्रान्तर्भवन्ति; तथा च सति न मतिज्ञानं परप्रबोधकम् । अथवा-(दव्वसुयमसाहारणकारणओ त्ति) द्रव्यश्रुतं पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताऽऽचाराऽऽदिग्रन्थाक्षररूपम्, गुरुजनोदीरितदेशनाशब्दस्वरूपं च परप्रबोधकं भवेत् । कुतः ?, इत्याह—असाधारणस्य मोक्षं प्रत्यनन्यसाधारणकारणस्य क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणस्य वस्तुकलापस्य कारणत्वाद् हेतुत्वात; ततश्च तद्द्वारेण श्रुतज्ञानमपि परप्रबोधकं घटते, कराऽऽदिचेष्टास्तु यद्यपि मतिज्ञानस्य कारणम्, तथाऽपि यथोक्तो विशिष्टः परप्रबोधस्तासु प्रायो न संभवति, अतो विशिष्टपरप्रबोधाभावाद् न ताः परप्रबोधिकाः, तथा च सति न तद्द्वारेणापि मतिज्ञानं परप्रबोधकम । इति सूत्रस्य सूचकत्वात् सोपस्कारः पूर्वार्द्धस्यार्थोऽवसेयः । अथोत्तरार्द्धस्य व्याख्या प्रस्तूयते—(रूढं ति वेत्यादि) वेत्यथवा, भवतु मतिज्ञानस्य कारणं कराऽऽदिचेष्टा,तथापि सा 'द्रव्यमतिः' इत्येवमागमे क्वचिदपि न रूढाः; द्रव्यश्रुतं पुनः पूर्वोक्तस्वरूपं ' श्रुतम् ' इत्येवं सर्वत्र रूढम् । ततश्च यद्यपि कराऽऽदिचेष्टा मतिज्ञानस्य कारणम्, परप्रबोधिका च; तथापि द्रव्यमतित्वेनाऽऽरूढत्वात् कारणे कार्योपचारतो मतिरूपतया न व्यवह्रियते । अतो मतिज्ञानात् तस्याः पृथग्भूतत्वाद् न तद्द्वारेण तस्य परप्रबोधकत्वम्, द्रव्यश्रुतं तु कारणे कार्योपचारतः श्रुतज्ञानत्वेन प्ररूप्यते, इति तद्द्वारेणास्य परप्रबोधकमुपपद्यते एव । इति युक्तो मूकेतरभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदः । ततश्च-" तक्कारणाइं दोण्ह, वि बोहिंति तओ न भेओ सिं । " (१७३) इत्येतदपास्तं भवतीति गाथाऽर्थः ॥ १७४ ॥

(११) तदेवं कराऽऽदिचेष्टाया मतिकारणत्वमभ्युपगम्योक्तम्,
साम्प्रतं सा मतेः कारणमेव न भवति, किं तु
श्रुतस्येति दर्शयन्नाह-

सा वा सद्दत्थो च्चिय, तया वि जं तम्मि पच्चओ होइ ।
कत्ता वि हु तदभावे, तदभिप्पाओ कुणइ चिट्ठं ॥१७५॥

यदि वा सा कराऽऽदिचेष्टा करचक्रसंयोगाऽऽदिलक्षणा । किम्?,इत्याह-शब्दार्थ एव शब्दो वक्तृसमुदीरितवचनरूपः,तस्यार्थः शब्दार्थः श्रोतृगतज्ञाने प्रतिभासमानतदभिधेयवस्तुरूपः श्रुतज्ञानमिति तात्पर्यम । किमित्यसौ शब्दार्थ एव ?, इत्याह-यद् यस्मात्;कारणात् तयाऽपि कर्त्रा चिह्नतया तस्मिन् शब्दार्थे-भोजनेच्छाऽऽदिलक्षणे प्रतिपत्तुः प्रत्ययो भवति । तथा कर्त्ताऽपि तदभावे शब्दाभावे जिह्वारोगाऽऽदिसद्भावात् शब्दोदीरणसामर्थ्याभाव इत्यर्थः । (तदभिप्पाउ त्ति) तस्मिन् शब्दार्थे भोजनेच्छाऽऽदिलक्षणे परस्मै प्रतिपादयितव्येऽभिप्रायो मनोविकल्पो यस्यासौ तदभिप्रायः करोति चेष्टां करचक्रसंयोगाऽऽदि

लक्षणाम् । इदमुक्तं भवति-यद्यपि कराऽऽदिचेष्टाऽनन्तरभावेनाऽवग्रहाऽऽदीन् जनयति, तथाऽपि शब्दार्थ एव सा श्रुतज्ञानमेवेत्यर्थः; यस्मात् तयाऽपि विहितया तत्र शब्दार्थप्रत्ययो भवति, अतः शब्दार्थप्रत्ययजनकत्वात् कारणे कार्योपचारात् शब्दार्थप्रत्यय एव सा, न पुनर्मतिः, तथा कर्ताऽपि 'भोक्तुमिच्छत्यसौ' इत्यादिप्रतिपत्ता जानात्वित्यभिप्रायवानेव भाषणशक्त्यभावे कराऽऽदिचेष्टां करोति । ततश्च कर्त्राऽपि शब्दार्थद्योतनाभिप्रायेण क्रियमाणत्वात् कराऽऽदिचेष्टा शब्दार्थ एव । ततश्च एषाऽपि श्रुतकारणत्वात् श्रुत एवान्तर्भवति, शब्दवत्, न मतौ, तथा च सत्येषा परमार्थतो मतेः कारणमेव न भवत्यतः कारणद्वारेणाऽपि न परप्रत्यायकं मतिज्ञानम्, श्रुतं तु तद्द्वारेण परावबोधकम् । इति युक्तो मूकेतरभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदः ॥ १७५ ॥ विशे० । स्था० । आ० म० । कर्म० । नं० ।

(१२) श्रुतानन्तरमवधिज्ञानस्य विवेकः-

कालविपर्ययस्वामित्वलाभसाधर्म्याद् मतिश्रुतानन्तरमवधिज्ञानमुक्तम् । प्रवाहापेक्षया, अप्रतिपतितैकसत्त्वाऽऽधारापेक्षया वा यावान् मतिश्रुतयोः स्थितिकालः तावानेवावधिज्ञानस्याऽपि तथा यथैव मतिश्रुतज्ञाने मिथ्यादर्शनोदयतो विपर्ययरूपतामासादयतः, तथाऽवधिज्ञानमपि । तथाहि-मिथ्यादृष्टेः सतस्तान्येव मतिश्रुतावधिज्ञानानि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानानि भवन्ति । उक्तं च-"आद्यत्रयमज्ञानम-पि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम् ।" इति । तथा य एव मतिश्रुतज्ञानयोः स्वामी स एवावधिज्ञानस्याऽपि । तथा विभङ्गज्ञानिनः त्रिदशाऽऽदेः सम्यग्दर्शनावाप्तौ युगपदेव मतिश्रुतावधिज्ञानानां लाभसंभवस्ततो लाभसाधर्म्यम् अवधिज्ञानानन्तरं च छद्मस्थविषयभावप्रत्यक्षत्वसाधर्म्याद् मनःपर्यायज्ञानमुक्तम् । तथाहि-यथाऽवधिज्ञानं छद्मस्थस्य भवति, तथा मनःपर्यवज्ञानमपीति छद्मस्थसाधर्म्यम् । तथा यथाऽवधिज्ञानं रूपिद्रव्यविषयं तथा मनःपर्यायज्ञानमपि, तस्य मनःपुद्गलाऽऽलम्बनत्वादिति विषयसाधर्म्यम् । तथा यथाऽवधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे वर्तते, तथा मनःपर्यायज्ञानमपीति भावसाधर्म्यम् । यथा चाऽवधिज्ञानं प्रत्यक्षं तथा मनःपर्यायमपीति प्रत्यक्षत्वसाधर्म्यम् । उक्तं च-"कालविवज्जयसामि-त्तलाभसाहम्मओऽवही तत्तो । माणसमित्तो छउम-त्थविसयभावाइँ साहम्मा" ॥ ८७ ॥ (विशे०) तथा मनःपर्यायज्ञानानन्तरं केवलज्ञानस्योपन्यासः, सर्वोत्तमत्वात्, अप्रमत्तयतिस्वामिसाधर्म्यात् सर्वावसानलाभाच्च । तथाहि-सर्वाण्यपि मतिज्ञानाऽऽदीनि ज्ञानानि देशतः परिच्छेदकानि, केवलज्ञानं तु सकलवस्तुस्तोमपरिच्छेदकं सर्वोत्तमं, सर्वोत्तमत्वात् चान्ते सर्वशिरःशेखरकल्पे उपन्यस्तम् । तथा-यथा मनःपर्यायज्ञानमप्रमत्तयतेरेवोदयते, तथा केवलमप्यप्रमादभावमुपगतस्यैव यतेर्भवति, नान्यस्य, ततोऽप्रमत्तयतिसाधर्म्यम् । तथा यः सर्वाण्यपि ज्ञानानि समासादयितुं योग्यः स नियमात् सर्वज्ञानावसाने केवलज्ञानमवाप्नोति, ततः सर्वान्ते केवलमुक्तम् । उक्तं च-" अन्ते केवलमुत्तं, जइ सामित्तावसाणलाभाओ । " इति । तथा यथा मनःपर्यायज्ञानं न विपर्ययमासादयति, तथा केवलज्ञानमपीति । विपर्ययाभावसाधर्म्याच्च मनःपर्यायज्ञानानन्तरं केवलज्ञानमुक्तमिति कृतं प्रसङ्गेन । नं० । " खइयं खओवसमियं, दुविहं नाणं मुणेयव्वं । खइयं केवलनाणं, खओवसमियाइँ सेसणाणाइं ॥१॥" पं० भा० ।

(१३) ज्ञानं प्रत्यक्षं परोक्षं च । तथाहि-

तं समासओ दुविहं पण्णत्तं । तं जहा-पच्चक्खं च, परोक्खं च ।

तत्पञ्चप्रकारमपि ज्ञानं समासतः संक्षेपेण द्विविधं द्विप्रकारं प्रज्ञप्तं, तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । प्रत्यक्षं च, परोक्षं च । नं० । आ० म० । आ० चू० । स्था० । (प्रत्यक्षवक्तव्यता 'पच्चक्ख' शब्दे) (परोक्षभेदाः 'परोक्ख' शब्दे वक्ष्यन्ते) (अवध्यादिज्ञानानां व्याख्या स्वस्वस्थाने) (तृतीयभागे 'ओहि' शब्दे १५६ पृष्ठे ज्ञानदर्शनविभङ्गलक्षणमुक्तम्) ('आभिणिबोहियणाण' शब्दे द्वितीयभागे २५५ पृष्ठे सशयाऽऽदीनामपि ज्ञानवत्त्वमावेदितम्)

(१४) न ज्ञानमात्मव्यतिरेकेण गुणः-

ननु चैतन्यं ज्ञानमात्मनः क्षेत्रज्ञादत्यन्तव्यतिरिक्तम्, असमासकरणादत्यन्तमिति लभ्यते । अत्यन्तभेदे सति कथमात्मनः संबन्धि ज्ञानमिति व्यपदेशः ?, इति पराशङ्कापरिहारार्थमौपाधिकमिति विशेषणद्वारेण हेत्वभिधानम् । उपाधेरागतमौपाधिकम् । समवायसंबन्धलक्षणेनोपाधिना आत्मनि समवेतत्वेनात्मनः स्वयं जडरूपत्वात् समवायसंबन्धोपढौकितमिति भावः । यद्यात्मनो ज्ञानादव्यतिरिक्तत्वमिष्यते, तदा दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावाद् बुद्ध्यादीनां नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदावसरे आत्मनोऽप्युच्छेदः स्यात् । तदव्यतिरिक्तत्वात् । अतो भिन्नमेवाऽऽत्मनो ज्ञानं यौक्तिकमिति । (स्या०) अत्राह-ज्ञानमपि यद्येकान्तेनाऽऽत्मनः सकाशाद्भिन्नमिष्यते, तदा तेन चैत्रज्ञानेन मैत्रस्येव नैव विषयपरिच्छेदः स्यादात्मनः । अथ यत्रैवाऽऽत्मनि समवायसंबन्धेन समवेतं ज्ञानं तत्रैव भावावभासं करोतीति चेत् । न । समवायस्यैकत्वाद् नित्यत्वाद् व्यापकत्वात् च सर्वत्र वृत्तेरविशेषात् समवायवदात्मनामपि व्यापकत्वादेकज्ञानेन सर्वेषां विषयावबोधप्रसङ्गः । यथा च घटे रूपाऽऽदयः समवायसंबन्धेन समवेताः, तद्विनाशे च तदाश्रयस्य घटस्याऽपि विनाशः । एवं ज्ञानमप्यात्मनि समवेतं, तच्च क्षणिकं, ततस्तद्विनाशे आत्मनोऽपि विनाशाऽऽपत्तेरनित्यत्वाऽऽपत्तिः । अथाऽस्तु समवायेन ज्ञानाऽऽत्मनोः संबन्धः, किं तु स एव समवायः केन तयोः संबध्यते ?, समवायान्तरेण चेदनवस्था, स्वेनैव चेत्, किं न ज्ञानाऽऽत्मनोरपि तथा । अथ यथा प्रदीपस्तत्स्वाभाव्यादात्मानं परं च प्रकाशयति, तथा समवायस्यैतदेव स्वभावो यदात्मानं, ज्ञानात्मानौ च संबन्धयतीति चेत्-ज्ञानात्मनोरपि किं न तथास्वभावता, येन स्वयमेवतौ संबध्येते ?। किञ्च-प्रदीपदृष्टान्तोऽपि भवत्पक्षे न जाघटीति । यतः प्रदीपस्तावद् द्रव्यम्, प्रकाशश्च तस्य धर्मः, धर्मधर्मिणोश्च त्वयाऽत्यन्तं भेदोऽभ्युपगम्यते; तत्कथं प्रदीपस्य प्रकाशाऽऽत्मकता ?। तदभावे च स्वपरप्रकाशकत्वभावताभणितिर्निर्मूलैव । यदि च प्रदीपात्प्रकाशस्यात्यन्तभेदेऽपि प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशकत्वमिष्यते, तदा घटाऽऽदीनामपि तदनुषज्यते, भेदाविशेषात् । अपि च-तौ स्वपरसंबन्धनस्वभावौ समवायाद्भिन्नौ स्याताम्, अभिन्नौ वा ?। यदि-भिन्नौ, ततस्तस्यैतौ स्वभावाविति कथं संबन्धः ?। संबन्धनिबन्धनस्य समवायान्तरस्यानवस्थाभयादनभ्युपगमात् । अथाऽभिन्नौ, ततः समवायमात्रमेव, न तौ । तदव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवदिति । किञ्च-यथेह समवायिषु समवाय इति मतिः

समवायं विनाऽप्युपपन्ना, तथेहाऽऽत्मनि ज्ञानमित्ययमपि प्रत्ययस्तं विनैव चेदुच्यते, तदा को दोषः ?। अथाऽऽत्मा कर्ता, ज्ञानं च करणम्,कर्तृकरणयोश्च वर्द्धकिवासीवद्भेद एव प्रतीततः,तत्कथं ज्ञानाऽऽत्मनोरभेदः?,इति चेत् । न । दृष्टान्तस्य वैषम्यात् । वासी हि बाह्यं करणम्, ज्ञानं चाभ्यन्तरं,तत्कथमनयोः साधर्म्यम् ?। न चैवं करणस्य द्वैविध्यमप्रसिद्धम् । यदाहुर्लाक्षणिकाः-" करणं द्विविधं ज्ञेयं, बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः । यथा लुनाति दात्रेण, मेरुं गच्छति चेतसा " ॥ १ ॥ यदि हि किञ्चित्करणमाभ्तरमेकान्तेन भिन्नमुपदर्श्यते,ततः स्याद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यम्, न च तथाविधमस्ति । न च बाह्यकरणगतो धर्मः सर्वोऽप्यान्तरे योजयितुं शक्यते । अन्यथा दीपेन चक्षुषा देवदत्तः पश्यतीत्यत्रापि दीपाऽऽदिवच्चक्षुषोऽप्येकान्तेन देवदत्तस्य भेदः स्यात्; तथा च सति लोकप्रतीतिविरोध इति । अपि च-साध्यविकलोऽपि वासिवर्द्धकिदृष्टान्तः । तथाहि-नायं वर्द्धकिः काष्ठमिदमनया वास्या घटयिष्यते इत्येवं वासिग्रहणपरिणामेनापरिणतः सन् तामगृहीत्वा घटयति, किं तु तथापरिणतस्तां गृहीत्वा । तथापरिणामे च वासिरपि तस्य काष्ठस्य घटने व्याप्रियते,पुरुषोऽपि । इत्येवं सङ्कीर्णकार्यसाधकत्वाद् वासिवर्द्धकयोरभेदोऽप्युपपद्यते, तत्कथमनयोर्भेद एवेत्युच्यते ?। एवमात्माऽपि-'विवक्षितमर्थमनेन ज्ञानेन ज्ञास्यामि' इति ज्ञानग्रहणपरिणामवान् ज्ञानं गृहीत्वाऽर्थं व्यवस्यति,ततश्च ज्ञानाऽऽत्मनोरुभयोरपि संवित्तिलक्षणैककार्यसाधकत्वादभेद एव । एवं कर्तृकरणयोरभेदे सिद्धे संवित्तिलक्षणं कार्यं किमात्मनि व्यवस्थितम्, आहोस्विद् विषये इति वाच्यम् ?। आत्मनि चेत्-सिद्धं नः समीहितम् । विषये चेत्, कथमात्मनोऽनुभवः प्रतीयते ?। अथ विषयस्थितसंवित्तेः सकाशादात्मनोऽनुभवस्तर्हि किं न पुरुषान्तरस्यापि ?,तद्भेदाविशेषात् । अथ ज्ञानाऽऽत्मनोरभेदपक्षे कथं कर्तृकरणभाव इति चेत्?,ननु यथा सर्प आत्मानमात्मना वेष्टयतीत्यत्राभेदे यथा कर्तृकरणभावस्तथाऽत्रापि । अथ परिकल्पितोऽयं कर्तृकरणभाव इति चेद्वेष्टनाऽवस्थायां प्रागवस्थाविलक्षणगतिनिरोधलक्षणार्थक्रियादर्शनात् कथं परिकल्पितत्वम् ?। न हि परिकल्पनाशतैरपि शैलस्तम्भ आत्मानमात्मना वेष्टयतीति वक्तुं शक्यम् । तस्मादभेदेऽपि कर्तृकरणभावः सिद्ध एव । किञ्च-'चैतन्यमिति शब्दस्य चिन्त्यतामन्वर्थः-चेतनस्य भावश्चैतन्यम् । चेतनश्चात्मा त्वयाऽपि कीर्त्यते, तस्य भावः स्वरूपं चैतन्यम् । यच्च यस्य स्वरूपं न ततो भिन्नं भवितुमर्हति, यथा वृक्षाद् वृक्षस्वरूपम् । अथास्ति चेतन आत्मा, परं चेतनासमवायसंबन्धाद्, न स्वतः; तथा प्रतीतेरिति चेत् । तदयुक्तम् । यतः प्रतीतिश्चेत् प्रमाणीक्रियते, तर्हि निर्बाधमुपयोगाऽऽत्मक एवाऽऽत्मा प्रसिध्यति । न हि जातुचित् स्वयमचेतनोऽहं चेतनायोगात् चेतनः । अचेतने वा मयि चेतनायाः समवाय इति प्रतीतिरस्ति; ज्ञाताऽहमिति समानाधिकरणतया प्रतीतेः । भेदे तथा प्रतीतिरिति चेत् । न । कथञ्चित्तादात्म्याभावे सामानाधिकरण्यप्रतीतेरदर्शनात् । यष्टिः पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचाराद् दृष्टा, न पुनस्तात्त्विकी । उपचारस्य तु बीजं-पुरुषस्य यष्टिगतस्तब्धत्वाऽऽदिगुणैरभेदः,उपचारस्य मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । तथा चाऽऽत्मनि ज्ञाताऽहमिति प्रतीतिः कथञ्चिच्चेतनाऽऽत्मतां गमयति,तामन्तरेण ज्ञाताऽहमिति प्रतीतेरनुपपद्यमानत्वाद्,घटाऽऽदिवत् । न हि घटाऽऽदिरचेतनाऽऽत्मको ज्ञाताऽहमिति प्रत्येति । चैतन्ययोगाभावादसौ न तथा प्रत्येतीति चेत् । न । अचेतनस्यापि चैतन्ययोगाच्चेतनोऽहमिति प्रतिपत्तेरनन्तरमेव निरस्तत्वात्, इत्यचेतनत्वं सिद्धम्-आत्मनो जडस्याऽर्थपरिच्छेदं पराकरोति, तं पुनरिच्छता चैतन्यस्वरूपताऽस्य स्वीकरणीया । ननु ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदः, अन्यथा धनवानिति प्रत्ययादपि धनधनवतोर्भेदाभावानुषङ्गः । तदसत् । यतो ज्ञानवानहमिति नाऽऽत्मा भवन्मते प्रत्येति, जडत्वैकान्तरूपत्वात्,घटवत् । सर्वथा जडश्च स्यात्-आत्मा ज्ञानवानहमिति प्रत्ययश्च स्यादस्य विरोधाभावात्,इति मा निर्णैषीः; तस्य तथोत्पत्त्यसंभवात् । ज्ञानवानहमिति हि प्रत्ययो नागृहीते ज्ञानाऽऽख्ये विशेषणे विशेष्ये चाऽऽत्मनि जातूत्पद्यते, स्वमतविरोधात्; " नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः " इति वचनात् । गृहीतयोस्तयोरुत्पद्यत इति चेत्-कुतस्तद्ग्रहीतिः ?। न तावत् स्वतः, संवेदनाऽनभ्युपगमात् । स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा युज्यते, नाऽन्यथा, सन्तानान्तरवत् । परतश्चेत्तदपि ज्ञानान्तरं विशेष्यं नागृहीते ज्ञानत्वविशेषणे गृहीतुं शक्यम् । गृहीते हि घटत्वे घटग्रहणमिति ज्ञानान्तरात्तद्ग्रहणेन भाव्यम्, इत्यनवस्थानात् कुतः प्रकृतप्रत्ययः ?। तदेवं नाऽऽत्मनो जडस्वरूपता संगच्छते । तत्सङ्गतौ च चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यदिति वाङ्मात्रम् । स्या० । आचा० । विपा० । ('आता' शब्दे द्वितीयभागे २०० पृष्ठे ज्ञानज्ञानिनोरभेदविचारोऽदर्शि)

(१५) ज्ञानज्ञानिनोरन्यत्वे बन्धमोक्षपरामर्शः-

चेयणस्स उ जीवा, जीवस्स उ चेयणाउ अन्नत्ते ।
दवियं अलक्खणं खलु, हविज्ज न य बंधमोक्खाओ ॥

चैतन्यस्य जीवाज्जीवस्य चेतनाया अन्यत्वे द्रव्यं जीवद्रव्यमलक्षणं 'चेतनालक्षणो जीवः' इति लक्षणरहितं भवेत्,चेतनाया घटाऽऽदिवद् जीवादप्येकान्तव्यतिरिक्तत्वाद्, लक्षणाभावे च लक्ष्यस्याप्यभाव इति, खरशृङ्गवत् । अत्यन्तासन् जीवो न बध्यते, बन्धस्य वस्तुधर्मत्वात् । नापि मुच्यते, बन्धाभावादिति बन्धमोक्षावपि न स्याताम् । अथ मन्येथा अचेतनोऽपि स बध्यते, मुच्यते चेति । तदप्ययुक्तम् । अचेतनानामप्येवं धर्मास्तिकायाऽऽदीनां बन्धमोक्षप्रसक्तेः । बृ० १ उ० । विशे० ।

(१६) बोधमात्रं, साकारो वा बोधः प्रमाणम्-

तथाहि-"बोधः प्रमाणम्" इति वदन्तो वैभाषिकाः पर्यनुयोज्याः । किं बोधमात्रस्य प्रामाण्यम्, आहोस्विद् बोधविशेषस्य ?। यदि बोधमात्रस्य,तदा तल्लक्षणमयुक्तम्;व्यवच्छेद्याभावात् । अबोधस्य व्यवच्छेद्यत्वेऽपि संशयविपर्ययाऽऽदीनां बोधस्वभावत्वात् प्रमाणताप्रसक्तिः। न च संशयाऽऽदीनामपि प्रमाणता, लोकशास्त्रविरोधात् । लोकप्रसिद्धं च प्रमाणं व्युत्पादयितुमारब्धम्,तत्र चेन्द्रियाऽऽदेरपि प्रमाणतायाः प्रसिद्धेः बोधस्य प्रामाण्येऽव्याप्तिश्च लक्षणदोषः । न चाबोधरूपस्येन्द्रियाऽऽदेर्लोकप्रमाणता न व्यपदिशति, प्रदीपेनोपलब्धं चक्षुषा दृष्टं धूमेनावगतमिति लौकिकव्यवहारदर्शनात् । न चौपचारिकं प्रामाण्यम्, प्रमितिक्रियायां साधकतमत्वेन मुख्यप्रामाण्योपपत्तेः । अत एव शास्त्रान्तरेष्वपि विशेष्योपलब्धिजनकस्य बोधाबोधरूपविशेषत्यागेन, सामान्यतो " लिखितं साक्षिणो भुक्तिः, प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्" इत्युक्तिः । किं च-प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणशब्दः करणविशेषप्रतिपादकः । करणविशेषत्वं चास्य विशेष्योपलब्धिजनकस्य, बोधाबोधरूपविशेषत्यागेन सामान्यतो

निश्चितस्वरूपकार्यजनकत्वेन कार्यस्य चाऽव्यभिचाराऽऽदिस्वरूपत्वात् तज्जनकत्वेनापरेण साधकतमेन भाव्यम्, एकस्यैव स्वात्मनि करणक्रियाविरोधात्। ततो बोधाबोधरूपस्य प्रमितिजनकस्य प्रमाणतोपपत्तेर्बोधमात्रं प्रमाणमित्यत्राव्याप्तिर्लक्षणदोषः प्राप्नोतीति स्थितम् ।

अथ बोधविशेषः प्रमाणं, तदाऽत्रापि वक्तव्यम्-कः पुनरसौ बोधस्य विशेषः?। यद्यव्यभिचाराऽऽदिविशेषणविशिष्टत्वं, तदा प्रमितिस्वभावस्य तस्य प्रमाणताप्रसक्तिः। न चाभ्युपगम्यत एवेति वाच्यम्, करणविशेषस्य प्रमाणव्यवस्थितेः। अत एव 'निराकारो बोधोऽर्थसहभाव्येकसामग्र्यधीनस्तत्रार्थे प्रमाणम्' इति वैभाषिकोक्तमसङ्गतम् । अपि च-कर्मण्यसौ प्रमाणमभ्युपेयते । यत उक्तम्-"सव्यापारमिवाऽऽभाति, व्यापारेण स्वकर्मणि ।" इति । कर्मता च बोधसहभाविनोऽर्थस्य तद्बोधापेक्षया न संभवति, तत्समानकालस्य तत्कृतविकार्यत्वात्। द्वयोः कर्मरूपत्वे च तत्र करणक्रिययोः कथं प्रतिनियमः ?। तदभावे चैकस्य सामग्र्यधीनतायामपि सर्वः सर्वस्य बोधो भवेत् । किञ्चैकसामग्र्यधीनत्वस्य द्वयोरप्यविशेषाद्यथा बोधोऽर्थस्य ग्राहकः, तथाऽर्थोऽपि बोधस्य किं न भवेत् ?। तन्न 'निराकारो बोधः प्रमाणं' संभवति। अथ स्यान्निराकारो बोधः, प्रमाणं माऽस्त्वसौ, प्रमितिक्रियायां साधकतमत्वात् प्रमाणम् । ननु च बोधस्य प्रमाणस्वरूपत्वादर्थाऽऽकाराऽऽत्मकत्वमयुक्तम्, प्रमेयरूपताऽऽपत्तेः। न च प्रमेयरूपमेव प्रमाणं भवितुमर्हति, प्रमाणस्य तद्ग्राहकत्वेन प्रतिभासनात्। न च तथात्वेन प्रतिज्ञासमानमपि प्रमेयरूपं युक्तम्, प्रमाणप्रमेययोरन्तर्बहिर्व्यवस्थितत्वेनावभासनात् । भेदेन च प्रतिभासमानं नान्यथाऽधिगन्तुं युक्तम् । न हि प्रतिभासः साक्षात् कारणाऽऽकारत्वात् प्रत्यक्षरूपोऽर्थव्यवस्थापकः प्रमाणान्तरादनुग्रहं, बाधां वा प्रतिपद्यते। उक्तं च-"प्रमाणस्य प्रमाणेन, न बाधा नाप्यनुग्रहः । बाधायामप्रमाणत्व-मानर्थक्यमनुग्रहे ॥१॥" इति । सर्वदा बहिर्मुखतयार्थावभासिनोऽध्यक्षस्याप्रमाणत्वे प्रमाणान्तराप्रवृत्तिरेव । न चाध्यक्षेण ज्ञानमेव बहिरर्थाकारं प्रतिपद्यते, न बाह्योऽर्थः, इति कथं निराकारता तस्येति वक्तव्यम् ?, ज्ञानरूपतया बोधस्याध्यक्षे प्रतिभासनात्, अर्थस्य च ज्ञानरूपतायाः प्रतिपत्तेः। न ह्यनहङ्काराऽऽस्पदत्वेनार्थस्य प्रतिभासे अहङ्काराऽऽस्पदबोधरूपस्यैव ज्ञानरूपता युक्ता । यदि स्वहङ्काराऽऽस्पदत्वेनार्थस्य प्रतिभासः स्यात्तदा रूपादिज्ञत्वात्तदात्मनोऽहं घट इति प्रतिभासः स्यात् । न चान्यथाभूता प्रतिपत्तिरन्यथाभूतमर्थं व्यवस्थापयितुं शक्ता, प्रतिपत्तिव्यतिरेकेणाप्यर्थव्यवस्थितिप्रसक्तेः; नीलप्रतिपत्तेरपि पीताऽऽदिव्यवस्थापनाप्रसङ्गात्। अथ साकारविज्ञानमाकारप्रतिनियमात् तत्प्रतिपत्त्यैवार्थस्तदाकारतां तज्जनकस्याऽर्थस्य व्यवस्थापयेदिति प्रतिकर्मव्यवस्था सिध्यति; निराकारं तु विज्ञानं बोधमात्रतया व्यवस्थितम्, सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वात्। नीलस्येदं संवेदनं न पीतस्येति प्रतिकर्मव्यवस्थानिबन्धनं न भवेदिति साकारं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् । असदेतत् । सर्वार्थान् प्रति बोधमात्रतया निराकारस्याविशिष्टत्वादिति हेतोर्निराकारत्वमपि चक्षुरादिवृत्त्या बोधस्य तत्रैव नियमितत्वात्। न च नियतत्वस्य सर्वार्थेषु नीलाऽऽदावेव तस्य प्रतीतिः, समानत्वेऽपि वा पुरोवर्तिन्येव नीलाऽऽदौ समानत्वस्य संभवात् न सर्वार्थसाधारणी प्रतिपत्तिः निराकारज्ञानवादिनो न काचित् क्षतिः, तथादृष्टत्वात् । न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम निराकारत्वे किमिति पुरोवर्तिन्येव नीलाऽऽदौ प्रवर्तते, विज्ञानं चक्षुरादिजनितत्वात्तत्रैव नियमितत्वादिति प्रतिपादितं प्राक्। कस्मात्तैः तत्र नियम्यत इति चेत् ?, अत्र वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यम्। न हि कारणानि कार्यजननप्रतिनियमे पर्यनुयोगमर्हन्ति, तत्र तस्य वैफल्यात् । साकारत्वेऽपि चाऽयं पर्यनुयोगः समानः । तथा हि-साकारमपि ज्ञानं किमिति नीलाऽऽदिकमेव पुरोवर्ति, सन्निहितमेव च व्यवस्थापयति, तेनैव तथा तस्य जननाऽऽदिवत् समानमेतन्निराकारत्वेऽपि। किञ्च-चक्षुरादिजन्यं तद्विज्ञानमिति चक्षुराद्याकारं न भवतीति पर्यनुयोगे भवताऽपि वस्तुस्वभावैरेवोत्तरं वाच्यमिति वक्तव्यम्, तदस्माभिरभिधीयमानं किमित्यसाक्ष्यं भवतः प्रतिभाति ?। अपि च-साकारता विज्ञानस्य किं साकारेण प्रतीयते, आहोस्वित् निराकारेण ?। यदि साकारेण, तदा तत्राऽपि प्रतिपत्तावाकारान्तरपरिकल्पनमित्यनवस्थाप्रसक्तिः । निराकारेण चेत्, बाह्यार्थस्याऽपि तथाभूतेनैव प्रतिपत्तिप्रसक्तिः। न च बाह्ये प्रत्यासत्तिनियमाभावान्न तथाभूतेन प्रतिपत्तिरिति वाच्यम्, इतरत्रापि प्रत्यासत्तिनियमाभावस्य तुल्यत्वात् । शुक्ले पीताऽऽकारदर्शनाद्भ्रान्तेन प्रतिनियमाभाव इति चेत्, निराकारेऽपि तद्भ्रान्तत्वादेव प्रतिनियमो भविष्यतीति किमाकारपरिकल्पनया ?। कथमाकारमन्तरेण प्रतिनियम इति न वाच्यम्, आकारेऽप्यस्य समानत्वात् । तथाहि-साकारवादिनोऽपि कथं प्रतिनियम इति प्रेरणायां प्रतिनियताऽऽकारपरिग्रह एव प्रतिनियम इति नोत्तरं युक्तम्, प्रतिनियताऽऽकारपरिग्रहस्यैव प्रतिनियमरूपतयोपन्यस्तस्याद्यापि चिरायमाणत्वात् अथ चानुमानाद्बाह्योऽर्थः प्रतीयते, तर्हि प्रतिबन्धसिद्धिर्वक्तव्या । न च बाह्योऽर्थोऽध्यक्षतः कदाचनाऽपि सिद्धः, नापि तत्प्रतिबद्धो ज्ञानाऽऽकार इति न प्रतिबन्धसिद्धिः, तामन्तरेण न चानुमानप्रवृत्तिरिति कथं बाह्यार्थसिद्धिः ?, यथाऽर्थापत्त्या बाह्योऽर्थोऽधिगम्यते, तथाऽपत्त्याऽर्थस्वरूपप्रतिपत्तौ तस्याः प्रत्यक्षरूपताप्रसक्तेः। न च स्वरूपप्रतिपत्तिमन्तरेणाप्यनुमानवत्तस्याप्रामाण्यम्, अनुमानस्यावगतप्रतिबन्धलिङ्गप्रभवत्वेन प्रामाण्यात्, अत्र च तदभावात्। न चाऽत्यन्तपरोक्षस्यार्थस्य केनचिदाकारेण विषयीकरणमिति न तस्य प्रतिपत्तिविषयता, अनुमानविषयस्य तु पूर्वदृष्टत्वात् । इदं तद्वित्याकारेण प्रतिपत्तिविषयता संभवत्यपीति नार्थापत्त्याऽप्यर्थप्रतीतिः । अथ दूरस्थितवृक्षाऽऽदौ मृत्पिण्डाऽऽकारो यथा बाह्यवृक्षाऽऽद्यर्थव्यतिरेकेण न प्रतिभासविषयः, तद्वत्पुरोवर्तिनि स्तम्भाऽऽदौ तदाकारमस्त्येव बाह्ये स्तम्भाऽऽद्यर्थे इति सिद्ध एव बाह्यार्थः। न च वृक्षाऽऽदावपि पिण्डाऽऽद्याकार एव वृक्षाऽऽदिः, तस्य स्वपराभ्यामसत्यान्यथाप्रतीतेः। असदेतत्। यतः-स्वपराभ्यामसौ सन्निहितः प्रतीयमानः साकारेण वा ज्ञाने प्रतीयते ?, निराकारेण वा ?। यदि साकारेणेति पक्षः, तदाऽस्मावपि ज्ञानाऽऽकार एव, न बाह्योऽर्थ इति कथमप्यर्थासिद्धेरसिद्धो दृष्टान्तः । तथा च-प्रतिबन्धाप्रसिद्धेन ज्ञानाऽऽकाराद् बाह्याऽर्थसिद्धिः। अथ निराकारेण तेनार्थः स्वपराभ्यां प्रतीयत इति प्रतिबन्धासिद्धिरभ्युपगम्यते पिण्डाऽऽद्याकारस्य बाह्यार्थेन सह (?)। नन्वेवं निराकारज्ञानं बाह्यार्थग्राहकं सिद्धमिति व्यर्थं ज्ञानाकारकल्पनम्। न च तत्राऽपि प्रतिभासमानो वृक्षो ज्ञानाकार एवेत्यपरमर्थं साधयति, तत्राप्यपरापरार्थकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् कुतोऽर्थसिद्धिः ?। ज्ञानाऽऽकाराऽऽदिरिति चेत्, ननु प्रतिबन्धाग्रहणे कथं तदा तत्सिद्धिः ?, इति पुनरपि तदेव वक्तव्यमित्यपर्यवसिता पर्यनुयोगानवस्था ।

तस्मात् निराकारादेव ज्ञानाद् बाह्यार्थसिद्धिरभ्युपगन्तव्या। अथ निराकारं ज्ञानं नीलाऽऽद्यावर्थे सव्यापारं निर्व्यापारमिति कल्पनाद्वयम्। प्रथमकल्पनायामप्यव्यतिरिक्तव्यापारवत्, उत व्यतिरिक्तव्यापारवत्? इति कल्पनाद्वयम्। आद्यविकल्पे ज्ञानरूपमेव व्यापारः कश्चित्। न च व्यापारतद्वतोरभेदो युक्तो, धर्मधर्मितया प्रतीतेः। द्वितीयविकल्पेऽपि संबन्धासिद्धिः, ततस्तस्योपकाराभावात्। उपकारेऽपि तस्य तन्निर्वर्तितेऽपरो व्यापारः कल्पनीय इत्यनवस्था। व्यापारस्यापि चार्थग्रहणव्यापृतावपरो व्यापारः कश्चित् परिकल्पनीय इत्यत्राप्यनवस्था। निर्व्यापारस्यार्थव्यापृतावर्थस्यापि ज्ञानग्रहणे व्यापृतिप्रसक्तिरित्यर्थस्यापि ज्ञानं प्रति ग्राहकता स्यात्। न च निराकारो बोधो निर्व्यापारोऽपि बोधस्वरूपत्वादर्थग्राहकोऽर्थस्याप्यर्थरूपतया बोधं प्रति ग्राहकता ग्राह्यरूपासंस्पर्शान्न बोधकस्य ग्राहकता (?)। न च ग्राह्यार्थरूपान्यथाऽनुपपत्त्या बोधस्याग्राहकताव्यवस्था, इतरेतराऽऽश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि-ग्राह्यरूपव्यवस्था ग्राहकरूपसंस्पर्शात्, ग्राहकरूपव्यवस्थाऽपि ग्राह्यरूपसंस्पर्शादिति कथं नेतरेतराश्रयदोषः?। न च समानकालयोर्नीलबोधयोर्ग्राह्यग्राहकभावव्यवस्था, कर्मकर्तृरूपत्वासिद्धेः। न हि समानकालतायां निर्वर्त्यविकार्यप्राप्यरूपकर्मतासंभवः, समानकालस्य निर्वर्त्यविकार्यताऽयोगात्। प्राप्यरूपता च न तद्व्यतिरिक्ता संभवति, समानकालयोर्द्वयोरपि ग्राह्यग्राहकभावाविशेषात्। तन्न निराकारस्याप्यर्थव्यवस्थापकत्वं बोधस्येति विज्ञप्तिमात्रमेव नार्थव्यवस्थेति विज्ञानवादिनोक्तमेतत्, सप्रतिघरूपतयाऽध्यक्षतो बाह्यस्य सिद्धौ विज्ञप्तिमात्रत्वे तद्रूपताऽभावप्रसक्तिर्भवेत्। न चाध्यक्षतः सप्रतिघबाह्यरूपतया प्रतीयमानस्य विज्ञप्तिरिति नामकरणे काचिन्न क्षतिः, नामकरणमात्रेण सप्रतिघत्वबाह्यरूपत्वाऽऽदेरर्थधर्मस्याव्यावृत्तेः। अतः सप्रतिघत्वाऽऽदिरूपो बाह्योऽर्थः, तद्विपरीतश्चान्तरो बोध इति कथं विज्ञप्तिमात्रम्?। न च सप्रतिघाऽऽकारतया बोधप्रतिपत्तिः, तद्विषयतया तु तस्य प्रतिपत्तिरस्त्येव, नीलविषयो बोधो मयाऽनुभूयते इति निश्चयोत्पत्तेः। न च प्रतिभासनिश्चयमन्तरेणापरस्य पदार्थस्वरूपव्यवस्थितौ निबन्धनमुत्पश्यामः, ततो निराकारादेव बोधाद् बाह्यार्थसिद्धिरभ्युपेया। असदेतत्। यतो निराकारं ज्ञानमर्थव्यवस्थापकमिति किं प्रत्यक्षतोऽवगम्यते, आहोस्विदनुमानतः, उताऽर्थापत्तेरिति विकल्पाः?। तत्र न तावत् प्रत्यक्षतस्तत्प्रतिपत्तिः, प्रतिभासमानशरीरस्तम्भाऽऽदिव्यतिरिक्तस्यापरस्य ज्ञानस्यानुपलम्भेनासत्त्वात्। न च सुखाऽऽद्यान्तररूपेणाहङ्काराऽऽस्पदतया स्वसंवेदनाध्यक्षतो ज्ञानरूपं प्रतीयत एवेति कथं तस्यानुपलम्भः?, यतः सुखाऽऽदयो नान्तःस्पृष्टशरीराः, नातिरिच्यमानतनवः प्रतिभान्ति। अहमिति प्रत्ययोऽपि तथाभूतशरीराऽऽलम्बनतया संवेद्यत इति। न च व्यतिरिक्तो बोधाऽऽत्मा स्वप्नेऽप्यनुभवविषय इति न प्रत्यक्षतो ग्राह्यव्यतिरिक्तवद् ग्राहकस्वरूपमवभासते। अथानुभूतशरीराऽऽलम्बनतया संवेद्यत इति न तत्प्रत्यक्षावसेयम्, नाऽप्यनुमानाधिगम्यम्, प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्पूर्वकस्य तत्र तस्याप्यप्रवृत्तेः। नाप्यर्थापत्तिस्तद्भावमवगमयति, तस्याः प्रामाण्यानुपपत्तेः। किञ्चानुस्मरणमात्रमर्थापत्तिः, न चेदं तदित्युल्लेखवदनुस्मरणमदृष्टेऽर्थमासादयति। न च ज्ञानस्वरूपं कदाचनापि दृष्टं, दृष्टे वा तत एव तत्सिद्धेः किमर्थापत्त्या?। अथार्थस्य ज्ञानमिति निराकारस्य ज्ञानस्य प्रतीतेस्तत्सद्भावः। न चार्थग्राहकत्वेन सर्वदाऽर्थस्य ज्ञानमित्येवंप्रतीयमानस्याविसंवादिप्रत्ययविषयस्य तस्याभावः, संवेदनमात्रस्याप्यभावप्रसक्तेः। अतो निराकाराऽविसंवादिप्रत्ययविषया बुद्धिः सिद्धेति युक्तमुक्तम्-निराकारा नो बुद्धिरिति। असदेतत्। यतो निराकाराऽर्थबुद्धिर्मया प्रतीयत इत्यपरा बुद्धेस्तदर्थस्य च ग्राहिका बुद्धिः प्रसज्येत। तथा च तस्याकारमन्तरेण केनाऽऽकारेण बुद्धिरर्थस्येति योग्या प्रतीयेत? न हीदं तदित्यनिरूपिताऽऽकारमाकारान्तरेण योजनामर्हति। न च तथाऽप्रतीयमाना बुद्धिरिति व्यपदेशमासादयति, शशशृङ्गाऽऽदेरपि बुद्धित्वप्रसक्तेः। अथाऽपि स्वात्मनाऽर्थबुद्धिरासीदिति नार्थाऽऽकारव्यतिरिक्ता सा प्रतिभाति, किं तु पृथगपोद्धारपरिकल्पनया प्रकाशरूपतया व्यवस्थापिता बुद्धिरिति व्यपदिश्यते। अयुक्तमेतत्। यतो नाव्यतिरेकेण प्रतीयमाना बुद्धिर्विकल्पेनापोद्धर्तुं शक्या; न च पृथक् प्रतीयते नेत्युक्तम्। अथ सुखस्तम्भाऽऽद्याकारतयाऽयं तदन्तःस्पृष्टविरूपाऽऽदिकमेव ज्ञानं प्रतिभाति न पुनस्ततो व्यतिरिक्तमपरं ज्ञानम्, तथा सति संवेदनमात्रमेव प्रसक्तम्। एवं च चक्षुरादिना मया रूपं प्रतीयत इति संबन्धाभावात्कथं प्रतीतिः?; अस्ति चेयं प्रतीतिः। तस्मादुपलब्धेऽत्र रूपाऽऽदिकेऽभिमुखीभूतं चक्षुस्तत्प्रकाशत्वं विदधाति, स वै बुद्धिरुच्यते। न च नीलाऽऽद्याकारमविद्यमानमेव तत्र प्रकाशत्वमुत्पन्नमिति वक्तव्यम्, व्यज्यमाननीलाऽऽदिविषयचक्षुरादिव्यापाराऽऽदिव्यज्यमानस्य प्रकाशत्वस्यैव तत्रोत्पत्तेः, नीलाऽऽदेस्तु पूर्वमेव भावात्। तथा च सत्यर्थस्य बुद्धिरिति व्यपदेशः सिद्ध एव। अत एवोक्तम्-बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरमिति। एतदप्यसत्। यतो न प्रकाशव्यतिरेकेण नीलाऽऽदिरुपलभ्यत इति कुतः पूर्वव्यवस्थित एव नीलाऽऽदेः प्रकाशता चक्षुरादेरुदयतीति वक्तुं शक्यम्?, न हि प्रकाशतारहितं कदाचिदुपलब्धं नीलाऽऽदिकम्, उपलम्भे वा सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसक्तिः। अथ नीलस्य प्रकाश इति व्यतिरेक उपलभ्यत एव। न। शिलापुत्रकस्य शरीरं स्तम्भस्य स्वरूपमित्यत्रापि व्यतिरेकोपलब्धेर्व्यतिरेकः स्यात्, प्रकाशस्य प्रकाशतेति चादृशो भेदः प्रकाशतायाः स्यात्। अथात्रैकैव प्रकाशतोपलभ्यते नापरा इति न प्रकाशस्यापरः प्रकाशः, व्यतिरेकोपलम्भस्य प्रत्यक्षबाधितत्वात्, तर्हि नीलप्रकाशयोरपि न प्रत्यक्षप्रतीतो भेद इति, तत्राऽपि समानन्यायतो व्यतिरेकस्यासिद्धेः। नीलाऽऽद्याकारैव प्रकाशिता, सा च बुद्धिरिति सिद्धा साकारता ज्ञानस्य। अथ परोक्षा बुद्धिः निराकारा च ततः साकारस्य बोधस्य बुद्धिरिति विकल्पेऽप्यप्रतिभासनात्; अर्थापत्तेश्च प्रक्षयः, प्रकाशमात्रेणार्थस्य सिद्धत्वाद् व्यर्थं तदपरबुद्धिपरिकल्पनम्। ततश्च यदुक्तम्-निराकारमेव ज्ञानमर्थोन्मुखमुपजायमानं प्रतिनियमेन कथं सर्वसाधारणम्?, इति सिद्धः प्रतिकर्मप्रत्यय इति। तदप्ययुक्तम्। यतो न किञ्चिन्नीलाऽऽद्याकारप्रकाशिताव्यतिरेकेणोपलभ्यतेऽपरमिति कस्यार्थे प्रत्यासत्तता परैः परिकल्प्यते?। प्रकाशता तु यदि निराकारा स्यात्, प्रतिकर्मव्यवस्था न भवेत्। न ह्यालोकमात्रेणाभिन्नघटाऽऽदिरूपेण तद्रूपप्रकाशनं युक्तं, कथं तर्हि चक्षुरादिना घटादिरुपलभ्यत इति व्यवस्था?। बाह्यार्थवादिपरिकल्पिते परोक्षे रूपाऽऽदितदाकारा प्रकाशता चक्षुरादिना जन्यत इति तथा व्यपदेशः संभवी, प्रकाशिता चापोद्धारपरिकल्पनयाऽनादिवासनानियमाद् भिन्ना व्यपदिश्यत इति न किञ्चिदयुक्तम्। यद्वा-पूर्वसामग्रीतश्चक्षुरादिरूपाऽऽद्याकारप्र-

काशताबुद्धिस्वभावोपजायमानयोः [illegible]कसामग्र्यधीनतया तथा व्यपदेशः । दृश्यते हि प्रदीपप्र[illegible]काशयोः समानकालयोः प्रदीपनवदप्रकाशव इत्येक[illegible]सामग्र्यधीनतया व्यपदेशः । न चैककालयोरपि प्रका[illegible]र्थप्रकाशयोः कार्यकारणभावमुपपद्यते । ननु यदि सा[illegible]रं विज्ञानमभ्युपगम्यते, तदा चक्षुरादिकोऽर्थः प्रतिवि[illegible] एव, चक्षुराद्याकारस्य संवेदनमात्रस्यैवोपलम्भनं न[illegible]कारोऽर्थव्यवस्था स्यात् । यतो न बाह्यार्थः, तदाकारं च विज्ञा[illegible]यमुपलम्भविषयः, तस्य चाज्ञानमेव, तत्रापि साकारं तत्रा[illegible]स्य पुनरुपलम्भ्याऽभ्युपगमे ज्ञानाऽऽकारेऽनुभव इति [illegible]राचितस्वरूपेणोपलब्धिधर्मत्वेदिति नार्थव्यवस्था । असदेतत् । कार्यव्यतिरेकेण बाह्यार्थपरिकल्पनाऽर्थापत्त्या वा परेषामभिमतेति तदभ्युपगमादर्थस्यायमाकारं प्रकाशकमनुप्रविष्टव्यमिधानार्थोक्तदोषानुपपत्तेः । अथवा-विज्ञानवादेऽर्थासिद्धिप्रेरणं सिद्धसाधनदोषाऽऽवहमिति साकारमेव ज्ञानं प्रमाणमभ्युपपन्नाः सौत्रान्तिकयोगाचाराः ।

अत्र प्रतिविधीयते—निराकारं विज्ञानमर्थग्राहकमिति न प्रत्यक्षतः प्रतीयते, शरीरस्तम्भाऽऽदिव्यतिरेकेण तदुपलम्भस्यासत्त्वादिति । तदप्यसत्त्वादित्यत्र हेतुरसिद्धः, अहङ्कारस्य सुखाऽऽदेर्ज्ञानविशेषस्यान्तःस्वसंवेदनप्रत्यक्षानुभूयमानस्य सत्त्वात् । न च स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धस्याप्यसत्त्वम्, स्तम्भाऽऽद्याकारस्यापि ज्ञानस्यासत्त्वप्रसक्तेः । न हि तथाप्रतिभासव्यतिरेकेणापरमत्रापि सत्त्वनिबन्धनम् । न चाहमिति प्रत्ययोऽन्तःस्थूलशरीराऽऽद्यालम्बनः; शरीरस्य सप्रतिघत्वेन, अपरप्रत्यक्षविषयत्वेन चाऽज्ञानरूपतया सुख्यहंप्रत्ययविषयस्यानुपपत्तेः ज्ञानस्यैवाप्रतिघातसंवेद्यरूपस्यान्तःसुखाऽऽकारस्य सुख्यहंप्रत्ययविषयत्वात्, अहं कृशः स्थूल इत्यादिशरीराऽऽलम्बनत्वस्याहंप्रत्ययस्यौपचारिकत्वादुपचारनिबन्धनस्वरूपस्य च प्राक् प्रतिपादितत्वात् । तेन निराकारस्य ज्ञानस्य स्वप्रेऽध्यसंवेदनाध्यक्षतो बाह्यव्यतिरिक्तग्राहकस्वरूपं प्रतिभातीति प्रत्युक्तम्, नीलमहं वेद्मीति बाह्यनीलार्थग्राहकस्यान्तर्ग्राह्यव्यतिरिक्तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतो ज्ञानस्याहमहमिकया प्रतीतेः। न चान्तः सुखाऽऽदयो बहिश्च नीलाऽऽदयः परिस्फुटवपुषः स्वयं विदिताः प्रतिभान्ति, न पुनस्तद्व्यतिरिक्तं निराकारज्ञानस्वरूपमर्थग्राहकमाभाति, सुखाऽऽदेरर्थग्राहकत्वायोगादिति वक्तव्यम् । यतो बाह्यं प्रति सुखाऽऽदीनां नैयायिकैरपि ग्राहकत्वमभ्युपगम्यते । न हि सुखाऽऽदयो भावनोपनेयजन्मानो बहिरर्थसन्निधिमन्तरेणाऽपि प्रादुर्भवन्तः पदार्थव्यक्तीनां नियमेनोद्द्योतकाः, स्ववपुःपर्यवसितस्वरूपत्वात् तेषां, चक्षुरादिप्रभवास्तु संविदो बहिरर्थमुद्भासयन्त्यः स्पष्टावभासा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथगवसीयन्त इति पदार्थग्राहिण्यस्ता एवाभ्युपगमनीयाः। सुखाऽऽदिवेदनं तु हृदि परिवर्तमानं बाह्याऽर्थसंविदपृथगेव, न तद् बाह्यार्थग्राहकतयाऽभ्युपगमविषयः । तदेवं ग्राह्यव्यतिरेकेण निराकारज्ञानस्य संवेदनाध्यक्षसिद्धत्वादनुमानमपि तत्सत्त्वप्रतिपादकत्वेन प्रवर्तत एव विप्रतिपत्तिसद्भावे । यच्चार्थापत्त्यप्रामाण्याभावाऽऽत्तत्प्रतिपत्तिरिति । तदसिद्धसाधनमेव । यदपि निराकारा मया बुद्धिः प्रतीयत इति बुद्धेरप्यपरा बुद्धिर्ग्राहिकेत्याद्युक्तम् । तदप्यसङ्गतमेव, यतः स्वपरार्थग्राहकं बुद्धेः स्वरूपं, तेन च रूपेण स्वसंविदि प्रतिभासमाना कथं शशशृङ्गाऽऽदिवदव्यवस्थितरूपा भवेत्? । यदपि तद्व्यतिरिक्ततया प्रतीयमाना न विकल्पेनाप्यपोद्धुं

शक्या इति । तदप्यसङ्गतम् । ग्राह्यस्वरूपवत्तद्व्यतया स्वरूपेण तत्प्रतिभासनस्य प्रतिपादितत्वात् । यदपि प्रकाशताराहितं नीलाऽऽदिकं नोपलभ्यते, तथोपलम्भे सर्वं सर्वदा प्रवेदिति तत्राऽपि यदि ज्ञानं विना नीलाऽऽदिकं नोपलभ्यत इत्युच्यते, तदा सिद्धसाध्यता, तदन्तरेण तदुपलम्भस्यानिष्टेः । अथ नीलमेव प्रकाशरूपमिति प्रतिपाद्यते । तदयुक्तम् । नीलस्य जडतया प्रकाशरूपत्वानुपपत्तेः परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया जडाजडयोरेकत्वयोगात् । यदपि नीलस्य प्रकाश इति व्यतिरेकः शिलापुत्रस्य शरीरमित्यादावभेदेऽपि संभवतीति । तदपि न सम्यक् । दृष्टान्ते हि प्रत्यक्षावगतो भेदप्रतिभासः स्यात् वाक्ये न तु दार्ष्टान्तिके प्रत्यक्षारूढे तदेव प्रतिभासः समस्ति । तथाहि-ग्राह्यरूपस्तम्भाऽऽद्यनन्यव्यावृत्तत्वेन ग्राह्यतयाऽध्यक्षे प्रतिभाति प्रकाशितु, स्तम्भाऽऽदिकर्माणि व्यावृत्तत्वेन ग्राहकतया प्रतिभाति । तेन स्तम्भतत्संवेदनयोर्भेदावभासोऽध्यक्षाऽऽरूढोऽवभाति। न केवलं ग्राह्याऽऽकारोऽन्यव्यावृत्तत्वेन ग्राह्यतयाऽध्यक्षे प्रतिभाति प्रकाशितुं, स्तम्भाऽऽदिकर्माणि व्यावृत्तेन ग्राहकतया प्रतीतेर्न स्तम्भः प्रतिभाति, किं त्वाह्लादाऽऽदिस्वभावतयाऽहङ्काराऽऽस्पदश्च प्रतिभासनिश्चयाभ्यामवसीयते, तद्ग्राह्यस्तु तद्विपरीतत्वेन । न चाध्यक्षसिद्धभेदयोर्नीलतत्संवेदनयोः कुतश्चित् प्रमाणाऽऽदिकनाऽवसातुं शक्येति न भेदप्रतिभासस्य बाधा । न च नीलाऽऽदिरेव ज्ञानरूपः, अहं नीलाऽऽदिरित्यनवगमात् । तेन नीलाऽऽद्याकारैव प्रकाशिता, सा च बुद्धिरिति साकारता ज्ञानस्येति यदुक्तं, तदपि निरस्तं द्रष्टव्यम् । यदपि प्रकाशतामात्रेणार्थस्य सिद्धत्वाद् व्यर्थं तत्परबुद्धिपरिकल्पनम्, तदपि निरुद्धमेव साधनम्; अर्थप्रकाशताया अर्थव्यतिरिक्ताया बुद्धित्वेन तदपरिकल्पनाया असिद्धत्वात् । यदपि नायमाकारं नीलाऽऽद्याकारप्रकाशताव्यतिरेकेणोपलभ्यत इति कस्यार्थे प्रत्यासन्नता परैः परिकल्प्यते, तदपि नीलाऽऽद्यर्थग्रहणपरिणते ज्ञानस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः सिद्धेरयुक्ततया स्थितम् । प्रकाशता तु यदि निराकारा भवेत्, प्रतिकर्मव्यवस्था न स्यादिति यदुक्तं, तदप्यसङ्गतमेव । यतः प्रकाशता किं नीलाऽऽकारा ?, आहोस्विद् ग्राह्याऽऽकाराऽभ्युपगम्यते ?। यदि प्रथमो विकल्पस्तदा वक्तव्यम्-किमेकदेशेन नीलाऽऽद्याकारा प्रकाशता ?, आहोस्वित् सर्वाऽऽत्मनेति ? । तत्र यद्येकदेशेन नीलाऽऽद्याकारा प्रकाशता, तदा स्वांशैकप्रकाशताप्रसक्तेरित्यनेकान्तसिद्धिः । अथ सर्वाऽऽत्मना, तदा प्रकाशताया जडरूपनीलाऽऽदिस्वभावत्वाद्विज्ञप्तिरूपताऽभावप्रसक्तिः, जडस्य प्रकाशरूपताऽयोगाद्ग्राह्याकारित्वमपीतरेतराश्रयत्वम् । न हि देवदत्तस्य प्रतिनियताऽऽकारतासिद्धौ यज्ञदत्तस्य तदाकारतासिद्धिर्दृष्टा । न च प्रकाशता साकारतासिद्धिमन्तरेणापि ग्राह्यस्य प्रतिनियतरूपसिद्धिर्निराकारा, ज्ञानस्य प्रतिकर्मव्यवस्थाहेतुत्वप्रसक्तेः । न च यद् यदाकारं तत्तस्य ग्राहकमिति व्याप्तिसिद्धिः, अन्यथोत्तरनीलक्षणपूर्वनीलक्षणस्य ग्राहकः स्यात् । न च तस्याज्ञानरूपत्वाद् नायं दोषः, देवदत्तनीलज्ञानस्य यज्ञदत्तनीलज्ञानग्राहकताप्रसक्तेः । न च तयोः कार्यकारणभावाभावान्नायं दोषः,सदृशसमनन्तरज्ञानं प्रति उत्तरज्ञानक्षणस्य ग्राहकताप्रसक्तेः। अथ तत्र तादृग्विधसारूप्याभावाद् नायं दोषः । ननु तथाविधं यदि कथञ्चित् सारूप्यमभिधीयते, तदाऽनेकान्तवादाऽऽपत्तिः । अथ सर्वात्मना सारूप्यं, तदोत्तरक्षणस्यापि पूर्वक्षणरूपताप्रसक्तिरित्येकक्षण-

मात्र सर्वः सन्तानो भवेत् । न च पूर्वोत्तरक्षणयोः परपक्षे भिन्नमभिन्नं वैकान्ततः सारूप्यं संभवति, भेदपक्षे सामान्यवादप्रसक्तेः, अभेदपक्षे तु तदभावप्रसक्तेः । न च परपक्षे सारूप्यग्रहणोपायः संभवतीत्युक्तम् । किञ्च-यदि नीलाऽऽकारं ज्ञानमनुभूयत इति बाह्योऽप्यर्थो नीलतया व्यवस्थाप्यते, तर्हि त्रैलोक्यगतनीलार्थव्यवस्थितिस्ततो भवेत्, सर्वनीलार्थसाधारणत्वात् तस्य । अथ नीलाऽऽकारताविशेषेऽपि कश्चित्प्रतिनियमहेतुस्तत्र विद्यते, यतः पुरोवर्तिन एव नीलाऽऽदेस्ततो व्यवस्था, तर्ह्यनाकारत्वेऽपि ज्ञानस्य तत एव नियमहेतोः प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकत्वं भविष्यतीति तत्साकारपरिकल्पनं व्यर्थम् । यदपि चक्षुरादिना रूपमुपलभ्यत इति व्यपदेशनिबन्धनं जन्यत्वं रूपाऽऽकारप्रकाशस्योक्तम्, तदपि स्वजाड्याऽऽविष्करणमात्रम् । यतो यया प्रत्यासत्त्या चक्षुरादिकं समानकालं भिन्नकालं वा भिन्नं रूपाऽऽद्याकारं ज्ञानं जनयति, तयैव निराकारमपि ज्ञानं समानकालं भिन्नकालं वा स्वग्राह्यं नियममपि ग्रहीष्यति । न हि चक्षुरादेर्विभिन्नकार्योत्पादनवद् विभिन्नग्राह्यग्रहणे शक्तिप्रक्षयः कश्चिद् ज्ञानस्य संभवी । अथ विभिन्नकार्योत्पादनमप्यसंभवी नाऽभ्युपगम्यते, तर्हि 'प्रमाणमविसंवादि' इति प्रमाणलक्षणप्रणयनमनर्थकं धर्मकीर्तेराप्यते, अविसंवादित्वस्याऽर्थक्रियाज्ञानजनकत्वलक्षणस्याऽभावात् । अथ व्यावहारिकमेतद् लक्षणं न पारमार्थिकम्, किं तर्हि पारमार्थिकमिति वक्तव्यम् ?, ..., अज्ञातार्थप्रकाशो वेति चेत्, तत्रापि यद्यज्ञानस्याऽर्थस्य प्रकाशः स्वसंविदितोऽर्थग्रहणपरिणाम आत्मसंबन्धी, तदाऽऽस्मन्मताभ्युपगम इति न कश्चिद्दोषः । अथ "स्वरूपस्य स्वतो गतिः" इति वचनादज्ञातार्थप्रकाशः स्वरूपसंवेदनमात्रं, तदाऽध्यक्षबाधा दोषः, स्वपरसंवेदकत्वेन ज्ञानस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः प्रतिपत्तेरिति प्रतिपादकत्वात्, प्रतिपादितत्वात्, प्रतिपादयिष्यमाणत्वाच्च । एतेन एकसामग्र्यधीनतया चक्षुरादिना रूपमुपलभ्यत इति व्यपदेश इत्येतदपि निरस्तम् । भिन्नानामेकसामग्र्यधीनत्वलक्षणप्रतिबन्धाविरोधे ग्राह्यग्राहकलक्षणस्यापि तस्याविरोधात् । यथा चैकसामग्र्यधीनानां चक्षुरादीनां समानसमयेऽपि स्वरूपप्रतिनियमः, तथा ग्राह्यग्राहकयोरपि समानकालत्वाविशेषेऽपि विज्ञानग्राहकमेव, अर्थस्तु ग्राह्य एवेति प्रतिनियमो भविष्यति । अथ एकसामग्र्यधीनत्वं रूपप्रतिनियमश्चक्षुरादेरिष्यते, तर्हि प्रमाणाऽऽदिव्यवहारस्य सकलस्य विलोपात्साकारज्ञानाऽभ्युपगमोऽसङ्गत एव स्यात् । यदपि कार्यव्यतिरेकेण बाह्यार्थकल्पनाऽर्थापत्त्या च परेषामिति तदभ्युपगमेनोच्यते-अर्थस्यायमाकारः प्रकाशतामनुप्रविष्ट इत्युक्तम्, तदपि परदर्शनानभिज्ञतां ख्यापयति । न हि जैनानां कार्यव्यतिरेकादर्थापत्त्या वाऽर्थपरिकल्पना, किं तु तद्ग्राहिप्रतिभासवशात् । साकारज्ञानवादिनस्तु-यदि ज्ञानाऽऽकारोऽर्थव्यतिरेकेण नोपपद्यत इत्यर्थव्यवस्थापकः, तदा नियतार्थव्यवस्थापकः स्यात् । जनकस्यैव व्यवस्थापक इति चेत् । न । चक्षुरादेरपि व्यवस्थापकः स्यात् । तज्जनकत्वेऽपि चक्षुरादेरनाकारत्वान्नेति चेत्, ननु चक्षुरादिजन्यत्वेऽपि किमिति तज्ज्ञानं तदाकारं न भवति चक्षुरादि वा साकारज्ञानजनकमिति वक्तव्यम् ?, स्वहेतुबलाऽऽयाततत्स्वभावत्वात् तयोरिति चेत् । ननु निराकारज्ञानपक्षेऽपि तत्स्वभावत्वात् ज्ञानमेव चक्षुरादिव्यतिरेकेण स्वजनकार्थव्यवस्थापकमिति किं नाभ्युपगम्यते ?, न्यायस्य समानत्वात् । किञ्च-ग्राहकस्यार्थजन्यत्वेन साकारता, सा च प्रतिभासगोचरा, एवं च ग्राहके आकारस्य जनकस्यैव प्रतिभासविषयत्वेऽन्यस्य तज्जनकस्य कल्पनाप्रसक्तिस्तत्राप्येवमित्यनवस्था भवेत् । तत्र साकारज्ञानानुभववशादर्थव्यवस्थाप्रकाशताऽनुप्रविष्टताऽर्थाऽऽकारस्यायुक्तैव, वस्त्वन्तरानुप्रवेशासंभवात् । संभवे वा प्रकाशताया अपि चैतन्यरूपतायाः पृथिव्याद्यनुप्रवेशात् परलोकाय दत्तो जलाञ्जलिर्भवेत् । यदप्यर्थवादिन एवाऽयं दोषो, ज्ञानवादे तु सिद्धसाध्यतेति; तदपि न्यायबहिष्कृतम् । प्रमाणसिद्धस्याप्यर्थस्याभावो यदि न दोषाय भवेत्, ज्ञानाभावोऽपि न दोषाय स्यात् । न च शून्यताऽभ्युपगमात् तदभावोऽपि न दोषाऽऽवह इति वक्तव्यम्, तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात् न तेन साकारज्ञानप्रमाणवादोऽभ्युपगमार्हः, अनेकदोषदुष्टत्वादिति स्थितम् । सम्म० २ काण्ड ।

(१७) जैमिनीयाऽभिमतस्य तु ज्ञातृव्यापारस्य फलानुमेयस्य यथा प्रमाणता न संभवति, तथा स्वतः प्रामाण्यं निराकुर्वद्भिः प्रदर्शितमिति न पुनः प्रतन्यते । यदप्यनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं ज्ञातृव्यापारविशेषणत्वेन प्रतिपादितम्, तदप्यसङ्गतमेव । यतः प्रमाणं वस्तुन्यधिगतेऽनधिगते वा व्यभिचाराऽऽदिविशिष्टां प्रमां जनयच्चोपालम्भविषयः । न चाऽधिगते वस्तुनि किञ्चित्तत्प्रमाणतामाप्नोतीति वक्तव्यम्, विशिष्टतां विदधानस्य प्रमाणताप्रतिपादनात् । न च पूर्वोऽसत्येव प्रमाणेन जन्यते, प्रमित्यन्तरोत्पादकत्वेन प्रमाणत्वात् । न च प्रमित्यन्तरजनकत्वेऽधिगते विषये तस्याकिञ्चित्करत्वेनोपालम्भविषयताऽनुपपत्तिः । न च एकान्ततोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वे प्रामाण्यं तस्यावसातुं शक्यम्, तद् व्यर्थे तथाभावित्वलक्षणं संवादादवसीयते, स च तदर्थोत्तरज्ञानवृत्तिः । न चानधिगतार्थाधिगन्तुरेव प्रामाण्ये संवादप्रत्ययस्य प्रामाण्यमुपपन्नम् । न च प्रमाणेन संवादप्रत्ययेन प्राक्तनस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयितुं शक्यम्, अतिप्रसङ्गात् । अतो यथाऽधिगतार्थाधिगन्तुरर्थक्रियानिर्भासिनः सिद्धं ज्ञानस्य प्रामाण्यं, तथा साधननिर्भासिनोऽप्यभ्युपगन्तव्यम् । न च सामान्यविशेषतादात्म्यवादिन एकान्ततोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं प्रमाणस्य संभवति, इदानीन्तनास्तित्वस्य पूर्वास्तित्वाभेदात्, तस्य च पूर्वमप्यधिगतत्वसंभवात् कथञ्चिदनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभ्युपगमेऽस्मन्मतानुप्रवेशप्रसक्तिः । अथ प्रेक्षापूर्वकारितया प्रमाणस्याऽनुपालम्भविषयत्वेऽपि पुरुषस्य प्रेक्षापूर्वकारिणोऽधिगतविषयमपि प्रमाणं पर्येषमाणस्योपालम्भविषयता । स हि पूर्वाधिगते वस्तुनि प्रेक्षापूर्वकारी किमित्यधिगमाय प्रमाणान्तरमन्वेषते ?, निष्फलप्रयोजनापेक्षया हेतुव्यापारतः प्रेक्षापूर्वकारिताहानिप्रसक्तेः । नैतदिदम् । यतो यदर्थं प्रमाणोत्पत्त्यतिशयजनकत्वेन सप्रयोजनत्वात् प्रमाणान्वेषणस्य न तदन्वेष्टुः पुरुषस्योपालम्भार्हता । न च निश्चिते विषये न किञ्चिन्निश्चयान्तरेण प्रयोजनम्, यतस्तदर्थं प्रमाणान्वेषणं न वैयर्थ्यमनुभवेत् । यतो भूय उपलभ्यमाने दृढतरा प्रतिपत्तिर्भवतीति सुखसाधनं तथैव निश्चित्योपादत्ते, दुःखसाधनं च तथात्वेन सुनिश्चितं परित्यजेत । अन्यथा विपर्ययेणाप्युपादानत्यागौ भवेताम् । अत एवैकविषयाणामपि शब्दाऽनुमानाध्यक्षाणां प्रामाण्यमुपपन्नम्, प्रतिपत्तिविशेषस्य, प्रीत्यतिशयादेश्च सद्भावात् । न च प्रथमप्रत्ययेनैवाऽर्थक्रियासमर्थप्रदर्शने प्रवर्तितः पुरुषः, प्रापितश्चार्थ इति तज्ज्ञापक-

प्रमाणान्वेषणं वैयर्थ्यमनुभवेत्। [भूयो भूय उपलभ्यमाने इष्टतरा प्रतिपत्तिर्भवतीति सुखसाधनं तथैव निश्चित्योपादत्ते, दुःखसाधनं च तथात्वेन सुनिश्चितं परित्यजेत्; अन्यथा विपर्ययेणाप्युपादानत्यागौ भवेताम्। अत एवैकविषयाणामपि]पुरुषप्रवृत्तेः प्रमाणाधीनत्वाभावाद् विशिष्टप्रमाया एव प्रमाणाधीनत्वात्,तां च जनयत उपेक्षणीयाऽऽदौ विषये प्रमाणस्याप्रवर्तकस्यापि प्रमाणत्वेन लोके प्रसिद्धत्वात्, प्रवृत्तेस्तु पुरुषेच्छानिबन्धनत्वात् तदभावेनोक्तफलजनकस्य प्रमाणत्वव्याघातः। न च पुरुषार्थसाधनप्रवर्तकत्वमेव तस्य प्रवर्तकत्वं, तत्सद्भावेऽपि प्रवर्तितोऽहमत्र नात्रेति तद्ग्रहणे जावेच्छाप्रतिपत्त्यनुपपत्तेः। न च प्रवृत्त्यभावे तस्य प्रदर्शकत्वाच्च तत्प्रदर्शकमिति लोकप्रतीतिः। तथाऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वमपि ज्ञातृव्यापारविशेषणमुपपत्तिमत्। अतोऽनधिगतार्थाधिगन्तृज्ञातृव्यापारोऽर्थप्रकटताऽऽख्यफलानुमेयो जैमिनीयपरिकल्पितो न प्रमाणमिति स्थितम्।

(१८) सौगतैस्तु 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्' इति वचनादविसंवादकत्वं प्रमाणलक्षणमुक्तम्। अविसंवादकत्वं च प्राप्तिनिमित्तप्रवृत्तिहेतुभूतार्थक्रियाप्रसाधकार्थप्रदर्शकत्वम्। यतोऽर्थक्रियाऽर्थी पुरुषस्तन्निर्वर्तनक्षममर्थमवाप्तुकामः प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेषते। यदेव चार्थक्रियानिर्वर्तकवस्तुप्रदर्शकं तदेव तेनाऽन्विष्यते। प्रत्यक्षानुमाने एव च तथाभूतार्थप्रदर्शके, न ज्ञानान्तरमिति। ते च लक्षणार्हे,तयोश्च द्वयोरप्यविसंवादकत्वमस्ति लक्षणम्। प्रत्यक्षेण ह्यर्थक्रियासाधनं दृष्टतयाऽवगतं प्रदर्शितं भवति; अनुमानेन तु दृष्टलिङ्गाव्यभिचारतयाऽध्यवसितमित्यनयोः प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम्। न ह्याभ्यां प्रदर्शितेऽर्थे प्रवृत्तौ न प्राप्तिरिति नान्यत् प्रदर्शकत्वव्यतिरेकेण प्रापकत्वम्, तच्च शक्तिरूपम्। उक्तं च-'प्रापणशक्तिः प्रामाण्यं, तदेव च प्रापकत्वम्'। अन्यथा ज्ञानान्तरस्वभावत्वेन व्यवस्थितायाः प्राप्तेः कथं प्रवर्तकज्ञानशक्तित्वसंभवता। तत्र यद्यपि प्रत्यक्षं वस्तु क्षणग्राहि, तद्ग्राहकत्वं च तस्य प्रदर्शकत्वं, तथापि क्षणिकत्वेन तस्याप्राप्तेस्तत्सन्तान एव प्राप्यत इति सन्तानाध्यवसायोऽध्यक्षस्य प्रदर्शकव्यापारो द्रष्टव्यः। अनुमानस्य तु वस्त्वग्राहकत्वात् तत्प्रापकत्वं यद्यपि न संभवति, तथाऽपि स्वाकारस्य बाह्यवस्त्वध्यवसायेन पुरुषप्रवृत्तौ निमित्तभावोऽस्तीति तस्य तत्प्रापकमुच्यते। एतदुक्तं भवति-प्रत्यक्षस्य हि क्षणो ग्राह्यः, स च निवृत्तत्वान्न प्राप्तिविषयः, सन्तानस्त्वध्यवसेयः प्रवृत्तिपूर्विकायाः प्राप्तेर्विषय इति तद्विषयं प्रदर्शितार्थप्रापकत्वमध्यक्षस्य प्रामाण्यम्। अनुमानेन त्वारोपितं वस्तु गृहीतं, स्वाकारो वा,तयोर्द्वयोरप्यवस्तुत्वान्न प्रवृत्तिविषयतेति न तद्विषयं तस्य प्रापकत्वम्। अपि त्वारोपितबाह्यव्यापारभेदाध्यवसायेन वस्तुन्येव प्रवर्तकत्वप्रापकत्वेऽस्य द्रष्टव्ये। तेनानुमानस्य ग्राह्योऽनर्थः, प्राप्यस्तु बाह्यः स्वाकारो भेदेनाध्यवसित इति तद्विषयमस्यापि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रामाण्यमुक्तम्। तथा परमप्युक्तम्-'न ह्याभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते' इति। अत्र च प्रत्यक्षानुमानयोर्द्वयोरपि छेदसन्तानविषयोऽध्यवसायो द्रष्टव्यः। तथा प्रामाण्यं वस्तुविषयं द्वयोरिति चोक्तम्। अत्रापि सन्तानविषयित्वेन वस्तुविषयत्वं द्वयोरित्युक्तम्। लौकिकं चैतदविसंवादकत्वं प्रामाण्यं, यतो लोके प्रतिज्ञातमर्थं प्रापयन् पुरुषः संवादकः प्रमाणमुच्यते, तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम्। न च क्षणिकस्य ज्ञानस्याऽर्थप्राप्तिकालं यावदनवस्थितेः कथं प्राप्यते ?, इत्याशङ्कनीयम्, प्रदर्शकत्वव्यतिरेकेण तस्यास्तत्रासंभवादित्युक्तत्वात्। न चान्यस्य ज्ञानान्तरस्य प्राप्तौ सन्निकृष्टत्वात् तदेव प्रापकमित्याशङ्कनीयम्। यतो यद्यप्यनेकस्माद् ज्ञानक्षणात् प्रवृत्तावर्थप्राप्तिः, तथाऽपि पर्यालोच्यमानमर्थप्रदर्शकत्वमेव ज्ञानस्य प्रापकत्वम्, नान्यत्। तच्च प्रथमज्ञानक्षण एव संपन्नमिति नोत्तरोत्तरज्ञानक्षणानां तदुपयोगि, प्राप्यमाणं च वस्तु नियतदेशकालाऽऽकारं प्राप्यत इति तथाभूतवस्तुप्रदर्शकयोरेव प्रामाण्यं, न ज्ञानान्तरस्य। तेन प्रदर्शितप्रापकत्वलक्षणे प्रामाण्ये पीतसंखादिग्राहिज्ञानानामपि प्रापकत्वात् प्रामाण्यप्रसक्तिर्न भवेत्; तर्हि तानि प्रदर्शितमर्थं प्रापयन्ति; यद्देशकालाऽऽकारं वस्तु तैः प्रदर्शितं न तत्तथा प्रापयति, यथा प्राप्यते न तैस्तथा प्रदर्शितम्। देशाऽऽदिभेदेन वस्तुभेदस्य निश्चितत्वान्न तेषां प्रदर्शितार्थप्रापकता। एवमपि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वे जलाऽऽदिप्रदर्शकस्य मरीच्यादिवस्त्वन्तरप्राप्तौ प्रदर्शितप्रापकत्वेन प्रामाण्यप्रसक्तिरिति न किञ्चिदप्रमाणं भवेत्। प्रमाणद्वयातिरिक्तं च ज्ञानं नियतप्रदर्शितार्थप्रापकम्। तेन हि भावाभावसाधारणोऽनियतोऽर्थः प्रदर्शितः। स च तथाभूतोऽसत्त्वात् न प्राप्तुं शक्य इति। न च तत्प्रदर्शितार्थप्रापकत्वेन प्रमाणम्। अनियतार्थप्रदर्शकत्वं च शब्दाऽऽदेः साक्षात्, पारम्पर्येण वा प्रतिपाद्यादर्थादनुत्पत्तेः। तत् स्थितं प्रापणशक्तिस्वभावमविसंवादकत्वं प्रामाण्यं द्वयोरेव। प्रापणशक्तिश्च प्रमाणस्यार्थाविनाभावनिमित्ता दर्शनपृष्ठभाविना विकल्पेन निश्चीयते। तथाहि-दर्शनं यतोऽर्थादुत्पन्नं तद्दर्शकमात्मानं स्वानुरूपावसायोत्पादनात् निश्चिततदर्थाविनाभावित्वं प्रमाणशक्तिनिमित्तं प्रामाण्यं स्वतो निश्चिनोतीत्युच्यते, न पुनर्ज्ञानान्तरं तन्निश्चायकमपेक्ष्यते। अर्थानुभूताविव ततोऽविसंवादकत्वमेव प्रमाणलक्षणमुक्तम्। एतदप्ययुक्तम्। यतो नार्थप्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वं, पुरुषेच्छाऽधीनप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्। सति वस्तुन्यर्थप्रापकत्वं पुरुषेच्छाऽऽप्तेः। एतच्च प्राक् प्रतिपादितम्। उपेक्षणीये च विषये पुरुषस्य तद्विषयार्थित्वाऽऽद्यभावे प्राप्तिपरित्यागयोरभावेऽपि तत्प्रदर्शकत्वलक्षणस्य प्रामाण्ये न कश्चिद् व्याघात उपलभ्यते। अथेष्टानिष्टसाधनार्थव्यतिरेकेणोपेक्षणीयस्याऽर्थान्तरस्याभावाद् न तत्प्रदर्शकं किञ्चिद् ज्ञानं समस्तीति कथं प्रापकत्वाभावेऽपि प्रदर्शकत्वस्य संभवेन दोषाऽऽपादनं क्रियते। तथा च तृतीयविषयाभावमभ्यगत्यैवोक्तम्-अर्थानर्थविवेचनस्यानुमानायत्तत्वात्। तथा-हिताहितप्राप्तिपरिहारयोरिति च, तृतीयविषयाभावश्च सर्वस्य वस्तुनो राशिद्वयेन भावात्। तथाहि-तृतीयं वस्तु नेष्टसाधनम्, उपेक्षणीयत्वात्। यच्च तत्साधनं न भवति तस्याऽनिष्टसाधनराशावन्तर्भावः। एतच्चाऽयुक्तम्। स्वसंविदितवस्त्वपह्नवस्य युक्तिशतेनापि कर्तुमशक्यत्वात्। तथाहि-यद्वा तद् वस्त्विष्टसाधनं न भवति,तथाऽनिष्टसाधनमपि न भवति, इष्टानिष्टसाधनयोर्यत्नोपादेयत्वहेयत्वदर्शनात्। उपेक्षणीयस्य चायत्नसाध्योपादानत्यागविषयत्वात् कथमिष्टानिष्टसाधनयोरन्तर्भावः ?। तत्र प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वं, बौद्धाभ्युपगमे न प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं कश्चिदपि ज्ञाने संभवति। तद्धि संतानाऽऽश्रयेण सौगतैः परिकल्प्यते, न च संतानः संभवति। स हि स्वरूपेण वा वस्तु सन् भवेत्, सन्तानिरूपेण वा ?। न तावत्स्वरूपेण, सन्तानिव्यतिरेकेण तस्य वस्तुनोऽसतोऽनभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा क्षणिकवादहानिप्रसक्तिः, सामा-

भ्यानभ्युपगमश्च निर्निबन्धनो भवेत् । इति न तस्य स्वरूपेण प्रवृत्त्यादिविषयता, सन्तानरूपेणाऽपि तस्य सत्त्वे सन्तानिन एव तथाभूतानव्यतिरिक्तः सन्तानः प्रवृत्त्यादिविषयः, सन्तानिनां चोत्पत्त्यनन्तरध्वंसित्वाद् न तद्विषयस्य विज्ञानस्य प्रदर्शितार्थप्रापकत्वम्, दृश्यप्राप्ययोः क्षणयोरत्यन्तभेदात् । यत्र हि देशकालभेदेन प्रतीयमानस्याऽपि वस्तुनो भेदोऽभ्युपगम्यते, तत्र स्वरूपेण भिन्नयोः पूर्वोत्तरक्षणयोः कथमभेदः ?, येन प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं साधननिर्भासिज्ञानस्य युक्तिसंगतं भवेत् । अथ संवृत्या सन्तानस्य स्वरूपसिद्धिः पूर्वोक्तमदूषणतया च प्रतिपादितम् । सांव्यवहारिकस्य च प्रमाणस्यैतल्लक्षणम्, न त्वेवं लोकव्यवहारानुरोधेन यदि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं साधननिर्भासिज्ञानस्य युक्तिसङ्गतं भवेत् । अथ संवृत्या प्रमाणस्याऽभ्युपगम्यते, तदा नित्यानित्यवस्तुप्रदर्शकस्य तदभ्युपगम्यताम्, लोकव्यवहारस्य तत्रैवोपपत्तेः । न च तथाभूतमर्थग्राहकस्य युक्तिबाधितत्वाद् निर्विषयम्, सन्तानविषयस्यैव पूर्वोक्तन्यायेन युक्तिबाधितत्वोपपत्तेः । तन्नाध्यासितार्थप्रापकं प्रत्यक्षं पराभ्युपगमेन संभवति । तथाहि-यदेवाध्यक्षेणोपलब्धं तदेव तेनाध्यवसितम् । न च सन्तानस्तेन पूर्वमुपलब्ध इति कथमसावध्यवसीयते ? । न हि क्षणमात्रभाविनां सन्तानिनां दर्शनविषयत्वे तत्पृष्ठभाविनाऽध्यवसायेन दृष्टस्यैव विषयीकरणम् । न चाऽन्यथाभूतस्य वस्तुग्रहणेऽन्यथाभूताऽध्यवसायिनः प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रामाण्यं युक्तम्, तथाऽभ्युपगमे शुक्तिकायां रजताध्यवसायिनोऽपि तत् स्यात् । अथाऽत्र प्रवृत्ते रजतं न प्राप्यत इति न प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं, तर्हि सन्तानेऽध्यवसितेऽक्षणः प्राप्यत इति प्रकृतेऽपि न प्रदर्शितार्थप्रापकत्वम् । अथाऽत्र सन्तान एव प्राप्यते, तर्हि स एव वस्तु सन् भवेदिति न सामान्यधर्माः स्वरूपेणासन्तोऽभ्युपगन्तव्याः, अक्षणिकस्य च वस्तुनः सिद्धेः। यदुक्तं भवद्भिःदर्शनेन क्षणिकाक्षणिकत्वसाधारणस्यार्थस्य विषयीकरणात् कुतश्चिद्भ्रमनिमित्तादक्षणिकत्वारोपेऽपि न दर्शनमक्षणिकत्वे प्रमाणम्, किं तु प्रत्यक्षाप्रमाणम्, विपरीताध्यवसायाऽऽक्रान्तत्वात्। क्षणिकत्वेऽपि न तत् प्रमाणम्, अनुरूपाध्यवसायाजननात् । नीलरूपे तु तथाविधनिश्चयकरणात् प्रमाणमिति हि विरुध्यते । किञ्च-एवंवादिन एकस्यैव दर्शनस्य क्षणिकत्वाक्षणिकत्वयोरप्रामाण्यम्, नीलाऽऽदौ तु प्रामाण्यं प्रसक्तमित्यनेकान्तवादाभ्युपगमो बलादापतति । न क्षणग्रहणे तद्विपरीतसन्तानाध्यवसायोत्पत्तौ दर्शनस्य प्रामाण्यं युक्तम्, मरीचिका जलक्षणग्रहणे जलाध्यवसायिन इव । यतो यदेव मायात्वतो दृष्टं, तदेव प्राप्तमित्यध्यवसाये तस्य प्रामाण्यं व्यवस्थाप्येत । न च दृष्टस्य क्षणिकसन्तानिस्वरूपेण सन्तानस्य प्राप्तिरिति प्राक् प्रतिपादितम्, स्वरूपेण तु तस्यासत्त्वात् प्राप्त्यविषयतैवेति न धर्मोत्तरमतपर्यालोचनया किञ्चित् परमार्थतः प्रदर्शितार्थप्रापकं प्रमाणं संभवति । अतः संवादकत्वमपि तन्मतेन प्रमाणलक्षणमयुक्तम् ।

(१६) नैयायिकास्तु- "अव्यभिचाराऽऽदिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री प्रमाणम्" इति प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रतिपन्नाः, तज्जनकत्वमेव प्रामाण्यमिति च । अथ सामग्र्या प्रमाणत्वे साधकतमत्वमनुपपन्नम् । सामग्री ह्यनेककारकस्वभावा, तत्र चानेकसमुदाये कस्य स्वरूपेणातिशयो वक्तुं शक्यते ? । तथाहि-सर्वस्मात् कारणकलापात् कार्यमुपजायमानमुपलभ्यते । तदन्यतमापायेऽप्यनुपजायमानं कस्य कार्योत्पादने साधकतमत्वमावेदयतु ? । न च समस्तसामग्र्याः साधकतमत्वम्, अपरस्यासाधकतमस्याभावे तदपेक्षया साधकतमत्वस्यानुपपत्तेः, असाधकतममपेक्ष्य साधकतमत्वव्यवस्थितेः। न चानेककारकजन्यत्वेऽपि कार्यस्य "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति" इति न्यायात् साधकतमत्वं विवक्षितमिति वक्तव्यम्, पुरुषेच्छानिबन्धनत्वेन वस्तुव्यवस्थितेरयोगात् । अथ कर्मकर्तृविलक्षणस्याऽव्यभिचाराऽऽदिविशेषणविशिष्टोपलब्धिजनकस्य प्रमाणत्वान्न यथोक्तदोषानुषङ्गः । असदेतत् । अनेकसन्निधानात् कार्यस्य स्वरूपलाभे एकस्य तदुत्पत्तौ वैलक्षण्याभावे साधकतमत्वानुपपत्तेः । तत्र कर्मकर्तृवैलक्षण्यमपि साधकतमत्वम् । अत्र चाऽनेकपक्षानुज्ञाऽऽद्योतकरोत्तराध्ययनकारप्रभृतिभिः साधकतमत्वं निरस्तम्, ते च पक्षा ग्रन्थगौरवभयाद् नेह प्रदर्श्यन्ते । सन्निपत्य जनकत्वे पूर्वोदितदोषाभावः । तथाहि-अनेकस्मिन् सन्निधौ कार्यनिष्पत्तेः साधकतमत्वानुपपत्तिः, तस्मिंस्तु सति यदा नियमेन कार्यमुपजायते तदा कथं न तस्य साधकतमत्वोपपत्तिः ? । असदेतत् । एवं प्रमाणत्वस्याव्यवस्थितिप्रसक्तेः । तथाहि-दीपाऽऽदेः प्रकाशस्य सामग्र्येकदेशस्य कस्याञ्चिदवस्थायां प्रमाणत्वेनाऽभिमतस्य सद्भावेऽपि प्रमेयाभावात् कार्यानिष्पत्तौ तत्सद्भावे तु तन्निष्पत्तौ तस्यापि प्रदीपवत्सन्निपत्यकारकत्वात् प्रमाणताप्रसक्तिर्भवेत् । तथा प्रमातुरपि मूर्छाऽऽद्यवस्थायाम्, अनवधाने चाऽन्यकारकसन्निधानेऽपि कार्यानुपपत्तौ तदवधानाऽऽदिसन्निधाने तज्जन्यकार्यनिष्पत्तेः । सन्निपत्य जनकत्वेन साधकतमत्वप्रसक्तिः । अत्र कारकसाकल्यस्य साधकतमत्वेनाऽभ्युपगमात् पूर्वोक्तदोषाभावं केचिन् मन्यन्ते । तथाहि-नैकस्य प्रदीपाऽऽदेः सामग्र्यैकदेशस्य करणता, अपि तु कारकसाकल्यस्य, तदभावे कारकसाकल्यानभिमतकार्यासत्त्वमिति प्रमातृप्रमेयसद्भावे कारकसाकल्यस्योत्पत्तौ प्रमितिलक्षणस्य कार्यस्य भाव एव । अथ मुख्यप्रमातृप्रमेयसद्भावेऽपि पूर्वोदितस्य नियमस्य तुल्यता, न कारकसाकल्यभावाभावनिमित्तत्वात् तन्मुख्या गौणभावस्य । तथाहि-कथञ्चित् कारकवैकल्ये तयोः सत्त्वेऽपि गौणता । तत्साकल्ये कुतश्चिन्निमित्तान्तराद् यथोक्तप्रमितिलक्षणकार्यनिष्पत्तावगौणता प्रमातृप्रमेययोः, तयोश्चानुपपत्तौ साकल्यस्यासत्त्वम्, अतः कारकसाकल्ये कार्यस्यावश्यंभाव इति तस्यैव साधकतमत्वम् । अनेककारकसंनिधाने उपजायमानोऽतिशयः सन्निपत्य जननं साधकतमत्वं यद्युच्येत, तदा न कश्चिद् दोषः । तथाहि-सामग्र्येकदेशकारकसद्भावेऽपि प्रमितिकार्यस्याऽनुपपत्तेरेकदेशस्य न प्रमाणता, सामग्रीसद्भावे त्ववश्यंतया विशिष्टप्रमितिस्वरूपोपपत्तेः । एकदेशापेक्षया तस्या एव सन्निपत्य जनकत्वमेव साधकतमता । न चाऽत्र किमपेक्षया तस्याः साधकतमत्वम् ? । अन्यस्मिन्नसाधकतमे साधके साधकतरे वा सति तदपेक्षया तस्याः साधकतमत्वमुपपत्तिमदिति प्रेरणीयम्; यतो न सामग्र्यन्तर्गतानामेकदेशानां जनकत्वव्याघातः, तेषामेव धर्ममात्रत्वात् सामग्र्यस्येति जनकैकदेशापेक्षया तत्सामग्र्यस्य साधकतमत्वात् प्रमाणत्वमुपपन्नमेव । एतेन यत्परैः प्रेरितं किल सामग्रीकारणं तत्र कर्तृकर्मापेक्षं, सामग्रीजनकत्वेन चेत्, तयोर्व्यापृतेरर्थान्तरभूतयोरभावात् किमपेक्ष्य साधकतममासाद्-

येदिति ?। तदपि निरस्त...म । यतः कर्तृकर्मणोः सामग्रीजनकत्वेन स्थितयोः कथम...त्वम ?, तत्सद्भावे च तदपेक्षया कथं न तस्याः करणता ?। ... अथापि स्यात् तस्यास्तज्जन्यत्वे करणत्वव्याघातः,अन्य...तः सिद्धस्य करणत्वसद्भावात् । असदेतत् । यतो दृश्यत एव... प्रदीपाऽऽदेस्तज्जन्यत्वे करणत्वव्याघातेऽन्यस्यापि क... करणत्वसद्भाव इति न कश्चिद् व्याघातः । तज्जन्यत्वकरणत... ...योस्ततोऽव्यभिचाराऽऽदिभिर्विशेषणार्थोपलब्धिजनिका साम... ...ग्री बोधस्वभावा तदेकदेशभूतकारकजन्या प्रमाणविशे... ...का अप्येतदेव प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रतिपादयन्ति । एतत्कार्यभूता वा यथोक्तविशेषके विशिष्टोपलब्धिः प्रमाणसामान्यलक्षणम्, तया स्वकारणस्य प्रमाणाभासेभ्यो व्यवच्छिद्यमानत्वात् । इन्द्रियजत्वाऽऽदिविशेषणविशेषिता सैवोपलब्धिः प्रमाणस्य विशेषलक्षणमिति स्थितं सामग्रीप्रमाणमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते-यत्तावदुक्तं कारकसाकल्यकरणत्वेनाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषाभाव इति । अत्र वक्तव्यम्-किमिदं कारकसाकल्यम्-किं सकलान्येव कारकाणि, आहोस्वित्तद्धर्मः, उत तत्कार्यम्, किं वा पदार्थान्तरम् ?, इति पक्षाः । तत्र न तावत् सकलान्येव कारकाणि साकल्यं, कर्तृकर्मभावे तेषां करणत्वानुपपत्तेः; तत्सद्भावे वा नान्येषां कर्तृकर्मरूपता, तेषां करणत्वाभ्युपगमात् । न च कर्तृकर्मरूपाणामपि तेषां करणत्वम्, तेषां परस्परविरोधात् । तथाहि-ज्ञानचिकीर्षाऽऽधारता, स्वातन्त्र्यं वा कर्तृता; निर्वर्त्याऽऽदिधर्मयोगित्वात् कर्मत्वम, प्रधानक्रियाऽनाधारत्वं करणत्वम, एतानि परस्परविरुद्धानि कथमेकत्र संभवन्ति ?। अथापरापरनिमित्तभेदाऽऽदेः कर्तृकर्मकरणरूपताया अविरोधः । ननु तान्यपि निमित्तानि सकलकारकेभ्यो व्यतिरिक्तानि, उताव्यतिरिक्तानि ?, इति वाच्यम । यदि-अव्यतिरिक्तानीति पक्षः, तदा तद्भेदे तेषामप्यभेदः, तेषां वा भेदे कारकस्याऽपि भेदः, अन्यथा व्यतिरेकासिद्धेः । अथ व्यतिरिक्तानि तदा संबन्धासिद्धिः । न च समवायलक्षणः संबन्धः, तस्य निषिद्धत्वात्, निषेत्स्यमानत्वाच्च । न चैकान्तभेदे विशेषणविशेष्यभावाऽऽदिकोऽपि संबन्धः कश्चित्संभवति, तत्रापि संबन्धान्तरकल्पनातोऽनवस्थाप्रसक्तेः । न च तस्य संबन्धरूपत्वात् संबन्धान्तरमन्तरेणाऽपि संबन्धत्वमवस्था, एकान्तभेदे संबन्धरूपताया एवायोगात्,कथञ्चिदभिन्नानां कारकेभ्योऽभेदे अनेकान्तवादाऽऽपत्तिः,तन्न सकलकारकाणि साकल्यम् । अथ कारणधर्मसाकल्यम्-ननु सोऽपि यदि कारकाव्यतिरिक्तस्तदा धर्ममात्रं, कारकमात्रं वा ?। अथ व्यतिरिक्तस्तदा सकलकारकधर्मः साकल्यमिति संबन्धासिद्धिः। संबन्धेऽपि यदि सर्वकारकेषु युगपदसौ संबध्यते, तदा बहुत्वसंख्यया तत्पृथक्त्वसंयोगविभागसामान्यानामन्यतमस्वरूपाऽऽपत्तिस्तस्येति तद्दूषणेन तस्य दूषितत्वान्न साधकतमत्वमुपपत्तिमत् । अथ तत्कार्यं साकल्यम । तदप्ययुक्तम । नित्यानां साकल्यजननस्वभावत्वे सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसक्तेः। ततश्चैकप्रमाणोत्पत्तिसमये सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिः। तज्जनकस्वभावस्य कारणेषु पूर्वोत्तरकालभाविनां सर्वप्रमाणानां तदा नित्याभिमतं जनकमात्माऽऽदिकं कारणमिति कथं न तदैव सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिः ?। अथाऽऽत्माऽऽदिके सत्यपि तदा तानि न भवन्ति,न तर्हि तत् तत्कारणं,नापि तानि तत्कार्याणीति सकृदपि तानि ततो न भवेयुरिति सकलं जगत्प्रमाणविकल्पमापद्यते । न चाऽऽत्माऽऽदिके तत्करणसामर्थ्ये सत्यपि स्वयमेव यथाकालं तानि भवन्तीति वक्तव्यम्, तेषां तत्कार्यताभावप्रसक्तेः, नहि तस्मिन् सत्यपि तदाभावात् स्वयमेवान्यदा च भावात् । न च स्वकालेऽपि कारणे सत्येव प्रवर्त्तन्तीति तत्कार्यता,गगनाऽऽदिकार्यताप्रसक्तेः, गगनाऽऽदावपि सत्येव तेषां भावात् । न च गगनाऽऽदेरपि तत्प्रति कारणत्वस्येष्टेर्नाऽयं दोषः,प्रमितिलक्षणस्य तत्फलस्याऽपि व्योमाऽऽदिजन्यतयाऽऽत्मनाऽऽत्मविभागाभावप्रसक्तेः। अथ यत्र प्रमितिः समवेता, स एवाऽऽत्मा, न व्योमाऽऽदिरिति न तद्विभागाभावः। ननु समवेत इति कोऽर्थः?, समवायेन संबद्ध इति चेत् । ननु तस्य नित्यसर्वगतैकत्वेन व्योमाऽऽदावपि प्रमितेः संबन्धात्र तत्परिहारेणाऽऽत्मनो विभागः । न च समवायविशेषे समवायिनो विशेषात्रायं दोषः, समवायस्याभावप्रसक्तेः । अथ यदा यत्र यथा यद् भवति तदा तत्र तथा तदात्माऽऽदिकं कर्तुं समर्थमिति नैकदा सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिः । न । स्वभावभूतसामर्थ्यमन्तरेण कार्यस्य कालाऽऽदिभेदायोगात् । अन्यथा दृश्यपृथिव्यादिमहाभूतकार्यनानात्वस्य कारणं किमदृष्टपार्थिवीपरमाण्वादिचतुर्विधमभ्युपेयते , एकमेवानन्तं नित्यं सर्वगं सर्वोत्पत्तिमतां समवायिकारणमभ्युपगतम ?। अथ कारणजातभेदमन्तरेण न कार्यभेद उपपद्यते, तर्हि कारणशक्तिभेदमन्तरेणाऽपि न कार्यभेद उपपद्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम । अथ यथा शक्तस्यैकमनेका शक्तिर्विभक्तिः, तत्राप्यनेकशक्तिपरिकल्पनेऽनवस्थाप्रसक्तेः । न च तदाऽनेकं कार्यं विधास्यतीति न शक्तिभेदपरिकल्पना । असदेतत् । यतो न जैनस्यायमभ्युपगमः-यदुत भिन्नाः शक्तीः कयाचित् प्रत्यासत्तिलक्षणया शक्या एकः कश्चिद्धारयतीति, किं तु यत्तदात्मकं तदपि तथाविधं न कस्याश्चित् शक्तेः, अपि तु स्वकारणवशात् । न चैकस्यानेकाऽऽत्मकत्वमदृष्टमेव परिकल्प्यते,अनेकरूपाऽऽत्मकस्यैकस्य पटाऽऽदेः प्रमाणतः प्रतिपत्तेः । अन्यथा गुणगुणिभाव एव न भवेत्, समवायस्य तन्निमित्तस्याभावात् । सकलकारणानि साकल्यजननस्वभावानि, सकलकालभाविसाकल्यस्य तदैवोत्पत्तिप्रसक्तेः। न चातज्जननस्वभावानि नैकदाऽपि तदुत्पत्तिः, अतज्जननस्वभावात् सकृदपि तस्यानुपपत्तेः । न च सहकारिसव्यपेक्षाणि तानि तज्जनयन्ति, नित्यस्यानुपकार्यतया सहकार्यपेक्षायोगात् । न च संभूयैककार्यकारित्वं तेषां सहकारित्वम्, एकान्तनित्यवादे तस्यापि निषिद्धत्वात् । तन्न सकलकार्यकारणमपि साकल्यं संभवति । किञ्च-सकलानि कारणानि साकल्यं जनयन्ति, उतासकलानि ?। न तावदसकलानि, अतिप्रसङ्गात् । नापि सकलानि, साकल्यमन्तरेण सकलानीति व्यपदेशाभावात् । भावे वाऽकिञ्चित्करं साकल्यमिति तत्परिकल्पना व्यर्था । किञ्च-यथा प्रत्यासत्त्या तानि साकल्यं जनयन्ति तथैव प्रमितिमप्युत्पादयिष्यन्तीति व्यर्था साकल्यपरिकल्पना । अथ साकल्यस्य साधकतमत्वात् तद्भावेनाकरणिका प्रमित्युत्पत्तिः, तर्हि साकल्योत्पत्तावपि तेषां न परं साकल्यलक्षणं करणमभ्युपगन्तव्यम । अन्यथा-अकरणिका साकल्यस्यापि कथमुत्पत्तिः ?। अथ तदुत्पत्तावपि करणाभ्युपगमस्तर्हि तदुत्पत्तावप्यपरं करणमभ्युपगन्तव्यमित्यनवस्था । अथ करणोत्पत्तौ नापरं करणमभ्युपगम्यत इति नानवस्था, तर्हि उपलब्ध्युत्पत्तावपि न करणमभ्युपगन्तव्यमिति न साकल्यप्रमाणपरिकल्पना युक्तिसङ्गता । न च साकल्यस्याध्यक्षाऽऽदिप्रमाणसिद्धत्वादध्यक्षबाधितोऽयं विकल्पकलापः, आत्माऽन्तःकरणसंयोगाऽऽदेः करणसाकल्यातीन्द्रियत्वेनाध्यक्षाविषयत्वात्

तत्पूर्वकत्वेन पूर्ववदादेरनुमानस्याप्यभ्युपगमाच्च ततोऽपि साकल्यसिद्धिः । केवलं विशिष्टार्थोपलब्धिलक्षणमव्यभिचारिसिद्धं कार्यं करणमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्परिकल्पना, तच्च साकल्यमिति न कल्पयितुं शक्यमात्माऽऽदिकरणसद्भावे कार्यस्योपपत्तावपरपरिकल्पनेऽपरपरिकल्पनाप्रसक्तिः, ततोऽपरापरपरिकल्पनयाऽनवस्थाप्रसक्तेः । तच्च सकलकारणकार्यमपि साकल्यम् । अथ पदार्थान्तरं सकलकारणेभ्यः साकल्यं, तदा यत् किञ्चित् पदार्थान्तरं तत्साकल्यं प्रसज्येत, इति यस्य कस्यचित्पदार्थान्तरस्य सद्भावेऽर्थोपलब्धिर्भवेदिति सर्वदा सर्वस्य सर्वज्ञताप्रसक्तिः; तच्च कारकसाकल्यं प्रमाणम् । तेन प्रमातृप्रमेययोरभावः साकल्याभाव इत्यादि प्रतिक्षिप्तम्, तत्सद्भावेऽपि भवदभिप्रायेण साकल्यानुपपत्तेः । यदपि मुख्यगौणभावस्य कारकसाकल्याभावाभावनिमित्तत्वादित्यादि । तदपि व्योमकुसुमावतंसकशशशृङ्गवदसौभाग्यासौभाग्यप्रख्यं द्रष्टव्यम् । तेन सन्निपत्य जननं साधकतमत्वं यद् व्याख्यातम् । तदपि निरस्तम् । तस्याऽपि साकल्यार्थत्वात् । यदपि साकल्यं हि तेषामेव धर्ममात्रं नैकान्तेन वस्त्वन्तरमित्यभिधेयशून्यं वचः, वस्त्वन्तरपक्षे तु दोषाः प्रतिपादिता एव । यदपि प्रमातृप्रमेयजन्यत्वेऽपि सामग्र्या न करणत्वव्याहतिरिति । तदपि न सङ्गतम् । सामग्र्यास्तज्जन्यत्वेऽनवस्थाऽऽद्यनेकदोषाऽऽपत्तेः प्रतिपादनात् । यदप्यव्यभिचाराऽऽदिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री प्रमाणमित्युक्तम् । तदप्यसङ्गतम् । अव्यभिचारादेरुपलब्धिविशेषणस्य भवदभिप्रायेणायोगात् । (यथा च तस्यायोगस्तथा प्रत्यक्षलक्षणे प्रदर्शयिष्यामः *) सामग्री च तज्जनिका यथा न संभवति तथाऽभिहितमेव साकल्यं विचारयद्भिः । यच्चाबोधस्वभावस्यापि प्रदीपाऽऽदेः प्रमाणत्वं प्रतिपाद्यते । तदप्यसङ्गतम् । बोधस्वभावस्य तस्य प्रमितिक्रियायां साधकतमत्वायोगात् । यच्च लोकस्तेषां प्रामाण्यं दीपेन मया दृष्टं, चक्षुषाऽवगतं, धूमेन प्रतिपन्नमिति व्यवहरतीति तदुपचारतः,यथा ममाऽयं पुरुषश्चक्षुरिति, न तु मुख्यतः । मुख्यतस्तु बोधस्यैव प्रमितिं प्रति तादात्म्यादव्यवहितं साधकतमत्वम् । चक्षुरादेस्तु बोधव्यवधानाद् गौणम् । न च व्यपदेशमात्रपरतया न पारमार्थिकवस्तुव्यवस्था,उपचारतोऽपि नड्वलोदकं पादरोग इत्यादिव्यपदेशप्रवृत्तेः । न च प्रमाणस्य प्रमितिरूपता विरुद्धा, स्वरूपे विरुद्धासिद्धिः । न च प्रमाणप्रमित्योरेकान्ततो भेद एवाभ्युपगम्यते, कथञ्चिद् बोधादर्थपरिच्छित्तिविशेषस्य भेदात् प्राक्तनपर्यायानरोधेन कथञ्चिदवस्थितस्यैव बोधस्याऽर्थपरिच्छित्तिविशिष्टरूपतयोत्पत्तेः । अन्यथा कार्यकारणभावविरोधादित्यसकृत् प्रतिपादितत्वात् । एतेन " लिखितं साक्षिणो भुक्तिः, प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् " इति यत् शास्त्रान्तरेषु बोधाबोधरूपस्य प्रमाणत्वाऽभिधानं तदप्युपचारेण व्याख्येयमित्युक्तं भवति । अन्यथा प्रमाणाविरोधप्रदर्शितन्यायेन ········· (?) । यदपि तत्कार्यत्वेन चोदितविशेषणोपलब्धिस्तस्य सामान्यलक्षणमित्युक्तम् । तदप्यसङ्गतम् । न हि यथोक्तविशेषणोपलब्धिः पराभ्युपगमे न संभवति, नाऽपि पराभ्युपगतप्रमाणकार्यतयाऽसौ सिद्धा, येन स्वकारणं प्रमाणाभासेभ्यो व्यवच्छिन्द्यात् । तच्चाक्षपादकणभुङ्मतानुसारिपरिकल्पितमपि प्रमाणसामान्यलक्षणमुपपत्तिक्षमम् । तस्मात् ' प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम् ' इत्येतदेव प्रमाणसामान्यलक्षणमनवद्यम् । ननु चात्रापि स्वग्रहणविधुरस्य ज्ञानस्य नैयायिकाऽऽदिभिरभ्युपगमाद् बौद्धैश्चार्थग्रहणविधुरस्येति स्वार्थनिर्णीतिस्वभावताऽसिद्धा । सम्म० २ काण्ड ।

" ज्ञानं स्वस्थं परस्थं वा, यथा ज्ञानेन गृह्यते ।
ज्ञाता स्वस्थः परस्थो वा,तथा ज्ञानेन गृह्यताम्" ॥१॥ द्रव्य० २ अ० ।

(२०) अनुव्यवसायग्राह्यं ज्ञानम्—

तथाहि नैयायिकाः प्रतिपादयन्ति-घटाऽऽदिज्ञानं स्वग्राह्यं न भवति, ज्ञानान्तरग्राह्यं वा, ज्ञेयत्वात्, घटाऽऽदिवत् । अत्र प्रयोगे हेतुः स्वरूपासिद्धः, आश्रयासिद्धश्च । धर्मिणो ज्ञानस्याऽप्रतिपत्तौ तदाश्रितज्ञेयत्वधर्माप्रतिपत्तेः । न चाऽऽश्रयासिद्धस्य परैर्गमकत्वमभ्युपगम्यते । अन्यथा सामान्याऽऽदिनिषेधे सामान्यस्याऽसिद्धौ परं प्रत्याश्रयासिद्धो हेतुरिति दोषोद्भावनं युक्तियुक्तं भवेत् । घटाऽऽदिज्ञानस्य प्रमाणतः प्रसिद्धेर्नायं दोषः । ननु तत्प्रसिद्धिः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा ?, प्रमाणान्तरस्यात्रानधिकारात् । न तावत्प्रत्यक्षतः, तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वाभ्युपगमात् । न च ज्ञानस्य चक्षुरादीन्द्रियेण सन्निकर्षो,न च तद्व्यतिरिक्तमिन्द्रियान्तरमस्ति, अथ मनोलक्षणमन्तःकरणमस्ति, तस्य च ज्ञानेन संयुक्तसमवायः सन्निकर्ष इति तत्प्रभवमध्यक्षं तत्र प्रवर्त्तेत इति । तथाहि-आत्मना मनः संयुक्तम्, आत्मनि च समवेतं ज्ञानमिति मनोज्ञानेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नतदेकार्थसमवेताध्यक्षग्राह्यत्वाद् घटाऽऽदिज्ञानस्य कथमाश्रयासिद्धत्वाऽऽदिर्हेतोर्दोषः ?। अयुक्तमेतद् यदीन्द्रियं मनः सिद्धं भवेत् । अथानुमानात्तत्सिद्धिः। तथाहि-घटाऽऽदिज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं, प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञानत्वाच्चक्षुरादिप्रभवरूपाऽऽदिज्ञानवदस्य हेतोरप्रसिद्धविशेषणत्वम् । न हि घटाऽऽदिज्ञानस्याध्यक्षत्वं सिद्धम्, इतरेतराश्रयत्वात् । तथाहि-मनस इन्द्रियसिद्धावस्याध्यक्षत्वासिद्धिः, तत्सिद्धौ च सविशेषणहेतुसिद्धेर्मनस इन्द्रियसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । न च घटज्ञानाद् भिन्नमपरं ज्ञानं तद्ग्राहकमनुभूयत इति विशेष्यासिद्धश्च हेतुः, सुखाऽऽदिसंवेदनेन व्यभिचारी च । तथाहि-तत्संवेदनमध्यक्षत्वे सति ज्ञानं च तज्जन्यमिति व्यभिचारः । अथास्यापि पक्षीकरणाददोषः । तथा सुखाऽऽदिसंवेदनमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजमध्यक्षज्ञानत्वाच्चक्षुरादिप्रभवरूपाऽऽदिवेदनवत्;सुखाऽऽदिर्वा भिन्नज्ञानवेद्यो, ज्ञेयत्वात्, घटवत् । नन्वेवं व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणे न कश्चिद् हेतुर्व्यभिचारी स्यात् । तथाहि-अनित्यः शब्दः, प्रमेयत्वाद्, घटवदित्यत्राप्यात्माऽऽदेर्व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणाद् न व्यभिचारः । शक्यं ह्यत्राऽपि वक्तुम्-अनित्य आत्माऽऽदिः, प्रमेयत्वाद्, घटवत् । न चाऽत्र प्रत्यक्षबाधः, अन्यत्राऽपि तस्य समानत्वात् । न हि सुखाऽऽद्यविदितस्वरूपं पूर्वं घटाऽऽदिवदुत्पन्नं पुनरिन्द्रियसंबन्धोपजातज्ञानान्तराद्वेद्यत इति लोकप्रतीतिः, अपि तु प्रथममेव स्वप्रकाशरूपं तदुदयमासादयदुपलभ्यते आत्मनि निविश इति चेत् । न । स्वरूपेण पदार्थस्य विरोधाभावात् । अन्यथा प्रदीपाऽऽदेरप्यपरप्रकाशाधिकस्वरूपप्रकाशविरोधः स्यात् । तस्य तत्स्वरूपं कुतः सिद्धमिति चेत् ?, प्रदीपाऽऽदौ कुतस्तथा दर्शनमितरत्रापि समानम् । न चैकस्य स्वभावोऽपरत्राप्यभ्युपगमार्हः,अन्यथा स्वपरप्रकाशस्वभावो घटगतः प्रदीपेऽभ्युपगते तयोर्भवेत् । न च तद्वचनमात् पूर्वमप्रतीयमानमपि सुखाऽऽद्यभ्युपगन्तुं युक्तम्, अवचनसमयात् प्राक् पश्चाच्च शब्दस्य सत्त्वाऽभ्युपगमप्रसक्तो नित्यत्वाऽऽपत्तेः । न चाऽऽत्मनो

* प्रत्यक्षलक्षणं सम्मतौ द्रष्टव्यम् ।

ज्ञानाद्यार्थान्तभूता एव सुखाऽऽदयोऽनुग्रहाऽऽदिविधायिनो भवेयुः, इतरथाऽयोगिनोऽपि ते तथा स्युः । न च तेषां तत्रासमवायादयं दोषः, समवायस्य निषिद्धत्वात् । सुखाऽऽदिग्रहणे मनस इन्द्रियसिद्धिः। अत एव चाऽऽत्मा मनसा युज्यते, तत्र च समवेताः सुखाऽऽदय इत्यादिक्रिया अनुपपन्नैव । न च निरंशयोरात्ममनसोः संयोगः संभवी, एकदेशेन तत्संयोगे सांशत्वप्रसक्तेः, सर्वाऽऽत्मना संयोगे उभयोरेकत्वप्राप्तेः। यदि च यत्र मनः संयुक्तं तत्र समवेतं ज्ञानं समुत्पादयति, तदा सर्वाऽऽत्मना व्याप्ततया सामान्यदेशत्वेन मनसः तैः संयुक्तत्वात् सर्वाऽऽत्मसमवेतसुखाऽऽदिषु द्विधैवैकं ज्ञानमुत्पादयतीति प्रतिप्राणि भिन्नं मनःपरिकल्पनमनर्थमासज्येत । न च यस्य संबन्धि यन्मनः, तत्समवेतसुखाऽऽदिज्ञाने तदेव हेतुरिति नायं दोषः, प्रतिनियताऽऽत्मसंबन्धित्वस्यैव तत्राऽसिद्धेः । न हि तत्कार्यत्वेन तत्संबन्धेन तस्य नित्यत्वाभ्युपगमात् तत्र चानाधेयाप्रहेयाऽतिशये तत्कार्यतायोगात् नापि तत्संयोगात् तस्याऽपि तत्रैकदेशेन सर्वाऽऽत्मना वा योगात् । योगेऽपि व्यापकत्वेन समानदेशिसर्वाऽऽत्मभिर्युगपत् संयोगेन प्रतिनियताऽऽत्मसंबन्धित्वानुपपत्तेः। न च यददृष्टप्रेरितं तत्प्रवर्तते तत्संबन्धीति वक्तव्यम्, अदृष्टस्याचेतनत्वेन प्रतिनियतविषयतया तत्प्रेरकत्वायोगात् । प्रेरकत्वे वा ईश्वरपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तेः । न चेश्वरप्रेरितमेवासौ तत्प्रेरक इति न तत्परिकल्पनावैयर्थ्यम्, अदृष्टप्रेरणामन्तरेण ईश्वरस्य साक्षान्मनःप्रेरकत्वोपपत्तेरदृष्टपरिकल्पनावैयर्थ्यं पुनः प्रसज्यते । न च प्रतिनियतनिमित्तमदृष्टपरिकल्पना, तस्यापि स्वतः प्रतिनियतत्वासिद्धेः । येनाऽऽत्मना यददृष्टं निर्वर्तितं तत्तस्य इति प्रतिनियमसिद्धिरिति चेत्, ननु किमिदमात्मनोऽदृष्टनिर्वर्तकत्वम् ?, तदाधारभाव इति चेत्, ननु समवायस्यैकत्वे आत्मनां च व्यापकत्वेन एकदेशत्वे प्रतिनियत एव आत्मा प्रतिनियतादृष्टाऽऽधार इत्येतदेव दुर्घटम्, समवायाविशेषेऽपि समवायिनोर्विशेषात् प्रतिनियमे समवायप्रसक्तेरित्यात्मसुखाऽऽदीनां तत्संवेदनस्य कथञ्चित् तादात्म्यमभ्युपेयम् । अन्यथा तदेकार्थसमवेतग्राह्यज्ञानत्वेन सुखाऽऽदयो न सिद्धिमासादयेयुः। तत्रादृष्टमपि मनसः प्रतिनियमहेतुः, न च येनाऽऽत्मना यन्मनः प्रेर्यते तत् तत्संबन्धीति प्रतिनियमः, अदृष्टत्वादात्मनोऽप्यचेतनत्वेन तत्प्रत्ययप्रेरकत्वात् । चेतनत्वेऽपि नानुपलभ्यस्य प्रेरणमिति न नियतं मनः सिध्यतीति । एकस्मात् ततो युगपत् सर्वसुखाऽऽदिसंवेदनप्रसक्तिः, इत्युक्तन्यायेन सुखाऽऽदिसंवेदनस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वाभावात् हेतुरनेन व्यभिचारी । किञ्च-स्वसंविदितविज्ञानानभ्युपगमे सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानाऽऽलम्बनोऽनेकत्वात् पञ्चाङ्गुलिवदित्यत्र पक्षीकृतैकदेशेन व्यभिचारः, तज्ज्ञानान्यत्वे सदसद्वर्गयोरनेकत्वाविशेषेऽप्येकज्ञानाऽऽलम्बनत्वाभावात्, एकशाखाप्रभवत्वानुमानवत् । अथ सर्वज्ञज्ञानस्वसंविदितमिति नानेकत्वानुमानस्य व्यभिचारः, तर्हि तज्ज्ञानवदन्यज्ञानस्यापि न स्वाऽऽत्मनि क्रियाविरोध इति सर्वज्ञानं स्वसंविदितं ज्ञानत्वात् सर्वज्ञज्ञानवदिति तत् दृष्टान्तबलात् स्वसंविदितसकलज्ञानसिद्धिः। घटाऽऽदिज्ञानं ज्ञानान्तरग्राह्यं,ज्ञेयत्वात्, घटवदित्यत्र च व्यभिचारः । सम्म०२काण्ड ।

ननु " जुगवं दो णत्थि उवओगा , " इति वचनात् भवतोऽपि युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिः सिद्धैव । न । मानसविकल्पद्वययौगपद्यनिषेधपरत्वादस्य, नेन्द्रियमनोविज्ञानयोर्यौगपद्यनिषेधः। न च विवादाऽऽस्पदीभूतानि ज्ञानानि क्रमभावीनि ज्ञानत्वात् मानसविकल्पद्वयवदित्यतोऽनुमानतद्धिग्धर्मसिद्धिः, अस्य प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वात् । न चैतदनुमानबाधितत्वाद् युगपत्प्रतिपत्त्यनुभवः प्रत्यक्षमेव न भवति, अश्रावणः शब्दः, सत्त्वात्, घटवदित्यनुमानबाधितत्वात् श्रावणशब्दज्ञानस्याप्यप्रत्यक्षताप्रसक्तेः । न च सौगतमतमेतद् जैनमतमिति वक्तव्यम्,-" सहभाविनो गुणाः, क्रमभाविनः पर्यायाः " इति जैनैरभिधानात् ।

तथा सहभावित्वं गुणानां प्रतिपादयता दृष्टान्तार्थमुक्तम्-

" सुखमाह्लादनाऽऽकारं, विज्ञानमयबोधनम् ।
शक्तिः क्रियाऽनुमेया स्याद् , यूनः कान्तासमागमे " ॥ १ ॥

तदेवं मनसोऽसत्त्वेन घटाद् विज्ञानं, तेन सन्निकृष्टमिति कुतस्तत्राऽध्यक्षज्ञानोत्पत्तिरिति यतस्ततस्तत् प्रतीयते ? । न चान्यसद्भूतपत्तौ पराभ्युपगमे निमित्तमस्ति, तद्भावे चेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वाऽऽदिना तव ग्राहिणोऽध्यक्षता विरुध्यते । अथ ज्ञानान्तरेऽस्यानध्यक्षत्वेऽपि घटज्ञानग्राहकता भविष्यतीति न धर्म्यसिद्धेराश्रयासिद्धो हेतुर्भविष्यति, घटज्ञानस्य ततः सिद्धेः । असदेतत् । स्वयमसिद्धेन ज्ञानेन गृहीतस्याप्यगृहीतरूपत्वात् । अन्यथा सर्वज्ञज्ञानगृहीतस्य रथ्यापुरुषज्ञानगृहीतत्वं भवेदिति तस्याऽपि सर्वज्ञताप्रसक्तिः । न च स्वज्ञानगृहीतादगृहीतमिति नायं दोषः, स्वसंविदितज्ञानाभावे स्वज्ञानमित्यस्यैवासिद्धेः। स्वस्मिन् समवेतस्वज्ञानमभिधीयत इति नायं दोष इति चेत् । न । तस्याभावात् , भावेऽप्यविशिष्टत्वाच्च । न च स्वोत्पादितं स्वमिति वक्तव्यम्, तदुत्पादस्य परदर्शने तदाधेयत्वेन प्रसिद्धत्वात् । समवायाभावे च तस्याऽप्यसिद्धत्वाद् नित्यस्य चेश्वरज्ञानस्य तदसिद्धिः । न च स्वसंविदितज्ञानवादेऽपि स्वसंविदितत्वाविशेषाद्देवदत्तज्ञानं प्रसज्येत, यज्ञदत्तज्ञानस्य देवदत्तासंविदितत्वात् स्वज्ञानस्य कथञ्चित् स्वात्मना तादात्म्यात् तस्यैव तद्रूपतया परिणतेरिति प्रसाधितत्वात् । ज्ञानान्तरेण तस्यासंवेदनाद् नागृहीतत्वमिति चेत्। न। तस्याऽपि ज्ञानान्तरेण ग्रहणेऽनवस्थाप्रसक्तेः । अग्रहणेऽगृहीतवेदनेन गृहीतस्य द्वितीयज्ञानस्यागृहीतरूपत्वाद् न तेन प्रथमग्रहणमिति तदवस्था धर्मासिद्धिः। तेन घटाऽऽदिज्ञानस्य धर्मिणा द्वितीयेन तस्याऽपि तृतीयेन ग्रहणादर्थसिद्धेर्नापरज्ञानकल्पनमिति नानवस्थेति यदुक्तम् । तदप्यसंगतम् । तृतीयाऽऽदेर्ज्ञानस्याग्रहणे प्रथमस्याप्यसिद्धेः । उक्तन्यायाद् यदि पुनस्तृतीयज्ञानेन स्वयमसिद्धेनापि द्वितीयं गृह्यते, द्वितीयेन तथाभूतेनैव प्रथमं, तेनाऽपि तथाभूतेनैवार्थो ग्रहीष्यत इति द्वितीयज्ञानपरिकल्पनमपि व्यर्थमासज्येत । न च विदितोऽर्थ इति ज्ञानविशेषणस्यार्थस्य प्रतिपत्तेरगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिर्नोपजायत इति विशेषणग्राहिज्ञानं द्वितीयं परिकल्प्यते । न च विशेषणस्याप्युपरि विशेषणविशिष्टता प्रतीयते, येन तृतीयाऽऽदिज्ञानपरिकल्पना युक्तिसङ्गता भवेदिति वक्तव्यम्; विशेषणस्यैव तृतीयाऽऽदिज्ञानपरिकल्पनामन्तरेण ग्रहणासंभवादित्युक्तेः । स्वसंविदितज्ञानाभ्युपगम एव ज्ञानविशेषणविशिष्टार्थप्रतिपत्तिः संभवति, अन्यथा तदयोगादनवस्थानिवृत्तेः । न च विषयान्तरसंचारादनवस्थानिवृत्तिः, यतो धर्मिज्ञानविषयात् साधनाऽऽदिर्विषयान्तरं, तत्र ज्ञानस्योत्पत्तिर्विषयान्तरसंचारः । न चाप-

दापरज्ञानग्राहिज्ञानमनुत्पन्नानवश्यंभाविबाह्यसाधनो विषयसन्निधानं, येन तत्र ज्ञानस्य संपादो भवेत्, सन्निधानेऽप्यन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गस्यैव बलीयस्त्वादान्तरङ्गविषयपरिहारेण बाह्यविषयज्ञानोत्पत्तिर्भवेदिति कुतोऽनवस्थानिवृत्तिः ?। न चादृष्टवशादनवस्थानिवृत्तिः, स्वसंविदितज्ञानाभ्युपगमेनाप्यनवस्थानिवृत्तेः संभवात् । अन्यथा कार्येऽनुपपद्यमानेऽदृष्टपरिकल्पनाया उपपत्तेः, स्वसंवेदनेऽपि चादृष्टस्य शक्तिप्रत्ययज्ञानाभावात्। एतेन ईश्वराऽऽदेरनवस्थानिवृत्तिरिति प्रतिविहितम्, तस्यादृष्टकल्पनायाः प्रतिविहितत्वाच्चतुर्थज्ञानाऽऽदेरनुत्पत्तेरनवस्थानिवृत्तिः, धर्मिग्रहणस्यैवमभावाऽऽपत्तेः । किञ्च-शक्तिर्यद्यात्मनोऽव्यतिरिक्ता, तदा तत्क्षये आत्मनोऽपि तथाऽऽपत्तिः। व्यतिरिक्ता चेत्,तत एव ज्ञानोत्पत्तेरनर्थक आत्मा भवेत् । न च सा तस्येति नात्माऽऽनर्थक्यम्, समवायाभावे तस्याप्यसिद्धेः । किञ्च-यदि सिद्धिप्रक्रियादनवस्थानिवृत्तेर्बाह्यविषयमपि ज्ञानं न भवेत्, शक्तिप्रक्षयादेव । न च चतुर्थाऽऽदिज्ञानजननशक्तेरेव प्रक्षयः। न बाह्यविषयज्ञानशक्तेर्युगपदनेकशक्त्यभावात् । भावे वा युगपदनेकज्ञानोत्पत्तिप्रसक्तिः,सहकार्यपेक्षाऽपि नित्यस्यासंभविनी,प्रतिपादितक्रमेण शक्तिभावे कुतः स इति वक्तव्यम् ?। आत्मन इति चेत् । न। अपरशक्तिवैकल्यात् । ततस्तदभावादपरशक्तिपरिकल्पने तदभावेऽप्यपरशक्तिपरिकल्पनमित्यनवस्था । तदेवं स्वसंविदितविज्ञानाभ्युपगमे कथञ्चिद् घटाऽऽदिज्ञानस्यासिद्धेराश्रयासिद्धो ज्ञेयत्वादिति हेतुः, स्वरूपासिद्धश्चेति व्यवस्थितमेतत् स्वनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानमिति । सम्म० २ काण्ड ।

(युगपद् ज्ञानद्वयानुभवो ' दोकिरिय ' शब्दे निषेत्स्यते)

(२१) ज्ञानस्य स्वप्रकाशकत्वम्-

अस्त्येव प्रदीपाऽऽदिलक्षणो दृष्टान्तो ज्ञानस्य प्रकाशं प्रति सजातीयापरानपेक्षणे साध्ये । तथाहि-यथा प्रदीपाऽऽद्यालोको न स्वप्रतिपत्तावालोकान्तरमपेक्षते, तथा ज्ञानमपि स्वप्रतिपत्तौ न समानजातीयज्ञानापेक्षम् । एतावन्मात्रेणाऽऽलोकस्य दृष्टान्तत्वम्, न पुनस्तस्यापि ज्ञानत्वमासाधने । येनेन्द्रियग्राह्यत्वाच्चक्षुष्मतामिवान्धानामपि तत्प्रतीतिप्रसङ्ग इति प्रेर्येत । न हि दृष्टान्ते साध्यधर्मिधर्माः सर्वेऽप्यासञ्जयितुं युक्ताः, अन्यथा घटेऽपि शब्दधर्माः कृतकत्वाऽऽदयः प्रसज्येरन्निति तस्याऽपि श्रोत्रग्राह्यत्वप्रसङ्गः । न च साधर्म्यदृष्टान्तमन्तरेण प्रमाणप्रतीतस्याप्यर्थस्याप्रसिद्धिरिति शक्यं वक्तुम् । अन्यथा जीवच्छरीरस्यापि सात्मकत्वे साध्ये तत्प्रसिद्धदृष्टान्तस्याभावात् प्राणाऽऽदिमत्त्वाऽऽदेस्तत्सिद्धिर्न स्यात् । अथ साधर्म्यदृष्टान्ताभावेऽपि वैधर्म्यदृष्टान्तस्य घटाऽऽदेः सद्भावात् केवलव्यतिरेकिबलात्तत्र तत्सिद्धिः, तर्हि यत्र स्वप्रकाशकत्वं नास्ति तत्रार्थप्रकाशकत्वमपि नास्ति, यथा घटाऽऽदाविति व्यतिरेकदृष्टान्तसद्भावादर्थप्रकाशकत्वलक्षणाद्धेतोः स्वप्रकाशकत्वं विज्ञानस्य किमिति न सिद्धिमासादयति ?। यदुक्तं-कस्यचिदर्थस्य काचित्सामग्री,तेन प्रकाशः प्रकाशान्तरनिरपेक्ष एव स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभाति । तदयुक्तमेव । यथा हि स्वसामग्रीत उपजायमानाः प्रदीपाऽऽलोकाऽऽदयो न समानजातीयमालोकान्तरं स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभासमाना अपेक्षन्ते, तथा स्वसामग्रीत उपजायमानं विज्ञानं स्वार्थप्रकाशस्वभावं स्वप्रतिपत्तौ न ज्ञानान्तरमपेक्षते, प्रतिनियतत्वात् स्वकारणाऽऽयत्तजन्मनां भावशक्तीनाम् । यत्तु प्रदीपाऽऽलोकाऽऽदिकं सजातीयाऽऽलोकान्तरनिरपेक्षमपि स्वप्रतिपत्तौ ज्ञानापेक्षते, तत्तस्याज्ञानरूपत्वात्; ज्ञानस्य च तद्विपर्ययस्वभावत्वाद् युक्तियुक्तमिति नैकत्र दृष्टः स्वभावोऽन्यत्राऽऽसञ्जयितुं युक्त इति पूर्वपक्षवचो निःसारतया व्यवस्थितम् । यथाऽऽलोकस्य तदन्तरनिरपेक्षा प्रतिपत्तिरुपलब्धेति न तद्दृष्टान्तबलाद् ज्ञानस्यापि ज्ञानान्तरनिरपेक्षा प्रतिपत्तिः; अदृष्टत्वात्, स्वात्मनि क्रियाविरोधाच्च । नन्वेवमुपसञ्ज्यमानेऽपि वस्तुनि यथादृष्टं, विरोधश्चोभयेन, तदा स्वात्मवद् घटाऽऽदेरपि बाह्यस्य न ग्राहकं ज्ञानम् । अदृष्टत्वात्, अज्ञस्य प्रकाशायोगाच्चेत्यपि वदतः सौगतस्य न वक्रवक्रता समुपजायते । तथाहि-असावप्येवं वक्तुं समर्थः-जडं वस्तु न स्वतः प्रकाशते,विज्ञानवद्,जडत्वहानिप्रसङ्गात् । नाऽपि परतः प्रकाशमानम्, नीलसुखाऽऽदिव्यतिरिक्तस्य विज्ञानस्यासंवेदनेनासत्त्वात् । अथ नीलस्य प्रकाश इति प्रकाशमाननीलाऽऽदिव्यतिरिक्तस्तत्प्रकाशः। अन्यथा भेदेनास्याप्रतिपत्तौ संवेदनस्य तत्प्रतिभासो न स्यात् । ननु न नीलतद्वेदनयोः पृथगवभासः प्रत्यक्षसंभवी, प्रकाशविविक्तस्य नीलाऽऽदेरननुभवात् तद्विवेकेन च बोधस्याप्रतिभासनात् । न चाप्यक्षतो विवेकेनाप्रतीयमानयोर्नीलतत्संविदोर्भेदो युक्तः, विवेकादर्शनस्य भेदविपर्ययाऽऽश्रयत्वान्नीलतत्स्वरूपवत् । अथापि कल्पना नीलतत्संविदोर्भेदमुल्लिखति-नीलस्यानुभव इति । नन्वभेदेऽपि भेदोल्लेखो दृष्टः, यथा शिलापुत्रकस्य वपुः, नीलस्य वा स्वरूपमिति । अथ तत्र प्रत्यक्षाऽऽरूढो भेदो बाधक इति न भेदोल्लेखः सत्यः, स तर्हि नीलसंविदोरपि प्रत्यक्षाऽऽरूढो भेदोऽस्तीति न भेदकल्पना सत्या । तदेवं नीलाऽऽदिकं सुखाऽऽदिकं वस्तु प्रकाशवपुः प्रतिभातीति स्थितम् । तद्व्यतिरिक्तस्य प्रकाशस्य प्रतिभासनेनाभावात् । भवतु वा व्यतिरिक्तो बोधः, तथाऽपि न तद्ग्राह्या नीलाऽऽदयो युक्ताः । तथाहि-तुल्यकालो वा बोधस्तेषां प्रकाशकः, भिन्नकालो वा ?। तुल्यकालोऽपि परोक्षः,स्वसंविदितो वा ?। न तावत्परोक्षः, यतोऽप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यतीत्यादिना स्वसंविदितत्वं ज्ञानस्य प्रसाधयन्त एतत्पक्षं निराकरिष्यामः *। नाऽपि ज्ञानान्तरवेद्यः, अनवस्थाऽऽदिदूषणस्यात्र पक्षे प्रदर्शयिष्यमाणत्वात् । स्वसंवेदनपक्षे तु यथाऽन्तर्नीलिनो बोधः स्वसंविदितः प्रतिभाति; तथा तत्काले स्वप्रकाशवपुषो नीलाऽऽदयो बहिर्देशसंबन्धितया प्रतिभान्ति, इति समानकालयोर्नीलतत्संवेदनयोः स्वतन्त्रयोः प्रतिभासनात्सव्येतरगोविषाणयोरिव न वेद्यवेदकभावः । समानकालस्यापि बोधस्य नीलं प्रति ग्राहकत्वे नीलस्यापि संविदं प्रति ग्राहकताप्रसङ्गः । समानकालप्रतिभासाविशेषेऽपि बुद्धिर्नीलाऽऽदीनां ग्रहणमुपरचयतीति ग्राहिका,नीलाऽऽदयस्तु ग्राह्याः । नैतदपि युक्तम् । यतो नीलबोधव्यतिरिक्ता न ग्रहणक्रिया प्रभाति । तथाहि-बोधः सुखाऽऽद्यपदीभूतो हृदि,बहिः स्फुटमुद्भासमानतनुश्च नीलाऽऽदिराभाति, न त्वपरा ग्रहणक्रिया प्रतिभासविषया । तदनवभासे च न तया व्याप्यमानतया नीलाऽऽदेः कर्मता युक्ता । भवतु वा नीलबोधव्यतिरिक्ता क्रिया, तथाऽपि किं तस्या अपि स्वतः प्रतीतिः, उताऽन्यतः ?। तत्र यदि स्वतो ग्रहणक्रिया प्रतिभाति; तदा सति बोधे, नीलम्, ग्रहणक्रिया चेति त्रयं स्वरूपनिमग्नमेककालं प्रतिभातीति न कर्तृकर्मक्रियाव्यवस्थितिः । अथान्यतो ग्रहणक्रिया प्रतिभाति, न तु तत्राप्यपरा ग्रहणक्रियोपेया, अन्यथा तस्या ग्राह्यतासिद्धेः; पुनस्तत्राप्यपरा कर्मतानिबन्धनं क्रियोपेयेत्यन-

* निराकरणं अग्रतोऽवसेयम् ।

वस्था । तत्र ग्रहणक्रियाऽपराऽस्ति, तत्स्वरूपानवभासनात् । ततश्चान्तः संवेदनम्, बहिर्नीलाऽऽदिकं च स्वप्रकाशमेवेति स्वसंविदितमात्रवादः साधीयान् यदि, तर्ह्यन्तर्निलीनो बोधो नीलाऽऽदेर्न बोधकः, किं तु स्वप्रकाश एवाऽसौ । तथा सति नीलमहं वेद्मीति कर्मकर्तृभावाभिनिवेशी प्रत्ययो न भवेत्, विषयस्य कर्मकर्तृभावस्याभावात् । ननु विषयमन्तरेणापि प्रत्ययो दृष्ट एव, यथा शुक्तिकायां रजतावगमः । अथ बाधकोदयात् पुनर्भ्रान्तिरसौ, नीलाऽऽदौ तु कर्मताऽऽदेर्न बाधाऽस्तीति सत्यता । नन्वत्रापि बोधनीलाऽऽदेः स्वरूपासंसक्तस्य द्वयस्य स्वातन्त्र्योपलम्भोऽस्ति बाधकः कर्मकर्तृभावोल्लेखस्य । अथ किमस्या भ्रान्तेर्निबन्धनम्?, न हि भ्रान्तिरपि निर्बीजा भवति । ननु पूर्वभ्रान्तिरेवोत्तरकर्मकर्तृभावावगतेर्निबन्धनम् । पूर्वभ्रान्तिकर्मताऽऽदेरप्यपरा पूर्वभ्रान्तिरित्यनादिभ्रान्तिपरम्परा कर्मताऽऽदिमे तत्त्वम् । अथवा नीलमिति प्रतीतिरनात्ममात्राध्यवसायिनी पृथक्, अहमित्यपि मतिरन्तरुल्लेखमुद्वहन्ती भिन्ना; वेद्मीत्यपि प्रतीतिरपरैव । ततश्च परस्परासंसक्तप्रतीतित्रितयं क्रमवत्प्रतिभाति, न कर्मकर्तृभावः, तुल्यकालयोस्तस्यायोगात् । भिन्नकालयोरप्यनवभासनाद् न कर्मताऽऽदिगतिः कथञ्चित् संभविनी । अथापि दर्शनात्प्राक् सन्नपि नीलाऽऽत्मा न भाति, तदुदये च भातीति कर्मता तस्य । नैतदपि साधीयः । यतः प्राग्भावोऽर्थस्य न सिद्धः । दर्शनेन स्वकालावधेरर्थस्य ग्रहणात् । दर्शनकाले हि नीलमाभाति, न तु ततः प्राक्, तत्कथं पूर्वभावोऽर्थस्य सिध्येत्?; तस्य दर्शनस्य पूर्वकाले विरहात् । न च तत्काले दर्शनं प्रागर्थसन्निधिं व्यनक्ति, सर्वदा तत्प्रतिभासप्रसङ्गात् । अथान्येन दर्शनेन प्रागर्थः प्रतीयते । ननु तद्दर्शनादपि प्राग् सद्भावोऽर्थस्यान्येनावसेय इत्यनवस्था । तस्मात्सर्वस्य नीलाऽऽदेर्दर्शनकाले प्रतिभासनाद् न तत्पूर्वं सत्ता सिद्ध्यति । अथापि पूर्वदृष्टं पश्यामीति व्यवसायात् प्रागर्थः सिद्ध्यति, प्रागर्थसत्तां विना दृश्यमानस्य पूर्वदृष्टेन एकत्वगतेरयोगात् । केन पुनरेकत्वं तयोर्गम्यते?-किमिदानीन्तनदर्शनेन, पूर्वदर्शनेन वा?। न तावत्पूर्वदर्शनेन, तत्र तत्कालावधेरेवार्थस्य प्रतिभासनात् । न हि तेन स्वप्रतिभासिनोऽर्थस्य वर्तमानकालदर्शनव्याप्तिरवसीयते, तत्काले साम्प्रतिकदर्शनाऽऽदेरभावात् । न चासत्प्रतिभाति, दर्शनस्य वितथत्वप्रसङ्गात् । नापीदानीन्तनदर्शनेन पूर्वदर्शनाऽऽदिव्याप्तिर्नीलाऽऽदेरवसीयते, तद्दर्शनकाले पूर्वदृक्कालस्यास्तमयात् । न चास्तमितपूर्वदर्शनाऽऽदिसंस्पर्शमवतरति प्रत्यक्षम्, वितथत्वप्रसङ्गादेव । तस्मादपास्तपूर्वपरादियोगं सर्वं वस्तु दृशा गृह्यते, पूर्वदृष्टतां तु स्मृतिरुल्लिखति । तदपास्तम् । दृष्टतोल्लेखाभावात् । न च स एवायमिति प्रतीतिरेका । स इति स्मृतिरूपम्, अयमिति तु दृशः स्वरूपं; तत्परोक्षापरोक्षाऽऽकारत्वाद् नैकस्वभावौ प्रत्ययौ; तत्कुतस्तत्त्वसिद्धिः?। अथानुमानात्प्राग्भावोऽर्थस्य सिद्ध्यति, प्राक् सत्तां विना पश्चाद्दर्शनायोगादिति । तदप्यसत् । यतः पश्चाद्दर्शनस्य प्राक् सत्तायाः संबन्धो न सिद्धः, प्राक् सत्तायाः कथञ्चिदप्यसिद्धेः । न चासिद्धया सत्तया व्याप्तं पश्चाद्दर्शनं सिद्ध्यति; येन ततस्तत्सिद्धिः । अथ यदि प्रागर्थमन्तरेण दर्शनमुदयमासादयति; तथा सति नियामकाभावात्सर्वत्र सर्वदा सर्वाऽऽकारं तद्भवेत् । नायमपि दोषः, नियतवासनाप्रबोधेन संवेदननियमात् । तथाहि-स्वप्नावस्थायां वासनाबलाद्दर्शनस्य देशकालाऽऽकारनियमो दृष्ट इति जाग्रद्दशायामपि तत एवासौ युक्तः । अर्थस्य तु न सत्ता सिद्धा । नापि तद्भेदात् संवित्तिनियम इति तन्न ततः संवित्तिनियमः । तस्मान्न कथञ्चिदपि नीलाऽऽदेः प्राक् सत्तासिद्धिः । अथ पूर्वसत्ताविरहे किं प्रमाणम्?। नन्वनुपलब्धिरेव प्रमाणम् । यदि नीलं पूर्वकालसंबन्धिस्वरूपं स्यात्तेनैव रूपेणोपलभ्येत, न च तथा दर्शनकालभुवः सर्वदाऽप्रतिभासनात् । यच्च येनैव रूपेण प्रतिभाति, तत्तेनैव रूपेणास्ति । यथा नीलं नीलरूपतयाऽवभासमानं तथैव सद् न पीताऽऽदिरूपतया । सर्वं चोपलभ्यमानं रूपं वर्तमानकालतयैव प्रतिभाति, न पूर्वाऽऽदितया, तन्न पूर्वं सत्ताऽर्थस्य । अथ नीलं, तद्दर्शनविरतावपि परदृशि प्रतिभातीति साधारणतया ग्राह्यम्; विज्ञानं त्वसाधारणतया प्रकाशकम् । नैतदपि युक्तम् । यतो नीलस्य न साधारणतया सिद्धः प्रतिभासः, प्रत्यक्षेण स्वप्रतिभासितायाः एवावगतेः । न हि नीलं परदृशि प्रतिभातीत्यत्र प्रमाणमस्ति, परदृशोऽनधिगमे नीलाऽऽदेस्तद्वेद्यताऽनधिगतेः । अथानुमानेन नीलाऽऽदीनां साधारणता प्रतीयते । यथैव हि स्वसंताने नीलदर्शनात्तदादानार्थी प्रवृत्तिस्तथाऽपरसन्तानेऽपि प्रवृत्तिदर्शनात्, तद्विषयं दर्शनमनुमीयते । नैतदप्यस्ति । अनुमानेन स्वपरदर्शनभुवो नीलाऽऽदेरेकताऽसिद्धेः; तद्विसदृशव्यवहारदर्शनादुपजायमानं स्वदृष्टसदृशतां परदृष्टस्य प्रतिपादयेत् । यथाऽपरधूमदर्शनात् पूर्वसदृशं दहनमधिगन्तुमीशो, न तु तमेव पूर्वदृष्टम्, सामान्येनान्वयपरिच्छेदात् । नानुमानतोऽपि ग्राह्याऽऽकारस्यैकता । ननु भेदोऽप्यस्य न सिद्ध एव । प्रतिभासभेदे सति कथमसिद्धः?, परप्रतिभासपरिहारेण स्वप्रतिभासात्, स्वप्रतिभासपरिहारेण च परप्रतिभासात्, विवेकस्वभावान् व्यतिरेचयति?; अन्यथा तस्यायोगात् । ततः स्वपरदृष्टस्य नीलाऽऽदेः प्रतिभासभेदाद् व्यवहारे तुल्येऽपि भेद एव । इतरथा रोमाञ्चनकरसदृशकार्यदर्शनात् सुखाऽऽदेरपि स्वपरसन्तानवृत्तस्यैक्यं भवेत् । अथापि सन्तानभेदात् सुखाऽऽदेर्भेदः । ननु सन्तानभेदोऽपि कथमन्यभेदात्?, तथा चेदनवस्था । अथ तस्य स्वरूपभेदाद्भेदः, सुखाऽऽदेरपि तर्हि स एवास्तु, अन्यथा भेदासिद्धेः । न ह्यन्यभेदादन्यद्भिन्नम्, अतिप्रसङ्गात् । नीलाऽऽदेरपि स्वपरभासिनः प्रतिभासभेदोऽस्तीति नैकता । अथ देशैकत्वादेकत्वम् । ननु देशस्यापि स्वपरदृष्टस्यानन्तरोक्तन्यायाद् नैकता युक्ता । तस्माद् ग्राहकाऽऽकारवत् प्रतिपुरुषमुद्भासमाननीलाऽऽदिकमपि भिन्नमेव । तदेककालोपलम्भात्, ग्राहकवत् स्वप्रकाशम् । अथ ग्राहकाऽऽकारश्चिद्रूपत्वाद् वेदकः, नीलाऽऽकारस्तु जडत्वाद् ग्राह्यः । अत्रोच्यते-किमिदं बोधस्य चिद्रूपत्वम्?। यदि अपरोक्षं स्वरूपं, नीलाऽऽदेरपि तर्हि तदस्तीति न जडता । अथ नीलाऽऽदेरपरोक्षस्वरूपमन्यस्माद्भवतीति ग्राह्यम् । ननु बोधस्यापि स्वस्वरूपमिन्द्रियाऽऽदेर्भवतीति ग्राह्यं स्यात् । अथ यदीन्द्रियाऽऽदिकार्यं न तद्वेद्यं; नीलाऽऽदिकमपि तर्हि नयनाऽऽदिकार्यमस्तु न तु ग्राह्यम् । अथापि बोधो बोधस्वरूपतया नित्यः, नीलाऽऽदिकस्तु प्रकाश्यरूपतया अनित्य इति ग्राह्यः । तदप्यसत् । स्तम्भाऽऽदेर्नयनाऽऽदिव्यापारादुदेति रूपमपरोक्षम् । तदनित्यः स्तम्भाऽऽदिर्भवतु, ग्राह्यस्तु कथम्?। न हि यद् यस्मादुत्पद्यते तत्तस्य वेद्यम् । अतिप्रसङ्गात् । तस्मादपरोक्षस्वरूपाः स्तम्भाऽऽदयः स्वप्रकाशाः, बोधस्तु नित्योऽनित्यो वा तत्काले केवल-

मुद्भाति,न तु वेदकः; द्वयोरपि परस्परं ग्राह्यग्राहकताऽऽपत्तेः । अथ नीलोन्मुखत्वाद् बोधो ग्राहकः । किमिदं तदुन्मुखत्वं नाम बोधस्य ?। यदि नीलकाले सत्ता, सा नीलस्याऽपि तत्काले समस्तीति नीलमपि बोधस्य वेदकं स्यात् । अथान्यदुन्मुखत्वं तत्, तर्हि तद्रूपानिमग्नं चकारस्तृतीयस्वरूपं भवेत् । तथाहि-तस्य तदुन्मुखत्वं तद्व्यापारः । स च व्यापारो यदि नीले व्याप्रियते, तदा तत्राप्यपरो व्यापार इत्यनवस्था । अथ न व्याप्रियते, न तद्वशात् बोधस्य ग्राहकत्वं, नीलाऽऽदेस्तु ग्राह्यत्वम् । अथ व्यापारस्यापरव्यापारव्यतिरेकेणापि नीलं प्रति व्यापृतिरूपता, तस्य तद्रूपत्वात् । ननु नीलस्यापि स्वं स्वरूपं विद्यत इति बोधं प्रति ग्रहणव्यापृतिः स्यात् । किञ्च-बोधेन यदि नीलं प्रति ग्रहणक्रिया जन्यते सा नीलाद्भिन्ना, अभिन्ना वा ?। भिन्ना चेत्, न तया तस्य ग्राह्यत्वम्, भिन्नत्वादेव । अथाभिन्ना, तर्हि नीलाऽऽदेर्ज्ञानरूपता, ज्ञानजन्यत्वादुत्तरज्ञानक्षणवत् । अथ ज्ञानस्य एवंभूता शक्तिर्येन तस्य नीलं प्रति ग्राहकता, नीलाऽऽदेस्तु तं प्रति ग्राह्यता । ननु बोधस्य ग्राहकत्वे, नीलाऽऽदेस्तु ग्राह्यत्वे सिद्धे शक्तिपरिकल्पना युक्ता, शक्तेः कार्यानुमेयत्वात् । तदसिद्धौ तु तत्परिकल्पनमयुक्तम्, इतरेतराऽऽश्रयप्रसङ्गात् । तथाहि-बोधस्य शक्तिविशेषसिद्धेर्नीलं प्रति ग्राहकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च तच्छक्तिसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराऽऽश्रयत्वम्; तन्न बोधस्य नीलं प्रति ग्राहकत्वसिद्धिः । तस्माद् व्यतिरिक्तेऽपि बोधेऽभ्युपगते सहोपलम्भनियमात् स्वसंवेदनमेव युक्तम् । परमार्थतस्तु सुखाऽऽदयो नीलाऽऽदयश्चापरोक्षा इत्येतावदेव भाति । निराकारस्तु बोधः स्वप्नेऽपि नोपलभ्यत इति न तस्य सद्भाव इति कथं तस्यार्थग्राहकत्वम् ?। अत एव ते प्रमाणयन्ति-इह खलु यत् प्रतिभाति, तदेव सद् व्यवहृतिपथमवतरति; यथा हृदि प्रकाशमानवपुः सुखं, न तत्काले पीडाऽनुभूयमाना समस्ति, विकृतिरेव च नीलाऽऽदिरूपतया सकलतनुभृतामाभातीति स्वभावहेतुः । तदेवमर्थग्राहकत्वस्याप्यसिद्धेः, जडस्य प्रकाशविरुद्धत्वाच्च नार्थग्राहकत्वमपि बौद्धस्य युक्तम् । अथ बहिर्देशसंबद्धस्य जडस्यापि नीलाऽऽदेरनुभवाद् न नीलाऽऽदिप्रकाशस्य तद्ग्राहकत्वमसिद्धम्; नाप्यनुभूयमाने स्तम्भाऽऽदिके जडे प्रकाशविषयत्वविरोधोद्भावनं युक्तिसङ्गतम् । प्रत्यक्षसिद्धे स्वभावे च सति तद्विरुद्धस्वभावाऽऽवेदकस्यानुमानस्य प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तकालात्ययापदिष्टत्वदोषदुष्टहेतुप्रभवत्वेनानुमानाऽऽभासत्वात् । न च प्रत्यक्षसिद्धे स्वभावे विरोधः सिद्ध्यति, अन्यथा ज्ञानस्यापि ज्ञानत्वविरोधप्राप्तिः । नन्वेवं नीलाऽऽदिसंवेदनस्याऽपि हृदि स्वसंवेदनविषयतयाऽनुभवाद् न स्वसंवेदितत्वमसिद्धम्, नापि स्वाऽऽत्मनि क्रियाविरोधोद्भावनं युक्तियुक्तम्, अनुभूयमाने विरोधासिद्धेः । अस्वसंवेदनज्ञानसाधकत्वेनोपन्यस्यमानस्य च हेतोः प्रत्यक्षनिराकृतपक्षविषयत्वेन न साध्यसाधकत्वमित्यपि समानम् । किञ्च-स्वसंविदितज्ञानानभ्युपगमे प्रतीयतेऽयमर्थो बहिर्देशसंबन्धितयेत्यत्र प्रतीतेर्व्यवस्थापिकाया अप्रतीतत्वेनाव्यवस्थितौ व्यवस्थाप्यस्यार्थस्य न व्यवस्थितिः स्यात् । न हि स्वयमव्यवस्थितं खरविषाणाऽऽदि कस्यचिद् व्यवस्थापकमुपलभ्यम् । अथ प्रतीतेरसंविदितत्वेऽपि एकार्थसमवेतानन्तरप्रतीतिव्यवस्थापितत्वेन नाव्यवस्थितत्वं, तर्हि तदेकार्थसमवेतानन्तरप्रतीतेरप्यपरतथाभूतप्रतीत्यवस्थापितत्वेनार्थव्यवस्थापकप्रतीतिव्यवस्थापकत्वमिति पुनरपि तथाभूताऽपरा प्रतीतिः प्रतीतिव्यवस्थापिकाऽभ्युपगन्तव्येत्यनवस्था । अथ प्रतीतिव्यवस्थापिका प्रतीतिः स्वसंविदितत्वेन स्वयमेव व्यवस्थितेति नायं दोषः, तर्ह्यर्थव्यवस्थापिकाऽपि प्रतीतिः तथा किं नाभ्युपगम्यते ?, न्यायस्य समानत्वात् । अथ प्रतीतिरप्रतीताऽपि प्रतीत्यन्तरव्यवस्थापिका, तर्हि प्रथमप्रतीतिरप्यव्यवस्थिताऽप्यर्थव्यवस्थापिका भविष्यतीति 'नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः' इति वचः कथं न परिप्लवेत ?; प्रतीतोऽर्थ इति विशेष्यप्रतिपत्तौ प्रतीतिविशेषणानवगमेऽपि विशेष्यप्रतिपत्त्यभ्युपगमात् । अपि च-यदि तदेकार्थसमवेतज्ञानान्तरग्राह्यं ज्ञानमर्थग्राहकमभ्युपगम्यते, तदा पूर्वपूर्वज्ञानोपलम्भनस्वभावानामुत्तरोत्तरज्ञानानामनवरतमुत्पत्तेर्विषयान्तरसंचारो ज्ञानानां न स्यात्; विषयान्तरसन्निधानेऽपि पूर्वज्ञानलक्षणस्य तदेकार्थसमवेतज्ञानान्तरग्रहणेनातिसन्निहितत्वस्य विषयस्य सद्भावात् । यस्त्वाह-विषयोपलम्भनिमित्तमात्रप्रतिपत्तौ प्रतीतिविशेषणस्यार्थस्य सिद्धत्वाद् नानवस्था । तदेतदेव न संगच्छते । स्वसंवेदनज्ञानानभ्युपगमात् । एतच्च प्रतिपादितम् । अपि च-प्रमाणसंप्लवाऽऽदिना नैयायिकेन प्रत्यक्षशाब्दज्ञानयोरेकविषयत्वमभ्युपगतम्, तथा चाध्यक्षज्ञानवत् शाब्देऽपि तस्यैवान्यूनातिरिक्तस्य विषयस्याधिगमे न प्रतिपत्तिभेदः स्यात्, प्रत्यक्षवच्छाब्दमपि स्पष्टप्रतिभासं स्यात् । अथैकविषयत्वे सत्यपि इन्द्रियसंबन्धाभावात् शाब्दविषये प्रतिपत्तिभेदः । नन्वक्षैरपि विषयस्वरूपमुद्भासनीयम् । तच्च यदि शाब्देनापि प्रदर्श्यते, तदा सतीन्द्रियसंबन्धाभावेऽपि किमिति न स्पष्टावभासः शाब्दस्य ?। न हि विषयभेदमन्तरेण ज्ञानावभासभेदो युक्तः । अन्यथा ज्ञानावभासभेदाद् विषयभेदव्यवस्था न स्यात् । नहि बहिरपि तदवभासभेदसंवेदनव्यतिरेकेणान्यद् भेदव्यवस्थानिबन्धनमुत्पश्यामः । अन्यच्च प्रत्यक्षेऽपि साक्षादिन्द्रियसंबन्धोऽस्तीति न स्वरूपेण ज्ञातुं शक्यः । तस्यातीन्द्रियत्वात्, किं तु स्वरूपप्रतिभासात् कार्यात् । तथाविकलं यदि शाब्देऽपि वस्तुस्वरूपं प्रतिभाति, तदा तत एवेन्द्रियसंबन्धस्तत्राऽपि किं नाभ्युपगम्यते ?। अथ तत्र स्पष्टप्रतिभासाभावाद् नासावनुमीयते । ननु तदभावस्तदक्षसंगतिविरहात्, तदभावश्च स्फुटप्रतिभासाभावादिति सोऽयमितरेतराऽऽश्रयदोषः । तस्माद् विषयभेदनिबन्धन एव ज्ञानप्रतिभासभेदाध्यवसायोऽभ्युपगन्तव्यः । स च एकविषयत्वे शाब्दाऽध्यक्षज्ञानयोर्न संगच्छते । अथ शाब्दे वस्तुरूपावभासेऽपि न सकलतद्गतविशेषावभास इत्यस्पष्टप्रतिभासं तत् । नन्वेवं प्रत्यक्षावभासिनो विशेषस्यार्थक्रियाक्षमस्य तत्राप्रतिभासनात् तदेव भिन्नविषयत्वं शाब्दाध्यक्षयोः प्रसक्तम् । अथोभयत्रापि व्यक्तिस्वरूपमेकमेव नीलाऽऽदित्वं प्रतिभाति, विशदाविशदौ वाऽऽकारौ ज्ञानाऽऽत्मभूतौ । नन्वेवमक्षसंबद्धे विषये प्रतिभासमाने तत्काले स्पष्टत्वावभासो ज्ञानावभास इति प्राप्तम्, विशिष्टसामग्रीजन्यत्वाज्ज्ञानस्य विशदत्वात् । तदवभासव्यतिरेकेण स्वसंवेदनप्रतिभासकालेऽन्यस्य भवदभ्युपगमेन वैशद्यप्रतिभासनिमित्तस्यासंभवात् । अथ भवतु विशदज्ञानप्रतिभासनिमित्त एव तत्र वैशद्यप्रतिभासव्यवहारः,तथाऽपि न स्वसंविदितज्ञानसिद्धिः, तदेकार्थसमवेतज्ञानान्तरवेद्यत्वेऽपि तद्व्यवहारस्य संभवात् । एककालावभासव्यवहारस्तु लघुवृत्तित्वाद् मनसः क्रमानुपलक्षणनिमित्तः, उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत् । नन्वेवं सत्यनुभि-

पञ्चकस्यैकज्ञानावभासोऽपि क्रमावभासे सत्यपि तत एव क्रमप्रतिभासानुपपत्तेःणक्षण इति सदसद्वर्गः सर्वः कस्यचिदेकज्ञानप्रत्यक्षः प्रमेयत्वात् पञ्चाङ्गुलिवदिति सर्वज्ञसाधकप्रयोगे दृष्टान्तस्य साध्यविकलताप्रसक्तेः । तथा समस्तसदसद्वर्गग्राहकेण सर्वविद्ज्ञानेन ज्ञानाऽऽत्मा गृह्यते, उत नेति ?। यदि न गृह्यते, तदा तस्य प्रमेयत्वे सति तेनैव प्रमेयत्वलक्षणो हेतुर्व्यभिचारी, अप्रमेयत्वे तस्य भागासिद्धो हेतुः । अथ सर्वज्ञज्ञानेन सर्वपदार्थग्राहिणा आत्माऽपि गृह्यत इति नानैकान्तिकः । नन्वेवं सति यथा ईश्वरज्ञानं ज्ञानत्वेऽप्यात्मानं स्वयं गृह्णाति, न च तत्र स्वात्मनि क्रियाविरोधः, तथाऽस्मदादिज्ञानमप्येवं भविष्यतीति न कश्चिद् विरोधः । किञ्च-एवमभ्युपगमे ज्ञानं ज्ञानान्तरग्राह्यं प्रमेयत्वाद् घटवदित्यत्र प्रयोगे ईश्वरज्ञानस्य प्रमेयत्वे सत्यपि ज्ञानान्तरग्राह्यत्वाभावात् तेनैवानैकान्तिकः प्रमेयत्वादिति हेतुः । तस्मात् ज्ञानस्य ज्ञानान्तरग्राह्यत्वेऽनेकदोषसंभवात् स्वसंविदितं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् । ज्ञानस्वरूपश्चाऽऽत्मा । अन्यथा भिन्नज्ञानसद्भावादाकाशस्येव तस्य ज्ञातृत्वं न स्यात् । न चाऽऽकाशव्यतिरेकेण ज्ञानमात्मन्येव समवेतमिति तस्यैव ज्ञातृत्वं नाऽऽकाशाऽऽदेरिति वक्तुं युक्तम्, समवायस्य निषेत्स्यमानत्वात् । ज्ञानस्य च स्वसंविदितत्वे सिद्धे आत्मनोऽपि तदव्यतिरिक्तस्य तत्सिद्धमिति कथं न स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वमात्मनः ?; तत्र प्रथमपक्षस्य दुष्टत्वम् । द्वितीयपक्षेऽपि यदुक्तम्-न हि कश्चित्पदार्थः कर्तृरूपः, करणरूपो वा स्वाऽऽत्मनि कर्मणीव सव्यापारो दृष्ट इति । तदप्यसङ्गतम् । भिन्नव्यापारव्यतिरेकेणापि आत्मनः कर्तुः, प्रमाणस्य च ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वप्रतिपादनात् । एकस्यैव च लिङ्गाऽऽदिकरणमपेक्ष्यावस्थाभेदेन यथा प्रमातृत्वं, प्रमेयत्वं च भवद्भिरविरुद्धत्वेनाभ्युपगम्यते, तथैकदाऽप्येकस्याऽऽत्मनोऽनेकधर्मसद्भावात् प्रमातृत्वप्रमाणत्वप्रमेयत्वान्यविरुद्धानि किं नाभ्युपगम्यन्ते ?; तत्तद्धर्मयोगात् तत्तत्स्वभावत्वस्य प्रमाणनिश्चितत्वेनाविरोधात् । यच्चोक्तम्-प्रमाणाविषयत्वेऽप्यपरोक्षतेत्यस्य कोऽर्थ इत्यादि । तदप्यसारम् । ज्ञातृतया प्रमाणत्वेन च स्वरूपावभासनस्य प्रतिपादितत्वात् । न च घटाऽऽदेः स्वरूपस्य भिन्नज्ञानग्राह्यत्वात् प्रमातुः, प्रमाणस्य च स्वरूपं भिन्नज्ञानग्राह्यम् । तयोश्चिद्रूपत्वेन घटाऽऽदेस्तु तद्विपर्ययेण स्वरूपासिद्धत्वात् । न च प्रमाणप्रमातृस्वरूपग्राहकस्य प्रत्यक्षस्य तल्लक्षणेनासंग्रहः, तत्संग्राहकस्य लक्षणस्य प्रदर्शितत्वात् । यदपि घटमहं चक्षुषा पश्यामीत्यनेनातिप्रसङ्गाऽऽपादनं कृतम् । तदप्यसङ्गतम् । न हि चक्षुषो जडरूपस्यास्वसंविदितत्वे प्रमातृप्रमित्योरपि चिद्रूपयोरस्वसंविदितत्वं युक्तम्, अन्यस्वभावत्वानुपपत्तेः । यदुक्तम्-इन्द्रियव्यापारे सति शरीराद् व्यवच्छिन्नस्य विषयस्यैव केवलस्याऽवभासनमिति । तदत्यन्तमसङ्गतम् । विषयस्येव तदवभाससंवेदनस्यापि व्यवस्थापितत्वात्; तदभावे विषयावभास एव न स्यादित्यस्य चातः प्रमाणावभास उपपन्न एव । सम्म० १ काण्ड । स्या० ।

(२२) साम्प्रतं नित्यपरोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकभेदभट्टानाम्, एकाऽऽत्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादिनां च यौगानां मतं विकुट्टयन्नाह—

स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः,
प्रकाशते नार्थकथाऽन्यथा तु ।
परे परेभ्यो भयतस्तथाऽपि,
प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥१२॥

बोधो-ज्ञानं,स च स्वार्थावबोधक्षम एव प्रकाशते,स्वस्याऽऽत्मस्वरूपस्य,अर्थस्य च पदार्थस्य.योऽवबोधः-परिच्छेदः,तत्र क्षम एव-समर्थ एव प्रतिभासते; इत्ययोगव्यवच्छेदः । प्रकाशत इति क्रियया ऽवबोधस्य प्रकाशरूपत्वसिद्धेः—सर्वप्रकाशानां तु स्वार्थप्रकाशकत्वेन, बोधस्यापि तत्सिद्धिः । विपर्यये दूषणमाह—नार्थकथाऽन्यथा त्विति । अन्यथेति—अर्थप्रकाशनेऽविवादाद्, ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वानभ्युपगमेऽर्थकथैव न स्यात् । अर्थकथा पदार्थसंबन्धिनी वार्ता,सदसद्रूपाऽऽत्मकं स्वरूपमिति यावत् । तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च, स चार्थकथया सह योजित एव । यदि हि ज्ञानं स्वसंविदितं नेष्यते, तदा तेनाऽऽत्मज्ञानाय ज्ञानान्तरमपेक्षणीयम्, तेनाप्यपरमित्यानवस्था ; ततो ज्ञानं-तावत्स्वावबोधव्यग्रतामग्नम् ; अर्थस्तु—जडतया स्वरूपज्ञापनासमर्थ इति को नामार्थस्य कथामपि कथयेत् ?। तथाऽपि-एवं ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे युक्त्या घटमानेऽपि,परेतीर्थान्तरीयाः,ज्ञानं-कर्मताऽऽपन्नम्,अनात्मनिष्ठं न विद्यते आत्मनः स्वस्य निष्ठा निश्चयो यस्य तदनात्मनिष्ठम्, अस्वसंविदितमित्यर्थः, प्रपेदिरे-प्रपन्नाः । कुतः ?, इत्याह-परेभ्यो भयतः; परे-पूर्वपक्षवादिनः, तेभ्यः सकाशाद् ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वं नोपपद्यते, स्वात्मनि क्रियाविरोधादित्युपालम्भसंभावनासंभवं यद्भयं, तस्मात्,तद्भीत्येत्यर्थः । इत्यमक्षरगमनिकां विधाय भावार्थः प्रपञ्च्यते-भट्टास्तावदिदं वदन्ति-यद् ज्ञानं स्वसंविदितं न भवति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । न हि सुशिक्षितोऽपि नटबटुः स्वस्कन्धमधिरोढुं पटुः,न च सुतीक्ष्णाऽप्यसिधारा स्वं छेत्तुमाहितव्यापारा; ततश्च परोक्षमेव ज्ञानमिति । तदेतन्न सम्यक् । यतः-किमुत्पत्तिः स्वात्मनि विरुध्यते,ज्ञप्तिर्वा ?। यदि उत्पत्तिः, सा विरुध्यतां,न हि वयमपि ज्ञानमात्मानमुत्पादयतीति मन्यामहे । अथ ज्ञप्तिः-नेयमात्मनि विरुद्धा; तदाऽऽत्मनैव ज्ञानस्य स्वहेतुभ्य उत्पादात् , प्रकाशाऽऽत्मनेव प्रदीपाऽऽलोकस्य । अथ प्रकाशाऽऽत्मैव प्रदीपाऽऽलोक उत्पन्न इति परप्रकाशकोऽस्तु,आत्मानमप्येतावन्मात्रेणैव प्रकाशयतीति कोऽयं न्यायः?, इति चेत्; तत्किं तेन वराकेणाप्रकाशितेनैव स्थातव्यम्, आलोकान्तराद्वाऽस्य प्रकाशेन भवितव्यम्?। प्रथमे प्रत्यक्षबाधा, द्वितीयेऽपि-सैवानवस्थाऽऽपत्तिश्च । अथ नासौ स्वमपेक्ष्य कर्मतया चकास्तीत्यस्वप्रकाशकः स्वीक्रियते, आत्मानं न प्रकाशयतीत्यर्थः; प्रकाशरूपतया तूत्पन्नत्वात् स्वयं प्रकाशत एवेति ब्रूषे इदं जीव, न हि वयमपि ज्ञानं कर्मतयैव प्रतिभासमानं स्वसंवेद्यं ब्रूमः; ज्ञानं स्वयं प्रतिभासत इत्याद्यकर्मकस्य तस्य चकासनात् । यथा तु ज्ञानं स्वं जानामीति कर्मतयाऽपि तद्भाति, तथा प्रदीपः स्वं प्रकाशयतीत्ययमपि कर्मतया प्रथित एव । यस्तु स्वात्मनि क्रियाविरोधो दोष उद्भावितः-सोऽयुक्तः; अनुभवसिद्धेऽर्थे विरोधासिद्धेः ; 'घटमहं जानामि' इत्यादौ कर्तृकर्मवद् ज्ञप्तेरप्यवभासमानत्वात् । स्या० १२ श्लोक । (अतीन्द्रियान् धर्मास्तिकायाऽऽदीन् छद्मस्थो न जानातीति 'छउमत्थ' शब्दे तृतीयभागे १३३६ पृष्ठे उक्तम्)

(२३) अथ ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च निरूपयन्नाह-

जीवा णं भंते ! किं णाणी, किं अण्णाणी ?। गोयमा ! जीवा णाणी वि, अण्णाणी वि । जे णाणी, ते अत्थे-

गइया दुयणाणी, अत्थेगइया तिणाणी, अत्थेगइया चउणाणी, अत्थेगइया एगणाणी । जे दुयणाणी, ते आभिणिबोहियणाणी य, सुयणाणी य । जे तिणाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी । अहवा-आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, मणपज्जवणाणी । जे चउणाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी । जे एगणाणी, ते नियमा केवलणाणी । जे अणाणी, ते अत्थेगइया दुअणाणी, अत्थेगइया तिअणाणी । जे दुअणाणी, ते मइअणाणी य, सुयअणाणी य । जे तिअणाणी, ते मइअणाणी, सुयअणाणी, विभंगणाणी ।

(२४) नैरयिकजीवानधिकृत्याऽऽह-

णेरइयाणं भंते ! किं णाणी, अणाणी ? । गोयमा ! णाणी वि, अणाणी वि । जे णाणी, ते नियमा तिणाणी । तं जहा- आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी । जे अणाणी, ते अत्थेगइया दुअणाणी, अत्थेगइया तिअणाणी, एवं तिण्णि अणाणाइं भयणाए ।

इह च नारकाधिकारे-" जे णाणी, ते नियमा तिणाणी " इति । सम्यग्दृष्टिनारकाणां भवप्रत्ययमवधिज्ञानमस्तीति कृत्वा ते नियमात् त्रिज्ञानिनः । " जे अणाणी ते अत्थेगइया दुअणाणी " इति । कथमुच्यते ? । असंज्ञिनः सन्तो ये नारकेषूत्पद्यन्ते, तेषामपर्याप्तकावस्थायां विभङ्गाभावादाद्यमेवाज्ञानद्वयमिति ते द्व्यज्ञानिनः । ये तु मिथ्यादृष्टिसंज्ञिभ्य उत्पद्यन्ते, तेषां भवप्रत्ययो विभङ्गो भवतीति तेऽज्ञानिनः । एतदेव निगमयन्नाह—(एवं तिण्णि अणाणाणि भयणाए त्ति)

असुरकुमाराणं भंते ! किं णाणी, अणाणी ? । जहेव णेरइया तहेव तिण्णि णाणाणि नियमा, तिण्णि अणाणाणि भयणाए, एवं० जाव थणियकुमारा ।

पुढविकाइयाणं भंते ! किं णाणी, अणाणी ? । गोयमा ! नो णाणी, अणाणी । नियमा दुअणाणी-मतिअणाणी, सुयअणाणी य । एवं० जाव वणस्सइकाइया ।

(२५) द्वीन्द्रियाः सिद्धपर्यन्ताः-

बेइंदियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी वि, अणाणी वि । जे णाणी, ते णियमा दुणाणी । तं जहा-आभिणिबोहियणाणी य, सुयणाणी य । जे अणाणी, ते नियमा दुअणाणी । तं जहा-मइअणाणी य, सुयअणाणी य । एवं तेइंदियचउरिंदिया वि । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी वि, अणाणी वि । जे णाणी, ते अत्थेगइया दुणाणी, अत्थेगइया तिणाणी । एवं तिण्णि णाणाणि, तिण्णि अणाणाणि भयणाए । मणुस्सा जहा जीवा तहेव पंच णाणाइं, तिण्णि अणाणाणि भयणाए । वाणमंतरा जहा णेरइया, जोइसियवेमाणियाणं तिण्णि णाणाइं, तिण्णि अणाणाइं नियमा । सिद्धाणं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी, नो अणाणी, नियमा एगणाणी, केवलणाणी ।

(बेइंदियाणमित्यादि) द्वीन्द्रियाः केचिद् ज्ञानिनोऽपि सास्वादनसम्यग्दर्शनभावेनापर्याप्तकावस्थायां भवन्तीत्यत उच्यते-(णाणी वि, अणाणी वि त्ति) अनन्तरं जीवाऽऽदिषु षट्त्रिंशतिपदेषु ज्ञान्यज्ञानिनश्चिन्तिताः ।

(२६) अथ तान्येव गतीन्द्रियकायाऽऽदिद्वारेषु चिन्तयन्नाह-

निरयगइयाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अणाणी ? । गोयमा ! णाणी वि, अणाणी वि, तिण्णि णाणाइं नियमा, तिण्णि अणाणाइं भयणाए । तिरियगइयाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अणाणी ? । दो णाणा, दो अणाणा नियमा । मणुस्सगइयाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अणाणी ? । तिण्णि णाणाइं भयणाए, दो अणाणाइं नियमा । देवगतिया जहा निरयगतिया । सिद्धगइया णं भंते ! ?; जहा सिद्धा ।

गत्यादिद्वाराणि चैतानि-

" गइ इंदिए य काए, सुहुमे पज्जत्तए भवत्थे य ।
भवसिद्धिए य सन्नी, लद्धी उवओगजोगे य ॥ १ ॥
लेस्सा कसाय वेए, आहारे नाणगोयरे काले ।
अंतर अप्पाबहुयं, च पज्जवा चेह दाराइं ॥ २ ॥ "

तत्र च निरये गतिर्गमनं येषां ते निरयगतिकाः, तेषामिह च सम्यग्दृष्टयो, मिथ्यादृष्टयो वा ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वा ये पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्येभ्यो नरके उत्पत्तुकामा अन्तरगतौ वर्तन्ते, ते निरयगतिका विवक्षिताः, एतत्प्रयोजनत्वाद् गतिग्रहणस्येति । (तिण्णि णाणाइं नियम त्ति) अवधेर्भवप्रत्ययत्वेनान्तरगतावपि भावात् । (तिण्णि अणाणाइं भयणाए त्ति) असंज्ञिनां नरके गच्छतां द्वे अज्ञाने, अपर्याप्तकत्वे विभङ्गस्याभावात् । संज्ञिनां तु मिथ्यादृष्टीनां त्रीणि अज्ञानानि, भवप्रत्ययविभङ्गस्य सद्भावात् । अतस्त्रीणि अज्ञानानि भजनयेत्युच्यत इति । (तिरियगइयाणं ति) तिर्यक्षु गतिर्गमनं येषां ते तिर्यग्गतिकाः, तेषां तदपान्तरालवर्तिनाम् (दो णाण त्ति) सम्यग्दृष्टयो हि अवधिज्ञाने प्रतिपतित एव तिर्यक्षु गच्छन्ति, तेन तेषां द्वे एव ज्ञाने (दो अन्नाणे त्ति) मिथ्यादृष्टयोऽपि विभङ्गज्ञाने प्रतिपतित एव तिर्यक्षु गच्छन्ति, तेन तेषां द्वे अज्ञाने इति । (मणुस्सगइयाणमित्यादि) (तिण्णि णाणाइं भयणाए त्ति) मनुष्यगतौ हि गच्छन्ति केचिज्ज्ञानिनोऽवधिना सहैव गच्छन्ति, तीर्थकरवत् केचिच्च तद्विमुच्यन्ते, तेषां त्रीणि वा द्वे वा ज्ञाने स्यातामिति, ये पुनरज्ञानिनो मनुष्यगतावुत्पत्तुकामास्तेषां प्रतिपतित एव विभङ्गे तत्रोत्पत्तिः स्यादित्यत उक्तम् । (दो अन्नाणाइं नियम त्ति) (देवगइया जहा निरयगइय त्ति) देवगतौ ये ज्ञानिनो यातुकामास्तेषामवधिर्भवप्रत्ययो देवायुःप्रथमसमय एवोत्पद्यते, अतस्तेषां नारकाणामिवोच्यते—" तिण्णि णाणाइं नियम त्ति । के अज्ञा-

निनस्तेऽसंज्ञिभ्य उत्पद्यमाना द्व्यज्ञानिनोऽपर्याप्तकत्वे विभङ्गस्याभावात्, संज्ञिभ्य उत्पद्यमानास्तु त्र्यज्ञानिनो भवप्रत्ययविभङ्गस्य सद्भावात्, अतस्तेषां नारकाणामिवोच्यते- " तिन्नि अन्नाणाइं भयणाए त्ति " (सिद्धगइयाणं इत्यादि) यथा सिद्धाः केवलज्ञानिन एव, एवं सिद्धिगतिका अपि वाच्या इति भावः । यद्यपि च सिद्धानां सिद्धिगतिकानां चाभ्यर्गत्यभावाद् न विशेषोऽस्ति, तथाऽपीह गतिद्वारबलाऽऽयातत्वात् ते दर्शिताः, एवं द्वारान्तरेष्वपि परस्परान्तर्भावेऽपि तत्तद्विशेषापेक्षयाऽपौनरुक्त्यं भावनीयमिति ।

(२७) सेन्द्रियद्वारे-

सइंदियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ?। गोयमा ! चत्तारि नाणाइं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । एगिंदिया णं भंते ! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी ?, जहा पुढविकाइया । बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं दो णाणा, दो अण्णाणा नियमा । पंचिंदिया जहा सइंदिया । अणिंदियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी ?, जहा सिद्धा ॥

(सइंद्रियेत्यादि) सेन्द्रिया इन्द्रियोपयोगवन्तः, ते च ज्ञानिनः, अज्ञानिनश्च । तत्र ज्ञानिनां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, स्याद् द्वे, स्यात् त्रीणि, स्यात् चत्वारि । केवलज्ञानं तु नास्ति, तेषामनीन्द्रियज्ञानत्वात्, तस्य द्व्यादिभावश्च ज्ञानानां लब्ध्यपेक्षया, उपयोगापेक्षया तु सर्वेषामेकदैकमेव ज्ञानम् । अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनयैव, स्याद् द्वे, स्यात् त्रीणीति । (जहा पुढविकाइय त्ति) एकेन्द्रिया मिथ्यादृष्टित्वादज्ञानिनः, ते च द्व्यज्ञाना एवेत्यर्थः । (बेइंदियेत्यादि) एषां द्वे ज्ञाने सासादनस्तेषूत्पद्यत इति कृत्वा सासादनश्चोत्कृष्टतः षडावलिकामानः, अतो द्वे ज्ञाने तेषु लभ्येते इति । (अणिंदिय त्ति) केवलिनः ।

(२८) कायद्वारे-

सकाइयाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! पंच नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । पुढविकाइया० जाव वणस्सइकाइया, नो नाणी, अण्णाणी, नियमा दुअण्णाणी । तं जहा-मइअण्णाणी य, सुयअण्णाणी य । तसकाइया जहा सकाइया । अकाइयाणं भंते ! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी ?, जहा सिद्धा ॥

(सकाइयाणमित्यादि) सह कायेनौदारिकाऽऽदिना शरीरेण पृथिव्यादिषट्कायान्यतरेण वा कायेन ये ते सकायास्त एव सकायिकाः; ते च केवलिनोऽपि स्युरिति सकायिकानां सम्यग्दृशां पञ्च ज्ञानानि, मिथ्यादृशां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनया स्युरिति । (अकाइयाणं ति) नास्ति काय उक्तलक्षणो येषां तेऽकायाः, त एवाकायिकाः सिद्धाः ।

(२९) सूक्ष्मद्वारे-

सुहुमाणं भंते ! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी ?; जहा पुढविकाइया । बादराणं भंते ! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी ?, जहा सकाइया । नो सुहुमा नो बादरा णं भंते ! जीवा ?, जहा सिद्धा ॥

(जहा पुढविकाइय त्ति) द्व्यज्ञानिनः सूक्ष्माः, मिथ्यादृष्टित्वादित्यर्थः । (जहा सकाइय त्ति) बादराः केवलिनोऽपि भवन्तीति कृत्वा ते सकायिकवद्भजनया पञ्च ज्ञानित्र्यज्ञानिनश्च वाच्या इति ।

(३०) पर्याप्तकद्वारे-

पज्जत्ताणं भंते ! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी ?। जहा सकाइया । पज्जत्ता णं भंते ! नेरइया किं णाणी, किं अण्णाणी ?। तिण्णि नाणा, तिण्णि य अण्णाणा नियमा जहा नेरइया, एवं० जाव थणियकुमारा । पुढविकाइया जहा एगिंदिया, एवं० जाव चउरिंदिया । पज्जत्ताणं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं णाणी, किं अण्णाणी ?। तिण्णि णाणा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए, मणुस्सा जहा सकाइया वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा नेरइया । अपज्जत्ताणं भंते ! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी ? । तिण्णि णाणा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए । अपज्जत्ता णं भंते ! नेरइया किं णाणी, किं अण्णाणी ?। तिण्णि णाणा नियमा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए, एवं० जाव थणियकुमारा, पुढविकाइया० जाव वणस्सइकाइया, जहा एगिंदिया । बेइंदियाणं पुच्छा ? । दो णाणा, दो अण्णाणा नियमा, एवं० जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अपज्जत्तगाणं भंते ! मणुस्सा किं णाणी, किं अण्णाणी ? । तिण्णि नाणाइं भयणाए, दो अण्णाणाइं नियमा । वाणमंतरा जहा नेरइया अपज्जत्तगा, जोइसियवेमाणियाणं तिण्णि नाणा, तिण्णि अण्णाणा नियमा । नो पज्जत्तगा, नो अपज्जत्तगा णं भंते ! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी ?, जहा सिद्धा ॥

(जहा सकाइय त्ति) पर्याप्तकाः केवलिनोऽपि स्युरिति ते सकायिकवत्पूर्वोक्तप्रकारेण वाच्याः, पर्याप्तकद्वार एव चतुर्विंशतिदण्डके पर्याप्तकनारकाणां (तिण्णि य अण्णाणा णियम त्ति) अपर्याप्तकानामेवासंज्ञिनारकाणां विभङ्गाभाव इति पर्याप्तकावस्थायां तेषामज्ञानत्रयमेवेति । (एवं० जाव चउरिंदिय त्ति) द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः पर्याप्तकाः, द्व्यज्ञानिन एवेत्यर्थः । (पज्जत्ता णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खेत्यादि) पर्याप्तकपञ्चेन्द्रियतिरश्चामवधिर्विभङ्गो वा केषाञ्चित् स्यात्, केषाञ्चित्पुनर्नेति त्रीणि ज्ञानानि, अज्ञानानि वा द्वे वा ज्ञाने अज्ञाने वा तेषां स्यातामिति । (बेइंदियाणं दो णाणेत्यादि) अपर्याप्तकद्वीन्द्रियाऽऽदीनां केषाञ्चित्सासादनसम्यग्दर्शनस्य सद्भावाद् द्वे ज्ञाने, केषाञ्चित् पुनः तस्यासद्भावाद् द्वे एवाज्ञाने, अपर्याप्तकमनुष्याणां पुनः सम्यग्दृशामवधिभावे त्रीणि ज्ञानानि, यथा तीर्थकराणां, तदभावे तु द्वे ज्ञाने, मिथ्यादृशां तु द्वे एवाज्ञाने, विभङ्गस्यापर्याप्तकत्वे तेषामभावात् । अत एवोक्तम् (तिण्णि नाणाइं भयणाए, दो अण्णाणाइं नियम त्ति) (वाणमंतरेत्यादि) व्यन्तरा अपर्याप्तका नारका इव त्रिज्ञाना द्व्यज्ञानास्त्र्यज्ञाना वा वाच्याः । तेष्वप्यसंज्ञिभ्य उत्पद्यमानानामपर्याप्तकानां विभङ्गाभावात्, शेषाणां चावधेर्विभङ्गस्य वा भावात् । (जोइसियेत्यादि) एतेषु हि संज्ञिभ्य एवोत्पद्यन्ते,

तेषां चापर्याप्तकत्वेऽपि भवप्रत्ययवत्वाच्चेर्विभङ्गस्य चावश्य भावात्. त्रीणि ज्ञानान्यज्ञानानि वा स्युरिति । (नोपज्जत्तगनोअपज्जत्तग त्ति) सिद्धाः ।

(३१) भवत्थद्वारे—

निरयभवत्थाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ?, जहा निरयगइया । तिरियभवत्थाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । तिण्णि णाणा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए, मणुस्सभवत्था जहा सकाइया । देवभवत्थाणं भंते ! जहा निरयभवत्था, अभवत्था ?, जहा सिद्धा ॥

(निरयभवत्थाणमित्यादि) निरयभवे तिष्ठन्तीति निरयभवस्थाः प्राप्तोत्पत्तिस्थानाः, ते च यथा निरयगतिकाः त्रिज्ञानाः, त्र्यज्ञानाश्च भजनयोक्ताः, तथा वाच्या इति ।

(३२) भवद्वारे-

भवसिद्धिया णं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ?, जहा सकाइया । अभवसिद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! नो णाणी, अण्णाणी, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए, नो भवसिद्धिया, नो अभवसिद्धियाणं जीवा जहा सिद्धा ।

भवसिद्धिकाः केवलिनोऽपीति ते सकायिकवद् भजनया पञ्चज्ञानाः, तथा यावत्सम्यक्त्वं न प्रतिपद्यन्ते तावद्भजनयैव त्र्यज्ञानाश्च वाच्या इति । अभवसिद्धिकानां त्र्यज्ञानमपि भजनया स्यात्, सदा मिथ्यादृष्टित्वात् तेषाम् । अत उक्तम्-"नो णाणी, अण्णाणी " इत्यादीति ।

(३३) संज्ञिद्वारे-

सण्णीणं पुच्छा ? । जहा सइंदिया, असण्णी जहा बेइंदिया, नो सण्णी, नो असण्णी, जहा सिद्धा ।

ज्ञानानि चत्वारि भजनया, अज्ञानानि च त्रीणि तथैवेत्यर्थः । (असण्णी जहा बेइंदिय त्ति) अपर्याप्तकावस्थायां ज्ञानद्वयमपि सासादनतया स्यात्, पर्याप्तकावस्थायां त्वज्ञानद्वयमेवेत्यर्थः । भ० ८ श० २ उ० । (लब्धिभेदा 'लद्धि' शब्दे दर्शयिष्यन्ते)

(३४) लब्धिद्वारे-

णाणलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! णाणी, नो अण्णाणी, अत्थेगइया दुणाणी, एवं पंच णाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! णो णाणी, अण्णाणी, अत्थेगइया दुअण्णाणी, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । आभिणिबोहियणाणलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! णाणी, णो अण्णाणी, अत्थेगइया दुणाणी, चत्तारि णाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि । जे णाणी, ते नियमा एगणाणी, केवलणाणी । जे अण्णाणी, ते अत्थेगइया दुअण्णाणी, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । एवं सुयणाणलद्धिया वि । तस्स अलद्धिया वि जहा आभिणिबोहियणाणस्स अलद्धिया । ओहिणाणलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी, णो अण्णाणी, अत्थेगइया तिण्णाणी, अत्थेगइया चउणाणी, जे तिण्णाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी । जे चउणाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी । तस्स अलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि, ओहिणाणवज्जाइं चत्तारि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । मणपज्जवणाणलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी, णो अण्णाणी, अत्थेगइया तिण्णाणी, अत्थेगइया चउणाणी । जे तिण्णाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, मणपज्जवणाणी । जे चउणाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी । तस्स अलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि । मणपज्जवणाणवज्जाइं चत्तारि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । केवलणाणलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! णाणी, णो अण्णाणी नियमा एगणाणी, केवलणाणी । तस्स अलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि, केवलणाणवज्जाइं चत्तारि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । अण्णाणलद्धियाणं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! नो णाणी, अण्णाणी, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं भंते ! ? । गोयमा ! णाणी, नो अण्णाणी, पंच णाणाइं भयणाए, जहा अण्णाणस्स लद्धिया अलद्धिया भणिया, एवं मइअण्णाणस्स, सुयअण्णाणस्स य लद्धिया अलद्धिया य भाणियव्वा । विभंगणाणलद्धियाणं तिण्णि अण्णाणाइं नियमा । तस्स अलद्धियाणं पंच णाणाइं भयणाए, दो अण्णाणाइं नियमा । दंसणलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि, पंच णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! तस्स अलद्धिया नत्थि । सम्मदंसणलद्धियाणं पंच णाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । मिच्छादंसणलद्धियाणं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! नो णाणी, अण्णाणी, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं भंते ! किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि । पंच णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । सम्मामिच्छादंसणलद्धिया अलद्धिया य जहा मिच्छादंसणलद्धिया अलद्धिया य तहेव भाणियव्वा ।

(तस्स अलद्धियाणं ति) तस्य ज्ञानस्य अलब्धिका अलब्धिमन्तो, ज्ञानलब्धिरहिता इत्यर्थः । (आभिणिबोहियणाणेत्यादि) आभिनिबोधिकज्ञानलब्धिकानां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, केवलिनः आभिनिबोधिकज्ञानाभावात् । मतिज्ञानस्यालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्ते केवलिनः, ते चैकज्ञानिन एव; ये त्वज्ञानिनस्तेऽज्ञानद्वयवन्तोऽज्ञानत्रयवन्तो वा; एवं श्रुतेऽपि। (ओहिणाणलद्धीत्यादि) अवधिज्ञानलब्धिकाः त्रिज्ञानाः, केवलमनःपर्यायसद्भावे चतुर्ज्ञाना वा; केवलाभावात्, अवधिज्ञानस्यालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्ते द्विज्ञाना मतिश्रुतभावात्, त्रिज्ञाना वा मतिश्रुतमनःपर्यायभावात्, एकज्ञाना वा केवलभावात् । ये त्वज्ञानिनस्ते द्व्यज्ञाना मत्यज्ञानश्रुताज्ञानभावात्, त्र्यज्ञाना वा त्रयस्यापि भावात् । (मणपज्जवेत्यादि) मनःपर्यवज्ञानलब्धिकास्त्रिज्ञानाः, अवधिकेवलाभावात्, चतुर्ज्ञाना वा केवलस्यैवाभावात् । मनःपर्यवज्ञानस्यालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्ते द्विज्ञानाः, आद्यद्वयभावात्, त्रिज्ञाना वा आद्यत्रयभावात्, एकज्ञाना वा केवलस्यैव भावात्, ये त्वज्ञानिनस्ते द्व्यज्ञाना आद्याज्ञानद्वयभावात्, त्र्यज्ञाना वा अज्ञानत्रयस्यापि भावात् । (केवलणाणेत्यादि) केवलज्ञानलब्धिका एकज्ञानिनः, ते च केवलज्ञानिन एव, केवलज्ञानस्यालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्तेषामाद्यज्ञानद्वयं तत्त्रयं मतिश्रुतमनःपर्यायज्ञानानि वा केवलज्ञानवर्जानि चत्वारि वा ज्ञानानि भवन्ति । ये त्वज्ञानिनस्तेषामाद्यमज्ञानद्वयं, तत्त्रयं वा भवतीत्येवं भजनाऽवसेयेति । (अण्णाणलद्धियाणमित्यादि) अज्ञानलब्धिका अज्ञानिनस्तेषां च त्रीण्यज्ञानानि भजनया, द्वे अज्ञाने, त्रीणि वा अज्ञानानीत्यर्थः । अज्ञानालब्धिकास्तु ज्ञानिनस्तेषां च पञ्च ज्ञानानि भजनया पूर्वोपदर्शितया वाच्यानि । (जहा अण्णाणेत्यादि) अज्ञानलब्धिकानां त्रीणि अज्ञानानि भजनयोक्तानि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानलब्धिकानामपि तानि तथैव । तथा अज्ञानालब्धिकानां पञ्च ज्ञानानि भजनयोक्तानि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानालब्धिकानामपि पञ्च ज्ञानानि भजनयैव वाच्यानीति । (विभंगेत्यादि) विभङ्गज्ञानलब्धिकानां तु त्रीण्यज्ञानानि नियमात्, तदलब्धिकानां ज्ञानिनां पञ्च ज्ञानानि भजनया, अज्ञानिनां च द्वे अज्ञाने नियमादिति । (दंसणलद्धीत्यादि) दर्शनलब्धिकाः श्रद्धानमात्रलब्धिका इत्यर्थः, ते च सम्यक् श्रद्धानवन्तो ज्ञानिनः, तदितरे त्वज्ञानिनः, तत्र ज्ञानिनां पञ्च ज्ञानानि भजनया, अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनयैवेति । (तस्स अलद्धिया नत्थि त्ति) तस्य दर्शनस्य येषामलब्धिः, ते न सन्त्येव, सर्वजीवानां रुचिमात्रस्यास्तित्वादिति । (सम्मद्दंसणलद्धियाणं ति) सम्यग्दर्शिनाम् । (तस्स अलद्धियाणमित्यादि) तस्यालब्धिकानां सम्यग्दर्शनस्यालब्धिमतां मिथ्यादृष्टीनां मिश्रदृष्टीनां च त्रीण्यज्ञानानि भजनया, यतो मिश्रदृष्टीनामप्यज्ञानमेव तात्त्विकसद्बोधाहेतुत्वाद् मिश्रदर्शिनि । (मिच्छादंसणलद्धियाणं ति) मिथ्यादृष्टीनाम् । (तस्स अलद्धियाणमित्यादि) तस्यालब्धिकानां मिथ्यादर्शनस्यालब्धिमतां सम्यग्दृष्टीनां मिश्रदृष्टीनां च क्रमेण पञ्च ज्ञानानि, त्रीण्यज्ञानानि च भजनयेति । भ० ८ श० २ उ० । (निर्ग्रन्थानां 'णियंठ' शब्दे तथा संयतानां 'संजय' शब्दे वक्तव्यता)

चरित्तलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! पंच णाणाइं भयणाए, तस्स अलद्धियाणं मणपज्जवणाणवज्जाइं चत्तारि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । सामाइयचरित्तलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! चत्तारि णाणाइं भयणाए, तस्स अलद्धियाणं पंच णाणाइं, तिण्णि य अण्णाणाइं भयणाए । एवं जहा सामाइयचरित्तलद्धिया अलद्धिया य भणिया एवं० जाव अहक्खायचरित्तलद्धिया अलद्धिया य भाणियव्वा, नवरं अहक्खायचरित्तलद्धियाणं पंच णाणाइं भयणाए । चरित्ताचरित्तलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! णाणी, णो अण्णाणी, अत्थेगइया दुणाणी, अत्थेगइया तिण्णाणी, जे दुणाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी य । जे तिण्णाणी, ते आभिणिबोहियणाणी य, सुयणाणी य, ओहिणाणी य । तस्स अलद्धियाणं पंच णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

(चरित्तलद्धियाणमित्यादि) चरित्रलब्धिका ज्ञानिन एव, तेषां च पञ्च ज्ञानानि भजनया, यतः केवल्यपि चारित्री, चरित्रालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्तेषां मनःपर्यववर्जानि चत्वारि ज्ञानानि भजनया भवन्ति, कथमसंयतत्वे आद्यं ज्ञानद्वयं, तत्त्रयं वा; सिद्धत्वे च केवलज्ञानं, सिद्धानामपि चरित्रलब्धिशून्यत्वात्, यतस्ते नो चारित्रिणो नोऽचारित्रिण इति । ये त्वज्ञानिनस्तेषां त्रीण्यज्ञानानि भजनया । (सामाइयेत्यादि) सामायिकचरित्रलब्धिका ज्ञानिन एव, तेषां च केवलज्ञानवर्जानि चत्वारि ज्ञानानि भजनया, सामायिकचारित्रालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनः तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया छेदोपस्थापनीयाऽऽदिभावेन, सिद्धभावेन वा; ये त्वज्ञानिनः तेषां त्रीण्यज्ञानानि भजनया, एवं छेदोपस्थापनीयाऽऽदिष्वपि वाच्यम् । एतदेवाऽऽह-(एवमित्यादि) तत्र छेदोपस्थापनीयाऽऽदिचरित्रत्रयलब्धयो ज्ञानिन एव, तेषां चाऽऽद्यानि चत्वारि ज्ञानानि भजनया, तदलब्धयो यथाख्यातचारित्रलब्धयश्च ये ज्ञानिनः, तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया, ये त्वज्ञानिनस्तेषामज्ञानत्रयं भजनयैव, यथाऽऽख्यातचरित्रलब्धिकानां तु विशेषोऽस्ति, अतः तद्दर्शनायाऽऽह-(नवरमहक्खायेत्यादि) सामायिकाऽऽदिचारित्रचतुष्टयलब्धिमतां छद्मस्थत्वेन चत्वार्येव ज्ञानानि भजनया, यथाख्यातचरित्रलब्धिमतां छद्मस्थेतरभावेन पञ्चापि भजनया भवन्तीति तेषां तथैव तानि उक्तानीति । "चरित्ताचरित्त" इत्यादि । (तस्स अलद्धिय त्ति) चरित्राचरित्रस्यालब्धिकाः श्रावकादन्ये ते च ये ज्ञानिनस्तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया, ये त्वज्ञानिनस्तेषां त्रीण्यज्ञानानि भजनयैव ।

दाणलद्धियाणं पंच णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी, णो अण्णाणी । णियमा एगणाणी केवलणाणी । एवं० जाव वीरियलद्धिया, अलद्धिया भाणियव्वा । बालवीरियलद्धियाणं तिण्णि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं पंच णाणाइं भयणाए । पंडियवीरियलद्धियाणं

पंच नाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं मणपज्जवनाणवज्जाइं नाणाइं अण्णाणाइं तिन्नि य भयणाए । बालपंडियवीरियलद्धियाणं तिण्णि नाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं पंच णाणाइं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

(दाणलद्धियाणमित्यादि) दानान्तरायक्षयक्षयोपशमाद् दाने दातव्ये लब्धिर्येषां ते दानलब्धयः, ते च ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च । तत्र ये ज्ञानिनः तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया, केवलज्ञानिनामपि दानलब्धियुक्तत्वात् । ये तु अज्ञानिनः तेषां त्रीणि अज्ञानानि भजनयैव, दानस्यालब्धिकास्तु सिद्धाः, ते च दानान्तरायक्षयेऽपि दातव्याभावात् संप्रदानासत्त्वात् दानप्रयोजनाभावाच्च दानालब्धय उक्ताः, ते च नियमात् केवलज्ञानिन इति, लाभभोगोपभोगवीर्यलब्धिः सेतरा । अतिदिशन्नाह-(एवमित्यादि) इह चालब्धयः सिद्धा एवोक्तन्यायादवसेयाः । ननु दानाऽऽद्यन्तरायक्षयात्केवलिनां दानाऽऽदयः सर्वप्रकारेण कस्मान्न भवन्तीति ?, उच्यते-प्रयोजनाभावात्, कृतकृत्या हि ते भगवन्त इति । (बालवीरियलद्धियाणमित्यादि) बालवीर्यलब्धयोऽसंयताः, तेषां च ज्ञानिनां त्रीणि ज्ञानानि, अज्ञानिनां च त्रीण्यज्ञानानि भजनया भवन्ति, तदलब्धिकास्तु संयताः, संयतासंयताश्च, ते च ज्ञानिन एव, तेषां च पञ्च ज्ञानानि भजनया । "पंडियवीरिय" इत्यादौ (तस्स अलद्धियाणं ति) असंयतानां संयतासंयतानां सिद्धानां चेत्यर्थः, तत्रासंयतानामाद्यज्ञानत्रयमज्ञानत्रयं च भजनया, संयतासंयतानां तु ज्ञानत्रयं भजनयैव भवति, सिद्धानां तु केवलज्ञानमेव, मनःपर्यायज्ञानं तु पण्डितवीर्यलब्धिमतामेवेति, नान्येषाम् । अत उक्तम्-(मणपज्जवेत्यादि) सिद्धानां च पण्डितवीर्यालब्धिकत्वं पण्डितवीर्यवाच्ये प्रत्युपेक्षणाऽऽद्यनुष्ठाने प्रवृत्त्यभावात् । "बालपंडिय" इत्यादौ (तस्स अलद्धियाणं ति) अश्रावकाणामित्यर्थः ।

इंदियलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! चत्तारि नाणाइं, तिण्णि य अण्णाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! नाणी नो अण्णाणी नियमा एगनाणी केवलणाणी । सोइंदियलद्धियाणं जहा इंदियलद्धिया, तस्स अलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! नाणी वि, अण्णाणी वि । जे नाणी, ते अत्थेगइया दुनाणी, अत्थेगइया एगनाणी । जे दुनाणी, ते आभिणिबोहियनाणी, सुयणाणी । जे एगनाणी, ते केवलनाणी, जे अण्णाणी, ते नियमा दुअण्णाणी । तं जहा-मतिअण्णाणी, सुयअण्णाणी । चक्खिंदियघाणिंदियलद्धियाणं अलद्धियाण य जहेव सोइंदियलद्धिया अलद्धिया । जिब्भिंदियलद्धियाणं चत्तारि नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! नाणी वि, अण्णाणी वि । जे नाणी, ते नियमा एगनाणी केवलनाणी, जे अन्नाणी, ते नियमा दुअण्णाणी । तं जहा-मइअन्नाणी य, सुयअन्नाणी य । फासिंदियलद्धिया य, अलद्धिया य जहा इंदियलद्धिया अलद्धिया य ।

(इंदियलद्धियाणमित्यादि) इन्द्रियलब्धिका ये ज्ञानिनः, तेषां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, केवलं तु नास्ति, तेषां केवलिनामिन्द्रियोपयोगाभावात् । ये त्वज्ञानिनः, तेषामज्ञानत्रयं भजनयैवेति । इन्द्रियालब्धिकाः पुनः केवलिन एवेत्येकमेव तेषां ज्ञानमिति । (सोइंदिय इत्यादि) श्रोत्रेन्द्रियलब्धय इन्द्रियलब्धिका इव वाच्याः, ते च ये ज्ञानिनः, ते अकेवलित्वादाद्यज्ञानचतुष्टयवन्तो भजनया भवन्ति, अज्ञानिनस्तु भजनयाऽज्ञानाः, श्रोत्रेन्द्रियालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनः ते आद्यद्विज्ञानिनः, ते च अपर्याप्तकाः सासादनसम्यग्दर्शनिनो विकलेन्द्रिया एकज्ञानिनो वा केवलज्ञानिनः, ते हि श्रोत्रेन्द्रियालब्धिका इन्द्रियोपयोगाभावात्, ये त्वज्ञानिनः ते पुनराद्याज्ञानद्वयवन्त इति । (चक्खिंदिय इत्यादि) अयमर्थः-यथा श्रोत्रेन्द्रियलब्धिमतां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, त्रीणि चाज्ञानानि भजनयैव, तदलब्धिकानां च द्वे ज्ञाने, द्वे चाज्ञाने, एकं च ज्ञानमुक्तम् । एवं चक्षुरिन्द्रियलब्धिकानां घ्राणेन्द्रियलब्धिकानां तदलब्धिकानां च वाच्यम्, तत्र चक्षुरिन्द्रियलब्धिका घ्राणेन्द्रियलब्धिकाश्च ये पञ्चेन्द्रियाः, तेषां केवलवर्जानि चत्वारि ज्ञानानि, त्रीणि चाज्ञानानि भजनया, ये तु विकलेन्द्रियाः चक्षुरिन्द्रियघ्राणेन्द्रियालब्धिकाः, तेषां सासादनसम्यग्दर्शनभावे आद्यं ज्ञानद्वयं, तदभावे त्वाद्यमेवाज्ञानद्वयम्, चक्षुरिन्द्रियघ्राणेन्द्रियालब्धिकास्तु यथायोगं त्रिद्व्येकेन्द्रियाः केवलिनश्च, तत्र त्रिद्वीन्द्रियाऽऽदीनां सासादनभावे आद्यज्ञानद्वयसंभवः, तदभावे त्वाद्याज्ञानद्वयसंभवः, केवलिनां त्वेकं केवलज्ञानमिति । "जिब्भिंदिय" इत्यादौ (तस्स अलद्धिय त्ति) जिह्वालब्धिवर्जिताः, ते च केवलिन एकेन्द्रियाश्चेत्यत आह-(नाणी वीत्यादि) ये ज्ञानिनस्ते नियमात् केवलज्ञानिनः, येऽज्ञानिनस्ते नियमाद् द्व्यज्ञानिनः, एकेन्द्रियाणां सासादनभावतोऽपि सम्यग्दर्शनस्याभावात्, विभङ्गाभावाच्चेति । (फासिंदिय इत्यादि) स्पर्शनेन्द्रियलब्धिकाः केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्कवन्तो भजनया, तथैवाज्ञानत्रयवन्तो वा; स्पर्शनेन्द्रियालब्धिकास्तु केवलिन एव । इन्द्रियलब्ध्यलब्धिमन्तोऽप्येवंविधा एवेत्यत उक्तम्-(जहा इंदिय इत्यादि)

(३५) उपयोगद्वारे-

सागारोवउत्ताणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । पंच णाणाइं, तिन्नि अण्णाणाइं भयणाए । आभिणिबोहियणाणसागारोवउत्ताणं भंते ! चत्तारि णाणाइं भयणाए । एवं सुयणाणसागारोवउत्ता वि । ओहिणाणसागारोवउत्ता जहा ओहिणाणलद्धिया । मणपज्जवणाणसागारोवउत्ता जहा मणपज्जवणाणलद्धिया । केवलणाणसागारोवउत्ता जहा केवलणाणलद्धिया । मइअण्णाणसागारोवउत्ताणं तिन्नि अण्णाणाइं भयणाए । एवं सुयअण्णाणसागारोवउत्ता वि । विभंगणाणसागारोवउत्ताणं तिन्नि अण्णाणाइं नियमा । अणागारोवउत्ताणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । पंच नाणाइं, तिन्नि अण्णाणाइं भयणाए । एवं चक्खुदंसणअचक्खुदंसणअणागारोवउत्ता वि, नवरं चत्तारि नाणाइं, तिन्नि अण्णाणाइं भयणाए । ओहिदंसणअणागारोवउत्ताणं पुच्छा ? ।

गोयमा ! नाणी वि, अन्नाणी वि, जे नाणी, ते अत्थेगइया तिनाणी, अत्थेगइया चउनाणी, जे तिनाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी । जे चउनाणी, ते आभिणिबोहियणाणी० जाव मणपज्जवणाणी । जे अन्नाणी, ते नियमा तिअन्नाणी । तं जहा-मइअन्नाणी, सुयअन्नाणी, विभंगणाणी । केवलदंसणअणागारोवउत्ता जहा केवलणाणलद्धिया ॥

(सागारोवउत्ता इत्यादि) आकारो विशेषः, तेन सह यो बोधः स साकारो, विशेषग्राहको बोध इत्यर्थः । तस्मिन्नुपयुक्ताः तत्संवेदका ये ते साकारोपयुक्ताः, ते च ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च, तत्र ज्ञानिनां पञ्च ज्ञानानि भजनया, स्यात् द्वे, स्यात् त्रीणि, स्यात् चत्वारि, स्यादेकं, यच्च स्यात् द्वे इत्याद्युच्यते, तल्लब्धिमात्रमङ्गीकृत्य, उपयोगापेक्षया त्वेकदैकमेव ज्ञानमज्ञानं चेति, अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनयैवेति । अथ साकारोपयोगभेदापेक्षमाह-(आभिणी-त्यादि) (ओहिणाणसागारेत्यादि) अवधिज्ञानसाकारोपयुक्ता यथा अवधिज्ञानलब्धिकाः प्रागुक्ताः, स्यात् त्रिज्ञानिनो मतिश्रुतावधियोगात्, स्याच्चतुर्ज्ञानिनो मतिश्रुतावधिमनःपर्यवयोगात् तथा वाच्याः । (मणपज्जव इत्यादि) मनःपर्यवज्ञानसाकारोपयुक्ता यथा मनःपर्यवज्ञानलब्धिकाः प्रागुक्ताः, स्यात् त्रिज्ञानिनो मतिश्रुतमनःपर्यवयोगात्, स्याच्चतुर्ज्ञानिनः केवलवर्जज्ञानयोगात् तथा वाच्या इति । (अणागारोवउत्ताणमित्यादि) अविद्यमान आकारो यत्र तदनाकारं दर्शनं, तत्रोपयुक्ताः तत्संवेदका ये ते तथा, ते च ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च, तत्र ज्ञानिनां लब्ध्यपेक्षया पञ्च ज्ञानानि भजनया, अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनयैव । (एवमित्यादि) यथा अनाकारोपयुक्ता ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चोक्ताः, एवं चक्षुर्दर्शनाऽऽद्युपयुक्ता अपि (नवरं ति) विशेषः पुनरयम्-चक्षुर्दर्शनेतरोपयुक्ताः केवलिनो न भवन्तीति तेषां चत्वारि ज्ञानानि भजनयेति ।

(३६) योगद्वारे-

सजोगीणं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ? । जहा सकाइया । एवं मणजोगी. वयजोगी वि, कायजोगी वि, अजोगी जहा सिद्धा ।

(सजोगीणमित्यादि) (जहा सकाइय त्ति) प्रागुक्ते कायद्वारे यथा सकायिका भजनया पञ्च ज्ञानाः त्र्यज्ञानाश्चोक्ताः, तथा सयोगा अपि वाच्याः । एवं मनोयोगाऽऽदयोऽपि, केवलिनोऽपि, मनोयोगाऽऽदीनां भावात् । तथा मिथ्यादृशां मनोयोगाऽऽदिमतामज्ञानत्रयभावाच्च । (अजोगी जहा सिद्ध त्ति) अयोगिनः केवलज्ञानैकज्ञानिन इत्यर्थः ।

(३७) लेश्याद्वारे-

सलेस्साणं भंते ! ?, जहा सकाइया । किण्हलेस्साणं भंते ! ?, जहा सकाइया सइंदिया । एवं० जाव पम्हलेस्सा, सुक्कलेस्सा, जहा सलेस्सा । अलेस्सा ?, जहा सिद्धा ।

(जहा सकाइय त्ति) सलेश्याः सकायिकवद्भजनया पञ्च ज्ञानाः, त्र्यज्ञानाश्च वाच्याः, केवलिनोऽपि शुक्ललेश्यासम्भवेन सलेश्यत्वात् । (कण्हलेस्सेत्यादौ) (जहा सइंदिय त्ति) कृष्णलेश्याश्चतुर्ज्ञानिनः त्र्यज्ञानिनश्च भजनयेत्यर्थः । (सुक्कलेस्सा जहा सलेस्स त्ति) पञ्च ज्ञानिनो भजनया त्र्यज्ञानिनश्चेत्यर्थः । (अलेस्सा जहा सिद्ध त्ति) एकज्ञानिन इत्यर्थः ।

(३८) कषायद्वारे—

सकसाइयाणं भंते ! जहा सइंदिया । एवं० जाव लोहकसाइयाणं । अकसाइयाणं भंते ! किं णाणी, अणाणी ? । पंच नाणाइं भयणाए ।

(सकसाइया जहा सइंदिय त्ति) भजनया, केवलवर्जचतुर्ज्ञानिनस्त्र्यज्ञानिनश्चेत्यर्थः । (अकसाइयाणमित्यादि) अकषायिणां पञ्च ज्ञानानि भजनया, कथमुच्यते ?-छद्मस्थो वीतरागः केवली चाकषायः, तत्र छद्मस्थवीतरागस्याऽऽद्यज्ञानचतुष्कं भजनया भवति, केवलिनस्तु पञ्चममिति ।

(३९) वेदद्वारे-

सवेदगाणं भंते ! जहा सइंदिया । एवं इत्थिवेदगा वि, एवं पुरिसवेदगा वि, नपुंसगवेदगा वि । एवं अवेदगा, जहा अकसाइया ।

(जहा सइंदिय त्ति) सवेदकाः सेन्द्रियवद्भजनया केवलिवर्जचतुर्ज्ञानिनः, त्र्यज्ञानिनश्च वाच्याः । (अवेदगा जहा अकसाइय त्ति) अवेदका अकषायिवद्भजनया पञ्चज्ञाना वाच्याः, यतोऽनिवृत्तिबादराऽऽदयोऽवेदका भवन्ति, तेषु च छद्मस्थानां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, केवलिनां तु पञ्चममिति ।

(४०) आहारकद्वारे-

आहारगाणं भंते ! जीवा ?; जहा सकसाइया, नवरं केवलनाणं पि । अणाहारगाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । मणपज्जवनाणवज्जाइं नाणाइं अन्नाणाइं तिण्णि भयणाए ।

(आहारगेत्यादि) सकषाया भजनया चतुर्ज्ञानास्त्र्यज्ञानाश्चोक्ताः, आहारका अप्येवमेव, नवरमाहारकाणां केवलमप्यस्ति, केवलिन आहारकत्वादपीति । (अणाहारगाणमित्यादि) मनःपर्यवज्ञानमाहारकाणामेवाऽऽद्यं पुनर्ज्ञानत्रयमज्ञानत्रयं च विग्रहे केवलं च केवलिनः समुद्घातशैलेशीसिद्धावस्थास्वनाहारकाणामपि स्यात् । अत उक्तम्-(मणपज्जवेत्यादि) भ० ८ श० २ उ० । प्रज्ञा० । अष्ट० । कर्म० । (गुणस्थानकमाश्रित्य ज्ञानविचारो 'गुणट्ठाण' शब्दे तृतीयभागे ९२७ पृष्ठे कृतः) "मागहा इंगियण्णे तु, पेहियण्ण य कोसला । अद्धुत्तेण उ पंचाला, नाणुत्तं दक्खिणावहा ॥ १ ॥ " व्य० १० उ० । (आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानानां विषयाः 'आभिणिबोहियणाण' इत्यादिशब्दे द्रष्टव्याः)(कायस्थितिः 'कायठिइ' शब्दे तृतीयभागे ४५८ पृष्ठे उक्ता) ('पज्जव' शब्दे आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानपर्यया द्रष्टव्याः) (जीवाः प्रत्याख्यानं जानन्तीति ' पच्चक्खाण ' शब्दे वक्ष्यते)

(४१) तत्त्वसंवेदनं ज्ञानम्--

विषयप्रतिभासं चा-ऽऽत्मपरिणतिमत्तथा ।
तत्त्वसंवेदनं चैव, ज्ञानमाहुर्महर्षयः ॥ १ ॥

विषयः श्रोत्राऽऽदीन्द्रियज्ञानगोचरः शब्दाऽऽदिः, तस्यैव न पुनस्तद्गतौ तज्जन्यदोषाऽऽदेरर्थानर्थसद्भावस्य, प्रतिभासः प्रति-

भासनं परिच्छेदो यत्र तद् विषयप्रतिभासमैहिकाऽऽमुष्मिकेषु छाद्मस्थिकज्ञानविषयेषु अर्थेषु प्रवृत्तावात्मनस्तात्त्विकार्थानर्थप्राप्तिज्ञानशून्यमित्यर्थः । ज्ञानमाहुरिति संबन्धः, चशब्द उत्तरज्ञानविशेषापेक्षया समुच्चयार्थः । इदं च मिथ्यादृशां भवतीति । तथा आत्मनो जीवस्य परिणतिरनुष्ठानविशेषसंपाद्यः परिणामविशेषः, सैव ज्ञेयतया यस्मिन्नस्ति ज्ञाने न पुनस्तदनुरूपप्रवृत्तिनिवृत्ती अपि तदात्मपरिणतिमत् । तथेति समुच्चये । इदं चाविरतसम्यग्दृष्टीनां भवति, तत्त्वं परमार्थः, तत् सम्यक् विद्यते ज्ञायते येन तत्स्वसंवेदनं, हेयोपादेयार्थप्रवृत्तिनिवृत्तिसंपादकमित्यर्थः। चशब्दः समुच्चये,एवकारोऽवधारणे । तस्य चैवं प्रयोगः-तत्त्वसंवेदनमेव च,नोक्तव्यतिरिक्तम्, इदं च विशुद्धचारित्रिणां स्यात्, ज्ञानं बोधम्, आहुर्ब्रुवते, महर्षयो महामुनयः, एते च त्रयोऽपि ज्ञानभेदा मत्यादिविशेषा एवेति ॥ १ ॥

आद्यस्वरूपमाह–

विषकण्टकरत्नाऽऽदौ, बालाऽऽदिप्रतिभासवत् ।
विषयप्रतिभासं स्यात्, तद्धेयत्वाऽऽद्यवेदकम् ॥२॥

विषं च शृङ्गिकाऽऽदिकम्, कण्टकाश्च बब्बूलाऽऽद्यवयवविशेषा इति हेयं वस्तु, रत्नानि च मरकताऽऽदीनि तानि चोपादेयं, विषकण्टकरत्नानि तानि आदिर्यस्य तत्तथा, तत्र विषकण्टकरत्नाऽऽदौ वस्तुनि, इहाऽऽदिशब्दाद् हेयोपादेयरूपवस्त्वन्तरपरिग्रहः,उपेक्षणीयपरिग्रहो वा । बालः शिशुरादिर्येषां ते बालाऽऽदयः, आदिशब्दादतिमुग्धपरिग्रहः । तेषां प्रतिभासो वस्तुबोधो बालाऽऽदिप्रतिभासः, स इव बालाऽऽदिप्रतिभासवत्, तत्तुल्यमित्यर्थः । विषयप्रतिभासमुक्तनिर्वचनं ज्ञानं, स्याद् भवेत् । कथं बालाऽऽदिप्रतिभासतुल्यत्वमस्येत्याह-तेषां ज्ञेयविषयाणां, हेयत्वाऽऽदि-हेयत्वमुपादेयत्वमुपेक्षणीयत्वं चेत्यर्थः। तस्यावेदकमनिश्चायकं तद्धेयत्वाऽऽद्यवेदकं यथा बालाऽऽदिप्रतिभासो विषाऽऽदिविषयस्य रूपाऽऽदिमात्रमेवाध्यवस्यति, न तु हेयत्वाऽऽदिकं तद्धर्मम्, एवं यद् ज्ञानं बहुश्रुतानामप्यभिन्नग्रन्थीनां मोहमलमलीमसमानसत्वेनातत्त्वानां हेयतयाऽतत्त्वानां चोपादेयतया विमर्शाक्षमं तत्त्वातत्त्वयोः समताऽवभासकं विपर्ययावभासकं वा तद्विषयप्रतिभासमिति भावना । उक्तं च-" विसयपडिभासमित्तं, बालस्सेवऽक्खरयणविसयं ति । वयणाऽऽइएसु नाणं, सव्वत्थाणाणमो णेयं " ॥ १ ॥ (वयणाइएसु त्ति) सुत्रार्थाऽऽदिष्विति ।

इदमेव लिङ्गाऽऽदिभिर्निरूपयन्नाह—

निरपेक्षप्रवृत्त्यादि–लिङ्गमेतदुदाहृतम् ।
अज्ञानाऽऽवरणापायं, महापायनिबन्धनम् ॥ ३ ॥

निर्गता अपेता अपेक्षा ऐहिकाऽऽमुष्मिकापायशङ्का यस्याः सा तथा निरपेक्षा, प्रवृत्तिः प्रवर्तनमादिर्यस्य निवृत्त्यादेः तन्निरपेक्षप्रवृत्त्यादि, निरपेक्षस्य वा निराशङ्कस्य प्रवृत्त्यादि निरपेक्षप्रवृत्त्यादि, तल्लिङ्गं चिह्नं यस्य तन्निरपेक्षप्रवृत्त्यादिलिङ्गम्, एतदनन्तरोदितं विषयप्रतिभासं ज्ञानम्,उदाहृतम् आप्तैरुपदिष्टम् । अथ किंहेतुकमिदमित्यत आह-न ज्ञानमज्ञानं मिथ्यात्वोदय इति, ते मतिश्रुते,अवधिश्च, नञः कुत्सार्थत्वात् । आह च-
" अविसेसिया मइ च्चिय, सम्मद्दिट्ठिस्स सा मइण्णाणं ।
मइअण्णाणं मिच्छा-दिट्ठिस्स सुयं पि एमेव ॥११४॥" . . .

तथा–
" सदसदविसेसणाओ, भवहेउ जहिच्छिओवलंभाओ ।
णाणफलाभावाओ, मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं ।।५२१।" (विशे०)

तस्याज्ञानस्य मत्यज्ञानाऽऽदिलक्षणस्याऽऽवरणमावृत्तिकारणं कर्म अज्ञानाऽऽवरणं,तस्यापायोऽपगमः क्षयोपशमो यस्मिन् तदज्ञानाऽऽवरणापायं, मत्यज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयोपशमहेतुकमित्यर्थः। अथवा-अविद्यमानो ज्ञानाऽऽवरणापायो यत्र तत्तथा। अथ किंफलमिदमित्याह-महान्तश्च ते गुरुका अपायाश्च सांपरायिकैहिकाऽऽमुष्मिकप्रत्यपायास्तेषां निबन्धनं हेतुर्महापायनिबन्धनम् । इदं च भावतोऽज्ञानमेव, भवति चाज्ञानं महापायनिबन्धनम् । यत आह-"अज्ञानं खलु कष्टं, क्रोधाऽऽदिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः। अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनाऽऽवृतो लोकः ॥१॥"

अथ द्वितीयज्ञाननिरूपणायाऽऽह–

पाताऽऽदिपरतन्त्रस्य,तद्दोषाऽऽदावसंशयम् ।
अनर्थाऽऽद्याप्तियुक्तं चा–ऽऽत्मपरिणतिमन्मतम् ॥ ४ ॥

पातोऽधःपतनम्,आदिर्यस्य ऊर्ध्वतिर्यगाकर्षणविपरीतशिक्षाऽश्वाद्वहनाऽऽदेः तत्पाताऽऽदि, तेन तस्य वा परतन्त्रः पराऽऽयत्तः, पाताऽऽदिपरतन्त्र इव पाताऽऽदिपरतन्त्रः,तस्य विषयकषायाऽऽदिवशीकृतस्य देहिनः,तस्मिन् पाताऽऽदौ यो दोषोऽङ्गभङ्गमरणाऽऽदिलक्षणः स आदिर्यस्य कृतोत्करमृदुस्पर्शाऽऽदिगुणस्य स तथा,तत्र दोषाऽऽदौ,दार्ष्टान्तिके तु कर्मबन्धदुर्गत्यादिदोषे गुणे च अभ्युदयाऽऽदौ ज्ञेयेऽसंशयम्,उपलक्षणमेतत्-अविद्यमानसंदेहविपर्ययं विलीनमोहग्रन्थित्वेन यथावन्निश्चयस्य स्वरूपमित्यर्थः। अनर्थोऽपायोऽङ्गनाऽऽदिरादिर्यस्य सुखस्पर्शाऽऽदेरर्थस्य तथा तस्याऽऽप्तिः प्राप्तिः तया युक्तम् अन्वितम् अनर्थाऽऽद्याप्तियुक्तम् । इह च यद्यपि पुरुषस्यैवानर्थाऽऽद्याप्तियोगस्तथाऽपि ज्ञानाव्यतिरिक्तत्वात् तस्याज्ञानमेवानर्थाऽऽद्याप्तियुक्तमुक्तम्, दार्ष्टान्तिके त्वनर्थाऽऽद्याप्तिः कर्मबन्धदुर्गतिगमनपरम्पराऽपवर्गाऽऽगमनरूपाऽवगन्तव्या, चशब्दो विशेषणान्तरसमुच्चयार्थः । तदेवंविधं ज्ञानमात्मपरिणतिमत् प्रतिपादितं निर्वचनं मतमभिमतमध्यात्मतत्त्वविदुषामिति । इह च संवादगाथे-
" भिन्ने उ तए नाणं, जहऽक्खरयणेसु तग्गयं चेव ।
पडिबंधम्मि वि सद्धा-ऽऽइभावओ सम्मरूवं तु ॥ १ ॥ "
भिन्ने तु, कस्मिन् ?, मोहग्रन्थावित्यर्थः । (तग्गयं चेव त्ति) अक्षे अक्षगतमेव, रत्ने रत्नगतमेव, प्रतिबन्धेऽपि सदनुष्ठानव्याघातेऽपीत्यर्थः ।
" जमिणं असप्पवित्ती-इ दव्वओ संगयं पि नियमेण ।
होइ फलंगं असुहा-णुबंधवोच्छेयभावाओ ॥१॥ " इति ।

एतदेव लिङ्गाऽऽदिभिर्निरूपयन्नाह—

तथाविधप्रवृत्त्यादि–व्यङ्ग्यं सदनुबन्धि च ।
ज्ञानाऽऽवरणह्रासोत्थं, प्रायो वैराग्यकारणम् ॥ ५ ॥

तथा तत्प्रकारा विधा स्वरूपं यस्याः सा तथाविधा-"हियए जिणाण आणा, चरियं मह एरिसं अधन्नस्स । एयं आलप्पालं, अव्वो ! दूरं विसंवयइ ॥ १ ॥" इत्यादिभावनया असंक्लिष्टा यासौ प्रवृत्तिश्च हिंसाऽऽदिषु वर्तनं तथाविधप्रवृत्तिः, स आदिर्यस्य निवृत्त्यप्राप्त्यादेः तत्तथाविधप्रवृत्त्यादि, तेन व्यज्यते व्यक्तीक्रियते यत्तत्तथाविधप्रवृत्त्यादिव्यङ्ग्यं, तथा . . . . . . मो-

फलप्रदायकत्वं सदनुबन्धः, सोऽस्यास्तीति सदनुबन्धि, चशब्दो विशेषणसमुच्चये । किंहेतुकमिदमित्याह-ज्ञानाऽऽवरणं ज्ञानावारकं कर्म, तस्य ह्रासः क्षयोपशमः, तस्मात्समुत्थं यत्तद् ज्ञानाऽऽवरणह्रासोत्थम् । कथमिदं सदनुबन्धीत्यत आह-प्रायो बाहुल्येन वैराग्यकारणं सद्भावनानिमित्तं यतो भवतीति गम्यते । यदाह-" बालधूलीगृहक्रीडा-तुल्याऽस्यां भाति धीमताम् । तमोग्रन्थिविभेदेन, भवचेष्टाऽखिलैव हि ॥१॥" प्रायोग्रहणं च कषायोदयविशेषे सति तद्वैराग्यकारणं न स्यादपि राज्याऽऽदिप्रसाधनप्रवृत्तभरताऽऽदेरिवेति प्रतिपादनार्थमिति ॥ ५ ॥

तृतीयप्रतिपादनायाऽऽह-

स्वस्थवृत्तेः प्रशान्तस्य, तद्धेयत्वाऽऽदिनिश्चयम् ।
तत्त्वसंवेदनं सम्यग्, यथाशक्ति फलप्रदम् ॥ ६ ॥

स्वस्था अनाकुला वृत्तिर्वचनकायव्यापाररूपं वर्तनं यस्य स तथा तस्य स्वस्थवृत्तेः । एतदेव कुत इत्याह-प्रशान्तस्य रागद्वेषाऽऽद्युपशमप्रकर्षवतः, तत्त्वसंवेदनं भवतीति क्रिया । किंभूतमिति ?, आह-तेषां ज्ञेयवस्तुतत्त्वानां हेयत्वं त्यजनीयत्वम्, आदिशब्दादुपादेयत्वोपेक्षणीयत्वपरिग्रहः । तत्र निश्चयो निर्णयो यस्य तत्तद्धेयत्वाऽऽदिनिश्चयमिति यथा वा यदिति शेषः । ततश्च स्वस्थवृत्तेः प्रशान्तस्य पुंसो यद् ज्ञानं तत्तत्त्वसंवेदनमिति योगः । तत्त्वसंवेदनमुक्तनिर्वचनं सम्यक् समीचीनतया यथाशक्ति पुरुषस्य संहननाऽऽदिसामर्थ्यानुसारतः फलप्रदं स्वप्रयोजनप्रसाधकम्, ज्ञानस्य चानन्तरफलं विरतिः, परम्पराफलं त्वपवर्ग इति ॥ ६ ॥

एतस्य लिङ्गाऽऽदि प्रतिपादयन्नाह-

न्याय्याऽऽदौ शुद्धवृत्त्यादि-गम्यमेतत् प्रकीर्तितम् ।
सज्ज्ञानाऽऽवरणापायं, महोदयनिबन्धनम् ॥ ७ ॥

न्यायो नीतिः तस्मादनपेतो न्याय्यः-सम्यग्दर्शनाऽऽदित्रयरूपो मोक्षमार्गः, स आदिर्यस्य न्यायस्य मिथ्यादर्शनाऽऽदिरूपस्य भवमार्गस्य स न्याय्याऽऽदिः, तत्र शुद्धवृत्तिर्निरतिचारप्रवृत्तिः, आदिर्यस्या निवृत्तेः सा तथा तया, गम्यमनुमेयं शुद्धवृत्त्यादिगम्यम् । एतदनन्तरोदितस्वरूपं तत्त्वसंवेदनज्ञानं, प्रकीर्तितम् ज्ञानस्वरूपविद्भिः संशब्दितम् । किंहेतुकमिति ?, आह सत् शोभनं प्रकृष्टं यद् ज्ञानमाभिनिबोधिकाऽऽदि, तस्य यदावरणं, तस्यापायोऽपगमः क्षयः क्षयोपशमलक्षणो यस्मिन् तत् ज्ञानाऽऽवरणापायम् । अथवा-सन् विद्यमानो ज्ञानाऽऽवरणापायो यत्र तत्तथा फलमस्य । आह-महोदयो महाभ्युदयो निर्वाणं, तस्य निबन्धनमक्षेपेण कारणं महोदयनिबन्धनमिति ॥ ७ ॥

उपसंहरन्नुपदेशमाह-

एतस्मिन् सततं यत्नः, कुग्रहत्यागतो भृशम् ।
मार्गश्रद्धाऽऽदिभावेन, कार्य आगमतत्परैः ॥ ८ ॥

एतस्मिन्ननन्तरोक्ते तत्त्वसंवेदनज्ञाने, सततमनवरतं, यत्न आदरः, कार्य इति संबन्धः । कुतः ?, कुग्रहत्यागतः शास्त्रबाधिताभिनिवेशपरित्यागेन, भृशमत्यर्थं, केन करणभूतेन कार्यो यत्न इत्याह-मार्गो मोक्षमार्गः श्रद्धाऽऽदिर्मार्गश्रद्धाऽऽदिः तद्रूपो भाव आत्मपरिणामो मार्गश्रद्धाऽऽदिभावः तेन, तत्र श्रद्धा श्रद्धानम्, आदिशब्दाद् ज्ञानमासेवनं चेति कार्यो विधेयः । कैरिति ?, आह-आगमतत्परैरागमवचनप्रधानैरिति ॥ ८ ॥ इति । हा० ९ अष्ट० । द्वा० । अत उक्तम्-" तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः । तमसः कुतोऽस्ति शक्तिः, दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम् ? ॥ १ ॥" सं० । आचा० । ध० ।

गुरुपारतंतनाणं, [सद्दहणं एयसंगयं चेव] (७)

गुरुपारतन्त्र्यं ज्ञानाधिकाऽऽचार्याऽऽयत्तत्वं यत्तद् ज्ञानं वीर्यो विशिष्टज्ञानविकलानामपि गुरुपारतन्त्र्यस्य ज्ञानफलसाधकत्वात् । यदाह-

" यो निरनुबन्धदोषात्, श्रुतोऽनाभोगवान् ऋजुभविकः ।
गुरुभक्तो ग्रहरहितः,सोऽपि ज्ञान्येव तत्फलतः ॥ १ ॥
चक्षुष्मानेकः स्या-दन्धोऽन्यस्तन्मतानुवृत्तिपरः ।
गन्तारौ गन्तव्यं,प्राप्नुत एतौ युगपदेव ॥२॥" पञ्चा० ११ विव० ।
"णाणाहिओ वरतरं, हीणो वि हु पवयणं पभावंतो ।
ण य दुक्करं करेंतो, सुट्ठु वि अप्पागमो पुरिसो ॥१॥ "

तथा-"हीणस्स वि सुद्धपरू-वगस्स णाणाहियस्स कायव्वं ।" दश०१ अध्या० । स्था० (प्रत्यक्षाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) आगमपूर्वके बोधे, द्वा० २३ द्वा० । "अन्नाणं परियाणामि ।" (४२) अज्ञानं सम्यग्ज्ञानादन्यद्, ज्ञानं तु भगवद्वचनम् । ध० ३ अधि० ।

अत्र यशोविजयोपाध्यायकृतमष्टकम्-

मज्जत्यज्ञः किलाज्ञाने, विष्ठायामिव शूकरः ।
ज्ञानी निमज्जति ज्ञाने, मराल इव मानसे ॥ १ ॥
निर्वाणपदमप्येकं, भाव्यते यन्मुहुर्मुहुः ।
तदेव ज्ञानमुत्कृष्टं, निर्बन्धो नास्ति भूयसा ॥ २ ॥
स्वभावलाभसंस्कार-स्मरणं ज्ञानमिष्यते ।
ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्य-त्तथा चोक्तं महात्मना * ॥ ३ ॥
वादाँश्च प्रतिवादाँश्च, वदन्तोऽनिश्चिताँस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद्गतौ ॥ ४ ॥
स्वद्रव्यगुणपर्याय-चर्या वर्या पराऽन्यथा ।
इति दत्ताऽऽत्मसन्तुष्टि-र्मुष्टिज्ञानस्थितिर्मुनेः ॥ ५ ॥
अस्ति चेद् ग्रन्थिभिद् ज्ञानं, किं चित्रैस्तन्त्रयन्त्रणैः ।
प्रदीपाः क्वोपयुज्यन्ते, तमोघ्नी दृष्टिरेव चेत् ? ॥ ६ ॥
मिथ्यात्वशैलपक्षच्छिद्, ज्ञानदम्भोलिशोभितः ।
निर्भयः शक्रवद् योगी, नन्दत्यानन्दनन्दने ॥ ७ ॥
पीयूषमसमुद्रोत्थं, रसायनमनौषधम् ।
अनन्यापेक्षमैश्वर्यं, ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥८॥ अष्ट० ५ अष्ट० ।

" जो विणओ तं नाणं, जं नाणं सो अ वुच्चई विणओ ।
विणएण लहइ नाणं, नाणेण वि जाणई विणयं" ॥६२॥ द०प० ।

(वचनानुष्ठानं चारित्रवतो नियोगेनस्युक्तम् ' अणुट्ठाण ' शब्दे प्रथमभागे ३७७ पृष्ठे)

(४३) तत्र ज्ञानयोजनामाह-

श्रुतमयमाम्रापोहात्, चिन्तामयभावनामये भवतः ।
ज्ञाने परे यथार्हं, गुरुभक्तिविधानमत्रेष्टम् ॥ १२ ॥

श्रुतेन निर्वृत्तं श्रुतमयं, तदेव तन्मात्रमयभूतस्वरूपमन्यज्ञानम्-

* हरिभद्राचार्येण । ' अज्ञानपांसुपिहितं ज्ञानम्, सुयपाहड व विपर्ययं ' ।

भिनिवेशम्, तदपोहासंभिरासात्। अन्यज्ञानद्वयसापेक्षं तु श्रुतमयं न निरस्यत इति ज्ञेयम् । चिन्तामयभावनामये वक्ष्यमाणस्वरूपे नयप्रमाणसूक्ष्मयुक्तिचिन्तानिर्वृत्तं चिन्तामयं हेतुस्वरूपफलभेदेन कालत्रयविषयं भावनामयं, ते भवतो जायेते ज्ञाने परे प्रधाने यथाहंमौचित्येन गुरुभक्तिविधानं सच्छोभनं लिङ्गं ययोर्गुरुभक्तिविधानसल्लिङ्गे ॥ १२ ॥

ज्ञानत्रयं सफलं दृष्टान्तद्वारेण प्रतिपिपादयिषुराह–

उदकपयोऽमृतकल्पं, पुंसां सज्ज्ञानमेवमाख्यातम् ।
विधियत्नवत्तु गुरुभि–र्विषयतृडपहारि नियमेन ॥१३॥

उदकपयोऽमृतकल्पमुदकरसाऽऽस्वादकल्पं पयोरसाऽऽस्वादकल्पम् अमृतरसाऽऽस्वादकल्पं,पुंसां विद्वत्पुरुषाणाम्,सज्ज्ञानं सम्यग् ज्ञानम्,एवमाख्यातं स्वरूपतो,विधियत्नवत्तु विधौ यत्नः स विद्यते यस्मिंस्तद्विधियत्नवदेव,न विधियत्नशून्यं,गुरुभिराचार्यैराख्यातं विषयतृडपहारि विषयतृषमपहर्तुं शीलमस्येति,नियमेन अवश्यंतया,श्रुतज्ञानं स्वच्छस्वादुपथ्यसलिलाऽऽस्वादतुल्यं, चिन्ताज्ञानं तु क्षीररसाऽऽस्वादतुल्यं,भावनाज्ञानममृतरसाऽऽस्वादतुल्यमितित्युक्तं भवति, विषयतृडपहारीत्युक्तम् ॥ १३ ॥

यस्य तु विषयाभिलाषातिरेकः स ज्ञानत्रयवानेव, फलाभावाद् न भवतीत्ययोग्यत्वप्रतिपादनाय तस्येदमाह–

शृण्वन्नपि सिद्धान्तं, विषयपिपासाऽतिरेकतः पापः ।
प्राप्नोति न संवेगं, तदाऽपि यः सोऽचिकित्स्य इति ॥१४॥

शृण्वन्नपि तीर्थकराभिहितमर्थतः सिद्धान्तं प्रतिष्ठितपदरूपं गणधराऽऽनुपनिबद्धमागमं विषयपिपासाऽतिरेकतो रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाभिलाषातिरेकेण पापः संक्लिष्टाध्यवसायत्वाद् न प्राप्नोति संवेगं मोक्षाभिलाषं, तदाऽपि सिद्धान्तश्रवणकालेऽपि, आस्तां तावदन्यदा, य एवंविधः, सोऽचिकित्स्य इत्यचिकित्सनीयः, स वर्तते, शास्त्रविहितदोषचिकित्साया अनर्हत्वादिति ॥१४॥

इत्थं कर्मदोषवतः किं कर्तव्यम् ?, इत्याह–

नैवंविधस्य शस्तं, मण्डल्युपवेशनप्रदानमपि ।
कुर्वन्नेतद् गुरुरपि, तदधिकदोषोऽवगन्तव्यः ॥ १५ ॥

न प्रतिषेधे. एवंविधस्य, पुरुषस्य शस्तं प्रशस्तमनुज्ञातमित्यर्थः । मण्डल्युपवेशनप्रदानमपि अर्थमण्डल्यां यदुपवेशनं श्रवणार्थं तत्प्रदानमपि कुर्वन् संपादयन्नेतत् पूर्वोक्तं गुरुरपि प्रस्तुतोऽर्थाभिधायी तदधिकदोषोऽयोग्यपुरुषाधिकदोषोऽवगन्तव्योऽवबोद्धव्यः, सिद्धान्ताऽवज्ञाऽऽपादनादिति ॥ १५ ॥

पूर्वोक्तार्थं व्यतिरेकेणाऽऽह–

यः शृण्वन् संवेगं, गच्छति तस्याऽऽद्यमिह मतं ज्ञानम् ।
गुरुभक्त्यादिविधानात्, कारणमेतद् द्वयस्येष्टम् ॥ १६ ॥

यः कश्चिद् योग्यः शृण्वन्, सिद्धान्तमिति संबध्यते । संवेगं गच्छति आस्कन्दति । तस्य योग्यस्याऽऽद्यमिह प्रथममिह मतं ज्ञानं श्रुतज्ञानम् । गुरुभक्त्यादिविधानाद् गुरुभक्तिविनयबहुमानाऽऽदिकरणात्, कारणमेतद् द्वयस्येष्टं चिन्तामयभावनामयज्ञानद्वयस्य हेतुरेतत् श्रुतज्ञानमिष्टम् । तस्माज्ज्ञानत्रयेऽपि दशमयकल्पे परमाऽऽदरो विधेय इति ॥ १६ ॥ षो० १० विव० ।

('सुस्सूसा' शब्दे शुश्रूषाविवेचनम्)

(४४) इदानीं त्रयाणां श्रुताऽऽदिज्ञानानां किञ्चिद्विज्ञानमुपदर्शयति–

ऊहाऽऽदिरहितमाद्यं, तद्युक्तं मध्यमं भवेद् ज्ञानम् ।
चरमं हितकरणफलं, विपर्ययो मोहतोऽन्य इति ॥ ६ ॥

ऊहो वितर्कः,ऊहाऽपोहविज्ञानाऽऽदिरहितमाद्यं प्रथमं श्रुतमयं, तद्युक्तमूहाऽऽदियुक्तं मध्यमं चिन्तामयं भवेद् ज्ञानं द्वितीयं, चरमं भावनामयं तृतीयं हितकरणफलं हितकरणं फलमस्येति स्वहितनिर्वर्तनफलं, विपर्ययो विपर्यासो मिथ्याज्ञानं,मोहतो मोहान्मिथ्यात्वमोहनीयोदय द् ज्ञानत्रयादन्योऽबोध इति ॥ ६ ॥

(४५) श्रुतमयज्ञानस्य लक्षणमाह–

वाक्यार्थमात्रविषयं, कोष्ठकगतबीजसन्निभं ज्ञानम् ।
श्रुतमयमिह विज्ञेयं, मिथ्याऽभिनिवेशरहितमलम् ॥७॥

सकलशास्त्रगतवचनाविरोधिनिर्णीतार्थवचनं वाक्यं, तस्यार्थमात्रं प्रमाणनयाधिगमरहितम्, तद्विषयं तद्गोचरम्-वाक्यार्थमात्रविषयं, न तु परस्परविभिन्नविषयशास्त्रावयवभूतपदमात्रवाच्यार्थविषयम् । कोष्ठके लोहकोष्ठकाऽऽदौ गतं स्थितं यद् बीजं धान्यं तत्सन्निभमविनष्टत्वात्-कोष्ठकगतबीजसन्निभं, ज्ञानं श्रुतमयमिह प्रक्रमे, विज्ञेयं वेदितव्यम्, मिथ्याऽभिनिवेशोऽसदभिनिवेशः, तेन रहितं विप्रमुक्तम्, अलमत्यर्थम् ॥ ७ ॥

(४६) चिन्तामयज्ञानस्य लक्षणमाह–

यत्तु महावाक्यार्थज–मतिसूक्ष्मसुयुक्तिचिन्तयोपेतम् ।
उदक इव तैलबिन्दु–र्विसर्पि चिन्तामयं तत्स्यात् ॥८॥

यत्तु यत्पुनर्महावाक्यार्थजमाक्षेपेण सर्वधर्माऽऽत्मकत्ववस्तुप्रतिपादकानेकान्तवादविषयार्थजन्यमतिसूक्ष्मा अतिशयसूक्ष्मबुद्धिगम्याः शोभना अविसंवादिन्यो या युक्तयः सर्वप्रमाणनयगर्भाः, तच्चिन्तया तदालोचनयोपेतं युक्तम् । उदक इव सलिल इव तैलबिन्दुस्तैलबिन्दुर्विसर्पणशीलं विसर्पि विस्तारयुक्तम्, चिन्तया निर्वृत्तं चिन्तामयं, तज्ज्ञानं स्याद्भवेत् ॥ ८ ॥

(४७) भावनाज्ञानलक्षणमाह–

ऐदम्पर्यगतं यद्, विध्यादौ यत्नवत्तथैवोच्चैः ।
एतत्तु भावनामय–मशुद्धसद्रत्नदीप्तिसमम् ॥९॥

ऐदम्पर्यं तात्पर्यं सर्वज्ञेयक्रियाविषये सर्वज्ञाज्ञैव प्रधानं कारणमित्येवंरूपं तद्गतं तद्विषयं यद् ज्ञानं विध्यादौ विधिद्रव्यदातृपात्राऽऽदौ,यत्नवत्परमाऽऽदरयुक्तं,तथैवोच्चैः-ऐदम्पर्यवत्त्वापेक्षया यत्नवत्त्वस्य समुच्चयार्थं तथैवेत्यस्य ग्रहणम् । एतत्तु एतत्पुनर्भावनया निर्वृत्तं भावनामयं ज्ञानम् । अशुद्धस्य सद्रत्नस्य जात्यरत्नस्य स्वभावत एव क्षारमृत्पुटपाकाऽऽद्यभावेऽपि भास्वररूपस्य या दीप्तिस्तया सममशुद्धसद्रत्नदीप्तिसमम् । यथा हि जात्यरत्नस्य स्वभावत एवान्यरत्नेभ्योऽधिका दीप्तिर्भवति, एवमिदमपि भावनाज्ञानमशुद्धसद्रत्नकल्पस्य भव्यजीवस्य कर्ममलमलिनस्यापि शेषज्ञानेभ्योऽधिकप्रकाशकारि भवति । अनेन हि ज्ञानं ज्ञानं नाम क्रियाऽप्येतत्पूर्विकैव मोक्षायाऽऽक्षेपेण संपद्यत इति ॥ ९ ॥

साम्प्रतं त्रयाणां श्रुतचिन्ताभावनामयज्ञानानां विषयविभागार्थं फलाभिधानाय प्रक्रमते कारिकाद्वयेन–

आय इह मनाक् पुंसः, तद्रागात् दर्शनग्रहो भवति ।

न भवत्यसौ द्वितीये, चिन्तायोगात् कदाचिदपि ॥ १० ॥

आद्ये श्रुतज्ञाने, इह प्रवचने, मनागीषत्, पुंसः पुरुषस्य, तद्रागात् श्रुतमयज्ञानानुरागात्, दर्शनग्रहो भवति, दर्शनं मतं श्रुतमिति एकोऽर्थः । तद्ग्रहः तदाग्रहो यथेदमस्मदीयमिदमेव च प्रमाणं नान्यदित्येवंरूपो, न भवत्यसौ दर्शनग्रहो यथेदमस्मदीयं दर्शनं शोभनमन्यदीयमशोभनमित्येवंरूपो, द्वितीये चिन्तायोगादतिसूक्ष्मयुक्तिचिन्तनसंबन्धात् कदाचिदपि काले नयप्रमाणाधिगमसमन्वितो हि विद्वान् प्रेक्षावत्तया स्वपरतन्त्रोक्तं न्यायबलाऽऽयातमर्थं सर्वं प्रतिपद्यते, तेनास्य दर्शनग्रहो न भवति ॥ १० ॥

चारिचरकसञ्जीव-न्यचरकचारणविधानतश्चरमे ।
सर्वत्र हिता वृत्ति-र्गाम्भीर्यात् समरसापन्ना ॥ ११ ॥

चारेश्चरको भक्षयिता संजीविन्या औषधेश्चरकोऽनुपभोक्ता, तस्य चारणमभ्यवहारणं, तस्य विधानं संपादनं, तस्माच्चारिचरकसञ्जीवन्यचरकचारणविधानतश्चरमे भावनामयज्ञाने सति सर्वत्र सर्वेषु जीवेषु हिता वृत्तिः हितहेतुः प्रवृत्तिर्न कस्यचिदहिता । गाम्भीर्यादाशयविशेषात् समरसापन्ना सर्वानुग्रहरूपा "कयाचित् स्त्रिया कस्यचित् पुरुषस्य वशीकरणार्थं परिव्राजिकोक्ता-यथेमं मम वशवर्तिनं वृषभं कुरु, तया च किल कुतश्चित् सामर्थ्यात् स वृषभः कृतः, तं चारयन्ती पाययन्ती चास्ते । अन्यदा च वटवृक्षस्य अधस्तान्निषण्णे तस्मिन् पुरुषगवे, विद्याधरीयुग्ममाकाशमागमत्, तत्रैकयोक्तम्-अयं स्वाभाविको न गौः, द्वितीययोक्तम्-कथमयं स्वाभाविको भवति ?। तत्राऽऽद्ययोक्तम्-अस्य वटस्याधस्तात् संजीवनी नामौषधिरस्ति । यदि तां चरति, तदाऽयं स्वाभाविकः पुरुषो जायते । तच्च विद्याधरीवचनं तया स्त्रिया समाकर्णितं, तया चौषधिविशेषनोऽजानानया सर्वामेव चारिं तत्प्रदेशवर्तिनीं सामान्येनैव चारितः, यावत्संजीवनीमुपभुक्तवान् । तदुपभोगानन्तरमेवासौ पुरुषः संवृत्तः ।" एवमिदं लौकिकमाख्यानकं श्रूयते । यथा तस्याः स्त्रियाः तस्मिन् पुरुषगवे हिता प्रवृत्तिरेवं भावनाज्ञानसमन्वितस्यापि सर्वत्र भव्यसमुदायेऽनुग्रहप्रवृत्तस्य हितैव प्रवृत्तिरिति ॥ ११ ॥

विपर्ययो मोहतोऽन्य इत्युक्तम्, स पुनः कः ?, इत्याह-

गुर्वादिविनयरहित-स्य यस्तु मिथ्यात्वदोषतो वचनात् ।
दीप इव मण्डलगतो, बोधः स विपर्ययः पापः ॥ १२ ॥

गुर्वादिविनयरहितस्य गुरूपाध्यायाऽऽदिविनयविकलस्य यस्तु यः पुनर्मिथ्यात्वदोषतो मिथ्यात्वदोषात् तत्त्वार्थाश्रद्धानरूपाद् वचनादागमाद् दीप इव, मण्डलगतो मण्डलाऽऽकारो बोधोऽवगमस्तैमिरिकस्येव स तथाविधो, बोधो वचनाद् भवन्नप्यध्यारोपदोषतो विपर्ययो मिथ्याप्रत्ययरूपः पदमात्रवाक्यार्थविषयः पापः स्वरूपेण वर्तते ॥ १२ ॥

विपर्यय एव प्रस्तुते दृष्टान्तगर्भमुपनयमाह कारिकाद्वयेन-

दण्डीखण्डनिवसनं, भस्माऽऽदिविभूषितं सतां शोच्यम् ।
पश्यत्यात्मानमलं, गृही नरेन्द्रादपि ह्यधिकम् ॥ १३ ॥
मोहविकारसमेतः, पश्यत्यात्मानमेवमकृतार्थम् ।
तद्व्यत्ययलिङ्गरतं, कृतार्थमिति तद्ग्रहादेव ॥ १४ ॥

दण्डीखण्डं प्रसिद्धं, निवसनं परिधानमस्येति दण्डीखण्डनिवसनः, तं भस्माऽऽदिभिर्विभूषितं विच्छुरितं भस्माऽऽदिविभूषितं सत्पुरुषाणां शोच्यं शोचनीयं पश्यत्यवलोकयत्यात्मानमलमत्यर्थं, गृही गृहवान्, नरेन्द्रादपि ह्यधिकं चक्रवर्तिनोऽप्यधिकं यथेति गम्यते ॥ १३ ॥ मोहविकारसमेतो मनोविभ्रमदोषसमन्वितः पश्यत्यात्मानमेवमकृतार्थं सन्तं विपर्ययबोधवान् कृतार्थमिति पश्यति, तस्य कृतार्थस्य व्यत्ययेन यानि लिङ्गानि तेषु रतस्तं तद्व्यत्ययलिङ्गरतम् । अनेनाकृतार्थत्वमेव वस्तुवृत्त्या दर्शयति । एवंविधोऽपि कृतार्थमिति कुतो मन्यते ?। तद्ग्रहादेव, स चासौ ग्रहश्च, तस्मादेव विवक्षितग्रहाऽऽवेशादेव । एवं ग्रहगृहीतेन विपर्ययवत उपनयः कृतः ॥ १४ ॥

ज्ञानविपर्यययोः स्वाम्युपदर्शनार्थमिदं कारिकाद्वयमाह-

सम्यग्दर्शनयोगाद्, ज्ञानं तद् ग्रन्थिभेदतः परमम् ।
सोऽपूर्वकरणतः स्याद्, ज्ञेयं लोकोत्तरं तच्च ॥ १५ ॥

सम्यग्दर्शनयोगात्तत्त्वार्थश्रद्धानसंबन्धाद् ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं, तत् सम्यग्दर्शनं ग्रन्थिभेदतो ग्रन्थिभेदात्, परमं प्रधानं स्वरूपतो वर्तते, स ग्रन्थिभेदो नियमत एवापार्धपुद्गलपरावर्ताधिकसंसारच्छेदो, अपूर्वकरणतः स्यादपूर्वपरिणामाद् भवेत्, ज्ञेयं लोकोत्तरं तच्च, तच्चापूर्वकरणं लोकात् सर्वस्मादप्युत्तरं प्रधानं ज्ञेयम् । अपूर्वकरणमपूर्वपरिणामः शुभोऽनादावपि संसारे तेषु तेषु धर्मस्थानेषु सूत्राऽर्थग्रहणाऽऽदिषु वर्तमानस्याप्यसंजातपूर्व इति कृत्वा ॥ १५ ॥

लोकोत्तरस्य तस्माद्, महानुभावस्य शान्तचित्तस्य ।
औचित्यवतो ज्ञानं, शेषस्य विपर्ययो ज्ञेयः ॥ १६ ॥

लोकादुत्तरः प्रधानो ज्ञानवानिह गृह्यते, तस्य लोकोत्तरस्य तस्मादिति निगमने महानुभावस्याचिन्त्यशक्तेः शान्तचित्तस्योपशान्तमनसः । औचित्यवत औचित्ययुक्तस्य ज्ञानमनेन ज्ञानस्वामी निदर्शितः । शेषस्योक्तगुणविपरीतस्य विपर्ययो ज्ञेयो ज्ञानत्रयादन्यः पदमात्रवाक्यार्थविषयः पूर्वोक्त इति ॥ १६ ॥ षो० ११ विव० ।

(४७) ज्ञानं किमिहभविकं परभाविकं वा-

इहभविए भंते ! णाणे, परभविए णाणे, तदुभयभविए णाणे ?। गोयमा ! इहभविए वि णाणे, परभविए वि णाणे, तदुभयभविए वि णाणे य ।

"इहभविए" इत्यादि व्यक्तम्, नवरम इह च भवे वर्तमानजन्मनि यद्वर्तते, न तु भवान्तरे तदैहभविकम्, काकुपाठाच्चेह प्रश्नताऽवसेया, तेन किमैहभविकं ज्ञानमुत-(परभविए त्ति) परभवे वर्तमानानन्तरभाविन्यनुगामितया यद्वर्तते तत्पारभविकम्, आहोस्वित्-(तदुभयभविए त्ति) तदुभयरूपयोरिहपरलक्षणयोर्भवयोर्यदनुगामितया वर्तते तत्तदुभयभविकम्, इदं चैवं न पारभविकाद्भिद्यत इति । परतरभवेऽपि यदनुयाति तद् ग्राह्यम्, इहभवव्यतिरिक्तत्वेन परतरभवस्यापि परभवत्वात्, ह्रस्वतानिर्देशश्चेह सर्वत्र प्राकृतत्वादिति, प्रश्ननिर्वचनमपि सुगमं, नवरम-(इहभविए वि त्ति) ऐहभविकं यदिहाधीतं, नानन्तरभवेऽनुयाति, पारभविकं यदनन्तरभवेऽनुयाति, तदुभयभविकं तु यदिहाधीतं परभवे परतरभवे चानुवर्तत इति । भ० १ श० १ उ० । शास्त्राभ्यासे, दर्श० ५ तत्त्व । ज्ञानमागमितमित्येकोऽर्थः । व्य० १० उ० । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञेयम-

कालके दीपकत्वे आचारादिसूत्राऽऽदौ, हा० ३० अष्ट० । सू० ।
" तम्हा धिइउडाणु-च्छाहकम्मबलविरियसिविकायं नाणं ।
धारेयव्वं णियमा, न य अविणीएसु दायव्वं ॥ ५ ॥ " अत्र
ज्ञानं चन्द्रप्रज्ञप्तिलक्षणम् । चं० प्र० २० पाहु० ।

छउमत्थे णं भंते ! मणूसे परमाणुपोग्गलं किं जाणइ, पासइ, उदाहु न जाणइ, न पासइ ? । गोयमा ! अत्थेगइए जाणइ, ण पासइ, अत्थेगइए ण जाणइ, ण पासइ । छउमत्थे णं भंते ! दुपदेसियं खंधं किं जाणइ, पासइ ? । एवं चेव । एवं० जाव असंखेज्जपएसियं । छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से अणंतपएसियं खंधं किं पुच्छा ? । गोयमा ! अत्थेगइए जाणइ, पासइ, अत्थेगइए जाणइ, ण पासइ, अत्थेगइए ण जाणइ, पासइ, अत्थेगइए ण जाणइ, ण पासइ । आहोहिएणं मणुस्से परमाणु० जहा छउमत्थे एवं आहोहिए वि० जाव अणंतपदेसियं । परमाहोहिए णं भंते ! मणूसे परमाणुपोग्गलं जं समयं जाणइ, तं समयं पासइ, जं समयं पासइ, तं समयं जाणइ ? । णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—परमाहोहिए णं मणूसे परमाणुपोग्गलं जं समयं जाणइ, णो तं समयं पासइ, जं समयं पासइ, णो तं समयं जाणइ ? । गोयमा ! सागारे से णाणे भवइ, अणागारे से दंसणे भवइ, से तेणट्ठेणं० जाव णो तं समयं जाणइ, एवं० जाव अणंतपएसियं । केवली णं भंते ! मणूसे जहा परमाहोहिए तहा केवली वि० जाव अणंतपएसियं ।

(छद्मस्थेत्यादि) इह छद्मस्थो निरतिशयो ग्राह्यः । (जाणइ, न पासइ त्ति) श्रुतोपयुक्तः श्रुतज्ञानी, श्रुते दर्शनाभावात्, तदन्यस्तु " न जाणइ न पासइ त्ति " अनन्तप्रदेशिकसूत्रे चत्वारो भङ्गा भवन्ति, जानाति स्पर्शनाऽऽदिना, पश्यति च चक्षुषेत्येकः । तथाऽन्यो जानाति स्पर्शनाऽऽदिना, न पश्यति च चक्षुषा, चक्षुषोऽभावादिति द्वितीयः । तथाऽन्यो न जानाति स्पर्शाद्यगोचरत्वात्, पश्यति चक्षुषेति तृतीयः । तथाऽन्यो न जानाति न पश्यति चाविषयत्वादिति चतुर्थः । एवमवधिकाराच्छद्मस्थविशेषभूताधोऽवधिकपरमाधोऽवधिकसूत्रे परमावधिकश्चावश्यमन्तर्मुहूर्तेन केवली भवतीति केवलिसूत्रम् । तत्र च (सागारे से णाणे भवइ त्ति) साकारं विशेषग्रहणस्वरूपम् । ' से ' तस्य परमाधोऽवधिकस्य तद्वा, ज्ञानं भवति, तद्विपर्ययभूतं च दर्शनमतः परस्परविरुद्धयोरेकसमये नास्ति संभव इति । भ० १८ श० ८ उ० । व्रतभङ्गभेदादतीचाराणां सम्यगवबोधे, ध० ४ अधि० ।

संप्रति [व्रतकर्माणि] ज्ञानाऽऽख्यं द्वितीयभेदं व्याचिख्यासुर्गाथोत्तरार्द्धमाह-

भंगयभेयइयारे, वयाण सम्मं वियाणेइ ॥ ३८ ॥

व्रतानामणुव्रताऽऽदीनामिहैव गाथार्द्धे जेतातिचारप्रस्तावे वक्ष्यमाणस्वरूपाणां भङ्गकान् द्विविधत्रिविधेनेत्यादीननेकप्रकारान् (सम्मं ति) सम्यक् समयोक्तेन विधिना विज्ञायत्यमुच्यते (३५) ध० र० ३८ गाथा । (अक्षराऽऽदिदर्शनमनुपयुक्तत्वादिह प्रतन्यते)

विषयसूची-

(१) सव्युत्पत्तिकं ज्ञाननिर्वचनम् ।
(२) ज्ञानस्य पञ्चविधत्वम् ।
(३) ज्ञानभेदकारणानि ।
(४) आदौ मतिश्रुतोपन्यासे कारणनिरूपणानन्तरं मतिश्रुतानन्तरमवधेस्तस्मादनन्तरं च मनःपर्यायज्ञानस्योपन्यासकारणनिरूपणं, केवलज्ञानस्य सर्वोपरि निर्देशे कारणं च ।
(५) प्रत्यक्षपरोक्षत्वाभ्यां ज्ञानस्य द्वैविध्यं प्ररूप्य केवल-नोकेवलज्ञानभेदेन प्रत्यक्षज्ञानस्य द्वैविध्यप्रदर्शनम् ।
(६) अवधिमनःपर्यायज्ञानत्वेन केवलज्ञानस्य द्वैविध्यं निरूप्याऽऽभिनिबोधिकश्रुतज्ञानभेदेन परोक्षज्ञानस्य द्वैविध्यप्रदर्शनम् ।
(७) स्वाम्यादिभेदाद् मतिश्रुतभेदः ।
(८) प्रकारान्तरेणापि मतिश्रुतयोर्लक्षणभेदप्ररूपणा ।
(९) आचार्यभेदेन मतिश्रुतभेदार्थे शङ्कानिराकरणे ।
(१०) तदनन्तरं विशेषदूषणाभिधित्सया पुनरपि मतान्तरोपन्यासः ।
(११) कराऽऽदिचेष्टा मतेः कारणमेव न भवति, किन्तु श्रुतस्येति शङ्कोद्घाटनम् ।
(१२) श्रुतानन्तरमवधिज्ञानस्य विवेकः ।
(१३) वस्तुतो ज्ञानस्य द्वैविध्यमेवेति निरूपणम् ।
(१४) न ज्ञानमात्मव्यतिरेकेण गुणः ।
(१५) ज्ञानज्ञानिनोर्भिन्नत्वस्वीकारे बन्धमोक्षाभावपरामर्शः ।
(१६) बोधमात्रं प्रमाणं, साकारो वा बोधः प्रमाणमित्यत्र वैशेषिकमतविचारः ।
(१७) जैमिनीयस्वीकृतप्रमाणलक्षणनिराकरणम् ।
(१८) प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमिति सौगतनिर्मितलक्षणपरामर्शः ।
(१९) अव्यभिचाराऽऽदिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री प्रमाणमिति नैयायिकमतव्युदासः ।
(२०) अनुव्यवसायप्रकाश्यं ज्ञानमित्यत्र नैयायिकमतमुद्राय पर्यालोचना ।
(२१) ज्ञानस्य स्वप्रकाशकत्वे प्रदीपाऽऽदिदृष्टान्तमुपन्यस्य पदार्थपरिशोधनम् ।
(२२) नित्यपरोक्षज्ञानवादिनां भट्टानाम्, एकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादिनां यौगानां च मतस्य विकुट्टनम् ।
(२३) ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च निरूपणम् ।
(२४) तत्र नैरयिकजीवानधिकृत्य प्रदर्शनम् ।
(२५) द्वीन्द्रियाः सिद्धपर्यन्ताः ।
(२६) तान्येव गतिद्वारमवलम्ब्य चिन्तनम् ।
(२७) इन्द्रियद्वारमुपन्यस्य निरूपणम् ।
(२८) कायद्वारमुद्भाव्य प्ररूपणम् ।
(२९) सूक्ष्मद्वारमुद्दिश्य प्रदर्शनम् ।
(३०) पर्याप्तकद्वारे तत्प्रतिपादनम् ।
(३१) भवस्थद्वारेऽपि तन्निर्देशः ।
(३२) भव्यद्वारे ज्ञानाज्ञानविचारः ।

(३३) संज्ञिद्वारे तेषां निरूपणम् ।
(३४) लब्धिद्वारमधिकृत्य तत्परामर्शः ।
(३५) उपयोगद्वारमुपन्यस्य तद्रूपदर्शनम् ।
(३६) योगद्वारे सयोग्ययोगिनां तद्विमर्शः ।
(३७) लेश्याद्वारे तथैव सलेश्यालेश्यानाम् ।
(३८) कषायद्वारे सकायिकाकायिकानाम् ।
(३९) वेदद्वारे सवेदकावेदकानाम् ।
(४०) आहारकद्वारे आहारकानाहारकाणाम् ।
(४१) तत्त्वसंवेदनं ज्ञानमिति चिन्तनम् ।
(४२) अज्ञानं सम्यग् ज्ञानादन्यद्, ज्ञानं तु भगवद्वचनम् ।
(४३) तत्र ज्ञानयोजना ।
(४४) त्रयाणां श्रुताऽऽदिज्ञानानां स्वरूपविभागः ।
(४५) तत्र श्रुतमयज्ञानस्य लक्षणम् ।
(४६) चिन्तामयज्ञानस्य लक्षणम् ।
(४७) भावनाज्ञानलक्षणम् ।
(४८) इहभाविकपरभाविकज्ञानविमर्शः ।
(४९) कृष्णजीवानधिकृत्य ज्ञानाऽऽदिपरामर्शः ।

णात-ज्ञात-न० । ज्ञायतेऽस्मिन् सति दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति ज्ञातम् । दृष्टान्ते, स्था० ।

ज्ञायतेऽस्मिन् सति दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति अधिकरणे क्तप्रत्ययोपादानात् ज्ञातं दृष्टान्तः—साधनसद्भावे साध्यस्याऽवश्यंभावः, साध्याभावे वा साधनस्यावश्यमभाव इत्युपदर्शनलक्षणः । यदाह-"साध्येनानुगमो हेतोः, साध्याभावे च नास्तिता । ख्याप्यते यः स दृष्टान्तः, स साधर्म्येतरो द्विधा ॥१॥" इति । तत्र साधर्म्ये दृष्टान्तः-अग्निरत्र, धूमात्, यथा महानस इति । वैधर्म्यदृष्टान्तस्तु-अग्न्यभावे धूमो न भवति, यथा जलाऽऽशय इति । अथवा- आख्यानकरूपं ज्ञातं, तच्च चरितकल्पितभेदाद् द्विधा-तत्र चरितं यथा-निदानं दुःखाय ब्रह्मदत्तस्येव । कल्पितं यथा-प्रमादवतामनित्यं यौवनाऽऽदीनीति । निदर्शनीयं यथा-पाण्डुपत्रेण किसलयानां देशितम् ।

तथाहि-

" जह तुब्भे तह अम्हे, तुब्भे वि य होइहा ! जहा अम्हे ।
अप्पा हेइ पडंतं, पंडुयपत्तं किसलयाणं ॥ १ ॥ " इति ।

अथवा—उपमानमात्रं ज्ञानम्-सुकुमारः करः किसलयमिवेत्यादिवत् । अथवा- ज्ञातमुपपत्तिमात्रं ज्ञानहेतुत्वात्, कस्मात् ?, यवाः क्रीयन्ते, यस्मात् मुधा न लभ्यन्ते, इत्यादिवदित्येवमनेकधाऽपि साध्यप्रत्यायनरूपं ज्ञानमुपाधिभेदात् चतुर्विधं दर्शयति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । " चउव्विहे णाए पण्णत्ते । तं जहा-आहरणे,आहरणतद्देसे,आहरणतद्दोसे,उवन्नासोवणए ।" स्था० ४ ठा० ३ उ० । (आहरणाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) मनुजक्षेत्रे व्यवस्थितानां मनोमात्रग्राहका ऋजुमतय इति कल्पसूत्रावचूर्ण्यादौ,तथा प्रज्ञापनावृत्तौ मनःपर्यायज्ञानम्, इदं चार्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनमिति व्याख्यानानुसारेण वर्तमानानामेव संज्ञिनां मनोगतपर्यायावभासो भवत इति । तथा च सति यदुक्तं प्रज्ञापनाटीकायाम्-मनःपर्यायज्ञानमपि पल्योपमासंख्येयभागमतीतं जानातीति कथं संगच्छते ?, इति प्रश्ने उत्तरम्-वर्णितं मनुजक्षेत्राधिकक्षेत्रवर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यावबोधनिषेधपरं, न तु वर्तमानसंज्ञिमनोगतद्रव्यावबोधनियमपरम्, तेनावधिज्ञानिवन्मनःपर्यायज्ञान्यपि यथोक्तातीतमनोगतभावान् जानातीति न कश्चिद् विरोध इति । १४७ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

णाणंतराय-ज्ञानान्तराय-पुं० । ६ त० । श्रुतस्य तद्ग्रहणाऽध्ययने विघ्ने, भ० ८ श० ६ उ० ।

णाणकप्प-ज्ञानकल्प-पुं० । श्रुतज्ञानविषयके कल्पे, पं० भा० ।

एत्तो उ णाणकप्पं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ।
सुत्तुद्देसे वायण-पडिच्छपुच्छपरियट्टअणुपेहा ॥
आयरियउवज्झाया, अह होति तु सुत्तकप्पविही ।
आयारमादि काउं, सुयं तु जा होति दिट्ठिवादो तु ॥
अंगाणंगपविट्ठं, कालियमुक्कालियं वा वि ।
तं पुण सव्वं पि भवे, संवादसमुट्ठितं च णिज्जूढं ॥
पत्तेयबुद्धभासियं, अह व समत्ती य होज्जाहि ।
पं० भा० । पं० चू० ।

(श्रुतकल्पाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

णाणकसायकुसील-ज्ञानकषायकुशील-पुं० । ज्ञानमाश्रित्य कषायकुशीले, भ० २५ श० ६ उ० ।

णाणकिरियाणय-ज्ञानक्रियानय-पुं० । ज्ञानक्रियाद्वयं मोक्षहेतुरिति सिद्धान्तव्यवसिते नये, (रत्ना०) (' किरियाणय ' शब्दे तृतीयभागे ५५४ पृष्ठे क्रियाप्राधान्यमुक्तम्) ('णाणणय' शब्दे ज्ञानप्राधान्यं वक्ष्यते)

अत्र समुच्चयवादी प्राह-ततः सम्यग्ज्ञानं सम्यक् क्रियासध्रीचीनमेव फलसिद्धिनिबन्धनमित्यभ्युपगन्तव्यम्, न तु ज्ञानैकान्तः कान्तः । क्रियैकान्तोऽपि भ्रान्त एव । "यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात् सुखितो भवेत् * । " इति तु न युक्तम् । यतः सम्यग्ज्ञानकारणैकान्तवादिनामयमुपालम्भो, न पुनरस्माकं,सम्यग्ज्ञानक्रिययोरुभयोरपि परस्परापेक्षयोः कारणत्वस्वीकारात् । न च निर्तम्बिनीमोदकाऽऽदिगोचरायां प्रवृत्तौ तद्विज्ञानं सर्वथा नास्त्येव, यतः-क्रियाया एव तत्कारणता कल्प्येत । तदाकारविज्ञानसनाथैव तत्र प्रवृत्तिः प्रीतिपरम्परोत्पादनप्रत्यला; अन्यथा-उन्मत्तमूर्च्छिताऽऽदेरपि प्रौढप्रेमपरायणप्रणयिनीनिबिडाऽऽश्लेषक्रियाऽपि तद्रुत्पादाय किं न स्यात् ?। अथासौ क्रियैव तत्त्वतो न भवति, सैव हि क्रिया तात्त्विकी, या स्वकीयकार्याव्यभिचारिणी; हन्त ! तर्हि तदेव तात्त्विकं ज्ञानं यत् स्वकीयकार्याव्यभिचारीति कथं " स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञः " इत्युपालम्भः शोभेत ?। ततः कार्यमर्जयन्ती यथा निश्चयनयेन क्रिया क्रियोच्यते,तथा ज्ञानमपि;इति क्वचिद् व्यभिचाराभावाद् द्वयमेवैतत् फलोत्पत्तिकारणमनुगुणमिति । रत्ना० ७ परि० ।

अत्र यशोविजयोपाध्यायकृतो वेदान्तिभङ्ग्या समुच्चयवादः-

अत्र ज्ञानकर्मसमुच्चयवादे स्वपरसमयविचारः कश्चिद् लिख्यते-

क्रियानयः क्रियां ब्रूते, ज्ञानं ज्ञाननयः पुनः ।
मोक्षस्य कारणं तत्र, नयस्थो युक्तयो द्वयोः ॥ १९८ ॥

तत्र मुमुक्षुकर्मव्यापारस्तत्त्वज्ञानवृत्ति,न वा ?,इति विप्रतिपत्तिविधिकोटिकद्वयमाचार्याणाम्, निषेधकोटिभास्करीयाणाम् ।

* "क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्" । इतिपूर्वार्धम् ।

तत्र भास्करीयाणामयमाशयः-तीर्थविशेषस्नानमहादानयमनियमाऽऽदिकर्मणां निःश्रेयसकारणत्वं तावच्छब्दबलादेवावगम्यते। तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वं तु तेषां निःश्रेयसे अनयितव्यं न तावच्छब्द एव बोधयति, तत्र तस्यौदासीन्यात् । न च साक्षात् साधनताव्याप्तेः साधनताप्रतीतेः परम्पराघटकव्यापारमाविषयीकृत्य न घटत इत्यपूर्ववाच्यतान्यायेन शब्द एव वस्तुतः तत्त्वज्ञानव्यापारकतां बोधयितुं प्रगल्भते इति शङ्कापदं हृदि निधेयं, सामान्यशब्दोऽन्यतमविशेषबाधे तं त्यजति, न तु विशेषान्तरमुपादित्सितमपि विशिष्य बोधयतीति स्वभावात् दृष्टान्तस्यैवासंप्रतिपत्तेः । न च कर्मणामाशुतरविनाशित्वेन व्यापारोऽवश्यं स्वीकरणीयः, तत्र दृष्टेन तत्त्वज्ञानेनैवोपपत्तावदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात् लाघवसहकृतानुपपत्तिरेव तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वे मानमिति वाच्यम्, तत्त्वज्ञानस्याऽपि व्यवहितत्वेन तत्राऽपि कर्मणोऽदृष्टद्वाराऽऽवश्यकत्वान्निःश्रेयसे द्वारद्वयकल्पने गौरवात् निःश्रेयसे कर्मणामदृष्टद्वारा हेतुत्वे तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमपि यमनियमाऽऽद्यनुष्ठानं स्यादिति चेत्,स्यादेव; तदानीमपि मुमुक्षाया अधिकारस्याक्षतेः । न च तत्त्वज्ञानस्यैवैव मोक्षजनकत्वात् प्राथमिकतत्त्वज्ञानादेव मोक्षोत्पत्तौ क्व कर्मानुष्ठानमिति शङ्कनीयम् ? ।

" नित्यनैमित्तिकैरेव, कुर्वाणो दुरितक्षयम् ।
ज्ञानं च विमलीकुर्व-न्नभ्यासेन तु पाचयेत् ॥ १ ॥
अभ्यासात् पक्वविज्ञानः, कैवल्यं लभते नरः " ।
इत्यादि पुराणेषु तदभ्यासश्रवणात् ।

श्रुतिरप्यत्र विपक्षबाधकतया प्रमाणमस्ति । तथाहि-"अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।" अस्या अर्थः-अविद्या कर्म,तदुपासते-ज्ञानत्यागेन तत्राऽऽसक्ता भवन्ति ये तेऽन्धंतमः प्रविशन्ति,संसारान्न मुच्यन्ते, तेन केवलकर्मोपासने न जन्माऽऽदिविच्छेदः। ये च विद्यायां रताः,विद्या-तत्त्वज्ञानं, तन्मात्राऽऽसक्ताः, उ इत्यव्ययं चकारार्थम्। ते भूयोऽतिशयेन अन्धन्तमः प्रविशन्ति,नित्याकरणे प्रत्यवायस्य बहुतरत्वात्। ननु " मोक्षाऽऽश्रमश्चतुर्थो वै,यो भिक्षोः परिकीर्तितः" इत्यागमाच्चतुर्थाऽऽश्रमिणामेव मोक्षेऽधिकारः। तत्र च "संन्यस्य सर्वकर्माणि" इति स्मृतेः कर्ममात्रत्यागात् क्व समुच्चयः, क्व वाऽकरणे प्रत्यवाय इति चेत् । न । यानि कर्माणि उपनीतमात्रकर्तव्यत्वेन विहितानि,तत्परित्यागस्याशास्त्रीयत्वात् संकोचे मानाभावात्, निषिद्धानि काम्यानि च बन्धहेतुत्वाद्भ्रममूलानि च धनत्यागादेव त्यज्यन्त इत्येतावत एव संन्यासपदार्थत्वात् ।

तथा च गीतावचनम्-
" काम्यानां कर्मणां न्यासं, संन्यासं कवयो विदुः ।"
" नियतस्य तु संन्यासः, कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागः, तामसः परिकीर्तितः ॥ " इति।

साक्षात्समुच्चयप्रतिपादिकाऽपि श्रुतिः—" अविद्यां च विद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।" अत्राविद्यां कर्म, विद्यां च तत्त्वज्ञानं तुल्यं वेह यो वेद प्राप्नोतीति पूर्वार्द्धार्थः । वेदेति प्रयोगात् ' विद् ' ज्ञाने इति धातोश्चान्वयत्वेन भास्करीयैर्दर्शितत्वात् । " तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय । " इति वाक्यं त्वेवकारस्य विदित्वा इत्यनन्तरं योजनात् तत्त्वज्ञानस्याप्यपवर्गसामग्रीनिवेशनियमपरं, न तु वाक्यान्तरावधृतकारणताककर्मव्युदासपरम् । समुच्चयेऽन्यान्यपि भूयांसि वचनानि सन्ति । तथा च गीतावचनम्-" स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः, संसिद्धिं लभते नरः । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य, सिद्धिं विन्दति मानवः " ॥१॥ विष्णुपुराणेऽप्युक्तम्-" तस्मात् तत्प्राप्तये यत्नः, कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः । तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं, कर्म चोक्तं महामते ! " ॥ १ ॥ हारीतः-" उभाभ्यामपि पक्षाभ्यां, यथा खे पक्षिणां गतिः । तथैव ज्ञानकर्मभ्यां, प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १ ॥ " श्रुतिश्च-" सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण च " इति । एतन्मूलकमेव परिज्ञानाद् भवे प्रसिद्धः " न ह्येकपक्षो विहगः प्रयाति " इत्यादि । न च काम्यनिषिद्धनैमित्तिकाभ्यां कर्मभ्यां न समुच्चयः, तयोस्त्यागात् , न नैमित्तिकनित्यैर्नैकैकशो व्यभिचारात् संकल्पेनासंभवात् । नाऽपि यत्याश्रमविहितेन-" न्यायाऽऽगतधनस्तत्त्व-ज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः। श्राद्धकृत् सत्यवादी च, गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥ १ ॥ " इत्यागमेन गृहस्थस्यापि मोक्षश्रवणादित्युपपत्तिविरोधादेव न समुच्चय इति वाच्यम्; यत्राऽऽश्रमे यानि मोक्षहेतुतया विहितानि, तैरेव तदाश्रमे तत्त्वज्ञानस्य समुच्चयोपपत्तेः । न च कर्मणां परस्परव्यभिचारान्निःश्रेयसे च स्वर्गवद् वैचित्र्याभावाच्च तत् प्रति कारणत्वमिति वाच्यम्, स्वाभाविकविशेषविरहेऽपि प्रतियोगिभेदेन विशेषस्य निःश्रेयसेऽप्यविरोधात् । तत्पुरुषीयमुमुक्षुविहितकर्मत्वेन तत्पुरुषीयविजातीयदुःखध्वंसे हेतुत्वसंभवात् , अवश्यं चाभावरूपे कार्ये प्रतियोगिभेदेन विशेषोऽभ्युपेयः, कथमन्यथा आश्रयनाशपाकयोः रूपनाशकारणत्वमिति । न च ज्ञानस्य विहितत्वाददृष्टजनकत्वेनादृष्टस्यैव प्राधान्यम् , न च रागाऽऽद्यभावाद् योगिनोऽदृष्टोत्पत्त्यसंभवः, मुक्तिविरोध्यपूर्वोत्पत्तावेव रागाऽऽदेः सहकारित्वात् तावतैव मोक्षफलकविध्यनुपपत्तिपरिहारादिति वाच्यम् , मुक्त्यादितत्त्वज्ञानसाध्यतया क्लृप्तेन मिथ्याज्ञानविध्वंसेन दृष्टेनैवोपपत्तावदृष्टकल्पनायोगात् । अन्यथा भेषजाऽऽदिष्वपि तत्कल्पनाऽऽपत्तेः। एवं च विहितत्वं तत्रैव व्यभिचारादिति द्रष्टव्यम् । न चावघातवन्नियमादृष्टकल्पना, तत्र वैतुष्यस्याऽन्यथाऽपि संभवेन सा, अत्र तु मिथ्याज्ञानस्य निवृत्तेः, अन्यथाऽसंभवा इति विशेषात् । नन्वत्रापि विरोधिगुणान्तरोत्पत्तेरपि मिथ्याज्ञानध्वंसः संभवति । न च मिथ्याज्ञानपदं तद्वासनापरं, तत्त्वज्ञानात् तद्ध्वंसस्यैवाङ्गीकारात्, तस्य चान्यथाऽसंभव एवेति वाच्यम्, अचिकित्स्यरोगाऽऽदिना तस्याऽपि संभवात् । न चेतरवासनानाशेऽपि न ततः संसारवासनाया नाश इति वाच्यम्, सामान्यावच्छेदेन पाक्षिकप्राप्तेरेव नियममूलत्वात् । अन्यथाऽपूर्वाय व्रीहिविशेषे नखनिर्भेदाप्राप्तेः, तत्राऽपि नियमादृष्टानुपपत्तिरिति चेत् । न । शक्यपरिवर्जनपाक्षिकप्राप्तेरेव नियममूलत्वात् । यथा व्रीहीणामवहन्तीत्यत्र पक्षे प्राप्तस्य नखनिर्भेदाऽऽदेः शक्येन परिवर्जनेनावघातो नियम्यते-अवहन्तव्या एव, न नखैर्निर्भेत्तव्या इति । नैवमत्र तत्त्वज्ञानेनैव मिथ्याज्ञानं निवर्तयेत्,न विरोधिगुणान्तराऽऽदिना इति शक्यं प्रतिज्ञातुम्, तस्यापुरुषतन्त्रत्वात्। अत एव प्रोक्षितव्रीह्यवघातत्वेनेव श्रवणजन्यतत्त्वज्ञानत्वेन नियमादृष्टहेतुत्वमौव्यमिति निरस्तम्, प्रोक्षणाऽऽदेः प्रधानाङ्गत्वेन प्रधानापूर्वफलकादृष्टजनकत्वात् । तत्र तथोक्तिसंभवेऽप्यत्र प्रधानस्यैव दृष्टफलत्वेन तथा वक्तुमशक्यत्वात् । किञ्च-अत्र विजातीय-

तत्त्वज्ञानत्वेनैव दृष्टद्वारा मुक्तिहेतुत्वाद् न नियमादृष्टकल्पना । तत्र वैजात्येनैव हेतुत्वे तदवच्छिन्ने प्रोक्षणहेतुत्वोक्तौ कण्डने प्रोक्षणबाधाऽऽपत्तेः। न चावहन्तव्यप्रोक्षणत्वेनाप्यदृष्टहेतुत्वात् तथाऽपि नियमादृष्टं कल्पनीयम्, दृष्टार्थस्यैव नियमादृष्टार्थस्य सिद्धान्तत्वादित्यन्यत्र विस्तरः ।

उदयनानुसारिणस्तु-अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य ज्ञानार्थिनः तत्प्रतिबन्धकदुरितनिवृत्तिद्वारा प्रायश्चित्तवत् आरादुपकारकं कर्म, संनिपत्योपकारकं च तत्त्वज्ञानम्, उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य त्वन्तरङ्गत्वबहिः कारीरीसमाप्तिवदारब्धाग्निमपालनं लोकसंग्रहार्थम्, यद्यपि लोकसंग्रहे न प्रयोजनं, सुखदुःखाभावतत्साधनेतरत्वात्,तथाऽप्यकरणे लोकानामनिष्टत्वेन यत् ज्ञानं तत्परिहारार्थम्, तत्तद्दुःखयोगेन कर्मनाशार्थं वा तत् । इत्थमेव च ज्ञानकर्मणोः कर्मतत्त्वज्ञानयोः कारणत्वं,तुल्यकक्षतया समुच्चयो नेह इत्यनेन विवक्ष्यते । यद्यपि च तीर्थविशेषस्नानाऽऽदीनां तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वं न शाब्दं, तथाऽपि तीर्थविशेषस्नानाऽऽदीनि तत्त्वज्ञानद्वारकाणि,मोक्षजनककर्मत्वात्, यमाऽऽदिवदित्यनुमानात्तथात्वसिद्धिः । न च योगत्वमुपाधिः, "कथयति भगवानिहान्तकाले, भवभयकातरतारकं प्रबोधम्" इत्यादिपुराणात् "रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे " इति श्रुतेश्च काशीप्रयागाऽऽदेः तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वसिद्धौ तत्र साध्याव्यापकत्वादित्याहुः ।

अतन्त्रास्तु-तत्त्वज्ञाने प्रत्यक्षत्वपक्षे कर्मणामपूर्वद्वारा जनकत्वं, दुरितध्वंसकल्पनातो लघुत्वात् । वस्तुतः कर्मणां निःश्रेयसहेतुत्वे तज्जन्यनिःश्रेयसजनकतया तत्त्वज्ञानस्य कर्मव्यापारत्वं वाच्यं,तदेव तु न युक्तम् ।"न कर्मणा न प्रजया धनेन। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।नास्त्यकृतः कृतेन"। "कर्मणा बध्यते जन्तु-र्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति, यतयः पारदर्शिनः ॥१॥" इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेन निषेधात्, कर्मजन्यत्वाभावाच्च ।" तपसा कल्मषं हित्वेति । अविद्यया च मृत्युं तीर्त्वा । ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः, कषायपक्तिः कर्मभ्यः" इत्यादिभिस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकदुरितनिवृत्त्यैवान्यथासिद्धेः प्रदर्शनात् । न च "विविदिषन्ति यज्ञेन" " सर्वं कर्माखिलं पार्थ !, ज्ञाने परिसमाप्यते " इत्यादिभिः कर्मजन्यताऽपि प्रतीयत इति वाच्यम् । सा हि नापूर्वद्वारा प्रतिबन्धकदुरितानुच्छेदेऽपूर्वसहस्रस्याप्यकिञ्चित्करत्वात् , तदुच्छेदेन तज्जनने तु प्रमाणान्तरावधृतकारणाभावेन प्रतिबन्धकाभावेनैवान्यथासिद्धेः । न चैवं यागाऽऽदेरप्यपूर्वेणान्यथासिद्धिः स्यात्, तस्य यागकारणताग्रहोत्तरकल्प्यत्वेनोपजीव्यापरिपन्थित्वात्; इह तु प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रकारणतायाः प्रागेवावधारणमिति भेदात् । अत एव मङ्गलकारीर्योः प्रतिबन्धकदुरितनिवृत्तिमात्रफलकत्वं, वृष्टिसमाप्ती तु स्वकारणादेवेति सिद्धान्तः * । किञ्च-कर्मकारणताग्रहानुपजीवनेन लौकिकान्वयव्यतिरेकावधृतमिथ्याज्ञाननिवर्तनमात्रसंभावितस्य मोक्षसाधनत्वस्य "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्, तरति शोकमात्मवित्, ब्रह्मविदाप्नोति परं, ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति," इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेन तत्त्वज्ञानादिष्टतया ग्रहणात् तदेव मोक्षसाधनम् । कर्माणि तु तत्रैवान्यथासिद्धानीति युक्तं, यथा च न तत्रापि व्यापारः तथोक्तमेव । अत एवार्थावबोधपर्यन्तताऽध्ययनविधेः, न तु तेन कत्वाद्यनुष्ठानेन स्वर्गाऽऽदिफलकत्वमिति संप्रदायः । न च तत्त्वज्ञानस्य कर्मणां निःश्रेयसप्रागभावव्याप्यप्रागभावप्रतियोगित्वरूपतदनुकूलताबोधने एव तात्पर्यात् श्रुत्यन्तरसिद्धेऽन्यथासिद्धत्वे तदन्यथासिद्धताया बोधयितुमशक्यत्वात्तावतैव श्रुतेः कर्मप्रवृत्तिपरतानिर्वाहादित्याहुः ।

अत्र वयं वदामः-मोक्षस्तावत् पुरुषार्थत्वाद् दुःखसाधनकर्मध्वंस एव,न तु दुःखध्वंसः,उत्पन्नानुत्पन्नविवेकिना तद्ध्वंसस्याऽसाध्यत्वात् । तत्र च ज्ञानकर्मणोर्वैजात्येन मुमुक्षुविहितत्वादेव हेतुत्वं तुल्यमेवेत्येकतरपक्षपातो न श्रेयान् । ज्ञाने केवलज्ञानत्वरूपस्य, कर्मणि च यथाख्यातचारित्रत्वरूपस्य वैजात्यस्य कल्पनायाः क्षायिकस्थले क्षायोपशमिकस्थले च तदनुकूलतामात्रस्य द्वयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वात् । एतेन कारणोच्छेदक्रमेण कार्योच्छेदाद् मुक्तिरिति ज्ञानकर्मसहकारित्वं मिथ्याज्ञानोन्मूलने कर्मविनाशकृतस्यैव तस्य दिग्मोहाऽऽदौ हेतुत्वावधारणाऽऽदि निरस्तम्; मिथ्याज्ञाननाशेऽपि विरोधिगुणमात्रस्य हेतुत्वात् , मिथ्याज्ञानप्रभावासहवृत्तिमिथ्याज्ञानध्वंसे च हेतुताया लोकप्रमाणाविषयत्वेन ज्ञानकर्मणोर्द्वयोरेव कल्पनौचित्यात् । वस्तुत आर्थसमाजसिद्धत्वात् तद्रूपावच्छिन्नेऽपि न हेतुता, किं तु सामान्यावच्छिन्नध्वंसत्वे कर्मत्वावच्छिन्नध्वंसे, तत्समं यावत् कर्मक्षयसमानयनक्षायिकसुखत्वावच्छिन्ने वेति न कस्यापि न्यूनत्वम् , पराजिमनद्वारस्थान एव फलाभिषेकात् । एकपुरस्कारेणान्यनिराकरणवचनं च तत्स्तुत्यर्थवाद एवेति न कर्मकारणताबोधकवचनेऽनुकूलत्वमात्रमर्थः । कारणता शक्तपदस्यानुकूलत्वम, लक्षणायां गौरवात् । अन्यथासिद्धिचतुष्टयराहित्यगर्भत्वेन तत्र लाघवमिति दृष्टदाने च विधिप्रत्ययमात्रार्थोऽपीष्टानुकूलत्वमात्रमेव स्यादिति यागाऽऽदेरप्यपूर्वेणान्यथासिद्धिः कर्मणाम्, न तत्त्वज्ञाने । न च तद्द्वारा मुक्तौ हेतुत्वमित्युक्तम् । तदपि न युक्तम् । प्रतिबन्धकत्वस्य विशिष्य विश्रामेण तदभावकार्यमात्रेऽनुगतहेतुताया अयोगात्, प्रतिबन्धकविशेषनिवृत्तिहेतुतायाश्च कर्मकारणताग्रहोत्तरकल्पनीयत्वेन तदन्यथासिद्ध्यनापादकत्वात् । किं च-प्रतिबन्धकनिवृत्त्याऽन्यथासिद्धत्वेन कर्मणोऽहेतुत्वोक्तौ तत्त्वज्ञानस्य सुतरां तथात्वं स्यात् । न हि उत्पन्नकेवलज्ञाना अपि भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयं प्रतिबन्धकमनिवर्तयित्वा सद्य एव मुक्तिमासादयन्तीति मुक्तिप्रतिबन्धककर्मनिवर्तकत्वेन तत्त्वज्ञानस्य कुतोऽनान्यथासिद्धिः?। अथ कर्मणो भोगनाश्यत्वेन ज्ञानस्य तन्नाशकत्वाद् नान्यथासिद्धिः. न हि भोगस्तत्त्वज्ञानव्यापारः,तथाऽश्रवणात् , तेन विनाऽपि कर्मण एव तदुपपत्तेश्च । न च वासुदेवाऽऽदीनां कायव्यूहश्रवणात् तत्त्वज्ञानेन कायव्यूहमुत्पाद्य भोगद्वारा कर्मक्षयमित्यपि साम्प्रतम्,तपःप्रभावादेव तत्त्वज्ञानस्योत्पादेऽपि कायव्यूहसंभवाद् भोगजननार्थं कर्मभिरवश्यं तत्कार्यनिष्पादनमिति न तत्र तत्त्वज्ञानोपयोगः, यौगपद्यं च कायानां तज्जनककर्मस्वभावात्तपःप्रभावाद्वेति । न च "तावदेवास्य चिरं यावन्न विमोक्षोऽथ संपत्स्यते कैवल्येन " इति श्रुतौ तावदेवास्योत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य चिरं विलम्बो यावन्नोत्पन्नकर्मणो विमोक्षः । 'अथ संपत्स्यते कैवल्येन' भोगेन क्षपयित्वेति शेष इति व्याख्यानाद् भोगस्य तत्त्वज्ञानव्यापारत्वं युक्तमेव । न च शेषदाने मानाभावः, सत्यपि ज्ञाने कर्मावस्थाने फलसामान्यभोगस्यैव नाशकत्वेनाऽऽक्षेपादिति वाच्यम्, तत्त्वज्ञाने सति तत्त्वज्ञानदशायां न मोक्षः, किं तु तदपि प्रकृत (?) इत्यर्थेनाप्युपपत्तेरिति चेत् । नैवम् । कर्मणो भोगनाश्यत्वेऽपि ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वम्, भोगस्य तत्त्वज्ञानाव्यापारत्वात् । न च तत्त्वज्ञा-

* नवीनानाम् ।

र्मं विनाऽपि भोगेन कर्मनाशे व्यभिचारः, कर्मप्रागभावासहवृत्तिकर्मनाशे युगपद्भोगे चाव्यभिचाराभावादिति मविगृहीतोक्तत्वात् ।

अस्मत्सिद्धान्तेऽपि नागार्थिकृतौ नाश्यनिश्चयविधयैव केवलज्ञानस्य कर्महेतुत्वमनपायम् । तदुक्तं निर्युक्तौ समुद्घाताधिकारेण-" ऊणवेयणिज्जं अइबहुयं आउयं च थोवगं नाउं ति जिणा समुग्घायं । " अत्र क्त्वाप्रत्ययबलादेव नियतपूर्वापर्यैकार्थाभ्याम्यसिद्धत्वस्य प्रतीतेः कारकत्वलाभे अन्यद्भ्याभोगवीर्यस्येव केवलिनः कर्मक्षयहेतुत्वादाभोगाभिमवीर्यत्वेनैव वीर्याभिमताऽऽभोगत्वेनापि हेतुत्वादुक्तार्थसिद्धिः । यत्पुनः " दोषपक्तिर्मतिज्ञानात्, नाकिञ्चिदपि केवलात् । तमःप्रचयनिःशेष-विशुद्धिफलमेव तत् " ॥ १ ॥ इत्यनेन केवलज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वमुच्यते, न दोषपक्तिरूपकार्यापेक्षया, न तु पक्वानां भवोपग्राहिणां क्षपणरूपकार्यमप्याश्रित्य, तद्व्यापारस्य सदा जागरूकत्वात् । यदि च स्वरूपशुद्धिग्राहकनयेन १ केवलज्ञानस्य निर्व्यापारत्वं स्वीक्रियते, तदा यथाख्यातचारित्राऽऽत्मकक्रियाया अपि तथात्वमेवाभ्युपगन्तुं युक्तम्; समुद्घाताऽऽदिना कर्मक्षपणव्यापारस्य योगविशेषेणैव वक्तुं शक्यत्वात् । मुक्तिबन्धहेतुविवेकेन फलशुद्धिग्राहकनयेन तत्र चारित्रहेतुत्वाभ्युपगम्यमानो ज्ञानहेतुतामपि न व्याहन्ति । २ । अनन्तकारणग्राहकनयेन तत्र चारित्रमेव हेतुरिति चेत् । न । उत्पत्त्यानन्तर्यस्य यथाऽऽख्यातचारित्रापेक्षया केवलज्ञान एव संभवात्, व्यापारानन्तर्यस्य च कल्प्यमानस्योभयत्रापि विनिगमा... । ३ । एतेनाऽऽक्षेपककारणग्राहकनयेन-" जम्हा दंसणनाणा " इत्यादिवचनाच्चारित्रमेव मुक्तिहेतुरित्यपि निरस्तम् । आक्षेपकत्वं हि स्वेतरसकलकारणसमवधाननियतसमवधानकत्वं, तच्च यथाख्यात इव केवलज्ञानेऽपीत्यविशेषात् क्षयोपशमदशायामप्यपुनर्बन्धकाऽऽदिचारित्रव्यावृत्तजातिविशेषवच्चारित्रस्येव विषयप्रतिभासाऽऽत्मपरिणामज्ञानानन्तर्जातिमत्तत्त्वज्ञानस्याऽऽक्षेपकत्वाविशेषात् । ४ । मुख्यैकशेषनयेन चारित्रमेवोत्कृष्यत इति चेत् । न । तत्र मुख्यत्वस्यैव विनिगन्तुमशक्यत्वात् । ५ । पुमर्थग्राहकनयेन क्रियायामेव मुख्यत्वं विनिगम्यत इति चेत् । न । परमज्ञानग्राहकनयेन ज्ञान एव तद्विनिगमनायाः सुवचत्वात् । ६ । " जं सम्मं ति पासहा, तं मोणं ति पासहा " इत्यादिवचनात् कारकसम्यक्त्वशरीरनिर्वाहकत्वनयेन चारित्रमेवोत्कृष्यत इति चेत् । न । " जं अन्नाणी कम्मं खवेइ " इत्यादिवचनात् । सम्यक्क्रियाशरीरनिर्वाहकत्वनयेन चारित्रमेवोत्कृष्यत इति चेत् । न । " जं अन्नाणी कम्मं खवेइ " इत्यादिवचनात् सम्यक् क्रियाशरीरनिर्वाहकत्वनयेन ज्ञानेऽप्युत्कर्षस्य वक्तुं शक्यत्वात् । ७ । एतेन ' णिच्छयणयस्स चरण-स्सुवघाए णाणदंसणवहो वि । " इत्यादिवचनात् ज्ञानाशुद्ध्यापनाशप्रतियोगित्वग्राहकशुद्धनयेन ज्ञानातिशयस्याप्युत्कर्षत्वात् । ८ । व्यापारप्राधान्यग्राहकक्रियानयेन चारित्रोत्कर्ष इत्युक्तावपि दर्शनप्रधानग्राहकज्ञाननयेन ज्ञानोत्कर्षः सुवच एव । ९ । इत्यन्तौ चात्र पक्षावन्यौ । तयोरन्यतरस्याऽकिञ्चित्करत्वेन संयोगपक्ष एव श्रेयान् । न च कुर्वद्रूपत्वनये शैलेश्यन्त्यक्षणभावे चारित्रमुक्तम्, एवं मुक्तिरूपफलोपधायकत्वेन विशिष्यत इत्यपि शङ्कनीयम्, कुर्वद्रूपक्षणस्य सहकारिसमवधाननियतत्वेन तत्क्षणीयकज्ञानस्यापि मुक्तिहेतुत्वात् । मुक्ताद पुञ्जोत्पत्तिपक्षे बीजपादःपवनाऽऽदीनामेकत्रोपादानत्वेन, अन्यत्र च निमित्तत्वेन हेतुत्वमिति चारित्रक्षणस्य मुक्त्युपादानत्वेन हेतुत्वाद्विशेष इत्यप्यसाम्प्रतम्, ज्ञानाऽऽदिसंवलितमुक्तिक्षणे संवलितक्षणस्यैव हेतुत्वात् । तत्त्वाऽन्तद्व्यावृत्त्या, शक्तिविशेषाऽऽदिना वैरूप्यमप्येतत् । कथं तर्हि-" सव्वुज्जुसुत्ताणं पुण, निव्वाणं संजमो चेव । " इति निर्युक्तिवचनं श्रद्धानम्, तेषां कुर्वद्रूपक्षणवादित्वात्, तत्र चैकान्तस्यानुपपन्नमेव निरस्तत्वादिति शङ्कनीयम्; एकैकस्य शतभेदस्येनाक्षेपककारणस्वरूपस्थूलापेक्षयैव तदेकान्ताभिधानोपपत्तेः । अत एव शैलेश्यन्त्यक्षणजाविधर्महेतुत्वमिति विशुद्धैवंभूताऽभिप्रायेणैवास्माभिस्तत्र तत्र समर्थितम् । ये तु मिथ्यादर्शा मिथ्याज्ञानोन्मूलनद्वारा तत्त्वज्ञानमेव मुक्तिहेतुरिति मन्यन्ते, ते मिथ्याज्ञानोन्मूलनेऽपि तत्त्वज्ञानः प्रणिधानरूपायाः क्रियाया हेतुत्वं कथं न पश्यन्ति ? । मिथ्याज्ञानवासनोन्मूलनस्वकर्मनिरपेक्षं तत्त्वज्ञानं हेतुरिति चेत्तर्हि अदृष्टपरिकल्पनमेतत् । मिथ्याज्ञानवासनायाः स्मृत्येकनाश्यत्वात् तत्त्वज्ञानस्य तन्नाशकताया लोकेऽदृष्टत्वात्, अदृष्टकल्पने चाऽऽगमानुसारेणाज्ञानवत्कर्मणोऽपि नाशकत्वद्वारा मुक्तिहेतुत्वकल्पनमेव न्याय्यः । तथा चाऽभ्यधात् सूरोऽपि वासिष्ठे-" तन्दुलस्य यथा चर्म, यथा ताम्रस्य कालिका । नश्यति क्रियया पुत्र !, पुरुषस्य तथा मलम् " ॥ १ ॥ इत्यादि । किं च-विहितत्वेन पुण्यपापक्षयान्यतरहेतुत्वव्याप्तं तत्त्वज्ञानस्य कर्मतुल्यत्वम् । न च क्रियायाः साक्षादेव व्यभिचारः, मुमुक्षुविहितत्वेन व्याप्तौ व्यभिचाराभावादिति चित्तशुद्ध्यनुबन्धद्वारा ज्ञानकर्मणोर्मुक्तौ तुल्यवदेव हेतुतया समुच्चयपक्ष एवानाविल इति सिद्धम् । (नयो०)

ज्ञानमेव शिवस्याध्वा, मिथ्यासंस्कारनाशनात् ।
क्रियामात्रं त्वभव्याना-मपि नो दुर्लभं भवेत् ॥ १३२ ॥
तन्दुलस्य यथा चर्म, यथा ताम्रस्य कालिका ।
नश्यति क्रियया पुत्र !, पुरुषस्य तथा मलम् ॥ १३३ ॥
बर्बरश्च * तपस्वी च, शूरश्चाप्यकृतव्रणः ।
मद्यपा स्त्री सती चेति, राजन् ! न श्रद्दधाम्यहम् ॥ १३४ ॥
ज्ञानवान् शीलहीनश्च, त्यागवान् धनसंग्रही ।
गुणवान् भाग्यहीनश्च, राजन् ! न श्रद्दधाम्यहम् ॥ १३५ ॥
इति युक्तिवशात् प्राहु-रुभयोस्तुल्यकक्षताम् ।
अन्येऽप्याहानं देवाऽऽद्याः, क्रियायुग् ज्ञानमिष्टकृत् ॥ १३६ ॥
ज्ञानं तुर्ये गुणस्थाने, क्षायोपशमिकं भवेत् ।
अपेक्षते फले षष्ठ-गुणस्थानजसंयमम् ॥ १३७ ॥
प्रायः संभवतः सर्व-गतिषु ज्ञानदर्शने ।
तत्प्रमादो न कर्तव्यो, ज्ञाने चारित्रवर्जिते ॥ १३८ ॥
क्षायिकं केवलज्ञान-मपि मुक्तिं ददाति न ।
तावद्यावन्न चेद् याव-च्छैलेश्यां शुद्धसंयमः ॥ १३९ ॥
व्यवहारे तपोज्ञान-संयमा मुक्तिहेतवः ।
एकः शब्दर्जुसूत्रेषु, संयमो मोक्षकारणम् ॥ १४० ॥
संग्रहस्तु नयः प्राऽऽह, जीवो मुक्तः सदा शिवः ।

* बर्बरोऽपि पाठान्तरम् ।

अनवाप्तिप्रमात् कथञ्च-स्वर्णन्यायात् क्रिया पुनः॥१४१॥
अनन्तमर्जितं ज्ञानं, त्यक्ताश्चानन्तविभ्रमाः।
न चिन्मं कलयाऽप्यात्मा,हीनोऽनूदधिकोऽपि वा ॥१४२॥
यावन्तोऽपि नयाः सर्वे, स्युर्जावे कृतविश्रमाः।
चारित्रगुणलीनः स्या-दिति सर्वनयाऽऽश्रितः ॥१४३॥
सुनिपुणमतिगम्यं मन्दधीदुष्प्रवेशं,
प्रवचनवचनं न क्वाऽपि हीनं नयौघैः।
गुरुचरणकृपातो योजयंस्तान् पदे यः,
परिणमयति शिष्यांस्तं वृणीते यशःश्रीः ॥ १४४ ॥
गच्छे श्रीविजयाऽऽदिदेवसुगुरोः स्वच्छे गुणानां गणैः,
प्रौढिं प्रौढिमधाम्नि जीतविजयप्राज्ञाः परामैयरुः।
तस्मातीर्थ्यभृतां नयाऽऽदिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशुः,
तत्त्वं किञ्चिदिदं'यशोविजय'इत्याख्याभृदाख्यातवान् १४५
नयो०।

नाणं किरियारहियं, किरियामित्तं च दो वि एगंता।
असमत्था दाएउं, जम्ममरणदुक्ख मा जाइ ॥ ६८ ॥

ज्ञायते यथावद् जीवाजीवाऽऽदितत्त्वमनेनेति ज्ञानम्,क्रियत इति क्रिया यथोक्तानुष्ठानम्, तया रहितं, जन्ममरणदुःखेभ्यो मा भैषीरिति दर्शयितुम्,दातुं वाऽसमर्थाम्। न हि ज्ञानमात्रेणैव पुरुषो भयेभ्यो मुच्यते, क्रियारहितत्वात्, दग्धप्रदीपनकप्रपलायमानपङ्गुवत्। क्रियामात्रं वा ज्ञानरहितं न भयेभ्यो मा भैषीरिति दर्शयितुं दातुं वा समर्थम्। न हि क्रियामात्रात् पुरुषो भयेभ्यो मुच्यते, ज्ञानविकलत्वात्, प्रदीपनकभयप्रपलायमानान्धवत्। तथा चाऽऽगमः-"हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया। पासंतो पंगुओ दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ" ॥३६॥ (महा०) ('मोक्ख' शब्दे चैतद् विवेचयिष्यते) उभयसद्भावस्तु तेभ्यो मा भैषीरिति दर्शयितुं समर्थः। तथा हि-सम्यग्ज्ञानक्रियावान् भयेभ्यो मुच्यते, उभयसंयोगत्वात्, प्रदीपनकभयान्धपङ्ग्वाऽऽरूढपङ्गुवत्। (सम्म० ३ काण्ड)

उक्तं च-

संजोगसिद्धीएँ उ गोयमा ! फलं,
न हु एगचक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा,
ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥ ३७ ॥
नाणं पयासयं सोहउ, तवो संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हं पि समाजोगे, गोयम ! मोक्खो न अन्नहा ॥३८॥
महा० १ अ०।

(संजोगसिद्धीएत्यादि) तस्मात् सम्यग्ज्ञानाऽऽश्रितनयसमूहान्मुक्तिः,नयसमूहविषयं च सम्यग्ज्ञानं श्रद्धानं च, तद्विषयं सम्यग्दर्शनं,तत्पूर्वं चाशेषपापक्रियानिवृत्तिलक्षणं चारित्रं, प्रधानोपसर्जनभावेन, मुख्यवृत्त्या वा तन्नितयदर्शकं च वाक्यमागमो, नान्यः, एकान्तप्रतिपादकस्यासदर्थत्वेन विसंवादकतया तस्य प्रामाण्यानुपपत्तेः। जिनवचनस्य तु तद्विपर्ययेण दृष्टत्वाद्दृष्टार्थेऽपि प्रामाण्यसंगतेः। सम्म० २ काण्ड। महा०।

(ज्ञानं शीलं श्रुतं वा श्रेय इत्यन्ययूथिकैः सह 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४५८ पृष्ठे चिन्तितम्) आह च-ज्ञानक्रिययोः प्रत्येकं मुक्तेरप्रापिका शक्तिरसती कथं समुदायेऽपि भवति ?। न हि यदेषु प्रत्येकं नास्ति तत्तेषां समुदायेऽपि भवति, यथा प्रत्येकमसत्समुदितास्वपि सिकतासु तैलं, प्रत्येकमसती ज्ञानक्रिययोर्मुक्तेरप्रापिका शक्तिः। तदुक्तम्-"पत्तेयमभावाओ, निव्वाणं समुदियासु वि ण जुत्तं। णाणकिरियासु वोत्तुं, सिकयासमुदायतिल्लं व ॥ १ ॥" उच्यते-स्यादेवं यदि सर्वथा प्रत्येकं तयोर्मुक्त्यनुपकारितोच्येत, यदा तु तयोः प्रत्येकं देशोपकारिका, समुदाये तु संपूर्णा हेतुतोच्यते, तदा न कश्चिद्दोषः। आह च-"वीसुं ण सव्वह च्चिय, सिकयातेल्लं व साहणाभावो। देसोवकारिया जा, सा समवायम्मि संपुण्णा ॥ १ ॥" अतः स्थितमेतद् ज्ञानक्रिये समुदिते एव मुक्तिकारणं, न तु प्रत्येकमिति तत्त्वम्।

तथा च पूज्याः-

णाणाहीणं सव्वं, णाणणओ भणइ किं व किरियाए ?।
किरियाए करणनओ,तदुभयगाहो य सम्मत्तं।३५९१"(विशे०)
"क्वचित्सौत्र्या शैल्या, क्वचिदधिकृतप्राकृतभुवा,
क्वचिच्चार्थापत्त्या, क्वचिदपि समारोपविधिना।
क्वचिच्चाध्याहारात्, क्वचिदविकलप्राक्क्रमबला-
दियं व्याख्या ज्ञेया, क्वचिदपि तथाऽऽम्नायवशतः ॥ १ ॥"
उत्त० १ अ०। दर्श०। आ० क०। अष्ट०।

आचार्यः प्राऽऽह-

सव्वेसिं पि नयाणं, बहुविहवत्तव्वयं निसामित्ता।
तं सव्वनयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥

सर्वेषामपि मूलनयानाम्, अपिशब्दात्तद्भेदानामपि नयानां द्रव्यास्तिकायाऽऽदीनाम्-बहुविधवक्तव्यतां सामान्यमेव, विशेषा एव,उभयमेव वा परस्परनिरपेक्षमित्यादिरूपाम्,अथवा-नामादिनयानां मध्ये को नयः कं साधुमिच्छतीत्यादिरूपां, निशम्य श्रुत्वा, तत्सर्वनयविशुद्धं सर्वनयसम्मतं वचनं,यच्चरणगुणस्थितश्चारित्रज्ञानस्थितः साधुर्यस्मात् सर्वेऽपि नया भावनिक्षेपमिच्छन्तीति। बृ० ६ उ०। तथा चाऽऽगमः-"दोहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अणाइयं अणवदग्गं दीहमद्धं वा चाउरंतसंसारकंतारं वीईवएज्जा। तं जहा-विज्जाए चेव, चरणे चेव।" स्था० २ ठा०। दश०। व्य०।

णाणकुसील-ज्ञानकुशील-पुं०। गुरुकज्ञानाऽऽवरणोदयेनाहर्निशं प्रभ्रंशयति कुत्सितशीले, महा० ३ अ०।

णाणग-नाणक-न०। मुद्रायां, कार्षापणे, पणे च। आ०क०।
"केनापि कस्यचित् प्राज्य-मूल्यनाणकसंभृतः।
न्यस्तो नवलकस्तेनो-पात्तास्ते बहुमूल्यकाः" ॥ १ ॥
आ० क०। स्वनामख्याते तीर्थभेदे, मोढेरे वायडे नाणके पल्ल्यां भेसुण्डके श्रीमहावीरः। ती० ४३ कल्प।

पण्यासजीतविजयगणिकृतप्रश्नः-यथा प्रत्यहं प्रह्लादनविहारे पञ्चशती वीसलप्रियाणां भोगः कथितोऽस्ति, तन्नाणकं किंनामकं कथ्यते ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-वीसलदेवाऽऽज्ञापालितं वीसलप्रियनामकं तत्कालीनं किञ्चिन्नाणकविशेषं संभाव्यते, तदधुना प्रसिद्धं नास्ति, परं षट्त्रिंशन्मूढकद्रम्मैर्वीसलप्रियनाणकमष्टशतविंशतिसहस्राधिकद्विपञ्चाशल्लक्षप्रमाणं कथितमस्तीति ॥ ४०४ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

णाणगुण-ज्ञानगुण-पुं० । जीवाऽऽदिके ज्ञाने तदविनाभाविनि पर्याये ज्ञानमाहात्म्ये, आव० ४ अ० ।

णाणच्चासायणा-ज्ञानात्याशातना-स्त्री० । ज्ञानस्य ज्ञानिनां वा हीलनायाम्, भ० ८ श० १ उ० ।

णाणजोग-ज्ञानयोग-पुं० । ज्ञानमेव योगः कौशलं ब्रह्मप्राप्त्युपायो वा । ब्रह्मज्ञानोपाये चित्तभेदे, वाच० । अष्ट० ।

णाणट्टया-ज्ञानार्थता-स्त्री० । ज्ञानमेवार्थो यस्य स ज्ञानार्थस्तद्भावस्तत्ता । ज्ञानार्थित्वे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

णाणड्ढ-ज्ञानाढ्य-त्रि० । बह्वागमे, जीवा० १६ अधि० ।

णाणड्ढि-ज्ञानर्द्धि-स्त्री० । "पभू णं भंते ! चोद्दसपुव्वी ।" तथा-"जं अन्नाणी कम्मं" इत्यादिरूपायामृद्धौ, दश० ३ अ० ।

णाणणय-ज्ञाननय-पुं० । ज्ञानमेव प्रधानमैहिकाऽऽमुष्मिकफलप्राप्तिकारणं युक्तियुक्तत्वादिति सिद्धान्तव्यवस्थिते नये, आव० ६ अ० । सम्म० ।

एतन्मतं यथा-

इह केचिज्ज्ञानादेव मोक्षमास्थिषत । तथाहि ते ब्रुवते-सम्यग्ज्ञानमेव फलसंपादनप्रत्यलं, न क्रिया, अन्यथा मिथ्याज्ञानादपि क्रियायां फलोत्पादप्रसङ्गात् ।

यदुक्तम्-

"विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता ।
मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात् ॥१२६॥" (नयो०)

तथा-

"श्रियः प्रसूते विपदो रुणद्धि, यशांसि दुग्धे मलिनं प्रमार्ष्टि ।
संस्कारशौचेन परं पुनीते, शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः ॥१॥"

रत्ना० ७ परि० ।

इह कश्चिद् ज्ञानमेव प्रधानमपवर्गबीजमिच्छति,-

यतः किल एवमागमः-

"जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुआहिँ वासकोडीहिं ।
तं नाणी तीहिँ तीं, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ १ ॥"

तथा-

"सूई जहा ससुत्ता, न नस्सई कयवरम्मि पडिआ वि ।
जीवो तहा ससुत्तो, न नस्सइ गओ वि संसारे ॥ २ ॥"

तथा-

"नाणं गिण्हइ नाणं, गुणेइ नाणेण कुणइ किच्चाइं ।
भवसंसारसमुद्दं, नाणी नाणट्ठिओ तरइ ॥ ३ ॥"

तस्माद् ज्ञानमेव प्रधानमपवर्गप्राप्तिकारणमतो ज्ञानिन एव कृतिकर्म कार्यम् । अथाऽनन्तरगाथायामेव द्रव्यभावसमायोगे श्रमण उक्तः । तस्य च कृतिकर्म कार्यमित्युक्तम् ।

" चरणं च भावो वर्तते " इत्युक्ते सत्याह-

काम चरणं भावो, तं पुण नाणसहिओ समाणेइ * ।
न य नाणं तु न भावो, तेन र नाणिं पणिवयामो ॥७१॥

काममनुमतमिदं यदुत चरणं चारित्रं भावो भावशब्दो भावलिङ्गोपलक्षणार्थः । तत्पुनर्ज्ञानसहितो ज्ञानयुक्तः समापयति निष्ठां नयति, यतः-इदमित्थमासेवनीयमिति ज्ञानादेवावगम्यते, तस्मात्तदेव प्रधानं, न च ज्ञानं तु न भावः, भाव एव भावलिङ्गान्तर्गतमिति भावना, तेन कारणेन ' र ' इति निपातः पूरणार्थः । ज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानी, तं ज्ञानिनं, प्रणमामः पूजयामः । इति गाथाऽर्थः ॥ ७१ ॥

यतश्च बाह्यकरणसहितस्याप्यज्ञानिनश्चरणभाव एवोक्तः-

तम्हा न बज्झकरणं, मज्झ पमाणं न यावि चारित्तं ।
नाणं मज्झ पमाणं, नाणे च त्तियं जओ तित्थं ॥७२॥

तस्मान्न बाह्यकरणं पिण्डविशुद्ध्यादिकं मम प्रमाणम्, न चापि चारित्रं व्रतलक्षणं, तज्ज्ञानाभावे तस्याप्यभावात् । अतो ज्ञानं मम प्रमाणं, सति तस्मिँश्चरणस्याऽपि भावात्, ज्ञाने च स्थितं यतस्तीर्थं, तस्याऽऽगमरूपत्वात् । इति गाथाऽर्थः ॥७२॥

किञ्च दर्शनं भावयिष्यते, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति वचनात् । तच्च दर्शनं द्विधा-अधिगमजम्, नैसर्गिकं च । इदमपि ज्ञानाऽऽयत्तोदयमेव वर्तते । तथा चाऽऽह-

नाऊण य सब्भावं, अहिगमसम्मं पि होइ जीवस्स ।
जाइस्सरणनिसग्गु-ग्गया वि न निरागमा दिट्ठी ॥७३॥

ज्ञात्वा च अवगम्य च सद्भावं सतां भावः सद्भावः, तं, सन्तो जीवाऽऽदयः किमधिगमाद् जीवाऽऽदिपदार्थपरिच्छेदलक्षणात्, सम्यक्त्वं श्रद्धानलक्षणम्, अधिगमसम्यक्त्वम्, इदमधिगमसम्यक्त्वमपि, अपिशब्दात् चारित्रमपि, भवति जीवस्य जायते आत्मन इत्यर्थः । नैसर्गिकमाश्रित्याऽऽह-जातिस्मरणात्सकाशान्निसर्गेण स्वभावेनोद्गता संभूता जातिस्मरणनिसर्गोद्गता, असावपि न निरागमा आगमरहिता, दृष्टिः, दर्शनं दृष्टिरिति, यतः स्वयंभूरमणमत्स्याऽऽदीनामपि जिनप्रतिमाऽऽद्याकारमत्स्यदर्शनाद् जातिमनुस्मृत्य भूतार्थालोकनपराणामेव नैसर्गिकं सम्यक्त्वमुपजायते, भूतार्थालोकनं च ज्ञानं, तस्मादिदमपि ज्ञानाऽऽयत्तोदयमिति कृत्वा ज्ञानस्य प्राधान्याद् ज्ञानिन एव कृतिकर्म कार्यमिति स्थितमयं गाथाऽर्थः ॥ ७३ ॥

इत्थं ज्ञानवादिनोक्ते सत्याहाऽऽचार्यः-

नाणं विसए नियमं, न नाणमित्तेण कज्जनिप्फत्ती ।
मग्गन्नू दिट्ठंतो, होइ सचिट्ठो अचिट्ठो अ ॥ ७४ ॥

ज्ञानं प्रकाशकं स्वविषये नियतं २ स्वविषयः पुनरस्य प्रकाशनमेव, यतश्चैवमतो न ज्ञानमात्रेण कार्यनिष्पत्तिः, मात्रशब्दः क्रियाप्रतिषेधवाचकः । अत्रार्थे मार्गज्ञदृष्टान्तो भवति, सचेष्टः सव्यापारः, अचेष्टश्च अविद्यमानचेष्टश्च । एतदुक्तं भवति-यथा कश्चित् पाटलिपुत्राऽऽदिमार्गज्ञो जिगमिषुश्चेष्टदेशप्राप्तिलक्षणं कार्यं गमनचेष्टोद्यत एव साधयति, न चेष्टाविकलः भूयसाऽपि कालेन तत्प्रभावादेवैवं ज्ञानी शिवमार्गमविपरीतमवगच्छन्नपि संयमक्रियोद्यत एव तत्प्राप्तिलक्षणं कार्यं साधयति, नानुद्यतो ज्ञानप्रभावादेव, तस्मादलं संयमरहितेन ज्ञानेन । इति गाथाद्वयार्थः ॥ ७४ ॥

प्रस्तुतार्थप्रतिपादकमेव दृष्टान्तान्तरमभिधित्सुराह-

जाणंतो वि य तरिउं, काइयजोगं न जुंजइ जो उ ।
सो वुज्झइ सोएणं, एवं नाणी चरणहीणो ॥

आउज्जनट्टकुसला, वि नट्टिआ तं जणं न तोसेइ ।
जोगं अजुंजमाणी, निंदं खिसं च सा लहइ ॥ ७५ ॥

आतोद्यानि मृदङ्गाऽऽदीनि, नृत्तं करचरणनयनाऽऽदिविशिष्टपरिस्पन्दविशेषलक्षणम्, आतोद्यैः करणभूतैः नृत्तमातोद्यनृत्तं, तस्मिन् कुशला निपुणा आतोद्यनृत्तकुशला, असावपि नर्तकी,

* " समापेः समाणः " । ८ । ४ । १४२ । समाप्नोतेः समाण इत्यादेशो वा । 'समाणइ । समावेइ' ।

अपिशब्दाद् रङ्गजनपरिवृताऽपि, तं जनं रङ्गजनं न तोषयति न हर्षं नयतीत्यर्थः । किंभूता सती ?–योगमयुञ्जती काया-ऽऽदिव्यापारमकुर्वती, ततश्च अपरितुष्टाद् रङ्गजनाद् न किञ्चिद् द्रव्यजातं लभत इति गम्यते । अपि तु निन्दां च खिंसां च सा लभते रङ्गजनादिति । तत्समक्षमेव या हीलना सा निन्दा, परोक्षं तु खिंसेति गाथाऽर्थः ॥ ७५ ॥

इत्थं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनां प्रदर्श-
यन्नाह–

इय लिंगनाणसहिओ, काइअजोगं न जुंजई जो उ ।
न लहइ स मुक्खसुक्खं,लहइ अ निंदं सपक्खाओ ॥७६॥

'इय' एवं लिङ्गज्ञानाभ्यां सहितो युक्तः लिङ्गज्ञानसहितः कायिकयोगं कायव्यापारं न युङ्क्ते न प्रवर्तयति, यस्तु न लभते न प्राप्नोति, स इत्थंभूतः, किम् ?, मोक्षसौख्यं सिद्धिसुखमित्यर्थः । लभते च निन्दां स्वपक्षात्, चशब्दात् खिंसांयैव । इह च नर्तकीतुल्यः साधुः, आतोद्यतुल्यं द्रव्यलिङ्गं, नृत्तज्ञानतुल्यं ज्ञानं, योगव्यापारतुल्यं चरणं, रङ्गपरितोषतुल्यः सङ्घपरितोषः, दामलाभतुल्यः सिद्धिसुखलाभः । शेषं सुगमम् । यत एवमतो ज्ञानचरणसहितस्यैव कृतिकर्म कार्यमिति गाथाभावार्थः ॥७६॥

चरणरहितं ज्ञानमकिञ्चित्करम्, अस्यार्थस्य
साधका बहवो दृष्टान्ताः सन्तीति प्रदर्श-
नाय पुनरपि दृष्टान्तमाह–

जाणंतो वि अ तरिउं, काइअजोगं न जुंजई नइए ।
सो वुज्झइ सोएणं, एवं नाणी चरणहीणो ॥ ७७ ॥

जानन्नपि च तरीतुं यः काययोगं कायव्यापारं न युङ्क्ते नद्यां स पुमान् उह्यते ह्रियते श्रोतसा पयःप्रवाहेन, एवं ज्ञानी चरणहीनः संसारनद्यां प्रमादश्रोतसोह्यत इत्युपनयः । तस्माच्चरणविकलस्य ज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वात् उभययुक्तस्यैव कृतिकर्म कार्यमिति गाथाऽभिप्रायः ॥ ७७ ॥

एवमसहायज्ञानपक्षे निराकृते,ज्ञानचरणोभयपक्षे च सम-
र्थिते सत्यपरस्त्वाह–

गुणअहिए वंदणयं, छउमत्थ गुणागुणे अजाणंतो ।
वंदिज्ज व गुणहीणं, गुणाहिअं वावि वंदावे ॥ ७८ ॥

इहोत्सर्गतो गुणाधिके साधौ वन्दनं, कर्तव्यमिति वाक्यशेषः । अयं चार्थः-श्रमणं वन्देतेत्यादिग्रन्थसिद्धः,गुणहीने तु प्रतिषेधः, पञ्चानां कृतिकर्मेत्यादिग्रन्थात् । इदं च गुणाधिकत्वं गुणहीनत्वं च तत्त्वतो दुर्विज्ञेयमतः छद्मस्थस्तत्त्वतो गुणागुणानात्मान्तरव-र्तिनोऽजानानोऽनवगच्छन् किं कुर्यात्, वन्देत वा गुणहीनं किञ्चित् गुणाधिकं वाऽपि वन्दापयेत्, उभयथाऽपि च दोषः-एकत्र गुणाननुज्ञाप्रत्ययः, अन्यत्र तु विनयत्यागप्रत्ययः, तस्मात्तूष्णींभाव एव श्रेयान्,अलं वन्दनेन । इति गाथाऽभिप्रायः ॥७८॥

इत्थं चोदकेनोक्ते सति व्यवहारनयमतमधिकृत्य गुणाधिक-
त्वपरिज्ञानकारणानि प्रतिपादयन्नाहाऽऽचार्यः–

आलएणं विहारेणं, ठाणाचंकमणेण य ।
सक्का सुविहिओ नाउं, भासावेणइएण य ॥ ७९ ॥

आलयो वसतिः सुप्रमार्जिताऽऽदिलक्षणा । अथवा–स्त्रीपशुपण्डकविवर्जित इति । तेनाऽऽलयेन, नाऽगुणवत एवं वसत्यालयो भवति । विहारो मासकल्पाऽऽदिः, तेन विहारेण, स्थानमूर्ध्व-स्थानं, चङ्क्रमणं गमनं,स्थानं च चङ्क्रमणं चेत्येकवद्भावः । तेन चाविरूढदेशकायोत्सर्गकरणेन युगमात्रावनिप्रलोकनपुरस्सराऽद्रुतगमनेन चेत्यर्थः । शक्यः सुविहितो ज्ञातुम्, भाषा-वैनयिकेन च–विनय एव वैनयिकम्, समालोच्य भाषणेन आचार्याऽऽदिविनयकरणेन चेति भावना । नैतान्येवंभूतानि भवन्त्य-ऽसुविहितानां भवन्तीति गाथाऽर्थः ॥ ७९ ॥

इत्थमभिहिते सत्याह चोदकः–

आलएणं विहारेणं, ठाणाचंकमणेण य ।
न सक्का सुविहिओ नाउं, भासावेणइएण य ॥ ८० ॥

आलयेन विहारेण स्थानचङ्क्रमणेन च न शक्यः सुविहितो ज्ञातुं, भाषावैनयिकेन चोदायिनृपमारकमायुरकोद्वस्त्राऽऽदिभिर्व्यभिचारात् । तथा च प्रतीतमिदम्-असंयता अपि हीनसत्त्वाः लोभ्यादिनिमित्तं संयतवच्चेष्टन्ते, संयता अपि च कारणतोऽसंयतवदिति गाथाऽर्थः ॥ ८० ॥

किञ्च–

भरहो पसन्नचंदो, सब्भिंतरबाहिरं उदाहरणं ।
दोसुप्पत्तिगुणकरं, न तेसि बज्झं भवे करणं ॥ ८१ ॥

भरतः प्रसन्नचन्द्रः साभ्यन्तरबाह्यमुदाहरणम्-अभ्यन्तरं भरतः, यतस्तस्य बाह्यकरणरहितस्यापि विभूषितस्यैवाऽऽदर्शकगृहप्रविष्टस्य विशिष्टभावनापरस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् । बाह्यम्-प्रसन्नचन्द्रः । ('पसन्नचंद' शब्दे प्रसन्नचन्द्रकथाविस्तरः) यतस्तस्योत्कृष्टबाह्यकरणवतोऽप्यन्तःकरणविकलस्याधःसप्तमनरकप्रायोग्यकर्मबन्धो बभूव । तदेवं दोषोत्पत्तिगुणकरं न तयोर्भरतप्रसन्नचन्द्रयोः । (बज्झं भवे करणं ति) छान्दसत्वादभूत् करणं दोषोत्पत्तिकारकं भरतस्य नाभूद्दोषजनं, बाह्यकरणं गुणकारकं प्रसन्नचन्द्रस्य नाभूच्छोभनमपीति । तस्मादान्तरमेव करणं प्रधानम्, न च तदालयादिनाऽवगन्तुं शक्यते, गुणाधिकं च वन्दनमुक्तमिति कृत्वा भाव एव श्रेयानिति स्थितम् । इत्ययं गाथाऽभिप्रायः ॥ ८१ ॥

इत्थं तीर्थाङ्गभूतव्यवहारनयनिरपेक्षं चोदकमवगम्याऽन्येषां पारलौकिकापायप्रदर्शनायाऽऽहाऽऽचार्यः—

पत्तेअबुद्धकरणे, चरणं नासंति जिणवरिंदाणं ।
आहच्चभावकहणे, पंचहिँ ठाणेहिँ पासत्था ॥ ८२ ॥

प्रत्येकबुद्धाः पूर्वभवाभ्यस्तोभयकरणा भरताऽऽदयः,तेषां करणं, तस्मिन्नान्तर एव फलसाधके सति भवन्मतपक्षं नाशयन्ति जिनवरेन्द्राणां सर्वाबन्धभूतम्, आत्मनः,अन्येषां च । पाठान्तरं वा-"बोहिं नासेंति जिणवरिंदाणं ।" कथम् ?, "आहच्चभावकहणे त्ति" कादाचित्कभावकथने बाह्यकरणरहितैरेव भरताऽऽदिभिः केवलमुत्पादितमित्यादिलक्षणे, कथं नाशयन्ति ?, पञ्चभिः स्थानैः प्राणातिपाताऽऽदिभिः पारम्पर्येण करणभूतैः, पार्श्वस्था उक्तलक्षणाः । इति गाथाऽर्थः ॥ ८२ ॥

यतश्च–

सम्मग्गदेसणाए, चरणं नासंति जिणवरिंदाणं ।
वावन्नदंसणा खलु, न हु लब्भा तारिसा दट्ठुं ॥८३॥

सन्मार्गदेशनयाऽनयाऽनन्तराभिहितं चरणं नाशयन्ति जिनवरेन्द्राणां सर्वाबन्धभूतमात्मनोऽन्येषां वा; व्यापन्नदर्शनाः खलु निश्च-

णाण

...ा निश्चयतः ' खलु ' इत्ययं शब्दार्थो निपातः । तस्य व्यवहितः संबन्धः । समुपदिशत् दर्शयिष्यामः । (न हु सक्का तारिसा वट्ठुं ति) नैव शक्यन्ते तादृशा द्रष्टुमपि, किंपुनः श्रोतुमथवा प्रतिलाभयितुमिति गाथार्थः ॥७३॥ आव० ३ अ० । ति० । ('दंसण'शब्दे दर्शनप्राधान्यविचारः)

तत्र ज्ञाननयदर्शनम्–इदं ज्ञानमेवैहिकाऽऽमुष्मिकफलप्राप्तिकारणं प्रधानं, युक्तियुक्तत्वात्, तथा चाऽऽह निर्युक्तिकारः—

नायम्मि गिरिहयव्वे, अगिरिहयव्वम्मि चेव अत्थम्मि ।

जइयव्वमेव इइ जो, उवएसो सो नओ नाम ॥१५९२॥

' नायम्मि ' ज्ञाते सम्यक्परिच्छिन्ने ग्रहीतव्ये उपादेये (अगिरिहयव्वम्मि त्ति) अग्रहीतव्ये अनुपादेये, हेय इति भावः । चशब्दः खलूभयोर्ग्रहीतव्याग्रहीतव्ययोर्ज्ञातत्वानुकर्षणार्थः, उपेक्षणीयस्तुसमुच्चयार्थो वा । एवकारस्त्ववधारणार्थः । तस्य चैवं व्यवहितः प्रयोगो द्रष्टव्यः । ज्ञात एव ग्रहीतव्ये,तथाऽग्रहीतव्ये, उपेक्षणीये च ज्ञात एव नान्यथा अर्थे ऐहिकाऽऽमुष्मिके । तत्रैहिको ग्रहीतव्यः स्रक्चन्दनाऽऽदिः, अग्रहीतव्यो विषशस्त्रकण्टकाऽऽदिः, उपेक्षणीयस्तृणाऽऽदिः । आमुष्मिको ग्रहीतव्यः सम्यग्दर्शनाऽऽदिः, अग्रहीतव्यो मिथ्यात्वाऽऽदिः, उपेक्षणीयो विषयाऽऽदिः,तस्मिन्नर्थे यतितव्यमेव अनुस्वारलोपाद् यतितव्यमेवं क्रमेण ऐहिकाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना सत्त्वेन प्रवृत्त्यादिलक्षणो यत्नः कार्य इत्यर्थः । इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यम्–सम्यग्ज्ञाते प्रवर्त्तमानस्य फलाविसंवाददर्शनात् ।

तथा चोक्तमन्यैरपि–

" विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता ।

मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य,फलासंवाददर्शनात् " ॥१२०॥(नयो०)

तथाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिनाऽपि ज्ञानादेव यतितव्यम । (३५९२) आ० म० १ अ० २ खण्ड । इह ज्ञाननयो ज्ञानप्राधान्यख्यापनार्थं प्रतिपादयति–नन्वैहिकाऽऽमुष्मिकफलार्थिना तावत् सम्यग् विज्ञाते पदार्थे प्रवर्त्तितव्यम्, अन्यथाप्रवृत्तौ फलविसंवाददर्शनात् । तथा चान्यैरप्युक्तम्–" विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता । मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात् ॥ २२१ ॥ (नयो०) तथा चाऽऽगमेऽप्युक्तम्–" पढमं नाणं तओ दया " इत्यादि । " जं अन्नाणी कम्मं खवेइ " इत्यादि । तथाऽपरमप्युक्तम्–

" पावाओ विणिवत्ती, पवत्तणा तह य कुसलपक्खम्मि ।

विणयस्स य पडिवत्ती, तिन्नि वि नाणे समप्पंति ॥ १ ॥ "

इतश्च ज्ञानस्यैव प्राधान्यम्, यतस्तीर्थकरगणधरैरगीतार्थानां केवलानां विहारोऽपि निषिद्धः । तथा च तद्वचनम्–

" गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थमीसओ भणिओ ।

एत्तो तइयविहारो, नाणुन्नाओ जिणवरेहिं ॥ १ ॥ "

न यस्मादन्धेनान्धः समाकृष्यमाणः सम्यक् पन्थानं प्रतिपद्यत इति भावः । एवं तावत् क्षायोपशमिकं ज्ञानमधिकृत्योक्तम्, क्षायिकमप्यङ्गीकृत्य विशिष्टफलसाधकत्वं तस्यैव ज्ञेयम्, यस्मादर्हतोऽपि भवाम्भोधेः तटस्थस्य दीक्षाप्रतिपन्नस्योत्कृष्टतपश्चरणवतोऽपि न तावदपवर्गप्राप्तिः संजायते, यावज्जीवाजीवाऽऽदिवस्तुस्तोमसाक्षात्करणदक्षं केवलज्ञानं नोत्पन्नम् । तस्माद् ज्ञानमेव पुरुषार्थसिद्धेर्निबन्धनम् । प्रयोगश्चात्र–यद् येन विना न भवति तत्तन्निबन्धनमेव, यथा बीजाऽऽद्यविनाभावी इ–

त्यङ्कुरः, ज्ञानाविनाभाविनी च सकलपुरुषार्थसिद्धिरिति । ततश्चायं नयश्चतुर्विधसामायिके सम्यक्त्वश्रुतसामायिके एवाभ्युपगच्छति, ज्ञानाऽऽत्मकत्वेन तयोरेव मुक्तिकारणत्वात् । देशसर्वविरतिसामायिके तु नेच्छति, ज्ञानकार्यत्वेन गौणत्वात्तयोरिति । विशे० । वृ० । सूत्र० । अनु० । आचा० । नि० चू० । दशा० । सम्म० ।

णाणणिण्हवणया–ज्ञाननिह्नवता–स्त्री० । ६ श० । श्रुतस्य श्रुतगुरूणां वाऽपलपने, भ० ८ श० ९ उ० ।

णाणणिव्वत्ति–ज्ञाननिर्वृत्ति–स्त्री० । ज्ञानस्य आभिनिबोधिकादितया निष्पत्तौ, सा चाभिनिबोधिकाऽऽदिभेदेन पञ्चविधा । यस्य यावन्ति ज्ञानानि तस्य तावती । भ० १९ श० ८ उ० ।

णाणतव–ज्ञानतपस्–न० । तीर्थकृतां केवलोत्पत्त्यर्थं कृतेऽष्टमाऽऽदितपसि,यथा पार्श्वजिनर्षभस्वामिमल्लिनाथारिष्टनेमीनामष्टमेन वासुपूज्यस्य चतुर्थेन शेषाणामजितस्वाम्यादीनामूनविंशतिजिनानां षष्ठेन भक्तेन केवलज्ञानमुत्पेदे । प्रव० ४५ द्वार ।

णाणतह–ज्ञानतथ्य–न० । मत्यादिकेन ज्ञानपञ्चकेन यथास्वमवितथे विषयोपलम्भे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

णाणतिग–ज्ञानत्रिक–न० । मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानत्रये, कर्म० ४ कर्म० ।

णाणतिलगगणि–ज्ञानतिलकगणिन्–पुं० । पद्मराजगणिशिष्ये गौतमकुलकवृत्तिकारके, स च वैक्रमीये १६६० मिते वत्सरे वर्त्तमान आसीत् । जै० इ० ।

णाणत्त–नानात्व–न० । नानाभावो नानात्वम् । वर्णाऽऽदिकृते वैचित्र्ये, प्रज्ञा० १४ पद । भ० । नि० चू० । व्य० । स्था० ।

णाणत्ता–नानाता–स्त्री० । नानाभावो नानाता । विशेषे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

अथ 'नाणत्त त्ति' नानाताद्वारं विवरीषुराह–

नाणत्त त्ति विसेसो, सो दव्वखेत्तकालभावेहिं ।

असमाणाणं णेओ, समाणसंखाणमविसेसो ॥२१६१॥

परमाणुदुयणुयाणं, जह नाणत्तं तहाऽवसेसाणं ।

असमाणाणं तह खे–त्तकालभावप्पजेयाणं ॥ २१६२ ॥

नाना इत्येतस्य भावो नानाता–वस्तूनां परस्परं भिन्नता, विशेष इत्यर्थः । स च विशेषो द्रव्यक्षेत्रकालभावैरसमानानामसमानसंख्यानां ज्ञेयोऽवगन्तव्यः, द्रव्याऽऽदिभिः समानसंख्यानां पुनरविशेष इति ॥ २१६१ ॥ अत्रोदाहरणमाह–(परमाणित्यादि) यथा द्रव्यसंख्यया असमानानां परमाणूनां द्व्यणुकस्कन्धानां च, तथाऽवशेषाणां द्व्यणुकानां त्र्यणुकानां च, तथा त्र्यणुकानां चतुरणुकानां च, तथा चतुरणुकानां पञ्चाणुकानां चेत्यादिद्रव्यसंख्ययाऽसमानानां परस्परं नानात्वं विशेषो ज्ञेयः । तथा तेनैव प्रकारेण क्षेत्रकालभावसंख्ययाऽसमानानां क्षेत्रकालभावपर्यायानामपि परस्परं नानात्वं विशेषो मन्तव्यः, तद्यथा–एकप्रदेशावगाढानां द्व्यादिप्रदेशावगाढानां च, तथैकसमयस्थितिकानां द्व्यादिसमयस्थितिकानां च, तथा एकगुणकालकाऽऽदीनां द्विगुणकालकाऽऽदीनां चेत्यादि । उपलक्षणं चेदम्–द्रव्यतः समानसंख्यानामपि परमाण्वादीनां क्षेत्रकालभा–

वैर्नानात्वं द्रष्टव्यम् । एवमेकाऽऽदिप्रदेशावगाढानां क्षेत्रावगाढप्रदेशैः समानसंख्यानामपि द्रव्यकालभावैर्नानात्वम्, एकसमयाऽऽदिस्थितीनां च स्थितिसमयैः समानसंख्यानामपि द्रव्यक्षेत्रभावैर्नानात्वम्; एकगुणकालकाऽऽदीनां च वर्णगन्धाऽऽदिगुणैः समानसंख्यानामपि द्रव्यक्षेत्रकालैर्नानात्वमिति ॥२१६२॥ विशे० । आ० चू० ।

ज्ञानात्मन्–पुं० । ज्ञानविशेषवत उपसर्जनीकृतदर्शनाऽऽदिरात्मा ज्ञानाऽऽत्मा । सम्यग्दृष्टेरात्मनि, भ० १२ श० १० उ० ।

णाणदंसण–ज्ञानदर्शन–न० । ज्ञानं च दर्शनं च, ज्ञानेन वा दर्शनं ज्ञानदर्शनम् । ज्ञानदर्शनयुग्मे, "अत्थि णं मम अइसेसे नाणदंसणे समुप्पन्ने ।" स्था० ७ ठा० ।

णाणदंसणलक्खणा–ज्ञानदर्शनलक्षणा–स्त्री० । ज्ञानं च दर्शनं च लक्षणं स्वरूपं यस्याः सा ज्ञानदर्शनलक्षणा । सम्यग्ज्ञानसम्यग्दर्शनरूपायां मोक्षमार्गगतौ, "मोक्खमग्गगइं तच्चं, सुणेह जिणभासियं । चउकारणसंजुत्तं, नाणदंसणलक्खणं" ॥ १ ॥ उत्त० २८ अ० ।

णाणदंसणसमग्ग–ज्ञानदर्शनसमग्र–त्रि० । ज्ञानदर्शनाभ्यां पूर्णे, "तओ णाणदंसणसमग्गे" उत्त० ८ अ० ।

णाणदव्व–ज्ञानद्रव्य–न० । ज्ञानद्रव्यं देवकार्ये उपयोगि स्यान्न वा, यदि स्यात्तदा देवपूजायां प्रासादाऽऽदौ वेति प्रश्ने, उत्तरम्– "एकत्रैव स्थानके देवरिक्तं, क्षेत्रद्वयामेव तु ज्ञानरिक्तम् । सप्तक्षेत्र्यामेव तु स्थापनीयं, श्रीसिद्धान्तो जैन एवं ब्रवीति ॥१॥" एतत्काव्यमुपदेशसप्ततिकाप्रान्तेऽस्त्येतदनुसारेण ज्ञानद्रव्यं देवपूजायां प्रासादाऽऽदौ चोपयोगि भवतीति । ८४ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

णाणदाण–ज्ञानदान–न० । श्रुतज्ञाने, "भव्येभ्यो भव्यवर्गेभ्योऽध्यापनश्रावणाऽऽदिभिः । यद्दानमागमस्यैतज्ज्ञानदानमुदाहृतम् ॥ १ ॥" ग० २ अधि० ।

णाणदिट्ठि–ज्ञानदृष्टि–स्त्री० । तत्त्वज्ञानरूपायां दृष्टौ, अष्ट० १ अष्ट० ।

णाणदीव–ज्ञानदीप–पुं० । अज्ञानध्वान्तनाशात् तत्त्वज्ञानप्रदीपे, द्वा० २५ द्वा० ।

णाणघण–ज्ञानघन–त्रि० । ज्ञानविशेषे विपश्चिति, आव० ४ अ० ।

णाणधम्म–ज्ञानधर्म–पुं० । वर्धमानसूरिवंशपरम्परायां साधुरक्तसूरेः शिष्ये, "तच्छिष्या ज्ञानधर्माख्याः, पाठकाः परमोत्तमाः । जैनाऽऽगमरहस्यार्थ-ज्ञायका गुणनायकाः ॥ १ ॥" तच्छिष्याणां दीपचन्द्राणां शत्रुञ्जयाऽऽद्यनेकतीर्थेषु प्रतिष्ठाविधायिनां शिष्येण देवचन्द्रेण यशोविजयकृतज्ञानसाराष्टकस्य टीका विरचिता । अष्ट० ३२ अष्ट० ।

णाणपज्जव–ज्ञानपर्याय–पुं० । ज्ञानविशेषे बुद्धिकृतेऽविभागपलिच्छेदे, भ० २ श० १ उ० ।

णाणपडिणीयया–ज्ञानप्रत्यनीकता–स्त्री० । ज्ञानस्य श्रुताऽऽदेः तत्साधनस्य पुस्तकाऽऽदेः (कर्म० १ कर्म०) तदभेदाद् ज्ञानवतां वा सामान्येन प्रतिकूलतायाम्, भ० ८ श० ६ उ० ।

णाणपडिसेवणाकुसील–ज्ञानप्रतिसेवनाकुशील–पुं० । ज्ञानस्य प्रतिसेवनया कुशीलो ज्ञानप्रतिसेवनाकुशीलः । प्रतिसेवनाकुशीले, भ० २५ श० ६ उ० ।

णाणपरिणाम–ज्ञानपरिणाम–पुं० । ज्ञानलक्षणे जीवपरिणामे, प्रज्ञा० १३ पद ।

णाणपरीसह–ज्ञानपरीषह–पुं० । ज्ञानं मत्यादि तत्परीषहणं च ज्ञानपरीषहः । विशिष्टस्य ज्ञानस्य सद्भावे मदवर्जने अभावे, दैन्यवर्जने, ग्रन्थान्तरे त्वज्ञानपरीषह इति पठ्यते, तथैवास्माभिर्दर्शितम् । भ० ८ श० ८ उ० ।

णाणपायच्छित्त–ज्ञानप्रायश्चित्त–न० । पापं छिनत्तीति । प्रायश्चित्तभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

णाणपुरिस–ज्ञानपुरुष–पुं० । ज्ञानलक्षणभावप्रधाने पुरुषे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

णाणपेज्जदोष–नानाप्रेमदोष–न० । प्रेम च द्वेषश्च प्रेमद्वेषं, नानाप्रकारं प्रेमद्वेषं नानाप्रेमद्वेषम् । अविनयभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

णाणप्पओस–ज्ञानप्रद्वेष–पुं० । श्रुताऽऽदौ ज्ञाने, ज्ञानवत्सु वाऽप्रीतौ, भ० ८ श० ६ उ० ।

णाणप्पयार–नानाप्रकार–त्रि० । विचित्रे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । आव० ।

णाणप्पवाय–ज्ञानप्रवाद–न० । यत्र ज्ञानं मत्यादिकं स्वरूपभेदाऽऽदिभिः प्रोच्यते तज्ज्ञानप्रवादम् । स० । स्था० । ज्ञानं ज्ञानाऽऽदिभेदभिन्नं पञ्चप्रकारं तत्सप्रपञ्चं वदति ज्ञानप्रवादम् । नं० । ज्ञानस्य मतिज्ञानाऽऽदिपञ्चकस्य भेदप्ररूपणा यस्मात् तज्ज्ञानप्रवादम् । चतुर्दशानां पूर्वाणां पञ्चमे, स० । स्था० । तस्य पदपरिमाणमेका पदकोटी । नं० । "नाणप्पवायस्स णं पुव्वस्स बारस वत्थू पण्णत्ता" । स० ।

णाणफल–ज्ञानफल–त्रि० । ज्ञानं फलं येषां तानि ज्ञानफलानि । श्रुतज्ञानाऽऽराधनाऽऽदिषु कर्मसु, उत्त० २ अ० ।

णाणबल–ज्ञानबल–न० । ज्ञानबलमतीताऽऽदिवस्तुपरिच्छेदसामर्थ्यम्, चारित्रसाधनतया मोक्षसाधनसामर्थ्ये वा तस्मिन् । स्था० १० ठा० ।

णाणबोहि–ज्ञानबोधिन्–पुं० । ज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमभूता ज्ञानप्राप्तिः । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

णाणब्भट्ठ–ज्ञानभ्रष्ट–त्रि० । ५ त० । सदसद्विवेकभ्रष्टे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

णाणभाव–ज्ञानभाव–पुं० । अधिगमे उपयोगे, नि० चू० २० उ० ।

णाणभावणा–ज्ञानभावना–स्त्री० । ज्ञानस्य भावना ज्ञानभावना । एवंभूतं मौनीन्द्रं ज्ञानप्रवचनं यथाऽवस्थिताशेषपदार्थाविर्भावकमित्येवंरूपायां भावनायाम्, आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ० १ उ० ।

णाणमंजरी–ज्ञानमञ्जरी–स्त्री० । यशोविजयोपाध्यायकृतज्ञानसाराभिधाष्टकग्रन्थस्य देवचन्द्रगणिकृतायां टीकायाम्, सा चाल्पबुद्धेति विद्वज्जनचेतश्चमत्कृतिं नादधाति । "स्याद्वादसु-

रहस्यानां, ज्ञानाहम्भ्योदयेन च । देवचन्द्रेण बोधार्थी, सद्वीकेयं विनिर्मिता " ॥ १ ॥ वैक्रमीये रसाग्निविजलविचन्द्र १७१६ मिते संवत्सरे । अष्ट० १२ अष्ट० ।

णाणमंत--ज्ञानवत्--त्रि० । ज्ञानशालिनि, नि० चू० १ उ० ।

णाणमग्ग--ज्ञानमग्न--त्रि० । आत्मस्वरूपोपलब्धियुक्ते, अष्ट० २ अष्ट० ।

णाणमय--ज्ञानमद--पुं० । आत्मनो विनाशहेतुकेऽहङ्कारे, " ज्ञानं मददर्पहरं, माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः ? । अगदो यस्य विषायति, तस्य चिकित्सा कथं क्रियते ? " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

ज्ञानमय--त्रि० । ज्ञानाऽऽत्मके, आव० ४ अ० ।

णाणमूढ--ज्ञानमूढ--पुं० । उदितज्ञानाऽऽवरणे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णाणमोह--ज्ञानमोह--पुं० । ज्ञानविषयके मोहे, स्था० २ ठा० ४ उ० । (व्याख्याऽस्य ' मोह ' शब्दे द्रष्टव्या)

णाणरासि--ज्ञानराशि--पुं० । सद्बोधनिकरे, पञ्चा० १५ विव० ।

णाणबल--ज्ञानबल--न० । अतीताऽऽदिवस्तुपरिच्छेदसामर्थ्ये, स्था० १० ठा० ।

णाणवाइ [ण्]--ज्ञानवादिन्--त्रि० । यथाऽवस्थितवस्तुपरिज्ञानादेव मोक्ष इत्येवंवादिनि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

णाणवि--ज्ञानवित्--त्रि० । ज्ञानं यथाऽवस्थितपदार्थपरिच्छेदकं मत्यादि, तद्वेत्तीति ज्ञानवित् । ज्ञानवेत्तरि, " से आयवि णाणवि " आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

णाणविणय--ज्ञानविनय--पुं० । ज्ञानमाभिनिबोधिकाऽऽदि पञ्चधा, तदेव विनयो, ज्ञानस्य वा विनयो भक्त्यादिकरणं ज्ञानविनयः । स्था० ७ ठा० । ज्ञानानां श्रद्धानभक्तिबहुमानतद्दृष्टार्थभावनाविधिग्रहणाभ्यासादिनाऽभ्यासे, भ० २५ श० ७ उ० । ज्ञानविनयः पञ्चधा, ज्ञानस्य पञ्चविधत्वात् । औ० ।

ज्ञानविनयमाह-

नाणं सिक्खइ नाणं, गुणेइ नाणेण कुणइ किच्चाइं ।
नाणी नवं न बंधइ, नाणविणीओ हवइ तम्हा ॥ ७३ ॥

ज्ञानं शिक्षयत्यपूर्वं ज्ञानमादत्ते, ज्ञानं गुणयति गृहीतं सत् प्रत्यावर्तयति, ज्ञानेन करोति कृत्यानि संयमकृत्यानि, एवं ज्ञानी नवं कर्म न बध्नाति, अपकर्म च विनयति यस्माद् ज्ञानविनीतो ज्ञानेनापनीतकर्मा भवति, तस्मादिति गाथाऽर्थः ॥ ७३ ॥ दश० ९ अ० १ उ० ।

णाणविणयपरिहीण--ज्ञानविनयपरिहीन--त्रि० । ज्ञानाऽऽचारपरिहीने, पं० व० २० पाहु० ।

णाणविमलगणि--ज्ञानविमलगणिन्--पुं० । श्रीवल्लभमुनिगुरौ, अयं विक्रमसंवत् १६५४ मिते विद्यमान आसीत् । अनेन महेश्वरसूरिकृतशब्दप्रभेदग्रन्थस्योपरि टीका कृता । जै० इ० ।

णाणविराहणा--ज्ञानविराधना--स्त्री० । विराधना खण्डना, ज्ञानस्य विराधना ज्ञानविराधना, ज्ञाननिन्दया गुर्वादिनिह्नवेन च ज्ञानखण्डनायाम्, ध० ३ अधि० । निह्नवाऽऽदिरूपायां ज्ञानप्रत्यनीकतायाम्, स० १ सम० ।

णाणविसंवायणाजोग--ज्ञानविसंवादनायोग--पुं० । ज्ञानस्य ज्ञानिनां वा व्यभिचारदर्शनाय व्यापारे, भ० ८ श० ६ उ० ।

णाणविसोहि--ज्ञानविशुद्धि--स्त्री० । ज्ञानाऽऽचारपरिपालनतो ज्ञानस्य विशुद्धौ, स्था० १० ठा० ।

णाणवुड्ढ--ज्ञानवृद्ध--पुं० । ज्ञानं हेयोपादेयवस्तुनिश्चयः, तेन वृद्धा महान्तः । ध० १ अधि० । श्रुतस्थविरेषु, हा० २४ अष्ट० ।

ज्ञानबुद्ध--पुं० । ज्ञानेन प्रतिबुद्धे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । (व्याख्याऽस्य ' बुद्ध ' शब्दे द्रष्टव्या)

णाणसंका--ज्ञानशङ्का--स्त्री० । श्रुतज्ञानविषयकशङ्कायाम्, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

णाणसंपण्ण--ज्ञानसंपन्न--पुं० । श्रुतसंपन्ने, स च दोषविपाकं प्रायश्चित्तं वाऽवगच्छतीति आलोचनाऽर्हतयोक्तः । स्था० ८ ठा० ।

णाणसंपण्णया--ज्ञानसंपन्नता--स्त्री० । श्रुतज्ञानसहितत्वे, (उत्त०) ।

नाणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्वभावाभिगमं जणयइ, नाणसंपन्ने य णं जीवे चाउरंतसंसारकंतारे न विणस्सइ । " जहा सूई ससुत्ता पडिया वि न विणस्सई । तहा जीवो ससुत्तो संसारे वि न विणस्सइ " ॥ १ ॥ नाणविणयतवचरित्तजोगे संपाउणइ, ससमयपरसमयविसारए संघायणिज्जे भवइ ॥ ५९ ॥

हे भदन्त ! ज्ञानसंपन्नतया ज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य संपन्नता श्रुतज्ञानसंपत्तिः, तया जीवः किं फलं जनयति ? । तदा गुरुराह-हे शिष्य ! श्रुतज्ञानसंपन्नतया जीवः सर्वभावाभिगमम्-सर्वे च ते भावाश्च सर्वभावाः जीवाजीवाऽऽदयः, तेषामभिगमः सर्वभावाऽभिगमः, तं सर्वभावाभिगमं जीवाजीवाऽऽदितत्त्वज्ञानं जनयति । तथा ज्ञानसंपन्नो जीवश्चतुरन्तसंसारकान्तारे चतुर्गतिलक्षणे संसारवने न विनश्यति मोक्षाद् विशेषेण दूरं नाशयो भवति । तथाहि-ससूत्रा सूची कचवराऽऽदिषु पतिता सती न नश्यति-अदृश्या न भवति, नाशं न प्राप्नोति । तथा जीवोऽपि ससूत्रः श्रुतज्ञानसहितः संसारे विनष्टो न भवतीति भावः । ततश्च श्रुतज्ञानविनयतपश्चारित्रयोगान् संप्राप्नोति । ज्ञानं च विनयश्च तपश्च चारित्रयोगाश्च ज्ञानविनयतपश्चारित्रयोगाः, तान् सम्यक् प्रकारेण प्राप्नोति, तत्र ज्ञानम्-अवध्यादि, विनयः प्रसिद्धः, तपो द्वादशविधम्, चारित्रव्यापारास्तान् सर्वान् लभते, पुनः श्रुतज्ञानी स्वसमयपरसमयसङ्घातनीयो भवति स्वमतपरमतयोः सङ्घातनीयो मीलनीयः स्यात् । एतावता स्वमतपरमताभिज्ञत्वेन प्रधानपुरुषत्वात् पण्डितेषु गणनीयो भवतीति भावः ॥ ५९ ॥ उत्त० २९ अ० ।

णाणसमाहि--ज्ञानसमाधि--पुं० । अपूर्वश्रुतावगाहनपूर्वकभावसमाधौ, " जह जह सुयमवगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमउव्वं । तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसद्धाए ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

णाणसागर--ज्ञानसागर--पुं० । तपागच्छीयसोमसूरीणां शिष्ये, ग० ४ अधि० । अनेनाऽऽवश्यकौघनिर्युक्तिचूर्णी, मुनिसुव्रतस्तवनं घनौघनवखण्डपार्श्वनाथस्तवनं चेत्यादयो ग्रन्था रचि-

ताः । अस्य विक्रमसंवत् १४०५ मिते जन्म, १४१७ मिते दीक्षा, १४४१ मिते सूरिपदं, १४६० मिते स्वर्गतिः । जै० इ० ।

णाणसार-ज्ञानसार-न० । यशोविजयोपाध्यायकृते पूर्णाष्टकाऽऽदिके ऽष्टश्लोकाऽऽत्मकद्वात्रिंशदष्टकविभूषिते ग्रन्थविशेषे, अष्ट० १ अष्ट० ।

णाणसिद्ध-ज्ञानसिद्ध-पुं० । भवस्थकेवलिनि, दश० ४ अ० ।

णाणा-नाना-अव्य० । न+नाञ् । विनार्थे, अनेकार्थे, उभयार्थे च । वाच० । " णाणादुमलयाऽऽइण्णं, णाणापक्खिनिसेवियं । णाणाकुसुमसंछन्नं, उज्जाणं णंदणोवमं ।१। " नानाद्रुमलताकीर्णं विविधवृक्षवल्लीभिर्व्याप्तम् । उत्त० २० अ० । सूत्र० । रा० । स० ।

णाणाइगुणजुय-ज्ञानाऽऽदिगुणयुत-त्रि० । सम्यग्ज्ञानभक्तानगुरुभक्तिसत्त्वप्रभृतिगुणसंपन्ने, पञ्चा० २ विव० ।

णाणाछंद-नानाछन्द-त्रि० । नाना भिन्नश्छन्दोऽभिप्रायो येषां ते तथा । भिन्नाभिप्रायेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णाणादिट्ठि-नानादृष्टि-त्रि० । नानारूपा दृष्टिर्दर्शनं येषां ते तथा । सूत्र० २ श्रु० १ अ० १ उ० । नानारूपा दृष्टिरन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते तथा । सर्वज्ञप्रणीताऽऽगमानाश्रयणान्निबन्धनाभावात् भिन्नदर्शनेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णाणाणुवग्गह-ज्ञानाऽऽद्युपग्रह-पुं० । साधुगतज्ञानप्रभृतिगुणोपष्टम्भे, पञ्चा० १२ विव० ।

णाणापन्न-नानाप्रज्ञ-त्रि० । नानाप्रकारा विचित्रक्षयोपशमात् प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा, सा विचित्रा येषां ते तथा । नानामतिषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णाणापिंडरय-नानापिण्डरत-त्रि० । नाना अनेकप्रकाराभिग्रहविशेषात् प्रतिगृहमल्पाल्पग्रहणाच्च पिण्ड आहारपिण्डः, नाना चासौ पिण्डश्च नानापिण्डः, अन्तप्रान्ताऽऽदि वा । तस्मिन् रता नानापिण्डरताः । नानापिण्डेऽनुद्वेगवत्सु, " णाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो । " दश० १ अ० ।

णाणाभिगम-ज्ञानाभिगम-पुं० । मत्यादिज्ञानेन बोधे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

णाणामणि-नानामणि-पुं० । नानाप्रकारेषु मणिषु, रा० ।

णाणामणिकणगरयणभूसणविराइयंगमंगाणं ।

नानाविधानि मणिकनकरत्नानि येषु भूषणेषु तानि, तैर्नानामणिकनकरत्नभूषणैर्विराजितान्यङ्गोपाङ्गानि यासां तास्तथा तासाम् ।

णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहणिउणोवियमिसमिसंतविरइयमहाभरणकडगतुडियवरभूसणुज्जलंतपीवरपलंबदाहिणभुयं पसारेति ।

नानाविधानि मणिकनकरत्नानि येषु तानि नानामणिकनकरत्नानि, मणयो नानाविधाश्चन्द्रकान्ताऽऽदयः, कनकानि नानावर्णतया, रत्नानि नानाविधानि कर्केतनाऽऽदीनि, तथा विमलानि निर्मलानि, तथा महान्तमुपभोक्तारमर्हन्तीति । यदि वा-महदुत्सवं क्षणमर्हन्तीति महार्हाणि, तथा निपुणं निपुणबुद्धिगम्यं यथा भवति । रा० । स० । जी० । " णाणामणितित्थसुबद्धाओ । " नानामणिभिर्नानाप्रकारैर्मणिभिस्तीर्थानि सुबद्धानि यासां ता नानामणितीर्थसुबद्धाः । रा० । जी० । " णाणामणिदामालंकिया । " नानामणयो नानामणिमयानि दामानि माल्यास्तैरलङ्कृतानि नानामणिदामालङ्कृतानि । रा० । जी० । नानाजातीयेषु मणिषु, कल्प० २ क्षण ।

णाणामल्ल-नानामाल्य-न० । नानारूपे पुष्पे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । " नानामल्लपिणद्धा । " नानारूपाणि माल्यानि पुष्पाणि पिनद्धानि आविद्धानि यासां ता नानामाल्यपिनद्धाः । क्तान्तस्य परनिपातः, सुखाऽऽदिदर्शनात् । रा० ।

णाणामय-ज्ञानामृत-न० । ज्ञानमवबोधः, तदेवामृतम्, अविनाशिपदहेतुत्वात् । अष्ट० ७ अष्ट० । ज्ञानरूपे पीयूषे, " पीत्वा ज्ञानामृतं भुक्त्वा, क्रियासुरलताफलम् । साम्यताम्बूलमास्वाद्य, तृप्तिं याति परां मुनिः ॥१॥ " अष्ट० १० अष्ट० ।

णाणायार-ज्ञानाचार-पुं० । ज्ञानं श्रुतज्ञानं, तद्विषय आचारः । स० २३ सम० । श्रुतज्ञानविषये कालाध्ययनविनयाध्यापनाऽऽदिरूपे व्यवहारे, स० १ अङ्ग ।

साम्प्रतं ज्ञानाऽऽचारमाह-

काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह य अनिण्हवणे ।
वंजणअत्थतदुभए, अट्ठविहो नाणमायारो ॥ १६० ॥

(काल इति) यो यस्याङ्गप्रविष्टाऽऽदेः श्रुतस्य काल उक्तः, तस्य तस्मिन्नेव काले स्वाध्यायः कर्तव्यो, नान्यदा, तीर्थकरवचनात् । दृष्टं च कृष्यादेरपि कालग्रहणे फलं, विपर्यये च विपर्यय इति । अत्रोदाहरणम्-" एको साहू पादोसियं कालं घेत्तूण अइक्कंताए वि पढमपोरिसीए अणुवओगेण पढति कालियं सुत्तं । सम्मद्दिट्ठिदेवया चिंतेति-मा अण्णा पंतदेवया छलिज्ज त्ति काउं तक्कं कुंडे घेत्तूण तक्कं तक्कं ति तस्स पुरओ अभिक्खणं २ गयागयाइं करेति । तेण य चिरस्स सज्झायस्स वाघातं करेइ त्ति । भणिया य अयाणिए ! को इमो तक्कस्स विक्कयणकालो ?, वेलं ता पलोवेह । तीए वि भणियं-अहो को इमो कालियसुयस्स सज्झायकालो त्ति ?। तओ साहुणा णायं-जहा ण एसा पागइत्थि त्ति । उवउत्तो णाओ अड्ढरत्तं दिण्णं मिच्छादुक्कडं । देवयाए भणियं-मा एवं करेज्जासि, मा पंता छलेज्जा । तओ काले सज्झाइयव्वं, ण उ अकाले त्ति " । दश० । (एतच्च तृतीयभागे ४९६ पृष्ठे ' कालायार ' शब्दे द्रष्टव्यम्)

तथा श्रुतग्रहणं कुर्वता गुरोर्विनयः कार्यः, विनयोऽभ्युत्थानपादधावनाऽऽदिः, अविनयगृहीतं हि तदफलं भवति । दश० नि० ३ अ० । आचा० । (एवं विनयबहुमानोपधानानिह्नवाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वशब्दे द्रष्टव्या)

अज्ञानाचरणे प्रायश्चित्तम्-

इदाणिं कालणाणायाराऽऽदिसु जेऽभिहिता पच्छित्ता, ते केइ मतविसेसिया जहा भवंति न भवंति य, तहा भण्णति-

सुत्तम्मि एते लहुगा, पच्छित्ता अत्थे गुरुग केसिं वि ।
तं तु ण जुज्जति जम्हा, दोण्ह वि लहुआ अणज्झाए ॥ २१ ॥

जे एते पच्छित्ता भणिता ते सुत्ते लहुगा, अत्थे गुरुगा, केसिं मतेणेवं भण्णति । आयरिओ भणति-तदिदं केसिं मतं ण जुज्जते, ण य घडए, णो वयंति पच्छित्तं । सीसो भणति-कम्हा ?। आयरिओ भणति-जम्हा दोण्ह वि लहुता अणज्झाए

अकाले असज्झाइए वा सुत्तत्थाई करेंताणं सामण्णेण लहुगा भणिता, तम्हा ण घडति ।

जे पुण केइ आयरिया लहुगुरुविसेसं इच्छंति, ते इमेण कारणेणं भणंति–

अत्थधरो तु पमाणं, तित्थगरमुहुग्गतो तु सो जम्हा ।
पुव्वं च होति अत्थो, अत्थे गुरु जेसि तेसेवं ॥२२॥

सुत्तधरे णामेगे, णो अत्थधरे, एवं चउभंगो कायव्वो । कालदावराणं भंगाणं सुत्तत्थप्पक्खे गहियाणं गुरुलाघवं चिंतिज्जति, कुलगणसंघसमितीसु सामायारीपरूवणेसु य सुत्तधराओ अत्थधरो पमाणं भवति । तहा गणाणुण्णाकाले गुरू ततियभंगिल्लासति बितियभंगे अत्थधरे गणाणुण्णं करेंति, ण सुत्तधरे; एवं अत्थधरो गुरुतरो, पमाणं च । किं च–तित्थगरमुहुग्गतो सो अत्थो जम्हा, सुत्तं पुण महत्तगणधरमुहुग्गतं–" अत्थं भासति अरहा गाहा, " तम्हा गुरुतरो अत्थो ।

किं च–

" पुव्वं च होति अत्थो, पच्छा सुत्तं भणंति भणियं च ।
अरहा अत्थं भासति, तमेव सुत्तीकरेंति गणधारी ।
अत्थेण विणा सुत्तं, अणिस्सियं केरिसं होति ? ॥१॥ "

(जेसि त्ति) जेसि आयरिआणं तेसेवं ति । जगारुद्दिट्ठाणं तगारेणं ति णिद्देसो कीरति । सगारा एगारो पिहो पिहो कज्जति–एवं ततो भवति । एवंसद्देण य एवं कारणाणि घोसेंति भणंति य । अत्थे गुरूणि सुत्ते लहुआ पच्छित्ता । इत्ति भणितो अट्ठविहो णाणायारो । नि० चू० १ उ० ।

णाणारंभ–नानाऽऽरम्भ–त्रि० । नानाप्रकार आरम्भो धर्मानुष्ठानं येषां ते नानाऽऽरम्भाः। विभिन्नधर्मकेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । कृषिपाशुपाल्यविपणिशिल्पिकर्मसेवाऽऽदिषु अन्यतराऽऽरम्भकर्तरि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णाणाराहणा–ज्ञानाऽऽराधन–न० । आगमार्थानुपासने, पञ्चा० १७ विव० । " णाणाराहणा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा–उक्कोसा, मज्झिमा, जहण्णा । " स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

णाणारिय–ज्ञानार्य–पुं० । ज्ञानेन आर्यत्वहेतुना । आर्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आभिनिबोधिकाऽऽदिभेदात् पञ्चविधा ज्ञानार्याः । प्रज्ञा० १ पद ।

णाणारुइ–नानारुचि–त्रि० । नानारूपा रुचिः चेतोऽभिप्रायो येषां ते तथा । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । विभिन्नाभिप्रायेषु, आहारविहारशयनाऽऽसनाऽऽच्छादनाऽऽभरणयानवाहनगीतवादित्राऽऽदिषु मध्येऽन्यस्यान्या रुचिर्भवति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णाणावरण–ज्ञानाऽऽवरण–न० । ६ त० । सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि विशेषग्रहणाऽऽत्मकस्य बोधस्य मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलाख्यस्य स्वप्रभावत आच्छादके अष्टानां कर्मणां प्रथमे, प्रव० २१६ द्वार । पं० सं० । उत्त० । सू० । (ज्ञानाऽऽवरणकर्मणोऽविभागपरिच्छेदैः सर्वजीवानामनन्ततमो भागो नित्यापावृत इति ' अक्खर ' शब्दे प्रथमभागे १२१ पृष्ठे उक्तम्) ज्ञानाऽऽवरणं पञ्चधा–मतिज्ञानाऽऽवरणं, श्रुतज्ञानाऽऽवरणम्, अवधिज्ञानाऽऽवरणं, मनःपर्यायज्ञानाऽऽवरणं, केवलज्ञानाऽऽवरणं च । प्रव० २१६ द्वार । (तत्र पञ्चानां ज्ञानानां स्वरूपं यथास्थानं द्रष्टव्यम्)

इदानीमेतेषामावरणमाह–

एसिं जं आवरणं, पडु व्व चक्खुस्स तं तयावरणं । [९]

एषां मतिज्ञानाऽऽदीनां पञ्चानां ज्ञानानां यदावरणमाच्छादकं, पट इव सूत्राऽऽदिनिष्पन्नशाटक इव, चक्षुषो लोचनस्य, तदेषां मतिज्ञानाऽऽदीनामावरणं तदावरणमुच्यते । इदमत्र हृदयम्–यथा घनघनतरघनतमेन पटेनाऽऽवृतं सन्निर्मलमपि चक्षुर्मन्दमन्दतरमन्दतमदर्शनं भवति, तथा ज्ञानाऽऽवरणेन कर्मणा घनघनतरघनतमेनाऽऽवृतोऽयं जीवः शारदशशधरकरनिकरनिर्मलतरोऽपि मन्दमन्दतरमन्दतमज्ञानो भवति, तेन पटोपमं ज्ञानाऽऽवरणं कर्मोच्यते । तत्राऽऽवरणस्य सामान्यत एकरूपत्वेऽपि वस्तूक्तानेकभेदभिन्नस्य मतिज्ञानस्यानेकभेदमेवाऽऽवरणस्वभावं कर्म तन्मतिज्ञानाऽऽवरणमेकग्रहणेन गृह्यते चक्षुषः पटलमिव १ । तथा पूर्वाऽभिहितभेदसन्दोहस्य श्रुतज्ञानस्य यदावरणस्वभावं कर्म तत् श्रुतज्ञानाऽऽवरणम् २ । तथा प्राक् प्रपञ्चितभेदकदम्बकस्यावधिज्ञानस्य यदावरणस्वभावं कर्म तदवधिज्ञानाऽऽवरणम् ३ । तथा प्राङ्निर्णीतभेदद्वयस्य मनःपर्यवज्ञानस्य यदावरणस्वभावं कर्म तन्मनःपर्यायज्ञानाऽऽवरणम् ४ । तथा पूर्वप्ररूपितस्वरूपस्य केवलज्ञानस्य यदावरणस्वभावं कर्म तत्केवलज्ञानाऽऽवरणम् ५ ।

उक्तं च बृहत्कर्मविपाके–

" सरउग्गयससिनिम्मल-तरस्स जीवस्स छायणं जमिह ।
णाणावरणं कम्मं, पडोवमं होइ एवं तु ॥ १ ॥
जह निम्मला वि चक्खू, पडेण केणावि छाइया संती ।
मंदं मंदतरागं, पिच्छइ सा निम्मला जइ वि ॥ २ ॥
तह मइसुयनाणावर–णमवहिमणकेवलाण आवरणं ।
जीवं निम्मलरूवं, आवरइ इमेहिँ भेएहिं " ॥ ३ ॥

तदेवमेतानि पञ्चाऽऽवरणान्युत्तरप्रकृतयः, तन्निष्पन्नं तु सामान्येन ज्ञानाऽऽवरणं मूलप्रकृतिः । यथाऽङ्गुलिपञ्चकनिष्पन्नो मुष्टिः, मूलत्वक्पत्रशाखाऽऽदिसमुदायनिष्पन्नो वा वृक्षः, घृतगुडकणिक्काऽऽदिनिष्पन्नो वा मोदक इति; एवमुत्तरत्रापि भावनीयम् । व्याख्यातं पञ्चविधं ज्ञानाऽऽवरणं कर्म । कर्म० १ कर्म० ।

णाणआवरणं चेव, आहियं तु दुपंचहा ॥५९॥

ज्ञानाऽऽवरणं द्विपञ्चधा दशप्रकारमाख्यातम् ।

तानेव दश भेदान् विवेक्तुमाह–

सोयावरणे चेव वि, णाणावरणं च होइ तस्सेव ।
एवं दुयजेएणं, णायव्वं जाव फासो त्ति ॥६०॥

श्रोत्राऽऽवरणं, तथा तस्यैव श्रोत्रस्य ज्ञानाऽऽवरणमेव द्विकभेदेन तावद् ज्ञातव्यं यावत् स्पर्शः । तद्यथा–चक्षुरिन्द्रियाऽऽवरणं चक्षुरिन्द्रियज्ञानाऽऽवरणम्, घ्राणेन्द्रियाऽऽवरणं घ्राणेन्द्रियज्ञानाऽऽवरणम्, रसनेन्द्रियाऽऽवरणं रसनेन्द्रियज्ञानाऽऽवरणम्, स्पर्शेन्द्रियाऽऽवरणं स्पर्शेन्द्रियज्ञानाऽऽवरणमिति । व्य० १० उ० । (सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे रागाऽऽदीनां ज्ञानाऽऽवरणत्वम् (ज्ञानाऽऽवरणीयस्योत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्धोदयसत्तास्थानानां संवेधः " कम्म " शब्दे तृतीयभागे २९६ पृष्ठे गतः)

णाणावरणिज्ज–ज्ञानाऽऽवरणीय–न० । ज्ञानमावृणोतीति ज्ञानाऽऽवरणीयम् । ज्ञानाऽऽवरणकर्मणि, "सरउग्गयससिणिम्मलतरस्स जीवस्स छायणं जमिह । णाणाऽऽवरणं कम्मं, पडोवमं होइ एवं तु ॥ १ ॥ " स्था० २ ठा० ४ उ० ।

णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–देसणाणाव-

रणिज्जे चेव, सव्वणाणावरणिज्जे चेव, दरिसणावरणि- ज्जे कम्मे एवं चेव ।

देशं ज्ञानस्याऽऽभिबोधिकाऽऽदिमावृणोतीति देशज्ञानाऽऽवरणी- यम्, सर्वं ज्ञानं केवलाऽऽख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानाऽऽवरणीयम्, केवलज्ञानाऽऽवरणं हि आदित्यकल्पकेवलज्ञानरूपस्य जीव- स्याऽऽच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पमिति तत्सर्वं ज्ञानाऽऽ- वरणम् । मत्याद्यावरणं तु घनाऽऽच्छादिताऽऽदित्येषत्प्रभाकल्प- स्य केवलज्ञानदेशस्य कटकुड्याऽऽदिरूपज्ञानाऽऽवरणतुल्यमिति देशाऽऽवरणमिति । पठ्यते च-"केवलणाणावरणं, दंसणछक्कं च मोहबारसगं । ता सव्वघाइसन्ना, भवंति मिच्छत्तवीसइमं"॥१॥ इति । (अनन्तानुबन्ध्याऽऽदीत्यर्थः) अथवा देशोपघाति स- र्वोपघाति पद्धकापेक्षया देशसर्वाऽऽवरणत्वमस्य ।

यदाह-

" मइसुयनाणाऽऽवरणं, दंसणमोहं च तदुपघाईणि ।
तप्पड्डगाइँ दुविहा-इँ देससव्वोपघाईणि ॥ १ ॥
सव्वेसु सव्वघाई-सु हएसु देसोवघाइयाणं च ।
भोगेहिँ मुच्चमाणो, समए समए अणंतेहिँ ॥ २ ॥
पढमं लहइ णगारं, एक्केकं वण्णमेवमन्नं ति ।
कमसो विसुज्झमाणो, लहइ समत्तं णमोकारं ॥ ३ ॥"

स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

णाणावरणिज्जवग्ग–ज्ञानाऽऽवरणीयवर्ग–पुं० । ज्ञानाऽऽवरण- कर्मप्रकृतिसमुदाये, क० प्र० ।

णाणावरणिज्जकम्मसंघाय–ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मसङ्घात–पुं० । ज्ञानावरणकर्मनिवहे, "सुयदेवया भगवई, नाणावरणीयकम्मसं- घायं । तेसिं खवेउ सययं, जेसिं सुयसागरे भत्ती ॥१॥" पा० ।

णाणावरणोदय–ज्ञानाऽऽवरणोदय–पुं० । तत्काले ज्ञानाऽऽव- रणीयकर्मविपाके, आव० ४ अ० ।

णाणाविह–नानाविध–त्रि० । विविधप्रकारे, तं० । रा० । बहु- प्रकारे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । स० । "णाणाविहरागवसणा ।" नानाविधो नानाप्रकारो रागो येषां तानि नानाविधरागाणि, तान्येव वसनानि वस्त्राणि संवृततया यासां ता नानाविधराग- वसनाः । जी० ३ प्रति० ४ उ० । आचा० । रा० । " णाणावि- हपंचवण्णेहिं उवसोभिए ।" नानाविधा जातिभेदाद् नाना- प्रकारा ये पञ्चवर्णा मणयस्तैरुपशोभितः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रज्ञा० । " णाणाविहगुच्छगुम्ममंडवगसोहिया । " अस्याऽऽसन्नैर्नानाप्रकारैर्गुच्छैर्वृन्ताकीप्रभृतिभिर्गुल्मैर्नवमालिकाऽऽ- दिभिर्मण्डपैर्द्राक्षाऽऽदिमण्डपकैरुपशोभिता नानाविधगुच्छ- गुल्ममण्डपकशोभिता । जी० ३ प्रति० ४ उ० । " णा- णाविहरागरंजितउब्भियझयविजयवेजयंतीपडागातिपडागमं- डितं करेंति ।" नानाविधा रागा येषु ते नानाविधरागाः, नाना- विधरागैरुच्छ्रितैरूर्ध्वीकृतैर्ध्वजैः पताकाऽतिपताकाऽऽदिभिश्च मण्डितां कुर्वन्ति । जी० ३ प्रति० ४ उ० । " णाणामणिकणग- रयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तसुविभत्तनिचितरमणिज्जकुट्टिम- तला ।" नानामणिकनकरत्नानि खचितानि यत्र स नाना- मणिकनकरत्नखचितः, निष्ठान्तस्य परनिपातो भार्याऽऽदि- दर्शनात् । तथोज्ज्वलो निर्मलो बहुसमोऽत्यन्तसमः सुविभ- क्तो निचितो निबिडो रमणीयश्च भूमिभागो यस्यां सा । जी० ३ प्रति० । रा० । "णाणाविहरागभूसियज्झयपडागमंडियं ।" नानाविधै रागैर्भूषिता ये ध्वजाः सिंहाऽऽदिरूपोपलक्षिता बृहत्यः पताकाश्च लघ्व्यस्ताभिर्मण्डितं विभूषितम् । कल्प० ५ क्षण ।

णाणासील–नानाशील–त्रि० । नानाप्रकारं शीलमनुष्ठानं येषां ते तथा । अनेकाऽऽचारेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । परतीर्थिका नानाशीलाः, तत्र शीलं व्रतविशेषः, स च भिन्नस्तेषामनुज- वसिद्ध एव । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

णाणाहुइमंतपयाभिसित्त–नानाऽऽहुतिमन्त्रपदाभिषिक्त–त्रि० । आहुतयो घृतप्रक्षेपाऽऽदिलक्षणाः मन्त्रपदान्यग्नये स्वाहा इत्ये- वमादीनि, तैरभिषिक्तम् । टीकासंस्कृते, दश० ६ अ० १ उ० ।

णाणि [ण्]–ज्ञानिन्–त्रि० । ज्ञानं सकलपदार्थाऽऽविर्भावकं विद्यते यस्यासौ ज्ञानी । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । विशिष्टविवेकवति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । नि० चू० । प्रज्ञा० । यथार्थतत्त्वस्वरूपावबोधिनि, अष्ट० ९ अष्ट० । परमा- र्थविदि, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । सूत्र० । जीवस्वरूपत- द्बन्धकर्मवेदिनि, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । " णाणी तु तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं । " सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । अनु० । उत्त० । " जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुआइँ वासकोडीहिं । तं नाणी तिहिं तो, खवेइ ऊसासमेत्तेणं ॥१॥" द० प० । संथा० । ('णा- णसय' शब्दे १९६० पृष्ठे ज्ञानप्राधान्यमुक्तम्)

ज्ञानशून्यवक्ता यथा-

पढइ नडो वेरग्गं, इच्चाइ निदंसिऊण केइऽत्थ ।
नाणाहाणमत्थं, कुणंति नेयं वियाणंति ॥ ६१ ॥

पठति नटो वैराग्यमित्यादि निर्दिश्य कथयित्वा, आदिशब्दा- त्-" णिच्छिज्जिज्जा य बहुजणो जेण तं तह सढो आसेण समा- यरइ" इति दृश्यम्, सुगमं च । केऽपि स्तोका अनाभोगत एव, अनेके च । पकारलोपः पूर्ववत् रूपमिदम् । ज्ञानाऽऽढ्यानां बहा- गमानामवज्ञामवज्ञाऽऽदिरूपां कुर्वन्ति विदधति । नेति निषेधे, इदं च वक्ष्यमाणं, विजानन्ति बुध्यन्ते । इति गाथार्थः ॥६१॥

तदेवाऽऽह-

नाणाहिओ वरतरं, हीणो वि हु पवयणं पभावितो ।
न य दुक्करं करिंतो, सुट्ठु वि अप्पागमो पुरिसो ॥६२॥

सुबोधार्था ।

तथा-

छट्ठऽट्ठमदसमदुवा-लसेहिँ अबहुसुयस्स जा सोही ।
एत्तो बहुअरिया पुण, हाविज्ज जिमियस्स नाणिस्स ॥६३॥

इयमपि सुगमा ।

ननु यद्येवं तर्हि पूर्वोक्तस्य व्याहतिः, सत्यम्, तन्निन्दावाक्य- मेवमसौ भण्यते । येन क्रियायामुद्यमं करोति न चाऽसौ गुणविकलः, कथमन्यथा त्वयोक्तं मे " णाणाहियस्स णाणं पूइज्जइ " इत्यादि ।

अत्रैवार्थे जीवोपदेशमाह-

संसारसंभवाओ, दुहाओ जइ जीव ! तं सि निव्विण्णो ।
मा नाणीणमवण्णं, करेसु ता दीवतुल्लाणं ॥ ६४ ॥

संसारसंभवाद् भवोद्भूताद् दुःखादसाताद् यदि जीव ! त्वं भवान् असि भवसि निर्विण्णः श्रान्तो, मेति निषेधे, तर्हि दीपतुल्यानां दीपसदृशानां, ज्ञानिनां ज्ञानवताम, अवर्णम-

ज्ञानार्थं कुरु। अयमभिप्रायः-ज्ञानवतामवज्ञाऽऽविष्करणाद् ज्ञानाऽऽवरणीयं कर्म बध्यते। तथैव दर्शनाऽऽवरणीयं, तेन च मोहनीयं, मोहनीयेन वा उदीर्णेनाऽष्टौ कर्माणि, ततश्च भवभ्रमणम्, एतच्च शतकभगवत्यादिषु सूत्रेषु प्रतीतमिति न वितन्यते। अत उक्तम्-ज्ञानाऽऽयत्तज्ञानो भवदुःखमिति गाथार्थः। जीवा० १६ अधि०। ज्ञानक्रियाकर्तरि, व्य० १ उ०। (जीवा ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च 'णाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १९७२ पृष्ठे उक्ताः) अवधिज्ञानिनो मनःपर्यवज्ञानिनो वा कियन्तो भवान् कुर्वन्तीति प्रश्ने उत्तरम्-" आभिणिबोहियणाणिस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केवचिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं० जाव अवड्ढपोग्गलपरियट्टं च देसूणं, सुअणाणिओहिणाणिमणपज्जवणाणीणं एवं चेव, केवलनाणिस्स नत्थि अंतरं । " इत्यादिभगवतीसूत्राष्टमशतकाष्टमोद्देशके; एतदक्षरानुसारेणावधिज्ञानेन मनःपर्यवज्ञानिना वाऽनन्तभवान् कुर्वन्तीति ज्ञायत इति । ३८० प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

णाणिंद ज्ञानेन्द्र-पुं० । श्रुताऽऽद्यन्यतरज्ञानवशाविवेचितवस्तुविशेषे केवलिनि, स्था० २ ठा० ४ उ० । (व्याख्या ' इंद ' शब्दे द्वितीयभागे ५३४ पृष्ठे उक्ता)

णाणुप्पायमहिमा-स्त्री०-ज्ञानोत्पादमहिमन्-पुं० । तीर्थकृतां केवलज्ञानोत्पादे च कृतमहोत्सवे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

णाणोवओग-ज्ञानोपयोग-पुं० । ज्ञाने व्याप्रियमाणतायाम्, प्रश्न० १० द्वार ।

णाणोवघाय-ज्ञानोपघात-पुं० । प्रमादतः श्रुतज्ञानोपघाते, स्था० १० ठा० ।

णाणोवसंपया-ज्ञानोपसंपत्-स्त्री० । श्रुतज्ञानार्थमाचार्यान्तरोपसंपत्तौ, ध० ३ अधि० । (' उवसंपया ' शब्दे द्वितीयभागे ९८५ पृष्ठे तद्विधिः)

णात-ज्ञात-न० । त्रि० । दृष्टान्ते, नि० चू० १० उ० । आहरणे, नि० चू० १५ उ० । अनु० । निदर्शने, पञ्चा० ४ विव० । ज्ञा० । उदाहरणे, ज्ञाताध्ययने, नं० । सूत्र० । आगमिते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । ज्ञातमागमितमित्येकार्थम् । व्य० ३ उ० । सम्यक्परिच्छिन्ने, त्रि० । आव० ६ अ० । आचा० । विदिते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । उदारक्षत्रिये, बृ० १ उ० । आचा० । कल्प० । प्रश्न० । इक्ष्वाकुवंशविशेषभूते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । श्रीऋषभदेवजातीये (कल्प० ५ क्षण) क्षत्रियविशेषे, पुं० । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स्था० । आचा० । यद्वंशे श्रीवीरस्वामी जज्ञे । स्था० ६ ठा० । ज्ञातपुत्रे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । आ० चू० ।

णातकुमार-ज्ञातकुमार-पुं० । राज्यार्हे ज्ञातक्षत्रियकुमारे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

णातकुलचंद-ज्ञातकुलचन्द्र-पुं० । ज्ञातकुले चन्द्र इव । महावीरस्वामिनि, कल्प० ५ क्षण । आचा० ।

णातसंड-ज्ञातखण्ड-न० । स्वनामख्याते वने, यत्र महावीरस्वामी प्रव्रजितः । स्था० १० ठा० । आ० चू० ।

णातपुत्त-ज्ञातपुत्र-पुं० । ज्ञातः सिद्धार्थः तस्य पुत्रः । कल्प० ५ क्षण । सिद्धार्थक्षत्रियपुत्रे श्रीमहावीरे, " णातपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणुत्तमे । " सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

णाति-ज्ञाति-स्त्री० । स्वजने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

णादिय-नादित-त्रि० । लपिते, औ० ३ प्रति० ४ उ० ।

णाध-नाथ-पुं० । " थो धः शौरसेन्याम् । " । ८ । ४ । २६७ । इति प्राकृतसूत्रेण थस्य धकारः । प्रभौ, प्रा० ४ पाद ।

णाभि-नाभि-पुं० । शकटरथाङ्गे, दश० ७ अ० । अङ्गस्य मध्यावयवे, उत्त० २ अ० । अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजे प्रथमकुलकरे श्रीऋषभदेवपितरि, आव० १ अ० । नि० । आचा० । ति० । आ० म० । प्रव० । जं० । स्था० ।

णाभिचक्क-नाभिचक्र-न० । शरीरमध्यवर्तिनि समस्ताङ्गसन्निवेशमूलभूते देहावयवे, द्वा० २६ द्वा० ।

णाभिप्पभव-नाभिप्रभव-त्रि० । नाभेरुत्पन्ने, तं० ।

णाभिरसहरणी-नाभिरसहरणी-स्त्री० । नाभिनाले, तं० ।

णाभेय-नाभेय-पुं० । चतुःसहस्रनृपैः सह श्रीनाभेयजिनो दीक्षां जग्राह, तेषां दीक्षाचारः केन कारित इति प्रश्ने, उत्तरम्-ततः श्रीप्रथमजिनेन सह प्रव्रज्य मतं अगृह्णुरिति ऋषिचरित्राऽऽद्यौ । २५६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

णाम-नाम-पुं० । नमनं नामः । परिणामे, भावे, (भ०)

कइविहे णं भंते ! णामे पण्णत्ते ?। गोयमा ! छव्विहे णामे पण्णत्ते । तं जहा-उदइए० जाव सण्णिवाए । से किं तं उदइए णामे ?। उदइए णामे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-उदइए य, उदयणिप्फण्णे य । एवं जहा सत्तरसमसए पढमे उद्देसए जाव तहेव इह वि । णवरं इमं णाणत्तं सेसं तहेव० जाव सण्णिवाइए ॥

नमनं नामः, परिणामो, भाव इत्यनर्थान्तरम् । (णवरं इमं नाणत्त त्ति) सप्तदशशते भावमाश्रित्य इदं सूत्रमधीतमिह तु नामशब्दमाश्रित्येत्येतावान् विशेष इत्यर्थः । भ० २५ श० ५ उ० । नामन्-अव्य० । अलंकृतौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । वाक्यालङ्कारे, स्था० ४ ठा० १ उ० । सूत्र० । दशा० । पादपूरणे, प्रा० ३ पाद । विपा० । नि० चू० । शिष्याऽऽमन्त्रणे, जं० १ वक्ष० । विशे० । जीवा० । कोमलाऽऽमन्त्रणे, बृ० ३ उ० । तं० । विशे० । संभावनायाम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आचा० । स्था० । ज्ञा० । अनु० । विशे० । दशा० । भ० । प्रसिद्धौ, कल्प० ६ क्षण । अभ्युपगमायाम्, विशे० । नमति ज्ञानरूपाऽऽदिपर्यायभेदानुसारतो जीवपरमाण्वादिवस्तुप्रतिपादकतया प्रह्वीभवतीति नाम । तथा चाऽऽह-" जं वत्थुणोऽभिहाणं, पज्जवभेयाणुसारियं नाम । पइभेयं जं नमए, पइभेयं जाइयं भणियं ॥१॥ " उत्त० १ अ० । विशे० । सूत्र० । यादृच्छिकाभिधाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

सामान्येन नाम्नस्तावल्लक्षणमाह-

पज्जायाणभिधेयं, ठियमन्नत्थे तयत्थनिरवेक्खं ।
जाइच्छियं च नामं, जावद्दव्वं च पाएण ॥ २५ ॥

यत् कस्मिंश्चिद् भूतकदारकाऽऽदौ इन्द्राऽऽद्यभिधानं क्रियते, तन्नाम भण्यते । कथंभूतं तत् ?, इत्याह-पर्यायाणां शक्रपुरन्दरपाकशासनशतमखहरिप्रभृतीनां समानार्थवाचकानां ध्वनीनामनभिधेयमवाच्यम्, नामवतः पिण्डस्य संबन्धी धर्मोऽयं नाम्न्युपचरितः, स हि नामवान् भूतकदारकाऽऽदिपर्यायैः कि-

…केन, सङ्केतितमात्रेणेन्द्राऽऽदिशब्देनैवाभिधीयते, न तु शेषैः शक्रपुरन्दरपाकशासनाऽऽदिशब्दैः, अतो नामयुक्तपिण्डगतधर्मो ऽप्युपचरितः पर्यायानभिधेय इति । पुनरपि कथंभूतं तन्नाम ?, इत्याह-(ठियमण्णत्थे त्ति) विवक्षिताद् भूतकदारकाऽऽदिपिण्डादन्यत्रासावर्थस्त्वन्यार्थो देवाधिपाऽऽदिः, सद्भावतस्तत्र यत् स्थितम्, भूतकदारकाऽऽदौ तु सङ्केतमात्रतयैव वर्तते; अथवा-सद्भावतः स्थितमन्वर्थे-अनुगतः संबद्धः परमैश्वर्याऽऽदिकोऽर्थो यत्र सोऽन्वर्थः-शचीपत्यादिः । सद्भावतस्तत्र स्थितं भूतकदारकाऽऽदौ तर्हि कथं वर्तते ?, इत्याह-तदर्थनिरपेक्षं तस्येन्द्राऽऽदिनाम्नोऽर्थस्तदर्थः परमैश्वर्याऽऽदिस्तस्य निरपेक्षं सङ्केतमात्रेणैव तदर्थशून्ये भूतकदारकाऽऽदौ वर्तते, इति पर्यायानभिधेयम्, स्थितमन्यार्थे, अन्वर्थे वा; तदर्थनिरपेक्षं यत् कचिद् भूतकदारकाऽऽदौ इन्द्राऽऽद्यभिधानं क्रियते, तन्नाम, इतीह तात्पर्यार्थः । प्रकारान्तरेणापि नाम्नः स्वरूपमाह-यादृच्छिकं चेति । इदमुक्तं भवति-न केवलमनन्तरोक्तं, किं त्वन्यत्रावर्तमानमपि यदेवमेव यदृच्छया केनचिद् गोपालदारकाऽऽदेरभिधानं क्रियते, तदपि नाम, यथा डित्थो, डवित्थ इत्यादि । इदं चोभयरूपमपि कथंभूतम् ?, इत्याह-यावद्द्रव्यं च प्रायेणेति-यावदेतद्वाच्यं द्रव्यमवतिष्ठते तावदिदं नामाप्यवतिष्ठत इति भावः । किं सर्वमपि ?, न, इत्याह-प्रायेणेति, मेरुद्वीपसमुद्राऽऽदिकं नाम प्रभूतं यावद् द्रव्यभावि दृश्यते; किञ्चित्त्वन्यथाऽपि समीक्ष्यते, देवदत्ताऽऽदिनामवाच्यानां द्रव्याणां विद्यमानानामप्यपरापरनामपरावर्तस्य लोके दर्शनात् । सिद्धान्तेऽपि यदुक्तम्-"नामं आवकहियं त" तत् प्रतिनियतजनपदाऽऽदिसंज्ञामेवाङ्गीकृत्य, यथोत्तराः कुरव इत्यादि । तदेवं प्रकारद्वयेन नाम्नः स्वरूपमत्रोक्तम्, एतच्च तृतीयप्रकारस्योपलक्षणम्, पुस्तकपत्रचित्राऽऽदिलिखितस्य वस्त्वभिधानभूतेन्द्राऽऽदिवर्णाऽऽवलीमात्रस्याप्यन्यत्र नामत्वेनोक्तत्वादिति । एतच्च सामान्येन नाम्नो लक्षणमुक्तम् । विशे० । (किञ्चिन्नाम निरर्थकमपि भवतीति 'उस्सारकप्पिय' शब्दे द्वितीयभागे ११७६ पृष्ठे गतम्) सर्वस्यापि घटपटाऽऽदिवस्तुन आत्मीयेऽभिधाने, विशे० । द्य० । संज्ञायाम्, " यद् वस्तुनोऽभिधानं, स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षः । पर्यायानभिधेयं, च नाम यादृच्छिकं च तथा ॥ १ ॥ " इति । स्था० ३ ठा० १ उ० । दश० । दशा० । आचा० । उत्त० । यत्तु " णामं आवकहियं " इति सूत्रे प्रोक्तं, तत्प्रतिनियतजनपदसंज्ञामाश्रित्यैवेति ध्येयम् । ननु 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गापदेन गङ्गातीरमभिधीयते । तत्र किं नामनिक्षेपस्य प्रवृत्तिः, उत निक्षेपान्तरस्य ?। नाद्यः । आकृत्यादिपर्यायाऽभिधेयत्वेन तत्र नामनिक्षेपाप्रवृत्तेः । न द्वितीयः । प्रसिद्धनिक्षेपान्तराविषये तत्राप्रसिद्धनिक्षेपकल्पने तद्विषयव्याकृतिप्रसङ्गादिति चेत् । " अत्थ य जं जाणिज्जा, णिक्खेवं णिक्खिवे णिरवसेसं । " इत्यनेन यथापरिज्ञानं निक्षेपान्तरकल्पनाया अप्यनुमतत्वेन दोषाभावात् । अस्तु वा तत्राभिप्रायिकी स्थापनैव, भवतु वा वैज्ञानिको भावनिक्षेपः, एवं गङ्गापदेन तीरे गङ्गाभेदाभिव्यक्तिवृत्त्या गङ्गागतशैत्यपावनत्वाऽऽदिधर्मयोगस्याभिव्यञ्जयितुमशक्यत्वात्, तत्प्रपञ्चितमस्मत्कारकृतामणिवृत्त्यावसदादिभिः । तत् किं शक्तिलक्षणाऽन्यतरवृत्तिनिरपेक्षशब्दसङ्केतविषयत्वमेव नामलक्षणं स्थितमन्यार्थे इत्यत्र अनेकार्थवाच्याव्यावृत्तये ऽशक्यार्थे इति करणार्थाच्चपदस्य पर्यायानभिधेयं चेत्यनेन लक्षणस्य च व्यावृत्तौ तात्पर्याद । नो-मिति चेत्, तर्हि द्रव्यसत्यार्द्राविषयेऽतिव्याप्तिः, तस्य द्रव्यनिक्षेपविषयत्वे च तत्रैव सेति चेत्, न, उक्तलक्षण एव भावानिक्षेपविषयाभेदव्यवहारोपाधिकरूपराहित्यावशेषस्य दाने दोषाभावात् । निरूढलक्षणायाः स्वीकारे तु लक्षणाया निरूढत्वज्ञापकवचनमेव निक्षेपः । तद्विषयविशेषस्तु अन्यथ्यावृत्त्यादिकं यथाव्यवहारं स्वीकार्य इति नातिप्रसङ्ग इति दिक् । नयो० । पारिभाषिक्यां संज्ञायाम्, विशे० । पितृपितामहाऽऽदेर्नामाङ्केऽभिधाने, अनु० ।

गौणाऽऽदि नाम चतुर्द्धा । तद्यथा-गौणं, समयजं, तदुभयजम्, अनुभयजं च । तत्र गुणादागतं गौणम् । अथ कोऽसौ गुणः, कथं च तत आगतम् ?। उच्यते-इह शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं योऽर्थो, यथा ज्वलनस्य दीपनं 'ज्वल' दीप्ताविति वचनात्, स गुणः । गुणश्चेह परतन्त्रो विवक्षितो, न पारिभाषिको रूपाऽऽदिः; तेन यच्छब्दस्य वस्तुनि प्रवर्तमानस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं द्रव्यं, गुणः, क्रिया वा, स गुण इत्यभिधीयते । तत्र द्रव्यं व्युत्पत्तिनिमित्तम्-शृङ्गी, दन्ती, विषाणीत्यादौ । गुणो-जातरूपं सुवर्णं, स्वादु रसाश्रिते इत्यादौ । क्रिया-तपनः श्रमणो दीप्रो हिंस्रो ज्वलन इत्यादौ । जातिश्च नाम्नो व्युत्पत्तिनिमित्तं न भवति, किं तु प्रवृत्तिनिमित्तं; यथा गोशब्दस्य गोजातिः । तथाहि-गोशब्दस्य गमनक्रिया व्युत्पत्तिनिमित्तं, न गोत्वं, गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तेः केवलमेकार्थसमवायवशाद् गमनक्रियया खुरककुदलाङ्गूलसास्नाऽऽदिमत्त्वं प्रवृत्तिनिमित्तमुपलक्ष्यते, इति गच्छत्यगच्छति वा गोपिण्डे गोशब्दस्य प्रवृत्तिः । एवं सर्वेष्वपि जातिशब्देषु नामसु व्युत्पत्तिनिमित्तवस्तु भावनीयम् । ये तु जातिशब्दा व्युत्पत्तिरहिता यथाकथञ्चित् जातिमत्सु रूढिमुपागतास्तेषु व्युत्पत्तिनिमित्तमेव नास्तीति कुतस्तत्र जातेर्व्युत्पत्तिनिमित्तत्वप्रसङ्गः ?। तस्मात् जातिः परतन्त्राऽपि शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तमिति न सा गुणग्रहणेन गृह्यते । ये तु गोत्वविशिष्टो गोमानित्यादयो जातिव्युत्पत्तिनिमित्ताः, न ते नामरूपा इति न तैर्व्यभिचारः, ततो गुणादागतं गौणं, व्युत्पत्तिनिमित्त द्रव्याऽऽदिरूपं गुणमधिकृत्य यद्वस्तुनि प्रवृत्तं नाम तद्गुणनामेति भावार्थः । एतदेव नाम लोके यथार्थमित्याख्यायते । तथा-समयजं यदन्वर्थरहितं समय एव प्रसिद्धम् । यथा-ओदनस्य प्राभृतिका इति नाम । उभयजं यद्गुणनिष्पन्नं समयप्रसिद्धं च, यथा धर्मध्वजस्य रजोहरणमिति नाम । इदं हि समयप्रसिद्धमन्वर्थयुक्तं च । तथाहि-बाह्यम्, आभ्यन्तरं च रजो ह्रियत इत्यनेन रजोहरणम् । तत्र बाह्यं रजोऽपहारित्वमस्य सुप्रतीतम् । आन्तररजोऽपहरणसमर्थाश्च परमार्थतः संयमयोगाः, तेषां च कारणमिदं धर्मोपकरणमिति कारणे कार्योपचाराद् रजोहरणमित्युच्यते ।

उक्तं च-

" हरइ रयं जीवाणं, बज्झं अब्भिंतरं च जं तेणं ।
रयहरणं ति पवुच्चइ, कारणकज्जोवयाराओ ॥ १ ॥
संजमजोगा इत्थं, रओहरा तेसि कारणं जेणं ।
रयहरणं उवयारा, भण्णइ तेणं रओकम्मं ॥२॥ "

अनुभयजं यदन्वर्थरहितं, समयाप्रसिद्धं च । यथा कस्यापि पुंसः शौर्यक्रौर्याऽऽदिगुणासंभवेन उपचाराभावे सिंह इति नाम । यद्वा-देवा एवं देवासुरिति व्युत्पत्तिनिमित्तासंभवे

देवकुल इति नाम। एवं पिण्ड इति वर्णाऽऽवलीरूपमपि नाम गौणाऽऽदिभेदाच्चतुर्धा । तत्र यदा बहूनां सजातीयानां वि-जातीयानां च कठिनद्रव्याणामेकत्र पिण्डने पिण्ड इति नाम प्रवर्तते, तद् गौणम्, व्युत्पत्तिनिमित्तस्य वाच्ये विद्यमानत्वात् । यदा तु समयपरिभाषया पानीयेऽपि पिण्ड इति नाम प्रयुज्यते तदा समयजम्, लोके हि कठिनद्रव्याणामेकत्र संश्लेषे पिण्ड इति प्रतीतं,न तु द्रवद्रव्यसंघाते,ततश्च पिण्डनं पिण्ड इति व्युत्पत्त्यर्थो घटनात् । पिं० । नाम च यथार्थाऽऽदिभेदात्त्रिविधम् । तद्यथा-यथार्थम् , अयथार्थम, अर्थशून्यं च । तत्र यथार्थम्-प्रदीपाऽऽदि,अयथार्थम्-पलाशाऽऽदि,अर्थशून्यम-डित्थाऽऽदि । स्था० १ ठा० । विशे० । नामस्थापनाद्रव्यमित्येव द्रव्यार्थिकस्य निक्षेपः । सम्म० १ काण्ड ।

से किं तं णामे ? । णामे दसविहे पएणत्ते । तं जहा-एगणामे, दुणामे, तिणामे, चउणामे, पंचणामे, छणामे, सत्तणामे, अट्ठणामे, नवणामे, दसणामे ।

(णामे इत्यादि) इह जीवगतज्ञानाऽऽदिपर्यायेऽजीवगतरूपाऽऽदिपर्यायानुसारेण प्रतिवस्तु नेदं नमति तदभिधायकत्वेन प्रवर्तत इति नाम, वस्त्वभिधानमित्यर्थः । उक्तं च-" जं वत्थुणोऽभिहाणं, पज्जयभेयाणुसारियं णामं । पइभेअं जं नमई, पइभेअं जाइयं भणिअं ॥१॥ " अनु० । (एकनामाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) विचित्रपर्यायैर्नमयति गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम । कर्म० ६ कर्म० । पं० सं० । स्था० । दशा० । प्रव० । गत्यादिहेतौ कर्मणो मूलप्रकृतिभेदे, कर्म० ।

णामकम्म [ण्]-नामकर्मन्-न० । क० स० । जीवानां विचित्रपरिणामकर्मणामहेतौ कर्मभेदे, कर्म० ।

तद् द्विविधम्-

णामकम्मे दुविहे पएणत्ते । तं जहा-सुभणामे चेव, असुभणामे चेव ।

विचित्रपर्यायैर्नमयति परिणमयति यज्जीवं तन्नाम ।

एतत्स्वरूपं च-

"जह चित्तयरो निउणो, अणेगरूवाइँ कुणइ रूवाइं ।
सोहणमसोहणाइं, चक्खुमचक्खेहिँ वन्नेहिं ॥ १ ॥
तह नामं पि हु कम्मं, अणेगरूवाइँ कुणइ जीवस्स ।
सोहणमसोहणाइं, इट्ठाणिट्ठाणि लोयस्स" ॥ २ ॥ इति ।

शुभं तीर्थकराऽऽदि, अशुभमनादेयत्वाऽऽदीति । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

नामकर्माभिधित्सुराह-

……………………,………नामकम्म चित्तिसमं ।
बायालतिनवइविहं, तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥ २३ ॥

(नामकम्म चित्तिसमं इत्यादि) नामकर्म भवति चित्रिसमं, चित्रं कर्म, तत् कर्तव्यतया विद्यते यस्य स चित्री चित्रकरः, तेन समं सदृशं चित्रिसमम् । यथा हि चित्री चित्रं चित्रप्रकारं विविधवर्णकैः करोति, तथा नामकर्मापि जीवम्-नारकोऽयम्, तिर्यग्योनिकोऽयम् , एकेन्द्रियोऽयम् , द्वीन्द्रियोऽयमित्यादिव्यपदेशैरनेकधा करोतीति चित्रिसममित्यभिहितमिति । एतच्चानेकभेदम् । कथमित्याह-(बायालतिनवइविहं तिउत्तरसयं च सत्तट्ठि त्ति) अत्र विधाशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्विचत्वारिंशद्विधम् । यद् वा-त्रिनवतिविधम् , यदि वा-त्र्युत्तरशतविधम् ,अथवा-सप्तषष्टिविधम् । चशब्दः समुच्चये व्यवहितसंबन्धश्च, स च तथैव योजितः ॥ २३ ॥ कर्म० १ कर्म० ।

नामकम्मे बायालीसविहे पएणत्ते । तं जहा-गइनामे, जाइनामे, सरीरनामे, सरीरंगनामे, सरीरोबंधणनामे,सरीरसंघायणनामे, संघयणनामे, संठाणनामे, वन्ननामे, गंधनामे, रसनामे, फासनामे, अगुरुलहुयनामे, उवघायनामे, पराघायनामे, आणुपुव्वीनामे, उस्सासनामे, आयवनामे, उज्जोयनामे, विहगगइनामे, तसनामे, थावरनामे,सुहुमनामे, बायरनामे, पज्जत्तनामे, अपज्जत्तनामे, साहारणसरीरनामे, पत्तेयसरीरनामे,थिरनामे, अथिरनामे,सुभनामे, असुभनामे, सुभगनामे, दुब्भगनामे, सुस्सरनामे, दुस्सरनामे, आएज्जनामे, अणाएज्जनामे, जसोकित्तिनामे, अजसोकित्तिनामे, निम्माणनामे, तित्थगरनामे । स० ४२ सम० ।

अथ नामकर्मणो द्विचत्वारिंशतं भेदान् प्रविकटयिषुराह-

गइजाइतणुउवंगा, बंधणसंघायणाणि संघयणा ।
संठाणवन्नगंधर-सफासअणुपुव्विविहगगई ॥ २४ ॥

इह नाम्नः प्रस्तावात् सर्वत्र गत्यादिषु नामेत्युपस्कारः कार्यः । तथाहि-गतिनाम, जातिनाम, तनुनाम, उपाङ्गनाम, बन्धननाम, सङ्घातननाम, संहनननाम, संस्थाननाम, वर्णनाम, गन्धनाम, रसनाम, स्पर्शनाम, आनुपूर्वीनाम, विहायोगतिनामेति । कर्म० १ कर्म० ।

उक्ता नामकर्मणो द्विचत्वारिंशद्भेदाः । अथ तस्यैव त्रिनवतिभेदान् प्ररूपयितुकामो गत्यादिपदानां पिण्डप्रकृतिसंज्ञकानां मध्ये येन पदेन यावन्तो भेदाः पिण्डिता वर्तन्ते, तान् भेदान् तेषामाह-

गइयाईण उ कमसो,चउ पण पण ति पण पंच छ च्छक्कं ।
पण दुग पणऽट्ठ चउ दुग,इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥२५॥

गत्यादीनां पिण्डप्रकृतीनां पूर्वप्रदर्शितस्वरूपाणां पुनः क्रमशः क्रमेण, यथासंख्यमिति यावत्, चतुरादयो भेदा भवन्तीति वाक्यार्थः । तथाहि-गतिनाम चतुर्धा,जातिनाम पञ्चधा, तनुनाम पञ्चधा, उपाङ्गनाम त्रिधा, बन्धननाम पञ्चधा, सङ्घातननाम पञ्चधा, संहनननाम षोढा, संस्थाननाम षोढा, वर्णनाम पञ्चधा, गन्धनाम द्वेधा, रसनाम पञ्चधा, स्पर्शनाम अष्टधा, आनुपूर्वीनाम चतुर्धा, विहायोगतिनाम द्वेधा। एतेषां सर्वमीलने भेदानमाह-(इय त्ति) इत्यमुना चतुरादिभेदमीलनप्रकारेणोत्तरभेदानां पञ्चषष्टिरिति ॥ २५ ॥

अडवीसजुया तिनवइ, संते वा पनरबंधणे तिसयं ।
बंधणसंघायगहो, तणूसु सामन्नवन्नचऊ ॥ ३० ॥

एषा पूर्वोक्ता पञ्चषष्टिरष्टाविंशतियुता प्रत्येकप्रकृत्यष्टाविंशत्या सह मीलने त्रिनिराधिका नवतिस्त्रिनवतिर्भवति । सा च कोपयुज्यत इत्याह-(संते त्ति) प्राकृतत्वात् सत्तायां सत्कर्म प्रतीत्य योक्तव्येत्यर्थः । वाशब्दो विकल्पार्थो व्यवहितसंबन्धश्च । स चैवं योज्यते-पञ्चदशबन्धनैस्त्रिशतं वा पञ्चदशसंख्यैर्बन्धनस्वरूपैर्बन्धनैः प्रदर्शितत्रिनवतिमध्ये प्रक्षिप्तैरभिरधि-

कं शतं त्रिशतं वा, सत्तायामधिक्रियत इति शेषः। अथ त्रिनवतिमध्ये पञ्चदशानां प्रकृतीनां प्रक्षेपेऽष्टोत्तरं शतं भवतीति चेत्। उच्यते-या वक्ष्यमाणाः पञ्चदश बन्धननामप्रकृतयस्तासु मध्यात्तामाम्यत औदारिकाऽऽदिबन्धनपञ्चकस्य त्रिनवतिमध्ये पूर्वं प्रक्षिप्तत्वाच्छेषाणां दशानां प्रक्षेपे त्रिशतमेव भवतीति न कश्चिद् विरोधः। सूत्रे च-" पनरबंधणे " इत्यत्र विभक्तिवचनव्यत्ययः प्राकृतत्वात्। इत्युक्ता नामकर्मणः त्रिनवतिस्त्र्युत्तरशतं च भेदानाम्। अथ सप्तषष्टिभेदानाह-(बंधणसंघायगहो तणूसु त्ति) बन्धनानि च पञ्चदश सङ्घाताश्च संघातनामानि पञ्च बन्धनसंघातास्तेषां ग्रहणं ग्रहो बन्धनसंघातग्रहः। तनुषु शरीरेषु तनुग्रहणेनैव बन्धनसंघाता गृह्यन्ते, न पृथग् विवक्ष्यन्त इत्यर्थः। तथा-(सामन्नवन्नचउ त्ति) सामान्यं कृष्णनीलाऽऽद्यविशेषितं वर्णेनोपलक्षितं चतुष्कं सामान्यवर्णचतुष्कं, गृह्यत इति शेषः। अयमत्राऽऽशयः- इह सप्तषष्टिमध्ये औदारिकाऽऽदितनुपञ्चकमेव गृह्यते, न तद्बन्धनानि तत्संघातनानि च, यत औदारिकतन्वा स्वजातीयत्वादौदारिकतनुसदृशानि तद्बन्धनानि तत्संघाताश्च गृहीताः। एवं वैक्रियाऽऽदितन्वाऽपि निजनिजबन्धनसंघाता गृहीता इति न पृथगेते पञ्चदश बन्धनानि पञ्च संघाता गण्यन्ते। तथा-वर्णगन्धरसस्पर्शानां यथासंख्यं पञ्चद्विपञ्चाष्टभेदैर्निष्पन्नां विंशतिमपनीय तेषामेव सामान्यं वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणं चतुष्कं गृह्यते, ततश्चानन्तरोदितत्र्युत्तरशताद्वर्णाऽऽदिषोडशकबन्धनपञ्चदशकसंघातपञ्चकलक्षणानां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनामपसारणे सति सप्तषष्टिर्भवतीति ॥ ३० ॥

एतदेवाऽऽह-

इय सत्तट्ठी बंधो-दए य न य सम्ममीसया बंधे।
बंधुदए सत्ताए, वीसदुवीसऽट्ठवन्नसयं ॥ ३१ ॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण सप्तषष्टिर्नामकर्मप्रकृतीनां भवति। सा च कोपयुज्यते ?, इत्याह-(बंधोदए य त्ति) बन्धश्च उदयश्च बन्धोदयं, तस्मिन् बन्धोदये, बन्धे चोदये च सप्तषष्टिर्भवति, चशब्दादुदीरणायां च सप्तषष्टिः। अथ बन्धनसङ्घातनवर्णाऽऽदिविशेषाणां विवक्षावशादेव बन्धनाधिकार इत्युक्तम्, संप्रति ययोः प्रकृत्योः सर्वथैव बन्धो न भवति, ते आह--(न य सम्ममीसया बंधे त्ति) न च नैव सम्यक्त्वमिश्रके बन्धेऽधिक्रियेते। अयमभिप्रायः--सम्यक्त्वमिश्रयोर्बन्ध एव न भवति, किं तु मिथ्यात्वपुद्गलानामेव। जीवः सम्यक्त्वगुणेन मिथ्यात्वरूपतामपनीय केषाञ्चिदत्यन्तविशुद्धिमापादयति, अपरेषां त्वीषद् विशुद्धिं, केचित्पुनर्मिथ्यात्वरूपा एवावतिष्ठन्ते, तत्र येऽत्यन्तविशुद्धास्ते सम्यक्त्वव्यपदेशभाजः, ईषद्विशुद्धा मिश्रव्यपदेशभाजः, शेषा मिथ्यात्वमिति।

उक्तं च--

" सम्यक्त्वगुणेन ततो, विशोधयति कर्म तत्समिथ्यात्वम्।
यद्वच्छगणप्रमुखैः, शोध्यन्ते कोद्रवा मदनाः ॥ १ ॥
यत्सर्वथाऽपि तत्र वि-शुद्धं तद्भवति कर्म सम्यक्त्वम्।
मिश्रं तु दरविशुद्धं, भवत्यशुद्धं तु मिथ्यात्वम् ॥ २ ॥ "

उदयोदीरणासत्तासु पुनः सम्यक्त्वमिश्रके अप्यधिक्रियेते। एवं च सति ज्ञानाऽऽवरणे पञ्च, दर्शनाऽऽवरणे नव, वेदनीये द्वे, मोहनीये सम्यक्त्वमिश्रवर्जाः षड्विंशतिः, आयुषि चतस्रः, नाम्नि भेदान्तरसंभवेऽपि प्रदर्शितयुक्त्या सप्तषष्टिः, गोत्रे द्वे, अन्तराये पञ्चेत्येवं विंशत्युत्तरं प्रकृतिशतं बन्धेऽधिक्रियते। एतदेव सम्यक्त्वमिश्रसहितं द्वाविंशत्युत्तरप्रकृतिशतमुदये, उदीरणायां च। सत्तायां पुनः शेषकर्मणां पञ्चपञ्चाशद् नाम्नः त्रिनवतिरित्यष्टाचत्वारिंशं शतम्। यद्वा-शेषकर्मणां पञ्चपञ्चाशद् नाम्नस्त्र्युत्तरशतमित्यष्टापञ्चाशं शतमभिधीयते, इत्येतदेव मनसिकृत्याऽऽह-(बंधुदए सत्ताए इत्यादि) इह शतशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् यथासंख्यं बन्धे विंशं शतम्, उदये उपलक्षणत्वादुदीरणायां च द्वाविंशं शतं, सत्तायामष्टपञ्चाशं शतम्; उपलक्षणत्वादष्टाचत्वारिंशं शतमिति भावना सुकरैव ॥ ३१ ॥ कर्म० १ कर्म०। उत्त०।

इदानीं वर्णाऽऽदिचतुष्कोत्तरविंशतिभेदानां शुभाशुभत्वयोरभिधित्सया प्राऽऽह-

नीलकसिणं दुगंधं, तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं।
सीयं च असुहनवगं, इक्कारसगं सुभं सेसं ॥ ४१ ॥

नीलकृष्णं नीलकृष्णाऽऽख्ये कर्मणी अशुभे, दुर्गन्धनाम ' तिक्तकटुकमिति ' तिक्तकटुके रसनाम्नी, गुरु खरं रूक्षं शीतं चेति चत्वारि स्पर्शनामानि। एतानि च सर्वाण्यपि समुदितानि किमुच्यते ?, इत्याह-' अशुभनवकम् ' नव प्रकृतयः परिमाणमस्य प्रकृतिवृन्दस्य तन्नवकम, अशुभं च तन्नवकं चाशुभनवकम्। ' एकादशकम ' एकादशप्रकृतिसमूहरूपम, यथा-रक्तपीतश्वेतवर्णाः,सुरभिगन्धो, मधुराऽऽम्लकषायरसाः, लघुमृदुस्निग्धोष्णस्पर्शा इति शुभ शुभविपाकवेद्यत्वात् शुभस्वरूपम्। कीदृक्षं तदित्याह--' शेषम, ' कुवर्णनवकादवशिष्टं, कोऽर्थः ?-कुवर्णनवकाच्छेषा एकादश वर्णाऽऽदिभेदाः शुभवर्णैकादशकमुच्यत इति ॥४१॥ कर्म० १ कर्म०। ननु च शरीरपर्याप्त्यैव शरीरं भविष्यति, किं प्रागभिहितेन शरीरनाम्ना ?। नैतदस्ति, साध्यभेदात्। तथाहि-शरीरनाम्नो जीवेन गृहीतानां पुद्गलानामौदारिकाऽऽदिशरीरत्वेन परिणतिः साध्या, शरीरपर्याप्तेः पुनरारब्धशरीरस्य परिसमाप्तिरिति। अथ प्रागुक्तेनोच्छ्वासनाम्नैवोच्छ्वसनस्य सिद्धत्वादिहोच्छ्वासपर्याप्तिर्निरर्थिकेति। नैवम्, सतीमप्युच्छ्वासनामोदयेन जनितामुच्छ्वसनलब्धिमात्मशक्तिविशेषरूपामुच्छ्वासपर्याप्तिमन्तरेण व्यापारयितुं न शक्नुयात्। यथाहि-शरीरनामोदयेन गृहीता अप्यौदारिकाऽऽदिपुद्गलाः शक्तिविशेषरूपां शरीरपर्याप्तिं विना शरीररूपतया परिणमयितुं न शक्यन्त इति शरीरनाम्नः पृथगिष्यते शरीरपर्याप्तिः, एवमत्राप्युच्छ्वासनाम्नः पृथगुच्छ्वासपर्याप्तिरेष्टव्या, तुल्ययुक्तित्वादिति ॥ ४८ ॥ कर्म० १ कर्म०। स०। आ०। आचा०। पं० सं०। (यत्र गुणस्थानके यावत्यः प्रकृतयः संवेधमाश्रित्य भवन्ति, ताः ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे ३१३ पृष्ठे दर्शिताः)

णामकरण-नामकरण-न०। अभिधानमात्रकरणे, आ० म० १ म० २ खण्ड। "नाम्नाऽन्वर्थेन कीर्तिः स्यात्।" नाम्नाऽन्वर्थेन गुणनिष्पन्नेन कीर्तिः स्यात् तत्कीर्तनमात्रादेव शब्दार्थप्रतिपत्तेर्विदुषां प्राकृतजनस्य च मनःप्रसादाद् यथा भद्रबाहुसुधर्मस्वामिप्रभृतीनाम्। द्वा० २८ द्वा०। न०।

णामगुत्त-नामगोत्र-न०। नाम्ना गोत्रमिति प्रसिद्धं यत्कर्म गोत्राऽभिधानं कर्मेत्यर्थः। कल्प० २ क्षण। अन्वर्थयुक्ते नाम्नि, इहान्वर्थयुक्तं नाम सिद्धान्तपरिभाषया नामगोत्रमित्युच्यते। सू० प्र० १२ पाहु०। रा०।

णामणय–नामनय–पुं० । नामरूपमेव सर्वं वस्त्वित्येवं सिद्धान्तं व्यवसिते नये, (नयो०)

नामनयमाह–"यतो नाम विना नास्ति, वस्तुनो ग्रहणं ततः । नामैव तद् यथा कुम्भो, मृदेवान्यो न वस्तुतः ॥१॥" तथाहि–यत्प्रतीतावेव यस्य प्रतीतिः,तदेव तस्य स्वरूपम् । यथा मृत्प्रतीतावेव प्रतीयमानस्य घटस्य मृदेव रूपं, नामप्रतीतावेव प्रतीयते वस्तु । न च विनाऽपि नाम निर्विकल्पकाज्ञानेन वस्तुप्रतीतिरस्तीति हेतोरसिद्धता,सकलसंविदां वाग्रूपत्वात् । तथा च भर्तृहरिः–" वाग्रूपता चेद् बोधस्य, व्युत्क्रामेतेह शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत, सा हि प्रत्यवमर्शिनी " ॥ १ ॥ यदि च नामरूपमेव वस्तु न स्यात्, ततश्च तदवगतावपि वस्तु संशयाऽऽदीनामन्यतममेव स्यात् । तथा च पूज्याः–" संसयविवज्जया वा-ऽणज्झवसाओऽहवा अदिच्छाए । होज्जऽत्थे पडिवत्ती, न वत्थुधम्मो जया णामं ॥ ६२ ॥ " (विशे०) द्रव्य० १ अ० ।

अस्मिंश्च नामाऽऽदिरूपवस्तुद्वये नामनयः प्रधानं नामैव मन्यते । तत्र ये सुगतमतानुसारिणो "न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति" इत्यादिवचनाद् नाम्नो वस्तुधर्मत्वमेव नेच्छन्ति, तान् प्रति नामनयः प्राऽऽह–

वत्थुसरूवं नामं, तप्पच्चयहेउओ सधम्म व्व ।
वत्थुं नाऽणभिहाणा, होज्जाऽभावो विवाऽत्थो ॥६१॥

नामनयस्यायमभिप्रायः–वस्तुनः स्वरूपं नाम, तत्प्रत्ययहेतुत्वात्, स्वधर्मवत्, इह यद् यस्य प्रत्ययहेतुस्तत् तस्य धर्मः, यथा घटस्य स्वधर्मा रूपाऽऽदयः, यच्च यस्य धर्मो न भवति न तत् तस्य प्रत्ययहेतुः, यथा घटस्य धर्माः पटस्य, संपद्यते च घटाभिधानाद् घटे संप्रत्ययः, तस्मात् तत् तस्य धर्मः; सिद्धश्च हेतुरावयोः,घटशब्दात् पटाऽऽदिव्यवच्छेदेन घट इति प्रतिपत्त्यनुभूतेः । सर्वं च वस्तु नामरूपतां न व्यभिचरतीति दर्शयन्नाह–(वत्थुमित्यादि) यदि वस्तुनो नामरूपता न स्यात्, तदा तद् वस्त्वेव न भवेदिति संबन्धः । कुतः ?,इत्याह–अनभिधानादभिधानरहितत्वादित्यर्थः । अत्रात्र्योऽभिधानरहितत्वेनाऽनभिधेयो योऽसावभावः षष्ठभूताऽऽदिलक्षणस्तद्वदिति दृष्टान्तः । इह यदभिधानरहितं तद् वस्त्वेव न भवति,यथाऽभिधानरहितत्वेनाऽवाच्यः षष्ठभूतलक्षणोऽभावः; अभिधानरहितं च वस्त्वभ्युपगम्यते परैः, ततोऽवस्तुत्वमेवास्य भवेद्, अवस्तुत्वे च कुतस्तत्प्रत्ययहेतुत्वलक्षणस्य हेतोर्वृत्तिः, येनाऽनैकान्तिकता स्यात् ? । तत्र तद्वृत्तौ वा तस्यापि वस्तुत्वमेव भवेत्, स्वप्रत्ययजनकत्वात्, घटाऽऽदिवदिति । विपक्ष एव वृत्तेरभावाद् विरुद्धताऽप्यसंभविनीति । तस्माद् वस्तुधर्म एव नामेति स्थितम् । न च 'नद्यास्तीरे गुडशकटम्' इत्यादिशब्दात् प्रवृत्तस्य कदाचिद् वस्त्वप्राप्तेरवस्तुधर्मता तस्येत्याशङ्कनीयम्, प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणानामपि तत्प्रसङ्गात्–तेभ्योऽपि हि प्रवृत्तस्य कदाचिद् वस्त्वप्राप्तेः । अथाधिलेभ्यस्तेभ्यः प्रवृत्तौ भवत्येवाऽर्थप्राप्तिरिति चेत्,तदेतदिहापि समानम् , सुविवेचितादाप्तप्रणीतशब्दाद् वस्तुप्राप्तेरव्यभिचारसंभावितत्वात्, इत्यादि बहुत्र वक्तव्यम्, तत्तु नोच्यते , ग्रन्थगहनताप्रसङ्गात् , प्रकृतानुपयोगित्वाच्च । इति गाथाऽर्थः ॥ ६१ ॥

किं च–

संसयविवज्जया वाऽ–णज्झवसाओऽहवा अदिच्छाए ।
होज्जत्थे पडिवत्ती, न वत्थुधम्मो जया नामं ॥ ६२ ॥

यदा वस्तुधर्मो नाम नेष्यते, तदा वक्त्रा घटशब्दे समुच्चारिते श्रोतुः ' किमयमाह ? ' इत्येवं संशय एव स्यात् , न घटप्रतिपत्तिः । अथवा घटशब्दे प्रोक्ते पटप्रतिपत्तिलक्षणो विपर्ययः स्यात् । अथवा–' न जाने किमप्यनेनोक्तम् ' इति विमूढ्यामोहेन वस्त्वप्रतिपत्तिरूपोऽनध्यवसायः स्यात् । यदि वा–यदृच्छयाऽर्थे प्रतिपत्तिर्भवेत्– कदाचिद् घटस्य, कदाचित् पटस्य, कदाचित्तु स्तम्भस्येत्यादि; न चैवं भवति, तस्माद् वस्तुधर्म एव नाम । इति गाथाऽर्थः ॥ ६२ ॥

अपि च–

वत्थुस्स लक्खलक्खण–संववहाराऽविरोहसिद्धीओ ।
अभिहाणाऽहीणाओ, बुद्धी सद्दो य किरिया य ॥६३॥

वस्तुनो जीवाऽऽदेः, किम् ?, इत्याह–अभिधानाधीना नामाऽऽयत्ताः । काः ?, इत्याह–लक्ष्यं च,लक्षणं च, संव्यवहारश्च लक्ष्यलक्षणसंव्यवहाराः,तेषामविरोधेनाऽविपर्ययेण सिद्धयः प्रतिष्ठाः । तत्र लक्ष्यं जीवत्वाऽऽदि, लक्षणमुपयोगः, संव्यवहारोऽन्वेषणप्रेषणाऽऽदिः । तथा बुद्धिशब्दक्रियाश्च 'अभिधानाऽधीनाः' इत्यत्राऽपि संबध्यते । तत्र बुद्धिर्वस्तुनिश्चयरूपा,शब्दो घटाऽऽदिध्वनिरूपः, क्रिया चोत्क्षेपणाऽवक्षेपणाऽऽदिका । तस्मादभिधानमेव वस्तु सत्,तदाऽऽयत्ताऽऽत्मलाभत्वात् सर्वव्यवहाराणाम् । इति गाथाऽर्थः ॥६३॥ विशे० ।

णामणिप्फण्ण–नामनिष्पन्न–पुं० । गौणाऽऽदिनामानिष्पन्ने निक्षेपे, नि० चू० १ उ० ।

णामणिमित्तत्त–नामनिमित्तत्व–न० । नामनिमित्तं नामहेतुकं तद्भावस्तत्त्वम् । नामप्रतिघातगुणाऽऽत्मकत्वे, षो० १२ विव० ।

णामधेज्ज–नामधेय–न० । नामैव नामधेयम् । "नामरूपभागाद् धेयः" । ७ । २ । १५८ । इति (हैम०) स्वार्थे धेयप्रत्ययः । सू० प्र० १० पाहु० १३ पाहु० । प्रश्न० । स्था० । प्रशस्ते नामनि, स्था० ६ ठा० । दश० । नि० चू० । नं० । ज्ञा० । पर्यायध्वनौ, अनु० ।

णामधेज्जवई–नामधेयवती–स्त्री० । प्रशस्तनामधेयवत्याम् ,ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णामपच्चयफड्डगपरूवणा–नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा–स्त्री० । नामप्रत्ययस्य बन्धननामनिमित्तस्य शरीरप्रदेशस्पर्धकस्य प्ररूपणायाम् , क० प्र० । इह नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणायां षडनुयोगद्वाराणि । तद्यथा -अविभागप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, वर्गणापुद्गलस्नेहाविभागसकलसमुदायप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा चेति । (४३ गा०) क० प्र० । (एतत्सर्वं ' बंध ' शब्दे स्पष्टीभविष्यति)

णामपुरिस–नामपुरुष–पुं० । संज्ञामात्रेण पुरुषे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । पुरुषेतिनाम्नि, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

णामप्पमाण–नामप्रमाण–न० । अर्थाभिधायके शब्दे, (अनु०)

अथ नामप्रमाणम्–

से किं तं णामप्पमाणे ?। णामप्पमाणे जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदु–

कं शतं त्रिशतं वा, सत्तायामधिक्रियत इति शेषः। अथ त्रिनवतिमध्ये पञ्चदशानां प्रकृतीनां प्रक्षेपेऽष्टोत्तरं शतं भवतीति चेत्। उच्यते-या वक्ष्यमाणाः पञ्चदश बन्धननामप्रकृतयस्तासु मध्यात्सामान्यत औदारिकाऽऽदिबन्धनपञ्चकस्य त्रिनवतिमध्ये पूर्वं प्रक्षिप्तत्वाच्छेषाणां दशानां प्रक्षेपे त्रिशतमेव भवतीति न कश्चिद् विरोधः। सूत्रे च-" पनरबंधणे " इत्यत्र विभक्तिवचनव्यत्ययः प्राकृतत्वात्। इत्युक्ता नामकर्मणः त्रिनवतिरुत्तरशतं च भेदानाम्। अथ सप्तषष्टिभेदानाह-(बंधणसंघायगहो तणूसु त्ति) बन्धनानि च पञ्चदश संघाताश्च संघातनामानि पञ्च बन्धनसंघातास्तेषां ग्रहणं ग्रहो बन्धनसंघातग्रहः। तनुषु शरीरेषु तनुग्रहणेनैव बन्धनसंघाता गृह्यन्ते, न पृथग् विवक्ष्यन्त इत्यर्थः। तथा-(सामन्नवन्नचउ त्ति) सामान्यं कृष्णनीलाऽऽदिविशेषितं वर्णोपलक्षितं चतुष्कं सामान्यवर्णचतुष्कं, गृह्यत इति शेषः। अयमत्राऽऽशयः- इह सप्तषष्टिमध्ये औदारिकाऽऽदितनुपञ्चकमेव गृह्यते, न तद्बन्धनानि तत्संघातनानि च, यत औदारिकतन्वा स्वजातीयत्वादौदारिकतनुसदृशानि तद् बन्धनानि तत्संघाताश्च गृहीताः। एवं वैक्रियाऽऽदितन्वाऽपि निजनिजबन्धनसंघाता गृहीता इति न पृथगेते पञ्चदश बन्धनानि पञ्च संघाता गण्यन्ते। तथा-वर्णगन्धरसस्पर्शानां यथासंख्यं पञ्चद्विपञ्चाष्टभेदैर्निष्पन्नां विंशतिमपनीय तेषामेव सामान्यं वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणं चतुष्कं गृह्यते, ततश्चानन्तरोदितत्र्युत्तरशतान्नामवर्णाऽऽदिषोडशकबन्धनपञ्चदशकसंघातपञ्चकलक्षणानां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनामपसारणे सति सप्तषष्टिर्भवतीति ॥ ३० ॥

एतदेवाऽऽह-

इय सत्तट्ठी बंधो-दए य न य सम्ममीसया बंधे।
बंधुदए सत्ताए, वीसदुवीसऽट्ठवन्नसयं ॥ ३१ ॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण सप्तषष्टिर्नामकर्मप्रकृतीनां भवति। सा च क्वोपयुज्यते ?, इत्याह-(बंधोदए य त्ति) बन्धश्च उदयश्च बन्धोदयं, तस्मिन् बन्धोदये, बन्धे चोदये च सप्तषष्टिर्भवति, चशब्दादुदीरणायां च सप्तषष्टिः। अथ बन्धनसङ्घातनवर्णाऽऽदिविशेषाणां विवक्षावशादेव बन्धनाधिकार इत्युक्तम्, संप्रति ययोः प्रकृत्योः सर्वथैव बन्धो न भवति, ते आह-(न य सम्ममीसया बंधे त्ति) न च नैव सम्यक्त्वमिश्रके बन्धेऽधिक्रियेते। अयमभिप्रायः-सम्यक्त्वमिश्रयोर्बन्ध एव न भवति, किं तु मिथ्यात्वपुद्गलानामेव। जीवः सम्यक्त्वगुणेन मिथ्यात्वरूपतामपनीय केषाञ्चिदत्यन्तविशुद्धिमापादयति, अपरेषां त्वीषद् विशुद्धिं, केचित्पुनर्मिथ्यात्वरूपा एवावतिष्ठन्ते, तत्र येऽत्यन्तविशुद्धास्ते सम्यक्त्वव्यपदेशभाजः, ईषद्विशुद्धा मिश्रव्यपदेशभाजः, शेषा मिथ्यात्वमिति।

उक्तं च-

" सम्यक्त्वगुणेन ततो, विशोधयति कर्म तत्समिथ्यात्वम्।
यद्वच्छगणप्रमुखैः, शोध्यन्ते कोद्रवा मदनाः ॥ १ ॥
यत्सर्वथाऽपि तत्र वि-शुद्धं तद्भवति कर्म सम्यक्त्वम्।
मिश्रं तु दरविशुद्धं, भवत्यशुद्धं तु मिथ्यात्वम् ॥ २ ॥"

उदयोदीरणासत्तासु पुनः सम्यक्त्वमिश्रके अप्यधिक्रियेते। एवं च सति ज्ञानाऽऽवरणे पञ्च, दर्शनाऽऽवरणे नव, वेदनीये द्वे, मोहनीये सम्यक्त्वमिश्रवर्जाः षड्विंशतिः, आयुषि चतस्रः, नाम्नि भेदान्तरसंभवेऽपि प्रदर्शितयुक्त्या सप्तषष्टिः, गोत्रे द्वे, अन्तराये पञ्चेत्येतद् विंशत्युत्तरं प्रकृतिशतं बन्धेऽधिक्रियते। एतदेव सम्यक्त्वमिश्रसहितं द्वाविंशत्युत्तरप्रकृतिशतमुदये, उदीरणायां च। सत्तायां पुनः शेषकर्मणां पञ्चपञ्चाशद् नाम्नः त्रिनवतिरित्यष्टाचत्वारिंशं शतम्। यद्वा-शेषकर्मणां पञ्चपञ्चाशद् नाम्नस्त्र्युत्तरशतमित्यष्टापञ्चाशं शतमधिक्रियते, इत्येतदेव मनसिकृत्याऽऽह-(बंधुदए सत्ताए इत्यादि) इह शतशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् यथासंख्यं बन्धे विंशं शतम्, उदये उपलक्षणत्वादुदीरणायां च द्वाविंशं शतं, सत्तायामष्टपञ्चाशं शतम्; उपलक्षणत्वादष्टाचत्वारिंशं शतमिति भावना सुकरैव ॥ ३१ ॥ कर्म० १ कर्म०। उत्त०।

इदानीं वर्णाऽऽदिचतुष्कोत्तरविंशतिभेदानां शुभाशुभत्वयोरभिधित्सया प्राऽऽह-

नीलकसिणं दुगंधं, तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं।
सीयं च असुहनवगं, इक्कारसगं सुभं सेसं ॥ ४१ ॥

नीलकृष्णं नीलकृष्णाऽऽख्ये कर्मणी अशुभे, दुर्गन्धनाम 'तिक्तकटुकमिति' तिक्तकटुके रसनाम्नी, गुरु खरं रूक्षं शीतं चेति चत्वारि स्पर्शनामानि। एतानि च सर्वाण्यपि समुदितानि किमुच्यते ?, इत्याह-' अशुभनवकम् ' नव प्रकृतयः परिमाणमस्य प्रकृतिवृन्दस्य तन्नवकम्, अशुभं च तन्नवकं चाशुभनवकम्। ' एकादशकम् ' एकादशप्रकृतिसमूहरूपम्, यथा-रक्तपीतश्वेतवर्णाः,सुरभिगन्धो, मधुराऽऽम्लकषायरसाः, लघुमृदुस्निग्धोष्णस्पर्शा इति शुभं शुभविपाकवेद्यत्वात् शुभस्वरूपम्। कीदृक्षं तदित्याह--' शेषम्, ' कुवर्णनवकादवशिष्टं, कोऽर्थः ?-कुवर्णनवकाच्छेषा एकादश वर्णाऽऽदिभेदाः शुभवर्णैकादशकमुच्यत इति ॥४१॥ कर्म० १ कर्म०। ननु च शरीरपर्याप्त्यैव शरीरं भविष्यति, किं प्रागभिहितेन शरीरनाम्ना ?। नैतदस्ति, साध्यभेदात्। तथाहि-शरीरनाम्ना जीवेन गृहीतानां पुद्गलानामौदारिकाऽऽदिशरीरत्वेन परिणतिः साध्या, शरीरपर्याप्तेः पुनरारब्धशरीरस्य परिसमाप्तिरिति। अथ प्रागुक्तेनोच्छ्वासनाम्नैवोच्छ्वसनस्य सिद्धत्वादिहोच्छ्वासपर्याप्तिर्निर्विषयेति। नैवम्, सतीमप्युच्छ्वासनामोदयेन जनितामुच्छ्वसनलब्धिमात्मशक्तिविशेषरूपामुच्छ्वासपर्याप्तिमन्तरेण व्यापारयितुं न शक्नुयात्। यथाहि-शरीरनामोदयेन गृहीता अप्यौदारिकाऽऽदिपुद्गलाः शक्तिविशेषरूपां शरीरपर्याप्तिं विना शरीररूपतया परिणमयितुं न शक्यन्त इति शरीरनाम्नः पृथगिष्यते शरीरपर्याप्तिः, एवमत्राप्युच्छ्वासनाम्नः पृथगुच्छ्वासपर्याप्तिरेष्टव्या, तुल्ययुक्तित्वादिति ॥ ४८ ॥ कर्म० १ कर्म०। स०। आ०। आचा०। पं० सं०। (यत्र गुणस्थानके यावत्यः प्रकृतयः संवेधमाश्रित्य भवन्ति, ताः ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे ३१३ पृष्ठे दर्शिताः)

णामकरण-नामकरण-न०। अभिधानमात्रकरणे, आ० म० १ अ० २ खण्ड। "नाम्नाऽन्वर्थेन कीर्तिः स्यात्।" नाम्नाऽन्वर्थेन गुणनिष्पन्नेन कीर्तिः स्यात् तत्कीर्तनमात्रादेव शब्दार्थप्रतिपत्तेर्विदुषां प्राकृतजनस्य च मनःप्रसादाद् यथा जम्बूद्वीपसुधर्मस्वामिप्रभृतीनाम्। द्वा० २८ द्वा०। न०।

णामगुत्त-नामगोत्र-न०। नाम्ना गोत्रमिति प्रसिद्धं यत्कर्म गोत्राऽभिधानं कर्मेत्यर्थः। कल्प० २ क्षण। अन्वर्थयुक्ते नाम्नि, इहान्वर्थयुक्तं नाम सिद्धान्तपरिभाषया नामगोत्रमित्युच्यते। सू० प्र० ११ पाहु०। रा०।

णामणय-नामनय-पुं० । नामरूपमेव सर्वं वस्त्वित्येवं सिद्धान्तं व्यवसिते नये, (नयो०)

नामनयमाह-"यतो नाम विना नास्ति, वस्तुनो ग्रहणं ततः । नामैव तद् यथा कुम्भो, मृदेवान्यो न वस्तुतः ॥१॥" तथाहि-यत्प्रतीतावेव यस्य प्रतीतिः,तदेव तस्य स्वरूपम् । यथा मृत्प्रतीतावेव प्रतीयमानस्य घटस्य मृदेव रूपं, नामप्रतीतावेव प्रतीयते वस्तु । न च विनाऽपि नाम निर्विकल्पकविज्ञानेन वस्तुप्रतीतिरस्तीति हेतोरसिद्धता,असर्वसंविदां वाग्रूपत्वात् । तथा च भर्तृहरिः-" वाग्रूपता चेद् बोधस्य, व्युत्क्रामेतेह शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत, सा हि प्रत्यवमर्शिनी " ॥ १ ॥ यदि च नामरूपमेव वस्तु न स्यात्, ततश्च तदवगतावपि वस्तु संशयाऽऽदीनामन्यतममेव स्यात् । तथा च पूज्याः-" संसयविवज्जया वा-ऽणज्झवसाओऽहवा जदिच्छाए । होज्जऽत्थे पडिवत्ती, न वत्थुधम्मो जया णामं ॥ ६२ ॥ " (विशे०) द्रव्य० १ अ० ।

आस्मिंश्च नामाऽऽदिरूपचतुष्टये नामनयः प्रधानं नामैव मन्यते । तत्र ये सुगतमतानुसारिणो "न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति" इत्यादिवचनाद् नाम्नो वस्तुधर्मत्वमेव नेच्छन्ति, तान् प्रति नामनयः प्राऽऽह-

वत्थुसरूवं नामं, तप्पच्चयहेउओ सधम्म व्व ।
वत्थुं नाऽणभिहाणा, होज्जाऽभावो विवाऽरच्चो ॥६१॥

नामनयस्यायमभिप्रायः-वस्तुनः स्वरूपं नाम, तत्प्रत्ययहेतुत्वात्, स्वधर्मवत्, इह यद् यस्य प्रत्ययहेतुस्तत् तस्य धर्मः, यथा घटस्य स्वधर्मा रूपाऽऽदयः, यच्च यस्य धर्मो न भवति न तत् तस्य प्रत्ययहेतुः, यथा घटस्य धर्माः पटस्य, संपद्यते च घटाभिधानाद् घटे संप्रत्ययः, तस्मात् तत् तस्य धर्मः; सिद्धश्च हेतुरावयोः,घटशब्दात् पटाऽऽदिव्यवच्छेदेन घट इति प्रतिपत्त्यनुभूतेः । सर्वं च वस्तु नामरूपतां न व्यभिचरतीति दर्शयन्नाह-(वत्थुमित्यादि) यदि वस्तुनो नामरूपता न स्यात्, तदा तद् वस्त्वेव न भवेदिति संबन्धः । कुतः ?,इत्याह-अनभिधानादभिधानरहितत्वादित्यर्थः । यथाऽन्योऽभिधानरहितत्वेनाऽनभिधेयो योऽसावभावः षष्ठभूताऽऽदिलक्षणस्तद्वदिति दृष्टान्तः । इह यदभिधानरहितं तद् वस्त्वेव न भवति,यथाऽभिधानरहितत्वेनाऽऽकाश्यः षष्ठभूतलक्षणोऽभावः; अभिधानरहितं च वस्त्वभ्युपगम्यते परैः, ततोऽवस्तुत्वमेवास्य भवेद्, अवस्तुत्वे च कुतस्तत्प्रत्ययहेतुत्वलक्षणस्य हेतोर्वृत्तिः, येनाऽनैकान्तिकता स्यात् ? । तत्र तद्वृत्तौ वा तस्यापि वस्तुत्वमेव भवेत्, स्वप्रत्ययजनकत्वात्, घटाऽऽदिवदिति । विपक्ष एव वृत्तेरभावाद् विरुद्धताऽप्यसंभविनीति । तस्माद् वस्तुधर्म एव नामेति स्थितम् । न च 'नद्यास्तीरे गुडभृतशकटम्' इत्याद्युच्चारणात् प्रवृत्तस्य कदाचिद् वस्त्वप्राप्तेरवस्तुधर्मता तस्येत्याशङ्कनीयम्, प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणानामपि तत्प्रसङ्गात्-तेभ्योऽपि हि प्रवृत्तस्य कदाचिद् वस्त्वप्राप्तेः । अबाधितेभ्यस्तेभ्यः प्रवृत्तौ भवत्येवाऽर्थप्राप्तिरिति चेत्;तदेतदिहापि समानम् , सुविवेचिताप्तप्रणीतशब्दाद् वस्तुप्राप्तेरवश्यंभावित्वात्, इत्यादि बहुत्र वक्तव्यम्, तत्तु नोच्यते , ग्रन्थगहनताप्रसङ्गात् , अन्यत्रोक्तत्वाच्च । इति गाथाऽर्थः ॥ ६१ ॥

किं च-

संसयविवज्जया वाऽ-णज्झवसाओऽहवा जदिच्छाए ।
होज्जत्थे पडिवत्ती, न वत्थुधम्मो जया नामं ॥ ६२ ॥

यदा वस्तुधर्मो नाम नेष्यते, तदा वक्त्रा घटशब्दे समुच्चारिते श्रोतुः ' किमयमाह ? ' इत्येवं संशय एव स्यात् , न घटप्रतिपत्तिः । अथवा घटशब्दे प्रोक्ते पटप्रतिपत्तिलक्षणो विपर्ययः स्यात् । अथवा-' न जाने किमप्यनेनोक्तम् ' इति चित्तव्यामोहेन वस्त्वप्रतिपत्तिरूपोऽनध्यवसायः स्यात् । यदि वा-यदृच्छयाऽर्थे प्रतिपत्तिर्भवेत्-कदाचिद् घटस्य, कदाचित् पटस्य, कदाचित्तु स्तम्भस्येत्यादि; न चैवं भवति, तस्माद् वस्तुधर्म एव नाम । इति गाथाऽर्थः ॥ ६२ ॥

अपि च-

वत्थुस्स लक्खलक्खण-संववहाराऽविरोहसिद्धीओ ।
अभिहाणाऽहीणाओ, बुद्धी सद्दो य किरिया य ॥६३॥

वस्तुनो जीवाऽऽदेः, किम् ?, इत्याह-अभिधानाधीना नामाऽऽयत्ताः । काः ?, इत्याह-लक्ष्यं च,लक्षणं च, संव्यवहारश्च लक्ष्यलक्षणसंव्यवहाराः,तेषामविरोधेनाऽविपर्ययेण सिद्धयः प्रतिष्ठाः । तत्र लक्ष्यं जीवत्वाऽऽदि, लक्षणमुपयोगः, संव्यवहारोऽन्वेषणप्रेषणाऽऽदिः । तथा बुद्धिशब्दक्रियाश्च 'अभिधानाऽधीनाः' इत्यत्राऽपि संबध्यते । तत्र बुद्धिर्वस्तुनिश्चयरूपा,शब्दो घटाऽऽदिध्वनिरूपः, क्रिया चोत्क्षेपणाऽवक्षेपणाऽऽदिका । तस्मादभिधानमेव वस्तु सत्,तदाऽऽयत्ताऽऽत्मलाभत्वात् सर्वव्यवहाराणाम् । इति गाथाऽर्थः ॥६३॥ विशे० ।

णामणिप्फण्ण-नामनिष्पन्न-पुं० । गौणाऽऽदिनामनिष्पन्ने निक्षेपे, नि० चू० १ उ० ।

णामणिमित्तत्त-नामनिमित्तत्व-न० । नामनिमित्तं नामहेतुकं तद्भावस्तत्त्वम् । नामप्रतिपाद्यगुणाऽऽत्मकत्वे, षो० १२ विव० ।

णामधेज्ज-नामधेय-न० । नामैव नामधेयम् । "नामरूपभागाद् धेयः" ।७।२।१५८। इति (हैम०) स्वार्थे धेयप्रत्ययः । सू० प्र० १० पाहु० १३ पाहु० । प्रश्न० । स्था० । प्रशस्ते नामनि, ज्ञा० १ अ० । दश० । नि० चू० । नं० । ज्ञा० । पर्यायध्वनौ, अनु० ।

णामधेज्जवई-नामधेयवती-स्त्री० । प्रशस्तनामधेयवत्याम् ,ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णामपच्चयफड्डगपरूवणा-नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा-स्त्री० । नामप्रत्ययस्य बन्धननामनिमित्तस्य शरीरप्रदेशस्पर्धकस्य प्ररूपणायाम् , क० प्र० । इह नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणायां षडनुयोगद्वाराणि । तद्यथा -अविभागप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, वर्गणापुद्गलस्नेहाविभागसकलसमुदायप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा चेति । (४३ गा०) क० प्र० । (एतत्सर्वं ' बंध ' शब्दे स्पष्टीभविष्यति)

णामपुरिस-नामपुरुष-पुं० । संज्ञामात्रेण पुरुषे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । पुरुषेतिनाम्नि, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

णामप्पमाण-नामप्रमाण-न० । अर्थाभिधायके शब्दे, (अनु०)

अथ नामप्रमाणम्-

से किं तं णामप्पमाणे ?। णामप्पमाणे जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदु-

अयाण वा पमाणे त्ति नाम कज्जइ, से तं णामप्पमाणे ।

अथ किं तन्नामप्रमाणम् ?-नामैव वस्तुपरिच्छेदहेतुत्वात्प्रमाणं नामप्रमाणम्, तेन हेतुभूतेन किं नाम भवतीति प्रश्नाभिप्रायः । एवमन्यत्रापि भावनीयम् । अत्रोत्तरमुच्यते-यस्य जीवस्य वाऽजीवस्य वा जीवानां वाऽजीवानां वा तदुभयस्य वा तदुभयानां वा प्रमाणमिति नाम क्रियते तन्नामप्रमाणं, न तत्र स्थापनाद्रव्यभावहेतुकम्, अपि तु नाममात्रविरचनमेव तत्र हेतुरिति तात्पर्यम् । अनु० ।

णामभेय-नामभेद-पुं० । संज्ञाविशेषे, द्वा० १६ द्वा० ।

णाममुद्दा-नाममुद्रा-स्त्री० । नामाङ्कितायां मुद्रायाम्, उपा० १ अ० । "अभयस्स कहियं नाममुद्दा ।" आव० ६ अ० ।

णामय-नामक-पुं० । विनयालङ्कृतो गुर्वादावादेशदानोद्यतेऽन्यदा वाऽऽत्मानं नामयतीति नामकः । सदा गुर्वादौ प्रह्वे साधौ, सूत्र० १ श्रु० १६ उ० ।

णामवग्ग-नामवर्ग-पुं० । नामप्रकृतिसमुदाये, जी० ३ प्रति० । क० प्र० ।

णामवीर-नामवीर-पुं० । यस्य जीवस्याजीवस्य वाऽन्वर्थरहितं वीर इति नाम क्रियते स नामवीरः । नामनामवतोरभेदाद् नाम चासौ वीरश्च नामवीरः । वीरभेदे, सू० प्र० २ पाहु० ।

णामसच्च-नामसत्य-न० । नामाभिधानं तत्सत्यं नामसत्यम् । नाममात्रेण सत्ये, यथा कुलमवर्धयन्नपि कुलवर्धन उच्यते; एवं धनवर्धन इति । स्था० १० ठा० । ध० । प्रज्ञा० ।

णामसम-नामसम-न० । नामाभिधानं, तेन समम् । ग० ४ अधि० । आ० म० । आ० चू० । स्वकीयेन नाम्ना समे, यथा स्वनाम शिक्षितं तथा तदप्यावश्यकम् । विशे० ।

णामसमरण-नामस्मरण-न० । चतुर्विंशतिस्तवाऽऽदिनामानुचिन्तने, नाम्नः स्मरणेन नामिस्मरणे तद्गुणसमापत्त्या फलम् । प्रति० ।

णामसव्व-नामसर्व-न० । नाम च तत्सर्वं च नामसर्वम् । सचेतनाऽऽदेर्वा वस्तुनो यस्य सर्वमिति नाम तन्नामसर्वम्, नाम्ना सर्वं, सर्वमिति वा नाम यस्येति विग्रहाद् नामशब्दस्य पूर्वनिपातः । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णामसुह-नामशुभ-न० । तीर्थकराऽऽदिसंबन्धिनि नामकर्मणि, दश० १ अ० ।

णामाणंतय-नामानन्तक-न० । अनन्तकमिति नामभूतायां वर्णानुपूर्व्याम्, यस्य वा सचेतनाऽऽदेर्वस्तुनोऽनन्तकमिति नाम तस्मिन्, स्था० १० ठा० ।

णामित्ता-नमयित्वा-स्त्री० । नतिं कारयित्वेत्यर्थे, "णामित्ता गहियाणि पच्चक्खाणि ।" नि० चू० १ उ० ।

णामिय-नामिक-न० । वाचके पदे, यथा 'अश्व' इत्यादि । आ० म० १ अ० २ खण्ड । अनु० ।

णामिंद-नामेन्द्र-पुं० । यथार्थसंज्ञे इन्द्रे, अथवा-इन्द्रार्थशून्यत्वाद् नाममात्रे इन्द्रे, सू० । "केवलसत्ता उ नामिंदा ।" केवला एका संज्ञा तदर्थनिरपेक्षा, स नामेन्द्रः । सू० १ उ० । स्था० । (विस्तरस्तु 'इंद' शब्दे द्वितीयभागे ५३२ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

णामुदय-नामोदय-पुं० । कालोदाय्यादीनामन्ययूथिकानामन्यतमेऽन्ययूथिके, भ० ७ श० १० उ० ।

णामोकासिअ-देशी-कार्ये, दे० ना० ४ वर्ग ।

णाय-न्याय-पुं० । 'इण्' गतौ निपूर्वः । नितरामीयते गम्यते मोक्षोऽनेनेति न्यायः । व्यवहाराध्ययने, व्य० १ उ० । श्रुतोपदेशे, व्य० ३ उ० । अभीष्टार्थसिद्धेः सम्यगुपायत्वाद् न्यायः । अथवा-जीवकर्मसंबन्धापनयनाद् न्यायः । आवश्यके, यथा कारुणिकैर्दृष्टो न्यायो द्वयोरर्थिनोर्भूम्यद्रव्याऽऽदिसंबन्धिविवादं चिरकालीनमप्यपनयति, एवं जीवकर्मणोरनादिकालीनमप्याश्रयाश्रयिभावसंबन्धमपनयतीत्यावश्यकमपि न्याय उच्यते । अनु० । विशे० । "अच्चेति लोगसंजोगं, एस णाए पवुच्चइ ।" योऽयं लोकसंयोगातिक्रम एष न्यायः-एष सन्मार्गो मुमुक्षूणामयमाचारः प्रोच्यतेऽभिधीयते । अथवा-परमात्मानं मोक्षं नयतीति छान्दसत्वात् कर्तरि घञ् न्यायः । यो हि त्यक्तलोकसंयोग एष एव परात्मनो मोक्षस्य न्यायः । आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । नीयते संविर्त्ति प्राप्यते वस्त्वनेनेति न्यायः । प्रस्तुतार्थसाधके प्रमाणे, विशे० । द्विजक्षत्रियविट्शूद्राणां स्ववृत्त्यनुष्ठाने, आव० ६ अ० । उपपत्तौ, पञ्चा० ४ विव० । अविचलितरूपे मार्गे, षो० १६ विव० । अतिदेशे, प्रति० । न्यायनिर्णायके, औ० । ज्ञा० । नं० । 'णात' शब्दार्थे (दृष्टान्ते), नि० चू० १० उ० ।

णायकारि(ण्)-न्यायकारिन्-त्रि० । उपपत्तिकारिणि, "एवं आलोइय पडिक्कंतस्स जो सामाइयं देति सो णायकारी ।" आ० चू० १ अ० ।

णायकुमार-ज्ञातकुमार-पुं० । 'णातकुमार' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

णायकुलचंद-ज्ञातकुलचन्द्र-पुं० । 'णातकुलचंद' शब्दार्थे, कल्प० ५ क्षण ।

णायखंड-ज्ञातखण्ड-न० । 'णातखंड' शब्दार्थे, स्था० १० ठा० ।

णायग-ज्ञातक-पुं० । स्त्री० । पूर्वसंस्तुते, व्य० ९ उ० । मातापित्रादौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । स्वजने, प्रज्ञायमाने, नि० चू० ८ उ० । सूत्र० ।

नायक-त्रि० । प्रभौ, यथा राष्ट्रस्य राष्ट्रमहत्तरकः । स० ३० सम० । दशा० । नगरकदृकाऽऽदिप्रधाने, औ० । अधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ० । प्रणेतरि, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । स्वामिनि, स० १ सम० । व्य० । कर्मणां नेतरि, भ० २० श० २ उ० । व्य० । चक्रवर्त्यादौ राजनि, औ० । प्रधाने, आव० ५ अ० । ज्ञा० । नयति वृद्धिं प्रापयति यः स नायकः । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । ज्ञानाऽऽदीनां प्रापके, व्य० ३ उ० । सूत्र० ।

णायज्जियधण-न्यायार्जितधन-न० । असिमषीकृषिवाणिज्याऽऽद्युचितकलया परवञ्चननिरपेक्षतयाऽर्जिते द्रव्ये, द्रव्या० ६ अ० । न्यायार्जितं धनं गृहिधर्मः-

तत्र सामान्यतो गेहि-धर्मो न्यायार्जितं धनम् । (५)

(न्यायार्जितं धनमित्यादि) तत्र स्वामिद्रोहमित्रद्रोहविश्वसितवञ्चनचौर्यादिगर्ह्यार्थोपार्जनपरिहारेणार्थोपार्जनोपायभूतः स्वस्ववर्णानुरूपः सदाचारो न्यायः, तेनाऽर्जितं संपादितं

धनम्—अयमेव धर्मः । न्यायार्जितं हि धनमशङ्कनीयतया स्वशरीरेण तत्फलभोगात् मित्रस्वजनाऽऽदौ संविभागकरणाच्चेह लोकहिताय। यदाह-"सर्वत्र शुचयो धीराः, स्वकर्मबलगर्विताः । स्वकर्मनिन्दितात्मानः, पापाः सर्वत्र शङ्किताः ॥१॥" सत्पात्रेषु विनियोगाद् दीनाऽऽदौ कृपया वितरणाच्च परलोकहिताय । पठ्यते च धार्मिकस्य धनस्य शास्त्रान्तरे दानस्थानं यथा-" पात्रे दीनाऽऽदिवर्गे च, दानं विधिवदिष्यते । पोष्यवर्गाविरोधेन, न विरुद्धं स्वतश्च यत् ॥ १ ॥ " अन्यायोपात्तं तु लोकद्वयेऽप्यहितायैव-इहलोके विरुद्धकारिणो वधबन्धाऽऽदयो दोषाः, परलोके च नरकाऽऽदिगमनाऽऽदयः । यद्यपि कस्यचित् पापानुबन्धिपुण्यप्राबल्यादैहलौकिकी विपद् न दृश्यते, तथाप्यायत्यामवश्यंभाविन्येव । यतः-" पापेनैवार्थरागान्धः, फलमाप्नोति यत् क्वचित् । बडिशामिषवत्तत्-मविनाश्य न जीर्यति ॥२॥" इति न्याय एव परमार्थतोऽर्थोपार्जनोपायोपनिषत् । यदाह-" निपानमिव मण्डूकाः, सरः पूर्णमिवाण्डजाः । शुभकर्माणमायान्ति, विवशाः सर्वसंपदः ॥ १ ॥ " इति । ईदृशं धनं च गार्हस्थ्ये प्रधानकारणत्वेन धर्मतयाऽऽदौ निर्दिष्टम्, अन्यथा तदभावे निर्वाहविच्छेदेन गृहस्थस्य सर्वशुभक्रियोपरमप्रसङ्गादधर्म एव स्यात्। पठ्यते च-"वित्तीवोच्छेयम्मी, गिहिणो सीयंति सव्वकिरियाओ । निरवेक्खस्स उ जुत्तो, संपुन्नो संजमो चेव ॥ १ ॥ " इति । ध० १ अधि० ।

णायज्जियवित्तेस—न्यायार्जितवित्तेश—पुं० । न्यायोपार्जितद्रव्यस्वामिनि, षो० ५ विव० ।

णायज्झयण—ज्ञाताध्ययन—न० । उत्क्षिप्ताऽऽद्युदाहरणप्रतिपादकेऽध्ययने,ज्ञा०। षष्ठस्याङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धे १९ ऊनविंशतिर्ज्ञाताध्ययनानि ।

छट्ठस्स अंगस्स दो सुयक्खंधा पण्णत्ता। तं जहा—णायाणि य, धम्मकहाओ य। पढमस्स णं भंते ! सुयक्खंधस्स समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं णायाणं कति अज्झयणा पण्णत्ता ?। एवं खलु जंबू ! ० जाव समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं णायाणं एगूणवीसं अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा—

" उक्खित्तणाए संघाडे, अंडे कुम्मे य सेलगे ॥
तुंबे य रोहिणी मल्ली, मायंदी चंदमा इय ॥१॥
दावद्दवे उदगनाए, मंडुक्के तेतली वि य ॥
नंदिफले अवरकंका, आइण्णे सुंसुमा इय ॥२॥
अवरे य पुण्डरीए, णायाए गूणवीसतिमे" ॥

(णायाणि त्ति) ज्ञातान्युदाहरणानीति प्रथमः श्रुतस्कन्धः। (धम्मकहाओ त्ति) धर्मप्रधानाः कथाः धर्मकथा इति द्वितीयः। "उक्खित्त" इत्यादि श्लोकद्वयं सार्द्धम् । तत्र मेघकुमारजीवेन हस्तिभवे प्रवर्तमानेन यः पाद उत्क्षिप्तस्तेनोत्क्षिप्तेनोपलक्षितं मेघकुमारचरितमुत्क्षिप्तमेवोच्यते । उत्क्षिप्तमेव ज्ञातमुदाहरणं विवक्षितार्थसाधनमुत्क्षिप्तज्ञातम् । ज्ञातता चास्यैवं भावनीया-दयाऽऽदिगुणवन्तः सहन्त एव देवदाहकष्टम्,उत्क्षिप्तैकपादो मेघकुमारजीवहस्तीवेति । एतदर्थाऽभिधायकं सूत्रमपीहोपचारादध्ययनमुत्क्षिप्तम्, एवं सर्वत्र १, तथा-संघाटकः, श्रेष्ठिचौरयोरेकबन्धनबद्धत्वम्, इदमप्यभीष्टार्थज्ञापकत्वाद् ज्ञातम् । एवमौचित्येन सर्वत्र ज्ञातशब्दो योज्यः,यथायथं च ज्ञातत्वं प्रत्यध्ययनं तदर्थावगमादवसेयमिति २, नवरम्-अण्डकं मयूराण्डकम् ३, कूर्मश्च कच्छपः ४, शैलको राजर्षिः ५, तुम्बं च अलाबु ६, रोहिणी श्रेष्ठिवधूः ७, मल्ली एकोनविंशतितमजिनस्थानोत्पन्ना तीर्थंकरी ८, माकन्दी नाम वणिक्, तत्पुत्रौ माकन्दीशब्देनेह गृहीतौ ९, चन्द्रमा इति च १०, (दावद्दवे त्ति) समुद्रतटे वृक्षविशेषाः ११, उदकं नगरपरिखाजलं, तदेव ज्ञातमुदाहरणमुदकज्ञातम् १२, मण्डूकः नन्दमणिकारश्रेष्ठिजीवः १३, (तेतली वि य त्ति) तेतलीसुताऽभिधानोऽमात्य इति च १४, (नंदिफल त्ति) नन्दिवृक्षाभिधानतरुफलानि १५, अवरकङ्का धातकीखण्डभरतक्षेत्रराजधानी १६, (आइण्णे त्ति) आकीर्णा जात्याः समुद्रमध्यवर्तिनोऽश्वाः १७, (सुंसुमा इय त्ति) सुंसुमाऽभिधाना श्रेष्ठिदुहिता १८, अपरं च पुण्डरीकज्ञातमेकोनविंशतितममिति १९ । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आव० । स० ।

णायद—न्यायद—पुं० । न्यायदर्शिनि, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

णायपुत्त—ज्ञातपुत्र—पुं० । ज्ञातः सिद्धार्थः तस्य पुत्रः । कल्प० ५ क्षण । वीरवर्द्धमानस्वामिनि,सूत्र०१श्रु० ६ अ० । आचा० । दश० ।

णायपुत्तवओरय—ज्ञातपुत्रवचोरत—त्रि० । भगवद्वर्धमानवचसि निःशङ्कताप्रतिपादनपरे सक्ते, दश० ६ अ० ।

णायपुत्तवयण—ज्ञातपुत्रवचन—न० । श्रीमन्महावीरवचने, दश० १० अ० ।

णायपुत्तिय—ज्ञातपुत्रीय—न० । वीरस्वामिसंबन्धिनि तीर्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

णायविहि—ज्ञातविधि—पुं० । स्वजनभेदे, व्य० ।

भिक्षोर्ज्ञातविधिसूत्रम्-

भिक्खू य इच्छेज्जा णायविहिं एत्तए,णो से कप्पति थेरे अणापुच्छित्ता;कप्पति से थेरे आपुच्छित्ता णायविहिं एत्तए, थेरा य से वियरेज्जा एवं से कप्पति णायविहिं एत्तए, थेरा य णो से वियरेज्जा एवं से णो कप्पति णायविहिं एत्तए । जे तत्थ थेरेहिं अवितिण्णे णायविहिं एइ,से अंतरा छेदे वा परिहारे वा ॥ १ ॥

णो से कप्पति अप्पसुयस्स अप्पागमस्स एगाणियस्स णायविहिं एत्तए ।२। कप्पति से जे तत्थ बहुस्सुए बब्भागमे तस्सद्धिं णायविहिं एत्तए; तत्थ णं से पच्छागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे, कप्पति से चाउलोदणे पडिग्गाहित्तए, णो से कप्पति भिलिंगसूवे पडिग्गाहित्तए॥३॥ तत्थ से पच्छागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे पच्छाउत्ते चाउलोदणे, कप्पइ से भिक्खू भिलिंगसूवे पडिग्गाहित्तए, नो से कप्पति चाउलोदणे पडिग्गाहित्तए, दो वि पुव्वाउत्ते कप्पति दोवि पडिग्गाहित्तए ॥४॥ तत्थ से पच्छागमणेणं दो वि पच्छाउत्ते, णो से कप्पति दो

णयाण वा पमाणं सि२ ॥ जे से तत्थ पच्छागमणेणं
अथ किं तत्थ कप्पति पडिग्गाहित्तए ॥ ६ ॥ जे से
तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते, से कप्पति ॥ ७ ॥

एवमप्यथाऽपि ... इत्यादि भिक्षुकी च, कुर्वीत ज्ञातविधिं स्वजनाऽऽजीवस्य वा । 'से' तस्य न कल्पते स्थविरान् अनापृच्छ्य कुलयानां ... आगन्तुम् । "कप्पति थेरे" इदं प्राग्वत् । (नो से कप्पति इत्यादि) न 'से' तस्य कल्पते अल्पश्रुतस्य अगीतार्थस्य अत्र ... मस्य बहिःशास्त्रोच्चतिपरिचयकृत्याऽविद्यमानविज्ञाऽऽगमस्यैकाकिनो ज्ञातविधिमागन्तुम् । कल्पते 'से' तस्य यस्तत्र गच्छे बहुश्रुतः सूत्रापेक्षया, बह्वागमोऽर्थापेक्षया, तेन सार्द्धं ज्ञातविधिमागन्तुम् । तत्र णमिति वाक्यालङ्कारे, तस्य ज्ञातविधिमागतस्य पश्चादागमनेन आगमनात् पश्चाद् यः पूर्वायुक्तः चाउलोदनः । पूर्वायुक्त इति केचिद् व्याचक्षते-आगमनात्पूर्वं चुल्ल्यामारब्धो रन्धनाय । अपरे व्याचक्षते-आगमनात्पूर्वं पाकाय समीहितम् । एतद् मतद्वयमप्यसङ्गतम्; आरब्धे, समीहिते च पुनः प्रक्षेपसंभवात् । तस्मात् पूर्वायुक्त इति किमुक्तं भवति ?-आगमनात्पूर्वं गृहस्थैः स्वभावेन रध्यमानः स तन्दुलोदनो, भिलिङ्गसूपो नाम 'सस्नेहः सूपः,' स कल्पते प्रतिगृहीतुम् । योऽसौ तत्र पूर्वमागताः साधव इति हेतोः पश्चादायुक्तः प्रवृत्तस्तण्डुलोदनो, भिलिङ्गसूपो वा, नासौ कल्पते प्रतिगृहीतुम् । एष सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अत्र भाष्यकारो ज्ञातविधिपदं व्याख्यानयति-

अम्मापितिसंबंधो, पुव्वं पच्छा व संथुया जे उ ।
एसो खलु णायविही-ऽणेगे भेया य एकेके ॥ ३ ॥

मातृद्वारेण, पितृद्वारेण च यः संबन्ध एष ज्ञातविधिः । अथवा-ये पूर्वं संस्तुता मातापित्रादयः, ये च पश्चात् संस्तुताः श्वश्रूश्वशुराऽऽदयः । एष समस्तोऽपि ज्ञातविधिः, एकैकस्मिंश्च मातृद्वारे, पितृद्वारे वा, यदि वा-पूर्वसंस्तुते, पश्चात् संस्तुते वाऽनेके भेदाः । अनेन विधिशब्दो भेदवाची व्याख्यातः ॥३॥

अधुना निर्युक्तिविस्तरः-

णायविहिगमणें लहुगा, आणाऽऽदि विराहणं जमाऽऽयाए ।
संजमविराहणा खलु, उग्गमदोसा तहिं होज्जा ॥ ४ ॥

निष्कारणे विधिनाऽपि ज्ञातविधौ गमनं करोति तर्हि प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, तथा आज्ञाऽऽदयो दोषाः, तथा संयमे आत्मनि च विराधना । तत्र संयमविराधना, यतस्तत्र खलु निश्चितमुद्गमदोषा आधाकर्माऽऽदयो भवेयुः ॥४॥

कथमुद्गमदोषा भवेयुः ?, अत आह-

दुल्लभलाभा समणा, नीया नेहेण आहकम्मादी ।
चिरआगयस्स कुज्जा, उग्गमदोसं तु एगतरं ॥ ५ ॥

दुर्लभलाभाः खलु श्रमणाः, तथा महता स्नेहेनास्माकं वन्दापनाय नीता निर्गताः, तस्माच्चिरादागतस्याऽऽत्मस्वजनस्य तस्य प्राघूर्णकत्वकरणायोद्गमदोषमाधाकर्माऽऽदिकमेकतरं कुर्यात् ॥५॥

इति संजमम्मि एसा, विराहणा हो-इमा उ आयाए ।
छागलगसेणावतिकलु-णरयणथाले य एमादी ॥ ६ ॥

इति एवममुना प्रकारेण, एषा अनन्तरोदिता, संयमे विराधना भवति । आत्मविराधना पुनरियं वक्ष्यमाणा-छागदृष्टान्तेन सेनापतौ मृते समागते करुणारोदने, रत्नस्थाले रत्नभृते स्थाले ढौकिते, एवमादौ ॥६॥

तत्र यथा छागदृष्टान्तेनाभिसमीहिते सेनापतौ मृते तस्मिन् आगते आत्मविराधना भवति, तथा भावयति-

जह रण्णो सूयस्स, मंसं मज्जारएण अक्खित्तं ।
सो अद्दण्णो मंसं, मग्गइ इणमो य तत्थाऽऽतो ॥ ७ ॥
कडुइंडपोट्टलीए, गलबद्धाए उ छगलओ तत्थ ।
सूएण य सो वहितो, थक्के आत त्ति नाऊणं ॥ ८ ॥

यथा राज्ञः सूपस्य सूपकारस्य मांसं मार्जारेणाऽऽक्षिप्तं नीतं, ततः स सूपकारो भीतोऽर्द्दितो जातो मांसं मृगयते, तस्मिंश्च मृगयमाणे तत्र महानसे अयमतर्कितः कटुभाण्डपोट्टलिकया गलबद्धया युक्तश्छाग आयातः सन् सूपेन सूपकारेण मारितः 'थक्के' प्रस्तावे 'आत' इति ज्ञात्वा । एष दृष्टान्तः ॥७।८॥

साम्प्रतमुपनयमाह-

एवं अद्दण्णाइं, ताइं मग्गंति तं समंतेण ।
सो य तहिं संपत्तो, ववरोवितो संजमा तेहिं ॥ ९ ॥

एवं सूपकार इव तस्य साधोर्ये स्वजनाः, तेषां सेनापतिर्मृतः, ततस्तानि स्वजनरूपाणि मानुषाणि (अद्दण्णाइं इति) अशरणानि तं श्रमणीभूतं सेनापतिभ्रातरमात्मीयं समन्ततो मृगयन्ते, स च मृग्यमाणः तत्रैव संप्राप्तः, ततस्तं समुपस्थिताः स्वजनाः, वयं परिजूना भविष्यामो, न च त्वयि नाथे विद्यमाने परिभवोऽस्माकं युक्तः, तस्मात् कुरु प्रसादमित्येवं तैरुपसर्ग्यमाणः संयमाद् व्यपरोपितः ॥ ९ ॥

संप्रति करणद्वारमाह-

सेणावती मतो तू, भाय पिया वा वि तस्स जो आसी ।
अण्णो य नत्थि अरिहो, नवरि इमो तत्थ संपत्तो ॥ १० ॥

सेनापतिर्मृतः, तस्य यो भ्राता पिता वा आसीत् सोऽपि तावद् मृतः, अन्यश्च तस्मिन् गृहे अर्हो योग्यः सेनापतित्वस्य, नास्ति, नवरमयमेव योग्यः, स च तत्र संप्राप्तः ॥ १० ॥

तो कलुणं कंदंता, बिंति अणाहा वयं विणा तुमए ।
मा य इमा सेणावति-लच्छी संकामओ अण्णं ॥ ११ ॥

ततस्तत्संप्राप्त्यनन्तरं ते स्वजनाः करुणं क्रन्दन्तो ब्रुवते-वयमनाथास्त्वया विना । इयं च प्रत्यक्षत उपलभ्यमाना सेनापतिलक्ष्मीरन्यं पुरुषान्तरं मा संक्रामतु ॥ ११ ॥

तं च कुलस्स पमाणं, बलविरियं तुज्झऽधीणमेयं च ।
पच्छा वि पुणो धम्मं, काहिसि दाणिं पसीयाहि ॥ १२ ॥

त्वं च कुलस्यास्य समस्तस्यापि कुलस्य प्रमाणम्, एतच्च बलं हस्त्यादि, वीर्यमान्तरोत्साहः समस्तस्यापि कुलस्य, त्वदधीनं, पश्चादपि त्वं धर्मं करिष्यसि, संप्रति एतदेवार्थये यत् सेनापतिपदप्रतिपत्त्या प्रसीद ॥ १२ ॥

एवं कारुण्णेणं, इड्डीए खोभितो तु सो तेहिं ।
ववरोविज्जइ ताहे, संजमजीयाउ सो तेहिं ॥ १३ ॥

एवमुपदर्शितेन प्रकारेण कारुण्येन, ऋद्ध्या च तैः स्वजनैः स क्षोभितो क्षोभं ग्राहितः, ततो क्षोभग्रहणानन्तरं स तैः

संयमजीविताद् व्यपरोप्यते ॥ १३ ॥ तदेवं करुणाद्वारं व्याख्यातम् ।

अथ रत्नस्थालद्वारमाह-

अविभवअविरेगेणं, विणिक्खंतो पच्छ इड्डिमं जातो ।

थालं वसूण पुण्णं, उवणेंती गेण्हिहमेतं ति ॥ १४ ॥

कदाचित् स व्रती अविभवेन, दारिद्र्येणेत्यर्थः । रिक्थं च पूर्वपुरुषोपार्जितं विरेकुं स्वजनैः तदा नेष्टं, ततोऽविरेकेण च रोषेण गृहान्निर्गत्य प्रव्रजितोऽभवत्, पश्चाच्च स स्वजनवर्गो ज्ञात्यादिक ऋद्धिमान् जातः, ततो वसूनां रत्नानां पूर्णं भृतं स्थालं तस्याऽऽगतस्योपनयन्ति, यथा गृहाण रत्नस्थालमेतदिति ॥ १४ ॥

तस्स वि दट्ठूण तयं, अह लोजकम्मी ततो तु समुदिण्णो ।

ववरोवितो संजमतो, एए दोसा हवंति तहिं ॥ १५ ॥

तस्यापि साधोः तत् रत्नभृतं स्थालं दृष्ट्वा, अथानन्तरं ततो रत्नभृतस्थालदर्शनाद् लोभकलिः समुदीर्णः सत्युदयं प्राप्तः, ततस्तेन संयमाद् व्यपरोपितः । एते दोषास्तत्र ज्ञातविधिगमने भवन्ति ॥ १५ ॥

संप्रति "पमादी" इति व्याख्यानयन् प्रकारान्तरमाह-

अहवा न होज्ज एते, अण्णे दोसा हवंति तत्थ इमे ।

जेहिं तु संजमातो, चालिज्जइ सुट्ठितो ठितओ ॥ १६ ॥

अथवा एतेऽनन्तरोदिता दोषा न भवेयुः, अन्ये इमे वक्ष्यमाणास्तत्र ज्ञातविधिगमने दोषा भवन्ति । यैः सुस्थितोऽपि स्थितकः सन् संयमाच्चाल्यते ॥ १६ ॥

के ते दोषा इत्यतस्तत्संसूचकं द्वारगाथाद्वयमाह-

अक्कंदट्ठाणे ससु-रओवरए पेल्लणाएँ उवसग्गे ।

पंथेरोयणभतए, ओजावेऊ अम्ह कम्मकरा ॥ १७ ॥

छागघातो अणुलोमे, अभिजोग विसे सयं च ससुरेणं ।

पंतवणबंधरुंभण, तं वा ते वाऽतिवाएंति ॥ १८ ॥

आक्रन्दस्थानद्वारं प्रथमम् । द्वितीयं श्वशुरेणापवरके क्षिप्त इति द्वारम् । तृतीयं प्रेरणाद्वारम् । चतुर्थमुपसर्गद्वारम् । पञ्चमं पथि रोदनभृतके भार्या इति द्वारम् । षष्ठमपव्राजनाद्वारम्-यथाऽस्माकमेष कर्मकर आसीत् । सप्तमं छागघातद्वारम् । अष्टममनुलोमद्वारम् । नवममभियोग्यद्वारम् । दशमं विषद्वारम् । ततः स्वयं श्वशुरेण प्रान्तापनबन्धरोधनानि क्रियन्ते, ततः कोपात् तं श्वशुरं सोऽतिपातयेद् विनाशयेत्, ते वा श्वशुरप्रभृतयः तं साधुमतिपातयेयुः, इति एकादशं द्वारमिति द्वारगाथाद्वयसमासार्थः ॥ १७।१८ ॥

साम्प्रतमेतदेव विवरीषुः प्रथमत आक्रन्दस्थानद्वारमाह-

दीसंता * वि हु णाया, पव्वयहिययं पि संपकंपेंति ।

कलुणकिवणाणि किं पुण, कुणमाणा एगसेज्जाए ? ॥ १९ ॥

सेनापतौ मृते स तत्र ज्ञातविधौ गतः, तत्र दृश्यमाना अपि ज्ञातकाः पर्वतहृदयमपि पर्वतस्तद्यमानसमपि साधुं संयमाद् संप्रकम्पयन्ति सत्यमन्तर्लीनीभूय प्रकर्षेण चालयन्ति, किं पुनरेकस्यां शय्यायां वसतौ करुणकृपणानि रोदनानि कुर्वाणाः ?, सुतरां संयमाद् भ्रंशयन्ति ॥ १९ ॥

अक्कंदट्ठाणठितो, तेसिं सोच्चा उ णायगादीणं ।

पुव्वावरत्तरोयण, 'जाय अणाहा' वए को वि ॥ २० ॥

सोऽभिक्रान्तः साधुर्यत्र ते ज्ञातकाः क्रन्दन्ति, तस्मिन्नाक्रन्दस्थाने स्थितः पूर्वरात्रे अपररात्रे च रोदनं तेषां ज्ञातकाऽऽदीनां करुणकृपणं यथा-'जाता वयमनाथाः, भविष्यामः सर्वेषां परिजनाऽऽस्पदम्' इति श्रुत्वा कश्चिद् व्रजेत् प्रव्रज्यां मुञ्चेदित्यर्थः ॥ २० ॥ गतमाक्रन्दस्थानम् ।

अधुना " ससुरउव्वरए " इत्यादि द्वारमाह-

महिलाएँ समं छोढुं, ससुरेणं ढक्कितो उ उव्वरओ ।

णायविहिमागयं वा, पेल्ले उव्वामिगसमाए ॥ २१ ॥

तत्र साधोः श्वशुरकः, तं तत्र समागतं साधुं दृष्ट्वा निजदुहितरं सर्वालङ्कारभूषितां कारयेत्, कारयित्वा च सम्प्रापनाय, भिक्षार्थं वा तत्र समागतेन श्वशुरकेण महेलया भार्यया समपवरके क्षिप्त्वा, अपवरको ढक्कितः-स्थगितद्वारः कृतः । तत्र च उपसर्ग्यमाणः कश्चिदुत्प्रव्रजेत् ।

प्रेरणाद्वारमाह-ज्ञातविधिमागतं च तं साधुं दृष्ट्वा स्वजनवर्गस्तस्य स्वकीयया उद्भ्रामकया भार्यया प्रेरयेत् संयमाद् च्यावयेत् ॥ २१ ॥ गतं प्रेरणाद्वारम् ।

साम्प्रतं चतुर्थमुपसर्गद्वारं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह-

मोहुम्मायकराइं, उवसग्गाइं करेइ से विरहे ।

भज्जा जेहिँ तरू विव, वाएणं भज्जते सज्जं ॥ २२ ॥

भार्या 'से' तस्य स्वजनविधिगतस्य सा विरहे मोहोन्मादकरान् उपसर्गान् आलिङ्गनाऽऽदीन् करोति, यैस्तरुरिव वातेन भज्यते सद्यः ॥ २२ ॥

संप्रति ' पंथरोयणभतए ' इति व्याख्यानमाह-

कइवेण सभावेण य, जतओ भोइं पहम्मि पंतावे ।

हिययं अमुंडियं मे, भयवं पंतावए कुवितो ॥ २३ ॥

साधुर्ज्ञातविधिं गतस्तत्र च लज्जया भिक्षां न हिण्डते, तत उद्भ्रामकभिक्षाचर्यायां गतः, तेषां च ज्ञातकानां क्षेत्रं पथि, तत्र कैतवेन वा स्वभावेन वा तस्य भार्या भृतकेन समं क्षेत्रं गता, तत्र स भृतकः कैतवेन स्वभावेन वा कर्मणि भार्या (?) ॥ २३ ॥

कम्महतो पव्वइतो, जतओ एसऽम्ह आसि मा वंदा ।

उब्भामगए खुद्दे, छागायं तस्स सा देइ ॥ २४ ॥

कदाचित् स प्रव्रजितः कर्मकर आसीत्, ततस्तं बहुजनो दृष्ट्वा ब्रूयात्-यथोऽस्माकं भृतक आसीत्, कर्महतः कर्मभग्नः सन् प्रव्रजितः, तस्माद् मा वन्दिध्वम् ।

छागघातद्वारमाह-उद्भ्रामकके उद्भ्रामकभिक्षाचर्यांगतेऽधिकृते भृतकरूपे साधौ क्षुद्रे मूर्खे तस्य सा भूत्वा छागघातं ददाति, कुपिता सती छागमपि तं घातयतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

अधुनाऽनुलोमोपसर्गमाह-

मा छिज्जउ कुलतंतू, घणगोचारं तु जणय मेगसुयं ।

वत्थनमादीएहिं, अभिजोज्जेउं वसं णेति ॥ २५ ॥

तस्य ज्ञातविधिगतस्य साधोर्ज्ञातविधिरेवं ब्रूयात्-मा छिद्यतां छेदं यायात्, कुलतन्तुः कुलसन्तानः, तस्मात् धनरक्षकमेकं सुतं प्रसादं कृत्वा जनय, पश्चात्पुनर्व्रतं गृह्णीयाः, एवमुक्तः सन् कश्चित् उत्प्रव्रजेत् ।

अधुना अभियोग्यद्वारमाह-वस्त्राऽऽदिकैः, आदिशब्दात् खादिमस्वादिमाऽऽदिविशेषपरिग्रहः । तैरभियोज्य वशीकृत्य स्वजनस्तमात्मवशं नयन्ति ॥ २५ ॥

* " दीसंता " इति पाठान्तरम् ।

विषद्वारमाह-

नेच्छंति देवरा मे, जीवंते इमम्मि इति विसं देज्जा ।
अण्णेण व दावेज्जा, ससुरो वा से करेइ इमं ॥ २६ ॥

तं ज्ञातविधिगतं साधुं दृष्ट्वा तज्जायेदं विचिन्तयेत्-अस्मिन् जीवति मां देवरा भोक्तृतया नेच्छन्ति, तस्मान्मारयामि केनाप्युपायेन चैनमिति विचिन्त्य स्वयं वा विषं दद्यात्, अन्येन वा दापयेत् । 'सयं च ससुरेण' इत्यादिद्वारमाह-'से' तस्य साधोः श्वशुरो वा स्वयमिदं कुर्यात् ॥ २६ ॥

किं तदित्याह-

पंतावणबंधरुंभण, तस्स वि नीयल्लगा उ खुब्भेज्जा ।
अहवा कसाइतो तु, सो व अतिवाएज्ज एक्कतरं ॥२७॥

श्वशुरस्तं दृष्ट्वा क्षुभ्येत्, यथा-एतेन मम दुहिता जीवदुत्सर्गी-कृता, ततः कोपात् तस्य साधोः प्रन्तापणं प्रहारदानं, बन्धनं वा निगडाऽऽदिभिः, रोधं वा गृहाद्नगराद्वा अनिर्गमनं कुर्यात्, कारयेद् वा । तस्यापि च साधोः, निजका आत्मीयाः, तमेतामवस्थां प्राप्तं दृष्ट्वा, ज्ञात्वा वा क्षुभ्येयुः, क्षोभाच्च श्वशुरेण समं युद्धं कुर्युः, तत्र परस्परमपद्रावणाऽऽदि भूयात् । अथवा स एव साधुः कषायितः कषायोदयं प्राप्तः सन् एकतरं श्वशुराऽऽद्यन्यतममतिपातयेत् ॥२७॥

अत्र प्रायश्चित्तविधिमाह-

एक्कम्मि दोसु तीसु व, मूलऽणवट्ठो तहेव पारंची ।
अह सो अतिवाएज्जइ, पावइ पारंचियं ठाणं ॥ २८ ॥

एकस्मिन्नतिपातिते मूलप्रायश्चित्तभाग् भवति, द्वयोरतिपातितयोरनवस्थाप्यः, त्रिषु अतिपातितेषु पाराञ्ची । अथ स एव अतिपात्यते साधुस्तर्हि स यदि कथमपि जीवति ततः पाराञ्चितं स्थानं प्राप्नोति ॥२८॥

अन्यान् दोषानाह-

अहवा वि धम्मसड्ढा, साहू तेसिं घरे न गेण्हंति ।
उग्गमदोसाऽऽदिभया, ताहे नीया भणंति इमं ॥ २९ ॥

अथ चेति प्रकारान्तरेण दोषकथनोद्द्योतने, साधवो धर्मश्रद्धा उद्गमदोषाऽऽदिभयात् तेषां गृहे न किमपि गृह्णन्ति, ततस्ते निजाः स्वजना इदं भणन्ति ॥२९॥

किं तदित्याह-

अम्हं अणिच्छमाणो, आगमणे लज्जणं कुणति एसो ।
ओहावणं हिंडंते, अण्णो लोगो व णं भणति ॥३०॥

अस्माकं गृहे किमप्यनिच्छन् एष आगमने लज्जनमयशस्कारं करोति । यतः-अस्मिन् प्रतिगृहमन्यत्र भिक्षां हिण्डमाने महती नूनमस्माकमपभ्राजना, लोको वाऽन्य इदं भणति ॥३०॥

किं तदित्याह-

नीयल्लस्स वि भत्तं, न तरइ दाउं ति तुज्झे किवणा त्ति ।
गेहे भुंजसु तुत्ते, भणाति नो कप्पियं भुंजे ॥ ३१ ॥

तं साधुं भिक्षामटन्त दृष्ट्वा केचित् अन्ये स्वजनान् प्रति ब्रूयुः-यथा यूयं कृपणा निजकस्याप्येकस्य प्राघूर्णकाऽऽगतस्य भक्तं दातुं न शक्नुथ, ततस्ते एवमुक्ताः सन्तः साधुसमीपमागत्य ब्रुवते-यावन्ति दिनानि यूयमत्र तिष्ठथ, तावदस्माऽन्यत्र भिक्षामटत, किं तु गृहे भुङ्ध्वम्, अन्यत्र भिक्षाटने हि महत्यस्माकमपभ्राजना । स एवमुक्तः साधुर्भणति-युष्मद्गृहे न भुञ्जे, यतः अहं कल्पिकं भुञ्जे, युष्मद्गृहे च उद्गमाऽऽदिदोषाऽऽशङ्का ॥३१॥

एवमुक्ते ते स्वजनाः प्राऽऽहुः-

किं तं ति खीरमादी, ददामो दिन्ने य जातिभज्जाओ ।
बेंति सुते जायंते, पडिया णे करा बहू पुत्ता ! ॥३२॥

किं तत् कल्पिकं यत्त्वं भुङ्क्षे, ततः साधवो ब्रुवते-यानि युष्माकं यथाप्रवृत्तानि क्षीराऽऽदीनि क्षीरदधिघृतगुडाऽऽदीनि, ततस्ते आहुः-एतानि यथाप्रवृत्तानि दास्यामः । गाथायां "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" ॥ ३ । ३ । १३१ ॥ इति वचनात् ते दातुं प्रवृत्ताः, ततो दत्ते क्षीराऽऽदिके भ्रातृभार्याः सुतान् क्षीराऽऽदीनि याचमानान् प्रति ब्रुवते-हे पुत्राः ! बहवोऽस्माकं कराः पतिताः ॥३२॥

तानेवाऽऽह-

दहिघयगुलतेल्लकरा, तक्ककरा चेव पाडिया अम्हं ।
रायकरपेल्लियाणं, समणकरा दुक्करा वोढुं ॥ ३३ ॥

दधिकरघृतकरगुडकरतैलकराः, तथा तक्रकराश्च, अस्माकं पातिताः श्रमणैः । राजकरा अस्माकमपतन्, तैः सदैव प्रेरिता वयं वर्तामहे, परं राजकरप्रेरितानामस्माकमयं श्रमणकरो दुष्करो वोढुमिति, प्रभूतसर्वापहरणात् ॥३३॥

एए अन्ने य तहिं, नायविहिगमणे होंति दोसाओ ।
तम्हा उ न गंतव्वं, कारणजाते भवे गमणं ॥ ३४ ॥

एते अनन्तरोदिताः, अन्ये चानुक्ताः, तत्र ज्ञातविधिगमने, दोषा भवन्ति, तस्माद् ज्ञातविधौ न गन्तव्यम् । एष उत्सर्गः । कारणे पुनर्ग्लानत्वाऽऽदिलक्षणे जाते पुनरपवादतो गमनं भवेत् ॥३४॥

तदेवाऽऽह-

गेलण्णकारणेणं, पाउग्गामति तहिं तु गंतव्वं ।
जे उ समत्थुवसग्गे, सहिउं ते जंति जयणाए ॥ ३५ ॥

ग्लानत्वकारणेन अन्यत्र प्रायोग्यस्य औषधाऽऽदेरसत्यभावे, उपलक्षणमेतद्-वैद्याभावे च तत्र गन्तव्यम् । तत्र वैद्यस्य, प्रायोग्यस्य औषधस्याऽऽसनाऽऽदेश्च प्राप्यमाणत्वात्, तत्र ये उपसर्गान् सोढुं समर्थाः, ते यतनया वक्ष्यमाणया यान्ति गच्छन्ति ॥३५॥

तामेव यतनामाह-

बहिए अणापुच्छाए, लहुगा लहुगो य दोच्चऽणापुच्छा ।
आयरियस्स वि लघुका, अपरिच्छियपेसवंतस्स ॥३६॥

अत्र इदं सूत्रं पतति-" नो से कप्पति थेरे अणापुच्छित्ता नायविहिं एत्तए " इत्यादि । तत्र यदि बहिः स्थविराणामनापृच्छया व्रजति, ततस्तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, स्थविरान् आपृच्छ्य तैर्विसर्जितो यदि द्वितीयस्थविरान् अनापृच्छ्य व्रजति, ततो द्वितीयानापृच्छायां मासलघु, आचार्योऽपि यदि अपरीक्षितान् प्रेषयति, ततस्तस्यापरीक्षितान् प्रेषयतश्चत्वारो लघुकाः प्रायश्चित्तम् ॥३६॥

तम्हा परिच्छियव्वो, सज्झाए चेव भिक्खभावे य ।
थिरमथिरजाणणट्ठा, सो उववाएहिं मेहिं तु ॥ ३७ ॥

यत एवमपरीक्षितप्रेषणे प्रायश्चित्तं, तस्मात् स्थिरास्थिरज्ञानार्थं

स्वाध्याये भिक्षाभावे च परीक्षितव्यः स धर्मश्रद्धयाऽऽ- कर्षणार्थैः ॥ ३७ ॥

तानेवाऽऽह-

चरणकरणस्स सारो, भिक्खायरिया तहेव सज्झाओ ।
एत्थ परितम्ममाणे, तं जाणसु मंदसंविग्गं ॥ ३८ ॥

चरणं व्रतश्रमणधर्माऽऽदि । उक्तं च-"वयसमणधम्म संजम- वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ । णाणाइतियं तवो-कोहनिग्गहा इइ चरणमेयं ॥ १ ॥" (सम्म० ३ काण्ड) करणं पिण्डविशुद्ध्या- दि । उक्तं च-"पिंडविसोही समिती,भावण पडिमा य इंदिय- निरोहो । पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु ॥१॥" (ग० १ अधि०) तस्य चरणकरणस्य सारो भिक्षाचर्या, स्वा- ध्यायश्च; ततोऽत्र भिक्षाचर्यायां, स्वाध्याये च परिताम्यति क्लेशं मन्यते, तं जानीत मन्दसंविग्नम् ॥३८॥

चरणकरणस्स सारो, भिक्खायरिआ तहेव सज्झाओ ।
एत्थ उ उज्जममाणे, तं जाणसु तिव्वसंविग्गं ॥ ३९ ॥

चरणकरणस्य सारो भिक्षाचर्या, तथैव स्वाध्यायः, ततोऽत्र भिक्षाचर्याऽऽदावुद्यच्छति, तं जानीत तीव्रसंविग्नं, तदेवं स्थि- रास्थिरपरीक्षार्थं परीक्षा उक्ता ॥३९॥

संप्रति किमेष उपसर्गे सहिष्णुः,किं वा न ?, इति परीक्षार्थमाह-

कइवेण सहावेण य, अण्णस्स व साहसं कहिज्जंते ।
मायपितिभायभगिणी-भज्जापुत्ताऽऽदिएसुं तु ॥ ४० ॥

यथा स शृणोति तथा कैतवेन स्वभावेन वा अन्यस्य साधोः मातापितृभ्रातृभगिनीभार्यापुत्राऽऽदिषु विषये साध्वसं कथ्यते ॥४०॥

केन प्रकारेण ?, इत्यत आह-

सिरकोट्टणकलुणाणि य, कुणमाणाइं तु पायवडियाइं ।
अमुएण न गणियाइं, जो जंपति निप्पिवासो त्ति ॥४१॥

मातापित्रादीनां शिरःकुट्टनकरुणरोदनभाषणानि क्रियमाणानि पादपतितानि वाऽमुकेन न गणितानि, एवं साध्वसे कथ्यमाने, यो जल्पति-अतीव खलु निष्पिपासो घोरहृदयः, न युज्यते तादृशेन सह वक्तुमपीति ॥४१॥

सो भावतो पडिबद्धो, अपडीबद्धो वएज्ज जो एवं ।
सोइहिति केत्तियाऊ, नीया जे आसि संसारे ? ॥४२॥

स भावतः स्वज्ञातेषु प्रतिबद्धो ज्ञातव्यो, न शक्तः स सोढु- मुपसर्गानिति । यस्तु तथा साध्वसे कथ्यमाने, एवं ब्रूते- संसारे सर्वजीवाः सर्वेषां पुत्रत्वाऽऽदिकमुपगताः, ते आसीरन् संसारेऽनन्ते निजाः,तान् कियतः स शोचयिष्यति ?, किं वा मातापित्रादिभिः शोचितैर्ये निजान् संसाराद् न च संयमे पातयन्ति ? । स ज्ञातव्यो भावतः स्वजनेष्वप्रतिबद्धः समर्थः सोढुमुपसर्गानिति ॥४२॥

मुहरागमादिएहि य, तेसिं नाऊण रागवेरग्गं ।
नाऊण थिरं ताहे, ससहायं पेसवेंति ततो ॥ ४३ ॥

यस्य ज्ञातविधिविनिर्गमयोः शोभनो मुखरागः, स ज्ञायते स्वजनेषु भावतः प्रतिबद्धः, उपसर्गासहिष्णुश्च; यस्य तु न तथाविधो मुखरागः स्पष्टो लक्ष्यते स ज्ञेयो भावतः स्व- जनेष्वप्रतिबद्धः, सहिष्णुश्च उपसर्गान् । एवं मुखरागाऽऽदिभि- स्तेषां ज्ञातविधि गन्तुमिच्छतां रागं वैराग्यं च, तथा स्थि- रगुणलक्षणमस्थिरं च ज्ञात्वा, ततः स्थिरं भावतः स्वजने- ष्वप्रतिबद्धं ससहायं सूरयः प्रेषयन्ति ॥४३॥

साम्प्रतमल्पश्रुताऽल्पाऽऽगमपदव्याख्यानार्थमाह-

अप्पबहुस्सुतो अगीतो, बाहिरसत्थेहिँ विरहितो इयरो ।
तव्विवरीए गच्छे, तारिसगसहायसहितो वा ॥ ४४ ॥

अबहुश्रुतो नामाल्पश्रुतः, स चागीतार्थ उच्यते, इतरोऽ- ल्पागमो यो बाह्यशास्त्रैर्विरहितः, एतादृशो न गच्छेत् स्वजन- विधौ, किं तु तद्विपरीतो बहुश्रुते बह्वागमश्च, यदि वा-स्व- यमल्पश्रुतोऽल्पाऽऽगमो वा तादृशसहायकसहितः ॥४४॥

बहुश्रुतविशेषमाह-

धम्मकहीवादीहि य, तवस्सिगीएहिँ संपरिवुडो उ ।
नेमित्तिएहिँ य तहा, गच्छइ सो अप्पछट्ठो उ ॥४५॥

धर्मकथिभिर्धर्मप्रभृतिभिः वादकुशलैः तपस्विभिः षष्ठाष्ट- माऽऽदितपःकारिभिर्गीतार्थैः सूत्रार्थतदुभयनिष्णातैर्नैमित्तिकै- श्च संपरिवृतो गच्छेत् । अथ धर्मकथादयो बहवो न सन्ति,ततो- ऽवश्यतोऽप्येकैकधर्मकथ्यादिसहाय आत्मषष्ठो व्रजेत् ॥४५॥

तत्र प्रवेशविधिमाह—

पत्ताण वेल पविसण, अह पुण पत्ता पगे जविज्जाहि ।
तं बाहिरं ठवेउं, वसहिं गेण्हंति अन्नत्थ ॥ ४६ ॥

यदि वेलायां स्थानं प्राप्तास्तर्हि समकालमेव सर्वेषां प्रवेशन- म् । अथ पुनः प्रगे प्रभात एव प्राप्ता भवेयुस्तदा तं स्वजनं बहिः स्थापयित्वा वसतिमन्यत्र गृह्णन्ति ॥४६॥

पडिपत्तीकुसलेहिं, सहितो ताहे तु वच्चए तहियं ।
वास पडिग्गहगमणं, नातिसिणेहाऽऽसणग्गहणं ॥४७॥

अन्यत्र वसतौ गृहीतायां प्रतिपत्तिकुशलैः सहितस्ततो बहिः- स्थानात् तत्र वसतौ व्रजति, तत्र तावदावासो यावद्भिक्षा- वेलाः,ततः पतद्ग्रहं गृहीत्वा गमनं विधेयम् । तत्र यदि प्राप्तायां भिक्षावेलायां पतद्ग्रहं गृहीत्वा व्रजन्ति, तदा तत्कालमेव गृह्ण- न्ति भक्ताऽऽदिकम्,अथ भिक्षावेलायामप्राप्तायां तत्र पतद्ग्रहं गृ- हीत्वा व्रजन्ति, निमन्त्रयन्ति च ते, तदा तत्क्षणमेव पल्लभन्ते तद् गृह्णन्ति । अथ मुहूर्त्तानुगुण्यतः कृतभिक्षाकाः तत्र गताः,त- र्हि यत्र पतद्ग्रहं न नयन्ति, तत्र च गत्वा नातिस्नेहः स्वज्ञा- तकानां दर्शनीयः, यदि पुनरतिस्नेहं दर्शयति, ततः-अनुरक्तो- ऽस्माकमिति ज्ञात्वा ते उपसर्गयेयुः । तथा तत्र गतेनाऽऽसन- परिग्रहः कर्तव्यः, न पुनरेवं चिन्तनीयम्-" आसंदीपलियंकेसु, मंचमासालएसु वा । अणायरियमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा ". ॥१॥ ( ) आसनपरिग्रहाभावे हि अपभ्राजना भवति । तस्मादासने उपवेष्टव्यम् ॥४७॥

सयमेव उ धम्मकही, सासणपच्चे य निम्मुहे कुणति ।
अपडुपसे य तहिं, कहेइ तल्लद्धिओ अण्णो ॥४८॥

यदि स स्वज्ञातिकसाधुः धर्मकथायां कुशलप्रायः शासनप्रत्य- नीकांश्च निरुत्तरान् कर्तुं समर्थः, ततः स्वयमेव तस्य धर्मकथा कथनीया भवति । अथ सोऽप्रत्युत्पन्नोऽनागमिकः प्रतिपत्ति- कुशलो वा तदा तस्मिन्नप्रत्युत्पन्नेऽन्यस्तल्लब्धिको धर्मकथाल- ब्धिसम्पन्नः प्रत्युत्तरदानलब्धिसंपन्नश्च कथयति ॥४८॥

पल्लिया य पोडमहा, पव्वज्जाए य थिरनिमित्तं तु ।

पावयापुत्तेणं, आहरणं तत्थ कायव्वं ॥ ४९ ॥

"पीढमद्दा नाम सुत्तत्थियअंपणा, ते पव्वज्जाओगाबणायवयणाणि भणिज्जंति, ते य पाडुच्चाकुलसेणं कइयवं मासिया माइया भवंति" इति चूर्णिः । स्थिरीकरणनिमित्तं तत्र धर्मकथायां थावर्चापुत्रेण ज्ञाताधर्मकथाप्रसिद्धेनाऽऽहरणं कर्तव्यम् ॥४९॥

कहिए व अकहिए वा, आणणहेउं अइंति भत्तघरं ।
पुव्वाउत्तं तहियं, पच्छाउत्तं व जाणंति ॥ ५० ॥

धर्मे कथिते, अकथिते वा भिक्षाग्रहणवेलायामुक्तमाऽऽदिबुद्धिज्ञानार्थं भक्तगृहं महानसं प्रविशन्ति, प्रविश्य च यत्तत्र पूर्वायुक्तं पूर्वप्रवृत्तमुपस्क्रियमाणं, पश्चादायुक्तं यत्तेषु साधुष्वागतेषु तन्निमित्तमुपस्क्रियमाणं तत्परिभावयन्ति ॥५०॥

पूर्वायुक्तमित्यत्र व्याख्यानद्वयं परमतेन दर्शयति-

पुव्वाउत्ताऽऽकहिते, केसिं वि समीहियं तु जं तत्थ ।
एए न होंति दोण्णि वि, पुव्वपवत्तं तु जं तत्थ ॥ ५१ ॥

केचिद् व्याचक्षते-पूर्वायुक्तं नाम चुल्ल्यां पाकार्थमारोपितम् । केचित्पुनरिदं व्याख्यानम्-यत्तत्र समीहितं पाकाय ढौकितम् । एतौ द्वावप्यादेशौ प्रमाणं न भवतः, तस्मादिदं व्याख्यानम्-यत्तत्र गृहस्थानां पूर्वप्रवृत्तमुपस्क्रियमाणं तत्पूर्वायुक्तमिति ॥५१॥

अथ कस्मादिदमादेशद्वयं न प्रमाणमत आह-

पुव्वाऽऽरुहिते य समी-हिए य किं वुज्जइ न खलु अप्पं ? ।
तम्हा खलु जं भणियं, तं तु पमाणं न इतरं तु ॥ ५२ ॥

पूर्वं चुल्ल्यामारोपिते समीहिते वा किं न क्रियते ?, इति भावः । तस्मात् खलु यदुचितं व्याख्यानं, तत्प्रमाणं, नेतरत् परकीयमादेशद्वयम् ॥५२॥

बालगपुच्छाऽऽदीहिं, नाउं आयरमणायरेहिं च ।
जं जोग्गं तं गेण्हइ, दव्वपमाणं च जाणेज्जा ॥५३॥

बालकपृच्छाऽऽदिभिरादिशब्दाद् बालकोल्लापाऽऽदिपरिग्रहः पिण्डनिर्युक्तिप्रसिद्धैः, तथा आदरानादराभ्यां च योग्यमयोग्यं विज्ञाय तत्र च यद् योग्यं श्रमणप्रायोग्यं प्रतिभाति तत् गृह्णाति चरकृपणः । द्रव्यप्रमाणं च जानीयात्-कियत् कुटुम्बमभ्यन्तरा?, भोजनं कियद् वा रद्धमित्येवं यद् यावत् प्रायोग्यं प्रतिभासते, तावद् गृह्णीयात् ॥५३॥

संप्रत्येतदेव सविशेषतरमाह-

दव्वपमाणं गणणा, खारिय फोडिय तहेव अद्धा य ।
संविग्ग एगठाणे, अणेगसाहूसु पन्नरस ॥ ५४ ॥

द्रव्यं प्रमाणं नाम द्रव्याणां गणना । यथा-एतावन्तोऽत्रौदनभेदाः, एतावन्ति च शाकविधानानि, इयन्तश्च खाद्यविशेषाः, एतावन्ति च द्राक्षापानकाऽऽदीनि, तथा क्षारितानि लवणखरण्टितानि शालनकानीत्यर्थः । स्फोटितं जीरकहिङ्गुधूपवासितम् । एतत्सर्वं ज्ञातव्यम् । तथा अद्धा कालो भिक्षाया ज्ञातव्यः, अन्यथाऽप्यष्वष्कणाऽऽदयो दोषाः स्युः । तथा संविग्ना एकस्थाना एकसङ्घाटकाः प्रविशन्ति, ततः कल्पते, अनेकसाधुषु अनेकेषु साधुसङ्घाटेषु प्रविशत्सु न कल्पते, यतस्तत्र नियमादाधाकर्मसहिता औद्देशिकाऽऽदयः पञ्चदश दोषाः ॥ ५४ ॥

एतदेव विवरीषुः प्रथमतो द्रव्यप्रमाणमाह-

सयविहमोदणो खलु, साली वीही य कोद्दवे जवे य ।
गोहुमरालगअरि-छकूर खज्जा यऽणेगविहा ॥ ५५ ॥

शतविधो, शकारोऽलाक्षणिकः, ओदनः कूरः, तथा-शालिः कलमशाल्यादिकूरः, व्रीहिः सामान्यतन्दुलौदनः, कोद्रवकूरो, यवकूरः, गोधूमकूरो, रालककूरः, अरण्यकाऽरण्यव्रीहिकूरश्च, खाद्यानि च अनेकविधानि ॥५५॥

सागविहाणा य तहा, खारियमादीणि वंजणाइं वा ।
खंडाऽऽदिपाणगाणि य, नाउं तेसिं तु परिमाणं ॥५६॥

शाकविधानानि प्राजमनकानि, क्षारिताऽऽदीनि, आदिशब्दात् स्फोटितपरिग्रहः, व्यञ्जनानि, तथा खण्डान, पानकानि, आदिशब्दाद् द्राक्षाऽऽदिपरिग्रहः । तेषामोदनाऽऽदीनां परिमाणं ज्ञात्वा ॥ ५६ ॥

किमिति ?, आह-

परिमियजत्तगदाणे, दसुवक्खडियम्मि एगभत्तट्ठो ।
अपरिमिते आरेण वि, गेण्हइ एवं तु जं जोग्गं ॥५७॥

परिमितभक्तदाने परिमितानां भक्तकर्मनिर्दातव्यमिति निश्चये यावद्दशानां योग्यमुपस्कृतं तावत्यकभक्तार्थो ग्राह्यः; एकयोग्यं तत्र भक्तं ग्राह्यमिति भावः । अपरिमिते अपरिमितभक्तदाने दशानामारतोऽपि नवानामष्टानां वा योग्यं यदुपस्कृतम्, तत्रैवं स्थानपरिमाणचिन्ताव्यतिरेकेण यद् योग्यं तद् यावत् पर्याप्तं गृह्णाति ॥५७॥

अद्धा य जाणियव्वा, इहरा ओमकणाऽऽदयो दोसा ।
संविग्गे संघाडो, एगो इयरेसु न विसंता ॥ ५८ ॥

अद्धा भिक्षावेला ज्ञातव्या, इतरथाऽप्यष्वष्कणाऽऽदयो दोषा भवेयुः । तथा 'संविग्गे' संविग्नानामेकः सङ्घाटो यत्र प्रविशति तत्र गन्तव्यम् । इतरेषु यत्र बहवः सङ्घाटकाः प्रविशन्ति, तत्र न गच्छन्ति ॥५८॥

तहिं गिलाणगस्सा, अट्ठागमाइं हवंति सव्वाइं ।
अब्भंगसिरावेहो, अपाणछेयावणेज्जाइं ॥ ५९ ॥

यदि स्वजनानां संबन्धी कोऽपि ग्लानो वर्तते, ततस्तस्य चिकित्सां वैद्यः करोति । यदि वा-वैद्यः साधुस्वजनानां, स्वजनोऽन्यस्य कस्यापि ग्लानस्य क्रियां करोति, ततस्तत्र ग्लानो ज्ञातविधि नीयते, यतस्तत्र ग्लानस्याभ्यङ्गं शिरावेधोऽपानमपानकर्म छेदेनापनीयानि छेदापनीयानि, एतानि सर्वाणि यथाकृतानि-पुरःकर्मपश्चात्कर्मरहितानि भवन्ति ॥५९॥

एतदेव स्पष्टं भावयति-

जइ नीयाण गिलाणो, नीओ विज्जो व कुणइ अन्नस्स ।
तत्थ हु न पच्छकम्मं, जायइ अब्भंगमाईसु ॥ ६० ॥

यदि निजकानां संबन्धी ग्लानो, वैद्यो वा निजकोऽन्यस्य कुरुते चिकित्सां, तत्र 'हु' निश्चितं, न पश्चात्कर्माभ्यङ्गाऽऽदिषु जायते ।

कथं न जायते ?, इत्याह-

पुव्वं च मंगलट्ठा, उप्पेउं जइ करेइ गिहियाणं ।
सिरवेधवत्थिकमा-इएसु न उ पच्छकम्मोऽयं ॥ ६१ ॥

पूर्वं यदि मङ्गलार्थं साधो 'उप्पेयं' देशीपदमेतत्-अभ्यङ्गं कृत्वा, पश्चाद् गृहिकाणां गृहस्थानां करोत्यभ्यङ्गम्, एतत् पश्चात्कर्म

न भवति । एवं शिरावेधवस्तिकर्माऽऽदिष्वपि पूर्वं साधौ कृत्वा पश्चाद् गृहस्थेषु क्रियमाणेषु न पश्चात्कर्म ॥६१॥

अपच्छा उवणीया, ओसहमाई हवंति ते चेव ।
पच्छाऽऽहारो य तहिं, अहाकडो होइ साहुस्स ॥ ६२ ॥

आत्मार्थं यान्युपनीतानि औषधाऽऽदीनि गृहस्थैः, तान्येव साधोरपि भवन्ति, पथ्याऽऽहारोऽपि च तत्र साधोर्यथाकृतो भवति, न ततः पश्चात्कर्म ॥६२॥

अगिलाणे उ गिहिम्मी, पुव्वुत्ताए करेंति जयणाए ।
असइस्स पुण असंभे, नायविहिं नेंति अन्नतरं ॥ ६३ ॥

यदि निजकानां संबन्धी न कश्चिद् ग्लानो, नाऽपि निजको वैद्योऽन्यत्र चिकित्सां करोति, तदा गृहिणि गृहस्थे अग्लाने, अन्यत्र पूर्वोक्तया यतनया-पूर्वं कल्पाध्ययने ग्लानसूत्रे चिकित्सा यतना उक्ता, तया चिकित्सां कुर्वन्ति । यथाऽन्यत्रौषधीनां लाभो नास्ति । तत आह-अन्यत्र पुनरौषधीनामलाभे ज्ञातविधिमन्यतरं तं ग्लानं नयन्ति । तदेवं ग्लानविधिरप्युक्तः ॥६३॥

सम्प्रति साम्भोगिकचिन्तायामागमनविधिमाह-

अहुणा तु लाजचिंता, तत्थ गयाणं इमा हवइ तेसिं ।
जइ धम्मकहाऽऽयरिय-स्स होंति तो मग्गणा नऽत्थि ॥६४॥

अधुना तेषां तत्र गतानां ज्ञातविधौ गतानामियं लाजचिन्ता भवति । यदि ते धर्मकथ्यादयः सर्वेऽप्येकस्याऽऽचार्यस्य भवन्ति, तर्हि नाऽस्ति मार्गणा; सर्वेषामाचार्यस्याऽऽभवनीति भावः ॥६४॥

संनायमंती अहवा, असण्णायगा जे वितीयगा नीया ।
तत्थ इमा मग्गणा ऊ, आभव्वे होइ नायव्वा ॥ ६५ ॥

सञ्ज्ञातो नाम-सन्ति साधवः, परं न धर्मकथाऽऽदिषु कुशलाः, असञ्ज्ञातो-मूलत एव न सन्ति साधवः । एवं सञ्ज्ञातेनासञ्ज्ञातेन वा येऽन्यगणसत्का द्वितीयका नीताः, तेषामियमाभाव्ये मार्गणा भवति ज्ञातव्या ॥६५॥

तामेवाऽऽह-

जं सो उवसामेती, तन्निस्साए य आगया जे तु ।
ते सव्वे आयरितो, लजते पव्वायगो तस्स ॥ ६६ ॥

स ज्ञातविधिमागतः सन् यमुपशमयति प्रव्रज्यापरिणामं ग्राहयति, ये च तन्निश्रया तस्य ज्ञातविधिमागतस्य निश्रया-स्वजनोऽस्माकमिति बुद्ध्या तत्समीपमागताः, तान् सर्वान्, यो ज्ञातविधिं द्रष्टुमागतः, तस्य सत्कोऽयं प्रव्राजक आचार्यः, स लभते ।

जे पुण अह भावेणं, धम्मकही सुंदरो त्ति वा सोउं ।
आउ-वसामिय तेहिं, तेसिं चिय ते हवंती उ ॥ ६७ ॥

ये पुनः यदि वा ये-सुन्दरो धर्मकथी इति श्रोतुमागताः सन्तः, तैर्धर्मकथाऽऽदिभिरुपशामिताः प्रव्रज्यापरिणामं ग्राहिताः, ते तेषामेव भवन्ति ॥ ६७ ॥

अण्णेहिँ कारणेहि य, गच्छंताणं तु जयणा एसेव ।
ववहारो सेहस्स य, ताइं च इमाईं कज्जाइं ॥ ६८ ॥

अन्यैः स्वजनवन्दापनाय, ग्लानप्रयोजनेन वा ज्ञातविधिं गच्छतां यतना प्रागुक्ता भवति, अन्यैर्वा कारणैर्गच्छतामेवैषा ज्ञातविधिं गच्छतामेषैवाऽनन्तरोदिता यतना-एषैव शैक्षस्य विषये अनन्तरोदित आभवद्व्यवहारः । तानि चाऽन्यानि कारणानि कार्याणीमानि ॥६८॥

तान्येवाऽऽह-

अवमोसिय अप्पायण, ओमे य असंथरंत गच्छेज्जा ।
रमणिज्जं वा खेत्तं, तिकालजोग्गं तु गच्छस्स ॥ ६९ ॥

तपसा विकृष्टेन शोषितस्तपःशोषितः, स्वजनाश्च प्रचुरधनाः, तत आप्यायननिमित्तं सपरिवारो ज्ञातविधिं व्रजेत् । अथवा-अवमं दुर्भिक्षं जातं, ततोऽसंस्तरन्तो ज्ञातविधिं गच्छेयुः, रमणीयं वा तत् क्षेत्रं गच्छस्य त्रिकालयोग्यं, ततो गच्छन्ति ॥६९॥

त्रिकालयोग्यतामेव भावयति-

वासे निच्चिक्खिल्लं, सीयजलं दव पउरमेव गिम्हासु ।
सिसिरे य धणनिवाया, वसही तह घट्ट मट्ठा य ॥ ७० ॥

वर्षे वर्षाकाले 'निश्चिक्खल्लं' कर्दमाभावः, ग्रीष्मेषु ग्रीष्मकाले प्रचुरं शीतलं द्रवं लभ्यते, शिशिरे शीतकाले घनमतिशयेन निर्वाता वसतिर्लभ्यते घृष्टा मृष्टा च ॥७०॥

छिणमंडवयं च तयं, सपक्खपरपक्खनिराहिनोमाणं ।
पत्तेय उग्गह त्ति य, कारणं तत्थ गच्छेज्जा ॥७१॥

यद्यस्मात् क्षेत्रं गन्तव्यं तच्छिन्नमडम्बरूपं, यत्र तु स्वजनाः सन्ति तत्स्वपक्षपरपक्षकृतापमाननिराहितम् । गाथायामपमानशब्दस्याऽन्यथानिपातः प्राकृतत्वात् । प्रत्येकं ग्रामनगराऽऽदीनामवग्रह उपष्टम्भश्च जायते, इति कृत्वा इति हेतोः, तत्र ज्ञातविधौ गच्छेत् ।

सद्धम्मं काहामि य, धम्मं गाहिस्स पव्वयाविस्सं ।
सड्ढाणि व बुग्गाहे, निच्छुगमादी ततो गच्छे ॥ ७२ ॥

धर्मोपदेशं वा स्वजनानां करिष्यामि । यदि वा-धर्मं श्रावकधर्मं ग्राहयिष्यामि । अथवा-ते निष्क्रामितुकामा वर्तन्ते, ततः प्रव्राजयिष्यामि, श्राद्धानि वा तानि कुलानि भिक्षुकाऽऽदिभ्युद्ग्राहयेत्, तत एतैः कारणैर्ज्ञातविधिं गच्छेत् । व्य० ६ उ० ।

णायव्व-ज्ञातव्य-त्रि० । स्वरूपतोऽवबोधव्ये, आव० ५ अ० । उत्त० । दर्श० ।

णायसंग-ज्ञातसङ्ग-पुं० । पुत्राऽऽदिसंबन्धे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । "विबद्धो नायसंगेहिं ।" ज्ञातसङ्गैर्विबद्धो मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदिमोहितः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

णायसंड-ज्ञातखण्ड-न० । कुण्डपुराद् बहिरुद्याने, आ० म० १ अ० २ खण्ड । यत्र वीरस्वामी प्रव्रजितः । आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ० । आ० म० । कल्प० ।

णायागय-न्यायागत-त्रि० । द्विजक्षत्रियविट्शूद्राणां स्ववृत्त्यनुष्ठानलक्षणेन लोकव्यवहारेण न्यायेन प्राप्ते, आव० ६ अ० ।

णायाधम्मकहा-ज्ञाताधर्मकथा-स्त्री० । ज्ञातानि उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा । अथवा-ज्ञातानि ज्ञाताध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कन्धे, धर्मकथा द्वितीये यासु ग्रन्थपद्धतिषु ता ज्ञाताधर्मकथाः, पृषोदराऽऽदित्वात् पूर्वपदस्य दीर्घान्तता । षष्ठेऽङ्गे, (ज्ञा०)

तत्र जम्बूस्वामी सुधर्माणं गणधरमेवं पप्रच्छ-

तते णं से अज्जजंबूणामे जायसड्ढे जायसंसए जायकोउहल्ले संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोउहल्ले उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्नकोउहल्ले समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए समुप्पन्नकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठेति, उट्ठाए उट्ठित्ता जेणामेव अज्जसुहम्मे

थेरे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अज्जसुहम्मे थेरे तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदति, नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता अज्जसुहम्मस्स थेरस्स नच्चासन्ने नाइदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे पंजलिउडे विणएणं पज्जुवासमाणे एवं वयासी–जति णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थगरेणं सयंसंबुद्धेणं पुरिसुत्तमेणं पुरिससीहेणं पुरिसवरपुंडरीएणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगनाहेणं लोगहिएणं लोगपईवेणं लोगपज्जोयगरेणं अभयदएणं चक्खुदएणं मग्गदएणं सरणदएणं बोहिदएणं धम्मदयेणं धम्मदेसएणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं अप्पडिहयवरनाणदंसणधरेणं जिणेणं जावएणं बुद्धेणं बोधएणं मुत्तेणं मोयगेणं तिन्नेणं तारएणं सिवमयलमरूयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तयं सासयं ठाणमुवगएणं पंचमस्स अंगस्स विवाहपन्नत्तीए अयमट्ठे पन्नत्ते । छट्ठस्स णं अंगस्स भंते ! णायाधम्मकहाणं के अट्ठे पण्णत्ते ? । जंबू ! ति अज्जसुहम्मे थेरे अज्जजंबूनामं अणगारं एवं वयासी–एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं छट्ठस्स अंगस्स दो सुयक्खंधा पण्णत्ता । तं जहा–नायाणि य, धम्मकहातो य । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

('णायज्झयण' शब्देऽत्रैव भागे २००६ पृष्ठे 'धम्मकहा' शब्दे च श्रुतस्कन्धाऽध्ययनानि द्रष्टव्यानि)

विषयः–

से किं तं नायाधम्मकहाओ ? नायाधम्मकहासु णं नायाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइया परलोइया इड्डिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ परियाया सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुले पच्चायाइओ पुण बोहिलाभो अंतकिरियाओ आघविज्जंति दस धम्मकहाणं वग्गा । तत्थ णं एगमेगाए धम्मकहाए पंच पंच अक्खाइयासयाइं, एगमेगाए अक्खाइयाए पंच पंच उवक्खाइयासयाइं, एगमेगाए उवक्खाइयाए पंच पंच अक्खाइयासयाइं, एवमेव सपुव्वावरेणं अद्धुट्ठाओ कहाणगकोडीओ हवंति त्ति मक्खायं । नायाधम्मकहाणं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखेज्जा वेढा संखेज्जा सिलोगा संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ संखेज्जाओ संगहणीओ संखेज्जाओ पडिवत्तीओ से णं अंगट्ठयाए छट्ठे अंगे दो सुयक्खंधा एगूणवीसं अज्झयणा एगूणवीसं उद्देसणकाला एगूणवीसं समुद्देसणकाला संखिज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया एवं नाया एवं विन्नाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, सेत्तं नायाधम्मकहाओ ॥ ६ ॥

"से किं तं" इत्यादि । अथ कास्ता ज्ञाताधर्मकथाः ?, ज्ञातानि उदाहरणानि, तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथाः । अथवा-ज्ञातानि ज्ञाताध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कन्धे धर्मकथा, द्वितीये यासु ग्रन्थपद्धतिषु ता ज्ञाताधर्मकथाः, पृषोदराऽऽदित्वात् पूर्वपदस्य दीर्घान्तता । सूरिराह-ज्ञाताधर्मकथासु, णमिति वाक्यालङ्कारे, ज्ञातानामुदाहरणभूतानां, नगराऽऽदीन्याख्यायन्ते । तथा-(दस धम्मकहाणं वग्गा इत्यादि) इह हि प्रथमश्रुतस्कन्धे एकोनविंशतिर्ज्ञाताध्ययनानि । ज्ञातानि उदाहरणानि तत्प्रधानान्यध्ययनानि । द्वितीयश्रुतस्कन्धे दश धर्मकथाः धर्मस्याहिंसाऽऽदिलक्षणस्य प्रतिपादिकाः कथाः धर्मकथाः । अथवा-धर्मादनपेता धर्म्याः, धर्म्याश्च ताः कथाश्च धर्मकथाः । तत्र प्रथमे श्रुतस्कन्धे यान्येकोनविंशतिर्ज्ञाताध्ययनानि, तेषु आदिमानि दश ज्ञातानि ज्ञातान्येव, न तेष्वाख्यायिकाऽऽदिसंभवः । शेषाणि पुनः नव ज्ञातानि, तेष्वेकैकस्मिन् चत्वारिंशानि पञ्च पञ्चाऽऽख्यायिकाशतानि भवन्ति । एकैकस्यां चाख्यायिकायां पञ्च पञ्चोपाख्यायिकाशतानि । एकैकस्यां चोपाख्यायिकायां पञ्च पञ्चाऽऽख्यायिकाशतानि । सर्वसंख्यया एकविंशं कोटिशतं लक्षाः पञ्चाशत् । तत एवं स्थिते प्रस्तुतसूत्रस्याऽवतारः । आह च टीकाकृत्–" इगवीसं कोडिसयं, लक्खा पन्नास चेव होइ बोधव्वा । एवं कए समाणे, अहिगयसुत्तस्स पत्थाओ ॥ १ ॥" द्वितीयश्रुतस्कन्धे दश कथानां वर्गाः, वर्गः समूहो, दशधर्मकथासमुदाय इत्यर्थः । अत एव च दशाध्ययनानि एकस्यां धर्मकथायां, कथासमूहरूपायामध्ययनप्रमाणायां पञ्च पञ्चाऽऽख्यायिकाशतान्येकैकस्यां चाऽऽख्यायिकायां पञ्च पञ्चोपाख्यायिकाशतानि, एकैकस्यां चोपाख्यायिकायां पञ्च पञ्चाऽऽख्यायिकाशतानि, सर्वसंख्यया पञ्चविंशं कोटिशतम् । इह नव ज्ञाताध्ययनसंबद्धाऽऽख्यायिकाऽऽदिसदृशा या आख्यायिकाऽऽदयः पञ्चाशल्लक्षाधिकैकविंशतिकोटिशतप्रमाणाः, ता अस्मात् पञ्चविंशतिकोटिप्रमाणाद्राशेः शोध्यन्ते, ततः शेषा अपुनरुक्ता अर्द्धचतुर्थाः कथानककोट्यो भवन्ति । तथा चाऽऽह-एवमेवोक्तप्रकारेणैव गुणने शोधने च कृते सपूर्वापरेण श्रुतस्कन्धाः पूर्वापरश्रुतस्कन्धकथाः समुदिता अपुनरुक्ताः (अद्धुट्ठाओ त्ति) अर्द्धचतुर्थाः कथानककोट्यो भवन्तीत्याख्यातं तीर्थकरगणधरैः । आह च टीकाकृत्–

" पणवीसं कोडिसयं, एत्थ य समलक्खणा इमा जम्हा ।
नव नायासंबद्धा, अक्खाइयमाइया तेणं ॥ १ ॥
ता सोहिज्जंति फुडं, इमाओ रासीओ वेगलाणं तु ।
पुणरुत्तवज्जियाणं, पमाणमेयं विणिद्दिट्ठं ॥ २ ॥"

तथा "नायाधम्मकहाणं परित्ता वायणा" इत्यादि सर्वं प्राग्वद् भावनीयम्, यावन्निगमनं, नवरं संख्येयानि पदसहस्राणि, पदाग्रेण पदपरिमाणेन च तानि पञ्च लक्षाः षट्सप्ततिसहस्राः, पदमपि चात्रोपसर्गिकं, नैपातिकं, नामिकमाख्यातिकं, मिश्रं चेति

वोद्धव्यम् । तथा चाऽऽह चूर्णिकृत्-"पयग्गेणं ति-उवसग्गपयं, निवायपयं, नामियपयं, अक्खायपयं, मिस्सपयं च । एए पए अहिकिच्च पंचलक्खा छावत्तरिसहस्सा पयग्गेणं भवंति ।" अथवा-इह एवं सूत्रालापकरूपमुपगृह्यते, ततः तथारूपपदापेक्षया संख्येयानि पदसहस्राणि भवन्ति, न लक्षाः । आह च चूर्णिकृत्-"अथवा सुत्तालावगपयग्गेणं संखेज्जाइं पयसहस्साइं भवंति त्ति ।" नं० । स० । आव० । अनु० । सूत्र० । ग्रन्थान्ते टीकाकारोऽभयदेवसूरिः-समाप्ता चेयं ज्ञाताधर्मकथाप्रदेशटीकेति ।

"नमः श्रीवर्द्धमानाय, श्रीपार्श्वप्रभवे नमः ।
नमः श्रीमत्सरस्वत्यै, सहायेभ्यो नमो नमः ॥ १ ॥
इह हि गमनिकार्थं, यन्मयाऽव्यूहयोक्तम्,
किमपि समयहीनं, तद्विशोध्यं सुधीभिः ।
न हि भवति विधेया सर्वथाऽस्मन्नुपेक्षा,
दयितजिनमतानां तायिनां वाक्प्रवर्गे ॥ २ ॥
परेषां दुर्लक्षा भवति हि विवक्षा स्फुटमिदं,
विशेषाद्वृद्धानामतुलवचनज्ञानमहसाम् ।
निराम्नायाधीभिः पुनरतितरां मादृशजनैः,
ततः शास्त्रार्थे मे वचनमनघं दुर्लभमिह ॥ ३ ॥
ततः सिद्धान्ततत्त्वज्ञैः, स्वयमूह्यः स यत्नतः ।
न पुनरस्मदाख्यात, एव ग्राह्यो नियोगतः ॥ ४ ॥
तथाऽपि माऽस्तु मे पापं, सङ्घभक्त्युपजीवनात् ।
वृद्धन्यायानुसारित्वात्, हितार्थं च प्रवृत्तितः ॥ ५ ॥
तथाहि किमपि स्फुटीकृतमिह स्फुटेऽप्यर्थतः,
सकष्टमतिदेशतो विविधवाचनातोऽपि यत् ।
समर्थपदसंश्रयाद्विगुणपुस्तकेभ्योऽपि यत्,
पराऽऽत्महितहेतवेऽनभिनिवेशिना चेतसा ॥ ६ ॥
यो जैनाभिमतं प्रमाणमनघं व्युत्पादयामासिवान्,
प्रस्थानैर्विविधैर्निरस्य निखिलं बौद्धाऽऽदिसंबन्धि तत् ।
नानावृत्तिकथाः कथापथमतिक्रान्तं च चक्रे तपो,
निःसंबन्धविहारमप्रतिहतं शास्त्रानुसारात्तथा ॥ ७ ॥
तस्याऽऽचार्यजिनेश्वरस्य मदवद्वाद्यादिप्रतिस्पर्द्धिनः,
तद्बन्धोरपि बुद्धिसागर इति ख्यातस्य सूरेर्भुवि ।
छन्दोबन्धनिबद्धबन्धुरवचःशब्दाऽऽदिसल्लक्ष्मणः,
श्रीसंविग्नविहारिणः श्रुतनिधेश्चारित्रचूडामणेः ॥ ८ ॥
शिष्येणाभयदेवाऽऽख्य-सूरिणा विवृतिः कृता ।
ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्य, श्रुतभक्त्या समासतः ॥ ९ ॥"

ज्ञा० २ श्रु० १० वर्ग १ अ० ।

णारइय-नारयिक-पुं० । नैरयिके नरकपृथिवीषूत्पन्ने, प्रा० २ पाद ।

णारग-नारक-पुं० । नरकेषु भवा नारकाः । नरको वा विद्यते येषां ते नारकाः । नरकपृथिवीषूपपन्नेषु जीवेषु, नं० । आ०म० । प्रव० । कर्म० । आव० ।

नारकाऽस्तित्वसिद्धिः-

किं मएणे नेरइया, अत्थि नऽत्थि त्ति संसओ तुज्झं ।
वेयपयाण य अत्थं, न जाणसी तेसिमो अत्थो ॥१८८७॥

किं नारकाः सन्ति, न वा ? इति त्वं मन्यसे । अयं च तव संशयो विरुद्धवेदपदश्रवणनिबन्धनः । तथाहि-"नारको वै एष जायते यः शूद्रान्नमश्नाति" इत्यादि । एष ब्राह्मणो नारको जायते यः शूद्रान्नमश्नातीत्यर्थः, इत्यादीनि वाक्यानि नारकसत्ताप्रतिपादकानि. "न ह वै प्रेत्य नारकाः सन्ति" इत्यादीनि तु नारकाभावप्रतिपादकानि. तत्रैषां वेदपदानामर्थं, च-शब्दाद्युक्तिहृदयं च त्वं न जानासि, यत एतेषामयं वक्ष्यमाणोऽर्थ इति ॥ १८८७ ॥

अत्र भाष्यम्-

तं मन्नसि पच्चक्खा, देवा चंदाऽऽदओ तहऽन्ने वि ।
विज्जामंतोवायण-फलाइसिद्धीएँ गम्मंति ॥१८८८॥
जे पुण सुइमेत्तफला, नेरइय त्ति किह ते गहेयव्वा ।
सक्खमणुमाणओ वा-ऽणुवलंभा जिन्नजाईया ? ॥१८८९॥

हे आयुष्मन्नकम्पित ! त्वमेवं मन्यसे-देवास्तावच्चन्द्राऽऽदयः प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धा एव, अन्ये त्वप्रत्यक्षा अपि विद्यामन्त्रोपयाचितकाऽऽदिफलसिद्ध्याऽनुमानतो गम्यन्ते; ये पुनः "नारकाः" इत्यभिधानमात्ररूपा श्रुतिरेव फलं येषां, न पुनः तदभिधायकशब्दव्यतिरिक्तोऽर्थः, ते साक्षात्, अनुमानतो वाऽनुपलभ्यमानत्वेन तिर्यङ्नरामरेभ्यः सर्वथा भिन्नजातीयाः कथं 'सन्ति' इति ग्रहीतव्याः, खरविषाणवत् ?, इति ॥१८८८॥ १८८९॥

अथ भगवानुत्तरमाह-

मह पच्चक्खत्तणओ, जीवाई य व्व णारए गिएह ।
किं जं सप्पच्चक्खं, तं पच्चक्खं नवरि इक्कं ? ॥१८९०॥
जं कामं पच्चक्खं, पच्चक्खं तं पि घेप्पए लोए ।
जह सीहाऽऽइदारिसणं, सिद्धं न य सव्वपच्चक्खं ॥१८९१॥

हे आयुष्मन् ! अकम्पित ! साक्षादनुपलभ्यमानत्वादित्यसिद्धो हेतुः, यतोऽहं केवलप्रत्यक्षेण साक्षादेव पश्यामि नारकान्, ततो मत्प्रत्यक्षत्वात् 'सन्ति' इति गृहाण प्रतिपद्यस्व नारकान्, जीवाजीवाऽऽदिपदार्थवत् । अथैवं मन्यसे-ममाप्रत्यक्षत्वात्कथमेतान् गृह्णामि ? । ननु दूरनिप्रायोऽयम्, यतः किं यत् स्वस्याऽऽत्मनः प्रत्यक्षं तदेवैकं नवरं प्रत्यक्षमुच्यते ?, इति काक्वा नेयम् । ननु यदपि कस्यचित् प्रत्ययितपुरुषस्याध्यक्षं, तदपि प्रत्यक्षमिति गृह्यते व्यवह्रियते लोके । तथाहि-सिंहसरभहंसाऽऽदिदर्शनं सिद्धं प्रसिद्धं लोके, न च सिंहाऽऽदयः सर्वजनप्रत्यक्षाः, देशकालग्रामनगरसरित्समुद्राऽऽदयश्च न सर्वेऽपि भवतः प्रत्यक्षाः, अथ चान्यस्यापि प्रत्यक्षास्ते प्रत्यक्षतया व्यवह्रियमाणा दृश्यन्ते, अतो मत्प्रत्यक्षा नारकाः किमिति प्रत्यक्षतया न व्यवह्रियन्ते ?, इति ॥१८९०॥१८९१॥

अथाभिप्रायान्तरमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अहवा जमिंदियाणं, पच्चक्खं किं तदेव पच्चक्खं ?।
उवयारमेत्तओ तं, पच्चक्खमणिंदियं तत्थं ॥१८९२॥

अथवा-किं यदिन्द्रियाणां प्रत्यक्षं तदेव प्रत्यक्षमिष्यते भवता, मदीयं तु प्रत्यक्षं नाभ्युपगम्यते, अतीन्द्रियत्वात् ?। ननु महानयं विपर्यासः, यस्मादुपचारमात्रत एव तदिन्द्रियप्रत्यक्षं प्रत्यक्षतया व्यवह्रियते-यथाऽनुमाने बाह्यधूमाऽऽदिलिङ्गद्वारेण बाह्यमग्न्यादि वस्तु ज्ञायते, नैवमत्र, तत उपचारात् प्रत्यक्षमिव प्रत्यक्षमुच्यते । परमार्थतस्तु-इदमपि परोक्षमेव, यतोऽक्षो जीवः, स चानुमानवदत्रापि वस्तु साक्षाद् न पश्यति, किं

स्थितिविच्छेदप्रकारेणैव, ततोऽतीन्द्रियत्वमेव तत्त्वं प्रत्यक्षमवगन्तव्यम्, तत्र जीवेन साक्षादेव वस्तुन उपलम्भादिति ॥ १८६८ ॥ (विशे०)

अनुमानं चित्थम्-

पावफलस्स पगिट्ठ-स्स भोइणो कम्मओऽवसेसं व्व ।
संति धुवं तेऽभिमया, नेरइया अह मई होज्जा ॥१८९९॥
अच्चत्थदुक्खिया जे, तिरियनरा नारग त्ति तेऽभिमया ।
तं न जओ सुरसोक्ख-प्पगरिससरिसं न तं दुक्खं ॥१९००॥

प्रकृष्टस्य पापफलस्य भोगिनः केचित् ध्रुवं सन्ति (कम्मओ त्ति) कर्मफलत्वात् तस्य इत्यर्थः। अवशेषवदिति-यथा जघन्यमध्यमपापफलभोगिनः शेषाः तिर्यङ्नरा विद्यन्त इत्यर्थः, इति दृष्टान्तः। (तेऽभिमया नेरइय त्ति) ये प्रकृष्टपापफलभोगिनः, ते नारका इति अभिमताः। अथ परस्येत्थंभूता मतिर्भवेत्, अत्यर्थं दुःखिता ये तिर्यङ्मनुष्याः, त एव प्रकृष्टपापफलभोगित्वान्नारकव्यपदेशभाजो भविष्यन्ति, किमदृष्टनारककल्पनया ?। इति तदेतन्न। यतोऽतिदुःखितानामपि तिर्यङ्मनुष्याणां यद् दुःखं तदमरसौख्यप्रकर्षसदृशप्रकर्षवन्न भवति। इदमुक्तं भवति-येषामुत्कृष्टपापफलभोगः, तेषां संभवद्भिः सर्वैरपि प्रकारैर्दुःखेन भवितव्यम्, न चैवमतिदुःखितानामपि तिर्यगादीनां दृश्यते, आलोकतरुच्छायाशीतपवनसरित्सरःकूपजलाऽऽदिसुखस्यातिदुःखितेष्वपि तेषु दर्शनात्-छेदनभेदनपाचनदहनदम्भनवज्रकण्टकशिलाऽऽस्फालनाऽऽदिभिश्च नरकप्रसिद्धैः प्रकारैः दुःखस्यादर्शनात्, इत्यादिप्रागुक्तानुसारेण स्वयमेवाभ्यूह्य वाच्यमिति। आगमार्थश्चायमवगन्तव्य इति।

" सततमनुबद्धमुक्तं, दुःखं नरकेषु तीव्रपरिणामम्।
तिर्यक्षूष्णभयक्षु-त्तृडादिदुःखं सुखं चाल्पम् ॥ १ ॥
सुखदुःखे मनुजानां, मनःशरीराऽऽश्रये बहुविकल्पे।
सुखमेव तु देवाना-मल्पं दुःखं तु मनसि भवम् ॥ २ ॥ "
इति ॥ १८९९ ॥ १९०० ॥

प्रागनेकशोऽभिहितानुमानतोऽपि नारकान् साधयन्नाह-

सच्चं चेदमकंपिय !, मह वयणाओऽवसेसवयणं व ।
सव्वण्णुवयणओ वा, अणुमयसव्वण्णुवयणं व ॥१९०१॥

नारकाः सन्ति इति सत्यमकम्पित ! इदं, मद्वचनत्वात्, यथाऽवशेषं त्वत्संशयाऽऽदिविषयं मद्वचनम्। अथवा-सर्वज्ञवचनत्वात् इत्येव हेतुर्वक्तव्यः, त्वदनुमतमनुजैमिन्यादिसर्वज्ञवचनवदिति ॥ १९०१ ॥

अपि च-

भयरागदोसमोहा-भावाओ सच्चमणइवाइं च * ।
सव्वं चिय मे वयणं, जाणयमज्झत्थवयणं व ॥१९०२॥

प्रागनेकधा व्याख्यातेयम् ॥ १९०२ ॥

अकम्पिताऽभिप्रायमाशङ्क्याऽऽत्मनि सर्वज्ञताऽऽदिसाधनाय भगवानाह-

किह सव्वण्णु त्ति मई, पच्चक्खं सव्वसंसयच्छेया ।
भयरोगदोसरहिओ, तल्लिंगाभावओ सोम्म ! ॥१९०३॥

इयमपि व्याख्यातार्था। यदपि "न ह वै प्रेत्य नारकाः सन्ति" इत्यादौ नारकाभावः शङ्क्यते त्वया, तदप्ययुक्तम्, यतोऽयमत्राभिप्रायो भगवतः-न खलु प्रेत्य परलोके मेर्वादिवच्छाश्वताः केचनाऽप्यवस्थिता नारकाः सन्ति, किन्तु य इहोत्कृष्टं पापमर्जयति, स इतो गत्वा प्रेत्य नारको भवति, अतः केनापि तत्पापं न विधेयं, येन प्रेत्य नारकैर्भूयते। विशे०। आ० म०। सूत्रकृताङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धचतुर्थाध्ययनवृत्तौ "छिन्नपादभुजस्कन्धाः, छिन्नकर्णौष्ठनासिकाः। छिन्नतालुशिरोमेढ्राः, भिन्नाक्षिहृदयोदराः" ॥१॥ इत्युक्तम्, तत्र नारकाणां नपुंसकत्वे छिन्नमेढ्रा इति कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्-नारकाणां नपुंसकत्वेऽपि मेढ्रसत्ता न विरुध्यते, " महिलासहावो सरवन्नभेओ, मिंढं महंतं मउया य वाणी।" इत्यादिलक्षणस्य पुष्पमालाऽऽदावुक्तत्वादिति। २५६ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। (' णरग ' शब्देऽत्र भागे १९९७ पृष्ठे सर्वा वक्तव्यतोक्ता)

णारगदुक्खोववण्णण-नारकदुःखोपवर्णन-न०। नारकाणामुपलक्षणत्वाद् तिर्यगादीनां चाऽशर्मोपवर्णने, (ध०)

तथा चोक्तं धर्मबिन्दौ—

" नारकदुःखोपवर्णनमिति। " नरके भवा नारकाः, तेषामुपलक्षणत्वात् तिर्यगादीनां च दुःखान्यशर्माणि, तेषामुपवर्णनं विधेयम्। यथा-

" तीक्ष्णैरसिभिर्दीप्तैः, कुन्तैर्विषमैः परश्वधैश्चक्रैः।
परशुत्रिशूलतोमर-मुद्गरवासीमुसण्ढीभिः ॥ १ ॥
संभिन्नतालुशिरस-श्छिन्नभुजाश्छिन्नकर्णनासौष्ठाः।
भिन्नहृदयोदरान्त्राः, भिन्नाक्षिपुटाः सुदुःखार्ताः ॥२॥
निपतन्त उत्पतन्तो, विचेष्टमाना महीतले दीनाः।
नेक्षन्ते त्रातारं, नैरयिकाः कर्मपटलान्धाः ॥ ३ ॥
क्षुत्तृड्हिमात्युष्णभयार्दितानां,
पराभियोगव्यसनातुराणाम्,
अहो तिरश्चामतिदुःखितानां,
सुखानुषङ्गः किल वार्त्तमेतत् ॥ ४ ॥
मानुष्यकेऽपि दारिद्र्य-रोगदौर्भाग्यशोकमौर्ख्याणि।
जातिकुलावयवाऽऽदि-न्यूनत्वं चाश्नुते प्राणी ॥ ५ ॥
देवेषु च्यवनवियोगदुःखितेषु,
क्रोधेर्ष्यामदमदनातितापितेषु।
आर्याः ! नस्तदिह विचार्य संगिरन्तां,
यत्सौख्यं किमपि निवेदनीयमस्ति ॥ ६ ॥ " इति। ध० १ अधि०।

णारय-नारद-पुं०। समुद्रविजयनृपपालिते सौर्यपुरे यज्ञयशसः सुतस्य सोमित्रायां जातस्य यज्ञदत्तस्य सोमयशोनामभार्यायां जाते पुत्रे, आ० क०।

तत्कथा—

"आसीद् यदा सौर्यपुरे, समुद्रविजयो नृपः।
तदा यज्ञयशास्तत्र, तापसस्तस्य वल्लभा ॥ १ ॥
सोमित्रा सुतो यज्ञ-दत्तः सोमयशाः स्नुषा।
तत्पुत्रो नारदस्तेषा-मुञ्छवृत्त्या च भोजनम् ॥ २ ॥
तदप्येकान्तरं ते चा-ऽशोकाधो नारदं सुतम्।
मुक्त्वोञ्छन्ति दिवा यान्तो, जृम्भकास्तेन वर्त्मना ॥ ३ ॥
ते दृष्ट्वाऽवधिना ज्ञात्वा, स्वनिकायच्युतं ततः।
स्तम्भयन्ति स्म तच्छायां, मा भूत्तापोऽस्य दुःखकृत् ॥ ४ ॥
प्रत्यावृत्तैर्गृहं तस्तैः, शिक्षितो व्यक्तचेतनः।
पूर्वप्रेम्णा ददे तस्य, विद्याः प्रज्ञप्तिकाऽऽदिकाः ॥ ५ ॥

* १५७८ गाथाऽपीयमेव गता ।

धाति ज्योत्स्ना ततः कृत्वा, पादयोर्मणिपादुके ।
सुवर्णकुण्डिकापाणि-रम्यदा द्वारकां गतः" ॥ ६ ॥

आ० क० । औ० । ब्राह्मणपरिव्राजकभेदे, ती० २७ कल्प० । गन्धर्वानीकाधिपतौ गन्धर्वे, स्था० ७ ठा० । प्रज्ञा० । नारदाः सर्वेऽपि मोक्ष एव यान्ति, स्वर्गे वेति प्रश्ने, उत्तरम्-नारदा मोक्षं, स्वर्गं च यान्तीति ऋषिमण्डलवृत्तौ । किञ्च-ते पूर्वं मिथ्यात्विनः पश्चात्सम्यक्त्वमन्तस्तैर्वांका इति । अन्यच्च-भीम १ महाभीम २ रुद्र ३ महारुद्र ४ काल ५ महाकाल ६ चतुर्मुख ७ नवमुख ८ उन्मुख ९ एवंविधानि तेषां नामान्यपि सन्तीति । ७० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । नव नारदाः कस्मिन् वाऽरके संजाता ?, इति साक्षरं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-नव नारदा वासुदेवसमानकालीनाः संभाव्यन्ते, तच्चचारित्राऽऽदिषु तदारके तेषां गमनाऽऽगमनाऽऽदिश्रवणादिति ॥ १०६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

णारयपुत्त-नारदपुत्र-पुं० । स्वनामके वीरजिनानगारे, भ० ५ श० ७ उ० । (स च 'णियंठीपुत्त' शब्दे पुद्गलविषयं प्रश्नं करिष्यति)

णाराचंद-नाराचन्द्र-पुं० । हर्षपुरीयगच्छोद्भवे मलधारिदेवप्रभसूरिशिष्ये, अनेन मुरारिकविकृताऽनर्घराघवटीका, न्यायकन्दलीटीका, ज्योतिषसारः, प्राकृतदीपिका च इत्यादयो बहवो ग्रन्था रचिताः । जै० इ० ।

णाराय-नाराच-न० । यत्रास्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्ध एव केवलं, न पुनः कीलिका ऋषभसंज्ञपट्टश्च तादृशे तृतीये संहनने, औ० १ प्रति० । तं० । रा० । स्था० । कं० प्र० । कर्म० । सर्वलोहबाणे, पुं० । जं० ३ वक्ष० । तं० । स० । स्था० ।

णारायण-नारायण-पुं० । दशरथपुत्रे रामभ्रातरि लक्ष्मणनामके अवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजे अष्टमे वासुदेवे, प्रव० २१० द्वार । ति० । स० । आव० । वासुदेवमात्रे, उत्त० ९ अ० ।

णारिकंतप्पवायदह-नारिकान्ताप्रपातह्रद-पुं० । यत्र नारिकान्ता महानदी निपतति, यश्च नारिकान्तादेवीद्वीपेन सजलेन भूषितमध्यभागः तस्मिन् रम्यकवर्षीये प्रपातह्रदे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णारिकंता-नारिकान्ता-स्त्री० । रम्यकवर्षे अपरार्णवगायां महानद्याम्, जं० ६ वक्ष० । स० । रा० । (नीलवद्वर्षधरपर्वते केशरिह्रदाद्दक्षिणतो निर्गत्य पश्चिमसमुद्रगा नारिकान्ता इति 'णीलवंत' शब्दे व्याख्यास्यते)

णारिकंताकूड-नारिकान्ताकूट-न० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य उत्तरेण नीलवतः पर्वतस्य षष्ठे कूटे, स्था० ६ ठा० ।

णारी-नारी-स्त्री० । नरस्त्रियाम्, बृ० ४ उ० ।

निरुक्तिः-

पुरिसे कामरागपडिबद्धे णाणाविहेहिं उवायसयसहस्सेहिं वहबंधणमाणयंति पुरिसाणं नो अन्नो एरिसो अरी अत्थि त्ति नारीओ । तं जहा-नारीसमा न नराणं अरीओ नारीओ ॥

(पुरिसे इत्यादि यावत् नारीओ त्ति) 'नारीओ त्ति' व्युत्पादयति । कथम् ?, ना-आ-अरि इति । नानाविधैरुपायशतसहस्रैः कामरागप्रतिबद्धे पुरुषे वधबन्धनं प्रति, आ इति-'आणयंति' प्रापयन्ति (अरीति) पुरुषाणां च नान्यस्तादृशोऽरिः शत्रुः, अस्तीति नार्यः । (तं जह त्ति) तत्पूर्वोक्तं, यथेति दर्शयति-नारीसमा न नराणाम् अरयः सन्तीति नार्यः। तं०। "जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमता । एवं लोगंसि नारीओ, दुत्तरा अमईमया ॥ १६ ॥" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । उत्त० । (स्त्रीपरिज्ञा 'इत्थी' शब्दे द्वितीयभागे ६४ पृष्ठे दर्शिता)

णारोट-देशी-बिले, दे० ना० ४ वर्ग ।

णाल-नाल-न० । कन्दोपरिवर्त्यवयवे, जं० ४ वक्ष० । उत्पलाऽऽदिपुष्पाऽऽधारे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

णालंदइज्ज-नालन्दीय-न० । नालन्दायां भवं नालन्दीयं, नालन्दासमीपोद्यानकथनेन वा निर्वृत्तं नालन्दीयम् । सूत्रकृताङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य सप्तमेऽध्ययने, सूत्र० ।

साम्प्रतं प्रत्ययार्थं दर्शयितुकाम आह-

नालंदाए समीवे, मणोरहे भासि-इंदभूइणा ।
अज्झयणं उदगस्स उ, एयं नालंदइज्जं तु ॥ ४ ॥

(नालंदाए इत्यादि) नालन्दायाः समीपे मनोरथाऽऽख्ये उद्याने इन्द्रभूतिना गणधरेणोदकाऽऽख्यनिर्ग्रन्थपृष्टेन, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् तस्यैव, भाषितमिदमध्ययनम् । नालन्दायां भवं नालन्दीयम्, नालन्दासमीपोद्यानकथनेन वा निर्वृत्तं नालन्दीयम् । यथा चेदमध्ययनं नालन्दायां संवृत्तं तथा-" पासावच्चिज्जो पुच्छियाइयो अज्जगोयमं ! उदगो । सावगपुच्छाधम्मं, सोउं कहियम्मि उवसंता ॥ ५ ॥ " सूत्र० २ श्रु० १७ अ० । स्था० । प्रश्न० ।

णालंदा-नालंदा-स्त्री० । प्रतिषेधवाचिनो नकारस्य, तदर्थस्यैवालंशब्दस्य, 'डु दाञ्' दाने इत्येतस्य धातोर्मीलनेन नालं ददातीति नालंदा । इदमुक्तं भवति-प्रतिषेधप्रतिषेधेन धात्वर्थस्यैव प्राकृतस्य गमनात् सदाऽर्थिभ्यो यथाभिलषितं ददातीति नालंदा । राजगृहनगरबाहिरिकायाम्, (सूत्र०)

तदिह प्रतिषेधवाचिनाऽलंशब्देनाऽधिकार इत्येतद्
दर्शयितुमाह-

पडिसेहणगारस्स, इत्थीसद्देण चेव अलसद्दो ।
रायगिहे नयरम्मी, नालंदा होइ बाहिरिया ॥ ३ ॥

(पडिसेहणेत्यादि) अलंशब्दस्यार्थत्रये नकारस्य सान्निध्यात् प्रतिषेधविधानादस्यैवेह गृह्यते, ततश्च निरुक्तविधानादयमर्थः-नालं ददातीति नालंदा बाहिरिका, या स्त्र्युद्देशकत्वेन च नालशब्दस्य स्त्रीलिङ्गता, सा च सदैवैहिकाऽऽमुष्मिकसुखहेतुत्वेन सुखप्रदा राजगृहनगरबाहिरिका धनकनकसमृद्धत्वेन सत्साध्वाश्रयत्वेन च सर्वकामप्रदेति । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । आ० म० । सा च बाहिरिका राजगृहनगरादुत्तरस्यां दिशि, तत्र श्रीवीरस्वामी चतुर्दशवर्षारात्रान् कृतवान् । कल्प० ६ क्षण ।

" नालन्दाऽलंकृते यत्र, वर्षारात्राश्चतुर्दश ।
अवतस्थे प्रभुर्वीरः, तत्कथं नास्तु पावनम् ? ॥ २५ ॥

यस्यां नैकानि तीर्थानि, नालंदा नायनाभिधाम ।
प्रयाणां अनिताऽऽनन्दा, नालन्दा नः पुनातु सा ” ॥ २६ ॥
ती० ११ कल्प ।

णालबद्ध–नालबद्ध–पुं० । पितृभ्रातृपुत्रप्रभृतिके वल्लीबद्धे, (वृ०) श्रुतोपसंपदि द्वाविंशतिर्नालबद्धान् लभ्यन्ते, यथा–माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्रो, दुहिता, मातुर्माता, मातुःपिता, मातुर्भ्राता, मातुर्भगिनी । एवं पितुर्माता, पिता, भ्राता, भगिनी, भ्रातृपुत्रो, दुहिता, भगिन्याः पुत्रपुत्रिकाः, पुत्रस्य पुत्रः पुत्रपुत्रिकाः, दुहितुः पुत्रः, पुत्रिका चेति । बृ० ४ उ० । (श्रुतोपसंपद्ग्रहणे ‘ उवसंपया ’ शब्दे द्वितीयभागे १०१४ पृष्ठे, तथा–‘ उग्गह ’ शब्दे ७२० पृष्ठे च विस्तरो गतः)

णालंपिअ–देशी–आक्रन्दिते, दे० ना० ४ वर्ग ।

णालंबी–देशी–कुन्तले, दे० ना० ४ वर्ग ।

णालिएर–नारि [लि] केर–पुं० । नल–इण्–नालिः, केन वायुना जलेन वा इलति चलति कः । रलयोरैक्यम् । वृक्षभेदे, वाच० । अयं चैकजीविको वृक्षभेदः । प्रज्ञा० १ पद । आर्द्रे नालिकेरे शुष्के वा कियन्तो जीवाः सन्ति ?, तथा नालिकेरबीजके संख्याताः, असंख्याताः, अनन्ता वा कियन्तो जीवाः सन्ति ?, यतस्तमत्र केचिदनन्तजीवाऽऽत्मकं प्रतिपादयन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–बीजकसंबद्धे नालिकेरे एक एव जीव इति । २६५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । नालिकेर्यादयश्च । स्त्री० । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । जं० । प्रज्ञा० । तत्फले, नं० ।

णालिएरदीव–नारिकेलद्वीप–पुं० । नारिकेलवृक्षप्रधाने द्वीपे, यद्वास्तव्या मनुष्या अन्नाद्याहाराऽऽदिव्यवहारं नावबुध्यन्ते । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णालिएरमत्थय–नालिकेरमस्तक–न० । नालिकेरवृक्षस्तबके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

णालिया–नालिका–स्त्री० । घटिकायाम्, नि० चू० १ उ० । तं० । ताम्राऽऽदिमयघटिकायाम, अनु० । आव० । प्रज्ञा० ।

तथा हि कालो मीयते—

णालीएँ परूवणया, जह तीएँ गतो उ नज्जए कालो ।
तह पुव्वधरा जावं, जाणंति वि सुज्झपज्जेण ॥

नालिका नाम घटिका, तस्याः पूर्वं प्ररूपणा कर्तव्या; यथा पादलिप्तकृतविवरणे कालज्ञाने । व्य० १ उ० ।

संप्रति मानं घटिकाऽऽदीनां वक्तव्यम्–तत्र प्रथमतो नालिकायाः संस्थानाऽऽदि विवक्षुराह–

तीसे पुण संठाणं, छिड्डं उदगं च वोच्छामि ।

तस्याः पुनर्नालिकायाः संस्थानमाकृतिं, तथा छिद्रं चिवरमधोभागे येनोदकं नालिकामध्ये प्रविशति, उदकं च यावन्मात्रं छिद्रेण प्रविशति, नालिकां भुक्त्वा यथोक्तनालिका कालविशेषपरिमाणहेतुर्भवति तादृक् सूत्रं वक्ष्यामि ।

तत्र प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितुकामः प्रथमतः संस्थानप्ररूपणां, छिद्रप्रमाणवक्तव्यतोपक्षेपं च कुर्वन्नाह–

दालिमपुप्फाऽऽगारा, लोहमयी नालिगा उ कायव्वा ।
तीसे तलम्मि छिद्दं, छिद्दपमाणं कहिएँ मे सुणह ॥

नालिका घटिका लोहमयी कर्तव्या, सा च संस्थानमधिकृत्य दाडिमपुष्पाऽऽकारा कर्तव्या, दाडिमपुष्पस्येव आकारः संस्थानं यस्याः सा तथा । तस्याश्चैवंभूताया नालिकाया मूले अधस्तात् छिद्रं कर्तव्यं, तस्य च छिद्रस्य प्रमाणं पूर्वसूरिपरम्परागत कथयतो मे मम शृणुत ।

छिद्रप्रमाणमेव कथयति–

छन्नउयमूलवालेहिं, तिवस्सजायाएँ गयकुमारीए ।
उज्जुकयपिंडिएहि उ, कायव्वं नालियाछिद्दं ॥

त्रिवर्षजातायाः त्रीणि वर्षाणि जातायास्त्रिवर्षजाता, “कालो द्विगौ च मेयैः” ॥३।१।५७॥ इति तत्पुरुषसमासः। तस्या गजकुमार्याः षण्णवतिसंख्यैर्मूलवालैः पुच्छमूलवालैः ऋजुकृतपिण्डितैरूर्ध्वमृज्वीकृत्यैकत्र मीलितैर्नालिकाया अधस्तात् तलके छिद्रं कर्तव्यम्। किमुक्तं भवति?-ऊर्ध्वमृज्वीकृता गजकुमार्याः षण्णवतिसंख्या पुच्छमूलवाला एकत्र पिण्डिता यावत्प्रमाणे छिद्रे परिपूर्णे मान्ति, न चापान्तरालं सूक्ष्ममपि भवति, तावत्प्रमाणं नालिकाया अधो मूले छिद्रं कर्तव्यम्।

प्रकारान्तरेण छिद्रप्रमाणमाह–

अहवा दुवस्सजाया–एँ गयकुमारीएँ पुच्छवालेहिं ।
बिहिँ बिहिँ गुणेहिँ तेहिँ उ, कायव्वं नालियाछिद्दं ॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतने, गजकुमार्या द्विवर्षजातायाः, तैः प्रागुक्तसंख्याकैः षण्णवत्यर्थः । पुच्छवालैः प्रत्येकं द्वाभ्यां द्वाभ्यां गुणैः गुण्यन्ते स्म, गुणा गुणिता इत्यर्थः; तैः । किमुक्तं भवति ?-षण्णवतिसंख्यैर्द्विगुणितैर्नालिकाया अधो मूले छिद्रं कर्तव्यमिति भावार्थः प्राग्वद्वक्तव्यः ।

प्रकारान्तरेण छिद्रप्रमाणमेवाऽऽह–

अहवा सुवण्णमासे–हिँ चउहिँ चउरंगुला कया सूई ।
नालियतलम्मि दीए, कायव्वं नालियाछिड्डुं ॥

अथर्वात पूर्ववत् । सुवर्णमाषैर्वक्ष्यमाणप्रमाणैश्चतुर्भिश्चतुःसंख्यैः चतुरङ्गुलप्रमाणा या कृता सूची, तया सूच्या नालिकाया अधस्तात् तले नालिकाछिद्रं नालिकारूपकालविशेषप्रमितये कर्तव्यम्। किमुक्तं भवति?-यावत्प्रमाणे छिद्रे यथोक्तप्रमाणा सूचिः प्रविशति, न च मनागप्यपान्तरालं भवति, तावत्प्रमाणं छिद्रं कर्तव्यमिति । ज्यो० ३ पाहु० । आचा० । यष्टिविशेषे, चतुर्हस्तप्रमाणयष्टिविशेषरूपायां नालिकायाम, अनु० । भ० । आत्मप्रमाणाच्चतुरङ्गुलाधिकायां यष्टौ, ओघ० । द्यूतविशेषे, भ० ६ श० ७ उ० । कलम्बुकावृक्षे, सू० प्र० ४ पाहु० ।

णालियाखेड–नालिकाखेल–न० । द्यूतविशेषे, मा भूदिच्छयाऽपरितपाशकानिपतनमिति नालिकया यत्र पाशकः पात्यते । जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । ओघ० ।

णाली–नाडी–स्त्री० । “ डो लः ” । ८ । १ । २०२ । इति डस्य लः । प्रा० १ पाद । देहस्थायां शिरायाम्, गुच्छस्य काण्डे, नाले, व्रणभेदे, गण्डदूर्वायाम्, षष्टिपलाऽऽत्मके काले, तृणभेदे, वंशनाड्यां च । वाच० ।

नाली–स्त्री० । कालमापिकायां घटिकायाम्, जी० ३ प्रति० २ उ० । नि० चू० । आ० । वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

णावा–नौ–स्त्री० । “ नाव्यावः ” । ८ । १ । १६४ । इत्यौत आवाऽऽदेशः । प्रा० १ पाद । जलतरणसाधने तरणौ, वाच० । आचा० । सू० । (नावारोहणप्रकाराः ‘ णईसंतार ’ शब्देऽस्मिन्नेव

भागे १७४६ पृष्ठे दर्शिताः । विस्तरस्तु ' पडिसेवणा ' शब्दे वक्ष्यते)

णावापूरग-नौपूरक-पुं० । बुलुके, " तेहिं नावापूरएहिं आया-मइ " ' नावापूरओ नाम पसली । ' वृ० ।

णावासंतारिम- नौसंतार्य-त्रि० । यत्र नावा तरति तादृश्युदके, आचा० १ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० ।

णाविय-नापित-पुं० । नखशोधके नापिते, व्य० ६ उ० । क-ल्प० ।

नाविक-पुं० । नावा जीवति नाविकः । अनु० । नौवाहके, भ० ५ श० ४ उ० । कैवर्तके, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । " नंदो नाम ना-विओ गंगाए लोगं उत्तारेइ । " आ० म० १ अ० २ खण्ड । " णाविओ विय नावं ति ।" नाविक इव नावं द्रोणीम् । भ० ५ श० ४ उ० । आ० म० ।

णास-नाश-पुं० । अभावाऽऽपादने, आ० म० १ अ० १ खण्ड । उत्त० । ध्वंसे, विशे० । अभावे, (द्रव्या०)

अथ नाशस्वरूपमाह-

नाशोऽपि द्विविधो ज्ञेयो, रूपान्तरविगोचरः ।
अर्थान्तरगतिश्चैव, द्वितीयः परिकीर्तितः ॥ २५ ॥

नाशोऽपि द्विविधो ज्ञातव्यः, एकस्तत्र रूपान्तरविगो-चरः रूपान्तरपरिणामः, द्वितीयस्तु अर्थान्तरगतिरर्था-न्तरभावगमनं चेति । भावार्थस्त्वयम्-

" परिणामो ह्यर्थान्तर-गमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम् ।
न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥ १ ॥
सत्पर्यायेण विनाशः, प्रादुर्भावोऽसता च पर्यवतः ।
द्रव्याणां परिणामः, प्रोक्तः खलु पर्यवनयस्य ॥ २ ॥ "

एतद्वचनं संमतिप्रज्ञापनावृत्तिविषयि-कथञ्चित् सद् रूपान्तरं प्राप्नोति, सर्वथा न विनश्यति यत्तद् द्रव्यार्थिकनयस्य परिणाम-त्वं कथितम् । पूर्वसत्पर्यायेण विनश्यति, उत्तरासत्पर्यायेणोत्प-द्यते यत्तत्पर्यायार्थिकनयस्य परिणामत्वं कथितम् । एतदभि-प्रायं विचारयतामेको रूपान्तरपरिणामविनाशः, एकश्चार्था-न्तरगमनीयनाशः, इत्थं विनाशस्यापि भेदद्वयं संपन्नम् ॥२५॥

पुनराह-

तत्रान्धतमसस्तेजो-रूपान्तरस्य संक्रमः ।
अणोरणवन्तरापातो, ह्यर्थान्तरगमश्च सः ॥ २६ ॥

(तत्र इति) तत्र नाशे अन्धतमसोऽन्धकारस्य तेजोरूपान्त-रस्य संक्रम उद्योतताऽवस्थितद्रव्यस्य रूपान्तरपरिणामरूपना-शो ज्ञेयः, च पुनरणोः परमाणोरणवन्तरापातोऽणोरणवन्तर-संक्रमो द्विप्रदेशाऽऽदिभावमनुभवन् पूर्वपरमाणुत्वं विगतमित्य-नेनाऽर्थान्तरगमः स्कन्धपर्याय उत्पन्नः, तेन कृत्वाऽर्थान्तरगति-रूपनाशस्य स्थितिर्भवति । निष्कर्षस्त्वयम्-यत्रान्धकारस्तत्रापि तदाकारपरमाणुप्रचयो निरन्धतमः समस्ति, तत्रैव पुनरुद्यो-तपरमाणुप्रचयसंचारनिरस्तान्धकारपरमाणुत्वतास्थानतत्त-त्परमाणुसंक्रमिततेजःपरमाणुत्वलक्षणो रूपान्तरसंक्रमो जातः, यथा वा-प्रचयवतां परमाणूनामवयविस्कन्धत्वसंक्रमेणार्थान्त-रत्वोद्भावनयाऽर्थान्तरगतिलक्षणो नाशः समुत्पन्न इति ॥२६॥

पुनराह-

रूपान्तराणुसंबन्धात्, स्कन्धत्वं यद्यणोरपि ।
तत्संयोगविभागाभ्या-मपि भेदप्रबन्धता ॥ २७ ॥

यद्यपि अणोः रूपान्तरपरमाणुसंबन्धात् स्कन्धत्वमणुसंबद्ध-स्कन्धताऽस्ति, तदिति तथाऽपि संयोगविभागाभ्यां कृत्वा द्रव्योत्पादनाशाभ्यां द्विप्रकाराभ्यामेव भेदप्रबन्धता द्रव्यविना-शद्वैविध्यमेव ज्ञेयम्, एतदुपलक्षणं ज्ञेयम्, यतो द्रव्योत्पादवि-भागेन यथा पर्यायोत्पादविभागः, तथा द्रव्यनाशविभागेनैव पर्यायनाशविभागो भवेदिति, ततः समुदायविभागः, तथाऽ-र्थान्तरगमनं चेति द्वयमेव व्याख्यायते । तत्र प्रथमः तन्तुपर्य-न्तपटनाशः, द्वितीयः घटोत्पत्तिपर्यन्तमृत्पिण्डाऽऽदिनाशश्च ज्ञेयः । उक्तं च सम्मतितृतीयकाण्डे " विगमस्स वि एस वि-ही, समुदयजणियम्मि सो उ दुवियप्पो । समुदयविभागमित्तं, अत्थंतरभावगमणं च ॥ ३४ ॥ " इत्यादिगाथया ज्ञेयम् ॥२७॥ द्रव्या० ९ अध्या० ।

न्यास-पुं० । निक्षेपे, विशे० । उत्त० । अनु० । स्था० । नामस्था-पनाद्रव्यभावैर्वस्तुनो निक्षेपो न्यासः । स० ।

णासण-नाशन-न० । पलायने, गणादपक्रमणे, राजाऽऽदिभये-नान्तर्धाने, ध० ३ अधि० । नृपदायाऽऽदिभयेन चैत्यस्य गर्त-गृहाऽऽदिष्वन्तर्धाने, प्रव० ३७ द्वार । कर्मप्रकृतेः स्तिबुकसं-क्रमणे प्रकृत्यन्तरगमने, आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० ।

न्यासन-न० । व्यवस्थापने, अनु० ।

णासणिएहव-न्यासनिह्नव-पुं० । न्यस्यते रक्षणायान्यस्मै सम-र्प्यते इति न्यासः-सुवर्णाऽऽदिः, तस्य निह्नवोऽपलापः । न्या-सापहारे, ध० २ अधि० ।

णासव-नाशि-धा० । नश्-णिच् । अभावाऽऽपादने, "नशेर्विउ-ड-नासव-हारव-विप्पगाल-पलावाः " । ८ । ४ । ३१ । इति ण्यन्तस्य नशेर्नासवाऽऽदेशः । ' णासवइ ' नाशयति । प्रा० ४ पाद ।

णासा-नासा-स्त्री० । घोणायाम, तं० । पञ्चा० । प्रज्ञा० । औ० । आ० म० । गन्धग्राहकेन्द्रिये, वाच० ।

णासाणिस्सासवोज्झ-नासानिश्वासवाह्य-त्रि० । अतिमधुरत्वा-द् नासानिश्वासवातवाह्ये, ज० १ वा० ३३ उ० । औ० ।

णासाभेय-नासाभेद-पुं० । नासिकाविवरकरणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णासावहार-न्यासापहार-पुं० । न्यासस्य धनधान्याऽऽदेः स्थाप-निकाया अपहरणमपलापो न्यासापहारः । ध० २ अधि० । स्थूलमृषावादविरतेः प्रथमेऽतिचारे, स्वामिमित्रविश्वस्तदेवगु-रुवृद्धबालद्रोहन्यासापहाराऽऽदीनि तु तद्धत्याप्रायाणि महापा-तकानि सर्वथा विशिष्य वर्जनीयानि । ध० २ अधि० । उत्त० ।

णासि [ण्]-नाशिन्-त्रि० । विनशनशीले, स्था० ।

णासिक्कपुर-नासिक्यपुर-न० । पञ्चवटीविभूषितोत्तरकूलायां गोदावर्या दक्षिणकूलस्थे स्वनामख्याते नगरे, आ० क० । आ० म० । आ० चू० । नं० ।

" चंदप्पहजिणचंदं, नमिअ जिअभवसयं जणिस्सामि ।
नासिक्ककलिमलनिवहं, नासिक्कपुरस्स कप्पमहं ॥ १ ॥"

"नासिक्कपुरतित्थस्स उप्पत्ति वंभणाइपरतित्थिया एवं वण्णं-तिपुव्विं किर नारयरिसिणा पणया भयवं कमलाऽऽसणो पुट्ठो-

पुव्वभूमिट्ठाणं कत्थ त्ति ?। कमलाऽऽसणेणं भणिअं-जत्थेव इमं मज्झ पउमं पडिहइ, तं चेव पवित्तं भूमिट्ठाणं ति। अन्नया विरंचिणा तं पउमं मुक्कं, पडिअं भरहद्धजणवयभूमीए अरुणगंगाहिं नईहिं भूसियाए णाणाविहवणस्सइमणहराए देवभूमिप्पायाए। तत्थ पउमाऽऽसणेण पउमपुरं ति नगरं निवेसिअं। तत्थ कयजुगे जण्णो आढत्तो पियामहेण, मिलिआ सुरा सव्वे, असुरा य हक्कारिज्जंता वि नाऽऽगया सुरभएणं। ते भणंति-जइ भयवं चंदप्पहसामी अंतरे आगच्छइ, ता अम्हे वीसत्था आगच्छामो, तओ चमक्किअचित्तो चउवयणो जत्थ सामी विहरइ तत्थ गंतूण पणमिऊण जोडियकरसंपुडो विन्नवेइ—भयवं ! तत्थाऽऽगच्छह, जहा मज्झ कज्जं सिज्झइ। सामिणा भणियं-मह पडिरूवेणावि तं सिज्झिस्सइ। तओ बंभणा चंदकंतिमणिमयं बिंबं सोहम्मिंदाओ घित्तूण तत्थाऽऽणीअं। आगया दाणवा, पारद्धो जण्णमहो अ। तत्थ कारिओ चंदप्पहविहारो पयावइणा, सुरदुवारे य सिरिसुंदरो ठाविओ नयररक्खणपुरे। एवं ताव पढमजुगे पउमपुरं ति तित्थं पसिद्धं। तेयाजुगे य दासरही रामो सीयालक्खणसंजुओ पिउआणाए वणवासं गओ, गोयमगंगातीरे पंचवडीआसमे चिरं वणाहारेणं ठिओ। इत्थंतरे रावणभइणी सुप्पणहा तत्थ पत्ता, रामं दट्ठूण अज्झोववण्णा पत्थंती रामेण पडिसिद्धा लक्खणमुवट्ठिया। तेण तीए नासिआ छिन्ना, तत्थ नासिक्कपुरं जायं। कमेण सीआ रावणेण हरिआ, राहवेण जुद्धे वाधाइओ रावणो, विभीसणस्स दिण्णं लंकारज्जं, तओ नयरिं पइवलंतेण रामेण चंदप्पहसामिणो भवणं उद्धरिअं, पसरगमुद्धारो। एवं णासिक्कपुरे संजाए कालंतरे पुणजुम्मि नाउं मागओ मिहिलाहिंतो तत्थ जणयराओ, तेण य तत्थ दस जण्णा कारिया, जण्णट्ठाणं ति तन्नयरं कहं।" (ती०) (नासिक्यपुरस्य जनस्थानमिति नामान्तरं यथा जातमिति देवजानीत्रसे ' जणट्ठाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३०७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्। तथा 'कुंतीविहार' इत्यपि नाम, तद्व्युत्पत्ता ' कुंतीविहार ' शब्दे तृतीयभागे ५७० पृष्ठे गता) इओ अ दीवायणरिसिणा बारवईए दड्ढाए कक्खीलुप्पाए जायवकुले वज्जकुमारो नाम जायववसिओ आसि। तस्स गब्भवई जज्जा, सा बारवईए डज्झमाणीए बहुजत्तिपुव्वं दीवायणरिसिणा मुक्कलाविता चंदप्पहसामिणं चेव सरणमागया, पुन्ने समए पुन्नवंतं पुत्तं तत्थेव पसूआ, दढप्पहारि त्ति से नामं कयं, सो अ अइक्कंतबालभावो संपत्तजुव्वणो जाओ महारहो, इक्केणावि सुभडलक्खेणं समं जुद्धं काउं समत्थो। अन्नया तत्थ चोरेहिं गावीओ हरियाओ। ताओ सव्वाओ वि इक्केण दढप्पहारिणा चोरे निगिहिऊण वालियाओ। तओ तं अइपयंडपरिक्कमं पासिऊण बंभणाइनरलोएणं तस्स तलारत्तयं (?) दिण्णं, निग्गहिया तेण चोरचरडाइणो, जाओ सो कमेण महाराया। तत्थेव नयरे जायववंसस्स अग्गं मूलं उव्वरियं ति सबहुमाणं चंदप्पहसामिणो तेण भवणमुद्धरिअं। एवं तइअजुगे उद्धारो काराविओ। पुव्विं किर कल्लाणकडए नयरे परमड्डी नाम राया रज्जं करेइ। तेण जिणभत्तेण तत्थ पासाए चंदकंतमणिबिंबं सोऊण चिंतिअं-अहमेयं बिंबं नियनयरे आणिऊण देवयावसरे पूइस्सामि त्ति। तओ कहंचि तव्वइयरं नाउं नासिक्कनयरलोएण तंबमयसंपुडमज्झे तं बिंबं निक्खिविय तदुवरि लेवो दिण्णो, जाया लेवमई पडिमा। तओ रण्णा जिणमंदिरमागएण तं बिंबं न दिट्ठं। पुच्छिओ लोओ। तेण जहाट्ठिए विन्नत्ते रण्णा चिंतियं-कहं एवं चेव लेवपडिमं भिंदित्ता मूलबिंबं करेमि त्ति, तओ णरिंदेण तस्स उद्धारं काउं चउवीसं गामा देवस्स दिण्णा। जं तेसु दविणमुप्पज्जइ,······(?)। तओ किंचिए य कालंतरगए आसन्नवत्तिलंबयदेवाहिट्ठियमहादुग्गबंभगिरिट्ठिओ घाइओ नाम महल्लयक्खत्तियजाई वरडो आसि, तेण पासाओ पाडिओ, तं सोऊण पल्लीवालवंसावयंससाहुदुइसरपुत्तमाणिक्कपुत्तेणं कुडिंबसरोवररायहंसेण साहुकुमारसीहेण परमसावएण पासाओ पुण णवो कारिओ। सफलीकयं नायागयं नियवित्तं, उत्तारिओ अप्पा भवसमुद्दाओ। एवमणेगुद्धारं नासिक्कमहातित्थं अज्ज वि जत्तामहूसवकरणेण आराहिंति चाउद्दिसाओ आगंतूण संघा, पभाविंति कलिकालदप्पनिण्णासणं भयवओ सासणं ति "।

" नासिक्कपुरस्स इमं, कप्पं पोराणपरमतित्थस्स ।
वायंतपढंताणं, संपज्जइ वंछिया रिद्धी ॥१॥
किंचि परसमइयमुहा, ससमयपारविउमुहाउ तह सोउं ।
सिरिजिणपहसूरीहिं, लिहिओ नासिक्कपुरकप्पो ॥ २ ॥ "

इतिश्रीनासिक्यपुरकल्पः। ती० २७ कल्प।

णासियासिंघाणग–नासिकासिङ्घाणक–न० । घ्राणजमलविशेषे, तं० ।

णाह–नाथ–पुं०। " खघथधभां० "। ८ । १ । १८७। इति थस्य हः। प्रा० १ पाद। प्रभौ, स० १ सम०। योगक्षेमकृति,नं०। ज्ञा०। स्वामिनि, स्था०।

णाहड–नाथ–पुं०। मरुदेशे सत्यपुर (साचोर) नगरे श्रीवीरजिनबिम्बकारके गृहपतौ, ती० १६ कल्प।

णाहल–लाहल–न०। " लाहललाङ्गललाङ्गूले वाऽऽदेर्णः " । ८ । १ २५६। इत्यादेर्लस्य वा णः। प्रा०१ पाद। म्लेच्छविशेषे, प्रा० ढुं० १ पाद।

णाहवाइय–नाथवादिक–पुं०। पार्श्वस्थ, पार्श्वस्था नाथवादिकमण्डलचारिणः। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

णाहसुतेय–नाथसुतेजस्–पुं०। अतीतायामुत्सर्पिण्यां जातनामीतजिने, प्रव० ७ द्वार।

णाहि–नहि–अव्य०। " किलाऽथवा-दिवा-सहनहेः किराहवइ दिवे सहु नाहिं "। ८ । ४ । ४१६। इति अपभ्रंशे नहेर्नाहिमादेशः। निश्चिते निषेधे, "पेक्खु गहीरिम सायरओ एक्क वि कणिय नाहिं ओहट्टइ। " प्रा० ४ पाद।

णाहिय–नास्तिक–पुं०। लौकायतिके, स्था०। " धर्मांशे नास्तिको ह्येको, बार्हस्पत्यः प्रकीर्तितः। धर्मांशे नास्तिका ज्ञेयाः, सर्वेऽपि परतीर्थिकाः ॥ १२१ ॥" नयो०।

णाहियवाइ (ण्)–नास्तिकवादिन्–पुं०। अतिचार्वाके जीवनास्तित्वप्रतिपादके, दश० १ अ०।

णाहियवाय–नास्तिकवाद–पुं०। चार्वाकमताभ्युपगमे, (ग०) धूर्ताऽऽख्यानाऽऽवेद्यवदसंबद्धजल्पने, ग० २ अधि०।

णाहिविच्छिन्न–देशी–अघने, दे० ना० ४ वर्ग।

णि–नि–अव्य०। नइ–न्निः। नितरामर्थे, विपा० १ श्रु० ९ अ०।

उत्त० । नैयत्ये, अनु० । निश्चये, आधिक्ये च । उत्त० १ अ० । सूत्र० । आ० चू० । निषेधे, भृशार्थे, नित्यार्थे, संशये, कौशले, क्षेपे, उपरमे, सामीप्ये, आदरे, दाने, मोक्षे, अन्तर्भावे, बन्धने, राशौ, अधोभागे, विन्यासे च । वाच० ।

णिअकल–देशी–वर्तुले, दे० ना० ४ वर्ग ३१ गाथा ।

णिअच्छ–दृश्–धा० । प्रेक्षणे, " दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छा-वयज्झ-वज्ज-सव्ववदेक्खौअक्खावक्खावअक्खपुलोएपुलए-- निआवआसपासाः " । ८ । ४ । १८१ । इति सूत्रेण 'निअच्छ' आदेशः । 'निअच्छइ' । पश्यति । प्रा० ४ पाद । दे० ना० ।

णिअडी–देशी–दम्भे, दे० ना० ४ वर्ग २६ गाथा ।

णिअत्थ–परिहिते, दे० ना० ४ वर्ग ३३ गाथा ।

णिअय–देशी–रते, शयनीये, शाश्वते, घटे च । दे० ना० ४ वर्ग ४८ गाथा ।

णिअरिअ–देशी–निकरेण छिपते, दे० ना० ४ वर्ग ३८ गाथा ।

णिअलं–देशी–नूपरे, दे० ना० ४ वर्ग २८ गाथा ।

णिअंधण–देशी–वस्त्रे, दे० ना० ४ वर्ग ३७ गाथा ।

णिअंसण–देशी–वस्त्रे, दे० ना० ४ वर्ग ३८ गाथा ।

णिआणिआ–देशी–तृणोद्धरणे, दे० ना० ४ वर्ग ३५ गाथा ।

णिआर–देशी–रिपुगृहे, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिइय–नित्य–त्रि० । सदकारणवति, सं० । अप्रच्युतानुत्पन्न-स्थिरैकस्वभावे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । परिणामानित्य-तायामपि द्रव्यार्थतया नियते, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

णिइयपिंड–नित्यपिण्ड–पुं० । निमन्त्रितापिण्डे, पं० चू० ।

णिउअ–निवृत–त्रि० । " उदत्वादौ " । ८ । १ । १३१ । इति ऋत उत्वम् । नितरां वृते, प्रा० १ पाद ।

णिउक्क–देशी–तूष्णीके, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिउक्कण–देशी–वायसे, मूके च । दे० ना० ४ वर्ग ५१ गाथा ।

णिउज्जम–निरुद्यम–पुं० । कार्यमात्रोद्यमरहिते, " णिउज्जमा वणगा समणगा पव्वयंति । " सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णिउज्जमाण–नियोजयत्–त्रि० । व्यापारयति, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

णिउड्ड–मस्ज–धा० । बुडने, "मस्जेराउड्ड णिउड्ड-बुड्ड-खुप्पाः" । ८ । ४ । १०१ । इति मज्जतेः णिउड्डाऽऽदेशः । णिउड्डइ । मज्जति । प्रा० ४ पाद ।

णिउण–निगुण–त्रि० । निवतगुणे, निश्चितगुणे च । विशे० । सुनिश्चिते, पञ्चा० ४ विव० ।

निपुण–त्रि० । कुशले, इति वृद्धोक्तिः । सूक्ष्मदर्शिनि, उपा० ७ अ० । औ० । आव० । आचा० । सूक्ष्मे, औ० । सूक्ष्मज्ञाने, स्था० ६ ठा० । उपायाऽऽरम्भके, अनु० । नि० चू० । " सुण ताव सूरपण्णत्ति-सिवयाणं वित्थरेण जं णिउणं । " निपुणं निपुणमति-गम्यम् । ज्यो० २ पाहु० । रा० । ज्ञा० । " सद्धं च णगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं । खंतिं णिउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥ २० ॥ " निपुणमिव निपुणम् । उत्त० ९ अ० । उपायवि-

चक्षणे, कल्प० ३ क्षण । संयमानुष्ठानकुशले, दश० २ चू० । संगतोपचारकुशले, औ० । " न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा ॥ ५ ॥ " उत्त० ३२ अ० । अवगततत्त्वे, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । "निउणगंधव्वगीयरइया।" निपुणगन्धर्वगीतरतिकाः–निपुणाः परमकौशलोपेता ये गन्धर्वजातीया देवास्तेषां गीतं तत्र रतिर्येषां ते तथा । जी० ३ प्रति० ४ उ० । " निउणगंधव्वसमयकुसलेहिं । " निपुणं यथा भवति एवं गन्धर्वसमये नाट्यसमये ये कुशलाः । जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

णिउणकुसल–निपुणकुशल–पुं० । निपुणानां मध्ये अतिशयेन कुशले, रा० ।

णिउणणयजुय–निपुणनययुत–त्रि० । सूक्ष्मनीतिसंगते, पञ्चा० २ विव० ।

णिउणदिट्ठि–निपुणदृष्टि–स्त्री० । सूक्ष्मबुद्धौ, पं० व० ४ द्वार । पञ्चा० ।

णिउणधी–निपुणधी–त्रि० । ६ बहु० । कुशलबुद्धौ, षो० १ विव० ।

णिउणबुद्धि–निपुणबुद्धि–स्त्री० । सूक्ष्मधियाम्, पञ्चा० ११ विव० ।

णिउणसिप्पोवगय–निपुणशिल्पोपगत–त्रि० । निपुणं यथा भवति एवं शिल्पं क्रियाकौशलमुपगतः । रा० । निपुणानि सूक्ष्माणि यानि शिल्पानि अक्षमर्दनाऽऽदीनि तान्युपगतोऽधिगतः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । सूक्ष्मशिल्पसमन्विते,उत्त० ५ अ० ।

णिउणिय–नैपुणिक–पुं० । निपुणं सूक्ष्मं ज्ञानं, तेन चरन्तीति नैपुणिकाः । निपुणा एव वा नैपुणिकाः । निपुणज्ञानेषु निपुणेषु, (स्था०)

नव णिउणिया वत्थू पण्णत्ता । तं जहा–"संखाणे निमित्ते काईए, पोराणे पारिहत्थिए । परपंडिए य वाई य, भूइकम्मे तिगिच्छिए " ॥ १ ॥

निपुणं सूक्ष्मं ज्ञानं, तेन चरन्तीति नैपुणिकाः, निपुणा एव वा नैपुणिकाः । (वत्थु त्ति) आचार्याऽऽदिपुरुषवस्तूनि, पुरुषा इत्यर्थः । (संखाणे त्ति लोगो) सङ्ख्यानं गणितं, तद्योगात् पुरुषोऽपि तथा, सङ्ख्याने वा विषये निपुण इति । एवमन्यत्रापि, नवरं निमित्तं चूडामणिप्रभृतिः, कायिकं शारीरिकम्, इडापिङ्गलाऽऽदिप्राणतत्त्वमित्यर्थः। पुराणो वृद्धः, स च चिरजीविनात् दृष्टबहुविधव्यतिकरत्वान्नैपुणिक इति, पुराणं वा शास्त्रविशेषः, तज्ज्ञो निपुणप्रायो भवति ॥ ४ ॥ (पारिहत्थिए त्ति) प्रकृत्यैव दक्षः सर्वप्रयोजनानामकालहीनतया कर्तेति च ॥ ५ ॥ तथा परः प्रकृष्टः पण्डितः प्रपण्डितः, परपण्डितो बहुशास्त्रज्ञः, परो वा मित्राऽऽदिः पण्डितो यस्य स तथा, सोऽपि निपुणसंसर्गान्निपुणो भवति, वैद्यकृष्णकवदिति । वादी वादलब्धिसंपन्नो, यः परेण न जीयते, मन्त्रवादी धातुवादी वेति । ज्वराऽऽदिरक्षानिमित्तं भूतिदानं भूतिकर्म, तत्र निपुणः । तथा चिकित्सने निपुणः, अथवाऽनुप्रवादाभिधानस्य नवमपूर्वस्य नैपुणिकानि वस्तूनि अध्ययनविशेषा एवेति । स्था० ९ ठा० ।

णिउणोचिय–निपुणोचित–त्रि० । निपुणेन शिल्पिना परिकर्मिते, भ० ९ श० ३३ उ० ।

णिउत–नियुत–त्रि० । नितरां संगते, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

णिउत्त–नियुक्त–त्रि० । व्यापारिते, पञ्चा० ८ विव० । आ० म० । उत्त० । उचितव्यापारे, नियोगेनार्पिते, अनु० ।

णिउर–निकुर पुं० । वृक्षविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

नूपुर–न० । " इदेतो नूपुरे वा " ॥ ८ । १ । १२३ ॥ इति ऊत इत्वम् । स्त्रीणां पादाऽऽभरणे, प्रा० १ पाद ।

णिउरंब–निकुरम्ब–न० । समूहे, औ० । जी० । रा० । जं० । ज्ञा० । "रम्मे महामेहनिउरंबभूए ।" महामेघवृन्दकल्प इत्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णिएल्लग–निजकीय–त्रि० । आत्मीये, " ताहे जा इच्छंति सव्वे णिएल्लगा । " आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णिओग–नियोग–पुं० । नियतो निश्चितो हितो वाऽनुकूलः सूत्रस्याभिधेयेन सह यो योगः सम्बन्धः स नियोगः । अनुयोगशब्दस्यार्थे, विशे० ।

अधुना नियोगमाह–

आहिगो जोगो निओगो, जहाऽइदाहो जवे निदाहो त्ति ।
अत्थनिउत्तं सुत्तं, पसुवइ चरणं जओ मुक्खो ॥

निराधिक्ये, अधिको योगो नियोगो, यथाऽतिदाघो निदाघः, कस्य केन सहाऽऽधिक्यमिति चेत् ?; उच्यते-सूत्रस्यार्थेन । आधिक्येन योगस्य किं फलमिति चेत् ?, अत आह–अर्थेन समभाधिक्येन नियुक्तं सूत्रं, चरणं चारित्रं प्रसूते, यतः संसाराद् मोक्षः ॥

अत्रैव प्रसवने दृष्टान्तमाह–

वच्छनियोगे खीरं, अत्थनियोगेण चरणमेवं तु ।
पत्तग दंडियमुजयं, दंडीसरिसो तहिं अत्थो ॥

यथा गौर्वत्सेन नियुक्ता सती क्षीरं प्रसूते, एवमर्थेन समं नियुक्तं सूत्रं चरणं प्रसूते । यदि पुनरेकं केवलं सूत्रं स्यान्नार्थस्तेन संगृहीतो भवेत्, ततश्चरणप्रसवस्याभावः; यथा वत्सनियोगाभावे गोक्षीरप्रसवस्याभावः; अर्थोऽपि केवलः सूत्रविहीनो न कार्यसाधको, यथा केवलो वत्सः । अत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह-(पत्तगदंडियउभयं ति) पत्रकं-लेखः, दण्डिका लेखस्योपरि मुद्रानियोगः, उभयं-पत्रकं, दण्डिका च । इयमत्र भावना–" तिन्नि पुरिसा रायाणमोलग्गंति, राया तुट्ठो कस्सिइ नगरे पसाओ कओ । तत्थ एगेण पुरिसेण जे तम्मि नयरे रायपुरिसा, तेसिं ओग्गं पत्तयमाणीयं । बिइएण दंडिया चेव केवला । तइएणोभयं । तत्थ जेण मुद्दारित्तं पत्तयमाणीयं, सो रायपुरिसेहिं भणिओ-नत्थि पत्तगस्सोवरि मुद्दाविणिओग त्ति न मन्ने सो । बिइओ भणिओ-अत्थि इयं मुद्दा, परं को रण्णा पसाओ कओ, को वा न कओ त्ति ?, न जाणामो त्ति, तम्हा न देमो त्ति । तइएणोभयं दरिसियं ति सव्वं जहिच्छियं लद्धं । " एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः-पत्रकसदृशं सूत्रं, दण्डिकासदृशोऽर्थः, यथा पत्रकं केवलं, दण्डिका वा न कार्यस्य प्रसाधिका, उभयं तु साधकम्, एवं सूत्रमर्थश्च पृथक् न चरणप्रसाधकः, उभयं तु प्रसाधकम् । बृ० १ उ० । आ० चू० । व्यापारे, व्य २ उ० । पञ्चा० । अवश्यतायाम्, पं० व० ४ द्वार । पञ्चा० । नियमे, पं० व० ४ द्वार । द्वा० । पञ्चा० । निश्चिता आज्ञाऽऽहिता कृतव्यापारा यस्य स नियोगः । राजनि, जीत० । ग्रामे, क्षेत्रे च । बृ० १ उ० ।

णिओगपुर–नियोगपुर–न० । नियोगो राजा, तस्य पुरम् । राजधान्याम्, देशे, जनपदे, राज्ये, राष्ट्रे च । जीत० ।

णिओजिय–नियोजित–त्रि० । व्यापारिते, " सोऊण जिणागमणं, निउत्तअणिओजियाइएसुं वा । " आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णित–नयत्–त्रि० । निर्गच्छति, नि० चू० १ उ० । आ० म० ।

णिंदंत–निन्दत्–त्रि० । जुगुप्समाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अन्त० ।

णिंदण–निन्दन–न० । मनसा कुत्सने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्था० । आत्मनैव दोषपरिकुत्सने, भ० १७ श० ३ उ० । पश्चात्तापे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णिंदणा–निन्दना–स्त्री० । निन्द-ल्युट्, प्राकृते स्वार्थे तत्र । आत्मनैवाऽऽत्मदोषपरिभावने, उत्त० २९ अ० । आत्मसाक्षिकमात्मनो निन्दायाम, उत्त० ।

तत्फलम्–

निंदणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । निंदणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ, पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ, करणगुणसेढिं पडिवन्ने य अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ ॥ ६ ॥

हे भदन्त ! निन्दनया जीवः किं जनयति ? । गुरुराह हे शिष्य ! आत्मनः पापस्य निन्दनेन पश्चात्तापं जनयति—हा ! मया दुष्कृतं कृतमित्यादि बुद्धिमुत्पादयति । पश्चात्तापेन विरज्यमानो वैराग्यं प्राप्नुवन् सन् करणगुणश्रेणिमपूर्वकरणेन पूर्वं कदापि अप्राप्तेन विशुद्धमनःपरिणामविशेषगुणश्रेणिं क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते अङ्गीकुरुते, करणगुणश्रेणिं प्रतिपन्नोऽपूर्वगुणश्रेणिः सन् अनगारः साधुर्मोहनीयं कर्म दर्शनमोहनीयाऽऽदिकं कर्मोद्घातयते अतिशयेन क्षपयति ॥ ६ ॥ उत्त० २९ अ० ।

णिंदा–निन्दा–स्त्री० । ' णिदि ' कुत्सायाम्, अस्य " गुरोश्च हलः " ॥ ३ । ३ । १०३ ॥ इत्यप्रत्ययः । मिथ्यादुष्कृते, आव० ४ अ० । स्वप्रत्यक्षमेव जुगुप्सायाम्, पा० । सूत्र० । प्रति० । उत्त० । आ० म० । आव० । "णिंदामि गरिहामि ।" निन्दागर्हाऽभिधेयस्यापि जुगुप्सार्थस्य विशेषतो भेदोऽस्ति । तथाहि–स्वप्रत्यक्षाऽऽत्मसाक्षिकी जुगुप्सा, सा समये सिद्धान्ते निन्दामित्यनेन गम्यते । या तु गुरुप्रत्यक्षा गुरुसाक्षिकी जुगुप्सा, सा गर्हामीत्यनेन शब्देन गम्यते । विशे० ।

सा च नामाऽऽदिभेदतः षोढा भवति । तथा चाऽऽह–

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो खलु णिंदाए, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ६ ॥

तत्र नामस्थापने सुगमे; द्रव्यनिन्दा–तापसाऽऽदीनामनुपयुक्तस्य वा सम्यग्दृष्टेर्वा उपयुक्तस्य वा निह्नवस्याशोभनद्रव्यस्य वेति । क्षेत्रनिन्दा–यत्र व्याख्यायते वा क्रियते वा संसक्तस्य वेति । कालनिन्दा–यस्मिन्निन्दा व्याख्यायते वा दुर्भिक्षाऽऽदेर्वा कालस्य । भावनिन्दा-प्रशस्ताप्रशस्तेन द्विभेदा, प्रशस्ता संयमाऽऽद्याचरणविषया, अप्रशस्ता पुनरसंयमाऽऽद्याचरणविषयेति । "हा दुट्ठु कयं हा दुट्ठु कारियं दुट्ठु अणुमयं इ त्ति । अंतो बाहिर डज्झइ, सुसिरो व्व दुमो वणदवेणं ॥१॥" अथवैषत एवोपयुक्तस्यसम्यग्दृष्टेरिति ।

आव० ४ अ० । (निन्दायां चित्रकरसुतोदाहरणं ' णुग्गह ' शब्देऽत्रैव भागे १७७५ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

णिंदाचाग–निन्दात्याग–पुं० । परिवादापनोदे, द्वा० १२ द्वा० ।

णिंदित्ता–निन्दित्वा–अव्य० । जुगुप्सित्वेत्यर्थे, " णिंदित्ता गरहित्ता पडिक्कमित्ता अहारिहं उत्तरगुणं पायच्छित्तं । " आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ० ।

णिंदिया–निन्दिता–स्त्री० । एकदा विजातीयतृणाऽऽद्यपनयनेन शोधितायां कृषौ, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णिंब–निम्ब–पुं० । ' नीबड़ा ' इति ख्याते वृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । तत्फले, न० । उज्जयिन्यामम्बर्षिद्विजपुत्रे मालुकाऽऽत्मजे, स च पित्रा सह प्रव्राजितो, दुर्विनीतत्वेन साधुभिस्तिरस्कृत इति विनयोपगते उदाहरणम् । आ० क० । आव० ।

णिंबअ–निम्बक–पुं० । अभिप्रायवशाद् निम्बक इति नामाभिधेये, अनु० ।

णिंबोलिया–निम्बगुलिका–स्त्री० । निम्बफले, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णिकरण–निकरण–न० । निश्चयेन नितरां नियतं वा क्रियन्ते नानादुःखावस्था जन्तवो येन तन्निकरणम् । निकारे, शारीरमानसदुःखोत्पादने, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

णिकाइय–निकाचित–त्रि० । निर्युक्तिसंग्रहणीहेतूदाहरणाऽऽदिभिरनेकधा व्यवस्थापिते, नं० । नितरां काचनं बन्धनं निकाचितम् । कर्मणः सर्वकरणानामयोग्यत्वेनावस्थापने, पूर्वबद्धस्य तप्तमिलितसंकुटितलोहशलाकासंबन्धसमाने करणे, स्था० । " चउव्विहे निकाइए पण्णत्ते । तं जहा–पगइनिकाइए, ठिइनिकाइए, अणुभागनिकाइए, पएसनिकाइए । " स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णिकाइंसु–निकाचितवत्–त्रि० । नितरां बद्धवति, भ० १ श० १ उ० । नियमितवति, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

णिकाम–निकाम–न० । अत्यर्थे, निश्चये, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

णिकामकामीण–निकामकामीन–न० । निकाममत्यर्थं प्रार्थयते यः स निकामकामीनः । आहारोपकरणाऽऽदिकस्यार्थस्य प्रार्थके, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

णिकामचारि [ण्]–निकामचारिन्–त्रि० । निकाममत्यर्थं चरति तच्छीलश्च निकामचारी । आधाकर्माऽऽदीनां तन्निमित्तनिमन्त्रणाऽऽदीनां वा ग्रहणशीले, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

णिकाय–निकाय–पुं० । निसर्गतः काय औदारिकाऽऽदिर्यस्माद् यस्मिन् वा सति स निकायः । मोक्षे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । समूहे, ओघ० । आ० चू० । गणकायनिकायस्कन्धवर्गराश्यादीनि च स्कन्धैकार्थिकानि । विशे० ।

साम्प्रतं निकायपदं व्याचिख्यासुराह

निर्युक्तिकृत्–

णामं ठवण सरीरे, गई निकायऽत्थिकाय दविए य ।
माउग पज्जव संगह–भारे तह भावकाए य ॥२७७॥

नामस्थापने क्षुण्णे । शरीरकायः शरीरमेव तत्प्रायोग्याऽणुसंघाताऽऽत्मकत्वात् । गतिकायो यो भवान्तरगतौ; स च तैजसकार्मणलक्षणः । निकायकायः षड्जीवनिकायः । अस्तिकायो धर्मास्तिकायाऽऽदिः । द्रव्यकायश्च त्र्यादिघटाऽऽदिसमुदायः । मातृकाकायस्त्र्यादीनि मातृकाऽक्षराणि । पर्यायकायो द्विधा जीवाऽजीवभेदेन–जीवपर्यायकायो ज्ञानाऽऽदिसमुदायः, अजीवपर्यायकायो रूपाऽऽदिसमुदायः । संग्रहकायः संग्रहैकशब्दवाच्यः, त्रिकटुकाऽऽदिवत् । भारकायः कापोती । वृद्धास्तु व्याचक्षते–

एको काओ दुहा जाओ, एगो चिट्ठइ एगो मारिओ ।
जीवंतो मएण मारिओ, तल्लव माणव केण हेउणा ? ॥२७८॥

उदाहरणम्–" एगो काहरो तलाए दो घडा पाणियस्स भरेऊण कावोडीए वहति, सो एगो आउक्कायकाओ दोसु घडेसु दुहा कओ । तओ सो काहरो गच्छंतो पक्खलिओ, एगो घडो भग्गो । तम्मि जो आउक्काओ सो मओ । इतरम्मि जीवति; तस्स अभावे सो वि भग्गो । ताहे सो तेण पुव्वमएण मारिओ त्ति भण्णति । अहवा–एगो घडो आउक्कायभरिओ, ताहे तमाउक्कायं दुहा काऊण अद्धो ताविओ, सो मओ । अताविओ जीवति । ताहे सो वि तत्थेव पक्खित्तो । तेण मएण जीवंतो मारिओ त्ति । एस भारकाओ गओ । " भावकायश्चौदारिकाऽऽदिसमुदायः । इह च निकायः काय इत्यनर्थान्तरमिति कृत्वा कायनिक्षेप इत्यदुष्ट एवेति गाथाऽर्थः ॥ २८० ॥

इत्थं पुण अहिगारो, निकायकाएण होइ सुत्तम्मि ।
उच्चरियअत्थसरिसा–ण कित्तणं सेसगाणं पि ॥२७९॥

अत्र पुनः सूत्रे इति प्रयोगः, सूत्र इत्यधिकृताध्ययने । किमित्याह–अधिकारो निकायकायेन भवति । अधिकारः प्रयोजनम्, शेषाणामुपन्यासवैयर्थ्यमाशङ्क्याऽऽह–उच्चरितार्थसदृशानामुच्चरितो निकायः, तदर्थतुल्यानां, कीर्तनं संशब्दनम्; शेषाणामपि नामाऽऽदिकायानां व्युत्पत्तिहेतुत्वात् प्रदेशान्तरोपयोगित्वाच्चेति गाथाऽर्थः ॥ २८१ ॥ दश० ४ अ० ।

कायमणिओ वि वुच्चइ, बद्धमवि निकायमाहंसु ।

बद्धमपि किञ्चिल्लेश्याऽऽदिनिकायम्, (आहंसु त्ति) निकाचितमाख्यातवन्तः । आव० ५ अ० । षड्जीवनिकायवान्निकायः । आवश्यके, अनु० । (असुराऽऽदिनिकायेन्द्राणां, सौधर्माऽऽदिदेवलोकेन्द्राणां च नामानि ' इंद ' शब्दे द्वितीयभागे ५३५ पृष्ठे द्रष्टव्यानि)

निकाच–पुं० । निकाचनं निकाचः । बन्धने, निमन्त्रणे, स० १२ सम० ।

निकाच्य–अव्य० । व्यवस्थाप्येत्यर्थे, " णिकाय समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामो । " आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

णिकायकाय–निकायकाय–पुं० । षड्जीवनिकाये, दश० ४ अ० ।

निकायकायः प्रतिपाद्यते–

णियममहिगो व काओ, जीवनिकाओ निकायकाओ अ ।५।

नित्यः कायो निकायः, नित्यताऽस्य त्रिष्वपि कालेषु भावात् । अधिको वा कायो निकायः; यथाऽधिको दाहो निदाह इति । आधिक्यं चास्य धर्माधर्मास्तिकायापेक्षया स्वभेदापेक्षया वा । तथाहि–एकाऽऽद्यो यावदसंख्येयाः पृथिवीकायिकास्तावत्कायः स एव स्वजातीयान्यप्रक्षेपापेक्षया निकाय इति; एवमन्येष्वपि विभावनीयमित्येवं जीवनिकायः सामान्येन निकायकायो भण्यते । अथवा–

जीवनिकायः पृथिव्यादिभेदभिन्नः षड्विधोऽपि निकायो भण्यते, तत्समुदाय एव च निकायकाय इति । आव० ४ अ० ।

णिकायणा–निकाचना–स्त्री० । 'कच' बन्धने । नितरां कच्यते बन्धमेव बन्धमायाति कर्म जीवस्य तथाविधसंक्लिष्टाध्यवसायपरिणतस्य, तत्प्रयुङ्क्ते जीव एव, यथानुकूल्येन प्रवनात्, ततः 'प्रयोक्तृव्यापारे णिच्' (श्रीम० आ- *६५) तत्तो निकाच्यते अवश्यवेद्यतया निबध्यते यया कर्म सा निकाचना । जीववीर्यविशेषपरिणतिरूपे समस्तकरणाऽयोग्यत्वेन व्यवस्थापने, क० प्र० । सूत्र० ।

संप्रति निधत्तिनिकाचनाकरणे प्रतिपिपाद-
यिषुराह-

देसोवसमणतुल्ला, होइ निहत्ती निकाइया नवरं ।
संकमणं पि निहत्ती-ऍ नत्थि सेसाण वियरस्स ॥१॥

(देसोवसमण त्ति) निधत्तिर्निकाचना च देशोपशमनातुल्या । इदमुक्तं भवति-ये देशोपशनाया भेदाः, ये च स्वामिनः, ते अन्यूनातिरिक्ता निधत्तिनिकाचनयोरपि वेदितव्याः । नवरम् अयमपरं निधत्तिनिकाचनयोरिदं संक्रमणमपि परप्रकृतिसंक्रमणमपि; अपिशब्दादुदीरणाऽऽदीन्यपि निधत्ती सत्यां न भवन्ति, उद्वर्त्तनाऽपवर्त्तने पुनर्भवत एव; इतरस्यां निकाचनायां शेषे अपि उद्वर्त्तनापवर्त्तने अपि न भवतः । सकलकरणायोग्यं निकाचितमित्यर्थः ॥७२॥

इह यत्र गुणिश्रेणिस्तत्र प्रायो देशोपशमनानिधत्तिनिका-
चनायथाप्रवृत्तसंक्रमा अपि संभवन्ति, ततस्तत्रा-
ऽल्पबहुत्वमाह-

गुणिसेढिपएसग्गं, थोवं पत्तेगसो असंखगुणं ।
उवसामणाइ तीसु वि, संकमणेऽहप्पवत्ते य ॥ २ ॥

(गुणसेढि त्ति) गुणश्रेणिप्रदेशाग्रं स्तोकम् । ततः प्रत्येकशः प्रत्येकं प्रत्येकमुपशमनाऽऽदिषु त्रिषु यथाप्रवृत्ते च संक्रमणे असंख्येयगुणं वक्तव्यम् । इयमत्र भावना-यस्य तस्य वा कर्मणो गुणश्रेणिप्रदेशाग्रं सर्वस्तोकम्, ततो देशोपशमनायामसंख्येयगुणम् । ततो निधत्तमसंख्येयगुणम् । ततोऽपि निकाचितमसंख्येयगुणम् । ततोऽपि यथाप्रवृत्तसंक्रमेण संक्रान्तमसंख्येयगुणम् ।२। क० प्र० ७+८ प्रक०। पं० सं०। स्था०। "इच्चेयं महव्वयउच्चारणं णिकायणा ।" निकाचनेव निकाचना, स्वमतप्रतिपत्तिदृढतरनिबन्ध इत्यर्थः । शुभकर्मणां वा निकाचनाहेतुत्वान्निकाचनेयमुच्यते, न च सरागसंयमिनामयमर्थो घटत इति । पा० । ध० । दापने, "निकायण त्ति वा दावण त्ति वा एगट्ठा ।" नि० चू० ५ उ० । " जं मासातिआरोवणाए विहीणधियाए वा जहा महाए आरोवणाए आरोवयंति, तं णिकाइतं भण्णति ।" नि० चू० २० उ० ।

णिकायपडिवण्ण–निकायप्रतिपन्न–त्रि० । निर्गतः काय औदारिकाऽऽदिर्यस्माद् यस्मिन् वा सति स निकायो मोक्षः, तं प्रतिपन्नो निकायप्रतिपन्नः । सम्यग्दर्शनाऽऽदेः स्वशक्त्यनुष्ठानाद् मोक्षं प्रतिपन्ने, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

---

* श्रीमत्प्रणीतं कचिरतरमस्त्येव शब्दानुशासनं सवृत्तिकं, तन्नामाऽऽख्यातकृदाख्यं यथार्थाख्यं प्रकरणत्रयं क्रमेण नवदशषट्पादप्रमाणम्, ततश्चात्र श्रीमलयगिरिपूज्यपादकृतप्रकरणपादसूत्रसंख्यासूचनं क्रमेणावसेयमव्यवसितवाङ्मयसारैः ।

णिक्किंचण–निष्किञ्चन–त्रि० । निर्गतं किञ्चन हिरण्याऽऽदि येभ्यस्ते निष्किञ्चनाः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णिक्कूड–निष्कूट–त्रि० । अमायं, आव० ५ अ० ।

णिकेअ–निकेत–पुं० । निवासे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । गृहे, उत्त० २ उ० ।

णिक्क–देशी–सर्वथा विगतमले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

निष्क–पुं० । न०। निश्चयेन कायति कै-कः । शास्त्रीयषोडशमाषकपरिमितसुवर्णानामष्टाधिकशते, व्यवहारिकरूपके दीनारे, (टाका) । चतुःसुवर्णपरिमितं पलपरिमाणे मानभेदे, षोडशद्रम्मे (काहन) परिमाणे, वक्षोभूषणे, हेमपात्रे, च । वाच० ।

णिक्कअ–निष्क्रय–पुं० । न विद्यते क्रयो यस्य सः । "कगटडतदपशषसङ्कङ्पामूर्ध्वं लुक्" । ८ । २ । ७७ । इति षलुक् । "सर्वत्र लवरामचन्द्रे" । ८ । २ । ७९ । इति रलुक्, अनादौ द्वित्वम् । "कगचजतदपयवां प्रायो लुक्" । ८ । १ । १७७ । इति यलुक् । प्रा० २ पाद । "ष्कस्कयोर्नाम्नि" । ८ । २ । ४ । इति खत्वं न, नाम्नीति तत्र विशेषणात् । क्रयरहिते, प्रा० २ पाद ।

णिक्कंकड–निष्कङ्कट–त्रि० । निष्कञ्चुके, निरावरणे, निरुपघाते, स० ।

णिक्कंकडच्छाय–निष्कङ्कटच्छाय–त्रि० । निष्कङ्कटा निष्कवचा निरावरणा निरुपघातेति भावः । छाया दीप्तिर्यस्य तन्निष्कङ्कटच्छायम् । रा० । जं० । औ० । निरावरणदीप्तौ, औ० । स० । प्रज्ञा० । रा० । स्था० । जी० । ज० ।

णिक्कंखिय–निष्काङ्क्षित–न० । काङ्क्षितं देशसर्वकाङ्क्षाऽऽत्मकं, तस्याभावो निष्काङ्क्षितम् । अन्यान्यदर्शनानभिलाषे, उत्त० २ अ० । प्रव० । निर्गता काङ्क्षाऽन्यान्यदर्शनग्रहणरूपा यस्माऽसौ निष्काङ्क्षितः । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । देशसर्वकाङ्क्षारहिते, ध० १ अधि० । ग० । व्य० । रा० । औ० । दर्शनान्तराऽऽकाङ्क्षारहिते, दशा० १० अ० ।

णिक्कंत–निष्क्रान्त–त्रि० । प्रव्रज्यां गृहीतवति, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

णिक्कंतार–निष्कान्तार–न० । कान्तारमरण्यं, निर्गतः कान्ताराद् निष्कान्तारः । कान्तारान्निष्क्रान्ते, "कंताराओ णिक्कंतारं करेज्जा ।" निष्कान्तारं निष्क्रामितारं वा । स्था० ३ ठा० ९ उ० ।

णिक्कंप–निष्कम्प–पुं० । दृढे, द्वा० ६ द्वा० । स्थिरचित्तवृत्तौ, बृ० ।

अथ निष्कम्पताद्वारमाह-

णाणाऽऽणत्तीएँ पुणो, दंसणतवनियमसंजमे ठिच्चा ।
विहरइ विसुज्झमाणो, जावज्जीवं पि णिक्कंपो ॥

ज्ञानस्य या आज्ञप्तिरादेशः-"आर्य स्वाध्यायं कुरुष्व, तामेव मनुपालय ।" इत्यादिकः, तया दर्शनप्रधाने तपोनियमरूपे संयमे स्थित्वा कर्ममलेन विशुद्ध्यमानः सन् यावज्जीवमपि निष्कम्पः स्थिरचित्तवृत्तिर्विहरति संयमाध्वानं गच्छतीति । बृ० १ उ० ।

णिक्कज्ज–देशी–अनवस्थिते, दे० ना० ४ वर्ग ३२ गाथा ।

णिक्कट्ठ–निकृष्ट–त्रि० । निष्कर्षिते, तपसा कृशदेहे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

निष्क्रुष्ट-त्रि० । तपसा कृशीकृते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णिक्कड-देशी-कठिने, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिक्कमण-निष्क्रमण-न० । प्रव्रज्यायाम्, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । वृ० । निर् + क्रम-ल्युट् । बहिर्गमने, चतुर्थे मासि शिशोः कर्त्तव्ये संस्कारभेदे च । "चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं, शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।" इति मनुः । वाच० ।

णिक्कम्म-निष्कर्मन्-पुं० । निष्क्रान्तः कर्मणो निष्कर्मा । मोक्षे, सम्वरे, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

णिक्कम्मदंसि [ण्]-निष्कर्मदर्शिन्-त्रि० । निष्कर्मा मोक्षः, सम्वरो वा, तं द्रष्टुं शीलमस्येति निष्कर्मदर्शी । मोक्षसम्वरतत्त्ववेत्तरि, "णिक्कम्मदंसी इह मच्चिएहिं कम्माणि सफलाणि दट्ठुं ।" आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । निष्कर्माणमात्मानं पश्यतीति तच्छीलश्च निष्कर्मदर्शी । कर्मबन्धनविप्रमुक्ते, "पलिच्छिन्नाणं णिक्कम्मदंसी ।" निष्कर्मत्वादपगताऽऽवरणः सर्वज्ञानी सर्वदर्शी च भवति । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

णिक्कल-निष्कल-त्रि० । आशाऽऽदिदोषरहिते, भ० १५ श० ।

णिक्कलुण-निष्करुण-त्रि० । निर्गता करुणा दया यस्मादसौ निष्करुणः । स्नेहविरहिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिक्कवय-निष्कवच-त्रि० । निरावरणे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णिक्कमण-निष्क्रमन-न० । निर्गमने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

णिक्कसाय-निष्कषाय-त्रि० । कषायरहिते, आतु० । आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति त्रयोदशे तीर्थेश्वरे, ती० २० कल्प । स० । प्रव० ।

णिक्कसिज्जंत-निष्कास्यमान-त्रि० । निर्वास्यमाने, निःसार्यमाणे, उत्त० १ अ० ।

णिक्काम-निष्काम-त्रि० । शुभरसगन्धाऽऽद्युपभोगरहिते, वृ० १ उ० ।

णिक्कारण-निष्कारण-न० । ग्लानाऽऽदिकारणाभावे, आव० ६ अ० । व्य० ।

णिक्कासिय-निष्कासित-त्रि० । विनिर्गते, औ० ।

णिक्किंचण-निष्किञ्चन-त्रि० । 'णिक्किंचण' शब्दार्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णिक्किय-निष्क्रिय-त्रि० । सर्वव्यापित्वेनावकाशाभावाद् गमनागमनाऽऽदिक्रियावर्जिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । पो० ।

आत्मा निष्क्रिय इति साङ्ख्याः-

जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिया ? ।
तमाओ ते तमो जंति, मंदा आरंभनिस्सिया ॥ १४ ॥

ये एते अकारकवादिन आत्मनोऽमूर्त्तत्वनित्यत्वसर्वव्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यो निष्क्रियत्वमेवाभ्युपपन्नाः, तेषां य एष लोको जरामरणशोकाऽऽक्रन्दनहर्षाऽऽदिलक्षणो नरकतिर्यङ्मनुष्यामरगतिरूपः, सोऽयमेवंभूतो निष्क्रिये सत्यात्मन्यप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावे कुतः कस्माद्धेतोः स्यात् ?, न कथञ्चिन्न कुतश्चित्स्यादित्यर्थः । ततश्च हरोडपाडाकपापमसोऽज्ञानरूपात्ते तमोऽन्तरं निकृष्टं यातनास्थानं यान्ति । किमिति ?, यतो मन्दा जडाः प्राण्युपकारकाः, आरम्भनिश्रिताश्च ते इति ।१४।

अधुना निर्युक्तिकारोऽकारकवादिमतनिराकरणार्थमाह-

को वेएई अकयं, कयनासो पंचहा गई नऽत्थि ।
देवमणुस्सगयागइ, जाईसरणाऽऽइया च ण हि ॥३४॥ नि० ।

(को वेएईत्यादि) आत्मनोऽकर्तृत्वात्कृतं नास्ति, ततश्चाकृतं को वेदयते ? । तथा निष्क्रियत्वे वेदनक्रियाऽपि न घटां प्राञ्चति । अथाऽकृतमप्यनुभूयेत, तथा सत्यकृताऽऽगमकृतनाशाऽऽपत्तिः स्यात् । ततश्च एककृतपातकेन सर्वप्राणिगणो दुःखितः स्यात्, पुण्येन च सुखी स्यादिति । न चैतद् दृष्टमिष्टं वा । तथा व्यापित्वान्नित्यत्वाच्चाऽऽत्मनः पञ्चधा पञ्चप्रकारा-नारकतिर्यङ्मनुष्यामरमोक्षलक्षणा गतिर्न भवेत् । ततश्च भवतां साङ्ख्यानां काषायचीवरधारणशिरस्तुण्डमुण्डनदण्डधारणभिक्षाभोजित्वपञ्चरात्रोपदेशानुसारयमनियमाऽऽद्यनुष्ठानम्, तथा-"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राऽऽश्रमे रतः । जटी मुण्डी शिखी वाऽपि, मुच्यते नात्र संशयः ॥ १ ॥" इत्यादि सर्वमपार्थकमाप्नोति । तथा-देवमनुष्याऽऽदिषु गत्यागती न स्यातां, सर्वव्यापित्वादात्मनः । तथा नित्यत्वाच्च विस्मरणाभावाद् जातिस्मरणाऽऽदिका च क्रिया नोपपद्यते, तथाऽऽदिग्रहणात् प्रकृतिः करोति, पुरुष उपभुङ्क्ते इति भुजिक्रिया या समाश्रिता, साऽपि न प्राप्नोति । तस्या अपि क्रियात्वादिति । अथ मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन भोग इति चेत्, एतत्तु निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, वाङ्मात्रत्वात्; प्रतिबिम्बोदयस्यापि च क्रियाविशेषत्वादेव । तथा नित्ये चाविकारिण्यात्मनि प्रतिबिम्बोदयस्याऽभावाद्यत्किञ्चिदेतदिति ॥ ३४ ॥

ननु च भुजिक्रियामात्रेण, प्रतिबिम्बोदयमात्रेण च
यद्यप्यात्मा सक्रियः, तथापि न तावन्मात्रेणा-
स्माभिः अक्रियत्वमिष्यते, किं तर्हि
समस्तक्रियावत्वे सतीत्येतदा-
शङ्क्य निर्युक्तिकृदाह-

ण हु अफलथोवऽणिच्छिय-ऽकालफलत्तणमिहं अदुमहेऊ ।
णावुंच्छथोवकुच्छ-त्तणेणऽणाविस्तणे हेऊ ॥३५॥ नि० ।

(ण हु अफलेत्यादि) न हु नैवाऽफलत्वं द्रुमाभावे साध्ये हेतुर्भवति । न हि यदैव फलवांस्तदैव द्रुमोऽन्यदा त्वद्रुम इति भावः । एवमात्मनोऽपि सुप्ताऽऽद्यवस्थायां यद्यपि कथञ्चिन्निष्क्रियत्वं, तथाऽपि नैतावता त्वसौ निष्क्रिय इति व्यपदेशमर्हति । तथा स्तोकफलत्वमपि न वृक्षाभावसाधनायालम्; स्वल्पफलोऽपि हि पनसाऽऽदिर्वृक्षस्त्व व्यपदेशभाग्भवति । एवमात्माऽपि स्वल्पक्रियोऽपि क्रियावानेव । कदाचिदेषा मतिर्भवतो भवेत्-स्तोकक्रियो निष्क्रिय एव । यथैककार्षापणधनो न धनित्वमास्कन्दत्येवमात्माऽपि स्वल्पक्रियत्वादक्रिय इत्येतदप्युपचारः । यतोऽयं दृष्टान्तः प्रतिनियतपुरुषापेक्षया चोपगम्यते, समस्तपुरुषाऽपेक्षया वा ? । तत्र यद्याद्यः पक्षः, तदा सिद्धसाध्यता । यतः-सहस्राऽऽदिधनवदपेक्षया निर्धन एवासौ । अथ समस्तपुरुषापेक्षया । तदसाधु । यतोऽन्यान् जरच्चीवरधारिणोऽपेक्ष्य कार्षापणधनोऽपि धनवानेव । तथाऽऽत्मापि यदि विशिष्टसामर्थ्योपेतपुरुषक्रियाऽपेक्षया निष्क्रियोऽभ्युपगम्यते, न काचित्क्षतिः । सामान्यापेक्षया तु क्रियावानेवेत्यलमतिप्रसङ्गेन । एवमनिश्चिताकालफलत्वाऽऽद्यहेतुत्वमपि न वृक्षाभावसाधकमित्यादि योज्यम् । एवमकुण्ठस्तोककुण्ठस्वरूपावपि हेतु

जीवनिकायः पृथिव्यादिभेदभिन्नः षड्विधोऽपि निकायो भण्यते, तत्समुदाय एव च निकायकाय इति । आव० ४ अ० ।

णिकायणा–निकाचना–स्त्री० । 'कच' बन्धने । नितरां कच्यते द्रव्यमेव बन्धमायाति कर्म जीवस्य तथाविधसंक्लिष्टाध्यवसायपरिणतस्य, तत्प्रयुङ्क्ते जीव एव, तथानुकूल्येन प्रवर्त्तनात्, ततः 'प्रयोक्तृव्यापारे णिग्'(श्रीम० श०-*६५) ततो निकाच्यते अवश्यवेद्यतया निबध्यते यया कर्म सा निकाचना । जीववीर्यविशेषपरिणतिरूपे समस्तकरणाऽयोग्यत्वेन व्यवस्थापने, क० प्र० । सूत्र० ।

संप्रति निधत्तिनिकाचनाकरणे प्रतिपिपादयिषुराह–

देसोवसमणतुल्ला, होइ निहत्ती निकाइया नवरं ।
संकमणं पि निहत्ती–एँ नत्थि सेसाण वियरस्स ॥१॥

(देसोवसमण त्ति) निधत्तिर्निकाचना च देशोपशमनातुल्या । इदमुक्तं भवति–ये देशोपशमनाया भेदाः, ये च स्वामिनः, ते अन्यूनातिरिक्ता निधत्तिनिकाचनयोरपि वेदितव्याः । नवरम् अयंपदं निधत्तिनिकाचनयोरिदं संक्रमणमपि परप्रकृतिसंक्रमणमपि; अपिशब्दादुदीरणाऽऽदीन्यपि निधत्तौ सत्यां न भवन्ति, उद्वर्त्तनाऽपवर्त्तने पुनर्भवत एव; इतरस्यां निकाचनायां शेषे अपि उद्वर्त्तनापवर्त्तने अपि न भवतः । सकलकरणायोग्यं निकाचितमित्यर्थः ॥७२॥

इह यत्र गुणश्रेणिस्तत्र प्रायो देशोपशमनानिधत्तिनिकाचनायथाप्रवृत्तसंक्रमा अपि संभवन्ति, ततस्तत्राऽल्पबहुत्वमाह–

गुणिसेढिपएसग्गं, थोवं पत्तेगसो असंखगुणं ।
उवसामणाइ तीसु वि, संकमणेऽहप्पवत्ते य ॥ २ ॥

(गुणसेढि त्ति) गुणश्रेणिप्रदेशाग्रं स्तोकम् । ततः प्रत्येकशः प्रत्येकं प्रत्येकमुपशमनाऽऽदिषु त्रिषु यथाप्रवृत्ते च संक्रमणे असंख्येयगुणं वक्तव्यम् । इयमत्र भावना–यस्य तस्य वा कर्मणो गुणश्रेणिप्रदेशाग्रं सर्वस्तोकम्, ततो देशोपशमनायामसंख्येयगुणम् । ततो निधत्तमसंख्येयगुणम् । ततोऽपि निकाचितमसंख्येयगुणम् । ततोऽपि यथाप्रवृत्तसंक्रमेण संक्रान्तमसंख्येयगुणम् ।२। क० प्र० ७+८ प्रक० । पं० सं० । स्था० । "इमेयं मह-ब्भयउक्कारणं णिकायणा ।" निकाचनेव निकाचना, स्वयमतप्रतिपत्तिरुक्तलरनिबन्ध इत्यर्थः । शुभकर्मणां वा निकाचनाहेतुत्वान्निकाचनेयमुच्यते, न च सरागसंयमिनामयमर्थो घटत इति । पा० । ध० । दापने, "निकायण त्ति वा दावण त्ति वा एगट्ठा ।" नि० चू० ५ उ० । " जं मासातिआरोवणाए विहीणाधियाए वा जहा महाए आरोवणाए आरोवयंति, तं णिकाइतं भण्णति । " नि० चू० २० उ० ।

णिकायपडिवण्ण–निकायप्रतिपन्न–त्रि० । निर्गतः काय औदारिकाऽऽदिर्यस्माद् यस्मिन् वा सति स निकायो मोक्षः, तं प्रतिपन्नो निकायप्रतिपन्नः । सम्यग्दर्शनाऽऽदेः स्वशक्त्यनुष्ठानाद् मोक्षं प्रतिपन्ने, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

णिकिंचण–निष्किञ्चन–त्रि० । निर्गतं किञ्चन हिरण्याऽऽदि येभ्यस्ते निष्किञ्चनाः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णिकूड–निष्कूट–त्रि० । अमाये, आव० ५ अ० ।

णिकेअ–निकेत–पुं० । निवासे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । गृहे, उ-त्त० २ उ० ।

णिक्क–देशी–सर्वथा विगतमले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

निष्क–पुं० । न० । निश्चयेन कायति कै–कः । शास्त्रीयषोडशमाषकपरिमितसुवर्णानामष्टाधिकशते, व्यवहारिकरूपके दीनारे, (टाका) । चतुःसुवर्णपरिमिते पलपरिमाणे मानभेदे, षोडशकम्बे (काहन) परिमाणे, वक्षोभूषणे, हेमपात्रे, च । वाच० ।

णिक्कअ–निष्क्रय–पुं० । न विद्यते क्रयो यस्य सः । " कगटडतदपशषस≍क≍पामूर्ध्वं लुक् " । ८ । २ । ७७ । इति षलुक् । " सर्वत्र लवरामचन्द्रे " । ८ । २ । ७९ । इति रलुक्, अनादौ द्वित्वम । " कगचजतदपयवां प्रायो लुक् " । ८ । १ । १७७ । इति यलुक् । प्रा० २ पाद । "ष्कस्कयोर्नाम्नि" । ८ । २ । ४ । इति खत्वं न, नाम्नीति तत्र विशेषणात् । क्रयरहिते, प्रा० ४ पाद ।

णिक्कंकड–निष्कङ्कट–त्रि० । निष्कञ्चुके, निरावरणे, निरुपघाते, स० ।

णिक्कंकडच्छाय–निष्कङ्कटच्छाय–त्रि० । निष्कङ्कटा निष्कवचा निरावरणा निरुपघातेति भावः । छाया दीप्तिर्यस्य तन्निष्कङ्कटच्छायम् । रा० । जं० । औ० । निरावरणदीप्तौ, औ० , स० । प्रज्ञा० । रा० । स्था० । जी० । ज्ञ० ।

णिक्कंखिय–निष्काङ्क्षित–न० । काङ्क्षनं देशसर्वकाङ्क्षाऽऽत्मकं, तस्याभावो निष्काङ्क्षितम् । अन्यान्यदर्शनानभिलाषे, उत्त० २ अ० । प्रश्न० । निर्गता काङ्क्षाऽन्यान्यदर्शनग्रहणरूपा यस्याऽसौ निष्काङ्क्षितः । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । देशसर्वकाङ्क्षारहिते, ध० १ अधि० । ग० । व्य० । रा० । औ० । दर्शनान्तराऽऽकाङ्क्षारहिते, दशा० १० अ० ।

णिक्कंत–निष्क्रान्त–त्रि० । प्रव्रज्यां गृहीतवति, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

णिक्कंतार–निष्कान्तार–न० । कान्तारमरण्यं, निर्गतः कान्ताराद् निष्कान्तारः । कान्तारान्निष्क्रान्ते, " कंताराओ णिक्कंतारं करेज्जा ।" निष्कान्तारं निष्क्रामितार वा । स्था० ३ ठा० ८ उ० ।

णिक्कंप–निष्कम्प–पुं० । दृढे, ठा० ६ ठा० । स्थिरचित्तवृत्तौ, सू० ।

अथ निष्कम्पताद्वारमाह–

णाणाऽऽणत्तीएँ पुणो, दंसणतवनियमसंजमे ठिच्चा ।
विहरइ विसुज्झमाणो, जावज्जीवं पि णिक्कंपो ॥

ज्ञानस्य या आज्ञानिरादेशः–"जाएँ सद्धाएँ निक्खंतो, तामेव मणुपालए ।" इत्यादिकः, तया दर्शनप्रधाने तपोनियमरूपे संयमे स्थित्वा कर्ममलेन विशुध्यमानः सन् यावज्जीवमपि निष्कम्पः स्थिरचित्तवृत्तिर्विहरति संयमाध्वनि गच्छतीति । सू० १ उ० ।

णिक्कज्ज–देशी–अनवस्थिते, दे० ना० ४ वर्ग ३३ गाथा ।

णिक्कट्ठ–निकृष्ट–त्रि० । निष्कर्षिते, तपसा कृशदेहे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

---

* श्रीमत्प्रणीतं हाविरतरमस्त्येव शब्दानुशासनं सवृत्तिकं, तत्र नामाऽऽख्यातकृदाख्यं यथार्थाख्यं प्रकरणत्रयं क्रमेण नवदशषट्पादप्रमाणम्, ततश्चात्र श्रीमलयगिरिपूज्यपादकृतप्रकरणपादसूत्रसंख्यासूचनं क्रमेणावसेयमध्यवसितवाङ्मयसारैः ।

णिक्कट्ठ–निष्कृष्ट–त्रि० । तपसा कृशीकृते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णिक्कड–देशी–कठिने, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिक्कमण–निष्क्रमण–न० । प्रव्रज्यायाम्, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । वृ० । निर् + क्रम–ल्युट् । बहिर्गमने, चतुर्थे मासि शिशोः कर्त्तव्ये संस्कारभेदे च । "चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं, शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।" इति मनुः । वाच० ।

णिक्कम्म–निष्कर्मन्–पुं० । निष्क्रान्तः कर्मणो निष्कर्मा । मोक्षे, सम्वरे, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

णिक्कम्मदंसि [ण्]–निष्कर्मदर्शिन्–त्रि० । निष्कर्मा मोक्षः, सम्वरो वा, तं द्रष्टुं शीलमस्येति निष्कर्मदर्शी । मोक्षसम्वरतत्त्ववेत्तरि, "णिक्कम्मदंसी इह मच्चिएहिं कम्माणि सफलाणि दट्ठुं ।" आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । निष्कर्माणमात्मानं पश्यतीति तच्छीलश्च निष्कर्मदर्शी । कर्मबन्धनविप्रमुक्ते, "पलिच्छियाणं णिक्कम्मदंसी ।" निष्कर्मत्वादपगताऽऽवरणः सर्वज्ञानी सर्वदर्शी च भवति । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

णिक्कल–निष्कल–त्रि० । आसाऽऽदिदोषरहिते, भ० १५ श० ।

णिक्कलुण–निष्करुण–त्रि० । निर्गता करुणा दया यस्मादसौ निष्करुणः । स्नेहविरहिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिक्कवय–निष्कवच–त्रि० । निरावरणे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णिक्कसण–निष्कसन–न० । निर्गमने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

णिक्कसाय–निष्कषाय–त्रि० । कषायरहिते, आतु० । आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति त्रयोदशे तीर्थेश्वरे, ती० २० कल्प । स० । प्रव० ।

णिक्कासिज्जंत–निष्कास्यमान–त्रि० । निर्वास्यमाने, निःसार्यमाणे, दश० १ अ० ।

णिक्काम–निष्काम–त्रि० । शुभरसगन्धाऽऽद्युपभोगरहिते, सू० १ उ० ।

णिक्कारण–निष्कारण–न० । ग्लानाऽऽदिकारणाभावे, आव० ६ अ० । व्य० ।

णिक्कासिय–निष्कासित–त्रि० । विनिर्गते, औ० ।

णिक्किंचण–निष्किञ्चन–त्रि० । 'णिकिंचण' शब्दार्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णिक्किय–निष्क्रिय–त्रि० । सर्वव्यापित्वेनावकाशाभावाद् गमनाऽऽगमनाऽऽदिक्रियावर्जिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । सू० ।

आत्मा निष्क्रिय इति साङ्ख्याः–

जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिया ? ।
तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरंभनिस्सिया ॥ १४ ॥

ये एते अकारकवादिन आत्मनोऽमूर्त्तत्वनित्यत्वसर्वव्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यो निष्क्रियत्वमेवाभ्युपपन्नाः, तेषां च एष लोको जरामरणशोकाऽऽक्रन्दनहर्षाऽऽदिलक्षणो नरकतिर्यङ्मनुष्यामरगतिरूपः, सोऽयमेवंभूतो निष्क्रिये सत्यात्मन्यप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावे कुतः कस्माद्धेतोः स्यात् ?, न कथञ्चिदुत्पद्यत इत्यर्थः । ततश्च इहैवाभाषारूपात्तमसोऽज्ञानरूपात्ते तमोऽन्तरं निकृष्टं यातनास्थानं यान्ति । किमिति ?, यतो मन्दा जडाः प्राण्युपघातकाः, आरम्भनिश्रिताश्च ते इति ।१४।

अधुना निर्युक्तिकारोऽकारकवादिमतनिराकरणार्थमाह–

को वेएई अकयं, कयनासो पंचहा गई नऽत्थि ।
देवमणुस्सगयागइ, जाईसरणाऽऽइया च ण हि ॥ ३४ ॥ नि० ।

(को वेएईत्यादि) आत्मनोऽकर्तृत्वात्कृतं नास्ति, ततश्चाकृतं को वेदयते ? । तथा निष्क्रियत्वे वेदनक्रियाऽपि न घटां प्राञ्चति । अथाऽकृतमप्यनुभूयेत, तथा सत्यकृताऽऽगमकृतनाशाऽऽपत्तिः स्यात् । ततश्च एककृतपातकेन सर्वप्राणिगणो दुःखितः स्यात्, पुण्येन च सुखी स्यादिति । न चैतद् दृष्टमिष्टं वा । तथा व्यापित्वान्नित्यत्वाच्चाऽऽत्मनः पञ्चधा पञ्चप्रकारा–नारकतिर्यङ्मनुष्यामरमोक्षलक्षणा गतिर्न भवेत् । ततश्च भवतां साङ्ख्यानां काषायचीवरधारणशिरस्तुण्डमुण्डनदण्डधारणभिक्षाभोजित्वपञ्चरात्रोपदेशानुसारयमनियमाऽऽद्यनुष्ठानम्, तथा–"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राऽऽश्रमे रतः । जटी मुण्डी शिखी वाऽपि, मुच्यते नात्र संशयः ॥ १ ॥" इत्यादि सर्वमपार्थकमाप्नोति । तथा–देवमनुष्याऽऽदिषु गत्यागती न स्यातां, सर्वव्यापित्वादात्मनः । तथा नित्यत्वाच्च विस्मरणाभावाद् जातिस्मरणाऽऽदिका च क्रिया नोपपद्यते, तथाऽऽदिग्रहणात् प्रकृतिः करोति, पुरुष उपभुङ्क्ते इति भुजिक्रिया या समाश्रिता, साऽपि न प्राप्नोति । तस्या अपि क्रियात्वादिति । अथ मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन भोग इति चेत्, एतत्तु निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, वाङ्मात्रत्वात्; प्रतिबिम्बोदयस्यापि च क्रियाविशेषत्वादेव । तथा नित्ये चाविकारिण्यात्मनि प्रतिबिम्बोदयस्याऽभावाद्यत्किञ्चिदेतदिति ॥ ३४ ॥

ननु च भुजिक्रियामात्रेण, प्रतिबिम्बोदयमात्रेण च
यद्यप्यात्मा सक्रियः, तथापि न तावन्मात्रेणा–
स्माभिः अक्रियत्वमिष्यते, किं तर्हि
समस्तक्रियावत्त्वे सतीत्येतदा–
शङ्क्य निर्युक्तिकृदाह–

ण हु अफलथोवऽणिच्छित–ऽकालफलत्तणमिहं अदुमहेऊ ।
णाउंऽथोवकुडुंब–धणेणऽणाढित्तणे हेऊ ॥ ३५ ॥ नि० ।

(ण हु अफलेत्यादि) न हु नैवाऽफलत्वं द्रुमाभावे साध्ये हेतुर्भवति । न हि यदैव फलवांस्तदैव द्रुमोऽन्यदा त्वद्रुम इति भावः । एवमात्मनोऽपि सुप्ताऽऽद्यवस्थायां यद्यपि कथञ्चिन्निष्क्रियत्वं, तथाऽपि नैतावता त्वसौ निष्क्रिय इति व्यपदेशमर्हति । तथा स्तोकफलत्वमपि न वृक्षाभावसाधनायालम्; स्वल्पफलोऽपि हि पनसाऽऽदिर्वृक्षत्व व्यपदेशभाग्भवति । एवमात्माऽपि स्वल्पक्रियोऽपि क्रियावानेव । कदाचिदेषा मतिर्भवतो भवेत्–स्तोकक्रियो निष्क्रिय एव । यथैककार्षापणधनो न धनित्वमास्कन्दत्येवमात्माऽपि स्वल्पक्रियत्वादक्रिय इत्येतदप्युपचारः । यतोऽयं दृष्टान्तः प्रतिनियतपुरुषापेक्षया वोपगम्यते, समस्तपुरुषाऽपेक्षया वा ? । तत्र यद्याद्यः पक्षः, तदा सिद्धसाध्यता । यतः–लक्षाऽऽदिधनवदपेक्षया निर्धन एवासौ । अथ समस्तपुरुषापेक्षया । तदसाधु । यतोऽन्यान् जरच्चीवरधारिणोऽपेक्ष्य कार्षापणधनोऽपि धनवानेव । तथाऽऽत्माऽपि यदि विशिष्टसामर्थ्योपेतपुरुषक्रियाऽपेक्षया निष्क्रियोऽभ्युपगम्यते, न काचित्क्षतिः । सामान्यापेक्षया तु क्रियावानेवेत्यलमतिप्रसङ्गेन । एवमनिश्चितकालफलत्वाऽऽख्यहेतुद्वयमपि न वृक्षाभावसाधकमित्यादि योज्यम् । एवमल्पधनस्तोककुटुम्बरूपावपि हेतू

न गोत्वाजावत्वं साधयतः । उक्तन्यायेनैव दार्ष्टान्तिकयोजना कार्येति ॥ ३५ ॥ सूत्र० नि० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

णिक्किव-निष्कृप-त्रि० । कृपारहिते, गतघृणे, पं० व० ४ द्वार । नि० चू० ।

निष्कृपमाह-

चंकमणाऽऽईसत्तो, सुनिक्किवो थावराऽऽइसत्तेसु ।
काउं च नाणुतप्पइ, एरिसओ निक्किवो होइ ॥

स्थावराऽऽदिसत्त्वेषु चङ्क्रमणं गमनम्, आदिशब्दात् स्थानशयनाऽऽसनाऽऽदिकं सक्तः क्वचित्कार्यान्तरे व्यासक्तः सन् सुनिष्कृपः सुष्ठु गतघृणो, निःशूकः करोतीति शेषः, कृत्वा च तेषु चङ्क्रमणाऽऽदिकं नानुतप्यते, केनचिच्चोदितः सन् पश्चात्तापपुरस्सरमिथ्यादुष्कृतं न ददातीत्यर्थः । ईदृशो निष्कृपो भवति । इदं निष्कृपस्य लक्षणमिति भावः । बृ० १ उ० । "णिक्किव ! अकयण्णुय !" निष्कृप ! मम दुःखिताया अप्रतीकारात्, अकृतज्ञ ! मदीयोपकारस्यानपेक्षणात् । ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० ।

णिक्कीलिय-निष्क्रीडित-न० । गमने, प्रव० २७१ द्वार । औ० । अन्त० ।

णिक्कुड-निष्कुट-पुं० । तापनायाम्, अनु० । आ० म० ।

णिक्कोरण-निष्कोलन-न० । दुःसहस्य वस्तुनोऽपनयने, नि० चू० ।

जे भिक्खू पादं णिक्कोरेइ, कोरावेइ, कोरियमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥४६॥

मुहस्स अवणयणं णिक्कोरणं, तं झुसिरं ति काऊण चउलहुं ।

गाहा-

कयमुहे अकयमुहे वा, दुविहा णिक्कोरणाऽणुपायम्मि ।
मुहकारणे य एवं, चउरो भंगा मुणेयव्वा ॥ १८८ ॥

पुव्वद्धं कंठं । भायणस्स मुहकारणे, णिक्कोरणे य चउभंगा ।

गाहा-

मुहकोरण समणट्ठा, बितिए मुह ततिएँ कोरणं समणे ।
दो गुरु ततिए सुत्तं, दोहि गुरु तवेण कालेणं ॥१८९॥

तत्थ भायणस्स मुहं समणट्ठा कयं, समणट्ठाए णिक्कोरियं । बितियभंगे समणट्ठाए मुहं कयं, आयट्ठाए णिक्कोरितं । ततियभंगे आयट्ठाए मुहं कयं, समणट्ठाए णिक्कोरितं । चरिमे उभयं तं पि आयट्ठाए । एत्थ आदिमेसु दोसु भंगेसु चउगुरुगा-पढमबितियभंगेसु चउगुरुगा । ततियभंगेसु सुत्तनिवातो, चतुर्लघुमित्यर्थः । पढमभंगे दोहि वि तवकालेहिं विसिट्ठा, बितियभंगे तवगुरू, ततियभंगे कालगुरू, चउत्थभंगे बीयरहिए वि झुसिरं ति काऊण चउलहुं भवति ।

गाहा-

एतेसामण्णतरं, पायं जो तिविहकरणजोगेणं ।
णिक्कोरेती भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥१९०॥

आणादी दोसा; कुंथुमाऽऽदिविराहणे संजमविराहणा; सत्थमादिणा छिंदिते आयविराहणा । तत्थ परितावणाऽऽदिणिप्फण्णं । जम्हा एवमाई दोसा, तम्हा जहाकडं मग्गियव्वं, तस्स असति अप्पपरिकम्मं ।

एत्थ इमो अववातो । गाहा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
सेहे चरित्तसावय-भए व जयणाएँ णिक्कोरे ॥ १९१ ॥

जत्थ अहाकडं लब्भति, तत्थ असिवाऽऽदिकारणेहिं आगच्छंतो अप्पबहुं परिकम्मं जयणाए णिक्कोरेइ ।

गाहा-

जति नाम पुव्वसुद्धे, कोरिज्जंतम्मि बितिएँ ततिए वा ।
ति पंच सत्त बीया, होज्जा सुद्धं तहा वि गता ॥१९२॥

पुव्वं गहणकाले सुद्धे पच्छा कोरिज्जंते (बितिए त्ति) अप्पपरिकम्मे (ततिए त्ति) बहुपरिकम्मे, जाते तिण्णि पंच वा सत्त वा बितिया होज्जा तहा वि सुद्धं । नि० चू० १४ उ० । यत्पुनः पात्रस्य मुखकरणानन्तरं तदभ्यन्तरवर्तिनो गिरस्योत्कीर्णनं तन्निष्कोर (ल) णमभिधीयते । बृ० १ उ० ।

णिक्ख-निष्क-न० । "ष्कस्कयोर्नाम्नि" ॥ ८ । २ । ४ ॥ इति ष्कभागस्य खः । सुवर्णे, प्रा० २ पाद ।

णिक्खंत-निष्क्रान्त-त्रि० । संसाराद् गृहाच्च निःसृते, उत्त० १८ अ० । प्रव्रजिते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । अनु० । प्रव्रज्याप्रतिपत्त्या गृहवासान्निर्गते, दश० ४ अ० ।

णिक्खत्त-निःक्षत्र-त्रि० । क्षत्रियजातिविहीने, परशुरामेण त्रिःसप्तकृत्वो निःक्षत्रिया पृथिवी कृता । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

णिक्खम-निष्क्रम-न० । निष्क्रमणं निष्क्रमः । प्रव्रज्यायाम्, इह च द्विर्भावो, नपुंसकता च प्राकृतत्वात् । निष्क्रमणमेव प्रवस्थानां सुखम् । सुखभेदे, स्था० १० ठा० । भ० । द्रव्यभावगृहात्प्रव्रज्याग्रहणे, दश० १० अ० ।

णिक्खमण-निष्क्रमण-न० । सूर्याचन्द्रमसोः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद् बहिर्गमने, सू० प्र० १३ पाहु० । द्रव्यभावसङ्गाद् निष्क्रान्तिरूपप्रव्रज्यायाम्, पं० व० १ द्वार । आ० म० । बृ० । अगारवासान्निर्गमे, पञ्चा० ६ विव० । बहिर्गमने, नि० चू० १ उ० । उद्वर्तने, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

णिक्खमणचरियाणिबद्ध-निष्क्रमणचरितनिबद्ध-न० । भगवतो महावीरस्वामिनोऽन्येषां च प्रव्रज्यामहोत्सवचरितनिबद्धे नाट्यविधौ, रा० ।

णिक्खमणपवेस-निष्क्रमणप्रवेश-पुं० । निर्गमनागमनयोः, नि० चू० ।

जे भिक्खू तं पडुच्च णिक्खमइ वा, पविसइ वा, णिक्खमंतं वा पविसंतं वा साइज्जइ ॥१४॥

(पडुच्च त्ति) जाहे सो गिहत्थो काइयादि णिगच्छति, ताहे संजतो चिंतेति-एस काइयं गतो, अहमवि एयणिस्साए काइयं गच्छामि, उट्ठवेहि वा दहिं वच्चामो ।

गाहा-

संवासे जे दोसा, णिक्खमणे पवेसणम्मि ते चेव ।
णातव्वा तु मतिमता, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥१३५॥

जे संवासे अधिकरणाऽऽदी दोसा भवंति, ते णिगच्छंते वि ।

इमे अधिकतरा । गाहा-

गिहिसहितो ती संका, आरक्खिगमादिगेण्हणाऽऽदीया ।
उभयाचरणे दवाऽसति, अवण्ण अपमज्जऽऽणादीया ॥१३६॥

गिहत्थसहितो त्ति काउं चोरपारदारिओ त्ति काउं जाहे संका भवति,ताहे दंरूपालियाऽऽईहिं गेण्हणाऽऽदी दोसा। काइयसण्णा वजयंते वोसिरंतो दवावि। असतीए उड्डाहो। लोगो अवण्णं भासति. पादधंडिलाऽऽदी ण पमज्जति संजमविराहणा। नि० चू० ७ उ०। कल्पसूत्रे सामाचार्यामेकपञ्चाशत्तमसूत्रे-"निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा" इति पदद्वयमधिकमिव दृश्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्-"भत्तपाणपडिआइक्खित्तए" इति वचनात् कश्चित्सामान्यतो विहितानशनः,कश्चिच्च कृतपादपोपगमनो भिक्षुर्विहर्तु प्रवर्तितुमिच्छेदित्यर्थः संगच्छते, तदनुसारेण सामान्येन कृतानशनस्य "निक्खमित्तए वा" इत्यादिविशेषणानि यथासंभवं संगच्छन्त एव, न तु कृतपादपोपगमनस्येति न काऽप्यधिकतेति। २२ प्र०। सेन० २ उल्ला०। (स्थविरकल्पिका जिनकल्पिका वा कदा निष्क्रामन्ति, कदा वा प्रविशन्तीति 'थविरकप्प' शब्दे वक्ष्यते) (राज्याभिषेके निष्क्रमणप्रवेशाविषयः 'रायाभिसेय' शब्दे द्रष्टव्यः)

णिक्खमणाभिसेय-निष्क्रमणाभिषेक-पुं०। निष्क्रमणाभिषेकसामग्र्याम, ज्ञ० ६ श० ३३ उ०।

णिक्खममाण-निष्क्रामत्-त्रि०। निर्गच्छति, आचा० १ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०।

णिक्खमित्तए-निष्क्रमितुम्-अव्य०। प्रवेष्टुमित्यर्थे, कल्प० ९ क्षण। द० प०।

णिक्खम्म-निष्क्रम्य-अव्य०। गेहान्निःसृत्य प्रव्रजितो भूत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। स्वदर्शनविहितां प्रव्रज्यां गृहीत्वेत्यर्थे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

णिक्खय-देशी-निहते, दे० ना० ४ वर्ग ३२ गाथा।

णिक्खसरिअ-देशी-मुषिते, दे० ना० ४ वर्ग ४१ गाथा।

णिक्खित्त-निक्षिप्त-त्रि०। स्वस्थानन्यस्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। विमुक्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। सुप्तोत्थिते, दे० ना० ४ वर्ग। व्यवस्थापिते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ०। परित्यक्ते,व्य० २ उ०। "णिक्खित्तं णाम-गरालिंगाबद्धं स्थापयति।" नि० चू० १ उ०। सचित्तस्योपरि स्थापिते, तच्च एषणादोषदुष्टत्वान्न ग्राह्यम्। प्रव० ६७ द्वार। जीत०।

अथ निक्षिप्तद्वारमाह-

सच्चित्तमीसएसुं, दुविहं काएसु होइ निक्खित्तं *।
एक्केकं तं दुविहं, अणंतर परंपरं चेव ॥५७२॥

इह कल्पनीयं निक्षिप्तं द्विधा-सचित्तेषु, मिश्रेषु च। एकैकमपि द्विधा। तद्यथा-अनन्तरं, परम्परं च। तत्रानन्तरमव्यवधानेन, परम्परं व्यवधानेन। यथा सचित्तपृथिवीकायस्योपरि स्थापनिका, तस्या उपरि देयं वस्त्विति। इह परिहार्यापरिहार्यविभागं विना सामान्यतो निक्षिप्तं सचित्ताचित्तमिश्ररूपभेदात् त्रिधा। तत्र च त्रयश्चतुर्भङ्गाः। तद्यथा-सचित्ते सचित्तम् १, मिश्रे सचित्तम् २, सचित्ते मिश्रम् ३, मिश्रे मिश्रमित्येका चतुर्भङ्गी। तथा-सचित्ते सचित्तम् १, अचित्ते सचित्तम् २, सचित्ते अचित्तम् ३, अचित्ते अचित्तमपि द्वितीया चतुर्भङ्गी। तथा-मिश्रे मिश्रम् १, अचित्ते मिश्रम् २, मिश्रे अचित्तम् ३, अचित्ते अचित्तमिति तृतीया चतुर्भङ्गी।

सम्प्रत्यस्यैवानन्तरपरम्परविभागमाह-

पुढवीआउक्काए-तेऊवाऊवणस्सइतसाणं।
एक्केको दुगजेओ-ऽणंतरपरऽगणिम्मि सत्तविहो ॥५७३॥

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायानां सचित्तानां प्रत्येकं सचित्तपृथिव्यादिषु निक्षेपः संभवति, तत्र पृथिवीकायस्य निक्षेपः षोढा। तद्यथा-पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेप इत्येको भेदः, पृथिवीकायस्याप्काये इति द्वितीयः, पृथिवीकायस्य तेजस्काये इति तृतीयः, वातकाये इति चतुर्थः,वनस्पतिकाये इति पञ्चमः, त्रसकाये इति षष्ठः। एवमप्कायाऽऽदीनामपि निक्षेपः प्रत्येकं षोढा ज्ञातव्यः। सर्वसङ्ख्यया षट्त्रिंशत् भङ्गाः। एकैकोऽपि च भेदो द्विधा। तद्यथा-अनन्तरेण, परम्परया च। अनन्तरपरम्परव्याख्यानं च प्रागेव कृतम्। केवलमग्निकाये पृथिव्यादीनां निक्षेपः सप्तधा। एतच्च स्वयमेव वक्ष्यति।

संप्रति पृथिवीकाये निक्षेपस्य यदुक्तं प्रत्येकं षोढात्वं, तत्सूत्रकृत् साक्षाद्दर्शयति-

सच्चित्तपुढविकाए, सच्चित्तो चेव पुढवि निक्खित्तो।
आऊतेऊवणस्सइ-समीरणतसेसु एमेव ॥५७४॥

सचित्तपृथिवीकाये सचित्तपृथिवीकायो निक्षिप्तः। एवं च पृथिवीकाये इव अप्तेजोवनस्पतिसमीरणत्रसेषु सचित्त एव पृथिवीकायो निक्षिप्त इति पृथिवीकायनिक्षेपः षोढा।

एवं शेषकायेष्वतिदेशमाह-

एमेव सेसयाण वि, निक्खेवो होइ जीवकाएसु।
एक्केको सट्ठाणे, परठाणे पंच पंचेव ॥५७५॥

एवमेव पृथिवीकायस्येव.शेषाणामप्कायाऽऽदीनां, निक्षेपो भवति, जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु। तत्र एकैको भङ्गः स्वस्थाने, शेषाः पञ्च पञ्च परस्थाने। तथाहि-पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेपः स्वस्थाने, अप्कायाऽऽदिषु शेषेषु पञ्चसु परस्थाने। एवमप्कायाऽऽदीनामपि भावनीयम्। ततः स्वस्थाने एकैको भङ्गः, परस्थाने पञ्च पञ्च। तदेवं प्रथमचतुर्भङ्गिकायाः सचित्ते सचित्तमित्येवंरूपे प्रथमे भङ्गे षट्त्रिंशद् भेदाः।

सम्प्रति प्रथमचतुर्भङ्ग्या एव शेषं भङ्गत्रयं, द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्यौ चाऽतिदेशतः प्रतिपादयति-

एमेव मीसएसु वि, मीसाण सचेयणेसु निक्खेवो।
मीसाणं मीसेसु य, दोण्हं पि य होइ चित्तेसु ॥५७६॥

एवमेव सचित्तेषु इव मिश्रेष्वपि मिश्रपृथिव्यादिनिक्षेपः षट्त्रिंशद्भेदोऽवगन्तव्यः। एतेन प्रथमचतुर्भङ्गो व्याख्यातः। एवमेव मिश्राणां पृथिव्यादीनां मिश्रेषु पृथिव्यादिषु निक्षेपः षट्त्रिंशद् भेदः। अनेन प्रथमचतुर्भङ्ग्याश्चतुर्थो भङ्गो व्याख्यातः। सर्वसंख्यया प्रथमचतुर्भङ्ग्यां चतुश्चत्वारिंशं भङ्गशतम्। एवमेव द्वयोरपि सचित्तमिश्रयोरचित्तेषु निक्षिप्यमाणयोर्ये द्वे चतुर्भङ्ग्यौ प्रागुक्ते, तत्रापि प्रत्येकं चतुश्चत्वारिंशं भङ्गशतं भवति। सर्वसङ्ख्यया भङ्गानां शतानि चत्वारि द्वात्रिंशदधिकानि भवन्ति। उक्ता निक्षेपस्य भेदाः।

सम्प्रत्यस्यैव निक्षेपस्य पूर्वोक्तं चतुर्भङ्गीत्रयमधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह-

जत्थ उ सचित्तमीसे, चउभंगो तत्थ चउसु वि अगेज्झं।

* पुस्तकान्तरे-"सच्चित्तमीसएहिं दुविहं काएहिं" इतिपाठः।

तं तु अणंतर इयरं, परित्तऽणंतं च वणकाए ॥५७७॥

यत्र निक्षेपे सचित्तमिश्रे आद्या चतुर्भङ्गी भवति, प्रथमा चतुर्भङ्गी भवतीत्यर्थः । तत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु, अपिशब्दाद् द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्योरपि, आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु वर्त्तमानमनन्तरं, परम्परा च । वनस्पतिविषये परीतकमनन्तं वा तत्सर्वमग्राह्यम्, सामर्थ्यत्वात् । द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्योश्चतुर्थे चतुर्थभङ्गे वर्तमानं ग्राह्यम्, तत्र दोषाभावात् ।

सम्प्रति सचित्ताऽऽदिभिस्त्रिभिरपि मतान्तरेण तामेव चतुर्भङ्गीं कल्प्याकल्प्यविधिं प्रदर्शयति–

अहव ण सचित्तमीसे, उ एगश्रो एगश्रो य अच्चित्तो ।
एत्थं चउक्कभंगो, तत्थाऽऽइतिए कहा नऽत्थि ॥५७८॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतकः, णमिति वाक्यालङ्कारे * । इह चतुर्भङ्गी प्राप्त[illegible] । सर्व पूर्वपदोपन्यासे भवति । तत्रैकस्मिन् पक्षे सचित्तमिश्रे एकः, एकश्च अचित्तः; तत् प्रागुक्तक्रमेण चतुर्भङ्गी भवति । तद्यथा–सचित्तमिश्रे सचित्तमिश्रम्, सचित्तमिश्रे अचित्तम्, अचित्ते सचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति । अत्राऽपि प्रागिवैकैकस्मिन् भङ्गे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसभेदात् षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद् भेदाः । सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशं भङ्गशतम् । तत्राऽऽदित्रिके आदिमे भङ्गत्रये, कथा नास्ति ग्रहणे वार्त्ता न विद्यते । सामर्थ्याच्चतुर्भङ्गी कल्पते । तदेवं 'पुढवी' इत्यादिमूलगाथायाः पूर्वार्द्धं व्याख्यातम् ।

सम्प्रति "एक्केके दुहाणंतर" इत्यवयवं व्याचिख्यासुर्द्वितीयचतुर्भङ्ग्याः सत्कस्य तृतीयस्य भङ्गस्य सामान्यतोऽङ्गुरुस्य विषये विशेषं विभणिषुरनन्तरं, परम्परया वा मार्गणां करोति–

जं पुण अचित्तदव्वं, निक्खिप्पइ चेयणेसु दव्वेसु ।
तहिँ मग्गणा उ इणमो, अणंतर परंपरं होइ ॥५७९॥

यत्किमपि अचित्तं द्रव्यमोदनाऽऽदि चेतनेषु सचित्तेषु, मिश्रेषु वा निक्षिप्यते, तत्रेयमनन्तरं, परम्परया वा मार्गणा परिभावनं भवति ।

ओगाहिमादणंतरं, परंपरं पिढरगाइ पुढवीए ।
नवणीयाइ अणंतरं, परंपरं नावमाईसु ॥५८०॥

अवगाहिमाऽऽदि पक्वान्नमण्डकप्रभृति, पृथिव्यामनन्तरनिक्षिप्तम्; पृथिव्या एवोपरि स्थिते पिठरकाऽऽदौ यन्निक्षिप्तमवगाहिमाऽऽदि, तत्परम्परानिक्षेप उक्तः । सम्प्रत्यप्कायमाभिसृत्याऽऽह–(नवणीए इत्यादि) नवनीताऽऽदिश्लक्ष्णस्थानीभूतघृताऽऽदिसचित्ताऽऽदिरूपे उदके निक्षिप्तमनन्तरनिक्षिप्तं, तदेव नवनीताऽऽदि, अवगाहिमाऽऽदि वा, जलमध्यस्थितेषु नावादिषु स्थितं परम्परनिक्षिप्तम् ।

संप्रति तेजस्कायमधिकृत्यानन्तरपरम्परे व्याख्यानयन् "अगणिम्मि सत्तविहो" इत्यप्यवयवं व्याख्यानयति–

विज्झायमुम्मुरिंगा–लमेव अप्पत्त पत्त समजाले ।
वोकंते सत्त दुगं, जंतोऽलित्ते य जयणाए ॥५८१॥

इह सप्तधाऽग्निः । तद्यथा- विध्यातो, मुर्मुरोऽङ्गारः, अप्राप्तः, प्राप्तः, समज्वालो, व्युत्क्रान्तश्च । तत्र यः स्पृष्टतया प्रथमं नोपलभ्यते, पश्चादिन्धनप्रक्षेपे वर्द्धनमपि गच्छति, स व्युत्क्रान्तः । एते सप्त भेदास्तेजस्कायस्य । तत्र एकैकस्मिन् भेदे भेदौ, तद्यथा-अनन्तरनिक्षिप्तम्; परम्परानिक्षिप्तं च । तत्र यद् विध्याताऽऽदिरूपे वह्नौ मण्डकाऽऽदि प्रक्षिप्यते, तत् अनन्तरनिक्षिप्तम्, यत्पुनरग्नेरुपरि स्थापिते पिठरकाऽऽदौ क्षिप्तं तत्परम्परानिक्षिप्तम् । तत्र सप्तानां भेदानां मध्ये यमेव तमेव वाऽधिकृत्य यन्त्रेषु रसपाकस्थाने कटाहाऽऽदौ अवलिप्ते मृत्तिकाखरण्टिते यतनया परिशाटिपरिहारेण ग्रहणमिक्षुरसस्य कल्पते ।

सम्प्रत्येनामेव गाथां व्याख्यानयन् प्रथमतो विध्याताऽऽदीनां स्वरूपं गाथाद्वयेनाऽऽह–

विज्झाश्रो त्ति न दीसइ, अग्गी दीसेइ इंधणे छूढे ।
आपिंगलमगणिकणा, मुम्मुरे निज्जाअइंगाले ॥५८२॥
अप्पत्ता उ चउत्थे, जाला पिढरं तु पंचमे पत्ता ।
छट्ठे पुण कन्नसमा, जाला समइच्छिया चरिमे ॥५८३॥

सुगमम्, नवरम् (अप्पत्ता उ चउत्थे जाला [illegible]) [illegible] अप्राप्ताऽऽख्यो भेदः पिठरमप्राप्ता ज्वाला द्रष्टव्या पञ्चमभेदमङ्गं व्याप्यकरणमानेका कार्या ।

संप्रति "जंतोऽलित्ते य जयणाए" इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह–

पासोलित्त कडाहे, परिसाडी नऽत्थि तं पि य विसालं ।
सो वि य अचिरच्छूढो, उच्छुरसो नाइउसिणो य ॥५८४॥

इह यदीति सर्वत्राऽध्याह्रियते, यदि कटाहः पिठरविशेषः, पिठरः पार्श्वेषु मृत्तिकयाऽवलिप्तो भवति, दीयमाने चेक्षुरसे यदि परिशाटिर्नोपजायते, तदपि च कटाहरूपं भाजनं यदि विशालं विशालमुखं भवति, सोऽपि चेक्षुरसोऽचिरक्षिप्त इति कृत्वा यदि नात्युष्णो भवति तदा स दीयमान इक्षुरसः कल्पते । इह यदि दीयमानस्येक्षुरसस्य कथमपि बिन्दुर्बहिः पतति, तर्हि स लेप एव वर्तते, न तु चुल्लीमध्यस्थितः तेजस्कायमध्यपतितः, पार्श्वोपलिप्त इति कटाहस्य विशेषणमुक्तम् । तथा विशालमुखादाकृष्यमाण उदञ्चनः पिठरस्य कर्णे न लगति, ततो न पिठरस्य भङ्ग इति न तेजस्कायविराधनेति विशालग्रहणम् । अनत्युष्णग्रहणे तु कारणं स्वयमेव वक्ष्यति ।

सम्प्रत्युदकमधिकृत्य विशेषमाह–

उसिणोदगं पि घेप्पइ, गुलरसपरिणामियं न अच्चुसिणं ।
जं तु अघट्टियकन्नं, घट्टियपडणम्मि मा अग्गी ॥५८५॥

उष्णोदकमपि गुडरसपरिणामितमनत्युष्णं गृह्यते । किमुक्तं भवति ?–यत्र कटाहे गुडः पूर्वं क्वथितो भवति, तस्मिन् निक्षिप्तं जलमीषत्तप्तमपि कटाहसंलग्नगुडरसमिश्रणात् सत्वरमचित्तीभवति, ततस्तदनन्तरमपि कल्पते । अत्राऽपि पार्श्वावलिप्तकटाहस्थितमपरिशाटिमदिति विशेषणद्वयमनुपात्तमपि द्रष्टव्यम् । तथा यत् अघट्टितकर्णम्, न यस्मिन् दीयमाने पिठरस्य कर्णावुदञ्चनेन प्रविशता निर्गच्छता वा घट्टयेते, तद्दीयमानं कल्पते इत्याह–(घट्टियपडणम्मि मा अग्गी) उदञ्चनेन प्रविशता निर्गच्छता वा पिठरस्य कर्णयोर्घट्यमानयोर्लेपस्योदकस्य वा पतनेन माऽग्निर्विराध्येतेति कृत्वा । एतेन च वक्ष्यमाणो षोडशभङ्गानामाद्यो भङ्गो दर्शितः ।

सम्प्रति तानेव षोडश भङ्गान् दर्शयति–

पासोलित्त कडाहे, नच्चुसिणे अपरिसाडऽघट्टंते ।

* 'अहवण त्ति' अखण्डमव्ययपदमथवेत्यस्यार्थे । बृ० १ उ० ।

गिहत्थस्स भंगविगप्पा, पढमेऽणुन्ना न सेसेसु ॥५७६॥

सचित्तो गिरिः कटाहः १, अनत्युष्णो दीयमान इक्षुरसाऽऽदिः २, अपरिशाटिः परिशाटयभावः ३, (अघट्टंते इति) कटच्छुकेन पिठरकर्णाघट्टने ४, इत्येतानि चत्वारि पदान्यधिकृत्य षोडश भङ्गा भवन्ति ।

भङ्गानां च नयनार्थमियं गाथा-

पयसमडुग अब्भासे-माणं जंगाए तेसिमह रयणा ।
एगंतरियं लहु गुरु, लहुगुरु दुगुणा य वामेसु ॥५८७॥

अस्या व्याख्या-इह यावतां पदानां भङ्गा अनुनेष्यन्ते, तावन्तो द्विका ऊर्ध्वाधःक्रमेण स्थाप्यन्ते- ततः प्रथमो द्विको द्वितीयेन द्विकेन गुण्यते, जाताश्चत्वारः, तैस्तृतीयो द्विको गुण्यते, जाता अष्टौ, तैरपि चतुर्थो द्विको गुण्यते, जाताः षोडश । एतावन्तश्चतुर्णां पदानां भङ्गा भवन्ति ।

तेषां च पुनर्भङ्गानामेषा रचना-प्रथमपङ्क्तावेकान्तरितं लघुगुरु-प्रथमं लघु, ततो गुरु, पुनर्लघु, पुनर्गुरु । एवं यावत् षोडशो भङ्गः । ततः प्रज्ञापकापेक्षया वामेषु वामपार्श्वेषु द्विगुणा द्विगुणा लघुगुरवः । तद्यथा—द्वितीयपङ्क्तौ प्रथमं द्वौ लघू, ततो द्वौ गुरू, ततो भूयोऽपि द्वौ लघू, एवं यावत् षोडशो भङ्गः । तृतीयपङ्क्तौ प्रथमं चत्वारो लघवः, ततश्चत्वारो गुरवः, ततश्चत्वारो लघवः, पुनश्चत्वारो गुरवः । चतुर्थपङ्क्त्यां प्रथममष्टौ लघवः, ततोऽष्टौ गुरवः ।

स्थापना-अत्र ऋजवोऽङ्काः शुद्धाः, वक्रास्त्वशुद्धाः । इह षोडशानां भङ्गानामाद्ये भङ्गेऽनुज्ञा, न शेषेषु पञ्चदशसु भङ्गेषु ।

सम्प्रत्युष्णग्रहणे दोषानाह-

दुविह विराहण उसिणे, छडुणे हाणी य भाणभेओ य ।

उष्णेऽत्युष्णे इक्षुरसाऽऽदौ दीयमाने द्विधा विराधना-आत्मविराधना, परविराधना च । तथाहि-यस्मिन् भाजने तद् अत्युष्णं गृह्णाति, तेन तप्तं सद् भाजनं हस्तेन साधुर्गृह्णन् दह्यते, इत्यात्मविराधना । येनापि स्थालेन दात्री ददाति, तेनाप्यत्युष्णेन सा दह्यत इति । तथा-(छडुणे हाणी य त्ति) अत्युष्णमिक्षुरसाऽऽदि कष्टेन दात्री दातुं शक्नोति, कष्टेन च दाने कथमपि साधुसत्कभाजनाद्बहिरुज्झने हानिर्दीयमानस्येक्षुरसाऽऽदेः, तथा-(भाणभेओ य इति) तस्य भाजनस्य साधुना वा नयनायोत्पाटितस्य पतद्ग्रहणाऽऽदेर्दाऽपि वा दानायोत्पाटितस्योष्णभाजनस्य गालारहितस्य अत्युष्णतया झगिति भूमौ मोचने भङ्गः स्यात् । तथा च षड्जीवनिकायविराधनेति ।

संप्रति वायुकायमधिकृत्यानन्तरपरम्परे दर्शयति-

वाउक्खित्ताऽणंतर-परम्परा पप्पडिय वत्थी ॥५८८॥

वातोत्क्षिप्ताः समीरणोत्पाटिताः पर्पटिकाः शालिपर्पटिका अनन्तरनिक्षिप्तं, परम्परनिक्षिप्तं बस्तीति । विभक्तिलोपाद् बस्तौ । उपलक्षणमेतत्-समीरणाऽऽपूरितबस्तिदृतिप्रभृतिव्यवस्थितं मण्डकाऽऽदि ।

संप्रति वनस्पतिकायविषयं द्विविधमपि निक्षिप्तमाह-

हरियाइ अणंतरिया, परंपरं पिढरमाइसु वणम्मि ।
पूपाइ पीढे ऽणंतर, भरए कुतवाइसू इयरा ॥५८९॥

वने वनस्पतिविषये अनन्तरनिक्षिप्तं हरिताऽऽदिषु सचित्तव्रीहिकाप्रभृतिषु अनन्तरिता निक्षिप्ताः, अपूपाऽऽदय इति शेषः । हरिताऽऽदीनामेवोपरि स्थितेषु पिठराऽऽदिषु निक्षिप्ता अपूपाऽऽदयः परम्परनिक्षिप्तम् । तथा बलीवर्दाऽऽदीनां पृष्ठे अनन्तरनिक्षिप्ता अपूपाऽऽदयः, तत्रानन्तरनिक्षिप्तम् । बलीवर्दाऽऽदिपृष्ठ एव भरके कुतुपाऽऽदिषु वा भाजनेषु निक्षिप्ता मोदकाऽऽदयः परम्परनिक्षिप्तम् । इह सर्वत्रानन्तरनिक्षिप्तं न ग्राह्यम्, सचित्तसंघट्टनाऽऽदिदोषसंभवात् । परम्परनिक्षिप्तं तु सचित्तसंघट्टनाऽऽदिपरिहारेण यतनया ग्राह्यमिति सम्प्रदायः । पिं० । आचा० । पञ्चा० । नि० चू० ।

निक्षिप्तं न ग्राह्यम्-

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
उदगम्मि हुज्ज निक्खित्तं, उत्तिंगपणगेसु वा ॥ ५९ ॥

अशनं पानकं वाऽपि खाद्यं स्वाद्यं, तथा उदके भवेन्निक्षिप्तमुत्तिङ्गपनकेषु वा कीटिकानगरोल्लीषु चेत्यर्थः । " उदयनिक्खित्तं दुविहं-अणंतरं, परंपरं च । अणंतरं-णवणीतपोग्गलियमादी । परंपरं-जलघडोवरि भायणत्थं दधिमादी " । एवं "उत्तिंगपणएसु " भावनीयमिति सूत्रार्थः ॥ ५९ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६० ॥

तद्भवेद् भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत-न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥ ६० ॥

तथा—

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
तेउम्मि हुज्ज निक्खित्तं, तं च संघट्टिया दए ॥ ६१ ॥

अशनं पानकं वाऽपि खाद्यं स्वाद्यं, तथा तेजसि भवेद् निक्षिप्तं तेजसीत्यग्नौ, तेजस्काय इत्यर्थः । तच्च संघट्य यावद्भिक्षां ददामि तावत्तापातिशयेन मा भूदुद्वर्तिष्यत इत्याघट्य दद्यादिति सूत्रार्थः ॥ ६१ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६२ ॥

तद्भवेद् भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं, अतो ददतीं प्रत्याचक्षीत-न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥ ६२ ॥

एवं उस्सक्किया ओसक्किया उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया उस्सिंचिया निस्सिंचिया ओवत्तिया ओयारिया दए ॥ ६३ ॥

यावद्भिक्षां ददामि तावद् मा भूद् विध्यास्यतीत्युत्सिच्य दद्यात् । (एवं ओसक्किया) अवसर्प्य, अतिदाहभयादुल्मुकान्युत्सार्येत्यर्थः । (एवं उज्जालिया पज्जालिया) उज्ज्वाल्यार्धविध्यातं सकृदिन्धनप्रक्षेपेण, प्रज्वाल्य पुनः पुनः । एवं (निव्वाविया) निर्वाप्य, दाहभयादेवेति भावः । एवं (उस्सिंचिया निस्सिंचिया) उत्सिच्यातिभृतादुज्झनभयेन, ततो वा दानार्थं तीमनाऽऽदीनि निषिच्य तद्भाजनादुद्धृतं द्रव्यमन्यत्र भाजने तेन दद्यात् । उद्वर्तनभयेन वा तदुद्धृतमुदकेन निषिच्य । एवं (ओवत्तिया ओयारिया) अपवर्त्य तेनैवाग्निनिक्षिप्तेन भाजनेना-

न्येन वा दद्यात्। तथा अवतार्य दाहभयाद्दानार्थं वा दद्यात्। अत्र तदन्यत्र साधुनिमित्तयोगे न कल्पते ॥ ६३ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६४ ॥

"तं भवे त्ति" सूत्रं पूर्ववत्। गोचराधिकार एव गोचरप्रविष्टस्य ॥ ६४ ॥ दश० ५ अ० १ उ०।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे से जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा अणंतरहियाए पुढवीए० जाव संताणए ओहट्टु २ णिक्खित्ते सिया, असंजए भिक्खुपडियाए उदउल्लेण वा ससिणिद्धेण वा सकसाएण वा मत्तेण वा सीतोदएण वा संभोएत्ता आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं पाणगजायं अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा। एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिएहिं सहिएहिं सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत्पुनरेवं जानीयात्-तत्पानकं सचित्तेष्वव्यवहितेषु पृथिवीकायाऽऽदिषु तथा मर्कटाऽऽदिसन्तानके वाऽन्यतो भाजनादुद्धृत्योद्धृत्य निक्षिप्तं व्यवस्थापितं स्यात्। यदि वा स एवासंयतो गृहस्थो भिक्षुप्रतिज्ञया भिक्षुमुद्दिश्य उदकार्द्रेण गलद्बिन्दुना सस्निग्धेन गलदुदकबिन्दुना सकषायेण सचित्तपृथिव्याद्यवयवगुण्ठितेन मात्रेण भाजनेन शीतोदकेन वा (संभोएत्ता) मिश्रयित्वा, आहृत्य दद्यात्। तथाप्रकारं पानकजातमप्रासुकमनेषणीयमिति मत्वा न परिगृह्णीयात्। एतत्तस्य भिक्षोर्भिक्षुण्या वा साम[ग्र्य]म्-समग्रो भिक्षुभाव इति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ [उ]०।

जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अन्नयरं वा पुढवीकायपतिट्ठियं दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२५१॥ जे भिक्खू असणं वा० ४ आउकायपइट्ठियं दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ २५२ ॥ जे भिक्खू असणं वा० ४ तेउकायपइट्ठियं दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ २५३ ॥ जे भिक्खू असणं वा० ४ वणप्फतिकायपइट्ठियं दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ २५४ ॥

गाहा-

सच्चित्तमीसएसुं, काएसु य होति दुविह निक्खित्तं ।
अणंतर परंपरं वि य, विभासियव्वं जहा सुत्ते ॥ ५० ॥

जे पुढवातीकाया, ते दुविहा-सचित्ता, मीसा वा। सचित्तेसु अणंतरणिक्खित्तं, परंपरणिक्खित्तं वा। मीसेसु वि अणंतरणिक्खित्तं, परंपरणिक्खित्तं वा। पिंडणिज्जुत्तिगाहासुत्ते जहा, तहा सवित्थरं भाणियव्वं। आयारबितियसुयक्खंधे वा जहा सचित्तपिंडेसणासुत्तं, तहा भाणियव्वं।

गाहा-

सुत्तणिवातो अचि-त्तऽणंतरे तं तु गेण्हती जो उ ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ५१ ॥

परित्तसचित्तेसु अणंतरणिक्खित्तं सुत्तं णिवयति। सचित्तपरंपरे मासलहुं। अंतरे मासलहुं। परंपरे पणगं। अणंतरा ते चेव गुरुगा प[णगं]।

चोदगाऽऽह-

तत्थ भवे णणु एवं, उक्खित्तं तस्स आसासो ।
संजतणिमित्त घट्टण, थेरुवमाएणं ॥ ५२ ॥

पुढवादिकायाण उवरि ट्ठियं जं पिंडं, तेण तेहिं आसासो भवति। आचार्याऽऽह-तम्मि उक्खित्ते संघट्टणा, सा संजयणिमित्तं। ताण य अप्पसंघयणाणं णाए महंती वेदणा भवति। एत्थ थेरुवमा।

गाहा-

जरजज्जरो उ थेरो, तरुणेणं जमलपाणिणा ।
जारिसवेदण देहे, एगिंदियघट्टिते तह उ ॥ ५३ ॥

जहा जराजुण्णदेहो थेरो बलवता तरुणेण जमलपाणिणा मुट्ठे आहतो जारिसं वेयणं वेयति, ततो अधिकतरं एगिंदिया संघट्टिता वेयणं अणुहवंति, तम्हा ण जुत्तं जं तुमं भणासि।

इमं बितियपदं। गाहा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहगे वा, जयणा [गेण्हं]तु गीयत्थे ॥५४॥

पूर्ववत्।

गीयत्थो इमाए जयणाए गहणं करेति। गाहा-

पुव्वं मीसे परंपर, मीसेऽणंतर सचित्तपरंपरए ।
ततो सचित्तऽणंतरे, एमेव अणंतकाए वि ॥ ५५ ॥

पुव्वं मीसे परंपरठितो गेण्हति, ततो मीसे अणंतरो, ततो सचित्ते परंपरे, ततो सचित्ते अणंतरे। एवं अणंतकाए वि। एस परित्ताणंतेसु कमो दरिसिओ।

गहणे पुण इमा जयणा-

पुव्विं परित्ते मीसपरंपरठितो गेण्हति, ततो मीसं अणंतरपरंपरं, ततो सचित्तपरित्तपरंपरं, ततो अणंतमीसं अणंतरं, ततो अणंतसचित्तपरंपरं, ततो परित्तसचित्त अणंतरं, ततो अणंतसचित्तअणंतरं आहारे भणियं।

गाहा-

आहारे जो उ गमो, णियमा उवहिम्मि होति सो चेव।
णायव्वो तु मतिमता, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥५६॥

कंठ्या ॥ ५६ ॥ नि० चू० १७ उ०। पावकभाजनादनुद्धृते, ओ०।

णिक्खित्तउक्खित्तचरय-निक्षिप्तोत्क्षिप्तचरक-पुं०। निक्षिप्तं भोजनपात्र्यामुत्क्षिप्तं च स्वार्थं, तत एव निक्षिप्तोत्क्षिप्तं, चरत्यभिग्रहवशेन इति निक्षिप्तोत्क्षिप्तचरकः। अभिग्रहविशेषेण तथाविधभिक्षाचरके, ओ०। स्था०।

णिक्खित्तचरय-निक्षिप्तचरक-पुं०। निक्षिप्तं पाकभाजनादनुद्धृतं तदर्थमभिग्रहतश्चरति तद्गवेषणाय गच्छतीति निक्षिप्तचरकः। अभिग्रहविशेषात् तथाभिक्षाचरणशीले, ओ०।

णिक्खित्तदंड-निक्षिप्तदण्ड-त्रि०। निश्चयेन क्षिप्तः परित्यक्तः कायमनोवाङ्मयः प्राण्युपघातकारी दण्डो यैस्ते तथा।

आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । निक्षिप्ताः संयमिता मनोवाक्कायरूपाः प्राण्युपमर्दकारिणो दण्डा यैस्ते तथा । त्रिविधेन करणेन परित्यक्तदण्डेषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

णिक्खित्तपुव्व–निक्षिप्तपूर्व–त्रि० । पूर्वमेवाऽऽत्मकृते निष्पादिते, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

णिक्खित्तजर–निक्षिप्तजर–त्रि० । न्यस्तकुटुम्बाऽऽदिकार्यजरे, पञ्चा० १० विव० ।

णिक्खित्तसत्थमुसल–निक्षिप्तशस्त्रमुशल–त्रि० । त्यक्तखड्गाऽऽदिशस्त्रमुशले, भ० ७ श० १ उ० ।

णिक्खिप्पमाण–निक्षिप्यमाण–त्रि० । स्वस्थाने न्यस्यमाने, " अग्गपिंडं उक्खिप्पमाणं, अग्गपिंडं णिक्खिप्पमाणं । " आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० ५ उ० ।

णिक्खिविअव्व–निक्षेप्तव्य–त्रि० । मोक्तव्ये, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

णिक्खिविउं–निक्षिप्य–अव्य० । निक्षेपं कारयित्वेत्यर्थे, व्य० १ उ० ।

णिक्खुरु–देशी–अकम्पे, दे० ना० ४ वर्ग २८ गाथा ।

णिक्खुरिअ–देशी–अदृढे, दे० ना० ४ वर्ग ४० गाथा ।

णिक्खेव–निक्षेप–पुं० । निक्षेपणं निक्षेपः । शास्त्राऽऽदेर्नामस्थापनाऽऽदिभेदैर्न्यासनं व्यवस्थापनं निक्षेपः । निक्षिप्यते नामाऽऽदिभेदैर्व्यवस्थाप्यते अनेनास्मिन्नस्मादिति वा निक्षेपः । अनु० । पिं० । यथाभूतार्थनिरपेक्षमभिधानमात्रे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । स्था० । यथासंभवमावश्यकाऽऽदेर्नामाऽऽदिभेदप्ररूपणे, अनु० । उपक्रमाऽऽनीतव्याचिख्यासितशास्त्रनामाऽऽदिन्यसने, सं० १ वक्ष० ।

अथ निक्षेपस्य निरुक्तिमाह–

निक्खिप्पइ तेण तहिं, तओ व निक्खेवणं व निक्खेवो ।
नियओ व निच्छिओ वा, खेवो नासो त्ति जं भणियं ॥ ९१२ ॥

निक्षिप्यते शास्त्रमध्ययनोद्देशाऽऽदिकं च नामस्थापनाद्रव्याऽऽदिभेदैर्न्यस्यते व्यवस्थाप्यते अनेन, अस्मिन्, अस्माद्वेति निक्षेपः, गुरुवाग्योगाऽऽदिविवक्षा तथैव । अथवा–निक्षेपणं शास्त्राऽऽदेर्नामस्थापनाऽऽदिभेदैर्न्यसनं व्यवस्थापनमिति निक्षेपः । निशब्दक्षेपशब्दयोरर्थमाह–नियतो निश्चितो वा क्षेपः–शास्त्राऽऽदेर्नामाऽऽदिन्यास इति निक्षेप इति यदुक्तम्, भवत्ययं परमार्थ इत्यर्थः ॥ ९१२ ॥ विशे० । आ० म० । उत्त० ।

तत्र जघन्यतोऽप्यसौ चतुर्विधो दर्शनीय इति–
नियमार्थमाह–

जत्थ य जं जाणेज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं ।
जत्थ वि अ न जाणेज्जा, चउक्कगं निक्खिवे तत्थ ॥

यत्र जीवाऽऽदिवस्तुनि यं जानीयान्निक्षेपं न्यासं, यच्छब्दोर्नित्याभिसम्बन्धात् तत्र वस्तुनि तं निक्षेपं निक्षिपेद् निरूपयेन्निरवशेषं समग्रम् । यत्राऽपि च न जानीयान्निरवशेषं निक्षेपभेदजालं, तत्रापि नामस्थापनाद्रव्यभावलक्षणं चतुष्कं निक्षिपेत् । इदमुक्तं भवति–यत्र तावन्नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभवभावाऽऽदिलक्षणा भेदा ज्ञायन्ते, तत्र तैः सर्वैरपि वस्तु निक्षिप्यते, यत्र तु सर्वे भेदा न ज्ञायन्ते, तत्राऽपि नामाऽऽदिचतुष्टयेन वस्तु चिन्तनीयमेव, सर्वव्यापकत्वात् तस्य । न हि किमपि तद्वस्त्वस्ति यन्नामाऽऽदिचतुष्टयं व्यभिचरतीति गाथाऽर्थः । अनु० । आव० । वृ० । आ० चू० । स० । आचा० । विशे० । नं० । आ० म० ।

निक्षेप ओघनिष्पन्नाऽऽदिः–

से किं तं णिक्खेवे ? । णिक्खेवे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा–ओहनिप्पण्णे, नामनिप्पण्णे, सुत्तालावनिप्पण्णे ॥

(से किं तं णिक्खेवे इत्यादि) निक्षेपः पूर्वोक्तशब्दार्थस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा–ओघनिष्पन्न इत्यादि, तत्रौघः सामान्यमध्ययनाऽऽदिकं श्रुताभिधानं, तेन निष्पन्न ओघनिष्पन्नः, नाम श्रुतस्य सामायिकाऽऽदिविशेषं नाम, तेन निष्पन्नो नामनिष्पन्नः । सूत्राऽऽलापकाः–" करेमि भंते ! सामाइयं " इत्यादिकाः, तैर्निष्पन्नः सूत्राऽऽलापकनिष्पन्नः ।

एतदेव भेदत्रयं विवरीषुराह–

से किं तं ओहनिप्पण्णे ? । ओहनिप्पण्णे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा–अज्झयणे, अज्झीणे, आए, खवणा ॥ अनु०

(एषां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

नामनिष्पन्नः–

से किं तं नामनिप्पण्णे ? । नामनिप्पण्णे सामाइए समासओ चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा–णामसामाइए, ठवणासामाइए, दव्वसामाइए, भावसामाइए । अनु० ।

नामनिष्पन्ननिक्षेपस्तु गुणनिष्पन्ननामकस्यैवेति । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

सूत्राऽऽलापकनिष्पन्नः–

से किं तं सुत्तालावगनिप्पण्णे ? । इआणिं सुत्तालावगनिप्पण्णं निक्खेवं इच्छावेइ, से अ पत्तलक्खणो वि ण णिक्खिप्पइ । कम्हा ?, लाघवत्थं । अत्थि तइए अणुओगदारे अणुगमे त्ति, तत्थ णिक्खित्ते इहं णिक्खित्ते भवइ, इह वा णिक्खित्ते तत्थ णिक्खित्ते भवइ, तम्हा इहं न निक्खिप्पइ, तहिं चेव निक्खिप्पइ, सेत्तं निक्खेवे । अनु० ।

(से किं तं सुत्तालावग इत्यादि) अथ कोऽयं सूत्राऽऽलापकनिष्पन्नो निक्षेपः–" करेमि भंते ! सामाइयं । " इदानीं सूत्राऽऽलापकानां स्थापनाऽऽदिभेदभिन्नो यो न्यासः, स सूत्राऽऽलापकनिष्पन्नो, निक्षेप इति शेषः । अनु० । स्था० । आचा० । आव० । आ० म० । विशे० । नि० चू० । सूत्र० । वृ० । आ० चू० । व्य० । (कस्य नयस्य मते को निक्षेप इति निक्षेपनययोजना 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८०६ पृष्ठे उक्ता) (नामाऽऽदिनिक्षेपस्य नयविचारः ' णमोक्कार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८२४ पृष्ठे गतः) (स्थापनानिक्षेपाऽनुपगन्तृणां लुम्पकानां मतं ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२०६ पृष्ठे खण्डितम्) अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान् । व्य० १ उ० । विन्यासे, विशे० । प्रश्न० । आ० म० । गणनिक्षेपणे, व्य० ४ उ० । मोक्षे, पं० व० ४ द्वार । मोचने, ओघ० । परित्यागे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

णिक्खेवग–निक्षेपक–पुं० । भावे ण्वुल्प्रत्ययः । निक्षेपणे, (वस्त्रनिक्षेपकः ' वत्थ ' शब्दे वक्ष्यते)

णिक्खेवण–निक्षेपण–न० । निक्षेपे, स्थापने, प्रव० ६ द्वार ।

पृथिव्यादौ निक्षिपति–

जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पुढवीए णिक्खिवइ, णिक्खिवंतं वा साइज्जइ ॥३६॥

जे भिक्खू असणं वा० ४ संथारए णिक्खिवइ, णिक्खिवंतं वा साइज्जइ ॥३७॥

गाहा–

पुढवीतणवत्थादिसु, संथारे तह य होइ वेहासे ।
जे भिक्खू णिक्खिवती, सो पावति आणमादीणि ॥६६७॥

पुढविग्गहणतो ओवट्टगादिभेदा दट्ठव्वा । दब्भाऽऽदितणसंथारए वा, वत्थसंथारए वा, कंबलाऽऽदिफलसंथारे वा, वेहासे वा दोरगेण उल्लंबेइ, पत्थमादिपगाराण अण्णयरेण जो णिक्खिवइ, तस्स चउलहुं, आणादिया य दोसा, संजमाऽऽयविराहणा ॥

सं तत्थ संजमे । गाहा–

तक्केंत परंपरओ, पलोट्ट छिण्णे व भेद कायवहो ।
अहिमूसलालविच्छुय–संचयदोसा पसंगो वा ॥६६८॥

सुण्णे भत्तपाणे चउरिंदिया घरकोइला तक्केंति, तं पि मज्जारी, एवं तक्केंतपरंपरो कुप्पसं वाताऽभिहतसेण वा पलोट्टेति छक्कायविराहणा, आयपरिहाणी, वेहासछित्तं मूसगादिछिण्णे भायणभेदो, छक्कायवहो, आयपरिहाणी य । एसा संजमविराहणा । इमा आयविराहणा–अहिस्स, मूसगादिस्स वा सिंघमाणस्स लाला पडेज्जा, णीससंतो वा विसं वा मुंचेज्ज, विच्छुगाइ वा पडेज्ज, जे वा संणिहिसंचए दोसा, तत्थ वि णिक्खित्ते ते चेव दोसा, पसंगओ संणिहिं पट्ठवेज्जा । किं च–जो भत्तपाणं णिक्खिवइ ।

गाहा–

सो समणसुविहियाणं, कप्पातो अवगितो त्ति णायव्वो ।
दसरायम्मि य पुण्णे, जो उवहि सो उवहतो होति ॥६६९॥

समणकप्पो तम्मि अवगिओ अपगतः, समणकप्पातो वा अवगओ, एवं णिक्खिवंतस्स दस राते गते जम्मि पाते तं भत्तादि णिक्खिवइ, तं उवहतं होइ, जो य उवहिणिक्खित्तो अत्थइ, दसराइं अपडिलेहिओ, सो वि उवहतो भवति ।

गाहा–

उव्वट्टपीढफलगं–तुसंगतं ठवितभत्तपाणं तु ।
सुविहितकप्पा चवितं, सेयत्थि विवज्जए साहू ॥६७०॥

संथारगाऽऽदियाणं बंधे जो पक्खस्स ण मुंचइ सो उव्वट्टो, णिक्खित्तभत्तपाणो य जो सो सुविहितकप्पातो अवगतो, जो सेयत्थी साधू, तेण वज्जेयव्वो, ण तेण सह संजोगो कायव्वो ।

इमो अववाओ । गाहा–

बितियपदं गेलण्णे, रोहग अद्धाण उत्तिमट्ठो वा ।
एतेहिँ कारणेहिं, जयणाए णिक्खिवे भिक्खू ॥६७१॥

गिलाणकज्जवावडो णिक्खिवति, रोहगे वा संकडवसहीए वेहासे करेति, अद्धाणे वा सागारिए भुंजमाणो उत्तिमट्ठं पवण्णस्स वा करणिज्जं करेंतो णिक्खिवति ।

पढमादिकारणेहिं णिक्खिवंतो इमाए जयणाए णिक्खिवति । गाहा–

दूरगमणे णिसिं वा, वेहासेणं इहरहा तु संथारे ।
भूमीए ठवेज्ज व णं, घणबंध अभिक्ख उवओगो ॥६७२॥

दूरं गंतुकामो णिसिं वा जं परिवासिज्जति, तं वेहासे दोरगेण णिक्खिवति (इहरहेति) आसण्णे गंतुकामो आसण्णे वा किंचि लोयमादी काउंकामो तत्थ संथारे भूमीए वा ठवेइ । वकारो विगप्पे, णकारो पादपूरणे, तं पि ठवेंतो घणं चीरेण बंधइ, पिपीलिगभया उण्णादीहिं वा लिंपइ, अभिक्खणं च उवओगं करेति ।

जे भिक्खू असणं वा० ४ उवहासे णिक्खिवइ, णिक्खिवंतं वा साइज्जइ ॥ नि० चू० १६ उ० ।

(उपहासेऽशनाऽऽदिनिक्षेपे प्रायश्चित्तं ' अण्णउत्थिय ' शब्दे प्रथमभागे ४७७ पृष्ठे गतम्)

णिक्खेवणा–निक्षेपणा–स्त्री० । दलिकनिक्षेपे, क० प्र० ४–५ प्रक० । ('उव्वट्टणा' शब्दे द्वि० भा० ११९० पृष्ठे 'अववट्टणा' शब्दे प्र० भा० ७९९ पृष्ठे च व्याख्यातेयम्)

णिक्खेवणाहिगरण–निक्षेपणाधिकरण–न० । प्रतिलेखना–प्रमार्जनाऽऽद्यकरणेनोत्पन्नेऽधिकरणे, नि० चू० ४ उ० ।

णिक्खेवणिज्जुत्तिअणुगम–निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम–पुं० । निक्षेपो नामस्थापनाऽऽदिभेदभिन्नः, तद्विषया या निर्युक्तिः निक्षेपनिर्युक्तिः, तस्या वाऽनुगमो निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमः । निर्युक्त्यनुगमभेदे, (अनु०)

से किं तं णिक्खेवणिज्जुत्तिअणुगमे ?। णिक्खेवणिज्जुत्तिअणुगमे अणुगए । सेत्तं णिक्खेवणिज्जुत्तिअणुगमे ।

अत्रैव प्रागावश्यकसामायिकाऽऽदिपदानां नामस्थापनाऽऽदिनिक्षेपद्वारेण यद् व्याख्यानं कृतं, तेन निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतः प्रोक्तो द्रष्टव्यः । अनु० ।

णिक्खेवय–निक्षेपक–पुं० । निक्षेपणं निक्षेपकः । " नाम्नि पुंसि च " ॥ ५ । ३ । १२१ ॥ इति । (हैम०) भावे णकप्रत्ययः । प्रथमं स्वार्थे निक्षिप्य पश्चात् साधूनामनुज्ञाने, बृ० १ उ० । निगमने, यथा–" एवं खलु जंबू ! समणेणं० जाव उवासगदसाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि । " उपा० १ अ० ।

णिक्खोज–निष्क्षोभ–त्रि० । निष्प्रकम्पे, दर्श० ४ तत्त्व । वादिना क्षोभयितुमशक्ये, स० २ अङ्ग ।

णिखव्व–निखर्व–न० । शतगुणिते खर्वे, कल्प० ७ क्षण ।

णिखिल–निखिल–न० । समग्रे, अनु० ।

णिगच्छमाण–निर्गच्छत्–त्रि० । बहिर्गच्छति, नि० चू० १ उ० ।

णिगज्झिय–निगृह्य–अव्य० । निग्रहं कारयित्वेत्यर्थे, " पाए णिगिज्झिय पप्फोडेमाणे । " स्था० ७ ठा० ।

णिगड–देशी–घर्मे, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिगम–निगम–पुं० । प्रभूततरवणिग्वर्णवासे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । स्था० । अनु० । दश० । सूत्र० । प्रश्न० । व्य० । प्रज्ञा० । वणिग्जनप्रधाने स्थाने, भ० १ श० १ उ० । जी० । प्रश्न० । वणिग्जनाधिष्ठिते सन्निवेशे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । प्रज्ञा० । पौरवणिग्विशेष, बृ० ३ उ० । वाणिजकसमूहे, स०

३० सम० । आचा० । दश० । दशा० । वणिजि, भ० ७ श० ६ उ० । " णिगमो णेगमवग्गो वसइ जहिं । " निगमं नाम यत्र नैगमा वाणिजकविशेषाः, तेषां वर्गः समूहो वसति । अत एव निगमे भवा नैगमा इति व्यपदिश्यन्ते । बृ० १ उ० । आव० । आ० । कारणिके, भ० ७ श० ६ उ० । नि०चू० । सामान्यविशेषाऽऽत्मकस्य वस्तुनो नैकेन प्रकारेणावगमः परिच्छेदो निगमः । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । आ०म० । निश्चितार्थबोधे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । "लोगत्थनिबोहा वा णिगमा" (२१८७) लोकार्थनिबोधाः-अर्था जीवाऽऽदयः, तेषु नितरामनेकप्रकारा बोधा लोकस्यार्थनिबोधा लोकार्थनिबोधाः । विशे० । विचित्रेष्वभिग्रहविशेषेषु, रा० ।

णिगमण-निगमन-न० । निश्चितं गमनं निगमनम् । निश्चितेऽवसाये, न्यायानुमानस्य दशमोऽवयवः । दश० १ अ० । आ०क० । निगमनं लक्षयन्ति-

साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम् ॥५१॥

साध्यधर्मिण्युपसंहरणमिति योगः ।

यथा तस्मादग्निरत्र ॥५१॥ रत्ना० ३ परि० ।

निगमनाऽऽभासमुदाहरन्ति-

तस्मिन्नेव प्रयोगे तस्मात्कृतकः शब्द इति तस्मात्परिणामी कुम्भ इति च ॥ ८२ ॥

अत्रापि साधनधर्मं साध्यधर्मिणि, साध्यधर्मं वा दृष्टान्तधर्मिण्युपसंहरतो निगमनाऽऽभासः । एवं पक्षशुद्ध्याद्यवयवपञ्चकस्य भ्रान्त्या वैपरीत्यप्रयोगे तदाभासपञ्चकमपि तर्कणीयम् ॥८२॥ रत्ना० ६ परि० । विशे० ।

णिगर-निकर-पुं० । राशिमात्रे, विपा० १ श्रु० ६ अ० । ज्ञा० । वृन्दे, दलनिकरो दलवृन्दम् । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । हिरण्यद्रव्याऽऽदिनिकरवन्निकरः । भावस्कन्धे, अनु० ।

णिगलिय-निगरित-त्रि० । जं० २ वक्ष० । सर्वथा शोधिते सारीकृते, तं० ।

णिगाम-निकाम-न० । अत्यर्थे, स्था० ५ ठा० २ उ० । आव० ।

णिगामपडिसेविणी-निकामप्रतिसेविनी-स्त्री० । निकाममत्यर्थं बीजपातं यावत् पुरुषं प्रतिसेवते इत्येवं शीला निकामप्रतिसेविनी । बीजपातं यावन्मैथुनकर्मकारिकायाम्, सा च पुरुषसंयुक्ताऽपि गर्भं नो धरते । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

णिगामसज्जा-निकामशय्या-स्त्री० । शयनं शय्या, निकामं शय्या निकामशय्या । प्रतिदिवसं प्रकामशय्यायाम्, ध० ३ अधि० । आव० ।

णिगामभोयण-निकामभोजन-न० । " बत्तीसाइपरेणं, पगामं निच्चं तमेव उ निगामं । " प्रमाणातीतमाहारं प्रतिदिवसमश्नतो भोजने, पिं० ।

णिगामसाइ [ण्]-निकामशायिन्-पुं० । सूत्रार्थवेलामप्युल्लङ्घ्य शयाने, " .... णिगामसाइस्स । उच्छोलणापहोअस्स दुल्लहा सुगइ तारिसगस्स" ॥ २६ ॥ दश० ४ अ० ।

णिगास-निकर्ष-पुं० । सन्निकर्षे, पुलाकाऽऽदिना परस्परेण संयोजने, भ० २५ श० ७ उ० ।

णिगिज्झ-निगृह्य-अव्य० । स्थित्वेत्यर्थे, कल्प० ६ क्षण । व्य० । स्था० ।

णिगुंज-निकुञ्ज-पुं० । निःशेषेण कौ जायते जन-ड्-पृ० । लताऽऽदिपिहितस्थले, वाच० । ओघ० । " एगम्मि वणनिगुंजे डविकण्ण पंथे आगतो । " आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिगूढ-निगूढ-त्रि० । गुप्ते, मौनिनि च । व्य० ७ उ० । कल्प० ।

णिगूढजाणु-निगूढजानु-त्रि० । गुप्तजानौ, कल्प० २ क्षण ।

णिगूहिय-निगूहित-त्रि० । गोपिते, आ०म० २ अ० । आचा० ।

णिगोय-निगोद-पुं० । अनन्तकायिके, प्रव० २४५ द्वार । सूक्ष्मबादरा निगोदाः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च एकस्मिन्निगोदेऽनन्ता जीवाः, अत्र निगोदः कः?, जीवाश्च के?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-निगोदशब्देनैकं शरीरं वनस्पतिरूपं साधारणमनन्तजीवजानितमुच्यते, तत्र चानन्ता जीवास्तिष्ठन्ति, अत एव अनन्तकायिका जीवाः साधारणा उच्यन्ते । ६ प्र० । ही० ३ प्रका० ।

सम्प्रति यथैकस्मिन् निगोदशरीरे अनन्ता जीवाः परिणताः प्रतीतिपथमवतरन्ति, तथा प्रतिपादयन्नाह—

जह अयगोलो धंतो, जाओ तत्ततवणिज्जसंकासो ।
सव्वो अगणिपरिणओ, णिओयजीवे तहा जाण ॥१९॥
एगस्स दोण्ह तिण्ह व, संखेज्जाणं व पासिउं सक्का ।
दीसंति सरीराइं, णिओयजीवाणऽणंताणं ॥२०॥

"जह अयगोलो" इत्यादि । यथाऽयोगोलो ध्मातः सन् स तप्ततपनीयसङ्काशः सर्वोऽग्निपरिणतो भवति, तथा निगोदजीवान् जानीहि । निगोदरूपेऽप्येकैकस्मिन् शरीरे तच्छरीराऽऽत्मकतया अनन्तान् जीवान् जानीहि ॥१९॥ एवं च सति (एगस्सेत्यादि) एकस्य द्वयोस्त्रयाणां यावत्सङ्ख्येयानां, वाशब्दादसङ्ख्येयानां वा निगोदजीवानां शरीराणि द्रष्टुं न शक्यानि । कुतः?, इति चेदुच्यते-अभावात् । न ह्येकाऽऽदिजीवगृहीतानि अनन्तवनस्पतिशरीराणि सन्ति, अनन्तजीवपिण्डाऽऽत्मकत्वात्तेषाम्, कथं तर्ह्युपलभ्यानीत्यत आह-(दीसंतीत्यादि) दृश्यन्ते शरीराणि निगोदजीवानां बादरनिगोदजीवानां अनन्तानाम् । ननु सूक्ष्मनिगोदजीवानां तेषां शरीराणामनन्तजीवसङ्घाताऽऽत्मकत्वेऽप्यनुपलक्ष्यस्वभावत्वात्, तथा सूक्ष्मपरिणामपरिणतत्वात्; अथ कथमेतदवसीयते ?-निगोदरूपं शरीरं नियमादनन्तजीवपरिणामाविर्भावितं भवतीति? उच्यते, जिनवचनात् । तच्चेदम्-"गोला य असंखेज्जा, होंति निगोया असंखया गोले । एक्केक्को य निगोओ, अणंतजीवो मुणेयव्वो ॥ १ ॥ " प्रज्ञा० १ पद ।

निगोदभेदान् पृच्छति-

कतिविहा णं भंते ! णिओया पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-णिओया य, णिओदजीवा य । निओया णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सुहुमणिओया य, बादरनिओया य । सुहुमनिओया णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । बायरनिओया वि दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । निओदजीवा णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सुहुमनिओदजीवा य, बायरनिओदजीवा य । सुहुमनिगोदजीवा दुविहा पण्णत्ता । तं

जहा–पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । बायरनिगोदजीवा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य ।

"निओया णं भंते !" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह–गौतम ! द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा–सूक्ष्मनिगोदाश्च,बादरनिगोदाश्च । तत्र सूक्ष्मनिगोदाः सर्वलोकाऽऽपन्नाः,बादरनिगोदाः मूलकन्दाऽऽदयः । (सुहुमनिओया णमित्यादि) सूक्ष्मनिगोदा भदन्त ! कतिविधाः प्रज्ञप्ताः ? । भगवानाह–गौतम ! द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा–पर्याप्तकाः, अपर्याप्तकाश्च । एवं बादरनिगोदविषयमपि सूत्रं वक्तव्यम् ।

संप्रति सामान्यतो निगोदसंख्यां जिज्ञासिषुः पृच्छति–

निओदा णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता ?। गोयमा ! नो संखेज्जा,असंखेज्जा,नो अणंता । एवं पज्जत्तगा वि,अपज्जत्तगा वि । सुहुमनिओदा णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जा, असंखेज्जा,अणंता ?। गोयमा ! नो संखेज्जा,असंखेज्जा,नो अणंता । एवं पज्जत्तगा वि,अपज्जत्तगा वि, एवं बायरा वि पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि, नो संखेज्जा, असंखेज्जा, नो अणंता । निओयजीवा णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता ?। गोयमा ! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता । एवं पज्जत्ता वि, अपज्जत्ता वि । एवं सुहुमनिओयजीवा वि पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि । बादरनिओयजीवा वि पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि ।

"निओया णं" इत्यादि । निगोदा जीवाऽऽश्रयविशेषाः । भदन्त ! द्रव्यार्थतया द्रव्यरूपतया किं संख्येया असंख्येया अनन्ताः ?। भगवानाह–गौतम ! नो संख्येयाः,अङ्गुलासंख्येयभागावगाहनानां तेषां सर्वलोकाऽऽपन्नत्वात्,किं त्वसंख्येयाः,असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । नाप्यनन्ताः, तथा केवलवेदसाऽनुपलब्धत्वात् । एवमपर्याप्तसामान्यनिगोदसूत्रं पर्याप्तसामान्यनिगोदसूत्रं भावनीयम् । यथा च सामान्यनिगोदविषयसूत्रत्रयमुक्तमेवं सूक्ष्मनिगोदविषयमपि सूत्रत्रयं बादरनिगोदविषयमपि सूत्रत्रयं पृथक् वक्तव्यम् । भावना च पूर्वानुसारेण स्वयं विधेया । तदेवं द्रव्यार्थताविषयाणि नव सूत्राण्युक्तानि ।

संप्रति प्रदेशार्थताविषयाणि नव सूत्राणि विवक्षुः प्रथमतः सामान्यतो निगोदविषयं सूत्रमाह–

निओदा णं भंते ! पदेसट्ठयाए किं संखेज्जा, पुच्छा ? । गोयमा ! णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा, अणंता । एवं पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि । एवं सुहुमनिओया वि पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि, पएसट्ठयाए सव्वे अणंता । एवं बायरनिओया वि पज्जत्तया वि, अपज्जत्तया वि, पएसट्ठयाए सव्वे अणंता । एवं निओदजीवा वि सत्तविहा पएसट्ठयाए सव्वे अणंता ।

" निओदा णं भंते ! पएसट्ठयाए" इत्यादि । निगोदा उक्तस्वरूपाः, णमिति वाक्यालङ्कारे । भदन्त ! प्रदेशार्थतया प्रदेशरूपतया चिन्त्यमाना किं संख्येया असंख्येया अनन्ता वा ?। भगवानाह–गौतम ! नो संख्येया नो असंख्येयाः, किन्तु अनन्ताः, एकैकस्मिन् निगोदे प्रदेशानामनन्तत्वात् । एवं शेषाण्यष्टौ सूत्राणि पूर्वक्रमेण भावनीयानि ।

सम्प्रत्येतेषामेव सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तनिगोदानां द्रव्यार्थप्रदेशार्थोभयार्थतया परस्परमल्पबहुत्वमाह–

एतेसि णं भंते ! निओयाणं सुहुमाणं बायराणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे० २ जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा बायरनिओया पज्जत्तगा दव्वट्ठयाए, बादरनिगोदा अपज्जत्तगा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा,सुहुमनिओया अपज्जत्तगा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा,सुहुमनिओदा पज्जत्तगा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा । एवं पदेसट्ठयाए वि । दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवा बादरनिओया पज्जत्तया दव्वट्ठयाए० जाव सुहुमनिओदा पज्जत्तया दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहुमनिओएहिंतो पज्जत्तएहिंतो दव्वट्ठयाए बादरनिगोदा पज्जत्ता पएसट्ठयाए अणंतगुणा, बायरणिओदा अपज्जत्तगा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा० जाव सुहुमनिओया पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा । एवं निओयजीवा वि, णवरिं संकमए० जाव सुहुमनिओयजीवेहिंतो पज्जत्तएहिंतो दव्वट्ठयाए बायरनिओया जीवा पज्जत्ता पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सेसं तहेव० जाव सुहुमनिओयजीवा पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा ।

"एतेसि णं भंते ! निगोदा णं" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह–गौतम ! सर्वस्तोका बादरनिगोदा मूलकन्दाऽऽदिगताः पर्याप्तका द्रव्यार्थतया, प्रतिनियतक्षेत्रवर्तित्वात्, तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, एकैकपर्याप्तबादरनिगोदनिश्रया असंख्येयानामपर्याप्तानां बादरनिगोदानामुत्पादात्,तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्तका द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, सकललोकाऽऽपन्नतया क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात्, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वोघतोऽपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानां संख्येयगुणत्वात् । (पएसट्ठयाए इति) अत ऊर्ध्वं प्रदेशार्थतया चिन्ता क्रियते, तामेव करोति– सर्वस्तोकाः बादरनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया, द्रव्याणां स्तोकत्वात् । तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, द्रव्याणामसंख्येयगुणत्वात् । एवं तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया संख्येयगुणाः । (दव्वट्ठपएसट्ठयाए इति) अधुना द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया चिन्ता क्रियते–सर्वस्तोका बादरनिगोदाः पर्याप्ताः द्रव्यार्थतया, बादरनिगोदा अपर्याप्ताः द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः । अत्र सर्वत्राऽपि युक्तिः प्रागुक्तैव । तेभ्यो बादरा निगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणाः, एकैकनिगोदस्यानन्ताणुकानन्तस्कन्धनिष्पन्नत्वात् । तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असं–

ख्येयगुणाः, द्रव्याणामसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः । युक्तिः प्रागुक्तैव । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, द्रव्याणां संख्येयगुणत्वात् । तदेवमुक्ता निगोदाः । अधुना निगोदजीवानधिकृत्य भेदप्रश्नमाह- * "निगोयजीवा णं भंते !" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! निगोदजीवा द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-सूक्ष्मनिगोदा बादरनिगोदजीवाश्च । चशब्दौ निगोदजीवतया तुल्यतासूचकौ । एवमन्यत्राऽपि यथायोगं भावनीयौ । "सुहुमनिगोयजीवा णं भंते !" इत्यादि पर्याप्तापर्याप्तविषयं सूत्रं त्विदं पाठसिद्धम् । सम्प्रति द्रव्यार्थतया संख्यां पिपृच्छिषुराह- "सुहुमनिगोयजीवा णं भंते ! दव्वट्ठयाए" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! नो संख्येया नाप्यसंख्येयाः, किं त्वनन्ताः ; प्रतिनिगोदमनन्तानां निगोदजीवद्रव्याणां भावात् । एवमपर्याप्तसूत्रं वक्तव्यम् । तदेवं सामान्यतो निगोदद्रव्यविषयं सूत्रकमुक्तम् । एवं सूक्ष्मनिगोदजीवविषयं सूत्रत्रिकं, बादरनिगोदजीवविषयं सूत्रत्रिकं वक्तव्यम् । सर्वसंख्यया नव सूत्राणि । एवमेव प्रदेशार्थताविषयाण्यपि नव सूत्राणि, नानात्वाभावात् । भावना सर्वत्रापि सुप्रतीता । ये किल द्रव्यार्थतयाऽनन्तास्ते प्रदेशार्थतया सुतरामनन्ताः, प्रतिद्रव्यमसंख्यातानां प्रदेशानां भावात् । सर्वसंख्यया चामून्यष्टादश सूत्राणि । साम्प्रतमेतेषामेव सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तनिगोदजीवानां द्रव्यार्थप्रदेशार्थोभयार्थतया परस्परमल्पबहुत्वमाह-"एएसि णं" इत्यादि । सर्वस्तोका बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, निगोदानां स्तोकत्वात्, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, निगोदानामसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्तका द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः । कारणं पूर्ववदूह्यम् । प्रदेशार्थतया सर्वस्तोका बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ताः, प्रदेशार्थतया द्रव्याणां स्तोकत्वात्; तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, द्रव्याणामसंख्येयगुणत्वात् । एवं तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया, द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया सर्वस्तोकाः, बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, प्रतिबादरनिगोदपर्याप्तजीवमसंख्येयानां प्रदेशानां भावात्, तेभ्यः सूक्ष्मबादरनिगोदजीवाश्च पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदापर्याप्तेभ्यो बादरनिगोदपर्याप्तानामसंख्यातगुणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्तकाः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया संख्येयगुणाः। भावना प्रागिव ।

सम्प्रति सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तनिगोदजीवानां द्रव्यार्थप्रदेशार्थोभयार्थतया परस्परमल्पबहुत्वमाह-

एतेसि णं भंते ! सुहुमाणं निगोदाणं बायराणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाणं निओयजीवाणं सुहुमाणं बायराणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे २० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा बायरनिओया पज्जत्ता दव्वट्ठयाए, बायरनिओदा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिगोदा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिओदा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहुमनिओएहिंतो पज्जत्तएहिंतो दव्वट्ठयाए बायरनिओदजीवा पज्जत्ता अणंतगुणा, बायरनिओदजीवा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिओयजीवा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा. सुहुमनिओयजीवा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, पएसट्ठयाए सव्वत्थोवा, बायरनिओदजीवा पज्जत्ता पएसट्ठयाए, बायरनिओदजीवा अपज्जत्ता पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिओयजीवा अपज्जत्ता पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिओदजीवा पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहुमनिओदजीवेहिंतो पज्जत्तएहिंतो बायरनिओया पज्जत्ता पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, बायरनिओया अपज्जत्ता पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा० जाव सुहुमनिओया पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा, बायरनिओया पज्जत्ता दव्वट्ठयाए, बायरनिओदा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा० जाव निगोदा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहुमनिओएहिंतो पज्जत्तएहिंतो बायरनिओदजीवा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, सेसा तहेव० जाव सुहुमनिओदजीवा पज्जत्तगा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहुमनिओयजीवेहिंतो पज्जत्तएहिंतो दव्वट्ठयाए बायरनिओयजीवा पज्जत्ता, पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सेसं तहेव० जाव सुहुमनिओया पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा ।

'एएसि णं' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोका बादरनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः । अत्र सर्वत्रापि युक्तिः प्रागुक्तैव । सूक्ष्मनिगोदेभ्यः द्रव्यार्थतया बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, एकैकस्मिन् निगोदे अनन्तानां जीवानां भावात्, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः, द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, निगोदानामसंख्यातगुणत्वात् । एवं तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः, प्रदेशार्थतया सर्वस्तोकाः, बादरनिगोदजीवाः पर्याप्तकाः प्रदेशार्थतया, निगोदानां स्तोकत्वात् । तेभ्यो बादरनिगोदजीवाः अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, निगोदानामसंख्येयगुणत्वात् । एवं तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगु-

* 'एवं निओयजीवा वि' इत्यारभ्य 'पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा' इति यावद् मूले संक्षिप्तमुक्तमिति विभावनीयं सुधीभिः ।

णाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया संख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवेभ्यः पर्याप्तेभ्यो बादरनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणाः, एकैकस्य निगोदस्य अनन्ताणुकानन्तस्कन्धनिष्ठाऽऽपन्नत्वात्। तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, एकैकबादरपर्याप्तनिगोदनिश्रया संख्यातीतानां बादरापर्याप्तनिगोदानामुत्पादात्। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्यातगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया संख्येयगुणाः, द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया सर्वस्तोकाः, बादरनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः। अत्र युक्तिर्निगोदानां द्रव्यार्थतया चिन्तायामिव। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदेभ्यः पर्याप्तेभ्यो बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया अनन्तगुणाः, प्रतिबादरनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्। तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः। अत्र युक्तिर्निगोदजीवानां द्रव्यार्थतया चिन्तायामिव। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवेभ्यः पर्याप्तेभ्यो द्रव्यार्थतया चिन्तितेभ्यो बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, प्रतिबादरनिगोदपर्याप्तजीवमसंख्येयानां लोकाऽऽकाशप्रमाणानां प्रदेशानां भावात्। तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया संख्येयगुणाः। युक्तिरत्र निगोदजीवानां प्रदेशार्थतया संख्येयगुणचिन्तायामिव। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवेभ्यः पर्याप्तेभ्यः प्रदेशार्थतया चिन्तितेभ्यो बादरनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणाः। एकैकस्मिन् निगोदे अनन्तानामणूनां सद्भावात्। तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया संख्येयगुणाः। अत्र युक्तिर्निगोदानां प्रदेशार्थतया चिन्तायामिव। जी० ६ प्रति०।

सांव्यवहारिकाः के प्रतिपाद्यन्ते, किं निगोदावस्थात उद्वृत्ताः, उत सूक्ष्मनिगोदेभ्य उद्वृत्ताः, उत सूक्ष्ममात्रोद्वृत्ता ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रज्ञापनावृत्तौ निगोदादुद्वृत्ता इति सामान्यं वचो न विशेषबाधां कर्तुं समर्थं स्यात्। सूक्ष्ममात्राणां निगोद इति संज्ञा नाऽस्ति, निगोद इति नाम वनस्पतौ रूढम्, तथा सूत्रेऽपि तथैव दृश्यते-सूक्ष्मनिगोदेभ्य उद्वृत्ताः, अत एव सांव्यवहारिका इति। श्रुतिपरम्परयाऽपि बहुश्रुतानामयं प्रघोषः। यतः-"सर्वे जीवा व्यवहार्य-व्यवहारितया द्विधा। निगोदा व्यवहार्यास्ते,चान्येऽपि व्यवहारिणः"॥१॥ इति योगशास्त्रवृत्तौ इति। १३७ प्र०। सेन० १ उल्ला०। अनादिनिगोदमध्ये यथा भव्यस्य ज्ञानदर्शनचारित्राणां सत्ता, तथा अभव्यस्य भवति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-अभव्यस्य ज्ञानाऽऽदिसत्ता भवति, परमभव्यतया सामग्र्यसद्भावेन प्रकटीभवति, भव्यस्य तु तद्योगेऽस्याः प्रकटीस्यादिति। १२८ प्र०। सेन० २ उल्ला०। आवलिकायुःप्रमाणं सूक्ष्मबादरनिगोदयोरुभयोः, किं वाऽऽयुरस्यैवेति प्रश्ने, उत्तरम्-सूक्ष्मनिगोदस्य क्षुल्लकभवग्रहणरूपमन्तर्मुहूर्तमायुर्भवति। बादरनिगोदस्य तु क्षुल्लकभवग्रहणरूपं किञ्चिन्न्यूनमन्तर्मुहूर्तरूपं भवति, सामान्येन तूभयोरप्यन्तर्मुहूर्तमुच्यत इति १५५ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। सूक्ष्मनिगोदान्निर्गतो जीवः पुनः सूक्ष्मनिगोदमध्ये याति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम् सूक्ष्मनिगोदान्निर्गतो जीवः पुनरपि सूक्ष्मनिगोदे यातीति। २७३ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

णिगोदजीव-निगोदजीव-पुं०। साधारणनामकर्मोदयवर्तिनि जीवे, भ० २५ श० ६ उ०। नारकजीवेभ्यो निगोदजीवानां दुःखमधिकं, निगोदजीवेभ्यो वा नारकजीवानाम्?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-निश्चयतो नारकजीवेभ्यो निगोदजीवानां जन्ममरणाऽऽद्येकशरीरानन्तजीवावस्थानाऽऽदिरूपं महद् दुःखं, परं नष्टसत्त्वमूर्च्छिताऽऽदीनामिव नातिदुःसहम्। व्यवहारतस्तु निगोदजीवेभ्यो नारकजीवानां परमाधार्मिककृतवेदनाऽऽदिरूपं दुःखं प्रति किं साम्यं, हीनाधिकत्वं वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-तेषां व्यवहारेण समानं दुःखमवगम्यते, निश्चयस्तु केवलिगम्य इति। ३४३। ३४४। प्र०। अनादिनिगोदजीवाः किं जनितबहुकर्मवशेन तत्र तिष्ठन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रवाहापेक्षया अनादिकर्मसंबन्धेन तत्र तिष्ठन्तीति। ३४५ प्र०। केचन निगोदजीवा लघुकर्मीभूय व्यवहारराशौ समायान्ति, तेषां तत्र लघुकर्मीभवने किं कारणमिति प्रश्ने, उत्तरम्-भव्यत्वपरिपाकाऽऽदिकं तेषां लघुकर्मीभवने कारणमिति ३४६ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। मांसमध्ये निगोदजीवा उत्पद्यमानाः कथिताः सन्ति। तथाहि-" आमासु अ पक्कासु अ, विपच्चमाणासु मंसपेसीसु। उप्पज्जंति अणंता, तव्वण्णा तत्थ जंतूओ"॥१॥ एतद्गाथायां योगशास्त्रचतुर्थप्रकाशमध्ये कथितमस्ति, यन्निगोदशब्देन शरीरं कथ्यतेऽतो मांसमध्ये शरीरिणोऽनन्ता जीवा उत्पद्यन्ते, तच्छरीराणि कानि ?, मांसमेव शरीरतया परिणमन्ति, तद्रूपाणि किं वाऽसंख्यातानि शरीराणि उत्पद्यन्ते तानि, तेषामप्यनन्तशरीरिणामाबाधोत्पद्यते ?, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-मांसमध्ये स्मजद्वीन्द्रियजीवा अनेके उत्पद्यमानाः संभाव्यन्ते, तथा "आमासु अ पक्कासु अ," एतद्गाथायां ये निगोदजीवा उत्पद्यमानाः कथिताः सन्ति, तत्र निगोदशब्देन सूक्ष्मजीवा एव अर्थः परम्परया कथ्यमानोऽस्ति, परं साधारणवनस्पतिवदनन्तजीवाऽऽश्रय एकशरीरनिगोद एवंविधोऽर्थः कथ्यमानो नास्ति। यतः प्रतिक्रमणसूत्रवृत्तौ मांसमध्ये तद्वर्णा अनेके जीवा उत्पद्यमानाः कथिताः सन्ति, परमनन्ता असंख्याता न कथिताः सन्ति, तस्मादनन्ता असंख्याता यत्र कथिताः सन्ति, परं तत्रानन्ताऽसंख्यातशब्देन बहव इत्यर्थो ज्ञेयः, एवं परम्पराऽस्ति। तानि च जीवशरीराणि मांसपुद्गलतयाऽन्यपुद्गलतया च भिन्नानि उत्पद्यमानानि संभाव्यन्ते, तथा तक्राऽऽरनालाऽऽदिषु द्वीन्द्रियजीवा उत्पद्यमानाः कथिताः सन्ति, तद्वत्तेषामपि मांसजीवानामाबाधोत्पद्यते इति संभाव्यते, परमेकशरीरस्थानन्तजीवव्याबाधोच्यते इति ज्ञातं नास्तीति॥ ४४ प्र०। सेन० ४ उल्ला०।

णिग्गंथ-निर्ग्रन्थ-पुं०। निर्गता ग्रन्था द्रव्यतः सुवर्णाऽऽदिरूपाद् भावतो मिथ्यात्वाऽऽदिलक्षणादिति निर्ग्रन्थः। व्य० ३ उ०। स्था०। सूत्र०। निर्गतो बाह्याभ्यन्तरो ग्रन्थो यस्मात्स निर्ग्रन्थः। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। बाह्याभ्यन्तरग्रन्थिरहिते, दश० ६ अ०। जैनसाधौ, दश० ३ अ०। स०। स्था०। (व्याख्या

'हिंसा' शब्दे द्रष्टव्या) " णिग्गंथा जिणसासणभवा । " निर्ग्रन्थास्ते भण्यन्ते, ये जिनशासनभवाः श्रीमत्पारमेश्वरप्रवचनमनुगताः । प्रव० ९४ द्वार । पञ्चावधाः श्रमणाः, तत्र निर्ग्रन्था जैनसाधवः । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । सूत्र० । स्था० । आ० क० । ज्ञा० । प्रश्न० । आ० चू० । नं० ।

(१) निर्ग्रन्थशब्दव्याख्या—

साहिरण्णगा सगंथा, अहिरण्णसुवण्णगा समणा ।

साहिरण्यकः सग्रन्थ उच्यते । अत्र हिरण्यग्रहणं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहोपलक्षणं,ततो यः सपरिग्रहः स सग्रन्थः। श्रमणाः पुनरहिरण्यसुवर्णका अतो निर्ग्रन्थाः। हिरण्यं रूप्यं,सुवर्णं कनकम् । बृ० १ उ०। (ग्रन्थनिक्षेपो 'गंथ' शब्दे तृ० भा० ७९२ पृष्ठे उक्तः)

प्रस्तुतयोजनामाह—

सावज्जेण विमुक्का, अब्भिंतरबाहिरेण गंथेण ।

निग्गहपरमा य वि हु, तेणेवं होंति निग्गंथा ॥

सावद्यः सपापः कर्मोपादाननिबन्धनत्वाद्यो ग्रन्थः,तेन साभ्यन्तरबाह्येन ये मुक्तास्ते निर्ग्रन्था उच्यन्ते।येऽपि चान्तरं ग्रन्थेन न सर्वथा मुक्तास्तेऽपि, ये न विद्वांसः क्रोधाऽऽदिदोषच्छेदिनः, तथा निग्रहपरमाः, तद्विजयप्रधानाः, तेनैवं कारणेन ते निर्ग्रन्था भवन्ति ।

(२)अथाऽऽन्तरं ग्रन्थमधिकृत्य ये मुक्ताः,ये चामुक्ताः, तद्देतदभिधित्सुराह—

केई सव्वविमुक्का, कोहाईएहिँ केइ भइयव्वा ।

सेढिदुगं विरचित्ता, जाणसु जो निग्गओ जत्तो ॥

क्रोधाऽऽदिभिरन्तरग्रन्थैः केचित्सर्वैर्विमुक्ताः सर्वैरपि विप्रमुक्ताः,केचित्पुनर्भक्तव्या विकल्पनीयाः—केचिद् मुक्ताः,केचिदपि न मुक्ता इत्यभिप्रायः। अत्र शिष्यः प्राऽऽह—कथं नु नामेदं ज्ञायते?—अमी सर्वथा मुक्ताः, अमी च न मुक्ता इत्युच्यते—श्रेण्युपशमश्रेणिक्षपकश्रेणिलक्षणं, विरचय्य यथोक्तपरिपाट्या स्थापयित्वा,ततो जानीहि यो यतः क्रोधाऽऽदेर्निर्गतः,अनिर्गतो वेति। बृ० १ उ० । भ० । उत्त० । सूत्र० । (श्रेणिद्वयप्ररूपणा 'खवगसेढि' शब्दे तृ० भा० ७२७ पृष्ठे,'उवसमसेढि' शब्दे द्वि० भा० १०४३ पृष्ठे च द्रष्टव्या)

(३) एतां क्षपकश्रेणिमभ्यासीनेन येन यदनन्तानुबन्ध्यादिकं क्षपितं, स तेन मुक्त इत्यवसातव्यम् । येऽपि श्रेणिद्वयमध्यासीना अपि न प्रतिपद्यन्ते, किन्तु सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकानामन्यतमस्मिन् संयमे वर्तन्ते, तेऽपि संज्वलनचतुष्टयवर्जैर्द्वादशभिः कषायैर्मुक्ता इत्यवगन्तव्यम् । यत उक्तम्—"बारसविहे कसाए, खविए उवसामिए य जोगेहिं । लब्भइ चरित्तलंभो, तस्स विसेसा इमे पंच ॥ १ ॥"

ततश्च—

जे वि अ न सव्वगंथेहि निग्गया होंति केइ निग्गंथा ।

ते वि य निग्गहपरमा, हवंति तेसिं खउज्जुत्ता ॥

ये पि च सरागसंयमवर्तिनः सर्वेभ्य आभ्यन्तरग्रन्थेभ्यो न निर्गताः, तेऽपि तेषां संज्वलनकषायाऽऽदीनां क्षयोद्युक्ता उदयनिरोधोदयप्राप्तविफलीकरणाभ्यां क्षपकरणोद्यताः सन्तो निग्रहपरमा अन्तरग्रन्थनिग्रहप्रधाना भवन्तीत्यतो निर्ग्रन्था उच्यन्ते ।

अपि च—

कलुसफलेन न जुज्जइ, किं चित्तं तत्थ जं विगयरागो ।

संते वि जे कसाए, निगिण्हई सो वि तत्तुल्लो ॥

कलुषयन्ति सहजनिर्मलं कर्मरजसा मलिनयन्तीति "अच्" ॥ ५ । १ । ४६ ॥ इति अच्प्रत्यये कलुषा कषायाः, तेषां यत्फलं पुरुषभाषणनयनमुखविकारो रौद्रध्यानानुबन्धाऽऽदिकं, तेन सह यन्न युज्यते न संबन्धमुपयाति, विगतरागो विशेषेणापुनर्भावेन गतो रागो यस्मात्स विगतरागः, क्षीणमोह इत्यर्थः। तत्र किं चित्रं किमाश्चर्यं?, कषायलक्षणकारणाभावान्न किञ्चिदित्यर्थः । यस्तु सतोऽपि विद्यमानानपि कषायान्निगृह्णाति, उदीयमानानेव प्रथमतो निरुणद्धि, कथञ्चिदुदयप्राप्तान् वा विफलीकरोति, सोऽपि तत्तुल्यो वीतराग इव निष्कषायी मन्तव्यः, सतामपि कषायाणामसत्कल्पनाकरणात्, अतः सरागसंयतोऽपि निर्ग्रन्थोऽभिधीयते ।

अथ परं प्रश्नयति—

जइ अब्भिंतरमुक्का, बाहिरगंथेण मुक्कया किह णु? ।

गिण्हंता उवगरणं, जम्हा अममत्तया तेसु ॥

यद्यनन्तरोक्तप्रकारेणाभ्यन्तरग्रन्थमुक्ताः,ततो वस्त्रपात्राऽऽदिकमुपकरणं गृह्णन्, ततः कथं,नुरिति वितर्के।बाह्यग्रन्थेन मुक्ता उच्येरन्?,वस्त्राऽऽदेरपि ग्रन्थरूपत्वादित्यभिप्रायः। सूरिराह-यस्मात्तेषु वस्त्रपात्राऽऽदिषु न विद्यते ममत्वं मूर्छा येषां ते अममत्वकाः । "शेषाद्वा" ॥ ७ । ३ । १७५ ॥ इति कच्प्रत्ययः । मूर्छारहिताः । तेन बाह्यग्रन्थमुक्ता अप्यभिधीयन्ते । इयमत्र भावना—मूर्छा परिग्रहो गीयते तनूपकरणविधारणमात्रम्,"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" इति वचनात् । अतः संयमोपष्टम्भाऽऽदिनिमित्तमुपकरणं धारयन्नपि विशुद्धचेतोवृत्तिरपरिग्रह एव ज्ञातव्यः। तदुक्तं परमगुरुभिः—"अज्झत्थविसोहीए, उवगरणं बाहिरं परिहरंतो । अपरिग्गहो त्ति भणिओ, जिणेहिँ तेलुक्कदंसीहिं " ।१। बृ० १ उ० । भ० । उत्त० । सूत्र० ।

(४) अथ निर्ग्रन्थनिक्षेपमाह निर्युक्तिकृत्—

णिक्खेवो णियंठम्मी, चउव्विहो दुविहो य होइ दव्वम्मि ।

आगमओ णोआगमओ,णोआगमओ य सो तिविहो ।३२। नि०।

निक्षेपो न्यासः (नियंठम्मि त्ति) निर्ग्रन्थे निर्ग्रन्थविषये चतुर्विधः, नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभेदात् । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे । द्विविधो भवति द्रव्ये-आगमतो, नो आगमतश्च । तत्राऽऽगमतः प्राग्वत् , नो आगमतश्च स इति निर्ग्रन्थस्त्रिभेद इति गाथाऽर्थः । उत्त० (पाईटीका) ६ अ० । त्रैविध्यमेवाऽऽह—द्रव्यतो एकः, अन्यो न द्रव्यतो भावतः, अपरो द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि । तत्र द्रव्यतो निर्ग्रन्थः स उच्यते, यो लिङ्गसहितो द्रव्यलिङ्गयुक्तो निःशङ्कः सम्यग्व्यवस्यते, उत्प्रव्रजतीत्यर्थः । यस्तु प्रव्रज्यायामभिमुखो न तावद्यावदपि प्रव्रजति, कारणेन वा यः साधुः परलिङ्गे वर्तते,स द्वितीयो द्वितीयभङ्गवर्ती । यस्तु उदयसहितो द्रव्यभावलिङ्गयुक्तः स तृतीयः । उभयथा निर्ग्रन्थ इति भावः । बृ० ३ उ० ।

जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य णिण्हवादीसु ।

भावम्मि णियंठो खलु, पंचविहो होइ णायव्वो ॥३३॥ नि०।

(आगमसरीरभविय त्ति) ज्ञशरीरनिर्ग्रन्थो, भव्यशरीरनिर्ग्रन्थश्च । पश्चात्कृतपुरस्कृतनिर्ग्रन्थपर्यायतयाऽयं घृतकुम्भ इत्यादिन्यायतः प्राग्वद्भावनीयः । तद्व्यतिरिक्तश्च निह्नवाऽऽदिषु । आदिशब्दात्पार्श्वस्थाऽऽदिपरिग्रहः । भावनिर्ग्रन्थोऽप्यागमतो, नो आगमतश्च, तत्राऽऽगमतस्तथैव । नो आगमतस्तु स्वत एवाऽऽह निर्युक्तिकृत्-भावे निर्ग्रन्थः, चतुर्थ्यर्थाऽऽलङ्कारे, पञ्चविधः पञ्चभेदो भवति ज्ञातव्य इति गाथाऽर्थः । उत्त० (पाईटीका) ६ अ० ।

(५) पञ्चविधनिर्ग्रन्थस्वरूपं चेदम्-

कइ णं भंते ! णियंठा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंच णियंठा पण्णत्ता । तं जहा-पुलाए, बउसे, कुसीले, णियंठे, सिणाए ।

(णियंठ त्ति) निर्गताः सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थादिति निर्ग्रन्थाः साधवः, एतेषां च प्रतिपन्नसर्वविरतीनामपि विचित्रचारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमाऽऽदिकृतो भेदोऽवसेयः । तत्र-(पुलाए त्ति) पुलाको निःसारो धान्यकणः, पुलाकवत्पुलाकः संयमसारापेक्षया, स च संयमवानपि मनाक् तमसारं कुर्वन् पुलाक इत्युच्यते । (बउसे त्ति) बकुशं शबलं, कर्बुरमित्यनर्थान्तरम्, ततश्च बकुशसंयमयोगाद्बकुशः । (कुसीले त्ति) कुत्सितं शीलं चरणमस्येति कुशीलः । (नियंठे त्ति) निर्गतो ग्रन्थान्मोहनीयकर्माऽऽख्यादिति निर्ग्रन्थः । (सिणाए त्ति) स्नात इव स्नातो घातिकर्मलक्षणमलपटलक्षालनादिति । भ० २५ श० ६ उ० ।

तओ णियंठा णोसण्णोवउत्ता पण्णत्ता । जहा-पुलाए, णियंठे, सिणाए । तओ णियंठा सण्ण-णोसण्णोवउत्ता पण्णत्ता । तं जहा-बउसे, पडिसेवणाकुसीले, कसायकुसीले ।

(तओ इत्यादि) निर्गता ग्रन्थात् सबाह्याभ्यन्तरादिति निर्ग्रन्थाः संयताः,' नो ' नैव,संज्ञायामाहाराऽऽद्यभिलापरूपायां, पूर्वानुभूतस्मरणानागतचिन्ताद्वारेणोपयुक्ता ये ते नोसंज्ञोपयुक्ताः, तत्र पुलाको लब्ध्युपजीवनाऽऽदिना संयमासारताकारको वक्ष्यमाणलक्षणः,निर्ग्रन्थ उपशान्तमोहः,क्षीणमोहो वेति । स्नातको घातिकर्ममलक्षालनावाप्तशुद्धज्ञानस्वरूपः । तथा त्रय एव संज्ञोपयुक्ताः, नोसंज्ञोपयुक्ताश्चेति संकीर्णस्वरूपाः, तथा स्वरूपत्वात् । तथा चाऽऽह-(सण्ण नोसण्णोवउत्त त्ति) संज्ञा चाहाराऽऽदिविषया, नोसंज्ञा च तदभावलक्षणा । संज्ञानोसंज्ञे, तयोरुपयुक्ता इति विग्रहः । पूर्वह्रस्वता प्राकृतत्वादिति । तत्र बकुशः शरीरोपकरणविभूषाऽऽदिना सबलचारित्रपटः, प्रतिसेवनया मूलगुणाऽऽदिविषयया कुत्सितं शीलं यस्य स तथा । एवं कषायकुशील इति । स्था० ३ ठा० ४ उ० । ध०र० । ध० । पं० भा० । पं० चू० । दर्श० । (पुलाकाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

(६) एते पुलाकाऽऽदयः पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा एभिः संयमाऽऽदिभिरनुगमविकल्पैः साध्या भवन्ति-

पण्णवण वेय रागे, कप्प चरित्त पडिसेवणा णाणे ।
तित्थे लिंग सरीरे,खित्ते काले गति संजम णिकासे ॥१॥
जोगुवओग कसाए, लेसा परिणाम बंध वेदे य ।
कम्मोदीरण उवसं-पजहण सण्णा य आहारे ॥ २ ॥
भव आगरिसे कालं-तरे य समुग्घाय खेत्त फुसणा य ।
भावे परिणामे खलु, अप्पाबहुयं णियंठाणं ॥ ३ ॥
भ० २५ श० ६ उ० ।

(७) तत्र वेदद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं सवेयए होज्जा, अवेदए होज्जा ?। गोयमा ! सवेयए होज्जा, णो अवेदए होज्जा । जइ सवेदए होज्जा किं इत्थीवेदए होज्जा,पुरिसवेदए होज्जा,पुरिसणपुंसगवेयए होज्जा ? । गोयमा ! णो इत्थीवेयए होज्जा, पुरिसवेयए होज्जा, पुरिसणपुंसगवेयए होज्जा । बउसे णं भंते ! किं सवेयए होज्जा,अवेदए होज्जा ?। गोयमा ! सवेदए होज्जा, णो अवेदए होज्जा । जइ सवेदए होज्जा किं इत्थीवेयए होज्जा, पुरिसवेयए होज्जा, पुरिसणपुंसगवेयए होज्जा ?। गोयमा ! इत्थीवेयए होज्जा, पुरिसवेयए होज्जा, पुरिसणपुंसगवेयए होज्जा । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले णं भंते ! किं सवेयए पुच्छा ?। गोयमा ! सवेयए वा होज्जा, अवेदए वा होज्जा । जइ अवेदए होज्जा किं उवसंतवेदए होज्जा, खीणवेदए होज्जा ? । गोयमा ! उवसंतवेदए वा होज्जा, खीणवेदए वा होज्जा । जइ सवेदए होज्जा किं इत्थीवेदए होज्जा पुच्छा ?। गोयमा ! तिसु वि जहा बउसे । णियंठे णं भंते ! किं सवेदए पुच्छा?। गोयमा ! णो सवेदए होज्जा, अवेदए होज्जा । जइ अवेदए होज्जा किं उवसंतवेदए होज्जा, खीणवेदए वा होज्जा पुच्छा ?। गोयमा ! उवसंतवेदए वा होज्जा, खीणवेदए वा होज्जा । सिणाए णं भंते ! किं सवेयए होज्जा ?। जहा णियंठे तहा सिणाए वि, णवरं णो उवसंतवेदए होज्जा, खीणवेदए होज्जा ।

पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीलानामुपशमक्षपकश्रेण्योरभावात् । (नो इत्थीवेयए त्ति) स्त्रियाः पुलाकलब्धेरभावात् । (पुरिसनपुंसगवेयए त्ति) पुरुषः सन् यो नपुंसकवेदको वर्द्धितकत्वाऽऽदिभावात् । (वेदए वा होज्जा, खीणवेदए वा होज्ज त्ति) सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावत्कषायकुशीलो भवति, स च प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणेषु सवेदः,अनिवृत्तिबादरे तूपशान्तेषु क्षीणेषु वा वेदेष्ववेदः स्यात्, सूक्ष्मसम्पराये चेति । (नियंठे णमित्यादि) (उवसंतवेयए वा होज्जा, खीणवेयए वा होज्ज त्ति) श्रेणिद्वये निर्ग्रन्थत्वभावादिति । (सिणाए णमित्यादि) (णो उवसंतवेदए होज्जा, खीणवेदए होज्ज त्ति) क्षपकश्रेण्यामेव स्नातकत्वभावादिति ।

(८) रागद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं सरागे होज्जा, वीयरागे होज्जा ?। गोयमा ! सरागे होज्जा, णो वीयरागे होज्जा, एवं० जाव

कसायकुसीले । णियंठे णं भंते ! किं सरागे होज्जा पुच्छा ?। गोयमा ! णो सरागे होज्जा, वीयरागे होज्जा । जइ वीयरागे होज्जा किं उवसंतकसायवीयरागे होज्जा, खीणकसायवीयरागे होज्जा ?। गोयमा ! उवसंतकसायवीयरागे होज्जा, खीणकसायवीयरागे होज्जा । सिणाते एवं चेव, णवरं णो उवसंतकसायवीयरागे होज्जा, खीणकसायवीयरागे होज्जा । (पुलाए णं भंते ! किं सरागे त्ति) सरागः सकषायः ।

कल्पद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं ठियकप्पे होज्जा, अट्ठियकप्पे होज्जा ?। गोयमा ! ठियकप्पे वा होज्जा, अट्ठियकप्पे वा होज्जा । एवं जाव सिणाए । पुलाए णं भंते ! किं जिणकप्पे होज्जा, थेरकप्पे होज्जा, कप्पातीते होज्जा ? । गोयमा ! णो जिणकप्पे होज्जा, थेरकप्पे होज्जा, णो कप्पातीते होज्जा । बउसे णं भंते पुच्छा ?। गोयमा ! जिणकप्पे वा होज्जा, थेरकप्पे वा होज्जा, णो कप्पातीते होज्जा । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले णं पुच्छा ?। गोयमा ! जिणकप्पे वा होज्जा, थेरकप्पे वा होज्जा, कप्पातीते वा होज्जा । णियंठे णं पुच्छा ?। गोयमा ! णो जिणकप्पे होज्जा, णो थेरकप्पे होज्जा, कप्पातीते होज्जा । एवं सिणाए वि ॥ ४ ॥

(किं ठियकप्पे इत्यादि) आचेलक्याऽऽदिषु दशसु पदेषु प्रथमपश्चिमतीर्थकरसाधवः स्थिता एवाऽवश्यं तत्पालनादिति । तेषां स्थितकल्पः, तत्र वा पुलाको भवेत् । मध्यमतीर्थकरसाधवस्तु तेषु स्थिताश्चास्थिताश्च स्थितास्थिताश्चेत्यस्थितकल्पः, तेषां तत्र वा पुलाको भवेत् । एवं सर्वेऽपि । अथवा-कल्पो जिनकल्पः, स्थविरकल्पश्चेतद् द्विधेति । तमाश्रित्याऽऽह -(पुलाए णं भंते ! किं जिणकप्पे इत्यादि)(कप्पातीते त्ति) जिनकल्पस्थविरकल्पाव्यामन्यत्र । (कसायकुसीले णमित्यादि) (कप्पातीते वा होज्ज त्ति) कल्पातीते वा कषायकुशीलो भवेत्, कल्पातीतस्य छद्मस्थतीर्थकरस्य सकषायत्वादिति । (नियंठे णमित्यादि) (कप्पातीते होज्ज त्ति) निर्ग्रन्थः कल्पातीत एव भवेत्, यतस्तस्य जिनकल्पस्थविरकल्पधर्मा न सन्तीति ।

(६) चरित्रद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं सामाइयसंजमे होज्जा, छेओवट्ठावणियसंजमे होज्जा, परिहारविसुद्धियसंजमे होज्जा, सुहुमसंपरायसंजमे होज्जा, अहक्खायसंजमे होज्जा ?। गोयमा ! सामाइयसंजमे होज्जा, छेओवट्ठावणियसंजमे होज्जा, णो परिहारविसुद्धियसंजमे होज्जा, णो सुहुमसंपरायसंजमे होज्जा, णो अहक्खायसंजमे होज्जा । एवं बउसे वि । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले णं पुच्छा ?। गोयमा ! सामाइयसंजमे वा होज्जा० जाव सुहुमसंपरायसंजमे वा होज्जा, णो अहक्खायसंजमे होज्जा । णियंठे णं पुच्छा ?। गोयमा ! णो सामाइयसंजमे वा होज्जा० जाव णो सुहुमसंपरायसंजमे वा होज्जा, अहक्खायसंजमे वा होज्जा । एवं सिणाते वि ॥ ५ ॥

चारित्रद्वारं व्यक्तमेव ।

(१०) प्रतिसेवनाद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं पडिसेवए होज्जा, अपडिसेवए होज्जा ? । गोयमा ! पडिसेवए होज्जा, णो अपडिसेवए होज्जा । जइ पडिसेवए होज्जा, किं मूलगुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए होज्जा ?। गोयमा ! मूलगुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए होज्जा, मूलगुणपडिसेवमाणे पंचण्हं आसवाणं अन्नयरं पडिसेवेज्जा, उत्तरगुणपडिसेवमाणे दसविहस्स पच्चक्खाणस्स अन्नयरं पडिसेवेज्जा । बउसे णं पुच्छा ?। गोयमा ! पडिसेवए होज्जा, णो अपडिसेवए होज्जा । जइ पडिसेवए होज्जा किं मूलगुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए होज्जा ?। गोयमा ! णो मूलगुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए होज्जा । उत्तरगुणपडिसेवमाणे दसविहस्स पच्चक्खाणस्स अन्नयरं पडिसेवेज्जा । पडिसेवणाकुसीले जहा पुलाए । कसायकुसीले पुच्छा ?। गोयमा ! णो पडिसेवए होज्जा । एवं णियंठे वि । एवं सिणाते वि ॥ ६ ॥

(पडिसेवए त्ति) संयमप्रतिकूलार्थस्य संज्वलनकषायोदयात्सेवकः प्रतिसेवकः, संयमविराधक इत्यर्थः । (मूलगुणपडिसेवए त्ति) मूलगुणाः प्राणातिपातविरमणाऽऽदयः, तेषां प्रतिकूल्येन सेवकः मूलगुणप्रतिसेवकः । एवमुत्तरगुणप्रतिसेवकोऽपि, नवरमुत्तरगुणाः दशविधप्रत्याख्यानरूपाः । (दसविहस्स पच्चक्खाणस्स त्ति) तत्र दशविधं प्रत्याख्यानम्, 'अणागतमइक्कंत कोडीसहियं' इत्यादिप्राग्व्याख्यातस्वरूपम् । अथवा- " नवकारपोरिसीए " इत्याद्यावश्यकप्रसिद्धम् । (अन्नयरं पडिसेवेज्ज त्ति) एकतरं प्रत्याख्यानं विराधयेदुपलक्षणत्वाच्चास्य पिण्डविशुद्ध्यादिविराधकत्वमपि सम्भाव्यत इति ।

(११) ज्ञानद्वारे—

पुलाए णं भंते ! कइसु णाणेसु होज्जा ?। गोयमा ! दोसु वा तिसु वा होज्जा, दोसु होज्जमाणे दोसु आभिणिबोहियणाणसुयणाणेसु होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु आभिणिबोहियणाणसुयणाणओहिणाणेसु होज्जा । एवं बउसे वि । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले णं पुच्छा ?। गोयमा ! दोसु वा तिसु वा चउसु वा होज्जा । दोसु होज्जमाणे दोसु आभिणिबोहियणाणसुयणाणेसु होज्जा । तिसु होज्जमाणे तिसु आभिणिबोहियणाणसुयणाणओहिणाणेसु होज्जा, अहवा तिसु आभिणिबोहियणाणसुयणाणमणपज्जवणाणेसु होज्जा, चउसु होज्जमाणे चउसु आभिणिबोहियणाणसुयणाणओहिणाणमणपज्जवणाणेसु होज्जा । एवं णियं-

ठे वि । सिणाते णं पुच्छा ?। गोयमा ! एगम्मि केवलणाणेसु होज्जा । पुलाए णं भंते ! केवइयं सुयं अहिज्जेज्जा ?। गोयमा ! जहएणेणं णवस्स पुव्वस्स ततियं आयारवत्थुं, उक्कोसेणं णवपुव्वाइं अहिज्जेज्जा । बउसे णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अट्ठ पवयणमायाओ, उक्कोसेणं दस पुव्वाइं अहिज्जेज्जा । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अट्ठ पवयणमायाओ, उक्कोसेणं चउद्दस पुव्वाइं अहिज्जेज्जा । एवं णियंठे वि । सिणाते णं पुच्छा ?। गोयमा ! सुयवतिरित्ते होज्जा ॥ ९ ॥

आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानप्रस्तावाद् ज्ञानविशेषभूतं श्रुतं विशेषेण चिन्तयन्नाह-(पुलाए णं भंते ! केवइयं सुयमित्यादि) (जहएणेणं अट्ठ पवयणमायाओ त्ति) अष्टप्रवचनमातृपालनरूपत्वाच्चारित्रस्य, तद्वतोऽष्टप्रवचनमातृपरिज्ञानेनाऽवश्यं भाव्यं, ज्ञानपूर्वकत्वाच्चारित्रस्य, तत्परिज्ञानं च श्रुतादतोऽष्टप्रवचनमातृप्रतिपादनपरं श्रुतं बकुशस्य जघन्यतोऽपि भवतीति । तच्च " अट्ठएहं पवयणमाईणं " इत्यस्य यद्विवरणसूत्रं तत्सम्भाव्यते । यत्पुनरुत्तराध्ययनेषु प्रवचनमातृप्रतिपादननामकमध्ययनं, तद् गुरुत्वाद्विशिष्टतरश्रुतत्वाच्च न जघन्यतः सम्भवतीति बाहुल्याऽऽश्रयं चेदं श्रुतप्रमाणं, तेन न माषतुषाऽऽदिना व्यभिचार इति ।

(१२) तीर्थद्वारे—

पुलाए णं भंते ! किं तित्थे होज्जा, अतित्थे होज्जा ?। गोयमा ! तित्थे होज्जा, णो अतित्थे होज्जा । एवं बउसे वि । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले पुच्छा ?। गोयमा ! तित्थे वा होज्जा, अतित्थे वा होज्जा । जइ तित्थे होज्जा किं तित्थयरे होज्जा, पत्तेयबुद्धे होज्जा ?। गोयमा ! तित्थयरे वा होज्जा, पत्तेयबुद्धे वा होज्जा । एवं णियंठे वि । एवं सिणाते ॥ ८ ॥

(कसायकुसीलेत्यादि) कषायकुशीलश्छद्मस्थावस्थायां तीर्थकरोऽपि स्यादतस्तदपेक्षया तीर्थव्यवच्छेदे च तदन्योऽप्यसौ स्यादिति, तदन्यापेक्षया च "अतित्थे वा होज्ज त्ति" इत्युच्यते । अत एवाऽऽह-" जइ तित्थे होज्जा, किं तित्थगरे होज्जा " इत्यादि ।

(१३) लिङ्गद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं सलिंगे होज्जा, अएणलिंगे होज्जा, गिहिलिंगे होज्जा ?। गोयमा ! दव्वलिंगं पडुच्च सलिंगे वा होज्जा, अएणलिंगे वा होज्जा । भावलिंगं पडुच्च णियमं सलिंगे होज्जा, एवं० जाव सिणाए ॥ ९ ॥

लिङ्गं द्विधा, द्रव्यभावभेदात् । तत्र भावलिङ्गं ज्ञानाऽऽदि, एतच्च स्वलिङ्गमेव, ज्ञानाऽऽदेर्भावस्याऽर्हतामेव भावात् । द्रव्यलिङ्गं तु द्वेधा, स्वलिङ्गपरलिङ्गभेदात् । तत्र स्वलिङ्गं रजोहरणाऽऽदि । परलिङ्गं च द्विधा-कुतीर्थिकलिङ्गं, गृहस्थलिङ्गं चेत्यत आह-(पुलाए णं भंते ! किं सलिंगे इत्यादि) त्रिविधलिङ्गेऽपि भवेद् द्रव्यलिङ्गानपेक्षत्वाच्चरणपरिणामस्येति ।

(१४) शरीरद्वारे-

पुलाए णं भंते ! कइसु सरीरेसु होज्जा ?। गोयमा ! तिसु ओरालियतेयाकम्मएसु होज्जा । बउसे णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! तिसु वा चउसु वा होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु ओरालियतेयाकम्मएसु होज्जा । चउसु होज्जमाणे चउसु ओरालियवेउव्वियतेयाकम्मएसु होज्जा । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले पुच्छा ?। गोयमा ! तिसु वा चउसु वा पंचसु वा होज्जा । तिसु होज्जमाणे तिसु ओरालियतेयाकम्मएसु होज्जा, चउसु होज्जमाणे चउसु ओरालियवेउव्वियतेयाकम्मएसु होज्जा । पंचसु होज्जमाणे पंचसु ओरालियवेउव्वियआहारगतेयाकम्मएसु होज्जा । णियंठो, सिणाओ य जहा पुलाओ ॥ १० ॥

शरीरद्वारं व्यक्तम् ।

(१५) क्षेत्रद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं कम्मभूमीसु होज्जा ?। गोयमा ! जम्मणसंतिभावं पडुच्च कम्मभूमीए होज्जा, णो अकम्मभूमीए होज्जा ?। बउसे णं पुच्छा ?। गोयमा ! जम्मणसंतिभावं पडुच्च कम्मभूमीए होज्जा, णो अकम्मभूमीए होज्जा । साहरणं पडुच्च कम्मभूमीए होज्जा, अकम्मभूमीए वा होज्जा । एवं० जाव सिणाए ॥ ११ ॥

(पुलाए णं भंते ! किं कम्मभूमीए इत्यादि)(जम्मणसंतिभावं पडुच्च त्ति) जन्म उत्पादः, सद्भावश्च विवक्षितक्षेत्रादन्यत्र, तत्र वा जातस्य, तत्र चरणभावे नास्तित्वम्, एतयोश्च समाहारद्वन्द्वोऽतस्तत्प्रतीत्य पुलाकः कर्मभूमौ भवेत्, तत्र जायते, विहरति च तत्रैवेत्यर्थः । अकर्मभूमौ पुनरसौ न जायते, तज्जातस्य चारित्राभावात् । न च तत्र वर्त्तते, पुलाकलब्धौ वर्त्तमानस्य देवाऽऽदिभिः संहर्तुमशक्यत्वात् । बकुशसूत्रे-(नो अकम्मभूमीए होज्ज त्ति) अकर्मभूमौ बकुशो न जन्मतो भवति, स्वकृतविहारतश्च, परकृतविहारतस्तु कर्मभूम्यामकर्मभूम्यां च सम्भवतीत्येतदेवाऽऽह-(साहरणं पडुच्चेत्यादि) इह च संहरणं क्षेत्रान्तरात्क्षेत्रान्तरे देवाऽऽदिभिर्नयनम् ।

(१६) कालद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं ओसप्पिणीकाले होज्जा, उस्सप्पिणीकाले होज्जा, णो ओसप्पिणी णो उस्सप्पिणीकाले होज्जा ?। गोयमा ! ओसप्पिणीकाले वा होज्जा, उस्सप्पिणीकाले वा होज्जा, णो ओसप्पिणी णो उस्सप्पिणीकाले वा होज्जा । जइ ओसप्पिणीकाले होज्जा किं सुसमसुसमाकाले होज्जा १, सुसमाकाले होज्जा २, सुसमदुस्समाकाले होज्जा ३, दुस्समसुसमाकाले होज्जा ४, दुस्समाकाले होज्जा ५, दुस्समदुस्समाकाले होज्जा ६ ?। गोयमा ! जम्मणं पडुच्च णो सुसमसुसमाकाले होज्जा १, णो

सुसमाकाले होज्जा २, सुसमदुस्समाकाले वा होज्जा ३, दुस्समसुसमाकाले वा होज्जा ४, णो दुस्समाकाले होज्जा ५, णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा ६ । संतिभावं पडुच्च णो सुसमसुसमाए होज्जा १, णो सुसमाए होज्जा २, सुसमदुस्समाए होज्जा ३, दुस्समसुसमाए होज्जा ४, दुस्समाए होज्जा ५, णो दुस्समदुस्समाए होज्जा ६ । जदि उस्सप्पिणीकाले होज्जा किं दुस्समदुस्समाकाले होज्जा १, दुस्समाकाले होज्जा २, दुस्समसुसमाकाले होज्जा ३, सुसमदुस्समाकाले होज्जा ४, सुसमाकाले होज्जा ५, सुसमसुसमाकाले होज्जा ६ ? । गोयमा ! जम्मणं पडुच्च णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा १, दुस्समाकाले होज्जा २, दुस्समसुसमाकाले वा होज्जा ३, सुसमदुस्समाकाले वा होज्जा ४, णो सुसमाकाले वा होज्जा ५, णो सुसमसुसमाकाले वा होज्जा ६ । संतिभावं पडुच्च णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा १, णो दुस्समाकाले होज्जा २, दुस्समसुसमाकाले होज्जा ३, सुसमदुस्समाकाले वा होज्जा ४, णो सुसमाकाले होज्जा ५, णो सुसमसुसमाकाले होज्जा ६ । जइ णो ओसप्पिणी णो उस्सप्पिणीकाले होज्जा किं सुसमसुसमापलिभागे होज्जा १, सुसमापलिभागे होज्जा २, सुसमदुस्समापलिभागे होज्जा ३, दुस्समसुसमापलिभागे होज्जा ४ ? । गोयमा ! जम्मणं संतिभावं पडुच्च णो सुसमसुसमापलिभागे होज्जा १, णो सुसमापलिभागे होज्जा २, णो सुसमदुस्समापलिभागे होज्जा ३, दुस्समसुसमापलिभागे होज्जा ४ । बउसे णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! ओसप्पिणीकाले वा होज्जा, उस्सप्पिणीकाले वा होज्जा, णो ओसप्पिणीकाले वा होज्जा, णो उस्सप्पिणीकाले वा होज्जा । जइ ओसप्पिणीकाले होज्जा किं सुसमसुसमाकाले वा होज्जा पुच्छा ? । गोयमा ! जम्मणं संतिभावं पडुच्च णो सुसमसुसमाकाले होज्जा १, णो सुसमाकाले होज्जा २, सुसमदुस्समाकाले होज्जा ३, दुस्समसुसमाकाले वा होज्जा ४, दुस्समाकाले वा होज्जा ५, णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा ६ । साहरणं पडुच्च अण्णयरे समाकाले जदि ओसप्पिणीकाले होज्जा किं दुस्समदुस्समाकाले होज्जा ? । गोयमा ! जम्मणं पडुच्च णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा, जहेव पुलाए । संतिभावं पडुच्च णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा । एवं संतिभावेण वि जहा पुलाए० जाव णो सुसमसुसमाकाले होज्जा । साहरणं पडुच्च अण्णयरे समाकाले होज्जा, जइ णो ओसप्पिणी णो उस्सप्पिणीकाले होज्जा पुच्छा ? । गोयमा ! जम्मणं संतिभावं पडुच्च णो सुसमसुसमापलिभागे होज्जा । जहेव पुलाए० जाव दुस्समसुसमापलिभागे होज्जा । साहरणं पडुच्च अण्णयरे पलिभागे होज्जा, जइ बउसे, एवं पडिसेवणाकुसीले वि । एवं कसायकुसीले वि । णियंठो, सिणाओ य जहा पुलाए; णवरं एएसिं अब्भहियं साहरणं भाणियव्वं; सेसं तं चेव ॥ १२ ॥

त्रिविधः कालोऽवसर्पिण्यादिः । तत्राऽऽद्यद्वयं भरतैरावतयोः, तृतीयस्तु महाविदेहहैमवताऽऽदिषु । (सुसमदुस्समाकाले वा होज्ज त्ति) आदिदेवकाले इत्यर्थः । (दुस्समसुसमाकाले वेति) चतुर्थे अरके इत्यर्थः । उक्तात्समाद्वयादन्यत्राऽसौ जायते । (संतिभावं पडुच्चेत्यादि) अवसर्पिण्यां सद्भावं प्रतीत्य तृतीयचतुर्थपञ्चमाऽऽरकेषु भवेत्, तत्र चतुर्थारके जातः सम्पञ्चमेऽपि वर्त्तते, तृतीयचतुर्थारकसद्भावस्तु तज्जन्मपूर्वक इति । (जइ उस्सप्पिणीत्यादि) उत्सर्पिण्यां द्वितीयतृतीयचतुर्थेष्वरकेषु जन्मतो भवति, तत्र द्वितीयस्याऽन्ते जायते, तृतीये तु चरणं प्रतिपद्यते, तृतीयचतुर्थयोस्तु जायते, चरणं च प्रतिपद्यत इति । सद्भावं पुनः प्रतीत्य तृतीयचतुर्थयोरेव तस्य सत्ता; तयोरेव चरणप्रतिपत्तेरिति । (जइ णो ओसप्पिणीत्यादि) (सुसमसुसमापलिभागे त्ति) सुषमसुषमायाः प्रतिभागः सादृश्यं यत्र काले स तथा । स च देवकुरूत्तरकुरुषु । एवं सुषमाप्रतिभागो हरिवर्षरम्यकवर्षेषु, सुषमदुःषमाप्रतिभागो हैमवतैरण्यवतेषु, दुःषमसुषमाप्रतिभागो महाविदेहेषु । (णियंठो, सिणाओ य जहा पुलाए त्ति) एतौ पुलाकवद्वक्तव्यौ । विशेषं पुनराह- (नवरं एएसिं अब्भहियं साहरणं भाणियव्वं त्ति) पुलाकस्य हि पूर्वोक्तयुक्त्या संहरणं नास्त्येतयोश्च तत्सम्भवतीति कृत्वा तद्वाच्यं, संहरणद्वारेण च यस्तयोः सर्वकालेषु सम्भवोऽसौ पूर्वसंहृतयोर्निर्ग्रन्थस्नातकत्वप्राप्तौ द्रष्टव्यः, यतो नापगतवेदानां संहरणमस्तीति । यदाह-" समणीमवगयवेयं, परिहारपुलायमप्पमत्तं च । चोद्दसपुव्विं आहा-रगं च न य कोइ संहरइ ॥ १ ॥ " त्ति ।

(१७) गतिद्वारे सौधर्माऽऽदिका देवगतिरिन्द्राऽऽदयस्तत्पदास्तदायुश्च पुलाकाऽऽदीनां निरूप्यते-

पुलाए णं भंते ! कालगए समाणे कं गतिं गच्छइ ? । गोयमा ! देवगतिं गच्छइ । देवगतिं गच्छमाणे किं भवणवासीसु उववज्जेज्जा, वाणमंतरेसु उववज्जेज्जा, जोइसियवेमाणिएसु उववज्जेज्जा ? । गोयमा ! णो भवणवासीणो-वाणमंतरणोजोइसियवेमाणिएसु उववज्जेज्जा । वेमाणिएसु उववज्जमाणे जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं सहस्सारे कप्पे उववज्जेज्जा । बउसे णं एवं चेव, णवरं उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे । पडिसेवणाकुसीले जहा बउसे । कसायकुसीले जहा पुलाए, णवरं उक्कोसेणं अणुत्तरविमाणेसु य । णियंठे णं भंते ! एवं चेव, जाव० वेमाणिएसु उववज्जमाणे अजहण्णमणुक्कोसं अणुत्तरविमाणेसु उववज्जेज्जा । सिणाए णं भंते ! कालगए समाणे कं गतिं गच्छति ? । गोयमा ! सिद्धगतिं गच्छति । पुलाए णं भंते !

देवेसु उववज्जमाणे किं इंदत्ताए उववज्जेज्जा, तायत्तीसगत्ताए उववज्जेज्जा, लोगपालत्ताए उववज्जेज्जा, अहमिंदत्ताए उववज्जेज्जा ?। गोयमा ! अविराहणं पडुच्च इंदत्ताए उववज्जेज्जा, सामाणियत्ताए उववज्जेज्जा, तायत्तीसगत्ताए उववज्जेज्जा, लोगपालत्ताए उववज्जेज्जा, णो अहमिंदत्ताए उववज्जेज्जा । विराहणं पडुच्च अम्मयरेसु उववज्जेज्जा । एवं बउसे वि । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले पुच्छा ?। गोयमा! अविराहणं पडुच्च इंदत्ताए वा उववज्जेज्जा० जाव अहमिंदत्ताए उववज्जेज्जा । विराहणं पडुच्च अम्मयरेसु उववज्जेज्जा । णियंठे पुच्छा ?। गोयमा! अविराहणं पडुच्च णो इंदत्ताए उववज्जेज्जा० जाव णो लोगपालत्ताए उववज्जेज्जा, अहमिंदत्ताए उववज्जेज्जा । विराहणं पडुच्च अम्मयरेसु उववज्जेज्जा । पुलागस्स णं भंते ! देवलोगेसु उववज्जमाणस्स केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमपुहत्तं, उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमाइं । बउसस्स णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमपुहत्तं , उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं । एवं पडिसेवणाकुसीलस्स वि । कसायकुसीलस्स पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमपुहत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं । णियंठस्स पुच्छा ? । गोयमा ! अजहण्णमणुक्कोसं तेत्तीसं सागरोवमाइं ॥ १३ ॥

तत्र च-(अविराहणं पडुच्च त्ति) अविराधना ज्ञानाऽऽदीनाम् । अथवा लब्धेरनुपजीवनाद् नस्तां प्रतीत्य अविराधकाः सन्त इत्यर्थः । (अम्मयरेसु उववज्जेज्ज त्ति) भवनपत्यादीनामन्यतरेषु देवेषूत्पद्यन्ते, विराधितसंयमानां भवनपत्याद्युत्पादस्योक्तत्वात् । यच्च प्रागुक्तम्-"वेमाणिएसु उववज्जेज्ज त्ति" तत्संयमाऽविराधकत्वमाश्रित्यावसेयम् ।

(१८) संयमद्वारे संयमस्थानानि,तेषां चाल्पत्वाऽऽदि चिन्त्यते-

पुलागस्स णं भंते! केवइया संजमट्ठाणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! असंखेज्जा संजमट्ठाणा पण्णत्ता । एवं० जाव कसायकुसीलस्स । णियंठस्स णं भंते ! केवइया संजमट्ठाणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! एगे अजहण्णमणुक्कोसए संजमट्ठाणे पण्णत्ते । एवं सिणायस्स वि । एएसि णं भंते ! पुलागबउसपडिसेवणाकसायकुसीले णं णियंठसिणायाणं संजमट्ठाणाणं कयरे कयरे० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे णियंठस्स सिणायस्स एगे अजहण्णमणुक्कोसए संजमट्ठाणे । पुलागस्स संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा । बउसस्स संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा । पडिसेवणाकुसीलस्स संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा । कसायकुसीलस्स संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा ॥ १४ ॥

तत्र-(पुलागस्सेत्यादि) संयमश्चारित्रं, तस्य स्थानानि शुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षकृता भेदाः संयमस्थानानि,तानि च प्रत्येकं सर्वाऽऽकाशप्रदेशाग्रगुणितसर्वाऽऽकाशप्रदेशपरिमाणपर्यवोपेतानि भवन्ति, तानि च पुलाकस्यासङ्ख्येयानि भवन्ति, विचित्रत्वाच्चारित्रमोहनीयक्षयोपशमस्य । एवं यावत्कषायकुशीलस्य । (एगे अजहण्णमणुक्कोसए संजमट्ठाणे त्ति) निर्ग्रन्थस्यैकं संयमस्थानं भवति,कषायाणामुपशमस्य क्षयस्य चाविचित्रत्वेन शुद्धेरेकविधत्वादेकत्वादेव च तदजघन्योत्कृष्टं, बहुष्वेव जघन्योत्कृष्टभावसद्भावादिति । अथ पुलाकाऽऽदीनां परस्परतः संयमस्थानाल्पबहुत्वमाह-(एएसि णमित्यादि) सर्वेभ्यः स्तोकं सर्वस्तोकं निर्ग्रन्थस्य स्नातकस्य च संयमस्थानं, कुतो यस्मादेकं किंभूतं तदित्याह-(अजहण्णेत्यादि) एतच्चैवं शुद्धेरेकविधत्वात्, पुलाकाऽऽदीनां तूक्तक्रमेणासंख्येयगुणानि तानि क्षयोपशमवैचित्र्यादिति ।

(१६) अथ निकर्षद्वारम्-तत्र निकर्षः सन्निकर्षः पुलाकाऽऽदीनां परस्परेण संयोजनं, तस्य च प्रस्तावनार्थमाह-

पुलागस्स णं भंते ! केवइया चरित्तपज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता चरित्तपज्जवा पण्णत्ता । एवं० जाव सिणायस्स । पुलाए णं भंते ! पुलागस्स सट्ठाणसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे, तुल्ले, अब्भहिए ?। गोयमा ! सिय हीणे, सिय तुल्ले, सिय अब्भहिए । जइ हीणे अणंतभागहीणे वा, असंखेज्जभागहीणे वा, संखेज्जभागहीणे वा, संखेज्जगुणहीणे वा, असंखेज्जगुणहीणे वा, अणंतगुणहीणे वा । अह अब्भहिए अणंतभागमब्भहिए वा, असंखेज्जभागमब्भहिए वा, संखेज्जभागमब्भहिए वा, संखेज्जगुणमब्भहिए वा, असंखेज्जगुणमब्भहिए वा, अणंतगुणमब्भहिए वा । पुलाए णं भंते ! बउसस्स परट्ठाणसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे, तुल्ले, अब्भहिए ? । गोयमा ! हीणे, णो तुल्ले, णो अब्भहिए अणंतगुणे । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीलेणं समं छट्ठाणवडिए जहेव सट्ठाणे । णियंठस्स जहा बउसस्स । एवं सिणायस्स वि । बउसे णं भंते ! पुलागस्स परट्ठाणसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे, तुल्ले, अब्भहिए ?। गोयमा ! णो हीणे, णो तुल्ले, अब्भहिए, अणंतगुणमब्भहिए । बउसे णं भंते ! बउसस्स सट्ठाणसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं पुच्छा ?। गोयमा ! सिय हीणे, सिय तुल्ले, सिय अब्भहिए। जइ हीणे छट्ठाणवडिए । बउसे णं भंते ! पडिसेवणाकुसीलस्स परट्ठाणसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे छट्ठाणवडिए ?। एवं कसायकुसीलस्स वि ?। बउसे णं भंते ! णियंठस्स परट्ठाणसण्णिगासे णं चरित्तपुच्छा ? । गोयमा ! हीणे, णो तुल्ले, णो अब्भहिए अणंतगुणहीणे । एवं सिणायस्स वि । पडिसेवणाकुसीलस्स एवं चेव । बउसस्स वत्तव्वया जाणियव्वा । कसायकुसीलस्स सण्णिगासेणं एस चेव बउसवत्तव्वया, णवरं पुलाएण वि समं छट्ठाणवडिए । णियंठे णं भंते ! पुलागस्स परट्ठा-

हाणसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं पुच्छा ? । गोयमा ! णो हीणे,णो तुल्ले, अब्भहिए, अणंतगुणमब्भहिए। एवं० जाव कसायकुसीलस्स । णियंठे णं भंते ! णियंठस्स सण्णिगासेणं पुच्छा ?। गोयमा! णो हीणे,तुल्ले, णो अब्भहिए । एवं सिणायस्स वि । सिणाए णं भंते ! पुलागस्स परट्ठाणसण्णिगासेणं, एवं जहा णियंठस्स वत्तव्वया, तहा सिणायस्स वि भाणियव्वा० जाव सिणाए णं भंते! सिणायस्स सट्ठाणसण्णिगासेणं पुच्छा ?। गोयमा ! णो हीणे, तुल्ले, णो अब्भहिए ॥

(पुलागस्सेत्यादि) (चरित्तपज्जव त्ति) चरित्रस्य सर्वविरतिरूपपरिणामस्य,पर्यवा भेदाश्चारित्रपर्यवाः,ते च बुद्धिकृता अविभागपलिच्छेदाः,विषयकृता वा। (सट्ठाणसण्णिगासेणं ति) स्वमात्मीयं सजातीयं स्थानं पर्यवाणामाश्रयः स्वस्थानं पुलाकाऽऽदेः पुलाकाऽऽदिरेव, तस्य सन्निकर्षः संयोजनं स्वस्थानसन्निकर्षः, तेन। (किं हीणे त्ति) विशुद्धसंयमस्थानसम्बन्धित्वेन विशुद्धतरपर्यवापेक्षया अविशुद्धतरसंयमस्थानसंबन्धित्वेनाविशुद्धतराः पर्यवा हीनाः,तद्योगात्साधुरपि हीनः। (तुल्ले त्ति) तुल्यशुद्धिकपर्यवयोगात्तुल्यः । (अब्भहिए त्ति) विशुद्धतरपर्यवयोगादभ्यधिकः। (सिय हीणे त्ति) अशुद्धसंयमस्थानवर्त्तित्वात्। (सिय तुल्ले त्ति) एकसंयमस्थानवर्तित्वात्। (सिय अब्भहिए त्ति) विशुद्धतरसंयमस्थानवर्त्तित्वात् । (अणंतभागहीणे त्ति) किलासद्भावस्थापनया पुलाकस्योत्कृष्टसंयमस्थानपर्यवाग्रं दश सहस्राणि१००००।तस्य सर्वजीवानन्तकेन शतपरिमाणतया कल्पितेन भागे हृते लब्धं शतम् १००। द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं नव सहस्राणि नवशताधिकानि ९९००। पूर्वभागलब्धं शतं, तत्र प्रक्षिप्तं जातानि दश सहस्राणि, ततोऽसौ सर्वजीवानन्तकभागहारलब्धेन शतेन हीन इत्यनन्तभागहीनः। (असंखेज्जभागहीणे व त्ति) पूर्वोक्तकल्पितपर्यायराशेर्दशसहस्रस्य (१००००) लोकाऽऽकाशप्रदेशपरिमाणेनासङ्ख्येयकेन कल्पनया पञ्चाशत्प्रमाणेन भागे हृते लब्धा द्विशती; द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं नव सहस्राण्यष्टौ च शतानि ९८००। पूर्वभागलब्धा च द्विशती, तत्र प्रक्षिप्ता जातानि दश सहस्राणि, ततोऽसौ लोकाऽऽकाशप्रदेशपरिमाणाऽसंख्येयकभागहारलब्धेन शतद्वयेन हीन इत्यसङ्ख्येयभागहीनः। (संखेज्जभागहीणे व त्ति) पूर्वोक्तकल्पितपर्यायराशेर्दशसहस्रस्य (१००००) उत्कृष्टसङ्ख्येयकेन कल्पनया दशकपरिमाणेन भागे हृते लब्धं सहस्रम् । द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं नव सहस्राणि ९००० । पूर्वभागलब्धं च सहस्रं तत्र प्रक्षिप्तं, जातानि दश सहस्राणि,ततोऽसावुत्कृष्टसङ्ख्येयकभागहारलब्धेन सहस्रेण हीन इति सङ्ख्येयभागहीनः । (संखेज्जगुणहीणे व त्ति) किलैकस्य पुलाकस्य चरणपर्यवाग्रं कल्पनया सहस्रदशकं, द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं च सहस्रं, तनश्चोत्कृष्टसङ्ख्येयकेन कल्पनया दशकपरिमाणेन गुणकारेण हीनोऽनभ्यस्त इति संख्येयगुणहीनः । (असंखेज्जगुणहीणे व त्ति) किलैकस्य पुलाकस्य चरणपर्यवाग्रं कल्पनया सहस्रदशकं, द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं च द्विशती, ततश्च लोकाऽऽकाशप्रदेशपरिमाणेनासंख्येयकेन कल्पनया पञ्चाशत्प्रमाणेन गुणकारेण गुणितो द्विशतिको राशिर्जायते दशसहस्राणि, स च तेन लोकाऽऽकाशपरिमाणासंख्येयकेन कल्पनया पञ्चाशत्प्रमाणेन गुणकारेण हीन इति असंख्येयगुणहीनः।(अणंतगुणहीणे व त्ति) किलैकस्य पुलाकस्य चरणपर्यवाग्रं कल्पनया सहस्रदशकं, द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं च शतम् । ततश्च सर्वजीवानन्तकेन कल्पनया शतपरिमाणेन गुणकारेण गुणितः शतिको राशिर्जायते दशसहस्राणि, स च तेन सर्वजीवानन्तकेन कल्पनया शतपरिमाणेन गुणकारेण हीन इत्यनन्तगुणहीनः। एवमभ्यधिकषट्स्थानकशब्दार्थोऽप्येभिरेव भागापहारगुणकारैर्व्याख्येयः। तथाहि-एकस्य पुलाकस्य कल्पनया दश सहस्राणि चरणपर्यवमानं, तदन्यस्य नवशताधिकानि नव सहस्राणि, ततो द्वितीयापेक्षया प्रथमोऽनन्तभागाभ्यधिकः । तथा यस्य नवसहस्राण्यष्टौ च शतानि पर्यवाग्रं, तस्मात्प्रथमोऽसंख्येयभागाधिकः, तथा यस्य नव सहस्राणि चरणपर्यवाग्रं,तस्मात्प्रथमः संख्येयभागाधिकः,तथा यस्य चरणपर्यवाग्रं सहस्रमानं, तदपेक्षया प्रथमः संख्येयगुणाधिकः, तथा यस्य चरणपर्यवाग्रं द्विशती, तदपेक्षयाऽऽद्योऽसंख्येयगुणाधिकः, तथा यस्य चरणपर्यवाग्रं शतमानं, तदपेक्षयाऽऽद्योऽनन्तगुणाधिक इति । (पुलाए णं भंते ! बउसस्सेत्यादि) (परट्ठाणसण्णिगासेणं ति) विजातीययोगमाश्रित्येत्यर्थः । विजातीयश्च पुलाकस्य बकुशाऽऽदिः, तत्र पुलाको बकुशाद् हीनः, तथाविधविशुद्ध्यभावात् । (कसायकुसीलेणं समं छट्ठाणवडिए जहेव सट्ठाणे त्ति) पुलाकः पुलाकापेक्षया यथाऽभिहितः, तथा कषायकुशीलापेक्षयाऽपि वाच्य इत्यर्थः । तत्र पुलाकः कषायकुशीलाद्धीनो वा स्यादविशुद्धसंयमस्थानवृत्तित्वात्, तुल्यो वा स्यात्समानसंयमस्थानवृत्तित्वात्, अधिको वा स्याच्छुद्धतरसंयमस्थानवृत्तित्वात्। यतः पुलाकस्य,कषायकुशीलस्य च सर्वजघन्यानि संयमस्थानान्यधः,ततस्तौ युगपदसंख्येयानि तानि गच्छतः,तुल्याध्यवसानत्वात्,ततः पुलाको व्यवच्छिद्यते,हीनपरिणामत्वात्, व्यवच्छिन्ने च पुलाके कषायकुशील एकक एवासंख्येयानि संयमस्थानानि गच्छति, शुभतरपरिणामत्वात्, ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशा युगपदसंख्येयानि संयमस्थानानि गच्छन्ति, ततश्च बकुशो व्यवच्छिद्यते, प्रतिसेवनाकुशीलकषायकुशीलावसंख्येयानि संयमस्थानानि गच्छतः, ततश्च प्रतिसेवनाकुशीलो व्यवच्छिद्यते, कषायकुशीलस्त्वसंख्येयानि संयमस्थानानि गच्छति, ततः सोऽपि व्यवच्छिद्यते, ततो निर्ग्रन्थस्नातकावेकं संयमस्थानं प्राप्नुत इति। (णियंठस्स जहा बउसस्स त्ति) पुलाको निर्ग्रन्थादनन्तगुणहीन इत्यर्थः,चिन्तितः पुलाकोऽन्येभ्यः सहाथ बकुशश्चिन्त्यते-(बउसे णमित्यादि) बकुशः पुलाकादनन्तगुणाभ्यधिक एव,विशुद्धतरपरिणामत्वात्, बकुशात्तु हीनाऽऽदिर्विचित्रपरिणामत्वात्, प्रतिसेवनाकषायकुशीलाभ्यामपि हीनाऽऽदिरेव,निर्ग्रन्थस्नातकाभ्यां तु हीन एवेति। (बउसस्स वत्तव्वया भाणियव्व त्ति)प्रतिसेवनाकुशीलस्तथा वाच्यो, यथा बकुश इत्यर्थः । कषायकुशीलोऽपि बकुशवद्वाच्यः,केवलं पुलाकाद्बकुशोऽभ्यधिक एवोक्तः, सकषायस्तु षट्स्थानपतितो वाच्यो हीनाऽऽदिरित्यर्थः, तत्परिणामस्य पुलाकापेक्षया हीनसमाधिकस्वभावत्वादिति ।

(२०) अथ पर्यवाधिकारात्तेषामेव जघन्याऽऽदिभेदानां पुलाकाऽऽदिसंबन्धिनामल्पत्वाऽऽदि प्ररूपयन्नाह-

एएसि णं भंते ! पुलागस्स बउसपडिसेवणाकुसीलक-

सायकुसीलणियंठसिणायाणं जहण्णुक्कोसगाणं चरित्तपज्जवाणं कयरे कयरे० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! पुलागस्स कसायकुसीलस्स एएसि णं जहण्णगा चरित्तपज्जवा दोण्ह वि तुल्ला सव्वत्थोवा पुलागस्स उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा । बउसस्स, पडिसेवणाकुसीलस्स य । एएसि णं जहण्णगा चरित्तपज्जवा दोण्ह वि तुल्ला अणंतगुणा । बउसस्स उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा । पडिसेवणाकुसीलस्स उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा, कसायकुसीलस्स उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा; णियंठस्स, सिणायस्स य एएसि णं अजहण्णमणुक्कोसगा चरित्तपज्जवा दोण्ह वि तुल्ला अणंतगुणा ॥ १५ ॥

(२१) योगद्वारे—

पुलाए णं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ? । गोयमा ! सजोगी होज्जा, णो अजोगी होज्जा । जइ सजोगी होज्जा किं मणजोगी होज्जा, वइजोगी होज्जा, कायजोगी होज्जा ? । गोयमा ! मणजोगी वा होज्जा, वइजोगी वा होज्जा, कायजोगी वा होज्जा । एवं० जाव णियंठे । सिणाए णं पुच्छा ? । गोयमा ! सजोगी वा होज्जा, अजोगी वा होज्जा । जइ सजोगी होज्जा किं मणजोगी होज्जा ?; सेसं जहा पुलागस्स ॥ १६ ॥

इहायोगी शैलेशीकरणे ।

(२२) उपयोगद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा, अणागारोवउत्ते होज्जा ? । गोयमा ! सागारोवउत्ते होज्जा, अणागारोवउत्ते होज्जा । एवं जाव० सिणाए ॥ १७ ॥

टीका सुगमत्वान्न लिखिता ।

(२३) कषायद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं सकसायी होज्जा, अकसायी होज्जा ? । गोयमा ! सकसायी होज्जा, णो अकसायी होज्जा । जइ सकसायी होज्जा से णं भंते ! कइसु कसाएसु होज्जा ? । गोयमा ! चउसु कोहमाणमायालोभेसु होज्जा । एवं बउसे वि । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले णं पुच्छा ? । गोयमा ! सकसायी होज्जा, णो अकसायी होज्जा । जइ सकसायी होज्जा से णं भंते ! कइसु कसाएसु होज्जा ? । गोयमा ! चउसु वा तिसु वा दोसु वा एगम्मि वा होज्जा । चउसु होज्जमाणे चउसु संजलणकोहमाणमायालोभेसु होज्जा । तिसु होज्जमाणे तिसु संजलणमाणमायालोभेसु होज्जा । दोसु होज्जमाणे दोसु संजलणमायालोभेसु होज्जा । एगम्मि होज्जमाणे एगम्मि संजलणलोभेसु होज्जा । णियंठे णं पुच्छा ? । गोयमा ! णो सकसायी होज्जा, अकसायी होज्जा । जइ अकसायी होज्जा किं उवसंतकसायी होज्जा, खीणकसायी होज्जा ? । गोयमा ! उवसंतकसायी वा होज्जा, खीणकसायी वा होज्जा । सिणाए एवं चेव, णवरं णो उवसंतकसायी होज्जा, खीणकसायी होज्जा ॥ १८ ॥

(सकसायी होज्ज त्ति) पुलाकस्य कषायाणां क्षयक्षयोपशमस्य वा भावात् । (तिसु होज्जमाणे इत्यादि) उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा संज्वलने क्रोधे उपशान्ते क्षीणे वा, शेषेषु त्रिषु, एवं माने विगते द्वयोर्मायायां तु विगतायां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके एकत्र लोभे भवेदिति ।

(२४) लेश्याद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं सलेस्से होज्जा, अलेस्से होज्जा ? । गोयमा ! सलेस्से होज्जा, णो अलेस्से होज्जा । जइ सलेस्से होज्जा, से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? । गोयमा ! तिसु वि सुद्धलेस्सासु होज्जा । तं जहा-तेउलेस्साए, पम्हलेस्साए, सुक्कलेस्साए । एवं बउसस्स वि । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले पुच्छा ? । गोयमा ! सलेस्से होज्जा, णो अलेस्से होज्जा । जइ सलेस्से होज्जा से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? । गोयमा ! छल्लेस्सासु होज्जा । तं जहा-कण्हलेस्साए० जाव सुक्कलेस्साए । णियंठे णं पुच्छा ? । गोयमा ! सलेस्से होज्जा, णो अलेस्से होज्जा । जइ सलेस्से होज्जा से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? । गोयमा ! एगाए सुक्कलेस्साए होज्जा । सिणाए पुच्छा ? । गोयमा ! सलेस्से वा होज्जा, अलेस्से वा होज्जा । जइ सलेस्से होज्जा से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? । गोयमा ! एगाए परमसुक्कलेस्साए होज्जा ॥ १९ ॥

(तिसु वि सुद्धलेस्सासु त्ति) भावलेश्यापेक्षया प्रशस्तासु तिसृषु पुलाकाऽऽदयस्त्रयो भवन्ति । कषायकुशीलस्तु षट्स्वपि सकषायमेवाऽऽश्रित्य "पुव्वपडिवन्नओ पुण अन्नयरीए लेस्साए" इत्येतदुक्तमिति सम्भाव्यते । (एगाए परमसुक्कलेस्साए त्ति) शुक्लध्यानतृतीयभेदावसरे या लेश्या, सा परमशुक्ला, अन्यदा तु शुक्लैव, साऽपीतरजीवशुक्ललेश्याऽपेक्षया स्नातकस्य परमशुक्लेति ।

(२५) परिणामद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा, किं हीयमाणपरिणामे होज्जा, अवट्ठियपरिणामे होज्जा ? । गोयमा ! वड्ढमाणपरिणामे वा होज्जा, हीयमाणपरिणामे वा होज्जा, अवट्ठियपरिणामे वा होज्जा । एवं० जाव कसायकुसीले । णियंठे णं पुच्छा ? । गोयमा ! वड्ढमाणपरिणामे होज्जा, णो हीयमाणपरिणामे होज्जा, अवट्ठियपरिणामे होज्जा । एवं सिणाए वि ॥

(वड्ढमाणपरिणामेत्यादि) तत्र वर्द्धमानः शुद्धेरुत्कर्षं गच्छन्, हीयमानस्त्वपकर्षं गच्छन्, अवस्थितस्तु स्थिर इति । तत्र निर्ग्र-

स्थो हीयमानपरिणामो न भवति, तस्य परिणामहानौ कषायकुशीलव्यपदेशात्। स्नातकस्तु हानिकारणाभावान्न हीयमानपरिणामः स्यादिति।

(२६) परिणामाधिकारादेवेदमाह-

पुलाए णं भंते! केवइयं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा ?। गोयमा! जहन्नेणं एक्कं समयं,उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं। केवइयं कालं हीयमाणपरिणामे होज्जा ?। गोयमा! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं। केवइयं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा ?। गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं सत्त समया। एवं० जाव कसायकुसीले वि। णियंठे णं भंते! केवइयं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा ?। गोयमा! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं,उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं। केवइयं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा ?। गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं। सिणाए णं भंते! केवइयं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा ?। गोयमा! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतो मुहुत्तं। केवइयं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा ?। गोयमा! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं,उक्कोसेणं देसूणाई पुव्वकोडी ॥ २० ॥

(पुलाए णमित्यादि) तत्र पुलाको वर्द्धमानपरिणामकाले कषायविशेषेण बाधिते तस्मिन्नेककं काऽऽदिकं समयमनुभवतीत्यत उच्यते—जघन्येनैकं समयमिति। (उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं ति) एतत्स्वभावत्वाद्वर्द्धमानपरिणामस्येति। एवं बकुशप्रतिसेवनाकुशीलकषायकुशीलेष्वपि, नवरं बकुशाऽऽदीनां जघन्यत एकसमयता मरणादपीष्टा, न पुनः पुलाकस्य, पुलाकस्य पुलाकत्वे मरणाभावात्। स हि मरणकाले कषायकुशीलत्वाऽऽदिना परिणमति,यच्च प्राक् पुलाकस्य कालगमनं,तद् भूतभावापेक्षयेति। निर्ग्रन्थो जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्त्तं वर्द्धमानपरिणामः स्यात्, केवलज्ञानोत्पत्तौ परिणामान्तरभावात्, अवस्थितपरिणामः पुनः निर्ग्रन्थस्य जघन्यत एकं समयं मरणात्स्यादिति। (सिणाए णं भंते! इत्यादि) स्नातको जघन्येनराभ्यामन्तर्मुहूर्त्तं वर्द्धमानपरिणामः, शैलेश्यां तस्यान्तर्प्रमाणत्वात्। अवस्थितपरिणामकालेऽपि जघन्यतस्तस्यान्तर्मुहूर्त्तम्। कथम् ?। उच्यते-यः केवलज्ञानोत्पादानन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमवस्थितपरिणामो भूत्वा शैलेशीं प्रपद्यते तदपेक्षयेति। (उक्कोसेणं देसूणाई पुव्वकोडी ति) पूर्वकोट्यायुषः पुरुषस्य जन्मतो जघन्येन नवसु वर्षेष्वतिगतेषु केवलज्ञानमुत्पद्यते, ततोऽसौ नवूनां पूर्वकोटीमवस्थितपरिणामः शैलेशीं यावद्विहरति, शैलेश्यां च वर्द्धमानपरिणामः स्यादित्येवं देशोनामिति ॥

(२७) बन्धद्वारे-

पुलाए णं भंते! कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?। गोयमा! आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बंधइ। बउसे पुच्छा ?। गोयमा! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा सत्त बंधमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बंधइ, अट्ठबंधमाणे पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ। एवं पडिसेवणाकुसीले वि। कसायकुसीले णं पुच्छा ?। गोयमा! सत्तविहबंधए वा,अट्ठविहबंधए वा,छव्विहबंधए वा,सत्तबंधमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बंधइ,अट्ठ बंधमाणे पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ। छब्बंधमाणे आउयमोहणिज्जवज्जाओ छ कम्मपगडीओ बंधइ। णियंठे णं पुच्छा ?। गोयमा! एगं वेयणिज्जं कम्मं बंधइ। सिणाए णं पुच्छा ?। गोयमा! एगविहबंधए वा,अबंधए वा। एगबंधमाणे एगं वेयणिज्जं कम्मं बंधइ ॥ २१ ॥

(आउयवज्जाओ त्ति) पुलाकस्याऽऽयुर्बन्धो नास्ति,तद्बन्धाध्यवसायस्थानानां तस्याभावादिति। (बउसे इत्यादि) त्रिभागाऽऽद्यवशेषाऽऽयुषो हि जीवा आयुर्बध्नन्तीति। त्रिभागाऽऽदौ तत्र बध्नन्तीति कृत्वा बकुशाऽऽदयः सप्तानामष्टानां वा कर्मणां बन्धका भवन्तीति। (छब्बंधमाणे इत्यादि) कषायकुशीलो हि सूक्ष्मसंपरायत्वे आयुर्न बध्नाति, अप्रमत्तान्तत्वात् तद्बन्धस्य,मोहनीयं च बादरकषायोदयाभावान्न बध्नातीति शेषाः षडेवेति। (एगं वेयणिज्जं ति) निर्ग्रन्थो वेदनीयमेव बध्नाति, बन्धहेतुषु योगानामेव सद्भावात्। (अबंधए व त्ति) अयोगी बन्धहेतूनां सर्वेषामभावादबन्धक एवेति ॥

(२८) वेदनद्वारे—

पुलाए णं भंते! कइ कम्मपगडीओ वेदेइ ?। गोयमा! णियमं अट्ठ कम्मपगडीओ वेदेइ, एवं० जाव कसायकुसीले। णियंठे णं पुच्छा ?। गोयमा! मोहणिज्जवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ। सिणाए णं पुच्छा ?। गोयमा! वेयणिज्जआउयणामगुत्ताओ चत्तारि कम्मपगडीओ वेदेइ ॥ २२ ॥

(मोहणिज्जवज्जाओ त्ति) निर्ग्रन्थो हि मोहनीयं न वेदयति, तस्योपशान्तत्वात् क्षीणत्वाद् वा। स्नातकस्य तु घातिकर्मणां क्षीणत्वाद्वेदनीयाऽऽदीनामेव वेदनमत उच्यते-(वेयणिज्जेत्यादि)

(२९) उदीरणाद्वारे-

पुलाए णं भंते! कइ कम्मपगडीओ उदीरेइ ?। गोयमा! आउयवेयणिज्जवज्जाओ छ कम्मपगडीओ उदीरेइ। बउसे णं पुच्छा ?। गोयमा! सत्तविहउदीरए वा, अट्ठविहउदीरए वा, छव्विहउदीरए वा, सत्तविहउदीरेमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ उदीरेइ, अट्ठविहउदीरेमाणे पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मपगडीओ उदीरेइ, छव्विहउदीरेमाणे आउयवेयणिज्जवज्जाओ छ कम्मपगडीओ उदीरेइ। पडिसेवणाकुसीले एवं चेव। कसायकुसीले पुच्छा ?। गोयमा! सत्तविहउदीरए वा,अट्ठविहउदीरए वा, छव्विहउदीरए वा, पंचविहउदीरए वा, सत्तविहउदीरेमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ उदीरेइ, अट्ठउदीरेमाणे पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मपगडीओ उदीरेइ, छ उदीरेमाणे आउयवेयणिज्जवज्जाओ छ कम्मपगडीओ उदीरेइ। पंच उदीरेमाणे आउयवेयणिज्जमोहणिज्जवज्जाओ पंच कम्मपगडीओ उदीरेति। णियंठे

णं पुच्छा? । गोयमा ! पंचवि[illegible] उदीरए वा, दुविहउदीरए वा, पंच उदीरेमाणे आउय[illegible]यणिज्जमोहणिज्जवज्जाओ पंच कम्मपगडीओ उदी[illegible]इ, दो उदीरेमाणे णामं च गोयं च उदीरेइ । सिणाए [illegible] पुच्छा? । गोयमा ! दुविहउदीरए वा, अणुदीरए [illegible]वा, दो उदीरेमाणे णामं च गोयं च उदीरेति ॥२३॥

([illegible]आउयवेयणिज्जवज्जाओ त्ति) अयमर्थः- पुलाक आयुर्वेदनीयप्रकृती नोदीरयति, तथाविधाध्यवसायस्थानाभावात्, किं तु पूर्वं ते उदीर्य पुलाकतां गच्छति, एवमुत्तरत्रापि यो याः प्रकृतीर्नोदीरयति स ताः पूर्वमुदीर्य बकुशाऽऽदितां प्राप्नोति, स्नातकः सयोग्यवस्थायां तु नामगोत्रयोरेवोदीरकः, आयुर्वेदनीये तु पूर्वोदीर्णे एव, अयोग्यवस्थायां त्वनुदीरक एवेति ।

(३०) 'उवसंपज्जहण त्ति' द्वारे-

पुलाए णं भंते ! पुलायत्तं जहमाणे किं जहति, किं उवसंपज्जइ ? । गोयमा ! पुलायत्तं जहति, कसायकुसीलं वा असंजमं वा उवसंपज्जइ । बउसे णं भंते ! बउसत्तं जहमाणे किं जहति, किं उवसंपज्जइ । गोयमा ! बउसत्तं जहति, पडिसेवणाकुसीलं वा कसायकुसीलं वा असंजमं वा संजमासंजमं वा उवसंपज्जइ । पडिसेवणाकुसीले णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! पडिसेवणाकुसीलत्तं जहति, बउसं वा कसायकुसीलं वा असंजमं वा संजमासंजमं वा उवसंपज्जइ । कसायकुसीले पुच्छा ? । गोयमा ! कसायकुसीलत्तं जहति, पुलायं वा बउसं वा पडिसेवणाकुसीलं वा णियंठं वा असंजमं वा संजमासंजमं वा उवसंपज्जइ । णियंठे णं पुच्छा ? । गोयमा ! णियंठत्तं जहति, कसायकुसीलं वा सिणातं वा असंजमं वा उवसंपज्जइ । सिणाए णं पुच्छा ? । गोयमा ! सिणायत्तं जहति, सिद्धगतिं उवसंपज्जइ ॥ २४ ॥

उपसम्पदुपसम्पत्तिः प्राप्तिः । (जहण त्ति) हानं त्यागः, उपसंपच्च हानं च उपसंपद्धानं, किं, पुलाकत्वाऽऽदि त्यक्त्वा, किं, कषायत्वाऽऽदिकमुपसम्पद्यते इत्यर्थः । तत्र (पुलाए णमित्यादि) पुलाकः पुलाकत्वं त्यक्त्वा संयतः कषायकुशील एव भवति, तत्सदृशसंयमस्थानसत्सद्भावात् । एवं यस्य यत्सदृशानि संयमस्थानानि सन्ति, स तद्भावमुपसम्पद्यते, मुक्त्वा कषायकुशीलाऽऽदीन् । कषायकुशीलो हि विद्यमानस्वसदृशसंयमस्थानकान्पुलाकाऽऽदिभावानुपसम्पद्यते, अविद्यमानसमानसंयमस्थानकं च निर्ग्रन्थत्वम्, निर्ग्रन्थस्तु कषायित्वं वा स्नातकत्वं वा याति, स्नातकस्तु सिद्धत्वमेवेति । निर्ग्रन्थसूत्रे-"कसायकुसीलं वा, सिणायं वा।" इह भावप्रत्ययलोपात्कषायकुशीलत्वमित्यादि दृश्यम् । एवं पूर्वसूत्रेष्वपि । तत्रोपशमश्रेण्यां श्रेणीतः प्रच्यवमानः सकषायो भवति, श्रेणीमस्तके तु मृतोऽसौ देवत्वेनोत्पन्नोऽसंयतो भवति नोसंयतासंयतो, देवत्वे तदभावात् । यद्यपि च श्रेणीपतितोऽसौ संयतासंयतोऽपि भवति, तथाऽपि नासाविहोक्तः, अनन्तरतया तदभावादिति ।

(३१) संज्ञाद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं सण्णोवउत्ते होज्जा, णो सण्णोवउत्ते होज्जा ? । गोयमा ! णो सण्णोवउत्ते होज्जा । बउसे णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! सण्णोवउत्ते होज्जा, णो सण्णोवउत्ते होज्जा । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । एवं कसायकुसीले वि । णियंठे, सिणाए य जहा पुलाए ॥२५॥

(सण्णोवउत्ते त्ति) इह संज्ञा आहाराऽऽदिसंज्ञा, तत्रोपयुक्तः कथञ्चिदाहाराऽऽद्यभिष्वङ्गवान् संज्ञोपयुक्तः, नो संज्ञोपयुक्तस्तु आहाराऽऽद्युपभोगेऽपि तत्रानभिषक्तः, तत्र पुलाकनिर्ग्रन्थस्नातका नो संज्ञोपयुक्ता भवन्त्याहाराऽऽदिष्वनभिष्वङ्गात् । ननु निर्ग्रन्थस्नातकावेवं युक्तौ, वीतरागत्वात्, न तु पुलाकः, सरागत्वात्, नैवं, न हि सरागत्वे निरभिष्वङ्गता सर्वथा नाऽस्तीति वक्तुं शक्यते, बकुशाऽऽदीनां सरागत्वेऽपि निःसङ्गताया अप्रतिपादितत्वात् । चूर्णिकारस्त्वाह -"नो सण्णा नाणसण्ण त्ति ।" तत्र च पुलाकनिर्ग्रन्थस्नातका नोसंज्ञोपयुक्ता ज्ञानप्रधानोपयोगवन्तो न पुनराहाराऽऽदिसंज्ञोपयुक्ताः । बकुशाऽऽदयस्तूभयथाऽपि तथाविधसंयमस्थानसद्भावादिति ।

(३२) आहारकद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं आहारए होज्जा, अणाहारए होज्जा ? । गोयमा ! आहारए होज्जा, णो अणाहारए होज्जा । एवं० जाव णियंठे । सिणाए णं पुच्छा ? । गोयमा ! आहारए वा होज्जा, अणाहारए वा होज्जा ॥ २६ ॥

(आहारए होज्ज त्ति) पुलाकाऽऽदिनिर्ग्रन्थान्तस्य विग्रहगत्यादीनामनाहारकत्वकारणानामभावादाहारकत्वमेव । (सिणाए इत्यादि) स्नातकः केवलिसमुद्घाते तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेष्वयोग्यवस्थायां चानाहारकः स्यात्, ततोऽन्यत्र पुनराहारक इति ।

(३३) भवद्वारे-

पुलाए णं भंते ! कइ भवग्गहणाइं होज्जा ? । गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं भवग्गहणं, उक्कोसेणं तिण्णि । बउसे णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं, उक्कोसेणं अट्ठ । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । एवं कसायकुसीले वि । णियंठे जहा पुलाए । सिणाए णं पुच्छा ? । गोयमा ! एक्कं ॥ २७ ॥

(पुलाए णमित्यादि) पुलाको जघन्यत एकस्मिन् भवग्रहणे भूत्वा कषायकुशीलत्वाऽऽदिकं संयतत्वान्तरमेकशोऽनेकशो वा तत्रैव भवे भवान्तरे वाऽवाप्य सिद्ध्यति, उत्कृष्टतस्तु देवाऽऽदिभवान्तरितान् त्रीन् भवान् पुलाकत्वमवाप्नोति । (बउसेत्यादि) इह कश्चिदेकत्र भवे बकुशत्वमवाप्य कषायकुशीलत्वाऽऽदि च सिद्ध्यति, कश्चित्त्वेकत्रैव बकुशत्वमवाप्य भवान्तरेषु तदन्यान्येवं सिद्ध्यतीत्यत उच्यते-(जहण्णेणं एक्कं भवग्गहणं उक्कोसेणं अट्ठ त्ति) किलाऽष्टौ भवग्रहणान्युत्कर्षतया चरणमात्रमवाप्यते, तत्र कश्चित् तान्यष्टौ बकुशतया पर्यन्तभवे सकषायत्वाऽऽदियुक्तया, कश्चित्तु प्रतिभवं प्रतिसेवनाकुशीलत्वाऽऽदियुक्तया पूरयतीत्यत उच्यते-(उक्कोसेणं अट्ठ त्ति)

(३४) अथाऽऽकर्षद्वारम्-

पुलागस्स णं भंते ! एगभवग्गहणिया केवइया आगरिसा पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहण्णेणं एक्को, उक्कोसेणं तिण्णि । बउसस्स णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं एक्को, उक्कोसे-

णं सयग्गसो। एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले एवं चेव । णियंठस्स णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं एको, उक्कोसेणं दोण्णि । सिणातस्स णं पुच्छा ?। गोयमा ! एको० । पुलागस्स णं भंते ! णाणाभवग्गहणिया आगरिसा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं दोण्णि, उक्कोसेणं सत्त । बउसस्स णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं दोण्णि,उक्कोसेणं सहस्सग्गसो। एवं० जाव कसायकुसीलस्स । णियंठस्स णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं दोण्णि, उक्कोसेणं पंच। सिणातस्स णं पुच्छा ?। णो एको वि ॥ ३८ ॥

तत्राऽऽकर्षणमाकर्षः, चारित्रस्य प्राप्तिरिति। (एगभवग्गहणिय त्ति) एकभवग्रहणे ये भवन्ति । (सयग्गसो त्ति) शतपरिमाणेनेत्यर्थः । शतपृथक्त्वमिति भावना। उक्तं च-"तिण्हसहस्सपुहत्तं, सयपुहत्तं च होइए त्ति ।" (उक्कोसेणं दोण्णि त्ति) एकत्र भवे वारद्वयमुपशमश्रेणिकरणादुपशमनिर्ग्रन्थत्वस्य द्वावाकर्षाविति । (पुलागस्सेत्यादि) (णाणाभवग्गहणिय त्ति) नानाप्रकारेषु भवग्रहणेषु ये भवन्तीत्यर्थः । (जहण्णेणं दोण्णि त्ति) एक आकर्ष एकत्र भवे, द्वितीयोऽन्यत्रेत्येवमनेकत्र भवे आकर्षौ स्याताम् । (उक्कोसेणं सत्त त्ति) पुलाकत्वमुत्कर्षतस्त्रिषु भवेषु स्यात्, एकत्र च तदुत्कर्षतो वारत्रयं भवति । ततश्च प्रथमभवे एक आकर्षोऽन्यत्र च भवद्वये त्रयस्त्रय इत्यादिभिर्विकल्पैः सप्त ते भवन्तीति । (बउसस्सेत्यादि) (उक्कोसेणं सहस्सग्गसो त्ति) बकुशस्याष्टौ भवग्रहणान्युत्कर्षत उक्तानि,एकत्र च भवग्रहणे उत्कर्षत आकर्षशतपृथक्त्वमुक्तम्, तत्र च यदाऽष्टास्वपि भवग्रहणेषूत्कर्षतो नव प्रत्येकमाकर्षशतानि भवन्ति, तदा नवानां शतानामष्टाभिर्गुणनात्सप्त सहस्राणि शतद्वयाधिकानि भवन्तीति । (णियंठस्सेत्यादि) (उक्कोसेणं पंच त्ति) निर्ग्रन्थस्योत्कर्षतस्त्रीणि भवग्रहणान्युक्तानि, एकत्र च भवे द्वावाकर्षावित्येवमेकत्र द्वावन्यत्र च द्वावपरत्र चैकं क्षपकनिर्ग्रन्थत्वाकर्षं कृत्वा सिद्ध्यतीति कृत्वोच्यते पञ्चेति ।

(२५) कालद्वारे-

पुलाए णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतो मुहुत्तं । बउसे णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं,उक्कोसेणं देसूणाइं पुव्वकोडी। एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले वि एवं चेव । णियंठे णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं,उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं । सिणाए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं,उक्कोसेणं देसूणाइं पुव्वकोडी । पुलागस्स णं भंते ! कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं,उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं । बउसा णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! सव्वद्धं, एवं० जाव कसायकुसीला । णियंठा जहा पुलागा । सिणाता जहा बउसा ॥ २९ ॥

(पुलाए णमित्यादि) (जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं ति) पुलाकत्वं प्रतिपन्नोऽन्तर्मुहूर्त्तापरिपूर्तौ पुलाको न म्रियते, नाऽपि प्रतिपततीति कृत्वा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमित्युच्यते, उत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तमेतत्प्रमाणत्वादेतत्स्वभावस्येति । (बउसेत्यादि) (जहण्णेणं एकं समयं ति) बकुशस्य चरणप्रतिपत्त्यनन्तरसमय एव मरणसंभवादिति । (उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडि त्ति) पूर्वकोट्यायुषोऽष्टवर्षान्ते चरणप्रतिपत्ताविति । (णियंठे णमित्यादि) (जहण्णेणं एकं समयं ति) उपशान्तमोहस्य प्रथमसमयानन्तरमेव मरणसम्भवात् । (उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं ति) निर्ग्रन्थाद्धाया एतत्प्रमाणत्वादिति ।(सिणायेत्यादि) (जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं ति) आयुष्कान्तिमान्तर्मुहूर्त्ते केवलोत्पत्तावन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यतः स्नातककालः स्यादिति । पुलाकाऽऽदीनामेकत्वेन कालमानमुक्तम्। अथ पृथक्त्वेनाऽऽह-(पुलागस्स णमित्यादि) जघन्येनैकं समयमिति। कथम् ?। एकस्य पुलाकस्य योऽन्तर्मुहूर्त्तकालस्तस्यान्त्यसमयेऽन्यपुलाकत्वं प्रतिपन्न इत्येवं जघन्यत्वविवक्षायां द्वयोः पुलाकयोरेकत्र समये सद्भावो, द्वित्वे च जघन्यं पृथक्त्वं भवतीति ।(उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं ति)यद्यपि पुलाका उत्कर्षत एकदा सहस्रपृथक्त्वपरिमाणाः प्राप्यन्ते,तथाऽप्यन्तर्मुहूर्त्तत्वात्तदद्धाया बहुत्वेऽपि तेषामन्तर्मुहूर्त्तमेव तत्कालः, केवलं बहूनां स्थितौ यदन्तर्मुहूर्त्तं तदेकपुलाकस्थित्यन्तर्मुहूर्त्तान्महत्तरमित्यवसेयम्। बकुशाऽऽदीनां तु स्थितिकालः सर्वाद्धा,प्रत्येकं तेषां बहुस्थितिकत्वादिति । (णियंठा जहा पुलाग त्ति)। तथैवम्-जघन्यत एकं समयम्, उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तमिति ।

(३६) अन्तरद्वारे-

पुलागस्स णं भंते ! केवइयं कालं अंतरं होइ ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं । अणंताओ ओसप्पिणीउस्सप्पिणीओ कालओ खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं, एवं० जाव णियंठस्स । सिणायस्स णं पुच्छा ?। णत्थि अंतरं । पुलागा णं भंते ! केवइयं कालं अंतरं होइ ?। गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वासाइं । बउसाणं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! णत्थि अंतरं, एवं० जाव कसायकुसीलाणं । णियंठाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा । सिणायाणं जहा बउसाणं ॥ ३० ॥

(पुलागस्स णमित्यादि) तत्र पुलाकः पुलाको भूत्वा कियता कालेन पुलाकत्वमापद्यते ?। उच्यते जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा पुनः पुलाक एव भवति, उत्कर्षतः पुनरनन्तेन कालेन पुलाकत्वमाप्नोति । कालानन्त्यमेव कालतो नियमयन्नाह-(अणंताओ इत्यादि) इदमेव क्षेत्रतोऽपि नियमयन्नाह-(खेत्तओ इति) स आनन्त्यः कालः क्षेत्रतो मीयमानः किंमानः?, इत्याह-(अवड्ढमित्यादि) तत्र पुद्गलपरावर्त्ते एवं श्रूयते-किल केनाऽपि प्राणिना प्रतिप्रदेशं म्रियमाणेन मरणैर्यावता कालेन लोकः समस्तोऽपि व्याप्यते, तावता कालेन क्षेत्रतः पुद्गलपरावर्त्तो भवति । स च परिपूर्णोऽपि स्यादत आह-अपार्द्धमपगतार्द्धम्,अर्द्धमात्रमित्यर्थः। अपार्द्धोऽप्यर्द्धतः पूर्णः स्यादत आह-(देसूणं ति) देशेन भागेन न्यूनमिति । (सिणायस्स नत्थि अंतर त्ति) प्रतिपाताभावात् । एकत्वापेक्षया पुलाकत्वाऽऽदीनामन्तरमुक्तम् । अथ पृथक्त्वापेक्षया तदेवाऽऽह-(पुलाया णमित्यादि) व्यक्तम् ।

(३७) समुद्घातद्वारे-

पुलागस्स णं भंते ! कइ समुग्घाया पण्णत्ता ?। गोयमा ! ति-

छ्विं समुग्घाया पन्नत्ता । तं जहा–वेयणासमुग्घाए, कसायसमुग्घाए, मारणंतियसमुग्घाए । बउसस्स णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! पंच समुग्घाया पन्नत्ता । तं जहा–वेयणासमुग्घाए, ० जाव तेयासमुग्घाए । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीलस्स पुच्छा ? । गोयमा ! छ समुग्घाया पन्नत्ता । तं जहा–वेयणासमुग्घाए, ० जाव आहारगसमुग्घाए । णियंठस्स णं पुच्छा ? । गोयमा ! णत्थि एक्को वि । सिणायस्स णं पुच्छा ? । गोयमा ! एगे केवलिसमुग्घाए पन्नत्ते ॥ ३१ ॥

(कसायसमुग्घाए इत्यादि) चारित्रवतां संज्वलनकषायोदयसम्भवेन कषायसमुद्घातो भवतीति । (मारणंतियसमुग्घाए त्ति) इह च पुलाकस्य मरणाभावेऽपि मारणान्तिकसमुद्घातो न विरुद्धः, समुद्घातान्निवृत्तस्य कषायकुशीलत्वाऽऽदिपरिणामे सति मरणभावात् । (नियंठस्स त्ति) (नऽत्थि एक्को वि त्ति) तथास्वभावत्वादिति ।

(३८) अथ क्षेत्रद्वारम्–

पुलाए णं भंते ! लोगस्स किं संखेज्जइभागे होज्जा, असंखेज्जइभागे होज्जा, संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, सव्वलोए होज्जा ? । गोयमा ! णो संखेज्जइभागे होज्जा, असंखेज्जइभागे होज्जा, णो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, णो सव्वलोए होज्जा । एवं० जाव णियंठे । सिणाए णं पुच्छा ? । गोयमा ! णो संखेज्जइभागे होज्जा, असंखेज्जइभागे होज्जा, णो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, सव्वलोए वा होज्जा ॥ ३२ ॥

तत्र क्षेत्रमवगाहनाक्षेत्रं, तत्र (असंखेज्जइभागे होज्ज त्ति) पुलाकशरीरस्य लोकासङ्ख्येयभागमात्रावगाहित्वात् । (सिणाए णमित्यादि) (असंखेज्जइभागे होज्ज त्ति) शरीरस्थो दण्डकपाटकरणकाले च लोकासङ्ख्येयभागवृत्तिः, केवलिशरीराऽऽदीनां तावन्मात्रत्वात् । (असंखेज्जेसु भागेसु त्ति) मथिकरणकाले बहोर्लोकस्य व्याप्तत्वेन स्तोकस्य चाव्याप्ततयोक्तत्वाल्लोकस्यासङ्ख्येयेषु भागेषु स्नातको वर्तते, लोकापूरणे च सर्वलोके वर्तत इति ॥ ३२ ॥

(३९) स्पर्शनाद्वारे–

पुलाए णं भंते ! सव्वलोगस्स किं संखेज्जइभागं फुसइ, असंखेज्जइभागं फुसइ, एवं जहा ओगाहणा भणिया, तहा फुसणा वि भाणियव्वा० जाव सिणाए ॥ ३३ ॥

स्पर्शना क्षेत्रवदवरं क्षेत्रमवगाढमात्रं, स्पर्शना त्ववगाढस्य तत्पार्श्ववर्तिनश्चेति विशेषः ॥ ३३ ॥

(४०) भावद्वारे–

पुलाए णं भंते ! कयरम्मि भावे होज्जा ? । गोयमा ! खओवसमिए भावे होज्जा, एवं० जाव कसायकुसीले । णियंठे पुच्छा ? । गोयमा ! उवसमिए वा, खइए वा भावे होज्जा । सिणाए पुच्छा ? । गोयमा ! खइए भावे होज्जा ॥ ३४ ॥

भावद्वारं व्यक्तमेव ।

(४१) परिमाणद्वारे–

पुलाया णं भंते ! एगसमएणं केवइया होज्जा ? । गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं सयपुहत्तं । पुव्वपडिवण्णए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सहस्सपुहत्तं । बउसा णं भंते ! एगसमएणं पुच्छा ? । गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सयपुहत्तं । पुव्वपडिवण्णए पडुच्च जहन्नेणं कोडिसयपुहत्तं, उक्कोसेण वि कोडिसयपुहत्तं । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीला णं पुच्छा ? । गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं कोडिसहस्सपुहत्तं । पुव्वपडिवण्णए पडुच्च जहण्णेणं कोडिसहस्सपुहत्तं, उक्कोसेण वि कोडिसहस्सपुहत्तं । णियंठा णं पुच्छा ? । गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं बावट्ठं सतं, अट्ठसयं खवगाणं चउप्पण्णं उवसमगाणं । पुव्वपडिवण्णए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं सतपुहत्तं । सिणाता णं पुच्छा ? । गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं अट्ठसयं । पुव्वपडिवण्णए पडुच्च जहण्णेणं कोडिपुहत्तं, उक्कोसेण वि कोडिपुहत्तं ॥ ३५ ॥

(पुलाया णमित्यादि) ननु सर्वसंयतानां कोटिसहस्रपृथक्त्वं श्रूयते । इह तु केवलानामेव कषायकुशीलानां तदुक्तं, ततः पुलाकाऽऽदिमानानि ततोऽतिरिच्यन्त इति कथं न विरोधः ? । उच्यते–कषायकुशीलानां यत्कोटिसहस्रपृथक्त्वं, तद् द्व्याऽऽदिकोटिसहस्ररूपं कल्पयित्वा पुलाकबकुशाऽऽदिसङ्ख्या तत्र प्रवेश्यते, ततः समस्तं संयतमानं यदुक्तं, तन्नातिरिच्यत इति ।

(४२) अल्पबहुत्वद्वारे–

एएसि णं भंते ! पुलागबउसपडिसेवणाकुसीलकसायकुसीलणियंठसिणाताणं कयरे कयरे० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा णियंठा, पुलागा संखेज्जगुणा, सिणाया संखेज्जगुणा, बउसा संखेज्जगुणा, पडिसेवणाकुसीला संखेज्जगुणा, कसायकुसीला संखेज्जगुणा ॥ ३६ ॥

(सव्वत्थोवा णियंठ त्ति) तेषामुत्कर्षतोऽपि शतपृथक्त्वप्रमाणत्वात् । (पुलागा संखेज्जगुण त्ति) तेषामुत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्वसङ्ख्यत्वात् । (सिणाया संखेज्जगुण त्ति) तेषामुत्कर्षतः कोटिपृथक्त्वमानत्वात् । (बउसा संखेज्जगुण त्ति) तेषामुत्कर्षतः कोटिशतपृथक्त्वमानत्वात् । (पडिसेवणाकुसीला संखेज्जगु-

णा त्ति) कथमेतत्?, तेषामप्युत्कर्षतः कोटिशतपृथक्त्वमानतयोक्तत्वात्, सत्यम्, किन्तु बकुशानां यत्कोटिशतपृथक्त्वं तद् द्विशताऽऽदिकोटिशतमानं, प्रतिसेविनां तु कोटिशतपृथक्त्वं चतुःषट्कोटिशतमानमिति न विरोधः । कषायिणां तु सङ्ख्यातगुणत्वं व्यक्तमेव, उत्कर्षतः कोटिसहस्रपृथक्त्वमानतया तेषामुक्तत्वादिति । भ० २५ श० ६ उ० । उत्त० । ['अणगारधम्म' शब्दे प्र० भा० २७१ पृष्ठे, 'समणधम्म' शब्दे च क्षान्त्यादिर्निर्ग्रन्थधर्मो द्रष्टव्यः]

(४३) चत्तारि णिग्गंथा पण्णत्ता । तं जहा–रायणिए समणे णिग्गंथे महाकम्मे महाकिरिए अणायावी असमिए धम्मस्स अणाराहए भवइ १ , रायणिए समणे णिग्गंथे अप्पकम्मे अप्पकिरिए आयावी समिए धम्मस्स आराहए भवइ २ , ओमरायणिए समणे णिग्गंथे महाकम्मे महाकिरिए अणायावी असमिए धम्मस्स अणाराहए भवइ ३ , ओमरायणिए समणे णिग्गंथे अप्पकम्मे अप्पकिरिए आयावी समिए धम्मस्स आराहए भवइ ४ ।

निर्गता बाह्याभ्यन्तरग्रन्थाद् निर्ग्रन्थाः साधवः, रत्नानि भावतो ज्ञानाऽऽदीनि, तैर्व्यवहरतीति रात्निकः, पर्यायज्येष्ठ इत्यर्थः, श्रमणो निर्ग्रन्थो, महान्ति गुरूणि स्थित्यादिभिस्तथाविधप्रमादाऽऽद्यर्जितत्वद्गुणानि कर्माणि यस्य स महाकर्मा । महती क्रिया कायिक्यादिका कर्मबन्धहेतुर्यस्य स महाक्रियः, न आतापयति आतापनां शीताऽऽदिसहनरूपां करोतीत्यनातापी, मन्दश्रद्धत्वादिति । अत एवासमितः समितिभिः । स चैवंभूतो धर्मस्यानाराधको भवतीत्येकः । अन्यस्तु पर्यायज्येष्ठ एवाल्पकर्मा लघुकर्माऽल्पक्रिय इति द्वितीयः । अन्यस्तु अवमो लघुः पर्यायेण रात्निकोऽवमरात्निकः । स्था० ४ ठा० ३ उ० । निर्गतो मोहनीयकर्मलक्षणाद् ग्रन्थादिति निर्ग्रन्थः । निर्ग्रन्थभेदे, भ० २५ श० ६ उ० । प्रव० ।

(४४) स च पञ्चविधः प्रथमसमयाऽऽदिः–

णियंठे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा–पढमसमयणियंठे, अपढमसमयणियंठे, चरिमसमयणियंठे, अचरिमसमयणियंठे, अहासुहुमणियंठे णामं पंचमे ।

निर्गतो ग्रन्थान्मोहनीयाऽऽख्यान्निर्ग्रन्थः क्षीणकषाय उपशान्तमोहो वा, क्षालितसकलघातिकर्ममलपटलत्वात् । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

(४५) तओ ठाणा णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अहियाए असुहाए अक्खमाए अणिस्सेयसाए अणाणुगामियत्ताए भवइ । तं जहा–कूअणया, कक्करणया, अवज्झाणया । तओ ठाणा णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा हियाए सुहाए खमाए णिस्सेयसाए, अणुगामियत्ताए भवइ । तं जहा–अकूअणया, अकक्करणया, अणवज्झाणया ।

"तओ" इत्यादि स्पष्टम् । किन्तु अहिताय अपथ्याय, असुखाय दुःखाय, अक्षमाय अयुक्तत्वाय, अनिःश्रेयसाय अमोक्षाय, अनानुगामिकत्वाय न शुभानुबन्धायेति । कूजनता आर्त्तस्वरकरणम्, कर्करणता शय्योपध्यादिदोषोद्भावनगर्भप्रलपनम् । अपध्यानता आर्त्तरौद्रध्यायित्वमिति । उक्तविपर्ययसूत्रं व्यक्तमेव । स्था० ३ ठा० ३ उ० । (निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनामेकत्र संवसनं 'संवास' शब्दे निषेत्स्यते)

निर्ग्रन्थशब्दस्य विषयसूची–

(१) निर्ग्रन्थशब्दव्याख्यायामहिरण्यसुवर्णकपर्दोपादानेन बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहशून्यत्वं निर्ग्रन्थस्य लक्षणमुक्तम् ।
(२) क्रोधाऽऽदेर्निर्गमानिर्गमाभ्यां क्षपकश्रेणिमुपकल्प्य निर्ग्रन्थविचारः ।
(३) ये कषायैर्मुक्ता निर्ग्रन्थास्तेषां कषायाणां क्षयकरणाद्योग्यतत्वेन निग्रहपरमत्वं प्रसाध्य, सतामपि कषायाणामसत्कल्पनाकरणात् सरागसंयतत्वेन निर्ग्रन्थत्वाभिधानम् ।
(४) निर्ग्रन्थनिक्षेपे नामस्थापनाद्रव्यभावानां मध्ये द्रव्यस्यागमनोआगमभेदेन निर्ग्रन्थत्रैविध्यं प्ररूप्य, ज्ञशरीरभव्यशरीराऽऽदिप्ररूपणम् ।
(५) पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकभेदेन पञ्चविधनिर्ग्रन्थस्वरूपं निरूप्य, निर्ग्रन्थानां नोसंज्ञोपयुक्तत्वेन पुलाकाऽऽदिभेदत्रयप्ररूपणानन्तरं संज्ञानोसंज्ञोपयुक्तत्वेन बकुशाऽऽदिभेदत्रयप्ररूपणम् ।
(६) पुलाकाऽऽदयः पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा यैः साध्या भवन्ति, तेषां निरूपणाय द्वारगाथाः ।
(७) वेदद्वारे पुलाकाऽऽदीनां स्त्रीपुंनपुंसकवेदत्वप्ररूपणम् ।
(८) रागद्वारे पुलाकाऽऽदीनां सरागवीतरागत्वविचारः, तथा कल्पद्वारे तेषां स्थितकल्पाऽऽदिविवेकः ।
(९) चरित्रद्वारे पुलाकाऽऽदीनां सामायिकच्छेदोपस्थापनीयाऽऽदिविमर्शः ।
(१०) प्रतिसेवनाद्वारे प्रतिसेवकाप्रतिसेवकाऽऽदिविचारः ।
(११) ज्ञानद्वारे पुलाकाऽऽदीनामाभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञाननिरूपणम् ।
(१२) तीर्थद्वारे पुलाकाऽऽदीनां तीर्थातीर्थविचारः ।
(१३) लिङ्गद्वारे पुलाकाऽऽदीनां द्रव्यभावलिङ्गं प्रतीत्य स्वलिङ्गान्यलिङ्गप्ररूपणम् ।
(१४) शरीरद्वारे पुलाकाऽऽदीनामौदारिकवैक्रियाऽऽहारकाऽऽदिनिरूपणा ।
(१५) क्षेत्रद्वारे पुलाकाऽऽदीनां जन्मास्तित्वभावं प्रतीत्य, कर्मभूम्यकर्मभूमिप्ररूपणा ।
(१६) कालद्वारे पुलाकाऽऽदीनामवसर्पिण्युत्सर्पिणीकालाभिधानम् ।
(१७) गतिद्वारे पुलाकाऽऽदीनां देवगत्यादिनिरूपणम् ।
(१८) संयमद्वारे पुलाकाऽऽदीनां संयमस्थाननिदर्शनम् ।
(१९) निकर्षद्वारे पुलाकाऽऽदीनां चारित्रपर्यवानन्त्यं प्ररूप्य, परस्परेण हीनतुल्याभ्यधिकत्वकथनम् ।
(२०) पर्यवाधिकारात् तेषामेव जघन्याऽऽदिभेदानां पुलाकाऽऽदिसंबन्धिनामल्पत्वाऽऽदिप्ररूपणम् ।
(२१) योगद्वारे पुलाकाऽऽदीनां सयोग्ययोगित्वं प्रसाध्य, मनोवाक्काययोगित्वप्रसाधनम् ।
(२२) उपयोगद्वारे पुलाकाऽऽदीनां साकारानाकारोपयुक्तत्वविचारः ।
(२३) कषायद्वारे पुलाकाऽऽदीनां सकषायाकषायत्वं प्ररूप्य, क्रोधमानमायालोभाऽऽदीनां विमर्शः ।

(२४) लेश्याद्वारे पुलाकाऽऽदीनां सलेश्यालेश्यत्वं निरूप्य, कृष्णशुक्लाऽऽदिलेश्यानिरूपणम् ।
(२५) परिणामद्वारे पुलाकाऽऽदीनां वर्द्धमानहीयमानावस्थितपरिणामत्वप्रदर्शनम् ।
(२६) परिणामाधिकारादेव जघन्योत्कर्षाऽऽदिभेदेन कालनिरूपणम् ।
(२७) बन्धद्वारे पुलाकाऽऽदीनां कर्मप्रकृतिबन्धविचारः ।
(२८) वेदनद्वारे तेषामेव कर्मप्रकृतिवेदविमर्शः ।
(२९) उदीरणाद्वारे तेषामेव कर्मप्रकृत्युदीरणाऽध्यवसायः ।
(३०) उपसंपद्धानद्वारे पुलाकाऽऽदीनां पुलाकत्वाऽऽदित्यागोपादाननिरूपणम् ।
(३१) संज्ञाद्वारे पुलाकाऽऽदीनां संज्ञोपयुक्तनोसंज्ञोपयुक्तत्वविचारणम् ।
(३२) आहारकद्वारे पुलाकाऽऽदीनामाहारकानाहारकत्वप्ररूपण[illegible]
(३३) भवद्वा[illegible]ऽऽदीनां भवग्रहणनिरूपणम् ।
(३४) आकर्षद्[illegible] जघन्योत्कर्षभेदेनाऽऽकर्षविमर्शः ।
(३५) कालद्वारे पुलाकाऽऽदयः कियच्चिरं भवन्तीति प्रतिपादनम् ।
(३६) अन्तरद्वारे जघन्योत्कर्षतः तेषामेवान्तरनिरूपणम् ।
(३७) समुद्घा[illegible]द्वारे तेषां समुद्घातविचारः ।
(३८) क्षेत्रद्वारे [illegible]ख्येयासंख्येयसर्वलोकाऽऽदिभवनभावना ।
(३९) स्पर्शनाद्वारे संख्येयासंख्येयभागेन स्पर्शनप्रतिपादनम् ।
(४०) भावद्वारे पुलाकाऽऽदीनां क्षायोपशमिकाऽऽदिभावविचारः ।
(४१) परिमाणद्वारे तेषामेव परिमाणनिर्देशः ।
(४२) अल्पबहुत्वद्वारे पुलाकाऽऽदीनामल्पबहुत्वनिदर्शनम् ।
(४३) निर्ग्रन्थानां प्रकारान्तरेण चातुर्विध्यम् ।
(४४) प्रथमाप्रथमचरमाचरमसमयथासूक्ष्मनिर्ग्रन्थाऽऽदिभेदेन पञ्चविधत्वम् ।
(४५) कूजनताकर्करणताऽपध्यानताऽऽदिभेदेन निर्ग्रन्थानां, निर्ग्रन्थीनामसुखत्वाऽऽदि प्ररूप्य, तद्वैपरीत्येन सुखत्वाऽऽदिनिरूपणम् ।

नैर्ग्रन्थ्य–न० । निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थ्यम् । विशे० । आव० । आर्हते प्रवचने, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । आ० म० ।

णिग्गंथधम्म–निर्ग्रन्थधर्म–पुं० । निर्गतो बाह्याभ्यन्तररूपो ग्रन्थोऽस्यास्तीति निर्ग्रन्थः, स चाऽसौ धर्मश्च निर्ग्रन्थधर्मः । श्रुतचारित्राऽऽख्ये क्षान्त्यादिके वा सर्वज्ञोक्ते धर्मे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

णिग्गंथपावयण–नैर्ग्रन्थ्यप्रावचन–न० । निर्ग्रन्थानां साधूनामिदं नैर्ग्रन्थ्यं, प्रावचनमिति प्रकर्षेणाभिविधिनोच्यन्ते जीवाऽऽदयो यस्मिन्निति प्रावचनम् । जैनाऽऽगमे, "इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे अट्ठे, सेसमणट्ठे ।" आव० ४ अ० । स्था० । आ० चू० ।

णिग्गंथी–निर्ग्रन्थी–स्त्री० । निर्ग्रन्थः साधुः, तेषामियं निर्ग्रन्थी । साध्व्याम्, स्था० २ ठा० १ उ० ।

सा चतुर्विधा–

चत्तारि णिग्गंथीओ पण्णत्ताओ । तं जहा–रायणिया समणी णिग्गंथी० जाव आराहिया जवइ ४ ।

निर्ग्रन्थसूत्रवत् । स्था० ४ ठा० ३ उ० । (निर्ग्रन्थ्या अधिकारा व्याख्यानमुक्ताः, वक्ष्यन्ते च । यथा 'गहण' शब्दे तृतीयभागे ८५९ पृष्ठे एतस्याः प्रस्खलन्त्या ग्रहणमुक्तम्)

नवरमिह–

छहिं ठाणेहिं णिग्गंथे णिग्गंथिं गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ । तं जहा–खित्तचित्तं, दित्तचित्तं, जक्खाइट्ठं, उम्मायपत्तं, उवसग्गपत्तं, साहिगरणं । ६ ठा० ७ उ० ।

(क्षिप्तचित्ताऽऽदीनां प्ररूपणा 'खित्तचित्त' आदिशब्देषु द्रष्टव्या)

चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथे णिग्गंथिं आलवमाणे वा संलवमाणे वा णाइक्कमइ । तं जहा–पंथं पुच्छमाणे, पंथं देसमाणे, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दलयमाणे वा, दलावेमाणे वा ।

"चउहिं" इत्यादि स्फुटं, किन्तु आलपन्नीषत्प्रथमतया वा जल्पन्, संलपन् मिथो भाषणेन, नातिक्रामति न लङ्घयति निर्ग्रन्थाचारम्– "एगो एगत्थिए सद्धिं, नेव चिट्ठे न संलवे ।" विशेषतः साध्व्या इत्येवं रूपं, मार्गप्रश्नाऽऽदीनां पुष्टाऽऽलम्बनत्वादिति । तत्र मार्गं पृच्छन् प्रश्नीयसाधर्मिकगृहस्थपुरुषाऽऽदीनामभावे–हे आर्ये ! कोऽस्माकमितो गच्छतां मार्गः ?, इत्यादिना क्रमेण, मार्गं वा तस्या देशयन्–धर्मशीले ! अयं मार्गस्ते इत्यादिना क्रमेण, अशनाऽऽदि च ददत्–धर्मशीले ! गृहाणेदमशनाऽऽदीत्येवं, तथाऽशनाऽऽदि दापयन्–आर्ये ! दापयाम्येतत् तुभ्यम्, आगच्छेह गृहाऽऽदाविस्यादिविधिनेति । स्था० ४ ठा० २ उ० । (निर्ग्रन्थैर्निर्ग्रन्थिकाभिश्च सह कायोत्सर्गो न कार्यः, इति 'ठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६६५ पृष्ठे उक्तम्)

सचेला निर्ग्रन्थी, अचेलश्च निर्ग्रन्थः सह संवसतः–

पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे अचेलए सचेलियाहिं णिग्गंथीहिं सद्धिं संवसमाणे णाइक्कमइ । तं जहा–खित्तचित्ते समणे निग्गंथे निग्गंथेहिं अविज्जमाणेहिं अचेलओ सचेलियाहिं निग्गंथीहिं सद्धिं संवसमाणे नाइक्कमइ । एवमेएणं गमएणं दित्तचित्ते, जक्खाइट्ठे, उम्मायपत्ते, निग्गंथीपव्वाविए समणे निग्गंथेहिं अविज्जमाणेहिं अचेलए सचेलियाहिं निग्गंथीहिं सद्धिं संवसमाणे णाइक्कमइ ॥

अचेलः क्षिप्तचित्तत्वाऽऽदिना क्षिप्तचित्तः शोकेन, तत्प्रतिजागरकाः साधवो न विद्यन्ते, ततो निर्ग्रन्थिकाः पुत्राऽऽदिकमिव तं संगोपायन्तीति न ततोऽप्यसावाज्ञामतिक्रामति । दृप्तचित्तो हर्षातिरेकात्, यक्षाऽऽविष्टो देवाधिष्ठितः, उन्मादप्राप्तो वाताऽऽदिक्षोभात् । निर्ग्रन्थिकया कारणवशात् पुत्राऽऽदिः प्रव्राजितः, स च बालत्वादचेलो महानपि वा तथाविधवृद्धत्वाऽऽदिनेति । स्था० ५ ठा० २ उ० । (अथ निर्ग्रन्थीनां मासकल्पविहारवक्तव्यतायां सर्वा वक्तव्यता)

से गामंसि वा० जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंतगिम्हासु दो मासा वत्थए ॥ ७ ॥

अस्यापि व्याख्या प्राग्वत्, नवरमबाहिरिके क्षेत्रे कल्पते नि-र्ग्रन्थीनां हेमन्तग्रीष्मेषु द्वौ मासौ वस्तुमिति ।

अथ भाष्यविस्तरः-

एसेव कमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो ।
जं इत्थं णाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥१२०७॥

एष एव निर्ग्रन्थसूत्रोक्तः " पव्वज्जा सिक्खावय, " इत्यादि-कः क्रमो नियमान्निर्ग्रन्थीनामपि ज्ञातव्यो भवति । यत्पुनरत्र वि-हारद्वारे नानात्वं, तदहं वक्ष्ये समासेन ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

निग्गंथीणं गणहर-परूवणा खेत्तमग्गणा चेव ।
वसही वियार गच्छ-स्स आणणा वारए चेव ॥१२०८॥
भत्तट्ठणए य विही, पडिणीए भिक्खनिग्गमे चेव ।
निग्गंथाणं मासो, कम्हा तासिं दुवे मासा? ॥१२०९॥

निर्ग्रन्थीनां यो गणधरो गच्छवर्त्तापकः, तस्य प्ररूपणा कर्त्तव्या । ततः क्षेत्रस्य संयतीप्रायोग्यस्य मार्गणा प्रत्युपेक्ष-णा वक्तव्या । ततस्तासां योग्या वसतिर्विचारभूमिश्च, संयती-गणधरस्यानयना, ततो वारको घटस्वरूपं, तदनन्तरं भक्ता-र्थनं समुद्देशनम, तस्य विधिर्व्यवस्था, ततः प्रत्यनीककृतोपद्र-वतो यथा निवारणं, ततो भिक्षायां निर्गमः, ततो निर्ग्रन्थानां क-स्मादेको मासः?, तासां च कस्माद् द्वौ मासौ ?। एतानि द्वाराणि वक्तव्यानीति द्वारगाथाद्वयसमुदायार्थः । (अत्र गणधरलक्षणं 'गणहर' शब्दे तृतीयभागे ८२० पृष्ठे समुक्तम्)

अथ क्षेत्रमार्गणाद्वारमाह-

खित्तस्स उ पडिलेहा, कायव्वा होइ आणुपुव्वीए ।
किं वच्चई गणहरो, जो चरई सो तणं वहइ ॥१२१२॥

क्षेत्रस्य संयतीप्रायोग्यस्य, आनुपूर्व्या " थुइमंगलमामंतण " इत्यादिना पूर्वोक्तक्रमेण,प्रत्युपेक्षणा गणधरेण कर्त्तव्या । अथ किं केन हेतुना गणधरः स्वयमेव क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय व्रजति ?। उच्यते-यो बलीवर्दाऽऽदिश्चारिं चरति, स एव तृणभारं वहति, यो निर्ग्रन्थीगणस्याधिपत्यमनुभवति, स एव सर्वमपि तच्चि-न्ताभारमुद्वहति ।

आह-संयत्यः किमर्थं न गच्छन्ति ?, इत्युच्यते-

संजइगमणे गुत्ता, आणादी सउणिपेसिपेल्लणया ।
खोभे तुच्छा आसिया-वणा य एमाइणो (भवे)दोसा ॥१२१३॥

यदि संयत्यः क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुं गच्छन्ति, तत आचार्यस्य चतु-र्गुरवः,आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः । यथा शकुनिका पक्षिणी श्येनस्य गम्या भवति (पेसि त्ति) यथा वा मांसपेशिका, आम्रपेशि-का वा सर्वस्याऽप्यभिलषणीया, तथा एता अपि । अत एव (पेल्लणय त्ति) विषयार्थिना प्रेर्यन्ते । तथा तुच्छास्ताः, ततो येन तेनाप्याहाराऽऽदिलोभेनोपप्रलोभ्य ' आसियावणं ' अपहरणं तासां क्रियते, एवमादयो दोषा भवन्ति ।

इदमेव भावयति-

तुच्छेण वि लोभिज्जइ, भरुयच्छाऽऽहरणनिगडिसहोवं ।
णंतनिमंतणवहणे, चेइयरूढाउ आसियावणं ॥१२१४॥

तुच्छेनाल्पाऽऽहारवस्त्रादिना स्त्री लोभ्यते, अत्र च भृगुकच्छ-प्रातेन निकृतिश्राद्धेनोदाहरणम् । कथमित्याह-"णंत त्ति" वस्त्रा-णि, तैर्निमन्त्रणं कृत्वा, वहने प्रवहणे चैत्यवन्दनार्थमारूढानां संयतीनामासियावणमपहरणं कृतमिति । " जहा भरुयच्छे आणं-दपुरवाणियओ,स य निययलद्धो संजईओ रूववईओ दट्ठूण क-वडसड्ढत्तणं पडिवण्णो । ताओ तस्स वीसंभियाओ । अण्णकाले पवत्तिणिं विण्णवेइ-वहणट्ठाणमंगलट्ठा पडिलेहणं करेमि, जो संजईओ पढमेइ, अम्हे वि अणुग्गाहिया होज्जामो । तओ पट्ठ-विया । तस्स गया कवडसड्ढेणं भणंति-पढमं वहणे चेइयाइं वंदह, तो पडिलेहणं करेमि त्ति । ताओ जाणंति-अहो ! वि-वेको । तओ चेइयवंदणत्थमारूढाणं पयट्टियं वहणं० जाव आसियावियाओ "।

एएहिं कारणेहिं, न कप्पई संजईण पडिलेहा ।
गंतव्व गणहरेणं, विहिणा जो वण्णिओ पुव्विं ॥१२१५॥

एतैः कारणैः संयतीनां क्षेत्रप्रत्युपेक्षा कर्तुं न कल्पते, कैः पुनस्तर्हि प्रत्युपेक्षणायां गन्तव्यमित्याह-गन्तव्यं गणधरेण विधिना, कः पुनर्विधिरित्याह--यः पूर्वमत्रैव मासकल्पः प्रकृते स्थविरकल्पिकविहारद्वारे वर्णितः ।

आह-कीदृशं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षणीयम् ?, उच्यते--

जत्थाहिवई सूरो, समणाणं सो य जाणइ विसेसं ।
एतारिसम्मि खेत्ते, समणाणं होइ पडिलेहा ॥१२१६॥
जहियं दुस्सीलजणो, तक्[illegible]भयं च जहिँ नत्थि ।
निप्पच्चवायखेत्ते, अज्जाण[illegible]लेहा ॥१२१७॥

यत्र ग्रामाऽऽद्यधिपतिर्ग्रामिकाऽऽदिकः शूरः चौरचरटाऽऽदिभि-रनभिभवनीय इत्यर्थः। स च श्रमणानां साधूनां विशेषं जानाति-यथेदृशममीषां दर्शने व्रतम्, ईदृशश्च समाचारः, एतादृशे क्षेत्रे साध्वीयोग्ये श्रमणानां प्रत्युपेक्षणा भवति । तथा यत्र दुःशी-लजनस्तस्करश्वापदभयं वा यत्र नास्ति, ईदृशे निष्प्रत्यपाये क्षेत्रे आर्यिकाणां प्रायोग्ये प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या भवति ।

अथ वसतिद्वारमाह--

गुत्ता गुत्तदुवारा, कुलपुत्ते सत्तमंत गंभीरे ।
भीयपरिस मद्दविए, ओभासण चिंतणा दाणे* ॥१२१८॥

गुप्ता वृत्या, कुड्येन वा परिक्षिप्ता, गुप्तद्वारा कपाटद्वयोपेत-द्वारा, यस्यां च शय्यातरः कुलपुत्रकः । कथंभूतः ?-सत्त्ववान् न केनापि क्षोभ्यते, महदपि च प्रयोजनं कर्तुमध्यवस्यति । गम्भीरो नाम-संयतीनां प्रमादाऽऽचरणं दृष्ट्वाऽपि विपरि-णामं न याति । तथा भीता चकिता पर्षत् यस्य स भीतपर्षत्, आज्ञैकसारतया यस्य भ्रुकुटीमात्रमपि दृष्ट्वा परिवारः सर्वोऽ-पि भयेन कम्पमानस्तिष्ठति, न च कश्चिदन्याये प्रवृत्तिं करोति । मार्दवमस्त्यस्य, तद्विद्यते यस्य स मार्दविकः, एवंविधो यदि कुलपुत्रको भवति । ततः [ओभासण त्ति] संयतीनामुपाश्रय-स्यावभाषणं कर्त्तव्यम् । अवभाषिते च यद्युपाश्रयमनु-जानीते, ततो भण्यते [चिंतण त्ति] यथा स्वकीयाया दुहितुः, स्नुषाया वा चिन्तां करोषि, तथा यद्येतासामपि प्रत्यनीका-ऽऽद्युपसर्गरक्षणे चिन्तां कर्तुमुत्सहसे, ततोऽत्र स्थापयामः । स प्राऽऽह-बाढं करोमि चिन्तां, एताः कथं पुनः संरक्षणीयाः? । ततो-

* पुस्तकान्तरे-'थंडिलआसणवारगमंडलपडिणीयवारगया' इति पाठः ।

ऽभिधातव्यम्-यथा किलाऽऽलिकी स्वहस्तेन परहस्तेन वा उपगृ-ह्यमाणे रक्ष्येते, तथैता अपि यथात्ममानुषैः, परमानुषैर्वा उपगृ-ह्यमाणा रक्ष्यन्ति,नत एता रक्षिता भवन्तीति । यद्येवं प्रतिपाद्यो-पाश्रयस्य दानं करोति, ततः स्थापनीयाः ।

अथाप्रतिपद्यमाने स्थापयन्ति, ततश्चत्वारो गुरुकाः-अन्याऽऽर्यार्याभिप्रायेणामुमेवार्थमाह-

घणकुड्डा सकवाडा, सागारियमाउभगिणिपेरंता ।
निप्पच्चवाय जोग्गा, विच्छिन्नपुरोहडा वसही ॥१२१९॥

घनकुड्या पक्वेष्टकाऽऽदिमयभित्तिका, सकपाटा कपाटोपेतद्वारा, सागारिकसत्कानां मातृभगिनीनां गृहाणि पर्यन्ते पार्श्वतो यस्याः सा सागारिकमातृभगिनीगृहपर्यन्ता । गाथायामनुस्वारोऽपि गृहशब्दो द्रष्टव्यः । निष्प्रत्यपाया दुर्जनप्रवेशाऽऽदिप्रत्यपायरहिता, विस्तीर्णं 'पुरोहडं' गृहपश्चाद्भागो यस्यां सा विस्तीर्णपुरोहडा, एवंविधा वसतिः संयतीनां योग्या ।

नासन्न-नातिदूरे, विहवापरिणयवयाण पडिवेसे ।
मज्झत्थऽवियाराणं, अकुऊहलभावियाणं च ॥१२२०॥

विधवाश्च ताः परिणतवयसश्च स्थविरस्त्रियः, तासां, तथा मध्यस्थानां कन्दर्पाऽऽदिभावविकलानामविकाराणां गीताऽऽदिविकाररहितानाम्,अकुतूहलानाम्-संयत्यो भोजनाऽऽदिक्रियां कथं कुर्वन्तीति कौतुकवर्जितानां,भावितानां साध्वीसामाचारीवासितानां संबन्धि यत्प्रतिवेश्म प्रत्यासन्नगृहं, तत्र नातिदूरे संयतिप्रतिश्रयो ग्राह्यः ।

अथान्या ऽऽर्यप्रतिपाद्यशय्यातरस्वरूपमाह-

भोइयमहत्तराऽऽदी, बहुसयणो पिल्लओ कुलीणो य ।
परिणतवओ अभीरू,अणभिग्गहिओ अकुतूहली ॥१२२१॥
कुलपुत्त सत्तमंतो, भीयपरिस भद्दओ परिणओ अ ।
धम्मट्ठी य विणीतो,अज्जासेज्जायरो भणिओ ॥१२२२॥

यो भोगिकमहत्तराऽऽदिर्बहुस्वजनो बहुपाक्षिकः, तथा प्रेरकः चक्राऽऽदीनां स्वगृहे प्रविशन्तीनां निवारकः, कुलीनः,परिणत-वयाश्च प्रतीतः, अभीरुत्वपक्षे महत्यपि कार्ये न बिभेति, कथमेतत् कर्त्तव्यमिति ?। अनभिगृहीत आभिग्रहिकमिथ्यात्वरहितः, अकुतूहली संयतीनां भोजनाऽऽदिदर्शने कौतुकवर्जितः । यस्तु कुलपुत्रकः, सत्त्ववान् न केनाप्यभिभवनीयः, भीतपर्षत् प्राज्ञत् , भद्रकः शासने बहुमानवान्, परिणतो वयसा मत्या वा, धर्मार्थी धर्मश्रद्धालुः, विनीतो विनयवान् । एष आर्याणां शय्यातरो भणितस्तीर्थकरैः । गतं वसतिद्वारम् । बृ० १ उ० । ('वसहि' शब्दे विशेषविधिः)

अथ विचारद्वारमाह-

अणावायमसंलोगा, अणावाया चेव होइ संलोगा ।
आवायमसंलोगा, आवाया चेव संलोगा ॥१२२३॥

अनापाता असंलोकाः १, अनापाताश्चैव संलोकाः २, आपाता असंलोकाः ३, आपाताः संलोकाश्चेति ४ । चतस्रो विचारभूमयः ।

एतासु संयतीनां विधिमाह-

बीयारे बहि गुरुगा, अंतो वि य तइयवज्जिते चेव ।
तइए वि जत्थ पुरिसा,उवेंति वेसित्थियाओ य ॥१२२४॥

यदि 'पुरोहडे' विद्यमाने संयत्यो ग्रामाद् बहिर्विचारभुवं गच्छन्ति, ततश्चतुर्ष्वपि स्थण्डिलेषु प्रत्येकं चतुर्गुरुकाः, अन्तरेऽपि च ग्रामाद्यभ्यन्तरे पुरोहडाऽऽदौ आपातासंलोकलक्षणं तृतीयस्थण्डिलं वर्जयित्वा शेषेषु त्रिषु स्थण्डिलेषु गच्छन्तीनां त एव चत्वारो गुरुकाः । तृतीयेऽपि स्थण्डिले यत्र पुरुषा वेश्यास्त्रियश्चोपयन्ति आपतन्ति, तत्र चत्वारो गुरुकाः । यत्र तु कुलजानां स्त्रीणामापातो भवति तत्र गन्तव्यम् ।

किं पुनः कारणं प्रथमाऽऽदीनि स्थण्डिलानि तासां नानुज्ञायन्ते ?। उच्यते-

जत्तो दुस्सीला खलु, वेसित्थिनपुंसहेट्ठतेरिच्छा ।
सा उ दिसा पडिकुट्ठा,पढमा बिइया चउत्थी य ॥१२२५॥

(जत्तो त्ति) यस्यां दिशि दुःशीलाः परदाराभिगामिनः पुरुषाः, तथा वेश्याः स्त्रियो, नपुंसकाश्च (हेट्ठ त्ति) अधो नापिताः, तिर्यञ्चश्च वानराऽऽदय आपतन्ति, सा तु सा पुनर्दिग्, प्रथमा द्वितीया चतुर्थी च प्रतिषिद्धा, प्रथमाऽऽदीनि स्थण्डिलानीत्यर्थः ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां व्याचष्टे-

चारभडघोडमिंठा, सोलगतरुणा य जे य दुस्सीला ।
उब्भामित्थी-वेसी-अपुमेसु उविंति उ तदट्ठा ॥१२२६॥

चारभटा राजपुरुषाः,घोटाश्चेटाः,मिण्ठाः गजपरिवर्त्तकाः,सोलास्तुरगचिन्तानियुक्ताः। एवमादयो ये तरुणाः सन्तो दुःशीलाः, ते प्रथमद्वितीययोः स्थण्डिलयोरनापातत्वादेकान्तमिति कृत्वा उद्भ्रामकस्त्रीषु वा वेश्यासु वा (अपुमेसु त्ति) नपुंसकेषु वा पूर्वप्राप्तेषु, तदर्थं तेषामुद्भ्रामकस्त्रीप्रभृतीनां प्रतिसेवनार्थमायान्तीति ।

चतुर्थे तु स्थण्डिले संलोकत्वादेते दुःशीलाऽऽदयः संयतीवर्गान् पश्येयुः, संयतीवर्गेण वा ते दृश्येरन्नित्यतस्तदपि निषिध्यते-

हेट्ठ उवासणहेउं, णेगाऽऽगमणम्मि गहण उड्डाहो ।
वानरमयूरहंसा, छाला सुणगादितेरिच्छा ॥१२२७॥

अधस्ताद्रुपासनमध्ये लोचकर्म, तद्धेतोरधो नापिते पूर्वप्राप्ते तत्रानेकेषां मनुष्याणां मध्ये लोचकर्मकारापकर्मणामागमने सति यदुदीर्णमोहास्ते संयतिं गृह्णन्ति, ततो ग्रहणे उड्डाहो भवति, तथा वानरमयूरहंसाः, छगलाः, शुनकाऽऽदयश्च तिर्यञ्चस्तत्राऽऽयाताः संयतीमुपसर्गयेयुः ।

यत एवं ततः किमित्यत आह-

जइ अंतो वाघाओ, बहिया तासिं तइय अणुन्नाया ।
सेसा णाणुन्नाया, अज्जाण वियारभूमीओ ॥ १२२८॥

यद्यन्तरे ग्रामाभ्यन्तरे व्याघातः पुरोहडाऽऽदेरभावः,ततो बहिस्तासां तृतीया विचारभूमिरापातासंलोकरूपाऽनुज्ञाता,तत्राऽपि स्त्रीणामेवाऽऽपातो ग्राह्यो, न पुरुषाणां,शेषा विचारभूमयोऽनापातासंलोकाऽऽद्या आर्यिकाणां नानुज्ञाताः । गतं विचारद्वारम् । बृ० १ उ० । ('वसहि' शब्दे रात्रौ मात्रकयतना)

अथ संयतीगच्छस्याऽऽभवनमिति द्वारमाह-

पडिलेहियं च खेत्तं, संजइवग्गस्स आणणा होइ ।

णिक्कारणम्मि मग्गओ, कारणे समगं च पुरतो वा ॥१२२९॥

एवं वसतिविचारभूम्यादिविधिना प्रत्युपेक्षितं च संयतीप्रायोग्यं क्षेत्रं, ततः संयतीवर्गस्याऽऽनयनं तत्र क्षेत्रे भवति । कथम्?, इत्याह-निष्कारणे निर्भये, निराबाधे वा सति साधवः पुरतः स्थिताः, संयत्यस्तु मार्गतः पृष्ठतः स्थिता गच्छन्ति, कारणे तु समकं वा साधूनां पार्श्वतः, पुरतो वा साधूनामग्रतः स्थिताः संयत्यो गच्छन्ति ।

णिप्पच्चवायसंबं-धिभाविए गणहरऽप्पबिइ तइए ।
तेणाइभए सत्थे-ण सद्धिं कयकरणसहिते वा ॥१२३०॥

निष्प्रत्यपाये संयतीनां ये संबन्धिनः स्वज्ञातीयाः, भाविताश्च सम्यक्परिणतजिनवचना निर्विकाराः संयताः, तैः सह गणधर आत्मद्वितीयः, आत्मतृतीयो वा संयतीर्विवक्षितं क्षेत्रं नयति । अथ स्तेनाऽऽदिभयं वर्त्तते, ततः सार्थेन सार्द्धं नयति, यो वा संयतः कृतकरण इषुशास्त्रेण सहितः संयतीस्तत्र नयति, स च गणधरास्स्वयं पुरतः स्थितो गच्छति, संयत्यस्तु मार्गतः स्थिताः ।

अत्रैव मतान्तरमुपन्यस्य दूषयन्नाह-

उभयट्ठाइनिमित्तं, मा पेल्ल वतिणि तेण पुरतंगे ।
तं तु न जुज्जइ अविणय, विरुद्ध उभयं च जयणाए ॥१२३१॥

एके सूरयो ब्रुवते उभयं कायिकीसंज्ञे, तदर्थम्, आदिशब्दादपरस्मिन् वा कस्मिंश्चित्प्रयोजने विनिर्विष्टमुपविष्टं सन्तं संयतं, व्रतिनी मा प्रेरयतु, इत्यनेन हेतुना संयत्यः पुरतो गच्छन्ति । अत्राऽऽचार्य आह- तत्तु यदुक्तं, न युज्यते, कुतः?, इत्याह-पुरतो गच्छन्तीनां तासामविनयः साधुषु संजायते, लोकविरुद्धं चैवं परिस्फुटं जायते-अहो! महेलाप्रधानमासां दर्शनं, यत एवमतो मार्गतः स्थिता एव ता गच्छन्ति, उभयं च कायिकीसंज्ञारूपं यतनया कुर्यात् । का पुनर्यतना?, इति चेदुच्यते-यत्रैकः कायिकीं संज्ञां वा व्युत्सृजति, तत्र सर्वेऽपि तिष्ठन्ति, तथास्थितांश्च तान् दृष्ट्वा संयत्योऽपि नाग्रतः समागच्छेयुः, ता अपि पृष्ठत एव शरीरचिन्तां कुर्वन्तीति । गतं गच्छस्याऽऽनयनमिति द्वारम् ।

अथ वारकद्वारमाह-

जहियं च अगारिजणो, चोक्खब्भूतो सुईसमायारो ।
कुडमुहददरएणं, वारगनिक्खेवणा भणिया ॥१२३२॥

यस्मिंश्च ग्रामाऽऽदावगारीजनोऽविरतिकालोकः, चोक्षभूतः शुचिसमाचारश्च वर्त्तते, तत्र वारकग्रहणं निर्ग्रन्थीभिः कर्त्तव्यम् । अथ न कुर्वन्ति, ततश्चत्वारो गुरवः । यच्च प्रवचनोड्डाहाऽऽदिकं, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । यत एवमतः कुटमुखे घटकण्ठके लक्षणचीवरदर्दरकेण पिहितस्य वारकस्य निक्षेपणा भणिता भवति ।

थीपडिबद्धे उवस्सए, उस्सग्गपदेण संवसंतीओ ।
वच्चंति काइभूमिं, मत्तगहत्थाउ आयमणं ॥१२३३॥

उत्सर्गपदेन संयतीभिः स्त्रीप्रतिबद्धे उपाश्रये वस्तव्यमिति कृत्वा तत्र संवसन्त्यो यदा कायिकीं भूमिं व्रजन्ति, तदा मात्रकहस्ता वारकं हस्ते गृहीत्वा व्रजन्ति, तासामगारीणां प्रत्ययो जायते-एताः कायिकीं कृत्वा पश्चादाचमनं करिष्यन्ति, अहो! शुचिसमाचारा इति । तत्र च गतास्तासामदर्शनीभूता आचमनं कुर्वन्ति ।

स च वारको अन्तर्लिप्तः कर्त्तव्यः; कुतः?, इत्यत आह-

दुक्खं विसुयावेउं, पणगस्स य संभवो अलित्तम्मि ।
संदंते तसपाणा, आवज्जणतक्कणाऽऽदीया ॥१२३४॥

वारकोऽलिप्तः सन्, किम्?, (विसुयावेउं ति) शोषयितुं दुःखं दुःखकरो भवति, अलिप्ते च पानकभावितत्वात् पनकस्य संभवः संमूर्छनं भवति, अलिप्तश्च वारकः पानके प्रक्षिप्ते सति स्यन्दते परिगलति, स्यन्दने च त्रसप्राणिनः कीटिकामक्षिकाऽऽदयः समागच्छेयुः । (आवज्जणं ति) यदनन्तकायनिकायविकलेन्द्रियेषु संघट्टनाऽऽदिकमापद्यते, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । (तक्कणाई य त्ति) ततो वारकात् पानकेन परिगलति मक्षिकाः पतन्ति, तासां ग्रसनार्थं गृहकोकिला धावति, तस्या अपि भक्षणार्थं मार्जारीत्येवं तर्कणम्, तदादयो दोषा भवेयुः ।

यत्र पुनः कायिकीभूमौ सागारिकं भवति, तत्रेयं यतना-

सागारिए परंमुह-दगसद्दपसंफुसंतिओ णेवं ।
पुलएज्ज* मा य तरुणी, तो अच्छउ दवं तु जा दिवसो ॥१२३५॥

सागारिके सति पराङ्मुखीभूय कायिकीं कृत्वा नैवं जगमसंस्पृशन्त्यो दकशब्दं पानकप्रक्षालनानुमापकं कुर्वते, तथा तरुणः स्त्रियः किमत्रास्ति पानकं, न वेति जिज्ञासया मा प्रलोकन्तामिति हेतोस्तस्मिन्वारके तावदच्छमकलुषं द्रवं पानकं स्थितं तिष्ठति, यावद्दिवसः, ततः सन्ध्यासमये तत्पानकं पिबन्ति । गतं वारकद्वारम् ।

अथ भक्तार्थनाविधिद्वारमाह-

मंडलिठाणस्सऽसती, वसा य तरुणीसु अहिपतंतीसु ।
पत्तेयकमढभुंजण-मंडलिथेरी उ परिवेसे ॥१२३६॥

यद्यसागारिकं, ततो मण्डल्यां समुद्दिशन्ति, अथ मण्डलीभूमिः सागारिकबहुला, ततो मण्डलिस्थानस्यासति, वशाद्वा प्रणयेन तरुणीष्वभिपतन्तीषु तत्रौर्णिकमन्यमथः प्रस्तीर्य तस्योपरि सौत्रिकं तत्राप्यलाबुपात्रकाणि स्थापयित्वा प्रत्येकं कमठकेषु भुञ्जते, प्रवर्त्तिनी च पूर्वाभिमुखा धुरि निविशते, तत एका मण्डलिस्थविरा यमलजननी सहोदरा सर्वासामपि परिवेषयेत्, आत्मनोऽपि योग्यमात्मीये कमठके प्रक्षिपेत् ।

ओगाहिमाइविगई, समभाए करेइ जत्तिया समणी ।
तासिं पच्चयहेतुं, अणाहिक्खणा अकलहो अ ॥१२३७॥

अवगाहिमं पक्वान्नम्, आदिशब्दाद् घृताऽऽदिकाश्च विकृतीः, यावत्यः श्रमण्यः, तावतः समभागान्, मण्डलिस्थविरा करोति । किमर्थम्?, तासां श्रमणीनां प्रत्ययार्थम्, तथा-(अणहिक्खण त्ति) अनधिकस्वादनार्थं, सर्वासमप्यविषमसमुद्देशनार्थम्, अकलहश्चैवं भवति, असंखडं न भवतीत्यर्थः ।

ताश्च समुद्देष्टुमुपविशन्त्य इत्थं ब्रुवते-

निव्वीइए बिइयाई, विगईओ लंबणा वए बिइया ।
आएण गिलायंबिलिया, अज्ज अहं देह अन्नासिं ॥१२३८॥

एका भ्रूयादिसंख्याविकृतयो मुक्तास्ताः, शेषाणां प्रत्याख्यानम्, अपरा ब्रवीति-अद्य मामेतावन्तो लम्बनाः कवलाः, इत ऊर्ध्वं नियमः । अन्याऽभिधत्ते-अद्याहमम्लाना, ग्लानपर्युषितमन्नं मया भोक्तव्यमित्येवं प्रतिपन्नाभिग्रहा । तदपरा ब्रूते-अद्याहमाचाम्लिका, तथा चाम्लप्रत्याख्याना, अत इदं विकृत्यादिकमन्यासां प्रय-

* "दृशो नियच्छ०" ॥८।४।१८१॥ इत्यादिना 'पुलअ' आदेशः ।

च्छत, एवं समुद्दिश्य पानकेनाऽऽचमनं कुर्वन्ति, प्रवर्त्तिन्याः कमठकं क्षुल्लिका निर्लेपयन्ति, ततः सर्वास्वपि समुद्दिष्टासु मण्डलीषु स्थविरा समुद्दिशति ।

एवंविधं दृष्ट्वा किं भवति ?, इत्याह-

दट्ठूण निहुयवासं, सोयप्पयत्तं अलुद्धभत्तं च ।
इंदियदमं च तासिं, विणयं च जणो इमं भणइ ॥१२३९॥

तासां संयतीनां निभृतवासं विकथाऽऽदिविरहेण निर्व्यापारतयैवाऽवस्थानं, शौचप्रयत्नं चारकप्रहणाऽऽदिरूपम्, अलुब्धभक्तं च भिक्षुक्यादिप्रत्याख्यानाभिधानम्, इन्द्रियदमं च श्रोत्राऽऽदीन्द्रियनिग्रहणं, विनयं प्रवर्त्तिन्यादिषु अभ्युत्थानाऽऽदिरूपं, दृष्ट्वा जनो लोक इदं ब्रवीति-

सच्चं तवो य सीलं, अणहिक्खाओ अ एगमेगस्स ।
जइ बंभं जइ सोयं, एयासु परं ण अन्नासु ॥१२४०॥
बाहिरमलपरिसुद्धा, सीलसुगंधा तवोगुणविसुद्धा ।
धन्नाण कुलुप्पन्ना, एआ अ वि होज्ज अम्हं पि ॥१२४१॥

सत्यं वाङ्मनसोरविसंवादिता, तपोऽनशनाऽऽदि, शीलं सुस्वभावता, अनधिकत्वादन्याऽविषमभोजनम्, एकैकस्याः परस्परमनुपाम, तथा यदि ब्रह्मचर्यं यदि शौचं शुचिसमाचारता। एतानि सत्याऽऽदीनि, यदि परमेतासु संयतीषु दृश्यन्ते, नान्यासु शाक्याऽऽदिपाखण्डिनीषु, ततो यद्यप्येता बाह्यमलेन परिक्लिष्टाः, तथापि शीलेन सुगन्धाः, तपोगुणैरनशनाऽऽदिभिः, यद्वा-तपसा प्रतीतेन, गुणैश्चोपशमाऽऽदिभिर्विशुद्धाः, धन्यानां कुलोत्पन्नाः, एता येषां कुले उत्पन्नास्तेऽपि धन्या इति भावः । अपिः संभावनायां संभाव्यते । किमर्थः ?, यदस्माकमपि भगिनी, दुहिता च एतादृशस्वकुलोज्ज्वालनकारिण्यो भवेयुः ।

एवं तत्थ वसंती-ण्उवसंतो सो य सिं अगारिजणो ।
गिण्हंति य संमत्तं, मिच्छत्तपरंमुहो जाओ ॥१२४२॥

एवं तत्र वसन्तीनां तासामगारीजन उपशान्तः प्रतिबुद्धः, ततो मिथ्यात्वपराङ्मुखो जातः सन् सम्यक्त्वं गृह्णाति, चशब्दाद्देशविरतिं वा, कश्चित्तद्गुणग्रामरञ्जितमनाः सर्वविरतिमपि प्रतिपद्यते । गतं भिक्षार्थनाविधिद्वारम् ।

अथ प्रत्यनीकद्वारमाह-

तरुणीण अभिद्दवणे, संवरितो संजतो निवारेइ ।
तह वि य अठायमाणे, सागारिओ तत्थुवालभइ ॥१२४३॥

तरुणीनां संयतीनामभिद्रवणे प्रत्यनीकेन विधीयमाने सति संवृतः संयतीवेषाऽऽच्छादितः संयतो निवारयति, तथाऽपि चातिष्ठति तस्मिन् सागारिकः शय्यातरः, तत्रोपसर्गे, तमुपालभते ।

एतामेव निर्युक्तिगाथां भावयति-

गणिणीणऽकहणे गुरुगा, सा वि य न कहेइ जइ गुरूणं तु ।
सिट्ठम्मि य ते गंतुं, अणुसट्ठी मित्तमाईहिं ॥१२४४॥

कश्चित्तरुणो विषयलोलुपतया संयतीनामुपद्रवं कुर्यात, ततस्तत्क्षणादेव ताभिः प्रवर्त्तिन्याः कथनीयम्, यदि न कथयन्ति, ततश्चत्वारो गुरवः । सा च प्रवर्त्तिनी यदि गुरूणां न कथयति, तदा चतुर्गुरवः, आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः, तस्मात्कथयितव्यम्, ततः शिष्टे कथिते ते आचार्यास्तस्याविरतिकस्य पार्श्वे गत्वा साध्वीशीलभङ्गस्य दारुणविपाकतासूचिकामनुशिष्टिं ददति । यद्युपरमते ततः सुन्दरम् । अथ नोपरमते, ततो यानि तस्य मित्राणि, आदिशब्दाद्ये वा भ्रात्रादयः स्वजनास्तेषां निवेद्यम, तैः प्रज्ञापिते यदि स्थितः, ततो लष्टम् ।

तह वि य अठायमाणे, वसभा भेसिंति तह वि य अठंते ।
अमुगत्थ घरे पज्जह, तत्थ य वसभा वतिणिवेसा ॥१२४५॥

तथाऽप्यतिष्ठति तस्मिन् प्रत्यनीके, वृषभा गच्छस्य शुभाशुभकार्यचिन्तानियुक्ताः, तं प्रत्यनीकं भापयन्ति, तथाऽप्यतिष्ठति यस्तरुणः कृतकरणः स संयतीनेपथ्यं कृत्वा तस्य संकेतं प्रयच्छति, यथा-अमुकत्र गृहे ममागच्छत, ततो वृषभा व्रतिनीवेषं परिधाय तेन साधुना सह तत्र गत्वा प्रत्यनीकस्य शिक्षां कुर्वन्ति, तथाऽप्यनुपशान्ते तस्मिन् सागारिकस्य निवेद्यते, तेनोपलब्धे यदि स्थितः, ततः सुन्दरम् ।

अथ नास्ति तदानीं सन्निहितः-

सागारिए असंते, किच्चकरे भोइयस्स व कहिंति ।
असत्थ ठाणे णिंती, खेत्तस्सऽसती सति णिवे वा ॥१२४६॥

सागारिके असंनिहिते कृत्यकरस्य ग्रामचिन्तानियुक्तस्य भोगिकस्य ग्रामस्वामिनः कथयन्ति, तेन शासितोऽपि यदि नोपरमते, ततः संयतीरन्यत्र स्थाने क्षेत्रे नयन्ति । अथ नास्ति संयतीप्रायोग्यमपरं, स्वयं वा संयता ग्लानाऽऽदिकार्यव्यापृता न शक्नुवन्ति क्षेत्रान्तरं गन्तुं, ततो नृपस्य दाण्डिकस्य निवेदने, स प्रत्यनीकमुपद्रवन्तं निवारयति । गतं प्रत्यनीकद्वारम् । बृ० १ उ० । नि० चू० । ("गोयरचरिया" शब्दे तृ० भा० ९७१ पृष्ठे भिक्षाविधिरुक्तः)

अथ निर्ग्रन्थीनां मासः कस्मात्तासां द्वौ मासाविति
द्वारं व्याख्यायते-शिष्यः पृच्छति-किं निर्ग्रन्थी-
नामभ्यधिकानि महाव्रतानि, येन तासां
द्वौ मासौ, निर्ग्रन्थानामेकं मासमे-
कत्र वस्तुमनुज्ञायते ?। सूरि-
राह-

जइ वि य महव्वयाइं, निग्गंथीणं न होंति अहियाइं ।
तह वि य निच्चविहारे, हवंति दोसा इमे तासिं ॥१२६४॥

यद्यपि च निर्ग्रन्थीनां महाव्रतानि नाधिकानि भवन्ति, तथाऽपि नित्यविहारे मासे मासे क्षेत्रान्तरं संक्रमणे, इमे दोषास्तासां भवन्ति ।

मंसाइपेसिसरिसा, वसही खेत्तं च दुल्लभं जोग्गं ।
एएण कारणेणं, दो दो मासा अवरिसासु ॥१२६५॥

मांसाऽऽदिपेशीसदृशाः संयत्यः, सर्वस्याप्यभिलषणीयत्वात्, तथा तासां योग्या वसतिर्दुर्लभा, क्षेत्रं च तत्प्रायोग्योपेतं दुर्लभं, ततो यथोक्तगुणविकलायां वसतौ दोषदुष्टे वा क्षेत्रे स्थाप्यमानानां बहवः प्रवचनविराधनाऽऽदयो दोषा उपढौकन्ते । एतेन कारणेन तासामवर्षासु वर्षावासं विमुच्य द्वौ द्वौ मासावेकत्र वस्तुमनुज्ञायते ।

अथ द्वयोरुपरि वसन्तीनां दोषान्, द्वितीयपदं चोपदर्शयति-

दुण्हं उवरि दसंती, पायच्छित्तं च होंति दोसा य ।
बिइयपयं च गिलाणे, वसती भिक्खं च जयणाए ॥१२६६॥

चतुर्मासयोरुपरि वसन्ति, ततः प्रायश्चित्तं, दोषाश्च भवन्ति, द्वितीयपदं च ग्लाने च सति वसन्ति, तत्र च यतनया प्रतिपत्तव्यम् । आचार्यो निर्ग्रन्थानामिव द्रष्टव्यः ।

मासावासमूत्रम्-

से गामंसि वा० जाव रायहाणिंसि वा परिक्खेवंसि वा बाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंतगिम्हासु चत्तारि मासा वत्थए, अंतो दो मासे, बाहिं दो मासे, अंतो वसमाणीणं अंतो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणीणं बाहिं भिक्खायरिया ॥ ९ ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् । नवरं सबाहिरिके क्षेत्रे अन्तर्द्वौ मासौ, बहिर्द्वौ मासाविस्येवं चतुरो मासान् निर्ग्रन्थीनां वस्तुं कल्पत इति ।

अथ भाष्यम्-

एसेव कमो नियमा, सपरिक्खेवे सबाहिरीयम्मि ।
नवरं पुण णाणत्तं, अंतो बाहिं चउम्मासा ॥१२६७॥

एष एव पूर्वसूत्रोक्तः क्रमो नियमात् सपरिक्षेपे सबाहिरिके क्षेत्रे वसन्तीनां संयतीनां द्रष्टव्यः, नवरं पुनर्नानात्वं विशेषोऽयम्--अन्तरभ्यन्तरे, बहिर्बाहिरिकायामेवमुभयोश्चत्वारो मासाः पूरणीयाः ।

चउण्हं उवरि वसंती, पायच्छित्तं च होंति दोसा य ।
णाणत्तं असईए तु, अंतो वसही बहिं चरइ ॥१२६८॥

चतुर्णां मासानामुपरि यदि सबाहिरिके क्षेत्रे संयती वसन्ति, तदा तदेव प्रायश्चित्तं, त एव दोषाः, द्वितीयमपि तदेव मन्तव्यम्, नानात्वं विशेषः, पुनरबाहिरिकाया वसतेः, शय्यातरस्य वा यथोक्तगुणस्यासत्यभावे, अन्तः प्राकाराभ्यन्तरे, (वसहि त्ति) वसतौ पूर्वस्यामेव स्थिताः, बहिर्बाहिरिकायां चरन्ति भिक्षाचर्यामटन्ति ।

जोग्गवसहीऍ असई, तत्थेव ठिया चरंति बाहिं तु ।
पुव्वगहिए विगिंचिय, तत्तो च्चिय मत्तगादी वि ॥१२६९॥

बहिः संयतीयोग्याया वसतेरभावे, तत्रैवाभ्यन्तरोपाश्रये स्थिताः सत्यो बहिश्चरन्ति, पूर्वगृहीतं मौचकतृणडगलाऽऽदि परित्यज्य तत एव बाहिरिकाया मात्रकाऽऽदीन्यानेतव्यानि, न केवलं भिक्षेत्यादिशब्दार्थः ।

भुतसंहननाऽऽदिविषया सामाचारी, क्षेत्रकालाऽऽदिविषया वा स्थितिः स्थविरकल्पिकानामिव द्रष्टव्या । तदेवमुक्त आर्यिकाणामपि मासकल्पविधिः । बृ० १ उ० । (निर्ग्रन्थीनां दूरतः परिहरणीयत्वं 'वसह' शब्दे वक्ष्यते)

णिग्गम-निर्गम-पुं० । निर्गमनं निर्गमः, कुतः सामायिकं निर्गतमित्येवमादिरूपे निर्गमने, विशे० । अनु० । आ० म० ।

निर्गमस्य षड्विधो निक्षेपः-

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो उ निग्गमस्स य, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥१५३३॥

नामस्थापनानिर्गमौ नामाऽऽवश्यकाऽऽयुक्तानुसारेण भावनीयौ । द्रव्याद् द्रव्यस्य वा निर्गमः, क्षेत्रात्क्षेत्रस्य वा, कालात्कालस्य वा, भावाद्भावस्य वा निर्गम इत्यादि वाक्यम् । इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥ १५३३ ॥

विस्तरार्थं तु भाष्यकारः प्राऽऽह-

दव्वाओ दव्वस्स व, विणिग्गमो दव्वनिग्गमो सो य ।
तिविहो सचित्ताई, तिविहाओ संभवो नेओ ॥ १५३४ ॥

द्रव्याद् द्रव्यस्य वा निर्गमो द्रव्यनिर्गमः। स च सचित्ताऽऽदिद्रव्यसंबन्धित्वात् सचित्ताऽऽदिस्त्रिविधः । तस्य च त्रिविधस्य सचित्ताऽऽदेस्त्रिविधादेव सचित्ताऽऽदेर्द्रव्यात्संभव उत्पादो ज्ञेय इति ॥ १५३४ ॥

तथाहि-

पजवो सचित्ताओ, भूमेरंकुरपयंगवप्फाई ।
किमिगच्छसोणियाई, मंसाओ थीसरीराओ ॥१५३५॥
किमिघुणघुणचुण्णाई, दारूओ जं व निग्गयं जत्तो ।
दव्वं विगप्पवसओ, जह सब्भावोवयारेहिं ॥ १५३६ ॥

सचित्ताद् भूमिद्रव्यात्सचित्तद्रव्यस्याङ्कुरस्य प्रभवो निर्गमो ज्ञातव्यः, मिश्रस्य तु पतङ्गद्रव्यस्य, तस्य हि पक्षाऽऽदिप्रदेशा अचित्ताः, शेषं तु सचित्तमिति मिश्रता । अचित्तस्य तु बाष्पद्रव्यस्य । तदेवं सचित्तात्सचित्ताऽऽदेस्त्रिविधस्य निर्गम इत्युक्तम् । अथ मिश्रात्स्त्रीशरीरद्रव्यात्सचित्तद्रव्यस्य कृमेर्निर्गमो वेदितव्यः, मिश्रस्य तु गर्भद्रव्यस्य डिम्भरूपस्य, तद्गतकेशाऽऽदीनामचित्तत्वात्, शेषस्य तु सचित्तत्वान्मिश्रता; अचित्तस्य तु शोणितद्रव्यस्य । मिश्रात्सचित्ताऽऽदेर्निर्गम इत्यपि भावितम् । अचित्तद्रव्याद्दारुणः काष्ठात्सचित्तस्य कृमिद्रव्यस्य निर्गमः, मिश्रस्य तु घुणस्य, पतङ्गवदस्यापि मिश्रत्वात्; अचित्तस्य तु घुणचूर्णस्य घुणाऽऽकृष्टस्तृणतदवयवनिवहस्येत्यर्थः । अचित्तात्सचित्ताऽऽदेः निर्गम इत्यपि गतम् । तथा-'जं व' इत्यादि । 'यद्वा-द्रव्यं यस्माद् द्रव्याद्विकल्पवशतो मानसकल्पनासमारोपाद् यथा सद्भावेन सद्भूतप्रकारेण, उपचारेण वा निर्गतम्, सोऽपि द्रव्यान्निर्गमो द्रव्यनिर्गम उच्यते । तत्र यथा सद्भावेन विकल्पवशाद्यथा दुग्धाऽऽदिद्रव्यात् घृताऽऽदिद्रव्यस्य निर्गमः। अत्र हि भूमेः "संमूर्छजवटकन्यायेन" दुग्धात् घृताऽऽदिनिर्गमो न दृश्यत इति 'विकल्पवशतः' इत्युच्यते, दुग्धस्य च दधिघृताऽऽदिभावेन परिणामिकारणता समीक्ष्यते, इत्येतावता यथा सद्भावेनेत्यभिधीयते । उपचारेण तु रूपकाऽऽदेर्द्रव्याद्भोजनाऽऽदेर्निर्गम इत्यादि सर्वं यथासंभवमन्यदपि स्वबुद्ध्याऽभ्यूह्य वक्तव्यमिति ॥ १५३५ ॥ १५३६ ॥

क्षेत्रनिर्गममाह-

खित्तस्स विनिग्गमणं, सरूवओ नऽत्थि तं जमकिरियं ।
खेत्ताओ खेत्तम्मि वि, हविज्ज दव्वाइनिग्गमणं ।१५३७।
उवयारओ खेत्तस्स य, विनिग्गमो लोगनिक्खुडाणं व ।
लद्धं विनिग्गयं ति य, जह खेत्तं राउला उ त्ति ॥१५३८॥

यथा द्रव्यस्यापि कथंचित्कल्पनया निर्गम उच्यते, न तु स्वरूपतः, एवं क्षेत्रस्याऽपि स्वरूपेण कुतोऽपि निर्गमो नास्ति, तस्याऽक्रियत्वेन तदयोगात् । क्षेत्रात्पुनः निर्गमोऽस्ति, यथा आयुःक्षयाऽऽदिसमये ऊर्ध्वाधोलोकाऽऽदिक्षेत्राद्देवनारकद्रव्याऽऽदेर्निर्गमः । क्षेत्रेऽपि धान्याऽऽदेर्निर्गमो द्रष्टव्यः, न तु क्षेत्रस्य

स्वरूपेण निर्गमः । किं सर्वथा नास्ति ?, इत्याह-उपचारतः कल्पनामात्रेण, क्षेत्रस्यापि निर्गमः समस्त्येव, यथा लोके-क्षेत्राभिष्कुटा निर्गता इति; तेषां स्वरूपेणाऽवस्थितानां निर्गमक्रियाभावेऽपि निर्गता इव निर्गता इति निर्गमोपचारः । तथा लब्धं विनिर्गतं क्षेत्रं राजकुलात्, निर्गतं जरताऽऽदिक्षेत्रं दुःषमाऽऽदिकालात् दुर्भिक्षाऽशिवाऽऽदेर्वेत्यादीति ॥ १५३७ ॥ १५३८ ॥

कालनिर्गममाह-

कालो वि दव्वधम्मो, निक्किरिओ तस्स निग्गमो पज्जवो ।
तत्तो च्चिय दव्वाओ, पज्जवइ काले व जं जम्मि ॥१५३९॥
उवयारओ व सरओ, विणिग्गओ णिग्गओ य तत्तोऽहं ।
अहवा दुक्कालाओ, नरो व बालाइकालाओ ॥१५४०॥

कालोऽपि वर्तनारूपो द्रव्यधर्म एव । स च स्वरूपेण निष्क्रियः, द्रव्यद्वारेणैव तत्क्रियाप्रवृत्तेः । तस्य च तत एव स्वाश्रयभूताद् द्रव्यान्निर्गमः प्रभव उत्पत्तिः । यथा-हरिताऽऽदिकं यस्मिन् वर्षाऽऽदिके काले प्रभवत्युत्पद्यते स कालनिर्गम इति । अथवा-उपचारतोऽपि कालनिर्गमो, यथा-शरत्समयोऽसौ निर्गत आविर्भूतः, ततो वा शरत्कालाद्, दुष्कालाद्वा निर्गतो निस्तीर्णोऽहं बालाऽऽद्यवस्थातो वा नरो निर्गत इत्याद्युपचारतः कालनिर्गम इति ॥ १५३९ ॥ १५४० ॥

अथ भावनिर्गममाह—

भावो वि दव्वधम्मो, तत्तो च्चिय तस्स निग्गमो पभवो ।
दव्वस्स व भावाओ, विणिग्गमो भावओऽवगमो ॥१५४१॥
रूवाइपोग्गलाओ, कसायनाणादओ य जीवाओ ।
निंति पभवंति ते वा, तेहिंतो तव्विओगम्मि ॥१५४२॥

भावोऽपि कालवद् द्रव्यधर्म एव । तस्य च ततो द्रव्याद् यो निर्गमः प्रभवः स भावनिर्गमः, द्रव्यस्य वा भावान्निर्गमो भावनिर्गमः । कः ?, इत्याह-भावतो भावमाश्रित्य यो द्रव्यस्यापगमो विनाशः । इदमुक्तं भवति-यदा द्रव्यं पूर्वपर्यायेण विनश्यति, अपूर्वपर्यायेण तूत्पद्यते, तदा पूर्वपर्यायात्प्राक्तनभावाद् द्रव्यस्य निर्गतत्वाद्भावान्निर्गमो भावनिर्गम इत्युच्यते । तथा रूपाऽऽदयो भावाः पुद्गलद्रव्यात्, कषायज्ञानाऽऽदयश्च जीवान्निर्गच्छन्ति प्रभवन्तीति भावानां निर्गमो भावनिर्गम उच्यते । (ते वा तेहिंतो त्ति) अथवा ते पुद्गलजीवाऽऽदयः पदार्थास्तेभ्यो रूपाऽऽदिभ्यः कषायाऽऽदिभ्यश्च भावेभ्यस्तद्वियोगे प्राक्तनभावविनाशे निर्गच्छन्तीति भावेभ्यो निर्गमो भावनिर्गम इत्युच्यत इति । तदेवं विनेयमतिव्युत्पादनार्थमभिहितः षड्विधो निर्गमः ॥ १५४१ ॥ १५४२ ॥

इदानीं प्रकृते यावता प्रयोजनं तदुपदर्शयितुं प्रशस्तभावनिर्गमस्वरूपं तावद्दर्शयन्नाह-

तत्थ पसत्थं मिच्छ-त्तन्नाणाविरइभावनिग्गमणं ।
जीवस्स संभवंति य, जं सम्मत्तादओ तत्तो ॥१५४३॥

तत्रानन्तरोक्ते भावनिर्गमे प्रशस्तं शुभं निर्गमनम् । किम् ?, इत्याह-मिथ्यात्वाऽज्ञानाविरतिलक्षणादप्रशस्तभावात् यन्निर्गमनं निःसरणं जीवस्य । किमिति ?, इत्याह-यद्यस्मात्संभवन्त्येव ततो मिथ्यात्वाऽऽद्यप्रशस्तभावनिर्गमाज्जीवस्य मुक्तिपदप्राप्तिहेतवः सम्यक्त्वाऽऽदयो गुणा इति ॥ १५४३ ॥

भवत्वेवं, प्रस्तुते केन प्रयोजनम् ?, इत्याह-

एत्थ उ पसत्थभाव-प्पसूइमेत्तं विसेसओऽहिगयं ।
अपसत्थावगमो वि य, सेसा वि तदंगभावाओ ॥१५४४॥

इह च प्रक्रमे सामायिकाध्ययनं प्रस्तुतम् । तच्च क्षायोपशमिके भावे वर्तते । अत इह तस्यैव प्रशस्तक्षायोपशमिकभावस्य या प्रसूतिर्महावीरात् तन्निर्गमरूपा, तयैव विशेषतोऽधिकृतमधिकारः । तथाऽप्रशस्तमिथ्यात्वाऽऽदित्रितयौदयिकभावस्य योऽपगमो विनाशस्तेनापि चाधिकारः, तदपगमाभावे प्रशस्तभावप्रसूतेरेवाऽयोगादिति । शेषास्तु निर्गमभेदास्तदङ्गभावेन प्रशस्तभावनिर्गमकारणतयाऽऽनन्तर्येण पारम्पर्येण वा कोऽपि कथञ्चिदुपयुज्यन्त इतीह निर्दिष्टा इति ॥ १५४४ ॥

तदङ्गत्वमेव द्रव्याऽऽदीनां दर्शयति-

वीरो दव्वं खेत्तं, महसेणवणं पमाणकालो य ।
भावो य भावपुरिसो, समासओ निग्गमंगाइं ॥१५४५॥

यतो द्रव्यात्सामायिकं निर्गतं, तद् द्रव्यमत्र श्रीमन्महावीरो मन्तव्यः, यस्मिंश्च क्षेत्रे तन्निर्गतं, तदिह महसेनवनमवगन्तव्यम् । कालस्तु प्रथमपौरुषीलक्षणः प्रमाणकालः । भावस्तु भावपुरुषो वक्ष्यमाणलक्षणः । एतानि समासतः संक्षेपतः सामायिकस्य निर्गमाङ्गानीति ॥ १५४५ ॥

एतदेव दर्शयति-

सामइयं वीराओ, महसेणवणे पमाणकाले य ।
भावपुरिसा हि भावो, विणिग्गओ वक्खमाणोऽयं ॥१५४६॥

गतार्था, नवरं श्रीमन्महावीरजीवलक्षणाद्भावपुरुषात्ययं वक्ष्यमाणविस्तरस्वरूपः सामायिकलक्षणो भावो विनिर्गतः, इह च क्षायोपशमिके भावे वर्तमानत्वात् " सामायिकलक्षणो भावः " इत्युक्तम् ॥ १५४६ ॥

अथ महावीरलक्षणस्य द्रव्यस्य निर्गमं तावदभिधित्सुराह-

इच्चेवमाइ सव्वं, दव्वाहीणं जओ जिणस्सेव ।
तो निग्गमणं वोत्तुं, वोच्छं सामाइयस्स तओ ॥१५४७॥

इत्येवमादिकं क्षेत्रकालनिर्गमनाऽऽदिकं सामायिकाध्ययनाऽऽवश्यकश्रुतस्कन्धाऽऽचाराऽऽदिकं वा सर्वमपि यतो यस्माद् द्रव्यस्य महावीरलक्षणस्याधीनम, ततस्तस्यैव महावीरजिनस्य निर्गमनमुक्त्वा, ततः सामायिकस्य निर्गमनं वक्ष्य इति ॥१५४७॥

ननु महावीरजिनस्याऽपि निर्गमनं कथं वक्तव्यम् ?, इत्याह-

मिच्छत्ताइतमाओ, स निग्गओ जह य केवलं पत्तो ।
जह य पसूयं तत्तो, सामइयं तं पवक्खामि ॥१५४८॥

तमिति तदेतत्सर्वं प्रवक्ष्यामीति गाथार्थः ॥१५४८॥ विशे० । अत्र वक्ष्यमाणो भावः सामायिकलक्षणः, एतच्च सर्वं भगवन्महावीरलक्षणद्रव्याधीनमतस्तस्यैव प्रथमतो मिथ्यात्वाऽऽदिभ्यो निर्गममभिधित्सुराह-

पंथं किर देसित्ता, साहूणं अडविविप्पणट्ठाणं ।
संमत्तपढमलंभो, बोधव्वो वद्धमाणस्स ॥१४९॥

पन्थानं, किलेत्याप्तवादे, देशयित्वा कथयित्वा, साधुभ्यः, सूत्रे षष्ठी प्राकृतत्वात् । (अडवि त्ति) प्राकृतत्वादेवात्र सप्तम्या लोपः । अटव्यां पथो विप्रनष्टेभ्यः परिभ्रष्टेभ्यः, पुनस्तेभ्य एव दे-

र्मं श्रुत्वा सम्यक्त्वं प्राप्त एवं सम्यक्त्वप्रथमलाभो बोद्ध-व्यो वर्द्धमानस्येति गाथाऽक्षरार्थः ॥१४९॥

भावार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदम्-" अवरविदेहे एगम्मि गामे वत्थाहिओ, सो य रायाऽऽएसेण सगडाणि गहाय दारुनिमि-त्तं महाडविं पविट्ठो । इतो य साहुणो मग्गं पवन्ना सत्थेण स-मं वच्चंति, सत्थे आवासिए भिक्खं पविट्ठा, सत्थो गतो, ते म-ग्गातो पब्भट्ठा अयाणंता छुहा, मूढदिसा पंथं अयाणंता तेण अडविपंथेण मज्झण्हदिवसकाले तण्हाए छुहाए य अद्द-ट्टा तं देसं गया,जत्थ सो सगडसंनिवेसो। सो य वत्थाहिओ ते पासित्ता महंतं संवेगमावन्नो भणइ-अहो ! इमे साहुणो भ-वेसिया तवस्सिणो अडविमणुप्पविट्ठा । तेसिं सो परमभत्तीए विउलं असणं पाणं दाऊण आह-एह भगवं !, जेण पंथे समव-तारेमि; पुरतो संपत्थितो, ताहे ते वि साहुणो तस्सेव मग्गेण अणुगच्छंति, ततो गुरू तस्स धम्मं कहेउमारद्धो, सो तस्सुव-गतो, ततो पंथं समोयारित्ता नियत्तो। ते पत्ता सदेसं। सो पुण अविरयसम्मद्दिट्ठी कालं काऊण सोहम्मे कप्पे पलिओवमट्ठिइ-ओ देवो जातो । "

एतदेवोपप्रदर्शयन् गाथाद्वयमन्तर्भाष्यकृदाह—

अवरविदेहे गाम-स्स चिंतगो रायदारुवणगमणं ।
साहू भिक्खनिमित्तं, सत्था हीणे तहिँ पासे ॥१५०॥
दाणऽन्न पंथनयणं, अणुकंप गुरूण कहण सम्मत्तं ।
सोहम्मे उववन्नो, पलियाउ सुरो महिड्ढीओ ॥१५१॥

अपरविदेहे ग्रामस्य चिन्तकः, (रायदारुवणगमणमिति) अत्र निमित्तशब्दलोपो द्रष्टव्यः-राजदारुनिमित्तं तस्य वनगमनं, स साधून् भिक्षानिमित्तं सार्थाद् भ्रष्टान् तत्र दृष्टवान्, ततोऽनुक-म्पया परमभक्त्या दानमन्नपानस्य, नयनं प्रापणं पथि, तदन-न्तरं गुरोः कथनं, ततः सम्यक्त्वप्राप्तिः, तत्प्रभावान्मृत्वाऽसौ सौधर्मलोके उत्पन्नः पल्योपमायुः सुरो महर्द्धिक इति ।

लद्धूण य सम्मत्तं, अणुकंपाए सो सुविहियाणं वि ।
भासुरवरबोंदिधरो, देवो वेमाणिओ जातो ॥१५२॥

स ग्रामचिन्तकः सुविहितानामनुकम्पया परमभक्त्या तेभ्यः सम्यक्त्वं लब्ध्वा भासुरां दीप्तिमतीं वरां प्रधानां बोन्दिं त-नुं धारयतीति भास्वरवरबोन्दिधरः, देवो वैमानिको जातः । इति निर्युक्तिगाथाऽर्थः ॥१५२॥

चइऊण देवलोगा, इह चेव य भारहम्मि वासम्मि ।
इक्खागुकुले जातो, उसभसुयसुतो मरीइ त्ति ॥१५३॥

ततो देवलोकात् स्वायुःक्षये च्युत्वा इहैव भारते वर्षे इक्ष्वा-कुकुले जात उत्पन्न ऋषभसुतसुतो मरीचिः,ऋषभपौत्र इत्यर्थः। यतश्चैवमतः-

इक्खागुकुले जातो, इक्खागुकुलस्स होइ उप्पत्ती ।
कुलगरवंसेऽतीए, भरहस्स सुओ मरीइ त्ति ॥१५४॥

इक्ष्वाकूणां कुलमिक्ष्वाकुकुलं, तस्मिन् जात उत्पन्नो, भरतस्य सुतो मरीचिरिति योगः । तत्र सामान्येन ऋषभपौत्रस्याभिधाने सतीदं विशेषाभिधानमदुष्टमेव, सामान्याभिधाने सति सर्व-त्राऽपि विशेषाभिधानस्य दर्शनात् । स च इक्ष्वाकुकुले जातः, कुलकराः(वक्ष्यमाणलक्षणाः)तेषां वंशः प्रवाहः,तस्मिन्नतिक्रान्ते, यतश्चैवमत इक्ष्वाकुकुलस्य भवति उत्पत्तिर्वाच्येति शेषः । ॥१५४॥ आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ० चू० (कुलकरवक्त-व्यता ' कुलगर ' शब्दे तृतीयभागे ५६२ पृष्ठे समुक्ता)

णिग्गमग-निर्गमक-पुं० । प्रस्थाने, बृ० १ उ० ।

णिग्गमण-निर्गमन-न० । अपक्रमणे, निस्सरणे, पलायने, व्य० १ उ० । निस्सरणमार्गे, आ० २ श्रु० १ अ० । (गच्छान्निर्गत्यो-पसंपद्विधिः 'उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे १००५ पृष्ठे उक्तः)

णिग्गय-निर्गत-त्रि० । निःसृते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । उत्त० । नं० । नि० । अभिनिष्क्रान्ते, आ० म० १ अ० १ खण्ड । रहि-ते, संथा० । पञ्चा० । अविद्यमाने, स्था० १ ठा० । प्रतिपादिते, स० ६ अङ्ग । " उड्ढंमुहे निग्गयजीहनेत्ते । " निर्गतजिह्वानेत्रान् । उत्त० ११ अ० " णिग्गयग्गदंता ।" निर्गता अग्रदन्ता यस्य स निर्गताग्रदन्तः । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्थानान्तरप्राप्त्या नि-श्चितेऽनिश्चिते गमने, भ० १४ श० १ उ० ।

णिग्गह-निग्रह-पुं० । अनाचारप्रवृत्तेर्निषेधने, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । ज्ञा० । अन्यायकारिणां दण्डे, आव० ६ अ० । ग० । भ० । रोधे, भ० ७ श० ६ उ० । इन्द्रियनोइन्द्रियनियन्त्रणे, उ-त्त० १७ अ० । आ० चू० ।

णिग्गहजुत्त-निग्रहयुक्त-त्रि० । इन्द्रियकषायाणां निग्रहसम-र्थे, बृ० ४ उ० ।

णिग्गहट्ठाण-निग्रहस्थान-न० । वादकाले वादी प्रतिवादी वा येन निगृह्यते तन्निग्रहस्थानम् । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । वादि-बन्धनार्थके प्रतिज्ञाहान्यादौ न्यायपरिभाषिते पदार्थे, स्था० १ ठा० ।

णिग्गहदोस-निग्रहदोष-पुं० । निग्रहस्थानाऽऽदिना पराजय-स्थानरूपे दोषभेदे, स्था १० ठा० ।

णिग्गहप्पहाण-निग्रहप्रधान-न० । अनाचारप्रवृत्तिनिषेधप्रधा-ने, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । औ० ।

णिग्गहसमत्थ-निग्रहसमर्थ-पुं० । जितेन्द्रिये, तरुणाऽऽदीनां वा संयतीरूपसर्गयतां चपेटाऽऽदिना शिक्षाकारणदक्षे,बृ० १ उ० ।

णिग्गहिय-निगृहीत-त्रि० । वादे पराजिते, "सो वादी णिग्ग-हितो, पच्छा सावगेहिं गोट्ठामाहिलो धरितो । " आ०म०२अ० ।

णिग्गा-देशी-हरिद्रायाम्, दे०ना० ४ वर्ग २५ गाथा ।

णिग्गाहि-[ण्]-निग्राहिन्-निगृह्णाति मनोजवेन वशीकरोती-ति निग्राही । निग्रहणशीले उत्त० ४ अ० ।

णिग्गिण-देशी-निर्गले, दे० ना० ४ वर्ग ३६ गाथा ।

णिग्गुण-निर्गुण-त्रि० । निर्गतगुणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । उ-त्तरगुणापेक्षया निर्मर्याद,स्था०३ ठा०२ उ० । भ० । उत्तरगुणवि-कले, जं० २ वक्ष० । स्था० । गुणव्रतरहिते,ज्ञा० १ श्रु० १८अ० । शीलाऽऽदिगुणाभावात् (दशा० ६ अ०) क्षान्त्यादिगुणाभावाद् गुणविकले, पा० । भ० ।

णिग्गुणबंभ-निर्गुणब्रह्मन्-न० । योगाऽऽदिरहिते आत्मनि,स-त्वरजस्तमोरूपगुणरहिते ब्रह्मणि, अष्ट० ८ अष्ट० ।

णिग्गूढ-निर्गूढ-त्रि०। स्थिरतया स्थापिते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०।

णिग्गोह-न्यग्रोध-पुं० । वटवृक्षे, अनु० । स्था० । स० । जी०।

णिग्गोहपरिमंडल-न्यग्रोधपरिमण्डल-न० । न्यग्रोधवत्परिमण्डलं यस्य तन्न्यग्रोधपरिमण्डलम् । कर्म० ६ कर्म० । प्रज्ञा० । जी० । नाभेरुपरि न्यग्रोधवन्मण्डले, आद्यसंस्थानयुक्तत्वेन विशिष्टाऽऽकारे द्वितीयसंस्थाने, अनु०। यथा न्यग्रोध उपरिसंपूर्णावयवोऽधस्तनभागे पुनर्न तथा, तथेदमपि नाभेरुपरि विस्तरबहुलं शरीरलक्षणोक्तप्रमाणभागभधस्तु हीनाधिकप्रमाणमिति । स्था० ६ ठा० । पं० सं० । कर्म० ।

णिग्गोहपरिमंडलणाम-न्यग्रोधपरिमण्डलनामन्-न० । न्यग्रोधपरिमण्डलनिबन्धने नामकर्मभेदे, कर्म० १ कर्म० ।

णिग्घट्ट-देशी-कुशले, दे० ना० ४ वर्ग ४ गाथा ।

णिग्घाय-निर्घात-पुं० । वैक्रियाशनिप्रपाते, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । विद्युत्प्रपाते, जी० १ प्रति० ४ उ० । साभ्रे निरभ्रे वा गगने व्यन्तरकृते महागर्जितध्वनौ, स्था० १० ठा० । आव० । नि० चू० । निर्जरणे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

णिग्घायण-निर्घातन-न०। निराधिक्येन घातो निर्घातः । निर्जरणे, आ० चू० ५ अ० ।

णिग्घायणट्ठ-निर्घातनार्थ-पुं० । निर्घातननिमित्ते, "पावाणं कम्माणं णिग्घायणट्ठाए ।" आव० ५ अ० । निर्घातनमुच्छेदः, स एवार्थः प्रयोजनं तस्मै । ध० २ अधि० ।

णिग्घिण-निर्घृण-त्रि० । न विद्यते घृणा पापजुगुप्सालक्षणा यत्र स निर्घृणः। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। न विद्यते घृणा पापजुगुप्सा यस्य सः। प्रव० २७४ द्वार । प्रश्न० । निर्दये, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । आव० । "णो दीर्घो वा" ॥८ । ३ । ३८॥ इति संबुद्धौ वा दीर्घः । 'रे रे णिग्घिणया !' । प्रा० ३ पाद ।

णिग्घिणता-निर्घृणता-स्त्री० । निर्दयतायाम्, पञ्चा० १० विव० ।

णिग्घिणमइ-निर्घृणमति-त्रि० । परस्य द्रव्यादावित्रस्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिग्घेउं-निगृहीतुम्-अव्य० । निरुध्येत्यर्थे, "पुव्वपयत्तेण सक्कितो णिग्घेउं ।" नि० चू० १ उ० ।

णिग्घोर-देशी-निर्दय, दे० ना० ४ वर्ग ३७ गाथा ।

णिग्घोस-निर्घोष-पुं० । नितरां घोषो निर्घोषः । तं० । आव० । महाप्रयत्नोत्पादिते शब्दे, भ० ६ श० ३३ उ० । महाशब्दे, कल्प० ५ क्षण । रा० । आ० म० । विपा० । महाध्वनौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । जी० । आचा० । ज्ञा० । रा० ।

णिघंटु-निघण्टु-पुं० । नामसङ्ग्रहे, कल्प० ३ क्षण । कोशे, औ० । नामकोशे, "णिघंटुछट्ठाणं संगोवंगाणं चउण्हं वेयाणं ।" नि० १ श्रु० १ वर्ग ५ अ० । कल्प० ।

णिघस-निकष-पुं० । कषपट्टगतायां कषितसुवर्णरेखायाम्, अनु० । नि० चू० । आ० म० । भ० । चं० प्र० । प्रश्न० । कषपट्टके, सर्वेषामभिधानानामागमो निकषः हेमरजतकल्पजीवाऽऽदिपदार्थपरिज्ञानहेतुत्वात् कषपट्टकः । अनु० ।

णिचय-निचय-पुं०। द्रव्योपचये तानिमित्ताऽऽपादितकर्मनिचये, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आचा० । रा० । औ० । शूकराऽऽदिसंघाते, पिं० । संचये, ओघ० ।

णिचिक्खिल्ल-निश्चिक्खिल-पुं० । कर्दमाभावे, व्य० ६ उ० ।

णिचिय-निचित-त्रि० । निबिडे, अनु० । प्रश्न० । रा० । स्था० । औ० । भ० । निबिडतरत्वमापन्ने, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णिच्च-नित्य-त्रि० । शाश्वते, उत्त० १८ अ० । आव० । संथा० । सर्वदाऽवस्थायिनि, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । उत्पत्तिविनाशरहिते, प्रव० १ द्वार । अविनाशधर्मिणि, स्था० । भ० । अविचलितस्वभावे, दश० १ अ० । अव्ययविकलरूपे, विशे०। अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । स्था० । दश० । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया कूटस्थनित्यत्वेन व्यवस्थापिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । ध्रुवे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । औ० । सर्वकाले, रा० । कल्प० । जी० । व्य० । प्रश्न० । सर्वदेत्यर्थे, संथा० । जं० । प्रश्न० । रा० । स्था० । सूत्र० । उत्त० । "रागद्दोसे य जे पावे, पावकम्मपवत्तणे। जे भिक्खू रुंभई णिच्चं,से न अच्छइ मंडले ॥१॥" उत्त० ३१ अ० । "णिच्चं नीयकम्मोवजीविणो ।" नित्यं सदा नीचान्यधमजनोचितानि कर्माण्युपजीवन्ति तैर्वृत्तिं कुर्वन्ति ये ते तथा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिच्चउग्गाह-निश्चयोद्ग्राह-पुं० । निश्चयनयोपन्यासे, "तेनाऽऽदौ निश्चयोद्ग्राहो, नग्नानामपहास्ततः । रसायनीकृतविषप्रायोऽसौ न जगद्धितः" ॥ ७९ ॥ निश्चयनयोद्ग्राहो निश्चयनयोपन्यासः । नयो० ।

णिच्चंधकारतमस-नित्यान्धकारतमस्-न० । नित्यमेवान्धकारतमसं येषु ते तथा । मेघावच्छन्नाम्बरतलकृष्णपक्षरजनीवत् तमोबहुलेषु नरकेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णिच्चंपरदार-नित्यंपरदार-पुं० । प्रतिक्रमणसूत्रमध्ये श्राविकाः "णिच्चंपरदारगमणविरईओ ।" इत्यादिपाठं कथयन्त्युत "निच्चं कापुरिसगमणविरईओ ।" इत्यादि वेति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रतिक्रमणसूत्रपाठस्तु श्रावकश्राविकाणां सदृश एव ज्ञायते, येनैतद्वृत्तौ स्त्रियं प्रति परपुरुषवर्जनमुपलक्षणाद् व्याख्येयमिति व्याख्यानमस्तीति । ३५ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

णिच्चक्खणिय-नित्यक्षणिक-त्रि० । नित्यं सर्वदा क्षणा उत्सवा यत्राऽसौ नित्यक्षणिकः । सार्वदिकोत्सवयुक्ते, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ।

णिच्चतत्तिल्ल-नित्यतत्पर-त्रि०। सदैव तत्परे, पञ्चा० १७ विव०।

णिच्चदुक्खिय-नित्यदुःखित-त्रि० । सदा दुःखाऽऽकुले, तं० ।

णिच्चदोस-नित्यदोष-पुं० । अविनाशिदोषे, स्था० । तथा नित्यो यो दोषोऽभव्यानां मिथ्यात्वाऽऽदिरनाद्यपर्यवसितत्वात्, स दोषः सामान्यापेक्षया विशेषः । अथवा-सर्वथा नित्ये वस्तुनि अभ्युपगते यो दोषो बालकुमाराऽऽद्यवस्थाभावाऽऽपत्तिलक्षणः, स दोषः सामान्यापेक्षया दोषविशेष इति । स्था० १० ठा० ।

णिच्चपिंड-नित्यपिण्ड-पुं० । निमन्त्रितस्य नित्यं गृहतो प्राह्यपिण्डे, प्रव० २ द्वार ।

णिच्चभत्त-नित्यभक्त-न० । अनवरतभोजने, पञ्चा० ६ विव० ।

णिच्चभत्तिय-नित्यभक्तिक-पुं० । नित्यमेकाशनिनि साधौ, कल्प० ९ क्षण ।

णिच्चभाव-नित्यभाव-पुं० । सर्वदा सद्भावे, पञ्चा० ६ विव० ।

णिच्चर-कथ्-धा० । दुःखकथने, "दुःखेर्णिच्चरः" ॥ ८ । ४ । ३ ॥ इति दुःखविषयस्य कथेर्णिच्चर इत्यादेशः । 'णिच्चरइ' दुःखं कथयतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

णिच्चल-मुच्-धा० । दुःखमोचने, "दुःखेर्णिच्चलः" ॥ ८ । ४ । ३ ॥ इति दुःखविषयस्य मुचेर्णिच्चलाऽऽदेशः । 'णिच्चलइ' । दुःखं मुञ्चतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

निश्चल-त्रि० । "ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले" ॥ ८ । २ । २१ ॥ इति श्चभागस्य च्छो न, अनिश्चलेतिपर्युदासात् । प्रा० २ पाद । अचले, उत्त० ५ अ० । "अम णिच्चलणिप्पंदा, भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाया ।" प्रा० २ पाद । गमागमाऽऽदिरहिते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । रा० ।

णिच्चलपय-निश्चलपद-न० । मोक्षे, पं० व० ४ द्वार । रा० ।

णिच्चवाय-नित्यवाद-पुं० । नित्यैकान्तवादे, स्था० ।

णिच्चसंदण-नित्यस्यन्दन-त्रि० । नित्यस्रवणशीले सततवाहिनि, कल्प० ६ क्षण ।

णिच्चसति-नित्यस्मृति-स्त्री० । सार्वदिकस्मरणे, पञ्चा० १ विव० । प्रा० ।

णिच्चसहाय-नित्यसहाय-पुं० । अवस्थितसहाये, व्य० ६ उ० ।

णिच्चसुह-नित्यसुख-त्रि० । सदा सौख्ये, आव० ६ अ० ।

णिच्चाणिच्च-नित्यानित्य-त्रि० । स्थितिभवनभङ्गरूपापेक्षया नित्ये, भवनभङ्गरूपापेक्षयाऽनित्ये, स्था० १ ठा० । सर्वस्यैव वस्तुन उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तता । इत्यत्र प्रमाणम्-

"असतो नत्थि पसूई, होज्ज व जइ होउ खरविसाणस्स ।
न य सव्वहा विणासो, सव्वुच्छेयप्पसंगाओ ॥ ११६८ ॥
तोऽवत्थियस्स केणइ, विलओ धम्मेण भवणमन्नेण ।
सव्वुच्छेओ न मओ, संववहारोवरोहाओ" ॥ ११६९ ॥

अन्यत्र विवृतम् । विशे० । (सामायिकप्रकरणेऽप्येतत्)

णिच्चालोग-नित्यालोक-पुं० । चतुःषष्टितमे महाग्रहे, "दो णिच्चालोया ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० । सू० प्र० । चं० प्र० । नित्यमालोक उद्योतो यस्येति । सर्वकालमुद्योतमाने, कल्प० ३ क्षण ।

णिचिंत-निश्चिन्त-त्रि० । "श्चः ञ्चित्" ॥ ८ । ४ । २६१ ॥ इति शौरसेन्यां तस्य दः । चिन्ताविकले, प्रा० ४ पाद ।

णिच्चुज्जोय-नित्योद्योत-पुं० । पञ्चषष्टितमे महाग्रहे, "दो णिच्चुज्जोया ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० । चं० प्र० । सू० प्र० ।

णिच्चुव्विग्ग-नित्योद्विग्न-त्रि० । सदाऽप्रशान्ते, दश० ५ अ० २ उ० । सदोदासीने, प्रश्न० २२ आश्र० ।

णिच्चेट्ठ-निश्चेष्ट-त्रि० । व्यापाररहिते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

णिच्चेयणय-निश्चेतनक-त्रि० । चैतन्यवर्जिते शरीरे, सं० ।

णिच्चोउआ-नित्यर्तुका-स्त्री० । नित्यं सदा, न त्वहमेव ऋतू रक्तप्रवृत्तिलक्षणो यस्याः सा नित्यर्तुका । सदा रजस्वलायाम्, सा च गर्भं न धरते । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

णिच्चोयग-नित्योदक-त्रि० । प्रचुरजले, कल्प० ६ क्षण ।

णिच्छइय-नैश्चयिक-पुं० । निश्चये भवो नैश्चयिको नयः ॥ निश्चयनये, विशे० । प्र० ।

णिच्छक्क-देशी-त्रि० । निर्लज्जे, बृ० १ उ० । धृष्टे, व्य० ५ उ० । अनवसरज्ञे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० ।

णिच्छय-निश्चय-पुं० । निराधिक्ये चयनं चयः पिण्डीभवनमधिकश्चयो निश्चयः । अनु० । निराधिकश्चयो निश्चयः । सामान्ये, आ० चू० १ अ० । परमार्थे, पं० व० ३ द्वार । पञ्चा० । आ० म० । आव० । सूत्र० । औ० । अवश्यङ्करणाभ्युपगमे तत्त्वनिर्णये, भ० २ श० ५ उ० । आ० म० । सूत्र० । ज्ञा० । नियमे, अव्यभिचारे, निश्चयपरिच्छेदे, सम्म० ३ काण्ड । इत्थमेवेदं विधेयमित्येवंरूपनिर्णये, भ० १८ श० २ उ० ।

णिच्छयकहा-निश्चयकथा-स्त्री० । अपवादे, "अपवादो णिच्छयकहा भण्णति ।" ऋजुसूत्राऽऽदिभिः शुद्धनयैः क्रियमाणायां कथायाम्, नि० चू० ५ उ० ।

णिच्छयगोयर-निश्चयगोचर-पुं० । निश्चयविषये, द्रव्या० ८ अध्या० ।

णिच्छयणय-निश्चयनय-पुं० । तत्त्वनयमते परिणामवादे, पञ्चा० १३ विव० । द्रव्यास्तिकनये, सम्म० ३ काण्ड । ऋजुसूत्राऽऽद्यास्तु चत्वारो निश्चयनयाः । बृ० ४ उ० । (निश्चयनयस्वरूपं 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८९२ पृष्ठे प्रतिपादितम्)

निश्चयव्यवहारयोः पार्थक्यम्—

निश्चयाद् व्यवहारेण, कोपचारविशेषता ? ।
मुख्यवृत्तिर्यदैकस्य, तदाऽन्यस्योपचारता ॥ २१ ॥

(निश्चयेति) निश्चयाद् निश्चयनयाद् व्यवहारेण सहोपचारविशेषता काऽस्ति ? । व्यवहारविषये उपचारोऽस्ति, निश्चये तूपचारो नास्त्येतावद्विशेषता । यदैकनयस्य मुख्यवृत्तिर्गृह्यते, तदा परनयस्योपचारवृत्तरायाति । रत्नाकरवाक्ये स्याद्वादरत्नाकरे च प्रसिद्धमस्ति-' स्वस्यार्थसत्यत्वस्याभिमानोऽखिलनयानामप्योऽयं वर्तते, फलात् सत्यत्वं तु सम्यग्दर्शनयोग एवास्ति ।" एवं च प्रकृतमर्थं व्याख्यायते-निश्चयनयाद् व्यवहारनयेन सहोपचारविशेषता काऽस्ति ? । या उपचारविशेषता वर्तते, तां दर्शयति-यदैकस्य कस्यचिन्नयस्य मुख्यता मुख्यभावो वर्तते, तदाऽन्यस्यान्यनयस्य उपचारता गौणत्वं भवतीति ज्ञेयम् । यथाहि-निश्चयेन आत्मेति शब्द एतस्य निश्चयार्थस्तु-"असंख्यातप्रदेशी निरञ्जनोऽनन्तज्ञानाऽऽदिगुणोपेतो नित्यो विभुः कर्मदोषैरस्पृष्टः सिद्ध इव देहे उपलभ्यते ।" तदाऽस्य व्यवहारेणौपाधिकस्य जडशरीराऽऽदेः सङ्गतस्यौदयिकाऽऽदिभावादेवनरनैरयिकाऽऽदिभावस्पर्शतोऽपि गौणत्वं भासते । अथ च 'अतति सातत्येन गच्छति तांस्तान्पर्यायानित्यात्मा । ' संसारस्थो देहाऽऽदिसंगतो जन्ममरणजरायौवनाऽऽदिक्लेशमनुभवमानः प्रत्यक्षप्रमाणेन व्यवहाराऽऽदेशाद् देवो मनुष्यो नारकस्तिर्यङ् च कथ्यते, तत्र सिद्धत्वस्य गौणत्वम् ॥ २२ ॥

अथ पुनस्तदेव प्रतिपादयति-

तेनेदं भाष्यमादिष्टं, प्रद्योतव्यं विनिश्चयम् ।
तत्त्वार्थं निश्चयो वक्ति, व्यवहारो जनोदितम् ॥ २३ ॥

(तेनेति) तेन कारणेनेदं विनिश्चयं निश्चयव्यवहारयोर्लक्षणं, भाष्यसंदिष्टं विशेषाऽऽवश्यकभिरूपितं,प्रतीतव्यमवधारणीयम् । अथ निश्चयव्यवहारयोर्लक्षणमाह-निश्चयो निश्चयनयः, तत्त्वार्थे युक्तिसिद्धमर्थं, वक्ति कथयति । पुनर्व्यवहारो व्यवहारनयो, जनोदितं लोकाभिमतग्राहित्वं वक्ति। यतो लोकाभिमतमेव व्यवहारः,तस्य ग्राहकं प्रमाणं न भवति, प्रमाणं तु तत्त्वार्थग्राहकमेवास्ति । तथापि प्रमाणस्य सकलतत्त्वार्थग्राही निश्चयनयः, एकदेशतत्त्वार्थग्राही व्यवहारश्चायं विवेकः । निश्चयनयस्य विषयत्वम्, अथ च व्यवहारनयस्य विषयत्वमनुभवसिद्धं भिन्नमेवाऽऽस्ते। यथा सविकल्पकज्ञानं नष्टप्रकारताऽऽदिकमत्यवादिनो भिन्नमेवाऽऽमनन्तीति हृदयं विमर्शनीयम् ॥ २३ ॥

अथोपचारं निर्दिशति-

बाह्यस्याऽभ्यन्तरत्वं यद्, बहुव्यक्तेरभेदता ।
यच्च द्रव्यस्य नैर्मल्य-मिति निश्चयगोचराः ॥२४॥

(बाह्येति) यद् बाह्यस्य बाह्यार्थस्याऽभ्यन्तरत्वमन्तरङ्गत्वं वर्तते, तदपि गोचरम्,निश्चयविषयमित्यर्थः। यथा-"समाधिर्नन्दनं धैर्यो, दम्भोलिः समता सभा । ज्ञानं महाविमानं च,वासवश्रीरियं पुनः ॥ १ ॥" इत्यादिपुण्डरीकाध्ययनाऽऽद्यर्थोऽप्येवं भावनीयः । अथ पुनर्बहुव्यक्तेरनेकविशेषस्याभेदता भेदराहित्यं, तदपि निश्चयविषयम् । यथा-"एगे आया"इत्यादि सूत्रम्,तथा वेदान्तदर्शनमपि शुद्धसंग्रहनयाऽऽदेशरूपः शुद्धनिश्चयनयार्थः संमतिग्रन्थे कथितः। (स चास्मिन्नेव भागे १८९१ पृष्ठे दर्शितः) तथा पुनर्द्रव्यस्य पदार्थस्य यन्नैर्मल्यं तदपि निश्चयविषयम्, नैर्मल्यं तु निर्मलपरिणतिः बाह्यानिरपेक्षपरिणामः, सोऽपि निश्चयनयाऽर्थो बोद्धव्यः । यथा-"आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे ।" एवमेते अभ्यन्तरत्वाऽऽदयो निश्चयगोचरा एव । यथा यथा रीत्या लोकातिक्रान्तोऽर्थोऽवाप्यते, तथा तथा रीत्या निश्चयनयस्य भेदा भवन्ति। तस्माच्च लोकोत्तरार्थभावना समायातीति ज्ञेयम् ॥ २४ ॥ द्रव्या० ८ अध्या० ।

णिच्छर-निर्झर-पुं० । "चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ" ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति चतुर्थस्य झस्य छः । गिरिपतज्जलप्रस्रवणे, प्रा० ४ पाद ।

णिच्छल्ल-छिद्-धा० । छेदने, "छिदेर्दुहाव-णिच्छल्ल-णिज्झोड-णिव्वर-णिल्लूर-लूराः" ॥ ८ । ४ । १२४ ॥ इति णिच्छल्लाऽऽदेशः । णिच्छल्लइ, छिंदइ, छिनत्ति । प्रा० ४ पाद ।

णिच्छल्लिय-निश्छल्लिक-त्रि० । छल्लीरहिते, सू० १ ड० ।

णिच्छाय-निश्छाय-त्रि० । गतश्रीके, ज्ञा० ३ श्रु० ३ अ० । विशोभे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णिच्छिड्ड-निश्छिद्र-त्रि० । स्थगितरन्ध्रे,दर्श० ४ तत्त्व । न०।

णिच्छिल्ल-निश्छिन्न-त्रि०। रूपाऽऽदिभ्यावृत्तेः पृथक्कृते,विशे०।

णिच्छिय-निश्चित-त्रि० । अवश्यं जानाति, स० ६ अङ्ग । निश्चयवति, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० । असंशये,स० ११ अङ्ग ।

णिच्छुभण-निच्छुभण-न० । निष्काशने, व्य० ७ उ० । "असंखडिणिच्छुभणे।" नि० चू० १ उ० ।

णिच्छूढ-देशी-निर्दये, दे० ना० ४ वर्ग ३७ गाथा ।

णिच्छूढ-निष्ठ्यूत-न० । निष्ठीवने, विशे० । आ०म० । "कमाण्डुगणाऽऽद्यः" ॥ ८ । ४ । २५८ ॥ इति कर्मकशब्दस्य णिच्छूढाऽऽदेशः प्रा० ४ पाद । उद्वृत्ते, उत्क्षिप्ते च । वाच० । "सो परिव्वायगो हीलिज्जंतो णिच्छूढो ।" आ०म० १ अ० २ खण्ड ।

णिच्छूहणा-निष्कोजणा-स्त्री० । निःसरास्मात् गेहादिति प्रत्सने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णिच्छेय-निश्चेय-त्रि० । निश्चीयत इति निश्चेयः । अवश्यकर्तव्ये, रा० ।

णिच्छोडइत्ता-निश्छोट्य-अव्य० । प्राग्भवे त्याजयित्वेत्यर्थे, भ० १५ श० । पुरुषान्तरसम्बन्धिहस्ताऽऽद्यवयवतो वियोजयित्वेत्यर्थे, भ० १५ श० । सम्बन्धान्तरसंबद्धहस्ताऽऽदौ गृहीत्वा बलात् क्षिप्त्वेत्यर्थे, स्था० ५ ठा० १ उ० । उपा० ।

णिच्छोडणा-निश्छोटना-स्त्री० । त्यजास्मदीयवस्त्राऽऽदीत्यादिरूपे भर्त्सने, भ० १५ श० । ज्ञा० ।

णिच्छोलण-निश्छोटन-न० । त्वगपनयने, "अंगादाणं णिच्छोलेइ, णिच्छोलंतं वा साइज्जइ ।" 'णिच्छोलेति' त्वचमपनयति, महामणिं प्रकाशयति इत्यर्थः । नि० चू० १ उ० ।

णिजुद्ध-नियुद्ध-न० । सर्वसन्धिविक्षोजणपूर्वके युद्धे, नि० चू० १२ उ० । औ० । ज्ञा० ।

णिज्ज-देशी-सुप्ते, दे० ना० ४ वर्ग २५ गाथा ।

णिज्जप्पपाणभोयण-निर्याप्यपानभोजन-न० । क० स० । निर्यापनाकारकेषु दुर्बलेषु पानभोजनेषु, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

णिज्जरट्ठया-निर्जरार्थता-स्त्री० । ममाऽप्येतान् वाचयतः कर्मनिर्जरा विपुला भविष्यतीति प्रयोजने, "कम्मट्ठयाए णिज्जरट्ठयाए पज्जवजाएणं ।" आ० म० १ अ० १ खण्ड । स्था० ।

णिज्जरट्ठि[ण्]-निर्जरार्थिन्-त्रि० । कर्मक्षयकामे, प्रति० ।

णिज्जरण-निर्जरण-न० । यतनोपयोगिज्ञानदर्शनविशुद्धमते, औ० । दाने च, "णिज्जरणं भवन्थायं ।" व्य० ७ उ० ।

णिज्जरमाण-निर्जरयत्-त्रि० । निर्जरां कुर्वाणे, भ० १८ श० ३ उ० ।

णिज्जरा-निर्जरा-स्त्री० । निर्जरणं निर्जरा । कर्मक्षये, आव० ३ अ० । पञ्चा० । स्था० । दर्श० । ओघ० । आचा० । कर्मणां जीवप्रदेशेभ्यः परिशटने, स्था० १० ठा० । कार्त्स्न्येनानुसमयं विशेषकर्मविपाकहान्या परिशटने, स्था० ४ ठा० ४ उ० । कर्मपुद्गलशाटने, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । आव० । स्था० । नाचो, आ० । कर्मणोऽकर्मताभवने, स्था० २ ठा० ४ उ० । विशरणे परिशटने, स्था० १ ठा० । अपचये, कर्म० ।

एगा णिज्जरा ।

निर्जरणं निर्जरा, विशरणं परिशटनमित्यर्थः । सा चाष्टविधकर्मापेक्षयाऽष्टविधाऽपि, द्वादशविधतपोजनितत्वेन च द्वादशविधाऽपि, अकामक्षुत्पिपासाशीताऽऽतपदंशमशकसहनब्रह्मचर्यधारणाऽऽद्यनेकविधकारणजनितत्वेनाऽनेकविधाऽपि,द्रव्यतो वस्त्राऽऽदेर्भावतः कर्म्मणामेवं द्विविधाऽपि वा,निर्जरा सामान्यादेकैवेति । ननु निर्जरामोक्षयोः कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते-देशतः कर्मक्षयो निर्जरा, सर्वतस्तु मोक्ष इति । स्था० १ ठा० । अनु० । स० ।

अधुना बहुगुणवतां जीवानां यावती निर्जरा, तामाह-

एयगुणा पुण कमसो, असंखगुणणिज्जरा जीवा । [८३]

एते प्रागुपदर्शिताः सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरत्यादयो गुणा धर्मा येषां ते एतद्गुणाः, जीवा इत्युत्तरेण संबन्धः। कथम् ?, इत्याह-पुनरिति पुनःशब्दो गुणश्रेणिस्वरूपापेक्षया व्यतिरेकार्थः। क्रमशो यथोत्तरं क्रमेण, असंख्यातगुणिता निर्जरा कर्मपुद्गलपरिशाटरूपा येषां तेऽसंख्यातगुणनिर्जराः, जीवाः सत्त्वाः, भवन्तीति शेषः। तत्र सम्यक्त्वगुणा जीवाः स्तोकपुद्गलनिर्जरकाः, ततो देशविरता असंख्येयगुणनिर्जराः, ततः सर्वविरता असंख्येयगुणनिर्जराः, ततोऽनन्तानुबन्धिविसंयोजका असंख्येयगुणनिर्जराः, ततो दर्शनक्षपका असंख्येयगुणनिर्जराः,ततो मोहशमका असंख्येयगुणनिर्जराः, तत उपशान्तमोहा असंख्येयगुणनिर्जराः, ततः क्षपका असंख्येयगुणनिर्जराः, ततः क्षीणमोहा असंख्येयगुणनिर्जराः, ततः सयोगिकेवलिनोऽसंख्येयगुणनिर्जराः, ततोऽप्ययोगिकेवलिनोऽसंख्येयगुणनिर्जराः (८३) कर्म० ५ कर्म०। स्था०। (देशेन सर्वेण वाऽऽत्मा निर्जरयतीति 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १६६ पृष्ठे उक्तम्) (भक्तप्रत्याख्यानेन निर्जरा भवतीति ' भत्तपच्चक्खाण ' शब्दे वक्ष्यते) " जीवा णं चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ णिज्जरेंसु, णिज्जरिंति,णिज्जरिस्संति ।" कर्मणोऽकर्मकत्वभवनमिति। इह च देशनिर्जरैव ग्राह्या, सर्वनिर्जराया चतुर्विंशतिदण्डके असम्भवात्, क्रोधाऽऽदीनां च तत्कारणत्वात्, क्रोधाऽऽदिक्षयस्यैव तत्कारणत्वादिति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

ज्ञानी शीघ्रं कर्म क्षपयति। तत्र निर्जराद्वारमाह-

जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाइँ वासकोडीहिं ।
तं नाणी तिहिँ गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥

यदज्ञानी जीवो नैरयिकाऽऽदिभवेषु वर्तमानो बह्वीभिर्वर्षकोटीभिः कर्म क्षपयति, तत्कर्म ज्ञानी त्रिषु मनोवाक्कायेषु गुप्तः, समुच्छ्वासमात्रेणापि कालेन क्षपयति। बृ० १ उ० । कर्मनिर्जराहेतौ बुभुक्षाऽऽदिसहने, स्था० ४ ठा० ४ उ० । (वैयावृत्त्यं महानिर्जराहेतुरित्यतिशयानां प्रसङ्गे 'अइसेस' शब्दे प्र० भा० ३० पृष्ठे आवेदितम्)

यो महावेदनः स महानिर्जरः-

जीवा णं भंते ! किं महावेयणा महानिज्जरा, महावेयणा अप्पनिज्जरा, अप्पवेयणा महानिज्जरा, अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा ?। गोयमा ! अत्थेगइया जीवा महावेयणा महानिज्जरा, अत्थेगइया जीवा महावेयणा अप्पनिज्जरा, अत्थेगइया जीवा अप्पवेयणा महानिज्जरा, अत्थेगइया जीवा अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा। से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! पडिमापडिवन्नए अणगारे महावेयणे महानिज्जरे, छट्ठसत्तमासु पुढवीसु नेरइया महावेयणा अप्पनिज्जरा, सेलेसिपडिवन्नए अणगारे अप्पवेयणे महानिज्जरे, अणुत्तरोववाइया देवा अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा । भ०६ श०१ उ०।

से णूणं भंते ! जे महावेयणे से महानिज्जरे, जे महानिज्जरे से महावेयणे, महावेयणस्स य अप्पवेयणस्स य से सेए जे पसत्थनिज्जराए ?। हंता गोयमा ! जे महावेयणे० एवं चेव । छट्ठसत्तमासु णं भंते ! पुढवीसु नेरइया महावेयणा ?। हंता ! महावेयणा । ते णं भंते ! समणेहिंतो निग्गंथेहिंतो महानिज्जरतरागा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । से केणं अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जे महावेयणे० जाव पसत्थनिज्जराए ?। गोयमा ! से जहानामए दुवे वत्था सिया-एगे वत्थे कद्दमरागरत्ते,एगे वत्थे खंजणरागरत्ते, एएसि णं गोयमा ! दोण्हं वत्थाणं कयरे वत्थे दुधोयतराए चेव,दुवामतराए चेव,दुपरिकम्मतराए चेव; कयरे वा वत्थे सुधोयतराए चेव, सुवामतराए चेव,सुपरिकम्मतराए चेव,जे वा से वत्थे कद्दमरागरत्ते,जे वा से वत्थे खंजणरागरत्ते?।भगवं! तत्थ णं जे से कद्दमरागरत्ते से णं वत्थे दुधोयतराए चेव, दुवामतराए चेव, दुपरिकम्मतराए चेव ?। एवामेव गोयमा ! नेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढीकयाइं चिक्कणीकयाइं सिढिलीकयाइं खिलीकयाइं भवंति, संपगाढं पि य णं ते वेयणं वेयमाणा णो महानिज्जरा नो महापज्जवसाणा भवंति, से जहा वा केइ पुरिसे अहिगरणिं आउडेमाणे महया महया सद्देणं महया महया घोसेणं महया महया परंपराघाएणं णो संचाएइ, तीसे अहिगरणीए अहाबायरे पोग्गले परिसाडित्तए एवामेव गोयमा ! नेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढीकयाइं०जाव नो महापज्जवसाणाइं भवंति। भगवं ! तत्थ जे से वत्थे खंजणरागरत्ते से णं वत्थे सुधोयतराए चेव, सुवामतराए चेव, सुपरिकम्मतराए चेव ?। एवामेव गोयमा ! । समणाणं निग्गंथाणं अहाबायराइं कम्माइं सिढिलीकयाइं निट्ठियाइं कडाइं विपरिणामियाइं खिप्पामेव विद्धत्थाइं भवंति, जावइयं तावइयं पि य णं ते वेयणं वेयमाणा महानिज्जरा महापज्जवसाणा भवंति, से जहानामए केइ पुरिसे सुक्कं तणहत्थयं जायतेयंसि पक्खिवेज्जा, से नूणं गोयमा !। से सुक्के तणहत्थए जायतेयंसि पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव मसमसाविज्जइ ?। हंता ! मसमसाविज्जइ, एवामेव गोयमा ! समणाणं निग्गंथाणं अहाबायराइं कम्माइं०जाव महापज्जवसाणाइं भवंति।से जहानामए केइ पुरिसे तत्तंसि अयकवल्लंसि उदगबिंदु० जाव हंता ! विद्धंसमागच्छइ, एवामेव गोयमा ! समणाणं निग्गंथाणं० जाव महापज्जवसाणा भवंति, से तेणट्ठेणं जे महावेयणे से महानिज्जरे ०जाव निज्जराए ।

(से णूणं भंते ! जे महावेयणे इत्यादि) महावेदन उपसर्गाऽऽदिसमुद्भूतविशिष्टपीडः, महानिर्जरो विशिष्टकर्मक्षयः, अनयोश्चान्योन्याऽविनाभूतत्वाविर्भावनाय-"जे महानिज्जरे इत्यादि" प्रश्नार्थस्याभिलापः प्रश्नः। तथा-महावेदनस्य चाल्पवेदनस्य च

मध्ये स श्रेयान् यः प्रशस्तनिर्जराकः कल्याणानुबन्धनिर्जर इति, एष च द्वितीयः प्रश्नः प्रश्नता च काकुपाठाऽवगम्या । हन्तेत्याद्युत्तरम् । इह च प्रथमप्रश्नस्योत्तरे महोपसर्गकाले भगवान्महावीरो ज्ञातः, द्वितीयस्याऽपि स एवोपसर्गानुपसर्गावस्थायामिति । यो महावेदनः स महानिर्जर इति यदुक्तं, तत्र व्यभिचारं शङ्कमान आह-(छट्ठीत्यादि) (दुधोयतराए त्ति) दुष्करतरधावनप्रक्रियम्, (दुवामतराए त्ति) दुर्वाम्यतरकं दुस्त्याज्यतरकलङ्कम्, (दुप्परिकम्मतराए त्ति) कष्टकर्त्तव्यतेजोजननभङ्गकरणाऽऽदिप्रक्रियम् । अनेन च विशेषणत्रयेणाऽपि दुर्विशोध्यमित्युक्तम् । (गाढीकयाइं ति) आत्मप्रदेशैः सह गाढबद्धानि, सणसूत्रगाढबद्धसूचीकलापवत् । (चिक्कणीकयाइं ति) सूक्ष्मकर्मस्कन्धानां सरसतया परस्परं गाढसम्बन्धकरणतो दुर्भेदीकृतानि, तथाविधमृत्पिण्डवत् । (सिढिलीकयाइं ति) श्लथीकृतानि निधत्तानि, सूत्रबद्धाग्निनप्तलोहशलाकाकलापवत् । खिलीभूतानि अनुभूतिव्यतिरिक्तोपायान्तरेण क्षपयितुमशक्यानि, निकाचितानीत्यर्थः । विशेषणचतुष्टयेनाप्येतेन दुर्विशोध्यानि भवन्तीत्युक्तं भवति । एवं च एवमेवेत्याद्युपनयवाक्यं सुघटनं स्यात् । यतश्च तानि दुर्विशोध्यानि स्युस्ततः (संपगाढमित्यादि) (नो महापज्जवसाणा भवंति त्ति) अनेन महानिर्जराया अभावस्य निर्वाणाभावलक्षणं फलमुक्तमिति नाप्रस्तुतत्वमस्याऽऽशङ्कनीयमिति । तदेवं यो महावेदनः [illegible] हानिर्जर इति विशिष्टजीवापेक्षमवगन्तव्यम्, न पुनर्[illegible] । स म-क्लिष्टकर्मजीवापेक्षम् । यदपि यो महानिर्जरः स [illegible] रकोऽऽदि-त्युक्तं, तदपि प्रायिकम् । यतो भवत्ययोगी [illegible] महावेदन इ-मस्तु भजनयेति । (अहिगरणि त्ति) [illegible] हानिर्जरो, महाबद्-कारा अयोघनेन लोहानि कुट्टयन्ति । ([illegible] अधिकरणी, यत्र लोह-कुट्टयन् (सद्देणं ति) अयोघनघातप्रभवेन [illegible] आउडेमाणे त्ति) आ-तिरूपेण वा । (घोसेणं ति) तस्यैवा[illegible] ध्वनिना, पुरत्थकृ[illegible]-ति) परम्परा निरन्तरता, तत्प्रधा[illegible] नादेन । (परंपराघाएणं त्ति), तेन उपर्युपरि घातेनेत्यर्थः [illegible] घातस्तारूनं, परम्पराघा-कारात् । एवामेवेत्याद्युपनये [illegible] । (अहाबायरे त्ति) स्थूलप्र-चतुष्केण दुष्परिशाटनी[illegible] "गाढीकयाइं " इत्यादिविशेषण-यतराए इत्यादि) [illegible] नि भवन्तीत्युक्तं भवति । (सुधो-हाबायराइं ति) [illegible] न सुविशोध्यं भवतीत्युक्तं स्यात् । (अ-कयाइं ति) [illegible] स्थूलतरस्कन्धान्यसाराणीत्यर्थः । (सिढिली-कडाइं ति) [illegible] श्लथीकृतानि, मन्दविपाकीकृतानि । (निट्ठियाइं विपरिणाम[illegible] निःसत्ताकानि विहितानि । (विपरिणामियाइं ति) क्षिप्रमेव[illegible] नीतानि स्थितिघातरसघाताऽऽदिभिः, तानि च भव[illegible] विध्वस्तानि भवन्ति, एभिश्च विशेषणैः सुविशोध्यानि भवन्तीत्युक्तं स्यात् । ततश्च (जावइयमित्यादि) । भ० ६ श० १ उ० ।

-निश्चित-ति, श्रा०
भण-णे

या वेदना सा निर्जरा-

से णूणं भंते ! जा वेयणा सा निज्जरा, जा निज्जरा सा वेयणा ? । णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जा वेयणा न सा निज्जरा, जा निज्जरा न सा वेयणा ? । गोयमा ! कम्मवेयणा, णो कम्मनिज्जरा, से तेणट्ठेणं गोयमा !० जाव न सा वेयणा । नेरइया णं भंते ! जा वेयणा सा निज्जरा, जा निज्जरा सा वेयणा ? । णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं एवं वुच्चइ-नेरइयाणं जा वेयणा न सा निज्जरा, जा निज्जरा न सा वेयणा ? । गोयमा ! नेरइयाणं कम्मवेयणा णो कम्मनिज्जरा, से तेणट्ठेणं गोयमा !० जाव न सा वेयणा, एवं० जाव वेमाणियाणं । से नूणं भंते ! जं वेदंसु तं निज्जरिंसु, जं निज्जरिंसु तं वेदंसु ? । णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जं वेदंसु नो तं निज्जरिंसु, जं निज्जरिंसु नो तं वेदंसु ? । गोयमा ! कम्मं वेदंसु, नो कम्मं निज्जरिंसु, से तेणट्ठेणं गोयमा !० जाव नो तं वेदंसु । नेरइया णं भंते ! जं वेदंसु, तं निज्जरिंसु, एवं नेरइया वि । एवं० जाव वेमाणिया । से नूणं भंते ! जं वेदेंति तं निज्जरंति, जं निज्जरंति तं वेदेंति ? । णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं एवं वुच्चइ० जाव नो तं वेदेंति ? । गोयमा ! कम्मं वेदेंति, नो कम्मं निज्जरंति, से तेणट्ठेणं [illegible] गोयमा !० जाव नो तं वेदेंति । एवं नेरइया [illegible] वि० जाव वेमाणिया । से नूणं भंते ! जं वेदिस्संति, [illegible] निज्जरिस्संति, जं निज्जरिस्संति तं वेदिस्संति ? । णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं० जाव णो तं वेदिस्संति ? । गोयमा ! कम्मं वेदिस्संति, नो कम्मं निज्जरिस्संति । से तेणट्ठेणं० जाव नो तं निज्जरिस्संति । एवं नेरइया वि० जाव वेमाणिया । से नूणं भंते ! जे वेदणासमए से निज्जरासमए, जे निज्जरासमए से वेदणासमए ? । णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जे वेदणासमए न से निज्जरासमए, जे निज्जरासमए न से वेदणासमए ? । गोयमा ! जं समयं वेदेंति नो तं समयं निज्जरंति, जं समयं निज्जरंति नो तं समयं वेदेंति; अण्णम्मि समए वेदेंति अण्णम्मि समए निज्जरंति, अन्ने से वेदणासमए अन्ने से निज्जरासमए, से तेणट्ठेणं० जाव न से वेदणासमए । नेरइया णं भंते ! जे वेदणासमए से निज्जरासमए, जे निज्जरासमए से वेदणासमए ? । णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-नेरइयाणं जे वेदणासमए न से निज्जरासमए, जे निज्जरासमए न से वेदणासमए ? । गोयमा ! नेरइया णं जं समयं वेदेंति नो तं समयं निज्जरंति, जं समयं निज्जरंति नो तं समयं वेदेंति, अण्णम्मि समए वेदेंति अण्णम्मि समए निज्जरंति, अण्णे से वेदणासमए अन्ने से निज्जरासमए, से तेणट्ठेणं० जाव न से वेदणासमए । एवं० जाव वेमाणियाणं ।

(कम्मवेयण त्ति) उदयं प्राप्तं कर्म वेदना, धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षणात् । (नो कम्म निज्जर त्ति) । कर्माभावो निर्जरा, तस्या एवंस्वरूपत्वादिति । (नो कम्म निज्जरिंसु त्ति , वेदितरसं कर्म नो कर्म तन्निर्जरितवन्तः, कर्मभूतस्य कर्मणो निर्जरणासम्भवादिति । भ० ७ श० ३ उ० । (कियता तपसा कियती निर्जरा भवतीति 'अन्नइलाय' शब्दे प्रथमभागे ४४४ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (परिणामानुसारेण निर्जरेति ' अइलेस' शब्दे प्र० भागे २५ पृष्ठे गतम) (सम्यक्त्वं विना निर्जरा नास्तीति वक्ष्यते ' सम्मत्त ' शब्दे) "गणधारणमागिलाए, कुणमाणे णिज्ज-

रेति कम्माइं । अणेण णिज्जराबे, तम्हा तू णिज्जरा होति ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे अनुज्ञाकल्पेऽर्थे. पं०भा० । क्रियावादिनामक्रियावादिनां च मिथ्यादृशां सकामनिर्जरा भवति, न वा?, यदि सकामनिर्जरा, तर्हि ग्रन्थाक्षराणि प्रसाद्यामीति प्रश्ने, उत्तरम्-क्रियावादिनामक्रियावादिनां च केषाञ्चित्सकामनिर्जराऽपि भवतीत्यवसीयते, यतोऽकामनिर्जरामुत्कर्षतो व्यन्तरेष्वेव । बालतपस्विनां चरकाऽऽदीनां तु ब्रह्मलोकं यावदुपपातः प्रथमोपाङ्गाऽऽदावुक्तोऽस्तीति, तदनुसारेण पूर्वोक्तानां सकामनिर्जरेति तत्त्वम् । २४७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

णिज्जरापेहि [ण्]-निर्जराऽपेक्षिन्-त्रि० । निर्जरणं निर्जरा कर्मणामात्यन्तिकः क्षयः, तामपेक्षते-कथं ममाऽसौ स्यादित्यभिलषतीति निर्जराऽपेक्षी । उत्त० २ अ० । कर्मक्षयमभीप्सौ, उत्त० २ अ० ।

निर्जराप्रेक्षिन्-त्रि० । निर्जरां प्रेक्षितुं शीलमस्येति निर्जराप्रेक्षी । निर्जरातत्त्वज्ञे, " मज्झत्थो णिज्जरापेही, समाहिमणुपालए । " आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ० ।

णिज्जरापोग्गल-निर्जरापुद्गल-पुं० । निर्जीर्णकर्मदलिके, भ० १८ श० ३ उ० ।

णिज्जराजावणा-निर्जराभावना-स्त्री० । निर्जरातत्त्वपर्यालोचने, (प्रव०) अथ निर्जराभावना-

" संसारहेतुभूतायाः, यः क्षयः कर्मसंततेः ।
निर्जरा सा पुनर्द्वेधा, सकामाकामभेदतः ॥ १ ॥
श्रमणेषु सकामा स्या-दकामा शेषजन्तुषु ।
पाकः स्वत उपायाच्च, कर्मणां स्यात् यदाम्रवत् ॥ २ ॥
कर्मणां न क्षयो भूया-दित्याशयवतां सताम् ।
चितन्वतां तपस्यादि, सकामा शमिनां मता ॥ ३ ॥
एकेन्द्रियाऽऽदिजन्तूनां, संज्ञानरहिताऽऽत्मनाम् ।
शीतोष्णवृष्टिदहन-च्छेदभेदाऽऽदिभिः सदा ॥ ४ ॥
कष्टं वेदयमानानां, यः शाटः कर्मणां भवेत् ।
अकामनिर्जरामेना-मामनन्ति मनीषिणः ॥ ५ ॥
तपःप्रभृतिभिर्वृद्धिं, व्रजन्ती निर्जरा यतः ।
समस्तं कर्म संसारं, हन्त्यातो भावयेत्ततः ॥ ६ ॥ "
प्रव० ६७ द्वार ।

णिज्जराहेउ-निर्जराहेतु-पुं० । क० स० । कर्मक्षयकारणे, ष० स० । कर्मक्षयजनके, पञ्चा० १२ विव० ।

णिज्जरिज्जमाण-निर्जीर्यमाण-त्रि० । नितरामपुनर्भावेन क्षीयमाणे कर्मपुद्गले, भ० १ श० ४ उ० । स्था० ।

णिज्जरिय-निर्जरित-त्रि० । सर्वथा क्षयं नीते, सं० । " णिज्जरियजरामरणं, वंदित्ता जिणवरं महावीरं । " वन्दित्वा कायवाग्मनोभिः स्तुतिं विधाय जिना रागद्वेषाऽऽदिजयनशीलाः सामान्यकेवलिनः, तेषु तेभ्यो वा वरः प्रधानातिशयापेक्षया श्रेष्ठो जिनवरस्तम् । सं० ।

णिज्जवग-निर्यापक-पुं० । निर्यापयति तथा करोति यथा गुर्वपि प्रायश्चित्तं शिष्यो निर्वाहयतीति निर्यापकः । स्था० ८ ठा० । प्राकृतत्वाद्रूपनिष्पत्तिः । ध० २ अधि० । पञ्चा० । असमर्थस्य प्रायश्चित्तिनः प्रायश्चित्तस्य खण्डशः करणेन निर्वाहके, भ० २५ श० ७ उ० । स हि तथा प्रायश्चित्तं दत्ते यथा परो निर्वोढुमलं भवतीति । स्था० १० ठा० । नेदानीं निर्यापकाः सन्तीति । न० । व्य० १ उ० ।

यदप्युक्तं निर्यापका व्यवच्छिन्ना इति, तदपि न तथा, कथमिति चेदत आह-निर्यापकैः निर्याप्यमाणाः । इह द्विविधा निर्यापकास्तथा-आत्मनः, परस्य वा । उभयानप्याह-

पादोवगमे इंगिणि, दुविहा खलु होंति आयनिज्जवगा ।
निज्जवगा य परेण उ, भत्तपरिन्नाएँ बोधव्वा ॥

आत्मनिर्यापकाः खलु द्विविधा भवन्ति । तद्यथा-पादपोपगमे, इङ्गिनीमरणे च । परेण पुनर्निर्यापका भक्तपरिज्ञायां बोद्धव्याः । व्य० १० उ० । निर्निश्चितं यापयति प्रायश्चित्तविधिषु यावत्समाप्तिकं करोति निर्वाहयतीति यावदिति निर्यापः, अच् प्रत्ययः । अपराधकारी यथोक्तं प्रायश्चित्तं कर्तुमसमर्थो यथा यथा निर्वाहयति तथा तथा सङ्कुचितप्रायश्चित्तप्रदानतः प्रायश्चित्तं कारयति स निर्यापक इति भावः । व्य० १ उ० ।

णिज्जवणा-निर्यापणा-स्त्री० । निराधिक्येन यान्ति प्राणिनः प्राणास्तेषां निर्यतां निर्गच्छतां प्रयोजकं निर्यापणा । अष्टात्रिंशगौणहिंसायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । प्रश्नार्थव्याख्यानस्य निगमने, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । "………… णिज्जवणा, पच्चन्नासो णिगमणं ति ।" (२९३२) निर्यापना तु दापनादर्शितस्यैवार्थस्य प्रत्याभ्यासः प्रत्युच्चारणं निगमनम् । विशे० । (' णमोक्कार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८३४ पृष्ठे व्याख्यातम्) मीमांसितनया निर्दोषत्वेन निश्चयने, व्य० १ उ० । नि० चू० ।

णिज्जाअ-देशी-उपकारे, दे० ना० ४ वर्ग ३४ गाथा ।

णिज्जाण-निर्याण-न० । यान्ति तदिति यानम्, "कृत्यल्युटो बहुलम्" ॥३।३।११३॥ इति (पाणिनि) वचनात्कर्मणि ल्युट् । निरुपमं यानं निर्याणम् । ईषत्प्राग्भाराऽऽख्ये मोक्षपदे, आव० ४ अ० । ज्ञा० । भावे ल्युट् । संसारात्पलायने, आ० चू० ४ अ० । अनावृत्तिगमने, औ० । आचा० । स्था० । मरणकाले शरीराद्विर्गमे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । नगरान्निर्गमे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । पुरस्य निर्गममार्गे, सू० प्र० ५ पाहु० । चं० प्र० । "रायादियाण णिग्गमट्ठाणं णिज्जाणिया, णगरगमे वा जं पियं तं णिज्जाणं" । नि० चू० ८ उ० ।

णिज्जाणकहा-निर्याणकथा-स्त्री० । राजकथाभेदे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । (व्याख्या 'रायकहा' शब्दे द्रष्टव्या)

णिज्जाणमग्ग-निर्याणमार्ग-पुं० । निर्याणस्य मोक्षपदस्य मार्गो निर्याणमार्गः । विशिष्टनिर्याणप्राप्तिकारणे, " इणमेव णिग्गंथं पावयणं णिज्जाणमग्गं णिव्वाणमग्गं । " आव० ४ अ० । ध० । ज्ञा० । सिद्धिक्षेत्रगमनोपाये, भ० ६ श० ३३ उ० । निर्याणस्य मरणकाले शरीरिणः शरीरान्निर्गमस्य मार्गो निर्याणमार्गः । पादाऽऽदिके, स्था० ।

पंचविहे जीवस्स णिज्जाणमग्गे पण्णत्ते । तं जहा-पाएहिं, ऊरूहिं, उरेणं, सिरेणं, सव्वंगेहिं । पाएहिं णिज्जाणमाणे निरयगामी भवइ, ऊरूहिं णिज्जाणमाणे तिरियगामी भवइ, उरेणं णिज्जाणमाणे मणुयगामी भवइ, सिरेणं णिज्जाणमाणे देवगामी भवइ, सव्वंगेहिं णिज्जाणमाणे सिद्धिगतिपज्जवसाणे पण्णत्ते ।

व्यर्थं, किन्तु निर्याणं मरणकाले शरीरिणः शरीरान्निर्गमः, तस्य मार्गो निर्याणमार्गः पादाऽऽदिकः, तत्र-(पाएहिं) पादाभ्यां मार्गभूताभ्यां कारणताऽऽपन्नाभ्यां जीवः शरीरान्निर्यातीति शेषः । एवमुरुभ्यामित्यादावपि । अथ क्रमेणास्य निर्याणमार्गस्य फलमाह-पादाभ्यां शरीरान्निर्याण जीवो (निरयंगामि त्ति) प्राकृतत्वादनुस्वार इति, निरयगामी भवति । एवमन्यत्रापि । सर्वाणि च तान्यङ्गानि च सर्वाङ्गानि, तैर्निर्याण सिद्धिगतिः पर्यवसानं संसरणपर्यन्तो यस्य स सिद्धिगतिपर्यवसानः प्रज्ञप्त इति । स्था० ५ ठा० ३ उ० । देवानामुत्तरणमार्गस्तु सौधर्मेशानाऽऽदीनां कल्पानां मध्यतः, तत्र सौधर्मेन्द्रः स्वकीयात्पालकाद् विमानादुत्तरेणोत्तरति, ईशानेन्द्रस्तु स्वविमानात्पुष्पकादुत्तरद् दक्षिणेनोत्तरति । प्र० २६ शा० २ ड० ।

णिज्जाणियलेण-नैर्याणिकलयन-न० । नगरनिर्गमगृहे, प्र० १३ श० ६ उ० ।

णिज्जाणिया-निर्याणिकी-स्त्री० । निर्याणक्रीडायाम्, नि० चू० ८ उ० ।

णिज्जामग-निर्यामक-पुं० । प्रापके, विशे० । कर्णधारे, औ० । समुद्रे प्रवहणनेतरि, व्य० ३ उ० । आ० म० । आव० । विशे० । आ० क० । रा० ।

सम्प्रति प्रपञ्चेनार्हतां गुणानुपदर्शयन्नाह-

अडवीए देसयत्तं, तहेव निज्जामगा समुद्दम्मि ।
छक्कायरक्खणट्ठा, महगोवा तेण वुच्चंति ॥ १९५९ ॥

आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । आचा० । ('णमोक्कार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८३१ पृष्ठे व्याख्या समुक्ता) उत्तमार्थाऽऽराधकस्य गुणोत्कीर्तनेनोपबृंहके, दर्श० ४ तत्त्व ।

पावेंति जहा पारं, सम्मं निज्जामगा समुद्दस्स ।
भवजलहिस्स जिणिंदा, तहेव जम्हा अतो अरिहा ॥ "

प्रापयन्ति नयन्ति यथा येन प्रकारेण पारं पर्यन्तः, सम्यक् शोभनेन विधिना, निर्यामकाः प्रतीताः समुद्रस्य, तथैव भवजलधेर्भवसमुद्रस्य, पारं जिनेन्द्राः प्रापयन्ति, यस्मादेवमतस्तस्मादर्हा नमस्कारस्य । एष संक्षेपार्थः । पुनरेवम्-" एत्थ णिज्जामगा दुविहा । तं जहा-दव्वणिज्जामगा, भावणिज्जामगा य । " (आ० म०)

तत्र यथा जलधौ कालिकावातरहिते अनुकूले गर्जभवाते निपुणनिर्यामकसहिता निश्चिताः पोता ईप्सितं पत्तनं प्राप्नुवन्ति, एवम्-

मिच्छत्तकालियावा-यविरहिए सम्मत्तगज्जजपवाए * ।
एगसमएण पत्ता, सिद्धिवसहिपट्टणं पोया ॥

मिथ्यात्वमेव कालिकावातो मिथ्यात्वकालिकावातः, तेन रहिते भवाम्भोधौ, तथा सम्यक्त्वमेव गर्जभः प्रवातो यत्र स तथा तस्मिन्, एकसमयेन प्राप्ताः सिद्धिवसतिपत्तनं पोता जीवबोधित्थाः, अर्हन्निर्यामकोपकारात् ।

ततो यथा सांयात्रिकः सार्थः प्रसिद्धनिर्यामकं विगतमपि यात्रासिद्धयर्थं पूजयति, एवं ग्रन्थकारोऽपि सिद्धिपत्तनं प्रस्थितोऽभीष्टयात्रासिद्धये निर्यामकरत्नेभ्यस्तीर्थकृद्भ्यः स्तवनिकीर्षयेदमाह-

निज्जामगरयणाणं, अमूढनाणमइकण्णधाराणं ।
वंदामि विणयपणओ, तिविहेण तिदंडविरयाणं ॥

निर्यामकरत्नेभ्योऽर्हद्भ्यः, अमूढज्ञाना यथावस्थितज्ञानाः, मननं मतिः संवित्, सैव कर्णधारो येषां ते तथाविधाः, तेभ्यो नम्रे विनयप्रणतस्त्रिविधेन त्रिदण्डविरतेभ्यः-" शषाऽऽदिभिर्बहुलम ॥ (?) " इति चतुर्थी । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

* प्रतिकूलवायुः कालिकावातः । अपरोत्तरस्यां शुद्धाविदिग्वातो गर्जभवातः ।

णिज्जाय-निर्यात-त्रि० । निश्चयेनापगते, आव० ६ अ० ।

णिज्जायकारण-निर्यातकारण-त्रि० । निश्चयेन यातमपगतं कारणं प्रयोजनं यस्मिन्नसौ निर्यातकारणः । अपगतप्रयोजने, आव० ६ अ० । ज्ञा० ।

णिज्जायमाण-निर्यत्-त्रि० । निर्याणकारके, " पाएहिं णिज्जायमाणे निरयंगामी भवइ । " स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

णिज्जायरूवरयय-निर्यातरूपरजत-त्रि० । निर्गतसुवर्णरूप्ये, ब्रा० २६ ब्रा० । " णिज्जायरूवरयए गिहिजोगपरिवज्जए जे से भिक्खू । " दश० ६ अ० ।

णिज्जास-निर्यास-पुं० । स्नेहे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । रसे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

णिज्जिण्ण-निर्जीर्ण-त्रि० । क्षीणे, भ० १ श० १ उ० । क्षीणरसीकृते, भ० १२ श० ४ उ० ।

णिज्जियसत्तु-निर्जितशत्रु-त्रि० । पराजितशत्रौ, रा० । सूत्र० ।

णिज्जियसत्तुसेण-निर्जितशत्रुसेन-त्रि० । स्ववशीकृतविपक्षनृपतिसैन्ये, सू० १ उ० ।

णिज्जीव-निर्जीव-न० । निर्जीवकरणे, हेमाऽऽदिधातुमारणे, रसेन्द्रस्य मूर्च्छाप्रापणे च । एतच्च एकसप्ततितमा कला । जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । औ० । स० ।

णिज्जुत्त-निर्युक्त-त्रि० । खचिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । निश्चयेनाऽऽधिक्येन साधु वा आदौ वा युक्ताः संबद्धा निर्युक्ताः । निर्युक्तिव्यवस्थापितेषु, आ० म० १ अ० १ खण्ड । निश्चयेन प्ररूपिते, आ० म २ अ० ।

णिज्जुत्ति-निर्युक्ति-स्त्री० । निर्युक्तानामेव सूत्रेऽर्थानां युक्तिः परिपाट्या योजनम्, निर्युक्तयुक्तिरितिवाच्ये युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिः । दश० १ अ० । स० । ओघ० । निश्चयेनार्थप्रतिपादिका युक्तिर्निर्युक्तिः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । सूत्र० । भद्रबाहुस्वामिकृते व्याख्यानग्रन्थे, विशे० । व्याख्योपायभूते सत्पदप्ररूपणताऽऽदौ, अनु० ।

साम्प्रतं निर्युक्तिस्वरूपाभिधानार्थमाह-

निज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ निज्जुत्ती ।
तह वि य इच्छावेई, विभासिउं सुत्तपरिवाडी ॥१०८५॥

यद्यस्मात्सूत्रे निश्चयेनाऽऽधिक्येन साधु वा आदौ वा युक्ताः संबद्धा निर्युक्ता एव सन्तस्ते श्रुताभिधेया जीवाजीवाऽऽदयोऽर्था अनया प्रस्तुतनिर्युक्त्या बद्धा व्यवस्थापिताः व्याख्याता इति यावत् । तेनेयं भवति निर्युक्तिः । निर्युक्तानां सूत्रे प्रथममेव संबद्धानां सतामर्थानां व्याख्यारूपा युक्तिर्योजनं निर्युक्तयुक्तिरिति

प्रासे शाकपार्थिवाऽऽदिदर्शनाद् युक्तलक्षणस्य पदस्य लोपान्नि-र्युक्तिरिति भवति । ननु यदि प्रथममेव सूत्रेऽर्थाः संबद्धा एव सन्ति, तर्हि किमिति ते निर्युक्तया व्याख्यायन्ते, संबद्धानां स्वयमेव विनेयवर्गेणावबुध्यमानत्वात् ?। तत आह-(तह वि येत्यादि) यद्यपि सूत्रे संबद्धा पदार्थाः सन्ति, तथाऽपि तान् सूत्रे निर्युक्तानपि अर्थान्,विभाषितुं व्याख्यातुं,सूत्रपरिपाटी सूत्रपद्धतिः, एषयतीव एषयति प्रयोजयति । इयमत्र भावना-अप्रतिबुध्यमाने श्रोतरि गुरुं तदनुग्रहार्थं सूत्रपरिपाट्येव विभाषितुमेषयति-"इच्छत इच्छत मां प्रतिपादयितुम्" इतीत्थं प्रयोजयतीवेति । क्वचित् सूत्रपरिपाटीमिति पाठः। तत्रैवं व्याख्या-शिष्य एव सूत्रपरिपाटीमनवबुध्यमानो गुरुमिच्छायां प्रवर्त्तयति-" इच्छत इच्छत मम विभाषितुं व्याख्यातुं सूत्रपरिपाटीम" इति । व्याख्या च निर्युक्तिरतः पुनर्योजनरूपा निर्युक्तिरित्यमदोषायेति । आ० म० १ अ० १ खण्ड।

विस्तरतो व्याख्यातुं भाष्यकारः प्राऽऽह—

जं निच्छयाऽऽइजुत्ता, सुत्ते अत्था इमाएँ वक्खाया ।
तेणेयं णिज्जुत्ती, णिज्जुत्तत्थाऽभिहाणाओ ॥१०८६॥

यद्यस्मात्सूत्रे निश्चयेनाऽऽदिशब्दादाधिक्येन, आदौ साधु वा युक्ताः संबद्धा निर्युक्ता एव सन्तोऽर्था अनया निर्युक्त्या व्याख्याताः, तेन तस्मात्कारणादियं निर्युक्तार्थाऽभिधानान्निर्युक्तानां युक्तिर्युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिर्भवति ॥ १०८६ ॥

अथ प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

सुत्ते निज्जुत्ताणं, निज्जुत्तीए पुणो किमत्थाणं ।
निज्जुत्ते वि न सव्वे,कोइ अवक्खाणिए मुणइ ॥१०८७॥

ननु सूत्र एव निर्युक्तानां निबद्धानां सतामर्थानां तद्व्याख्यानार्थं क्रियमाणया निर्युक्त्या किं पुनः कार्यम् ?, न किञ्चिदित्यर्थः। ये हि सूत्रे एव विद्यमानार्थाः सन्ति, तान्स्वत एव विनेयवर्गो ज्ञास्यति, अतस्तद्विभाषणप्रवृत्ता वृथैव निर्युक्तिरिति भावः । अत्रोत्तरम्-(निज्जुत्ते वीत्यादि) सूत्रे निर्युक्तानपि सतः सर्वानप्यर्थान् कोऽपि तथाविधप्रज्ञापाटवरहितः शिष्यो निर्युक्त्याऽव्याख्यातान्न मुणति नाऽवबुध्यत इति ॥ १०८७ ॥

ततः किम् ?, इत्याह-

तो सुयपरिवाडि च्चिय, इच्छावेइ तमणिच्छमाणं पि ।
निज्जुत्ते वि तदत्थे, वोत्तुं तदणुग्गहट्ठाए ॥ १०८८ ॥

ततः श्रुतपरिपाट्येव सूत्रपद्धतिरेव विभाषितुमनिच्छन्तमपि तं निर्युक्तिकर्त्तारमाचार्यं तस्य सूत्रस्यार्थास्तदर्थान् सूत्रे निर्युक्तानप्यनवबुध्यमाने श्रोतरि तदनुग्रहार्थं तान् वक्तुमेषयतीव एषयति प्रयोजयति, अतस्तानाचार्यो निर्युक्त्या विभाषते, इति तस्याः साफल्यमिति ॥ १०८८ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह-

फलयलिहियं पि मंखो, पढइ पभासइ तहा कराऽऽईहिं ।
दाएइ य पइवत्थुं, सुहबोहत्थं तह इहं पि ॥१०८९॥

यथा मङ्खः फलके नानाप्रकारं लिखितमपि वस्तु ग्रन्थतः पठति, अर्थतश्च प्रभाषते-व्याचष्टे,शलाकाऽङ्गुल्यादिना च बालगोपालाङ्गनाऽऽदिमुग्धप्रबोधनार्थं प्रतिवस्तु पूर्वजन्माऽऽचीर्णं कर्मविपाकाऽऽदिकं दर्शयति । यथा-अन्यजन्मन्यनया भर्त्ता खादिकया वञ्चितस्तेनास्या ईदृशो मातङ्गकुलजन्माऽऽदिको विपाकः, अनया च जननीमित्रे प्राघूर्णके समायाते सुखमोदको दत्त आसीद्, अनया तु सत्यपि विभवे भिक्षाचरेष्वागच्छत्सु सदैव नास्ति नास्तीत्यावेद्यादृप्युष्टं, तेनैतस्य ईदृशश्च दुःखविपाको जात इत्यादि । तथाऽत्रापि श्रोतृवैचित्र्यं पश्यन् सर्वानुग्रहप्रवणबुद्धिराचार्यः सूत्रे निर्युक्तानप्यर्थान्निर्युक्त्या विभाषते इति ॥ १०८९ ॥

अथवा-निर्युक्तिगाथोत्तरार्द्धमन्यथा व्याख्यायते ।

कथम् ?, इत्याह-

अहवा सुयपरिवाडी, सुओवएसोऽयमेव जदवस्सं ।
सोयव्वं निस्संकिय-सुयविणयत्थं सुबोहं पि ॥१०९०॥

अथवा-श्रुतपरिपाटी श्रुतस्य विधिः श्रुतस्योपदेशोऽयमेव यदवश्यं सुबोधमपि श्रुतं निःशङ्कितत्वहेतोर्विनयोपचारार्थं च मुमुक्षुभिः श्रोतव्यम् । अत एवंभूता सूत्रपरिपाटी यद्यपि सूत्रे निर्युक्ता पदार्थाः सन्ति, तथाऽपि विभाषितुं व्याख्यातुमपि-तुमेषयति प्रयोजयतीत्येषोऽत्र भावार्थः स्वयमेवावगन्तव्य इति ॥ १०९० ॥

"सूत्रपरिपाटीम्" इति पाठान्तरं क्वचित् । तत्राऽऽह-

इच्छइ विभासिउं मे, सुयपरिवाडिं न सुट्ठु बुज्झामि ।
नातिमई वा सीसो, गुरुमिच्छावेइ वोत्तुं जे ॥१०९१॥

'वा' इत्यथवा, नातिशयेन मतिर्यस्यासौ नातिमतिर्मन्दमतिः शिष्यो गुरुमाचार्यम् (इच्छावेइ त्ति) एषयति प्रयोजयति वक्तुम्, ' जे ' इत्यलङ्कारार्थः । कथं वक्तुमेषयति ?, इत्याह-(इच्छह विभासिउं मे त्ति) इच्छत इच्छत विभाषितुं मम श्रुतपरिपाटीं सूत्रपद्धतिं, नाहमेतां सुष्ठु बुध्ये-प्रथममेव निर्युक्तत्वेन सतोऽप्येतदभिधेयानर्थान्मन्दमतित्वाद् भवद्भिरव्याख्यातान्नाहं सम्यगवगच्छामीत्यर्थः । अथ वा-प्रक्रमादेवेह निर्युक्तिः प्रयोक्त्री विवक्ष्यते, ततश्चेत्थमक्षरयोजना--यद्यपि सूत्रे निर्युक्तत्वेन सन्त एवार्थास्तथाऽपि तानप्रतिबुध्यमानः श्रोता यदैवं वक्ति-नातिमतिर्मन्दमतिरहं सदर्थामपि सूत्रपरिपाटीं सुष्ठु न बुध्ये सम्यग् नावगच्छामि, अत इच्छतेच्छत प्रभो ! एतां मम विभाषितुमिति । तदित्थं वदति तस्मिन् श्रोतरि निर्युक्तिरेव गुरुं सूत्रपरिपाटीं वक्तुमेषयति प्रयोजयति-इच्छतेच्छतास्मै महानुभावायैतां विभाषितुम् । ततो निर्युक्तिद्वारेणैव तस्य शिष्यस्य गुरुस्तां विभाषत इति । 'तदेवं निज्जुत्ता ते अत्था' इत्यादिप्राक्तननिर्युक्तिगाथा व्याख्याता ॥ १०९१ ॥ विशे० । नं० । आव० । औ० । आचा० ।

णिज्जुत्तिअणुगम-निर्युक्त्यनुगम-पुं० । निर्युक्तिर्नामस्थापनाऽऽदिप्रकारैः सूत्रविभजनेत्यर्थः,तद्रूपोऽनुगमस्तस्या वाऽनुगमो व्याख्यानं निर्युक्त्यनुगमः । अनुगमभेदे, (अनु०)

स च त्रिविधः-

से किं तं णिज्जुत्तिअणुगमे ?। णिज्जुत्तिअणुगमे तिविहे पएणत्ते । तं जहा-निक्खेवनिज्जुत्तिअणुगमे, उवग्घायनिज्जुत्तिअणुगमे, सुत्तफासियनिज्जुत्तिअणुगमे ।

निक्षेपो नामस्थापनाऽऽदिभेदभिन्नः,तस्य तद्विषया वा निर्युक्तिः पूर्वोक्तशब्दार्था निक्षेपनिर्युक्तिः, तस्या वाऽनुगमो निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमः । तथा उपोद्घातेन व्याख्येयस्य सूत्रस्य व्याख्या विधिसमीपीकरणमुपोद्घातनिर्युक्तिः,तद्रूपस्तस्या वा अनुगम उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः । तथा सूत्रं स्पृशतीति

सूत्रस्पर्शिका, सा चासौ निर्युक्तिः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः । सूत्र- निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमाऽनुगतो वक्ष्यते च । इदमुक्तं भवति- अत्रैव प्रागावश्यकसामायिकाऽऽदिपदानां नामस्थापनाऽऽदि- निक्षेपद्वारेण यद्व्याख्यानं कृतं, तेन निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतः प्रोक्तो द्रष्टव्यः। अनु० । उत्त० । आ० म० । संथा० । विशे० ।

एतदेव निर्युक्तित्रैविध्यं भाष्यकारोऽप्याह-

निज्जुत्ती तिविगप्पा, नासो-वग्घायसुत्तवक्खाणं ।
णिक्खेवस्साणुगया, उद्देसाऽऽईहुवग्घाओ ॥९७२॥

निर्युक्तिस्त्रिविकल्पा त्रिभेदा । कथम् ?, इत्याह-(नासोवग्घायसुत्तवक्खाणं ति) न्यासो नामाऽऽदिनिक्षेपः, उपोद्घातः शास्त्रोत्पत्तिः, सूत्रं प्रतीतम्, तेषां व्याख्यानम्-निक्षेपनिर्युक्तिः, उपोद्घातनिर्युक्तिः, सूत्रस्पर्शिका निर्युक्तिश्चेत्यर्थः । तत्र निक्षेपनिर्युक्तिरनुगता अनुक्रान्ता-पूर्वमेवोक्तेति यावदिति, अत्रैव प्रागावश्यकसामायिकाऽऽदिपदानां नामस्थापनाऽऽदिनिक्षेपद्वारेण यद् व्याख्यानं कृतं, तेन निक्षेपनिर्युक्तिरनुगता प्रोक्ता, द्रष्टव्येत्यर्थः । उपोद्घातनिर्युक्तिस्तूद्देशनिर्देशाऽऽदिभिर्द्वारैरवगन्तव्येति॥९७२॥

तान्येवोद्देशाऽऽदीनि द्वाराण्याह-

उद्देसे निद्देसे, य निग्गमे खेत्त काल पुरिसे य ।
कारण पच्चय लक्खण, नए समोयारणाऽणुमए ॥९७३॥
किं कइविह कस्स कहिं, केसु कहं केचिरं हवइ कालं ।
कइ संतरमविरहियं, भवागरिसफोसणनिरुत्ती ॥९७४॥

इदं गाथाद्वयमपि पुरस्ताद्विस्तरेण व्याख्यास्यते ॥ ९७३ ॥ ॥ ९७४ ॥ विशे० ।

श्रुतज्ञाने सर्वा निर्युक्तीः संगृह्याऽऽह-

ते वंदिऊण सिरसा, अत्थपुहुत्तस्स तेहिँ कहियस्स ।
सुयनाणस्स भगवतो, णिज्जुत्तिं कित्तयिस्सामि ॥१०७३॥

तान् अनन्तरोक्तान् तीर्थकराऽऽदीन्, शिरसा, उपलक्षणत्वाद् मनःकायाभ्यां च, वन्दित्वा, किम् ?, निर्युक्तिं कीर्तयिष्यामि, कस्य ?, अर्थपृथक्त्वस्य, अर्थात्कथञ्चिद्भिन्नत्वात् सूत्रं पृथक् उच्यते, प्राकृतत्वाच्च पृथगेव पृथक्त्वम्, अर्थस्तु सूत्राभिधेयः प्रतीत एव, अर्थश्च पृथक्त्वं चार्थपृथक्त्वम्, समाहारो द्वन्द्वः, तस्य, श्रुतज्ञानविशेषणमेतत्; सूत्रार्थोभयरूपस्येत्यर्थः । तैस्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिः, कथितस्य प्रतिपादितस्य, कस्य ?, इत्याह-श्रुतज्ञानस्य भगवतः, स्वरूपाऽभिधानमेतत् । सूत्रार्थयोः परस्परं नियोजनं संबन्धनं निर्युक्तिः, ताम्, कीर्तयिष्यामि प्रतिपादयिष्यामि ।

ननु किमशेषश्रुतज्ञानस्य ?, न, किन्तु श्रुतविशेषाणामावश्यकाऽऽदीनाम् । अत आह-

आवस्सयस्स दसका-लियस्स तह उत्तरज्झमायारे ।
सूयगडे निज्जुत्तिं, वोच्छामि तहा दसाणं च ॥१०७४॥
कप्पस्स य णिज्जुत्तिं, ववहारस्स य परमनिउणस्स ।
सूरियपण्णत्तीए, वोच्छं इसिभासियाणं च ॥१०७५॥
एएसिं निज्जुत्तिं, वोच्छामि अहं जिणोवएसेणं ।
आहरणहेउकारण-पयानिवहमिणं समासेणं ॥१०७६॥

आवश्यकस्य, दशवैकालिकस्य, तथा-भामा सत्यभामेत्यादाविव पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्-" उत्तरज्झ " इति। उत्तराध्ययनग्रहणम् । ततोऽयमर्थः-उत्तराध्ययनाऽऽचारयोः । तथा-सूत्रकृते-सूत्रकृताङ्गविषयां निर्युक्तिं वक्ष्ये । तथा-दशानां च दशाश्रुतस्कन्धस्य । तथा-कल्पस्य । तथा-व्यवहारस्य च परमनिपुणस्य । अत्र परमग्रहणं मोक्षाङ्गत्वात्, निपुणग्रहणं त्वत्यंसकत्वात् । न खल्वयं व्यवहारो मन्वादिप्रणीतव्यवहार इव व्यंसकः, "सव्वपक्खा खु ववहारा।" इति वचनात् । तथा सूर्यप्रज्ञप्तेर्वक्ष्ये । तथा-ऋषिभाषितानां च देवेन्द्रस्तवाऽऽदीनाम् । अनेकशः क्रियाऽभिधानं शास्त्रान्तरविषयत्वात् समासव्यासरूपत्वाच्च शास्त्राऽऽरम्भस्येत्यदुष्टम् । एतेषां श्रुतविशेषाणां, निर्युक्तिं वक्ष्याम्यहं जिनोपदेशेन, न तु स्वमनीषिकया । कथंभूताम् ?, इत्याह-आहरणहेतुकारणपदनिवहाम्, इमामनन्तरवर्त्तिनीं, समासेन संक्षेपेण । तत्र साध्यसाधनान्वयव्यतिरेकप्रदर्शनमाहरणम्, दृष्टान्त इति भावः । साध्ये सत्येव भवति, साध्याभावे च न भवत्येवं साध्यधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणो हेतुः । हेतुमुल्लङ्घ्य प्रथमं दृष्टान्ताभिधानं न्यायप्रदर्शनार्थम्, क्वचिद्धेतुमनभिधाय दृष्टान्त एवोच्यते । यथा-गतिपरिणामपरिणतानां जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भको धर्मास्तिकायो, मत्स्याऽऽदीनां सलिलमिव । तथा क्वचिद्धेतुरेव केवलोऽभिधीयते, न दृष्टान्तः, यथा-मदीयोऽयमश्वो, विशिष्टचिह्नोपलब्ध्यन्यथाऽनुपपत्तेः । तथा च निर्युक्तिकारेणाऽप्यधायि-"जिणवयणं सिद्धं चिय, भण्णइ कत्थइ उदाहरणं । आसज्जउ सोयारं, हेऊ वि कहंचि भण्णेज्जा ॥१॥" इति । कारणमुपपत्तिमात्रम्, यथा-निरुपमसुखः सिद्धः, ज्ञानानाबाधकप्रकर्षात् । नात्राविवक्षितदृष्टान्तनाऽऽदिलोके प्रतीतः साध्यसाधनधर्मानुगतो दृष्टान्तोऽस्ति । आहरणं च हेतुश्च कारणं च आहरणहेतुकारणानि, तेषां पदान्याहरणहेतुकारणपदानि, तेषां निवहः सङ्घातो यस्यां निर्युक्तौ सा तथाविधा, ताम् ॥१०७४॥१०७५॥१०७६॥ आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णिज्जुत्तिगार-निर्युक्तिकार-पुं० । चतुर्दशपूर्वधरे भद्रबाहौ, तेन हि सर्वा निर्युक्तयः कृताः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । निर्युक्तिकारिणः पूर्वधरा भवन्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-निर्युक्तिकारिणश्चतुर्दशपूर्वविदो भवन्तीति ज्ञायत इति । ११५ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

णिज्जूढ-निर्यूढ-त्रि० । निष्काशिते, व्य० २ उ० । "णिज्जूढपदुट्ठा सा भवेइ।" सा निर्यूढा निष्काशिता सती साधूनामुपरि प्रद्वेषं यायात् । बृ० ३ उ० । पूर्वगताद्धृत्य विरचिते, दश० १ अ० । पं० व० " सत्तेक्कगाइं सत्त वि, णिज्जूढाई महापरिण्णाओ । " आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । उज्झितप्राये, बृ० १ उ० ।

णिज्जूह-निर्यूह-पुं० । गवाक्षे, व्य० १ उ० । नीव्रे, दे० ना० ४ वर्ग २८ गाथा ।

णिज्जूहग-निर्यूहक-त्रि० । पूर्वगतोद्धृतार्थविरचनाकर्त्तरि, दश० १ अ० । द्वारोपरितनपूर्वविनिर्गतदारुणि, न० । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिज्जूहगय-निर्यूहगत-त्रि० । गवाक्षगते, व्य० १ उ० ।

णिज्जूहणा-निर्यूहणा-स्त्री० । निष्काशनायां, कर्मशत्रूणामात्मनगरान्निर्वासनायाम्, " मदब्भयउच्चारणं णिज्जूहणा । " पा० । गच्छात् संघाद् वा निष्काशनायाम्, व्य० १ उ० ।

तिलतुसतिभागमित्तो, वि जस्स असुभे न विज्जए भावो ।
निज्जूहणाऽरिहो सो, सेसे णिज्जूहणा नऽत्थि ॥ व्य० १ उ० ।

यस्य गच्छान्निर्यूढस्य तिलतुषविभागमात्रोऽपि निर्यूढोऽहमिव्यशुभो भावो न विद्यते, स निर्यूहणाया अर्हो योग्यः। शेषस्य तद्गुणविकलस्य निर्यूहणा,नास्ति न कर्त्तव्येत्यर्थः। बृ०१ उ०।

णिज्जूहित्तए-निर्यूहितुम्-अव्य० । अपाकर्तुमित्यर्थे, व्य०। अधुना-"णिज्जूहित्तए" इति व्याचिख्यासुराह-निर्यूहणा नाम-वैयावृत्त्यस्याकरणं,यदि वा वसतौ दोषाभावे वसस्थानं न ददाति एषा निर्यूहणा। वैयावृत्त्याकरणाऽऽदिना यस्तस्य तपोऽकरणं सा निर्यूहणेति भावः। व्य० २ उ० । (ग्लानपाराञ्चिताऽऽदीनां निर्यूहणा स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) परित्यागे, स्था० ४ ठा० २ उ०।

णिज्जूहियव्व-निर्यूहितव्य-त्रि० । ताम्बूलिकपत्रदृष्टान्तेन संघाद् बहिः कर्तव्ये, कल्प० ६ क्षण ।

णिज्जोअ-देशी-प्रकरे, दे० ना० ४ वर्ग ३२ गाथा ।

णिज्जोग-निर्योग-पुं० । परिकरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । यथा पात्रनिर्योगः । बृ० ३ उ० ।

णिज्जोमी-देशी-रश्मौ, दे० ना० ४ वर्ग ३१ गाथा ।

णिज्झर-क्षि-धा० । क्षये, " क्षेर्णिज्झरो वा ॥ ८ । ४ । २० ॥ इति क्षयतेर्णिज्झराऽऽदेशो वा । ' णिज्झरइ, ' पक्षे-' झिज्जइ । ' प्रा० ४ पाद ।

निर्झर-पुं० । न० । रलोपः । " द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः " ॥ ८ । २ । ९० ॥ इति झकारोपरि जकारः । प्रा० २ पाद । उदकस्य स्रवणे, भ० ५ श० ७ उ० । स्यन्दने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्रोताऽऽदिविवरेषु, अनु० । जीर्णे, दे०ना० ४ वर्ग २६ गाथा ।

णिज्झाअ-देशी-निर्दये, दे० ना० ४ वर्ग ३७ गाथा ।

णिज्झाएत्ता-निध्याय-अव्य० । निपूर्वो ध्या दर्शनार्थः । नि-निर् वा ध्यात्वा । " ध्यागोर्झागौ " ॥ ८ । ४ । ६ ॥ इति ध्या इत्यस्य झा ऽऽदेशः । दृष्ट्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद । प्रलोक्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । निश्चयेन ध्यात्वा चिन्तयित्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

निध्यातृ-त्रि० । दर्शनानन्तरमतिशयेन चिन्तयति, त्रि० । स्था० ५ ठा० ।

णिज्झाएमाण-निध्यायत्-त्रि० । पश्यति, प्रेक्षमाणे, "आलोपमाणे णिज्झाएमाणे।" आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ० ।

णिज्झोड-छिद्-धा० । फलाऽऽदीनां वृक्षाऽऽदेरिव विश्लेषणे, "णिज्झोडइ ।" पक्षे-छिन्दइ, छिनत्ति । प्रा० ४ पाद ।

णिज्झोसइत्ता-निर्झोषयितृ-त्रि० । पूर्वोपचितकर्मणां क्षपके, आचा०। "णिज्झोसइत्ता का अरती,के आणंदे ?।"पूर्वोपचितकर्मणां निर्झोषयिता क्षपकः,क्षपयिष्यति वा,तृजन्तमेतच्छब्दन्तं वा। कर्मक्षपणायोद्यतस्य च धर्मध्यायिनः शुक्लध्यायिनो वा महायोगीश्वरस्य निरस्तसंसारसुखदुःखविकल्पाऽऽभासस्य यत्स्यात्तद्दर्शयति-"का अरई के आणंदे ?।" इष्टाप्राप्तिविनाशोत्थो मानसो विकारो रतिः, अभिलषितार्थावाप्तावानन्दः । योगिनिस्तस्य तु धर्मशुक्लध्यानावेशावष्टब्धं ध्येयान्तरावकाशास्वारत्यानन्दयोरुपादानकारणाभावादनुत्थानमेवेत्यतोऽपदिश्यते-केयमरतिर्नाम?,को वाऽऽनन्द इति?, नास्त्येवैतदजनगृणोऽयं विकल्प इति । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

णिट्टंक-देशी-टङ्कच्छिन्ने,विषमे च । दे० ना० ४ वर्ग ५० गाथा।

णिट्टंकिय-निष्टङ्कित-त्रि० । निर्धारिते,अष्ट० ३२ अष्ट० । आ० ।

निष्टङ्कितं प्रायश्चित्तम्-

तत्थ णं जेसु ठाणेसु जत्थ जत्थ जावइयं पच्छित्तं तमेव निट्टंकियं जयइ । से भयवं ! केणमट्ठेणं भण्णइ-जहा णं तमेव निट्टंकियं जयइ ?। गोयमा ! अणंतराणंतरकमेणं इमे पच्छित्तसुत्ता-अणेगे भव्वसत्ता चउगइसंसारचारगाओ बद्धपुट्ठणिकाइयदुव्विमोक्खघोर [पारद्ध]पावकम्मनिगडाइं संचुणिऊण अचिरा विमुच्चिहिंति, इह अहिगारो विहाणं च गोयमा ! विहग इवापरिबुद्धो वज्जेत्ता नाणदंसणचरित्ताणासगा घोरपरीसहोवसग्गाइं च जिणंतो उग्गाभिग्गहपडिमाए रागदोसेहिं दूरतो विमुक्को रोद्दऽट्टज्झाणविवज्जिओ य विग्गहासु य असत्तो जो चंदणेण बाहुं आलिंपइ वासिणावज्जो तत्थत्थो संथुणइ, जो य निंदइ, समज्जावो होज्ज दुण्हं पि, एवं अणिगूहियबलविरियपुरिसक्कारपरक्कमे समतणमणिलेट्ठुकंचणो वेक्को परिच्चत्तकलत्तणामो पच्छित्तसुयं अणेगसुयं अणेगगुणगणाइअस्स दढव्वयच (प) रित्तस्स एगंतेणं जोग्गस्सेव विनिक्खिए पएसे चउक्कं पवेयव्वं,णो छक्कं पवेयव्वं,तहा य जस्स जावइएण पायच्छित्तेणं परमविसोही जवेज्जा,तं तस्स णं अणुयत्तणाविरहिएणं धम्मेक्करसिएहिं वयणेहिं जहट्ठियं अणुणाहियं,तावइयं चेव पायच्छित्तं पयच्छेज्जा,एएणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ-जहा णं गोयमा ! तमेव निट्टंकियं पायच्छित्तं भन्नइ । महा० ७ अ० ।

णिट्ठवणिया-निष्ठापनिका-स्त्री० । परिसमाप्तिकारिकायाम्, यथा पक्षस्य पञ्चदशी, अमावस्या च ।-ज्यो० ५ पाहु० ।

णिट्ठवय-निष्ठापक-पुं० । समाप्तिकारके दिवसे, आव० ६ अ०।

णिट्ठविंसु-निष्ठापितवत्-त्रि०। निष्ठां नीतवति, भ०२१ श०१उ०।

णिट्ठविय-निष्ठापित-त्रि० । समाप्तिमिते, पं० व० २ द्वार ।

णिट्ठवियअट्ठमयट्ठाण-निष्ठापिताष्टमदस्थान-त्रि० । निष्ठापितानि क्षयं नीतानि अष्टौ मदस्थानानि मानभेदाः-जातिकुलरूपबललाभश्रुततपोविज्ञानमदाख्या येनासौ निष्ठापिताष्टमदस्थानः। क्षीणमदे, ग० १ अधि० ।

णिट्ठा-निष्ठा-स्त्री० । पर्यवसाने, सूत्र०१ श्रु० १५ अ० । समापने, आव० ४ अ० । सारे सद्भावे, आ० चू० १ अ० । " एयाणि वयाणि णिट्ठं पत्ताणि कम्मसिद्धो । " आ० चू० १ अ० ।

णिट्ठाण-निष्ठान-न० । निष्पत्तौ,नि० चू०१ उ० । निष्ठीयतेऽत्र । कथा-ल्युट् । तक्राऽऽद्युपसेचने दध्यादौ व्यञ्जने, सर्वगुणोपेते, दश० ५ अ० । वाच० ।

णिट्ठाणकहा-निष्ठानकथा-स्त्री० । विकथाभेदे,स्था० ४ ठा०२ उ० । (व्याख्या 'भत्तकहा' शब्दे वक्ष्यते)

णिट्ठाभासि [ण्]-निष्ठाभाषिन्-त्रि० । सावधारणभाषिणि, आचा० १ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० । निश्चयस्य भाषिणि, आचा० २श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

णिट्ठिक-नैष्ठिक-त्रि० । सर्वधर्मप्रकर्षपर्यन्तवर्तिनि, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार ।

णिट्ठिय-निष्ठित-त्रि० । निष्ठां गते कृतस्वकार्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । मोक्षे, परिसमाप्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । व्य० । निःसत्ताके, भ० ५ श० १ उ० । क्षयं गते, ध० ३ अधि० । कालगते, सू० २ उ० । आ० म० । सिद्धे अशनाऽऽदौ, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ९ उ० ।

निष्ठितशब्दार्थमाह-

असणाऽऽईण चउण्ह वि, आमं जं साहुगहणपाउग्गं ।
तं निट्ठियं वियाणसु, ... ॥

अशनाऽऽदीनां चतुर्णामपि मध्ये यदाममपरिणतं सत् साधुग्रहणप्रायोग्यं कृतं, प्रासुकीकृतमित्यर्थः; तं निष्ठितं विजानीत । पिं० ।

णिट्ठियट्ठ-निष्ठितार्थ-त्रि० । विषयसुखनिष्पिपासे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । निष्ठितः समापितोऽर्थः प्रयोजनं यस्य स निष्ठितार्थः । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । कृतकृत्ये, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । प्रज्ञा० । आ० म० ।

णिट्ठियट्ठि [ण्]-निष्ठितार्थिन्-त्रि० । निष्ठितो मोक्षस्तेनार्थी । मुमुक्षौ, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

णिट्ठुअ-क्षर्-धा० । सञ्चाले, "क्षरेः खिरज्झरपज्झरपच्चडणिच्चलणिट्टुआः" ॥ ८ । ४ । १७३ ॥ इति क्षरेर्णिट्टुआऽऽदेशः । 'णिट्टुअइ,' क्षरति । प्रा० ४ पाद ।

णिट्ठुर-निष्ठुर-त्रि० । नि-स्था-उरच् । "क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-ᳲक-ᳲपामूर्ध्वं लुक्" ॥ ८ । २ । ७७ ॥ इति षलुक् । प्रा० २ पाद । मार्दवाननुगते, ग० १ अधि० । प्रस्तरे, ग० २ अधि० । यथा हेक्काप्रधाना भाषा निष्ठुरा, अशक्यप्रतीकारतया दुर्भेदा भाषा निष्ठुरा । रा० । आचा० ।

णिट्ठुल-निष्ठुर-त्रि० । "हरिद्राऽऽदौ लः" ॥ ८ । १ । २५४ ॥ इति रस्य लः । अमृदुनि, प्रा० १ पाद ।

णिट्ठुवण-निष्ठीवन-न० । नासिकामुखेन परित्यागे, दर्श० १ तत्त्व । कासितश्लेष्माऽऽदिप्रक्षेपणे, दशा० २ अ० । "निट्ठुवणाइ त्ति" निष्ठीवनाऽऽदौ इह साधवो द्विधा-गच्छगताः, गच्छनिर्गताश्च । तत्र ये गच्छनिर्गतास्ते नियमादनिष्ठीवकाः, औपग्राहिकमल्लकाऽऽद्युपकरणासम्भवात् । गच्छगता अपि ये विधिना निष्ठीव्यन्ति ते अनिष्ठीवका एव, न प्रायश्चित्तविषयाः । अविधिना खेलमल्लके निष्ठीवने दण्डक इव सप्तभङ्गाः, दण्डक इवैव चाऽऽद्येषु प्रत्येकं लघुमासः । उत्तरेषु त्रिषु प्रत्येकं रात्रिंदिवपञ्चकम्, सप्तमभङ्गवर्तिनस्त्वनिष्ठीवका एव, विधिना निष्ठीवनात् । उपरितनेष्वपि च त्रिषु भङ्गेषु यदि भूमौ निष्ठीव्यति, तदा मासलघु । यत्र निष्ठीवने प्राणिनां परितापनाऽऽद्युपजायते तन्निष्पन्नं च तस्य प्रायश्चित्तम् । आदिशब्दात्कण्डूयनपरिग्रहः । कण्डूयनेऽपि हि दण्डक इव सप्तभङ्गकम्, तथैव च प्रायश्चित्तविधिः । व्य० १ उ० । निष्ठीवनकर्तरि, स्था० ५ ठा० १ उ० । विशे० ।

णिट्ठुहिअ-देशी-थूत्कृते, दे० ना० ४ वर्ग ४१ गाथा ।

णिट्टूह-देशी-स्तब्धे, दे० ना० ४ वर्ग ३३ गाथा ।

णिड्ड-देशी- पिशाचे, दे० ना० ४ वर्ग २५ गाथा ।

णिडाल-ललाट-न० । "पक्काङ्गारललाटे वा" ॥ ८ । १ । ४७ ॥ इत्यादेरत इत्वं वा । "ललाटे च" ॥ ८ । १ । २५७ ॥ इत्यादेर्लस्य णः । 'णिडालं' । प्रा० १ पाद । भाले, तं० । उत्त० । भल्लीके, जी० ३ प्रति० ४ उ० । जं० ।

णिणाय-निनाद-पुं० । नितरां नादो महान् घोषः । जी० ३ प्रति० ४ उ० । महति घोषे, कल्प० ५ क्षण । ज्ञा० । निर्घोषे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । प्रतिध्वनौ, जं० ३ वक्ष० । प्रश्न० ।

णिण्ण-निम्न-त्रि० । "म्नज्ञोर्णः" ॥ ८ । २ । ४२ ॥ इति म्नभागस्य णः । नीचे, प्रा० २ पाद । "णिण्णेसु य आससा पया ।" नीचभूमिभागे, उत्त० १२ अ० । शुष्कसरःप्रभृतौ, भ० १५ श० ।

णिण्णक्खु-त्रि० । निस्सारयतीत्यर्थे, "बाहिहा वा णिण्णक्खु ।" आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

णिण्णगा-निम्नगा-स्त्री० । नद्याम्, नीचैर्गामिनि, त्रि० । प्रज्ञा० १ पाद ।

णिण्णय-निर्णय-पुं० । निश्चये, आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रमाज्ञाने, विशे० ।

णिण्णार-निर्नगर-त्रि० । नगरनिष्क्रान्ते, "अप्पेगइए णिण्णारे करेहिंति ।" भ० १५ श० ।

णिण्णामिया-निर्नामिका-स्त्री० । ईशानकल्पोपपन्नस्य ललिताङ्गनाम्न ऋषभदेवाऽष्टमभवजीवस्वयंप्रभानाम्न्यां देव्याम्, कल्प० ७ क्षण । आ० म० । आ० चू० । तत्कथा ऋषभस्वामिनः श्रेयांसेन 'उसभ' शब्दे द्वितीयभागे भवाष्टककथनावसरे ११२३ पृष्ठे गता)

णिण्णिमेस-निर्निमेष-त्रि० । अचेष्टे, म्रियमाणे, तद्भवप्रवचनकार्यानुपयोगिनि, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

णिण्णेह-निस्नेह-त्रि० । स्नेहरहिते, "जइ ससिणेही तो मुअइ, अह जीवइ णिण्णेह ।" प्रा० ४ पाद ।

णिण्हइया-नैह्नविकी-स्त्री० । ब्राह्मीलिपिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । स० ।

णिण्हग-निह्नव-पुं० । निह्नुवतेऽपलपन्ति अन्यथा प्ररूपयन्तीति निह्नवाः । स्था० ७ ठा० । आ० म० । मिथ्यात्वाभिनिवेशाज्जिनोक्तार्थस्यापलापकेषु जमाल्यादिषु, विशे० । त्यक्तसम्यग्दर्शनेषु, व्य० १ उ० ।

ते च सप्त-

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवयणनिण्हगा पण्णत्ता । तं जहा-बहुरया, जीवपएसिया, अव्वत्तिया, सामुच्छेइया, दोकिरिया, तेरासिया, अबद्धिया ।

"समणेत्यादि" कण्ठ्यम्, नवरं प्रवचनमागमं निह्नुवतेऽपलपन्त्यन्यथा प्ररूपयन्तीति प्रवचननिह्नवाः प्रज्ञप्ता जिनैस्तत्र । (बहुरय त्ति) एकेन समयेन क्रियाऽध्यासितरूपेण वस्तुनोऽनुत्पत्तेः प्रभूतसमयैश्चोत्पत्तेर्बहुषु समयेषु रताः सक्ता बहुरताः, दीर्घकालद्रव्यप्रसूतिप्ररूपिण इत्यर्थः १ । तथा जीवः प्रदेश एव येषां ते जीवप्रदेशास्त एव जीवप्रादेशिकाः । अथवा—जीवप्रदेशो जीवाभ्युपगमतो विद्यते येषां ते, तथा, चरमप्रदेशजीवप्ररूपिण इति हृदयम् २ । तथा अव्य-

कमस्फुटं वस्तु अभ्युपगमतो विद्यते येषां ते अव्यक्तिकाः, संयताऽऽद्यवगमे संदिग्धबुद्धय इति भावना ३ । तथा-समुच्छेदः प्रसूत्यनन्तरं सामस्त्येन प्रकर्षेण च छेदः समुच्छेदो विनाशः,समुच्छेदं ब्रुवत इति सामुच्छेदिकाः, क्षणक्षयिकभावप्ररूपका इत्यर्थः ४ । तथा द्वे क्रिये समुदिते द्विक्रियं, तद्जीवति तद्वेदिनो वा द्वैक्रियाः, कालाभेदेन क्रियाद्वयानुभवप्ररूपिण इत्यर्थः ५ । तथा-जीवाजीवनोजीवभेदात् त्रयो राशयः समाहृताः त्रिराशि, तत्प्रयोजनं येषां ते त्रैराशिकाः,राशित्रयाऽऽख्यापका इत्यर्थः ६ । तथा-स्पृष्टं जीवेन कर्म न स्कन्धबन्धवद्बद्धमबद्धं, तदेषामस्तीत्यबद्धिकाः, स्पृष्टकर्मविपाकप्ररूपका इति हृदयम् ७ । स्था० ७ ठा० । विशे० ।

निह्नवकारिणां नामान्याह-

एएसि णं सत्तण्हं पवयणणिण्हगाणं सत्त धम्मायरिया होत्था-जमाली, तिस्सगुत्ते, आसाढे, आसमित्ते, गंगे, छलुए, गोट्ठामाहिले । स्था० ७ ठा० । नि० चू० । विशे० ।

(एषां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

अथ येभ्यो ये निह्नवाः समुत्पन्नास्तदेतदाह-

बहुरय जमालिपभवा, जीवपएसा य तीसगुत्ताओ ।
अव्वत्ताऽऽसाढाओ, सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ॥२३०१॥
गंगाओ दोकिरिया, छलुगा तेरासियाण उप्पत्ती ।
थेरा य गोट्ठमाहिल, पुट्ठमबद्धं परूवेंति ॥ २३०२ ॥

बहुरता जमालिप्रभवाः, जमालेराचार्यात्प्रभव उत्पत्तिर्येषां ते जमालिप्रभवाः १ । जीवप्रदेशाः पुनस्तिष्यगुप्तादुत्पन्नाः २ । अव्यक्ता आषाढात् ३ । सामुच्छेदा अश्वमित्रादिति ४ । गङ्गाद् द्वैक्रियाः ५ । षडुलूकात् त्रैराशिकानामुत्पत्तिः ६ । स्थविराश्च गोष्ठामाहिलाः स्पृष्टमबद्धं प्ररूपयन्ति ७। 'कर्म' इति गम्यते। "परूविंसु वा"इति पाठान्तरं वा। ततो गोष्ठामाहिलादबद्धिका जाता इति सामर्थ्याद्गम्यत इति ॥ २३०१ ॥ २३०२ ॥

येषु स्थानेष्वेते समुत्पन्नास्तानि क्रमेणाऽऽह-

एएसि णं सत्तण्हं पवयणनिण्हगाणं सत्त उप्पत्तिनगरे होत्था । स्था० ७ ठा० । आ० क० ।

तद् यथा-

सावत्थी उसभपुरं, सेयविआ मिहिल उल्लुगातीरं ।
पुरमंतरंजि दसउर, रहवीरपुरं च नयराइं ॥ २३०३ ॥

श्रावस्ती, ऋषभपुरं, श्वेतविका, मिथिला, उल्लुकातीरं, पुरमन्तरञ्जिका, दशपुरं, रथवीरपुरं चेति । एतान्यष्टौ नगराणि निह्नवानां यथायोगमुत्पत्तिस्थानानि बोद्धव्यानि । अष्टमं नगरं रूपलिङ्गमात्रेणापि भिन्नानां सर्वापलापिनां महामिथ्यादृशां वक्ष्यमाणानां बोटिकनिह्नवानां यथायोगमुत्पत्तिस्थानमुक्तमिति ॥ २३०३ ॥

अथ भगवतः समुत्पन्नकेवलज्ञानस्य परिनिर्वृतस्य च कः कियता कालेन निह्नवः समुत्पन्नः ?,

इत्येतत्प्रतिपादयन्नाह-

चोदस सोलस वासा, चोद्दा वीसुत्तरा य दोन्नि सया ।
अट्ठावीसा य दुवे, पंचेव सया य चोयाला ॥२३०४॥
पंचसया चुलसीओ, छच्चेव सया नवुत्तरा होंति ।
नाणुप्पत्तीएँ दुवे, उप्पन्ना निव्वुए सेसा ॥ २३०५ ॥

चतुर्दश वर्षाणि । तथा-षोडश वर्षाणि । तथा-(चोद्दा वीसुत्तरा य दोन्नि सय त्ति) चतुर्दशाधिके द्वे शते, विंशत्युत्तरे च द्वे शते, वर्षाणामिति गम्यते । तथा-अष्टाविंशत्यधिके च द्वे शते, तथा पञ्चैव शतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि, पञ्च शतानि चतुरशीत्यधिकानि, षट् चैव शतानि नवोत्तराणि भवन्ति । एतावता व्यवधानकालेन ज्ञानोत्पत्तेरारभ्याऽऽद्यौ द्वौ निह्नवौ समुत्पन्नौ। शेषास्तु षड् भवन्ति। श्रीमन्महावीरे निर्वृते निर्वाणकालादारभ्य उत्कर्षेण यथोक्तेन व्यवधानकालेनोत्पन्नाः । इदमुक्तं भवति-श्रीमन्महावीरस्य केवलोत्पत्तेश्चतुर्दशभिर्वर्षैरतिक्रान्तैर्बहुरताः समुत्पन्नाः । षोडशभिर्वर्षैर्व्यतिक्रान्तैः जीवप्रदेशाः समुत्पन्नाः। भगवत एव निर्वाणकालाच्छेदेन चतुर्दशाधिकवर्षशतद्वयाऽऽदिना कालेनातिक्रान्तेन शेषा अव्यक्ताऽऽदयो निह्नवाः समुत्पन्ना इति ॥ २३०४ ॥ २३०५॥ विशे० । आ० क० । आ० चू० । आ० म० । (एषां प्रत्येकं विस्तृतव्याख्या स्वस्थाने) (बोटिकस्य च सूत्रानुक्तस्याष्टमनिह्नवस्य व्याख्या 'बोडिय' शब्दे वक्ष्यते)

संप्रति निह्नववक्तव्यतां निगमयन्नाह-

एवं एए कहिया, ओसप्पिणीए उ णिण्हगा सत्त ।
वीरवरस्स पवयणे, सेसाणं पवयणे नऽत्थि ॥२६१०॥

एवमुक्तेन प्रकारेणैतेऽनन्तरोदिताः कथिताः प्रतिपादिता अस्यामवसर्पिण्यां निह्नवाः सप्त । अष्टमस्तु बोटिकः, तुशब्दः समुच्चये । वीरवरस्य भगवतः प्रवचने तीर्थे । शेषाणां तु तीर्थकृतां प्रवचने (नऽत्थि त्ति) प्राकृतत्वात् नासन् निह्नवाः ।

तत्र-

मोत्तूणमेसिमेक्कं, सेसाणं जावजीविया दिट्ठी ॥
एक्केकस्स य एत्तो, दो दो दोसा मुणेयव्वा ॥२६११॥

मुक्त्वा,एषामेकं गोष्ठामाहिलं निह्नवाधमं,शेषाणां जमालिप्रभृतीनां प्रत्याख्यानमङ्गीकृत्य यावज्जीविका दृष्टिरासीत् । न ते प्रत्याख्यानं गोष्ठामाहिलवदपरिमाणमभ्युपगच्छन्तीति भावना । आह-प्रकरणादेवेदमवसीयते किमर्थमस्योपन्यासः ? । उच्यते-प्रतिविहितोपयोगिनः प्रत्याख्यानस्यातीवोपयोगित्वान्मा कश्चित्तथैव प्रतिपद्येत, ततो ज्ञाप्यते-निह्नवानामपि प्रत्याख्यानविषये इयमेव दृष्टिरिति । (एत्तो त्ति) प्राकृतत्वादमीषां मध्ये एकैकस्य निह्नवस्य द्वौ द्वौ दोषौ ज्ञातव्यौ, मुक्त्वैकमिति वर्तते । तथाहि-बहुरता जीवप्रदेशिकान् प्रत्युद्युञ्जन्तो द्वाभ्यां कारणाभ्यां मिथ्यादृष्टयः । तत्रैकमिदं यदुत-एकप्रदेशो जीव इति, द्वितीयं क्रियमाणं कृतमिति । जीवप्रदेशिका अपि बहुरतान् प्रत्यपाविद्युर्द्वयमपि कारणद्वयेन मिथ्यादृष्टयः । एकं तावदिदं यदुत- क्रियमाणमकृतं जीवप्रदेशं न जीव इति प्रतिपद्यन्ते । एवं शेषाणामपि परस्परं भावनीयम् । गोष्ठामाहिलमधिकृत्य पुनरेकैकस्य त्रयो दोषाः । तथाहि--बहुरतान् प्रति गोष्ठामाहिलोऽब्रवीत्-कारणत्रयाद्भवन्तो मिथ्यादृष्टयः । तत्रैकमिदं यत्कृतं कृतमिति ब्रूथ, द्वितीयं प्रतिप्रदेशबद्धं कर्म, तृतीयं यावज्जीवं प्रत्याख्यानमिति । बहुरता अपि तं प्रत्येवाचन्-भवानपि कारणत्रयात् मिथ्यादृष्टिः । एकं तावदिदं यत् क्रियमाणं कृतमिति वदति, द्वितीयं स्पृष्टमबद्धं कर्म, तृतीयमपरिमाणं प्रत्याख्यानमिति । एवं सर्वान् प्रति योजनीयम् । अन्ये त्वाहुः-एकै-

कस्य द्वौ द्वौ दोषौ एवं वेदितव्यौ-एकं तावत्स्वयं विप्रतिपन्नाः, द्वितीयं परानपि व्युद्ग्राहयन्तीति ।

ननु एता दृष्टयः संसाराय, आहोस्विदपवर्गाय ?, इत्या-शङ्कानिवृत्त्यर्थमाह-

सत्तेया दिट्ठीओ, जाइजरामरणगब्भवसहीणं ।
मूलं संसारस्स उ, हवंति णिग्गंथरूवेणं ॥२६१६॥

सप्तैता दृष्टयो,बोटिकास्तु मिथ्यादृष्टय एवेति न तद्विचारः । जातिजरामरणगर्भवसतीनामिति । जातिग्रहणं नारकाऽऽदिप्रसू-तिप्रदर्शनार्थमिति गर्भवसतिग्रहणमदुष्टम् । मूलकारणं,भव-न्तीति योगः । मा भूदसद्भाविनीनां जातिजरामरणगर्भवसती-नां मूलमिति प्रत्ययः, तत आह-(संसारस्स उ इति) संसर-णं संसारस्तिर्यग्नरनारकामरभवानुभूतिरूपः प्रदीर्घः,तस्यैव,तु-शब्दस्यावधारणत्वात् । केन रूपेणेत्याह-निर्ग्रन्थरूपेण ।

यद्येते निह्नवाः किं साधवः,उत तीर्थान्तरीयाः, आहोस्विद् मि-थ्यादृष्टयः ?। उच्यते-न साधवः, यतः साधूनामेकस्याप्यर्थाय य-त्कृतमशनाऽऽदि तच्छेषाणां न कल्पते, नैवं निह्नवानाम् ।

तथा चाऽऽह-

पवयणनीहूयाणं, जं तेसिं कारियं जहिं जत्थ ।
भज्जं परिहरणाए, मूले तह उत्तरगुणे य ॥ २६१७ ॥

(नीहूय त्ति) [illegible] । ततः प्रव-चने पारमेश्वरे यथोक्तक्रियाकलापं प्रत्यकिञ्चित्कराणाम् । अथवा-(नीहूय त्ति) आर्षत्वाद् निह्नुतं, तत्र प्रवचनं निह्नुतमपलपितं यैस्ते प्रवचननिह्नुताः । सुखाऽऽदिदर्शनाद् निष्ठान्तस्य प्राक्कः परनिपातः । तेषाम्, यदशनाऽऽदि, तेषामुपभोगाय कारितं यद् यस्मिन् काले यत्र क्षेत्रे, तद्भाज्यं विकल्पनीयम् । परिहरणे कदाचित्परिह्रियते,कदाचिन्नेति । यदि लोको न जानाति-यथैते साधुभ्यो भिन्नास्तदा परिह्रियते, अथ जानाति, तदा न परिहारः । अथवा-परिहरणा नाम परिभोगः । तथा चोक्तम्-" परिहरणा उवभोगो परिभोगो । " ततः कदाचित्परिभुज्यते, कदाचिन्नेति निह्नवत्वपरिज्ञाने यु-ज्यते, शेषकालं नेति । कथम्भूतं तत् अशनाऽऽदि तन्निमित्तं का-रितमित्यत आह-मूले मूलगुणविषयम्,आधाकर्माऽऽदि,तथोत्त-रगुणे उत्तरगुणविषयं च,क्रीतकृताऽऽदि,ततो नैते साधवो,नापि गृहस्थाः, नाप्यन्यतीर्थ्याः, यतस्तदर्थाय कृतमेकान्तेन कल्प्य-मेव भवति । अत्र तु भजना ततो व्यक्ता एवैते ।

आह-यद्बोटिकानां कारितं, तत्र का वार्ता ?, उच्यते-

मिच्छादिट्ठीयाणं, जं तेसिं कारियं जहिं जत्थ ।
सव्वं पि तयं सुद्धं, मूले तह उत्तरगुणे य ॥ २६१८ ॥

तेषां मिथ्यादृष्टीनां बोटिकानामुपभोगाय यत्कारितमशनाऽऽदि गृहस्थैः कारितं मूले मूलगुणविषयमुत्तरगुणे उत्तरगुणविषयं, तत्सर्वमपि शुद्धं कल्पनीयमिति भावः ॥ २६१८ ॥ आ० म० १ अ० २ खण्ड । (निह्नवाः परलोकस्याऽऽराधकाः, अनाराधका वा ?, इति ' आराहग ' शब्दे द्वितीयभागे ३०२ पृष्ठे गतम्) आचार्यापलापिनि, बृ० १ उ० ।

निह्नवद्वारं विवृणोति-

सुत्तत्थतदुभयाइं, जो घेत्तुं निण्हवे तमायरियं ।
लहुया गुरुया अत्थे, गेरुयनायं अबोही य ॥

यः सूत्रार्थतदुभयानि कस्यचित्पार्श्वे गृहीत्वा तमाचार्यं नि-ह्नुते अपलपति-अपरं कमपि विख्यातमाचार्यमुद्दिशति । अथवा ब्रूयात्-मया स्वयमेवाभ्यूह्य श्रुतं निर्णीतं, केवलं तेषा-मनाऽऽचार्यैः मम दिग्मात्रमेव दत्तमिति । अत्र च यदि सूत्रा-ऽऽचार्यं निह्नुते, तदा चत्वारो लघुकाः, अर्थे अर्थदायकमा-ऽऽचार्यं निह्नुवानस्य चत्वारो गुरुकाः, तदुभयाऽऽचार्यमपलप-तस्तदुभयं प्रायश्चित्तमिति । अत्र च गेरुकः परिव्राजकः, तस्य ज्ञातं दृष्टान्तः । (बृ०) (स च ' अणिण्हवण ' शब्दे प्रथम-भागे ३३४ पृष्ठे द्रष्टव्यः) "अयमत्थोवणओ-जहा सो पहा-विओ विज्जायरियं निण्हवेंतो ओहावणं पत्तो, एवं अन्नो वि आ-वियं विज्जायरियं निण्हवेंता इह लोए चेव बहूणं समणसावगाईणं हीलणिज्जा भवंति, देवयाहि य छलिज्जंति त्ति ।" (अबोही य त्ति) परलोके अबोधिफलं कर्म गुरुनिह्नव-कोऽर्जयति, एवंविधस्य (श्रुतं) न दातव्यम् ।

यत आह-

उवहयमइविण्णाणे, न कहेयव्वं सुयं व अत्थो वा ।
न मणी य सयसहस्सो, आविसइ कोत्थु चासस्स ॥

मतिः स्वस्वाभाविकी, विज्ञानं च गुरूपदेशजं, मतिविज्ञाने, ते [illegible] गुरुनिह्नुतः । [illegible] यस्य स उपहतमतिविज्ञानः, [illegible] कथमिति चेदुच्यते-इह तावद् गृहस्था अपि मिथ्यादृष्टयस्त-त्त्वातत्त्वव्यतिकराविवेकविकलाः, ऐहिकफलार्थमर्थशास्त्रं धनु-र्वेदाऽऽदि यस्य सकाशे शिक्षितवन्तस्तं यावज्जीवं गुरुं प्रति-पद्यमानाः सर्वस्यापि लोकस्य पुरतः श्लाघन्ते, न पुनः क-दाऽपि कस्यापि पुरतो निह्नुवते । स पुनः सर्वज्ञशासनप्रतिप-न्नोऽप्यचिन्त्यचिन्तामणिकल्पश्रुतदायकानपि परमगुरून् निह्नुते इत्यतोऽसौ तेभ्योऽप्यधमत्वादुपहतमतिविज्ञानोऽभिधीयते । एवंविधे शिष्ये न कथयितव्यम्,श्रुतं वा सूत्रम्,अर्थो वा तदभि-धेयः । अमुमेवार्थं प्रतिवस्तूपमया द्रढयति-(न मणी इत्यादि) (कोत्थु त्ति) आर्षत्वात् कौस्तुभो नाम मणिः शतसहस्रो लक्ष-मूल्यो भासस्य शकुन्ताऽऽख्यस्य पक्षिणो गलके नाऽऽविश-ति, अयोग्यत्वात् । एवमस्यापि गुरुनिह्नोतुरत्यन्तापात्रभूतस्य श्रुतरत्नप्रदानमनुचितमिति न विधेयम् । बृ० १ उ० । कर्म० । नि० चू० । अपलापे, आव० ४ अ० । सूत्र० ।

णिएहव-निह्नु-धा० । अपह्नवे, " वर्णस्यावः " ॥ ८ । ४ । २३६ ॥ इत्युवर्णस्याऽवादेशः । ' णिएहवइ, ' निह्नुते । प्रा० ४ पाद । अपलपति, बृ० १ उ० ।

निह्नव-पुं० । 'णिएहग' शब्दार्थे, स्था० ७ ठा० ।

णिएहवण-निह्नवन-पुं० । अपलपने, प्रश्न० ६ द्वार (आचा-र्यापलपनेन का गतिरिति 'अणिएहवण' शब्दे प्रथमभागे ३३४ पृष्ठे उक्तम्) (आचार्यापलपने प्रायश्चित्तं ' णिएहग ' शब्देऽ-नुपदमेव गतम्) अपहृतधनाऽऽदिपरधनापहाराऽऽदिकं यैरप-ह्नुते न प्रकाशयति ते निह्नवनाः । अपहारगोपनरूपप्रयोगेषु, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

णितंब-नितम्ब-पुं० । पर्वताऽऽदेः कटके, स्त्रीकटेः पश्चाद् भागे च । " णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणिल्ले णितंबे । " जं० ४ वक्ष० ।

णितिओमाण-नित्यावमान-न० । नित्यमवमानं प्रवेशः स्वपक्षपरपक्षयोर्येषु तानि तथा । सर्वदा भिक्षूणां गोचराय कृतप्रवेशेषु कुलेषु,आचा०। नित्यलाभात् तेषु स्वपक्षः संयतवर्गः,परपक्षोऽपरभिक्षाचरवर्गः सर्वो भिक्षार्थं प्रविशेत् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

णितिय-नित्य-न० । ध्रुवे, सतते, नि० चू० ।

जे भिक्खू णितियं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ ॥४७॥

जे भिक्खू णितियं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ ॥४८॥

'जे णितियं' द्वे सूत्रे, णिच्चमवट्ठाणातो णितियो ।

गाहा-

जं पुव्वं णितियं खलु,चउव्विहं वरिणयं तु बितियम्मि ।

तं आलंबणरहितो, सेवंतो होति णितिओ उ ॥८२॥

दव्वखेत्तकालभावा एतं चउव्विहं इहेव अज्झयणे बितिउद्देसे वरिणयं, तं णिक्कारणे सेवंतो णितिओ भवति । नि० चू० १३ उ० ।

णितियपिंड-नित्यपिण्ड-पुं० । मया एतावद्दातव्यं, भवता तु नित्यमेव ग्राह्यमित्येवं नियमग्राह्ये पिण्डे, स्था० १० ठा० ।

नित्यपिण्डं न गृह्णीयात्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसित्तुकामे से जाइं पुण कुलाइं जाणेज्जा-इमेसु खलु कुलेसु णितिए पिंडे दिज्जति, णितिए अग्गपिंडे दिज्जति, णितिए भाए दिज्जइ, णितिए अवड्ढभाए दिज्जइ, तहप्पगाराइं कुलाइं णितियाइं णितिओमाणाइं णो भत्ताए वा पाणाए पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा । एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं, जं सव्वट्ठेहिं समिते सहिते सया जए त्ति बेमि ।

स भिक्षुर्यावद् गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः । स तच्छब्दार्थे,स च वाक्योपन्यासार्थः । यानि पुनरेवंभूतानि कुलानि जानीयात् । तद्यथा-इमेषु कुलेषु, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । नित्यं प्रतिदिनं पिण्डः पोषो दीयते, तथाऽग्रपिण्डः शाल्योदनाऽऽदेः प्रथममुद्धृत्य भिक्षार्थं व्यवस्थाप्यते, सोऽग्रपिण्डः, नित्यं भागोऽर्द्धपोषो दीयते । तथा-नित्यमपार्द्धभागः पोषचतुर्थभागः । तथाप्रकाराणि कुलानि, नित्यानि नित्यदानयुक्तानि, नित्यदानादेव (णितिओमाणाइं ति) नित्यं (ओमाण त्ति) प्रवेशः स्वपक्षपरपक्षयोर्येषु तानि तथा । इदमुक्तं भवति-नित्यलाभात्तेषु स्वपक्षः संयतवर्गः, परपक्षोऽपरभिक्षाचरवर्गः, सर्वो भिक्षार्थं प्रविशेत् , तानि च बहुभ्यो दातव्यमिति तथाभूतमेव पाकं कुर्युः, तत्र च षड्जीवनिकायवधः । अल्पे च पाके तदन्तरायः कृतः स्यात् । इत्यतस्तानि नो भक्तार्थं पानार्थं वा प्रविशेन्निष्क्रामेद्वेति । सर्वोपसंहारार्थमाह-(एयमित्यादि) एतदिति यदादेशाऽभ्योक्तं, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः । एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यं समग्रता, यदुद्गमोत्पादनग्रहणैषणासंयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमकारणैः सुपरिशुद्धस्य पिण्डस्योपादानं क्रियते, तद् ज्ञानाऽऽचारसामग्र्यं, दर्शनचारित्रतपोवीर्याऽऽचारसंपन्नता चेति । अथ चैतत्सामग्र्यं सूत्रेणैव दर्शयति-यत्सर्वार्थैः सरसविरसाऽऽदिभिराहारगतैः, यदि वा-रूपरसगन्धस्पर्शगतैः,समितः, संयत इत्यर्थः । पञ्चभिर्वा समितः, शुभेतरेषु रागद्वेषरहित इति यावत् । सहकृतश्च सह हितेन वर्तत इति सहितः । सहितो वा ज्ञानदर्शनचारित्रैरेवम्भूतश्च सदा यतस्तेन संयमयुक्तो भवेदित्युपदेशः । ब्रवीमीति । जम्बूनामानं सुधर्मस्वामीदमाह-भगवतः सकाशात् श्रुत्वाऽहं ब्रवीमि, न तु स्वेच्छयेति । शेषं पूर्ववदिति । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । (अत्र वक्तव्यम् ' अग्गपिंड ' शब्दे प्रथमभागे १६५ पृष्ठे उक्तम्)

नित्यपिण्डो न भोक्तव्यः—

जे भिक्खू णितियं पिंडं भुंजइ,भुंजंतं वा साइज्जइ ।३२।

जे भिक्खू णितियं अवड्ढं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ।३३।

जे भिक्खू णितियं भागं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥३४॥

जे भिक्खू णितियं उवड्ढभागं भुंजइ,भुंजंतं वा साइज्जइ ३५।

पिंडो भत्तट्ठो, अवड्ढो तदद्धो, तस्स अद्धं भागो तिभागं, तिभागद्धं उवड्ढभागो ।

गाहा—

एसेव गमो नियमा, णितिए पिंडम्मि होतऽवड्ढे य ।

भागे य तस्सुवड्ढे, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥२२२॥

जो गमो णितिए अग्गपिंडे भणितो, सो चेव गमो पिंडादिएसु चउसु वि सुत्तेसु उस्सग्गाववाएण भाणियव्वो ।

सूत्रार्थप्रतिपादनार्थं पिंडमाह-

पिंडो खलु भत्तट्ठो, अवड्ढपिंडो उ तस्स जं अद्धं ।

तस्सऽद्ध भागमादी, तस्सद्धमुवड्ढभागो उ ॥ २२३ ॥

गतार्थैव । नि० चू० २ उ० ।

णितियवास-नित्यवास-पुं० । नित्यमवस्थानान्नित्यः । नित्यवासिनि, ऋतुबद्धवर्षासु प्रमाणाधिकवासे, नि० चू० ।

जे भिक्खू णितियं वासं वसइ, वसंतं वा साइज्जइ ।३६।

ऋतुबद्धवासासु अतिरिक्तं वसतः णितियवासो भवति ।

इदानीं निर्युक्तिमाह-

दव्वे खेत्ते काले, भावे णितियं चउव्विहं होति ।

एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ २२४ ॥

द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु णितियं चउव्विहं, एतेसिं जं नानात्वं विशेषं, तमानुपूर्व्या वक्ष्ये ।

संयोगचतुष्कभङ्गप्रदर्शनार्थमाह-

दव्वेण य खेत्तेण य, णितियाणितिए चउक्कभयणा उ ।

एमेव कालभावे, दुयस्स व दुए समोतारो ॥ २२५ ॥

दव्वतो णितिए, खेत्तओ णितिए, एवं चउभंगो कायव्वो । तत्थ पढमभंगभावणा संथारगाइदव्वाणि कालइक्कंतीताणि, तम्मि चेव खेत्ते परिभुंजंतो णितिओ भवति । पढमभंगो संथारगादिदव्वा कालइक्कंतीता तम्मि खेत्ते उ परिभुंजति । बितियभंगो तम्मि चेव खेत्ते अण्णे संथारगादि गेण्हति । ततियभंगो णितियं पडुच्च । चउत्थभंगो सुण्णो । एवं कालभावेसु वि चउभंगो कायव्वो । कालओ वि णितिए,भावओ वि णितिए । तत्थ पढमभंगो कालइक्कंतीतं च सत्ति सद्दादिसु भावपडिबद्धो पढमभंगो, कालइक्कंतीतं वसति, ण सद्दादिसु

रागपडिबद्धो बितियभंगो । कालदुगनिक्कंतस्स वि न सत्थातिसु भावपडिबद्धो ततियभंगो, चतुर्थः शून्यः, (दुवस्स व दुवे समोतारो त्ति) कालभावदुगस्स दव्वखेत्तदुए समोतारः ।

गाहा-

कालो दव्वोतरती, जस्स व दव्वस्स सो तु पज्जाओ ।
भावो खेत्ते जम्हा, वासादी सुत्तमत्थ ॥ २२६ ॥

कालो दव्वे समोतरति, जम्हा सो दव्वपज्जातो, एत्थ दव्वकालेसु चउभंगो भावेयव्वो । भावो खेत्ते समोतरति,जम्हा एगादिसु भावपडिबंधो भवति । एत्थ वि खेत्ते भावेसु चउभंगो भावेयव्वो । खेत्तकालचउभंगे इमा भावणा-तम्मि य खेत्ते मासातीतं वसति पढमभंगो, चरिमं वड्डवद्धितं जत्थ मासकप्पट्ठिया तत्थेव वासंतियाणं बितियभंगो, अन्यकालप्राप्तेरिति । अद्धं भागं पडिवसभं वा संकमंतस्स स चेव, भिक्खायरियाए ततियभंगो, चतुर्थः शून्यः ।

जो दव्वणितिओ सो इमे पडुच्च । गाहा-

परिसाडिमपरिसाडी, संथाराऽऽहारदुविहमुवधिम्मि ।
डगलगसरक्खमल्लग-मत्तगमादीसु दव्वम्मि ॥ २२७ ॥

संथारो दुविहो-परिसाडी, अपरिसाडी य । आहारे तेसु चेव कुलेसु गेण्हति । दुविहो उवही-आहितो, उवग्गाहितो य ।
पासत्थगाणखेत्तसपाडितणिमित्तया । गाहा-

कालदुगातीताइं, संथारादीणि सेवमाणा उ ।
एसो उ दव्वणितिओ, पुव्वे अंतो बहिं णितो ॥ २२८ ॥

एते संथारगादि दव्वे कालदुगातीतं अपरिहरंतो णितिओ भवति, स बाहिरियंसि वा खेत्तं अंतो मासकप्पे पुव्वे ते चेव संथारगादी बहिं णितो दव्वणितिओ भण्णति ।

इदाणिं खेत्तणितिओ-

ओवासे संथारे, विहारउच्चारउवधिफलगामे ।
णगरादिदेसरज्जे, वसमाणे खित्ततो णितिए ॥ २२९ ॥

संथारगोवासे, अहवा संथारो पृथक् परिगृह्यते, विहारो सज्झायभूमी, उच्चारो सण्णाभूमी, कुलगामादि ण मुंचति, पुनः पुनस्तेष्वेव विहरति । एस खेत्तणितिओ ।

इदाणिं कालणितिओ-

चाउम्मासा उवरिं, एगट्ठाणे वसंति जे भिक्खू ।
वुड्ढिनिमित्ते असती, वसमाणे कालतो णितिए ॥ २३० ॥

उडुवासकालातीतं वसंतो कालणितिओ, वुड्ढिणिमित्तं वसंतो बहुकालेण वि णितिओ ण भवति । वुड्ढकार्यपरिसमाप्ती अपरिहरमाणस्य णितिओ भवति ।

इदाणिं भावणितिओ—

ओवासे संथारे, भत्ते पाणे परिग्गहे सड्ढे ।
सेहेसु संथयेसु य, पडिबद्धे भावतो णितिए ॥ २३१ ॥

जे सेहा ण तावत्प्रव्रजंति , पूर्वापरेण संथवेण संथुताओ वासादिसु सव्वेसु रागं करेंतो भावपडिबद्धो भवति ।

गाहा-

वसही ण परिसा खलु, होहिति अण्णत्थ णेव संथारो ।
एत्थं जत्तमणुत्तम-सड्ढा सेहादि वा णत्थि ॥ २३२ ॥

अण्णत्थ परिसा वसही णत्थि त्ति रागं करेति, एवं संथारगभत्तपाणसड्ढसेहाऽऽदिसु वि ।

इदाणिं दव्वखेत्तकालभावेसु पच्छित्तं भण्णति-

उक्कोसोवाधिफलए, देसे रज्जे य वुड्ढवासे य ।
लहुगा भावे गुरुगा, सेसे पणगं च लहुगो तु ॥ २३३ ॥

दव्वं पडुच्च उक्कोसोवहिए फलए य चउलहुगा । खेत्तं पडुच्च देसे रज्जेसु चउलहुगा । कालं पडुच्च वासातीते वुड्ढवासातीते य चउलहुगा । रागेण भावे सव्वत्थ चउगुरुगा । संथारगवज्जेसु तणेसु डगलपत्थारपडलएसु य पणगं । सेसे दव्वादिएसु प्रायशो मासलहुयं ।

गाहा—

सुत्तणिवातो णितिए, चतुव्विधे मासियं जहिं लहुगं ।
उच्चारितसरिसाइं, सेसाइँ विगोवणट्ठाए ॥ २३४ ॥

चउव्विहे दव्वादि णीयते, जत्थ मासलहुं तत्थ सुत्तणिवातो, सेसा पच्छित्ता शिष्यस्य विगोवणट्ठा भणिता, कारणओ पुण दव्वादिचउव्विहं पि णितियं वसेज्ज ।

ते इमे कारणा दुविहा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे जए व आगाढे ।
गेलण्ण उत्तिमट्ठे, चरित्ते सज्झाइए असती ॥ २३५ ॥

बहिं असिवं वट्टति अतो कालदुगातीतं पि एगक्खेत्ते वसेज्ज । बहिं ओमरायदुट्ठबोहियभए वा आगाढे वसेज्ज, आगाढे वा गेलण्णे वसेज्ज,उत्तमट्ठ परियरगा वा वसेज्जा,बहिया चरगादिसु चरित्तदोसा अतो वसेज्जा,बहिं वा सज्झाओ ण सुज्झति,अतो सज्झायणिमित्तं वसेज्ज । असती वा बहिं मासकप्पजोग्गा ण, तत्थेव वसेज्ज ।

चोदगाऽऽह-एगखेत्ते कालदुगातीतं वसमाणा कहं सुद्धचरणा ? । आचार्याऽऽह-

एगक्खेत्तणिवासा, कालातिक्कंतचारिणो जंति ।
सुद्धचरणाणा खलु, विसुद्धमालंवणं जेणं ॥ २३६ ॥

एगक्खेत्ते कालदुगातिक्कंतं पि वसमाणा, तहा वि णिरतियारा, अतो विसुद्धालंबणावलंबी,ज्ञानाऽऽचरणाऽऽद्यं चाऽऽलंबणं ।

किं च-

आणाए अमुक्कधुरा, गुणवुड्ढी जेण णिज्जरा तेणं ।
मुक्कधुरस्स उ मुणिणो,सोधी संविज्जति चरित्ते ॥ २३७ ॥

आण त्ति तित्थकरवयणं,जहा तित्थकरवयणातो णितियं ण वसति, तहा तित्थकरवयणाओ चेव कारणा णितियं वसति, स एवं आणाए संजमे अमुक्कधुरो चेव, अमुक्कधुरस्स णियमा णाणाऽऽदिगुणपरिवुड्ढी, जेण य तस्स गुणपरिवुड्ढी तेण णिज्जरा विउला भवति, जो पुण तप्पडिपक्खो वट्टति, तस्स सोही चारित्तस्स ण विज्जति ।

इदाणिं गतोऽप्यर्थः स्फुटतरः क्रियते-

गुणपरिवुड्ढिणिमित्तं, कालातीते ण होंति दोसा तु ।
जत्थ तु पडितो णाणी,ठविज्ज तहियं न विहरेज्जा ॥ २३८ ॥

कालाओ दुगातिक्कंतं ज्ञानादिगुणपरिवुड्ढिणिमित्तं वसतो न दोषः । जत्थ पुण बहिं विहरंतो णाणादीणं हाणी हवेज्ज, ण तत्थ विहरेज्ज इत्यर्थः । नि० चू० २ उ० ।

नित्यवासपक्षम्-ननु किमित्येवमुपदिश्यते?-यावता मासकल्पेन विहरतामवश्यंभाव्येव जीवोपमर्दः, सूत्रार्थोभयहानिरपि जायते, मार्गगमनश्रमसंभवादपरिचितजनाद्ग्रयोगिभक्तपानाऽऽद्यसंप्राप्तेर्वा वातपित्ताऽऽदिक्षोभादात्मविराधनासंभवाच्च प्रत्यक्षं दोष एव दृश्यत इति। प्रयोगश्चात्र-अयुक्तमिदं मासाऽऽदिविहारेण ग्रामानुग्रामभ्रमणमिति पक्षः । संयमाऽऽत्मविराधनाहेतुत्वादिति हेतुः। तथाविधकष्टसाध्यसावद्यानुष्ठानादिति दृष्टान्तः । यद्यत्संयमाऽऽत्मविराधनाहेतुभूतमनुष्ठानं तत्तत्संयमवतामनारम्भणीयमेव, यथा कृष्यादिसावद्यानुष्ठानम्, तथाभूतं चेदं मासकल्पाऽऽदिना ग्रामानुग्रामभ्रमणमित्युपनयः । अतो न युक्तमिदमिति निगमनम्। न चास्य हेतोरसिद्धत्वाऽऽदिदोषोद्भावनाऽपि कर्तुं शक्यते, पूर्वमेव सूत्रार्थोभयसंयमाऽऽत्मविराधनायाः सप्रपञ्चं प्रतिपादितत्वात्। अन्यच्चैकत्र निवासे गुण एव दृश्यते-यतो मार्गगमनाभावात्समस्तजीवोपमर्दाभावे संयमवृद्धिरुपजायते । व्यायामाभावात्प्रासुकैषणीयोचितभक्तपानलाभसंभवाच्च वातपित्ताऽऽदेः क्षोभाभावादात्मविराधनाऽपि न भवति। तथाऽऽचार्यनिवासपुस्तकाऽऽद्यविकलपठनकारणकलापसंभवात् सूत्रार्थोभयवृद्ध्या शिष्या दीप्ता भवन्ति। उक्तं च-"आरोग्यबुद्धिविनयोद्यमशास्त्ररागाः, पञ्चाऽऽन्तरा जगति पाठगुणा भवन्ति । आचार्यपुस्तकनिवाससहायवस्त्राः, बाह्याश्च पञ्च पठनं परिवर्द्धयन्ति ॥ १ ॥" अन्यच्चागमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः । यतः-" पंच समिया तिगुत्ता, उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे । वाससयं पि वसंता, मुणिणो आराहगा भणिया ॥ १ ॥" इत्याद्यनेकगुणकलापोपेतत्वाद् नित्यवासस्य, युक्तमेव तत्करणमिति मन्तव्यम् । एवं व्यवस्थितेऽपि यदन्यथापरिकल्पनं, तत्कदाग्रहग्रहगृहीतवचनमिवापकर्णनीयमिति स्थितम् ।

अत्रोच्यते-यत्तावत्प्रतिपादितम्-'मासाऽऽदिविहारे' इत्यादिना पृथिव्यादिमर्दाऽऽदिना संयमाऽऽदेर्विराधनेति दूषणकदम्बकम्। तद् नित्यवासेऽपि समानमेव । यतो विहारपरिहारेण सर्वदैकत्र निवासवतां प्रासुकैषणीयवसतिलाभाभावाद् गृहस्था इवाऽऽश्रयाभावेषु मुक्तसमस्तजीवोपमर्दाऽऽदयः स्वयंग्रहकरणकारणानुमोदनाऽऽदौ प्रवर्त्तन्ते । ततश्चैवमाधाऽपि जीवनिकायानामाकुट्यापि विराधनोत्पद्यते । ततश्च प्राणातिपात (विरमण) महाव्रतभङ्गनिरर्थकतायाः अपि शिरस्तुण्डमुण्डनाऽऽदेर्वैयर्थ्यं स्यात्। अन्यच्चैकत्र निवासे प्रतिदिनमाहाराऽऽदिदानवस्त्राऽऽदिप्रतिपत्त्योपगृहीतानां साधूनामनादिभवाभ्यासवशवर्तिनां प्रतिबन्धाऽऽदयः संभवन्ति । उक्तं च-"पडिबंधो लहुयत्तं, न जणुवयारो न देसविन्नाणं । नाऽऽणाराहणमेव, दोसा अविहारपक्खम्मि " ॥ १ ॥ ततश्च प्रतिबन्धात्संबन्धः, संबन्धाच्चित्तविप्लुतिः, चित्तविप्लुतेरकार्यप्रवृत्तिरिति। एवं चाऽतिस्फुटतरा संयमविराधना-यदा च चित्तविप्लुत्या प्रेरितः स्त्रीसेवाऽऽदौ प्रवर्त्तते, तदा न केवलं प्रथमव्रतभङ्गः, अपि तु पञ्चानामपीति। तथाहि-रमणीरमणमनाः संकेतस्थाने मज्जनागच्छन् वा क यास्यसि, कुतो वा समायातः?, इति केनचित्प्रेरितोऽलीकशब्दोत्तरदानाय यथा-उदरबाधा मेऽस्ति, ततः शरीरचिन्तार्थं गमिष्यामि, तां वा कृत्वा समागतः, इति वदतो मृषावादः । स्वाम्यादिभिरननुज्ञातमतो निषेवतोऽदत्ताऽऽदानम्। तत्सेवायां तु प्राणातिपातमैथुनपरिग्रह (विरमण) व्रतभङ्गोऽपि स्त्रीपरिग्रहकरणाद्भवति। अन्यच्च-सूत्रार्थोभयहानिरपि तत्प्रसङ्गस्य। तथा-समस्तानां कषायाणां वृद्धिरुपजायतेऽनुरागवशाग-

स्य, तदसंप्राप्तौ ज्वराऽऽद्युन्मादसंभवादात्मविराधना । प्रवचनोपघातश्च-यथैते श्वेतभिक्षवो वदन्ति-वेलाऽऽगमनमपि प्रमादावाप्तः संबन्धिनमस्माभिः परित्यज्येत, व्यापारः पुनरेतेषामीदृशः। प्रयोगश्चात्र-भयभ्रमणजनिकाणां गृहीतव्रतयतीनां समस्तानर्थनिबन्धनो नित्यवास इति अयुक्त एवेति पक्षः । समस्तप्रमादनिबन्धनत्वादिति हेतुः। गृहवासवदिति दृष्टान्तः । यद्यत्प्रमादनिबन्धनं तत् तत् पुनर्यतीनामयोग्यम्, यथा-गृहवासनिषेवणम्, प्रमादनिबन्धनश्चायमित्युपनयः । ततोऽयुक्तोऽयमिति निगमनम् । न चास्य हेतोरसिद्धताऽऽदिदोषोद्भावना विभावयितुं शक्यते, पूर्वोक्तयुक्तेरतिप्रतीतत्वात्। यथोक्तम्-आगमोऽप्येवमेवेत्यादि, तस्याप्युक्ततरत्वमत्वाद् वक्तुर्महानिर्धर्मता चाऽऽवेदिता भवति ।

यतस्तत्रायं प्रक्रमः-

"जो होज्ज उ असमत्थो, रोगेण व पेल्लिओ झुसियदेहो ।
सव्वमवि जहा भणियं, कयाइ न तरेज्ज काउं जे" ॥ १ ॥

अस्या भावार्थः-यः स्यादसमर्थो विकृष्टतपश्चरणाऽऽदिना, रोगेण च, राजभयाऽऽदिना प्रेरितः स्वाभाविकशक्त्या चितः, तथा क्षुधितदेहो जराऽतिव्याप्तत्वादशक्तिनिविष्टः। किं बहुनोक्तेनैवमादिकारणैः सर्वमपि यथाभणितं यथाऽऽगमे प्रतिपादितं क्रियाऽनुष्ठानं, कदाचनाऽपि यदि कथञ्चित्, विधातुं, (न तरेज्ज त्ति) न शक्नुयादिति । 'जे' इति पादपूरणे निपात इति गाथाऽर्थः ।

तदा किं प्रासाऽऽलस्येन इव समस्तमपि त्यजेदेवेत्याह--

"सो वि य नियपरक्कम-ववसायधिइबलं अगूहंतो ।
मोत्तूण कूडचरियं, जयई जइ तो अवस्स जई" ॥ १ ॥

अस्या व्याख्या-सोऽपि च पूर्वोक्तकारणैः सकलशक्तिरहितोऽपि निजपराक्रमव्यवसायधृतिबलमगोपयन् कूटचरितं मुक्त्वा, यतते यदि शक्तिपराक्रमोचितं विधत्ते; तदा यतिरेवाऽसौ, सुसाधुरेवेति, न पुनरन्योऽसाधुरित्यर्थः। तत इत्थंभूतस्यापि युक्तसंयमानुष्ठानस्यागत्यैवेति काकाऽऽवेदितम्, समर्थस्य पुनः का वार्ता ?, इति गाथाऽर्थः ।

अतो हेतोर्नित्यवासमपि समस्तानर्थबीजभूतं विदधाना यतीत्थंभूता भवन्ति, तदैवाऽऽराधना, नान्यथेत्यावेदयन्निदं गाथात्रयमाह-

"निम्मम निरहंकारा, उज्जुत्ता नाणदंसणचरित्तम्मि ।
एगक्खेत्ते वि ठिया, खवेंति पोराणयं कम्मं ॥ १ ॥
जियकोहमाणमाया, जियलोहपरीसहा य जे धीरा ।
वूढावासे वि ठिया, खवेंति पोराणयं कम्मं ॥ २ ॥
पंचसमिया तिगुत्ता, उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे ।
वाससयं पि वसंता, मुणिणो आराहगा भणिया" ॥३॥

सुगमं चेदम्, नवरमस्य विवरणं विदधताऽभिहितम्-किमिदमेकार्थिकगाथात्रयम्?। उच्यते-अस्यादरव्यापनपरम् । आदरश्चात्र सकलशक्तिरहितत्वाद् जङ्घाबलहीनतया वाऽऽगमनिषिद्धमपि नित्यवासं कुर्वन् यदि यथाशक्त्योक्तनिर्ममत्वाऽऽदिविशेषणयुक्तो भवति, तदैवाऽऽराधको, नान्यथेत्यावेदितमिति ।

आगमनिषेधश्चेत्थं सूत्रादेवावसीयते-

"साहेउ अट्ठमासे, वासासु छुभूमिओ निवा जंति ।
परचक्कदुट्ठे वि पुरे, हावंती मासकप्पं तु ॥ १ ॥
कालाइक्कमओ जइ, तदुच्चओ एस कीरई नियमा ।
सव्वेण तह वि कीरइ, संथारग······याईहिं" ॥२॥

वूढावासे पि, न यथाकथञ्चिदेव, कुशलः कालावलम्बनतोऽध्यवसेयः ।

यत्र आगमवचनमेवं व्यवस्थितम्-

" खेत्तेण अरूओयण, कालेणं जाव भिक्खवेलं ति ।
खेत्तेण य कालेण य, जाणसु सपरक्कमं थेरं ॥१॥ "

अस्या अयं भावार्थः-यदि जङ्घाबलहीनताऽऽदिकारणैः प्रज्ञातोऽस्थितः प्रस्तुतभिक्षाचरवेलायामर्द्धयोजनं गन्तुं शक्नोति, तदा सपराक्रमत्वाद्विहारमेव कार्यते, न नित्यवासम् ।

यत्र आह-

" खेत्तेण अरूणाउय, कालेणं जाव भिक्खवेलं ति ।
खेत्तेण य कालेण य, जाणसु अपरक्कमं थेरं ॥१॥ "

एवं पुनश्चङ्क्रमणरहितस्तन्नित्यवासं यतनया कार्यते ।

सा चेयं लेशतः-

"मासे मासे वसही, तणडगलाई य अन्न गेण्हंति ।
भिक्खायरियवियारा, जहिं ठिया तत्थ नऽन्नासु ॥१॥ "

अस्या इयमक्षरगमनिका-वातोद्रेकोपद्रुतोऽपि मूर्च्छाऽऽदिरोगाऽऽक्रान्ततनुर्जङ्घाबलहीनतया ज्ञानाऽऽदिग्रहणकारणेन वा नित्यवासं कुर्वाणो मासे मासे अन्यां वसतिं, तृणडगलाऽऽदीनि चान्यानि गृह्णाति, भिक्षा च नान्यविभागे, विचारश्च बहिर्भूमिर्यत्र विभागे स्थितास्तत्रैव, नान्यत्रेति गाथार्थः ।

वसत्यादिविभागासंप्राप्तौ किं कर्त्तव्यमित्याह-

"असइए जाव एक्कं, करेंति भागं असंथरग्गामं ।
असइए विय वसहिं, विनजंती जाव मूलवसहीए" ॥१॥

अस्या अयं भावार्थः-(असइए त्ति) यदि तृणडगलाऽऽदिविभागेन स्थातुं शक्नोति, तदेकमेव ग्राममष्टसप्तषष्ठाऽऽदिहीयमानभागैः प्रकुर्वन् यावत्सकलमपि ग्राममेकेनैव विभागेन विपते संथारगादि दव्वे कालदुगातीतं अपरिहरंता ... याय वसतिं चान्यान्यां गृह्णाति, तदभावे एकस्यामपि स्थितः संस्तारकं यतीनां विधत्ते, मा चिरसुदूरभावे पापबन्धः स्यादिति । ततस्तच्छुद्धिनिमित्तमागममर्यादापरिपालनार्थं चानयात युक्त्या तिष्ठति, तत आराधको भवतीति गाथाऽर्थः ।

यत्पुनः पूर्वमेवंविधं प्रतिपादितम्-मासकल्पाऽऽदिना विहरतः संयमाऽऽत्मविराधना, सूत्रार्थाभयहानिरपीति । तदज्ञानविजृम्भितम् । न हि विदितपरमार्थाः संविग्ना मोक्षसुखाभिलाषिण एवंविधपरमपुरुषाऽऽसेवितं सकलशास्त्रप्रतिपादितं परमनिर्जराकारणमेकान्ततः प्रभावनाकारणं समस्तभव्यप्राणित्राणक्षममुदितोदितमासकल्पविहारमतिदुष्करमवीरपुरुषाणामेवंविधाऽऽलम्बनजालपरिकल्पनया दूषयन्ति । तथाहि-यत्तावत्प्रतिपादितम् अवश्यं मार्गे गतानां पृथिवीकायाऽऽदीनां विराधना संयमविराधना, सा न संभवति । यत ईर्यासमितिसमिताः साधवो भवन्ति । यत उक्तम्-"पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे" ... "जुगमेत्तंतरदिट्ठी, पयं पयं चक्खुणा विसोहंतो । अव्वक्खित्ताऽऽउत्तो, इरियासमिओ मुणी होइ ॥१॥" अथ मार्गे क्वापि सचेतनाया मिश्राया भुवः संभवः, क्वापि च हरितायाः संभवो भविष्यति, ततोऽवश्यंभाविनी विराधनेति । न । तत्रावश्यंभाविगमनसंभवे शास्त्रोक्तयतनुष्ठानात्, केवलमत्र प्रायश्चित्तशुद्धेश्च निर्दोष एवेति । यच्चेर्यायुक्तस्यापि चङ्क्रमणकृता विराधनाऽवश्यंभाविनीति भवता संभावितम् । तत्राऽपि न दोषलेशोऽप्यस्ति ।

यतः-

" उच्चालियम्मि पाए, इरियासमियस्स संकमट्ठाए ।
आवज्जेज्ज कुलिंगी, मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥१॥
न हु तस्स तन्निमित्तं, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।
अणवज्जो उवओगे-ण सव्वभावेण सो जम्हा ॥२॥ "

इत्यतस्तेषां भगवतां परमसंयमिनां धीरपुरुषचरितानुगामिनां परीषहोपसर्गदृसोरस्थलानां मासकल्पविहारिणां मात्स्येव संयमबाधागन्धोऽपि । यच्च-परिश्रमेत्यादिना ऽऽत्मविराधनेत्युक्तम् । तदपि सुखधीबन्धनं व्यतिरिच्यान्यद् न साधयति । यतः प्रायः प्राणिनां रोगशोकभयभोगाऽऽदयः पूर्वोपात्तकर्मवशतः संभवन्ति, न यथाकथञ्चित्, तत्पुनर्नित्यवासेऽपि समानम् । यदि पुनरेतदुच्यते-विशेषतो बाह्यकारणकलापमासाद्य तदुदयमासादयति, तदा तस्याङ्गीकृतत्वादवश्यवेद्यत्वादात्मविराधनाऽपि न भवति । यतोऽवश्यवेद्यकर्मणां केनाऽपि त्राणं कर्तुं न शक्यते, अवश्यवेद्यत्वादेव । यच्चोक्तम्-अपरापरग्रामनगराऽऽदिगमने अपरिचितजनसकाशादुचितभक्तपानादेरसंभवे वातपित्ताऽऽदिक्षोभः स्यादिति । तदपि बालप्रलापकल्पम् । यतो व्रतग्रहणकाले तदङ्गीकृतमेव लाभालाभाऽऽदिकम् । यतः सर्वदैव साधूनामयमाशयविशेषः-"लाभालाभे सुखे दुःखे, जीविते मरणे तथा । स्तुतौ निन्दाविधाने च, साधवः समचेतसः" ॥ १ ॥ अन्यच्चाऽपूर्वापूर्वग्रामनगराऽऽदौ विहारं विदधतां शिष्योपधिश्रावकप्रतिबोधाऽऽहाराऽऽदेर्विशेषतो लाभः सम्भवति, विशेषदेशनाश्रवणादिविशेषतो भावसम्भवादिति । तथाहि-लोकेऽप्येवमेव दृश्यते-देशान्तराऽऽयातप्राघूर्णकस्य सविशेषस्नानविलेपनचीरप्रदानपर्युपासनवचनश्रवणाऽऽदेस्तथैव दर्शनादिति; नित्यवासिनां पुनः सर्वोऽभाव एव, असकृदायातप्राघूर्णकस्येव । उक्तं च-" अतिपरिचयादवज्ञा, भवति विशिष्टेऽपि वस्तुनि प्रायः । लोकः प्रयागवासी, कूपे स्नानं सदा चरति " ॥ १ ॥ आगमेऽप्युक्तानि-" पडिबंधो लहुयत्तं," इत्यादि । यदपि प्रतिपादितम्-सूत्रार्थोभयहानिः स्यादिति । तदपि मिथ्यात्वतिमिरावगुण्ठितचेतसो वञ्चना । यतो न हि विहारवतां संयमस्वाध्यायाऽऽद्यनुष्ठानं ... व्यतिरिक्तं ... कर्त्तव्यमस्ति । यः पुनर्विहारे वस्तुपरिकर्मणादौ तद्व्याघात उद्भावितः, सोऽङ्गीकृत एव; यतः सूत्रार्थजयाभ्यासोऽपि संयमाऽऽद्यनुष्ठाननिमित्तमेव विधीयते, न जनरञ्जनार्थम् । यत एतदुच्यते-"निक्खमिय य सज्झाओ ।" अन्यच्च-"वैशाचिकमाख्यानं, श्रुत्वा गोपायनं च कुलवध्वाः । संयमयोगैरात्मा, निरन्तरं व्यापृतः कार्यः ॥१॥" इति । यदपि मुग्धबुद्धिबन्धनार्थं किञ्चित्प्रयोगश्चेति जल्पितम् । तदपि न विदुषां मनागप्यसुखमुत्पादयति । साध्याहेतोरसिद्धताऽऽख्याताऽऽलिङ्गित्वाच्चोत्सहने मासकल्पाऽऽद्युचितविहारनिषेधव्यापारान्तरं प्रति, अनेकोपपत्तिभिर्मासकल्पविहारस्य संयमं प्रति श्रवणतया समर्थितत्वादिति । अतः स्थितमिदम्-मोक्षार्थं प्रहीनदीक्षेण संयमार्थिना मासकल्पाऽऽदिना विहर्त्तव्यमिति । अस्यार्थस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामुपदेशमालाविधायकेन भगवता धर्मदासगणिनाऽपि तथैव समर्थितत्वात् ।

तथा च तत्सूत्रम्-

" कारणनीयावासे, सुट्ठुतरं उज्जमेण जइयव्वं ।
जह ते संगमथेरा, सपाडिहेरा तया आसि " ॥१॥

अन्यायमक्षरार्थः-कारणे हीनजङ्घाबलत्वलक्षणे, नित्यवासः-कारणनित्यवासः, कारणनित्यवासे सुष्ठुतरमतिशयेन यतितव्यमुद्यमेनाप्रमादेनेत्यर्थः । यथा-ते भगवन्त आगमप्रसिद्धाः संगमस्थविरसूरयः सप्रातिहार्या अप्रमत्ताऽऽदिगुणगणाऽऽवर्जितहृदयतया देवैरपि स्तूयन्ते, तदा, यदाऽसौ भगवान् वृद्धवासमगमत्, आसीद् भूयादिति गाथाऽर्थः । दर्श० ४ तत्त्व ।

जाहे वि अ परितंता, गामाऽऽगरनगरपट्टणमइंता ।
तो केइ नियत्ववासी, संगमथेरं ववइसंति ॥ ११ ॥

यदाऽपि च परिश्रान्ताः, सर्वथा श्रान्ता इत्यर्थः । किं कुर्वन्तः सन्तः ?, ग्रामाऽऽकरपत्तनाऽऽद्यटन्तः सन्तः । ग्रामाऽऽदीनां स्वरूपं प्रसिद्धमेव । ततः केवल मद्यनाशका नित्यवासिनः, न तु सर्वे एव । किम् ?, संगमस्थविरमाचार्यं, व्यपदिशन्त्यालम्बनतयेति गाथाऽर्थः ॥ ११ ॥

कथम् ?-

संगमथेरायरिओ, सुट्टु तवस्सी तहेव गीअत्थो ।
पेहित्ता गुणदोसं, नितियावासं पवन्नो उ ॥ १२ ॥

इयं चाभ्यकर्तृकी गाथा सोपयोगा च निगदसिद्धा । कः पुनः संगमस्थविरः ?, इत्यत्र कथानकम्-"कोल्लइरपुरे नगरे संगमथेरा दुब्भिक्खवसेण साहूहिं विसज्जिया । ते तं नगरं नवहा काऊण जंघाबलपरिहीणा विहरंति । नगरदेवया किर तेसिं उवरि पसन्ना । तेसिं सीसो दत्तो नाम आहिंडिउं चिरेण कालेण उदंतवाहओ आगओ । सो तेसिं पडिस्सए न पविसति नियवासि त्ति काउं । भिक्खावेलाए उग्गाहियं हिंडंता संकिलिस्सति, कुंटोऽयं सड्ढकुलाणि न दाएंति । एगत्थ सेट्ठिकुले रेवईए गहीओ दारओ । छम्मासा रोवंतस्स आयरिएहिं चप्पुडिया कया । मा रोव । वाणमंतरीए मुक्को । तेहिं तुट्ठेहिं पडिलाभिया आहिंडिएणं । सो विसज्जिओ । आयरिया सुइरं हिंडिऊण अंतं पंतं गाहायागया समुद्दिट्ठा । आवस्सयआलोचणाए आयरिया भणंति-आलोएहि । सो भणति-तुब्भेहिं समं हिंडिओ त्ति । ते भणंति-धातिपिंडो ते भुत्तो त्ति । भणति-मम अतिसुहुमाणि पाससि त्ति पट्ठो । देवयाए अड्डरत्ते वासं, अंधकारं च विउव्वियं । एस हीलेइ त्ति । आयरिएहिं भणिओ-एहि । सो भणइ-अंधयारो त्ति । आयरिएहिं अंगुली दाइया पज्जलिया आउट्टो आलोए त्ति । आयरिया वि नवभागे परिकहिंति । एवमयं पुट्ठाऽऽलंबणो ण होइ, सव्वेसिं मंदधम्माणमालंबणं ति" ॥ १२ ॥

आह च-

ओमे सीसपवासं, अप्पाडिबंधं अजंगमत्तं च ।
न गणेंति एगखित्ते, गणेंति वासं निअयवासी ॥ १३ ॥

'ओमे' दुर्भिक्षे, शिष्यप्रवासं शिष्यगमनं, तथा तस्यैवाप्रतिबन्धमनभिष्वङ्गमजङ्गमत्वं च वृद्धत्वं, चशब्दात्तथैव क्षेत्रविभागनजनं च । इदमालम्बनजालं न गणयन्ति नापेक्षन्ते, नाऽऽलोचयन्तीत्यर्थः । किं तु एकक्षेत्रे गणयन्ति वासं, नित्यवासिनो मन्दधियः । इति गाथाऽर्थः ॥१३॥ आव० ३ अ०। ध०र०।

णितियावाइ(ण्)-नित्यावादिन्-त्रि०। नित्यो मोक्षो यत्र गतानां पुनरागमनाऽऽदि नास्ति । नित्यतयाऽवस्थितनियमाश्रित सन्निवेशप्ररूपके, दशा० ६ अ० । "णितिया सव्वभावा मंगुलीणं ।" दशा० ६ अ० ।

णित्त-नेत्र-न० । नयने, लोचने, स्था० १० ठा० ।

णित्तल्ल-निस्तल्ल-त्रि० । अनिवृत्ते, "तेयं णित्तलं मणिरयणं अस्सादेति ।" भ० १५ श० ।

णित्थिरिंदिअ-देशी-त्रुटिते, दे० ना० ४ वर्ग ४१ गाथा ।

णित्थिरहो-देशी-निरन्तरं, दे० ना० ४ वर्ग ४० गाथा ।

णित्तुप-निस्तुप-त्रि० । अकोपके, अवधारिते, बृ० १ उ० ।

णित्तुस-निस्तुष-त्रि० । तुषरहिते, तद्वद्विशुद्धे च । प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

णित्तेय-निस्तेजस्-त्रि० । गतकान्तौ, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । निर्वीर्ये, भ० ९ श० ३३ उ० ।

णित्थरण-निस्तरण-न० । पारप्रापणे, ओ० ३ वक्ष० । "भवणित्थरणसमत्था ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । ओ० ।

णित्थरिज्जंत-निस्तीर्यमाण-त्रि० । पर्यन्ते प्राप्यमाणे, संथा० ।

णित्थाण-निस्थान-त्रि० । स्थानभ्रष्टे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । स्थानवर्जिते, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

णित्थारग-निस्तारक-त्रि० । पारगे, "णित्थारगपारगा होह ।" इति वन्दकं प्रति गुरुवचनम् । निस्तारकाः संसारसमुद्रात्, प्राणिनां प्रतिज्ञाया वा पारगाः । संसारसमुद्रतीरगामिनो भवत यूयमित्याशीर्वचनम् । पा० । ध० ।

णित्थारणा-निस्तारणा-स्त्री० । पारप्रापणायाम्, ओ० ३ वक्ष० । ('परिहार' शब्दे संयमे सीदतां संयतानां निस्तारणा वक्ष्यते)

णिदंसण-निदर्शन-न० । कथञ्चिद् गृह्णतः अभ्युपगच्छतः परानुकम्पया निश्चयेन पुनः पुनर्दर्शने, स्था० १० ठा० । अनु० । ग० । उत्त० ।

णिदंसिय-निदर्शित-त्रि० । नितरामनुज्ञाते, षो० ६ विव० । कथञ्चिद् गृह्णतः परयाऽनुकम्पया निश्चयेन पुनः पुनर्दर्शिते, ग० २ अधि० । अनु० ।

णिदरिसण-निदर्शन-न० । निश्चयेन दर्श्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिक एवार्थ इति निदर्शनम् । दृष्टान्ते, दश० १ अ० ।

णिदा-निदा-स्त्री० । निदानं निदा । प्राणिहिंसा नरकाऽऽदिदुःखहेतुरिति जानतोऽपि, यद् वा साधूनामाधाकर्म न कल्पते इति परिज्ञानवतोऽपि जीवानां प्राणव्यपरोपणे, पिं० । नियतं दानं शुद्धिर्जीवस्य 'दैप्' शोधने इति वचनाद्, निदा । ज्ञाने, आभोगे, तद्युक्ता वेदनाऽपि निदा । आभोगवत्यां वेदनायाम्, भ० १६ श० ५ उ० ।

णिदाह-निदाघ-नितरां दह्यतेऽत्र । नि-दह-घञ् । न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् । उष्णे, घर्मे, घर्मकाले च । वाच० । लोकोत्तररीत्या श्रावणाऽऽदिगणनया एकादशे लौकिकरीत्या ज्येष्ठाऽऽख्ये मासे, आव० ५ अ० ।

निदाह-पुं० । अधिको दाहो निदाहः । असाधारणदाहे, आव० ५ अ० ।

णिद्दज्झाण-निद्राध्यान-न० । निद्रापरतन्त्रस्य ध्यानं निद्राध्यानम् । स्त्यानर्द्धिनिद्रया महिषमांसभक्ति-मोदकाभिलाषिदन्तिदन्तोत्पाटकारि-प्राक्कुम्भकारत्वाभ्यस्तमृत्पिण्डत्रोटनवत् साधुमस्तकत्रोटि-वटशाखाभेदि-साधूनामिव ध्याने, आतु० ।

णिद्दक्खय-निद्राक्षय-पुं० । स्वापप्रमोदे, निद्राक्षयेण सुप्तोऽपि बुध्यते । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

णिद्दड्ड-निर्दग्ध-पुं० । सीमन्तकप्रभानरकेन्द्रकात्पूर्वस्यामावलिकायामेकविंशेऽपक्रान्तनरके, स्था० ५ ठा० २ उ० । 'माया' शब्दे उदाहरिष्यमाणायां कथायाम्, औ० । महा० २ चू० ।

णिद्दड्डमज्झ-निर्दग्धमध्य-पुं० । सीमन्तकमध्यादुत्तरस्यामावलिकायामेकविंशेऽपक्रान्तमहानरके, स्था० ६ ठा० ।

णिद्दड्ढावत्त–निर्दग्धाऽऽवर्त्त–पुं० । सीमन्तकाऽऽवर्तात् पश्चिमायामेकविंशेऽपक्रान्तमहानरके, स्था० ६ ठा० ।

णिद्दड्ढोसिट्ठ–निर्दग्धावशिष्ट–पुं० । सीमन्तकावशिष्टाद्दक्षिणस्यामावलिकायामेकविंशेऽपक्रान्तमहानरके, स्था० ६ ठा० ।

णिद्दय–निर्दय–त्रि० । निष्करुणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । निष्कृपे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । निर्घृणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिद्दर–निर्दर–पुं० । कन्दरायाम्, हैमेऽभिधानचिन्तामणौ ।

णिद्दलण–निर्दलन–न० । मर्दने, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

णिद्दह–विगल–धा० । वि-गल । "विगलेः थिप्प-णिट्टहौ" ॥८ । ४ । १७५॥ इति विगलतेर्णिट्टहाऽऽदेशः । 'णिट्टहइ' । पक्षे-'विगलइ' । विगलति । प्रा० ४ पाद ।

णिद्दा–निद्रा–स्त्री० । 'द्रा' कुत्सायां गतौ । नियतं द्राति कुत्सितत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यमनयेति निद्रा । "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" ॥३।३।१०४॥ इति अङ्प्रत्ययः । स्वापावस्थाविशेषे, कर्म० ६ कर्म० । प्रव० । पा० । पं० सं० । उत्त० । स्था० ।

सुहपडिबोहा णिद्दा, ...[११]

सुखेनाकृच्छ्रेण नखच्छोटिकामात्रेणाऽपि प्रतिबोधो जागरणं स्वप्तुर्यस्यां स्वापावस्थायां सा सुखप्रतिबोधा निद्रा, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि कारणे कार्योपचारान्निद्रेत्युच्यते । कर्म० १ कर्म० । अनु० । प्रज्ञा० । निद्रा पञ्चविधा–निद्रा १, निद्रानिद्रा २, प्रचला ३, प्रचलाप्रचला ४, स्त्यानर्द्धिश्च ५ इति । बृ० ४ उ० । स० । (आसां पृथक् पृथक् व्याख्या तत्तच्छब्दे)

णिद्दाऽऽदिचउक्कं पडिसिद्धकाले आयरमाणस्स पच्छित्तं जत्थलि-

दिवसे णिसि पढमे चरिमे, चतुक्क आसेवणे लहूमासो ।
आणऽणवत्थुड्डाहो, विराधणा णिद्दवुड्ढी य ॥ १३४ ॥

दिवसतो चउसु वि जामेसु, णिसा रात्री, ताए पढमजामे, चरिमे वा जामे, चउक्कं णाम-णिद्दा, णिद्दाणिद्दा, पयला, पयलापयला । आसेवणं णाम-पतासु वट्टति । तत्थ से पत्तेगं चउसु वि मासलहुं । णिद्दाए दोसु वि लहुं, णिद्दाणिद्दाए कालगुरुं । पयलाए तवगुरुं । अतिपयलाए दोहिं वि गुरुं । सुवंताण य इमे दोसा-भगवता पडिसिद्धेसु जओ आणाभंगो कओ भवति, आणाभंगेण य चरणभंगो । जतो भणियं-"आणाए च्चिय चरणं, तब्भंगे जाण किं न भग्गं तु ?।" अणवत्थदोसो य-एगो पडिसिद्धकालेसु सुवंतो, अण्णो वि तं दट्ठुं सुवति, "एगेण कयमकज्जं, करेति तप्पच्चया अण्णो ।" उड्डाहो य भवति-दिवसे सुवंतो य दिट्ठो असंजएहिं चिंतयति-जाहे एस णिक्खित्तसज्झायज्झाणजोगो सुवति, ताहे लक्खिज्जति-रातो रतिकिलंतो, एवं उड्डाहो भवति । अहवा भणंतिण कम्मं, ण धम्मो, अहो सुहवसत्तं । विराहणा-सुत्तो पलीवणगे डज्झेज्जा । णिद्दवुड्ढी य । यत उक्तम्-"पञ्च वर्द्धन्ति कौन्तेय !, सेव्यमानानि नित्यशः । आलस्यं मैथुनं निद्रा, क्षुधा क्रोधश्च पञ्चमः ॥१॥" नि० चू० १ उ० । बृ० । (उदकतीरे निद्रापञ्चककरणनिषेधो 'दगतीर' शब्दे वक्ष्यते)

छद्मस्थो निद्राति, प्रचलायतीत्याह-

छउमत्थे णं भंते ! मणूसे निद्दाएज्ज वा, पयलाएज्ज वा ?।
हंता ! निद्दाएज्ज वा, पयलाएज्ज वा, जहा हसेज्जा तहा, णवरं दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं निद्दाएइ वा, पयलाएइ वा, से णं केवलिस्स नत्थि, अण्णं तं चेव ॥

"छउमत्थे" इत्यादि । (णिद्दाएज्ज व त्ति) निद्रां सुखप्रतिबोधलक्षणां, कुर्यात् निद्रायेत् । (पयलाएज्ज व त्ति) प्रचलां ऊर्ध्वस्थितनिद्राकरणलक्षणां कुर्यात् प्रचलायेत् । भ० ५ श० ४ उ० ।

नितरां द्रान्ति गच्छन्ति कुत्सितामवस्थामिहामुत्र चानयेति निद्रा । तद्वशाद् प्रदीपनकाऽऽदिषु विनाशमिहैवानुभवन्ति । धर्मकार्येष्वपि शून्यमानसत्वान्न प्रवर्तन्ते इति । अक्षिसङ्कोचनरूपायाम, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सुप्ततायाम्, उत्त० ४ अ० । आ० म० । "जागरिता धम्मीणं, अधम्मियाणं च सुत्तिया सेया । वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥२०६॥" (इति 'जागरिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४४८ पृष्ठे, 'जयंती' शब्दे च १४१६ पृष्ठे चिन्तितम्)

णिद्दाण–निद्राण–त्रि० । सुप्तप्रमत्ते, प्रति० ।

णिद्दाणिद्दा–निद्रानिद्रा–स्त्री० । निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा । मयूरव्यंसकाऽऽदित्वान्मध्यमपदलोपी समासः । कर्म० १ कर्म० । शाकपार्थिवाऽऽदित्वान्मध्यमपदलोपी वा समासः । स्था० ६ ठा० । दुष्प्रबोधायां स्वापावस्थायाम्, कर्म० ।

निद्रानिद्रास्वरूपमाह–

................, णिद्दाणिद्दा य दुक्खपडिबोहा । [११]

दुःखेन कष्टेन बहुभिर्घोलनाप्रकारैरत्यर्थमस्फुटतरीभूतचैतन्यत्वेन प्रतिबोधो यस्यां सा दुःखप्रतिबोधा । कर्म० १ कर्म० । प्रव० । तस्यां हि चैतन्यस्यात्यन्तमस्फुटतरीभूतत्वात् बहुभिर्घोलनाप्रकारैः प्रबोधो भवत्यतः सुखप्रबोधनिद्रातोऽस्या अतिशायिनीत्वं, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रानिद्रा । प्रव० २१६ द्वार । कर्म० । पं० सं० । उत्त० । नि० चू० । स्था० । प्रज्ञा० । प्रव० । स० ।

णिद्दापमाय–निद्राप्रमाद–पुं० । क० स० । प्रमादकारणीभूतनिद्रायाम्, "निद्राशीलो न श्रुतं नाऽपि वित्तं, लब्धुं शक्तो हीयते चैव तावत्याम् । ज्ञानद्रव्याभावतो दुःखभागी, लोकेऽत्रैते स्यादतो निद्रयाऽऽलम् ॥१॥" इति । स्था० ६ ठा० ।

णिद्दामत्त–निद्रामत्त–त्रि० । निद्राऽभिभूते, आव० ५ अ० ।

णिद्दायण–निद्रायण–न० । निषण्णस्य स्वप्नावस्थायाम्, बृ० ३ उ० ।

णिद्दारिय–निर्दारित–त्रि० । विस्फारिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । निष्कासिते, "निद्दालियम्माजीहे ।" उपा० २ अ० ।

णिद्दिट्ठ–निर्दिष्ट–त्रि० । कथिते, विशे० । तं० । प्रतिपादिते, दर्श० ३ तत्त्व । आव० । दर्शिते, पञ्चा० ३ विव० ।

णिद्दुद्धिया–निर्दुग्धिका–स्त्री० । दुग्धरहितायाम्, तं० ।

णिद्देस–निर्देश–पुं० । निर्देशनं निर्देशः । विशेषाभिधाने, यथा आवश्यकं सामायिकमिति । अनु० । आ० म० । "सामाइयं ति निद्देसो त्ति ।" (तत्स्वरूपम् 'उद्देश' शब्दे द्वितीयभागे ७०६ पृष्ठे उक्तम्) (निर्देशनिक्षेपोऽपि तत्रैवोक्तः)

यकाभ्यां चोद्देशनिर्देशाभ्यामिहाधिकारस्तदाह-

ओदइओ खइओ त्ति व, नाणं चरणं ति जावनिद्देसो ।

एत्थ विसेसाहिगओ, समासउद्देसनिद्देसो ॥ १५०२ ॥
अज्झयणं उद्देसो, तं चिय सामाइयं ति निद्देसो ।
सुद्दो वि जहासंभव-माजोज्जं सेसएसुं पि ॥ १५०३ ॥

औदयिको भावः,क्षायिको भाव इत्यादि । अथवा-ज्ञानं, दर्शनं, चारित्रमित्यादिको ज्ञानाऽऽदीनां क्षायिकक्षायोपशमिकभावयु-क्तत्वाद्भावनिर्देशः। इह च प्रत्येकमष्टविधे उद्देशे निर्देशे च समा-सोद्देशः, समासनिर्देशश्च विशेषेणाधिकृतः । तथाहि-प्रस्तुतम-ध्ययनम्, इत्येष समासोद्देशः, सामायिकमिति च विशेषाभिधा-नरूपत्वात्समासनिर्देशः । एवं स्वबुद्ध्या यथासम्भवं शेषेष्वपि श्रुतस्कन्धचतुर्विंशतिस्तवाऽऽद्यध्ययनेष्वायोज्यम्, यथा श्रुत-स्कन्ध इति समासोद्देशः, आवश्यकमिति समासनिर्देश इ-त्यादि ॥ १५०२ ॥ १५०३ ॥

उत्तरगाथासंबन्धनार्थमाह--

सामाइयं नपुंसय-मस्स पुमं थी नपुंसगं वा वि ।
निद्दिट्ठा तत्थिच्छइ, कं निद्देसं नओ को णु ? ॥१५०४॥

इह सामायिकमिति नपुंसकतया रूढम् । अस्य च त्रिविधो निर्देष्टा उच्चारयिता, स्त्रीपुंनपुंसकभेदात् । तत्रेदं नयैर्विचा-र्यते-को नयः कं निर्देशमिच्छति ?-किं निर्देश्यवशात्, निर्देश-कवशाद्वा ?, इति विनेयः पृच्छतीति गाथाऽर्थः ॥१५०४॥

अस्मिंश्च प्रश्ने सत्याह-

दुविहं पि नेगमनओ, निद्दिट्ठं संगहो य ववहारो ।
निद्देसयमुज्जुसुओ, उभयसरिच्छं च सद्दस्स ॥१५०५॥

नैके गमा वस्तुधर्मपरिच्छेदा यस्याऽसौ ककारवर्णनाशान्नै-गमः, अनेकप्रकारवस्त्वभ्युपगमपर इत्यर्थः। नैगमश्चासौ न-यश्च नैगमनयः। स द्विविधमपि निर्देश्यवशान्निर्देशकवशाच्च नि-र्देशमिच्छति, इति शेषः, लोकव्यवहारपरत्वात्, अनेकगमरूप-त्वाच्चास्य नयस्य । लोके च निर्देश्यवशात्,निर्देशकवशाच्च नि-र्देशप्रवृत्तिर्दृश्यते। तत्र निर्देश्यवशाद् यथा-'वासवदत्ता,तरङ्गव-ती,प्रियदर्शनाकथा' इत्यादि। निर्देष्टृवशात्तु मनुना प्रणीतो ग्रन्थो मनुः, अक्षपादेनोक्तोऽक्षपाद इत्यादि । लोकोत्तरे तु निर्दे-श्यवशात् षड्जीवनिकायप्रतिपादकमध्ययनं षड्जीवनिका, सा-ध्वाचारप्रतिपादको ग्रन्थ आचार इत्यादि। तथा-निर्देशकवशा-न्निर्देशो यथा-कपिलेन प्रणीतं कापिलीयमध्ययनं, हरिकेशि-ना प्रणीतं हरिकेशीयं, केशिगौतमाभ्यामभिहितं केशिगौतमीयं, नन्दिसंहिता, जिनप्रवचनमित्यादि । एवं सावद्यविरमणरूपं सामायिकं रूढितो नपुंसकमिति कृत्वा निर्देश्यवशान्नैगमो न-पुंसकनिर्देशमेवास्य मन्यते। यथा-सामायिकं नपुंसकमिति। तथा सामायिकं निर्देष्टुः स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गत्वात्तद्वशात्सामायि-कस्य त्रिलिङ्गताऽप्येतन्मतेन भवति। यथा-सामायिकं स्त्री,सा-मायिकं पुरुषः, सामायिकं नपुंसकमिति। यथा वा देवदत्ताऽऽ-दिना घटाऽऽदिशब्दे समुच्चारिते स घटाऽऽदिशब्द उच्चारयितु-र्देवदत्ताऽऽदिपरिणामत्वाद्देवदत्ताऽऽदिशब्दत्वेन व्यपदिश्यते; त-था-तदभिधेयपृथुबुध्नोदराऽऽद्याकारघटाऽऽदिपदार्थपरिणामत्वा-द् घटाऽऽदिशब्दत्वेनापि लोके निर्दिश्यते। एवं स्वाभिधेयसा-वद्यविरमणपर्यायत्वात्सामायिकस्य नैगमो नपुंसकनिर्देशं मन्यते। अभिधायकस्त्रीपुरुषाऽऽदिपरिणामत्वात्तु त्रिरूपनिर्देशमप्य-सावभ्युपगच्छति, यथा-'सामायिकं स्त्री' इत्यादि । आह-'दुवि-हं पि नेगमनओ' एतावन्मात्रोक्तौ निर्देश्यवशाद्, निर्देशकव-शाच्च द्विविधं निर्देशमिच्छतीति कुतो लभ्यते ?, इति । अत्रो-च्यते-" निद्दिट्ठं संगहो य ववहारो " इतिवचनात्। अत्र ह्यय-मर्थः-निर्दिष्टमभिधेयं वस्त्वङ्गीकृत्य संग्रहव्यवहारौ निर्देश-मिच्छतः, निर्देश्यपर्यायत्वात् वचनस्य, इत्यादियुक्तिश्च भाष्ये वक्ष्यते । तदिदं निर्दिष्टं वस्त्वाश्रित्येतिवचनात्प्रागपि " दुवि-हं पि " इत्यत्र निर्दिष्टनिर्देशकवशान्निर्देश इति गम्यते । (नि-द्देसयमुज्जुसुओ त्ति) निर्दिशतीति निर्देशको वक्ता, तमङ्गीकृ-त्य ऋजुसूत्रो निर्देशमिच्छति । यथा-'सामायिकं स्त्री' इत्यादि । वक्तृपर्यायत्वाद्वचनस्येत्यादि युक्तिरत्रापि भाष्येऽभिधास्यते । (उभयसरिच्छं च सद्दस्स त्ति) उभयमिह निर्देश्यं निर्देश-कं च वस्तु तस्योभयस्य सदृशं समानलिङ्गमेवाऽऽश्रित्य शब्द-नयस्य,निर्देशप्रवृत्तिरिति गम्यते। यदि हि निर्देश्यं नपुंसकं,तदा निर्देष्टाऽपि स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणो नपुंसकमेव, वक्तुर्वाच्योप-योगानन्यत्वेन तद्रूपत्वात् । उपयोगप्रधाना हि शब्दनयाः, ततो यो यत्रोपयुक्तः स तद्रूप एव, यथाऽग्न्युपयुक्तोऽग्निः, तथा च सति स्त्रीपुरुषावपि यदा रूढितो नपुंसके सामायिके उ-पयुक्तौ भवतः, तदा निर्देश्यनपुंसकोपयुक्तत्वान्नपुंसकमेव, त-दुपयोगानन्यत्वेन तद्रूपत्वादिति। स्त्रीपुरुषौ वा नपुंसकं भूत इत्यस्य त्वर्थस्य शब्दनयमतेनासम्भव एवेति नियुक्तिगाथासं-क्षेपार्थः ॥ १५०५ ॥

अथ विस्तरार्थमभिधित्सुर्भाष्यकारः प्राऽऽह-

जं संववहारपरो-ऽणेगगमो णेगमो तओ दुविहं ।
इच्छइ संववहारो, दुविहो जं दीसए पायं ॥ १५०६ ॥

यद्यस्माल्लोकव्यवहारपरोऽनेकगमश्च नैगमनयः, ततस्तस्मान्नि-र्देश्यवशान्निर्देशकवशाच्च द्विविधमपि निर्देशमिच्छति। लो-कव्यवहारश्च प्रायो द्विधा दृश्यते ॥ १५०६ ॥

कथम् ?, इत्याह-

छज्जीवणियाऽऽयारो, निद्दिट्ठवसेण तह सुयं चऽन्नं ।
तं चेव य जिणवयणं, सव्वं निद्देसयवसेणं ॥ १५०७ ॥
जह वा निद्दिट्ठवसा, वासवदत्तातरंगवइयाइं ।
तह निद्देसगवसओ,लोए मणुरक्खवाउ त्ति ॥ १५०८ ॥

लोको द्विधा-अर्हद्दर्शनानुगतो लोकोत्तररूपः, तद्व्यतिरि-क्तश्च । तत्र लोकोत्तरे निर्दिष्टार्थवशान्निर्देशो यथा-षड्जीवनि-का नामाध्ययनम्, आचारः, आवश्यकमित्यादि । (तह सुयं च-न्नं, तं चेव येत्यादि) तथा अत्रैव लोकोत्तरे तदन्यच्च श्रुतं नि-र्देशकवशात्सर्वमपि जिनप्रवचनमुच्यते । तथा-अध्यात्मिकमपि श्रुतं निर्देशकवशादेवोच्यते । तथा-भद्रबाहुनिर्मितं, नन्द-संहिता, कापिलीयमित्यादि । यथा वा-इतरलोके निर्दिष्टव-शाद्वासवदत्ता, तरङ्गवतीत्यादिनिर्देशः, निर्देशकवशात्तु मनुः, अक्षपाद इत्यादि ॥ १५०७ ॥ १५०८ ॥

तथा किम् ?, इत्याशङ्क्य प्रकृते योजयन्नाह-

तह निद्दिट्ठवसाओ, नपुंसगं नेगमस्स सामइयं ।
थीपुंनपुंसगं वा, तं चिय निद्देसयवसाओ ॥ १५०९ ॥

यथा षड्जीवनिका, आचार इत्यादौ निर्दिष्टार्थवशान्निर्देशः, तथाऽत्रापि सावद्यविरमणलक्षणनिर्दिष्टनपुंसकार्थवशात्सामा-यिकम्, इति नपुंसकनिर्देशः, यथा वा मनुः, अक्षपाद इ-

स्यादौ निर्देशकवशान्निर्देशः, तथाऽत्रापि योषित्पुरुषनपुंसकलक्षणत्रिविधनिर्देशकवशात् तदेव सामायिकं स्त्रीपुंनपुंसकं भवति। इत्थं त्रिविधनिर्देशकवशात् मन्त्रसंहितापुस्तिकापिपीलिकाऽऽदिवत् त्रिष्वपि लिङ्गेषु सामायिकस्य निर्देशप्रवृत्तिः, यथा-'सामायिकं स्त्री' इत्यादि ॥ १५०९ ॥

अथ प्रकारान्तरेणाऽपि लोकव्यवहारोपदर्शनेन प्रकृतं समर्थयन्नाह-

जह वा घडाभिहाणं, घडसद्दो देवदत्तसद्दो त्ति ।
उभयमविरुद्धमेवं, सामइयं नेगमनयस्स ॥ १५१० ॥

इयं च गाथा- यथा वा देवदत्ताऽऽदिना घटाऽऽदिशब्दे समुच्चारिते इत्यादिना व्याख्यातैवेति ॥ १५१० ॥

"निद्दिट्ठं संगहो य ववहारो" (१५०५) इत्येतद्व्याख्यातुमाह-

अत्थाउ च्चिय वयणं, लहइ सरूवं जओ पईवो व्व ।
तो संगहववहारा, जणंति निद्दिट्ठवसगं तं ॥ १५११ ॥

यतो यस्मादर्थादेव वाच्याद् घटाऽऽदेः सकाशाद्वाचकं वचनं स्वरूपमात्मलाभं लभते, नान्यथा, यथा प्रदीपः। प्रदीपो हि प्रकाश्यमेवार्थं प्रकाशयन् प्रदीपो भण्यते, यदि तु प्रकाश्यं वस्तु न स्यात्, तदा किमपेक्षोऽसौ प्रदीपः स्यात् ?। तस्माद्यथा प्रकाश्यादेवार्थात्प्रदीप आत्मलाभं लभते, तथा वाच्यादेवार्थाद् वचनमात्मस्वरूपमाप्नोति । ततस्तस्मात्संग्रहव्यवहारनयौ निर्दिश्यते इति निर्दिष्टं वाच्यं वस्तु तद्वशगतं तदधीनमेव तद्वचनं जनतो ब्रूतः। वाच्यं चेह सामायिकशब्दस्य सावद्यविरतिरूपः, तदभिधेयोऽर्थः। स च रूढितो नपुंसकतया प्रसिद्ध इति। अतः सामायिकस्य नपुंसकलिङ्गतामेव संग्रहव्यवहारावभ्युपगच्छतः । अथवा सामायिकवतां सत्त्वानां स्त्रीपुंनपुंसकत्वात् तत्परिणामानन्यत्वेन च सामायिकार्थस्य स्त्र्यादिरूपत्वाद्वाच्यवशेन त्रिलिङ्गताऽपि सामायिकस्य संग्रहव्यवहारनयमतेन द्रष्टव्येति ॥ १५११ ॥

प्रकारान्तरेणाऽपि निर्दिष्टवशान्निर्देशं समर्थयन्नाह-

अहवा निद्दिट्ठत्थ-स्स पज्जओ चेव तं सधम्म व्व ।
तप्पच्चयकारणओ, घडस्स रूवाइ धम्म व्व ॥ १५१२ ॥

अथवा तद्वचनं निर्दिष्टार्थस्य वाच्यवस्तुनः पर्याय एव, तत्प्रत्ययकारणत्वात्-वाच्यार्थप्रतीतिहेतुत्वात्, यथा तस्यैव निर्देश्यस्य घटाऽऽदेरन्ये संस्थानाऽऽदयो धर्माः। इह यद्यस्य प्रत्ययकारणं तत्तस्य स्वपर्यायः, यथा घटस्य रूपाऽऽदयः, वचनं च वाच्यार्थस्य प्रत्ययकारणम्, अतस्तत्पर्यायः, पर्यायश्च पर्यायिणोऽधीन एवेति युक्तो निर्देश्यवशान्निर्देश इति ॥ १५१२ ॥

स्यादेतदसिद्धोऽयं हेतुः, एतत्प्रत्ययकारणत्वाद्वचनस्य, इत्येतन्निराकरणार्थमाह-

वयणं विण्णाणफलं, जइ तं भणिए वि नत्थि किं तेणं ?।
अन्नत्थ पच्चए वा, सव्वस्स वि पच्चओ पत्तो ॥१५१३॥
अभिधेयसंकरो वा, वत्तारि पच्चओऽणभिहिए वि ।
तम्हा निद्दिट्ठवसा, नपुंसगं बेंति सामइयं ॥ १५१४ ॥

अर्थविज्ञानफलं हि वचनं, यदि भणितेऽप्युदीरितेऽपि वचने (तं ति) तदर्थविज्ञानं, नास्ति न भवति, तर्हि कण्ठौष्ठशोषमात्रविधायिना किं तेनोक्तेन, निष्फलत्वात् ?। स्यादेतत्स्यादर्थादन्यत्र वक्तृसङ्कल्पितेऽर्थे विज्ञानं जनयिष्यति वचनम्, ततश्च विज्ञानफलं च तद्भविष्यति, वाच्येऽर्थे विज्ञानं च न जनयिष्यति, तथा च सति वाच्यार्थपर्यायो वचनं न भविष्यतीत्याशङ्कयाऽऽह-(अन्नत्थेत्यादि) यदि हि वाच्यमर्थं विहाय वक्तृसङ्कल्पितेऽर्थान्तरे प्रत्ययं वचनं जनयेत्तर्ह्यविशेषेणैव सर्वेषामर्थे प्रत्ययः प्राप्तः, न वा कश्चिदप्यर्थेऽसौ भवेत्, अविशेषादिति-अतत्पर्यायत्वेऽपि तत्प्रत्ययहेतुत्वे सर्वत्राऽसौ भवेत्, न वा कश्चिद्भवेदिति भावः । स्यादेतद्वचनादृतेऽपि प्रत्ययो भवत्येव, यथाऽनेनेदमभिहितमिति, तत्किमुच्यते-"जइ तं भणिए वि नत्थि किं तेणं ?" इति। इत्याशङ्कयाऽऽह-"अभिधेयसंकरो वेत्यादि।" अथ वा वाच्यादर्थादन्यत्र प्रत्ययेऽभ्युपगम्यमाने सर्वत्राऽपि प्रत्ययो न भवेदित्येको दोष उक्तः। अथ दोषान्तरमभिधित्सुराह-(अभिधेयसंकरो वेत्यादि) यदि हि वक्तर्यनभिहितेऽपि वचनात्तत्र प्रत्ययोऽभ्युपगम्यते, हन्त ! तर्हि वक्तृत्वनभिहितानि खरोष्ट्रदधिकाऽऽदीनि बहूनि वस्तूनि सन्ति, ततो वक्तृवत्तेषामपि श्रोतुः प्रत्यये सत्यभिधेयानां सर्वेषाम्, अभिधेयेन वा घटाऽऽदिना सह वक्त्रादीनामन्येषां सङ्करः, एकस्यां श्रोतृप्रतीतौ साङ्कर्ये युगपत्तदाकारसंक्रमणं प्राप्नोति, न चैतदस्ति, एकस्माद्वचनादेकस्यैव प्रतिनियतस्य घटाऽऽद्याकारस्य संवेदनादिति । तस्मादभिधेयपर्याय एव वचनम्, तत्प्रत्ययकारणत्वात् । अतो निर्दिष्टमिह सामायिकशब्दस्यार्थरूपं सामायिकं रूढितो नपुंसकम्, तद्वशात्सामायिकशब्दः संग्रहव्यवहारयोर्नपुंसकलिङ्गवृत्ति । अथवा-सामायिकवतः स्त्रीपुंनपुंसकत्वात्, तत्परिणामानन्यत्वाच्च सामायिकार्थस्य त्रिलिङ्गतामपि संग्रहव्यवहारावभ्युपगच्छतः। ततो निर्दिष्टस्य सामायिकार्थस्य त्रिलिङ्गत्वान्निर्देश्यवशादपि संग्रहव्यवहारमतेन सामायिकस्य त्रिलिङ्गताऽपि भवति; यथा-'सामायिकं स्त्री' इत्यादि। एतच्च स्वयमेव द्रष्टव्यम् ॥ १५१३ ॥ १५१४ ॥

'निद्देसगमुज्जुसुओ' (१५०५) इति व्याचिख्यासुराह-

उज्जुसुओ निद्देसग-वसेण सामाइयं निदिसइ ।
वयणं वत्तुरहीणं, तप्पज्जाओ य तं जम्हा ॥ १५१५ ॥

ऋजुसूत्रनयो निर्देशकवशेनाभिधातृपारतन्त्र्येण सामायिकं निर्दिशति, यदेव निर्देशकस्य लिङ्गं, तदेव सामायिकस्यासौ मन्यते, यथा-'सामायिकं स्त्री' इत्यादि, वचनस्य वक्त्रधीनत्वात्, तत्पर्यायत्वाच्च, विज्ञानवदिति ।

अथ वचनस्य वक्त्रधीनत्वे युक्तिमाह-

करणत्तणओ मण इव, सपज्जयाओ घडाऽऽइरूवमिव ।
साहीणत्तणओ वि य, सधणं व वओ वयंतस्स ॥१५१६॥

वक्तुरेव संबन्धि वचः, इति पर्यन्ते प्रतिज्ञा। अत्र सदृष्टान्तान् हेतूनाह-करणत्वात्, मनोवत्; तथा-स्वपर्यायत्वात्, घटाऽऽदेः रूपाऽऽदिवत्; तथा-स्वाधीनत्वात्, स्वधनवदिति ॥१५१६॥

युक्त्यन्तरमाह-

तह सुत्तदुरुत्ताओ, तस्सेवाणुग्गहोवघायाओ ।
तस्स तयमिदियं पिव, इहरा अकयाऽऽगमो होज्जा ॥१५१७॥

तस्यैव वक्तुस्तद्वच इति पक्षः, वचनस्य सूक्तदुरुक्तत्वाभ्यां वक्तुरेवानुग्रहोपघातदर्शनात्। इह यस्य यन्निमित्तावनु-

ग्रहोपघाती तस्य तदात्मीयम्, यथा देवदत्ताऽऽदेरिन्द्रियम्, दृश्येते वचनस्तुतस्य वक्तुस्ताभ्यां वक्तुरनुग्रहोपघातौ, तस्मात्तत्तस्याऽऽत्मीयम् । विपर्यये बाधकमाह-इतरथा अन्यथा वचनस्य वक्तुरसंबन्धित्वे तस्याऽनुग्रहोपघातयोरहेतुताप्राप्त्या एव स्यादिति ॥ १५१७ ॥

अत्र परः प्राऽऽह-

निद्दिट्ठस्स वि कस्सवि, णणूवघायाइओ तयं जुत्तं ।
तं तस्स सकारणओ, इहरा थाणुस्स वि हवेज्जा ॥१५१८॥

ननु न केवलं निर्देशकस्य, किं तु निर्दिष्टस्याप्यभिधेयस्यापि कस्यचित् तस्कराऽऽदेर्वचनादुपघाताऽऽदयो दृश्यन्ते, यथा- 'बध्यतां, हन्यतां चायं तस्करः,' मुच्यतां चायमित्याद्युक्ते तस्य विषादाऽऽद्युत्पत्तेरुपघाताऽऽदयोऽध्यक्षत एवोपलभ्यन्ते। अनस्तद्दर्शनान्निर्दिष्टस्याऽपि संबन्धि तद्वचनं वक्तुं युज्यते। अत्रोत्तरमाह-(ते इत्यादि) ये इष्टाऽनिष्टवचनश्रवणात्तस्कराऽऽदेः निर्दिष्टस्यानुग्रहाऽऽदयो दृश्यन्ते, ते तस्य स्वकीयश्रवणेन्द्रियमनःपुण्यपापाऽऽदिकात्कारणादेव मन्तव्याः; न त्विष्टानिष्टवचनोक्तिमात्राद्, अन्यथा श्रोत्राऽऽदिकरणविकलानां स्थाण्वादीनामपि तदुक्तिमात्रात्ते भवेयुरिति ॥ १५१८ ॥

वक्तृधर्मत्वमेव वचनस्य हेत्वन्तरोक्तेः समर्थयन्नाह-

सरनामोदयजणियं, वयणं देहो व्व वत्तुपज्जाओ ।
तं नाभिधेयधम्मो, जुत्तमजावाभिहाणाओ ॥१५१९॥

'वक्तृपर्यायो वचनम्' इति प्रतिज्ञा, स्वररूपनामकर्मोदयजन्यत्वात्, इह यन्नामकर्मोदयजन्यं तत्तस्यैव वक्तुर्देवदत्ताऽऽदेः पर्यायः, यथा तस्यैव देहः, नामकर्मोदयजन्यं च वचनं, तस्मात्तस्यैव वक्तुः पर्यायः । तत्तस्मान्न वचनमभिधेयधर्मो युक्तम्, किं त्वभिधातुरेव । उपचयमाह-अभावस्यापि वचनेनाभिधानात् । इदमुक्तं भवति-अभावोऽपि हि वचनेनाभिधीयते, न च वचनं तद्धर्म इति वक्तुं शक्यते, अभावस्यासत्त्वात्, यदि च वचनं तद्धर्मः स्यात्, तदा सोऽपि भावः स्याद्, वचनाऽऽश्रयत्वात्, देवदत्ताऽऽदिवदिति ॥१५१९॥

यस्यापि च घटाऽऽदिशब्दाभिधेयस्य घटाऽऽदेर्जीवस्य वचनं, तत्प्रत्ययकारणत्वात्तद्धर्मत्वेनाभ्युपगम्यते, तत्रापि पृच्छ्यते । किम् ?, इत्याह-

जावम्मि वि संबद्धं, तमसंबद्धं व तं पगासेज्जा ।
जइ संबद्धं तिहुयण-वावि त्ति तयं पगासेउ ॥१५२०॥

भावेऽपि घटाऽऽदिके वचनाभिधेये पृच्छामो भवन्तम्-तद्वचनं तत्र भावे किं संबद्धं सन्तं भावं प्रकाशयति, आहोस्विदसंबद्धम् ?, इति । यदि संबद्धं, तर्हि "चउहिं समएहिं लोगो, भासाए निरंतरं तु होइ फुडो।" (३७६) इत्यादिवचनात् त्रिभुवनव्यापित्वात्कृत्स्नं समस्तमपि पदार्थजातं प्रकाशयतु, संबद्धत्वाविशेषादिति ॥ १५२० ॥

अथासंबद्धं प्रकाशयति, तत्राऽऽह-

निव्विण्णाणत्तणओ, नासंबद्धं तयं पईवो व्व ।
[illegible]संबद्धं, अह तो सव्वं पगासेउ ॥१५२१॥

नासंबद्धं तत्पदार्थम् [illegible]शयति। कुतः ?, इत्याह-निर्विज्ञानत्वाद्, विज्ञानादन्यत्वे [illegible]त्वादिति भावः। अयं च हेतुः । प्रदीपवदिति दृष्टान्तः । विज्ञानमसंबद्धमपि वस्तु प्रकाशयति, न च वचनं विज्ञानरूपम्, अतो नासंबद्धमर्थं प्रकाशयति, प्रदीपवद् । अथासंबद्धमपि तद्वस्तु प्रकाशयति, तर्हि सर्वमपि प्रकाशयतु, असंबद्धत्वाविशेषात् । तस्माद्वाच्यप्रत्ययकारणत्वेन तद्धर्मो वचनमिति ॥ १५२१ ॥

आह-ननूक्तं वचनमर्थादात्मलाभं लभते, प्रदीपवद्, अतः कथमिदं वक्तुरेवेष्यते ?, इत्याह-

जइ वि वयणिज्ज वत्ता, बज्झऽब्भंतरनिमित्तसामत्थं ।
वत्ता तह वि पहाणो, निमित्तमब्भंतरं जं सो ॥१५२२॥

इह यद्यपि वचनीयं वक्ता च यथासंख्यं बाह्यमभ्यन्तरं च वचनस्य सामर्थ्यं निमित्तं कारणम्, तथाऽपि वक्ता प्रधानः । कुतः ?, इत्याह-यद्यस्मादभ्यन्तरं प्रत्यासन्नं निमित्तमसौ । तस्माद्वचनस्य वक्त्रधीनत्वात्, यदेव वक्तुर्लिङ्गं तदेव सामायिकस्य ऋजुसूत्रनयमतेन लिङ्गमिति स्थितम् ॥ १५२२ ॥

"उभयसरिच्छं च सद्दस्स।" (१५०५) इत्येतद्व्याचिख्यासुराह-

सद्दो समाणलिंगं, निद्देसं जणइ विसरिसमवत्थुं ।
उवउत्तो निद्दिट्ठा, निद्दिस्साओ जओऽणण्णो ॥१५२३॥

शब्दप्रधानो नयः शब्दो निर्देशं वचनमिच्छति। किंविशिष्टम् ?, इत्याह-समानलिङ्गं निर्देश्यनिर्देशकयोस्तुल्यमेव लिङ्गमसाविच्छतीत्यर्थः। विसदृशं त्वसमानलिङ्गं निर्देशमघटमानकत्वादवस्तुत्वेनैव मन्यते । कुतः ?, इत्याह-उपयुक्तः निर्देश्येऽर्थेऽर्पितान्तःकरणो निर्देष्टा यद् यस्मान्निर्देश्यादनन्योऽभिन्नः । इदमुक्तं भवति-वक्तुरभिन्नवचनोऽपि पुमांसमभिदधतः पुंनिर्देश एव, स्त्रियं प्रतिपादयतः स्त्रीनिर्देश एव, नपुंसकं निर्दिशतो नपुंसकनिर्देश एव, वाच्ये उपयुक्तस्य वक्तुर्वाच्यस्वादभिन्नत्वादिति ॥ १५२३ ॥

तथा चाऽऽह-

थीं निद्दिसइ जइ पुमं, थी चेव तओ जओ तदुवउत्तो ।
थीविण्णाणाणन्नो, निद्दिट्ठसमाणलिंगो त्ति ॥१५२४॥

स्त्र्यादेः समानलिङ्गं स्त्र्यादिकं निर्दिशतः स्त्र्यादिनिर्देश इति तावदिदं प्रतीतमेव। यद्यपि च पुमान् कर्ता स्त्रियं कर्मताऽऽपन्नां निर्दिशति। यथा- वासवदत्ते ! इदमित्थं विधेहीति, तदपि तकोऽसौ निर्देष्टा पुरुषः स्त्र्येव भवति। कुतः ?, इत्याह-यतो यस्मात्तदुपयुक्तः स्त्र्युपयुक्तः स्त्रीविज्ञानाद्वासवदत्ताऽध्यवसायादनन्योऽभिन्नः सन्निर्दिष्टया स्त्रिया समानलिङ्गः पुरुषो भवति । ततश्च यदा पुरुषो नपुंसकमभिधत्ते, तदाऽपि निर्दिष्टसमानलिङ्गत्वान्नपुंसकमेवाऽसौ । एवं स्त्रियां नपुंसके च निर्देष्टरि निर्दिष्टसमानलिङ्गता योजनीयेति ॥ १५२४ ॥

ननु कथं स्त्रीविज्ञानादनन्यः स पुरुषोऽपि स्त्र्येव भवति, न पुरुषोऽपि स्यात् ?, इत्याह-

जइ स पुमं तो नत्थी, अह थी न पुमं न वा तदुवउत्तो ।
जो थीविण्णाणमओ,नो थी सो सव्वहा नत्थि ॥१५२५॥

यदि स निर्देष्टा पुमान्, ततो न स्त्री-न चासौ स्त्र्युपयोगवानित्यर्थः। अथासौ स्त्र्युपयोगोपयुक्तत्वात् स्त्रीत्वमभ्युपगम्यते, तर्हि न पुमान्-न पुंस्त्वेनायमेष्टव्यः, किं तु स्त्र्युपयोगोपयुक्तत्वात् स्त्र्येवासौ मन्तव्य इत्यर्थः। अथ नैवं, तर्हि न वा न चासौ, त-

तुपयुक्तः स्त्र्युपयुक्तः, तदुपयुक्तस्य सर्वथैव पुंस्त्वविरोधात्। किं बहुना ?, यः स्त्रीविज्ञानमयः स्त्र्युपयोगोपयुक्तोऽपि न स्त्री, किं पुमान् नपुंसकं वा, स एवंभूतः पदार्थः सर्वथा नास्ति-असन्नेव, खरविषाणवदिति ॥ १५२५ ॥

अथाऽनुपयुक्तः स्त्रियं भाषमाणोऽपि पुरुषो भविष्यति, इत्याशङ्क्याऽऽह-

जासइ वाऽणुवउत्तो, जइ अन्नाणी तओ न तव्वयणं ।
निद्देसो जेण मयं, निच्छियदेसो त्ति निद्देसो ॥१५२६॥

यदि वा उच्यते भवता-अनुपयुक्तोऽसौ पुरुषः स्त्रियं जल्पते-ऽतो न स्त्रीरूपतां प्रतिपद्यते । तदयुक्तम्, यत एवं सति तकोऽसावनुपयुक्तभाषकोऽज्ञानी, उपयोगशून्यत्वात्, घटाऽऽदिवत्, ततश्च न तद्वचनं निर्देशः, उपयोगपूर्वकत्वाभावात्, उन्मत्ताऽऽदिवचनवत् । कुतः ?, इत्याह-येनैतन्मतं सम्मतं विपश्चिताम् । किम् ?, इत्याह-उपयोगपूर्वकतया निश्चितस्य देशनं जल्पनं देशो निर्देशः । अथवा-निश्चितो देशो भाषणं यत्रासौ निर्देशो भण्यते । न च निरुपयोगभाषकस्यैवं सम्भवतीति ॥१५२६॥

एतदेव भावयति--

सो जइ नाणुवउत्तो-ऽणुवउत्तो वा न नाम निद्देसो ।
निद्देसोऽणुवउत्तो, य वेइ सद्दो न तं वत्थुं ॥१५२७॥

हन्त ! स यदि निश्चितदेशो निर्देशोऽभ्युपगम्यते, तर्हि तद्वान् देशकाऽऽदिर्नाऽनुपयुक्तो युज्यते । अथानुपयुक्तोऽसौ, तर्हि न तस्य निर्देशः, निश्चितज्ञानपूर्वकत्वाभावस्य । किं बहुना ?, निर्देशः, अनुपयुक्तश्च तद्वानित्येवंभूतं यन्मतं तच्छब्दनयोऽत्रस्थेव ब्रूते, विरुद्धत्वात्, अचेतन आत्मा, अश्रावणः शब्दः, इत्यादिवदिति ॥१५२७॥

अथोपसंहरन्नाह--

तम्हा जं जं निद्दि-स्सइ तदुवउत्तो स तम्मओ होइ ।
वत्ता वयणिज्जाओ, अणण्णो त्ति समाणलिंगो सो ॥१५२८॥

तस्मादेतच्छब्दनयमतस्य तात्पर्यं, यः पुरुषाऽऽदिर्वक्ता यं यं स्त्र्यादिकमर्थं तदुपयुक्तः स्त्र्याद्युपयुक्तो निर्दिशति वक्ति, स तन्मयो वाच्यार्थाऽऽत्मको भवति । कुतः ?, इत्याह-वक्ता वाच्योपयुक्तो वचनीयादनन्य एव भवतीति कृत्वा । ततो वक्तृवचनीयसमानलिङ्गोऽयमस्य निर्देश इति स्थितम् ॥१५२८॥

प्रकृतमुपदर्शयन्नाह--

सामाइओवउत्तो, जीवो सामाइयं सयं चेव ।
निद्दिसइ जओ सव्वो, समाणलिंगो स तेणेव ॥१५२९॥

इह प्रस्तुते सामायिके निर्देश्य उपयुक्तो निर्देष्टा जीवः सामायिकमेव, भवतीति शेषः । ततश्चाऽसौ सामायिकं निर्दिशन् स्वकमेवाऽऽत्मानमेव निर्दिशति । कुतः ?, इत्याह-यतो यस्मात्स्त्रीपुंनपुंसकरूपः सर्वोऽप्यसौ निर्देष्टा तदुपयुक्तत्वात् तेनैव निर्देश्येन सामायिकेन समानलिङ्गो भवति, सामायिकार्थस्य कर्तिनो नपुंसकत्वात्, स्त्रियाः, पुंसो, नपुंसकस्य वा सामायिकर्माभिधानस्य नपुंसकलिङ्गनिर्देश एव भवतीति । आह--यदि पुनर्जीवस्य द्वैविध्यान्निर्देश्यनिर्देशकोभयवशतोऽपि निर्देशः स्यात्, तर्हि को दोषः ? । तथाहि--द्विविधो भावोऽर्थस्य विज्ञानं, परिणतिश्च, भावाभिधायिनश्च शब्दनयाः । तत्र यदा पुमाननुपयुक्तः सामायिकं नपुंसकमाह, तदा अकुर्वत्पुंसकविज्ञानमन्यत्वान्नपुंसकनिर्देशोऽस्तु, निर्देष्टुश्च पुरुषोऽऽदिरूपपुद्गलपरिणतिमयत्वात् पुंनिर्देशोऽपि भवत्विति । अत्रोच्यते-भावद्वैविध्ये सत्यपि वस्तुनो विज्ञानमेवेहोपयोगरूपमधिकृतं न पुनस्तत्परिणतिः, विज्ञानरूपस्यैवेह निर्देशस्याभिप्रेतत्वात् । आह-ननु शब्दोऽपि पुद्गलद्रव्यरूपो, निर्दिश्यत इति कृत्वा गम्यते, तत्किमिति तदुपयोगरूप एव निर्देशो ... ? नैतदेवं, शब्दस्य द्रव्यमात्रत्वात्, ज्ञानलक्षणभावत्वे ... शब्दनयाः । अत एव पुद्गलपरिणतेः सत्यपि देशो गृह्यते, इह ग्रहणम्, किं तु विज्ञानरूप एवात्र निर्देशः, तत्कथमिह ... स्यात्, शब्दप्रधाना एव हि शब्दनयाः, यथोपरिज्ञानात् । स निर्देशो नेष्यते ? । तदयुक्तम्, भावाश्रावभाषित्वात्तस्य हि शब्दादेवार्थज्ञानमभ्युपगच्छति, सकारणस्य च द्रव्यस्य च सति शब्दस्य ज्ञानकारणत्वात्, यस्य च भावग्राहित्वाद्-यस्य च भावशून्यत्वात्, शब्दनयापरस्त्वाह-ननु यद्युपयुक्तशब्दमात्रप्रधानता युक्तेति । अभ्युपेयते, ततो निर्देश्यवशान्निर्देश समर्थमाह, तद्वशान्निर्देश संग्रहव्यवहारयोः शब्दनयस्य न प्राप्तम्, एवं च सति संग्रहव्यवहारयोरुपयुक्तस्यानुपयुक्तो विशेषः ? । अत्रोच्यते-ऽभिधेयमात्रवशाच्छब्दमात्रमेव निर्देश्या वक्तुरात्मनिरपेक्षौ-ऽसमानमुररीकृत्य य उपयोगस्तस्मादन्यः तु बाह्यवस्तुप्रत्ययोगरूपं स्वरूपमेव निर्देशोऽङ्गीक्रियते, इति भावतुर्जीवस्योपयुक्तस्य को विशेषः, तस्याऽपि हि निर्देश्य-यथोक्तम्, अत्र स एवाध्यापन्नः ? । अत्राप्युच्यते-अनुपयुक्तशाद् निर्देशः, उपयुक्तस्याऽपि वक्तुः शब्दमात्रं निर्देशः, अत्र तूपायेनाऽनुग एव निर्देश इति विशेषः, इत्यलं प्रसङ्गेनेति गाथोपयो- ... २१ ॥

तदेवं नयमतान्यभिधाय सम्यग्मिथ्याविभागमाह--

इह सव्वनयमयाइं, परित्तविमयाइँ समुदियाइं तु ।
जइ णं बज्झऽब्भंतर-निद्देसनिमित्तसंगाहि ॥ १५३० ॥

इत्येवमुक्तप्रकारेण सर्वाण्यपि नैगमाऽऽदिनयमतानि परीत्तविषयाण्यन्योन्यनिरपेक्षतया एकैकांशग्राहीणि, अतो मिथ्यारूपत्वात् तान्यप्रमाणमिति भावः । समुदितानि पुनस्तान्येवाऽन्योन्यसापेक्षतया संपूर्णवस्तुग्राहित्वाज्जैनं मतं भवति । कथम्भूतं जैनं मतम् ?, इत्याह-(बज्झेत्यादि) बाह्याऽऽभ्यन्तराणि निर्देशकस्य वचनस्य शब्दस्य निमित्तानि संग्रहीतुमभ्युपगन्तुं शीलं यस्य तद् बाह्याऽऽभ्यन्तरनिर्देशनिमित्तसंग्राहि । तत्र बाह्यान्यभिधेयघटपटशकटाऽऽदीनि, आभ्यन्तराणि तु स्वरनामकर्मोदयतात्वादिकरणप्रयत्नादीनि निर्देशस्य निमित्तानि द्रष्टव्यानि । समस्ततत्सामग्रीजन्यनिर्देशाभ्युपगमपरत्वेन सम्यग्रूपत्वाज्जैनं मतं प्रमाणमितीह भावार्थः । आह—बाह्यो घटाऽऽदिरर्थः शब्दस्य कथं निमित्तम्, संबन्धाभावात् ? । तदयुक्तं, शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकसंबन्धस्य विद्यमानत्वात् । यद्यर्थस्य शब्दो वाचकः, तर्ह्यगृहीतसंकेतस्यापि म्लेच्छाऽऽदेस्तमर्थं प्रतिपादयेदिति चेत् । नैवम्, कर्मक्षयोपशमसव्यपेक्षस्यैव तस्य तत्प्रतिपादकत्वात्, क्षयोपशमस्य च सङ्केताऽऽदिसापेक्षत्वात् । न हि प्रदीपः प्रकाशक इत्येतावन्मात्रेणैवान्धाऽऽदीनामप्यर्थं प्रकाशयति । ननु यदि क्षयोपशमापेक्षः शब्दोऽर्थं प्रकाशयति, तर्हि संकेतकरणं व्यर्थम् । तदप्रकाशनप्रसङ्गः, न चैतदस्ति, गृहीतसङ्केतानामविकलेनार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्, ततः किमन्तर्गडुकल्पकयोपशम ... कल्पनेन ?, तदयुक्तम्, तथाहि-केषा-

ञ्चिदक्षरमतीनां शाखाव्याख्यानाऽऽदौ विषमपदवाक्येषु वि- शिष्टक्षयोपशमाभावात्संकेतोऽपि कर्तुं न शक्यते, अन्ये तु तत्करणेऽपि नार्थं प्रतिपद्यन्ते । यद्यपि केषाञ्चित्पूर्वभवाभ्यास- भावाऽऽदिभवेऽकृतसंकेतानामपि क्षमित्येव कथमप्यर्थप्रति- पत्तिर्दृश्यते, तत्रापि क्षयोपशमस्यैवातिपटुत्वं हेतुः । तस्मा- त्कर्मक्षयोपशमाऽऽदिसामग्रीसव्यपेक्षः शब्दो वाचकः, अर्थस्तु वाच्य', इति शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकभावलक्षणः संबन्ध इति । तदेवं व्याख्याता " दुविहं पि नेगमनओ । " (१५०५) इत्या- दि गाथा, तद्व्याख्याने च व्याख्यातमुपोद्घातनिर्युक्तिद्वारगा- थाद्वयस्य द्वितीयं द्वारम् ॥ १५३० ॥ विशे० । आ० म० । निर्देशनं निर्देशः । कर्माऽऽदिकारकशक्तिनिरपेक्षस्य लि- ङ्गार्थमात्रस्य प्रतिपादने, "निद्देसे पढमा होइ ।" निर्देशे प्रथमा विभक्तिर्भवति । यथा-स वा अयं वाऽऽस्ते, अहं वा आसे । स्था० ८ ठा० । अनु० । प्रश्निते कार्ये नियतार्थे, उत्तरे, प्र० ३ श० १ उ० । निर्देशो हि प्रथमतः कायप्रयोगेण भाषाद्रव्या- ण्यादाय पश्चाद्वाक्पर्याप्तिकरणप्रयोगतो विधीयते । ज्यो० १ पाहु० । हेतुदृष्टान्तोपदर्शनेन स्पष्टतरीकरणे, नं० । उत्सर्गाप- वादाभ्यां प्रतिपादने, उत्त० १ अ० ।

णिद्देसदोस-निर्देशदोष-पुं० । उचितनिर्देशाकरणरूपे सूत्रदोषे, अनु० । स च यत्र निर्दिष्टपदानामेकवाक्यता न क्रियते, यथेह देवदत्तः स्थाल्यामोदनं पचतीत्यभिधातव्ये पचतीति शब्दं नाभिधत्ते । अनु० । विशे० । निर्देशदोषो नाम यत्र वस्तुपर्याय- वाचिनः पदार्थस्यार्थान्तरपरिकल्पनाऽऽश्रयणम् । यथा-द्रव्यप- र्यायवाचिनां सत्ताऽऽदीनां द्रव्यादर्थान्तरपरिकल्पनमुलूकस्य । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिद्देसवत्ति [ण्] -निर्देशवर्तिन्-त्रि० । आज्ञावर्तिनि, " णिद्दे- सवत्ती पुण जे गुरूणं । " दश० ९ अ० २ उ० ।

णिद्दोस्थ-निर्दौस्थ्य-न० । निर्भये, व्य० ४ उ० । स्वस्थे, व्य० ७ उ० ।

णिद्दोस-निर्दोष-त्रि० । निरवद्ये, पञ्चा० ७ विव० । "अलियमुव- घायजणियं । " इत्यादिद्वात्रिंशत्सूत्रदोषरहिते, स्था० ७ ठा० । आ० म० । अनु० । हिंसाऽऽदिदोषरहिते, अनु० । समस्तोपा- नुकदोषविप्रमुक्ते, विशे० । दोषस्याभावे, व्य० १ उ० । अप्राय- श्चित्ते, नि० चू० १ उ० । (व्याख्या ' सुत्त ' शब्दे वक्ष्यते)

णिद्ध-स्निग्ध-पुं० । संयोगे सति संयोगिनां बन्धकारणे रस- भेदे, " एगे णिद्धे । " स्था० १ ठा० । पुद्गलद्रव्याणां मिथः संयुज्यमानानां बन्धनिबन्धने तैलाऽऽदिविस्थिते रसे, अनु० । कर्म० । आचा० । सस्नेहे, पि० । ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । आव० । स० । " ओदणं ओसढं रसियं मणुण्णं णिद्धं लुक्खं । " आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ० । रात्रिभोजनाद्युत्तरसूत्र- योर्यद् गृहाऽऽदिकं तैलवर्जितमहत्वं भवति तदेव स्निग्धमु- च्यते । बृ० ५ उ० । मसृणे, कल्प० २ क्षण । जीत० । जी० । प्रज्ञा० । जं० । कान्ते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । सं० । जी० । "णिद्धलेसा ।" ... मनोहरं तेजो यासां ताः स्निग्धतेजसः । जी० ३ प्रति० ४ उ० । "णिद्धपाणिलेहा ।" वर्णकप्रकाऽपेक्षया स्नि- ग्धा पाणौ रेखा यासां ताः । जी० ३ प्रति० ४ उ० । प्रश्न० । जी० ।

णिद्धअ-देशी-अविभिन्नगृहे, दे० ना० ४ वर्ग ३८ गाथा ।

णिद्धंत-निर्ध्मात-त्रि० । नितरामग्निसंयोगेन यद् ध्मातं विशो- धितम् । जी० ३ प्रति० ४ उ० । औ० । दग्धमले, औ० । सं० । प्रश्न० ।

णिद्धंधस-निर्ध्वंधस-पुं० । प्रवचनोपघातनिरपेक्षे, आव० ३ अ० । निर्दये, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिद्धच्छवि-स्निग्धच्छवि-स्त्री० । स्निग्धा च कान्तिमती छ- विस्त्वक् । कान्तस्वचि, " सुवयवके सुकुमारया य, णिद्धच्छ- वी । " बृ० ३ उ० ।

णिद्धण-निर्धन-त्रि० । "सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥८।२।७९॥ इति रलोपः । " द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः "॥८।२।९०॥ इति दकारा- ऽऽगमः । प्रा० २ पाद । गोमहिष्यादिरहिते, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

णिद्धण्णय-निर्धान्यक-त्रि० । धान्यकणविवर्जिते, तं० ।

णिद्धफासणाम[ण्]-स्निग्धस्पर्शनामन्-न० । स्पर्शनामभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं घृताऽऽदिवत् स्निग्धं भवति तत् । कर्म० १ कर्म० ।

णिद्धमण-निर्धमन-न० । खाले, जलनिर्गममार्गे, स्था० ५ ठा० १ उ० । 'खाल' इति देशप्रसिद्धम् । सं० । "कुणालाए णिद्धमण- मूले वसही वरिसायाले देवयाणुकंपेणं न वरिसइ ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । ऋद्धिरससातगौरवैर्युक्तत्वेन मृत्वा यक्षत्वमुपागते आर्यमङ्ग्वाचार्ये, आव० ४ अ० । गृहजलप्रवाहे, दे० ना० ४ वर्ग ३९ गाथा (आर्यमङ्गुकथा ' अज्जमंगु ' श- ब्दे प्रथमभागे २११ पृष्ठे गता)

णिद्धमाअ-देशी-अविभिन्नगृहे, दे० ना० ४ वर्ग ३८ गाथा ।

णिद्धम्म-निर्धर्म-त्रि० । निर्गतो धर्मात् श्रुतचारित्रलक्षणादिति निर्धर्मः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । धर्मादपक्रान्ते, प्रश्न० १ आ- श्र० द्वार । अविभिन्नगृहे, दे० ना० ४ वर्ग ३८ गाथा ।

निर्धर्मन्-त्रि० । निर्गतो धर्मो यस्य । असंयतीभूते, व्य० १० उ० । पार्श्वस्थाऽऽदिषु, नि० चू० १ उ० । एकमुखयायिनि, दे० ना० ४ वर्ग ३५ गाथा ।

णिद्धाडण-निर्धाटन-न० । निष्कासने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिद्धारण-निर्धारण-न० । निर् धृ-णिच्-ल्युट् । जातिगुण- क्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणे, यथा " नराणां क्षत्रियः शूरः ।" इत्यादौ नररूपसमुदायात् क्षत्रियजातेरेकदेशस्य शूरत्वेन पृथक्करणम् । वाच० । आचा० ।

णिद्धुणे-निर्धूय-अव्य० । प्रस्फोट्येत्यर्थे, " आणिरिसप स- णिद्धुणे धुणमले । " दश० ७ अ० ।

णिद्धूम-निर्धूम-त्रि० । धूमरहिते, "णिद्धूमगं च गामं, महिलाथू- भं च सुण्णयं दट्ठुं । " निर्धूमं ग्रामं दृष्ट्वा अतीव भिक्षाभावात इति ज्ञायते । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिद्धूमग-निर्धूमक-पुं० । अपलक्षणभेदे, यत्प्रभावतो राज्यमनु- प्राप्तमपि रक्षणीयमेव न भवति । व्य० ३ उ० ।

णिद्धूय-निर्धूत-त्रि० । अपनीते, रा० ।

णिद्धूयजरढपंडुपत्त-निर्धूतजरठपाण्डुपत्र-त्रि० । निर्धूतानि अपनीतानि जरठानि पाण्डुपत्राणि येभ्यस्ते निर्धूतजरठपाण्डुपत्राः । जी० ३ प्रति० ४ उ० । अपगतपुराणपाण्डुपत्रेषु, औ० । " णिद्धूयजरढपंडुपत्ता । " निर्धूतान्यपनीतानि जरठानि पाण्डुपत्राणि येभ्यस्ते निर्धूतजरठपाण्डुपत्राः । किमुक्तं भवति ?-यानि वृक्षस्थानि जरठानि पाण्डुपत्राणि वातेन निर्धूय निर्धूय भूमौ पातितानि भूमेरपि च प्रायो निर्धूय निर्धूयान्यत्रापसारितानीति । रा० । जी० ।

णिद्धोभास-स्निग्धावभास-त्रि० । स्निग्धत्वेनावभासमाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० ।

णिद्धोय-निर्धौत-त्रि० । नितरामपुनर्भावेन धौते, " वंदिय णिद्धोयसव्वकम्ममलं । " (१) नितरामपुनर्भावेन धौतः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपःसलिलप्रभावेणापगमितः सर्व एव कर्माष्टप्रकारं जीवमालिन्यहेतुत्वाद् मल इव मलो येन स निर्धौतसर्वकर्ममलः । कर्म० १ कर्म० ।

णिधत्त-निधत्त-न० । निधानं निहितं वा निधत्तम्, भावे कर्मणि वा क्तप्रत्यये निपातनाद्वृत्तसंक्रमणापवर्तनवर्जितानां शेषकरणानामयोग्यत्वेन कर्मणोऽवस्थाने, पूर्वबद्धस्य कर्मणस्तप्तसंमीलितलोहशलाकासंबन्धसमाने करणे, " चउव्विहे णिधत्ते पण्णत्ते । तं जहा-पगइणिधत्ते, ठिइणिधत्ते, अणुभागणिधत्ते, पएसणिधत्ते । " स्था० ४ ठा० २ उ० । विशिष्टानां परस्परतः पुद्गलानां निचयं कृत्वा धारणं रूढिशब्दत्वेन निधत्तमुच्यते । भ० १ श० १ उ० । क० प्र० । पं० सं० ।

णिधत्ति-निधत्ति-पुं० । निधीयते उद्वर्त्तनाऽपवर्त्तनावर्जशेषकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते यया सा निधत्तिः । पृषोदराऽऽदित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः । पं० सं० ५ द्वार । निधत्ताऽऽख्यकरणे, नि० चू० १६ उ० । (विस्तरेण ' णिकायणा ' शब्दे २०२० पृष्ठे प्रसङ्गान्निधत्तिरुक्ता)

णिधूय-निर्धूय-अव्य० । अपनीयेत्यर्थे, " णिधूय कम्मं ण पवं वुवेइ । " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

णिन्दित्तए-निन्दितुम्-अव्य० । निन्दितुमतिचारान् स्वसमक्षं जुगुप्सितुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

णिन्दू-निन्दू-स्त्री० । मृतप्रजायां स्त्रियाम्, निन्दू महेला यद् यदपत्यं प्रसूयते तत्तन्म्रियते, एवं च आचार्यो यं यं प्रव्राजयति स स म्रियते अपगच्छति वा, ततः स निन्दूरिव निन्दूः । व्य० ३ उ० ।

णिपडिसाहि [ण्]-निष्परिशाटिन्-त्रि० । परिशाटिरहिते, " णिप्पडिसाडिमभुञ्जंतगायकयजुमिकम्मंता । " बृ० २ उ० ।

णिपतंत-निपतत्-त्रि० । नीचैः पतति, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिपरिग्गहरुइ-निष्परिग्रहरुचि-पुं० । निर्गता परिग्रहरुचिर्यस्य सः । परिग्रहविरते, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

णिपातिणी-निपातिनी-स्त्री० । अभिमुखपातिन्याम्, " सिलाहिँ हम्मंति णिपातिणीहिं । " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

णिपीय-निपीत-त्रि० । नितरामास्वादिते, स्या० ।

विपश्चितां नाथ ! निपीततत्त्व-सुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् । [२५]

हे विपश्चितां नाथ ! संख्यावतां मुख्य ! इयमनन्तरोक्ता, निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परा, तवेति प्रकरणात्सामर्थ्याद्वा गम्यते । तत्त्वं यथाऽवस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदः, तदेव जरामरणापहारित्वाद्विबुधोपभोग्यत्वान्मिथ्यात्वविषोर्मिनिराकरिष्णुत्वादान्तराऽऽह्लादकारित्वाच्च सुधा पीयूषं तत्त्वसुधा । नितरामनन्यसामान्यतया पीता आस्वादिता या तत्त्वसुधा, तस्या उद्गता प्रादुर्भूता तत्कारणिका उद्गारपरम्परा, उद्गारश्रेणिरित्यर्थः । यथा हि-कश्चिदाकण्ठं पीयूषरसमापीय तदनुविधायिनीमुद्गारपरम्परां मुञ्चति, तथा भगवानपि जरामरणापहारितत्त्वामृतं स्वैरमास्वाद्य तद्रसानुविधायिनीं प्रस्तुतानेकान्तवादभेदचतुष्टयीलक्षणामुद्गारपरम्परां देशनां मुखेनोद्गीर्णवानित्याशयः । अथवा-यैरेकान्तवादिभिः मिथ्यात्वगरलभोजनमातृप्ति भक्षितं, तेषां तत्सदृशरूपा उद्गारप्रकाराः प्राक् प्रदर्शिताः । यैस्तु पचेलिमप्राचीनपुण्यप्राग्भारानुगृहीतैर्जगद्गुरुवदनेन्दुनिस्यन्दि तत्त्वामृतं मनोहत्य पीतं तेषां विपश्चितां यथार्थवादविदुषां हे नाथ ! इयं पूर्वदलदर्शितोल्लेखशेखरा उद्गारपरम्परेति व्याख्येयम् । स्या० २५ श्लोक ।

निपीय-अव्य० । नितरामास्वाद्येत्यर्थ, वाच० ।

णिप्पएस-निष्प्रदेश-पुं० । परमाणौ, विशे० ।

णिप्पंक-निष्पङ्क-त्रि० । आर्द्रमलरहिते, औ० । कर्दमविशेषरहिते, कलङ्कविकले च । स० । प्रज्ञा० । आ० म० । जी० । स्था० । रा० । जं० । " णिरया णिम्मला णिप्पंका । " प्रज्ञा० २ पद ।

णिप्पंद-निष्पन्द-त्रि० । किञ्चिच्चलनेनापि रहिते, उपा० ७ अ० ।

णिप्पकंप-निष्प्रकम्प-त्रि० । स्वरूपतोऽपीषद् व्यभिचारलक्षणकम्पाभावात् (स० २ अङ्ग) अतीव निश्चले, आव० ४ अ० ।

णिप्पच्चक्खाणपोसहोववास-निष्प्रत्याख्यानपौषधोपवास-त्रि० । प्रत्याख्यानपरिणामपर्वदिवसोपवासपरिणामाभावात् (रा०) अविद्यमानपौरुष्यादिप्रत्याख्याने, असत्पर्वदिनोपवासे, दशा० ६ अ० । असत्पौरुष्यादिनियमे, अविद्यमानाष्टम्यादिपर्वोपवासे, भ० ७ श० ६ उ० । स्था० ।

णिप्पच्चवाय-निष्प्रत्यवाय-त्रि० । प्रत्यवाय (मार्गोपद्रव) रहिते, " अणक्कंतए णिप्पच्चवाएण गंतव्वं । " नि० चू० १ उ० ।

णिप्पट्ठ-देशी-अधिके, दे० ना० ४ वर्ग ३१ गाथा ।

णिप्पट्ठपसिणवागरण-निःस्पृष्टप्रश्नव्याकरण-त्रि० । निर्गतानि स्पृष्टानि प्रश्नव्याकरणानि यस्य स तथा । निरुत्तरीकृते, भ० १५ श० ।

निःस्पष्टप्रश्नव्याकरण-त्रि० । निरस्तानि स्पष्टानि व्यक्तानि (वागरणानि) प्रश्नव्याकरणानि यस्य स निःस्पष्टप्रश्नव्याकरणः । निरुत्तरीकृते, " अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य वागरणेहि य कारणेहि य णिप्पट्ठपसिणवागरणं करेह । " भ० १५ श० ।

णिप्पडिकम्मया-निष्प्रतिकर्मता-स्त्री० । शरीरस्य प्रतिकर्माऽकरणे, आ० क० ।

निष्प्रतिकर्मद्वारे वैधर्म्योदाहरणगाथामाह-

पइठाणे नागवसू, नागसिरी नागदत्त पव्वज्जा ।
एगविहारुट्ठाणे, देवय साहू अ विह्मगिरं ॥ १ ॥

अर्थः कथातो ज्ञेयः-

"आसीत्प्रतिष्ठानपुरे, श्रेष्ठी नागवसुः पुरा ।
नागश्रीः श्रेष्ठिनी तस्य, नागदत्तस्तु तत्सुतः ॥ १ ॥
निर्विण्णकामभोगः सन्, व्रतमादत्त सोऽन्यदा ।
जिनकल्पिकसत्कारं, दृष्ट्वाऽवादीद् गुरूनिदम् ॥ २ ॥
जिनकल्पं करिष्येऽहं-मप्याचार्यैर्निवारितः ।
स्वयं स्वीकृत्य तं चक्रे, प्रतिमां व्यन्तरौकसि ॥ ३ ॥
सम्यग्दृशा देवतया, मा विनश्यत्वसाविति ।
स्त्रीरूपेणोपहाराऽर्थं, गृहीत्वाऽऽगत्य तत्र सा ॥ ४ ॥
अर्चित्वा व्यन्तरं स्माऽऽह, गृहाण सपकोऽकृतम् ।
भक्ष्यभोज्यं गृहीत्वा तत्, स्वादित्वा प्रतिमां स्थितः ॥ ५ ॥
अतीसारोऽस्य संजातो, देवताऽऽख्यद् गुरोरिदम् ।
साधून् प्रेष्याऽऽनयत्तं स, देवताऽकथयत्पुनः ॥ ६ ॥
दद्य बिल्वगिरं दत्तं, स्वस्थोऽभूच्छिक्षितस्ततः ।
पुनरेतन्न कर्तव्यं, गता निष्प्रतिकर्मता " ॥ ७ ॥ आ० क० । स० । आचा० ।

णिप्पडियार-निष्प्रतीकार-त्रि० । अचिकित्स्ये, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार ।

णिप्पडिवक्ख-निष्प्रतिपक्ष-त्रि० । बाधकरहिते, स्था० ।

णिप्पण्ण-निष्पन्न-त्रि० । सिद्धे, पञ्चा० ८ विव० ।

णिप्पण्णजोग-निष्पन्नयोग-पुं० । योगिविशेषे, षो० ।

तल्लिङ्गं चेदम्-

" दोषव्यपायः परमा च तृप्ति-
रौचित्ययोगः समता च गुर्वी ।
वैराऽऽदिनाशोऽथ ऋतम्भरा धी-
र्निष्पन्नयोगस्य तु चिह्नमेतत् ॥ १ ॥ " षो० १३ विव० ।

णिप्पण्णमेइणीय-निष्पन्नमेदनीक-पुं० । निष्पन्ना, कोऽर्थः ?-निष्पन्नसर्वशस्या मेदिनी यत्र स तथा । शस्यनिष्पत्तिकाले, "णिप्पन्नमेइणीयंसि कालंसि य मुइयपक्कीलिएसु जणवएसु ।" कल्प० ४ क्षण ।

णिप्पत्त-निष्पत्र-त्रि० । स्वभावतः पत्ररहिते, व्य० १ उ० ।

णिप्पत्ति-निष्पत्ति-स्त्री० । निष्पादने, व्य० १ उ० । सिद्धौ, स्था० ६ ठा० । विशे० । गच्छवासे गुणोऽयमपि-"णिप्पत्तिसंताणो ।" निष्पत्तिः सद्गुरुत्वेन शिष्यसंसिद्धिः फलसन्तानसाधनसमर्थधान्यनिष्पत्तितुल्य ;ततः सन्तानः शिष्यप्रशिष्याऽऽदिवंशः संसारगर्तगताङ्गिवर्गस्य निर्गमसोपानपरम्पराकूपः । पञ्चा० १८ विव० ।

णिप्पज्ज-निष्प्रज-पुं० । प्रजारहिते, "देवे चइस्सामीति जाणइ विमाणाभरणाइं णिप्पभाइं पासित्ता ।" विमानाऽऽभरणानां निष्प्रभत्वमौत्पातिकं तच्चक्षुर्विभ्रमरूपं वा । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

णिप्परिग्गह-निष्परिग्रह-त्रि० । बाह्याऽऽभ्यन्तरपरिग्रहरहिते, उत्त० १४ अ० । क्वचिदविद्यमानस्वीकारे, उत्त० १४ अ० ।

णिप्पलाय-निष्पलाक-पुं० । भरते वर्षे भविष्यति चतुर्दशे तीर्थंकरे, स० । ती० ।

णिप्पाण-निष्प्राण-त्रि० । उच्छ्वासाऽऽदिरहिते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

णिप्पाव-निष्पाव-पुं० । वल्लाऽऽख्ये धान्यभेदे, " णिप्पावाई धण्णा, गंधे वाइगपलकुलत्थुणाऽऽई ।" इति धान्येषु निष्पावः पुलाकधान्यम् । बृ० ५ उ० । अं० । ध० । स्था० । जं० । प्रश्न० ।

आचा० । सत्रिभागकाकण्या त्रिभागोनगुञ्जाद्वयेन वा निवृत्ते प्रतिमाने, अनु० ।

निष्पाप-त्रि० । पापरहिते, आचा० ।

णिप्पिवास-निष्पिपास-त्रि० । पिपासायास्तृष्णाया निर्गतो निष्पिपासः । निस्पृहे, उत्त० १६ अ० । निराकाङ्क्षे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । निःस्नेहे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिप्पिह-निःस्पृह-त्रि० । इच्छारहिते, प्रा० २ पाद । समस्तपरभावाऽभिलाषरहिते, अष्ट० ११ अष्ट० ।

णिप्पीलण-निष्पीडन-न० । निश्चयेन पीडने, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

णिप्पुंसण-निष्पुंसन-न० । " क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-ᳵक-ᳶपामूर्ध्वं लुक् " ॥ ८ । २ । ७७ ॥ इति षलुक् । "अनादौ शेषाऽऽदेशयोः द्वित्वम्" ॥ ८ । २ । ८९ ॥ नो णः । स्फेटने, प्रा० ४ पाद ।

णिप्पुरिसणाडग-निष्पुरुषनाटक-न० । निर्गता रहिताः पुरुषा यस्मिन्नाटके तन्निष्पुरुषनाटकम् । केवलस्त्रीपात्रमये नाटके, सङ्गी० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

णिप्पुलाय-निष्पुलाक-पुं० । आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भरते वर्षे भविष्यति बलदेवजीवे चतुर्दशे तीर्थकरे, ती० २० कल्प । प्रव० । स० । ति० ।

णिप्फंद-निष्पन्द-त्रि० । ब० स० । " ष्प-स्पयोः फः " ॥ ८ । २ । ५३ ॥ इति ष्पस्य फः । प्रा० २ पाद । हस्ताऽऽद्यवयवचलनरहिते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । अन्त० । " उम्म णिच्चलणिप्फंदा, त्रिलिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ ।" प्रा० २ पाद ।

णिप्फण्ण-निष्पन्न-त्रि० । परिनिष्ठिते, विशे० । " भववया कहितं णिप्फण्णो । " आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिप्फरिस-देशी-निर्दये, दे० ना ४ वर्ग ३७ गाथा ।

णिप्फाइऊण-निष्पाद्य-अव्य० । निर्माप्येत्यर्थे, पञ्चा० ७ विव० ।

णिप्फाइय-निष्पादित-त्रि० । योग्यतामापादिते, आचा० १ श्रु० ७ अ० १ उ० । " ताहे तम्मि दिवसे समयसहस्सेणं तत्तं णिप्फादितं चिंतेइ ।" आ० म० ४ अ० ।

णिप्फायण-निष्पादन-न० । करणे, आसेवने, आव० ४ अ० ।

णिप्फाव-निष्पाव-पुं० । "ष्पस्पयोः फः" ॥ ८ । २ । ५३ ॥ इति ष्पभागस्य फः । प्रा० ४ पाद । वल्लनामके धान्यभेदे, जं० २ वक्ष० ।

णिप्फेडिय-निष्फेटित-त्रि० । निष्काशिते, आ० म० १ अ० २ खण्ड । निःसारिते, सूत्र० ४ श्रु० २ अ० । अपहृते, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

णिप्फेस-निष्पेष-पुं० । " ष्पस्पयोः फः " ॥ ८ । ४ । ५३ ॥ इति ष्पस्य फः । "द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः" ॥ ७ । २ । ९० ॥ इति फस्योपरि पः । प्रा० २ पाद । संघर्षे, वाच० । शब्दनिर्गमे, दे० ना० ४ वर्ग २१ गाथा ।

णिबंध-निबन्ध-पुं० । नि-बन्ध-घञ् । कालविशेषे देयत्वेन प्रतिश्रुते वस्तुनि, " निबन्धो द्रव्यमेव " इति स्मृतिः । " अस्मापि-

वरो य पुत्तनेहेण अणुजाणंति, मेच्छइ निबंधे वि कए, कहं सुचिररक्खियं वयं भंजामि ? । " आव० ४ अ० ।

णिबंधण-निबन्धन-न० । निबध्यतेऽनेनात्र वा ल्युट् । हेतौ, वाच० । विशे० । आलम्बने, विशे० । वीणायास्तन्त्रीनिबन्धनोर्ध्वभागे च । भावे ल्युट् । बन्धने, वाच० ।

णिबंधणविओग-निबन्धनवियोग-पुं० । निमित्तविरहे, द्वा० २५ द्वा० ।

णिबद्ध-निबद्ध-त्रि० । निर्ग्रथिते, स० १ अङ्ग ।

णिबोलिज्जमाण-निबोडयमान-त्रि० । निमज्ज्यमाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिब्बल-निर्बल-त्रि० । निर्गतं बलं सामर्थ्यं यस्येति निर्बलम् । निःसारे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

णिब्बलासय-निर्बलाशक-पुं० । निर्बलं निस्सारमन्तप्रान्ताऽऽदिकं यद् द्रव्यं, तदशकस्तद्भोजी । अभिग्रहविशेषेण वल्लचनकाऽऽदिमात्रभोजिनि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

णिब्बलिय-निर्वलित-त्रि० । शुद्धाशुद्धस्वरूपे, विशे० ।

णिब्भंजण-निर्भञ्जन-न० । पक्वान्नोत्तीर्णदग्धघृते, ध० २ अधि० । प्रश्न० ।

णिब्भग्ग-देशी-उद्याने, दे० ना० ४ वर्ग ३४ गाथा ।

णिब्भच्छण-निर्भर्त्सन-न० । अरे दुष्टकर्मकारिन्नपसर हतेमार्गादित्यादिरूपे (प्रश्न० २ आश्र० द्वार) आक्रोशविशेषे कटुकवचने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अङ्गुल्यादिना तर्जने, नि० चू० १ उ० ।

णिब्भच्छणा-निर्भर्त्सना-स्त्री० । न त्वया मम प्रयोजनमित्यादिपरुषवचने, भ० १५ श० ।

णिब्भय-निर्भय-त्रि० । इहलोकाऽऽदिसप्तभयविप्रमुक्ते, आव० ४ अ० । प्रश्न० । गतभीके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आ० म० । अविद्यमानराजाऽऽदिभये, प्रश्न० ३ संव० द्वार । भयरहिते, यत्र भयं न विद्यते । "णिब्भयं जत्थ चोरभयं नत्थि" । नि० चू० १ उ० ।

णिब्भयणा-निर्भजना-स्त्री० । निश्चिता भजना निर्भजना । निश्चिते भागे, प्रा० । "द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः" ॥ ८ । २ । ९० ॥ इति भकारोपरि बः । प्रा० २ पाद ।

णिब्भर-निर्भर-न० । निःशेषेण भरो भारोऽत्र । अतिमात्रे संयुक्ते, त्रि० । वाच० । "मेघो य णिब्भरं वरिसइ ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिब्भिज्जमाण-निर्भिद्यमान-त्रि० । नितरामतिशयेन भिद्यमाने, जी० ३ प्रति० ४ उ० । जं० । प्राबल्याभावेनाधो विदार्यमाणे, " अह भंते ! कोट्ठपुडाण वा० जाव केतकपुडाण वा अणुवायंसि उब्भिज्जमाणाणं णिब्भिज्जमाणाणं वा । " भ० १८ श० २ उ० । जं० ।

णिभ-निभ-त्रि० । सदृशे, जं० ३ वक्ष० । उत्त० । औ० ।

णिभंग-निभङ्ग-पुं० । गात्राणां भञ्जने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिभमेत्त-निभमात्र-न० । उदाहरणमात्रे, नि० चू० ७ उ० ।

णिभाल-निभाल-धा० । दर्शने, सुरा० । " खंधावारनिवेसे निभालेहि ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । आचा० ।

णिभेलण-देशी-न० । गृहे, " सोमलच्छीनिभेलणं ।" कल्प० ३ क्षण ।

णिम-न्यस्-धा० । नि-अस् । स्थापने, " न्यसो णिमणुमौ " ॥ ८।४।१९९ ॥ इति न्यस्यतेर्णिमाऽऽदेशः । ' णिमइ ।' न्यस्यति । प्रा० ४ पाद ।

णिमंतणा-निमन्त्रणा-स्त्री० । विषयोपभोगं प्रति प्रार्थने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । भोगोपभोगं प्रति अभ्युपगमकरणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । अनु० । आचा० । औ० । अगृहीतेनाशनाऽऽदिनाऽहं भवदर्थमशनाऽऽद्यानयामीत्येवं भूतायां (ध० २ अधि०) भक्तितः प्रार्थनायाम्, पञ्चा० १२ विव० । स्था० । जीत० । नि० चू० । ध० । भ० ।

अथ निमन्त्रणायाः सामाचार्याः स्वरूपम्-

सज्झायाउव्वाओ, गुरुकिच्चे सेसगे असंतम्मि ।
तं पुच्छिऊण कज्जे, सेसाण णिमंतणं कुज्जा ॥ ३८ ॥

(सज्झायाउव्वाओ त्ति) स्वाध्यायध्यानाऽऽदिकरणपरिश्रान्तः सन् गुरुकृत्ये रत्नाऽऽधिककार्ये विश्रामणावस्त्रपरिकर्माऽऽदौ, शेषके कृतावशेषे, असत्यविद्यमाने, किम् ?, अत आह-तं गुरुम्, पृष्ट्वा यदुताऽहं साधुनिमित्तं भक्ताऽऽद्यानयामीत्यापृच्छ्य, कार्ये भक्तपानकाऽऽदिप्रयोजने, तद्विषयमित्यर्थः । शेषाणां गुरुव्यतिरिक्तानाम्, निमन्त्रणमामन्त्रणं भवदर्थे भक्ताऽऽद्यानयामीत्येवंलक्षणम्, कुर्याद्विदध्यादिति गाथाऽर्थः ॥ ३८ ॥

किमित्येवं सदा व्यापृतेनैवाऽऽसितव्यमित्यत आह-

दुलहं खलु मणुयत्तं, जिणवयणं वीरियं च धम्मम्मि ।
एयं लद्धूण सया, अपमाओ होइ कायव्वो ॥ ३९ ॥

दुर्लभं खलु दुष्प्रापमेव, मनुजत्वं मानुषत्वम् । तथा-जिनवचनमर्हन्मतं, वीर्यं चोत्साहश्च, धर्मे चारित्रधर्मविषये, चशब्दः पदत्रयेऽपि दुर्लभत्वसंबन्धनार्थः । किं चातः, एतन्मनुजत्वाऽऽदित्रयम्, लब्ध्वा प्राप्य, सदा सर्वदा, अप्रमादो धर्मकार्येष्वनालस्यम्, भवति स्यात्, कर्तव्यो विधेयः । इत्यतः स्वाध्यायाऽऽदिखिन्नेन निमन्त्रणा कार्येति गाथाऽर्थः ॥ ३९ ॥

दुग्गतरयणायररय-णगहणतुल्लं जईण किचं ति ।
आयतिफलमधुवसा-हणं च णिच्चं मुणेयव्वं ॥४०॥

दुर्गतस्य दरिद्रस्य रत्नाकरे विचित्रमाणिक्योत्पादस्थाने प्राप्तस्य यद्रत्नग्रहणं माणिक्योपादानं, तेन यत्तुल्यं सदृशमभिलाषोपरमाभावसाधर्म्याद्दुर्गतरत्नाकररत्नग्रहणतुल्यम् । किं तदित्याह-यतीनां साधूनाम्, कृत्यं कर्तव्यं स्वाध्यायवैयावृत्याऽऽदि । यथा हि दुर्गतस्य रत्नाकरे गतस्य रत्नग्रहणे इच्छाया अविच्छेदो भवति, एवं साधोश्चरणमभिगतस्य वैयावृत्याऽऽदिषु साधुकृत्येष्वनवच्छिन्ना वाञ्छा स्यादिति दुर्गतरत्नाकररत्नग्रहणतुल्यं यतिकृत्यमित्युक्तम् । इतिशब्दप्रयोगं दर्शयिष्यामः । तथा आयतावागामिकाले, परभवे इत्यर्थः । फलं साध्यमस्येत्यायतिफलम् । पाठान्तरेण-आयतफलं मोक्षफलम् । तथाऽध्रुवाणि नश्वराणि साधनानि मानुष्यक्षेत्रजात्यादीनि यस्य तदध्रुवसाधनम् । चशब्दः समुच्चयार्थः । इत्येतान्निपुणं सम्यक् ' मुणेयव्वं ति ' ज्ञातव्यम् । ज्ञातं च तदेव स्याद्यदा सततं तत्राऽप्रमादो विधीयते । इति गाथाऽर्थः ॥४०॥

गुरुमापृच्छ्य साधुनिमन्त्रणा कार्येत्युक्तम्, अथ तमनापृच्छ्यैव प्रयासतलाऽऽदिकारणात् साधवो निमन्त्रितास्तदा को विधिः ?, इत्याह-

इयरेसिँ परिक्खित्ते, गुरुपुच्छाए णिओगकरणं ति ।
एवमिणं परिसुद्धं, वेयावच्चे तु अकए वि ॥ ४१ ॥

इतरेषामपि गुर्वपेक्षया शेषसाधूनामपि, आक्षिप्ते उपन्यस्ते निमन्त्रणे, गुरुपृच्छाया रत्नाधिकप्रश्नस्य, नियोगकरणमवश्यंतया विधानम्, कुर्यामिति शेषः । इदमुक्तं भवति-यद्यपि शेषसाधुविषया निमन्त्रणोपन्यस्ता, तथाऽपि न तद्वचनादेव प्रवर्तितव्यम्, अपि तु गुरुपृच्छाऽवश्यं विधेयेति । इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । कस्मादेवमित्याह-एवमुक्तन्यायेन गुरुप्रश्नपूर्वकत्वयोगेन, इदं शेषसाधुनिमन्त्रणं, परिशुद्धमेव निर्दोषमेव, भवतीति गम्यम् । "सो विहिणा य" इत्यादिपूर्वोक्तप्रामाण्यात् । ननु यदि पृष्टो गुरुर्वाऽयेषलाभो वा न भवेत्तदा भक्ताऽऽदेरसंपादनेन निमन्त्रणस्य निष्फलत्वात् कथं परिशुद्धता स्येत्याह-वैयावृत्ये भक्ताऽऽदिदाने, तुशब्द एवकारार्थो योजित एव । अकृतेऽप्यविहितेऽपि, आस्तां विहिते । भावनस्तस्य कृतत्वात्, गुर्वाज्ञाकरणस्यैव च महाफलत्वात्, गुरोरपि पृष्टाऽऽत्मज्ञकतस्तत्सिवेधमात्र यथाकथञ्चित् । क्वचित् " वेयावच्चं तु " इति पठ्यते । तत्र वैयावृत्यमेव तन्निमन्त्रणमिति प्रक्रमः, अकृतेऽपि वैयावृत्ये । इति गाथाऽर्थः ॥ ४१ ॥ पञ्चा० १२ विव० ।

णिमंतेमाण-निमन्त्रयत्-त्रि० । निमन्त्रणं कुर्वाणे, " सत्रो पच्छा तस्स गिहे णिमंतेमाणस्स अणिमंतेमाणस्स । " आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

णिमंसु-देशी-तरुणे, दे० ना० ४ वर्ग ३२ गाथा ।

णिमग्ग-निमग्न-त्रि० । अधोजलगमनानि कुर्वाणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । पङ्काऽऽद्यवसन्ने, औ० । आ० म० ।

णिमग्गजला-निमग्नजला-स्त्री० । निमज्जयत्यस्मिन् तृणाऽऽदिकमखिलं वस्तुजातमिति निमग्नम्, बहुलवचनादधिकरणे क्तप्रत्ययः । निमग्नं जलं यस्यां सा तथा । तमिस्रगुहाया मध्ये वहन्त्यां नद्याम्, जं० ३ वक्ष० । आ० चू० ।

णिमज्जग-निमज्जक-पुं० । वानप्रस्थभेदेषु, ये स्नानार्थं निमग्ना एव क्षणं तिष्ठन्ति । नि० १ श्रु० ३ वर्ग १ अ० । औ० । भ० ।

णिमज्जण-निमज्जन-न० । जलप्रवेशे, ग० २ अधि० । सू० ।

णिमिअ-स्थापित-त्रि० । " केनाप्कुषाऽऽदयः " ॥ ८ । ४ । २५८ ॥ इति स्थापितस्य णिमिआदेशः । स्थले, प्रा० ४ पाद ।

णिमित्त-निमित्त-न० । हेतौ, कारणे, विशे० । सहकारिकारणे, निमित्तकारणे च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अष्ट० । उपष्टम्भकारणे, विशे० । आ० म० । स्था० । द्वे शब्दस्य निमित्ते । तद्यथा-व्युत्पत्तिनिमित्तं, प्रवृत्तिनिमित्तं च । यथा गोशब्दस्य । तथाहि-गोशब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं गमनक्रिया, गच्छतीति गौरिति व्युत्पादनात् । तेन च गमनेनैकार्थसमवायतया यदुपलक्षितं सास्नाऽऽदिमत्त्वं, तत्प्रवृत्तिनिमित्तं, तेन गच्छति, अगच्छति वा गोपिण्डे गोशब्दः प्रवर्तते, उभयस्यामप्यवस्थायां प्रवृत्तिनिमित्तभावात् । अश्वाऽऽदौ तु न प्रवर्तते, यथोक्तरूपस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य तत्राभावात् । स्था० १ ठा० । परोक्षाने,

काले, संथा० १ अधि० १ प्रस्ता० । अतीतानागतवर्तमानवस्तुपरिज्ञानहेतौ ज्ञानविशेषे, प्रव० ७३ द्वार ।

निमित्तमाह-

तिविहं होइ निमित्तं, तीयपडुप्पन्नऽणागयं चेव ।
तेण न विणा उ नेयं, नज्जइ तेणं निमित्तं तु ॥

त्रिविधं भवति निमित्तम् । तद्यथा-अतीतं, प्रत्युत्पन्नम्, अनागतं च । कालत्रयवर्तिलाभालाभाऽऽदिपरिज्ञानहेतुश्चूडामणिप्रभृतिकः, शास्त्रविशेष इत्यर्थः । कुत ?, इत्याह-तेन विवक्षितशास्त्रविशेषेण, विना ज्ञेयं लाभालाभाऽऽदिकं, न ज्ञायत इति लाभाऽऽदिज्ञाननिमित्तत्वान्निमित्तमुच्यते । एतानि कौतुकाऽऽदीनि य आजीवति स तत्तदाजीवको मन्तव्य इति । बृ० १ उ० । आ० म० । आव० । ग० । पं० व० । भ० । दर्श० ।

जे भिक्खू तीतं निमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥७॥
जे भिक्खू पडुप्पण्णं निमित्तं वागरइ, वागरंतं वा साइज्जइ ॥८॥
जे भिक्खू अणागयं निमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥९॥

जे भिक्खू पडुप्पण्णं णिमित्तं वागरेति-आगमस्स काले लाभादि वागरेति ।

छव्विहं णिमित्तं इमं—

लाभालाभं सुहदुक्खं जीवितमरणऽतीतवज्जाइं ।
गिहिअण्णतित्थियाण व, जे भिक्खू वागरिज्जा णं ॥८२॥

लाभालाभं सुहं दुक्खं जीवितं मरणं । एतानि छ अतीतकालवज्जाणि वागरेति, वट्टमाणे एस्से चेत्यर्थः । गिहीणं, अण्णतित्थियाणं वा जो वागरेज्ज भिक्खू, सो आणादी दोसा पावेज्ज ।

कुचिह्नवट्टमाणप्रदर्शनार्थं गाहा-

पडुविओ मे अमुओ, लभति ण लभति व तस्सिमा वेला ।
मीमं मा दुक्खी हं, सुही ति अमुअं व ते दुक्खं ॥ ८३ ॥

अमुगो मया अमुगत्थमीतं पेसितो लाभणिमित्तं, सो तत्थ तं लभेज्ज वा, णो लभेज्जा ?। अथवा इमा तस्स आगमणवेला, सो लद्धलाभो अलद्धलाभो वा आगच्छति, ण वा ?। सोमं सकुं वा कोइ पुच्छेज्ज-किमहं सुही, दुक्खी वा ?। अहवा-वट्टमाणकाले चेव वागरेति-इमं ते सारीरं दुक्खं, माणसं वा वट्टति ।

गाहा-

जीवति मओ त्ति वा सं-कितम्मि एगतरगस्स णिद्देसे ।
एवं होहिति तुज्झं, तस्स व लाभाऽऽदओ एस्सो ॥८४॥

कोइ विदेसत्थो ण णज्जति-जीवति, मतो वा ?, एरिसे संकिते पुच्छितो एगतराणिद्देसं करेज्ज, एवं वट्टमाणे, एस्से वा जस्स पुच्छिज्जति सो पच्चक्खो, परोक्खो वा । पच्चक्खो भण्णति-तुज्झं एस्सकाले एवं होहिति-लाभो, अलाभो वा, सुहं, दुक्खं वा, जीवियं, मरणं वा । परोक्खे-तस्स एस्से काले इमो लाभो, अलाभो वा, सुहं, दुक्खं, जीवितं, मरणं वा भविस्सइ ।

जीवइ त्ति भणिते गाहा-

आणंदं अप्पहियं, संखडिकरणं च उभयधा होति ।
छिण्णादिमरणकोट्टण, अधिकरणमणागए वा वि ॥८५॥

आणंदं अप्पहियं करेति, वर्द्धमानक इत्यर्थः । मतो त्ति भणिते संखडिकरणं करेज्ज । एवं उभयहा अविधे अधिकरणदोसो भवति । अहवा-मतो त्ति भणिते छिण्णचित्तो भवे, मरति

करो य पुसमेहेण अणुजाणंति, भेच्छइ निबंधे वि कप्प, कहं सुचिरकिमयं वयं भंजामि ? । " आव० ४ अ० ।

णिबंधण–निबन्धन–न० । निबध्यतेऽनेनात्र वा ल्युट् । वेतौ, वाच० । विशे० । आलम्बने, विशे० । वीणायास्तन्त्रीनिबन्धनोर्ध्वभागे च । भावे ल्युट् । बन्धने, वाच० ।

णिबंधणवियोग–निबन्धनवियोग–पुं० । निमित्तविरहे, द्वा० २५ द्वा० ।

णिबद्ध–निबद्ध–त्रि० । निर्ग्रथिते, स० १ अङ्ग ।

णिबोहिज्जमाण–निबोध्यमान–त्रि० । निमज्ज्यमाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिब्बल–निर्बल–त्रि० । निर्गतं बलं सामर्थ्यं यस्येति निर्बलम् । निःसारे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

णिब्बलासय–निर्बलाशक–पुं० । निर्बलं निःसारमन्तप्रान्ताऽऽदिकं यद् द्रव्यं, तदशकस्तद्भोजी । अभिग्रहविशेषेण वल्लचणकाऽऽदिमात्रभोजिनि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

णिब्वलिय–निर्वलित–त्रि० । शुद्धाशुद्धस्वरूपे, विशे० ।

णिब्भंजण–निर्भञ्जन–न० । पक्कान्नोत्तीर्णदग्धघृते, ध० २ अधि० । प्रश्न० ।

णिब्भग–देशी–उद्याने, दे० ना० ४ वर्ग ३४ गाथा ।

णिब्भच्छण–निर्भर्त्सन–न० । अरे दुष्टकर्मकारिन्नपसर दृष्टिमार्गादित्यादिरूपे (प्रश्न० २ आश्र० द्वार) आक्रोशविशेषे कटुकवचने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अङ्गुल्यादिना तर्जने, नि० चू० १ उ० ।

णिब्भच्छणा–निर्भर्त्सना–स्त्री० । न त्वया मम प्रयोजनमित्यादिपरुषवचने, भ० १५ श० ।

णिब्भय–निर्भय–त्रि० । इहलोकाऽऽदिसप्तभयविप्रमुक्ते, आव० ४ अ० । प्रश्न० । गतभीके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आ० म० । अविद्यमानराजाऽऽदिजभये, प्रश्न० ३ संव० द्वार । भयरहिते, यत्र भयं न विद्यते । "णिब्भयं अत्थ चोरभयं नत्थि" । नि० चू० १ उ० ।

णिब्भयणा–निर्भजना–स्त्री० । निश्चिता भजना निर्भजना । निश्चिते भावे, औ० । "द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः" ॥ ८ । २ । ९० ॥ इति भकारोपरि बः । प्रा० ४ पाद ।

णिब्भर–निर्भर–न० । निःशेषेण भरो भारोऽत्र । अतिमात्रे तद्युक्ते, त्रि० । वाच० । "भेवो व णिब्भरं वरिसइ ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिब्भिज्जमाण–निर्भिद्यमान–त्रि० । नितरामतिशयेन भिद्यमाने, जी० ३ प्रति० ४ उ० । जं० । प्राबल्याभावेनाऽधो विदार्यमाणे, " अह भंते ! कोट्ठपुडाण वा० जाव केतइपुडाण वा अणुवायंसि उब्भिज्जमाणाणं णिब्भिज्जमाणाणं वा । " भ० १८ श० २ उ० । जं० ।

णिभ–निभ–त्रि० । सदृशे, जं० ३ वक्ष० । उत्त० । औ० ।

णिभंग–निभङ्ग–पुं० । गाथाणां भञ्जने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिभभाव–निभभाव–न० । उदाहरणमात्रे, नि० चू० ८ उ० ।

णिभाल–निभाल–धा० । दर्शने, चुरा० । " खंधावारनिवेसे निभालेहि ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । आचा० ।

णिमेल्लण–देशी–न० । गृहे, " सोमलच्छीनिमेल्लणं ।" कल्प० ३ क्षण ।

णिम–न्यस्–धा० । नि–अस् । स्थापने, " न्यसो णिमणुमौ " ॥ ८।४।१९९ ॥ इति न्यस्यतेर्णिमाऽऽदेशः । ' णिमइ । ' न्यस्यति । प्रा० ४ पाद ।

णिमंतणा–निमन्त्रणा–स्त्री० । विषयोपभोगं प्रति प्रार्थने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । भोगोपभोगं प्रति अभ्युपगमकरणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । अनु० । आचा० । औ० । अगृहीतेनाशनाऽऽदिनाऽहं प्रवदर्थमशनाऽऽद्यानयामीत्येवं भूतायां (ध० २ अधि०) भक्तितः प्रार्थनायाम्, पञ्चा० १२ विव० । स्था० । जीत० । नि० चू० । ध० । भ० ।

अथ निमन्त्रणायाः सामाचार्याः स्वरूपम्–

सज्झायाइव्वाओ, गुरुकिच्चे सेसगे असंतम्मि ।

तं पुच्छिऊण कज्जे, सेसाण णिमंतणं कुज्जा ॥ ३८ ॥

(सज्झायाइव्वाओ त्ति) स्वाध्यायध्यानाऽऽदिकरणपरिश्रान्तः सन् गुरुकृत्ये रत्नाऽऽधिककार्ये विश्रामणावस्त्रपरिकर्माऽऽदौ, शेषके कृतावशेषे, असत्यविद्यमाने, किम् ? अत आह–तं गुरुम्, पृष्ट्वा यदुताऽहं साधुनिमित्तं भक्ताऽऽद्यानयामीत्यापृच्छ्य, कार्ये भक्तपानकाऽऽदिप्रयोजने, तद्विषयमित्यर्थः । शेषाणां गुरुव्यतिरिक्तानाम् निमन्त्रणमामन्त्रणं भवदर्थं भक्ताऽऽद्यानयामीत्येवंलक्षणम्, कुर्याद्विदध्यादिति गाथाऽर्थः ॥ ३८ ॥

किमित्येवं सदा व्यापृतेनैवाऽऽसितव्यमित्यत आह–

दुलहं खलु मणुयत्तं, जिणवयणं वीरियं च धम्मम्मि ।

एयं लखूण सया, अपमाओ होइ कायव्वो ॥ ३९ ॥

दुर्लभं खलु दुष्प्रापमेव, मनुजत्वं मानुषत्वम् । तथा–जिनवचनमर्हन्मतं, वीर्यं चोत्साहश्च, धर्मे चारित्रधर्मविषये, चशब्दः पदत्रयेऽपि दुर्लभत्वसंबन्धनार्थः । किं चातः, एतन्मनुजत्वाऽऽदित्रयम्, लब्ध्वा प्राप्य, सदा सर्वदा, अप्रमादो धर्मकार्येष्वनालस्यम्, भवति स्यात्, कर्तव्यो विधेयः । इत्यतः स्वाध्यायाऽऽदिश्रान्ते न निमन्त्रणा कार्येति गाथाऽर्थः ॥ ३९ ॥

दुग्गतरयणायररय–णगहणतुल्लं जईण किच्चं ति ।

आयतिफलमखुवसा–हणं च णिउणं मुणेयव्वं ॥४०॥

दुर्गतस्य दरिद्रस्य रत्नाकरे विविधमाणिक्योत्पादस्थाने प्राप्तस्य यद्रत्नग्रहणं माणिक्योपादानं, तेन यत्तुल्यं सदृशमभिलाषोपरमाभावसाधर्म्याद् दुर्गतरत्नाकररत्नग्रहणतुल्यम् । किं तदित्याह–यतीनां साधूनाम्, कृत्यं कर्तव्यं स्वाध्यायवैयावृत्याऽऽदि । यथा हि दुर्गतस्य रत्नाकरे गतस्य रत्नग्रहणे इच्छाया अविच्छेदो भवति, एवं साधोरपगमविगतस्य वैयावृत्याऽऽदिषु साधुकृत्येष्वनवच्छिन्ना वाञ्छा स्यादिति दुर्गतरत्नाकररत्नग्रहणतुल्यं यतिकृत्यमित्युक्तम् । इतिशब्दप्रयोगं दर्शयिष्यामः । तथा आयतावागामिकाले, परभवे इत्यर्थः । फलं साध्यमस्येत्यायतिफलम् । पाठान्तरेण–आयतफलं मोक्षफलम् । तथा–अक्षुवाणि नश्वराणि साधनानि मानुष्यक्षेत्रजात्यादीनि यस्य तदध्रुवसाधनम् । चशब्दः समुच्चयार्थः । इत्येतन्निपुणं सम्यक् ' मुणेयव्वं ति ' ज्ञातव्यम् । ज्ञात्वा च तदेव स्यायदा सततं तत्राऽप्रमादो विधीयते । इति गाथाऽर्थः ॥४०॥

गुरुमापृच्छ्य साधुनिमन्त्रणा कार्येत्युक्तम्, अथ तमनापृच्छ्यैव प्रत्यासन्नतादिकारणात् साधवो निमन्त्रितास्तदा को विधिः ?, इत्याह-

इयरेसिं परिक्खित्ते, गुरुपुच्छाए णिओगकरणं ति ।
एवमिणं परिसुद्धं, वेयावच्चे तु अकए वि ॥ ४१ ॥

इतरेषामपि गुर्वपेक्षया शेषसाधूनामपि, आक्षिप्ते उपन्यस्ते निमन्त्रणे, गुरुपृच्छया रत्नाधिकप्रश्नस्य, नियोगकरणमवश्यंतया विधानम्, युक्तमिति शेषः । इदमुक्तं भवति-यद्यपि शेषसाधुविषया निमन्त्रणोपन्यस्ता, तथाऽपि न तद्वचनादेव प्रवर्तितव्यम्, अपि तु गुरुपृच्छाऽवश्यं विधेयेति । इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । कस्मादेवमित्याह-एवमुक्तन्यायेन गुरुप्रश्नपूर्वकत्वेन, इदं शेषसाधुनिमन्त्रणं, परिशुद्धमेव निर्दोषमेव, भवतीति गम्यम् । "सो विहिणा य" इत्यादिपूर्वोक्तप्रामाण्यात् । ननु यदि पृष्टो गुरुर्वार्यलाभो वा न भवेत्तदा भक्ताऽऽदिसंपादनेन निमन्त्रणस्य निष्फलत्वात् कथं परिशुद्धताऽस्येत्याह-वैयावृत्ये भक्ताऽऽदिदाने, तुशब्द एवकारार्थो योजित एव । अकृतेऽप्यविहितेऽपि, आस्तां विहिते । भावतस्तस्य कृतत्वात्, गुर्वाज्ञाकरणस्यैव च महाफलत्वात्, गुरोरपि पुण्याऽऽज्ञवतस्तन्निषेधनाच्च यथाकथञ्चित् । क्वचित् " वेयावच्चं तु " इति पठ्यते । तत्र वैयावृत्यमेव तन्निमन्त्रणमिति प्रक्रमः, अकृतेऽपि वैयावृत्ये । इति गाथाऽर्थः ॥ ४१ ॥ पञ्चा० १२ विव० ।

णिमंतेमाण-निमन्त्रयत्-त्रि० । निमन्त्रणं कुर्वाणे, "तओ पच्छा तस्स गिहे णिमंतेमाणस्स अणिमंतेमाणस्स ।" आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

णिमसू-देशी-तरुणे, दे० ना० ४ वर्ग ३२ गाथा ।

णिमग्ग-निमग्न-त्रि० । अधोजलगमनानि कुर्वाणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । पङ्काऽऽद्यवसन्ने, औ० । आ० म० ।

णिमग्गजला-निमग्नजला-स्त्री० । निमज्जत्यस्मिन् तृणाऽऽदिकमखिलं वस्तुजातमिति निमग्नम्, बहुलवचनादधिकरणे क्तप्रत्ययः । निमग्नं जलं यस्यां सा तथा । तमिस्रगुहाया मध्ये वहन्त्यां नद्याम्, जं० ३ वक्ष० । आ० चू० ।

णिमज्जग-निमज्जक-पुं० । वानप्रस्थभेदेषु, ये स्नानार्थं निमग्ना एव क्षणं तिष्ठन्ति । नि० १ श्रु० ४ वर्ग १ अ० । औ० । भ० ।

णिमज्जण-निमज्जन-न० । जलप्रवेशे, ग० २ अधि० । बृ० ।

णिमिअ-स्थापित-त्रि० । " क्तेनाप्फुण्णाऽऽदयः " ॥८ । ४ । २५८॥ इति स्थापितस्य निमिआदेशः । न्यस्ते, प्रा० ४ पाद ।

णिमित्त-निमित्त-न० । हेतौ, कारणे, विशे० । सहकारिकारणे, निमित्तकारणे च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अष्ट० । उपष्टम्भकारणे, विशे० । आ० म० । स्था० । द्वे शब्दस्य निमित्ते । तद्यथा-व्युत्पत्तिनिमित्तं, प्रवृत्तिनिमित्तं च । यथा गोशब्दस्य । तथाहि-गोशब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं गमनक्रिया, गच्छतीति गौरिति व्युत्पादनात् । तेन च गमनेनैकार्थसमवायतया यदुपलक्षितं सास्नाऽऽदिमत्त्वं, तत्प्रवृत्तिनिमित्तं, तेन गच्छति, अगच्छति वा गोपिण्डे गोशब्दः प्रवर्तते, उभयत्राप्यवस्थायां प्रवृत्तिनिमित्तभावात् । अश्वाऽऽदौ तु न प्रवर्तते, यथोक्तरूपस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य तत्राभावात् । स्था० १ ठा० । प्रद्योतने, फले, संथा० १ अधि० १ प्रस्ता० । अतीतानागतवर्तमानवस्तुपरिज्ञानहेतौ ज्ञानविशेषे, प्रव० ७३ द्वार ।

निमित्तमाह-

तिविहं होइ निमित्तं, तीयपडुप्पन्नऽणागयं चेव ।
तेण न विणा उ नेयं, नज्जइ तेणं निमित्तं तु ॥

त्रिविधं भवति निमित्तम् । तद्यथा-अतीतं, प्रत्युत्पन्नम्, अनागतं च । कालत्रयवर्तिलाभालाभाऽऽदिपरिज्ञानहेतुश्चूडामणिप्रभृतिकः, शास्त्रविशेष इत्यर्थः । कुत ?, इत्याह-तेन विवक्षितशास्त्रविशेषेण, विना ज्ञेयं लाभालाभाऽऽदिकं, न ज्ञायत इति लाभाऽऽदिज्ञाननिमित्तत्वान्निमित्तमुच्यते । एतानि कौतुकाऽऽदीनि च आजीवति स तत्तदाजीवको मन्तव्य इति । बृ० १ उ० । आ० म० । आव० । ग० । पं० व० । ध० । दर्श० ।

जे भिक्खू तीतं निमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥७॥
जे भिक्खू पडुप्पण्णं निमित्तं वागरइ, वागरंतं वा साइज्जइ ।८।
जे भिक्खू अणागयं निमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥९॥

जे भिक्खू पडुप्पण्णं णिमित्तं वागरति-आगमस्स काले लाभादि वागरेति ।

छव्विहं णिमित्तं इमं—

लाभालाभं सुहदुक्खं जीवितमरणऽतीतवज्जाइं ।
गिहिअण्णतित्थियाण व, जे भिक्खू वागरिज्जा णं ॥८२॥

लाभालाभं सुहं दुक्खं जीवितं मरणं । एतानि छ अतीतकालवज्जाणि वागरेति, वट्टमाणे एस्से चेत्यर्थः । गिहीणं, अण्णतित्थियाणं वा जो वागरेज्ज भिक्खू, सो आणादी दोसा पावेज्ज ।

छव्विहवट्टमाणगप्रदर्शनार्थं गाहा-

पट्ठविओ मे अमुओ, लभति ण लभति व तस्सिमा वेला ।
भीयं मा दुक्खी हं, सुही ति अमुअं व ते दुक्खं ॥ ८३ ॥

अमुगो मया अमुगसमीवं पेसितो लाभणिमित्तं, सो तत्थ तं लभेज्ज वा, णो लभेज्जा ?। अथवा इमा तस्स आगमणवेला, सो लद्धलाभो अलद्धलाभो वा आगच्छति, ण वा ?। सोमं सद्धा वा कोइ पुच्छेज्ज-किमहं सुही, दुक्खी वा ?। अहवा-वट्टमाणकाले चेव वागरेति-इमं ते सारीरं दुक्खं, माणसं वा वट्टति ।

गाहा-

जीवति मओ त्ति वा सं-कितम्मि पगतरगस्स णिद्देसे ।
एवं होहिति तुज्झं, तस्स व लाभाऽऽदओ एस्सो ॥८४॥

कोइ विदेसत्थो ण णज्जति-जीवति, मतो वा?, एरिसे संकिते पुच्छितो पगतराणिद्देसं करेज्ज, एवं वट्टमाणे, एस्से वा जस्स पुच्छिज्जति सो पच्चक्खो, परोक्खो वा । पच्चक्खो भण्णति-तुज्झं एस्सकाले एवं होहिति-लाभो, अलाभो वा, सुहं, दुक्खं वा, जीवियं, मरणं वा । परोक्खे-तस्स एस्से काले इमो लाभो, अलाभो वा, सुहं, दुक्खं, जीवितं, मरणं वा भविस्सइ ।

जीवइ त्ति भणिते गाहा-

आणंदं अपडिहयं, संखाडिकरणं च उभयधा होति ।
खित्तादिमरणकोट्टण, अधिकरणमणागए वा वि ॥८५॥

आणंदं अपरिहयं करेति, वर्द्धमानक इत्यर्थः । मतो त्ति भणिते संखडिकरणं करेज्ज । एवं उभयहा अविधे अधिकरणदोसो भवति । अहवा-मतो त्ति भणिते खित्तचित्तो भवे, मरति

वा, करसिरकुट्टणादि वा करेज्ज,मितकिक्कणेसु वा अधिकरणं भवे। अहवा-अणागते णिमित्ते वागरिते एते किलचित्ता-ऽऽदिया दोसा भवंति।

जं च णिमित्तबलेण कज्जसंघणं करेज्ज-

उच्छाहो विसीदंते, अगंतुकामस्स होति गमणं तु ।
अहिकरणथिरीकरणं, कयविक्कयसांणियत्ती य ॥ ७६ ॥

अणागतणिमित्तवागरणेण कज्जे विसीदंतस्स उच्छाहो कतो भवति, लाभत्थिणो परदेसा अगंतुकामस्स अवस्सं ते लाभो भविस्सति त्ति गमणं करेति। किसिमादिअधिकरणेसु विसीदंतस्स अवस्सं वुड्डी भविस्सति त्ति वागरिए अधिकरणे स्थैर्यं भवति। अहवा-परदेसं गंतुकामस्स इहेव लाभो भविस्सति त्ति थिरीकरणं भवति, इमं किणाहि, इतो कम्मारंभातो संणियत्ता इमम्मि कम्मारंभे पयट्टसु,एवं ते लाभो भविस्सति, एवं अधिकरणदोसा।

पच्चमापसद्दोसा-

आएसविसंवादे, पओसानिच्छुभणमादि वोच्छेओ ।
अहिकरणं अण्णेण व, उड्डाह अणप्पवादो य ॥७७॥

आएसे य विसंवदति पदोसं गच्छेज्ज, वसही वा णिच्छुभेज्ज, आहारादिवसहीण वा वोच्छेदं करेज्ज, अण्णेण वा निमित्तिएण सद्धिं अधिकरणं भवे, अण्णेण वा निमित्तिएण संवादिते साधूण अणप्पवादो भवति, उड्डाहो य भवेज्ज।

गाहा-

नियमा तिकालविसए, नेमित्ते छव्विहे भवे दोसो ।
सयमेव वट्टमाणे, उभए वा तत्थिमं णातं ॥७८॥

णियमा अवस्सं दोसो भवति तिकालविसए-अतीते, वट्टमाणे,पच्चुप्पन्ने य। छव्विहे लाभादिए सयमेव वर्त्तमानकाले आदेसे दोसो भवति, उभयमिति-अप्पणो, परस्स वा। तत्थिमं णातं दृष्टान्त इत्यर्थः।

गाहा-

आकंपिया निमित्ते-ण जोइणी जोतिए चिरगतम्मि ।
पुव्वभणितं कहेती, आगतो रुट्ठो य वलवाए ॥७९॥

एगो णिमित्तिओ,तेण जोतिणी गामसामिणी आकंपिता-आविसंवादिणिमित्तेण आउट्टिता। अण्णया सा जोतिणी जोतियं चिरगतं पुच्छति-कया सो भोतिओ आगच्छति ?। तेन कहियं-अमुगदिणे अमुगवेलाए आगच्छति। सो य आगतो। ताहे तस्स णेमित्तिअपुव्वभणितं इत्थमादिपरियणो सव्वं कहेति। तम्मि कहिते सोऽतीसाबुनावेण रुट्ठो वलवाए संपुच्छति।

गाह-

दाराऽऽभोगण एगा-गिआगमो परियणस्स पच्चोणी* ।
पुच्छा य खमणकहणं,सादीयंकार सुविणादी ॥८०॥
कोहो वलवा गब्भं, च पुच्छितो भणति पंचपुंडाऽऽसो ।
फालण दिट्ठे जति णे-व तो तुहं अवितहं कांति वा ? ॥८१॥

सती असती वा मे दारा,तस्स आभोगणट्ठा एगागी आगतो वेच्छति-सव्वपरियणो पच्चोणीए णिग्गतो। अण्णगतिया पच्चोणी। तेण पुच्छियं-कहं ते णायं ?। तेहिं कहियं-एरिसो तारिसो खमणो णेमित्तिओ,तेण कहितं। सो तं बोहिरत्तं णिमित्तं पुच्छति। तेण वि से सुविणादि सादीयंकारं णिमित्तं अवितहं कहियं। सो भोतिओ कुवितो पुच्छति-एस वलवा गब्भिणी, एतीए किं भविस्सति ?। तेण भणियं-पंचपुंडो आसो भविस्सति। तेण तक्खणा चेव फालिया दिट्ठो। ताहे भोतिओ भणति-जइ एवं ण होज्जा, तो तुह पेट्टं फालियं होतं। एवं अवितहणेमित्तिया कति भविस्संति ?। जम्हा एते दोसा तम्हा ण वागरेज्ज।

गाहा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जयणाए वागरे भिक्खू ॥९२॥
एतेहिऽसंथरंतो, पणगादीकम्मइच्छितो संतो ।
एस्सेव पडुपण्णं, च भणति जइस्सु उवउत्ते ॥९३॥

एतेहिं कारणेहिं असंथरंतो पणगपरिहाणीए जाहे आहाकम्मं पइकंतो, ताहे पुव्वं अतीतं णिमित्तं वागरेति भद्दगेसु अतीव उवउत्तो, पच्छा आगमिस्सं पडुप्पण्णं। नि० चू० १० उ०। अतीतानागतवर्त्तमानानामतीन्द्रियभावानामधिगमे निमित्तं हेतुर्यद्वस्तुजातं तन्निमित्तं, तदभिधायकशास्त्राण्यपि निमित्तानीत्युच्यन्ते इति। भौमाऽऽदिलक्षणशास्त्रेषु. स्था०। "अट्ठविहे महानिमित्ते पण्णत्ते। तं जहा-भोमे, उप्पाए, सुविणए, अंतलिक्खे, अंगे, सरे, लक्खणे, वंजणे।" स्था० ८ ठा०। आव०। प्रव०। सू०। (भौमाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) (विस्तरार्थिना तु अङ्गविद्या नाम ग्रन्थो वीक्षणीयः। प्रकाशितं चैतद् 'अंगविज्जा' शब्दे प्र० भागे ३६ पृष्ठे) वाक्प्रशस्तशकुनाऽऽदिकेषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। चूडामणिप्रभृतौ निमित्तकपुरुषे, स्था० ६ ठा०। दश०। आचा०। औ०।

णिमित्तकारण-निमित्तकारण-न०। पटस्य निमित्तं तन्तव एव कारणं निमित्तकारणम्, तद्व्यतिरेकेण पटानुत्पत्तेः। तथा च तन्तुभिर्विना न भवति यतः, तथा तद्गतताना ऽऽदिचेष्टाव्यतिरेकेणापि न भवति, तस्याश्च चेष्टाया वेमाऽऽदि कारणम्। अन्यद्रव्यकारणभेदे, आ० म० १ अ० २ खण्ड। आ० चू०।

णिमित्तणिप्पण्ण-निमित्तनिष्पन्न-त्रि०। चिह्ननिष्पन्ने करणनिष्पन्ने, "चिंधणिप्पण्णं ति, करणणिप्पण्णं ति, णिमित्तणिप्पण्णं ति वा एगट्ठं।" आ० चू० १ अ०।

णिमित्तपिंड-निमित्तपिण्ड-पुं०। निमित्तमङ्गुष्ठप्रश्नाऽऽदि, तद्वाप्तो निमित्तपिण्डः। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ९ उ०। अतीतानागतवर्त्तमानकालेषु लाभाऽऽदिकथनं भिक्षार्थं कुर्वता उत्पादनादोषसंपर्केण गृहीतपिण्डे, ध० ३ अधि०। जीत०।

अथ तद्भोजननिषेधः-

जे भिक्खू णिमित्तपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥६१॥

तीतमणागतवट्टमाणत्थाणोपलद्धिकारणं णिमित्तं भण्णति जो तं पउंजित्ता असणाऽऽदिमुप्पादेति, सो णिमित्तेहिं पिंडो भण्णति, आणादिया य दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं।

भिक्खू णिमित्तपिंडं, कहेज्ज सज्जं तु अहव सातिज्जे।

* 'पच्चोणी' शब्दो देशीवचनः संमुखार्थः।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ १४२ ॥
नियमा तिकालविसए, णेमित्ते छव्विहे भवे दोसो ।
सयमेव वट्टमाणे, उप्पए वा तत्थिमं णातं ॥ १४३ ॥

कंठा । तिविधो कालो-अतीतो, वट्टमाणो, आगमिस्सो । पत्तेकं छव्विहं णिमित्तं पउंजति । तत्थ इमे छब्भेदा-लाभं, अलाभं, सुहं, दुहं, जीवियं, मरणं । पगाम्मि पउत्ते णियमा संजमायपरोभया दोसा भवंति । एत्थ तीतं अप्पदोसतरं, ततो आगमिस्सं बहुदोसतरं, ततो पडुप्पण्णं बहुदोसतरं ।

तत्थ पडुप्पण्णे इमं उदाहरणं-

आकंपिया णिमित्ते-ण जोइणा भोइए चिरगयम्मि ।
पुव्वभणितं कहेती, आगतो रुट्ठो य वलवाए ॥१४४॥

इमा भद्दबाहुकया गाहा ।

एतीए इमाओ दो वक्खाणगाहाओ-

दाराऽऽलोयण एगा-गिआगमो परियणस्स पच्चोणी ।
पुच्छा य खमणकहणं,सारीयंकार सुविणादी ॥१४५॥
कोहो वडवा गब्भं, च पुच्छितो भणति पंचपुंडाऽऽसो ।
फालण दिट्ठे जति णे-व तो तुहं अवितहं कति वा?॥१४६॥

पगम्मि गामे ओसण्णो णिमित्ती अत्थति, तत्थ जो गामभोतिओ सो पवसितो, तस्स य जा भोइणी, सा तं णेमित्तियं णिमित्तं पुच्छति । ताहे तेण सा अवितहणिमित्तेणं आकंपिया । अपणदा सा तं पुच्छति । तेण कहियं-कल्लं अमुगवेलाए एति । सो वि भोइओ चिंतेइ- सव्वं इहेव अच्छेउं एगागी आमि दाराभोगेण त्ति गवेसामि-किं वभिचारं वभिचरति, ण वा ? । तस्सागमणवेलाए य सव्वो परियणो पच्चोणीए णिग्गतो । अग्गगातिए एति, सो य दिट्ठो, सागते कए पुच्छइ-कहं भे णातं ? । तेण भणियं-खमगो णेमित्ती,तेण कहियं । आगओ घरं कलुसितमणसा एस वभिचारि त्ति तुरुतरे णेमित्ती सद्दावितो,कहेति णिमित्तं,तेण जं किंचि पुव्वभणियं,भुत्तं वा, अणुभूतं वा सुविणादिगतं तं सव्वं सण्णकारेहिं कहितं । एवं कहिते वि कोवं ण मुंचति । ततो वडवो पुच्छति-एतीए वडवाए किं गब्भे त्ति । णेमित्तिणा उवओगेण भणियं-किसोरो पंचपुंडो । ततो कठो कालं ण पडिच्छति त्ति जणाति-फाडेह उदरं । से फालियं दिट्ठो । ततो भणाति-जति एयं णिमित्तं एवं ण भवति, तो तुज्झ पोट्टं फालियं होतं । एरिसा अवितहणिमित्ती केत्तिया भविस्संति ? । अतो अभिचरंति णिमित्ता,छउमत्थपओगा य वितहा भवंति, अधिकरणादओ य दोसा आयपरोभयसमुत्था, संकाऽऽदिया य इत्थीसु दोसा, अतो ण णिमित्तं वागरेयव्वं ।

अववादेण वागरेयव्वं । गाहा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए वा, जयणाए वागरे भिक्खू ॥१४७॥

असिवादिकारणेहिं सुद्धदुक्खत्तो तीताइणिमित्तं वागरेति, आहे पणगपरिहाणीए चउलहुं पत्तो । नि० चू० १३ उ० ।

णिमित्तवाएसि(ण्)-निमित्तादेशिन्-पुं० । निमित्तमतीताऽऽदिभेदभिन्नमादिशति यः स तथा । नैमित्तिकसाधौ,पं०व० ४ द्वार ।

निमित्ताऽऽदेशिनमाह-

तिविहं निमित्तं एक्के-क छव्विहं जं तु वण्णियं पुव्विं ।
अभिमाणाभिनिवेसा, वागरियं आसुरं कुणइ ॥

त्रिविधमतीताऽऽदिकालत्रयविषयं यत्पूर्वमिहैवाऽऽभियोगिकभावनायां वर्णितं, तदेकैकं षड्विधं लाभालाभसुखदुःखजीवितमरणविषयभेदात्षट्प्रकारम् । आह-आभियोगिकभावनानिबन्धनतया पूर्वमिदमुक्तम्, अतः कथमिदमिहाभिधीयत इत्याह-अभिमानाभिनिवेशादहङ्कारतीव्रतया व्याकृतं प्रकटितमेतन्निमित्तमासुरीं भावनां करोति, अन्यथा त्वाभियोगिकी मतिः । बृ० १ उ० ।

णिमित्तलक्खण-निमित्तलक्षण-न० । विज्ञानहेतौ निमित्तशास्त्रे, विशे० ।

अथ निमित्तलक्षणं विवृण्वन्नाह-

लक्खिज्जइ सुहासुह-मणेण तो लक्खणं निमित्तं ति ।
भोमाइ तदट्ठविहं,तिकालविसयं जिणाभिहियं ॥२१६३॥

लक्ष्यते विज्ञायते यस्माच्छुभाशुभमनेन ततो निमित्तमपि लक्षणम् । तच्चाष्टविधमष्टप्रकारम् । उक्तं च-" भोमसुमिणंऽतलिक्खं, दिव्वं अंगसरलक्खणं तह य । वंजणमट्ठविहं खलु, निमित्तमेवं मुणेयव्वं ॥ १ ॥ " इति । भौमाऽऽदिस्वरूपं च ग्रन्थान्तरादवसेयम् । इदं चाष्टविधमपि निमित्तं प्रत्येकमतीतानागतवर्तमानरूपकालत्रयविषयं जिनैरभिहितमिति ॥ २१६३ ॥ विशे० । आ० चू० ।

णिमित्तसंजोग-निमित्तसंयोग-पुं० । कारणसाहित्ये, " सुभो निमित्तसंयोगो, पञ्चकोदयतो मतः " (१८) शुभः प्रशस्तो निमित्तसंयोगः सद्योगाऽऽदिसम्बन्धः,सद्योगाऽऽदीनामेव निःश्रेयससाधननिमित्तत्वात् । (१८) । द्वा० २१ द्वा० ।

णिमित्तसुद्धि-निमित्तशुद्धि-स्त्री० । शुभहेतुवस्तुशुद्धौ, यथाआवश्यकव्रतग्रहणे तत्कालोच्छलितशङ्खपणवाऽऽदिनिनादश्रवणपूर्णकलशभृङ्गारछत्रध्वजचामराऽऽद्यवलोकनशुभगन्धाऽऽघ्राणाऽऽदिस्वभावा । ध० २ अधि० ।

णिमित्ताजीविया-निमित्ताजीविका-स्त्री० । त्रैकालिकलाभालाभाऽऽदिविषयनिमित्तोपात्ताऽऽहाराऽऽद्युपजीवने, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णिमिल्लण-निमीलन-न० । नि-मील-ल्युट् । "प्रादेर्मीलेः" ॥८।४।२३२॥ इति अन्त्यस्य द्वित्वं वा, द्वित्वे ह्रस्वो वा । अक्षिसंकोचे, प्रा० ४ पाद ।

णिमीलण-निमीलन-न० । 'णिमिल्लण' शब्दार्थे,प्रा० ४ पाद ।

णिमेण-देशी-स्थाने, दे० ना० ४ वर्ग ३७ गाथा ।

णिमेल-देशी-दन्तमांसे, दे० ना० ४ वर्ग ३० गाथा ।

णिमेला-देशी-दन्तपाले, दे० ना० ४ वर्ग ३० गाथा ।

णिमेस-निमेष-पुं० । अक्षिनिमीलने, भ० १४ श० १ उ० । आ० म० । स्वाभाविकचक्षुर्निमीलनकाले, वाच० ।

णिम्मद्दग-निर्मर्दक-पुं० । चौरविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिम्मद्दिय-निर्मर्दित-त्रि० । दलिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिम्मम-निर्मम-त्रि० । निर्गतं ममत्वं बाह्याऽऽभ्यन्तरेषु वस्तुषु यस्मादसौ निर्ममः । सूत्र० १ श्रु० १० अ० । ममत्वरहिते, संथा० । आव० । पं० भा० । प्रश्न० । आ० म० । वस्त्रपात्राऽऽदिषु ममत्वरहिते, उत्त० १९ अ० । अस्यां भारतभूमौ उत्सर्पिण्यां भविष्यति सुलसाजीवे पञ्चदशे तीर्थकरे, प्रव० ४६ द्वार । ती० । ति० । स० ।

णिम्ममभाव-निर्ममभाव-पुं० । आकाशं सकलपरिग्रहोपाद्यशून्यचिदानन्दैकमूर्तिकशुद्धाऽऽत्मस्वभावानुभवजनिते निर्ममत्वे, द्वा० २७ द्वा० ।

णिम्मल-निर्मल-त्रि० । स्वाभाविकाऽऽगन्तुकमलरहिते, जी० ३ प्रति० ४ उ० । तं० । प्रश्न० । आ० म० । जं० । रा० । निर्मले, औ० । प्रश्न० । कठिनमलरहिते, भ० २ श० ७ उ० । स० । औ० । विशुद्धे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्वच्छे, कल्प० ३ क्षण । भ० । षष्टिनीघटिते, " भद्दा बद्दा नीरया निम्मला निप्पंका " प्रश्न० ४ पद । पूर्वबद्धकर्मविनिर्मुक्ते द्रव्यमलवर्जिते सिद्धे, औ० । ब्रह्मलोके षष्ठां विमानप्रस्तटानां चतुर्थे, स्था० ६ ठा० । निर्गतो मलो यस्मात् । ५ ब० व्री० । कतके, तस्य हि संबन्धाद् जलमलनाशकत्वं प्रसिद्धम् । वाच० ।

णिम्मलजलपुण्ण-निर्मलजलपूर्ण-त्रि० । निर्मलेन जलेन भृते, कल्प० ३ क्षण ।

णिम्मलफलिह-निर्मलस्फटिक-पुं० । विमले स्फटिकमणौ, " निर्मलस्फटिकस्येव, निर्मलं रूपमात्मनः । अध्यस्तोपाधिसंबन्धो, जडस्तत्र विमुह्यति " ॥ ६ ॥ अष्ट० ४ अष्ट० ।

णिम्मलबोहवंत-निर्मलबोधवत्-त्रि० । विमलबोधसंपन्ने, षो० ३ विव० । निर्मलबोधस्तु-" निर्मलबोधोऽप्येवं, शुश्रूषाभावसंभवो ज्ञेयः । शमगर्भशास्त्रयोगात्, श्रुतचिन्ताभावनासारः ॥ " षो० ४ विव० ।

णिम्मल्ल-निर्माल्य-न० । देवोच्छिष्टे देवार्चाद्रव्ये, वाच० । तीर्थाऽऽदिगतसप्रभावप्रतिमाशेषे, पिं० ।

भोगविणट्ठं दव्वं, णिम्मल्लं बिंति गीयत्था ।

यजिनबिम्बाऽऽरोपितं सद्विच्छायीभूतं विगन्धिसंजातं दृश्यमानं च निःश्रीकतया न भव्यजनमनःप्रमोदहेतुः, तन्निर्माल्यं ब्रुवन्ति बहुश्रुताः । सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

नैर्मल्य-न० । निर्मलपरिणतौ, द्रव्या० ८ अध्या० ।

णिम्मव-निर्मा-धा० । निर् + मा । विरचने, निष्पादने, " निर्मोर्निम्माण-निम्मवौ " । ८ । ४ । १९ । इति निर्पूर्वस्य मिमीतेः णिम्माण-निम्मवाऽऽदेशौ । णिम्माणेइ । णिम्मवइ । निर्मिमीते । प्रा० ४ पाद । कर्मणि यक् । निर्मीयन्ते । परिसमाप्ति नीयमाने, पं० सू० १ सूत्र ।

णिम्मवइत्ता-निर्मापयितृ-त्रि० । सफलतापर्यन्तकार्यनेतरि, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णिम्मह-गम्-धा० । गतौ, " गमेरई-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस-पच्चड्ड-पच्छन्द-णिम्मह-णी-णीण-णीलुक्क-पदअ-रम्भ-परिअल्ल-वोल-परिअल-णिरिणास-णिवहावसेहावहराः " ॥ ८ ॥ ४ ॥ १६२ ॥ इति सूत्रेण गमेर्णिम्महाऽऽदेशः । " णिम्महइ " गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

णिम्महियरागरोस-निर्मथितरागरोष-त्रि० । निराकृतप्रीतिद्वेषे, जीवा० १ अधि० ।

णिम्माण-निर्मा-धा० । विरचने, निष्पादने, प्रा० ४ पाद ।

निर्माण-न० । उत्तरकरणे, विशे० ।

णिम्माणणाम [ण्]-निर्माणनामन्-न० । सर्वजीवशरीरावयवनिष्पादके अङ्गोपाङ्गकर्मणि, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । कर्म० । पं० सं० । उत्त० । प्रव० ।

अंगोवंगणियमणं, णिम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं । [४७]

निर्माणं निर्माणनामाङ्गोपाङ्गनियमनम्, अङ्गप्रत्यङ्गानां प्रतिनियतप्रदेशव्यवस्थापनं, करोति विदधाति, अतः सूत्रधारसमं सूत्रभृत्कल्पम् । यदुदयाज्जन्तुशरीरेष्वङ्गोपाङ्गानां प्रतिनियतस्थानवृत्तिता भवति, तत्सूत्रधारकल्पं निर्माणनामेत्यर्थः । तदभावे हि तद्भृतककल्पैरङ्गोपाङ्गनामाऽऽदिभिर्निर्वर्तितानामपि शिरउदराऽऽदीनां स्थानवृत्तेरनियमः स्यात् । (४७) कर्म० १ कर्म० ।

णिम्माय-निर्मात-पुं० । निष्पन्ने, बृ० ६ उ० । परिनिष्ठामुपागते, व्य० १ उ० । पञ्चा० । विशिष्टाभ्यासवति, कल्प० ३ क्षण । सूत्रार्थतदुभयज्ञे, " आयरियाण सगासे, अमुयंतस्स तु णिम्माया । " व्य० ३ उ० ।

णिम्माविस-निर्मापयितव्य-त्रि० । कर्त्तव्ये, (सूत्र०) " पंच महब्भूया अणिम्मिया अणिम्माविया अकडा णो कित्तिमा " । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

णिम्मिय-निर्मित-त्रि० । निवेशिते, उपा० ७ अ० । ज्ञा० । न्यस्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । निष्पादिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । कृते, स्था० ८ ठा० । औ० ।

णिम्मियवाइ [ण्]-निर्मितवादिन्-त्रि० । निर्मितमीश्वरब्रह्मपुरुषाऽऽदिना कृतं लोकं वदतीति निर्मितवादी । ईश्वरकृतलोकवादिलक्षणे अक्रियावादिनि, (स्था०)

" आसीदिदं तमोभूत-मप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ १ ॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टामरनरे चैव, प्रणष्टोरगराक्षसे ॥ २ ॥
केवलं गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते ।
अचिन्त्याऽऽत्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तपः ॥ ३ ॥
तत्र तस्य शयानस्य, नाभेः पद्मं विनिर्गतम् ।
तरुणरविमण्डलनिभं, हृद्यं काञ्चनकर्णिकम् ॥ ४ ॥
तस्मिन्पद्मे भगवान्, दण्डी यज्ञोपवीतसंयुक्तः ।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्न-स्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥ ५ ॥
अदितिः सुरसङ्घानां, दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम् ।
विनता विहङ्गमानां, माता विश्वप्रकाराणाम् ॥ ६ ॥
कद्रूः सरीसृपाणां, सुलसा माता तु नागजातीनाम् ।
सुरभिश्चतुष्पदाना-मिला पुनः सर्वजीवानाम् " ॥ ७ ॥ इति ।

प्रमाणयन्ति चासौ-बुद्धिमत्कारणकृतं भुवनं, संस्थानवत्त्वात्, घटवदित्यादि । अक्रियावादिता चास्य न कर्ताऽवदनीदं जगदिति वचनात्कृत्रिमभुवनस्याकृत्रिमतानिषेधात् । न चेश्वराऽऽदिकर्तृकत्वं जगतोऽस्ति, कुलालाऽऽदिकारकवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । कुलालाऽऽदिव्यपदेश्यानाऽऽदेर्बुद्धिमत्कारणस्यानीश्वरताप्रस-

ङ्गात् । किञ्च-ईश्वरस्याशरीरतया कारणाभावात् क्रियात्वप्रवृत्तिः स्यात् । सशरीरत्वे च तच्छरीरस्यापि कर्त्रन्तरेण भाव्यम्, एवं चानवस्थाप्रसङ्ग इति । स्था० ८ ठा० । ('इस्सर' शब्दे द्वितीयभागे ६३६ पृष्ठे चैतन्मतं परीक्षितम्)

णिम्भिस्सवल्ली-निर्भिश्रवल्ली-स्त्री० । मातृवदेऽनन्तरस्वजनवर्गे, षट् निर्मिश्राणि-

माया पिया य जाया, भगिणी पुत्तो तहेव धूया य ।
एसा अणंतरा खलु, णिम्मिस्सा होति वल्ली उ ॥

माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्रः, दुहिता च । एषा अनन्तरा भवति वल्ली । व्य० १० उ० ।

णिम्मूल-निर्मूल-त्रि० । उच्छिन्नमूले, " णिम्मूलुल्लुणकण्णोट्ठनासिका छिन्नहत्थपाया । " प्रश्न० १ आश्र० द्वार । " णिम्मूलितंतफुरफुरंतविगलमम्महयविगयगाढदिण्णपहारमुच्छितकण्ठंतविब्भलविलावकलुणो । " निर्मूलितानि विकृष्टानि बहिःकृतानि अन्त्राणि उदरमध्यावयवविशेषा येषां ते तथा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिम्मूलण-निर्मूलन-न० । कषे, ज्ञा० २६ ज्ञा० ।

णिरमेअ-देशी-गते, दे० ना० ४ वर्ग ३४ गाथा ।

णिम्मेर-निर्मर्याद-त्रि० । परस्त्रीपरिहाराऽऽदिमर्यादाविलोपिस्थात् (रा० । दशा०) लोककुलाऽऽद्यपेक्षया (स्था० ३ ठा० २ उ०) अविद्यमानकुलाऽऽदिमर्यादे, जं० २ वक्ष० । प्र० । प्रतिपन्नाऽपरिपालके, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

णिम्मोअ-निर्मोक-पुं० । कञ्चुके, "कैञ्चुल" इति ख्याते सर्पत्वचि, विशे० । " सेसस्स व निम्मोओ ।" प्रा० २ पाद ।

णिम्मोयणी-निर्मोचनी-स्त्री० । निर्मोके कञ्चुके, " अहा य भोई तणुयं भुयंगो, णिम्मोयणिं हिच पलेइ मुत्तो (३४) " उत्त० १४ अ० ।

णिय-निज-त्रि० । आत्मीये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । कर्म० । प्रव० ।

णियजाइअसच्छक्खयबिया-ऽणंतसो.............. । [८१]

यका यकाः प्रकृतयो यस्यां मूलप्रकृतौ पतिताः क्षिप्यन्ते तासां सैव मूलप्रकृतिर्निजजातिर्विज्ञेया । तया तया निजनिजमूलप्रकृतिरूपया निजजात्या यल्लब्धं प्राप्तं दलिकाग्रम् । (८१) कर्म० ५ कर्म० ।

णियइ-निकृति-स्त्री० । मायायाम्, तत्प्रच्छादनार्थं मृषावचने च । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । स० ।

नियति-स्त्री० । नियमनं नियतिः । यथाभवने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । अवश्यंभाव्युदये, सूत्र० १ श्रु०१ अ०२ उ० । सा च पदार्थानामवश्यतया यथाभवने प्रयोजककर्त्रीति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । आचा० ।

अथ नियतिवादिगोशालानां मतानीह वर्ण्यन्ते-

आघायं पुण एगेसिं, उववण्णा पुढो जिया ।
वेदयंति सुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पंति ठाणओ ॥१॥

पुनःशब्दः पूर्वोऽभिहितेभ्यो विशेषं दर्शयति-नियतिवादिनां पुनरेकेषामेतदाख्यातम् । अत्र चाविवक्षितकर्मका अपि अकर्मका प्रवर्त्तीति क्यानेर्धातोर्जावे निष्ठाप्रत्ययः,तद्योगे कर्त्तरि षष्ठी । तत्रायमर्थः-तैर्नियतिवादिभिः पुनरिदमाख्यातं, तेषामयमाशय इत्यर्थः । तद्यथा-उपपन्ना युक्त्या घटमानका इत्यनेन च पञ्चभूततज्जीवतच्छरीरवादिमतमपाकृतं भवति । युक्तिस्तु तेषाम् प्राग्दर्शितैव,प्रदर्शयिष्यते च । पृथक् पृथक् नारकाऽऽदिभवेषु शरीरेषु चैतन्येनाऽऽत्माऽद्वैतवादनिरासोऽवसेयः। के पुनस्ते पृथगुपपन्नास्तदाह-जीवाः प्राणिनः सुखदुःखभोगिनः । अनेन च पञ्चस्कन्धातिरिक्तजीवाभावप्रतिपादकबौद्धमताऽपक्षेपः कृतो द्रष्टव्यः । तथा ते जीवाः पृथक् पृथक् प्रत्येकदेहे व्यवस्थिताः सुखं दुःखं च वेदयन्त्यनुभवन्ति । न वयं प्रतिप्राणिप्रतीतं सुखदुःखानुभवं निह्नुमहे । अनेन चाऽकर्तृवादिनो निरस्ता भवन्ति । अकर्तर्यविकारिण्यात्मनि सुखदुःखानुभवानुपपत्तेरिति भावः । तथैतदस्माभिर्नोऽपलप्यते । (अदुवा०) अथवा-ते प्राणिनः सुखं दुःखं चानुभवन्ति, विलुप्यन्ते उच्छिद्यन्ते, स्वायुषः प्रच्याव्यन्ते, स्थानात्स्थानान्तरं संक्राम्यन्त इत्यर्थः । तत्औपपातिकत्वमप्यस्माभिस्तेषां न निषिध्यते । इति श्लोकार्थः ॥१॥

तदेवं पञ्चभूतास्तित्वाऽऽदिवादिनिरासं कृत्वा यत्तैर्नियतिवादिभिरभिधीयते, तच्छ्लोकद्वयेन दर्शयितुमाह—

न तं सयं कडं दुक्खं, कओ अन्नं कडं च णं ?।
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥ २ ॥
सयं कडं न अण्णेहिं, वेदयंति पुढो जिया ।
संगइअं तं तहा तेसिं, इहमेगेसि आहियं ॥ ३ ॥

यत् तैः प्राणिभिरनुभूयते सुखं, दुःखं, स्थानविलोपनं वा, न तत्स्वयमात्मना पुरुषकारेण कृतं निष्पादितं दुःखमिति, कारणे कार्योपचाराद् दुःखकारणमेवोक्तम् । अस्य चोपलक्षणत्वात् सुखाऽऽद्यपि ग्राह्यम् । ततश्चेदमुक्तं भवति-योऽयं सुखदुःखानुभवः स पुरुषकारकृतकारणजन्यो न भवतीति । तथा कुतोऽन्येन कालेश्वरस्वभावकर्माऽऽदिना च कृतं भवेत् ?। अभित्यलङ्कारे । तथाहि-यदि पुरुषकारकृतं सुखाऽऽद्यनुभूयेत ततः सेवकवणिक्कर्षकाऽऽदीनां समाने पुरुषकारे सति फलप्राप्तिवैसदृश्यं, फलप्राप्तिश्च न भवेत् । कस्यचित्तु सेवाऽऽदिव्यापाराभावेऽपि विशिष्टफलावाप्तिर्दृश्यत इत्यतो न पुरुषकारात्किञ्चिदासाद्यते, किं तर्हि नियतेरेवेत्येतच्च द्वितीयश्लोकान्तेऽभिधास्यते । नापि कालः कर्ता, तस्यैकरूपत्वाज्जगति फलवैचित्र्याऽनुपपत्तेः । कारणभेदे हि कार्यभेदो भवति, नाभेदे । तथा ह्ययमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा घटते, यदुत विरुद्धधर्माध्यासः, कारणभेदश्च । नापीश्वरकर्तृकेऽपि सुखदुःखे न भवतः । यतोऽसावीश्वरो मूर्तोऽमूर्तो वा ?। यदि मूर्तस्ततः प्राकृतपुरुषस्येव सर्वकर्तृत्वाभावः । अथाऽमूर्तस्तथा सत्याकाशस्येव सुतरां निष्क्रियत्वम् । अपि च यद्यसौ रागाऽऽदिमांस्ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकाद्विश्वस्याकर्तैव । अथाऽसौ विगतरागः, ततस्तत्कृतं सुभगदुर्भगेश्वरदरिद्राऽऽदिजगद्वैचित्र्यं न घटां प्राञ्चति, ततो नेश्वरः कर्तेति । तथा-स्वभावस्यापि सुखदुःखाऽऽदिकर्तृत्वानुपपत्तिः । यतोऽसौ स्वभावः पुरुषाद्भिन्नोऽभिन्नो वा ?। यदि भिन्नः ?, न पुरुषाऽऽश्रिते सुखदुःखे कर्तुमलं,तस्माद्भिन्नत्वादिति। नाप्यभिन्नोऽभेदे पुरुष एव स्यात्तस्य चाकर्तृत्वमुक्तमेव । नाऽपि कर्मणः सुखदुःखं प्रति कर्तृत्वं घटते । यतस्तत्कर्म पुरुषाद्भिन्नमभिन्नं वा भवेत् ?। अभिन्नं चेत्पुरुषमात्रताऽऽपत्तिः कर्म-

णः, तत्र चोक्तो दोषः । अथ भिन्नं तत्किम्-सचेतनम्, अचेतनं वा ? । यदि सचेतनम्, एकस्मिन् काये चैतन्यद्वयाऽऽपत्तिः । अथाऽचेतनम्, तथा सति कुतस्तस्य पाषाणखण्डस्येवास्वतन्त्रस्य सुखदुःखोत्पादनं प्रति कर्तृत्वम् ?, इत्येतच्चोत्तरत्र व्याख्येन प्रतिपादयिष्ये; इत्यलं प्रसङ्गेन । तदेवं सुखं सैद्धिकं सिद्धावपवर्गलक्षणायां भवं, यदि वा दुःखम्-असातोदयलक्षणमसैद्धिकं सांसारिकम । यदि वोभयमप्येतत्सुखं दुःखं वा स्रक्चन्दनाऽङ्गनाऽऽद्युपभोगक्रियासिद्धौ भवं, तथा कशाताडनाङ्कनाऽऽदि सिद्धौ भवं सैद्धिकम । तथाऽसैद्धिकं सुखमान्तरमानन्दरूपमाकस्मिकमनवधारितबाह्यनिमित्तम । एवं दुःखमपि ज्वरशिरोऽर्तिशूलाऽऽदिरूपमङ्गोत्थमसैद्धिकम । तदेतदुभयमपि, न स्वयं पुरुषकारेण कृतं, नाप्यन्येन केनचित् कालाऽऽदिना कृतं, वेदयन्त्यनुभवन्ति, पृथक् जीवाः प्राणिन इति । कथं तर्हि तत्तेषामभूदिति नियतिवादी स्वाभिप्रायमाविष्करोति-(संगइअं ति) सम्यक् स्वपरिणामेन गतिर्यस्य यदा यत्र यत्सुखदुःखानुभवनं, सा सङ्गतिर्नियतिः, तस्यां भवं साङ्गतिकम् । यतश्चैवं न पुरुषकाराऽऽदिकृतं सुखदुःखाऽऽद्यतस्तत्तेषां प्राणिनां नियतिकृतं साङ्गतिकमित्युच्यते । इहास्मिन् सुखदुःखानुभववादे, एकेषां वादिनामाख्यातम, तेषामयमभ्युपगमः ।

तथा चोक्तम्-

" प्राप्तव्यो नियतिबलाऽऽश्रयेण योऽर्थः,
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा ।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

ये नियतिवादिनस्ते ह्येवमाहुः-नियतिर्नाम तत्त्वान्तरमस्ति, यद्वशादेते भावाः सर्वेऽपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते, नान्यथा । तथाहि-यद्यदा यतो भवति तत्तदा तत एव नियतेनैव रूपेण भवदुपलभ्यते । अन्यथा कार्यभावव्यवस्था, प्रतिनियतरूपव्यवस्था च न भवेत्, नियामकाभावात् । तत एवं कार्यनैयत्यतः प्रतीयमानामेनां नियतिं को नाम प्रमाणपथकुशलो बाधितुं क्षमते ?, मा प्रापदन्यत्रापि प्रमाणपथव्याघातप्रसङ्गः ।

तथा चोक्तम्-

" नियतेनैव रूपेण, सर्वे भावा भवन्ति यत् ।
ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुबोधतः ॥ १ ॥
यद्यदैव यतो यावत्, तत्तदैव ततस्तथा ।
नियतं जायते न्यायात्, क एनां बाधितुं क्षमः ? " ॥ २ ॥ नं० ।

एवं श्लोकद्वयेन नियतिवादिमतमुपन्यस्यास्योत्तरदानायाऽऽह-

एवमेयाणि जंपंता, बाला पंडियमाणिणो ।
निययानिययं संतं, अयाणंता अबुद्धिया ॥ ४ ॥

एवमित्यनन्तरोक्तस्योपप्रदर्शने, एतानि पूर्वोक्तानि नियतिवादाऽऽश्रितानि वचनानि । जल्पन्तोऽभिदधतो, बाला अज्ञाः सदसद्विवेकविकला अपि सन्तः, पण्डितमानिन आत्मानं पण्डितं मन्तुं शीलं येषां ते तथा । किमिति त एवमुच्यन्ते ?, इत्येतदाह-यतः (निययानिययं संतमिति) सुखाऽऽदिकं किञ्चिन्नियतिकृतमवश्यंभाव्युदयप्रापितं, तथाऽनियतमात्मपुरुषकारेश्वराऽऽदिप्रापितं सत्, नियतिकृतमेवैकान्तेनाऽऽश्रयन्त्यतोऽजानानाः सुखदुःखाऽऽदिकारणम, अबुद्धिका बुद्धिरहिता भवन्तीति । तथाहि-आर्हतानां किञ्चित्सुखदुःखानि नियतित एव भवन्ति, तत्कारणस्य कर्मणः कस्मिंश्चिदवसरेऽवश्यंभाव्युदयसद्भावान्नियतिकृतमित्युच्यते । तथा किञ्चिदनियतिकृतं च पुरुषकालेश्वरस्वभावकर्माऽऽदिकृतं, तत्र कथञ्चित्सुखदुःखाऽऽदेः पुरुषकारसाध्यत्वमप्याश्रीयते । यतः क्रियातः फलं भवति, क्रिया च पुरुषकाराऽऽयत्ता प्रवर्तते । तथा चोक्तम्-" न दैवमिति संचिन्त्य, त्यजेदुद्यममात्मनः । अनुद्यमेन कस्तैलं, तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति ? ॥ १ ॥ " यत्तु समाने पुरुषव्यापारे फलवैचित्र्यं दूषणत्वेनोपन्यस्तं, तददूषणमेव । यतस्तत्रापि पुरुषकारवैचित्र्यमपि फलवैचित्र्ये कारणं भवति । समाने वा पुरुषकारे यः फलाभावः कस्यचिद्भवति, सोऽदृष्टकृतः । तदपि चास्माभिः कारणत्वेनाऽऽश्रितमेव । (सूत्र०) (कालकर्तृत्वविचारः ' काल ' शब्दे तृतीयभागे ४६२ पृष्ठे गतः) तथेश्वरोऽपि कर्ता । आत्मैव हि तत्र तत्रोत्पत्तिद्वारेण सकलजगद्व्यापनादीश्वरः । तस्य सुखदुःखोत्पत्तिकर्तृत्वं सर्ववादिनामविगानेन सिद्धमेव । यच्चात्र मूर्तामूर्ताऽऽदिदूषणमुपन्यस्तं, तदेवंभूतेश्वरसमाश्रयणे दूरोच्छेदितमेवेति । स्वभावस्याऽपि कथञ्चित्कर्तृत्वमेव । तथाहि-आत्मन उपयोगलक्षणत्वमसंख्येयप्रदेशत्वम् । पुद्गलानां च मूर्तत्वं धर्माधर्मास्तिकाययोर्गतिस्थित्युपष्टम्भकारित्वममूर्तत्वं चेत्येवमादिस्वभावाऽऽपादितम् । यदपि चाऽऽत्मव्यतिरेकाऽव्यतिरेकरूपं दूषणमुपन्यस्तं, तददूषणमेव । यतः-स्वभाव आत्मनोऽव्यतिरिक्तः । आत्मनोऽपि च कर्तृत्वमभ्युपगतमेव, तदपि स्वभावाऽऽपादितमेवेति । तथा कर्माऽपि कर्तृ भवत्येव । तद्धि जीवप्रदेशैः सहान्योन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थितं कथञ्चिच्चाऽऽत्मनोऽभिन्नं, तद्वशाच्चाऽऽत्मा नरकतिर्यङ्मनुष्यामरभवेषु पर्यटन् सुखदुःखाऽऽदिकमनुभवतीति । तदेवं नियत्यनियत्योः कर्तृत्वे युक्त्युपपन्ने सति नियतेरेव कर्तृत्वमभ्युपगच्छन्तो निर्युक्तिका भवन्तीत्यवसेयम् ॥ ४ ॥

तदेवं युक्त्या नियतिवादं दूषयित्वा तद्वादिनामपायदर्शनायाऽऽह--

एवमेगे उ पासत्था, ते भुज्जो विप्पगब्भिआ ।
एवं उवट्ठिआ संता, ण ते दुक्खविमोक्खया ॥ ५ ॥

(एवमेगे उ इत्यादि) एवमिति पूर्वाभ्युपगमसंसूचकम्, सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि नियतानियते सत्येके नियतमेवाऽवश्यंभाव्येव कालेश्वराऽऽदिनिराकरणेन निर्हेतुकतया नियतिवादमाश्रिताः । तुरवधारणे । त एव नान्ये । किंविशिष्टाः पुनस्ते ?, इति दर्शयति-युक्तिकदम्बकाद् बहिस्तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः, परलोकक्रियापार्श्वस्था वा । नियतिपक्षसमाश्रयणात्परलोकक्रियावैयर्थ्यम । यदि वा-पाश इव पाशः, कर्मबन्धनम् । तच्चेह युक्तिविकलनियतिवादप्ररूपणम्, तत्र स्थिताः पाशस्थाः । अन्येऽप्येकान्तवादिनः कालेश्वराऽऽदिकारणिकाः पार्श्वस्थाः, पाशस्था वा द्रष्टव्या इत्यादि । ते पुनर्नियतिवादमाश्रित्यापि, भूयो विविधं विशेषेण वा प्रगल्भिता धाष्टर्योपगताः परलोकसाधकासु क्रियासु प्रवर्तन्ते । धाष्टर्याऽऽश्रयणं तु तेषां नियतिवादाऽऽश्रयणे सत्येव । पुनरपि तत्प्रतिपन्थिनीषु क्रियासु प्रवर्तनादिति । ते पुनरेवमप्युपस्थिताः परलोकसाधकासु क्रियासु प्रवृत्ता अपि सन्तो नाऽऽत्मदुःखविमोक्षकाः; असम्यक्प्रवृत्तत्वाच्चात्मानं दुःखाद्विमोचयन्ति । गता नियतिवादिनः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । आचा० । अकस्मा-

कुवलीभवतुधायनादिमतं चात्यन्तोपयुक्तत्वात् किञ्चिद्विचार्यते- अकस्मादिति किं किंशब्दस्य हेतुपरतया हेत्वभावभवनपरम्, तत्र-"अमानोनाः प्रतिषेधे" इति स्मरणान्निषेधार्थकस्य किंशब्दस्य क्रियासंबन्धसंभवाद् भवनाभावपरम्?। किं वा-किंशब्दस्य स्वभिन्नपरतया, अलीकाभिन्नपरतया वा स्वहेतुकत्वपरम्, अलीकहेतुकत्वपरं वा?। अथवा-अकस्मादिति स्वभावादित्यर्थे रूढतया स्वभावादेव कादाचित्कमित्यर्थकः?। एतेषु पक्षेषु नैकोऽपि प्रकारो युक्तः, नियतावधिककार्यदर्शनात्। अनियतावधित्वे, निरवधित्वे वा कादाचित्कत्वस्वभावव्याकोपात्। तत्स्वाभाव्ये च सहेतुकत्वस्याऽऽवश्यकत्वात्। तदुक्तमुदयनेन- "हेतुभूतिनिषेधो न, स्वानुपाख्यविधिर्न च। स्वभाववर्णना नैव-मवधेर्नियतत्वतः ॥५॥" इति। अथाऽऽकाशत्वाऽऽदीनां कादाचित्कत्ववत् कादाचित्कत्वमपि न सहेतुकत्वसाधकमिति चेत्। न। आकाशत्वाऽऽदीनां सर्वत्र सत्त्वे आकाशाऽऽदिस्वनाशाभावप्रसङ्गात्। तत्स्वभावत्वं च धर्मिग्राहकमानसिद्धमिति हेतुं विनाऽपि देशनियमस्तेषामिति। अथैवं कादाचित्कत्वमपि घटाऽऽदिस्वभावत्वादेव हेतुं विनाऽपि गमनाऽऽदिव्याप्तमस्त्विति चेत्। न। कादाचित्कत्वस्यावधिनियतत्वात्। सन्त्ववधयो,न त्वपेक्ष्यन्त इति चेत्। न। नियतपश्चाद्भावित्वस्यैवापेक्षार्थत्वात्। अन्यथा गर्दभाद् धूम इत्यपि प्रतीयेत, तन्नियतत्वेऽपि तद्गतोपकाराजनकस्य कथं तद्धेतुत्वमिति चेत्?। उपकारो हि कार्यमिति तद्गतकार्यहेतुत्वस्य तद्धेतुत्वेऽनन्तर्भावात्। अन्यथोपकारहेतुत्वाच्चोपकारेऽप्युपकारान्तरस्वीकारेऽनवस्थाऽऽपत्तेः,नहि घटादिति नियतत्वं कपालाऽऽदावेव,न तन्त्वादाविति। कुत इति चेत्?, स्वभावादिति गृहाण। अथ तथापि ग्राहकाभावात्तदसिद्धिः,न च धूमाऽऽदौ वह्न्यादेरन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वज्ञानसचिवं वह्न्यादिप्रत्यक्षमेव हेतुहेतुमद्भावग्राहकं, धूममात्रेऽन्वयव्यतिरेकज्ञानासम्भवात्। यत्किञ्चिद् धूमे रासभाऽऽदेरपि तथा ज्ञानात् रासभाऽऽदेर्व्यभिचारज्ञानाच्च तद्ग्रह इति चेत्। न। वह्न्यादेरपि व्यभिचारशङ्कासाम्यादिति। धूमाऽऽदर्थिनो वह्न्यादौ प्रवृत्तिश्च संभावनयैवोपपद्यत इति परमतमिति चेत्। न। सामान्यव्यभिचारानुगतागुरु(ग्रह) विशेषान्तरानुपस्थितिदशायां यत्किञ्चिद्धूमवह्न्योस्तद्ग्रहसामग्र्या एव वह्निधूममात्रे तद्ग्राहकत्वात्,सति बाधकज्ञाने व्यभिचारशङ्काया अप्रतिबन्धकत्वात्। रासभाऽऽदौ तु व्यभिचारनिर्णय एव। असति तन्निर्णये तत्र धूमहेतुत्वग्रहेऽपि भ्रमत्वमेव, बाधाभावात्। "अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वं हि हेतुत्वम्।" तथा च-वह्न्यादेरवच्छिन्नस्य धूमाऽऽदिनियतपूर्ववर्तित्वादनन्यथासिद्धत्वाच्च तद् दुर्निवारम्। यागाऽऽदृष्टाऽऽदौ स्वर्गाऽऽदिनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताग्रहस्यावच्छेदकाविनिर्मोकेण शब्दानुमानाऽऽदिनैव तत्प्रामाण्यस्यापि तत्र व्यवस्थापितत्वात्। तृणाऽरणिमण्यादीनां वह्निकारणताग्रहेऽपीयमेव रीतिः, तृणत्वेन व्यभिचारज्ञानस्य तेनैव रूपेण कारणताग्रहविरोधित्वात्, अवच्छेदकौदासीन्येन तृणत्वसमानाधिकरणकारणताग्रहे विरोधाभावात्। अवच्छेदकरूपानुपस्थितौ कथमवच्छेद्यकारणताग्रहः?, कारणतायाः ससंबन्धिकपदार्थत्वेन तत्प्रत्यक्षे संबन्धिज्ञानस्य कारणत्वादिति चेत्। न। 'अयं घटः' इति समवायप्रत्यक्षे व्यभिचारात्। अथ येन समवायत्वाऽऽदिना रूपेण ससंबन्धिकता, तेन रूपेण तत्प्रत्यक्षे तस्य हेतुत्वान्न व्यभिचार इति चेत्। न। तथाऽपि ससंबन्धिकताऽवच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेन हेतुत्वमित्यत्र संबन्धिमात्रवृत्तित्वस्यैवावच्छेदकपदार्थत्वात्। प्रकृते चेयं वह्निव्यक्तिस्तृणजन्येति कारणताप्रत्यक्षस्यापि तृणकार्यताऽऽश्रयमात्रवृत्त्येतद्वह्नित्वप्रकारकज्ञानसाध्यत्वसंभवात्। यद्वा-इयं वह्निस्तृणजन्येति प्रत्ययस्य एतद्वह्नित्वावच्छिन्नकार्यताऽवगाहित्वे अवच्छेदकत्वांशे भ्रमत्वेऽपि कार्यतांशे प्रमात्वान्न कोऽपि दोषः। (१२४) नयो०। सम्म०।

णियइकड-नियतिकृत-त्रि०। अवश्यंभाव्युदयप्रापिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

णियइकम्म-निकृतिकर्मन्-न०। निकृतेर्मायायाः कर्म निकृतिकर्म। एकोनत्रिंशे गौणचौर्ये, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

णियइपण्णाण-निकृतिप्रज्ञान-त्रि०। निकृतिर्माया, तद्विषये प्रज्ञानं यस्य स तथा। ग्लानः प्रतिचरणीयो मा भवत्विति ग्लानवेषमहं करोमीत्येवमादिविकल्पवति, स०। "सढे नियइपण्णाणे, कलुसाउलचेयसा। अप्पणो य अबोहीए,महामोहं पकुव्वइ॥१॥" स० ३० सम०।

णियइपव्वय-नियतिपर्वत-पुं०। नियत्या नैयत्येन पर्वता नियतिपर्वताः। नियतपर्वतेषु, यत्र वाणमन्तरा देवा देव्यश्च भवधारणीयत्वेन वैक्रियशरीरेण प्रायः सदा रममाणा अवतिष्ठन्त इति। जी० ३ प्रति० ४ उ०। रा०।

णियइवाइ(ण्)-नियतिवादिन्-पुं०। सर्वभावानां नियतिकृतत्ववादिनि, नं०। ('णियइ' शब्दे चैषां मतमनुपदमुपपादितम्)

णियंटिय-नियन्त्रित-त्रि०। नितरां यन्त्रितं नियन्त्रितमिति। नियते प्रतिज्ञातदिनाऽऽदौ ग्लानत्वाऽऽद्यन्तरायभावेऽपि नियमात्कर्तव्ये प्रत्याख्यानभेदे, न०। एतच्च प्रथमसंहनिनामेवास्यव्यधायि च। स्था० १० ठा०।

मास मासे अ तवो, अमुगो अमुगदिवसम्मि एवइओ।
हट्ठेण गिलाणेण व, कायव्वो जाव उस्सासो ॥१०॥

मासे मासे च तपः, अमुकोऽमुकदिवसे, एतावत्षष्ठाऽऽदि, हृष्टेन नीरोगेण, ग्लानेन वा अनीरोगेण, कर्तव्यं, यावदुच्छ्वासो यावदायुरिति गाथासमासार्थः ॥१०॥

एअं पच्चक्खाणं, णियंटिअं धीरपुरिसपन्नत्तं।
जं गिण्हंतऽणगारा,अणिस्सिअप्पा अपडिबद्धा ॥११॥

एतत्प्रत्याख्यानमुक्तस्वरूपं,नियन्त्रितं धीरपुरुषप्रज्ञप्तं तीर्थकरगणधरप्ररूपितं, यद् गृह्णन्ति प्रतिपद्यन्तेऽनगाराः साधवः, अनिःसृताऽऽत्मानोऽनिदाना अप्रतिबद्धाः क्षेत्राऽऽदिष्विति गाथासमासार्थः ॥ ११ ॥ आव० ६ अ०।

हट्ठेण गिलाणेण व, अमुगतवोऽमुगदिणम्मि नियमेण।
कायव्वो त्ति णिअंटिअं, पच्चक्खाणं जिणा विंति ॥९५॥

हृष्टेन नीरोगेण,ग्लानेन वा सरोगेण, अमुकं तपः षष्ठाष्टमाऽऽदि, अमुकस्मिन् दिने, नियमेन निश्चयेन, मयेति शेषः। (कायव्वो त्ति) कर्तव्यं, प्राकृतत्वात् पुंसा निर्देशः, नियन्त्रितमिदं प्रत्याख्यानं,जिना ब्रुवते। इदं च प्रत्याख्यानं न सर्वकालं क्रियते,किं तर्हि, नियतकालमेव।

तथा चाऽऽह-

चउदसपुव्विसु जिणक-प्पिएसु पढमम्मि चेव संघयणे।

एअं वोच्छिन्नं चिअ, थेरा वि तया करेसी य ॥७६॥
चतुर्दशपूर्विषु चतुर्दशपूर्वधरेषु जिनकाल्पकेषु, प्रथम एव संहनने वज्रर्षभनाराचाभिधेये,एतन्नियमितप्रत्याख्यानं, व्यवच्छिन्नमेव । अत्राऽऽह-ननु तास्मिन्नपि काले चतुर्दशपूर्वधराऽऽद्य एव कृतवन्तः, स्थविरैस्तु न कृतमेवेदमित्याह--(थेरा वि तया करेसी य) स्थविरा अपि तदा पूर्वधराऽऽदिकाले,अकार्षुः, चशब्दादन्येऽप्यस्थाविराः प्रथमसंहनिन इति । प्रव० ४ द्वार। भ० । आ० चू० । आव० ।

णियंठ-निर्ग्रन्थ-पुं० । निर्गता ग्रन्थात्सबाह्याभ्यन्तरादिति निर्ग्रन्थाः । साधुषु, ते पञ्चधा-पुलाकः, बकुशः, कुशीलः, निर्ग्रन्थः, स्नातकश्चेति । तत्र निर्ग्रन्थः निर्गतो मोहनीयकर्मलक्षणाद् ग्रन्थादिति निर्ग्रन्थः । ध० ३ अधि० । भ० ।(सर्वेऽप्येते 'णिग्गंथ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०२४ पृष्ठे प्रतिपादिताः)

णियंठे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-पढमसमयणियंठे, अपढमसमयणियंठे, चरिमसमयणियंठे, अचरिमसमयणियंठे, अहासुहुमनियंठे णामं पंचमे ॥

" णियंठे " इत्यादि सुगमम् । नवरम् अन्तर्मुहूर्तप्रमाणाया निर्ग्रन्थाद्धायाः प्रथमे समये वर्तमान एकः, शेषेषु द्वितीयः, अन्तिमे तृतीयः, शेषेषु चतुर्थः, सर्वेषु पञ्चम इति विवक्षया भेद एषामिति । स्था० ५ ठा० ३ उ० । दरिद्रे, उत्त० १२ अ० ।

णियंठिपुत्त-निर्ग्रन्थिपुत्र-पुं० । पेढालविद्याधरेण सुज्येष्ठाभिधानायां साध्व्यामुत्पादिते सत्यकौ, स्था० १० ठा० ।

तदुक्तं चेत्थम्-

" सत्यकिः खेचरः कोऽसौ, तदुत्पत्तिर्निगद्यते ॥ (३०)
चेटकस्यैव सुज्येष्ठा, सुताऽऽसीत्प्राव्रजच्च सा ।
उपाश्रयाङ्गणे नित्यं, कायोत्सर्गं दधाति च ॥ ३१ ॥
इतः परिव्राट् पेढालो, विद्यासिद्धो नभश्चरः ।
तनयं ब्रह्मचारिण्याः, विद्या दातुं निरीक्षते ॥ ३२ ॥
कायोत्सर्गस्थितां दृष्ट्वा, सुज्येष्ठां ब्रह्मचारिणीम् ।
कृत्वा स धूमया व्यामोहं, वीर्यं तस्यां न्यवेशयत् ॥ ३३ ॥
जाते गर्भेऽतिशयिभिः, ख्यातमस्या न विक्रिया ।
अथैषत श्राद्धगृहे, तत्सूनुर्वर्धितुं प्रभुम् ॥ ३४ ॥
साध्वीभिः समं यातः, कालसंदीपकस्तदा ।
अप्राक्षीन्मे कुतो भीतिः, साध्व्याख्यत्सत्यकेरितः ॥ ३५ ॥
तत्पार्श्वेऽथ स गत्वोचे, त्वं रे ! मां मारयिष्यसि ? ।
इत्युदित्वा हठाद्दास-पादयोस्तमपातयत् ॥ ३६ ॥
वयस्थोऽथ परिव्राजा, हृत्वा विद्याः स शिक्षितः ।
रोहिणीं साधयन् पञ्च, भवान् स मारितस्तया ॥ ३७ ॥
षष्ठे षण्मासशेषाऽऽयुः, सिद्धयन्तीं तां स नेष्टवान् ।
सप्तमे च भवे तां स, साधनायोपचक्रमे ॥ ३८ ॥
शवं चितास्थं प्रज्वाल्य, तस्योपर्यार्द्रचर्म च ।
विस्तार्य वामाङ्गुष्ठेन, तत्र तज्ज्वलनावधि ॥ ३९ ॥
तस्य संक्रम्यमाणस्य, कालसंदीपकस्तदा ।
चिक्षेपाऽऽगत्य काष्ठानि, सप्तरात्रे गते ततः ॥४०॥
देवता स्वयमेत्योचे, विघ्नमेतस्य मा कृथाः ।
सिद्धाऽस्म्यस्याहमूचे तं, कस्मिन्नङ्गे विशामि ते ?॥ ४१ ॥
ललाटे दर्शयत्येकं, तत्राऽविशत्तत्राभवद्बिलम् ।
सा तुष्टा तद् व्याधाक्षीत्, स त्रिनेत्रोऽथ विश्रुतः ॥ ४२ ॥
धर्षिताऽनेन साध्वीति, पेढालस्तेन मारितः ।
ततो रुद्रोऽभवत्-सोऽभूत्कालं संदीपकं ततः ॥ ४३ ॥
सिषाधयिषु तत्र सोऽनश्य-दूर्ध्वाधः स तमन्वगात् ।
सोऽथो विकृत्य त्रिपुरं, पाताले लावणेऽनशत् ॥ ४४ ॥
दृष्ट्वा तम्मारयित्वा तं, स विद्याचक्रवर्त्यभूत् ।
सर्वांस्तीर्थकृतो नत्वा, त्रिसन्ध्यं नाट्यपूर्वकम् ॥ ४५ ॥
रमते सोऽथ शक्रस्तं, महेश्वराभिधं व्यधात् ।
स विप्रद्वेषतस्तेषां, विध्वंसयति कन्यकाः ॥ ४६ ॥
अन्तःपुरीर्निजभूपानां, स्वस्त्रीभिरिव खेलति ।
तस्य शिष्यद्वयं जज्ञे, नन्दी नन्दीश्वरस्तथा ॥ ४७ ॥
स पुष्पकविमानेन, नभसा सर्वतोऽभ्रमत् ।
अन्यदोज्जयिनीपुर्यां, चण्डप्रद्योतभूभुजः ॥ ४८ ॥
अन्तःपुरं विध्वंसे, शिवां देवीं विनाऽखिलम् ।
सोऽथ दध्यौ विनाश्योऽयं, दुर्धरः खेचरः कथम् ? ॥ ४९ ॥
तत्रैवाऽऽसीदुमा नाम, गणिका रूपशालिनी ।
दृष्ट्वाऽऽयान्तं महेशं सा, धूपं तं प्रत्युदक्षिपत् ॥ ५० ॥
सोऽन्यदाऽऽगतवांस्तत्र,तस्या हस्तेऽम्बुजद्वयम् ।
स्मेरं च मुकुलं चेशः, स्मेरहस्तमवाहयत् (?) ॥ ५१ ॥
मुकुलं साऽर्पयन्त्यूचे, योग्योऽसि त्वममूदृशः ।
न स्मेरकमलप्रायाः, मादृशाः पुनरीक्षसे ॥ ५२ ॥
तद्गिराऽरञ्जितस्तत्र,तया सार्द्धमुवास सः ।
एकान्ते साऽन्यदाऽप्राक्षी-द्विद्याः स्युर्नान्तिके कदा ?॥ ५३ ॥
सोऽवदन्मैथुनाऽऽसक्ते, तया राज्ञो न्यवेद्यत ।
राज्ञोचेऽसौ तदा मार्य-स्त्वं रक्ष्या प्रत्ययाय च ॥ ५४ ॥
पत्र तद्गृहे दत्वा, खड्गेन च्छेदितं भटैः ।
मार्या त्वियमपीत्युक्त्वा, प्रच्छन्नाः स्थापिता भटाः ॥५५॥
मारितस्तैस्तदाऽऽसक्त-स्तया सह स खेचरः ।
ततो नन्दीश्वरस्ताभि-र्विद्याभिः समधिष्ठितः ॥ ५६ ॥
शिलां व्योम्नि विकृत्योचे हा हताश ! हनिष्यसे ।
तमथाऽऽक्षमयद्भीतो, राजाऽऽर्द्रपटशाटकः ॥ ५७ ॥
सोऽवदच्चेदिदं युग्म-मेतद्रूपं पुरे पुरे ।
विधाप्याऽऽयतनेऽर्चये, ततो मुञ्चामि नान्यथा ॥ ५८ ॥
तत्प्रपेदे नरेन्द्रोऽथ, सर्वत्रापि व्यधापयत् ।
तत्प्रासादान्महाच्छाया-नेतयोरपरिरीदृशी" ॥५९॥आ०क०।
स चोत्सर्पिण्यां जगत्प्रदीपो नाम तीर्थकरो भविष्यति ।
प्रव० ३६ द्वार । वीरजिनाऽनगारभेदे, भ० ।

स च नारदपुत्रेण पृष्टः पुद्गलान् व्याकरोदित्युक्तम्-

तेणं कालेणं तेणं समएणं० जाव परिसा पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी णारयपुत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स० जाव अंतेवासी नियंठिपुत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विहरइ । तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे जेणामेव नारयपुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासी-सव्वे पोग्गला ते अज्जो ! किं सअड्ढा, समज्झा, सपएसा ?, उदाहु-अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा ?। अज्जो ! त्ति

नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं एवं वयासी–सव्वे पोग्गला मे अज्जो ! सअड्ढा, समज्झा, सपएसा; नो अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा । तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासी–जइ णं ते अज्जो ! सव्वे पोग्गला सअड्ढा, समज्झा, सपएसा, नो अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा । किं दव्वादेसेणं अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा, समज्झा, सपएसा; नो अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा । खेत्तादेसेणं अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा० तहेव चेव; कालादेसेणं तं चेव, भावादेसेणं अज्जो ! तं चेव । तए णं से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं एवं वयासी–दव्वादेसेण वि मे अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा, समज्झा, सपएसा; नो अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा । खेत्ताएसेण वि, कालाएसेण वि, भावाएसेण वि । तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासी–जइ णं अज्जो ! दव्वाएसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढा, समज्झा, सपएसा; नो अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा । एवं ते परमाणुपोग्गले वि सअड्ढे, समज्झे, सपएसे; णो अणड्ढे, अमज्झे, अपएसे । जइ णं अज्जो ! खेत्ताएसेण वि सव्वपोग्गला सअड्ढा, समज्झा, सपएसा० जाव एवं ते एगपएसोगाढे वि पोग्गले सअड्ढे, समज्झे, सपएसे । जइ णं अज्जो ! कालाएसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढा, समज्झा, सपएसा । एवं ते एगसमयट्ठिइए वि पोग्गले सअड्ढे, समज्झे, सपएसे । तं चेव जइ णं अज्जो ! भावाएसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढे २, एवं एगगुणकालए वि पोग्गले सअड्ढे २ तं चेव, अह ते एवं न भवंति, तो जं वयसि दव्वाएसेण वि सव्वपोग्गला सअड्ढा, समज्झा, सपएसा; नो अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा । एवं खेत्ताएसेण वि, कालाएसेण वि, भावाएसेण वि । तं णं मिच्छा । तए णं से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं एवं वयासी–नो खलु एयं देवाणुप्पिया ! एयमट्ठं जाणामो, पासामो । जइ णं देवाणुप्पिया ! नो गिलायंति परिकहित्तए, तं इच्छामि णं देवाणुप्पियाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म जाणित्तए । तए णं से णियंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासी–दव्वाएसेण वि अज्जो ! सव्वपोग्गला सपएसा वि, अपएसा वि अणंता; खेत्ताएसेण वि एवं चेव, कालाएसेण वि, भावाएसेण वि एवं चेव ॥

(दव्वादेसेणं ति) द्रव्यप्रकारेण, द्रव्यत इत्यर्थः । परमाणुत्वाऽऽद्याश्रित्येति यावत् । (खेत्तादेसेणं ति) एकप्रदेशावगाढत्वाऽऽदिनेत्यर्थः । (कालादेसेणं ति) एकाऽऽदिसमयस्थितिकत्वेन । (भावादेसेणं ति) एकगुणकालकत्वाऽऽदिना । (सव्वपोग्गला सपएसा वीत्यादि) इह च यत्सविपर्ययसार्द्धाऽऽदिपुद्गलविचारे प्रक्रान्ते सप्रदेशा अप्रदेशा एव ते प्ररूपिताः, तत्तेषां प्ररूपणे सार्द्धत्वाऽऽदि प्ररूपितमेव भवतीति कृत्वेत्यवसेयम् । तथाहि-सप्रदेशाः सार्द्धाः, समध्या वा । इतरे त्वनर्द्धाः, अमध्याश्चेति । (अणंत त्ति) तत्परिमाणज्ञापनपरं तत्स्वरूपाभिधानम् ।

अथ द्रव्यतोऽप्रदेशस्य क्षेत्राऽऽद्याश्रित्याप्रदेशाऽऽदित्वं निरूपयन्नाह–

जे दव्वओ अपएसे से खेत्तओ नियमा अपएसे; कालओ सिय सपएसे, सिय अपएसे; भावओ सिय सपएसे, सिय अपएसे ।

(जे दव्वओ अपएसे इत्यादि) यो द्रव्यतोऽप्रदेशः परमाणुः, स च क्षेत्रतो नियमादप्रदेशो, यस्मादसौ क्षेत्रस्यैकत्रैव प्रदेशेऽवगाहते, प्रदेशद्वयाऽऽद्यवगाहे तु तस्याप्रदेशत्वमेव न स्यात् । कालतस्तु यद्यसावेकसमयस्थितिकस्तदाऽप्रदेशोऽनेकसमयस्थितिकस्तु सप्रदेश इति । भावतः पुनर्यद्येकगुणकालकाऽऽदिस्तदाऽप्रदेशो, द्विगुणकालकाऽऽदिस्तु सप्रदेश इति निरूपितो द्रव्यतोऽप्रदेशः ।

अथ क्षेत्रतोऽप्रदेशं निरूपयन्नाह–

जे खेत्तओ अपएसे–से दव्वओ सिय सपएसे, सिय अपएसे; कालओ भयणाए, भावओ भयणाए, जहा खेत्तओ एवं कालओ, भावओ । जे दव्वओ सपएसे–से खेत्तओ सिय सपएसे, सिय अपएसे । एवं कालओ, भावओ वि । जे खेत्तओ सपएसे–से दव्वओ नियमा सपएसे, कालओ भयणाए, भावओ भयणाए, जहा दव्वओ तहा कालओ, भावओ वि ।

(जे खेत्तओ अपएसे इत्यादि) यः क्षेत्रतोऽप्रदेशः स द्रव्यतः स्यात्सप्रदेशः, द्व्यणुकाऽऽदेरप्येकप्रदेशावगाहित्वात् । स्यादप्रदेशः, परमाणोरप्येकप्रदेशावगाहित्वात् । (कालओ भयणाए त्ति) क्षेत्रतोऽप्रदेशो यः स कालतो भजनया अप्रदेशाऽऽदिर्वाच्यः । तथाहि–एकप्रदेशावगाढ एकसमयस्थितिकत्वादप्रदेशोऽपि स्यादनेकसमयस्थितिकत्वाच्च सप्रदेशोऽपि स्यादिति । (भावओ भयणाए त्ति) क्षेत्रतोऽप्रदेशो योऽसावेकगुणकालकाऽऽदित्वादप्रदेशोऽपि स्यादनेकगुणकालकाऽऽदित्वाच्च सप्रदेशोऽपि स्यादिति । अथ कालाप्रदेशं, भावाप्रदेशं च निरूपयन्नाह–(जहा खेत्तओ. एवं कालओ, भावओ त्ति) यथा क्षेत्रतोऽप्रदेश उक्तः, एवं कालतो भावतश्चासौ वाच्यः । तथाहि–(जे कालओ अपएसे, से दव्वओ सिय सपएसे, सिय अपएसे) एवं क्षेत्रतो, भावतश्च । तथा–(जे भावओ अपएसे से दव्वओ सिय सपएसे, सिय अपएसे) एवं क्षेत्रतः, कालतश्चेति । उक्तोऽप्रदेशः । अथ सप्रदेशमाह–(जे दव्वओ सपएसे इत्यादि) अयमर्थः यो द्रव्यतो द्व्यणुकाऽऽदित्वेन सप्रदेशः, स क्षेत्रतः स्यात्सप्रदेशो द्व्यादिप्रदेशावगाहित्वात्, स्यादप्रदेश एकप्रदेशावगाहित्वात् । एवं कालतो, भावतश्च । तथा–यः क्षेत्रतः सप्रदेशो द्व्यादिप्रदेशावगाहित्वात् स द्रव्यतः सप्रदेश एव, द्रव्यतोऽप्रदेशस्य द्विप्रदेशावगाहासम्भवात् । कालतो, भावतश्चासौ द्विधाऽपि स्यादिति । तथा यः कालतः सप्रदेशः, स द्रव्यतः, क्षेत्रतो, भावतश्च द्विधाऽपि स्यात् । तथा यो भावतः सप्रदेशः, स द्रव्यक्षेत्रकालैर्द्विधाऽपि स्यादिति सप्रदेशसूत्राणां भावार्थ इति ।

अथैषामेव द्रव्याऽऽदितः सप्रदेशाप्रदेशानामल्पबहुत्वविभाग-माह—

एएसि णं भंते ! पोग्गलाणं दव्वादेसेणं खेत्तादेसेणं कालादेसेणं भावादेसेणं सपएसाणं अपएसाण य कयरे कयरे अप्पा वा, बहुया वा, तुल्ला वा, विसेसाहिया वा ?। नारयपुत्ता ! सव्वत्थो[illegible] पोग्गला भावादेसेणं अपएसा, कालादेसेणं अपएसा असंखे[illegible]गुणा; दव्वादेसेणं अपएसा असंखेज्जगुणा; खेत्तादेसेणं अपएसा [illegible] असंखेज्जगुणा, खेत्तादेसेणं चेव सपएसा असंखेज्जगुणा; दव्वादे[illegible]सेणं सपएसा विसेसाहिया; कालादेसेणं सपएसा विसेसाहिया; [illegible]सेणं सपएसा विसेसाहिया। तए णं से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेइ, खामेइत्ता संजमेणं० जाव विहरइ ॥

" एएसि णं" इत्यादि सूत्रसिद्धं, नवरम् अस्यैव सूत्रोक्ताल्पबहुत्वस्य भावनार्थं गाथाप्रपञ्चो वृद्धोक्तोऽभिधीयते-

" वोच्छं अप्पाबहुयं, दव्वे खेत्तऽद्धभावओ यावि ।
अपएससप्पएसा-ण पोग्गलाणं समासेणं ॥ १ ॥
दव्वेणं परमाणू, खेत्तेणेगप्पएसमोगाढा ।
कालेणेगसमइया, अपएसा पोग्गला होंति ॥ २ ॥
भावेणं अपएसा, एगगुणा जे हवंति वण्णाई ।
ते चिय थोवा जं गुण-बाहुल्लं पायसो दव्वे " ॥ ३ ॥

वर्णाऽऽदिभिरित्यर्थः ।

द्रव्ये प्रायेण द्व्यादिगुणा अनन्तगुणान्ताः कालकत्वाऽऽदयो भवन्ति, एकगुणकालकाऽऽदयस्त्वल्पा इति भावः।

"एत्तो कालाएसे-ण अप्पएसा भवे असंखगुणा ।
किं कारणं पुण भवे, भण्णइ परिणामबाहुल्ला ? " ॥ ४ ॥

अयमर्थः-यो हि यस्मिन् समये यद्वर्णगन्धरसस्पर्शसङ्घातभेदसूक्ष्मत्वबादरत्वाऽऽदिपरिणामान्तरमापन्नः, स तस्मिन् समये तदपेक्षया कालतोऽप्रदेश उच्यते । तत्रैवैकसमयस्थितिरित्यन्ये, परिणामाश्च बहव इति प्रतिपरिणामं कालाप्रदेशसम्भवात्तद्बहुत्वमिति ।

एतदेव भाव्यते-

" भावेणं अपएसा, जे ते कालेण होंति दुविहा वि ।
दुगुणाऽऽइओ वि एवं, भावेणं जावऽणंतगुणा " ॥ ५ ॥

भावतो येऽप्रदेशा एकगुणकालकत्वाऽऽदयो भवन्ति, ते कालतो द्विविधा अपि भवन्ति; सप्रदेशाः, अप्रदेशाश्चेत्यर्थः । तथा भावेन द्विगुणाऽऽदयोऽपि अनन्तगुणान्ता एवमिति द्विविधा भवन्ति ।

ततश्च-

" कालप्पएसयाणं, एवं एक्केक्कओ भवइ रासी ।
एक्केक्कगुणट्ठाण-म्मि एगगुणकालयाईसु " ॥ ६ ॥

एकगुणकालकाऽऽदिषु गुणस्थानकेषु मध्ये एकैकस्मिन् गुणस्थानके कालाप्रदेशानामेकैको राशिर्भवति । ततश्चानन्तत्वाद् गुणस्थानकराशीनामनन्ता एव कालाप्रदेशराशयो भवन्ति ।

अथ प्रेरकः--

" आहाऽणंतगुणत्तण-मेवं कालापएसयाणं ति ।
जमणंतगुणट्ठाणे-सु होंति रासी वि हु अणंता " ॥ ७ ॥

(एवमिति) यदि प्रतिगुणस्थानकं कालाप्रदेशराशयोऽभिधीयन्त इति ।

अत्रोत्तरम्-

" भण्णति एगगुणाण वि, अणंतभागम्मि जं अणंतगुणा ।
तेणासंखगुण च्चिय, भवंति नाणत्तगुणियत्तं " ॥ ८ ॥

अयमभिप्रायः-यद्यप्यनन्तगुणकालत्वाऽऽदीनामनन्ता राशयस्तथाऽप्येकगुणकालत्वाऽऽदीनामनन्तभाग एव ते वर्तन्त इति, न तद्द्वारेण कालाप्रदेशानामनन्तगुणत्वम्, अपि त्वसङ्ख्यातगुणत्वमेवेति ।

" एवं ता भावमिणं, पडुच्च कालापएसया सिद्धा ।
परमाणुपोग्गलाइसु, दव्वे वि हु एस चेव गमो " ॥ ९ ॥

एवं तावद्भावं वर्णाऽऽदिपरिणाममिममुक्तरूपमेकाऽऽद्यनन्तगुणस्थानिव[illegible] । प्रतीत्य कालाप्रदेशकाः पुद्गलाः सिद्धाः कालाप्रदेशभावाः पुद्गलाः सिद्धाः प्र[illegible] द्रव्येऽपि द्रव्यपरिणाममप्यङ्गीकृत्य परमाण्वादिष्वेक एव भावपरिणामोक्त एव गमः । व्याख्या-

" एमेव होइ खेत्ते, एगपएसाऽवगाहणाईसु ।
ठाणंतरसंकंतिं, पडुच्च कालेण मग्गणया " ॥ १० ॥

एवमेव द्रव्यपरिणामवद्भवति, क्षेत्रे क्षेत्रमधिकृत्य, एकप्रदेशावगाढाऽऽदिषु पुद्गलभेदेषु स्थानान्तरगमनं प्रतीत्य कालेन कालाप्रदेशानां मार्गणा, यथा क्षेत्रत एवमवगाहनाऽऽदितोऽपीत्येतदुच्यते ।

"संकोय विकोयं पि हु, पडुच्च ओगाहणाइ एमेव ।
तह सुहुमबायरथिरे-यरेयसद्दाइपरिणामं " ॥ ११ ॥

अवगाहनायाः सङ्कोचं विकोचं च प्रतीत्य कालाप्रदेशाः स्युः । तथा सूक्ष्मबादरस्थिरास्थिरशब्दमनःकर्माऽऽदिपरिणामं च प्रतीत्येति ।

" एवं जो सव्वो च्चिय, परिणामो पोग्गलाण इह समए ।
तं तं पडुच्च एसिं, कालेणं अप्पएसत्तं " ॥ १२ ॥

(एसिं ति) पुद्गलानामित्यर्थः ।

"कालेण अप्पएसा, एवं भावा पएसएहिंतो ।
होंति असंखेज्जगुणा, सिद्धा परिणामबाहुल्ला ॥ १३ ॥
एत्तो दव्वादेसे-ण अप्पएसा हवंति संखगुणा ।
के पुण ते परमाणू, कह ते बहुय त्ति तं सुणसु ? ॥ १४ ॥
अणुसंखेज्जपएसिय, असंखऽणंतप्पएसिया चेव ।
चउरो च्चिय रासी पो-ग्गलाण लोए अणंताणं ॥ १५ ॥
तत्थाऽणंतेहिंतो, सुत्तेणं सप्पएसिएहिंतो ।
जेण पएसट्ठाए, भणिया अणवो अणंतगुणा " ॥ १६ ॥

अनन्तेभ्योऽनन्तप्रदेशिकस्कन्धेभ्यः प्रदेशार्थतया परमाणवोऽनन्तगुणाः सूत्रे उक्ताः । सूत्रं चेदम्-" सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए ते चेव, पएसट्ठयाए अणंतगुणा, परमाणुपोग्गला दव्वट्ठपएसट्ठयाए अणंतगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुण त्ति ।"

" संखेज्जइमे भागे, संखेज्जपएसिया ण वट्टंति ।
नवरमसंखेज्जपए-सियाण भागे असंखइमे " ॥ १७ ॥

संख्येयतमे भागे संख्यातप्रदेशिकानामसंख्येयतमे भागे संख्यातप्रदेशिकानामणवो वर्तन्ते, उक्तसूत्रप्रामाण्यादिति ।

" जइवि य संखेज्जपए-सियाण तेसिं असंखभागत्ते ।
बाहुल्लं साहिज्जइ, कुरुमवसेसाहि रासीहि " ॥ १८ ॥

संख्यातप्रदेशिकानन्तप्रदेशिकाऽभिधानाभ्यामिह च संख्यातप्रदेशिकराशेः संख्यातभागवर्त्तित्वात्तेषां स्वरूपतो बहुत्वमवगम्यते, अन्यथा तस्यासंख्येयभागेऽनन्तभागे वा तेऽनभिप्रेता इति ।

"अणेगरासिणो चिय, असंखभागे न सेसरासीणं ।
तेयासंखेज्जगुणा, भणवो कालापएसेहिं" ॥ १९ ॥

न शेषराश्योरित्यस्यायमर्थः-अनन्तप्रदेशिकराशेरनन्तगुणास्ते, संख्यातप्रदेशिकराशेस्तु संख्यातभागे संख्यातभागस्य च विवक्षया अत्यन्तमल्पताऽतः कालतः सप्रदेशेष्वप्रदेशेषु च वृत्तिमतामणूनां बहुत्वात्कालाप्रदेशानां च सामायिकत्वेनात्यन्तमल्पत्वात्कालाप्रदेशेभ्योऽसंख्यातगुणत्वं द्रव्याप्रदेशानामिति ।

" एत्तो असंखगुणिया, हवंति खेत्ता पएसया समए ।
जं ते ता सव्वे च्चिय, अपएसा खेत्तओ अणवो ॥ २० ॥
दुपएसियाइएसु वि, पएसपरिवड्ढिएसु ठाणेसु ।
लब्भइ एक्केक्को च्चिय, रासी खेत्तापएसाणं ॥ २१ ॥
एत्तो खेत्तापसे-ण चेव सपएसया असंखगुणा ।
एगपएसोगाढे, मोत्तुं सेसावगाहणया ॥ २२ ॥
ते पुण दुपएसोगा-हणाइया सव्वपोग्गला सेसा ।
ते य असंखेज्जगुणा, अवगाहणठाणबाहुल्ला ॥ २३ ॥
दव्वेण होंति एत्तो, सपएसा पोग्गला विसेसहिया ।
कालेण य भावेण य, एमेव भवे विसेसहिया ॥ २४ ॥
भावाईया वुड्ढी, असंखगुणिया उ अप्पएसाणं ।
तो सप्पएसियाणं, खेत्ताइविसेसपरिवुड्ढी " ॥ २५ ॥

एतद्भावना च वक्ष्यमाणस्थापनातोऽवसेया ।

"मीसाण संकमं पइ, सपएसा खेत्तओ असंखगुणा ।
भणिया सट्ठाणे पुण, थोव च्चिय ते गहेयव्वा" ॥ २६ ॥

मिश्राणामित्यप्रदेशसप्रदेशानां मीलितानां संक्रमं प्रति अप्रदेशेभ्यः सप्रदेशेष्वल्पबहुत्वविचारसंक्रमे क्षेत्रतः सप्रदेशाः असंख्येयगुणाः, क्षेत्रतोऽप्रदेशेभ्यः सकाशात् स्वस्थाने पुनः केवलसप्रदेशचिन्तायां स्तोका एव ते क्षेत्रतः सप्रदेशा इति ।

एतदेवोच्यते-

" खेत्तेण सप्पएसा, थोवा दव्वद्धभावओ अहिया ।
सपएसऽप्पाबहुयं, सट्ठाणे अत्थओ एवं " ॥ २७ ॥

अर्थत इति व्याख्यानापेक्षया ।

" पढमं अपएसाणं, बीयं पुण होइ सप्पएसाणं ।
तइयं पुण मीसाणं, अप्पबहु अत्थओ तिन्नि " ॥ २८ ॥

अर्थतो व्याख्यानद्वारेण त्रीण्यल्पबहुत्वानि भवन्ति । सूत्रे त्वेकमेव मिश्राल्पबहुत्वमुक्तमिति ।

" ठाणे ठाणे वड्ढइ, भावाईणं अपप्पएसाणं ।
तं चिय भावाईणं, परिहायइ सप्पएसाणं " ॥ २९ ॥

यथा किल कल्पनया लक्षं समस्तपुद्गलाः, तेषु भावकालद्रव्यक्षेत्रतोऽप्रदेशाः क्रमेण एकद्विपञ्चदशसहस्रसङ्ख्याः, सप्रदेशास्तु नवनवत्यष्टनवतिपञ्चनवतिनवतिसहस्रसङ्ख्याः, तत्र भावाप्रदेशेभ्यः कालाप्रदेशेषु सहस्रं वर्द्धते, तदेवं भावसप्रदेशेभ्यः कालसप्रदेशेषु हीयत इत्येवमन्यत्रापीति ।

"अहवा खेत्ताईणं, अपप्पएसाण हायए कमसो ।
तं चिय खेत्ताईणं, परिवड्ढइ सप्पएसाणं ॥ ३० ॥
अवरोप्परप्पसिद्धा, वुड्ढी हाणी य होइ दोण्हं पि ।
अपएससप्पएसा-ण पोग्गलाणं इय लक्खणओ ॥ ३१ ॥
ते चेव य ते चउहिं वि, अणुवत्तिज्जंति पोग्गला दुविहा ।
तेण उ वुड्ढी हाणी, तेसिं अन्नोन्नसंसिद्धा ॥ ३२ ॥ "

चतुर्भिरिति भावकालाऽऽदिभिरुपचयैरन्त इति विशेष्यन्ते ।

" एएसिं रासीणं, निदरिसणम्मि णं भणामि पच्चक्खं ।
बुद्धीए सव्वपोग्गल, जावं ताव्वाण लक्खाओ" ॥ ३३ ॥

कल्पनया यावन्तः सर्वपुद्गलास्तावन्तो लक्षा इति ।

" एक्कं च दो य पंच य, दस य सहस्साइँ अप्पएसाणं ।
भावाईणं कमसो, चउण्ह वि जहोवइट्ठाणं ॥ ३४ ॥
णउई पंचाणउई, अट्ठाणउई तहेव नवनउई ।
एवइयाइ सहस्सा-इँ सप्पएसाण विवरीयं ॥ ३५ ॥
एएसिं जहसंभव-मत्थोवणयं करिज्ज रासीणं ।
सब्भावओ य आदे-ज्ज ते अणंत जिणाभिहिए " ॥ ३६ ॥
भ० ५ श० ८ उ० ।

णियंठिया-नैर्ग्रन्थिकी-स्त्री० । निर्ग्रन्थो भगवाँस्तस्येयं नैर्ग्रन्थिकी । तीर्थकरकृतायाम, "जं उच्चं तत्थ वत्तव्वं, एसा आणा णियंठिया ।" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । टी० ।

णियंसण-निवसन-न० । परिधाने, औ० । उत्त० । जीवा० ।

णियंसणा-निदर्शना-स्त्री० । "अभवद्वस्तुसंबन्ध उपमा परिकल्पिता,निदर्शना" इति मम्मटोक्ते,असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिलक्षणे वा अर्थालङ्कारभेदे, प्रति० ।

णियंसित्ता-न्युष्य-अव्य० । परिधायेत्यर्थे, " देवदूसजुगलं नियंसित्ता अग्गेहिं वरेहि य मल्लेहि य अच्चेइ । " जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० ।

णियग-निजक-पुं० । स्वकीये पुत्राऽऽदौ, पञ्चा० १० विव० । नि० । स्वजने, नि० चू० ४ उ० । आत्मीये बान्धवे, सुहृदि च । आ० चा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

णियगपरिवाल-निजकपरिवार-पुं० । आत्मीयपरिवारे, "णियगपरिवालेण सद्धिं संपरिवुडे ।" रा० । औ० ।

णियच्छइत्ता-नियम्य-अव्य० । अवश्यतया प्राप्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । निश्चयेनावधार्य गुरुत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

णियजोगपवित्ति-निजयोगप्रवृत्ति-स्त्री० । आत्मीयमनःप्रवृत्तौ, "अत्थे णियजोगपवित्तीओ य ।" निजयोगानामाचार्यसत्कमनःप्रभृतीनां प्रवृत्तिः प्रवर्त्तनं निजयोगप्रवृत्तिः । पञ्चा० ४ विव० ।

णियट्टपगइअहिगार-निवृत्तप्रकृत्यधिकार-पुं० । आधिधार्मिके बोधिसत्त्वे, ध० १ अधि० ।

णियट्टमाण-निवर्त्तमान-त्रि० । व्यावर्त्तमाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

णियट्टि-निवृत्ति-स्त्री० । 'वृतु' वर्त्तने इत्यस्य निपूर्वस्य क्तिनि निवर्त्तनं निवृत्तिः । त्यागे, प्रतिक्रमणे, आव० ।

सा च षोढा । यत आह-

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।

एसो अ णियट्टीए, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥

तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यनिवृत्तिस्तापसाऽऽदीनां हलकृ-
षाऽऽदिनिवृत्तिरित्याद्यखिलो भावार्थः स्वबुद्ध्या वक्तव्यो,भावप्र-
शस्तभावनिवृत्त्येहाधिकारः। आव० ४ अ०। भावनिवृत्तिः प्र-
तिक्रमणम्। आ० चू० १ अ०। आ० म० ।

इदानीं निवृत्तौ दृष्टान्तः-

"एकत्र नगरे शाला-पतिः शालासु तस्य च ।
धूर्ता वसन्ति तेष्वेको, धूर्तो मधुरगीः सदा ॥१॥
कुविन्दस्य सुता तस्य, तेन सार्द्धमयुज्यत ।
तेनोचे साऽथ नश्यामो, यावद्वेत्ति न कश्चन ॥२॥
तयोचे मे वयस्याऽस्ति, राजपुत्री तया समम् ।
संकेतोऽस्ति यथा द्वाभ्यां, पतिरेकः करिष्यते ॥३॥
तामप्यानय तेनोचे, साऽथ तामप्यचालयत् ।
तदा प्रत्यूषे महानि, गीतं केनचनाऽप्यदः ॥४॥"
"जइ फुल्ला कणिआरया, चूअय ! अहिमासयम्मि घुट्ठम्मि ।
तुह न खमं फुल्लेउं, जइ पच्चंता करिंति डमराइं * ॥१॥"
श्रुत्वैवं राजकन्या सा, दध्यौ चूतमहानकः ।
उपालब्धो वसन्तेन, कर्णिकारोऽधमस्तकः ॥ ५ ॥
पुष्पितो यदि किं युक्तं, तवोत्तम ! ततस्तथा ।
अधिमासघोषणा किं, न श्रुतेत्यस्य गीः शुभा ॥ ६ ॥
चेत्कुविन्दी करोत्येवं, कर्त्तव्यं किं मयाऽपि तत् ?।
निवृत्ता सा मिषाद्रत्न-करण्डो मेऽस्ति विस्मृतः ॥ ७ ॥
राजसूः कोऽपि तत्राऽस्ति, गोत्रजैर्व्यासितो निजैः ।
ततस्तं शरणीचक्रे, प्रदत्ता तेन तस्य सा ॥ ८ ॥
तेन श्वशुरसाहाय्या-द्विर्जित्य निजगोत्रजान् ।
पुनर्लेभे निजं राज्यं, पट्टराज्ञी बभूव सा ॥ ९ ॥
निवृत्तिर्द्रव्यतोऽभाणि, भावे चोपनयः पुनः ।
कन्यास्थानीया मुनयो, विषया धूर्त्तसंनिभाः ॥ १० ॥
यो गीतिगानाऽऽचार्योप-देशात्तेभ्यो निवर्त्तते ।
सुगतेर्भाजनं स स्याद्, दुर्गतेस्त्वपरः पुनः" ॥ ११ ॥
"द्वितीयोऽप्यत्र दृष्टान्तो, द्रव्यभावनिवर्त्तने ।
कस्मिंश्चिद् गच्छे यदा साधुः, क्रमो ग्रहणधारणे ॥ १ ॥
इत्याचार्याः पाठयन्ति, तदादरपरायणाः ।
सोऽन्यदोदितदुःकर्मा, निर्गच्छामीति निःसृतः ॥ २ ॥
तदा च तरुणाः शूराः, साभिमानमिदं जगुः ।
मङ्गलार्थं च तत्साधुः, सोपयोगः स शुश्रुवान्" ॥ ३ ॥
"तरिअव्वा य पइण्णिआ, मरिअव्वं वा समरे समत्थएणं ।
असरिसजणउल्लावा, न हु सहिअव्वा कुलपसूएणं" ॥ १ ॥

सूक्तं चैतत्केनाप्युक्तम्-

"लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवार्या-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाः ।
तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति,
सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम्" ॥ १ ॥

गीत्यर्थकथायम्-

स्वामिसंमानिताः केऽपि, सुभटाः प्रासकीर्त्तयः ।
रणाक्रान्ताः प्रणश्यन्तो, निजपक्षयशोऽर्थिनः ॥ २ ॥
ऊचिरे केनचिन्नैवं, नष्टाः शोभिष्यथ क्वचित् ।
ततः प्रतिनिवृत्तास्ते, परानीकमजञ्जयन् ॥ ३ ॥
प्रभुसंमानितास्तेऽथ, शोभन्ते स्म समन्ततः ।
एवं गीतार्थमाकर्ण्य, साधुरेवं व्यचिन्तयत् ॥ ४ ॥
रणस्थानीया प्रव्रज्या, भग्नोऽहं विदितोऽधुना ।
भ्रष्टोऽयमिति हीलिष्ये, जनैरसदृशैरपि ॥ ५ ॥
ततः प्रतिनिवृत्तोऽभूद्, दृढधर्मा विशेषतः ।
आलोचितप्रतिक्रान्तो, गुरोरिच्छामपूरयत्" ॥ ६ ॥

आ० क० आव० । आचा० । आ० चू० । समकालप्रतिप-
न्नानां जीवानामध्यवसायभेदे, स० १४ सम० । क्षीणमोहाव-
स्थायाम्, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

णियट्टिबायर-निवृत्तिबादर-पुं० । निवृत्तिप्रधानो बादरो बा-
दरसंपरायो निवृत्तिबादरः । स० १४ सम० । क्षपकश्रेण्यन्त-
र्गते क्षीणदर्शनसप्तके अपूर्वकरणाऽऽख्यसप्तमगुणस्थानवर्तिनि
जीवग्रामे, आव० ४ अ० । "इदाणिं नियट्टी—जदा जीवो
मोहणिज्जं कम्मं खवेति वा, उवसमेति वा, तदा अप्प-
मत्तसंजतस्स अणंतरपमत्ततरेसु अज्झवसाणठाणेसु वट्ट-
माणो दंसणमोहणिज्जे कम्मे खविंते, उवसामिते वा० जाव
हासरतिअरतिसोगभयदुगुंछाणं उदयवोच्छेदो न भवति,
ताव सो भगवं अणगारो अंतोमुहुत्तकालं नियट्टि त्ति भवति॥"
आ० चू० ४ अ० । कर्म० । ("अपुव्वकरण" शब्दे प्रथमभागे
६११ पृष्ठे विस्तर उक्तः)

णियडि-निकृति-स्त्री० । निनरां करणं निकृतिः । आदरकर-
णेन परवञ्चने, पूर्वकृतमायाप्रच्छादनार्थे मायान्तरकरणे, भ०
१२ श० ५ उ० । प्रश्न० । आव० । स० । आकारवचनाऽऽच्छा-
दने, व्य० ४ उ० । वञ्चनया कुक्कुचाऽऽदिकरणेन वञ्चनप्रधान-
वणिक्श्रोत्रियसाधुव्याकारेण परवञ्चनार्थं गलकर्त्तकानामिवाव-
स्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । दशा० । आ० म० । ज्ञा० । स्था० ।
सं० । वञ्चनया कुक्कुचाऽऽदिकरणे, अधिकोपचारकरणेन
परच्छलने, (इत्यन्ये) मायाप्रच्छादनार्थं मायान्तरकरणे,
(इत्यपरे) ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । मायायाम्, आव० ५
अ० । सूत्र० । व्य० । दशा० ।

णियडिपन्ना-निकृतिप्रज्ञा-स्त्री० । निकृतिर्वञ्चनार्थं चेष्टा,माया-
प्रच्छादनार्थं मायान्तरमित्येके । अत्यादरकरणेन परवञ्चनमि-
त्यन्ये । तद्युक्ता । भ० ८ श० ९ उ० । निकृतिश्च वञ्चनार्थं काय-
चेष्टाऽऽद्यन्यथाकरणलक्षणाऽभ्युपचारलक्षणं वा, तद्युक्ता । निकृतौ,
स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णियडिमार-निकृतिसार-त्रि० । मायाप्रधाने, पं० व० ३ द्वार ।

णियण-निदान-न० । निर्दलने, "नियणाइसुणणमद्दण-बा-
वारे बहुविहे दिया काउं ।" वृ० १ उ० ।

णियणिय-निजनिज-त्रि० । स्वकीयस्वकीये, पञ्चा० २ विव० ।

णियणियकाल-निजनिजकाल-पुं० । आत्मीयाऽऽत्मीयकाले,
पं० व० १ द्वार ।

णियणियतित्थ-निजनिजतीर्थ-न० । स्वकीयस्वकीयप्रवचना-
वसरे, पञ्चा० ६ विव० ।

णियत-नियत-त्रि० । निश्चिते, विशे० । सूत्र० । दश० । प्रति-
नियतस्वरूपे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । परिच्छिन्ने, आव० ५

* न क्षमं न युक्तं, प्रत्यन्ता नीचकाः, डमराणि विप्लवरूपाणि,
शेषं स्पष्टम् ।

अ० । परिमिते, विशे० । शाश्वते, आव० ४ अ० । एकरूपत्वात् (स्था० ५ ठा० ३ उ०) शाश्वतत्वात् सर्वकालमवस्थिते, अं० ४ वक्ष० ।

णियत्त–निवृत्त–त्रि० । अपरते, " परिग्गहारंभनियत्तदोसा । " उत्त० १४ अ० । " निवृत्ता जीवितास्तेऽत्र, सर्वेऽप्यन्ये पुनर्मृताः । (५) " आ० क० ।

णियत्तण–निवर्तन–न० । भूमिपरिमाणविशेषे, उत्त० १ अ० । आगमने, आव० ४ अ० ।

णियत्तणसयय–निवर्तनशतक–न० । निवर्तनं भूमिपरिणामविशेषो देशविशेषप्रसिद्धः, ततो निवर्तनशतं कर्षणीयत्वेन यस्याऽस्ति तन्निवर्तनशतकम् । निवर्तनशतकर्षके हले, " पंचहिं हलसएहिं णियत्तणसयएणं हलेणं अवसेसं खेत्तवत्थुं पच्चक्खामि । " उपा० १ अ० ।

णियत्तणिय–निवर्तनिक–न० । निवर्तनं क्षेत्रमानविशेषः, तत्परिमाणं निवर्तनिकम् । निवर्तनमाने, निजतनुप्रमाणे, (इत्यन्ये) " णियत्तणियमंडलं आलिहेत्ता संलेहणाभूसणाभूसियस्स । " भ० ३ श० १ उ० ।

णियत्तभाव–निवृत्तभाव–त्रि० । निवृत्तपरिणामे अशुभाध्यवसाये, " सुहुमो वि कम्मबंधो, न होइ उ नियत्तभावस्स । " व्य० ४ उ० ।

णियत्तमाण–निवर्तमान–त्रि० । प्रत्यावर्तने, " गुरुणा नियत्तमाणे ।' व्य० १ उ० ।

नियत्ति–निवृत्ति–स्त्री० । निवर्तने, " असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ।" उत्त० ३१ अ० ।

णियत्थ–निवसित–त्रि० । परिहिते, आ० म०१ अ० २ खण्ड ।

णियदोसपच्चणीय–निजदोषप्रत्यनीक–त्रि० । स्वकीयरागाऽऽदिदूषणप्रतिपक्षे, पञ्चा० १० विव० ।

णियद्दिय–न्यर्दित–त्रि० । नितरामर्दिते, अनुगते, " अहुनियद्दियचित्ता । " औ० । सू० प्र० ।

णियबुद्धि–निजबुद्धि–स्त्री० । स्वकीयधियाम्, पञ्चा० १० विव० ।

णियम–नियम–पुं० । नियमनं नियमः । दर्श० ४ तत्त्व । अभिग्रहे, निरोधे, पं० चू० । व्रते, संथा० । अभिग्रहविशेषे, संथा० । पञ्चा० । द्वा० । औ० । द्रव्यक्षेत्रकालभावेनाभिग्रहग्रहणे, उपा० ७ अ० । संथा० । महाव्रताऽऽदिरूपे, (सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०) विरमणे, संथा० । आ० म० । पिण्डविशुद्ध्यादिके उत्तरगुणे, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार । स० । शौचाऽऽदिके योगिपरिभाषितेऽर्थे, द्वा० ।

नियमाः शौचसन्तोषौ, स्वाध्यायतपसी अपि ।
देवताप्रणिधानं च, योगाऽऽचार्यैरुदाहृताः ॥ ४ ॥

(नियमा इति) शौचं शुचित्वम् । तद् द्विविधम्–बाह्यम्, आभ्यन्तरं च । बाह्यं-मृज्जलाऽऽदिभिः कायप्रक्षालनम्, आभ्यन्तरं-मैत्र्यादिभिश्चित्तमलप्रक्षालनम् । सन्तोषः-सन्तुष्टिः । स्वाध्यायः-प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जपः । तपः-कृच्छ्रचान्द्रायणाऽऽदि । देवताप्रणिधानमीश्वरप्रणिधानं, सर्वक्रियाणां फलानपेक्षतयेश्वरसमर्पणलक्षणम् । एते योगाऽऽचार्यैः पतञ्जल्यादिभिर्नियमा उदाहृताः । यदुक्तम्–" शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । " इति । (२-३२) द्वा० २४ द्वा० । इन्द्रियाऽऽदिदमने, नं० । " अक्रोधो गुरुशुश्रूषा, शौचमाहारलाघवम् । अप्रमादश्चेति ॥ " द्वा० ८ द्वा० । यदाहुर्भागवताः–" उपव्रतानि नियमाः ॥" द्वा० ८ द्वा० । निश्चये, अव्यभिचारे, विशे० । प्रश्न० । अवश्यंभावनायाम्, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । पञ्चा० । आ० । अवश्यकर्तव्यताऽङ्गीकारे, पञ्चा० १ विव० । अवश्यंकरणे, स० ६ अङ्ग० । नियोगे, पञ्चा० ७ विव० । नियमः पूर्वमीमांसोक्तः-पक्षतः प्राप्तस्य इतरपक्षव्युदासेन एकतरपक्षे व्यवस्थापनम्, यथा–'व्रीहीनवहन्ति ।' अत्र वितुषीकरणसाधनभूतस्य नखाऽऽदेरवहननस्य वा उभयोः प्राप्तौ अवघात एव प्रवृत्तिर्व्यवस्थाप्यते । व्रते, "नियमस्तु स यत् कर्म-नित्यमागन्तुसाधनम्" इत्युक्तेऽनित्ये आगन्तुकसाधने उपवासाऽऽदौ कर्मणि, शौचाऽऽदिषु च । वाच० । (विस्तरस्तु वाचस्पत्ये द्रष्टव्यः)

णियमओ–नियमतस्–अव्य० । नियोगेनेत्यर्थे, पञ्चा १० विव० ।

णियमण–नियमन–न० । संयमे, " उद्देसम्मि चउत्थे, समासवयणेण नियमणं भणियं । " (२) आचा० नि० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । कारणे, आचा० १ श्रु० २ चू० ५ अ० । बन्धने, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । उपरमे, " अदत्तपरदारनियमणेहिं । " आतु० ।

णियमणिप्पकंप–नियमनिष्प्रकम्प–न० । नियमेनावश्यंभावेन निष्प्रकम्पमविचलं निरतिचारं यत्तत्तथा । निरपवादे, व्रतान्तरं सापवादमपि स्याद्, ब्रह्मचर्यं तु निरपवादमेव । " ण य किंचि अणुन्नायं ।" इत्युक्तेः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णियमप्पहाण–नियमप्रधान–त्रि० । विचित्रैरभिग्रहविशेषैरुत्तमे, ते वा नियमा उत्तमा यस्य तस्मिन्, रा० ।

णियमसाधग–नियमसाधक–त्रि० । नियमेन कार्यकारणाव्यभिचारिणि, पं० सू० ४ सूत्र ।

णियमारक्खिय–नियमारक्षिक–पुं० । राज्ञः सर्वप्रकृतीर्यो नियमाद् रक्षति स नियमारक्षिकः । अष्टि०, नि० चू० ४ उ० ।

णियमिय–नियमित–त्रि० । अवधृते, विशे० ।

णियय–निजक–त्रि० । आत्मीये, आव० ३ अ० ।

नियत–त्रि० । शाश्वते, सूत्र० १ श्रु०८ अ० । "णियया सव्वभावा अंगुलीणं ।" नियताः सर्वभावा यैर्यथा भवितव्यं ते तथैव भवन्ति, न पुरुषकारबलादन्यथा कर्तुं शक्यन्ते इति । उपा० ६ अ० । "णियया ऽणियया भिक्खा-यरिआ पाणऽलेवाई ॥" भिक्षाचर्या नियता-कदाचिदाभिग्रहिकी, अनियता-कदाचिदनाभिग्रहिकी । " व्य० १ उ० ।

णिययचारि [ण्]–नियतचारिन्–त्रि० । अप्रतिबद्धविहारिणि, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

णिययपरिणाम–निजकपरिणाम–पुं० । स्वाभिप्राये, " णिययपरिणामा । " स्वाभिप्रायात् । जीवा० २८ अधि० ।

णिययपव्वय–नियतपर्वत–पुं० । क० स० । सदा भोग्यत्वेनाव-

स्थितेषु पर्वतेषु, येषु देवा देव्यश्च भवधारणीयेनैव वैक्रियशरीरेण प्रायः सदा रममाणा अवतिष्ठन्ते । रा० । जी० ।

णिययपिंड-नियतपिण्ड-पुं० । मया एतावद्दातव्यं, भवता तु नित्यमेव ग्राह्यमित्येवं नियततया गृह्यमाणे पिण्डे, स्था० १० ठा० । (नियतपिण्डनिषेधः ' णितियपिंड ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०६७ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

णिययवयणिज्ज-निजकवचनीय-त्रि० । स्वांशपरिच्छेद्ये, "णिययवयणिज्जसच्चा, सव्वनया विवालणे मोहा ।" सम्म० १ काण्ड ।

णिययवास-नियतवास-पुं० । विहारकाले विहारमकृत्वा एकत्र वासे, "जाहे वि अपरितंता, गामागरनगरपट्टणमडंता । तो केइ नियथवासी, संगमथेरं ववइसंति ॥ ११ ॥" आव० ३ अ० । (' णितियवास ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०६७ पृष्ठे वक्ष्यतेऽस्य) " भवयमाणियतविहारं, णिययविहारं ण ताव साहूणं । कारणनीयावासं, जो सेवे तस्स का वत्ता ?" ॥ १ ॥ महा० ४ अ० ।

णिययाणियय-नियताऽनियत-त्रि० । अवश्यमनवश्यंभाविनि, "नियथानियथं संतं, अयाणंता अबुद्धिया । (४)" सुखाऽऽदिकं किञ्चिन्नियतिकृतमवश्यंभाव्युदयप्रापितं, तथाऽनियतमात्मपुरुषकारेश्वराऽऽदिप्रापितं सद् नियतकृतमेवैकान्तेनैवाऽऽश्रयन्त्यतोऽजानानाः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

णिययाभिप्पायउज्जयविहारि [ण्]-निजकाभिप्रायोद्यतविहारिन्-त्रि० । स्वमतसुविहिते, जी० १ प्रति० ।

णिययावास-नियतवास-पुं० । ' णिययवास ' शब्दार्थे, आव० ३ अ० ।

णियल-निगड-न० । लोहमये "बेडी" इतिख्याते पादयोर्बन्धने, औ० । " नियलेहि य बद्धा पिहिया य ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । सूत्र० ।

णियलिंगि [ण्]-निजलिङ्गिन्-पुं० । स्वमतवेषिणि, जीवा० ३५ अधि० ।

णियल्ल-निगड-पुं० । अष्टाशीतिमहाग्रहाणां त्रयःपञ्चाशत्तमे महाग्रहे, " दो नियल्ला ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० ।

निज-पुं० । महाग्रहे, स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० ।

णियविहव-निजविभव-पुं० । स्वकीयविभूतौ, पञ्चा० ६ विव० ।

णियसत्ति-निजशक्ति-स्त्री० । स्वसामर्थ्ये, द्वा० १५ द्वा० ।

णियसमय-निजसमय-पुं० । स्वकीयावसरे, पञ्चा० ९ विव० ।

णियसिस्सखंधचडिय-निजशिष्यस्कन्धचटित-त्रि० । साध्वंशाऽऽरूढे, जीवा० २१ अधि० ।

णियाइय-निकाचित-त्रि० । नियमिते, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

णियाग-नियाग-पुं० । नितरां यजनं यागः पूजा यस्मिन् सोऽयं नियागः । मोक्षे, तत्रैव नितरां पूजा सम्भवात् । उत्त० १ अ० । अष्ट० । संयमे च । कार्ये कारणोपचारात् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । आचा० ।

नित्य-पुं० । आमन्त्रितपिण्डे, " जे नियागं ममायंति, कीयमुद्देसियाहडं । वहंते समणुजाणंति, इय वुत्तं महेसिणा ॥ ४८ ॥" दश० ६ अ० । " उद्देसियं कीयगडं, नियागं अभिहडाणि य ।" इति अनाचरितेषु परिगणनात् । तत्र नियागमित्यामन्त्रितस्य पिण्डग्रहणं नित्यं, न त्वनामन्त्रितस्य । दश० ३ अ० ।

णियागट्ठि [ण्]-नियागार्थिन्-त्रि० । नियागो मोक्षस्तत्र मार्गो वा तदर्थिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । मोक्षार्थिनि, उत्त० ५ अ० । " एवमेगे णियागट्ठी, धम्ममाराहगा वयं । " सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

णियागपडिवण्ण-नियागप्रतिपन्न-त्रि० । यजनं यागो, नियतो निश्चितो वा यागो नियागो मोक्षमार्गः, सङ्गताऽर्थत्वाद्धातोः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽत्मकतया गतं सङ्गतमिति तं नियागं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽत्मकं मोक्षमार्गं प्रतिपन्नो नियागप्रतिपन्नः । मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनाऽऽदेरनुष्ठातरि, (आचा०) "णियागपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिए ।" आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । सूत्र० ।

णियाण-निदान-न० । निश्चितं दानं निदानम् । अप्रतिक्रान्तस्याऽवश्यमुदयावेद्ये तीव्रकर्मबन्धे, आ० चू० ४ अ० । नि० चू० ।

अत्थि अणिदाणओ ती-उब्भेओ तेण परिहर णिदाणं ।
ते पुण तुल्लातुल्ला, मोहणियाणा दुपक्खे वि ॥ ४४० ॥

णिदाणं णाम-जं पडुच्च मोहणिज्जं उदिज्जति । तं जहा-स्त्रूसहाऽऽदि । उक्तं च-"दव्वं खेत्तं कालं, भावं च भवं तहा समासज्ज । तस्स समासुद्दिट्ठो, उदओ कम्मस्स पंचविहो ॥ १ ॥" (दुपक्खे वि त्ति) "इत्थीणं पुरिसाण य तुल्ला ।" नि० चू० १५ उ० । दिव्यमानुषर्द्धिसंदर्शनश्रवणाभ्यां तदभिलाषाऽनुष्ठाने, आव० ४ अ० । स्वर्गमर्त्याऽऽदिर्द्धिप्रार्थने, आतु० । स्था० । भोगप्रार्थनायाम्, व्य० १ उ० । स्था० । निदायते लूयते ज्ञानाऽऽद्याराधनालताऽऽनन्दरसोपेतमोक्षफला येन परशुनेव देवेन्द्राऽऽदिगुणर्द्धिप्रार्थनाऽध्यवसानेन तन्निदानम् । स्था० १० ठा० ।

अथ निदानानि-

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं णगरे होत्था । वण्णओ । गुणसिलए चेइए रायगिहे णगरे सेणिए णामं राया होत्था । रायवण्णओ । एवं जहा उववातिए० जाव चेल्लणाए सद्धिं विहरति ।

(तेणं कालेणमित्यादि) व्याख्या प्राग्वत् । (सेणिए त्ति) श्रेणिको नाम राजा (होत्थ त्ति) अभवत् , आसीदित्यर्थः । (रायवण्णओ त्ति) राजवर्णकः-"महयाहिमवंतमहंतमलयमंदरमहिंदसारे, अच्चंतविसुद्धरायकुलवंसप्पसूए, निरंतरं रायलक्खणविराइयंगमंगे, बहुजणबहुमाणपूइए, सव्वगुणसमिद्धे०।" (औ०) इत्यादिको वाच्यः । तस्य देवी समस्तान्तःपुरप्रधाना भार्या सकलगुणसमन्विता चेल्लणा नाम्नी । तस्या वर्णको यथा औपपातिकनाम्नि ग्रन्थेऽभिहितस्तथाऽत्राऽभिधातव्यः । स चायम्-"सुकुमालपाणिपाया, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा, लक्खणवंजणगुणोववेया, माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगी०।" (औ०) इत्यादिको वाच्यः । "जाव त्ति" यावत्करणात्-चेल्लणाए सद्धिं मणुस्से इट्ठे सद्दफरिसे रसरूवगंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चणुब्भवमाणे विहरइ ।" इतिपदकदम्बकपरिग्रहः, विस्तरव्याख्यौपपातिकानुसारेण वाच्या, नेह विस्तरभिया प्रतन्यते ।

तए णं से सेणिए राया अण्णया कयाइ एहाए कयव-

लिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सिरसा कंठे मालाकडे आविद्धमणिसुवण्णे कप्पियहारऽद्धहारतिसरयपालंबपलंबमाणकडिसुत्तसुकयसोभे पिणद्धगेवेज्जे अंगुलिज्जग० जाव कप्परुक्खए चेव अलंकियविभूसिते णरिंदे सकोरेंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं० जाव ससि व्व पियदंसणे णरवई, जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे निसीयति, निसीइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुज्झे देवाणुप्पिया ! जाइं इमाइं रायगिहस्स नगरस्स बहिया । तं जहा–आरामाणि य, उज्जाणाणि य, आएसणाणि य, आययणाणि य, देवकुलाणि य, सभाओ य, पवाओ य, पणियसालाओ य, जाणसालाओ य, सुधाकम्मंताओ य, वाणिज्जकम्मंताओ य, कट्ठकम्मंताओ य । जे तत्थ वणमहत्तरया चिट्ठंति, ते एवं वयह–एवं खलु देवाणुप्पिया ! सेणिए राया भिंभिसारे आणवेइ–जया णं समणे भगवं महावीरे आदिगरे० जाव ·················· पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे इहेव उ विहरेज्जा, तया णं तुज्झे समणस्स भगवतो महावीरस्स अहापडिरूवं ओग्गहं जाणेह, अवधारेत्ता सेणियस्स रन्नो भिंभिसारस्स एयमट्ठं णिवेदेह ।

(ततेणं से सेणिए इत्यादि) ततोऽनेकमल्लयुद्धव्यायामाऽऽदिकरणानन्तरं स पूर्वनिर्दिष्टः श्रेणिको राजा, अन्यदाऽन्यस्मिन्नवसरे, कदाचित् (ण्हाते इत्यादि) स्नानं कृतवान्, ततोऽनन्तरं कृतं बलिकर्म येन स्वगृहदेवतानां स तथा, कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तानि दुःस्वप्नाऽऽदिविघातार्थमवश्यकरणीयत्वाद्येन स तथा । अन्ये त्वाहुः–" पायच्छित्त त्ति " पादेन पादे वा छिप्तो चक्षुर्दोषपरिहारार्थं पादच्छिप्तः, कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्तश्चासौ इति विग्रहः । तत्र कौतुकानि मषीतिलकाऽऽदीनि, मङ्गलानि तु दधिअक्षतदूर्वाङ्कुराऽऽदीनि । (सिरसा कंठे मालाकडे त्ति) शिरसा कण्ठे च माला कृता धृता येन स तथा । क्वचित्–" सिरसि ण्हाए कंठे मालाकडे " इति पाठः । तत्र शिरसि स्नातः । ननु पूर्वमपि " ण्हाए त्ति " उक्तं, तर्हि किमर्थं भूयोऽपि–" सिरसि ण्हाए त्ति । " पुनरुक्तप्रसङ्गात् ? । उच्यते–स्नातः सामान्यतोऽपि कण्ठस्नात उच्यते, अतः पुनरुपादानं, तस्मिन् दिने विशेषत उक्तम्–शिरसि स्नातः, द्वितीयं पदं सुबोधम् । (आविद्धमणिसुवण्णे त्ति) आविद्धं परिहितम् । (कप्पियेत्यादि) कल्पिता-न्यासानि रचितानि च हाराऽऽदीनि कटीसूत्रान्तानि यस्य । तानि च सुकृतशोभान्याभरणानि यस्य स तथा । पिनद्धग्रैवेयकः । यावत्करणात्–" अंगुलिज्जगललियकयाभरणे, मालामणिकणगरयणवरकडगतुडियथंभियभुए, अहियरूवसस्सिरीए, कुंडलउज्जोतिताणणे मउडदित्तसिरए, हारोत्थयसुकयरइयवच्छे, मुद्दियापिंगलंगुलिए, पालंबपलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जे, णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहनिउणोवियमिसिमिसंतविरइयसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठआविद्धवीरवलए किं बहुणा । " इतिपदकदम्बकपरिग्रहः । (कप्परुक्खए चेव त्ति) कल्पवृक्ष एव । (अलंकियविभूसिए त्ति) अलङ्कृतो मुकुटाऽऽदिभिः (विभूसिय त्ति) वस्त्राऽऽदिभिरिति । नराणामिन्द्रो नरेन्द्रः (सकोरेंटेत्यादि) सकोरेण्टानि कोरेण्टाभिधानकुसुमस्तबकवन्ति माल्यदामानि पुष्पस्रजो यत्र तत्तथा, एवंविधेन छत्रेण ध्रियमाणेन, शिरसीत्यध्याहारः । यावत्करणात्–" सेयवरचामराहि उद्धुव्वमाणीहिं मंगलजयसद्दकयालोए, अणेगगणनायगदंडनायगराईसरतलवरमाडंबियकोडुंबियमंतिमहामंतिगणगदोवारियअमच्चचेडपीढमद्दणगरनिगमसेट्ठिसेणावतिसत्थवाहदूयसंधिवालसद्धिं संपरिवुडे, धवलमहामेहनिग्गए इव गहगणदिप्पंतरिक्खतारागणाण मज्झे" (औ०) इति पदकदम्बकग्रहः । शशीव प्रियदर्शनो नरपतिर्यत्रैव बाह्या उपस्थानशाला आस्थानमण्डपो, यत्रैव सिंहासनं, तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य सिंहासनवरे पूर्वाभिमुखः संनिषीदति, निषद्य कौटुम्बिकपुरुषान् नृपाधिकारिणः पुरुषान् शब्दयति आमन्त्रयति, आमन्त्र्यैवमवादीत्–गच्छत । णमिति वाक्यालङ्कारे । यूयं देवानां प्रियाः सरलस्वभावाः!, यानि इमानि अनन्तरं वक्ष्यमाणस्वरूपाणि, राजगृहस्य नगरस्य बहिर्भवन्ति इति शेषः । तद्यथा–(आरामाणीत्यादि) आरमन्ति येषु माधवीलतागृहाऽऽदिषु दम्पत्यादीनि ते आरामाः, प्राकृतत्वान्नपुंसकत्वम् । उद्यानानि पुष्पाऽऽदिमद्वृक्षसंकुलान्युत्सवाऽऽदौ बहुजनभोग्यानि, आवेशनानि येषु लोका आविशन्ति तानि वाऽयस्कारकुम्भकाराऽऽदिस्थानानि, आयतनानि देवकुलपार्श्वापवरकाः, देवकुलानि प्रतीतानि, सभा–आस्थानमण्डपाः, प्रपा उदकदानस्थानानि, पण्यशालाः पण्यगृहाणि, पण्या पणाः । यानशाला यत्र यानानि निष्पाद्यन्ते । सुधाकर्मान्तानि यत्र सुधापरिकर्म क्रियते । वाणिज्यकर्मान्तानि यत्र वाणिज्यार्थं बहवो मिलन्ति लोकाः । एवं काष्ठकर्मान्तानि यत्र काष्ठानि क्रयार्थं, जलाऽऽदिभिन्नभिया वा यत्र संनिक्षिप्तास्तिष्ठन्ति । उपलक्षणत्वात्–दर्भवल्कस्थानरथगृहान्तानि द्रष्टव्यानि । चशब्दः सर्वत्रापरापरभेदसंसूचकः । तत्र ये वनमहत्तरकाः, वनमुपलक्षणमाविशनाऽऽदीनामाज्ञाता अत्यर्थं ज्ञाता अधिपतित्वेन प्रसिद्धास्तिष्ठन्ति, तान् एवं वदत । किं तदित्यादि–(एवं खल्वित्यादि) एवममुना प्रकारेण, खल्ववधारणे, अहो देवानां प्रियाः ! श्रेणिको राजा (भिंभसारे त्ति) भिम्भा भेरी, सैव सारा प्रधाना यस्यासौ भिम्भसारः । तद्व्याख्यानमेवं कुमारभावे–" अग्गिणा घरे पलित्ते सेणिएण य भिंभियं घेत्तूण णिग्गतो । अवसेसा कुमारा आभरणमादि । पिउणा पुच्छिया । सव्वेहिं कहियं–जेहिं जं णीयं । सेणिएण भणियं–मए भिंभणा णीया । सेणियो पिउणा भणितो–तुज्झ किं एस सारो ?। तेण भणियं–आमं ति । ततो से रन्ना भिंभासारो णामं कयं । " शेषं ज्ञातचरमेव । (आणवेइ त्ति) आज्ञापयति । किं तदित्याह–(जया णमित्यादि) यदा, णमिति वाक्यालङ्कारे । श्रमणो भगवान्महावीर आदिकरः । यावत्करणात्–" तित्थगरे सयंसंबुद्धे पुरिसुत्तमे पुरिससीहे०"(औ०) इत्यादिकः समस्तोऽपि औपपातिकग्रन्थप्रसिद्धो भगवद्वर्णको वाच्यः, स चातिगरीयानिति न लिख्यते, केवलमौपपातिकग्रन्थादवसेयः । संप्राप्तुकामो मोक्षं प्रति तदनुकूलव्यापारवान् । पुनः (पुव्वाणुपुव्विं त्ति) पूर्वानुपूर्व्या, नाऽनानुपूर्व्या चेत्यर्थः । (संचरमाणे त्ति) चरन् संचरन् । एतदेवाऽऽह–(गामाणुगामं दूइज्जमाणे त्ति) ग्रामश्च

प्रतीतोऽनुग्रामश्च विवक्षितग्रामानन्तरो ग्रामो ग्रामानुग्रामं,तं द्रवन् गच्छन् एकस्माद् ग्रामादनन्तरं ग्राममनुल्लङ्घयन्नित्यर्थः । अनेनाप्रतिबद्धविहारमाह, तत्राप्यौत्सुक्यभावमिति । (सुहं सुहेणं विहरमाणे त्ति) अत एव सुखं सुखेन शरीरखेदाभावेन, संयमबाधाभावेन च विहरन् स्थानात् स्थानान्तरं गच्छन्, ग्रामाऽऽदिषु वा तिष्ठन्, संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् वासयन् , इहैव अत्रैव नगरे, उकारोऽलाक्षणिकः, विहरेदागच्छेत्,तदा यूयं श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य यथाप्रतिरूपं विहन्तमसावग्रहमवग्रहमनुजानीध्वम् अनुदद्ध्वम् । अनुजानीय श्रेणिकस्य राज्ञो भिम्भासारस्य हि एनमर्थं निवेदयध्वम्।

तते णं ते कोडुंबियपुरिसा सेणिएणं रन्ना भिंभिसारेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ०जाव हियया कय०जाव एवं सामि! त्ति आणाए विणएणं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता सेणियस्स अंतियाओ णिक्खमंति, णिक्खमित्ता रायगिहं णगरं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छंति, णिग्गच्छित्ता जाइं इमाइं रायगिहस्स बहिया-आरामाणि य० जाव जे तत्थ महत्तरया अन्नया चिट्ठंति, ते एवं वदंति-०जाव सेणियस्स रन्नो एयमट्ठं पियं निवेदिज्जा,पियं भे भवतु। दोच्चं पि एवं वदित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूता तामेव दिसिं नगरस्स परिगता । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आदिकरे०जाव गामाणुगामं दूइज्जमाणे०जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति। तए णं रायगिहे णगरे सिंघाडगतियचउक्कचच्चर० जाव परिसा णिग्गया०जाव पज्जुवासेति। तते णं जेणेव महत्तरया तेणेव उवागच्छति,तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदति,नमंसति,वंदित्ता नमंसित्ता णामं गोयं पुच्छति, पुच्छित्ता णामगोत्ताए धारेति,णामगोत्ताए धारेत्ता एगंततो मिलंति,एगंततो मिलित्ता एगंतमवक्कमति,एगंतमवक्कमित्ता एवं वदासी-जस्स णं देवाणुप्पिया! सेणिए राया भिंभसारे दंसणं कंखति,जस्स णं देवाणुप्पिया! सेणिए राया दंसणं पत्थेति०जाव अभिलसति, जस्स णं देवाणुप्पिया! सेणिए [illegible] हट्ठतुट्ठा० जाव भवति,से

णियल्ल-निगर्द-पुं० महाग्रहे, " दो नियल्ला । " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

निज-पुं० । महाग्रहे, स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० ।

णियविहव-निजविभव-पुं० । स्वकीयविभूतौ,पञ्चा० ६ विव० ।

णियसत्ति-[illegible]-स्त्री० । स्वसामर्थ्ये, द्वा० १४ द्वा० ।

राया णामगोत्तस्स वि सवणताए [illegible] णं समणे भगवं महावीरे आदिकरे तित्थकरे०जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरति। इहमागते इहसंपत्ते० जाव अप्पाणं भावेमाणे सम्मं विहरइ; तं गच्छह णं देवाणुप्पिया ! सेणियस्स रन्नो एयमट्ठं निवेदेमो-पियं भे भवतु त्ति कट्टु एयमट्ठं अन्नमन्नस्स पडिसुणेंति, अन्नमन्नस्स पडिसुणेत्ता जेणेव रायगिहे नगरे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवाग- रायगिहं नगरं मज्झंमज्झेणं जेणेव सेणियस्स रन्नो [illegible] सेणिए राया तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवा- रायं करयलपरिग्गहियं० जाव जएणं वद्धाविता एवं वयासी-जस्स णं

णु० १० । निस्य-पुं० । देसियाहरं । बहते स० वृ० ६ अ० । " उद्देसियं [illegible]

सामी ! दंसणं कंखइ० जाव, से णं समणे भगवं महावीरे गुणसिलए चेइए०जाव विहरइ। तेणं देवाणुप्पियाणं पियं निवेदमो-पियं भे भवतु । तेणं से सेणिए राया तेसिं पुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियए सीहासणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठित्ता जहा कोणिए० जाव वंदति, णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता ते पुरिसे सक्कारेति, सम्माणेति, सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता विपुलं जीवियारिहं पीतिदाणं दलयति, पडिविसज्जेति, पडिविसज्जेत्ता णगरगुत्तिए सद्दावेति, णगरगुत्तिए सद्दावित्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! रायगिहं नगरं सब्भिंतरबाहिरियं आसियसम्मज्जितोवलित्तं० जाव पच्चप्पिणंति । तेणं से सेणिए राया बलवाउयं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! हयगयरहजोहकलियं चाउरंगिणं सेणं सण्णाहेह०जाव से वि पच्चप्पिणंति। तते णं से सेणिए राया जाणसालियं सद्दावेति, जाणसालियं सद्दावेत्ता एवं वदासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! धम्मियं जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि । तते णं ते जाणसालिए सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ते समाणे हट्ठ० जाव हियए जेणेव जाणसाला तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता जाणसालं अणुपविसति, जाणसालं अणुप्पविसित्ता जाणगं पच्चुवेक्खति,जाणगं संपमज्जति, जाणगं संपमज्जित्ता दूसं पवीणेति, दूसं पवीणेत्ता जेणेव वाहणसाला तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता वाहणसालं अणुप्पविसति,वाहणसालं अणुप्पविसित्ता वाहणाइं पच्चुविक्खति, वाहणाइं संपमज्जेत्ता वाहणाइं अप्फालेति,वाहणाइं अप्फालित्ता वाहणाइं णीणेति,णीणेत्ता दूसं पवीणेति,दूसं पवीणेत्ता वाहणाइं सालं करेति, वाहणाइं वरभंडगमंडिताइं करेत्ता जाणगं जोएति, जाणगं जोएत्ता वट्टमं गाहेति,

(रायवयणाओ त्ति) [illegible] यं आरहयति, आरहयित्ता हिंदसारे, अवंतिविसुद्धरायकुलवंसप्पसूए,निरंतर [illegible] विरायंगमंगे [illegible] हयपट्टधरसमिद्धे०।" (औ०)

वट्टमं गाहेत्ता पतयलट्ठिपंडुधरे [illegible] तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता० जाव एवं वदासी-जं तए सामी! धम्मिए जाणप्पवरे आइट्ठा भद्दं तव आरुहाहि। तते णं से सेणिए राया भिंभसारे जाणसालियस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा० जाव मज्जणघरं अणुपविसति०जाव कप्परुक्खए चेव अलंकितचित्तविभूसिए णरिंदे०जाव मज्जणघरातो पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव चिल्लणा देवी,तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता चेल्लणं देविं एवं वदासी-एवं खलु देवाणुप्पिए ! समणे भगवं महावीरे आदिगरे तित्थगरे० जाव पुव्वाणुपुव्विं०जाव संजमेणं अप्पाणं भावे-

माणे विहरइ। तं महाफलं देवाणुप्पिए ! तहारूवाणं अरहंताणं०जाव तं गच्छामो देवाणुप्पिए ! समणं भगवं महावीरं वंदामो, णमंसामो, सक्कारेमो, सम्माणेमो, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो। एतेणं इह भवे य परभवे य हियत्ताए सुहाए खमाए निस्सेयसाए० जाव आणुगामियत्ताए भविस्सति। तते णं सा चिल्लणा देवी सेणियस्स रण्णो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा०जाव पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता किंते(?) वरपायपत्तणेउरमणिमेहलाहाररइयचिहियकडगखड्डुगएगावलिकंठमुरयतिसरयवलयहेमसुत्तकुंडलुज्जोइताणणा रयणमणिभूसियंगी चीणंसुयवत्थपरिहिया दुगुल्लसुकुमालकंतरमणिज्जउत्तरिज्जा सव्वोउयसुरभिकुसुमसुंदरायितपलंबंतसोहंतकंतविकंतविकसंतचित्तमाला वरचंदणचच्चिता वराभरणभूसियंगी कालागरुधूवधूविता ससिरीसमाणवेसा बहूहिं खुज्जाहिं चिल्लातियाहिं० जाव महत्तरगवंदपरिक्खित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छति। तते णं से सेणिए राया चिल्लणाए देवीए सद्धिं धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहति, सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं उववाइयगमएणं०जाव पज्जुवासति। एवं चिल्लणा वि०जाव महत्तरगपरिक्खित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदति, नमंसति, सेणियरायं पुरतो काउं ठिया चेव०जाव पज्जुवासति। तते णं समणे भगवं महावीरे सेणियस्स रण्णो भिंभिसारस्स चिल्लणाए देवीए सद्धिं तीसे महति महालयाए परिसाए इसिपरिसदेवपरिसहअणेगसयाए०जाव धम्मो कहितो, परिसा पडिगता, सेणिए राया पडिगए। तत्थ णं अत्थेगतियाणं निग्गंथाण य निग्गंथीण य सेणियं रायं चिल्लणं देविं पासित्ता णं इमेयारूवे अज्झत्थिए०जाव संकप्पे समुप्पज्जित्था-अहो णं सेणिए राया महिड्ढिए०जाव महासक्खे, जे णं ण्हाते कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिते चेल्लणाए देवीए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ। ण मे दिट्ठे देवा देवलोगंसि, सक्खं खलु अयं देवो। जति इमस्स तवनियमबंभचेरफलवित्तिविसेसे अत्थि, वयमवि आगमिस्साइं एताइं उरालाइं एतारूवाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरामो, से तं साहु। अहो णं चिल्लणा देवी महिड्ढिया०जाव महासक्खा, जा णं ण्हाया कयबलिकम्मा०जाव सव्वालंकारविभूसिया सेणिएणं रण्णा सद्धिं उरालाइं० जाव माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरति। ण मे दिट्ठाओ देवीओ देवलोगंसि, सक्खं खलु इयं देवी। जइ इमस्स सुचरियस्स तवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, वयमवि आगमिस्साइं इमाइं एयारूवाइं उरालाइं०जाव विहरामो, से तं साहुणी॥

(तते णमित्यादि) व्यक्तं, नवरम् एवमुक्ताः सन्तो (हट्ठतुट्ठा इत्यादि) हृष्टतुष्टाः, अतीव तुष्टा इति भावः। अथवा-हृष्टा नाम विस्मयमापन्नाः-यथा अहो ! भगवन्नानाविधधर्मक्षमाकमादिशतीति। तुष्टाः तोषं कृतवन्तः-यथा अस्मत्सम्बन्धिस्मान् नगरवार्त्ता जिज्ञासुः श्रेणिको राजा आदिशति। यावत्करणात्-" चित्तमाणंदिया पीइमणा " इत्यादिपदकदम्बकपरिग्रहः। (अक्षरार्थमात्रबोधिका टीकेत्युपेक्षिता)

तत्र प्रथमम्-

अज्जो ! त्ति समणे भगवं महावीरे बहवे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वदासी-सेणियं रायं चेल्लणं देविं पासित्ता इमेयारूवे अज्झत्थिते०जाव समुप्पज्जित्था-अहो णं सेणिए राया महिड्ढिए०जाव से तं साहु। अहो णं चिल्लणा देवी महिड्ढिया सुंदरा०जाव से तं साहुणी। से णूणं अज्जो ! अत्थे समट्ठे ?। हंता ! अत्थि। एवं खलु समणाउसो ! एए धम्मे पण्णत्ते, इणामेव णिग्गंथे पावयणे०जाव अणुत्तरे पडिपुण्णे केवले संसुद्धे णेयाउए सल्लकत्तणे सिद्धिमग्गे निव्वाणमग्गे णिज्जाणमग्गे अवितहमविसंधिसव्वदुक्खप्पहीणमग्गे इत्थं ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति। जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथे सिक्खाए उवट्ठिते विहरमाणे पुरा दिगिंछाए पुरा पिवासाए पुरा वातातवेहिं पुरा पुट्ठे विरूवेहिं परीसहोवसग्गेहिं उदिण्णकामजाते यावि विहरेज्जा, से य परक्कमेज्ज, से य परक्कममाणे पासेज्जा-जे इमे उग्गपुत्ता महामा[मा]उया, भोगपुत्ता महामाउया, तेसिं णं अण्णतरस्स अतिजायमाणस्स वा निज्जायमाणस्स वा छत्तओ तेसिं पुरतो महं दासीदासकिंकरकम्मकरपुरिसा पदातपरिक्खित्तं छत्तं भिंगारं गहाय णिग्गच्छंति। तयाणंतरं च णं पुरतो महा आसा आसवरा, पिट्ठओ तेसिं णं णागा णागवरा, पिट्ठतो रथा रथसंगिल्ली, से उद्धए सेयछत्ते अब्भुग्गतभिंगारे पग्गहियतालियंटे वीयमाणसेयचामरवालवीयणाए अभिक्खणं २ अभिजाति य णिज्जाति य सप्पभा सपुव्वावरण्हं ण्हाए कयबलिकम्मे० जाव सव्वालंकारभूसिए महति महालयाए कूडागारसालाए महति महालयंसि सीहासणंसि दुहओ विन्नोयणि दुहओ०जाव सव्वरातिएणं जोतिणा झियायमाणेणं इत्थीगुम्मसंपरिवुडे महताऽऽहतनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगमद्दलपडुप्पवाइयरवेणं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति। तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स०जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेइ-भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो, किं आहरामो, किं उवणेमो, किं आचिट्ठामो, किं भे हिय-

एच्छितं,किं ते आसगस्स सदति, जं पासित्ता णिग्गंथे णिदाणं करेति-जइ इमस्स तवनियमबंभचेरवासस्स तं चेव० जाव साहु। एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथे णिदाणं किच्चा तस्स आणालोइय अपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अणुत्तरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। महिड्ढिएसु० जाव चिरट्ठितीए, से णं तत्थ देवेसु भवति महिड्ढिए० जाव चिरट्ठितीए, ततो देवलोगा आउक्खएणं ठितिक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया, तेसि णं अण्णतरंसि कुलंसि पुमत्ताए पच्चायंति, से णं तत्थ दारए भवति, सुकुमालपाणिपाए०जाव सुरूवे। तते णं से दारए उम्मुक्कबालभावे विण्णयपरिणतमेत्ते त्ति जोव्वणगमणुप्पत्ते सयमेव पेत्तियं दायं पडिवज्जंति। तस्स णं अतिजायमाणस्स वा० जाव पुरतो महं दासी दास० जाव किं भे आसगस्स सदति। तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसस्स जातस्स तहारूवे समणे वा उभतो कालं केवलिपण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ?। हंता ! आइक्खेज्जा। एवं संपडिसुणेज्जा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। से भगवं ! महिच्छे महारम्भे महापरिग्गहे अहम्मिए० जाव आगमेस्सा णं दुल्लभबोहिए यावि भवति। ते एवं खलु समणाउसो ! तस्स निदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे, जं णो संचाएति केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणित्तए ॥१॥

क्वचित् "महामाउगा" इति पाठः,तत्र महती शीलरूपाऽऽदियुक्ता माता येषां ते महामातृका इति। एवं भोगपुत्राः, आदिदेवाऽवस्थापितगुरुवंशजपुत्राः। उपलक्षणं चैतत्-राजन्येक्ष्वाकुकौरवनागाऽऽदीनाम्। प्रकृतमाह-(तेसि णमित्यादि)तेषामुग्रपुत्राऽऽदीनामन्यतरस्य(अतिजायमाण त्ति) आगच्छतो बहिः प्रदेशात् स्वगृहं प्रति (निज्जायमाण त्ति) निर्गच्छतः स्वगृहाऽऽदेर्बहिः प्रदेशं प्रति। कथमित्याह-उभयतस्तेषाम् उग्रपुत्राऽऽदीनां (पुरतो महमित्यादि)पुरतोऽग्रतो महान्तो ये दास्यश्चेट्यो,दासाश्चेटकाः, किङ्कराः प्रतिकर्म प्रभोः पृच्छापूर्वकारिणः, कर्मकरास्तदन्यथाविधाः, ते च ते पुरुषाश्चेति समासः। पदातं पदातिसमूहः, तैः परिक्षिप्तं परिवृतं यस्तथा। एवंविधं छत्रं, भृङ्गारं च (गहाय निग्गच्छंति) इत्यनेनास्य प्रभुत्वमावेदितं भवति। (तया णमित्यादि) ततोऽनन्तरं पुरतोऽग्रतो महान्तो बृहत्तमा अश्वाः तुरङ्गाः, (आसवर त्ति) अश्ववरा अश्वानां मध्ये प्रधानाः, (नाग त्ति) नागा हस्तिनः, नागवराः नागानां प्रधानाः। एवं पृष्ठतो रथाः (रथसंगेल्लि त्ति) रथसमुदायः। (से णमित्यादि) सोऽनिर्दिष्टनामा। उद्धृतश्च तच्छत्रः। तथा (अब्भुग्गयभिंगारे त्ति) अभ्युद्गतोऽभिमुखमुद्गत उत्पाटितो भृङ्गारो यस्य स तथा। (पग्गहियतालियंटे त्ति) प्रगृहीतं तालवृन्तं यं प्रति तथा। वीज्यमानाः श्वेतचामरवालव्यजनिका यं प्रति स तथा। (अभिक्खणं २ ति) भूयो भूयः,एकवचनं निर्गमनसमयमङ्गीकृत्य तदेवामाह। कथम्भूतास्ते ?-(सप्पभा इति) सती शोभना प्रभा कान्तिर्येषां ते सत्प्रभाः।(सपुव्वावरण्हमित्यादि) सह पूर्वेण पूर्वाह्णे कर्तव्येनापरेण वाऽपराह्णे कर्तव्येन। यदि वा पूर्वं क्रियतेऽशनाऽऽदिकं,तथाऽपरं च यत्क्रियते विलेपनभोजनाऽऽदिकं,तेन सह वर्तत इति सपूर्वापरम्। इदमुक्तं भवति-यद्यदा प्रार्थ्यते, तत्तदा संपद्यते, इत्यभिलषितार्थप्राप्तमेव दर्शयितुमाह-(एहाते इत्यादि) व्यक्तार्थम्। कृतबलिकर्मा यावत्करणात्। (कंठे मालाकडे त्ति)कण्ठे कृतमालम्। (कप्पिय त्ति)कल्पितश्चासौ माला प्रधानो मुकुलितः कमलसंचितो मुकुटश्च स तथा विद्यते यस्य स कल्पितमालामुकुलमुकुटः।(वग्घारितेत्यादि)प्रलम्बितं श्रोणिसूत्रं मल्लदामकलापश्च येन स तथा। अहतं मूषिकाऽऽद्यनुपहतं यद्वस्त्रं तत्परिहितं येन स तथा।(चंदणोक्खित्तगायसरीरे त्ति)चन्दनेन प्रलेपेन उत्कीर्णमिवोत्कीर्णं,गात्राणि शरीरं च यस्य स तथा,एवंविधम्। (महति महालयाए इत्यादि) महत्यामुच्चायां, महालयायां विस्तीर्णायां, कूटाकारशालायां, कूटस्येव या पर्वतशिखा तस्या इवाऽऽकारो यस्याः सा कूटाऽऽकारा,यस्या उपरि आच्छादनं शिखराऽऽकारं सा कूटाऽऽकारेति भावः। कूटाऽऽकारा चासौ शाला च कूटाऽऽकारशाला। यदि वा कूटाऽऽकारेण शिखराकृत्योपलक्षिता शाला कूटाऽऽकारशाला। उपलक्षणं चैतत्-प्रासादाऽऽदीनाम्। कूटाऽऽकारशालाग्रहणं निर्जनत्वात्प्रधानभोगसमृद्धिकारणत्वात्। (महति)महालये शयनीये (दुहतो)उभयतः, उभौ शिरोऽन्तपादान्तावाश्रित्य। (बिब्बोयणे त्ति) उपधानं यस्तथा तस्मिन्। (दुहओ त्ति) उभयतः, उन्नते मध्ये नतं निम्नत्वाद् गम्भीरं च महत्त्वोन्नतं गम्भीरं तत्र। (वण्णओ त्ति) वर्णकग्रहणात् "गंगापुलिणवालुयाअवदालसालिसए" इत्यादिपदकदम्बकपरिग्रहः। (सव्वराति त्ति) सर्वरात्रिकेण ज्योतिषदीपरूपेण ध्मायमानेन जाज्वल्यमानेन (इत्थीगुम्म त्ति) स्त्रीगुल्मेन युवतिजनेन सार्द्धमपरपरिवारेण संपरिवृतो वेष्टितः, तथा (महया हयेत्यादि)महता,रवेणेति योगः। (अहय इति) आख्यानकप्रतिबद्धानीति वृद्धाः। अथवा-अहतानि,आहतानि,अभ्याहतानीति भावः। नाट्यगीतवादितानि च,तन्त्री वीणा,तला हस्ततालाः,ताला कांसिका,त्रुटितानि शेषतूर्याणि, तथा घनो घनसदृशो ध्वनिः सामर्थ्यात् यो मृदङ्गो मर्दलः, पटुना दक्षपुरुषेण,प्रवादितः,तत एतेषां पदानां द्वन्द्वः। तेषां यो रवस्तेन, उदारान् प्रधानान् २ मानुष्यसंबन्धीन्। शेषव्याख्या प्राग्वत्। (तस्सेत्ति) तस्य कस्मिंश्चित् प्रयोजने समुत्पन्ने सत्येकमपि पुरुषमाज्ञापयतो, यावच्चत्वारः पञ्च वा पुरुषा अनुक्ता एव समुपतिष्ठन्ते। ते च किंकुर्वाणाः?, एतद्वक्ष्यमाणं जगुः। तद्यथा-भणाऽऽज्ञापय,हे स्वामिन्! धन्या वयं येन भवताऽप्येवमादिश्यन्ते, किं कुर्म इत्यादि (आहरामो त्ति) आनयामः,(किं उवणेमो त्ति) तदपि किमुपनयामः। किमातिष्ठामोऽत्राऽऽदिपचनक्रियारूपम्,(किं भे)किं युष्माकं हृदयेप्सितं,तथा किं च (भे) युष्माकमास्यकस्य स्वदते स्वादु प्रतिभाति। यदि वा यदेव भवदीयस्याऽऽस्यस्य स्वदति तदेव वयं कुर्मः। प्रस्तुतमाह-यं पूर्वोक्तस्वरूपं पुरुषम (पासित्ता) दृष्ट्वा निर्ग्रन्थो निदानं करोति। "जइ इमस्सेत्यादि" पूर्ववत्। (एवं खल्वित्यादि) एवमनन्तरोक्तप्रकारेण,हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! निर्ग्रन्थो निदानं कृत्वा (तस्स त्ति) तस्य निदानरूपस्थानस्य, अनालोच्य गुरूणामतिचारज्ञानमनिवेद्य, एवमप्रतिक्रम्य पुनःकरणेनाऽनभ्युत्थाय (अकरणयाए त्ति) क्रियते इति करणं, तस्य भावः करणता, तथा, अनभ्युत्थाय। (अहारिहमिति) यथाऽर्हंप्रायश्चित्तापनयनयोग्यं तपःकर्म निकाचिताऽऽदिरूपपापच्छेदकत्वात् पापच्छित्,प्रायश्चित्तविशोधकत्वाद्वा प्रायश्चित्तम्। अप्रतिपद्य ग्रैवेयकानां मध्ये अन्यतमेषु देवेषु देवतया उपपत्तारो भवन्ति। कथंभूतेष्वित्याह (महिड्ढिएसु) इत्यादि प्राग्वत्। नवरं

चिरा प्रभूतकालभाविनी स्थितिर्येषां ते चिरस्थितिकाः, ततोऽनन्तरं व्यवधानाभावेन (आउक्खएणमित्यादि) आयुःक्षयेण आयुर्दलिकनिर्जरणेन, स्थितिक्षयेण आयुःकर्मणः स्थितिनिर्जरणेन भवक्षयेण देवभवनिबन्धनभूतकर्मणा गत्यादीनां निर्जरणेनेति । अनन्तरं देवभवसंबन्धिनं चयं शरीरम (चइत्त त्ति) त्यक्त्वा (पुमत्ताए त्ति) पुरुषत्वेन, प्रत्याजान्ति । स तत्र दारको भवति, कुमारक इत्यर्थः । कथम्भूत इत्याह-(सुकुमालेत्यादि) सुकुमारौ पाणी पादौ च यस्याऽसौ सुकुमारपाणिपादः । यावत्करणात्-" अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरे, लक्खणवंजणगुणोववेए " इत्यादिपदसमूहो द्रष्टव्यः । तत्र अहीनानि स्वरूपतः पूर्णानि वा संख्याः, पुण्यानि वा पूतानि पञ्चेन्द्रियाणि यत्र तथा तदेवंविधं शरीरं यस्य स तथा, तम् । (लक्खणवंजणगुणोववेया) लक्षणानि स्वस्तिकाऽऽदीनि, व्यञ्जनानि मषीतिलकाऽऽदीनि, तेषां यो गुणः प्रशस्तता, तेनोपपेतो युक्तो यः स तथा, तम् । (ससिसोम्माकारं कंतं पियदंसणं) शशिवत् सौम्याऽऽकारं कान्तं कमनीयमत एव प्रियं द्रष्टृणां दर्शनं रूपं यस्य सः, तम । (विनयपरिणयमेत्ते त्ति) विज्ञ एव विज्ञकः, स चासौ परिणतमात्रश्च, कलादिष्विति गम्यते । विज्ञकः परिणतमात्रः । (जोव्वण त्ति) यौवनमेव यौवनकमनुप्राप्तः स्वयमेव पैतृकं दायभागेन धनं प्रतिपद्यते, आत्मायत्तं करोति । शेषं व्यक्तम् । (धम्ममाइक्खेज्ज त्ति) धर्ममकथयत् । (एवं संपडि त्ति) एवं संप्रतिशृणुयात् ?। नायमर्थः समर्थः, अभविकोऽयोग्यः स तस्य धर्मस्य श्रवणतायै, एतन्निदानस्यैतदेव फलं, यत्केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं श्रोतुं न समर्थो भवति, नवरम् (पावए फलविवागे त्ति) पापकः फलविपाकः । इति प्रथमं निदानस्वरूपम ॥ १ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते । तं जहा-इणमेव निग्गंथे पावयणे० जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेति । जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथीए सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणा पुरा दिगिंछाए उदिण्णकामजाया विहरेज्जा, सा य परक्कमेज्जा, सा य परक्कममाणी पासेज्जा-से जा इमा इत्थिया भवति एगा एगजाता एगाभरणादिपिहाणा तेल्लपेला इव सुसंगोपिता, चेलपेला इव सुसंपरिग्गहिया रयणकरंडगसमाणा । तेसि णं अतिजायमाणीए वा निज्जायमाणीए वा पुरतो महं दासी दासा चेव० जाव किं भे आसगस्स सदति, जं पासित्ता णं णिग्गंथा णिदाणं करेंति-जति इमस्स सुसंपग्गहियस्स तवनियम० जाव भुंजमाणी विहरामि, तं साहुणी । एवं खलु समणाउसो ! णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइयऽपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । महिड्ढिएसु० जाव सा णं तत्थ देवे भवति० जाव भुंजमाणे विहरति । सा णं ताओ देवलोगातो आउक्खएणं भवक्खएणं ठितिक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया, भोगपुत्ता महामाउया, एतेसि णं अण्णतरंसि दारियत्ताए पच्चायाति, सा णं तत्थ दारिया भवति । सुकुमाल० जाव सुरूवा । तते णं तं दारियं अम्मापियरो उम्मुक्कबालभावं विणयपरिणयमेत्तं जोव्वणगमणुपत्तं पडिरूवेणं सुक्केण पडिरूवस्स भत्तारस्स भारियत्ताए दलयंति, सा णं तस्स भारिया भवति, एगा एगजाता इट्ठा कंता० जाव रयणकरंडगसमाणा, तीसे० जाव अतिजायमाणीए वा पुरतो महं दासी दास० जाव किं भे आसगस्स सदति । तीसे णं तहप्पगाराए इत्थियाए तहारूवे समणे वा माहणे वा उभतो कालं केवलिपण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ?। हंता ! आइक्खेज्जा । से णं भंते ! पडिसुणिज्जा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । अभविया णं सा तस्स धम्मस्स सवणयाए, सा च भवति महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा० जाव दाहिणगामिणेरइए आगमिस्सए दुल्लभबोहिए यावि भवति । एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे जं णो संचाएति केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणेत्तए ॥ २ ॥

द्वितीये किमपि विवयते-" एगे " इत्यादि । एका स्वरूपतः, एकजाता सजातीयान्यसपत्नीवर्जिता । (एकाभरणा इति) एकाभरणानि एकजातीयहेमरूप्यरत्नाभरणानि, पिधानानि च वस्त्राणि यस्याः सा तथा । पुनः कथंभूता?, इत्याह-(तेल्लपेला इव इत्यादि) तैलपेटा सौराष्ट्रप्रसिद्धो मृन्मयस्तैलस्य भाजनविशेषः । स च भङ्गभयाल्लोटनभयाच्च सुष्ठु संगोप्यते । एवं साऽपि । चेलपेटा इव सुसंपरिगृहीता । चेलानि वस्त्राणि तेषां पेला पोट्टलिका इव सुसंपरिगृहीता, सुरक्षिता इत्यर्थः । (रयणेत्यादि) रत्नकरण्डकसमाना बहुमूल्यतया यत्नेन रक्षिता । शेषं कण्ठ्यम् । (दारियत्ताए त्ति) पुत्रीतया (पडिरूवेणं सुक्केणं) प्रतिरूपेण स्वरूपत उभयकुलोचितेन विवाहमालनदानरूपेण शुल्केन कन्यासदृशरूपेण, प्रतिरूपस्य वयःप्रभृतिगुणसमेतस्य भर्तुर्भार्या, तथा ददाति । एतस्य निदानस्यैतत्फलं यत्केवलिभाषितधर्मश्रवणं न प्राप्नोति ॥ २ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते । तं जहा-इणमेव निग्गंथे पावयणे० तहेव चेव । जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथे सिक्खाए उवट्ठिते विहरमाणे पुरा दिगिंछाए० जाव से य परक्कममाणे पासिज्जा, इमा इत्थिया भवति, एगा एग० जाव किं भे आसगस्स सदति, जं पासित्ता निग्गंथे णिदाणं करेति-दुक्खं खलु पुमत्तणए, जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया, भोगपुत्ता महामाउया । एतेसि णं अण्णतरेसु उच्चावएसु महासमरसंगामेसु उच्चावयाइं सत्थाइं उरसि चेव पडिसंवेदेति, तं दुक्खं खलु पुमत्तणए, इत्थित्तणयं साहु । जति इमस्स तवनियमबंभचेरवासस्स फलवित्तिविसेसे अत्थि, वयमवि आगमे, से णं० जाव से तं साधु । एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथे णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइयअपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु० जाव से णं तत्थ देवे भवति, महिड्ढिए० जाव विहरति, से णं ताओ देवलोगाओ आउक्ख-

एणं०जाव अस्मतरंसि कुलंसि दारियत्ताए पच्चायाति० जाव तेणं तं दारियं०जाव जारियत्ताए दलयंति,सा णं तस्स जारिया भवति,एगा एग०जाव तहेव सव्वं भाणियव्वं,तीसे णं अतिय जायमाणिए वा०जाव किं भे आसगस्स सदति?। तीसे णं तहप्पगाराए इत्थियाए एतारूवे समणे वा माहणे वा० जाव पडिसुणिज्जा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। अभविया णं सा तस्स धम्मस्स सवणताए,सा य जवति महिच्छा० जाव दाहिणगामिए णेरइए आगमे, सा ण दुल्लभबोहिए यावि जवति। तं एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे जवति, जं णो संचाएति केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणेत्तए ॥ ३ ॥

तृतीये किमपि लिख्यते-(दुक्खं खलु इत्यादि) दुःखं कष्टं पुरुषत्वे। तदेवाऽऽह-(से त्ति) 'से' शब्दोऽथशब्दः। अथशब्दश्चेह वाक्योपक्षेपे भवति-(उच्चावएसु त्ति) उच्चा महत्प्रभुप्रारम्भिताः, अवचास्तथाविधनीचपुरुषप्रारम्भितास्तेषु, समरसंग्रामाविहैकार्थौ, उच्चावचानि शस्त्राणि सशरतोमराऽऽदीनि। (उरसि त्ति) वक्षसि एव पतन्ति। उपलक्षणं चैतत् शेषाङ्गानाम्। अतः स्त्रीत्वं साधु सम्यग्(उजयो कण्ठ त्ति)उजयोः श्रावणार्थम्। अस्याऽपि निदानस्यैवंविधं फलं,यत्र केवलिप्रणीतं धर्मं श्रोतुमाप्नोति ॥ ३ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते। तं जहा-इणमेव णिग्गंथे पावयणे,सेसं तं चेव०जाव जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथी सिक्खाए उवट्ठिता विहरमाणी पुरा दिगिंछाए पुरा० जाव उदिण्णकामजाता यावि विहरेज्जा, सा य परक्कमेज्जा, सा य परक्कमेमाणी पासेज्जा-जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया, भोगपुत्ता महामाउया० जाव किं भे आसगस्स सदति?, जं पासित्ता णं णिग्गंथी णिदाणं करेति-दुक्खं खलु पुमत्तणए से,जे इमे भवंति-उग्गपुत्ता,मम एएणं उच्चावएसु महासमरसंगामेसु उच्चं वहाय सत्थाइएरासिं पडिवेइंति,तं दुक्खं खलु पुमत्तणए, णं इत्थित्तणए०साहू। जइ इमस्स० जाव अत्थि वयमवि आगमिस्साणं इमेयारूवाइं उरालाइं इत्थिभोगाइं भुंजमाणे विहरिस्सामि, से तं साधु । एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथा णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइत्ता० जाव अपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अस्मयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। से णं देवलोगाओ आउक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता से जे इमे जवंति उग्गपमुहा, तेसिं अस्मयरंसि कुलंसि दारियत्ताए पच्चायाति। तए णं तेसिं अम्मापियरो तहेव०जाव किं ते आसगस्स सदइ ?। अह णं भंते ! तहप्पगाराए इत्थियाए तहारूवे समणे वा उजओ कालं केवलिपण्णत्तं धम्मं आइक्खेज्जा ?। हंता ! आइक्खेज्जा। से तं भंते ! पडिसुणिज्जा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। अजविया णं सा तस्स धम्मस्स सवणयाए, सा य भवइ महिच्छा० जाव दुल्लजबोहीए यावि जवति। तं एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमयारूवे पावए फलविवागे केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणेज्जा, एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव निग्गंथं० जाव अंतं करेइ। जस्स णं धम्मस्स निग्गंथं सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणं पुरा दिगिंछाए०जाव उदिण्णकामजाया यावि विहरेज्जा ०जाव सा य परक्कममाणी पासेज्जा, से जे इमे जवंति उग्गपुत्ता महामाउया,तेसिं णं अस्मयरस्स अतिमाणा वा० जाव किं च भे आसयस्स सदइ ?। जं पासित्ता णिग्गंथी णिदाणं करेइ-दुक्खं खलु इत्थित्तणए दुस्संचाराइं गामंतराइं०जाव संनिवेसंतराइं,से जहाणामए अंबपेसिया ति वा,अंबाडगपेसिया ति वा,मंसपेसिया ति वा,माउलिंगपेसिया ति वा,उच्छुखंडिया ति वा,संबलियाफालिया ति वा बहुजणस्स आसादणिज्जा पत्थणिज्जा पच्छणिज्जा पीहणिज्जा अभिलसणिज्जा,एवामेव इत्थिया वि बहुजणस्स आसादणिज्जा०जाव अजिलसणिज्जा.तं दुक्खं खलु इत्थियत्तणए,पुमत्तणए साधु। जइ इमस्स तवनियमस्स०जाव साहू। एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथी णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइयमपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अस्मतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो जवंति, महिड्ढिए०जाव चइत्ता जे इमे उग्गपुत्ता तहेव दारए० जाव किं ते आसगस्स सदति ?। तस्स णं तहापगारस्स पुरिसजातस्स०जाव अभविए णं से तस्स धम्मस्स सवणताए, से य जवति महिच्छे० जाव दाहिणगामिए० जाव दुल्लजबोहिए यावि जवति, एवं खलु०जाव पडिसुणित्तए ॥ ४ ॥

चतुर्थे किमपि लिख्यते-(दुक्खं खलु इत्थित्तणए) दुःखं कष्टं स्त्रीत्वे। तदेवाऽऽह-(दुस्संचारा इति) दुःसंचारा ग्रामाः, दुर्गमा इत्यर्थः । शब्दव्याख्या प्राग्वत् । (से जहाणामए) 'से' अथ यथानामम्। (मंसपेसिय त्ति) मांसपेशिका मांसखण्डः, आम्रपेशिका च दृष्टाऽपि सती सुखं करोति । एवं मातुलिङ्गपेशिका । मातुलिङ्गो नाम बीजपूरकः (उच्छुखंडिय त्ति) इक्षुखण्डिका इक्षुपर्वरूपा। (संबलियाफालिय त्ति) शाल्मली वृक्षविशेषः,तत्फालिका पलाशरूपा। (बहुजणस्सेत्यादि) बहुजनस्य बहुलोकस्य आस्वादनीया ईषत्स्वादनयोग्या भवति. प्रार्थनीया तथाभूतसहायजनेभ्यः सकाशाद्याचनीया। (अजिलसणिज्जा इति) अभिलषणीया आभिमुख्येन कमनीया। (एवामेव त्ति) एवामेवाऽकारोऽलाक्षणिकः। (अजविए त्ति) अभविकोऽयोग्यः स तस्य धर्मस्य श्रवणतया, स च जवति महेच्छः, एतस्य निदानस्यैतत्फलं यत्र केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शक्नोति श्रोतुं, परं शृणोति इति विशेषः ॥ ४ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते । तं जहा-इणमेव निग्गंथं पावयणं०तहेव,जस्स णं धम्मस्स निग्गंथो वा निग्गंथीए वा सिक्खाए उवट्ठिए वि विहरमाणे पुरा दिगिंछा०जाव

ण्दिव्वकामभोगे विहरेज्जा, सिय परक्कमेज्जा, से य परक्कममाणे माणुस्सेहिं कामभोगेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा, माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा अणिया असासता सडणपडणविद्धंसणधम्मा उच्चारपासवणखेलसंघाणगवंतपित्तसुक्कसोणियसमुब्भवा दुरूवउस्सासनिस्सासदुरूवमुत्तपुरीसपुण्णा वंतासवा पित्तासवा खेलासवा पच्छा पुरं च णं अवस्सं विप्पजहणिज्जा, संति खलु अत्थ देवा देवलोगंसि ते णं तत्थ अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय २ परियारेंति, अप्पणा चेव अप्पाणं विउव्विता २ परियारेंति, जति इमस्स तव० जाव तं चेव सव्वं जाणियव्वं० जाव वयमवि आगमेस्साणं इमाइं एतारूवाइं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरामो, से तं साहु। एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथो वा निग्गंथी वा निदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा महिड्डिएसु० जाव से, ते णं अण्णं देवं अण्णं देविं तं चेव० जाव परियारेंति, से णं ताओ देवलोगाओ तं चेव पुमत्ताए० जाव किं ते आसगस्स सदति? । तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजातस्स इमेयारूवे समणे वा माहणे वा० जाव पडिसुणिज्जा? । हंता पडिसुणिज्जा । से णं सद्दहेज्जा, रोएज्जा? । णो इणट्ठे समट्ठे । अभविए णं से तस्स धम्मस्स सद्दहणताए से य भवति महिच्छे० जाव दाहिणगामिणेरइए आगमेस्साए दुल्लभबोहिए यावि भवति । एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे जं णो संचाएति केवलिपण्णत्तं धम्मं सद्दहति वा ॥ ५ ॥

पञ्चममेव निदानमिति-(माणुस्सएहिं इत्यादि) मानुष्यकेषु कामभोगेषु निर्वेदं वैराग्यं गच्छेत् । तदेवाऽऽह-(माणुस्सगा इति) इह कामभोगग्रहणे तदाधारभूतानि स्त्रीपुरुषशरीराण्यपि गृहीतानि । (अधुवा इत्यादि) अध्रुवाः चलाः, अनियता अनेकस्वरूपाः, अशाश्वताः प्रतिक्षणं परिणामान्तरीयाः, शटनपतनविध्वंसधर्माणः, एतादृक्स्वभावाः, उच्चारप्रश्रवणश्लेष्मसिङ्घाणकाः, एतद्रूपा इत्यर्थः । वान्तपित्तकरणशीलाः, शुक्रशोणिताभ्यां समुद्भव उत्पत्तिर्येषां ते शुक्रशोणितसमुद्भवाः । (दुरूवउस्सासनिस्सासा) दुरूपेण पूतिकपुरुषेण पूर्णाः इह दुरूपं विरूपम्, वान्तमास्रवन्ति वान्तास्रवाः, एवं पित्तास्रवाः, पश्चात् मरणसमयानन्तरं, पूर्वं जराया आगमात् च, अवश्यमविगतं नियमता, अवशं वा, विप्रजहात्, सन्ति विद्यन्ते च, खल्वित्यवधारणेऽत्र देवा देवलोके (ते णं तत्थ अण्णेसिमित्यादि) तद्देवत्वोत्पन्ना निर्ग्रन्थाः तत्र देवलोके अन्येषां देवानां संबन्धिनीर्देवीः (अभिजुंजिय २) अभियुज्य २ वशीकृत्य २ आश्लिष्य वा, परिचारयन्ते परिभुञ्जते । (अप्पणा चेव अप्पाणं ति) आत्मनैव आत्मानं, स्त्रीपुरुषरूपतया विकृत्येत्यर्थः । शेषं सुबोधार्थम् ॥ ५ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते । तं जहा-तं चेव से य परक्कममाणे माणुस्सएसु कामभोगेसु निव्वेदं गच्छेज्जा, माणुस्सगा खलु कामभोगा अणिया तहेव० जाव संति उड्ढं देवा तं च लोगंसि ते णं तत्थ अण्णदेवाणं अण्णदेविं अभिजुंजिय २ परियारेंति, अप्पणा चीयाए देवीए अभिजुंजिय २ परियारेंति, अप्पणामेव अप्पणा विउव्विय परियारेंति । इमस्स तव० जाव तं चेव सव्वं० जाव से णं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा? । णो इणट्ठे समट्ठे । अण्णरुई रुइमाताए से य भवति से, जे इमे आरण्णिया आवसहिया गामंतिया कण्हुइरहस्सिया णो बहुसंजता णो बहुपडिविरता सव्वपाणभूतजीवसत्तेसु अप्पणा विरता अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विप्पडिवेदेंति-अहं ण हंतव्वो, अण्णे हंतव्वा, अहं न अज्जावियव्वो, अण्णे अज्जावियव्वा, अहं ण परितावेयव्वो, अण्णे परितावेयव्वा, अहं ण परिघेतव्वो, अण्णे परिघेतव्वा, अहं ण उवद्दवेयव्वो, अण्णे उवद्दवेयव्वा, एवामेव इत्थिकामेहिं च मुच्छिता गिद्धा गढिया अज्झोववण्णा जाव वासाइं चउपंचछद्दसमयाइं भोगभोगाइं भुंजित्ता तेहिं जिया कालमासे कालं किच्चा अण्णतराइं आसुराइं किव्विसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति, ते ततो विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमुयत्ताए य पच्चायंति, तं एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स० जाव णो संचाएति केवलिपण्णत्तं धम्मं सद्दहित्तए वा ॥ ६ ॥

(किं तु अण्णरुइ त्ति) अन्यत्र जैनधर्मातिरिक्ते स्थाने रुचिरभिलाषा यस्याः सा चान्यरुचिः पररुचिः, रुचिमात्रया धर्मश्रद्धारूपया स च भवति, ये चामी वक्ष्यमाणा भवन्ति-(आरण्णिय त्ति) अरण्ये वसन्त्यारण्यकाः, तापसा कन्दमूलफलाऽऽहाराः, ततः केचन वृक्षमूले वसन्ति । तथा-(आवसहिय त्ति) आवसथिकाः, आवसथास्तापसाश्रया उटजाऽऽदयः, तत्र वसन्तीति आवसथिकाः । (गामंतिया इति) ग्रामाऽऽदिकमुपजीवन्तो ग्रामस्यान्ते समीपे वसन्तीति ग्रामान्तिकाः । तथा-(कण्हुइरहस्सिया इति) कस्मिंश्चित्कार्ये मण्डलप्रवेशाऽऽदिके रहस्यं येषां ते कचिद्राहस्यिकास्ते एते न बहुसंयता न सर्वसावद्यानुष्ठाने भोगनिवृत्ताः । एतदुक्तं भवति-न बाहुल्येन त्रसेषु दण्डं समारभन्ते विदधति, एकेन्द्रियोपजीविनस्त्वविधानेन तापसाऽऽदयो भवन्ति इति । तथा न बहुप्रतिविरताः-न सर्वेष्वपि प्राणातिपातविरमणाऽऽदिव्रतेषु वर्तन्ते, किं तु द्रव्यतः कतिपयव्रतिनो, न भावतो, ममागपि तत्कारणस्य सम्यग्दर्शनस्याभावात् । सम्यक्त्वं विना न तदनुष्ठानमपि शोभनं, सम्यक्त्वमेव मूलं सर्वस्याऽपि विरत्यादेरित्यभिप्रायः । इत्येतदेवाऽऽविर्भावयितुमाह-(सव्वपाणेत्यादि) ते आरण्यकाऽऽदयः सर्वप्राणभूतसत्त्वेभ्य आत्मना स्वतो विरताः, तदुपमर्दकाऽऽरम्भाद्विरता इत्यर्थः । तथा ते पाखण्डिकाः आत्मना स्वतो बहूनि सत्यामृषाभूतानि वाक्यान्येवं वक्ष्यमाणानीत्यविशेषेण प्रयुञ्जन्तो 'विप्पडिवेदेंति' विप्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः । यदि वा-सत्यान्यपि तानि प्राण्युपमर्दकत्वेन मृषाभूतानि सत्यामृषाण्येवं ते प्रयुञ्जन्तीति दर्शयन्ति । तद्यथा-"अहं ब्राह्मणत्वादवध्योऽन्ये हन्तव्याः, अन्यं तु शूद्रत्वाद्धन्तव्याः" । तथाहि तद्वाक्यम्-"शूद्रं व्यापाद्य प्राणायामं

श्रयेत"। तथा-"क्षुद्रलसत्त्वानामनशिष्यकाणां शकटभरमपि स्थापाय्य प्रामर्थं नोजयेत्"इत्यादि। अपरं चाऽऽह-"वर्णोत्तमस्त्वाज्ञापयितव्यः,अन्ये स्त्वाज्ञापयितव्याः। अहं न परितापयितव्यः,अन्ये तु परितापयितव्याः।"तथा"अहं वेतनाऽऽदिना कर्मकारणाय न ग्राह्यो-ऽन्ये तु शूद्रा ग्राह्याः"इति। किं बहुनोक्तेन-"नाहमपद्रावयितव्यो जीवितव्यात,अन्ये त्वपद्रावयितव्याः"इति। तदेवं तेषां परपीडो-पदेशः। ततो न सूक्ष्मनयाऽऽसंबद्धप्रमापिनामशातानामात्मम्भरिणां विषमदृशीनां प्राणातिपातविरतिरूपव्रतमस्ति। अस्य चोपलक्षणार्थत्वान्मृषावादादत्ताऽऽदानविरमणाभावोऽप्यायोज्यः। अधुना स्त्वनादिभवाभ्यासाद् दुस्त्यजत्वेन प्राधान्यात् मैथुनाश्रवमधिकृत्याऽऽह-(एवामेवेत्यादि)एवमेव पूर्वोक्तेनैव कारणत्वेनातिसूक्ष्मत्वाऽऽदिना परमार्थमजानानास्ते तीर्थिकाः स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः। यदि वा-स्त्रीपुंकामेषु,चशब्दात्तेषु मूर्च्छिता गृद्धाः,ग्रथिता अध्युपपन्नाः। अत्र चास्यादरख्यापनार्थं प्रभूतपर्यायग्रहणम्। एतच्च स्त्रीषु शब्दाऽऽदिषु प्रवर्त्तनं प्रायः प्राणिनां प्रधानं संसारकारणम्। तथा चोक्तम्-"मूलमेयमहम्मस्स"इत्यादि। इह च स्त्रीसङ्गाऽऽलकस्यावश्यंभाविनी शब्दाऽऽदिविषयाऽऽसक्तिरिति, अतः स्त्रीकामग्रहणम्। तत्र चाऽऽसक्ता यावन्तं कालमासते, तत्सूत्रेणैव दर्शयति-यावद्वर्षाणि चतुःपञ्चषड्दशकानि। अयं च कालो गृहीतः। एतावत्कालोपादानं च प्रायिकम,प्रायस्तीर्थिका अतिक्रान्तवयस एव प्रव्रजन्ति,तेषां चैतावानेव कालः संभाव्यते। यदि वा मध्यग्रहणात्तत ऊर्ध्वमधश्च गृह्यते। तद्दर्शयति-तस्मात्प्रतिपेतकालादल्पतरो भूयस्तरो वाऽपि कालो भवति। तत्र च ते त्यक्त्वाऽपि गृहवासं,भुक्त्वा भोगभोगानिति, स्त्रीभोगे सत्यवश्यं शब्दाऽऽदयो भोगभोगास्तान् भुक्त्वा ते च भोगेभ्यो जिता इति,न च भोगेभ्यो विनिवृत्ताः, यतोऽसावप्यहदूनयन शानवत्त्वात्सम्यग्विरतिपरिणामरहिताः, ते चैवंभूतपरिणामाः स्वायुषः क्षये कालमासे कालं कृत्वाऽन्यतरेष्वासुरिकेषु किल्बिषिकेषु स्थानेषु उत्पादयितारो भवन्ति। ते ह्यज्ञानतपसा मृता अपि किल्बिषिकेषूत्पद्यन्ते, तस्मादपि स्थानादायुषः क्षयाद्विप्रमुच्यमानाश्च्युताः किल्बिषबहुलास्तत्कर्मशेषेणैडमूकवद् मूका एडमूकाः, तद्भावेनोत्पद्यन्ते किल्बिषस्थानाद् च्युतः सन्ननन्तरभवे वा मानुषत्वमवाप्य यथैकोऽव्यक्तभाषत्वस्यैवमेषामव्यक्तवाक् समुत्पद्यत इति। तथा (तमुयत्ताए त्ति) तमस्त्वेनात्यन्ताम्धनमस्त्वेन ज्ञानावृततया वा, तथैलमूकत्वेनाऽपि गतश्चाथ इह प्रत्यागच्छन्तीति। शेषं प्रतीतम् ॥ ६ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते० जाव माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा तहेव संति उड्ढं देवा देवलोयंमि अण्णं देवं अण्णं च देविं अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति,णो अप्पणा चेव अप्पाणं विउव्विय विउव्विय परियारेंति-जति इमस्स तवनियम० जाव तं चेव० जाव एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथे वा निग्गंथी वा णिदाणं किच्चा अणालोइय तं चेव० जाव विहरति, से णं भवं अण्णं भवं देवं अण्णं देविं णो अदेवेणं अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति, नो अप्पणा चेव अप्पाणं वेउव्विय वेउव्विय परियारेंति, से णं ताओ देवलोगातो आउक्खएणं तहेव वत्तव्वं, णवरं हंता सद्दहेज्जा,पत्तिएज्जा,रोएज्जा। से णं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं पडिवज्जेज्जा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। से णं दंसणसावए भवति,अभिगयजीवाजीवे अट्ठिमिंजापेमाणुरागरत्ते सेसे अणिट्ठे, से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणइ, बहूइं समणोवासगपरियागं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावफलविवाए, जं णो संचाएति सीलव्वतगुणपोसहोववासाइं पडिवज्जित्तए ॥ ७ ॥

सप्तमे किमपि लिख्यते-" णवरं " इति विशेषः। (हंता सद्दहेज्जा इति) श्रद्दधीत, प्रतीयेत्प्रतीतिं विदध्यात्, रोचयेत् चेतसि सम्यक्तया जानीयात् (सीलव्वय त्ति) प्रागवत्। प्रतिपद्येत अङ्गीकुर्यात् ?। गुरुराह-नायमर्थः समर्थो नायमर्थो युक्त्योपपन्नः, स हि दर्शनश्रावको भवति। दर्शनं नाम-सम्यक्त्वं, तदाश्रित्येत्यभिप्रायः। (अभिगयेत्यादि) अथ व्याख्यास्यते। एवंभूतः स बहूनि वर्षाणि श्रमणोपासकपर्यायं पालयति, केवलेनाऽपि सम्यक्त्वेन श्रावको भवत्येव, क्रियायामपि तस्यैव प्रधानतरत्वात् ॥ ७ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, तं चेव सव्वं० जाव से य परक्कममाणे दिव्वमाणुस्सगा कामभोगा अधुवा ० जाव विप्पजहणिज्जा,दिव्वा वि खलु कामभोगा अधुवा अणितिया असासता चलाचलणधम्मा पुणरागमणिज्जा पच्छा पुव्वं च णं अवस्सं विप्पजहणिज्जा, जति इमस्स तवनियमस्स० जाव आगमेस्साणं जइ इमे भवंति उग्गपुत्ता महामाउया० जाव पुमत्ताए पच्चायंति। तत्थ णं समणोवासए भविस्सामि अभिगतजीवाजीवा० जाव फासुयएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणे विहरिस्सामि, से तं साधु। एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथो वा निग्गंथी वा णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय० जाव देवलोएसु देवत्ताए उववज्जेज्जा० जाव किं भे आसगस्स सदति ?, तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजातस्स वि हंता सद्दहिज्जा, से णं सीलव्वय० जाव पोसहोववासाइं पडिवज्जेज्जा, से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। से णं समणोवासए भवति अहिगतजीवाजीवे० जाव पडिलाभेमाणे विहरति, से णं एतारूवेणं विहरमाणे बहूणि वासाणि समणोवासगपरियागं पाउणति, बहूइं समणोवासगपरियागं पाउणित्ता आबाहंसि उप्पण्णं वा हंता ! पच्चक्खाएइ, हंता ! बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेइ, छेदेइत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। एवं खलु समणा-

'उसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे एवं फलविवागो जं णो संचाएति सव्वतो सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ॥ ८ ॥

अष्टमे किमपि लिख्यते-(तत्थ णं) तत्र पुत्राऽऽदिषु अहं श्रमणोपासको भूयासं, विशिष्टोपदेशार्थं श्रमणानुपास्ते सेवते इति श्रमणोपासकः । स च श्रमणोपासनतः (अहिगतजीवाजीवे इत्यादि) अधिगतौ सम्यग्विज्ञातौ जीवाजीवौ येन स तथा। व्याख्यानात्-" उवलद्धपुण्णपावे " इत्यादिपदकदम्बकसंग्रहः। उपलब्धे यथाऽवस्थितस्वरूपेण विज्ञाते पुण्यपापे येन स उपलब्धपुण्यपापः,आश्रवाणां प्राणातिपाताऽऽदीनां संवरस्य प्राणातिपाताऽऽदिप्रत्याख्यानरूपस्य निर्जरायां कर्मणां देशतो निर्जरणस्य क्रियाणां कायिक्यादीनामधिकरणानां खड्गाऽऽदीनां बन्धस्य कर्मपुद्गलजीवप्रदेशान्योऽन्याऽऽगमरूपस्य मोक्षस्य सर्वाऽऽत्मना कर्मापगमरूपस्य कुशलः सम्यक्परिज्ञाता, आश्रवसंवरनिर्जराक्रियाऽधिकरणबन्धमोक्षकुशलः । एतेन चास्य ज्ञानसंपत्तोक्ता । (असहेज्जे इति) अविद्यमानसहायः कुतीर्थिकप्रेरितसम्यक्त्वाविचलनं प्रति न परसाहाय्यमपेक्षते इति भावः । तथा चाऽऽह-(देवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिंनरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जे) देवा वैमानिका असुरकुमारा नागकुमारा राक्षसकिंनरकिम्पुरुषा व्यन्तरभेदाः (गरुल त्ति) गरुडचिह्नाः सुवर्णकुमारा गन्धर्वमहोरगाश्च व्यन्तराः, तैः (अणतिक्कमणिज्जे इति) अनतिक्रमणीया अचालनीयाः । एवं चैतत् । यतः-(निग्गंथे पावयणे निस्संकिए इत्यादि) निर्ग्रन्थे प्रावचने निःसंशयः (निक्कंखिए त्ति) दर्शनान्तराकाङ्क्षारहितः । (निव्वितिगिच्छे) फलं प्रति निःशङ्कः । (लद्धट्ठे) अर्थश्रवणतः (गहियट्ठे) गृहीतार्थोऽवधारणतः (पुच्छियट्ठे) पृष्टार्थः, सांशयिकार्थप्रश्नकरणात् । (अहिगयट्ठे त्ति) अधिगतोऽर्थो येन स तथा । अभिगतार्थो वा, अर्थावधारणात् । (विणिच्छियट्ठे त्ति) विनिश्चितार्थः, एवं पर्याप्तोपलम्भात् । अत एव-(अट्ठिमिंजापेम्माणुरागरत्ते त्ति) अस्थीनि च कीकसानि । 'मिंजा च' तन्मध्यवर्ती धातुविशेषः अस्थिमिञ्जास्ताः प्रेमानुरागेण सर्वज्ञप्रवचनप्रीतिलक्षणकुसुम्भाऽऽदिरागेण रक्ता इव रक्ता यः स तथा । केनोल्लेखेनेत्यत आह-(अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे त्ति) अयमिति प्राकृतत्वादिदम् । (आउसो त्ति) आयुष्मन्निति पुत्राऽऽदेरामन्त्रणम् । (सेसे त्ति) शेषं निर्ग्रन्थप्रवचनेनातिरिक्तं धनधान्यकलत्रपुत्रमित्रकुप्रवचनाऽऽदिकम्, अनर्थोऽनर्थकारणत्वात् इति । (ऊसियफलिहे त्ति) उच्छ्रितोच्छ्रूनमुन्नतं स्फटिकमिव स्फटिकं चित्तं यस्यासौ उच्छ्रितस्फटिकः, मौनीन्द्रप्रवचनावाप्त्या परितुष्टमना इत्यर्थः । एषा वृद्धव्याख्या । अपरे त्वाहुः-उच्छ्रितोऽर्गलाऽऽस्थानादपनीय कर्ध्वीकृतो न तिरश्चीनः कपाटपश्चाद्भागादपनीत इत्यर्थः । उत्सृतो वा अपगतः परिघोऽर्गला गृहद्वारे यस्याः सा, व्युत्सृतपरिघो वा-औदार्यातिरेकतोऽतिशयदानदायित्वेनानुकम्पया भिक्षुकप्रवेशार्थमनर्गलितगृहद्वार इत्यर्थः । (अवंगयदुवारे) अप्रावृतद्वारः भिक्षुकप्रवेशार्थं कपाटानामपि पश्चात्करणात् । वृद्धानां तु व्याख्यावाक्यमेव । सम्यग्दर्शनलाभे सति न कस्माच्चित्पाषण्डिकाद्बिभेति, शोभनमार्गपरिग्रहणे उद्घाटितशिरास्तिष्ठतीति भावः । (चियत्तंतेउरघरप्पवेसे इति) (चियत्तो त्ति) लोकानां प्रतीत एवान्तःपुरे वा गृहे वा प्रवेशो यस्य स तथा, अतिधार्मिकतया सर्वत्राऽनाशङ्कनीय इत्यर्थः । (चियत्ते त्ति) नाप्रीतिकरोऽन्तःपुरगृहयोः प्रवेशः शिष्टजनप्रवेशनं यस्य स तथा, अनीर्ष्यालुतापादनानन्तरं चार्थं विशेषणमिति । अथ वा (चियत्तो त्ति) त्यक्तोऽन्तःपुरगृहयोः परकीययोर्यथाकथञ्चित्प्रवेशो येन स तथा । (चाउद्दसट्ठमिउद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णपोसहमणुपालेमाणे त्ति) चतुर्दशी पर्वतिथितया प्रतीता, अष्टमी च, तयोः अमावास्यासु मासार्द्धैकपर्वत्वेन प्रत्याख्यानासु, पौर्णमासीषु च पूर्णमासत्वेन पूर्णचन्द्रोदयत्वेन मासान्तपर्वसु प्रसिद्धासु, एवंभूतेषु धर्मदिवसेषु, शुद्धातिशयेन प्रतिपूर्णो यः पौषधो व्रताभिग्रहविशेषः,तं प्रति पूर्णमाहारशरीरसंस्कारब्रह्मचर्याव्यापाररूपं पौषधमनुपालयन्, संपूर्णश्रावकधर्ममनुचरति । तदनेन विशिष्टं देशचारित्रमावेदितं भवति । (समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं) अत्र वस्त्रं प्रतीतम्, पतद्ग्रहं पात्रं वा गृह्णातीति पतद्ग्रहः । लिहाऽऽदित्वादच् प्रत्ययः । पात्रं पादप्रोञ्छनकं रजोहरणम् । (ओसहभेसज्जेणं ति) औषधमेकद्रव्याऽऽश्रयं यत्समुदायरूपम् । अथवौषधं त्रिफलाऽऽदि भैषज्यम्(पाडिहारिएणं पीढफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणे त्ति)प्रतिहारः प्रत्यर्पणं प्रयोजनमस्येति प्रातिहारिकं,पीठमासनं,फलकमवष्टम्भनार्थः काष्ठविशेषः, शय्या वसतिः, शयनं च यत्र प्रसारितपादः सुप्यते,संस्तारको लघुतरशयनमेव । (बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं आहारपरिग्गहेहिं अप्पाणं भावेमाणे त्ति) शीलव्रतानि अणुव्रतानि, गुणा गुणव्रतानि, विरमणानि रागाऽऽदिविरतिप्रकाराः, प्रत्याख्यानानि नमस्कारसहिताऽऽदीनि, पौषधोपवासो विशेषतोऽष्टम्यादिदिनेषूपवसनमाहाराऽऽदित्याग इत्यर्थः । (विहरिस्सामि त्ति) विचरिष्ये । कचिदेतानि पदानि अनानुगमेनापि दृश्यन्ते । तान्यपि अनेन व्याख्याऽनुक्रमेण वाच्यानि । (से णं मुंडे इत्यादि) स मुण्डो मस्तकलोचनेन भूत्वा, (आगाराओ त्ति) अगेहिनं गृहवासाद्विनिर्गतः,तस्मात् निष्क्रान्त इति शेषः अनगारितां साधुतां प्रव्रजेत् प्रतिपद्येत,शेषं व्यक्तम् । (से णमित्यादि) स पूर्वोक्तनिदानकृता यथाशक्ति सदनुष्ठानं विधाय उत्पन्ने वा कारणे अनुत्पन्ने वा भक्तं प्रत्याख्याय यथाऽऽलोचितप्रतिक्रान्तः समाधिप्राप्तः सन् कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु लोकेषु उत्पद्यते इति । एतानि चाभिगतजीवाऽऽदिकानि पदानि हेतुमद्भावेन नेतव्यानि । तद्यथा-यस्मादभिगतजीवाजीवः, तस्मादुपलब्धपुण्यपापः, यस्मादुपलब्धपुण्यपापस्तस्मादुच्छ्रितमनाः,एवमुच्छ्रितमनाः सन् श्रावकधर्मं साधुधर्मं वा प्रकाशयन् विहरति । अष्टमीचतुर्दश्यादिषु पौषधोपवासाऽऽदिपारणकेषु साधून् प्रासुकेन प्रतिलाभयते । एतन्निदानस्यैतत्फलं, यज्जानन्नपि कटुकविपाकान् विषयान् विहाय न चारित्रं प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते० जाव से य परक्कममाणे दिव्वमाणुस्सएहिं कामभोगेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा, माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा० जाव विप्पजहणिज्जा दिव्वा वि खलु कामभोगा अधुवा० जाव पुणरागमणिज्जा,जति इमस्स तवनियम० जाव वयमवि आगमेस्साणं जाइं इमाइं अंतकुलाणि वा, तुच्छकुलाणि वा, दरिद्दकु-

णाणि वा, किविणकुलाणि वा, भिक्खागकुलाणि वा, बंभकुलाणि वा । एएसि णं अण्णतरंसि कुलंसि पुमत्ताए पच्चायंति, एएहिं मे आतापरियाएसु णीहरे भविस्सति, से तं साधु । एवं समणाओ खलु सो णिग्गंथे निपाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइयअपडिक्कंत सव्वं तं चेव० जाव से णं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा, से णं तेणेव जवग्गहणेणं सिज्झेज० जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । से णं जवइ सेसे जे अणगारा भवंतो इरियासमिता० जाव बंजचारी, ते णं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता आबाहंसि उप्पणंसि वा० जाव जत्तं पच्चाइक्खित्ता० जाव कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो जवंतीति । त एवं समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागं, जं णो संचाएति तेणेव जवग्गहणेणं सिज्झेज्जा० जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा ॥ ए ॥

नवमे किमपि लिख्यते-(अंतकुलाणि व त्ति) जघन्यकुलानि, अन्त्यवर्णत्वात् प्रान्तकुलानि तुच्छकुलानि स्वल्पकुटुम्बानि दरिद्रकुलानि सर्वथा निर्धनकुलानि कृपणकुलानि सत्यपि वित्तचेऽर्थेऽथ निःस्वानि भिक्षणशीलानि भिक्षुककुलानि भिक्षामात्रोपजीवीनि,ब्राह्मणकुलानि प्रतीतानि । एतेषामन्यतरस्मिन् कुले पुंस्त्वेन प्रत्यागमिष्यामि,यत एतेभ्यः कुलेभ्यः ममाऽऽत्मपर्यायेषु निःसारितो भविष्यति, प्रव्रज्याभिप्राये संजाते न कोऽपि मां प्रतिबन्धको भविष्यतीति हृदयम् । (से णं तेणव त्ति) स तस्मिन् भवग्रहणे ततः प्रव्रज्याऽपि सिद्धचेत् । पदव्याख्या पूर्ववत् । " अणगारा " इत्यादि व्यक्तम् । यावत्करणात्-"भासासमिए एसणासमिए" इत्यादिपदानि द्रष्टव्यानि । (सुहुयेत्यादि) सुष्ठु हुतं क्षिप्तं घृताऽऽदि यत्राऽसौ सुहुतो घृताऽऽदितर्पितः, स चासौ हुताशनश्च वह्निस्तद्वत्तेजसा ज्ञानरूपेण तपस्तेजसा वा ज्वलन् दीप्यमानः । शेषं सुबोधम् । एतन्निदानस्यैतत्फलं यन्न शक्नोति कर्मक्षयं विधाय मोक्षगमनं प्रतीतिसितात्पर्यमिति नवमम् ॥ ९ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते । तं जहा-इणमेव निग्गंथं० जाव से परक्कमेज्जा, अणुदिण्णकामजाए सव्वकामविरते सव्वरागविरते सव्वसंगातीते सव्वसिणेहातिक्कंते सव्वचारित्तपरिवुडे तस्स णं भगवंतस्स अणुत्तरेणं णाणेणं अणुत्तरेणं दंसणेणं० जाव परिनिव्वाणमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जेज्जा । तते णं से जगवं अरहा जवति जिणे केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी सदेवमणुयासुराए० जाव बहूइं केवलपरियागं पाउणंति, बहूइं केवलपरियागं पाउणित्ता अप्पणो आउसेसं आभोएति, आभोएत्ता भत्तं पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेति, बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता ततो पच्छा चरिमेहिं ऊसासनीसासेहिं सिज्झति० जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेति, तं एवं खलु समणाउसो ! तस्स अणिदाणस्स इमेयारूवे कल्लाणफलविवागे, जं तेणेव जवग्गहणेणं सिज्झति० जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेति । तते णं ते बहवे णिग्गंथाओ निग्गंथीओ य समणस्स जगवओ महावीरस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म समणं जगवं महावीरं वंदंति, नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता तस्स ठाणस्स आलोएंति, पडिक्कमंति० जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जंति ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं बहूणं देवाणं बहूणं देवीणं सदेवमणुयासुराए परिसाए मज्झगते एवं आइक्खति, एवं भासति, एवं परूवेति, आयातिट्ठाणे णाम अज्जो ! अज्झयणे सअट्ठं सहेउअं सकारणं सुत्तं च अत्थं च तदुभयं च जुज्जो उवदरिसेति त्ति बेमि ॥ १० ॥

(अणुदिण्णकामजाते त्ति) अनुदीर्णः कामजातः कामगमः (सव्वकामविरतेति) सर्वकामविरक्तः सर्वसङ्गातीतः सर्वस्नेहातिक्रान्तः सर्वचारित्वेन सर्वधर्मानुष्ठायित्वेन परिवृतः, तस्य भगवतः (अणुत्तरेणं णाणेणं ति) ज्ञानं मत्यादि, तदपेक्षया अनुत्तरं प्रधानं तेन । यावत्करणात्-"दंसणेणं चरित्तेणं " इत्यादिपदानि द्रष्टव्यानि । (परिनिव्वाणमग्गेणं ति) परिनिर्वाणं कषायदाहोपशमनमार्गेण आत्मानं भावयतो यासयतः, अनेनाऽऽत्मैव प्रधानमोक्षाङ्गमित्युक्तम् । (अणंते इत्यादि) अनन्तमनन्तार्थविषयाद्वा अनन्तमन्तरहितमपर्यवसितत्वात् । अनुत्तरं सर्वोत्तरं सर्वोत्तमत्वात् । निर्व्याघातं कटकुड्याद्यप्रतिहतत्वात् । निरावरणं क्षायिकत्वात् । कृत्स्नं सकलार्थग्राहकत्वात् । प्रतिपूर्णं सकलस्वांशसमन्वितत्वात् राकाचन्द्रवत्. केवलमसहायम, अत एव वरं प्रधानं ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शनम् । ततः पूर्वपदाभ्यां कर्मधारयः । समुत्पद्यते सकलावरणक्षयादाविर्भवति । [तते णमित्यादि] ततः स भगवानर्हन् जिनः केवली च भवति सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वविशेषाणां सामान्यस्य च प्रथमद्वितीयाऽऽदिसमयेषु अवबोधमानः सदेवमनुजासुराया जन्तुसन्ततेः । यावत्करणात्-"सव्वभावे जाणमाणे" इत्यादि द्रष्टव्यम । भावानिति पर्यायान् उत्पादस्थितिव्ययलक्षणान् जानाति यथावदवगच्छन् विहरत्यास्ते [अप्पणो आउसेसं ति] आत्मानमायुःशेषं पश्यति । शेषं सुबोधम् । अथोपसंहर्तुकामो भगवानिदमाह-[एवं खल्वित्यादि] एवं पूर्वोक्तप्रकारेण हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! तस्यानिदानस्यायमेतद्रूपः कल्याणः शुभः फलविपाकः वृत्तिविशेषः । किं तदित्याह-तेनैव भवग्रहणेन सर्वदुःखानामन्तं करोति । इति श्रुत्वा यत्ते कृतवन्तस्तदाह-[तते णमित्यादि] सुबोधम् [तस्स त्ति] स्थानस्यानन्तरोक्तस्थानस्य निदानरूपस्याऽऽलोचयन्ति । स्वमनीषिकापरिहाराय भगवान् भद्रबाहुस्वामी प्राऽऽह-[तेणं कालेणमित्यादि] राजगृहे गुणशिलाख्ये समवसरणावसरे श्रमणा-

ऽऽदिसुरान्तपरिषन्मध्यवर्ती, एवमाख्यातीति यथोक्तं कथयति, एवं भाषते वाग्योगेन, एवं प्रज्ञापयति अनुपालितस्य फलं प्रदर्शयति, एवं प्ररूपयति । किं तदित्याह--(आयातिट्ठाणे त्ति) आयातिर्नाम उत्तरकालस्तस्य स्थानं पदमित्यभिधानम् । हे आर्याः ! अध्ययनं [सअट्ठमित्यादि] व्याख्यातार्थम् । इति ब्रवीमीति पूर्ववत् । दशा० १० अ० । (मध्यस्थस्य केवलं वस्तुस्वभावपरस्य निदानमपि अनिदानमेवेति प्रथमभागे २३६ पृष्ठे ' अट्ठज्झाण ' शब्दे उक्तम्)

भिज्जा णिदाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमंथू, सव्वत्थ भगवया अणिदाणया पसत्था ।

'भिज्ज त्ति' लोभः, तेन यन्निदानकरणं चक्रवर्तीन्द्राऽऽदिऋद्धिप्रार्थनं, तन्मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनाऽऽदिरूपस्य परिमन्थुरातैध्यानरूपत्वात् । भिक्षाग्रहणाच्चपुनरलोभस्य भवनिर्वेदमार्गानुसारिताऽऽदिप्रार्थनं, तन्न मोक्षमार्गस्य परिमन्थुरिति दर्शितमिति । स्था० ६ ठा० । ननु तीर्थकरत्वाऽऽदिप्रार्थनं न राज्याऽऽदिप्रार्थनवद् दुष्टम्; अतस्तद्विषयं निदानं मोक्षस्य परिमन्थुर्न भविष्यति ?। नैवम् । यत आह-(सव्वत्थेत्यादि) सर्वत्र तीर्थकरत्वचरमदेहत्वाऽऽदिविषयेऽपि, आस्तां राज्याऽऽदौ, अनिदानता अप्रार्थनमेव, भगवता समग्रैश्वर्याऽऽदिमता श्रीमन्महावीरस्वामिना (पसत्थ त्ति) प्रशंसिता श्लाघिता । एष सूत्रार्थः। (सू०)

अथ निदानकरणमाह-

अनियाणं निव्वाणं, काऊणमुवट्ठितो भवे लहुओ ।
पावति धुवमायातिं, तम्हा अणियाणता सेया ॥२६४॥

अनिदानं निदानमन्तरेण साध्यं निर्वाणं भगवद्भिः प्रज्ञप्तं,ततो यो निदानं करोति, तस्य तत्कृत्वा पुनर्निदानकरणेनोपस्थितस्य लघुको मासः प्रायश्चित्तम् । अपि च-यो निदानं करोति, स यद्यपि तेनैव भवग्रहणेन सिद्धिं गन्तुकामः, तथापि ध्रुवमवश्यमायातिं पुनरेवाऽऽगमनं प्राप्नोति, तस्मादनिदानता श्रेयसी ।

इदमेव व्याचष्टे-

इहपरलोगनिमित्तं, अवि तित्थकरत्तचरिमदेहत्तं ।
सव्वत्थेसु भगवता, अणिदाणत्तं पसत्थं तु ॥२६५॥

इहलोकनिमित्तमिहैव मनुष्यलोके-अस्य तपसः प्रभावेण चक्रवर्त्यादिभोगानहं प्राप्नुयामिहैव भावविपुलान् भोगानासादयेयमितिरूपं, परलोकनिमित्तं मनुष्यापेक्षया देवभवाऽऽदिकः परलोकः, तत्र महर्द्धिक इन्द्रसामानिकाऽऽदिरहं भूयासमित्यादिरूपं,सर्वमपि निदानं प्रतिषिद्धम् । किं बहुना ?, तीर्थकरत्वेन चाहंत्वेन युक्तं चरमदेहत्वं मे भवान्तरे भूयादित्येतदपि नाऽऽशंसनीयम् । कुतः ?, इत्याह-सर्वार्थेष्वप्यैहिकाऽऽमुष्मिकेषु प्रयोजनेषु अभिष्वङ्गविषयेषु भगवता अनिदानत्वमेव प्रशस्तं श्लाघितम्, तुशब्द एवकारार्थः । स च यथास्थानं योजितः । (बृ०)

आह-निदाने किमिति द्वितीयपदं नोक्तम् ?, उच्यते-नास्ति, कुतः ?, इति चेदत आह-

जा सालंबणसेवा, तं बीयपयं वयंति गीयत्था ।
आलंबणरहियं पुण, निसेवणं दप्पियं वेंति ॥२६६॥

या सालम्बनसेवा या ज्ञानाऽऽद्यालम्बनयुक्ता प्रतिसेवा, तां द्वितीयपदं गीतार्था वदन्ति, आलम्बनरहितां पुनर्निषेवणां प्रतिसेवां दर्पिकां ब्रुवते-तत्राऽऽलम्बनमनिदानकरणे किमपि नास्ति-

यतो-" सव्वत्थ अनियाणया भगवया पसत्था" इति वचनात् । अथ भोगार्थं विधीयमानं निदानं तीव्रविपाकं भवतीति कृत्वा मा क्रियतां, यत्पुनरमुना प्रणिधानेन निदानं करोति-माम ! मे राजाऽऽदिकुले उत्पन्नस्य भोगाभिष्वङ्गस्य प्रव्रज्या न भविष्यतीत्यतो दरिद्रकुलेऽहमुत्पद्येयम, तत्रोत्पन्नस्य भोगाभिष्वङ्गो न भविष्यति, एवं निदानकरणेऽदोषः ?।

सूरिराह-

एवं सुनीहरो मे, होहिति अप्प त्ति तं परिहरंति ।
हंदि हु णेच्छंति भवं, भववोच्छित्तिं विमग्गंता ॥२६७॥

एवमवधारणे, किमवधारयति-दरिद्रकुले उत्पन्नस्य मे ममाऽऽत्मा असंयमात् सुनिर्हरः सुनिर्गमो भविष्यति -सुखेनैव संयममङ्गीकरिष्यामीत्यर्थः । इतीदृशमपि यन्निदानं, तदपि साधवः परिहरन्ते । कुतः?, इत्याह-' हंदीति ' नोदकाऽऽमन्त्रणे, हुरिति यस्मादर्थे । हे सौम्य! यस्मान्निदानकरणेन भवानां परिवृद्धिर्भवति, सर्वोऽपि च प्रव्रज्याप्रयत्नोऽस्माकं भवव्यवच्छित्तिं कर्तुमिति विविधैः प्रकारैर्मार्गयन्तः साधवो भवं नेच्छन्ति ।

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति-

जो रयणमणग्घेयं, विकिज्जऽप्पेण तत्थ किं साहू ?।
दुग्गयभवमिच्छते, एसो च्चिय होति दिट्ठंतो ॥२६८॥

योऽनर्घमिन्द्रनीलमरकताऽऽदिकं रत्नमल्पेन स्वल्पमूल्येन काचाऽऽदिना विक्रीणीयात्तत्र किं साधु किं नाम ! शोभनम्?,न किञ्चिदित्यर्थः । दुर्गतभवं दरिद्रकुलोत्पत्तिमिच्छत एष एव दृष्टान्त उपनेतव्यो भवति । तथाहि-अनर्घरत्नस्थानीयं चारित्रं, निरुपमानन्ताऽऽनन्दमयमोक्षफलसाधकत्वात्, काचशकलस्थानीयो दुर्गतभवः,तुच्छत्वात्,ततो यश्चारित्रविक्रयेण तत्प्रार्थनं करोति, स मन्दभाग्योऽनर्घरत्नं विक्रीय काचशकलं गृह्णातीति मन्तव्यम् ।

अपि च-

संगं अणिच्छमाणो, इह परलोए य मुच्चति अवस्सं ।
एसेव तस्स संगो, आसंसति तुच्छयं जं तू ॥२६९॥

इहलोकविषयं परलोकविषयं च सङ्गं मुक्तिपदप्रतिपक्षभूतम् अभिष्वङ्गमनिच्छन्नवश्यं मुच्यते कर्मविमुक्तो भवति, कः पुनस्तस्य सङ्गः ?, इत्याह-एष एव तस्य सङ्गो यन्मोक्षाऽऽख्यविपुलफलदायिनः तपसः तुच्छकं फलमाशास्ते प्रार्थयति ।

तद्रूपोऽपि निदानस्यैव पर्यायकथनद्वारेण दोषमाह-

बंधो त्ति णियाणं ति य, आससजोगो य होति एगट्ठा ।
ते पुण ण बोहिहेऊ, बंधावचया भवे बोही ॥२७०॥

बन्ध इति वा, निदानमिति वा, आशंसायोग इति वा एकार्थानि पदानि भवन्ति । ते पुनर्बन्धाऽऽदयो न बोधिहेतवो न ज्ञानाऽऽद्यवाप्तिकारणं भवन्ति, किं तु ये बन्धापचयाः, कारणे कार्योपचारात्कर्मबन्धस्यापचयहेतवोऽनिदानताऽऽदयः, तेभ्यो बोधिर्भवति ।

आह-यदि नाम साधवो भवं नेच्छन्ति, ततः कथं देवलोकेषूत्पद्यन्ते इत्यर्थः ? । उच्यते-

नेच्छंति भवं समणा, सो पुण तेसिं भवे इमेहिं तु ।
पुव्वतवसंजमेहिं, कम्मं तं चावि संगेणं ॥२७१॥

श्रमणाः साधवो नेच्छन्त्येव भवं, परं स पुनर्भवो देवत्वरूप-स्तेषाममीभिः कारणैर्भवेत् । तद्यथा-पूर्वं वीतरागापेक्षया प्राचीनावस्थाभावि यत्तपस्तेन सरागावस्थाभाविना तपसा साधवो देवलोकेषूत्पद्यन्ते इत्यर्थः । एवं पूर्वसंयमेन सरागेण सामायिकाऽऽदिचारित्रेण साधूनां देवत्वं भवति । कुत इत्याह-(कम्मं ति) पूर्वतपःसंयमावस्थायां हि देवगतिप्रभृतिकं कर्म बध्यते, ततो भवति देवेषूपपातः । एतदपि कर्म केन हेतुना बध्यते ?, इति चेदत आह-तदपि कर्म सङ्गेन संज्वलनक्रोधाऽऽदिरूपेण बध्यते । सू० ६ ठ० ।

किंत्तियवंदियमहिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्गबोहिलाहं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥६॥

उत्तमं सर्वोत्कृष्टं, ददतु प्रयच्छन्तु । आह-किमिदं निदानम्, उत नेति ? । यदि निदानम्, अलमनेन, सूत्रप्रतिषिद्धत्वात् । न चेत्, सार्थकमनर्थकं वा ? । यद्याद्यः पक्षः, तेषां रागाऽऽदिमत्त्वप्रसङ्गः, प्रार्थनाप्रवीणे प्राणिनि तथादानात् । अथ चरमः, तत आरोग्याऽऽदिदानाविकला एते इति जानानस्यापि प्रार्थनायां मृषावादप्रसङ्ग इति ? । अत्रोच्यते-न निदानमेतत्, तल्लक्षणायोगात्, द्वेषाभिष्वङ्गमोहगर्भं हि तत्, तथा तन्त्रप्रसिद्धत्वात्. धर्माय हीनकुलाऽऽदिप्रार्थनं मोहः, अतद्धेतुकत्वात्, ऋद्ध्यभिष्वङ्गतो धर्मप्रार्थनाऽपि मोहः, अतद्धेतुकत्वादेव । तीर्थकरत्वेऽप्येतद्देवमेव प्रतिषिद्धमिति । अत एवेच्छाव्याघातकृदेतत्, नयेच्छाया एव तद्विघ्नभूतत्वात्, तत्प्रधानतयेतरत्रोपसर्जनबुद्धिभावात् अतत्त्वदर्शनमेतत्, महदपायसाधनम्, अविशेषज्ञता हि गर्हिता-पृथग्जनानामपि सिद्धमेतत्, योगिबुद्धिगम्योऽयं व्यवहारः, सार्थकानर्थकचिन्तायां भाज्यमेतत्, चतुर्थभाषारूपत्वात् । तदुक्तम्-

" भासा असच्चमोसा, णवरं भत्तीएँ भासिया एसा ।
ण हु खीणपेज्जदोसा, देंति समाहिं च बोहिं च ॥ १ ॥
तप्पत्थणाएँ तह वि य, ण मुसावाओ वि एत्थ विण्णेओ ।
तप्पणिहाणाओ च्चिय, तग्गुणओ हंदि फलभावा ॥ २ ॥
चिंतामणिरयणादीहिँ, जहा उ भव्वा समीहियं वत्थुं ।
पावंति तह जिणेहिं, तेसिं रागाद्भावे वि ॥ ३ ॥
वत्थुसहाओ एसो, अउव्वचिंतामणी महाभागो ।
थोऊणं तित्थयरे, पाविज्जइ बोहिलाभो त्ति ॥ ४ ॥
भत्तीएँ जिणवराणं, खिज्जंती पुव्वसंचिया कम्मा ।
गुणपगरिसबहुमाणो, कम्मवणदवाणलो जेण ॥ ५ ॥ "

एतदुक्तं भवति-यद्यपि ते भगवन्तो वीतरागत्वादारोग्याऽऽदि न प्रयच्छन्ति, तथाऽप्येवंविधवाक्यप्रयोगतः प्रवचनाऽऽराधनतया सन्मार्गवर्तिनो महासत्त्वस्य तत्सत्तानिबन्धनमेव तदुपजायत इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ [illegible]

अतः साध्वी तद्भक्तिर्वस्तुतोऽभिलषितार्थप्रसाधकत्वादारोग्यबोधिलाभाऽऽदेरपि तन्निर्वर्त्यत्वात्तथा चाऽऽह--

भत्तीएँ जिणवराणं, परमाए खीणपेज्जदोसाणं ।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिमरणं च पावंति ॥ ६० ॥

भक्त्या जिनवराणां, किंविशिष्टया ?, परमया प्रधानया, भावभक्त्येत्यर्थः । क्षीणप्रेमद्वेषाणां जिनानां, किम् ?, आरोग्यबोधिलाभं समाधिमरणं च प्राप्नुवन्ति प्राणिन इति । इयमत्र भावना-जिनभक्त्या कर्मक्षयः, ततः सकलकल्याणावाप्तिरित्याह-समाधिमरणं च प्राप्नुवन्तीत्येतदारोग्यबोधिलाभस्य हेतुत्वेन द्रष्टव्यं, समाधिमरणप्राप्तौ नियमत एव तत्प्राप्तेरिति गाथाऽर्थः ॥ ६० ॥

साम्प्रतं बोधिलाभप्राप्तावपि, जिनभक्तिमात्रादेव पुनर्बोधिलाभो भविष्यत्येव किमनेन वर्तमानकालदुष्करेणानुष्ठानेन ?, इत्येवंवादिनमनुष्ठानप्रमादिनं सत्त्वमधिकृत्यौपदेशिकमिदं गाथाद्वयमाह-

.... ।
.... ॥६१॥

लद्धिल्लियं च बोहिं, अकरिंतोऽणागयं च पत्थंतो ।
अन्नंदाइं बोहिं, लब्भिहिसि कयरेण मुल्लेण ? ॥ ६२ ॥

(लद्धिल्लियं च त्ति) लब्धां च प्राप्तां च वर्तमानकालिकां बोधिं जिनधर्मप्राप्तिमकुर्वन्निति कर्मपराधीनतया सदनुष्ठानेन सफलामकुर्वन्, अनागतां चाऽऽयत्यामन्यां च प्रार्थयन् किं द्रक्ष्यसि ?, यथा-त्वं हे विह्वल ! जडप्रकृते ! इमं चान्यां च बोधिमधिकृत्य किं "चुक्किहिसि" इति देशीवचनतो भ्रंश्यसि, न भविष्यसीत्यर्थः । तथा लब्धां च बोधिमकुर्वन्ननागतां च प्रार्थयन् (अन्नंदाइं ति) निपातः, असूयायाम्, अन्ये तु व्याचक्षते-अन्यामिदानीं बोधिं, किं लप्स्यसे कतरेण मूल्येन ? । इयमत्र भावना-बोधिलाभे सति तपःसंयमानुष्ठानपरस्य प्रेत्य वासनावशात्तत्प्रवृत्तिरेव बोधिलाभोऽभिधीयते, तदनुष्ठानरहितस्य पुनर्वासनाभावात् कथं तत्प्रवृत्तिरिति बोधिलाभानुपपत्तिः ? । स्यादेतत्, एवं सत्याद्यस्य बोधिलाभस्यासंभव एव उपन्यस्तवासनाभावात्, अनादिसंसारे राधावेधोपमानेनानाभोगत एव कथञ्चित्कर्मक्षयतस्तल्लब्धाप्तिरिति । एतदावेदितमेवोपोद्घात इत्यलं विस्तरेणेति गाथाद्वयार्थः ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

तस्मात्सति बोधिलाभे तपःसंयमानुष्ठानपरेण भवितव्यं, न यत्किञ्चिच्चैत्याद्यालम्बनं चेतस्याधाय प्रमादिना भवितव्यमिति, तपस्संयमोद्यमवतश्चैत्याऽऽदिषु कृत्य[illegible] यावत्करणीय[illegible] । तथा [illegible]

भत्तीएँ जिण[illegible] रागविरत सव्वसंगाती[illegible] [illegible]राण, खिज्जंती पुव्वसंचिआ कम्मा ।
[illegible]आरियणमुक्कारेणं, विज्जा मंता य सिज्झंति ॥५७॥

भक्त्याऽन्तःकरणाऽऽदिप्रणिधानलक्षणया, जिनवराणां तीर्थकराणां, संबन्धिन्या हेतुभूतया, किम् ?, क्षीयन्ते क्षयं प्रतिपद्यन्ते, पूर्वसञ्चितानि अनेकभवोपात्तानि, कर्माणि ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनि, इत्थं स्वभावत्वादेव तद्भक्तेरिति । अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह । तथाहि-आचार्यनमस्कारेण विद्या, मन्त्राश्च सिद्ध्यन्ति, तद्भक्तिमतः सत्त्वस्य शुभपरिणामत्वात् तत्सिद्धिप्रतिबन्धककर्मक्षयादिति भावना । अयं गाथाऽर्थः ॥ ५७ ॥

चेइयकुलगणसंघे, आयरियाणं च पवयणे सुए अ ।
सव्वेसु वि तेण कयं, तवसंजममुज्जमंतेणं ॥ ६३ ॥

चैत्यकुलगणसङ्घेषु, तथा आचार्याणां च, तथा प्रवचनश्रुतयोश्च, किम् ?, सर्वेष्वपि तेन कृतं, कृत्यमिति गम्यते । केन ?, तपःसंयमोद्यमवता साधुनेति । तत्र चैत्यान्यर्हत्प्रतिमालक्षणानि, कुलं विद्याधराऽऽदि, गणः कुलसमुदायः, सङ्घः समस्त एव साध्वादिसङ्घातः । आचार्याः प्रतीताः, चशब्दादुपाध्यायाऽऽदिपरिग्रहः । भेदाभिधानं च प्राधान्यख्यापनार्थम् । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । प्रवचनं द्वादशाङ्गमपि सूत्रार्थतदुभयरूपं, श्रुतं सूत्रमेव । चशब्दः स्वगत-

-अनेकभेदप्रदर्शनार्थः । एतेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु तेन कृतं कृत्यम्, यः तपः-संयमोद्यमवान् वर्तते । इयमत्र भावना-अयं हि नियमाद् ज्ञानदर्शनसंपन्नो भवत्ययमेव च गुरुलाघवमालोच्य चैत्याऽऽदिकृत्येषु सम्यक् प्रवर्तते । यथैहिकाऽऽमुष्मिकगुणवृद्धिर्भवति, विपरीतस्तु कृत्येऽपि प्रवर्तमानोऽपर्यालोचकत्वादकृत्यमेव संपादयत्यत्र बहु वक्तव्यमिति गाथार्थः ॥६३॥ आव० २ अ० । पं०सू० । (प्रणिधानलक्षणं 'पणिहाण' शब्दे वक्ष्यते) ("जय वीयराय जगगुरु, होउ ममं तुह पभावओ भयवं ! । भवणिव्वेओ मग्गाणुसारिया इट्ठफलसिद्धी ॥३३॥" इति प्रणिधानसूत्रं "चेइयवंदण" शब्दे तृतीयभागे १३२० पृष्ठे उक्तम्) ("एतो चिय ण णियाणं, पणिहाणं बोहिपत्थणासरिसं । सुहभावहेउभावा, णेयं इहराऽपवित्ती उ" ॥ ३० ॥ इत्यपि तत्रैव १३२१ पृष्ठे व्याख्यातम्)

यदुक्तं प्रणिधानं निदानं न भवतीत्यस्यार्थस्य साधकं प्रमाणं दर्शयन्नाह-

मोक्खंगपत्थणा इय, ण णियाणं तदुचियस्स विन्नेयं ।
सुत्ताणुमइत्तो जह, बोहीए पत्थणा माणं ॥ ३६ ॥

मोक्षाङ्गानां निर्वृतिकारणानां प्रार्थना आशंसा । अथवा-मोक्षाङ्गं चासौ प्रार्थना चेति मोक्षाङ्गप्रार्थना । इति एषा " जय वीयराय (३३)" इत्याद्यनन्तरोक्तप्रकारा, अनेन च तीर्थकरत्वं मे भूयादित्यादिकाया रागाऽऽकुलमानसकृताया प्रार्थनाया व्युदासः । 'न' नैव, निदानमार्त्तध्यानविशेषो भवतीति, विज्ञेयं ज्ञातव्यमिति प्रतिज्ञा । कुतः ?, इत्याह-तदुचितस्य प्रणिधानोचितस्य, प्रमत्तसंयतान्तस्य गुणस्थानिन इत्यर्थः । सूत्रानुमतेरागमानुज्ञातत्वात् । अप्रमत्तसंयताऽऽदेर्हि तत्सूत्रं नानुमन्यते, तस्यानभिष्वङ्गत्वाद्, तदन्यस्य त्वनुमन्यते, साऽभिष्वङ्गत्वाद्, विशिष्टप्रणिधानस्य निरभिष्वङ्गताहेतुत्वादिति । अनेन च हेतुरुक्तः । यथेति दृष्टान्तसूचनार्थः । बोधेर्बोधिलाभस्य, प्रार्थनाऽऽशंसेति, मानं प्रमाणम् । इदमनुमानलक्षणं प्रणिधानस्य निदानत्वाभावसाधकत्वमिति । प्रयोगश्चास्यैवम्-यत् सूत्रानुमतं मोक्षाङ्गप्रार्थनं, तन्निदानं न भवति, यथा बोधिप्रार्थनम्, सूत्रानुमतं चेदमधिकृतं मोक्षाङ्गप्रार्थनमिति गाथाऽर्थः ॥ ३६ ॥

नन्वमोक्षाङ्गानां प्रार्थनं निदानं, तीर्थकरत्वं तु मोक्षाङ्गम्,
अतस्तस्यापि प्रार्थनाप्रतिषेधो यो दशाश्रुत-
स्कन्धेऽभिहितो नासौ युक्तः ?, इत्याशङ्क्य-
याऽऽह-

एवं च दसाऽऽईसुं, तित्थयरम्मि वि णियाणपडिसेहो ।
जुत्तो भवपडिबद्धं, साभिस्संगं तयं जेण ॥ ३७ ॥

एवं चानेन च पूर्वोक्तेन प्रकारेण मोक्षाङ्गप्रार्थनाया एवानिदानताप्रतिपादनलक्षणेन, दशाऽऽदिषु दशाश्रुतस्कन्धप्रभृतिषु +, आदिशब्दाद् ध्यानशतकाऽऽदिपरिग्रहः *। तीर्थकरेऽपि भवभवनभीतजननिर्वाणनगरगमनसार्थवाहकल्पे जिनेऽपि विषये, आस्तां संसाराऽऽधर्मसंपातनिमित्तभूतनृपतित्वाऽऽदौ । निदानस्य "अमुतो धर्मात्तीर्थकरो भूयासम्" इत्येवं प्रार्थनस्य प्रतिषेधो विधेयतया निषेधो निदानप्रतिषेधः । किमित्याह-युक्तः सङ्गतो वर्तते । केन कारणेनेत्याह-भवप्रतिबद्धं संसारानुषक्तम्, येन यस्मात्कारणात् । [तयं ति] तकं तीर्थकरत्वप्रार्थनं भवप्रतिबद्धमेव । कुतः ?, इत्याह-यतः साभिष्वङ्गं रागोपेतम् । यतस्तीर्थकरसत्कस्यामरवरनिर्मितसमवसरणकनककमलप्रमुखविभवस्य दर्शनात् श्रवणाद्वा संजाततदभिलाषः कोऽपि विकल्पं करोति, यथाऽहमप्यतोऽप्यहं तीर्थकरो भूयासमिति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

एतस्यैव साभिष्वङ्गताविपर्यये दोषाभावमाह-

जं पुण णिरभिस्संगं, धम्मा एसो अणेगसत्तहिओ ।
णिरुवमसुहसंजणओ, अपुव्वचिंतामणीकप्पो ॥३८॥
ता एयाणुट्ठाणं, हियमणुवहयं पहाणभावस्स ।
तम्मि पविसिसरूवं, अत्थापत्तीएँ तमदुट्ठं ॥३९॥ (युग्मम्)

[जं पुण त्ति] साभिष्वङ्गं तावत् दुष्टमेव, यत्पुनस्तीर्थकरत्वप्रार्थनं निरभिष्वङ्गं रागाभावेन विहितं, तत्त अदुष्टमिति संबन्धः । निरभिष्वङ्गतामेव तस्याऽऽह--धर्मात् कुशलानुष्ठानरूपादर्हदाद्याऽऽदेः सकाशाद्धर्माय वा भव्यानाम्, एष तीर्थकरः, भवतीति गम्यम् । किम्भूतः ?, अनेकसत्त्वहितः निखिलजगज्जन्तुजातपरमबान्धवः । कथम् ?, यतो निरुपमसुखसंजनकः अनुपमाऽऽनन्दसंपादको, निर्वाणहेतुत्वात् । अत एवापूर्वचिन्तामणिकल्पः चिन्तातिक्रान्तसुखविधायित्वादिति । [ता इति] यस्मादनेकसत्त्वहितत्वाऽऽदिविशेषणस्तीर्थकरस्तस्माद्, एतस्य तीर्थकरस्यानुष्ठानं सद्धर्मदेशनाऽऽदिकमेतदनुष्ठानम् । किमित्याह-हितं पथ्यम्, इष्टार्थसाधकत्वात् । किम्भूतम् ?, अनुपहतमप्रतिघातम् । इह स्थाने इति शब्दो द्रष्टव्यः । ततश्च इति प्रधानभावस्य एवम्भूतप्रवराध्यवसायस्य देहिनः, किम्भूतं तीर्थकरत्वप्रार्थनमित्याह--तस्मिन् धर्मदेशनाऽऽदिजिनानुष्ठाने, प्रवृत्तिस्वरूपं प्रवर्तनस्वभावम् । ननु तीर्थकरोऽहं भवेयमित्येतस्य प्रार्थनस्य तीर्थकरत्ववृत्तिकत्वात् कथमिदं धर्मदेशनाप्रवर्तनस्वभावम् ?, इत्यत आह-अर्थापत्त्या न्यायतः । यद्यपि तत्प्रार्थनं साक्षात्तीर्थकरत्ववृत्तिकं, तथाऽप्यर्थापत्त्या धर्मदेशनाऽऽदावेव वर्तते, तीर्थकरत्वप्रार्थनाद्वारेण धर्मदेशनाऽऽदिजिनानुष्ठानस्यैव हिताऽऽदिविशेषणस्य प्रार्थितत्वादिति तीर्थकरत्वप्रार्थनमदुष्टं, न दूषणवदिति गाथाद्वयार्थः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ पञ्चा० ४ विव० ।

(" आईपराइओ खलु, कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि ।
चुलणीएँ बंभदत्तो, उववन्नो नलिणगुम्माओ ॥१॥" (उत्त० १३ अ०) इति निदानकरणे ब्रह्मदत्तोदाहरणं 'बंभदत्त' शब्दे वक्ष्यते) (द्रौपद्याः पूर्वभवे निदानकरणं 'दुवई' शब्देऽग्रे वक्ष्यते) स्वर्गाऽऽप्त्यादिलक्षणेऽर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । आकाङ्क्षायाम्, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । कारणे, वृ० १ उ० । विशे० । सूत्र० । उत्थानकारणे, वृ० १ उ० । उत्पादने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

णियाणंझाण–निदानध्यान–न० । प्राकृतत्वादनुस्वारः । नन्दिषेणगङ्गदत्तसम्भूतद्रौपद्यादीनामिव स्वर्गमर्त्याऽऽदिऋद्धिप्रार्थनध्याने, आतु० ।

णियाणकरण–निदानकरण–न० । चक्रवर्तीन्द्राऽऽदिप्रार्थने, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णियाणकारि (ण्)–निदानकारिन्–त्रि० । निदानकरणशीले, "नियाणकारी संगं तु कुरुते उड्ढदेहियं ।" स्था० ६ ठा० ।

णियाणमयग–निदानमृतक–पुं० । निदानं कृत्वा बालतपश्चरणाऽऽदिमत्त्वेन मृतेषु, औ० ।

णियाणमरण–निदानमरण–न० । मरणभेदे, स्था० ६ ठा० । (व्याख्याऽस्य ' मरण ' शब्दे वक्ष्यते)

+ २१०४ पृष्ठेऽत्र स विषय उक्तः । * आवश्यकसूत्रस्थं ध्यानशतकम् ।

णियाणसल्ल-निदानशल्य-न०। निदानं देवाऽऽद्दिर्द्धीनां दर्शनश्रवणाभ्यामितो ब्रह्मचर्याऽऽदेरनुष्ठानान्ममैता भूयासुरित्यध्यवसायः, तदेव शल्यम्। स० ३ सम० । अधिकरणानुमोदनान्निदानशल्यम्। शल्यभेदे, आव० ४ अ०। " दिव्वं वा माणुसं वा विभवं पासिऊण सोऊण वा निदाणस्स उप्पत्ती भवेज्जा, तेण किं भवति ?। उच्यते-" सणियाणस्स चरित्तं न भवति। कस्मात् ?, अधिकरणानुमोदनात्, तत्थोदाहरणं बंभदत्तो।" आ० चू० ४ अ०।

णियामित्ता-नियम्य-अव्य०। नियम्येत्यर्थे, (सूत्र०) "उवसग्गा णियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वए।" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

णियावाइ(ण्)-नियतवादिन्-पुं०। नियतं नित्यं वस्तु वदन्ति यः स तथा। एकान्तनित्यवादिन्यक्रियावादिनि, स्था०। नित्यो लोकः, आविर्भावतिरोभावमात्रत्वात् उत्पादविनाशयोः, तथाऽसतोऽनुत्पादात्खरशृङ्गविषाणस्येव, सतश्चाविनाशात् घटवत्, न हि सर्वथा घटो विनष्टः, कपालाऽऽद्यवस्थाभिः तस्य परिणतत्वात्, तासां चापारमार्थिकत्वात्, मृत्सामान्यस्यैव पारमार्थिकत्वात्, तस्य चाविनष्टत्वादिति। अक्रियावादी चायम्, एकान्तनित्यस्य स्थिरैकरूपतया सकलक्रियाविलोपाभ्युपगमादिति ॥७॥ स्था० ८ ठा०।

णियुद्ध-नियुद्ध-न०। मल्लयुद्धे, जं० २ वक्ष०।

णियोग-नियोग-पुं०। नियतो निश्चितो वा योगः सम्बन्ध इति नियोगः। यथा घटशब्देन घटस्यैव प्रतिपादनं, न पटाऽऽदेरिति। अनुयोगे, आ० म० १ अ० १ खण्ड। व्यापारे, उत्त० ३ अ०। सूत्र०। आ० म०। अवश्यतायाम्, पो० १ विव०। मोक्षमार्गे, सत्संयमे च। सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। (विशेषः 'णिओग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१८ पृष्ठे गतः)

णियोगपडिवन्न-नियोगप्रतिपन्न-त्रि०। नियोगो मोक्षमार्गः, सत्संयमो वा, तं सर्वाऽऽत्मना भावतः प्रतिपन्नो नियोगप्रतिपन्नः। मोक्षमार्गप्रतिपन्ने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०।

णियोचित-नियोजित-त्रि०। " चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ" ॥८।४।३२५॥ इति तृतीयस्याऽऽद्यम्। व्यापारिते, प्रा० ४ पाद।

णियोजित-नियोजित-त्रि०। " नादियुज्योरन्येषाम् "॥८।४। ३२७॥ इति चूलिकापैशाचिकेऽन्येषामाचार्याणां मते तृतीयस्य प्रथमो न। व्यापारिते, प्रा० ४ पाद।

णिर-निर्-अव्य०। भृशार्थे, उत्त० १ अ०। निश्चये, आधिक्ये, उत्त० ६ अ०।

णिरइ-निर्ऋति-स्त्री०। राक्षसे, मूलाधिष्ठातृदेवतायाम्, " दो निरई।" स्था० २ ठा० ३ उ०। जं०।

णिरओवम-निरयोपम-त्रि०। नरकोपमे नरकतुल्ये, दश० १ चू०। प्रश्न०।

णिरंकुस-निरङ्कुश-त्रि०। गुर्वाज्ञाऽऽद्यतिचारिणि, ध० २ अधि०। बाधाशून्ये, अनिवार्ये च। वाच०।

णिरंग।-देशी-शिरोऽवगुण्ठने, दे० ना० ४ वर्ग ३१ गाथा।

णिरंजण-निरञ्जन-त्रि०। रञ्जनं रागाऽऽद्युपरञ्जनं, तेन शून्यत्वात् (कल्प० ६ क्षण। ज्ञा०) रञ्जनं रागाऽऽद्युपरञ्जनं, तस्मान्निर्गतः। स्था० १० ठा०। रागाऽऽदिमुक्ते, " संखो इव निरंजणे।" स्था० १ ठा०।

णिरंतर-निरन्तर-त्रि०। निर्गतमन्तरात्, निर्गतमन्तरं वा यस्मात्। निबिडे, निरवधौ, निश्छिद्रे च। वाच०। सतते, नैरन्तर्ये, विशे०। रा०। अविश्रामे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। प्रज्ञा०। स्था०। " निरंतररायलक्खणविराइयंगुवंगो।" नैरन्तर्येण राजलक्षणैश्छत्रस्वस्तिकाऽऽदिभिर्विराजितान्यङ्गानि शिरःप्रभृतीन्युपाङ्गानि चाङ्गुल्यादीनि यस्य स तथा। स्था० २ ठा० १ उ०।

णिरंतरिय-निरन्तरिक-त्रि०। निर्गताऽन्तरिका अव्यन्तररूपा येषां ते निरन्तरिकाः। अव्यन्तररहितेषु, रा०। " णिरंतरियघणकवाडा भित्ती।" रा०। निर्गताऽन्तरिका अव्यन्तररूपा ययोस्तौ निरन्तरिकौ, अत एव घनौ कपाटौ यस्य तन्निरन्तरिकघनकपाटम्। जी० ३ प्रति० ४ उ०। जं०।

णिरंबर-निरम्बर-पुं०। निर्गतमम्बरं येभ्यस्ते निरम्बराः। जिनकल्पिकाऽऽदिषु, आ० म० १ अ० १ खण्ड।

णिरंस-निरंश-पुं०। निरवयवे, विशे०।

णिरक्क-देशी-चोरे, स्थिते, पृष्ठे च। दे० ना० ४ वर्ग ४६ गाथा।

णिरग्गिसरण-निरग्निशरण-पुं०। निर्गतमग्नेः पावकाच्छरणं शीताऽऽदिपरित्राणं यत्र। अथवा-निर्गतं स्वीकाराभावादग्निशरणे वह्निभवने यत्रासौ निरग्निशरणः। पा०। अग्निशरणरहिते, " इमस्स धम्मस्स णिरग्गिसरणस्स संपक्खालियस्स।" ध० ३ अधि०।

णिरट्ठ-निरर्थ-त्रि०। निष्प्रयोजने, उत्त० १ अ०। " णिरट्ठसोया परितावमेइ।" निरर्थः शोको यस्याः सा निरर्थशोका। उत्त० २० अ०।

णिरट्ठग-निरर्थक-न०। अर्थः प्रयोजनं, तदभावो निरर्थं, तदेव निरर्थकम्। प्रयोजनाऽभावे, " णिरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो।" (४२) उत्त० २ अ०।

णिरणुकंप-निरनुकम्प-त्रि०। दयांशवर्जिते, तं०। सूत्र०। निःशूके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

निरनुकम्पमाह-

जो उ परं कंपंतं, दट्ठूण न कंपए कढिणभावो ।
एसो उ णिरणुकंपो, अणु पच्छाभावजोएणं ॥

यस्तु परं कृपाऽऽस्पदं कुतश्चिद् भयात्कम्पमानमपि दृष्ट्वा कठिनभावः सन् न कम्पते, एष निरनुकम्पः। कुतः ?, इत्याह-अनुशब्देन पश्चाद्भाववाचकेन यो योगः संबन्धः, तेन। किमुक्तं भवति ?-अनु पश्चाद् दुःखितः सत्त्वकम्पनादनन्तरं यत्कम्पनं सा अनुकम्पा, निर्गता अनुकम्पा यस्मादिति निरनुकम्प उच्यते। बृ० १ उ०।

णिरणुतावि [ण्]-निरनुतापिन्-पुं०। अपश्चात्तापिनि, जीत०। सेविते ऽप्यकृत्ये मनागपि न पश्चात्तापभाक्। प्रव० २७४ द्वार।

णिरणुबंधग-निरनुबन्धक-त्रि०। अनुबन्धरहिते, द्वा० २२ द्वा०।

णिरणुबंधदोस-निरनुबन्धदोष-पुं०। क० स०। व्यवच्छिन्नसन्ताने रागाऽऽदौ, षो० १२ विव०।

णिरति–निरति–स्त्री० । देवानन्दायाम, कल्प० ६ क्षण ।

णिरत्थ–निरस्त–त्रि० । निष्काशिते, व्य० ७ उ० ।

णिरत्थग–निरर्थक–न० । सत्यार्थाऽतिक्रान्ते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । वर्णक्रममात्रस्यार्थरहिते, उत्त० १८ अ० । निर्देशभाक्ति, श्रा० म०१ अ०२ खण्ड। यत्र वर्णानां क्रममात्रं निर्देशमात्रमुपलभ्यते, न त्वर्थः। यथा–अआइई इत्यादि । विशे० । अनु०। निष्प्रयोजने, द्वा० १६ द्वा० । यस्य वाऽवयवेष्वर्थो न विद्यते । यथा–डित्थः, डवित्थः, वाऽजनः । सू० १ उ० ।

णिरप्प–देशी–पृष्ठे, अर्द्धोत्थेने च । दे० ना० ४ वर्ग ४६ गाथा ।

स्था–धा० । गतिनिवृत्तौ, "स्थष्ठा–थक्क–चिट्ठ–निरप्पाः" ॥८।४।१६॥ इति तिष्ठतेर्निरप्पाऽऽदेशः । 'निरप्पइ' । तिष्ठति । प्रा० ४ पाद ।

णिरभिग्गह–निरभिग्रह–त्रि० । निर्गता अभिग्रहा येभ्यस्ते निरभिग्रहाः । अभिग्रहरहितेषु केवलसम्यग्दर्शिषु, श्राव०६ अ०।

णिरभिराम–निरभिराम–त्रि० । अरमणीये, "पहसितवीहथकणिरभिरामे ।" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिरभिस्संग–निरभिष्वङ्ग–त्रि० । सङ्गरहितस्वे, पञ्चा० ६ विव० । सर्वाऽऽशंसाविप्रमुक्ते, पं० व०१ द्वार । मिथ्यादृष्टिव्यवहारेषु बाह्यद्रव्ये च निस्पृहे, पञ्चा० २ विव० ।

णिरय–निरय–पुं० । निर्गतमविद्यमानमयमिष्टफलं दैवं कर्म सातवेदनीयाऽऽदिरूपं येभ्यस्ते निरयाः । कर्म० ५ कर्म०। स्था० । निर्गतमयं शुभमस्मादिति निरयः । स्था० ४ ठा० १ उ० । सीमन्तकाऽऽदिषु नरकेषु, कर्म०१ कर्म०। स्था०। प्रश्न०। श्राव०। (सर्वा वक्तव्यता 'णरग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६०४ पृष्ठादारभ्य १७२५ पृष्ठपर्यन्तं स्थिता) निर्गता अयाच्छुभादिति निरयाः । नारकेषु, स्था० १० ठा० । आचा० ।

निरत–त्रि० । सक्ते, दश० १० अ० । स० ।

णिरयगइ–निरयगति–स्त्री० । निरये नरके वा गतिर्निरयगतिः, निरयश्चासौ गतिश्चेति वा निरयगतिर्निरयप्रापिका वा गतिर्निरयगतिः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । निर्गता अयाच्छुभादिति निरया नरकाः, ते गतिर्गम्यमानत्वात्, निरयो नरकस्तद्गतिर्नामकर्मोदयसंपाद्यो नारकत्वलक्षणः पर्यायविशेषो वेति निरयगतिः । गतिभेदे, स्था० १० ठा० ।

णिरयगोयर–निरयगोचर–पुं० । ब० स० । नरकवर्तिनि जीवे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णिरयदंसि [ण्]–निरयदर्शिन् निरयं स्वरूपतो वेत्त्यनर्थपरित्यागरूपत्वाद् ज्ञानस्य,परिहरति च । समानमपि पश्यति, परिहरति च, निरयदर्शी । नरकनिदानवेत्तरि, " जे मारदंसी से णिरयदंसी, जे णिरयदंसी से तिरियदंसी ।" आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

णिरयपत्थड–निरयप्रस्तट–पुं० । नरकप्रस्तटे, प्रज्ञा०२ पद ।

णिरयपरिसामंत–निरयपरिसामन्त–पुं० । नरकपारिपार्श्वे, भ० १३ श० ६ उ० । निरयावासानां पार्श्वे, भ० १३ श० ४ उ० ।

णिरयपाल–निरयपाल–पुं०। नरकपालेषु परमाधार्मिकेषु,स्था० ४ ठा० १ उ० । (नरकपालकर्तव्यं 'णरग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७१२ पृष्ठे दर्शितम)

णिरयरोग–निरयरोग–पुं० । नरकरोगे, " पणकोडि अट्ठसट्ठी, सक्खा नवनवइसहस्सपंचसया । चुलसीअहिया रोगा, छट्ठे तह सत्तमे नरए ॥१॥" इयं गाथा क्वास्ति?,प्रथमाऽऽदिनरकेषु च कियन्तो रोगा भवन्तीति प्रश्ने,उत्तरम्–इयं गाथैतस्थानरूपा ग्रन्थे दृष्टाऽपि न स्मर्यते, एतद्गाथार्थरूपाऽनुवर्तते । यथा–" रोगाणं कोडीओ,हवंति पंचेव सक्ख अडसट्ठी । नवनवइसहस्साइं, पंचसया तह य चुलसीइ"॥१॥ एते रोगा अप्रतिष्ठाने नरकावासे निरयाः,अन्यत्रापि च संभवन्ति यथायोगम् । ततश्च यस्मिन्नरकभवे एतावन्तो रोगाः क्षयहेतवस्तस्मिन् धर्म एव सार इत्यादरणीयः सर्वशक्त्येत्युपदेशरत्नाकरे पञ्चविंशत्यधिकैकशतपत्रमितपुस्तके एकाशीतितमपत्रे । २७ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

णिरयवास–निरयवास–पुं० । नरकरूपे वासे, " णिरयवासगमणनिधणो । " निरयो नरकः, स एव वासो निरयवासः,तत्र गमनं तदेव निधनं पर्यवसानं यस्य स निरयवासगमननिधनस्तत्फल इत्यर्थः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिरयविग्गहगइ–निरयविग्रहगति–स्त्री० । निरयाणां नारकाणां विग्रहात् क्षेत्रविभागानतिक्रम्य गतिर्गमनं निरयविग्रहगतिः । स्थितिनिवृत्तिलक्षणायामृजुवक्ररूपायां विहायोगतिकर्मापादायां वा गतौ, स्था० १० ठा० ।

णिरयविभत्ति–निरयविभक्ति–स्त्री० । नरकप्रविभागे, तदर्थके सूत्रकृतोऽध्ययने च. प्रश्न०२ आश्र० द्वार ।

णिरयवेयणिज्ज–निरयवेदनीय–न० । निरये वेद्यतेऽनुभूयते यन्निरययोग्यं वा यद् वेदनीयमत्यन्ताशुभनामकर्माऽऽदि,असातवेदनीयं वा । नरकगतिनामकर्मणि, "णेरइए णिरयवेयणिज्जं सि कम्मंसि ।" स्था० ४ ठा० १ उ० ।

णिरयावलिया–निरयावलिका–स्त्री० । आवलिकाप्रविष्टनरकेषु, "णिरयावलियासु निरयपत्थडेसु ।" प्रज्ञा० २ पद । ब०त्र०। यत्राऽऽवलिकाप्रविष्टा इतरे च नरकाऽऽवासाः प्रसङ्गतस्तद्गामिनश्च नरास्तिर्यञ्चो वा वर्ण्यन्ते, ता निरयावलिकाः, एकस्मिन्नपि ग्रन्थे वाच्ये बहुवचनं शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्, यथा पञ्चाला इत्यादि । नं० । पा० । अन्तकृद्दशाङ्गाऽऽदीनां दृष्टिवादपर्यन्तानां पञ्चानामुपाङ्गानामुपाङ्गरूपे कल्पिकाऽऽदिपञ्चवर्गाऽऽत्मकश्रुतस्कन्धे,तत्र पञ्च वर्गाः पञ्चानामुपाङ्गानि । तथाहि–अन्तकृद्दशाङ्गस्य कल्पिका १, अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गस्य कल्पावतंसिका २, प्रश्नव्याकरणस्य पुष्पिका ३, विपाकश्रुतस्य पुष्पचूलिका ४, दृष्टिवादस्य वृष्णिदशा ५ । जं० १ वक्ष० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था । रिद्धगुणसिलए चेइए। वण्णओ। असोगवरपायवे पुढविसिलापट्टए । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अज्जसुहम्मे नामं अणगारे जातिसंपन्ने जहा केसी०जाव पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जेणेव रायगिहे नगरे०जाव अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं०जाव विहरति। परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ। परिसा पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स अंतेवासी जंबूणामं अणगारे समचउरंससंठाणसंठिए०जाव संखित्तविपुलतेयलेस्से अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स अदूरसामंते उड्ढं जाणू० जाव विहरति। तए णं से भगवं जंबू०

जाव सड्ढे० जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी–उवंगाणं भंते ! समणेणं० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?। एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया० जाव संपत्तेणं एवं उवंगाणं पंच वग्गा पण्णत्ता । तं जहा–निरयावलियाओ, कप्पवर्डिसियाओ, पुप्फियाओ, पुप्फचूलियाओ, वण्हिदसाओ । जइ णं भंते ! समणेणं० जाव संपत्तेणं उवंगाणं पंच वग्गा पण्णत्ता । तं जहा–निरयावलियाओ० जाव वण्हिदसाओ । पढमस्स णं भंते ! वग्गस्स उवंगाणं निरयावलियाणं समणेणं भगवया० जाव संपत्तेणं कइ अज्झयणा पण्णत्ता ?। एवं खलु जंबू ! समणेणं० उवंगाणं पढमस्स वग्गस्स निरयावलियाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा–
"काले सुकाले महा-काले, कण्हे सुकण्हे तह महाकण्हे । वीरकण्हे बोधव्वे, रामकण्हे तहेव अट्ठमए । पिउसेणकण्हे नवमे, दसमे महसेणकण्हे उ ॥"

भगवता उपाङ्गानां पञ्च वर्गाः प्रज्ञप्ताः । वर्गोऽध्ययनसमुदायः । तद्यथेत्यादिना पञ्च वर्गान् दर्शयति–(निरयावलियाओ कप्पवर्डिसियाओ पुप्फियाओ पुप्फचूलियाओ वण्हिदसाओ त्ति) प्रथमवर्गो दशाऽध्ययनाऽऽत्मकः प्रज्ञप्तः । अध्ययनदशकमेवाऽऽह–"काले सुकाले" इत्यादीनां मातृनामभिस्तदपत्यानां पुत्राणां नामानि । यथा–काल्या अयमिति कालः कुमारः । एवं सुकाल्याः, महाकाल्याः, कृष्णायाः, सुकृष्णायाः, महाकृष्णायाः, वीरकृष्णायाः, रामकृष्णायाः, पितृसेनकृष्णाया महासेनकृष्णाया अयमित्येवं पुत्रनाम वाच्यम् । इह काल्या अपत्यमित्याद्यर्थः प्रत्ययेनोत्पाद्यः काल्यादिशब्देभ्योऽपत्येऽर्थे यथाप्रत्ययः । कालस्तु कालाऽऽदिनाम्ना सिद्धेरेव वाच्यः । कालः १, तदनु सुकालः २, महाकालः ३, कृष्णः ४, सुकृष्णः ५, महाकृष्णः ६, वीरकृष्णः ७, रामकृष्णः ८, पितृसेनकृष्णः ९, महासेनकृष्णः १० दशमः । इत्येवं दशाध्ययनानि निरयावलिकानामके प्रथमे वर्गे इति । नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । (निरयावलिकाद्वितीयवर्गवक्तव्यता 'कप्पवर्डिसया' शब्दे तृतीयभागे २२५ पृष्ठे गता)

तच्चस्स णं भंते ! वग्गस्स उवंगाणं पुप्फियाणं के अट्ठे पण्णत्ते ?। एवं खलु जंबू ! समणेणं० जाव संपत्तेणं पुप्फियाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा–"चंदे सूरे सुक्के, बहुपुत्तिय पुण्णभद्दे माणिभद्दे य । दत्ते सिवे बलियाए, अणाढिए चेव बोधव्वा ॥१॥" नि० १ श्रु० ३ वर्ग १ अ० ।

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया उक्खेवओ० जाव दस अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा–"सिरि हिरि धिति कित्ती, बुद्धी लच्छी य होइ बोधव्वा । इलादेवी सुरादेवी, रसदेवी गंधदेवी य ॥१॥"

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया० जाव संपत्तेणं उवंगाणं चउत्थस्स वग्गस्स पुप्फचूलाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता ।

पंचमस्स णं भंते ! वग्गस्स उवंगाणं वण्हिदसाणं समणेणं भगवया० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?। एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया० जाव दुवालस अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा–"निसढे अणि दह वहे, पगती जुत्ति दसरहे दढरहे य । महाधणू सत्तधणू, दसधणू नाम सए ॥१॥" नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ० ।

एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महा० जाव निक्खेवओ । एवं सेसा वि एक्कारस अज्झयणा नेयव्वा, संगहणीअणुसारेण अहीणमइरित्तं एक्कारससु वि निरयावलियासुयक्खंधो सम्मत्तो, सम्मत्ताणि उवंगाणि, निरयावलियाउवंगे णं एगो सुयक्खंधो, पंच वग्गा पंचसु दिवसेसु उद्दिस्संति । तत्थ चउसु वग्गेसु दस दस उद्देसगा, पंचमगे बारस उद्देसगा निरयावलियासुयक्खंधो सम्मत्तो । नि० १ श्रु० ५ वर्ग १२ अ० ।

इह ग्रन्थे प्रथमवर्गो दशाऽध्ययनाऽऽत्मको निरयावलिकानामकः । द्वितीयवर्गो दशाध्ययनात्मकः, तत्र च कल्पावतंसिका इत्याख्या अध्ययनानाम् । तृतीयवर्गोऽपि दशाध्ययनाऽऽत्मकः, पुष्पिकाशब्दाभिधेयानि च तान्यध्ययनानि । तत्राऽऽद्ये चन्द्रज्योतिष्केन्द्रवक्तव्यता । द्वितीयाध्ययने सूर्यवक्तव्यता । तृतीये शुक्रमहाग्रहवक्तव्यता । चतुर्थाध्ययने बहुपुत्रिकादेवीवक्तव्यता । पञ्चमेऽध्ययने पूर्णभद्रदेववक्तव्यता । षष्ठे माणिभद्रदेववक्तव्यता । सप्तमे प्राग्भविकचन्द्रनागतगद्वत्तनामकदेवस्य द्विसागरोपमस्थितिकस्य वक्तव्यता । अष्टमाध्ययने शिवगृहपतिमिथिलावास्तव्यस्य देवत्वेनोत्पन्नस्य द्विसागरोपमस्थितिकस्य वक्तव्यता । नवमे च हस्तिनापुरवास्तव्यस्य द्विसागरोपमाऽऽयुष्कतयोत्पन्नस्य देवस्य ········ नामकस्य वक्तव्यता । दशमाध्ययने 'अणाढिय' गृहपतेः काकन्दीनगरीवास्तव्यस्य द्विसागरोपमाऽऽयुष्कतयोत्पन्नस्य देवस्य वक्तव्यता । इति तृतीयवर्गे अध्ययनानि । चतुर्थो वर्गोऽपि दशाध्ययनात्मकः, श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्मी-इलादेवी-सुरादेवी-रसादेवी-गन्धदेवीतिवक्तव्यताप्रतिबद्धाध्ययनाऽऽत्मकः । तत्र श्रीदेवी सौधर्मकल्पोत्पन्ना भगवतो महावीरस्य नाट्यविधिदर्शकविकुर्वणया प्रदर्श्य स्वस्थानं जगाम, प्राग्भवे राजगृहे सुदर्शनगृहपतेः प्रियभार्याया अङ्गजा भूता साऽप्यऽभवत्, न केनापि परिणीता, पतितस्तनी जाता, वरकपरिवर्जिता वरार्थिप्रत्याख्याता भर्त्राऽपरिणीताऽभूत् । सुगमं सर्वं यावच्चतुर्थवर्गः समाप्तः । पञ्चमे वर्गे वह्निदशाभिधानद्वादशाध्ययनानि प्रज्ञप्तानि–"निसढे" इत्यादीनि । प्रायः सर्वोऽपि सुगमः पञ्चमवर्गः । नि० १ श्रु० ५ वर्ग ।

णिरयावास–निरयावास–पुं० । आवसन्ति येषु, ते आवासाः, निरयाश्च ते आवासाश्च निरयाऽऽवासाः । नरकाऽऽवासेषु रत्नप्रभाऽऽदिषु । भ० ।

नरकाऽऽवाससंख्या–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए कइ निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ?। गोयमा ! तीसं निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । गाहा–* "तीसा य पण्णवीसा, पन्नरस दसेव

* प्रथमपृथ्व्यां ३० लक्षनरकावासाः । द्वितीये २५ लक्षमिताः । तृतीये १५ लक्षमिताः । चतुर्थे १० लक्षमिताः । पञ्चमे ३ लक्षमिताः । षष्ठके पञ्चोना एकलक्षमिताः । सप्तमे ५ एव । इति गाथार्थः ॥१७२॥ संग्रहणी ।

य सयसहस्सा । तिम्रेगं पंचूणं, पंचेव अणुत्तरा णिरया ॥ १७२ ॥ " ज० १ श० ४ उ० ।

(इयं गाथा ' ठाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०२ पृष्ठे वर्णिता)

दोच्चाए णं पुढवीए पणवीसं णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । स० २५ सम० ।

रयणप्पभाए णं पुढवीए तीसं णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । स० ३० सम० ।

पढमपंचमछट्ठिसत्तमासु चउसु पुढवीसु चोत्तीसं णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । स० ३४ सम० ।

बितियचउत्थीसु दोसु पुढवीसु पणतीसं णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । स० ३५ सम० ।

चउसु पुढवीसु एकचत्तालीसं णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । तं जहा-रयणप्पभाए,पंकप्पभाए,तमाए,तमतमाए ।

(चउसु इत्यादि) क्रमेण सूत्रोक्तासु चतसृषु प्रथमचतुर्थषष्ठसप्तमीषु पृथिवीषु त्रिंशतो दशानां च नरकलक्षाणां पञ्चोनस्य चैकस्य पञ्चानां च नरकाणां नावाद्यथोक्तसंख्याः स्ने भवन्तीति । स० ४० सम० ।

पढमचउत्थपंचमासु पुढवीसु तेयालीसं निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । स० ४२ सम० ।

पढमबिइयासु दोसु पुढवीसु पणपन्नं निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । स० ५५ सम० ।

पढमदोच्चपंचमासु तिसु पुढवीसु अट्ठावन्नं निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । स० ५७ सम० ।

चउत्थवज्जासु छसु पुढवीसु चोवत्तरिं निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । स० ७४ सम० ।

चउरासी निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ॥

चतुरशीतिस्थानके किमपि लिख्यते-चतुरशीतिर्नरकलक्षाण्यमुना विभागेन-"तीसा य पण्णवीसा,पण्णरस दसेव तिन्नि य हवंति । पंचूणसयसहस्सं, पंचेव अणुत्तरा णिरया ॥१॥" स० ८४ सम० ।

इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए केवइयं खेत्तं ओगाहेत्ता केवइया णिरयावासा पण्णत्ता ? । गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहुत्तरिजोयणसयसहस्से, एत्थ णं रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयाणं तीसं णिरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खाया, ते णं णिरयावासा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा० जाव असुभा णिरया । स० ।

णिरवकंख-निरवकाङ्क्ष-त्रि० । वाञ्छारहिते, उत्त० १० अ० ।

णिरवकंखि [ण्]-निरवकाङ्क्षिन्-त्रि० । परित्यक्तभोगे,ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

णिरवग्गह-निरवग्रह-पुं० । विशृङ्खले, को० ।

णिरवच्च-निरपत्य-त्रि० । अविद्यमानशिष्यसंततौ, स० ७१ सम० । शिष्यसन्तानरहिते, कल्प० ८ क्षण । " ··· तित्थसुहम्मातो, निरवच्चा गणहरा सेसा । " आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिरवज्ज-निरवद्य-त्रि० । असावद्ये, " से संजए समक्खाए, निरवज्जाहार जे विऊ । " दश० ५ अ० १ उ० ।

णिरवज्जवत्थुविसय-निरवद्यवस्तुविषय-त्रि० । निरवद्यं सावद्यपरिहारेण यद्वस्तु धर्मगतं तद्विषयो यस्य । असावद्यविषयके, षो० ३ विव० ।

णिरवयक्ख-निरपेक्ष-त्रि० । निर्गताऽपेक्षा परप्राणविषया, परलोकादिविषया वा यस्मिन्नसौ निरपेक्षः,निरवकाङ्क्षो वा । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । परप्राणापेक्षावर्जिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

निरवकाङ्क्ष-त्रि० । आकाङ्क्षावर्जिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णिरवयव-निरवयव-त्रि० निरंशे, विशे० ।

णिरवराहि (ण्)-निरपराधिन्-त्रि० । अकृतापराधे, " निरवराही तो देवया । " आव० ६ अ० ।

णिरवलंब-निरवलम्ब-त्रि० । निरालम्बने,यत्र न पतद्भिः किञ्चिदवाप्यते । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिरवलाव-निरपलाप-त्रि० । अन्यस्मैऽकथके, " केरिसगस्स, सूरे आलोयव्वं ?, निरवलावस्स, जो अन्नस्स न कहेति । " आव० ४ अ० । निरपलापः स्यान्नान्यस्मै कथयेदित्यर्थः । स० ३२ सम० ।

दंतपुरे दंतवक्को, सच्चवई दोहले अणवरए ।
धणमित्ते धणसिरिए, पउमसिरी चेव दढमित्ते ॥७७॥

"दंतपुरे नगरे दंतवक्को राया,सच्चवती देवी,तीसे दोहलो-कह दंतमए पासाए अभिरमेज्ज त्ति ?। रायाए पुच्छियं-दंतनिमित्तं । घोसावियं रन्ना-जहा वाचियं मोल्लं देमि,जो न देइ,तस्स राया विणासं करेइ । तत्थेव नगरे धणमित्तो नाम वाणियओ । तस्स दो भारियाओ-धणसिरी महंती, पउमसिरी डहरिया वि पियतरी य त्ति । अन्नया सवत्तीणं भंडणे धणसिरी भणइ-किं तुमं एवं गव्विया?, किं तुज्झ ममाओ अहियं?,जहा सच्चवतीए तहा ते किं पासाओ कीरेज्जा?। सा भणइ-जइ न कीरइ,तो अहं न जीवेमि त्ति उव्वरते वारं बंधित्ता ठिया । वाणियओ आगओ पुच्छइ-कहिं पउमसिरी?। दासीहिं कहिअं । तत्थेव आतिगओ पसाएइ,तहा वि न पत्तीयति-जइ नत्थि न जीवामि । तस्स मित्तो दढमित्तो नाम, सो आगतो । तेण पुच्छियं सव्वं कहेइ । भणइ-कीरउ,मा इमीए मरंतीए तुमं पि मरिज्जासि, तुमं मरंते अहं पि । रायाए य घोसावियं,तो पच्छन्नं कायव्वं,ताहे सो दढमित्तो पुलिंदगपाउग्गाणि-मणी य,अलत्तगं,कंकणं च गहाय अडविं गओ । दंता लद्धा, पुंजो कओ, तेण पिंडगाण मज्झे बंधित्ता सगडं भरेत्ता आणीया, नगरं पवेसिज्जंतेसु वसभेणं तणपिंडगा कड्ढिया । ततो क-

रू त्ति वंतो पडिओ, नगरगुत्तिएहिं दिट्ठो, गहिओ, रायाए उव-णीओ, वज्झो भाणिज्जइ । धणमित्तो सोऊण आगओ । रायाए पायपडिओ विन्नवेइ-जहा एए मए आणाविया । सो पुच्छिओ भणइ-अहमेयं न याणामि, को त्ति ? । एवं ते अपरोप्परं भणंति । रायाए सबधसाविया पुच्छिया, अजओ विन्नो, परिकहियं । पूइ-त्ता विसज्जिया । एवं णिरवलावेण होयव्वं आयरिएणं । वितिओ वि-एगेण एगस्स हत्थे भाणं वा किंचि दिण्णं, अंतरा पडियं । तत्थ भाणियव्वं-मम दोसो, इयरेण वि मम त्ति ।" आव० ४ अ० ।

णिरवसेस-निरवशेष-त्रि० । समग्रे, अनु० । आव० । समस्ते, भ० १४ श० ३ उ० । संपूर्णे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । सर्व-स्मिन्, आ० म० १ अ० २ खण्ड । विशे० । पञ्चा० ।

णिरवसेसपच्चक्खाण-निरवशेषप्रत्याख्यान-न० । सर्वाऽशन-पानत्यागात् निरवशेषे प्रत्याख्याने, ध० २ अधि० ।

इदानीं निरवशेषमाह-

सव्वं असणं सव्वं, च पाणगं खाइमं पि सव्वं पि ।
वोसिरइ साइमं पि हु, सव्वं जं तं निरवसेसं ॥१०१॥

'अश' भोजने, अश्यत इत्यशनमोदनमण्डकमोदकखज्जकाऽऽदि । पीयत इति पानं, कर्मणि ल्युट् । खर्जूरद्राक्षापानाऽऽदि । खादनं खादो, भावे घञ् । खादेन निर्वृत्तम्-"भावादिमन्" ॥६।४।२१॥ इति इमनि खादिमं नालिकेरफलाऽऽदि, गुडधानाऽऽदिकं च । स्वदनं स्वादः, तेन निर्वृत्तं, तथैव इमनि स्वादिमम् । एलाफलकर्पूरलवङ्गपूगीफलहरीतकीनागराऽऽदि । ततश्च सर्वम-शनं, सर्वं पानकं, खादिमं च सर्वमपि व्युत्सृजति परित्यजति स्वादिममपि सर्वं यत्, निरवशेषं तद्विज्ञेयमिति । प्रव० ४ द्वार । भ० । "वित्थरत्थो-जो पुण असणस्स सव्वरसविहस्स वो-सिरइ, पाणगस्स अणेगविहस्स खंडपाणगादियस्स वा, इमं अणेगविहं-फलमाइ, साइमं अणेगविहं-मधुमादि, तं सव्वं जो वोसिरइ । एतं निरवसेसं ।" आव० ६ अ० ।

णिरवसेससव्वय-निरवशेषसर्वक-न० । निरवशेषव्यक्तिसमा-श्रयेण सर्वं निरवशेषसर्वकम् । यथा अनिमिषाः सर्वे देवाः, न हि देवव्यक्तिरनिमिषत्वं काचिद् व्यभिचरतीत्यर्थः । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णिरवाय-निरपाय-त्रि० । अपायेभ्यो निर्गते, षो० ८ विव० ।

णिरवेक्ख-निरपेक्ष-त्रि० । पुत्रदारधनधान्यहिरण्याऽऽदिकमन-पेक्षमाणे, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । अनपेक्षे, आव० ४ अ० । अपेक्षा-रहिते, ध० ३ अधि० । वृत्तिनिस्पृहे, पञ्चा० ४ विव० । औ० । उत्त० । बालाऽऽदिषु चिन्तारहिते, व्य० ३ उ० । आचार्यस्य शिष्यैः, प्रतीच्छकैश्च सर्वं कर्त्तव्यं, ये तु न कुर्वन्ति, ते निरपेक्षा इति । (एतच्च "अइसेस" शब्दे प्रथमभागे २७ पृष्ठे उक्तम्) द्विविधाः साधवः-सापेक्षाः, निरपेक्षाश्च । "णिरवेक्खा जि-णाइया, ते सरीरगच्छादिणिरवेक्खत्तणओ णिरवेक्खा ।" नि० चू० २० उ० । निरभिष्वङ्गे निरभिष्वङ्गे, "एक्को एत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए ।" उत्त० ६ अ० ।

णिरवेक्खजइधम्म-निरपेक्षयतिधर्म-पुं० । गच्छनिर्गतसाधुध-र्मे, (ध०)

साम्प्रतं निरपेक्षयतिधर्मप्रस्तावनाय तद्योग्यतामाह-

प्रमादपरिहाराय, महासामर्थ्यसंभवे ।
कृतार्थानां निरपेक्ष-यतिधर्मोऽतिसुन्दरः ॥८३॥

महासामर्थ्यम्-आद्यसंहननत्रययुक्ततया, वज्रकुड्यसमानधृ-तितया च कायमनसोः शक्तिः, तस्य संभवे विद्यमानत्वे, प्र-मादपरिहाराय प्रागुक्ताष्टविधप्रमादत्यागाय, कृतार्थानां कृतकृ-त्यानामाचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविरगणावच्छेदकलक्षणपदप-ञ्चकयोग्यतया शिष्याणां निष्पादनेन निष्ठितार्थानामित्यर्थः; नि-रपेक्षयतिधर्मो गच्छनिर्गतयतिधर्मोऽतिसुन्दरोऽतिशयेन श्रे-यान्, प्रमादजयार्थं कृतकृत्यानामाचार्याऽऽदीनामयमतिश्रेष्ठ इत्य-र्थः । अत्रेदमवधेयम्-निरपेक्षा यतयो-जिनकल्पिकाः, शुद्धपा-रिहारिकाः, यथालन्दिकाश्च । धर्म० ४ अधि० । (जिनक-ल्पिकाऽऽदयः पृथक् पृथक् स्वस्वस्थाने द्रष्टव्याः)

णिरहंकार-निरहङ्कार-त्रि० । अहङ्काररहिते, उत्त० १६ अ० । रागद्वेषरहिते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

णिरहिगरण-निरधिकरण-त्रि० । गुरुतराऽऽरम्भवर्जिते, पञ्चा० १९ विव० ।

णिरहिगरणि [ण्]-निरधिकरणिन्-त्रि० । निर्गतमधिकर-णमस्मादिति निरधिकरणी । समासान्तविधिः (इन्) । अधिक-रणदूरवर्तिनि, भ० १६ श० १ उ० ।

णिराअ-देशी-प्रकटे, ऋजौ, रिपौ च । दे० ना० ४ वर्ग ५० गाथा ।

णिराकिच्च-निराकृत्य-अव्य० । अपनीयेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । परित्यज्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । "ततो वायं णिराकिच्चा, ते भुज्जो विप्पगब्भिया ।" सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

णिरागस-निराकर्ष-पुं० । आकृष्यत इति आकर्षो, न विद्यते आ-कर्षो यस्य स निराकर्षः । द्रविणरहिते, "किंसे निरागसाणं, गुत्तिकरो काहितो राया ।" नि० चू० २ उ० ।

णिरागारपच्चक्खाण-निराकारप्रत्याख्यान-पुं० । निर्गतं महत्त-राऽऽद्याकारान्निराकारम्, तच्च प्रत्याख्यानं चेति । अनाकारप्रत्या-ख्याने, निराकारेऽप्यनाभोगसहसाकाररूपाऽऽकारद्वयस्याऽ-वश्यंभावान्महत्तराऽऽद्याकारवर्जनाऽऽश्रयणम् । ध० २ अधि० ।

णिराणुकंप-निरनुकम्प-त्रि० । प्राकृतत्वाद् दीर्घः । अनुकम्पार-हिते, पं० व० ४ द्वार ।

णिरातंक-निरातङ्क-त्रि० । नीरोगे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । औ० । तं० ।

णिराद-देशी-नष्टे, दे० ना० ४ वर्ग ३० गाथा ।

णिराबाह-निराबाध-त्रि० । सर्वशारीरकमानसिकबाधाविवर्जि-ते, दर्श० ४ तत्त्व । अष्ट० । स्याऽऽयत्ताऽऽनन्दरूपत्वात् । (स्था० १० ठा०) बाधारहिते, आव० ४ अ० ।

णिराभिराम-निरभिराम-त्रि० । अभिरमणीये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णिरामगंध-निरामगन्ध-त्रि० । निर्गतोऽपगत आमोऽविशोधि-कोट्याख्यः, तथा गन्धो विशोधिकोटिरूपो यस्मात् स भवति निरामगन्धः । मूलोत्तरगुणभेदभिन्नां चारित्रक्रियां कुर्वाति, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । "से सव्वदंसी अभिभूय णाणी, णिराम-गंधे धिइमं ठिअप्पा । (५)" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । "णिरामगंधे सपरिव्वएज्जा ।" आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

णिरामय-निरामय-त्रि० । नीरोगे, दशा० ४ अ० । निर्मलपरमात्मानुभवे, अष्ट० १० अष्ट० । "अतीव निरामया मो अहो वा-तो निस्सरइ ।" आ० म० १ अ० ५ खएड ।

णिरामिस-निरामिष-त्रि० । विषयाऽऽदिपदार्थे, उत्त० । "सामिसं कुललं दिस्स, बज्झमाणं णिरामिसं । आमिसं सव्वमुज्झित्ता, विहरिस्सामो णिरामिसा ॥ ४६ ॥" निष्क्रान्त आमिषाद् गृद्धिहेतोरभिलषितविषयान्निर्गतं वा आमिषमस्येति । उत्त० पाई० १४ अ० ।

णिरायास-निरायास-त्रि० । अखेदकारके, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार ।

णिरारंभ-निरारम्भ-त्रि० । निर्गत आरम्भात्सत्त्वपीडाप्रवर्तनलक्षणान्निरारम्भः । आरम्भरहिते, उत्त० २ अ० ।

णिरालंब-निरालम्ब-त्रि० । ज्ञानाऽऽद्यालम्बनरहिते, व्य० ४ उ० ।

णिरालंबण-निरालम्बन-त्रि० । आणायाऽऽलम्बनीयवस्तुवर्जिते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । "गयणमिव णिरालंबणो ।" गगनमिव निरालम्बनो, न कुलग्रामाऽऽद्यालम्बन इति भावः । कल्प० ९ क्ष० । ऐहिकाऽऽमुष्मिकाऽऽशंसारहिते, "इमम्मि लोए परते य दोसु वि न विज्जइ बंधणं जस्स किंचि वि, से हु निरालंबणे ।" आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

णिरालंबणया-निरालम्बनता-स्त्री० । निर्गत आलम्बनादाश्रयणीयाद् गच्छकुटुम्बकाऽऽदेरिति निरालम्बनस्तद्भावो निरालम्बनता । आश्रयानपेक्षत्वेऽविनयभेदे, दशा० ४ अ० ३ उ० ।

णिरालोय-निरालोक-त्रि० । निर्गताऽऽलोके, "निरालोयाओ दिसाओ करेमाणे ।" नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

णिरावकंखि [न्]-निरवकाङ्क्षिन्-त्रि० । निस्पृहे, "निक्खम्म गेहाउ णिरावकंखी, कायं विउ सेज्ज नियाणछिन्ने ।" निरावकाङ्क्षी कायं शरीरं व्युत्सृज्य निष्प्रतिकर्मतया चिकित्साऽऽदिकमकुर्वन् छिन्ननिदानो भवेत् । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

णिरावयक्ख-निरवकाङ्क्ष-त्रि० । निरपेक्षे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिरावरण-निरावरण-न० । क्षायिकत्वात् (औ० । प्र० । दशा०) समस्ताऽऽवरणरहिते, कल्प० १ क्षण ।

णिरास-निरास-त्रि० । परित्यागे, प्रतिक्षेपे, वधे, निष्कासने, वाच० । आ० म० ।

निराश-पुं० । क्षीणमनोरथे, वृ० ६ उ० । प्रश्न० ।

णिरासंस-निराशंस-त्रि० । इहपरलोकाऽऽशंसाविप्रमुक्ते, आव० ४ अ० । ऐहिकाऽऽमुष्मिकाऽऽशंसारहिते, आचा० २ श्रु० ४ चू० १ अ० ।

णिरासवहुल-निराशबहुल-त्रि० । आशाऽभावप्रचुरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिरासव-निराश्रव-त्रि० । कर्माऽऽदानरहिते, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार ।

णिरिअ-देशी-अविशोधिते, दे० ना० ४ वर्ग २८ गाथा ।

णिरिंक-देशी-नते, दे० ना० ४ वर्ग ३० गाथा ।

णिरिंधणया-स्त्री० । निरिन्धन-न० । प्राकृते स्वार्थिकं स्त्रीत्वम् । धूमस्येव कर्मेन्धनविमोचने, भ० ७ श० १ उ० ।

णिरिक्खण-निरीक्षण-न० । आलोकने, सम्म० १ अधि० १ प्रस्ता० । वाच० ।

णिरिक्खणा-निरीक्षणा-स्त्री० । प्रत्युपेक्षणायाम्, ओघ० ।

णिरिक्खिय-निरीक्षित-त्रि० । आलोकिते, "कप्पयमाणसंसणघरेहिं तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइएहिं ।" तत्र निरीक्षिता मनोरथपरम्परासम्पादितसंभवननिश्चयसमुत्थसम्मदविकासिलोचनैरालोकिताः । सं० ।

णिरिग्घ-निली-नि - लीङ् । धा० । निलयने, "निलीङेर्णिलीअ-णिलुक्क-णिरिग्घ-लुक्क-लिक्क-ल्हिक्काः" ॥ ८ । ४ । ५५ ॥ इति निलीङो णिरिग्घाऽऽदेशः । 'णिरिग्घइ' । पक्षे-'निलिज्जइ' । निलीयते । प्रा० ४ पाद ।

णिरिणास-गम्-धा० । गमने, "गमेरई-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस-पच्चड्ड-पच्छंद-णिम्मह-णी-णीण-णीलुक्क-पदअ-रम्भ-परिअल्ल-वोल-परिअल-णिरिणास-णिवहावसेहावहराः" ॥ ८ । ४ । १६२ ॥ इति सूत्रेण गमेर्णिरिणासाऽऽदेशः । 'णिरिणासइ' । गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

नश्-धा० । अदर्शने, "नशेर्णिरिणास-णिवहावसेह-पडिसा-सेहावहराः" ॥ ८ । ४ । १७८ ॥ इति नशेर्णिरिणासाऽऽदेशः । 'णिरिणासइ' । नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

पिष्-धा० । पेषणे, "पिषेर्णिवह-णिरिणास-णिरिणज्ज-रोञ्च-चड्डाः" ॥ ८ । ४ । १८५ ॥ इति पिषेर्णिरिणासाऽऽदेशः । 'णिरिणासइ' । पिनष्टि । प्रा० ४ पाद ।

णिरिणिज्ज-पिष्-धा० । पेषणे, "पिषेर्णिवह-णिरिणास-णिरिणिज्ज-रोञ्च-चड्डाः" ॥ ८ । ४ । १८५ ॥ इति पिष्धातोर्णिरिणिज्जाऽऽदेशः । 'णिरिणिज्जइ' । पिनष्टि । प्रा० ४ पाद ।

णिरुंभइत्ता-निरुध्य-अव्य० । सन्मार्गे व्यवस्थाप्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । दशा० ।

णिरुंभण-निरोधन-न० । प्रक्षेपणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । प्रतिबन्धे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

णिरुच्चार-निरुच्चार-त्रि० । प्राकारस्योर्द्ध्वजनप्रवेशनिर्गमवर्जिते, पुरीषविसर्गार्थे जनानां बहिर्निर्गमनरहिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । निरुद्धपुरीषोत्सर्गे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिरुच्छाह-निरुत्साह-त्रि० । सत्त्वपरिवर्जिते, अं० २ वक्ष० । निरुद्यमे, ग० १ अधि० ।

णिरुज-निरुज-न० । रुजानामभावो निरुजम् । रोगाणामभावे, पञ्चा० १९ विव० ।

णिरुजसिखतव-निरुजशिखतपस्-न० । रुजानां रोगाणामभावो निरुजं, तदेव शिखेव शिखा प्रधानं फलतया यत्राऽसौ निरुजशिखः, स एव तपः । पञ्चा० १९ विव० । आरोग्यार्थे तपोभेदे, (प्रव०)

निरुजशिखं तपः प्राऽऽह-

एवं निरुजसिखं वि हु, नवरं सो होइ सामले पक्खे ।

तम्मि य आहिओ कीरइ, गिलाणपडिजागरणनियमो ।५५६।

रुजानां रोगाणामभावो निरुजं, तदेव प्रधानफलाविवक्षया शिखेव शिखा चूला यत्राऽसौ निरुजशिखः, तपोविशेषः । सोऽप्येवमेव सर्वाङ्गसुन्दरतपोवदष्टाभिरुपवासैराचाम्लपारणकैर्द्रष्टव्यः । नवरं केवलं स निरुजशिखस्तपोविशेषः, श्यामले कृष्णपक्षे भवति, अधिकश्च तत्र क्रियते ग्लानप्रतिजागरणनियमः, ग्लानो मया यथाऽऽदिष्टामनः प्रतिचरणीय इत्येवंरूपप्रतिज्ञाग्रहणमित्यर्थः । शेषं तु जिनपूजाऽऽदिकं तथैवेति । प्रव० २७१ द्वार ।

णिरुट्ठाइ (ण्)-निरुत्थायिन्-त्रि० । प्रयोजनेऽपि न पुनः पुनरुत्थानशीलः । उत्त० १ अ० । निमित्तं विनाऽनुत्थापके, उत्त० ३ अ० ।

णिरुत्त-निरुक्त-न० । अभिधानाक्षरानुसारतो निश्चितार्थस्य वचने भणने, अनु० । अनुयोगे सूत्रव्याख्यायाम्, (बृ०)

सम्प्रति अनुयोगमधिकृत्य निरुक्तद्वारमाह--

निच्छियमुत्त णिरुत्तं, तं पुण सुत्ते य होइ अत्थे य ।
सुत्ते उवरिं वोच्छं, अत्थणिरुत्तं इमं तत्थ ॥

निश्चितमुक्तं निरुक्तम् । तच्च द्विधा--सूत्रस्यार्थस्य च । तत्र सूत्रस्योपरि " नेरुत्तियाणि तस्स उ " इत्यादिना ग्रन्थेन वक्ष्ये । अर्थनिरुक्तं पुनरिदं वक्ष्यमाणम् ।

तदेव विवक्षुः प्रथमतस्तद्विषयान् दृष्टान्तान्
वक्तव्यान् सूचयति-

अणु बायरे य उंडिय, पडिंसुया चेव अब्भपडले य ।
वासिए चउक्कभंगो, निरुत्ताई वत्तणी य जहा ॥

अनुयोगे अणुत्वे बादरत्वे च दृष्टान्तो वक्तव्यः, अनुयोगे उण्डिकापत्रकदृष्टान्तः, उण्डिका मुद्रा । भाषायां प्रतिश्रुतदृष्टान्तः । विभाषायामभ्रपटलः । वार्त्तिके चत्वारो भङ्गाः, तत्र भङ्गदृष्टान्तः । तथा-निरुक्ताऽऽदीनि । यथा वर्द्धमानस्वाम्याख्या, तथाऽन्यथा किमृषभाऽऽदयोऽपि, उतान्यथा ? । उच्यते-तथेति, केवलज्ञानस्य तुल्यत्वात्, यथा वर्त्तनी मार्गः स सर्वजनपदेषु प्रमाणत एकैव भवति । बृ० १ उ० । विशे० । पदभञ्जने, पदव्युत्पत्तिरूपे टीकाऽऽदौ, कल्प० ९ क्षण । शब्दनिरुक्तप्रतिपादके वेदाङ्गे, औ० । आ० म० । अनु० । आव० । सर्वैरुपादेयतया नितरामुक्ते, प्रश्न० २ सम्ब० द्वार । निश्चये, दे० ना० ४ वर्ग ३० गाथा ।

णिरुत्ति-निरुक्ति-स्त्री० । निश्चिता उक्तिर्निरुक्तिः । विशे० । आ० म० । निर्वचनं निरुक्तिः । क्रियाकारकभेदपर्यायैः शब्दार्थकथने, विशे० । आ० म० । आ० चू० ।

णिरुत्तिय-नैरुक्तिक-न० । निरुक्ते भवं नैरुक्तम् । निरुक्तवशेनार्थप्रतिपादके नामनि, (अनु०) " से किं तं णिरुत्तिए ?। मह्यां शेते महिषः । भ्रमति चरतीति भ्रमरः । मुहुर्मुहुर्लसतीति मुसलम् । कपेरिव लम्बते कपित्थम् । चिक्कं करोति खल्लं च भवति चिक्खल्लम् । ऊर्द्धकर्ण उलूकः । खस्य माला मेखला । सेत्तं णिरुत्तिए । " अनु० ।

णिरुद्ध-निरुद्ध-त्रि० । आच्छादिते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आवृते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । परिगलिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । विवक्षितादिगमनमनिवारिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जलचरजीवविशेषे, कल्प० ३ क्षण ।

णिरुद्धजोग-निरुद्धयोग-पुं० । चतुर्थे शुक्लध्यानभेदे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

णिरुद्धपण्ण-निरुद्धप्रज्ञ-त्रि० । निरुद्धाऽऽच्छादिता ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिना कर्मणा प्रज्ञा ज्ञानं यस्य सः । अज्ञानप्रकाशे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

णिरुद्धपरियाय-निरुद्धपर्याय-पुं० । निरुद्धो विनाशितः पर्यायो यस्य स निरुद्धपर्यायः । व्य० ३ उ० । पश्चात्कृतत्वेन पूर्वपर्यायनिरोधात् तद्दैवसिकपर्याये, (" निरुद्धपरियाए समणे णिग्गंथे कप्पइ तद्दिवसं आयरियउवज्झायत्ताए ।" इति सूत्रम्- ' उद्देस ' शब्दे द्वितीयभागे ८०३ पृष्ठे व्याख्यातम्)

णिरुद्धबुद्धि-निरुद्धबुद्धि-त्रि० । निरुद्धा संशयकोटीकृता बुद्धिर्येषां ते निरुद्धबुद्धिकाः । संशयितेषु, बृ० ३ उ० ।

णिरुद्धवासपरियाय-निरुद्धवर्षपर्याय-पुं० । निरुद्धो विनाशितो वर्षपर्यायो यस्य स निरुद्धवर्षपर्यायः । अनेकवर्षपर्याये, व्य० ३ उ० । नि० चू० । ("तिण्णि य जस्स अपुण्णा, वासा पुण्णेहिँ वा तिहिं तं तु । वासेहिँ निरुद्धेहिं, लक्खणजुत्तं पसंसंति ॥१॥" इति 'उद्देस' शब्दे द्वितीयभागे ८०५ पृष्ठे व्याख्यातम्)

णिरुद्धाउग-निरुद्धायुष्क-न० । परिगलिते आयुष्के, " इमं णिरुद्धाउयं संपेहाए ।" आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

णिरुय-निरुज-न० । ' णिरुज ' शब्दार्थे, पञ्चा० १९ विव० ।

णिरुयसिखतव-निरुजशिखतपस्-न० । ' णिरुजसिखतव ' शब्दार्थे, पञ्चा० १९ विव० ।

णिरुल्ली-देशी-मकराऽऽकृतिग्राहे, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिरुवक्कम-निरुपक्रम-पुं० । निर्गत उपक्रमान्निरुपक्रमः । अपवर्तनाकरणान्निर्गते अनुभागे, भ० । तत्र मरणविषयाऽऽयुषि समभिरष्टभिर्वा कर्वैगत्रामिव मरुषु जलगण्डूषग्रहणरूपैर्वर्द्धपुद्गलोपादानं तदतिदृढमपवर्तयितुमशक्यतया निरुपक्रममुच्यते । उत्त० ५ अ० । उपक्रमणाभावे, भ० २० श० १० उ० ।

णिरुवक्कमभाव-निरुपक्रमभाव-पुं० । अनुपक्रमणीयत्वे कर्मणामवश्यंवेद्यस्वभावत्वे, पञ्चा० ३ विव० ।

णिरुवक्कमाउ-निरुपक्रमायुष्-त्रि० । अकालमरणरहिते, आ० । आ० म० । यदा ह्यसुमान् स्वायुषस्त्रिभागत्रिभागे वा जघन्यत एकेन द्वाभ्यां चोत्कृष्टतः सप्तभिरष्टभिर्वा वर्षैरन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेन कालेनाऽऽत्मप्रदेशरचनानाडिकान्तर्वर्त्तिन आयुष्ककर्मवर्गणापुद्गलान् प्रयत्नविशेषेण विधत्ते तदा निरुपक्रमाऽऽयुर्भवति । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । विपा० ।

णिरुवक्कय--देशी-अकृते, दे० ना० ४ वर्ग ४१ गाथा ।

णिरुवकिट्ठ-निरुपक्लिष्ट-त्रि० । स्वगतशोकाऽऽद्युपक्लेशवियुक्ते, भ० २५ श० ७ उ० । " हट्ठस्स णवगलुस्स णिरुवकिट्ठस्स जंतुणो ।" अनु० ।

णिरुवक्केस-निरुपक्लेश--पुं० । शोकाऽऽदिबाधावर्जिते, स्था० ७ ठा० । "णिरुवक्केसे परियाए" 'निरुपक्लेशः पर्यायः' इति पभि-

देवोपक्लेशै रहितः प्रव्रज्यापर्यायोऽनारम्भी क्वाचिन्ताविवर्जितः श्लाघनीयो विदुषामित्येवं चिन्तनीयम् । दश० १ चू० ।

णिरुवगारि[ण्]-निरुपकारिन्-त्रि० । निरुपकर्तुं शीलमस्येति । निरुपकारकारके गुर्वादिकार्येष्वप्रवर्तके, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णिरुवग्गहया-निरुपग्रहता-स्त्री० । गत्यादिरहितपङ्गुवद् धर्मास्तिकायाभावेन तज्जनितगत्युपष्टम्भाभावे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

णिरुवचरिय-निरुपचरित-त्रि० । उपचारेणाऽऽश्रमनोऽसंबाध्यमाने, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

णिरुवट्ठाणि[ण्]-निरुपस्थानिन्-त्रि० । निर्गतमुपस्थानमुद्यमो यस्य स निरुपस्थानी । सर्वज्ञप्रणीतसदाचाराऽनुष्ठानविकले, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

णिरुवद्दव-निरुपद्रव-त्रि० । अविद्यमानराजाऽऽदिकृतोपद्रवे, औ० । ज्ञा० । रा० । रोगाऽऽदिक्लेशरहिते, नं० । उपद्रवो नाम-अशिवं, गलरोगाऽऽदिकं वा । तस्याभावो निरुपद्रवम् । उपद्रवाभावे, नं० । "णिरुवद्दवं च खेमं च होहिति ।" बृ० ४ उ० । अशिवाऽऽद्युपद्रववर्जिते, बृ० १ उ० ।

णिरुवम-निरुपम-त्रि० । सकलोपमाऽतीते, दर्श० ५ तत्त्व । उपमारहिते, जी० ३ प्रति० ४ उ० । तं० । आव० । "णिरुवमपिंडियअग्गसिरा ।" निरुपमं पिण्डिकेव घनत्वेन पिण्डिकायमानमग्रशिरः शिरोऽग्रं येषां ते तथा । तं० ।

णिरुवमसुहसंगय-निरुपमसुखसङ्गत-त्रि० । निरुपमाऽऽख्येनाविद्यमानाऽऽक्षेपेण सङ्गत इति समासः । असंयोगिकाऽऽनन्दयुक्ते, पं० सं० १ द्वार ।

णिरुवयारिय-निरुपचरित-त्रि० । 'णिरुवचरिय' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

णिरुवलेव-निरुपलेप-त्रि० । द्रव्यतो निर्मलदेहत्वाद् भावतो बन्धहेत्वभावान्निर्गत उपलेपो यस्मादिति निरुपलेपः । स्था० ९ ठा० । द्रव्यतो निर्मलदेहे, भावतस्तु कर्मबन्धहेतुलक्षणोपलेपरहिते, औ० । कल्प० । ज्ञा० । प्रश्न० । स० । लेपरहिते, औ० । स्नेहवर्जिते, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार ।

निरुपलेपं दृष्टान्तैर्भावयति-

णिरुवलेवे-कंसपाई इव मुक्कतोए, संखो इव णिरंजणे, जीवे इव अप्पडिहयगई, गगणमिव णिरालंबणे, वाउ व्व अप्पडिबद्धे, सारयसलिलं व सुद्धहियए, पुक्खरपत्तं व णिरुवलेवे, कुम्मो इव गुत्तिंदिए, खग्गिविसाणं व एगजाए, विहग इव विप्पमुक्के, भारंडपक्खी इव अप्पमत्ते, कुंजरो इव सोंडीरे, वसभो इव जायथामे, सीहो इव दुद्धरिसे [illegible] इव अप्पकंपे, सागरो इव गम्भीरे, चंदो इव सोमले[illegible] सूरो इव दित्ततेए, जच्चकणगं व जायरूवे, वसुंधरा इव [illegible] फासविसहे, सुहुयहुयासण इव तेयसा जलंते । [illegible] य णं तस्स भगवंतस्स कत्थइ पडिबंधे भवइ ।

[illegible] उपलेपो द्रव्यभावमलापगमेन, तत्र द्रव्यमलः शरीरसंभवः, भावमलः कर्म[illegible] निरुपलेपत्वं दृष्टान्तैर्दर्शयति-कांस्यपात्रीव मुक्तं तोयमिव स्नेहो येन स तथा, यथा कांस्यपात्रं तोयेन न लिप्यते, तथा भगवान् स्नेहेन न लिप्यते इत्यर्थः । तथा शङ्ख इव निरञ्जनः, रञ्जनं रागाऽऽद्युपरञ्जनं तेन शून्यत्वात् । जीव इव अप्रतिहतगतिः, सर्वत्रास्खलितविहारित्वात् । गगनमिव निरालम्बनः, कस्याप्याधारस्यानपेक्षणात् । वायुरिव अप्रतिबद्धः, एकस्मिन् स्थाने क्वाप्यवस्थानाभावात् । शारदसलिलमिव शुद्धहृदयः, कालुष्याकलङ्कितत्वात् । पुष्करपत्रं कमलपत्रं, तद्वन्निरुपलेपः, यथा कमलपत्रे जललेपो न लगति, तथा भगवतः कर्मलेपो न लगतीत्यर्थः । कूर्म इव गुप्तेन्द्रियः । खड्गिविषाणमिव एकजातः । यथा-खड्गिनः श्वापदविशेषस्य विषाणं शृङ्गमेकं भवति, तथा भगवानपि, रागाऽऽदिना सहायेन च रहितत्वात् । विहग इव विप्रमुक्तः, मुक्तपरिकरत्वात् अनियतनिवासाच्च । भारण्डपक्षीव अप्रमत्तः, भारण्डपक्षिणोः किलैकं शरीरम् । यतः-"एकोदराः पृथग्ग्रीवा-स्त्रिपदा मर्त्यभाषिणः । भारण्डपक्षिणस्तेषां, मृतिर्भिन्नफलेच्छया" ॥ १ ॥ ते चात्यन्तम् अप्रमत्ता एव जीवन्तीति तदुपमा । कुञ्जर इव शौण्डीरः कर्मशत्रून् प्रति शूरः, वृषभ इव जातस्थामा जातपराक्रमः, स्वीकृतमहाव्रतभारोद्वहनं प्रति समर्थत्वात् । सिंह इव दुर्धर्षः, परीषहाऽऽदिश्वापदैरजय्यत्वात् । मन्दर इव मेरुरिव अप्रकम्पः, उपसर्गवातैरचलितत्वात् । सागर इव गम्भीरः, हर्षविषादकारणसद्भावेऽपि अविकृतस्वभावत्वात् । चन्द्र इव सौम्यलेश्यः, शान्तत्वात् । सूर्य इव दीप्ततेजाः । द्रव्यतो देहकान्त्या, भावतो ज्ञानेन जात्यकनकमिव जातं रूपं स्वरूपं यस्य स तथा । यथा किल कनकं मलज्वलनेन दीप्तं भवति, तथा भगवतोऽपि स्वरूपं कर्ममलविगमेन अतिदीप्तमस्तीति भावः । वसुन्धरा इव पृथ्वीव सर्वस्पर्शसहः, यथा हि शीतोष्णाऽऽदि सर्वं पृथ्वी समतया सहते, तथा भगवानपि । सुष्ठु हुतो घृताऽऽदिभिः सिक्त एवंविधो यो हुताशनोऽग्निस्तद्वत्तेजसा ज्वलन् । नास्त्ययं पक्षः-यत्तस्य भगवतः कुत्रापि प्रतिबन्धो भवति, तस्य भगवतः कुत्रापि प्रतिबन्धो नास्तीति भावः । कल्प० ६ क्षण ।

णिरुवसग्ग-निरुपसर्ग-पुं० । जन्माऽऽद्युपसर्गरहिते मोक्षे, प्रति० । आव० । आचा० । आ० चू० । राजगुणभेदे, यतः सकलेऽपि देशे मारिडमराऽऽद्युपसर्गासम्भवः । व्य० ३ उ० ।

णिरुवसग्गवत्तिया-स्त्री० । निरुपसर्गप्रत्यय-पुं० । जन्माऽऽद्युपसर्गाभावेन निरुपसर्गो मोक्षस्तत्प्रत्ययः । "वत्तिया ति" आर्षत्वात् । मोक्षनिमित्ते, "अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं णिरुवसग्गवत्तियाए बोहिलाहवत्तियाए ।" ध० २ अधि० । ल० ।

णिरुवहय-निरुपहत-त्रि० । वाताऽऽद्यनुपहते, भ० ७ श० १ उ० । ज्ञा० । कल्प० । विकारविरहिते, औ० । रा० । ज्वराऽऽदिदृष्टाऽऽद्युपद्रवरहिते, जी० ३ प्रति० ४ उ० । रोगाऽऽदिभिरनुपहते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । "णिरुवहयउदत्तलट्ठपंचिंदियबहुं ति ।" निरुपहतानि अविद्यमानवाताऽऽद्युपघातानि उदात्तानि उत्तमवर्णाऽऽदिगुणानि अत एव लष्टानि मनोहराणि पञ्चापीन्द्रियाणि पटूनि च स्वविषयग्रहणदक्षाणि यत्र तत्तथा । भ० ९ श० ३३ उ० ।

णिरुवहि-निरुपधि-त्रि० । उपधिर्मायाः,मायेत्यनर्थान्तरम् । अयं

च कोधाऽऽद्युपलक्षणं, ततश्च निर्गता उपक्रमाद्यः सर्वे एव कषाया येभ्यस्ते निरुपक्रमः । निष्कषायेषु, "हेउविभत्ती निरुवट्टिजियाण मवहेउ य जियंति ॥ १४४ ॥ " दशा० १ अ० ।

णिरुवार–ग्रह्–धा० । ग्रहणे, " ग्रहो बल-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवाराहि-पच्चुआः " ॥ ८ । ४ । २०६ ॥ इति ग्रहेर्निरुवाराऽऽदेशः । " निरुवारइ " । गृह्णाति । प्रा० ४ पाद ।

णिरुस्साह–निरुत्साह–त्रि० । सदनुष्ठानानिरुद्यमे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

णिरूविअ–निरूपित–त्रि० । आलोच्य कथिते, " विदूषकशनिरूपितं । " वृद्धकविभिरुपितम् । प्रा० २ पाद ।

णिरूविऊण–निरूप्य–अव्य० । आलोच्येत्यर्थे, पञ्चा० ८ विव० ।

णिरूवियव्व–निरूपयितव्य–त्रि० । आलोचनीये, पञ्चा० ११ विव० ।

णिरूह–निरूह–पुं० । विरेचने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

णिरेय–निरेजस्–त्रि० । निष्प्रकम्पे, भ० ५ श० ७ उ० । कल्प० । निश्चले, नि० चू० २० उ० । सेजसां निरेजसां च पुद्गलानां कायस्थितिरुक्ता । भ० २५ श० ४ उ० ।

णिरेयण–निरेजन–त्रि० । निश्चले, औ० । प्रज्ञा० । निष्प्रकम्पे, आव० ५ अ० ।

णिरोदर–निरोदर–त्रि० । विकृतोदररहिते, जी० ३ प्रति० ४ उ० । तुच्छोदरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

णिरोह–निरोध–पुं० । निरोधनं निरोधः । प्रलयकरणे, " उत्पत्याणं झाणं,जोगनिरोहो जिणाणं च ।" आव० ४ अ० । आ० क० । अशेषकर्मक्षये, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । निश्चयेन धरणे, आव० ४ अ० ।

मुत्तणिरोहे चक्खुं, वच्चणिरोहेण जीवियं जहाति ।
उड्डणिरोहे कोढं, गेलन्नं वा भवे तीसु ॥ ६६३ ॥

मूत्रनिरोधे विधीयमाने चक्षुरुपहन्यते । वर्चः पुरीषं, तस्य निरोधेन जीवितं परित्यजति, अचिरादेव मरणं भवतीत्यर्थः । ऊर्द्ध वमनं, तस्य निरोधे कुष्ठं भवति, ग्लान्यं वा सामान्यतो मान्द्यं त्रिष्वपि मूत्रपुरीषवमनेषु निरुध्यमानेषु भवेत् । बृ० ३ उ० । प्रकाशप्रवृत्तिनियमरूपविघाते, स च निरोधोऽभ्यासाद् वैराग्याच्च भवति । तदुक्तम्-" अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।" द्वा० २२ द्वा० ।

णिरोहपरिणाम–निरोधपरिणाम–पुं० । चित्तस्य तथाविधधर्मविशेषे, द्वा० । व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावाभ्यां निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणाम इति । द्वा० २३ द्वा० ।

णिलज्ज–निर्लज्ज–त्रि० । लज्जारहिते, " हुं निलज्ज ! समोसर ।" प्रा० २ पाद ।

णिलज्जिमा–पुं० । स्त्री० । –निर्लज्जिमन्–पुं० । निर्लज्जस्य भावो निर्लज्जिमा । "वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्" ॥८।१।३५॥ इति वा स्त्रियां प्रयोगः । " एसा निलज्जिमा, एस निलज्जिमा " । लज्जाराहित्ये, प्रा० १ पाद ।

णिलय–निलय–पुं० । गृहे, उत्त० ३२ अ० । को० । तं० ।

णिलयण–निलयन–न० । वसतौ, मयानां निलयनैपस्यम । विशे० । (वसतिवृत्तान्तः ' वय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८८१ पृष्ठे प्ररूपितः)

णिल्लाद–ललाट–न० । भाले, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

णिलिंत–निलीयमान–त्रि० । नीडाऽऽश्रयति, रा० । निविशमाने, औ० ।

णिलिज्जमाण–निलीयमान–त्रि० । अपनयति, आश्रयार्थं कुर्वाणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । संबाधनं कुर्वति, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

णिलीअ–निली–धा० । निलयने, " निलीङो णिलीअ-णिलुक्क-णिरिग्ध-लुक्क-लिक्क-ल्हिक्काः " ॥ ८ । ४ । ५५ ॥ इति निपूर्वस्य लीङो 'णिलीअ' आदेशः । 'णिलीअइ' । निलीयते । प्रा० ४ पाद ।

णिलुक्क–देशी–विरते, "णिप्पामेव णिलुक्को ।" आ० म० १ अ० १ खण्ड । अन्तर्हिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । निलुक्को निवृत्तः । आ० क० ।

निली–नि–ली–धा० । निलयने, " निलीङो णिलीअणिलुक्क०–" ॥ ८ । ४ । ५५ ॥ इत्यादिसूत्रेण निलीङो णिलुक्काऽऽदेशः । 'णिलुक्कइ' । निलीयते । प्रा० ४ पाद ।

तुड्–धा० । त्रोटने, "तुडेस्तोड-तुट्ट-खुट्ट-खुडोक्खुड-णिलुक्क-लुक्कोल्लूराः" ॥८।४।११६॥ इति तुडेर्णिलुक्काऽऽदेशः । "णिलुक्कइ ।" तुडति । प्रा० ४ पाद ।

णिल्लंक–देशी–पतद्ग्रहे, दे० ना० ४ वर्ग ३१ गाथा ।

णिल्लंछण–निर्लाञ्छन–न० । नितरां लाञ्छनमङ्गावयवच्छेदः, गवादिकर्णकम्बलशृङ्गपुच्छच्छेदनासावेधाऽङ्कनखण्डनताड्यादाऽऽपुष्टपृष्ठगालनाऽऽदिरूपे (ध० २ अधि०) छेदनव्यापारे, बलीवर्दतुरङ्गाऽऽदीनां वर्धितकरणे, ध० २० । प्रश्न० । आ० चू० । प्रव० । " नासावेधोऽङ्कनं पुच्छ–च्छेदनं पृष्ठगालनम् । गोकर्णकम्बलच्छेदो, निर्लाञ्छनमुदीरितम् ॥ १ ॥ " तत्राऽङ्कनं गवाश्वाऽऽदीनां चिह्नकरणं, मुष्कोऽण्डस्तस्य छेदनं वर्धितकीकरणं, अस्मिन् जीवबाधा व्यक्तैव । ध० २ अधि० ।

णिल्लंछणकम्म–निर्लाञ्छनकर्मन्–न० । निर्लाञ्छनमेव कर्म जीविका निर्लाञ्छनकर्म । गोमहिष्यादीनां नासावेधे, गवाश्वाऽऽदीनां वर्धितकरणे, प्रव० ६ द्वार । आ० । उपा० । पञ्चा० । आव० । एतच्च कर्मत उपभोगपरिभोगवर्तिना कर्माऽऽदानहेतुरतीचाररूपेति वर्ज्यम् । ध० २ अधि० ।

णिल्लुंछ–मुच्–धा० । " मुचेश्छड्डावहेड-मेल्लोस्सिक्क-रेअव-णिल्लुञ्छ-धंसाडाः " ॥ ८ । ४ । ९१ ॥ इति मुचेर्णिल्लुञ्छाऽऽदेशः । 'णिल्लुञ्छइ' । मुञ्चति । प्रा० ४ पाद ।

णिल्लज्ज–निर्लज्ज–त्रि० । लज्जारहिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णिल्लस–उल्लस–उत्–लस–धा० । उल्लसने, लसिते, "उल्लसेरूसलोसुम्भ-णिल्लस-पुलआअ-गुञ्जोल्लारोआः" ॥८।४।२०२॥ इति उत्पूर्वस्य लसधातोः णिल्लसाऽऽदेशः । प्रा० ४ पाद ।

णिल्लसिअ–देशी–निर्गते, दे० ना० ४ वर्ग ३६ गाथा ।

णिल्लालिय–निर्लालित–त्रि० । प्रसारिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विवृतमुखाद् निःसारिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । अपलापयमाने, कल्प० २ क्षण ।

णिल्लूर–छिद्–धा० । द्वैधीकरणे, " छिदेर्दुहाव-णिच्छल्ल-णिज्झोड-णिव्वर-णिल्लूर-लूराः " ॥ ८ । ४ । १२४ ॥ इति छिदेर्णिल्लूराऽऽदेशः । 'णिल्लूरइ' । छिनत्ति । प्रा० ४ पाद ।

णिल्लेव-निर्लेप-त्रि० । चेतनस्य सकलपरभावसंयोगाभावे-न व्याप्यव्यापकग्राहककर्तृत्वभोक्तृत्वाऽऽदिशक्तीनां स्वभावाव-स्थाने, अष्ट० । चेतनस्य सकलपरभावसंयोगाभावेन व्या-प्यव्यापकग्राहककर्तृत्वभोक्तृत्वाऽऽदिशक्तीनां स्वभावावस्था-नं निर्लेपः । नामतो निर्लेपः-अभिधाषाऽऽत्मकजीवाजीवा-नाम् । स्थापनानिर्लेपः-निर्ग्रन्थाऽऽकाराऽऽदिः । द्रव्यनिर्लेपः-कांस्यपात्राऽऽदिस्तद्व्यतिरिक्तः। शेषस्तु पूर्ववत् । भावनिर्लेपः-जीवाजीवभेदात् । अजीवा धर्माधर्माऽऽकाशाऽऽदिः । जीवस्तु समस्तविभावाभिष्वङ्गरहितः मुक्ताऽऽत्मा । नयैस्तु द्रव्यपरिग्र-हाऽऽदिष्वलिप्तः । नैगमेन संग्रहेण जीवो जात्याऽलिप्तः,व्यवहा-रेणालिप्तः द्रव्यतस्त्यागी। शब्दनयेन सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानप-रिच्छिन्नपरभावपरित्यागी तात्त्विकभूतात् धनस्वजनोपकरणात् तेष्वनासक्तः । समभिरूढेनाऽरिहन्ताऽऽदिप्रशस्तनिमित्तैर्बहुतरैः परिमाणैरलिप्तत्वात् क्षीणमोहो जिनः केवली चालिप्तः। एवंभूतेन सिद्धः,सर्वपर्यायैरलिप्तत्वात्। वाचनान्तरे तु-नैगमालिप्तः, अं-शत्यागी नैगमाऽऽकाररूपेण संग्रहेण सम्यग्दर्शनी सत्तया आ-त्मानं सर्वथा विभक्तत्वात् । व्यवहारेण तद्रूपतयाऽपास्तरा-गाऽऽदिलेपत्यागात् । ऋजुसूत्रस्तु मतिमित्राऽऽदिष्वरक्तत्वेना-वलम्बनात्। शब्दस्त अभिसंधिजवीर्यबुद्धिपूर्वकोपयोगस्य रागा-ऽऽदिषु अपरिणमनात्। समभिरूढनः सर्वचेतनायाः सर्ववीर्यस्य विभावाऽऽश्लेषरहितत्वात् । एवंभूतनः पूर्वाभ्यासवक्रभ्रमाऽऽ-दिभयोपग्राहिसर्वपुद्गलसङ्गरहितस्य सिद्धस्य निर्लेपत्वम् । पुन-र्निक्षेपत्रये नयचतुष्टयम्, भावनिक्षेपे पर्यायालिप्तत्वेनाऽन्तिमनय-त्रयम् । इति तत्त्वार्थवृत्तेराशयः । अत्र भावसम्यक्त्वसाधकनि-र्लेपाष्टकारः-

संसारे निवसन् स्वार्थ-सज्जः कज्जलवेश्मनि ।
लिप्यते निखिलो लोको, ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ॥१॥
नाऽहं पुद्गलभावानां, कर्त्ता कारयिता च न ।
नानुमन्ताऽपि चेत्यात्म-ज्ञानवान् लिप्यते कथम् ? ॥२॥
लिप्यते पुद्गलस्कन्धो, न लिप्ये पुद्गलैरहम् ।
चित्रव्योमाञ्जनेनेव, ध्यायन्निति न लिप्यते ॥३॥
लिप्तताज्ञानसंपात-प्रतिघाताय केवलम् ।
निर्लेपज्ञानमग्नस्य, क्रिया सर्वोपयुज्यते ॥४॥
तपःश्रुताऽऽदिना मत्तः, क्रियावानपि लिप्यते ।
भावनाज्ञानसंपन्नो, निष्क्रियोऽपि न लिप्यते ॥५॥
अलिप्तो निश्चयेनाऽऽत्मा, लिप्तश्च व्यवहारतः ।
शुद्ध्यत्यलिप्तया ज्ञानी, क्रियावान् लिप्तया दृशा ॥६॥
ज्ञानक्रियासमावेशः, सहैवोन्मीलने द्वयोः ।
भूमिकाभेदतस्त्वत्र, भवेदेकैकमुख्यता ॥ ७ ॥
सज्ञानं यदनुष्ठानं, न लिप्तं दोषपङ्कतः ।
शुद्धबुद्धस्वभावाय, तस्मै भगवते नमः ॥८॥

अष्ट० ११ अष्ट० । विगतलेपे,ज्ञा०६ श०७ उ० । "लेपम्मि खीणे नीरए णिकमंते णिल्लिए णिल्लेवे अवहरे विसुद्धे भवइ ।" अत्य-न्तसंश्लेषात् तन्मयतागमनाल्ला प्रापद्यादवपनीतमित्याद्गित-धान्यलेपकोष्ठागारवत् निर्लेपः । भ० ६ श० ७ उ० । अनु० । जी० । लेपरहिते [illegible]ऽऽदौ, आव० ४ अ० ।

णिल्लेवग-निर्लेपक-पुं० । रजके, व्य०१ उ० । "रायगिहे सेणिओ राया, तेण खोमजुयलं णिल्लेवगस्स दिन्नं ।" आ० चू०४ अ० ।

णिल्लेवण-निर्लेपन-न० । मलस्याभावे मलच्छोटने, व्य० १ उ० । नि० चू० । निर्लेपे, "उव्वत्तणाणिल्लेवणपीहंते ।" ओ-घ० । त्रिविधानि शरीराणि-बद्धानि, मुक्तानि चेति । भ०७श० ४ उ० । (तेषां निर्लेपनमपि 'सरीर' शब्दे वक्ष्यते)

णिल्लेहण-निर्लेखन-न० । ईषल्लुष्कस्योद्वर्त्तने, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ० ।

णिल्लोह-निर्लोभ-त्रि० । विगतलोभे, उत्त० ८ अ० । प्रतिबो-ध्य तेन भगवता निर्लोभचूडामणिना प्रव्राजिता । ती०३५कल्प ।

णिव-नृप-पुं० । राजनि, नि० चू० २ उ० । "दशवेश्यासमो नृपः ।" आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । दण्डिके, सू० १ श्रु० ।

णिवइ-नृपति-पुं० । राजनि, व्य० १ उ० ।

णिवइत्ता-निपतितृ-त्रि० । अवतरीतरि, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णिवइय-निपतित-त्रि० । उपरि पतिते तथा सत् यत् पोरुय-ति तन्निपतितम् । त्वग्विषे दृष्टिविषे वा विषभेदे, न० । स्था० ४ ठा० ४ उ० । अधोलम्बमाने, "संमुच्छिज्जइ वा, णिवयइ वा ।" आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

णिवउप्पय-निपातोत्पात-पुं० । निपातपूर्वक उत्पातो यत्र स निपातोत्पातः । नाट्यभेदे, यत्र पूर्वं निपतन्ति, तत उत्पतन्ति । आ० म० १ अ० १ खण्ड । जं० ।

णिवकर-नृपकर-पुं० । राजहस्ते, पञ्चा० १७ विव० ।

णिवकरलूयाकिरियाजयणा-नृपकरलूताक्रियायतना-स्त्री० । नृपकरे राजहस्ते लूता वातिको रोगविशेषो नृपकरलूता,तस्या उपशमे क्रिया चिकित्सा मन्त्रापमार्जनाऽऽदिका, तस्यां या यतना प्रयत्नः, सा तथा । राजहस्तलूताचिकित्साप्रयत्ने, पञ्चा० १८ विव० ।

णिवट्टण-निवर्त्तन-न० । निवृत्तौ मार्गनिवर्त्तनस्थाने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

णिवडण-निपतन-न० । अधःपतने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णिवडिऊण-निपत्य-अव्य० । अधःपतित्वेत्यर्थे, "णिवडिऊण लेणेसु पयं पियं करेह मे जयवं ! पसायं ।" दर्श० ३ तत्त्व ।

णिवडिय-निपतित-त्रि० । नीचैः पतिते, "सव्वंगेहिं णिवडि-या ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिवण्ण-निषण्ण-त्रि० । शयिते, आव० ४ अ० । सुप्ते, संथा० । त्वग्वर्त्तिते, सू० १ उ० ।

निपन्न-पुं० । "धम्मं सुक्कं च दुवे, न वि झायइ न वि अ अट्टरुद्दाई । एसो काउस्सग्गो, णिवण्णओ होइ नायव्वो ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव० ५ अ० ।

णिवण्णणिवण्ण-निपन्ननिपन्न-पुं० । "अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइं जो णिवण्णो उ । एसो काउस्सग्गो, णिवण्णणिवण्णगो नाम ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव० ५ अ० ।

णिवण्णुस्सिय-निपन्नोत्सित-पुं० । "धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणाइं जो णिवण्णो उ । एसो काउस्सग्गो, होइ

णिवसुरिसओ नाम ॥ १ ॥ " इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव० ५ अ० ।

णिवत्तमाण–निवर्त्तमान–त्रि० । प्रत्यावर्त्तमाने, " गुरुणा णिवत्तमाणे । " व्य० १ उ० ।

णिवत्ति–निवृत्ति–स्त्री० । बन्धने, स्था० ४ ठा० १ उ० । निष्पत्तौ, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णिवपडिमा–नृपप्रतिमा–स्त्री० । राज्ञ आकारे, " संगामे णिवपडिमं, देवी काऊण जुज्झंति रणम्मि । " व्य० १ उ० ।

णिववस–नृपवश–पुं० । नरेशवशे, जीवा० १२ अधि० ।

णिवविट्ठि–नृपविष्टि–स्त्री० । राजविष्टौ, व्य० २ उ० ।

णिवसण–निवसन–न० । परिधाने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । विशिष्टरचनारचिते परितः परिधाने, अनु० । " महिलिअं णिवसणेणं ।" अनु० ।

णिवह–निवह–पुं० । सङ्घाते, विशे० । आ० म० ।

गम–धा० । गतौ, " गमेरई–अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस–पच्चड्ड–पच्छन्द–णिम्मह–णी–णीण–णीलुक्क–पदअ–रम्भ–परिअल्ल–वोल–परिअल–णिरिणास–णिवहावसेहावहरा." ॥ ८ । ४ । १६२ ॥ इति सूत्रेण गमधातोर्णिवहाऽऽदेशो वा । ' णिवहइ ' ' गच्छइ ' । गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

नश्–धा० । अदर्शने, " नशेर्णिरिणास–णिवहावसेह–पडिसा–सेहावहराः " ॥ ८ । ४ । १७८ ॥ इति सूत्रेण णिवहा... 'णिवहइ' । नश्यति । प्रा० ४ पाद । समूहे, दे० ना० ४ वर्ग २६ गाथा ।

णिवाअ–देशी–स्वेदे, दे० ना० ४ वर्ग ३४ गाथा ।

णिवाइ[ण्]–निपातिन्–त्रि० । निपतितुं शीलमस्येति निपातीति विगृह्य णिनिः । निपतनं वा निपातः, सोऽस्यास्तीति निपाती । भ्रष्टे, अधःपतिते, संयमादसंयमं प्राप्ते, " जे पुव्वुट्ठाई णो पच्छा णिवाई, जे पुव्वुट्ठाई पच्छा णिवाई, जे णो पुव्वुट्ठाई पच्छा णिवाई । " आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

णिवाएइत्ता–निपात्य–अव्य० । लगयित्वेत्यर्थे, " जाणुं धरणितलंसि निहट्टु णिवाएइत्ता । " जं० ३ प्रति० ४ उ० ।

णिवाण–निपान–न० । जलपानस्थाने, सू० ३ उ० ।

णिवाय–निपात–पुं० । निपतनं निपातः । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । पतने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विनाशे, विं० । निवेशने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । निरतरं पातो निपातः । संयोगे, " आयवस्स णिवायणं । " उत्त० २ अ० । तत्तदर्थद्योतनाय तेषु तेषु निपततीति निपातः । प्रश्न० २ सम्ब० द्वार । " निपात एकाजनाङ् " ॥१।१।१४॥ " चादयोऽसत्त्वे ।१।४।५७॥ इति निपातनितिसंज्ञितेषु द्योतकत्वेनापरिमितार्थेषु चाऽऽदिषु, विशे० । ज्ञा० । आ० म० । मरणे, वाच० ।

निवात–त्रि० । वायुप्रवेशरहिते, भ० ७ श० ८ उ० । ज्ञा० । " तंसिप्पेगे अणगारा, हिमवाए णिवायमेसंति । " शीतार्दिता निवातमेषयन्ति–पक्षशालाऽऽदिवसतीशीतायमाऽऽदिरहिताः । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

णिवायगंभीर–निवातगम्भीर–त्रि० । निवातविशाले, यद् हि गृहाऽऽदिकं वातरहितमपि महद् भवति तत्तथा । भ० ७ श० ८ उ० ।

णिवायण–निपातन–न० । गर्ताऽऽदिप्रक्षेपणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । सूत्र० । व्याकरणप्रसिद्धे आदेशाऽऽगमाऽऽद्यसाध्ये समुदायाऽऽदेशे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिवायसरणप्पईव–निवातशरणप्रदीप–पुं० । निर्गतवातगृहैकदेशस्थदीपे, " जं पुण सुनिप्पकंपं, निवायसरणप्पईवमिव चित्तं । " आव० ४ अ० ।

णिवायसरणप्पईवज्झाण–निवातशरणप्रदीपध्यान–न० । वातवर्जितगृहदीपज्वलने, " णिवायसरणप्पईवज्झाणमिव णिप्पकंपे । " प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

णिवारण–निवारण–न० । नितरां वारणं निवारणम् । प्रतिघाते, भ० ६ श० ३३ उ० । निनरां वार्यते निषिध्यतेऽनेन शीताऽऽतपाऽऽदीनीति निवारणम् । सौधाऽऽदिके तथाविधे गृहे, वस्त्राऽऽदौ च । उत्त० २ अ० । " न मे निवारणं अत्थि, छवित्ता णं न विज्जई । अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू न चिंतए ॥७॥" उत्त० २ अ० ।

णिवारय–निवारक–त्रि० । मैवं कार्षीरित्येवं निषेधके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । नि० ।

णिवारिय–निवारित–त्रि० । प्रतिषिद्धे, आव० ४ अ० ।

णिवास–निवास–पुं० । निवसने भूमिभागे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

णिविट्ठ–निविष्ट–त्रि० । अध्युपपन्ने, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । सूत्र० । ज्ञा० । जीवप्रदेशेषु... भ० १३ श० ७ उ० । तीव्रानुभावजनकतया स्थिते कर्मांशे, प्रज्ञा० २ पद । नि० ।

निर्विष्ट–त्रि० । लब्धे, उपात्ते, " थोवं बहु णिविट्ठम्मि " इत्यादौ निर्विष्टशब्दस्य लाभार्थस्य दर्शनात् । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

णिविट्ठकप्पट्ठिइ–निर्विष्टकल्पस्थिति–स्त्री० । कल्पशास्त्रोक्तसाधुसामाचारीभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ० । (व्याख्या ' कप्पट्ठिइ ' शब्दे तृतीयभागे २३३ पृष्ठे दर्शिता)

णिविड–निबिड–त्रि० । ' डो लः ' ॥८।१।२०२॥ इत्यस्य कादाचित्कत्वान्न डस्य लः । प्रा० १ पाद । सान्द्रे, वाच० ।

णिवित्ति–निवृत्ति–स्त्री० । आरम्भनिवर्त्तने, " न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । "...नियमविहूणस्स, परदारगमस्स उ । अणियमस्स भवे वंधो, णिवित्तीए महाफलं ॥ सुवेयाणं (?) निवित्ति जो, मणसा वि य विराहए । मोमओ दुग्गई गच्छे, मेघमाला जहज्जिया ॥ " महा० ६ अ० ।

णिवित्तिपहाण–निवृत्तिप्रधान–त्रि० । आरम्भान्तरनिवर्त्तनसारे बहुतरसत्त्वघातनिवर्त्तनसारे, पञ्चा० ७ विव० ।

णिवुड्ढ–निवृष्ट–त्रि० । नितरां वृष्टे, " वइड्ढे देव त्ति वा णिवुड्ढे देव त्ति वा णो वए । " आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

णिवुड्ढित्ता–निर्वेष्ट्य–अव्य० । हापयित्वेत्यर्थे, " दिवसखेत्तस्स णिवुड्ढित्ता रयणिक्खेत्तस्स अभिवुड्ढित्ता चारं चरति । " सू० प्र० १ पाहु० ।

णिवुड्ढेमाण--निर्वेष्टयत्--त्रि० । हापयति, सू० प्र० । " विक्खंभमुहिं णिवुड्ढेमाणे अट्ठारसजोयणाइं परिरयवुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे । " सू० प्र० २ पाहु० ।

णिवुड्ढि--निवृद्धि--स्त्री० । वातपित्ताऽऽदिभिः शरीरोपचयहानौ, स्था० । निर्शब्दस्याभावार्थत्वात्, निरुदरा कन्येत्यादिवत् । "दोण्हं गब्भत्थाणं निवुड्ढी पन्नत्ता । तं जहा--मणुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव । " स्था० २ ठा० ३ उ० । " तिहिं ठाणेहिं जीवाणं णिवुड्ढी पण्णत्ता । तं जहा-उड्ढाए, अहोए, तिरियाए ।" स्था० ३ ठा० २ उ० । वृद्ध्यभावे, सू० प्र० १२ पाहु० ।

णिव्वुत्त--निवृत्त--त्रि० । " निवृत्तवृन्दारके वा " ॥ ८ । १ । १३२ ॥ इति ऋत उत्वम । प्रवृत्तिविमुखे, प्रा० १ पाद ।

णिवेएउं--निवेद्य--अव्य० । गुर्वादिराख्यायेत्यर्थे, पञ्चा० १५ विव० ।

णिवेयण--निवेदन न० । गुरोः प्रत्यर्पणे, विशे० । यथा-"भवदीयोऽयं किङ्करः, यूयं मे भवोदधिनिमग्नस्य नाथाः" इत्येवं समर्पणम । पञ्चा० १ विव० ।

णिवेयणापिंड--निवेदनापिण्ड -पुं० । यक्षाऽऽदिभ्यो निवेद्यमाने पिण्डे, नि० चू० ।

जे भिक्खू णिवेयणापिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ।।१८७।

ओवाइयं, अणोवाइयं वा जं पुण्णभद्दमाणिभद्दसव्वाणजक्खमहुंडमादियाण निवेदिज्जति, सो णिवेयणापिंडो । सो य दुविहो-साहुणिस्साकडो, अणिस्साकडो य । णिस्साकडं गेण्हंतस्स चउगुरुगं, अणिस्साकडे मासलहुं, आणादिया य दोसा ।

गाहा-

सव्वाणमाइयाणं, दुविहो पिंडो निवेयणाओ य ।
णिस्साए अणिस्साए, णिस्साए आणमादीणि ।।२०६।।

सव्वाणादिया जे अरहंतपक्खिया देवता, ताण जो पिंडो निवेदिज्जति, सो दुविहो-णिस्साकडमणिस्साकडो य । णिस्साकडं गेण्हंते आणादिया ।

इमेण विधिणा णिस्साकडं करेति । गाहा--

चरगं करेउ आहा, समणाणत्थं उवक्खडं जोत्तुं ।
सड्ढाकडं ठवेति य, णिस्सापिंडम्मि सुत्तं तु ।।२०७।।

दाणरुइसड्ढो वा णिवेयणवदयवदेसं कातुं साधूण देति, आधाकम्मं ठवितं च । अहवा--जाव साहू अर्थति, ताव ओवातियं देमो, सुहं साहू गिण्हंति, एत्थ ओसक्कणमीसजायठवियगदोसा । जया वा साहू आगमिस्संति, तदा दाहेमो । एत्थ ओसक्कणमीसजातठवियदोसा सड्ढाकडं साहु णिस्साए वा कडं साहु णिस्सा या ठवेति, एत्थ ठवियगदोसो केवलो । एस णिस्साकडो, एत्थ सुत्तणिवातो, इमो अणिस्सातो कडो साहू होउ वा, मा वा, देवता ते पुव्वपवत्तं ठवेति, सा य ठविता साहू य पत्ताए सो कप्पति ।

णिस्साकडो वि कप्पति इमेहिं कारणेहिं-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जयणा गहणं तु गीयत्थे ।।२०८।।

पणगपरिहाणी ते गेण्हंति, जहा वा अगीतअपरिणामगा ण जाणंति तहा गीयत्था गेण्हंति । " नि० चू० ११ उ० ।

णिवेस--निवेश--पुं० । नि-आधिक्येन वेशो निवेशः । प्रवेशे, नि० चू० ४ उ० । स्थापने, स्था० ६ ठा० । यत्र प्रभूतानां भाण्डानां प्रवेशस्तादृशे स्थाने, बृ० । " णिवेसो सत्थाऽऽइजत्ता वा ।" निवेशो नाम-यत्र सार्थ आवासितः, आदिग्रहणेन ग्रामो वा, अन्यत्र प्रस्थितः सन् यत्रान्तरा समधिवसति, यात्रायां वा-गतो लोको यत्र तिष्ठति । एष सर्वोऽपि निवेश उच्यते । बृ० १ उ० ।

णिवेसइत्ता--निवेश्य--अव्य० । अवधार्येत्यर्थे, " इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी । " उत्त० ३२ अ० ।

णिवेसण--निवेशन--न० । स्थाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । एकद्वारे पृथक्परिक्षिप्ते अनेकगृहे, आव० ४ अ० । यथा एकनिष्क्रमणप्रवेशानि द्व्यादीनि गृहाणि । बृ० १ उ० ।

णिवेसिय--निवेश्य--अव्य० । प्रवेश्येत्यर्थे, " अप्पणो अंगुलीए णिवेसिय णं णीहरइ ।" नि० चू० ३ उ० ।

णिवेसियव्व--निवेष्टव्य--त्रि० । स्थापनीये, " परलोगे चित्तं णिवेसियव्वं असासयं जीवियं । " आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णिव्व--देशी--ककुदे, दे० ना० ४ वर्ग ४८ गाथा ।

णिव्वच्छण--देशी--अवतारणे, दे० ना० ४ वर्ग ४० गाथा ।

णिव्वट्ट--गाढ--त्रि० । अत्यर्थे, "शीघ्राऽऽदीनां वहिल्लाऽऽदयः" ॥ ८ । ४।४२२ ॥ इति गाढस्य णिव्वट्टः । " विहवे कस्स थिरत्तणउँ, जोव्वणि कस्स मरट्टु । सो लेखडउ पठाविअइ, जो लग्गइ णिव्वट्टु ॥१॥ " प्रा० ४ पाद ।

णिव्वट्टग--निर्वर्तक--त्रि० । कर्तरि, आव० ४ अ० । करणे, विशे० ।

णिव्वट्टित्ता--निर्वर्त्य--अव्य० । जीवप्रदेशेभ्यः शरीरं पृथक्कृत्वेत्यर्थे, स्था० २ ठा० ४ उ० । (देशेन सर्वेण वाऽऽत्मा शरीरं निर्वर्त्य निर्यातीति, 'आता' शब्दे द्वितीयभागे २०१ पृष्ठे उक्तम्)

णिव्वट्टिय--निर्वर्तित--त्रि० । कृत, स्था० १ ठा० । " असंथडा ति वा, बहुणिव्वट्टियफला ति वा, वहुसंभूया ति वा । " आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० । प्रश्न० ।

णिव्वड--भू--धा० । पृथग्भवने । "पृथक्स्पष्टे णिव्वडः" ॥८।४।६२॥ इति पृथग्भूते स्पष्टे च कर्तरि भुवो णिव्वडेत्यादेशः । " णिव्वडइ " । पृथग्भवतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद । नग्ने, दे० ना० ४ वर्ग २८ गाथा ।

णिव्वण--निर्व्रण--त्रि० । विस्फोटकाऽऽदिकृतक्षतरहिते, जं० २ वक्ष० । औ० । जी० ।

णिव्वत्त--निर्वृत्त--त्रि० । निर्वर्तिते, स्था० ६ ठा० । अतिक्रान्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णिव्वत्तणया--निर्वर्तनता--स्त्री० । निष्पत्तौ, "तओ निव्वत्तणया तओ परियाइयणया । " प्रज्ञा० ३४ पद ।

णिव्वत्तणा--निर्वर्तना--स्त्री० । इन्द्रियाणां निष्पादनायाम्, उत्त० ३ अ० ।

णिव्वत्तणाहिगरणिकिरिया–निर्वर्तनाधिकरणिक्रिया–स्त्री० । निर्वर्तनमसिशक्तितोमराऽऽदीनां निष्पादनं, तदेवाधिकरणक्रिया । आधिकरणिक्याः क्रियाया भेदे,भ०३ श० ३ उ० । स्था० । निष्ठानयने, स्था० २ ठा० १ उ० ।

णिव्वत्ति–निर्वृत्ति–स्त्री० । वस्तुतः करणे, " अस्मोसमाहाणं, जमिहं करणं न णिव्वत्ती । " विशे० । निर्वर्तनं निर्वृत्तिर्निष्पत्तिः । निष्पत्तौ, भ० ।

निर्वृत्तिभेदाः–

कइविहा णं भंते ! जीवणिव्वत्ती पणत्ता ? । गोयमा ! पंचविहा जीवणिव्वत्ती पणत्ता । तं जहा–एगिंदियजीवणिव्वत्ती० जाव पंचिंदियजीवणिव्वत्ती । एगिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पणत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा पणत्ता । तं जहा–पुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती० जाव वणस्सइकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती । पुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पएणत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पएणत्ता । तं जहा–सुहुमपुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती य,बादरपुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती य । एवं एएणं अभिलावेणं भेदो–जहा वडुगबंधे तेयगसरीरस्स० जाव सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीतवेमाणियदेवपंचिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पएणत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पएणत्ता । तं जहा–पज्जत्तगसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव देवपंचिंदियजीवणिव्वत्ती य, अपज्जत्तगसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव देवपंचिंदियजीवणिव्वत्ती य । कइविहा णं भंते ! कम्मणिव्वत्ती पएणत्ता ? । गोयमा ! अट्ठविहा कम्मणिव्वत्ती पएणत्ता । तं जहा–णाणावरणिज्जकम्मणिव्वत्ती० जाव अंतराइयकम्मणिव्वत्ती । णेरइया णं भंते ! कइविहा कम्मणिव्वत्ती पणत्ता ?। गोयमा ! अट्ठविहा कम्मणिव्वत्ती पएणत्ता । तं जहा–णाणावरणिज्जकम्मणिव्वत्ती०जाव अंतराइयकम्मणिव्वत्ती य । एवं० जाव वेमाणियाणं । कइविहा णं भंते ! सरीरणिव्वत्ती पणत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा सरीरणिव्वत्ती पणत्ता । तं जहा–ओरालियसरीरणिव्वत्ती० जाव कम्मगसरीरणिव्वत्ती । णेरइया णं भंते ! एवं चेव । एवं० जाव वेमाणियाणं,णवरं णायव्वं जस्स जइ सरीराणि । कइविहा णं भंते ! सव्विंदियणिव्वत्ती पएणत्ता ? । गोयमा ! पंचविहा सव्विंदियणिव्वत्ती पणत्ता । तं जहा–सोइंदियणिव्वत्ती० जाव फासिंदियणिव्वत्ती । एवं णेरइया० जाव थणियकुमारा । पुढवीकाइयाणं पुच्छा ? । गोयमा ! एगा फासिंदियणिव्वत्ती पणत्ता । एवं जस्स जइ इंदियाणि० जाव वेमाणियाणं । कइविहा णं भंते ! भासाणिव्वत्ती पणत्ता ? । गोयमा ! चउव्विहा भासाणिव्वत्ती पणत्ता । तं जहा–सच्चभासाणिव्वत्ती, मोसभासाणिव्वत्ती, सच्चामोसभासाणिव्वत्ती, असच्चामोसभासाणिव्वत्ती । एवं एगिंदियवज्जं जस्स जा भासा० जाव वेमाणियाणं । कइविहा णं भंते ! मणणिव्वत्ती पणत्ता ?। गोयमा ! चउव्विहा मणणिव्वत्ती पणत्ता । तं जहा–सच्चमणणिव्वत्ती० जाव असच्चामोसमणणिव्वत्ती । एवं एगिंदियवज्जं विगलिंदियवज्जं० जाव वेमाणियाणं । कइविहा णं भंते ! कसायणिव्वत्ती पणत्ता ? । गोयमा ! चउव्विहा कसायणिव्वत्ती पणत्ता । तं जहा–कोहकसायणिव्वत्ती० जाव लोभकसायणिव्वत्ती । एवं० जाव वेमाणियाणं । कइविहा णं भंते ! वण्णणिव्वत्ती पणत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा वण्णणिव्वत्ती पणत्ता । तं जहा–कालवण्णणिव्वत्ती० जाव सुक्किल्लवण्णणिव्वत्ती । एवं णिरवसेसं० जाव वेमाणियाणं । एवं गंधणिव्वत्ती दुविहा० जाव वेमाणियाणं । रसणिव्वत्ती पंचविहा० जाव वेमाणियाणं । फासणिव्वत्ती अट्ठविहा० जाव वेमाणियाणं । कइविहा णं भंते ! संठाणणिव्वत्ती पणत्ता ?। गोयमा ! छव्विहा संठाणणिव्वत्ती पणत्ता ?। तं जहा–समचउरंससंठाणणिव्वत्ती० जाव हुंडसंठाणणिव्वत्ती । णेरइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! एगा हुंडसंठाणणिव्वत्ती पएणत्ता । असुरकुमाराणं पुच्छा ?। गोयमा ! एगा समचउरंससंठाणणिव्वत्ती एवं० जाव थणियकुमारा । पुढवीकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! एगा मसूरचंदसंठाणणिव्वत्ती पणत्ता । एवं जस्स जं संठाणं० जाव वेमाणिया । कइविहा णं भंते ! सण्णाणिव्वत्ती पणत्ता ?। गोयमा ! चउव्विहा सण्णाणिव्वत्ती पणत्ता । तं जहा–आहारसण्णाणिव्वत्ती० जाव परिग्गहसण्णाणिव्वत्ती । एवं० जाव वेमाणिया । कइविहा णं भंते ! लेस्साणिव्वत्ती पणत्ता ? । गोयमा ! छव्विहा लेस्साणिव्वत्ती पणत्ता । तं जहा–कण्हलेस्साणिव्वत्ती० जाव सुक्कलेस्साणिव्वत्ती । एवं० जाव वेमाणिया जस्स जइ लेस्साओ तस्स तत्तिया जाणियव्वा । कइविहा णं भंते ! दिट्ठिणिव्वत्ती पणत्ता ? । गोयमा ! तिविहा दिट्ठिणिव्वत्ती पणत्ता । तं जहा–सम्मदिट्ठिणिव्वत्ती, मिच्छादिट्ठिणिव्वत्ती, सम्मामिच्छादिट्ठिणिव्वत्ती । एवं० जाव वेमाणिया, जस्स जइविहा दिट्ठी । कइविहा णं भंते ! णाणणिव्वत्ती पणत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा णाणणिव्वत्ती पणत्ता । तं जहा–आभिणिबोहियणाणणिव्वत्ती० जाव केवलणाणणिव्वत्ती । एवं एगिंदियवज्जं० जाव वेमाणिया जस्स जइ णाणा । कइविहा णं भंते ! अण्णाणणिव्वत्ती पणत्ता ? । गोयमा ! तिविहा अण्णाणणिव्वत्ती पणत्ता । तं जहा–मइअण्णाणणिव्वत्ती, सुयअण्णाणणिव्वत्ती, विभंगणाणणिव्वत्ती । एवं

जस्स जइ० जाव वेमाणिया । कइविहा णं भंते ! जोगणिव्वत्ती पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा–मणजोगणिव्वत्ती,वइजोगणिव्वत्ती,कायजोगणिव्वत्ती । एवं ०जाव वेमाणिया जस्स जइविहो जोगो । कइविहा णं भंते ! उवओगणिव्वत्ती पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा उवओगणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा–सागारोवओगणिव्वत्ती,अणागारोवओगणिव्वत्ती । एवं० जाव वेमाणिया ।

अत्र संग्रहणीगाथे वाचनान्तरे–

"जीवाणं णिव्वत्ती,कम्मप्पगडी(णिव्वत्ती)सरीरणिव्वत्ती ।
सव्विंदियणिव्वत्ती, भासा य मणे कसाया य ॥ १ ॥
वण्णे गंधे रसे फासे, संठाणविही य होइ बोधव्वो ।
लेस्सा दिट्ठी णाणे, उवओगे होइ जोगे य " ॥ २ ॥

(कइविहेत्यादि) निर्वर्तनं निर्वृत्तिर्निष्पत्तिर्जीवस्यैकेन्द्रियाऽऽदितया निर्वृत्तिर्जीवनिर्वृत्तिः । (जहा वक्कुगबंधे तेयगसरीरस्स त्ति) यथा महल्लबन्धाधिकारेऽष्टमशतकनवमोद्देशकाभिहिते तैजसशरीरस्य बन्ध उक्तः,एवमिह निर्वृत्तिर्वाच्या, सा च तत एव द्रष्टव्येति । पूर्वं जीवापेक्षया निर्वृत्तिरुक्ता, अथ तत्कार्यतत्कर्मापेक्षया तामाह–(कइविहेत्यादि) (कसायणिव्वत्ति त्ति) कषायवेदनीयपुद्गलनिर्वर्तनम् । (जस्स जं संठाणं त्ति) तत्राप्कायिकानां स्तिबुकसंस्थानं, तेजसां सूचीकलापसंस्थानं, वायूनां पताकासंस्थानं, वनस्पतीनां नानाऽऽकारसंस्थानं, विकलेन्द्रियाणां हुण्डम्, पञ्चेन्द्रियतिरश्चां, मनुष्याणां च षड् व्यन्तराऽऽदीनां समचतुरस्रसंस्थानम् । भ० १९ श० ८ उ० ।

णिव्वत्तिय–निर्वर्तित–त्रि० । बन्धयोग्यतया निष्पादिते, स्था० १० ठा० । सामान्येनोपार्जिते, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

णिव्वमिअ–देशी–परिभुक्ते, दे० ना० ४ वर्ग ३६ गाथा ।

णिव्वय–निर्व्रत–त्रि० । अविरते, स्था० ३ ठा० १ उ० । प्राणातिपाताऽऽद्यनिवृत्ते,स्था० ३ ठा० २ उ० । अणुव्रतरहिते,ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

णिव्वयण–निर्वचन–न० । निरुक्तौ, विशे० । शब्दार्थकथने, आ० म० १ अ० २ खण्ड । व्याकरणे, स्था० १० ठा० ।

णिव्वलिअ–देशी–जलधौते, प्रविगणिते, विघटिते च । दे० ना० ४ वर्ग ५१ गाथा ।

णिव्वह–पिष्–धा० । पेषणे, " पिषेर्णिवह–णिरिणास–णिरिणज–रोञ्च–चड्डाः " ॥ ८ । ४ । १८५ ॥ इति पिषेर्णिवहाऽऽदेशः । 'णिव्वहइ' । पिनष्टि । प्रा० ४ पाद । 'णिव्वहेपज्जा' । निर्वहेत्, असारतामापादयेत् । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

णिव्वहण–देशी–विवाहे, दे० ना० ४ वर्ग ३६ गाथा ।

णिव्वा–विश्रम–वि–श्रम । धा० । विरामे, श्रमान्ते, स्वास्थ्ये, " विश्रमेर्णिव्वा " ॥ ८ । ४ । १५९ ॥ इति विपूर्वस्य श्रमधातोर्णिव्वाऽऽदेशः । 'णिव्वाइ' । पक्षे–'वीसमइ' । विश्राम्यति । प्रा० ४ पाद ।

णिव्वाघाइम–निर्व्याघातिम–त्रि० । व्याहननं व्याघातः पर्वताऽऽदिस्खलनम्, तेन निर्वृत्तं व्याघातिमम् । " भावादिमः " ॥ ६ । ४ । २१ ॥ इति इमन्प्रत्ययः । निर्व्याघातिमं व्याघातान्निर्गतम् । स्वाभाविके, चं० प्र० १८ पाहु० १ पाहु० । सू० प्र० ।

णिव्वाघाय–निर्व्याघात–अव्य० । व्याघातस्याभावो निर्व्याघातम् । व्याघाताभावे, प्रज्ञा० २ पद । " णिव्वाघाएणं पण्णरसकम्मभूमीसु । " प्रज्ञा० २ पद । धरणीधराऽऽदिभिः प्रतिहतत्वात् (स्था० ६ ठा०) कटकुड्याऽऽद्यप्रतिहतत्वात् व्याघातरहिते केवलज्ञाने, औ० । दशा० ।

णिव्वाण–निर्वाण–न० । निर्वृतौ, विशे० । कल्प० । पञ्चा० । आ० चू० । सूत्र० । आत्मस्वास्थ्ये, आ० चू० ४ अ० । आचा० । आव० । कर्मकृतविकाररहितत्वे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । सकलसंतापरहितत्वे, औ० । सर्वद्वन्द्वोपरतिभावे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सकलकर्मविरहजे सुखे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सकलकर्मक्षयजे आत्यन्तिके सुखे, औ० । अशेषकर्मक्षयरूपे (सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा०) मोक्षे, ध० २ अधि० । प्रश्न० । आतु० । सूत्र० । परमपदे, षो० १५ विव० । घातिकर्मचतुष्टयरूपेण कर्मक्षयेण केवलज्ञानावाप्तौ, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । मोक्षपदद्योषे कर्मक्षयरूपे ईषत्प्राग्भाराऽऽख्ये भूभागोपर्यवस्थितक्षेत्रखण्डे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

मोक्षसिद्धिः–

ते पव्वइए सोउं, पहासो आगच्छई जिणसयासं ।
वच्चामि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ १७७२ ॥

सुगमा ॥ १७७२ ॥

ततः किमित्याह–

आभट्ठो य जिणेणं, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं ।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं ॥१७७३॥

तथैव ॥ १७७३ ॥

आभाष्य ततः किमुक्तोऽसावित्याह–

किं मन्ने णिव्वाणं, अत्थी नत्थि त्ति संसओ तुज्झ ? ।
वेयपयाण य अत्थं, न याणसी तेसिमो अत्थो ॥१७७४॥

हे आयुष्मन् ! प्रभास ! त्वमेवं मन्यसे किं निर्वाणमस्ति, न वा?, इति । अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रवणनिबन्धनः । तानि चामूनि वेदपदानि–" जरामर्यं वैतत्सर्वं यदग्निहोत्रम् । " तथा–'सैषा गुहा दुरवगाहा ।' तथा–"द्वे ब्रह्मणी परमपरं च । " तत्र "परं सत्यं ज्ञानमनन्तरं ब्रह्मेति । " एतेषां चायमर्थस्तव चेतसि वर्तते–यदेतदग्निहोत्रं तज्जरामर्यमेव यावज्जीवं कर्तव्यमिति । अग्निहोत्रक्रिया च भूतवधहेतुत्वाच्छबलरूपा । सा च स्वर्गफलैव स्यापवर्गफला । 'यावज्जीवम्' इतिचोक्ते कालान्तरं नास्ति, यत्रापवर्गहेतुभूतक्रियाऽन्तराऽऽरम्भः स्यात्तस्मात्साधनाभावान्मोक्षाभावः । ततश्चेत्यादिकानि किल मोक्षाभावप्रतिपादकानि । शेषाणि तु तदस्तित्वसूचकानि, यतो गुहाऽत्र मुक्तिरूपा, सा च संसाराभिनन्दिभिर्दुरवगाहा, दुःप्रवेशात् । तथा–परं ब्रह्म सत्यं मोक्षः, अनन्तरं तु ब्रह्मज्ञानमिति । ततो मोक्षास्तित्वं नास्तित्वं च वेदपदप्रतिपादितमवगम्य तव संशयः । तत्रैषां वेदपदानामर्थं त्वं न जानासि, यतस्तेषामयमर्थो वक्ष्यमाणलक्षण इति ॥ १७७४ ॥

युक्तिमपि मोक्षाभावप्रतिपादने प्रभासाध्यवसितां रूपयितुं भगवान् प्रकटयितुमाह–

मन्नसि किं दीवस्स व, नासो निव्वाणमस्स जीवस्स ? ।

दुक्खक्खयाइरूवा, किं होज्ज व से सओऽवत्था ? ॥१९७५॥

आयुष्मन् ! प्रभास ! त्वमेवं मन्यसे—किं दीपस्येवास्य जीवस्य नाशो ध्वंस एव निर्वाणम् ?। यथाऽऽहुः सौगतविशेषाः केचित्।

तद्यथा—

"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्,
स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥ १ ॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्,
क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्"॥ २ ॥ इति।

किं वा यथा जैनाः प्राऽऽहुस्तथा निर्वाणं भवेत् ?। किं तदित्याह—सतो विद्यमानस्य जीवस्य विशिष्टा काचिदवस्था। कथंभूता ?, रागद्वेषमदमोहजन्मजरारोगाऽऽदिदुःखक्षयरूपा। उक्तं च—" केवलसंविद्दर्शन-रूपाः सर्वार्तिदुःखपरिमुक्ताः। मोदन्ते मुक्तिगताः, जीवाः क्षीणाऽऽन्तरारिगणाः ॥१॥" इति ॥१९७५॥

प्रकारान्तरेणापि संशयकारणमाह—

अहवाऽणाइत्तणओ, खस्स व किं कम्मजीवजोगस्स ?।
अविओगाओ न भवे, संसाराभाव एव त्ति ॥१९७६॥

अथवा त्वमेवं मन्यसे—नूनं संसाराभाव एव न भवेत् ! कुतः ?, अवियोगाद्वियोगाभावात्। कस्य ?, कर्मजीवयोः संयोगस्य। कुतः ?, अनादित्वात्, खस्येव। इह ययोरनादिः संयोगस्तयोर्वियोगो नास्ति, यथा जीवाऽऽकाशयोः। अनादिश्च जीवकर्मणोः संयोगः। ततो वियोगानुपपत्तिः। ततश्च न संसाराभावः। तथा च सति कुतो मोक्षः ?, इति ॥ १९७६ ॥

अथ प्रत्यासत्तेरेवानन्तरोक्तस्यैव प्रतिविधानमाह—

पडिवज्ज मंडिओ इव, विओगमिह कम्मजीवजोगस्स।
तमणाइणो वि कंचण-धाऊण व णाणकिरियाहिं ॥१९७७॥

(अणाइणो वि त्ति) अनादेरपि जीवकर्मसंयोगस्य (तमिति) त्वं प्रतिपद्यस्व वियोगं, बन्धमोक्षवादे मण्डिकवत्। कयोरिव यो वियोगः ?, काञ्चनधातुपाषाणयोरिव। किं निर्हेतुक एव जीवकर्मणोर्वियोगः ?। न, इत्याह—ज्ञानक्रियाभ्याम्। इदमुक्तं भवति—नायमेकान्तो यदनादिसंयोगो न भिद्यते, यतः काञ्चनधातुपाषाणयोरनादिरपि संयोगोऽग्न्यादिसंपर्केण विघटत एव, तद्वज्जीवकर्मसंयोगस्याऽपि सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां वियोगं मण्डिकवत् त्वमपीह प्रतिपद्यस्वेति ॥ १९७७ ॥

अथ प्रकारान्तरेणाऽपि मोक्षाभावप्रतिपादकं प्रभासाभिप्रायं भगवान् प्रकटयितुमाह—

जं नारगाइभावो, संसारो नारगाइभिण्णो य।
को जीवो तं मन्नसि, तन्नासे जीवनासो त्ति ॥१९७८॥

यदस्मान्नारकतिर्यग्नरामरभाव एव नारकाऽऽदित्वमेव संसार उच्यते, नान्यः, नारकाऽऽदिपर्यायाभिन्नश्च कोऽन्यो जीवः ?, न कोऽपीत्यर्थः नारकाऽऽदिभावादन्यत्वेन कदाचिदपि जीवस्यानुपलम्भादिति भावः। ततस्तन्नाशे नारकाऽऽदिभावरूपसंसारनाशे जीवस्य स्वस्वरूपनाशात्सर्वथा नाश एव भवति, ततः कस्याऽसौ मोक्षः ?। इति त्वं मन्यसे ? ॥ १९७८ ॥

तदेतदयुक्तम्। कुतः ?, इत्याह—

न हि नारगाइपज्जा-यमेत्तनासम्मि सव्वहा नासो।
जीवद्दव्वस्स मओ, मुद्दानासे व हेमस्स ॥१९७९॥
कम्मकओ संसारो, तन्नासे तस्स जुज्जए नासो।
जीवत्तमकम्मकयं, तन्नासे तस्स को नासो ? ॥१९८०॥

नारकतिर्यगादिरूपेण यो भावः स जीवस्य पर्याय एव, न च पर्यायमात्रनाशे पर्यायिणो जीवद्रव्यस्यापि सर्वथा नाशो मतः, कथञ्चित्तु भवत्यपि। न हि मुद्राऽऽदिपर्यायमात्रनाशे हेम्नः सुवर्णस्य सर्वथा नाशो दृष्टः। ततो नारकाऽऽदिसंसारपर्यायनिवृत्तौ मुक्तिपर्यायान्तरोत्पत्तिर्जीवस्य, मुद्रापर्यायनिवृत्तौ कर्णपूरपर्यायान्तरोत्पत्तिरिव सुवर्णस्य, न किञ्चिद्विरुध्यत इति। ननु यथा कर्मणो नाशे संसारो नश्यति, तथा तन्नाशे जीवत्वस्यापि नाशान्मोक्षाभावो भविष्यति ?। एतदप्यसारम्। कुतः ?, इत्याह—(कम्मकओ इत्यादि) कर्मकृतः कर्मजनितः संसारः, ततस्तन्नाशे कर्मनाशे तस्य संसारस्य नाशो युज्यत एव, कारणाभावे कार्याभावस्य सुप्रतीतत्वात्। जीवत्वं पुनरनादिकालप्रवृत्तत्वात्कर्मकृतं न भवत्यतस्तन्नाशे कर्मनाशे तस्य जीवस्य को नाशः ?, न कश्चित्। कारणव्यापकयोरेव कार्यव्याप्यनिवर्तकत्वात्, कर्म तु जीवस्य न कारणं, नापि व्यापकमिति भावः। ॥ १९७९ ॥ १९८० ॥

इतश्च जीवो न विनश्यति; कुतः ?, इत्याह—

न विगाराणुवलंभा-दागासं पि व विणासधम्मो सो।
इह नासिणो विगारो, दीसइ कुंभस्स वाऽवयवा ॥१९८१॥

न विनाशधर्मा जीव इति प्रतिज्ञा। विकारानुपलम्भादिति हेतुः। इह यो विनाशी तस्य विकारो दृश्यते। यथा मुद्गराऽऽदिध्वस्तस्य कुम्भस्य कपालललक्षणा अवयवाः; यस्त्वविनाशी न तस्य विकारदर्शनम्, यथा आकाशस्येति। ततो मुक्तस्य जीवस्य नित्यत्वान्नित्यो मोक्ष इति ॥ १९८१ ॥

स्यान्मतिः, तर्हि प्रतिक्षणध्वंसी मोक्षो मा भूत्,—कालान्तरविनाशी तु भविष्यति, कृतकत्वात्, घटवत्। तदयुक्तम्, घटप्रध्वंसाभावेनानैकान्तिकत्वादिति दर्शयन्नाह—

कालंतरनासी वा, घडो व्व कयगाइओ मई होज्जा।
नो पद्धंसाभावो, भुवि तद्धम्मा वि जं निच्चो ॥१९८२॥

अत्र प्रेर्यं परिहारं चाऽऽह—

अणुदाहरणमभावो, खरसिंगं पि व मई न तं जम्हा।
कुंभविणासविसिट्ठो, भावो च्चिय पोग्गलमओ सो ॥१९८३॥

यद्वा—कृतकत्वं मोक्षस्याभ्युपगम्योक्तम्, इदानीं तदेव तस्य नास्तीति सोदाहरणमुपदर्शयन्नाह—

किं वेगंतेण कयं, पोग्गलमेत्तविलयम्मि जीवस्स।
किं निव्वत्तियमहियं, नभसो घडमेत्तविलयम्मि ॥१९८४॥

अनुमानात्पुनरपि मुक्तस्य नित्यत्वं साधयति—

दव्वामुत्तत्तणओ, मुत्तो निच्चो नभं व दव्वतया।
नणु विभुयाइपसंगो, एवं सइ णाणुमाणाओ ॥१९८५॥

नित्यो मुक्ताऽऽत्मा, द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वात्; (दव्वतय त्ति) यथा द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वान्नित्यं नभः । आह-नन्वनेन दृष्टान्तेन व्यापकत्वाऽऽद्यपि सिध्यति जीवस्य । तथाहि-विभुर्व्यापकः सर्वगतो जीवः, द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वात्, यथा नभः । तदेतन्न । कुतः ?, सर्वगतत्वबाधकानुमानसद्भावात् । तथाहि-त्वक्पर्यन्तदेहमात्रव्यापको जीवः, तत्रैव तद्गुणोपलब्धेः, स्पर्शनवत्, इत्यनुमानाद् बाध्यते सर्वगतत्वं जीवस्य । एवं " न बध्यते, नापि मुच्यते जीवः, द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वात्, नभोवद्" इत्याद्यपि दूषणं, "बध्यते पुण्यपापकर्मणा जीवः, दानहिंसाऽऽदिक्रियाणां सफलत्वात्, कृष्यादिक्रियावत्, तथा विघटते सम्यगुपायात्कोऽपि जीवकर्मसंयोगः, संयोगत्वात्, काञ्चनधातुपाषाणसंयोगवद् " इत्याद्यनुमानात्परिहर्त्तव्यमिति ॥ १९८५ ॥

अथवा-किमेकान्तेन यदाऽऽग्रहैर्मोक्षस्य नित्यत्वं साध्यते, सर्वस्याऽपि वस्तुनः परमार्थेनो नित्यानित्यरूपत्वात् ?, उत्कटानुत्कटपर्यायविशेषविवक्षामात्रेणैव हि ' केवलम ' इत्यादिव्यपदेश इति दर्शयन्नाह-

को वा निच्चग्गाहो, सव्वं चिय विभवभंगठिइमइयं ।
पज्जायंतरमेत्त-प्पणादनिच्चाइववएसो ॥ १९८६ ॥

अथ कथञ्चिदनित्यत्वेऽपि मोक्षस्य न किञ्चिद् नः क्षूयत इति भावः । इह " कालंतरनासी वा घडो व्व " इत्यादिगाथाः प्रागपि षष्ठगणधरे बन्धमोक्षविचारे व्याख्याता एव । ततो यदिह न व्याख्यातं, तत्ततो (ग्रन्थतो)-ऽवगन्तव्यमिति ॥ १९८६ ॥

अथ प्रथमपक्षे यदुक्तम्-' किं दीवस्स व नासो निव्वाणं ' (१९७५) इत्यादि । तत्रोत्तरमाह-

न य सव्वहा विणासो-ऽणलस्स परिणामओ पयस्सेव ।
कुंभस्स कवालाण व, तहा विगारोवलंभाओ ॥ १९८७ ॥

न प्रदीपानलस्य सर्वथा सर्वप्रकारैर्विनाशः, परिणामत्वात्, पयसो दुग्धस्येव । अथवा-यथा मुद्गराऽऽघाहतस्य कपालतया परिणतस्य घटस्य, यथा वा चूर्णीकृतानां कपालानाम् । कुतो न सर्वथा विनाशः ?, इत्याह-तथा तेन रूपान्तरप्रकारेण विकारस्य प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणोपलम्भादिति ॥ १९८७ ॥

अथ प्रेर्यं, परिहारं चाऽऽह-

जइ सव्वहा न नासो-ऽणलस्स किं दीसए न सो सक्खं ? ।
परिणामसुहुमयाओ, जलयविगारंजणरउ व्व ॥ १९८८ ॥

यदि सर्वथाऽनलस्य न नाशस्तर्हि विध्यातानन्तरं किमित्यसौ साक्षान्न दृश्यते ? । अत्रोत्तरमाह-(परिणामेत्यादि) विध्याते प्रदीपेऽनन्तरमेव तामसपुद्गलरूपो विकारः समुपलभ्यत एव, चिरं चासौ पुरस्तान्नोपलभ्यते, तत्सूक्ष्मसूक्ष्मतरपरिणामभावात् । तथाहि-विशीर्यमाणस्य जलदस्यापि यः कृष्णाभ्रपुद्गलविकारः स परिणामसौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते । तथाऽञ्जनस्यापि पवनेन ह्रियमाणस्य पञ्चत्वकरज उड्डीयते, तदपि परिणामसौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते, न पुनरसत्त्वादिति ॥ १९८८ ॥

चित्ररूपश्च पुद्गलपरिणाम इति दर्शयन्नाह-

होऊण इंदियंतर-गज्झा पुणरिंदियंतरग्गहणं ।
खंधा एंति न एंति य, पोग्गलपरिणामया चित्ता ॥ १९८९ ॥

इह सुवर्णपत्रलवणसुण्ठीहरीतकीचित्रकगुडाऽऽदयः स्कन्धाः पूर्वमिन्द्रियान्तरग्राह्याश्चक्षुरादीन्द्रियविषया भूत्वा पुनः कालाऽऽदिसामग्र्यन्तरं प्राप्य पुद्गलपरिणामवैचित्र्यादिन्द्रियान्तरग्रहणं स्पर्शनरसनाऽऽदीन्द्रियग्राह्यतामायान्ति । तथाहि-सुवर्णं पत्रीकृतं चक्षुर्ग्राह्यं भूत्वा शोधनार्थमग्नौ प्रक्षिप्तं भस्मना मिलितं सत्स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यतामेति, पुनः प्रयोगेण भस्मनः पृथक् कृतं चक्षुर्विषयतामुपगच्छति । लवणसुण्ठीहरीतकीचित्रकगुडाऽऽदयोऽपि प्राक् चक्षुरिन्द्रियग्राह्या भूत्वा पश्चात्सूपाऽऽद्यन्ते बह्वौषधसमुदाये च क्वाथचूर्णावलेहाऽऽदिपरिणामान्तरमापन्नाः सन्तो रसनेन्द्रियसंवेद्या भवन्ति । कर्पूरकस्तूरिकाऽऽदीनामपि पुद्गलाश्चक्षुर्ग्राह्या अपि वायुना दूरमुपनीता घ्राणसंवेद्या भवन्ति । योजननवकात्तु परतो गतास्तथाविधं कञ्चित्सूक्ष्मपरिणाममापन्ना नैकस्याऽपीन्द्रियस्य विषयतां प्रतिपद्यन्ते इति । अनया दिशाऽन्याऽपि पुद्गलपरिणामता चित्रा भावनीयेति ॥ १९८९ ॥

अथास्यैव पुद्गलपरिणामवैचित्र्यस्य प्रस्तुते योजनार्थमाह-

एगेगिंदियगज्झा, जह वा दव्वादयो तहा गेया ।
होउं चक्खुग्गज्झा, घाणिंदियगज्झयामेंति ॥ १९९० ॥

वायुः स्पर्शनेन्द्रियस्यैव ग्राह्यः, रसो रसनस्यैव, गन्धो घ्राणस्यैव, रूपं चक्षुष एव, शब्दस्तु श्रोत्रस्यैव ग्राह्यः । तदेवं यथा वाय्वादयः पुद्गला एकैकस्य प्रतिनियतस्येन्द्रियस्य ग्राह्या भूत्वा पश्चात्परिणामान्तरं किमप्यापन्ना इन्द्रियान्तरग्राह्या अपि भवन्तीति स्वयमेव गम्यते । तथा प्रस्तुता अपि प्रदीपगता आग्नेयाः पुद्गलाश्चक्षुर्ग्राह्या भूत्वा पश्चाद्विध्याते तस्मिन् प्रदीपे त एव तामसीभूताः सन्तो घ्राणेन्द्रियग्राह्यतामुपयान्ति, तत्किमुच्यते ?-" किं दीसए न सो सक्खं ति " (१९८८) । ननु घ्राणेन्द्रियेणोपलभ्यते एव विध्यातप्रदीपविकार इति ॥ १९९० ॥

यद्येवं, ततः प्रस्तुते किमित्याह-

जह दीवो निव्वाणो, परिणामंतरमिओ तहा जीवो ।
भण्णइ परिनिव्वाणो, पत्तोऽणाबाहपरिणामं ॥ १९९१ ॥

यथाऽनन्तरोक्तस्वरूपपरिणामान्तरं प्राप्तः प्रदीपो ' निर्वाणः ' इत्युच्यते, तथा जीवोऽपि कर्मविरहितकेवलामूर्त्तजीवस्वरूपमाबलक्षणमबाधं परिणामान्तरं प्राप्तो निर्वाणो निर्वृतिं प्राप्त उच्यते । तस्माद् दुःखाऽऽदिक्षयरूपा सतोऽवस्था निर्वाणमिति स्थितम् ॥ १९९१ ॥

तर्हि शब्दाऽऽदिविषयोपभोगाभावान्निःसुख एवायमिति चेत् । नैवम् । कुतः ?, इत्याह-

मुत्तस्स परं सोक्खं, णाणाणाबाहओ जहा मुणिणो ।
तद्धम्मा पुण विरहा-दावरणाऽऽबाहहेऊणं ॥ १९९२ ॥

मुक्तस्य जन्तोः परं प्रकृष्टमकृत्रिममनिध्याभिमानजं स्वाभाविकं सुखमिति प्रतिज्ञा । (णाणाणाबाहउ त्ति) ज्ञानप्रकर्षे सति जन्मजराव्याधिमरणेष्टवियोगारतिशोकक्षुत्पिपासाशीतोष्णकामक्रोधमदशाठ्यतृष्णारागद्वेषचिन्तौत्सुक्याऽऽदिनिःशेषाबाधविरहितत्वादिति हेतुः । तथाविधप्रकृष्टमुनेरिव । यथोक्ताबाधरहितानि काष्ठाऽऽदीन्यपि वर्त्तन्ते, परं तेषां ज्ञानाभावान्न सुखम्, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं ज्ञानग्रहणम् । कथं पुनरसौ प्रकृष्टज्ञानवान्, आबाधरहितश्च ?, इत्याह-(तद्धम्मेत्यादि) तद्धर्मा प्रकृष्टज्ञानानाबाधवान् मुक्ताऽऽत्मा । कुतः ?, विरहाद्-अभावात् । केषाम् ?, आवरणहेतूनामाबाधहेतूनां च । एतदुक्तं भवति-क्षीणनिः-

शेषाऽऽवरणत्वात् प्रकृष्टज्ञानवानसौ, वेदनीयकर्माऽऽदीनां च सर्वेषामप्याबाधहेतूनां सर्वथाऽपगमात्सर्वाऽऽबाधरहितोऽयमिति । प्रयोगः-स्वाभाविकेन स्वेन प्रकाशेन प्रकाशवान्मुक्ताऽऽत्मा, समस्तप्रकाशाऽऽवरणरहितत्वात्,तुहिनांशुवत् । तथा चाऽऽह-"स्थितः शीतांशुवज्जीवः, प्रकृत्या भावशुद्धया । चन्द्रिकावच्च विज्ञानं, तदावरणमभ्रवत्" ॥१॥ इति । तथा-अनाबाधसुखी मुक्ताऽऽत्मा,समस्ताबाधहेतुरहितत्वात्,ज्वराऽऽद्यपगमे स्वस्थाऽऽतुरवत् । तथा चोक्तम्-"सव्याबाधाभावा-त्सर्वज्ञत्वाच्च भवति परमसुखी । व्याबाधाभावोऽत्र,स्वस्थस्य ज्ञस्य परमसुखम्" ॥१॥ इति ॥ १६६२ ॥

अपरस्त्वाह-

मुत्तो करणाभावा-दन्नाणी खं व नणु विरुद्धोऽयं ।
जमजीवया वि पावइ,एत्तो च्चिय भणइ तन्नाम ।१६६३।

नन्वज्ञानी मुक्ताऽऽत्मा, करणाभावाद्, आकाशवत् । अत्राऽऽचार्यः प्राऽऽह--ननु धर्मिस्वरूपविपरीतसाधनाद्विरुद्धोऽयं हेतुः । तथाहि अनेनैतदपि सिध्यति-अजीवो मुक्ताऽऽत्मा, करणाभावात्, आकाशवत् । अत्र परः सोत्कर्षं भणति-(तन्नाम त्ति) नामेत्यभ्यनुज्ञायाम्-अस्त्वेतत्, न नः किमपि सूयते ?। न हि मुक्ताऽऽत्मनामजीवत्वेऽस्माकं, किञ्चिन्नश्यति, येन हेतोर्विरुद्धता प्रेर्यमाणा शोभेत । अत्राऽऽह कश्चित्-ननु मुक्तस्याजीवत्वमार्हतानामप्यनिष्टमेव, ततश्चैतद् दूषणमाचार्येणाऽपि परिहर्तव्यमेव, यच्चाऽऽत्मनोऽपि दूषणं समापतति तत्कथं परस्यैवैकस्योद्भाव्यते ?। सत्यमेतत् । किन्तु परशक्तिपरीक्षार्थं प्रेर्यमाचार्यः कृतवान्, कदाचित्क्षोभाद् विगलितप्रतिभः परोऽत्रापि प्रतिविधाने स्खलितस्तूष्णीं तिष्ठेत् । परमार्थतस्तु जीवस्याऽजीवत्वं कदाचिदपि न भवत्येव ॥ १६६३ ॥

कुतः ?, इत्याह-

दव्वाऽमुत्तत्त सहा-वजाइओ तस्स दूरविवरीयं ।
न हि जच्चंतरगमणं,जुत्तं नभसो व्व जीवत्तं ।।१६६४।।

तस्य मुक्ताऽऽत्मनो हि यस्मात् कारणान्न युक्तमिति संबन्धः । किं तन्न युक्तम् ?, इत्याह-एकस्या जीवत्वलक्षणाया जातेर्यदजीवत्वलक्षणं जात्यन्तरं तत्र गमनं जात्यन्तरगमनं, तन्न युक्तम् । कथंभूतं जात्यन्तरम् ?, इत्याह-दूरमत्यर्थं विपरीतं दूरविपरीतम् । कस्या दूरविपरीतम् ?,इत्याह--(सहावजाईओ त्ति) जीवत्वलक्षणायाः स्वाभाविकी स्वभावभूता जातिः स्वभावजातिः, तस्याः । किंवत् या स्वभावजातिः ?, इत्याह-उपमानप्रधानत्वान्निर्देशस्य, द्रव्याऽमूर्तत्ववदिति द्रव्यत्ववदमूर्तत्ववच्चेत्यर्थः । स्वभावजातेर्दूरविपरीतं सत् कस्य यथा किं न युक्तम् ?, इत्याह-नभस इव जीवत्वम् । इदमत्र हृदयम्-द्रव्यत्वम्,अमूर्तत्वं च जीवस्य तावत्स्वभावभूता जातिः,तस्याश्च यद् दूरविपरीत जात्यन्तरमद्रव्यत्वम्, अमूर्तत्वं च, तत्र गमनं तस्य कस्यामप्यवस्थायां न भवति । एवं जीवत्वमपि जीवस्य स्वभावभूतैव जातिः, ततस्तस्या अपि स्वभावजातेर्यद् दूरविपरीतमजीवत्वलक्षणं जात्यन्तरं तत्र गमनं मुक्तावस्थायामपि तस्य न युज्यते । न ह्यजीवस्य सतो नभसः कदाचिदपि जीवत्वाप्राप्तिर्भवति । तस्मान्मुक्तो जीवो यथाऽद्रव्यं मूर्तश्च न भवति, तद्विपक्षस्वभावत्वात्; एवं जीवस्वाभाव्यादजीवोऽप्यसौ कदाचिदपि न भवति; अन्यथा नभःपरमाण्वादीनामपि स्वस्वभावत्यागेन वैपरीत्यापत्त्याऽतिप्रसङ्गादिति ।

अत्राऽऽह-यद्येवं,तर्हि यद्भवतैवोक्तम्-"अजीवो मुक्ताऽऽत्मा,करणाभावाद्, आकाशवद्" इति, तत्कथं नेतव्यम् ?। अत्रोच्यते-परस्य प्रसङ्गाऽऽपादनमेव तदस्माभिः कृतम्,तत्करणे च कारणमुक्तमेव, न पुनरनेन हेतुना मुक्तस्याजीवत्वं सिद्ध्यति, प्रतिबन्धाभावात् । तथाहि-यदि करणैर्जीवत्वं कृतं भवेत्, यथा दहनेन धूमः, व्यापकानि वा जीवत्वस्य करणानि यदि भवेयुः, यथा शिंशपाया वृक्षत्वम्, तदा करणनिवृत्तौ भवेज्जीवत्वनिवृत्तिः, यथाऽग्निवृक्षत्वनिवृत्तौ धूमशिंशपात्वयोः, न चैतदस्ति । जीवत्वस्यानादिपारिणामिकभावरूपत्वेनाकृतकत्वात्,व्यापकत्वाभावोऽपीन्द्रियाणां शरीरेणैव सह युज्यते, तत्पक्षस्यापि पौद्गलिकत्वात्, न तु जीवत्वेन, जीवस्यामूर्तत्वेनात्यन्तं तद्विलक्षणत्वात् । तस्मात्करणनिवृत्तावप्यनिवृत्तमेव मुक्तस्य जीवत्वमिति ॥ १६६४ ॥

आह-यद्येवम्, 'अज्ञानी मुक्ताऽऽत्मा,करणाभावाद्,आकाशवद्' इत्यत्र धर्मिस्वरूपविपरीतसाधनाद् या हेतोर्विरुद्धतोद्भाविता, सा न भवद्भिरपि परिहृता, अतस्तत्रान्यत्किमप्युत्तरमुच्यतामित्याशङ्क्याऽऽह-

मुत्ताऽऽइभावओ नो-वलद्धिमंतिंदियाइँ कुंभो व्व ।
उवलंभद्दाराणि उ, ताइं जीवो तदुवलद्धा ।।१९९५।।
तदुवरमे वि सरणओ, तव्वावारे वि नोवलंभाओ ।
इंदियभिन्नो आया, पंचगवक्खोवलद्धा वा ।।१९९६।।

अनयोर्व्याख्या पूर्ववत्, केवलं प्रस्तुते भावार्थं उच्यते-यदीन्द्रियाण्युपलब्धिमन्ति भवेयुस्तदा तन्निवृत्तावप्युपलब्धिनिवृत्तिर्भवेत्,न चैतदस्ति, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जीवस्योपलब्धिमत्त्वनिश्चयादिति ॥ १६६५ ॥ १९९६ ॥

स्वभावभूतं च ज्ञानं जीवस्य, इति कथं करणनिवृत्तौ मुक्तस्य तन्निवर्तेत इति दर्शयन्नाह-

नाणरहिओ न जीवो, सरूवओऽणु व्व मुत्तिभावेणं ।
जं तेण विरुद्धमिदं,अत्थि य सो नाणरहिओ य ।१६६७।

यद्यस्माज्ज्ञानरहितो जीवः कदाचिदपि न भवति, ज्ञानस्य तत्स्वरूपत्वात्, यथा मूर्तिभावेन रहितोऽणुर्न भवति, तेन तस्मात्कारणाद्विरुद्धमेतद्-"अस्ति चासौ मुक्तो जीवः,अथ च स ज्ञानरहितः" इति । न हि स्वरूपस्याभावे स्वरूपवतोऽवस्थानं युज्यते,तद्व्यतिरिक्तस्य तस्यासत्त्वात्,तथा चानन्तरमेवोक्तम्-"न हि जच्चंतरगमणं, जुत्तं नभसो व्व जीवत्तं ।" (१६६४) इति ॥ १६६७ ॥

पराभिप्रायमाशङ्क्यैतदेव समर्थयन्नाह-

किह सो नाणसरूवो, नणु पच्चक्खाणुभूइओ नियए ?।
परदेहम्मि वि गज्झो, सपवित्तिनिवित्तिलिंगाओ ।१६६८।

ननु कथमसौ जीवो ज्ञानस्वरूप इति निश्चीयते ?। अत्रोत्तरमाह--नन्वित्यसूयायां, ननु निजे देहे तावत्प्रत्यक्षानुभवादेव ज्ञानस्वरूपो जीव इति विज्ञायते, इन्द्रियव्यापारोपरमेऽपि तद्व्यापारोपलब्धार्थानुस्मरणात्, तद्व्यापारेऽपि चान्यमनस्कतायामनुपलम्भात्, अदृष्टाश्रुतानामपि चार्थानां तथाविधक्षयोपशमपाटवात्कदाचिद् व्याकुलतावस्थायां चेतसि स्फुरणात् । एतच्च स्वसंवेदनसिद्धमपि भवतः प्रष्टव्यतां गतम् । तथा-

स जन्तुः परदेहेऽपि ज्ञानस्वरूपे एवेति ग्राह्यः । कुतः ?, तथाविधप्रवृत्तिनिवृत्तिसिद्धादिति ॥ १९९८ ॥

अपि च मुक्तावज्ञानित्वाऽऽपादने महान् विपर्यासः; कुतः ?, इत्याह-

सव्वाऽऽवरणावगमे, सो सुद्धयरो भवेज्ज सूरो व्व ।
तम्मयभावाभावा-दण्णाणित्तं न जुत्तं से ॥१९९९॥

सेन्द्रियो जन्तुर्देशतोऽप्यावरणक्षये तावत्तारतम्येन ज्ञानयुक्त एव भवति,यस्य त्वनीन्द्रियस्य सर्वमप्यावरणं क्षीणं, स निःशेषाऽऽवरणापगमे शुद्धतर एव भवति-संपूर्णज्ञानप्रकाशयुक्त एव भवतीत्यर्थः, यथा समस्ताभ्राऽऽवरणापगमे सम्पूर्णप्रकाशमयः सूर्यः, ततस्तन्मयभावस्य प्रकाशमयत्वस्य कारणाभावेनाभावाद्धेतोः 'से' तस्य मुक्तस्य यदज्ञानित्वं प्रेर्यते भवता, तन्न युक्तम्, आवारकाभावे तस्यैव प्रकर्षवतो ज्ञानप्रकाशस्य सद्भावादिति ॥ १९९९ ॥

तदेवं सति किमिह स्थितम् ?, इत्याह-

एवं पगासमइओ,जीवो छिद्दावभासयत्ताओ ।
किंचिम्मेत्तं भासइ, छिद्दाऽऽवरणप्पईवो व्व ॥२०००॥
सुबहुयतरं वियाणइ, मुत्तो सव्वप्पिहाणविगमाओ ।
अवणीयघरो व्व नरो,विगयाऽऽवरणप्पईवो व्व ॥२००१॥

तदेवं सति सर्वदा प्रकाशमयः प्रकाशस्वभाव एव जीवः, केवलं संसारावस्थायां छद्मस्थः किञ्चिन्मात्रमवभासयति, क्षीणाक्षीणाऽऽवरणच्छिद्रैरिन्द्रियच्छिद्रैश्चावभासनात्, सच्छिद्रकुटकुड्याऽऽद्यन्तरितप्रदीपवदिति । मुक्तस्तु मुक्तावस्थायां प्राप्तो जीवः सुबहुतरं विजानाति-यदस्ति तत्सर्वं प्रकाशयतीत्यर्थः, सर्वपिधानविगमात्-सर्वाऽऽवरणक्षयादित्यर्थः । अपनीतसमस्तगृहः पुरुष इव, विगतसमस्तकुटकुड्याऽऽद्यावरणप्रदीप इवेति । यो हि सच्छिद्राऽऽवरणान्तरितः स्तोकं प्रकाशयति, स निःशेषाऽऽवरणापगमे सुबह्वेव प्रकाशयति, न तु तस्य सर्वथा प्रकाशाभाव इति भावः । तस्मात् " मुत्तस्स परं सोक्खं, णाणाणाबाहओ " (१९९२) इत्यादि स्थितम् ॥ २००० ॥ २००१ ॥

अथाद्यापि मुक्तस्य सुखाभावं पश्यन् परः प्राऽऽह-

पुण्णापुण्णकयाइं, जं सुहदुक्खाइं तेण तन्नासे ।
तन्नासाओ मुत्तो, निस्सुहदुक्खो जहाऽऽगासं ॥२००२॥
अहवा निस्सुहदुक्खो, नभं व देहिंदियाइभावाओ ।
आधारो देहो च्चिय, जं सुहदुक्खोवलद्धीणं ॥ २००३ ॥

पुण्यात्सुखमुपजायते, पापाच्च दुःखमिति भवतामपि सम्मतं, तेन तस्माद् तयोः पुण्यपापयोः कारणभूतयोर्नाशे सुखदुःखयोः कार्यरूपयोर्नाशान्निःसुखदुःख एव मुक्ताऽऽत्मा प्राप्नोति, तत्कारणाभावात्, आकाशवदिति । अथवा निःसुखदुःखोऽसौ, देहेन्द्रियाभावात्,नभोवत्,यद् यस्माद्देह एव,तथेन्द्रियाणि च सुखदुःखोपलब्धीनामाधारो दृश्यते, न पुनर्देहाभावे सुखदुःखे दृश्येते, नापीन्द्रियाभावे ज्ञानं काप्युपलभ्यते । ततः सिद्धस्य कथं तदभावात्तानि भण्यन्ते ?, इति ॥ २००२ ॥ २००३ ॥

अत्रोत्तरमाह-

पुण्णफलं दुक्खं चिय, कम्मोदयओ फलं व पावस्स ।
नणु पावफले वि समं, पच्चक्खविरोहिया चेव ॥२००४॥

चक्रवर्तिपदलाभाऽऽदिकं पुण्यफलं निश्चयतो दुःखमेव, कर्मोदयजन्यत्वात्, नरकत्वाऽऽदिपापफलवत् । परः प्राऽऽह-ननु पापफलेऽपि समानमिदम् । तथाहि-अत्रापि वक्तुं शक्यत एतत्-उक्तं पापफलं दुःखत्वेनाभिमतं परमार्थतः सुखमेव, कर्मोदयजन्यत्वात्, पुण्यफलवत्, एवं च वदतां प्रत्यक्षविरोधिता, स्वसंवेद्यसुखदुःखयोर्वैपरीत्येन संवित्त्यभावादिति ॥ २००४ ॥

भगवानाह-

जत्तो च्चिय पच्चक्खं, सोम्म ! सुहं नत्थि दुक्खमेवेदं ।
तप्पडियारविभत्तं, तो पुण्णफलं ति दुक्खं ति ॥२००५॥

सौम्य ! प्रभास ! यत एव दुःखे अनुभूयमाने कस्याप्यविपर्यस्तमतेः सुखं प्रत्यक्षं नास्ति, सुखानुभवः स्वसंविदितो न विद्यते, अत एवास्माभिरुच्यते-दुःखमेवेदम् इति, यत् किमप्यत्र संसारचक्रे स्रक्चन्दनाङ्गनासंभोगाऽऽदिसमुत्थमपि विद्यते, तत्सर्वं दुःखमेवेत्यर्थः । केवलं तस्याङ्गनासंभोगाऽऽदिविषयौत्सुक्यजनितारतिरूपस्य दुःखस्य प्रतीकारोऽङ्गनासंभोगाऽऽदिकस्तत्प्रतीकारस्तेन तत्प्रतीकारेण दुःखमपि सद्विभक्तं मूढैर्भेदेन व्यवस्थापितं तत्प्रतीकाररूपं कामिनीसंभोगाऽऽदिकं पामाकण्डूयनाऽऽदिवत्सुखमध्यवसितम्,शूलाऽऽरोपणशूलशिरोबाधाऽऽदिव्याधिबन्धवधाऽऽदिजनितं तु दुःखमिति । रमणीसंभोगचक्रवर्तिपदलाभाऽऽदि सुखं स्वसंविदितं दुःखमिति वदतां प्रत्यक्षविरोध इति चेत् । तदयुक्तम् । मोहमूढप्रत्यक्षत्वात्तस्य, तल्लाभौत्सुक्यजनितारतिरूपदुःखप्रतीकाररूपत्वात् दुःखेऽपि तत्र सुखाध्यवसायः, पामाकण्डूयनाऽपथ्याऽऽहारपरिभोगाऽऽदिवत् ।

तथा चोक्तम्-

" नग्नः प्रेत इवाऽऽविष्टः,क्वणन्तीमुपगृह्य ताम् ।
गाढाऽऽयासितसर्वाङ्गः, स सुखी रमते किल ॥ १ ॥
औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा,
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय,
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवाऽऽतपत्रम् ॥ २ ॥
भुक्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं ?,
संप्रीणिताः प्रणयिनः स्वधनैस्ततः किम् ? ।
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किं ?,
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ? ॥३॥
इत्थं न किञ्चिदपि साधनसाध्यजातं,
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं परमार्थशून्यम् ।
अत्यन्तनिर्वृतिकरं यदपेतबाधं,
तद् ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनाऽस्ति " ॥४॥ इत्यादिना ।

" पुण्णफलं ति दुक्खं ति । " यत एवमुक्तप्रकारेण दुःखेऽपि सुखाभिमानः, तस्मात्पुण्यफलमपि सर्वं तत्त्वतो दुःखमेवेति ॥२००५॥

एतदेव प्रपञ्चयति-

विसयसुहं दुक्खं चिय, दुक्खपडीयारओ तिगिच्छ व्व ।
तं सुहमुवयाराओ, नो उवयारो विणा तच्चं ॥२००६॥

विषयसुखं तत्त्वतो दुःखमेव,दुःखप्रतीकाररूपत्वात्, कुष्ठगाढार्शोरोगक्वाथपानच्छेदनदहनाऽऽदिचिकित्सावत् । यच्च लोके

तत्र सुखव्यपदेशः प्रवर्त्तते, स उपचारात् । न चोपचारस्तथ्यं पारमार्थिकं विना क्वापि प्रवर्त्तते, माणवकाऽऽदौ सिंहाऽऽद्युपचारवदिति ॥२००६॥

ततः किमित्याह–

तम्हा जं मुत्तसुहं, तं तच्चं दुक्खसंखएऽवस्सं ।
मुणिणोऽणाबाहस्स व, णिप्पडियारप्पसूईओ ॥२००७॥

तस्माद्यन्मुक्तस्य संबन्धि तदेव सुखं तथ्यं निरुपचरितम् । कुतः ?, स्वाभाविकत्वेन निष्प्रतीकाररूपस्य तस्य प्रसूतेरुत्पत्तेः । कथम् ?, अवश्यम् । क्व सति ?, दुःखसंक्षये । सांसारिकं हि सर्वं पुण्यफलमपि दुःखरूपतया समर्थितं, ततः पापफलम्, इतरच्च सर्वं दुःखमेवेहास्ति, नान्यत्, तच्च मुक्तस्य क्षीणम्; अतस्तत्संक्षये अवश्यंतया यत् तस्य निष्प्रतीकारं स्वाभाविकं निरुपमं सुखमुत्पद्यते, तदेव तथ्यम् । कस्येव ?, विशिष्टज्ञानवतोऽनाबाधस्य मुनेरिव ।

उक्तं च–

" निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशाना-मिहैव मोक्षः सुविहितानाम्" ॥१॥ इति ॥२००७॥

अथवा प्रकारान्तरेणापि मुक्तस्य तथ्यसुखसंभवमाह–

जह वा नाणमओऽयं, जीवो नाणोवघाइ चावरणं ।
करणमणुग्गहकारिं, सव्वाऽऽवरणक्खए सुद्धी ॥२००८॥
तह सोक्खमओ जीवो, पावं तस्सोवघाइयं नेयं ।
पुण्णमणुग्गहकारिं, सोक्खं सव्वक्खए सयलं ॥२००९॥

यथा वाऽनन्तज्ञानमयोऽसौ स्वरूपेण जीवः । तदीयज्ञानस्य च मत्यावरणाऽऽदिकमावरणमुपघातकं मन्तव्यम् । करणानि त्विन्द्रियाणि तज्ज्ञानस्य, सूर्याऽऽतपस्य तदावारकमेघपटलच्छिद्राणीवोपकारकाणि । सर्वाऽऽवरणक्षये तु ज्ञानशुद्धिर्निर्मलता सर्वथाऽवभासकत्वलक्षणा भवति । प्रकृतयोजनामाह–तथा तेनैव प्रकारेण स्वरूपतः स्वाभाविकानन्तसौख्यमयो जीवः, तस्य च सुखस्यैवोपघातकारकं पापकर्म विज्ञेयम् । पुण्यं त्वनुत्तरसुरपर्यन्तसुखफलं तस्य स्वाभाविकसुखस्यानुग्रहकारकम् । ततः सर्वाऽऽवरणापगमे प्रकृष्टज्ञानमिव समस्तपुण्यपापक्षये सकलं परिपूर्णं निरुपचरितं निरुपमं स्वाभाविकमनन्तं सुखं भवति सिद्धस्येति ॥ २००८ ॥ २००९ ॥

अन्येन वा प्रकारेण मुक्तस्य तस्य सुखसम्भवमाह–

जह वा कम्मक्खयओ, सो सिद्धत्ताइपरिणइं लभइ ।
तह संसाराईयं, पावइ तत्तो च्चिय सुहं ति ॥ २०१० ॥

यथा वा सकलकर्मक्षयादसौ मुक्ताऽऽत्मा सिद्धत्वाऽऽदिपरिणतिं लभते, तत एव सकलकर्मक्षयात् संसारातीतं वैषयिकसुखाद्विलक्षणस्वरूपं निरुपमं तथ्यं सुखं प्राप्नोति । एतेन यदुक्तम्–" क्षीणपुण्यपापत्वेन कारणाभावान्निःसुखदुःखो मुक्ताऽऽत्मा, व्योमवत्" इत्येतदपि प्रत्युक्तं द्रष्टव्यम्, 'कारणाभावात्' इत्यस्य हेतोरसिद्धत्वात्, सकलकर्मक्षयलक्षणकारणजन्यत्वेन सिद्धसुखस्य सकारणत्वादिति ॥ २०१० ॥

यदुक्तम्–" आधारो देहो च्चिय, जं सुहदुक्खोवलद्धीणं " (२००३) इति; तत्राऽऽह–

सायाऽसायं दुक्खं, तव्विरहम्मि य सुहं जओ तेणं ।
देहिंदिएसु दुक्खं, सोक्खं देहिंदियाभावे ॥ २०११ ॥

ननु यत्पुण्यफलं सातं सुखतया लोकव्यवहारतो रूढं, तत्सर्वं दुःखमेवेत्यनन्तरमेव समर्थितम् । असातं तु पापफलत्वादविवादं दुःखमेव । एवं च सति सर्वं दुःखमेवास्ति संसारे, न सुखम् । तच्च दुःखं सिद्धस्य सर्वथा क्षीणम् । अतस्तद्विरहे यदस्मात्सिद्धस्य स्वाभाविकं,निरुपमम्,अनन्तं च युक्तिसिद्धमेव सुखं, तेन तस्मात्कारणात् पारिशेष्यन्यायात् संसारिणामेव जीवानां देहेन्द्रियेष्वाधारभूतेषु यथोक्तस्वरूपं दुःखम्, सुखं तु देहेन्द्रियाभाव एव,सिद्धस्य क्षीणनिःशेषसुखदुःखत्वेन तस्य तत्र युक्तिसिद्धत्वादिति ॥ २०११ ॥

अथवा देहेन्द्रियाभावे सुखाभावलक्षणो दोषस्तस्य भवतु यः, किमित्याह–

जो वा देहिंदियजं, सुहमिच्छइ तं पडुच्च दोसोऽयं ।
संसाराईयमिदं, धम्मंतरमेव सिद्धिसुहं ॥ २०१२ ॥

यो वा कश्चित् संसाराभिनन्दी मोहमूढः परमार्थादर्शी विषयामिषमात्रगृद्धो देहेन्द्रियजमेव सुखं मन्यते, न तु सिद्धिसुखं, तस्य तेन स्वपक्षेऽपदर्शनात्, तस्य वादिनः संसारविपक्षे मोक्षे प्रमाणतः साध्यते स्यात् " निःसुखः,सिद्धः, देहेन्द्रियाभावात् " इत्ययं दोषो भवतु, न त्वस्माकं संसारातीतं पुण्यपापफलसुखदुःखाभ्यां सर्वथा विलक्षणं धर्मान्तरभूतमेवानुपममक्षयं निरुपचरितं सिद्धसुखमिच्छतामिति ॥ २०१२ ॥

अत्र परमाशङ्क्य परिहरन्नाह–

कह णणु मेयं ति मई, नाणाणाबाहउ त्ति णणु भणियं ।
तदणिच्चं णाणं पि य, चेयणधम्मो त्ति रागो व्व ॥२०१३॥

अथैवंभूता मतिः परस्य भवेत्–नन्विच्छन्ति भवन्तः सिद्धस्य यथोक्तं सुखं, किन्तु नेच्छामात्रतो वस्तुसिद्धिः, अपि तु प्रमाणतः; ततो येन प्रमाणेन तत्सिध्यति तद्वक्तव्यम् । अनुमानेन तदनुमीयत इति चेत्, तर्हि केनानुमानेन तदनुमेयम्–अनुमीयत इत्यर्थः ?, इत्याह–" नाणाणाबाहउ त्ति णणु भणियं ति ।" ननु भणितमत्रार्थे प्रागनुमानं सिद्धस्य प्रकृष्टं सुखं, ज्ञानत्वे सत्यनाबाधत्वाद्, मुनिवदिति । पुनरपि परः प्राऽऽह–यद्येवं तर्ह्यनित्यं सुखं ज्ञानं च सिद्धस्य, चेतनधर्मत्वात्, रागवदिति ॥ २०१३ ॥

अथवा हेत्वन्तरमाह–

कयगाइभावओ वा, नाऽऽवरणाऽऽबाहकारणाभावा ।
उप्पायट्ठिइभंग–स्सहावओ वा न दोसोऽयं ॥२०१४॥

अथवाऽनित्ये सिद्धस्य सुखज्ञाने, तपःप्रभृतिकष्टानुष्ठानेन क्रियमाणत्वात्, आदिशब्दादभूतप्रादुर्भावात्, घटवदिति । अत्रोत्तरमाह–" नावरणेत्यादि ।" न सिद्धस्यानित्ये ज्ञानसुखे । कुतः ?, आवरणं चाऽऽबाधश्चाऽऽवरणाऽऽबाधौ, तयोः कारणं हेतुस्तस्याभावात्, आकाशवदिति । इदमुक्तं भवति–सिद्धस्य ज्ञानं सुखं च यद्यपगच्छेत् तदा स्यादनित्यम्, अपगमश्च ज्ञानस्याऽऽवरणोदयात्, सुखस्य त्वाबाधहेतुभूतादसातवेदनीयोदयाऽऽदिकारणाद्भवेत्, आवरणवेदनीयाऽऽदीनि च मिथ्यात्वाऽऽदिभिर्बन्धहेतुभिर्बध्यन्ते, ते च सिद्धस्य न विद्यन्ते, अतस्तदभावाद् नाऽऽवरणाऽऽबाधाकारणसद्भावः,तदभावाच्च न सिद्धस्य

ज्ञानसुखापगमः, तद्भावे च तयोः सदाऽवस्थितत्वात् कथमनित्यत्वम् ? । न च चेतनधर्माः सर्वेऽप्यनित्या भवन्ति, जीवगतद्रव्यत्वामूर्तत्वाऽऽदिभिर्व्यभिचारात् । 'ततश्च चेतनधर्मत्वात्' इत्यनैकान्तिको हेतुः; तथा -कृतकत्वाऽऽदिरप्यनैकान्तिकः, घटप्रध्वंसाभावेन व्यभिचारात् । असिद्धश्चायम्, सिद्धस्य ज्ञानसुखयोः स्वाभाविकत्वेन कृतकत्वाऽऽद्ययोगात् । आवरणाऽऽबाधकारणाभावेन च तत्तिरोभावमात्रमेव निवर्तते, न पुनस्ते क्रियेते, घटाऽऽदिवत्; नाप्यभूते प्रादुर्भवतः, विद्युदादिवत्, येन तयोरनित्यत्वं स्यात् । न हि घनपटलापगमे चन्द्रज्योत्स्नायाः सूर्यप्रभाया वा तिरोभावमात्रनिवृत्तौ कृतकत्वम्, अभूतप्रादुर्भावो वा वक्तुं युज्यत इति ।

अथ तेनाऽऽविर्भूतेन विशिष्टेन रूपेण कृतकत्वादनित्ये सिद्धस्य ज्ञानसुखे, प्रतिक्षणं च पर्यायरूपतया ज्ञेयविनाशे ज्ञानस्य विनाशात्, सुखस्यापि प्रतिसमयं परापररूपेण परिणामादेतयोरनित्यत्वमुच्यते, तर्हि सिद्धसाध्यतेति दर्शयति-" उप्पायट्ठिइ " इत्यादि । इत्थमात्माऽऽकाशघटाऽऽदिरूपस्य सर्वस्यापि वस्तुस्तोमस्य स्थित्युत्पादप्रलयस्वाभाव्याभ्युपगमात्सिद्धसुखज्ञानयोरपि कथञ्चिदनित्यत्वात् नायं तदनित्यत्वाऽऽपत्तिलक्षणोऽस्माकं दोष इति ॥ २०१४ ॥

तदेवं जीवस्य सदवस्थालक्षणं निर्वाणं, निर्वृतस्य च निरुपमसुखसद्भावं युक्तितः प्रसाध्य वेदोक्तद्वारेणापि तत्साधनार्थमाह-

न ह वै ससरीरस्स, पियऽप्पियावहतिरेवमादि व जं ।
तदमोक्खे नासम्मि व, मोक्खाजावम्मि व न जुत्तं ॥२०१५॥

" न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । " " अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः " इति च यद्वेदोक्तं, तदप्यमोक्षे मोक्षाभावे-जीवकर्मणोर्वियोगेऽनभ्युपगम्यमाने इत्यर्थः । तथा-'मतिरपि न प्रज्ञायते' इति वचनाद् मुक्तावस्थायां सर्वथा नाशे वा जीवस्याऽभ्युपगम्यमाने, सत्त्वे वा मुक्ताऽऽत्मनः सुखाभाव इष्यमाणे न युक्तं प्राप्नोति-अभ्युपगमविरोधकत्वेनेत्यर्थः । अनेन हि वाक्येन किल यथोक्तो मोक्षः, मुक्तौ च निष्कर्मणो जीवस्य सत्त्वं, निरुपमसुखं च तस्य, एतानि त्रीण्यपि अभ्युपगम्यन्ते । एतच्च पुरस्ताद्व्यक्तीकरिष्यते । ततोऽस्य त्रितयस्य निषेधं कुर्वतस्तवाभ्युपगमविरोध इति भावः ॥२०१५॥

अत्राऽऽद्यन्तपक्षौ परिहृत्य मध्यगतं जीवनाशपक्षसंगतविनमभ्युपगमविरोधं परिहर्तुं तावत्परः प्राऽऽह-

नट्ठो असरीरो चिय, सुहदुक्खाइं पियऽप्पिआइं च ।
ताइँ न फुसंति नट्ठं, फुडमसरीरं ति को दोसो ? ॥२०१६॥

" न ह वै " इत्यादिवेदवाक्यस्य किल परोऽमुमर्थं मन्यते-शरीरः सर्वनाशेन नष्टः खरविषाणकल्प एवोच्यते, तमेवंभूतमशरीरं नष्टं प्रियाप्रिये सुखदुःखे यत्र स्पृशतः, तत्स्फुटमेव युज्यत एवेदम्, नष्टस्य सुखदुःखस्पर्शायोगात्, अशरीरशब्देन च जीवनाशाभिधानात् । एवंभूते चास्य वाक्यस्यार्थे मुमुक्षोर्जीवस्य निर्वाणप्रदीपस्येव सर्वनाशमभ्युपगच्छतां कोऽस्माकमभ्युपगमविरोधलक्षणो दोषः ?, न कश्चिदपीति पराभिप्राय इति ॥ २०१६ ॥

अत्र प्रभासस्य भगवान् वेदार्थाऽयथात्वमवगम्य, एतेषां वेदपदानां यथाऽवस्थितमर्थं व्याचिख्यासुराह-

वेयपयाण य अत्थं, न सुट्ठु जाणसि इमाण तं सुणसु ।
असरीरव्ववएसो, अधणो व्व सओ निसेहाओ ॥२०१७॥
न निसेहओ य अन्न-म्मि तव्विहे चेव पच्चओ जेण ।
तेणासरीरगहणे, जुत्तो जीवो न खरसिंगं ॥ २०१८ ॥

आयुष्मन् ! प्रभास ! न केवलं युक्तिं, वेदपदानाममीषामर्थं च त्वं सुष्ठु न जानासि, ततस्तं शृणु-" न ह वै " इत्यादिपूर्वार्द्धं सुगमत्वादत्र गाथाद्वये न व्याख्यातं, तदपि सुखप्रतिपत्त्यर्थं व्याख्यायते—' न ' इति निपातो निषेधार्थः । ' ह वै ' इत्येतदपि निपातद्वयं हिशब्दार्थत्वाद्यस्मादर्थे । सह शरीरेण वर्तत इति सशरीरो जीवस्तस्य सशरीरस्येत्यत्र एवकारो द्रष्टव्यः । ततश्चायमर्थः-यस्मात् सशरीरस्यैव जीवस्य प्रियाप्रिययोः सुखदुःखयोरपहतिर्विघातोऽन्तरं नास्ति, न त्वशरीरस्य; तस्मादशरीरं शरीररहितं मुक्त्यवस्थायां वसन्तं लोकान्तस्थितं जीवं प्रियाप्रिये सुखदुःखे न स्पृशतः । इदमुक्तं भवति-यावदयं जीवः सशरीरः, तावत् सुखेन दुःखेन वा अन्यतरेण कदाचिदपि न मुच्यते । अशरीरस्त्वसौ क्षीणवेदनीयत्वात् सुखदुःखाभ्यां कदाचिदपि न स्पृश्यत इति । एवंभूते चास्य वाक्यस्यार्थे सति योऽयमशरीरव्यपदेशः, असौ सत एव विद्यमानस्यैव जीवस्य मुक्त्यवस्थायां विधीयते, न तु सर्वथा नष्टस्य । कुतः ?, इत्याह-निषेधात्, इह यो यस्य निषेधः स तस्य सत एव विधीयते, न त्वसतः, यथाऽधन इति, अत्र सत एव देवदत्तस्य धननिषेधो विधीयते, न त्वसतः खरविषाणस्य ।

आह--न विद्यते शरीरं यस्येत्येवं निषेधादन्यपदार्थे जीव एव कथं प्रतीयते ?, इत्याह-" न निसेहओ य " इत्यादि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः पर्युदासवृत्तिना नञा निषेधो नञ्निषेधस्तस्मान्नञ्निषेधात् कारणात् सशरीरादन्यस्मिंस्तद्विध एव शरीरसदृशे कस्मिंश्चिदन्यपदार्थे संप्रत्ययो विज्ञेयः, यथा " न ब्राह्मणोऽब्राह्मणः " इत्युक्ते ब्राह्मणसदृशः क्षत्रियाऽऽदिरेव गम्यते, न तु तुच्छरूपो भावः । उक्तं च-" नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे लोके तथाह्यर्थगतिः " इति । इह च शरीरसदृशोऽशरीरो जीव एव गम्यते, द्वयोरप्युपयोगरूपत्वेन सदृशत्वात् । न चेह शरीरं सादृश्यबाधकं, तस्य जीवेन सह क्षीरनीरन्यायतो लोलीभूतत्वेनैकत्वादिति । तदेवं येन यस्मात् कारणात् नञ्निषेधादन्यस्मिंस्तद्विध एवान्यपदार्थे सम्प्रत्ययो भवति, तेन तस्मात्कारणात्, ' अशरीरं वा वसन्तम् ' इत्यत्राशरीरग्रहणे जीव एवाशरीरो युज्यते, न तु खरविषाणं तुच्छरूपोऽभाव इत्यर्थः । तदेवमशरीरमिति व्याख्यातम् । ॥ २०१७ ॥ २०१८ ॥

इदानीं " वा वसन्तम् " इत्येतद्व्याचिख्यासुराह-

जं व वसंतं संतं, तमाह वासद्दओ सदेहं पि ।
न फुसेज्ज वीयरागं, जोगिणमिट्ठेयरविसेसा ॥ २०१९ ॥

यस्माद्वाऽशरीरं, कथंभूतम् ?, वसन्तं लोकाग्रे निवसन्तं, तिष्ठन्तमिति यावत् । अनेन वसनविशेषणेन तमशरीरशब्दवाच्यमर्थं सन्तं विद्यमानमाह, न त्वसद्भूतं, वसनस्य सत्कर्मत्वात् । तस्मात्कथं जीवनाशरूपं निर्वाणं स्यात् ?, न केवलमशरीरं मुक्तं,

किं तु वाशब्दात् सदेहमपि सशरीरमपि वीतरागं क्षीणोपशममोहयोगिनं परमसमाधिमन्तं भवस्थमपि न स्पृशेयुः । के ?, इष्टेतरविशेषाः, सुखदुःखभेदा इत्यर्थः ॥ २०१९ ॥

प्रकारान्तरेणापि "वाव सन्तम्" इत्येतद्व्याचिख्यासुराह-

वाव त्ति वा निवाओ, वासद्दत्थो ञ्चवंतमिह संतं ।
बुज्झाऽव त्ति व संतं, नाणाइविसिट्ठमहवाऽह ॥२०२०॥

वा इत्यथवा-'वाव' इत्ययं शब्दो निपातः, स च वाशब्दार्थः । ततश्चाशरीरं सन्तं प्रवन्नं मुक्तौ विद्यमानं जीवं प्रियाप्रिये न स्पृशतः, वाशब्दात् सशरीरमपि वीतरागं न ते स्पृशतः । यदि वा वसन्तमित्यन्यथा व्याख्यायते-"बुज्झाऽव त्ति वेत्यादि" । 'वा' इत्यथवाऽयमर्थः । "वाव संतं ति ।" रक्षणगतिप्रीत्यादिष्वनेकार्थविशतावर्थेष्ववधातुः पठ्यते । गत्यर्थाश्च धातवो ज्ञानार्था अपि भवन्ति । ततश्चाह-विनेय ! त्वमेवं बुध्यस्व । किं तदित्याह-अशरीरं सन्तं मुक्तावस्थायां विद्यमानं जीवम्, अथवा ज्ञानाऽऽदिभिर्गुणैर्विशिष्टं सन्तमित्याह-सूते, प्रियाप्रिये न स्पृशतः । वाशब्दात् सशरीरमपि वीतरागमिति तथैवेति ॥ २०२० ॥

आह-नन्वेवमक्षरकुट्या मयाऽपि स्वाभिप्रायसिद्धये व्याख्यानान्तरं कर्तुं पार्यत एव, न हीयं भवतैव केवलेन क्रपया प्रदीना, इत्यभिप्रायवतः परस्य मतमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

न वसंतं अवसंतं, ति वा मई नासरीरगहणाओ ।
फुसणाविसेसणं पि य, जओ मयं संतविसयं ति ॥२०२१॥

"अशरीरं वाऽवसन्तं" इत्यत्र लुप्तस्य अकारस्य दर्शनात् न वसन्तमवसन्तं क्वाप्यतिष्ठन्तमिति व्याख्यानतो नास्ति मुक्त्यवस्थायां जीवः, क्वाप्यवस्थानात्, असत्त्वादेव च नामुं प्रियाप्रिये स्पृशत इति परस्य मतिर्भवेत् । तदेतन्न । कुतः?, इत्याह-अशरीरग्रहणात् । एतदुक्तं भवति-न विद्यते शरीरं यस्येत्यत्र पर्युदासनिषेधात् पूर्वोक्तयुक्त्या मुक्तावस्थायामशरीरो जीवो गम्यते, इत्यतोऽत्राऽकारप्रश्लेषव्याख्यानं कर्तुं न पार्यते, अशरीरग्रहणान्मुक्तौ जीवसिद्धिः । किञ्च-"प्रियाप्रिये न स्पृशतः" इति यदशरीरस्य स्पर्शनाविशेषणं, तदपि यस्मात् सद्विषयमेव मतं, तस्मान्न मुक्तौ जीवस्याभावः । यदि ह्यशरीरशब्दस्य जीवाभावो वाच्यः स्यात्तदा तं प्रियाप्रिये न स्पृशत इति विशेषणमनर्थकं स्यात् । न हि "वन्ध्यापुत्रं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" इति विशेष्यमाणं विराजते । तस्मान्मुक्तावस्थो जीव एवाशरीरशब्दवाच्यः, न पुनस्तदभावः । ततो नाकारप्रश्लेषव्याख्यानं युज्यत इति । तदेवम् "अशरीरं वा वसन्तम्" इत्यनेन जीवकार्मणशरीरवियोगलक्षणस्य मोक्षस्य मुक्तजीवसत्त्वस्य चाभिधानात्तन्निषेधं कुर्वतस्तवाभ्युपगमविरोध एवेति ॥ २०२१ ॥

एवमपि मुक्तस्य सुखाभावलक्षणं तृतीयपक्षमप्रतिविहितमेवोपदर्शयन् परः प्राऽऽह-

एवं पि होज्ज मुत्तो, निस्सुहदुक्खत्तणं तु तदवत्थं ।
तं नो पियऽप्पियाइं, जम्हा पुण्णेयरकयाइं ॥२०२२॥
नाणाबाहत्तणओ, न फुसंति वीयरागदोसस्स ।
तस्स पियमप्पियं वा, मुत्तसुहं को पसंगोऽत्थ ? ॥२०२३॥

एवमप्युक्तप्रकारेण मुक्तो जीवो भवेदित्यस्माभिरभ्युपगतमस्माभिः, तथा च सति जीवस्य कर्मवियोगलक्षणो मोक्षः, तत्र जीवसत्त्वं च सिद्धम् । यत्तु निःसुखदुःखत्वं सिद्धस्य मया प्रेरितं, तत् "प्रियाप्रिये अशरीरं न स्पृशतः" इति वचनात् तदवस्थमेव । अत्रोत्तरमाह-तदेतन्न, यस्मात्पुण्यपापकर्मजनिते एव जीवानां प्रियाप्रिये सांसारिकसुखदुःखे भवतः, ते च तं क्षीणनिःशेषपुण्यपापकर्माणं सकलसंसारार्णवपारप्राप्तं मुक्ताऽऽत्मानं न स्पृशत इत्युत्तरगाथायां संबन्धः । न चैतावता तस्य निःसुखत्वमिति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । कुतः?, इत्याह-(नाणेत्यादि) ज्ञानस्वैव स्वत्यनाबाधरूपत्वादित्यर्थः । यच्च तद् मुक्तस्य सुखं मुक्तसुखं स्वाभाविकं निष्प्रतीकारं निरुपमं च । "मुत्तस्स परं सोक्खं, णाणाणाबाहओ जहा मुणिणो" (१९९२) इत्यादिना प्रागेव साधितं, तत्तस्य वीतरागद्वेषस्य मुक्ताऽऽत्मनो न प्रियं न पुण्यजनितं सुखं भण्यते, न चाप्रियं न पापजनितं दुःखं भण्यते, किं त्वेताभ्यां सर्वथा विलक्षणम्, अकर्मजनितत्वेन स्वाभाविकत्वात्, निष्प्रतीकाररूपत्वात्, निरुपमत्वात्, अप्रतिपातित्वाच्चेति । अथ "को पसंगोऽत्थ त्ति" "अशरीरं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" इत्युक्ते कोऽत्र मुक्ताऽऽत्मनि मुक्तसुखाभावप्रसङ्गः, न कश्चिदित्यर्थः । पुण्यपापजनितप्रियाप्रिययोरभावे तस्य सुतरामेव भावात् । तस्मात् 'न ह वै सशरीरस्य' इत्यादिवेदपदैर्यथोक्तनीत्या जीवकार्मणशरीरविरहलक्षणो मोक्षः, मुक्तावस्थस्य च जीवस्य सत्त्वम्, तथा "अशरीरं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" इत्यतोऽपि वचनात् पुण्यपापक्षयसमुत्थं स्वाभाविकम्, अप्रतिपाति सुखं चास्य इत्येतत् त्रितयं सिद्धम् । अत एतदनभ्युपगच्छतस्तवाभ्युपगमविरोध इति स्थितम् । यदपि-"जरामर्यं वैतत् सर्वं यदग्निहोत्रम्" इत्येतस्माद्वाक्यान्मोक्षहेतुक्रियाऽऽरम्भयोग्यकालाभावान्मोक्षाभावं शङ्कसे । तदप्ययुक्तम्, तदर्थापरिज्ञानात् । तस्य ह्ययमर्थः-यदेतदग्निहोत्रं तज्जावज्जीवं सर्वमपि कालं कर्तव्यं, वाशब्दात् मुमुक्षुभिर्मोक्षहेतुभूतमप्यनुष्ठानं विधेयमिति । इत्येवं वेदपदोक्तद्वारेण युक्तिभिश्च प्रसाधितो मोक्षः । छिन्नश्च प्रभासस्य तत्संशयः ॥२०२२।२०२३॥

ततः किं कृतवानसावित्याह-

छिन्नम्मि संसयम्मी, जिणेण जरमरणविप्पमुक्केणं ।
सो समणो पव्वइओ, तिहि ओ सह खंडियसएहिं ॥२०२४॥

व्याख्या पूर्ववदिति ॥२०२४॥ विशे० । सिद्धसुखे, कर्म० ५ कर्म० । (स्त्रीनिर्वाणचर्चा, प्रकीर्णकवार्ताश्च 'मोक्ख' शब्दे संग्रहिष्यन्ते) निर्व्यापने, आव० ४ अ० । (तीर्थकृतां निर्वाणं 'तित्थयर' शब्दे वक्ष्यते) निर्वाणप्रधानैककारणत्वान्निर्वाणम् । प्राणातिपातनिवृत्तौ, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । दुःखकथने, दे० ना० ४ वर्ग ३३ गाथा ।

णिव्वाणंग-निर्वाणाङ्ग-न० । मुक्तिकारणे, पञ्चा० १६ विव० ।

णिव्वाणगमणकाल-निर्वाणगमनकाल-पुं० । मोक्षगमनप्रस्तावसमये, दर्श० ४ तत्त्व ।

णिव्वाणगमणपज्जवसाणफल निर्वाणगमनपर्यवसानफल—त्रि० । निर्वाणगमनं मुक्तिप्राप्तिः पर्यवसाने आनुषङ्गिकसुरमनुजसुखानुभवपर्यन्ते फलं यस्यासौ निर्वाणगमनपर्यवसानफलः । पा० । निर्वाणगमनं मोक्षगमनमेव पर्यवसानं परमार्थरूपं फलं यस्य स तथा । मोक्षैकहेतौ, ध० । "असखिहिसं-

चयस्स णिव्वाणगमणपज्जवसाणफलस्स इमस्स धम्मस्स ।" ध० ३ अधि० ।

णिव्वाणणगर-निर्वाणनगर-न० । निर्वाणपुरे, द० प० । "धम्मं जिणपन्नत्तं, सम्ममिणं सद्दहामि तिविहेणं । तसथावरभूअहियं, पंथं निव्वाणनगरस्स ॥ १ ॥" द० प० ।

णिव्वाणपय-निर्वाणपद-न० । निष्कर्मताहेतुपदे, अष्ट०५अष्ट० ।

णिव्वाणपसाहण-निर्वाणप्रसाधन-न० । मोक्षसाधने, पं० व० ३ द्वार ।

णिव्वाणपुर-निर्वाणपुर-न० । ईषत्प्राग्भाराऽऽख्ये सिद्धिपत्तने, आव० ४ अ० । दर्श० ।

णिव्वाणभावि [ण्]-निर्वाणभाविन्-त्रि० । निर्वाणे भविष्यतीति निर्वाणभावी । भव्ये, विशे० ।

णिव्वाणभूय-निर्वाणभूत-त्रि० । असावद्यानुष्ठानभूते, सूत्र० । "णिव्वाणभूए व परिव्वएज्जा ।" अस्यायमर्थः-यथा हि निर्वृतो निर्व्यापारत्वात् कस्यचिदुपघाते न वर्तते, एवं साधुरपि सावद्यानुष्ठानरहितः परि समन्ताद् व्रजेदिति । सूत्र०१श्रु० १०अ० ।

णिव्वाणमग्ग-निर्वाणमार्ग-पुं० । निर्वृतिर्निर्वाणं, सकलकर्मक्षयजमात्यन्तिकं सुखमित्यर्थः । निर्वाणस्य मार्गो निर्वाणमार्गः । परमनिर्वृतिकारणे, आव० ४ अ० । ध० । आतु० । सिद्धक्षेत्राख्यामपथे, उपा० २ अ० । सकलकर्मविरहजसुखोपाये, भ० ६ श० ३३ उ० ।

णिव्वाणमहावाड-निर्वाणमहावाट-पुं० । सिद्धिमहागोस्थानविशेषे, उपा० ७ अ० ।

णिव्वाणमहोयस-निर्वाणमहौजस-पुं० । ऐरवते वर्षे भविष्यति सप्तमे तीर्थकरे, ति० । प्रव० ।

णिव्वाणवाइ [ण्]-निर्वाणवादिन्-पुं० । निर्वाणं सिद्धिक्षेत्राऽऽख्यं कर्मच्युतिलक्षणं स्वरूपतस्तदुपायप्राप्तिहेतुतो वा वदितुं शीलं येषां ते तथा । निर्वाणपथदेशके, "पक्खीसु वा गेरुले वेणुदेवे, णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ।" (२१) । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

णिव्वाणवीय-निर्वाणवीज-न० । मोक्षसुखयोर्हेतौ, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

णिव्वाणसाहण-निर्वाणसाधन-न० । स्त्री० । परमपदप्रापके, सुखसाधने च । षो० १५ विव० । स्त्रियां ङीप् । "निर्वाणसाधनीति च, फलदा तु यथार्थसंज्ञाभिः ।" (१०) निर्वाणं साधयतीति निर्वाणसाधनी । मनोयोगसारायाम्, षो० ७ विव० ।

णिव्वाणसिला-निर्वाणशिला-स्त्री० । उज्जयन्तशैले नेमिनाथशिलायाम्, "कंदप्पकप्परागा, कुणई विहुवणनेमिनाहस्स । णिव्वाणसिला नामे-ण अत्थि भुवणम्मि विक्खाया ॥१॥" ती० ३ कल्प ।

णिव्वाणसुह-निर्वाणसुख-न० । निर्वाणमशेषकर्मक्षयस्तद्भावी वा विशिष्टकोशप्रदेशः । तेन तत्र वा सुखं निर्वाणसुखम् । मोक्षसुखे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

णिव्वाणसेट्ठ-निर्वाणश्रेष्ठ-त्रि० । मोक्षप्रधाने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

णिव्वाणाऽऽवेस-निर्वाणाऽऽवेश-पुं० । मोक्षाऽऽवेशे, "यथाप्रकारा यावन्तः, संसाराऽऽवेशहेतवः । तावन्तस्तद्विपर्यासाः, निर्वाणाऽऽवेशहेतवः ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

णिव्वाणि [ण्]-निर्वाणिन्-पुं० । अतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते भरतक्षेत्रजे द्वितीये तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार ।

णिव्वाणी-निर्वाणी-स्त्री० । श्रीशान्तिनाथस्य शासनदेव्याम्, प्रव० २७ द्वार । सा च कनकरुचिः पद्माऽऽसना चतुर्भुजा पुस्तकोत्पलयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, कमण्डलुकमलकलितवामकरद्वया च । प्रव० २७ द्वार ।

णिव्वाव-निर्वाप-पुं० । शाकघृताऽऽदिपरिमाणे, नि० चू०१उ० ।

णिव्वावकहा-निर्वापकथा-स्त्री० । एतावन्तस्तत्र पाकभेदाः, व्यञ्जनभेदा वेति भक्तकथायाम्, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णिव्वावण-निर्वापण-न० । विध्यापने, दश० ४ अ० । अभावाऽऽपादने, दश० ८ अ० ।

णिव्वावार-निर्व्यापार-त्रि० । व्यापारान्निर्गतो निर्व्यापारः । निरारम्भे, उत्त० १ अ० । परिहृतकृषिपशुपाल्याऽऽदिक्रिये, उत्त० १ अ० ।

णिव्वाविऊण-निर्वाप्य-अव्य० । विध्याप्येत्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

णिव्वाविय-निर्वापित-त्रि० । शीतलीकृते,आ० १ श्रु० १३ अ० ।

निर्वाप्य-अव्य० । दाहजयाद्विध्यातं विधायेत्यर्थे, "पज्जालिया णिव्वाविया ।" दश० ५ अ० १ उ० ।

णिव्वाह-निर्वाह-पुं० । व्यवस्थापने, द्वा० ११ द्वा० ।

णिव्वाहण-निर्वाहन-न० । निःसारीकरणे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । पञ्चा० ।

णिव्विइ-निर्वृति-स्त्री० । मथुरानाथस्य पर्वतकनृपस्य सुतायाम्, यया राधावेधकृत्कुमारो भर्तृत्वेन वृत इति । पञ्चा० १४ विव० ।

णिव्विइय-निर्विकृतिक-न० । विकृतिप्रत्याख्याने, प्रव० ।

निर्विगतिक-न० । मनसो विकृतिहेतुत्वाद् विगतिहेतुत्वाद् वा विकृतयो विगतयो वा यत्र तन्निर्विकृतिकं, निर्विगतिकं वा । विकृतिप्रत्याख्याने, प्रव० । निर्विकृतिके अष्टौ नव वा आकारा भवन्ति । यथा-"णिव्विगइयं पच्चक्खाइ अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पडुच्च मक्खिएणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।" (प्रव०) आकाराः पूर्ववद् व्याख्येयाः, नवरं (पडुच्च मक्खिएणं ति) प्रतीत्य सर्वथा रूक्षं मण्डकाऽऽदिकमपेक्ष्य म्रक्षितं स्नेहितमीषत्सौकुमार्योत्पादनाद् म्रक्षणकृतविशिष्टस्वादुताया अभावाद् म्रक्षितमिव यद्वर्तते तत्प्रतीत्य म्रक्षितं म्रक्षिताभास इत्यर्थः । इह चायं विधिः-यद्यङ्गुल्या घृताऽऽदि गृहीत्वा मण्डकाऽऽदि म्रक्षितं, तदा कल्पते निर्विकृतिकस्य, धारया तु न कल्पते, इति व्युत्सृजति विकृतीः परिहरति । इह च यासु विकृतिषु उत्क्षिप्तविवेकः संभवति, तासु नवाऽऽकाराः, अन्यासु द्रवरूपासु अष्टौ । ननु निर्विकृतिक एवाऽऽकारा अभिहिताः, विकृतिपरिमाणप्रत्याख्याने तु कुत आकारा अवगम्यन्ते ? । उच्यते-निर्विकृतिग्रहणे सति विकृतिपरि-

माणप्रत्याख्यानस्यापि संग्रहो भवति, यतस्तत्रापि त एव तथैवाऽऽकारा भवन्ति। यथा एकाशनकस्य,पौरुष्याः पूर्वार्द्धस्य च सूत्रे आकारा अभिदधिरे, एवं एकाशनकस्य, सार्द्धपौरुष्या अपार्द्धस्य च प्रत्याख्यानस्य त एव भवन्तीति प्रत्याख्यानं सूत्रानभिहितमपि भवति,अप्रमादवृद्धेः सर्वत्र संभवादित्यदोषः।

ननु निर्विकृतिके, विकृतिपरिमाणे वा प्रत्याख्याने कति, क वा नव आकारा भवन्ति ?, इत्याह-

नवणीओगाहिमगे, अद्दवदहिपिसियघयगुडे चेव ।
नव आगारा एसिं, सेसदवाणं च अट्ठेव ॥ २०७ ॥

नवनीते म्रक्षणके, अवगाहिमके च पक्वान्ने, अद्रवदधिपिशितघृतगुडे चैव। अद्रवपदं सर्वत्र सम्बन्धनीयम्। नव च आकाराः (एसिं ति) अमीषां विकृतिविशेषाणां भवन्ति। शेषाणां तु द्रवरूपाणामष्टैवाऽऽकाराः। अयमभिप्रायः-यत्रोत्क्षिप्तविवेकोऽद्रवरूपाणां नवनीतगुडाऽऽदीनां कर्तुं शक्यते, तत्र नवाऽऽकाराः, द्रवरूपाणां तु विकृतीनामुद्धर्तुमशक्यानामष्टावाकारा इति। प्रव० ४ द्वार। आव० नि०।

आकाराः-

पंचेव य खीराऽऽइं, चत्तारि दहीणि सप्पि नवणीए।
चत्तारि अ तेल्लाइं, दो विअडे फाणिए दुन्नि ॥५८॥
महुपुग्गलाइँ तिन्नि उ, चलचलओगाहिमं तु जं पक्कं।
एएसिं संसट्ठं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ५९॥

इदं विकृतिस्वरूपप्रतिपादकं गाथाद्वयं गतार्थमेव। अधुना एतदाकारा व्याख्यायन्ते-यथा-" अणाभोगसहसाकारा तहेव, लेवालेवो पुण जहाऽऽयंबिलो तहेव दट्ठव्वो। गिहत्थसंसट्ठो बहु वत्तव्वो त्ति गाहाहिं भणइ।

ताओ पुण इमाओ—

खीरदहीविअडाणं, चत्तारि उ अंगुलाइँ संसट्ठं ।
फाणियतेल्लघयाणं, अंगुलमेगं तु संसट्ठं ॥६०॥
महुपुग्गलरसयाणं, अद्धंगुलयं तु होइ संसट्ठं।
गुलपुग्गलनवणीयं, अद्दामलगं तु संसट्ठं ॥ ६१ ॥

गिहत्थसंसट्ठस्स इमो विही—खीरेण कुसणिओ कूरो जइ लब्भइ, तस्स जइ कुंडगस्स ओयणाओ चत्तारि अंगुलाणि दुद्धं,ताहे निव्विगइयस्स कप्पइ,पंचमं चाऽऽरद्धं विगती य,एवं दधिस्स वि, वियडस्स वि, केसु वि विसएसु वियडेण मीसिज्जइ ओयणो, ओगाहिमओ वा फाणियगुलस्स तेल्लघयाण य। एएहिं कुसणिए जइ अंगुलं उवरिं अत्थइ,तो वट्टइ,परेण न वट्टइ। महुस्स,पोग्गलरसगस्स य अद्धंगुलेण संसट्ठं होइ, पिंडगुलस्स पुग्गलस्स नवणीयस्स अद्दामलगमेत्तं संसट्ठं। जइ बहूणि एयप्पमाणाणि कप्पइ, एगं पि बहुं न कप्पइ। इति गाथाद्वयार्थः॥ ६१ ॥ उक्खित्तविवेगो जहा आयंबिले जं उद्धरिउं तीरइ, सेसेसु नत्थि, पडुच्च मक्खियं पुण-जइ अंगुलीए गहाय मक्खेइ तेल्लेण वा घएण वा, ताहे निव्विगइयस्स कप्पइ, अह धाराए छुब्भइ, मणागं पि न कप्पइ।

इयाणिं पारिट्ठावणियागारो-सो पुण एगासणएगट्ठाणाइसाधारणो त्ति काउं विसेसेण पविज्जइ,इति तन्निरूपणार्थमाह-

आयंबिलमणायं-बिले चउत्थाइबालवुड्ढसहू ।
असहू अणाहिंडिअए, पाहुणगनिमंतणा वलिआ ॥६२॥

विहिगहिअं विहिभुत्तं, उव्वरिअं जं भवे असणमाई।
तं गुरु णाणुण्णायं, कप्पइ आयंबिलाईणं ॥ ६३ ॥
चउरो अ हुंति भंगा, पढमे भंगम्मि होइ आवलिआ।
इत्तो अ तइअभंगे, आवलिआ होइ नायव्वा ॥ ६४ ॥

यत्राऽन्तरे प्रबुद्ध इव चोदकः पृच्छति-अहो ! तावद्भगवता "एगासणएगट्ठाणगआयंबिलचउत्थछट्ठऽट्ठमाणिव्विइएसु पारिट्ठावणियागारो वण्णिओ, न पुण जाणामि केरिसस्स साहुस्स पारिट्ठावणियं दायव्वं,न दायव्वं वा ?। आयरिओ भणइ-(आयंबिलमणायंबिले गाहा) पारिट्ठावणियाभुंजणे जोग्गा साहू दुविहा—आयंबिलगा, अणायंबिलगा य। आयंबिलगविरहिया—एगासणेगट्ठाणचउत्थछट्ठऽट्ठमानिव्विगइपच्चक्खाणा दसमभत्तिगाईणं मंडलिए उव्वरिए पारिट्ठावणियं न कप्पइ दाउं, तेसिं पेज्जं, उण्हयं वा दिज्जइ। अवि य-तेसिं देवया व होज्ज-एगो आयंबिलिओ,एगो चउत्थभत्तिओ होज्ज। कयरस्स दायव्वं ?। चउत्थभत्तियस्स। सो दुविहो—बालो,वुड्ढो य। बालस्स य दायव्वं। बालो दुविहो-सहू,असहू य। असहुस्स दायव्वं। असहू दुविहो-हिंडियगो, अहिंडयगो य। हिंडियस्स दायव्वं। हिंडियओ दुविहो-वत्थव्वगो,पाहुणगो य। पाहुणगस्स दायव्वं। एवं ताव चउत्थभत्ते बालो असहू अहिंडिओ पाहुणगो पारिट्ठावणियं भुंजाविज्जइ।१। तस्स असइ बालो असहू हिंडिओ वत्थव्वो।२।तस्स असति बालो असहू अहिंडिओ पाहुणगो।३। तस्स असति बालो असहू अहिंडिओ वत्थव्वो।४। एवमेतेण करणोवाएण चउहिं एएहिं सोलस आवलिया भंगा भासियव्वा। तत्थ पढमभंगियस्स दायव्वं;तस्सासति बितियस्स दायव्वं;तस्सासइ तइयस्स। एवं०जाव चरिमस्स दायव्वं। पढम पारिट्ठावणियाए वा सव्वेसिं दायव्वं। एवं आयंबिलियस्स छट्ठभत्तियस्स सोलस भंगा विभासा। एवं आयंबिलियस्स अट्ठमभत्तियस्स सोलस भंगा। एवं आयंबिलियस्स निव्विगइयस्स सोलस भंगा,नवरं आयंबिलियस्स दायव्वं। एवं आयंबिलियस्स एकासणियस्स सोलस भंगा। एवं आयंबिलियस्स एगट्ठाणियस्स सोलस भंगा। एवमेए आयंबिलिएक्केक्कगसंजोगेसु सव्वभंगाणं छसउई आवलिया भवंति। आयंबिलिगएक्केक्कगो गओ॥ एगो चउत्थभत्तिओ, एगो छट्ठभत्तिओ,एत्थ वि सोलस,नवरं छट्ठभत्तियस्स दायव्वं। एवं चउत्थभत्तियस्स अट्ठमभत्तिअस्स वि सोलस भंगा। एगो एगासणिओ, एगो एगट्ठाणिओ, एगट्ठाणियस्स दायव्वं, एत्थ वि सोलस। एगो एगासणिओ, एगो निव्विगइओ, एगासणियस्स दायव्वं, एत्थ वि सोलस। एगो एगट्ठाणिओ,एगो निव्विगइओ, एगट्ठाणियस्स दायव्वं, एत्थ वि सोलस जाव त्ति गाथार्थः। ६२। तं पुण पारिट्ठावणियं जहाविधीए गहियं विधिभुत्तं सेसं च तेसिं दिज्जइ। तत्र (विधिगहितं विधिभुत्तं गाहा) विहिगहियं नाम-अलुद्धेण उग्गमियं पच्छा मंडलीए कडपयरग (च्छेद) सीहखइयएण वा विहीए भुत्तं, एवंविधं पारिट्ठावणियं। जाहे गुरू भणइ-अज्जो ! इमं पारिट्ठावणियं इच्छाकारेण भुंजाहि त्ति, ताहे से कप्पति वंदणं दाउं संदिसावेउं भोत्तव्वं ति। एत्थ चउभंगविभासा। ६३। (चउरो अ हुंति गाहा)विहिगहियं विहिभुत्तं १, विहिगहियं अविहिभुत्तं २,अविहिगहियं विहिभुत्तं३,अविहिगहियं अविहिभुत्तं ४। तत्थ पढमभंगो-जिक्खं साधू हिंडति, तेण य अलुद्धेण वाहिं संजोयणादोसेण विप्पजढेण आहारियं भत्तपाणं, पच्छा मं-

इत्तीए पयरगच्छेदो निद्धुं विधीए समुद्दिट्ठं। एवंविहं पुव्ववत्तियाणं आवलियाणं कप्पइ समुद्दिसिउं ।१। इयाणिं बितियभंगो तहेव-विहीए गहियं, भुत्तं पुण कागसियालाइदोसदुट्ठं, एवं अविहीए भुत्तं। तत्थ जइ उव्वरइ, न उज्झिज्जइ, न कप्पइ, छड्डिमाई दोसा हवंति। पच्छित्तं जो देइ, जो य भुंजइ, दोण्ह वि विवेगो कीरइ, अप्पणा कारए वा अवट्ठियाणं पंचकल्लाणयं दिज्जइ ।२। इयाणिं तइयभंगो-तत्थ अविहिगहियं वीसुं २ कओलगादि दव्वाणि आणियव्वाणि। कत्थ पुण गाम्मि पडिग्गहे ठियादिस्स-एयं मे भोत्तव्वं ति, आगओ पच्छा मंडलीए, रायणियस्स समरसं काउं मंडलीए विहीए समुद्दिट्ठं। एवंविहे जं उव्वरियं, तं पारिट्ठावणियागारं आवलियाणं विहिभुत्तं ति काउं कप्पइ ।३। चउत्थभंगे आवलियाणं न कप्पइ भोत्तुं, ते चेव पुव्ववत्तिया दोसा। एत्थमेव आवपच्चक्खाणं भणियं ति गाथाऽर्थः ॥ ६४ ॥ आव० ६ अ०।

अथ यदुक्तं "निव्विइए अट्ठ नव य आगारा (१०)"

इति, तद्विभागदर्शनायाऽऽह-

णवणीओगाहिमए, अद्दवदहिपिसियघयगुळे चेव।
णव आगारा तेसिं, सेसदव्वाणं च अट्ठेव ॥ ११ ॥

नवनीतं च म्रक्षणम्। अवगाहेन स्नेहबोलनेन निर्वृत्तमवगाहिमम्, तदेवावगाहिमकं पक्वान्नं तस्मिन्निति नवनीताऽवगाहिमकम्, तत्र। तथाऽद्रवं कठिनं यद्दधिपिशितघृतगुडं प्रतीतस्वरूपं तत्तथा। समाहारद्वन्द्वगर्भकर्मधारयपदमिदम्। तथाऽद्रवदधिपिशितघृतगुडमेव। चैवशब्दौ समुच्चयावधारणार्थौ। दर्शित एव चाऽनयोः प्रयोगः। किमित्याह-नवाऽऽकारा भवन्ति। एतेषूत्क्षिप्तविवेकस्य संभवात्। तथाहि-भक्तस्योपरि नवनीतं दधिपिशिताऽऽदीनि चाद्रवं मुक्तं, तदुत्क्षिप्यमाणं कठिनत्वेन सर्वथा विवेचयितुं शक्यमतस्तत्संसृष्टमपि भक्तं भुञ्जानस्य "उक्खित्तविवेगेणं" इत्येतदाकारबलाद् न भङ्गः। एवं तावदाकारनवकसंभव उक्तः। अथ तदष्टकसंभवमाह-तेषां दध्यादीनां विकृतिविशेषाणाम्। पूर्वमद्रवशब्देन विशेषितत्वादिह द्रवाणामिति विशेषणं द्रष्टव्यम्। तथा शेषाः प्रागुक्तनवनीताऽऽदिव्यतिरिक्ता विकृतिविशेषाः, ते च ते द्रवाश्च अन्यथा भोजने निक्षिप्ताः सन्तः सर्वथा विवेक्तुमशक्याः शेषद्रवाः, तेषां शेषद्रवाणां मद्याऽऽदीनाम्। चशब्दः समुच्चये। सम्बन्धिनि प्रत्याख्याने इति गम्यते। किमित्याह-अष्टैव, न तु नव भवन्त्याकाराः। इह च विकृत्यन्तरप्रत्याख्यानमपि निर्विकृतिकमुच्यते। तेन यो मद्यदुग्धतैलाऽऽदीनां प्रत्याख्यानं करोति, तस्योत्क्षिप्तविवेकोच्चारणं माऽस्त्वेव, दध्यादिप्रत्याख्यातुः पुनरस्त्येव, तद्विवेकस्य संभवादिति भावना। इदं च वस्तुविचारमात्रमेव। यतो दुग्धाऽऽदिकमपि प्रत्याख्यानेनोत्क्षिप्तविवेक उच्चारणीय एव, भगवतीयोगवाहिना गृहस्थसंसृष्टाऽऽदिग्रहणादिति। अन्ये त्वाहुः-वचनप्रामाण्यादुच्चारणीय एवेति। एते चैवम्-"निव्विगइयं पच्चक्खाइ अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पडुच्चमक्खिएणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।" इत्यादि। नवरं गृहस्थसंसृष्टस्य निर्विकृतिकं प्रति विशेषव्याख्यानमिदम्, गृहस्थेन स्वप्रयोजनाय दुग्धेन संसृष्ट ओदनो, दुग्धं यदि तमतिक्रम्योत्कर्षतश्चत्वार्यङ्गुलानि यावद् उपरि वर्त्तते, तदा तद् दुग्धमविकृतिः, पञ्चमाङ्गुलाऽऽरम्भे तु विकृतिरेव। अनेन न्यायेनान्या अपि।

तत्रोक्तम्-

"खीरदहीवियडाणं, चत्तारि उ अंगुलाइं संसट्ठं।
फाणियतेल्लघयाणं, अंगुलमेगं तु संसट्ठं ॥ ६० ॥
महुपोग्गलरसयाणं, अद्धंगुलयं तु होइ संसट्ठं।
गुलपोग्गलणवणीए, अद्दामलयं तु संसट्ठं ॥ ६१ ॥" (आव०नि०)

फाणितं काकवः। पुद्गलरसको मांसरसः। पुद्गलं मांसम्। आर्द्रामलकं तु पीलुमयूर इति सम्प्रदाय इति।

(पडुच्च मक्खिएणं ति) प्रतीत्य सर्वथा रूक्षं मण्डकाऽऽदिकमपेक्ष्य म्रक्षितं स्नेहितम्, ईषत्सौकुमार्योत्पादनात्, म्रक्षणकृतविशिष्टस्वादुताया अभावाच्च म्रक्षितमिव वर्तते तत्प्रतीत्य म्रक्षितं, म्रक्षिताभास इत्यर्थः। तस्मात्प्रतीत्य म्रक्षितादन्यत्र निर्विकृतिकम्। इह च पञ्चम्यर्थे तृतीयेति। इह चायं विधिः-यद्यङ्गुल्या तैलाऽऽदि गृहीत्वा मण्डकाऽऽदि म्रक्षितं, तदा कल्पते निर्विकृतिकस्य, धारया तु न कल्पते। व्युत्सृजति विकृतिं त्यजतीत्यर्थः। इह सूत्रे-"निव्विइए अट्ठ नव य आगारा" (१०) इत्येवं निर्विकृतिकस्यैव प्रत्याख्यानतयाऽभिधानेऽपि विकृतिपरिमाणप्रत्याख्यानमपि न दुष्टम्, अप्रमादवृद्धिहेतुत्वात्। अत एव सूत्रे "चउव्विहं पि आहारं" इत्येवं पाठेऽपि द्विविधाऽऽहारस्य त्रिविधाऽऽहारस्य च पौरुष्यादिप्रत्याख्यानमदुष्टमेवमेकाशनकस्य पौरुष्याः पुरिमार्द्धस्यैव च सूत्रेऽभिधानेऽपि द्व्याशनकस्य सार्द्धपौरुष्या अपार्द्धस्य च प्रत्याख्यानमदुष्टमिति केचित्, अप्रमादवृद्धेर्द्व्याशनकाऽऽदिष्वपि संभवात्। आकारा अपि य एवैकाशनकाऽऽदिषु त एवेतरेष्वपि व्याख्याः, अशनाऽऽदिशब्दसाम्यात्, विकृतिपरिमाणद्विविधाऽऽहारपौरुष्यादिप्रत्याख्यानेष्विवेति। न च वाच्यमभिग्रहप्रत्याख्यानानि द्व्याशनकाऽऽदीनि, ततस्तेषु चत्वार एवाऽऽकारा भविष्यन्ति, एकाशनाऽऽदिभिस्तुल्ययोगक्षेमत्वादितरेषामिति। अन्ये तु मन्यन्ते-एवं हि प्रत्याख्यानमर्यादा न काचित्स्यात्। तत एकाशनकाऽऽदीन्येव प्रत्याख्यानानि। एकाशनकाशक्तस्तु सार्द्धपौरुषीं वा यावद् बुभुक्षुर्ग्रन्थिसहितमेव तदुपरि प्रत्याख्यातीति गाथाऽर्थः ॥ ११ ॥

अथाऽऽकाराः किमर्थमिहाभिधीयन्ते?, इत्यत्राऽऽह-

वयभंगो गुरुदोसो, थोवस्स वि पालणा गुणकरी उ।
गुरुलाघवं च णेयं, धम्मम्मि अओ उ आगारा ॥ १२ ॥

व्रतभङ्गो नियमभङ्गः। किमित्याह-गुरुर्महान् दोषो दूषणमशुभकर्मबन्धाऽऽदिरूपो यस्मिन्नसौ गुरुदोषः, भगवदाज्ञाविराधनात्। तथा स्तोकस्याप्यल्पस्याप्याकाराऽऽश्रयणतो व्रतस्यास्तां महतः। पालनाऽऽराधना। गुणकरी तु कर्मनिर्जरालक्षणोपकारकारिण्येव, विशुद्धकुशलपरिणामरूपत्वात्। तथा गुरु च सारं, लघु चासारं, तयोर्भावो गुरुलाघवम्। तच्च ज्ञेयं ज्ञातव्यं भवति। क्वेत्याह-धर्मे चारित्रधर्मे। तथाहि-उपवासे कृतेऽपि संजातासमाधेरौषधाऽऽदिदानतः समाधिसंपादने निर्जरालाभो गुरुर्भवति, इतरथा पुनरल्प इति विमर्शनीयम्। एकाग्रहस्य प्रभूतापकारकारित्वेनाऽशोभनत्वात्, यत एवमतोऽस्माकारत्वात्। तुशब्दः पूरणार्थः। आकारा अपवादाः प्रत्याख्याने क्रियन्ते इति। इदमुक्तं भवति-कृतप्रत्याख्यानस्यापि गुरुलाघवचिन्तया समाध्याद्यर्थमाहारस्यावश्यं ग्रहणमुचितमतः कृताऽऽकारत्वेनाल्पमपि व्रतं सम्यक् पालितं भवति, महता-

कारत्वात्तु महत्यपि तक्रे न भवति । धावल्लाभकस्य आकारानर्थकरावित्याकाराः समाश्रयणीया भवन्तीति गाथार्थः ॥ १२ ॥ उक्त आकारविधिः । पञ्चा० ५ विव० । ध० प्र० । पं० व० ।

अथ येषु निर्विकृतिकं प्रायश्चित्तं, तान्याह–

इयरठविए सुहुमे, ससणिद्ध सरक्खपक्खिवए चेव ।
मीसपरंपरठविया–इ बीयाइएसु वाऽविगई ॥४३॥

इत्वरस्थापनायां सूक्ष्मप्राभृतिकायां सस्निग्धम्रक्षिते सरजस्कम्रक्षिते च मिश्रपरम्परस्थापिताऽऽदिषु, मिश्राः सचित्ताचित्तरूपाः पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकानन्तवनस्पतित्रसाः, तेषु परम्परं व्यवहितं निक्षिप्तम् । आदिशब्दात्पिहितसंहृतदायकोन्मिश्रितानि, तेषु (बीयाइएसु य त्ति) प्रत्येकबीजेष्वचित्तबीजेषु वाऽनन्तरपरम्परनिक्षिप्तपिहितसंहृतच्छर्दितेषु बीजान्मिश्रे च प्रविकृतिपरित्यागप्रायश्चित्तमित्यर्थः । बाहाद्यञ्च-

" छक्कायवग्गहत्था, समणट्ठा निक्खिवित्तु ते चेव ।
गाहंती गाहंती, आरंभंती य सङ्काणं " ॥ १ ॥ इत्यपि ज्ञेयम् ।

अस्यार्थः—षट्कायव्यग्रहस्ता श्रमणार्थमुत्थाय षट्कायान् भूमौ निक्षिप्य पुनस्तानेव घट्टयन्ती तत्संघट्टं कुर्वाणा गाहमाना विलोडनेन इतस्ततो विशेषणेन अगाढं गाढं वापरितापयन्ती आरम्भमाणा षट्कायोपद्रवं कर्माऽऽरम्भं कुर्वती दात्री यदि ददाति, ततो ग्रहीतुः साधोः स्वस्थानं प्रायश्चित्तं भवति । अयमभिप्रायः—जीतकल्पे यस्यापराधस्य यत्प्रायश्चित्तमुक्तमस्ति, तत्तस्य स्वस्थानं, ततश्च दात्र्याः पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिसंघट्टाऽऽगाढपरितापोपद्रवान् कुर्वत्याः, सकाशाद् ग्रहीतुः निर्विकृतिपुरिमैकाशनाचामाम्लानि, अनन्तवनस्पतिविकलेन्द्रियसंघट्टाऽऽदीन् कुर्वत्याः पार्श्वाद्दातुः पुरिमैकाशनाचामाम्लक्षपणानि, पञ्चेन्द्रियसंघट्टाऽऽदीन् कुर्वत्याः प्रायश्चित्तग्राहकस्य एकाशनाचामाम्लक्षपणैककल्याणकानि प्रायश्चित्तं भवतीत्यर्थः । उक्तं षट्त्रिंशद्दोषप्रायश्चित्तम् । मूलकर्मप्रायश्चित्तं त्वग्रमप्रायश्चित्तमध्ये भणिष्यते ॥ ४३ ॥

इहानन्तरं सूत्रगाथायां निर्विकृतिप्रायश्चित्तमुक्तं, ततस्तत्प्रस्तावादन्यदपि निर्विकृतिशोध्यमाह–

सहसाऽणाभोगेण व, जेसु पडिक्कमणमभिहियं तेसु ।
आभोगेण वि बहुसो, अइप्पमाणे य निव्विगई ॥ ४४ ॥

सहसाऽनाभोगः प्रागुक्तस्वरूपः, सहसाऽनाभोगेन वा वासितचित्तेषु स्थानकेषु प्रतिक्रमणार्हं प्रायश्चित्तमभिहितं, तेषु स्थानकेषु मध्ये आभोगेनापि, कोऽर्थः ?, जानन्नपि बहु स पुनर्यदाऽऽसेवते, अत्यन्तम् अतिमात्रं वा तदेवाऽऽसेवते तत्र सर्वत्र निर्विकृतिकं प्रायश्चित्तम् ॥४४॥ जीत० । निर्गतो घृताऽऽदिविकृतिभ्यो यः स निर्विकृतिकः । स्था० ५ ठा० १ उ० । विनिर्गतविकृतिपरिभोगे, दश० । " अमज्जमंसासि अमच्छरी अ, अभिक्खणं निव्विगइं गया य । (७) " दश० २ चू० । निर्गतघृताऽऽदिविकृतिके, औ० । दधि गृहस्थैरोदनाऽऽदिना संसृष्टं तद्दिने प्रहरान्तरं निर्विकृतिकं भवति, तथा दुग्धमपि राद्धकूरपृथुकाऽऽदिना संसृष्टं निर्विकृतिकं भवति, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-कूरमिश्रं दधि करम्बरूपं जायते, तद् घटिकाद्वयादनु निर्विकृतिकं भवति । यच्च दधि दुग्धं वा " दुद्धं दहि चउरंगुल " इत्यनुसारेण कूराऽऽदिमिश्रं विधीयते, तद्भाष्यावचूरिवचनात्पर्युषितं तद् निर्विकृतिकं भवतीति । प्र० ५७ । सेन० ३ उल्ला० । श्रावकस्य निर्विकृतिकप्रत्याख्याने यतिवद् निर्विकृतिकं कल्पते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-यतीनां श्रावकाणां च मुख्यवृत्त्या निर्विकृतिकं न कल्पते, कारणे तु कल्पते, पञ्चविधाव्यक्ताभिग्राहो सन्ति, तस्मात् श्राद्धः कदाचिन्निर्विकृतिकप्रत्याख्यानं करोति, तस्य न कल्पते, बहुलपक्षे तु कल्पते, कारणत्वात्, एकान्तेन निषेधो ज्ञातो नास्ति, यतीनां तु पर्वाऽऽदिषु पुनः पुनस्तत्प्रत्याख्यानकरणात्कल्पते इति । ४५२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । बहुतरे दुग्धे दध्नि वा यत्राल्पतरान् तन्दुलान् प्रक्षिपति, तद् दुग्धं तद्दधि वा निर्विकृतिकं भवति, न वेति प्रश्ने-उत्तरम्-"दहिक्खीरबहुअप्पतंदुल" इति भाष्यगाथावचनादल्पतन्दुलप्रक्षेपेऽपि तद् दुग्धं तद्दध्यपि निर्विकृतिकं भवतीति ज्ञायते इति । ४५७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । आचाम्लमध्ये निर्विकृतिमध्ये च तप्तोदकं प्रासुकं च वारि गृह्णन्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-उभयमपि गृह्णाति । ४७६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

णिव्विगप्प-निर्विकल्प-पुं० । निःसन्देहे, ग० २ अधि० । गतशङ्के, ग० २ अधि० । " अत्थि त्ति निव्विगप्पो । " दश० ४ अ० । निष्क्रान्ताशेषभेदस्वरूपे, सम्म० १ काण्ड ।

णिव्वितिगिच्छ-निर्विचिकित्स्य-न० । निर्गता विचिकित्सा निर्विचिकित्सा, तस्य भावो निर्विचिकित्स्यम् । फलं प्रति संदेहाकरणे, उत्त० २८ अ० ।

निर्विचिकित्स-त्रि० । विचिकित्सा मतिविभ्रमो, निर्गता विचिकित्सा यस्मादसौ निर्विचिकित्सः । साध्वेव जिनदर्शनं, किंतु प्रवृत्तस्यापि सतो ममास्मात्फलं भविष्यतीति वा, न वा, कृषीवलाऽऽदिक्रियासूभयथाऽप्युपलब्धेरिति कुविकल्परहिते । पञ्चा० । न ह्यविकलं उपाय उपेयवस्तुपरिप्रापको न भवतीति संजातनिश्चये, ध० १ अधि० । ग० । प्रव० । स्था० । विचिकित्सारूपातिचाररहितसम्यक्त्वे, दश० ३ अ० । फलं प्रति निःशङ्के, दशा० १० अ० ।

णिव्विगिय-निर्विकृतिक-न० । ' णिव्विइय ' शब्दार्थे, प्रव० ४ द्वार ।

णिव्विग्घ-निर्विघ्न-अव्य० । विघ्नाभावे, " सीसपविसिस्सनिमित्तं, निव्विग्घत्थं च । " अनु० ।

णिव्विट्ठ-निर्विष्ट-त्रि० । आसेवितविवक्षितचारित्रे अनुपारिहारिके, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अनु० । उषिते, दे० ना० ४ वर्ग ३४ गाथा ।

णिव्विट्ठकप्पट्ठिइ-निर्विष्टकल्पस्थिति-स्त्री० । निर्विष्टा-आसेवितविवक्षितचारित्राऽनुपारिहारिका इत्यर्थः । तत्कल्पस्थितिः । स्थितिभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । निर्विष्टकायिके (तद्विषयके) यथा प्रतिदिनमायाममात्रतया भिक्षा तथैवेति । उक्तं च-" कप्पट्ठिया वि पइदिणं, करेंति एमेव चायामं । " स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

णिव्विट्ठकाइय-निर्विष्टकायिक-पुं० । निर्विष्टः-आसेवितः प्रस्तुततया विशेषः, कायो येषां ते निर्विष्टकायाः, त एव स्वार्थे कप्रत्ययोपादाना निर्विष्टकायिकाः, तद्भेदादिदमपि (चारित्रमपि) निर्विष्टकायिकम् । अनु० । विशे० । बृ० । निर्विशमानकानुच-

रकेषु, भ० २५ श० ७ उ० । पं० सं० । आसेवितविवक्षितचारित्रकायिकेषु, तदन्वयव्यतिरेकाच्चारित्रभेदे च । कर्म० ४ कर्म० । (" परिहार " शब्दे चैषां व्याख्या वक्ष्यते)

णिव्विण्ण-निर्विण्ण-त्रि० । खिन्ने, जीत० । " जो पत्तियं पिविसे,इच्चाइ सो को न णिव्विण्णो ?।" आचा०१ श्रु०३ अ०३ उ०।

णिव्विण्णचार-निर्विण्णचार-त्रि० । चरणं चारोऽनुष्ठानं, निर्विण्णस्य चारो निर्विण्णचारः; सोऽस्यास्तीति निर्विण्णचारी । खिन्ने, " से णिव्विण्णचारी अ रते पयासु । " आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

णिव्विण्णवरा-निर्विण्णवरा-स्त्री० । निर्विण्णा वराः परिणेतारो यस्याः सा निर्विण्णवरा । वरवर्जितायाम्, ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग ।

णिव्विण्णाण-निर्विज्ञान-त्रि० । बलीबर्दवत् (आव० ५ अ०) विशिष्टज्ञानरहिते, तं० ।

णिव्वित्ति-निर्वृत्ति-स्त्री० । कर्णशष्कुलिकाऽऽद्याकारे द्रव्येन्द्रियभेदे, विशे० । नं० । निर्वृतिराभ्यन्तरबाह्यभेदाद् द्विधैव । निर्वर्त्यत इति निर्वृतिः । केन निर्वर्त्यते ?, कर्मणा । तत्रोत्सेधाङ्गुलासङ्ख्येयभागप्रमाणानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थिता वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृतिः । तेष्वेवाऽऽत्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक्षु यः प्रतिनियतसंस्थानो निर्माणनाम्ना पुद्गलविपाकिना वर्द्धकिसंस्थानीयेन आरचितः कर्णशष्कुल्यादिविशेष., अङ्गोपाङ्गनाम्ना च निष्पादित इति बाह्यनिर्वृतिः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । स्था० ।

णिव्वित्तिलक्खण-निर्वृत्तिलक्षण-त्रि० । सर्वसावद्ययोगोपरमस्वभावे, पा० । इयत्ताऽवगमरूपे, अनु० ।

णिव्विदुगुंछ-निर्विजुगुप्स-त्रि० । जुगुप्सारहिते, विद्वज्जुगुप्सानामन्यकृताविचाररहिते, ध० १ अधि० ।

णिव्विरद्ध-देशी-सुसोत्थिते, निराशे, उत्कटे, नृशंसे च । दे० ना० ४ वर्ग ४८ गाथा ।

णिव्विभाग-निर्विभाग-त्रि० । भागरहिते, भागाः परमाणवः । दर्श० ५ तत्त्व ।

णिव्वियार-निर्विकार-त्रि० । निर्गतो विकारः कामोन्मादलक्षणो यस्मादसौ निर्विकारः । विकाररहिते, " इमस्स धम्मस्स णिव्वियारस्स निव्वित्तिलक्खणस्स । " पा० । इन्द्रियमनोविकाररहिते, ध० ३ अधि० । कोपाऽऽदिविकाररहिते, संथा० ।

णिव्वियारसमाहि-निर्विकारसमाधि-पुं० । आलम्बने देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्राऽवभासित्वेन भावनायाम्, समाधिभेदे, द्वा० २० द्वा० ।

णिव्विस-निर्विष-त्रि० । विषरहिते, " णिव्विसं पंडुरं मंसं ।" औ० ।

णिव्विसंत-निर्विशत्-त्रि० । समस्तं प्रवेशयति, अपरिभुज्यमाने, अनासेवमाने, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

णिव्विसणकप्प-निर्विशनकल्प-पुं० । निर्विशमानकल्पस्थितौ, पं० भा० ।

इयाणिं णिव्विसणकप्पो-

..................., अहुणा वोच्छामि णिव्विसणकप्पं ।

जह णिव्विसंति समणा, सम्मं तु गुरूवएसेणं ॥
णाणं च दंसणं वा, तहा चरित्तं समितिगुत्तीओ ।
एकासीतिपदेहिं, णिव्विस-णिव्वेसणाकप्पो ॥
छव्विहकप्पाऽऽदीगा, बायालं ताओ पंचवीसाए ।
मेलीणा उ भवंती, एकासीती भवे भेदा ॥
णवरं छव्विहकप्पे, वीसतिकप्पे य णामठवणाओ ।
मोत्तुं सेसा सव्वे, एकासीती तु मेलीणा ॥
एवं सव्वेसिम्मी, णिव्विसमाणस्स णिव्विसणकप्पो ।
एतेसिं पुण कतरो, महिड्ढिओ होइ सव्वेसिं ॥ पं० भा० ।

(णाणं च दंसणं च गाहा) णाणे त्ति दंसणप्पभावणेसु य तवज्जुत्तयाए य पंचविहचारित्तजुत्तयाए य समिइगुत्तीहि य उवउत्तयाए अणुपालेति पयासीइपएहिं । कयरे पुण एकासीइकप्पा ?। उच्यते-छव्विहकप्पस्स वीसइविहकप्पस्स य नामठवणाकप्पो अ वि मेऊण सेसा छव्विह-सत्तविह-दसविह-वीसविहा बायालीस त्ति एगट्ठ मेलिया एकासीइकप्पा होंति । एए सम्मं णिव्विसमाणस्स णिव्वेसकप्पो भवइ । एस णिव्विसणकप्पो । पं० चू० ।

णिव्विसमाण-निर्विशमान-पुं० । परिहारविशुद्धिकल्पं वहमानेषु, स्था० ६ ठा० । भ० ।

णिव्विसमाणकप्पट्ठिइ-निर्विशमानकल्पस्थिति-स्त्री० । निर्विशमाना ये परिहारविशुद्धितपोऽनुचरन्ति, पारिहारिका इत्यर्थः, तेषां कल्पे स्थितिः । परिहारकल्पस्थितौ, स्था० । यथा ग्रीष्मशीतवर्षाकालेषु क्रमेण तपो जघन्यं चतुर्थषष्ठाष्टमाऽऽदि, मध्यमं षष्ठाऽऽदीनि, उत्कृष्टमष्टमाऽऽदीनीति, पारणे चायामम् । एवं पिण्डैषणासप्तके चाद्ययोरग्रह एवेति पञ्चसु पुनरेकया भक्तमेकया च पानकमित्येवं द्वयोरभिग्रह इति ।

उक्तं च-

" इस अट्ठं दस छट्ठं, अट्ठेव य छट्ठ चउरो य ।
उक्कोसमज्झिमजह-न्नगा उ वासासिसिरगिम्हे ॥ १ ॥
पारणगे आयामं, पंचसु गहो दोसुऽभिग्गहो भिक्खा ॥ "
स्था० ३ ठा० ४ उ० । पञ्चा० ।

णिव्विसमाणय-निर्विशमानक-पुं० । विवक्षित (परिहार) तपोविशेषाऽऽसेवके, प्रव० ६९ द्वार । कर्म० । पं० सं० । साध्वी, तद्व्यतिरेकाच्चारित्रभेदे च । विशे० । अनु० । वृ० । (अत्र 'परिहार' शब्दो द्रष्टव्यः)

णिव्विसय-निर्विषय-त्रि० । विषयाभिलाषरहिते, उत्त० १४ अ० । शब्दाऽऽदिविषयरहिते, उत्त० पाई० १४ अ० । निर्गोचरे, असमर्थके, " वहमेसं णिव्विसयं, होला य मुसंति विभेयं । " पञ्चा० १२ विव० । देशान्निष्क्रान्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । " पुत्तदारे य णिव्विसए करेइ । " ज्ञा० म० १ अ० २ अध्य० ।

णिव्विसी-निर्विषी-स्त्री० । महौषधिभेदे, ती० ६ कल्प ।

णिव्विसेस-निर्विशेष-त्रि० । विशेषवर्जिते, तं० । अपवादोत्सर्गज्येष्ठेतराऽऽदिविशेषरहिते, तं० ।

णिव्वुअ-निर्वृत-त्रि० । नि-वृ-क्तः । " ऋतत्वादौ " ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इत्यादेरुत्वम् । प्रा० १ पाद । क्रोधाऽऽद्युपशमने-

आचा० १ श्रु० ७ अ० १ उ० । निर्वाणं गते, प्रव० न शीतीभूते स्वस्थाऽऽत्मनि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।
३२ द्वार० निर्वृति-स्त्री० । "उदत्वादौ" ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इत्या-
णिव्वुइ शब्दे ऋत्वादेरुत्वेन उत्वम् । प्रा० १ पाद । ज्ञा० । मनःस्वास्थ्ये, विशे० २ आश्र० द्वार । समाधौ, नं० । सुखे, आ० म० २ अ० । सामान्यसुखे, आव० ४ अ० । महादुर्भिक्षे वज्रसेनेन प्रव्राजितस्य जिनदत्तश्राद्धस्य सह प्रव्राजिते पुत्रे, यतो निर्वृतिनाम्नी शाखा निर्गता । कल्प० ८ क्षण । निर्वृतिकुलीनशीलाङ्काऽऽचार्येण प्रथमद्वितीययोरङ्गयोष्टीका कृता । आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ० । मथुरायां पर्वतकराजस्य सुतायाम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आव० ।

णिव्वुइकर-निर्वृतिकर-त्रि० । निर्वृतिर्निर्वाणं सकलकर्ममलापगमनेन स्वस्वरूपलाभतः परमस्वास्थ्यं, तद्धेतुः सम्यग्दर्शनाऽऽद्यपि कारणे कार्योपचारान्निर्वृतिः । तत्करणशीलो निर्वृतिकरः । प्रज्ञा० १ पद । सर्वकर्मक्षयभावकरे, तं० । सुखोत्पादके, रा० ।

णिव्वुइपह-निर्वृतिपथ-पुं० । निर्वृतेर्मोक्षस्य पन्थाः । "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" ॥ ५ । ४ । ७४ ॥ इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः । मोक्षमार्गे, वाच० ।

णिव्वुइपहसासणयं, जयइ सया सव्वभावदेसणयं [२४]

निर्वृतेर्मोक्षस्य पन्थाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि । तथा चाऽऽह भगवानुमास्वातिवाचकः-"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति निर्वृतिपथः । "ऋक्पूःपथ्यपोऽत्" ॥ ७ । ३ । ७६ ॥ (हैम०) इति समासान्तोऽत्प्रत्ययः । यद्यपि निर्वृतिपथशब्देन ज्ञानाऽऽदित्रयमभिधीयते, तथाऽपीह सम्यग्दर्शनचारित्रयोरेव परिग्रहः, ज्ञानस्योत्तरत्र विशेषणाभिधानात् । निर्वृतिपथस्य शासनम्-शिष्यतेऽनेनेति शासनं प्रतिपादकं निर्वृतिपथशासनम् । ततः "कश्च" इति प्राकृतलक्षणात् स्वार्थे कः प्रत्ययः, निर्वृतिपथशासनकम् । नं० ।

णिव्वुइपुर-निर्वृतिपुर-न० । सिद्धिपुरे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिव्वुड-निर्वृत-त्रि० । शीतीभूते, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । निर्वाणमनुप्राप्ते, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । मुक्तिपदवीमधिरूढे, व्य० २ उ० । "निव्वुडे कालमाकंखी, एवं केवलिणो मयं ।" निर्वृतः कषायोपशमाच्छीतीभूतः कालं मृत्युकालं यावदभिकाङ्क्षेत् । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । निवारणे, भ० ५ श० ४ उ० ।

णिव्वुडमाण-निवृण्वत्-त्रि० । जन्ममरणाऽऽदिजले नितरां निमज्जति, उपा० ७ अ० ।

णिव्वुड्ड-निर्वृत-त्रि० । निष्ठाकृते, "निव्वुडे वितिमिरे विसुद्धे त्ति ।" भ० ५ श० ४ उ० ।

णिव्वूढ-देशी-गृहपश्चिमाङ्गणे, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिव्वूह-निर्व्यूह-पुं० । गृहैकदेशविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

णिव्वेढंत-निर्वेष्टयत्-त्रि० । निर्जरयति, विघटयति, "दव्वेण य भावेण य, निव्वेढंतो अट्ठएहमन्नयरं ।" विशे० । हापयति, आ० म० १ अ० २ खण्ड । सुबद्धानि कुर्वति, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ० ।

णिव्वेढ-देशी-नग्ने, दे० ना० ४ वर्ग २८ गाथा ।

णिव्वेय-निर्वेद-पुं० । विरागे, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । उत्त० । संसारवैराग्ये, बृ० ३ उ० । संसारादुद्विग्नतायाम्, उत्त० १८ अ० । भ० । दश० । संसाराद् विरक्ततायाम्, उत्त० २९ अ० ।

निर्वेदफलम्-

णिव्वेएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । णिव्वेएणं दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ, सव्वविसएसु विरज्जइ, सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरंभपरिग्गहपरिच्चायं करेइ, आरंभपरिग्गहपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिंदइ, सिद्धिमग्गपडिवन्ने य भवइ ॥२॥

इतः प्रभृति सर्वत्र सुगमत्वात्प्रश्नव्याख्या । निर्वेदेन सामान्यतः संसारविषयेण कदाऽसौ त्याज्य इत्येवंरूपेण दिव्यमानुषतैरश्चेषु, सूत्रत्वात् कप्रत्ययः, यथासंभवं देवाऽऽदिसंबन्धिषु कामभोगरूपेषु निर्वेदं हव्वमागच्छति, यथाऽलमेतैरनर्थहेतुभिरिति, यथा च सर्वविषयेषु विरज्यतेऽशेषशब्दाऽऽदिविषयं विरागमाप्नोति, विरज्यमानश्चैष्वारम्भः प्राण्युपमर्दको व्यापारस्तत्परित्यागं करोति, विषयार्थत्वात् सर्वारम्भाणाम्, तत्परित्यागं कुर्वन् संसारमार्गं मिथ्यात्वाविरत्यादिरूपं व्यवच्छिनत्ति, तत्त्यागतश्च एव तत्रत आरम्भपरित्यागसंभवात्, तद् व्यवस्थितौ च सुप्राप्य एव सिद्धिमार्गः सम्यग्दर्शनाऽऽदिरिति सिद्धिमार्गप्रतिपन्नश्च भवति ॥२॥ उत्त० पाई० २९ अ० ।

"णरगो तिरिक्खजोणी, कुमाणुसत्तं च णिव्वेओ ।" नरकस्तिर्यग्योनिः कुमानुषत्वं च निर्वेद इति । दश० ३ अ० । अनु० । अष्ट० । मोक्षाभिलाषे, प्रव० १४ द्वार । ध० । विषयेष्वनभिष्वङ्गे, ध० २ अधि० । जुगुप्सायाम्, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० । सूत्र० ।

णिव्वेयण-निर्वेदन-न० । समर्पणे, द्वा० १२ द्वा० । दर्श० ।

णिव्वेयणी-निर्वेदनी-स्त्री० । निर्विद्यते संसाराऽऽदेर्निर्विण्णः क्रियते श्रोताऽनयेति निर्वेदनी । स्था० ४ ठा० २ उ० । दश० ।

निर्वेदनीकथा चतुर्विधा--

णिव्वेयणीकहा चउव्विहा पएणत्ता । तं जहा-इहलोगदुच्चिण्णा कम्मा इहलोगदुहफलविवागसंजुत्ता भवंति, इहलोगदुच्चिण्णा कम्मा परलोगदुहफलविवागसंजुत्ता भवंति । परलोगदुच्चिण्णा कम्मा इहलोगदुहफलविवागसंजुत्ता भवंति, परलोगदुच्चिण्णा कम्मा परलोगदुहफलविवागसंजुत्ता भवंति । इहलोगसुचिण्णा कम्मा इहलोगसुहफलविवागसंजुत्ता भवंति, इहलोगसुचिण्णा कम्मा परलोगसुहफलविवागसंजुत्ता भवंति । एवं चउभंगो ।

इह लोके दुश्चीर्णानि चौर्याऽऽदीनि कर्माणि क्रिया, इहलोके दुःखमेव कर्मद्रुमजन्यत्वात् फलं दुःखफलं, तस्य विपाकोऽनुभावो दुःखफलविपाकः, तेन संयुक्तानि दुःखफलविपाकसंयुक्तानि भवन्ति, चौराऽऽदीनामिवेत्येका । एवं नारकाणामिवेति द्वितीया । आगर्भाद् व्याधिदारिद्र्याभिभूतानामिवेति तृतीया । प्राक्कृताशुभकर्मोत्पन्नानां नारकप्रायोग्यं बध्नतां काकगृध्राऽऽदी-

नामिव चतुर्थीति । "इहलोए सुचिन्ना" इत्यादि चतुर्भङ्गी तीर्थकरदानदातृ १ सुसाधु २ तीर्थंकर ३ देवभवस्थतीर्थकराऽऽदीनामिव भावनीयेति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

निर्वेदनीमाह-

पावाणं कम्माणं, असुभविवागो कहिज्जए जत्थ ।
इह य परत्थ य लोए,कहा उ णिव्वेयणी नाम ।२०७।

पापानां कर्मणां चौर्याऽऽदिकृतानामशुभविपाकः दारुणपरिणामः कथ्यते यत्र यस्यां कथायामिह च परत्र च लोके-"इहलोके कृतानि कर्माणि इहलोके एवोदीर्यन्ते" इत्यनेन चतुर्भङ्गिकामाह । कथा तु निर्वेदनी नाम-निर्वेद्यते भवादनया श्रोतेति निर्वेदनी । एष गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धविवरणादवसेयः ॥२०७॥

तच्चेदम्-"इयाणिं णिव्वेयणी । सा चउव्विहा । तं जहा-इहलोए दुच्चिण्णा कम्मा इहलोए चेव दुहविवागसंजुत्ता भवंति त्ति । कहं ?, जहा चोराणं पारदारियाणं,एवमाइ । एसा पढमा णिव्वेयणी । इयाणिं बिइया-इहलोए दुच्चिण्णा कम्मा परलोए दुहविवागसंजुत्ता भवंति । कहं ?, जहा नेरइयाणं अन्नम्मि भवे कयं कम्मं णिरयभवे फलं देइ । एसा बिइया णिव्वेयणी गया । इयाणिं तइया-परलोए दुच्चिण्णा कम्मा इहलोए दुहविवागसंजुत्ता भवंति । कहं ?,जहा बालप्पभितिमेव अंतकुलेसु उप्पण्णा खयकोढाऽऽदीहिं रोगेहिं दारिद्देण य अभिभूया दीसंति । एसा तइया णिव्वेयणी । इयाणिं चउत्था णिव्वेयणी-परलोए दुच्चिण्णा कम्मा परलोए चेव दुहविवागसंजुत्ता भवंति । कहं ?, जहा पुव्विं दुच्चिण्णेहिं कम्मेहिं जीवा संकिलिट्ठेहिं पक्खीहिं उववज्जंति । तओ ते नरयपाउग्गाणि कम्माणि असंपुण्णाणि ताणि ताए जाईए पूरिंति, पूरिऊण नरयभवे वेयंति । एसा चउत्था णिव्वेयणी गया । एवं इहलोगो परलोगो वा पण्णवयं पडुच्च भवति, तत्थ पण्णवगस्स मणुस्सभवो इहलोगो, अवसेसाओ तिण्णि वि गईओ परलोगो त्ति गाथाभावार्थः ।

इदानीमस्या एव रसमाह-

थोवं पि पमायकयं, कम्मं साहिज्जई जहिं नियमा ।
पउरासुहपरिणामं, कहाइ णिव्वेयणीइ रसो ॥ २०८ ॥

स्तोकमपि प्रमादकृतमल्पमपि प्रमादजनितं कर्म वेदनीयाऽऽदि (साहिज्जइ त्ति) कथ्यते यत्र नियमान्नियमेन । किंविशिष्टमित्याह-प्रचुराशुभपरिणामं, बहुतीव्रफलमित्यर्थः । यथा यशोधराऽऽदीनामिति । कथाया निर्वेदन्या रस एष निष्यन्दः । इति गाथाऽर्थः ॥ २०८ ॥ दश० ३ अ० । द्वा० । औ० ।

णिव्वेरिस-देशी-निर्दये, दे० ना० ४ वर्ग ३७ गाथा ।

णिव्वेस-निर्वेश-पुं० । लाभे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णिव्वोढव्व-निर्वोढव्य-त्रि० । निर्वाह्ये, आव० ४ अ० ।

णिव्वोदग-निव्रोदक-न० । गृहच्छादनप्रान्तगलिते जले, गृहपटलान्तोर्त्तीर्णे जले, पिं० । आ० क० ।

णिस-निश-पुं० । वृक्षविशेषे, उत्त० पाइ० १ अ० । नृगणान् शंसति हिनस्तीति नृशंसः । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

णिसंत-निशान्त-त्रि० । नितरां शान्तो निशान्तः । अत्यन्तं मन्दीभूते, आ० म० १ अ० १ खण्ड । श्रुते, अवगते, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० । निशामिते श्रुते, भ० ६ श० ३३ उ० । निःसञ्चरवेलायाम्, सू० ३ उ० । रात्र्यवसाने दिवसे, दशा० ५ अ० १ उ० । ज्ञा० । अवधारिते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

णिसंस-नृशंस-त्रि० । क्रूरकर्मणि, सू० ३ उ० । शूकावर्जिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

णिसग्ग-निसर्ग-पुं० । निसर्जनं निसर्गः । निसृष्टौ, मोक्षे, विशे० । स्वभावे, उत्त० २८ अ० । स्था० । भाव० । आ० चू० । आ० म० । प्रज्ञा० । व्य० । संथा० । नि० चू० ।

णिसग्गकिरिया-निसर्गक्रिया-स्त्री० । निसर्जनक्रियायाम्,आव० ।

णिसग्गबलरागया-निसर्गबलरागता-स्त्री० । प्रकृत्या स्थिररागतायाम्, पं० व० ३ द्वार ।

णिसग्गचेयणाजुत्त-निसर्गचेतनायुक्त-त्रि० । निसर्गो सहजा या चेतना तया युक्तः । सहजचेतनायुक्ते, "निसर्गचेतनायुक्तो, जीवोऽरूपी ह्यवेदकः ।" द्वा० १० अ० ।

णिसग्गरुइ-निसर्गरुचि-पुं० । निसर्गः स्वभावः, तेन रुचिर्जिनप्रणीततत्त्वाभिलाषरूपा यस्य स निसर्गरुचिः । प्रज्ञा० १ पद । निसर्गो रुचिर्निसर्गतो वा रुचिरिति निसर्गरुचिः । स्वभावत एव तत्त्वश्रद्धाने, भ० २५ श० ७ उ० । सम्यक्त्वभेदे, स्था० १० ठा० । ध० । भूतार्थेन सह संमत्या जीवाजीवाऽऽदिनवपदार्थविषयिणी रुचिर्निसर्गरुचिः । भूतार्थेनेत्यस्य भूतार्थत्वेनेत्यर्थः, भावप्रधाननिर्देशात्; सद्भूतार्था अमी इत्येवंरूपेणेति यावत् । वस्तुतो भूतार्थेनेत्यस्य शुद्धनयेनेत्यर्थः । ध० २ अधि० ।

भूयत्थेणाधिगया, जीवाऽजीवा य पुण्णपावं च ।
सहसंमइयाऽऽसवसं-वरो य वेएइ एस णिस्सग्गो ॥२॥
जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव ।
एमेव णऽन्नह त्ति य, णिस्सग्गरुइ त्ति णायव्वो ॥३॥

'भूयत्थेण' इति भावप्रधानो निर्देशः । ततोऽयमर्थः-भूतार्थत्वेन समुद्भूता अमी पदार्था इत्येवंरूपेण यस्याऽधिगताः परिज्ञाता जीवाऽजीवाः पुण्यपापमाश्रवसंवरः, चशब्दाद् बन्धाऽऽदयश्च । कथमधिगताः ?, इत्याह-(सहसम्मइया इति) आर्षत्वाद्विभक्तिलोपात्च सह सम्मत्या सहाऽऽत्मना या सङ्गता मतिः सा सहसम्मतिः,तया । किमुक्तं भवति?-परोपदेशनिरपेक्षया जातिस्मरणप्रतिभाऽऽदिरूपया मत्या न केवलमधिगता, किं तु तान् जीवाऽऽदीन् पदार्थान् वेदयतेऽनुरोचयति च तत्त्वरूपतया आत्मसात्परिणामयति चेति भावः । एष निसर्गो निसर्गरुचिर्विज्ञेय इति शेषः ॥ २ ॥ अमुमेवार्थं स्पष्टतरमभिधित्सुराह-(जो जिणदिट्ठे भावे इत्यादि) यो जिनदृष्टान् भावान् द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदतो नामाऽऽदिभेदतो वा चतुर्विधान् स्वयमेवोपदेशनिरपेक्षं श्रद्दधाति । केनोल्लेखेन श्रद्दधाति ?, तत आह-एवमेव एतज्जीवाऽऽदि यथा जिनैर्दृष्टं, नान्यथेति । चः समुच्चये । एष निसर्गरुचिरिति ज्ञातव्यः ॥ ३ ॥ प्रज्ञा० १ पद । आ० चू० । ध० । उत्त० । ग० । स्वभावत एव तत्त्वश्रद्धे, औ० ।

णिसग्गसम्मत्त–निसर्गसम्यक्त्व–न० । निसर्गरुच्याख्ये सम्यक्त्वभेदे, आ० चू० । "णिसग्गो नाम सभावो, अथा सावगकुलनसुयाणं कुलपरंपरागतं निसम्मत्तं भवति; जहा वा सयंभुरमणमत्थाणपडिमासंठिताणि साहुसावयाणि य पउमाणि मच्छरा वा दट्ठूण सा णं खओवसमेणं निसग्गसम्मत्तं भवति । तम्मूलं च देवलोगगमणं तेसिं भवति त्ति ।" आ० चू० १ अ० ।

णिसज्जा–निषद्या–स्त्री० । निषदनं निषद्या । आसने, प्रव० ६७ द्वार । स० । उपवेशने, स्था० ४ ठा० । उपवेशनविशेषे, स्था० । सा च पञ्चधा-तत्र यस्यां समं पादौ पुतौ च स्पृशतः सा समपादपुता १ । यस्यां तु गोरिवोपवेशनं सा गोनिषद्यिका २ । यत्र पुताभ्यामुपविष्टः सन् एकं पादमुत्पाट्याऽऽस्ते सा हस्तिशुण्डिका ३ । पर्यङ्काऽर्धपर्यङ्कका च प्रसिद्धा ४-५ । स्था० ५ ठा० १ उ० । "पलियंकनिसेज्जा य, सिणाणं च भवज्जणं ।" निषद्या च गृहे एकानेकरूपा अनाचारः । दश० ६ अ० । निषीदन्त्यस्यामिति निषद्या । स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिते स्वाध्यायभूम्यादौ, उत्त० १ अ० ।

णिसट्ठ–निसृष्ट–त्रि० । परेणोत्सृष्टकलिते, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । दत्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ० । ज्ञा० ।

णिसढ–निषध[ह]–पुं० । नितरां सहते स्कन्धे पृष्ठे वा समारोपितं भारमिति निषधः । चं० प्र० ४ पाहु० । "निषधे धो ढः" ॥ ८ । १ । १२६ ॥ इति निषधे धस्य ढः । प्रा० १ पाद । बलीवर्दे, सू० प्र० ४ पाहु० । बलदेवस्य रेवत्यामुत्पन्ने पुत्रे, नि० । जति णं भंते ! समणेणं० जाव दुवालस अज्झयणा पण्णत्ता । पढमस्स णं भंते ! उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं बारवई नाम नगरी होत्था; दुवालसजोयणाऽऽयामा० जाव पच्चक्खं देवलोयभूया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा । तीसे णं बारवईए नगरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं रेवईए णामं पव्वए होत्था, तुंगे गगणतलमणुलिहंतसिहरे नाणाविहरुक्खगुच्छगुम्मलतावल्लीपरिगताभिरामे हंसमियमयूरकोंचसारसकागमयणसालाकोइलकुलोवाचिए तडकडगविवरओज्झरपव्वतसिहरे पउरे अच्छरगणदेवसंघविज्जाहरमिहुणसन्निविच्चे निच्चत्थणए दसारवरवीरे पुरिसतेलोक्कबलवगाणं सोमे सुभए पियदंसणे सुरूवे पासादीए० जाव पडिरूवे । तस्स णं रेवयगस्स पव्वयस्स अदूरसामंते एत्थ णं नंदणवणे नामं उज्जाणे होत्था । सव्वओ य पुप्फ० जाव दरिसणिज्जे । तत्थ णं नंदणवणे उज्जाणे सुरप्पियस्स जक्खस्स जक्खायतणे होत्था. चिराईए० जाव बहुजणो आगम्मअच्चेति सुरप्पियं जक्खाययणं । से णं सुरप्पिए जक्खाययणे एकेणं महता वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते जहा पुण्णभद्दे० जाव सिलापट्टए, तत्थ णं बारवईए नयरीए कण्हे नामं वासुदेवे राया होत्था० जाव पासमाणे विहरति । से णं तत्थ समुद्दविजयपामोक्खाणं दसण्हं दसाराणं, बलदेवपामोक्खाणं पंचण्हं महावीराणं, उग्गसेणपामोक्खाणं सोलसण्हं राईसरसहस्साणं पज्जुण्णपामोक्खाणं अद्धुट्ठाणं कुमारकोडीणं सम्बया सद्धीउ दुइंतसाहस्सीणं वीरसेणपामोक्खाणं एकवीसाए वीरसाहस्सीणं, रुप्पिणिपामोक्खाणं सोलसण्हं देवीसहस्साणं, अणंगसेणापामोक्खाणं अणेगाणं गणियासहस्साणं अन्नेसिं च बहूणं राईसरसत्थवाहप्पभिईणं वेयड्ढगिरिसागरमेरागस्स दाहिणड्ढभरहस्स आहेवच्चं० जाव विहरति । तत्थ णं बारवईए बलदेवे नामं राया होत्था, महता० जाव रज्जं पासाएमाणे विहरति । तस्स णं बलदेवस्स रन्नो रेवई नामं देवी होत्था, सुकुमाला० जाव विहरति । तते णं सा रेवती देवी अन्नदा कदाइं तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि० जाव सीहं सुमिणे पासत्ता एवं सुमिणदंसणपरिकहणं, कलाओ जहा महाबलस्स पन्नासओ दोतो पन्नासा रायवरकन्नगाणं एगदिवसेणं पाणिं नवरं निसढे नामं० जाव उप्पिं पासादं विहरति । तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी आदिकरे दसधणूइं वण्णओ० जाव समोसरिते । परिसा निग्गया । तते णं से कण्हे वासुदेवे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठे कोडुंबियपुरिसं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! सभाए सुहम्माए समुदाणियं भेरिं तालेहि । तते णं से कोडुंबियपुरिसे० जाव पडिसुणित्ता जेणेव सहं सुणेइ, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समुदाणियं भेरिं महता महता सद्देणं तालेति । तते णं तीसे सामुदाणियाए भेरीए महता महता सद्देणं तालियाए समाणी समुद्दविजयपामुक्खा दस दसारा देवीओ भाणियव्वाओ० जाव अणंगसेणापामोक्खा अणेगा गणियासहस्सा, अन्ने य बहवे राईसर० जाव सत्थवाहप्पभिइओ ण्हाया० जाव पायच्छित्ता सव्वालंकारविभूसिया जहाविभवइड्ढिसक्कारसमुदएणं अप्पेगइया हयगया० जाव पुरिसवग्गुरा परिक्खित्ता जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करतल० कण्हं वासुदेवं विजएणं वद्धावेति । तते णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबिए एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अभिसेक्कं हत्थिरयणं हयगयरह० जाव पच्चप्पिणंति । तते णं से कण्हे वासुदेवे मज्जणघरे० जाव दुरूढे अट्ठमंगलगा, जहा कूणिओ, सेयवरचामरेहिं उद्धुव्वमाणेहिं उद्धुव्वमाणेहिं समुद्दविजयपामुक्खेहिं दसहिं दसारेहिं० जाव सत्थवाहप्पभितीहिं सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए० जाव रवेणं बारवईणगरं मज्झंमज्झेणं, सेसं जहा कूणिओ० जाव पज्जुवासति । तते णं

तस्स निसढस्स कुमारस्स उप्पिं पासायवरगयस्स तं महतो जणसद्दं च जहा जमाली०जाव धम्मं सोच्चा निसम्म वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी–सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं जहा चित्तो०जाव सावगधम्मं पडिवज्जति, पडिवज्जेत्ता पडिगते । तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमिस्स अंतेवासी वरदत्ते नामं अणगारे उराले० जाव विहरति । तेणं से वरदत्ते अणगारे निसढं कुमारं पासति,पासित्ता जातसड्ढे०जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी-अहो णं भंते ! निसढे कुमारे इट्ठे इट्ठरूवे कंते कंतरूवे, एवं पिए मणुन्नए मणामे मणामरूवे सोमे सोमरूवे पियदंसणे सुरूवे, निसढे णं भंते ! कुमारे अयमेयारूवे मणुयइड्ढिं किण्णा लद्धा किण्णा पत्ता पुच्छा ?;जहा सूरियाभस्स । एवं खलु वरदत्ता ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे रोहीडए नाम नगरे होत्था । रिद्धमेह-वन्ने उज्जाणे मणिदत्तस्स जक्खस्स जक्खायतणे । तत्थ णं रोहीडए नगरे महब्बले नामं राया,पउमावई देवी । अन्नदा कयाइं तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सीहे सुमिणे, एवं सुमिणं जाणियव्वं जहा महब्बलस्स, नवरं वीरंगतो नामं बत्तीसतो दोतो बत्तीसाए रायवरकन्नगाणं पाणि० जाव ओगिज्झमाणे ओगिज्झमाणे पाउसवरिसारत्तसरयहेमंत-गिम्हवसंते छप्पि उऊ जहा विभवे समाणे २ इट्ठे रिद्धे ०जाव विहरति । तेणं कालेणं तेणं समएणं सिद्धत्थे नामं आयरिया जातिसंपन्ना, जहा केसी, नवरं बहुस्सुया बहुप-रिवारा जेणेव रोहीडए नगरे, जेणेव मेहवन्ने उज्जाणे, जेणेव मणिदत्तस्स जक्खस्स जक्खायतणे, तेणेव उवागतं अहापडिरूवं०जाव विहरति । परिसा निग्गया । तते णं तस्स वीरंगतस्स कुमारस्स उप्पिं पासायवरगयस्स तं महता जणसद्दं च,जहा जमाली य,निग्गते धम्मं सोच्चा.नवरं देवाणुप्पिया ! अम्मापियरो आपुच्छामि, जहा जमाली तहेव निक्खंतो० जाव अणगारे जाए०जाव गुत्तबंभयारी । तते णं से वीरंगते अणगारे सिद्धत्थाणं आयरियाणं अंतिए सामाइयमाइया-इं०जाव एक्कारस अंगाइं अहिज्जति,अहिज्जित्ता बहूइं०जाव चउत्थ०जाव अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइं पणयाली-सं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता दो मासियाए संलेह-णाए अत्ताणं झूसित्ता सवीसं भत्तसयं अ-णसणं छेदित्ता आलोइय समाहिपत्ते कालमासे कालं कि-च्चा बंभलोए कप्पे मणोरमविमाणे देवत्ताए उववन्ने । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं दससागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । तत्थ णं वीरंगयस्स देवस्स दस सागरोवमाइं ठिई पण्णा-त्ता । से णं वीरंगते देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खए० जाव अणंतरं चयं चइत्ता इहेव बारवईए नयरीए बलदेवस्स रन्नो रेवईए देवीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने । तते णं सा रेवती देवी तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सुमिणदंसणं० जाव उप्पिं पासायवरगते विहरति । तं एवं खलु वरदत्ता ! णि-सढेणं कुमारेणं अयमेयारूवे उराले मणुयइड्ढी लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया । पभू णं भंते ! निसढे कुमारे देवाणुप्पियाणं अंतिए०जाव पव्वइत्तए ?। हंता । पभू से एवं भंते ! वरदत्ते अणगारे०जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति । तते णं अरहा अरिट्ठनेमी अन्नदा कयाइं बारवतीओ नगरीओ० जाव बहिया जणवयविहारं निसढे कुमारे समणोवासए जाए अभिगतजीवाजीवे०जाव विहरति । तते णं से निसढे कु-मारे अन्नदा कयाइं जेणेव पोसहसाला, तेणेव उवाग-च्छइ, उवागच्छित्ता०जाव दब्भसंथारोवगते णं विहरति । तते णं तस्स निसढस्स कुमारस्स पुव्वरत्तावरत्तधम्मजाग-रियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए–धन्ना णं ते गा-मागरनगर०जाव संनिवेसा, जत्थ णं अरहा अरिट्ठनेमी विहरइ । धन्ना णं ते राईसर०जाव सत्थवाहप्पभितिओ,जे णं अरिट्ठनेमिं वंदंति, नमंसंति० जाव पज्जुवासंति । जति णं अरिहा अरिट्ठनेमी पुव्वाणुपुव्विं नंदणवणे विहरेज्जा, तेणं अरिहं अरिट्ठनेमी वंदिज्जा०जाव पज्जुवासिज्जा । तते णं अरिट्ठनेमी निसढस्स कुमारस्स ९ अयमेयारूवे अब्भ-त्थिए० जाव वियाणित्ता अट्ठारसहिं समणसहस्सेहिं० जाव नंदणवणउज्जाणे, समोसरिता । परिसा निग्गया । तते णं निसढे कुमारे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठ० चाउग्घं-टेणं आसरहेणं गते, जहा जमाली० जाव अम्मापियरो आपुच्छित्ता पव्वइए अणगारे० जाव गुत्तबंभयारी । तते णं से निसढे अणगारे अरिहंतो अरिट्ठनेमिस्स तहा-रूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयं एक्कारस अंगाइं अहिज्जति, अहिज्जित्ता बहूइं चउत्थछट्ठ० जाव विचि-त्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइं नव वासाइं सामन्नपरियागं पाउणंति, बायालीसाइं भत्ताइं अणसणं छेदेति, आलोइयपडिक्कंते समाहि-पत्ते आणुपुव्वीए कालगते । तते णं से वरदत्ते अणगारे नि-सढं अणगारं कालगते जाणित्ता जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी, तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता०जाव एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी णिसढे णामं अणगारे पगतिभ-द्दगे०जाव विणीओ,से णं भंते ! निसढे अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववन्ने ? । तते णं से अ-रहा अरिट्ठनेमी वरदत्तं अणगारं एवं वयासी–एवं खलु वरदत्ता ! ममं अंतेवासी निसढे नामं अणगारे पगइभद्दगे०जा-

व विणीए मम तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जेत्ता बहुपडिपुण्णाइं नव वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता बायालीसं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा उड्ढं चंदिमसूरियगहगणनक्खत्तताराऊवाणं सोहम्मीसाणे० जाव अच्चुते तिन्नि य अट्ठारसुत्तरगेविज्जविमाणावाससते वीतीवइत्ता सव्वट्ठसिद्धिविमाणे देवत्ताए उववन्ने । तत्थ णं देवाणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पन्नत्ता । तत्थ णं निसढस्स देवस्स तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पन्नत्ता । से णं भंते ! निसढे देवयाओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति ? । वरदत्ता ! इहेव जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे उन्नाए नगरे विसुद्धपिइवंसे रायकुले पुत्तत्ताए पच्चायाहिति । तते णं से उम्मुक्कबालभावे विण्णायपरिणयमित्ते जोव्वणगमणुप्पत्ते तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहिं बुज्झित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइहिति । से णं तत्थ अणगारे भविस्सति इरियासमिए० जाव बंभयारी । से णं तत्थ बहूहिं चउत्थछट्ठऽट्ठमदसमदुवालसेहिं मासऽद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणिस्सति पाउणित्ता, मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसिहिति झूसित्ता, सट्ठिभत्ताइं अणसणाए छेदेति । जस्सऽट्ठाए कीरति अणगारभावे मुंडभावे अण्हाणए० जाव अदंतधावणअछत्तए अणोवाहणए फलसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासी परघरपवेसे लद्धावलद्धे उच्चावया य गामकंटकया अहियासिज्जति, तमट्ठं आराहिति, आराहित्ता चरमेहिं उस्सासेहिं णिस्सासेहिं सिज्झिहिति, बुज्झिहिति ० जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेति ।

नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ० । आ० म० । विशे० । प्रश्न० । वर्षधरपर्वतभेदे, स्था० ७ ठा० । स० । रा० ।

निषधः पर्वतः क्वास्तीति पृच्छति–

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे णिसहे णामं वासहरपव्वए पन्नत्ते ? । गोयमा ! महाविदेहस्स वासस्स दक्खिणेणं हरिवासस्स उत्तरेणं पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमे एत्थ णं जम्बुद्दीवे दीवे णिसहे णामं वासहरपव्वए पन्नत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणवित्थिण्णे, दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरच्छिमिल्लाए० जाव पुट्ठे चत्तारि जोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि गाउअसयाइं उव्वेहेणं सोलस जोअणसहस्साइं अट्ठ य बायाले जोअणसए दोण्णि अ एगूणवीसइभाए जोअणस्स विक्खंभेणं तस्स बाहा पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं वीसं जोअणसहस्साइं एगं च पणट्ठं जोअणसयं दुण्णि अ एगूणवीसइभाए जोअणस्स अद्धभागं च आयामेणं तस्स जीवा उत्तरेणं० जाव चउणवइं जोअणसहस्साइं एगं च छप्पण्णं जोअणसयं दुण्णि अ एगूणवीसइभाए जोअणस्स आयामेणं तस्स धणुं दाहिणेणं एगं जोअणसहस्सं चउवीसं च जोअणसहस्साइं तिण्णि अ छायाले जोअणसए णव य एगूणवीसइभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं रुअगसंठाणसंठिए सव्वतवणिज्जमए अच्छे उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहि अ वणसंडेहिं० जाव संपरिक्खित्ते णिसहस्स णं वासहरपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पन्नत्ते० जाव आसयंति, सयंति ॥

"कहि णं" इत्यादि प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे महाविदेहस्य दक्षिणस्यां हरिवर्षस्योत्तरस्यां पौरस्त्यलवणोदस्य पश्चिमायां पश्चिमलवणोदस्य पश्चिमायां पश्चिमलवणसमुद्रस्य पूर्वस्यामत्रान्तरे जम्बूद्वीपे निषधो नाम वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्तः, प्राचीनप्रतीचीनेत्यादि प्राग्वत् । चत्वारि योजनशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन, चत्वारि गव्यूतशतान्युद्वेधेन, भूप्रवेशेन मेरुवर्जसमयक्षेत्रगिरीणां स्वोच्चत्वचतुर्थांशेनोद्वेधत्वात् षोडशयोजनसहस्राणि द्विचत्वारिंशानि द्विचत्वारिंशदधिकानि अष्टौ च योजनशतानि द्वौ च एकोनविंशतिभागौ योजनस्य विष्कम्भेण महाहिमवतो द्विगुणविष्कम्भमानत्वात् । अथ बाहाऽऽदिसूत्रत्रयमाह–(तस्स बाहा इत्यादि) (तस्स जीवा इत्यादि) अत्र यावत्पदात्–" पाईणपडीणायया दुहओ लवणसमुद्दं पुट्ठा पुरच्छिमिल्लाए लवणसमुद्दं० जाव पुट्ठा । " इति ग्राह्यम् । (तस्स धणुमित्यादि) एवं सूत्रानुसारेण व्याख्येयम् । अथ निषधमेव विशेषणैर्विशिनष्टि–(रुअग इत्यादि) अत्र यावत्पदात्–" सव्वओ समंता " इति ग्राह्यम्, शेषं प्राग्वत् । अथास्य देवक्रीडायोग्यत्वं वर्णयन्नाह–(णिसह इत्यादि) अत्र यावत्पदात् आलिङ्गपुष्कराऽऽदिपदकदम्बकं बोध्यम् । जं० ४ वक्ष० । स० ।। तन्मध्यवर्त्तितिगिञ्छिकस्य हदात् शीतोदा नदी प्रव्यूढेति वक्तव्यता ' तिगिच्छद्दह ' शब्दे वक्ष्यते) (निषधकूटानां ' कूड ' शब्दे तृतीयभागे ६२२ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–णिसढे वासहरपव्वए, णिसढे वासहरपव्वए ? । गोयमा ! णिसढे णं वासहरपव्वए बहवे कूडा णिसहसंठाणसंठिआ उसभसंठाणसंठिआ णिसढे अइच्छेदेवे महिड्ढिए० जाव पलिओवमट्ठिइए परिवसइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–णिसढे वासहरपव्वए, णिसढे वासहरपव्वए ॥

(से केणट्ठेणं) इत्यादि व्यक्तम् । नवरं निषधे वर्षधरपर्वते बहूनि कूटानि निषधसंस्थानसंस्थितानि । तत्र नितरां सहते स्कन्धे पृष्ठे वा समारोपितभारमिति निषधो वृषभः, पृषोदराऽऽदित्वादिष्टरूपसिद्धिः । तत्संस्थानसंस्थितानि । एतदेव पर्यायान्तरेणाऽऽह-वृषभसंस्थितानि, निषधश्चात्र देव आधिपत्यं परिपालयति, तेन निषधाऽऽकारकूटयोगान्निषधदेवयोगाद्वा निषध इति व्यवह्रियते इति । जं० ४ वक्ष० । स्था० । " दो णिसढा । " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णिसढकूड–निषधकूट–न० । निषधपर्वताधिष्ठातृदेवनिवासोपेते (स्था० ६ ठा०) निषधवर्षधरपर्वतस्य द्वितीये कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

णिसढदह–निषधह्रद–पुं० । मन्दरस्य दक्षिणेन देवकुरुषु महाह्रदे, स्था० । इह च देवकुरुषु निषधवर्षधरपर्वतादुत्तरेणाष्टौ योजनानां शतानि चतुस्त्रिंशदधिकानि योजनस्य चतुरश्च सप्तभागानतिक्रम्य शीतोदाया महानद्याः पूर्वापरकूलयोर्विचित्रकूटाभिधानौ योजनसहस्रोच्छ्रितौ मूले सहस्राऽऽयामविष्कम्भावुपरि पञ्चयोजनशताऽऽयामविष्कम्भौ प्रासादमण्डितौ स्वसमाननामदेवनिवासभूतौ पर्वतौ स्तः, ततस्तावुत्तरतोऽनन्तरोदितान्तरः शीतोदामहानदीमध्यभागवर्ती दक्षिणोत्तरतो योजनसहस्रमायतः पूर्वापरतः पञ्चयोजनशतानि विस्तीर्णवेदिकावनखण्डद्वयपरिक्षिप्तो दशयोजनावगाढो नानामणिमयेन दशयोजननालेनार्द्धयोजनबाहुल्येन योजनविष्कम्भेणार्द्धयोजनविस्तीर्णया क्रोशोच्छ्रितया कर्णिकया युक्तेन निषधाभिधानदेवनिवासभूतभवनभासितमध्येन तदर्द्धप्रमाणाऽष्टोत्तरशतसङ्ख्यपद्मैस्तदन्येषां च सामानिकाऽऽदिदेवनिवासभूतानां पद्मानामनेकलक्षैः समन्तात्परिवृतेन महापद्मेन विराजमानमध्यभागो निषधो महाह्रदः । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

एतदेव सूत्रकार आह—

कहि णं भंते ! देवकुराए कुराए णिसढदहे णामं दहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! तेसिं चित्तविचित्तकूडाणं पव्वयाणं उत्तरिल्लाओ चरिमंताओ अट्ठ चोत्तीसे जोअणसए चत्तारि अ सत्तभाए जोअणस्स अबाहाए सीओदाए महाणईए बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं णिसढदहे णामं दहे पण्णत्ते । एवं जा चेव नीलवंतउत्तरकुरुचंदेरावयमालवंताणं वत्तव्वया, सा चेव णिसढदेवकुरुसूरसुलसाविज्जुप्पभाणं णेयव्वा, रायहाणीओ दक्खिणेणं ति ।

(कहि णं इत्यादि) एवमुक्ताऽऽलापकानुसारेण यैव नीलवदुत्तरकुरुचन्द्रैरावतमाल्यवतां पञ्चानां ह्रदानामुत्तरकुरुषु वक्तव्यता, सैव निषधदेवकुरुसूरसुलसविद्युत्प्रभनामकानां नेतव्या; एतदीयाधिपसुराणां राजधान्यो मेरुतो दक्षिण इति शेषः । जं० ४ वक्ष० ।

णिसण्ण–निषण्ण–त्रि० । स्थिते, उत्त० २० अ० । आव० । उपविष्टे, स्था० ५ ठा० २ उ० । ज्ञा० । उत्त० । आचा० । निविष्टे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । निमग्ने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णिसण्णअ–निषण्णक–पुं० । " संवरआसवदारो, अव्वाबाहे अकंटए देसे । काऊण थिरं ठाणं, ठिओ णिसण्णो णिवण्णो वा ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव० ५ अ० ।

णिसण्णणिसण्ण–निषण्णनिषण्ण–त्रि० । "अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइ जो णिसण्णो उ । एसो काउस्सग्गो, णिसण्णनिस्सण्णगो नाम ॥१॥ " इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव० ५ अ० ।

णिसण्णोस्सिय–निषण्णोत्सृत–पुं० । " धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणाइँ जो णिसण्णो अ । एसो काउस्सग्गो, णिसण्णुस्सिओ होइ नायव्वो ॥१॥ " इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव० ५ अ० ।

णिसमेंत–निशमयत्–त्रि० । आकर्णयति, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णिसम्म–निशम्य–अव्य० । ज्ञात्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । अवगम्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । निशम्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० । अवधार्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । हृदयेनाऽवधार्येत्यर्थे, कल्प० ३ क्षण । स्था० । तं० । ज्ञा० । सूत्र० । आचा० ।

णिसम्मभासि [ण्]–निशम्यभाषिण्–त्रि० । अत्वरितभाषिणि, आचा० १ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० । पूर्वोत्तरेण पर्यालोच्य भाषके, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

णिसह–निषध–त्रि० । 'णिसढ' शब्दार्थे, चं० प्र० ४ पाहु० ।

णिसहकूड–निषधकूट–न० । 'णिसढकूड' शब्दार्थे, स्था० ९ ठा० ।

णिसहदह–निषधह्रद–पुं० । ' णिसढदह ' शब्दार्थे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

णिसा–निशा–स्त्री० । नितरां श्यति व्यापारान् । शो-कः । रात्रौ, हरिद्रायाम्, मेषाऽऽदिराशिषु च । वाच० । बृ० ५ उ० ।

णिसाकप्प–निशाकल्प–पुं० । रात्रौ द्रवाभावेन मात्रके मोकं गृहीत्वाऽऽचमने, गीतार्थाऽऽचीर्णत्वादस्य कल्पत्वम् । बृ० ५ उ० । ('मोय' शब्दोऽत्र वीक्ष्यः)

णिसापासाण–निशापाषाण–न० । मुद्गाऽऽदिदलनशिलायाम्, उपा० २ अ० ।

णिसामिअ–देशी–श्रुते, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिसामित्ता–निशम्य–अव्य० । आकर्ण्येत्यर्थे, उत्त० २ अ० । निशम्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । आचा० । अवधार्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

णिसाय–देशी–सुप्तप्रसुप्ते, दे० ना० ४ वर्ग ३५ वर्ग ।

णिसालोढ–निशालोष्ट–न० । शिलापुत्रके, उपा० १ उ० ।

णिसिअर–निशाचर–पुं० । " इः सदादौ वा " ॥ ८ । १ । ७२ ॥ इत्यात इत्वम् । "निसिअरो, निसाअरो ।" प्रा० १ पाद । " स्वरस्योद्वृत्ते ॥ ८ । १ । ८ ॥ इति न सन्धिः । प्रा० १ पाद । रात्रिचरे, राक्षसे, वाच० ।

णिसिंचिय–निषिच्य–अव्य० । अम्भादिकमाऽऽदिप्रक्षिप्येत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० ।

णिसिज्जा–निषद्या–स्त्री० । निषदनानि निषद्याः । उपवेशनप्रकारेषु, (स्था०)

पंच णिसिज्जाओ पण्णत्ताओ । तं जहा–उक्कुडुया, गोदोहिया, समपायपुया, पलियंका, अद्धपलियंका ।

निषदनानि निषद्या उपवेशनप्रकाराः, तत्राऽऽसनलग्नपुतः पादाभ्यामवस्थित उत्कुटुकस्तस्य या सा उत्कुटुका । तथा–गोर्दोहनं गोदोहिका तद्वद् या असौ गोदोहिका । तथा–समौ समतया भूलग्नौ पादौ च पुतौ च यस्यां सा समपादपुता । तथा–पर्यङ्का जिनप्रतिमा, तामिव या पद्मासनमिति रूढा । तथा अर्द्धपर्यङ्का ऊरावेकपादनिवेशनलक्षणेति । स्था० ५ ठा० १ उ० । "णिसिज्जं च गिहंतरे । निषद्यां चाऽऽसनम् । सूत्र० १

श्रु० ९ अ० । आ० म० । "तिण्हमन्नयरागस्स,निसिज्जा जस्स कप्पए । जराए अभिभूयस्स,वाहियस्स तवस्सिणो ॥१॥" दश० ६ अ० । जीत० । प्रणिपत्य पृच्छायाम्, गौतमस्वामिना निषद्या-त्रयेण चतुर्दश पूर्वाणि गृहीतानि । विशे० । निषीदन्त्यस्यामिति निषद्या । पादप्रोञ्छनके, जीत० । ध० । रजोहरणोपकरण-भेदे, सा च द्विधा-सौत्रिकी, औणिकी चेति । बृ० ३ उ० ।

पायस्स पडोयारो, दुनिसिज्जतिपट्टपोत्तिरयहरणं ॥ [३०]

तथा रजोहरणस्य सत्के द्वे निषद्ये । तद् यथा-बाह्या, आभ्यन्तरा च । इह संप्रति दशिकाऽऽदिभिः सह या दण्डिका क्रियते, सा सूत्र-नीत्या केवलैव भवति, न (?) सदशिका । तस्या निषद्यात्रयम् । तत्र या दण्डिकाया उपरि एकहस्तप्रमाणाऽऽयामा तिर्यग्वेष्टकत्रयपृथु-त्वा कम्बलीखण्डरूपा सा आद्या निषद्या, (नि) तस्याश्चाग्रे दशिकाः सम्बध्यन्ते । तां च सदशिकामग्रे रजोहरणशब्देनाऽऽचार्यो ग्रही-ष्यति, ततो नासाविह ग्राह्या । द्वितीया त्वेनामेव निषद्यां तिर्यग् बहुभिर्वेष्टकैरावेष्टयन्ती किञ्चिदधिकहस्तप्रमाणाऽऽयामा हस्त-प्रमाणमात्रपृथुत्वा वस्त्रमयी निषद्या, सा आभ्यन्तरा निष-द्योच्यते । तृतीया तु तस्या एवाऽऽभ्यन्तरनिषद्यायास्तिर्यग्वेष्ट-कान् कुर्वती चतुरङ्गुलाधिकैकहस्तमाना चतुरस्रा कम्बलमयी भवति । सा च उपवेशनोपकारित्वादधुना पादप्रोञ्छनकमिति रूढा, सा बाह्या निषद्येत्यभिधीयते । मिलितं च निषद्यात्रयं दण्डिकासहितं रजोहरणमुच्यते । ततो रजोहरणस्य सत्के द्वे निषद्ये इति न विरुध्यते । पिं० । निषीदन्त्यस्यामिति निषद्या । उपाश्रये, पं० सं० ४ द्वार ।

णिसिज्जापट्टग-निषद्यापट्टक-पुं० । रजोहरणनिषद्यायाम्, ओ-घ० ।

णिसिज्जापरिसह-निषद्यापरिषह-पुं० । निषद्या च उपाश्रय उच्यते, निषीदन्त्यस्यामिति निषद्येति व्युत्पत्तिबलात्, सैव परिषहः । श्मशानोद्यानशून्यागारगिरिगुहाऽऽदिषु स्त्रीपशुपण्ड-कविवर्जितेषु अनभ्यस्तपूर्वेषु निवसतः सर्वत्र स्वेन्द्रियज्ञानप्र-काशपरीक्षिते प्रदेशे नियमानुष्ठानमधितिष्ठतः सिंहव्याघ्राऽऽ-दिविविधभापणध्वनिश्रवणतोऽसंजातभयस्य चतुर्विधोपसर्ग-सहनेन मोक्षमार्गादप्रच्यवने, पं० सं० ४ द्वार ।

णिसिज्जारयण-निषद्यारचन-न० । उचितभूमावकगुरुनिषद्या-करणे, पं० व० ४ द्वार ।

णिसिट्ठ-निसृष्ट-त्रि० । निर्गते, रा० । प्रवृत्ते, आचा० १ श्रु० ७ अ० २ उ० । बृ० । स्वामिनोत्सृष्टालिने, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । । निसृष्टो नाम यस्य शय्यातरेण प्रवेशोऽनुज्ञातः । बृ० २ उ० ।

णिसित्त-देशी-सन्तुष्टे, दे० ना० ४ वर्ग ३० गाथा ।

णिसिद्ध-निषिद्ध-त्रि० । निवारिते, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिसिद्धजोग-निषिद्धयोग-त्रि० । निरुद्धासद्व्यापारे, पञ्चा० १२ विव० ।

णिसिद्धप्प [ण्]-निषिद्धाऽऽत्मन्-पुं० । निषिद्धो निवारितः सावद्ययोगेभ्य आत्मा स्वभावो येन स निषिद्धाऽऽत्मा । पञ्चा० १२ विव० । निषिद्धो मूलगुणोत्तरगुणातिचारेभ्य आत्मा येन स निषिद्धाऽऽत्मा । निरतिचारे सुसंयते, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिसिय-निशित-त्रि० । तीक्ष्णे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ १ उ० ।

णिसियर-निशाचर-पुं० । पिशाचाऽऽदौ व्यन्तरे, ओघ० ।

णिसिरणा-निसर्जना-स्त्री० । दाने, आचा०२ श्रु०१ चू० १ अ० १० उ० । निक्षेपणे, सूत्र०२ श्रु०२ अ० । स्था० । इयाणिं णिसिरणा दुविधा-लोइया, लोउत्तरिया य । तत्थ लोइया णिसिरणा तिवि-धा-सहसा, पमाएण, अणाभोगेण य । पुव्वाहट्ठेण जोगेण किंचि सहसा णिस्सरति, पंचविधपमायऽन्नतरेण पमत्तो णिसरति । एगंतविस्सती अणाभोगो, तेण णिसिरति ।" नि० चू० ४ उ० ।

णिसीइत्ता-निषद्य-अव्य० । उपविश्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

निषीदयितृ-त्रि० । उपवेष्टरि, " सेहे रातिणियस्स सपक्खं निसीइत्ता भवति । " दशा० २ अ० ।

णिसीइयव्व-निषत्तव्य-त्रि० । संदंशकभूमिप्रमार्जनाऽऽदि-न्यायेनोपवेष्टव्ये, भ० २ श० १ उ० ।

णिसीढ-निशीथ-न० । अप्रकाशे, नि० चू० ३ उ० ।

णिसीयंत-निषीदत्-त्रि० । उपविशति, भ० १३ श० ६ उ० ।

णिसीयण-निषीदन-न० । उपवेशने, स्था० ७ ठा० । व्य० । नि० चू० । पिं० । औ० ।

णिसीयमाण-निषीदत्-त्रि० । उपविशति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

णिसीरिज्जमाण-निसृज्यमान-त्रि० । क्षिप्यमाणे, भ० ८ श० ७ उ० ।

णिसीह-निशीथ-न० । "निशीथपृथिव्योर्वा" ॥८।१।२१६॥ इ-ति थस्य हो वा । प्रा० १ पाद । अप्रकाशे, नि० चू० ३ उ० । मध्यमरात्रौ, तद्वद्यो गुप्तं यदध्ययनं तन्निशीथम् । आचाराङ्ग-पञ्चमचूडायाम्, पा० । नं० ।

पच्छन्नं तु निसीहं, निसीहनामं जहऽज्झयणं ।

प्रच्छन्नं तु निशीथनामकमध्ययनमिति । अथवा-निशीथं गुप्ता-र्थमुच्यते । यथा-अग्रायणीये वीर्यपूर्वे अस्ति नास्ति प्रवादे च पाठः-" जत्थेगो दीवायणो भुंजइ तत्थ दीवायणसयं भुंजइ । जत्थ दीवायणसयं भुंजइ तत्थेगो दीवायणो भुंजइ । तथा-जत्थेगो दीवायणो डज्झइ तत्थ दीवायणसयं डज्झइ । जत्थ दी-वायणसयं डज्झइ, तत्थेगो दीवायणो डज्झइ ।"

तथा चामुमेवार्थमभिधातुकाम आह-

अग्गेणीयम्मि जहा, दीवायण जत्थ एगो तत्थ सयं ।
जत्थ सयं तत्थेगो, डज्झइ वा भुंजई वा त्ति ॥

अक्षरगमनिका सुप्रतीता । इदमालापकद्वयं सम्प्रदायप्रती-तार्थमिति गुप्तार्थत्वान्निशीथमिति । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । निशीथं च कुतः सिद्धमित्यत आह-"निसिहं नव-मापुव्वा, पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ । आयारनामधेज्जा, वी-सइमा पाहुडा नेया ॥१॥ " व्य० १ उ० । प्रकल्पो निशीथः, स च प्रत्याख्यानपूर्वस्य यत्तृतीयं वस्तु तस्याऽपि यदाचाराऽऽख्यं विंशतितमं प्राभृतम् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

इयाणिं णिसीहं ति दारं-

णामं ठवणाणिसीहं, दव्वे खेत्ते य काले भावे य ।
एसो उ णिसीहस्स, णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥६७॥

कंडा । णामठवणा गता । दव्वणिसीहं दुविधं-आगमओ, णोआगमओ य । आगमओ आणए अणुवउत्ते । णोआगमओ जाणगभव्वसरीरवइरित्तं ।

तं चिमम्-

दव्वणिसीहं कतगा-दिएसु खेत्तं तु कएहतमुणिरया ।
कालम्मि होति रत्ती,भावणिसीहं तिमं चेव ॥ ६८॥

• द्रवतीति द्रव्यम्, णिसीहमप्रकाशम् । कतको णाम-रुक्खो, तस्स फलं, तं कलुसोदए पक्खिप्पइ, तओ कलुसं हेट्ठा ठाअति, तं दव्वणिसीहं, सच्छं उवरिं, तं अणिसीहं । गयं दव्वनिसीहं । खेत्तनिसीहं-खेत्तमागासं, तु पूरणे, (कण्ह इति) कएहराईओ, ता अणेण भगवईसुत्ताणुसारेण णेया-"कति णं भंते ! कएहराईओ पण्णत्ताओ ? । गोयमा ! अट्ठ कण्हराईओ पण्णत्ताओ । कहि णं भंते ! ताओ अट्ठ कएहरातीओ पण्णत्ताओ ? । गोयमा ! उप्पिं सणंकुमारमाहिंदाणं कप्पाणं, हेट्ठिं बंभलोगे कप्पे रिट्ठे विमाणपत्थडे, एत्थ णं अक्खाडगसमचउरंससंठाणसंठियाओ अट्ठ कएहराईओ पण्णत्ताओ ॥" (तमु त्ति) तमुक्काओ, सो य वत्वओ आलक्काओ । सो अणेण भगवतीसुत्ताणुसारेण णेओ-"तमुक्काए णं भंते ! कहिं समुट्ठिए, कहिं णिट्ठिए ?। गोयमा ! जंबुद्दीवस्स दीवस्स बहिया तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीतीवइत्ता अरुणवरस्स दीवस्स बाहिरिल्लाओ वेइयंताओ अरुणोदयं समुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता, उवरिल्लाओ जलंताओ एगपदेसियाए सेढीए, एत्थ तमुक्काए समुट्ठिए सत्तरस एक्कवीसे जोयणसते उड्ढं उप्पतित्ता, ततो पच्छा वित्थरमाणे २ सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदे चत्तारि वि कप्पे आवरेत्ता णं चिट्ठति, उड्ढं पि णं० जाव बंभलोए कप्पे रिट्ठविमाणपत्थडे संपत्ते, एत्थ तमुक्काए णिट्ठिते । तमुक्काए णं भंते ! किंसंठिते पण्णत्ते ?। गोयमा ! अहे मल्लगसंठिते उप्पिं कुक्कुडपंजरसंठाणसंठिते ॥"(णिरया इति) णरगा, ते य सीमंतगादि । एए कएहतमुणिरया अप्पगासत्ता खेत्तणिसीहं भवति । खेत्तणिसीहं गतं । इदाणिं कालणिसीहं- कालणिसीहं रात्री । गतं कालणिसीहं । इदाणिं भावणिसीहं- भवनं भावः, णिसीहमप्पगासं, भाव एव णिसीहं भावणिसीहं । तं दुविहं-आगमओ, णोआगमओ य । आगमओ जाणए उवउत्ते, णोआगमओ इमं चेव पकप्पऽज्झयणं, जेण सुत्तत्थतदुभयेहिं अप्पगासं, एव अवधारणे इति ।

कोऽर्थः?-निसीयसद्दपडीकरणत्थं वा भणति-

जं होति अप्पगासं, तं तु णिसीहं ति लोगसंसिद्धं ।
जं अप्पगासधम्मं, अन्नं पि तयं निसीहं ति ॥ ६९ ॥

जमिति अणिद्दिट्ठं, होति भवति, अप्पगासमिति अंधकारं, अकारणिद्देसे लगारो होइ, सद्दस्स अवहारणत्थे तुगारो,अप्पगासवयणस्स णिएणयत्थे णिसीहं ति, लोगे विसिट्ठं णिसीहं अप्पगासं । जहा कोइ पवसिओ पओसे आगओ, परेण वितिए दिणे पुच्छिओ-कल्ले कं वेलमागओ सि? भणति-णिसीहे त्ति,रात्रावित्यर्थः । न केवलं लोकसिद्धमप्पगासं णिसीहं जं अप्पगासधम्मं, अन्नं पि, तं णिसीहं । अक्खरत्थो कओ । उदाहरणं-जहा लोइया रहस्ससुत्ता, विज्जा, मंता,जोगा य अपरिणयाणं ण पगासिज्जंति । अहवा-दव्वखेत्तकालभावणिसीहा अवरहा वक्खाणिज्जंति—दव्वणिसीहं जाणगभव्वसरीरातिरित्तं कतगफलं, जम्हा तेण कलुसुदयपक्खित्तेण मलो णिसीयति, उदगादधपगच्छतीत्यर्थः। तम्हा तं चेव कतगफलं दव्वणिसीहं । खेत्तणिसीहं-बहिं दीवसमुद्दादिया, लोगा य;जम्हा ते पप्प जीवपुग्गलाणं तमभावो भवगच्छति । कालणिसीहं-अहो,तं पप्प रात्तीतमस्स णिसीयणं भवति । भावणिसीहं-

अट्ठविहकम्मपंको, णिसीयते जेण तं णिसीह त्ति ।
अहवऽएणहा विसेसो, सुइं पि जं णेति अणेसिं ॥७०॥

अट्ठ त्ति संखा,विही भेओ,क्रियत इति कर्म, पंको-दव्वे, भावे य । दव्वे उदगकद्दमो, भावे णाणावरणातीणि पंको; सो भावपंको णिसीयते जेण। तस्स भावपंकस्स णिसीयणा तिविहाखओ, उवसमो,खओवसमो य । (जेण त्ति) करणभूतेण, तं णिसीयं भवति, तं चिमं अज्झयणं । जम्हा जहुत्तं आयरमाणस्स अट्ठविहकम्मगंठो वियाराइति, तेणिमं णिसीहं । चोदग आहजइ कम्मक्खवणस्स सामत्थाओ इमं पि णिसीधं, एवं सव्वऽज्झयणाणं णिसीहत्तं भवति त्ति?। गुरू भणति-आमं । किं पुण अविसेसा सव्वऽज्झयणा कम्मक्खवणसमत्था ?। इह अज्झयणे विसेसो। विसेसो णाम भेओ। को पुण विसेसो ?। इमो-(सुइं पि जं णेति अणेसिं) सुति सवणं सोइंदिओवलद्धी, जम्हा कारणा,ण इति पडिसेहे.एति आगच्छति,प्राप्नोतीत्यर्थः। (अणेसिं ति)अगीत अइपरिणामो,अतिपरिणामगाणं ति वक्कसेसं। किं पुण कारणं तेसिमं सुइं पि णागच्छति?। सुण-इदमज्झयणं अववायबहुलं । ते य अगीयत्थादिदोसजुत्त त्ता विणस्सेज्ज, तेण णागच्छति। अवि पदत्थसंभावणे। किं संभावयति ?-जति अगीयाण, अणुसाहुपराबत्तयंताण वि सवणं पि ण भवति । कओ उद्देसवायणत्थसवणाणि एवं संभावयति ?। अहवऽएणहागाहा समवतारिज्जति-अप्पगासणिसीहसहसामण्णवक्खाणओ। सीसो पुच्छति-लोगुत्तरलोगणिसीहाण को पतिविसेसो ?। उच्यते-" अट्ठविहकम्मपंको गाहा ।" अक्खरत्थो सो चेव । उवसंहारो इमो-जइ वि लोइगारण्णमाईणि णिसीहाणि, तह वि कम्मक्खवणसमत्थाणि ण भवंतीति अविसेसे विसेसो भणितो । किं च-ताणि गिहत्थपासंडाणं ण सुतिमागच्छंति । इमं पुण सुतिं पि जं ण एति अणेसिं, अणे गिहत्थऽणातिथिया अ वि सपक्खा, गीयपासंडीण वि । " नि० चू० १ उ० ।

नृसिंह-पुं० । पुरुषसिंहे, पुरुषोत्तमे, वो० १६ विव० ।

णिसीहकप्प-निशीथकल्प-पुं० । निशीथाध्ययनमर्यादायाम्, (पं० भा०)

इयाणिं णिसीहकप्पो-

.......................,णिसीहकप्पं अतो वोच्छं ।
चउहा णिसीहकप्पो, सद्दहणाऽणुपालण गहण सोही ।
सद्दहणा वि य दुविहा, ओहनिसीहे विभागे य ॥
ओहे ति हत्थकम्मं, कुणमाणो रागमूलिया दोसा।
णिएहणमादिविभागे, अइवेगो होति ळसमो ॥
अहवा होतु विभागो, सव्वं चेदं न सद्दहंतस्स ।
सद्दहणाए कप्पो, होति अकप्पो पुण इमो तु ॥
मिच्छत्तसमुदएणं, ओसन्नविहारताइसद्दहणा ।

गणहरमेरं ओहं, ण सद्दहति जो णिसीहं तु ॥
ओसन्नाण विहारं, सद्दहती सुविहिताण गणमेरं ।
णो सद्दहती जो खलु, एस अकप्पो तु सद्दहणो ॥
जाणि भणिताणि सुत्ते, पुव्वावरबाहिताणि बीसाए ।
ताणि अणुपालयंतो, सव्वाण निसीहकप्पो तु ॥
सुत्तत्थतदुभयाणं, गहणं बहुमाणविणयमच्छेरं ।
चोद्दसपुव्विणिबद्धो, पकप्पगहियम्मि गणधारी ॥
तिविहो य पकप्पधरो, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव ।
सुत्तधर होइ तइओ, बितिओ वा होति गणधारी ॥
तिण्णिपंचपणगछक्कं, अट्ठग नवगं च जस्स उवलद्धं ।
ठवणाकरणं दाणं, च सो हु सोही वियाणाहि ॥
णाणादीणं तियगं, पणगं ववहारो होति पंचविहो ।
बितियपणगं च पंच य, छक्कं पुण होंति छक्काया ॥
आलोयणारिहगुणे, अट्ठ तु अहवा विसोहि अट्ठविहा ।
आलोयणगादीयं, मूलं तं जाणती जो उ ॥
आलोयणमादीयं, अणवट्ठं तं तु णवविहं होति ।
पारंचितं तमहवा, दसविह होती च सद्दहणं ॥
ठवणा रोयणकरणं, सफला मासा करेत्तु जो जाणे ।
सो होति दाणअरिहो, तव्विवरीओ अणरिहो तु ॥
किं पुण तं दायव्वं, पायच्छित्तं तु पुच्छए सीसो ।
भण्णति इमेण विहिणा, दायव्वं तं तहा कमसो ॥
ओहेण तु सट्ठाणं, सट्ठाणविभागताएँ वित्थारो ।
पच्छिमपुरिमहेतू, किं ति ण संती चरणमादी ? ॥
ओहे सट्ठाणं ति य, जह चतुगुरु होति रायपिंडम्मि ।
सट्ठाणविभागे पुण, ईसरमादी मुणेयव्वो ॥
अह वा करकम्मम्मि उ, ओहेणं होति मासगुरुयं तु ।
होति विभागपसंगो-ऽदिट्ठादीओ मुणेयव्वो ॥
पुरिसज्जातं णातुं, व दिज्जए जं च जारिसं वत्थु ।
गुरुमादि बलियदोब्बल-हट्ठगिलाणाऽऽदि जं जोग्गं ॥
होऊ कारणणिक्का-रणे य जयणादिसेविओ जह तु ।
तो देति किं निमित्तं, पच्छित्तं विज्जते सुणसु ॥
" पायच्छित्ते असंतम्मि, चरित्तं तु न चिट्ठइ ।
चरित्तम्मि असंतम्मि, तित्थे ण सचरित्तया ॥
तित्थम्मि य असंतम्मि, णिव्वाणं तु ण गच्छइ ।
णिव्वाणम्मि असंतम्मि, सव्वा दिक्खा णिरत्थिया ॥"
एवं णिसीहकप्पो, चउहा तु वण्णितो समासेणं । पं० भा० ।

(चउहा गाहा) "सो निसीहकप्पो चउव्विहो-सद्दहणया, आयरणया, गहणविसोही, सोहिकप्पो य । सद्दहणया दुविहा-ओहे, विभागे य । ओहे त्ति हत्थकम्मं करेमाणस्स तन्निप्फन्नो दोसो । विभागो गणहणाइयो । अहवा-ओहो उस्सग्गो, विभागो अववादो । (मिच्छत्तस्सुदएणं गाहा) जो पुण मिच्छत्तोदएण न सद्दहइ, ओसन्नविहारपसंगं चेव करेइ, तस्स दोससंकरया भवइ । तेण बहुदोससंकरो गणधरधारधरोघो त्ति । गणं धारयन्तीति गणधराः, धारा मेरा, मर्यादा इत्यर्थः । मेराए ओघं, तं गणधरमेरधरोघं, न सद्दहइ जो निसीहं तु अणुपालणाए (गाहा जाणि भणियाणि) जाणि भणिताणि वीसएहिं उद्देसएहिं निसीहस्स पुव्वावरवाहगाइं त्ति अववादेण उस्सग्गो वाहिओ, ताइं अणुपालेइ, ते अणुपालणा । (गाहा सुत्तत्थ) गहणाविहिगहणे सुत्तत्थतदुभयाणं बहुमाणविणएण चोद्दसपुव्वनिबद्धं अच्छेरं ति भण्णमाणेण सो गणपरियट्टो भवइ । (गाहा तिविहो य) सोहिकप्पो त्ति तिविहो पकप्पधरो सुत्तत्थतदुभयाइं, सो गणपरियट्टी, तदुभयवज्जगाणं पुण अत्थधरो गणपरियट्टी, (तिण्णि) तिण्णि जो जाणइ णाणदंसणचरित्तं, (पंच इति) पंच महव्वयाणि । अहवा-पंचिंदियाणि, पायच्छित्तं० जाव पंचिंदियाणं । अहवा-पणगं नाणदरिसणचरित्ततवसंजमाइं जो जाणइ सो परियट्टो । (छक्क त्ति) रायभोयणछट्ठाइं वयाइं (अट्ठगं त्ति) आलोयणारिहाइं० जाव मूलं अट्ठविहं पायच्छित्तं । (नवग इति) अणवट्ठप्पनवमाइं । एयाइं ठाणाइं जस्सुवलद्धाणि सो जाणइ विसोहीं, पायच्छित्तकरणदाणं च । (गाहा ओहेण तु) ओहो नाम-अविसेसियं, तेण ओहेण सपायच्छित्तं पडिसेवणाठाणेहिं जहा रायपिंडे चउगुरुगा, एए सट्ठाणे त्ति विभाएण ईसरतलवराइ, अन्न वि होंति दोसा आकिन्नगुम्माइ । पायच्छित्तकरणं पुण पुरिसजाइं परिच्छिऊण, हेउं च समिक्खिऊण, किं निमित्तं पडिसेवियं ?, कारणे अकारणे त्ति जयणा वा समक्खियं । किं निमित्तं पायच्छित्तं दिज्जइ ?; पायच्छित्तं सोहिकारणं । (गाहा पायच्छित्तं) पायच्छित्ते य असंते पडिसिद्धमेव । एस निसीहकप्पो" । पं० चू० ।

इदाणिं आयरिओ सिस्साणं च इमं णिसीहऽज्झयणं हिययम्मि थिरं भवउ त्ति णिकायणत्थं इमं इमं भणइ । गाहा-

चउहा णिसीहकप्पो, सद्दहणाऽऽयरणगहणसोही य ।
सद्दहण बहुविहा पुण, ओहणिसीहे विभागे य ॥३८१॥

अहवा जं एयं पंचमचूलाए वुत्तं सव्वं तं एयं समासतो चउव्विहं । जतो भण्णति-(चउगाहा) ओहे, विभागे य ।

एक्केक्का अणेगविहा इमा । गाहा-

ओहणिसीहं पुण हो-ति पेढियासुत्तमो विभागो उ ।
उस्सग्गुववाओ ऊ, अववाओ होति उ विभागो ॥३८२॥

ओघः समासः, सामान्यमित्यनर्थान्तरम् । तं च णिसीहपेढियाणामणिप्फण्णो णिक्खेवो, उग्गाहणा इत्यर्थः । विभजनं विभागः, विस्तर इत्यर्थः । स वीसाए उद्देसएहिं जो सुत्तसंगहो, सुत्तत्थो य । अहवा उस्सग्गो ओहो, तस्यापवादः विभागः ।

अहवा-

उस्सग्गो वा ओहो, आणादिसंगमो विभागो उ ।
वत्थुं पप्प विभागो, अवसिट्ठाऽऽवज्जणा होति ॥३८३॥

सुत्ते सुत्ते जं उस्सग्गदरिसणं तं ओहो होउ, जं पुण सुत्ते सुत्ते अणाणादिवत्थुमिच्छत्तविराहणाविभागदरिसणं, सो विभागो । अहवा-आयरियादिपुरिसवत्थुभेदेण जं भणियं सो विभागो, जो पुण अवसिट्ठा आवत्ती सो ओहो ।

अहवा-

पडिसेहो वा ओहो, तक्करणाऽऽणाइ होइ वित्थारो ।
आयासंजमभइया, तस्स य भेदो बहुविकप्पा ॥ ३८४ ॥

ण कप्पइ त्ति काउं जं जं पडिसिद्धं सो सव्वो ओहो । तस्स पडिसिद्धस्स करणाणुण्णा जा आणादिणो य भेदा, एस सव्वो वित्थरो त्ति विभागो । स वित्थरो पुणो भाणियव्वो; णिक्कारणअविधिपडिसेवणाणियमा आणाभंगो, अणवत्था य, मिच्छत्तं च । ण जहा वादी तहा कारि त्ति विराहणाए आयसंजमविराहणाओ भयणिज्जा कया वि भवंति, ण वा । जहा करकम्मकरणे आयविराहणा भवति, ण वा । संजमेण णियमा भवति । पमत्तस्स य पडमाणस्स य आयविराहणा । तस्सेव पाणाइवायसंपत्तीए णो संजमविराहणा । एवं (तम्मि त्ति) विराहणाए भेदा । एवं बहुविगप्पा । अणेगप्पकारा सव्वउज्ज भाणियव्वा । एवं विभागो ।

गाहा-

अहवा सुत्तनिवाओ, ओहो अत्थाओ होति वित्थारो ।
अविसेसो त्ति व ओहो, जो तु विसेसो स वित्थारो ॥ ३८५ ॥
जे भणिता उ पकप्पे, पुव्वावरबाहिता भवे सुत्ता ।
सो तह समायरंतो, सव्वो आयरणकप्पो उ ॥ ३८६ ॥

सुत्तमेत्तप्रतिबद्धं, जहा-पढमसुत्ते करकम्मकरणे मासगुरुं । एस ओहो । सेसो अत्थो, जहा-पढमपोरिसीए करकम्मकरणे मूलं, बितिए छेदो, ततिए छगुरु, चउत्थीए चउगुरुं, पञ्चमीए मासगुरुं । एस विभागो । एवं पढमसुत्ते । एवं चेव सव्वसुत्तेसु । जो अणुवादी अत्थो सो सव्वो विभागो । अहवा-जं दव्वादिपुरिसाविसेसेणं अविसेसिज्जति सो ओहो; दव्वादिपुरिसविसिट्ठं पुण सव्वं वित्थरे णेयव्वं । वुत्तं सट्ठाणसट्ठंतस्स सद्दहणकप्पो । नि० चू० २० उ० ।

णिसीहकरण-निशीथकरण-न० । रहस्यसूत्रार्थे, विशे० ।

साम्प्रतमनिशीथनिशीथयोरेव स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह-

भूयाऽपरिणयविगए, य सद्दकरणं तहेवमनिसीहं ।
पच्छन्नं तु निसीहं, निसीहनामं जहऽज्झयणं ॥

भूतमुत्पन्नम्, अपरिणतं नित्यं, विगतं विनष्टम्, भूतापरिणतविगतम् । समाहारत्वादेकवचनम् । किमुक्तम्भवति ?-"उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा" इत्यादि । किंविशिष्टमित्यादि । शब्दकरणं शब्दः क्रियते यस्मिन् तत् शब्दकरणम् । आ० म० १ अ० ४ खण्ड । ('करण' शब्दे तृतीयभागे ३६८ पृष्ठे व्याख्या)

णिसीहगंथ-निशीथग्रन्थ-पुं० । प्रकल्पशास्त्रे, जी० १ प्रति० ।

णिसीहचुण्णि-निशीथचूर्णि-स्त्री० । निशीथाध्ययनव्याख्यायां चूर्णिग्रन्थे, नि० चू० । सा च चूर्णिः जिनदासगणिमहत्तरेण कृता । विंशतितमोद्देशे " जे भिक्खू मासियं " इत्यादिसूत्राणां विशेषव्याख्या तु चन्द्रसूरिणा कृता । तथाहि-

" प्रणम्य वीरं सुरवन्दितक्रमं,
विशुद्धशुक्लाऽखिलनष्टकल्मषम् ।
गुरूंस्तथा निर्मलबुद्धिकारिणो,
विशुद्धतत्त्वान् जगते हितैषिणः ॥ १ ॥
"विंशोद्देशे श्रीनिशीथस्य चूर्णौ,
दुर्गं वाक्यं यत्पदं वा समस्ति ।
स्वस्मृत्यर्थं तस्य वक्ष्ये सुबोधां,
व्याख्यां काञ्चित्सद्गुरुभ्योऽवबुद्ध्य ॥२॥
आदौ मासिकपदमिह, तत्प्रस्तावात्समागता मासाः ।
तानवधीकृत्याऽऽदौ, व्याख्या प्रारभ्यते चात्र ॥ ३ ॥ "
नि० चू० २० उ० ।

इदानीं चूर्णिकारो यदर्थं मया चूर्णिः कृता इत्येतदाविष्करोति-

" जो गाहासुत्तत्थो, चेवंविहपागडो फुडपदत्थो ।
रइतो परिभासाए, साहूण अणुग्गहट्ठाए ॥ १ ॥ "

"जो गाहा" इत्यादिगाथाशब्देन भाष्यं गाथानिबद्धत्वादभिधीयते, ततो गाथा च, सूत्रं च, तयोरर्थ इति विग्रहः । (पागडो त्ति) प्राकृतः, प्रकटो वा, पदार्था वस्तुभावा यत्र स तथा, परिभाष्यतेऽर्थोऽनयेति परिभाषा चूर्णिरुच्यते ।

अधुना चूर्णिकारः स्वनामकथनार्थं गाथायुग्ममाह-

" तिचउपणऽट्ठमवग्गा, तिपणतितिगअक्खरा वत्र ।
तेसिं पढमतत्तिएहिं, तिदुसरजुएहिं णामं कयं जस्स ॥ १ ॥
गुरुदिण्णं च गणित्तं, महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेहिं ।
तेण कएसा चुण्णी, विसेसनामा निसीहस्स ॥ २ ॥ "

" ति चउ " इत्यादि । वर्गा इह 'अ-क-च-ट-त-प-य-श-वर्गाः' इति वचनात् स्वराऽऽदयो हकारान्ता ग्राह्याः । तदिह प्रथमगाथया जिनदास इत्येवंरूपं नामाभिहितम् । द्वितीयगाथया तदेव विशेषयितुमाह-" जिणदासगणिमहत्तर इति । " तेन रचिता चूर्णिरियम् ।

" सम्यक्कृतयाऽऽम्नायभवा-दत्रोक्तं यदुत्सूत्रम् ।
मतिमान्द्याद्वा किञ्चि-त्तच्छोध्यं श्रुतधरैः कृपाकलितैः ॥१॥
श्रीशीलभद्रसूरीणां, शिष्यैः श्रीचन्द्रसूरिभिः ।
विंशकोद्देशके व्याख्या, दृब्धा स्वपरहेतवे ॥२॥
वेदाश्वरुद्रयुक्ते ११७४, विक्रमसंवत्सरे तु मृगशीर्षे ।
माघसितद्वादश्यां, समर्थितेयं रवौ वारे ॥ ३ ॥ " नि० चू० २० उ० । ('चंदसूरि' शब्दोऽत्र वीक्ष्यः)

णिसीहचूला-निशीथचूला-स्त्री० । आचाराङ्गस्य पञ्चमचूडारूपे निशीथाध्ययने, नि० चू० १ उ० ।

आचाराङ्गे विमुक्तिचूलाऽनन्तरं निशीथचूलिका । तत्संबन्धमाह-

" नमिऊणऽरिहंताणं, सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं ।
सयणसिणेहविमुक्का-ण सव्वसाहूण भावेणं ॥ १ ॥
सविसेसाऽऽयरजुत्तं, काउ पणामं च अत्थदायिस्स ।
पज्जुण्णखमासमण-स्स चरणकरणाणुपालस्स ॥ २ ॥
एवं कयप्पणामो, पकप्पमाणस्स विवरणं वत्ते ।
पुव्वाऽऽयरियकयं चिय, अहं पि तं चेव उ विसेसे ॥ ३ ॥
भणिया विमुत्तिचूला, अहुणाऽवसरो णिसीहचूलाए ।
को संबंधो तस्सा, भण्णइ इणमो णिसामेहि ॥ ४ ॥ "

णवबंभचेरमइओ, अट्ठारसपदसहस्सिओ वेदो ।
हवइ य सपंचचूलो, बहु आयारो पयग्गेणं ॥ १ ॥

ब्रह्मचरणयोरुत्पत्तिनिमित्तं साधनार्थं वा शस्त्रपरिज्ञाऽऽदीनि उपधानश्रुतावसानानि नवाऽध्ययनान्यभिहितानि । जम्हा णव एताणि बंभचेराणि, तम्हा णवबंभचेरमइओ इमो त्ति, जहा-मिम्मओ घडो, तंतुमओ पडो, एवं णवबंभचेरम-

इओ आयारो । सो य अज्झयणसंखाणेण णवऽज्झयणो । पयपरिमाणेण । अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ-अट्ठ य दस य अट्ठारस, अट्ठारसे त्ति संखा, पज्जय इति पयं, तं च अत्थपरिच्छेयवाचगं अट्ठारसे त्ति संखा, पज्जय इति पयं भवति, सहस्सं ति गणिमाभिहाणेण चउत्थं ठाणं भवति । पयं भवति, सहस्सं ति गणिमाभिहाणेण चउत्थं ठाणं दस अहासंखं-एगं,दहं,सयं,सहस्सं ति । स एवाऽऽयारो अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ भवति । कहमु ?-विद ज्ञाने, अस्य धातोः घञ्प्रत्ययान्तस्य वेद इति रूपं भवति । अनन्तं विदन्ति, तेन विदन्ति, तस्मिन् वा विदन्तीति वेदो भवति । सीसो भणति-किमेत्तियमायारो, उत अण्णं पि से अत्थि किंचि ? । अतो भण्णति-"हवति य सपंचचूलो " हवति भवति इति भणितं होति, चशब्दो चूलाणुकरिसणे, सहेति युक्तः, पंच इति संखावायगो सद्दो, (चूला इति) चूल त्ति वा अग्गं ति वा सिहरं ति वा एगट्ठं । सा य छव्विहा-जहा दसवेयालिए भणिया तहा भाणियव्वा । ताओ य पुण इमाओ पंच चूलाओ-पिंडेसणादि जाव उग्गहपडिमा, तात्र पढमा चूला । बितीया-सत्तिक्कगा । तइया-भावणा । चउत्था-विमोत्ती । पंचमी-आयारपकप्पो । एताहिं पंचचूलाहिं सहिओ आयारो बहु भवति, णवऽज्झयणेहिंतो बहुतरो भवति । (पयग्गेणं ति) अट्ठारसपयसहस्सेहिंतो पंचचूलाएपहिं सहितो पयग्गेणं बहुतरो भवति त्ति । अहवा-णवऽज्झयणा पढमचूलासहिता बहु भवंति, अट्ठारसपयसहस्सा पढमचूलापदेहिं सहिता बहुतरा य पयग्गेणं भवंति । एवं कमवुड्ढ्या नेयं, जाव पंचमा चूला । अहवा-सपंचचूलो सुत्तपयग्गेण मूलगंथाओ बहु भवति, अत्थपयग्गेणं बहुतरो भवति । अहवा-बहुबहुतरपदेहिं सेसपदा सूचिता भवंति । ते य इमेबहुतम-बहुतरतम-बहुबहुतरतम इति । अओ भण्णति-णवबंभचेरमइओ आयारो अट्ठारसपयसहस्सिओ पढमचूलऽज्झयणसुत्तत्थपदेहिं जुत्तो बहु भवति । पढमचूलासहितो मूलगंथो दुइयचूलऽज्झयणसुत्तत्थपदेहिं जुत्तो बहुतरो भवति । एवं ततियचूलाए वि बहुतमो भवति । पढमचूलासहितो मूलगंथो दुइयचूलऽज्झयणे सुत्तत्थपदेहिं जुत्तो बहुतमो भवति (?) । एवं ततियचूलाए वि बहुतमो भवति । चउत्थीए वि बहुतरतमो भवति । पंचमीए वि बहुबहुतरतमो भवति । (पयग्गेणं ति) पदानामग्रं पदाग्रं, पदाग्रेणेति पदपरिमाणेनेत्यर्थः । स एवं पयग्गेणं बहुबहुतरो भवति । एवं संबंधगाहासूत्रे व्याख्याते चोदग आह-नवबंभचेरमइए आयारे वक्खाते आयारग्गाणुओगारंभकाले संबंधार्थमिदमेव गाथासूत्रं प्रागुपदिष्टं, प्रथमचूडातश्च द्वितीयचूडाया अनेनैव गाथासूत्रेण संबन्ध उक्तो भवति । एवं द्वितीयचूडातः तृतीयचूडायाः, तथा तृतीयचूडातः चतुर्थचूडायाः, चतुर्थचूडातश्च पञ्चमचूडायाः संबन्ध उक्त एव भवति । एवं सति प्रागुक्तस्य संबन्धगाहासूत्रस्येह पुनरुच्चारणं किमर्थम् ? । आचार्य आह--पुव्वभणियं तु जं एत्थ भण्णति, तत्थ कारणं अत्थि-पडिसेहअणुण्णाकारणं, विसेसोवलंभो वा । सीसो पुच्छति--कस्स पडिसेहो, कहं वा अणुण्णा, किं वा कारणं, को वा विसेसोवलंभो ? । आचार्य आह-तत्र प्रतिषेधः चतुश्चूडात्मके आचारे यत्प्रतिषिद्धं तं सेवंतस्स पच्छित्तं भवति त्ति काउं; किं सेवमाणस्स भवति ? । सूत्रम्-"जे भिक्खू हत्थकम्मं करेति, करेंतं वा सातिज्जति " एवमादीणि सुत्ताणि । एस पडिसेहो । अन्येण कारणं प्राप्य तमेव अणुजाणंति, तं जयणाए पडिसेवंतो सुद्धो, अजयणाए स पायच्छित्ती । कारणमणुण्णा जुगवं गता । अवसेसोवलंभो इमो-आइल्लाओ चत्तारि चूलाओ कमेणेव अहिज्जंति, पंचमी चूला आयारपकप्पो त्ति बालपरियागस्स आरेण न दिज्जति त्ति, बालपरियागस्स वि अपरिणामगस्स अतिपरिणामगस्स वा न दिज्जति । आयारपकप्पो पुण परिणामगस्स दिज्जति । एतेण कारणेण संबंधगाहा पुनरुच्चार्यते । अहवा बहु अतीतकालत्वात् प्रागुक्तसंबन्धस्य विस्मृतिः स्यात्, अतस्तस्य प्रागुक्तसंबन्धस्य स्मरणार्थं प्रागुक्तमपि संबन्धगाहासूत्रमिह पुनरुच्चार्यते । नि० चू०१उ० ।

णिसीहज्झयण-निशीथाध्ययन-न० । आचाराङ्गस्य निशीथाख्यपञ्चमचूलिकायाम्, आचा० १ श्रु० १ अ०१ उ० । आ०चू० ।

णिसीहपेढिया-निशीथपीठिका-स्त्री० । निशीथचूर्णिभूमिकायाम्, नि० चू० । सुत्तत्थो पेढियाए देओ, न वा ? । कस्स देओ, कस्स वा ण देओ इति ? । अहवा-कहितो सुत्तत्थो पेढियाए णिसीहियपेढियाए सुत्तत्थो व्याख्यातो । सो पुण णिसीहपेढियाए सुत्तत्थो कस्स देओ, कस्स वा न देओ ?, इति भण्णति ।

जेसिं ताव ण देओ, ते ताव भणामि-

अबहुस्सुते वि पुरिसे, जिएणरहस्से पईणविज्जत्ते ।
णिस्माणपेहए वा-ऽसंविग्गे दुब्बलचरित्ते ॥ ४६५ ॥

बहु सुयं जस्स सो बहुस्सुतो । सो तिविहो-जहण्णो, मज्झिमो, उक्कोसो । जहण्णो जेण पकप्पऽज्झयणं अधीतं । उक्कोसो चोद्दसपुव्वधरो । तम्मज्झे मज्झिमो । एत्थ जहण्णे वि ताव ण पडिसेहो । न बहुस्सुओ अबहुस्सुतो, येन प्रकल्पाध्ययनं नाधीतमित्यर्थः । तस्य निशीथपीठिका न देया । अहवा-अबहुस्सुतो येन हेट्ठिल्लसुत्तं ण सुयं, सो अबहुस्सुतो भण्णति । (पुरिसे त्ति) पुरिसो तिविहो-परिणामगो, अपरिणामगो, अइपरिणामगो य । एत्थ अपरिणामगअतिपरिणामगाणं पडिसेहो । भिण्णं रहस्सं जम्मि वि पुरिसे सो भिण्णरहस्सो, रहस्सं ण धारयतीत्यर्थः । इह रहस्सं अववातो भण्णति । तं जो अगीताणं कहेति सो भिण्णरहस्सो । पइण्णविज्जत्तणं वा करेति, जस्स वा तस्स वा कहयति । आतीअदिट्ठभावाण सावगाण जाव कहयति । णिस्साणं णाम-आलंबणं, तं पेहेति प्रार्थयति, अववातपेहि त्ति वुत्तं भवति । तं अववायपदं णिक्कारणे वि सेवतीत्यर्थः । ण संविग्गो असंविग्गो, पासत्थादि त्ति वुत्तं भवति । दुब्बलो चरित्ते दुब्बलचरित्तो, विणा कारणेण मूलुत्तरगुणपडिसेवणं करोतीत्यर्थः ॥ ४६५ ॥ नि० चू० १ उ० ।

णिसीहिया-निशीथिका-स्त्री० । अल्पतरकालिकायां वसतौ, भ० १४ श० १० उ० । आ० चू० । निशीथिकानिक्षेपः-तत्र नामनिष्पन्ननिक्षेपे निशीथिकेति नाम, अस्य च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावैः षड्विधो निक्षेपः । नामस्थापने पूर्ववत् । द्रव्यनिशीथम्--आगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं यद् द्रव्यं प्रच्छन्नम् । क्षेत्रनिशीथं तु-ब्रह्मलोकरिष्टविमानपार्श्ववर्तिन्यः कृष्णराजयो, यस्मिन् वा क्षेत्रे तद् व्याख्यायते । कालनिशीथं-कृष्णरजन्यो, यत्र वा काले निशीथं व्याख्यायत इति । भावनिशीथं-नो आगमत इदमेवाध्ययनम्, आगमैकदेशत्वात् गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः । आचा०२ श्रु०२ चू०२ अ० ।

अथाऽऽचाराङ्गस्य द्वितीयसप्तैकके निशीथिकागमनम्-

पढमं से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखति णिसीहियं गमणाए, से जं पुण णिसीहियं जाणेज्जा-सअंडं

प्पपाणं० जाव मक्कडासंताणयं, तहप्पगारं णिसीहियं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णो चेतिस्सामि ॥

साम्प्रतं सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्-(से इत्यादि) स भावभिक्षुर्यदि वसतेरुपहताया अन्यत्र निशीथिकां स्वाध्यायभूमिं गन्तुमभिकाङ्क्षेत,तां च यदि साण्डां यावत्ससन्तानकां जानीयात्ततोऽप्रासुकत्वान्न परिगृह्णीयादिति । किं च-

निशीथिकायामन्योऽन्याक्रिया-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखइ णिसीहियं गमणाए,से जं पुण णिसीहियं जाणेज्जा-अप्पपाणं अप्पबीयं ०जाव मक्कडासंताणयं तहप्पगारं णिसीहिं फासुयं एसणिज्जं लाभे संते चेतिस्सामि, एवं सेज्जागमेणं णेयव्वं० जाव उदयपसूयाए त्ति ॥

(से इत्यादि) स भिक्षुरल्पाण्डाऽऽदिकां गृह्णीयादिति । एवमन्यान्यपि सूत्राणि शय्यावन्नेयानि यावदुदकप्रसूतानि कन्दाऽऽदीनि न्युप्तां न गृह्णीयादिति ।

तत्र गतानां विधिमधिकृत्याऽऽह-

जे तत्थ दुवग्गा वा तिवग्गा वा चउवग्गा वा पंचवग्गा अभिसंधारेइ णिसीहियं गमणाए,ते णो अन्नमन्नस्स कायं आलिंगेज्जा वा, विलिंगेज्जा वा,चुंबेज्जा वा, दंतेहिं वा णहेहिं वा अच्छिंदेज्ज वा,एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहिए समिए सदा जएज्जा. सेयमिणं मण्णेज्जा त्ति त्ति बेमि ॥

(जे इत्यादि) ये तत्र साधवो निषेधिकाभूमौ द्विआऽऽद्यागच्छेयुः, ते नान्योऽन्यस्य कायं शारीरमालिङ्गेयुः,परस्परं गात्रसंस्पर्शं न कुर्युरित्यर्थः । नापि विविधमनेकप्रकारं यथा मोहोदयो भवति तथा विलिङ्गेयुरिति । तथा कन्दर्पप्रधाना वक्त्रसंयोगाऽऽदिकाः क्रिया न कुर्युरित्येतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यं यदसौ सर्वार्थैरशेषप्रयोजनैरामुष्मिकैः सहितः समन्वितस्तथा समितः पञ्चभिः समितिभिः, सदा यावदायुस्तावत् संयमानुष्ठाने यतेतैतदेव च श्रेय इत्येवं मन्येतेति ब्रवीमीति पूर्ववत् । निशीथिकाऽध्ययनं द्वितीयम् । आचा० २ श्रु० २ चू० ९ अ० ।

नैषेधिकी-स्त्री० 'षिध' गत्यामित्यस्य निपूर्वस्य घञि निषेधः। प्राणातिपाताऽऽदिनिवृत्तिः प्रयोजनमस्या नैषेधिकी । प्राणातिपातनिवृत्तायां तन्वाम्, ध० १ अधि० । आव० । उत्त० । निषेधो गमनाऽऽदिव्यापारपरिहारः,स प्रयोजनमस्याः,तमर्हतीति वा नैषेधिकी । बृ० २ उ० । जीत० । निषीदनस्थाने, जी० ३ प्रति० ४ उ० । स्था० । निषेधः प्रमादेभ्य आत्मनो व्यावर्तनं, तत्र भवा नैषेधिकी । ध० २ अधि० । निषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी । व्यापारान्तरनिषेधरूपायां सामाचार्याम्, आर्यं प्रविशतो (स्था० १० ठा०) वसतिप्रवेशे निषिद्धोऽहं गमनक्रिययेति भणने, बृ० १ उ० । ध० । स्था० । आ० म० । निषेधेनासंवृतगात्रचेष्टानिवारणेन निर्वृत्ता तत्प्रयोजना च या शय्याऽऽदिप्रवेशक्रिया सा नैषेधिकी । पञ्चा० १२ विव० । सामाचारीभेदे, पञ्चा० ।

साम्प्रतं नैषेधिकीमाह-

उग्गहप्पवेसे, णिसीहिया तह णिसिद्धजोगस्स ।
एयस्सेसो उचिओ, इयरस्स ण चेव नत्थि त्ति ॥२२॥

एवमुक्तेनाऽऽवश्यकीन्यायेन ज्ञानाऽऽदिकार्यलक्षणेन, अवग्रहप्रवेशे शय्याऽऽदिप्रवेशने, नैषेधिकी सामाचारीविशेषो भवति । तथेत्यवग्रहप्रवेशापेक्षया विशेषणान्तरसमुच्चयार्थः। तच्चेदम्-निषिद्धयोगस्येति । अथवा-तथाऽऽगमन्यायेन, निषिद्धयोगस्य निरुद्धासद्व्यापारस्य । कस्मादियमस्येत्याह-एतस्य निषिद्धयोगस्य, एष नैषेधिकीशब्दस्यान्वर्थयोगो, नैषेधिकीशब्दोच्चार इत्यन्ये, उचितः संगतः । विपर्ययमाह-इतरस्यानिषिद्धयोगस्य पुनः, नैव उचित एव इति प्रकृतम् । चशब्दः पुनरर्थः । स च सम्बन्धित एव । कस्मान्नोचित इत्याह-नास्तीति न विद्यते अन्वर्थ इति कृत्वा । इति गाथाऽर्थः ॥२२॥

अथ कस्मादवग्रहप्रवेशे नैषेधिकी विधेयेत्यत आह-

गुरुदेवोग्गहभूमी-ए जत्तओ चेव होति परिभोगो ।
इट्ठफलसाहगो सइ, अणिट्ठफलसाहगो इहरा ॥२३॥

गुरुदेवावग्रहभूम्या आचार्यदेवाधिदेवाऽऽश्रयभुवः, यत्नत एव आशातनापरिहारप्रयत्नेनैव, चैवशब्दोऽवधारणे । भवति वर्तते परिभोगः । स च किंभूतः?, इत्याह-इष्टफलसाधकः ईप्सितार्थनिष्पादकः, कर्मक्षयहेतुरित्यर्थः । सदा सर्वदा । तद्व्यतिरेकमाह-अनिष्टफलसाधकः, कर्मबन्धहेतुरित्यर्थः। इतरथाऽन्यथा,अप्रयत्नत इत्यर्थः। गुरुदेवावग्रहभूमेः परिभोग इति प्रकृतम् । तत्र गुर्ववग्रहस्वरूपमावश्यकेऽभिहितम् । यथा-" आयप्पमाणमेत्तो, चउद्दिसिं होइ उग्गहो गुरुणो । " इति । देवावग्रहस्तु न क्वापि ग्रन्थे दृष्टः, केवलं भण्यमानः श्रुतः । यथा-"सत्थोग्गहो य तिविहो, उक्कोसजहन्नमज्झिमो चेव । उक्कोसो सट्ठिहत्थो, जहण्ण नव सेस विच्चालो ॥ १ ॥" इति गाथाऽर्थः ॥ २३ ॥

देवाऽऽद्यवग्रहभूमेरेव प्रयत्नपरिभोग्यतां समर्थयन्नाह-

एत्तो ओसरणाऽऽदिसु, दंसणमेत्ते गयाऽऽदिओसरणं ।
सुव्वइ चेइगसिहरा-इएसु सुस्सावगाणं पि ॥२४॥

(एत्तो त्ति) यतो गुर्वाद्यवग्रहभूमेः प्रयत्नपरिभोग इष्टफलसाधको भवतीतोऽस्मात्कारणात्, अवसरणाऽऽदिषु जिनसमवसरणप्रभृतिषु विषयभूतेषु, तेषामित्यर्थः । षष्ठ्यर्थत्वात्सप्तम्याः । आदिशब्दात्समवसरणसम्बन्धिमहेन्द्रध्वजचामरतोरणाऽऽदिपरिग्रहः। दर्शनमात्रे दृष्टिमात्र एव सति,गजाऽऽद्यपसरणं गजाश्वशिबिकाप्रभृतिभ्यो देवावग्रहगमनप्रवहणेभ्योऽवतरणं प्रयत्नविशेषलक्षणम् , श्रूयते आकर्ण्यते प्रवचने तेषु तेषु व्याख्यानकेषु, तथा चैत्यशिखराऽऽदिकेषु जिनभवनशिखरकलशध्वजप्रभृतिषु, एवाभिरत्यर्थः । दर्शनमात्र इति वर्तते । सुश्रावकाणामपि श्रमणोपासकविशेषाणामपि, समवसरणजिनभवनाऽऽदिषु प्रवेष्टुकामानामिति गम्यते । सुसाधूनां पुनर्गुर्वाद्यवग्रहप्रवेशे प्रयत्नो विधेय इत्यर्थसंसूचनार्थोऽपिशब्दः । सुश्रावकग्रहणं चेतरेषामुक्तविधेरन्यथात्वसंभवोपदर्शनार्थम् । इति गाथाऽर्थः ॥ २४ ॥

अथ यस्य नैषेधिकी भावतो भवति, तमभिधित्सुराह-

जो होइ निसिद्धऽप्पा, णिसीहिया तस्स भावतो होइ ।

अणिसिद्धस्स उ एसा, वइमेत्तं चेव दट्ठव्वा ॥ २५ ॥

यः प्राणी, भवति स्यात्, निषिद्धो निवारितः सावद्ययोगेभ्य आत्मा स्वभावो येन स निषिद्धाऽऽत्मा। नैषेधिकी वर्णनिर्वचना, तस्य प्राणिनः, भावतः परमार्थतः, भवति स्यात् । प्रयोक्तविपर्ययमाह-अनिषिद्धस्य तु अनिवृत्तस्य पुनः, सावद्यादिति गम्यते । एषा नैषेधिकी, वाङ्मात्रं वागेव केवला, निरर्थकेत्यर्थः। भवति स्यात्, द्रष्टव्याऽवसेया । इति गाथाऽर्थः । पञ्चा० २२ विव० ।

साम्प्रतं नैषेधिकीं प्रतिपादयन्नाह-

सेज्जं ठाणं च जहिं, चेएइ तहिं निसीहिया होइ।
जम्हा तत्थ निसिद्धो, तेणं तु निसीहिया होइ ॥

शेरते अस्यामिति शय्या-शयनस्थानं, तां शय्यां शयनस्थानं चेति स्थानमूर्द्ध्वस्थानं, कायोत्सर्ग इत्यर्थः। यत्र चेतयते 'चिती' संज्ञाने । अनुभवरूपतया विजानाति, वेदयत इत्यर्थः । अथवा-चेतयते करोति, धातूनामनेकार्थत्वात् । शयनक्रियां च कुर्वता निश्चयतः शय्या कृता भवति, ततश्च यत्र स्वपितीत्यर्थः । चशब्दो वीराऽऽसनाऽऽद्यनुक्तसमुच्चयार्थः । अथ वा तुशब्दार्थे द्रष्टव्यः, स च विशेषणार्थः । किं विशिनष्टीति चेत् ?, उच्यते-प्रतिक्रमणाऽऽद्यशेषकृतावश्यकः सन् अनुज्ञातो गुरूणां शय्यां स्थानं च यत्र चेतयते, तत्र एवंविधस्थितिक्रियाविशिष्टे स्थाने नैषेधिकी भवति, नाऽन्यत्र । किमित्यत आह-यस्मात्तत्र निषिद्धोऽसौ, तेन कारणेन नैषेधिकी भवति,निषेधाऽऽत्मकत्वात्तस्या इति । पाठान्तरं वा-" सेज्जं ठाणं च जया, चेते तइया निसीहिया होइ । जम्हा तया निसीहा, निसेहमइया य सा जेण ॥१॥ " इयमुक्तार्थत्वात्सुगमैव । अनेन ग्रन्थेन मूलगाथया आवश्यकीं निर्गच्छन् यां च आगच्छन् नैषेधिकीं करोति, व्यञ्जनभेदाद् द्विधेत्येतत् स्थितिरूपनैषेधिकीप्रतिपादनं व्यञ्जनभेदनिबन्धनमधिकृत्य व्याख्यातम् ।

साम्प्रतममुमेवार्थमुपसंजिहीर्षुराह भाष्यकारः-

आवस्सियं च निंतो, जं च अयंतो निसीहियं कुणइ ।
सेज्जानिसीहियाए, निसीहियाअभिमुहो होइ ॥

आवश्यकीं निर्गच्छन् नैषेधिकीं करोति, तदेतद् व्याख्यातमिति शेषः । उपलक्षणमेतत् । ततः सह तृतीयपादेन व्यञ्जनमेतद् द्विधेत्यनेनेति द्रष्टव्यम् । साम्प्रतमर्थः पुनर्भवति, स एव गाथाऽवयवार्थः प्रतिपाद्यते । तत्र इत्थमेक एवार्थो भवति । यस्मान्नैषेधिक्यपि नावश्यकर्त्तव्यव्यापारगोचरतामतीत्य वर्तते, ततः संयमयोगानुपालनायाशेषपरिज्ञानार्थं चेत्यमाह-(सेज्जानिसीहियाए, निसीहियाअभिमुहो होइ इति)शय्यैव नैषेधिकी शय्यानैषेधिकी, तस्यां शय्यानैषेधिक्यां विषयभूतायाम्, किं शरीरमपि नैषेधिकीत्युच्यते ?, इत्यत आह-शरीरनैषेधिकया करणभूतया आगमनं प्रत्यभिमुखः, ततः संवृतगात्रैः साधुभिर्भवितव्यमिति संज्ञां करोति, ततोऽवश्यकर्त्तव्यव्यापाररूपत्वाद् नैषेधिक्यप्यावश्यकीत्येक एवार्थः ।

एतदेव सुव्यक्तं भावयति—

जो होइ निसिद्धऽप्पा, निसीहिया तस्स भावतो होइ।
अनिसिद्धस्स निसिहिया, केवलमेत्तं हवइ सद्दो ॥

यो भवति निषिद्धाऽऽत्मा-निषिद्धो मूलगुणोत्तरगुणातिचारेभ्य आत्मा येनेति समासः। नैषेधिकी । तस्य निषिद्धाऽऽत्मनो,भावतः परमार्थतो,भवति। न निषिद्धोऽनिषिद्ध उक्तेभ्य एवातिचारेभ्यः, तस्याऽनिषिद्धस्य अनुपयुक्ततया गच्छतो नैषेधिकीशब्दमात्रमेव केवलं भवति, न भावतः । आह-यदि नामैवं, तत एकार्थतायाः किमायातम् ?, उच्यते-निषिद्धाऽऽत्मनो नैषेधिकी भवतीत्युक्तम् ।

स च-

आवस्सयम्मि जुत्तो, नियमनिसिद्धो त्ति होइ नायव्वो।
अहवा वि निसिद्धऽप्पा, नियमा आवस्सए जुत्तो ॥

आवश्यके मूलगुणोत्तरगुणानुष्ठानरूपे, युक्तः (नियमनिसिद्धो त्ति होइ नायव्वो इति) नियमेन निषिद्धो नियमनिषिद्ध इत्येवं भवति ज्ञातव्यः । आवश्यकेऽपि चाऽऽवश्यकयुक्तस्यैवेत्यत एकार्थता। अथवेति प्रकारान्तरदर्शनार्थः, अपिशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः। निषिद्धाऽऽत्माऽपि नियमादावश्यके युक्तो,यतोऽप्येकार्थतेति । पाठान्तरम्-"अहवा वि निसिद्धऽप्पा, सिद्धाणं अंतियं जाइ ।" इति । अस्यायमर्थः-तदेवं तावत् क्रियाया अभेदेन एकार्थता उक्ता, इह तु कार्याभेदेनैकार्थतोच्यते । अथवेति प्रकारान्तरे, निषिद्धाऽऽत्माऽपि सिद्धानामन्तिकं समीपं याति गच्छति । अपिशब्दादावश्यकयुक्तोऽप्यतः कार्याभेदादेकार्थता । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ०चू० । उत्त० । निषेधेन स्वाध्यायव्यतिरिक्तशेषव्यापारप्रतिषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी। स्वाध्यायमात्रनिमित्ते स्थाने, व्य० १ उ० ।

तत्र का नैषेधिकी, का वाऽभिशय्या ?, इति व्याख्यानयति-

ठाणं निसीहिय त्ति य, एगट्ठं जत्थ ठाणमेवेगं ।
चिंतेति निसिहियं वा, सुत्तऽत्थनिसीहिया सा उ ॥
सज्झायं काऊणं, निसीहियातो निसिं चिय उवेंति ।
अभिवसिउं जत्थ निसिं, उवेंति पातो तई सेज्जा ॥

तिष्ठन्ति स्वाध्यायव्यापृता अस्मिन्निति स्थानम् । निषेधेन स्वाध्यायव्यतिरिक्तशेषव्यापारप्रतिषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी। ततः स्थानमिति वा नैषेधिकीति वा (एगट्ठमिति) एकार्थम्,द्वावप्येतौ तुल्यार्थाविति भावः। व्युत्पत्त्यर्थस्य द्वयोरप्यविशिष्टत्वात् । तत्र यत्र स्थानमेव स्वाध्यायनिमित्तमेकं,न तु ऊर्ध्वं स्थानं, त्वग्वर्त्तनस्थानं वा। चेतयन्ति निशि रात्रौ,दिवा वा, सा सूत्रार्थहेतुभूता नैषेधिकी। एतेनास्मिन् या नैषेधिकयुक्ता सा सूत्रार्थप्रायोग्या नैषेधिकी प्रतिपत्तव्या, न तु कालकरणप्रायोग्या नैषेधिकी प्रतिपत्तव्या। किमुक्तं भवति ?-यस्यां नैषेधिक्यां दिवा स्वाध्यायं कृत्वा दिवैव, यदि वा निशि च स्वाध्यायं कृत्वा निश्येव, निशायामवश्यं नैषेधिकीतो वसतिमुपयन्ति, सा नैषेधिकी, यस्यां पुनर्नैषेधिक्यां दिवा निशायां वा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुषित्वा प्रातर्वसतिमुपयान्ति (तई इति) तका अभिशय्या अभिनिषद्येति भावः। व्य० १ उ० । सोपद्रवेतरायां स्वाध्यायभूमौ, स० २२ सम० । ज्ञा० । स्था० । " सिज्जा निसीहियाए य,समावन्नो य गोयरे ।" शय्यायां वसतौ नैषेधिक्यां स्वाध्यायभूमौ शय्यैव वाऽसमञ्जसनिषेधान्नैषेधिकी, तस्यां समापन्नः । दश० ५ अ० २ उ० । स्वाध्यायकरणे,उत्त० २६अ०। शवपरिष्ठापनभूमौ,अनु० । गृहाऽऽदिव्यापारपरिहारे, सूत्र० १ श्रु० अधि० १ प्रस्ता० ।

णिसीहियापरिसह–नैषेधिकीपरिषह–पुं० । निषेधनं निषेधः पापकर्मणां गमनाऽऽदिक्रियायाश्च, स प्रयोजनमस्या नैषेधिकी, श्मशानाऽऽदिस्वाध्यायाऽऽदिभूमिर्निषद्येति यावत् । सैव च परिषहो नैषेधिकीपरिषहः । उत्त०२ अ० । नैषेधिकी स्वाध्यायभूमिः शून्यागाराऽऽदिरूपा, तत्परिषहणं च तत्रोपसर्गेष्वत्रासः । भ० ८ श० ८ उ० । निषद्यापरिषहे, यथा–" श्मशानाऽऽदौ निषद्यायां, स्त्र्यादिकण्टकवर्जिते । उपसर्गानभिद्वेषात्, निरीहो निर्भयः सहेत् ॥१॥" ध०२ अधि० । "श्मशानाऽऽदिनिषद्यास्तु, स्त्र्यादिकण्टकवर्जिते । उपसर्गानभिद्वेषा–नैकोऽत्रोरस्पृहः क्षमेत ॥१॥" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

एतदेव सूत्रकार आह–

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥ २० ॥

(सुसाणे इति) शवानां शयनमस्मिन्निति श्मशानं, तस्मिन् पितृवने, श्वभ्यो हितमिति वाक्ये " उगवादिभ्यो यत् " ॥५। १।२॥ इत्यत्र " शुनः संप्रसारणं दीर्घत्वम् । " (वा०) इति वचनतो यति संप्रसारणे दीर्घत्वे च शून्यम्, तच्च तदगारं च शून्यागारं, तस्मिन् वा । वृश्च्यत इति वृक्षः, तस्य मूलमधो भूभागो वृक्षमूलं, तस्मिन् वा, एक उक्तरूपः, स एवैककः, एको वा प्रतिमाप्रतिपत्त्यादौ गच्छतीत्येकगः, एकं वा कर्मसाहित्यविगमतामोक्षं गच्छति तत्प्राप्तियोग्यानुष्ठानप्रवृत्तेर्यातीत्येकगः, अकुक्कुचोऽशिष्टचेष्टारहितो, निषीदेत् तिष्ठेत, न च नैव, वित्रासयेत परम् अन्यम् । किमुक्तं भवति ?–"पडिमं पडिवज्जिया मसाणे, नो भायए भयभेरवाइं दिस्स । विविहगुणतवोरए य निच्चं, सरीरं चाभिकंखए स भिक्खू ॥" इत्यागममनुस्मरन् श्मशानाऽऽदावप्येककोऽप्यनेकभयानकोपलम्भेऽपि न स्वयं संविभीयात्, न च विकृतस्वरमुखविकाराऽऽदिभिरन्येषां भयमुत्पादयेत् । यद्वा–(अकुक्कुए त्ति) अकुक्कुचः कुत्पादिविराधनाजयात्कर्मबन्धहेतुत्वेन कुत्सितहस्तपादाऽऽदिभिरस्पन्दमानो निषीदेत् । न च वित्रासयेत् वित्रासयेत, परमुन्दुराऽऽदि । मा भूदसंयम इति सूत्रार्थः ॥ २० ॥

तत्र च तिष्ठतः कदाचिदुपसर्गोत्पत्तौ यत्कृत्यं तदाह–

तत्थ से अच्छमाणस्स, उवसग्गाऽभिधारए ।
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं ॥ २१ ॥

तत्रेति श्मशानाऽऽदौ 'से' तस्य तिष्ठतः । तथा च–'अच्छमाणस्स त्ति' आसीनस्य, उप सामीप्येन सृज्यन्ते तिर्यग्मनुष्यामरैः कर्मवशगेनाऽऽत्मना वा क्रियन्त इत्युपसर्गाः, तेऽभिधारयेयुः, अन्तर्भावितेषार्थत्वादभिधारयेयुरिव । कोऽर्थः ?–उत्कटतयाऽत्यन्तांस्तिस्कारिपुवदभिमुखीकुर्युरिव । यथैते सह्या वयं, तत्प्रगुणीभूयाऽभिमुखैः स्थेयमिति । यद्वा–सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम्, उपसर्गाः संजवेयुस्ततस्तानभिधारयेत् । किमेते ममाचलितचेतसः कर्तुमलमिति चिन्तयेत् । पठ्यते च–"उवसग्गभयं जवे ।" इति सुगमम् । शङ्काभीत इति । तत्कृतापकारशङ्कातो भीतस्त्रस्तो न गच्छेत् यायादुत्थाय । कोऽर्थः ?–तत्स्थानमपहाय अन्यदपरम्, आस्यतेऽस्मिन्नित्यासनं स्थानमिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥ उत्त० पाई० २ अ० ।

णिक्खंतो गयपुराओ, कुरुदत्तसुओ गओ य साएयं ।
पडिमं ठियस्स कुडिया, अग्गी सीसम्मि जालेंति ॥ ४ ॥ उत्त० नि० ।

निष्क्रान्तः प्रव्रजितो गजपुरात् कुरुदत्तसुतो, गतश्च साकेतम्, प्रतिमास्थितस्य (कुडिय त्ति) हृतगवेषकाः, अग्निं शिरसि ज्वालयन्तीति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः । उत्त० २ अ० ।

अथ कुरुदत्त (सुत) साधुकथा–अत्र नैषेधिकीपरिषहः । कोऽर्थः ?, यथा ग्रामाऽऽदिषु अप्रतिबद्धेन चर्यापरिषहः सहनीयः, तथा शरीरेऽप्रतिबद्धेन नैषेधिकीपरिषहः सहनीयः । नैषेधिकी नाम शरीरमित्यर्थः । अथ कथा–हस्तिनागपुरे इभ्यपुत्रः कुरुदत्त (सुत) नामा प्रव्रजितः विहरन् क्रमात् साकेतपुरादन्दूरप्रदेशे प्रतिमायां स्थितः । तत्र चरमपौरुष्यां गोधनापहारिणश्चौराः समायाताः, तत्पृष्ठे त्वरितं गताः, पश्चात् गोस्वामिनः समायाताः । तैश्चौरमार्गस्वरूपे पृष्टे स यतिः न किञ्चिद् ब्रूते । ततः संजातकोपैस्तैः शिरसि मृत्पालिं कृत्वाऽङ्गाराः क्षिप्ताः, स यतिर्मनागमपश्रुतः तां वेदनामधिसहमानः सिद्धिं गतः । उत्त० २ अ० ।

णिसीहियारय–निशीथिकारत–त्रि० । स्वाध्यायध्यायिनि, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ।

णिसीहियासत्तिक्कय–निशीथिकासप्तैकक–न० । आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य सप्तैककस्याष्टमाध्ययनस्य द्वितीये निशीथिकाप्रतिपादकेऽध्ययने, आचा० २ श्रु० २ चू० । स्था० ।

णिसुअ–देशी–श्रुते, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिसुंभ–निशुम्भ–पुं० । पञ्चमे प्रतिवासुदेवे, प्रव० २११ द्वार । ति० । आव० । पातिते, दे० ना० ४ वर्ग ३६ गाथा ।

णिसुंभण–निपातयत्–त्रि० । भूमौ पातयति, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

णिसुंभा–निशुम्भा–स्त्री० । बलेर्वैरोचनेन्द्रस्य पञ्चानामग्रमहिष्याम्, स्था०४ ठा०२ उ० । ज्ञा० । (अस्याः पूर्वोत्तरजन्मकथा 'अग्गमाहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७० पृष्ठे उक्ता)

णिसुट्ठ–निपातित–त्रि० । " केनाप्फुण्णाऽऽदयः " ॥ ८ । ४ । २५८ ॥ इति निपातितशब्दस्य निसुट्ठाऽऽदेशः । प्रा० ४ पाद ।

णिसुढ–नम्–धा० । नतौ, भाराऽऽक्रान्तेर्नमेर्णिसुढ इत्यादेशः । 'णिसुढइ' । भाराऽऽक्रान्तो नमतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

णिसुणिऊण–निश्रुत्य–अव्य० । श्रवणं कृत्वेत्यर्थे, जीवा० १ अधि० ।

णिसेज्जा–निषद्या–स्त्री० । स्त्रीवसतौ, स्त्रीभिः कृतायां मायायाम्, " तम्हा समणा ण समेंति आयहियाए सण्णिसेज्जाए । " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । पण्यशालायाम्, हट्टे, कुड्यच्छायाम् । वाच० । 'णिसज्जा' शब्दार्थे च । प्रव० ६७ द्वार ।

णिसेय–निषेक–पुं० । कर्मपुद्गलानां प्रतिसमयानुभावरचनायाम्, स्था०६ ठा० । आचा० । गर्भाधाने, "निषेकाऽऽदि श्मशानान्तम् ।" इति मनुः । वाच० ।

णिसेविय–निषेवित–त्रि० । आसेविते, आ० म० १ अ० १ खण्ड । आश्रिते, उत्त० २० अ० ।

णिसेह–निषेध–पुं० । 'षिध' गत्यामस्य निपूर्वस्य घञि निषेधनं निषेधः । आव० ३ अ० । निवारणायाम्, पञ्चा० ११ विव० ।

णिसेहण-निषेधन-न० । वारणे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिसेहणा-निषेधना-स्त्री० । वारणायाम्,आव० १ अ० ।

णिसेहिया-नैषेधिकी-स्त्री० । निषिध्यन्ते निराक्रियन्तेऽस्यां कर्माणीति नैषेधिकी निर्वाणभूमिः। "कृत्यल्युटोऽन्यत्रापि" इत्यत्राधिग्रहणबलाद् ल्युट् । यदि वा निषेधे सकलकर्मनिराकरणलक्षणे भवा नैषेधिकी । मुक्तिगतौ, उत्त० १० अ० । शवपरिष्ठापनाभूमौ, ग० २ अधि० । निर्गमनस्थाने, द्वारकूटसमीपे नितम्बे, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

णिस्फल-निष्फल-त्रि० । " सषोः संयोगे सोऽग्रीष्मे " ॥८।४। २७६ । इति सकारसंयोगे स एव । प्रा० ४ पाद । फलरहिते, प्रा० ४ पाद ।

णिस्संक-निःशङ्क-त्रि० । निर्दये, इहपरलोकाऽऽशङ्कारहिते, व्य० १० उ० । शङ्काया अभावो निःशङ्कम् । संशयाभावे, पञ्चा० ९ विव० । निर्गता शङ्का देशसर्वशङ्कारूपा यस्य स निःशङ्कः । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । आचा० । शङ्कारहिते, उत्त० १९ अ० । निर्भरे, दे० ना० ४ वर्ग ३२ गाथा ।

णिस्संकिय-निःशङ्कित-त्रि० । शङ्कनं शङ्कितं शङ्का, निर्गतं शङ्कितं यस्मादसौ निःशङ्कितः । देशसर्वशङ्कारहिते, व्य० १ उ० । दश० । ध० । ग० । नि० चू० । उत्त० । स्था० । निःसंशये, रा० । शङ्कनं शङ्कितं देशतः सर्वतश्च शङ्काऽऽत्मकम् । तस्याभावो निःशङ्कितम् । उत्त० २८ अ० । प्रव० । संशयाभावे निःसंदेहे, औ० ।

णिस्संग-निस्सङ्ग-त्रि० । बाह्याभ्यन्तरसङ्गरहिते, आ० म० १ अ० १ खण्ड । उत्त० । पुत्रकलत्रमित्रधनधान्यहिरण्यसुवर्णाऽऽदिसकलसम्बन्धविकले, पा० । आव० ।

णिस्संचार-निस्संचार-त्रि० । द्वारापद्वारैर्जनप्रवेशनिर्गमवर्जिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

णिस्संत-निःशान्त-त्रि० । नितरामतिशयेन शान्त उपशमो वाऽन्तः क्रोधपरिहारेण बहिश्च प्रशान्ताऽऽकारतया निःशान्तः । उत्त० १ अ० । अत्यन्तमन्दपूते, रा० ।

णिस्संधि-निस्सन्धि-त्रि० । निर्विवरे, " णिस्संधिवारविरहिया । " प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिस्संस-निःशंस-त्रि० । श्लाघारहिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णिस्संसय-निस्संशय-त्रि० । संदेहाभावे, "ततो णिज्जीवं निस्संसयं मुणिऊण । " आ० म०१ अ० १ खण्ड । सूत्र० ।

णिस्सक्क-निःष्वष्क-त्रि० । नष्टसक्के, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

णिस्सयर-निःस्वकर-न० । स्वकर्मानादिसम्बन्धव्यपनयनसमर्थानि निःस्वकराणि । कर्मविश्लेषकेषु, आचा० २ श्रु० ४ चू० १ उ० ।

णिस्सरण-निःसरण-न० । पलायने, व्य० १ उ० । निर्गमे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णिस्सरणणंदि [ण्]-निःसरणनन्दिन्-त्रि० । निःसरणेन निर्गमेण नन्दति यो, नन्दिर्वा यस्य स निःसरणनन्दी । प्राघूर्णकशिष्याऽऽदीनामात्मनो वा गच्छाऽऽदेर्निर्गमेण प्रसन्ने पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णिस्सरिअ-देशी-स्रस्ते, दे० ना० ४ वर्ग ४० गाथा ।

णिस्सल्ल-निश्शल्य-त्रि० । मिथ्यादर्शनाऽऽदिशल्यरहिते, स० ६ सम० । आ० म० । उत्त० ।

णिस्सह-निःसह-त्रि० । नितरामशक्ते, स० ६ अङ्ग० ।

णिस्सा-निश्रा-स्त्री० । रागे, व्य० १ उ० । पक्षपाते, व्य०३ उ० । उपसंपदि, व्य० ४ उ० । आश्रयणे, भ० ३ श० २ उ० ।

णिस्साठाण-निश्रास्थान-न० । अवलम्बनस्थाने, उपग्रहहेतौ, स्था० ।

धम्मं णं चरमाणस्स पंच णिस्साठाणा पणत्ता । तं जहा-छक्काया, गणो, राया, गाहावई, सरीरं ।

धर्मं श्रुतचारित्ररूपं, णमित्यलङ्कारे, चरतः सेवमानस्य, पञ्च निश्रास्थानान्यवलम्बनस्थानानि, उपग्रहहेतव इत्यर्थः । षट्कायाः पृथिव्यादयः, तेषां च संयमोपकारिता आगमप्रसिद्धा ।

तथाहि-पृथिवीकायमाश्रित्योक्तम्-

" ठाणनिसीयतुयट्टण-उच्चाराईण गहणनिक्खेवे ।
घट्टगडगलगलेवो, एमाइ पओयणं बहुहा ॥ १ ॥ "

अप्कायमाश्रित्य-

" परिसेयपियणहत्था-इधोयणे चीरधोयणे चेव ।
आयमणभाणधुवणे, एमाइ पओयणं बहुहा ॥२॥ "

तेजस्कायप्रति-

" ओयणवंजणपाणग-आयामुसिणोदगं च कुम्मासा ।
डगलगसरक्खसूइय-पिप्पलमाई य उवओगो ॥ ३ ॥ "

वायुकायमभि-

" दइएण बत्थिणा वा, पओयणं होज्ज वाउणा मुणिणो ।
गेलण्णम्मि वि होज्जा, सचित्तमीसे परिहरेज्जा ॥४॥"

वनस्पति प्रति-

" संथारपायदंडग-खोमियकप्पायपीढफलगाई ।
ओसहभेसज्जाणि य, एमाइ पओयणं तरुसु ॥ ५ ॥ "

त्रसकाये पञ्चेन्द्रियतिरश्च आश्रित्योक्तम्-

"चम्मऽट्ठिदंतनहरो-मसिंगअमिलाणछगणगोमुत्ते ।
खीरदहिमाइयाणं, पंचिंदि-तिरियपरिभोगे " ॥६॥

एवं विकलेन्द्रियमनुष्यदेवानामप्युपग्रहकारिता वाच्या । तथा गणो गच्छः, तस्य चोपग्राहिता-" एगस्स कओ धम्मो," इत्यादिगाथापूगादवसेया ।

तथा-

"गुरुपरिवारो गच्छो, तत्थ वसंताण निज्जरा विउला ।
विणयाउ तहा सारण-माईहिँ न दोसपडिवत्ती ॥ ७ ॥
अन्नोन्नावेक्खाए, जोगंमि तर्हि तहिं पयट्टंतो ।
नियमेण गच्छवासी, असंगपयसाहगो नेओ ॥ ८ ॥ " इति ।

तथा राजा नरपतिः, तस्य धर्मसहायकत्वं दुष्टेभ्यः साधुरक्षणात् ।

उक्तं च लौकिकैः-

"क्षुद्रलोकाऽऽकुले लोके, धर्मं कुर्युः कथं हि ते ? ।
क्षान्ता दान्ता अहन्तारः-श्चेद्राजा तान्न रक्षति ॥ १ ॥ "

तथा-

" अराजके हि लोकेऽस्मिन्, सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य, राजानमसृजत्प्रभुः ॥ २ ॥ " इति ।

तथा गृहपतिः शय्यादाता, सोऽपि निश्रास्थानम्, स्थानदानेन संयमोपकारित्वात्।

यदुक्तम्-

" धृतिस्तेन दत्ता मतिस्तेन दत्ता,
गतिस्तेन दत्ता सुखं तेन दत्तम्।
गुणश्रीसमालिङ्गितेभ्यो वरेभ्यो,
मुनिभ्यो मुदा येन दत्तो निवासः" ॥ १ ॥

तथा--

" जो देइ उवसयं जइ-वराण तवनियमजोगजुत्ताणं।
तेणं दिण्णा वत्थ-ऽन्नपाणसयणासणविगप्पं " ॥१॥ इति।

तथा शरीरं कायः, अस्य च धर्मोपग्राहिता स्फुटैव।

यतोऽवाचि-

" शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः।
शरीरात् स्रवते धर्मः, पर्वतात्सलिलं यथा " ॥ १ ॥ इति।

भवति चात्राऽऽर्या-

" धर्मं चरतः साधो-र्लोके निश्रापदानि पञ्चैव।
राजा गृहपतिरपरः, षट्काया गणशरीरे च " ॥ १ ॥

इति। शेषं सुगमम्। स्था० ५ ठा० ३ उ०।

णिस्साण-निश्राण-न०। आलम्बने, " णिस्साणपेहिं त्ति अवयातपेहिं त्ति वुत्तं भवति। " नि० चू० १ उ०। प्रश्न०।

णिस्साणपय--निश्राणपद-न०। निश्रायते मन्दश्रद्धाकैरासेव्यते इति निश्राणं,तच्च तत्पदं च निश्राणपदम्। अपवादे,बृ०१उ०।

णिस्सार-निःसार--त्रि०। सारवर्जिते प्रडआलिप्रायगुणभाण्डे, स० ६ अङ्क। सारो हि विषयगणरसतत्प्राप्तौ तृप्तिस्तदभावान्निःसारम्। तथाविधसाररहिते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। जीर्णे, आचा० १ श्रु०४ अ०३ उ०। वेदवचनाऽऽदिवत्तथाविधयुक्तिरहिते परिफल्गुश्रुते, अनु०। विशे०। यत्र सारोऽर्थो न विद्यते अस्थि चर्म शिग्रापृष्ठं वृन्द इति। बृ० १ उ०।

णिस्सारय-निस्सार[वत्]-त्रि०। निर्गत एकान्ततः सारश्चारित्राऽऽख्यो यस्य स निःसारः। यदि वा निर्गतस्य सारो निःसारः,स विद्यते यस्याऽसौ निःसारवान्। साररहिते, "णिस्सारए होइ जहा पुलाए।" सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

णिस्सारिय-निःसारित-त्रि०। संयमाच्च्यावितें, विषयोन्मुखतामापादिते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

णिस्सावयण-निश्रावचन-न०। निश्रया वचनं निश्रावचनम्। आहरणतद्देशभेदे, स्था०। कमपि सुशिष्यमाश्रित्य यदन्यप्रबोधार्थं वचनं निश्रावचनं, तदत्र विधेयतयोच्यते तदाहरणं निश्रावचनम्-यथा असहनान् विनेयान् मार्दवसम्पन्नमन्यमालम्ब्य किञ्चिद् ब्रूयात्,गौतममाश्रित्य भगवानिवेति। तथाहि-किल गौतमं तापसाऽऽदिप्रव्रजितानां केवलोत्पत्तावनुत्पन्नकेवलत्वेनाधृतिमन्तं चिरसंसृष्टोऽसि गौतम!, चिरपरिचितोऽसि गौतम!, मा त्वमधृतिं कार्षीरित्यादिना वचनसंदोहेनानुशासयताऽन्येऽप्यनुशासिताः, तदनुशासनार्थं द्रुमपत्रकाध्ययनं च प्रणिन्ये इति। उक्तं च-" पुच्छाए कोणिओ खलु, निस्सावयणम्मि गोयमस्सामी। " स्था० ४ ठा० ३ उ०।

णिस्सिंचमाण-निस्सिञ्चत्-त्रि०। वस्त्रोद्वृत्तं प्रक्षिपति,"उस्सिंचमाणे वा निस्सिंचमाणे वा आमज्जमाणे वा पमज्जमाणे वा।" आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० १ उ०।

णिस्सिंचिय-निःषिच्य-अव्य०। तन्द्राजनादुद्धृतं द्रव्यमन्यत्र भाजने कृत्वेत्यर्थे, दशा० ५ अ० १ उ०।

णिस्सिय-निःश्रित-त्रि०। 'श्रिञ्' सेवायाम्। आ०चू० ४ अ०। निश्चयेन श्रितः संबद्धो निःश्रितः। अभ्युपपन्ने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। संबद्धे, प्रवृत्ते, प्रतिबद्धे, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। प्रश्न०। लिङ्गप्रमिते, स्था० ६ ठा०। सम्म०। आश्रिते, स्था० १० ठा०। स०। सूत्र०। आसक्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। भावे क्तः। रागे, आहाराऽऽदिलिप्सायाम्, स्था० ७ ठा०। निश्रा रागः,निश्रा संजाताऽस्येति निश्रितः। रक्ते, सर्वाऽऽशंसायुक्ते, शिष्यत्वाऽऽदिप्रतिपन्ने, स्था० ५ ठा० २ उ०। निःसृत-त्रि०। निर्गते, स्था० ७ ठा०। आचा०। " तं चिय सरूवओ जं, अणिस्सियमिम त्ति। " तमेव लिङ्गनिश्रया जानानो निःसृतं मुणतीत्युच्यते। विशे०।

णिस्सील-निःशील-त्रि०। निर्गतशुभस्वभावे दुःशीले,स्था०३ ठा० १ उ०। सुस्वभाववर्जिते, स्था० ३ ठा० २ उ०। गताऽऽचारे, जं० २ वक्ष०। समाधानरहिते, भ० १२ श०८ उ०। अपगतशुभस्वभावे,ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। महाव्रताणुव्रतविकले, भ० ७ श० ६ उ०। ब्रह्मचर्यपरिणामाभावात् (दशा० ५ अ०) गृहस्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। (निःशीलानां त्रैविध्यं ' लोग ' शब्दे वक्ष्यते)

तओ ठाणा णिस्सीलस्स णिव्वयस्स णिग्गुणस्स णिम्मेरस्स णिप्पच्चक्खाणपोसहोववासस्स गरहिया भवंति। तं जहा-अस्सिं लोए गरहिए भवइ, उववाए गरहिए भवइ, आयाइगरहिए भवइ। तओ ठाणा ससीलस्स सव्वयस्स सगुणस्स समेरस्स सपच्चक्खाणपोसहोववासस्स पसत्था भवंति। तं जहा-अस्सिं लोगे पसत्थे भवइ, उववाए पसत्थे भवइ, आयाए पसत्थे भवइ ॥

(तओ ठाणा इत्यादि) त्रीणि स्थानानि निःशीलस्य सामान्येन शुभस्वभाववर्जितस्य, विशेषतः पुनर्निर्व्रतस्य प्राणातिपाताऽऽद्यनिवृत्तस्य निर्गुणस्योत्तरगुणापेक्षया, निर्मर्यादस्य लोककुलाऽऽद्यपेक्षया,निःप्रत्याख्यानपौषधोपवासस्य गर्हितानि जुगुप्सितानि भवन्ति। तद्यथा-(अस्सिं ति) विभक्तिपरिणामादयं लोकः ' इदं जन्म ' गर्हितो भवति, पापप्रवृत्त्या विद्वज्जनजुगुप्सितत्वात्। तथा उपपातोऽकामनिर्जराऽऽदिजनितः किल्बिषाऽऽदिदेवभवो नारकभवो वा, उपपातो देवनारकाणामिति वचनात्,स गर्हितो भवति,किल्बिषाभियोग्याऽऽदिरूपत्वादिति,आजातिस्तस्मात् च्युतस्योद्वृत्तस्य वा कुमानुषत्वतिर्यक्त्वरूपा गर्हिता, कुमानुषाऽऽदित्वादेवेति। उक्तविपर्ययमाह-(तओ इत्यादि) निगदसिद्धम्। स्था० ३ ठा० २ उ०।

णिस्सेणि-निःश्रेणि-स्त्री०। अवतरण्याम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। आचा०।

णिस्सेयस-निःश्रेयस-न०। निश्चितं श्रेयः प्रशस्यम्। स्था० ३ ठा० ४ उ०। कल्याणे, स्था० ६ ठा०। कर्मक्षयहेतुत्वात् (आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ०) अभ्युदयप्राप्तौ, उत्त० ९ अ०। निश्चितकल्याणे मोक्षे, दशा० ४ अ०। मोक्षे, विपा० ६ श्रु० १ वर्ग १ अ०। स्था०। औ०। नं०। दशा०।

आ० म० । ध० । स्था० । आमलषितविषयावाप्याऽभ्युदये, उत्त० ८ अ० ।

णिस्सेयसिय-नैःश्रेयसिक-त्रि० । निःश्रेयसं विपवृमोक्षमिच्छतीति नैःश्रेयसिकः । भ० १५ श० । निःश्रेयसं मोक्षः,तत्र नियुक्त इव नैःश्रेयसिकः । मोक्षयोग्ये मोक्षार्थिनि, प्रति० । भ० ।

णिस्सेस-निःशेष-त्रि० । सम्पूर्णे, दश० ९ अ० २ उ० ।

णिस्सेसकम्ममुक्क-निःशेषकर्ममुक्त-त्रि० । क्षीणसकलकर्मणि, पञ्चा० ३ विव० ।

णिहु-निज-त्रि० । सदृशे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

निहु-त्रि० । निहन्यते निहः । निपूर्वाद्धन्तेः कर्मणि डः । आचा० १ श्रु०२ अ०३ उ० । मायिनि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । क्रोधाऽऽदिभिः पीडिते. सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । निहन्यते प्राणिनः कर्मवशगा यस्मिन् तन्निहम् । आघातस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

स्निह-त्रि० । स्निह्यते स्निह्यते अष्टप्रकारेण कर्मणा इति स्निहः । रागवति, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । रागद्वेषयुक्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । ममत्वसहिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ०२ उ० ।

णिहट्टु-निर्हृत्य-अव्य० । पृथक् कृत्वेत्यर्थे, " बहु अट्ठियं मंसं पडिमाएत्ता णिहट्टु वलपएज्जा । " आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १० उ० ।

निहृत्य-अव्य० । स्थापयित्वेत्यर्थे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णिहट्ठ-निघृष्ट-त्रि० । कृतनिघर्षे, " तंहिअसणिहट्ठाणंग । " प्रा० २ पाद ।

णिहण-निधन-न० । विनाशे, सम्म० १ काण्ड । पर्यन्ते, ह० ४ गस्व । " तत्थेव णिहणमुवगतो । " आ० म० १ अ० २ खण्ड । "णिहणाहि रागदोसमल्लं।" कल्प०५ क्षण । कुले, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिहणिस्सु-निहतवत्-क्लिष्टवति, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

णिहत्त-निधत्त-न० । निधानं निहितं वा निधत्तं, भावे कर्मणि क्तप्रत्यये निपातनात् । उद्वर्तनापवर्तनावर्जितशेषकरणानामयोग्यत्वेन कर्मणाऽवस्थापने, स्था० ४ ठा०२ उ० । भ० । निषिक्ते, निषेकश्च प्रतिसमयबहुहीनहीनतरस्य दलिकस्यानुभवनार्थं रचना (स० । स्था० । सूत्र०) निश्चिते, प्रमाणे, निकाचिते, "मागहस्स णं जोयणस्स अट्ठधणुसहस्साइं निधत्ते पण्णत्ते।" स्था० ७ ठा० ।

णिहत्ति-निधत्ति-स्त्री० । उद्वर्तनापवर्तनावशेषकरणाऽयोग्यत्वेन व्यवस्थापने, क० प्र० १ प्रक० ।

णिहम्म-निहम्म-धा० । गतौ, 'णिहम्मइ' । 'णीहम्मइ ।' 'आहम्मइ' । 'पहम्मइ ।' इत्येते तु हम्मगताविरयस्यैव भविष्यन्ति । गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

णिहय-निहत-त्रि० । मारिते, " अक्खा हु वेयावडियं करेति, तम्हा उ एए णिहया कुमारा ।" (३२) उत्त० १२ अ० । निश्चयेन हन्यते इति निहतः । जयादिपुभिरिन्द्रियकषायकर्मभिर्हन्यमाने, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

णिहयकंटय-निहतकण्टक-त्रि० । निहता मारणात्कण्टका दायादा यत्र राज्ये तत् तथा । मारितदायादे, स्था० ७ ठा० ।

णिहयरय-निहतरजस्-त्रि० । निहतं रजो भूय उत्थानासम्भवाद् यत्र तन्निहतरजः । शान्तरजसि, रा० । " अप्पेगतिया देवा णिहयरयं णट्ठरयं भट्ठरयं उवसंतरयं पसंतरयं करेंति ।" निहतं रजो यस्यां सा निहतरजास्तां, तत्र निहतत्वं रजसः कथमात्रमुत्थानाभावेनाऽपि सम्भवति । जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० ।

णिहयसत्तु-निहतशत्रु-त्रि० । निहता रणाङ्गणे पतिताः शत्रवो यत्र तन्निहतशत्रु । हतशत्रुके, " ओहयसत्तु णिहयसत्तु मलियसत्तु निज्जियसत्तु ।" रा० । स्था० । सूत्र० ।

णिहुव-कम्-धा० । इच्छायाम्, " कमेर्णिहुवः " ॥ ८ । ४ । ४४॥ कमेः स्वार्थे णयन्तस्य णिहुवेत्यादेशः । ' णिहुवइ' । ' कामेइ । ' प्रा० ४ पाद ।

णिहस-निकष-पुं० । " निकष-स्फटिक-चिकुरे हः " ॥ ८ । १ ।१८६॥ इति कस्य हः । प्रा० १ पाद । "शषोः सः" ॥८।१।२६०॥ इति षस्य सः । प्रा० १ पाद । कषपट्टकरेखायाम् , प्रज्ञा० १७ पद २ उ० । वल्मीके, दे० ना० ४ वर्ग २५ गाथा ।

णिहा-निहा-स्त्री० । निहन्यन्ते प्राणिनः संसारे यया सा निहा । मायायाम, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

णिहाअ-देशी-स्वेदे,समूहे च । दे०ना० ४ वर्ग ४९ गाथा ।

णिहाण-निधान-न० । रत्नाऽऽदौ, स्था० ५ ठा० १ उ० । निधौ, अनु० । निक्षिप्ते, " दव्वे निहाणमाई । " दश० ७ अ० ।

णिहाय-निधाय-अव्य० । व्यवस्थाप्येत्यर्थे, सन्निधिं कृत्वेत्यर्थे,सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । परित्यज्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

णिहार-निहार-पुं० । निर्गमे प्रमाणे, स्था० ८ ठा० ।

णिहालेउं-निभाल्य-अव्य० । सम्यग्विलोक्येत्यर्थे, ग० २ अधि० । सम्यक्परीक्ष्येत्यर्थे, ग० १ अधि० ।

णिहि-स्त्री० । पुं० । निधि-पुं० । नितरां धीयते स्थाप्यते अस्मिन् स निधिः । प्राकृते "वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्" ॥ ८।१।३५॥ इति वा स्त्रीत्वम् । प्रा० १ पाद । विशिष्टरत्नसुवर्णाऽऽदिद्रव्यभाजने, स्था० ।

पंच णिही पण्णत्ता । तं जहा-पुत्तणिही, मित्तणिही, सिप्पणिही, धणणिही, धण्णणिही ।

तत्र निधिरिव निधिः, पुत्रश्चासौ निधिश्च पुत्रनिधिर्द्रव्योपार्जकत्वेन पित्रोर्निर्वाहहेतुत्वात्,अत एव स्वभावेन च तयोरानन्दसुखकरत्वाच्च । अत्रोक्तं परैः-" जन्मान्तरफलं पुण्यं, तपोदानसमुद्भवम् । सन्ततिः शुद्धवंश्या हि,परत्रेह च शर्मणः ॥१॥"इति । तथा मित्रं सुहृत्तच्च तन्निधिश्चेति मित्रनिधिरर्थकामसाधकत्वेनाऽऽनन्दहेतुत्वात् । तदुक्तम्--"कुतस्तस्यास्तु राज्यश्रीः,कुतस्तस्य मृगेक्षणाः । यस्य शूरं विनीतं च, नास्ति मित्रं विचक्षणम्"॥१॥ शिल्पं चित्राऽऽद्यभिज्ञानं, तदेव निधिः शिल्पनिधिः । एतच्च विद्योपलक्षणं,तेन विद्या निधिरिव पुरुषार्थसाधनत्वात् ।

अप्युक्तम्-" विद्यया राजपूज्यः स्यात्, विद्यया कामिनीप्रियः। विद्या हि सर्वलोकस्य, वशीकरणकार्मणम् " ॥१॥ इति। तथा धननिधिः कोशः। धान्यनिधिः कोष्ठाऽगारमिति। अनन्तरं निधिरुक्तः; स च द्रव्यतः पुत्राऽऽदिः। भावतस्तु कुशलानुष्ठानरूपं ब्रह्म। स्था० ५ ठा० ३ उ०। भाण्डागारे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ०।

महापुरुषाणां चक्रवर्तिनां संबन्धि निधिप्रकरणमाह-

एगमेगे णं महानिही नवनवजोयणाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते। एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स नव महानिहीओ पण्णत्ताओ। तं जहा-

नेसप्पे पंडुए पिं-गले य सव्वरयणे महापउमे।
काले य महाकाले, माणवगमहानिही संखे ॥ १ ॥

"एगमेगे" इत्यादि सुगमम्। नवरं-

नेसप्पम्मि निवेसा, गामागरनगरपट्टणाणं च।
दोणमुहमडंबाणं, खंधाराणं गिहाणं च ॥२॥

इह निधाननायकदेवयोरभेदविवक्षया नैसर्पो देवः, तस्मिन्सति, तत इत्यर्थः। निवेशाः स्थापनानि अभिनवग्रामाऽऽदीनामिति। अथवा-चक्रवर्तिराज्योपयोगिद्रव्याणि सर्वाण्यपि नवसु निधिष्ववतरन्ति, नवनिधानतया व्यवह्रियन्त इत्यर्थः। तत्र ग्रामाऽऽदीनामभिनवानां पुरातनानां च ये संनिवेशा निवेशनानि, ते नैसर्पनिधौ वर्तन्ते, नैसर्पनिधितया व्यवह्रियन्त इति भावः। तत्र ग्रामो जनपदप्रायलोकाधिष्ठितः, आकरो यत्र सन्निवेशे लवणाऽऽद्युत्पद्यते, न करो यत्रास्ति तन्नकरम्, पत्तनं देशीस्थानं, द्रोणमुखं जलपथस्थलपथयुक्तम्, मडम्बमविद्यमानप्रत्यासन्नावासं, स्कन्धावारः कटकनिवेशः, गृहं भवनमिति ॥ २ ॥

गणियस्स य वीयाणं, माणुम्माणस्स जं पमाणं च।
धण्णस्स य वीयाणं, उप्पत्ती पंडुए भणिया ॥३॥

गणितस्य दीनाराऽऽदिपूगफलाऽऽदिलक्षणस्य, चकारस्य व्यवहितसम्बन्धः; स च दर्शयिष्यते। तथा बीजानां तन्निबन्धनभूतानां, तथा मानं सेतिकाऽऽदि, तद्विषयं यत्तदपि मानमेव, धान्याऽऽदिमेयमिति भावः। तथोन्मानं तुलाकर्षाऽऽदि, तद्विषयं यत्तदप्युन्मानं, खण्डगुडाऽऽदि धरिममित्यर्थः। ततो द्वन्द्वसमाहारः कार्यः। ततस्तस्य च किमित्याह-यत्प्रमाणं, चकारो व्यवहितसम्बन्ध एव, तथैव दर्शयिष्यते। तत्पाण्डुके भणितमिति लिङ्गपरिणामेन सम्बन्धः। तथा धान्यस्य शाल्यादेर्बीजानां च तद्विशेषाणामुत्पत्तिश्च या सा पाण्डुके पाण्डुकनिधिविषया, तद्व्यापारोऽयमिति भावः। भणितोक्ता जिनाऽऽदिभिरिति ॥ ३ ॥

सव्वा आभरणविही, पुरिसाणं जा य होइ महिलाणं।
आसाण य हत्थीण य, पिंगलयणिहिम्मि सा भणिया ॥४॥

कण्ठ्या ॥ ४ ॥

रयणाइँ सव्वरयणे, चउदस पवराइँ चक्कवट्टिस्स।
उप्पज्जंति य एगिं-दियाइँ पंचिंदियाइं च ॥ ५ ॥

अक्षरघटनैवम्-रत्नान्येकेन्द्रियाणि चक्राऽऽदीनि सप्त, पञ्चेन्द्रियाणि, सेनापत्यादीनि सप्त, उत्पद्यन्ते भवन्ति, यानि चक्रवर्तिनस्तानि सर्वाणि सर्वरत्ने सर्वरत्ननामनि निधौ द्रष्टव्यानीति भावः ॥ ५ ॥

वत्थाण य उप्पत्ती, निप्फत्ती चेव सव्वभत्तीणं।
रंगाण य धोव्वाण य, सव्वा एसा महापउमे ॥ ६ ॥

वस्त्राणां वाससां योत्पत्तिः सामान्यतो, या च विशेषतो निष्पत्तिः सिद्धिः सर्वभक्तीनां सर्ववस्त्रप्रकाराणां, सर्वा वा भक्तयः प्रकारा येषां तानि तथा, तेषाम्। किंभूतानां वस्त्राणामित्याह-रङ्गाणां रङ्गवतां, रक्तानामित्यर्थः। धौतानां शुक्लस्वरूपाणां, सर्वैषा महापद्मे महापद्मनिधिविषया ॥ ६ ॥

काले कालण्णाणं, नव्वपुराणं च तीसु वासेसु।
सिप्पसयं कम्माणि य, तिन्नि पयाए हियकराइं ॥ ७ ॥

काले कालनाम्नि निधौ, कालज्ञानं कालस्य शुभाशुभरूपस्य ज्ञानं वर्तते, ततो ज्ञायत इत्यर्थः। किंभूतमित्याह-नवीनवस्तुविषयं नव्यं, पुरातनवस्तुविषयं पुराणं, चशब्दाद्वर्तमानवस्तुविषयं वर्तमानं, (तीसु वासेसु त्ति) अनागतवर्षत्रयविषयमतीतवर्षत्रयविषयं चेति। तथा-शिल्पशतं कालनिधौ वर्तते, शिल्पशतं च घट १ लोह २ चित्र ३ वस्त्र ४ नापित ५ शिल्पानां प्रत्येकं विंशतिभेदत्वादिति। तथा कर्माणि च कृषिवाणिज्याऽऽदीनि, कालनिधाविति प्रक्रमः। एतानि च त्रीणि कालज्ञानशिल्पकर्माणि, प्रजाया लोकस्य हितकराणि निर्वाहाभ्युदयहेतुत्वेनेति ॥ ७ ॥

लोहस्स य उप्पत्ती, होइ महाकाले आगराणं च।
रुप्पस्स सुवण्णस्स य, मणिमुत्तसिलप्पवालाणं ॥ ८ ॥

लोहस्य चोत्पत्तिर्महाकाले निधौ भवति वर्तते, तथा आकराणां च लोहाऽऽदिसत्कानामुत्पत्तिराकरा करणलक्षणा, एवं रूप्याऽऽदीनामुत्पत्तिः सम्बन्धनीया। केवलं मणयश्चन्द्रकान्ताऽऽदयः, मुक्ता मुक्ताफलानि, शिलाः स्फटिकाऽऽदिकाः, प्रवालानि विद्रुमाणीति ॥ ८ ॥

जोहाण य उप्पत्ती, आवरणाणं च पहरणाणं च।
सव्वा य जुद्धणीई, माणवए दंडनीई य ॥ ९ ॥

योधानां शूरपुरुषाणां योत्पत्तिरावरणानां संनाहानां प्रहरणानां खड्गाऽऽदीनां, सा युद्धनीतिश्च व्यूहरचनाऽऽदिलक्षणा, माणवके निधौ निधिनायके वा भवति, ततः प्रवर्तत इति भावः। दण्डेनोपलक्षिता नीतिर्दण्डनीतिश्च सामाऽऽदिश्चतुर्विधा। अत एवोक्तमावश्यके-" सेसा उ दंडनीई, माणवगनिहीउ होइ भरहस्स। " ॥ ९ ॥

णट्टविही णाडयविही, कव्वस्स चउव्विहस्स उप्पत्ती।
संखे महानिहिम्मी, तुडियंगाणं च सव्वेसिं ॥ १० ॥

नाट्यं नृत्यं, तद्विधिस्तत्करणप्रकारो, नाटकं चरितानुसारिनाटकलक्षणोपेतं, तद्विधिश्च, इहपदद्वये द्वन्द्वः। तथा काव्यस्य चतुर्विधस्य धर्मार्थकाममोक्षलक्षणपुरुषार्थप्रतिबद्धग्रन्थस्य १, अथवा संस्कृतप्राकृतापभ्रंशसंकीर्णभाषानिबद्धस्य २, अथवा-समविषमार्द्धसमवृत्तबद्धतया गद्यतया चेति ३, अथवा-गद्यपद्यगेयचौर्णपदभेदबद्धस्येति ४। उत्पत्तिः प्रभवः शङ्खे महानिधौ भवति, तथा तूर्याङ्गाणां च मृदङ्गाऽऽदीनां सर्वेषामिति ॥ १० ॥

चक्कट्ठपइट्ठाणा, अट्ठुस्सेहा य नव य विक्खंभे ।
बारसदीहा मंजू-ससंठिया जाएहवीइ मुहे ॥११॥

चक्रेष्वष्टसु प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा अवस्थानं येषां ते तथा । अष्टौ योजनान्युत्सेध उच्छ्रायो येषां ते तथा । नव च, योजनानीति गम्यते । विष्कम्भे विस्तरे, निधय इति शेषः । द्वादश योजनानि दीर्घा, मञ्जूषा प्रतीता, तत्संस्थितास्तत्संस्थानाः, जाह्नव्या गङ्गाया मुखे भवन्तीति ॥ ११ ॥

वेरुलियमणिकवाडा, कणगमया विविहरयणपडिपुण्णा ।
ससिसूरचक्कलक्खण-अणुसमजुगबाहुवयणा य ॥१२॥

वैडूर्यमणिमयानि कपाटानि येषां ते तथा; मयशब्दस्य वृत्त्या करकर्षेतेति-कनकमयाः सौवर्णाः, विविधरत्नप्रतिपूर्णाः प्रतीताः, शशिसूरचक्राऽऽकाराणि लक्षणानि चिह्नानि येषां ते तथा, अनुसमा अविषमाः (जुग त्ति) यूपः, तदाकारा वृत्तत्वाद्दीर्घत्वाच्च बाहवो द्वारशाखा वदनेषु मुखेषु येषां ते तथा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारये शशिसूरचक्रलक्षणानुसमयुगबाहुवदना इति । चः समुच्चये ॥ १२ ॥

पलिओवमट्ठिईया, निहिसरिणामा य तेसु खलु देवा ।
जेसिं ते आवासा, अक्किया आहिवच्चं च ॥१३॥

(निहिसरिनाम त्ति) निधिभिः सदृक् सदृशं नाम येषां देवानां ते तथा, येषां देवानां ते निधय आवासा आश्रयाः, किंभूताः?-अक्रेया अक्रयणीयाः सर्वदैव तत्सम्बन्धित्वात्, आधिपत्यं च स्वामिता च तेषु, येषां देवानाम्, इति प्रक्रमः ॥ १३ ॥

एए ते नवनिहिओ, पभूयधणरयणसंचयसमिद्धा ।
जे वसमुवगच्छंती, सव्वेसिं चक्कवट्टीणं ॥ १४ ॥

एप ते गाहा कण्ठ्या ॥ १४ ॥ स्था० ६ ठा० । प्रव० । स० । आ० म० । ति० । आ० चू० ।

लक्षाऽऽदिप्रमाणद्रव्यस्थापने, भ० ३ श० ७ उ० । निधिरिव निधिः । सम्यक्त्वे, यथा हि निरवधिनिधिव्यतिरेकेण महार्हमणिमौक्तिककनकाऽऽदि द्रव्यं न प्राप्यते, तथा सम्यक्त्वमहानिधानानधिगतौ चारित्रधर्मवित्तमपि निरुपमसुखसम्पादकं न प्राप्यते । प्रव० १४८ द्वार । ध० । विशे० । निधानं निधिः । निक्षेपे, निधिर्निक्षेपो न्यासो विरचना प्रस्तारः स्थापनेति पर्यायाः । तथा च-लौकिके निधेहीदं निहितमिदमित्यत्र निपूर्वस्य धातोः निक्षेपार्थत्वप्रसिद्धेः । अनु० ।

णिहित्त-निहित-त्रि० । नि धा-क्त । "सेवाऽऽदौ वा" ॥८।२।९९॥ इति तद्वित्वं वा । पक्षे ततो लोपः । प्रा० २ पाद । निक्षिप्ते, पञ्चा० १० विव० ।

णिहिय-निहित-त्रि० । 'णिहित्त' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

णिहू-स्त्री० । अनन्तजीववनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

णिहु-स्निहु-स्त्री० । औषधिभेदे, जी० १ प्रति० ।

णिहुअ-निभृत-त्रि० । "उदृत्वादौ" ॥८।१।१३१॥ ऋतु इत्यादिषु शब्देषु आदेर्ऋत उत्वम् । प्रा० १ पाद । तदर्थमनुद्धृक्ते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । निर्व्यापारे, बृ० ३ उ० । निभृते, उत्त० ११ अ० । असंभ्रान्ते, कायस्थित्या उचितधर्मे, " तेसिं सो निहुओ दंतो, सव्वभूयसुहावहो ।" दश० ६ अ० । निर्व्यापारे, तूष्णीके, सुरते च । दे० ना० ४ वर्ग ५० गाथा ।

णिहुआ-देशी-स्त्री० । कामितायाम, दे० ना० ४ वर्ग ४६ गाथा ।

णिहुइंदिय-निभृतेन्द्रिय-त्रि० । अनुद्धतेन्द्रिये, दश० १ अ० ।

णिहुण-देशी-व्यापारे, दे० ना० ४ वर्ग २६ गाथा ।

णिहुअ-देशी-न० । सुरते, दे० ना० ४ वर्ग ४६ गाथा ।

णिहेलण-न० । निलय-पुं० । " गोणाऽऽदयः " ॥ ८।२।१७४ ॥ इति निलयस्थाने निहेलणाऽऽदेशः । आलये, गृहे, प्रा० २ पाद । गृहे, जघने च । दे० ना० ४ वर्ग ५१ गाथा ।

णिहोड-नि-वृ-पत्-णिच्-धा० । निवारणे, पातने च । " निवृपत्योर्णिहोडः ॥ ८।४।२२ ॥ निवृगः पतेश्च ण्यन्तस्य णिहोड इत्यादेशः । 'णिहोडइ ।' निवारेइ । निवारयति । पातयति वा । प्रा० ४ पाद । व्य० ।

णिहोडिय-निपातित-त्रि० । अधःकृते, दर्श० ३ तत्त्व ।

णी-गम्-धा० । गतौ, " गमेरई-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस-पच्चड्ड-पच्छन्द-णिम्मह-णी-णीण-णीलुक्क-पदअ-रम्भ-परिअल्ल-वोल-परिअल-णिरिणास-णिवहावसेहावहराः" ॥ ८।४।१६२ ॥ इति सूत्रेण गमधातोर्ण्यादेशः । 'णीइ' । गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

णीआरण-देशी-न० । बलिघट्याम्, दे० ना० ४ वर्ग ४३ गाथा ।

णीइ-नीति-स्त्री० । नये, स्था० ७ ठा० । अनु० । मर्यादायाम, पं० चू० । नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थ आभिरिति नीतयः । नैगमाऽऽदिनयेषु, स्था० २ ठा० २ उ० । कुलकराणां हक्काराऽऽदिषु दण्डनीतिषु, आ० म० १ अ० १ खण्ड । (तास्च ' कुलगर ' शब्दे तृतीयभागे ५६३ पृष्ठे दर्शिताः) राजनीतौ, " तिविहा नीई पण्णत्ता । तं जहा-सामे, दंडे, भेए ।' तत्र सामनीतेः पञ्च, दण्डस्य त्रयो, भेदस्य, उपप्रदानस्य च पञ्च पञ्च कामन्दकाऽऽदिषु प्रसिद्धाः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विपा० । प्रयोगश्चासामेवम्-" उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत् । नीचमल्पप्रदानेन, समं तुल्यपराक्रमैः " ॥ १ ॥ स्था० ३ ठा० ३ उ० । संग्रामनिर्गमप्रवेशे, आ० क० ।

णीइकोविय-नीतिकोविद-पुं० । लोकनीतिचतुरे, उत्त० ११ अ० ।

णीछूट-निष्ठ्यूत-न० । निष्ठीवने, तं० ।

णीजूहग-निर्यूहक-न० । द्वारपार्श्वविनिर्गतदारुके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णीजूहयंतर-निर्यूहकान्तर-न० । निर्यूहकं द्वारपार्श्वविनिर्गतदारु, तयोरन्तरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णीड-नीड-न० । पक्षिणामावासस्थाने, प्रा० १ पाद ।

णीण-गम्-धा० । गतौ, "गमेरई०-" ॥८।४।१६२॥ इत्यादिसूत्रेण गमधातोर्णीणाऽऽदेशः । 'णीणइ' । गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

णीणिज्जमाण-गम्यमान-त्रि० । नीयमाने, " णीणिज्जमाणं पेहाए ।" आचा० १ श्रु० २ चू० ४ अ० ।

णीणित-गमित-त्रि० निर्यूढे धाडिते, नि० चू० १ उ० ।

णीणिया-नीनिका-स्त्री० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० ।

णीतत्तर-नीचतर-त्रि० । अतिशयेन नीचे, नि० चू० १ उ० ।

णीम-नीप-पुं० । "नीपाऽऽपीडे मो वा" ॥ ८ । १ । २३४ ॥ इत्यनेन पस्य मः । णीमो । णीवो । कदम्बे, प्रा० १ पाद ।

णीय-नीच-त्रि० । अत्यन्तावनतकन्धरे, उत्त० १ अ० । उच्चविपरीते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अपूज्ये, भ० ३ श० १ उ० । निम्ने, नि० चू० १ उ० । नीचैः स्थाने, मात्राऽऽदौ, उत्त० १ अ० ।

नित्य-त्रि० । सदाऽवस्थायिनि, स्था० १० ठा० ।

नीत-त्रि० । स्वस्थानं प्रापिते, आ० १ श्रु० १६ अ० । उत्त० । सूत्र० ।

णीयच्छंद-नीचच्छन्द-त्रि० । अनुन्नताभिप्राये, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

णीयजण-नीचजन-त्रि० । आत्याद्विहीने जने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । "णीयजणणिसेविओ लोगगरहणिज्जो ।" प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णीयत्तण-नीचत्व-न० । गुणाधिकान् प्रति नीचभावे, दश० ९ अ० ३ उ० ।

णीयदुवार-नीचद्वार-त्रि० । नीचनिर्गमप्रवेशे, दश० ५ अ० १ उ० । निम्नमुखे गृहे, पञ्चा० १३ विव० ।

णीयल्लग-निजक-पुं० । स्वज्ञातीये, "णीयल्लगाण व भया हिरिवसंजमाहिगारे ।" व्य० ४ उ० । आत्मीये, व्य० २ उ० ।

णीयागोय-नीचैर्गोत्र-न० । सर्वजनावगीते गोत्रकर्मभेदे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । कर्म० । नीचैर्गोत्रमपूज्यत्वनिबन्धनमिति कर्मभेदे, स्था० १ ठा० । यदुदयान्महाधनोऽपि रूपो बुद्ध्यादिसमन्वितोऽपि पुमान् निन्दितकुलाभावात् लोकानिन्दां प्राप्नोति । कर्म० १ कर्म० । नीचैर्गोत्रोद्भवे वर्णापलन्दलस्पृते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

णीयावास-नित्यवास-पुं० । विहारकालेऽप्येकत्र वासे, आ० चू० ३ अ० ।

णीयावित्ति-नीचैर्वृत्ति-त्रि० । नीचैर्वृत्तिर्वर्तनं यस्य स तथा । अनुद्धतवृत्तौ, उत्त० १ अ० ।

णीयासण-नीचासन-न० । नीचमासनं नीचासनम् । गुरूणां नीचतरोपवासे, नि० चू० १ उ० ।

णीर-नीर-न० । पानीये, दर्श० १ तत्त्व ।

णीरंगी-देशी-शिरोऽवगुण्ठने, दे० ना० ४ वर्ग ३१ गाथा ।

णीरंज-भञ्ज-धा० । आमर्दने, "भञ्जेर्वेमय-मुसुमूर-मूर-सूर-सूड-विर-पविरञ्ज-करञ्ज-नीरञ्जाः" ॥ ८ । ४ । १०६ ॥ इति भञ्जेर्नीरञ्जाऽऽदेशः । 'णीरञ्जइ' । पक्षे-भञ्जइ । भनक्ति । प्रा० ४ पाद ।

णीरय-नीरजस्-त्रि० । निर्गतं रजो यस्य । अनु० । आगन्तुकरजोरहितत्वात् (स० । औ०) सहजरजोरहितत्वात् (जं० १ वक्ष० । औ० । स्था०) स्वाभाविकरजोरहितत्वात् (प्रज्ञा० २ पद । औ०) निर्मले, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । भ० । बध्यमानकर्मबन्धरहितत्यके, बध्यमानकर्मरहिते, पा० । ध० । आ० म० ।

नीरद-पुं० । मेघे, वाच० ।

णीरव-आ-क्षिप-धा० । आ-क्षिप् । आक्षेपे, "आक्षिपेर्णीरवः" ॥ ८ । ४ । १४५ ॥ इत्याक्षिपतेर्णीरवः । 'णीरवइ ।' 'आक्खिवइ ।' आक्षिपति । प्रा० ४ पाद ।

बुभुक्ष्-धा० । भोक्तुमिच्छायाम्, "बुभुक्षि-वीज्योर्णीरव-वोज्जौ" ॥ ८ । ४ । ५ ॥ इति बुभुक्षतेर्णीरवाऽऽदेशः । 'णीरवइ ।' बुभुक्खइ । बुभुक्षते । प्रा० ४ पाद ।

णीराग-नीराग-त्रि० । आरोग्ये, स्था० १० ठा० । रोगवर्जिते, आ० १ श्रु० १ अ० । मान्द्याभावे, वृ० ३ उ० । औ० ।

णीरोगय-नीरोगक-त्रि० । रोगवर्जिते, जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० ।

णील-निर्-सृ-धा० । निर्गमने, "निस्सरेर्णीहर-नील-धाड-वरहाडाः" ॥ ८ । ४ । ७९ ॥ इति निस्सरतेर्नीलाऽऽदेशः । णीलइ । नीसरइ । निस्सरति । प्रा० ४ पाद ।

नील-त्रि० । ईषत्कृष्णरूपे, कृष्णे, वर्णविशेषे, स्था० १ ठा० । तद्युक्ते, "एगे णीले ।" नीलयतीति नीलवर्णपरिणते, प्रज्ञा० १ पद । "णीले णीलोभासे ।" वनखण्डे, हरितत्वमतिक्रान्तानि कृष्णत्वमसंप्राप्तानि पत्राणि नीलानि, तद्योगाद्वनखण्डा अपि नीलाः । रा० । मरकतमणौ, जी० ३ प्रति० ४ उ० । तं० । जं० । आ० । पञ्चविंशतितमे महाग्रहे, कल्प० ६ क्षण । "दो णीला ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । सू० प्र० । चं० प्र० । "एगे णीले ।" स्था० १ ठा० । औ० ।

णीलकंठ-नीलकण्ठ-पुं० । शक्रस्य देवेन्द्रस्य महिषानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

णीलकंठी-देशी-बाणवृक्षे, दे० ना० ४ वर्ग ४२ गाथा ।

णीलकणवीर-नीलकरवीर-पुं० । नीलवर्णपुष्पे करवीराऽऽख्ये वृक्षभेदे, रा० ।

णीलकूड-नीलकूट-न० । नीलवर्षधरपर्वतकूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णीलकेसी-नीलकेशी-स्त्री० । कृष्णकेश्यां तरुण्याम, व्य० ४ उ० ।

णीलगुहा-नीलगुहा-स्त्री० । स्वनामख्याते उद्याने, यत्र मुनिसुव्रतनामा तीर्थकरो निष्क्रान्तः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णीलगुलिया-नीलगुटिका-स्त्री० । नीलया गुटिका नीलगुटिका । गुटिकारूपे नीलपदार्थे, "णीलगुलिया गवलग्गवगालम्।" जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० ।

णीलणाम-नीलनामन्-न० । यदुदयाज्जन्तुशरीरं मरकताऽऽदिवन्नीलं भवति । तस्मिन् नामकर्मभेदे, कर्म० १ कर्म० ।

णीलपत्त-नीलपत्र-त्रि० । नीलवर्णपत्रोपेते, प्रज्ञा० १ पद ।

णीलपाणि-नीलपाणि-त्रि० । नीलः, कागरूव खाप इति गम्यते । पाणौ येषां ते नीलपाणयः । नीलवर्णकाण्डहस्ते, रा० ।

णीलप्पभ-नीलप्रभ-त्रि० । नीलवर्णे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णीलफल-नीलफल-त्रि० । "शुष्कनीलफलस्वादु-नीता-पकाभोरशाला । शालिमृगघृतप्राज्य-प्रलेहपङ्कजनाहृता" ॥ १ ॥ आ० क० । नीलं फलं यस्याः । जम्बूवृक्षे, वाच० ।

णीलबंधुजीव-नीलबन्धुजीव-त्रि० । नीलवर्णपुष्पे वृक्षविशेषे, रा० ।

णीलमट्टिया-नीलमृत्तिका-स्त्री० । नीलवर्णमृत्तिकायाम, बादरपृथ्वीकायभेदे, आचा० ।

णीलरत्तपीअसुक्किल्ल-नीलरक्तपीतशुक्ल-त्रि० । नीलरक्तपीतशुक्लवर्णमनोहरे, कल्प० ३ क्षण ।

णीललेस्सा-नीललेश्या-स्त्री० । वर्णतो नीलाशोकगुलिकाचिकुरेन्द्रनीलचापच्छिकाऽऽदिरूपवर्णैः, रसतो मरिचपिप्पलीनागराऽऽदिरसमधिकतररसैः, गन्धतो मृगतुरगशरीराऽऽदिसमाधिकतरगन्धैः, स्पर्शतो जिह्वाऽऽदिसमाधिकतरकर्कशस्पर्शैः सकलप्रकृतिजन्तुजनैर्नीलद्रव्यैर्जनितत्वान्नीलाऽपि लेश्याऽऽत्मपरिणतिरिति । लेश्याभेदे, पा० । स्था० ।

णीलवंत-नीलवत्-पुं० । उत्तरकुरुषु स्वनामख्याते ह्रदे, तन्निवासिनि नागकुमारदेवे च । जं० ४ वक्ष० । जी० । (' उत्तरकुरा ' शब्दे द्वितीयभागे ७६१ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता) मन्दरस्य पर्वतस्य भद्रशालवने द्वितीये दिग्हस्तिकूटे, जं० ।

एवं णीलवंतदिसाहत्थिकूडे मंदरस्स दाहिणपुरच्छिमेणं पुरच्छिमिल्लाए सीआए दक्खिणेणं, एअस्स वि णीलवंतो देवो रायहाणी दाहिणपुरच्छिमेणं ॥

(एवमिति) पद्मोत्तरन्यायेन नीलवन्नामा दिग्हस्तिकूटः मन्दरस्य दक्षिणपूर्वस्यां पौरस्त्य याः शीतानद्या दक्षिणस्यां ततोऽयं प्राच्यजिनभवनाऽऽग्नेयप्रासादयोर्मध्ये ज्ञेयः । एतस्याऽपि नीलवान् देवः प्रभुः, तस्य राजधानी दक्षिणपूर्वस्यामिति । जं० ४ वक्ष० । जी० । स्था० । वर्षधरपर्वतभेदे, जं० ।

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे णीलवंते णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते ?। गोयमा ! महाविदेहस्स वासस्स उत्तरेणं रम्मगवासस्स दक्खिणेणं पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे णीलवंते णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे, णिसहवत्तव्वया णीलवंतस्स भाणिअव्वा, णवरं जीवा दाहिणेणं धणु उत्तरेणं, एत्थ केसरीदहो णामं दहो, एत्थ णं सीआ महाणई पवूढा समाणी उत्तरकुरं एज्जमाणी उत्तरकुरं एज्जमाणी जमगपव्वए णीलवंतउत्तरकुरुचंदेरावतमालवंतदहे अ दुहा विभयमाणी विभयमाणी चउरासीए सलिलासहस्सेहिं आपूरेमाणी आपूरेमाणी भद्दसालवणं एज्जमाणी भद्दसालवणं एज्जमाणी मंदरं पव्वयं दोहिं जोअणेहिं असंपत्ता पुरच्छाभिमुही परावत्ता समाणी अहे मालवंतवक्खारपव्वयं दालयित्ता मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं पुव्वविदेहं वासं दुहा विभयमाणी विभयमाणी एगमेगाओ चक्कवट्टिविजयाओ अट्ठावीसाए अट्ठावीसाए सलिलासहस्सेहिं आपूरेमाणी आपूरेमाणी पंचहिं सलिलासयसहस्सेहिं बत्तीसाए अ सलिलासहस्सेहिं समग्गा अ अहे विजयस्स दारस्स जगइं दालइत्ता पुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं समप्पेइ, अवसिट्ठं तं चेव, एवं णारिकंता वि उत्तराभिमुही णेअव्वा । णवरमिमं णाणत्तं गंधावइवट्टवेअड्ढपव्वयं जोअणेणं असंपत्ता पच्चच्छाभिमुही आवत्ता समाणी अवसिट्ठं तं चेव, पवहे मुहे अ, जहा हरिकंता सलिला ।

क्व भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे नीलवन्नामा वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्तः ?। उत्तरसूत्रं व्यक्तम् । नवरं रम्यकक्षेत्रं महाविदेहेभ्यः परं युग्मिमनुजाऽऽश्रयभूतमस्ति, तस्य दक्षिणतः, अयं च निषधवद्भणितव्य इति नस्सा ?न लाघवं दर्शयति-(णिसह इत्यादि) निषधवक्तव्यता नीलवतोऽपि भणितव्या, नवरमस्य जीवा परम आयामो दक्षिणत उत्तरतः क्रमेण क्रमेण अगरवा वक्रत्वेन न्यूनास्तरत्वात् धनुः पृष्ठमुत्तरतः । अत्र केसरिद्रहो नाम ह्रदः । अस्माच्च शीता महानदी प्रव्यूढा सती उत्तरकुरून् द्रवन्ती २ यमकपर्वतौ नीलवदुत्तरकुरुचन्द्रैरावतमाल्यवद्ध्रदनामकान् पञ्चाऽपि ह्रदांश्च द्विधा विभजन्ती २ चतुरशीत्या सलिलासहस्रैरापूर्यमाणा २ भद्रशालवनाभिमुखं २ आगच्छन्ती २ मन्दरं पर्वतं द्वाभ्यां योजनाभ्यामसंप्राप्ता पूर्वाभिमुखी परावृत्त्या सती माल्यवद्वक्षस्कारपर्वतमधो विदार्य मेरोः मन्दरस्य पूर्वस्यां पूर्वमहाविदेहं वासं द्विधा विभजन्ती २ एकैकस्माच्चक्रवर्तिविजयादष्टाविंशत्या २ सलिलासहस्रैरापूर्यमाणा २ आत्मना सह पञ्चभिर्लक्षैर्द्वात्रिंशता च सलिलासहस्रैः समग्रा अधो विजयस्य द्वारस्य जगतीं विदार्य पूर्वस्यां लवणसमुद्रमुपैति । अवशिष्टं प्रवहव्यासत्वाऽऽदिकं तदेवोक्त निषधनिर्गतशीतोदाप्रकरणोक्तमेव । अथास्मादेवोत्तरतः प्रवृत्तां नारीकान्तामतिदिशति-(एवं णारिकंता इत्यादि) एवं उक्तन्यायेन नारीकान्ताऽपि उत्तराभिमुखी नेतव्या । कोऽर्थः ?। यथा नीलवति केसरिद्रहाद्दक्षिणाभिमुखी शीता निर्गता, तथा नारीकान्ता तूत्तराभिमुखी निर्गता । नहि अस्याः समुद्रप्रवेशोऽपि तद्वदेवेत्याशङ्क्यमानमाह-नवरमिदं नानात्वं गन्धापातिनं वृत्तवैताढ्यपर्वतं योजनेनाऽसम्प्राप्ता पश्चिमाभिमुखी आवृत्ता सती इत्यादिकमवशिष्टं सर्वं तदेव, हरिकान्तासलिलावद्वक्तव्यम् । तद्यथा-" एरण्णवयं दुहा विभयमाणी २ छप्पन्नाए सलिलासहस्सेहिं समग्गा अहे जगइं दालइत्ता पच्चच्छिमेणं लवणसमुद्दं समप्पेइ त्ति ।" अत्र चाऽवशिष्टपदसंग्रहे प्रवहमुखव्यासाऽऽदिकं न विभिन्नं, समुद्रप्रवेशाधिकरणेनाऽऽलापकस्य दर्शनात्, तेन तत् पृथगाह-प्रवहे च मुखे च यथा हरिकान्तासलिला । तथाहि-प्रवहे पञ्चविंशतियोजनानि विष्कम्भेण अर्द्धयोजनमुद्वेधेन, मुखे २५० योजनानि विष्कम्भेण ५ योजनान्युद्वेधेन, यच्चात्र हरिसलिलां विहाय प्रवहमुखयोर्हरिकान्ताऽतिदेश उक्तस्तद् हरिसलिलाप्रकरणेऽपि हरिकान्ताऽतिदेशस्योक्तत्वात् । जं० ।

अथास्य नामनिबन्धनं पृच्छन्नाह-

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-णीलवंते वासहरपव्वए णीलवंते वासहरपव्वए ?। गोयमा ! णीले णीलोभासे णीलवंते अ इत्थ देवे महिड्ढिए० जाव परिवसइ, सव्ववेरुलिआमए णीलवंते० जाव णिच्चे त्ति ।

" से केणट्ठेणं " इत्यादि प्रश्नः प्राग्वत् । उत्तरसूत्रे च नीलो वर्षधरगिरिर्नीलो नीलवर्णवान् नीलावभासो नीलप्रकाश आसन्नं वस्त्वन्यदपि नीलवर्णमयं करोति, तेन नीलवर्णयोगान्नीलवान्, नीलवांश्च यत्र महर्द्धिको देवः पल्योपमस्थितिको यावत् परिवसति, तेन तद्योगाद्वा नीलवान् । अथवाऽसौ सर्ववैडूर्यरत्नमयः, तेन वैडूर्यरत्नपर्यायकनीलमणियोगान्नीलवान्, शेषं प्राग्वत् । जं० ४ वक्ष० । स्था० । स० । ('कूड' शब्दे तृतीयभागे ६२६ पृष्ठे कूटान्युक्तानि) । "दो णीलवंता ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णीलवंतकूड–नीलवत्कूट–न० । नीलवद्वर्षधरपर्वतस्य द्वितीये कूटे. स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० । " दो णीलवंतकूडा । " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णीलवंतदह–नीलवद्ह्रद–पुं० । उत्तरकुरुषु विचित्रचित्रकूटपर्वतसमवकस्थनाम्न्यां यमकाभिधानाभ्यां स्वसमाननामदेवाऽऽवासाभ्यां पर्वताभ्यामनन्तरे महाह्रदे, स्था० ५ ठा० २ उ० । जं० ।(' उत्तरकुरा ' शब्दे द्वितीयभागे ७५६ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)

णीलवंतदहकुमार–नीलवद्ह्रदकुमार–पुं० । नीलवद्ह्रदस्याधिपतिनागकुमारे देवे, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

णीलवणि–नीलवणि–स्त्री० । प्रत्याख्यानभेदे, सेन० । येन दीक्षाग्रहणार्थं नीलवणिप्रत्याख्यानं कृतं भवति, तस्य दीक्षाग्रहणानन्तरं कल्पते, न वा?, इति प्रश्ने-उत्तरम्-यदि प्रत्याख्यानकरणवेलायामेवं कथितं भवति-यद्दीक्षाग्रहणाऽनन्तरं नीलवणिः कल्पते, तदा कल्पते, नान्यथेति । ४५६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । नीलवणिप्रत्याख्यानिनां तांबूलनिष्पन्नकदरीपाकप्रमुखं कल्पते, न वा?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-परम्परया तत्कल्पनप्रवृत्तिर्दृश्यत इति । ९६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

णीला–नीला–स्त्री० । " अजातेः पुंसः " ॥ ८ । ३ । ३२ ॥ इति अजातिवाचिनो नीलशब्दस्य स्त्रियां ङीर्वा, णीली । णीला । प्रा० ३ पाद । नीललेश्यायाम्, भ० । दश० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरेण रक्तायां महानद्यां सङ्गतायां महानद्याम्, स्था० १० ठा० ।

णीलाभास–नीलाभास–पुं० । षडशीतितमे महाग्रहे, " दो णीलाभासा । " स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० । सू० प्र० । कल्प० ।

णीलासोग–नीलाशोक–पुं० । नीलश्चाऽसौ अशोकश्च नीलाशोकः । नीलपुष्पाशोकवृक्षे, रा० । उत्त० । शुकपिच्छाञ्जकजन्तुः सुदर्शनं अंग्र । आवासतु पाथः सुगन्धिकापुष्पो वाहस्थाने, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

णीली–नीली–स्त्री० । गुलिकायाम, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । जी० । रा० । जं० । गुच्छवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आर्द्रे स्त्रीत्वविशिष्टेऽर्थे, "तहेवासहिओ पक्काओ, निलियाओ छवीइ य । " दश० ७ अ० ।

णीलीराग–नीलीराग–पुं० । नील्याः सम्बन्धी रागो यस्य स नीलीरागः । नीलीरक्ते, " णालीरागं खलु, तुमहत्थो सम्भासिया । " स्था० ३ उ० ।

णीलुक्क–गम्–धा० । गतौ, " गमेरई-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस-पच्चड्ड-पच्छन्द-णिम्मह-णी-णीण-णीलुक्क-पदअ-रम्भ-परिअल्ल-वोल-परिअल-णिरिणास-णिवहावसेहावहराः " ॥ ८ । ४ । १६२ ॥ इति सूत्रेण गमधातोर्णीलुक्काऽऽदेशः । 'णीलुक्कइ' । पक्षे ' गच्छइ ' । प्रा० ४ पाद ।

णीलुप्पल–नीलोत्पल–न० । " ह्रस्वः संयोगे दीर्घस्य " ॥ ८ । १ । ८४ ॥ इति ओकारस्योकारः । प्रा० १ पाद । कुवलये, जं० १ वक्ष० । इन्दीवरे, सौगन्धिके, नीलवर्णे कुमुदे च । वाच० । " णीलुप्पलगवलगुलिय । " उपा० २ अ० ।

णीलुप्पलकयामेल–नीलोत्पलकृताऽऽपीड–त्रि० । नीलोत्पलकृतशेखरे, उपा० ७ अ० ।

णीलुप्पलवण–नीलोत्पलवन–न० । इन्दीवरकानने, सं० ।

णीलोभास–नीलावभास–त्रि० । मयूरगलवद्वभासमाने, औ० । रा० ।

णीव–नीप–पुं० । कदम्बे, औ० । वृक्षविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । आ० म० ।

णीवार–नीवार–पुं० । न० । शूकराऽऽदीनां पशूनां वध्यस्थानप्रवेशनसूत्रे भक्ष्यविशेषे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । व्रीहिविशेषकणदाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

णीवि–नीवि–स्त्री० । मूलधने, पं० ६ विव० । कटिवस्त्रबन्धे, वाच० ।

णीस–निस्स–त्रि० । "लुप्त-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः" ॥ ८ । १ । ४३ ॥ इति दीर्घः । निर्धने, प्रा० १ पाद ।

णीसंद–निस्यन्द–पुं० । परिणामपरिस्रावे, " णवमपुव्वणीसंदो । " पं० भा० । निस्त्रै, कर्म० १ कर्म० ।

णीसंपाय–देशी–परिश्रान्ते, दे० ना० ४ वर्ग ४२ गाथा ।

णीसट्ठ–निसृष्ट–त्रि० । विमुक्ते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । बाहिर्निष्काश्य निवेदने, यस्य याचकाऽऽदेरर्थाय निष्कासितस्तस्मै प्रदत्ते, सू० २ श्रु० ।

णीसमिआ–देशी–निःश्रेण्याम्, दे० ना० ४ वर्ग ४३ गाथा ।

णीसर–रम्–धा० । क्रीडायाम, " रमेः संखुड्ड-खेड्डोब्भाव-किलिकिञ्च-कोट्टुम-मोट्टाय-णीसर-वेल्लाः " ॥ ८ । ४ । १६८ ॥ इति सूत्रेण रमेर्णीसराऽऽदेशः 'णीसरइ' । पक्षे-रमइ । रमते । प्रा० ४ पाद ।

निस्-सृ–धा० । निस्सरणे, 'णीसरइ' । निःसरति । प्रा० ४ पाद ।

णीसरण–निस्सरण–न० । फेल्लुसने, स्था० ४ उ० ।

णीसल्ल–निःशल्य–त्रि० । मायादर्शननिदानशल्यरहिते, संथा० ।

णीसवग–निश्रावक–पुं० । कर्मनिर्जरके, आ० म० १ अ० १ खण्ड । विशे० ।

णीसवमाण–निश्रावयत्–त्रि० । कर्माणि निर्जरयति, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णीससंत–निःश्वसत्–त्रि० । " निश्वसेर्झङ्खः " ॥ ८ । ४ । २०१ ॥ इति झङ्खाऽऽदेशाभावे शतरि रूपम् । प्रा० ४ पाद । निःश्वासान् मुञ्चति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । प्राकृते-शानजपि । " ऊससमाणं वा, णीससमाणे वा, कासमाणे वा, छीयमाणे वा " आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

णीससिउस्ससियसम–निःश्वसितोच्छ्वसितसम–न० । गानस्य निःश्वासोच्छ्वासमाने, स्था० ७ ठा० ।

णीससिय–निःश्वसित–न० । निःश्वसनं निःश्वसितम् । भ० । अधःश्वासे, आव० ५ अ० । विशे० । आ० म० । प्र० । कामकी डायाः श्वासमनुद्भवे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । श्वासमोक्षे, ध० २ अधि० ।

णीसह–निस्सह–त्रि० । "लुप्त-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः " ॥ ८ । १ । ४३ ॥ इति सलोपे दीर्घः । निस्सहं सहिष्णौ, प्रा० १ पाद ।

णीसा–निश्रा–स्त्री० । पीलनयाम् " हमत्राणपुण पिहियं, णीसाए पीडयए वा । " दश० ५ अ० १ उ० ।

णीसार–नीशार–पुं० । निवरां शीर्यते हिमानिलादयोऽनेन वा । नि–शॄ–घञ् दीर्घः । हिमानिलनिवारणे प्रावरणे, काण्डपटे च । वाच० । मारूपे, दे० ना० ४ वर्ग ४१ गाथा ।

णीसास–निश्श्वास–पुं० । निर्–श्वस्–घञ् उत्तुक् । " लुकि निः " ॥ ८ । १ । ९३ ॥ इति रेफलोपे सति इत ईकारः । " णीसासो । " प्रा० १ पाद । अधःश्वासे, आ० चू० ५ अ० । श्वासमोक्षणे, तं० (के जीवाः कियता कालेन निःश्वसन्तीति 'प्राण' शब्दे द्वितीयभागे १०५ पृष्ठ द्रष्टव्यम्) संख्येयाऽऽवलिकापरिमिते प्राणाऽपराभिधाने कालविशेषे, कर्म० ४ कर्म० ।

णीसासय–निःश्वासक–त्रि० । निःश्वसितीति निःश्वासकः । आकण्ठादविरलतराविनिर्गतं, आ० म० १ अ० २ खण्ड । विशे० ।

णीसित्त–निःषिक्त–त्रि० । " लुप्तय-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः ॥ ८ । १ । ४३ ॥ इति षलोपे आदेः स्वरस्य दीर्घः । कृतनिषेके, प्रा० १ पाद ।

णीसीसिअ–देशी–निशांसिते, दे० ना० ४ वर्ग १४२ गाथा ।

णीसेयस–निःश्रेयस–न० । निश्चितकल्याणे, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

णीहट्टु–निर्हृत्य–अव्य० । निःसार्येत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० २ उ० ।

णीहड–निर्हृत–त्रि० । निर्गते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । निष्क्रान्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० ।

णीहडिया–निर्हृतिका–स्त्री० । अन्यत्र नीयमाने सागारिकद्रव्ये, बृ० २ उ० ।

णीहम्म–नि–हम्म–धा० । गतौ, 'णीहम्मइ' 'गच्छइ' गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

णीहर–निर्–सृ–धा० । बहिर्गमने, " निःसरेर्णीहरनीलधाडवरहाडाः " ॥ ८ । ४ । ७९ ॥ इति निःसरतेर्णीहराऽऽदेशः । " णीहरइ " । पक्षे–'णीसरइ ।' प्रा० ४ पाद ।

निर्–हृ–धा० । पुरीषोत्सर्जने, 'णीहरइ' निर्हरति । पुरीषोत्सर्गं करोति । उपसर्गवशादयमर्थः । प्रा० ४ पाद ।

णीहरण–निर्हरण–न० । निर्गमे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । अपनयने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । परित्यागे, नि० चू० १ उ० । आचा० ।

णीहरिअ–देशी–शब्दे, दे० ना० ४ वर्ग ४२ गाथा ।

णीहरित्तए–निर्हर्तुम्–अव्य० । निष्काशयितुमित्यर्थे, भ० ५ श० ४ उ० । विशोधयितुमित्यर्थे, दशा० ७ अ० । विशे० ।

णीहरिय–निर्हृत्य–अव्य० । निष्काश्येत्यर्थे, नि० चू० ९ उ० ।

णीहार–निर्हार–पुं० । मूत्रपुरीषोत्सर्गे, स० ३४ सम० ।

णीहारचारण–नीहारचारण–पुं० । नीहारमवष्टभ्याप्कायिकजीवपीडामजनयति गतिमसक्तां कुर्वति चारणभेदे, प्रव० ६८ द्वार । ग० ।

णीहारण–निर्हारण–न० । निस्सारणे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

णीहारि(ण्)–निर्हारिन्–त्रि० । व्यापिनि, " जोयणणीहारिणा सरेणं । " योजननिर्हारिणा योजनव्यापिना शब्देन । आ० म० १ अ० २ खण्ड । योजनातिक्रामिणा शब्देन । स० ३४ सम० । प्रवचने, आ० म० १ अ० २ खण्ड । योजनातिक्रमणशब्दस्वरभेदे, स्था० १० ठा० ।

णीहारिम–निर्हारिम–न० निर्हारेण निर्वृत्तं यत्तन्निर्हारिमम् । प्रतिश्रये यो म्रियते तस्यैतत् कलेवरस्य निर्हारणात् निर्हारिममतः पादोपगमनमरणभेदे, भ० २ श० १ उ० । ('मरण' शब्दे व्याख्या वक्ष्यते) दूरं विनिर्गमनशीले, आ० म० १ अ० १ खण्ड । रा० । ज्ञा० ।

णीहुय–निहुत–त्रि० । अपलपिते, देशी । आकिञ्चित्करे, " पवयणणीहुयाणं । " आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णु–नु–अव्य० । निश्चये, प्रति० । वितर्के, विशे० । सूत्र० । आ० चू० । विकल्पे, अनुनये, अतीते, प्रश्ने, हेतौ, अपमाने, अपदेशे, अनुतापे च । वाच० ।

णुक्कार–नुक्कार–पुं० । नुगितिशब्दकरणे, " अप्पेगइया देवा णुक्कारं करेंति । " (णुक्कार त्ति) नुक्कारशब्दं कुर्वन्ति । रा० ।

णुम–न्यस्–धा० । न्यासे, स्थापने, " न्यसो णिम-णुमौ " ॥ ८ । ४ । १९९ ॥ इति न्यस्यतेर्णुमाऽऽदेशः । 'णुमइ' । न्यस्यति । प्रा० ४ पाद ।

छादि–धा० । छादने, " छदेर्णेर्णुम-नूम-सन्नुम-ढक्कौम्वाल-पव्वालाः " ॥ ८ । ४ । २१ ॥ इति छदेर्ण्यन्तस्य णुमाऽऽदेशः । 'णुमइ' । पक्षे–छायइ । प्रा० ४ पाद ।

णुमज्जण–निमज्जन–न० । " ह्निन्योरुत् " ॥ ८ । १ । ९४ ॥ इति इत उत्वम् । अधोब्रुडने, प्रा० १ पाद ।

णुमन्न–निमग्न–त्रि० । " ह्निन्योरुत् " ॥ ८ । १ । ९४ ॥ इति इत उत्वम् । ब्रुडिते, प्रा० १ पाद ।

निषण्ण–त्रि० । " उमो निषण्णे " ॥ ८ । १ । १७४ ॥ इति निषण्णशब्दे आदेः स्वरस्य परेण सस्वरवकारेण सहोमादेशः । " णुमण्णो " । " णिमण्णो " । उपविष्टे, प्रा० १ पाद ।

णुव्व–प्रकाश–धा० । प्रकाशने, " प्रकाशेर्णुव्वः " ॥ ८ । ४ । ४५ ॥ इति प्रकाशेर्ण्यन्तस्य णुव्वेत्यादेशः । ' णुव्वइ ' । प्रकाशयति । प्रा० ४ पाद ।

णूणं–नूनम्–अव्य० । निश्चिते, बृ० १ उ० । दश० । सूत्र० । भ० । ज्ञा० । कल्प० । उपमाने, अवधारणे, तर्के, प्रश्ने, हेतौ, भ० २ श० ६ उ० ।

णूम–छादि–धा० । छादने, " छदेर्णेर्णुम-नूम-सन्नुम-ढक्कौम्वाल-पव्वालाः " ॥ ८ । ४ । २१ ॥ इति छदेर्ण्यन्तस्य नूमादेशः । " णूमइ । " " छायइ । " छादयति । प्रा० ४ पाद । " मा हु णूमह तरुणी । " मा हु समाच्छादयेत्तरुणी । बृ० १ उ० ।

छन्न–न० । अपतमसे, गाढतमसि, भ० १ श० ८ उ० । प्रच्छन्ने गिरिगुहाऽऽदिके, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आचा० । प्रच्छादने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । गहने, मायायाम, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । कर्मणि, आचा० १ श्रु० ७ अ० ८ उ० । सूत्र० । स० । परवञ्चनार्थं निकृतनायां निम्नस्थानस्य च आश्रयणे, भ० १२ श० ५ उ० । भित्ते, नि० चू० ११ उ० ।

णूमगिह–छन्नगृह–न० । बृहद्ग्रामे गृहे, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ० । भूमिगृहे, नि० चू० १२ उ० ।

णूमा–देशी–छायायाम्, दे० ना० ४ वर्ग ४३ गाथा ।

णे—णे—अव्य० । 'णे' इति निपातः । पूरणे, औ० ७ अधि० ।

अस्मान्—त्रि० । "अम्हे-अम्हो-अम्ह-णे शसा" ॥८।३।१०८॥ इति शसा सहितस्याऽस्मदो 'णे' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद । नि० चू० ।

मया—तृ० । "मि-मे-ममं-ममए-ममाइ-मइ-मए-मयाइ-णे टा" ॥ ८ । ३ । १०९ ॥ इति सूत्रेण टाविशिष्टस्याऽस्मदो 'णे' इत्यादेशः । 'णे कयं' मया कृतम् । प्रा० ३ पाद ।

अस्माकम्—ष० । "णे-णो-मज्झ-अम्ह-अम्हं-अम्हे-अम्हो-अम्हाण-ममाण-महाण-मज्झाण आमा" ॥ ८ । ३ ।११४ ॥ इति सूत्रेण आमासहितस्याऽस्मदो 'णे' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

णेउड्ड—देशी-सद्भावे, दे० ना० ४ वर्ग ४५ गाथा ।

णेउणिय—नैपुणिक—न० । 'णिउणिय' शब्दार्थे, अनुप्रवादपूर्वगते स्वनामख्याते वस्तुनि, आ० म० १ अ०२ खण्ड । विशे० ।

णेउण्ण—नैपुण्य—न० । आलेख्याऽऽदिकलाज्ञाने, दशा० ६ अ० २ उ० । आव० ।

णेउर—नूपुर—न० । ऊकारस्यैकारः । पादाऽऽभरणे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार । "खुड्डियवरणेउरचलणमालिया ।" औ० । आ० म० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

णेऊण—नीत्वा—अव्य० । "युवर्णस्य गुणः" ॥ ८ । ४। २३७॥ इति युवर्णस्य गुणः । गमयित्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

णेग—नैक—त्रि० । न एकं नैकम् । नायं नञ्, किं तु न इति । प्रभूते, आ० म० १ अ० २ खण्ड । बहुके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । सूत्र० । विशे० ।

णेगम-नैगम-पुं० । निगमा वणिजः, तेषां स्थानं नैगमम् । वणिजाऽऽवासे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० । वाणिजके, भ० १८ श० २ उ० । कल्प० । सू० । सामान्यविशेषग्राहकत्वात्तस्यानेकेन ज्ञानेन मिनोति परिच्छिनत्तीति नैगमः । अथवा निगमा निश्चितार्थबोधाः, तेषु कुशलो भवो वा नैगमः । अथवा-नैको गमोऽर्थमार्गो यस्य स प्राकृतत्वेन णेगमः । निगमेषु वाऽर्थबोधेषु कुशलो नयो वा नैगमः । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

नैकम-पुं० । नैकैर्मानैर्महासत्तासामान्यविशेषज्ञानैर्मिमीते मिनोति वा नैकमः । अथवा नैके गमाः पन्थानो यस्य स नैकगमः । (पृषोदरादित्वात् रूपसिद्धिः) स्था० ७ ठा० । अनु० । अष्ट० । ग० । नयभेदे, आ० म० ।

व्युत्पत्तिः—

णेगेहिं माणेहिं, मिणइ त्ती णेगमस्स णेरुत्ती ।
सेसाणं तु नयाणं, लक्खणमिणमो सुणह वोच्छं ॥

न एकं नैकं, नायं नञ्, किं तु न इति । अनुस्वार इति न भवति (?) प्रभूतानीत्यर्थः । ततो नैकैर्मानैर्महासामान्यावान्तरसामान्यविशेषाऽऽदिविषयैः प्रमाणैर्मिमीते परिच्छिनत्ति वस्तुजातमिति नैगमः । "पृषोदराऽऽदयः" ॥ ३ । २ । १५५ ॥ इतीष्टरूपनिष्पत्तिः । तथा चाऽऽह-इति इयं, नैगमस्य निरुक्तिः निर्वचनम् । उपलक्षणमेतत् । तेनाऽन्यथाऽपि नैगमशब्दव्युत्पत्तिः परिभावनीया । तद्यथा-निश्चितो गमो निगमः परस्परविविक्तसामान्याऽऽदिवस्तुग्रहणम्, स एव प्रज्ञाऽऽदेराकृतिगणत्वात् स्वार्थिकाण्प्रत्ययविधानान्नैगमः । यदि वा-निगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति निगमाः, तेषु नयो योऽभिप्रायो नियमपरिच्छेदरूपः स नैगमः । अथवा-नैके गमा यस्यासौ नैगमः । पृषोदराऽऽदित्वात् ककारस्य लोपः । बहुविधवस्त्वभ्युपगमपर इत्यर्थः । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

नैगमनयशब्दार्थं तावदाह-

णेगाइं माणाइं, सामन्नोभयविसेसणाणाइं ।
जं तेहिं मिणइ तो णे-गमो णओ णेगमाणो त्ति ॥२१८६॥

न एकं नैकं, प्रभूतानीत्यर्थः, नैकानि, किं तु प्रभूतानि यानि मानानि सामान्योभयविशेषज्ञानानि । तत्र समानानां भावः सामान्यं, सत्तालक्षणम्, उभयं सामान्यविशेषोभयरूपमवान्तरालसामान्यं तु द्रव्यगोत्वगजत्वाऽऽदिकम्, विशेषास्तु नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्यस्वरूपा व्यावृत्त्याकारबुद्धिहेतवः, तेषां सामान्योभयविशेषाणां ग्राहकाणि ज्ञानानि सामान्योभयविशेषज्ञानानि, तैर्यस्मात् मिनोति, मिमीते वा, ततो नैगमः । अत एव नैकमानो नैकपरिच्छेदः, किं तु विचित्रपरिच्छेद इति ॥ २१८६ ॥

नैगमनयस्यैव व्युत्पत्त्यन्तरमाह-

लोगत्थनिबोहा वा, निगमा तेसु कुसलो भवो वाऽयं ।
अहवा जं नेगगमो-ऽणेगपहो णेगमो तेणं ॥ २१८७॥

'वा' इत्यथवा, निगमा भण्यन्ते । के ? । लोकार्थनिबोधाः-अर्था जीवाऽऽदयः, तेषु नितरामनेकप्रकारा बोधा निबोधा लोकस्यार्थनिबोधा लोकार्थनिबोधाः । तेष्वेवंविधेषु निगमेषु भवः कुशलो वाऽयमिति नैगमः । अथवा-अन्यथा व्युत्पत्तिः-गम्यतेऽनेनेति गमः पन्थाः, नैके गमाः पन्थानो यस्याऽसौ नैकगमः, वक्ष्यमाणनीत्या बहुविधाभ्युपगमपरत्वाद् नैकमार्गः, निरुक्तविधिना च ककारलोपान्नैगम इति ॥ २१८७ ॥

कथंभूतः पुनरयं, कथं चानुगन्तव्य ?, इत्याह-

सो कमविसुद्धभेओ, लोगपसिद्धिवसओऽणुगंतव्वो ।
विहिणा निलयणपत्थय-गामोवम्माइँ संसिद्धो ॥२१८८॥

स नैगमनयः क्रमेण परिपाट्या विशुद्धा विशेषवन्तो भेदाः प्रकारा यस्य स क्रमविशुद्धभेदः । तथाहि-आद्यभेदोऽस्य निर्विकल्पमहासत्ताऽऽख्यकेवलसामान्यवादित्वात्सर्वाविशुद्धः; गोत्वाऽऽदिसामान्यविशेषवादी तु द्वितीयभेदो विशुद्धाविशुद्धः, विशेषवादी तु तृतीयभेदः सर्वविशुद्धः । विशे० । (दृष्टान्ता 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८३६ पृष्ठे द्रष्टव्याः)

णेगविह—नैकविध—त्रि० । नानाप्रकारे, नि० चू० १ उ० ।

णेचइय—नैचयिक—पुं० । निचयेन संचयेनार्थाद् धान्यानां ये व्यवहरन्ति ते नैचयिकाः । धान्यव्यापारिषु, व्य० ४ उ० ।

णेच्छंत—अनिच्छत्—त्रि० । अनभिलषति, व्य० २ उ० ।

णेच्छिय—नेच्छित—त्रि० । न इच्छितं नेच्छितम् । इच्छाया अविषयीकृते, जी० ।

णेच्छियकामगामिणो ते मणुयगणा ।

नेच्छितकामगामिनः-न इच्छितमिच्छाविषयीकृतं नेच्छितं, नायं नञ् किं तु नशब्दः, इत्यत्राऽऽदेशाभावः । यथा-नैके द्वेषस्य पर्याया इत्यत्र नेच्छितमिच्छाया अविषयीकृतं कामं स्वेच्छया गच्छन्तीत्येवं शीला नेच्छितकामगामिनः, ते मनुजाः । जी० ३ प्रति० ४ उ० । जं० ।

णेहूर–नेहूर–पुं० । अनार्यदेशभेदे, तत्रत्यमनुष्ये च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । प्रज्ञा० ।

णेड्ड–नीड–न० । "नीडपीठे वा" ॥ ८ । १ । १०६ ॥ इतीत एत्वं वा । 'नेडं' । 'नीडं' । पक्षिणामावासस्थाने, प्रा० १ पाद ।

णेड्डाली–देशी–शिरोभूषणभेदे, दे० ना० ४ वर्ग ४३ गाथा ।

णेड्ड–नीड–न० । "सेवाऽऽदौ वा" ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । पक्षिणामावासस्थाने, प्रा० २ पाद । नीडे, दे० ना० ४ वर्ग ४४ गाथा ।

णेड्डरिया–देशी–भाद्रपदोज्ज्वलदशम्यां जाते कस्मिंश्चिदुत्सवविशेषे, दे० ना० ४ वर्ग ४५ गाथा ।

णेत्त–नेत्र–न० । नयन्त्यर्थदेशमर्थक्रियासमर्थमर्थमाविर्भावयन्ति इति नेत्राणि । चक्षुरादीन्द्रियेषु, आचा० १ श्रु०४ अ०४ उ० । अक्षिणि, "वाऽक्ष्यर्थवचनाद्याः" ॥ ८ । १ । ३३ ॥ इति वा नपुंसकत्वम्, पक्षे स्त्री । प्रा० १ पाद । "दो णेत्ता" प्रज्ञा० १८ पद । "वक्कंमुहे णिमयजीहणेत्ते ।" उत्त० १२ अ० । मन्थदण्डाऽऽकर्षणरज्जौ, उपा० २ अ० । वस्त्रभेदे, वृक्षमूले, रथे, जटायाम्, नाड्याम्, शलाकायाम्, प्रापयितरि, नयनसाधने, प्रवर्तके च । वाच० ।

णेत्तसूल–नेत्रशूल–न० । नेत्रपीडायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

णेम–नेम–पुं० । भूमिभागादूर्ध्वं निष्क्रामति प्रदेशे, जं० १ वक्ष० । औ० । रा० । आ० म० । नेमशब्दो देश्यः । कार्ये, पिं० । अवधौ, काले, अर्द्धे, प्राकारे, कैतवे, गर्तनाड्ये, अर्ध्यास्मासित्यर्थे च । अर्द्धार्थेऽस्य सर्वनामता । वाच० ।

णेमि–नेमि–पुं० । चक्रस्य बाह्यपरिधौ, जी० ३ प्रति० ४ उ० । सूत्र० । नं० । "सुकयनेमिजंतकम्माणं ।" भ० ९ श० ३३ उ० । चक्रधारायाम्, स्था० ३ ठा० ३ उ० । धर्मचक्रस्य नेमिवन्नेमिः । अस्यामवसर्पिण्यां जाते द्वाविंशे तीर्थकरे, कल्प० ७ क्षण । स० । आ० चू० । आव० । ध० । प्रव० । नेमिचरित्रे सर्वसाधूनां द्वादशाऽऽवर्त्तवन्दनं कृष्णो ददौ इत्युक्तमस्ति, न त्वष्टादशासहस्राणामिति तदुक्तिर्लौकिकी, शास्त्रीया वेति ?। यदि शास्त्रीया तदा कथं तदुपपत्तिः?, "पयडिआणं च तइयं तु ।" इतिवचनात्सर्वेषां च पदस्थत्वाभावात् । यदि सर्वेषां पदस्थत्वं तदा ते कस्मिन् पदे स्थिताः?, इति प्रश्ने, उत्तरम्—यथा नेमिचरित्रे तथाऽऽवश्यकवृत्त्यादावपि सर्वेषां साधूनां द्वादशाऽऽवर्त्तवन्दनकमुक्तमस्ति, सर्वशब्देन चाष्टादशसहस्रसंख्या समागतैवेति ज्ञायते । किं च–सर्वेषामिति पदं विवक्षितसर्वपरं, तेन पदस्थानामेव वन्दनकप्रदानं संजाव्यते, पदस्थेष्वपि ये गुरुनिकटस्थास्ते कथं तद्दापयन्तीति विचारेण सर्वे समञ्जनमेवेति । २३१ प्र० । तथा श्रीकल्पसूत्रे श्रीनेमेश्चत्वारि शतसहस्राण्यार्या उक्ताः सन्ति, नेमिचरित्रे त्वेवम्–"विना च कनकवतीं, रोहिणीं देवकीं तथा । पत्न्योऽपि प्राव्रजन् स्वामि–सन्निधौ सकला अपि ॥ १ ॥" वसुदेवाहिण्ड्यामपि द्वासप्ततिसहस्राण्यपि वसुदेवपत्न्यः श्रीनेमिपार्श्वे प्रव्रज्य मोक्षं गताः । अन्या अपि सहस्रशः कृष्णाऽऽदिपत्न्यः नेमिपार्श्वे प्रव्रजिताः सन्तीति कथं संगच्छते ?, तथा सर्वेषामपि तीर्थकृतां श्राद्धश्राद्धीसाधुसाध्वीसंख्या कल्पसूत्रोक्ताऽपि संदेहमावहतीति प्रश्ने, उत्तरम् तीर्थकृतां पार्श्वे यैः सम्यक्त्वलाभपूर्वकं देशविरत्यादि प्रतिपन्नं, त एव तीर्थकृत्परिवारमध्ये गणनीयाः, नान्ये इति न कोऽपि शङ्काऽवकाश इति । २३२ प्र० । अथ पन्यासहर्षचन्द्रगणिकृतप्रश्नास्तदुत्तराणि च यथा–श्रीजिनेन्द्राम्बा जिनेन्द्रप्रसवनानन्तरमपत्यं प्रसूते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–एकान्तो ज्ञातो नास्ति । नेमिनाथाऽऽदीनां रथनेमाऽऽदेर्लघुभ्रातृतया प्रतीतत्वादिति । ४१६ प्र० । नेमिनाथस्यैकादश गणधरा एकविंशतिस्थानके कथिताः, कल्पसूत्रे त्वष्टादश, तत्कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्–तावत् एकविंशतिस्थानके तथा सप्तविंशस्थानकप्रवचनसारोद्धाराऽऽवश्यकाऽऽदिग्रन्थेषु च कथिताः सन्ति । कल्पसूत्रे तु नेमिनाथस्याष्टादश गणधरा इत्यादि यदन्तरं पतति तन्मतान्तरं ज्ञेयमिति । ४४८ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । ('अरिट्ठनेमि' शब्दे प्रथमभागे ७६२ पृष्ठे कथोक्ता) ('रहणेमि' शब्दे विस्तृता कथा, राजीमतिरथनेमिसम्वादश्चाभिधास्यते)

णेमिचंद–नेमिचन्द्र–पुं० । वि० सं० १२०० मिते विद्यमाने वीरस्वामिशिष्ये सागरेन्दुस्वामिगुरौ, अयमाचार्यः तर्कशास्त्रेऽतीव कुशल आसीत् । जै० इ० ।

णेमित्तकारण–नैमित्तकारण–न० । निमित्तस्येदं नैमित्तं, तदेव कारणं नैमित्तकारणम् । नैमित्तिककारणे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । विशे० ।

णेमित्तिय–नैमित्तिक–न० । निमित्तमतीताऽऽदिपरिज्ञानोपायशास्त्रम्, तदेव नैमित्तिकम् । कूटपर्वताऽऽदौ, पापश्रुते, स्था० ६ ठा० । निमित्तं त्रैकालिकं लाभालाभप्रतिपादकं शास्त्रं, तद् वेत्त्यधीते वा नैमित्तिकः । ध० २ अधि० । अष्टाङ्गनिमित्तसम्पन्ने, नि० चू० १ उ० । प्रव० । दश० । आचा० ।

णेमिपडिरूवग–नेमिप्रतिरूपक–न० । नेमिश्चक्रधारा, तद्योगाच्चक्रमपि नेमिस्तत्प्रतिरूपकम् । वृत्ततया तत्सदृशम् । वृत्तस्थाने, भ० १४ श० ६ उ० ।

णेय–ज्ञेय–त्रि० । ज्ञायत इति ज्ञेयम् । ज्ञानविषये, नि० चू० १ उ० । ज्ञानक्रियाविषये परिच्छेद्ये, व्य० १ उ० । विशे० । ज्ञातव्ये, आव० ४ अ० । पञ्चा० ।

णेयव्व–नेतव्य–त्रि० । संवेदनविषयतां प्रापणीये, उत्त० १ उ० ।

णेया–नेतृ–त्रि० । नयनशीलो नेता, नयतेस्ताच्छीलिकस्तृन् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । प्रणायके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । स० ।

णेयाउय–नैयायिक–पुं० । न्यायेन चरति नैयायिकः । न्यायाऽबाधिते, आ० चू० ४ अ० । न्यायानुगते, औ० । न्यायनिष्ठे, उत्त० २ अ० । सूत्र० । न्यायमनतिक्रान्ते, दशा० ९ अ० । न्यायोपपन्ने, उत्त० ३ अ० । सूत्र० । गौतमशास्त्रज्ञे अक्षपादे, पुं० । ते च प्रमाणप्रमेयाऽऽदीनां पदार्थानामन्वयव्यतिरेकपरिज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इति व्यवस्थिताः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । नयनशीलो नैयायिकः, न्याये वा भवो नैयायिकः । मोक्षगमके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । ध० । भ० । आव० । मोक्षनयनशीले, "नेयाउयं सुअक्खायं, उवादाय समीहए ।" नयनशीलो नेता, नयतेस्ताच्छीलिकस्तृन् । स चाऽत्र सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽत्मको मोक्षमार्गः । श्रुतचारित्ररूपो वा धर्मो मोक्षनयनशीलत्वात् गृह्यते; मार्गं धर्मं वा मोक्षं प्रति नेतारं सुष्ठु तीर्थकराऽऽदिभिराख्यातं स्वाख्यातं तमुपादाय गृहीत्वा सम्यक् मोक्षाय चेष्टते ध्यानाध्ययनाऽऽद्यनुष्ठानं विधत्ते । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

णेरइय--नैरयिक--पुं० । निर्गतमविद्यमानमयमिष्टफलं येभ्यस्ते निरयाः, तेषु भवा नैरयिकाः । क्लिष्टसत्त्वविशेषेषु, स्था० । "तिविहा णेरइया पण्णत्ता । तं जहा-कतिसंचया, अकतिसंचया, अवत्तव्वगसंचया, एवं एगिंदियवज्जा० जाव वेमाणिया।" (एवमिति) नारकवदेव चतुर्विंशतिदण्डकोक्ता वाच्याः, एकेन्द्रियवर्जाः, यतस्तेषु प्रतिसमयमसङ्ख्याता अनन्ता वा अकतिशब्दवाच्या एवोत्पद्यन्ते, न त्वेकः, सङ्ख्याता वा इति ।

आह च--

"अणुसमयमसंखिज्जा, संखिज्जाओ य तिरियमणुया य ।
एगिंदिएसु गच्छे, आरा ईसाणदेवा य ॥ १ ॥
एगो असंखभागो, वट्टइ उव्वट्टणोववायम्मि ।
एगनिगोए णिच्चं, एवं सेसेसु वि स एव त्ति " ॥ २ ॥

स्था० ३ ठा० १ उ० । दशा० । नरकभवमनुप्राप्तेषु जन्तुषु, दशा० १ चू० । रत्नशर्कराऽऽदिमहातमःपृथ्वीपर्यन्तनरकाऽऽवासिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । प्रज्ञा० । जी० । सूत्र० । उत्त० । स्था० । (नैरयिकसिद्धयादिकोऽधिकारः 'णरग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६०४ पृष्ठे उक्तः) ('अणुणोववायग' शब्दे प्रथमभागे ८८६ पृष्ठेऽन्यापि सर्वा वक्तव्यता गता) (नैरयिकाणाम् अन्तरं, कालस्थितिः, ज्ञानं, दृष्टिः, समुद्घातश्चेत्येवमादयोऽन्तराऽऽदिशब्देषु, जीवशब्दे च पुद्गलभेदादिकलितकर्मनिर्जरणाऽऽदि च सर्वं विलोकयम)

नैरयिकानाह-

णेरइया सत्तविहा, पुढवीसू सत्तसू भवे ।
(पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे)
रयणाभ सक्कराभा, बालुयाभा य आहिया ॥ १५७ ॥
पंकाभा धूमाभा, तमाभा तमतमा तहा ।
इति णेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥ १५८ ॥
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे उ वियाहिया ।
एत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥ १५६ ॥
संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥ १६० ॥
सागरोवममेगं तु, उक्कोसेणं वियाहिया ।
पढमाए जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥ १६१ ॥
तिन्नेव सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
दोच्चाए उ जहन्नेणं, एगयं सागरोवमं ॥ १६२ ॥
सत्तेव सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
तइयाए जहन्नेणं, तिन्नेव सागरोवमा ॥ १६३ ॥
दससागरोवमा ऊ, उक्कोसेणं वियाहिया ।
चउत्थीए जहन्नेणं, सत्तेव सागरोवमा ॥ १६४ ॥
सत्तरस सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
पंचमाए जहन्नेणं, दसेव सागरोवमा ॥ १६५ ॥
बावीस सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
छट्ठीए य जहन्नेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥ १६६ ॥
तेत्तीससागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
सत्तमाए जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ॥ १६७ ॥
जा चेव य आउठिई, णेरइयाणं वियाहिया ।
सा तेसिं कायठिई, जहन्नुक्कोसिया भवे ॥ १६८ ॥
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, णेरइयाणं तु अंतरं ॥ १६९ ॥
एतेसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणदेसओ वा वि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १७० ॥

चतुर्दशसूत्राणि-नैरयिकाः सप्तविधाः सप्तप्रकाराः, किमिति ?, यतः, पृथिवीषु सप्तसु (भवे त्ति) भवेयुः, ततस्तद्भेदात्तेषां सप्तविधत्वमिति भावः । काः पुनस्ताः सप्तेत्याह-(रयणाभ त्ति) रत्नानां वैडूर्याऽऽदीनामाभा स्वरूपतः प्रतिभासनमस्यामिति रत्नाभा, इत्थं चैतत्तत्र रत्नकाण्डस्य भवनपतिभवनानां च विविधरत्नवतां सम्भवात् । एवं सर्वत्र, नवरं शर्करा श्लक्ष्णपाषाणशकलरूपा । तथाह-(धूमाभे त्ति) यद्यपि तत्र धूमासंभवस्तथापि तदाकारपरिणतानां पुद्गलानां सम्भवात्, तमोरूपत्वाच्च तमःप्रभा, प्रकृष्टतरतमस्त्वाच्च तमस्तमा । इतीत्यमुना पृथिवीसप्तविधत्वलक्षणेन प्रकारेण नैरयिका एते सप्तधा परिकीर्तिताः । "लोगस्स" इत्यादि सूत्रद्वयं क्षेत्रकालाभिधायि प्राग्वत्; सादिसपर्यवसितत्वं द्विविधस्थित्यभिधानद्वारतो भावयितुमाह-(सागरोपममेगं तु) उत्कृष्टेन व्याख्याता, प्रथमायां प्रक्रमान्नरकपृथिव्यां, जघन्येन दशवर्षसहस्राणि यस्यां सा दशवर्षसहस्रिका, प्रक्रमादायुःस्थितेर्नैरयिकाणामितीहोत्तरसूत्रेषु च दृश्यम् । त्रीण्येव (सागर त्ति) सागरोपमानि, तुः पूरणे, उत्कृष्टेन व्याख्याता । द्वितीयायाम्-(जहन्नेणं ति) उत्तरत्र तुशब्दस्य पुनःशब्दार्थस्य भिन्नक्रमत्वेनेह संबन्धाज्जघन्येन पुनरेकं सागरोपमम् । सप्तैव सागरोपमानि तूत्कृष्टेन व्याख्याता । तृतीयायां जघन्येन पुनस्त्रीण्येव सागरोपमाणि । दश सागरोपमाणि तूत्कृष्टेन व्याख्याता । चतुर्थ्यां जघन्येन सप्त च तुःसागरोपमाणि, सप्तदशसागरोपमाणि तूत्कृष्टेन व्याख्याता । पञ्चम्यां जघन्येन दश चैव तु सागरोपमानि, द्वाविंशतिसागरोपमानि तूत्कृष्टेन व्याख्याता । षष्ठ्यां जघन्येन सप्तदश सागरोपमानि, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तूत्कृष्टेन व्याख्याता । सप्तम्यां नरकपृथिव्यां जघन्येन द्वाविंशतिसागरोपमाणि आयुःस्थितिरुक्ता । कायस्थितिमाह-या चेति, चशब्दो वक्तव्यतान्तरोपन्यासे, एवेति भिन्नक्रमः, चः पुनरर्थः, ततो यैव च पुनरायुःस्थितिर्नैरयिकाणां व्याख्याता (से त्ति) एवकारस्य गम्यमानत्वात्सैव तेषां कायस्थितिः जघन्योत्कृष्टा भवेदित्थं चैतत् उद्वृत्तानां पुनस्तत्रैवानुपपत्तेः । न हि तत उद्वृत्य गर्भजपर्याप्तकः संख्येयवर्षायुष्वेवोपजायते । यत उक्तम्-" णरगंतो उव्वट्टा, गब्भे पज्जत्तसंखजीवीसु । णियमेण होइ वासो, सट्ठीए उ संभवो बुच्छं" ॥१॥ अन्तराभिधानाभिधायि सूत्रद्वयं प्राग्वत्, नवरमन्तर्मुहूर्तं जघन्यमन्तरं यदाऽन्यतरनरकादुद्वृत्य कश्चिज्जीवो गर्भजपर्याप्तकं मत्स्याऽऽदिषूत्पद्यते, तत्र चातिसंक्लिष्टाध्यवसायोऽन्तर्मुहूर्तमायुः प्रतिपाल्य मृत्वाऽन्यतमनरके एवोपजायते, तदा लभ्यते इति भावनीयमिति चतुर्दशसूत्रार्थः । उत्त० पाई० ३६ अ० ।

(नैरयिकाणां स्थितिः 'ठिइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७१७ पृष्ठे गता)

णेरइयत्ता-नैरयिकता-स्त्री० । नैरयिकत्वे नैरयिकभावे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णेरइयावास-नैरयिकावास-पुं०। नैरयिकाणामावासभूमौ, जी० १ प्रति० । स्था० ।

णेरई-नैर्ऋती-स्त्री० । निर्ऋतिर्देवताऽस्या नैर्ऋती । भ० ७ श० १ उ० । स्था० । पूर्वस्याः पश्चिमायाश्चान्तरालविदिशि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । विशे० । स्था० ।

णेरप्प-नैरात्म्य-न० । आत्मराहित्ये, शौद्धोदनीयाः पुनरेवमाहुः-नैरात्म्यभावना । सं० ।

णेरुत्त-नैरुक्त-न० । अभिधानाक्षरानुसारतो निश्चितार्थस्य वचनं प्रणमं निरुक्तं, तत्र भवं नैरुक्तम् । निरुक्तवशेनाऽर्थाभिधायके नामनि, यथा मह्यां शेते महिष इत्यादि । अनु० । निरुक्तशास्त्रविदि, पुं० । व्य० ७ उ० ।

णेल-नैल-न० । नीलीविकारे, भ० १ श० १ उ० । प्रज्ञा० ।

णेलच्छ-पण्डित-पुं० । " गोणाऽऽदयः " ॥ ८ । २ । १७४ ॥ इति पण्डितशब्दस्य णेलच्छाऽऽदेशः। प्राक्, प्रा० २ पाद । षण्डे, दे० ना० ४ वर्ग ४४ गाथा ।

णेलिच्छी-देशी-कूपतुलायाम्, दे० ना० ४ वर्ग ४४ गाथा ।

णेवइय-नैतकिक-त्रि० । नीतिकारिणि, व्य० १ उ० ।

णेवच्छण-देशी-अवतारणे, दे० ना० ४ वर्ग ४० गाथा ।

णेवत्थ-नेपथ्य-न० । वेषे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । आ० म० । औ० । रा० । स्त्रीपुरुषाणां वेषे, स्था० ४ ठा० २ उ० । परिधानाऽऽदिरचने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । केशवीवरसमारचने, दर्श० ४ तत्त्व । नि० । औ० । निर्मलवेषे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । स्था० ।

णेवाइय-नैपातिक-न० । निपतत्यर्हदादिपदानामादिपर्यन्तेषु इति निपातः । निपाते भवं नैपातिकम् । " अध्यात्माऽऽदिभ्य इकण् " ॥६ । ३ । ७८॥ इति अध्यात्माऽऽदित्वादिकण् । यदि वा निपात एव नैपातिकम् । निपातसंज्ञके पदे, विशे० । आ० म० ।

णेवाल-नेपाल-पुं० । देशभेदे, नेपालनामा ऋषभदेवपुत्र आसीत्तद्राज्यभूतो देशोऽपि नेपालः । आव० ४ अ० । कल्प० । आ० चू० ।

णेवेज्जपूया-नैवेद्यपूजा-स्त्री०। घृतदधिदुग्धाऽऽदिनानाव्यञ्जनरससमग्राऽऽहारस्य जिनानां पुर उपढौकने, " घयदहियनाणावंजणरससमग्गं पवहिणं जिणाणं पुरओ ढाऊण भत्तीए ससत्तीए नेवयणं कायव्वं । " दर्श० १ तत्त्व । (अत्र दृष्टान्तो दर्शनशुद्धिग्रन्थादवसेयः)

णेसज्ज-नैषद्य-पुं० । समपुतनयोपविष्टे, प्रव० ६७ द्वार । निषद्यावति, पञ्चा० १८ विव० ।

णेसज्जिय-नैषधिक-पुं० । निषद्यया चरके, निषद्योपविष्टे, बृ०। निषद्याः पञ्च भवन्ति-

पंचेव निसिज्जाओ, तासिं विभासा उ कायव्वा ।

निषद्याः पञ्चैव भवन्ति, तासां विभाषा कर्तव्या । सा चेयम्-निषद्या नामोपवेशनविशेषाः, ताः पञ्चविधाः। तद्यथा-समपादपुता, गोनिषद्यिका, हस्तिशुण्डिका, पर्यङ्का, अर्द्धपर्यङ्का चेति । तत्र यस्यां समौ पादौ पुतौ च स्पृशतः सा समपादपुता, यस्यां तु गौरिवोपवेशनं सा गोनिषद्यिका, यत्र तु ताभ्यामुपविश्यैकं पादमुत्पाटयति सा हस्तिशुण्डिका । पर्यङ्का प्रतीता । अर्द्धपर्यङ्का च यस्यामेकं जानुमुत्पाटयति, एवंविधनिषद्यया चरन्तीति नैषधिकाः । बृ० ५ उ० । सूत्र० । स्था० । आचा० ।

णेसत्थिया-नैसृष्टिकी-स्त्री० । निसर्जनं निसृष्टं, क्षेपणमित्यर्थः। तत्र भवा नैसृष्टिकी, निसृजतः कर्मबन्धरूपायां निसर्गरूपायां वा क्रियायाम्, स्था० २ ठा० १ उ० । " णेसत्थिया किरिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-जीवणेसत्थिया चेव, अजीवणेसत्थिया चेव । " राजाऽऽदिसमादेशादुदकस्य यन्त्राऽऽदिभिर्निसर्जनं सा जीवनैसृष्टिकीति, यत्तु काण्डाऽऽदीनां धनुरादिभिः सा अजीवनैसृष्टिकीति । अथवा-गुर्वादौ जीवं शिष्यं पुत्रं वा निसृजतो ददत एका, अजीवं पुनरेषणीयभक्तपानाऽऽदिकं निसृजतो ददतोऽन्येति । स्था० २ ठा० १ उ० । आ० चू० ।

णेसत्थी-देशी-वणिक्सचिवे, दे० ना० ४ वर्ग ४४ गाथा ।

णेसप्प-नैसर्प-पुं० । निधानभेदे, तदधिष्ठायके देवभेदे च । स्था० । "णेसप्पम्मि निवेसा, गामागरनगरपट्टणाणं च । दोणमुहमडंबाणं, खंधाराणं गिहाणं च ॥ १ ॥ " स्था० ९ ठा० । (' णिहि ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१५१ पृष्ठे व्याख्यातम्)

णेसर-देशी-रवौ, दे० ना० ४ वर्ग ४४ गाथा ।

णेसाय-निषाद-पुं० । निषीदन्ति स्वरा यस्मात्स निषादः। स्वरविशेषे, " निषीदन्ति स्वरा यस्मा-न्निषादस्तेन हेतुना । सर्वांश्चातिभवत्येषः, यदादित्योऽस्य दैवतम् ॥१॥ " स्था०७ ठा० ।

णेह-स्नेह-पुं० । " क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् " ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इति सलुक् । प्रा० १ पाद । मोहोदयजे प्रीतिविशेषे पुत्राऽऽदिष्वत्यन्तानुरागे, आतु० । जीत० । तैलाऽऽदिगतरसे, यद्वशाद् दाहानुकूल्यम् । वाच० ।

णेहज्झाण-स्नेहध्यान-न० । स्नेहो मोहोदयजः प्रीतिविशेषः पुत्राऽऽदिष्वत्यन्तानुरागः । मरुदेवीसुनन्दाहरणकमालाऽऽदीनामिव दुर्ध्याने, आतु० ।

णेहपच्चय-स्नेहप्रत्यय-न० । स्नेहनिमित्ते, क० प्र० १ प्रक० ।

णेहपच्चयफड्डग-स्नेहप्रत्ययस्पर्धक-न० । स्नेहप्रत्ययं स्नेहनिमित्तमेकैकस्नेहाविभागवृद्धानां पुद्गलवर्गणानां समुदायरूपं स्पर्धकं स्नेहप्रत्ययस्पर्धकम् । स्नेहनिमित्ते स्पर्धके, क० प्र० १ प्रक० ।

णेहफड्डगपरूवणा-स्नेहस्पर्धकप्ररूपणा-स्त्री० । प्रयोगेण गृहीतानां पुद्गलानां स्नेहमधिकृत्य स्पर्धकप्ररूपणायाम्, क० प्र० १ प्रक० ।

णेहालु-स्नेहवत्-त्रि० । " आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मंतेत्तेर-मणा मतोः " ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इति मत्वर्थे आलुः । स्निग्धे, प्रा० २ पाद ।

णेहुत्तुप्पियगत्त-स्नेहोत्प्लेपितगात्र-त्रि० । स्नेहस्नेहितशरीरे, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

णो-नो-अव्य० । अवधारणे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । निषेधे, विशे० । सूत्र० । आ० म० । भ० । सर्वनिषेधे, नं० । देशनिषेधे च । दश० १ अ० । आचा० । विशे० । उत्त० । व्य० । " नो कप्पइ आमपलम्बे " इति सूत्रे नोकारशब्दस्यैव भावनां करोति-"नोकारो खलु देसं, पडिसेहयई पकप्पिज्जा।" नोशब्दः

प्रायो देशप्रतिषेधे वर्त्तते । यथा नो घट इत्युक्ते घटैकदेशः कपालाऽऽदिकः प्रतीयते, एवमत्रापि नोकारो देशं प्रतिषेधयति । वृ० १ उ० । कल्प० । "नो घडो घडेगदेसो, तब्विवरीयं च अं दव्वं ।" नोकारो देशप्रतिषेधकः,तदन्यभावसूचको वा । यथा-नो घट इत्युक्ते घटैकदेशः कपालाऽऽदिकोऽवयवः, तद् विपरीतमन्यद् द्रव्यं पटाऽऽदिकम् । वृ० १ उ० । साहचर्ये,कर्म० १ कर्म० ।

णोअक्खरसंबद्ध–नोअक्षरसंबद्ध–पुं० । अक्षरसम्बद्धादितरो नोअक्षरसम्बद्धः । अक्षरसंबद्धभिन्ने, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णोअजीव–नोऽजीव–पुं० । अजीवस्वरहिते, नयो० ।

जीवो वा जीवदेशो वा, प्रदेशो वाऽप्यजीवगः ।
अनयैव दिशा ज्ञेयो, नोअजीवपदादपि ॥ ४४ ॥

(जीवो वेति) अनयैवोक्तयैव दिशा नोअजीवपदादपि नोशब्दस्य सर्वनिषेधकत्वे जीवो जीवपदार्थो वा बोध्यः, तस्य देशनिषेधकत्वे चाजीवदेशो वाऽजीवगः अजीवाश्रितः प्रदेशो वा । "अमानोनाः प्रतिषेधे" इत्यनुशासनतौल्येऽपि संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्च नञोऽर्थः । नोशब्दस्य स्वभाव एकदेशो वा, तत्र चान्वयिताऽवच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वतदेकदेशत्वाऽऽदि व्युत्पत्तिबललभ्यमिति सिद्धान्तपरिभाषेति निगर्वः ॥ ४४ ॥ नयो० ।

णोअमण–नोअमनस्–न० । अविवक्षितसम्बन्धिविशेषे मनोमात्रे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

णोअवयण–नोअवचन–न० । वचनमात्रे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

णोआउज्जसद्द–नोआतोद्यशब्द–पुं० । आतोद्यादितरो नोआतोद्यशब्दः । स्था० २ ठा० ३ उ० । " णोआउज्जसद्दे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-भूसणसद्दे चेव,नो भूसणसद्दे चेव । " स्था० २ ठा० ३ उ० । (स्वस्वस्थाने व्याख्या)

णोआगम–नोआगम–पुं० । आगमस्याभावे, आगमस्यैकदेशे, आगमेन सह मिश्रणे च । नोशब्दस्य त्रिष्वप्यर्थेषु वर्तमानत्वात् । आ० म० १ अ० १ खण्ड । पदार्थाऽपरिज्ञाने,नं० । ध० । अनु० ।

णोआगास–नोआकाश–न० । आकाशादन्यस्मिन् धर्मास्तिकायाऽऽदौ, स्था० २ ठा० १ उ० ।

णोइंदिय–नोइन्द्रिय–न० । मनसि, साहश्यार्थत्वान्नोशब्दस्यार्थपरिच्छेदकत्वेनेन्द्रियाणां सदृशमिति तत्सहचरमिति । स्था० ६ ठा० । भ० ।

णोइंदियत्थ–नोइन्द्रियार्थ–पुं० । नोइन्द्रियस्य विषये, स्था० । औदारिकाऽऽदित्वार्थपरिच्छेदकत्वलक्षणधर्मद्वयोपेतमिन्द्रियं, तस्यौदारिकाऽऽदित्वधर्मलक्षणदेशनिषेधान्नोइन्द्रियं मनः, साहश्यार्थत्वाद्वा नोशब्दस्यार्थपरिच्छेदकत्वेनेन्द्रियाणां सदृशमिति तत्सहचरमिति वा नोइन्द्रियं मनः, तस्यार्थो विषयो जीवाऽऽदिर्नोइन्द्रियार्थ इति । स्था० ६ ठा० ।

णोउस्सासग–नोउच्छ्वासक–पुं० । उच्छ्वासपर्याप्तिविकले, "णेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-उस्सासगा चेव, णो उस्सासगा चेव, जाव० वेमाणिया । " स्था० २ ठा० २ उ० ।

णोएगिंदिय–नोएकेन्द्रिय–पुं० । त्रसाऽऽदिषु, आव० ४ अ० ।

णोकम्म–नोकर्मन्–न० । मनोवचनकायाऽऽत्मकेषु कर्मसु, दश्या० १३ अध्या० । आ० चू० ।

णोकसाय–नोकषाय–पुं० । कषायैः सहचरा नोकषायाः । हास्याऽऽदिषु, ते च नव, हास्याऽऽदयः षट्, त्रयो वेदाः । अत्र नोशब्दः साहचर्यवाची । एषां हि केवलानां न प्राधान्यमस्ति,किं तु कषायैरनन्तानुबन्ध्यादिभिः सहोदयं यान्ति, तद्विपाकसदृशमेव विपाकं दर्शयन्ति,बुधग्रहवदन्यसंसर्गमनुवर्तन्ते इति भावः । कषायोद्दीपनाद् वा नोकषायाः । उक्तं च-" कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि । हास्याऽऽदिनवकस्योक्ता,नोकषायाकषायता" ॥ १ ॥ कर्म० १ कर्म० । पं० सं० । आ० ।

णोकसायमोहणिज्ज–नोकषायमोहनीय–न० । नोकषायरूपे मोहनीयकर्माणि, तच्च द्विविधम्-हास्याऽऽदिषट्कं, वेदत्रिकं च । कर्म० १ कर्म० ।

णोकसायवेयणिज्ज–नोकषायवेदनीय–न० । नोकषायतया वेद्यते यत्कर्म तन्नोकषायवेदनीयम् । वेदनीयकर्मभेदे,स्था० ।

नवविहे नोकसायवेयणिज्जे कम्मे पण्णत्ते । तं जहा-इत्थीवेए, पुरिसवेए, नपुंसगवेए, हासे, रइ, अरइ, भए, सोगे, दुगुंछा ।

नोशब्दः साहचर्यार्थः,कषायैः क्रोधाऽऽदिभिः सहचरा नोकषायाः,केवलानां नैषां प्राधान्यं, किं तु यैरनन्तानुबन्ध्यादिभिः सहोदयं यान्ति, तद्विपाकसदृशमेव विपाकमादर्शयन्तीति, बुधग्रहवदन्यसंसर्गमनुवर्तन्ते । एवं च नोकषायतया वेद्यते यत्कर्म तन्नोकषायवेदनीयमिति । स्था० ९ ठा० ।

णोकेवलणाण–नोकेवलज्ञान–न० । " णोकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-ओहिणाणे चेव,मणपज्जवणाणे चेव । " स्था० २ ठा० १ उ० ।

णोगार–नोकार–पुं० । निषेधार्थके नो इत्यक्षरे, विशे० ।

णोगुण–नोगुण–पुं० । गुणेभ्यो निष्पन्नं यत्र नो भवति तन्नोगुणम् । अयथार्थे, अनु० ।

से किं तं नोगुणे ? । नोगुणे अकुंतो सकुंतो अमुग्गो समुग्गो अमुद्दो समुद्दो अलालं पलालं अकुलिया सकुलिया नोपलं असइ त्ति पलासो अमाइवाहए माइवाहए अबीअवावए बीअवावए नोइंदगोवइए इंदगोवे । सेत्तं नोगुणे ।

(से किं तं नोगुणे इत्यादि) गुणनिष्पन्नं यत्र नो भवति तन्नोगुणम्, अयथार्थमित्यर्थः । (अकुंते सकुंते इत्यादि) अविद्यमानः कुन्तोऽस्य प्रहरणविशेष एव(सकुंत त्ति)पक्षी प्रोच्यत इत्ययथार्थता । एवमविद्यमानमुद्गोऽपि कर्पूराऽऽद्याधारविशेषः समुद्गः, अङ्गुल्याभरणविशेषमुद्रारहितोऽमुद्रः तथा समुद्रो जलराशिः (अलालं पलालं ति) इह प्रकृष्टा लाला यत्र तत्प्रलालं वस्तु,प्राकृते पलालमुच्यते । यत्र तु पलालाभावस्तत्कथं तृणविशेषरूपं पलालमुच्यत इति प्राकृतशैलीमङ्गीकृत्यात्राऽयथार्थता मन्तव्या । संस्कृते तु तृणविशेषरूपं पलालं निर्यत्पत्तिकमेवोच्यते इति न यथार्थाऽयथार्थचिन्ता संभवति । (अकुलिया सकुलिय त्ति) अत्रापि कुलिकाभिः सह वर्तमानैव प्राकृते ' सउलिय त्ति ' भण्यते, या तु कुलिकारहितैव पक्षिणी सा कथं " सउलिय त्ति " ?, एवमिहापि प्राकृतशै-

नीमवाङ्गीकृत्याऽयथार्थता । संस्कृते तु शकुनिकैव साऽभिधी-यते इति कुतस्तर्ह्यसत्तासंभव इति । एवमन्यथाऽप्यविरोधतः सुधिया भावना कार्या । पलं मांसमनमपि पलाश इत्यादि तु सुगमम् । नवरं मातृवाहकाऽऽख्यो विकलेन्द्रियजीवविशेषाः । "सेत्तं नोगुणे त्ति" निगमनम् । अनु० ।

णोजीव नो जीव-पुं० । जीवाजीवव्यतिरिक्ते पदार्थे, आ० चू० १ अ० । आ० म० । विशे० । स्था० । (जीवाजीवव्यतिरिक्तं राश्यन्तरमस्तीति 'तेरासिय' शब्दे वक्ष्यते)

नोजीव इति नोशब्दे-ऽजीवः सर्वनिषेधके ।
देशप्रदेशौ जीवस्य, तस्मिन् देशनिषेधके ॥ ४३ ॥

(नो इति) नोजीव इति शब्दवाच्ये नोशब्दे सर्वनिषेधके विवक्षितेऽजीव एव । देशनिषेधके तु नोशब्दे आश्रीयमाणे देशनिषेधस्य देशान्यनुज्ञानान्तरीयकत्वाज्जीवस्य देशप्रदेशावेव नोजीवशब्दव्यपदेश्यावभ्युपगन्तव्यौ ॥ ४३ ॥ नयो० ।

णोणाणायार-नोज्ञानाचार-पुं० । ज्ञानाचाराभावे, " णोणाणायारे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा-दंसणायारे चेव, णोदंसणायारे चेव । " स्था० २ ठा० ३ उ० । (स्वस्वशब्दे व्याख्या)

णोतस-नोत्रस-पुं० । त्रसा न भवन्तीति नोत्रसाः । आहाराऽऽदिषु, आचा० ४ अ० ।

णोतहा-नोतथा-अव्य० । अन्यथाऽपीतिशब्दस्यार्थे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णोदंसणायार-नोदर्शनाचार-पुं० । नोदर्शनाऽऽचारश्चारित्राऽऽदिः । "दुविहे णोदंसणायारे पन्नत्ते । तं जहा-चरित्तायारे चेव, णोचरित्तायारे चेव ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । (स्वस्वस्थाने व्याख्या)

णोदिय-नोदित-त्रि० । प्रेरिते, गमनाभिमुखीकृते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

णोपरमाणुपोग्गल-नोपरमाणुपुद्गल-पुं० । स्कन्धेषु, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णोबद्धपासपुट्ठ-नोबद्धपार्श्वस्पृष्ट-पुं० । नोबद्धाः किं तु पार्श्वस्पृष्टा इत्येकपदनिषेधे श्रोत्रेन्द्रियग्रहणगोचराः । एकपदनिषेधे श्रोत्रेन्द्रियग्रहणगोचरेषु, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णोभासासद्द-नोभाषाशब्द-पुं० । अव्यक्तशब्दे, भाषाशब्दादितरो नोभाषाशब्दः । " णोभासासद्दे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा-आउज्जसद्दे चेव, णोआउज्जसद्दे चेव । " स्था० २ ठा० ३ उ० । (स्वस्वस्थाने व्याख्या)

णोभिउरधम्म-नोभिदुरधर्म-पुं० । स्वत एव नो भिद्यत इति नोभिदुरधर्मम । सुदृढधर्मे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णोभूसणसद्द-नोभूषणशब्द-पुं० । भूषणशब्दव्यतिरिक्ते, भूषणं नूपुराऽऽदि । "णोभूसणसद्दे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-तालसद्दे चेव, लत्तियासद्दे चेव ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । (स्वस्वस्थाने व्याख्या)

णोमाउयापय-नोमातृकापद-न० । मातृकापदव्यतिरिक्ते अर्थपदे, " णोमाउयं पि दुविहं, पंच पइण्णगं च बोधव्वं । " दश० ४ अ० । (अर्थपदव्याख्यानम् 'अत्थपय' शब्दे प्रथमभागे ७१८ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

णोमालिया-नवमालिका-स्त्री० । " ओत् पूतर-बदर-नवमालिका-नवफलिका-पूगफले " ॥८।१।१७०॥ इति उत ओत्वम् । प्रा० १ पाद । "नेवार" इतिख्याते सुगन्धपुष्पप्रधाने वृक्षभेदे, अं० १ वक्ष० । ज्ञा० । औ० ।

णोलइआ-देशी-चञ्चौ, दे० ना० ४ वर्ग ३६ गाथा ।

णोलच्छा-देशी-चञ्चौ, दे० ना० ४ वर्ग ३६ गाथा ।

णोल्ल-क्षिप्-धा० । प्रक्षेपणे, "क्षिपेर्गलत्थाड्डक्ख-सोल्ल-पेल्ल-णोल्ल-छुह-हुल-परी-घत्ताः " ॥८।४।१४३॥ इति क्षिपेर्णोल्लाऽऽदेशः । 'णोल्लइ' । क्षिपति । प्रा० ४ पाद ।

णोल्लिय-नोदित-त्रि० । प्रेरिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णोसुमण-नोसुमनस्-त्रि० । अपहतमनःसङ्कल्पे, आचा० ३ अ० ।

णोसुयकरण-नोश्रुतकरण-न० । 'करण' शब्दे व्याख्याते करणभेदे, विशे० । (श्रुतकरणव्याख्या ' करण ' शब्दे तृतीयभागे ३६८ पृष्ठे गता)

णोहलिया-नवफलिका-स्त्री० । " ओत् पूतर-बदर-नवमालिका-नवफलिका-पूगफले " ॥ ८ । १ । १७० ॥ इति उत ओत्वम् । प्रा० १ पाद । अचिरोत्पन्नफलिकायाम्, वाच० ।

ण्हं-एहं-अव्य० । नि० । पादपूरणे, बृ० १ उ० । प्रा० म० । वाक्यालङ्कारे, कल्प० ६ क्षण ।

ण्हवण-स्नपन-न० । जलक्षालने, नि० चू० १ उ० । सौभाग्यपुत्राऽऽद्यर्थं वध्वादेर्मज्जने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

ण्हाअ-स्नात-त्रि० " सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः " ॥ ८ । २ । ७५ ॥ इति स्नभागस्य णकाराऽऽक्रान्तो हकारः । कृतस्नाने, प्रा० २ पाद । सामान्यतः कृतस्नाने, दशा १० अ० । " ण्हाया कयबलिकम्मा । " ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

ण्हाण-स्नान-न० । देशतः सर्वतो वा शरीरस्य प्रक्षालने, व्य० १० उ० । दश० । आ० म० ।

अथ श्रावकस्य स्नानविधिः-

सम्यक् स्नात्वोचिते काले, संस्नाप्य च जिनान् क्रमात् ।
पुष्पाऽऽहारस्तुतिभिश्च, पूजयेदिति तद्विधिः ॥६१॥

उचितक्षणकृत्यस्नानसंसक्तैवस्त्रशुषिराऽऽदिदोषाऽदूषितभूमौ परिमितवस्त्रपूतजलेन संपातिमसत्त्वरक्षणाऽऽदियतनारूपः । उक्तं च दिनकृत्ये-" तसाऽऽइजीवरहिए, भूमिभागे विसुद्धए । फासुएणं तु नीरेणं, इयरेण गलिएण उ ॥ १ ॥ " "काऊण विहिणा ण्हाणं," इति । तत्र विधिना परिमितोदकसंपातिमसत्त्वरक्षणाऽऽदियतनयेति तद्वृत्तिलेशः । पञ्चाशकेऽपि-" भूमीपेहणजलछाणणाइ जयणा उ होइ ण्हाणाओ । एत्तो विसुद्धभावो, अणुहवसिद्धो च्चिय बुहाणं ॥ १ ॥ " व्यवहारशास्त्रे तु-"नग्नार्तः प्रोषिताऽऽयातः, सचेलो भुक्तभूषितः । नैव स्नायादनुव्रज्य, बन्धून् कृत्वा च मङ्गलम् ॥ १ ॥" इत्यादि । स्नानं च द्रव्यभावाभ्यां द्विधा-तत्र द्रव्यस्नानं जलेन शरीरक्षालनम् । तच्च देशतः सर्वतो वा, तत्र देशतो मलोत्सर्गदन्तधावनजिह्वाशोधनकरचरणमुखाऽऽदिक्षालनगण्डूषकरणाऽऽदि, सर्वतस्तु सर्वशरीरक्षालनमिति । तत्र च मलोत्सर्गो मौनेन निरवद्याहंस्थानाऽऽदिविधिनैवोचितः । यतः-

" मूत्रोत्सर्गं मलोत्सर्गं, मैथुनं स्नानभोजनम् ।
सन्ध्याादिकर्म पूजां च, कुर्याज्जापं च मौनवान् ॥ १ ॥"

विवेकविलासेऽपि-

" मौनी वस्त्राऽऽवृतः कुर्या-द्दिनसन्ध्याद्वयेऽपि च ।
उदङ्मुखः शकृन्मूत्रे, रात्रौ याम्याननः पुनः ॥ १ ॥ " इति ।

दन्तधावनमपि-

" अवक्राऽग्रन्थिसत्कूर्चं, सूक्ष्माग्रं च दशाङ्गुलम् ।
कनिष्ठाऽग्रसमस्थौल्यं, ज्ञातवृक्षं सुभूमिजम् ॥ १ ॥
कनिष्ठिकाऽनामिकयो-रन्तरे दन्तधावनम् ।
आदाय दक्षिणां दंष्ट्रां, वामां वा संस्पृशंस्तले ॥ २ ॥
तन्मनिमानसः स्वस्थो, दन्तमांसव्यथां त्यजन् ।
उत्तराभिमुखः प्राची-मुखो वा निश्चलाऽऽसनः ॥ ३ ॥ "

इत्यादिनीतिशास्त्रोक्तविधिना विधेयम् ।

गण्डूषोऽपि-

" अभावे दन्तकाष्ठस्य, मुखशुद्धिविधिः पुनः ।
कार्यो द्वादशगण्डूषै-र्जिह्वोल्लेखस्तु सर्वदा ॥ १ ॥ "

इति विधिना कार्योऽप्रत्याख्यानिना, प्रत्याख्यानिनस्तु दन्तधावनाऽऽदि विनाऽपि शुद्धिरेव, तपसो महाफलत्वात्, इदं च द्रव्यस्नानं वपुःपावित्र्यसुखकरत्वाऽऽदिना भावशुद्धिहेतुः । ध० २ अधि० । (स्नानदोषः ' अणायार ' शब्दे प्रथमभागे ३११ पृष्ठे, ३१४ पृष्ठे च शीतोदकाऽऽदिभिः पादाऽऽदिप्रधावने दोषप्रायश्चित्ते उक्ते.)

तओ देसण्हाणं सव्वण्हाणं वा सेवंतस्स आणाभणवत्थमिच्छत्तविराहणा भवंति । ण्हाणे इमे दोसा-

छक्काया विराधणा, तप्पाडिबंधो य गारव विभूसा ।
परिसहभीरुत्तं पि य, अविसासो चेव ण्हाणम्मि ॥९६॥

ण्हायंतो छज्जीवणिकाए वहति, ण्हाणे पडिबंधो भवति, पुनः पुनः स्नातीत्यर्थः । अस्नातसाधुशरीरेभ्यः निर्मलशरीरोऽहमिति गौरवं कुरुते, स्नान एव विभूषाऽलङ्कार इत्यर्थः । अण्हाणपरीसहाउ बीहेति, णं तं जिनातीत्यर्थः । लोगस्साविस्संभणीयो भवति । एते स्नानदोषा उक्ताः । नि० चू० २ उ० ।

स्नानाष्टकम्-पूजाऽऽदि स्नानपूर्वकमिति स्नाननिरूपणायाऽऽह-

द्रव्यतो भावतश्चैव, द्विधा स्नानमुदाहृतम् ।
बाह्यमाध्यात्मिकं चेति, तदन्यैः परिकीर्त्यते ॥ १ ॥

द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्-पुद्गलाऽऽदि, तस्माद् द्रव्यात् द्रव्यतो जलस्नानं करणभूतम् १, देहदेशलक्षणं वा शोधनीयम् २, मलोलक्षणं वाऽपनेयं, द्रव्यमाश्रित्येत्यर्थः ३, अथवा-द्रव्यतोऽपरमार्थतो द्रव्यशब्दस्याप्राधान्यार्थत्वात् ४, अथवा-द्रव्यतो भावस्नानकारणत्वेन कारणार्थत्वाद् द्रव्यशब्दस्य ५ । तथा-भवनं भावः-परिणामः, तस्माद्भावतः शुभध्यानलक्षणं करणभूतम् १, उपयोगभावाऽऽत्मकजीवलक्षणं वा शोधनीयम् २, अथवा-औदयिकभावकारणभूतकर्ममललक्षणमपनेतव्यं, लक्षणं करणभूतभावमाश्रित्येत्यर्थः ३, भावतः परमार्थतो जवति ४ । चशब्दः समुच्चये । एवकारोऽवधारणे । एवं चाऽनयोः प्रयोगः-द्रव्यत एव भावत एव । ततश्च द्रव्यभावभेदेनैव द्विधा द्विप्रकारं, नामाऽऽदिभेदेन तु चतुर्धाऽपि केवलमिह चतुःप्रकारत्वं स्नानस्य नाश्रितम्, नामस्थापनयोः प्रकृतानामाभोपयोगित्वात् । न हि स्नानस्य नामस्थापने जिननामस्थापने इव प्रमोदहेतुत्वेन पूजाङ्गोपचारत्वेन च सोपयोगे इति । अथवा-एवकारो द्विधेत्यनेन संबध्यते, तथा द्रव्यतो भावतश्चेति । एवं द्विधैव स्नानमुदाहृतं, न तु सप्तधा ।

यथाऽऽहुरेके-

" सप्त स्नानानि प्रोक्तानि, स्वयमेव स्वयंभुवा ।
द्रव्यभावविशुद्ध्यर्थ-मृषीणां ब्रह्मचारिणाम् ॥ १ ॥
आग्नेयं वारुणं ब्राह्मं, वायव्यं दिव्यमेव च ।
पार्थिवं मानसं चैव, स्नानं सप्तविधं स्मृतम् ॥ २ ॥
आग्नेयं भस्मना स्नान-मवगाह्यं तु वारुणम् ।
आपोहिष्ठामयं ब्राह्मं, वायव्यं तु गवां रजः ॥ ३ ॥ (मन्त्रस्नानमित्यर्थः)
सूर्यदृष्टं तु यद् वृष्टं, तद्दिव्यमृषयो विदुः ।
पार्थिवं तु मृदा स्नानं, मनःशुद्धिस्तु मानसम् ॥ ४ ॥ "

इति सप्तविधस्नानकथनं ह्यनर्थकम्, यतो यद् बाह्यमलक्षालनप्रत्यलं तत्सर्वं द्रव्यस्नानमेव । यच्चाऽऽन्तरमलोन्मूलनायालं, तद्भावस्नानम् । यत्पुनरन्यथाविधं तदस्नानमेव । न च गोरजसा मन्त्रेण वा मलापनयनमुपलभ्यत इति । अतः सुष्ठूच्यते द्विधैव । अथवा-द्रव्यतो द्विविधैव, भावतश्च द्विविधैव इत्येवं द्विधाशब्दप्रयोगः । द्वैविध्यं च प्रधानाऽप्रधानभेदात् । तच्च दर्शयिष्यत इति । द्रव्यतो भावतश्चेति पाठान्तरे तु, एवकार उपप्रदर्शनार्थः । तेन एवमनेन प्रकारेण द्विधा स्नानं शुचीकरणमुदाहृतं तत्त्वज्ञैरभिहितम् । अथार्थे परेषामप्यविप्रतिपत्तिमुपदर्शयन्नाह-बहिर्भवं बाह्यं शारीरम्, अध्यात्मं मनसि भवमाध्यात्मिकं, मानसमित्यर्थः । चशब्दः समुच्चयार्थः । इति रूपप्रदर्शने । एवं चानयोः प्रयोगः-बाह्यमिति, आध्यात्मिकमिति च । तदनतिक्रमेण द्रव्यस्नानं भावस्नानं च, अन्यैरिति जैनव्यतिरिक्ततीर्थिकविशेषैः, परिकीर्त्यते संशब्द्यते इति ॥ १ ॥

तत्र द्रव्यस्नानप्रतिपादनायाऽऽह-

जलेन देहदेशस्य, क्षणं यच्छुद्धिकारणम् ।
प्रायोऽन्यानुपरोधेन, द्रव्यस्नानं तदुच्यते ॥ २ ॥

जलेनाम्भसा, न भस्माऽऽदिभिः, तैर्हि द्रव्यस्नानमपि न भवति, मलाऽऽद्यपनयनासमर्थत्वात्तेषाम्, "गन्धलेपापहं शौचम्" इति स्नानलक्षणाच्च, देहदेशस्येति शरीरत्वग्लक्षणावयवस्य । इह च देहग्रहणेन सचेलस्नानेन देवार्चनं कार्यमिति मतमपाकृतम्, जलार्द्रवस्त्राणां स्नानतयाऽप्रतीतेः ।

देशस्येत्यनेन तु ये मन्यन्ते-

" एका लिङ्गे गुदे तिस्र-स्तथैकत्र करे दश ।
उभयोः सप्त विज्ञेयाः, मृदः शुद्धौ मनीषिभिः ॥ १ ॥
एतच्छौचं गृहस्थानां, द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।
त्रिगुणं वानप्रस्थानां, यतीनां च चतुर्गुणम् ॥ २ ॥ " इति ।

ते उपहसिता भवन्ति । न हि तैरेवं शौचं प्रति प्रयत्नवद्भिरपि लिङ्गगुदाऽऽद्यन्तर्भागस्य शौचं कर्तुं शक्यं, किं तु त्वङ्मात्रस्यैव, न च कर्णनासाऽऽदीनामेवं शौचं तैर्विधीयते, न चैतान्यशुचीनि न भवन्तीति, क्षणं मुहूर्तं यावत्, प्रभूतकालं, यदिति स्नानं, शुद्धिकारणं मलाविलयहेतु, प्रायो बाहुल्येन, प्रायोग्रहणात्तथाविधरोगग्रस्तस्य क्षणमपि शुद्धिकारणं न भवतीति दर्शितम् । कुतः पुनः क्षणमेव शुद्धिकारणम् ?, इत्यत आह-अन्यस्य प्रक्षालितमलापेक्षयाऽपरस्य मलस्याऽनुपरोधोऽनिरोधोऽप्रतिषेधोऽन्यानुपरोधः, तेनान्यानुपरोधेन हेतुना, न हि स्नानं मलाऽऽश्रयस्य मलभावाच्छरीरस्य मलान्तरमुपरोद्धुं शक्नोतीति तदित्येवंविधं स्नानम्, किमित्यत आह-द्रव्याणुरूपलक्षणानि जीवाऽऽदीन्याश्रित्य स्नानं द्रव्यभूतं वा स्नानं द्रव्यस्नानमुच्य-

तेऽभिधीयते, स्नानलक्षणविद्भिः । अन्ये तु प्रायोऽप्यानुपरोधेनेत्येतदित्थं व्याचक्षते-प्रायो बाहुल्येनान्येषां जलस्वरूपातिरिक्तानां प्राणिनामनुपरोधोऽव्यापादनं प्रायोऽप्यनुपरोधः, तेनेति ॥ २ ॥

अथैतस्यैव कर्तृवशात् प्रधानाऽप्रधानतां दर्शयन्नाह-

कृत्वेदं यो विधानेन, देवताऽतिथिपूजनम् ।
करोति मलिनाऽऽरम्भी, तस्यैतदपि शोभनम् ॥ ३ ॥

कृत्वा विधाय, इदमनन्तरोदितं द्रव्यस्नानं, य इति तदधिकारवान् धार्मिकः, विधानेन धार्मिकजनोचितस्नानविधिना "भूमीपेहणजलछा-णणाइ जयणा उ होइ एहाणाओ ।" इत्येवंरूपेण, ततः किमित्याह--देवताऽनन्तरविवेचितस्वरूपमहादेवलक्षणा, अतति सततमप्रतिबद्धविहारितया गच्छतीत्यतिथिः, अविद्यमाना वा तिथिः,उपलक्षणत्वादुत्सवाऽऽदयश्च यस्येत्यतिथिः-सन्मार्गनिरतो यतिः । उक्तं च--" तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मना । अतिथिं तं विजानीया--च्छेषमभ्यागतं विदुः" ॥१॥ इति। तयोः पूजनमुचितसत्कारकरणं देवताऽतिथिपूजनं,तत्करोति निर्वर्त्तते । द्वितीयव्याख्यानपक्षे तु-विधानेन देवताऽतिपूजनं करोतीत्येवं सम्बन्धः कार्यः। कोऽसावित्याह-मलिनोऽवद्यमलयुक्त आरम्भो व्यापारो मलिनाऽऽरम्भः, सोऽस्यास्तीति मलिनारम्भी,सावद्ययोगाऽऽयनिवृत्तो गृहस्थ इत्यर्थः। कुतीर्थिकशिक्षणाभिप्रायप्रवणं चेदं विशेषणं,तच्छिक्षणं चैवम्-हे कुतीर्थिकाः! यदि यूयं मलिनाऽऽरम्भिणस्तदा युष्माकमिदं द्रव्यस्नानं कर्त्तुमुचितं, नान्यथा। यथा ह्यस्य विशुद्धभावहेतुत्वेन प्रशस्यता, स च विशुद्धो भावो निरवद्याऽऽरम्भाणां सदैवास्तीति किमेतेनेति ?। तस्येति देवताऽतिथिपूजनकर्तुर्मलिनाऽऽरम्भिणः,एतदपीति न केवलं वक्ष्यमाणस्वरूपं भावस्नानं शुभपरिणामरूपत्वाच्छोभनमेतदपि द्रव्यस्नानमपि शोभनं साधु, सत्यपि सावद्यत्वे प्रायो भवदर्पाऽऽदिहेतुत्वे च शुभभावहेतुत्वात् तस्येति विशेषणात्तदन्यस्य त्वशोभनमेव तदिति सिद्धं भावशुद्धिनिमित्तत्वादिति ॥ ३ ॥

शोभनमिदमित्युक्तं तत्समर्थनार्थमाह-

भावशुद्धिनिमित्तत्वा-त्तथाऽनुभवसिद्धितः ।
कथञ्चिद्दोषभावेऽपि, तदन्यगुणभावतः ॥ ४ ॥

भावोऽध्यवसायः, तच्छुद्धिर्निर्मलता,तस्या निमित्तं कारणं,तस्य भावो भावशुद्धिनिमित्तत्वं,तस्मादेतदपि शोभनमिति प्रकृतम् । न चास्य भावशुद्धिहेतुत्वमसिद्धमित्याह-तथा तेनैव प्रकारेण भावशुद्धिनिमित्ततयैव योऽनुभवः संवेदनं तस्य या सिद्धिः प्रतीतिः सा तथाऽनुभवसिद्धिः,तस्यास्तथाऽनुभवसिद्धितः । अथ द्रव्यस्नानं भावशुद्धिनिमित्तमपि सदकायिकायिकाऽऽदिजीववधहिंसादोषदूषितत्वादशोभनमेवेत्याशङ्कयाऽऽह--कथञ्चित् केनापि प्रकारेणाप्कायिकाऽऽदिविराधनालक्षणेन, दोषभावेऽपि हिंसालक्षणावद्यसद्भावेऽपि, न केवलं दोषाभावे इत्यपिशब्दार्थः । तस्माद्धिंसाऽऽदिदोषाद्योऽन्यो गुणः सम्यग्दर्शनशुद्धिलक्षणः, स तदन्यगुणस्तस्य भावो लाभस्तदन्यगुणभावः, तस्मात्तदन्यगुणभावतः । आह च-" पूयाए कायवहो,पडिकुट्ठो सो उ किं तु जिणपूआ। सम्मत्तसुद्धिहेउ-त्ति भावणीया उ निरवज्जा " ॥ १ ॥ यत्स्नानं पूजार्थं तत्पूजाङ्गत्वात्तद्व्यपदेशमर्हतीति । इह च हेतुप्रयोग एवम्-द्रव्यस्नानमपि शोभनं, भावशुद्धिनिमित्तत्वात्, यद्यद्भावशुद्धिनिमित्तं तत्तच्छोभनम्, यथा चैत्यवन्दनम्, भावशुद्धिनिमित्तं च द्रव्यस्नानं, तस्माच्छोभनमिति । अथायमसिद्धो हेतुरित्यत्रोच्यते-यद्यथाऽनुभूयते तत्तथा प्रतिपत्तव्यम्, यथा विचित्रं सुखाऽऽदिसंवेदनम् , अनुभूयते च भावशुद्धिनिमित्ततया द्रव्यस्नानं, तस्माद्भावशुद्धिनिमित्तं तदिति । अथ कथञ्चित् सदोषत्वात्कथं शोभनत्वमस्य ?, इत्यत्रोच्यते-यद्विशिष्टतरगुणान्तरोत्पत्तिहेतुस्तत्सदोषसद्भावेऽपि शोभनम्, यथा भ्रमपङ्काऽऽदिदोषोपेतमपि तृड्व्युच्छेदाऽऽदिविशिष्टतरगुणहेतुकूपखननम्, विशिष्टसम्यग्दर्शनशुद्ध्यादिगुणहेतुश्च द्रव्यस्नानमिति ॥ ४ ॥

यदि भावशुद्धिनिमित्तत्वाच्छोभनं द्रव्यस्नानं, तर्हि करोति मलिनाऽऽरम्भीति कस्मादभिहितम् ?,मलिनाऽऽरम्भिणोऽपि तथैव तस्य शोभनत्वादित्याशङ्कयाऽऽह—

अधिकारिवशाच्छास्त्रे, धर्मसाधनसंस्थितिः ।
व्याधिप्रतिक्रिया तुल्या, विज्ञेया गुणदोषयोः ॥ ५ ॥

अधिकारोऽस्यास्तीत्यधिकारी योग्यानुष्ठाता,तस्य वशोऽपेक्षाधिकारी वशस्तस्मात्,न यथाकथञ्चिदित्यर्थः। शास्त्रे सुनिश्चिताऽऽप्ताऽऽगमे, धर्मसाधनयोः प्रस्तुतयोर्द्रव्यस्नानभावस्नानलक्षणयोः, संस्थितिः सम्यग् व्यवस्था धर्मसाधनसंस्थितिः । किंरूपेयमित्याह-व्याधिप्रतिक्रिया तुल्या रोगचिकित्साव्यवस्था समाना, विज्ञेया सद्गुरूपदेशादर्थिभिरवसेया । कयोर्विषया ?, इत्याह-गुणदोषयोः, गुणदोषावाश्रित्येत्यर्थः । इयमत्र भावना-यथाऽऽतुरवशाद् व्याधिचिकित्सा गुणकरी, दोषकरी च, तथा मलिनाऽऽरम्भीतरलक्षणानुष्ठातृवशाद् द्रव्येतरस्नानरूपे धर्मसाधने गुणदोषकरे, द्रव्यस्नानं मलिनाऽऽरम्भिण एव गुणकरं, नेतरस्येति हृदयम् । यतो मलिनाऽऽरम्भी देवतोद्देशेन स्नानाऽऽदावधिकारी, न त्वितरः । केचित्पुनर्वदन्ति-मलिनाऽऽरम्भ्यपि नेहाधिकारी, यस्माद् वक्ष्यति अयमेव ग्रन्थकारः-" धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्याऽनीहा गरीयसी । प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम् " ॥ १ ॥ इति । अनेन धर्मार्थं सावद्यप्रवृत्तिर्निषिद्धा, तथा शुद्धाऽऽगमैर्यथालाभमिति वक्ष्यति,अनेन च पुष्पत्रोटनाभावो देवसंबन्ध्यारामाभावश्च दर्शित इति । न चायं सम्यगुल्लापः, यतः स्नानं विधेयतया देवार्चनार्थमुपदिष्टमेव । यदाह-"तत्थ सुइणा दुहा वि हु, दव्वे ण्हाएण सुद्धवत्थेण ।" इति । अथ प्रासङ्गिकः स्नानापेक्षोऽयमुपदेशो, न तु देवतोद्देशिकः । एतदपि न सङ्गतम् । एवं हि यदा कदाचित्स्नातो भवेत् तदा देवार्चनं कुर्यादित्युपदिष्टं स्यात्, न नित्यकृत्यतया । नित्यकृत्यं चैतत् । आह च-"वंदंति चेइयाइं,तिकालं पूइऊण विहिणा उ ।" इति । यच्चोक्तम्-धर्मार्थमित्यादिना धर्मार्थी सावद्यप्रवृत्तिर्निषिद्धा,नत् सत्यं,केवलं स निषेधः सर्वविरतापेक्षया,तदधिकारेऽस्य श्लोकस्याधिकृतत्वात् । गृहस्थापेक्षया तु सावद्यप्रवृत्तिविशेषोऽनुज्ञात एव । यदाह-"कसिणसंजमे कूवदिट्ठंतो ।" इति । तथा वाणिज्याऽऽदिसावद्यप्रवृत्तिरपि काचित् कस्यचिद् दुष्टा,विषयविशेषप्रक्षयात्सदूरत्वेन पापक्षयगुणबीजलाभहेतुत्वात्,यथा संकाशस्य, संकाशश्रावको हि प्रमादभक्षितचैत्यद्रव्यो निबद्धलाभान्तरायाऽऽदिक्लिष्टकर्मा चिरं पर्यटितदुरन्तसंसारकान्तारोऽनन्तकालाल्लब्धमनुष्यभवो दुर्गतनरशिरःशेखररूपः पारगतसमी-

योपमन्धस्वकीयपूर्वभववृत्तान्तः पारगतोपदेशतो दुर्गतस्त्रीनिबन्धनकर्मक्षपणाय, "यदहममुनाऽर्जयिष्यामि द्रव्यं तद् प्रासाऽऽख्याद्गमवर्जं जिनाऽऽयतनाऽऽदिषु नियोक्ष्ये," इत्यभिग्रहं गृहीतवान्, कालेन च निर्वाणमवाप्तवानिति। अथ युक्तं संकाशस्यैतत्, तथैव तत्कर्मक्षयोपपत्तेः, न पुनरन्यस्य। नैवम्। सर्वथैवाशुभस्वरूपव्यापारस्य विशिष्टनिर्जराकारणत्वायोगादिति। यत्तु-"शुद्धाऽऽगमैर्यथालाभम्" इत्यादि। तत्र स्वयं पुष्पत्रोटननिषेधनपरं, किं तु पूजाकालोपस्थिते मालिके दर्शनप्रभावनाहेतोर्मौलिकत्वा न प्रयोक्तव्येत्यस्यार्थस्य बदापनपरम्, इतरथा-" सुव्वइ दुग्गयनारी, जगगुरुणो सिंदुवारकुसुमेहिं । पूयापणिहाणेणं, उववन्ना तियसलोगम्मि ॥ १ ॥ " (पञ्चा०) न हि तया यथालाभं, न्यायोपात्तवित्तेन वा तानि गृहीतानीति । तथा चैत्यसम्बन्धितया ग्रामाऽऽदीनां प्रतिपादनाद्याऽऽरामाऽऽद्यभावः प्रोक्तः।

यदाह--

" चोएइ चेइयाणं, रुप्पसुवन्नाइ गामगावाइ ।

लग्गंतस्स हु मुणिणो, तिकरणसुद्धी कहं नु भवे ? ॥१॥

भन्नइ एत्थ विभासा, जो एयाइं सयं वि मग्गेज्जा ।

न हु तस्स हुज्ज सुद्धी, अह कोइ हरेज्ज एयाइं ॥२॥

सव्वत्थामेण तहिं, संघेणं होइ लग्गियव्वं तु ।

सचरित्तीणं एयं, सव्वेसिं होइ कज्जं तु ॥३॥ "

तदेवं मलिनाऽऽरम्भिणो धर्मार्थं स्नानाऽऽदिकमविरुद्धमिति स्थितम्। ननु यतिरत्र कस्मान्नाधिकारी, यतः कर्मलक्षणो व्याधिरेको द्वयोरपि यतिगृहस्थयोस्तच्चिकित्साऽपि पूजाऽऽदिलक्षणा समैव भवति, ततो यद्येकस्याधिकारः, कथं नापरस्य ?। अथ " स्नानमुद्वर्तनाऽभ्यङ्गं, नखकेशाऽऽदिसंस्क्रियाम् । गन्धमाल्यं च धूपं च, त्यजन्ति ब्रह्मचारिणः " ॥ १ ॥ इति वचनाद् यतेः स्नाने, तत्पूर्वकत्वाद्देवार्चनस्य तास्मिंश्च,नाधिकारः, नैवम्, भूषार्थस्यैव तस्य निषेधात् । अथ सावद्यान्निवृत्तोऽसाविति तत्र नाधिकारी। ननु यदि यतिः सावद्यान्निवृत्तस्ततः को दोषः,यत्स्नानं कृत्वा देवताऽर्चनं न करोति ?। यदि स्नानपूर्वकदेवताऽर्चने सावद्ययोगः स्यात्, तदाऽसौ गृहस्थस्याऽपि तुल्य इति, तेनापि न कर्त्तव्यं स्यात् । अथ गृहस्थः कुटुम्बाऽऽद्यर्थेऽपि सावद्ये प्रवृत्तः, तेन तत्रापि प्रवर्त्तताम्, यतिस्तु तत्राप्रवृत्तत्वात्कथं स्नानाऽऽदौ प्रवर्तेत इति ?। ननु यद्यपि कुटुम्बाऽऽद्यर्थं गृही सावद्ये प्रवर्त्तते, तथाऽपि तेन धर्मार्थं तत्र न प्रवर्तितव्यं स्यात्, यतो नैकं पापमाचरितमित्यन्यदप्याचरितव्यं स्यात्। अथ कूपोदाहरणाद् पूजाऽऽदिजनितमारम्भदोषं विशोध्य गृही गुणान्तरमासादयतीति युक्तं गृहिणः स्नानपूजाऽऽदि। ननु यथा गृहिणां कूपोदाहरणात्स्नानाऽऽदि युक्तम, एवं यतेरपि तद् युक्तमेव । एवं च कथं स्नानाऽऽदौ यतिर्नाधिकारीति पूर्वपक्षः ?।

अत्रोच्यते-यतयो हि सर्वथा सावद्यव्यापारान्निवृत्ताः, ततश्च कूपोदाहरणेनाऽपि तत्र प्रवर्तमानानां तेषामवद्यमेव चित्ते स्फुरति, न धर्मः,तत्र सदैव शुभध्यानाऽऽदिभिः प्रवृत्तत्वात् । गृहस्थास्तु सावद्ये स्वभावतः सततमेव प्रवृत्ताः, न पुनर्जिनार्चनाऽऽदिद्वारेण परोपकाराऽऽत्मके धर्मे, तेन तेषां तत्र प्रवर्तमानानां स एव चित्ते लगति, न पुनरवद्यमिति कर्तृपरिणामवशादधिकारेतरौ मन्तव्याविति । स्नानाऽऽदौ गृहस्थ एवाधिकारी, न यतिरिति । आगमोऽप्येवं व्यवस्थितः ।

यदाह-

" छज्जीवकायसंजमो, दव्वत्थए सो विरुज्झए कसिणो ।

सो कसिणो संजमविऊ,पुप्फाईयं न इच्छंति ॥१॥

अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।

संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥२॥ "

तथा द्रव्यस्नानरूपत्वात् पूजायाः,तस्य च भावस्तवहेतुत्वात् प्रधानत्वाच्च यतीनां न द्रव्यस्तवेऽधिकारः । अत एव सामायिकस्थः श्रावकोऽप्यनधिकारी, तस्याऽपि सावद्यनिवृत्ततया भावस्तवाऽऽरूढत्वेन श्रमणकल्पत्वात् । अत एव गृहिणोऽपि प्रकृत्या पृथिव्याद्युपमर्दनभीरोर्यतनावतः सावद्ये संक्षेपरुचेर्यतिक्रियाऽनुरागिणो न धर्मार्थं सावद्याऽऽरम्भप्रवृत्तिर्युक्ता। यदाह-"असदारंभपवत्ता,जं च गिही तेण तेसि विन्नेया। तन्निव्वित्तिफल च्चिय, एसा परिभावणीयमिणं ॥ १ ॥ " न चायमनन्तरोदितोऽसदारम्भप्रवृत्तः,तत्कथं तस्य तन्निवृत्तिफलत्वेन स्नानाऽऽदौ सावद्याऽऽरम्भप्रवृत्तिर्युक्ता, अतः स्थितमिदं न सर्व एव सर्वत्राधिकारी, किं तु य एवैत्राधिकारी, स एवान्यत्रानधिकारीति ॥ ५ ॥

अथ भावस्नानप्रतिपादनायाऽऽह-

ध्यानाम्भसा तु जीवस्य, सदा यच्छुद्धिकारणम् ।

मलं कर्म समाश्रित्य, भावस्नानं तदुच्यते ॥ ६ ॥

ध्यानं शुभचित्तैकाग्रतालक्षणं धर्माऽऽदि, तदेवाम्भो जलं, तद् ध्यानाम्भस्तेन,तुशब्दः पुनरर्थः,यत् स्नानं,शुद्धिकारणं निर्मलत्वहेतुः, तद्भावस्नानमुच्यते इति सम्बन्धः । प्रक्षालनीयप्रदर्शनायाऽऽह-मलं मालिन्यनिबन्धनं, कर्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिलक्षणं, समाश्रित्याऽङ्गीकृत्य, भावान् ध्यानाऽऽदीनाश्रित्य भावतो वा परमार्थतः स्नानं भावस्नानं,तदित्येवंभूतमुच्यते तत्स्वरूपविद्भिरभिधीयत इति ॥ ६ ॥

अस्यैव कारकभेदेनोत्तमस्वरूपतामाह-

ऋषीणामुत्तमं ह्येत-न्निर्दिष्टं परमर्षिभिः ।

हिंसादोषनिवृत्तानां, व्रतशीलविवर्द्धनम् ॥ ७ ॥

पश्यन्ति यथावद् वस्त्विति ऋषयो मुनयस्तेषां, हिशब्दोऽवधारणार्थः, तेन ऋषीणामेवोत्तमं प्रधानमेतद्भावस्नानं निर्दिष्टं प्रतिपादितं,परमर्षिभिर्मुनिपुङ्गवैः,सर्वज्ञैरित्यर्थः। ऋषीणामुत्तममिति विशेषणसामर्थ्यादन्येषां त्वनुत्तममेव तदिति सिद्धं तेषाम,विशिष्टधर्मध्यानाभावादिति । अथवा-ऋषीणामुत्तममेतदेवेत्येवमवधारणं द्रष्टव्यम् । ततश्चोत्तमत्वादेतदेव तेषां विधेयम् । ननु देवार्चनार्थं द्रव्यस्नानमपि, किंभूतानामृषीणामित्याह-हिंसा प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं,सैव दोषो दूषणं हिंसादोषः,ततो निवृत्ता उपरता ये ते तथा, तेषां हिंसादोषनिवृत्तानाम्, न तु ऋषय एवंविधा एव भवन्तीति विशेषणमिदमनर्थकम्,नैवम, हेतुतया सोपन्यासात् । ततश्च ऋषीणामुत्तममिदं हिंसादोषनिवृत्तत्वादिति वाक्यार्थः स्यात् । किंभूतमिदमित्याह-व्रतानि महाव्रतानि,शीलं च समाधिः, अथवा-व्रतानि मूलगुणाः, शीलमुत्तरगुणाः, तेषां विशेषेण वर्द्धनं वृद्धिकारणं व्रतशीलविवर्द्धनं, भावस्नानं हि धर्मशुक्लध्यानरूपं, तच्चैतद्विवर्धनं भवत्येवेति ॥७॥

उपसंहरन्नाह-

स्नात्वाऽनेन यथायोगं, निःशेषमलवर्जितः ।

भूयो न लिप्यते तेन, स्नातकः परमार्थतः ॥ ८ ॥

स्नात्वा शौचं विधाय, अनेन भावहेतुद्रव्यस्नानेन, भावस्नाने-

न च यथायोगं यथासंबन्धं द्रव्यस्नानेन मलिनाऽऽरम्भी, भाव- स्नानेन चेतरः निःशेषमलवर्जितः, पारम्पर्येण साक्षाच्च सकल- कर्ममलमुक्तो भवतीति शेषः। शेषकरणं विना एककर्तृकत्वा- भावात् क्त्वाप्रत्ययो न स्यादिति, शेषः-कृत इति । एवंभूतश्च सन् भूयः पुनरपि, न लिप्यते नोपदिह्यते, तेन कर्ममलेन,एवं च स्नातकः स्नातः, परमार्थतो वस्तुवृत्त्या भवति, स्नानान्तरस्ना- तस्तु परमार्थस्नातो न भवति, विवक्षितमलविगमाभावात्, पुनर्मलोपलेपनाच्चेति । ततो हे कुतीर्थिकाः ! यदि यूयमक्षेपेण परमार्थतः पारमार्थिकस्नातका भवितुमिच्छथ, तदा भावस्ना- नेनैव स्नात, मा द्रव्यस्नानेन, मलिनाऽऽरम्भाणामेव तस्यो- क्तत्वादिति हृदयम् । अथ चैवं व्याख्या-स्नात्वा अनेनेत्यनन्त- रोक्तभावस्नानेन, यथायोगं यथायुक्ति, निःशेषमलवर्जितः सन् भूयो न लिप्यते, तेन, कोऽसावित्याह-स्नातकः परमार्थतः पार- मार्थिकस्नातक इत्यर्थः । इह च क्त्वाप्रत्ययो रुद्धवत्यादि- ति ॥ ८॥ अष्ट० ९ अष्ट० । पर्वतः प्रतिनियतदिवससम्भाविनि भगवत्प्रतिमायाः स्नाने पर्वविशेषे, सू० १ उ० ।

एहाणमल्लिगा–स्नानमल्लिका–स्त्री० । स्नानयोग्ये मल्लिकाविशे- षे, जी० ३ प्रति० । जं०।

एहारु–स्नायु–न० । अस्थिबन्धनाशिरायाम्, तं० । आचा० ।

एहाविअ–नापित–पुं० । "निम्बनापिते लएहं वा" ॥८।१। २३०॥ इति नस्य एहः। 'एहाविओ,' 'नाविओ' । क्षुरोपजी- विनि, प्रा० १ पाद ।

एहाविअपसेवय–नापितप्रसेवक–पुं० । नखशोधकक्षुराऽऽदि- भाजने, उत्त० २ अ० ।

एहुसा–स्नुषा–स्त्री० । पुत्रवध्वाम्, "आणंदपुरे महओ, एहुसा- ए समं संवासं काऊण।" आ० म०१ अ० ९ खण्ड ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प—

श्रीमद्भट्टारक—जैनश्वेताम्बराऽऽचार्यश्रीश्री १००८ श्री

विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'

ण (न) कारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

तकार

त-त-पुं० । ' तक ' हसने, सहने वा डप्रत्ययः, डित्त्वाट्टिलोपः । चौरे, अमृते, पुच्छे, क्रोडे, म्लेच्छे, रत्ने, शृगालपुच्छे च । तरणे, पुण्ये, स्त्री० । न० । वाच० । "तकारः पुंसि संजोगे, निश्चये विस्तरे समे । (४१) धातुत्रार्थे विधौ क्रोधे, ता कृपायां स्त्रियां मता ॥" माधव०-एका० । " तः श्वेते निष्फले शान्ते, पौनःपुन्ये चये च तः ।" इति विश्वदेव०-एका० । तच्छब्दनिर्देशे, नि०चू० । यथा-" से गामंसि वा " इत्यादि । नि० चू० २० उ० ।

तअण्णवत्थुअ-तदन्यवस्तुक-पुं० । ' तयण्णवत्थुअ ' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तआणिं-तदानीम्-अव्य० । तस्मिन् काले तदानीम् । "पानीया-ऽऽदिष्वित् ॥ ८ । १ । १०१ ॥ इति ईकारस्येत् । प्रा० १ पाद । तदेत्यर्थे, वाच० ।

तइय-तृतीय-त्रि० । त्रयाणां पूरणः । त्रि-तीयः-संप्रसारणम् । वाच० । "पानीयाऽऽदिष्वित् " ॥८।१।१०१॥ इतीकारस्येकारः । प्रा० १ पाद । त्रयाणां पूरणे, येन त्रित्वसंख्या पूर्यते तस्मिन् पदार्थे, वाच० । आ० म० । नि० चू० ।

तइयंग-तृतीयाङ्ग-न० । स्थानाङ्गे, प्रति० ।

तइया-तृतीया-स्त्री० । चन्द्रमण्डलस्य तृतीयकलायाः सूर्यमण्डलप्रवेशनिर्गमान्यतररूपक्रियाऽऽत्मिकायां तिथौ, वाच० । स्वनामख्यातायां विभक्तौ, "विवक्षितक्रियासाधकतमं करणं, तस्मिंस्तृतीया । अनु० । "तइया करणम्मि कया, भणियं च कयं च तेण व मए वा ।" तृतीया करणे, क्व ? यथेत्याह-भणितं वा कृतं वा, केनेत्याह-तेन वा मया वेति । अत्र यद्यपि कर्तरि तृतीया प्रतीयते, तथाऽपि विवक्षाऽधीनत्वात् कारकप्रवृत्तेः, तेन मया वा कृत्वा भणितं कृतं वा, देवदत्तमेति गम्यत इति । एवं करणविवक्षाऽपि न दुःष्यतीति लक्षयामः । तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्तीति । अनु० ।

तइलपत्तिधारगणायग-तैलपात्रीधारकज्ञातग-त्रि० । तैलपात्रीधारकस्य तद्रूपं वा यद् ज्ञातमुदाहरणं तद्गतः प्राप्तोऽपायावगमजनिताप्रमत्तातिरेकसाधकार्थो यः स तथा । तैलपात्रीधारकवदप्रमत्ते , पञ्चा० १४ विव० ।

तइस-तादृश-त्रि० । तस्येव दर्शनमस्य । वाच० । " अतां डइसः " ॥ ८ । ४ । ४०३ ॥ इति अपभ्रंशे तादृशशब्दस्य दादेरवयवस्य डित्संज्ञकः ' अइस ' इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । तथाविधेऽर्थे, वाच० ।

तउ-त्रपु-न० । अग्निं दृष्ट्वा त्रपते लज्जते इव लज्जया द्रवीभवतीति वा । सीसके वङ्गे, वाच० । प्रश्न० ५ संव० द्वार । उत्त० । ततस्त्रपु पाय्यन्ते, पाय्यमाना आर्त्ततरं रारटन्ति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । 'त्रपुक' शब्दोऽप्यत्र । प्रश्न ५ संव० द्वार । सूत्र० । प्रज्ञा० । औ० ।

तउ-तव-पञ्च० । ष० । " ङसिङस्भ्यां तउ-तुज्झ-तुध्र " ॥ ८ । ४।३७२॥ अपभ्रंशे युष्मदो ङसिङसो रूपे । प्रा० ४ पाद ।

तउआगर-त्रपुकाकर-पुं० । यत्र त्रपुकं ध्मायते । त्रपुकध्मापनस्थाने, स्था० ८ ठा० । नि० चू० ।

तउस-त्रपुष-न० । त्रपतेः क्विप् । त्रप्-उष दाहे, क-क० । कर्कटीवृक्षे गौराऽऽदित्वात् ङीष् । ' खीरा ' इतिख्याते वृक्षे, वाच० । वल्लीविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । ध० । प्रज्ञा० । पत्राणि एतेषामेकजीवाधिष्ठानानि, पुष्पाण्यनेकजीवाऽऽत्मकानि । प्रज्ञा० १ पद ।

तउसमिंजिया-त्रपुषमिञ्जिका-स्त्री० । त्रीन्द्रियजीवविशेषे, जी० १ प्रति० ।

तए-ततस्-अव्य० । तस्मादित्यर्थे, उत्त० १ अ० ।

तओ-ततस्-अव्य० । शौरसेनीमागधीविषये एव दः, प्राकृते तु न दः । प्रा० १ पाद । तस्मादित्यर्थे, वाच० ।

तं-तत्-अव्य० । बहुलाधिकारादन्यस्यापि व्यञ्जनस्य मकारः । "मोऽनुस्वारः" ॥ ८ । १ । २३ ॥ इति मकारस्यानुस्वारः । प्रा० १ पाद । "तं वाक्योपन्यासे " ॥ ८ । २ । १७६ ॥ तं इति वाक्योपन्यासे प्रयोक्तव्यम् । " तं तिअसबंदिमोक्खं । " प्रा० २ पाद । तस्मादित्यर्थे, भ० १५ श० । विपा० । तदिति निर्देशे, आव० ४ अ० । प्रक्रान्तपरामर्शिनि, त्रि० । आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । अनु० । " तं जहा-सासमसाओ तिविहा पण्णत्ता । तं जहा--जाणिया, अजाणिया, दुव्वियड्ढा जाणिया । " तद्यथेत्युदाहरणोपदर्शनार्थे, नं० । आचा० । अनु० । स्था० । तद्यथेति वाक्योपन्यासार्थे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । आव० । सूत्र० ।

तंट-देशी-पृष्ठे, दे० ना० ५ वर्ग १ गाथा ।

तंड-देशी-कार्विकासाधके, शिरोविहीने, स्वराधिके च । दे० ना० ५ वर्ग १९ गाथा ।

तंडव-ताण्डव-न० । नृत्ये, जी० ३ प्रति० ४ उ० । " अप्पेगइया तंडवेंति " । आ० म० १ अ० १ खण्ड । ताण्डवरूपं नृत्यं कुर्वन्ति, रा० ।

तंडुल-तण्डुल-पुं० । तडि-उलच् । धान्याऽऽदिसारे, निस्तुषे धान्याऽऽदौ, तण्डुलीयशाके च । विडङ्गे, पुं० । स्त्री० । टाप् । वाच० । ध० । आ० म० । वृक्षविशेषे, ' टीवरू ' इति गुर्जरभाषा । स० । "आसी य पाणिघंसी, तिम्मियतंदुलपत्तालपुरुभोई ।" तण्डुलशब्देन औषध्य उच्यन्ते । आव० १ अ० ।

तंत-तन्त्र-न० । आ० म० १ अ० १ खण्ड । शास्त्रे, पञ्चा० ३ विव० । आ० चू० । आ० म० । विद्यायाम्, स्था० ७ ठा० । सिद्धान्ते, पं० व० ४ द्वार । षष्ठ्यां स्त्रीकलायाम्, कल्प० ७ क्षण । "सुत्तं भणियं तंतं, भणिअए तम्मि व असत्थो । " ' तनु ' विस्तारे तन्यते विस्तार्यते यद्यस्मादनेनास्मादस्मिन् वाऽर्थ इति तन्त्रम् । अथवा तन्यते विशिष्टरचनया तदेव विस्तार्यते इति तन्त्रं सूत्रमेवोच्यते । विशे० ।

तान्त-त्रि० । कायेन खेदवति, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । "संता तंता परितंता ।" खेदवाचका एते । नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

तंतंतर-तन्त्रान्तर-न० । दर्शनान्तरे, पञ्चा० १० विव० ।

तंतजुत्ति-तन्त्रयुक्ति-स्त्री० । आगमाऽभिहितोपपत्तौ, पञ्चा० ४ विव० । शास्त्रीयोपयुक्तौ, पञ्चा० ६ विव० ।

तंतडी-देशी-करम्बे, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

तंतय-तन्त्रज-त्रि० । तन्त्रं वेमाविलेख्यम्यञ्जनिकाऽऽदि, तस्माज्जातं तन्त्रजम् । वस्त्रे, कम्बले च । उत्त० २ अ० ।

तंतव-तन्तव-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

तंताणुसार-तन्त्रानुसार-पुं० । शास्त्रानुसारे, षो० १२ विव० ।

तंतिय-तान्त्रिक-त्रि० । तन्त्रीवादनं शिल्पमस्येति तान्त्रिकः । तन्त्रीवादनशिल्पोपजीविनि, अनु० ।

तंती-तन्त्री-स्त्री० । वीणायाम्, जी० ३ प्रति० ४ उ० । आ० म० । कल्प० । आचा० । औ० । रा० । जं० । सू० प्र० । 'तंती' ताभ्यो जायन्ते । अनु० । वीणाविशेषे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । "तंतीतलतालतुडिय ।" तन्त्री वीणा, तलतालो हस्ततालः, तालः कंसिका, त्रुटितानि वादित्राणि । जी० ३ प्रति० ४ उ० । "तंतीतलतालगीयवाइयरवेणं ।" तन्त्री वीणा, तला हस्ततालाः कंसिकाः हस्तलताला वा हस्तमात्रा, गीतवादिते प्रतीते, तेषां यो रवः स तथा तेन । भ० ६ श० ३३ उ० । गुडूच्याम्, देहशिरायाम्, रज्ज्वाम्, नदीभेदे, युवतीभेदे च । वाच० ।

तंतीसम-तन्त्रीसम-त्रि० । वीणाऽऽदितन्त्रीशब्देन तुल्ये, स्था० ७ ठा० ।

तंतु-तन्तु-पुं० । तन्यते भवोऽनेनेति तन्तुः । भवतृष्णायाम्, उत्त० २३ अ० । तुरीवेमाऽऽदौ, भ० ६ श० ३ उ० ।

तंतुक्खोडी-देशी-वायकतन्त्रोपकरणे, दे० ना० ५ वर्ग ७ गाथा ।

तंतुगय-तन्तुगत-त्रि० । तन्तोस्तुरीवेमाऽऽदेरपनीतमात्रे, भ० ६ श० ३ उ० ।

तंतुगय-तन्त्रोद्गत-त्रि० । तुरीवेमाऽऽदेरुत्तीर्णे, भ० ७ श० ३ उ० ।

तंतुय-तन्तुज-त्रि० । तन्तुभ्यो जातं तन्तुजम्, वस्त्रे, कम्बले च । उत्त० २ अ० ।

तंतुवड-तन्तुवट-पुं० । गन्धप्रधानवनस्पतिविशेषे, आ० म० ।

तंतुवाय-तन्तुवाय-पुं० । कुविन्दे, प्रश्न० २ द्वार । आ० म० । कल्प० । प्रज्ञा० । अनु० ।

तंतुवायसाला-तन्तुवायशाला-स्त्री० । कुविन्दशालायाम्, भ० १५ श० ।

तंतोयार-तन्त्रावतार-पुं० । तन्त्रे आगमे अवतारः प्रवेशः । आगमप्रवेशे, ध० १ अधि० ।

तंदुगुज्जाण-तन्दुकोद्यान-न० । श्रावस्त्या नगर्या बहिरुद्याने, यत्र कोष्ठकं चैत्यम् । आ० चू० १ अ० ।

तंदुल-तन्दुल-पुं० । धान्ये, तन्दुलवाहान् तुनक्ति । तं० ।

तंदुलच्छिण्णग-तन्दुलच्छिन्नक-त्रि० । तन्दुलप्रमाणखण्डैः खण्डिते, औ० ।

तंदुलपिट्ठ-तन्दुलपिष्ट-न० । अमाशस्त्रोपहततन्दुलकुक्षौ, नि० चू० ४ उ० ।

तंदुलमच्छ-तन्दुलमत्स्य-पुं० । मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

तंदुलवेयालिय-तन्दुलवैचारिक-न० । तन्दुलानां वर्षशताऽऽयुष्कपुरुषप्रतिदिनभोग्यानां संख्याविचारेणोपलक्षितं तन्दुलवैचारिकम् । श्रीवीरहस्तदीक्षितमुनिविरचिते नन्दीसूत्रोक्तग्रन्थविशेषे, तं० ।

निज्जरियजरामरणं, वंदित्ता जिणवरं महावीरं ।
वुच्छं पयन्नगमिणं, तंदुलवेयालियं नाम ॥१॥

ननु कियन्ति प्रकीर्णकानि, कथं तेषां चोत्पत्तिः? । उच्यते-"नंदी १, अणुओगदाराइं २, देविंदत्थओ ३, तंदुलवेयालियं ४, चंदाविज्झयं ५ ।" इत्यादीनि श्रीनन्दिसूत्रोक्तानि कालिकोत्कालिकभेदभिन्नानि चतुरशीतिसहस्रसंख्यानि प्रकीर्णकान्यभवन् श्रीऋषभस्वामिनः । कथम्?, ऋषभस्य चतुरशीतिसहस्रप्रमाणाः श्रमणा आसीरन्, तैरेकैकस्य विरचितत्वात् १ । एवं संख्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि आसीरन् जिनाऽऽदीनां मध्यमजिनानां यस्य यावन्ति जज्ञिरे तस्य तावन्ति प्रथमानुयोगतो वेदितव्यानि २ । चतुर्दशप्रकीर्णकसहस्राणि आसीरन् वर्द्धमानस्वामिनः ३ । इति तेषां मध्ये श्रीवर्द्धमानस्वामिस्वहस्तदीक्षितेनैकेन साधुना विरचितमिदं तन्दुलवैचारिकप्रकीर्णकं, तस्य व्याख्या क्रियते इति । (निज्जरिय त्ति) निर्जरितं सर्वथा क्षयं नीतं जरा च वृद्धत्वं, मरणं च पञ्चत्वं जरामरणम् । यद्वा-जरया वृद्धभावेन, जरायां वृद्धभावे वा मरणं येन स निर्जरितजरामरणः, तं वन्दित्वा कायवाङ्मनोभिः स्तुतिं विधाय जिना रागद्वेषाऽऽदिजयनशीलाः सामान्यकेवलिनस्तेषु तेभ्यो वा वरः प्रधानातिशयापेक्षया श्रेष्ठो जिनवरस्तं जिनवरम् । (मं०) महाँश्चासौ वीरश्च कर्मविदारणसहिष्णुर्महावीरस्तम्, (वुच्छं ति) वक्ष्ये भणिष्यामि, प्रकीर्णकं श्रीवीरहस्तदीक्षितमुनिविरचितं नन्दीसूत्रोक्तं ग्रन्थविशेषमिदं प्रत्यक्षं तन्दुलानां वर्षशताऽऽयुष्कपुरुषप्रतिदिनभोग्यानां संख्याविचारेणोपलक्षितं तन्दुलवैचारिकं नामेति ॥ १ ॥ (तं०)

अथायोक्तं निरूपयन्ति-

आहारो उस्सासो, संधिसिराओ य रोमकूवाई ।
पित्तं रुहिरं सुक्कं, गणियं गणियप्पहाणेहिं ॥ १६ ॥

अत्र प्रकीर्णके जीवानां गर्भे आहारस्वरूपम्, गर्भे उच्छ्वासपरिमाणम्, शरीरे सन्धिस्वरूपम्, शरीरे शिराप्रमाणम्, वपुषि रोमकूपाणि, पित्तम्, रुधिरम्, शुक्रम् । चशब्दान्मुहूर्ताऽऽदिकम् । एतत्पूर्वोक्तं गणितं संख्याप्रमाणतो निरूपितं, कैः?, गणितप्रधानैस्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिः ॥१६॥ तं० ।

तंदुलिज्ज-तन्दुलीय-शाकविशेषे, दे० । वाच० ।

तंदुलेज्जग-तण्डुलीयक-पुं० । हरितवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० ।

तन्दुलेयक-पुं० । हरितवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

तंब-ताम्र-न० । तम-रक्-दीर्घश्च । प्राकृते-"ह्रस्वः संयोगे" ॥ ८ । १ । ८४ ॥ इति सूत्रेणाऽऽदेर्ह्रस्वः । प्रा० १ पाद । "ह्रस्वस्य

थोऽसमस्त-स्तम्बे " ॥ ८ । २ । ४५ ॥ अत्रासमस्तस्तम्बे इत्युक्तेस्तस्य थः । " ताम्राऽऽम्रे म्बः " ॥ ८ । २ । ५६ ॥ इति संयुक्तस्य मयुक्तो बकारः । प्रा० २ पाद । धातुविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । उत्त० । सूत्र० । "तंबपायाणि वा, तउपायाणि वा, सुवण्णपायाणि वा ।" आ० २ अधि० । अरुणे,पुं० । औ० । तद्वति,त्रि० । वाच० । शुल्वे, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार ।

तंबकिमी-देशी-इन्द्रगोपे, दे० ना० ५ वर्ग ६ गाथा ।

तंबकुसुम-देशी-कुरबके, दे० ना० ५ वर्ग १ गाथा ।

तंबचूल-ताम्रचूड-पुं० । ताम्रा चूडा यस्य । कुक्कुटे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । " सोऽवेऽत्यगादाघयामो, रात्रेस्तावत्ततः परम् । ताम्रचूडरुतारावा-ऽऽख्याचिह्नितया यदि " ॥१७॥ ती० ७ कल्प ।

तंबटकरी-देशी-शेफालिकायाम, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

तंबणह-ताम्रनख-त्रि० । ताम्रा इव रक्ता नखाः कररुहा यासां तास्ताम्रनखाः । ताम्रसदृशलोहितनखवति,औ० ३ प्रति० ४ उ० ।

तंबणिद्धणह-ताम्रस्निग्धनख-त्रि० । ताम्रा अरुणाः स्निग्धाः कान्तिमन्तो नखा येषां ते तथा । कान्तिमदरुणनखे,प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

तंबरत्ति-देशी-गोधूमेषु, कुङ्कुमच्छायायां च । दे० ना० ५ वर्ग ५ गाथा ।

तंबलित्त-ताम्रलिप्त-पुं० । देशभेदे, काचित्सिन्धुताम्रलिप्तकोङ्कणाऽऽदिके देशेऽधिका दंशमशका भवन्ति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

तंबा-देशी-गवि, दे० ना० ५ वर्ग १ गाथा ।

तंबागर-ताम्राकर-पुं० । ताम्रध्मापनस्थाने, यत्र ताम्रं ध्मायते । स्था० ७ ठा० । यत्र ताम्रमुत्पद्यते । ताम्रोत्पत्तिस्थाने,नि० चू० ५ उ० ।

तंबाय-ताम्राक-पुं० । स्वनामख्याते ग्रामे,यत्र भद्दिकापुर्या आगते वीरभगवति नन्दिषेणः पार्श्वापत्यीयो भग्नाहतः स्वर्जगाम । आ० क० । आ० चू० ।

तंबिरा-देशी-गोधूमेषु, कुङ्कुमच्छायायां च । दे० ना० ५ वर्ग ५ गाथा ।

तंबूलीदल-ताम्बूलीदल-न० । नागवल्लिपत्रे, अनेकशकलीकृतकरमर्दितप्रहरमात्रधूनताम्बूलीदलं सचित्तमचित्तं चेति प्रश्ने, उत्तरम्-पत्रादशपत्रस्याचित्तीभवने व्यवहारो नास्तीति । १९६ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

तंबेरी-देशी-शेफालिकायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

तंबोल-ताम्बूल-न० । "ओत् कूष्माण्डी-तूणीर-कूर्पर-स्थूल-ताम्बूल-गुडूची-मूल्ये " ॥ ८ । १ । १२४ ॥ इति ऊत ओत् । प्रा० १ पाद । नागवल्लीदले, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । पञ्चा० । पत्रपूगखदिरवटिकाकत्थकाऽऽदिस्वादिमे, ध० २ अधि० । प्रव० । अनु० ।

तंबोली-ताम्बूली-स्त्री० । नागवल्ल्याम, जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० । कन्दपत्रयोऽभ्यत्र, ग्रोमलिका अपुसिका ताम्बूलिका इत्येवमादिका वल्ल्यः । प्रज्ञा० १ पद ।

तंबोलीमंडवग-ताम्बूलीमण्डपक-पुं० । ताम्बूली नागवल्ली तन्मया मण्डपकाः । नागवल्लीमयमण्डपे, रा० । जी० ।

तंस-त्र्यस्र-त्रि० । " एगं तंसं । " त्रिस्रोऽस्रयो यस्मिन् तत् त्र्यस्रम् । स्था० १ ठा० । " वक्राऽऽदावन्तः " ॥८ । १ । २६॥ इत्यनुस्वारः । प्रा० १ पाद । " न दीर्घानुस्वारात् " ॥ ८ । २ । ९२ ॥ इत्यनुस्वारात्परस्य रस्य द्वित्वनिषेधः । प्रा० २ पाद । शृङ्गाटकफलवत् त्रिकोणे, अनु० । " रहस्से वट्टे तंसे चउरंसे । " अनु० ।

तकार-तकार-पुं० । 'त' इत्येवंरूपे वर्णे, आव० ४ अ० ।

तक्क-तक्र-न० । दध्यवयवरूपे, बृ० १ उ० । " तक्ककुडेणाहरणं ।" नि० चू० १ उ० ।

तर्क-त्रि० । ईदृशे, अनु० ।

तर्क-पुं० । तर्कणं तर्कः । स्था० १ ठा० । संशयादूर्ध्वं भवितव्यताप्रत्यये, यदर्थप्रयोजनाऽऽत्मके भवितव्यमत्र स्थाणुना पुरुषेण वत्येवंरूपे ज्ञानविशेषे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । संभवत्पदार्थाभिमुखाध्यवसायरूपे ऊहे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । विमर्शे, स्था० ६ ठा० । विचारे, दश० १ अ० । पर्यालोचने, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

तर्कमपि कारणगोचरस्वरूपैः प्ररूपयन्ति-

उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसंबन्धाऽऽद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहाऽपरनामा तर्कः ॥ ७ ॥

उपलम्भानुपलम्भाभ्यां प्रमाणमात्रेण ग्रहणाग्रहणाभ्यां संभव उत्पत्तिर्यस्येति कारणकीर्तनम् । त्रिकालीकलितयोः कालत्रयीवर्तिनोः साध्यसाधनयोर्गम्यगमकयोः संबन्धोऽविनाभावो व्याप्तिरित्यर्थः । स आदिर्यस्याशेषदेशकालवर्तिवाच्यवाचकसम्बन्धस्याऽऽलम्बनं गोचरः यस्य तत्तथेति विषयाऽऽविष्करणम् । इदमस्मिन् सत्येव भवतीत्यादिशब्दादिदमस्मिन्नसति न भवत्येवेत्याकारं, साध्यसाधनसंबन्धाऽऽलम्बनम्, एवंजातीयः शब्द एवंजातीयस्यार्थस्य वाचकः,सोऽपि तथाभूतस्तथाभूतस्य वाच्य इत्याकारं वाच्यवाचकभावाऽऽलम्बनं च संवेदनमिहोपादीयत इति स्वरूपप्रतिपादनम् । एवंभूतं यद्वेदनं स तर्कः कीर्त्यते,ऊह इति च संज्ञान्तरं लभते । ये तु ताथागताः प्रामाण्यमूहस्य नोदाचक्रिरे । तेषामशेषशून्यत्वपातकाऽऽपत्तिः । आः ! किमिदमकाण्डकूष्माण्डाडम्बरोड्डमरमभिधीयते । कथं हि तर्कप्रामाण्यानुपगममात्रेणाद्दशमसमञ्जसमापनीपद्येत ? । शृणु-आवेदयामि किल । तर्काप्रामाण्ये तावदनुमानस्य प्राणाः; प्रतिबन्धप्रतिपत्त्युपायापायात् । तदभावे न प्रत्यक्षस्याऽपि । प्रत्यक्षेण हि पदार्थान् प्रतिपद्य प्रमाता प्रवर्तमानः क्वचन संवादादिदं प्रमाणमिति, अन्यत्र तु विसंवादादिदमप्रमाणमिति व्यवस्थामभिदधीत । न खलु उत्पत्तिमात्रेणैव प्रमाणाप्रमाणविवेकः कर्तुं शक्यः, तद्दशायामुभयोः सौसदृश्यात् । संवादविसंवादापेक्षायां च नियमेन निश्चित एवानुमानोपनिपातः । न चेदं प्रतिबन्धप्रतिपत्तौ तर्कस्वरूपोपायापायं । अनुमानाख्यप्रमाणाभावे च प्रामाणिकमानिनस्ते सौगतकुली प्रमेयव्यवस्थाऽपि स्यायाता स्वकीयहृदयस्येव सर्वस्य शून्यता । साऽपि वा न प्राप्नोति । प्रमाणमन्तरेण तस्या अपि प्रतिपत्तुमश-

कयत्वादिति । अहो ! महति प्रकटकष्टसंकटे प्रविष्टोऽयं तपस्वी किं नाम कुर्यात् ?। अथ-"धूमाधीर्वह्निविज्ञानं,धूमज्ञानमधीस्तयोः । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्या-मिति पञ्चभिरन्वयः" ॥ १ ॥ निर्णयने । अनुपलम्भोऽपि प्रत्यक्षविशेष एवेति प्रत्यक्षमेव व्याप्तितात्पर्यपर्यालोचनचातुर्यधुर्यम् , तत् किं तर्कोपक्रमेणेति चेत्, ननु प्रत्यक्षं तावन्नियतधूमाग्निगोचरतया प्राक् प्रावृतम् । यद्यपि व्याप्तिरपि तावन्मात्रैव स्यात्तदाऽनुमानमपि तत्रैव प्रवर्तेतेति कुतस्त्यं धूमान्महीधरकन्धराऽऽधारभावाऽऽशुशुक्षणिलक्षणम् । तद्बलाद् बभूवान् विकल्पः सार्वत्रिकीं व्याप्तिं पर्याप्नोतीति निर्णीतुमिति चेत्; को नामैवं नामंस्त तर्कविकल्पस्योपलम्भानुपलम्भसंभवत्वेन स्वीकारात्, किन्तु व्याप्तिग्राहकत्वादयमेव प्रमाणं कक्षीकरणीयः । अथ तथा प्रवर्तमानोऽयं प्राक् प्रवृत्तप्रत्यक्षव्यापारमेवाऽनुधावतीति तदेव तत्र प्रमाणमिति चेत्, तर्ह्यनुमानमपि लिङ्गग्राहिप्रत्यक्षस्यैव व्यापारमनुसरतीति तदेव वैश्वानरवेदने प्रमाणम्, नानुमानमिति किं न स्यात् ?। अथ कथमेवं वक्तुं शक्यम् । लिङ्गप्रत्यक्षं हि लिङ्गगोचरमेव, अनुमानं तु साध्यगोचरमिति कथं तत्तद्व्यापारमामुखयेत्, तर्हि प्रत्यक्षं पुरोवर्तिस्वलक्षणेक्षणक्षणमेव । तर्कविकल्पस्तु साध्यसाधनसामान्याक्षमर्शमनीषीति कथं सोऽपि तद्व्यापारमुद्दीपयेत् । अथ सामान्यमसामान्यमेव, अवस्तुत्वादिति कथं तत्र प्रवर्तमानस्तर्कः प्रमाणं स्यादिति चेत्; अनुमानमपि कथं स्यात् ?। तस्यापि सामान्यगोचरत्वाऽव्यभिचारात् । " अन्यत् सामान्यलक्षणं सोऽनुमानस्य विषयः " इति धर्मकीर्तिना कीर्तनात् । मस्थनोऽप्रमाणमेवैतद्, व्यवहारेणैवास्य प्रामाण्यात्,सर्वं एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेनेति वचनादिति चेत्, तर्कोऽपि तथाऽस्तु । अथ नायं तर्कः व्यवहारेणापि प्रमाणम्, सर्वथा वस्तुसंस्पर्शपराङ्मुखत्वादिति चेत्, अनुमानमपि तथाऽस्तु । अवस्तुनिर्भासमपि परम्परया पदार्थे प्रतिबन्धात् प्रमाणमनुमानमिति चेत्, किं न तर्कोऽपि ?। अवस्तुत्वं च सामान्यस्याद्यापि केसरिकिशोरवक्त्रक्रोडदंष्ट्राऽङ्कुराऽऽकर्षणमाग्रमस्ति । सदृशपरिणामरूपस्यास्य प्रत्यक्षाऽऽदिप्रसिद्धत्वादिति तद्वत् एवानुमानम्, तर्कश्च प्रमाणं प्रत्यक्षवादिति पाषाणरेखा ॥ ७ ॥

अत्रोदाहरन्ति-

यथा यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति तस्मिन्नसत्यसौ न भवत्येव ॥ ८ ॥

अत्राऽऽद्यमुदाहरणमन्वयव्याप्तौ,द्वितीयं तु व्यतिरेकव्याप्ताविति ॥ ८ ॥ रत्ना० ३ परि० ।

तक्कणवित्ति-तर्कणवृत्ति-न० । नटनट्टाऽऽचार्याऽऽदीनां कृपणकुले, व्य० ८ उ० ।

तक्कणा-देशी-इच्छायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

तक्कपसेवि (ण्)-तस्कर्षसेविन्-पुं० । मैथुनमासेव्य वीर्यनिसर्गे सति यः श्वान इव वेदोत्कटतया जिह्वालेहनाऽऽदिभिर्निन्द्यकर्मणा सुखमात्मनो मन्यते स तथा । गलितवयसदृशसीलक्षलेहनकर्तरि, ध० ३ अधि० । बृ० । पं० भा० । पं० चू० ।

तक्कर-तस्कर-पुं० । तदेव चौर्यं कुर्वन्तीत्येवं शीलाः । कृ-अच् । नि० । औ० । परद्रव्यहरे,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । आव० । ज्ञा० । रा० । नि० चू० । आ०चू० । दमनकवृक्षे,पृक्काशाके च । स्त्रियां ङीप् । वाच० ।

तक्करट्ठाण-तस्करस्थान-न० । शून्यदेवकुलाऽऽगाराऽऽदौ,ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

तक्करत्तण-तस्करत्व-न० । नवमे गौणेऽदत्ताऽऽदाने,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

तक्करपओग-तस्करप्रयोग-पुं० । तस्कराश्चौराः,तेषां प्रयोगः संहरणक्रियायां प्रेरणमभ्यनुज्ञातं तस्करप्रयोगः,तान् प्रयुङ्क्ते-हरत यूयमिति । स्थूलकादत्तादानविरते द्वितीयेऽतिचारे, आव० ६ अ० । पञ्चा० । ध० । ध० २० ।

तक्कालि-तर्कारी-स्त्री० । वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० भ० । जयन्तीवृक्षे, वाच० ।

तक्कली-तर्कारी-स्त्री० । 'तक्कालि' शब्दार्थे, प्रज्ञा० १ पद ।

तक्कलीमत्थय-तर्कारीमस्तक-न० । तर्कारीमध्यवर्तिनि गर्भे,आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

तक्कलीसीसय-तर्कारीशीर्षक-न० । तर्कारीस्तबके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

तक्का-तर्का-स्त्री० । स्वकीयविकल्पनायाम् , सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । वितर्के, स्वमतिपर्यालोचने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । " एगा तक्का । " तर्को विमर्शः । अपायात्पूर्वा ईहाया उत्तराः प्रायः शिरःकण्डूयनाऽऽदयः पुरुषधर्मा इह घटन्त इति सम्प्रत्ययरूपाः, ईहैकत्वं तु प्राग्वत् । स्था० १ ठा० ।

तक्काभास-तर्काभास-पुं० । तर्कलक्षणरहिते तर्कवदाभासमाने, रत्ना० ।

तर्काऽऽभासमादर्शयन्ति-

असत्यामपि व्याप्तौ तदवभासस्तर्काभासः ॥ ३५ ॥

व्याप्तिरविनाभावः ॥ ३५ ॥

उदाहरन्ति-

स श्यामो मैत्रतनयत्वादित्यत्र यावान्मैत्रतनयः स श्याम इति यथा ॥ ३६ ॥

न हि मैत्रतनयत्वहेतोः श्यामत्वेन व्याप्तिरस्ति,शाकाऽऽद्याहारपरिणतिपूर्वकत्वात् श्यामतायाः । यो हि जनन्युपभुक्तशाकाऽऽद्याहारपरिणतिपूर्वकस्तनयः स एव श्याम इति सर्वाक्षेपेण यः प्रत्ययः स तर्क इति ॥ ३६ ॥ रत्ना० ६ परि० ।

तक्कु-तर्कु-पुं० । कृत्-उ- नि० । 'टेकु' इतिख्याते यन्त्रे, वाच० । "कौसुम्भैकतन्तुभिस्तर्कु-संपर्कैभिरथापराः । " आ० क० ।

तक्ख-तक्ष-धा० । तनूकरणे, भ्वादि० । पक्षे स्वादि०-पर०-सक०-वेट् । " तक्षेस्तच्छ-चच्छ-रम्प-रम्फाः " ॥ ८ । ४ । १९४॥ तक्षेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति । 'तच्छइ,' 'चच्छइ,' 'रम्पइ,' 'रम्फइ' । पक्षे-'तक्खइ' । प्रा० ४ पाद । भरसंने तु-संतक्षति । वाच० ।

तक्षन्-पुं० । तक्ष-कनिन् । त्वष्टरि, विश्वकर्मणि च । वाच० ।

तक्खण-तत्क्षण-न० । तस्मिन्नेव क्षणे, " तक्खणओलुग्गाऽऽलुग्गसरीरलायण्णसुण्णनिच्छाय । " तत्क्षणमेव प्रव्रजामीति वचनश्रवणक्षण एव अवरुग्णं म्लानं दुर्बलं च शरीरं यस्याः सा तथा । लावण्येन शून्या लावण्यशून्या, निश्छाया निष्प्रभा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः । भ० ६ श० ३३ उ० ।

तक्खमाण-तक्ष्णुवत्-त्रि० । तनूकुर्वति, अनु० ।

तक्खय-तक्षक-पुं० । तक्ष-ण्वुल् । कश्यपस्य सुते नागभेदे, वाच० । आव० । विश्वकर्मणि वर्द्धकौ, वाच० ।

तक्खसिला-तक्षशिला-स्त्री० । बहलीदेशे बाहुबलेर्नगर्याम्, आ० म० १ अ० १ खण्ड । कल्प० । आचा० । आ० चू० ।

तगर-तगर-पुं० । गृ-अच्, तस्य क्रोडस्य गरः । 'टगर' इति ख्याते वृक्षे, वाच० । गन्धद्रव्यविशेषे, प्रश्न० ५ संव० द्वार । सूत्र० । ज्ञा० । रा० । जं० । जी० । "अगरतगरचोआकुंकुमेण ।" अनु० ।

तगार-तकार-पुं० । तच्छब्दघटकस्यानुकरणं 'त' इति । ततः कारप्रत्ययः । निर्देशे, नि० चू० १ उ० ।

तगुण-तद्गुण-पुं० । "अन्त्यव्यञ्जनस्य" ॥ ८ । १ । ११ ॥ इति दकारलोपः । समासे तु वाक्यविभक्त्यपेक्षायामन्त्यत्वमनन्त्यत्वं च तेनोभयमपि भवति । प्रा० १ पाद । अलङ्कारोक्ते अर्थालङ्कारभेदे, वाच० ।

तग्ग-देशी-सूत्रे, कङ्कणके, दे० ना० ५ वर्ग १ गाथा ।

तग्गुण-पुं० । 'तगुण' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

तच्च-तथ्य-न० । तथा तत्र साधु यत् । वाच० । "ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले" ॥ ८ । २ । २१ ॥ मध्ये चोऽपि भवति । इति थकारस्य चकारः । प्रा० २ पाद । चकारस्य द्वित्वम् । अवितथे, सत्ये, तत्त्वरूपे, उत्त० २८ अ० । जी० । आचा० । तद्वति, त्रि० । वाच० ।

तच्चकम्मसंपउत्त-तथ्यकर्मसंप्रयुक्त-त्रि० । तथ्यानि सत्यफलाव्यभिचारितया कर्माणि क्रियास्तत्संपदा तत्सम्पदा यः प्रयुक्तः स तथा । तस्मिन् लब्धफले, उत्त० ३ अ० ।

तच्चावाइ(ण्)-तथ्यवादिन्-पुं० । कौशाम्बीराजस्य शतानीकस्य धर्मपाठके, आ० क० । आ० चू० । आ० म० ।

तच्चावाय-तत्त्ववाद-पुं० । तत्त्वानि वस्तूनामैदम्पर्याणि तेषां वा वदनं तत्त्ववादः । दृष्टिवादे, स्था० १० ठा० ।

तथ्यवाद-पुं० । तथ्यो वादस्तथ्यवादः । दृष्टिवादे, स्था० १० ठा० ।

तच्चित्त-तच्चित्त-त्रि० । तस्मिन् भगवद्वचने चित्तं भावो मनो येषां ते तच्चित्ताः, सामान्योपयोगापेक्षया वा तच्चित्ताः । औ० । तस्मिन्नेव आवश्यके चित्तं सामान्योपयोगरूपं यस्येति तस्मिन् विवक्षिते भावमनोयुक्ते, सामान्योपयुक्ते च । ग० २ अधि० । अनु० । विपा० ।

तच्छ-तक्ष्-धा० । तनूकरणे, भ्वादि० । पक्षे-स्वादि० पर०-सक०-वेट् । "तक्षेस्तच्छ-चच्छ-रम्प-रम्फाः" ॥ ८।४।१९४॥ इति तक्ष्णाऽऽदेशः । 'तच्छइ' । प्रा० ४ पाद । "कप्पेंति करकरएहिं, तच्छिंति परोप्परं खुरेहिं ति ।" तक्ष्णुवन्ति सर्वशो देहावयवापनयनेन तनून् कारयन्ति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

तच्छण-तक्षण-न० । क्षुराऽऽदिना त्वचस्तनूकरणे, विपा० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० । वास्या काष्ठस्येव देहकर्त्तनरूपे शारीरदण्डे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज्ञा० ।

तच्छसिला-तक्षशिला-स्त्री० । बहलीदेशे बाहुबलेर्नगर्याम्, यत्र बाहुबलिना निर्मितं धर्मचक्रम् । ती० ४३ कल्प । प्रति० ।

तच्छिड-देशी-कराले, दे० ना० ५ वर्ग ३ गाथा ।

तच्छिऊण-तक्षयित्वा-अव्य० । वास्यादिना तक्षणं कृत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

तज्ज-तज्ज-त्रि० । तस्माज्जातं तज्जम् । तच्छब्दविवक्षितात्कुलके, षो० ३ विव० ।

तर्ज-धा० । भर्त्सने, भ्वादि०-पर०-सक०-सेट् । तर्जति । अतर्जीत् । चुरादि०-आत्म०-सक०-सेट् । तर्जयते । अततर्जत । वाच० ।

तज्जण-तर्जन-न० । शिरोऽङ्गुल्यादिस्फोरणतो ज्ञास्यसि रे जाल्म ! इत्यादिभणने, औ० । तं० । प्रश्न० । ज्ञा० । आचा० ।

तज्जयाण-तर्जत्-त्रि० । ज्ञास्यथ रे यन्मम इदं वचनं ध्वस्यैरस्यैव जीवयासि, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

तज्जाइय-तज्जातिक-त्रि० । तस्माज्जातिरुत्पत्तिर्यस्य सः । तत्कृत्ये, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

तज्जाईय-तज्जातीय-त्रि० । अभिन्नजातीये, आव० ४ अ० । आचा० ।

तज्जाय-तज्जात-त्रि० । तस्माद् विवक्षितात् सकाशाज्जातं तज्जातम् । तदुत्पन्ने, दशा० ३ अ० । स्था० ।

तज्जायदोसे मइभंगदोसे, पसत्थारदोसे परिहारदोसे ।
सलक्खणकारणहेउदोसे, संकामणं निग्गहवत्थुदोसे ॥१॥

"तज्जाय" इत्यादि वृत्तम् । एते हि गुरुशिष्ययोर्वादिप्रतिवादिनोर्वा वादाश्रया इव लक्ष्यन्ते । तत्र तस्य गुर्वादेर्जातं जातिः प्रकारो वा जन्मकर्माऽऽदिलक्षणं तज्जातं, तदेव दूषणमिति कृत्वा दोषस्तज्जातदोषस्तथाविधकुलाऽऽदिना दूषणमित्यर्थः । अथवा-तस्मात्प्रतिवाद्यादेः सकाशाज्जातः क्षोभान्मुखस्तम्भाऽऽदिलक्षणो दोषस्तज्जातदोषः । (शेषोऽन्यत्र) दशविधदोषाणां मध्ये प्रथमे दोषभेदे, स्था० १० ठा० ।

तज्जायसंसट्ठचरग-तज्जातसंसृष्टचरक-त्रि० । तज्जातेन देयद्रव्याविरोधिना यत्संसृष्टं हस्ताऽऽदि तेन दीयमानं यश्चरति तस्मिन्, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

तज्जाया-तज्जाता-स्त्री० । तुल्यजातीयक्रियमाणायां परिष्ठापनायाम्, आव० ४ अ० ।

तज्जिय-तर्जित-न० । एकोनविंशतितमे वन्दनदोषे, वृ० ।

एकोनविंशतिदोषमाह-

ण वि कुप्पसि ण पसीयसि, कट्ठसिवो चेव तज्जियं एयं ।
सीसंगुलिमादीहि य, तज्जेति गुरुं पणिवयंते ॥

काष्ठघटितशिवदेवताविशेष इवाऽवन्द्यमानो न कुप्यसि, तथा-वन्द्यमानोऽप्यविशेषज्ञतया न प्रसीदसीत्येवं तर्जयन् निर्भर्त्सयन् यद् वन्दते तत्तर्जितम् । यदि वा मेलापकमध्ये वन्दनकं मां दापयसि तत्तस्याचार्य ! परं ज्ञास्यते तवैकाकिन इत्यभिप्रायवान् यदा शीर्षेणाङ्गुल्या वा प्रदेशिनीलक्षणया गुरुं प्रतिपतन् वन्दमानस्तर्जयति, तदा तर्जितम् । वृ० ३ उ० ।

तज्जीवतच्छरीर-तज्जीवतच्छरीर-न० । स चाऽसौ जीवश्च तज्जीवः कायाऽऽकारो भूतपरिणामस्तदेव शरीरम् । जीवशरीरयोरैक्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

तज्जीवतच्छरीरवाइ [ण्]-तज्जीवतच्छरीरवादिन्-त्रि० । नास्तिकविशेषे, सूत्र० ।

साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिमतं पूर्वपक्षयन्नाह-

पत्तेअं कसिणे आया, जे बाला जे अ पंडिआ ।
संति पिच्चा न ते संति, नऽत्थि सत्तोववाइया ॥ ११ ॥

तज्जीवतच्छरीरवादिनामयमभ्युपगमः-यथा पञ्चभ्यो भूतेभ्यः कायाऽऽकारपरिणतेभ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते, अभिव्यज्यते च, एकैकं शरीरं प्रति प्रत्येकमात्मानः कृत्स्नाः सर्वेऽप्यात्मान एवमवस्थिताः । ये बाला अज्ञाः, ये च पण्डिताः सदसद्विवेकज्ञाः,ते सर्वे पृथक् व्यवस्थिताः। न ह्येक एवाऽऽत्मा सर्वव्यापित्वेनाभ्युपगन्तव्यः,बालपण्डिताऽऽद्यभावप्रसङ्गात् । ननु प्रत्येकशरीराऽऽश्रयत्वेनाऽऽत्मबहुत्वमार्हतानामपीष्टमेवेत्याशङ्क्याऽऽह-सन्ति विद्यन्ते यावच्छरीरं विद्यन्ते, तदभावे तु न विद्यन्ते । तथाहि-कायाऽऽकारपरिणतेषु भूतेषु चैतन्याऽऽविर्भावो भवति,भूतसमुदायविघट्टने च चैतन्यापगमो, न पुनरन्यत्र गच्छच्चैतन्यमुपलक्ष्यते । तदेव दर्शयति-(पिच्चा न ते संतीति) प्रेत्य परलोके न ते आत्मानः सन्ति विद्यन्ते, परलोकानुयायी स्वात्मा शरीराद्भिन्नः स्वकर्मफलभोक्ता न कश्चिदात्माऽऽख्यः पदार्थोऽस्तीति भावः । किमित्येवमत आह-(नऽत्थि सत्तोववाइया) अस्तिशब्दस्तिङन्तप्रतिरूपको निपातो बहुवचने द्रष्टव्यः । तदयमर्थः-न सन्ति न विद्यन्ते, तदभावे तु न विद्यन्ते, सत्त्वाः प्राणिन उपपातेन निर्वृत्ता औपपातिका भवाद्भवान्तरगामिनो न भवन्तीति तात्पर्यार्थः । तथाहि तदागमः-"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यतीति, न प्रेत्य संज्ञा अस्तीति ।" ननु प्रागुपन्यस्तभूतवादिनोऽस्य च तज्जीवतच्छरीरवादिनः को विशेषः ?, इत्यत्रोच्यते-भूतवादिनो भूतान्येव कायाऽऽकारपरिणतानि धावनवल्गनाऽऽदिकां क्रियां कुर्वन्त्यस्य तु कायाऽऽकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्याऽऽख्य आत्मोत्पद्यतेऽभिव्यज्यते च, तेऽपश्चाभिन्न इत्ययं विशेषः ॥ ११ ॥

एवं च धर्मिणोऽभावाद्धर्मस्याप्यभाव इति दर्शयितुमाह-

नऽत्थि पुण्णे व पावे वा, नऽत्थि लोए इतो परे ।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥ १२ ॥

पुण्यमभ्युदयप्राप्तिलक्षणं, तद्विपरीतं पापम्,एतद्द्वयमपि न विद्यते, आत्मनो धर्मिणोऽभावात् । तदभावाच्च नास्तीतोऽस्माल्लोकात् परोऽन्यो लोको यत्र पुण्यपापानुभव इति । अत्रार्थे सूत्रकारः कारणमाह-शरीरस्य कायस्य विनाशेन भूतविघट्टनेन, देहिन आत्मनोऽप्यभावो भवति, यतो न पुनः शरीरे विनष्टे तस्मादात्मा परलोकं गत्वा पुण्यं पापं वाऽनुभवतीत्यतो धर्मिण आत्मनोऽभावात्तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरप्यभाव इति । अस्मिन्नर्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्ति । तद्यथा-यथा जलबुद्बुदो जलातिरेकेण नाऽपरः कश्चिद्विद्यते, तथा भूतव्यतिरेकेण नाऽपरः कश्चिदात्मेति । तथा च यथा कदलीस्तम्भस्य बहिस्त्वगपनयने क्रियमाणे त्वङ्मात्रमिव सर्वं नाऽन्तः कश्चित्सारोऽस्त्येवं भूतसमुदाये विघटति सति तावन्मात्रं विहाय नान्तः सारभूतः कश्चिदात्माऽऽख्यः पदार्थ उपलभ्यते । यथा वा अलातं भ्राम्यमाणमतद्रूपमपि चक्रबुद्धिमुत्पादयति, एवं भूतसमुदायोऽपि विशिष्टक्रियोपेतो जीवभ्रान्तिमुत्पादयतीति । यथा च स्वप्नेऽपि विशिष्टक्रियोपेतो जीवभ्रान्तिमुत्पादयतीति । यथा च स्वप्ने बहिर्मुखाऽऽकारतया विज्ञानमनुभूयते,आन्तरेणैव बाह्यमर्थम्,एवमात्मानमन्तरेण तद्विज्ञानं भूतसमुदाये प्रादुर्भवतीति । तथा यथाऽऽदर्शे स्वच्छत्वात्प्रतिबिम्बितो बहिःस्थितोऽप्यर्थोऽन्तर्गतो लक्ष्यते, न चाऽसौ तथा । यथा च ग्रीष्मे भौमेनोष्मणा परिस्पन्दमाना मरीचयो जलाऽऽकारं विज्ञानमुत्पादयन्ति,एवमभ्रेऽपि गन्धर्वनगराऽऽदयः स्वस्वरूपेणाऽतथाभूता अपि तथा प्रतिभासन्ते,तथाऽऽत्माऽपि भूतसमुदायाऽऽकारपरिणतो सत्यां पृथगात्मेव तथा भ्रान्ति समुत्पादयतीति । अमीषां च दृष्टान्तानां प्रतिपादकानि कानिचित्सूत्राणि व्याचक्षते । अस्माभिस्तु सूत्राऽऽदर्शे चिरन्तनटीकायां चादृष्टत्वान्नाभिलिखितानीति ॥ ननु च यदि भूतव्यतिरिक्तः कश्चिदात्मा न विद्यते, तत्कृते च पुण्यापुण्ये न, तत्कथमेतज्जगद्वैचित्र्यं घटते ?। तद्यथा-कश्चिदीश्वरोऽपरो दरिद्रोऽन्यः सुभगोऽपरो दुर्भगः सुखी दुःखी सुरूपो मन्दरूपो व्याधितो नीरोगीत्येवंप्रकारा विचित्रता किंनिबन्धनेति ?। अत्रोच्यते,स्वभावात् । तथाहि-कुश्चिच्छिलाशकले प्रतिमारूपं विद्यते, तच्च कुङ्कुमागरुचन्दनाऽऽदिविलेपनानुभोगमनुभवति,धूपाऽऽमोद च,अन्यस्मिंस्तु पाषाणखण्डे पादक्षालनाऽऽदि क्रियते,न च तयोः पाषाणखण्डयोः शुभाशुभे स्तः, यदुदयात्स तादृगवस्थाविशेष इत्येवंस्वभावाज्जगद्वैचित्र्यम् । तथाचोक्तम्-"कण्टकस्य च तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य विचित्रता । वर्णाश्च ताम्रचूडानां, स्वभावेन भवन्ति हि ॥ १ ॥" इति । तज्जीवतच्छरीरवादिमतं गतम् ॥ १२ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिनो मतं निराचिकीर्षुराह-

जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिया ?।
तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरंभनिस्सिया ॥ १४ ॥

ये तावच्छरीराऽव्यतिरिक्ताऽऽत्मवादिनः एवं पूर्वोक्तयुक्त्या भूताव्यतिरिक्तमात्मानमभ्युपगतवन्तस्ते निराक्रियन्ते-तेषां लोकश्चतुर्गतिभवरूपः सुभगदुर्भगसुरूपकुरूपेश्वरदारिद्र्यादिरूपो जगद्वैचित्र्यरूपः कुतः स्यात् ?। आत्माऽनङ्गीकारे पुण्यपापाभावे कथं विश्ववैचित्र्यमित्यर्थः ?। ते च नास्तिकास्तमसोऽज्ञानरूपात् तमो यान्ति ज्ञानाऽऽवरणाऽऽवृताः पुनर्ज्ञानाऽऽवरणरूपं तमः प्रविशन्ति । अथवा-सद्विवेकप्रध्वंसित्वात्तमो दुःखं, तस्मात्तमो महादुःखं यान्ति, यतस्ते मन्दा जडाः परलोकनिरपेक्षत्वाच्चाऽऽरम्भनिःश्रिताः (सूत्र० दी० १ श्रु०१ अ० १ उ०) तत्र यदैस्तावदुक्तम् । यथा-न शरीराद्भिन्नोऽस्त्यात्मेति । तदसंगतम् । यतस्तत्प्रसाधकं प्रमाणमस्ति । तच्चेदम्-विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरम्,आदिमत्प्रतिनियताऽऽकारत्वात्,इह यद्यदादिमत्प्रतिनियताऽऽकारं तत्तद् विद्यमानकर्तृकं दृष्टम् । यथा घटः, यच्चाविद्यमानकर्तृकं तदादिमत्प्रतिनियताऽऽकारमपि न भवति,यथाऽऽकाशम् । आदिमत्प्रतिनियताऽऽकारत्वं च सकर्तृत्वेन व्याप्तं व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्य विनिवृत्तिरिति सर्वत्र योजनीयम् । तथा विद्यमानाधिष्ठातृकाणीन्द्रियाणि, करणत्वात्, यद्यदिह करणं तत्तद् विद्यमानाधिष्ठातृकं दृष्टम्, यथा-दण्डाऽऽदिकमिति । अधिष्ठातारमन्तरेण करणत्वानुपपत्तिः,यथाऽऽकाशस्य । हृषीकाणां चाधिष्ठाताऽऽत्मा, स च तेभ्योऽन्य इति । तथा विद्यमानाधिष्ठातृकमिदमिन्द्रियविषय-

कदम्बकम्, आदाताऽऽदेयसद्भावात् । इह यत्र यत्राऽऽदानाऽऽदेयसद्भावस्तत्र तत्र विद्यमान आदाता ग्राहको दृष्टः । यथा संदंशकाऽयःपिण्डयोरनलभिदोऽयस्कार इति । यश्चात्रेन्द्रियैः करणैर्विषयाणामादाता ग्राहकः स तद्व्यतिरिक्त आत्मेति । तथा विद्यमानभोक्तृकमिदं शरीरं, भोग्यत्वात्, ओदनाऽऽदिवत् । अत्र च कुलालाऽऽदीनां मूर्त्तत्वानित्यत्वसंहतत्वदर्शनादात्माऽपि तथैव स्यादिति धर्मविशेषविपरीतसाधनत्वेन विरुद्धा शङ्का न विधेया । संसारिण आत्मनः कर्मणा सहान्योन्यानुवेधतः कथञ्चिन्मूर्त्तत्वाऽऽद्यभ्युपगमादिति । तथा यदुक्तम्-"नास्ति सत्त्व औपपातिकः" इति । तदप्ययुक्तम् । यतस्तदहर्जातबालकस्य यः स्तनाभिलाषः सोऽन्याभिलाषपूर्वकः, अभिलाषत्वात्, कुमाराभिलाषवत् । तथा बालविज्ञानमन्यविज्ञानपूर्वकं, विज्ञानत्वात्, कुमारविज्ञानवत् । तथाहि-यदहर्जातबालकोऽपि यावत्स पश्चायं स्तन इत्येवं नावधारयति, तावन्नोपरतरुदितो मुखमर्पयति स्तने इत्यतोऽस्ति बालके विज्ञानलेशः, स चान्यविज्ञानपूर्वकः । तथाऽन्यद् विज्ञानं भवान्तरविज्ञानं, तस्मादस्ति सत्त्व औपपातिक इति । तथा यदभिहितम्-"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यतीति ।" तत्राप्ययमर्थः-विज्ञानघनो विज्ञानपिण्ड आत्मा भूतेभ्य उत्थायेति प्राक्तनकर्मवशात्तथाविधकायाऽऽकारपरिणते भूतसमुदाये तद्द्वारेण स्वकर्मफलमनुभूय पुनस्तद्विनाशे आत्माऽपि तदनु तेनाऽऽकारेण विनश्यापरपर्यायान्तरेणोत्पद्यते, न पुनस्तैरेव सह विनश्यतीति । तथा यदुक्तम्-धर्मिणोऽभावात्तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरभाव इति । तदप्यसमीचीनम् । यतो धर्मी तावदनन्तरोक्तिकदम्बकेन साधितः, तत्सिद्धौ च तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरपि सिद्धिरवसेया, जगद्वैचित्र्यदर्शनाच्च । यत्तु स्वभावमाश्रित्योपलशकलं दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तं, तदपि तद्भोक्तृकर्मवशादेव तथा तथा संवृत्त इति दुर्निवारः पुण्यापुण्यसद्भाव इति । येऽपि बहवः कदलीस्तम्भाऽऽदयो दृष्टान्ता आत्मनोऽभावसाधनायोपन्यस्ताः, तेऽप्यभिहितनीत्याऽऽत्मनो भूतव्यतिरिक्तस्य परलोकयायिनः सारभूतस्य साधितत्वात् केवलं भवतो वाचालतां प्रख्यापयन्ति । इत्यलमतिप्रसङ्गेन । शेषं सूत्रं विव्रियतेऽधुनेति । तदेवं तेषां भूतव्यतिरिक्ताऽऽत्मनिह्नववादिनां योऽयं लोकश्चातुर्गतिकसंसारो जवाद् भवान्तरगतिलक्षणः प्राक् प्रसाधितः सुभगदुर्भगसुरूपमन्दरूपेश्वरदारिद्र्याऽऽदिरूपतया जगद्वैचित्र्यलक्षणश्च, स एवंभूतो लोकस्तेषां कुतो भवेत् ?, कयोपपत्त्या घटेत् ?; आत्मनोऽनभ्युपगमान्न कश्चिदित्यर्थः । ते च नास्तिकाः परलोकयायिजीवाऽनभ्युपगमेन पुण्यपापयोश्चाभावमाश्रित्य यत्किञ्चनकारिणोऽज्ञानरूपात्तमसः सकाशादन्यत्तमो यान्ति-भूयोऽपि ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिरूपं महत्तरं तमः संविशन्तीत्युक्तं भवति । यदि वा-तम इव तमो दुःखसमुद्घातेन सदसद्विवेकप्रध्वंसित्वाद् यातनास्थानम्, तस्मादेवंभूतात्तमसः परतरं तमो यान्ति । सप्तमनरकपृथिव्यां रौरवमहारौरवकालमहाकालाप्रतिष्ठानाऽऽख्यं नरकाऽऽवासं यान्तीत्यर्थः । किमिति ?, यतस्ते मन्दा जडा मूर्खाः सत्यपि युक्त्युपपन्ने आत्मन्यसदभिनिवेशात् तदभावमाश्रित्य प्राण्युपमर्दकारिणि विवेकिजननिन्दिते आरम्भे व्यापारे निश्चयेन नितरां श्रिताः संबद्धाः पुण्यपापयोरभाव इत्याश्रित्य परलोकनिरपेक्षतयाऽऽरम्भनिःश्रिता इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

तं जहा-उड्ढं पादतला, अहे केसग्गमत्थया, तिरियं तयपरियंते जीवे, एस आयापज्जवे कसिणे, एस जीवे जीवति, एस मए णो जीवइ, सरीरे धरमाणे धरइ, विणट्ठम्मि य णो धरइ, एयं तं जीवियं भवति, आदहणाए परेहिं निज्जइ, अगणिज्झामिए सरीरे कवोतवण्णाणि अट्ठीणि भवंति, आसंदीपंचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छंति, एवं असंते असंविज्जमाणे, जेसिं [तं असंते असंविज्जमाणे] तेसिं तं सुयक्खायं भवति । अन्नो भवति जीवो, अन्नं सरीरं, तम्हा ते एवं नो विप्पडिवेदेंति-अयमाउसो ! आया दीहे ति वा, हस्से ति वा, परिमंडले ति वा, वट्टे ति वा, तंसे ति वा, चउरंसे ति वा, आयते ति वा, छलंसिए ति वा, अट्ठंसे ति वा, किण्हे ति वा, णीले ति वा, लोहियहालिद्दसुक्किल्ले ति वा, सुब्भिगंधे ति वा, दुब्भिगंधे ति वा, तित्ते ति वा, कडुए ति वा, कसाए ति वा, अंबिले ति वा, महुरे ति वा, कक्खडे ति वा, मउए ति वा, गुरुए ति वा, लहुए ति वा, सीए ति वा, उसिणे ति वा, निद्धे ति वा, लुक्खे ति वा, एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं सुयक्खायं भवति-अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं, तम्हा ते णो एवं उवलब्भंति ॥ १५ ॥

तद्यथा-ऊर्ध्वमुपरि पादतलात्, अधश्च केशाग्रमस्तकात्, तिर्यक् च त्वक्पर्यन्तो जीवः । एतदुक्तं भवति-यदेवैतच्छरीरं, स एव जीवो, न तस्माच्छरीराद्व्यतिरिक्तोऽस्त्यात्मेत्यतस्तत्प्रमाण एव भवत्यसाविति । एवं च कृत्वैष आत्मा योऽयं कायोऽयमेव च तस्याऽऽत्मनः पर्यवः, कृत्स्नः सम्पूर्णः पर्यायोऽवस्थाविशेषः, तस्मिंश्च कायात्मन्ययाते तद्व्यतिरेकात् जीवोऽप्ययात एव भवति । एष च कायो यावन्तं कालं जीवेदविकृत आस्ते, तावन्तमेव कालं जीवोऽपि जीवतीत्युच्यते, तदव्यतिरेकात् । तथैव कायो यदा मृतो विकारजातो भवति, तदा जीवोऽपि न जीवति, जीवशरीरयोरेकाऽऽत्मकत्वात् । यावदिदं शरीरं पञ्चभूताऽऽत्मकमव्यङ्गं भवति, तावदेव जीवोऽपीति । तस्मिंश्च विनष्टे सत्येकस्यापि भूतस्यान्यथाभावे विकारे सति जीवस्याऽपि तदात्मनो विनाशः, तदेवं यावदेतच्छरीरं वातपित्तश्लेष्माऽऽधारं पूर्वस्वभावादप्रच्युतं तावदेव तज्जीवस्य जीवितं भवति । तस्मिंश्च विनष्टे तदात्मा जीवोऽपि विनष्ट इति कृत्वा आ दहनायाऽऽसमन्ताद्दहनार्थं श्मशानाऽऽदौ नीयते, यतोऽसौ तस्मिंश्च शरीरेऽग्निध्मापिते कपोतवर्णान्यस्थीनि केवलमुपलभ्यन्ते, न तदतिरिक्तोऽपरः कश्चिद्विकारः समुपलभ्यते, येन आत्मास्तित्वसंज्ञा स्यात् । ते च तद्बान्धवा अवन्यनोऽपि चत्वारः । आसन्दी मञ्चकः, स पञ्चमो येषां ते आसन्दीपञ्चमाः पुरुषाः, तं कायमग्निना ध्मापयित्वा पुनः स्वग्रामं प्रत्यागच्छन्ति । यदि पुनस्तत्राऽऽत्मा निजशरीराद्भिन्नः स्यात्ततः शरीरान्निर्गच्छन् दृश्येत । न चोपलभ्यते, तस्माज्जीवस्तदेव शरीरमिति स्थितम् । तदेवमुक्तनीत्याऽसौ जीवोऽसन्नविद्यमानस्तत्र तिष्ठन् गच्छंश्चासंवेद्यमानो येषामयं पक्षस्तेषां तत्स्वाख्यातं भवति, येषां पुनरन्यो जीवोऽन्यच्छरीरमेवं नोऽप्रमाणक एवाभ्युपगमस्तस्मात्ते स्वयमूढाः प्रवर्तमाना एवमिति वक्ष्यमाणं नैव विप्रतिवेदयन्ति जानन्ति ।

तद्यथा-आयुष्मन्! शरीराद् बहिरभ्युपगम्यमानः किंप्रमाणकः स्यादिति वाच्यम् । तत्र किं दीर्घः शरीरात्प्रांशुतरः, उत ह्रस्वोऽकुष्ठश्यामाकतण्डुलाऽऽदिपरिमाणो वा ?। तथा संस्थानानां परिमण्डलाऽऽदीनां मध्ये किंसंस्थानः, तथा कृष्णाऽऽदीनां वर्णानां मध्ये कतमवर्णवर्ती, तथा किंगन्धः, षण्णां रसानां मध्ये कतमरसवर्ती ?। तथाऽष्टानां स्पर्शानां मध्ये कतमो वः स्पर्शो वर्तते ?। तदेवं संस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शान्यरूपतया कथमप्यसावगृह्यमाणोऽसन्नसौ तथाऽपि केनाऽपि प्रकारेणाऽसंवेद्यमानोऽपि येषां तत्त्वाख्यातं भवति । यथाऽन्यो जीवोऽन्यच्छरीरमित्ययं पक्षस्तस्मात्पृथगसंवेद्यमानत्वात्स शरीरात्पृथगात्मवादिनो नैवं यथाख्यमानीत्याऽऽत्मानमुपलभन्ते ॥ १५ ॥

से जहाणामए केइ पुरिसे कोसीओ असिं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो! असी, अयं कोसी, एवमेव णत्थि केइ पुरिसे अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो-अयमाउसो! आया, इयं सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो! मुंजे इयं इसियं, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो-अयमाउसो! आया, इयं सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे मंसाओ अट्ठिं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो! मंसे, अयमट्ठी, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो-अयमाउसो! आया, इयं सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे करयलाओ आमलकं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो! करतले, अयं आमलए, एवमेव णत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो-अयमाउसो! आया, इयं सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे दहिओ नवनीयं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो! नवनीयं, अयं तु दही, एवमेव णत्थि केइ पुरिसे० जाव सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे तिलेहिंतो तिल्लं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो! तेल्लं, अयं पिन्नाए, एवमेव० जाव सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे इक्खुत्तो खोतरसं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो! खोतरसे, अयं खोए, एवमेव० जाव सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे अरणीतो अग्गिं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो! अरणी, अयं अग्गी, एवमेव० जाव सरीरं । एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं सुयक्खायं भवति-तं जहा-अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं, तम्हा ते मिच्छा । १६ ।

तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः कोशतः परिवारादसिं खड्गमभिनिर्वर्त्य समाकृष्यान्येषामुपदर्शयेत् । तद्यथा-अयमायुष्मन्! असिः खड्गोऽयं च कोशः परिवारः, एवमेव जीवशरीरयोरपि नास्त्युपदर्शयिता । तद्यथा-अयं जीवः, इदं च शरीरमिति, न चास्त्येवमुपदर्शयिता कश्चिदतः कायाच्च भिन्नो जीव इति । अस्मिन्नेवार्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्तीत्यतो दर्शयितुमाह । तद्यथा वा-कश्चित्पुरुषो मुञ्जात् तृणविशेषात् (इसियं ति) तद्गर्भभूतां शलाकां पृथक्कृत्य दर्शयेत् । तथा मांसादस्थि; तथा करतलादामलकम्; तथा दध्नो नवनीतम्; तिलेभ्यस्तैलमिति; तथेक्षो रसं, तथाऽरणीतोऽग्निमभिनिर्वर्त्य दर्शयेत् । एवमेव शरीराद् जीवमिति न कश्चिदस्त्येवमुपदर्शयिताऽसावात्मा, शरीरात्पृथगसंवेद्यमानत्वेति । प्रयोगश्चात्र-सुव्यक्तु कस्यचित् परलोकयायी नास्त्यात्मा, तिलक्षणैरिच्छमानेऽपि शरीरके पृथगनुपलब्धेः, घटाऽऽत्मवत्, व्यतिरेकेण च कोशखड्गवत् । तदेवं युक्तिभिः प्रतिपादितोऽप्यात्मा भवेत, येषां पृथगात्मादिना स्वदर्शनानुरागादेतत्त्वाख्यातं भवति । तद्यथा-अन्यो जीवः परलोकानुयायी अमूर्तोऽन्यच्च तच्छरीरमिति मूर्तिमच्छरीरमेतच्च पृथक् नोपलभ्यते । तस्मात्तन्मिथ्या-यैः कैश्चिदुच्यते यथाऽस्त्यात्मा परलोकानुयायीति ॥ १६ ॥

से हंता तं हणह, खणह, छणह. डहह, पयह, आलुंपह, विलुंपह, सहसाकारेह, विपरामुसह, एतावं ताव जीवे, णत्थि परलोए वा, ते णो एवं विप्पडिवेदंति-तं जहा-किरियाइ वा अकिरियाइ वा सुकडेइ वा दुक्कडेइ वा कल्लाणेइ वा पावएइ वा साहुइ वा असाहुइ वा सिद्धीइ वा असिद्धीइ वा निरएइ वा अनिरएइ वा, एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए ॥ १७ ॥

एतदध्यवसायी च स लोकायतिकः स्वतः प्राणिनामेकेन्द्रियाऽऽदीनां हन्ता घातादिको भवति, प्राणातिपाते दोषाभावमभ्युपगम्याऽन्येषामपि प्राण्युपघातकारणमुपदेशं ददाति । तद्यथा-प्राणिनः खड्गाऽऽदिना घातयत, पृथिव्यादिकं खनत इत्यादिसुगमम् । यावदेतावानेव शरीरमात्र एव जीवस्ततः परलोकिनोऽभावात्नास्ति परलोकोऽतस्तदभावाच्च यथेष्टमासत । तथा चोक्तम्-" पिब खाद च साधु शोभने !, यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते । न हि भीरु ! गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् " ॥१॥ तदेवं परलोकयायिनो जीवस्याऽभावान्न पुण्यपापे स्तः, नापि परलोक इत्येवं येषां पक्षस्ते लोकायतिकास्तज्जीवतच्छरीरवादिनो, नैवैतद्वक्ष्यमाणं प्रतिपद्यन्ते अभ्युपगच्छन्ति । तद्यथा-क्रियां वा सदनुष्ठानाऽऽत्मिकाम्, अक्रियां वा असदनुष्ठानरूपाम् । एवं नैव ते विप्रतिपद्यन्ते-यदि हि आत्मा नाऽकर्तृत्वान्न कर्मणो भोक्ता स्यात्ततः पापभयात्सदनुष्ठानचिन्ता स्यात्, तदभावाच्च सत्क्रियादिचिन्ताऽपि दूरोत्सारितैव । तथा सुकृतं दुष्कृतं वा कल्याणमिति पापमिति वा साधुकृतमसाधुकृतमित्यादिका चिन्तैव नास्ति । तथाहि-सुकृतानां कल्याणविपाकिनां साधुतयाऽवस्थानं, दुष्कृतानां च पापविपाकिनामसाधुत्वेनावस्थानमेतद्द्वयमपि सत्यात्मनि तत्फलभुजि संभवति, तदभावाच्च कुतोऽनर्थकौ हिताहितप्राप्तिपरिहारौ स्याताम् ?। तथा सुकृतेन कल्याणेन सदनुष्ठानेनाशेषकर्मक्षयरूपा सिद्धिः, तथा दुष्कृतेन पापानुबन्धिना असदनुष्ठानेन नरको, नरके वा तिर्यङ्नरामरगतिलक्षणं स्यादित्येवमात्मिका चिन्तैव न भवेत्, तदाधारस्याऽऽत्मसद्भावस्यानभ्युपगमादिति भावः । पुनरपि लोकायतिकानुष्ठानदर्शनायाऽऽह-(एवं ते इत्यादि) एवमनन्तरोक्तेन प्रकारेण ते नास्तिका आत्माभावं प्रतिपाद्य विरूपं नानाप्रकारं रूपं स्वरूपं येषां ते, तथा कर्मसमारम्भाः सावद्यानुष्ठानरूपाः पशुघातमांसभक्षणसुरापानतिलपीडनाऽऽदिकाः, तैर्विरूपैर्नानाविधैः कर्मसमारम्भैः कृषीबलानुष्ठानाऽऽदिभिर्विरूपकान् कामभोगान् समारभन्ते समाददति तदुपभोगार्थमिति ॥ १७ ॥

साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिमतमुपसंजिहीर्षुः प्रस्तावमारचयन्नाह-

एवं एगे पागब्भिया णिक्खम्म मामगं धम्मं पन्नवेंति, तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोयमाणा साहु सुयक्खाए समणे ति वा माहणे ति वा कामं खलु आउसो! तुमं पूययामि। तं जहा-असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा, तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु, तत्थेगे पूयणाए निकाइंसु ॥ १८ ॥

मूर्तिमतः शरीरादन्यदमूर्तं ज्ञानमात्मन्यनुभूयते, तच्च चामूर्तेनैव गुणिना ज्ञायमतः शरीरात्पृथग्भूत आत्माऽमूर्तो ज्ञानवत्त्वाधारभूतोऽस्तीति। न चात्माऽभ्युपगममन्तरेण तज्जीवतच्छरीरवादिनः किञ्चिद्विचार्यमाणं सम्यगुपपद्यते। दृश्यन्ते च तथाभूत एव शरीरे म्रियमाणा मृता इव। कुतः समागतोऽहं, कुत्र चेदं शरीरं परित्यज्य यास्यामि?, तथेदं मे शरीरं पुराणं कर्मत्यथमाधिकाः शरीरात्पृथग्भावेनाऽऽत्मानं संप्रत्यया अनुभूयन्ते। तदेवमपि स्वानुभवसिद्धेऽप्यात्मनि एके केचन नास्तिकाः पृथक् जीवास्तित्वमश्रद्दधानाः प्रागल्भिकाः प्रागल्भ्येन चरन्ति, धृष्टतामापन्ना अभिदधति। तद्यथा-अन्यात्मा शरीरात्पृथग्भूतः स्यात्ततः संस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शाद्यन्यतमगुणोपेतः स्यात्। न च ते वराकाः स्वदर्शनानुरागान्धतमसाऽऽवृतदृष्टय एतद्विदन्ति। तथा-मूर्तस्यायं धर्मो, नामूर्तस्य, न हि ज्ञानस्य संस्थानाऽऽदयो गुणाः संभाव्यन्ते। न च तत्सद्भावेऽपि नास्तीत्येवमात्माऽपि संस्थानाऽऽदिगुणरहितोऽपि विद्यत इति। एवं युक्तियुक्तमप्यात्मानं धाष्टर्यादनभ्युपगच्छन्ति। तथा निष्क्रम्य च स्वदर्शनाभिहितां प्रव्रज्यां गृहीत्वा नाऽन्यो जीवः शरीराद्विद्यत इत्येवं यो धर्मो मदीयोऽयमित्येवमभ्युपगम्य स्वतोऽपरेषां च तं तथाभूतं धर्मं प्रतिपादयन्ति; यद्यपि लोकायतिकानां नास्ति दीक्षाऽऽदिकं, तथाऽप्यपरेण शाक्याऽऽदिना प्रव्रज्याविधानेन प्रव्रज्य पश्चाल्लोकायतिकमधीयानस्य तथाविधपरिणतेस्तदेवाभिरञ्जितमनो मामकोऽयं धर्मः स्वयमभ्युपगच्छन्त्यन्येषां च प्रज्ञापयन्ति। यदि वा-नीलपटाऽऽद्यभ्युपगन्तुः कश्चिदस्येव प्रव्रज्याविशेष इत्यदोष इति। साम्प्रतं तत्प्रतिज्ञापितार्थाभ्युपगमपारमाधिकृत्याऽऽह-(तं सद्दहमाणे इत्यादि) तं नास्तिकधर्मं प्रतिपन्नं धर्मं विषयिणामनुकूलं श्रद्दधानाः स्वमतावलिप्तायेन रोचयन्तस्तथा प्रतिपादयन्तोऽवितथभावेन गृह्णन्तस्तथा तत्र रुचिं कुर्वन्तस्तथा साधु शोभनमेनधर्मं स्वाख्यातं यथाऽवस्थितो भवतो धर्मोऽन्यथा सति हिंसाऽऽदिष्वप्रवर्तमानाः परलोकभयात्तद्व्यसावशेषु मांसमद्याऽऽदिष्वप्रवृत्तिं कुर्वन्तो मनुष्यजन्मफलवर्जिता भवेयुः। ततः शोभनमकारि भवता हे श्रमण! ब्राह्मण! इति वा यदयं तज्जीवतच्छरीरधर्मोऽस्माकमावेदितः, काममिष्टं तदस्माकं धर्मकथनम्। खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे। हे आयुष्मन्! त्वया वयमभ्युद्धृताः कार्पटिकैस्तीर्थिकैर्वञ्चिताः स्युरिति। तस्मादुपकारिणं त्वां भवन्तं पूजयामः, वयमपि कञ्चिदायुष्मतो भगवतः प्रत्युपकारं करोमि। तदेव दर्शयति। तद्यथा-(असणेत्यादि) सुगमम्। यावत् पादप्रोञ्छनकमिति। तत्रैके पूर्वोक्तया पूजया पूजार्थं वा (समाउट्टिंसु त्ति) समावृत्ताः प्रह्वीभूतास्ते राजानः पूजां प्रति प्रवृत्तास्तद्धर्माद्वा पूजामभ्युपपन्नाः सन्तस्तं राजादिकं स्वदर्शनप्रतिपन्नमेवैकेचन स्वदर्शनस्थित्या हिंसाऽनृतप्राणिपरिग्रहादिषु निकाचितवन्तो नियमितवन्तः। तथाहि-भवतेदं तच्छरीरमित्यभ्युपगन्तव्यमन्यो जीवोऽन्यच्च शरीरमित्येतत् परित्याज्यम्, अनुष्ठानमपि एतदनुरूपमेतद्विधेयमित्येवं निकाचितवन्त इति ॥ १८ ॥

पुव्वमेव तेसिं णायं भवति-समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो पावं कम्मं णो करिस्सामि समुट्ठिए ते अप्पणो अप्पडिविरया भवंति, सयमाइयंति, अन्ने वि आदियावेंति, अन्नं पि आयंतं समणुजाणंति, एवमेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसवसट्टा ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति, ते णो परं समुच्छेदेंति, णो अन्नाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदेंति, पहीणा पुव्वसंजोगं आयरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसन्ना इति पढमे पुरिसजाए तज्जीवतच्छरीरए त्ति आहिए ॥ १९ ॥

तत्र ये भागवताऽऽदिकं लिङ्गमभ्युपगताः पश्चाल्लोकायतमन्यश्रवणेन लोकायताः संवृत्ताः, तेषामादौ प्रव्रज्याग्रहणकाल एवैतत्परिज्ञातं भवति। तद्यथा-परित्यक्तपुत्रकलत्राः श्रमणा यतयो भविष्यामः, अनगारा गृहरहिताः, तथा निष्किञ्चनाः किञ्चन द्रव्यं तद्रहिताः, तथाऽपशवो गोमहिष्यादिरहिताः, परदत्तभोजिनः स्वतः पचनपाचनाऽऽदिक्रियारहितत्वात्, भिक्षणशीला भिक्षवः, किमुक्तं भवति-अन्यदपि यत्किञ्चित्पापं सावद्यं कर्मानुष्ठानं तत्सर्वं न करिष्यामीत्येवं सम्यगुत्थानेनोत्थाय पूर्वं पश्चाल्लोकायतिकमुपगता आत्मनः स्वतः कर्मभ्योऽप्रतिविरता भवन्ति। विरत्याभावेऽपि यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयति। पूर्वं सावद्याऽऽरम्भाभिवृत्तिं विधाय नीलपटाऽऽदिकं च लिङ्गमास्थाय च स्वयमात्मना सावद्यमनुष्ठानमाददते स्वीकुर्वन्ति, अन्यानप्याददापयन्ति ग्राहयन्ति, अन्यमप्याददानं परिग्रहं स्वीकुर्वन्तं समनुजानन्ति। एवमेव पूर्वोक्तप्रकारेण स्त्रीप्रधानाः क्रियोपलक्षिता वा काम्यन्त इति कामाः, भुज्यन्त इति भोगास्तेषां सातबहुलतयाऽजितेन्द्रियाः सन्तः, तेषु कामभोगेषु मूर्च्छिता एकीभावतामापन्ना गृद्धाः काङ्क्षावन्तो ग्रथिता अवबद्धा अध्युपपन्ना आधिक्येन भोगेषु, लुब्धा रागद्वेषार्त्ता रागद्वेषवशगाः कामभोगान्धा वा, त एवं कामभोगेषु आसक्ताः सन्तो नात्मानं संसारात्कर्मपाशाद्वा समुच्छेदयन्ति मोचयन्ति, नाऽपि परं सदुपदेशदानतः कर्मपाशावपाशितं समुच्छेदयन्ति कर्मबन्धात् त्रोटयन्ति, नाप्यन्यान् दशविधप्राणधारिणः प्राणान् प्राणिनः, तथा बाऽभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च भूतानि, तथा वा आयुष्कधारणाज्जीवास्तान्, तथा सत्त्वांस्तथाविधवीर्यान्तरायक्षयोपशमाऽऽपादितवीर्यगुणोपेतास्तान् समुच्छेदयन्ति, असदभिप्रायप्रवृत्तत्वात्। ते चैवंविधास्तज्जीवतच्छरीरवादिनो लोकायतिका अजितेन्द्रियतया कामभोगावसक्ताः पूर्वसंयोगात्पुत्रदाराऽऽदिकात्प्रहीणाः प्रभ्रष्टाः, आराद् याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो मार्गः सदनुष्ठानरूपः, तमसंप्राप्ता इत्येवं पूर्वोक्तया नीत्या ऐहिकाऽऽमुष्मिकलोकद्वयसदनुष्ठानभ्रष्टा

अन्तराल एव भोगेषु विषयास्तिष्ठन्ति । न विशिष्टं पारलौकिकं तेनाऽऽदिकं कार्यं प्रसाधयन्तीति। अयं च प्रथमः पुरुषस्तज्जीवतच्छरीरवादी परिसमाप्त इति ॥ १६ ॥ सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

तज्जमाण-तर्जयत्-त्रि०। भर्त्सयत्, "दे! यमसेवं यवनं दुस्त्वेसेवं भीपयति,विपा० १ श्रु० १ अ०।

तडाग-तडाग-पुं०। तड-नि०। "चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ" ॥ ८। ४। ३२५ ॥ इति चूलिकापैशाचिके भाषायां डकारस्य टकारः। औ०।

तडाक-पुं०। तडमकति। 'अक' वक्रगतौ, अण्, तडागे,जलाशयभेदे, वाच०।

तडाक-पुं०। ताड्यते आहन्यते तटोऽनेन।'तड'-आकन्। नि०। जलाऽऽशयभेदे, तडागे च। वाच०।

तट्टिया-तट्टिका-स्त्री०। बोटिकानां धर्मोपकरणभेदे, आचा० १ श्रु० ४ अ० ५ उ०।

तट्टी-देशी-वृतौ, दे० ना० ५ वर्ग १ गाथा।

तट्ठ-तटस्थ-त्रि०। तस्मिन् तिष्ठतीति तटस्थः। तस्मिन् स्थिते, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

तट्टु-न०। घट्टिने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

तट्ठा-त्वष्टृ-पुं०। चित्रानक्षत्राधिष्ठातरि देवे, अनु०। "दो तट्ठा।" स्था० २ ठा० ३ उ०। जं०। पा०। स्वयुरपत्ये, वृत्रासुरे, पुं०। संज्ञानाम्न्यां सूर्यपत्न्याम्, स्त्रियां ङीप्। त्वष्टादेवताऽधिष्ठातृचित्रानक्षत्रे, वाच०।

तड-तट-त्रि०। तट-अच्। वाच०। कूले, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। नि० चू०। समीपवर्तिनोऽभ्युन्नतप्रदेशे, रा०। नद्यास्तीरे च। अमरमते-स्त्रियां ङीप्। वाच०।

तड-धा०। उच्छ्राये, भ्वादि०। वाच०।

तड-धा०। आहतौ, वाच०।

तन-धा०। विस्तृतौ, तना०-उभ०-सक०-सेट्। वाच०। "तनेस्तड-तड्ड-तड्डव-विरल्लाः" ॥ ८। ४। १३७ ॥ इतितनधातोस्तड इत्यादेशः। तडइ। पक्षे-तणइ। प्रा० ४ पाद।

तडउडा-तडउडा-स्त्री०। आडल्याम्, जं० १ वक्ष०। आडलिवृक्षे, दे० ना० ५ वर्ग ५ गाथा।

तडउडाकुसुम-तडउडाकुसुम-न०। आडलीपुष्पे, जी० ३ प्रति० ४ उ०। आ० म०।

तडतडण-स्फुट-न०। स्फुटने, "तडतडस्स भज्जंति भज्जणे कलंबुवालुगा पट्टे।" (तडतडि त्ति) स्फुटतः। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

तडतडंत-तडतडत्-त्रि०। तडतडेत्येवंध्वनिं विदधाने, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०।

तडफडिअ-देशी-परितश्चलिते, दे० ना० ५ वर्ग ९ गाथा।

तडमड-देशी-क्षुभिते, दे० ना० ५ वर्ग ७ गाथा।

तडागमह-तडागमख-पुं०। तडागयज्ञे, "अगडमहेसु वा तडागमहेसु वा दहमहेसु वा।" आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ०।

तडितडिय-तडित्तडित्-स्त्री०। विस्तारितविद्युति, औ०।

तडिय-तडित्-स्त्री०। ताडयत्यभ्रम्। चुरा०-तड-णिच्-इत्वः। वाच०। विद्युति, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

तडी-तटी-स्त्री०। "रो लः" ॥ ८। १। २०२ ॥ इति क्वचित् भवतीत्युक्तेरस्य लो न भवति। प्रा० १ पाद। नद्यादीनां तटेषु, नि० चू० १ उ०। विच्छिन्नटङ्कायाम्, "आउत्ते दीयाती, तडिसंकमणबाहिसंथारे।" नि० चू० १ उ०।

तण-तृण-न०। तरन्तीति तृणानि औणादिको नक् ह्रस्वत्वं च। उत्त० २ अ०। "ऋतोऽत्" ॥ ८। १। १२६ ॥ इति आदेर्ऋकारस्याऽत्वम्। प्रा० १ पाद। कुशाऽऽदौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। सूत्र०। जं०। उत्त०।

से किं तं तणा ? । तणा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा-
"सेडिय गंतिय होत्तिय, दब्भकुसे पव्वए य पोंडइला।
अज्जुण असाढए रो-हियंसि सुयवेएँ खीरज्जुसे ॥१॥
एरंडे कुरुविंदे, करकरें मुंजे तहा विभंगू य।
महुरतण लुरय सिप्पिय, बोधव्वे सुंकलितणे य॥ २ ॥"
जे यावन्ने तहप्पगारा। सेत्तं तणा। प्रज्ञा० १ पद।

दर्भवीरणाऽऽदौ, दशा० ८ अ०। भ०। आचा०। कुशवर्चकाऽऽदौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। कुशकुजार्जुनाऽऽदौ, जी० १ प्रति०। दूर्वाऽऽदौ, प्रज्ञा० १ पद। दर्भकुशाऽऽदौ, भ० १५ श०। "कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं।" उत्त० १२ अ०। कुशदर्भवर्चकार्जुनसुरभिकुरुविन्दाऽऽदौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। "तृण" जलके, धा०। वाच०। उत्पले, दे० ना० ५ वर्ग १ गाथा।

तन-धा०। विस्तृतौ, तना०। उपकारे, वाच०।

तणग-तृणक-न०। तृणविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

तणगहण-तृणग्रहण-न०। तृणानां व्रीहिपलालाऽऽदीनां ग्रहणं तृणग्रहणम्। व्रीहिपलालाऽऽदेरादाने, प्रव० ६१ द्वार।

तणग्ग-तृणाग्र-न०। तृणस्योपरितने पुष्पिते भागे,नि०चू०१उ०।

तणघर-तृणगृह-न०। दर्भाऽऽदितृणमये गृहे, व्य० ४ उ०।

तणच्छाह-तृणच्छाया-स्त्री०। संकुचच्छायायाम्, अनु०।

तणट्ठाण-तृणस्थान-न०। दर्भाऽऽदितृणशालायाम्, यत्र दर्भाऽऽदीनि स्थाप्यन्ते। नि० चू० १ उ०।

तणपणग-तृणपञ्चक-न०। तृणानि च पञ्चोपयोगीनि। ध० २ अधि०।

तणपणगं पुण भणियं, जिणेहिँ जियरागदोसमोहेहिं।
सालीवीहीकोद्दव-रालयऽरन्नतणाहिं च ॥ ६७२ ॥

तृणपञ्चकं पुनर्भणितं जिनैर्जितरागद्वेषमोहैर्यथा शालिव्रीहिकोद्रवरालकसंबन्धीनि तृणानि पलालप्रायाणि अरण्ये अरण्यविषयाणि च। तत्र शालयः कलमशालिप्रभृतयः, व्रीहयः षष्टिकाऽऽदयः, कोद्रवो धान्यविशेषः प्रतीतः, रालकः कङ्गुविशेषः, आरण्यतृणानि श्यामाकप्रमुखाणि ॥ ६७२ ॥ प्रव०८२द्वार। जीत०। दशा०। पा०। आव०। नि० चू०। बृ०। (तृणपञ्चकाऽऽदिषु दोषाः, तथा प्रायश्चित्तं च 'झुसिर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६७५ पृष्ठे गतम्)

तणफास-तृणस्पर्श-पुं० । तृणानां कुशाऽऽदीनां स्पर्शः । आ-चा० १ श्रु० ए अ० २ उ० । सप्तदशतमे परीषहे, प्रव० ५ संथा० द्वार । आचा० । उत्त० ।

तणफासपरीसह-तृणस्पर्शपरीषह-पुं० । तरन्तीति तृणानि वा औणादिको नक्प्रत्ययो, ह्रस्वत्वं च । तेषां स्पर्शस्तृणस्पर्शः, स एव परीषहस्तृणस्पर्शपरीषहः । उत्त० २ अ० । अशुषिरतृणस्य दर्भाऽऽदेः परिभोगोऽनुज्ञातो हि गच्छनिर्गतानां, गच्छवासिनां यतीनां च, तत्र येषां शयनमनुज्ञातं ते तान् दर्भान् भूमावीष-दार्द्रताऽऽदिगुणकायामास्तीर्य संस्तारोत्तरपट्टकौ च दर्भाणामुपरि विधाय शेरते । चौरापहृतोपकरणो वाऽत्यन्तजीर्णत्वात् प्रतनु-संस्तारकपट्टो वा तदुपरि शेते, तत्र च शयानस्य यद्यपि क-ठिनतीक्ष्णाग्रभागैस्तृणैरत्यन्तपीडा समुपजायते, तथापि पक्व-दर्भाऽऽदितृणस्पर्शं सम्यक् सहेतेति । प्रव०८६ द्वार । आव० । कादाचित्कतृणग्रहणे तत्संस्पर्शजन्यदुःखाधिसहने, भ० ८ श० ८ उ० । प्रव० । तथा चोक्तम्-" अहृतागपात्रचेलत्वे, कादा-चित्कं तृणाऽऽदिषु । तत्संस्पर्शोद्भवं दुःखं, सहेदिच्छेन्न तान्मृदून् ॥ १ ॥ " आ० म० १ अ० २ खण्ड । " अतृणाल्पपात्रचे-लत्वे, संस्तृतेषु तृणाऽऽदिषु । सहेत दुःखं तत्स्पर्श-भवमि-च्छेन्न तान्मृदून् " ॥१॥ ध० ३ अधि० ।

एतदेव सूत्रकृदप्याह-

नचा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्टिए ।
अदीणो थावए पन्नं, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥ ३२ ॥
तेगिच्छं नाभिनंदिज्जा, संचिक्खऽत्तगवेसए ।
एवं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे ॥ ३३ ॥
अचेलगस्स लूहस्स, संजयस्स तवस्सिणो ।
तणेसु सयमाणस्स, होज्जा गायविराहणा ॥ ३४ ॥

अचेलकस्य रूक्षस्य संयतस्य तपस्विन इति प्राग्वत् । तर-न्ति तृणानि दर्भाऽऽदीनि तेषु, शयानस्य, उपलक्षणत्वादासी-नस्य वा भवेत्, गात्रस्य शरीरस्य विराधना विदारणा गात्रवि-राधना, अचेलकत्वाऽऽदीनि तु तपस्विविशेषणानि, मा भूत्सचे-लस्य तृणस्पर्शासंभवेनारूक्षस्य, तत्संभवेऽपि स्निग्धत्वेनासं-यतस्य च शुषिरहरिततृणोपादानेन तथाविधगात्रविराधना-या असंभव इति ।

ततः किमित्याह-

आयवस्स निवाएणं, तिउला हवइ वेयणा ।
एवं नच्चा न सेवंति, तंतुजं तणतज्जिया ॥ ३५ ॥

आतपस्य घर्मस्य नितरां पातो निपातः, तेन (तिउल त्ति) सूत्रत्वात्तोदिका । यद्वा-त्रीन् प्रस्तावाद् मनोवाक्कायान् विना-शित्वात्तुलाऽऽदीनां दलयतीव स्वरूपचलनेन त्रिदुला । आद्यन्तरतस्तु-अतुला विपुला वा, भवति वेदना । एवं च किमित्याह-एतदनन्तरोक्तं, पाठान्तरत एवं, ज्ञात्वा न सेवन्ते न भजन्ते, आस्तरणायेति गम्यते । तन्तुभ्यो जातं तन्तुजम्, पठ्यते च-(तंतयं ति) तत्र तन्त्रं वेमविलेखन्यादिकमिकाऽऽदि, तस्माज्जातं तन्त्रजम्, उभयत्र वस्त्रं,कम्बलो वा, तृणैस्तर्जिता नि-र्भर्त्सितास्तृणतर्जिताः । किमुक्तं भवति ?-यद्यपि तृणैरत्यन्ताविलि-खितशरीरस्य रविकिरणसंपर्कसमुत्पन्नस्वेदवशतः क्षतक्षार-निक्षेपकल्पेव पीडोपजायते, तथाऽपि-

" प्रदीप्ताङ्गारकल्पेषु, वज्राङ्कुरस्थलाग्निषु ।
कूजन्तः करुणं केचित्, दह्यन्ते नरकाग्निना ॥ १ ॥
अग्निभीताः प्रधावन्तो, गत्वा वैतरणीं नदीम् ।
शीततोयामिमां ज्ञात्वा, क्षाराम्भसि पतन्ति ते ॥ २ ॥
क्षारदग्धशरीराश्च, मृगवेगोत्थिताः पुनः ।
असिपत्रवनं यान्ति, छायायां कृतबुद्धयः ॥ ३ ॥
शक्त्यसिप्रासकुन्तैश्च, खड्गतोमरपट्टिशैः ।
छिद्यन्ते कृपणास्तत्र, पतद्भिर्वातकम्पितैः ॥ ४ ॥ "

इत्यादिका इतरात्र नरकेषु परवशेन मयाऽनुभूता वेदनाः,त-त्किमियमिति ?, तृणांश्च सात्ताभः स्वकशस्य सम्यक् सहन इति परिभावयन्तो न तत्परिजिहीर्षया वस्त्रं कम्बलाऽऽदिकमुपाद-दते । जिनकल्पिकापेक्षं चैतत्, स्थविरकल्पिकाश्च सापेक्षसंयम-त्वात् सेवन्तेऽपीति सूत्रार्थः । उत्त० २ अ० ।

अत्र संस्तारद्वारमनुसरन् " विउला भवति वेयणा " इति सूत्रसूचितमुदाहरणमाह-

सावत्थीए कुमारो, भद्दो सो चारिओ त्ति वेरज्जे ।
खारेण तच्छियंगो,तणफासपरीसहं विसहे ॥५२॥उत्त०नि० ।

श्रावस्त्यां कुमारो भद्रः, स चारिकश्चर इति वैराज्ये क्षारेण तक्षिताङ्गः तृणस्पर्शपरीषहं (विसह त्ति) विषहते, स्मेति शेषः । इति गाथार्थः ॥५२॥ भावार्थस्तु संप्रदायादवसेयः । स चायम्-" सावत्थीए नयरीए जियसत्तुस्स पुत्तो भद्दो नाम, सो निव्विण्णकामभोगो तहारूवाणं थेराणमंतिए पव्वइतो, कालेण एगल्लविहारपडिमं पडिवन्नो, सो विहरंतो वइरज्जे चारिओ त्ति काऊण गहितो, सो य पंतावेऊण खारेण तच्छिओ, सो दब्भेहिं वेढेऊण मुक्को, सो दब्भेहिं लोहियसंमीसिएहिं दुक्खा तिज्जंतो सम्मं सहति ।" एवं शेषसाधुभिरपि सम्यक् सोढव्य-स्तृणस्पर्शपरीषहः । उत्त० २ अ० ।

तणफासपरीसहविजय-तृणस्पर्शपरीषहविजय-पुं० । तृणस्प-र्शपरीषहविजये, पं० सं० । स चैवम्-गच्छवासिनां गच्छनिर्ग-तानां वा शुषिरस्य दर्भाऽऽदेस्तृणस्य परिभोगः समनुज्ञातो भगवता, तत्र येषां दर्भाऽऽदितृणानामुपरि शयनमनुज्ञातं गुरुभिः, ते दर्भाऽऽदितृणानामुपरि संस्तारकोत्तरपट्टौ निधाय शेरते । अथवा-चौरापहृतोपकरणो यदि वाऽतिजी-र्णतया व्यपगतसंस्तारकोत्तरपट्टो दर्भाऽऽदितृणान्यास्तीर्य शेते, तत्र च तृणस्पर्शसम्यगधिसहनं स तृणस्पर्शपरीषहविजयः । पं० सं० २ द्वार ।

तणभार-तृणभार-पुं० । तृणभारके, भ० ८ श० ए उ० । ब-ध्यमानतृणसमूहे, वाच० ।

तणमुद्दिआ-देशी-अङ्गुलीयके, दे० ना० ५ वर्ग ९ गाथा ।

तणय-तनय-पुं० । तनोति कुलम् । तन्-कयन् । पुत्रे,दुहितरि, चक्रकुल्यायाम्,लतायाम्,घृतकुमार्यां च । स्त्री०-टाप् । वाच० । आ० म० ।

तणरासी-देशी-प्रसारिते, दे० ना० ५ वर्ग ६ गाथा ।

तणवणस्सइ-तृणवनस्पति-पुं० । बादरवनस्पतिभेदे, भ० ७ श० ६ उ० ।

तणवणस्सइकाइय-तृणवनस्पतिकायिक-पुं० । तृणवद्वनस्प-तयस्तृणवनस्पतयः । स्था० १० ठा० । बादरवनस्पतिकायि-कभेदे,भ० ७ श० ६ उ० ।

दसविहा तणवणस्सइकाइया पन्नत्ता । तं जहा–मूले, कंदे, जाव पुप्फे, फले, बीए ॥

(दसेत्यादि) तृणवद्वनस्पतयस्तृणवनस्पतयः, तृणसाधर्म्यं च बादरत्वेन, तेन सूक्ष्माणां न दशविधत्वमिति । मूलं जटाः कन्दः स्कन्धाऽधोवर्ती । यावत्करणात्–" खंधे " इत्यादीनि पञ्च दृश्यानि । तत्र स्कन्धः स्थुडमिति प्रतीतं, त्वक् वल्कः, शाला शाखा, प्रवालमङ्कुरः, पत्रं पर्णं, पुष्पं कुसुमं, फलं प्रतीतं,बीजं मिञ्जेति दशस्थानकाधिकार एव । स्था० १० ठा० ।

इदमपरमाह–

तिविहा तणवणस्सइकाइया पन्नत्ता । तं जहा–संखेज्जजीविया, असंखेज्जजीविया, अणंतजीविया ॥

(तिविहेत्यादि) तृणवनस्पतयो, बादरा इत्यर्थः । संख्यातजीविकाः सङ्ख्यातजीवाः,यथा नालिकाबद्धकुसुमानि, जात्यादीनीत्यर्थः। असङ्ख्यातजीविकाः–यथा निम्बाम्राऽऽदीनां मूलकन्दस्कन्धत्वक्शाखाप्रवालाः, अनन्तजीविकाः पनकाऽऽदय इति । इह प्रज्ञापनासूत्राण्येवमित्थम्–

"जे केइ नालियाबद्धा,पुप्फा संखेज्जजीविया ।
णिहुया अणंतजीवा, जे यावन्ने तहाविहा ॥ १ ॥
पउमुप्पलनलिणाणं, सुभगसोगंधियाण य ।
अरविंदकोकणाणं, सयवत्तसहस्सपत्ताणं ॥ २ ॥
विंटं बाहिरपत्ता, य कन्निया चेव एगजीवस्स ।
अब्भिंतरगा पत्ता, पत्तेयं केसरं मिंजा " ॥ ३ ॥

तथा–

"लिंबं व जंबु कोसंब–सालअंकोल्लपीलुसल्लूया ।
सल्लइमोयइमालुय–बउलपलासे करंजे य " ॥ ४ ॥ इत्यादि ।

"एएसि णं मूला वि असंखिज्जजीविया,कंदा,वि,खंदा वि,तया वि,साला वि,पवाला वि, पत्ता पत्तेयजीविया, पुप्फा अणेगजीविया, फला एगट्ठिय त्ति ।" अनन्तरं वनस्पतय उक्ताः, ते च जलाऽऽश्रया बहवो भवन्तीति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

वनस्पतिमेव प्ररूपयन्नाह–

चउव्विहा तणवणस्सइकाइया पन्नत्ता । तं जहा–अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया ॥

(चउव्विहेत्यादि) वनस्पतिः प्रतीतः, स एव कायः शरीरं येषां ते वनस्पतिकायाः,त एव वनस्पतिकायिकाः, तृणप्रकारा वनस्पतिकायिकास्तृणवनस्पतिकायिकाः, बादरा इत्यर्थः । अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः कोरण्टकाऽऽदयः, अग्रे वा बीजं येषां ते अग्रबीजा व्रीह्यादयो, मूलमेव बीजं येषां ते मूलबीजा उत्पलकन्दाऽऽदय', एवं पर्वबीजा इक्ष्वादयः, स्कन्धबीजाः शल्लक्यादयः, स्कन्धः थुडमिति । एतानि च सूत्राणि नान्यव्यवच्छेदपराणि, तेन बीजरुहसम्मूर्च्छनजाऽऽदीनां नाभावो मन्तव्यः, सूत्रान्तरविरोधादिति । अनन्तरं वनस्पतिजीवानां चतुःस्थानकमुक्तम् । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

पंचविहा तणवणस्सइकाइया पन्नत्ता । तं जहा–अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया, बीयरुहा ।

(तणवणस्सइ त्ति) तृणवनस्पतयो बादरवनस्पतयोऽग्रबीजाऽऽदयः क्रमेण कोरण्टका उत्पलकन्दा वंशाः शल्लक्यो शालयादयः । व्याख्यातं चैतत्प्रागिवेति । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

छव्विहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता । तं जहा–अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया, बीयरुहा, संमुच्छिमा ।

तृणवनस्पतिकायिका बादरा इत्यर्थः । मूलबीजा उत्पलकन्दाऽऽदय इत्यादि व्याख्यातमेव;नवरं संमूर्च्छिमा दग्धभूमौ बीजाभावेऽपि ये तृणाऽऽदय उत्पद्यन्ते, यथाऽधिकृताध्ययनाधकारं प्ररूपिता जीवाः । स्था० ६ ठा० ।

तणवरंडी–देशी–उडुपे, दे० ना० ५ वर्ग ७ गाथा ।

तणविंटय–तृणवृन्तक–पुं० । त्रीन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

तणवेंटय–तृणवृन्तक–पुं० । ' तणविंटय ' शब्दार्थे, प्रज्ञा० १ पद । जा० ।

तणसूअ–तृणशूक–पुं० । न० । तृणाग्रे, भ० ८ श० ६ उ० ।

तणसोल्लिया–तृणमोल्लिका–स्त्री० । मल्लिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । जं० ।

तणसोल्ली–देशी–मल्लिकायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ६ गाथा ।

तणहार–तृणहार–पुं० । त्रीन्द्रियजीवविशेषे, जी० १ प्रति० । उत्त० । प्रज्ञा० ।

तणु–तनु–स्त्री० । " स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे " ॥ ८ । ४ । ३२९ ॥ इति अपभ्रंशे स्वरस्य स्वर एव । प्रा० ४ पाद । देहे, आव० ४ अ० । कर्म० । प्रव० । तं० । आ० म० । मूर्त्तौ, वाच० । सूक्ष्मे, त्रि० । कल्प० २ क्षण । प्रश्न० । तं० । औ० । स० । अल्पे,विरले, कृशे च । स्त्रियां वा ङीप् । तन्वी । तनुः । वाच० । लघुपरिमाणे, न० । जी० २ प्रति० ।

तणुअ–तनुक–त्रि० । तनुरेव तनुकः । कृशे, आव० ५ अ० । स्वरूपेण कृशे, पञ्चा० १६ विव० । स्तोके, जीत० । मृजरे, भ० १५ श० । लघुभुजगे, ज्ञा० १ श्रु० १२ अ० ।

तनुज–त्रि० । तनुः शरीरं, तस्माज्जातस्तनुजः । उत्त० १४ अ० । शरीरादुत्पन्ने, उत्त० १४ अ० ।

तणुअंत–तन्वन्त्र–न० । सूक्ष्मान्त्रे, " तणुयंते तेण पासवणे परिणमइ । " तेन प्रस्रवणं मूत्रं परिणमति । तं० ।

तणुअट्ठ–तन्वष्ट–न० । तनुशब्देनोपलक्षितमष्टकम्–" तणुवंगागिइसंघयणजाइगइखगइपुव्वी " इति गाथाऽवयवेन प्रतिपादितेऽष्टके, कर्म० । " तणुअट्ठ०–" (१६) तनुशब्देनोपलक्षितमष्टकम् " तणुवंगागिइ संघयण जाइ गइ खगइ पुव्वी " (३) इति गाथाऽवयवेन प्रतिपादितं तन्वष्टकम् । तत्र तनवस्तैजसकार्मणयोरपरावर्तमानासु प्रतिपादितत्वात् शेषा औदारिकवैक्रियाऽऽहारकरूपास्तिस्रः । उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः षट्,संहननानि षट्, जातयः पञ्च, चतस्रो गतयः, खगतिद्वयम्, आनुपूर्वीचतुष्कमिति । तन्वष्टकशब्देन च त्रयोविंशतिप्रकृतयो गृह्यन्ते । (१६) कर्म० ५ कर्म० ।

तणुई–तन्वी–स्त्री० । ईषत्प्राग्भारायास्तृतीये नाम्नि,स्था०८ ठा० ।

तणुकायकिरिय–तनुकायक्रिय–त्रि० । तन्वी उच्छ्वासनिःश्वासाऽऽदिलक्षणा कायक्रिया यस्य स तथा । सूक्ष्मोच्छ्वासनिःश्वासाऽऽदिलक्षणव्यापारवति, आव० ४ अ० ।

तणुग–तनुक–न० । शरीरे, अं० ३ वक्ष० । सूक्ष्मे,जं० २ वक्ष० ।

तणुजोग-तनुयोग-पुं० । तनोति विस्तारयत्यात्मप्रदेशानस्यामिति तनुरौदारिकाऽऽदिशरीरं, तथा सहकारिकरणभूतया योगस्तनुयोगः । तनुविषयो वा योगस्तनुयोगः । कर्म० ४ क०मं० । कायिके योगे, न मनोवाग्व्यापारानुपादानं करोति स कायिको योगः॥ "किं पुण तणुसंरंभे-ण जेण मुंचइ स वाइओ जोगो । मणइ स माणसोऽओ, तणुजोगो चेव य विभत्तो ॥१॥ " विशे० ।

तणुणामिय-तनुनामित-त्रि० । तनु कृशं नतं नम्रं तनुनतम् । ईषन्नम्रे, जं० २ वक्ष० ।

तणुणाम-तनुनाम-न० । तनोति जन्तुरात्मप्रदेशान् विस्तारयति यस्यां सा तनुः,तज्जनकं कर्मापि तनुः,सैव नाम तनुनाम । शरीरनाम्नि, कर्म० १ कर्म० ।

तणुणिद्द-तनुनिद्र-त्रि० । तन्वी स्तोका निद्रा यस्येति । अल्पनिद्राशीले, सू० १ उ० ।

तणुतणुइ-तनुतन्वी-स्त्री० । अतितनुत्वात्तनुतनुः । ईषत्प्राग्भारायामष्टम्यां नाम्नि, स्था० ८ ठा० ।

तणुपणग-तनुपञ्चक-न० । औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणलक्षणे, प्रव० ११९ द्वार ।

तणुवग्गणा-तनुवर्गणा-स्त्री० । तनूनामौदारिकाऽऽदिशरीराणां भेदाभेदपरिणामाभ्यां योग्यत्वाभिमुख्यास्तनुवर्गणाः । अथवा-वक्ष्यमाणनिश्रस्कन्धाभिस्कन्धद्वयस्य तनुर्देहः शरीरं मूर्तिरिति यावत्, तद्योग्यत्वाभिमुखा वर्गणा तनुवर्गणा । द्रव्यवर्गणाभेदे, आ०म०१ अ०१ खण्ड । (तद्वक्तव्यता 'वग्गणा' शब्दे)

तणुज-तनुज-पुं० । शरीरादुत्पन्ने पुत्रे, आ० क० । दुहितरि, स्त्री० । देहजातमात्रे, त्रि० । वाच० ।

तणुमाण-तनुमान-न० । शरीरप्रमाणे, प्रव० १ द्वार ।

पढमाए पुढवीए, नेरइयाणं तु होइ उच्चत्तं ।
सत्तधणु तिन्नि रयणी, छच्चेव य अंगुला पुन्ना ॥९१॥
सत्तमपुढवीए पुण, पंचेव धणुस्सयाइं तणुमाणं ।
मज्झिमपुढवीसु पुणो, अणेगहा मज्झिमं नेयं ॥९२॥

अवगाहते जीवोऽस्यामवगाहना,तनुः,शरीरमित्येकोऽर्थः । सा द्विधा--भवधारणीया, उत्तरवैक्रिया च । भवे नारकाऽऽद्यायुःसमाप्तिं यावदनवरतं धार्यतेऽसाविति भवधारणीया । स्वाभाविकशरीरग्रहणोत्तरकालं कार्यविशेषमाश्रित्य विविधा क्रियत इत्युत्तरवैक्रिया । एकैकाऽपि च द्विधा-जघन्या,उत्कृष्टा च । तत्र प्रथमं तावत् प्रतिपृथिव्युत्कृष्टा भवधारणीयाऽवगाहना प्रोच्यते-प्रथमायां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नारकाणामुत्कर्षतो भवधारणीयावगाहनोच्चत्वं सप्तधनूंषि,तिस्रो रत्नयः,त्रयो हस्ता इत्यर्थः । षडेव चाङ्गुलानि पूर्णानि,उत्सेधाङ्गुलेन सपादैकत्रिंशद्धस्ता इति भावः । सप्तमपृथिव्यां पुनः पञ्चैव धनुःशतान्युत्कर्षतो नारकाणां तनुमानं शरीरोच्छ्रयः,मध्यमपृथिवीषु शर्कराप्रभाऽऽद्यासु तमःप्रभापर्यन्तासु पुनर्मध्यमं प्रथमसप्तमपृथिवीनारकतनुमानयोर्मध्यवर्ति अनेकधा पूर्वपूर्वपृथिवीषु उत्तरोत्तरपृथिवीषु द्विगुणं २ तनुमानमुत्कर्षतो ज्ञातव्यम् । तथाहि-रत्नप्रभानारकतनुमानात् द्विगुणं शर्कराप्रभायां पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादशाङ्गुलानि देहमानम् । एवं वालुकाप्रभायामेकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्तः । पङ्कप्रभायां द्वाषष्टिधनूंषि द्वौ हस्तौ । धूमप्रभायां पञ्चविंशं धनुःशतम् । तमःप्रभायां सार्द्धे द्वे धनुःशते । तमस्तमःप्रभायां पञ्चैव धनुःशतानीति । प्रव० १७६ द्वार ।

तणुय-तनुक-त्रि० । अल्पभागे, श्लक्ष्णे (विशे०) प्रतरे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । सूक्ष्मे, वाच० ।

तनुज-पुं० । तनुः शरीरं तस्माज्जातस्तनुजः । प्रश्न० १४ अ० । पुत्रे, दुहितरि, स्त्री० । देहजातमात्रे, त्रि० । वाच० ।

तणुयर-तनुतर-त्रि० । अतिशयेन तनुस्तनुतरः । अतिसूक्ष्मे, मक्षिकापत्रादपि तनुतरः । आ०म० १ अ० २ खण्ड ।

तणुरागंत-तनुरागान्त-पुं० । सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकान्ते, क० प्र० १० प्रक० ।

तणुल्ल-तनुल-त्रि० । तनुं शरीरं सुखस्पर्शतया लाति अनुगृह्णातीति तनुलम् । तनसुखाऽऽदौ, जं० २ वक्ष० ।

तणुवाय-तनुवात-पुं० । तनुश्चासौ वातश्च तनुवातः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । घनवातस्याधःस्थायिनि विरलपरिणामोपेते बादरवायुकायिकभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । पिं० । स्था० ।

तणुवायवलय-तनुवातवलय-न० । तनुवातः स एव वलयमिव वलयं कटकम् । स्था० ३ ठा० ४ उ० । बादरवायुकायिकभेदे,प्रज्ञा० १ पद ।

तणुवी-तन्वी-स्त्री० । तन-उ-स्त्रियां वा ङीप् । वाच० । "तन्वीतुल्येषु " ॥ ८ । २ । ११३ ॥ इति अन्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उकारः । प्रा० २ पाद । कृशायाम् , वाच० ।

तणुसरीर-तनुशरीर-न० । सूक्ष्मशरीरे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तणूय-तनूज-पुं० । पुत्रे, आ० क० । दुहितरि, स्त्री० । देहजातमात्रे, त्रि० । वाच० ।

तणेण-तणेण-अव्य० । "तादर्थ्ये केहिं तेहिं-रेसि-रेसिं-तणेणाः" ॥ ८ । ४ । ४२५ ॥ इत्यपभ्रंशे तादर्थ्ये द्योत्ये 'तणेण' इति निपातः । प्रा० ४ पाद ।

तणेणी-देशी-तृणप्रकारे, दे० ना० ५ वर्ग ३ गाथा ।

तण्ण-तर्ण-पुं० । वत्से, जी० १ प्रति० ।

तार्ण-पुं० । तृणसंबन्धिनि, " किंची सकायसत्थं, किंची परकाय तदुभयं किंची । (२५) " किञ्चिच्छस्त्रं स्वकाय एव अग्निकाय एव अग्निकायस्य । तद्यथा-तार्णोऽग्निः पार्णाग्निनाशकम् । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

तण्णय-देशी-आर्द्रे, दे० ना० ५ वर्ग २ गाथा ।

तण्णिट्ठ-तन्निष्ठ-त्रि० । तदाश्रिते, आचा०१ श्रु०१ चू०२ अ०१ उ० ।

तण्णिवेसण-तन्निवेशन-त्रि० । सदा तन्निवासिनि, " तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तण्णिवेसणे "सन्निवेशनः सदा गुरुकुलनिवासी । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

तण्हज्झाण-तृष्णाध्यान-न० । तृष्णा तृषापरीषहोदयस्तस्या ध्यानम् । तृषार्तस्य मार्गे गच्छतो जनकसाधुसहितस्य क्षुल्लकस्येव तृषाध्याने, आतु० ।

तण्हा-तृष्णा-स्त्री० । तर्षस्तृष्णा । अभिलाषे, स्था० २ ठा० ३ उ० । दश० । प्रश्न० । भ० । पुद्गलभोगपिपासायाम्, प्रश्न० १ आश्र० । औ० । आव० । दश० । सूत्र० । अनुचितवाञ्छायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । तृषापरीषहोदये, आतु० ।

तएहागेद्धी–तृष्णागृद्धि–स्त्री० । तृष्णा च प्राप्तद्रव्यस्याव्ययेच्छा, गृद्धिश्चाप्राप्तस्य प्राप्तिवाञ्छा, तद्धेतुकं यादत्ताऽऽदानमिति तृष्णागृद्धिरुच्यते । गौणे अदत्ताऽऽदाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

तएहातिअ–तृष्णार्दित–त्रि० । पिपासिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तएहाऽभिहय–तृष्णाऽभिहत–त्रि० । तृषाऽभिहते, जी० ३ प्रति० ।

तत–तत–न० । वीणाऽऽदिके, स्था० ४ ठा० ४ उ० । प्रश्न० । जं० । जी० । आचा० । "ततं वीणाऽऽदिकं ज्ञेयं, विततं पटहाऽऽदिकम् ।" स्था० ५ ठा० ४ उ० । मृदङ्गपटहाऽऽदिके, जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० । आ० म० । वीणापटहाऽऽदिजनिते शब्दे, घनः शुषिरश्चेति स्पष्टीक्रियते । " तते दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–घणे चेव, सुसिरे चेव । " स्था० २ ठा० ३ उ० । आ० चू० ।

ततगइ–ततगति–स्त्री० । ततस्य ग्रामनगराऽऽदिकं गन्तुं प्रवृत्तत्वेन तच्चाप्राप्तत्वेन तदन्तरालपथे वर्त्तमानतया प्रसारितक्रमतया च विस्तारं गतस्य, गतिस्ततगतिः । गतिप्रवादभेदे, भ० ८ श० ७ उ० । ततगति–स्त्री० । ततो वा अविच्छिन्नग्रामाऽऽदेर्नगराऽऽदौ गतिः । प्राकृतत्वेन 'ततगइ' । गतिप्रवादभेदे, भ० ८ श० ७ उ० । "से किं तं ततगति ? । ततगति जेणं जं गामं वा० जाव सन्निवेसं वा संपट्ठिए असंपत्ते अंतरापहे य वट्टइ । से तं ततगति । " प्रज्ञा० १६ पद ।

ततगति–ततगति–स्त्री० । 'ततगइ' शब्दार्थे, भ० ८ श० ७ उ० ।

तच–तत्त्व–न० । परमार्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । उत्त० । दं० व० । परमार्थज्ञाने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । यथाऽवस्थितलोकस्वभावे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । यथाऽवस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदे, स्था० । परस्परनिरपेक्षसामान्यविशेषाऽऽत्मके (आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०) जीवाजीवपुण्यपापाऽऽस्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाऽऽत्मके, तथा धर्माधर्माऽऽकाशपुद्गलजीवकालाऽऽत्मके द्रव्ये, नित्यानित्यस्वभावे सामान्यविशेषाऽऽत्मकेऽनाद्यपर्यवसानचतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके च । सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

अमूनि नव तत्त्वानि–

जियअजियपुन्नपावा–ऽऽसवसंवरबंधमुक्खनिज्जरणा (१५)

जीवश्च, अजीवश्च, पुण्यं च, पापं च, आस्रवश्च, संवरश्च, बन्धश्च, मोक्षश्च, निर्जरणं च निर्जरा, एतानि नव तत्त्वानि । (कर्म०)

जीवाजीवतत्त्वे–

" जीवाऽजीवा पुन्नं, पावाऽऽसवसंवरो य निज्जरणा ।
बंधो मुक्खो य तहा, नव तत्ता हुंति नायव्वा ॥ १ ॥
एगविहदुविहतिविहा, चउव्विहा पंचछव्विहा जीवा ।
चेयणतसइयरेहिं, वेयगईकरणकाएहिं ॥ २ ॥
एगिंदिय सुहुमियरा, बितिचउसन्निअसन्निपंचिंदी ।
अपजत्ता पज्जत्ता, चउदसभेया भवइ जीवा ॥ ३ ॥
एगथावर सुहुमियरा, परित्तवणसन्निअसन्निविगलतियं ।
इय सोलस अपजत्ता, पज्जत्ता जीवबत्तीसा ॥ ४ ॥
धम्माधम्मागासा, य दव्वदेसप्पएसओ तिविहा ।
गइठाणऽवगाहगुणा, कालो य अद्धासमओ दसहा ॥ ५ ॥
खंधा देसपएसा, परमाणू पुग्गला चउह रूवी ।
जीवं विणा अचेयण, अकिरिया सव्वगय लोगं ॥ ६ ॥
कालो माणुसलोए, जियधम्माधम्म लोयपरिमाणा ।
सव्वे दव्वं छट्ठा, कालविणा अत्थिकाया य ॥ ७ ॥
धम्माधम्मागासा, कालो परिणामिए इहं भावे ।
उदयपरिणामिए पुग्गला उ सव्वेसु पुण जीवा ॥ ८ ॥ "

पुण्यतत्त्वम्–

" निम्मिणसुगइ उच्चं, सायं परघायआयवुज्जोयं ।
जिणऊसासनिमाणं, पणिंदियवइरउसभचउरंसं ॥ ९ ॥
तसदस चउवन्नाई, सुरमणुदुग पंचतणु उवंगतिगं ।
अगुरुलहु पढमखगई, बायालं पुन्नपगईओ ॥ १० ॥ "

पापतत्त्वम्–

" नाणंतराय पण पण, नव बीए नियअसायमिच्छत्तं ।
थावरदस नरयतिगं, कसायपणवीस तिरियदुगं ॥ ११ ॥
चउजाई वहघायं, अपढमसंघयणखगइसंठाणा ।
बयासीइमसुभवउरो, पावाऽऽपगईओ ॥ १२ ॥ "

आस्रवतत्त्वम्–

" इंदिय कसाय अव्वय, किरिया पण चउर पंच पणवीसा ।
जोगतिगं बायाला, आसवभेया इमा किरिया ॥ १३ ॥
काइय अहिगरणीया, पाउसिया पारितावणी किरिया ।
पाणाइवायरंभिय, परिग्गहिया मायवत्ती य ॥ १४ ॥
मिच्छादंसणवित्ती, अपच्चक्खाण दिट्ठि पुट्ठी य ।
पाडुच्चिय सामंतो–वणीय नेसत्थि साहत्थी ॥ १५ ॥
आणवणि वियारणिया, अणभोगा अणवकंखपच्चइया ।
अन्ना पओग समुदा–ण पिज्जदोसेरियावहिया ॥ १६ ॥ "

संवरतत्त्वम्–

" भावण चरित्त परिसह, समिई अइधम्म गुत्ति बारस उ ।
पंच दुवीसा पण दस, तिय संवरभेयसगवन्ना" ॥ १७ ॥

निर्जराबन्धनतत्त्वम्–

" बारसविहं तवो नि–ज्जरा उ अहवा अकामसकामा ।
पयइ ठिई अणुभाग–प्पएसभेया चउह बंधो ॥ १८ ॥
संतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च खित्त फुसणा य ।
कालो अंतरभागा, भावऽप्पबहू नवह मुक्खो ॥ १९ ॥
जिण अजिण तित्थ तित्था, गिहिअन्नसलिंगथीनरनपुंसा ।
पत्तेयसयंबुद्धा, बिबुद्धबोहिक्कणिक्का य ॥ २० ॥"

इति मोक्षतत्त्वम् । इत्युक्तं संक्षेपतो नव तत्त्वस्वरूपम् । कर्म० १ कर्म० । दर्श० । आ० । आचा० । (विशेषतो व्याख्यानं स्वस्वशब्दे) (सांख्यमते तु तत्त्वानि पञ्चविंशतिस्तानि " संख " शब्दे दर्शयिष्यन्ते)

नव सब्भावपयत्था पण्णत्ता । तं जहा–जीवा, अजीवा, पुण्णं, पावं, आसवो, संवरो, निज्जरा, बंधो, मुक्खो ।

(नव सब्भावेत्यादि) सद्भावेन परमार्थेन, अनुपचारेणेत्यर्थः । पदार्था वस्तूनि सद्भावपदार्थाः । तद्यथा–जीवाः सुखदुःखज्ञानोपयोगलक्षणाः । अजीवास्तद्विपरीताः, पुण्यं प्रकृतिरूपं कर्म, पापं तद्विपरीतं कर्मैव, आस्रूयते गृह्यतेऽनेनेत्यास्रवः, शुभाशुभकर्माऽऽदानहेतुरिति भावः । संवर आस्रवनिरोधो गुप्त्यादिभिः, निर्जरा विपाकात्तपसो वा कर्मणां देशतः क्षपणाद्, बन्ध आस्रवैरात्तस्य कर्मण आत्मना संयोगो मोक्षः, कृत्स्नकर्मक्षयादात्मनः स्वात्मन्यवस्थानमिति । ननु जीवाजीवव्यतिरिक्ताः पुण्यादयो न सन्ति, तथायुज्यमानत्वात् । तथाहि–पुण्यापे कर्मणी, बन्धोऽपि तदात्मक एव, कर्म च पुद्ग–

परिणामः,पुद्गलाश्चाजीवा इति; आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनाऽविरू-पः परिणामो जीवस्य,स चाऽऽत्मानं,पुद्गलाँश्च विरहय्य कोऽन्यः?; संवरोऽप्याश्रवनिरोधलक्षणो देशसर्वभेद आत्मनः परिणामो निवृत्तिरूपः,निर्जरा तु कर्मपरिशाटो जीवः कर्मणां यत्पार्थक्यमा-पादयति स्वशक्त्या, मोक्षोऽप्यात्मा समस्तकर्मविरहित इति । तस्माज्जीवाजीवौ तत्त्वावपदार्थावेवेति वक्तव्यम्। अत एवोक्तमिहै-व-"जदत्थि च णं लोए तं सव्वं दुप्पडियारं। तं जहा-जीव चेव, अजीव चेव त्ति?।"अत्रोच्यते-सत्यमेतावत्केवलं तु यावेव जीवाजीवप-दार्थौ सामान्येनोक्तौ, तावेवेह विशेषतो नवधोक्तौ, सामान्य-विशेषाऽऽत्मकत्वाद् वस्तुनः,तथेह मोक्षमार्गे शिष्यः प्रवर्तनीयो, न संग्रहाभिधानमात्रमेव कर्तव्यम्। स च यदेवमाख्यायते-यदु-ताऽऽश्रवो, बन्धो वा, बन्धद्वाराऽऽयाते च पुण्यपापे मुख्यानि त-त्त्वानि संसारकारणानि, संवरनिर्जरे च मोक्षस्य,तदा संसार-कारणत्यागेनेतरत्र प्रवर्तते, नाऽन्यथेत्यतः षट्कोपन्यासः, मु-ख्यसाध्यख्यापनार्थं च मोक्षस्येति । स्था० ९ ठा० ।

तत्त-त्रि० । अनुष्ठिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०। उष्णे, स्था० ८ ठा०। तं०। संतापे, औ०। संतप्ते, " तत्ततवणिज्जकणगव-यणा। " औ०।

तत्तओ-तत्त्वतस्-अव्य० । परमार्थवृत्तौ, अने० १ अधि० ।

तत्तंत-तत्त्वान्त-न०। आत्माऽऽदितत्त्वप्रसिद्धिरूपे, द्वा० २३ द्वा०।

तत्तगोयर-तत्त्वगोचर-त्रि० । तत्त्वविषये, द्वा० २१ द्वा० ।

तत्तचिंता-तत्त्वचिन्ता-स्त्री० । परमार्थचिन्तायाम, षो० १ विव०।

तत्तजला-तप्तजला-स्त्री० । जम्बूद्वीपे मेरोः पूर्वस्यां दिशि शी-ताया महानद्या दक्षिणभागस्थितायां स्वनामख्यातायामन्तर्न-द्याम्, स्था० ३ ठा० ४ उ० । " दो तत्तजलाओ । " स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

तत्तजिण्णासा-तत्त्वजिज्ञासा-स्त्री० । ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा, त-त्त्वविषया ज्ञानेच्छा तत्त्वजिज्ञासा । तत्त्वविषयकज्ञानेच्छायाम, षो० १६ विव० ।

तत्तणाण-तत्त्वज्ञान-न० । ऊहाऽपोहविशुद्धमिदमित्थमेवेति निश्चये, ध० १ अधि०।

तत्तणिएणणीसु-तत्त्वनिर्णिनीषु-पुं० । तत्त्वं प्रतिष्ठापयिषौ, स्वीकृतधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणाभ्यां शब्दाऽऽदेः कथञ्चि-न्नित्यत्वाऽऽदिरूपं तत्त्वं प्रतिष्ठापयितुमिच्छौ तत्त्वनिर्णिनीषौ, रत्ना० ।

अथ तत्त्वनिर्णिनीषोः स्वरूपं निरूपयन्ति-

तथैव तत्त्वं प्रतितिष्ठापयिषुस्तत्त्वनिर्णिनीषुः ॥ ४ ॥

तथैव स्वीकृतधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणाभ्याम्, शब्दाऽऽ-देः कथञ्चिद् नित्यत्वाऽऽदिरूपं तत्त्वम्,प्रतिष्ठापयितुमिच्छुस्तत्त्व-निर्णिनीषुरित्यर्थः ॥ ४ ॥

अस्यैवाक्षेपसमाधिविषयहेतवे भेदावुपदर्शयन्ति-

अयं च द्वेधा-स्वात्मनि परत्र चेति ॥ ५ ॥

(अयमिति) तत्त्वनिर्णिनीषुः, कश्चित्खलु संदेहाऽऽद्युपहतचेतो-वृत्तिः स्वाऽऽत्मनि तत्त्वं निर्णेतुमिच्छति,अपरस्तु परानुग्रहैकर-सिकतया परत्र तथा; इति द्वेधाऽसौ तत्त्वनिर्णिनीषुः । सर्वोऽपि च धात्वर्थः करोत्यर्थेन व्याप्त इति स्वाऽऽत्मनि परत्र च तत्त्वनि-र्णयं चिकीर्षुरित्यर्थः । अथ परं प्रति तत्त्वनिर्णिनीषोरप्यस्य त-न्निर्णयोपजनने जयघोषणामुद्घोषयत्स्येव सत्या इति चेत्; ततः किम्?। जिगीषुता स्यात् इति चेत्, कथं यो यदनिच्छुः स त-दिच्छुः परोक्तिमात्राद् भवेत्?। तत्किं नाऽसौ जयमश्नुते?, वा ढमश्नुते। न च तमिच्छति च,अश्नुते चेति किमपि कैतवं तथेति चेत्, स्यादेवं, यद्यनिष्टमपि न प्राप्येत । अवलोक्यन्ते चानि-ष्टान्यप्यनुकूलप्रतिकूलदैवोपकल्पितानि अनेकशो भुज्यमानानि शतशः फलानि । तदिदमिह रहस्यम्-परोपकारैकपरायणस्य कस्यचिन्महाविबुधवृन्दारकस्य परत्र तत्त्वनिर्णिनीषोरानुषङ्गिकं फलं जयः,मुख्यं तु परतत्त्वावबोधनम्। जिगीषोस्तु विपर्यय इति॥५॥

स्वाऽऽत्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुमुदाहरन्ति-

आद्यः शिष्याऽऽदिः ॥ ६ ॥

(आद्य इति) स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुरित्यर्थः। आदिग्रहणा-द्विद्वांस्तत्र च स ब्रह्मचारिसुहृदादिरादीयते ॥ ६ ॥

परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुमुदाहरन्ति--

द्वितीयो गुर्वाऽऽदिः ॥ ७ ॥

(द्वितीय इति) परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुः ॥ ७ ॥

द्वितीयस्य भेदावभिदधति--

अयं द्विविधः-क्षायोपशमिकज्ञानशाली, केवली च ॥८॥

(अयमिति) परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुर्गुर्वादिः, ज्ञानाऽऽवरणीयस्य कर्मणः क्षयोपशमेन निर्वृत्तं ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायरू-पं व्यस्तं समस्तं वा यस्यास्ति स तावदेकः; द्वितीयस्तु तस्यैव क्षयेण यज्जनितं केवलज्ञानं तद्वान् । तदेवं चत्वारः प्रारम्भ-काः-जिगीषुः, स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुः, परत्र तत्त्वनिर्णि-नीषुश्च क्षायोपशमिकज्ञानशालिकेवलिनाविति । तत्त्वनिर्णि-नीषोर्हि ये भेदप्रभेदाः प्रदर्शिताः, न ते जिगीषोः सर्वेऽपि संभवन्ति । तथाहि-न कश्चिद्विपश्चिदात्मानं जेतुमिच्छति । न च केवली परं पराजेतुमिच्छति, वीतरागत्वात् । गीष्प्रा-चिज्ञाऽऽदिभेदस्तु नाङ्गनियमभेदोपयोगी;प्रसज्यति चानन्त्य-म्; इति पारिशेष्यात् क्षायोपशमिकज्ञानशाली परत्र जिगी-षुर्भवतीत्येकरूप एवाऽसौ न भेदप्रदर्शनमर्हति । यौ च परत्र तत्त्वनिर्णिनीषोर्भेदावुक्तौ, न तौ द्वावपि स्वाऽऽत्मनि तत्त्वनिर्णि-नीषोः संभवतः, निर्णीतसमस्ततत्त्वज्ञानशालिनः केवलिनः स्वा-ऽऽत्मनि तत्त्वनिर्णयेच्छाऽनुपपत्तेः, इति पारिशेष्यात् क्षायोपश-मिकज्ञानवानेव स्वाऽऽत्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुर्भवतीत्यसावप्येकरूप एवेति। रत्ना० ८ परि०।

तत्तण्णु-तत्त्वज्ञ-त्रि० । तत्त्वं सकलपर्यायोपेतसकलवस्तुस्वरूपं जानातीति तत्त्वज्ञः । वस्तुतत्त्ववेदिनि, पञ्चा० १ विव० । सर्वज्ञे, आव० १ अ० ।

तत्तण्णुपुट्ठि-तत्त्वज्ञपुष्टि-स्त्री०। तत्त्वस्याविसंवादस्थाने हितोपदे-शे, षो० ८ विव०।

तत्ततव-तप्ततपस्-त्रि० । तापिततपस्के, आर्यसुधर्माणमुपकम्य-" उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे। " तप्तं तापितं तपो येन स तप्त-तपाः । तेन तत्तपस्तप्तं येन कर्माणि सन्ताप्यन्ते, तेन न च तप-सा स्वात्मा तपोरूपः संतापितो, यतोऽन्यस्याऽस्पृश्यमिव जात-म् । औप० । नि० । भ० । जं० । रा० । सू० प्र० । ज्ञा० ।

तत्ततवणिज्ज–तप्ततपनीय–न० । तप्तसुवर्णे, "तत्ततवणिज्जसंकासो ।" प्रज्ञा० १ पद ।

तत्ततवोधण–तप्ततपोधन–त्रि० । तप्तमनुष्ठितं तप एव धनं यस्य स तप्ततपोधनः । पञ्चाग्न्यादितपोविशेषेण निष्टप्तदेहे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

तत्ततेल्ल–तप्ततैल–न० । तप्तं च तत्तैलं च । उष्णतैले, स० ११ अङ्ग ।

तत्तत्ति–तत्त्वाप्ति–स्त्री० । जीवाऽऽदीनां स्वरूपोपलम्भे, षो० (?) ।

तत्तत्थ–तत्त्वार्थ–पुं० । मुक्तिलक्षणेऽर्थे, द्रव्या० ८ अध्या० ।

तत्तत्थसद्दहाण–तत्त्वार्थश्रद्धान–न० । तत्त्वार्थानां सर्वविदुपदिष्टतया पारमार्थिकानां जीवाऽऽदिपदार्थानां श्रद्धानमेवमेतदेवेति प्रत्ययः, तत्त्वेन वा भावतोऽर्थानां श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानम् । "तत्तत्थसद्दहाणं, सम्मत्तसमभाहो ण पयम्मि" । पञ्चा० १ विव० । (एतद्बहुवक्तव्यता "सम्मत्त" शब्दे वक्ष्यते)

तत्तदंसण–तत्त्वदर्शन–न० । परमार्थावलोकने, द्वा० २५ द्वा० ।

तत्तदंसि(ण्)–तत्त्वदर्शिन्–त्रि० । मेधाविनि, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । तत्त्वावलोकनकर्तरि, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

तत्तदिट्ठि–तत्त्वदृष्टि–स्त्री० । तत्त्वं वस्तुरूपं जीवे जीवत्वमनन्तचैतन्यरूपम्, अजीवे अचैतन्यस्वरूपं, तत्र यथार्थावबोधयुक्तौ, अष्ट० ।

रूपे रूपवती दृष्टि–र्दृष्ट्वा रूपं विमुह्यति ।
मज्जत्यात्मनि नीरूपे, तत्त्वदृष्टिस्त्वरूपिणी ॥ १ ॥
भ्रमवाटी बहिर्दृष्टि–र्भ्रमच्छाया तदीक्षणम् ।
अभ्रान्तस्तत्त्वदृष्टिस्तु, नास्यां शेते सुखाशया ॥ २ ॥
ग्रामाऽऽरामाऽऽदि मोहाय, यद् दृष्टं बाह्यया दृशा ।
तत्त्वदृष्ट्या तदेवान्त–र्नीतं वैराग्यसंपदे ॥ ३ ॥
बाह्यदृष्टेः सुधासार–घटिता भाति सुन्दरी ।
तत्त्वदृष्टेस्तु सा साक्षात्, विण्मूत्रपिठरोदरी ॥ ४ ॥
लावण्यलहरीपुण्यं, वपुः पश्यति बाह्यदृग् ।
तत्त्वदृष्टिः श्वकाकानां, भक्ष्यं कृमिकुलाऽऽकुलम् ॥ ५ ॥
गजाश्वैर्भूपभवनं, विस्मयाय बहिर्दृशः ।
तत्राश्वेभवनात् कोऽपि, भेदस्तत्त्वदृशस्तु न ॥ ६ ॥
भस्मना केशलोचेन, वपुर्धृतमलेन वा ।
महान्तं बाह्यदृग् वेत्ति, चित्साम्राज्येन तत्त्ववित् ॥ ७ ॥
न विकाराय विश्वस्यो–पकारायैव निर्मिताः ।
स्फुरत्कारुण्यपीयूष–वृष्टयस्तत्त्वदृष्टयः ॥ ८ ॥ अष्ट० १९ अष्ट० ।

तत्तदेट्ठ–तत्त्वदेष्टृ–पुं० । तत्त्वं सकलपर्यायोपेतसकलवस्तुस्वरूपं तद्दिशतीति तत्त्वदेष्टा । तत्त्वोपदेष्टरि, ध० १ अधि० ।

तत्तधम्मजोणी–तत्त्वधर्मयोनि–स्त्री० । धृत्यादिके, धृतिः श्रद्धा सुखा विविदिषा विज्ञप्तिरिति तत्त्वधर्मयोनयः । "धिइसद्धासुहाविविदिस–जेया जं पायसो उ जोणि त्ति ।" पञ्चा० ४ विव० ।

तत्तपवित्ति–तत्त्वप्रवृत्ति–स्त्री० । तत्त्वानुष्ठाने, षो० ।

कस्मात्पुनरस्त्वद्वेषः क्रियत इत्याह–

**अद्वेषो जिज्ञासा, शुश्रूषा श्रवणबोधमीमांसाः ।
परिशुद्धा प्रतिपत्तिः, प्रवृत्तिरष्टाङ्गिकी तत्त्वे ॥ १४ ॥**

अद्वेषोऽप्रीतिपरिहारः तत्त्वविषयस्तत्पूर्विका ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा तत्त्वविषया ज्ञानेच्छा तत्त्वजिज्ञासा तत्पूर्विका बोधाऽन्तःश्रोतस्सिराकल्पा, श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा तत्त्वविषयैव । तत्त्वशुश्रूषानिबन्धनं श्रवणमाकर्णनं तत्त्वविषयमेव । बोधोऽवगमः परिच्छेदो विवक्षितार्थस्य श्रवणनिबन्धनस्तत्त्वविषय एव, मीमांसा सद्विचाररूपा बोधानन्तरभाविनी तत्त्वविषयैव । श्रवणं च बोधश्च मीमांसा च श्रवणबोधमीमांसाः । परिशुद्धा सर्वतो भावविशुद्धा प्रतिपत्तिर्मीमांसोत्तरकालभाविनी निश्चयाऽऽकारा परिच्छित्तिरिदमित्थमेवेति तत्त्वविषयैव । प्रवर्त्तनं प्रवृत्तिरनुष्ठानरूपा परिशुद्धप्रतिपत्त्यनन्तरभाविनी तत्त्वविषयैव, प्रवृत्तिशब्दो द्विरावर्त्यते, तेनायमर्थो भवति–तत्त्वे प्रवृत्तिरष्टाभिरङ्गैर्निर्वृत्ताऽष्टाङ्गिकी, परिच्छेदाऽऽदिभिरष्टाभिरङ्गैस्तत्त्वप्रवृत्तिः संपद्यते, तेनाऽऽगमान्तरे मूलागमैकदेशनूने न द्वेषः कार्य इति ॥ १४ ॥ षो० १६ विव० ।

तत्तफासुअ–तप्तप्राशुक–त्रि० । तप्तं सत्प्राशुकं त्रिदण्डोद्वृत्तं तप्तप्राशुकम् । त्रिदण्डोद्वृत्ते तप्ते जलाऽऽदौ, "उसिणोदगं तत्तफासुयं, पडिगाहिज्ज संजए ।" दश० ८ अ० ।

तत्तवि(द्)–तत्त्वविद्–त्रि० । तत्त्वं वेत्तीति तत्त्ववित् । जीवाजीवाऽऽदिवस्तुविज्ञातरि, ध० ३ अधि० । परमार्थविदि, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

तत्तवेइ(ण्)–तत्त्ववेदिन्–पुं० । तत्त्वज्ञानिनि, आचा० । नारो हि विषयगणस्य तत्प्राप्तौ तृप्तिः, तदभावान्निःसारः, तं दृष्ट्वा ज्ञानी तत्त्ववेदी न विषयाभिलाषं विदध्यात्, न केवलं मनुष्याणां, देवानामपि विषयसुखाऽऽस्पदमनित्यं जीवितमिति दर्शयति–"उववायं चवणं णच्चा ।" उपपातं जन्म, च्यवनं पातः, तच्च ज्ञात्वा न विषयसङ्गोन्मुखो भवेदिति । यतो निःसारो विषयग्रामः, समस्तः संसारो वा, सर्वाणि च स्थानान्यशाश्वतानि । सारासारविचारे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

तत्तबोहविहाइणी–तत्त्वबोधविधायिनी–स्त्री० । अभयदेवविरचितायां स्वनामख्यातायां सम्मतिटीकायाम्, "प्रद्युम्नसूरेः शिष्येण, तत्त्वबोधविधायिनी । यथा चाभयदेवेन, सम्मतेर्विवृतिः कृता" ॥१॥ सम्म० ३ काण्ड ।

तत्तरसासाय–तत्त्वरसाऽऽस्वाद–पुं० । तत्त्वे परमार्थे रस आसक्तिहेतुस्तस्याऽऽस्वादस्तत्त्वरसाऽऽस्वादः । परमार्थाऽऽसक्तिहेत्वास्वादे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

तत्तलोहपह–तप्तलोहपथ–पुं० । तप्ते लोहमयमार्गे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तत्तसंदिट्ठि–तत्त्वसंदृष्टि–स्त्री० । तत्त्वसंदर्शने, षो० १५ विव० ।

तत्तसंवेयण–तत्त्वसंवेदन–न० । तत्त्वं परमार्थः, तत्सम्यक् प्रवृत्त्याद्युपहतत्वेन विद्यते यस्मिंस्तत् । ज्ञानभेदे, द्वा० ६ द्वा० । सम्यग्ज्ञाने, पं० सू० ४ सूत्र० । हा० ।

तत्तसमजोइभूय–तप्तसमज्योतिर्भूत–त्रि० । तप्तेन तापेन समा तुल्या ज्योतिषा वह्निना भूता जाता या सा तप्तसमज्योतिर्भूता । तापसदृशवह्निजाते, भ० १० श० ५ उ० ।

तत्तसुइ-तत्त्वश्रुति-स्त्री० । तत्त्वश्रवणे, द्वा० ।

ततः किमित्याह—

पुण्यबीजं नयत्येवं, तत्त्वश्रुत्या सदाशयः ।

भवक्षाराम्भसस्त्यागाद्, वृद्धिं मधुरवारिणा ॥ २१ ॥

एवं धर्मस्य प्राणेभ्योऽप्यधिकत्वप्रतिपत्त्या, तत्रोत्सर्गप्रवृत्त्या, तत्त्वश्रुत्या तथा तत्त्वश्रवणेन, मधुरवारिणा, सदाशयः शोभनपरिणामः, भवलवणस्य क्षाराम्भसस्त्यागात्, पुण्यबीजं वृद्धिं नयति । यथा हि मधुरोदकयोगतस्तन्माधुर्यानवगमेऽपि बीजं प्ररोहमादत्ते, तथा तत्त्वश्रुतेरचिन्त्यसामर्थ्यात्तत्त्वविषयस्पष्टसंवित्स्वभावेऽपि अतत्त्वश्रवणत्यागेन तद्योगात् पुण्यवृद्धिः स्यादेवेति भावः ॥ २१ ॥

तत्त्वश्रवणतस्तीव्रा, गुरुभक्तिः सुखाऽऽवहा ।

समापत्त्यादिभेदेन, तीर्थकृद्दर्शनं ततः ॥ २२ ॥

(तत्त्वेति) तत्त्वश्रवणतः, तीव्रा उत्कटा, गुरौ तत्त्वश्रावयितरि, भक्तिराराध्यत्वेन प्रतिपत्तिः, सुखावहोभयलोकसुखकरी, ततो गुरुभक्तेः समापत्त्यादिभेदेन तीर्थकृद्दर्शनं भगवत्साक्षात्कारलक्षणं भवति । तदुक्तम्-"गुरुभक्तिप्रभावेन,तीर्थकृद्दर्शनं मतम् । समापत्त्यादिभेदेन, निर्वाणैकनिबन्धनम् " ॥ १ ॥ समापत्तिरत्र ध्यानजस्पर्शना भण्यते, आदिना तन्नामकर्मबन्धविपाकतद्भावापत्त्युपपत्तिपरिग्रहः ॥ २२ ॥ द्वा० २२ द्वा० ।

तत्तसुस्सूसा-तत्त्वशुश्रूषा-स्त्री० । तत्त्वश्रवणेच्छायाम्, द्वा० २२ द्वा० ।

तत्ताणिव्वुडभोइत्त-तप्तानिर्वृतभोजित्व-न० । तप्तं च तदनिर्वृतं चाग्निदग्धोद्भूतं च उदकमिति विशेषणान्यथानुपपत्त्या गम्यते तद्भोजित्वमिति । अप्रचित्तोदकभोजित्वे, ग० २ अधि० ।

तत्ताणुरूवत्त-तत्त्वानुरूपत्व-न० । पञ्चदशतमे सत्यवचनातिशये सत्यासे, तत्त्वानुभोजित्वं विवक्षितवस्तुस्वरूपानुसारिता । रा० ।

तत्तातत्तवइगरकराल-तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकराल-त्रि० । तत्त्वं चातत्त्वं च तत्त्वातत्त्वे, तयोर्व्यतिकरो व्यतिकीर्णता मिश्रता स्वभावविनिमयः तत्त्वातत्त्वव्यतिकरः, तेन करालो भयङ्करः । तत्त्वेऽतत्त्वाभिनिवेशोऽतत्त्वे तत्त्वाभिनिवेश इत्येवंरूपेण संजायमानव्यतिकरेण भयङ्करे, स्या० ।

तत्ताब्भास-तत्त्वाभ्यास-पुं० । परमार्थाभ्यासे, षो० १३ विव० ।

तत्ताभिणिवेस-तत्त्वाभिनिवेश-पुं० । तत्त्वज्ञाने, षो० । " गुरुभक्तिः परमास्त्यां,विधौ प्रयत्नस्तथा धृतिः करणे । तद्ग्रन्थाऽऽप्तिश्रवणं, तत्त्वाभिनिवेशपरमफलम् ॥ १ ॥ " षो० १० विव० । वस्तुस्वरूपनिर्णयाभिप्राये, पञ्चा० ६ विव० ।

तत्तायगोलकप्प-तप्तायोगोलकल्प-त्रि० । तप्तलोहपिण्डसदृशे, "तत्तायगोलकप्पो,पमत्तजीवो निवारियप्पसरो ।(२०१)" आ० ।

तत्तालोग-तत्त्वालोक-पुं० । परमार्थप्रकाशे, द्वा० २४ द्वा० ।

तत्ति-तृप्ति-स्त्री० । प्राणौ, स्था० १ ठा० । सन्तोषे, आतु० । बुभुक्षाऽऽद्युपशमलक्षणायाम्, विशे० ।

तत्ति-स्त्री० । तारायाम्, " गयतत्तिविप्पमुक्का । " गजस्य गतस्य या तप्तिः तारा, तया विप्रमुक्ताः । स्था० १ ठा० । चिन्तायाम्, प्रति० ।

तत्तिय-तात्त्विक-पुं० । न० । वास्तवे, द्वा० १६ द्वा० । आ० म० । " महामतिसहस्रेषु, वरमेको हि तात्त्विकः । तात्त्विकस्य समं पात्रं, न भूतो न भविष्यति ॥ १ ॥ " अतस्तात्त्विकाय पात्राऽऽदिकं देयम् । ध० २ अधि० ।

तावत्-त्रि० । "जत्तियं गहियं तत्तियं दिण्णं, सेसं नट्ठं, ततो गतो सि घरं । " आ० म० १ अ० २ खण्ड । ' तत्तियं ' तावन्मात्रमेव कार्यम् । व्यवहारे, नि० चू० ११ उ० ।

तत्तियजोग-तात्त्विकयोग-पुं० । केनापि नयेन मोक्षयोजनफले, द्वा० १६ द्वा० ।

तत्तियधम्मत्ति-तात्त्विकधर्माप्ति-स्त्री० । तात्त्विकस्याभ्यासयुक्तस्य तत्त्वाभ्यासिकमात्रस्य धर्मस्याहिंसाऽऽदेरासिरुपलब्धिः । अभ्यासयुक्तस्याहिंसाऽऽदेरुपलब्धौ, द्वा० १० द्वा० ।

तत्तिल्ल-तृप्तिमत्-त्रि० । तृप्तिर्विद्यते यस्य स तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् । " आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा-मतोः " ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इति मतुपः स्थाने इल्लाऽऽदेशः । प्रा० ढुण्ढि० २ पाद । तृप्ते, कल्प० ६ क्षण । तत्परे, दे० ना० ५ वर्ग ३ गाथा ।

तत्तिव्वऽज्झवसाण-तत्तीव्राध्यवसान-त्रि० । तस्मिन्नेवाऽऽवश्यके तीव्रं प्रारम्भकालादारभ्य प्रतिक्षणं प्रकर्षयायि प्रयत्नविशेषलक्षणमध्यवसानं यस्य स तथा । तस्मिन्, ग० २ अधि० ।

तत्ती-देशी-तत्परतायाम्, आदेशे च । दे०ना०५ वर्ग २०गाथा ।

तत्तीइग-तार्तीयिक-त्रि० । तृतीयमेव तार्तीयिकम् । स्वार्थे टीकण्प्रत्ययः । ध० २ अधि० । त्रयाणां पूरणे, येन त्रित्वसंख्या पूर्यते तस्मिन् पदार्थे, वाच० ।

तत्तु-तत्र-अव्य० । " यत्तत्रयोस्त्रस्य डित्थेत्तु " ॥८।४।४०४॥ इति तत्रशब्दस्य डित्संज्ञकोऽत्तु इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । तस्मिन्नित्यर्थे, वाच० ।

तत्तुडिल्ल-देशी-सुरते, दे० ना० ५ वर्ग ६ गाथा ।

तत्थ-तत्र-अव्य० । तस्मिन् कालाऽऽदौ,तत्र तस्मिन्नित्यर्थे, वाच० । स्था० । अनु० । प्रश्न० । वाक्योपन्यासार्थे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । निर्धारणार्थे च । दश० १ अ० । ' तर्हि ' शब्दार्थे च । प्रा० १ पाद ।

तथ्य-न० । तत्र साधुः यत् । सत्ये, वाच० । विशे० । द्वा० । निरुपचरिते, मुख्ये च । विशे० ।

त्रस्त-त्रि० । परमाधार्मिकदेवपरस्परोदीरितदुःखसंपातजनितात् त्रासमुपपन्ने, जी० १ प्रति० । स्था० ।

त्रस्त-त्रि० । भीते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

तत्थावाइ(ण्)-तथ्यवादिन्-पुं० । ' तच्चावाइ (ण्) ' शब्दार्थे, आ० क० ।

तत्थून-दृष्ट्वा-अव्य० । "क्त्वस्तूण" ॥८।१।१२६॥ दृदेशादेशः । हस्व तः । " तूनतूणौ ष्टुः " ॥ ८ । ४ । ३१२ ॥ इति ष्टुस्थाने तूनतूणस्यादेशौ । विलोक्येत्यर्थे, प्रा० ढुं० ४ पाद ।

तद्-तत्-त्रि० । लोकत्रयव्यापिनि, किमन्तत्वेन प्रायशो हलन्तत्वादेतादृशाः प्राकृते न प्रयुज्यन्ते । जै० गा० ।

तदक्ख--तदाख्य-त्रि० । तेन अर्थेन आख्या येषां ते तदाख्याः । आहिंसके, नि० चू० २० उ० ।

तदज्झवसाण--तदध्यवसान-त्रि० । तस्यामेवाध्यवसानं भोगक्रिया प्रयत्नविशेषरूपं यस्य स तस्मिन् । तदध्यवसिते, विपा० १ श्रु० २ अ० । अनु० ।

तदज्झवसिय--तदध्यवसित-त्रि० । तस्मिन्नेव विवक्षिते आवश्यके अध्यवसितं क्रियासंपादनविषयमस्येति तदध्यवसितः । तद्विषयकाध्यवसाययुक्ते, ग० २ अधि० । अनु० ।

तदट्ठ--तदर्थ-पुं० । तस्मै अर्थस्तदर्थः । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । तत्प्राप्तौ, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

तदट्ठोवउत्त--तदर्थोपयुक्त-त्रि० । तस्य (विवक्षितस्य) आवश्यकस्यार्थस्तदर्थः,तस्मिन्नुपयुक्तस्तदर्थोपयुक्तः। अनु०। तत्प्राप्तये उपयोगवति,विपा०१ श्रु०१ अ० । ग० । तदभिधेयोपयुक्ते,औ० ।

तदण्णवयण--तदन्यवचन--न० । वचनभेदे, स्था० । तस्माद्विवक्षितघटाऽऽदेरन्यः पटाऽऽदिः,तस्य वचनं तदन्यवचनं, घटापेक्षया पटवचनवत् , नोअवचनमजननिवृत्तिर्वचनमात्रं कित्थाऽऽदिवदिति । अथवा-स शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तधर्माविशिष्टोऽर्थोऽनेनोच्यते इति तद्वचनं,यथार्थनामेत्यर्थः। ज्वलनतपनाऽऽदिवत् । तथा तस्मात्शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तधर्मविशिष्टादन्यः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तधर्मविशिष्टोऽर्थः, उच्यतेऽनेनेति तदन्यवचनम-यथार्थमित्यर्थः । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

तदप्पियकरण--तदर्पितकरण-त्रि० । तस्मिन् भगवत्यर्पितानि करणानीन्द्रियाणि शब्दरूपाऽऽदिषु श्रोत्रचक्षुरादीनि यैस्ते तदर्पितकरणाः। औ० । ग० । तस्मिन्नेवाऽऽवश्यके यथोचितव्यापारनियोगेनार्पितानि नियुक्तानि येन स तदर्पितकरणः । सम्यग्यथास्थानन्यस्तोपकरणे,ध० । तस्यामेवार्पितानि द्रौकितानि करणानि इन्द्रियाणि येन स तथा तस्मिन् । ढौकितेन्द्रिये, ध०२ अधि० ।

तदाभास--तदाभास-पुं० । तत्सदृशे, पञ्चा० ४ विव० ।

तदाहार--तदाधार-त्रि० । ते पृथिव्यादय आधारो येषां ते तदाधाराः । तत्राऽऽहितेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तदाहार-पुं० । तानेव पृथिव्यादीन् आहारयन्तीति तदाहाराः । तत्सङ्के, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तदुभयहिय--तदुभयहित-त्रि० । इहपरलोकहिते, पं० भा० ।

ततो--ततस्-अव्य० । तस्मादित्यर्थे, प्रा० १ पाद ।

तदो--ततस्-अव्य० । "त्तो दो तसो वा" ॥ ८ । २ । १६० ॥ इति तसः प्रत्ययस्य वा त्तो दो इत्यादेशौ । तस्मादित्यर्थे, प्रा० १ पाद ।

तद्दिअचय-देशी-तुल्ये, दे० ना० ५ वर्ग ८ गाथा ।

तद्दिअभ--देशी-अनुदिवसे, दे० ना० ५ वर्ग ८ गाथा ।

तद्दिआमिअ-देशी--अनुदिवसे, दे० ना० ५ वर्ग ८ गाथा ।

तद्दिअह-देशी--अनुदिवसे, दे० ना० ५ वर्ग ८ गाथा ।

तद्देस--तद्देश-पुं०। तस्य देशस्तद्देशः। उदाहरणदेशे, दश०१ अ० ।

तद्दोस--तद्दोष-पुं० । तस्योदाहरणस्यैव दोषो यस्मिन् तत्तद्दोषः । उदाहरणदोषे, दश० १ अ० ।

त्वग्दोष-त्रि०। कुष्ठिनि, औ० । श्वेतकुष्ठिनि,पिं०। स च त्वग्दोषो द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां भवति । तद्यथा-"संदंतमसंदंते,अस्संदिणस्सिसमंडलपसुत्ती । किमिपुंव रसिगा वा, पस्संदति तस्थिमा जयणा" ॥१॥ व्य० ६ उ० । (इयं गाथा 'वगडा' शब्दे एतावगमावसरे व्याख्यास्यते)

तद्धिय--तद्धित--त्रि० । न० । तस्मै हितं तद्धितमित्यन्वर्थाभिधायका ये प्रत्ययास्ते तद्धिताः। यथा गोभ्यो हितो गव्यो देश इत्यादि । प्रश्न० २ सम्ब० द्वार । आ० चू० । तेभ्यो विग्रहस्थतत्प्रकृतीनां स्वविशिष्टतया प्रयोगेभ्यो हितः । व्याकरणोक्ते प्रत्ययभेदे, वाच० ।

तद्धियए--तद्धितज--न०। तद्धिताज्जातं तद्धितजम् । इह तद्धितशब्देन तद्धितप्राप्तिहेतुभूतोऽर्थो गृह्यते,तत्रायम,यत्रापि "तुन्नाए तंतुवाए ।" तद्धितप्रत्ययो न दृश्यते, तत्रापि तद्धेतुभूतार्थस्य विद्यमानत्वात्तद्धितजं सिद्धं भवति । अनु० । भावप्रमाणभेदे, अनु० ।

से किं तं तद्धियए ?। तद्धियए अट्ठविहे पण्णत्ते। तं जहा-

"कम्मे सिप्पे सिलोए, संजोग समीवए अ संजूहे ।

इस्सरिए अवच्चेण य, तद्धितणामं तु अट्ठविहं" ॥१॥

(से किं तं तद्धियए इत्यादि) तद्धिताज्जातं तद्धितजम् । इह तद्धितशब्देन तद्धितप्राप्तिहेतुभूतोऽर्थो गृह्यते । तत्रायम्, यत्रापि-"तुन्नाए तंतुवाए" तद्धितप्रत्ययो न दृश्यते, तत्रापि तद्धेतुभूतार्थस्य विद्यमानत्वात्तद्धितजं सिद्धं भवति । "कम्मे गाहा" पाठसिद्धः, नवरं श्लोकः श्लाघा. संयूथो ग्रन्थरचना, एते च कर्मशिल्पाऽऽदयोऽर्थास्तद्धितप्रत्ययस्योत्पत्तौ निमित्तीभवन्तीत्येतद्धेतुकास्तद्धितजं नामाष्टविधमुच्यत इति भावः ।

से किं तं कम्मनामे ?। कम्मनामे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-तणहारए, कट्ठहारए, पत्तहारए, दोसिए, सोत्तिए, कप्पासिए, भंडवेआलिए, कोलालिए । सेत्तं कम्मनामे ।

तत्र कर्मतद्धितजं (दोसिए, सोत्तिए इत्यादि) दूष्यं पण्यमस्येति दौष्यिकः । सूत्रं पण्यमस्येति सौत्रिकः । शेषं प्रतीतम् । नवरं भाण्डवैचारः कर्मास्येति भाण्डवैचारिकः, कौलालानि मृन्मयभाण्डानि पण्यमस्येति कौलालिकः । अत्र क्वापि "तणहारिए" इत्यादिपाठो दृश्यते ॥ तत्र कश्चिदाह-तत्र तद्धितप्रत्ययो न कश्चिदुपलभ्यते, तथा वक्ष्यमाणेऽपि "तुन्नाए तंतुवाए" इत्यादिषु नायं दृश्यते, तत्किमित्येवंभूतनाम्नामिहोपन्यासः ?। अत्रोच्यते-अस्मादेव सूत्रोपन्यासात्तृणानि हरति वहतीत्यादिकः कश्चिद्व्याकरणप्रसिद्धस्तद्धितोत्पत्तिहेतुभूतोऽर्थो द्रष्टव्यः, ततो यद्यपि साक्षात् तद्धितप्रत्ययो नास्ति, तथाऽपि तदुत्पत्तिनिबन्धनभूतमर्थमाश्रित्येह तन्निर्देशो न विरुध्यते । यदि तद्धितोत्पत्तिहेतुरर्थोऽस्ति, तर्हि तद्धितोऽपि कस्मान्नोत्पद्यत इति चेत् ?, लोके इत्थमेव रूढत्वादिति ब्रूमः । अथवा-अस्मादेवाऽऽर्षमुनिप्रणीतसूत्रज्ञापकादयं आनीयात्तद्धितप्रत्यय एषामपि क्वचित्प्राप्तिरपस्या इति ।

अथ शिल्पतद्धितनामोच्यते-

से किं तं सिप्पनामे ?। सिप्पनामे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-वत्थिए, तंतिए, तुण्णाए, तंतुवाए, पट्टकारे, उएट्टे, वरुडे, मुंजकारे, कट्ठकारे, छत्त-

कारे, थंभकारे, पोत्यकारे, चित्तकारे, दंतकारे, लेप्पकारे । सेत्तं सिप्पनामे ।

यथा शिल्पमस्येति वास्त्रिकः, तन्त्रीवादनं शिल्पमस्येति तान्त्रिकः । "तुन्नाए तंतुवाए" इत्यादि प्रतीतम् । आक्षेपपरिहारौ तु प्राग्वदेव । यदिह पूर्वं कर्माभिदृ वाचनाविशेषे प्रतीतं नाम द्रष्टव्यं, तद्व्याख्यानरूढितोऽवसेयम ।

अथ श्लाघातद्धितनामोच्यते-

से किं तं सिलोअणामे ? । सिलोअणामे अणेगविहे पामत्ते । तं जहा-समणे, माहणे, सव्वातिही । सेत्तं सिलोगणामे ।

(समणे इत्यादि) श्रमणाऽऽदीनि नामानि श्लाघाऽर्थेषु साध्वादिषु रूढान्यतोऽस्मादेव सूत्रनिबन्धनात् श्लाघार्थात्तद्धिताः, तदुत्पत्तिहेतुभूतमर्थमात्रं वाऽत्रापि प्रतिपत्तव्यम ।

संयोगतद्धितनाम-

से किं तं संजोगनामे ? । संजोगनामे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-रण्णो ससुरए, रण्णो जमाउए, रण्णो साले, रण्णो दूते, रण्णो भगिणीवई । सेत्तं संजोगनामे ।

राज्ञः श्वशुर इत्यादि । अत्र संबन्धरूपः संयोगो गम्यते । अत्रापि चास्मादेव ज्ञापकात्तद्धितनामता, चित्रं च पूर्वगतं शब्दप्राभृत अप्रत्यक्षं च, अतः कथमिह भावनास्वरूपमस्मादृशैः सम्यगवगम्यते ।

समीपतद्धितनाम-

से किं तं समीवणामे ? । समीवणामे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-गिरिसमीवे णगरं गिरिणगरं, विदिसिसमीवे णगरं विदिसिणगरं, वेनायसमीवे णगरं वेनायणगरं, णगरायसमीवे नगरं णगरायणगरं । सेत्तं समीवणामे ।

गिरिसमीपे नगरं गिरिनगरम । अत्र " अदूरभवश्च " ॥ ४ । २ । ७० ॥ (पाणि०) इति अण् न भवति, गिरिनगरमित्येव प्रतीतत्वात्, विदिशाया अदूरभवं नगरं वैदिशम । अत्र तु "अदूरभवश्च" ॥ ४ । २ । ७० ॥ इति (पाणि०) अण् भवत्येव, इत्थं रूढत्वादिति ।

संयूथतद्धितनाम-

से किं तं संजूहनामे ? । संजूहनामे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-तरंगवइकारे, मलयवइकारे, अत्ताणुसट्ठिकारे, बिंदुकारे । सेत्तं संजूहनामे ।

(तरंगवइकारे इत्यादि) तद्धितनामता चेहोक्तन्यायेन च पूर्ववद्भावनीया ।

ऐश्वर्यतद्धितनाम-

से किं तं ईसरिअनामे ? । ईसरिअनामे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-ईसरे, तलवरे, मडंबिए, कोडुंबिए, इब्भे, सेट्ठी, सत्थवाहे, सेणावई । सेत्तं ईसरिअनामे ।

(राईसरे इत्यादि) इह राजाऽऽदिशब्दनिबन्धनमैश्वर्यं प्रेक्ष तन्तव्यं, राजेश्वराऽऽदिशब्दार्थास्त्विहैव पूर्वं व्याख्यात एव ।

अपत्यतद्धितनाम-

से किं तं अवच्चनामे ? । अवच्चनामे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-अरिहंतमाया, चक्कवट्टिमाया, बलदेवमाया, वासुदेवमाया, रायमाया, मुणिमाया, वायगमाया । सेत्तं अवच्चनामे ॥

(तित्थयरमाया इत्यादि) तीर्थंकरोऽपत्यं यस्याः सा तीर्थंकरमाता । एवमन्यत्रापि सुप्रसिद्धेनाऽप्रसिद्धं विशिष्यते । अतः तीर्थंकराऽऽदिभिर्मातरो विशेषिताः । तद्धितनामत्वभावना तथैव । गतं तद्धितनाम । अनु० ।

तद्धियय-तद्धितज-न० । ' तद्धियए ' इतिशब्दार्थे, अनु० ।

तट्टून-दृष्ट्वा-अव्य० । "क्त्वस्तूनो ह्वः" ॥ ८ । ४ । ३१३ ॥ इति क्त्वास्थाने तून इत्यादेशः । "अतोऽत्" ॥८।१।२६॥ अद्दतो होस्तः दस्य तः । प्रा० ४ पाद । विलोक्येत्यर्थे, वाच० ।

तपागच्छ-तपागच्छ-पुं० । घोरतपःकारित्वेन तपाबिरुदप्राप्तजगच्चन्द्रसूरेः प्रतिष्ठिते गच्छे, तपा इतिशब्दस्तपार्थको देशीप्रसिद्धः । यथा तत्काले विरुदतया प्राप्तस्तथैव सर्वैरेव विद्वद्भिर्व्यवह्रियते । केचित्तु 'तपोगच्छ' इति शुद्धसंस्कृतमपि व्यवहरन्ति । जै० इ० ।

तपोरिह-तपोऽर्ह-न० । प्रायश्चित्तभेदे, जीत० ।

साम्प्रतं भावाऽऽश्रितविषयं तपोऽर्हं प्रायश्चित्तमाह-

हट्ठगिलाणा जाव-म्मि दिज्ज हट्ठस्स न उ गिलाणस्स ।
जावइयं वा विसहइ, तं दिज्ज सहिज्ज वा कालं ॥६८॥

भावे भावतः, कश्चिदालोचनाग्राही हृष्टो नीरोगः समर्थः । कश्चिद् ग्लानो रोगी शक्तिविकल इत्येतद्विचार्य (दिज्ज हट्ठस्स न उ गिलाणस्स) तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वात् हृष्टस्य जीतोक्तादधिकमपि दद्यात्, ग्लानस्य तु न दद्यात् , जीतोक्तादूनं वा दद्यात् । यावन्मात्रं वा विषहते कर्तुं शक्नोति, तत्प्रायश्चित्तं तावन्मात्रं दद्यात् ,कालं वा सहेत-यावता प्रगुणो भवति तावत्प्रतीक्ष्य रोगनिवृत्तौ समर्थस्य दद्यादित्यर्थः । उक्तो भावः ॥ ६८ ॥

संप्रति सप्रपञ्चं पुरुषद्वारमाह-

पुरिसा गीयाऽगीया, सहाऽसहा तह सढाऽसढा केइ ।
परिणामाऽपरिणामा, अइपरिणामा इ वत्थूणं ॥६९॥

इहाऽऽलोचनाग्राहिणः पुरुषाः किंस्वरूपाः ?, इति प्रथममेवाऽऽचार्यैर्विचार्याः, ततस्तदपेक्षया प्रायश्चित्तं दातव्यम् , ते च बहुप्रकाराः । तद्यथः-गीतार्था अधिगताऽऽचारप्रकल्पाऽऽदिनिशीथाऽऽद्यश्रुताः । तदितरे त्वगीता अगीतार्थाः । सहाः-सर्वप्रकारैः समर्थाः, असहा असमर्थाः । तथा केचित्-शठा मायाविनः, अशठाः सरलाऽऽत्मानः, परिणामका अपरिणामका अतिपरिणामकाश्च वस्तुषूत्सर्गापवादरूपेषु विषये । एते च परिणामकाऽऽदयस्त्रयोऽपि पूर्वसूत्रे "वयाइमसद्दहओ ।" इति गाथाया विवरणे व्याख्याताः, अतो नात्र पुनः प्रतन्यन्त इति ॥ ६९ ॥

तह धिइसंघयणोभय-संपन्ना तदुभएण हीणा य ।
आयपरोभयनोभय-तरगा तह अण्णतरगा य ॥७०॥

तथा धृतिसंहननोभयसंपन्नाः, तदुभयेन हीनाश्च । इह चतुष्टयं संभवति-तत्र धृत्या संपन्ना इत्येकः । संहननेन संपन्ना इति द्वितीयः । उभयेन धृतिसंहननाऽऽख्येन संपन्ना इति तृतीयः । तदुभयेन हीनाश्चेति चतुर्थः । तथा-आत्मपरोभयानुभयतरका

इति । अत्रापि चतुर्भङ्गः-आत्मानुग्राहकं तपः, परोपष्टम्भकारि वैयावृत्यं, तयोर्द्वयोरपि समर्थाः, परं ये तप एव कुर्वन्ति, न वैयावृत्यं, ते-आत्मतरकाः, (स्वार्थेऽत्र कः प्रत्ययः) न परतरका इत्याद्यो भङ्गः। ये तु वैयावृत्यमेव कुर्वन्ति,न तपः,ते-अन्यतरकाः, आत्मतरका इति द्वितीयः। ये तूभयमपि कुर्वन्ति, ते तु उभयतरका इति तृतीयः । ये पुनरुभयं न कुर्वन्ति ते नोभयतरका इति चतुर्थः। तथा (अण्णतरग त्ति) अन्यतरकाः-ये तपोवैयावृत्ययोरन्यतरदेकमेव कर्तुं शक्नुवन्ति, नोभयकरणक्षमा इत्यर्थः॥७०॥

कप्पट्ठियादओ वि य, चउरो जे चेयरा समक्खाया ।
सावेक्खेयरभेया-दओ य जे ताण पुरिसाण ॥७१॥

कल्पः सततासेवनीयः समाचारः ।

स चायं दशधा-

"आचेलुक्कोद्देसिय-सिज्जायररायपिंडकिइकम्मे ।
वयजेट्ठपडिक्कमणे, मासे पज्जोसवणकप्पो " ॥६॥ (पञ्चा० १७ विव०)

अस्या व्याख्या-न विद्यते चेलं वस्त्रं यस्याऽसावचेलकः, तस्य भाव आचेलक्यं, सचेलत्वे चायमचेलकव्यपदेशः ।

तथा चान्यत्रापि दृश्यते-

" जह जलमवगाहंतो, बहुचेलो वि सिरवेढियकडिल्लो ।
भन्नइ नरो अचेलो, तह मुणओ संतचेला वि ॥ २६०० ॥
तह थोवजुन्नकुच्छिय-चेलेहि वि भन्नए अचेलु त्ति ।
जह तुर सालिय! अप्पय, मे पोत्तिं नग्गिया मो॥२६०१॥ (विशे०)

उद्देशेन साधुसंकल्पेन वृत्तमौद्देशिकम् आधाकर्म, शय्यया वसत्या तरति भवाम्भोधिमिति शय्यातरः, राजा नृपः, तयोः पिण्डो भक्ताऽऽदिरूपः-शय्यातरपिण्डो, राजपिण्डश्च । औद्देशिकाऽऽदीनां त्रयाणामपि परिहारोऽवसेयः । कृतिकर्म ज्येष्ठानुक्रमेण वन्दनकदानम्, व्रतानि पञ्च महाव्रतानि, ज्येष्ठः-वर्षशतदीक्षिताया अपि साध्व्या अद्यतनदीक्षितोऽपि साधुर्गरीयान् । प्रतिक्रमणं प्रतीतम्, मासः मासकल्पः, परि सर्वथाऽवसानमेकत्र निवासो निरुक्तिवशात्पर्युषणा, इति ।

एतस्मिन् दशविधे कल्पे स्थिताः कल्पस्थिताः प्रथमचरमजिनसाधवः, ते आदावग्रवचुना येषां ते कल्पस्थिताऽऽदयः । कल्पस्थिताऽऽदयः-' कल्पस्थितपरिणतकृतयोगितरमाणाख्याः ' तत्र कल्पस्थिताः कथिता एव, परिणताः परिणतं परिपाकमागतं जीवेन सह प्रातिकीभावं चारित्रं येषां ते, कृतयोगिनः चतुर्थषष्ठाष्टमाऽऽदितपोभिः परिकर्मितशरीराः "तरमाण त्ति"। "शकेश्चय-तर-तीर-पाराः " ॥ ८ । ४ । ८६ ॥ इत्यनेन प्राकृतलक्षणसूत्रेण शकृधातोः तराऽऽदेशे कृते शक्नुवानाः, शक्तिसुलभां कुर्वाणा इत्यर्थः । ये एते चत्वारः सप्रतिपक्षाः समाख्याताः कथिताः कल्पस्थिताद्विक्य इतरे-अकल्पस्थितापरिणताकृतयोग्यतरमाणाऽऽख्याः, अकल्पस्थिता मध्यमद्वाविंशतिजिनसाधवो, महाविदेहजाश्च, एते हि दशविधास्थितकल्पमध्यात् शय्यातरपिण्डदानचतुर्यामपुरुषज्येष्ठत्वकृतिकर्मकरणाऽऽख्येषु चतुर्षु स्थिताः, शेषेषु षट्सु पुनरस्थिताः । ते हीतानि षट् स्थानानि गुणानुलोम्यमालोच्य कदाचित्कानिचित् कुर्वन्ति वा, न वेति । अपरिणताऽऽदयस्तु परिणताऽऽदिविपरीताः (सावेक्खेयरभेयादओ य जे इति)जे इति पादपूरणे । कल्पस्थिताः कल्पस्थिताऽऽदयोऽष्टावपि द्विविधाः-सापेक्षा गच्छवासिनो, निरपेक्षा जिनकल्पिकाऽऽदयः। (ताण पुरिसाणं) इत्यग्रेतनगाथायां सम्बध्यते।

सा चेयं गाथा-

जो जह सत्तो बहुतर-गुणो व तस्साहियं पि दिज्जाहि ।
हीणस्स हीणतरगं, हासिज्ज व सव्वहीणस्स ॥ ७२ ॥

तेषां पुरुषाणां कल्पस्थिताऽऽदीनां सापेक्षनिरपेक्षभेदानां प्राग्गाथाद्वयोक्तगीतार्थाऽऽदीनां च मध्याद् यो यथा शक्तः तपः कर्तुं क्षमः, बहुतरगुणो वा धृतिसंहननसंपन्नः परिणतः कृतयोगी आत्मपरतरो वा भवेत, तस्याधिकमपि जीतोक्तादतिरिक्तमपि दद्यात् । हीनस्य धृतिसंहननाऽऽदिरहितस्य हीनतरं जीतोक्तादल्पतरं दद्यात्, सर्वहीनस्य सामस्त्येनाक्षमस्य, सर्वमपि तपः ह्रासयेत्, न किमपि तस्य दद्यात्, मिथ्यादुष्कृतेनैव तस्य शुद्धिरादेश्येत्यर्थः ।

पुनः पुरुषविशेषानेवाऽऽह-

इत्थं पुण बहुतरगा, भिक्खु त्ति अकयकरणाऽणभिगया य।
जं-तेण जीयमट्ठम-भत्तं तं निव्विगाईयं ॥ ७३ ॥

अत्र पुनर्बहुतरा बहुभेदाः, आचार्योपाध्यायकृतकरणगीतार्थस्थिराऽऽद्याः, भिक्षवः साधव इति, अकृतकरणास्तपोभिरपरिकर्मितशरीराः, अनभिगताश्चाऽगीतार्थाः । चशब्दादस्थिराः । एतेषां च सर्वेषां यथाऽर्हं सूक्ष्मबादरातिचाराऽऽदिना यज्जीतं जीतदानवन्निर्विकृत्याद्यष्टमभक्तान्तं, ज्ञेयमिति शेषः।यद्वा-यथाक्रमेणतद् ज्ञेयमित्यर्थः । इदं चात्र गाथान्ते यन्त्रकस्य पञ्चम्या दीर्घपङ्क्त्या पश्चिमानुपूर्व्या तपो गृहीतम्, एतदीयश्च तपोविशेषः सर्वोऽपि यन्त्रकेण स्पष्टीभवति । तत्स्तस्याय लेखनविधिः कथ्यते-इह दीर्घा पङ्क्तिरचनायां त्रयोदश गृहाणि स्थाप्यन्ते। पृथुत्वेन चाद्यपङ्क्तौ पञ्चदश गृहाणि।द्वितीयतृतीयपङ्क्त्योश्चतुर्दश, चतुर्थपञ्चमपङ्क्त्योस्त्रयोदश,षष्ठसप्तमपङ्क्त्योर्द्वादश, अष्टमनवमपङ्क्त्योरेकादश। दशमैकादशपङ्क्त्योर्दश, द्वादशत्रयोदशपङ्क्त्योर्नवगृहाणीति।अत्र चाऽऽद्यायाः पृथुपङ्क्तेरुपरि निरपेक्षः स्थाप्यते,द्वितीयाया आचार्यः कृतकरणः, तृतीयाया आचार्योऽकृतकरणः, चतुर्थ्या उपाध्यायः कृतकरणः, पञ्चम्या उपाध्यायोऽकृतकरणः, षष्ठ्या गीतार्थः स्थिरः कृतकरणो भिक्षुः, सप्तम्या गीतार्थः स्थिरोऽकृतकरणो भिक्षुः, अष्टम्या गीतार्थोऽस्थिरः कृतकरणो भिक्षुः, नवम्या गीतार्थोऽस्थिरोऽकृतकरणो भिक्षुः,दशम्या अगीतार्थः स्थिरः कृतकरणः, एकादश्या अगीतार्थः स्थिरोऽकृतकरणः, द्वादश्या अगीतार्थोऽस्थिरः कृतकरणः, त्रयोदश्या उपरि अगीतार्थोऽस्थिरोऽकृतकरणो भिक्षुरिति स्थापयित्वा पृथुत्वेन प्रथमायां पङ्क्तौ निरपेक्षस्याधो गृहद्वये शून्यं स्थाप्यम्,यतस्तयोः पाराञ्चिकानवस्थाप्ये न भवतः। ते च जिनकल्पिकस्य न सम्भवतः, तस्य हि स्वभावेनैव निरपेक्षत्वात् । अथ तयोः शून्ययोरधस्त्रयोदशसु गृहेषु मूलच्छेदषड्गुरुषड्लघुचतुर्गुरुचतुर्लघुमासगुरुमासलघुभिन्नमासविंशतिकपञ्चदशकदशकपञ्चकानि स्थाप्यन्ते, द्वितीयायां पङ्क्तौ पाराञ्चिकाऽऽदीनि दशकान्तानि, तृतीयायामनवस्थाप्याऽऽदीनि पञ्चकान्तानि, चतुर्थ्यामनवस्थाप्याऽऽदीनि दशकान्तानि, अष्टम्यां छेदाऽऽदीनि दशकान्तानि, नवम्यां षड्गुर्वादीनि पञ्चकान्तानि, दशम्यां षड्गुर्वादीनि दशकान्तानि, एकादश्यां षड्लघ्वादीनि पञ्चकान्तानि, द्वादश्यां षड्लघ्वादीनि दशकान्तानि, त्रयोदश्यां चतुर्गुर्वादीनि पञ्चकान्तानि स्थाप्यन्ते ।

॥ एतेन पुरुषविभागेन श्रुतव्यवहारतो जीतकल्पयन्त्रम् । "इत्थं पुण" (७३) गाथा ॥

	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
	निरपेक्षः	आचार्यः कृतकरणः	आचार्योऽकृतकरणः	उपाध्यायः कृतकरणः	उपाध्यायोऽकृतकरणः	गीतार्थः स्थिरः कृतकरणो भिक्षुः	गीतार्थः स्थिरोऽकृतकरणो भिक्षुः	गीतार्थोऽस्थिरः कृतकरणो भिक्षुः	गीतार्थोऽस्थिरोऽकृतकरणो भिक्षुः	अगीतार्थः स्थिरः कृतकरणो भिक्षुः	अगीतार्थः स्थिरोऽकृतकरणो भिक्षुः	अगीतार्थोऽस्थिरः कृतकरणो भिक्षुः	अगीतार्थोऽस्थिरोऽकृतकरणो भिक्षुः
१	०	पाराञ्चिक	अनवस्थाप्य	अनवस्थाप्य	मूल	मूल	छेद	छेद	६	६	६	६	४
२	०	अनवस्थाप्य	मूल	मूल	छेद	छेद	६	६	६	६	४	४	४
३	मूल	मूल	छेद	छेद	६	६	६	६	४	४	४	४	*
४	छेद	छेद	६	६	६	६	४	४	४	४	*	*	*
५	६	६	६	६	४	४	४	४	*	*	*	*	२५
६	६	६	४	४	४	४	*	*	*	*	२५	२५	२०
७	४	४	४	४	*	*	*	*	२५	२५	२०	२०	१५
८	४	४	*	*	*	*	२५	२५	२०	२०	१५	१५	१०
९	*	*	*	*	२५	२५	२०	२०	१५	१५	१०	१०	५
१०	*	*	२५	२५	२०	२०	१५	१५	१०	१०	५		
११	२५	२५	२०	२०	१५	१५	१०	१०	५				
१२	२०	२०	१५	१५	१०	१०	५						
१३	१५	१५	१०	१०	५								
१४	१०	१०	५										
१५	५												

अत्रैवं भावना--यत्राऽपराधे कृतकरणाऽऽचार्यस्य पाराञ्चिकं, तत्रैवापराधे अकृतकरणाऽऽचार्याऽऽदीनां हीयमानक्रमेणानवस्थाप्याऽऽदीनि प्रायश्चित्तानि भवन्ति । तथा यत्रापराधे कृतकरणाऽऽचार्यस्याऽनवस्थाप्यं, तत्रैवाऽपराधे शेषाणां तथैव क्रमेण प्रायश्चित्तानीत्येवं सर्वहीयमानकेषु भावना कार्या । उक्तं सप्रपञ्चं पुरुषद्वारम् ।

सम्प्रति सेवनामाह-

आउट्टियाइ दप्प--प्पमायकप्पेहिँ वा निसेविज्जा ।
दव्वं खित्तं कालं, भावं वाऽऽसेवए पुरिसो ॥७४॥

आकुट्टिकया- उपेत्य सावद्यकरणोत्साहाऽऽत्मिकया, दर्पप्रमादकल्पैर्वा, दर्पो धावनडेपनवल्गनाऽऽदिकः हास्यजनकवचनाऽऽदिर्वा दर्परूपो वा प्रमादो, रागो चाप्रतिलेखनाप्रमार्जनाऽऽद्यनुपयुक्ता, कल्पः कल्पे दर्शनाऽऽदिचतुर्विंशतिरूपे सति गीतार्थस्य कृतयोगस्य उपयुक्तस्य यतनयाऽऽधाकर्माऽऽधाकरूपः, तैरेतैश्चतुर्भिः प्रतिसेवनारूपैरासेवकः पुरुषो निषेवेत प्रतिसेवेत, द्रव्यमाहारादिकं किञ्चिद्गुरुकमप्याददीत, क्षेत्रं त्रिजनकरूपाऽऽदिकं स्तोकलाभाऽऽश्रयं सार्द्धयोजनद्वयं यावद्विषमानवसतिप्रदेशं यत्र सम्पूर्णा भिक्षा न लभ्यते, कालो दुर्भिक्षाऽऽदिर्यत्र सर्वथाऽन्नाऽऽदि न प्राप्यते, तं प्रतिसेवेत । अयमाशयः-साधुना महति क्षेत्रे काले न गत्वा स्थेयम्, आकुट्टिकाऽऽदिभिर्हि सर्वं त्रिजनकरूपाऽऽदिकं क्षेत्रं दुष्कालं च प्रतिसेवमानः संयमाऽऽत्मविराधने प्राप्नुयात् । भावं च हृष्टग्लानत्वाऽऽदिकं प्रतिसेवेत, आकुट्टिकाऽऽदिभिर्हृष्टतोऽग्लानत्वाऽऽदिकं मुक्त्वा ग्लानत्वाऽऽदिकं जात्वमुत्पादयेदित्यर्थः। उक्ताः स्वरूपतः प्रतिसेवनाः ।

तासां प्रायश्चित्तमाह-

जं जीयदाणमुत्तं, एयं सव्वं पमायसहियस्स ।
इत्तो चिय ठाणंतर--मेगं वड्ढिज्जु दप्पवओ ॥ ७५ ॥

यज्जीतदानं जीतव्यवहारे तपोदानमुक्तम्, एतत्सर्वं प्रायः प्रमादसहितस्य, प्रमादप्रतिसेवना प्राणातिपातविरमणस्याक्यातद्धस्याऽऽदिसेवना भणिता । इत एव प्रमादप्रतिसेवकप्रायश्चित्तादेकं स्थानान्तरं वर्द्धयेद् दर्पवतः । अयमर्थः-प्रमादप्रतिसेवनया भिन्नमासलघुमासगुरुमासचतुर्लघुचतुर्गुरुषड्लघुषड्गुरुकाणामापत्तौ निर्विकृतिकपुरिमार्द्धैकाशनाऽऽचामाम्लचतुर्थषष्ठाऽऽख्यं तपो दीयते, दर्पप्रतिसेवाकारिणस्तु भिन्नमासाऽऽदीनामापत्तौ तस्यां स्थानान्तरवृद्धिः कार्या, निर्विकृतिकं मुक्त्वा पुरिमार्द्धाऽऽदीनि दशमान्तानि तपांसि देयानीति ॥

आउट्टियाइ ठाणं-तरं व सट्ठाणमेव वा दिज्जा ।
कप्पेण पडिक्कमणं, तदुभयमहवा विणिद्दिट्ठं ॥ ७६ ॥

आकुट्टिकाप्रतिसेवायां साधोः स्थानान्तरं वा दद्यात्, दर्पप्रतिसेवाकारिणः सकाशात् स्थानवृद्ध्यादिकं तपःस्थानं वितरेत्, दर्पसेविनो हि भिन्नमासाऽऽद्यापत्तौ पुरिमार्द्धाऽऽदीनि दशमान्तानि दीयन्ते । अस्य त्वेकाशनाऽऽदीनि द्वादशान्तानि देयानि । स्वस्थानमेव वा दद्यात् । इहाऽऽपत्तिरूपं प्रायश्चित्तं स्वस्थानमुच्यते, यथाऽऽकुट्टिकया पञ्चेन्द्रियवधे मूलम्, अन्यत्रापि चाऽऽकुट्टिकया यत्रापराधे यद्भिन्नमासाऽऽदिकमुक्तं, तत्तत्र स्वस्थानं, तदेवाऽऽकुट्टिकाप्रतिसेविनो दद्यादित्यर्थः ॥ कल्पेन कल्पप्रतिसेवनया प्रतिसेवितो प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतं प्रायश्चित्तम् । अथवा-तदुभयं आलोचनामिथ्यादुष्कृतोभयरूपं प्रायश्चित्तं विनिर्दिष्टम् ।

इदं चोक्तस्वरूपं प्रायश्चित्तं परिणामानुरूपं
च दद्यादित्याह-

आलोयणकालम्मि वि, संकेसविसोहिभावओ नाउं ।
हीणं वा अहियं वा, तम्मेत्तं वा वि दिज्जाहि ॥७७॥

आलोचनाकालेऽपि कमप्यपराधविशेषं यः सर्वथा न प्रकाशयति कथयति, कथयन्नप्यर्द्धं कथितं वा करोति, स संक्लिष्टपरिणाम इति ज्ञात्वा तस्याधिकमपि दद्यात्, यः पुनः संवेगमुपगतो निन्दागर्हाऽऽदिभिर्विशुद्धपरिणामः, तस्य हीनमपि दद्यात्, यः पुनर्मध्यमपरिणामः, तस्य तन्मात्रमेव दद्यात् ।

उक्तमेवार्थं दृढयन्नाह-

इय दव्वाई बहुए, गुरुसेवाए य बहुतरं दिज्जा ।
हीणतरे हीणतरं, हीणतरे वा वि झोसु त्ति ॥७८॥

इत्यमुना प्रकारेण द्रव्याऽऽदौ द्रव्यक्षेत्रकालभावाऽऽख्ये प्रतिसेविते बहुगुणिते प्रचुरदोषदर्शने सर्वथा वा विपरीतलक्षणया वा बहुदोषे गुरुसेवायां गुरुतरायां प्रतिसेवायां कृतायां बहुतरं प्रायश्चित्तं दद्यात् । हीनतरेऽल्पदोषे द्रव्याऽऽदिके प्रतिसेविते हीनतरमल्पतरं वा प्रायश्चित्तं दद्यात् । ततोऽपि हीनतरे हीनतराद् हीनतरं यावत् सर्वहीने इत्यल्पदोषे द्रव्याऽऽदौ अत्यल्पीयस्यां सेवायाम् । (झोसु त्ति) क्षपणात् ह्रासः कार्यः, सर्वस्तोकं तपो देयमित्यर्थः ।

कुत्राऽपि च सर्वथाऽपि ह्रासः क्रियते, इति प्रतिपाद-
यन्नाह-

झोसिज्जइ सुबहुं पि हु, जीएणऽन्नं तवारिहं वहओ ।
वेयावच्चगरस्स उ, दिज्जइ साणुग्गहतरं वा ॥ ७९ ॥

इह जीतेनाऽऽगमकं गुरुनिर्वितीर्णं षण्मासाऽऽदिकं तपो वहतः पञ्चकेष्वपि दिवसेषु गतेष्वन्यच्चातुर्मासिकं षाण्मासिकं वा तपोऽर्हं च समापन्नं, ततस्तत् क्षिप्यते सुबहुकमपि ह्रास्यते, सर्वथाऽपि तत्तस्य न दीयते इत्यर्थः । वैयावृत्त्यकरस्य च सानुग्रहतरं वा दीयते । कोऽर्थः-यावन्मात्रं तपस्तप्यमानः स वैयावृत्त्यं कर्तुं शक्नोति, तस्य तावन्मात्रमेव तपो दीयते, नाधिकम् । एवं सप्रपञ्चस्तपोऽर्हप्रायश्चित्तविधिः । जीत० ।

तप्प-तप्र-पुं० । नदीप्रवाहेण प्लाव्यमाने दूरादानीयमाने काष्ठसमुदाये, आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रज्ञा० । उडुपके, भ० ११ श० १० उ० । विशे० । नं० । आ० चू० ।

तप्पक्खिय-तत्पाक्षिक-त्रि० । तेषां विवक्षितानां संविग्नानां पक्षस्तत्पक्षः, तत्र भवस्तत्पाक्षिकः । व्य० १ उ० । तस्य प्रयोजनेषु सहाये, भ० ३ श० ७ उ० ।

तप्पज्ज-तात्पर्य-न० । तत्परस्य भावः, ष्यञ् । वक्तुरिच्छायाम्, अभिप्राये, तत्परतायां च । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

तप्पडिवक्ख-तत्प्रतिपक्ष-पुं० । तद्विरुद्धे, यथा- परिणतप्रतिपक्षा अपरिणताः । नि० चू० १ उ० ।

तप्पडिबद्ध-तत्प्रतिबद्ध-त्रि० । तदनुयायिनि, षो० १ विव० ।

तप्पडिरूवगववहार--तत्प्रतिरूपकव्यवहार--पुं० । तेन प्रतिरूपकं सदृशं तत्प्रतिरूपकं, तस्य विविधमवहरणं व्यवहारः प्रक्षेपः तत्प्रतिरूपकव्यवहारो यथा घटते व्रीहिघृताऽऽदिषु पलञ्जीवसाऽऽदेः प्रक्षेपे, तत्प्रतिरूपेण वसाऽऽदिना व्यवहरणे तत्प्रतिरूपकव्यवहारः । स्थूलादत्ताऽऽदानविरतेश्चतुर्थेऽतिचारे, आ० । पञ्चा० । ध० । आव० ।

तप्पढमया--तत्प्रथमता--स्त्री० । तेषां विवक्षितानाम् (भ० ए श० ३३ उ०) मनुजत्वाऽऽदीनां प्रथमं तत्प्रथमं, तद्भावस्तत्प्रथमता । तस्याम्, उत्त० १ अ० । प्रथमे कल्पे, कल्प० २ क्षण ।

तप्पण--तर्पण--न० । उपकरणे, स० ३० सम० । शक्तौ, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । स्नेहाऽऽदौ शरीरबृंहणे, विपा० १ श्रु० १ अ० । स्नेहद्रव्यविशेषैर्बृंहणे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

तप्पणालोडिय--तर्पणाऽऽलोडित--न० । सक्तवालोडने, जलाऽऽद्यालोडितसक्तौ, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तप्पमाण--तर्पमाण--त्रि० । तरति, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । स० ।

तप्पर--तत्पर--त्रि० । तद्रूपतया वर्त्तमानेऽन्यस्मिन्, यथा परमाणोरपरः परमाणुः । आचा० २ श्रु० २ चू० ६ अ० । आसक्ते, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

तप्पागारसंठिय--तप्राकारसंस्थित--त्रि० । अधोमुखशरावाऽऽकारसंस्थिते, भ० ११ श० १० उ० । आ० चू० ।

तप्पुरक्कार--तत्पुरस्कार--पुं० । तस्याऽऽचार्यस्य पुरस्करणं पुरस्कारः । सर्वकार्येष्वग्रतः स्थापने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । तमाचार्यं सर्वकार्येषु पुरस्करोतीति तत्पुरस्कारः । आचार्यानुमत्या क्रियाऽनुष्ठायिनि, त्रि० । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

तप्पुरिस--तत्पुरुष--पुं० । द्वितीयाऽऽदिविभक्त्यन्तपदानां स्वनाम. ख्याते समासे, यथा तीर्थे काक इवाऽऽस्ते तीर्थकाकः । "ध्वाङ्क्षेणाऽऽक्षेपे ॥२।१।४२॥ इति (पाणि०) सप्तमीतत्पुरुषः । अनु० ।

से किं तं तप्पुरिसे ? । तप्पुरिसे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा--तित्थे कागो तित्थकागो, वणे हत्थी वणहत्थी, वणे वराहो वणवराहो, वणे महिसो वणमहिसो, वणे मयूरो वणमयूरो । सेत्तं तप्पुरिसे ॥

तीर्थे काक इवाऽऽस्ते तीर्थकाकः । "ध्वाङ्क्षेणाऽऽक्षेपे" ॥ २ । १ । ४२ ॥ इति (पाणि०) सप्तमीतत्पुरुषः । शेषं स्पष्टम् । अनु० ।

तब्भत्तिय--तद्भक्तिक--त्रि० । तत्र भक्तिः सेवा बहुमानो वा येषां ते तद्भक्तिकाः । तत्सेवके, भ० ५ श० ७ उ० ।

तब्भवमरण--तद्भवमरण--न० । तस्मै भवाय मनुष्याऽऽदेः सतो मनुष्याऽऽद्यायेव बद्धाऽऽयुषो यन्मरणं तत् तद्भवमरणम् । इदं च नरतिरश्चामेव भवति । बालमरणभेदे, भ० २१ श० १ उ० । स० । स्था० । प्रव० ।

तत्स्वरूपम्--

मोत्तुं अकम्मभूमग--णरतिरिए सुरगणे य णेरइए ।
सेसाणं जीवाणं, तब्भवमरणं तु केसिं च ॥१५॥

(मोत्तुं गाहा) मुक्त्वा अपहाय, कान् ?, (अकम्मभूमगणरतिरिए त्ति) सूत्रत्वादकर्मभूमिजाश्च ते देवकुरूत्तरकुर्वादिभूभवाः तथा नरास्तिर्यञ्चश्च अकर्मभूमिजनरतिर्यञ्चः, तान्, तेषां हि तद्भवानन्तरं देवेष्वेवोत्पादः, तथा सुरगणांश्च सुरनिकायान् । किमुक्तं भवति ?--चतुर्निकायवर्तिनोऽपि देवान्, निरयो नरकः, तस्मिन् भवा नैरयिकाः । इहाऽपि चशब्दानुवृत्तेस्तांश्च, मुक्त्वेति संबन्धः । तेषां देवानां च तद्भवानन्तरं तिर्यङ्मनुष्येष्वेवोत्पत्तेः । शेषाणामेतदुद्धरितानां कर्मभूमिजनरतिरश्चां, जीवानां प्राणिनां तद्भवमरणं, तेषामेव पुनस्तत्रोत्पत्तेस्ताद्वर्यास्मिन् भवे वर्त्तते जन्तुस्तद्भवयोग्यमेवाऽऽयुर्बद्ध्वा पुनस्तत्क्षयेण म्रियमाणस्य भवति, तुशब्दस्तेषामपि संख्येयवर्षाऽऽयुषामेवेति विशेषद्योतकः, असंख्येयवर्षाऽऽयुषां हि युगलधार्मिकत्वादकर्मभूमिजानामिव देवेष्वेव उत्पादः, तेषामपि न सर्वेषां, किं तु केषांश्चिद् तद्भवोत्पादानुरूपमेवाऽऽयुःकर्मोपचिन्वतामिति गाथार्थः ।

मोत्तूण ओहिमरणं, आवी चीआइअं तु तं चेव ।
सेसा मरणा सव्वे, तब्भवमरणे य णायव्वे ॥ १६ ॥

अत्रान्तरे प्रत्यन्तरेषु (मोत्तूण ओहिमरणं) इत्यादि गाथा दृश्यते, न चास्या भावार्थः सम्यगवबुध्यते, नापि चूर्णिकृताऽसौ व्याख्याता । उत्त० पाई० ५ अ० ।

तब्भारिय--तद्भार्य--त्रि० । तस्य सोमस्य भार्या इव भार्या अत्यन्तवश्यत्वात्पोषणीयत्वाच्चेति तद्भार्यः । दासे, भ० ३ श० ७ उ० ।

तद्भारिक--त्रि० । तद्भारो येषां वोढव्यतयाऽस्ति ते तद्भारिकाः । दासे, भ० ३ श० ७ उ० ।

तब्भावणाभाविय--तद्भावनाभावित--त्रि० । तस्याऽऽवश्यकस्य भावना अव्यवच्छिन्नपूर्वपूर्वतरसंस्कारस्य तदनुष्ठानरूपतया भावितः । तद्भावभावेन परिणताऽऽवश्यकानुष्ठानपरिणामे, अनु० । विपा० । ग० ।

तब्भूम--तद्भौम--त्रि० । तस्यामेव भूमौ भवस्तद्भौमः । तद्भूमिवास्तव्यलोकपरिचिते, बृ० १ उ० ।

तम--पुं०--तमस्--न० । तमयति खेदयति जनलोचनानीति तमः । औणाऽऽदिकोऽसुन् । उत्त० १ अ० । "स्तमदामशिरोऽनभः" ॥ ८ । १ । ३२ ॥ इति प्राकृते पुंस्त्वम् । प्रा० १ पाद । अन्धकारे, औ० । आचा० । कृष्णचतुर्दश्यां, रजन्यां वा तेजोद्रव्याभावे, बृ० १ उ० । नि० चू० । मोहे, औ० । अज्ञाने, ध० २ अधि० । स्था० । मिथ्याज्ञाने, स्था० ४ ठा० २ उ० । बद्धस्पृष्टनिधत्ते ज्ञानाऽऽवरणीये निकाचिते, आव० ५ अ० । अप्कायपरिणामस्वरूपेऽन्धकारे, स्था० ४ ठा० २ उ० । तमिस्रे, स० । आत्मनो वैरपीडाऽऽदौ, प्रव० ७२ द्वार । द्रव्याभावरूपान्धकारे, षो० १५ विव० । सम्म० । शोके, दे० ना० ५ वर्ग १ गाथा ।

तमण--देशी--चुल्ल्यां, दे० ना० ५ वर्ग २ गाथा ।

तमतम--तमस्तम--पुं० । तमस्तमा सप्तमनरकपृथ्वी, तस्यामुत्पन्ना नारका अपि तमस्तमाः, उपचारात् । यद्वा--तमस्तमा विद्यते येषां ते तमस्तमाः । "अभ्राऽऽदिभ्यः" ॥ ७ । २ । ४६ ॥ इत्यप्रत्ययः । सप्तमनरकपृथिवीनारकेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

तमतमग--तमस्तमाग--पुं० । सप्तमपृथ्वीनारके, " तमतमगो अइखिप्पं, संमत्तं लभिय तम्मि बहुगद्धं । मणुयदुगस्सुक्कोसं, सवञ्जरिसभस्स बंधत्ते ॥ ६० ॥ " पं० सं० ५ द्वार । प्रश्न० ।

तमतमप्पभा--तमस्तमप्रभा--स्त्री० । तमसः प्रभा यस्याः सा । सप्तमनारकपृथिव्याम्, अनु० । प्रज्ञा० ।

तमतमा–तमस्तमा–स्त्री० । अतिशयबत्तमस्तद्रूपद्रव्ययोगात्तम-स्तमा । सप्तमनरकपृथिव्याम्, अनु० । स्था० ।

तमतिमिर–तमस्तिमिर–न० । अन्धकारे, रात्रौ यदा रजो धूमधूमिका भवति तदा तमतिमिरं भण्यते । वृ० ४ उ० । विज्ञानमन्दताऽल्पत्वे, आ० चू० ५ अ० । नि० चू० ।

तमतिमिरपडल–तमस्तिमिरपटल–न० । तमो विज्ञानमन्दता, यथा पृथ्वीकायाऽऽदीनां तिमिरं विज्ञानादपता, तथा शेषाणां तमस्तिमिरनिमित्तभूतं पटलं तमस्तिमिरपटलम् । ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मसङ्घाते, आ० चू० । यद्वा-तमोऽपरिज्ञानं तस्य हेतुभूतं तिमिरपटलं तमस्तिमिरपटलम् । ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मबन्धे, आ० चू० । अथवा-तमोऽनवबोधः, स एव तिमिरं तमस्तिमिरं, तस्य कारणं पटलं तमस्तिमिरपटलम् । अथवा तमोऽपरिज्ञानहेतुः, स एव बहलस्तिमिरं, तस्य पटलं वर्गः समूहः । अन्ये पुनर्भणन्ति-तमो बद्धं स्पृष्टं निधत्तं ज्ञानाऽऽवरणीयं निकाचितं तिमिरं, तस्य पटलं वृन्दं तमस्तिमिरपटलम् ; ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मसङ्घाते, आ० चू० ५ अ० । यदा तस्यामेव रजन्यां रजःप्रभृतयो मेघदुर्दिनं च भवति, तदा तमस्तिमिरपटलमभिधीयते । यथा तत्रैवान्धकारे पुरुषः किञ्चिदपि न पश्यति । अन्धकारसमूहे, वृ० ४ उ० ।

तमतिमिरपडलभूय–तमस्तिमिरपटलभूत–त्रि० । दर्शनाऽऽवरणीयोदयात्किञ्चिन्न पश्यति, नि० चू० ।

> तमतिमिरपडलभूओ, पावं चिंतेति दीहसंसारी ।
> कण्हाएँ चउद्दसिए, राओ जासइ........... ॥

दव्वाभावो य तमं भण्णति, तम्मि चेव रातो जदा रयरेणुधूमिता भवति तदा तमतिमिरं भण्णति, जदा पुण ता चेव रातीए रयादिया मेहदुद्दिणं च भवति, तदा तमतिमिरपडलं भण्णति, सुट्ठु अन्धकारं, णऽत्थ पुरिसो किंचि पासति, एवं उदएण तिव्वतरतिव्वतमेण पुरिसो तमतिमिरपडलभूतो भण्णति, भूतशब्दः सादृश्योपमार्थे द्रष्टव्यः । अहवा--तम एव तिमिरमेव पडलं तमतिमिरपडलं, अन्धकारविशेष इत्यर्थः । एतेण उवमा कज्जति, तेण तमतिमिरपडलभूतो, इहापि भूतशब्द उपमार्थः । यथाऽन्धकारेण न किञ्चिदुपलभ्यते, एवं मोहकषायोदयात्स चारित्रगुणः कश्चिदुपलभ्यते । अहवा पि उदयविकारेण य दव्वचक्खिन्द्रियस्सऽन्तःकरणं पडलं भण्णति, तब्भावे य चक्खुदंसणावरणोदयओ य तिमिरपडलेहिं पुरिसस्स तमो भवति, न किञ्चित्पश्यतीत्यर्थः । तेण उवमा जस्स कज्जति, सो तमतिमिरपडलभूतो, इहापि भूतशब्द उपमार्थे । नि० चू० १० उ० ।

तमतिमिरपडलविद्धंसण–तमस्तिमिरपटलविध्वंसन–त्रि० । तमोऽज्ञानं तदेव तिमिरं तमस्तिमिरम् । अथवा–तमो बद्धस्पृष्टं निधत्तं ज्ञानाऽऽवरणीयं, निकाचितं तिमिरं, तस्य पटलं वृन्दं तमस्तिमिरपटलं, तद्विध्वंसयति विनाशयतीति तमस्तिमिरपटलविध्वंसनः । अज्ञाननिराशकर्त्तरि, ल० । आव० । ध० ।

तमपज्जलण–तमःप्रज्वलन–त्रि० । तमोबलेनाऽज्ञानबलेनाऽन्धकारबलेन वा प्रज्वलति दर्पितो भवतीति तमःप्रज्वलनम् । अज्ञानबलेन अन्धकारबलेन वा दृप्ते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तमपडल–तमःपटल–न० । ज्ञानाऽऽवरणे, भ० ६ श० ४ उ० । अन्धकारसमूहे, उत्त० ४ अ० ।

तमपडलमोहजालपडिच्छण्ण–तमःपटलमोहजालप्रतिच्छन्न–त्रि० । तमःपटलमिव तमःपटलं ज्ञानाऽऽवरणं, मोहो मोहनीयं, तदेव जालं मोहजालं, ताभ्यां प्रतिच्छन्ना आच्छादिता ये ते तथा । ज्ञानाऽऽवरणीयमोहनीयकर्मभ्यामाच्छादितेषु, भ० ६ श० ४ उ० ।

तमप्पभा–तमःप्रभा–स्त्री० । तमसः प्रभा बाहुल्यं यत्र सा तमःप्रभा । प्रव० १७२ द्वार । तमोमय्यां षष्ठ्यां नरकपृथिव्याम्, प्रज्ञा० १ पद । भ० । अनु० ।

तमप्पविट्ठ–तमःप्रविष्ट–त्रि० । तमः प्रविष्ट इव तमःप्रविष्टः । तमःकर्मप्रवेशकर्त्तरि, भ० ६ श० ४ उ० ।

तमबल–तमोबल–पुं० । तमोऽज्ञानं बलं सामर्थ्यं यस्य सः, तमोऽन्धकारं वा तदेव तत्र वा बलं यस्य स तथा । अनाचारवति, अज्ञानिनि, रात्रिचारे, चौराऽऽदौ पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तमबलपलज्जण–तमोबलप्ररञ्जन–पुं० । तमो मिथ्याज्ञानमन्धकारं वा तदेव बलं यत्र । अथवा तमस्युक्तरूपे बले च सामर्थ्ये प्ररञ्जनं रतिं करोतीति तमोबलप्ररञ्जनः । तमोबलरके पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तमोबलप्रलज्जन–पुं० । तमोबलेनान्धकारबलेन सञ्चरन् प्रलज्जत इति तमोबलप्रलज्जनः । प्रकाशचारिणि पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तमरयविद्धंसणणाण–तमोरजोविध्वंसज्ञान–न० । तमोरजसी अज्ञानपातके विध्वंसयति नाशयतीति यत्तत्तमोरजोविध्वंसं, तच्च तद् ज्ञानं च तमोरजोविध्वंसज्ञानम् । अज्ञानपातकनाशके ज्ञाने, स० ५ अङ्ग ।

तमस्सई–तमस्वती–स्त्री० । तमोऽन्धकारमस्यास्तीति तमस्वती । व्य० ५ उ० । बहलतमःपटलकालितायां रात्रौ, वृ० १ उ० ।

तमा–तमा–स्त्री० । तमोरूपद्रव्ययुक्तत्वात् तमा इति । अनु० । षष्ठ्यां नरकपृथिव्याम्, स्था० ७ ठा० । अन्धकारयुक्तत्वेन रात्रितुल्यत्वादधोदिशि, स्था० १० ठा० । प्रज्ञा० । " सोमा ईसाणा वि य, विमला य तमा य बोधव्वा ।" विशे० । आ० म० ।

तमाड–भ्रमि–धा० । भ्रम–णिच् । " भ्रमेस्तालिअण्टतमाडौ " ॥ ८ । ४ । ३० ॥ इति भ्रमेर्ण्यन्तस्य वा ' तमाड ' इत्यादेशः । ' तमाडइ ' । पक्षे–' भमाडइ ' । भ्रमयति, प्रा० ४ पाद ।

तमाल–तमाल–पुं० । सङ्ख्येयजीवके वलयाऽऽख्यवनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । प्रज्ञा० । भ० । औ० । रा० ।

तमालदया–तमालदया–स्त्री० । सुनालनन्दनामनगरवास्तव्यस्य तालध्वजनाम्नो राज्ञो भार्यायाम्, दर्श० १ तत्त्व । पुष्करद्वीपार्धे द्वीपे मङ्गलावतीविजये अमरकेतुपितृअमरनन्दपालितायां पुरि, दर्श० ३ तत्त्व ।

तमिसंधयार–तमिस्रान्धकार–पुं० । न० । बहुलतमोऽन्धकारे, यत्राऽऽत्माऽपि नोपलभ्यते चक्षुषा केवलमवधिनाऽपि मन्दं मन्दमुलूका इवाऽपि पश्यन्ति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । पिं०

तमिस्स–तमिस्र–न० । अन्धकारे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तमुक्काय–तमस्काय–पुं० । तमसोऽप्कायपरिणामस्वरूपस्यान्धकारस्य कायः प्रचयस्तमस्कायः । अप्कायपरिणामरूपतमःप्रचये, प्रव० २६९ द्वार । स्था० । तमस्कायस्य स्वरूपम्–

जंबुद्दीवाउ असंखेज्ज इमा अरुणवरसमुद्दाओ ।
बायालीससहस्से, जगईउ जलं विलंघेउं ॥ ४१२ ॥
समसेणीएँ सत्तरस, एक्कवीसाइं जोअणसयाइं ।
उल्लसिओ तमरूवो, वलयागारो अप्पुक्काओ ॥ ४१३ ॥
तिरिअं वित्थरमाणो, आवरयंतो सुरालयचउक्कं ।
पंचमकप्पेऽरिट्ठ-म्मि पत्थडे चउद्दिसिं मिलिओ ॥४१४॥

जम्बूद्वीपादसंख्येयतमो योऽसावरुणवरसमुद्रः,तमाश्रित्य द्विचत्वारिंशद् योजनसहस्राणि जगत्या जलं विलङ्घ्य, समश्रेणया सप्तदशैकविंशत्यधिकानि सप्तदश शतानि यावद्वलयाकारस्तमोरूपो, देवानामपि तत्रोद्योताभावेन महान्धकाराऽऽत्मकत्वात् अप्काय उल्लसितः । अयमर्थः–एतस्माज्जम्बूद्वीपात्तिर्यगसंख्येयतमान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिक्रम्याऽरुणवरनामा द्वीपः समस्ति, तद्वेदिकापर्यन्ताद् द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यरुणवरं समुद्रमवगाह्याऽन्तरे जलोपरितनतलादूर्ध्वमेकविंशत्युत्तराणि सप्तदशयोजनशतानि यावत्समभित्त्याकारतया गत्वा वलयाऽऽकारोऽप्कायमयो महान्धकाररूपस्तमस्कायः समुल्लसित इति । अयं तिर्यक् विस्तरन् सुरालयचतुष्कं सौधर्मेशानसनत्कुमारमाहेन्द्ररूपदेवलोकचतुष्टयमावृण्वन्नावरयन्नूर्ध्वं तावद् गतो यावत्पञ्चम ब्रह्मलोकनामके कल्पे तृतीयेऽरिष्टविमानप्रस्तटे चतसृष्वपि दिक्षु मिलित इति ।

अथ तमस्कायस्य संस्थानमाह–

हेट्ठा मल्लगमूल-ट्ठिओ उवरि बंभलोयं जा ।
कुक्कुडपंजरगाऽऽगा-रसंठिओ सो तमुक्काओ ॥४१५॥

अधस्तादधोभागेन मल्लकमूलसंस्थितः स्थितो–मल्लकं शरावं,तस्य मूलं बुध्नस्तस्य स्थितिः संस्थानं तया स्थितो ऽधःस्थितः, शरावबुध्नाऽऽकार इति भावः । उपरिष्टाच्च यावत् कुक्कुटपञ्जराऽऽकारसंस्थितः, स पूर्वोक्तस्वरूपः तमस्कायो भवति,तमसां तमिस्रपुद्गलानां कायो राशिस्तमस्काय इति । स्थापना-[::]

अथाऽस्य तमस्कायस्य विष्कम्भं परिधिं च प्राऽऽह–

दुविहो से विक्खंभो, संखेज्जो अत्थि तह असंखेज्जो ।
पढमम्मि य विक्खंभे, संखेज्जा जोयणसहस्सा ॥ ४१६ ॥
परिहीएँ ते असंखा, बीए विक्खंभपरिहिजोएहिं ।
हुंति असंखसहस्सा, नवरमिमं होइ वित्थारो ॥ ४१७ ॥

द्विविधो द्विप्रकारः (से त्ति) तस्य तमस्कायस्य विष्कम्भो विस्तरो भवति–संख्यातः, तथा असंख्यातश्च । तत्र प्रथमे विष्कम्भे आदित आरभ्य ऊर्ध्वं संख्येययोजनानि यावत्संख्येययोजनसहस्राः प्रमाणतो भवन्ति । परिधौ परिक्षेपे पुनस्त एव योजनसहस्रा असंख्याताः, अधस्तमस्कायस्य संख्यातयोजनाधिस्तृतत्वेऽप्यसंख्यातद्वीपपरिक्षेपतो बृहत्तरत्वात्परिक्षेपस्यासंख्यातयोजनसहस्रैः प्रमाणत्वमविरुद्धम् । आन्तरबाहिःपरिक्षेपविभागस्तु लोकः,उभयस्याप्यसंख्यातत्व[illegible]त्वादिति । तथा द्वितीये विष्कम्भपरिधियोगाच्चतुर्थो विष्कम्भेण परिधिना च प्रत्येकमसंख्यातयोजनसहस्रा भवन्ति, नवरं केवलमिदमसंख्यातयोजनसहस्ररूपं च प्रमाणं विस्तारे भवति । वलयाऽऽकारादूर्ध्वं यदसौ तमस्कायक्रमेण विस्तरति, तदानीमिदं प्रमाणमवसेयमिति भावः । अस्य च तमस्कायस्य महत्त्वमित्थमागमविदः प्रवेदयन्ति–यथा यो देवो महर्द्धिको यया गत्या तिसृभिश्चप्पुटिकाभिरेकविंशतिवारान् सकलं जम्बूद्वीपमनुपरिवृत्याऽऽगच्छेत्,स एव देवः तयैव गत्या षड्भिरपि मासैः संख्यातयोजनविस्तारमेव तमस्कायं व्यतिव्रजेन्नेतरमिति । यदा च कश्चिद्देवः परदेव्याः सेवाहेवाकपरस्त्वाहारादिबलोत्कटपराभवाद्वा, तदा च तद्भयभयाद्दुतत्वाद्देवानामपि भूरितयाऽऽवितस्तिकत्वेन गमनविघातहेतौ तस्मिंस्तमस्काये विलीयत इति । प्रव०२६९ द्वार ।

किमियं भंते ! तमुक्काए त्ति पवुच्चइ–किं पुढवितमुक्काए त्ति पवुच्चइ, आउतमुक्काए त्ति पवुच्चइ ? । गोयमा ! नो पुढवितमुक्काए त्ति पवुच्चइ, आउतमुक्काए त्ति पवुच्चइ । से केणट्ठेणं ? । गोयमा ! पुढविकाए णं अत्थेगइए सुभेए संपकासेइ, अत्थेगइए देसं नो पकासेइ, से तेणट्ठेणं ॥

(किमियमित्यादि) (तमुक्काए त्ति) तमसां तमिस्रपुद्गलानां कायो राशिस्तमस्कायः । स च नियत एवेह स्कन्धः कश्चिद्विवक्षितः, स च तादृशः पृथ्वीरजःस्कन्धो वा स्यादुदकरजःस्कन्धो वा, न त्वन्यः, तदन्यस्यातादृशत्वादिति । पृथिव्यविषयसन्देहादाह–(किं पुढवीत्यादि) व्यक्तम् । (पुढविकाए णमित्यादि) पृथ्वीकायोऽस्त्येकः कश्चिच्छुभो भास्वरो; यः किंविध इत्याह–देशं विवक्षितक्षेत्रस्य प्रकाशयति, भास्वरत्वाद् मण्यादिवत्, तथाऽस्त्येकः पृथिवीकायो देशं पृथिवीकायान्तरं प्रकाश्यमपि न प्रकाशयति, अभास्वरत्वादन्धोपलवद्, नैवं पुनरप्कायः,तस्य सर्वस्याप्यप्रकाशकत्वात्, ततश्च तमस्कायस्य सर्वथैवाप्रकाशकत्वादप्कायपरिणामतैव । भ० ६ श० ५ उ० ।

अत्र न्यायमार्गानुयायिनः सङ्गिरन्ते–ननु पृथिव्यादीनां चतुर्णां लक्षणं वर्णवत्तु द्रव्यत्वम्, तिमिरच्छाययोस्तु द्रव्यतावाचोयुक्तिर्युक्तिरिक्तैव, तासामभाव एव हि तमश्छाये गच्छतां सच्छाये । तथाहि–शशधरदिनकरकरनिकरानिरन्तरप्रसरासंभवे सर्वतोऽपि सति तम इति प्रतीयते, यदा तु प्रतिनियतप्रदेशेनाऽऽतपस्याऽऽलोको रविबद्धस्तेजःपुञ्जो यत्र यत्र न संयुज्यते, तदा तत्र तत्र छायेति प्रतीयते. प्रतिबन्धकाभावे तु स्फुरणाऽऽलोकः समालोक्यत इत्यालोकाभाव एव तमश्छाये । यदि च–तमो द्रव्यं भवेत्, तदा कपिलद्रव्यसंस्पर्शाव्यभिचारात् स्पर्शवद्द्रव्यस्य च महतः प्रतिघातहेतुत्वात्सरलतरतुङ्गतरकुपरकन्दरोपेतपाषाणस्तम्भ इव, प्रथमजलधरधाराधोरणीधौताञ्जनगिरिगरीयःशृङ्गप्रतिबन्धिनीव, निर्भरिझरस्फारिवारिदुर्वारशीकराऽऽसारसिच्यमानाऽभिरामारामविद्रुमप्रतिबन्ध इव च प्रवृत्ते तिमिरभरे सञ्चरतः पुंसः प्रतिबन्धः स्यात् । भूगोलकस्येव चाऽस्यावयवभूतानि खण्डावयविद्रव्याणि प्रतीयेरन्, एवं छायायामपि, इति कथं ते द्रव्ये भवेताम् ? ।

अत्राभिदध्महे–तमसस्तावदभावरूपतावक्तासोक्तिरानुभविकी, आनुमानिकी वा ? । न तावदानुभविकी, यतोऽनावानुभवो

भावान्तरोपलम्भे सत्येव संभवी, कुम्भाभावोपलम्भवत् । न च प्रचुरतरतिमिरनिकरपरिकरितापवरकोदरे सकलस्याऽऽदिमावस्याप्युपलम्भः संभवति, तत्कथं तदनुभूतिर्भवेत् ?। कथं वा प्रदीपाऽऽदिप्रभाप्राग्भारप्रोज्जृम्भणमन्तरेणास्योपलम्भः ?, कुम्भाऽऽद्यभावो हि तद्भाव एवानुभूयमानो दृष्टः, तत्कथमेष न्यायमुद्राऽतिक्रमो न कुतः स्यात् ?। अथ यो भावो यावत्या सामग्र्या गृह्यते तदभावोऽपि तावत्यैव तेन तदिहाऽऽलोकस्य सातत्येनाऽऽलोकान्तरमन्तरेणैव ग्रहणमालोकिम्, इति तदभावस्याऽपि तर्हि किं न स्यात् ?, इति चेत् । अहो ! चीतविषस्याप्यमूर्तोद्गारः, एवं वदता त्वयैव तमसि द्रव्यताऽभ्याहारात् । किमिदमीदृशमिन्द्रजालमिति चेत् ?। इदमीदृशमेवेन्द्रजालमालोक्यताम्—आलोकः किल चक्षुषा संयोगात् गृह्यते, यदि च तदभावस्याऽपि तत्सामग्र्यैव ग्रहणं स्यात्, तदा तस्याऽपि ग्रहणे चक्षुःसंयोगसद्भावाद्भावाता द्रव्यताऽऽपत्तिः, संयोगस्य गुणत्वेन तद्वृत्तित्वात् । अथासंयुक्तोऽप्ययं प्रेक्ष्यते, तदा कथं यो भावो यावतेत्यादि सूक्तं न स्यात् ?; कथं वा चक्षुषः प्राप्यकारिताप्रवादः सुपपादः स्यात् ?। विशेषणविशेष्यभावसंबन्धबन्धुरस्यान्धकारस्य ग्रहणादयमदोष इति चेत्, कतमस्यैष विशेषणम् ?। न शरीरस्य, तदन्यत्राऽपि प्रतिभासनात् । नाऽपि भूतलकलशकुड्याऽऽदेः, तत एव। तर्हि भवतु नभस इति चेत्। तदशक्यम्; एतस्य तद्विशेषणविशेष्यीभावेन कदाचिदप्रतिभासनात् । तदेतदभावस्याऽऽकृतिरानुभविकी भग्ना ।

नाऽप्यानुमानिकी, यतः कतमोऽत्र हेतुराख्यायते संख्यावता ?- किं भाववैलक्षण्येन लक्ष्यमाणत्वं, भावविलक्षणसामग्रीसमुत्पाद्यत्वम्, असत्येवाऽऽलोके तत्प्रतिभासनम्, आलोकग्रहणसामग्र्या गृह्यमाणत्वम्, तिमिरद्रव्योत्पादककारणाभावः, द्रव्यगुणकर्मातिरिक्तकार्यत्वम्, आलोकविरोधित्वं, भावरूपताप्रसाधकप्रमाणाभावो वा ?, इत्यष्टपक्षी राक्षसीव त्वत्पक्षनक्षत्रलक्षणविचक्षणोपतिष्ठते । तत्र न तावदाद्यः पक्षः क्षेमङ्करः, 'कुम्भोऽयं स्तम्भोऽयम्' इति हि यथा कुम्भाऽऽदयो भावा विधिमुखेन प्रत्यक्षेण प्रेक्ष्यन्ते, तथेदं तम इति तमोऽपि, अभावरूपतायां तस्य प्रतिषेधमुखेन प्रत्ययः प्रादुःष्यात् । यथा कुम्भोऽत्र नास्तीति । ननु नाशप्रध्वंसाऽऽदिप्रत्यया विधिमुखेनाऽपि प्रवर्तमाना दृश्यन्ते । नैवम्, नाशाऽऽदिशब्दानामेव भावप्रतिषेधाभिधायकत्वात्, अत एव हि कुम्भस्य प्रध्वंस इति सोपपदानामेषां प्रयोगोपपत्तिः । यदि तु तमःप्रभृतिशब्दा अपि तत्समानार्थतामाबिभ्रीरन्, तदानीं कुम्भस्याभाव इतिवदालोकस्य तम इत्यपि प्रोच्येत, न चैवं कश्चिद्विपश्चिदपि प्रयुङ्क्ते । अथाऽऽलोकाभावे संकेतितस्तमःशब्दो, नाभावमात्रे, ततो न तथाव्यपदेश इति चेत्। नैवम्, यदि ह्यन्धकाररूपोऽभावोऽपि विधिमुखेन बोध्येत, तदानीं किमन्यदेतस्य भाववैलक्षण्येन लक्ष्यमाणत्वं स्यात् ?। यतो हेतुसिद्धिर्भवेत् ।

अथ भावविलक्षणसामग्रीसमुत्पाद्यत्वं हेतुः, तथाहि-समवायसमवायिनिमित्तकारणकलापव्यापाररूपाभावोत्पादिका सामग्री, नैव तमसीयं समस्ति । तदशस्तम्, यतः किमिदं समवायिकारणनाम्ना त्वमाम्नासीः ?। यत्र कार्यं समवेतमुत्पद्यते तदिति चेत् । तदसम्यक्, समवायस्य निरन्तरसुहृद्गोष्ठीषु गौरवार्हत्वात्; तत्प्रसाधकत्वाभिमतस्य 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिप्रत्ययस्याप्रसिद्धेः, 'पटे तन्तवः' इत्यादिरूपस्यास्याऽऽबालगोपालं प्रतीतत्वात्, सिद्धौ वा इह भूतले घटाभाव इत्यभावप्रत्ययेन व्यभिचारात् । संबन्धमात्रपूर्वताप्रसाधने सिद्धसाधनात्, अविष्वग्भावमात्रनिमित्ततया तदङ्गीकारात् । एकान्तैकस्वरूपत्वेन चाऽस्यैकवस्तुसमवायसम्भवे समस्तवस्तुसमवायस्य, विनश्यदेकवस्तुसमवायाभावे समस्तवस्तुसमवायाभावस्य वा प्रसङ्गात् । तत्तद्वस्तुच्छेदकभेदात् तदुपपत्तौ तस्याऽपि कथञ्चिद्भेदाऽऽपत्तेः, अनेकपुरुषावच्छिन्नपर्षदादेरपि तावत्स्वभावभावेन कथञ्चिद्भेदात् । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपतया चाऽस्याऽऽकाशसामान्यादेनानावस्तुसमाश्रितत्वमेव भवेत्, न तु कार्यवस्तुसमाश्रितत्वम् । तत्तत्सहकारिकारणकलापोपनिपातप्रभावात् कार्यसमवायस्वीकारोऽपि सविकारः, तत्स्वभावप्रभावप्रतिबद्धानां तेषामपि सदा संनिधानप्रधानत्वात्, तथा चानन्तिमता समवायिकारणकिंवदन्ती। तदभावे किमसमवायिकारणम् ?, समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वं हि तल्लक्षणम्, तदसत्त्वे कथमेतत् स्यात् ?। तथा च तद्वयच्युतस्य निमित्तकारणस्याऽपि का व्यवस्था ?। सन्तु वा कारणान्यमूनि, तथाऽपि यथाकथञ्चिदालोककलापस्योत्पादः, तथा तमसोऽपि भविष्यति, किमर्वाचीनरचनाभिरपासितुं शक्यते ?। किमस्योत्पादकमिति चेत्। आलोकस्य किमिति वाच्यम् ?। तेजोऽणव इति चेत् । अस्याऽपि तमोऽणव एव सन्तु । सिद्धास्तावत् तैजसास्तेऽविवादेन वादिप्रतिवादिनोरिति चेत् । तामसा अपि तद्वदेव किं न सेत्स्यन्ति ?, इति त्यज्यतामाग्रहः।

असत्येवाऽऽलोके तत्प्रतिभासनमप्यसम्यक्, न हि यस्मिन्नसत्येव यत् प्रतिभासते तत् तदभावमात्रमेव भवति, अमत्येव व्यवधाने प्रतिभासमानैर्घटाऽऽदिभिर्व्यभिचारात्। कथं च नैवं प्रतिबन्धकेऽसत्येव समुत्पद्यमानस्य स्फोटस्याऽपि तदभावमात्रता स्यात्?। अथ स्फोटो दाहकाऽऽत्मकतया स्पार्शनप्रत्यक्षेणाऽनुभूयते, अभावमात्रतायां हि तस्य नेयमौपपत्तिकी स्यात्, तर्हि तमोऽपि शैत्येन तेनैव प्रत्यक्षेण प्रेक्ष्यमाणं कथमभावस्वभावं भजेत ?॥

अथाऽऽलोकग्रहणसामग्र्या गृह्यमाणत्वं हेतुः, तथा च शङ्करन्यायभूषणः-'यो हि भावो यावत्या सामग्र्या गृह्यते, तदभावोऽपि तावत्यैव, इत्यालोकग्रहणसामग्र्या गृह्यमाणं तमस्तदभाव एवेति ।" तदपि न किञ्चित्, तमोग्रहणसामग्र्या गृह्यमाणस्याऽऽलोकस्यैव तदभावताप्रसक्तेनाऽनैकान्तिकत्वात्, घटपटयोर्वा समानग्रहणसामग्रीकतया परस्पराभावत्वप्रसङ्गात् ॥

अथ तिमिरद्रव्योत्पादककारणाभावो हेतुः, तथा च श्रीधरः- तमःपरमाणवः स्पर्शवन्तः, तद्रहिता वा ?। न तावत् स्पर्शवन्तः, स्पर्शवतस्तत्कार्यद्रव्यस्य कदाचिदप्यनुपलम्भात् । अदृष्टवशात्तदभावात् स्पर्शवत्कार्यद्रव्यानारम्भका इति चेत् । रूपवन्तो वायुपरमाणवोऽदृष्टव्यापारवैगुण्याद् रूपवत् कार्यं नारभन्ते इति किं न कल्प्येत ?, किं वा न कल्पितमेकजातीयानेव परमाणोरदृष्टोपग्रहाच्चतुर्धा कार्याणि जायन्त इति ?। कार्यैकसमधिगम्याः परमाणवो यथा कार्यमुन्नीयन्ते, न तद्विलक्षणाः, प्रमाणाभावादिति चेत् । एवं तर्हि तामसाः परमाणवोऽप्यस्पर्शवन्तः कल्पनीयाः, तादृशाश्च कथं तमोद्रव्यमारभेरन् ?। अस्पर्शवत्त्वस्य कार्यद्रव्यानारम्भकत्वेनाऽव्यभिचारोपलम्भात् । कार्यदर्शनात् तदनुगुणं कारणं कल्प्यते, न तु कारणवैकल्येन दृष्टकार्यविपर्यासो युज्यत इति चेत् । न वयमन्धकारस्य प्रत्यर्थिनः, किन्त्वारम्भानुपपत्तेः, नालिममात्रप्रतीतेश्च द्रव्यमिदं न

भवतीति भ्रम इति । नैतदुपपत्तिसहवीं प्रतिपद्यते, यतः स्पर्शवन्त एव तामसाः परमाणवः प्रोच्यन्ते । यत्पुनरत्रोपादर्शि-स्पर्शवत्तन्मत्कार्यद्रव्यस्य कश्चिदप्यनुपलम्भादिति । तदसत्यम्, शीतस्पर्शवतस्तमोद्रव्यस्यैव तत्कार्यस्य दर्शनात् । तत्र स्पर्शसद्भावे किं प्रमाणम् ?, इति चेत् । तदभावे किं प्रमाणम् ?, इति वाच्यम्, न हि तत्प्रतिषेधकप्रमाणमन्तरेणाऽस्पर्शवत्त्वात् कार्यद्रव्यानारम्भकत्वं प्रसाधयितुं शक्यते, अस्माकं तु तत्सद्भावे प्रमाणाभावेऽपि तावद् न काचित् क्षतिः । न च तापस्यैव तत्प्रत्यक्षस्यैव लङ्घनात् । तथाहि-दिवा दिवाकरकराऽऽतपप्रपातोपतप्तवपुषः पथिकास्तमिस्रासन्तमसशैत्यसंपर्कात् प्रमोदन्ते; न च तापाभावमात्रमूलेन एव तेषां प्रमोदः, प्रतीतिबाधात्, तन्मात्रनिमित्तो हि यदोऽत्र नास्तीतिवत् तापः संप्रति नास्तीति प्रतिषेधमुख एव प्रत्ययः प्रादुःष्यात्; न तु संप्रति शीतलीकृतं मे शरीरमिति विधिमुखः; तथात्वे हि तमोऽभावमात्रमूलेन एवायमालोकप्रत्यय इत्यपि वावदूकस्य वदतो वदनं न वक्रीभवेत् । अथान्धकारनिबन्धनत्वे शैत्यस्पर्शप्रत्ययस्य निबिडतरघटितकपाटसंपुटे गवलकुवलयकलकण्ठीकण्ठकाण्डकृष्णान्धकारैकार्णवीभूते कारागारे क्षिप्तस्य पुंसः सुतरां तत्प्रत्ययो भवेत्, इति चेत् । तापाभावनिमित्ततायामपि सुतरां स किं तत्र न स्यात् ?, तत्रात्यन्तं तापाभावसंभवात् । तस्माद् मन्दमन्दसमीरलहरीपरिचय एव अन्धकारशैत्येव तत्स्पर्शस्याऽभिव्यक्तौ हेतुः, न चासौ तत्रास्तीति न तत्र तत्प्रतीतिः प्रादुर्भवति । अनुमानतोऽपि तत्र स्पर्शप्रतीतिः, तथाहि-तमः स्पर्शवद्, रूपवत्त्वात्, पृथ्वीवत् । न च रूपवत्त्वमसिद्धम्, अन्धकारः कृष्णोऽयमिति कृष्णाऽऽकारप्रतिभासात् । ननु यदि तिमिरं श्यामरूपपरिकलितकलेवरं स्यात् तदाऽवश्यं स्वप्रतिभासे आलोकमपेक्षेत, कुवलयकोकिलकलापाऽऽदिवत्, न तु तमालोकापेक्षं दृश्यते, ततो नीरूपमिति चेत् । तद् नाऽकलङ्कम्, उलूकाऽऽदीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासनात् । अथाऽस्मदादिप्रतिभासमपेक्ष्यैतदुच्यते । तदपि न पेशलम्, यतो यद्यपि कुवलयाऽऽदिकमालोकमन्तरेणाऽऽलोकयितुं न शक्यतेऽस्मदादिभिः, तथाऽपि तिमिरमालोकयिष्यते, विचित्रत्वाद् भावानाम् । इतरथा पीतश्वेताऽऽदयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलप्रमुखा आलोकनिरपेक्षप्रकाशाः इति प्रदीपचन्द्राऽऽदयोऽपि प्रकाशान्तरमपेक्षेरन् । इति सिद्धं तमो रूपवत् । तथा तमो रूपवत्, कृष्णवर्णेन प्रतीयमानत्वात्, कुवलयवत्, इत्यतोऽपि तत्र रूपवत्त्वसिद्धिः, न चावस्तुरूपं कुम्भाभावाऽऽदि कृष्णाऽऽकारेण कदाचित् प्रतीयमानमालोकितम्, इति रूपवत्त्वसिद्धौ च सिद्धं स्पर्शवत्त्वम् । तथा च तामसपरमाणूनां कार्यद्रव्याऽऽरम्भप्रतिषेधोपन्यस्तमस्पर्शवत्त्वं स्वरूपासिद्धम्, परस्य तामसपरमाणूनामप्रसिद्धेराश्रयासिद्धं चेति स्थितम् ॥

द्रव्यगुणकर्मातिरिक्तकार्यत्वमपि न हेतुः, द्रव्यातिरिक्तकार्यत्वस्य तस्मिन्नसिद्धत्वेनैकदेशासिद्धताऽऽपत्तेः । तदप्रसिद्धिर्हि तस्याभावरूपतया, अन्यतो वा कुतोऽप्यभिधीयते ?। नाऽऽद्यः पक्षः, परस्पराऽऽश्रयप्रसङ्गात्-अभावरूपतासिद्धौ हि तस्य द्रव्यातिरिक्तकार्यत्वासिद्धिः, ततोऽपि चेति । अन्यहेतुस्तत्सिद्धौ तु स एवास्तु, किमनेन सिद्धोपस्थापिना कुलकभक्तिभूत्येनैव कर्तव्यम् ? ॥

आलोकविरोधित्वमपि न साधीयः, न हि यो यद्विरोधी स तदभावस्वभाव एव, शीतोष्णस्पर्शयोः परस्पराभावमात्रताऽऽपत्तेः । अथ सहानवस्थानलक्षणो विरोधस्तिमिरस्याऽभावस्वभावतासिद्धौ साधनत्वेनाऽभिप्रेतः, न वध्यघातकभावः, स च भावाभावयोरेव संभवी, न पुनर्द्वयोरपि भावयोः, तदिहाऽऽलोकानवकाशे सत्येव समुज्जृम्भमाणस्यान्धकारस्याऽभावरूपतैव श्रेयसी, कुम्भाभाववदिति चेत् । तदपेशलम् । अत्राऽपि वध्यघातकभावस्यैव भावात्, घनतरतिमिरपूरिते पथि प्रसर्पता प्रदीपप्रभाप्राग्भारेण तिमिरनिकुरम्बाऽऽडम्बरविडम्बनात् ।

भावरूपताप्रसाधकप्रमाणाभावोऽप्यसिद्धः, तत्प्रसाधकानुमानसद्भावात् । तथाहि-भावरूपं तमः, घनतरनिकरलहरिप्रमुखशब्दैर्व्यपदिश्यमानत्वात्, आलोकवत् । न चाऽसिद्धिः साधनस्य।

तथाहि-

" रहःसङ्केतस्थो घनतरतमःपुञ्जपिहिते,
दूर्यान्मेघं यत्नान्मुहुरुपरमानः पथि पथि ।
यदस्माकाराङ्कपादपि निभृतसंप्रामरमणी-
भ्रमभ्राम्यद्वाहुर्दमदमिकयोत्साम्यति युवा ॥ १ ॥
पर्यन्तो दिवसस्तदीमयमहत्यस्ताचलस्थांशुमान्,
संप्रत्यङ्कुरितान्धकारनिकरैर्लग्नाहका द्यौरभूत् ।
यद्यन्तर्विश वेश्मनः प्रियसखि ! द्वारस्थशीतोरण-
स्तम्भाऽऽलम्बितबाहुवल्लि ! रुदती किं त्वं पथः पश्यसि ? ॥ २ ॥
तिमिरलहरीपुष्पैर्मुद्रीं करोतु विकस्वरां,
हरतु नितरां निद्रामुद्रां क्षणाद् गुणिनां गणात् ।
तदपि तरणे ! तेजःपुञ्जः प्रियो न ममैव ते,
किमपि तिरयन् ज्योतिश्चक्रं स्वशान्तिविराजितम् ॥ ३ ॥ "

औपचारिक एवाऽयं तत्र तद्व्यपदेश इति चेत् । नैवम्, एतद्भावरूपतासिद्धिं विना घनतराऽऽदिव्यपदेशस्य भावरूपमुख्यार्थबाधाविरहेण तस्यौपचारिकत्वायोगात्; तथात्वेऽपि वा तस्य तमसो भावरूपतैव प्रसिध्यति, न खलु कुम्भाऽऽद्यभाववस्तथ प्रकारोपचारगोचरचारितामास्तिघ्नुते । तत्र साहश्याऽऽद्युपचारकारणाभावात् । तथा-नाभावरूपं तमः, प्रागभावाऽऽद्यन्यभावत्वात् ; व्योमवत् । न चाऽयमपि हेतुरसिद्धः । तथाहि-आलोकस्य प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, इतरेतराभावः, अत्यन्ताभावो वा तमो भवेत् ?। आद्ये-एकस्य, अनेकस्य वाऽयं तत्स्यात् ?। न तावदेकस्याऽऽलोकस्य प्रागभावस्तमः, प्रदीपाऽऽलोकेनेव प्रभाकराऽऽलोकेनाऽपि तस्य निवर्त्यमानत्वात्, यस्य हि यः प्रागभावः स तेनैव निवर्त्यते, यथा पटप्रागभावः पटेनैव । नाप्यनेकस्य, एकेन निवर्त्यमानत्वात्, पटप्रागभाववदेव । न च वाच्यं प्रत्यालोकं स्वस्वनिवर्तनीयस्य तमसो भेदात् प्रदीपाऽऽदिना निवर्तितेऽपि तमोविशेषे पुनराऽदित्यनिवर्तनीयं तमोऽन्तरं तदा तद्भावात् निवर्तते, इत्येकेन निवर्त्यमानत्वादिति हेतुरसिद्ध इति, प्रदीपाऽऽदिनिवर्तिततमसि प्रदेशे दिनकराऽऽदिनिवर्तनीयस्य तमोऽन्तरस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः, सम्प्रतिपन्नवत् । यदि चेदं प्रागभावस्वभावं स्यात्, तदा प्रदीपप्रभाप्रबन्धप्रध्वंसेऽस्योत्पत्तिर्न स्यात्, अनादित्वात् प्रागभावस्य । नाप्यालोकस्य प्रध्वंसाभावस्तमः, निवर्त्यमानत्वात्, तस्यैव प्रागभाववत् । नापीतरेतराभावः, तस्य प्रस्तुतेऽपि प्रभाकरे मार्तण्डीये तेजसि सद्भावेन तमिस्रायामिव वासरेऽपि तमःप्रतीतिप्रसङ्गात् । नाऽप्यालोकस्यात्यन्ताभावस्तमः,

तस्य इन्द्रकारणकलापोपनिपातकाले समुत्पद्यमानत्वात्। इति पताद्दृष्टेनाऽप्यघटमानत्वादानुमानिकस्यापि तमसोऽभावरूपतास्वीकृतिः॥ एतत्सकलमपि प्रायेण छायायामपि समानमिति यथासंभवं योज्यम्। विशेषतश्चैतद्रूपताप्रसिद्धिः परिपाटिप्राप्तस्वाच्छायास्थाऽऽकराद्वधारणीया। यत्पुनरवाचि-तमसि संचरतः पुंसः प्रतिबन्धः स्यादित्यादि, तदखिलमालोकेऽपि समानमिति स एव प्रतिविधास्यतीति किमतिप्रयत्नेन तत्राऽस्माकम्?। इति सिद्धे तमस्काये द्रव्ये। (२१) रत्ना० २ परि।

अथ तमस्कायानां संस्थानम्-

तमुक्काए णं भंते! कहिं समुट्ठिए, कहिं संनिट्ठिए?। गोयमा! जंबुद्दीवस्स दीवस्स बहिया तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीईवइत्ता अरुणवरस्स दीवस्स बाहिरिल्लाओ वेइयंताओ अरुणोदयं समुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साणि ओगाहित्ता उवरिल्लाओ जलंताओ एगपएसियाए सेढीए तत्थ णं तमुक्काए समुट्ठिए सत्तरस एक्कवीसे जोयणसए उड्ढं उप्पइत्ता तओ पच्छा तिरियं पवित्थरमाणे पवित्थरमाणे सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदे चत्तारि वि कप्पे आवरेत्ता णं उड्ढं पि य णं० जाव बंभलोए कप्पेऽरिट्ठविमाणपत्थडं संपत्ते, एत्थ णं तमुक्काए संनिट्ठिए॥

(एगपएसियाए त्ति) एक एव, न द्व्यादयः औत्तराधर्यं प्रति प्रदेशो यस्यां सा तथा, तया, समभित्तिकयेत्यर्थः। न च वाच्यमेकप्रदेशप्रमाणयेति असंख्यातप्रदेशावगाहस्वभावत्वेन जीवानां तस्यां जीवावगाहाभावप्रसङ्गात्, तमस्कायस्य च स्तिबुकाऽऽकाराप्कायिकजीवाऽऽत्मकत्वाद् बाहुल्यमानस्य च प्रतिपादयिष्यमाणत्वादिति। (एत्थ णं ति) प्रज्ञापकाऽऽलेख्यालिखितस्याऽरुणोदसमुद्राऽऽदेरधिकरणतोपदर्शनार्थमुक्तवान्॥

तमुक्काए णं भंते! किं संठिए?। गोयमा! अहे मल्लगमूलसंठिए, उप्पिं कुक्कुडगपंजरगसंठिए पण्णत्ते॥

अधः अधस्तान्मल्लकमूलसंस्थितः शरावबुध्नसंस्थानः समजलान्तस्योपरि सप्तदशयोजनशतान्येकविंशत्यधिकानि यावद्वलयसंस्थानत्वात्।

अथ तमस्कायस्य नामान्याह-

तमुक्काए णं भंते! केवइयं विक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?। गोयमा! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-संखेज्जवित्थडे य, असंखेज्जवित्थडे य। तत्थ णं जे से संखेज्जवित्थडे, से णं संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ते। तत्थ णं जे से असंखेज्जवित्थडे, से णं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ते॥ तमुक्काए णं भंते! के महालए पण्णत्ते?। गोयमा! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतराए० जाव परिक्खेवेणं पण्णत्ते, देवे णं महिड्ढिए० जाव महाणुभावे इणामेव २ त्ति कट्टु केवलकप्पं जम्बुद्दीवं दीवं तिहिं अच्छरानिवाएहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, से णं देवे ताए उक्किट्ठाए तुरियाए० जाव देवगईए वीईवयमाणे० जाव एकाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं छम्मासे वीईवएज्जा, अत्थेगइए तमुक्कायं वीईवएज्जा, अत्थेगइए तमुक्कायं नो वीईवएज्जा, ए महालए णं गोयमा! तमुक्काए पण्णत्ते। अत्थि णं भंते! तमुक्काए गेहाइ वा, गेहावणाइ वा?। णो इणट्ठे समट्ठे। अत्थि णं भंते! तमुक्काए गामाइ वा० जाव संनिवेसाइ वा?। णो इणट्ठे समट्ठे। अत्थि णं भंते! तमुक्काए उराला बलाहया संसेयं ति वा, संमुच्छंति वा, संवासं ति वा। हंता अत्थि। तं भंते! किं देवो पकरेइ, असुरो पकरेइ, नागो पकरेइ?। गोयमा! देवो वि पकरेइ, असुरो वि पकरेइ, नागो वि पकरेइ। अत्थि णं भंते! तमुक्काए बादरे थणियसद्दे बादरविज्जुयाए?। हंता अत्थि। तं भंते! किं देवो पकरेइ०?। तिन्नि वि पकरेइ। अत्थि णं भंते! तमुक्काए बादरे पुढवीकाए बादरे अगणिकाए?। णो इणट्ठे, णऽण्णत्थ विग्गहगइसमावन्नेणं। अत्थि णं भंते! तमुक्काए चंदिमसूरियगहगणणक्खत्ततारारूवा?। णो इणट्ठे समट्ठे, पलियस्सओ पुण अत्थि। अत्थि णं भंते! तमुक्काए चंदाभाइ वा, सूराभाइ वा?। णो इणट्ठे समट्ठे, कादूसणिया पुण सा। तमुक्काए णं भंते! केरिसए वण्णेणं पण्णत्ते?। गोयमा! काले कालोभासे गंभीरलोमहरिसजणणे भीमे उत्तासणए परमकिण्हे वण्णेणं पण्णत्ते, देवे वि णं अत्थेगइए जेणं तप्पढमयाए पासित्ता णं खुभाएज्जा, अहे णं अभिसमागच्छेज्जा, तओ पच्छा सीहं सीहं तुरियं तुरियं खिप्पामेव वीईवएज्जा॥

(केवइयं विक्खंभेणं ति) विस्तारेण। क्वचिद्-" आयामविक्खंभेणं" इति दृश्यते। तत्र चाऽऽयाम उच्चत्वमिति। (संखेज्जवित्थडे इत्यादि) संख्यातयोजनविस्तृतः, आदित आरभ्य ऊर्ध्वं संख्येययोजनानि यावत्, ततोऽसंख्यातयोजनविस्तृत उपरि तस्य विस्तारगामित्वेनोक्तत्वात्। (असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं ति) संख्यातयोजनविस्तृतत्वेऽपि तमस्कायस्यासंख्यातनमद्वीपपरिक्षेपतो बृहत्तरत्वात्परिक्षेपस्यासंख्यातयोजनसहस्रप्रमाणत्वम्, आन्तरबहिःपरिक्षेपविभागस्तु नोक्तः, उभयस्याप्यसंख्याततया तुल्यत्वादिति। (देवे णमित्यादि) अथ किमिदंपर्यमिदं देवस्य महर्द्ध्यादिकविशेषणमित्याह-(०जाव इणामेवेत्यादि) इह यावच्छब्दः पेयपर्यायार्थः, यतो देवस्य महर्द्ध्यादिविशेषणानि गमनसामर्थ्यप्रकर्षप्रतिपादनाभिप्रायेणैव प्रतिपादितानि। (इणामेव २ त्ति कट्टु त्ति) इदं गमनमेवमतिशीघ्रत्वाऽऽवेदकचप्पुटिकारूपहस्तव्यापारोपदर्शनपरम्, अनुस्वाराऽश्रवणं च प्राकृतत्वाद्, द्विर्वचनं च शीघ्रत्वातिशयोपदर्शनपर इति रूपप्रदर्शनार्थः। कृत्वा विधायेति। (केवलकप्पं ति) केवलज्ञानकल्पं, परिपूर्णमित्यर्थः। वृद्धव्याख्या तु-केवलः संपूर्णः कल्पत इति कल्पः, स्वकार्यकरणसमर्थो वस्तुरूप इति यावत्। केवलश्चाऽसौ कल्पश्चेति केवलकल्प-

स्तम् । (तिहिं अक्खुराणिवायाहिं ति) तिसृभिरप्सरःपुटिकाभिरित्यर्थः । (तिसत्तक्खुत्तो त्ति) त्रिगुणाः सप्त त्रिसप्त, त्रिसप्तवारान् त्रिसप्तकृत्वः, एकविंशतिवारानित्यर्थः । (हव्वं ति) शीघ्रम् (अत्थेगइयमित्यादि) संख्यातयोजनमात्रं व्यतिव्रजेत्, इतरं तु नेति । (उराला बलाहय त्ति) महान्तो मेघाः (संसेयं ति त्ति) संस्वेदनं, संमूर्च्छनं, वर्षणं च (बायरविज्जुयाए त्ति) इह न बादरतेजस्कायिका मन्तव्याः, इहैव तेषां निषेत्स्यमाणत्वात्, किं तु देवप्रभावजनिता भास्वराः पुद्गलास्त इति । (णऽण्णत्थ विग्गहगइसमावन्नेणं ति)न इति योऽयं निषेधो बादरपृथिवीतेजसोः सोऽन्यत्र विग्रहगतिसमापन्नात् विग्रहगत्यैव बादरे ते भवतः। पृथिवी हि बादरा रत्नप्रभाऽऽद्यास्वष्टासु पृथिवीषु गिरिविमानेषु च, तेजस्तु मनुजक्षेत्र एवेति, तृतीया चेह पञ्चम्यर्थे प्राकृतत्वादिति । (पलिपस्सओ पुण अत्थि त्ति) परिपार्श्वतः पुनः सन्ति तमस्कायस्य चन्द्राऽऽदय इत्यर्थः । (काऊनणिया पुण सा इति)ननु तत्पार्श्वतश्चन्द्राऽऽदीनां सद्भावात्तत्प्रभाऽपि तत्राऽस्ति ?, सत्यम्, केवलं कमात्मानं दूषयति तमस्कायपरिणामेन परिणमनात्कद्दूषणा, सैव कद्दूषणिका । दीर्घता च प्राकृतत्वात्, अतः सत्यप्यसावसतीति । (काले त्ति) कृष्णः (कालोभासे त्ति) कालोऽपि कश्चित् कुतोऽपि कालो नावभासत इत्यत आह-कालावभासः कालदीप्तिः, (गंभीरलोमहरिसजणणे त्ति) गम्भीरश्चासौ भीषणत्वाद्रोमहर्षजननश्चेति गम्भीररोमहर्षजननः । रोमहर्षजनकत्वे हेतुमाह-(भीमे त्ति)भीष्मः (उत्तासणए त्ति) उत्कम्पहेतुः । निगमयन्नाह-(परमेत्यादि) यत एवमत एवाऽऽह-(देवे वि णमित्यादि) (तप्पढमयाए त्ति) दर्शनप्रथमतायाम् (खुब्भाएज्ज त्ति) स्कन्नीयात् क्षुभ्येत, (अहे णमित्यादि) अथैनं तमस्कायमभिसमागच्छेत् प्रविशेत्ततो भयात् (सीहं सीहं ति) कायगतेरतिवेगेन (तुरियं तुरियं ति) मनोगतेरतिवेगात् । किमुक्तं भवति ?-क्षिप्रमेव (वीईवएज्ज त्ति) व्यतिव्रजेदिति । भ० ६ श० ५ उ० ।

तमुक्कायस्स णं चत्तारि णामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-तमेइ वा, तमुक्काएइ वा, अंधकारेइ वा, महंधकारेइ वा । तमुक्कायस्स णं चत्तारि णामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-लोगंधयारेइ वा, लोगतमसेइ वा, देवंधयारेइ वा, देवतमसेइ वा । तमुक्कायस्स णं चत्तारि णामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-वायफलिहेइ वा, वायफलिहखोभेइ वा, देवारण्णेइ वा, देववूहेइ वा । तमुक्काए णं चत्तारि कप्पे आवरित्ता चिट्ठइ । तं जहा-सोहम्मीसाणं सणंकुमारमाहिंदं ।

(तमुक्कायेत्यादि) सूत्रत्रयं सुगमम् । नवरं तमसोऽप्कायपरिणामस्वरूपस्याऽन्धकारस्य कायः प्रचयस्तमस्कायो, यो ह्यसंख्याततमस्यारुणवराभिधानद्वीपस्य बाह्यवेदिकान्तादरुणोदाख्यं समुद्रं द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यवगाह्योपरितनात् जलान्तादेकप्रदेशिकया श्रेण्या समुत्थितः सप्तदशैकविंशत्यधिकानि योजनशतानि ऊर्ध्वमुत्पत्य ततस्तिर्यग्विस्तृणन् सौधर्माऽऽदीन् चतुरो देवलोकानावृत्योर्ध्वमपि ब्रह्मलोकस्य रिष्टविमानप्रस्तटं संप्राप्तः, तस्य नामान्येव नामधेयानि तम इति तमोरूपत्वात्, इति रूपप्रदर्शने, वा विकल्पे, तमोमात्ररूपताऽभिधायकान्याद्यानि चत्वारि नामानि । तथा पराणि चत्वार्येवाऽत्यन्तिकतमोरूपताऽभिधायकानीति लोके अयमेवान्धकारो नान्योऽस्तीदृश इति लोकान्धकारः, देवानामप्यन्धकारोऽसौ, तच्छरीरप्रभाया अपि तत्राप्रभास्वरत्वादिति देवान्धकारः । अत एव ते बलवतो भयेन तत्र नश्यन्तीति श्रुतिरिति । तथाऽन्यानि चत्वारि कार्याऽऽश्रयाणि-वातस्य परिहननात् परिघोऽर्गला, परिघ इव परिघो, वातस्य परिघो वातपरिघः, तथा वातं परिघवत् क्षोभयति हतमार्गं करोतीति वातपरिक्षोभः, वात एव वा परिघस्तं क्षोभयति यस्य तथा । पाठान्तरेण-वातपरिक्षोभ इति । क्वचिद्देवपरिघो देवपरिक्षोभ इति चाऽऽद्यपदद्वयस्थाने पठ्यते । देवानामरण्यमिव बलवद्भयेन नाशनस्थानत्वाद्यः स देवारण्यमिति । देवानां व्यूहः सागराऽऽदिः साङ्ग्रामिकव्यूह इव यो दुरधिगमत्वात्स देवव्यूह इति । तमस्कायस्वरूपप्रतिपादनार्थं च (तमुक्काए णमित्यादि) सूत्रं गतार्थम् । किं तु सौधर्माऽऽदीनाऽऽवृणोत्यसौ, कुक्कुटपञ्जरसंस्थानसंस्थितस्य तस्य प्रतिपादनात् । उक्तं च-" तमुक्काए णं भंते ! किं संठिए पण्णत्ते । गोयमा ! अहे मल्लगमूलसंठिए, उप्पिं कुक्कुडपंजरसंठिए पण्णत्ते ।" इति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अथ पृथिव्यप्कायपर्यायतां पृथिव्यप्कायौ जीवपुद्गलरूपाविति तत्पर्यायतां प्रश्नयन्नाह-

तमुक्कायस्स णं भंते ! कइ नामधेज्जा पण्णत्ता ?। गोयमा ! तेरस नामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-तमेइ वा, तमुक्काएइ वा, अंधकारेइ वा, महंधकारेइ वा, लोगंधकारे वा, लोगतमिस्सेइ वा, देवंधकारेइ वा, देवतमिस्सेइ वा, देवारण्णेइ वा, देववूहेइ वा, देवफलिहेइ वा, देवपडिक्खोभेइ वा, अरुणोदएइ वा समुद्दे । तमुक्काए णं भंते ! किं पुढविपरिणामे, जीवपरिणामे, आउपरिणामे, पोग्गलपरिणामे ?। गोयमा ! नो पुढविपरिणामे, आउपरिणामे वि, जीवपरिणामे वि, पोग्गलपरिणामे वि । तमुक्काए णं भंते ! सव्वे पाणा भूया जीवा सत्ता पुढविकाइयत्ताए० जाव तसकाइयत्ताए उववण्णपुव्वा ?। हंता । गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो, णो चेव णं बादरपुढविकाइयत्ताए, बादरअगणिकाइयत्ताए ॥

(तमेइ वा इत्यादि) तमः, अन्धकाररूपत्वात्, इति एतद्, वा विकल्पार्थः, तमस्काय इति वा; अन्धकारराशिरूपत्वात्, अन्धकारमिति वा; तमोरूपत्वात्, महान्धकारमिति वा; महातमोरूपत्वात्, लोकान्धकारमिति वा, लोकमध्ये तथाविधस्यान्यस्यान्धकारस्याऽभावात्, एवं लोकतमिस्रमिति वा; देवान्धकारमिति वा; देवानामपि तत्रोद्द्योताभावेनान्धकाराऽऽत्मभावात् । एवं देवतमिस्रमिति वा; देवाऽरण्यमिति वा, बलवद्देवभयान्नश्यतां देवानां तथाविधारण्यमिव शरणभूतत्वात्, देवव्यूह इति वा, देवानां दुर्भेद्यत्वाद् व्यूह इव चक्राऽऽदिव्यूह इव देवव्यूहः, देवपरिघ इति वा; देवानां भयोत्पादकत्वेन गमनविघातहेतुत्वात्, देवप्रतिक्षोभ इति वा; तत्क्षोभहेतुत्वात्, अरुणोदक इति वा समुद्रः अरुणोदकसमुद्रः, जलविकारत्वादिति । पूर्वं पृथिव्यादेस्तमस्कायशब्दवाच्यता पृष्टा, अथ पृथिव्यप्कायपर्यायतां पृथिव्यप्कायौ जीवपुद्गलरूपाविति तत्पर्यायतां प्रश्नयन्नाह-(तमुक्काए णमिति) बादरवायुवनस्पतयः त्रसाश्च तत्रोत्पद्यन्ते, अप्काये तदुत्पत्तिसम्भवाद्, न त्वितरेऽस्वस्थानत्वात् । अत उक्तम्-(णो चेव णं इत्यादि) भ० ६ श० ५ उ० ।

देवास्तमस्कायं कुर्वन्ति-

अत्थि णं भंते ! ईसाणे देविंदे देवराया तमुक्कायं काउं कामे भवइ, से कहमिदाणिं पकरेति ?। गोयमा ! ताहे चेव णं ईसाणे देविंदे देवराया अब्भिंतरपरिसाए देवे सद्दावेइ, तए णं ते अब्भिंतरपरिसगा देवा सद्दाविया समाणा, एवं जहेव सक्कस्स० जाव तए णं ते आभिओगिया देवा सद्दाविया समाणा तमुक्काइए देवे सद्दावेंति । तए णं ते तमुक्काइया देवा सद्दाविया समाणा तमुक्कायं पकरेंति. एवं खलु गोयमा ! ईसाणे देविंदे देवराया तमुक्कायं पकरेइ ! अत्थि णं भंते ! असुरकुमारा देवा तमुक्कायं पकरेंति ? । हंता अत्थि । किंपत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा तमुक्कायं पकरेंति ?। गोयमा ! किड्डारतिपत्तियं वा पडिणीयविमोहणट्ठयाए गुत्तीसंरक्खणहेउं वा अप्पणो वा सरीरपच्छायणट्ठयाए एवं खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा तमुक्कायं पकरेंति. एवं० जाव वेमाणिया ।

(अत्थि णं इत्यादि) (तमुक्काए त्ति) तमस्कायकारिणः । (किड्डारतिपत्तियं ति) क्रीडारूपा रतिः । अथवा-क्रीडा च रमणं, रतिश्च निधुवनं क्रीडारती, सैव, ते एव वा प्रत्ययः कारणं यत्र तत्क्रीडारतिप्रत्ययम् । (गुत्तीसंरक्खणहेउं त्ति) गोपनीयद्रव्यसंरक्षणहेतोर्वेति । भ० १४ श० २ उ० ।

तमुयत्त-तमस्त्व-न० । आत्यन्धतायाम्, अत्यन्ताज्ञानाऽऽवृततायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

तमोकासिय-तमःकाषिक-त्रि० । तमसि कषितुं शीलं येषां ते तमःकाषिणः, त एव तमःकाषिकाः । पराविज्ञाताः क्रियाः कुर्वत्सु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

तम्ब-ताम्र-न० । 'तंब' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

तम्मण-तन्मनस्-त्रि० । तस्य देवदत्ताऽऽदेस्तस्मिन् घटाऽऽदौ मनस्तन्मनः । मनोविशेषे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । तस्मिन्नेव मनोविशेषोपयोगकरणं यस्य स तथा । तस्मिन् विशेषोपयुक्ते, अनु० । तद्विषयकद्रव्यमनोयुक्ते, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

तम्मय-तन्मय-त्रि० । तेषां विवक्षितानामनलानिलतृणवनस्पतिगणानां विकारास्तन्मयाः । तद्विकारेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तम्मयता-तन्मयता-स्त्री० । तत्परतायाम्, षो० १२ विव० ।

तम्मित्त-तन्मात्र-न०-त्रि० । तदेव तन्मात्रम् । मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात् समासः । तदात्मके, सा मात्रा यस्मिन् । "तस्मिंस्तस्मिंश्च तन्मात्रा, तेन तन्मात्रता स्मृता । तन्मात्राण्यविशेषाणि, अविशेषास्ततो हि ते ॥ १ ॥ न शान्ता नापि घोरास्ते, न मूढाश्चाविशेषिणः ।" इत्युक्तेषु सांख्यपरिभाषितेषु पञ्चसु शब्दाऽऽदिकारणीभूतेषु भूतेषु, आचा० । पञ्च तन्मात्राणि । तद्यथा-गन्धरसरूपस्पर्शशब्दतन्मात्राऽऽख्यानि, तत्र गन्धतन्मात्रात् पृथिवी गन्धरसरूपस्पर्शवती, रसतन्मात्रादापो रसरूपस्पर्शवत्यः, रूपतन्मात्रात्तेजो रूपस्पर्शवत्, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः स्पर्शवान् । शब्दतन्मात्रादाकाशं गन्धरसरूपस्पर्शवर्जितमुत्पद्यत इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

तम्मियय-तन्मात्रज-न० । शब्दाऽऽदीनि यानि पञ्च तन्मात्राणि सूक्ष्मसंज्ञानि, तेभ्यो जातमुत्पन्नं तन्मात्रजम् । अम्बराऽऽदिषु, स्था० २ ठा० १ उ० ।

तम्मुत्ति-तन्मुक्ति-स्त्री० । तेन विवक्षितेन सङ्गेन सर्वसङ्गेभ्यो विरतिर्मुक्तिस्तन्मुक्तिः । तदुक्तसर्वसङ्गेन विरतौ, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

तम्मेत्त-तन्मात्र-त्रि० । 'तम्मित्त' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

तम्मेयय-तन्मात्रज-न० । 'तम्मियय' शब्दार्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

तम्मोत्ति-तन्मुक्ति-स्त्री० । 'तम्मुत्ति' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

तम्बिर-न० । देशी-ताम्रस्यार्थे, प्रा० २ पाद ।

तय-तत-न० । 'तत' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तयक्खाय-त्वक्खाद-पुं० । त्वचं बाह्यवल्कं खादतीति त्वक्खादः । त्वग्भक्षके घुणाऽऽदौ, स्था० ४ ठा० १ उ० । त्वक्खादकल्पोऽसारभोक्तरि, साधौ च । दशा० १ अ० ।

तयणावत्थुक-तदन्यवस्तुक-पुं० । तस्मात्परोपन्यासाद्वस्तुनोऽन्यदुत्तरभूतं वस्तु यस्मिन्नुपन्यासोपनये स तदन्यवस्तुकः । उपन्यासोपनयोदाहरणभेदे, (स्था०) तस्मात्परोपन्यस्तात् वस्तुनोऽन्यदुत्तरभूतं वस्तु यस्मिन्नुपन्यासोपनये स तदन्यवस्तुकः । यथा जले पतितानि जलचरा इत्युक्ते, परविप्रतारणाय परेण इत्युत्तरमाह-यानि पुनः पातयित्वा खादति भक्षति वा तानि किं भवन्ति, न किञ्चिदित्यर्थः, अयमपि ज्ञापकतया ज्ञातमुक्तः, अथवा यथाक्रममेव ज्ञातमेव । तथा हि-न जलस्थलगलितानि पत्राणि जलचराऽऽदिसत्त्वाः संभवन्ति, मनुष्याऽऽद्याभितानां च । अयमभिप्रायः-यथा जलाऽऽद्याश्रितत्वाज्जलचराऽऽदितया तानि सकरयन्ते, तथा मनुष्याऽऽद्याश्रितया मनुष्याऽऽदिभक्ष्यत्वाऽऽदितयाऽपि सकरयन्ताम्, आश्रितत्वस्याविशेषात्, न च तानि तथाऽनुगम्यन्त इति जलाऽऽदिगतानामपि जलचरत्वाऽऽद्यसंभव इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । कश्चिदाह यस्य आत्मनोऽन्यो जीवः, अन्यच्च शरीरमिति तस्यान्यशब्दस्याविशिष्टत्वात्तयोरपि तद्भावस्याविशिष्टत्वेनैकत्वप्रसङ्ग इति तस्य जीवशरीरापेक्षया तदन्यवस्तूपन्यासेन परिहारः कर्तव्यः । कथम् ?। नन्वेवं सति सर्वभावानां परमाणुद्व्यणुकघटपटाऽऽदीनामेकत्वप्रसङ्गः । अन्यः परमाणुरन्यो द्विप्रदेशिक इत्यादिना प्रकारेणाऽन्यशब्दस्याऽविशिष्टत्वात्सर्वा तद्भावस्यैवाविशिष्टत्वादिति । तस्मादन्यो जीवोऽन्यच्छरीरमित्येतदेव शोभनमित्येवं द्रव्यानुयोगे, अनेन चैतयोरन्योऽन्याक्षेपः, तथा चरणकरणानुयोगेन मांसभक्षणं इत्यादावेव कुचोद्ये तदन्यवस्तूपन्यासेन परिहारः । कथम् ?। "न हिंस्यात्सर्वाणि भूतानि" इत्येतदेव विरुध्यत इति । लौकिकं तु तस्यैवोदाहरणे तदन्यवस्तूपन्यासेन परिहारः । "जहा जाणि पुण पडिऊण पडिऊण कोइ खाइ वा भुंजइ वा ताणि किं हवंति त्ति ।" दश० १ अ० ६ उ० ।

तयप्पमाणमित्त-त्वक्प्रमाणमात्र-न० । तिलतुषत्रिभागमात्रे, तत्काण्डनस्य घटते । बृ० ६ उ० ।

तयप्पमाणमेत्त-त्वक्प्रमाणमात्र-न० । 'तयप्पमाणमेत्त' शब्दार्थे, सू० ६ उ० ।

तया-त्वक्-स्त्री० । गुच्छवनस्पतिकायिकभेदे, स्था० ८ ठा० । उत्तराध्य. जी० ३ प्रति०४ उ० । रा० । शरीरचर्मणि, स्था० ४ ठा० १ उ० । "तणुओ निक्कलुसो, अप्पोरणओ केवलं तयालग्गो ।" आव० ५ अ० । त्वग्भवासारं भक्षकमित्यर्थसूचकत्वात् त्वक् उच्यते, दशवैकालिकस्य द्रुमपुष्पिकाध्ययने, दश० । उक्तं च परमगुरुभिः-"चत्तारि घुणा पन्नत्ता । तं जहा-तयक्खाए, छल्लिक्खाए, कट्ठक्खाए, सारक्खाए । एवमेव चत्तारि भिक्खुगा पन्नत्ता । तं जहा-तयक्खाए०" इत्यादि । बहिःसारतीकृतः कर्मेतरमङ्गीकृत्य बलनादं न यो प्रयाति । दश० १ अ० ।

तयाणंतर-तदनन्तर-न० । तस्मादव्यवहितोत्तरं, दश० ।

तयाणुग-तदनुग-त्रि० । तदनुगन्तरि, " विवरीयपन्नसंभूयं, अन्न उत्तं तयाणुगं ।" सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

तयामुह-त्वचामुख-पुं० । हुंडकारिणि, कल्प० ३ क्षण ।

तयावंत-त्वग्वत्-त्रि० । त्वग्विद्यते यस्याऽसौ । विशिष्टत्वक्शालिनि, रा० ।

तयाविस-त्वग्विष-पुं० । त्वचि विषं यस्य स त्वग्विषः । प्राकृतत्वात् 'तयाविसो' । दर्वीकरसर्पभेदे, जी० १ प्रति० ।

तयाहार-त्वगाहार-पुं० । त्वचमेवाऽऽहारयत्सु वनस्पतिविशेषेषु, आ० ।

तर-तर-पुं० । तरतीति तरः । स्था० ५ ठा० १ उ० । "स्वराणां स्वराः" ।८ । ४ । २३४ ॥ इति ऋवर्णान्तस्य धातोर्ऋवर्णस्यार इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । संतरणकर्तरि, तरशब्दो महाबोधप्रदर्शने, यथा कृष्णः, कृष्णतर इत्यादि । नि० चू० १ उ० । शक्-धा० । शक्तिसामर्थ्ये, "शकेश्चय-तर-तीर-पाराः" ॥८।४।८६॥ इति शक्नोतेर्वा 'तर' इत्यादेशः । 'तरइ' । प्रा०४ पाद । तरस्-न० । वेगे, बले च । औ० ।

तरंग-तरङ्ग-पुं० । तॄ-अङ्ग-अच् । वायुना जलस्य संचालनेन निम्नोर्ध्वगत्याऽऽक्षिप्तजलसंस्थाने, वाच० । कल्लोले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । भग० । कल्प० । जी० । चन्द्र० ३ वक्ष० । औ० । हस्वकल्लोले, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । औ० ।

तरंगणंदण-तरङ्गनन्दन-पुं० । स्वनामख्याते राज्ञि, यस्य तनितरङ्गाभिधा भार्या, रतितरङ्गिणीनाम्ना दुहिता । दर्श० ३ तत्त्व ।

तरंगमालि [ण्]-तरङ्गमालिन्-पुं० । समुद्रे, को० ।

तरंगवई-तरङ्गवती-स्त्री० । स्वनामख्यातायां नायिकायाम्, तरङ्गवतीकथाप्रतिबद्धे कथाग्रन्थे, दश० ३ अ० । आ० म० ।

तरग-तरक-त्रि० । तरन्तीति तरास्त एव तरकाः । पारगन्तृषु । (स्था०)

चत्तारि तरगा पन्नत्ता । तं जहा-समुद्दं तरामी एगे समुद्दं तरइ, समुद्दं तरामी एगे गोपयं तरइ, गोपयं तरामी एगे गोपयं तरइ, गोपयं तरामी एगे समुद्दं तरइ ४ । चत्तारि तरगा पन्नत्ता । तं जहा-समुद्दं तरित्ता णाममेगे समुद्दे विसीयइ, समुद्दं तरित्ता णाममेगे गोपए विसीयइ, गोपयं तरित्ता एगे० ४ ॥

(चत्तारि तरगेत्यादि) व्यक्तम्, नवरं तरन्तीति तरास्त एव तरकाः, समुद्रं समुद्रवत् दुस्तरं सर्वविरत्यादिकं कार्यं तरामि करोमीत्येवमभ्युपगम्य तत्र समर्थत्वादेकः समुद्रं तरति, तदेव समर्थयतीत्येकः । अन्यस्तु तदभ्युपगम्यासमर्थत्वाद्गोपदं तरकत्वं देशविरत्यादिकमल्पतमं तरति, निर्वहतीति । अन्यस्तु गोपदप्रायमभ्युपगम्य वीर्यातिरेकात्समुद्रप्रायमपि साधयतीति । चतुर्थः प्रतीतः । समुद्रप्रायं कार्यं तरित्वा निर्वाह्य समुद्रप्राये प्रयोजनान्तरे विषीदति, न तं निर्वाहयति, स्वशक्त्यभावात् सत्त्वोपघातात् । एवमन्ये त्रय इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तरच्छ-तरक्ष-पुं० । व्याघ्रविशेषे, प्रति० । प्रश्न० । प्रज्ञा० । भ० । स्त्रियां तरच्छी । प्रज्ञा० ११ पद ।

तरण-तरण-न० लङ्घने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । निस्तारणे, नि० चू० १ उ० । पारगमने, प्लवने च । आ० चू० । तरणं चउव्हा-णामादिएहिं । णामठवणाओ गयाओ । दव्वतरणे तिण्णि णिक्खेवा । तं जहा-दव्वं-तरओ, दव्वतरणं, दव्वतारियव्वं । तत्थ दव्वतरओ पुरिसाऽऽदी, दव्वतरणं उडुवाइ, दव्वतारियव्वं णदीसमुद्दमादाऽऽदि । एवं भावतरणे वि भावतरओ जीवो, भावतरणं णाणाऽऽदि, भावतारियव्वं संसारो चउव्विहो । एवं तरणमपि तरीतारा । आ० चू० १ अ० ।

तरमट्ट-देशी-मधुकरे, दे० ना० ५ वर्ग ५ गाथा ।

तरतम-तरतम-त्रि० । न्यूनाधिकभावान्विते ऽर्थे, तारतम्येन वर्तमाने इति शाब्दिकभाष्यम् । वाच० । " तरतमजोगजुत्तेहिं आलयगेहिं अणुपुव्वमेव अणुदरोसं विकुव्वइ ।" कल्प० ३ क्षण ।

तरमल्लिहायण-तरोमल्लिहायन-त्रि० तरो वेगो, बलं वा । तथा 'मल्ल-मल्ल' धारणे । ततश्च तरो मल्ली धारको येनाऽऽदिधारको, हायनः संवत्सरो वर्तते येषां ते तरमल्लिहायनाः । गौवनवत्सु, औ० । (?)

तरमाण-तरत्-त्रि० । समर्थे, नि० चू० १ उ० । औ० ।

तरलियमइ-तरलितमति-स्त्री० । विसंस्थुलबुद्धौ, औ० १ प्रति० ।

तरस-देशी-मांसे, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

तरिअव्व-तरितव्य-त्रि० । निस्तरणीये,-"तरिअव्वं व पइण्णिया, मरियव्वं वा समरे समत्थेणं ।" आव० ४ अ० । तरुपे, दे० ना० ५ वर्ग ७ गाथा ।

तरित्तए-तरीतुम्-अव्य० । लङ्घयितुमित्यर्थे, प्रति० ।

तरिया-तरिका-स्त्री० । दुग्धादेर्निकृतेऽवयवे, " पक्कगयं घयकिट्टी, पक्कोसहि उवरि तरियसहिं च ।" ध० २ अधि० ।

तरु तरु-पुं० । तृ-उ-गुणः । वाच० । "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इह स्वरात्परसंयुक्तस्यानादेरित्यनोऽनादेरित्यस्याधिकारात्लुक् न । प्रा० १ पाद । वृक्षे दश० १ अ० ।

तरुण तरुण-त्रि० । जन्मपर्यायेण षोडशवर्षाण्यारभ्य यावत्पञ्चविंशतिवर्षाणि तावत्तरुणः । व्य० ३ उ० । इत्युक्तलक्षणे मध्यमवयसि, भ० १४ श० १ उ० । सूत्र० । रा० । तन्त्र० । नूतने, कल्प० ३ क्षण । औ० । 'तरुणदिवाकरकरेहिं ।' औ० । विशिष्टवर्णाऽऽदिगुणोपेतेऽभिनवे वस्तुनि, जी० ३ प्रति० २ उ० ।

तरुणग-तरुणक-त्रि० । स्तनन्धये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । अभिनवे, भ० १५ श० ।

तरुणदिवागर-तरुणदिवाकर-पुं० । अभिनवोदितादित्ये, आव० ४ अ० । अष्ट० ।

तरुणधम्म-तरुणधर्म-त्रि० । अविपक्वपर्याये, नि० चू० १९ उ० । तारुण्ये वर्तमाने, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

तिण्हाऽऽरेण समाणं, होइ पकप्पम्मि तरुणधम्मा उ ।
पंचण्ह दसाकप्पे, अहव व जो जत्तिओ कालो ॥

अनागतपर्यायमधिकृत्य त्रिवर्षाणां समानां वर्षाणामारेणार्वाक् वर्तमानः प्रकल्पो निशीथाऽध्ययने तरुणधर्मा अविपक्वपर्यायो भवति, पञ्चानां वर्षाणामर्वाक् वर्तमानस्तु (दसाकप्पे त्ति) दशाकल्पव्यवहाराणां तरुणधर्मा ज्ञातव्यो, यस्य वा सूत्रकृताङ्गाऽऽदेः श्रुतस्य, यो यावान् कालो व्यवहाराध्ययने दशमोद्देशके भणितः, तस्य तावन्तं कालमसमाप्यन् तरुणधर्मा भवति । यथा-" कप्पइ चउवासपरियायसमणस्स निग्गंथस्स सूयगडं नाम अंगं उद्दिसित्तए ।" इत्यादि । बृ० १ उ० ।

तरुणपरिकम्म-तरुणपरिकर्म-न० । रोगग्रस्तस्य सततरुणस्य बलविशुद्धिकरणे, व्य० ४ उ० ।

तरुणप्पभ-तरुणप्रभ-पुं० । खरतरगच्छीये जिनकुशलसूरिशिष्ये, अनेन विक्रमसंवत् १४११ मिते श्रावकप्रतिक्रमणविवरणं नाम ग्रन्थो रचितः । जै० इ० ।

तरुणिया-तरुणिका-स्त्री० । अपरिपक्वायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ।

तरुणीपडिकम्म-तरुणीप्रतिकर्म-न० । एकोनत्रिंशत्तमकलाभेदे, युवतीनां वर्णाऽऽदिवृद्धरूपायां सकलकलायाम्, जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । औ० ।

तरुणीपरिकम्म-तरुणीपरिकर्म-' तरुणीपडिकम्म ' शब्दार्थे, जं० २ वक्ष० ।

तरुतिगिच्छा-तरुचिकित्सा-स्त्री० । वृक्षाणां रोगप्रतीकारलक्षणे एकोनपञ्चाशत्पुरुषकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

तरुपक्खंदोलग-तरुपक्षान्दोलक-त्रि० । तरुरूके तरुपार्श्वे आत्मानमान्दोलयन्ति ये ते तथा । तरुपक्षान्दोलनात्पातेन मृतेषु, औ० ।

तरुपडण-तरुपतन-न० । पिप्पलवटाऽऽदितरुमारुह्य उत्पत्य पतने, नि० चू० ११ उ० । प्र० ।

तरुपतणट्ठाण-तरुपतनस्थान-न० । यत्र मुमूर्षव एवानशनेन तरुपतनिनास्तिष्ठन्ति, तरुभ्यो वा यत्र पतन्ति । तथाभूते स्थाने, आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० ।

तल-तल-पुं० । हस्ततले, जं० १ वक्ष० । नि० चू० । आ० म० । जी० । पाणिपादानामधोभागे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । तं० । हस्ते, स्था० ८ ठा० । चं० प्र० । ज्ञा० । औ० । कनूप्रत्ययोऽयत्र । आ० म० १ अ० १ खण्ड । मध्यस्थाने, स्था० ८ ठा० । अधोभागे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रतिष्ठाने, " करतलगलितकमण्डलुदण्डकं ।" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । हस्ततले, रा० । ज्ञा० । दशा० । अभिधानयोः तालाभिधाने वृक्षे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । जी० । आ० म० । तालो वृक्षस्तत्र भव तालम् । तालवृक्षफले, व्य० १ उ० । आमेशे, शय्यायां च । दे० ना० ५ वर्ग १६ गाथा ।

तलअण्ट-भ्रम-धा० । " भ्रमेष्टिरिटिल्ल-ढुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमड-भमाड-तलअण्ट-झण्ट-झम्प-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी-पराः " ॥ ८ । ४ । १६१ ॥ इति भ्रमधातोः 'तलअण्ट' इत्यादेशः । 'तलअण्टइ' । प्रा० ४ पाद । चलने, दिवा०-पर०-सक०-सेट् । भ्राम्यति, अभ्रमीत् । वाच० ।

तलअत्ती-देशी-कूपे, दे० ना० ५ वर्ग ८ गाथा ।

तलओडा-स्त्री० । गुच्छभेदे, ' तेओरा ' इति गुर्जरदेशे प्रसिद्धम् । प्रज्ञा० १ पद ।

तलजमलजुगलबाहु-तलयमलयुगलबाहु-त्रि० । तलौ तालवृक्षौ तयोर्यमलं युगलं श्रेणिकयुगलं तलयमलयुगलं, तद्वत् अतिसरलौ पीवरौ बाहू यस्य सः । तालवृक्षसदृशातिसरलपीवरबाहौ, रा० । जा० । तलयमलयुगलपरिघनिभबाहुः । तलौ तालवृक्षौ तयोर्यमलं समश्रेणिकं यद्युगलं द्वयं परिघश्चार्गला, तन्निभौ तत्सदृशौ दीर्घसरलपीनत्वाऽऽदिना बाहू यस्य सः । भ० १४ श० १ उ० ।

तलण-तलन-न० । सुकुमारिकाऽऽदेरिव भ्राष्ट्रभर्जने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अग्नौ स्नेहेन भर्जने, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

तलताल-तलताल-पुं० । हस्ततालो, कल्प० १ क्षण । सू० प्र० । चं० प्र० । कल्प० । ज्ञा० । ज० । हस्तकांशिकयोः, कल्प० ४ क्षण । चं० प्र० ।

तलपत्त-तालपत्र-न० । तालाभिधानवृक्षपर्णे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

तलप्फल-देशी-शाल्याम, दे० ना० ५ वर्ग ७ गाथा ।

तलभंगय-तलभङ्गक-पुं० । बाह्वाभरणविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । औ० ।

तलवत्त-देशी-कर्णाऽऽभरणविशेषे, वराहे च । दे० ना० ५ वर्ग २१ गाथा ।

तलवर-तलवर-त्रि० । परितुष्टनरपतिप्रदत्तपट्टबन्धविभूषिते राजस्थानीये, स्था० ९ ठा० । औ० । पञ्चा० । प्रज्ञा० । भ० । जी० । कल्प० । जं० । रा० । अष्ट० । ज्ञा० । अनु० । बृ० ।

तलविंट-तालवृन्त-न० । " वाऽव्ययोत्खाताबदातः " ॥ ८ । १ । ६७ ॥ इत्याकारस्यात्वम् । पक्षे-तालविण्टम् । प्रा० १ पाद । तालं करतलं वृन्तं बन्धनमस्य, तालस्येव वृन्तमस्य वा । व्यजने, वाच० ।

तलवेंट-तालवृन्त-न० । ' तलविंट ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

तलसारिअ-देशी-गालिते, दे० ना० ५ वर्ग ९ गाथा । नासिके, दे० ना० ५ वर्ग ६ गाथा ।

तलाअ-तडाग-पुं० । " डो लः " ॥ ८ । १ । २०२ ॥ इति डस्य लः । प्रा० १ पाद । पुरुषाऽऽकृते जलाऽऽशयविशेषे, प्रश्न० ४ संव० द्वार । प्रज्ञा० । औ० । अनु० । आ० म० । आचा० । आव० । रा० ।

तलाग-तडाग-पुं० । ' तलाअ ' शब्दार्थे, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

तलार-देशी-नगररक्षके, दे० ना० ५ वर्ग ३ गाथा ।

तलिण-तलिन-न० । प्रतले, औ० ।

तलिम-तल्प-न० । शयनीये, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । कुट्टिमे, शय्यायाम्, गृहोपरिभूम्याम्, वासभवने च । दे० ना० ५ वर्ग २० गाथा ।

तलिमा-तलिमा-स्त्री० । तूर्यवाद्यभेदे, रा० । आ० म० ।

तलिय-तलित-त्रि० । स्नेहपक्वे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । नि० चू० ।

तलिया-तलिका-स्त्री० । उपानहि, बृ० ।

तलियाउ रत्तिगमणं, कप्पइ तेणे य सावए असहू ।
पुव्वा विवच्चासे, बद्धा पुण चिम्मसंघट्टा ॥

तलिकाः क्रमणिकाः, ताश्च रात्रौ गमने कण्टकरक्षणार्थं पादयोः बध्यन्ते, सार्थवशाद्वा पथ्यानं मुक्त्वा मध्येन गच्छतां स्तेनभयेन, श्वापदभयेन च त्वरितं गच्छमाने दिवाऽपि बध्यन्ते, असहिष्णुः सुकुमारपादः, स कण्टकसंरक्षणार्थं क्रमणिकाः पादयोर्बध्नाति । ताश्च प्रथममेकतलिकाः, तदप्राप्तौ यावच्चतुस्तलिका अपि गृह्यन्ते । पुटकानि खल्लकानि, तानि शीतेन पादयोर्विचर्चिकासु विपादिकासु स्फुटितासु बध्यन्ते । वध्राः पुनस्तलिकाऽऽदीनां छिद्राणां त्रुटितानामानां सङ्घटनार्थं गृह्यन्ते । बृ० १ उ० । ध० । व्य० । नि० चू० । ओघ० ।

तलुण-तरुण-त्रि० । प्रत्यग्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । प्रवर्द्धमानवयसि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । रा० ।

तल्ल-देशी-पल्वले, बद्धाऽऽरूढे तृणे, शय्यायां च । दे० ना० ५ वर्ग १९ गाथा ।

तल्लअ-तल्लज-पुं० । तृणविशेषे, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

तल्लक-पुं० । सुराविशेषे, जं० २ वक्ष० ।

तल्लड-देशी-शय्यायाम, दे० ना० ५ वर्ग २ गाथा ।

तल्लिच्छ-देशी-तत्परे, दे० ना० ५ वर्ग ३ गाथा ।

तल्लेस-तल्लेश्य-त्रि० । तत्रैव लेश्या शुभपरिणामरूपा यस्य सः । ग० २ अधि० । अनु० । लेश्या हि कृष्णाऽऽदिद्रव्यसाचिव्यजनित आत्मपरिणामः । तदिष्टयलेश्यायुक्ते, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

तव-पुं० । तपस्-न० । "स्नमदामशिरोनभः" ॥ ८ । १ । ३२ ॥ इति प्राकृते पुंस्त्वम् । प्रा० १ पाद । तप्यतेऽनेनेति तपः । तापयति अष्टप्रकारं कर्मेति तपः । रैणाऽऽदिकोऽसुन्प्रत्ययः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । तापयति कर्म दहतीति तपः । पञ्चा० १६ विव० । स० । तप्यन्ते रसाऽऽदिधातवः कर्माणि वा अनेनेति तपः । ध० ३ अधि० । आ० म० । रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राण्यनेन तप्यन्ते, कर्माणि वाऽशुभानीत्यतस्तपो नाम निरुक्तम् । स्था० ५ ठा० १ उ० । चतुर्थाऽऽदिषण्मासान्ते (स्था० ६ ठा०) अनशनाऽऽदौ, प्रश्न० ४ संव० द्वार । आव० । दश० । सूत्र० । नं० । रा० । संथा० । दश० । प्रव० । भद्रमहाभद्रप्रतिमासु, उत्त० ३० अ० ।

तवोनिक्षेपः-

निक्खेवो उ तवम्मी, चउव्विहो दुविहो उ होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमओ, नोआगमओ य सो तिविहो ॥४३॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य पंचतवमाई ।
भावम्मि होइ दुविहो, बज्झो अब्भिंतरो चेव ॥४४॥
अणगईणं दुण्ह वि, पुव्वुद्दिट्ठो चउक्कनिक्खेवो ।
मग्गं तु भावमग्गे, सिद्धिगईए उ नायव्वं ॥४५॥
दुविहतवो मग्गइ वा, निज्जइ वा जम्ह एत्थ अज्झयणे ।
तम्हा एयऽज्झयणं, तवमग्गगइ त्ति नायव्वं ॥४६॥

गाथाचतुष्टयं प्राग्वत्, नवरं (पंचतवमाइ त्ति) पञ्चतपः पञ्चाग्नितपो यत्र समन्ततोऽपि त्रिषु चतसृषु दिक्षु अग्नयः, पञ्चमश्च तपनः । तल्लोके प्रसिद्धमादिशब्दाल्लोकप्रतीतमन्यदपि कृच्छ्रतपःप्रभृति तपो गृह्यते, द्रव्यत्वं चास्याज्ञानमूलत्वेन तथाविधशुद्धाभावात् तथा भावे प्रक्रमात्तपो बाह्यमाभ्यन्तरं चात्रैव वक्ष्यमाणस्वरूपं, तथा (पुव्वुद्दिट्ठो त्ति) पूर्वत्र मोक्षमार्गगतिनामकेऽध्ययने उद्दिष्टः कथितः पूर्वोद्दिष्टः (भावमग्गे त्ति) सुगुरुत्वस्याद्भावमार्गेण मुक्तिपथेन तपोरूपेण ज्ञानदर्शनचारित्राविनाभावित्वादस्यावतपसः । उत्त० पाई० ३० अ० ।

नामनिरुक्तिमाह-

जहा उ पावगं कम्मं, रागदोससमज्जियं ।
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भिक्षुस्तपसा रागद्वेषसमर्जितं रागद्वेषाभ्यामुपार्जितं कर्म क्षपयति, तुशब्दः पादपूरणे । तं तपोमार्गम्, एकाग्रमनाः सावधानचित्तः सन् त्वं शृणु-हे जम्बूस्वामिन् ! अहं ब्रवीमीति सम्बन्धः, अनाश्रवेण किल कर्मक्षयः क्रियते ॥१॥

पाणिवहमुसावाए-अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ ।
राईभोयणविरओ, जीवो होइ अणासओ ॥ २ ॥

हे शिष्य ! ईदृशो जीवो निराश्रवो भवति, कीदृशः ?, प्राणिवधमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहाद्विरतो रहितः, पुना रात्रिभोजनविरतः, एतादृशोऽनाश्रवो भवति ॥ २ ॥

पुनरनाश्रवो यथा भवति तमाह-

पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ ।
अगारवो य निस्सल्लो, जीवो होइ अणासवो ॥ ३ ॥

कीदृशो ?, जीवः पञ्चभिः समितिभिः समितः सहितः पञ्चसमितः, पुनस्त्रिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तः, पुनरकषायः कषायरहितः पुनर्जितेन्द्रियः वशीकृतेन्द्रियः, पुनरगारवः ऋद्धिरससाताऽऽदिगर्वरहितः, पुनर्निःशल्यः मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यत्रयरहितः, एतादृशोऽनाश्रवो भवति ॥ ३ ॥

एतद्विधोऽनाश्रवश्च यथा क्षपयति, तथा वदति-

एएसिं तु विवच्चासे, रागद्दोससमज्जियं ।
खवेइ जं जहा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण ॥ ४ ॥

हे शिष्य ! यथा येन प्रकारेण भिक्षुः साधुरेतेषां पूर्वोक्तानां प्राणातिपातमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहरात्रिभोजनविरतिलक्षणानां व्रतानां तथा समितिगुप्त्यादिलक्षणानामनाश्रवकारणानां विपर्यासे वैपरीत्ये प्राणिवधमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहरात्रिभोजनसमित्यभावगुप्त्यभावासेवने सति रागद्वेषाभ्यां समर्जितं सञ्चितं पापकर्म क्षपयति, तं प्रकारमेकाग्रमना एकचित्तः सन् त्वं शृणु ॥ ४ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह-

जहा महातलागस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥ ५ ॥

यथा महातडागस्य महाजलाऽऽश्रयस्य जलाऽऽगमे पानीयाऽऽगममार्गे सन्निरुद्धे सम्यक्प्रकारेण संवृते सति (उस्सिं-

कषाय(त्ति) इति सम्प्रज्ञानया सर्वं कर्मगृह्णाऽपेक्षया कर्मणोऽऽकर्ष-णया, तपसैव दीर्घकालीनाऽऽहृतस्य संतापेन क्षपणं शोषणा अलम्ब शोषणं प्रयेद, तथाविधजलाऽऽगमनिरोधेन सहैव, पूर्वसञ्चितं च निष्कासितं जलमिति, इति भावः ॥५॥

अथ दार्ष्टान्तिकमाह-

एवं तु संजयस्साऽवि, पावकम्मनिरासवे ।

भवकोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥ ६ ॥

एवमनेन प्रकारेण, पापकर्माऽनिरास्रवे सति पापकर्मणां प्रा-णिवधाऽऽदीनां निरोधे सति, संयतस्यापि साधोरपि, तपसा द्वादशविधेन, भवकोटिसञ्चितं कर्म निर्जीर्यते, आधिक्येन क्षयं नीयते । अत्र कोटिग्रहणं बहुत्वोपलक्षणं, कोटिनियमस्य असंभवात् ॥ ६ ॥ उत्त० ३० अ० ।

तप ६ आरम्भः, ६ बाह्यम्-" दुविहे तवे पण्णत्ते । तं जहा-बाहिरिए य, अब्भिंतरिए य । से किं तं बाहिरए तवे ? । बा-हिरिए तवे छव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-" अणसणं, ऊणोयरिया, भिक्खायरिया, रसपरिच्चाओ । कायकिलेसो, पडिसंलीणया ॥ " भ० २५ श० ७ उ० । ध० । औ० । दशा० । स० । आ० म० । स्था० । पञ्चा० । आ० चू० । आचा० । नं० । उत्त० । जीत० । (अनशा-नाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्थाने " तेसिं तवेणं तेएणं तवतेयसिरीए अईव उवसोभेमाणे चिट्ठइ " तपोजन्यं तेजस्तप एवं तेन तेजोलेश्यया । भ० १७ श० ।

दुःखहेतुत्वात्तपो न कार्यमिति केषाञ्चिन्मतनिरासः ।

वैराग्ययुक्तेन तथा विवेकवता वैराग्य इत्यनन्तरं तपोऽष्टक-मारभ्यते । तत्रापि परमतमाशङ्कमान आह-

दुःखाऽऽत्मकं तपः केचि-न्मन्यन्ते तन्न युक्तिमत् ।

कर्मोदयस्वरूपत्वा-द्बलीवर्दाऽऽदिदुःखवत् ॥ १ ॥

दुःखमसुखमात्मा स्वभावो यस्य तद् दुःखाऽऽत्मकं, किं तत् ?, तपोऽनशनाऽऽदिरूपमिति कृत्वा, केचन कथितनयदर्शनाऽऽगमग-मार्थाः, मन्यन्ते अभ्युपगच्छन्ति । तदिति तपो, न नैव, युक्तिम-त् उपपत्त्या संगतं न, मोक्षाङ्गं तप एव न संभवतीति यावत् । अथ दुःखाऽऽत्मकमपि तत्कस्मान्न मोक्षाङ्गमित्याह-कर्मोदयस्व-रूपत्वादिति । कर्मोदयोऽसातवेदनीयाऽऽदिकर्मविपाकः स्वरूपं स्वभावो यस्य तत्तथा तद्भावस्तत्त्वं तस्मात् । तथाहि-तपस्यन-शनाऽऽदिषु क्षुत्पिपासाऽऽदयः परीषहाः, ते च वेदनीयकर्मोदय-संपाद्या आगमे श्रूयन्ते, इति वेदनीयकर्मोदयाऽऽत्मकमनशनाऽऽ-दिकर्मोदयस्वरूपत्वाच्च न मोक्षाङ्गं नान्यत्राप्युक्तमिति-बलीवर्दा-ऽऽदिदुःखवत् । यथा हि बलीवर्दाऽऽदीनामिव । प्रयोगश्चैवम् यत्कर्मोदय-स्वरूपं न तन्मोक्षाङ्गं, यथा बलीवर्दादिदुःखं, कर्मोदयस्वरूपं च तपः, तस्मान्न मोक्षाङ्गमिति निगमनम् । अयं च श्लोकार्थ इमां गाथामनुवदताऽनुपयुक्त इव मयाऽभिहितः-" यदुक्तं जं पि केइ-त्थ अणसणाई दुक्ख ति भणंति । कम्मोदयाणुगताओ, अणस-णाई पि परिसुद्धं ॥ १ ॥ " इति ॥ १ ॥

कष्टं तु मन्दद्वयस्यापि तपसो मुक्तिकारणाभ्युपगमे परं एव दूषणमाह-

सर्व एव च दुःख्येवं, तपस्वी संप्रसज्यते ।

विशिष्टस्तद्विशेषेण, सुधनेन धनी यथा ॥ २ ॥

सर्व एव निरवशेषः एव यः कश्चिद् दुःखी दुःखवान्, नारका-दयस्तावत्सम्मुखम्, एवं दुःखाऽऽत्मकस्याऽपि तपसो मुक्तिकारणा-भ्युपगमे सति, स तपस्वी तपोयुक्तः, संप्रसज्यते प्राप्नोति, प्रस-ङ्गत आऽऽदिदुःखस्य, तथापि दुःखस्य न तु तस्य तपोभावाः ॥ दुः-खाऽऽत्मकस्य तपसोऽभ्युपगमे न तु अन्यथैव तपस्त्वेनाभ्युपग-मान्विति भावः । तथा विशिष्टः प्रधानतरः तपस्वी प्रसज्यत इति प्रक्रमः । कस्मात्-तद्विशेषेण हेतुना । क इव कस्मादित्याह-सुधनेन प्रचुरधनेन, धनी महाधनो, यथा येन प्रकारेणेति ॥ २ ॥

अथ सर्व एव दुःखी तपस्वी प्रसज्यतां, को दोषः ?, आह-

महातपस्विनश्चैवं, त्वन्नीत्या नारकाऽऽदयः ।

शमसौख्यप्रधानत्वाद्, योगिनस्त्वतपस्विनः ॥ ३ ॥

महातपस्विनः विशिष्टतपोधनाः, प्रसज्यन्ते इति गम्यते, चकारो दूषणान्तरसमुच्चये, एवमुक्तप्रकारेण, त्वन्नीत्या त्वदभ्युपगमेन, दुःखी तपस्वी अभ्युपगमप्रकारेणेति भावः । नारकाऽऽदयो नैरयिकाऽऽद-यः, तेषां महादुःखितत्वात् । तिर्यक्शब्दान्मनुष्येष्वपि अभूमानवाऽऽदि-कः परिग्रहः । शमः प्रशमः एव सुखं शमसौख्यम् । यदाह-" नैवास्ति राजराजस्य, तत्सुखं नैव देवराजस्य । यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ॥ १ ॥ " शमसौख्यं प्रधानं येषां ते, तेन वा प्र-धाना ये ते तथा, तद्भावस्तत्त्वं, तस्माच्छमसौख्यप्रधानत्वात्, दुःखितत्वाभावादित्यर्थः । योगिनः समाधिमन्तः, तुशब्दः पुनरर्थः, अ-तपस्विनः अतपोधनाः, दुःखाऽऽत्मकतपसोऽभावादिति । भावना स्वधीत्या प्रत्युत्पन्न इति प्रक्रमेणोक्त ॥ ३ ॥

पर एव स्वपक्षनिगमयन्नाह-

युक्त्यागमबहिर्भूत-मतस्त्याज्यमिदं बुधैः ।

अशद्ध्यानजननात्, प्राय आत्माऽपकारकम् ॥ ४ ॥

युक्तिश्चोपपत्तिः, आगमश्चाऽऽप्तवचनं, ताभ्यां बहिर्भूतं तदननुपाति तद्बाधितं युक्त्यागमबहिर्भूतं, तत्र युक्तिबहिर्भूतता प्राग्दर्शि-ता । आगमबहिर्भूतता त्वागमवचनमिदम्-" आहारपरिज्ञानवत्तायां, समतया विचरन्तः सर्वदा साधवः । भूयिष्ठं परित्यजन्तु, धीरमुनयो वि " ॥१॥ अनशनाऽऽदौ तु कष्टकार्यादिना प्रतीते-ष्विति । अत इति, यस्मादनन्तरोक्तं कारणमनन्तरमुक्तमागमो-क्तस्याऽत्यागादिसिद्धमनशनाऽऽदि दुःखाऽऽत्मकं तप, किमित्याह-बुद्धैर्युक्त्यागमज्ञैः, तत्त्वविशेषज्ञैः प्रवर्तितव्यं तथापि दुःख-त्वाभावप्रसङ्गादिति हृदयम् । तथाऽऽत्माऽपकारकं आत्मानर्थं तद-स्यनानार्थकं कुतः ?, अशस्तध्यानजननात् अप्रशस्तध्यानावसायोत्पा-दकत्वात्, प्रायो बाहुल्येन, इतरदपि हि भवत्याऽऽर्तध्याने अप्रशस्तं ध्यानम् । यदाह-" आहारविरहिते देहे, धातुक्षोभः प्रजायते । तत्र चाऽपि कम्पनोऽपि, चित्तभ्रंशं समश्नुते ॥ १ ॥ " इह च प्रायो-ग्रहणात् धीमन्महात्मनाऽऽदावार्तध्यानस्याऽनवकाश इति दर्शितमिति, अतोऽपि त्याज्यमेतद् बुद्धैरिति प्रक्रम इति पूर्वपक्षः ॥ ४ ॥

अत्र उत्तरमाह-

मनइन्द्रिययोगाना-महानिश्चोदिता जिनैः ।

यतोऽत्र तत्कथं त्वस्य, युक्ता स्याद् दुःखरूपता ? ॥५॥

पूर्वपक्षवादिना यदुक्तम् दुःखाऽऽत्मकं तपो न युक्तिमत्, कर्मोदय-स्वरूपत्वात्, तत्र दुःखाऽऽत्मकत्वमिति विशेषणं तपसो न सिद्धमिति तावद्दर्शयन्नाह कथम् ?; मनश्च चित्तमिन्द्रियाणि च करणानि, योगाश्च प्रत्युपेक्षणाऽऽदयः संयमव्यापारा मनइन्द्रिययोगाः, तेषा-महानिरनाबाधना, चोदिता अभिहिता । अथवा-अकारः प्रश्ने, ते अनुपघातका अहिंसा उक्ता, जिनैस्तीर्थकरैः, यतो यस्मा-त्कारणात्, अत्र तपसि । यदाह-

" सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति " ॥ १ ॥

तथा—

" ता जह न देहपीडा, न यावि चुयमंससोणियत्तं तु ।
जह धम्मज्झाणवुड्डी, तहा इमं होइ कायव्वं ॥ २ ॥ "

तदिति तस्मात्कारणात्,कथं केन प्रकारेण?,न कथञ्चिदित्यर्थः। नु इति वितर्के, अस्य तपसः,युक्ता उपपन्ना, स्याद्भवेत, दुःखरूपता असुखस्वभावता । तदेवं दुःखाऽऽत्मकत्वं तपसोऽसिद्धं, तदसिद्धावयुक्तिमत्त्वमप्यसिद्धमित्युक्तमिति ॥ ५ ॥

ननु देहपीडाकरत्वेनाऽनशनाऽऽदीनां दुःखस्वरूपत्वमनुभूयमानमपि कथमसिद्धमिति व्यपदिश्यत इत्याह-

याऽपि चानशनाऽऽदिभ्यः, कायपीडा मनाक् क्वचित् ।
व्याधिक्रियासमा साऽपि, नेष्टसिद्ध्याऽत्र बाधिनी ॥६॥

(याऽपीति)अनशनाऽऽदिभ्य उक्तन्यायेन तावद् देहपीडा न भवत्येव, याऽपि चानशनाऽऽदिभ्य उपवासाऽऽदिभ्यः, आदिशब्दादूनोदरताऽऽदेः सकाशात् , कायपीडा शरीरबाधना, न तु मनःपीडा, मनाक् स्वल्पा, क्वचिद्देशे काले वा, न पुनः सर्वत्र सर्वदा सा संभवति । उक्तन्यायप्रवृत्तस्य साऽपीति इह दृश्यते नासावपि न बाधनी, न वा बाधिका, न मनसो दुःखदा । किमित्यत आह-इष्टसिद्ध्या वाञ्छितार्थसाधनात् , अत्र प्रवचने, किंविधाऽसावित्याह-व्याधिक्रियासमा रोगचिकित्सातुल्या । यथा हि रोगचिकित्सायां मनाक् देहस्य पीडा सत्यपि न बाधिका, आरोग्यसिद्धेः, एवं तपस्यपि देहपीडाभावाऽऽरोग्यसंसिद्धेर्न भावतो बाधिकेति भावनेति ॥ ६ ॥

इष्टार्थसिद्धौ देहपीडाया अदुःखरूपतां दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह-

दृष्टा चेष्टार्थसंसिद्धौ, कायपीडा ह्यदुःखदा ।
रत्नाऽऽदिवणिगादीनां, तद्वदत्रापि भाव्यताम् ॥ ७ ॥

न केवलमस्माभिरेवेहोपन्यस्ता, दृष्टा च लोके अवलोकिता, इष्टार्थसंसिद्धावभिप्रेतप्रयोजनप्राप्तौ सत्यां, कायपीडा देहबाधा, हिशब्दः स्फुटार्थः, अदुःखदा न पीडाकारिणी, केषामित्याह-रत्नानि मरकताऽऽदीनि, आदिर्येषां वस्त्रसुवर्णाऽऽदीनां तानि तथा तेषां, वणिग् वाणिजको रत्नाऽऽदिवणिक्,स आदिर्येषां कृषीवलाऽऽदीनां ते तथा तेषां, रत्नाऽऽदिवणिगादीनाम् । ततः किमित्याह-तेषामिव वणिगादीनामिव तद्वत्, अत्रापि अनशनाऽऽदितपोविषयेऽपि भाव्यतां निपुणधिया पर्यालोच्यताम् । तथाहि-रत्नसुवर्णवसनाऽऽदिवणिक्कृषीवलाऽऽदीनां समीहितार्थसंसिद्धिबद्धाभिप्रायाणाम् अपारपारावारावनारकान्तारनिस्तरणधरणीकर्षणाऽऽदिविविधव्यापारपरायणानां क्षुत्पिपासा-श्रमाऽऽदिजनितदेहपीडा न मनोविधुरताऽऽधायिनी; एवं साधूनामपारसंसारसागरमचिरादुत्तितीर्षूणामनशनोनोदरताऽऽदितपोजनितदेहपीडा न मनोबाधाविधायिनीति ॥

इह पुनर्विशेषसम्प्रदायं केचिदेवमूचुः-

किल कोऽपि दरिद्रवाणिजको दूरदेशान्तरं गत्वा कथं कथमपि रत्नान्युपार्जितवान्, चिन्तितवांश्च-कथमहमेतानि महामूल्यानि सर्वाऽऽशासम्पादकानि महारत्नानि चौरव्याकुलमरण्यं निस्तीर्य स्वनगरं गत्वोपभोगं नेष्यामि ?। ततस्तेनोत्पन्नबुद्धिना तान्येकत्र स्थाने निहितानि, काचाऽऽदिसकलानि च पोट्टलिकायां बद्धानि । सा च दण्डाग्रे निबद्धा । ततश्चोत्पाटितमध्येनाऽहो ! रत्नवणिजको गच्छतीत्येवं महता शब्देन व्याहरन्नरण्यमतिक्रामति स्म । ततो मार्गे पल्लीषु च ये जनाः,ते तं वीक्ष्य ससंभ्रममागत्य निभालयन्ति स्म । अपश्यंश्च काचाऽऽदिशकलानि,अवधीरितवन्तश्च ग्रहगृहीतोऽयमिति विभावयन्तः । ततः पुनरपि तथैव निवृत्तः, तत्रापि यैः पूर्वं न वीक्षित आसीत्, ते तथैव वीक्षितवन्तोऽथावधीरितवन्तश्च । एवं पुनरपि मध्यारण्यमध्येन गतवान् । ततस्तृतीयवेलायामतिपरिचितत्वादवधीरितस्तस्करजनेन । ततोऽसौ निश्चितवान्-न मां कोऽपि अत्राऽरण्यमार्गे स्खलयिष्यति । इति निश्चित्य रत्नानि गृहीत्वा शीघ्रं तदुपयोगाय वाञ्छितपुरप्रापणाय तदभिवाहने यातो औत्सुक्येनाऽनवरतं महाप्रयाणकैः क्षुत्पिपासाश्रमाऽऽदीन् भवतो नूयसोऽप्यगणयन् गन्तुं प्रवृत्तः । बहुतरमार्गमतिलङ्घितः सन् पिपासाऽभिभूतो भावयामास-अहो ! अहमद्य जलं विना म्रिये,न च रत्नोपभोगभाजनं भवामीत्येवं भावयता मरणभयत्रातेन रत्नोपभोगाऽऽकाङ्क्षिणा दृष्टं सरः पङ्कप्रायपानीयं पङ्कमग्नमृगाऽऽदिकडेवरपूयकृमिजालव्याकुलं विलीनमतिदुर्गन्धं विरसतुच्छजलम् । दृष्ट्वा च गन्धमजिघ्रता रसमनास्वादयता दुष्करकरणं कुर्वता अक्षिणी निमील्याञ्जलिभिस्तत् पीतवान्, परं स्वास्थ्यं मागमत्, तदुपष्टम्भितश्च क्षीणपिपासादुःखोत्क्षेपणपुरं प्राप्तः, रत्नोपयोगसुखं चेति । उपनयस्तु प्रागुक्त एवेति ॥ ७ ॥

तदेवं दुःखाऽऽत्मकतां तपसो व्युदस्य कर्मोदयस्वरूपतां व्युदस्यन्नाह-

विशिष्टज्ञानसंवेग-शमसारमतस्तपः ।
क्षायोपशमिकं ज्ञेय-मव्याबाधसुखाऽऽत्मकम् ॥ ८ ॥

विशिष्टाः प्रधानाः सम्यग्दर्शनविशेषितत्वात्-ज्ञानं च तत्त्वसंवेदनं,संवेगश्च संसारभयं,मुक्तिमार्गाभिलाषिता वा,शमश्च कषायेन्द्रियमनसां निरोधः,ज्ञानसंवेगशमाः,विशिष्टाश्च ते चेति कर्मधारयः।त एव सारोऽन्तर्भूतो यस्य,तैर्वा सारं यत्तत्तथा । ज्ञानाऽऽदिसारमेव तपस्तपो भवति,नेतरदल्पफलत्वात् । यदाह-"सट्ठि वाससहस्सा" गाहा । "छज्जीवकायवहगा" गाहा । अत इति । यस्मादुक्तयुक्तेर्दुःखाऽऽत्मकमत एतस्माद्धेतोस्तपोऽनशनादि । किमित्याह-क्षयेण उदीर्णचारित्रमोहनीयकर्मणश्छेदेन सह उपशमस्तस्यैव विपाकापेक्षया विष्कम्भितोदयत्वं क्षयोपशमः, तत्र भवं क्षायोपशमिकम्, ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । न पुनः कर्मोदयस्वरूपम् । तथा अविद्यमाना व्याबाधा अविरतिजनिता अनन्तराः पारम्पर्यकृता वा ऐहिक्यः पारत्रिका वा यस्मिंस्तदव्याबाधं, तच्च तत्सुखं च तदेवाऽऽत्मा स्वभावो यस्य तदव्याबाधसुखाऽऽत्मकं प्रशमसुखाऽऽत्मकसिद्धसुखानुकारीत्यर्थः । अनेन च श्लोकेन तपसोऽकर्मोदयस्वरूपत्वमसुखत्वरूपत्वं वाऽऽवेदितम् ।

उक्तं चैतदन्यत्रापि-

" जं इय इमं न दुक्खं, कम्मविवागो वि सव्वहा नेवं ।
खाउवसमिए भावे, एयं ति जिणागमे भणियं ॥ १ ॥
खंताइसाहुधम्मे, तवगहणं सो खओवसमियम्मि ।
भावम्मि विणिद्दिट्ठो, दुक्खं चोयइ भे सव्वं ॥ २ ॥ "

एतेन च तपसो दुःखरूपत्वकर्मोदयस्वरूपत्वपरिहारेण सर्वं एव हि दुःखमेवमित्यादिश्लोकद्वयाभिहितं तपोदूषणं सर्वं परिहृतमवगन्तव्यम्, दुःखस्वरूपत्वाऽऽश्रयत्वात्तस्येति । अन्ये त्विदमष्टकमेवं व्याचक्षते-दुःखाऽऽत्मकं, दुःखमेवेत्यर्थः । तपः केचिन्मन्यन्ते, तदेव दुःखाऽऽत्मकतपोमननं न युक्तिमत् । कुत इत्याह-कर्मोदयस्वरूपत्वाद् दुःखस्य । किंवदित्याह-बलीवर्दाऽऽदिदुःखवत्, तपसश्च क्षायोपशमिकत्वादिति । इहैव दूषणा-

न्तराभिधानायाऽऽह-सर्व एव चेत्यादि श्लोकद्वयम। अथवा दुःखाऽऽत्मकं तपः केचिन्मन्यन्ते कर्मोदयस्वरूपत्वाद् बलीवर्दाऽऽदिशब्देन विशेषितत्वाद् दृष्टान्तस्येति सद्धेतुरेवायं वृक्षोऽयं, शाखाऽऽदिमत्त्वात्, ग्रामवृक्षवदित्यादिवदिति । अत्राऽऽचार्य आह-तत्र युक्तिमदिति । कुत इत्याह--सर्व एव चेत्यादि श्लोकद्वयम । इह चशब्दो यस्मादर्थे द्रष्टव्यः । आचार्य एवोभयत्र पक्षस्योपदेशमाह-युक्त्यागमेत्यादि । इदमिति तपसो दुःखाऽऽत्मकत्वमननं, शेषं तु श्लोकचतुष्टयं पूर्ववदेव, नवरं "मनइन्द्रिययोगानामहानिश्चोदिता जिनैः," इत्यत्र चशब्दः पूर्वोक्तयुक्त्यपेक्षया युक्त्यन्तरसमुच्चयार्थो द्रष्टव्य इति ॥ ८ ॥ हा० ११ अष्ट० ।

तपश्चान्द्रायणं कृच्छ्रं, मृत्युघ्नं पापसूदनम् ।
आदिधार्मिकयोग्यं स्या-दपि लौकिकमुत्तमम् ॥१७॥

तप इति । लौकिकमपि लोकसिद्धमपि, अपिर्लोकोत्तरं समुच्चिनोति, उत्तमं स्वभूमिकोचितशुभाध्यवसायपोषकम् । द्वा० १२ द्वा० । यो० बि० ।

ज्ञानसारीयं तपोऽष्टकम्-

ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः, कर्मणां तापनात्तपः ।
तदाभ्यन्तरमेवेष्टं,बाह्यं तदुपबृंहकम् ॥ १ ॥
आनुस्रोतसिकी वृत्ति-र्बालानां सुखशीलता ।
प्रातिस्रोतसिकी वृत्ति-र्ज्ञानिनां परमं तपः ॥ २ ॥
धनार्थिनां यथा नास्ति, शीततापाऽऽदि दुःसहम् ।
तथा भवविरक्तानां, तत्त्वज्ञानार्थिनामपि ॥ ३ ॥
सदुपायप्रवृत्ताना-मुपेयमधुरत्वतः ।
ज्ञानिनां नित्यमानन्द-वृद्धिरेव तपस्विनाम् ॥ ४ ॥
इत्थं च दुःखरूपत्वा-त्तपो व्यर्थमितीच्छताम् ।
बौद्धानां निहता बुद्धि-र्बौद्धाऽऽनन्दाऽपरिक्षयात् ॥५॥
यत्र ब्रह्म जिनार्चा च, कषायाणां तथा हतिः ।
सानुबन्धा जिनाऽऽज्ञा च, तत्तपः शुद्धमिष्यते ॥ ६ ॥
तदेव हि तपः कार्यं, दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत् ।
येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि वा ॥ ७ ॥
मूलोत्तरगुणश्रेणि-प्राज्यसाम्राज्यसिद्धये ।
बाह्यमाभ्यन्तरं चेत्थं, तपः कुर्यान्महामुनिः ॥ ८ ॥ अष्ट० ३१ अष्ट० ।

('भिक्खाग' शब्दे तेषां चतुर्विधं तपो वक्ष्यते) (कियताऽनशनेन कियती निर्जरा भवतीति ' अणसणाय ' शब्दे प्रथमभागे ४४४ पृष्ठे द्रष्टव्या)

प्रकीर्णकतपांसि-

एसो बारसभेओ, सुत्तनिबद्धो तवो मुणेयव्वो ।
एयविसेसो उ इमो, पइण्णगोऽणेगभेउ त्ति ॥ ४ ॥

इह तपःशब्दस्य प्राकृतत्वेन पुल्लिङ्गनिर्देशः । एतदनन्तरोक्तं द्वादशभेदमुत्तरेषां भेदानां मीलनत्वात्। सूत्रनिबद्धं शास्त्रोक्तम्, तपस्तपस्या (मुणेयव्वो त्ति) ज्ञातव्यम् । एतद्विशेषस्तु अनन्तरोक्तनपोभेद एव (इमो त्ति) इदं वक्ष्यमाणं तपः प्रकीर्णकं व्यक्तितः सूत्रनिबद्धम्, न भिक्षुप्रतिमाऽऽदिवत्सूत्रे निबद्धमित्यर्थः । न चोत्सूत्रत्वमस्य, द्वादशभेदतपस्यन्तर्भावात् । तच्चाऽनेकभेदमनेकविधाऽऽलम्बनत्वात् । इतिशब्दः समाप्तौ । इति गाथाऽर्थः ॥ ४ ॥

प्रकीर्णकमेव तपो दर्शयन्नाह--

तित्थयरणिग्गमाई, सव्वगुणपसाहणं तवो होइ ।
भव्वाण हिओ णियमा, विसेसओ पढमठाणीणं ॥५॥

तीर्थकरनिर्गमाऽऽदि येन तपसा तीर्थकरा निष्क्रान्ताः; आदिशब्दात्तीर्थकरज्ञाननिर्वाणाऽऽदिग्रहः। किंभूतमिदमित्याह-सर्वगुणसाधकं तीर्थकरनिर्गमनाऽऽद्यालम्बनस्य शुभभावप्रकर्षरूपत्वेन चेहलौकिकाऽऽद्युपकारकारित्वात्। तपो भवतीति व्यक्तम्। अत एव भव्यानां हितं नियमादिति व्यक्तम् । विशेषतः पुनः प्रथमस्थानिनामव्युत्पन्नबुद्धीनां हितत्वादेव निरालम्बनतयाऽपि शुभभावप्रकर्षसंभवात् सर्वमपि हितमेवेति गाथाऽर्थः ॥ ५ ॥ पञ्चा० १९ विव० ।

चान्द्रायणाऽऽदितपः-

चंदायणाइ य तहा, अणुलोमविलोमओ तवो अवरो ।
भिक्खाकवलाण पुढो, विण्णेओ वुड्ढिहाणीहिं ॥ १८ ॥

चन्द्रायणमिव चन्द्रायणं, तदादि च, आदिशब्दाद्भद्रमहाभद्रासर्वतोभद्ररत्नावलीकनकावल्येकावलीसिंहनिष्क्रीडितद्वयाऽऽचाम्लवर्द्धमानगुणरत्नसंवत्सरसप्तसप्तमिकाऽऽदिचतुष्टयकल्याणकाऽऽदितपसामागमप्रसिद्धानां ग्रहः। तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थो गाथाऽऽद्यौ द्रष्टव्यः। अनुलोमविलोमतो गतप्रत्यागत्या, तपोऽपरमन्यत् । कथम् ?, भिक्षाकवलानां प्रतीतानां, पृथग्भेदेन, विज्ञेयो ज्ञेयो वृद्धिहानिभ्यामिति गाथाऽऽर्थः ॥ १८ ॥ पञ्चा० १९ विव० ।

रोहिण्यादितपः-

अण्णो वि अत्थि चित्तो, तहा तहा देवयाणिओएण ।
मुद्धजणाण हिओ खलु, रोहिणिमाई मुणेयव्वो ॥२३॥

अन्यदपि, अस्ति विद्यते, चित्रम, तप इति गम्यते। तथा तथा तेन तेन प्रकारेण लोकरूढेन, देवतानियोगेन देवतोद्देशेन मुग्धजनानामव्युत्पन्नबुद्धिलोकानां, हितं खलु पथ्यमेव, विषयाभ्यासरूपत्वात् । रोहिण्यादिदेवतोद्देशेन यत्तद्रोहिण्यादि । (मुणेयव्वो त्ति) ज्ञातव्यम्। पुँल्लिङ्गता च सर्वत्र प्राकृतत्वादिति गाथाऽर्थः ॥ २३ ॥

देवता एव दर्शयन्नाह--

रोहिणि अंबा य तहा, मंदउणिया सव्वसंपयासोक्खा ।
सुयसंतिसुरा काली, सिद्धाईया तहा चेव ॥ २४ ॥

रोहिणी १ अम्बा २, तथा-मन्दपुण्यिका ३, (सव्वसंपयासोक्ख त्ति) सर्वसंपत् ४, सर्वसौख्या चेत्यर्थः ५ । (सुयसंतिसुर त्ति) श्रुतदेवता ६, शान्तिदेवता चेत्यर्थः ७ । "सुयदेवयसंतिसुरा" इति वा पाठान्तरम , व्यक्तं च । काली ८, सिद्धायिका ९, इत्येता नव देवताः तथा चैवेति समुच्चयार्थः। "संघाइया चेव" त्ति पाठान्तरमिति गाथाऽर्थः ॥ २४ ॥

ततः किमित्याह-

एयाउ(?)वयाओ, पडुच्च अवऊसगा उ जे चित्ता ।

णाणादेसपसिद्धा, ते सव्वे चेव होइ तवो ॥ २५ ॥

एवमादिदेवताः प्रतीत्यैतदाराधनयेत्यर्थः । (अवऊसण त्ति) अपवसनानि अवजोषणानि वा । तुः पूरणे । ये चित्रा नानादेशप्रसिद्धास्ते सर्वे चैव भवन्ति तप इति स्फुटमिति । तत्र रोहिणीतपो रोहिणीनक्षत्रदिनोपवासः सप्तमासाधिकसप्तवर्षाणि यावत् । तत्र च वासुपूज्यजिनप्रतिमाप्रतिष्ठा पूजा च विधेयेति । तथा बाह्य (अम्बा) तपः पञ्चसु पञ्चमीष्वेकाशनाऽऽदि विधेयम् । नेमिनाथाम्बिकापूजा चेति । तथा श्रुतदेवतातप एकादशस्वेकादशीषूपवासो मौनव्रतं श्रुतदेवतापूजा चेति । शेषाणि तु रूढितोऽवसेयानीति गाथाऽर्थः ॥ २५ ॥

अथ कथं देवतोद्देशेन विधीयमानं यथोक्तं तपः स्यादित्याशङ्कयाऽऽह-

जत्थ कसायणिरोहो, बंभं जिणपूयणं अणसणं च ।
सो सव्वो चेव तवो, विसेसओ मुद्धलोयम्मि ॥ २६ ॥

यत्र तपसि कषायनिरोधो ब्रह्म जिनपूजनमिति व्यक्तम् । अनशनं च भोजनत्यागः । (सो त्ति) तत्सर्वं भवति तपो विशेषतः मुग्धलोके । मुग्धलोको हि तथा प्रथमतया प्रवृत्तः सम्भाव्यासातकर्मक्षयोद्देशेनाऽपि प्रवर्त्तते, न पुनरादित एव तदर्थं प्रवर्त्तितुं शक्नोति, मुग्धत्वादेवेति । सद्गुरवस्तु मोक्षार्थमेव विहितमिदमिति बुद्ध्यैव वा तपस्यन्ति । यदाह-" मोक्षायैव तु घटते, विशिष्टमतिरुत्तमः पुरुषः । " इति । मोक्षार्थघटना चाऽऽगमविधिनैव । आलम्बनान्तरस्याभोगहेतुत्वादिति गाथाऽर्थः ॥ २६ ॥

न चेदं देवतोद्देशेन तपः सर्वथा निष्फलमैहिकफलमेव वा, चरणहेतुत्वादपीति चरणहेतुत्वमस्य दर्शयन्नाह-

एवं पडिवत्तीए, एत्तो मग्गाणुसारिभावाओ ।
चरणं विहियं बहवो, पत्ता जीवा महाभागा ॥ २७ ॥

एवमित्युक्तानां साधर्मिकदेवतानां कुशलानुष्ठानेषु निरुपसर्गत्वाऽऽदिहेतुना, प्रतिपत्त्या तपोरूपोपचारेण; तथा इत उक्तरूपात्कषायाऽऽदिनिरोधप्रधानात्तपसः । पाठान्तरेण-एवमुक्तकरणेन मार्गानुसारिभावात् सिद्धिपथानुकूलाध्यवसायाच्चरणं चारित्रम्, विहितमाप्तोपदिष्टं, बहवः प्रभूताः, प्राप्ता अधिगताः, जीवाः सत्त्वाः, महाभागाः महानुभावा इति गाथाऽर्थः ॥२७॥

तथा-

सव्वंगसुंदरो तह, णिरुजसिहो परमभूसणो चेव ।
आयइजणगो सोह-ग्गकप्परुक्खो तहऽण्णो वि ॥२८॥
पडिओ तवोविसेसो, अन्नेहिँ वि तेहि तेहिँ सत्थेहिं ।
मग्गपडिवत्तिहेउं, हंदि विणेयाणुगुणेणं ॥ २९ ॥

सर्वाङ्गानि सुन्दराणि यतस्तपोविशेषात्स सर्वाङ्गसुन्दरः । तथेति समुच्चये । रुजानां रोगाणामभावो निरुजं, तदेव शिखेव शिखा प्रधानं फलतया यत्राऽसौ निरुजशिखः । तथा परमाण्युत्तमानि भूषणान्याभरणानि यतोऽसौ परमभूषणः । चैवेति समुच्चये । तथा आयतौ आगामिकालेऽभीष्टफलं जनयति करोति योऽसावायतिजनकः । तथा-सौभाग्यस्य सुभगतायाः संपादने कल्पवृक्ष इव यः स सौभाग्यकल्पवृक्षः । तथेति समुच्चये । अन्योऽप्यपरोऽपि उक्ततपोविशेषात् ॥ २८ ॥ किमित्याह-पठितोऽधीतस्तपोविशेषस्तपोभेदः, अन्यैरपि ग्रन्थकारैः, तेषु तेषु शास्त्रेषु, नानाग्रन्थेष्वित्यर्थः । नन्वयं पठितोऽपि साभिष्वङ्गत्वान्न मुक्तिमार्ग इत्याशङ्कयाऽऽह-मार्गप्रतिपत्तिहेतुः शिवपथाऽऽश्रयणकारणम् । यश्च तत्प्रतिपत्तिहेतुः स मार्ग एवोपचारात्, कथमिदमिति चेदुच्यते-हन्दीत्युपप्रदर्शने । विनेयानुगुण्येन शिक्षणीयसत्त्वानुरूप्येण भवन्ति हि केचित्ते विनेया ये साभिष्वङ्गानुष्ठानप्रवृत्ताः सन्तो निरभिष्वङ्गमनुष्ठानं लभन्त इति गाथाद्वयार्थः ॥ २९ ॥ पञ्चा० १९ विव० ।

अथैते तपोविशेषा आगमे नोपलभ्यन्त इत्याशङ्कां परिहरन्नाह-

चित्तं चित्तपयजुयं, जिणिंदवयणं असेससत्तहियं ।
परिसुद्धमेत्थ किं तं, जं जीवाणं हियं णऽत्थि ॥३०॥

चित्रमद्भुतमनेकातिशयाभिधानत्वादङ्गानङ्गाऽऽदिभेदत्वाद्वा चित्रमनेकविधम् । तथा चित्रपदयुतं नानाविधार्थप्रतिपादकाभिधानयुक्तम्, जिनेन्द्रवचनं जिनेश्वराऽऽगमः, अशेषसत्त्वहितं समस्तप्राण्युपकारकं, तथ्यानुसारेण मार्गप्रतिपत्त्युपायप्रतिपादनपरत्वात् । परिशुद्धं कषच्छेदतापविशुद्धं सुवर्णमिव निर्दोषम् । एवं चात्रास्मिन् जिनवचने किं तज्जीवानां हितं नास्ति ?, सर्वमपि जीवानां हितमस्तीत्यत इदं तपः परिदृश्यमानाऽऽगमेऽनुपलभ्यमानमप्युपलब्धमिवावगन्तव्यं, तथाविधजनहितत्वादिति गाथाऽर्थः ॥ ३० ॥

तथा-

सव्वगुणपसाहणमो, णेओ तिहिँ अट्ठमेहिँ परिसुद्धो ।
दंसणणाणचरित्ता-ण एस रोसिम्मि सुपसत्थो ॥ ४० ॥

सर्वगुणप्रसाधनः सकलगुणाऽऽवह इति पर्यायस्तपोविशेषः । 'मो' निपातः पूरणार्थः । ज्ञेयोऽवसेयः, त्रिभिरष्टमैरुपवासत्रयलक्षणैः, परिशुद्धोऽनवद्यः, दर्शनज्ञानचारित्राणां प्रतीतानाम्, एषोऽयम् । (रोसिम्मि त्ति) निमित्तं, सुप्रशस्तोऽतिशयश्लाघ्यः । तत्रैकमष्टमं दर्शनगुणशुद्धये, एवमपरद्वयं द्वयपरिशुद्धये इति गाथाऽर्थः ॥ ४० ॥

अथ सर्वाङ्गसुन्दराऽऽदितपस्सु सनिदान एव प्राणी प्रवर्त्तते, ततो न व्याख्यान्येतानीत्याशङ्कापरिहारार्थमनिदानतामेषु प्रवृत्तस्य दर्शयन्नाह-

एएसु वट्टमाणो, भावपवित्तीएँ बीयभावाओ ।
सुद्धाऽऽसयजोगेणं, अणियाणो भवविरागाओ ॥४१॥

एतेष्वनन्तरोक्ततपस्सु प्रवर्तमानो व्याप्रियमाणो जीवः । " एतेसु वट्टमाणा " इति पाठान्तरं, व्यक्तं च । कथा ?, भावप्रवृत्त्या बहुमानसारक्रियया, अनिदान इति योगः । कुत इत्याह-बीजभावात् बोधिबीजविकलस्य देहिनो बोधिबीजजननेन । एतदेव कथमित्याह-शुद्धाऽऽशययोगेन शुभाध्यवसायसंबन्धेन । शुभाध्यवसायाद्धि बोधिबीजं स्यात् । अनिदानो निदानरहितः स्यात् । तथा-भवविरागात्संसारनिर्वेदाद्यस्किल भवविरागाऽऽदिनिमित्तं तन्निदानं न भवति मोक्षादिप्रार्थनमिव, भवविरागाऽऽदिहेतवश्चोक्ततपांसि केषाञ्चिदतो निर्निदानानि, इति गाथाऽर्थः ॥ ४१ ॥

निर्निदानत्वादेवैतेषां निर्वाणाङ्गतामाचार्यान्तरमतेनाऽपि दर्शयन्नाह-

विसयसरूवऽणुबंधे-हि तह य सुद्धं जओ अणुट्ठाणं ।
णिव्वाणंगं भणियं, अन्नेहि वि जोगमग्गम्मि ॥ ४२ ॥

एयं च विसयसुद्धं, एगंतेणेव जं तओ जुत्तं ।
आरोग्गबोहिलाभा-इपत्थणाचित्ततुल्लं ति ॥ ४३ ॥

विषयो गोचर उक्ततपसामालम्बनीयस्तीर्थकरनिर्गमाऽऽदिः,स्वरूपमुक्ततपसामेव स्वभाव आहारत्यागब्रह्मचर्यजिनपूजासाधुदानाऽऽदिलक्षणः,अनुबन्धश्च तत्परिणामाव्यवच्छेदतः प्रकर्षयायिता, अतस्तेषु विषयस्वरूपानुबन्धेषु । तथा चेति समुच्चये । शुद्धं निरवद्यं, यतो यस्मात्कारणाद्, अनुष्ठानं क्रिया, निर्वाणाङ्गं मुक्तिकारणम्, भणितमुक्तम्, अन्यैरपि तन्त्रान्तरीयैः, किं पुनर्जिनैः, योगमार्गेऽध्यात्मकाख्यपथे । अतो विषयाऽऽदिशुद्धतयैतेषां निर्वाणाङ्गत्वाभिनिर्दिष्टमतेति हृदयमिति ॥ ४२ ॥ एतच्च एतत्पुनरनन्तरोक्तं तपः, विषयशुद्धं निर्दोषगोचरं, सकलदोषमोषिजिनपतिविषयत्वात् । एकान्तेनैव सर्वथैव, यद्यस्मात्ततः तस्माद्धेतोर्युक्तं सङ्गतम्, प्रार्थनागर्भमपीदं तपः । कुतः?, इत्याह-आरोग्यबोधिलाभाऽऽदीनाम्-" आरोग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु" इति । एवंरूपा या प्रार्थना याच्ञा,तत्प्रधानं यच्चित्तं मनस्तेन तुल्यं समानं यत्तदारोग्यबोधिलाभाऽऽदिप्रार्थनाचित्ततुल्यम्, इति कृत्वा । इति गाथाद्वयार्थः ॥ ४३ ॥

एवमनन्तरोक्तं तपो निर्निदानमिति व्यवस्थापितमथोपादेयत्वमाह-

जम्हा एसो सुद्धो, अणियाणो होइ भावियमईणं ।
तम्हा करेह सम्मं, जह विरहो होइ कम्माणं ॥ ४४ ॥

यस्मात्कारणात्, (एसो त्ति) इदमनन्तरोक्तं तपः, शुद्धं निर्दोषम्, भवति स्यात् । किंभूतं सदित्याह-अनिदानं प्रागुक्तयुक्त्या निदानवर्जितम् । केषामिदमेवंविधमित्याह-भावितमतीनां सदागमवासितमानसानाम्, तस्मात्कारणात्, कुरुत विधत्त । एतदेवेति गम्यम्, सम्यग् भावशुद्ध्या । एतदेव व्यक्ततरमाह-यथा येन प्रकारेण, विरहो विनाशो, भवति जायते, कर्मणां ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनाम् । (४४) पञ्चा० १९ विव० । प्रव० । सांवत्सरिकपाक्षिकाष्टमीज्ञानपञ्चमीरोहिणीतपांसि येन यावज्जीवमुच्चारितानि भवन्ति, स रोहिण्या अग्रतः पृष्ठतो वा आगमने षष्ठकरणशक्त्यभावे किं करोतीति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र सर्वथा षष्ठकरणशक्त्यभावे यत्तपः प्रथममागच्छति तत्तपः प्रथमं करोति, स्थितं तु पश्चात्कृत्वा प्रापयतीति । ३४ प्र० । ही० ४ प्रका० । रोहिणीदिनाऽऽराधकानां काचिद् मिथ्यामतिर्न वेति प्रश्ने,उत्तरम्-रोहिणीदिनाऽऽराधकानां मिथ्यामतिर्ज्ञाता नास्ति । ६ प्र० । ही० १ प्रका० ।

तपस्तथा कर्त्तव्यं यथा शरीरग्लानिर्न स्यात्-

तवसो अ पिवासाई, संतो वि न दुक्खरूवगा णेआ ।
जं ते खयस्स हेऊ, निद्दिट्ठा कम्मवाहिस्स ॥ १० ॥

तपसश्च पिपासाऽऽदयः सन्तोऽपि भिक्षाऽटनाऽऽदौ न दुःखरूपा ज्ञेयाः । किमित्यत्राऽऽह-यद् यस्मात्ते पिपासाऽऽदयः क्षयस्य हेतवो निर्दिष्टा भगवद्भिः कर्मव्याधेरिति गाथाऽर्थः ॥ १० ॥

तथाहि-

वाहिस्स य खयहेऊ, सेविज्जंता कुणंति धिइमेव ।
कडुगाई वि जणस्सा, इमिं दंसिंतगाऽऽरोग्गं ॥ ११ ॥

व्याधेरपि कुष्ठाऽऽदेः क्षयहेतवः सेव्यमानाः कुर्वन्ति धृतिमेव कटुकाऽऽदयोऽपि जनस्य ईषद्दर्शयन्त आरोग्यम्, अनुभवसिद्धमेतदिति गाथाऽर्थः ॥ ११ ॥

किमेष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः-

इअ एए चिअ मुणिणो, कुणंति धिइमेव सुद्धभावस्स ।
गुरुआणासंपाडण-चरणाइ सयं निदंसंता ॥ १२ ॥

(इय) एवमेवैव क्षुदादयो मुनेः कुर्वन्ति धृतिमेव, न तु दुःखं, शुद्धभावस्य रागाऽऽदिविरहितस्य, किं दर्शयन्तः सन्तः?, गुर्वाज्ञासंपादनचरणादि स्वयं निदर्शयन्त इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

ण य ते वि होंति पायं, अविअप्पं धम्मसाहणमइस्स ।
न य एगंतेणं चिय, ते कायव्वा जओ भणियं ॥ १३ ॥

न च तेऽपि भवन्ति प्रायः क्षुदादयः, अविकल्पं मातृस्थानविरहेण धर्मसाधनमतेः प्रव्रजितस्य धर्मप्रभावादेव, न चैकान्तेनैव ते क्षुदादयः कर्त्तव्या मोहोपशमाऽऽदिव्यतिरेकेण यतो भणितमिति गाथाऽर्थः ॥ १३ ॥

किं तदित्याह-

सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा ण हायंति ॥ १४ ॥

तद्धि तपः कर्त्तव्यमनशनाऽऽदि, येन मनोऽमङ्गलमसुन्दरं न चिन्तयति,शुभाध्यवसायानिमित्तात्कर्मक्षयस्य । तथा येनेन्द्रियहानिः,तदभावे प्रत्युपेक्षणाऽऽद्यभावात्, येन च योगाश्चक्रवालसामाचार्यन्तर्गताः व्यापारा न हीयन्त इति गाथाऽर्थः ॥ १४ ॥

देहे वि अपडिबद्धो, जो सो गहणं करेइ अन्नस्स ।
विहिआणुट्ठाणमिणं, ति कह तओ पावविसओ त्ति ? ॥ १५ ॥

देहेऽप्यप्रतिबद्धो यः विवेकात्स ग्रहणं करोत्यन्नस्यौदनाऽऽदेः विहितानुष्ठानमिति, न तु लोभाद्,यतश्चैवमतः कथमसौ पापविषय इति ?, नैव पापविषयः, एतेन कथं न पापविषय इत्येतत्प्रयुक्तमिति गाथाऽर्थः ॥ १५ ॥

किं च-

तत्थ वि अधम्मझाणं, न य आसंसा तओ अ सुहमेव ।
सव्वमियमणुट्ठाणं, सुहाऽऽवहं होइ विन्नेअं ॥ १६ ॥

तत्रापि चान्नग्रहणादधर्मध्यानं सूत्राऽऽज्ञासंपादनात्, न चाशंसा, सर्वत्रैवाभिष्वङ्गनिवृत्तेः । यतश्चैवं ततश्च सुखमेव, तत्राऽपि सर्वं वस्त्रपात्राऽऽदि (इयं) एवमुक्तेन न्यायेन सूत्राऽऽज्ञासंपादनाऽऽदिना अनुष्ठानं साधुसंबन्धि सुखाऽऽवहं, भवति विज्ञेयमिति गाथाऽर्थः ॥ १६ ॥ पं० व० १ द्वार । " जहेव पायच्छित्ता ण पविसंति, तहा समत्थोवि तवो कम्मं णाणुट्ठेइ, तओ चउगुणं चउगुणं पायच्छित्तं । " महा० १ चू० ।

एवं तु तपो न करोति-

संते बलवीरियपुरिसयारपरक्कमे अट्ठमिचाउद्दसीनाणपंचमीपज्जोसवणचाउम्मासिए चउत्थऽट्ठमछट्ठे ण करेज्जा खवणं कप्पं णायरइ चउत्थं कप्पं परिचविज्जा दुवालसमं । महा० १ चू० ।

" णो पूयणं तवसा आवहेज्जा । " (१७) नापि तपसा पूजनसत्कारमावहेत्, न पूजनसत्कारनिमित्तं तपः कुर्यादित्यर्थः । यदि वा पूजासत्कारनिमित्तत्वेन तथाविधार्थत्वेन वा महताऽपि केनचित्तपो मुक्तिहेतुकं न निःसारं कुर्यात् । तदुक्तम्-"परलो-

काथिकं धाम, तपः श्रुतमिति त्रयम् । तदेवार्थित्वनिर्लुप्त-सारं तृणलवायते " ॥ १ ॥ (२७) सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

चतुर्विधमाजीविकानां तपः--

आजीवियाणं चउव्विहे तवे पन्नत्ते । तं जहा–उग्गतवे, घोरतवे, रसनिज्जूहणया, जिब्भिंदियपडिसंलीणया ।

(आजीवियाणं इत्यादि) आजीविकानां गोशालकशिष्याणाम्, उग्रं तपोऽष्टमाऽऽदि, क्वचन-"उरमिति" पाठः तत्र उरं शोभनम् । इहलोकाऽऽद्याशंसारहितत्वेनेति घोरमात्मानपेक्षं (रसनिज्जूहणया) घृताऽऽदिरसपरित्यागः जिह्वेन्द्रियप्रतिसंलीनता मनोज्ञामनोज्ञेष्वाहारेषु रागद्वेषपरिहार इति; आर्हतानां तु द्वादशधेति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

पर्युषणायामष्टमाऽऽदि तपोऽवश्यं कर्तव्यमिति । कल्प० १ क्षण । बालतपसि, आ०क० । कथाऽन्यत्र) शारीराऽऽदि त्रिविधं तपः । कैश्चित् शारीराऽऽदिभेदं त्रिविधमप्युच्यते । यदुक्तं गुरुगुणषट्त्रिंशिकावृत्तौ-कैश्चित्तपस्त्रिविधं शारीराऽऽदिभेदमप्युच्यते ।

यथा-

" देवातिथिगुरुप्राज्ञ-पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च, शारीरं तप उच्यते ॥ १ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते ॥ २ ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं, मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतद्, मानसं तप उच्यते ॥ ३ ॥
शारीराद्वाङ्मयं सारं, वाङ्मयान्मानसं शुभम् ।
अजघन्यमध्यमोत्कृष्ट-निर्जराकरणं तपः ॥ ४ ॥"

सात्त्विकं, राजसं, तामसमिति वा त्रिविधम् ।

यथा-

" तपश्च त्रिविधं ज्ञेय-मफलाऽऽकाङ्क्षिभिर्नरैः ।
श्रद्धया परया तप्तं, सात्त्विकं तप उच्यते ॥ १ ॥
सत्कारमानपूजाऽर्थं, तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं, राजसं चलमध्रुवम् ॥ २ ॥
मूढग्राहेण यत्राऽऽत्म-पीडया क्रियते तपः ।
परस्योच्छेदनार्थं वा, तत्तामसमुदाहृतम् ॥३॥ "(१०१ गाथा)

ग० २ अधि० । तपःफलं व्यवदानम्-" तवे वोदाणफले । " स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

संयमवान् साधुस्तपोनिरतः स्यात्, अतस्तत्फलं प्रश्नपूर्वकमाह-

तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । तवेणं वोदाणं जणयइ ॥ २७ ॥

हे भगवन् ! तपसा कृत्वा जीवः किं फलं जनयति ?। गुरुराह-हे शिष्य ! तपसा जीवो व्यवदानं जनयति, पूर्वबद्धकर्मापगमनेन विशेषेण शुद्धिं जनयति ॥ २७ ॥ उत्त० २९ अ० ।

से भयवं ! किं छट्ठऽट्ठमदसमदुवालसऽद्धमासमासे० जाव णं छम्मासखवणाई णं अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठसुदुक्करे संजमजयणे विपुले सुमहंते वि उ कायकेसे कए णिरत्थगे हवेज्जा ?। गोयमा ! ण णिरत्थगे हवेज्जा । से भयवं ! केणं अट्ठेणं ?। गोयमा ! जओ णं खरुट्टमहिसगोणादओ वि संजमजयणा विउले अकामनिज्जराए सोहम्मकप्पाइसु वयंति, तओ वि भोगक्खएणं चुए समाणे निरयाऽऽदिसु संसारमणुसंसरेज्जा; तहा य दुग्गंधामिज्झाविलीणखारपित्तोज्झसिंभपडहच्छेवसज्जुय-दुरभिचिक्खिल्ले रुहिरचिक्खल्ले दुद्दंसणिज्जबीभत्थतिमिसंधयारगंतुव्वियणिज्जगब्भपाहे जम्मजरामरणाइअणेगसारीरमाणसे सुघोरदारुणदुक्खाणमेव भायणं भवंति, ण उण संजमजयणाए विणा जम्मजरामरणाऽऽइएहिं घोरपयंडमहारुद्ददारुणदुक्खाणं णिट्ठवणमेगंतियमच्चंतियं भवेज्जा, एतेणं संजमजयणाविरहिए सुमहंते वि उ कायकेसे पकम्मए गोयमा ! निरत्थगे भवेज्जा । महा० ६ चू० ।

" क्षमेण वा सुचरियतवनियमसंजमबंभचेरवासेणं " इत्याशंसारहितेन तपः कर्तव्यमिति । सूत्र० ९ श्रु० १ अ० । यस्मिन् प्रतिसेविते निर्विकृताऽऽदिपञ्चमासपर्यवसानं तपो दीयते तत्तपोऽर्हत्वात्तप इति । व्य० १ उ० । निर्विकृतिकाऽऽदिके तपसि, ओ० । आश्विनस्वाध्यायमध्ये कृततपसो दिनत्रयम्, अथवा-द्वादशादिनान्युपधानालोचनायामायान्ति न वा न समायान्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-सप्तम्यादिदिनत्रयगणनायां नायान्तीति । १२२ प्र० । सेन० २ उल्ला० । पक्षोपवासरोहिणीपञ्चम्यादितपस्सु बहुवर्षाऽऽचरितेषु कदाचिद्विस्मृत्या महाकारणाऽऽदिना वा पक्षोपवासाऽऽदिदिने उपवासाभवने पक्षोपवासाऽऽदि तपो मूलतो याति, किं वा यथोक्तवर्षमासतपसानन्तरं तत्तपः करणाऽऽदिना निर्गणीयत इति प्रश्ने, उत्तरम्-विस्मृत्यादिना तपोदिनाज्ञाने तत्रोपवासाभवने द्वितीयदिने दण्डनिमित्तं तत्तपः कार्यम्, समाप्तौ च वर्द्धमानं विधेयमित्यक्षराणि श्राद्धविधौ सन्ति, महाकारणे तु तपोदिने तपःकरणं महत्तराऽऽद्याकारेणान्तर्भवतीति । १६७ प्र० । सेन० २ उल्ला० । तपउपधानेषूह्यमानेषु विंशतिस्थानकाऽऽदि तपः कर्तुं शुध्यति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-तत्तपः प्रायः कर्तुं न शुध्यतीति, १८९ प्र० । सेन० २ उल्ला० । अथ पं० विद्याविजयगणिकृतप्रश्नास्तदुत्तरं च । यथा चैत्राऽऽश्विनास्वाध्यायदिनेषु यत्तपः कृतं स्यात्तत्तपो रोहिण्यालोचनाऽऽदिषु समेति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-सप्तम्यादिदिनत्रयकृतं तत्तप आलोचनायां न गण्यते, रोहिण्यादि तथाविधसंबद्धतपसि तु गण्यते, न तु सर्वत्रेति । २०० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तपसा निकाचितकर्मणां क्षयो भवति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-निकाचितानामपि कर्मणां तपसा क्षयो भवतीति श्रीउत्तराध्ययनसूत्रवृत्त्यादावुक्तमस्तीति । ४६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

तवअ–देशी–व्यापृते, दे०ना० ५ वर्ग २ गाथा ।

तवआयार–तपआचार–पुं० । आचारभेदे, तप आचारो द्वादशविधः । उक्तं च-" बारसविहम्मि वि तवे, अब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे । अगिलाए अणाजीवी, नायव्वो सो तवाऽऽयारो " ॥१॥ इति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

तवकरण–तपःकरण–न० । तपसोऽनशनाऽऽदिबाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नस्य करणं कृतिस्तपःकरणम् । अनशनाऽऽदेर्बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नस्य तपसः कृतौ, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

तवगुण–तपोगुण–पुं० । अनशनाऽऽदौ, स्था० ६ ठा० ।

तवग्ग–तवर्ग–पुं० । तकाराऽऽदिवर्णपञ्चके, रा० ।

तवग्गपविभत्ति–तवर्गप्रविभक्ति–न० । तकारथकारदकारधकारनकारकल्पेवंरूपे प्रविभक्तिनामकेऽष्टादशे नाट्यविधौ, रा० ।

तवचरण–तपश्चरण–न० । तपोविधाने तपसि च कृते धृति करोति नार्तध्यानम् । अनु० । संयमानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ०

१ उ० । तपश्चरणं ब्रह्मचर्याऽऽदि, तत्फलमप्युपचारात्तपश्चरणम् । स्वर्गसंभवे भोगजाते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

तवचरणचरियाणिबद्ध–तपश्चरणचरितनिबद्ध–न० । दिव्ये नाट्यविधौ, रा० ।

तवचरणि[ण्]–तपश्चरणिन्–त्रि० । तपस्विनि, " नाणादीओ जीवइ, अह सुहुमो अह इमो मुणेयव्वो । साइज्जंतो पगं, वच्चइ पसो तवचरणी ॥ १ ॥ " स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

तवण–तपन–पुं० । तपतीति तपनः । रवौ, अनु० । पिं० । रुचकशिखरतले पूर्वस्यां दक्षिणस्यां च दिशि तृतीये कूटे, द्वी० ।

तवणबंधु–तपनबन्धु–न० । पुं० । बुद्धे, रत्ना० ६ परि० ।

तवणिज्ज–तपनीय–न० । आरक्तसुवर्णे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । तं० । भ० । औ० । जं० । सुवर्णविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । तं० । औ० । स० । रा० । जं० । सू० प्र० । ज्ञा० । " तवणिज्जवालुयापत्थडे । " तपनीयमय्यः वालुकाः सिकताः, तासां प्रस्तटः प्रस्तारो यस्मिँस्तत्तथा । जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० । "तवणिज्जलंबूसगा ।" तपनीयस्तपनीयमयो 'लंबूसगो' दामाग्रिमभागे प्राकृते लम्बूसनामो भूषणविशेषो गोलकाऽऽकृतिर्येषां तानि । जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० । "तवणिज्जाभरणभूसणविराइअंगुवंगं । " कल्प० ३ क्षण ।

तवणिज्जकूड–तपनीयकूट–पुं० । जम्बूद्वीपे रुचकपर्वतस्य द्वितीयस्मिन् कूटे, स्था० ८ ठा० ।

तवणियमणाणरुक्ख–तपोनियमज्ञानवृक्ष–पुं० । ज्ञानवृक्षे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । (अस्योदाहरणम् ' सुय ' शब्दे वक्ष्यते)

तवणी–देशी–भक्षणयोग्ये, दे० ना० ५ वर्ग १ गाथा ।

तवतेण–तपःस्तेन–पुं० । क्षपकरूपकल्पे, कश्चित्केनचित् पृष्टस्त्वमसौ क्षपक इति ?। तदा स पूजाऽऽद्यर्थमाह–अहम् । अथवा वक्ति–साधव एव क्षपकाः । अथवा–तूष्णीमास्ते । दश० ५ अ० २ उ० ।

तवधण–तपोधन–त्रि० । तप एव धनं यस्य सः । तपोधनवति, उत्त० १८ अ० ।

तवपडिमा–तपःप्रतिमा–स्त्री० । तपसाऽऽत्मतुलनायाम्, बृ० १ उ० । ('जिणकप्पिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४६६ पृष्ठे एतत्स्वरूपम्)

तवप्पहाण–तपःप्रधान–त्रि० । तपसा प्रधाने उत्तमे, शेषमुनिजनापेक्षया, तपो वा प्रधानं यस्य तस्मिन्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० । रा० ।

तवबल–तपोबल–त्रि० । यदनेकभवार्जितमनेकदुःखकारणं निकाचितकर्मग्रन्थिं क्षपयति तस्मिन्, स्था० १० ठा० ।

तवबालिय–तपोबालिक–पुं० । तपसा बालकस्तपोबालकः । तपसा बलिष्ठे, महताऽपि तपसा यो न क्लाम्यति, यत्र तत्र वा स्वल्पे प्रयोजने तपः करिष्यामि इति विचिन्त्य प्रतिसेवते । यदि वा–षाण्मासिके तपसि दत्ते वदति–समर्थोऽहमन्यदपि तपः कर्तुं तदपि मे देहीति । तस्मिन् तपोबालिके सूत्रपर्याये, व्य० १ उ० ।

तवभावणा–तपोभावना–स्त्री० । प्रशस्तभावनाभेदे, बृ० १ उ० ।

तवमय–तपोमद–पुं० । तपःप्रधानो मदस्तपोमदः । मदस्थानभेदे, स्था० १० ठा० । स० ।

तवय–तवक–न० । सुकुमारिकाऽऽदितलनभाजने, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

तवविणय–तपोविनय–पुं० । विनयभेदे, दश० ।

तपोविनयमाह–

अवणेइ तवेण तमं, उवणेइ अ सग्ग मोक्खमप्पाणं ।
तवविणयनिच्छियमई, तवोविणीओ हवइ तम्हा ॥८५॥

अपनयति तपसा तमोऽज्ञानम् , उपनयति च स्वर्गं मोक्षमात्मानं जीवम्, तपोविनयनिश्चितमतिर्यस्मादेवंविधस्तपोविनीतो भवति तस्मादिति गाथाऽर्थः ॥ ८५ ॥ दश० ६ अ० ।

तवसंजम–तपःसंयम–पुं० । तापयतीति तपस्तत्प्रधानः संयमस्तपःसंयमः । चारित्रसामायिके, विशे० । तप अशनोदरताऽऽदि तत्प्रधानः संयमस्तपःसंयमः । अशनोदरताऽऽदिप्रधाने संयमे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

तवसंजमप्पहाण–तपःसंयमप्रधान–पुं० । तपः बाह्याभ्यन्तरं द्वादशप्रकारं, तथा संयमः सप्तदशभेदः । पञ्चाऽऽश्रवविरमणाऽऽदिलक्षणः, ताभ्यां प्रधानाः तपःसंयमप्रधानाः । तपःसंयमाभ्यां प्रधाने, " तवसंजमप्पहाणा, गुणधारी जे वयंति सब्भावं । " सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

तवसंजममुज्जय–तपःसंयमोद्यत–पुं० । तपोऽनशनाऽऽदि संयमस्सप्तविधः, मकारोऽलाक्षणिकः, ततस्तपःसंयमयोरुद्यतस्तपःसंयमोद्यतः । तपःसंयमाभ्यामुद्यते, दश० ३ तत्व ।

तवसंजमरय–तपःसंयमरत–पुं० । ज्ञावसाधौ, औ० ।

तवसमाहि–तपःसमाधि–पुं० । तपसि बाह्याऽऽभ्यन्तरभेदभिन्ने यथाशक्ति निरन्तरं प्रवृत्तिस्तपःसमाधिस्तस्मिन्, प्रव० १० द्वार । दश० ।

तपःसमाधिमाह–

चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ । तं जहा–नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नऽन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा चउत्थं पयं भवइ ।

भवइ अ इत्थ सिलोगो—

चतुर्विधः खलु तपःसमाधिर्भवति । तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । नेह लोकार्थमिहलोकनिमित्तं लब्ध्यादिवाञ्छया तपोऽनशनाऽऽदिरूपमधितिष्ठेत् कुर्याद्धम्मिलवत् । तथा न परलोकार्थं जन्मान्तरभोगनिमित्तं तपोऽधितिष्ठेद्ब्रह्मदत्तवत् । एवं न कीर्तिवर्णशब्दश्लोकार्थमिति । सर्वदिग्व्यापी साधुवादः कीर्तिः । एकदिग्व्यापी वर्णः । अर्द्धदिग्व्यापी शब्दः । तत्स्थान एव श्लाघा, नैतदर्थं तपोऽधितिष्ठेत् । अपि तु नान्यत्र निर्जरार्थमिति न कर्मनिर्जरामेकां विहाय तपोऽधितिष्ठेत् । अकामः सन् यथा कर्मनिर्जरैव फलं भवति तथाऽधितिष्ठेदित्यर्थः । चतुर्थं पदं भवति । भवति चात्र श्लोक इति पूर्ववत् ।

स चायम्–

विविहगुणतवोरए य निच्चं, भवइ निरासए निज्जरट्ठिए ।

तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए ॥४॥

विविधगुणतपोरतो हि नित्यमनशनाऽऽद्यपेक्षयाऽनेकगुणं च-तुर्थादिकं तपस्तद्रत एव सदा भवति, निराशो निःप्रत्याश इहलोकाऽऽदिषु निर्जरार्थिकः कर्मनिर्जरार्थी, स एवंभूतस्तपसा विशुद्धेन धुनोत्यपनयति, पुराणपापं चिरन्तनं कर्म, नवं च न बध्नात्येवं युक्तः सदा तपःसमाधाविति सूत्रार्थः । दश० ९ अ० ४ उ० ।

तवसामायारि (ण्)-तपःसामाचारिन्-पुं० । पाक्षिकाऽऽदिषु तपःकर्म स्वयं करोति, परं च कारयति, भिक्षाचर्यां स्वयमनुतिष्ठति, परं च तस्यां नियुङ्क्ते, इति तपःसामाचारी । तस्मिन्, प्रव० ६५ द्वार ।

तपःसामाचारीमाह-

पक्खिए पोसहिएसुं, कारेति तवं सयं करेति य वा ।
भिक्खायरियाए तहा, निजुंजति परं सयं वा वि ॥

पाक्षिके अर्द्धमासे सर्वाणि, पौषधिकेषु च अष्टम्यादिषु पर्वसु परं तपः कारयति, स्वयमपि च करोति, तथा भिक्षाचर्यायां परं नियुङ्क्ते, प्रयोजनमपेक्ष्य स्वयमपि भिक्षाचर्यां गच्छति ।

सव्वम्मि बारसविहे, निजुंजइ परं सयं च उज्जुत्तो ।
गणसामाचारीए, गणं विसीयंत चोएति ॥

सर्वस्मिन् द्वादशविधे तपसि यथायोगं परं नियुङ्क्ते, स्वयं सर्वत्र यथाशक्ति उद्युक्तः । व्य० १० उ० ।

तवसिद्ध-तपःसिद्ध-पुं० । तपसा सिद्धे सिद्धभेदे, (आ० म०)

संप्रति तपःसिद्धप्रतिपादनार्थमाह-

न किलिम्मइ जो तवसा, सो तवसिद्धो दढप्पहारि व्व ।
सो कम्मक्खयसिद्धो, जो सव्वक्खीणकम्मंसो ॥

न क्लाम्यति न क्लमं गच्छति यः सत्त्वस्तपसा बाह्याऽभ्यन्तरेण स एवंभूतस्तपःसिद्धः, अग्लानित्वाद् दृढप्रहारिवदिति गाथाऽक्षरार्थः । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्-

" द्विग्जातिरेको दुर्दान्तो, दुर्विनीतः पुरे क्वचित् ।
स्थानान्निःसारितो दुष्ट-चौरपल्लीं भ्रमन् ययौ ॥ १ ॥
चौरसेनापतिस्तं च, पुत्रबुद्ध्या प्रपन्नवान् ।
मृते तस्मिन् स पश्चाऽभूत्, चौरसेनापतिस्ततः ॥ २ ॥
दृढप्रहारी नाम्नाऽभूद्, दृढप्रहारकः स यत् ।
ससेनः सोऽन्यदाऽऽयासीद्, ग्राममेकं विलुण्ठितुम् ॥ ३ ॥
तत्रैको निःस्वविप्रोऽभू-द्दिम्भकैः स मार्गितः ।
याचित्वाऽक्षतदुग्धाऽऽदि, परमान्नमपाचयत् ॥ ४ ॥
स्वयं स्नानकृते सोऽगा-च्चौर एकस्तु तद्गृहे ।
प्रविष्टः पायसस्थालि-मपहृत्य जगाम सः ॥ ५ ॥
रुदन्ति डिम्भरूपाणि-च्यन् पितुः पायसं हृतम् ।
दधावे सोऽथ रोषेण, चौराणां निजिघांसया ॥ ६ ॥
अनेकांस्तस्करांस्तत्र, परिघेण जघान सः ।
चौरसेनापतिर्ग्राम-मध्येऽभूत्तेन चिन्तितम् ॥ ७ ॥
हन्ति कोऽप्येष मच्चौरान्, खड्गमाकृष्य धावितः ।
तत्रागावान्तरे धेनु-स्तामहन्नथ तं द्विजम् ॥ ८ ॥
तद्भ्रार्याणी तमूचेऽथ, किं कृतं निष्कृप ! त्वया ? ।
साऽपि व्यापादिता तेन, तद्गर्भोऽपि द्विधा कृतः ॥ ९ ॥
प्रस्फुरन्तं तमालोक्य, करुणाऽस्याभवत्तदा ।
हा हा चक्रे मया पापं, का भविष्यति मे गतिः ? ॥ १० ॥
डिम्भरूपाण्यथोचुस्तं, पापास्मानपि मारय ।
पित्रोरजायतो नाथी, मृत्युर्नाविघ्नतोऽपि नः ॥ ११ ॥
तदाकर्ण्य विशेषेण, स निर्वेदं परं गतः ।
इतः पापात्कथं मुक्तिः ?, स्यान्मे साधूनथैक्षत ॥ १२ ॥
दृष्टास्ते धर्ममाचख्युः, सर्वपापापहारकम् ।
प्रतिबुद्धः परिव्रज्य, जगृहे क्षान्त्यभिग्रहम् ॥ १३ ॥
यावत्कर्म स्मरत्येत-त्तावद्भोज्यं मया न च ।
हील्यमानो हन्यमान-स्तत्रैव विजहार सः ॥ १४ ॥
तत्कृतानुपसर्गांश्च-धिसेहे स्वकृतं स्मरन् ।
दृढप्रहारी भूत्वा स, कर्मशत्रूनपि प्रति ॥ १५ ॥
षड्भिर्मासैस्तपःशस्त्रै-स्तत्कर्मोन्मूल्य सर्वथा ।
उत्पाद्य केवलज्ञानं, तपःसिद्धो बभूव सः" ॥ १६ ॥ आ० क० ।

तवसूर-तपःशूर-पुं० । तपोधीरे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । " तवसूरा अणगारा । " संथा० ।

तवसोसिय-तपःशोषित-त्रि० । तपसा शोषमुपगते, व्य० ३ उ० ।

तवस्सि [ण्]-तपस्विन्-पुं० । त्रि० । तपोऽस्यास्तीति तपस्वी । तपः संयमतपस्तस्मिन् विद्यमाने, व्य० १ उ० । तपोऽस्यास्तीति तपस्वी, तपो विकृष्टाविकृष्टरूपं विद्यते येषां ते तपस्विनः । प्रव० ६६ द्वार । विकृष्टमष्टमप्रभृतिकं तपो विद्यते येषां ते तपस्विनः । प्रव० १४८ द्वार । ध० । नि० चू० । विकृष्टाऽऽदितपश्चरणकारिषु, प्रव० ४ द्वार । क्षपके, भ० ८ श० ८ उ० । सू० । स्था० । मासक्षपकाऽऽदिषु, आ० क० । स्था० । चतुर्थभक्ताऽऽदिकारिणि, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार । प्रशस्ततपोयुक्ते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । अनशनाऽऽदितपोविचित्रयुक्तेषु सामान्यसाधुषु, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । साधौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । उत्त० । क्षीणदेहे, सू० १ उ० । अष्टमाऽऽदिक्षपके, भ० २५ श० ७ उ० । निष्टप्तदेहे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । प्रशस्यतपोऽन्विते भिक्षौ, उत्त० २ अ० । जितेन्द्रिये, औ० । तपो बाह्याऽऽभ्यन्तरकर्मेन्धनदहनज्वलनकल्पमनवरतशुभध्यानलक्षणमस्ति यस्य स तपस्वी । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

तवायार-तपआचार-पुं० । द्वादशविधतपोविशेषानुष्ठिते (स० १ अङ्ग) आचारभेदे, " बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे । अगिलाएँ अणाजीवी, नायव्वो सो तवायारो ॥ १ ॥ " ध० २ अधि० । तपआचारस्तु द्वादशविधः, बाह्याऽभ्यन्तरतपःषड्द्वयभेदात् । तत्र " अनशनमूनोदरता, वृत्तेः संक्षेपणं रसत्यागः । कायक्लेशः संली-नतेति बाह्यं तपः प्रोक्तम् ॥ १ ॥ " ध० १ अधि० ।

इयाणिं तवायारो भण्णति-

दुविध तवपरूवणया, मंठाणाऽऽरोवणा तमकरेंते ।
सव्वत्थ होति लहुगो, (मं)लीणविणयऽ(म)ज्झाय मोत्तूणं ॥४१
बारसविधम्मि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
अगिलाएँ अणाजीवी, णायव्वो सो तवायारो ॥ ४२ ॥

दुविहतवे त्ति-बाहिरो, अब्भिंतरो य । बाहिरो छव्विहो-अणसणं, ओमोयरिया, भिक्खायरियं, रसपरिच्चाओ,

कायकिलेसो, पडिसंलीणता य। अभिंतरो छव्विहो-पायच्छित्तं, विणओ, वेयावच्चं, सज्झाओ, विउस्सग्गो, झाणं चेति। दुविहा तवस्स य परूवणा कायव्वा। परूवणा णाम पण्णवणा। सा य जहा दुमपुप्फियपढमसुत्ते, तहा दट्ठव्वा। इह तु पच्छित्तेणऽहिकारो, तं भणति-सगं ठाणं सट्ठाणं, सट्ठाणस्स आरोवणा सट्ठाणारोवणा, तम्मिति तवो संवज्झति, अकारो पडिसेहे, करेति आचरतेत्यर्थः। अकारेण य पडिसिद्धे, अणाचरणं अणाचारं, तस्स य सट्ठाणं, तं च इमं-"सव्वत्थ होइ लहुगो।"सव्वत्थेति। सव्वेसु पदेसु अणसणाऽऽदिसु सत्तिपुरिसकारपरक्कमे विज्जमाणे तवमकरेंतस्स मासलहु, अहवसत्तं लक्खणमिति कालं उट्ठाणं करेइ,संलीणविणयसज्झायपया तिण्णि,मोत्तूणं। पडिसंलीणया दुविहा-दव्वपडिसंलीणया,भावपडिसंलीणया य। इत्थिपसुपंडगपुमसंसत्ता होंति दव्वम्मि। भावपडिसंलीणता दुविहा-इंदियपडिसंलीणया,णो इंदियपडिसंलीणया। इंदियपडिसंलीणया पंचविहा-सोइंदियाऽऽदि। नोइंदियपडिसंलीणया चउव्विहा-कोहाऽऽदि। एतेसु पडिसंलीणेण भवियव्वं। जो ण भवति, तस्स पच्छित्तं भण्णति। इत्थिसंसत्ताए चउगुरुं, तिरिक्खिपुरिसेसु चरित्तविराहणाणिप्फण्णं चउगुरुगं। पुरिसेसु चउलहुगं। सोयचक्खुरसफासेसु रागे चउगुरुगं। एतेसु चेव दोसे चउलहुगं। घाणिंदियरागेण गुरुगो, दोसेण लहुगो। कोहे माणे य हु, मायाए मासगुरुगो, लोहे हु। पडिसंलीणया गता। अथ विणओ भण्णति-आयरियस्स विणयं ण करेति चउगुरुयं, उवज्झायस्स हु, भिक्खुस्स मासगुरुं, खुड्डगस्स मासलहुं। विणओ गओ। सज्झाओ भण्णति सुत्तपोरिसिं ण करेति मासलहु, अत्थपोरिसिं ण करेति मासगुरु। सीसो पुच्छति-तवस्स कहं आयारो, कहं वा अणायारो भवति?। आयरिओ भणति-(बारसविहम्मि वि तवे गाहा) कुसलो दव्वे य, भावे य। दव्वे दव्वला, भावे कम्मक्खा वा। तेहिं भावकुसलेहिं दिट्ठे तवे अगिलाए त्ति अगिलायमाणो मनोवाक्कायैर्हि अज्जरणमाणेत्यर्थः। अणाजीवि त्ति-ण आजीवी अणाजीवी, अणासंसीत्यर्थः। आसंसणं इहपरलोगेसु। इहलोगे वरं मे सिलाघा भविस्सति। लोगो य आउट्टो वत्थपत्तअसणादिभेसज्जं दाहिति। परलोगे इन्दसामाणिगाऽऽदि, रायाऽऽदि वा भविस्सामि। सेसं कंठं। नि० चू० १ उ०।

अथ तपआचारदर्शनायाऽऽह-

बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
अगिलाएँ अणाजीवी, णायव्वो सो तवायारो ॥२६॥

द्वादशविधेऽपि द्वादशभेदेऽप्यास्तां तदेकदेशे, तपसि तपस्यायां, कार्मणलक्षणाभ्यन्तरदेहस्यैव तापनात्प्रायः सम्यग्दृष्टिभिरेव वा तपस्तया प्रतीयमानत्वादाभ्यन्तरं प्रायश्चित्ताऽऽदि षोढा। तथा बाह्यदेहस्यापि तापनान्मिथ्यादृष्टिभिरपि वा तपस्तया प्रतीयमानत्वात् बाह्यमनशनाऽऽदि षोढैव। सहाभ्यन्तरेण बाह्यं साभ्यन्तरबाह्यं तत्र, कुशलदृष्टे निपुणोपलब्धे, सर्वज्ञप्ररूपित इत्यर्थः। अग्लान्या अखेदेन, अनाजीवी तस्यैव तपसोऽनुपजीवकः सन्, यो जीवः, प्रवर्त्तत इति शेषः। ज्ञातव्यो ज्ञेयः, स जीवः तपआचारः तपसि तपोरूपो वाऽऽचारो व्यवहारस्तपआचारः,आचारतद्वतोरभेदादिति गाथार्थः॥२६॥ पञ्चा० १५ विव०।

तवारिह-तपोऽर्ह-न०। निर्विकृतिकाऽऽदितपःशोध्ये (स्था० १०ठा०) षष्ठे प्रायश्चित्तभेदे, स्था०८ ठा०। प्रव०। अथ तपोऽर्हप्रायश्चित्तविषयः-तत्र तपोऽर्हं वक्तव्यम्-तत्र रात्रिन्दिवपञ्चकादारभ्य रात्रिंदिवपञ्चकाऽऽदिवृद्ध्या तावज्ज्ञेयं,यावत् षण्मासाः, तत्र येषु स्थानेषु रात्रिन्दिवपञ्चकं तपः तान्युपदर्शयति-

दंडगगहनिक्खेवे, आवासियाए निसीहियाए य।
गुरुणं च अप्पणामे, वा चउराइंदिया हुंति ॥ १२६ ॥

दण्डकं गृह्णन्प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयतीत्येको भङ्गः, न प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयतीति द्वितीयः, न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयतीति तृतीयः, प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयतीति चतुर्थः। तत्राऽऽद्येषु त्रिषु भङ्गकेषु पश्चादनुपूर्व्या यथोत्तरं तपःकालविशेषितो लघुमासः प्रत्येकं प्रायश्चित्तम्। चतुर्थे चत्वारो भङ्गाः। तद्यथा-दुष्प्रत्युपेक्षते दुःप्रमार्जयति १, दुष्प्रत्युपेक्षते सुप्रमार्जयति २, सुप्रत्युपेक्षते दुष्प्रमार्जयति ३, सुप्रत्युपेक्षते सुप्रमार्जयति ४। अत्राद्येषु त्रिषु भङ्गकेषु पश्चादनुपूर्व्या यथोत्तरं तपः कालविशेषितानि पञ्चरात्रिन्दिवानि प्रायश्चित्तम्,चतुर्थे भङ्गे शुद्धो विधिना प्रवृत्तः। इहाऽऽद्यास्त्रयो भङ्गका मासलघुप्रायश्चित्तविषयाः प्रस्तावाद्युक्ताः,यतो वक्ष्यमाणेषु प्रायश्चित्तेषु द्रष्टव्याः। यथा दण्डकग्रहणेऽभिहितं तथा दण्डकनिक्षेपेऽपि वक्तव्यं, नवरं निक्षेपे अधस्ताद् भूमेरुपरि च दण्डकसंस्पर्शविषया भित्तिप्रदेशे प्रमार्जना कर्त्तव्या। तथा वसतेर्निर्गच्छन् यद्यावश्यकीं न करोति, वसतौ प्रविश्य नैषेधिकीम्, तत आवश्यकाकरणाद् नैषेधिक्या अकरणे च प्रत्येकं प्रायश्चित्तं रात्रिन्दिवपञ्चकं, तथा (गुरुणं च अप्पणामे इति)अत्र प्रणामग्रहणं हस्तोत्सेधाऽऽदेरुपलक्षणं, ततोऽयमर्थः-अवश्यकरणीयप्रयोजनवशतः स्वोपाश्रयाद् बहिर्विनिर्गतो भूयः प्रतिश्रये प्रविशन् 'नमो खमासमणाणं' इति न ब्रूते प्रणामं वा न करोति, नापि हस्तस्यानाकीर्णकत्वेऽपि हस्तोत्सेधम्, तदा प्रायश्चित्तं रात्रिन्दिवपञ्चकम् ॥ १२६ ॥

बेंटियगहनिक्खेवे, निट्ठीवण आयवाउ छायं व।
थंडिल्लकएहभोमे, गामो राइंदिया पंच ॥ १२७ ॥

संस्तारकवेण्टलिकाया ग्रहणे, निक्षेपे च प्रत्येकं दण्डक इव सप्तभङ्गकं, तत्रापि दण्डक इवाऽऽद्येषु त्रिषु भङ्गकेषु पश्चादनुपूर्व्या यथोत्तरं तपः कालविशेषितः प्रत्येकं लघुमासः, उत्तरेषु त्रिषु भङ्गकेषु प्रत्येकं रात्रिन्दिवपञ्चकं, सप्तमे तु भङ्गे शुद्धः। (निट्ठीवणा इति) निष्ठीवनाऽऽदौ। इह साधवो द्विधा-गच्छगताः, गच्छनिर्गताश्च। तत्र ये गच्छनिर्गतास्ते नियमादनिष्ठीवकाः,औपग्रहिकमल्लकाऽऽद्युपकरणासंभवात्। गच्छगता अपि ये विधिना निष्ठीव्यन्ति, ते अनिष्ठीवका एव, न प्रायश्चित्तविषयाः। अविधिना श्लेष्ममल्लके निष्ठीवने दण्डक इव सप्तभङ्गाः, दण्डक इवैव चाऽऽद्येषु प्रत्येकं लघुमासः, उत्तरेषु त्रिषु प्रत्येकं रात्रिन्दिवपञ्चकं, सप्तमभङ्गवर्त्तिनस्त्वनिष्ठीवका एव, विधिना निष्ठीवनात्। उपरितनेष्वपि च त्रिषु भङ्गेषु यदि भूमौ निष्ठीव्यन्ति तदा मासलघु। यच्च निष्ठीवने प्राणिनां परितापनाऽऽद्युपजायते, तन्निष्पन्नं च तस्य प्रायश्चित्तम्। आदिशब्दात्कण्डूयनपरिग्रहः। कण्डूयनेऽपि हि दण्डक इव सप्तभङ्गकं, तथैव च प्रायश्चित्तविधिः। तथा वस्त्राऽऽदिकमातपात् छायां, छायाया वा आतपं संक्रामयन् न प्रत्युपेक्षते, न प्रमार्जयतीत्यादयः पूर्ववत्सप्त भङ्गाः। पूर्ववदेव चाऽऽद्येषु षट्सु भङ्गकेषु प्रायश्चित्त-

विधिः, सप्तमे तु भङ्गे गुरुः । (पंकिल्लेत्यादि) मार्गे व्रजन् अस्थण्डिलात् स्थण्डिले, स्थण्डिलात् अस्थण्डिले, तथा कृष्णभूमाऽप्रदेशात् नीलभूमौ, नीलभूमेर्वा कृष्णभूमप्रदेशे । एवं शेषवर्णेष्वपि प्रत्येकं योजनीयम् । अथ अध्वनो ग्रामे ग्रामप्रवेशे, ग्रामाद्वा अध्वनि संक्रामन् पादौ न प्रत्युपेक्षते, न प्रमार्जयतीत्यादयो दण्डक इव प्रत्येकं सप्तभङ्गाः, षट्सु भङ्गकेषु प्रायश्चित्तविधानं, सप्तमभङ्गके तु गुरुः ।

सम्प्रति लाघवमपेक्ष्यमाणश्छेदार्हमपि प्रायश्चित्तमत्रैव विषये प्रतिपादयति–

एएसि अन्नयरं, निरंतरं अतिचरेज्ज तिक्खुत्तो ।
निक्कारणमगिलाणे, पंच उ राइंदिया छेदो ॥ १२८ ॥

एतेषामनन्तरोदितानां रात्रिन्दिवपञ्चकप्रायश्चित्तविषयाणां स्थानानामन्यतरत् स्थानमग्लानो निष्कारणं चेत् निरन्तरमतिचरेत् त्रिःकृत्वस्त्रीन् वारान् तदा तत्पर्यायस्य छेदः क्रियते, पञ्चरात्रिन्दिवानि । उपलक्षणमेतत्–येष्वनन्तरोदितेषु स्थानेषु मासलघुकानि प्रायश्चित्तान्युक्तानि, तेषामन्यतरत्स्थानमग्लानो निष्कारणं यदि निरन्तरं त्रीन् वारानतिचरति, तदा तत्पर्यायस्य छेदो मासिक इति द्रष्टव्यम् ।

सम्प्रति मासिकानि प्रायश्चित्तानि विवक्षुराह–

हरियाले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे य लोणे य ।
मीसगपुढविक्काए, जह उदउल्ले तहा मासो ॥ १२९ ॥

यथा उदकार्द्रे तथेति वचनादेवमत्र प्रतिपत्तव्यम्–यथा उदकार्द्रे उदकम्रक्षिते करे मात्रके वा भिक्षां गृह्णतः प्रायश्चित्तं लघुर्मासः, तथा हरितालहिङ्गुलकमनःशिलाः प्रतीताः । अञ्जनं सौवीराञ्जनाऽऽदि, लवणं समुद्राऽऽदि, एते सचित्तपृथिवीकायभेदाः । उपलक्षणमेतत्–तेन शुद्धपृथिव्यूषरेकवर्णिकासेटिकासौराष्ट्रिकादयोऽपि सचित्तपृथिवीकायभेदाः प्रतिपत्तव्याः । तथा मिश्रकः सचित्ताऽचित्तरूपः कर्दमाऽऽदिर्हरितालाऽऽदिर्वा पृथिवीकायः; एतेष्वपि । किमुक्तं भवति ?–एतैरपि प्रत्येकं म्रक्षिते करे मात्रके वा भिक्षामाददानस्य लघुर्मासः । एतत्पुनः सम्प्रदायादवसातव्यम्–सचित्तमिश्रपृथिवीरजोगुण्ठिते सचित्तमिश्रोदकास्नाधे वा करे मात्रके वा भिक्षामुपाददानस्य पञ्च रात्रिन्दिवानि । उक्तं च–"ससणिद्धे ससरक्खे पणगमिति ।" तथा वनस्पतिकायो द्विविधः–परीत्तोऽनन्तकायश्च । एकैकस्य त्रयो भेदाः–पिष्टं, कुक्कुसा, उत्कुट्टितश्च । पिष्टं, कुक्कुसाश्च प्रतीताः । उत्कुट्टितश्चिञ्चनकाऽऽदिः । तत्र त्रिविधैरपि सचित्तमिश्रपरीत्तवनस्पतिकायैः संसृष्टे करे मात्रके वा भिक्षां गृह्णतो वा लघुमासः । अनन्तसचित्तमिश्रवनस्पतिकायैस्त्रिविधैरपि संसृष्टे गुरुमासः, पुरःकर्मणि पश्चात्कर्माणि च केचिदाहुर्लघुमास इति, परे चत्वारो लघव इति । उक्तं च कल्पचूर्णौ–"पुरकम्मपच्छकम्मेहिं चउलहु ।" इति ॥ १२९ ॥

सज्झायस्स अकरणे, काउस्सग्गे तहा अपडिलेहा ।
पोसहियतवे य तहा, अवंदणे चेइयाणं च ॥ १३० ॥

स्वाध्यायस्य वाचनाऽऽदेरकरणे, सामान्यतो मासनिष्पन्नं प्रायश्चित्तमिति योगः । अत्रेयं भावना–सूत्रपौरुषीं न करोति मासलघु । द्वे सूत्रपौरुष्यावकुर्वतो द्वौ लघुमासौ । तिसृणां सूत्रपौरुषीणामकरणे त्रयो लघुमासाः । चतसृणामपि सूत्रपौरुषीणामकरणे चतुर्मासलघु । (काउस्सग्गे इति) अकरणे इति अत्राप्यनुवर्त्तते, आवश्यक इतिवत् कायोत्सर्गस्य सूत्रे सप्तमी, षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् (?) । अकरणे सामान्यतो मासनिष्पन्नं प्रायश्चित्तमिति सर्वत्रापि योजनीयम् । भावना त्वियम्–आवश्यके एकं कायोत्सर्गं न करोति मासलघु । द्वौ न करोति द्विमासलघु । त्रीन् कायोत्सर्गान् न करोति त्रिमासलघु । सकलमेवाऽऽवश्यकं न करोति, प्रावरणप्रावृतो वा वन्दनकानि आवश्यके न ददाति, दोषैरुपेतानि वा ददाति प्रायश्चित्तं मासलघु । नवरं यत्र माया तत्र मासगुरु । तथा–(अपडिलेहा इति) विभक्तेरत्र लोपः प्राकृतत्वात् । अप्रत्युपेक्षायाः, अकरणे सामर्थ्यादवसीयते । तत्रोपधिर्द्विधा–औघिकः, औपग्रहिकश्च । औघिकस्त्रिधा–जघन्यो, मध्यमः, उत्कृष्टश्च । तत्र जघन्यश्चतुर्द्धा । तद्यथा–मुखपोतिका, पात्रकेसरिका, गोच्छकः, पात्रस्थापनं च । उक्तं च–" मुहपोत्ती, पायकेसरिया, गोच्छगो, पायट्ठवणं च । एस चउव्विहो जहन्नो" इति । मध्यमः षड्विधः, तद्यथा–पटलानि, रजस्त्राणं, पात्रबन्धः, चोलपट्टः, मात्रकं, रजोहरणं च । आह च–" पडलाइँ रयत्ताणं, पत्ताबंधो य चोलपट्टो य । मत्तग रयहरणं वि य, मज्झिमगो छव्विहो नेओ " ॥ १ ॥ उत्कृष्टश्चतुर्विधः, तद्यथा–पतद्ग्रहस्त्रयः कल्पाः । उक्तं च–" उक्कोसो चउव्विहो, पडिग्गहो तिन्नि पच्छागा " इति । आर्यिकाणामप्युपधिरौधिकस्त्रिविधः, तद्यथा–जघन्यो, मध्यमः, उत्कृष्टश्च । तत्र जघन्यश्चतुर्विधो मुखपोतिकाऽऽदिरूपः प्रागुक्तः । मध्यमस्त्रयोदशविधः । तद्यथा–पात्रबन्धः १ रजोहरणं २ पटलानि ३ रजस्त्राणं ४ मात्रकं ५ कमठकः ६ अवग्रहानन्तकं ७ पट्टः ८ अर्द्धोरुकः ९ चलनिका १० कञ्चुकः ११ अवकक्षी १२ वैकक्षी १३ ।

उक्तं च–

" पत्ताबंधाईया, चउरो ते चेव पुव्वनिद्दिट्ठा ।
मत्तो य कमढकं वा, तह ओग्गहऽणंतगं चेव ॥ १ ॥
पट्टो अद्धोरु च्चिय, चलणिय तह कंचुगे य ओगच्छी ।
वेगच्छी तेरसमा, अज्जाणं होइ नायव्वा ॥ २ ॥ "

उत्कृष्टोऽष्टविधः, तद्यथा–पतद्ग्रहस्त्रयः कल्पाः, अभ्यन्तरनिवसनी, बहिर्निवसनी, संघाटी, स्कन्धकरणी च । " उक्कोसो अट्ठविहो, चउरो ते चेव पुव्वदिट्ठा जे साहूणं, अन्ने य इमे चउरो–अब्भिंतरनियंसणी, बाहिनियंसणी, संघाडी, खंधकरणी य " इति । औपग्राहिकोऽपि साधूनामार्यिकाणां च त्रिविधः । तद्यथा जघन्यो, मध्यमः, उत्कृष्टश्च । तत्र पीठनिषद्या–दण्डकप्रमार्जनी–उच्चारकपिण्डकसूचीनखरदनिकाऽऽदिर्जघन्यः, मध्यमो दण्डकपञ्चकोच्चारप्रस्रवणखेलमल्लकाऽऽदिरूपः आर्यिकाणामधिको वारकः, उत्कृष्टोऽक्षाः संस्तारक एकाङ्गिक इतरो वा, द्वितीयपदे पुस्तकपञ्चकं, फलकं च । " अक्खा संथारो वा, दुविहो एगंगिओ य इयरो वा । बिइयपयं पोत्थपणगं, फलगं तह होइ उक्कोसो ॥ १ ॥ " तत्रोत्कृष्टमुपधिं यदि यथाकालं न प्रत्युपेक्षते चतुर्मासलघु, मध्यमं यदि न प्रत्युपेक्षते तदा मासगुरु । जघन्यं न प्रत्युपेक्षते पञ्चरात्रिन्दिवानि, दोषैः प्रत्युपेक्षणे मासलघु । (पोसहियतवे य तहा इति) पोषं दधातीति पोषधम्–अष्टमीपाक्षिकाऽऽदि । पोषधे भवं पौषधिकं, तच्च तत् तपश्च पौषधिकतपः, तस्मिन्, क्रियमाणे इति सामर्थ्याद्गम्यते । सामान्यतो मासनिष्पन्नं प्रायश्चित्तमिति योजना । तद्यथा–अष्टम्यां चतुर्थं न करोति मासलघु, पाक्षिके चतुर्थं न करोति

मासगुरु, चतुर्मासके अष्टमाकरणे चतुर्मासलघु, सांवत्सरिके अष्टमं न करोति चतुर्मासगुरु । तथा एतेष्वेवाष्टमीपाक्षिकाऽऽदिषु चैत्यानां जिनबिम्बानां, चशब्दात् ये अन्यस्यां वसतौ सुसाधवस्तेषामप्यवन्दने मासलघु । तथा ये चैत्यभवनस्थिता वैकालिकं कालं प्रतिक्रम्य अकृते आवश्यके प्रभाते च कृते आवश्यके यदि चैत्यानि न वन्दन्ते, तेषामपि मासलघु । उक्तं चास्यैव व्यवहारस्य चूर्णौ-" एएसु चेव अट्ठमिमादीसु चेइयाइं साहुणो साहुणी वा जइ जाए वसहीए ठिया ते न वंदंति मासलघु । जइ चेइयघरे ठिया वेयालियं कालं पडिक्कंता अकए आवस्सए गोसे य कए आवस्सए चेइए न वंदंति मासलघु । " इति ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां व्याचिख्यासुः प्रथमतो " सज्झायस्स अकरणे " इत्येतद् व्याख्यानयति-

सुत्तत्थपोरिसीणं, अकरणे मासो उ होइ गुरुलहुगो ।
चाउक्कालं पोरिसि-उवायणं तस्स चउलहुगा ॥१३१॥

सूत्रार्थपौरुष्योः-सूत्रपौरुष्याः, अर्थपौरुष्या इत्यर्थः । अकरणे यथाक्रमं गुरुमासो, लघुमासः । अर्थपौरुषी हि महाऽऽदिविशिष्टसाधूनपेक्षा सूत्रार्थस्ता च । सूत्रपौरुषी त्वजिनवर्द्धितेनाऽपि अल्पमतिनाऽपि च यथाशक्ति अवश्यं कर्त्तव्या । सूत्राभावे सर्वस्याप्यभावादतः सूत्रपौरुष्या अकरणे मासगुरु । अर्थपौरुष्या अकरणे मासलघु । द्वयोः सूत्रपौरुष्योरकरणे द्वौ लघुमासौ । तिसृणां पौरुषीणामकरणे त्रयो लघुमासा इति सामर्थ्यात्प्रतिपत्तव्यम् । (चाउक्कालमित्यादि) चतुःकालं दिवारात्रिगतप्रथमचरमप्रहररूपेषु चतुर्षु कालेषु सूत्रपौरुषीरनुपालयतो भ्रंशयतोऽकुर्वत इत्यर्थः । चतुर्षु लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः ।

सम्प्रति ' काउस्सग्गे ' इति व्याख्यानयति-

जइ उस्सग्गे न कुणइ, तइमासा निसण्ण निवन्ने य ।
सव्वं चेवावस्सं, न कुणइ तहियं चउलहुं ति ॥१३२॥

आवश्यके प्रभाते वैकालिके वा यावतः कायोत्सर्गान्न करोति तावतो मासान्तस्य प्रायश्चित्तम् । एकं चेन्न करोति, एको लघुमासः । द्वौ न करोति द्वौ लघुमासौ । त्रीन्न करोति त्रयो लघुमासाः । तथा निषण्ण उपविष्टो, निपन्नः पतितः, सुप्त इत्यर्थः । चशब्दात् प्रावरणप्रावृतो वा यद्यावश्यकं करोति तदा सर्वत्र मासलघु । यदि पुनः सर्वमेवाऽऽवश्यकं न करोति तदा चतुर्लघु-चत्वारो लघुमासाः प्रायश्चित्तम् ।

अधुना " अपडिलेहाइ त्ति " व्याचष्टे-

चाउम्मासुक्कोसे, मासे मज्झे य पंच उ जहन्ने ।
उवहिस्स अपेहाए, एसा खलु होइ आरुवणा ॥१३३॥

उत्कृष्टे उत्कृष्टस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य उपधेरप्रेक्षायामप्रत्युपेक्षायां चत्वारो लघुमासाः । मध्ये मध्यमस्योपधेरप्रत्युपेक्षायां लघुमासः । जघन्ये जघन्यस्य पञ्चरात्रिन्दिवानि । एषा खलु भवति आरोपणा प्रायश्चित्तं प्रत्युपेक्षायामिति ।

संप्रति " पोसहियतवे य " इति व्याख्यानयति-

चउछट्ठऽट्ठमकरणे, अट्ठमिपक्खचउमासवरिसे य ।
लहु गुरु लहुगा गुरुगा, अवंदणे चेइ-साहूणं ॥१३४॥

अत्र यथासंख्येन पदयोजना । सा चैवम्-अष्टम्यां चतुर्थस्याऽकरणे मासलघु । पक्षे पाक्षिके चतुर्थस्याऽकरणे चतुर्मासे अष्टमस्याऽकरणे चत्वारो लघुमासाः । सांवत्सरिके षष्ठस्याऽकरणे चत्वारो गुरुमासाः । तथा एतेषु चाऽष्टम्यादिषु दिवसेषु चैत्यानाम्, अन्यवसतिगतस्तु साधूनां चाऽवन्दने प्रत्येकं मासलघु ।

सम्प्रति श्लाघवार्थमत्रैव छेदार्हं प्रायश्चित्तमाह-

एतेसु तिठाणेसुं, भिक्खू जो वट्टए पमाएणं ।
सो मासियं ति लग्गइ, उग्घायं वा अणुग्घायं ॥१३५॥

एतेष्वनन्तरोदितेषु स्थानेषु (ति त्ति) त्रीन् वारान् यो भिक्षुः प्रमादेन वर्त्तते, प्रमादेनैषां स्थानानामन्यतरत् त्रीन् वारान् अतिचरति, स मासिकं सामान्यतो मासनिष्पन्नं छेदमुद्घातं लघु अनुद्घातं गुरुकं लगति प्राप्नोति । यत्र यावन्तो मासा लघवो गुरवो वा तपः प्रायश्चित्तं, तत्र तावन्तो मासा लघवो गुरवो छेद इति यावत् ।

सम्प्रति शेषाणि यानि चातुर्मासिकानि षाण्मासिकानि वा प्रायश्चित्तानि, ये वा भणिताः छेदाः, यानि च मूलानवस्थितपाराञ्चितानि, तदेतत्सर्वमेकगाथया

विवक्षुराह-

छक्काए चउसु लहुगा, परित्त लहुगा य गुरुग साहारे ।
संघट्टणपरितावण, लहुगुरुगऽतिवायणे मूलं ॥१३६॥

षट्कायाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायरूपाः । तेषां मध्ये चतुर्षु पृथिव्यप्तेजोवायुरूपेषु संघट्टनाऽऽदिनिर्लघुकाः प्रायश्चित्तं, परीत्ते प्रत्येकवनस्पतिकायेऽपि च लघुकाः, साधारे अनन्तवनस्पतिकायिके संघट्टनाऽऽदिषु गुरुकाः । तथा द्वीन्द्रियाऽऽदीनां संघट्टने परितापने च यथायोगं लघुका गुरुकाश्च प्रायश्चित्तम् । अतिपातने विनाशे मूलम् । इयमत्र भावना-पृथिवीकायं संघट्टयति मासलघु, परितापयति मासगुरु, अपद्रावयति जीविताद् व्यपरोपयतीत्यर्थः; चतुर्लघु । एवमप्काये तेजस्काये वायुकाये प्रत्येकवनस्पतिकाये च द्रष्टव्यम् । उक्तं च-" छक्काया ऽऽदिम चउसू, तह य परित्तम्मि होंति वणकाए । लहु गुरु मासो चउलहु, संघट्टणपरितावणुद्दवणे ॥१॥ " एतत्प्रायश्चित्तमेकैकस्मिन् दिवसे संघट्टनाऽऽदिकरणे; यदि पुनर्द्वौ द्वौ दिवसौ पृथिव्यादीन् संघट्टयति तदा मासगुरु, परितापयति चतुर्लघु, जीविताद् व्यपरोपयति चतुर्गुरुकं, त्रीन् दिवसान् निरन्तरं पृथिव्यादि संघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, अपद्रावयति षड्लघु, निरन्तरं परितापने षड्लघु, अपद्रावणे षड्गुरु, पञ्चदिवसान्निरन्तरं पृथिव्यादीनां संघट्टने षड्लघु, परितापने षड्गुरु, अपद्रावणे मासिकच्छेदः । षड्दिवसान्निरन्तरं संघट्टने षड्गुरु, परितापने मासिकच्छेदः, अपद्रावणे चतुर्मासिकच्छेदः । सप्तदिवसान्निरन्तरं पृथिव्यादीनां संघट्टने मासिकच्छेदः । अपद्रावणे षाण्मासिकः । अष्टौ दिवसान्निरन्तरं पृथिव्यादीनां संघट्टने चातुर्मासिकच्छेदः । परितापने षाण्मासिकः । अपद्रावणे मूलम् । उक्तं च-" दोहिं दिवसेहिं मासगुरुए आढवेत्ता चउगुरुए गमेज्ज० जाव अट्ठहिं संघट्टयति । " अनन्तवनस्पतिकायिकं संघट्टयति मासगुरु । परितापयति चतुर्गुरु । अपद्रावयति चतुर्गुरु । द्विदिवसाऽऽदिनिरन्तरसंघट्टनाऽऽदिषूत्तरोत्तरैकैकस्थाने वृद्धिः, ततः सप्तमदिवसैर्मूलम् । द्वीन्द्रियं संघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, अ-

पञ्चावयति चतुर्लघु । अत्र आदिदिवसं निरन्तरं संघट्टनाऽऽदि- षु चतुर्भिर्दिवसैर्मूलम । त्रीन्द्रियं संघट्टयति चतुर्गुरु, परिता- पयति षड्लघु, अपद्रावयति षड्गुरु । अत्र पञ्चभिर्दिवसैर्मू- लम् । चतुरिन्द्रियं संघट्टयति षड्लघु, परितापयतः षड्गुरु, अपद्रावयतो मासिकच्छेदः । अत्र चतुर्भिर्दिवसैर्मूलम् । चतुरि- न्द्रियं संघट्टयति षड्लघु, परितापयतः षड्गुरु, अपद्रावयतो मासिकच्छेदः । अत्र चतुर्भिर्दिवसैर्मूलम् । पञ्चेन्द्रियं संघट्टयतः षड्गुरु, परितापयतश्छेदः,अपद्रावयतो मूलम् । अत्र द्वयोर्दिव- सयोरनवस्थाप्यं, त्रिषु दिवसेषु पाराञ्चितमिति । व्य० १ उ० ।

तपोऽर्हमभिधीयते-

निव्वीए पुरिमड्ढे-गभत्तमायंबिलं चउत्थं आगाढे ।
पुरिमाई खमणंतं, आगाढे एवमत्थे वि ॥ २३ ॥

इह तपोऽर्हप्रायश्चित्ते ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याऽऽचारपञ्चकस्या- तिचारचक्रमालोच्यम्, तत्राऽऽद्यो ज्ञानाऽऽचारस्यातिचारे ज्ञाना- चारातिचारः,सोऽष्टविधः। तद्यथा-अकाले स्वाध्यायकरणं काला- तिचारः१। श्रुतमधिजिगांसोर्जातिमदावलेपेन गुरुषु,विनयो ग्रन्थ- नाऽऽदिरूपचारः, तस्याप्रयोजनं, हीनं वा विनयातिचारः २ । श्रुते गुरौ वा बहुमानो हार्दः प्रतिबन्धविशेषः,तस्याऽकरणं बहुमानाति- चारः ३। उपधानमाचामाम्लाऽऽदितपसा योगविधानं,तस्याकर- णमुपधानातिचारः ४। यत्पार्श्वे श्रुतमधीतं तं निह्नुतेऽपलपति अ- न्यं वा युगप्रधानमात्मनोऽध्यापकं निर्दिशति, स्वयं वाऽधीत- मित्याचष्टे, एष निह्नवनाभिधानातिचारः ५ । व्यज्यते अर्थो- ऽनेनेति व्यञ्जनमागमसूत्रं, तन्मात्राक्षरबिन्दुभिरूनमतिरिक्तं वा करोति, संस्कृतं वा विधत्ते, पर्यायैर्वा विदधाति । यथा-"ध- म्मो मंगलमुक्किट्ठं " इत्यादिस्थाने-" पुन्नं कल्लाणमुक्कोसं, दया संवरनिज्जरा " व्यञ्जनातिचारः ६ । आगमपदार्थस्यान्यथापरि- कल्पनमर्थातिचारः ; यथा आचारसूत्रेऽन्त्यध्ययनमध्ये "आवं- ती केआ लोगंसि विप्परामुसंतीति । " यावन्तः केचित् लोकेऽस्मिन् पाषण्डिलोके विपरामृशन्तीति प्रस्तुतेऽर्थेऽन्योऽर्थः परिकल्प्यते-"आवंति होइ देसो, तत्थ य अरहट्टकूवजा केया । छद्दिमासपरिठ्ठियाहिं, तं लोगो विप्परामुसइ । " ७ । यत्र च सूत्रार्थौ द्वावपि विनश्येते, स तदुभयातिचारो यथा-

" धम्मो मंगलमुक्किट्ठो, अहिंसा गिरिमत्थए ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मती ॥१॥
आहारवेसु रधंति, कट्ठेसु रहकारओ ।
रत्तो भत्तंसिणो जत्थ, गद्दभो जत्थ दीसइ ॥ २ ॥ "

अयं च महीयानतिचारो, यतः सूत्रार्थोभयनाशे मोक्षाभावः, त- दभावे दीक्षावैयर्थ्यमिति । एष चाष्टविधोऽपि ज्ञानाचारातिचारो द्विधा-ओघतो, विभागतश्च । तत्र विभागत उद्देशकाध्ययनश्रुत- स्कन्धाङ्गेषु विषये प्रमादिनः प्रमादपरस्य कालातिक्रमणाऽऽदि- ष्वष्टसु ज्ञानाऽऽचारातिचारेषु जातेषु क्रमशः क्रमेण तपो निर्विकृ- तिकं,पुरिमार्द्धैकभक्ते आचाम्लं च, अनागाढे दशवैकालिकाऽऽ- दिके श्रुते उद्देशकातिचारे,प्रकाशपाठाऽऽदिके निर्विकृतिकम, अ- ध्ययनातिचारे पुरिमार्द्धम, श्रुतस्कन्धातिचारे एकभक्तम,अङ्गा- तिचारे आचामाम्लमित्यर्थः । आगाढे तूत्तराध्ययनभगवत्यादि- के श्रुते, एतेष्वतिचारस्थानेषु पुरिमार्द्धाऽऽदि क्षपणान्तमेव तपो भवति, एतद्विभागतः प्रायश्चित्तमुक्तम् । जीत० । (एतच्च ' अ- इयार ' शब्दे प्रथमभागे ८ पृष्ठेऽपि व्याख्यातम्)

छेयाइमसद्दहओ, मिउणो परियायगव्वियस्स वि य ।
छेयाइयाण वि तवो, जीएण गणाहिवइणो य ॥ ५६ ॥

यश्छेदं न श्रद्दधाति, भणति च व्रतपर्याये दिनपञ्चकाऽऽदौ छिन्ने किं मदीयं छिन्नं, सम्पूर्णकर्णनालिकाऽऽयवयव एव तावदहम- स्मि, तस्य छेदाऽऽद्यश्रद्धानपरस्य (मिउणो त्ति) यश्छिद्यमाने व्रतपर्याये न संतप्यते, यथा-कथं मम पर्यायश्छिन्न इति । य- द्वा-अन्येषां लघूनामप्यहमतिलघीयान् जात इति तस्य मृदोः, तथा पर्यायगर्विणो दीर्घपर्यायत्वात् छिन्नेऽपि पर्याये अन्येभ्यो- ऽप्यधिकपर्याय एव; न न्यूने पर्याये, न च पर्यायच्छेदाद् बि- भेति, तस्य पर्यायगर्वितस्य । अपि चेति समुच्चये । एतेषा- मुद्दिष्टानां छेदमापन्नानामपि, आदिशब्दान्मूलानवस्थाप्यपा- राञ्चिकान्यथोपपन्नानां, तथा गणाधिपतेराचार्यस्य, उपाध्या- यकुलगणसंघाधिपानां च, जीतेन जीतव्यवहारमतेन, तप एव दीयते । अत्राऽऽह-दीयतां नाम छेदाऽऽद्यश्रद्धालुप्रभृतीनां छेदा- ऽऽद्यापन्नानामपि तपः,आचार्याऽऽदीनां तु कथमिति ? । अत्रोच्यते- अनेकविधाः शिष्याः परिणामकापरिणामकाः,अतिपरिणामकाः, शैक्षा उच्छृङ्खलाश्चेति । तत्रोत्सर्गे उत्सर्गापवादे चापवादं य- था भणितं ये श्रद्दधत्याचरन्ति च ते परिणामकाः, ये पुनरुत्स- र्गमेव श्रद्दधत्याचरन्ति, अपवादं तु न श्रद्दधति, नाचरन्ति वा, तेऽपरिणामकाः, ये चापवादमाचरन्ति नोत्सर्गं, तेऽतिपरिणाम- काः, शैक्षा नवदीक्षिताः, उच्छृङ्खला उत्सुपथाः,एषामपरिणामि- काऽऽदीनामिमे मा निन्दनीया लाघवभाजोऽभूवन्नित्याचार्याऽऽ- दीनामपि त एव दीयन्ते, न छेदाऽऽदय इति । जीत० ।('जीय- ववहार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४१३ पृष्ठे, ' तवारिह ' शब्दे २१८५ पृष्ठे चावशिष्टं द्रष्टव्यम्)

तविय-तप्त-त्रि० । " शंपंतप्तवज्रे वा " ॥ ८ । २ । १०५ ॥ इति तप्तस्य संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारः । प्रा० २ पाद । द- ग्धे, दशा० ८ उ० । " आइच्चतेयसा तविया कणगवदिव- लाओ परिणमति ।" दशा० ५ उ० ३ उ० ।

तवोकम्म-तपःकर्म-न० । तस्यैवाऽष्टप्रकारस्य कर्मणो बद्ध- स्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थस्याऽपि निर्जराहेतुभूतं बाह्याभ्य- न्तरभेदेन द्वादशप्रकारं तपःकर्मोच्यते । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । निर्विकृतिकाऽऽदिनि (दशा० २ उ० १ अ० । स० । औ०)। महालयाऽऽदिनि (अन्त० ८ वर्ग० ३ अ०) तपःक्रियायाम्, दशा० ४ उ० ३ अ० ।

तवोकम्मगंडिया-तपःकर्मगण्डिका-स्त्री० । तपःकर्मवक्त- व्यताधिकारानुगतायां ग्रन्थपद्धतौ, स० ।

तवोगुणपहाण-तपोगुणप्रधान-त्रि० । षष्ठाष्टमाऽऽदितपोभव- ति, दशा० ४ अ० ।

तवोमग्गगइ-तपोमार्गगति-स्त्री० । उत्तराध्ययनानां त्रिंशत्तमे- ऽध्ययने, उत्त० २९ अ० । स० ।

दुविहतवोमग्गगई, वण्णिज्जइ जम्ह एत्थ अज्झयणे ।
तम्हा एयऽज्झयणं, तवमग्गगइ त्ति नायव्वं ॥४५॥

द्विविधं तपो बाह्यमाभ्यन्तरं च, तदेव मार्गो मार्गमार्गः,तत्फल- भूता च गतिः सिद्धिगतिः द्विविधतपोमार्गगतिर्वर्ण्यते यस्माद- ध्ययने तस्मादेतदध्ययनं तपोमार्गगतिरिति ज्ञातव्यम, आर्षे- त्वाल्लोपकारादिरिति भावः । उत्त० पाई० ३० अ० ।

तवोमय–तपोमद–पुं० । अहमेव विकृष्टतपोविधायी नापि तपसा ग्लानिमुपगच्छामीत्येवंरूपे मदे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । "पन्नामयं चेव तवोमयं च, णिन्नामए गोयमयं च भिक्खू ।" सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

तवोवहाण–तपउपधान–न० । विशिष्टतपोविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । तपःकर्मणि, "ठाणं तवोवहाणं, सरीरसक्कारमो अहाकारिं ।" पञ्चा० ९ विव० । अनियन्त्रिते तपसि, श्रुतोपचारतपसि च । स० ६ अङ्ग ।

तवोवहाणादिय–तपउपधानादिक–त्रि० । तपःकर्मशरीरसत्कारप्रभृतिकाऽऽदौ, "कयमत्थ पसंगेणं, तवोवहाणादिया वि णिगसमए । अणुरूवं कायव्वा, जिणाण कल्लाणदिवहेसु ।" ॥ २६ ॥ पञ्चा० ६ विव० ।

तवोसमायारिसमाहिसंवुड–तपःसामाचारिसमाधिसंवृत–पुं० । तपसोऽनशनाऽऽद्यात्मकस्य सामाचारी समाचरणम् । यद्वा-तपश्च सामाचारी च तत्कृतो वक्ष्यमाणस्वरूपः समाधिश्च चेतसः स्वास्थ्यं, तैः संवृतो निरुद्धाऽऽश्रवः तपःसामाचारिसमाधिसंवृतः । यद्वा-तपःसामाचारिसमाधिभिः संवृतं संवरणं यस्य स तथा । तपसः समाचरणेन समाधिना च निरुद्धाऽऽश्रवे, उत्त० १ उ० ।

तव्वइरित्तमिच्छादंसणवत्तिया–तद्व्यतिरिक्तमिथ्यादर्शनप्रत्यया–स्त्री० । तस्मात् ऊनातिरिक्तमिथ्यादर्शनाद्व्यतिरिक्तं मिथ्यादर्शनं नास्त्येवाऽऽत्मेत्यादिमतरूपं प्रत्ययो यस्याः सा तथा, तस्याम्, स्था० २ ठा० १ उ० ।

तव्वत्थुय–तद्वस्तुक–पुं० । तदेव परोपन्यस्तसाधनं वस्त्विति उत्तरभूतं वस्तु यस्मिन् उपन्यासोपनये स तद्वस्तुकः । अथवा-तदेव परोपन्यस्तं वस्तु तद्वस्तु, तदेव तद्वस्तुकं, तद्युक्त उपन्यासोपनयोऽपि तद्वस्तुकः । उपन्यासभेदे, स्था० । यथा कश्चिदाह-समुद्रतटे महान् वृक्षोऽस्ति, तच्छाखा जलस्थलयोरुपरि स्थिता, तत्पत्राणि च यानि जले निपतन्ति तानि जलचरा जीवा भवन्ति, यानि च स्थले तानि स्थलचरा इति । अन्यस्तदुपन्यस्तमेव तरुपत्रपतनवस्तु गृहीत्वा सदूषणं विघटयति-यदुत यानि पुनर्मध्ये, तेषां का वार्तेत्येतदुपपत्तिमात्रमुत्तरभूतं तद्वस्तुक उपन्यासोपनयः, ज्ञातत्वं चास्य ज्ञाननिमित्तत्वात् । अथवा-यथाकथमेव ज्ञातमेतत् । तथा ह्येवं प्रयोगोऽस्य-जलस्थलपतितपत्राणि न जलचराऽऽदिसत्त्वाः संजायन्ते, जलस्थलमध्यपतितपत्रवत् । तन्मध्यपतितपत्राणां हि जलस्थलपतितपत्रजलचरत्वाऽऽदिप्राप्तिवदुभयरूपप्रसङ्गः, न चोभयरूपाः सत्त्वा अभ्युपगता इति । अथवा-नित्यो जीवोऽमूर्तत्वादाकाशवदित्युक्ते आह-अनित्य एवास्तु मूर्तत्वात्कर्मवदिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तव्वत्थूवण्णास–तद्वस्तूपन्यास–पुं० । उपन्यासभेदे, दश० १ अ० ।

तव्वत्थुयम्मि पुरिसो, सव्वं भमिऊण साहइ अपुव्वं । (७४)

तद्वस्तुके, तद्वस्तूपन्यासे इत्यर्थः । पुरि शयनात् पुरुषः । सर्वं भ्रान्त्वा सर्वमाहिण्डय, किम् ?, कथयति, अपूर्वं, वर्तमाननिर्देशः पूर्ववदिति गाथाक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्- "एगम्मि देवकुले कप्पडिया मिलिता भणंति-केण, भे भमंतेहिं किंचि अच्छेरियं दिट्ठं ?। तत्थ एगो कप्पडिओ भणइ-मए दिट्ठं ति । जइ पुण एत्थ समणोवासओ नऽत्थि, तो साहेमि । तओ सेसेहिं भणियं-णत्थित्थ समणोवासओ । पच्छा सो भणति-मए हिंडतेणं पुव्ववेतालीए समुद्दस्स तडे रुक्खो महतिमहंतो दिट्ठो । तस्सेगा साहा समुद्दे पइट्ठिया, एगा य थले । तत्थ जाणि पत्ताणि जले पडंति, ताणि जलचराणि सत्ताणि हवंति, जाणि थले, ताणि थलचराणि हवंति । ते कप्पडिया भणंति-अहो ! अच्छेरियं देवेण महाप्पएण णिम्मियं ति । तत्थेगो सावगो कप्पडिओ । सो भणति-जाणि मज्झमज्झे पडंति, ताणि किं हवंति ?। ताहे सो खुद्धो भणति-मया पुव्वं चेव भणितं । जइ सावओ नऽत्थि तो कहेमि । एतेणं तं चेव परूणवत्थुमहिकिच्चोदाहरियं ।" एवं तावल्लौकिकमिदं लोकन्यायाल्लोकोत्तरस्यापि सूचकम् । तत्र चरणकरणानुयोगे यः कश्चिद्विनेयः कञ्चनासद्ग्राहं गृहीत्वा न सम्यग्वर्तते, स खलु तद्वस्तून्यासेनैव प्रज्ञापनीयः । यथा कश्चिदाह-" न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥ १ ॥ " इदं च किमयमेव प्रयुज्यते, प्रवृत्तिमन्तरेण निवृत्तेः फलाभावाभिर्विषयत्वेनासंभवाच्च, तस्मात्फलनिबन्धनांनिवृत्तिनिमित्तत्वेन प्रवृत्तिरप्यदुष्टैवेति । अत्रोच्यते-इह निवृत्तेर्महाफलत्वं किं दुष्टप्रवृत्तिपरिहाराऽऽत्मकत्वेन, आहोस्विददुष्टप्रवृत्तिपरिहाराऽऽत्मकत्वेनेति ?। यद्याद्यः पक्षः-कथं प्रवृत्तेरदुष्टत्वम् ?, अथापरस्ततो निवृत्तेरप्यदुष्टत्वात्तन्निवृत्तेरपि प्रवृत्तिरूपाया महाफलत्वप्रसङ्गः, तथा च सति पूर्वापरविरोध इति भावना । द्रव्यानुयोगे तु य एवमाह-एकान्तनित्यो जीवः, अमूर्तत्वादाकाशवदिति । स खलु तदेवामूर्तत्वमाश्रित्य तस्योत्क्षेपणाऽऽद्यावनित्ये कर्मण्यपि तावद्वक्तव्यः । कर्मामूर्तमनित्यं चेत्ययं वृक्षदर्शनेनोदाहरणदोष एव, यथाऽन्येषां साधर्म्यसमा जातिरिति । दश० १ अ० ।

तव्वयण–तद्वचन–न० । तस्य विवक्षितार्थस्य घटाऽऽदेर्वचनं भणनं तद्वचनं, घटार्थापेक्षया घटवचनवत् । वचनभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

तस–त्रस–पुं० । त्रसन्ति उष्णाऽऽद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते गच्छन्ति च छायाऽऽद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः, अनया च व्युत्पत्त्या त्रसाख्यत्रसनामकर्मोदयवर्तिन एव परिगृह्यन्ते, न शेषाः । अथ च शेषैरपीह प्रयोजनं, तत एवं व्युत्पत्तिः-त्रसन्ति अभिसन्धिपूर्वकमनभिसन्धिपूर्वकं वा ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु चलन्तीति त्रसाः । तेजोवायुषु, द्वीन्द्रियाऽऽदिषु च । जी० १ प्रति० । त्रसन्तीति त्रसाः । द्वीन्द्रियाऽऽदिषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आं० । सू० प्र० । स्था० । पं०सं० । आचा० । आव० । स० । द्वीन्द्रियाऽऽदिकृम्यादिषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तापर्याप्तभेदभिन्नेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । त्रसनामकर्मोदयवर्त्तित्वात् त्रस्यन्तीति त्रसाः । द्वीन्द्रियाऽऽदिषु, स्था० २ ठा० १ उ० । सूत्र० । तेजोवायुद्वीन्द्रियाऽऽदिषु, नि० चू० १२ उ० । सूत्र० । द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियेषु, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । त्रस्यन्ति तापाऽऽद्युपतप्ताश्छायाऽऽदिकं प्रत्यभिसर्पन्तीति त्रसाः । द्वीन्द्रियाऽऽदिषु, दश० ४ अ० । कुन्थ्वादिषु, पा० । वर्द्धरप्रभृतिषु, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । त्रससंभारकृतेन कर्मणा समुत्पन्नाः सन्तः सामान्यसंज्ञया प्राणा अभ्युच्यन्ते, तथा विशेषतः 'त्रस' भयचलनयोरिति धात्वर्थानुगमाद्, भयचलनाद्यनुभवेषु, सूत्र० २ श्रु०

३ अ० । त्रस्यन्तीति त्रसाः तेजोवायुरूपा विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात्त्रिधा । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

तिविहा तसा पन्नत्ता । तं जहा–तेउकाइया, वाउकाइया, उराला तसा पाणा ।

त्रस्यन्तीति त्रसाः संचलनधर्माणः, तत्र तेजोवायवो गतियोगात्त्रसाः उदाराः स्थूलास्त्रसा इति त्रसनामकर्मोदयवर्तित्वात् प्राणा इति व्यक्तोच्छ्वासाऽऽदिप्राणयोगाद् द्वीन्द्रियाऽऽदयस्तेऽपि गतियोगात् त्रसा इति । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

सम्प्रति औदारिकत्रसानाह–

से किं तं उराला तसा पाणा ?। उराला तसा पाणा चउव्विहा पन्नत्ता । तं जहा–बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया ।

(से किं तमित्यादि) अथ के ते औदारिकास्त्रसाः ?। सूरिराह–औदारिकास्त्रसाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः । तथा–द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः । तत्र द्वे स्पर्शनरसनरूपे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः । त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणरूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः । चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षूरूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः । पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः । जी० १ प्रति० ।

इदानीं त्रसाधिकारे एतदाह–

से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा । तं जहा–अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेइमा, संमुच्छिमा, उब्भिया, उववाइया ॥

(से जे पुण इमे इति) 'से' शब्दोऽथशब्दार्थः । अथशब्दश्चोपन्यासार्थः । "अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु" इति वचनात् । अथ ये पुनरमी बालाऽऽदीनामपि प्रसिद्धाः, अनेके द्वीन्द्रियाऽऽदिभेदेन बहव एकैकस्यां जातौ त्रसाः प्राणिनः–त्रस्यन्तीति त्रसाः प्राणा उच्छ्वासाऽऽदय एषां विद्यन्त इति । तद्यथा–(अंडया इत्यादि) एष खलु षष्ठो जीवनिकायः त्रसकायः प्रोच्यत इति योगः । तत्राण्डाज्जाता अण्डजाः; पक्षिगृहकोकिलाऽऽदयः । पोता एव जायन्त इति पोतजाः । "अन्येष्वपि दृश्यते" ॥ ३ । २ । १०१ । इति डप्रत्ययो जनेरिति वचनात्; ते च हस्तिवल्गुलीचर्मजलूकाप्रभृतयः । जरायुवेष्टिता जायन्त इति जरायुजाः । गोमहिष्यजाऽविकमनुष्याऽऽदयः । अत्रापि पूर्ववड्डप्रत्ययः । रसाज्जाता रसजाः; तक्राऽऽरनालदधितीमनाऽऽदिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्ति । संस्वेदाज्जाता इति संस्वेदजाः, मत्कुणयूकाशतपदिकाऽऽदयः । संमूर्च्छनाज्जाताः संमूर्च्छनजाः, शलभपिपीलिकामक्षिकाशालूकाऽऽदयः । उद्भेदाज्जन्म येषां ते उद्भेदाः । अथवा–उद्भेदनमुद्भित्, उद्भिज्जन्म येषां ते उद्भिज्जाः पतङ्गखञ्जरीटपारिप्लवाऽऽदयः । उपपाताज्जाता उपपातजाः । अथवा–उपपाते भवा औपपातिकाः; देवा नारकाश्च ।

एतेषामेव लक्षणमाह–

जेसिं केसिं चि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं आगइगइविन्नाया ॥

येषां केषाञ्चित्सामान्येनैव प्राणिनां जीवानामभिक्रान्तं, भव- तीति वाक्यशेषः । अभिक्रमणमभिक्रान्तं, भावे निष्ठाप्रत्ययः । प्रज्ञापकं प्रत्यभिमुखं क्रमणमित्यर्थः । एवं प्रतिक्रमणं प्रतिक्रान्तं, प्रज्ञापकात्प्रतीपं क्रमणमिति भावः । संकोचनं संकुचितं, गात्रसंकोचकरणम् । प्रसारणं प्रसारितं, गात्रवितत्तकरणम् । रवणं रुतं, शब्दकरणम् । भ्रमणं भ्रान्तम्, इतश्चेतश्च गमनम् । त्रसनं त्रस्तं, दुःखादुद्वेजनम् । पलायनं पलायितं, कुतश्चिन्नाशनम् । तथा आगतेः कुतश्चित् क्वचित्, गतेश्च कुतश्चित्क्वचिदेव च, (विज्ञाता इति) विज्ञातारः । आह–अभिक्रान्तप्रतिक्रान्ताभ्यां नाऽऽगतिगत्योः कश्चिद्भेद इति किमर्थं भेदनाभिधानम् ?। उच्यते–विज्ञानविशेषख्यापनार्थम् । एतदुक्तं भवति–य एव विजानन्ति, यथा–वयमभिक्रमामः, प्रतिक्रमामो वा, त एव त्रसाः; न तु वृत्तिं प्रत्यभिक्रमणवन्तोऽपि वल्ल्याद्य इति । आह–एवमपि द्वीन्द्रियाऽऽदीनामत्रसत्वप्रसङ्गः, अभिक्रमणप्रतिक्रमणभावेऽप्येवं विज्ञानाभावात् । नैतदेवम् । हेतुसंज्ञाया अवगतेबुद्धिपूर्वकमिव छायात उष्णमुष्णाद्वा छायां प्रति तेषामभिक्रमणाऽऽदिभावात् । न चैवं वल्ल्यादीनामभिक्रमणाद्योघसंज्ञायाः प्रवृत्तेरिति कृतं प्रसङ्गेन ।

अभिक्रान्तत्रसभेदानाह–

जे य कीडपयंगा, जा य कुंथुपिपीलिया, सव्वे बेइंदिया, सव्वे तेइंदिया, सव्वे चउरिंदिया, सव्वे पंचिंदिया, सव्वे तिरिक्खजोणिया, सव्वे नेरइया, सव्वे मणुया, सव्वे देवा, सव्वे पाणा परमाहम्मिया ।

(जे य इत्यादि) ये च कीटपतङ्गा इत्यत्र कीटाः कृमयः, "एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणम्" इति द्वीन्द्रियाः शङ्खाऽऽदयोऽपि गृह्यन्ते । पतङ्गाः शलभाः । अत्रापि पूर्ववच्चतुरिन्द्रिया भ्रमराऽऽदयोऽपि गृह्यन्त इति । तथा याश्च कुन्थुपिपीलिका इति; अनेन त्रीन्द्रियाः सर्व एव गृह्यन्ते । अत एवाऽऽह–सर्वे द्वीन्द्रियाः कृम्यादयः, सर्वे त्रीन्द्रियाः कुन्थ्वादयः, सर्वे चतुरिन्द्रियाः पतङ्गाऽऽदयः । आह–ये च कीटपतङ्गा इत्याद्युद्देशव्यत्ययः किमर्थम् ?। उच्यते–विचित्रा सूत्रगतिः, अनन्तः क्रम इति ज्ञापनार्थम् । सर्वे पञ्चेन्द्रियाः सामान्यतः । विशेषतः पुनः सर्वे तिर्यग्योनयो गवाऽऽदयः; सर्वे नारका रत्नप्रभानारकाऽऽदिभेदभिन्नाः; सर्वे मनुजाः कर्मभूमिजाऽऽदयः; सर्वे देवा भवनवास्यादयः । सर्वशब्दश्चात्र परिशेषभेदानां त्रसत्वख्यापनार्थः । सर्व एवैते त्रसाः; न त्वेकेन्द्रिया इव त्रसाः, स्थावराश्च इति । उक्तं च–"पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः, तेजोवायुद्वीन्द्रियाऽऽदयश्च त्रसाः" इति । सर्वे प्राणिनः परमधर्माण इति । सर्वे एते प्राणिनो द्वीन्द्रियाऽऽदयः, पृथिव्यादयश्च परमधर्माण इति । अत्र परमं सुखं तद्धर्माणः–सुखधर्माणः, सुखाभिलाषिण इत्यर्थः । एतश्चैवमित्यतो दुःखोत्पादपरिजिहीर्षया एतेषां षण्णां जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं समारभेतेति योगः ।

षष्ठं जीवनिकायं निगमयन्नाह–

एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाओ त्ति पवुच्चइ ।

एष अनन्तरोदितः कीटाऽऽदिः षष्ठो जीवनिकायः, पृथिव्यादिपञ्चकापेक्षया षष्ठत्वमस्य । त्रसकाय इति प्रोच्यते–प्रकर्षेणोच्यते, सर्वैरेव तीर्थकरगणधरैरिति प्रयोगार्थः । प्रयोगश्चाविद्यमानकर्तृकमिदं शरीरम्, आदिमत्प्रतिनियताऽऽकारत्वात्,

घटवत् । आह-इदं त्रसकायनिगमनमनभिधायास्थाने सर्वे प्राणिनः परमधर्माण इत्यनन्तरसूत्रसंबन्धिसूत्राभिधानं किमर्थम् ? । उच्यते-निगमनसूत्रव्यवधानमर्थान्तरेण व्यवधानख्यापनार्थम् । तथाहि-त्रसकायनिगमनसूत्रावसानो जीवाभिगमः, अत्रान्तरेऽजीवाभिगमाधिकारः, तदर्थमभिधाय चारित्रधर्मो वक्तव्यः । दश० ४ अ० ।

त्रस्-धा० । गतौ, ग्रहे, निषेधे च । चुरा०-उभ०-सक०-सेट् । त्रसयति । त्रसयते । अतित्रसत् । वाच० । भये,दिवादि०-फणा०-पर०-अक०-सेट् । वाच० । "त्रसेर्डर-बोज्ज-वज्जाः" ॥ ८ । ४ । १९८ ॥ त्रस्यतेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति । 'डरइ,' 'बोज्जइ,' 'वज्जइ' । पक्षे-'तसइ' । प्रा० ४ पाद ।

तसकाइय-त्रसकायिक-पुं० । त्रसनशीलास्त्रसाः, त्रसाः कायाः शरीराणि येषां ते त्रसकायाः, त्रसकाया एव त्रसकायिकाः । दश० ४ अ० । जङ्गमप्राणिनि, स० ३ सम० ।

तसकाय-त्रसकाय-पुं० । त्रसनामकर्मोदयात्त्रस्यन्तीति त्रसाः, तेषां कायो राशिस्त्रसकायः । स्था० २ ठा० १ उ० । त्रसनशीलास्त्रसाः, त्रसाः कायाः शरीराणि येषां ते त्रसकायाः । जङ्गमजीवभेदे, स० १० सम० । " तसकाए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-भवसिद्धिए चेव,अभवसिद्धिए चेव । " स्था० २ ठा० १ उ० । (व्याख्या स्वस्वस्थाने)

अथ त्रसकायोद्देशमाह-

तसकाए दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्तओ विहाणे, परिमाणुवभोगसत्थे य ॥ ५१ ॥

त्रसन्तीति त्रसाः, तेषां कायः, तस्मिन्, तान्येव द्वाराणि भवन्ति, यानि पृथिव्याः प्रतिपादितानि । नानात्वं विधानपरिमाणोपभोगशस्त्रद्वारेषु, चशब्दाल्लक्षणे च प्रतिपत्तव्यमिति ।

तत्र विधानद्वारमाह-

दुविहा खलु तसजीवा, लद्धितसा चेव गतितसा चेव ।
लद्धी य तेउवाऊ, तेणऽहिगारो इहं नत्थि ॥ ५२ ॥

(दुविहेत्यादि) द्विविधा द्विभेदाः, खलुरवधारणे, त्रसत्वं प्रति द्विभेदत्वमेव-त्रसनात् स्पन्दनात् त्रसाः, जीवनात् प्राणधारणाज्जीवाः । त्रसा एव जीवास्त्रसजीवाः-लब्धित्रसाः,गतित्रसाश्च । लब्ध्या तेजोवायू त्रसौ, शक्तिसद्भावमात्रम् । लब्धित्रसाख्यामिहाधिकारो नास्ति, तेजसोऽनाहतत्वात्, वायोश्चाभिधास्यमानत्वात्, अतः सामर्थ्याद् गतित्रसा एवाधिक्रियन्ते ।

के पुनस्ते कियद्भेदा इत्याह-

नेरइयतिरियमणुया, सुरा गइतसा चउव्विहा एए ।
पज्जत्ताऽपज्जत्ता, नेरइयाई उ नायव्वा ॥ ५३ ॥

(नेरइयेत्यादि) नारकाः-रत्नशर्कराऽऽदिमहातमःपृथ्वीपर्यन्तनरकवासिनः सप्तभेदाः,तिर्यञ्चोऽपि-द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाः, मनुष्याः-संमूर्च्छनजाः, गर्भव्युत्क्रान्तयश्च; सुराः-भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकाः,एते गतित्रसाश्चतुर्विधाः,नामकर्मोदयाभिनिर्वृत्तगतिनामप्रकृतित्रसत्वम । एते च नारकाऽऽदयः पर्याप्तापर्याप्तभेदेन द्विविधा भवन्ति; तत्र पर्याप्तिः पूर्वोक्तैव षोढा, तया यथासंभवं निष्पन्नाः पर्याप्ताः, तद्विपरीतास्त्वपर्याप्तका अन्तर्मुहूर्तकालमिति ।

इदानीमुत्तरभेदानाह-

तिविहा तिविहा जोणी, अंडा पोया जराउया चेव ।
बेइंदिय तेइंदिय, चउरो पंचिंदिया चेव ॥ ५४ ॥

(तिविहेत्यादि) अत्र हि शीतोष्णमिश्रभेदात्, तथा-सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्, तथा-संवृतविवृतततुभयभेदात्, तथा-स्त्रीपुंनपुंसकभेदाच्चेत्यादीनि बहूनि योनीनां त्रिकाणि संभवन्ति, तेषां सर्वेषां संग्रहार्थं त्रिविधा त्रिविधेति वीप्सा निर्देशः, तत्र नारकाणामाद्यासु तिसृषु भूमिषु शीतैव योनिः, चतुर्थ्यामुपरितननरकेषु शीता,अधस्तननरकेषूष्णा, पञ्चमीषष्ठीसप्तमीषूष्णैव, नेतरे, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यङ्मनुष्याणामशेषदेवानां च शीतोष्णा योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसम्मूर्च्छनजतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिविधाऽपि योनिः-शीता, उष्णा, शीतोष्णा चेति । तथा-नारकदेवानामचित्ता, नेतरे, द्वीन्द्रियाऽऽदिसंमूर्च्छजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां सचित्ताचित्तमिश्रयोनिर्नेतरे ………… (?) । तथा-देवनारकाणां संवृता योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतुरिन्द्रियसम्मूर्च्छनजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां विवृता योनिर्नेतरे, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यङ्मनुष्याणां संवृतविवृता योनिर्नेतरे । तथा-नारका नपुंसकजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां विवृता योनिर्नेतरे । गर्भयोनय एव तिर्यञ्चस्त्रिविधाः स्त्रीपुंनपुंसकयोनयः, मनुष्या अप्येवं त्रैविध्यभाजः, देवाः स्त्रीपुंयोनय एव,तथा परं मनुष्ययोनेस्त्रैविध्यम् । तद्यथा-कूर्मोन्नता । तस्यां चार्हच्चक्रवर्त्यादिसत्पुरुषाणामुत्पत्तिः । तथा-शङ्खाऽऽवर्ता । सा च स्त्रीरत्नस्यैव, तस्यां च प्राणिनां संभवो नास्तीति न निष्पत्तिः । तथा-वंशीपत्रा । सा च प्राकृतजनस्येति । तथा परं त्रैविध्यं निर्युक्तिकृद्दर्शयति । तद्यथा अण्डजाः, पोतजाः, जरायुजाश्चेति । तत्राण्डजाः पक्ष्यादयः, पोतजाः वल्गुलीजलौकसाऽऽदयः, जरायुजा गोमहिष्यामनुष्याऽऽदयः । तथा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदाच्च भिद्यन्ते । एवमेते त्रिविधास्त्रसा योन्यादिभेदेन प्ररूपिताः ।

एतद्योनिसंग्राहिण्यो गाथाः-

" पुढविदगअगणिमारुय-पत्तेयनिओयजीवजोणीणं ।
सत्तग सत्तग सत्तग, सत्तग दस चोद्दस य लक्खा ॥ १ ॥
विगलिंदिएसु दो दो, चउरो चउरो य नारयसुरेसु ।
तिरिया सत्तऽट्ठनव य, पणवीसा पंचिंदिया ……… ॥ २ ॥
……… होंति चउरो, चोद्दस मणुयाण लक्खाइं ॥ "

एवमेते चतुरशीतियोनिलक्षा भवन्ति ।

तथा कुलपरिमाणम्-

" कुलकोडिसयसहस्सा, सत्तऽट्ठ नव य पणवीसा ।
एगिंदिय बितिइंदिय, चउरिंदिय हरियकायाणं ।
अद्धत्तेरस बारस, दस नव चेव कोडिलक्खाइं ॥ १ ॥
जलयरपक्खिचउप्पय-उरभुयपरिसप्पजीवाणं ।
पणवीसं छव्वीसं, च सयसहस्साइँ नारयसुराणं ॥ २ ॥
बारस य सयसहस्सा, कुलकोडीणं मणुस्साणं ॥ ३ ॥
एगा कोडाकोडी, सत्ताणउइं च सयसहस्साइं ।
पन्नासं च सहस्सा, कुलकोडीणं मुणेयव्वा ॥ ४ ॥

अङ्कतः-१९७५०००००००००००० सकलकुलसंग्रहोऽयं बोद्धव्यः । आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

से किं तं तसकाइया ?। तसकाइया चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया । से किं तं बेइंदिया ?। बेइंदिया अणेगविहा पण्णत्ता । एवं जहेव पण्णवणाए तहेव निरवसेसं भाणियव्वं० जाव सव्वट्ठसिद्धगा देवा । सेत्तं अणुत्तरोववाइया, सेत्तं पंचिंदिया, सेत्तं तसकाइया ॥ उक्ता प्ररूपणा । जी० १ प्रति० ४ उ० ।

तदनन्तरं लक्षणद्वारमाह-

दंसणनाणचरित्ते, चरियाचरिए य दाणलाभे य ।
उवभोगजोगवीरिए, इंदियविसए य लद्धीए ॥ ५५ ॥
उवओगजोग अज्झव-साणे वीसुं च लद्धिउदई य ।
अट्ठविहोदय लेसा, सण्णा उस्सासे कसाए य ॥ ५६ ॥

(दंसणेत्यादि) दर्शनं सामान्योपलब्धिरूपं, चक्षुरचक्षुरवधिकेवलाऽऽख्यं, मत्यादीनि ज्ञानानि स्वपरपरिच्छेदिनो जीवस्य परिणामाः ज्ञानाऽऽवरणाविगमव्यक्तसकलस्वार्थपरिच्छेदाः सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायथाख्यातानि, चारित्रं चारित्राचारित्रं देशविरतिस्थूलप्राणातिपाताऽऽदिनिवृत्तिलक्षणं श्रावकाणाम्, तथा दानलाभभोगोपभोगवीर्याः श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनाऽऽख्याः देशलब्धयः जीवद्रव्यस्याजीवद्रव्यव्यावर्त्तकलक्षणं भवन्ति । तथोपयोगः साकारोऽनाकारश्चाऽऽष्टचतुर्भेदः, योगो मनोवाक्कायाऽऽख्यस्त्रिधा, अध्यवसायाश्चानेकविधाः सूक्ष्माः मनःपरिणामसमुत्थाः, विष्वक् पृथग्लब्धीनामुदयाः प्रादुर्भावाः क्षीरमध्वास्रवाऽऽदयः, ज्ञानाऽऽवरणाऽऽद्यन्तरायावसानकर्माष्टकस्य स्वशक्तिपरिणाम उदयः, लेश्याः कृष्णाऽऽदिभेदा अशुभाः शुभाश्च कषाययोगपरिणामविशेषसमुत्थाः, संज्ञास्त्वाहारभयपरिग्रहमैथुनाऽऽख्याः। अथवा-दशभेदाः अनन्तरोक्ताश्चतस्रः, क्रोधाऽऽद्याश्चतस्रः, तथौघसंज्ञा, लोकसंज्ञा च । उच्छ्वासनिःश्वासौ प्राणापानौ, कषायाः-कषं संसारः, तस्यायाः क्रोधादयोऽनन्तानुबन्ध्यादिभेदात् षोडशविधाः । एतानि गाथाद्वयोपन्यस्तानि द्वीन्द्रियाऽऽदीनां लक्षणानि यथासंभवमवगन्तव्यानीति, नैवंविधलक्षणकलापसमुच्चयो घटाऽऽदिष्वस्ति, तस्मात्तत्राचैतन्यमध्यवस्यन्ति विद्वांसः ।

अभिहितलक्षणकलापोपसंजिहीर्षया तथा परिमाणप्रतिपादनार्थं गाथामाह-

लक्खणमेयं चेव उ, पयरस्स असंखभागमेत्ता ते ।
निक्खमणे य पवेसो, एगा बीया वि एमेव ॥ ५७ ॥

(लक्खणमित्यादि) तुशब्दः पर्याप्तिवचनः, द्वीन्द्रियाऽऽदिजीवानां लक्षणं निक्षेपितावदेव दर्शनाऽऽदिपरिपूर्णं, नान्यदधिकमस्तीति । परिमाणं पुनः क्षेत्रतः संवर्तितलोकप्रतरासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणास्त्रसकायपर्याप्तकाः । एते च बादरतेजस्कायपर्याप्तकेभ्योऽसंख्येयगुणाः, त्रसकायपर्याप्तकेभ्यस्त्रसकायिकापर्याप्तकाः असंख्येयगुणाः, तथा कालतः प्रत्युत्पन्नत्रसकायिकाः सागरोपमलक्षपृथक्त्वसमयराशिपरिमाणा जघन्यपदे, उत्कृष्टपदेऽपि सागरोपमलक्षपृथक्त्वपरिमाणा एवेति । तथा चागमः-" पडुप्पन्ना तसकाइया केवतिकालस्स निल्लेवा सिया ?। गोयमा ! जहण्णपए सागरोवमसयसहस्सपुहत्तस्स, उक्कोसपदे वि सागरोवमसयसहस्सपुहत्तस्स ।" उद्वर्तनोपपातौ चाधिकृत्याह-निर्गमनमुद्वर्तनं, प्रवेश उपपातः, जघन्यतैको द्वौ त्रयो वा, उत्कृष्टतस्त्वेवमेवेति-प्रतरस्यासंख्येयभागप्रदेशपरिमाणा एवेत्यर्थः ।

साम्प्रतमविरहितप्रवेशनिर्गमाख्यं परिमाणविशेषमाह-

निक्खमपवेसकाले, समयाई एत्थ आवलियभागो ।
अंतोमुहुत्त विरहो, उदहिसहस्साइँ दो होंति ॥ ५८ ॥

(निक्खमेत्यादि) जघन्येन अविरहिताः सन्ततास्त्रसेषु उत्पत्तिर्निष्क्रमो वा जीवानामेकं समयं द्वित्रिचेत्यादि,(?)उत्कृष्टेनावलिका असंख्येयभागमात्रं कालं, संततमेव निष्क्रमः प्रवेशो वा एकजीवाङ्गीकरणेनाविरहश्चिन्त्यते गाथापाश्चात्त्यार्द्धेन विरहः सातत्येनावस्थानम्, एकजीवो हि त्रसभावेन जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमासित्वा पुनः पृथिव्याद्येकेन्द्रियेषूत्पद्यते, प्रकर्षेणाधिकं सागरोपमसहस्रद्वयं त्रसभावेनावतिष्ठते सन्ततमिति । उक्तं प्रमाणद्वारम् ॥

साम्प्रतमुपभोगशस्त्रवेदनाद्वारत्रयप्रतिपादनायाऽऽह-

मंसाई परिभोगो, सत्थं सत्थाइयं अणेगविहं ।
सारीरमाणसा वेय-णा य दुविहा बहुविहा य ॥ ५९ ॥

मांसचर्मकेशरोमनखपिच्छदन्तस्नाय्वस्थिविषाणाऽऽदिभिस्त्रसकायसंबन्धिभिरुपभोगो भवति, शस्त्रं पुनः शस्त्राऽऽदिकमिति खड्गतोमरक्षुरिकाऽऽदि तदादिर्यस्य जलानलाऽऽदेस्तच्छस्त्राऽऽदिकमनेकविधं स्वकायपरकायोभयद्रव्यभावभेदाभिन्नमनेकप्रकारं त्रसकायस्येति । वेदना चात्र प्रसङ्गेनोच्यते, सा च शरीरसमुत्था, मनःसमुत्था च द्विविधा यथासंभवम् । तत्राऽऽद्या-शल्यशलाकाऽऽदिभेदजनितेतरप्रियविप्रयोगाप्रियसंप्रयोगाऽऽदिकृता । बहुविधा च ज्वरातीसारकासश्वासभगन्दरशिरोरोगशूलगुदाङ्कोलकाऽऽदिसमुत्था तीव्रेति ।

पुनरप्युपभोगप्रपञ्चाभिधित्सयाऽऽह-

मंसस्स केइ अट्ठा, केई चम्मस्स केइ रोमाणं ।
पिच्छाणं पुच्छाणं, दंताणऽट्ठा वहिज्जंति ॥ ६० ॥
केई वहंति अट्ठा, केइ अणट्ठा पसंगदोसेणं ।
कम्मपसंगपसत्ता, बंधंति हणंति मारंति ॥ ६१ ॥

मांसार्थं मृगशूकराऽऽदयो वध्यन्ते, चर्मार्थं चित्रकाऽऽदयः, रोमार्थं मूषिकाऽऽदयः, पिच्छार्थं मयूरगृध्रकपिञ्जलकाऽऽदयः, पुच्छार्थं चमर्यादयः, दन्तार्थं वारणवराहाऽऽदयः। वध्यन्त इति सर्वत्र संबध्यते । तत्र केचन पूर्वोक्तप्रयोजनमुद्दिश्य हन्यन्ते, केचित्तु प्रयोजनमन्तरेणाऽपि क्रीडया हन्यन्ते । तथा परे प्रसङ्गदोषाद् मृगलुब्धकाऽऽदिना तदन्तरालव्यवस्थितानेककपोतकापिञ्जलशुकसारिकाऽऽदयो हन्यन्ते । तथा कर्म कृष्याद्यनेकप्रकारं, तस्य प्रसङ्गोऽनुष्ठानम्, तत्र प्रसक्तास्तन्निष्ठाः सन्तस्त्रसकायिकान् बहून् प्राणिनः रज्ज्वादिना बध्नन्ति, कशलकुटाऽऽदिभिस्ताडयन्ति, मारयन्ति प्राणैर्वियोजयन्तीति ।

एवंविधानाऽऽदिद्वारकलापमुपवर्ण्य सकलनिर्युक्त्यर्थोपसंहारायाऽऽह-

सेसाइं दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
एवं तसकायम्मी, निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥ ६२ ॥

(सेसा इत्यादि) उक्तव्यतिरिक्तानि शेषाणि द्वाराणि, तान्येव यानि पृथ्वीस्वरूपसमधिगमे निरूपितानि, अत एवमशेषमा-

राभिधानात्त्रसकाये निर्युक्तिः कीर्तितैषा सकला भवतीत्यव-गन्तव्येति ।

साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्र-मुच्चारणीयम् । तच्चेदम्-

संतिमे तसा पाणा । तं जहा-अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेयया, संमुच्छिमा, उब्भियया, उववाइया ॥ ६ ॥

सन्ति विद्यन्ते त्रस्यन्तीति त्रसाः प्राणिनो द्वीन्द्रियाऽऽदयः । ते च किंभेदाः किंप्रकाराश्चेति दर्शयति-तद्यथेति वाक्यो-पन्यासार्थः । यदि वा-तत्प्रकारान्तरमर्थतो यथा भगवता-ऽभिहितं तथाऽहं भणामीति । (आचा०) एवमेतस्मिन्न-ष्टविधे जन्मनि सर्वे त्रसजन्तवः संसारिणो निपतन्ति, नैतद्-व्यतिरेकेणान्ये सन्ति । एते चाष्टविधयोनिभाजोऽपि स-र्वलोकप्रतीता बालाङ्गनाऽऽदिजनप्रत्यक्षप्रमाणसमधिगम्याः, ' सन्ति ' अनेन शब्देन त्रैकालिकमस्तित्वं प्रतिपाद्यते त्रसानाम् ।

न कदाचिदेतैर्विरहितः संसारः संभवतीत्येतदपि दर्शयति-

एस संसारे त्ति पवुच्चइ, मंदस्स अवियाणओ निज्झाइत्ता, पडिलेहित्ता पत्तेयं परिनिव्वाणं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अस्सायं अप-रिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि ॥ २ ॥

एष अण्डजाऽऽदिप्राणिकलापः संसारः प्रोच्यते,नाऽतोऽन्यत्र-सानामुत्पत्तिप्रकारोऽस्तीत्युक्तं भवति । कस्य पुनरयमष्टविधत्र-सग्रामे उत्पत्तिर्भवतीत्याह-(मंदस्साविचाणओ) मन्दो द्विधा-द्रव्यभावभेदात् । तत्र द्रव्यमन्दोऽतिस्थूलोऽतिकृशो वा,भावमन्दो-ऽल्पबुद्धिरनपचितबुद्धिः,कुशास्त्रवासितबुद्धिर्वा । अयमपि सद्बुद्धेर-भावाद् बाल एव । इह भावमन्देनाधिकारः-मन्दस्येति बालस्यावि-शिष्टबुद्धेः,अत एवाविजानतो हिताहितप्राप्तिपरिहारशून्यमनस इत्येषोऽनन्तरोक्तः संसारो भवतीति । यद्येवं ततः किमित्याह-(निज्झाइत्तेत्यादि) एवमिमं त्रसकायमार्गे बालाङ्गनाऽऽदिप्रसिद्धं निश्चयेन ध्यात्वा निर्ध्याय,चिन्तयित्वेत्यर्थः।क्त्वाप्रत्ययश्चोत्तर-क्रियापेक्षया ब्रवीमीत्युत्तरक्रिया सर्वत्र योजनीयेति पूर्ववत्।म-नसाऽऽलोच्य ततः प्रत्युपेक्षणं भवतीति दर्शयति-(पडिलेहित्त त्ति) प्रत्युपेक्ष्य दृष्ट्वा यथावदुपलभ्येत्यर्थः । किं तदिति दर्श-यति-प्रत्येकमित्येकमेकं त्रसकायं प्रति परिनिर्वाणं सुखं, प्रत्ये-कसुखभाजः सर्वेऽपि प्राणिनो नान्यदीयमन्य उपभुङ्क्ते सुख-मित्यर्थः । एष च सर्वप्राणिधर्म इति दर्शयति-सर्वेषां प्राणि-नां द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां, तथा सर्वेषां भूतानां प्रत्येकसाधारण-सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकतरूणामिति, तथा सर्वेषां जीवानां गर्भव्युत्क्रान्तिकसंमूर्छनौपपातिकपञ्चेन्द्रियाणां,तथा सर्वेषां स-त्त्वानां पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणामिति । इह च प्राणाऽऽदिशब्दानां यद्यपि परमार्थतोऽभेदः, तथापि शब्दन्यायेन भेदो द्रष्टव्यः । उक्तं च-"प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः प-ञ्चेन्द्रियाः प्रोक्ताः,शेषाः सत्त्वा उदीरिताः" ॥ १ ॥ इति । यद्वि वा-शब्दव्युत्पत्तिद्वारेण समभिरूढनयमतेन भेदो द्रष्टव्यः । त-था-सततप्राणधारणात्प्राणाः, कालत्रयभवनाद् भूताः, त्रिका-लजीवनात् जीवाः, सदाऽस्तित्वात्सत्त्वा इति । तदेवं विचि-न्त्य प्रत्युपेक्ष्य च यथा सर्वेषां जीवानां प्रत्येकं परिनिर्वा-णं सुखं, तथा प्रत्येकमसातमपरिनिर्वाणं महाभयं दुःखमहं ब्रवीमि । तत्र दुःखयतीति दुःखम्, तद्विशेष्यते-किंविशिष्टम-सातमसातवेद्यं कर्म, तद्विपाकजमित्यर्थः । तथा-अपरिनिर्वाण-मिति-परिनिर्वाणं समन्तात् सुखं, न परिनिर्वाणमपरिनिर्वाणं, समन्तात् शरीरमनःपीडाकरमित्यर्थः । तथा-महाभयमिति-म-हच्च तद्भयं च महाभयं, नाऽतः परमन्यदस्तीति महाभयम् । तथाहि-सर्वेऽपि शारीरमानसाद् दुःखादुद्विजन्ते प्राणिन इति । इतिशब्द एवमर्थे । एवमहं ब्रवीमि सम्यगुपलब्धतत्त्वो यत्प्रागुक्तमिति ।

एतच्च ब्रवीमीत्याह-

तसंति पाणा पदिसो दिसासु य, तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावंति संति पाणा पुढो सिया ॥

(त्रसंतीत्यादि) एवंविधेन असाताऽऽदिविशेषणविशिष्टेन दुःखेनाभिभूतास्त्रस्यन्त्युद्विजन्ति, प्राणा इति प्राणिनः, कुतः पु-नरुद्विजन्तीति दर्शयति-प्रगता दिक् प्रदिग्विदिश इत्यर्थः । ततः प्रदिशः सकाशादुद्विजन्ति । तथाहि-प्राच्यादिषु च दिक्षु व्यवस्थितास्त्रस्यन्ति, एताश्च प्रज्ञापकदिग्विभक्ता दिशोऽनु-दिशश्च गृह्यन्ते, जीवव्यवस्थानश्रवणात् । नतश्चायमर्थः प्रति-पादितो भवति काक्वा, न काचिद्दिगनुदिग्वा. यस्यां न सन्ति त्रसाः, त्रस्यन्ति वा यस्यां स्थिताः, कोशिकारकीटव-त् । कोशिकारकीटो हि दिग्भ्योऽनुदिग्भ्यश्च बिभ्यदात्मसंर-क्षणार्थं वेष्टनं करोति शरीरस्येति । भावदिगपि न काचित्त-दस्ति, यस्यां वर्तमानो जन्तुर्न त्रस्येत्, शारीरमानसाभ्यां दुःखाभ्यां सर्वत्र नरकाऽऽदिषु उद्विजन्ते प्राणिनोऽतस्त्रासपरिग-तमनसः सर्वदाऽवगन्तव्याः । एवं सर्वत्र दिक्ष्वनुदिक्षु च त्रसाः सन्तीति गृह्णीमः । दिग्विदिग्व्यवस्थितास्त्रसास्त्रस्यन्ती-त्युक्तम् । कुतः पुनस्त्रस्यन्ति?,यस्मात्तदारम्भवाञ्छिस्ते व्यापाद्यन्ते. किं पुनः कारणं ते तानारभन्त इत्याह-(तत्थ तत्थेत्यादि) तत्र तत्र तेषु तेषु कारणेषूत्पन्नेषु वक्ष्यमाणेष्वर्चाऽजिनशोणिताऽऽदिषु च पृथग्विभिन्नेषु प्रयोजनेषु, पश्येति । शिष्यचोदना किं तत्प-श्येति दर्शयति-मांसभक्षणाऽऽदिगृद्धा आतुराः अस्वस्थमनसः परि समन्तात्तापयन्ति पीडयन्ति नानाविधवेदनोत्पादनेन प्रा-णिव्यापादनेन वा तदारम्भणत्रसानिति, येन केनचिदारम्भेण प्राणिनां संतापनं भवतीति दर्शयन्नाह-(संतीत्यादि) सन्ति विद्यन्ते प्रायः सर्वत्रैव प्राणाः प्राणिनः पृथक् विभिन्ना: द्वित्रि-चतुःपञ्चेन्द्रियाऽऽश्रिताः पृथिव्याद्याश्रिताः । एतच्च ज्ञात्वा निरवद्यानुष्ठायिना भवितव्यमित्यभिप्रायः ।

अन्ये पुनरन्यथावादिनोऽन्यथाकारिण इति दर्शयन्नाह-

लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा ज-मिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकाय-सत्थं समारंभमाणा अन्ने अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया-इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाईमरणमोयणाए दुक्खपडि-घायहेउं, से सयमेव तसकायसत्थं समारभति, अन्नेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा तसकायसत्थं समारं-

जमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए, इहमेगेसिं णायं भवति-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ।

पूर्ववद् व्याख्येयं, यावत् "अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ त्ति।" यानि कानिचित्कारणान्युद्दिश्य च स वधः क्रियते, तानि दर्शयितुमाह-

से बेमि अप्पेगे अच्चाए हणंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति, एवं हिययाए, पित्ताए, वसाए, पिच्छाए, पुच्छाए, वालाए, सिंगाए, विसाणाए, दंताए, दाढाए, णहाए, ण्हारुणीए, अट्ठीए, अट्ठिमिंजाए, अट्ठाए, अणट्ठाए, अप्पेगे हिंसिंसु मे त्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसंति मे त्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसिस्संति मे त्ति वा वहंति, एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति ।

(से बेमीत्यादि) तदहं ब्रवीमि-यदर्थं प्राणिनस्तदारम्भप्रवृत्तो व्यापादयन्ति इति । अप्येकेऽर्चायै घ्नन्ति, अपिरुत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः। एके केचन तदर्थित्वेनाऽऽतुराः, अर्च्यतेऽसावाहाराऽलङ्कारैरित्यर्चा देहः, तदर्थं व्यापादयन्ति । तथाहि-लक्षणवत्पुरुषमक्षतमव्यङ्गं व्यापाद्य तच्छरीरेण विद्यामन्त्रसाधनानि कुर्वन्ति, उपयाचितं वा ददन्ति दुर्गाऽऽदीनामग्रतः । अथवा-विषं येन भक्षितं, स हस्तिनं मारयित्वा तच्छरीरे प्रक्षिप्यते, यथाऽक्षतं जीवेति । तथा अजिनार्थं चित्रकव्याघ्राऽऽदीन् व्यापादयन्ति । एवं मांसशोणितहृदयपित्तवसापिच्छपुच्छवालशृङ्गविषाणदन्तदंष्ट्रानखस्नाय्वस्थ्यस्थिमिञ्जाऽऽदिष्वपि वाच्यम्, मांसार्थं शूकराऽऽदयः, त्रिशूलाऽऽराधनार्थं शोणितं गृह्णन्ति, हृदयानि साधका गृहीत्वाऽघ्नन्ति, पित्तार्थं मयूराऽऽदयः, वसार्थं व्याघ्रमकरवराहाऽऽदयः, पिच्छार्थं मयूरगृध्राऽऽदयः, पुच्छार्थं रोझाऽऽदयः, वालार्थं चमर्यादयः, शृङ्गार्थं रुरुखड्गाऽऽदयः, तत्किल शृङ्गं पवित्रमिति याज्ञिका गृह्णन्ति, विषाणार्थं हस्त्यादयः, दन्तार्थं शृगालाऽऽदयः, तिमिरापहत्वात्तद्दन्तानां, दंष्ट्रार्थं वराहाऽऽदयः, नखार्थं व्याघ्राऽऽदयः, स्नाय्वर्थं गोमहिष्यादयः, अस्थ्यर्थं शङ्खशुक्त्यादयः, अस्थिमिञ्जार्थं महिषवराहाऽऽदयः। एवमेके यथोपदिष्टप्रयोजनकलापापेक्षया घ्नन्ति । अपरे तु कृकलासगृहकोकिलाऽऽदीननिष्प्रयोजनेन व्यापादयन्ति । अन्ये पुनः-(हिंसिंसु मे त्ति) हिंसितवानेषोऽस्मत्स्वजनान् सिंहः सर्पोऽन्यो वा, अतो घ्नन्ति, मम वा पीडां कृतवानित्यतो घ्नन्ति । तथा चान्ये वर्तमानकाल एव हिनस्ति अस्मान् सिंहोऽन्यो वेति घ्नन्ति । तथाऽन्ये-अस्मानयं हिंसिष्यतीत्यनागतमेव सर्पाऽऽदिकं व्यापादयन्ति ।

एवमनेकप्रयोजनोपन्यासेन हननं त्रसविषयं प्रदर्श्य, तदेककार्यमुपसंजिहीर्षुराह-

एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं तसकायसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं तसकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे तसकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते तसकायसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि ॥ ६ ॥

(एत्थ सत्थमित्यादि) प्राग्वद्व्याख्येयम्। यावत्स एव मुनिस्त्रसकायसमारम्भविरतत्वात् परिज्ञातकर्मत्वात् प्रत्याख्यातपापकर्मत्वादिति ब्रवीमि । भगवतः त्रिलोकबन्धोः परमकेवलाऽऽलोकसाक्षात्कृतसकलभुवनप्रपञ्चस्योपदेशादिति । आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । (त्रसकायस्य प्रतिसेवना 'पडिसेवणा' शब्दे वक्ष्यते)

तसचउक्क-त्रसचतुष्क-न० । त्रसप्रकृत्योपलक्षितं चतुष्कं त्रसचतुष्कम् । त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकमिति प्रकृत्योपलक्षिते चतुष्के, कर्म० १ कर्म० ।

तसण-त्रसन-न० । पलायने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । स्पन्दने, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

तसणवग-त्रसनवक-न० । त्रसप्रकृत्या उपलक्षितं नवकं त्रसनवकम् । त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वराऽऽदेयलक्षणे, कर्म० २ कर्म० ।

तसणाम[ण्]-त्रसनामन्-न० । त्रसन्ति उष्णाऽऽद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते, गच्छन्ति च छायाऽऽद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः, तत्पर्यायविपाकवेद्यं कर्म त्रसनाम । त्रसगतिनिबन्धने नामकर्मणि, कर्म० १ कर्म० । पं० सं० । प्रव० । यदुदयाच्चलनं स्पन्दनं भवति । आ० । कर्म० ।

बितिचउपणिंदियतसा, बायरओ बायरा जिया थूला ।
नियनियपज्जत्तिजुया, पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥ ४८ ॥

त्रस्यन्ति उष्णाऽऽद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते, गच्छन्ति च छायाऽऽद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः, तत्पर्यायविपाकवेद्यं कर्मापि त्रसनाम । तत्सामर्थ्यात् त्रसनामोदया जीवाः-(बितिचउपणिंदिय त्ति) इन्द्रियशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वे इन्द्रिये स्पर्शनरसनलक्षणे येषां ते द्वीन्द्रियाः, शङ्खचन्दनककपर्दकजलूकाकृमिगण्डोलकपूतरकाऽऽदयो भवन्ति । त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणलक्षणानीन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः, यूकामत्कुणगर्दभेन्द्रगोपककुन्थुमत्कोटकाऽऽदयः । चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानीन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः, मक्षिकाभ्रमरमशकवृश्चिकाऽऽदयः । पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणीन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः, मत्स्यमकरहरिहरिणसारसराजहंसनरसुरनारकाऽऽदयो भवन्तीति । यदुदयाज्जीवास्त्रसा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया भवन्ति तत्त्रसनामेत्यर्थः । (४८) कर्म० १ कर्म० ।

तसतिग-त्रसत्रिक-न० । त्रसबादरपर्याप्ताऽऽख्ये त्रिके, कर्म० २ कर्म० ।

तसदसग-त्रसदशक-न० । त्रसनामाऽऽदिनामकर्मोत्तरप्रकृतिदशके, (कर्म०)

तसबायरपज्जत्तं, पत्तेयथिरं सुभं च सुभगं च ।
सुसराऽऽइज्जजसं तस-दसगं थावरदसं तु इमं ॥२६॥

नामशब्दस्येहापि संबन्धात्-त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, प्रत्येकनाम, स्थिरनाम, शुभनाम, सुभगनाम । चशब्दो समुच्चये। सुस्वरनाम, आदेयनाम (जस त्ति) यशःकीर्तिनाम इत्येवं त्रसशब्देनोपलक्षितं प्रकृतिदशकम, त्रसदशकमुच्यत इति शेषः । कर्म० १ कर्म० ।

तसरेणु-त्रसरेणु-पुं०। त्रस्यति पूर्वाऽऽदिवातप्रेरितो गच्छति यो रेणुः स त्रसरेणुः । रेणुभिः परिमिते प्रमाणविशेषे, प्रव० २५४ द्वार । ज्यो० । भ० । जं० । स्था० । अनु० । कियद्भिः परमाणुभिस्त्रसरेणुर्भवतीति प्रश्ने, उत्तरम्-अनन्तसूक्ष्मपरमाणुभिरेको व्यवहारपरमाणुर्जायते, अष्टव्यवहारपरमाणुभिरेका उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका जायते, ताभिरष्टाभिरेका श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका जायते, ताभिरष्टाभिरेक ऊर्ध्वरेणुर्जायते, एभिरष्टाभिरेकस्त्रसरेणुर्जायते, एतावता-कोऽर्थः चतुःसहस्रैः षण्णवत्यधिकैर्व्यवहारपरमाणुभिरेकस्त्रसरेणुर्जायते इत्यर्थः। ४८२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

तसवाइया-त्रसपादिका-स्त्री०। त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति०।

तसवीसइ-त्रसविंशति-स्त्री० । त्रसेनोपलक्षिता विंशतिस्त्रसविंशतिः । त्रसदशकस्थावरदशकद्वये, कर्म० १ कर्म० ।

तसासि(ण्)-त्रसासिन्-त्रि०। पिपीलिकाऽऽदिसंसृतोदनभक्षके, नि० चू० १ उ० ।

तसिअ-त्रस्त-त्रि० । त्रसनं त्रस्तम । दुःखोद्वेजने, दशा० ४ अ० । परमाधार्मिकदेवपरस्परोदीरितदुःखसंपातभयात् त्रासमुपपन्ने, जी० ३ प्रति० ४ उ० । भ० । शुष्के, दे० ना० ५ वर्ग २ गाथा ।

तस्सण्णि[ण्]-तत्संज्ञिन्-त्रि०। तस्य संज्ञा तत्संज्ञा-तज्ज्ञानम्, तद्वान् तत्संज्ञी । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । विवक्षितज्ञानोपयुक्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

तस्सेवि [ण्]-तत्सेविन्-पुं०। ये दोषा आलोचयितव्यास्तत्सेवी यो गुरुस्तस्य पुरतो यदालोचनम । तत्सेविलक्षणे आलोचनादोषे, स्था० १० ठा० ।

तह-तथा-अव्य० । तेन प्रकारेण तथा प्रकारे थाल् । वाच० । "वाऽव्ययोत्खातादावदातः" ॥८।१।६७॥ इत्यत्वं विकल्पेन । प्रा० १ पाद । उक्तपरामर्शे, कल्प० १ क्षण । पादपूरणे, नि० चू० १ उ० ।

तथ्य-न० । तथा तत्र साधु यत् । सत्ये, वाच० । सदर्थाभिधायित्वे, त्रि० । (सूत्र०)

णामतहं ठवणातहं, दव्वतहं चेव होइ भावतहं ।
दव्वतहं पुण जो ज-स्स सभावो होति दव्वस्स ॥२४॥

(णामतहमित्यादि) अस्याध्यवसायस्य याथातथ्यमिति नाम । तच्च यथाशब्दस्य भावप्रत्ययान्तस्य भवति । तत्र यथाशब्दोल्लङ्घनेन तथाशब्दस्य निक्षेपं कर्तुं निर्युक्तिकारस्यायमभिप्रायः-इह यथाशब्दोऽयमनुवादे वर्तते, तथाशब्दश्च विधेयार्थे । तद्यथा-यथेदं तथैवेदं भवता विधेयमित्यनुवादविधेययोश्च विधेयांश एव प्रधानभावमनुभवतीति । यदि वा याथातथ्यमिति तथ्यमतस्तदेव निरूप्यत इति । तत्र यथावस्तुतथ्यं यथाऽवस्थितवस्तुता । तच्चामाऽऽदिभिश्चतुर्धा । तत्र नामस्थापने सुगमे । द्रव्यतथ्यं गाथापश्चार्धेन प्रतिपादयति-तत्र द्रव्यतथ्यं पुनर्यो यस्य सचित्ताऽऽदेः स्वभावो, द्रव्यप्राधान्यात्तस्य स्वरूपम । तद्यथा-उपयोगलक्षणो जीवः, कठिनलक्षणा पृथिवी, द्रवलक्षणा आप इत्यादि । मनुष्याऽऽदेर्वा यो यस्य मार्दवाऽऽदिस्वभावः, अचित्तद्रव्याणां च गोशीर्षचन्दनकम्बलरत्नाऽऽदीनां द्रव्याणां स्वभावः । तद्यथा-" उण्हे करेइ सीयं, सीए उण्हत्तणं पुण प्रवेइ । कंबलरयणाऽऽदीणं, एस सहावो मुणेयव्वो " ॥ १ ॥

भावतथ्यमधिकृत्याऽऽह-

भावतहं पुण नियमा, णायव्वं छव्विहम्मि भावम्मि ।
अहवा वि नाणदंसण-चरित्तविणएण अज्झप्पे ॥२५॥

(भावतहमित्यादि) भावतथ्यं पुनर्नियमतोऽवश्यंभावतया षड्विधे औदयिके भावे ज्ञातव्यम् । तत्र कर्मणामुदयेन निर्वृत्त औदयिकः कर्मोदयाऽऽपादितो गत्याद्यनुभवलक्षणः, तथा कर्मोपशमेन निर्वृत्त औपशमिकः कर्मानुदयलक्षण इत्यर्थः । तथा क्षयाज्जातः क्षायिकोऽप्रतिपातिज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणः । तथा-क्षयाच्चोपशमाच्च जातः क्षायोपशमिको देशोदयोपशमलक्षणः । परिणामेन निर्वृत्तः पारिणामिको जीवाजीवभव्यत्वाऽऽदिलक्षणः। पञ्चानामपि भावानां द्विकाऽऽदिसंयोगान्निष्पन्नः सान्निपातिक इति । यदि वा-अध्यात्मन्यान्तरं चतुर्धा भावतथ्यं द्रष्टव्यम् । तद्यथा-ज्ञानदर्शनचारित्रविनयतथ्यमिति । तत्र ज्ञानतथ्यं मत्यादिकेन ज्ञानपञ्चकेन यथास्वमवितथो विषयोपलम्भः । दर्शनतथ्यं शङ्काऽऽद्यतिचाररहितं जीवाऽऽदितत्त्वश्रद्धानम् । चारित्रतथ्यं तु तपसि द्वादशविधे संयमे सप्तदशविधे सम्यगनुष्ठानम् । विनयतथ्यं, द्विचत्वारिंशद्भेदभिन्ने विनये ज्ञानदर्शनचारित्रतप उपचारिकरूपे यथायोगमनुष्ठानं, ज्ञानाऽऽदीनां तु वितथाऽसेवनेनाऽतथ्यमिति । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

तहक्कार-तथाकार-पुं० । तथाशब्देन तथेत्येवंभूतं पदमभिधीयते, तच्चैतस्य कारः करणम । पञ्चा० १२ विव० । गुरोः पार्श्वे वाक्यं श्रुत्वा गुरुं प्रति इदं कथनं-यद्भवद्भिरुक्तं तत्तथैव-तथाऽस्तु, इति करणं तथाकारः । उत्त० २६ अ० । गुर्वादिषु ब्रुवाणेषु यथाऽऽदिशत यूयं, तथैवेति भणनरूपे सामाचारीभेदे, वृ० १ उ० । तथाकरणं तथाकारः, स च सूत्रप्रश्नगोचरः । यथा भवद्भिरुक्तं तथेदमित्येवंस्वरूपे सामाचारीभेदे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । जीत० । उत्त० । स्था० ।

साम्प्रतं तथाकारो यस्य दीयते, तत्प्रतिपादनार्थमाह-

कप्पाकप्पे परिणि-ट्ठियस्स ठाणेसु पंचसु ठियस्स ।
संजमतवड्ढगस्स उ, अविगप्पेणं तहक्कारो ॥ १४ ॥

कल्पो विधिः, आचार इत्यर्थः। अकल्पश्च अविधिः। अथवा-कल्पो जिनकल्पस्थविरकल्पाऽऽदिः, अकल्पस्तु चरकाऽऽदिदीक्षा । अथवा-कल्प्यं ग्राह्यम्, अकल्प्यमितरत् । ततः समाहारद्वन्द्वात्कल्पाकल्पं, कल्प्याकल्प्यं वा । तत्र परिनिष्ठितस्य ज्ञाननिष्ठां प्राप्तस्य, अनेन च ज्ञानसंपदुक्ता । तथा तिष्ठन्ति मुमुक्षवो येषु तानि स्थानानि महाव्रतानि तेषु, पञ्चस्विति स्वरूपविशेषणम् । यतो न नान्यकादीनि भवन्ति, यत्राऽपि चत्वारि तान्युच्यन्ते तत्रापि वस्तुतः पञ्चेति । स्थितस्याऽऽश्रितस्य, अनेन च मूलगुणसंपदुक्ता । तथा-संयमः प्रत्युपेक्षोपेक्षाऽऽदिः, तथा-तपश्चा-

नशाना ऽऽदि,ताभ्यामाढ्यः परिपूर्णः,स एव संयमतपआढ्यकः, तस्य,अनेन चोत्तरगुणसंपत्तिरुक्ता । तुशब्द एवकारार्थः । तच्च किमित्याह--अविकल्पेन निर्विकल्पं तदीयवचनेऽवितथत्वाध्यवसायेन तथाकारं कुर्वीतेत्यर्थः । तथाकारो-यथा यूयं वदथ, तथैवैतदित्यर्थसंसूचकस्तथेतिशब्दप्रयोगः, कार्य इति गम्यमिति गाथाऽर्थः ॥ १४ ॥

अथ तथाकारस्यैव विषयाभिधानायाऽऽह-

वायणपडिसुणणाए, उवएसे सुत्तअत्थकहणाए ।
अवितहमेयं ति तहा, अविगप्पेणं तहक्कारो ॥ १५ ॥

वाचनायाः सूत्रदानस्य प्रतिश्रवणा श्रवणं वाचनाप्रतिश्रवणा, तस्यां, तथाकारः प्रयोक्तव्य इति योगः । इदमुक्तं भवति-वाचनां प्रयच्छति सति गुरौ सूत्रग्राहिणा तथाकारः कार्यः । तथोपदेशे सामान्येन सामाचारीप्रतिबद्धे । तथा सूत्रार्थकथनायां, व्याख्यान इत्यर्थः । अवितथं सत्यम्, एतद् यद्यूयं ब्रूथेति वचनपरः,तथेति समुच्चयार्थः; सूत्रार्थकथनापदस्याऽऽदौ द्रष्टव्यः । अविकल्पेन निःसंदेहेन सता तथाकारस्तथेतिशब्दप्रयोगः कार्यो भवतीति शेष इति गाथाऽर्थः ॥ १५ ॥

यः पुनरेवंविधो गुरुर्न भवति,तत्र को विधिरित्याह-

इयरम्मि विगप्पेणं, जं जुत्तिखमं तहिं ण सेसम्मि ।
संविग्गपक्खिए वा, गीए सव्वत्थ इयरे-णं ॥ १६ ॥

इतरस्मिन् कल्पाकल्पपरिनिष्ठिताऽऽदिविशेषणविशिष्टादन्यस्मिन् गुरौ प्रज्ञापयति सति विकल्पेन भजनया, तथाकारः कार्य इति प्रक्रमः । तामेव भजनां दर्शयति-यद्वस्तु युक्तिक्षमम् उपपत्तिसहं तेन प्रज्ञापितं, तस्मिन् वस्तुनि तथाकारो विधेयः, न शेषे अयुक्तिक्षमे । इहैव प्रकारान्तरमाह-संविग्नाः संवेगवन्तः सुसाधवः,तेषां पाक्षिकः पक्षवादी संविग्नपाक्षिकः । " सुद्धं सुसाहुधम्मं, कहेइ निंदइ य नियमायारं । सुतवस्सियाण पुरओ, हवइ य सव्वोमरायणिओ ॥ १ ॥ " इत्यादिलक्षणलक्षितः पार्श्वस्थाऽऽदिस्तस्मिन् । वाशब्दः प्रकारान्तरद्योतनार्थः । गीते-पदेऽपि पदसमुदायोपचाराद् गीतार्थे विषयभूते, तदन्यस्य स्वज्ञातत्वेन वचनवैतथ्यसंभवात् । सर्वत्र वस्तुनि युक्तिक्षमे तदक्षमे वा तेनोच्यमाने इतरेणोत्सर्गापेक्षयाऽन्येनापवादेनेत्यर्थः । अथवा-(इयरे) इतरस्मिन्नगीतार्थे, न नैव,तथाकारः कार्य इति प्रक्रम इति गाथाऽर्थः ॥ १६ ॥

अथ कल्पाकल्पपरिनिष्ठिताऽऽदिगुणे गुरावगीतार्थाऽऽदित्वेन संविग्नपाक्षिके चासंविग्नत्वेन वितथोपदेशसंभवात्तथाकारः कार्य इत्येतद् व्यययन्नाह-

संविग्गोऽणुवएसं, ण देइ दुब्भासियं कडुविवागं ।
जाणंतो तम्मि तहा, अतहक्कारो उ मिच्छत्तं ॥ १७ ॥

संविग्नो भवभीरुर्गुरुः, अनुपदेशम्, नञः कुत्सार्थत्वेन कुत्सितोपदेशमागमबाधितार्थानुशासनम्,न ददाति परस्मै न करोति, तद्दाने संविग्नत्वहानिप्रसङ्गात् । किंभूतः सन्नित्याह-दुर्भाषितमनागमिकार्थोपदेशं,कटुविपाकं दारुणफलं दुरन्तसंसाराऽऽवहं, मरीचिभवे महावीरस्येव आत्मनो ज्ञायमानः, को हि पश्यन्नेवात्मानं कूपे प्रक्षिपतीति, यस्मादेवं ततस्तस्मिन् संविग्ने कल्पाकल्पपरिनिष्ठिताऽऽदिगुणे तद्गुरौ गीतार्थे,संविग्नपाक्षिके च प्रज्ञापयति सति,तथेति निर्विकल्पम्, अतथाकारस्तथाकाराप्रयोगः । तुशब्द एवकारार्थः । तस्य चैवं प्रयोगः-मिथ्यात्वमेवासम्यग्दर्शनमेव, मिथ्यात्वहेतुकत्वात्तस्य, न हि मिथ्यात्वं विना निश्चितसूत्रप्ररूपकत्वेऽपि प्रज्ञापके तथाकारं न प्रयुङ्क्त इति गाथाऽर्थः ॥ १७ ॥ पञ्चा० १२ विव० ।

तहच्च-तथार्च-त्रि० । अवस्थितचित्तवृत्तिके, "जुद्धदाओ तहच्चाओ,जे धम्मट्ठं वियागरे ।" तथाभूता सम्यक्दर्शनप्राप्तियोग्यार्चा लेश्यान्तःपरिणतिरकृतधर्मोणामिति । यदि वा-अर्चा मनुष्यशरीरं,तदप्यकृतधर्मबीजानामार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तिसकलेन्द्रियसामग्र्यादिरूपं दुर्लभं भवति; जन्तूनां धर्मरूपमर्थं व्याकुर्वन्ति ये, धर्मप्रतिपत्तियोग्या इत्यर्थः । तेषां तथाभूतार्चा सुदुर्लभा भवति । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

तहणाण-तथाज्ञान-न० । यथा वस्तु तथा ज्ञानं यस्य तत्तथाज्ञानम् । सम्यग्दृष्टिजीवद्रव्ये, तस्यैवावितथज्ञानत्वात् । यथैव यद् वस्तु तथैव ज्ञानमवबोधः प्रतीतिर्यस्मिंस्तत्तथाज्ञानम् । घटाऽऽदिद्रव्ये, स्था० १० ठा० । यथा प्रष्टव्यीयार्थे प्रष्टव्यस्य ज्ञानं तथैव पृच्छकस्यापि ज्ञानं यत्र प्रश्ने स तथाज्ञानः । आत्मप्रश्ने, स च गौतमाऽऽदेर्यथा "केवइयकालं णं भंते ! चमरचंचारायहाणी विरहिया उववाएणमित्यादिरिति । " स्था० ९ ठा० ।

तहप्पओग-तथाप्रयोग-पुं० । तथाशब्दस्य प्रयोगे, " तह त्ति पओगो नाम जं-एवमेतं अवितहमेतं आहे सं तुज्झे वदह, इच्छितस्स अत्थस्स संपच्चयत्थं सविसए तह त्ति सद्दं पउंजंति । " आ० चू० १ अ० ।

तहप्पगार-तथाप्रकार-पुं० । पूर्वोक्तप्रकारे, आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । नि० चू० । एवंप्रकारे, औ० १ प्रति० (?) उ० । पूर्वोक्तस्वरूपे, कल्प० १ क्षण ।

तहय-तथाच-अव्य० । तथेति चिनोति च चिञ् चयने । पूर्वोक्तार्थदृढीकरणे, वाच० । समुच्चये, पञ्चा० २ विव० ।

तहरी-देशी-पङ्किलायां सुरायाम्, दे० ना० ५ वर्ग २ गाथा ।

तहल्लिया-देशी-गोवाटे, दे० ना० ५ वर्ग ८ गाथा ।

तहा-तथा-अव्य० । तेन प्रकारेण,पं० व० ४ द्वार । कल्प० । विशे० । तथाप्रकारे, वाच० । साम्ये, अभ्युपगमे, पृष्टप्रतिवाक्ये, समुच्चये, निश्चये च । वाच० । नं० । आनन्तर्ये, नं० । आ० म० । अवधिज्ञानेन सहास्य छद्मस्थावाऽऽदिभिः सादृश्यप्रदर्शने, आ० म० १ अ० १ खण्ड । समुच्चयनिर्देशावधारणसादृश्यप्रैष्येषु, दश० १ अ० । वाक्योपक्षेपे, स च वाक्यस्याऽऽदौ दृश्यः । पञ्चा० ६ विव० । प्रश्नानन्तरे, विशे० । यथाशब्देनानूद्यमानस्य विधेयत्वार्थे, तद्यथा-यथेदं तथेदम् । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । पूर्वोक्तार्थे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । तदाद्यवसानप्रकारत्वादुपदर्शनार्थे, आव० ४ अ० । दश० ।

तहां-तस्मात्-" सर्वाऽऽदेर्ङसेर्हां " ॥ ८ ॥ ४ । ३५५ ॥ इति अपभ्रंशे सर्वाऽऽदेरकारान्तात्परस्य ङसेर्हां इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद ।

तहाकप्प-तथाकल्प-त्रि० । तथाऽऽचारे, द्वा० ३ द्वा० ।

तहाकार-तथाकार-पुं० । तीर्थकरत्वं केवलज्ञानं च गते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

तहागय-तथागत-पुं० । तथा तेन यथावस्थितपदार्थोपलम्भा-ऽऽत्मकेन प्रकारेण गतं ज्ञानमेषामिति तथागताः । बृ० ३ उ० । तथाऽपुनरावृत्त्या गतास्तथागताः । सूत्र०१ श्रु०१५ अ०। अथवा-तथैवापुनरावृत्त्या गतं गमनं येषां ते तथागताः । यदि वा-यथैव ज्ञेयं तथैव गतं ज्ञानं येषां ते तथागताः । आचा० १ श्रु०३ अ०३ उ० । अथवा-तथागतानि यथावस्थितानि तथैवावितथं जानन्ति, न विभङ्गज्ञानिन इव विपरीतं पश्यन्ति । तेषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । देवत्वाऽऽदिप्रकारमापन्नेषु, भ० १७ श० २ उ०। यथोक्तानुष्ठायिषु (सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०) सिद्धेषु, सर्वज्ञेषु च । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

तहाजुत्त-तथायुक्त-त्रि० । सेवकगुणोपेततया कथिते, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

तहाभूय-तथाभूत-त्रि० । एवंप्रकारं प्राप्ते, " अह णं स होई उवसग्गो तो संति तहाभूएहिं ।" सूत्र० १ श्रु० ४ अ०२ उ० ।

तहारूव-तथारूप-त्रि० । तथा तत्प्रकारं रूपं स्वभावो नेपथ्या-ऽऽदिर्वा यस्य स तथारूपः । श्रामोचिते, स्था० ३ ठा० १ उ०। उचितस्वभावे, भ० २ श०५ उ० । भक्तिदानोचितपात्रे, भ० ५ श० ६ उ० । अविज्ञातमतविशेषे, भ० । भ० १५ श० ।

तहाविय-तथाविद्-पुं० । तथारूपमनुष्ठानं विदन्तीति तथाविदः । शिक्षिताऽऽचारकुशले, निपुणे, तद्विदि सर्वज्ञे, पुं० । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

तहाविह-तथाविध-त्रि० । तत्प्रकारे, " तं तहाविहं पेच्छइ ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । नि० चू० ।

तहाहि-तथाहि-अव्य० । निपातसमुदायः । वा० ३ अधि० । तथा च हि च द्वन्द्वः । निदर्शने, प्रसिद्धमेवेत्यर्थे, वाच० । उक्तस्योपदर्शने, वा० ३ अधि० । अने० ।

तहि-तत्र-अव्य० । " त्रपो हिहत्थाः " ॥ ८ । ४ । १६१ ॥ इति अपभ्रंशे त्रप्रत्ययस्यैते त्रय आदेशाः । प्रा० ४ पाद । तस्मिन्नित्यर्थे, वाच० । अं० । प्रश्न० ।

तहिय-तथाच-अव्य० । तथेति चिनोति-विकल्पयति पूर्वोक्तार्थदृढीकरणे, वाच० । उक्तप्रकारमापन्ने, मात्रयाऽप्यन्यूनाधिके, उत्त० ६ अ० । प्रश्न० ।

तथ्य-त्रि० । परमार्थभूते सत्ये, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

तहोववत्ति-तथोपपत्ति-स्त्री० । तथैव साध्यसंभवप्रकारेण हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः । अर्थात् सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः । यथा कृशानुमानयं पाकप्रदेशः, सत्येव कृशानुमत्त्वे धूमवत्त्वस्योपपत्तेः । हेतुप्रयोगान्तरे, रत्ना० ६ परि० ।

ता-तस्मात्-अव्य० । " तस्मात्ताः " ॥ ८ । ४ । २७८ ॥ इति शौरसेन्यां तस्माच्छब्दस्य ता इत्यादेशः । प्रा०४ पाद । पञ्चा० ।

तावत्-अव्य० । तत्परिमाणमस्य । लि० । " यावत्तावज्जीवितावर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे वः " ॥ ८ । १ । २७१ ॥ इति सस्वरस्य वकारस्य लोपः । प्रा० १ पाद । प्रस्तुतार्थप्रदर्शके, आ० म० १ अ० २ खण्ड । सूत्र० । तच्छब्दस्य प्रथमैकवचनेऽपि स्त्रियां 'ता' इति । अन्यमाभाष्युक्तेः "किं वयदोसमासि" ॥ ८ । ३ । ३३ ॥ इति डामि जयति । प्रा० ३ पाद ।

ताअ-तात-पुं० । तन-क्त-ईश्वरं च । वाच० । मागध्यां कृतं, प्राकृते मकारलोपः । प्रा० १ पाद । जनके, उत्त० १४ अ० । पुत्रे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । प्रश्न० । अनुकम्प्ये, पूज्ये च । त्रि० । वाच० ।

ताइ (य्) तापि (यि) न्-त्रि० । 'तय' गतौ णिनिप्रत्ययः । मोक्षं प्रति गमनशीले, सूत्र०२ श्रु०६ अ० । तायते रक्षति दुर्गतेरात्मानमेकेन्द्रियाऽऽदिप्राणिनो वाऽवश्यमिति तायी (?) । उत्त०८ अ० । तायः सुदृष्टमार्गोक्तिः, तद्वान् तायी । सुपरिज्ञातदेशनया विनेयपालयितारि, द्वा० २३ द्वा० । दश० । तपनं तापः, स विद्यते यस्यासौ तापी । तस्मिन्, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । आव० ।

त्रायिन्-त्रि० । मनोवाक्कायगुप्तिभिः कृतकारितानुमतिभिर्वाऽऽत्मानं त्रातुं शीलमस्येति त्रायी, जन्तूनां सदुपदेशदानतस्त्राणकरणशीले, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । आसन्नभव्यानां त्राणकारणे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । आत्मनः परेषां च त्राणशीले, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । विशिष्टोपदेशदानादपरेषां त्राणभूते, (सूत्र० १ श्रु० १ अ०) संसारसागरात्प्राणिपूणपालके, (पञ्चा० १६ विव० ।) धर्मकथाऽऽदिना संसारदुःखेभ्यस्त्राणकर्त्तरि, दश० ४ अ० ।

ताठा-दंष्ट्रा-स्त्री० । " चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ " ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इह कश्चिल्लाक्षणिकस्यापीत्युक्तेर्दाढा इत्यस्य स्थाने ताठा इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । दन्तभेदे, दन्तपाङ्क्तिद्वयप्रान्तस्थायां द्विगुणाकृतायां दन्तावली च । वाच० ।

ताडण-ताडन-न० । उरःशिरःकुट्टनकेशलुञ्चनाऽऽदिषु, आव० ४ अ० । गुणने, स्था० १ ठा० ।

ताडत्थ-ताटस्थ्य-न० । तटस्थत्वे, पार्श्ववर्तित्वे, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

ताडिअ-ताडयित्वा-अव्य० । ताडनं कृत्वेत्यर्थे, उत्त०१९ अ० ।

ताडिअय-देशी-रोदने, दे० ना० ४ वर्ग १० गाथा ।

ताडिज्जमाण-ताड्यमान-त्रि० । कुब्जाऽऽद्यभिघाताऽऽदिना ताडनां प्राप्यमाणे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

ताण-त्राण-त्रि० । शरणे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । सूत्र० । अष्ट० । विशे० । स्था० । अनर्थप्रतिघातहेतौ, कल्प० ३ क्षण । अनर्थप्रतिहनने, अर्थसंपादने च । न० । तं० ।

वित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नइ ।
एते मम तेसु वी अहं, नो ताणं सरणं न विज्जइ ॥१६॥

(वित्तमित्यादि) वित्तं-धनधान्यहिरण्याऽऽदि, पशवः-करितुरगगोमहिष्यादयः, ज्ञातयः-स्वजना मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदयः, तदेव वित्ताऽऽदिकं बालोऽज्ञः शरणं मन्यते । तदेव दर्शयति-ममैते वित्तपशुज्ञातयः परिभोगे उपयोक्ष्यन्ते । तेषु चार्जनपालनसंरक्षणाऽऽदिना शेषोपद्रवनिराकरणेन परिहारेणाऽहं भवामीत्येवं बालो मन्यते । न पुनर्जानीते-यदर्थं धनमिच्छति तच्छरीरमशाश्वतमिति । अपि च-" रिद्धी सहावतरला, रोगजराभंगुरं हयसरीरं । " तथा-" मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च । प्रतिजन्मनि वर्त्तन्ते, कस्य माता पिताऽपि वा ? ॥ १ ॥ एतदेवाऽऽह-नो नैव, वित्ताऽऽदिकं संसारे दु-

यमपि भावं भजति, नरकाऽऽदौ पतनो नाऽपि रागाऽऽदिमो-
हबलस्य कथञ्चिद्भञ्जनं विद्यते इति ॥ १६ ॥ सूत्र० १ श्रु० ५
अ० १ उ० ।

तान-पुं० । ततायां तन्त्र्याम, "ताणा एगूणपणासं ।" सप्त षड्-
जाऽऽदयः स्वराः प्रत्येकं सप्तभिस्तानैर्गीयन्त इत्येवमेकोनपञ्चा-
शत्तानाः तन्त्रीकायां वीणायां भवन्ति । अनु० ।

ताद-तात-पुं० । 'ताय' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

तादत्थिय-तादात्त्विक-त्रि० । यः किमप्यसंचिन्त्य उत्पन्नमर्थं
व्ययेति स तादात्त्विकः । अविचारेणार्थनाशके, ध० १ अधि० ।

तादत्थ-तादर्थ्य-न० । तदर्थभावे, आ० ।

ताम-तावत्-अव्य० । "यावत्तावतोर्वाऽऽदेर्म उं महिं" ॥८।४।४०६॥
इत्येते त्रय आदेशाः । ताम ताउं-तामहिं । प्रा० ४ पाद । साकल्ये,
अवधौ, माने, अवधारणे, प्रशंसायाम्, पक्षान्तरे, वाक्यभूषणे,
सद्यस्यर्थे च । तत्परिमाणवति, त्रि० । स्त्रियां ङीप् । तावती ।
वाच० ।

तामर-देशी-रम्ये, दे० ना० ५ वर्ग १० गाथा ।

तामरस-तामरस-न० । पद्मे, प्रज्ञा० १ पद । स्था० । कल्प० ।
ताम्रे, स्वर्णे, धुस्तूरे, द्वादशाक्षरपादके छन्दोभेदे च । वाच० ।
मुहूर्ते, दे० ना० ५ वर्ग १० गाथा ।

तामलित्ति-ताम्रलिप्ति-स्त्री० । जम्बूद्वीपे भारतवर्षे स्वनामख्या-
तायां नगर्याम, यत्र मौर्यपुत्र ईशानदेवेन्द्रजीवो गृहपतिरासी-
त् । भ० ३ श० १ उ० । वङ्गानां आर्यजनपदानां राजधान्याम,
प्रज्ञा० १ पद । प्रव० । सूत्र० । आचा० ।

तामलित्तिया-ताम्रलिप्तिका-स्त्री० । स्थविरात्गोदासान्निर्गत-
स्य गोदासगणस्य प्रथमशाखायाम, कल्प० ८ क्षण ।

तामली-तामली-पुं० । ताम्रलिप्तिनगरीवास्तव्ये ईशानदेवेन्द्र-
जीवे मौर्यपुत्रे गृहपतौ, भ० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे
वासे तामलित्ती नामं नयरी होत्था । वण्णओ । तत्थ णं
तामलित्तीए नयरीए तामली नामं मोरियपुत्ते गाहावई
होत्था । अड्ढे दित्ते० जाव बहुजणस्स अपरिभूए यावि
होत्था । तए णं तस्स मोरियपुत्तस्स तामलिस्स गाहावइस्स
अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं
जागरमाणस्स इमे एयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जि-
त्था अत्थि ता मे पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरिक्कंताणं सुभाणं
कल्लाणाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणफलवित्तिविसेसो,जेणाहं
हिरण्णेणं वड्ढामि, सुवण्णेणं वड्ढामि, धणेणं वड्ढामि, धन्नेणं
पुत्तेहिं य पसूहिं वड्ढामि, विउलधणकणगरयणमणि-
मोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणसंतसारसावएज्जेणं अईव
अईव अभिवड्ढामि, तं किं णं अहं पुरा पोराणाणं सुचि-
ण्णाणं० जाव कडाणं कम्माणं एगंतसो खयं उवेहमाणे
विहरामि, तं० जाव अहं हिरण्णेणं वड्ढामि० जाव अईव
अईव अभिवड्ढामि० जाव च मे मित्तनाइनियगसंबंधि-
परियणो आढाइ, परियाणाइ, सक्कारेइ, सम्माणेइ, कल्लाणं
मंगलं देवयं विणएणं चेइयं पज्जुवासेइ, ताव ता मे सयं कल्लं
पाउप्पभायाए रयणीए० जाव जलंते सयमेव दारुमयं पडि-
ग्गहं करेत्ता विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडा-
वेत्ता मित्तणाइनियगसयणसंबंधिपरियणं आमंतेत्ता तं मि-
त्तणाइनियगसयणसंबंधिपरियणं विउलेणं असणपाण-
खाइमसाइमेणं वत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेत्ता सम्मा-
णेत्ता तस्सेव मित्तणाइनियगसंबंधिपरियणस्स पुरओ
जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावित्ता तं मित्तनाइनियगसंबंधिपरियणं
जेट्ठपुत्तं च आपुच्छित्ता सयमेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय
मुंडे भवित्ता पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइत्तए । पव्वइए
वि य णं समाणे इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हिस्सा-
मि-कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं
तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभि-
मुहस्स आयावणभूमीए आयावेमाणस्स विहरित्तए. छट्ठस्स
वि य णं पारणयंसि आयावणभूमीओ पच्चोरुभित्ता सय-
मेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय तामलित्तीए नयरीए उच्च-
नीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए
अडेत्ता सुद्धोदणं पडिगहेत्ता तं तिसत्तखुत्तो उदएणं
पक्खालेत्ता तओ पच्छा आहारं आहारित्तए त्ति कट्टु एवं
संपेहेइ, संपेहेइत्ता कल्लं पाउप्पभायाए० जाव जलंते सयमेव
दारुमयं पडिग्गहं कारेइ, कारेइत्ता विउलं असणं पाणं
खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता तओ
पच्छा ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सु-
द्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिए अप्पमहग्घाभर-
णालंकियसरीरे भोयणवेलाए भोयणमंडवंसि सुहासण-
वरगए, तए णं मित्तणाइनियगसयणसंबंधिपरियणेणं सद्धिं
तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणे वीसा-
एमाणे परिभाएमाणे परिभुंजेमाणे विहरइ । जिमिय
भुत्तुत्तरागए वि य णं समाणे आयंते चोक्खे परमसुइभूए
तं मित्त० जाव परियणं विउलेणं वत्थगंधमल्लालंकारेण य
सक्कारेइ,सक्कारेइत्ता तस्सेव मित्तणाइ० जाव परियणस्स पु-
रओ जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेइ,ठावेइत्ता तं मित्तणाइ० जाव प-
रियणं जेट्ठपुत्तं च आपुच्छइ,आपुच्छइत्ता मुंडे भवित्ता पा-
णामाए पव्वज्जाए पव्वइए । पव्वइए वि य णं समाणे
इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ-कप्पइ मे जावज्जी-
वाए छट्ठं छट्ठेणं० जाव आहारित्तए त्ति कट्टु इमं एयारूवं
अभिग्गहं अभिगिण्हइ, अभिगिण्हइत्ता जावज्जीवाए छट्ठं
छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय

पगिज्झिय सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ, छट्ठस्स वि य णं पारणयंसि आयावणभूमीए पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता सयमेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय तामलित्तीए नयरीए उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडइ, अडइत्ता सुद्धोयणं पडिग्गहेइ, पडिग्गहेइत्ता तिसत्तखुत्तो उदएणं पक्खालेइ, पक्खालेइत्ता तओ पच्छा आहारं आहारेइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-पाणामाए पव्वज्जा ?। गोयमा ! पाणामाए णं पव्वज्जाए पव्वइए समाणे जं जत्थ पासइ, तं इंदं वा खंदं वा रुद्दं वा सिवं वा वेसमणं वा अज्जं वा कोट्टकिरियं वा रायं वा ०जाव सत्थवाहं वा काकं वा साणं वा पाणं वा उच्चं पासइ, उच्चं पणामं करेइ, नीयं पासइ, नीयं पणामं करेइ, जं जहा पासइ, तस्स तहा पणामं करेइ, से तेणट्ठेणं०जाव पव्वज्जा । तए णं से तामली मोरियपुत्ते तेणं उरालेणं विपुलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं बालतवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे ०जाव धमणिसंतए जाए यावि होत्था । तए णं तस्स तामलिस्स बालतवस्सिस्स अण्णया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अणिच्चजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए० जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं इमेणं उरालेणं विपुलेणं० जाव उदत्तेणं उत्तमेणं महाणुभागेणं तवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे० जाव धमणिसंतए जाए, तं अत्थि जा मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे ताव ता मे सेयं कल्लं० जाव जलंते तामलित्तीए नगरीए दिट्ठाभट्ठे य पासंडत्थे य गिहत्थे य पुव्वसंगतिए य पच्छासंगतिए य परियायसंगतिए य आपुच्छित्ता तामलित्तीए नयरीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छित्ता पाउग्गकुंडियमादीयं उवगरणं दारुमयं च पडिग्गहयं एगंते एडेत्ता तामलित्तीए नगरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए नियत्तणियमंडलं आलिहित्ता संलेहणाझूसणाझूसियस्स भत्तपाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहइत्ता कल्लं० जाव जलंते० जाव आपुच्छइ, आपुच्छइत्ता तामली एगंते एडेइ० जाव भत्तपाणप-
स[illegible]डियाइक्खिए पाओवगमणं निवन्ने । तेणं कालेणं तेणं
यावि [illegible]एणं बलिचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया
बहवे अ[illegible]होत्था । तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया
[illegible]सि ओहि[illegible]रकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं बालतव-
वेंति, सद्दावेंति[illegible] आहावंति, आहावंतित्ता अण्णमण्णं सद्दा-
बलिचंचा रायहाणि[illegible] त्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया !
[illegible]णं । अणिंदा अपुरोहिया, अम्हे णं देवाणुप्पिया ! इंदाहीणा इंदाहिट्ठिया इंदाहीणकज्जा, अयं च णं देवाणुप्पिया ! तामली बालतवस्सी तामलित्तीए नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए नियत्तनियमंडलं आलिहित्ता संलेहणाझूसणाझूसिए भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगमणं निवन्ने, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं तामलिं बालतवस्सिं बलिचंचाए रायहाणीए ठिइप्पकप्पं पकरावेत्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेंतित्ता बलिचंचाए रायहाणीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छंति, जेणेव रुयइंदे उप्पायपव्वए, तेणेव उवागच्छंति, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति ०जाव उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विकुव्वंति त्ति विकुव्वंतित्ता ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए जयणाए छेयाए सीहाए सिग्घाए दिव्वाए उद्धुयाए देवगईए तिरियं असंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे जेणेव तामलित्तीए णगरीए जेणेव तामली मोरियपुत्ते, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता तामलिस्स बालतवस्सिस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं ठिच्चा दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं बत्तीसइविहं नट्टविहिं उवदंसंति, उवदंसंतित्ता तामलिं बालतवस्सिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करंति, वंदंति, नमंसंति, नमंसंतित्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य देवाणुप्पिया ! वंदामो, नमंसामो० जाव पज्जुवासामो, अम्हाणं देवाणुप्पिया ! बलिचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया, अम्हे य णं देवाणुप्पिया ! इंदाहीणा इंदाहिट्ठिया इंदाहीणकज्जा, तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! बलिचंचारायहाणिं आढह, परियाणह, सुमरह, अट्ठं बंधेह, निदाणं पकरेह, ठिइप्पकप्पं पकरेह । तए णं तुब्भे कालमासे कालं किच्चा बलिचंचारायहाणीए उववज्जिस्सह, तए णं तुब्भे अम्हं इंदा भविस्सह, तए णं तुब्भे अम्हेहिं सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरिस्सह । तए णं से तामली बालतवस्सी तेहिं बलिचंचारायहाणिवत्थव्वेहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य एवं वुत्ते समाणे एयमट्ठं नो आढाइ, नो परियाणइ, तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं मोरियपुत्तं दोच्चं पि तच्चं पि तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेइत्ता० जाव अम्हं च णं देवाणुप्पिया ! बलिचंचा रायहाणी अणिंदा० जाव ठिइप्पकप्पं पकरेह०, जाव दोच्चं पि त-

वं पि एवं वुत्ते समाणे ०जाव तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिणा बालतवस्सिणा अणाढाइज्जमाणा अपरियाइज्जमाणा जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे कप्पे अणिंदे अपुरोहिए यावि होत्था । तए णं से तामली बालतवस्सी बहुपडिपुण्णाइं सट्ठिं वाससहस्साइं परियागं पाउणित्ता दो मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सवीसं भत्तसयं अणसणाए छेदित्ता कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे ईसाणवडिंसए विमाणे उववायसभाए देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरियं अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्तीए ओगाहणाए ईसाणे देविंदे विरहियकालसमयंसि ईसाणदेविंदत्ताए उववन्ने । तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया अहुणोववन्ने पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ । तं जहा—आहारपज्जत्तीए० जाव भासामणपज्जत्तीए । तए णं बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं बालतवस्सिं कालगयं जाणित्ता ईसाणे य कप्पे देविंदत्ताए उववन्नं पासित्ता आसुरुत्ता कुविआ चंडिकिया मिसिमिसेमाणा बलिचंचाए रायहाणीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छंति, निग्गच्छंतित्ता ताए उक्किट्ठाए०जाव जेणेव भारहे वासे जेणेव तामलित्ती नयरी जेणेव तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरए, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता वामे पाए सुंबेणं बंधंति, बंधंतित्ता तिक्खुत्तो मुहे उट्ठुहंति, उट्ठुहंतित्ता तामलित्तीए नयरीए सिंघाडगतियचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु आकड्ढविकड्ढिं करेमाणा महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयासी—से केणं भो तामली बालतवस्सी सयंगहियलिंगे पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए, केस णं से ईसाणे कप्पे ईसाणे देविंदे देवराया ति कट्टु तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरयं हीलेंति, निंदंति, खिंसंति, गरहंति, अवमन्नंति, तज्जिंति, तालिंति, परिवहेंति, पव्वहंति, आकड्ढविकड्ढिं करेंति, हीलेत्ता० जाव आकड्ढविकड्ढिं करेत्ता एगंते एडंति, एडंतित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । तए णं ते ईसाणकप्पवासी बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य बलिचंचारायहाणिवत्थव्वएहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरयं हीलिज्जमाणं निंदिज्जमाणं खिंसिज्जमाणं० जाव आकड्ढविकड्ढिं कीरमाणं पासंति, पासंतित्ता आसुरुत्ता० जाव मिसिमिसेमाणा जेणेव ईसाणे देविंदे देवराया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति, वद्धावेंतित्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य देवाणुप्पिये कालगए जाणित्ता ईसाणे य कप्पे इंदत्ताए उववन्ने पासेत्ता आसुरुत्ता० जाव एगंते एडंति, एडंतित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगए । तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया तेसिं ईसाणकप्पवासीणं बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे तत्थेव सयणिज्जवरगए तिवलियं भिउडिं णिडाले साहट्टु बलिचंचारायहाणिं अहे सपक्खिं सपडिदिसिं समभिलोएइ, तए णं सा बलिचंचा रायहाणी ईसाणेणं देविंदेणं देवरन्ना अहे सपक्खिं सपडिदिसिं समभिलोइया समाणी तेणं दिव्वप्पभावेणं इंगालब्भूया मुम्मुरभूया छारियब्भूया तत्तकवेल्लुयब्भूया तत्तासमजोइब्भूया जाया यावि होत्था । तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तं बलिचंचारायहाणिं इंगालब्भूयं ०जाव समजोइब्भूयं पासंति, पासंतित्ता भीया उत्तत्था तसिया उव्विग्गा संजायभया सव्वओ समंता आधावंति, परिधावंति, परिधावंतित्ता अन्नमन्नस्स कायं समतुरंगेमाणा चिट्ठंति । तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य ईसाणं देविंदं देवरायं परिकुवियं जाणित्ता ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो तं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं तेयलेस्सं असहमाणा सव्वे सपक्खिं सपडिदिसिं ठिच्चा करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति, वद्धावेंतित्ता एवं वयासी—अहो णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी० जाव अभिसमन्नागया, तं दिट्ठा णं देवाणुप्पियाणं दिव्वा देविड्ढी० जाव लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया खामेमो णं देवाणुप्पिया !, खमंतु मं देवाणुप्पिया !, खमंतुमरिहंतु णं देवाणुप्पिया !, णाइभुज्जो भुज्जो एवं करणयाए त्ति कट्टु एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामंति; तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया तेहिं बलिचंचारायहाणिवत्थव्वेहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामिए समाणे तं दिव्वं देविड्ढिं० जाव तेयलेस्सं पडिसाहरइ, तप्पभिइं च णं गोयमा ! ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य ईसाणं देविंदं देवरायं आढंति० जाव पज्जुवासंति; ईसाणस्स य देविंदस्स देवरण्णो आणाउववायवयणनिद्देसे चिट्ठंति ।

एवं खलु गोयमा ! ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा सा दिव्वा देविड्ढी० जाव अभिसमन्नागए। ईसाणस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! साइरेगाइं दोसागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। ईसाणे णं भंते ! देविंदे देवराया ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं० जाव कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिति ?। गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति० जाव अंतं काहिति। भ० ३ श० १ उ०।

तामस-तामस-पुं०। तमसि अन्धकारे अविद्यागुणे वा रतः अण्। सर्पे, उलूके, खले च। तमसा गुणभेदेन निर्वृत्तम्, अण्। साङ्ख्योक्ते तमोऽन्ये अहङ्कारेऽर्थे, त्रि०। तमसः राहोरपत्यम्, अण्। राहुसुतेषु ज्योतिषोक्तेषु केतुषु, तमसा व्याप्ता, अण्। ङीप्। रात्रौ, जटामांस्याम्, तमोऽधिकायां स्त्रियां च। वाच०। अज्ञानपरिणामे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

तामिस्स-तामिस्र-न०। तमिस्रमस्त्यस्मिन्, अण्। साङ्ख्योक्ते पञ्चधाविधे विपर्ययरूपाज्ञानभेदे, वाच०। व्या०। भोगेच्छाप्रतिघातजे क्रोधे, तमिस्रा चारिणि राक्षसे च। अन्धकारमये नरकभेदे, न०। वाच०।

तामोतर-दामोदर-पुं०। "चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ" ॥ ८। ४। ३२५॥ इति चूलिकायां पैशाच्यां च दकारस्य तकारः। प्रा० ४ पाद। "तदोस्तः" ॥ ८। ४। ३०७॥ इति पैशाच्यां दस्य तः। प्रा० ४ पाद। विष्णौ, वाच०।

ताय-तात-पुं०। पितरि, भ० १३ श० ६ उ०।

तायत्तीसग-त्रयस्त्रिंशत्-स्त्री०। त्र्यधिकायां त्रिंशति, भ० ३ श० १ उ०। प्रज्ञा०।

त्रायस्त्रिंश-पुं०। इन्द्राणां पूज्ये महत्तरकल्पे, स्था० २ ठा०। व्या०। कल्प०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे णामं णयरे होत्था। वण्णओ-दूइपलासए चेइए सामी समोसढे० जाव परिसा पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई णामं अणगारे० जाव उड्ढंजाणू० जाव विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी सामहत्थी णामं अणगारे पगइभद्दए जहा रोहे० जाव उड्ढंजाणू० जाव विहरइ। तए णं से सामहत्थी अणगारे जायसड्ढे० जाव उट्ठाए उट्ठेइत्ता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भगवं गोयमं तिक्खुत्तो० जाव पज्जुवासेमाणे एवं वयासी-अत्थि णं भंते ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तायत्तीसगा देवा ?। एवं खलु सामहत्थी ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे कायंदी णामं णयरी होत्था। वण्णओ। तत्थ णं कायंदीए णयरीए तायत्तीसं सहाया गाहावई समणोवासगा परिवसंति, अड्ढा० जाव अपरिभूया अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा, वण्णओ० जाव विहरंति। तए णं ते तायत्तीसं सहाया गाहावइसमणोवासगा पुव्विं उग्गा उग्गविहारी संविग्गा संविग्गविहारी भवित्ता तओ पच्छा पासत्था पासत्थविहारी ओसन्ना ओसन्नविहारी कुसीला कुसीलविहारी अहाछंदा अहाछंदविहारी बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसंति, झूसित्ता तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छेदेत्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो तायत्तीसगदेवत्ताए उववन्ना। जप्पभिइं च णं भंते ! कायंदगा तायत्तीसं सहाया समणोवासगा चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो तायत्तीसगदेवत्ताए उववन्ना, तप्पभिइं च णं भंते ! एवं वुच्चइ-चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तायत्तीसगा देवा ?। तत्थ णं भगवं गोयमे सामहत्थिणा अणगारेणं एवं वुत्ते समाणे संकिए कंखिए वितिगिंछिए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता सामहत्थिणा अणगारेणं सद्धिं जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी-अत्थि णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो तायत्तीसगा देवा ?। हंता अत्थि। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-एवं तं चेव सव्वं भाणियव्वं० जाव तप्पभिइं च णं एवं वुच्चइ-चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो तायत्तीसगा देवा ?। नो इणट्ठे समट्ठे। एवं खलु गोयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तायत्तीसगाणं देवाणं सासए नामधेज्जे पण्णत्ते; जं न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ० जाव णिच्चे अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए अन्ने चयंति, अण्णे उववज्जंति। अत्थि णं भंते ! बलिस्स वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो तायत्तीसगा देवा ?। हंता अत्थि। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-बलिस्स वइरोयणिंदस्स० जाव तायत्तीसगा देवा ?। एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे बिभेले णामे सन्निवेसे होत्था। वण्णओ। तत्थ णं बिभेले सन्निवेसे जहा चमरस्स० जाव उववण्णा। तप्पभिइं च णं भंते ! ते बिभेलगा तायत्तीसं सहाया गाहावई समणोवासगा बलिस्स वइरोयणिंदस्स सेसं तं चेव० जाव णिच्चे अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए अन्ने चयंति, अन्ने उववज्जंति। अत्थि णं भंते ! धरणस्स नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो तायत्तीसगा देवा ?। हंता अत्थि। से केणट्ठेणं० जाव तायत्तीसगा देवा ?। गोय-

मा ! धरणस्स नागकुमारिंदस्स नागकुमाररएणो तायत्तीसगाणं देवाणं सासए नामधेज्जे पएणत्ते । जं न कदाइ नासी० जाव अन्ने चयंति, अन्ने उववज्जंति । एवं भूयाणंदस्स वि, एवं० जाव महाघोसस्स वि । अत्थि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरएणो पुच्छा ? । हंता अत्थि । से केणट्ठेणं भंते ! ०जाव तायत्तीसगा देवा ?। एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वालाए णामं सन्निवेसे होत्था । वएणओ । तत्थ णं वालाए सन्निवेसे तायत्तीसं सहाया गाहावई समणोवासगा, जहा चमरस्स० जाव विहरंति । तए णं ते तायत्तीसं सहाया गाहावई समणोवासगा पुव्विं पि पच्छा वि उग्गा उग्गविहारी संविग्गा संविग्गविहारी बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति, पाउणंतित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छेदेंतित्ता आलोइयपडिकंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा० जाव उववन्ना । जप्पभिइं च णं भंते ! ते वालाए तायत्तीसं सहाया गाहावई समणोवासगा, सेसं जहा चमरस्स ०जाव अन्ने उववज्जंति । अत्थि णं भंते ! ईसाणस्स देविंदस्स देवरएणो एवं जहा सक्कस्स, णवरं चंपाए णयरीए० जाव उववन्ना । जप्पभिइं च णं भंते ! ते चंपिच्चा तायत्तीसं सहाया, सेसं तं चेव ०जाव अन्ने उववज्जंति । अत्थि णं भंते ! सणंकुमारस्स देविंदस्स देवरएणो पुच्छा ? । हंता अत्थि । से केणट्ठेणं ? । जहा धरणस्स तहेव, एवं० जाव पाणयस्स, एवं अच्चुयस्स ०जाव अन्ने उववज्जंति ।

(तेणमित्यादि) (तायत्तीसग त्ति) त्रयस्त्रिंशा मन्त्रिकल्पाः । (तायत्तीसं सहाया गाहावइ त्ति) त्रयस्त्रिंशत्परिमाणाः सहायाः परस्परेण साहाय्यकारिणो गृहपतयः कुटुम्बनायकाः (उग्ग त्ति) उग्रा उदात्ता भावतः (उग्गविहारि त्ति) उदात्ताऽऽचाराः सदनुष्ठानत्वात् (संविग्ग त्ति) संविग्ना मोक्षं प्रति प्रचलिताः, संसारभीरवो वा (संविग्गविहारि त्ति) संविग्नविहारः संविग्नानुष्ठानमस्ति येषां ते तथा । (पासत्थ त्ति) ज्ञानाऽऽदिबहिर्वर्तिनः (पासत्थविहारि त्ति) आकालं पार्श्वस्थसमाचाराः । (ओसन्न त्ति) अवसन्ना इव श्रान्ता इवावसन्ना आलस्यादनुष्ठानासम्यक्करणात् (ओसन्नविहारि त्ति) आजन्मशिथिलाचारा इत्यर्थः । (कुसील त्ति) ज्ञानाऽऽद्याचारविराधनात् । (कुसीलविहारि त्ति) आजन्माऽपि ज्ञानाऽऽद्याचारविराधनात् । (अहाछंद त्ति) यथाकथञ्चिन्नाऽऽगमपरतन्त्रतया छन्दोऽभिप्रायो बोधः प्रवचनार्थेषु येषां ते यथाच्छन्दाः । ते चैकदाऽपि भवन्तीत्यत आह-(अहाछंदविहारि त्ति) आजन्मापि यथाच्छन्दा एवेति । (तप्पभिइं च णं ति) यत्प्रभृति त्रयस्त्रिंशत्संख्योपेतास्ते श्रावकास्तत्रोत्पन्नास्तत्प्रभृति च पूर्वमिति । भ० १० श० ४ उ० ।

तायय-तातक-पुं० । स्वार्थे कन् । पितरि, उत्त० २ अ० ।

तार-तार-पुं० । स्वार्थे णिच्-अच् । प्रेरणे णिच् । करणाऽऽदौ वा घञ् । वानरभेदे, शुद्धमुक्तायां प्रणवे, देवीप्रणवे, ह्रीङ्कारे, वाच० । ज्ञा० । गीयते मूर्धानमभिघ्नन् स्वर उच्चैस्तरो भवति-स्थानकं च द्वितीयं तृतीयं वा समधिरोहति-इत्येवंरूपे शिरोजातध्वनौ, रा० । नक्षत्रे, नेत्रमध्यस्थकनीनिकायां च । न०। स्त्री० । रूप्ये, न० । अत्युच्चनादे, अत्युच्चे, निर्मले च । त्रि० । महाविद्याभेदे, वालिपत्न्यां, बृहस्पतिभार्यायां च । स्त्री० । वाच० ।

तारग-तारक-न० । तारयत्यगाधात् संसारपयोधेर्योगिनमित्यन्वर्थिकया संज्ञया तारकमुच्यते । विवेकजे ज्ञाने, द्वा० २६ द्वा० । कल्प० । रा० । स० । द्वितीये प्रतिवासुदेवे, पुं० । प्रव० २११ द्वार । ति० ।

तारगगह-तारकग्रह-पुं० । तारकाऽऽकारा ग्रहास्तारकग्रहाः । नवग्रहे, तत्र च चन्द्राऽऽदित्यराहूणां तारकाऽऽकारत्वादन्ये षट् तथोक्ताः । "छ तारगगहा पएणत्ता । तं जहा-सुक्के, बुधे, बहस्सई, अंगारए, सणिच्चरे, केऊ ।" (सुक्के त्ति) शुक्रः, (बहस्सइ त्ति) बृहस्पतिः । अङ्गारको मङ्गलः, (सणिच्चरे त्ति) शनैश्चर इति । स्था० ६ ठा० ।

तारगा-तारका-स्त्री० । पुण्यभद्रस्य यक्षेन्द्रस्य यक्षराजस्य तुर्यायामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । (अस्याः पूर्वोत्तरभवकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्र०भा० १७१ पृष्ठे उक्ता) अष्टाशीतिग्रहाणां, सर्वतारकाणां च मण्डलानि कति सन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-यथा चन्द्रसूर्ययोर्मण्डलानां संख्याऽऽदिविचारः शास्त्रे उपलभ्यते, न तथा परग्रहाणां, तथा तारकाणां मण्डलान्यवस्थितान्येव भवन्ति, न तु चन्द्रसूर्यमण्डलवदनियतानीति । २२३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । ज्योतिषि नक्षत्रे, अणु० ३ वर्ग १ अ० । सूत्र० । अश्विन्यादिनक्षत्रेषु, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

तारग्ग-ताराग्र-न० । तारापरिमाणे, चं० प्र० १ पाहु । सू० प्र० । पं० सं० । (तच्च ' णक्खत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७७१ पृष्ठे उक्तम्)

तारण-तारण-पुं० । तारयत्यनेन ल्युट् । मेलके, ६० वर्षमध्ये " शस्यं भवति सामान्यं, तारणे सुरवन्दिते " इत्युक्ते वत्सरभेदे च । तारयितरि, त्रि० । वाच० । तीर्थभेदे, तारणे विन्ध्यकोटिशिलायां श्रीअजितः । ती० ४३ कल्प ।

तारत्तर-देशी-मुहूर्ते, दे० ना० ५ वर्ग १० गाथा ।

तारय-तारक-त्रि० । तारगशब्दार्थे, द्वा० २६ द्वा० ।

तारवई-तारवती-स्त्री० । संसारपुरराजबन्धुमारस्य मङ्गारकतीभार्यायां जातायां दुहितरि, आ० चू० ४ अ० ।

तारा-तारा-स्त्री० । स्वनामख्यातायां सुग्रीवभार्यायाम्, तस्याश्च कृते संग्रामोऽभूत् । (प्रश्न०) तथाहि-किष्किन्धापुरे वालिसुग्रीवाभिधानावादित्यरजोऽभिधानस्य विद्याधरस्य सुतौ वानरविद्यावन्तौ विद्याधरौ बभूवतुः । तत्र-"आदिमाणेण य वाली, दाऊणिवरस्स तं नियं रज्जं । सिद्धो कयपव्वज्जो, सुग्गीवो कुणइ पुण रज्जं ॥ १ ॥" तस्य भार्या ताराऽभिधाना च । ततः काञ्चनगरााधिपः साहसगतिर्नामान्या-

तारापरिभोगलालसः सुग्रीवरूपं विधायान्तःपुरं प्रविवेश । तथा च चिह्नैः प्रत्यभिज्ञाय निवेदितो जाम्बवदादिभिर्मन्त्रिमण्डलस्य । तत्र सुग्रीवद्वयमुपलभ्य किमिदमाश्चर्यमिति विस्मयं जगाम । तत्र-"सिद्धा(?)किया य दोन्नि वि, पुरओ से मंतिमण्डलस्सेण । जुज्झंति मच्छरेण य, वलिनो एस अलियसुग्गीवो ॥ १ ॥" ततश्चासौ सत्यसुग्रीवो हनुमदभिधानस्य महाविद्याधरराजस्य गत्वा निवेदयति स्म । स त्वागत्य तयोर्विशेषमजानन्-कृतोपकारः स्वपुरमगमत् । ततश्च लक्ष्मणविनाशितखरदूषणसंबन्धिनि पातालल‍ङ्कापुरे राज्यावस्थं राममेवमालोक्य शरणं प्रपन्नः । ततस्तेन सह गतः सलक्ष्मणो रामः किष्किन्धापुरे स्थितो बहिः । कृतश्च सुग्रीवेण बाहुशब्दः, तमुपश्रुत्य समागतोऽलीकसुग्रीवो रथाधिरूढो रणरसिकः सन् । तयोर्विशेषमजानन् तद्बलं च रामश्च स्थित उदासीनः । कदर्थितः सुग्रीव इतरेण । रामस्य गत्वा निवेदितं सुग्रीवेण-देव ! तव पश्यतोऽप्यहं कदर्थितः । तेन रामेणोक्तम्-कृतचिह्नः पुनर्युद्ध्यस्व । ततोऽसौ पुनर्युद्ध्यमानो रामेण शरप्रहारेण पञ्चत्वमापादितः । सुग्रीवश्च तारया सह भोगान् बुभुजे । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । दर्श० । ज्योतिष्कभेदे, स्था० ५ ठा० १ उ० । स० । ज्योतिर्विमानरूपे, कृत्तिकाऽऽदिषु च नक्षत्रेषु, (ताराप्रमाणं 'णक्खत्त' शब्दे तृतीयभागे १७७१ पृष्ठे, 'चंद' शब्दे चाऽस्मिन्नेव भागे १०६४ पृष्ठे उक्तम्)

"छ प्पंच तिन्नि एगं, चउ तिग रस वेय जुयल जुयलं च ।
इंदिय एगं एगं, विसयग्गि छ समुद् वारसगं ॥ १ ॥
चउरो तिय तिय पंच य, सत्त वे वं भवे तिया तिन्नि ।
रिक्खे तारपमाणं, जइ निहितुल्लं इयं कज्जं ॥ २ ॥" इति ।

इह चैकस्थानकानुरोधान्नक्षत्रत्रयस्य ताराप्रमाणमुक्तं, शेषनक्षत्राणां तु प्रायोऽप्येतनाध्ययनेषु तदुच्यति, यस्तु कश्चिदिमं(?) ... हस्तताराप्रमाणस्य तथाविधप्रयोजनेषु तिथिविशेषस्य नक्षत्रविशेषयुक्तस्याशुभत्वसूचनार्थत्वेनोक्तगाथयोर्मतान्तरभूतत्वान्न बाधक इति । स्था० ६ ठा० । "तारारूवं चलेज्जा ।" स्था० ३ ठा० १ उ० । अश्विन्यादिनक्षत्रेषु, सूत्र० नक्षत्रे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

तिहिं ठाणेहिं ताराख्वे चलेज्जा-विकुव्वमाणे वा, परियारेमाणे वा, ठाणाओ वा ठाणं संकममाणे ताराख्वे चलेज्जा ॥

(तिहिं इत्यादि) (ताराख्वे त्ति) तारकमात्रम्, (चलेज्जा) स्वस्थानं त्यजेत्, वैक्रियं कुर्वन्वा (परिचारेमाणे वा) मैथुनार्थं संरम्भयुक्तमित्यर्थः । स्थानकादिकस्मात् स्थानान्तरं संक्रामद् गच्छादित्यर्थः । यथा धातकीखण्डाऽऽदि मेरुं परिहरादित्यर्थः । अथवा कस्यचिन्महर्द्धिकदेवाऽऽदौ चमरवैक्रियाऽऽदि कुर्वति सति तन्मार्गदानार्थं चलेदिति । उक्तञ्च-"तत्थ णं जे से वाघाइए अंतरे से जहन्नेणं दोन्नि छावट्ठिजोयणसए, उक्कोसेणं बारसजोयणसहस्साइं ।" इति । तत्र व्याघातिकमन्तरं महर्द्धिकदेवस्य मार्गदानादिति । स्था० ३ ठा० १ उ० । परशुराममारितस्य कार्तवीर्यस्य भार्यायामष्टमचक्रवर्तिनः सुभूमस्य मातरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । स० । आव० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरे रक्तानदीमभ्यनुगतायां महानद्याम्, स्था० १० ठा० । योगदृष्टिभेदे, द्वा० ।

तारायां तु मनाक् स्पष्टं, दर्शनं नियमाः शुभाः ।
अनुद्वेगो हिताऽऽरम्भे, जिज्ञासा तत्त्वगोचरा ॥ १ ॥

(तारायामिति) तारायां पुनर्दृष्टौ मनागीषत् स्पष्टं मित्रापेक्षया दर्शनं शुभाः प्रशस्ता नियमा वक्ष्यमाणा इच्छाऽऽदिरूपाः । तथा-हिताऽऽरम्भे पारलौकिकप्रशस्तानुष्ठानप्रवृत्तिलक्षणेऽनुद्वेगः । तथा-तत्त्वगोचरा तत्त्वविषया, जिज्ञासा ज्ञातुमिच्छा । अद्वेषत एव तत्प्रतिपत्त्यानुगुण्यात् ॥ १ ॥

नियमाः शौचसन्तोषौ, स्वाध्यायतपसी अपि ।
देवताप्रणिधानं च, योगाऽऽचार्यैरुदाहृताः ॥ २ ॥

(नियमा इति) शौचं शुचित्वं, तद् द्विविधम्-बाह्यम्, आभ्यन्तरं च । बाह्यं मृज्जलाऽऽदिभिः कायप्रक्षालनम्, आभ्यन्तरं मैत्र्याऽऽदिभिश्चित्तमलप्रक्षालनम् । सन्तोषः सन्तुष्टिः, स्वाध्यायः प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जपः, तपः कृच्छ्रचान्द्रायणाऽऽदि, देवताप्रणिधानमीश्वरप्रणिधानम्-सर्वक्रियाणां फलनिरपेक्षतयेश्वरसमर्पणलक्षणम् । एते योगाऽऽचार्यैः पतञ्जल्यादिभिर्नियमा उदाहृताः । यदुक्तम्-"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।" (२-३२) इति ॥ २ ॥

शौचभावनया स्वाङ्ग-जुगुप्साऽन्यैरसङ्गमः ।
सत्त्वशुद्धिः सौमनस्यै-काग्र्याऽक्षजययोग्यताः ॥ ३ ॥

(शौचेति) शौचस्य भावनया स्वाङ्गस्य स्वकायस्य कारणरूपपर्यालोचनद्वारेण जुगुप्सा घृणा भवति, "अशुचिरयं कायो नात्राऽऽग्रहः कर्तव्यः ।" इति । तथा चान्यैः कायवद्भिरसङ्गमस्तत्संपर्कपरिवर्जनमित्यर्थः । यः किल स्वयमेव कायं जुगुप्सते, तत्तदवद्यदर्शनात्, स कथं परकीयैस्तथाभूतैः कायैः संसर्गमनुभवति ? । तदुक्तम्-"शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।"(२-४०) इति । तथा सत्त्वस्य प्रकाशसुखाऽऽत्मकस्य, शुद्धी रजस्तमोभ्यामनभिभवः । सौमनस्यं खेदाननुभवेन मानसी प्रीतिरैकाग्र्यं नियते विषये चेतसः स्थैर्यम्, अक्षाणामिन्द्रियाणां जयो विषयपराङ्मुखानां स्वात्मन्यवस्थानं, योग्यता चात्मदर्शने विवेकख्यातिरूपे समर्थत्वम् । एतावन्ति फलानि शौचभावनयैव प्रभवन्ति । तदुक्तम्-"सुसत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयाऽऽत्मदर्शनयोग्यत्वानि चेति ।" ([illegible]) ॥ ३ ॥

संतोषादुत्तमं सौख्यं, स्वाध्यायाद्देवदर्शनम् ।
तपसोऽङ्गाक्षयोः सिद्धिः, समाधिः प्रणिधानतः ॥ ४ ॥

(संतोषादिति) संतोषात् स्वभ्यस्ताद् योगिन उत्तममतिशयितं सौख्यं भवति, यस्य बाह्येन्द्रियप्रभवं सुखं शतांशेनापि न समम् । तदाह-"संतोषादनुत्तमः सुखलाभः ।" (२४२) स्वाध्यायात् स्वभ्यस्तादिष्टदर्शनं जप्यमानमन्त्राभिप्रेतदेवतादर्शनं भवति । तदाह-"स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः"(२-४४) तपसः स्वभ्यस्तात् क्लेशाऽऽद्यशुचिक्षयद्वाराऽङ्गाक्षयोः कायेन्द्रिययोः सिद्धिः, यथेच्छमणुत्वमहत्त्वाऽऽदिप्राप्तिसूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टदर्शनसामर्थ्यलक्षणोत्कर्षः स्यात् । यथोक्तम्-"कायेन्द्रियसिद्धिरशुचिक्षयात् तपसः ।" (२-४३) । प्रणिधानात् ईश्वरप्रणिधानात् समाधिः स्यात्, ईश्वरभक्त्या प्रसन्नो हीश्वरोऽन्तरायरूपान् क्लेशान् परिहृत्य समाधिमुद्बोधयतीति । यथोक्तम्-"समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानादिति ।"(२-४५) तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानां त्रयाणामपि च शोधनाध्यवसायलक्षणत्वेन क्लेशकार्यप्रतिबन्धद्वारा समाध्यनुकूलत्वमेव श्रूयते । यथोक्तम्-"तपः

स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः" (२-१) "समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्चेति।" (२-२) ॥ ४ ॥

विज्ञाय नियमानेता-नेवं योगोपकारिणः ।
अत्रैतेषु रतो दृष्टौ, भवेदिच्छाऽऽदिकेषु हि ॥ ५ ॥

(विज्ञायेति) एतान् शौचाऽऽदीन्नियमान् एवं स्वाङ्गजुगुप्साऽऽदिसाधनत्वेन योगोपकारिणः समाधिनिमित्तान् विज्ञाय । अत्र तारायां दृष्टावेतेषु इच्छाऽऽदिकेषु हि नियमेषु रतो भवेत्, तथाज्ञानस्य तथारुचिहेतुत्वात् । तदत्र काचित् प्रतिपत्तिः प्रदर्शिता ॥ ५ ॥

भवत्यस्यामविच्छिन्ना, प्रीतिर्योगकथासु च ।
यथाशक्त्युपचारश्च, बहुमानश्च योगिषु ॥ ६ ॥

(भवतीति) अस्यां दृष्टावविच्छिन्ना भावप्रतिबन्धसारतया विच्छेदरहिता, योगकथासु प्रीतिर्भवति, योगिषु भावयोगिषु, यथाशक्ति स्वशक्त्यौचित्येनोपचारश्च ग्रासाऽऽदिसंपादनेन, बहुमानश्चाभ्युत्थानगुणगानाऽऽदिना । अयं च गुरूपकृतपातपुण्यविपाकाद् योगवृद्धिलाभान्तराशिष्टसंमतत्वक्षुद्रोपद्रवहान्यादिफल इति ध्येयम् ॥ ६ ॥

भयं न भवजं तीव्रं, हीयते नोचिता क्रिया ।
न चानाभोगतोऽपि स्या-दत्यन्तानुचितक्रिया ॥ ७ ॥

(भयमिति) भवजं संसारोत्पन्नं तीव्रं भयं न भवति, तथा-अशुभाऽप्रवृत्तेरुचिता क्रिया क्वचिदपि कार्ये न हीयते, सर्वत्रैव धर्माऽऽदरात् । न चानाभोगतोऽप्यज्ञानादप्यत्यन्तानुचिता क्रिया साधुजननिन्दाऽऽदिका स्यात् ॥ ७ ॥

स्वकृत्ये विकले त्रासो, जिज्ञासा सस्पृहाऽधिके ।
दुःखोच्छेदार्थिनां चित्रे, कथंताधीः परिश्रमे ॥ ८ ॥

(स्वकृत्य इति) स्वकृत्ये स्वाचारे कायोत्सर्गकरणाऽऽदौ, विकले विधिहीने, त्रासो "हा! विराधकोऽहम्" इत्याशयलक्षणः, अधिके स्वभूमिकापेक्षयोत्कृष्टे आचार्याऽऽदिकृत्ये, जिज्ञासा-कथमेतदेवं स्यात् ?, इति सस्पृहाऽभिलाषसहिता । दुःखोच्छेदार्थिनां संसारक्लेशजिहासूनाम्, चित्रे नानाविधे, परिश्रमे तत्तन्नीतिप्रसिद्धक्रियायोगे, कथंताधीः कथंभावबुद्धिः । कथं नानाविधा मुमुक्षुप्रवृत्तिः कार्त्स्न्येन ज्ञातुं शक्यत इति । तदाह-"दुःखरूपो भवः सर्वं, उच्छेदोऽस्य कुतः कथम् ?। चित्रा सतां प्रवृत्तिश्च, सा शेषा ज्ञायते कथम् ? ॥ १ ॥" ॥ ८ ॥

नास्माकं महती प्रज्ञा, सुमहान् शास्त्रविस्तरः ।
शिष्टाः प्रमाणमिह त-दित्यस्यां मन्यते सदा ॥ ९ ॥

(नेति) नास्माकं महती प्रज्ञाऽविसंवादिनी बुद्धिः, स्वप्रज्ञाकल्पिते विसंवाददर्शनात् । तथा-सुमहानपारः शास्त्रस्य विस्तरः, तत्तस्मात् शिष्टाः साधुजनसंमताः प्रमाणमिह प्रस्तुतव्यतिकरे, यत्तैराचरितं तदेव यथाशक्ति सामान्येन कर्तुं युज्यत इत्यर्थः । इत्येतदस्यां दृष्टौ, मन्यते सदा निरन्तरम् ॥ ९ ॥ द्वा० २२ द्वा० ।

ताराचंद-ताराचन्द्र-पुं० । श्रावस्तीराजराजकुमारे, ध० र० ।

तत्कथा चैवम्-

अत्थि पुरी सावत्थी, नेवऽत्थि इहं पुरी सम सरिच्छा ।
जिणनिहाणियभयवल्लभ-च्छलेण इय कहइ आ निच्चं ॥ १ ॥
तत्थ य पणमिरनरवर-वररयणपहापहासिकमकमलो ।
आइवराहो नामे-ण पत्थिवो अत्थि सुपसिद्धो ॥ २ ॥
ताराचंदो तस्सा-सि नंदणो नंदणो गुणतरूणं ।
वररायलक्खणधरो, रूवेण विजियरइनाहो ॥ ३ ॥
सो बालकालओ वि हु, पव्वज्जागहणबद्धपरिणामो ।
हयगयधणसयणाऽऽइसु, चिट्ठइ पडिबंधपरिमुक्को ॥ ४ ॥
न कुणइ जलाइकेलिं, न य दूसइ कं पि फरुसभासाए ।
न हसइ न चेव विलवइ, न य वाहइ पवरकरितुरगे ॥ ५ ॥
सह पंसुकीलिएहि वि, मित्तेहि समं रमेइ न कया वि ।
मज्जालंकारविले-वणाऽऽइववहारं णो कुणइ ॥ ६ ॥
अइसयविसयविरत्तं, कया वि कुमरं निएवि नरनाहो ।
तम्मणवामोहकए, जुवरायपए तयं ठवइ ॥ ७ ॥
नियपुत्तरज्जकिच्चं, चिंततीए सवत्तिजणणीए ।
हयणत्थं तस्स रहे, भक्खजुयं कम्मणं दिन्नं ॥ ८ ॥
तो तस्स जायमंगं, विहुरमसारं दुगुंछणिज्जं च ।
तयणु घणसोगभरिओ, कुमरो इय चिंतए चित्ते ॥ ९ ॥
रोगभरविहुरियाणं, अधणाणं सयणपरिभवहयाणं ।
जुज्जइ मरणं देसं-तरे व गमणं सुपुरिसाणं ॥ १० ॥
ता मह खणं पि न खमं, विणट्ठदेहस्स निवसिउं इत्थ ।
निच्चं दुज्जणकरअं-गुलीहि दंसिज्जमाणस्स ॥ ११ ॥
इय चिंतिऊण सहियं, अवगणिउं परियणं स रयणीए ।
नीहरिऊ गेहाओ, पुव्वदिसाभिमुहमुहो चलिओ ॥ १२ ॥
मंदु व्व मंदमंदं, सो गच्छंतो कमेण विमणमणो ।
संमेयगिरिसमीवे, पत्तो एगम्मि नयरम्मि ॥ १३ ॥
गयणऽग्गलग्गअइच्चं-गसिंगपब्भारवद्धहिसिपसरं ।
तत्तो संमेयगिरिं, सणियं सणियं स आरूढो ॥ १४ ॥
विहियकरचरणसुद्धी, सरसाओ गहिय सरससरसिरुहे ।
अजियाइजिणिंदे पू-इऊण भत्तीइ इय थुणइ ॥ १५ ॥
जय अजियनाह ! अइसयसणाह !,
जय संभव ! समियभवऽग्गिदाह ! ।
अभिनंदण ! नंदियभवियनियर !,
मह सुमइं सुमइजिणेस ! वियर ॥ १६ ॥
जय पहु ! पउमप्पह ! अरुणकंति !,
जय देव ! सुपास ! पयासकित्ति ! ।
चंदप्पह ! चंदसुकंतदंत !,
देवाहिदेव ! जय पुप्फदंत ! ॥ १७ ॥
जय सीयल ! सीलियसुद्धचरण !,
सिज्जंस ! सुरासुरपणयचरण ! ।
जय विमल ! विहियभवकूरियदाह !,
जय देव ! अणंत ! अणंतनाण ! ॥ १८ ॥
जय धम्म ! पयासियसुद्धधम्म !,
सिरिसंति ! विहियजयसंतिकम्म ! ।
जय कुंथु ! पमंथियमोहमल्ल !,
अरनाह ! पणासियसयलसल्ल ! ॥ १९ ॥
जय मल्लि ! मलियरागारिवार !,
मुणिसुव्वय ! सुव्वयभरणसार ! ।
जय जय नमि ! नमियसुरिंदवग्ग !,
सिरिपास ! पयासियमुक्खमग्ग ! ॥ २० ॥
इय थुणिय जिणेसर नमिरसुरेसर,
भत्तिब्भरनिब्भरमणेण ।
तुट्ठउ नियतंदेण बहुपुलइयतणुं,

जा पिच्छइ दसदिसि काणिण ॥ २१ ॥
ता ससहरकरसुंदर-पसरंतमहंतकंतिदिप्पंतं ।
ईसिं ओणमियतणुं, चरणभरेणं व आकंतं ॥ २२ ॥
हिट्ठामुहसंठियसु-प्पइट्ठचक्कमहमकरउज्जूहिं ।
नरयाऽवडणनिवारियजं-तुजायमागरिसयंतं व ॥ २३ ॥
कणयाचलनिम्मलचल-णंगुलीविमलपहमहमिसेण ।
फुडपयडंतं पि व जं-तिपमुहदसविहसमणधम्मं ॥ २४ ॥
गिरिकंदरगयमुत्त-मगसंठियं सो निए वि मुणिमेगं ।
परमप्पमोयकलिओ, पत्तो मुणिवरसमीवम्मि ॥ २५ ॥
तो कढिणीरनिहिणो, जियसुरतरुकामधेणुमाहप्पं ।
मुणिणो से पयजुयलं, सिरसा तुट्ठो परामुसइ ॥ २६ ॥
अह मुणिमाहप्पेणं, तक्कालं चिय पणट्ठ व्विय रोगो ।
ताराचंदो जाओ, अब्भहियसुरूवकंतधरो ॥ २७ ॥
तं मुणिणो माहप्पं, जा चिंतइ दट्ठु विम्हिओ कुमरो ।
ता विज्जाहरजुयलं, गयणतलाओ समोसरियं ॥ २८ ॥
हरिसवसवियसियऽच्छं, पणमिय चलणुप्पलं व से मुणिणो ।
अगणियगुणगणममलं, थोउं निसन्नं महीपीढे ॥ २९ ॥
कुमरेण तओ भणियं, कत्तो तुम्हाण इह समागमणं ? ।
केण य कज्जेण तओ, वुत्तं विज्जाहरेण इमं ॥ ३० ॥
वेयड्ढगिरिवराओ, मुणिमेयं नंतु वयमिह पत्ता ।
कुमरेणुत्तं को ए-स मुणिवरो आह इय खयरो ॥ ३१ ॥
आसी इह वेयड्ढे, राया वरखयरविसरनमियकमो ।
मणवाहणु त्ति नामे-ण नामियासेसरिउचक्को ॥ ३२ ॥
भवविरत्तो जम्ममरण-रोगकारणयभीमभवभीओ ।
सो सुचिरप्पवढो मो-ह वल्लिमुल्लूरिय खणेण ॥ ३३ ॥
अरवीवरं व चइउं, रज्जं सज्जो गहेवि पव्वज्जं ।
अणवरय मासखमणे, करेइ सो एस मुणिवसहो ॥ ३४ ॥
इय पजंपिय ते खयरा, मुणिं च नमिउं गया सठाणम्मि ।
हरिसियहियओ कुमरो, भत्तीए इय मुणिं थुणइ ॥ ३५ ॥
जय जय मुणिंद ! खयरिं-दविंदवंदियपयारविंदजुग ! ।
भवदुहदुयवहसंत-त्तसत्तपीऊसवरिससम ! ॥ ३६ ॥
निज्जियतिहुयणजणमयण-सुहडभडवायभंजणपवीर ! ।
अइउग्गरोगभरस-प्पदप्पनिट्ठवणवरगरुड ! ॥ ३७ ॥
एवं थुणिय मुणिंदं, जा किंचि वि विन्नविस्सए कुमरो ।
ता उस्सग्गं पारे-वि मुणिवरो गयणमुप्पइओ ॥ ३८ ॥
तो विम्हइओ कुमरो, नमिय जिणे गिरिवराउ ओयरिओ ।
गच्छंतो य कमेणं, रयणउरं नयरमणुपत्तो ॥ ३९ ॥
तत्थ य चिरकालपरूढ-गाढपणएण बालमित्तेण ।
कुरुचंदेण स दिट्ठो, झत्ति त्ति तह पच्चभिन्नाओ ॥ ४० ॥
आलिंगिऊण गाढं, ससंभमं पुच्छिओ इमो तेण ।
अच्छरियमिणं कत्तो, वयंस ! तुह इत्थ आगमणं ? ॥ ४१ ॥
कत्थ व इत्तियकालं, सावत्थीओ विणिक्खमित्ता णं ।
भमिओ सि कह व संपइ, पुणो नवंगो तुमं जाओ ॥ ४२ ॥
ताराचंदेण तओ, सावत्थीनिग्गमाउ आरब्भ ।
सप्पुरओ परिकहिओ, सव्वो वि हु निययवुत्तंतो ॥ ४३ ॥
कुमरेण वि तो पुट्ठं, कहेसु कुरुचंद ! मित्त ! नियवत्तं ।
किं इत्थ तुहाऽऽगमणं, गमणं च पुणो कहिं होहि ! ॥ ४४ ॥
कह वा ताओ निवसइ, अवि कुसलं सयलरायचक्कस्स ।
सावत्थी सुत्था सा, सगामपुरजणवया भणियं ? ॥ ४५ ॥
कुरुचंदेणं भणियं, रायाऽऽएसेण इत्थ रयणपुरं ।
अहमागओऽम्हि संपइ, सावत्थीए गमिस्सामि ॥ ४६ ॥
कुसलं च रायचक्क-स्स तह य नयरीइ जणवयजुयाए ।
तुह दुसहविरहदुहियं, इक्कं मुत्तुं नवरि निवइं ॥ ४७ ॥
जप्पभिइ तं न दिट्ठो, तप्पभिइ निवेण पेसिया पुरिसा ।
तुज्झ पउत्तिनिमित्तं, सव्वत्थ न चेव तं लद्धो ॥ ४८ ॥
तो रयणपुरागमणं, जायं मे बहुफलं महाभाग ! ।
जं लद्धो तुममिमिणा, पुण्णेहि अतक्कियागमणो ॥ ४९ ॥
तो पसिय लहुं नरवर-नंदण ! नियदंसणामयरसेण ।
निव्वावसु पिउहिययं, दुस्सहविरहदवतवतावियं ॥ ५० ॥
इय सप्पणयं मित्ते-ण पत्थिओ निवसुओ समं तेण ।
पिउकारियरइसोहं, सावत्थिं नयरिमणुपत्तो ॥ ५१ ॥
पणओ य जणयचलणे, समयम्मि निवेण पुच्छिओ कुमरो ।
मूला आरब्भ नियं, वुत्तंतं जाव साहेइ ॥ ५२ ॥
ता विजयसेणसूरी, समोसढो तत्थ भूरिपरिवारो ।
तव्वंदणवत्तियाए, कुमारजुत्तो निवो पत्तो ॥ ५३ ॥
नमिय मुणिंदं उचिय-ट्ठाणासीणे निवम्मि कहइ गुरू ।
मंथिज्जमाणजलनिहि-उद्दामसरेण धम्मकहं ॥ ५४ ॥
इह जरजंमणसलिलं, बहुमच्छरमच्छकच्छभाऽऽइन्नं ।
कुलसिरकोववडवा-हुयवहजालोलिदुप्पिच्छं ॥ ५५ ॥
माणगिरिदुग्गमतरं, मायावल्लीवियाणअइगुविलं ।
अक्खोहलोहपाया-लपरिगयं मोहआवत्तं ॥ ५६ ॥
अन्नाणपवणपिल्लियसं-जोगविओगरंगिरतरंगं ।
जइ भवजलनिहिमेयं, तरिउं इच्छेह भवियजणा ! ॥ ५७ ॥
ता सद्दंसणदढगा-ढबंधणं सुद्धभावगुरुफलहं ।
उद्धुरसंवरसंरु-द्धसयलछिद्दं अइमहग्घं ॥ ५८ ॥
वेरग्गमग्गलग्गं, दुसहतवपवणजणियगुरुवेगं ।
सन्नाणकन्नधारं, सरेह चारित्तवरपोयं ॥ ५९ ॥
इय सुणिय निवो निरव-ज्जचरणगहणुज्जुओ भणइ सूरिं ।
काऊण रज्जसुत्थं, पहु ! तुह पासे गहिमि वयं ॥ ६० ॥
मा पडिबंधं खणमवि, काही नरनाह ! इय मुणिंदेण ।
वुत्तम्मि महीनाहो, पमुइयहियओ गओ सगिहं ॥ ६१ ॥
नासेसमंतिसामं-तमंडलं पुच्छिऊण सच्चमई ।
ताराचंदकुमारं, रज्जे अहिसिंचिही जाव ॥ ६२ ॥
तो विणओणयतणुणा, कयअंजलिणा पयंपियं तेण ।
वयगहणाणुन्नाए, ताय ! पसायं कुण ममावि ॥ ६३ ॥
जं संसारसमुद्दो, रुद्दो उद्दामदुक्खकल्लोलो ।
न विणा चरणतरंडं, तीरइ तरिउं अइदुरंतो ॥ ६४ ॥
तो रन्ना पडिभणियं, जुत्तमिणं वच्छ ! नायसत्ताण ।
किं तु कमागयमेयं, रज्जं पालेसु कइ वि दिणे ॥ ६५ ॥
न य विक्कमसंजुत्ते, पुत्ते पच्छा ठविसु रज्जभरं ।
कल्लाणरिद्धिजलकु-लतुल्लदिक्खं गहिज्ज तुमं ॥ ६६ ॥
इय भणिय बला वि इमं, राया रज्जे ठवित्तु गिण्हेइ ।
सिरिविजयसेणपासे, दिक्खं वेमाणिएसु गओ ॥ ६७ ॥
अह ताराचंदनिवो, निच्चं वयगहणसुद्धपरिणामो ।
पइसमयमुत्तरुत्तर-मणोरहसए विचिंतंतो ॥ ६८ ॥
कारेंतो जिणभवणे, सया वि जिणपवयणं पभावंतो ।
अणुकंपादाणाऽऽइसु, जहाविहाणेण वट्टंतो ॥ ६९ ॥
नियगिहसमीवकारिय-पोसहसालाइ पोसहुज्जुत्तो ।
सच्चरिएसु पयट्टं, अणुमोयंतो य धम्मजणं ॥ ७० ॥

बहुनयपमाणगमगं-गसंगयं गुरुविचारभारसहं ।
निसुणंतो पुव्वावर-अविरुद्धं सारसिद्धंतं ॥ ७१ ॥
रज्जभरभभायाओ, रज्जमणाइं विसुसुमचयंतो ।
अप्पजले मीणो इव, दुहेण गेहम्मि निवसंतो ॥ ७२ ॥
चाहिरयंतोइ विय, चिंतंतो रज्जरज्जवावारं ।
कालेण मरिउ जाओ, अच्चुयकप्पे पवरदेवो ॥ ७३ ॥
तत्तो चविय विदेहे, निवपुत्तो होउ गहियसामन्नं ।
सव्वत्थ वि होऊणं, अरत्तदुट्ठो सिवं गमिही ॥ ७४ ॥
इति ज्ञात्वा ताराऽधिपतिकरचरोचिष्णुयशसो,
मुदा ताराचन्द्रक्षितिपतितिलकस्याऽस्य चरितम् ।
अरक्तद्विष्टास्ततस्वजनधनदेहप्रभृतिषु,
स्फुटं धत्त स्वान्तं शिवसुखकरे शुद्धचरणे ॥ ७५ ॥ ध० र० ७२ गाथा ।

नारापह-तारापथ-पुं० । नभसि, अनु० ।

तारिम-तारिम-त्रि० । तरणयोग्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । दश० ।

तारिस-तादृश-त्रि० । "दृशेः क्विप्टक्सकः" ॥ ८ । १ । १४२ ॥ इति दृशेर्धातोर्ऋतो रिरादेशः । प्रा० १ पाद । तथाविधेऽर्थे, वाच० । उत्त० । प्रश्न० । आ० म० । पाण्डवचरित्रे षोडशसर्गे-ऽष्टादशश्लोके-"केऽप्यस्तादृशाः स्त्रियः । (१८)" इत्यत्र तादृशा इति शब्दे आप्प्रत्ययः कथमानीतः?, टक्प्रत्ययस्याऽऽगमने ई-प्प्रत्ययस्यैवोक्तत्वादिति प्रश्ने, उत्तरम्-टक्प्रत्ययान्तात्तादृशश-ब्दादीप्प्रत्ययसद्भावेऽपि तादृश इति क्विबन्ताद्गुर्वाचार्यमते-नाऽऽप्प्रत्ययाऽऽगमने रूपसिद्धिरिति न कोऽपि दोषः । ६४ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

तारुण्ण-तारुण्य-न० । यौवने, उत्त० ३२ अ० ।

ताल-ताल-पुं० । तलनं तालः । नि० चू० १२ उ० । वृक्षविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अथ तालपदं विवृणोति-

नामं ठवणा दविए, तालो भावे य होइ नायव्वो ।
जो जविओ सो तालो, दव्वे मूलुत्तरगुणेसु ॥

नामतालः, स्थापनातालः, द्रव्यतालः, भावतालश्च भवति ज्ञातव्यः । तत्र नामस्थापने सुगमे । द्रव्यतालः पुनरयम्-(जो भविओ त्ति) यः खलु भव्यो भावतालपर्यायः, स च त्रिधा-एकभविको, बद्धाऽऽयुष्कः, अभिमुखनामगोत्रश्च । तत्रैकभविको नाम-यो विवक्षितभवानन्तरं तालत्वेनोत्पत्स्यते । बद्धाऽऽयुष्को-येन तालोत्पत्तिप्रायोग्यमायुःकर्म बद्धम् । अभिमुखनामगोत्रः पुनः-विपाकोदयाभिमुखतालसंबन्धिनामगोत्रकर्मा तालत्वेनोत्पित्सया विवक्षितजीवप्रदेशः । यद्वा-द्रव्यतालो द्विविधः-मूलगुणनिर्वर्तितः, उत्तरगुणनिर्वर्तितश्च । तत्र स्वायुषः परिक्षयादपगतजीवो यः स्कन्धाऽऽदिरूपस्तालः स मूलगुणनिर्वर्तितः । यस्तु काष्ठचित्रकर्माऽऽदिष्वालिखितः स उत्तरगुणनिर्वर्तितः । एष द्रव्यतालः ।

सम्प्रति भावतालमाह-

भावम्मि होंति जीवा, जे तस्स परिग्गहे समक्खाया ।
बीओ वि य आदेसो, जो तस्स वि जाणओ पुरिसो ॥

भावे भावविषयस्तालो ये जीवास्तस्य तालस्य परिग्रहे मूलकन्दाऽऽदिगतास्ते सर्वेऽपि समुदिताः सन्तो भावताल इति समाख्याताः; नोआगमत इति भावः । द्वितीयोऽप्यत्राऽऽदेशोऽस्ति यस्तस्य तालस्य विज्ञायकस्तदुपयुक्तः पुरुषः सोऽपि भावताल उच्यते, आगमत इत्यर्थः । अत्र च नोआगमतो भावतालेनाधिकारः, तस्य संबन्धि यत्फलं तदिह तालशब्देन प्रत्येतव्यम् । बृ० १ उ० । स० । आ० म० । प्रज्ञा० । स्था० । भ० । औ० । प्रश्न० । ज्ञा० । वलयाऽऽख्यवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० । कंसिकापरपर्याये वाद्यविशेषे, औ० । आचा० । आ० म० । जं० । ज्ञा० । स्था० । हस्तताले, दश० २ अ० । स्था० । कंसिकाऽऽदिशब्दविशेषे, स्था० ७ ठा० । वादित्रसमुदाये, नि० चू० १२ उ० । आजीवकोपासकभेदे, भ० ८ श० ५ उ० ।

तालउड-तालपुट-न० । तालमात्रव्यापत्तिकरे उपविषे, उत्त० १६ अ० । दश० । आ० म० ।

तालजंघ-तालजङ्घ-पुं० । तालो वृक्षविशेषः, स च दीर्घस्कन्धो भवति, ततस्तालवज्जङ्घे यस्य स तथा । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्वनामख्याते राजनि, यो हि ब्राह्मणेषु विक्रान्तः सन् विननाश । ध० १ अधि० ।

तालज्झय-तालध्वज-पुं० । तालनन्दनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते राजनि, तस्य तमालतता भार्याऽऽसीत् । दर्श० १ तत्त्व । शत्रुञ्जयपर्वते, ती० १ कल्प । तालो वृक्षविशेषो ध्वजो यस्य सः । बलदेवे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

तालण-ताडन-न० । चपेटाऽऽदिना निष्फोटने, दर्श० ३ अ० । चपेटाऽऽदिदाने, औ० । कुट्टने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अन्त० । औ० । आ० म० । पञ्चा० ।

तालपलंब-तालप्रलम्ब-पुं० । आजीवकोपासकभेदे, भ० ८ श० ५ उ० ।

तालपिसाय-तालपिशाच-पुं० । तालो वृक्षविशेषः, तदाकारो दीर्घत्वाऽऽदिसाधर्म्यात्पिशाचो राक्षसः तालपिशाचः । दीर्घतरे पिशाचे, स्था० १० ठा० । जं० । आ० म० । व्य० । ज्ञा० । आ० क० । पिशाचभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

तालपुड-तालपुट-न० । 'तालउड' शब्दार्थे, उत्त० १६ अ० ।

तालफली-देशी-दास्याम्, दे० ना० ५ वर्ग ११ गाथा ।

तालमत्थय-तालमस्तक-न० । तालमध्यवर्तिनि गर्भे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

तालमाण-तालमान-स्त्री० । तालमानपरिज्ञानाऽऽत्मके कलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

तालमूलय-तालमूलक-न० । तालमूलाऽऽकारे अधः पृथुनि उपरि च सूक्ष्मे शयने, कल्प० ६ क्षण ।

तालविंट-तालवृन्त-न० । "वृन्ते ण्टः" ॥ ८ । २ । ३१ ॥ इति न्तस्य ण्टः । प्रा० २ पाद । व्यजने, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । अनु० । दश० । छिद्रपुटाऽऽदिव्यजने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । दश० । ज्ञा० । मयूरपिच्छकृतव्यजने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

तालसंवुड-तालसंपुट-पुं० । पवनेरितशुष्कतालपत्रसंचये, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

तालसम–तालसम–न० । यत्रास्वराऽऽहतहस्ततालस्वरानुवृत्तिर्भवति तत्तालसमम् । स्वरभेदे, स्था० ७ ठा० ।

तालहल–देशी–शाल्याम्, दे० ना० ५ वर्ग ७ गाथा ।

ताला–तदा–अव्य० । " ङेर्महि-ाला-इआ काले " ॥ ८ । ३ । ६५ ॥ इति तच्छब्दात्कालेऽभिधेये ङेः स्थाने आहे आला इति डितौ, इआ इति च आदेशा वा भवन्ति । तस्मिन् काले, प्रा० ३ पाद । लाजेसु, दे० ना० ५ वर्ग १० गाथा ।

तालायर–तालाचर–त्रि० । तालैर्वाद्यविशेषैश्चरन्तीति तालाचराः । (दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्) नि० चू० १५ उ० । तालाऽऽदानेन प्रेक्षाकारिणि, औ० । प्रश्न० । अं० । विपा० । ज्ञा० । प्रज्ञा० । नटनर्त्तकाऽऽदिषु, बृ० ३ उ० ।

तालायरकम्म–तालाचरकर्म–न० । प्रेक्षककर्मविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

तालिअण्ट–भ्रामि–धा० । भ्रम्–णिच् । "भ्रमेस्तालिअण्टतमाडौ" ॥ ८ । ४ । ३० ॥ इति भ्रमतेर्ण्यन्तस्य 'तालिअण्ट' इत्यादेशः । भ्रमतो प्रेरणे, प्रा० ४ पाद ।

तालवृन्त–पुं० । व्यजने, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

तालित–ताड्यमान–त्रि० । चपेटाऽऽदिभिः पीड्यमाने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

तालिज्जंत–ताड्यमान–त्रि० । चपेटाऽऽदिभिः पीड्यमाने, आ० चू० १ उ० ।

तालिय–तालिक–पुं० । तालेन करतलेन निर्वृत्तः–ठक् । चपेटे, वाच० ।

ताडित–त्रि० । आहते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

ताली–ताली–स्त्री० । वाद्यभेदे, आ० चू० १ अ० । तालेन तन्निर्यासेन निर्वृत्ता–अण् । (ताडी) तालजातसुरायाम्, ताल–एवन्ताम् अच् । गौरा०–ङीप् । वृक्षभेदे, तालमूल्याम्, आढक्याम्, तालीशपत्राऽऽख्ये वृक्षे, तालकोद्घाटनयन्त्रे, कुञ्चिकायां च । ताम्रवल्ल्याम्, ष्यक्षरपादके छन्दोभेदे च । वाच० ।

तालु–तालु–न० । तरन्त्यनेन वर्णाः । तॄ–ञुण्, रस्य लः । जिह्वेन्द्रियाधिष्ठाने स्थानभेदे, वाच० । प्रज्ञा० । ज्ञा० ।

तालुग्घाडणी–तालोद्घाटनी–स्त्री० । तालोद्घाटनकारिकायां विद्यायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

तालुजिब्भ–तालुजिह्व–पुं० । तालु एव जिह्वा यस्य । कुम्भीरे, तस्य जिह्वाशून्यत्वेऽपि तालुनैव रसाऽऽस्वादनात् । वाच० । प्रश्न० ।

तालूर–देशी–फेने, कपित्थतरौ, दे० ना० ५ वर्ग २१ गाथा ।

ताव–तावत्–अव्य० । तत्परिमाणमस्य । त्रि० । " अन्त्यव्यञ्जनस्य " ॥ ८ । १ । ११ ॥ इत्यन्त्यव्यञ्जनस्य तकारस्य लोपः । प्रा० १ पाद । प्रस्तुतार्थप्रदर्शके, आ० म० १ अ० ४ खण्ड । आ० चू० । सूत्र० । साकल्ये, अवधौ, माने, अवधारणे, प्रशंसायाम्, पक्षान्तरे, वाक्यभूषणे, तदेत्यर्थे च । "भर्ताऽपि तावत्क्रथकैशिकानाम " इति रघुः । तत्परिमाणवति, त्रि० । स्त्रियां ङीप् । तावती । वाच० ।

ताप–पुं० । तप–घञ् । संतापे, वाच० । दुःखे, आव० ४ अ० । सूर्याणामेव तापः, चन्द्रस्य तु प्रभासः । " चत्तारि सूरिया तविंसु वा, तवंति वा, तविस्संति वा । चत्तारि चंदा पभासिंसु वा, पभासिंति वा, पभासिस्संति वा" इत्यवभासस्य पार्थक्येनोक्तेः । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

तावइय–तावत्क–त्रि० । तत्परिमाणवति, भ० १८ श० ४ उ० । आ० म० ।

तावंचण–तावच्चण–पुं० । तावति काले, भ० १५ श० ।

तावक्खेत्त–तापक्षेत्र–न० । तपनं तापः सूर्यकिरणस्पर्शजनितः प्रकाशाऽऽत्मकः परितापः, तदुपलक्षितं क्षेत्रं तापक्षेत्रम् । घर्मोपलक्षिते क्षेत्रे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । भगव० ।

सम्प्रति तापक्षेत्रसंस्थितिमभिधातुकामः प्रथमतस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह–

ता कहं ते तावक्खेत्तसंठिती आहिता ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमाओ सोलस पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थ णं एगे एवमाहंसु–ता गेहसंठिया तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । १ । एवं० जाव वालग्गपोत्तियासंठिया तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता । एगे पुण एवमाहंसु–जस्संठिते जंबुद्दीवे दीवे तस्संठिते तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । ९ । एगे पुण एवमाहंसु–ता जस्संठिए भारहे वासे तस्संठिता तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । १० । एवं उज्जाणसंठिया । ११ । निज्जाणसंठिता । १२ । एगतो णिसहसंठिता । १३ । दुहतो णिसहसंठिता । १४ । सेणगसंठिता, एगे एवमाहंसु । १५ । एगे पुण एवमाहंसु–ता सेणगपिट्ठसंठिता तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । १६ । वयं पुण एवं वदामो–ता उद्धीमुहकलंबुआपुप्फसंठिता तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता । अंतो संकुडा बाहिं वित्थडा, अंतो वट्टा बाहिं पिहुला, अंतो अंकमुहसंठिता बाहिं सत्थियमुहसंठिता । उभतो पासेणं तीसे दुवे बाहाओ अवट्ठिताओ भवंति । पणतालीसं पणतालीसं जोयणसहस्साइं आयामेणं । दुवे य णं तीसे बाहाओ अणवट्ठिताओ भवंति । तं जहा–सव्वब्भंतरिया चेव बाहा, सव्वबाहिरिया चेव बाहा । तत्थ को हेतू ति वदेज्जा ?। ता अयं णं जंबुद्दीवे दीवे० जाव परिक्खेवेणं, ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तया णं उद्धीमुहकलंबुआपुप्फसंठिता तावक्खेत्तसंठिती आहिता ति वदेज्जा । अंतो संकुडा बाहिं वित्थडा, अंतो वट्टा बाहिं पिहुला, अंतो अंकमुहसंठिता बाहिं सत्थियमुहसंठिया । दुहतो पासेणं तीसे तहेव० जाव सव्वबाहिरिया चेव बाहा । तीसे णं सव्वब्भंतरिया बाहा मंदरपव्वयंते णं णव जोयणसहस्साइं चत्तारि य छलसीते जोयणसता णव य दसभागे जोयणस्स परिक्खेवेणं आ–

हिता ति वदेज्जा । ता से णं परिक्खेवविसेसे कुतो आहि-ता ति वदेज्जा ?। ता जे णं मंदरस्स पव्वयस्स परिक्खेवे णं तं परिक्खेवं तिहिं गुणित्ता दसहिं छेत्ता दसहिं भागेहिं हीरमाणे, एस णं परिक्खेवविसेसे आहिता ति वदेज्जा । ता से णं सव्वबाहिरिया बाहा लवणसमुद्दंतेणं चउणउ-तिं जोयणसहस्साइं अट्ठ य अट्ठसट्ठे जोयणसते चत्तारि य दसभागे जोयणस्स परिक्खेवेणं आहिता ति वदेज्जा । ता एस णं परिक्खेवविसेसे कतो आहिता ति वदेज्जा ?। ता जे णं जंबुद्दीवस्स दीवस्स परिक्खेवे, तं परिक्खेवं तिहिं गुणित्ता दसहिं छेत्ता दसहिं भागेहिं हीरमाणे, एस णं परिक्खेवविसेसे आहिता ति वदेज्जा । ता से णं तावक्खेत्ते कातियं आयामेणं आहितेति वदेज्जा ?। ता अट्ठत्तरिं जोयणसहस्साइं तिण्णि य जोयणसए तेत्तीसे जोयणतिभागे च आयामेणं आहितेति वदेज्जा ।

(ता कहं ते इत्यादि) ' ता ' इति पूर्ववत् । कथं भगवन् ! त्वया तापक्षेत्रसंस्थितिराख्याता इति भगवान् वदेत् ?। एवमुक्ते भगवानेतद्विषये यावत्यः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयः, तावतीरुप-दर्शयति-(तत्थेत्यादि) तत्र तस्यां तापक्षेत्रसंस्थितौ विषये ख-ल्विमाः षोडश प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-तत्र तेषां षोडशानां परतीर्थिकानां मध्ये एके एवमाहुः-(गेहसंठिय त्ति) गेहस्येव वास्तुविद्याप्रसिद्धगृहस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता । अत्रैवोपसं-हारमाह-(एगे एवमाहंसु १। एवं०जाव वालग्गपोतियासंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता इति) एवमनन्तरोक्तेन प्रकारेण, च-न्द्रसूर्यसंस्थितिगतेन प्रकारेणेत्यर्थः । गृहसंस्थितताया ऊर्ध्व-मावक्तव्यं यावद् वालाग्रपोतिकासंस्थिता प्रज्ञप्ता इति । तच्चै-वम्-" एगे पुण एवमाहंसु-गेहावणसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु ।२। एगे पुण एवमाहंसु-पासायसं-ठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु ।३। एगे पुण ए-वमाहंसु-गोपुरसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहं-सु ।४। एगे पुण एवमाहंसु-पिच्छाघरसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु ।५। एगे पुण एवमाहंसु-वलभीसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु ।६। एगे पुण एवमाहंसु-हम्मियतलसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु ।७। एगे पुण एवमाहंसु-वालग्गपोतियासंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु ८। " अत्र सर्वेष्वपि पदेषु विग्रहभावना प्रागिव कर्तव्या । (एगे पुण इत्यादि) एके पुनरेवमाहुः-(ज-स्संठिए त्ति) यत्संस्थितं संस्थानं यस्य स यत्संस्थितो जम्बूद्वीपो द्वीपस्तत्संस्थिता तदेव जम्बूद्वीपगतसंस्थितं संस्थानं य-स्याः सा तथा तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता । अत्रोपसंहारः-(एगे एवमाहंसु ९) (एगे पुण एवमाहंसु) एके पुनरेवमा-हुः-यत्संस्थितं भारतं वर्षं तत्संस्थिता तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता । अत्र विग्रहभावना प्रागिव वेदितव्या । अत्रोपसंहारः-(एगे एवमाहंसु १०) एवमुक्तेन प्रकारेण उद्यानसंस्थिता तापक्षेत्रसंस्थितिरपरेषामभिप्रायेण वक्तव्या । सा चैवम्-"एगे पुण एवमाहंसु--उज्जाणसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु ११।" अत्र उद्यानस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथेति विग्रहः ११ । (निज्जाणसंठिय त्ति) निर्याणं पुरस्य निर्गमनमार्गः तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा । अप-रेषामभिप्रायेण वक्तव्या । सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-निज्जाणसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु १२।" (एगतो निसहसंठिय त्ति) एकतो रथस्य एकस्मिन् पार्श्वे यो निषधो वहते स्कन्धे पृष्ठे वा समारोपितं भारमिति निषधो बलीवर्दः, तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा एकतो निषधसं-स्थिता । अपरेषामभिप्रायेण वक्तव्या । सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-एगतो निसहसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु १३।" (दुहतो निसहसंठिय त्ति) अपरेषामभि-प्रायेणोभयतो निषधसंस्थिता वक्तव्या, उभयतो रथस्योभयोः पार्श्वे यौ निषधौ बलीवर्दौ, तयोरिव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा । सा चैवं वक्तव्या-"एगे पुण एवमाहंसु-दुहओ निस-हसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु १४। " (सेणगसंठिय त्ति) श्येनकस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अपरेषामभिप्रायेणाभिधातव्या । सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-सेणगसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमा-हंसु १५।" (एगे पुण इत्यादि) एके पुनरेवमाहुः-श्येनकपृष्ठस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता । अत्रोपसंहारमाह--(एगे एवमाहंसु १६) । तदेवमुक्ताः षोडशा-ऽपि प्रतिपत्तयः, एताश्च सर्वा अपि मिथ्यारूपाः, अत एता व्युदस्य भगवान् स्वमतं भिन्नमुपदर्शयति--(वयं पुण इत्यादि) वयं पुन-रुत्पन्नकेवलज्ञानाः केवलज्ञानेन यथाऽवस्थितं वस्तूपलभ्य, एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामः । तमेव प्रकारमाह--(उद्धीमुहेत्यादि) ऊर्ध्वमुखकलम्बुकापुष्पसंस्थिता ऊर्ध्वमुखस्य कलम्बुकापुष्प-स्येव नालिकापुष्पस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता, मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः । सा कथं भूतेत्यत आह-अन्तर्मेरुदिशि संकुचा संकुचिता, बहिर्लवण-समुद्रदिशि विस्तृता । तथा -अन्तर्मेरुदिशि वृत्ता वृत्तार्द्धवल-याऽऽकारा, सर्वतो वृत्तमेरुगतान् त्रीन् द्वौ वा दशभागानभिव्या-प्य तस्या व्यवस्थितत्वात् , बहिर्लवणदिशि पृथुला मुत्कलभा-वेन विस्तारमुपगता । एतदेव संस्थानकथनेन स्पष्टं स्पष्टयति-(अंतो अंकमुहसंठिया बाहिं सत्थिमुहसंठिय त्ति) अन्तर्मेरु-दिशि अङ्कः पद्मासनोपविष्टस्योत्सङ्गरूप आसनबन्धः, तस्य मुखमग्रभागोऽर्द्धवलयाऽऽकारस्तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा । बहिर्लवणादिशि स्वस्तिकमुखसंस्थिता, स्वस्तिकः सुप्रतीतः, तस्य मुखमग्रभागः, तस्येवातिविस्तीर्णतया संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा । (उभओ पासेणं ति) उभयपार्श्वेन मेरुपर्वतस्योभयोः पार्श्वयोस्तस्यास्तापक्षेत्रसंस्थितेः सूर्यभेदेन द्विधा व्यवस्थितत्वात् प्रत्येकमेकैकभावेन ये द्वे बाहे, ते आयामेन जम्बूद्वीपगतमायाममाश्रित्यावस्थिते भवतः । सा चैकैका आया-मतः किं प्रमाणा?, इत्याह-पञ्चचत्वारिंशत् पञ्चचत्वारिंशत् यो-जनसहस्राणि ४५००० तस्यास्तापक्षेत्रसंस्थितेरेकैकस्या द्वे च बाहे अनवस्थिते भवतः । तद्यथा-सर्वाभ्यन्तरा, सर्वबाह्या च । तत्र या मेरुसमीपे विष्कम्भमधिकृत्य बाहा सा सर्वाभ्यन्त-रा, या तु लवणदिशि जम्बूद्वीपपर्यन्ते विष्कम्भमधिकृत्य बा-हा सा सर्वबाह्या । आयामश्च दक्षिणोत्तराऽऽयततया प्रतिपत्त-व्यो, विष्कम्भः पूर्वापराऽऽयततया । एवमुक्ते सति भगवान् गौतमः

स्वशिष्याणां स्पष्टावबोधनार्थं भूयः पृच्छति-(तत्थेत्यादि) तत्र तस्यामेवंविधायामनन्तरोदितायां वस्तुव्यवस्थायां को हेतुः का उपपत्तिरिति भगवान् वदेत् ?। एवमुक्ते भगवानाह-(ता अयं णमित्यादि) इदं जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत् परिपूर्णं स्वयं परिभावनीयम्। (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति,तदा "उद्धीमुहकलंबुयापुप्फ" इत्यादि प्राग्वद्व्याख्येयम्। यावत्सर्वाभ्यन्तरा बाहा, सर्वबाह्या च बाहा । (तीसे णमित्यादि) तस्यास्तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरा बाहा मेरुपर्वतान्ते मेरुपर्वतसमीपे, सा च परिक्षेपेण मन्दरपरिक्षेपगततया नव योजनसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि षडशीतानि षडशीत्यधिकानि नव च दश भागा योजनस्य ९४८६ ९/१०, आख्याता मया इति वदेत्। एवमुक्ते भगवान् गौतमः प्रश्नयति-(ता से णमित्यादि) 'ता' इति प्राग्वत् । स तापक्षेत्रसंस्थितेः परिक्षेपविशेषो मन्दरपरिरयपरिक्षेपेण विशेषः कुतः कस्मात्कारणादेवंप्रमाण आख्यातः, नोनोऽधिको वेति वदेत् ?। भगवानाह-(ता जे णमित्यादि)'ता' इति पूर्ववत्। णो,णमिति वाक्यालङ्कारे। मन्दरस्य मेरोः पर्वतस्य परिक्षेपपरिरयो गणितप्रसिद्धः, तं परिक्षेपं त्रिभिर्गुणयित्वा तदनन्तरं च दशभिश्छित्त्वा विभज्य। अथ कस्मादेवं क्रियत इति चेदुच्यते-इह सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्तमानः सूर्यो जम्बूद्वीपगतस्य चक्रवालस्य यत्र तत्र प्रदेशे तत्तच्चक्रवालक्षेत्रप्रमाणानुसारेण त्रीन् दशभागान् प्रकाशयति । एतच्च प्रागेवोक्तम् । सम्प्रति च मन्दरसमीपे तापक्षेत्रे चिन्ता क्रियमाणा वर्त्तते, ततो मन्दरपरिरयसुखावबोधार्थं प्रथमतस्त्रिभिर्गुण्यते, गुणयित्वा च दशभिर्विभज्यत इति, दशभिश्च भागैर्ह्रियमाणे यथोक्तं मन्दरसमीपे तापक्षेत्रपरिमाणमागच्छति । तथाहि-मन्दरपर्वतस्य विष्कम्भो दशसहस्राणि १०००० । तेषां वर्गो दश कोट्यः १०००००००० । तासां दशभिर्गुणने कोटिशतम्— १००००००००० । अस्य वर्गमूलानयने लब्धानि एकत्रिंशत्सहस्राणि षट्शतानि किञ्चिन्न्यूनत्रयोविंशत्यधिकानि, परं व्यवहारतः परिपूर्णानि विवक्ष्यन्ते ३१६२३ । एष राशिस्त्रिभिर्गुण्यते, जातानि चतुर्नवतिसहस्राणि अष्टौ शतानि एकोनसप्तत्यधिकानि ९४८६९। एतेषां दशभिर्भागहारे लब्धानि नव योजनसहस्राणि चत्वारि शतानि षडशीत्यधिकानि नव च दश भागा योजनस्य; तत एष एतावाननन्तरोदितप्रमाणः परिक्षेपविशेषो मन्दरपरिरयपरिक्षेपविशेषस्तापक्षेत्रसंस्थितेराख्यात इति वदेत् स्वशिष्येभ्यः। अयं चार्थोऽन्यत्राप्युक्तः-"मन्दरपरिरयरासी, तिगुणो दसभाइयम्मि जं लद्धं । तं होइ तावखेत्तं, अब्भितरमंडले रविणो ॥ १ ॥" तदेवं सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्तमाने सूर्ये मन्दरसमीपे तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरबाहाविष्कम्भपरिमाणमुक्तम्। इदानीं लवणसमुद्रदिशि जम्बूद्वीपपर्यन्ते या सर्वबाह्या बाहा, तस्या विष्कम्भपरिमाणमाह-(तीसे णमित्यादि) तस्यास्तापक्षेत्रसंस्थितेर्लवणसमुद्रान्ते लवणसमुद्रसमीपे सर्वबाह्या बाहा सा परिक्षेपेण जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपेण चतुर्नवतियोजनसहस्राणि अष्टौ च अष्टषष्ट्यधिकानि योजनशतानि चतुरश्च दशभागान् योजनस्य ९४८६८ ४/१० यावदाख्याता इति वदेत्। अत्रैव स्पष्टावबोधनाय प्रश्नं करोति--(ता एस णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। स एतावान् परिक्षेपविशेषस्तापक्षेत्रसंस्थितेः कुतः कस्मात् कारणादाख्यातः, नोनोऽधिको वेति वदेत्?। भगवानाह-(ता जे णमित्यादि)'ता' इति पूर्ववत् । यो जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपपरिरयो गणितप्रसिद्धः,तं परिक्षेपं त्रिभिर्गुणयित्वा तदनन्तरं दशभिश्छित्त्वा दशभिर्विभज्य, अत्रार्थे कारणं प्रागुक्तमेवानुसरणीयम् । दशभिर्भागे ह्रियमाणे यथोक्तं जम्बूद्वीपपर्यन्ते तापक्षेत्रपरिमाणमागच्छति । तथाहि-जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपस्त्रीणि लक्षाणि, षोडश सहस्राणि, द्वे शते, सप्तविंशत्यधिके ३१६२२७, त्रीणि गव्यूतानि ३ अष्टाविंशं धनुःशतं १२८, त्रयोदश अङ्गुलानि १३ एकमर्द्धाङ्गुलम् ½, एतावता च योजनमेकं किल किञ्चिन् न्यूनमिति व्यवहारः, तत परिपूर्णं विवक्ष्यते, ततो द्वे शते अष्टाविंशत्यधिके वेदितव्ये ३१६२२८, एतत् त्रिभिर्गुण्यते,जातानि नव लक्षाणि,अष्टाचत्वारिंशत्सहस्राणि,षट् शतानि चतुरशीत्यधिकानि ९४८६८४। एतेषां दशभिर्भागो ह्रियते, लब्धं यथोक्तं जम्बूद्वीपपर्यन्ते सर्वबाह्याया बाहाया विष्कम्भपरिमाणम्। तत (एस णमित्यादि) एष एतावाननन्तरोदितप्रमाणः परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपविशेषस्तापक्षेत्रसंस्थितेराख्यात इति वदेत् । उक्तं चैतदन्यत्रापि-"जंबुद्दीवपरिरय, तिगुणे दसभाइयम्मि ज लद्धं । तं होइ तावखित्त, अब्भितरमंडले रविणो " ॥ १ ॥ तदेवं जम्बूद्वीपे तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरायाः सर्वबाह्यायाश्च बाहाया विष्कम्भपरिमाणमुक्तम् । सम्प्रति सामस्त्येनाऽऽयामतस्तापक्षेत्रपरिमाणं जिज्ञासुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह--(ता से णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। तापक्षेत्रमायामतः सामस्त्येन दक्षिणोत्तराऽऽयततया किंप्रमाणमाख्यातम्, इति वदेत् ?। भगवानाह-(ता अट्ठत्तरिमित्यादि)'ता' इति पूर्ववत्, अष्टसप्ततियोजनसहस्राणि त्रीणि योजनशतानि त्रयस्त्रिंशानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनत्रिभागं च यावत् आयामेन दक्षिणोत्तराऽऽयततया आख्यातमिति वदेत् । तथाहि--सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमानस्य सूर्यस्य तापक्षेत्रं दक्षिणोत्तराऽऽयततया मेरोरारभ्य तावद्वर्त्तते यावल्लवणसमुद्रस्य षष्ठो भागः। उक्तं च-

"मेरुस्स मज्झभागा, जाव लवणसमुद्दस्स छब्भागो ।
ताबाऽऽयामो एसो, सगडुद्धीसंठिओ नियमा ॥ १ ॥"

अत्र-(एसो इत्यादि) एष तापो नियमात् शकटोर्ध्वसंस्थितम्, शेषं सुगमम् । तत्र मेरोरारभ्य जम्बूद्वीपपर्यन्ते यावत् पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि लवणस्य विस्तारो द्वे योजनलक्षे तयोः षष्ठो भागस्त्रयस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि योजनशतानि, त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनस्य च त्रिभागः, तत उभयमीलने यथोक्तमायामप्रमाणं भवति । इह सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमानस्य सूर्यस्य लेश्या अभ्यन्तरं प्रविशन्ति, मेरुणा प्रतिस्खल्यते, यदि पुनर्न प्रतिस्खल्यते, ततो मेरोः सर्वमध्यभागगतं प्रदेशमवधीकृत्याऽऽयामतो जम्बूद्वीपस्य पञ्चाशतं योजनसहस्राणि प्रकाशयेत् । अत एवेत्थं जम्बूद्वीपस्य पञ्चाशतं योजनसहस्राणि प्रकाश्यानि संजायन्ते, सर्वाभ्यन्तरेऽपि मण्डले वर्तमाने सूर्ये तापक्षेत्रस्याऽऽयामप्रमाणं ज्योतिष्करण्डकमूलटीकायां श्रीपादलिप्तसूरिभिः त्र्यशीतियोजनसहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनस्य च त्रिभाग इत्युक्तम्। युक्तं चैतत्संभावनया तापक्षेत्राऽऽयामपरिमाणम्, अन्यथा जम्बूद्वीपमध्ये तापक्षेत्रस्य पञ्चचत्वारिंशत्सहस्रपरिमाणाभ्युपगमे यथा सूर्यो बहिर्निष्क्रामति तथा तत्प्रतिबद्धं तापक्षेत्रमपि, ततो यदा सूर्यः सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, तदा सर्वथा मन्दरसमीपे प्रकाशो न प्राप्नोति । अथ च

तदाऽपि तत्र मन्दरपरिरयपरिक्षेपेण विशेषपरिमाणमग्रे वक्ष्यते, तस्मात्पादलिप्तसूरिव्याख्यानमप्यभ्युपगन्तव्यमिति। तदेवं सर्वाभ्यन्तरमण्डलमधिकृत्य तापक्षेत्रसंस्थितिरुक्ता । सू० प्र० ४ पाहु० । चं० प्र० । (अत्र 'अंधकार' शब्दः प्रथमभागे १०५ पृष्ठे वीक्ष्यः)

जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया केवतिअं खेत्तं उड्ढं तवंति, केवतिअं खेत्तं अहे तवंति, केवतिअं खेत्तं तिरिअं तवंति ? । ता जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया एगं जोयणसतं उड्ढं तवंति, अट्ठारस जोयणसताइं अधे य तवंति, सीतालीसं जोयणसहस्साइं दुन्नि य जोयणसते तिसट्ठे एगवीसं च सट्ठिभागे जोयणस्स तिरियं तवंति ॥

(ता जंबुद्दीवे णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। जम्बूद्वीपे कियत्प्रमाणं क्षेत्रं सूर्यावूर्ध्वं तापयतः प्रकाशयतः। कियत्क्षेत्रमधः, कियत्क्षेत्रं तिर्यक्, पूर्वभागे अपरभागे चेत्यर्थः । भगवानाह-(ता इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। जम्बूद्वीपे द्वीपे सूर्यौ प्रत्येकं स्वविमानादूर्ध्वमेकं योजनशतं तापयतः प्रकाशयतः । अधस्तापयतोऽष्टादशयोजनशतानि। एतच्चाधो लौकिकग्रामापेक्षया द्रष्टव्यम्। तथाहि-अधोलौकिकग्रामाः समतलभूभागादवधीकृत्याधो योजनसहस्रेण व्यवस्थिताः,तत्राऽपि सूर्यप्रकाशः प्रसरति,ततः समतलभूभागस्याधो योजनसहस्रं, तदूर्ध्वं चाष्टौ योजनशतानीत्युभयमीलने अष्टादश योजनशतानि। तिर्यक् स्वविमानात्पूर्वभागे अपरभागे च प्रत्येकं तापयतः सप्तचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि, द्वे योजनशते, त्रिषष्टे त्रिषष्ट्यधिके, एकविंशतिं च षष्टिभागान् योजनस्य ४७२६३$\frac{२१}{६०}$ । सू० प्र० ४ पाहु० ।

तावक्खेत्तदिसा-तापक्षेत्रदिशा-स्त्री० । तपनं तापः सूर्यकिरणस्पर्शजनितः प्रकाशाऽऽत्मकः परितापः,तदुपलक्षितं क्षेत्रं तापक्षेत्रं, तदेव दिक्। अथवा-तापयतीति तापः सविता, तदनुसारेण क्षेत्राऽऽत्मिका दिक् तापक्षेत्रदिक् । आ० म० १ अ० २ खण्ड । विशे० । तापः सविता,तदुपलक्षिता दिक् तापक्षेत्रदिक्। पूर्वाभिधानायां दिशि, सा चाऽनियता। यत उक्तम्-" जेसिं जत्तो सूरो, उदेइ तेसिं तई हवइ पुव्वा । तावक्खेत्तदिसाओ, पयाहिणं सेसयाओ सा " ॥१॥ इति । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

तावण-तापन-न० । अग्निना हस्तपादाऽऽदीनामुष्णीकरणे, नि० चू० १ उ० ।

तावणिज्ज-तापनीय-त्रि० । तापसहे, भ० १५ श० ।

तावदिसा-तापदिशा-स्त्री० । तापयतीति ताप आदित्यः, तदाश्रिता दिक् तापदिक्। सूर्यतापितायां दिशि,महा०। आचा०।

तावस-तापस-पुं० । तापोऽस्याऽस्तीति तापसः । दश० २ अ० । तापप्रधानस्तापसः। दश० १० अ० । वनवासिनि पाखण्डिविशेषे, दर्श० १ तत्त्व । सू० । पिं० । अनु० । आचा० । श्रमणभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । मातरमोक्षाऽऽर्यशान्तिश्रेणिकस्य शिष्ये, कल्प० ८ क्षण ।

तावसावसह-तापसावसथ-पुं० । तापसमठे,भ० ११ श०६उ० ।

तावसुद्धि-तापशुद्धि-स्त्री० । विधिप्रतिषेधतद्विषयाणां जीवाऽऽदिपदार्थानां च स्याद्वादपरीक्षया याथात्म्येन समर्थने तापशुद्धिभेदे, ध० । "उभयनिबन्धनभाववादस्तापः" इति । उभयोः कषच्छेदयोरनन्तरमेवोक्तरूपयोर्निबन्धनं परिणामि । किमित्याह-तापोऽत्र श्रुतधर्मपरीक्षाऽधिकारे, इदमुक्तं भवति-यत्र शास्त्रे द्रव्यरूपतयाऽप्रच्युतानुत्पन्नः, पर्यायाऽऽत्मकतया च प्रतिक्षणमपरापरस्वभावाऽऽस्कन्दनेनाऽनित्यस्वभावो जीवाऽऽदिरवस्थाप्यते स्यात्तत्र तापशुद्धिः । यतः परिणामिन्येवाऽऽत्माऽऽदौ तथाविधाशुद्धपर्यायनिरोधेन ध्यानाध्ययनाऽऽद्यपरशुद्धपर्यायप्रादुर्भावानुकूलक्रियाः कषो, बाह्यचेष्टाशुद्धिलक्षणश्च छेद उपपद्यते, न पुनरन्यथेति । ध० १ अधि० ।

इहैव तापविधिमाह-

जीवाऽऽइभाववाओ, जो दिट्ठिट्ठाहिं णो खलु विरुद्धो ।
बंधाऽऽइसाहगो तह, एत्थ इमो होइ तावो त्ति ॥ ८० ॥

जीवाऽऽदिभाववादो जीवाजीवाऽऽदिपदार्थवादः,यः कश्चिद्, दृष्टेष्टाभ्यां वक्ष्यमाणाभ्यां, न खलु विरुद्धः, अपि तु शुद्ध एव, बन्धाऽऽदिसाधकस्तथा निरुपचरितबन्धमोक्षव्यवस्थापकः, अत्र श्रुतधर्मे एष भवति ताप इति गाथाऽर्थः ॥ ८० ॥

एएण जो विसुद्धो, सो खलु तावेण होइ सुद्धो त्ति ।
एएणं चासुद्धो, सेसेहि वि तारिसो नेओ ॥ ८१ ॥

एतेन जीवाऽऽदिभाववादेन यो विशुद्धः स खलु तापेन भवति शुद्धः, स एव नान्य इति । एतेन चाशुद्धः सन् शेषयोरपि कषच्छेदयोस्तादृशो ज्ञेयः, न तत्त्वतः शुद्ध इति गाथाऽर्थः ॥ ८१ ॥

इहैवोदाहरणमाह-

संतासंते जीवे, णिच्चाणिच्चायणेगधम्मे य ।
जह सुहबंधाईया, जुज्जंति न अन्नहा नियमा ॥ ८२ ॥

सदसद्रूपे जीवे स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यानित्याऽऽद्यनेकधर्मिणि च द्रव्यपर्यायाभिन्नपरिणामाऽऽद्यपेक्षया यथा सुखबन्धाऽऽदयः सुखाऽऽदयोऽनुभूयमानरूपा बन्धाऽऽदयोऽभ्युपगता युज्यन्ते घटन्ते नान्यथाऽन्येन प्रकारेण नियमाद् युज्यन्त इति गाथाऽर्थः ॥ ८२ ॥

एतदेवाऽऽह-

संतस्स सरूवेणं, पररूवेणं तहा असंतस्स ।
हंदि विसिट्ठत्तणओ, होंति विसिट्ठा सुहाईआ ॥८३॥

सतो विद्यमानस्य स्वरूपेणाऽऽत्मनियतेन, पररूपेणान्यान्यसंबन्धिना तथा असतः स्वरूपेणैवाविद्यमानस्य, न च स्वसत्त्वमेवान्यासत्त्वम्,अभिन्ननिमित्तत्वे सदसत्त्वयोर्विरोधात्। तथाहि-सत्त्वमेवासत्त्वमिति व्याहतम् । न च तत्रास्ति, स्वसत्त्वासत्त्ववदन्यत्वे तत्सत्त्वप्रसङ्गादिति पररूपासत्त्वधर्मकं स्वरूपसत्त्वं विशिष्टं भवति,अन्यथा वैशिष्ट्यायोगात्,तदा हन्दि विशिष्टत्वादुक्तेन प्रकारेण भवन्ति विशिष्टाः स्वयं वेद्याः सुखाऽऽदयः, आदिशब्दाद् दुःखबन्धाऽऽदिपरिग्रह इति गाथाऽर्थः ॥ ८३ ॥

विक्षेपे बाधामाह-

इहरा सभावमित्ता-इभावओ कह विसिट्ठया तेसिं ।
तदभावम्मि तयत्थे, हंत पयत्तो महामोहो ॥८४॥

इतरथा यथा स्वरूपेण सत्तथा पररूपेणाऽपि भावे,सत्तामात्राऽऽदिभावात्,आदिशब्दादसत्त्वमात्रग्रह इति । कथं विशिष्टता प्रत्यात्मवेद्यतया तेषां सुखाऽऽदीनां, तदभावे विशिष्टसुखाऽऽद्यभावे, तदर्थो विशिष्टसुखाऽऽद्यर्थो, हन्त प्रयत्नः क्रियाविशेषो, महामोहोऽसंभवप्रवृत्त्येति गाथाऽर्थः ॥८४॥

निच्चो वेगसहावो,सहावभूयम्मि कह ण सो दुक्खे ।
तस्सुच्छेयनिमित्तं, असंजयाओ पयट्टिज्जा ॥८५॥

नित्योऽप्येकस्वभावः स्थिरतया, स्वभावभूते आत्मभूते, कथं न्वसौ नित्यः स च दुःखे । किमित्याह-तस्य दुःखस्योच्छेदनिमित्तं विनाशाय, असंभवाद्धेतोः प्रवर्त्तेत, कथं नैवेति गाथाऽर्थः ॥८५॥

एगंतनिच्चओ वि अ, संभवसमणंतरं अभावाओ ।
परिणामहेउविरहा, असंभवाओ उ तस्स त्ति ॥८६॥

एकान्तनित्योऽपि च निश्चयोऽसम्भवः संभवसमनन्तरमुत्पत्त्यनन्तरमभावादविद्यमानत्वात्, परिणामिकहेतुविरहात्, तथाभाविकारणाभावेनासंभवाच्च कारणात्, तस्यैकान्तानित्यस्य स कथं प्रवर्त्तेत?, नैवेति गाथाऽर्थः ॥८६॥

एतदेव समर्थयन्नाह-

ण विसिट्ठकज्जभावो, अणाईअविसिट्ठकारणत्ताओ ।
एगंतऽभेयपक्खे, निअमा तह भेयपक्खे अ ॥ ८७ ॥

न विशिष्टकार्यभावो न घटाऽऽदिकार्योत्पादो न्याय्योऽनादितावि-शिष्टकारणत्वात्, अनतिक्रान्तनियतकारणत्वादित्यर्थः । एकान्ताऽभेदपक्षे, कार्यकारणयोर्नित्यत्वपक्ष इत्यर्थः । नियमादवश्यमेव नेति, तथा भेदपक्षे च कार्यकारणयोरेकान्तानित्यत्वपक्षे चेति गाथाऽर्थः ॥ ८७ ॥

उभयत्र निदर्शनमाह-

पिंडो पडो व्व ण घडो, तप्फलमणाइअपिंडभावाओ ।
तयईअत्ते तस्स उ, तब्भावा अन्नयाइत्तं ॥ ८८ ॥

पिण्डवत्पटवदिति च दृष्टान्तौ, न घटस्तत्फलं पिण्डफलमेति प्रतिज्ञा, अनतीतपिण्डभावत्वादसमानत्वाद् भेदपक्षे पटवत्, तदतीतत्वे घटस्य पिण्डातीततायां, तस्यैव तथाभावात् पिण्डस्यैव घटरूपेण भावात्, अन्वयाऽऽदित्वमन्वयव्यतिरेकत्वं वस्तुन इति गाथाऽर्थः ॥ ८८ ॥

अतः सदसन्नित्यानित्याऽऽदिरूपमेव वस्तु, तथा चाऽऽह-

एवंविहो उ अप्पा, मिच्छत्ताईहिँ बंधई कम्मं ।
सम्मत्ताऽऽईएहि उ, मुच्चइ परिणामभावाओ ॥ ८९ ॥

एवंविध एव स आत्मा सदसन्नित्यानित्याऽऽदिरूपः मिथ्यात्वाऽऽदिभिः करणभूतैर्बध्नाति कर्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदि, सम्यक्त्वाऽऽदिभिस्तु करणभूतैर्मुच्यते । कुत इत्याह-परिणामभावात्परिणामित्वादिति गाथाऽर्थः ॥ ८९ ॥

सकडुवभोगो चेवं, कहं चि एगाहिकरणभावाओ ।
इहरा कत्ता भोत्ता, उभयं वा पावइ सया वि ॥ ९० ॥

स्वकृतोपभोगोऽप्येवं परिणामिन्यात्मनि कथञ्चिदेकाधिकरणभावाद्भिन्नस्वभावतया युज्यते । इतरथा नित्याऽऽद्येकस्वभावतायां कर्त्ता, भोक्ता, उभयं वा । वाशब्दादनुभयं वा, प्राप्नोति सदाऽपि, कर्त्राऽऽद्येकस्वभावत्वादिति गाथाऽर्थः ॥ ९० ॥

एतदेव भावयति-

वेएइ जुवाणकयं, वुड्ढो चोराइफलमिहं कोइ ।
ण य सो तओ ण अन्नो, पच्चक्खाईपसिद्धीओ ॥९१॥

वेदयते अनुभवति युवकृतं, तरुणकृतमित्यर्थः, वृद्धश्चौर्याऽऽदिफलं बन्धनाऽऽदि, इह, कश्चित्, लोकसिद्धमेतत् । न चासौ वृद्धस्ततो यूनो नाऽन्यः, किं त्वन्यः, प्रत्यक्षाऽऽदिप्रसिद्धेः कारणादिति गाथाऽर्थः ॥ ९१ ॥

ण य णाऽण्णो सोहं, किं पत्तो पावपरिणइवसेण ।
अणुहवसंधाणाओ, लोगाऽऽगमसिद्धिओ चेव ॥९२॥

न च नानन्यः किं त्वनन्योऽपि (?) कथमित्याह-सोऽहं किं प्राप्तो बन्धनाऽऽदि पापपरिणतिवशेन चौर्यप्रभवेण अनुभवसन्धानात्सोऽहमित्यनेन प्रकारेण, लोकाऽऽगमसिद्धितश्चैव-सोऽयमिति लोकसिद्धिः, तत्पापफलमित्यागमसिद्धिरिति गाथाऽर्थः ॥९२॥

इय मणुआइभवकयं, वेअइ देवाइभवगओ अप्पा ।
तस्सेव तहाभावा, सव्वमिणं होइ उववन्नं ॥ ९३ ॥

एवं वृद्धवन्मनुष्याऽऽदिभवकृतं पुण्याऽऽदि वेदयते अनुभवति देवाऽऽदिभवगतः सन्नात्मा जीव इति, तस्यैव मनुष्याऽऽदेस्तथाभावाद् देवाऽऽदित्वेन भावात्, सर्वमिदं निरुपचरितं स्वकृतभोगाऽऽदि भवत्युपपन्नं, नान्यथेति गाथाऽर्थः ॥ ९३ ॥

एगंतेण उ निच्चो-ऽणिच्चो वा कह णु वेअई सकडं ।
एगसहावत्तणओ, तयणंतरनासओ चेव ॥ ९४ ॥

....

.... ॥९५॥

जीवसरीराणं वि हु, भेआऽभेओ तहोवलंभाओ ।
मुत्तामुत्तत्तणओ, पिक्कम्मि पवेअणाओ अ ॥ ९५ ॥

जीवशरीरयोरपि भेदाभेदः, कथञ्चिद् भेदः, कथञ्चिदभेद इत्यर्थः । तथोपलम्भात्कारणान्मूर्त्तामूर्त्तत्वात्तयोरन्यथायोगाभावात् स्पृष्टे शरीरे प्रवेदनाच्च, न चामूर्त्तस्यैव स्पर्श इति गाथाऽर्थः ॥९५॥

उभयकडोभयभोगा, तयभावाओ अ होइ नायव्वो ।
बंधाऽऽइविसयभावा, इहरा तयसंभवाओ अ ॥ ९६ ॥

उभयकृतोभयभोगात्कारणात्, तदभावाच्च भोगाभावाच्च, भवति ज्ञातव्यः जीवशरीरयोर्भेदः, बन्धाऽऽदिविषयभावात्कारणादितरथैकान्तभेदाऽऽदौ तदसंभवाच्च बन्धाऽऽद्यसंभवाच्चेति गाथाऽर्थः ॥ ९६ ॥

एतदेव प्रकटयन्नाह-

एत्थ सरीरेण कडं, पाणवहामेवणाए जं कम्मं ।
तं खलु चित्तविवागं, वेएइ भवंतरे जीवो ॥ ९७ ॥

अत्र शरीरेण कृतं, कथमित्याह-प्राणवधाऽऽसेवनया हेतुभूतया यत् कर्म तत् खलु चित्रविपाकं सद्वेदयते भवान्तरेऽन्यजन्मान्तरे जीव इति गाथाऽर्थः ॥ ९७ ॥

न उ तं चेव सरीरं, णरगाऽऽइसु तस्स तह अभावाओ ।
भिन्नकडवेअणम्मि, अइप्पसंगो बला होइ ॥ ९८ ॥

न तु तदेव शरीरं येन कृतमिति । कुतः?, इत्याह-नरकाऽऽदिषु तस्य शरीरस्य तथाऽभावादिति । भिन्नकृतवेदनाऽभ्युपगमे अतिप्रसङ्गोऽनवस्थारूपः बलाद्भवतीति गाथाऽर्थः ॥ ९८ ॥

एवं जीवेण कडं, कूरमणपयट्टएण जं कम्मं ।
तं पइ रोद्दविवागं, वेएइ भवंतरसरीरं ॥ ९९ ॥

एवं जीवेन कृतं, तत्प्राधान्यं, क्रूरमनःप्रवृत्तेन यत्कर्म पापाऽऽदि तत्प्रति तन्निमित्तं रौद्रविपाकं तीव्रवेदनाकारित्वेन वेदयते भवान्तरशरीरं, तथाऽनुभवादिति गाथाऽर्थः ॥ ९९ ॥

ण उ केवलओ जीवो, तेण विमुक्कस्स वेयणाऽभावा ।
ण य सो चेव तयं खलु, लोगाऽऽइविरोहभावाओ ॥१००॥

न तु केवलो जीवो वेदयते, तेन शरीरेण विमुक्तस्य सतः वेदनाऽभावात्कारणात्, न च स एव जीवस्तच्छरीरमिति लोकाऽऽदिविरोधभावात्, आदिशब्दात्समयग्रह इति गाथाऽर्थः ॥१००॥

एवं चिअ देहवहे, उवयारे वा वि पुण्णपावाइं ।
इहरा वहाइभंगा-ऽणायञ्जो णेव जुञ्जंति ॥१०१॥

एवमेव जीवशरीरयोर्भेदाभेद एव, देहवधात्सत्कारात् वा देहस्य पुण्यपापे भवतः, इतरथैकान्तभेदात् वधाऽऽदिभङ्गाऽऽदिप्रसङ्गात् वधाऽऽदिविनाशकरणोदाहरणेन, नैव युज्येते पुण्यपापे इति गाथार्थः ॥ १०१ ॥

अभ्युच्चयमाह-

तयभेअम्मि अ नियमा, तन्नासे तस्स पावई नासो ।
इय परलोआभावो, बंधाईणं अभावो य ॥ १०२ ॥

तदभेदे च जीवशरीराभेदे च नियमात्तन्नाशे देहनाशे तस्य जीवस्य प्राप्नोति नाशः । (इय) एवं परलोकाभावात्कारणात् बन्धाऽऽदीनामपि प्रस्तुतानामभाव एवेति गाथार्थः ॥ १०२ ॥

देहेणं देहम्मि अ, उवघायाणुग्गहेहिँ बंधाई ।
ण पुण अमुत्तो मुत्त-स्स अप्पणो कुणइ किंची वि ॥१०३॥

.........किञ्चिदपि, मुक्तकल्पत्वादिति गाथार्थः ॥ १०३ ॥

अकरिंतो अ ण बज्झइ, अइप्पसंगा सदेव बंधाओ ।
तम्हा भेआभेए, जीवसरीराण बंधाई ॥ १०४ ॥

अकुर्वंश्च न बध्यते न्यायत इत्याह-अतिप्रसङ्गान्मुक्तेः सदैव भावात्तद्बन्धस्य, अकर्तृत्वाविशेषात्, यत एवं तस्माद् भेदाभेदे आत्यन्ताऽऽत्मके जीवशरीरयोर्बन्धाऽऽदयो,नान्यथेति गाथार्थः॥१०४॥

तथा-

मोक्खो वि अ बद्धस्स य, तयभावे स कह कीस वा ण सया ।
किं वा हेऊहिँ तहा, कहं च सो होइ पुरिसत्थो ॥१०५॥

मोक्षोऽपि च बद्धस्य सतो भवति, तदभावे बन्धाभावे स कथं मोक्षः,नैव,किमिति वा न सदाऽसौ, बन्धाभावाविशेषात, किं वा हेतुभिस्तथा यथाऽऽदिभिः, कथं च स भवति पुरुषार्थोऽयत्नसिद्धत्वादिति गाथार्थः ॥ १०५ ॥

यत एवम्-

तम्हा बद्धस्स तओ, बंधो वि अणाइमं पवाहेणं ।
इहरा तयभावम्मी, पुव्वं चिअ मोक्खसंसिद्धी ॥१०६॥

तस्माद् बद्धस्यैवासौ मोक्षो, बन्धोऽप्यनादिमान् प्रवाहेण सन्तत्या, इतरथैवमनङ्गीकरणेन,तदभावे बन्धाभावे सति,पूर्वमेवाऽऽदावेव मोक्षसंसिद्धिः, तद्रूपत्वात्तस्येति गाथार्थः ॥ १०६ ॥

आहाऽऽह-

अणुभूअवत्तमाणो, बंधो कयगो त्ति णाइमं कह णु ।
जह य अईओ कालो, तहाविहो तह पवाहेण ॥ १०७ ॥

अनुभूतवर्त्तमानो भावो बन्धः कृतक इति कृत्वा स एवंभूतोऽनादिमान् कथं नु ?, प्रवाहतोऽपीति भावः । अत्रोत्तरम्-यथैवातीतः कालस्तथाविधः-अनुभूतवर्त्तमानभावोऽप्यनादिमान्, तथा प्रवाहेण बन्धोऽप्यनादिमानिति गाथार्थः ॥ १०७ ॥

उपपत्तिमाह-

दीसइ कम्मावचओ, संजयई तेण तस्स विगमो वि ।
कणगमलस्स व तेण उ, मुक्को मुक्को त्ति नायव्वो ॥१०८॥

दृश्यते कर्मापचयः सर्वद्वारेण, संजायते तेन कारणेन तस्य कर्मणो विगमोऽपि, सर्वथा कनकमलस्येति निदर्शनं, तेन कर्मणा मुक्तः सर्वथा मुक्तो ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ १०८ ॥

एमाइ भाववाओ, जत्थ तओ होइ तावसुद्धो त्ति ।
एस तवाएओ खलु, बुद्धिमया धीरपुरिसेणं ॥१०९॥

एवमादि भाववादः पदार्थवादो यत्राऽऽगमेऽसौ भवति तापशुद्धः तृतीयस्थानसुन्दर इति,एष उपादेयः खल्वेव एव मान्यः, बुद्धिमता प्राज्ञेन धीरपुरुषेण स्थिरेणेति गाथार्थः ॥१०९॥ पं० व० ४ द्वार ।

ताविया-तापिका-स्त्री० । कटाहिकायाम, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

तास-त्रास-पुं० । उद्वेगे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज्ञा० ।

तासन-त्रासन-त्रि० । त्रीमाऽऽदिभिङ्कारकत्वात्त्रासनः। प्रश्न० १ आश्र० द्वार । त्रासजनके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । नि० चू० । आ० म० ।

तासी-त्रासी-त्रि० । स्वयं त्रस्तः परानपि त्रासयतीति त्रासी । त्रस्ते, अन्यत्रासकरे च । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

ताहं-ताहं-अव्य० । आमन्त्रणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

ताहे-तदा-अव्य० । तस्मिन् काले वाच् । तस्मिन् काले इत्यर्थे, वाच० । भ० । प्रा० ।

ति-इति-अव्य० । पदात्परस्य इतिशब्दस्य ति इत्यादेशो भवति । उपमाभूतवस्तूनां परिसमाप्ती, जी० ३ प्रति० ४ उ० । प्रश्न० । प्रकारे, उत्त० १ अ० ।

त्रि-त्रि० । त्रि० । तृ-ड्रि । त्रित्वसंख्याविशिष्टे, स्त्रियां तिस्रादेशः तिस्र इत्यादि । वाच० ।

तिअसीस-त्रिदशेश-पुं० । " लुक् " ॥ ८ । १।१० ॥ इति स्वरस्य स्वरे परे बहुलं लुक् । प्रा० १ पाद । देवराजे,वाच० ।

तिउट्टण-त्रिकुट्टन-न० । त्रिभ्यो मनोवाक्कायेभ्योऽशुभेभ्यो मुक्तौ, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

तिउडय-त्रिपुटक-पुं० । मालवकप्रसिद्धे धान्यविशेषे, ध० २ अधि० । प्रव० ।

तिउल-त्रितुल-त्रि० । त्रीन् मनोवाक्कायाँस्तुलयति जयति वा स त्रितुलः । मनोवाक्कायतोदके दुःखहेतौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज० । ज्ञा० । स्था० ।

तोदक-त्रि० । सुखत्वात्तोदकः । मनोवाक्कायतोदके दुःखहेतौ, उत्त० २ अ० ।

त्रिदल-त्रि० । त्रीन् मत्तावान्मनोवाक्कायान् विभावितयन्त्रस्याङ्कुराऽऽदीनां दलतीव स्वरूपचलनेन त्रिदलः । मनोवाक्कायतोदके दुःखहेतौ, उत्त० २ अ० ।

तिकूड-त्रिकूट-पुं० । ' तिकूड ' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

तिओय-त्र्योजस्-न० । त्रिभिराहित एव कृतयुग्मान्त्योपरिवर्तिभिरोजो विषमराशिविशेषस्त्र्योजः । भ० १८ श० ४ उ० । विषमराशिविशेषे, यो हि राशिश्चतुष्कापहारेणापह्रियमाणस्त्रिपर्यवसितो भवति स त्र्योज इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । त्रिप्रदेशासु दिक्षु, स्त्री० । सर्वासां दिशां प्रत्येकं ये प्रदेशाः ते चतुष्केणापह्रियमाणास्त्रिकावशेषा भवन्तीति कृत्वा त्रिप्रदेशाऽऽत्मिकाश्च दिश आगमसंज्ञया त्र्योजःशब्देनाभिधीयन्ते । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

तिंतिण–तिन्तिण–पुं० । तिन्तिणो नाम यः स्वल्पोऽपि केनचित्साधुनाऽपराद्धोऽनवरतं पुनस्तं झषन्नास्ते स तिन्तिणः । तस्मिन्, व्य०१ उ०। प्रव० । कप्रत्ययोऽप्यत्र । अलाभे सति बं-हायतिकस्नाभिधायी, स च खेदप्रधानवाक्तिन्तिणिको भवति । स्था० ६ ठा० । " तिंतिणिए एसणासमिइस्स परिमंथू ।" तिन्तिणिको हि सुन्दरमाहाराऽऽदिकं गवेषयन्नेषणासमितेः परिमन्थुर्भवतीति । बृ० ६ उ० ।

व्यासार्थं प्रतिद्वारमभिधित्सुः प्रथमतस्तिन्तिणिकद्वारं व्याचष्टे-

डज्झंतं व्व टिंवरुदा–रुयं व दिवसं पि जो तिंतितिडेइ ।
अह दव्वतितिणो भा–वश्रो उ आहारवहिसिज्जाए ॥

तिन्दुककदारुकं तिन्दुककवृक्षकाष्ठमग्नौ प्रक्षिप्तं, तद् दह्यमानं सत् यथा तडत्तडदिति कुर्वदास्ते, एवं यो गुर्वादिभिः कारणितः संपूर्णमपि दिवसं " तिडितिडेइ त्ति" अनुकरणशब्दत्वात्तडत्तडायते, मम संमुखमिदमिदं च जल्पितमेभिरिति झषन्नास्ते इति भावः । अयमेव द्रव्यतिन्तिणिकः । भावतस्तु तिन्तिणिकस्त्रिविधः । तद्यथा–आहारे, उपधौ, शय्यायां चेति । पुनरेकैको द्विविधः–अन्तःसंयोजनया, बहिःसंयोजनया च ।

तत्रोभयथाऽप्याहारतिन्तिणिकं तावदाह–

अंतो बहि संजोअणा, आहारे बाहि खीरदधिमाई ।
अंतो उ होति तिविहा, भायणे हत्थे मुहे चेव ॥

आहारविषया संयोजना द्विविधा-अन्तः, बहिश्च । तत्र बहिस्तावदुच्यते–कश्चित्साधुर्भिक्षामटन् क्षीरं वा दधि वा लब्ध्वा रसगृध्नुतया कलमशाल्यादिप्रभूतमोदनं चिरगोचरचर्याकरणेनाप्युत्पाद्य तत्रैव क्षीराऽऽदिना सार्धमुपाश्रयाद् बहिः संयोजयति, आदिशब्दात् परमान्नाऽऽदिकं वा लब्ध्वा घृतखण्डाऽऽदिना बहिरेव स्थितः सन् यद् योजयति, एषा बहिःसंयोजना । अन्तस्तु प्रतिश्रयाभ्यन्तरे पुनः संयोजना त्रिविधा भवति । तद्यथा–भाजने, हस्ते, मुखे चैव । तत्र भाजनविषया–यत्र भाजने कलमशाल्योदनस्तत्र दुग्धदध्यादि प्रक्षिपति । हस्तविषया–मण्डकपुपूलिकाऽऽदिना गुडशर्कराऽऽदि हस्तस्थितं वेष्टयित्वा मुखे प्रक्षिपति । मुखविषया–पूर्वं मण्डकाऽऽदि मुखे प्रक्षिप्य ततः शर्कराखण्डाऽऽदि प्रक्षिपति । एवंविधां द्विविधामप्याहारसंयोजनां लोभाभिभूततया कुर्वन् यदा यदा संयोजनीयवस्तुयोगं न लभते तदा तदा तिन्तिणिकत्वं करोतीत्याहारतिन्तिणिक उच्यते ।

अथोपधिशय्यातिन्तिणिकावतिदिशति–

एमेव उवहिसिज्जा, गुणोवगारी उ जस्स जं होइ ।
सो तेण जोजयंतो, तदभावे तिंतिणो होइ ॥

एवमेवोपधिशय्ययोरपि संयोजनायां भावना कार्या । सा चेयम्–उपधिसंयोजनाऽपि द्विविधा–बहिः, अन्तश्च । तत्र बहिःसंयोजना–उत्कृष्टं कल्पं लब्ध्वा चोलपट्टकमप्युत्कृष्टमुत्पादयति; और्णिकं वा कल्पं सुन्दरं लब्ध्वा तदनुरूपमेव सौत्रिकमुत्पादयति; उत्पाद्य च, तदुभयपरिभोगेण संयोजयति । अन्तःसंयोजना पुनः–विभूषार्थं श्वेतकम्बल्यां कृष्णदवरकसीवनिकां ददातीत्यादि । शय्या प्रतिश्रयः, तस्य संयोजनाऽपि द्विविधा–बहिः, अन्तश्च । ततः बहिःसंयोजना–अकपाटमुपाश्रयं लब्ध्वा कपाटाद्यां संयोजयति । अन्तःसंयोजना–शोभनार्थं प्रतिश्रयं गोमयच्छदादिना लिम्पति, सेटिकया वा धवलयति । अथवा–शय्याशब्देन संस्तारक उच्यते, ततश्च सुन्दरतरं संस्तारकं लब्ध्वा उत्तरपट्टमपि तदनुरूपमुत्पाद्य परिभुङ्क्ते, सा बहिःसंयोजना । यत्पुनः सुकुमारस्पर्शार्थं विभूषार्थं वा सुन्दरया रचनया संस्तारकं प्रस्तृणाति सा अन्तःसंयोजना । तदेवं यदुपध्यादिकं यस्य साधोर्गुणोपकारि विभूषाऽऽदिगुणोपयोगि भवति, स तेन विवक्षितेन वस्तुना सार्द्धं तदेव वस्तु योजयन् मीलयन्, तदभावे विवक्षितवस्तुयोगाभावे तिन्तिणिको भवति–" हा ! नास्त्यमुकं वस्तु अत्र स्थण्डिलप्राये संनिवेशे " इत्यादि जल्पतीत्यर्थः । बृ० १ उ० । नि०चू० । (अपवादं तिन्तिणिकत्वं ' कप्प ' शब्दे तृतीयभागे २३० पृष्ठे गतम)

तिंतिणी–तिन्तिणी–स्त्री० । यत्र तत्र वा स्तोकेऽपि कारणे करकरायणे, व्य० १ उ० ।

तिंदुग–तिन्दुक–पुं० । बहुबीजकफलप्रधाने वृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० । प्रज्ञ० । वाराणस्यां तिन्दुकवृक्षप्रधाने उद्याने, आ०म०१ अ०२ खण्ड । तत्र गण्डीतिन्दुकनामा यक्षो वसति । उत्त० १२ अ० । ती० स्था० । श्रावस्त्यां नगरमण्डले पुरपरिसरे तिन्दुकवृक्षप्रधाने उद्याने, उत्त० २३ अ० । आ० क० । विशे० । चैत्यविशेषे, ती० । श्रावस्तीनगरीचैत्ये, स्था० ७ ठा० । त्रीन्द्रियजीवविशेषे, उत्त० ३६ अ० ।

तिंदूस–तिन्दूस–पुं० । बहुबीजकफलप्रधाने वृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । स्वार्थे कन्प्रत्ययोऽप्यत्र । आ० क० ।

तिंदूसय–तिन्दूसक–पुं० । कन्दुके, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । क्रीडाविशेषे, " सव्वं च तरुवरम्मी, काउं तिंदूसए य रिंभं व । " आ० म० १ म० २ खण्ड ।

तिकंडग–त्रिकण्डक–त्रि० । कण्डत्रययुक्ते, " सयं सहस्साण उ जोयणाणं, तिकंडगे पंडगवेजयंते ।" मेरुः–त्रीणि कण्डान्यस्येति त्रिकाण्डकः, तद्यथा–भौमं, जाम्बूनदं, वैडूर्यमिति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

तिक्खुत्तो–त्रिकृत्वस्–अव्य० । त्रीन् कृत्वेत्यर्थे, भ० २ श० १ उ० ।

तिकडुय–त्रिकटुक–न० । त्रयाणां कटूनां समाहारस्त्रिकटु, त्रिकटु एव त्रिकटुकम् । शुण्ठीमरिचपिप्पल्यात्मके कटुत्रयसमाहारे, उत्त० ३४ अ० । अनु० ।

तिकरणभावसुद्ध–त्रिकरणभावशुद्ध–त्रि० । त्रिविधेन त्रिप्रकारेण करणेन मनोवाक्कायलक्षणेन सुविशुद्धे, मनसाऽप्यसंयमाभिलाषाद् भावेन च परिणामेन विशुद्ध इहलोकाऽऽद्याशंसाविप्रमुक्तत्वात् त्रिकरणभावविशुद्धः । तस्मिन्, व्य० ३ उ० ।

तिकरणसुद्ध–त्रिकरणशुद्ध–न० । मनोवाक्कायलक्षणकरणत्रयस्य दायकसंबन्धिनो विशुद्धतायाम्, विपा० २ श्रु० १ अ० ।

तिकूड–त्रिकूट–पुं० । त्रीणि कूटान्यस्य । लङ्कापुरसंनिहिते सुवेलाऽऽख्ये पर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ० । " दो तिकूडा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । ती० । जम्बूद्वीपे मेरुपर्वतस्य पूर्वस्मिन् भागे शीताया महानद्या दक्षिणस्यां दिशि आद्ये वक्षस्कारपर्वते, स्था० ।

तिकोडि–त्रिकोटि–स्त्री० । त्रिकोट्याम्, बन्धशतकचूर्णौ–"सिद्धे भोपयश्रो " इत्यादिसूत्रव्याख्याने त्रिकोटिपरिशुद्धत्वेन प्रख्याता

वे, तत्र कोटित्रयस्य कोऽर्थः ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-सूत्रार्थतदुभयरूपाः, कषच्छेदतापलक्षणपरीक्षात्रयरूपा वा तिस्रः कोट्यः संभाव्यन्ते । २६० प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

तिकोडिपरिसुद्ध-त्रिकोटिपरिशुद्ध-त्रि० । रागद्वेषमोहत्रयपरिशुद्धे, पो० ।

मध्यमबुद्धेस्त्वीर्या-समितिप्रभृति त्रिकोटिपरिशुद्धम् (७)

त्रिकोटिपरिशुद्धम्-रागद्वेषमोहत्रयपरिशुद्धम् । अथवा-तिस्रः कोट्यो हनन-पचन-क्रयणरूपाः कृतकारितानुमतिभेदेन नवसंख्या भवन्ती, ताभिः परिशुद्धम् । अथवा-कषच्छेदतापकोटित्रयपरिशुद्धम् । पो० २ विव० ।

तिकोण-त्रिकोण-त्रि० । त्रयः कोणा यस्य । त्रिकोणयुक्ते पदार्थे, स्था० १ ठा० । ज्योतिषोक्ते लग्नात्पञ्चमनवमस्थाने, न० । "त्रिकोणगान् गुरुः पश्यन् ।" वाच० । शृङ्गाटके, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

तिक्ख-तीक्ष्ण-त्रि० । तिज्-क्स्न-दीर्घश्च । गुरुके, अतिपातिनि च । व्य० १ उ० । परुषे, भ० १६ श० ३ उ० । वेगवति, अं० २ वक्ष० । मरणे, युद्धे, विषे, लौहे शस्त्रे, शीघ्रे, सामुद्रलवणे, मुष्कके, यवक्षारे, उग्रे रसे च । न० । तद्वति, त्रि० । यवक्षारे, श्वेतकुशे, कुन्दुरुके, ज्योतिषोक्ते आर्द्राश्लेषाज्येष्ठामूलनक्षत्रे च । पुं० । तीव्रे, आत्मत्यागिनि, निरालस्ये, मुमुक्षौ, योगिनि च । पुं० । वाच० ।

तिक्खतुंडा-तीक्ष्णतुण्डा-स्त्री० । घृतेल्लिकायाम्, कल्प० ६ क्षण ।

तिक्खालिअ-देशी-तीक्ष्णीकृते, दे० ना० ५ वर्ग १३ गाथा ।

तिक्खुत्त-त्रिःकृत्वस्-अव्य० । त्रीन् वारान् कृत्वसर्थे, विपा० १ श्रु० १ अ० । दशा० । आ० । नि० चू० । रा० । प्रति० । कल्प० । आ० म० । नि० । औ० ।

तिग-त्रिक-न० । रथ्यात्रयमीलकस्थाने, बृ० १ उ० । औ० । भ० । कल्प० । औ० । ज्ञा० । अनु० । आ० म० । पा० । सूत्र० ।

त्रिकनिक्षेपज्ञापनार्थमिदमाह-

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य गणण भावे य ।

एसो उ खलु तिगस्स य, निक्खेवो होइ सत्तविहो ॥१०॥

नामत्रिकम्, स्थापनात्रिकम्, द्रव्यत्रिकम्, क्षेत्रत्रिकम्, कालत्रिकम्, गणनात्रिकम्, भावत्रिकं चेति, एष खलु त्रिकस्य निक्षेपः सप्तविधो भवति । नामस्थापनात्रिके गतार्थे ।

द्रव्यत्रिकं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं ज्ञापयति-

दव्वे सचित्तादी, सचित्तं तत्थ होइ तिविहं तु ।

दुपद चतुप्पद अपदं, परूवणा तस्स कायव्वा ॥११॥

द्रव्यत्रिकं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा । तत्र सचित्तत्रिकं भूयस्त्रिविधं भवति । तद्यथा-द्विपदत्रिकम्, चतुष्पदत्रिकम्, अपदत्रिकम् । तस्य च सप्रभेदस्याऽपि प्ररूपणा कर्तव्या । सा च यथा सचित्तैकैकस्य कृता तथैवावगन्तव्यम् ।

परमाणुमादियं खलु, अच्चित्तं मीसगं च मालादी ।

तिपदेस तदोगाढं, तिण्णि वि लोगा उ खेत्तम्मि ॥१२॥

(परमाणु त्ति) आदिशब्दात् द्विप्रदेशिकत्रयं यावदनन्तप्रदेशिकत्रयम्, एतदचित्तत्रिकं द्रष्टव्यम्, मिश्रत्रिकं तु मालात्रयं मन्तव्यम् । तत्र हि पुष्पाणि सचित्तानि, सूत्रमचित्तमिति कृत्वा । आदिग्रहणेन सालङ्कारपुरुषत्रयमित्यादि गृह्यते । क्षेत्रत्रयम्-त्रय आकाशप्रदेशाः (तदोगाढं ति) तेषु वा त्रिषु आकाशप्रदेशेषु अवगाढं द्रव्यं क्षेत्रत्रयम्, त्रयो वा लोका अधोलोकतिर्यग्लोकोर्ध्वलोकलक्षणाः क्षेत्रत्रयमुच्यते ।

तिसमय तट्ठितिगं वा, कालतिगं तीयमातिणो चेव ।

भावे पसत्थमितरं, एक्केक्कं तत्थ तिविहं तु ॥१३॥

कालत्रयं प्रथमसमयं (?) (तट्ठितिगं व त्ति) त्रिसमयस्थितिकं वा द्रव्यं कालत्रयम् । अथवा-अतीतानागतवर्तमानकाला एव कालत्रयम्, भावत्रयं प्रशस्तमप्रशस्तं चेति द्विधा । पुनरेकैकं त्रिविधम्-तत्र ज्ञानम्, दर्शनम्, चारित्रं चेति प्रशस्तम् । मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिश्चेत्यप्रशस्तम् । अविरतिरपि हस्तकर्ममैथुनरात्रिभक्तप्रतिसेवाभेदादिह प्रस्तावे त्रिविधा । व्याख्यातं त्रय इति पदम् । बृ० ४ उ० ।

तिगतिगभेद-त्रिकत्रिकभेद-त्रि० । त्रिकं त्रिकं भेदानां यस्य स त्रिकत्रिकभेदः । प्रत्येकं त्रिविधे, दर्श० ५ तत्त्व ।

तिगरणसुद्ध-त्रिकरणशुद्ध-त्रि० । त्रीणि च तानि करणानि च मनःप्रभृतीनि त्रिकरणानि, तैः शुद्धो निर्दोषस्त्रिकरणानि वा शुद्धानि सर्वदोषरहितानि यस्य स त्रिकरणशुद्धः । निरवद्ययोगप्रवृत्ते, अथवा-करणकारणानुमतिरूपसावद्ययोगविरते, पा० ।

तिगारवगुरुया-त्रिगौरवगुरुता-स्त्री० । ऋद्धिरससातगौरवे, भ० ३ आध० ।

तिगिच्छ-चिकित्स-पुं० । किञ्जल्के, स्था० १० ठा० । वैद्ये, व्य० ५ उ० । दशमकल्पे देवानां विमानविशेषे, स० २० सम० ।

तिगिच्छग-चिकित्सक-त्रि० । रोगप्रतीकारकर्तरि, स्था० ।

अथाऽऽत्मचिकित्सकान् भेदतः सूत्रत्रयेणाऽऽह-

चत्तारि तिगिच्छगा पएणत्ता । तं जहा-आयतिगिच्छिए णाममेगे, णो परतिगिच्छिए । परतिगिच्छिए णाममेगे णो आयतिगिच्छिए । एवं चउभंगो ४ ।

"चत्तारि" इत्यादि कण्ठ्यम् । नवरं व्रणं देहे क्षतं स्वयं करोति रुधिराऽऽदिनिर्गलनार्थमिति व्रणकरो 'नो' नैव व्रणं परिमृशतीत्येवं शीलो व्रणपरिमर्शीत्येकः, अन्यस्त्वन्यकृतं व्रणं परिमृशति न च तत्करोतीति । एवं भावव्रणमतिचारलक्षणं करोति, कायेन च तदेव परिमृशति पुनः पुनः संस्मरणेन स्पृशति । अन्यस्तु तत्परिमृशतीत्यभिलाषाच्च करोति कायतः संसारभयाऽऽदिभिरिति । व्रणं करोति, न च तत्पट्टबन्धाऽऽदिना संरक्षति । अन्यस्तु कृतं संरक्षति, न च करोति । भावव्रणं त्वातिचारातिचारं करोति, न च तं सानुबन्धं भवन्तं कुशीलाऽऽदिसंसर्गतन्निदानपरिहारतो रक्षति एकः, अन्यस्तु पूर्वकृतातिचारं निदानपरिहारतो रक्षति, नवं च न करोति । (नो) नैव व्रणं संरोहयत्यौषधदानाऽऽदिनेति व्रणसंरोही । भावव्रणापेक्षया तु नो व्रणसंरोही प्रायश्चित्ताप्रतिपत्तेः, व्रणसंरोही पूर्वकृतातिचारप्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या नो व्रणकरोऽपूर्वातिचाराकारित्वादिति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तिगिच्छा-चिकित्सा-स्त्री० । चिकित्सनं चिकित्सा । रोगप्रतीकारे, रोगप्रतीकारोपदेशे च । प्रव० । सा द्विविधा-सूक्ष्मा, बादरा च ।

तत्र सूक्ष्मा औषधविधिवैद्यज्ञापनेन । बादरा स्वयं चिकित्साकरणेन, अन्यस्मात्कारणेन च । तत्र कश्चिज्ज्वराऽऽदिरोगाऽऽक्रान्तो गृही भिक्षाऽऽर्थं गृहे साधुं प्रविष्टं दृष्ट्वा पृच्छति-भगवन् ! एतस्य मदीयव्याधेर्जानीथे कमपि प्रतीकारमिति ?। स प्राऽऽह-भोः श्रावक ! यादृशस्तवाऽयं रोगस्तादृशो ममाऽप्येकदा संजात आसीत् । स चामुकेनौषधेन ममोपशमं गत इति । एवं चानेन गृहस्थस्य रोगिणो भैषज्यकरणाभिप्रायोत्पादनादौषधसूचनं कृतम् । अथवा रोगिणा चिकित्सां पृष्टो वदति-" किमहं वैद्यो, येन रोगप्रतीकारं जाने ? " इति । एवं चोक्के रोगिणोऽनभिज्ञस्य सतोऽस्मिन् विषये वैद्यं पृच्छेति सूचनं कृतमिति सूक्ष्मचिकित्सा । यदा तु स्वयं वैद्यीभूय साक्षादेव वमनविरेचनक्वाथाऽऽदिकं करोति, कारयति वा अन्यस्मात्सा बादरा चिकित्सेति । एवमुपकृतो हि प्रमुदितो गृही मम भिक्षां प्रचुरां दास्यतीति यतिरिमां द्विविधामपि कुरुते, न चैवं तुच्छपिण्डकृते व्रतिनां कर्तुमुचितम्, अनेकदोषसंभवात् । तथाहि-चिकित्साकरणकाले कन्दफलमूलाऽऽदिजीववधेन क्वाथकथनाऽऽदिपापव्यापारकरणादसंयमो भवेत् । तथा-नीरुक्कृतो गृहस्थः तप्तायोगोलकसमानः प्रगुणीकृतदुर्बलाङ्गत्वात् यदनेकजीवघातं कुर्यात् । तथा यदि दैवदुर्योगात्साधुना चिकित्स्यमानस्याऽपि रोगिणो व्याधेराधिक्यं जायते, तदा कुपितस्तत्पुत्राऽऽदिराक्रुश्य राजकुलाऽऽदौ ग्राहयेत । तथाऽऽहाराऽऽदिलुब्धा एते इत्यर्थमर्थं च वैद्यकाऽऽदि कुर्वन्ति, इति प्रवचनमालिन्यं स्यादिति ॥ ६ ॥ प्रव० ६७ द्वार । पिं० । पञ्चा० । विशे० । द्रव्यौषधाऽऽद्युपयोगतः पीडोपशमे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । ग० । चिकित्सया पिण्डोत्पादनम् । उत्पादनादोषभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । पञ्चा० ।

चउव्विहा तिगिच्छा पण्णत्ता । तं जहा-विज्जा, ओसहाइं, आउरे, परियारए ४ ।

"चउव्विहा" इत्यादि कण्ठ्यम् । नवरं चिकित्सा रोगप्रतीकारस्तस्याश्चातुर्विध्यं कारणभेदादिति ।

एतत्सूत्रसंवादकमुक्तमपरैरपि-

"भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता, रोगी पादचतुष्टयम् ।
चिकित्सितस्य निर्दिष्टं, प्रत्येकं तच्चतुर्गुणम् ॥ १ ॥
दक्षो विज्ञातशास्त्रार्थो, दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक् ।
बहुकल्पं बहुगुणं, सम्पन्नं योग्यमौषधम् ॥ २ ॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षो, बुद्धिमान् परिचारकः ।
आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो, ज्ञापकः सत्त्ववानपि " ॥३॥ इति ।
इयं द्रव्यरोगचिकित्सा ।

भावरोगचिकित्सा त्वेवम्-

" निविगइ निब्बलोमे, तव उड्ढट्ठाणमेव उब्भामे ।
वेयावच्चाहिंडण-मंडलिकप्पट्ठियाऽऽहरणं ॥ १ ॥ " इति ।

निर्बलं वल्लाऽऽदि, अवमभूनम्, उद्भ्रामो भिक्षाभ्रमणम्, आहिण्डनं देशेषु, मण्डली सूत्रार्थयोः (कप्पट्ठिया) श्रेष्ठिवधूरिति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जे भिक्खू तिगिच्छापिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥६४॥

रोगावणयणं तिगिच्छा, तं जोगं करेति गिहिस्स । तस्स आणाइणो दोसा, चउलहुं च पच्छित्तं ।

**जे भिक्खु तिगिच्छपिंडं, भुंजेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥१७०॥**

नि० चू० १३ उ० ।

चिकित्साद्वारमाह-

**भणइ य नाहं विज्जो, अहवा वि कहेइ अप्पणो किरियं ।
अहवा वि वेज्जयाए, तिविह तिगिच्छा मुणेयव्वा ॥**

इह चिकित्सा रोगप्रतीकारो, रोगप्रतीकारोपदेशो वा विवक्षिता । ततः साधूनाश्रित्य त्रिविधा त्रिप्रकारा चिकित्सा ज्ञातव्या । तद्यथा-केनापि रोगिणा रोगप्रतीकारे साधुः पृष्टः सन्नाह-किमहं वैद्यः ?, एतावता च किमुक्तं भवति ?-वैद्यस्य समीपे गत्वा चिकित्सा प्रष्टव्या, इत्यबुधबोधनादेका चिकित्सा । अथवा रोगिणा पृष्टः सन्नेवमाह-ममाप्येवंविधो व्याधिरासीत्, स चामुकेन भेषजेनोपशान्तिमगमत्, एषा द्वितीया चिकित्सा । अथवा-वैद्यतया वैद्यीभूय साक्षात् चिकित्सां करोति, एषा तृतीया । इहाऽऽद्ये द्वे चिकित्से सूक्ष्मे, तृतीया तु बादरा ।

तत्राऽऽद्यां व्याचिख्यासुराह-

**भिक्खाइगओ रोगी, किं विज्जोऽहं ति पुच्छिओ भणइ ।
अत्थावत्तीऍ कया, अबुहाणं बोहणा एवं ॥**

भिक्षाऽऽदौ भिक्षाऽऽदिनिमित्तं गतः सन् (रोगी इति) अत्र तृतीयार्थे प्रथमा, रोगिणा पृष्टः सन्नाह--किमहं वैद्यो येन कथयामि ?। एवं चोक्ते सति अर्थापत्त्या सामर्थ्यात्, अबुधानां 'वैद्यस्य पार्श्वे गत्वा चिकित्सा कार्यते' इत्यजानतां, बोधना अनन्तरोक्तस्यार्थस्य ज्ञापना कृता भवति ।

द्वितीयां व्याख्यानयति-

**एरिसयं चिय दुक्खं, भेसज्जेण अमुगेण पउणं मे ।
सहसुप्पन्नं व रुयं, वारेमो अट्ठमाईहिं ॥**

एतादृशमेव दुःखं दुःखकारणभूतं गण्डाऽऽदि, अमुकेन भेषजेन प्रगुणं नष्टवेदनमभूत् । तथा वयं सहसोत्पन्नामकस्मादुत्पन्नां रुजमष्टमाऽऽदिभिर्वारयामः । "तत्थोप्पन्नं रोगं, अट्ठमेण निवारए" इत्यादिपरममुनिवचनप्रामाण्यात् । तस्मात् भवताऽपि तथा कर्तव्यमिति भावः ।

तृतीयां चिकित्सां प्रपञ्चयितुमाह-

**संसोधण संसमणं, नियाणपरिवज्जणं च जं तत्थ ।
आगंतु-धाउखोभे, य आमए कुणइ किरियं तु ॥**

आगन्तुके धातुक्षोभे च सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा धातुक्षोभजे च आमये रोगे समुत्पन्ने सति तत्र यत्क्रियां करोति । तद्यथा-संशोधनं हरीतक्यादिदानेन, पित्ताऽऽद्युपशमनं संशमनं, तथा निदानपरिवर्जनं रोगकारणपरिवर्जनं च । एषा तृतीया चिकित्सा ।

अत्र दोषानाह-

**अस्संजमजोगाणं, पसाहणं कायघाओ अयगोलो ।
दुब्बलवग्घाऽऽहरणं, अच्चुदए गेण्हणुड्डाहो ॥**

असंयमयोगानां सावद्यव्यापाराणां प्रसाधनं सातत्येन प्रवर्तनमिदं चिकित्साकरणं, ततो गृहस्थस्तप्तायोगोलकसमानः, तत्तस्तेन नीरोगीभूतेन ये कायघाता यावज्जीवं प्रवर्त्यन्ते, ते सर्वेऽपि साधुचिकित्साप्रवर्तिता इति । चिकित्साकरणं सातत्येनासंयमयोगानां निबन्धनम् । तथा चात्र दुर्बलव्याघ्रदृष्टा-

न्तः। यथा-अटव्यामन्धो भल्लूकमप्राप्नुवन् दुर्बलो व्याघ्रः केनाप्यानुकम्पया चिकित्स्यते, चिकित्सितः सन् पशुर्नान्यः प्रथमतस्तस्यैव वैद्यस्य विघातं करोति। ततः शेषाणां बहूनां जीवानाम्। एवमेषोऽपि गृहस्थः साधुना चिकित्स्यमानः साधोः संयमप्रातं हन्ति, शेषांश्च पृथिवीकायाऽऽदीनिति। यदि पुनः कथमपि चिकित्स्यमानस्यापि तस्याभिघातेन रोगस्योदयः प्रादुर्भावो भवति, ततोऽहमनेनातिशयेन रोगीकृत इति संजातकोपो राजकुलाऽऽदौ ग्राहयति; तथा च सति उड्डाहः प्रवचनस्य मालिन्यमिति। पिं०।

इमं बितियपदं-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
अद्धाणरोहए वा, जयणाए कारए भिक्खू ॥१३६॥
नि० चू० १३ उ०।

जे भिक्खू आरोगियपडिकम्मं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥४०॥

आरोग्गो णिरुवहयसरीरो, मा मे रोगो भविस्सति त्ति अणागयं चेव रोगपरिकम्मं करेति, तस्स चउलहुं आणाऽऽदिया य दोसा ॥४०॥

जे भिक्खू आरोगं, कुज्जा हि अणागयं तु तेगिच्छं।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ७६ ॥

गतार्था।

इमेहिं कारणेहिं अववादेण कुज्जा-

विहरणवायणआवा-सगाण मा मे वयाण वा पीला।
होज्जाहि अकीरंते, कप्पति हु अणागतं काउं ॥ ७७ ॥

विहरणं जाव मासकप्पो ण पूरति ताव करेमि, मा मासकप्पे पुण्णे विहरणस्स वाघातो भविस्सति, रोगे वा उप्पन्ने मा वायणाए वाघाओ भविस्सइ, विविधाण वा आवासगजोगाणं रोगमुप्पन्ने कमं असहमाणेहिं हरितादिच्छेदणं अण्णं वा किं चि गिलाणट्ठा वताइयारं करेज्जा, तो अणागयं रोगपकम्मं कज्जति।

अतो भण्णति-

असुभो असुभं कालं, कप्पति वाही ममं ति णं णाउं।
तप्पसमणी उ किरिया, कप्पति इहरा बहू हाणी ॥७८॥

ममं अप्पसरीरस्स असुभो वाही असुभे काले अवस्समुप्पज्जति, तस्स रोगस्स अणागयं चेव किरिया कज्जति, (इहर त्ति) उप्पण्णरोगे किरियाए कज्जमाणीए बहू दोसा, दोसबहुत्ताओ य संजमहाणी भवति।

अणागयं कज्जमाणे इमे गुणा--

अप्पपरअणायासो, न य कायवहो न यावि परिहाणी।
न य चमढणा गिहीणं, णहछेज्ज-रिणेण दिट्ठंतो ॥७९॥

अणागते रोगपरिकम्मे कज्जमाणे अप्पणो परस्स य अणायासो भवति। कमेण फासुएण कज्जमाणे कायवधो ण भवति। ण य सुत्तत्थे आवस्सगाण परिहाणी भवति। अणागतं अहालाभेण सणियं कज्जमाणे गिहीणं चमढणा ण भवति। किं च-अविक्खितो वाही दुच्छेज्जो भवति। जहा रुक्खो अंकुरावत्थाए णहच्छेज्जो भवति, विवड्ढितो पुण जायमूलो महाखंधो कुहाडेण वि दुच्छेज्जो। रिणं पि अप्पमत्ताओ सुच्छेज्जं, वड्ढियं कुसुणवडमूलं दुच्छेज्जं। एवं वाही वि अणागतं सुच्छेज्जो पच्छा दुच्छेज्जो। जो सुत्तत्थेसु गहियत्थो, गहणसमत्थो य जो गच्छोवग्गहकारी, कुलगणसंघकज्जेसु य पभावी, तस्स एसा विधी।

जो पुण अण्णो पुरिसो तस्स इमा विधी—

जो पुण अपुव्वगहणे, उवग्गहे वा असमत्थो एसि।
असहू उत्तरकरणे, तस्स अहिच्छाए उ णियोगो ॥८०॥

अभिणवाणं सुत्तत्थाणं गहणे असमत्थो, साधुवग्गस्स वा वत्थपायभत्तपाणओसहभेसज्जादि, एतेहिं उवग्गहं काउं असमत्थो। उत्तरकरणं-तवो, पायच्छित्तं वा, तत्थ वि असहू। एरिसस्स पुरिसस्स इच्छाए णिओगो अवस्समणागयं कायव्वं ति। नि० चू० १३ उ०।

नच्चा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो थावए पन्नं, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥ ३२ ॥
तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा, संचिक्खऽत्त-गवेसए।
एयं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे ॥ ३३ ॥

चिकित्सां रोगप्रतीकाररूपां नाभिनन्देन्नानुमन्येत, अनुमतिनिषेधाच्च दूरापास्ते करणकारणे, समीक्ष्य-स्वकर्मफलमेव तद्भुज्यत इति पर्यालोच्य। यद्वा-(संचिक्ख त्ति) "अचां संधिलोपौ बहुलम्" इत्येकारलोपे "संचिक्खे" समाधिना तिष्ठेत्, न कूजनकर्करायितनाऽऽदि कुर्यात्, आत्मानं चारित्राऽऽत्मानं, गवेषयति मार्गयति-कथमयं मम स्यादित्यात्मगवेषकः। किमित्येवमत आह-एतदनन्तरमभिधास्यमानं, (खु त्ति) खलु, स च यस्मादर्थः, ततो यस्मादेतत्तस्य श्रमणस्य, श्रामण्यं श्रमणभावो, यन्न कुर्यान्न कारयेत्। उपलक्षणत्वान्नानुमन्येत, प्रक्रमाच्चिकित्साम्; जिनकल्पिकाऽऽद्यपेक्षं चैतत्। स्थविरकल्पिकापेक्षया तु 'जन्न कुज्जा' इत्यादौ सावद्यमिति गम्यते। अयमत्र भावः-यस्मात्करणाऽऽदिभिः सावद्यपरिहार एव श्रामण्यं, सावद्या च प्रायश्चिकित्सा, ततस्तान् न अभिनन्देत्, एतदप्यौत्सर्गिकम्, अपवादतस्तु सावद्याऽप्येषामियमनुमतैव। यदुक्तम्-"काहं अछित्ति अदुवा अहीहं, तवोविहाणेण य उज्जमिस्सं। गणं च णीती य विसारइस्सं, सालंबसेवी समुवेति मोक्खं ॥ १ ॥" इति सूत्रार्थः। उत्त० पाई० २ अ०। ('गिहितिगिच्छा' शब्दे तृ० भागे ८६७ पृष्ठे गृहिचिकित्सानिषेधो द्रष्टव्यः) चिकित्सा श्रीजगवत ऋषभस्योपदेशात्प्रवृत्ता। आ० म० १ अ० १ खण्ड।

तिगिच्छापिंड-चिकित्सापिण्ड-पुं०। चिकित्सां वमनविरेचनबस्तिकर्माऽऽदि कारयतो वैद्यभैषज्याऽऽदि सूचयतो वा पिण्डार्थं चिकित्सापिण्डः। चिकित्सया पिण्डोत्पादनम्। उत्पादनादोषभेदे, ध० ३ अधि०। आचा०।

तिगिच्छासंहिया-चिकित्सासंहिता-स्त्री०। चिकित्साशास्त्रे श्लोकस्थाननिदानशारीरचिकित्सितकल्पसंज्ञकायां सूत्रसंहितायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

तिगिच्छासत्थ-चिकित्साशास्त्र-न०। आयुर्वेदे, स्था० ८ ठा०।

तिगिञ्छि-पुष्परजस्-न०। "गोणाऽऽदयः" ॥ ८ । २ । १७४ ॥ इति पुष्परजःशब्दस्य 'तिगिञ्छि' इति निपातः। प्रा० २ पाद। देशीशब्दो वा। पुष्परजसि, अं० ४ वक्ष०। ज्ञी०।

तिगिच्छिकूड–तिगिच्छिकूट–पुं० । चमरस्य उत्पातपर्वते, भ० २ श० ८ उ० । स्था० । (तद्वक्तव्यता 'चमर' शब्दे तृतीयभागे ११११ पृष्ठे उक्ता) "दो तिगिच्छिकूडा।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

तिगिच्छिद्दह–तिगिच्छिह्रद–पुं० । तिगिच्छिः पौष्परजः, तत्प्रधानो ह्रदस्तिगिच्छिह्रदः । निषधवर्षधरपर्वतमध्ये ह्रदे, जम्बूमन्दरस्य दक्षिणे तृतीयह्रदे, जं० ।

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे तिगिच्छिद्दहे णामं दहे पण्णत्ते । पाईणपडीणायए, उदीणदाहिणविच्छिएणे, चत्तारि जोअणसहस्साइं आयामेणं, दो जोअणसहस्साइं विक्खंभेणं, दस जोअणाइं उव्वेहेणं, अच्छे सण्हे रययमयकूले । तस्स णं तिगिच्छिद्दहस्स चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता । एवं० जाव आयामविक्खंभविहूणा जा चेव महापउमद्दहस्स वत्तव्वया,सा चेव तिगिच्छिद्दहस्स वि वत्तव्वा । तं चेव पउमद्दहप्पमाणं अट्ठो० जाव तिगिच्छिवण्णाइं धिइ अइत्थ देवी पलिओवमट्ठिईआ परिवसइ । से एएणट्ठेणं गोयमा ! तिगिच्छिद्दहे । तस्स णं तिगिच्छिद्दहस्स दक्खिणिल्लेणं तोरणेणं हरिमहाणई पवूढा समाणी सत्त जोअणसहस्साइं चत्तारि अ एकवीसे जोअणसए एगं च एगूणवीसइ भागं जोअणस्स दाहिणाभिमुही पव्वएणं गंता महया घडमुहपवित्तिएणं० जाव साइरेगं चउजोअणसइएणं पवाएणं पवडइ । एवं जा चेव हरिकंताए वत्तव्वया, सा चेव हरिए वि णेयव्वा । जिब्भियाए कुंडस्स दीवस्स भवणस्स तं चेव पमाणं, अट्ठो वि भाणिअव्वो,० जाव अहे जगइं दालइत्ता छप्पण्णाए सलिलासहस्सेहिं समग्गा पुरच्छिमं लवणसमुद्दं समप्पेइ, तं चेव पवहे अ मुहमूले अ पमाणं उव्वेहो अ जो हरिकंताए० जाव वणसंडसंपरिक्खित्ता ॥

(तस्स णमित्यादि) तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्रान्तरे महानेकः तिगिच्छिः पौष्परजः, तत्प्रधानो ह्रदस्तिगिच्छिह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः । प्राकृते पुष्परजःशब्दस्य 'तिगिच्छि' इति निपातः । देशीशब्दो वा । अन्यत्सर्वं प्राग्वदनुसारेणेति । अथास्यातिदेशसूत्रेण सोपानाऽऽदिवर्णनायाऽऽह-(तस्स णमित्यादि) तस्य तिगिच्छिह्रदस्य चतुर्दिशं चत्वारि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि । एवमित्थं प्रकारेण ह्रदवर्णके क्रियमाणे यावच्छब्दोऽत्र कार्त्स्न्यवाच्यव्ययम्, तेन यावत्परिपूर्णैव महापद्मह्रदस्य वक्तव्यता आयामविष्कम्भविहीना, सैव तिगिच्छिह्रदस्य वक्तव्या । एतदेव व्यक्त्या आचष्टे-(तं चेव इत्यादि) तदेव महापद्मह्रदगतमेव पद्मानां धृतिदेवीकमलानां प्रमाणम्-एककोटी विंशतिलक्षपञ्चाशत्सहस्रैकशतविंशतिरूपम, अन्यथाऽत्र पद्मानामायामविष्कम्भरूपप्रमाणस्य महापद्मह्रदगतपद्मेभ्यो द्विगुणत्वेन विरोधापातात्, ह्रदस्य च प्रमाणमुद्वेधरूपं बोध्यम्, आयामविष्कम्भयोः पृथगुक्तत्वादिति । अर्थस्तिगिच्छिह्रदस्य वाच्यः । स चैवम्-"से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-तिगिच्छिद्दहे तिगिच्छिद्दहे ?। " इत्यादिप्राक्सूत्रानुसारेण वाच्यं, यावत्तिगिच्छिह्रदवर्णाभानि उत्पलाऽऽदीनि धृतिश्चात्राधिपत्यं परिपालयति । "से तेणट्ठेणं" इत्यादि प्राग्वत् । जं० ४ वक्ष० ।

तिगिच्छय–चिकित्सक–पुं० । 'कित' रोगापनयने, स्वार्थे सन्, ण्वुल् । रोगापनयनकर्त्तरि वैद्ये, वाच० । स्था० ७ ठा० ।

तिगिच्छी–देशी–कमलरजसि, दे० ना० ५ वर्ग १२ गाथा ।

तिगुण–त्रिगुण–न० । त्रयाणां गुणानां समाहारः । साङ्ख्योक्ते प्रधाने, त्रिभिर्गुण्यते 'गुण' संख्याने, घञ् । त्रिभिर्गुणिते, त्रि० । वाच० । अनु० । जं० ।

तिगुणुक्कंड–त्रिगुणोत्कण्ड–त्रि० । त्रिगुणं त्रीन् वारान् यावत्स्वाबल्येन कण्डनं उत्कटं येषां ते त्रिगुणोत्कण्डाः । त्रीन् वारान् कण्डिते, पिं० ।

तिगुत्त–त्रिगुप्त–त्रि० । निमृञ्जिरट्टालकोच्छूनकशतघ्नीसंस्थानीयाऽऽदिभिर्मनोगुप्त्यादिगुप्तिभिर्गुप्तम् । मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात् समासः । दश० ६ अ० । मनोवाक्कायकर्मभिर्गुप्ते, ध० २ अधि० । दश० । पं० सू० । आव० । स० । गुप्ताऽऽत्मनि, स्था० ६ ठा० । तिस्रो गुप्तयो यत्र तत् त्रिगुप्तम्-मनसा सम्यक् प्रणिहितो,वाचाऽस्खलितान्यक्षराण्युच्चरन्, कायेनाऽऽवर्त्तानविराधयन् वन्दनकं करोति । प्रव० २ द्वार । दश० । मनोवाक्कायगुप्ते, अर्थात् अकुशलमनोवाक्कायप्रवृत्तिनिरोधिनि,एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायात् कुशलमनोवाक्कायोद्दीपके, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

तिगोण–त्रिकोण–त्रि० । त्रयः कोणा यस्य । त्रिकोटियुक्ते पदार्थे, वाच० । आ० म० ।

तिग्ग–तिग्म–न० । 'तिज्'-मग् । अस्य गः । तीक्ष्णे, तद्वति, त्रि० । वाच० । पं० सं० ।

तिग्घ–त्रिघ्न–न० । त्रिगुणिते, ध० २ अधि० ।

तिघरंतरिय–त्रिगृहान्तरिक–पुं० । त्रीणि गृहाणि अन्तरं भिक्षाग्रहणे येषां ते त्रिगृहान्तरिकाः । एकत्र गृहे भिक्षां गृहीत्वाऽभिग्रहविशेषाद् गृहत्रयमतिक्रम्य पुनर्भिक्षां गृह्णन्ति, न निरन्तरं, द्विगृहान्तरं वा । तेषु, औ० ।

तिचक्खु–त्रिचक्षुष्–पुं० । उत्पन्नज्ञानदर्शनधरे श्रमणे माहने, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

तिच्छुडिय–त्रिच्छुटित–त्रि० । त्रीन् वारान् छुटिते, रा० । औ० ।

तिट्ठाणकरणसुद्ध–त्रिस्थानकरणशुद्ध–त्रि० । त्रीणि स्थानानि उरःप्रभृतीनि, तेषु करणेषु क्रियायां शुद्धं त्रिस्थानकरणशुद्धम् । तस्मिन्, तद्यथा-" उरःशुद्धं, कण्ठशुद्धं, शिरोविशुद्धं च । तत्र यदि उरसि स्वरः स्वभूमिकानुसारेण विशालो भवति, तत उरोविशुद्धम् । स एव यदि कण्ठे वर्त्तितो भवति अस्फुटितश्च, ततः कण्ठविशुद्धम् । यदि पुनः शिरः प्राप्तः सन् सानुनासिको भवति, ततः शिरोविशुद्धम् । यदि वा यत् उरःकण्ठशिरोभिः श्लेष्मणाऽव्याकुलितैर्विशुद्धिर्गीयते, तत् उरःकण्ठशिरोविशुद्धत्वात् त्रिस्थानकरणविशुद्धम् । रा० । जं० । औ० ।

तिणइय–त्रिनयिक–न० । त्रिनयोपेते सूत्रे, यानि त्रैराशिकमतमवलम्ब्य द्रव्यास्तिकाऽऽदिनयत्रिकेण चिन्त्यन्ते । नं० ।

तिणय–त्रिनत–त्रि० । मध्यपार्श्वद्वयलक्षणस्थानत्रयेऽवनते, भ० ३ श० ६ उ० । औ० ।

तिणसूय-तृणशूक-पुं० । न० । तृणाग्रे, भ० १५ श० ।

तिणहत्थय-तृणहस्तक-न० । तृणपूलके, भ० ३ श० ३ उ० ।

तिणाम-त्रिनाम-न० । त्रिभेदे नाम्नि, तद्यथा-"से किं तं तिणामे ?। तिणामे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-दव्वणामे, गुणणामे, पज्जवणामे य ।" अनु० । "तं पुण णामं तिविहं, इत्थी पुरिसं णपुंसगं चेव ।" अनु० । (एषां नवानां प्ररूपणा 'लिंगतिय' शब्दे द्रष्टव्या)

तिणिस-तिनिश-पुं० । वृक्षविशेषे, दश० ६ अ० । जी० । नि० चू० । औ० । स्था० । ज्ञा० । मधुपटले, दे० ना० ५ वर्ग ११ गाथा ।

तिणु-तृण-न० । "स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे" ॥ ८।४।३२९ ॥ इति ऋकारस्थाने इकारोऽकारश्च भवति । तणु । तिणु । प्रा० ४ पाद । नडाऽऽदौ,घासे च । वाच० ।

तिण्ण-तीर्ण-त्रि० । अतिक्रान्ते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । पारं गते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । तीर्थकृत्सु, "तिण्णाणं तारयाणं ।" रा० । तीर्ण इव तीर्णः, संसारसागरमिति गम्यते । औ० । तीर्णवत्तीर्णः विशुद्धसम्यग्दर्शनाऽऽदिलाभात्प्रवाणमिति गम्यते । दश० १० अ० । विशे० । उत्त० । कल्प० । ज्ञा० । ज्ञानदर्शनचारित्रपोतेन भवार्णवं तीर्णवन्तस्तीर्णाः । स० । सर्वभयकृताः तीर्णाः परमदुस्तरम् (आ० म० १ अ० १ खण्ड । स० । जी०) संसारसागरं, भाविनि भूतवदुपचारात्तीर्णाः । आचा० १ श्रु० ७ अ० ६ उ० । सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रपोतेन भवार्णवं तीर्णवन्तस्तीर्णाः,न चैषां तीर्णानां पारगतानामावर्तः संभवति, तदभावे मुक्त्यसिद्धेः, एवं च न मुक्तः पुनर्भवे भवतीति तीर्णत्वसिद्धिः । ध० २ अधि० । एते चाऽऽवर्तकालकारणवादिभिरनन्ताशिष्यैर्भावतोऽतीर्णाऽऽश्च पठ्यन्ते,'काल एव कृत्स्नं जगदावर्तयती'ति वचनात् । एतन्निराकृत्याऽऽह-"तीर्णेभ्यः तारकेभ्यः।" ज्ञानदर्शनचारित्रपोतेन भवार्णवं तीर्णवन्तस्तीर्णाः, नैतेषां जीविताऽऽशंसनकृताभावः, निबन्धनाभावात्,न ह्यस्याऽऽयुष्कान्तरवद्भवाधिकारान्तरं,तद्भावेऽप्यन्तमरणवद् मुक्त्यसिद्धेः,नासिद्धौ च तद्भावेन जन्माभावः, हेत्वभावात्, न हि मृतस्तद्भावेन भवति, मरणभावविरोधात्, एतेन अत्याचसंनिदर्शनं प्रत्युक्तं, न्यायानुपपत्तेः, तदापत्तौ तदवस्थाभावेन परिणामान्तरायोगात्, अन्यथा तस्याऽऽवृत्तिरित्ययुक्तम्, तस्य तदवस्थानिबन्धनत्वात् । अन्यथा तद्धेतुकत्वोपपत्तेः, एवं न मुक्तः पुनर्भवे भवति, मुक्तत्वविरोधात्, सर्वथा भवाधिकारनिवृत्तिरेव मुक्तिरिति, तद्भावेन भावतस्तीर्णोऽऽदिसिद्धिः । (२८) ल० ।

तिण्णसंसार-तीर्णसंसार-त्रि० । लङ्घितभवोदधौ, पा० ।

तिण्हा-तृष्णा-स्त्री० । "सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्र-ह्न-क्ष्णां ण्हः" ॥ ८। २ । ७५ ॥ इति षकाराऽऽक्रान्तो हकारः । प्रा० १ पाद । पिपासायाम्, स० ४२ सम० ।

तितिक्ख-तितिक्ष-त्रि० । तितिक्षते सहते इति तितिक्षम् । परीषहाऽऽदिनि, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

तितिक्खण-तितिक्षण-न० । अधिसहने, स्था० ६ ठा० ।

तितिक्खमाण-तितिक्षमाण-त्रि० । अधिसहति, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

तितिक्खा-तितिक्षा-स्त्री० । सहने,सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । क्षमायाम, उत्त० १ अ० । ज्ञा० । आचा० । क्षुदादिपरीषहोपनिपातसहिष्णुतायाम्, द्वा० २७ द्वा० । परीषहोपसर्गसहनरूपायां शान्तौ. सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । परीषहोपसर्गाऽऽदिदुःखाधिक्षेपसहने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । परीषहभेदे, परीषहाऽऽदिजये तितिक्षा कार्या । आव० ४ अ० । क्षमा, तितिक्षा, क्रोधनिरोध इत्येकार्थाः । आ० चू० ४ अ० । उपा० । परीषहाऽऽदिजये, स० ३४ सम० ।

तितिक्षाद्वारमाह-

" इंदपुरिमिंददत्ते, बावीससुया सुरिंददत्ते य ।
महुराए जियसत्तू, सयंवरो निव्वुईए उ ॥ १ ॥
अग्गियए पव्वयए, बहुली तह सागरे य बोधव्वे ।
एगदिवसेण जाया, तत्थेव सुरिंददत्ते य" ॥ २ ॥
(कथा मनुष्यजन्मदृष्टान्तेषु द्रष्टव्या)

सुरेन्द्रदत्तकुमारस्य द्रव्यतितिक्षाभावे उपनयः-
" साधुकल्पः कुमारोऽत्र, कषायाश्चाग्निकाऽऽदयः ।
द्वाविंशतिकुमारास्तु, सुदुर्दान्ताः परीषहाः ॥ १ ॥
रागद्वेषौ पदाती तौ, वेध्या राधाऽभिसारिका ।
विशिष्टाऽऽराधना ज्ञेया, सिद्धिर्निर्वृतिदारिका " ॥ २ ॥ आ० क० । आव० । आ० चू० । ('इंददत्त' शब्दे द्वितीयभागे ५३७ पृष्ठे वृत्तम्)

तित्त-तिक्त-पुं० । श्लेष्माऽऽदिदोषहन्तरि निम्बाऽऽद्याश्रिते रसविशेषे, तथा च भिषक्शास्त्रम्-" श्लेष्माणमरुचिं पित्तं, तृषं कुष्ठं विषं ज्वरम् । हन्यात्तिक्तो रसो बुद्धेः,कर्ता मात्रोपसेवितः" ॥ १ ॥ अनु० । जं० । कर्म० । " एगे तित्ते । " स्था० १ ठा० । निम्बाऽऽदिवत्तिक्तरसोपेते, त्रि० । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । सं० । ज्ञा० । उत्त० । प्रज्ञा० । भ० । वरुणद्रुमे कुटजे, पुं० । वाच० ।

तित्तग-तिक्तक-पुं० । तिक्त-संज्ञायां कन् । भूनिम्बे, (चिरातां) चिरतिक्ते, कृष्णखदिरे,निम्बे,इङ्गुदीवृक्षे,तिक्तार्थे,वाच० । दश० । नि० चू० । पटोले, कटुतुम्ब्याम् , स्त्री० । टाप् । वाच० ।

तित्तणाम (ण्)-तिक्तनामन्-न० । रसनामभेदे, यदुदयाज्जीवशरीरं निम्बाऽऽदिवत्तिक्तं भवति । कर्म० १ कर्म० ।

तित्तरसणाम-तिक्तरसनाम-न० । रसनामभेदे, यदुदयवशाज्जन्तुशरीरेषु तिक्तो रसो भवति । यथा निम्बाऽऽदीनां तत्तिक्तरसनाम । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० ।

तित्तऽलाउय-तिक्तालाबुक-स्त्री० । कटुकतुम्बके, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

तित्तविसारण-तिक्तविसारण-न० । उज्जयन्तपर्वताऽऽसन्ने स्थलविशेषे, "गिरिवरमासन्नठिअं, अणीयं तित्तविसारणं नाम । सिलपट्टगाइपीढे, वे सक्खा तत्थ दुमाणं ॥१॥" ती० ३ कल्प ।

तित्ति-तृप्ति-स्त्री० । प्राप्तौ, विशे० । प्रश्न० । अष्ट० ।

पीत्वा ज्ञानामृतं भुक्त्वा, क्रियासुरलताफलम् ।
साम्यताम्बूलमासाद्य, तृप्तिं याति परां मुनिः ॥१॥
स्वगुणैरेव तृप्तिश्चे-दाकालमविनश्वरी ।
ज्ञानिनो विषयैः किं तै-र्यैर्भवेत् तृप्तिरित्वरी ॥२॥
या शान्तैकरसाऽऽस्वादा-द्भवेत्तृप्तिरतीन्द्रिया ।

सा न जिह्वेन्द्रियद्वारा, षड्रसाऽऽस्वादनादपि ॥३॥
संसारे स्वप्नवन्मिथ्या, तृप्तिः स्यादाभिमानिकी ।
तथ्या तु भ्रान्तिशून्यस्य, साऽऽत्मवीर्यविपाककृत् ॥४॥
पुद्गलैः पुद्गलास्तृप्तिं, यान्त्यात्मा पुनरात्मना ।
परतृप्तिसमारोपो, ज्ञानिनस्तन्न युज्यते ॥५॥
मधुराऽऽज्यमहाशाका-ग्राह्येऽशाह्ये च गोरसात् ।
परब्रह्मणि तृप्तिर्या, जनास्तां जानतेऽपि न ॥६॥
विषयोर्मिविषोद्गारः, स्यादतृप्तस्य पुद्गलैः ।
ज्ञानतृप्तस्य तु ध्यान-सुधोद्गारपरम्परा ॥७॥
सुखिनो विषयाऽतृप्ता:, नेन्द्रोपेन्द्राऽऽदयोऽप्यहो ! ।
भिक्षुरेकः सुखी लोके, ज्ञानतृप्तो निरञ्जनः ॥८॥
अष्ट० १० अष्ट० ।

तित्तिअ-तावत्-अव्य० । तत्परिमाणमस्य । त्रि० । वाच० । " यत्तदेतदोतोरित्तिअ एतल्लुक् च " ॥ ८ । २ । १५६ ॥ इति लक्षणात् परस्य डावादेरतोः परिमाणार्थस्य 'इत्तिअ' इत्यादेशो भवति । प्रा० २ पाद । साकल्ये, अवधौ, तत्परिमाणवति, त्रि० ।

तित्तिकंखि (ण्)-तृप्तिकाङ्क्षिन्-त्रि० । तृप्तिवाञ्छके, अष्ट० ६ अष्ट० ।

तित्तिर-तित्तिरि-पुं० । " तित्तिरौ रः " ॥ ८ । १ । ९० ॥ इति तित्तिरशब्दे रस्येतोऽत्त्वं भवति । प्रा० १ पाद । पक्षिविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रश्न० । उपा० । प्रज्ञा० ।

तित्तिरकरण-तित्तिरिकरण-न० । तित्तिरिमुद्दिश्य यत्र किञ्चित्क्रियते तथा यत्र स्थाप्यते एवंभूते स्थाने, आचा० ।

तित्तिरलक्खण-तित्तिरिलक्षण-न० । तित्तिरिस्वरूपप्रतिपादके ग्रन्थविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

तित्ती-देशी-सारे, दे० ना० ५ वर्ग ११ गाथा ।

तित्थ-तीर्थ-न० । तीर्यतेऽनेनेति तीर्थम् । द्रव्यतो नद्यादीनां समोऽनपायश्च भूभागो, जीवाऽऽदिप्रवचनं वा । भावतीर्थं तु सङ्घः । स्था० १ ठा० । आ० म० । आ० ।

अथ तीर्थशब्दार्थमाह-

तित्थं ति पुव्वभणियं, संघो जो नाणचरणसंघाओ ।
इह पवयणं पि तित्थं, तत्तोऽणत्थंतरं जेण ॥ १३८० ॥

तीर्यतेऽनेनेति तीर्थं पूर्वमेवाभ्युक्तम् । किमित्याह-सङ्घः । किंविशिष्टः ?, ज्ञानदर्शनचारित्रगुणसङ्घातः इह तु प्रवचनमपि तीर्थमुच्यते यस्मात्, ततः सङ्घात्तदपि श्रुतज्ञानरूपत्वादनर्थान्तरमेवेति ॥ १३८० ॥ विशे० ।

संप्रति तीर्थनिरूपणायाऽऽह-

नामं ठवणा-तित्थं, दव्वतित्थं चेव भावतित्थं च ।
एक्केक्कं पि य एत्तो-ऽणेगविहं होइ नायव्वं ॥

(नामं ति) नामतीर्थं, स्थापनातीर्थं, द्रव्यतीर्थं, भावतीर्थं च । (एत्तो त्ति) नामाऽऽदिनिक्षेपमात्रकरणादनन्तरमेकैकं नामतीर्थाऽऽदि अनेकविधं भवति ज्ञातव्यम् । तत्र नामतीर्थमनेकविधं, जीवाजीवविषयाऽऽदिभेदात् । स्थापनातीर्थं साकारानाकारभेदात् । द्रव्यतीर्थमागमाऽऽदिभेदात् ।

तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरतीर्थप्रतिपादनार्थमाह-

दाहोवसमं तण्हा-वुच्छेयण मलपवाहणं चेव ।
तिहिँ अत्थेहिँ निजुत्तं, तम्हा तं दव्वतो तित्थं ॥

इह ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं आगमतो नोआगमतो वा द्रव्यतीर्थं मागधवरदामाऽऽदि परिगृह्यते, बाह्यदाहाऽऽदेरेव तत्र उपशमभावात् । तथा चाऽऽह-दाहोवसममिति । दाहो बाह्यः संतापः, तस्य उपशमो यस्मिन् तद् दाहोपशमम् । (तण्हावुच्छेयणं ति) तृषः पिपासायाः छेदनं, जलसंधानेन तद्गमनात्, तथा मलो बाह्योऽङ्गसमुत्थः, तस्य प्रवाहणं-प्रवाह्यतेऽनेनेति प्रवाहणं, अम्भसा तस्य प्रक्षालनत्वात् । एवं त्रिभिरर्थैः करणभूतैर्नियुक्तं निश्चयेन युक्तं प्ररूपितम् । यद्वा-प्राकृतत्वात् सप्तम्यर्थे तृतीया । त्रिष्वर्थेषु नियोजनं यस्माद् बाह्यदाहाऽऽदिविषयमेव तस्मात् मागधाऽऽदि द्रव्यतस्तीर्थं, मोक्षसाधकत्वाभावात् ।

संप्रति भावतीर्थमधिकृत्याऽऽह-

कोहम्मि उ निग्गहिए, दाहस्सोवसमणं हवइ तत्थं ।
लोहम्मि उ निग्गहिते, तण्हाए छेयणं होइ ॥
अट्ठविहं कम्मरयं, बहुएहिँ भवेहिँ संचियं जम्हा ।
तवसंजमेण धुव्वइ, तम्हा तं भावतो तित्थं ॥

इह भावतीर्थमपि आगमनोआगमभेदतोऽनेकप्रकारं, तत्र नोआगमतो भावतीर्थे क्रोधाऽऽदिनिग्रहसमर्थं प्रवचनमेव गृह्यते । तथा चाऽऽह-क्रोधे एव निगृहीते दाहस्य द्वेषानलजातस्यान्तः प्रशमनं भवति तथ्यं निरुपचरितं, नान्यथा । तथा लोभ एव निगृहीते (तण्हाए छेयणं होति त्ति) तृषोऽभिष्वङ्गलक्षणस्य छेदनं व्यपगमो भवति । तथाऽष्टविधमष्टप्रकारं कर्मैव जीवानां रञ्जनात् कर्मरजः, बहुभिर्भवैः संचितं तपःसंयमेन धाव्यते शोध्यते यस्मात्तस्मात्तत्प्रवचनं भावतीर्थम् ।

दंसणनाणचरित्ते-स्सु निउत्तं जिणवरेहिँ सव्वेहिँ ।
एएण होइ तित्थं, एसो अण्णो वि पज्जाओ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रेषु नियुक्तं नियोजितं सर्वैः ऋषभाऽऽदिभिः, जिनवरैस्तीर्थकृद्भिर्यस्मादित्थंभूतेषु त्रिष्वर्थेषु नियुक्तं तस्मात्तत्प्रवचनं भावतीर्थम् । अथवा-येन कारणेनेत्थंभूतेषु त्रिष्वर्थेषु नियुक्तमेतेन कारणेन प्रवचनं भावतस्त्रिस्थम्, एष त्रिस्थलक्षणस्तीर्थशब्दापेक्षयाऽन्यः पर्यायः । आ० म० द्वि० २ अ० ।

अथ तीर्थशब्दार्थमाह-

तिज्जइ जं तेण तहिं, तओ व तित्थं तयं च दव्वम्मि ।
सरियाईणं भागो, निरवायो तम्मि य पसिद्धे ॥१०२६॥
तरिया तरणं तरिय-व्वं च सिद्धाणि तारओ पुरिसो ।
बाहाउ नाइ तरणं, तरणिज्जं निन्नयाईयं ॥ १०२७ ॥

यद् यस्मात्तीर्यते द्रुत्तरं वस्तु तेन तस्मिन्नतो वेत्यतस्तीर्थमुच्यते । तच्च नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्विधम् । तत्र नामस्थापने सुगमे । द्रव्ये द्रव्यभूतमप्रधानभूतं सरित्समुद्राऽऽदीनां निरपायः कोऽपि नियतो भागः प्रदेशस्तीर्थमुच्यते । तस्मिंश्च प्रसिद्धे सिद्धे सत्यस्याऽऽर्हतिकशब्दस्यादेतानि नियमात्सिध्यन्ति ।

कानि ?, इत्याह-तरिता पुरुषः, तरणं बाहुडुपाऽऽदि, तरणीयं तु निम्नगाऽऽदिकमिति ॥ १०२७ ॥

कथं पुनरिदं द्रव्यतीर्थमित्याह-

देहाइतारयं जं, बज्झमलावणयणाइमेत्तं च ।
णेगंताऽणचंतिय-फलं च तो दव्वतित्थं तं ॥ १०२८ ॥

यस्मादिदं देहाऽऽदिकमेव द्रव्यमात्रं तारयति-नद्यादिपरकूलमात्रं नयति, न पुनर्जीवं संसारसमुद्रस्य मोक्षलक्षणं परकूलं प्रापयति, अतोऽप्रधानत्वाद् द्रव्यतीर्थम् । तथा बाह्यमेव मलाऽऽदिद्रव्यमात्रमपनयति, न त्वन्तरङ्गं प्राणातिपाताऽऽदिजन्यकर्ममलम् । तथा-अनैकान्तिकफलमेवेदं नद्यादितीर्थं, कदाचिदनेन नद्यादेस्तरणात्, कदाचित्तु तत्रैव मज्जनात् । तथाऽनात्यन्तिकफलं चेदम् । तथाहि-एकदाऽनेन तीर्णमपि नद्यादिकं पुनरपि च तीर्यत इत्यनात्यन्तिकफलत्वम् । आत्मना चाऽस्य नद्यादितीर्थस्य द्रव्यमात्रत्वेनाप्रधानत्वात् सर्वत्र द्रव्यतीर्थत्वं भावनीयमिति ॥ १०२८ ॥

इह केषाञ्चिन्मतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

इह तारणाऽऽइफलयं, ति एहाणपाणाऽवगाहणाऽऽईहिं ।
भवतारयं ति केई, तं नो जीवोवघायाओ ॥ १०२९ ॥
मूणंग पि व तमुदू-हत्तं व न य पुण्णकारणं एहाणं ।
ण य जइजोग्गं मं म-दणं व कामंगभावाओ ॥ १०३० ॥

इह केचित्तीर्थिका मन्यन्ते-नद्यादेः संबन्धि द्रव्यतीर्थं किल स्नानपानावगाहनाऽऽदिभिर्विधिवदासेव्यमानं भवतारकं संसारमहामकराऽऽलयपारप्रापकं भवत्येव । कुतः ?, तारणाऽऽदिफलमिति कृत्वा-शरीरसंतारण-मलक्षालन-तृड्व्यवच्छेद-दाहोपशमाऽऽदिफलत्वादित्यर्थः । अनेन चाध्यक्षसमीक्षितदेहतारणाऽऽदिफलेन परोक्षस्यापि संसारतारणफलस्यानुमीयमानत्वादिति भावः । तदेतन्नोपपद्यते, स्नानाऽऽदेर्जीवोपघातहेतुत्वात्, पशुघातादिमेधमुशलाऽऽदिवदिति । एतदुक्तं भवति-जीवोपघातहेतुत्वाद् दुर्गतिफला एव स्नानाऽऽदयः, कथं नु भवतारकास्ते भवेयुः, सूनाबध्यशूल्यादीनामपि भवतारकत्वप्रसङ्गादिति ? । इतश्च-नद्यादि तीर्थं भवतारकं न भवति, सूनाङ्गत्वात्-सूनाप्रकारत्वात्, उदूखलाऽऽदिवदिति । न च पुण्यकारणं स्नानं, नापि यतिजनयोग्यं तत्, कामाङ्गत्वात्, मदनवत्, अन्यथा ताम्बूलभक्षणपुष्पचन्दनदेहाऽऽदिधूपनाऽञ्जनाऽऽदयोऽपि च भुजङ्गाऽऽदीनां पुण्यहेतवः स्युः । न च देहतारणाऽऽदिमात्रफलदर्शनेन विशिष्टं भवतारणाऽऽदिकं फलमुपपद्यते, नियामकाभावात्, प्रत्यक्षीकृतप्राण्युपमर्दबाधितत्वाच्च, इत्याद्यभ्यूह्य स्वधियाऽत्र दोषजालमभिधानीयमिति ॥ १०२९ ॥ १०३० ॥

अथ परो ब्रूयात्किमित्याह-

देहोवगारि वा ते-ण तित्थमिह दाहनासणाऽऽईहिं ।
महुमज्जमंसवेस्साऽऽ-इओ वि तो तित्थमावन्नं ॥ १०३१ ॥

यदि परको मन्येत-आहु:-जलाऽऽदिकं तीर्थमेव, दाहनाशपिपासोपशमाऽऽदिभिर्देहोपकारित्वात् । अत्रोच्यते-एवं सति ततो मधुमद्यमांसवेश्याऽऽदयोऽपि तीर्थमापद्यन्ते, तेषामपि देहोपकारित्वाविशेषादिति । उक्तं द्रव्यतीर्थम् ॥ १०३१ ॥

अथ भावतीर्थमाह-

भावे तित्थं संघो, सुयविहियं तारओ तहिं साहू ।
नाणाऽऽइतियं तरणं, तरियव्वं भवसमुद्दोऽयं ॥ १०३२ ॥

भावे भावविषयं, श्रुतविहितं श्रुतप्रतिपादितं, संघस्तीर्थं, तथा च भगवत्यामुक्तम्-"तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थयरे तित्थं ? । गोयमा ! अरहा ताव नियमा तित्थंकरे, तित्थं पुण चाउव्वण्णो समणसंघो ।" इति । इह च तीर्थसिद्धौ तारकाऽऽदयो नियमादाक्षिप्यन्त एव । तत्रेह संघे तीर्थे तद्विशेषभूत एव तारकः साधुः, ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकं पुनस्तरणं, तरणीयं तु भवसमुद्रः । इह च तीर्थतारकाऽऽदीनां परस्परतो-अन्यता, अनन्यता च विवक्षावशतो बोद्धव्या । तत्र सम्यग्दर्शनाऽऽदिपरिणामाऽऽत्मकत्वात् संघः तीर्थं, तदाश्रितानामवश्यं भवोदधितरणात् । तद्विशेषभूतत्वात् तदन्तर्गत एव साधुस्तारकः, सम्यग्दर्शनाऽऽद्यनुष्ठानात् । साधकतमत्वेन तत्करणरूपतामापन्नं ज्ञानाऽऽदित्रयं तु तरणम् । तरणीयं त्वौदयिकाऽऽदिभावपरिणामाऽऽत्मकः संसारसमुद्र इति ॥ १०३२ ॥

कस्मात् पुनः संघो भावतीर्थमित्याह-

जं नाणदंसणचरि-त्तभावओ तव्विवक्खभावाओ ।
भवभावओ य तारे-इ तेण तं भावओ तित्थं ॥ १०३३ ॥

यद् यस्मात्तारयति पारं प्रापयति तेन तत् संघलक्षणं भावतस्तीर्थमिति संबन्धः । कुतस्तारयतीत्याह-तद्विपक्षभावादिति-तेषां ज्ञानदर्शनचारित्राणां विपक्षो-अज्ञानमिथ्यात्वाऽविरमणानि तद्विपक्षः, तल्लक्षणो भावो जीवपरिणामः तद्विपक्षभावः, तस्मात्तारयति । कुतः ?, इत्याह-ज्ञानदर्शनचारित्रभावतः ज्ञानाऽऽद्यात्मकत्वादित्यर्थः । यो हि ज्ञानाऽऽद्यात्मको भवति सोऽज्ञानाऽऽदिभावात्परं तारयत्येवेति भावः । न केवलमज्ञानाऽऽदिभावात्तारयति । तथा भवभावतश्च तारयति, भवः संसारस्तत्र भवनं भावस्तस्मादित्यर्थः । यस्मात्स्वयं ज्ञानाऽऽदिभावाऽऽत्मकः, तथाऽज्ञानाऽऽदिभावाद्भवभावाच्च भव्यांस्तारयति, तस्मादसौ संघो भावतीर्थमितीह तात्पर्यम् ।

उक्तं च-

" रागाऽऽद्यम्भः प्रमादव्यसनशतचलद्दीर्घकल्लोलमालः,
क्रोधेर्ष्यावाडवाग्निर्मृतिजननमहामत्स्यचक्रौघरौद्रः ।
तृष्णापातालकुम्भो भवजलधिरयं तीर्यते येन तूर्णं,
तद् ज्ञानाऽऽदित्रयात्मं कथितमिह सुरेन्द्रार्चितैर्भावतीर्थम् ॥ १ ॥"

इति ॥ १०३३ ॥

अपरपर्यन्तरमाह-

तह कोहलोहकम्मम-यदाहतण्हामलावणयणाई ।
एगंतेणऽच्चंतं, च कुणइ सुद्धिं भवोघाओ ॥ १०३४ ॥

तथा क्रोधश्च, लोभश्च, कर्म च, तन्मयास्तत्स्वरूपा यथासंख्यं ये दाहतृष्णामलाः । क्रोधो हि जीवानां मनःशरीरसंतापजनकत्वाद्दाहः, लोभस्तु विजयविषयपिपासाऽऽविर्भावकत्वात् तृष्णा, कर्म पुनः पयःतन्दुलकलशादिदोषरसवत्तोऽप्यनुगुण्ठनेन मालिन्यहेतुत्वाद् मलः, अतस्तेषां क्रोधलोभकर्ममयानां दाहतृष्णामलानां यदेकान्तेनात्यन्तं चापनयनानि करोति । तथा कर्मकचवरमलिनाद्भवौघात् संसाराणवनीरप्रवाहात् परकूलं नीत्वा शुद्धिं कर्मततापनयनलक्षणां यतः करोति, तेन तत्संघलक्षणं भावतस्तीर्थमिति पूर्वसम्बन्धः । अपरमपि नद्यादितीर्थं दुष्कालैकान्तिकानात्यन्तिकदाहतृष्णामलापन-

थयनं विदधाति। एतत्तु संघतीर्थमनादिकालालीनत्वेनानन्तानां दाहतृष्णामलानामैकान्तिकमात्यन्तिकं चापनयनं करोति, अतः प्रधानत्वाद्भावतीर्थमुच्यते, नद्यादितीर्थं त्वप्रधानत्वाद् द्रव्यतीर्थमिति भावः ॥ १०३४ ॥

अथवा प्राकृते " तित्थं " इत्युक्ते त्रिस्थमित्येतदपि लभ्यते, इत्येतदाह-

दाहोवसमाऽऽइसु वा, जं तिसु थियमहव दंसणाऽऽईसु ।
तो तित्थं संघो च्चिय, उभयं व विसेसणविसेस्सं ॥१०३५॥

अथवा यथासंख्येनोक्तदाहोपशमतृष्णाच्छेदमलक्षालनरूपेषु, यदि वा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणेषु त्रिष्वर्थेषु स्थितं तत-स्त्रिस्थं संघ एव, उभयं वा संघत्रिस्थलक्षणविशेषणविशेष्य-रूपं द्वयं त्रिस्थम् । इदमुक्तं भवति-किं त्रिस्थं ?-संघः, कश्च संघः ?-त्रिस्थं, नान्यः, इत्येवं विशेषणविशेष्ययोरुभयं संमीलितं त्रिस्थमुच्यत इति ॥ १०३५ ॥

अथवा प्राकृते 'तित्थं' इत्युक्ते त्र्यर्थमित्यपि लभ्यते, इत्येतद्दर्शयन्नाह-

कोहग्गिदाहसमणा-दओ व ते चेव जस्स तिण्णऽत्था ।
होइ तियत्थं तित्थं, तमत्थसद्दो फलत्थोऽयं ॥ १०३६ ॥

क्रोधाग्निदाहोपशमलोभतृष्णाव्यवच्छेदकर्ममलक्षालनलक्षणा-स्त एवानन्तरोक्तास्त्रयोऽर्थाः फलरूपा यस्य तत्त्र्यर्थं, तच्च संघ एव, तद्व्यतिरिक्तं ज्ञानाऽऽदित्रयं वा त्र्यर्थं प्राकृते तित्थमुच्यते । अर्थशब्दश्चायं फलार्थो मन्तव्यः। इदमुक्तं भवति-भगवान् संघः, तद्व्यतिरिक्तज्ञानाऽऽदित्रयं वा महातरुरिव भव्यैर्निषेव्यमाणं क्रोधाग्निदाहशमनाऽऽदिकांस्त्रीनर्थान् फलत्यतस्त्र्यर्थमुच्यत इति ॥ १०३६ ॥

अथवा वस्तुपर्यायोऽत्रार्थशब्द इत्याह-

अहवा सम्मद्दंसण-नाणचरित्ताइ तिण्णि जस्सऽत्था ।
तं तित्थं पुव्वोइय-मिह अत्थो वत्थुपज्जाओ ॥१०३७॥

अथवा सम्यग्दर्शनाऽऽदयस्त्रयोऽर्था यस्य तत्त्र्यर्थम्, अर्थशब्दश्चात्र वस्तुपर्यायः, त्रिवस्तुकमित्यर्थः। तच्च संघ एव, तदव्यतिरिक्तत्वात्, त एव वा सम्यग्दर्शनाऽऽदयस्त्रयोऽर्थाः समाहृताः त्र्यर्थं, संख्यापूर्वत्वात्, स्वार्थत्वाच्च द्विगोरिति ॥ १०३७ ॥

तदेवं संघो भावतस्तीर्थं, त्रिस्थं, त्र्यर्थं चेति प्रतिपाद्य साम्प्रतमिदमेव जैनं तीर्थमभिप्रेतार्थसाधकं, नान्यदिति प्रमाणतः प्रतिपादयन्नाह-

इह सम्मसद्धाणा-णुलद्धिकिरियासभावओ जइणं ।
तित्थमभिप्पेयफलं, सम्मपरिच्छेयकिरिय व्व ॥ १०३८॥

इह जैनमेव तीर्थमभिप्रेतार्थसाधकमिति प्रतिज्ञा, सम्यक्श्रद्धानोपलब्धिक्रियास्वभावत्वात्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽत्मकत्वादित्यर्थः । इह यत् सम्यक्श्रद्धानोपलब्धिक्रियाऽऽत्मकं तदिष्टार्थसाधकं दृष्टं, यथा सम्यक्परिच्छेदवती रोगापनयनक्रिया, यच्चेष्टार्थसाधकं न भवति, तत् सम्यक्श्रद्धानोपलब्धिक्रियाऽऽत्मकमपि न भवति, यथोन्मत्तप्रयुक्तक्रिया, तथा च शेषतीर्थानि । इदमुक्तं भवति-यथा कस्यचिन्निपुणवैद्यस्य सम्यग् रोगाऽऽदिस्वरूपं विज्ञाय विशुद्धश्रद्धानवत् आतुरस्य सम्यगौषधप्रयोगाऽऽदिक्रियां कुर्वतोऽभिप्रेतार्थसिद्धिर्जायते, एवं जैनतीर्थादपीति ॥ १०३८ ॥

अन्यतीर्थान्यप्येवंविधानि भविष्यन्ति ?, नेत्याह-

नाभिप्पेयफलाइं, तयंगविगलत्तओ कुतित्थाइं ।
विगलनयत्तणओ च्चिय, विगलाइं विगलकिरिय व्व ॥१०३९॥

सुगताऽऽदिप्रणीतानि कुतीर्थानि नाभिप्रेतफलानि। कुतः ?, इत्याह-(तयंगेत्यादि) तस्याभिप्रेतार्थस्याङ्गानि तदङ्गानि सम्यग्ज्ञानाऽऽदीनि कारणानि, तद्विकलत्वात्तद्रहितत्वात्, नयविकलत्वाच्च विकलानि तानि। सर्वैरेव ह्येकांशग्राहिभिर्नयैर्मिलितैः संपूर्णमनन्तधर्माऽऽत्मकं वस्तु निश्चीयते, शेषतीर्थानि त्वेकद्व्यादिनयमार्गमनावलम्बित्वेन समग्रनयविकलान्येवेति तानि नयविकलानि, ततो न सम्पूर्णाभिप्रेतफलस्य साधकानीत्यर्थः । विकलक्रियावदिति, यथा भिषक्प्रतीचारकाऽऽतुरौषधाऽऽद्यन्यतराङ्गविकला क्रिया न संपूर्णाभिप्रेतफलसाधनी, तथा कुतीर्थान्यपीति । तदेवं यथोक्तप्रकारेण द्रव्यभावतीर्थप्ररूपणा कृता ॥ १०३९ ॥

अथ प्रकारान्तरेण तत्प्ररूपणां कर्तुमाह-

अहव सुहोतारुत्त-रणाइ दव्वे चउव्विहं तित्थं ।
एवं चिय भावम्मि वि, तत्थाऽऽइमयं सरक्खाणं ॥१०४०॥
तच्चण्णियाणं बीयं, विसयसुहकुसत्थभावणाधणियं ।
तइयं च बोडियाणं, चरिमं जइणं सिवफलं तु ॥१०४१॥

इह द्रव्यतीर्थे चत्वारो भङ्गाः । तद्यथा-सुखावतारं सुखोत्तारम्, सुखावतारं दुरुत्तारम्, दुःखावतारं सुखोत्तारम्, दुःखावतारं दुरुत्तारम् ।४। एवं भावतीर्थेऽपीयं चतुर्भङ्गी द्रष्टव्या । इह च यत्र सुखेनैवावतरन्ति प्रविशन्ति प्राणिनस्तत्सुखावतारम्, सुखेनैव यत उत्तरन्ति-सुखेनैव यद् मुञ्चन्तीत्यर्थः, तत्सुखोत्तारम्; इत्याद्यत्रभङ्गवर्तितीर्थभावार्थः । एवमन्यत्रापि । एतच्च सरजस्कानां शैवानां सम्बन्धि वेदितव्यम् । तथाहि-रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गमनोवाक्कायजयाऽऽदिलक्षणस्य तथाविधदुष्करकष्टानुष्ठानस्य तैः क्रियमाणस्यादर्शनात्, यथा कथञ्चित्स्वरूपतयाऽपि च नैवं तत्परिपालनस्याभिधानात्सुखेनैव प्राणिनस्तद्दीक्षां प्रतिपद्यन्ते, इति तत्तीर्थस्य सुखावतारता । तच्छास्त्रेषु च न तथाविधाऽऽत्मतत्त्वभावना काचिन्निपुणा युक्तिरस्ति, यद्वासितान्तरात्मा पुमांस्तद्दीक्षां न परित्यजेत् । किं च-" शैवो द्वादश वर्षाणि, व्रतं कृत्वा ततः परम् । यद्यशक्तस्त्यजेद्वापि, यागं कृत्वा व्रतेश्वरे ॥१॥ " इत्यादिना दीक्षात्यागस्य तैर्निर्दोषतयाऽप्यभिधानात्सुखेनैव तद्दीक्षां जन्तवः परित्यजन्ति, इति तत्तीर्थस्य सुखोत्तारतेति १। द्वितीयभङ्गवर्ति तीर्थं (तच्चण्णियाणं ति) सुगतानां संबन्धि मन्तव्यम् ।

तथाहि-

" मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया,
भक्तं मध्ये पानकं चाऽपराह्णे ।
द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे,
मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥ १ ॥ "
" मणुन्नं भोयणं भोच्चा, मणुन्नं सयणाऽऽसणं ।
मणुन्नंसि अगारंसि, मणुन्नं झायए मुणी ॥ १ ॥ "

इत्यादेस्तैरभिधानतो विषयसुखासिद्धेस्तत्तीर्थस्य सुखावतारता । तथा-कुशास्त्रोक्तनिपुणयुक्तिभिस्तीव्रवासनोत्पादात्, तत्त्यागे च तैर्महतः संसारदण्डाऽऽदेः प्रतिपादनात्, तत्सम्यगुपगृहीतमतस्य दुष्परित्याज्यत्वात्तत्तीर्थस्य दुरुत्तारता। इमां च युक्तिं भाष्यकारः स्वयमेव किञ्चिदाह-"विसयसुह" इत्यादि गताथंच २।

दुःखावतारं सुखोत्तारमिति तृतीयं बोटिकानां दिगम्बराणाम् । तत्र नाग्न्यादेराज्ञाऽऽदिहेतुत्वेन दुष्प्रापवसेयत्वात्तत्तीर्थस्य दुःखावतारता । अनेषणीयपरिभोगकषायवाहुल्याऽऽदेस्तद्-भ्रमञ्चलदर्शनात्, नाग्न्यादेश्चातिभञ्जनीयत्वेन तत्परजन्मानां तत्तीर्थस्य सुखोत्तारतेति ३ । दुःखावतारं दुरुत्तारमिति चरमं चतुर्थं मोक्षफलम् । जैनानां साधूनां रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाऽऽदिजयस्य, तथाऽप्रमत्ततया सामितिगुप्तिशिरोलुञ्चना-ऽऽदिकष्टाऽनुष्ठानस्य दर्शनात् तत्तीर्थस्य दुःखावतारता । सुखाशीलकानि दुष्पदुःखिभिस्तीव्रनरकादिसमोत्पादनात्, अतस्थाने चातिमहतः संसाराऽऽदिवृक्षरूपस्याजिघांसत्तीर्थस्य दुरुत्तारता ।४। अन्ये तु सुखोत्तारतां दुरुत्तारतां च सर्वत्र मुक्तिप्राप्तिमाश्रित्य व्याचक्षते, तत्र सरजस्कानां स्वरूपेणैवेश्वराज्ञानुष्ठानेन किल मुक्तिप्राप्त्यभ्युपगमात्सुखोत्तारं तीर्थं,सुखेनैवास्मात्कृतार्थत्वमुत्तरन्तीति व्युत्पत्तेः । शाक्यानां तु दुरवापविशिष्टध्यानमार्गाद् योगिज्ञानोत्पत्त्यादिक्रमेण मुक्तिप्राप्त्यभ्युपगमाद् दुःखोत्तारता । ' दुःखेनास्मात्संसारमुत्तरन्ति ' इति कृत्वा । बोटिकानां तु नि-ष्काशुक्लादीनां गौणत्वेनाभ्युपगमाद्वाह्यलक्षणनिर्ग्रन्थत्वमात्रा-देव मुक्त्यभ्युपगमात्सुखोत्तारता । साधूनां तु पूर्वोक्तकष्टानु-ष्ठानाद् मुक्त्याश्रयणाद् दुरुत्तारता । अवतारपक्षे तु सर्वत्र पूर्वोक्तैव भावना; इत्यलं विस्तरेणेति ॥ १०४० ॥ १०४१ ॥

अत्र प्रेरकः प्राऽऽह-

नणु जं दुहावयारं, दुक्खोत्तारं च तं दुरहिगम्मं ।
लोयम्मि पूज्यं जं, सुहावयारं सुहुत्तारं ॥ १०४२ ॥

ननु यद् दुःखावतारं च दुरुत्तारं च तीर्थं तद् दुरधिगम्यम्, एवंभूतं च जैनतीर्थं भवद्भिः प्रतिपादितम् । एतच्चायुक्तम्,एवं-भूतत्तीर्थस्य तरणक्रियाविधावनिस्तरणानिष्टार्थप्रसाधकत्वात्, लोकप्रतीतिबाधितत्वाच्च । तथा चाऽऽह-लोके हि यत्सुखावतारं सुखोत्तारं च तीर्थं, तत्पूजितं तदेवोपादेयम्, तरणक्रियाऽनुकूल्येनेष्टार्थप्रसाधकत्वात् । तस्मात् प्रथम एव भङ्गः श्रेयान्, इति प्रेरकाऽभिप्राय इति ॥ १०४२ ॥

अत्रोत्तरमाह-

एवं तु दव्वतित्थं, भावे दुक्खं हियं लभइ जीवो ।
मिच्छत्तऽण्णाणऽविरई-विसयसुहभावणाणुगओ ॥ १०४३ ॥
पडिवण्णो पुण कम्मा-णुजावओ जावओ परमसुक्खं ।
किह मोच्छिइ जाणंतो,परमहियं दुक्करं च पुणो ॥ १०४४ ॥

सत्यम्,द्रव्यतीर्थमेवमेवेष्यते यथैव त्वं ब्रूषे,तस्य सुखप्राप्यत्वात्, सुखेनैव च मुक्तत्वमास्वादिति । भावतीर्थे तु नैवम्, तस्य मोक्षहेतुत्वेन जीवानां परमहितत्वात् । यच्च मोक्षहेतुत्वेन हितं तद् दुःखं लभते जीवः-महता कष्टेन तज्जीवः प्राप्नोतीत्यर्थः। कथंभूतो यस्मादेष जीवः ?, इत्याह-(मिच्छत्त इत्यादि) मिथ्यात्वादिकालानन्तमिथ्यात्वाज्ञानाविरतिविषयसुखभावनाऽनुगतो जीवः, तस्मादित्थंभूतस्य जीवस्यानन्तसंसारदुःखव्यवच्छेदहेतुत्वान्निःसीमनिःश्रेयसाभिलाषिकत्वात्वाच्च परमहितं भावतीर्थमतिदुरवापत्वात् पूर्वोक्तकष्टानुष्ठानयुक्तत्वाच्च दुःखावतारम्, तथा-दुरुत्तारं च । कुतः ?, इत्याह-(पडिवण्णो इत्यादि) शुभकर्मपरिणत्यनुभावतः पुनः कथमपि परमसुखं भावतीर्थं भावतः परमार्थतः प्रतिपन्नो जीवः ' परमहितं दुर्लभं च

पुनरपि ' एतज्जानन्नपि कथं नु नाम तन्मोक्ष्यति ?-कथं तत उत्तरिष्यति ?, न कथञ्चिदित्यर्थः । अतो दुरुत्तारता तस्येति । किञ्च-सद्वैद्यप्रयुक्तकर्कशक्रियोदाहरणतश्च भावतीर्थस्य दुःखावतारोत्तारता भावनीया ॥ १०४३ ॥ १०४४ ॥

कथम् ?, इत्याह-

अइकक्खडं व किरियं, रोगी दुक्खं पवज्जए पढमं ।
पडिवण्णो रोगक्खय-मिच्छंतो मुंचए दुक्खं ॥ १०४५ ॥
इय कम्मवाहिमहिओ, संजमकिरियं पवज्जए दुक्खं ।
पडिवण्णो कम्मक्खय-मिच्छंतो मुंचए दुक्खं ॥ १०४६ ॥

गाथाद्वयमपि सुबोधम् ॥ १०४५ ॥ १०४६ ॥ विशे० । (जम्बूद्वीपतीर्थवक्तव्यता 'जंबुद्दीव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १२७४ पृष्ठे गता)

तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थगरे तित्थं ?। गोयमा ! अरहा ताव णियमा तित्थगरे, तित्थं पुण चाउव्वण्णाइण्णे समण-संघे । तं जहा-समणा, समणीओ, सावया, सावि-याओ य ।

(तित्थं भंते ! इत्यादि) तीर्थं भदन्त ! (तित्थं ति) तीर्थशब्दवाच्यम्, उत तीर्थकरस्तीर्थं तीर्थशब्दवाच्यम् ?, इति प्रश्नः । अत्रोत्तरम्-अर्हन् तीर्थकरस्तावत्तीर्थप्रवर्त्तयिता, न तु तीर्थम् । तीर्थं पुनः (चाउव्वण्णाइण्णे समणसंघे त्ति) चत्वारो वर्णा यत्र स चतुर्वर्णः, स चासावाकीर्णश्च क्षमाऽऽदिगुणैर्व्याप्तश्चतुर्वर्णाऽऽकीर्णः । क्वचित्-" चउव्वण्णे समणसंघे " इति पठ्यते,तच्च व्यक्तमेवेति । भ० २० श० ८ उ० । ('आणा' शब्दे द्वितीयभागे ११६ पृष्ठे तीर्थविचारो द्रष्टव्यः) " भूर्भुवःस्वस्त्रयीतीर्थं, यत्किञ्चिन्नाम विद्यते । तत्सर्वमेव दृष्टं स्यात्, पुण्डरीकेऽभिवन्दिते ॥ १ ॥ " ती० १ कल्प । तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थम् । रा० । पञ्चा० । स० । आ०म० । स० । आ० चू० । संसारसागरं तरन्ति येन तत्तीर्थम् । नं० । " द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः " ॥ ८ । २ । ९० ॥ इति द्वितीयस्योपरि प्रथमः । प्रा० २ पाद । " ह्रस्वः संयोगे " ॥ ८ । १ । ८४ ॥ इति दीर्घस्य ह्रस्वः । प्रा० १ पाद । प्रवचने, आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ० चू० । संसारसागरतारणकारणाभ्याज्ञानाऽऽदौ, स० ३० सम० । तदाधाराऽऽशायत्तारमार्गे, स्था० १० ठा० । श्रीवीरतीर्थे कियत्कालं यावद् भवतीति प्रश्ने, उत्तरम्-"जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुप्पिया ! एं केवतिअं तित्थं अणुसज्जिस्सइ ?। " इति भगवतीसूत्रस्यैकविंशतितमशतकाष्टमोद्देशकानुसारेणैकविंशतिसहस्रवर्षाणि यावत् श्रीवीरतीर्थं प्रवर्तिष्यते । किञ्च-"तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थयरे तित्थं ?। गोयमा ! अरहा ताव नियमा तित्थकरे,तित्थं पुण चाउवण्णाइण्णे समणसंघे । तं जहा-समणा,समणीओ, सावगा,साविआओ य । " इति भगवत्यां "दुप्पसहंते चरणं, जाणियं जं भगवया इहं खेत्ते । आणाजुत्ताणमिणं, ण होइ अहुण त्ति वामोहो " ॥ १ ॥ इत्युपदेशपदवचनाद् दुःप्रसहान्तं यावत्तावद् भविष्यतीति । १० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । प्रत्युत्पाकेवलिनस्तीर्थे भवन्ति, तीर्थविच्छेदे वा भवन्ति ?, तथा पाक्षिकसूत्रवृत्तावनीर्थऽन्तकृत्केवलिनो भूत्वा सिद्ध्यन्ति, भगवत्यां च नवमशतके तदाश्रित्य "तप्पक्खियसावयस्स तप्पक्खियसावियाए वा" इत्यत्र धर्मोपदेशं न ददते एवं प्रसंज्ञात-

मेकं च मुक्तवेत्यभिप्रायेणाऽश्रुत्वाकेवलिनस्तीर्थे एव भवन्ति ?। अन्यच्चाश्रुत्वाकेवलिनः पञ्चदशभेदभिन्नानां सिद्धानां मध्ये कस्मिन् भेदे समायान्ति ?, तैनतद्विषये सर्वं सविस्तरं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-अश्रुत्वाकेवलिनः श्रीभगवतीसूत्रवृत्त्यनुसारेण तीर्थे एव भवन्ति, नातीर्थे। पाक्षिकसूत्रवृत्तौ तु अतीर्थसिद्धाधिकारे एते उक्ता(न)सन्तीति;तथा तीर्थसिद्धाऽऽदमध्ये यथासंभवमवतरन्तीति। ३८२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तीर्थे यात्रिकेराऽऽदि स्वयं मानितं,तदेव मुच्यतेऽन्यद्वेति प्रश्ने, उत्तरम्-श्रीशत्रुञ्जयाऽऽदितीर्थे मूलविधिना यदेव मानितमभूत्तदेव मुच्यते,कारणे तु यथाऽऽदेयं न भवति तथा कर्त्तव्यमिति। ४४२ प्र० । सेन० ३ उल्ला०। ऊं०। (तीर्थस्य प्रभावकाः 'पभावग' शब्दे वक्ष्यन्ते)(ऊर्ध्वलोकाऽऽदिषु शाश्वताशाश्वततीर्थानि 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२४२ पृष्ठे उक्तानि) (भरतस्य राज्ञो वरदातीर्थगमनं ' भरह ' शब्दे वक्ष्यते)

त्रिस्थ-न० । त्रिषु वा क्रोधाग्निदाहोपशमलोभतृष्णानिरासकर्ममलापनयनलक्षणेषु ज्ञानाऽऽदिलक्षणेषु वा अर्थेषु तिष्ठन्तीति त्रिस्थम् । संघे, प्राकृतत्वात् ' तित्थं । ' स्था० १ ठा० ।

त्र्यर्थ-न० । त्रयो वा क्रोधाग्निदाहोपशमाऽऽदयोऽर्थाः फलानि यस्य तत्त्र्यर्थम् । अथवा-त्रयो ज्ञानाऽऽदयोऽर्था वस्तूनि यस्य तत्त्र्यर्थम् । संघे, स्था० १ ठा० ।

तित्थअर-तीर्थकर-पुं० । ' तित्थयर ' शब्दार्थे, विशे० ।

तित्थंकर-तीर्थ (क्) कर-पुं० । तीर्थमुक्तलक्षणं तत् कुर्वन्त्यानुलोम्येन हेतुत्वेन तच्छीलतया चेति तीर्थकराः । अत्रानुस्वारः प्राकृतत्वात् । पा० । " तीर्थाच्चैके " इति वचनात् खप्रत्यये तीर्थशब्दाद् मुम् । नं० । शास्तृषु, पा० । (तीर्थकरस्य सर्वा वक्तव्यता ' तित्थयर ' शब्दे २२४७ पृष्ठतो वक्ष्यते)

तित्थकरणाय-तीर्थकरज्ञात-न० । जिनोदाहरणे, पञ्चा० १ विव० ।

तित्थगर-तीर्थकर-पुं० । ' तित्थयर ' शब्दार्थे, विशे० ।

तित्थजत्ता-तीर्थयात्रा-स्त्री० । तीर्थगमने, ध० ।

अथ तीर्थयात्रास्वरूपम्-

तत्र तीर्थानि श्रीशत्रुञ्जयोज्जयन्ताऽऽदीनि । तथा-तीर्थकृज्जन्मदीक्षाज्ञाननिर्वाणविहारभूमयोऽपि प्रभूतभव्यस्य शुभभावसंपादकत्वेन भवाम्भोनिधितारणात्तीर्थान्युच्यन्ते । तेषु सद्दर्शनविशुद्ध्यर्थं विधिवज्जिनानुद्दिश्य महोत्सवः तीर्थयात्रा । तत्राऽयं विधिः-प्रथमं मुख्यवृत्त्या ब्रह्मचर्यैकाऽऽहारपादचाराऽऽद्यभिग्रहान् प्रतिपद्यते, सत्यामपि वाहनसामर्थ्ये पादचारणाऽऽद्युचितमेव। यतः-"एकाहारी दर्शन-धारी यात्रासु भूशयनकारी । सचित्तपरीहारी, पदचारी ब्रह्मचारी च ॥ १ ॥" ततो राजानमनुज्ञापयति, प्रगुणीकरोति च यथाशक्ति युक्तिविशिष्टान् यात्रार्थं देवाऽऽलयान्, कारयति च विविधपटमण्डपप्रौढकटाहाऽऽदिचलत्कूपसरोवराऽऽदीन्, सज्जयति शकटाऽऽद्यनेकविधवाहनानि, निमन्त्रयते च स बहुमानं श्रीगुरून् सङ्घं स्वजनवर्गं च,प्रवर्तयत्यमारिम्, करोति चैत्याऽऽदौ महापूजाऽऽदिमहोत्सवम्, ददाति दीनाऽऽदिभ्यो दानम्, प्रोत्साहयति निराधारेभ्यो विभववाहनाऽऽदिदानविनयोक्तपोषणपूर्वम्, आह्वयति कवचाद्याऽऽयुधरक्षकाद्यर्पणाऽऽदिसंमानपूर्वमनेकोत्कटभटान्, प्रगुणयति च गीतनृत्यवाद्याऽऽदि, ततः करोति शुभेऽह्नि प्रस्थानमङ्गलम्, तत्र सकलसमुदायं विशिष्टभोज्यताम्बूलाऽऽदिभिः परितोष्य परिधाप्य च दुकूलाऽऽदिभिर्भावभाजयति सुप्रतिष्ठधर्मिष्ठपूज्यभाग्यवत्तरेभ्यः सङ्घाधिपत्यतिलकम्, विदधाति सङ्घपूजामहम्, मार्गे च सम्यक् सङ्घसंभालनां कुर्वन् प्रतिग्रामं प्रतिपुरं च चैत्येषु स्नात्रपूजाध्वजप्रदानचैत्यपरिपाट्याद्युत्सवं जीर्णोद्धाराऽऽदिचिन्तां च विदधत् तीर्थं प्राप्नोति। तद्दर्शने च रत्नमौक्तिकाऽऽदिवर्धापनलपनोञ्छनमोदकाऽऽदिलम्भनिकाऽऽदि कुरुते। तीर्थे चाष्टप्रकाराऽऽदिमहापूजाविधिस्नात्रमालोद्घाटनघृतधाराप्रदानवाद्यजिनपूजनदुकूलाऽऽदिमयमहाध्वजप्रदानरात्रिजागरणगीतनृत्याऽऽद्युत्सवकरण-तीर्थोपवासषष्ठाऽऽदितपोविधानविविधफलभोजनाऽऽद्वस्तु-ढौकनपरिधापनिकामोचनविविधचन्द्रोदयबन्धनदीपतरुघृतधौतिकेसरचन्दनागुरुपुष्पचङ्गेरिकाऽऽदिसमस्तपूजोपकरणप्रदाननवदेवकुलिकाऽऽदिविधापनसूत्रधाराऽऽदिसत्करणतीर्थोद्धारकारिशासनतीर्थरक्षकसंमाननतीर्थदायप्रवर्तनसाधर्मिकवात्सल्यगुरुसंघपरिधापनाऽऽदिभक्ति-मार्गणदीनाऽऽद्युचितदानाऽऽदिसत्कृत्यानि कुरुते । एवं यात्रां कृत्वा प्रौढप्रवेशोत्सवैः स्वगृहमागतो देवाऽऽह्वानाऽऽदिमहं विधाय सर्वसंघ भोजनाऽऽदिसत्कारपूर्वकं विसर्ज्य वर्षाऽऽदि यावत्तीर्थोपवासाऽऽदिकरणाऽऽदिना दिनमाराधयति। इति तीर्थयात्राविधिः। यात्रा च कल्याणकदिवसेषु विशेषलाभकरी । यतः पञ्चाशके नवमविवरणे-

" ता एयाणिकचमाणाइ वि, एते उ दिणे पडुच्च कायव्वं ।
जं एसो च्चिय विसओ, पहाणओ तीए किरियाए ॥ १ ॥ "

तथा-

" संवच्छरचाउम्मा-सिएसु अट्ठाहियासु य तिहीसु ।
सव्वायरेण लग्गइ, जिणवरपूआतवगुणेसुं " ॥ १ ॥

इत्यागमप्रामाण्यादेष्वपि दिवसेषु विशेषलाभकरी ज्ञेया । यात्रायाश्च दर्शनशुद्धिहेतुत्वात्प्रयत्नः श्रेयानेव । यतः-

" दंसणमिह मोक्खंगं, परमं एयस्स अट्ठहाऽऽयारो ।
निस्संकादी भणिओ, पभावणं तो जिणेहिं ॥ १ ॥
पवरा पभावणा इह, असेसभावम्मि तीए सब्भावा ।
जिणजत्ता य तयंगं, जं पवरं तस्सयासोऽयं" ॥ २ ॥

ध० २ अधि० । (तीर्थयात्रायां पापकर्मयोगो भवति न वेति विचारः ' आणा ' शब्दे द्वितीयभागे १२० पृष्ठे कृतः)

तित्थणिगार-तीर्थनिकार-पुं० । शासनसंकोचे, स्था० ।

तथा चाहुराजीविकनयानुसारिणः-

" ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्तारः परमं पदम् ।
गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः ॥१॥ " स्था० ।

केचाकिन्वात्मस्यामपि कर्मक्षयानन्तरं मोक्षावाप्तौ तथाऽपि स्वतीर्थनिकारदर्शनतः पुनरपि संसाराऽभिगमनं भवतीदमाशङ्क्याऽऽह-

अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणइ ।

(अकुव्वओ इत्यादि) तस्य अशेषक्रियारहितस्य योगप्रत्ययाभावात्किमप्यकुर्वतोऽपि, नवं प्रत्यग्रं, कर्म ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकं, नास्ति न भवति,कारणाभावात्कार्याभाव इति कृत्वा,कर्माभावे च कुतः संसाराभिगमनम्,कर्मकार्यत्वात्संसारस्य,तस्य चोपरताशेषद्वन्द्वस्य स्वपरकल्पनाऽभावाद् रागद्वेष-

हितनया स्वदर्शनानिकारोऽभिनिवेशोऽपि न भवत्येव । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

तित्थपवत्तण-तीर्थप्रवर्तन-न० । तीर्थप्रवर्तने, उत्सर्पिणी-काले चरमतीर्थकृतस्तीर्थं कियत्कालं प्रवर्तिष्यतीति प्रश्ने, उत्तरम्-पञ्चमाङ्गे विंशतिशतमशतकेऽष्टमोद्देशे श्रीऋषभाजनके-वलपर्यायं यावत्तुल्पसर्पिणीकाले चरमतीर्थकृतस्तीर्थं प्रवर्तिष्य-तीत्युक्तमस्तीति । ४० प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

तित्थपवत्तणचरियणिबद्ध-तीर्थप्रवर्तनचरित्रनिबद्ध-न० । नाट्यभेदे, रा०। श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य चरमपूर्वमनुष्य-भव-चरमच्यवन-चरमगर्भसंहरण-चरमभरतक्षेत्रावसर्पिणी-तीर्थकरजन्माऽभिषेक-चरमबालभाव-चरमयौवन-चरमकाम-भोग-चरमनिष्क्रमण-चरमतपश्चरण-चरमज्ञानोत्पाद-चरम-तीर्थप्रवर्तन-चरमपरिनिर्वाणनिबद्धं चरमचरमनिबद्धं नाम द्वात्रिंशत्तमं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति । रा० ।

तित्थपवित्तिहेउत्त-तीर्थप्रवृत्तिहेतुत्व-न० । तीर्थं चतुर्विधश्रम-णसङ्घः प्रवचनं वा, तस्य प्रवृत्तिरविच्छेदेन स्थितिः,तस्या हेतुत्वं कारणत्वम् । तीर्थप्रवर्तकतायाम्, ध० ३ अधि० ।

तित्थभेय-तीर्थभेद-त्रि०। तीर्थानि तीर्थभूतदेवद्रोण्यादीनि भि-नत्ति द्विधा करोति तद्द्रव्यमोषणाय तत्परिकरभेदनेनेति ती-र्थभेदः । आ० १ श्रु० २ अ० । तीर्थमोषके तस्करे, तीर्थं (भेद) मोचके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

तित्थमट्टिया-तीर्थमृत्तिका-स्त्री० । तीर्थमृत्तिकायाम्, रा० ।

तित्थयर-तीर्थकर-पुं० । तीर्यते भवोदधिरनेन अस्मात् वा-स्मिन्निति वा तीर्थं वक्ष्यमाणस्वरूपम्, तत्करणशीलः "कृञो हेतुताच्छील्या०-" ॥ ३ । २ । २० ॥ इत्यादिना (पाणि०) टप्र-त्यये तीर्थंकरः । अर्हति, विशे० ।

(१) तीर्थंकरशब्दसिद्धिमाह-

अणुलोमहेउतच्छी-लया य जे भावतित्थमेयं तु ।

कुव्वंति पगासंति य,ते तित्थयरा हियत्थकरा ॥१०४७॥

हेतुताच्छील्यानुलोम्यतो ये भावतीर्थमेतत्कुर्वन्ति,गुणतः प्रका-शयन्ति च,ते तीर्थकराः। तत्र हेतौ-सत्कर्मतीर्थकरणहेतवः"कृञो हेतुताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु" ॥ ३ । २ । २० ॥ इत्यादिना (पाणि०) टप्रत्ययविधानात्तीर्थंकराः । यथा यशस्करी विद्येत्यादि । ताच्छील्ये-कृतार्थाऽपि तीर्थंकरनामकर्मोदयतः समस्तप्राणि-गणानुकम्पापरतया च सद्भूततीर्थदेशकत्वात्तीर्थंकराः, भरता-ऽऽदिक्षेत्रे प्रथमनरनाथकुलकराऽऽदिवदिति । आनुलोम्ये-स्त्री-पुरुषबालवृद्धस्थविरकल्पिकजिनकल्पिकाऽऽदीनामनुरूपोत्स-र्गापवादादेशनया अनुलोमसत्कर्मतीर्थंकरणात् तीर्थंकराः,वचा-वचनकर इत्यादि । एवंभूतास्तीर्थंकराः, अत एव सर्वोत्तम-तां हितस्य मोक्षार्थस्य करणात्तीर्थंकराः । (१०४७) विशे० । तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थम्-द्वादशाङ्गं प्रवचनं, तदा-धारः संघो वा, तत्करणशीलास्तीर्थंकराः । सू० २ अ० । तीर्थ-मुक्तस्वरूपं,तत्कुर्वन्त्यानुलोम्येन हेतुत्वेन तच्छीलतया चेति ती-र्थंकराः । आह च-"अणुलोमहेउतच्छी-लया य जे भावतित्थमे-यं तु । कुव्वंति पगासंति य, ते तित्थयरा हियत्थकरा"॥१०४७॥ (विशे०) इति । दश०१ अ०। तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थं, तच्च प्रवचनाऽऽधारः चतुर्विधः सङ्घः, प्रथमगणधरो वा, तत्क-रणशीलास्तीर्थंकराः। ध०२ अधि०। रा०। औ०। तीर्थमेव धर्मः, तस्याऽऽदिकर्तारस्तीर्थंकराः, अथवा-तीर्थानामादिकर्तारस्ती-र्थंकराः। तथा च प्रत्येकशः सुतीर्थानामादिकर्तारस्तीर्थंकराः । आ० चू० ५ अ० । सङ्घकरणशीलत्वात् दुःखावनारदुःखोत्तारक-परमतीर्थकरणशीलाः तीर्थकाराः । आ० म० १ अ०। आव० ।

(२) तत्र च तीर्थकरणशीलास्तीर्थंकरा अचिन्त्यप्रभावमहा-पुण्यसंज्ञिततन्नामकर्मविपाकतः, तस्याऽन्यथा वेदनायोगात्,तत्र येनेह जीवा जन्मजरामरणसलिलं मिथ्यादर्शनाविरतिगम्भीरं महाभीषणकषायपातालं सुदुर्लङ्घ्यमोहाऽऽवर्तरौद्रं विचित्रदुः-खौघदुष्टश्वापदं रागद्वेषपवनविक्षोभितं संयोगवियोगवीचियु-क्तं प्रबलमनोरथवेलाऽऽकुलं सुदीर्घं संसारसागरं तरन्ति तत्ती-र्थमिति, एतच्च यथावस्थितसकलजीवाऽऽदिपदार्थप्ररूपकम्, अत्यन्तानवद्यान्याविकलचरणकरणक्रियाधारं त्रैलोक्यगतशुद्ध-धर्मसंपद्युक्तमहासत्त्वाऽऽश्रयम्, अचिन्त्यशक्तिसमन्वितावि-संवादिपरमबोधित्यरूपं प्रवचनं, सङ्घो वा,निराधारस्य प्रवचनस्य असंभवात्। उक्तं च-"तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थगरे तित्थं ?। गोयमा ! अरहा ताव नियमा तित्थकरे,तित्थं पुण चाउवण्णो स-मणसंघो।" ततश्चैतदुक्तं भवति-घातिकर्मक्षये ज्ञानकैवल्ययोगा-त् तीर्थकरनामकर्मोदयतस्तत्स्वभावतया आदित्याऽऽदिप्रकाश-निदर्शनतः शास्त्रार्थप्रणयनात्, मुक्तैकत्वे तदसंभवेनाऽऽगमा-नुपपत्तेः,भव्यजनधर्मप्रवर्तकत्वेन परम्परानुग्रहकरास्तीर्थंकरा इति तीर्थकरत्वसिद्धिः। (४) अ०। तरन्ति येन संसारसागर-मिति तीर्थं प्रवचनं, तदव्यतिरेकाच्चेह संघस्तीर्थम्, तत्करण-शीलत्वात्तीर्थंकराः । प्र० १ श० १ उ० । आ० । नं० । "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥८ । १ । १७७॥ इति ककारलोपः। प्रा० १ पाद । "अवर्णो यश्रुतिः" ॥ ८ । १ । १८० ॥ इत्यकार-स्थाने यकारः । क्वचित्कस्य गः । प्रा०१ पाद । द्वादशाङ्गप्रणाय-केषु जिनेषु, प्रश्न० ४ संव० द्वार । तीर्थमेव धर्मः, तस्याऽऽदि-कर्तारस्तीर्थकराः, स्वतीर्थानामादिकर्तारः तीर्थकराः । आ० चू० १ अ० । सत्त०। दर्श० । (तीर्थकृतामतिशयाः 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे ३१ पृष्ठे द्रष्टव्याः) (जिनानां परस्परं मोक्षा-न्मोक्षस्यान्तराणि प्रथमभागे 'अंतर' शब्दे ६६ पृष्ठे निरूपितानि)

(३) तीर्थकृतामचेलत्वे संयमविराधनाऽऽदयो दोषाः कथं न भवन्ति ?, इत्यत्राऽऽह-

निरुवमधिइसंघयणा, चउनाणाऽइसयसत्तसंपन्ना ।

अच्छिद्दपाणिपत्ता,जिणा जियपरीसहा सव्वे ॥२५८१॥

तम्हा अहुत्तदोसे, पावंति न वत्थपत्तरहिया वि ।

तदसाहणं ति तेसिं, तो तग्गहणं न कुव्वंति ॥२५८२॥

तह वि गहिएगवत्था, सवत्थतित्थोवएसणत्थं ति ।

अभिनिक्खमंति सव्वे, तम्मि चुएऽचेलया होंति ॥२५८३॥

यस्माज्जिनास्तीर्थंकराः सर्वेऽपि निरुपमधृतिसंहननाश्छद्मस्थाव-स्थायां चतुर्ज्ञानाः,अतिशयसत्त्वसंपन्नाः, तथा-अच्छिद्रः पाणिरेव पात्रं येषां ते अच्छिद्रपाणिपात्राः,जितसमस्तपरीषहाश्च । (तम्ह त्ति) तस्माद् वस्त्राभावे ये संयमविराधनाऽऽदयो दोषाः प्रोक्ता-स्तान् यथोक्तान् दोषान् ते वस्त्रपात्ररहिता अपि न प्राप्नुवन्ति, इत्यतस्तद्ग्रहणाऽऽदिकं न साधनम्-न साधकं संयमस्य तेषां ता-र्थकराणाम् । (तो त्ति)तस्मादकिञ्चित्करत्वात् वस्त्राऽऽदावयवं-

चमस्यानुपकारित्वाद् वस्त्राऽऽदेर्ग्रहणं न कुर्वन्ति तीर्थकरा इति । ननु यदि ते वस्त्राऽऽदेर्ग्रहणं न कुर्वन्तीत्युच्यते, तर्हि "सव्वे वि एगदूसे-ण निग्गया"(१०२२) इत्यादि विरुध्यते,इत्याशङ्क्या-ऽऽह-(तह वीत्यादि) यद्यपि तत्संयमस्यानुपकारि वस्त्रम्,तथा-अपि सवस्त्रमेव तीर्थं "सवस्त्रा एव साधवस्तीर्थे चिरं भविष्य-न्ति" इत्यस्यार्थस्योपदेशनं ज्ञापनं तदर्थं गृहीतैकवस्त्राः सर्वे-अपि तीर्थकृतोऽभिनिष्क्रान्तास्तीर्थे । तस्मिंश्च वस्त्रे च्युते कापि पतिते अचेलका वस्त्ररहितास्ते भवन्ति, न पुनः सर्वदा । ततः "अचेलकाश्च जिनेन्द्राः" इत्यैकान्तिकं यदुक्तम्, तद्वतोऽन-भिज्ञत्वसूचकमेवेति भावः ॥ ३४॥१॥२५०२॥२५८३ ॥ विशे० । (एतदन्यत् 'अचेलग' शब्दे प्रथमभागे १८८ पृष्ठे गतम्) (तीर्थकरविषयकमाश्चर्यम् 'अच्छेर' शब्दे प्रथमभागे २०० पृष्ठे गतम्) (तीर्थकृतामनवस्थितसमाचारत्वम् 'अट्ठियकप्प' शब्दे प्रथमभागे २५५ पृष्ठे गतम्)

(४) अनुत्तरोपपातिकमुनयः-

बाविससहस्स नवसय, उसहस्स अणुत्तरोववाइमुणी ।
नेमिस्स सोल पास-स्स बार वीरस्स अट्ठसया ॥२६६॥
ते सेसाणमणाया, (२७०) ॥

ऋषभस्य जिनस्य द्वाविंशतिसहस्राणि, तदुपरि नवशतानि २२९०० । नेमिनाथस्य षोडशशतानि १६०० । पार्श्वजि-नस्य द्वादशशतानि १२०० । ज्ञातनन्दनस्य वीरस्य अष्टौ शतानि ८०० ज्ञेयाः । निःशेषजिनानां ते च सिद्धान्ताऽऽदि-ष्वनुक्तत्वादज्ञाताः ॥ सप्त० १२३ द्वार ।

(५) तीर्थपानामष्टादश दोषा इमे न भवन्ति-

पंचेव अंतराया, मिच्छत्तमनाणमविरई कामो ।
हासछग रागदोसा, निद्दाऽट्ठारस इमे दोसा ॥ १९२ ॥

पञ्चान्तरायाः-दान १ लाभ २ वीर्य ३ भोगो-४पभोगान्तरायाः ५, मिथ्यात्वम् ६ अज्ञानम् ७ अविरतिः ८ कामो भोगेच्छा ९, हास्यम् १० रतिः ११ अरतिः १२ शोकः १३ भयं १४ जुगुप्सा १५, रागः १६ द्वेषः १७ निद्रा १८ चैते दोषाः ॥ सप्त०९५ द्वार ।

प्रकारान्तरेणाप्यष्टादश दोषानाह-

हिंसाऽऽइतिगं कीला, हासाऽऽइपंचगं च चउकसाया ।
मयमच्छरअन्नाणा, निद्दा पिम्मं इअ व दोसा ॥१९३॥

हिंसा १ मृषावादः २ अदत्तादानं ३, क्रीडा ४, हास्यं ५ रतिः ६ अरतिः ७ शोकः ८ भयं ९, क्रोधः १० मानः ११ माया १२ लोभः १३, मदः १४ मत्सरः १५ अज्ञानम् १६, निद्रा १७ प्रेम १८ इति वा दोषाः, एभी रहितास्तीर्थकराः ॥ सप्त०७६ द्वार ।

(६) अभिग्रहाः-

तेसिं अभिग्गहा द-व्वमाइ वीरस्सिमे अहिया ॥ (१७०)
अचियत्तगिहाऽवसणं, निच्चं वोसट्ठकाएँ मोणं च ।
पाणीपत्तं गिहिऽवं-दणं अभिग्गहपणगमेयं ॥ १७१ ॥

तेषां चतुर्विंशतिजिनानां चत्वारोऽभिग्रहा द्रव्यक्षेत्रकालभाव-भेदभिन्ना ज्ञेयाः । वीरजिनस्य इमे वक्ष्यमाणा अधिका भव-न्ति । तानाह-अप्रीतिमद्गृहे मया वासो न कार्यः १, नित्यं मया व्युत्सृष्टकायेन विहर्तव्यम् २, मौनेन स्थेयम् ३, करपा-त्रेण मया भोक्तव्यम् ४, गृहिणमपि गृहस्थस्याभ्युत्थाना-ऽऽदिर्न कार्यः ५ । एते पञ्च वीरस्याधिका अभिग्रहाः ॥ सप्त० ७२ द्वार । आ० म० । कल्प० ।

(७) आदेशसंख्या-

अंगाइसु अबद्धा, नाणीहिँ पयासिया य जे ते य ।
आएसा वीरस्स य, पंचसयाऽन्नुगाहऽनेमिं ॥ २७१ ॥
कुरुडकुरुडाण नरओ, वीरंगुट्ठेण चालिओ मेरू ।
तह मरुदेवी सिद्धा, अणंतं थावरा होउं ॥ २७२ ॥
वलयागारं मोत्तुं, सयंभुरमणम्मि सव्वआगारो ।
मीणपउमाण एवं, बहुहाऽऽएसा सुअअबद्धा ॥२७३॥

अङ्गोपाङ्गाऽऽदिसूत्रेष्वबद्धा न ग्रथिता ये भावाः पदार्थाः ज्ञा-निभिः प्रकाशिताश्च ते आदेशा उच्यन्ते, ते च श्रीवीरस्य पञ्चशतानि भवन्ति । अन्येषां जिनानां त्रयोविंशतिमितानाम-नेकधा । के ते आदेशा इत्याशङ्कायां कांश्चिदादेशान् दर्शय-ति । यथा-कुरुडाकुरुडयोर्नरकगतिः १ । तथा वीरेण अङ्गु-ष्ठेन मेरुपर्वतश्चालितः २ । तथा मरुदेवी ऋषभजननी अनादि-वनस्पतित्वम् उद्धृत्य मोक्षं गता, सा हि अनन्तकायादागत्य प्रत्येकभवे कदलीवनस्पतित्वेन समुत्पद्य ततो मृत्वा मरुदेवी जाता । ततश्चान्तकृत्केवली भूय सिद्धा ३ । तथा वलयाऽऽकारं मुक्त्वा स्वयंभूरमणसमुद्रे मत्स्यानां कमलानां च सर्वेऽप्या-कारा भवन्ति ४ । इत्याद्यादेशाः सूत्रेऽबद्धाः । एवमन्येऽपि वि-ज्ञेयाः ॥ सप्त० १२६ द्वार । आव० । आ० चू० । आ०म० ।

(८) षडावश्यकम्-

सामइयचउवीसत्थय-वंदणपडिक्कमणकाउसग्गा य ।
पच्चक्खाणं जाणियं, जिणेहिँ आवस्सयं छद्धा ॥२९२॥
तं दुण्ह सइ दुकालं, इयराणं कारणे इअ मुणिणं ।
पढमियरवीरतित्थे, रिउजड्ड-रिउपन्न-वक्कजडा ॥२९३॥

सामायिकचतुर्विंशतिस्तववन्दनकप्रतिक्रमणकायोत्सर्गरूपं ष-डावश्यकं प्रथमान्तिमजिनयोस्तीर्थे सन्ध्यासमये प्रातःसमये च प्रतिदिनं द्विवारं भवति, ऋजुजडवक्रजडत्वान्मुनीनाम्, इतरेषां द्वाविंशतिजिनानां तीर्थे कारणे प्रतिक्रमणं भवति, मुनी-नामृजुप्राज्ञत्वात् ॥ सप्त० १३० द्वार । बृ० । कल्प० ।

(९) आहारः-

सव्वे सिसुणो अमयं, उत्तरकुरुफले गिहे उसहो ।
सेसाउ ओयणाई, भुंजिसु विसिट्ठमाहारं ॥ १३४ ॥

सर्वे जिना बाल्यावस्थायां वर्तमाना अमृतमङ्गुष्ठन्यस्तं बु-भुजिरे, ऋषभ उत्तरकुरुभवानि फलानि गृहवासे बुभुजे,त्रयो-विंशतिजिना गृहवासे शाल्यादिमनोज्ञाऽऽहारं बुभुजिरे, व्रतग्र-हणे कृते सति सर्वे तीर्थपा उद्गमाऽऽदिदोषरहितमाहारं कु-र्वन्तः ॥ सप्त० ५२ द्वार । आ० चू० । आव० । बृ० ।

(१०) जन्मावसरे इन्द्रकृत्यान्याह-
तत्र शक्रस्याऽऽसनचलना-

तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो आसणं चलइ । तए णं से सक्के०जाव आसणं चलियं पासइ, पासइत्ता ओहिं पउंजइ, पउंजित्ता भगवं तित्थयरं ओहिणा आभोएइ,आ-भोएइत्ता हट्ठतुट्ठचित्ते आणंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहिअए धाराहयकयंबकुसुमचंचुमाल इ-

यं ऊससिअरोमकूवे विअसिअवरकमलनयणवयणे पचलिअवरकडगतुडिअकेऊरमउडकुंडलहारविराइयवच्छे पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरे ससंभमं तुरिअं चवलं सुरिंदे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता वेरुलिअवरिट्ठरिट्ठअंजणनिउणोविआमिसिमिसिंतमणिरयणमंडिआओ पाउयाओ ओमुअइ, ओमुअइत्ता एगसाडिअं उत्तरासंगं करेइ, करेइत्ता अंजलिमउलिअग्गहत्थे तित्थयराभिमुहे सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ, अणुगच्छित्ता वामं जाणुं अंचेइ, अंचेइत्ता दाहिणजाणुं धरणितलंसि साहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसइ, निवेसित्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, पच्चुण्णमइत्ता कडगतुडिअथंभिआओ भुआओ साहरइ, साहरइत्ता करयलपरिग्गहिअं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी-णमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थयराणं सयंसंबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीआणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगणाहाणं लोगहिआणं लोगपईवाणं लोगपज्जोअगराणं अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा अप्पडिहयवरणाणदंसणधराणं विअट्टछउमाणं जिणाणं जावयाणं तिण्णाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति सिद्धिगइणामधेयं ठाणं संपत्ताणं णमो जिणाणं जिअभयाणं णमोऽत्थु णं भगवओ तित्थगरस्स आइगरस्स०जाव संपाविउकामस्स वंदामि णं भगवं! तं तत्थगयं इहगए,पासउ मे भयवं! तत्थगए इहगयं ति कट्टु वंदइ, वंदित्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे। तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अयमेयारूवे०जाव संकप्पे समुप्पज्जित्था-उप्पण्णे खलु भो! जंबुद्दीवे दीवे भगवं तित्थयरे,तं जीयमेयं तीअपच्चुप्पण्णमणागयाणं सक्काणं देविंदाणं देवराईणं तित्थयराणं जम्मणमहिमं करेत्तए, तं गच्छामि णं अहं पि भगवओ तित्थगरस्स जम्मणमहिमं करेमि त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता हरिणेगमेसिं पायत्ताणीयाहिवइं देवं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ! सभाए सुहम्माए मेघोघरसिअगंभीरमहुरयरसद्दं जोअणपरिमंडलं सुघोसं सुस्सरं घंटं तिक्खुत्तो उल्लालेमाणा उल्लालेमाणा महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वयाहि-आणावेइ णं भो! सक्के देविंदे देवराया-" गच्छइ णं भो! सक्के देविंदे देवराया जंबुद्दीवे दीवे भगवओ तित्थयरस्स जम्मणमहिमं करित्तए; तं तुब्भे वि णं देवाणुप्पिआ! सव्विड्ढीए सव्वजुईए सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वायरेणं सव्वविभूईए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं सव्वणाडएहिं सव्वारोहेहिं सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारविभूसाए सव्वदिव्वतुडिअसद्दसण्णिणाएणं महया इड्ढीए०जाव रवेणं णिययपरिवारसंपरिवुडा सगाइं २ जाणविमाणवाहणाइं दुरूढा समाणा अकालपरिहीणं चेव सक्कस्स० जाव अंतिअं पाउब्भवह "।

(११) आदेशानन्तरं 'हरिनैगमेषी' यत्करोति तदाह-

तए णं से हरिणेगमेसी देवे पायत्ताणीयाहिवई सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ०जाव एवं देवो! त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता सक्कस्स अंतियाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव सभाए सुहम्माए मेघोघरसिअगंभीरमहुरयरसद्दा जोअणपरिमंडला सुघोसा घंटा, तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता तं मेघोघरसिअगंभीरमहुरयरसद्दं जोअणपरिमंडलं सुघोसं घंटं तिक्खुत्तो उल्लालेइ।

(१२) घण्टास्वरेण यदभूत्तदाह-

तए णं तीसे मेघोघरसिअगंभीरमहुरयरसद्दाए जोअणपरिमंडलाए सुघोसाए घंटाए तिक्खुत्तो उल्लालिआए समाणीए सोहम्मे कप्पे अण्णेहिं एगूणेहिं बत्तीसविमाणावाससयसहस्सेहिं अण्णाइं एगूणाइं बत्तीसं घंटासयसहस्साइं जमगसमगं कणकणारावं काउं पयत्ताइं पि हुत्था।

उल्लालनानन्तरं यदजायत तदाह-(तए णं तीसे मेघोघरसिअगंभीरमहुर इत्यादि) तत उल्लालनानन्तरं तस्यां मेघोघरसितगम्भीरमधुरतरशब्दायां योजनपरिमण्डलायां सुघोषायां घण्टायां त्रिःकृत्व उल्लालितायां सत्यां सौधर्मे कल्पे अन्येषु एकोनेषु द्वात्रिंशद्विमानरूपा ये आवासा देवावासस्थानानि तेषां शतसहस्रेषु। अत्र सप्तम्यर्थे तृतीया। अन्यान्येकोनानि द्वात्रिंशद् घण्टाशतसहस्राणि (जमगसमगं) युगपत् कणकणारावं कर्तुं प्रवृत्तान्यभवन्। अत्रापिशब्दो भिन्नक्रमत्वात् घण्टाशतसहस्राण्यपि इत्येवं योजनीयः।

(१३) अथ घण्टानादतो यत् प्रवृत्तं तदाह-

तए णं सोहम्मे कप्पे पासायविमाणनिक्खुडाऽऽवडिअसद्दघंटापडिसुआसयसहस्ससंकुले जाए यावि होत्था ॥

(तए णमित्यादि । ततो घण्टानां कणकणारावप्रवृत्तेरनन्तरं सौधर्मः कल्पः प्रासादानां विमानानां वा ये निष्कुटा गम्भीरप्रदेशाः, तेषु ये आपतिताः संप्राप्ताः शब्दाः शब्दवर्गणापुद्गलाः, तेभ्यः समुत्थितानि यानि घण्टाप्रतिश्रुतानां घण्टासंबन्धिप्रतिशब्दानां शतसहस्राणि तैः संकुलो जातश्चाप्यभूत्।

किमुक्तं भवति?-घण्टायां महता प्रयत्नेन ताडितायां ये विनिर्गताः शब्दपुद्गलाः, तत्प्रतिघातवशतः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च दिव्यानुभावतः समुच्छलितैः प्रतिशब्दैः सकलोऽपि सौधर्मः कल्पो बधिर उपजायत इति । एतेन द्वादशयोजनेभ्यः समागतशब्दः श्रोत्रग्राह्यो भवति, न परतः, ततः कथमेकत्र ताडितायां घण्टायां सर्वत्र तच्छब्दश्रुतिरुपजायत इति यदुच्यते, तदप्याकृतमेवावसेयम्, सर्वत्र दिव्यानुभावतस्तथारूपशब्दोच्छलने यथोक्तदोषासंभवात् ।

(१४) देवाश्चिन्तयन्ति-एवं शब्दमये सौधर्मे कल्पे संजाते पदातिपतिर्यदकरोत्तदाह-

तए णं तेसिं सोहम्मकप्पवासीणं बहूणं देवाण य देवीण य एगंतरइपसत्तणिच्चपमत्तविसयसुहमुच्छियाणं सुस्सरघंटारसिअविउलबोलतुरिअचवलपडिबोहए कए समाणे घोसणकोऊहलदिन्नकन्नएगग्गचित्तउवउत्तमाणमाणं से पायत्ताणीआहिवई देवे तंसि घंटारवंसि निसंतपसंतंसि समाणंसि तत्थ तत्थ तहिं तहिं देसे महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वयासी-हंत ! सुणंतु णं भवंतो बहवे सोहम्मकप्पवासी वेमाणिआ देवा देवीओ अ सोहम्मकप्पवइणो इमो वयणं, हिअसुहत्थं आणवेइ णं भो ! सक्के, तं चेव० जाव अंतिअं पाउब्भवह ॥

(तए णमित्यादि) ततः शब्दव्याप्त्यनन्तरं तेषां सौधर्मकल्पवासिनां बहूनां वैमानिकानां देवानां देवीनां च, एकान्ते रतौ रमणे प्रसक्ता आसक्ताः, अत एव नित्यप्रमत्ता विषयसुखेषु मूर्च्छिता अध्युपपन्नाः । ततः पदत्रयस्य पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः। तेषां,सुस्वरा या 'पङ्कजरथन्यायेन' सुघोषा घण्टा, तस्या रसितं, तस्माद्विपुलः सकलसौधर्मदेवलोककुक्षिम्भरिः-यो बोलः कोलाहलः, तेन । अत्र तृतीयालोपः प्राकृतत्वात् । त्वरितं शीघ्रं चपले ससंभ्रमे प्रतिबोधने कृते सति आगामिकालसंजायमाने घोषणे कुतूहलेन-किमिदानीमुद्घोषणं भविष्यतीत्यात्मकेन, दत्तौ कर्णौ यैस्तैस्तथा । एकाग्रं घोषणश्रवणैकविषयं चित्तं येषां ते तथा । एकाग्रचित्तत्वेऽपि कदाचिदनुपयोगः स्यादत्राश्च्यत्यत्कथावशादत आह-उपयुक्तमानसाः शुश्रूषितवस्तुग्रहणपटुमनसः। ततो विशेषणसमासः। तेषाम्। स पदात्यनीकाधिपतिर्देवस्तस्मिन् घण्टारवे नितरां शान्तोऽत्यन्तं मन्दभूतः,ततः प्रकर्षेण सर्वात्मना शान्तः प्रशान्तः। ततश्चिन्तप्रशान्त इत्यादाविव विशेषणसमासः । तस्मिन् सति तत्र तत्र तस्मिन् २ देशे महता महता शब्देन तारस्वरेण उद्घोषयन् उद्घोषयन् एवमवादीत्। किमवादीदित्याह-(हंत ! सुणंतु णमित्यादि)हन्त! इति हर्षे, स च स्वस्वामिनाऽऽदिष्टत्वात् जगद्गुरुजन्ममहकरणाधिकप्रस्थाने समारब्धत्वाच्च शृण्वन्तु भवन्तो बहवः सौधर्मकल्पवासिनो वैमानिका देवा देव्यश्च सौधर्मकल्पपतेरिदं वचनं, हितं जन्मान्तरकल्याणाऽऽवहं, सुखं तद्भवसंबन्धि तदर्थमाज्ञापयति भो देवाः ! शक्रः, तदत्र ज्ञेयं यत् प्राक्सूत्रे शक्रेण हरिनैगमेषिपुर उद्घोषयितव्यमादिष्टं, यावत् प्रादुर्भवत ।

(१५) अथ शक्राऽऽदेशानन्तरं यदेव जातं तदाह-

तए णं ते देवा य देवीओ य एअमट्ठं सोच्चा हट्ठतुट्ठ० जाव हिअया अप्पेगइआ वंदणवत्तिअं, एवं पूअणवत्तिअं, सक्कारवत्तिअं, सम्माणवत्तिअं, दंसणवत्तिअं, कोऊहलवत्तिअं, अप्पेगइया सक्कस्स वयणमणुवट्टमाणा, अप्पेगइआ अण्णमण्णं मित्तमणुवट्टमाणा अप्पेगइया जीअमेअं एवमादि त्ति कट्टु० जाव पाउब्भवंति ॥

(तए णमित्यादि) ततस्ते देवा देव्यश्च एतमनन्तरोदितमर्थं श्रुत्वा हृष्टतुष्टा यावद्धर्षवशविसर्पद्धृदयाः। अपिः संभावनायाम्, एकका: केचन वन्दनमभिवादनं प्रशस्तकायवाङ्मनःप्रवृत्तिरूपं तत्प्रत्ययं तद्स्माभिस्त्रिभुवनभट्टारकस्य कर्तव्यमित्येवं निमित्तम् । एवं पूजनप्रत्ययं-पूजनं गन्धमाल्याऽऽदिभिः समभ्यर्चनम् । एवं सत्कारप्रत्ययं-सत्कारः स्तुत्यादिभिर्गुणोन्नतिकरणम् । संमानो मानसप्रीतिविशेषः, तत्प्रत्ययं; दर्शनमदृष्टपूर्वस्य जिनस्य विलोकनं तत्प्रत्ययं,कुतूहलं तत्र यथा नास्मत्प्रभुणा किं कर्तव्यमित्यात्मकम्,तत्प्रत्ययम्,अप्येकका: शक्रस्य वचनमनुवर्तमाना:, न हि प्रभुवचनमुपेक्षणीयमिति भृत्यधर्ममनुश्रयन्तः।अप्येकका अन्यमन्यं मित्रमनुवर्तमाना:,मित्रगमनानुप्रवृत्ता इत्यर्थः । अप्येकका जीतमेतद् यत् सम्यग्दृष्टिदेवैर्जिनजन्ममहे यतनीयम् । एवमादीत्यादिकमागमननिमित्तमिति कृत्वा चित्तेऽवधार्य, यावच्छब्दात् "अकालपरिहीणं चेव सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो" इति ग्राह्यम् । अन्तिकं प्रादुर्भवन्ति ।

(१६) इन्द्रः पालकमादिशति-अथ शक्रस्येतिकर्तव्यमाह-

तए णं से सक्के देविंदे देवराया ते वेमाणिए देवे अ देवीओ अ अकालपरिहीणं चेव अंतिअं पाउब्भवमाणे पासइ, पासइत्ता हट्ठे पालयं णामं आभिओगिअं देवं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं लीलट्ठिअसालभंजिआकलिअं ईहामिअउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं खंभुग्गयवइरवेइआपरिगयाभिरामं विज्जाहरजमलजुअलजंतजुत्तं पिव अच्चीसहस्समालिणीअं रूवगसहस्सकलिअं भिसमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोअणलेसं सुहफासं सस्सिरीअरूवं घंटावलिअमहुरमणहरसरं सुहकंतं दरिसणिज्जं णिउणोचिअमिसिमिसिंतमणिरयणघंटिआजालपरिक्खित्तं जोयणसहस्सवित्थिण्णं पंचजोअणसयमुव्विद्धं सिग्घतुरिअजइणं णिव्वाहिं दिव्वं जाणविमाणं विउव्वाहि,विउव्वाहित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि।

(तए णं इत्यादि) ततः स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा तान् बहून् वैमानिकान् देवान् देव्यश्च (अकालपरिहीणं चेवेति)पूर्ववत् । अन्तिकं प्रादुर्भवत उपतिष्ठमानान् पश्यति । दृष्ट्वा च-" हट्ठ " इत्येकदेशेन सर्वोऽपि हर्षाऽऽलापको ग्राह्यः। पालकं नाम विमानविकुर्वणाधिकारिणमाभियोगिकं देवं शब्दयति, शब्दयित्वा च एवमवादीत्। यदवादीत्तदाह-(खिप्पामेव त्ति) इदं यानविमानवर्णकं प्राग्वत् । नवरं योजनशतसहस्रविस्तीर्णमित्यत्र प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नं योजनलक्षं ज्ञेयम् । ननु वैक्रियप्रयोगजनितत्वेनोत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नत्वमस्य कुतो नेति चेत्?,"नगपुढविविमाणाइसु पमाणंगुलेणं तु " इति वचनादस्य प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नत्वं युक्तिमद् ' पुढविविमाणाइ ' इति वचनं

हाजनविमानमेवकुर्वेति वाच्यम् । सर्वोत्सेधाङ्गुलप्रमाणनिष्प-न्नं वेत्तु जम्बूद्वीपान्तःसुखप्रवेशमनीयन्वेन सर्व्हाश्चर्यविमानसंको-चनस्य वैयर्थ्याऽऽपत्तेः । तथा श्रीस्थानाङ्गे चतुर्थाध्ययने "चत्ता-रि लोगे समा पराणत्ता । तं जहा-अपइट्ठाणे णरए जंबुद्दीवे दीवे पालए जाणविमाणे सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे ।" इत्यत्राऽपि पा-लकविमानस्य जम्बूद्वीपाऽऽदिभिः समानत्वमः समत्वं प्रमाणाङ्गुल-निष्पन्नत्वेनैव संभवतीति दिक् । तथा-पञ्चशतयोजनोच्चं शी-घ्रत्वरितजवनम्, अतिशयेन वेगवदित्यर्थः । निर्वाहि प्रस्तुतकार्य-निर्वहणशीलम् । पश्चात् पूर्वपदेन कर्मधारयः । एवंविधं दिव्यं या-नविमानं विकुर्वस्व, विकुर्व्य च एतामाज्ञप्तिं प्रत्यर्पय-कृतकृ-त्यो निवेदय इत्यर्थः ।

(१७) पालकस्तथैव करोति वर्णकयुक्तं विमानम्--

तदनु यदनुतिष्ठति स पालकस्तदाह-

तए णं से पालए देवे सक्केणं देविंदेणं देवरणा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ०जाव वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणित्ता त-हेव करेइ । तस्स णं दिव्वस्स जाणविमाणस्स तदिसिओ तिसोवाणपडिरूवगा वण्णओ । तेसि णं पडिरूवगाणं पुर-ओ पत्तेअं पत्तेअं तोरणा वण्णओ० जाव पडिरूवा । तस्स णं जाणविमाणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे, से जहा-णामए आलिंगपुक्खरेइ वा० जाव दीविअचम्मेइ वा अ-णेगसंकुकीलकसहस्सवितते आवडपच्चावडसेढी सुत्थि-अमोवत्थियअवड्डमाणद्वमाणवमच्छंडमगरंडजारमारफुल्लाव-लिपउमपत्तसागरतरंगवसंतलयपउमलयभत्तिचित्तेहिं सच्छा-एहिं सप्पभेहिं समरीइएहिं सउज्जोएहिं णाणाविहपंच-वण्णेहिं मणीहिं उवसोभिए । तेसि णं मणीणं वण्णे गंधे फासे अ भाणिअव्वे, जहा रायप्पसेणइज्जे ॥

(तए णं से पालए देवे सक्केणमित्यादि) ततः स पालको दे-वः शक्रेण देवेन्द्रेण देवराज्ञा एवमुक्तः सन् हृष्टो यावद्वैक्रिय-समुद्घातेन समवहत्य तथैव करोति, विमानं रचयतीत्य-र्थः । अथ विमानस्वरूपवर्णनायाऽऽह-(तस्स णमित्यादि) इति सूत्रद्वयी व्यक्ता । अथ तद्भूमिभागं वर्णयन्नाह-(तस्स णं इत्या-दि) इदं प्राग्वद् ज्ञेयम्, नवरं मणीनां वर्णो गन्धः स्पर्शश्च भ-णितव्यो, यथा राजप्रश्नीये द्वितीयोपाङ्गे । अत्राऽपि जगतीप-द्मवरवेदिकावर्णनं मणवर्णाऽऽदयो व्याख्याताः, ततोऽपि वा बोद्धव्याः ।

(१८) भूमिभागवर्णनम्-अथ प्रेक्षागृहमण्डपवर्णनायाऽऽह-

तस्स णं भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए पिच्छाघरमंडवे अणेगखंभसयसंणिविट्ठवण्णओ० जाव पडिरूवे, तस्स उ-ल्लोए पउमलयाभत्तिचित्ते० जाव सव्वतवणिज्जमए० जाव पडिरूवे ।

(तस्स णमित्यादि) वाचकमुख्याद्, व्याख्या च अमकराजप्रश्नीयगतसुधर्मासभाऽधिकारतो ज्ञेया । उपरिभा-गवर्णनायाऽऽह-(तस्स उल्लोए इत्यादि) तस्योल्लोच उप-रिभागः पद्मलताभक्तिचित्रः, यावत् सर्वात्मना तपनीयम-यम्, प्रथमयावच्छब्देन अशोकलताभक्तिचित्र इत्यादि प-रिग्रहः । द्वितीययावच्छब्दात् "दलदे" इत्यादिविशेषणग्रहः ।

अत्र राजप्रश्नीये सूर्याभयानविमानवर्णकेऽक्षपाटकसूत्रं दृश्यते, परं बहुष्वेतत्सूत्राऽऽदर्शेषु अदृष्टत्वान्न लिखितम् ।

(१९) अथात्र मण्डपमणिपीठिकावर्णनायाऽऽह-

तस्स णं मंडवस्स बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहु-मज्झदेसभागंसि महं एगा मणिपीढिया अट्ठजोअणाइं आयामविक्खंभेणं, चत्तारि जोअणाइं बाहल्लेणं, सव्वम-णिमयी । वण्णओ । तीए उवरि महं एगे सिंहासणे । वण्णओ । तस्सुवरि महं एगे विजयदूसे सव्वरयणामए । वण्णओ । त-स्स मज्झदेसभागे एगे वइरामए अंकुसे, एत्थ णं महं एगे कुंभिक्के मुत्तादामे, से णं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमित्तेहिं चउहिं अ-द्धकुंभिक्केहिं मुत्तादामेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते । ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा सुवण्णपयरगमंडिआ णाणा-मणिरयणविविहहारऽद्धहारउवसोभिआ समुदया ईसिं अण्णमण्णं संपत्ता पुव्वाएहिं वाएहिं मंदं मंदं एइज्जमाणा एइज्जमाणा० जाव निव्वुइकरेणं ते पएसे आपूरेमाणा आपूरेमाणा० जाव अईव उवसोभेमाणा अईव उवसोभे-माणा चिट्ठंति ।

(तस्स णमित्यादि) व्यक्तम् । (तीए उवरि इत्यादि) एतद्-व्याख्या विजयद्वारस्थप्रकण्ठकप्रासादगतसिंहासनसूत्रवद्वक्तव्ये-या । (ते णमित्यादि) इदं सूत्रं प्राक् पद्मवरवेदिकाजालवर्णके व्याख्यातमिति ततो बोध्यम् । अत्र प्रथमयावत्पदात्-" वेइ-ज्जमाणा २ पलंबमाणा २ पझंझमाणा २ उरालेणं मणुण्णेणं म-णहरेणं कण्णमणण्णिव्वुइकरेणं" इति संग्रहः । द्वितीययावत्पदात्--" सि-रीए" इति ग्राह्यम् ।

(२०) संप्रत्यथाऽऽस्थाननिवेशप्रक्रियामाह--

तस्स णं सीहासणस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुर-च्छिमेणं; एत्थ णं सक्कस्स चउरासीए सामाणिअ-साहस्सीणं चउरासीइभद्दासणसाहस्सीओ, पुरच्छि-मेणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं, एवं दाहिणपुरच्छिमेणं अब्भिंतरपरिसाए दुवालसण्हं देवसाहस्सीणं, दाहि-णेणं मज्झिमाए परिसाए चउदसण्हं देवसाहस्सीणं, दाहिणपच्चच्छिमबाहिरपरिसाए सोलसण्हं देवसा-हस्सीणं, पच्चच्छिमेणं सत्तण्हं अणीआहिवईणं; तए णं तस्स सीहासणस्स चउदिसिं चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, एवमाइ विभासिअव्वं, सूरिआभ-गमेणं० जाव पच्चप्पिणंति ॥

(तस्स णं इत्यादि) तस्य सिंहासनस्य पालकविमानमध्यभाग-वर्तिनोऽपरोत्तरायां वायव्यामुत्तरस्याम्, उत्तरपूर्वायामैशान्याम्, अत्रान्तरे शक्रस्य चतुरशीतेः सामानिकसहस्राणां चतुरशीति-भद्रासनसहस्राणि, उक्तदिक्त्रये चतुरशीतिभद्रासनसहस्रा-णीत्यर्थः । पूर्वस्यां दिश्यष्टानामग्रमहिषीणामष्टभद्रासनानि । एवं दक्षिणपूर्वायामाग्नेयकोणेऽभ्यन्तरपर्षदः संबन्धिनां द्वादशानां देवसहस्राणां द्वादश भद्रासनसहस्राणि, दक्षिणस्यां मध्यमा-

षाः पर्षदश्चतुर्दशानां देवसहस्राणां चतुर्दश भद्रासनसहस्राणि, दक्षिणपश्चिमायां नैर्ऋतकोणे बाह्यपर्षदः षोडशानां देवसहस्राणां षोडश भद्रासनसहस्राणि.पश्चिमायां सप्तानामनीकाधिपतीनां सप्त भद्रासनानीति। (तए णमित्यादि) ततः प्रथमवलयस्थापनानन्तरं द्वितीये वलये तस्य सिंहासनस्य चतुर्दिशि चतसृणां चतुरशीतानां चतुर्गुणीकृतचतुरशीतिसंख्याकानाम्,आत्मरक्षकदेवसहस्राणां षट्त्रिंशत्सहस्राधिकशतत्रयमितानामात्मरक्षकदेवानामित्यर्थः। तावन्ति भद्रासनानि विकुर्वन्तीत्यर्थः। एवमादिविभाषितव्यमित्यादि वक्तव्यं,सूर्याभगमेन यावत्प्रत्यर्पयति। यावत्पदात् संग्रहणम्-" तस्स णं दिव्वस्स जाणविमाणस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते । से जहाणामए अइरुग्गयस्स वा हेमंतियबालसूरियस्स वा खाइरिंगालाण वा रत्तिं पज्जलिआणं वा जवाकुसुमवणस्स वा किंसुअवणस्स वा पारिजायवणस्स वा सव्वओ समंता संकुसुमियस्स भवे एयारूवे सिया ?। णो इणट्ठे समट्ठे। तस्स णं दिव्वस्स जाणविमाणस्स इत्तो इट्ठतराए चेव० ४ वण्णे पण्णत्ते,गंधो फासो अ, जहा मणीणं। तए णं से पालए देवे तं दिव्वं जाणविमाणं विउव्वित्ता जेणेव सक्के देविंदे देवराया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सक्कं देविंदं देवरायं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता तमाणत्तिअं।" इति।

अत्र ध्याकरणस्य दिव्यस्य यानविमानस्यायमेतद्रूपो वर्णव्यासः प्रज्ञप्तः। स यथानामकोऽचिरोद्गतस्य तत्कालसमुदितस्य हैमन्तिकस्य शिशिरकालसंबन्धिनो बालसूर्यस्य खादिराङ्गाराणां वा (रत्तिमिति) सप्तम्यर्थे द्वितीया । रात्रौ प्रज्वालितानां जपावनस्य किंशुकवनस्य वा, पारिजाताः कल्पद्रुमाः,तेषां वनस्य वा सर्वतः समन्तात् सम्यक् कुसुमितस्य। अत्र शिष्यः पृच्छति-भवेदेतद्रूपः-स्यात् कथञ्चित् ?। सूरिराह-नायमर्थः समर्थः । तस्य दिव्यस्य यानविमानस्य इत इष्टतरक एव, किं तत् इष्टतरक इत्यादि प्राग्वत्। गन्धः, स्पर्शश्च यथा प्राक् मणीनामुक्तस्तथेति ।

(२१) शक्रक्रिया-

तए णं से सक्के० जाव हिट्ठहिअए दिव्वं जिणिंदाभिगमणजुग्गं सव्वालंकारविभूसिअं उत्तरवेउव्विअं रूवं विउव्वइ, विउव्वइत्ता अट्ठहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं णट्टाणीएणं गंधव्वाणीएण य सद्धिं तं विमाणं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे अणुप्पयाहिणीकरेमाणे पुव्विल्लेणं तिसोवाणेणं दुरूहइ, दुरूहइत्ता० जाव सीहासणंसि पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे ॥

(तए णमित्यादि) ततः स शक्र इत्यादि व्यक्तं, दिव्यं प्रधानं, जिनेन्द्रस्य भगवतोऽभिगमनायाभिमुखगमनाय, योग्यमुचितं यादृशेन वपुषा सुरसमुदायसर्वातिशायिश्रीर्भवति, तादृशेनेत्यर्थः। सर्वालङ्कारभूषितम्-सर्वैः शिरःश्रवणाऽऽद्यलङ्कारैर्विभूषितम्, उत्तरवैक्रियशरीरत्वात् । स्वाभाविकवैक्रियशरीरस्य तु आगमने निरलङ्कारतयैवोत्पादश्रवणात् । उत्तरभवधारणीयशरीरापेक्षया योत्तरकालभावि वैक्रियरूपं विकुर्वते, विकुर्व्य चाष्टाभिरग्रमहिषीभिः सपरिवाराभिः प्रत्येकं प्रत्येकं षोडशदेवीसहस्रपरिवारपरिवृताभिर्नाट्यानीकेन गन्धर्वानीकेन च सार्द्धं तं विमानमनुप्रदक्षिणीकुर्वन् अनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वदिक्स्थेन त्रिसोपानेनाऽऽरोहति, आरुह्य च। यावच्छब्दात्-"जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता" इति ग्राह्यम्। सिंहासने पूर्वाभिमुखः सन्निषण्ण इति ।

(२२) अथाऽऽसनं सामानिकाऽऽदिभिः यथा पूर्यते तथाऽऽह-

एवं चेव सामाणिया वि उत्तरेणं तिसोवाणेणं दुरूहित्ता पत्तेअं पत्तेअं पुव्वणत्थेसु भद्दासणेसु णिसीअंति, अवसेसा य देवा देवीओ अ दाहिणिल्लेणं तिसोवाणेणं दुरूहित्ता तहेव० जाव णिसीयंति ॥

" एवं चेव इत्यादि " व्यक्तम् । नवरम् अवशेषाश्चाभ्यन्तरपर्षदादयः ।

(२३) प्रस्थापनाक्रमः-अथ प्रतिष्ठासोः शक्रस्य पुरः प्रस्थायिनां क्रममाह-

तए णं तस्स सक्कस्स तंसि दुरूढस्स इमेऽट्ठ मंगलगा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ। तयणंतरं च णं पुण्णकलसभिंगारदिव्वा य छत्तपडागा सचामरा दंसणरइअआलोअदरिसणिज्जा वाउद्धूअविजयवेजयंती अ समूसिआ गगणतलमणुलिहंती पुरओ अहाणुपुव्वीए संपत्थिआ। तयणंतरं च णं छत्तभिंगारं, तयणंतरं च णं वइरामयवट्टलट्ठसंठिअसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपइट्ठिए विसिट्ठे अणेगवरपंचवण्णकुडभीसहस्सपरिमंडिआभिरामवाउद्धूअविजयवेजयंतीपडागाछत्ताइच्छत्तकलिए तुंगे गयणयलमणुलिहंतसिहरे जोअणसहस्समूसिए महइ महालए महिंदज्झए पुरओ अहाणुपुव्वीए संपत्थिए। तयणंतरं च णं सरूवनेवत्थपरिकच्छिअसुसज्जा सव्वालंकारविभूसिआ पंच अणीआ पंच अणीआहिवइणो० जाव संपट्ठिआ। तयणंतरं च णं बहवे आभिओगिआ देवा य देवीओ अ सएहिं सएहिं विजवेहिं० जाव णिओगेहिं सक्कं देविंदं देवरायं पुरओ अ मग्गओ अ पासओ अ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ। तयणंतरं च णं बहवे सोहम्मकप्पवासी देवा य देवीओ अ सव्विड्ढीए० जाव दुरूढा समाणा मग्गओ अ० जाव संपट्ठिआ। तए णं से सक्के तेणं पंचाणीअपरिक्खित्तेणं० जाव महिंदज्झएणं पुरओ पकड्ढिज्जमाणेणं चउरासीए सामाणिअ० जाव परिवुडे सव्विड्ढीए० जाव रवेणं सोहम्मकप्पस्स मज्झं मज्झेणं तं दिव्वं देविड्ढिं० जाव उवदंसेमाणे उवदंसेमाणे जेणेव सोहम्मकप्पस्स उत्तरिल्ले णिज्जाणमग्गे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जोअणसयसाहस्सीएहिं विग्गहेहिं उवयमाणे उवयमाणे ताए उक्किट्ठाए० जाव देवगईए वीईवयमाणे वीईवयमाणे तिरियमसंखिज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं जेणेव णंदीसरवरे दीवे जेणेव दाहिणपुरच्छिमिल्ले रइकरपव्वए तेणेव उवागच्छइ, एवं० जा चेव सूरिआभस्स वत्तव्वया, णवरं सक्काहिगारो वत्तव्वो,

०जाव तं दिव्वं देवड्ढिं ०जाव दिव्वं जाणविमाणं पडिसाहरेमाणे पडिसाहरमाणे०जाव जेणेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणणगरे जेणेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणे, तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणं तेणं दिव्वेणं जाणविमाणेणं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे चउरंगुलमसंपत्तं धरणियले तं दिव्वं जाणविमाणं ठवेइ, ठवेइत्ता अट्ठहिं अग्गमहिसीहिं अणीएहिं गंधव्वाणीएण य नट्टाणीएण य सद्धिं ताओ दिव्वाओ जाणविमाणाओ पुरच्छिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहइ । तए णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो चउरासीइं सामाणियसाहस्सीओ जाणविमाणाओ उत्तरिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहंति, अवसेसा देवा य देवीओ य ताओ दिव्वाओ जाणविमाणाओ दाहिणिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहंति ॥

(तए णं तस्स इत्यादि) एतद्व्याख्या भरतचक्रिणोऽयोध्याप्रवेशाधिकारतो ज्ञेया । (नयणमित्यादि) तदनन्तरं छत्रभृङ्गारम । समाहारादेकवद्भावः। छत्रं च "वेरुलिअभिसंतविमलदंडं" इत्यादिवर्णकयुक्तं भरतस्यायोध्याप्रवेशाधिकारतो ज्ञेयम् । भृङ्गारश्च विशिष्टवर्णकविशेषेणः। पूर्वं च भृङ्गारस्य जलपूर्णत्वेन कथनात्, अयं च जलरिक्तत्वेन विवक्षित इति न पौनरुक्त्यम् । तदनन्तरं वज्रमयो रत्नमयः। तथा वृत्तं वर्तुलं, लष्टं मनोज्ञं,संस्थितं संस्थानमाकारो यस्य स तथा । तथा-सुश्लिष्टाऽऽपन्नावयवो, मसृण इत्यर्थः । परिघृष्टः खरशाणया पाषाणप्रतिमावत् । मृष्ट इव मृष्टः सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमेव, सुप्रतिष्ठितो, न तु तिर्यक्पतितवद्या वक्रः। तत एतेषां पदद्वयपदद्वयमीलनेन कर्मधारयः। अत एव शेषध्वजेभ्यो विशिष्टोऽतिशायी, तथाऽनेकानि वराणि पञ्चवर्णानि कुडभीनां लघुपताकानां सहस्राणि तैः परिमण्डितोऽलङ्कृतः, स चासावभिरामश्चेति। वातोद्धूतेत्यादिविशेषणद्वयं व्यक्तम् । तथा गगनतलमम्बरतलमनुलिखत् संस्पृशत् शिखरमग्रभागो यस्य स तथा । योजनसहस्रमुत्सृतोऽत एवाह-(महइ महालए इति) अतिशयेन महान्, महेन्द्रध्वजः,पुरतो यथाऽनुपूर्व्या संप्रस्थित इति । (तयणमित्यादि) तदनन्तरं स्वरूपं स्वकर्मानुसारि नेपथ्यं वेषः परिकर्मितः परिगृहीतो यैस्तानि । तथा (सुसज्जानि) पूर्णसामग्रीकतया प्रगुणानि सर्वालङ्कारविभूषितानि पञ्चानीकानि, पञ्चानीकाधिपतयश्च पुरतो यथानुपूर्व्या संप्रस्थितानि (तयणंतरं च णमित्यादि) तदनन्तरं बहव आभियोगिका देवाश्च देव्यश्च स्वकैः २ विभवैर्यथास्वकर्मोपस्थितैर्विभवैः संपरिवृताः,यावत्स्वकाभ्यः स्वकैः २ कर्मभ्या स्वकर्मोपजीवितव्यवैक्रियस्वरूपैः, स्वकैः स्वकैः नियोगैरुपकरणैः शक्रं देवेन्द्रं देवराजं पुरतश्च मार्गतश्च पृष्ठतः पार्श्वतश्च उभयोर्यथानुपूर्व्या यथावृद्धक्रमेण संप्रस्थिताः । (तयणंतरं च णमित्यादि) तदनन्तरं बहवः सौधर्मकल्पवासिनो देवाश्च देव्यश्च सर्वर्द्ध्या, यावत्करणादिदं दृश्यं इति गमयितव्यं पुरः स्वाकृतिविषयकः प्रागुक्त आलापको ग्राह्यः। तेन स्वाभिः २ यानविमानवाहनानि आरूढाः सन्तो मार्गतश्च। यावच्छब्दात् पुरतः पार्श्वतश्च

शक्रस्य संप्रस्थिताः । अथ यथा शक्रः सौधर्मकल्पाभिधीयते, तथा चाऽऽह-(तए णमित्यादि) ततः स शक्रस्तेन प्रागुक्तस्वरूपेण पञ्चभिः सांग्रामिकैरनीकैः परिक्षिप्तेन सर्वतः परिवृतेन,यावत्पूर्वोक्तः सर्वो महेन्द्रध्वजवर्णको ग्राह्यः। महेन्द्रध्वजेन पुरतः प्रकृष्यमाणेन निर्गम्यमाणेन चतुरशीत्या सामानिकसहस्रैः,यावत्करणात्"चउरासीहिं चउरासीहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं " इत्यादि ग्राह्यम् । परिवृतः सर्वर्द्ध्या,यावद्रवेण । यावत्करणात्-"सव्वजुईए" इत्यादि प्रागुक्तं ग्राह्यम् । सौधर्मस्य कल्पस्य मध्यं मध्येन तां दिव्यां देवर्द्धिं, यावच्छब्दात् " दिव्वं देवज्जुइं दिव्वं देवाणुभावं " इति ग्रहः । सौधर्मकल्पवासिनां देवानामुपदर्शयन् २ यत्रैव सौधर्मस्य कल्पस्योत्तराहो निर्याणमार्गो निर्गमनसंबन्धी पन्थास्तत्रैवोपागच्छति । यथा वरयात्रा नागराणां विभूतिदर्शनार्थं राजपथे याति, न तु रथ्यादौ,तथाऽयमपि । एतेन समस्तदेवलोकाऽऽधारभूतपृथिवीप्रतिष्ठितविमाननिरुद्धमार्गत्वेनतस्ततः संचरणाभावेन मध्यं मध्येनेति " उत्तरिल्ले णिज्जाणमग्गे " इत्युक्तमिति ये आहुः, ते आगमसौमत्स्यं युक्तिसाकल्यं च प्रष्टव्याः । उपागत्य च योजनशतसाहस्रिकैर्योजनलक्षप्रमाणैर्विग्रहैः क्रमैरिव गन्तव्यक्षेत्रातिक्रमरूपैः । एतेन स्थावरस्वरूपस्य विमानस्य पदन्यासरूपाः क्रमाः कथं भवेयुरिति शङ्का निरस्ता । अवपतन् अवपतन् तया चोत्कृष्टया । यावत्करणात् " तुरिआए " इत्यादिग्रहः । देवगत्या व्यतिव्रजन् २ तिर्यगसंख्येयानां द्वीपसमुद्राणां मध्यं मध्येन यत्रैव नन्दीश्वरवरद्वीपो यत्रैव तस्यैव पृथुत्वमध्यभागे दक्षिणपूर्व आग्नेयकोणवर्ती रतिकरपर्वतस्तत्रैवोपागच्छति । इदं च स्थानाङ्गाऽऽशयेनोक्तम् । अन्यथा प्रवचनसारोद्धाराऽऽदिषु पठ्यमानानां पूर्वाऽऽद्यञ्जनगिर्यादिचतुर्दिक्स्थितवापीद्वयद्वयान्तराले बहिःकोणयोः प्रत्यासत्तौ प्रत्येकं द्वयद्वयभावेन निश्चितप्रमाणानां रतिकरपर्वतानां मध्ये विनिगमनाविरहात् कतरो रतिकरपर्वतो दक्षिणपूर्वः स्यादिति । ननु सौधर्माद्वतरतः शक्रस्य नन्दीश्वरद्वीपे पश्चादवतरणं युक्तिमत्, न पुनरसंख्येयद्वीपसमुद्रातिक्रमेण तत्रागमनमित्युच्यते, निर्याणमार्गस्याऽसंख्याततमस्य द्वीपस्य वा समुद्रस्य वा उपरिस्थितत्वेन सम्भाव्यमानत्वात्तथाऽवतरणम् । ततश्च नन्दीश्वराभिगमनेऽसंख्यातद्वीपसमुद्रातिक्रमणं युक्तिमदेवेति । अत्र दृष्टान्तसूत्रम् (एवं०जा चेव त्ति) एवमुक्तरीत्या यैव सूर्याभस्य वक्तव्यता, यथा सूर्याभः सौधर्मकल्पावतंसकविमानादवतीर्णस्तथाऽयमपीत्यर्थः । नवरमयं भेदः शक्राधिकारो वक्तव्यः, सौधर्मेन्द्रनाम्ना सर्वं वाच्यम् । (०जाव तं दिव्वं) इत्यादि प्रायो व्यक्तं, नवरमत्र प्रथमयावच्छब्दो सूर्याभनिर्गमनवदतः शक्रगमनाधिकारस्यावधिसूचनार्थः । स चावधिर्विमानप्रतिसंहरणपर्यन्तो वाच्यः । द्वितीययावच्छब्दो-" दिव्वं देवज्जुइं दिव्वं देवाणुभावं " इति पदद्वयग्राही । अस्य चायमर्थः-दिव्यां देवर्द्धिं परिवारसंपद्रूपविमानवज्जसौधर्मकल्पवासिदेवविमानानां मेरौ प्रेषणात्, तथा दिव्यां देवद्युतिं शरीराऽऽभरणाऽऽदिद्युतिसत्तेन,तथा दिव्यं देवानुभावं देवगतिहस्ताऽऽपादनेन, तथा दिव्यं यानविमानं पालककल्पामकं जम्बूद्वीपपरिमाणन्यूनविस्ताराऽऽयामकरणेन, प्रतिसंहरन् प्रतिसंहरन् संक्षिपन् संक्षिपन्निति । तृतीययावच्छब्दात्-"जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे " इति ग्राहकः। ननु पूर्वं त्रिसोपानप्रतिरूपकेणोत्तारः शक्रस्योक्तोऽपराभ्यां केषा-

-सुसार इत्याह-"तए णं सक्कस्स देविंदस्स देवरणो" इत्यादि व्यक्तम् ।

(२४) अथ शक्रः किमकार्षीदित्याह-

तए णं से सक्के देविंदे देवराया चउरासीए सामाणिअसाहस्सीएहिं ०जाव सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए०जाव दुंदुभिणिग्घोसणाइयरवेणं जेणेव भगवं तित्थयरमाया य, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता आलोए चेव पणामं करेइ, करेइत्ता भगवं तित्थयरमायरं च आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता करयल० जाव एवं वयासी-णमोऽत्थु ते रयणकुच्छिधारिए !, एवं जहा दिसाकुमारीओ० जाव धण्णा सि पुण्णा सि तं कयत्था सि अहं देवाणुप्पिए ! सक्के णामं देविंदे देवराया भगवओ तित्थयरस्स जम्मणमहिमं करिस्सामि, तेण तुब्भेहिं ण भीइव्वं ति कट्टु ओसोवणिं दलयइ, दलइत्ता तित्थयरपडिरूवगं विउव्वइ, विउव्वइत्ता तित्थयरमाउआए पासे ठवेइ, ठवेइत्ता पंचसक्के विउव्वइ, विउव्वित्ता एगे सक्के भगवं तित्थयरं करयलपुडेणं गिण्हइ, एगे सक्के पिट्ठओ आयवत्तं धरेइ, दुवे सक्का उभओ पासिं चामरुक्खेवं करेंति, एगे सक्के पुरओ वज्जपाणी पकड्ढइ ।

"तए णं से सक्के देविंदे देवराया चउरासीए" इत्यादि कण्ठ्यम् । यावत्पदसंग्रहस्तु पूर्वसूत्रानुसारेण बोध्यः । यद्वाऽसीत्तदाह-(णमोऽत्थु ते इत्यादि) नमोऽस्तु तुभ्यं रत्नकुक्षिधारिके ! एवंप्रकारं सूत्रं, यथा दिक्कुमार्य आहुः, तथाऽवादीदित्यर्थः । यावत्करणादिदं ग्राह्यम्-"जगप्पईवदाईए चक्खुणो अ मुत्तस्स सव्वजगजीववच्छलस्स हियकरमग्गदेसियस्स वागिद्धिविभुप्पभुस्स जिणस्स णाणिस्स णायगस्स बुद्धस्स बोहगस्स सव्वलोगणाहस्स सव्वलोगमंगलस्स णिम्ममस्स पवरकुलसमुप्पवस्स जाइखत्तियस्स जंसि लोगुत्तमस्स जणणी ति ।" किमर्थमित्याह-धन्याऽसि पुण्याऽसि त्वं कृतार्थाऽसि, अहं देवानुप्रिये ! शक्रो नाम देवेन्द्रो देवराजा भगवतस्तीर्थकरस्य जन्ममहिमानं करिष्यामि । तेन युष्माभिर्न भेतव्यमिति कृत्वा अवस्वापिनीं ददाति, सुते मेरुं नीते सुतविरहाऽऽर्त्ता मा दुःखभाग्भूदिति दिव्यनिद्रया निद्राणां करोतीत्यर्थः । दत्त्वा च तीर्थकरस्य मेरुनेतव्यत्वाद् भगवतः प्रतिरूपकं जिनसदृशं रूपं विकुर्वति, अन्यथा तु मेरुगतेषु जन्ममहस्यापूर्णेष्वेव आसन्नद्युवतया कुतूहलाऽऽदिना ह्रतनिद्रा सती मा इयं वत्सा भवत्विति भगवद्रूपाविशेषं रूपं विकुर्वतीत्यर्थः । विकुर्व्य च तीर्थकरमातुः पार्श्वे स्थापयति, स्थापयित्वा च पञ्च शक्रान् विकुर्वति, आत्मना पञ्चरूपो भवतीत्यर्थः । विकुर्व्य च तेषां पञ्चानां मध्ये एकः शक्रो भगवन्तं तीर्थकरं परमशुचिना सरसगोशीर्षचन्दनलिप्तेन, धूपवासितेनेति शेषः । करतलयोरूर्ध्वाधोभावेन स्थितयोः पुटं संपुटं, शुक्तिकासंपुटमिवेत्यर्थः, तेन गृह्णाति । एकः शक्रः पृष्ठत आतपत्रं छत्रं धरति । द्वौ शक्रौ तु तयोः पार्श्वयोश्चामरोत्क्षेपं कुरुतः । एकः शक्रः पुरतो वज्रपाणिः सन् प्रकर्षति-निर्गमयति, अयमभिमतोऽत्र अग्रतः प्रवर्तत इत्यर्थः । अत्र च सत्यपि सामानिकाऽऽदिदेवपरिवारे यदिन्द्रस्य स्वयमेव पञ्चरूपविकुर्वणं, तत् त्रिजगद्गुरोः परिपूर्णसेवालिप्सुत्वेनेति ।

(२५) मेरुगमनम्-

अथ यथा शक्रो विवक्षितस्थानमाप्नोति तथाऽऽह-

तए णं से सक्के देविंदे देवराया अण्णेहिं बहूहिं भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि अ सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए० जाव णाए उक्किट्ठाए० जाव वीईवयमाणे वीईवयमाणे जेणेव मंदरे पव्वए जेणेव पंडगवणे जेणेव अभिसेअसिला जेणेव अभिसेअसीहासणे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे ।

(तए णं से सक्के इत्यादि) ततः स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा अन्यैर्बहुभिर्भवनपतिवाणमन्तरज्योतिष्कवैमानिकैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतः सर्वर्द्ध्या; यावत्करणात् "सव्वजुईए" इत्यादिपदसंग्रहः पूर्वोक्तो ज्ञेयः । तयोत्कृष्टया । यावत्करणात्-"तुरिआए" इत्यादिग्रहः । व्यतिव्रजन् व्यतिव्रजन् यत्रैव मन्दरपर्वतो यत्रैव च पण्डकवनं यत्रैव चाभिषेकशिला यत्रैव चाऽभिषेकसिंहासनं, तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः (सण्णिसण्णे इति) पालकविमानं च गृहीतस्वामिकस्य स्वस्वामिनः पार्श्वावस्थेन तमनुव्रजतां देवानामप्युपयोगित्वादभिषेकशालायां यावदनुव्रजद्भूदिति संभाव्यते ।

(२६) ईशानेन्द्रागमनम्-

तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे देविंदे देवराया सूलपाणी वसभवाहणे सुरिंदे उत्तरड्ढलोगाहिवई अट्ठावीसविमाणावाससयसहस्साहिवई अरयंबरवत्थधरे एवं जहा सक्के, इमं णाणत्तं-महाघोसा घंटा, लहुपरक्कमो पायत्ताणीयाहिवई, पुप्फओ विमाणकारी, दाहिणिल्ले णिज्जाणभूमी, उत्तरपुरच्छिमिल्लो रइकरपव्वओ, मंदरे समोसरिओ० जाव पज्जुवासइ ॥

(तेणं कालेणमित्यादि) तस्मिन् काले सकलजिनजन्मके, तस्मिन् समये दिक्कुमारीकृत्यानन्तरीये, न तु शक्राऽऽगमनानन्तरीये, सर्वेषामिन्द्राणां जिनकल्याणकेषु युगपदेव समागमनाऽऽरब्धस्य जायमानत्वात् । यत्तु सूत्रे शक्राऽऽगमनानन्तरमीशानेन्द्राऽऽगमनमुक्तं, तत् क्रमेणैव सूत्रबन्धस्य सम्भवात् । ईशानो देवेन्द्रो देवराजा शूलपाणिर्वृषभवाहनः सुरेन्द्र उत्तरार्द्धलोकाधिपतिः, मेरोरुत्तरतोऽस्यैवाधिपत्यात् । अष्टाविंशतिविमानावासशतसहस्राधिपतिः, अरजांसि निर्मलानि अम्बराणि वस्त्राणि, स्वच्छतयाऽऽकाशकल्पानि वसनानि धरति यः स तथा । एवं यथा शक्रः सौधर्मेन्द्रस्तथाऽयमपि । इदमत्र नानात्वं विशेषः-महाघोषा घण्टा, लघुपराक्रमनामा पदात्यनीकाधिपतिः, पुष्पकनामा विमानकारी, दक्षिणा निर्याणभूमिः, उत्तरपौरस्त्यो रतिकरपर्वतः, मन्दरे समवसृतः समागतः । यावत्पदात्-"भगवंतं तित्थयरं तित्थयरमायरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करित्ता वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे ।" इति पर्युपास्ते ।

अथातिदेशेनावशिष्टानां सनत्कुमाराऽऽदीन्द्राणां वक्तव्यमाह-

एवं अवसिट्ठा वि इंदा भाणियव्वा० जाव अच्चुओ ।

इमं णाणत्तं-

" चउरासीइ असीई, बावत्तरि सत्तरी अ सट्ठी अ ।

पन्ना चत्तालीसा, तीसा वीसा दससहस्सा ॥ १ ॥ "

एए सामाणिआणं ।

"बत्तीसऽट्ठावीसा, बारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा ।

पन्ना चत्तालीसा, छच्च सहस्सा सहस्सारे ॥ १ ॥

आणयपाणयकप्पे, चत्तारि सयाऽऽरणऽच्चुए तिण्णि ॥"

एए विमाणाणं ।

इमे जाणविमाणकारी देवा । तं जहा-

"पालय पुप्फे सोमण-से सिरिवच्छे अ णंदिआवत्ते ।

कामगमे पीइगमे, मणोरमे विमल सव्वओभद्दे" ॥ १ ॥

सोहम्मगाणं सणंकुमारगाणं बंभलोगाणं महासुक्कयाणं पाणयगाणं इंदाणं सुघोसा घंटा, हरिणेगमेसी पायत्ताणीआहिवई, उत्तरिल्ला णिज्जाणभूमी, दाहिणपुरच्छिमिल्ले रइकरपव्वए; ईसाणगाणं माहिंदलंतगसहस्सारअच्चुअगाण य इंदाणं महाघोसा घंटा, लहुपरक्कमो पायत्ताणीआहिवई, दक्खिणिल्ले णिज्जाणमग्गे, उत्तरपुरच्छिमिल्ले रइकरपव्वए, परिसाओ णं जहा जीवाभिगमे आयरक्खा सामाणिअचउग्गुणा सव्वेसिं जाणविमाणा सव्वेसिं जोयणसयसहस्सवित्थिण्णा उच्चत्तेणं सविमाणप्पमाणमहिंदज्झया सव्वेसिं जोअणसाहस्सिआ सक्कवज्जा मंदरं समोअरंति० जाव पज्जुवासंति ।

(एवं अवसिट्ठा वि इत्यादि) एवं सौधर्मेशानेन्द्ररीत्या अवशिष्टा अपि इन्द्रा वैमानिकानां भणितव्याः, यावदच्युतेन्द्र एकादशद्वादशकल्पाधिपतिरिति । (विमानाऽऽदिसंख्या सामानिकाऽऽदिसंख्या च तवच्छ्ये)

(२७) चमराऽऽदीनामागमनम्-

तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरे असुरिंदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि चउसट्ठीए सामाणिअसाहस्सीहिं तायत्तीसाए तायत्तीसेहिं चउहिं लोगपालेहिं पंचहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणीएहिं सत्तहिं अणीआहिवईहिं चउहिं चउसट्ठीहिं आयरक्खसाहस्सीहिं अण्णेहि अ जहा सक्के, णवरं इमं णाणत्तं-दुमो पायत्ताणीआहिवई, ओघस्सरा घंटा विमाणं पण्णासं जोअणसहस्साइं महिंदज्झओ पंच जोअणसयाइं, विमाणकारी आभिओगिओ देवो, अवसिट्ठं तं चेव० जाव मंदरे समोसरइ, पज्जुवासइ ॥

बली-

तेणं कालेणं तेणं समएणं बली असुरिंदे असुरराया एवमेव, णवरं सट्ठी सामाणिअसाहस्सीओ, चउगुणा आयरक्खा, महादुमो पायत्ताणीआहिवई, महाओहस्सरा घंटा, सेसं तं चेव परिसाओ जहा जीवाभिगमे ।

धरणः—

तेणं कालेणं तेणं समएणं धरणे तहेव णाणत्तं, छ सामाणिअसाहस्सीओ, छ अग्गमहिसीओ, चउगुणा आयरक्खा, मेघस्सरा घंटा, भद्दसेणो पायत्ताणीआहिवई, विमाणं पणवीसं जोअणसहस्साइं, महिंदज्झओ अड्ढाइज्जाइं जोअणसयाइं ।

भवनवासिनः—

एवमसुरिंदवज्जिआणं भवणवासिइंदाणं, णवरं असुराणं ओघस्सरा घंटा, णागाणं मेघस्सरा, सुवण्णाणं हंसस्सरा, विज्जूणं कोंचस्सरा, अग्गीणं मंजुस्सरा, दिसाणं मंजुघोसा, उदहीणं सुस्सरा, दीवाणं महुरस्सरा, वाऊणं णंदिस्सरा, थणियाणं णंदिघोसा, चउसट्ठी सट्ठी खलु छच्च सहस्साओ असुरवज्जाणं सामाणिआओ, एए चउगुणा आयरक्खाओ, दाहिणिल्लाणं पायत्ताणीआहिवई भद्दसेणो, उत्तरिल्लाणं दक्खो ॥

वाणमन्तराः—

वाणमंतरजोइसिआणं अज्जो ! एवं चेव, णवरं चत्तारि अ सामाणिअसाहस्सीओ, चत्तारि अग्गमहिसीओ, सोलस आयरक्खसहस्सा विमाणा, जोअणसहस्सं महिंदज्झया, पणवीसं जोअणसयं घंटा, दाहिणाणं मंजुस्सरा, उत्तराणं मंजुघोसा, पायत्ताणीआहिवई विमाणकारी अ आभिओगा देवा ।

ज्योतिष्काः—

जोइसिआणं सुस्सरा सुस्सरणिग्घोसाओ घंटाओ, मंदरे समोसरणं० जाव पज्जुवासंति ।

घण्टासु चायं विशेषः-चन्द्राणां सुस्वरा, सूर्याणां सुस्वरनिर्घोषा, सर्वेषां च मन्दरे समवसरणं वाच्यम्, यावत् पर्युपासते। यावच्छब्दग्राह्यं तु प्राग्दर्शितं ततो ज्ञेयम्। एतत्सूत्रस्थाने सूत्रम्-"तेणं कालेणं तेणं समएणं चंदा जोइसिंदा जोइसरायाणो पत्तेअं २ चउहिं सामाणिअसाहस्सीहिं चउहिं अग्गमहिसीहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणीएहिं सत्तहिं अणीआहिवईहिं सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं एवं, जहा वाणमंतरा, एवं सूरा वि ।" अत्रायोल्लेखो चन्द्राः सूर्या इत्येव बहुवचनं किमर्थम् ?, प्रस्तुतकर्मणि एकस्यैव सूर्यस्य चन्द्रस्य चाधिकृतत्वात्, अन्यथेन्द्राणां चतुःषष्टिसङ्ख्याकत्वव्याघातः स्यात् ?। उच्यते-जिनकल्याणकाऽऽदिषु दश कल्पेन्द्रा विंशतिर्भवनवासीन्द्रा द्वात्रिंशद् व्यन्तरेन्द्राः,एते व्यक्तितः, चन्द्रसूर्यौ तु जात्यपेक्षया, तेन चन्द्राः सूर्या असङ्ख्याता अपि समायान्ति, के नाम न कामयन्ते भुवनभर्तारकाणां दर्शनम् । यदुक्तं शान्तिचरित्रे श्रीमुनिदेवसूरिकृतश्रीशान्तिदेवजन्ममहवर्णने-" ज्योतिष्कनायकौ पुष्प-दन्तौ सङ्ख्यातिगावपि । हैमाद्रिमस्तिकं तो च, अद्यापि सुरेश्वराः " ॥ १ ॥

तए णं से अच्चुए देविंदे देवराया महं देवाहिवे आभिओगे देवे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! महत्थं महग्घं महारिहं विउलं तित्थयराभिसेअं उवट्ठवेह । तए णं ते हट्ठतुट्ठा० जाव पडिसुणित्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमंति, अवक्कमंतित्ता वेउव्विअसमुग्घाएणं० जाव समोहणित्ता अट्ठसहस्सं सोवण्णिअकलसाणं, एवं रुप्पमयाणं मणिमयाणं सुवण्णरुप्पमयाणं सुवण्णमणिमयाणं रुप्पमणिमयाणं सुवण्णरुप्पमणिमयाणं अट्ठसहस्सं भोमिज्जाणं अट्ठसहस्सं चंदणकलसाणं, एवं भिंगाराणं आयंसाणं थालाणं पाईणं सुपइट्ठगाणं चित्ताणं रयणकरंडगाणं वायकरगाणं पुप्फचंगेरीणं, एवं जहा सूरिआभस्स सव्वचंगेरीओ सव्वपडलगाइं विसेसिअतराइं भाणिअव्वाइं सीहासणछत्तचामरतेल्लसमुग्ग० जाव सरिसवसमुग्गतालिअंटा० जाव अट्ठसहस्सं कडुच्छुआणं विउव्वंति, विउव्वित्ता साहाविए विउव्विए अ कलसे० जाव कडुच्छुए अ गिण्हित्ता जेणेव खीरोदए समुद्दे तेणेव आगम्म खीरोदगं गिण्हंति, गिण्हंतित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं पउमाइं० जाव सहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हंति, एवं पुक्खरोदाओ० जाव भरहेरवयाणं मागहाईणं तित्थाणं उदगं मट्टिअं च गिण्हंति, गिण्हंतित्ता, एवं गंगाईणं महाणईणं० जाव चुल्लहिमवंताओ सव्वतुअरे सव्वपुप्फे सव्वगंधे सव्वमल्ले० जाव सव्वोसहीओ सिद्धत्थएहिं गिण्हंति, गिण्हंतित्ता पउमद्दहाओ दहोदगं उप्पलादीणि अ । एवं सव्वकुलपव्वएसु वट्टवेअड्ढेसु सव्वमहद्दहेसु सव्ववासेसु सव्वचक्कवट्टिविजएसु वक्खारपव्वएसु अंतरणईसु विजासिज्जा० जाव उत्तरकुरुसु० जाव सुदंसणभद्दसालवणे सव्वतुअरे० जाव सिद्धत्थए अ गिण्हंति । एवं णंदणवणाओ सव्वतुअरे० जाव सिद्धत्थए अ सरसं च गोसीसचंदणं दिव्वं च सुमणदामं गेण्हंति । एवं सोमणसपंडगवणाओ अ सव्वतुअरे० जाव सुमणदामं दद्दरमलयसुगंधिए गंधे अ गिण्हंति, गिण्हंतित्ता एगओ मिलंति, मिलंतित्ता जेणेव सामी तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता तं महत्थं० जाव तित्थयराभिसेअं उवट्ठवेंति ॥

यावच्छब्दसंग्राह्यकपदसंकाशानिमानि च वस्तूनि सूर्याभाभिषेकोपयोगवस्तूनि सदृश्यपैव तुल्यानि, न तु गुणेनेत्याह विशेषितराणि । (जं०) ननु मेरुतो ऽभिषेकाद्भुतवस्तुग्रहणाय चलन्तस्ते देवास्तद्ग्रहणोपयोगिवस्तुजातं कलशभृङ्गाराऽऽदिकं गृह्णन्तु, परं तदनुपयोगिशास्त्राऽऽदरप्रभृति सिंहासनचामराऽऽदिकं तैलसमुद्गकाऽऽदिकं च कथं गृह्णन्तीति चेत्? । उच्यते-विकुर्वणासमस्यातिदेशेन ग्रहणसूत्रस्यातिदिष्टत्वादेतत्सूत्रपाठस्यागतमध्येऽपि ये प्रयोगोचितास्त एव गृहीता इति बोध्यम्, योग्यताऽऽकाशादेवार्थप्रतिपत्तेः । यच्च धूपकडुच्छुकानां तत्र ग्रहणं तत् कलशभृङ्गाराऽऽदिदेवहस्तधूपनार्थमिति । अन्यथा सूत्रे साक्षादुपदर्शितस्य धूपकडुच्छुकानां ग्रहणस्य नैरर्थक्याऽऽपत्तेः। अथ प्रस्तुतं सूत्रं गृहीत्वा च यानि तत्र क्षीरोदे उत्पलानि पद्मानि, यावत्सहस्रपत्राणि तानि गृह्णन्ति । यावत्पदात् कुमुदाऽऽदिग्रहः। एवमनया रीत्या पुष्करोदात् तृतीयसमुद्रात् उदकाऽऽदिकं गृह्णन्ति । यत्तु क्षीरोदादिनिवृत्तैर्वारुणीवरमन्तरा मुक्त्वा पुष्करोदे जलं गृहीतं, तद्वारुणीवरवारिणोऽग्राह्यत्वादिति संभाव्यमिति । यावच्छब्दात्-"समयक्खेत्ते" इति ग्राह्यम् । तेन समयक्षेत्रे मनुष्यक्षेत्रे भरतैरावतयोः प्रस्तावात् पुष्करवरद्वीपार्द्धसत्कयोर्मागधाऽऽदीनां तीर्थानामुदकं मृत्तिकां च गृह्णन्ति । एवमिति समये क्षेत्रस्थपुष्करवरद्वीपार्द्धसत्कानां गङ्गाऽऽदीनां महानदीनाम् । आदिशब्दात्-सर्वमहानदीग्रहः । यावत्पदात् उदकमुभयतटमृत्तिकां च गृह्णन्ति । क्षुद्रहिमवतः सर्वान् तुवरान्(?) कषायद्रव्याणि आमलकाऽऽदीनि, सर्वाणि जातिभेदेन पुष्पाणि, सर्वान् गन्धान् वासाऽऽदीन्, सर्वाणि माल्यानि ग्रथिताऽऽदिनिर्दिष्टानि, सर्वा महौषधीः राजहंसीप्रमुखाः, सिद्धार्थकांश्च सर्षपान् गृह्णन्ति, गृहीत्वा च पद्महदाद् हृदोदकमुत्पलानि च गृह्णन्ति । एवं क्षुद्रहिमवन्न्यायेन सर्वक्षेत्रव्यवस्थाकारित्वेन कुलकराः पर्वताः । सत्यपदलोपे कुलपर्वता हिमाचलाऽऽदयः, तेषु वृत्तवैताढ्येषु, सर्वमहाह्रदेषु पद्महदाऽऽदिषु, सर्ववर्षेषु सर्वचक्रवर्तिविजयेषु कच्छाऽऽदिषु वक्षस्कारपर्वतेषु गजदन्ताऽऽकृतिषु माल्यवदादिषु सरलाऽऽकृतिषु च चित्रकूटाऽऽदिषु, तथाऽन्तरनदीषु ग्राहावत्यादिषु, विभाषेन यत्र, पर्वतेषु तु तुवरादीनां, ह्रदेषूत्पलाऽऽदीनां कर्मक्षेत्रेषु मागधाऽऽदितीर्थोदकमृदां, नदीषूदकोभयतटमृदां ग्रहणं वक्तव्यमित्यर्थः । यावत्पदादेव कुरुपाठग्रहः। तेन कुरुद्वये चित्रविचित्रगिरियमकगिरिकाञ्चनगिरिहृददशकेषु यथासंभवं वस्तुजातं गृह्णन्ति । यावत्पदात्-पुष्करवरद्वीपार्द्धस्य पूर्वार्द्धमेरौ भद्रशालवने नन्दने सौमनसवने पण्डकवने च सर्वतुवराऽऽदीन् गृह्णन्ति । तथा तस्यैवापरार्द्धे मेरावनेनैव क्रमेण वस्तुजातं गृह्णन्ति । ततो धातकीखण्डपूर्वापरार्द्धयोर्भरताऽऽदिस्थानेषु वस्तुग्रहो वाच्यः । ततो जम्बूद्वीपेऽपि तद्ग्रहस्तथैव वाच्यः । किंपर्यन्तमित्याह-सुदर्शनो जम्बूद्वीपगतो मेरुस्तस्य भद्रशालवने सर्वतुवरान्, यावत् सिद्धार्थकांश्च सरसं च गोशीर्षचन्दनं दिव्यं च सुमनोदामग्रथितपुष्पाणि गृह्णन्ति । एवं सौमनसवनात् । सूत्रपाठे पञ्चमीलोपः प्राकृतत्वात् । पण्डकवनाच्च सर्वतुवरान्, यावत् सुमनोदामदर्दरमलयसुगन्धिकान् गन्धान्, दर्दरमलयौ चन्दनोत्पत्तिस्थानभूमी, तत्र तदुद्भवं चन्दनमपि "तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशः" इति न्यायेन दर्दरमलयशब्दाभ्यामभिधीयते । ततो दर्दरमलयनामके चन्दने तयोः सुगन्धः परमगन्धो येषु तान् दर्दरमलयसुगन्धिकान् गन्धान् वासान् गृह्णन्ति । गृहीत्वा च इतस्ततो विप्रकीर्णा आभियोग्यदेवा एकत्र मिलन्ति । मिलित्वा च यत्रैव स्वामी तत्रैवोपागच्छन्ति । उपागत्य च तं महार्घं, यावच्छब्दात्-महार्घं महार्हं विपुलमिति पदत्रयम् । तीर्थकराभिषेकं तीर्थकराभिषेकयोग्यं क्षीरोदकाऽऽद्युपस्करमुपस्थापयन्ति उपनयन्ति, अच्युतेन्द्रस्य समीपस्थितं कुर्वन्तीत्यर्थः ।

(२८) अच्युतेन्द्रो यदकरोत्तदाह-

तए णं से अच्चुए देविंदे देवराया दसहिं सामाणिअ-

साहस्सीहिं तायत्तीसाए तायत्तीसएहिं चउहिं लोगपालेहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणीएहिं सत्तहिं अणीयाहिवईहिं चत्तालीसाए आयरक्खदेवसाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे तेहिं साभाविएहिं विउव्विएहिं अ वरकमलपइट्ठाणेहिं सुरभिवरवारिपडिपुण्णेहिं चंदणकयचच्चाएहिं आविद्धकंठगुणेहिं पउमुप्पलपिहाणेहिं करयलसुकुमारपरिग्गहिएहिं अट्ठसहस्सेणं सोवण्णिआणं कलसाणं० जाव अट्ठसहस्सेणं भोमेज्जाणं० जाव सव्वोदएहिं सव्वमट्टिआहिं सव्वतुअरेहिं ०जाव सव्वोसहिं सिद्धत्थएहिं सव्विड्ढीए० जाव रवेणं महया महया तित्थयराभिसेएणं अभिसिंचति ।

यावच्छब्दात्-" सव्वजुईए " इत्यारभ्य " दुंदुहिनिग्घोसनाइयं " इत्यन्तं ग्राह्यम् । महता महता तीर्थकराभिषेकेण, अत्र करणे तृतीया । कोऽर्थः ?-येनाभिषेकेण तीर्थकरा अभिषिच्यन्ते, तेनेत्यर्थः । अत्राभिषेकशब्देनाभिषेकोपयोगि क्षीरोदकादिकं ज्ञेयम्, अभिषिञ्चत्यभिषेकं करोतीत्यर्थः ।

(२७) इन्द्राऽऽदयो यत्कुर्वन्ति तदाह-

तए णं सामिस्स महया महया अभिसेअंसि वट्टमाणंसि इंदाइआ देवा छत्तचामरकलसधूवकडुच्छुअपुप्फगंध० जाव हत्थगया हट्ठतुट्ठ० जाव वज्जसूलपाणी पुरओ चिट्ठंति पंजलिउडा । एवं विजयाणुसारेणं० जाव अप्पेगइआ देवा आसिअसंमज्जिओवलित्तसित्तसुइसम्मट्ठरत्थंतराऽऽवणवीहिअं करेंति० जाव गंधवट्टिभूअं । अप्पेगइआ हिरण्णवासं वासंति । एवं सुवण्णरयणवइरआभरणपत्तपुप्फफलबीअमल्लगंधवण्ण० जाव चुण्णवासं वासंति । अप्पेगइया हिरण्णविहिं भाइंति, एवं० जाव चुण्णविहिं भाइंति । अप्पेगइआ चउव्विहं वज्जं वाएंति । तं जहा-ततं १, विततं २, घणं ३, झुसिरं ४ । अप्पेगइआ चउव्विहं गेअं गायंति । तं जहा-उक्खित्तं १, पायत्तं २, मंदाइयं ३, रोइआवसाणं ४ । अप्पेगइआ चउव्विहं णट्टं णच्चंति । तं जहा-अंचिअं १, दुअं २, आरभडं ३, भसोलं ४ । अप्पेगइआ चउव्विहं अभिणयं अभिणयंति । तं जहा-दिट्ठंतिअं १, पाडिसुइअं २, सामण्णोवणिवाइअं ३, लोगमज्झावसाणिअं ४ । अप्पेगइआ बत्तीसइविहं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति । अप्पेगइआ उप्पायनिवायं, निवाउप्पायं, संकुचिअपसारिअं० जाव भंतसंभंतणामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसंतीति । अप्पेगइआ तंडवेंति, अप्पेगइआ लासेंति, अप्पेगइआ पीणेंति । एवं बुक्कारेंति, अप्फोडेंति, वग्गंति, सीहणायं णयंति । अप्पेगइया सव्वाइं करेंति । अप्पेगइआ हयहेसिअं करेंति । एवं हत्थिगुलुगुलाइअं, रहघणघणाइअं । अप्पेगइया तिण्णि वि । अप्पेगइआ उच्छोलेंति, अप्पेगइया पच्छोलेंति, अप्पेगइया तिवइं छिंदंति, पायदद्दरयं करेंति, भूमिचवेडे दलयंति । अप्पेगइआ महया सद्देणं रवेंति; एवं संजोगा वि भाणिअव्वा । अप्पेगइआ हक्कारेंति; एवं पुक्कारेंति, थक्कारेंति, ओवयंति उप्पयंति, परिवयंति, जलंति, तवंति, पयवंति, गज्जंति, विज्जुआयंति, वासेंति । अप्पेगइआ देवुक्कलिअं करेंति । एवं देवा कहकहगं करेंति । अप्पेगइआ दुहुदुहुगं करेंति । अप्पेगइआ विकिअभूयाइं रूवाइं विउव्वित्ता पणच्चंति, एवमाइ विभासिज्जा, जह विजयस्स० जाव सव्वओ समंता आहावेंति, परिधावेंति ॥

अथाऽभिषेकानन्तरपूर्वकमाशीर्वादसूत्रमाह-

तए णं से अच्चुइंदे सपरिवारे सामिं महया अभिसेएणं अभिसिंचइ, अभिसिंचइत्ता करयलपरिग्गहिअं० जाव मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता ताहिं इट्ठाहिं० जाव जयजयसद्दं पउंजति, पउंजित्ता ०जाव पम्हलसुकुमालाए सुरभीए गंधकासाइए गायाइं लूहेइत्ता एवं० जाव कप्परुक्खगं पि व अलंकियविभूसिअं करेइ, करेइत्ता० जाव णट्टविहिं उवदंसेइ, उवदंसेइत्ता अच्छेहिं सण्हेहिं रययमएहिं अच्छरसतंदुलेहिं भगवओ सामिस्स पुरओ अट्ठट्ठमंगलगे आलिहइ । तं जहा-

"दप्पण भद्दासणयं, वद्धमाण वरकलस मच्छ सिरिवच्छा ।
सोत्थिअ णंदावत्ता, लिहिआ अट्ठऽट्ठमंगलगा" ॥१॥

लिहिऊण करेइ उवयारं, किं ते पाडलमल्लिअचंपगअसोगपुण्णागचूअमंजरिणवमालिअबउलतिलयकणवीरकुंदकुज्जगकोरंटपत्तदमणगवरसुरभिगंधगंधिअस्स कयग्गहगहिअकरयलपब्भट्ठविप्पमुक्कस्स दसद्धवण्णस्स कुसुमणिअरस्स, तत्थ चित्तं जाणुस्सेहप्पमाणमित्तं ओहिनिकरं करेइ, करेइत्ता चंदप्पभरयणवइरवेरुलिअविमलदंडं कंचणमणिरयणभत्तिचित्तं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवगंधुत्तमाणुविद्धं च धूमवट्टिं विणिम्मुअंतं वेरुलिअमयं कडुच्छुअं पग्गहित्तु पयए णं धूवं दाऊण जिणवरिंदस्स सत्तऽट्ठपयाइं ओसरित्ता दसंगुलिअं अंजलिं करिअ मत्थयंमि पयओ अट्ठसयविसुद्धगंथजुत्तेहिं महावित्तेहिं अपुणरुत्तेहिं अत्थजुत्तेहिं संथुणइ, संथुणइत्ता वामं जाणुं अंचेइ, अंचेइत्ता० जाव करयलपरिग्गहिअं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी-णमोऽत्थु ते सिद्ध ! बुद्ध ! णीरय ! समण ! समाहिअ ! समत्त ! समजोगि ! सल्लगत्तण ! णिब्भय ! णीरागदोस ! णिम्मम ! णिस्संग ! णीसल्ल ! माणमूरण ! गुणरयणसीलसागर ! अणंत ! अप्पमेय ! भविअ ! धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी ! णमोऽत्थु ते अरहओ त्ति कट्टु वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे० जाव पज्जुवासइ ।

(तए णमित्यादि) ततः सोऽच्युतेन्द्रः सपरिवारः स्वामिनमनन्तरोक्तस्वरूपेण महता महता अभिषेकेण महता अभिषेकेण-

अभिषिञ्चति, निगमनसूत्रत्वान्न पौनरुक्त्यम् । अभिषिच्य च करतलपरिगृहीतं, यावत्पदसंग्राह्यं प्राग्वत् । मस्तके अञ्जलिं कृत्वा जयेन विजयेन प्रागुक्तस्वरूपेण वर्द्धयत्याशिषं प्रयुङ्क्ते, वर्द्धयित्वा च ताभिर्विशिष्टगुणोपेताभिरिष्टाभिः श्रोतॄणां वल्लभाभिर्वाग्भिरित्यादि यावत्करणात्-"कंताहिं पिआहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं" इति ग्राह्यम् । अत्र व्याख्या च प्राग्वत् । वाग्भिर्जयजयशब्दं प्रयुङ्क्ते, संभ्रमे द्विर्वचनं जयशब्दस्य । अत्र जयेन विजयेन वर्द्धयित्वा पुनर्जयविजयशब्दप्रयोगो, मङ्गलवचने पुनरुक्तिर्न दोषायेत्यभिहितः अथाभिषेकोत्तरकालीनं कर्त्तव्यमाह-(पउंजित्ता इत्यादि) प्रयुज्य च । यावच्छब्दात्-" तप्पढमयाए " इति ग्राह्यम् । अत्र व्याख्या-तेष्वभिषेकोत्तरकालीनकर्त्तव्येषु प्रथमतया आद्यत्वेन पक्ष्मलसुकुमारया सुरभ्या गन्धकाषायिक्या गन्धकाषायद्रव्यपरिकर्मितया,लघुशाटिकयेति गम्यम । गात्राणि रूक्षयति, एवमुक्तप्रकारेण,यावत् कल्पवृक्षमिवालङ्कृतं वस्त्रालङ्कारेणाभरणालङ्कारेण विभूषितं करोति । यावत्करणात्-"लूहित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपइ, अणुलिंपइत्ता नासानीसासवायवोज्झं चक्खुहरं वण्णफरिसजुत्तं हयलालापेलवाइरेगं धवलं कणगखचिअंतकम्मं देवदूसजुअलं निअंसावेइ, निअंसावेइत्ता" इति ग्राह्यम् । अत्र व्याख्या प्राग्वत् । नवरं देवदूष्ययुगलं परिधानोत्तरीयरूपं निवासयति, परिधापयतीति कृत्वा च । यावत्करणात्-" सुमिणदामं पिनद्धावेइ " इति ग्राह्यम् । माल्यादिभिरुपदर्शयति । उपदर्श्य च अच्छैः श्लक्ष्णैः रजतमयैरच्छरसतण्डुलैः भगवतः स्वामिनः पुरतोऽष्टाष्टमङ्गलकान्यालिखति । तद्यथा-" दप्पणे " इति पदं सुगमम् । मङ्गलोल्लेखनोत्तरकृत्यमाह-(लिहिऊण त्ति) अनन्तरोक्तान्यष्टमङ्गलानि लिखित्वा करोत्युपचारमित्यारभ्य कडुच्छुकग्रहणपर्यन्तं सूत्रं चक्ररत्नपूजाधिकारलिखितव्याख्यातो व्याख्येयम् । ततः प्रयतः सन् यथा बालभट्टारकस्य धूपधूमाकुले अक्षिणी न भवतस्तथा प्रयत्नवान् धूपं दत्त्वा जिनवरेन्द्राय । सूत्रे षष्ठी आर्षत्वात् । अङ्गपूजार्थं प्रत्यासेदुषा मया निरुद्धो भगवद्दर्शनमार्गोऽतोऽहं मा परेषां दर्शनामृतपानविघ्नकारी स्यामिति सप्ताष्टानि पदान्यपसृत्य दशाङ्गुलिकं मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वा प्रयतो यथास्थानमुदात्ताऽनुदात्तस्वरितोच्चारेषु प्रयत्नवानष्टशतैरष्टोत्तरशतप्रमाणैर्विशुद्धेन ग्रन्थेन पाठेन युक्तैर्महावृत्तैर्महाकाव्यैर्यथा महार्थैरपुनरुक्तैरर्थयुक्तैश्चमत्कारिभ्यः कृत्ययुक्तैः संस्तौति । संस्तुत्य च वामं जानुम् अञ्चति उत्पाटयति, अञ्चित्वा च यावत्पदात्-" दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निवाडेइ " इति ग्राह्यम् । अत्र व्याख्या प्राग्वत् । करतलपरिगृहीतं मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वा एवं वक्ष्यमाणमवादीत् । यदवादीत्तदाह-(णमोऽत्थु ते सिद्ध! बुद्ध! इत्यादि) नमोऽस्तु ते तुभ्यं हे सिद्ध ! एवं बुद्धेत्यादिपदानि संबन्धनीयानि । तत्र हे बुद्ध ! ज्ञाततत्त्व ! हे नीरजः कर्मरजोरहित ! हे श्रमण ! तपस्विन् ! हे समाहित! अनाकुलितचित्त ! हे समाप्त ! कृतकृत्यत्वात् । अथवा-सम्यक् प्रकारेणाऽऽप्त ! अविसंवादिवचनत्वात् । हे समयोगिन् ! कुशलमनोवाक्काययोगित्वात् । शल्यकर्त्तन ! निर्भय ! नीरागद्वेष ! निर्मम ! निस्सङ्ग ! निर्लेप ! निःशल्य ! (मानमूरण !) मानमर्दन ! गुणेषु रत्नमुत्कृष्टं यच्छीलं ब्रह्मचर्यं तस्य सागर ! अनन्तज्ञानाऽऽत्मकत्वात् । अप्रमेय ! प्राकृतज्ञानापरिच्छेद्य ! अशरीरजीववत्स्वरूपस्य छद्मस्थैः परिच्छेत्तुमशक्यत्वात् इति । अथवाऽप्रमेय !, भगवद्गुणानामनन्तत्वेन संख्यातुमशक्यत्वात् । भव्य ! मुक्तिगमनयोग्य ! आसन्नभवसिद्धत्वात् । धर्मेण धर्मरूपेण वरेण प्रधानेन भावचक्रत्वात् चतुरन्तेन चतुर्गत्यन्तकारिणा चक्रेण वर्तत इत्येवंशीलः,तस्य सम्बोधनं हे धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्तिन् ! नमोऽस्तु तुभ्यम् अर्हते जगत्पूज्याय, इति कृत्वेति संस्तुत्य, वन्दते, नमस्यतीत्यादि सूत्रं प्राग्वत् । यच्चात्र विशेषणवर्णकस्यादौ 'नमोऽस्तु ते' इत्युक्त्वा पुनरपि 'नमोऽस्तु ते' इत्युक्तं, तन्न पुनरुक्तये, प्रत्युत प्राधान्याय, यतो जगत्त्रयप्रतिस्रोतश्चारिणो जगत्त्रयपतेस्तत्तदसाधारणैकैकविशेषणविभावनात् समुद्भूतप्रणामपरिणामेन हरिणा प्रतिविशेषणं 'नमोऽस्तु ते' इति न प्रयुक्तमिति । इमानि च सर्वाणि विशेषणानि भव्यपदवर्जानि ' भाविनि भूतवदुपचारात् । ' अन्यथाऽभिषेकसमये जिनानामेतादृशविशेषणमयुक्तम्, असंभवादिति ।

(३०) अथावशिष्टानामिन्द्राणां वक्तव्यं लाघवादाह-

एवं जहा अच्चुअस्स तहा० जाव ईसाणस्स भाणिअव्वं । एवं भवणवइवाणमंतरजोइसिआ य सूरपज्जवसाणा सएणं सएणं परिवारेणं पत्तेअं पत्तेअं अभिसिंचंति । तए णं ईसाणे देविंदे देवराया पंच ईसाणे विउव्वइ,विउव्वइत्ता एगे ईसाणे भगवं तित्थयरं करयलसंपुडेणं गिण्हइ,गिण्हइत्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे; एगे ईसाणे पिट्ठओ आयवत्तं धरेइ; दुवे ईसाणा उभओ पासिं चामरुक्खेवं करेंति; एगे ईसाणे पुरओ सूलपाणी चिट्ठइ ।

(एवं जहा इत्यादि) एवमुक्तविधिना यथाऽच्युतेन्द्रस्याऽभिषेककृत्यं तथा प्राणतेन्द्रस्य यावदीशानेन्द्रस्यापि भणितव्यं,शक्राभिषेकस्य सर्वान्तिमत्वात् । एवं भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्काश्चेन्द्राः सूर्यपर्यवसानाः स्वकेन २ परिवारेण सह प्रत्येकं प्रत्येकमभिषिञ्चन्ति । (तए णमित्यादि) मतान्तरषष्टीन्द्राभिषेकानन्तरमीशानो देवेन्द्रो देवराजा पञ्चेशानान् विकुर्वति,एक ईशानः पञ्चधा भवति । एतदेव विभजति-तत्र एक ईशानो भगवन्तं तीर्थकरं करतलसम्पुटेन गृह्णाति, गृहीत्वा च सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः संनिषण्णः । एक ईशानः पृष्ठतः आतपत्रं धरति । द्वावीशानावुभयोः पार्श्वयोः चमरोत्क्षेपं कुरुतः । एक ईशानः पुरतः शूलपाणिस्तिष्ठत्यूर्द्धस्थो भवति ।

(३१) अथावशिष्टशक्रस्याभिषेकावसरः-

तए णं से सक्के देविंदे देवराया आभिओगे देवे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एसो वि तह चेव अभिसेआणत्तिं देइ, ते वि तह चेव उवणेंति । तए णं से सक्के देविंदे देवराया भगवओ तित्थयरस्स चउद्दिसिं चत्तारि धवलवसभे विउव्वइ, सेए संखदलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययणिगरप्पगासे पासाईए दरसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे । तए णं तेसिं चउण्हं धवलवसभाणं अट्ठहिं सिंगेहिंतो अट्ठ तोयधाराओ णिग्गच्छंति । तए णं ताओ अट्ठ तोयधाराओ उद्धं वेहासं समुप्पयंति,समुप्पयंतित्ता एगओ मिलायंति, मिलायंतित्ता भगवओ तित्थयरस्स मुद्धाणंसि निवयंति । तए णं से सक्के

देविंदे देवराया चउरासीईए सामाणिअसाहस्सीहिं,०एअस्स वि तहेव अभिसेओ णाणिअव्वो० जाव 'णमोऽत्थु ते अरहो' त्ति कट्टु वंदइ, णमंसइ० जाव पज्जुवासइ ।

सकप्रत्यक्षमणाविः शक्रो यत्करोति तदाह-(तए णमित्यादि) तत ईशानेन्द्रेण भगवतः करसंपुटग्रहणानन्तरं स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा आभियोग्यान् देवान् शब्दयति, शब्दयित्वा च एषोऽपि तथैवाऽच्युतेन्द्रवदभिषेकविषयिकामाज्ञप्तिं ददाति, तेऽप्याभियोग्यास्तथैवाऽच्युतेन्द्राभियोग्यदेवा इवाभिषेकवस्तून्युपनयन्ति । अथ शक्रः किं किं चकारेत्याह-(तए णमित्यादि) ततोऽभिषेकसामग्र्युपनयनानन्तरं स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा भगवतस्तीर्थकरस्य चतुर्दिशि चतुरो धवलवृषभान् विकुर्वति । श्वेतान् । श्वेतत्वमेव द्रढयति-शङ्खचूर्णस्य दलं चूर्णं विमलनिर्मलोऽत्यन्तनिर्मलो यो दधिघनो दधिपिण्डो,बद्धदधीत्यर्थः । गोक्षीरफेनः प्रतीतः, रजतनिकरोऽपि । एतेषामिव प्रकाशो येषां ते तथा, तान् (पासाईए इत्यादि) प्राग्वत् । तदनन्तरं किमित्याह-(तए णमिति) ततस्तेषां चतुर्णां धवलवृषभाणामष्टभ्यः शृङ्गेभ्योऽष्टौ तोयधारा निर्गच्छन्ति । ततस्ता अष्टौ तोयधारा ऊर्ध्वं विहायसि उत्पतन्ति ऊर्ध्वं चलन्ति, उत्पत्य च एकतो मिलन्ति, मिलित्वा च भगवतस्तीर्थकरस्य मूर्ध्नि निपतन्ति । अथ शक्रः किं कृतवानित्याह-(तए णमिति) ततः स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा चतुरशीत्या सामानिकसहस्रैस्त्रयस्त्रिंशता त्रयस्त्रिंशकैर्यावत् संपरिवृतस्तैः स्वाभाविकवैकुर्विककलशैर्महता तीर्थकराभिषेकेणाभिषिञ्चति, इत्यादिसूत्रोक्ताभिषेकविधिः शक्रस्याऽच्युतेन्द्रवद्वक्तव्य इति । लाघवमाह-एतस्यापि तथैवाभिषेको भणितव्यः । कियदन्त इत्याह-यावन्नमोऽस्तु तेऽर्हते इति कृत्वा वन्दते, नमस्यति, नत्वा यावत् पर्युपास्ते इति ।

(३२) अथ कृतकृत्यः शक्रो भगवतो जन्मपुरप्रापणायोपक्रमते-

तए णं से सक्के देविंदे देवराया पंच सक्के विउव्वइ, विउव्वइत्ता एगे सक्के भगवं तित्थयरं करयलपुडेणं गिण्हइ, एगे सक्के पिट्ठओ आयवत्तं धरेइ, दुवे सक्का उभओ पासिं चामरुक्खेवं करेंति, एगे सक्के वज्जपाणी पुरओ पकड्ढइ । तए णं से सक्के चउरासीईए सामाणिअसाहस्सीहिं० जाव अण्णेहि अ भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि अ सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए ०जाव णाइअरवेणं ताए उक्किट्ठाए ०जाव जेणेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणणयरे, जेणेव जम्मणभवणे, जेणेव तित्थयरमाया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भगवं तित्थयरं माउए पासे ठवेइ, ठवेइत्ता तित्थयरपडिरूवगं पडिसाहरइ, पडिसाहरइत्ता ओसोवणिं पडिसाहरइ, पडिसाहरइत्ता एगं महं खोमजुअलं कुंडलजुअलं च भगवओ तित्थयरस्स ऊसीसगमूले ठवेइ, ठवेइत्ता एगं महं सिरिदामगंडं तवणिज्जलंबूसगं सुवण्णपयरगमंडिअं णाणामणिरयणविविहहारद्धहारउवसोहिअसमुदयं भगवओ तित्थयरस्स उल्लोअंसि निक्खिवइ, तं णं भगवं तित्थयरं अणिमिसाए दिट्ठीए पेहमाणे पेहमाणे सुहं सुहेणं अभिरममाणे चिट्ठइ ।

(तए णमित्यादि) प्राग्वत् । अथ जन्मनगरप्रापणाय सूत्रम्-(तए णमिति) ततः स शक्रः पञ्चरूपविकुर्वणानन्तरं चतुरशीत्या सामानिकसहस्रैर्यावत् संपरिवृतः सर्वर्द्ध्या वाद्यादितरवेण तयोत्कृष्टया दिव्यया देवगत्या व्यतिव्रजन् व्यतिव्रजन् यत्रैव भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मनगरं, यत्रैव च जन्मभवनं, यत्रैव तीर्थकरमाता, तत्रैवोपगच्छति । उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं मातुः पार्श्वे स्थापयति । स्थापयित्वा च तीर्थकरप्रतिबिम्बं प्रतिसंहरति । प्रतिसंहृत्य चावस्वापिनीं प्रतिसंहरति । प्रतिसंहृत्य चैकं महत् क्षौमयोर्दुकूलयोर्युगलं कुण्डलयुगलं भगवतस्तीर्थकरस्योच्छीर्षकमूले स्थापयति । स्थापयित्वा च एकं महान्तं श्रीदाम्नां शोभावद्विचित्ररत्नमालानां गण्डं गोलं वृत्ताऽऽकारत्वात् । काण्डं वा समूहः, श्रीदामगण्डं श्रीदामकाण्डं वा, भगवतस्तीर्थकरस्योल्लोचे निक्षिपत्यवलम्बयतीति क्रियायोगः । तपनीयेत्यादि सूत्रं प्राग्वत् । नानामणिरत्नानां ये विविधहारार्द्धहारास्तैरुपशोभितः समुदायः परिकरो यस्य तत् तथा । अयमर्थः-श्रीमत्यो रत्नमालास्तथा ग्रथयित्वा गोलाकारेण कृताः यथा चन्द्रगोपके मध्यकुम्बनकतां प्रापिताः, हारार्द्धहाराश्च परिकरकुम्बनकताम् । उक्तस्वरूपकुम्बनकविधाने प्रयोजनमाह-(तं णमिति प्राग्वत्) भगवांस्तीर्थकरो निर्निमेषया दृष्ट्याऽत्यादरेण प्रेक्षमाणः प्रेक्षमाणः सुखं सुखेनाभिरममाणो रतिं कुर्वंस्तिष्ठति ।

(३३) अथ वैश्रवणद्वारा शक्रस्य कृत्यमाह-

तए णं से सक्के देविंदे देवराया वेसमणं देवं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! बत्तीसं हिरण्णकोडीओ बत्तीसं सुवण्णकोडीओ बत्तीसं रयणकोडीओ बत्तीसं णंदाइं बत्तीसं भद्दाइं सुभगे सुभगरूवजोव्वणलावण्णे अ भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणंसि साहराहि, साहराहित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि । तए णं से वेसमणे देवे सक्केणं० जाव विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता जंभए देवे सद्दावेइ,सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! बत्तीसं हिरण्णकोडीओ०जाव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणंसि साहरह, एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह । तए णं ते जंभगा देवा वेसमणेणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ० जाव खिप्पामेव बत्तीसं हिरण्णकोडीओ० जाव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणंसि साहरंति, साहरंतित्ता जेणेव वेसमणे देवे तेणेव०जाव पच्चप्पिणंति । तए णं से वेसमणे देवे जेणेव देविंदे देवराया० जाव पच्चप्पिणइ ॥

(तए णमित्यादि) ततः स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा वैश्रवणमुत्तरदिक्पालं देवं शब्दयति, शब्दयित्वा चैवमवादीत्-क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियाः! द्वात्रिंशतं हिरण्यकोटीः, द्वात्रिंशतं सुवर्णकोटीः,

द्वात्रिंशतं स्थालानि सुवर्णरूप्याऽऽत्मकानि, द्वात्रिंशतं भद्रासनानि भद्राऽऽसनानि, सुभगानि आसनानि, सुभगयौवनलावण्ययुक्तानि रूपकाणि यत्र तानि तथा । सूत्रे पदव्यत्ययः आर्षत्वात् । सः समुच्चये । भगवतस्तीर्थंकरस्य जन्मभवने संहृत्याऽऽनयेत्यर्थः । संहृत्य च एतामाज्ञप्तिं प्रत्यर्पय । ततः स वैश्रमणो देवः शक्रेण, यावत्-" देविंदेणं देवरन्ना एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए एवं देवा ! तह त्ति आणाए ।" इति ग्राह्यम् । विनयेन वचनं प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य च जृम्भकान् तिर्यग्लोके वैताढ्यादिषु यथोचितवासित्वेन तिर्यग्लोकगतनिधानाऽऽदिरक्षिणः शब्दयति, शब्दयित्वा चैवमवादीत् । शेषमनुवादसूत्रत्वात् सुबोधम् ।

(३४) यथाक्रमासु स्वस्थानं प्राप्तेषु निःसीदर्थंमीन्द्रादिभिः भगवति मा दुष्टं दुर्धीः चिन्तयेति उद्घोषणा—

तए णं से सक्के देविंदे देवराया आभिओगे देवे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! भगवओ तित्थयरस्स जम्मणनयरंसि सिंघाडग० जाव महापहेसु महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वदह-हंद ! सुणंतु भवंतो बहवे भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिआ देवा य देवीओ अ, जे णं देवाणुप्पिया ! तित्थयरस्स तित्थयरमाऊए वा असुभं मणं पधारेइ, अज्जगमंजरिआ इव सयधा मुद्धाणं फुट्टउ त्ति कट्टु घोसणं घोसेह, घोसेइत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह । तए णं ते आभिओगा देवा० जाव एवं देवो ! त्ति आणाए पडिसुणंति, पडिसुणित्ता सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतिआओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमित्ता खिप्पामेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणणगरंसि सिंघाडग० जाव एवं वयासी-हंद ! सुणंतु भवंतो बहवे भवणवइ० जाव जे णं देवाणुप्पिआ ! तित्थयरस्स० जाव फुट्टिहि त्ति कट्टु घोसणगं घोसंति, घोसंतित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणंति ॥

तदुपायार्थमाह-(तए णमित्यादि) ततो वैश्रमणेनाऽऽज्ञाप्रत्यर्पणानन्तरं स शक्रः देवेन्द्रो देवराजा आभियोग्यान् देवान् शब्दयति, शब्दयित्वा चैवमवादीत्-क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियाः ! भगवतस्तीर्थंकरस्य जन्मनगरे शृङ्गाटक० यावन्महापथेषु महता महता शब्देन उद्घोषयन्त उद्घोषयन्त एवं वदत-'हंद' इति शृणुत । शृण्वन्तु भवन्तो बहवो भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका देवाश्च देव्यश्च, योऽनिर्दिष्टनामा देवानां प्रिय ! इति संबोधनं, भवतां मध्ये तीर्थंकरस्य तीर्थंकरमातुर्वोपर्यशुभं मनः प्रधारयति दुष्टं संकल्पयति, तस्य आर्यकमञ्जरिकेव-आर्यको वनस्पतिविशेषो, यो लोके " आजउ " इति प्रसिद्धः, तस्य मञ्जरिका इव मूर्धा शतधा स्फुटत्विति कृत्वेत्युक्त्वा घोषणं घोषयत, घोषयित्वा चैतामाज्ञप्तिकां प्रत्यर्पयत इति ॥

(३५) अष्टाहिका-

तए णं ते बहवे भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिया देवा भगवओ तित्थयरस्स जम्मणमहिमं करेंति, करेंतित्ता जेणेव णंदीसरवरदीवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता अट्ठाहियाओ महामहिमाओ करेंति, करेंतित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूआ तामेव दिसिं पडिगया ॥

अथ निर्गमनसूत्रमाह-(तए णमिति) ततस्ते बहवो भवनपत्यादयो देवा भगवतस्तीर्थंकरस्य जन्ममहिमानं कुर्वन्ति, कृत्वा च निजनिजसमीहितकार्ये सहसार्थे यत्रैव नन्दीश्वरवरद्वीपस्तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्याष्टाहिकामहामहिमा अष्टदिनान्तर्भवनीयानुष्ठानविशेषान् कुर्वन्ति, बहुवचनं चात्र सौधर्मेन्द्राऽऽदिभिः प्रत्येकं क्रियमाणत्वात् । अथ शक्रेन्द्रस्य अञ्जनगिरौ तेषु च दधिमुखगिरिषु तल्लोकपालानामष्टाहिकाधिकारः स ऋषभदेवनिर्वाणाधिकारे उक्त इति नात्र लिख्यते । जं० ५ वक्ष० ।

(३६) इन्द्रसंख्या-

भवणिंद वीस वंतर-पहु दुत्तीसं च चंदसूरा दो ।
कप्पसुरिंदा दस इय, हरि चउसट्ठित्ति जिणजम्मे ॥१०४॥

भवनपतीनां विंशतिरिन्द्राः २० । व्यन्तराणां प्रभव इन्द्राः द्वात्रिंशच्च ३२ । द्वौ चन्द्रसूर्यौ २ । द्वादशकल्पानां देवलोकानां दश सुरेन्द्राः १० । इति इन्द्राः चतुष्षष्टिसंयुक्ता तीर्थंकरजन्मन्यागच्छन्ति जिनजन्मनि । इति गाथाऽर्थः ॥ १०४ ॥ सप्त० १५ द्वार । आ० चू० । जं० ।

(३७) उपदेशः-

से बेमि जे य अतीता, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पन्नवेंति, एवं परूवेंति-सव्वे पाणा० जाव सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णितिए सासए समिच्च लोगं खेयण्णेहिं पवेइए, इति एवं से भिक्खू विरते पाणातिवायातो० जाव परिग्गहातो णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं, णो वमणं, णो धूवणे, णो तं परिआविएज्जा ॥४९॥

सोऽहं ब्रवीम्येतच्च स्वमतिविकल्पया, किं तु सर्वतीर्थंकराऽऽज्ञयेति दर्शयति-(जे अतीता इत्यादि) ये केचन तीर्थकृत ऋषभाऽऽदयोऽतीताः, ये च विदेहेषु वर्तमानाः सीमन्धराऽऽदयः, ये चागामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यन्ति पद्मनाभाऽऽदयोऽर्हन्तोऽमरासुरनरेश्वराणां पूजार्हाः, भगवन्त ऐश्वर्याऽऽदिगुणकलापान्विताः, सर्वेऽप्येवं ते व्यक्तवाचा आख्यान्ति प्रतिपादयन्ति । एवं सदेवमनुजायां पर्षदि भाषन्ते स्वत एव, न यथा बौद्धानां बोधिसत्त्वप्रभावात् कुड्यादिदेशनम् इत्येवं प्रकर्षेण ज्ञापयन्ति हेतूदाहरणाऽऽदिभिः, एवं प्ररूपयन्ति नामाऽऽदिभिः, यथा सर्वे प्राणा न हन्तव्या इत्यादि । एष धर्मः प्राणरक्षणलक्षणः प्राणातिपातादिविरतिस्वरूपो ध्रुवोऽवश्यंभावी, नित्यः क्षान्त्यादिरूपेण शाश्वत इत्येवं चाभिसमेत्य, केवलज्ञानेनावलोक्य लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं, खेदज्ञैस्तीर्थकृद्भिः प्रवेदितः कथित इत्येवं सर्वं ज्ञात्वा स भिक्षुर्विदितवेद्यो विरतः प्राणातिपातात्, यावत्परिग्रहादिति । एतदेव दर्शयितुमाह-(णो दंत इत्यादि) इह पूर्वोक्तमहाव्रतपालनार्थमनेनोत्तरगुणाः प्रतिपाद्यन्ते । तत्रापरिग्रहो निष्किञ्चनः स साधुर्नो दन्तप्रक्षालनेन कदम्बाऽऽदिकाष्ठेन दन्तान् प्रक्षालयेत्, तथा नो अञ्जनं सौवीराऽऽदिकं विभूषार्थमक्ष्णो-

दध्यात्, तथा नो श्रमणार्थमनाऽऽदिकाः क्रियाः कुर्यात्, तथा नो शरीरस्य, स्वीयवस्त्राणां वा धूपनं कुर्यात्,नापि कासाऽऽद्यपनयनार्थं तं धूमं योगवर्तिनिष्पादितमापिबेदिति । ४६ । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० । आ० म० ।

धर्मोपायस्य देशका इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

धम्मोवाओ पवयण-महवा पुव्वाइँ देसया तस्स ।
सव्वजिणाण गणहरा, चोद्दसपुव्वी उ जे जस्स ॥

धर्मोपायो नाम प्रवचनं, तदन्तरेण धर्मस्यासम्भवात् । अथवा-पूर्वाणि । तस्य धर्मोपायस्य देशकाः सर्वजिनानां गणधराः, तेषां मूलसूत्रकर्तृत्वात् । अथवा-ये यस्य तीर्थकृतश्चतुर्दशपूर्विणस्ते धर्मोपायदेशकाः, परिपूर्णश्रुततया तेषां यथाऽवस्थितवस्तुदेशकत्वात् ।

सामाइयाऽऽइया वा, वयजीवनिकायभावणा पढमं ।
एसो धम्मोवाओ, जिणेहिँ सव्वेहिँ उवइट्ठो ॥

वाशब्दः प्रकारान्तरताद्योतनार्थः । अथवा-या प्रथमं व्रतजीवनिकायभावना महाव्रतविषयषड्जीवनिकाययथावस्थितपरिज्ञानसम्यक्श्रद्धानसंरक्षणाध्यवसायरूपा भावना, सामायिकाऽऽदिका रागद्वेषपरिहारेण समभावाऽऽदिका,एष धर्मोपायः, तमन्तरेण सम्यक्चारित्ररूपधर्मासम्भवात् । इत्थम्भूतश्च धर्मोपायो जिनैः सर्वैरप्युपदिष्टः, ततो धर्मोपायस्य देशकास्त एव जिना इति । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

(३८) उपकरणसंख्या-

पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया ।
पडलाइँ रयत्ताणं, च गोच्छओ पायनिज्जोगो ॥१७८॥
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चेव होइ मुहपुत्ती ।
बार जिणकप्पियाणं, थेराण समत्तकडिपट्टो ॥१७९॥

साध्वीनां पञ्चविंशत्युपकरणानि-

ओग्गहऽणंतगपट्टो, अद्धोरुय चलणिया य बोधव्वा ।
अब्भिंतरबाहिनियं-सणी अ तह कंचुए चेव ॥१८०॥
उक्कच्छिय वेकच्छिय-संघाडी खंधगरणि उवगरणा ।
दुन्निव्व तेर कमढग-महिया अज्जाण पणवीसं ॥१८१॥

(गाथार्थः द्वि० भागे 'उवगरण' शब्दे १०६१ पृष्ठे प्ररूपितः) सप्त पात्रोपकरणानि, सप्त देहोपकरणानि, एतानि साधूनां स्थविरकल्पिकानाम् । द्वादश जिनकल्पिकानां, साध्वीनां पञ्चविंशत्युपकरणानि । सत्त० १२९ द्वार ।

(३९) उपसर्गः-

उवसग्गा पासस्स य, वीरस्स य न उण सेसाणं । (१६९)

उपसर्गाः देवमनुजाऽऽदिकृताः श्रीपार्श्वनाथस्य,वीरजिनस्य च संजाताः,न पुनः शेषाणां द्वाविंशतिजिनानाम् । अयं भावार्थः- श्रीऋषभवीरवर्जानां द्वाविंशतिजिनानां प्रमादो नाभूत, श्रीपार्श्ववीरवर्जानां द्वाविंशतिजिनानामुपसर्गा नाभूवन् । सत्त० ८६ द्वार । आ० चू० । कल्प० । आव० । चू० ।

(४०) उत्सेधाङ्गुलेनात्माङ्गुलेन च देहमानं जिनानां कथ्यते-

पण धणुसय पनऽट्ठसु,दस पणसु पणऽट्ठसु य धणुहहाणी ।
नवकर सत्तुस्सेहो, आयंगुलि वीससय सव्वे ॥ १३१ ॥
चउ धणु बारस्स दुगं, उसहायंगुलपमाणअंगुलयं ।
तेणुमहो विंससयं, बारंगुलहाणि जा सुविही ६ ॥१३२॥
वीसंसदुअंगुलहा-णि जावऽणंतो तयऽद्ध जा नेमी ।
सगवीसंसा पासे, वीरे गवीसं सपन्नासा ॥१३३॥

तत्रोत्सेधाङ्गुलेन ऋषभजिनः पञ्चशत (५००) धनुर्देहमानः १ । (पन्नऽट्ठसु त्ति) ततः पञ्चाशद्धनुर्हानिः क्रियते अष्टसु जिनेषु । यथा-अजितः सार्द्धचत्वारि धनुः शतानि (४५०) देहमानः २। सम्भवः चतुःशत (४००) धनुर्देहमानः ३। अभिनन्दनः(३५०) सार्द्धत्रिशतधनुर्देहमानः ४ । सुमतिः (३००) त्रिशतधनुर्देहमानः ५ । पद्मप्रभः (२५०) सार्द्धद्विशतधनुर्देहमानः ६ । सुपार्श्वः (२००) द्विशतधनुर्देहमानः ७ । चन्द्रप्रभः (१५०) सार्द्धशतधनुर्देहमानः ८ । सुविधिः (१००) शतधनुर्देहमानः ९ । (दस पणसु त्ति) दशधनुर्हानिः पञ्चसु जिनेषु क्रियते। यथा-शीतलः (९०) नवतिधनुर्देहमानः१० । श्रेयांसः (८०) अशीतिधनुर्देहमानः ११ । वासुपूज्यः (७०) सप्ततिधनुर्देहमानः १२ । विमलः (६०) षष्टिधनुर्देहमानः १३। अनन्तः (५०) पञ्चाशद्धनुर्देहमानः १४ । (पणऽट्ठसु य त्ति) अष्टसु जिनेषु पञ्चधनुर्हानिः क्रियते । यथा-धर्मः (४५) पञ्चचत्वारिंशद्धनुर्देहमानः १५ । शान्तिः (४०) चत्वारिंशद्धनुर्देहमानः १६ । कुन्थुजिनः (३५) पञ्चत्रिंशद्धनुर्देहमानः १७ । अरः (३०) त्रिंशद्धनुर्देहमानः १८ । मल्लिः (२५) पञ्चविंशतिधनुर्देहमानः १९ । मुनिसुव्रतः(२०) विंशतिधनुर्देहमानः २० । नमिः (१५) पञ्चदशधनुर्देहमानः २१ । नेमिः (१०) दशधनुर्देहमानः २२। (नवकर त्ति) नवकरदेहमानः पार्श्वजिनः २३ । (सत्तुस्सेहो त्ति) सप्तोत्सेधः सप्तहस्तोन्नतो वीरः २४ । सत्त० ४९ द्वार । " पासे णं अरहा पुरिसादाणीयस्स वज्जरिसहसमचउरंस०नवरयणिओ उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था ।" स्था० ९ ठा० । (आयंगुलवीस सय सव्वे त्ति) आत्माङ्गुलैः सर्वे जिनाश्चतुर्विंशतिरपि विंशत्यधिकशताङ्गुलप्रमाणदेहा ज्ञेयाः । इति गाथाऽर्थः । सत्त० ५० द्वार । प्रमाणाङ्गुलैर्जिनानां देहमानमाह--तत्र उत्सेधाङ्गुलघटितानि चत्वारि धनूंषि, तथा एकधनुषो द्वादशांशाः क्रियन्ते, तादृशांशाधिकमृषभदेवस्याऽऽत्माङ्गुलं तथा प्रमाणाङ्गुलमपि भवति । तेनाङ्गुलेन ऋषभो विंशत्यधिकं शतं भवति । एतावता ऋषभदेहमानम् (१२०) अङ्गुलम् १ । (बारंगुलहाणि जा सुविहि त्ति) ततो द्वादशाङ्गुलहानिः क्रियते,यावत् सुविधिर्नवमजिनो भवति । यथा अजितस्याष्टोत्तरशतम् (१०८) अङ्गुलं देहमानम् २। सम्भवस्य (९६) षण्णवत्यङ्गुलानि ३ । अभिनन्दनस्य (८४) चतुरशीत्यङ्गुलम् ४। सुमतेः (७२) द्विसप्ततिः ५। पद्मप्रभस्य (६०) षष्टिः ६। अष्टचत्वारिंशत् (४८) सुपार्श्वस्य ७। चन्द्रप्रभस्य (३६) षट्त्रिंशत् ८ । सुविधेः (२४) चतुर्विंशत्यङ्गुलम् ९ । (वीसंसदुअंगुलहा-णि जावऽणंतो त्ति) विंशत्यंशयुक्ताङ्गुलद्विकहानिः क्रियते यावदनन्तः । शीतलजिनादारभ्यानन्तं यावत् प्रमाणाङ्गुलद्विकेन, तथैकस्य प्रमाणाङ्गुलस्य पञ्चाशद्भागाः क्रियन्ते, तत्र तादृशैः विंशतिभागैश्च हानिः क्रियते,यथा-शीतलस्य २१ एकविंशतिरङ्गुलानि, तथा एकस्य प्रमाणाङ्गुलस्य पञ्चाशद्भागाः क्रियन्ते, तादृशविंशतिहीने तादृशाः त्रिंशद्भागा देहमानम् १० । श्रेयांसस्य १९ एकोनविंशत्यङ्गुलानि दशांशाः पञ्चाशाः ५० देहमानम् ११ । वासुपूज्यस्याङ्गुलाः १६ षोडश ४० अंशाः पञ्चाशाः ५० । १२ । विमलस्याङ्गुलाः १४ चतुर्दश २० विंशत्यंशाः १३ । अनन्तस्याङ्गुला १२ द्वादश

२४ । (तय ऽ ऽ ड आ मेमि त्ति) तदर्द्धहानिर्यावन्नेमिः । धर्मस्य १० दशाङ्गुलाः ४० चत्वारिंशदंशाः १५ । शान्तेः ६ नवाङ्गुलाः ३० त्रिंशदंशाः १६ । कुन्थुनाथस्याङ्गुला ८ अष्टौ २० विंशदंशाः ५० पञ्चाशाः १७ । अरनाथस्य ७ सप्ताङ्गुलाः १० दशांशाः ५० पञ्चाशाः १८ । मल्लिनाथस्य षडङ्गुलाः १९ । मुनिसुव्रतस्य ४ चत्वार्यङ्गुलाः ५० चत्वारिंशदंशाः ५० पञ्चाशाः २० । नमेः ३ त्र्यङ्गुलाः ३० त्रिंशदंशाः २१ । नेमेः २ व्यङ्गुलं विंशदंशाः ५० पञ्चाशाः २२ । (सगवीसंसा पासे त्ति) पार्श्वस्य २७ सप्तविंशत्यंशाः ५० पञ्चाशाः २३ । (विरगवीसं ति) वीरस्यैकविंशत्यंशाः २४ । (सपन्नास त्ति) एकाङ्गुलस्य पञ्चाशदंशाः क्रियन्ते तादृशा एकविंशत्यंशाः श्रीवीरस्य देहमानम् । एष पञ्चाशच्छब्दः शीतलजिनादारभ्य वीरजिनं यावद् ज्ञेयः । सत्त० ४१ द्वार ।

(४१) चतुर्विंशतिजिनानामवधिज्ञानिमुनिसंख्या--

अह ओहिनाणि नवई, चउनवई छएणवइ अट्ठणवई ।
एगाइ सयाइ तओ, इगार दस नव अट्ठसहस्सा ।२५५।
चुलसी विसयरि सट्ठी, चउपन्नऽडयाल तह य तेयाला ।
छत्तीसं तीससया, पणवी छव्वीस बावीसा ॥ २५६ ॥
अट्ठार सोल पनरस, चउरस तेरस सया अवधिनाणी ।
कमसो तिसट्ठिसहस्स–सम चत्तारि सयाइँ सव्वंके ॥२५७॥

ऋषभस्यावधिज्ञानिमुनयो नवतिशतानि १, एवं सर्वत्र क्रमेण जिनानामवधिज्ञानिमुनिसंख्या ज्ञेया । तथाहि-चतुर्नवतिशतानि २, षण्णवतिशतानि ३, अष्टनवतिशतानि ४ । (तउ त्ति) एकादशसहस्राणि ५, दशसहस्राणि ६, नवसहस्राणि ७, अष्टौ सहस्राणि ८ । (चुलसी ति) चतुरशीतिशतानि ९, द्विसप्ततिशतानि १०, षष्टिशतानि ११, चतुःपञ्चाशच्छतानि १२, अष्टचत्वारिंशच्छतानि १३ तथा त्रिचत्वारिंशच्छतानि १४, षट्त्रिंशच्छतानि १५, त्रिंशच्छतानि १६, पञ्चविंशतिशतानि १७, षड्विंशतिशतानि १८, द्वाविंशतिशतानि १९ । अष्टादशशतानि २०, षोडशशतानि २१, पञ्चदशशतानि २२, चतुर्दशशतानि २३, त्रयोदशशतानि २४ । एते चतुर्विंशतिजिनानामवधिज्ञानिमुनयः । सर्वेषामङ्कानां परिगणनमीलने १,३३४०० एकं लक्षं त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि चत्वारि शतानि भवन्ति । सत्त० ११८ द्वार ।

(४२) कल्पशोधिमाह–

पुरिमस्स दुव्विसुज्झो, चरमस्स य दुरणुपालणो कप्पो ।
मज्झिमगाण जिणाणं, सुविसुज्झो सुहणुपालणओ ।२८१।

प्रथमतीर्थकृद्यतीनां कल्प आचारो दुर्विशोध्यः दुर्बोध्यः, दुःखेन बोध्यते इति दुर्बोध्यः । चरमजिनस्य दुःखेन पाल्यते । मध्यमकानां जिनानां द्वाविंशतिजिनानां सुखेनावबोध्यः, सुखेन अनुपाल्यः । सत्त० १३७ द्वार । आ० म० । कल्प० । स्था० ।

पंचहिं ठाणेहिं पुरिमपच्छिमगाणं जिणाणं दुग्गमं भवइ । तं जहा–दुआइक्खं, दुव्विभजं, दुप्पस्सं, दुतितिक्खं, दुरणुचरं । पंचहिं ठाणेहिं मज्झिमगाणं जिणाणं सुगमं भवइ । तं जहा–सुआइक्खं, सुविभजं, सुपस्सं, सुतितिक्खं, सुरणुचरं ।

सुगमश्चायं, नवरं पञ्चसु स्थानकेषु आख्याताऽऽदिक्रियाविशेषणकेषु पुरिमा भरतैरावतेषु चतुर्विंशतेराद्याः, ते च पश्चिमकाश्चरमाः पुरिमपश्चिमकाः, तेषां जिनानामर्हतां (दुग्गमं ति) दुःखेन गम्यत इति दुर्गमं, भावसाधनोऽयम्, कृच्छ्रवृत्तिरित्यर्थः । तद्भवति, विनेयानामृजुजडत्वेन, वक्रजडत्वेन च । तानि चेमानि–तद्यथेत्यादि । इह चाख्यानं, विभजनं, दर्शनं, तितिक्षणमनुचरणं चेत्येवं वक्तव्येऽपि येषु स्थानेषु कृच्छ्रवृत्तिर्भवति, तानि तद्योगात् कृच्छ्रवृत्तीन्येवोच्यन्त इति कृच्छ्रवृत्तिद्योतकदुःशब्दविशेषितानि कर्मसाधनशब्दाभिधेयान्याख्यानाऽऽदीनि । विचित्रत्वात् शब्दप्रवृत्तेराह–(दुआइक्खमित्यादि) तत्र दुराख्येयं कृच्छ्राख्येयं वस्तुतत्त्वं विनेयानां महाप्रयत्नाऽऽटोपप्रबोध्यत्वेन भगवतामायासोत्पत्तेरिति । एवमाख्याने कृच्छ्रवृत्तिरुक्ता । एवं विभजनाऽऽदिष्वपि भावनीया । तथा–आख्यातेऽपि तत्र दुर्विभजं कष्टविभजनीयम्, ऋजुजडत्वाऽऽदेरेव तद्भवतीति, दुःशकं शिष्याणां वस्तुतत्त्वस्य विभागेनावस्थापनमित्यर्थः; दुर्विभावमित्यत्र पाठान्तरे-दुर्विभाव्यं, दुःशका विभावना कर्तुं तत्त्वस्येत्यर्थः । तथा–(दुप्पस्सं ति) दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शमुपपत्तिभिर्दुःशकं शिष्याणां प्रतीतावारोपयितुं तत्त्वमिति भावः । (दुतितिक्खं ति) दुःखेन तितिक्ष्यते सह्यत इति दुस्तितिक्षं परीषहाऽऽदि दुःशकं परीषहाऽऽदिकमुपगतं तितिक्षयितुं शिष्यं तत्प्रति क्षमां कारयितुमिति भाव इति । (दुरणुचरं ति) दुःखेनानुचर्यतेऽनुष्ठीयत इति दुरनुचरमन्तर्भूतकारितार्थत्वेन दुःशकमनुष्ठापयितुमित्यर्थः । अथवा–तेषां तीर्थे दुराख्येयं दुर्विभजमाचार्याऽऽदीनां वस्तुतत्त्वं स्वशिष्यान् प्रति आत्मनाऽपि दुर्दर्शं दुस्तितिक्षं दुरनुचरमित्येवंकारितार्थं विमुच्य व्याख्येयम्, तेषामपि ऋजुजडाऽऽदित्वादिति । मध्यमानां तु सुगममकृच्छ्रवृत्ति, तद्विनेयानामृजुप्राज्ञत्वेनाल्पप्रयत्नेनैव बोधनीयत्वाद्विहितानुष्ठाने सुखप्रवर्तनीयत्वाच्चेति । शेषं पूर्वसूत्रवदकृच्छ्रार्थविशिष्टना आख्यानाऽऽदीनां वाच्या । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

(४३) कर्मव्यावर्णनं, वेदनं वा–

नो जइया तित्थयरो, सो तइया अप्पणम्मि तित्थम्मि ।
वन्नेइ तवोकम्मं, उवहाणसुयम्मि अज्झयणे ॥ १ ॥ आचा० नि० ।

यो यदा तीर्थकृदुत्पद्यते स तदाऽऽत्मीये तीर्थे आचारार्थप्रणयनावसानाध्ययने स्वतपःकर्म व्यावर्णयति, इत्ययं स च तीर्थकृतां कल्पः । इह पुनरुपधानश्रुताख्यं चरममध्ययनमसूत्र, अत उपधानश्रुतमित्युक्तमिति । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

उदाहु धीरे ते फासे पुट्ठोऽहियासए से पुव्वं पेयं पच्छा पेयं भिउरधम्मं विद्धंसणधम्मं अधुवं अणितिअं असासयं चयोवचइयं विपरिणामधम्मं पासह, एवंरूवं संधिं समुप्पेहमाणस्स एकायतणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गे विरतस्स त्ति बेमि ।

तीर्थकरैरप्येतद्बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थाऽऽयातं कर्मावश्यवेद्यं, नान्यथा तन्मोक्षः, अतोऽन्येनाप्यसातावेदनीयोदये सनत्कुमारदृष्टान्तेन मयैवैतत्सोढव्यमित्याकलय्य नोद्विजितव्यम् । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

(४४) कुमारवासकालमानं जिनानाम्–

वीसऽट्ठारस पनरस, सड्ढदुवालस दसेव सड्ढमगा ।
पण अड्ढाइ लक्खा, पुव्वसहस्सा पएण पणवीसं ॥ १९६ ॥
सगलक्खा इगवीसं, ठार पनर सहसस्स सड्ढमं ।

तो सहस्सा पणवीसा, पाउणचउवीस इगवीसं ॥१७७॥
वाससयं मल्लिजिणे, पणसयरी पंचवीस तिन्नि सया ।
वासाइँ तीस तीसं, कुमरत्तं………………… ॥१७८॥

लक्षशब्दः पूर्वशब्दश्चाऽऽद्यमजिनं यावत्प्रत्येकमभिसंबध्यते । विंशतिलक्षपूर्वाणि १ । अष्टादशलक्षपूर्वाणि २ । पञ्चदशलक्षपूर्वाणि ३ । सार्द्धद्वादशलक्षपूर्वाणि ४ । दशैव लक्षपूर्वाणि ५ । सार्द्धसप्तपूर्वलक्षाणि ६ । पञ्चलक्षपूर्वाणि ७ । सार्द्धद्विलक्षपूर्वाणि ८ । पञ्चाशत्सहस्रपूर्वाणि ९ । पञ्चविंशतिसहस्रपूर्वाणि १० । (समसक्का इगवीसं ति) एकविंशतिलक्षवर्षाणि ११ । अष्टादशवर्षलक्षाणि १२ । पञ्चदशलक्षवर्षाणि १३ । सार्द्धसप्तवर्षलक्षाणि १४ । सार्द्धद्विवर्षलक्षाणि १५ । (तो त्ति) ततः पञ्चविंशतिवर्षसहस्राणि १६ । पादोनचतुर्विंशतिवर्षसहस्राणि १७ । एकविंशतिवर्षसहस्राणि १८ । (वाससयं ति) मल्लिजिने वर्षशतम् १९ । पञ्चसप्ततिवर्षशतानि २० । पञ्चविंशतिवर्षशतानि २१ । त्रीणि वर्षशतानि २२ । वर्षाणि त्रिंशत् २३ । पुनर्वर्षाणि त्रिंशत् २४ । एवं क्रमेण सर्वेषां जिनानां कुमारत्वे ज्ञेयम् । सत्त० ४४ द्वार । आ० म० । "पञ्च तित्थयरा कुमारवासमज्झे वसित्ता मुंडे० जाव पव्वइया । तं जहा-वासुपुज्जे, मल्ली, अरिट्ठनेमी, पासे, वीरे ।" स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

केवलज्ञाननक्षत्राणि च्यवननक्षत्रवदु भावनीयानि, च्यवननक्षत्राण्यग्रे वक्ष्यन्ते । सत्त० ८८ द्वार ।

(४५) केवलोत्पत्तिस्थानानि--

वीरोसहनेमीणं, जंभियबहिपुरिमतालउज्जिंते ।
केवलणाणुप्पत्ती, सेसाणं जम्मठाणेसु ॥ १८९ ॥

वीरस्य जृम्भिकाग्रामाद् बहिः केवलोत्पत्तिः १ । ऋषभस्य पुरिमतालनगरे २ । नेमिजिनस्य उज्जयन्ते रैवतकाचले ३ । शेषाणां जिनानां जन्मस्थानेषु जन्मनगरीषु केवलज्ञानोत्पत्तिर्जाता । सत्त० ६० द्वार । आ० म० ।

(४६) केवलतपः--

अट्ठमभत्तम्मि कए, नाणमुसहमल्लिनेमिपासाणं ।
वसुपुज्जस्स चउत्थे, सेसाणं छट्ठभत्ततवे ॥ १९० ॥

ऋषभ१मल्लि१९नेमि२२पार्श्व२३जिनानां अष्टमभक्ते तपसि कृते सति केवलज्ञानमुत्पन्नम् । वासुपूज्यस्य १२ चतुर्थतपसि । शेषाणामेकोनविंशतिजिनानां षष्ठभक्ततपसि केवलमुत्पन्नम् । सत्त० ६४ द्वार । आ० म० ।

(४७) केवलमासास्तिथयश्च--

फग्गुणिगारसि किण्हा, सुद्धा एगारसी य पोसस्स ।
कत्तियबहुला पंचमि, पोसस्स चउद्दसी धवला ॥१८०॥
चित्तेगारसिपुन्निम, तह फग्गुणकिण्हछट्ठि सत्तमिया ।
सुद्धा कत्तियतइया, पोसम्मि चउद्दसी बहुला ॥ १८१ ॥
माहेऽमावसि सियबिय, पोसे मासम्मि धवलछट्ठी य ॥
वेसाहसावचउदसि, पोसे पुन्निमनवमि सुद्धा ॥ १८२ ॥
सियचित्ततइय कत्तिय, बारसि एगारसी य मग्गसिरे ।
फग्गुणबारसि सामा, मग्गम्मि इगारसी अमसा ॥१८३॥
आसोअमावसी चि-त्तबहुलचउत्थी य वेसाहसियदसमी ।
केवलमासा य इमे, भणिया पुव्वं व उडुरासी ॥ १८४ ॥

श्रीऋषभाऽऽदीनां क्रमेण केवलज्ञानोत्पत्तिमासतिथयः । तथाहि-फाल्गुनमासस्य कृष्णैकादश्यां केवलज्ञानमृषभस्य जातम् । १ । पौषस्य शुक्लैकादश्यामजितस्य । २ । कार्तिकमासस्य कृष्णपञ्चम्यां सं० ३ । पौषस्य शुक्लचतुर्दश्यामभिनन्दनस्य ४ । चैत्रशुक्लैकादश्यां सुम० ५ । चैत्रस्य पूर्णमास्यां पद्म० ६ । फाल्गुनकृष्णषष्ठ्यां सुपा० ७ । फाल्गुनकृष्णसप्तम्यां चन्द्र० ८ । कार्तिकमासस्य शुक्लतृतीयायां सुवि० ९ । पौषे कृष्णचतुर्दश्यां शीत० १० । माघे अमावास्यायां श्रेयां० ११ । माघश्वेतद्वितीयायां वासु० १२ । पौषे मासे धवलषष्ठ्यां विम० १३ । वैशाखस्य श्यामचतुर्दश्यामनन्त० १४ । पौषे पूर्णिमायां ध० १५ । पौषे शुक्लनवम्यां शान्ति० १६ । चैत्रस्य श्वेततृतीयायां कुन्थु० १७ । कार्तिकस्य श्वेतद्वादश्यामर० १८ । मार्गशीर्षे श्वेतैकादश्यां मल्लि० १९ । फाल्गुनस्य श्यामद्वादश्यां मुनिसुव्र० २० । मार्गशीर्षविमलैकादश्यां नमि० २१ । आश्विनमासस्यामावास्यायां नेमि० २२ । चैत्रमासस्य श्यामचतुर्थ्यां पार्श्व० २३ । वैशाखश्वेतदशम्यां वीर० २४ । एते चतुर्विंशतिजिनानां केवलमासाऽऽदयो भणिताः । सत्त० ८७ द्वार । आ० म० । केवलनक्षत्रराशयः च्यवनकल्याणकवत् । सत्त० ८९ द्वार ।

(४८) केवलवृक्षाः-

णग्गोह सत्तवण्णो, साल पियालो पियंगु छत्ताहो ।
सिरिसो नागो मल्ली, पिलंखु-तिंदुयग-पाडलया ॥१८७॥
जंबू असत्थ दहिव-न्न नंदि तिलगा य अंबग असोगो ।
चंपग बउलो वेतस, धायइ सालो य णाणतरू ॥१८८॥

न्यग्रोधवृक्षस्याध ऋषभजिनस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् । १ । एवं प्रतिजिनं प्रतिवृक्षं क्रमेण योजना कार्या । सप्तपर्णः २ । (साल पिआलो पिअंगु छत्ताहो) शालः ३ । प्रियालः ४ । प्रियङ्गुः ५ । छत्राभवृक्षः ६ । (सिरिसो नागो मल्ली) शिरीषः ७ । नागनामा ८ । मल्लीवृक्षः ९ । (पिलंखु-तिंदुअग-पाडलया) पिलङ्खुवृक्षः १० । तिन्दुकः ११ । पाटलिका १२ । इति गाथार्थः । ॥ १८७ ॥ (जंबू असत्थ दहिवन्न) जम्बूः १३ । अश्वत्थः १४ । दधिपर्णः १५ । (नंदी तिलगा य अंबग असोगो) नन्दिवृक्षः १६ । तिलकः १७ । आम्रकः १८ । अशोकः १९ । (चंपग बउलो वेतस) चम्पकः २० । बकुलः २१ । वेतसः २२ । (धायइ सालो य णाणतरू) धातकीवृक्ष २३ । शालश्च २४ । एते चतुर्विंशतिर्ज्ञानतरवः । इति गाथाऽर्थः ॥ १८८ ॥ सत्त० ६२ द्वार । सूत्र० । स० ।

केवलज्ञानवृक्षप्रमाणम्—

ते जिणतणुबारगुणा, चेइयतरुणो वि नवरि वीरस्स ।
चेइयतरुवरि सालो, एगारसधणुहपरिमाणो ॥ १८९ ॥

(ते जिणतणुबारगुणा) ते वृक्षाः भगवतः शरीराद् द्वादशगुणा भवन्ति । (चेइअतरुणो वि त्ति) चैत्यवृक्षा अपि प्रमाणा भवन्ति । (नवरि वीरस्स । चेइअतरुवरि सालो) एतावान् विशेषः-महावीरस्य चैत्यवृक्षोपरि शालवृक्षो भवति, कथंभूतः ?-(एगारसधणुहपरिमाणो त्ति) एकादशधनुःपरिमाणः । चैत्यतरूणां प्रमाणमत्र प्रस्तावकमिति गाथाऽर्थः । १८९ । सत्त० ६३ द्वार ।

चैत्यतरूणां विशेषतः प्रमाणम्-

बत्तीसाइं धणुई*, चेइयरुक्खो य वद्धमाणस्स ।
णिच्चोउगो असोगो, ओच्छन्नो सालरुक्खेणं ॥ ३६ ॥
तिन्नेव गाउआइं, चेइयरुक्खो जिणस्स उसभस्स ।
सेसाणं पुण रुक्खा, सरीरओ बारसगुणा उ ॥ ३७ ॥
सच्छत्ता सपडागा, सवेइया तोरणेहिँ उववेया ।
सुरअसुरगरुलमहिया, चेइयरुक्खा जिणवराणं ॥ ३८ ॥

(निच्चोउगो त्ति) नित्यं सर्वदा ऋतुरेव पुष्पाऽऽदिकालो यस्य स नित्यर्तुकः (असोगो त्ति) अशोकाऽभिधानो यः समवसरणभूमिमध्ये भवति । (ओच्छन्नो सालरुक्खेणं ति) अवच्छन्नः शालवृक्षेणेति । अत एव वचनादशोकस्योपरि शालवृक्षोऽपि कश्चिदस्तीत्यवसीयत इति ॥ ३६ ॥ (तिन्नेव गाउयाइं गाहा) ऋषभस्वामिनो, द्वादशगुणा इत्यर्थः ॥३७॥ (सवेइय त्ति) वेदिकायुक्ताः । एते चाशोकाः समवसरणसम्बन्धिनः सम्भाव्यन्त इति ॥ ३८ ॥ स० ।

(४६) अथ ज्ञानवनान्याह-

उसहस्स य सगडमुहे, उजुवालुयनइतडम्मि वीरस्स ।
सेसजिणाणं णाणं, उप्पन्नं पुण वयवणेसु ॥१८६॥

(उसहस्स य सगडमुहे त्ति) ऋषभस्य केवलज्ञानं शकटमुखोद्याने उत्पन्नम् १ । (उजुवालुयनइतडम्मि वीरस्स त्ति) ऋजुवालुकानदीतटे श्रीवीरस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् २ । (सेसजिणाणं नाणं, उप्पन्नं पुण वयवणेसु त्ति) पुनःशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् शेषजिनानां पुनर्व्रतवनेषु केवलज्ञानमुत्पन्नमिति ॥ १८६ ॥ सत्त० ६१ द्वार ।

(५०) केवलवेला-

नाणं उसहाईणं,पुव्वण्हे पच्छिमण्हि वीरस्स ॥ (१९१)

(पुव्वण्हे) ऋषभाऽऽदीनां त्रयोविंशतिजिनानां केवलज्ञानं पूर्वाह्णे प्रथमप्रहरे समुत्पन्नम् । (पच्छिमण्हि वीरस्स) पश्चिमप्रहरे वीरस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् । सत्त० ९५ द्वार ।

(५१) अथ जिनानां गृहस्थकाल-केवलिकालमानमाह-

जहजुग्गं कुमरनिवइ-चक्कीकालेहिँ होइ गिहिकालो ।
वयकालाओ केवलि-कालो छउमत्थकालूणो ॥२९८॥

यथायोग्यं कुमारकालनृपतिकालचक्रिकालैरेकीकृतैः गृहस्थकालो भवति । व्रतकालात् छद्मस्थकाले ऊनः क्रियते, यावानवशिष्यते तावान् केवलिकालो भवति । इति गाथाऽर्थः ॥ २९८ ॥ सत्त० १४३ । १४४ द्वार ।

सम्प्रति केवलिपर्यायो वक्तव्यः, स च श्रामण्यपर्यायात् छद्मस्थपर्यायापगमे स्वयमेव ज्ञेय इति पूर्वोक्तमेव श्रामण्यपर्यायं स्मारयति-

उसभस्स पुव्वलक्खं, पुव्वंगूणमजियस्स तं चेव ।
चउरंगूणं लक्खं, पुणो पुणो जाव सुविहि त्ति ॥

ऋषभस्य भगवतः श्रामण्यपर्यायमेकं पूर्वलक्षम् । अजितस्वामिनस्तदेव एकं पूर्वलक्षमेकेन पूर्वाङ्गेन न्यूनम् । पूर्वाङ्गं नाम चतुरशीतिवर्षलक्षाणि । अत ऊर्ध्वं चतुरङ्गोनं पूर्वलक्षं पुनः पुनस्तावद्वक्तव्यं यावत्सुविधिः । तद्यथा-संभवनाथस्य व्रतपर्याय एकं पूर्वलक्षं चतुर्भिरङ्गैरूनम् । अभिनन्दनस्य एकं पूर्वलक्षमष्टभिः पूर्वाङ्गैरूनम् । सुमतिनाथस्य एकं पूर्वलक्षं द्वादशभिः पूर्वाङ्गैरूनम् । पद्मप्रभस्य एकं पूर्वलक्षं षोडशभिः पूर्वाङ्गैर्हीनम् । सुपार्श्वस्यैकं पूर्वलक्षं विंशत्या पूर्वाङ्गैर्हीनम् । चन्द्रप्रभस्यैकं पूर्वलक्षं चतुर्विंशत्या पूर्वाङ्गैर्हीनम् । सुविधिनाथस्यैकं पूर्वलक्षमष्टाविंशत्या पूर्वाङ्गैर्हीनम् ।

सेसाणं परियाओ, कुमारवासेण सहियओ भणिओ ।
पत्तेयं पि य पुव्वं, सीसाणमणुग्गहट्ठाए ॥

शेषाणां शीतलस्वामिप्रभृतीनां पर्यायः पूर्वं कुमारवासेन सह भणितः, प्रत्येकमपि च, किमर्थमुभयथाऽपि भणित इति चेदत आह-शिष्याणामनुग्रहाय मन्दमतीनामपि शिष्याणां बुद्धौ सम्यक् प्रतिस्फुरतु । आ० म० १ अ० १ खण्ड । सत्त० ।

केवलिमानमाह-

वीससहस्सा उसहे, वीसं बावीस अहव अजियस्स ।
पनरस चउदस तेरस, बारस इक्कारस दसेव ॥ ३५३ ॥
अद्धऽट्ठम सत्तेव य, छ स्सड्ढा छच्च पंच सड्ढा य ।
पंचेव अद्धपंचम,चउ सड्ढा तिन्नि य सया य ॥३५४॥
बत्तीस सया अहवा, बावीससयाइँ हुंति कुंथुस्स ।
अट्ठावीसं बावी-स तह य अट्ठारस सयाइं ॥ ३५५ ॥
सोलस पन्नर दस सय, सत्तेव सया हवंति वीरस्स ।
एवं केवलिनाणं,...................................... ॥३५६॥

केवलिनां विंशतिसहस्रा ऋषभे वृषभजिनस्य । विंशतिः सहस्रा अजितजिनस्य । अथवा मतान्तरेण द्वाविंशतिः सहस्रा अजितनाथस्य । श्रीसम्भवस्य पञ्चदश सहस्राः । श्रीअभिनन्दनस्य चतुर्दश सहस्राः । श्रीसुमतेस्त्रयोदश सहस्राः । श्रीपद्मप्रभस्य द्वादश सहस्राः । श्रीसुपार्श्वस्य एकादश सहस्राः । श्रीचन्द्रप्रभस्य दशैव सहस्राः । श्रीसुविधिजिनस्य अर्द्धाष्टमाः सहस्राः, सप्त सहस्राः पञ्चशताधिका इत्यर्थः । श्रीशीतलजिनस्य सप्त सहस्राः । श्रीश्रेयांसस्य षट् सहस्राः सार्द्धाः सपञ्चशता इत्यर्थः । श्रीवासुपूज्यस्य षट् सहस्राः । श्रीविमलजिनस्य पञ्च सहस्राः, सार्द्धाः सपञ्चशता इत्यर्थः । श्रीअनन्तजिनस्य पञ्चैव सहस्राः । श्रीधर्मजिनस्य अर्द्धपञ्चमाः सहस्राः, चत्वारः सहस्राः सपञ्चशता इत्यर्थः । श्रीशान्तिनाथस्य चत्वारः सहस्राः शतत्रयाधिकाः । श्रीकुन्थुजिनस्य द्वात्रिंशच्छतानि, सहस्रत्रयं शतद्वयाधिकमित्यर्थः । अथवा मतान्तरेण द्वाविंशतिशतानि, सहस्रद्वयं शतद्वयाधिकमित्यर्थः । श्रीअरजिनस्य अष्टाविंशतिशतानि, सहस्रद्वयं शताष्टकाधिकमित्यर्थः । श्रीमल्लिजिनस्य द्वाविंशतिशतानि, सहस्रद्वयं शतद्वयाधिकमित्यर्थः । श्रीमुनिसुव्रतस्य अष्टादश शतानि, सहस्रमेकमष्टशताधिकमित्यर्थः । श्रीनमिजिनस्य षोडश शतानि, सहस्रमेकं षड्भिः शतैरधिकमित्यर्थः । श्रीनेमिजिनस्य पञ्चदश शतानि, सहस्रमेकं पञ्चशताधिकमित्यर्थः । श्रीपार्श्वजिनस्य दश शतानि, सहस्रमित्यर्थः । श्रीवीरजिनस्य च सप्तशतानि । एतत्पूर्वोक्तं यथाक्रमं सर्वतीर्थकृतां केवलिमानम् । प्रव० २१ द्वार ।

सर्वेषामेव तीर्थकृतां सिद्धगतिः सर्वाङ्कं एकं लक्षं षट्सप्ततिसहस्राणि शतमेकम् ।१७६१००। आव० १ अ० ।

* मतान्तरेणैतत् संभाव्यते ।

(५२) अधुना गणद्वारमाह-

चुलसीइ पंचणउई, बिउत्तरं सोलमुत्तर सयं च ।
सत्तऽहियं पणनउई, तेणउई अट्ठसीई य ॥
एक सीई छाव-त्तरी य छावट्ठि सत्तवन्ना य ।
पन्ना तेयालीसा, छत्तीसा चेव पणतीसा ॥
तेत्तीसऽट्ठावीसा, अट्ठारस चेव तह य सत्तरसा ।
एक्कारस दस नवगं, गणाण माणं जिणिंदाणं ॥

भगवत आदितीर्थकरस्य चतुरशीतिर्गणाः । गणो नामेह एकवाचनाऽऽचारक्रियास्थानां समुदायो,न कुलसमुदाय इति पूर्वसूरयः । अजितस्वामिनः पञ्चनवतिर्गणाः । सम्भवनाथस्य द्व्युत्तरं शतम् । अभिनन्दनस्य षोडशोत्तरं शतम् । सुमतिनाथस्य परिपूर्णं शतम् । पद्मप्रभस्य सप्ताधिकं शतम् । सुपार्श्वस्य पञ्चनवतिः । चन्द्रप्रभस्य त्रिनवतिः । सुविधिस्वामिनोऽष्टाशीतिः । शीतलस्य एकाशीतिः । श्रेयांसस्य षट्सप्ततिः । वासुपूज्यस्य षट्षष्टिः । विमलस्य सप्तपञ्चाशत् । अनन्तजिनस्य पञ्चाशत् । धर्मस्य त्रिचत्वारिंशत् । शान्तिनाथस्य षट्त्रिंशत् । कुन्थुनाथस्य पञ्चत्रिंशत् । अरजिनस्य त्रयस्त्रिंशत् । मल्लिस्वामिनोऽष्टाविंशतिः । मुनिसुव्रतस्वामिनोऽष्टादश । नमिनाथस्य सप्तदश । अरिष्टनेमेरेकादश । पार्श्वनाथस्य दश । वर्द्धमानस्वामिनो नव । आ०म०१अ०१खण्ड० । "समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा होत्था । तं जहा-गोदासगणे, उत्तरबलियस्सह य गणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उड्डुवाइयगणे, विस्सवाइगणे, कामिड्ढियगणे,माणवगणे, कोडियगणे ।" (स्था० ९ ठा०) एतज्जिनेन्द्राणामृषभाऽऽदीनां जिनानां यथाक्रमं गणानां मानं परिमाणम् । आ० म० १ अ० १ खण्ड० । सत्त० ।

(५३) संप्रति गणधरप्रतिपादनार्थमाह-

एक्कारस उ गणहरा, वीरजिणिंदस्स सेसयाणं तु ।
जावइया जस्स गणा, तावइया गणधरा तस्स ॥

गणधरा नाम मूलसूत्रकर्त्तारः, ते च वीरजिनस्य एकादश, गणास्तु नव, द्वयोर्युगलयोरेकैकवाचनाऽऽचारक्रियास्थत्वात् । शेषाणां तु जिनवरेन्द्राणां यस्य यावन्तो गणास्तस्य तावन्तो गणधराः, प्रतिगणधरं भिन्नभिन्नवाचनाऽऽचारक्रियास्थत्वात् । आ० म० १ अ० १ खण्ड० । प्रव० । "पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स अट्ठ गणा अट्ठ गणहरा होत्था । तं जहा-सुभे, अज्जघोसे, वसिट्ठे, बंभयारी, सोमे, सिरिधरे, वीरिए, भद्दजसे ।" यच्चावश्यके तूभयेऽपि दश श्रूयन्ते, "जावइया जस्स गणा, तावइया गणहरा तस्स" इति वचनात्, तदिहाल्पत्वाऽऽदिकारणमपेक्ष्य द्वयोरविवक्षणमिति संभाव्यते । स्था० ८ ठा० ।

(५४) अथ सर्वेषां जिनानां गर्भस्थितिमाह-

छ चउत्थ नवम बारस, तेरस पन्नरस सेस गब्भठिई ।
मासा अड नव तदुवरि, उसहाइकमेणिमे दिवसा ॥७५॥
चउ पणवीसं छद्दिण, अडवीसं छच्च छगुणवीसं ।
सग छव्वीसं छ च्छ य, वीसिगवीसं छ छव्वीसं ॥७६॥
छ पण अड सत्त अट्ठ य, अट्ठऽट्ठ छ सत्त हुंति गब्भदिणा(७७)

(छ चउत्थ नवम बारस तेरस पन्नरस सेस गब्भठिइ त्ति) द्वितीय२चतुर्थ४नवम९द्वादश१२त्रयोदश१३पञ्चदश१५शेषजिनेषु गर्भस्थितिः (मासा अड नव त्ति) द्वितीयाऽऽदिषु जिनेषु मासा अष्टौ । शेषजिनेषु नव मासाः । (तदुवरि त्ति) तेषां मासानामुपरि (उसहाइकमेणिमे दिवसा) ऋषभाऽऽदिषु क्रमेण इमे वक्ष्यमाणा दिवसा ज्ञेयाः । इति गाथार्थः ॥७५॥ (चउ पणवीसं छद्दिण) दिनानीति सर्वत्र गम्यम् । चत्वारि १ पञ्चविंशतिः २ षट् ३ (अडवीसं छच्च छगुणवीसं) अष्टाविंशतिः ४ षट् च ५ षट् ६ एकोनविंशतिः ७ (सग छव्वीसं छ च्छ य) सप्त ८ षड्विंशतिः ९ षट् १० षट् च ११ (वीसिगवीसं छ छव्वीसं) विंशतिः १२ एकविंशतिः १३ षट् १४ षड्विंशतिः १५ । इति गाथार्थः ॥ ७६ ॥ (छ पण अड सत्त अट्ठ य) षट् १६ पञ्च १७ अष्टौ १८ सप्त १९ अष्ट च २० (अट्ठऽट्ठ छ सत्त हुंति गब्भदिणा) अष्टौ २१ अष्ट २२ षट् २३ सप्त २४ भवन्ति गर्भदिनानि जिनानां गर्भस्थितयः । सत्त० २० द्वार ।

(५५) गृहवासे ज्ञानानि-

मइसुयओहितिनाणा, जाव गिहे पच्छिमभवाओ ।(२२३)

मतिश्रुतावधिज्ञानलक्षणानि त्रीणि ज्ञानानि सर्वेषां जिनानां भवन्ति, पश्चिमभवादारभ्य यावन्तं कालं गृहे गृहवासे तिष्ठन्ति । सत्त० ४५ द्वार ।

(५६) तीर्थकरगोत्राणि वंशाश्च-

गोयमगुत्ता हरिवं-ससंभवा नेमिसुव्वया दो वि ।
कासवगुत्ता इक्खा-गुवंसजा सेस बावीसा ॥ १०६ ॥

श्रीनेमिमुनिसुव्रतौ द्वौ गौतमगोत्रौ हरिवंशसंभवौ च । शेषाः तीर्थपाः द्वाविंशतिः काश्यपगोत्रा इक्ष्वाकुवंशजाश्च । सत्त० ३७ द्वार । कल्प० । आव० ।

(५७) चतुर्दशपूर्विणः-

चउदसपुव्वि-सहस्सा, चउरो अद्धऽट्ठमाणि य सयाणि ।
वीसऽहिय सत्ततीसा, इगवीससया य पन्नासा ॥ ३६२ ॥
पनरस चउवीससया, तेवीससया य वीससय तीसा ।
दो सहस पनरस सया,सयचउदस तेरससयाइं ॥३६३॥
सय बारस इक्कारस, दस नव अट्ठेव छच्च सय सयरा ।
दसऽहिय छच्चेव सया,छच्च सया अट्ठसट्ठऽहिया॥३६४॥
सयपंच अद्धपंचम,चउरो अद्धऽहिय तिन्नि य सयाइं ॥
उसभाइजिणिंदाणं, चउदसपुव्वीण परिमाणं ॥३६५ ॥

ऋषभाऽऽदिजिनस्य चतुर्दशपूर्विणां चत्वारः सहस्राः, अर्द्धाष्टमानि च शतानि, पञ्चाशदधिकानि सप्तशतानीत्यर्थः । श्रीअजितजिनस्य विंशत्यधिकसप्तत्रिंशच्छतानि । श्रीसंभवजिनस्य एकविंशतिशतानि पञ्चाशदधिकानि । श्रीअभिनन्दनस्य पञ्चदशशतानि । श्रीसुमतेश्चतुर्विंशतिशतानि । श्रीपद्मप्रभस्य त्रयोविंशतिशतानि । श्रीसुपार्श्वस्य विंशतिशतानि त्रिंशदधिकानि । श्रीचन्द्रप्रभस्य द्वौ सहस्रौ । श्रीसुविधेः पञ्चदशशतानि । श्रीशीतलस्य शतानि चतुर्दश । श्रीश्रेयांसस्य त्रयोदशशतानि । श्रीवासुपूज्यस्य द्वादशशतानि । श्रीविमलजिनस्य एकादशशतानि । श्रीअनन्तजिनस्य दशशतानि । श्रीधर्मस्य नवशतानि । श्रीशान्तेरष्टैव शतानि । श्रीकु-

षत्रींसच्छतानि सप्तत्यधिकानि । श्रीअरजिनस्य दशाधिकानि षट्शतानि । श्रीमल्लिजिनस्य षट्शतानि अष्टषष्ट्यधिकानि । श्रीमुनिसुव्रतस्य शतानि पञ्च । श्रीनमेश्चत्वारि शतानि पञ्चाशदधिकानि । श्रीनेमेश्चत्वारि शतानि । श्रीपार्श्वजिनस्य त्रीणि शतानि पञ्चाशदधिकानि । श्रीवीरजिनस्य च त्रीणि शतानि । इदं पूर्वोक्तमृषभाऽऽदिजिनेन्द्राणां क्रमेण चतुर्दशपूर्विपरिमाणम् । प्रव० २३ द्वार । "समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तिन्निसया चोद्दसपुव्वीणं अजिणाणं जिणसंकासाणं सव्वक्खरसन्निवाईणं जिणो इव अवितहं वागरमाणाणं उक्कोसिया चउद्दसपुव्विसंपया होत्था ।" स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

(५८) श्रावकसंख्या चतुर्विंशतितीर्थंकराणाम्-

पढमस्स तिन्नि लक्खा, पंच सहस्सा दुलक्ख जा संती ।
लक्खोवरि अडनउई, तेणउई अट्ठसीई य ॥ ३६६ ॥
एगासी छावत्तरि, सत्तावन्ना य तह य पन्नासा ।
एगुणतीस नवासी, इगुणासी पन्नरसऽठेव ॥ ३६७ ॥
छ च्चिय सहस्स चउरो, सहस्स नउई सहस्स संतिस्स ।
तत्तो एगो लक्खो, उवरिं गुणसीय चुलसी य ॥३६८॥
तेयासी बावत्तरि, सत्तरि इगुणत्तरी य चउसट्ठी ।
एगुणसट्ठिसहस्सा, य सावगाणं जिणवराणं ॥ ३६९ ॥

तत्र प्रथमजिनस्य श्रावकाणां तिस्रो लक्षाः पञ्चसहस्राऽधिकाः । श्रीअजिनाऽऽदिजिनानां, यावत् शान्तिजिनस्तावल्लक्षद्वयं श्राद्धानां, द्विलक्षोपरि च यदधिकं भवति तन्निवेद्यते । तत्र तृतीयगाथावर्त्ति 'सहस्स त्ति' पदस्य सर्वत्राभिसंबन्धात् अष्टनवतिः सहस्राः, कोऽर्थः ?-अजितजिनस्य लक्षद्वयमष्टनवतिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीसंभवस्य लक्षद्वयं त्रिनवतिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीअभिनन्दनस्य लक्षद्वयमष्टाशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीसुमतेः लक्षद्वयमेकाशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीपद्मप्रभस्य लक्षद्वयं षट्सप्ततिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीसुपार्श्वस्य लक्षद्वयं सप्तपञ्चाशत्सहस्राधिकमित्यर्थः । चन्द्रप्रभस्य लक्षद्वयं पञ्चाशत्सहस्राधिकमित्यर्थः । सुविधेर्लक्षद्वयमेकोनत्रिंशत्सहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीशीतलस्य लक्षद्वयं नवाशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीश्रेयांसस्य लक्षद्वयमेकोनाशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीवासुपूज्यस्य लक्षद्वयं पञ्चदशसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीविमलजिनस्य लक्षद्वयमष्टसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीअनन्तजिनस्य लक्षद्वयं षट्सहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीधर्मस्य लक्षद्वयं चतुर्भिः सहस्रैरधिकमित्यर्थः । श्रीशान्तेः लक्षद्वयं नवतिसहस्राधिकमित्यर्थः । ततः श्रीशान्तिनाथादनन्तरं कुन्थुप्रभृतितीर्थकृतां महावीरपर्यन्तानामेकं लक्षं श्राद्धानां, लक्षोपरि च यत्संख्याऽऽधिक्यं तदुच्यते, यथा—एकोनाशीतिः श्रीकुन्थोः, लक्षमेकोनाशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीअरजिनस्य लक्षमेकं चतुरशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीमल्लेर्लक्षमेकं त्र्यशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीमुनिसुव्रतस्य लक्षमेकं द्विसप्ततिसहस्राधिकमित्यर्थः । नमेर्लक्षमेकं सप्ततिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीनेमेर्लक्षमेकोनसप्ततिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीपार्श्वस्य लक्षमेकं चतुःषष्टिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीवीरजिनस्य च लक्षमेकोनषष्टिसहस्राधिकमित्यर्थः । इति जिनवरेन्द्रचतुर्विंशतेः संबन्धिनां श्रावकाणां मानं क्रमेण ज्ञातव्यम् । प्रव० २४ द्वार ।

(५९) अथ चक्रित्वकालः-

तओ तित्थगरा चक्कवट्टी होत्था । तं जहा-संती, कुंथू, अरो ।

अत्रोक्तम्-" संती कुंथू अ अरो, अरिहंता चेव चक्कवट्टी य । अवसेसा तित्थयरा, मंडलिआ आसि रायाणो " ॥१॥ इति शान्तिकुन्थ्वरजिनानां चक्रित्वं, शेषजिनानां नास्ति चक्रित्वम् । स्था० ३ ठा० ४ उ० । सप्त० ।

(६०) अथ चारित्रम्-

सामाइयचारित्तं, छेओवट्ठावणं च परिहारं ।
तह सुहुमसंपरायं, अहक्खाइं पंच चरणाइं ॥ २८२ ॥
दुण्हं पण इअराणं, तिन्नि उ सामाइयसुहुमऽहक्खाया ।
(२८३)

तत्र प्रथमं सामायिकचारित्रम् १ । द्वितीयं छेदोपस्थापनीयम् २ । तृतीयं परिहारविशुद्धिकम् ३ । चतुर्थं सूक्ष्मसंपरायम् ४ । पञ्चमं यथाख्यातम् ५ । एतानि पञ्च चारित्राणि भवन्तीति गाथार्थः ॥२८२॥ ऋषभवीरयोस्तीर्थे पञ्च चारित्राणि पूर्वोक्तानि भवन्ति । इतरेषां मध्यमद्वाविंशतिजिनानां त्रीणि चारित्राणि भवन्ति । तन्नामानि-सामायिक १ सूक्ष्मसंपराय २ यथाख्यातानि ३ । सप्त० १३० द्वार ।

(६१) च्यवननक्षत्रमृषभाऽऽदीनाम्-

उत्तरसाढा रोहिणि, मियसिर पुणव्वसू महा चित्ता ।
वइसाहऽणुराहा मू-ल पुव्व सवणो सयभिसा य ॥६५॥
उत्तरभद्दव रेवइ, पुस्स भरणि कत्तिया य रेवइ य ।
अस्सिणि सवणो अस्सिणि, चित्त विसाहुत्तरा रिक्खा ॥६६॥

ऋषभजिने उत्तराषाढा नक्षत्रम् १ । एवं सर्वत्र जिननामानि क्रमेण योज्यानि । रोहिणी २ मृगशीर्षम् ३ पुनर्वसु ४ मघा ५ चित्रा ६ विशाखा ७ अनुराधा ८ मूलम् ९ पूर्वाषाढा १० श्रवणः ११ शतभिषक् १२ उत्तराभाद्रपत् १३ रेवती १४ पुष्यः १५ भरणी १६ कृत्तिका १७ रेवती १८ अश्विनी १९ श्रवणः २० अश्विनी २१ चित्रा २२ विशाखा २३ उत्तराषाढा २४ एतानि नक्षत्राणि । सप्त० १५ द्वार ।

(६२) अथ च्यवनकल्याणकतिथयो मासाश्च-

बहुलाऽसाढचउत्थी, सुद्धा वइसाहतेरसी कमसो ।
फग्गुणअट्ठमि वइसा-हचउत्थि सावणियबीया य ॥५९॥
माहस्स कसिणछट्ठी, भद्द-ट्ठमि चित्तमासपंचमिया ।
फग्गुणनवमी वइसा-हछट्ठि तह जिट्ठछट्ठी य ॥ ६० ॥
जिट्ठम्मि सुद्धनवमी, तत्तो वइसाहबारसी सुद्धा ।
सावणकसिणा सत्तमि, विसाहमिय भद्दकिण्हा य ॥६१॥
सावणकसिणा नवमी, फग्गुणसियबीय फग्गुणचउत्थी ।
सावणअस्सिणि पुन्निम, कत्तियबहुला दुबालसिया ॥६२॥
असिया चित्तचउत्थी, असाढसियछट्ठि चवणमासाइं ।
इत्थऽन्नत्थ वि पयडं, अभणियमहिगारओ नेयं ॥६३॥

उसभाइस्स जिणाणं, पुव्वाणुपुव्वीएँ वट्टमाणाणं ।
पच्छाणुपुव्वियाए, कल्लाणतिही य अन्तुमं ॥६४॥

ऋषभस्य च्यवनकल्याणके आषाढकृष्णचतुर्थी । १ । अजितजिनस्य वैशाखशुक्लत्रयोदशी २ । फाल्गुनशुक्लाष्टमी संभवस्य ३ । वैशाखचतुर्थी अभिनन्दनस्य ४ । श्रावणशुक्लद्वितीया सु० ५ । माघस्य कृष्णषष्ठी पद्म० ६ । भाद्रपदकृष्णाष्टमी सुपा० ७ । चैत्रकृष्णपञ्चमी चन्द्र० ८ । फाल्गुनकृष्णा नवमी सुवि० ९ । वैशाखकृष्णषष्ठी शीत० १० । ज्येष्ठकृष्णषष्ठी श्रेयां० ११ । ज्येष्ठशुक्लनवमी वासु० १२ । वैशाखशुक्लद्वादशी विमल० १३ । श्रावणकृष्णसप्तमी अनन्त० १४ । वैशाखश्वेतसप्तमी धर्म० १५ । भाद्रपदकृष्णसप्तमी शान्ति० १६ । श्रावणकृष्णनवमी कुन्थु० १७ । फाल्गुनसितद्वितीयाऽरजि० १८ । फाल्गुनसितचतुर्थी मल्लि० १९ । श्रावणपूर्णिमा मुनिसु० २० । आश्विनपूर्णिमा नमि० २१ । कार्तिककृष्णद्वादशी नेमि० २२ । चैत्रकृष्णचतुर्थी पार्श्व० २३ । आषाढश्वेतषष्ठी वीरजिनस्य २४ । अत्रान्यत्रापि प्रकटं साक्षादित्यर्थः । यदभाणि तदधिकारतो क्रममिति । भूततीर्थपाः केवलज्ञानिप्रभृतयः, भाविष्यजिनाः पद्मनाभाऽऽदयः, तेषामन्योन्यं कल्याणकतिथयः पूर्वानुपूर्व्या भवेयुः । यथा हि याः कल्याणकतिथयः भूतकाले प्रथमजिनस्य केवलज्ञानिनः, ता एव भाविष्यजिनकाले पद्मनाभस्येति । प्रकारान्तरमाह-वर्तमानजिना ऋषभाऽऽदयस्तेषां भूतजिनापेक्षया भविष्यजिनापेक्षया च तिथयः पश्चानुपूर्व्या भवेयुः । सत्त० १४ द्वार । प्रव० ।

(६३) ऋषभाऽऽदीनां क्रमतो च्युतिराशयः-

धणु वसह मिहुण मिहुणो, सीहो कन्ना तुला अली चेव ।
धणु धणु मयरो कुंभो, दुसु मीणो कक्को मेसो ॥ ६७ ॥
विस मीण मेस मयरो, मेसो कन्ना तुला य कन्ना य ।
इय चवणरिक्खरासी, जम्मे दिक्खाएँ नाणे वि ॥ ६८ ॥

धनुः १। वृषः २। मिथुनम् ३। मिथुनम् ४। सिंहः ५। कन्या ६। तुला ७। वृश्चिकः ८। धनुः ९। धनुः १०। मकरः ११। कुम्भः १२। मीनः १३। मीनः १४। कर्कटः १५। मेषः १६। वृषः १७ मीनः १८। मेषः १९। मकरः २०। मेषः २१। कन्या २२। तुला २३। कन्या २४ ऋषभाऽऽदीनां क्रमतश्च्युतिराशयः। जन्मकल्याणके, दीक्षाकल्याणके, केवलज्ञानकल्याणकेऽप्येत एव नक्षत्रराशयो भवन्ति । सत्त० १६ द्वार ।

(६४) च्यवनवेला-

चुइवेला निसिअद्धं, जिणाण एमेव एगसमयम्मि ।
चुइमासाइवियारो, भरहेरवएसु स चेव ॥ ६९ ॥

(चुइवेला निसिअद्धं जिणाण त्ति) च्यवनवेला अर्द्धरात्रो जिनानाम् । (एमेव एगसमयम्मि त्ति) एवमेव एकरीत्या एकस्मिन् समये (चुइमासाइवियारो त्ति) च्यवनमासाऽऽदिविचारः (भरहेरवएसु स चेव त्ति) भरतैरवतेषु स एव, यत् च्यवनमासाऽऽदि ऋषभाऽऽदीनामुक्तं तदेव सर्वभरतैरवतेषु जिनानां समयोऽपि स एव भवति यथा भरतक्षेत्रे, तथैव तस्मिन् समये तस्मिन्नक्षत्रे तस्यां वेलायाम् ऐरवतक्षेत्रेऽपि सैव वेला भवति । इति गाथाऽर्थः ॥ ६९ ॥ इति सर्वेषां जिनानां च्यवनवेला । सत्त० १७ द्वार ।

(६५) छद्मस्थकालमानं सर्वजिनानां कथ्यते-

वाससहस्सं बारस, चउदस अट्ठार वीसवरिसा य ।
मासा छच्च तिन्नि य, चउ तिग दुगमिक्कग दुगं च ॥१७३॥
तिय दुग इक्कग सोलस, वासा तिन्नि य तहेवऽहोरत्तं ।
मासिक्कारस नवगं, चउपन्नदिणाइँ चुलसीई ॥ १७४ ॥
पक्खऽहिय सड्ढबारस, वासा छउमत्थकालपरिमाणं ॥ [१७५]

ऋषभस्य छद्मस्थकालमानं वर्षसहस्रम् १ । एवं क्रमेण द्वादश वर्षाणि २ । चतुर्दशवर्षाणि ३ । अष्टादशवर्षाणि ४ । विंशतिवर्षाणि ५ । षड्मासाः ६ । (" चंदप्पभे णं अरहा छम्मासा छउमत्थे होत्था । " स्था०) नवमासाः ७ । त्रयो मासाः ८ । चत्वारो मासाः ९ । त्रयो मासाः १० । द्वौ मासौ ११ । एको मासः १२ । द्वौ मासौ १३ । त्रीणि वर्षाणि १४ । द्वे वर्षे १५ । एकं वर्षम् १६ । षोडश वर्षाणि १७ । त्रीणि च वर्षाणि १८ । एकमहोरात्रम् १९ । एकादश मासाः २० । नव मासाः २१ । चतुःपञ्चाशद्दिनानि २२ । चतुरशीतिदिनानि २३ । पक्षाधिकसार्द्धद्वादशवर्षाणि २४ । इति क्रमात् छद्मस्थकालमानं तीर्थपानाम् । सत्त० ८४ द्वार । श्रीएकाहोरात्राणि १८ । द्वादश वर्षाणि २४ । इति मतभेदः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

(६६) छद्मस्थतपोमानम्-

उग्गं च तवोकम्मं, विसेसओ वद्धमाणस्स ! [१७५]
वयदिणमेगं पुव्वं, छमासियं बीययं पणदिणूणं ।
नव चउमासिय दु तिमा-सिया अड्ढाइज्जमासिया दुन्नि १७६
छ दुमासिय दु दिवड्ढय-मासिय बारस तहेगमासीया ।
बावत्तरऽद्धमासिय, पडिमा बारऽट्ठमेहिं च ॥ १७७ ॥
दो चउ दस खमणेहिं, निरंतरं जइमाइपडिमतिगं ।
दुसयगुणतीस छट्ठा, पारणया तिसयगुणवन्ना ॥१७८॥

(उग्गं च तवोकम्मं ति) उग्रं च तपःकर्म सर्वेषां जिनवराणाम् (विसेसओ वद्धमाणस्स त्ति) विशेषतो वर्द्धमानस्य, वीरजिनस्य सर्वेभ्योऽपि जिनेभ्योऽधिकतरमुग्रं तपः, तेषां कर्माभावादिति भावः । श्रीवीरतपःप्रमाणमाह-(वयदिणं ति) व्रतदिनं, यस्मिन् दिने व्रतं गृहीतं तद्दिनमुपोषितवानित्यर्थः । (एगं पुव्वं छमासियं ति) एकं पूर्वं षाण्मासिकं कृतम् १ । (बीययं पणदिणूणं ति) द्वितीयषाण्मासिकं पञ्चदिनैरूनं विहितम् २ । (नव चउमासिय दु तिमासिय त्ति) स्वामिना नव चातुर्मासिकानि कृतानि, द्वे त्रैमासिके कृते, (अड्ढाइज्जमासिया दुन्नि त्ति) द्वे सार्द्धद्विमासिके कृते ॥ १७६ ॥ (छ दुमासिय दु दिवड्ढय-मासिय त्ति) षड् द्विमासिकानि द्वे सार्द्धमासिके कृते । (बारस तहेगमासीया) तथैकमासिकानि मासक्षपणानि द्वादश । (बावत्तरऽद्धमासिय त्ति) द्विसप्ततिरर्द्धमासक्षपणानि । (पडिमा बारऽट्ठमेहिं च) प्रतिमा द्वादश विहिता अष्टमभक्तैः, चः पादपूरणे ॥ १७७ ॥ (दो चउ दस खमणेहिं) द्वाभ्यां चतुर्भिर्दशभिश्चोपवासैः (निरंतरं भद्दमाइपडिमातिगं) अन्तररहितं पारणकरहितं भद्र१महाभद्र२सर्वतोभद्र३प्रतिमात्रिकं कृतमिति । (दुसयगुणतीसछट्ठा) द्वे शते एकोनत्रिंशदधिके षष्ठभक्तानि विहितानि । (पारणया ति-

सयगुणवजा) 'पञ्चाधिकसार्धद्वादशवर्षैः' त्रीणि शतान्येकोनपञ्चाशत् ३४९ पारणकानि विहितानि । इति गाथार्थः ॥१७८॥ सत्त० ६४ द्वार ।

(६७) तीर्थकरयक्षाः-

जक्खा गोमुह महज-क्ख तिमुह ईसर सतुंबुरू कुसुमो ।
मायंगो विजयाऽजिय, बंभो मणुत्र्यो सुरकुमारो ॥३७५॥
छम्मुह पायाल किन्नर, गरुडो गंधव्व तह य जक्खिंदो ।
कूबर वरुणो भिउडी, गोमेहो वामण मयंगो ॥३७६॥

यक्षा भक्तिदक्षास्तीर्थकृतामिमे-यथा प्रथमजिनस्य गोमुखो यक्षः सुवर्णवर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो वरदाक्षमालिकायुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, मातुलिङ्गपाशकान्वितवामपाणिद्वयश्च । अजितनाथस्य महायक्षाभिधो यक्षश्चतुर्मुखः श्यामवर्णः करीन्द्रवाहनोऽष्टपाणिर्वरदमुद्गराक्षसूत्रपाशकान्वितदक्षिपाणिचतुष्टयो, बीजपूरकाभयाङ्कुशशक्तियुक्तवामपाणिचतुष्कश्च । श्रीसम्भवजिनस्य त्रिमुखो नाम यक्षस्त्रिवदनस्त्रिनेत्रः श्यामवर्णो मयूरवाहनः षड्भुजो नकुलगदाभययुक्तदक्षिणकरकमलत्रयो, मातुलिङ्गनागाक्षसूत्रवामपाणिपद्मत्रयश्च । श्रीअभिनन्दनस्य ईश्वरो यक्षः श्यामकान्तिर्गजवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरकमलद्वयो, नकुलाङ्कुशान्वितवामपाणिद्वयश्च । श्रीसुमतेस्तुम्बुरुर्यक्षः श्वेतवर्णो गरुडवाहनश्चतुर्भुजो वरदशक्तियुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, गदानागपाशयुक्तवामपाणिद्वयश्च । श्रीपद्मप्रभस्य कुसुमो यक्षो नीलवर्णः कुरङ्गवाहनश्चतुर्भुजः फलाभययुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, नकुलाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिद्वयश्च । सुपार्श्वस्य मातङ्गो यक्षो नीलवर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो बिल्वपाशयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, नकुलाङ्कुशयुक्तवामपाणिद्वयश्च । श्रीचन्द्रप्रभस्य विजयो यक्षो हरितवर्णस्त्रिलोचनो हंसवाहनो द्विभुजः कृतदक्षिणहस्तचक्रो, वामहस्तधृतमुद्गरश्च । श्रीसुविधिजिनस्याऽजितो यक्षः श्वेतवर्णः कूर्मवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, नकुलकुन्तकलितवामपाणिद्वयश्च । श्रीशीतलस्य ब्रह्मा यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः श्वेतवर्णः पद्मासनोऽष्टभुजो मातुलिङ्गमुद्गरपाशकाभययुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टयो, नकुलगदाङ्कुशाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिचतुष्टयश्च । श्रीश्रेयांसस्य मनुजो यक्षो, मतान्तरेण ईश्वरो, धवलवर्णस्त्रिनेत्रो वृषभवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गगदायुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, नकुलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिद्वयश्च । श्रीवासुपूज्यस्य सुरकुमारो यक्षः श्वेतवर्णो हंसवाहनश्चतुर्भुजो बीजपूरकबाणान्वितदक्षिणकरद्वयो, नकुलकधनुर्युक्तवामपाणिद्वयश्च । श्रीविमलस्य षण्मुखो यक्षः श्वेतवर्णः शिखिवाहनो द्वादशभुजः फलचक्रबाणखड्गपाशकाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिषट्को, नकुलचक्रधनुःफलकाङ्कुशाभययुक्तवामपाणिषट्कश्च । श्रीअनन्तस्य पातालो यक्षस्त्रिमुखो रक्तवर्णो मकरवाहनः षड्भुजः पद्मखड्गपाशयुक्तदक्षिणपाणित्रयो, नकुलफलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणित्रयश्च । श्रीधर्मस्य किन्नरो यक्षस्त्रिमुखो रक्तवर्णः कूर्मवाहनः षड्भुजो बीजपूरकगदाभययुक्तदक्षिणपाणित्रयो, नकुलपद्माक्षमालायुक्तवामपाणित्रयश्च । श्रीशान्तिनाथस्य गरुडो यक्षो वराहवाहनः क्रोडवदनः श्यामरुचिश्चतुर्भुजो बीजपूरकपद्मान्वितदक्षिणकरद्वयो, नकुलाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिद्वयश्च । श्रीकुन्थोर्गन्धर्वयक्षः श्यामवर्णो हंसवाहनश्चतुर्भुजो वरदपाशकान्वितदक्षिणपाणिद्वयो, मातुलिङ्गाङ्कुशाधिष्ठितवामकरद्वयश्च । श्रीअरजिनस्य यक्षेन्द्रो यक्षः षण्मुखस्त्रिनेत्रः श्यामवर्णः [शङ्ख]शिखिवाहनो द्वादशभुजो बीजपूरकबाणखड्गमुद्गरपाशकाभययुक्तदक्षिणकरषट्को, नकुलधनुःफलकशूलाङ्कुशाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिषट्कश्च । श्रीमल्लिजिनस्य कूबरो यक्षश्चतुर्मुख इन्द्रायुधवर्णो गजवाहनोऽष्टभुजो वरदपरशुशूलाभययुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टयो, बीजपूरकशक्तिमुद्गराक्षसूत्रयुक्तवामपाणिचतुष्टयश्च । अन्ये कूबरस्थाने कुबेरमाहुः । श्रीमुनिसुव्रतस्य वरुणो यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः सितवर्णो वृषवाहनो जटामुकुटभूषितोऽष्टभुजो बीजपूरकगदाबाणशक्तियुक्तदक्षिणकरकमलचतुष्को, नकुलपद्मधनुःपरशुयुतवामपाणिचतुष्टयश्च । श्रीनमिजिनस्य भृकुटिर्यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः सुवर्णवर्णो वृषभवाहनोऽष्टभुजो बीजपूरकशक्तिमुद्गराभययुक्तदक्षिणकरचतुष्टयो, नकुलपरशुवज्राक्षसूत्रयुक्तवामकरचतुष्टयश्च । श्रीनेमिजिनस्य गोमेधो यक्षस्त्रिमुखः श्यामकान्तिः पुरुषवाहनः षड्भुजो मातुलिङ्गपरशुचक्रान्वितदक्षिणकरत्रयो, नकुलशूलशक्तियुक्तवामपाणित्रयश्च । श्रीपार्श्वजिनस्य वामनो यक्षो, मतान्तरेण पार्श्वनामा, गजमुख उरगफणामण्डितशिराः श्यामवर्णः कूर्मवाहनश्चतुर्भुजो बीजपूरकोरगयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, नकुलभुजगयुक्तवामपाणियुगश्च । श्रीवीरजिनस्य मतङ्गो यक्षः श्यामवर्णो गजवाहनो द्विभुजो नकुलयुतदक्षिणभुजो, वामकरधृतबीजपूरकश्च । प्रव० २६ द्वार ।

(६८) तीर्थकरदेव्यः-

देवीओ चक्केसरि, अजिआ दुरितारि कालि महकाली ।
अच्चुय संता जाला, सुतारयाऽसोय सिरिवच्छा ॥३७७॥
पवर विजयंऽकुसा प-न्नग त्ति निव्वाणि अच्चुया धरणी ।
वइरुट्टऽच्छुत्त गंधा-रि अंब पउमावई सिद्धा ॥३७८॥

तत्राऽऽद्यजिनस्य चक्रेश्वरी देवी, मतान्तरेणाऽप्रतिचक्रा, सुवर्णवर्णा गरुडवाहनाऽष्टकरा वरदबाणचक्रपाशयुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टया, धनुर्वज्रचक्राङ्कुशयुक्तवामपाणिचतुष्टया चेति । श्रीअजितस्याजिता देवी गौरवर्णा लोहासनाधिरूढा चतुर्भुजा वरदपाशकाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया, बीजपूरकाङ्कुशाक्रान्तवामपाणिद्वया च । श्रीसम्भवस्य दुरितारिर्देवी गौरवर्णा मेषवाहना चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रभूषितदक्षिणभुजद्वया, फलाभयान्वितवामकरद्वया च । श्रीअभिनन्दनस्य काली नाम देवी श्यामकान्तिः पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया, नागाङ्कुशालङ्कृतवामपाणिद्वया च । श्रीसुमतेर्महाकाली देवी सुवर्णवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया, मातुलिङ्गाङ्कुशयुक्तवामपाणिद्वया चेति । श्रीपद्मप्रभस्याऽच्युता, मतान्तरेण श्यामा, देवी श्यामवर्णा नरवाहना चतुर्भुजा वरदबाणान्वितदक्षिणकरद्वया, कार्मुकाभययुक्तवामपाणिद्वया च । श्रीसुपार्श्वस्य शान्ता देवी सुवर्णवर्णा गजवाहना चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरद्वया, शूलाभययुक्तवामहस्तद्वया च । श्रीचन्द्रप्रभस्य ज्वाला, मतान्तरेण भृकुटिः, देवी पीतवर्णा वराहकाख्यजीवविशेषवाहना चतुर्भुजा खड्गभूषितदक्षिणकरद्वया, फलकपरशुयुतवामपाणिद्वया च । श्रीसुविधेः सुतारा देवी गौरवर्णा वृषभवाहना चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणभुजद्वया, कलशाङ्कुशान्वितवामपाणिद्वया च । श्रीशीतलस्य अशोका देवी नीलवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, फलाङ्कुशयुक्तवामपाणिद्वया च । श्रीश्रेयांसस्य श्रीवत्सा देवी, मतान्तरेण मानवी, गौरवर्णा सिंहवाहना चतु-

र्भुजा वरदमुद्गरान्वितदक्षिणकरद्वया, कलशाङ्कुशयुक्तवामकरद्वया च । श्रीवासुपूज्यस्य प्रवरा देवी, मतान्तरेण चण्डा, श्यामवर्णा तुरगवाहना चतुर्भुजा वरदशक्तियुक्तदक्षिणकरयुगा, पुष्पगदायुतवामकरद्वया च । श्रीविमलस्य विजया, मतान्तरेण विदिता, देवी हरितालवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा बाणपाशयुक्तदक्षिणकरद्वया, धनुर्नागयुतवामपाणिद्वया च । श्रीअनन्तजिनस्य अङ्कुशा देवी गौरवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा खड्गपाशयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, फलकाङ्कुशयुक्तवामकरद्वया च । श्रीधर्मस्य पन्नगा देवी, मतान्तरेण कन्दर्पा, गौरवर्णा मत्स्यवाहना चतुर्भुजा उत्पलाङ्कुशयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, पद्माभययुतवामपाणिद्वया च । श्रीशान्तिनाथस्य निर्वाणा देवी कनकरुचिः पद्मासना चतुर्भुजा पुस्तकोत्पलयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, कमण्डलुकमलकलितवामकरद्वया च । श्रीकुन्थोरच्युता देवी, मतान्तरेण बलाभिधाना, कनकरुचिर्मयूरवाहना चतुर्भुजा बीजपूरकशूलान्वितदक्षिणपाणिद्वया, भुषुण्डिपद्मान्वितवामपाणिद्वया च । श्रीअरजिनस्य धारणी देवी नीलवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा मातुलिङ्गोत्पलयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, पद्माक्षसूत्रान्वितवामपाणिद्वया च । श्रीमल्लिजिनस्य वैरोट्या देवी कृष्णवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, बीजपूरकशक्तियुक्तवामपाणिद्वया चेति । श्रीमुनिसुव्रतस्य अच्छुप्ता देवी, मतान्तरेण नरदत्ता, कनकरुचिर्भद्रासनारूढा चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणभुजद्वया, बीजपूरकशूलयुक्तवामकरद्वया च । श्रीनमिजिनस्य गन्धारी देवी श्वेतवर्णा हंसवाहना चतुर्भुजा वरदखड्गयुक्तदक्षिणकरद्वया, बीजपूरककुन्तकलितवामकरद्वया च । श्रीनेमिजिनस्य अम्बा देवी कान्तरुचिः सिंहवाहना चतुर्भुजा आम्रलुम्बिपाशयुतदक्षिणकरद्वया, चक्राङ्कुशाऽऽलकवामकरद्वया च । श्रीपार्श्वजिनस्य पद्मावती देवी कनकवर्णा कुर्कुटसर्पवाहना चतुर्भुजा पद्मपाशान्वितदक्षिणकरद्वया, फलाङ्कुशाधिष्ठितवामकरद्वया च । श्रीवीरजिनस्य सिद्धायिका देवी हरितवर्णा सिंहवाहना चतुर्भुजा पुस्तकाभययुक्तदक्षिणकरद्वया, बीजपूरकवीणाभिरामकरद्वया चेति । अत्र सूत्रकारेण यक्षाणां देवीनां च केवलानि नामान्येवाभिहितानि, न पुनर्वर्णवाहनवर्णाऽऽदिस्वरूपं निरूपितम्; अस्माभिस्तु शिष्यहिताय निर्वाणकलिकाऽऽदिशास्त्रानुसारेण किञ्चित्तदीयसुवर्णप्रहरणाऽऽदिस्वरूपं निरूपितमिति । प्रव० २७ द्वार ।

(जन्मवेला २२ । जन्मनक्षत्राणि २३ । जन्मराशयः २४ इति द्वारत्रिकं वयमवत)

(६९) तीर्थंकरजन्मनगर्यः—

....................., जम्मस्स इमा उ नयरीओ ।
इक्खागभूमऽउज्झा, सावत्थी दो अउज्झ कोसंबी ।
वाणारसि चंदपुरी, कायंदी भद्दिलपुरं च ॥ ६३ ॥
सीहपुर चंप कंपि–ल्लऽउज्झ रयणपुर ति-गयपुर मिहिला ।
रायगिह मिहिल सूरिय–पुर वाणा–रसि य कुंडपुरं ॥८४॥

इक्ष्वाकुभूमिः १। अयोध्या नगरी २। श्रावस्ती ३। द्वयोरयोध्या-अयोध्या नगरी ४। अयोध्या नगरी ५। कौशाम्बी ६। वाराणसी ७। चन्द्रपुरी ८। काकन्दी ९। भद्दिलपुरम् १०। सिंहपुरम् ११। चम्पा १२। काम्पिल्यपुरम् १३। अयोध्या १४। रत्नपुरम् १५। त्रिषु गजपुरम्-गजपुरम् १६ । गजपुरम् १७ । गजपुरम् १८ । मिथिला १९ । राजगृहम् २० । मिथिला २१ । सौर्यपुरम् २२ । वाराणसी २३। कुण्डपुरम् २४ जिनानां क्रमेण जन्मनगराणि । सप्त० २८ द्वार । आ० म० ।

(७०) अथ तीर्थंकरजन्मदेशाः कथ्यन्ते-

दुसु कोसला कुणाला, दुसु कोसल वच्छ कासि पुव्वो य ।
सुन मलय सुन्नऽगा, पंचाला कोसला सुन्नं ॥ ६१ ॥
तिसु कुरु विदेहमगहा, विदेह कोसल्ल कासि तह पुव्वो ।
देसा इमे जिणाणं, जम्मस्स....................... ॥ ८२ ॥

(दुसु कोसला कुणाल त्ति) द्वयोः जिनवरयोः-कोशलादेशः १। २ । कुणालदेशः ३ । (दुसु कोसल वच्छ कासि पुव्वो य त्ति) द्वयोः पुनः-कोशला ४ । ५ । वत्सदेशः ६ । काशीदेशः ७ । पूर्वदेशश्च ८ । (सुन्न मलय सुन्नऽग त्ति) पुरातनग्रन्थेष्वप्राप्यमाणत्वेनाप्रसिद्धत्वात् शून्यमित्यर्थः ९। मलयदेशः १० । शून्यं प्राग्वत् ११ । अङ्गदेशः १२ । (पंचाला कोसला सुन्नं त्ति) पञ्चालाः १३ । कोशलाः १४ । शून्यं प्राग्वत् १५ । इति गाथार्थः ॥ ६१ ॥ (तिसु कुरुविदेहमगह त्ति) त्रिषु कुरुदेशः १६ । १७ । १८ । विदेहदेशः १९ । मगधदेशः २० । (विदेह कोसल्ल कासि तह पुव्वो त्ति)विदेहदेशः २१। कुशा (च)र्तदेशः २२। काशीदेशः २३। तथा पूर्वदेशः २४ । (देसा इमे जिणाणं ति) इमेऽनन्तरोक्ता देशाः क्रमेण चतुर्विंशतिजिनानाम् ॥ ८२ ॥ सप्त० २७ द्वार ।

(७१) तीर्थंकरजन्ममासाऽऽदि-

इत्तो उसहाऽऽइ जिणा–ण जम्ममासाइ वुच्छामि (७७)
चित्तबहुलऽट्ठमी सिय–माहऽट्ठमि मग्गचउदसी माहे ।
सियबिय वेसाहऽट्ठमि, कत्तियगे कसिणबारसिया ।७८।
जिट्ठसिय पोसकसिणा, य बारसी मग्गपंचमी चेव ।
कसिणा य माहफग्गुण–बारसि फग्गुण चउदसिया ।७९।
माहस्स सुद्धतइया, तह वइसाहम्मि तेरसी कसिणा ।
माहसियतइय जिट्ठे,कसिणा तेरसि विमाहचउदसिया।८०।
सियमग्गदसमि-गारसि, बहुलऽट्ठमि जिट्ठसावणे मासे ।
सावणसियपंचमि पो-सकसिणदसमि सिअचित्ततेरसिया॥

इतो गर्भस्थितिकथनानन्तरम् ऋषभाऽऽदीनां जन्ममासाऽऽदि वक्ष्ये । तद्यथा-चैत्रबहुलाष्टमी ऋषभजिनस्य जन्म १। श्वेतमाघाष्टमी २। मार्गशीर्षसितचतुर्दशी ३। माघसितद्वितीया ४। वैशाखसिताष्टमी ५। कार्तिककृष्णद्वादशिका ६। ज्येष्ठस्य सितद्वादशी ७। पौषस्य कृष्णा द्वादशी ८। मार्गशीर्षकृष्णपञ्चमी ९। माघकृष्णा द्वादशी १०। फाल्गुनकृष्णा द्वादशी ११। फाल्गुनकृष्णचतुर्दशी १२। माघसिततृतीया १३। वैशाखकृष्णत्रयोदशी १४। माघसिततृतीया १५। ज्येष्ठकृष्णत्रयोदशी १६। वैशाखकृष्णचतुर्दशी १७। मार्गशीर्षसितदशमी १८। मार्गशीर्षैकादशी कृष्णा १९। ज्येष्ठमासबहुलाष्टमी २०। श्रावणबहुलाष्टमी २१। श्रावणश्वेतपञ्चमी २२। पौषकृष्णा दशमी २३। चैत्रश्वेतत्रयोदशी २४। इति क्रमेण जन्ममासपक्षतिथयः । सप्त० २८ द्वार ।

(७२) अथ जन्मारकानाह-

संखिज्जकालरूवे, तइयऽरयंते उसहजम्मो ।(८३)

अजियस्स चउत्थारय-मज्झे पच्छद्धे संभवाऽऽईणं ।
तस्संऽते अराईणं, जिणाण जम्मो तहा मुक्खो ॥८३॥

(संखिज्जकालरूवे, तइयऽरयंते उसहजम्मो त्ति) संख्यातकालरूपे तृतीयारकपर्यन्ते ऋषभजिनजन्म, मोक्षश्च ज्ञेय इति गाथार्थः। (अजियस्स चउत्थारयमज्झ त्ति) अजितजिनस्य चतुर्थारकमध्ये जन्म,मोक्षश्चाभूत्। (पच्छद्धे संभवाऽऽईणं ति) पश्चिमार्द्धे सम्भवाऽऽदीनां सप्तदशजिनपर्यन्तानां जन्म, मोक्षश्चाभूत्। (तस्संऽते अराईणं) तस्य तुर्यारकस्यान्ते अराऽऽदिजिनानां वीरपर्यन्तानां सप्तजिनानां जन्म, मोक्षश्चाभूत्। (जिणाण जम्मो तहा मुक्खो) एवं सर्वजिनानां जन्म, मोक्षश्च। सप्त० २५ द्वार।

अथ जन्मारकाणां शेषकालमाह-

जम्माउ इगुणनउई-पक्खनिजाउअमियमरयसेसं ।
पुरिमंतिमाण नेअं, तेणऽहियमिमं तु सेसाणं ॥८६॥
अजियस्स अयरकोडी, लक्खा पन्नास,वीस दस एगो ।
कोडिसहस्स दस एगो, कोडिसयं कोडि दस एगा ॥८७॥
बायालसहस्सूणं, इय नवगे अट्ठगे पुणो इत्तो ।
पणसट्ठिलक्खचुलसी-सहसऽहियं होइ वरिसाणं ॥८८॥
अयरसयं छायाला, सोलससगतिन्नि पलियभागतिगं ।
पलियस्स एगपाओ, वरिसाणं कोडिसहसो य ॥८९॥
तिसु चुलसिसहस्सऽहिया, पणसट्ठिइगारपंचलक्खा य ।
चुलसि सहस्सा तो स-ड्ढ दुसय पासस्स अरसेसं ॥९०॥

(जम्माउ इगुणनउई-पक्खनिजाउअमियमरयसेसं ति) जन्मत एकोननवति (८९) पक्षानिजायुर्मितमरकशेषम (पुरिमंतिमाण नेअं ति) प्रथमान्तिमयोर्जिनयोर्ज्ञेयम् । अयं भावः-एकोननवतिपक्षाः चतुरशीतिलक्षपूर्वाणि च श्रीऋषभदेवस्य तृतीयारकशेषं ज्ञेयम। कोऽर्थः?-श्रीऋषभदेवस्य जन्मतः तृतीयारकमध्ये एतावान् कालोऽवशिष्यत इति। तथा-एकोननवतिपक्षाः द्वासप्ततिवर्षाणि च श्रीवीरस्य जन्मतोऽरकस्य शेषं ज्ञेयम। श्रीवीरस्य जन्मतः चतुर्थारकमध्ये एतावान् कालोऽवशिष्यत इत्यर्थः। (तेणऽहियमिमं तु सेसाणं ति) नोभिन्नक्रमत्वात् शेषाणां मध्यद्वाविंशतिजिनानां तु, तेन निजायुषा अधिकमिदं वक्ष्यमाणमरकशेषं ज्ञेयमिति गाथाऽर्थः ॥८६॥ (अजियस्स अयरकोडी लक्खा पन्नास त्ति)अजितस्य जन्मतः द्वासप्तति (७२) लक्षपूर्वैरधिकाः "बायालसहस्सूणं इय नवगे" इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् द्विचत्वारिंशशतवर्षसहस्रैरूनाश्च पञ्चाशल्लक्षाः सागरकोट्यः चतुर्थारकशेषं ज्ञेयम। एवं शीतलजिनं यावत् निजायुःप्रक्षेपपूर्वकं द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्राऽपनयनपूर्वकं च चतुर्थारकशेषं वाच्यम।२ (वीस दस एगो त्ति) विंशतिकोटिलक्षाः ६० लक्षपूर्वाधिक० ३। दशकोटिलक्षाः ५० लक्षपूर्वाधिक० ४। एककोटिलक्षाः ४० लक्ष० ५। (कोडिसहस दस इक्को त्ति) दशकोटिसहस्राः ३० लक्षपू० ६। एककोटिसहस्राः २० लक्षपू० ७। (कोडिसयं कोडि दस एग त्ति) कोटिशतं १० लक्ष० ८। दशकोट्यः २ ल०९। एका कोटी १ लक्ष० १०। सागराणामिति सर्वत्र गम्यम्। इति गाथार्थः ॥८७॥ "बायालसहस्सूणं, इय नवगे" इत्यनन्तरोक्ते नवके अजिताजिनादारभ्य शीतलजिनं यावद् द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्रैरेतदरकशेषमूनं क्रियते। (अट्ठगे पुणो इत्तो त्ति) इतोऽनन्तरमष्टके पुनः (पणसट्ठिलक्खचुलसीसहसऽहियं होइ वरिसाणं ति) पञ्चषष्टिलक्षचतुरशीतिवर्षसहस्राधिकं भवति, अग्रे वक्ष्यमाणमिति शेष इति गाथार्थः ॥८८॥ (अयरसयं ति) सागरशतं सागरशतम। भावना चैवम्-श्रेयांसस्य जन्मतः निजायुरधिकं पञ्चषष्टिलक्ष(६५)चतुरशीति(८४)सहस्रवर्षादधिकं चैकं सागरशतं चतुर्थारकशेषं ज्ञेयम्। एवमराजिनं यावन्निजायुःप्रत्ययपूर्वकं, पञ्चषष्टिलक्षचतुरशीतिसहस्रवर्षप्रक्षेपपूर्वकं च भावनीयम। (छायाल त्ति) षट्चत्वारिंशत् सागराणि ४२ लक्षा० १२। (सोलस सग तिन्नि पलियभागतिगं ति) षोडशसागराणि ६० लक्षा० १३। सप्तसागराणि १० लक्षा० १४। त्रीणि सागराणि (?) लक्ष० १५। पल्यभागत्रिकं पादोनपल्यम १ लक्ष० १६। (पलियस्स एगपाअ त्ति) पल्यस्यैकपादः चतुर्थांशः निजायुः (९५) सहस्राधिक० १७। (वरिसाणं कोडिसहसो य त्ति) वर्षाणां कोटिसहस्र (८४) सहस्रश्चेति १८ गाथार्थः ॥८९॥ (तिसु चुलसिसहस्सअहिय त्ति) त्रिषु जिनेष्वनन्तरं भणिष्यमाणेषु चतुरशीतिसहस्राधिकाः (पणसट्ठिइगारपंचलक्खा य त्ति) लक्षशब्दस्य प्रत्येकं योगात् पञ्चषष्टिलक्षाः श्रीमल्लिजिनस्य जन्मतः चतुरशीतिसहस्रवर्षाधिका ५५००० निजायुरधिकाश्च पञ्चषष्टिलक्षाः ६५ वर्षाणि चतुर्थारकशेषमिति नमिजिनं यावद्भावना कार्या १९। एकादशलक्षाः ३० सहस्र० २०। पञ्चलक्षाश्च १० सह० २१। (चुलसिसहस्स त्ति) चतुरशीतिसहस्राणि वर्षाणि १ सह० २२। (तो सड्ढ दुसय त्ति) ततः सार्द्धे द्वे शते (पासस्स अरसेसं ति) श्रीपार्श्वनाथस्य अरकशेषं ज्ञेयं वर्षशताधिकम् २३। इति गाथाऽर्थः ॥९०॥ चतुर्विंशतिजिनानां जन्मारकाणां शेषकालः। सप्त० २६ द्वार ॥

(७३) अथ तीर्थप्रसिद्धजिनजीवानाह-

उसहे मरीइपमुहा १, सिरिवम्मनिवाइया सुपासजिणे ७ ।
हरिसेणविस्सभूई, सीयलतित्थम्मि १० जिणजीवा ॥३४॥
सेयंसे सिरिकेऊ, तिविट्ठुमरुभूइअमियतेयधणा ।
वसुपुज्जे ११ नंदणनं-दसंखसिद्धत्थसिरिवम्मा ॥३५॥
सुव्वते ऍरावणनारय-नामा २० नेमिम्मि कण्हपमुहा य २२।
पासे अंबडसच्चइ-आणंदा २३ वीरे सेणियाई य ॥३६॥
सेणिय सुपास पोट्टिल, उदाइ संखे दढाउ सयगे य ।
रेवइ सुलसा वीर-स्स बद्धतित्थयत्तणा नव उ ॥ ३७ ॥

(उसहे मरीइपमुहा) ऋषभे मरीचिप्रमुखाः १। (सिरिवम्मनिवाइआ सुपासजिणे) श्रीवर्मनृपाऽऽदिकाः सुपार्श्वजिने ७ (हरिसेणविस्सभूइ त्ति) श्रीशीतलनाथतीर्थे हरिषेणविश्वभूती जिनजीवौ ज्ञेयौ इति गाथार्थः ॥३४॥ (सेयंसे सिरिकेऊ) श्रेयांसतीर्थे श्रीकेतुनामा (तिविट्ठमरुभूइअमियतेयधणा) त्रिविष्टमरुभूत्यमिततेजोधननामानः ११ (वसुपुज्जे नंदणनंदसंखसिद्धत्थसिरिवम्मा) वासुपूज्यजिनतीर्थे नन्दननन्दशङ्खसिद्धार्थश्रीवर्माभिधा १२ इति गाथार्थः ॥३५॥ (सुव्वते ऍरावणनारयनामा) मुनिसुव्रते ऐरावणनारदनामानौ २०। (नेमिम्मि कण्हपमुहा य) नेमितीर्थे कृष्णप्रमुखाश्च २२। (पासे अंबडसच्चइआणंदा) पार्श्वतीर्थे अम्बडसत्यकयानन्दनामानः २३। (वीरे सेणिआई य)

श्रीवीरतीर्थे श्रेणिकाऽऽदयो जिनजीवा ज्ञेयाः। इति गाथार्थः ॥३६॥ (सेणियसुपासपोट्टिलउदाइसंखे त्ति) श्रेणिकः १ सुपार्श्वः २ पोट्टिलः ३ उदायिनामा ४ संखनामा ५ । (दढाउ सयगे) दृढायुः ६ शतकी च ७ (रेवइ सुलसा) रेवती ८ सुलसाना-म्न्यौ ९ (वीरस्स भवतित्थयरा नव उ) श्रीवीरस्य तीर्थे एते नव जीवा भवतीर्थकृत्पदा इति गाथार्थः ॥३७॥ सत्त० १६६ द्वार।

(७४) भविष्यत्तीर्थंकराः-

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणी-ए चउव्वीसं तित्थगरा भविस्संति । तं जहा-

" महापउमे सुरदेवे, सुपासे य सयंपभे ।
सव्वाणुभूई अरहा, देवगुत्ते य होक्खइ ॥१॥
उदए पेढालपुत्ते य, पोट्टिले सतकित्तिए ।
मुणिसुव्वए य अरहा, सव्वभावविऊ जिणे ॥२॥
अममे णिक्कसाए य, निप्पुलाए य निम्ममे ।
चित्तउत्ते समाही य, आगमिस्सेण होक्खइ ॥ ३ ॥
संवरे अणियट्टी य, विवाए विमले तहा ।
देवोववाए अरहा, अणंतविजए इय * ॥ ४ ॥
एए वुत्ता चउव्वीसं, भरहे वासम्मि केवली ।
आगमिस्सेण होक्खंति, धम्मतित्थस्स देसगा" ॥५॥ स०।

महाविदेहविजयेषु विहरत्सु केवलिजिनेषु उत्पत्स्यन्त्येषां जिनानां जन्माऽऽदि स्यात्, किं वा तन्मोक्षगमनानन्तरमिति प्रश्ने, उत्तरम्- महाविदेहविजयेषु विहरत्सु केवलिजिनेषु उत्पत्स्येषु वाऽन्येषां जिनानां जन्माऽऽदि न स्यादिति । प्र०२। ही०२ प्रका०।

(७५) अथ युगान्तकृद्भूमिकामाह-

साहूण सिद्धिगमणं, असंखअडचउतिसंखपुरिसं जा ।
संजायमुसहनेमी-पासंऽतिमसेसमुक्खाओ ॥३२३॥

(साहूण सिद्धिगमणं) साधूनां मुनीनां सिद्धिगमनं मोक्षगमनम् (असंखअडचउतिसंखपुरिसं जा, संजायं ति) असंख्याष्टचतुस्त्रिसंख्यपुरुषं यावत् संजातम् । कस्मादित्याह-(उसहनेमिपासं-तिमसेसमुक्खाओ) ऋषभनेमिपार्श्वान्तिमशेषाणां मोक्षात् । इयमत्र योजना-श्रीऋषभस्य मोक्षात् असंख्यपुरुषान् यावत् साधूनां सिद्धिगमनं संजातम् १। श्रीनेमेरष्टौ पुरुषान् यावत् साधूनां सिद्धिगमनं संजातम् २२। ("अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स जाव अट्ठमाओ पुरिसजुगाओ जुगंतगडभूमी दुवासपरियाए अंतमकासी ।" स्था० ८ ठा०। " उसभेणं अरहा कोसलिएणं इमीसे उस्सप्पिणीए नवहिं सागरोवमकोडाकोडीहिं वीइक्कंताहिं तित्थे पवत्तिए ।" स्था० ९ ठा०) श्रीपार्श्वस्य मोक्षात् चतुरः पुरुषान् यावत् साधूनां सिद्धिगमनं संजातम् ।२३। शेषाणामजिताऽऽदीनां नमि (२१) पर्यन्तानां जिनानां मोक्षात् (त्रि) ?... संख्यातपुरुषान् यावत्साधूनां सिद्धिगमनं संजातमिति गाथार्थः ॥७४॥ ३२३ ॥ सत्त० १५८ द्वार। " समणस्स णं भगवओ महावीरस्स जाव तच्चाओ पुरिसजुगाओ जुगंतगडभूमी ।" स्था० ३ ठा० ३ उ०।

(७६) स्थितिकल्पः-

दसहा छुण्हं जणिओ, चउहा अभेसि ठिइकप्पो(२७९)

*भवभवनसारोद्धाराऽऽदौ दशमभेद उपलभ्यते, तन्मतान्तरेण।

दशधा दशप्रकारेण स्थितिकल्पः प्रथम१चरम२४जिनयोस्तीर्थे भणितः । अन्येषां द्वाविंशतिजिनानां चतुःप्रकारो भणितः। सत्त० १३५ द्वार । (विशेषार्थिना 'कप्प' शब्दस्तृतीयभागे २२५ पृष्ठे विलोकनीयः)

(७७) तत्त्वसंख्या-

जीवाऽऽई नव तत्ता, तिन्निऽहवा देव-गुरु-धम्मा(२८३)
सव्वेसिं जिय-अजिया, पुन्नं पावं च आसवो बंधो ।
संवर निज्जर मुक्खो, पत्तेयमणेगहा तत्ता ॥२८४॥

सर्वेषां जिनानां शासने जीवाऽऽदीनि नव तत्त्वानि । अथवा-त्रीणि तत्त्वानि देवगुरुधर्मरूपाणि भवन्ति। (२८३) सर्वेषां जिनानां तीर्थे जीवाऽजीवौ, पुण्यं, पापं च, आश्रवः, बन्धः, संवरः, निर्जरा, मोक्षः । एतानि नव तत्त्वानि प्रत्येकमनेकधा भवन्ति ॥ सत्त० १३१ द्वार । ध० र०।

(७८) अथ तीर्थप्रवृत्तिकालः प्रोच्यते-

इगतित्था जा तित्थं, बीयस्सुप्पज्जए य ता नेओ ।
पुव्विल्लतित्थकालो, दुसमंतं पुण चरिमतित्थं ॥२१०॥
केवलिकालेण जुओ, इगस्स बीयस्स तेण पुण हीणो ।
अंतरकालो नेओ, जिणाण तित्थस्स कालो वि ॥२११॥
उसहस्स य तित्थाओ, तित्थं वीरस्स पुव्वलक्खऽहियं ।
अयरेगकोडिकोडी, बावीससहस्सवासूणा ॥ २१२ ॥

(इगतित्था जा तित्थं, बीयस्सुप्पज्जए य ता नेओ । पुव्विल्लतित्थकालो) एकस्य तीर्थकृतस्तीर्थात् यावद् द्वितीयतीर्थकृतस्तीर्थमुत्पद्यते तावत्कालं पूर्वतीर्थकृतस्तीर्थकालो ज्ञेयः । (दुसमंतं पुण चरिमतित्थं ति) दुःषमान्तं पुनश्चरमतीर्थम्-पञ्चमाऽऽरकपर्यन्तं यावत् श्रीवीरजिनस्य तीर्थमिति गाथाऽर्थः ॥ २१० ॥ (केवलिकालेण जुओ इगस्स त्ति) एकस्य विवक्षितजिनस्य केवलिकालेन युतः (बीयस्स तेण पुण हीणो) द्वितीयस्य तदनन्तरस्य जिनस्य पुनस्तेन केवलिकालेन हीनो रहितः (अंतरकालो त्ति) एतादृशोऽन्तरकाल एव (नेओ जिणाण तित्थस्स कालो वि त्ति) जिनानां तीर्थस्यापि कालो ज्ञेयः । तथाहि-श्रीऋषभाजितयोरन्तरकालः पञ्चाशल्लक्षकोटिसागराणि । स च श्रीऋषभस्य केवलिकालेन वर्षसहस्रोनपूर्वलक्षमानेन युतः श्रीअजितस्य केवलिकालेन द्वादशवर्षोनपूर्वाङ्गोनैकपूर्वलक्षमानेन हीनश्च क्रियते । तथा च द्वादशवर्षोनपूर्वाङ्गोनैव पूर्वलक्षोनानि वर्षसहस्रोनैकपूर्वलक्षाधिकानि च पञ्चाशल्लक्षकोटिसागराणि जातानि । एतावतां कालं ५० लक्षकोटिसागर ८३७६०१२ वर्षाधिकं श्रीऋषभस्य तीर्थं प्रवृत्तमित्यर्थः । एवं पार्श्वजिनं यावद्भावना कार्या । इति गाथार्थः ॥ २११ ॥ (उसहस्स य तित्थाओ तित्थं वीरस्स त्ति) ऋषभस्य च तीर्थात् वीरस्य तीर्थं (पुव्वलक्खऽहियं ति) पूर्वलक्षाधिकमधिकं (अयरेगकोडिकोडी) सागरैककोटाकोटी (बावीससहस्सवासूणा) द्वाविंशतिसहस्रवर्षोना भवति, तथाहि-ऋषभस्य केवलिपर्यायः वर्षसहस्रोनमेकं पूर्वलक्षं, ततो नवाशीतिपक्षेषु व्यतीतेषु तृतीयारकः परिसमाप्तः । ततो द्विचत्वारिंशत्सहस्रवर्षोनैकः सागरकोटाकोटिप्रमाणः चतुर्थारको व्यतीतः। तदनु च एकविंशतिसहस्रवर्षप्रमाणः पञ्चमारकः। सर्वेषां पिण्डीकरणे च नवाशीतिपक्षाधिकेन पूर्वलक्षेणाधिका

द्वाविंशतिवर्षसहस्रैश्च न्यूना सागराणाम् एका कोटाकोटि-र्भवति । श्रीऋषभस्य तीर्थात् श्रीवीरस्य तीर्थम् एतावता कालेन परिसमाप्तमिति तात्पर्यमिति गाथाऽर्थः ॥ २१२ ॥ इति तीर्थप्रवृत्तिकालः । सत्त० १०१ द्वार ।

(७९) तीर्थकरकल्याणकतपः-

" इअ अतीअवट्टमाणा-ऽणागयचउवीसजिणवरिंदाणं ।
ओसप्पिणिउस्सप्पिणि-जवा पुण अणुलोमपडिलोमा ॥ १ ॥
सम्माइअमहिमलया, पंचसु भरहेसु एरवयपणगे ।
कल्लाणयमासतिही-उ सासया न य विदेहेसु ॥ २ ॥
इगजत्तिनिविअआमा-यमणमिगडुतिचउपंचकल्लाणे ? ।
इअ संखेवतवेणं, आराहइ पंचकल्लाणे ॥ ३ ॥
वित्थरओ उववासं, चुइजम्मेसुं करिज्ज पत्तेअं ।
जिणवक्खेयं तवसा, दिक्खाइतिगंसु आराहे ॥ ४ ॥
सुमइऽत्थ निच्चभत्ते-ण निग्गओ वासुपुज्ज चउथेणं ।
पासो मल्ली विअ अ-ट्ठमेण सेसा उ छट्ठेणं ॥ ५ ॥
अट्ठमभत्तंतम्मी, नाणमुसभमल्लिनेमिपासाणं ।
वसुपुज्जस्स चउत्थे-ण छट्ठभत्तेण सेसाणं ॥ ६ ॥
चउदसमेणं उसभो, वीरो छट्ठेण मासिए पत्ते ।
सिद्धवयम्मी सुमई-सुपासो निच्चभत्ते वि ? ॥ ७ ॥
कायं कल्लाणतवं, उज्जमणं जो करिज्ज विहिपुव्वं ।
जिणपहुआराहणओ, परमपयं पावए स कमा ॥ ८ ॥
चुइजम्मदिक्खकेवल-सिवाइँ कल्लाणयाइँ पंचेव ।
सव्वजिणाणं छ पुणो, वीरस्स सगब्भहरणाई ॥ ९ ॥
इहखित्तभवजिणाणं, जो आराहेइ पंचकल्लाणं ।
तेदसखित्ततिकालिअ-अरिहाण उवासिणा तेण ? ॥ १० ॥
पणकल्लाणयकप्पं, नवीण पूरियमणिट्ठसंकप्पं ।
जो पढइ सुणइ भव्वो, सयंवरा तस्स सिद्धिसिरी" ॥ ११ ॥
ती० ५० कल्प । प्रव० ।

(८०) तीर्थकरणप्रयोजनम्-

ननु सर्वोऽपि प्रेक्षावान् फलार्थी प्रवर्त्तते, अन्यथा प्रेक्षावत्ताक्षतिप्रसङ्गः । ततोऽसौ तीर्थं कुर्वन्नवश्यं फलमपेक्षते । फलं चापेक्षमाणोऽस्मादृश इव व्यक्तमवीतरागः । तदयुक्तम् । यतः तीर्थकरः स एव भवति, यस्तीर्थकरनामकर्मोदयसमन्वितः, न हि सर्वेऽपि भगवन्तो वीतरागास्तीर्थप्रवर्त्तनाय प्रवर्त्तन्ते । तीर्थकरनामकर्मैव तीर्थप्रवर्त्तनफलम् । ततो भगवान् वीतरागोऽपि तीर्थकरनामकर्मोदयतः तीर्थप्रवर्त्तनस्वभावः सवितेव प्रकाशमुपकार्योपकारानपेक्षं तीर्थं प्रवर्त्तयतीति न कश्चिद्दोषः ।

उक्तं च-

" तीर्थप्रवर्त्तनफलं, यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थकरनाम ।
तस्योदयात् कृतार्थोऽप्य-र्हंस्तीर्थं प्रवर्त्तयति ॥ १ ॥
तत्स्वाभाव्यादेव, प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम् ।
तीर्थप्रवर्त्तनाय, प्रवर्त्तते तीर्थकर एवम् ॥ २ ॥ "

ननु तीर्थप्रवर्त्तनं नाम प्रवचनार्थप्रतिपादनं, प्रवचनार्थं चेद् भगवान् प्रतिपादयति, तर्हि नियमादसर्वज्ञः, सर्वस्यापि वक्तुरसर्वज्ञतयोपलम्भात् । तथा चात्र प्रयोगः-विवक्षितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति, वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवदिति । तदसत् । सन्दिग्धव्यतिरेकतया हेतोरनैकान्तिकत्वात् । तथाहि-वचनं न सर्ववेदनेन सह विरुध्यते, अतीन्द्रियेण सह विरोधानिश्चयात् । द्विविधो हि विरोधः-परस्परपरिहारलक्षणः, सहानवस्थानलक्षणश्च । तत्र परस्परपरिहारलक्षणः तादात्म्यप्रतिषेधे, यथा घटपटयोः । न खलु घटः पटाऽऽत्मको भवति, नापि पटो घटाऽऽत्मको भवति । " न सत्ता सत्तान्तरमुपैति " इति वचनात् । ततो(ऽना)ऽनयोः परस्परपरिहारलक्षणो विरोधः एवं सर्वेषामपि वस्तूनां भावनीयम्, अन्यथा वस्तुसाङ्कर्यप्रसक्तेः । यस्तु सहानवस्थानलक्षणो विरोधः, स परस्परबाध्यबाधकभावसिद्धौ सिद्ध्यति, नान्यथा । यथा-वह्निशीतयोः । तथा हि-विवक्षिते प्रदेशे मन्दमन्दमभिज्वलनवति वह्नौ शीतस्यापि मन्दमन्दभावः । यदा पुनरत्यर्थंज्वालामालितिमुञ्चति वह्निस्तदा सर्वथा शीतस्याभाव इति भवत्यनयोर्विरोधः ।

उक्तं च-

" अविकलकारणमेकं, तदपरभावे यदाऽऽभवन्न भवेत् ।
भवति विरोधः स तयोः, शीतहुताशाऽऽत्मनोर्दृष्टः ॥ १ ॥ "

न चैवं वचनसंवेदनयोः परस्परं बाध्यबाधकभावः, न हि संवेदने तारतम्येनोत्कर्षमासादयति वचसस्तस्यायाः तारतम्येनापकर्ष उपलभ्यते, तत्कथमनयोः सहानवस्थानलक्षणो विरोधः । अथ सर्ववेदी वक्ता नोपलब्ध इति विरोध उद्घुष्यते । तदयुक्तम् । अत्यन्तपरोक्षो हि भगवान्, ततः कथमनुपलम्भमात्रेण तस्याभावनिश्चयः, अदृश्यविषयस्यानुपलम्भस्याभावनिश्चायकत्वायोगात् ।

आह च प्रज्ञाकरगुप्तः-

" बाध्यबाधकभावः कः, स्यातां नर्द्धेस्तिसंविदौ ? ।
तादृशाऽनुपलब्धेश्च-दुच्यतां सैव साधनम् ॥ १ ॥
अनिश्चयकरं प्रोक्त-मीदृशानुपलम्भनम् ।
तत्रात्यन्तपरोक्षेषु, सदसत्ताविनिश्चयैः ॥ २ ॥ " नं० ।

(८१) तीर्थोच्छेदकालः-

पुरिमंऽतिमअट्ठऽट्ठं-तरेसु तित्थस्स नत्थि वुच्छेओ ।
मज्झिल्लएसु सत्तसु, एत्तियकालं तु वुच्छेओ ॥ ४३२ ॥
चउभागो चउभागो, तिन्नि य चउभाग पलिय-चउभागो ।
तिन्नेव य चउभागा, चउत्थभागो य चउभागो ॥ ४३३ ॥

इह हि चतुर्विंशतेस्तीर्थकृतां त्रयोविंशतिरेवान्तराणि भवन्ति । यथा-चतसृणामङ्गुलीनां त्रीण्येवान्तराणि, तत्र पूर्वेषु श्रीऋषभाऽऽदिजिनाऽऽदीनां सुविधिपर्यन्तानां नवानां तीर्थकृतां संबन्धिषु अष्टसु, अन्तिमेषु च शान्तिनाथाऽऽदीनां महावीरान्तानां नवानां जिनानां संबन्धिषु अष्टस्वन्तरेषु तीर्थस्य चतुर्वर्णस्य श्रमणसङ्घस्य नास्ति व्यवच्छेदः । (मज्झिल्लएसु त्ति) मध्यवर्त्तिषु पुनः सुविधिप्रभृतीनां शान्तिनाथपर्यन्तानां तीर्थकृतामन्तरेषु सप्तसु एतावन्मात्रं वक्ष्यमाणं कालं यावत्तीर्थस्य व्यवच्छेदः । तदेवाऽऽह-(चउभागेत्यादि) सुविधिशीतलयोरन्तरे पल्योपमस्य चतुर्भागीकृतस्य एकश्चतुर्भागस्तीर्थव्यवच्छेदोऽर्हद्धर्मवार्त्ताऽपि तत्र नष्टेत्यर्थः । तथा-शीतलश्रेयांसयोरन्तरे पल्योपमस्य चतुर्भागस्तीर्थव्यवच्छेदः । तथा श्रेयांसवासुपूज्ययोरन्तरे पल्योपमसंबन्धिनस्त्रयश्चतुर्भागास्तीर्थव्यवच्छेदः । तथा वासुपूज्यविमलजिनयोरन्तरे पल्योपमस्य चतुर्भागस्तीर्थव्यवच्छेदः । तथा विमलानन्तजिनयोरन्तरे पल्योपमसंबन्धिनस्त्रयश्चतुर्भागास्तीर्थव्यवच्छेदः । तथाऽनन्तधर्मयोरन्तरे पल्योपमस्य चतुर्भागस्तीर्थव्यवच्छेदः । तथा धर्मशान्ति-

नाथयोरन्तरे पल्योपमचतुर्भागस्तीर्थव्यवच्छेदः। इति सर्वाग्रेण आगमीसने त्रीणि पल्योपमानि एकचतुर्भागहीनानि जातानि। प्रव० ३६ द्वार।

एएसु णं भंते! तेवीसाए जिणंतरे कस्स कहिं कालियसुयस्स वोच्छेदे पत्रात्ते ?। गोयमा! एएसु णं तेवीसाए जिणंतरेसु पुरिमपच्छिमएसु अट्ठसु अट्ठसु जिणंतरेसु एत्थ णं कालियसुयस्स अवोच्छेदे पत्रात्ते। मज्झिमएसु सत्तसु जिणंतरेसु एत्थ णं कालियसुयस्स वोच्छेदे पत्रात्ते। सव्वत्थ वि णं वोच्छिन्ने दिट्ठिवाए ॥

कस्य जिनस्य सम्बन्धिनः कस्मिन् जिनान्तरे, कयोर्जिनयोरन्तरे, कालिकश्रुतस्यैकादशाङ्गीरूपस्य व्यवच्छेदः प्रज्ञप्तः?, इति प्रश्नः। उत्तरं तु-(एएसु णमित्यादि) इह च कालिकस्य व्यवच्छेदेऽपि पृष्टे यदपृष्टस्याव्यवच्छेदस्याभिधानं तद्विपक्षज्ञापने सति विवक्षितार्थबोधनं सुकरं भवतीतिकृत्वा कृतमिति। (मज्झिमएसु सत्तसु त्ति) अनेन 'कस्स कहिं' इत्यस्योत्तरमवसेयम्। तथाहि-मध्यमेषु सप्तस्वन्तरेषु सुविधिजिनतीर्थस्य सुविधिशीतलजिनयोरन्तरे व्यवच्छेदो बभूव, तद्व्यवच्छेदकालश्च पल्योपमचतुर्भागः। एवमन्ये षट् जिनाः, षट् च जिनान्तराणि वाच्यानि। केवलं व्यवच्छेदकालः सप्तस्वप्येवमवसेयः-

" चउभागो चउभागो, तिन्नि य चउभाग पलियमेगं च।
तिन्नेव य चउभागा, चउत्थभागो य चउभागो ॥ १ ॥" इति।

(एत्थ णं ति) एतेषु प्रज्ञापकेनोपदर्श्यमानेषु जिनान्तरेषु कालिकश्रुतस्य व्यवच्छेदः प्रज्ञप्तः। दृष्टिवादापेक्षया त्वाह-(सव्वत्थ वि णं वोच्छिन्ने दिट्ठिवाए त्ति) सर्वत्रापि सर्वेष्वपि जिनान्तरेषु, न केवलं सप्तस्वेव क्वचित्, कियन्तमपि कालं व्यवच्छिन्नो दृष्टिवाद इति। भ० २० श० ८ उ०।

(७२) अथ प्रसङ्गात् द्वादशचक्रिनामान्याह-

चक्की भरहो सगरो, मघव-सणंकुमर-संति-कुंथु-अरा।
सुभूम-महपउम-हरिसे-ण-जयनिवा बंभदत्तो य ॥३४७॥

चक्री-भरतः १, सगरनामा २। चक्रिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। मघवा ३, सनत्कुमारः ४, शान्तिः ५, कुन्थुः ६, अरनामा ७, (सुभूममहपउमहरिसेण त्ति) सुभूमनामा ८, महापद्मः ९, हरिषेणः १० (जयनिवा बंभदत्तो य) जयनृपः ११, ब्रह्मदत्तश्च १२। इति गाथार्थः ॥ ३४७ ॥

अथ नववासुदेवनामान्याह-

तिविट्ठु तिविट्ठु दुविट्ठू, सयंभु पुरिसुत्तमे पुरिससीहे।
तह पुरिसपुंडरीए, दत्ते लक्खमण कण्हे य ॥३४८॥

(तिविट्ठु तिविट्ठु दुविट्ठू सयंभु पुरिसुत्तमे पुरिससीहे) विष्णुः-त्रिपृष्ठः १, द्विपृष्ठः २, स्वयंभूः ३, पुरुषोत्तमः ४, पुरुषसिंहः ५, तथा पुरुषपुण्डरीकः ६, दत्तनामा ७, लक्ष्मणनामा ८, कृष्णश्च ९। इति गाथार्थः ॥३४८॥

अथ बलदेवनामान्याह-

हरिजिट्ठभायरो नव, बलदेवा अयल-विजय-भद्दा य।
सुप्पहसुदंसणाऽऽणं-दनंदणा रामबलभद्दा ॥ ३४९ ॥

(हरिजिट्ठभायरो) विष्णूनां ज्येष्ठभ्रातरः (नव बलदेवा) नवसंख्या बलदेवा भवन्ति। अचलनामा प्रथमः १, विजयनामा द्वितीयः २, भद्रनामा तृतीयः ३, चः पादपूरणे। (सुप्पहसुदंसणाऽऽणंदनंदण त्ति) सुप्रभनामा चतुर्थः ४, सुदर्शननामा पञ्चमः ५, आनन्दनामा षष्ठः ६, नन्दननामा सप्तमः ७। (रामबलभद्द त्ति) रामनामाऽष्टमः ८, बलभद्रनामा नवमः ९। इति गाथार्थः ॥ ३४९ ॥ पद्मः ८। प्रव०।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषमानमाह-

चउपन्नुत्तमपुरिसा, इह एए होंति जीवपन्नासं।
नवपडिविण्हूहिं जुआ, तेसट्ठिसलागपुरिस भवे ॥३५०॥

(चउपन्नुत्तमपुरिसा, इह एए होंति जीवपन्नासं ति) एते चतुर्विंशतिजिनाः २४, द्वादश चक्रिणः १२, नव वासुदेवाः ९, नव बलदेवाः ९ चेति चतुःपञ्चाशत् ५४ उत्तमपुरुषा इह जगति भवेयुः। एते सर्वेऽप्युत्तमपुरुषाः संभूय पञ्चाशज्जीवाः। यतः-शान्तिकुन्थ्वराः जिनाश्चक्रिणोऽपि जाताः, तथा श्रीवीरजीवस्तु त्रिपृष्ठनामा वासुदेवोऽपि जात इति। (नव पडिविण्हूहिं जुय त्ति) ते चतुःपञ्चाशदुत्तमपुरुषा नवप्रतिविष्णुभिर्युताः। (तेसट्ठिसलागपुरिस भवे) त्रिषष्टिः शलाकापुरुषा भवन्ति। शलाकापुरुषा इति कोऽर्थः?-शलाका इव रेखा इव पुरुषाः शलाकापुरुषाः, न कोऽप्यन्यपुरुष ईदृशः चतुःषष्टितमः। इति गाथार्थः ॥ ३५० ॥

अथ प्रतिवासुदेवनामान्याह-

ते आसग्गीवे तारए, मेरए महुकेढवे निसुंभे य।
बलि पहलाए तह रा-वणे य नवमे जरासंधो ॥३५१॥

अश्वग्रीवः १, तारकः २, मेरकः ३, मधुकैटभः ४, निशुम्भकः ५, (बलि पहलाए तह रा-वणे अ नवमे जरासंधो) बलिः ६, प्रह्लादः ७, तथा रावणश्च ८, नवमो जरासन्धः ९। इति गाथार्थः ॥ ३५१ ॥

अथ कस्य तीर्थे के चक्रिवासुदेवबलदेवा जातास्तानाह-

कालम्मि जे जस्स जिणस्स जाया,
ते तस्स तित्थम्मि, जिणंतरे जे।
नेया उ तेऽतीअजिणस्स तित्थे,
निएहिँ नामेहिँ कमेण एवं ॥ ३५२ ॥

(कालम्मि जे जस्स जिणस्स जाया ते तस्स तित्थम्मि त्ति) यस्य जिनस्य काले जिनतीर्थे वर्तमाने ये जाताः ते चक्रिवासुदेवाऽऽदयः तस्य तीर्थे कथ्यन्ते, (जिणंतरे जे, नेयाउ तेऽतीअजिणस्स तित्थे) जिनान्तरे ये जातास्तेऽतीतजिनस्य तीर्थे ज्ञेयाः। (निएहिं नामेहिं कमेण एवं) निजैर्नामभिः क्रमेण एवं वक्ष्यमाणरीत्या। इति गाथार्थः ॥ ३५२ ॥ इदमुपजातिच्छन्दः।

दो तित्थेस सचक्की, अट्ठ य जिणा, तो पंच केसीजुया,
दो चक्काहिव, तिन्नि चक्कि अ जिणा, तो केसि चक्की हरी।
तित्थेसो इग, तो सचक्कि-अ जिणो केसी सचक्की जिणो,
चक्की, केसवसंजुओ जिणवरो, चक्की अ, तो दो जिणा ॥३५३

(दो तित्थेस सचक्कि अट्ठ य जिणा तो पंच केसीजुआ) द्वौ तीर्थेशौ सचक्रिणौ चक्रवर्तिसहितौ, ततोऽष्ट जिनाः, ततः पञ्च वासुदेवयुताः पञ्च जिनाः। (दो चक्काहिव तिन्नि चक्कि अ जिणा, तो केसि चक्की हरी) द्वौ तत्त्वचक्राधिपौ, ततस्त्रयः चक्रि-

णो जिनाश्च । ततो वासुदेवः, ततश्चक्री, ततो वासुदेवः । (तित्थेसो इगु तो सचक्किम जिणो केसि त्ति) तीर्थेश एकः, ततः सचक्री जिनः,ततो वासुदेवः, सचक्री जिनः। (चक्की, केसवसंजुओ जिणवरो,चक्की अ,तो दो जिणा) चक्री, केशवसंयुतो जिनवरः, ततश्चक्री, ततो द्वौ जिनौ । इति गाथार्थः ॥ ३५२ ॥ सत्त० १७० द्वार ।

जिनचक्रवर्तिकेशवानां विवरणयन्त्रम्–

तीर्थकरः	चक्रवर्ती	वासुदेवः
ऋषभस्वामी	भरतचक्रवर्ती	०
अजितस्वामी	सगरचक्रवर्ती	०
शंभवस्वामी	०	०
अभिनन्दनः	०	०
सुमतिनाथः	०	०
पद्मप्रभः	०	०
सुपार्श्वनाथः	०	०
चन्द्रप्रभः	०	०
सुविधिनाथः	०	०
शीतलनाथः	०	०
श्रेयांसनाथः	०	त्रिपृष्ठः
वासुपूज्यः	०	द्विपृष्ठः
विमलनाथः	०	स्वयंभूः
अनन्तनाथः	०	पुरुषोत्तमः
धर्मनाथः	०	पुरुषसिंहः
०	मघवा चक्रवर्ती	०
०	सनत्कुमारचक्री	०
शान्तिनाथः	शान्तिरेव	०
कुन्थुनाथः	कुन्थुरेव	०
अरनाथः	अर एव	०
०	०	पुरुषपुण्डरीकः
०	सुभूमचक्री	०
०	०	दत्तः
मल्लिनाथः	०	०
मुनिसुव्रतः	महापद्मचक्री	०
०	०	लक्ष्मणः
नमिनाथः	हरिषेणचक्री	०
०	जयचक्री	०
नेमिनाथः	०	कृष्णः
०	ब्रह्मदत्तचक्री	०
पार्श्वनाथः	०	०
वर्द्धमानः	०	०

(८३) तीर्थकरनामान्याह–

जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे चउवीसं तित्थगरा होत्था । तं जहा–उसभ अजिअ संभव अभिणंदण सुमइ पउमप्पभ सुपास चंदप्पभ सुविहि (पुप्फदंत *) सीयल सिज्जंस वासुपुज्ज विमल अणंत धम्म संति कुंथु अर मल्लि मुणिसुव्वय णमि णेमि पास वद्धमाणो य ॥ स० । (तीर्थकृतां मातापितृविचारोऽग्रे करिष्यते)

(चक्रवर्तिनां सर्वा वक्तव्यता ' चक्कवट्टि ' शब्दे तृतीयभागे १०६६ पृष्ठतो द्रष्टव्या)

बलदेववासुदेवपितरः–

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे नवबलदेवनववासुदेवपितरो होत्था । तं जहा–

" पयावई य बंभो, सोमो रुद्दो सिवो महिसरो य ।
अग्गिसीहो य दसरहो,नवमो भणिओ य वसुदेवो" ॥४६॥

वासुदेवमातरः–

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे णव वासुदेवमायरो होत्था । तं जहा–

" मियावई उमा चेव, पुहवी सीया य अंबिया ।
लच्छिमई सेसमई, केकई देवई तहा ॥ ५० ॥ "

बलदेवमातरः–

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे णव बलदेवमायरा होत्था । तं जहा–

" भद्दा तह सुभद्दा य, सुप्पभा य सुदंसणा ।
विजया वेजयंती य, जयंती अपराजिया ॥ ५१ ॥
णवमीया रोहिणी य, बलदेवाण मायरो " ।

दशारमण्डलानि–

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे णव दसारमंडला होत्था । तं जहा–उत्तमपुरिसा मज्झिमपुरिसा पहाणपुरिसा ओयंसी तेयंसी वच्चंसी जसंसी छायंसी कंता सोमा सुभगा पियदंसणा सुरूवा सुहसीला सुहाभिगमसव्वजणणयणकंता ओहबला अतिबला महाबला अनिहता अपराइया सत्तुमद्दणा रिपुसहस्समाणमहणा साणुक्कोसा अमच्छरा अचपला अचंडा मियमंजुलपलावहसियगंभीरमधुरपडिपुण्णसच्चवयणा अब्भुवगयवच्छला सरण्णा लक्खणवंजणगुणोववेआ माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगा ससिसोम्मागारकंतपियदंसणा अमरिसणा पयंडदंडप्पयारा गंभीरदरिसणिज्जा तालद्धओव्विद्धगरुलकेऊ महाधणुविकड्ढया महासत्तसागरा दुद्धरा धणुद्धरा धीरपुरिसा जुद्धकित्ति–

* " ऋषभो वृषभः, श्रेयान् श्रेयांसः, स्यादनन्तजिदनन्तः ।
सुविधिस्तु पुष्पदन्तः, मुनिसुव्रतसुव्रतौ तुल्यौ ॥ २९ ॥
अरिष्टनेमिस्तु नेमिः, वीरश्चरमतीर्थकृत् ।
महावीरो वर्द्धमानो, देवार्यो ज्ञातनन्दनः ॥३०॥"
इत्यभिधानचिन्तामणौ पर्यायवाचकाः ।

पुरिसा विउलकुलसमुब्भवा महारयणविहाडगा अद्धभरहसामी सोमा रायकुलवंसतिलया अजिया अजियरहा हलमुसलकणकपाणी संखचक्कगयसत्तिनंदगधरा पवरुज्जलसुकंतविमलगोत्थुभतिरीडधारी कुंडलउज्जोइयाणणा पुंडरीयणयणा एकावलिकंठलगियवच्छा सिरिवच्छसुलंछणा वरजसा सव्वोउयसुरभिकुसुमरचितपलंबसोभंतकंतविकसंतचित्तवरमालरइयवच्छा अट्ठसयविभत्तलक्खणपसत्थसुंदरविरइयंगमंगा मत्तगयवरिंदललियविक्कमविलसियगई सारयनवत्थणियमहुरगंभीरकुंचनिग्घोसदुंदुभिस्सरा कडिसुत्तगनीलपीयकोसेज्जवाससा पवरदित्ततेया नरसीहा नरवई नरिंदा नरवसहा मरुयवसभकप्पा अब्भहियरायतेयलच्छीपदिप्पमाणा नीलगपीयगवसणा दुवे दुवे रामकेसवा भायरो होत्था। तं जहा-तिविट्ठु य० जाव कण्हे। अपलो० जाव रामे य अपच्छिमे।

बलदेववासुदेवानां पूर्वभवनामानि-

एएसि णं णवण्हं बलदेववासुदेवाणं पुव्वभविया नव नामधेज्जा होत्था। तं जहा-

" विसभूई पव्वयए, धणदत्त समुद्ददत्त इसिवाले।
पियमित्त ललियमित्ते, पुणव्वसू गंगदत्ते य ॥ ५२ ॥
एयाइं नामाइं, पुव्वभवे आसि वासुदेवाणं।"
" एत्तो बलदेवाणं, जहक्कमं कित्तइस्सामि ॥ ५३ ॥
विसनंदी य सुबंधू, सागरदत्ते असोग ललिए य।
वाराह धम्मसेणे, अपराइए रायललिए य ॥ ५४ ॥"

एतेषां पूर्वभवधर्माऽऽचार्याः-

एएसि णं नवण्हं बलदेववासुदेवाणं पुव्वभविया नव धम्मायरिया होत्था। तं जहा-

" संभूए य सुभद्दे, सुदंसणे सेय कण्हे गंगदत्ते अ।
सागर समुद्दनामे, दुमसेणे णवमिए होइ ॥ ५५ ॥
धम्माऽऽयरिया कित्ती-पुरिसाणं वासुदेवाणं।
पुव्वभवे एआसि, जत्थ नियाणाइँ कासी य ॥५६॥"

एतेषां निदानभूमयः-

एएसि णं नवण्हं वासुदेवाणं पुव्वभवे नव नियाणभूमीओ होत्था। तं जहा-महुरा० जाव हत्थिणाउरं च।

निदानकारणानि-

एतेसि णं नवण्हं वासुदेवाणं नव नियाणकारणा होत्था। तं जहा-गावी जूए० जाव माउआ।

एतेषां प्रतिशत्रवः-

एएसि णं नवण्हं वासुदेवाणं नव पडिसत्तू होत्था। तं जहा-आसग्गीवे० जाव जरासंधे० जाव सचक्केहिं।

के क यान्तीत्याह-

" एक्को य सत्तमीए, पंच य छट्ठीएँ पंचमीएक्को।
एक्को य चउत्थीए, कण्हो पुण तच्चपुढवीए ॥ ५७ ॥
अणिदाणकडा रामा, सव्वे वि य केसवा नियाणकडा।
उड्ढंगामी रामा, केसव सव्वे अहोगामी ॥ ५८ ॥
अट्ठंतकडा रामा, एगो पुण बंभलोयकप्पम्मि।
एक्को से गब्भवसही, सिज्झिस्सइ आगमिस्सेणं ॥५९॥"

(जंबुद्दीवेत्यादि) दशाराणां वासुदेवानां मण्डलानि बलदेववासुदेवद्वयरूपलक्षणाः समुदाया दशारमण्डलानि, अत एव "दुवे दुवे रामकेसव त्ति" वक्ष्यति। दशारमण्डलाव्यतिरिक्तत्वाच्च बलदेववासुदेवानां दशारमण्डलानीति पूर्वमुद्दिश्यापि दशारमण्डलव्यक्तिभूतानां तेषां विशेषणार्थमाह--तत्थेत्यादि। तत्थेति बलदेववासुदेवस्वरूपोपन्यासाऽऽरम्भार्थः। केचित्तु दशारमण्डना इति। तत्र दशाराणां वासुदेवकुलीनप्रजानां मण्डनाः शोभाकारिणो दशारमण्डनाः। उत्तमपुरुषा इति। तीर्थकराऽऽदीनां चतुःपञ्चाशत्, उत्तमपुरुषाणां मध्यवर्तित्वाद् मध्यमपुरुषाः, तीर्थकरचक्रिणां प्रतिवासुदेवानां च बलाऽऽद्यपेक्षया मध्यवर्तित्वात्। प्रधानपुरुषास्तात्कालिकपुरुषाणां शौर्याऽऽदिभिः प्रधानत्वात्, ओजस्विनो मानसबलोपेतत्वात्, तेजस्विनो दीप्तशरीरत्वात्, वर्चस्विनः शारीरबलोपेतत्वात्, यशस्विनः पराक्रमं प्राप्य प्रसिद्धिप्राप्तत्वात्। (छायंसि त्ति) प्राकृतत्वात् छायावन्तः शोभायमानशरीराः, अत एव कान्ताः कान्तियोगात्, सौम्या अरौद्राऽऽकारत्वात्, सुभगा जनवल्लभत्वात्, प्रियदर्शनाः चक्षुष्यरूपत्वात्, सुरूपा समचतुरस्रसंस्थानत्वात्, शुभं सुखं वा सुखकरत्वात् शीलं स्वभावो येषां ते शुभशीलाः सुखशीला वा, सुखेनाभिगम्यन्ते सेव्यन्ते ये शुभशीलत्वादेव ते सुखाभिगम्याः, सर्वजननयनानां कान्ता अभिलाष्या ये ते तथा। ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः। ओघबलाः प्रवाहबलाः, अव्यवच्छिन्नबलत्वात्। अतिबलाः, शेषपुरुषबलानामतिक्रमात्। महाबलाः प्रशस्तबलाः, अनिहता निरुपक्रमाऽऽयुष्कत्वात्, युद्धे भूम्यामपातित्वात् अपराजिताः, तैरेव शत्रूणां पराजितत्वात्। एतदेवाऽऽह-शत्रुमर्दनाः, तच्छरीरतत्सैन्यकदर्थनात्। रिपुसहस्रमानमथनाः, तदभिलषितकार्यविघटनात्। सानुक्रोशाः, प्रणतेष्वद्रोहकत्वात्। अमत्सराः, परगुणलवस्याऽपि ग्राहकत्वात्। अचपला मनोवाक्कायस्थैर्यात्। अचण्डा निष्कारणप्रबलकोपरहितत्वात्। मिते परिमिते मञ्जुलः कोमलः प्रलापश्चाऽऽलापो हसितं च येषां ते मितमञ्जुलप्रलापहसिताः, गम्भीरमदर्शितरोषतोषशोकाऽऽदिविकारं मेघनादवत् मधुरं श्रवणसुखकरं प्रतिपूर्णमर्थप्रतीतिजनकं सत्यमवितथं वचनं वाक्यं येषां ते तथा। ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः। अभ्युपगतवत्सलाः, तत्समर्थनशीलत्वात्। शरण्याः त्राणकरणे साधुत्वात्। लक्षणानि मानाऽऽदीनि, वज्रस्वस्तिकचक्राऽऽदीनि वा, व्यञ्जनानि तिलकमषाऽऽदीनि, तेषां गुणा महर्द्धिप्राप्त्यादयः, तैरुपेताः*शर्कराऽऽदिदर्शनादुपपेता युक्ता लक्षणव्यञ्जनगुणोपपेताः। मानमुदकद्रोणपरिमाणशरीरता, कथम्?, उदकपूर्णायां द्रोण्यां निविष्टे पुरुषे यज्जलं ततो निर्गच्छति तद्यदि द्रोणप्रमाणं स्यात्तदा स पुरुषो मानप्राप्त इत्यभिधीयते। उन्मानमर्द्धभारपरिमाणता, कथम्?, तुलाऽऽरोपितस्य पुरुषस्य यद्यर्द्धभारस्तौल्यं भवति तदाऽसावुन्मानप्राप्त उच्यते। प्रमाणमष्टोत्तरशतमङ्गुलानामुच्छ्रयः। मानोन्मानप्रमाणैः प्रतिपूर्णमन्यूनं, सुजातभागभागानां पालनविधिना, सर्वाङ्गसुन्दरं निखिलावयवप्रधानमङ्गं शरीरं येषां ते तथा। शशिवत् सौम्याऽऽकारमरौद्रमबीभत्सं

* शर्कराऽऽदिगणस्थत्वात्।

वा कान्तं दीप्तं प्रियं जनानां प्रमोदोत्पादकं दर्शनं रूपं येषां ते तथा । (अमरिसण त्ति) अमर्षणाः प्रयोजनेष्वनलसाः, अमर्षणा वा अपराधिष्वपि कृतक्षमाः । प्रकाण्ड उत्कटो दण्डप्रकार आज्ञाविशेषो वा येषां ते तथा । अथवा-प्रचण्डो दुःसाध्यसाधकत्वाद्दण्डप्रचारः सैन्यविचरणं येषां ते तथा । गम्भीरा अलक्ष्यमाणान्तर्वृत्तित्वेन दृश्यन्ते ये ते गम्भीरदर्शनीयाः । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । प्रचण्डदण्डप्रचारेण ये गम्भीरा दृश्यन्ते । तथा तालो वृक्षविशेषो ध्वजा येषां ते तालध्वजाः बलदेवाः । उद्विद्ध उच्छ्रितो गरुडलाञ्छितः केतुर्ध्वजो येषां ते उद्विद्धगरुडकेतवो वासुदेवाः। तालध्वजाश्च उद्विद्धगरुडकेतवश्च तालध्वजोद्विद्धगरुडकेतवः । महाधनुर्विकर्षकाः, महाप्राणत्वात् महासत्त्वलक्षणजलस्य सागरा इव सागरा आश्रयत्वान्महासत्त्वसागराः । दुर्द्धरा रणाङ्गणे-तेषां प्रहरतां केनाऽपि धान्विना धारयितुमशक्यत्वात् । धनुर्धराः कोदण्डप्रहरणाः। धीरेष्वेवैते पुरुषाः पुरुषकारवन्तो, न कातरेष्विति धीरपुरुषाः । युद्धजनिता या कीर्तिस्तत्प्रधानाः पुरुषा युद्धकीर्तिपुरुषाः । विपुलकुलसमुद्भवा इति प्रतीतम् । महारत्नं वज्रं तस्य महाप्राणतया विघटका अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां चूर्णका महारत्नविघटकाः, वज्रं हि अधिकरण्यां धृत्वा अयोघनेनाऽऽस्फोटयते, न च भिद्यते, तदेव जिन्दन्तीति दुर्भेदं तदिति । अथवा महनीया आरचना सागरशकटकव्यूहाऽऽदिना प्रकारेण सिसंग्रामयिषोर्महासैन्यस्य, तां रणरङ्गरसिकतया महाबलतया च विघटयन्ति वियोजयन्ति ये ते महारचनाविघटकाः । पाठान्तरेण तु-महारणविघटकाः । अर्द्धभरतस्वामिनः। सौम्या नीरुजः। राजकुलवंशतिलकाः। अजिताः। अजितरथाः। हलमुशलकणकपाणयः । तत्र हलमुशले प्रतीते, ते प्रहरणतया पाणौ हस्ते येषां ते बलदेवाः । येषां तु कणका बाणाः पाणौ ते शार्ङ्गधन्वानो वासुदेवाः । शङ्खश्च पाञ्चजन्याभिधानः, चक्रं तु सुदर्शननामकं, गदा च कौमोदकीसंज्ञा लकुटविशेषः, शक्तिश्च त्रिशूलविशेषः, नन्दकश्च नन्दकाभिधानः खड्गः, तान् धारयन्तीति शङ्खचक्रगदाशक्तिनन्दकधराः वासुदेवाः। प्रवरो वरप्रभावयोगात्, उज्ज्वलः शुक्लत्वात् स्वच्छतया वा, सुकान्तः कान्तियोगात् । पाठान्तरे-सुकृतः सुपरिकर्मितत्वात् । विमलो मलवर्जितत्वात्, (गोत्थुभ त्ति) कौस्तुभाभिधानो यो मणिविशेषस्तं, (तिरीडं ति) किरीटं च मुकुटं धारयन्ति ये ते । तथा कुण्डलोद्द्योतिताननाः। पुण्डरीकवन्नयने येषां ते तथा । एकावली आभरणविशेषः, सा कण्ठे ग्रीवायां लगिता विलम्बिता सती वक्षसि उरसि वर्तते येषां ते एकावलीकण्ठलगितवक्षसः । श्रीवत्साभिधानं सुष्ठु लाञ्छनं महापुरुषत्वसूचकं वक्षसि येषां ते श्रीवत्ससुलाञ्छनाः । वरयशसः, सर्वत्र विख्यातत्वात् । सर्वर्तुकानि सर्वर्तुसम्भवानि सुरभीणि सुगन्धीनि यानि कुसुमानि तैः सुरचिता कृता या प्रलम्बा आप्रपदीना (सोभंत त्ति) शोभमाना कान्ता कमनीया विकसन्ती फुल्लन्ती चित्रा पञ्चवर्णा वरा प्रधाना माला स्रक् रचिता निहिता, रतिदा वा सुखकारिका, वक्षसि येषां ते सर्वर्तुकसुरभिकुसुमरचितप्रलम्बशोभमानकान्तविकसच्चित्रवरमालारचितवक्षसः । तथा अष्टशतसंख्यानि विभक्तानि विविक्तरूपाणि यानि लक्षणानि चक्राऽऽदीनि तैः प्रशस्तानि मङ्गल्यानि सुन्दराणि च मनोहराणि विरचितानि विहितानि (अंगमंग त्ति) अङ्गोपाङ्गानि शिरोऽङ्गुल्यादीनि येषां तेऽष्टशतविभक्तलक्षणप्रशस्तसुन्दरविरचिताङ्गोपाङ्गाः । तथा मत्तगजवरेन्द्रस्य यो ललितो मनोहरो विक्रमः सञ्चरणं तद्वद्विलसिता संजातविलासा गतिर्गमनं येषां ते मत्तगजवरेन्द्रललितविक्रमविलसितगतयः । तथा शरदि भवः शारदः, स चासौ नवं स्तनितं रसितं यस्मिन्निर्घोषे स नवस्तनितः, स चेति समासः। स चासौ मधुरो गम्भीरश्च यः क्रौञ्चनिर्घोषः पक्षिविशेषनिनादः, तद्वद् दुन्दुभिस्वरवच्च स्वरो नादो येषां ते शारदनवस्तनितमधुरगम्भीरक्रौञ्चनिर्घोषदुन्दुभिस्वराः । इह च शरत्काले हि क्रौञ्चा माद्यन्ति, मधुरध्वनयश्च भवन्तीति शारदग्रहणम् । तथा पीतपानीयेन घनस्य प्रवृत्तौ तद्गर्जादमनोज्ञता तस्य स्यादिति नवस्तनितग्रहणम्, स्वरूपोपदर्शनार्थं मधुरगम्भीरग्रहणमिति । तथा कटीसूत्रमाभरणविशेषः, तत्प्रधानानि नीलानि बलदेवानां, पीतानि वासुदेवानां कौशेयकानि वस्त्रविशेषजातानि वासांसि वसनानि येषां ते कटीसूत्रकनीलपीतकौशेयवाससः। प्रवरदीप्ततेजसो वरप्रभावतया वरदीप्ततया च । नरसिंहा विक्रमयोगात् । नरपतयः तन्नायकत्वात् । नरेन्द्राः परमैश्वर्ययोगात् । नरवृषभा उत्क्षिप्तकार्यं भारनिर्वाहकत्वात् । मरुद्वृषभकल्पाः देवराजोपमाः, अभ्यधिकं शेषराजेभ्यः राजतेजोलक्ष्म्या दीप्यमानाः । नीलकपीतकवसना इति पुनर्भणनं निगमनार्थम् । कथं ते नवेत्याह-(दुवे दुवे इत्यादि)एवं च नववासुदेवनवबलदेवा इति । (तिविट्ठु य त्ति) यावत्करणात्-

" विएहु तिविट्ठु दुविट्ठु य, सयंभु पुरिसुत्तमे पुरिससीहे ।
तह पुरिसपुंडरीए, दत्ते नारायणे कएहे ॥ १ ॥
अयले विजए भद्दे, सुप्पभे य सुदंसणे ।
आनंदे णंदणे पउमे, रामे यावि अपच्छिमे " ॥ २ ॥ इति ।

(कित्तीपुरिसाणं ति) कीर्तिप्रधानपुरुषाणामिति ।

" महुरा य कणगवत्थू, सावत्थी पोयणं च रायगिहं ।
कायंदी कोसंबी, मिहिलपुरी हत्थिणपुरं च ॥ १ ॥ "

तथा-

" गावि जुए संगामे, तह इत्थिपराइओ रंगे ।
भज्जाणुराग गोठी, परइड्ढी माउयाई य " ॥ १ ॥ इति ।

तथा-

" अस्सग्गीवे तारए, मेरए महुकेढवे निसुंभे य ।
बलि पहराए तह रा-वणे य नवमे जरासंधो ॥ १ ॥ "
" एए खलु पडिसत्तू, कित्तीपुरिसाण वासुदेवाणं ।
सव्वे वि चक्कजोही, सव्वे वि हया सचक्केहिं ॥ २ ॥
अणियाणकडा रामा, सव्वे वि य केसवा नियाणकडा ।
उड्ढंगामी रामा, केसव सव्वे अहोगामी ॥ ३ ॥ " इति ।

(आगमिस्सेणं ति)आगमिष्यता कालेन । "आगमिस्साणं ति" पाठान्तरम् । आगामिष्यतां भविष्यतां मध्ये सेत्स्यन्तीति । स० ।

(८४) तीर्थोत्पत्तिः--

तेवीसाए पढमे, बीए वीरस्स पुण समोसरणे ।
संघो१ पढमगणहरो२, सुयं च३ तित्थं समुप्पन्नं ॥२०६॥

त्रयोविंशतिजिनानां प्रथमसमवसरणे तीर्थं समुत्पन्नम्, वीरस्य पुनर्द्वितीये समवसरणे तीर्थं समुत्पन्नम् । तीर्थं नाम प्रवचनं, तच्च निराधारं न भवति, तेन साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपः चतुर्वर्णः संघः । तथा प्रथमगणधर आद्यगणभृत्, श्रुतं द्वादशाङ्गीरूपम, एतत्त्रयरूपं तीर्थं समुत्पन्नम् । सत्त० १०० द्वार । आ० म० ।

(८५) निर्गमनकालं प्रतिपादयन्नाह-

पासो अरिट्ठनेमी, सेज्जंसो सुमति मल्लिनाथो य ।
पुव्वएहे निक्खंता, सेसा पुण पच्छिमएहम्मि ॥२१०॥

पार्श्वनाथोऽरिष्टनेमिः, श्रेयांसः, सुमतिर्मल्लिनामा, एते पञ्च तीर्थकृतः पूर्वाह्णे निष्क्रान्ताः। शेषाः पुनः श्रीऋषभस्वामिप्रभृतयः पश्चिमाह्णे निष्क्रान्ताः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

(८६) दर्शननामानि, तदुत्पत्तिं चाऽऽह-

जइणं सइवं संखं, वेअंतिअनाहिआण बुद्धाणं ।
वइसेसिआण वि मयं, इमाइँ सत्त दरिसणाइँ कमा ॥३३९॥
तिन्नि उसहस्स तित्थे, जायाइं सीयलस्स ते दुन्नि ।
दरिसणमेगं पास-स्स सत्तमं वीरतित्थम्मि ॥ ३४० ॥

(जइणं सइवं संखं) जैनं १ शैवं २ साङ्ख्यम ३ (वेअंतिअनाहिआण बुद्धाणं ति) वेदान्तिकानां मतं ४ नास्तिकानां मतं ५ बौद्धानां मतम् ६(वइसेसिआण वि मयं) वैशेषिकानामपि मतम७,(इमाइँ सत्त दरिसणाइँ कमा) इमानि सप्त दर्शनानि क्रमादनुक्रमेण भवन्तीति गाथाऽर्थः ॥३३९॥ (तिन्नि उसहस्स तित्थे जायाइं ति) पूर्वगाथास्थवर्णक्रमशब्दस्येहसम्बन्धादाद्यानि त्रीणि दर्शनानि ऋषभतीर्थे जातानि ३ । (सीयलस्स ते दुन्नि) शीतलस्य तीर्थे ते द्वे दर्शने, तदग्रे चतुर्थपञ्चमे जाते ५, (दरिसणमेगं पासस्स) एकं तदग्रेतनं षष्ठं दर्शनं पार्श्वस्य तीर्थे ६, (सत्तमं वीरतित्थम्मि) सप्तमं दर्शनं वीरतीर्थे संजातमिति गाथाऽर्थः ॥ ३४० ॥ सत्त० १६८ द्वार ।

दीक्षानक्षत्राणि च्यवनवत् । सत्त० ६० द्वार ।

(८७) व्रतपर्यायः-

उसभस्स पुव्वलक्खं, पुव्वंगूणमजियस्स तं चेव ।
चउरंगूणं लक्खं, पुणो पुणो जाव सुविहि त्ति ॥
(अस्मिन्नेव शब्दे २२६४ पृष्ठे पूर्वं केवलिपर्याये व्याख्यातैषा)
पणवीसं तु सहस्सा, पुव्वाणं सीयलस्स परियाओ ।
लक्खाइँ एक्कवीसं, सिज्जंसजिणस्स वासाणं ॥
चउपन्नं पन्नारस, तत्तो अद्धट्ठमाइँ लक्खाइं ।
अड्डाइज्जाइँ तत्तो, वाससहस्साइँ पणवीसं ॥
तेवीसं च सहस्सा, सयाणि अद्धट्टमाणि य हवंति ।
इगवीसं च सहस्सा, वाससऊणा य पणपन्नं ॥
अद्धट्ठमा सहस्सा, अड्डाइज्जाइँ सत्त य सयाइं ।
सयरी विचत्तवासा, दिक्खाकालो जिणिंदाणं ॥

पञ्चविंशतिः पूर्वाणां सहस्राणि शीतलस्य पर्यायो व्रतपर्यायः। श्रेयांसजिनस्य वर्षाणां लक्षाण्येकविंशतिः । वासुपूज्यस्य चतुष्पञ्चाशद्वर्षलक्षाणि । विमलनाथस्य पञ्चदशवर्षलक्षाणि । ततोऽनन्तरमनन्तजितोऽर्द्धाष्टमानि, सार्द्धानि सप्तवर्षलक्षाणि व्रतपर्यायः । धर्मनाथस्यार्द्धतृतीयानि वर्षशतसहस्राणि । शान्तिनाथस्य पञ्चविंशतिर्वर्षसहस्राणि । कुन्थुनाथस्य त्रयोविंशतिवर्षसहस्राणि शतानि चार्द्धाष्टमानि । अरस्वामिन एकविंशतिर्वर्षसहस्राणि । मल्लिनाथस्य वर्षशतोनानि पञ्चपञ्चाशद्वर्षसहस्राणि । मुनिसुव्रतस्वामिनोऽर्द्धाष्टमानि वर्षसहस्राणि । नमिनाथस्यार्द्धतृतीयानि वर्षशतानि । अरिष्टनेमेः सप्त शतानि । पार्श्वनाथस्य सप्ततिर्वर्षाणाम् । वर्द्धमानस्वामिनो द्वाचत्वारिंशत् । एष यथाक्रमं जिनेन्द्राणामृषभाऽऽदीनां दीक्षाकालो व्रतपर्यायः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दीक्षातरुः-

................, णिक्खंताऽसोगतरुतले सव्वे । (१५७)

सर्वे २४ जिना अशोकतरोरधो निष्क्रान्ताः। सत्त० ६७ द्वार ।

(८८) संप्रति यो येन तपसा निष्क्रान्तस्तदभिधित्सुराह-

सुमइऽत्थ निच्चभत्ते-ण निग्गतो वासुपुज्ज(जिणो)चोत्थेण।
पासो मल्ली वि य अ-ट्ठमेण सेसा उ छट्ठेणं ॥ ३८७ ॥

सुमतिरत्र-अस्यामवसर्पिण्यां चतुर्विंशतितीर्थकृत्सु मध्ये नित्यभक्तेनानवरतभक्तेन निष्क्रान्तः । वासुपूज्यो जिनश्चतुर्थेन, एकेनोपवासेनेत्यर्थः । पार्श्वनाथो मल्लिरपि चाष्टमेन त्रिभिरुपवासैः । शेषास्तु ऋषभस्वामिप्रभृतयः षष्ठेन द्वाभ्यामुपवासाभ्यां निष्क्रान्ताः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । ती० । स० ।

(८९) दीक्षापरिवारः-

एगो भगवं वीरो, पासो मल्ली य तिहिँ तिहिँ सएहिं ।
भगवं पि वासुपुज्जो, छहिँ पुरिससएहिँ निक्खंतो ॥३८८॥
उग्गाणं भोगाणं, रायण्णाणं च खत्तियाणं च ।
चउहिँ सहस्सेहिँ उसहो, सेसा उ सहस्सपरिवारा ॥३८९॥

तत्र एको भगवान् वीरो वर्द्धमानस्वामी प्रव्राजितः, न केनाऽपि सह तेन व्रतं गृहीतमित्यर्थः । पार्श्वनाथो, भगवांश्च मल्लिस्त्रिभिस्त्रिभिः शतैः सह व्रतमग्रहीत् । अत्र च मल्लिस्वामी स्त्रीणां पुरुषाणां च प्रत्येकं त्रिभिस्त्रिभिः शतैः सह प्रव्राजितः, ततो मिलितानि षट् शतानि भवन्ति । यत्सूत्रे त्रिभिः शतैरित्युक्तं तत्र केवलाः स्त्रियः पुरुषा वा गृहीताः, द्वितीयः पुनः पक्षः सन्नपि न विवक्षित इति सम्प्रदायः। स्थानाङ्गटीकायामप्युक्तम्-मल्लिजिनः स्त्रीशतैरपि त्रिभिरिति । भगवानपि वासुपूज्यः षड्भिः पुरुषशतैः सह निष्क्रान्तः, संसारकान्ताराभिर्गतः, प्रव्राजित इति यावत् ॥ ३८८ ॥ ("वासुपुज्जे णं अरहा छहिं पुरिससएहिं मुंडे भवित्ता।" स्था० ६ ठा०) उग्राणामारक्षकस्थानीयानां,भोगानां गुरुप्रायाणां,राजन्यानां मित्रप्रायाणां, क्षत्रियाणां सामन्ताऽऽदीनां सर्वसङ्ख्यया चतुर्भिः सहस्रैः सह ऋषभजिनः प्रथमो जिनो निष्क्रान्तः, व्रतं जग्राहेत्यर्थः । शेषास्तु वीरपार्श्वमल्लिवासुपूज्यनाभेयव्यतिरिक्ता जिना अजिताऽऽदय एकोनविंशतिः, सहस्रपरिवाराः पुरुषसहस्रसहिताः प्राव्राजिषुरिति ॥ ३८९ ॥ प्रव० ३१ द्वार । आ० म० । स० । सत्त० ।

(९०) दीक्षापुरम्-

उसभो अ विणीयाए, बारवईए अरिट्ठवरनेमी ।
अवसेसा तित्थयरा, निक्खंता जम्मभूमीसु ॥

ऋषभस्वामी भगवान् विनीतायां नगर्यां निष्क्रान्तः; द्वारवत्यामरिष्टनेमिः; अवशेषा अजितस्वामिप्रभृतयस्तीर्थकरा निष्क्रान्ता जन्मभूमिषु; यत्र जातास्तत्र निष्क्रान्ता इति भावः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । स० । सत्त० ।

दीक्षासमये मनःपर्यवज्ञानम्-

................, जायं च चउत्थ मणनाणं ॥ (१५८)

दीक्षायां गृहीतायां तस्मिन् समये सर्वेषां जिनानां चतुर्थं मनःपर्यवज्ञानं जातम् । सत्त० ७१ द्वार ।

(७९) दीक्षामासादयः-

जम्मं व मासपक्खा, नवरं सुव्वयस्स सुद्धफग्गुणिओ ।
नमिवीराण वयम्मी, कसिणा आसाढमग्गसिरा ॥ २४६ ॥
अट्ठमि नवमी पुन्निम, दुदसि नवमि तेरसी तिगं छट्ठी ।
बारसि तेरसि पनरसि, चउत्थि चउद्दसि य तेरसिया ॥ २४७ ॥
चउद्दसि पंचमिगारसि, एगारसि बारसिय नवमि छट्ठी य ।
एगारसि दसमि तिही, वयम्मि उडुरासि पुव्वं व ॥ २४८ ॥

व्रतमासाऽऽदिनक्षत्राणि राशयश्च कथ्यन्ते । (जम्मं व मासपक्ख त्ति) जन्मवद् मासपक्षाः-जन्मकल्याणके ये मासाः पक्षाश्च कथिताः, दीक्षाकल्याणकेऽपि त एव ज्ञेया इत्यर्थः । (नवरं ति) एतावान् विशेषो ज्ञेयः-(सुव्वयस्स सुद्धफग्गुणिओ त्ति) सुव्रतस्य मुनिसुव्रतस्य व्रते फाल्गुनिको मासः । (नमिवीराण वयम्मि त्ति) नमिजिनवीरजिनयोर्व्रते (कसिणा आसाढमग्गसिर त्ति) कृष्णावाषाढमार्गशीर्षौ, तत्र नमिजिनस्य व्रते कृष्ण आषाढमासः । श्रीवीरजिनस्य व्रते कृष्णो मार्गशीर्षमासः । इति गाथार्थः ॥२४६॥ (अट्ठमि नवमी पुन्निम) अष्टमी, नवमी, पूर्णिमा (दुदसि नवमि तेरसी तिगं छट्ठी) द्वादशी, नवमी, त्रयोदशी त्रिकम्, षष्ठी (बारसि तेरसि पनरसि) द्वादशी १० त्रयोदशी ११ अमावास्या १२ (चउत्थि चउद्दसि य तेरसिया) चतुर्थी १३ चतुर्दशी च १४ त्रयोदशिका १५ । इति गाथार्थः ॥२४७॥ (चउद्दसि पंचमिगारसि) चतुर्दशी १६ पञ्चमी १७ एकादशी १८ (एगारसि बारसि नवमि छट्ठी) एकादशी १९ द्वादशी २० नवमी २१ षष्ठी च २२ (एगारसि दसमि तिही) एकादशी २३ दशमी २४ तिथिः । (वयम्मि उडुरासि पुव्वं व त्ति) व्रते नक्षत्रराशयः पूर्ववत् । "इय चवणरिक्खरासी, जम्मे दिक्खा वि णाणे वि" इति पूर्वमुक्तत्वात् ये च्यवनसमये नक्षत्रराशयो, व्रतेऽपि त एव ज्ञेयाः । इति गाथार्थः ॥ २४८ ॥ सत्त० ५९ द्वार ।

दीक्षाशिबिकावर्णनवत् । सत्त० ६१ द्वार ।

दीक्षालिङ्गम्-

न उ नाम अन्नलिंगे, न य गिहिलिंगे कुलिंगे वा ॥

सर्वे एव तीर्थकृतस्तीर्थकरलिङ्ग एव निष्क्रान्ताः, न तु नाम अन्यलिङ्गे, गृहिलिङ्गे, कुलिङ्गे वा । आ० म० १ अ० १ खण्ड । (अन्यलिङ्गाऽऽदयोऽन्यत्र)

दीक्षालोचमुष्टिः-

कयपंचमुट्ठिलोआ, उसहो चउमुट्ठिकयलोओ । (२५०)

कृतपञ्चमुष्टिलोचास्त्रयोविंशतिर्जिनाः, ऋषभः चतुर्मुष्टिकृतलोचो जातः । सत्त० ६६ द्वार ।

दीक्षावनानि-

उसभो सिद्धत्थवण-म्मि वासुपुज्जो विहारगिहगम्मि ।
धम्मो य वप्पगाए, नीलगुहाए मुणी नाम ॥
आसमपयम्मि पासो, वीरजिणिंदो य नायसंडम्मि ।
अवसेसा पव्वइया, सहसंबवणम्मि उज्जाणे ॥

ऋषभः-ऋषभस्वामी सिद्धार्थवने उद्याने निष्क्रान्तः, वासुपूज्यो विहारगृहके विहारगृहकाभिधाने उद्याने; धर्मो धर्मस्वामी भगवान् वप्रगायां वप्रगाभिधाने उद्याने । तथा च वक्ष्यति- " सेसाण केवलाइं, जेसुज्जाणेसु पव्वइया । " एवं नीलगुहायां नीलगुहाभिधाने उद्याने मुनिनामा मुनिसुव्रतनामा तीर्थकरो निष्क्रान्तः । तथा आश्रमपदे आश्रमपदाभिधाने उद्याने पार्श्वनाथो निष्क्रान्तः; वीरजिनेन्द्रो ज्ञातखण्डे ज्ञातखण्डाभिधाने उद्याने । अवशेषा अजितस्वामिप्रभृतयस्तीर्थकराः सहस्राम्रवणे निष्क्रान्ताः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

यस्मिन्वयसि निष्क्रान्तास्तदभिधित्सुराह-

वीरो अरिट्ठनेमी, पासो मल्ली य वासुपुज्जो अ ।
पढमवए पव्वइया, सेसा पुण मज्झिमवयम्मि ॥

वीरो महावीरः, अरिष्टनेमिः, पार्श्वनाथो, मल्लिर्वासुपूज्य इत्येते पञ्च तीर्थकृतः प्रथमवयसि कुमारत्वलक्षणे प्रव्रजिताः । शेषाः पुनः ऋषभस्वामिप्रभृतयो मध्यमे वयसि यौवनलक्षणे वर्तमानाः प्रव्रजिताः । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

(९२) दीक्षाशिबिका-

एएसि चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं सीयाओ होत्था । तं जहा-

"सीया सुदंसणा सु-प्पभा य सिद्धत्थ सुप्पसिद्धा य ।
विजया य वेजयंती, जयंति अपराजिया चेव ॥ १४ ॥
अरुणप्पभ चंदप्पभ, सूरप्पभ अग्गिसप्पभा चेव ।
विमला य पंचवण्णा, सागरदत्ता य णागदत्ता य ॥ १५ ॥
अभयकरा निव्वुइकरि, मणोरमा तह मणोहरा चेव ।
देवकुरु उत्तरकुरा, विसाल चंदप्पभाई य ॥ १६ ॥
एआओ सीआओ, सव्वेसिं चेव जिणवरिंदाणं ।
सव्वजगवच्छलाणं, सव्वोउयसुहयछायाए ॥ १७ ॥
पुव्विं ओक्खित्ता मणु-जेहिं सा हट्ठरोमकूवेहिं ।
पच्छा वहंति सीयं, असुरिंदसुरिंदनागिंदा ॥ १८ ॥
चलचवलकुंडलधरा, सच्छंदविउव्वियाभरणधारी ।
सुरअसुरवंदिआणं, वहंति सीअं जिणिंदाणं ॥ १९ ॥
पुरओ वहंति देवा, नागा पुण दाहिणम्मि पासम्मि ।
पच्चत्थिमेण असुरा, गरुला पुण उत्तरे पासे" ॥ २० ॥

(सव्वोउयसुहयछायाए त्ति) सर्वर्तुकया सर्वेषु शरदादिषु ऋतुषु सुखदया छायया प्रभया आतपाभावलक्षणया वा, युक्ता इति शेषः । तथा-(सा हट्ठरोमकूवेहिं त्ति) सा शिबिका यस्यां जिनोऽध्यारूढः, हृष्टरोमकूपैरुद्धुषितरोमभिरित्यर्थः । तथा (चलचवलकुंडलधर त्ति) चलाश्च ते चपलकुण्डलधराश्चेति वाक्यम् । तथा स्वच्छन्देन स्वरुचया विकुर्वितानि यान्याभरणानि मुकुटाऽऽदीनि तानि धारयन्ति ये ते तथा । असुरेन्द्राऽऽदय इति योगः । (गरुल त्ति) गरुडध्वजाः सुपर्णकुमारा इत्यर्थः । स० । सत्त० ।

(९३) अथ षट्पञ्चाशद्दिक्कुमारीस्थानान्याह । दिक्कुमारिका नाम-दिक्कुमारभवनपतिविशेषजातिजा देव्यः-

मेरुअहउड्ढलोया, चउदिसि रुयगाउ अट्ठ पत्तेअं ।
चउ विदिसिमज्झरुयगा, इंती छप्पन्न दिसिकुमरी ॥ १०१ ॥

(मेरुअहउड्ढलोय त्ति) मेरोरधोलोकात् १, ऊर्ध्वलोका-

त् २ । तत्र अधोलोके गजदन्तगिरिचतुष्टयस्याधस्तादष्टानां दिक्कुमारीणां भवनानि सन्ति । एतच्च सामान्यमात्रेणैव स्थानमुक्तम् । विशेषेण तु संप्रदायगम्यम् । तथा-ऊर्द्ध्वलोके मेरोरुपरि नन्दनवने अष्टौ कूटानि सन्ति । तेषामुपरि अष्टानां दिक्कुमारीणां भवनानि सन्ति । (चउदिसि रुयगाउ त्ति) चतुर्दिग्वर्तिरुचकात् रुचकाद्रेर्दिक्चतुष्टयादित्यर्थः । (अट्ठ पत्तेयं ति) एतेभ्यः षट्स्थानकेभ्यः प्रत्येकमष्टावष्टौ समागच्छन्ति । एवमष्टचत्वारिंशद् दिक्कुमार्यो जाताः । (चउ विदिसिमज्झरुयग त्ति) चतस्रो विदिग्रुचकात्, रुचकगिरिविदिग्भ्य इत्यर्थः । चतस्रो मध्यरुचकान्तात् रुचकद्वीपमध्यादित्यर्थः; (इंती उप्पन्न दिसिकुमरी) आगच्छन्ति एवं षट्पञ्चाशद् दिक्कुमार्यः । इति गाथार्थः ॥ १०१ ॥ सत्त० ३३ द्वार ।

अधोलोकवासिन्योऽष्टकुमार्यः-

जया णं एक्कमेक्के चक्कवट्टिविजए भगवंतो तित्थयरा समुप्पज्जंति, तेणं कालेणं तेणं समएणं अहोलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीओ महत्तरिआओ सएहिं सएहिं कूडेहिं सएहिं सएहिं भवणेहिं सएहिं सएहिं पासायवडेंसएहिं पत्तेअं पत्तेअं चउहिं सामाणिअसाहस्सीहिं चउहिं महत्तरिआहिं सपरिवाराहिं सत्तहिं अणीएहिं सत्तहिं अणीआहिवईहिं सोलसएहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अण्णेहि अ बहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं देवीहि अ सद्धिं संपरिवुडाओ महयाहयणट्टगीअवाइअ० जाव भोगभोगाइं भुंजमाणीओ विहरंति । तं जहा-

"भोगंकरा १ भोगवई २, सुभोगा ३ भोगमालिनी ४ ।
तोयधारा ५ विचित्ता य ६, पुप्फमाला ७ अणिंदिया" ॥ ८ ॥ १ ॥

(तेणं कालेणं इत्यादि) तस्मिन् काले संजबाजिनजन्मके भरतैरावतेषु तृतीयचतुर्थारकलक्षणे, महाविदेहेषु चतुर्थारकप्रतिभागलक्षणे, तत्र सर्वदाऽपि तदाद्यसमयसदृशकालस्य विद्यमानत्वात् । तस्मिन् समये सर्वत्राप्यर्द्धरात्रलक्षणे, तीर्थकराणां हि मध्यरात्र एव जन्मसंभवात् । अधोलोकवास्तव्याः, चतुर्णां गजदन्तानामधः समभूतलाद् नवशतयोजनरूपां तिर्यग्लोकव्यवस्थां विमुच्य प्रतिगजदन्तं द्विद्विभावेन तत्र भवनेषु वसनशीलाः । यत्तु गजदन्तानां षष्ठपञ्चमकूटेषु पूर्वं गजदन्तसूत्रे आसां वासः प्ररूपितः, तत्र क्रीडार्थमागमनं हेतुरिति, आसामपि चतुःशतयोजनाऽऽदिपञ्चशतयोजनाऽऽदिपञ्चशतयोजनपर्यन्तोच्चत्वगजदन्तगिरिगतं पञ्चशतिककूटगतप्रासादावतंसकवासित्वम् नन्दनवनकूटगतमेघङ्कराऽऽदिदिक्कुमारीणामिवोर्द्ध्वलोकवासित्वाऽऽपत्तिः । अथ प्रकृतं प्रस्तुमः- अष्टौ दिक्कुमार्यो दिक्कुमारा भवनपतिजातीयाः, महत्तरिकाः स्ववर्गेषु प्रधानतरिकाः, स्वकेषु स्वकेषु कूटेषु गजदन्ताऽऽदिगिरिवर्तिषु, स्वकेषु स्वकेषु भवनेषु भवनपतिवद् वाऽऽवासेषु, स्वकेषु स्वकेषु प्रासादावतंसकेषु स्वस्वकूटवर्तिक्रीडाऽऽवासेषु । सूत्रेषु च सप्तम्यर्थे तृतीया प्राकृतत्वात् । प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्भिः सामानिकानां दिक्कुमारिसदृशद्युतिविभवाऽऽदिकदेवानां सहस्रैः, चतसृभिश्च महत्तरिकाभिर्दिक्कुमारिकातुल्यविभवाऽऽदिभिस्ताभिरनतिक्रमणीयवचनाभिश्च स्वस्वपरिवारसहिताभिः, सप्तभिरनीकैर्हस्त्यश्वरथपदातिमहिषगन्धर्वनाट्यरूपैः, सप्तभिरनीकाधिपतिभिः, षोडशभिरात्मरक्षकदेवसहस्रैरित्यादिकं सर्वं विजयदेवाधिकार इव व्याख्येयम् । ननु कासाञ्चिद् दिक्कुमारीणां युक्त्या स्थानाङ्गे पल्योपमस्थितेर्भणनात् समानजातीयत्वेनासामपि तथाभूतायुषः संभाव्यमानत्वाद् भवनपतिजातीयत्वं सिद्धम्, तेन भवनपतिजातीयानां वानमन्तरजातीयपरिकरः कथं संगच्छते ?। उच्यते-एतासां महर्द्धिकत्वेन ये आज्ञाकारिणो व्यन्तरास्ते प्राह्या इति । अथवा-वानमन्तरशब्देनाऽत्र वनानामन्तरेषु चरन्तीति यौगिकार्थसंश्रयणाद् भवनपतयोऽपि वानमन्तरा इत्युच्यन्ते । उभयेषामपि प्रायो वनकूटाऽऽदिषु विहरणशीलत्वादिति सम्भाव्यते । तत्त्वं तु बहुश्रुतगम्यमिति सर्वं सुस्थम् । अथैतासां नामान्याह- (तं जहा इत्यादि) तद्यथा-"भोगंकरा" इत्यादि । रूपकमेतद् कण्ठ्यम् ।

एतासामासनानि चलन्ति-

तए णं तासिं अहोलोगवत्थव्वाणं अट्ठण्हं दिसाकुमारीणं महत्तरिआणं पत्तेअं पत्तेअं आसणाइं चलंति । तए णं ताओ अहोलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीओ महत्तरिआओ पत्तेअं पत्तेअं आसणाइं चलिआइं पासंति, पासित्ता ओहिं पउंजंति, पउंजित्ता भगवं तित्थयरं ओहिणा आभोएंति, आभोएत्ता अण्णमण्णं सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी-उप्पन्ने खलु भो ! जंबुद्दीवे भयवं तित्थयरे, तं जीयमेअं-तीअपच्चुप्पण्णमणागयाणं अहोलोगवत्थव्वाणं अट्ठण्हं दिसाकुमारीमहत्तरिआणं भगवओ तित्थयरस्स जम्मणमहिमं करित्तए, तं गच्छामो णं अम्हे वि भगवओ तित्थगरस्स जम्मणमहिमं करेमो त्ति कट्टु एवं वयंति, वइत्ता पत्तेअं पत्तेअं आभिओगिए देवे सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी ॥

अथैतास्वेवं विहरन्तीषु सतीषु किं जातमित्याह-(तए णमित्यादि) ततस्तासामधोलोकवास्तव्यानामष्टानां दिक्कुमारीणां महत्तरिकाणां प्रत्येकं प्रत्येकमासनानि चलन्तीति । अथैताः किं किमकार्षुरित्याह-(तए णमित्यादि) तत आसनप्रकम्पानन्तरं ता अधोवास्तव्या अष्टौ दिक्कुमार्यो महत्तरिकाः प्रत्येकं प्रत्येकमासनानि चलितानि पश्यन्ति, दृष्ट्वा चाऽवधिं प्रयुञ्जन्ति, प्रयुज्य भगवन्तं तीर्थकरमवधिना आभोगयन्ति, आभोग्य च अन्यमन्यं शब्दयन्ति, शब्दयित्वा च एवमवादिषुः । यदवादिषुस्तदाह-(उप्पन्ने इत्यादि) उत्पन्नः खलु भोः ! जम्बूद्वीपे भगवांस्तीर्थङ्करः, तज्जीतमेतत्कल्प एषोऽतीतप्रत्युत्पन्नानागतानामधोलोकवास्तव्यानामष्टानां दिक्कुमारीमहत्तरिकाणां भगवतो जन्ममहिमां कर्तुं, तद्गच्छामो वयमपि भगवतो जन्ममहिमां कुर्म इति कृत्वा, धातूनामनेकार्थत्वाभिप्रेत्य मनसा एवमनन्तरोक्तं वदन्ति, वदित्वा च प्रत्येकं प्रत्येकमाभियोगिकान् देवान् शब्दयन्ति, शब्दयित्वा चैवमवादिषुः ।

किमवादिषुरित्याह-

खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! अणेगखंभसयसण्णिविट्ठे

लीलट्ठिअ० एवं विमाणवण्णओ भाणिअव्वो० जाव जोअणविच्छिण्णे दिव्वे जाणविमाणे विउव्वेह, विउव्वित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह । तए णं ते आभिओगा देवा अणेगखंभसय० जाव पच्चप्पिणंति ।

(खिप्पामेव इत्यादि) भो देवानुप्रियाः ! क्षिप्रमेवाऽनेकस्तम्भशतसन्निविष्टानि लीलास्थितशालभञ्जिकानीत्येवमनेन क्रमेण विमानवर्णको भणितव्यः । स चायम्- "ईहामिगउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ते खंभुग्गयवरवइरवेइआपरिगयाभिरामे विज्जाहरजमलजुअलजंतजुत्ते विव अच्चीसहस्समालिणीए रूवगसहस्सकलिए भिसमाणे भिब्भिसमाणे चक्खुल्लोअणलेसे सुहफासे सस्सिरीअरूवे घंटावलिअमहुरमणहरसरे सुभे कंते दरिसणिज्जे णिउणोविअमिसिमिसंतमणिरयणघंटिआजालपरिक्खित्ते । " कियत्पर्यन्तमित्याह- योजनविस्तीर्णानि दिव्यानि यानायेहस्थाने गमनाय विमानानि, अथवा यानरूपाणि वाहनरूपाणि विमानानि यानविमानानि, विकुर्वत- वैक्रियशक्त्या संपादयत, विकुर्वित्वा एतामाज्ञप्तिं प्रत्यर्पयत । अथ यानवर्णकव्याख्या प्राग्वद् ज्ञेया, तोरणाऽऽदिवर्णकेषु एतद्विशेषणस्य व्याख्यातत्वात् । ततस्ते किं चक्रुरित्याह-(तए णमित्यादि) ततस्ते आभियोगिका देवा अनेकस्तम्भशतसंनिविष्टानि यावदाज्ञां प्रत्यर्पयन्ति ॥

अथैताः किं कुर्वन्तीत्याह-

तए णं ताओ अहोलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारिमहत्तरिआओ पत्तेअं पत्तेअं चउहिं सामाणिअसाहस्सीहिं चउहिं महत्तरिआहिं० जाव अण्णेहिं बहूहिं देवेहिं देवीहि अ सद्धिं संपरिवुडाओ ते दिव्वे जाणविमाणे दुरूहंति, दुरूहित्ता सव्विड्ढीए सव्वजुईए घणमुइंगपणवपवाइअरवेणं ताए उक्किट्ठाए० जाव देवगईए जेणेव भगवओ तित्थगरस्स जम्मणणगरे जेणेव तित्थयरस्स जम्मणभवणे, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणं तेहिं दिव्वेहिं जाणविमाणेहिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति, करित्ता उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए ईसिं चउरंगुलमसंपत्ते धरणिअले ते दिव्वे जाणविमाणे ठविंति, ठवित्ता पत्तेअं पत्तेअं चउहिं सामाणिअसाहस्सेहिं० जाव सद्धिं संपरिवुडाओ दिव्वेहिंतो जाणविमाणेहिंतो पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता सव्विड्ढीए० जाव णाइएणं जेणेव भगवं तित्थयरे तित्थयरमाया य तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवं तित्थयरमायरं च तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति, करित्ता पत्तेअं पत्तेअं करयलपरिग्गहिअं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी ।

"तए णं ताओ " इत्यादि । ततस्ता अधोलोकवास्तव्या अष्टौ दिक्कुमारीमहत्तरिकाः; इहतुच्छत्याद्येकदेशदर्शनेन संपूर्ण आलापको ग्राह्यः। स चायम् "हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिआ पीइमणा परमसोमणस्सिआ हरिसवसविसप्पमाणहिअया विअसिअवरकमलणयणवयणा पचलिअवरकडगतुडिअकेऊरमउडकुंडलहारविरायंतरइअवच्छा पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरा ससंभमं तुरिअं चवलं सीहासणाओ अब्भुट्ठेंति, अब्भुट्ठित्ता पायपीढाओ पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता " इति । प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्भिः सामानिकसहस्रैः चतसृभिश्च महत्तरिकाभिर्यावदन्यैर्बहुभिर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृताः, तानि दिव्यानि यानविमानान्यारोहन्ति । आरोहणोत्तरकालं येन प्रकारेण सूतिकागृहमुपतिष्ठन्ते तथाऽऽह-(दुरुहित्ता इत्यादि) आरुह्य च सर्वर्द्ध्या सर्वद्युत्या घनमृदङ्गं मेघवद्गम्भीरध्वानिकं मृदङ्गं, पणवो मृत्पटहः, उपलक्षणमेतत्तेनान्येषामपि तूर्याणां संग्रहः। एतेषां प्रवादितानां यो रवस्तेन तया उत्कृष्टया, यावत्करणात्—" तुरिआए चवलाए " इत्यादि पदसंग्रहः प्राग्वत् । देवगत्या यत्रैव भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मनगरं यत्रैव च तीर्थकरस्य जन्मभवनं तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मभवनं तैर्दिव्यैर्यानविमानैस्त्रिःकृत्व आदक्षिणप्रदक्षिणां कुर्वन्ति, त्रीन् वारान् प्रदक्षिणयन्तीत्यर्थः । त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य च उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे ईशानकोणे ईषच्चतुरङ्गुलमसंप्राप्तानि धरणितले तानि दिव्यानि यानविमानानि स्थापयन्तीति । अथ यच्चक्रुस्तदाह- स्थापयित्वा च प्रत्येकं प्रत्येकम्, पृथगपीत्यर्थः । चतुर्भिः सामानिकसहस्रैर्यावत् सार्द्धं संपरिवृता दिव्येभ्यो यानविमानेभ्यः प्रत्यवरोहन्ति, प्रत्यवरुह्य च सर्वर्द्ध्या, यावच्छब्दात् सर्वद्युत्यादिपरिग्रहः। कियत्पर्यन्तमित्याह--" संखपणवभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरजमुइंगदुंदुहिनिग्घोसनाइएणं ति। " यत्रैव भगवांस्तीर्थकरस्तीर्थकरमाता च तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं तीर्थकरमातरं च त्रिः प्रदक्षिणयन्ति, त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य च प्रत्येकं प्रत्येकं करतलपरिगृहीतं शिरस्यावर्त्तं मस्तके अञ्जलिं कृत्वा, एवं वक्ष्यमाणमवादिषुः।

तदाह-

णमोऽत्थु ते रयणकुच्छिधारिए ! जगप्पईवदीविए ! सव्वजगमंगलस्स चक्खुणो अ मुत्तस्स सव्वजगजीववच्छलस्स हिअकारगमग्गदेसिअवागिड्ढिविभुप्पभुस्स जिणस्स णाणिस्स नायगस्स बुद्धस्स बोहगस्स सव्वलोगनाहस्स निम्ममस्स पवरकुलसमुब्भवस्स जाईए खत्तिअस्स जं सि लोगुत्तमस्स जणणी, धण्णा सि, तं कयत्था सि, अम्हे णं देवाणुप्पिए ! अहोलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ भगवओ तित्थगरस्स जम्मणमहिमं करिस्सामो, तेणं तुब्भेहिं ण भाइअव्वं ति कट्टु उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमंति ।

(नमोऽत्थु ते इत्यादि) नमोऽस्तु ते तुभ्यं, रत्नं भगवल्लक्षणं कुक्षौ धरतीति रत्नकुक्षिधारिके ! । अथवा-रत्नगर्भावत्कर्भधारकत्वेनाऽपरस्त्रीकुक्षिभ्योऽतिशायित्वेन रत्नरूपां कुक्षिं धरतीति, शेषं तथैव । तथा जगद्वर्त्तिजनानां सर्वभावानां प्रकाशकत्वेन प्रदीप इव प्रदीपो भगवान्, तस्य दीपके !, सर्वजगन्मङ्गलभूतस्य चक्षुरिव चक्षुः सकलजगद्भावदर्शकत्वेन तस्य, चः समुच्चये । चक्षुश्च द्रव्यभावभेदाभ्यां द्विधा, तत्राऽऽद्यं भाव-

चक्षुरसहकृतं नार्थप्रकाशकं, तेन भावचक्षुषा भगवानुपमीयते, तच्चामूर्त्तमिति। ततो विशेषमाह-मूर्त्तस्य मूर्त्तिमतः, चक्षुर्ग्राह्यस्येत्यर्थः। सर्वजगज्जीवानां वत्सलस्योपकारकस्य। उक्तार्थे विशेषणद्वारेण हेतुमाह-हितकारको मार्गो मुक्तिमार्गः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपः, तस्य देशिका उपदेशिका, दर्शिकेत्यर्थः। तथा विभ्वी सर्वभाषाऽनुगमनेन परिणमनात् सर्वव्यापिनी, सकलश्रोतृजनहृदयसंक्रान्ततात्पर्यार्था, एवंविधा वागृद्धिर्वाक्संपत्, तस्याः प्रभुः स्वामी, सातिशयवचनलब्धिक इत्यर्थः। तस्य। तथाऽत्र विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्। जिनस्य रागद्वेषजेतुः, ज्ञानिनः सातिशयज्ञानयुक्तस्य, नायकस्य धर्मवरचक्रवर्त्तिनः, बुद्धस्य विदिततत्त्वस्य, बोधकस्य परेषामाविदिततत्त्वस्य, सकललोकनाथस्य सर्वप्राणिवर्गस्य बोधिबीजाऽऽधानसंरक्षणाभ्यां योगक्षेमकारित्वात्। निर्ममस्य ममत्वरहितस्य, प्रवरकुलसमुद्भवस्य, जात्या क्षत्रियस्य, एवंविधविख्यातगुणस्य लोकोत्तमस्य, यस्त्वमसि जननी, तत्त्वं धन्याऽसि पुण्यवत्यसि, कृतार्थाऽसि, वयं हे देवानुप्रिये! अधोलोकवास्तव्या अष्टौ दिक्कुमारीमहत्तरिकाः भगवतो जन्ममहिमां करिष्यामः, तेन युष्माभिर्न भेतव्यम्-असम्भाव्यमानपरजनाऽऽपातेऽस्मिन् रहःस्थाने इमा विसदृशजातीयाः किमिति शङ्काऽऽकुलं चेतो न कार्यमित्यर्थः। (त्ति कट्टु उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागमित्यादि) इतिकृत्वा प्रस्तावादिदमुक्त्वा, ता एवोत्तरपौरस्त्यं दिग्भागमपक्रामन्ति।

अथैनासामितिकर्त्तव्यमाह-

अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता संखिज्जाइं जोअणाइं दंडं निसिरंति, निसिरित्ता तं जहा रयणाणं० जाव संवट्टगवाए विउव्वंति, विउव्वित्ता तेणं सिवेणं मउएणं अणुद्धूएणं भूमितलविमलकरणेणं मणहरेणं सव्वोउअसुरहिकुसुमगंधाणुवासिएणं पिंडिमनीहारिमगंधुद्धुरेणं तिरिअं पवाइएणं भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणस्स सव्वओ समंता जोअणपरिमंडलं,से जहाणामए कम्मयरदारए सिआ०जाव तहेव जं तत्थ तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा कयवरं वा असुइमचोक्खं पूइअं दुब्भिगंधं, तं सव्वं आहुणिअ आहुणिअ एगंते एडेंति, एडित्ता जेणेव भगवं तित्थयरे तित्थयरमाया य, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवओ तित्थयरस्स तित्थयरमायाए अ अदूरसामंते आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति।

अपक्रम्य च वैक्रियसमुद्घातेन समवघ्नन्ति, समवहत्य च संख्यातानि योजनानि दण्डं निसृजन्ति,निसृज्य च किं ताः कुर्वन्ति?, तदेवाऽऽह-तद्यथा रत्नानाम्। यावत्पदात्-"वइराणं वेरुलिआणं लोहिअक्खाणं मसारगल्लाणं हंसगब्भाणं पुलयाणं सोगंधिआणं जोईरसाणं अंजणाणं पुलयाणं रयणाणं जायरूवाणं अंकाणं फलिहाणं रिट्ठाणं अहाबायरे पुग्गले परिसाडेइ,अहासुहुमे पुग्गले परिआयइ, दुच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता।" इति पदसंग्रहः। एतत्सविस्तरव्याख्या पूर्वं भरताभिषेकिकदेवानां वैक्रियकरणाधिकारे कृता, तेन ततो ग्राह्या।

वाक्ययोजनार्थं तु किञ्चिल्लिख्यते-तेषां रत्नानां बादरान् पुद्गलान् परिशाट्य सूक्ष्मान् पुद्गलान् गृह्णन्ति, पुनर्वैक्रियसमुद्घातपूर्वकं संवर्त्तकवातान् विकुर्वन्ति। बहुवचनं चात्र चिकीर्षितकार्यस्य सम्यक्सिध्यर्थं पुनः पुनर्वातविकुर्वणाज्ञापनार्थम्। विकुर्व्य च तेन तत्कालविकुर्वितेन, शिवेनोपद्रवरहितेन, मृदुकेन भूमिसर्पिणा मारुतेन अनुद्धूतेन अनूर्द्ध्वचारिणा, भूमितलविमलकरणेन मनोहरेण सर्वर्तुकानां यदृच्छ्तुसम्भवानां सुरभिकुसुमानां गन्धेनानुवासितेन, पिण्डिमः पिण्डितः सन् निर्हारी नातिदूरं विनिर्गमनशीलो यो गन्धः,तेन उद्धुरेण,बलिष्ठेनेत्यर्थः। तिर्यक् प्रवातेन तिर्यक् वातुमारब्धेन, भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मभवनस्य सर्वतो दिक्षु समन्ताद्विदिक्षु योजनपरिमण्डलम्, "से जहाणामए कम्मयरदारए सिआ० जाव" इत्येतत्सूत्रैकदेशसूचितदृष्टान्तिकसूत्रान्तर्गतेन "तहेव" इति दार्ष्टान्तिकसूत्रवचनादायातेन संमार्जयतीतिपदेन सहान्वययोजना कार्या।

तथेदं दृष्टान्तसूत्रम्-

" से जहाणामए कम्मयरदारए सिआ तरुणे बलवं जुगवं जुवाणे अप्पायंके थिरग्गहत्थो दढपाणिपाए पिट्ठंतरोरुपरिणए घणनिचिअवलिअवट्टखंधे चम्मेट्ठगदुहणमुट्ठिअसमाहयनिचिअगत्ते उरस्सबलसमण्णागए तलजमलजुअलपरिघबाहू लंघणपवणजइणपमद्दणसमत्थे छेए दक्खे पट्ठे कुसले मेहावी निउणसिप्पोवगए एगं महंतं सलागाहत्थगं वा दंडसंपुच्छणिं वा वेणुसिलागिगं वा गहाय रायंगणं वा रायंतेउरं वा देवकुलं वा सभं वा पवं वा आरामं वा उज्जाणं वा अतुरिअमचवलमसंभंतं निरंतरं सुनिउणं सव्वओ समंता संपमज्जिज्ज त्ति।"

स यथानामको यत्प्रकारनामकः कर्मकरदारकः स्याद् भवेत्। आसन्नमृत्युर्हि दारको न विशिष्टसामर्थ्यभाग् भवतीत्याह-तरुणः प्रवर्द्धमानवयाः। स च बलहीनोऽपि स्यादित्यत आह-बलवान्। कालोपद्रवोऽपि विशिष्टसामर्थ्यविघ्नहेतुरित्यत आह-युगं सुषमदुःषमाऽऽदिकालः,सोऽदुष्टो निरुपद्रवो विशिष्टबलहेतुर्यस्यास्त्यसौ युगवान्। एवंविधश्च को भवति?,युवा यौवनवयस्थः, ईदृशोऽपि ग्लानः सन् निर्बलो भवत्यतः-अल्पातङ्कः, अल्पशब्दोऽत्राभाववचनः; तेन निरातङ्क इत्यर्थः। तथा स्थिरः प्रस्तुतकार्यकरणेऽकम्पोऽग्रहस्तो हस्ताग्रं यस्यासौ तथा। दृढं निबिडतरचयमापन्नं पाणिपादं यस्य स तथा। पृष्ठं प्रतीतम्, अन्तरे पार्श्वरूपे, ऊरू सक्थिनी,एतानि परिणतानि परिनिष्ठिततां गतानि यस्य स तथा, सुखाऽऽदिदर्शनात् पाक्षिकः क्तान्तस्य परनिपातः, अहीनाङ्ग इत्यर्थः। घननिचितौ निबिडतरचयमापन्नौ वलिताविव वलितौ, हृदयाभिमुखौ जाताविव्यर्थः। वृत्तौ स्कन्धौ यस्य स तथा। तथा चर्मेष्टकेन चर्मपरिणद्धकुट्टनोपकरणविशेषेण द्रुघनेन घनेन, मुष्टिकया च मुष्ट्या समाहताः सन्तस्ताडिताः सन्तो ये निचिता निबिडीकृताः प्रवहणप्रेर्यमाणवत्सग्रन्थिकाऽऽश्रयः, तद्वद् गात्रं यस्य तथा। उरसि भवमुरस्यमीदृशेन बलेन समन्वागतः-अन्तरोत्साहवीर्ययुक्तः। तलौ तालवृक्षौ, तयोर्यमलं समश्रेणिकं यद्युगलं द्वयं, परिघश्चार्गला, तन्निभे तत्सदृशे दीर्घसरलपीनत्वाऽऽदिना बाहू यस्य स तथा। लङ्घने गर्ताऽऽद्यतिक्रमे, प्लवने मनाक् विक्रमवति गमने, जवनेऽतिशीघ्रगमने, प्रमर्दने कठिनस्याऽपि वस्तुनश्चूर्णने समर्थः। छेकः कलापण्डितः। दक्षः कार्याणामविलम्बितकारी, प्रष्ठो वाग्मी, कुशलः सम्यक्क्रियापरिज्ञानवान्, मेधावी सकृद्दृष्टश्रुतकर्मज्ञः, निपुणशिल्पोपगतः-निपुणं यथा भवत्येवं शिल्पक्रियासु कौशलमुपगतः

प्रायः; एकं महान्तं शलाकहस्तकं सरित्पर्णाऽऽदिशलाकासमुदायं, सरित्पर्णाऽऽदिशलाकामयीं सम्मार्जनीमित्यर्थः। वाशब्दो विकल्पार्थः। दण्डसंपुच्छनीं दण्डयुक्तां सम्मार्जनीं, वेणुशलाकिकां वंशशलाकानिर्वृत्तां संमार्जनीं गृहीत्वा राजाऽङ्गणं वा, राजाऽन्तःपुरं वा, देवकुलं वा, सभां वा-पुरप्रधानानां सुखं निवेशनहेतुमण्डपिकामित्यर्थः । प्रपां वा पानीयशालाम, आरामं वा दम्पत्योर्नगराऽऽसन्नरतिस्थानम्, उद्यानं वा क्रीडार्थाऽऽगतजनानां प्रयोजनाऽभावेनोर्ध्वीवलम्बितयानवाहनाऽऽश्रयभूतं तरुखण्डम, अत्वरितमचपलमसंभ्रान्तम्, त्वरायां चापल्ये संभ्रमे वा सम्यक्कचवराऽऽपगमासंभवात्। तत्र त्वरा मानसौत्सुक्यं, चापल्यं कायौत्सुक्यम्, संभ्रमश्च गतिस्खलनमिति । निरन्तरं, न तु अपान्तरालमोचनेन, सुनिपुणमल्पस्याप्यचोक्षस्यापसारणेन संप्रमार्जयेदिति ।

अथोक्तदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकयोजनायाऽऽह-तथैवैता अपि योजनपरिमण्डलं योजनप्रमाणं वृत्तक्षेत्रं संप्रमार्जयन्तीति । यत्तत्र योजनपरिमण्डले, तृणं वा पत्रं वा काष्ठं वा कचवरं वा अशुचि अपवित्रम, अचोक्षं मलिनं, पूतिकं दुरभिगन्धं, तत्सर्वमाधूय आधूय संचाल्य संचाल्य, एकान्ते योजनपरिमण्डलादन्यत्र, एडयन्त्यपनयन्ति, अपनीय-अर्थात् संवर्त्तकवातोपशमं विधाय च, यत्रैव भगवांस्तीर्थकरः, तीर्थकरमाता च तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवतस्तीर्थकरस्य तीर्थकरमातुश्च नातिदूरासन्ने आगायन्त्यः-आ ईषत् स्वरेण गायन्त्यः प्रारम्भकाले मन्दस्वरेण गायमानत्वात, परिगायन्त्यो गीतप्रवृत्तिकालानन्तरं तारस्वरेण गायन्त्यस्तिष्ठन्ति ।

अथोर्ध्वलोकवासिनीनामवसरः-

तेणं कालेणं तेणं समएणं उड्ढलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ सएहिं सएहिं कूडेहिं सएहिं सएहिं भवणेहिं सएहिं सएहिं पासायवडेंसएहिं पत्तेअं पत्तेअं चउहिं सामाणिअसाहस्सीहिं एवं तं चेव पुव्ववण्णिअ० जाव विहरंति ।

"तेणं कालेणं" इत्यादि व्यक्तं, नवरम ऊर्ध्वलोकवासित्वं चासां समभूतलात पञ्चशतयोजनोच्चनन्दनवनगतपञ्चशतिकाऽष्टकूटवासित्वेन ज्ञेयम् । नन्वधोलोकवासिनीनां गजदन्तगिरिगतकूटाष्टके यथा क्रीडानिमित्तको वासः, तथैतासामप्यत्र भविष्यतीति चेद्, नैवम, यथाऽधोलोकवासिनीनां गजदन्तगिरीणां गन्धभवनेषु वासः श्रूयते, तथैतासामश्रूयमाणत्वेन तत्र निरन्तरं वासः, मतश्चोर्ध्वलोकवासित्वम ॥

ताश्चेमा नामतः पद्यबन्धेनाऽऽह-

तं जहा-

"मेहंकरा मेहवई, सुमेहा मेहमालिणी ।
सुवच्छा वच्छमित्ता य. वारिसेणा वलाहगा" ॥ १ ॥

मेघङ्करा, मेघवती, सुमेघा, मेघमालिनी, सुवत्सा, वत्समित्रा, चः समुच्चये । वारिषेणा, बलाहका ।

अथ तासां यद् वक्तव्यं तदाह। आसनानि चलन्ति-

तए णं तासिं उड्ढलोगवत्थव्वाणं अट्ठण्हं दिसाकुमारीमहत्तरिआणं पत्तेअं पत्तेअं आसणाइं चलंति । एवं तं चेव पुव्ववण्णिअं भाणिअव्वं० जाव अम्हे णं देवाणुप्पिए ! उड्ढलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ भगवओ तित्थगरस्स जम्मणमहिमं करिस्सामो, तेणं तुब्भेहिं ण भाइअव्वं ति कट्टु उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमंति, अवक्कमित्ता० जाव अब्भवद्दलए विउव्वंति, विउव्वित्ता ०जाव तं निहयरयं णट्ठरयं भट्ठरयं पसंतरयं उवसंतरयं करेंति, करेत्ता खिप्पामेव पच्चुवसमंति, एवं पुप्फवद्दलंसि पुप्फवासं वासंति, वासित्ता० जाव कालागुरुपवर० जाव सुरवराभिगमणजोग्गं करेंति, करेत्ता जेणेव भयवं, तित्थयरे तित्थयरमाया य, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता जाव० आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति ।

"तए णं तासिं उड्ढलोगवत्थव्वाणं" इत्यादि व्यक्तम , नवरं तदेव पूर्ववर्णितं भणितव्यं, कियत्पर्यन्तमित्याह-(० जाव अम्हे णमित्यादि) अत्र यावच्छब्दोऽवधिवाचको, न तु संग्राहकः। (अवक्कमित्ता० जाव त्ति) अत्र यावत्पदात् "वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता० जाव दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता ।" इति बोध्यम्। अभ्रवार्दलकानि विकुर्वन्ति, अभ्रे आकाशे वाः पानीयं तस्य दलकानि अभ्रवार्दलकानि, मेघानीत्यर्थः।(विउव्वित्ता०जाव त्ति)

अत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्-

"से जहाणामए कम्मयरदारए० जाव सिप्पोवगए एगं महंतं दगवारगं वा दगकुंभयं वा दगथालगं वा दगकलसं वा दगभिंगारं वा गहाय रायंगणं वा० जाव उज्जाणं वा समंता आवरिसिज्जा, एवमेव ता अवि उड्ढलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ अब्भवद्दलए विउव्वित्ता खिप्पामेव पतणतणायंति, पतणतणाइत्ता खिप्पामेव पविज्जुआयंति, पविज्जुआइत्ता भगवओ तित्थगरस्स जम्मणभवणस्स सव्वओ समंता जोअणपरिमंडलं णच्चोदगं णाइमट्टिअं पविरलपप्फुसिअं रयरेणुविणासणं दिव्वं सुरभिगंधोदयवासं वासंति।"

अत्र व्याख्या-स यथा कर्मदारक इत्यादि प्राग्वद् व्याख्येयम्, एकं महान्तं दकवारकं वा मृत्तिकामयजलभाजनविशेषं, दककुम्भकं वा जलघटं, दकस्थालकं वा कांस्यादिमयं जलपात्रं, दककलशं वा, दकभृङ्गारं वा गृहीत्वा राजाऽङ्गणं वा यावदुद्यानं वा आवर्षेत् समन्तात् सिञ्चेत । "एवमेव ता अवि उड्ढलोगवत्थव्वाओ" इत्यादि प्राग्वत् । क्षिप्रमेव (पतणतणायंति त्ति) अत्यन्तं गर्जन्तीत्यर्थः । गर्जित्वा च (पविज्जुआयंति त्ति) प्रकर्षेण विद्युतं कुर्वन्ति; कृत्वा च भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मभवनस्य सर्वतः समन्ताद्योजनपरिमण्डलं क्षेत्रं यावत्, अत्र नैरन्तर्ये द्वितीया, निरन्तरं योजनपरिमण्डले क्षेत्रे इत्यर्थः । नात्युदकं नातिमृत्तिकं यथा स्यात्तथा प्रकर्षेण यावन्तो रेणवः स्थगिता भवन्ति, तावन्मात्रेणोत्कर्षेणेति भावः। उक्तप्रकारेण विरलानि घनेतराणि, घनभावेन कर्दमसम्भवात्, प्रस्पृष्टानि प्रकर्षवन्ति स्पर्शनानि, मन्दस्पर्शनसंभवे रेणुस्थगनासम्भवात्, यस्मिन् वर्षे तत्प्रविरलप्रस्पृष्टम, अत एव रजसां श्लक्ष्णरेणुपुञ्जानां च स्थूलतमरेणुपुञ्जानां विनाशनं, दिव्यमतिमनोहरं सुरभिगन्धोदकवर्षं वर्षन्ति, वर्षित्वा च। अथ प्रस्तुतसूत्रमनुश्रियते, तद् योजनपरिमण्डलक्षेत्रं, निहतरजः कुर्वन्तीति योगः । निहतं भूय उत्थानाभावेन मन्दीकृतं रजो यत्र तत्तथा । तत्र निहतत्वं रजसां क्षणमात्रमुत्थानाभावेनाऽपि संभवति तत आह-नष्टरजः नष्टं सर्वथा अदृश्यीभूतं रजो यत्र तत्तथा। तथा भ्रष्टं वातोद्धूततया

योजनमात्राद् दूरतः क्षिप्तं रजो यत्र तत्तथा । अत एव प्रशान्तं सर्वथाऽसदिव रजो यत्र तत्तथा । अस्यैवाऽऽत्यन्तिकतः व्यापनार्थमाह-उपशान्तं रजो यत्र तत्तथा कुर्वन्ति,कृत्वा च क्षिप्रमेव प्रत्युपशाम्यन्ति,गन्धोदकवर्षणान्निवर्तन्त इत्यर्थः। अथासां तृतीयकर्त्तव्यकरणावसरः-एवं गन्धोदकवर्षणानुसारेण पुष्पवार्दलकेन पुष्पवर्षकवार्दलकेन, प्रकृतत्वात् तृतीयार्थे सप्तमी । पुष्पवर्षं वर्षन्तीति ।

अत्रैवमित्यादिवाक्यसूचितमिदं सूत्रं ज्ञेयम्—

"तच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति,समोहणित्ता पुप्फवद्दलए विउव्वंति, से जहाणामए मालागारदारए०जाव सिप्पोवगए एगं महं पुप्फछज्जियं वा पुप्फपडलगं वा पुप्फचंगेरिअं वा गहाय रायंगणं वा० जाव समंता कयग्गहगहियकरयलपब्भट्ठविप्पमुक्केणं दसद्धवण्णेणं कुसुमेणं पुप्फपुंजोवयारकलिअं करेज्जा, एवमेव ता अवि उड्ढलोगवत्थव्वाओ०जाव पुप्फवद्दलए विउव्वित्ता खिप्पामेव पतणुतणायंति०, जाव जोअणपरिमंडलं जलयथलयभासुरप्पभूयस्स बिंटट्ठाइस्स दसद्धवण्णस्स कुसुमस्स जाणुस्सेहपमाणमित्तं वासं वासंति " ।३।

अत्र व्याख्या-तृतीयवारं वैक्रियसमुद्घातेन समवघ्नन्ति । कोऽर्थः?-संवर्तकवातविकुर्वणार्थं हि यद् वेलाद्वयमपि वैक्रियसमुद्घातेन समवहननं, तन्निर्देशकम्, एवमभ्रवार्दलकविकुर्वणार्थं द्वितीयम्,इदं तु पुष्पवार्दलकविकुर्वणार्थं तृतीयम्। समवहत्य च पुष्पवार्दलकानि विकुर्वन्ति, स यथानामको मालाकारपुत्रः, अस्यैव प्रस्तुतकार्ये व्युत्पन्नत्वात् । स्याद्वादविन्यासपूर्णशिल्पोपगतः, एकां महतीं पुष्पछाद्यिकां वा, छाद्यते उपरि स्थग्यते इति छाद्येव छाद्यिका,पुष्पैर्भृता छाद्यिका पुष्पछाद्यिका तां, पुष्पपटलकं वा पुष्पाऽऽधारभाजनविशेषः, पुष्पचङ्गेरिकां वा प्रतीताम्। यावत् समन्तात् रतकलहे या पराङ्मुखी, तस्याः सुमुखीकरणाय केशेषु ग्रहणं कचग्रहणं, तत्प्रकारेण गृहीतं, तथा करतलाद्विप्रमुक्तं सत् प्रभ्रष्टं करतलप्रभ्रष्टविप्रमुक्तं, प्राकृतत्वात् पदव्यत्ययः, ततो विशेषणसमासः । तेन कचग्रहगृहीतकरतलप्रभ्रष्टविप्रमुक्तेन दशार्द्धवर्णकेन पञ्चवर्णेन कुसुमेन, जात्यपेक्षया एकवचनम्, कुसुमजातेन, पुष्पपुञ्जोपचारो बलिप्रकारः, तेन कलितं कुर्यात् एवमेता अपि ऊर्द्धलोकवास्तव्या अष्टौ दिक्कुमारीमहत्तरिकाः " पुप्फवद्दलए विउव्वित्ता " इत्यादिकं योजनपरिमण्डलान्तं प्राग्वद् व्याख्येयम् । वाक्ययोजना तु-योजनपरिमण्डलं यावत् दशार्द्धवर्णस्य कुसुमस्य वर्षं वर्षन्तीति । कथंभूतस्य कुसुमस्य ?, जलजस्थलजभासुरप्रभूतस्य-जलजं पद्माऽऽदि,स्थलजं विचकिलाऽऽदि,भास्वरं दीप्यमानं प्रभूतमतिप्रचुरम्। ततः कर्मधारयः।भास्वरं च तत् प्रभूतं च भास्वरप्रभूतम्, जलजस्थलजं च तद् भास्वरप्रभूतं च तत् तथा । तथा वृन्तस्थायिनः-वृन्तेनाधोभागवर्त्तिना तिष्ठतीत्येवंशीलस्य,तथा वृन्तमधोभागे पत्राण्युपरीत्येवं स्थानशीलस्येत्यर्थः। कथंभूतं वर्षम्?,आनन्दाधिक उत्सेधो जानूत्सेधः,तस्य प्रमाणं द्वात्रिंशदङ्गुलकं, तेन सदृशी मात्रा यस्य स तथा तं,द्वात्रिंशदङ्गुलानि वै-षम्-चरणस्य चत्वारि, जङ्घायाश्चतुर्विंशतिः,जानुतश्चत्वारीति । एवमेव सामुद्रिके चरणावलानस्य लक्षणत्वात् ।

वर्षित्वा च किंपर्यन्तोऽयमेवमित्यादिवाक्यसूचितसूत्रसंग्रह इत्याह—यावत् " कालागुरुपवर चि । " अत्र यावच्छब्दोऽवधिवाची । (•जाव सुरवराभिगमणजोग्गं ति) अत्र यावत्करणात्—" कुंदुरुक्कतुरुक्कडज्झंतधूवमघमघंतगंधुद्धुआभिरामं सुगंधवरगंधिअं गंधवट्टिभूअं दिव्वं ।" इतिपर्यन्तसूत्रं ज्ञेयम् । तत् कालागुरुप्रभृतिधूपधूपितम्, धूपालापकव्याख्या प्राग्वत् । अत एव सुरवराभिगमनयोग्यम्-सुरवर इन्द्रस्तस्याभिगमनायाऽवतरणाय योग्यं, कुर्वन्ति, कृत्वा च यत्रैव भगवांस्तीर्थकरस्तीर्थकरमाता च, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च,यावच्छब्दात्-"भगवओ तित्थयरमायाए य अदूरसामंते " इति ग्राह्यम्। आगायन्त्यः परिगायन्त्यस्तिष्ठन्तीति ।

अथ रुचकवासिनीदिक्कुमारीवक्तव्ये प्रथमं पूर्वरुचकस्थानामष्टानां वक्तव्यतामाह--

तेणं कालेणं तेणं समएणं पुरच्छिमरुअगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ सएहिं सएहिं कूडेहिं तहेव० जाव विहरंति । तं जहा--

" णंदुत्तरा य णंदा, आणंदा णंदिवद्धणा ।
विजया य वेजयंती, जयंती अपराजिआ ॥ १ ॥"

सेसं तं चेव०जाव तुब्भेहिं ण भाइअव्वं ति कट्टु जगवओ तित्थयरस्स तित्थयरमायाए अ पुरच्छिमेणं आयंसहत्थगयाओ आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति ।

(तेणं कालेणं तेणं समएणं इत्यादि) तस्मिन् काले तस्मिन् समये पौरस्त्यरुचकवास्तव्याः पूर्वदिग्भागवर्त्तिरुचककूटवासिन्योऽष्टौ दिक्कुमारीमहत्तरिकाः स्वकेषु स्वकेषु कूटेषु तथैव यावद्विहरन्ति । तद्यथा--नन्दोत्तरा, चः समुच्चये । नन्दा,आनन्दा, नन्दिवर्द्धना,विजया । चः पूर्ववत् । वैजयन्ती,जयन्ती,अपराजिता, इत्येता नामतः कथिताः । शेषमासनप्रकम्पावधिप्रयोगभगवद्दर्शनपरस्पराह्वानस्वस्वाभियोगिककृतयानविमानविकुर्वणाऽऽदिकं तथैव, यावद्युष्माभिर्न भेतव्यमिति कृत्वा भगवतस्तीर्थकरस्य तीर्थकरमातुश्च पूर्वरुचकसमागतत्वात् पूर्वतो हस्तगत आदर्शो दर्पणो जिनजनन्योः शृङ्गाराऽऽदिविलोकनाऽऽद्युपयोगी यासां तास्तथा, विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्। आगायन्त्यः परिगायन्त्यस्तिष्ठन्तीति ॥ अत्र रुचकाऽऽदिस्वरूपप्ररूपणेयम्-एकादेशेन एकादशे,द्वितीयादेशेन त्रयोदशे, तृतीयादेशेन एकविंशे रुचकद्वीपे बहुमध्ये वलयाऽऽकारो रुचकशैलश्चतुरशीतियोजनसहस्राण्युच्चः,मूले १००२२,मध्ये ७०२३, शिखरे ४०२४ योजनानि विस्तीर्णः,तस्य शिरसि चतुर्थे सहस्रे पूर्वदिशि मध्ये सिद्धायतनकूटं, उभयोः पार्श्वयोश्चत्वारि चत्वारि दिक्कुमारीणां कूटानि, नन्दोत्तराऽऽद्यास्तेषु वसन्तीति ।

अथ दक्षिणरुचकवासिनीनां कर्त्तव्यम्--

तेणं कालेणं तेणं समएणं दाहिणरुअगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ तहेव०जाव विहरंति । तं जहा-

" समाहारा सुप्पइण्णा, सुप्पबुद्धा जसोहरा ।
लच्छीमई सेसवई, चित्तगुत्ता वसुंधरा ॥ १ ॥ "

तहेव० जाव तुब्भाहिं न भाइअव्वं ति कट्टु जगवओ तित्थयरस्स तित्थयरमाउए अ दाहिणेणं भिंगारहत्थगयाओ आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति ॥

सम्प्रति दक्षिणरुचकवास्तव्या इति पूर्ववत्, रुचकशिरसि दक्षिणदिशि मध्ये सिद्धायतनकूटम्, तदुभयतश्चत्वारि चत्वारि कूटानि, तत्र वासिन्य इत्यर्थः । अष्टौ दिक्कुमारीमहत्तरिकाः तथैव यावद्विहरन्ति । तद्यथा--समाहारा, सुप्रदत्ता, सुप्रबुद्धा,

यशोधरा, लक्ष्मीवती, शेषवती, चित्रगुप्ता, वसुन्धरा । तथैव यावद्युष्माभिर्न भेतव्यमिति कृत्वा जिनजनन्योर्दक्षिणदिगागतत्वाद्दक्षिणदिग्भागे जिनजननीस्नपनोपयोगिजलपूर्णकलशहस्ता आगायन्त्यः परिगायन्त्यस्तिष्ठन्तीति ॥

साम्प्रतं पश्चिमरुचकस्थानां वक्तव्यमाह–

तेणं कालेणं तेणं समएणं पच्चच्छिमरुअगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ सएहिं सएहिं० जाव विहरंति । तं जहा–

"इलादेवी सुरादेवी, पुढवी पउमावई ।
एगणासा णवमिआ, भद्दा सीआ य अट्ठमी ॥१॥"

तहेव० जाव तुब्भाहिं ण भाइअव्वं ति कट्टु० जाव भगवओ तित्थयरस्स तित्थयरमाउए अ पच्चच्छिमेणं तालिअंटहत्थगयाओ आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति ।

"तेणं कालेणं" इत्यादि सर्वं तथैव, नवरं पश्चिमरुचकवास्तव्याः पश्चिमदिग्भागवर्त्तिरुचकवासिन्य इति । नामान्यासां पद्येनाऽऽह–इलादेवी, सुरादेवी, पृथिवी, पद्मावती, एकनासा, नवमिका, भद्रा, सीता । चः समुच्चये । अष्टमी चेति । कृत्यव्यवस्था तथैव, पश्चिमरुचकागतत्वाज्जिनजनन्योः पश्चिमदिग्भागे तालवृन्तव्यजनं तद्धस्तगतास्तिष्ठन्तीति ।

उदीच्यां रुचकवासिनीनां कृत्यानि–

तेणं कालेणं तेणं समएणं उत्तरिल्लरुअगवत्थव्वाओ ०जाव विहरंति । तं जहा–

"अलंबुसा मिस्सकेसी, पुंडरीआ य वारुणी ।
हासा सव्वप्पभा चेव, सिरि हिरि चेव उत्तरओ" ॥१॥

तहेव० जाव तित्थयरस्स तित्थयरमाउए अ उत्तरेणं चामरहत्थगयाओ आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति ।

उदीच्यामप्येवमेवेति । तत्सूत्रमाह–"तेणं कालेणं" इत्यादि व्यक्तम् । नवरमुत्तररुचकवास्तव्या उत्तरदिग्भागवर्त्तिरुचकवासिन्यः । नामान्यासां पद्येनाऽऽह–अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका, चः प्राग्वत् । वारुणी, हासा, सर्वप्रभा, चैवेति प्राग्वत् । श्रीः, ह्रीश्चोत्तरतः । कृत्यव्यवस्था तथैव, उत्तररुचकाऽऽगतत्वाज्जिनजनन्योरुत्तरदिग्भागे चामरहस्तगता आगायन्त्यः परिगायन्त्यस्तिष्ठन्ति ।

अथ विदिग्रुचकवासिनीनामागमनाऽवसरः–

तेणं कालेणं तेणं समएणं विदिसिरुअगवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीमहत्तरिआओ० जाव विहरंति । तं जहा–"चित्ता य चित्तकणगा, सतेरा सोदामणी ।" तहेव ०जाव ण भाइअव्वं ति कट्टु भगवओ तित्थयरस्स तित्थयरमाउए अ चउसु विदिसासु दीविआहत्थगयाओ आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति ।

'तेणं कालेणं' इत्यादि व्यक्तम् । नवरं विदिग्रुचकवास्तव्यास्तस्यैव रुचकपर्वतस्य शिरसि चतुर्थे सहस्रे चतसृषु विदिक्षु एकैकं कूटं, तत्र वासिन्यश्चतस्रो विदिक्कुमार्यो यावद्विहरन्ति । इमाश्च स्थानाङ्गे विद्युत्कुमारीमहत्तरिका इत्युक्ता इति । एतासां चैशान्यादिक्रमेण नामान्येवम्–चित्रा, चः समुच्चये । चित्रकनका, शतेरा, सौदामिनी । तथैव यावन्न भेतव्यमिति कृत्वा विदिग्गागतत्वात् भगवतस्तीर्थकरस्य तीर्थकरमातुश्च चतसृषु विदिक्षु दीपिकाहस्तगता आगायन्त्यः परिगायन्त्यस्तिष्ठन्तीति ।

अथ मध्यरुचकवासिन्य आगमयितव्याः–

तेणं कालेणं तेणं समएणं मज्झिमरुअगवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीमहत्तरिआओ सएहिं सएहिं कूडेहिं तहेव० जाव विहरंति । तं जहा–"रूआ रूआसिआ, सुरूवा रूवगावई ।" तहेव० जाव तुब्भाहिं ण भाइअव्वं ति कट्टु भगवओ तित्थयरस्स चउरंगुलवज्जणाभिणालं कप्पंति, कप्पेत्ता विअरगं खणंति, खणित्ता विअरगे णाभिं णिहणंति, निहणित्ता रयणाण य वइराण य पूरेंति, पूरेत्ता हरिआलिआए पेढं बंधंति, बंधित्ता तिदिसिं तओ कयलीहरए विउव्वंति । तए णं तेसिं कयलीहरगाणं बहुमज्झदेसभाए तओ चउस्सालए विउव्वंति, तए णं तेसिं चउस्सालगाणं बहुमज्झदेसभाए तओ सीहासणे विउव्वंति; तेसि णं सीहासणाणं अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते, सव्वो वण्णगो भाणिअव्वो ॥

(तेणं कालेणं इत्यादि) तस्मिन् काले तस्मिन् समये मध्यरुचकवास्तव्या मध्यभागवर्त्तिरुचकवासिन्यः । कोऽर्थः?–चतुर्विंशत्यधिकचतुःसहस्रप्रमाणे रुचकशिरोविस्तारे, द्वितीयसहस्रे चतुर्दिग्वर्त्तिषु चतुर्षु कूटेषु पूर्वाऽऽदिक्रमेण चतस्रो वसन्तीत्यर्थः । श्रीअभयदेवसूरयस्तु षष्ठाङ्गवृत्तौ मल्ल्यध्ययने–"मज्झिमरुअगवत्थव्वा" इत्यत्र रुचकद्वीपस्याभ्यन्तरार्द्धवासिन्य इत्याहुः । अत्र तत्त्वं बहुश्रुतगम्यम् । चतस्रो दिक्कुमारिका यावद्विहरन्ति । तद्यथा–रूपा, रूपासिका, सुरूपा, रूपकावती । तथैव युष्माभिर्न भेतव्यमिति कृत्वा भगवतस्तीर्थकरस्य चतुरङ्गुलवर्जनाभिनालं कल्पयन्ति, कल्पयित्वा च विदरकं गर्तं खनन्ति, खनित्वा च विदरके कल्पितां नाभिं निधानयन्ति, निधानयित्वा च रत्नैश्च वज्रैश्च, प्राकृतत्वाद्विभक्तिव्यत्ययः । पूरयन्ति, पूरयित्वा च हरितालिकाभिर्दूर्वाभिः पीठं बध्नन्ति । कोऽर्थः? पीठं बद्ध्वा तदुपरि हरितालिकां वपन्तीत्यर्थः । विवरकखननाऽऽदिकं च सर्वं भगवद्नयवस्याऽऽशातनानिवृत्त्यर्थम् । पीठं बध्वा च त्रिदिशि पश्चिमावर्जदिक्त्रये त्रीणि कदलीगृहाणि विकुर्वन्ति । ततस्तेषां कदलीगृहाणां बहुमध्यदेशभागे त्रीणि चतुःशालकानि भवनविशेषान् विकुर्वन्ति । ततस्तेषां चतुःशालकानां बहुमध्यदेशभागे त्रीणि सिंहासनानि विकुर्वन्ति, तेषां सिंहासनानामयमेतादृशो वर्णव्यासः प्रज्ञप्तः, सिंहासनानां सर्वो वर्णकः पूर्ववद् भणितव्यः ।

सम्प्रति सिंहासनविकुर्वणानन्तरीयकृत्यमाह–

तए णं ताओ रुअगमज्झवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीओ जेणेव भयवं तित्थयरे तित्थयरमाया य तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवं तित्थयरं करयलसंपुडेणं तित्थयरमायरं च बाहाहिं गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव दाहिणिल्ले कयलीहरए जेणेव चाउस्सालए जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवं तित्थयरं तित्थयरमायरं च सीहासणे णिसीआवेंति, णि–

सीआवेत्ता सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भंगेंति, अब्भंगेत्ता सुरभिणा गंधुव्वट्टएणं उव्वट्टंति, उव्वट्टित्ता भगवं तित्थयरं करयलसंपुडेणं, तित्थयरमायरं च बाहासु गिएहंति, गिरिहत्ता जेणेव पुरच्छिमिल्ले कयलीहरए जेणेव चाउस्सालए जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवं तित्थयरं तित्थयरमायरं च सीहासणे णिसीआवेंति, णिसीआवेत्ता तिहिं उदएहिं मज्जावेंति । तं जहा-गंधोदएणं, पुप्फोदएणं, सुद्धोदएणं । मज्जावेत्ता सव्वालंकारविभूसिअं करेंति, करेत्ता भगवं तित्थयरं करयलपुडेणं, तित्थयरमायरं च बाहाहिं गिएहंति, गिरिहत्ता जेणेव उत्तरिल्ले कयलीहरए जेणेव चउस्सालए जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवं तित्थयरं तित्थयरमायरं च सीहासणे णिसीआवेंति, णिसीआवेत्ता आभिओगे देवे सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! चुल्लहिमवंताओ वासहरपव्वयाओ गोसीसचंदणकट्ठाइं साहरह । तए णं ते अभिओगा देवा ताहिं रुअगमज्झवत्थव्वाहिं चउहिं दिसाकुमारीमहत्तरिआहिं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा०जाव विणएणं वयणं पडिच्छंति, पडिच्छित्ता खिप्पामेव चुल्लहिमवंताओ वासहरपव्वयाओ सरसाइं गोसीसचंदणकट्ठाइं साहरंति । तए णं ताओ मज्झिमरुअगवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीमहत्तरिआओ सरगं करेंति, करेत्ता अरणिं घडेंति, अरणिं घडेत्ता सरएणं अरणिं महिंति, महित्ता अग्गिं पाडेंति, पाडित्ता अग्गिं संधुक्खेंति, संधुक्खेत्ता गोसीसचंदणकट्ठे पक्खिवंति, पक्खिवित्ता अग्गिं उज्जालिंति, उज्जालित्ता समिहाकट्ठाइं पक्खिविंति, पक्खिवित्ता अग्गिहोमं करेंति, करेत्ता भूतिकम्मं करेंति, करेत्ता रक्खापोट्टलिअं बंधंति, बंधेत्ता णाणामणिरयणभत्तिचित्ते दुवे पाहाणवट्टगोलगे गहाय भगवओ तित्थयरस्स कण्णमूले टिट्टिआविंति, भवउ भयवं पव्वयाउए । तए णं ताओ रुअगमज्झवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीमहत्तरिआओ भयवं तित्थयरं करयलपुडेणं तित्थयरमायरं च बाहाहिं गिएहंति, गिरिहत्ता जेणेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तित्थयरमायरं सयणिज्जंसि णिसीआविंति, णिसीआवित्ता भयवं तित्थयरं माउए पासे ठविंति, ठवित्ता अदूरसामंते आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति ॥

(तए णं ताओ रुअगमज्झवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीओ इत्यादि) ततस्ता रुचकमध्यवास्तव्यास्ततो दिक्कुमारीमहत्तरिकाः, यत्रैव भगवांस्तीर्थकरस्तीर्थकरमाता च, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं करतलसंपुटेन, तीर्थकरमातरं च बाहुभिर्गृह्णन्ति. गृहीत्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यं कदलीगृहं, यत्रैव च चतुःशालकं, यत्रैव सिंहासनं, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं तीर्थकरमातरं च सिंहासने निषादयन्ति-उपवेशयन्ति; निषाद्य च शतपाकैः सहस्रपाकैः शतकृत्वोऽपरापरौषधीरसेन, कार्षापणानां शतेन वा यत्पक्वं तच्छतपाकम्, एवं सहस्रपाकमपि । बहुवचनं तथाविधसुरभितैलसंग्रहार्थम् । तैलैरभ्यञ्जयन्ति, तैलमभ्यञ्जयन्तीत्यर्थः । अभ्यज्य च सुरभिणा गन्धद्रव्याणामुत्पलादीनामुद्वर्तितचूर्णपिण्डेन गन्धयुक्तगोधूमचूर्णपिण्डेन वा उद्वर्तयन्ति, स्निग्धतैलापनयनं कुर्वन्ति, उद्वर्त्य च भगवन्तं तीर्थकरं करतलपुटेन तीर्थकरमातरं च बाहोर्गृह्णन्ति, गृहीत्वा च यत्रैव पौरस्त्यं कदलीगृहं, यत्रैव चतुःशालं, यत्रैव च सिंहासनं, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं तीर्थकरमातरं च सिंहासने निषादयन्ति, निषाद्य च त्रिभिरुदकैर्मज्जयन्ति स्नपयन्ति । तान्येव त्रीणि दर्शयति तद्यथेत्यादिना, गन्धोदकेन कुङ्कुमाऽऽदिमिश्रितेन, पुष्पोदकेन जात्यादिमिश्रितेन, शुद्धोदकेन केवलोदकेन, मज्जयित्वा सर्वालङ्कारभूषितौ कुर्वन्ति, मातृपुत्राविति शेषः । कृत्वा च भगवन्तं तीर्थकरं करतलपुटेन तीर्थकरमातरं च बाहुभिर्गृह्णन्ति, गृहीत्वा च यत्रैवोत्तराहं कदलीगृहं, यत्रैव च चतुःशालकं, यत्रैव च सिंहासनं, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं तीर्थकरमातरं च सिंहासने निषादयन्ति, निषाद्य च आभियोगान् देवान् शब्दयन्ति, शब्दयित्वा च एवमवादिषुः-क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियाः ! क्षुद्रहिमवतो वर्षधरपर्वताद्गोशीर्षचन्दनकाष्ठानि संहरत-समानयत । ततस्ते आभियोगा देवास्ताभी रुचकमध्यवास्तव्याभिश्चतसृभिर्दिक्कुमारीमहत्तरिकाभिरेवमनन्तरोक्तमुक्ता आकृताः सन्तो हृष्टतुष्टा इत्यादि यावद्विनयेन वचनं प्रतीच्छन्त्यङ्गीकुर्वन्ति, प्रतीष्य च क्षिप्रमेव क्षुद्रहिमवतो वर्षधरपर्वतात् सरसानि गोशीर्षचन्दनकाष्ठानि संहरन्ति । ततस्ता मध्यरुचकवास्तव्याश्चतस्रो दिक्कुमारीमहत्तरिकाः शरकं-शरप्रतिकृतितीक्ष्णमुखमग्न्युत्पादकं काष्ठविशेषं कुर्वन्ति, कृत्वा च तेनैव शरकेन सह अरणिं लोकप्रसिद्धं काष्ठविशेषं घटयन्ति-संयोजयन्ति, घट्टयित्वा च शरकेनाग्निं मथ्नन्ति, मथित्वा च अग्निं पातयन्ति, पातयित्वा च अग्निं सन्धुक्षन्ति-सन्दीपयन्ति, सन्धुक्ष्य च गोशीर्षचन्दनकाष्ठानि, प्रस्तावात् खण्डशः कृतानीति बोध्यम्, यादृशैश्चन्दनकाष्ठैरग्निरुद्दीपितः स्यात् तादृशानीति भावः । प्रक्षिपन्ति, प्रक्षिप्य च अग्निमुज्ज्वालयन्ति उद्दीपयन्ति, उज्ज्वाल्य च प्रदेशप्रमाणानि हवनोपयोगीनीन्धनानि समिधः, तद्रूपाणि काष्ठानि प्रक्षिपन्ति । पूर्वो हि काष्ठप्रक्षेपोऽग्न्युद्दीपनाय, अयं च रक्षाकरणायेति विशेषः । प्रक्षिप्य च अग्निहोमं कुर्वन्ति, कृत्वा च भूतिकर्मेति भस्मनः कर्म क्रिया, तां कुर्वन्ति, येन प्रयोगेणेन्धनानि भस्मरूपाणि भवन्ति तथा कुर्वन्तीत्यर्थः । कृत्वा च जिनजनन्योः शाकिन्यादिदुष्टदेवताभ्यो दृग्दोषाऽऽदिभ्यश्च रक्षाकरीं पोट्टलिकां बध्नन्ति, बध्वा च नानामणिरत्नानां भक्तिरचनाद् यौ विचित्रौ द्वौ पाषाणवृत्तगोलकौ, पाषाणगोलकावित्यर्थः । गृहीत्वा भगवतस्तीर्थकरस्य कर्णमूले "टिट्टिआवेंति" इत्यनुकरणशब्दोऽयम् । तेन 'टिट्टिआवेंति' परस्परताडनेन टिट्टीतिशब्दोत्पादनपूर्वकं वादयन्तीत्यर्थः । अनेन हि बाललीलावशादन्यत्र व्यासक्तं भगवन्तं वक्ष्यमाणाऽऽशीर्वचनश्रवणे पटु कुर्वन्तीति भावः । तथा कृत्वा च, भवतु भगवा-

न् पर्वताऽऽयुः, इत्याशीर्वचनं ददतीति । तत उक्तसकलकार्यकरणानन्तरं ता रुचकमध्यवास्तव्याश्चतस्रो दिक्कुमारीमहत्तरिका भगवन्तं तीर्थकरं करतलपुटेन तीर्थकरमातरं च बाहुभिर्गृह्णन्ति, गृहीत्वा च यत्रैव भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मभवनं, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च तीर्थकरमातृशय्यायां निषादयन्ति, निषाद्य च भगवन्तं तीर्थकरं मातुः पार्श्वे स्थापयन्ति, स्थापयित्वा च नातिदूराऽऽसन्ने आगायन्त्यः परिगायन्त्यस्तिष्ठन्ति। एतासां च मध्येऽष्टावधोलोकवासिन्यो गजदन्तगिरीणामधोभवनवासिन्यः। यच्चैतदधिकारसूत्रे "उड्ढ-लोए" इति पदम्, तदपरसकलदिक्कुमार्यधिकृतेति । तं जहा- ... पाठे हि यथासम्भवं वि... ...देवी सुरादेवी, पुढवी ... सिन्योऽष्टौ नन्दन- " सपाहिं सपाहिं ... कारसूत्रपाठसंरक्षणार्थम्, साधारणत्वात् अपि रुचककारसूत्रपाठसंरक्षणार्थम्, साधारणाश्चापि रुचकशिखिनिषधौ समाश्रयणीयाविति ऊर्ध्वलोकस्थेषु शिखने योजनपञ्चशतिककूटवासिन्यः, अन्याश्च ... सहस्रकूटेषु योजनसहस्रोच्चेषु मूले सहस्रयोजनविस्तारेषु ... दिक्कुमार्यस्ति पञ्चशतविस्तारेषु वसन्ति । उक्तं षट्पञ्चाशद्दिक्कुमारीकृत्यमिति । जं० ५ वक्ष० ।

(६४) देवदूष्याणि-

सव्वे वि एगदूसे-ण णिग्गया जिणवरा चउव्वीसं ।

सर्वेऽपि भगवन्तोऽतीता अपि जिनवराः चतुर्विंशतिसंख्याः, चतुर्विंशतिरित्यनेन सर्वास्वप्यवसर्पिणीषूत्सर्पिणीषु च प्रत्येकं भरतक्षेत्रे चतुर्विंशतिरेव तीर्थकरा अभूवन्निति ख्यापितम् । तद्यदि भगवन्त एकदूष्येण-एकेन वस्त्रेण, निर्गता अभिनिष्क्रान्ताः । तद्यदि भगवन्तोऽप्येकदूष्येण निर्गता इति सोपधयोऽभवन्, किं पुनस्तन्मतानुवर्तिनः शिष्या न सोपधयः ? । तत्र च उपधिरासेवितो भवद्भिः स साक्षादेवोक्तः । यः पुनर्विनेयेभ्यः स्थविरकल्पिकाऽऽदिभेदभिन्नेभ्योऽनुज्ञातः, स खलु ग्रन्थान्तरादवसेयः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

देवदूष्यवस्त्रस्थितिमाह-

सक्को य लक्खमुल्लं, सुरदूसं ठवइ सव्वजिणखंधे ।

वीरस्स वरिसमहियं, सया वि सेसाण तस्स ठिई ।१५८।

शक्रश्च लक्षमूल्यं देवदूष्यं वस्त्रं सर्वजिनस्कन्धे स्थापयति । तत्र श्रीवीरस्य साधिकं वर्षं स्थितम् । उक्तं च कल्पसूत्रे-"संवच्छरं साहियं मासं जाव चीवरधारी होत्था त्ति ।" मासेनाधिकं वर्षं श्रीवीरेण वस्त्रं धृतम् । शेषजिनानां त्रयोविंशतेरपि तीर्थकृतां सदाऽपि यावज्जीवमपि, तस्य वस्त्रस्य, स्थितिर्ज्ञेयेति । सत्त० ७३ द्वार ।

(देहमानमुत्सेधाङ्गुलविचारे २२६१ पृष्ठे पूर्वमुक्तम्)

(६५) अथ प्रसङ्गात् तीर्थकरप्रतिपादितत्वेन धर्मभेदानाह-

दाणं सीलं च तवो, भावो एवं चउव्विहो धम्मो ।

सव्वजिणेहिं भणिओ, तहा दुहा सुयचरित्तेहिं ॥२९६॥

सुपात्रे दानं देयम्, त्रिकरणशुद्ध्या शीलं पालनीयम्, यथाशक्ति तपो विधिवद्विधेयम्, साधुपुरुषेण शुभभावना भावनीया । एवं चतुर्विधो धर्मः (सव्वजिणेहिं भणिओ) सर्वजिनैश्चतुर्विंशतिजिनैर्भणितः कथितः। तथा द्विधा धर्मः श्रुतचारित्राभ्याम्, एकः श्रुतधर्मः, द्वितीयश्चारित्रधर्मः । इति गाथाऽर्थः ॥ २९६ ॥ सत्त० ४१ द्वार ।

अथ धर्मप्रसङ्गात् पुण्यमौचित्ये प्रवर्त्तत इत्यौचित्याष्टकम् ।

अथ धर्मप्रसङ्गात् पुण्यमौचित्ये प्रवर्त्तत इत्यौचित्याष्टकम् । पुण्यानुबन्धिपुण्यं प्रधानफलतो दर्शयन्नाह-

अतः प्रकर्षसंप्राप्ता-द्विज्ञेयं फलमुत्तमम् ।

तीर्थकृत्त्वं सदौचित्य-प्रवृत्त्या मोक्षसाधकम् ॥१॥

अत अस्मात् पुण्यानुबन्धिपुण्यात् प्रकर्षसंप्राप्तादतिप्रकृष्टतां गताद्विज्ञेयं ज्ञातव्यं फलं कार्यमुत्तम प्रधानं तीर्थकृत्त्वं तीर्थकरत्वम् । किंस्वरूपं तदित्याह-सदा सर्वकालमागर्भावस्थाया औचित्यप्रवृत्त्या यथार्हप्रवर्त्तनेन मोक्षसाधकं निर्वाणप्रापकमिति ॥ १ ॥

औचित्यप्रवृत्तिमेवाऽऽप्तस्य सार्वदिकीं दर्शयितुमाह-

सदौचित्यप्रवृत्तिश्च, गर्भादारभ्य तस्य यत् ।

तत्राऽप्यभिग्रहो न्याय्यः, श्रूयते हि जगद्गुरोः ॥ २ ॥

सदा सर्वकालमौचित्यप्रवृत्तिः संगतभावनम्, चशब्दः पुनःशब्दार्थः । गर्भादारभ्य गर्भावस्थामवधीकृत्य, तस्येति यः प्रकृष्टपुण्यानुबन्धिपुण्यफलभूतस्तस्य तीर्थकरस्य, भवतीति शेषः । कुत एतदेवं सिद्धमित्याह-यद्यस्मात्कारणात्, तत्राऽऽदिगर्भेऽप्याकर्णं प्रव्रज्याप्रतिपत्तौ, अभिग्रहः प्रतिज्ञाविशेषो वक्ष्यमाणस्वरूपो, ... न्याय्यो न्यायादनपेतः, श्रूयते आकर्ण्यते, हिशब्दो वाक्यालङ्कारे ... ... लोकगौरवार्हस्य महावीरस्येति भावना ... ॥ २ ॥ जगद्गुरोः ... ...

किमर्थमसावभिग्रह इत्याह-

पित्रुद्वेगनिरासाय, महतां स्थितिसिद्धये ।

इष्टकार्यसमृद्ध्यर्थ-मेवंभूतो जिनाऽऽगमे ॥ ३ ॥

माता च पिता च पितरौ, तयोरुद्वेगश्चित्तसंतापः, तस्य निरासोऽभावः पित्रुद्वेगनिरासः, तस्मै पित्रुद्वेगनिरासाय । यतन्ते च महान्तो विश्वस्याऽपि उद्वेगनिरासार्थम्, तेषां तथास्वभावत्वात्, विशेषतः पुनः पित्रोरतिदुःखप्रतीकारित्वात्तयोरिति । तथा महतां महापुरुषाणां स्थितिसिद्धये व्यवस्थासाधनाय । अन्येऽपि महान्तो मातापित्रुद्वेगनिरासेन प्रवर्त्तन्तामित्येतदर्थमित्यर्थः, प्रधानमार्गानुसारित्वाज्ञनस्येति । तथा इष्टकार्यं वाञ्छितप्रयोजनं मोक्षार्थिनां मोक्षोपायभूता प्रव्रज्या, तस्य समृद्धिर्निष्पत्तिरिष्टकार्यसमृद्धिः, तस्यै । इदमिष्टकार्यसमृद्ध्यर्थमिदं चाभिग्रहः, कृत इति गम्यमानक्रियाविशेषणम्; मोक्षार्थमिदं चाभिग्रहः, कृत इति गम्यमानक्रियाविशेषणम्; मोक्षसिद्धिहेतोरित्यर्थः। सिद्ध्यति हि मोक्ष उचितप्रवृत्त्या, अनुचितप्रवृत्तिस्तु तद्विघ्न इति । एवंभूतो वक्ष्यमाणस्वरूपः, अभिग्रह इति योगः । जिनाऽऽगमे आप्तवचने, श्रूयते इति संबन्धः । उच्यते चाऽऽवश्यकनिर्युक्तौ- " अह सत्तमम्मि मासे, गब्भत्थो चेवऽभिग्गहं गहिओ । नाहं समणो होहं, अम्मापियरम्मि जीवंते" ॥१॥ इति ॥ ३ ॥

अथवा यथाभूतोऽभिग्रहः श्रूयते, तथाभूतमेवाऽऽह-

जीवतो गृहवासेऽस्मिन्, यावन्मे पितराविमौ ।

तावदेवाधिवत्स्यामि, गृहानहमपीहतः ॥ ४ ॥

किल भगवान् श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामी देवभवाच्च्युत्वा पूर्वभवोपात्तनीचैर्गोत्राभिधानकर्मशेषवशाद् ब्राह्मणकुण्डग्रामाभिधाननगरनिवासिऋषभदत्ताभिधानद्विजातिजायाया देवानन्दाभिधानायाः कुक्षावुत्पन्नः । अथ द्व्यशीतितमदिवसे भिहासनचलनजनितावधिप्रयोगपुरन्दरप्रयुक्तहरिनैगमेषिनाम्ना देवेन क्षत्रियकुण्डाभिधाननगरनायकसिद्धार्थाभिधाननरपतिप्रधानपत्न्यास्त्रिशलाभिधानाया गर्भे संक्रामितः । ततो देवानन्दामुपलब्धचतुर्दशमहास्वप्नापहारां समनावितगर्भसंहारां हतसर्वस्वमिवातिशोकसागरनिमग्नामवधिनाऽवबुद्ध्याऽहो ! अहम-

र्निमित्तमेषाऽनाख्येयदुःखमवाप्स्यत्येवमेषाऽपि शिक्षा मदङ्गचलनचेष्टानिमित्तमसुखमथ मा प्रापदित्यालोच्य निश्चलोऽवतस्थे। ततोऽसौ निस्पन्दतां गर्भस्यावगम्य गलितो गर्भो ममेति भावनया गाढतरं दुःखसमुदयमगमत्। ततो भगवांस्तद्दुःखविनोदाय स्फुरति स्म। पर्यालोचयाञ्चकार च-यद्-अनाऽदृष्टेऽपि मयि मातापित्रोरहो! गाढः स्नेहः, दृष्टे पुनः परिचयाद्‌वगतगुणग्रामे गाढतरोऽसौ भावी, ततः प्रव्रजतो वियुज्यमाने शोकातिशयान्महाननन्तरतापो भविष्यति, ततोऽनयोर्जीवतोस्तत्संतापपरिहारार्थमप्रव्रजितेन मया भाव्यमिति सप्तममासेऽभिग्रहं जग्राहेति श्लोकसमुदायार्थः॥

अक्षरार्थस्त्वयम्-जीवतः प्राणान् धारयतः, पितराविति योगः। गृहवासे गृहस्थतायामस्मिन्नधुनातने, न पुनर्देवाऽऽदिभवसम्भवेऽपि, यावद् यत्परिमाणमिति पितुर्जीवनक्रियाविशेषणम्। मे मम संबन्धिनाविमौ प्रत्यक्षाऽऽसन्नौ प्रशस्याभिधेयार्थलक्षणौ, न पुनर्ऋषभदत्तदेवानन्दाख्यकौ। तावदेव तत्परिमाणमेव, न पुनरधिकं चिरतावभिलक्ष्यानित्यमुक्तमवधारणम्, एतत्राधिवत्स्यामीति क्रियाविशेषणम्। अधिवत्स्यामि अध्यासिष्ये, गृहान् गेहम् "गृहशब्दो हि पुंल्लिङ्गो बहुवचनान्तोऽप्यस्तीति।" अथवा-राजत्वाद् बहुगृहाधिपतित्वमनेन दर्शितम्। अहमपि न केवलं पितरौ गृहानधिवत्स्येत इत्यपिशब्दार्थः। इष्टमिच्छा, तदाश्रित्याऽधिष्ठितः, इच्छया स्वच्छन्दतया, न पुनः पारवश्येनेति भावः। ननु तावन्तं कालं चारित्रमोहनीयकर्मविशेषोदये सति तस्य गृहावस्थानम्, अन्यथा वा?। तत्र यद्याद्यः पक्षः, तदा कर्मविशेषोदय एव तत्रावस्थानकारणं, नाभिग्रहग्रहणं, तत् किं तद्ग्रहणेन?। अथवा-चारित्रमोहनीयविशेषोदयाभाव इति पक्षः। तदप्यसङ्गतम्। मोहकर्मविशेषोदयाभावे विरतेरेव भावेन गृहावस्थानासम्भवात् व्यर्थमेवाभिग्रहकरणम्?। अत्रोच्यते-मोहनीयविशेषोदय एव तत्र तस्यावस्थानं, किं तु तत्कर्मणः सोपक्रमत्वेन पितृद्वेगनिरासाऽऽद्यवलम्बनाभिग्रहानङ्गीकरणे विरतेरेव भावाद् गृहावस्थानहेत्वभिग्रहकरणमसङ्गतम्। उच्यते च सोपक्रमता कर्मणाम्। यदाह-"उदयक्खयखओवसमो-वसमा जं च कम्मुणो भणिया। दव्वं खित्तं कालं, भवं च भावं च तं पप्प॥१॥" इति। इहोक्तविशेषणाभिग्रहग्रहणं भावमाश्रित्य चारित्रमोहोदयः, तदभावलक्षणं च भावमाश्रित्य तत्क्षयोपशम इति न व्यर्थमभिग्रहकरणमिति।

ननूक्ताभिग्रहकरणात् पित्रुद्वेगनिरासो महतां च स्थितिसिद्धिरिति सङ्गतम्, यत्पुनरिष्टकार्यसमृद्धिरिति, तदसाम्प्रतम्, गृहावस्थानस्य प्रव्रज्याविरोधित्वादित्यस्यामाशङ्कायामाह-

इमौ शुश्रूषमाणस्य, गृहानावसतो गुरू।
प्रव्रज्याऽप्यानुपूर्व्येण, न्याय्याऽन्ते मे भविष्यति॥५॥

इमौ प्रत्यक्षाऽऽसन्नौ, गुरू इति संबन्धः। शुश्रूषमाणस्य परिचरतो, मे इति योगः। तथा-तच्छुश्रूषणार्थमेव गृहान् गेहमावसतोऽधितिष्ठतः सतः, गुरू मातापितरौ, प्रव्रज्याऽपि चिकीर्षितानगारिताऽपि, आस्तां पित्रुद्वेगनिरासाऽऽदि, आनुपूर्व्येण परिपाट्या, न्याय्या न्यायोपपन्ना, युक्तेत्यर्थः। अन्ते गुरुशुश्रूषावसाने एव, मे मम, भविष्यति संपत्स्यते॥५॥

कुत एतदेवमित्याह-

सर्वपापनिवृत्तिर्यत्, सर्वथैषा सतां मता।
गुरूद्वेगकृतोऽत्यन्तं, नेयं न्याय्योपपद्यते॥६॥

सर्वपापनिवृत्तिरशेषसावद्यानुष्ठानव्युपरतिः, यद् यस्मात्सर्वथा सर्वैः प्रकारैर्निमित्तभावेनापीत्यर्थः, एषा प्रव्रज्या, सतां विदुषां, मता इष्टा, इह तस्मादिति शेषो दृश्यः। तस्माद् गुरूद्वेगकृतो मातापितृचित्तसन्तापकारिणः, अत्यन्तमतिशयेन, तत्संबोधनपूर्वकं शास्त्रोक्ततत्संबोधनोपायप्रयोगपूर्वकं वा प्रवृत्तस्य, न नैव, इयं प्रव्रज्या, न्याय्या युक्ता, उपपद्यते घटते, पितृसंतापरक्षणोपायाप्रवृत्तत्वेन निमित्तभावेन तच्चित्तसंतापलक्षणपापकारित्वात्तस्येति। परिहर्तव्यश्च तच्चित्तसंतापः। यदाह-"अपडिबुज्झमाणे कहिं वि पडिबोहिज्जा अम्मापियरो।" प्रव्रज्याऽभिमुखीकुर्यादित्यर्थः। "अपडिबुज्झमाणेसु य कम्मपरिणईए विहेपज्जा जहासत्ति तदुवगरणं, तओ अणुन्नाए पडिवज्जिज्ज धम्मं।" अथ नानुजानीतस्तदा "अणुवहे चेव उवहिजुत्ते सिया।" अल्पायुरहमित्यादिकां मायां कुर्यादित्यर्थः। एवमुपायप्रवृत्तमपि यदा न मुत्कलयतः, तदा तौ त्यजेत्। न च तौ त्यजतस्तच्चित्तसंतापेऽपि तस्य दोषः, विशुद्धभावत्वात्। यदाह-"सव्वहा अपडिबुज्झमाणे चएज्जा अट्ठाणे गिलाणओसहत्थ चागनाएण।" यथाऽटव्यां ग्लानीभूतयोः पित्रोरौषधार्थं गच्छतः तत्त्यागोऽत्याग एव भावतः, एवं तयोः स्वस्यान्येषां चोपकाराय प्रव्रजन इति ज्ञातभावना। अत एव-"सोयणमक्कंदण विय-चणं च तं दुक्खिओ तओ कुणइ। सेवइ जं च अकज्जं, तेण विणा तस्स सो दोसो॥१॥" इत्यादिकमाक्षिप्यैवं परिहृतम्-"अब्भुवगमेण भणियं, न उ विहियागो वि तस्स हेउ त्ति। लोगाइम्मि वि तेसिं, मरणे व्व विसुद्धचित्तस्स॥१॥" क्वचित् पठ्यते-"सर्वपापनिवृत्तिर्या।" इति। तत्र व्याख्येयम्-सर्वथा सर्वपापनिवृत्तिरेषा सतां मता, गुरूद्वेगकारिणश्चात्यन्तं नेयं सर्वपापनिवृत्तिर्न्याय्योपपद्यत इति॥६॥

कस्मादेवमित्याह-

प्रारम्भमङ्गलं ह्यस्याः, गुरुशुश्रूषणं परम्।
एतौ धर्मप्रवृत्तानां, नृणां पूजाऽऽस्पदं महत्॥७॥

प्रारम्भमङ्गलमादिमङ्गलं, हिर्यस्मात्, अस्याः प्रव्रज्यायाः, गुरुशुश्रूषणं मातापितृपरिचरणं, परं प्रकृष्टं, भावमङ्गलमित्यर्थः। प्रारम्भमङ्गलं चैवास्य कुतः?, इत्याह-एतौ गुरू धर्मप्रवृत्तानां मोक्षहेतुसदनुष्ठानसमुपस्थितानां, नृणां पुंसां, नृग्रहणं च प्रधानतया तेषां, न तु तदन्यव्यवच्छेदार्थम्। पूजाऽऽस्पदमर्हणापदम्, महद् गुरुकम्। यदाह-"इह मातापितृपूजा, आमुष्मिकयोगकारणं ज्ञेया। तदनुज्ञया प्रवृत्तिः, प्रधानदीक्षाविधानार्थम्॥१॥"

पूजाऽऽस्पदत्वमेव समर्थयन्नाह-

स कृतज्ञः पुमान् लोके, स धर्मगुरुपूजकः।
स शुद्धधर्मभाक् चैव, य एतौ प्रतिपद्यते॥८॥

स इति। य एतौ प्रतिपद्यते स एव कृतज्ञः पितृकृतोपकारज्ञाता, पुमान्नरः, लोके लौकिकमार्गे, तथा स एव धर्मगुरोर्दीक्षाचार्यस्य, पूजकः पूजयिता धर्मगुरुपूजकः, भविष्यतीति गम्यते। नान्यः। यदाह-"उपकारीति पूज्यः स्याद्, गुरू चाऽऽद्योपकारिणौ। तावप्यर्च्यते यो न, स हि धर्मगुरुं कथम्?॥१॥" तथा स इति। स एव शुद्धधर्मभाक् निर्दोषकुशलधर्मभाजनं भवति। चशब्दः समुच्चये। एवशब्दोऽवधारणे। तस्य च दर्शितः प्रयोगः। यः पुमान् एतौ मातापितरौ प्रतिपद्यते सेवनतोऽङ्गीकरोति।

दुष्प्रतिकारत्वात्तयोः । आह च-" दुष्प्रतिकारौ माता-पितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन् । तत्र गुरुरिहामुत्र च, सुदुष्करतरप्रतीकारः ॥ १ ॥ " ॥ ८ ॥ हा० २५ अष्ट० ।

(१६) अथ जिननामसामान्यार्थो, विशेषार्थश्च कथ्यते-

वयधुरवहणा उसहो, उसहाऽऽइमसुविणलंछणाओ य ।
रागाइजिओ अजिओ, न जिया अक्खेसु पिउणंऽबा ॥९॥

(वयधुरवहणा उसहो) व्रतरूपा धुरा व्रतधुरा, तद्वहनाद् वृषभः बलीवर्दः, तर्हि ईदृशाः सर्वेजिना वर्त्तन्ते, भगवति वृषभे को विशेषः?, इत्याशङ्कायां विशेषार्थमाह-(उसहाइमसुविणलंछणाओ य त्ति) जनन्या मरुदेव्या स्वामिन्या चतुर्दशस्वप्नेषु प्रथमं वृषभदर्शनात्, च पुनः, वृषभलाञ्छनाद्वा वृषभः १ । (रागाइजिओ अजिओ त्ति) रागाऽऽदिभिरजितो न पराजित इति अजितः २ । एवंविधाः सर्वेऽपि, अजितजिने को विशेषः?। (न जिया अक्खेसु पिउणंऽबा) भगवति गर्भस्थिते न जिता अक्षेषु पाशकक्रीडासु जिनजनकेन अम्बा जिनमाता । इति गाथार्थः ॥ ९ ॥

सुहअइमयसंभवओ, तइओ भुवि पउरसस्ससंभवओ ।
अभिनंदिजइ तुरिओ, हरीहिँ हरिणा सया गब्भे ॥१०॥

(सुहअइसयसंभवओ तइओ) शुभाऽतिशयसंभवतस्तृतीयः ३ । ईदृशाः सर्वे, संभवे को विशेषः?-(भुवि पउरसस्ससंभवओ) भुवि पृथिव्यां प्रचुरसस्यस्य बहुधान्यस्य संभवतः संभवजिनः ३ । (अभिनंदिज्जइ तुरिओ हरीहिं ति) अति सामस्त्येन नन्द्यते चतुष्षष्टिदेवेन्द्रैः स्तूयते इति तुर्योऽभिनन्दनः ४ । एवंविधाः सर्वे जिनाः, ततोऽस्य विशेषार्थमाह-(हरिणा सया गब्भे ति) देवेन्द्रेण सदा गर्भे गर्भस्थे सति, अभिनन्द्यते इति पूर्वोक्तमेवानुवर्त्तनीयमिति गाथाऽर्थः ॥ १० ॥

सयमवि सुहमइभावा, अंबाइ विवायभंगओ सुमई ।
अमलत्ता पउमपहो, पउमप्पहअंकसेज्जदोहलओ ॥११॥

(सयमवि सुहमइभावा) स्वयमपि शुभमतेर्भावात्सद्भावात् सुमतिः ५ (अंबाइ विवायभंगओ सुमइ त्ति) अम्बाया विवादभङ्गतः सुमतिरजूदिति जिनस्य सुमतिरिति नाम । अत्रैकः सामान्यार्थो, सर्वजिनसाधारणत्वात्, द्वितीयो विशेषार्थश्चेति सर्वत्रापि ज्ञेयम् । ५ । (अमलत्ता पउमपहो त्ति) अमलत्वात् निर्मलत्वात् पद्मप्रभः ६ (पउमप्पहअंकसेज्जदोहलओ त्ति) पद्मस्येव प्रभा यस्यासौ पद्मप्रभः, रक्तवर्णत्वात्, पद्माङ्कत्वात्पद्मप्रभः, तथा स्वामिनि गर्भस्थे जनन्याः पद्मशय्यायां दोहदः समुत्पन्नः, देवतया पूरितः, अतः पद्मप्रभः ६ । इति गाथार्थः ॥ ११ ॥

सुहपासो य सुपासो, गब्भे माऊइ तणुसुपासत्ता ।
सियलेस्सो चंदपहो, ससिप्पहापाणदोहलओ ॥१२॥

(सुहपासो य सुपासो) शोभनानि पार्श्वाणि यस्यासौ सुपार्श्वः ७ । (गब्भे माऊइ तणुसुपासत्ता) स्वामिनि गर्भस्थे मातुस्तनुः सुपार्श्वा जाता, अतः सुपार्श्वः ७ । (सियलेस्सो चंदपहो त्ति) सितलेश्यः शुक्ललेश्यस्तेन चन्द्रप्रभः ८ । (ससिप्पहापाणदोहलओ त्ति) भगवन्मातुः चन्द्रप्रभा शशिद्युतिस्तत्पानदोहदतो वा चन्द्रप्रभः ८ । इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

सुहकिरियाए सुविही, सयं पि जणणी वि गब्भकालम्मि ।
जयतावहरो सियलो, अंबाकरफाससमियपिउदाहो ॥१३॥

(सुहकिरियाए सुविही सयं पि त्ति) स्वयमपि शुभक्रियाः करोति यस्मात् कारणात् सुविधिः ९ । (जणणी वि गब्भकालम्मि) जिनजनन्यपि गर्भकाले गर्भसमये सुविधिः-सा सम्यगाचारे रता जाता अतः सुविधिरिति जिनस्य नाम दत्तम् ९ । (जयतावहरो सियलो त्ति) जगत्तापहरः, अतः शीतलः १० । (अंबाकरफाससमियपिउदाहो त्ति) अम्बायाः जनन्याः करस्पर्शात् समितः जनकदाहज्वरो येन स तथा इति शीतलः १० । इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

सेयकरो सिज्जंसो, जणणीए देवसिज्जअक्कमणा ।
सुरहरिवसुहिँ पुज्जो, पिउसमनामेण वसुपुज्जो ॥१४॥

(सेयकरो सिज्जंसो) श्रेयस्करः कल्याणकारी, तेन श्रेयांसः ११ । (जणणीए देवसिज्जअक्कमणा) भगवति गर्भस्थे जनन्या देव्यधिष्ठितशय्याया आक्रमणात् । श्रेयांसदेवताऽधिष्ठिता शय्या पूर्वमभूत् केनाप्याक्रमितुमशक्या, तथा जिनजनन्या गर्भानुभावतः सा शय्याऽऽक्रान्ता, श्रेयश्च जातमिति श्रेयांसः ११ । (सुरहरिवसुहिं पुज्जो) सुरैर्देवैर्हरिभिरिन्द्रैर्वसुभिर्देवविशेषैः पूज्यः, स एव वासुपूज्यः १२, (पिउसमनामेण वसुपुज्जो त्ति) पितृसमाननाम्ना वा वासुपूज्यः १२ । इति गाथार्थः ॥ १४ ॥

विमलो दुहा गयमलो, गब्भे माया वि विमलबुद्धितणू ।
नाणाइअणंतत्ता-ऽणंतोऽणंतमणिदाममुविणाओ ॥१५॥

(विमलो दुहा गयमलो त्ति) विमलो द्विधा गतमलो बाह्यान्तरमलरहितः, तेन विमलः १३, (गब्भे माया वि विमलबुद्धितणु त्ति) स्वामिनि गर्भस्थिते माता जनन्यपि निर्मलबुद्धिशरीरा जाता इति हेतोर्विमलः १३ । (नाणाइअणंतत्ताऽणंतो त्ति) ज्ञानदर्शनचारित्राणामानन्त्यतः-अनन्तः १४ (अणंतमणिदामसुविणाओ त्ति) अनन्तं महत्प्रमाणं यन्मणिदाम तत्स्वप्नतो वा अनन्तः १४ । इति गाथार्थः ॥ १५ ॥

धम्मसहावा धम्मो, गब्भे माया वि धम्मिया अहियं ।
संतिकरणा उ संती, देसे असिवोवसमकरणा ॥१६॥

(धम्मसहावा धम्मो) धर्मस्वभावाद् धर्मजिनः । (गब्भे माया वि धम्मिया अहियं ति) भगवति गर्भस्थिते माताऽपि धार्मिकाऽधिकं जाता इति हेतोः धर्मजिनः १५ । (संतिकरणा उ संती) शान्तिकरणात् शान्तिः १६ । (देसे असिवोवसमकरणा) तस्मिन् देशे अशिवस्योपद्रवस्योपशान्तिकरणाद्वा शान्तिः १६ । इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

कुंथु त्ति महीइ ठिओ, थूमम्मि अरयणथूभसुविणाओ ।
वंसाइवुड्डिकरणा, अरो महारयणअरसुविणा ॥१७॥

(कुंथु त्ति महीइ ठिओ त्ति) कौ पृथिव्यां स्थितवानिति निरुक्तात् कुन्थुः । (थूमम्मि अरयणथूभसुविणाओ) थूमिकाविनरत्नस्तूपस्वप्नात् कुन्थुः १७ । (वंसाइवुड्डिकरणा अरो त्ति) वंशाऽऽदिवृद्धिकरणात् अरः १८ । (महारयणअरसुविणा) महारत्नाऽरकस्वप्नादरोऽरजिनः १८ । इति गाथार्थः ॥ १७ ॥

मोहाईमल्लजया, मल्ली वरमल्लसिज्जदोहलओ ।
मुणिसुव्वओ महत्था-जिहो तहंऽवा वि तारिसी गब्भे ॥१८॥

(मोहाईमल्लजया मल्लि त्ति) मोहाऽऽदिमल्लजयाद् मल्लिः, अत्रार्षत्वादिकारः १९ । (वरमल्लसिज्जदोहलओ त्ति) वरमाल्यशय्यायाः

प्रधानपुष्पशय्याया दोहदाद् वा मल्लिः १९। (मुणिसुव्वओ अहत्था-ऽभिहो त्ति) मुनिसुव्रतः यथार्थाभिधो यथार्थनामा-मन्यते जगत्त्रिकालावस्थामिति मुनिः, सुष्ठु व्रतान्यस्येति सुव्रतः, ततो मुनिश्चासौ सुव्रतश्चेति, मुनिवत् सुव्रतो मुनिसुव्रत इति वा २० (तहऽम्बा वि तारिसी गब्भे त्ति) तथाऽम्बाऽपि माताऽपि, भगवति गर्भस्थे सति मुनिवत् सुव्रता जातेति मुनिसुव्रतः २०। इति गाथार्थः ॥१८॥

रागाऽऽइनामणेणं, गब्भे पुररोहिनामणा उ नमी ।
दुरियतरुचक्कनेमी-ऽरिट्ठमणिनेमिसुविणाओ ॥१९॥

(रागाऽऽइनामणेणं) रागद्वेषाऽऽदिशत्रूणां नामनेन नम्रीभूतत्वकरणेन नमिः। (गब्भे पुररोहिनामणा उ नमि त्ति) गर्भे पुररोधिनामनान्नमिः। अयमर्थः-भगवति गर्भस्थे प्रत्यन्तनृपैः रुद्धे नगरे भगवत्सुपुण्यशक्तिप्रेरितां प्राकारोपरि स्थितां भगवन्मातरमवलोक्य ते वैरिणो नृपाः प्रणता इति नमिः २१। (दुरियतरुचक्कनेमि त्ति) दुरितानि पापानि तद्रूपास्तरवस्तच्छिदे च चक्रनेमिः चक्रधारा, अतो नेमिः। (ऽरिट्ठमणिनेमिसुविणाओ त्ति) भगवन्मात्रा स्वप्नेऽरिष्टरत्नमयो नेमिर्दृष्टस्तेन "पदैकदेशे पदसमुदायात्" अरिष्टनेमिः २२। इति गाथार्थः ॥१९॥

भावाण पासणेणं, निसि जणणीसप्पपासणा पासो ।
नाणाइधणकुलाऽऽई-ण वड्ढणा वद्धमाणो य ॥२०॥

(भावाण पासणेणं) सकलसंसारवर्तिनां भावानां पदार्थानां दर्शनेनाऽवलोकनेन पार्श्वः। (निसि जणणीसप्पपासणा पासो त्ति) निशि रात्रौ जनन्या शय्यासमीपे व्रजन् सर्पोऽवलोकित इति पार्श्वः २३। (नाणाइधणकुलाईण वड्ढणा वद्धमाणो त्ति) ज्ञानदर्शनचारित्राणां वर्द्धनाद् धनकुलाऽऽदीनां च वर्द्धनतो वर्द्धमानः। अत्र ज्ञानाऽऽदीनां वर्द्धनाद् वर्द्धमान इति सामान्यार्थः। कुलधनाऽऽदीनां वर्द्धनाद् वर्द्धमान इति विशेषार्थश्च २४। इति गाथार्थः ॥२०॥

अथ वीर इति नामापेक्षया सामान्यविशेषार्थमाह-

अहवा भावारिजया, वीरो दुट्ठसुरवामणीकरणा ।
सामन्नविसेसेहिं, कमेण नामत्थदारदुगं ॥२१॥

(अहवा भावारिजया वीरो त्ति) अथवा भावारीणामन्तरङ्गाऽऽरीणां जयाद् वीरः २४। (दुट्ठसुरवामणीकरण त्ति) आमलकीक्रीडायां दुष्टसुरवामनीकरणाद् वीरः २४। (सामन्नविसेसेहिं ति) सामान्यविशेषाभ्यां क्रमेणानुक्रमेण (नामत्थदारदुगं) नामार्थेन नाम्नोऽर्थाख्येन द्वारद्विकं ज्ञेयमिति गाथार्थः ॥ २१ ॥ सत्त० ४०-४१ द्वार।

☞ "एतस्यामवसर्पिण्या-मृषभोऽजितशंभवौ ।
अभिनन्दनः सुमति-स्ततः पद्मप्रभाभिधः ॥ २६ ॥
सुपार्श्वश्चन्द्रप्रभश्च, सुविधिश्चाऽथ शीतलः ।
श्रेयांसो वासुपूज्यश्च, विमलोऽनन्ततीर्थकृत् ॥ २७ ॥
धर्मः शान्तिः कुन्थुररो, मल्लिश्च मुनिसुव्रतः ।
नमिर्नेमिः पार्श्वो वीर-श्चतुर्विंशतिरर्हताम् " ॥ २८ ॥

एतस्यामिति वर्तमानायामवसर्पिण्यां दशसागरोपमकोटीकोटिप्रमाणायां कालविशेषे, ऋषति गच्छति परमपदमिति "ऋषिवृषिलुसिभ्यः कित्" ॥ (उणा० ३२१) इत्यभे ऋषभः। यद्वा-"ऊर्वोर्वृषभलाञ्छनमभूद्भगवतो जनन्या च चतुर्दशानां स्वप्नानामादावृषभो दृष्टस्तेन ऋषभः ॥१॥ परीषहाऽऽदिभिर्न जित इति अजितः। यद्वा-गर्भस्थेऽस्मिन् द्यूते राज्ञा जननी न जितेत्यजितः ॥ २ ॥ शं सुखं भवत्यस्मिन् स्तुते शंभवः। यद्वा-गर्भगतेऽप्यस्मिन्नभ्यधिकसस्यसंभवात् संभवोऽपि ॥३॥ अभिनन्द्यते देवेन्द्राऽऽदिभिरित्यभिनन्दनः। जुजयादित्वादनट्। यद्वा-गर्भात्प्रभृत्येव अभीक्ष्णं शक्रेणाऽभिनन्दनादभिनन्दनः ॥ ४ ॥ शोभना मतिरस्य सुमतिः। यद्वा-गर्भस्थे जनन्याः सुनिश्चिता मतिरभूदिति सुमतिः ॥ ५ ॥ निष्पङ्कतामङ्गीकृत्य पद्मस्येव प्रभाऽस्य पद्मप्रभः। यद्वा-पद्मशयनदोहदो मातुर्देवतया पूरित इति, पद्मवर्णश्च भगवानिति वा पद्मप्रभः ॥६॥ ॥ २६ ॥ शोभनौ पार्श्वावस्य सुपार्श्वः। यद्वा-गर्भस्थे भगवति जनन्यपि सुपार्श्वाऽभूदिति सुपार्श्वः ॥ ७ ॥ चन्द्रस्येव प्रभा ज्योत्स्ना सौम्यलेश्याविशेषोऽस्य चन्द्रप्रभः। तथा गर्भस्थे देव्याः चन्द्रपानदोहदोऽभूदिति चन्द्रप्रभः ॥ ८ ॥ शोभनो विधिर्विधानमस्य सुविधिः। यद्वा-गर्भस्थे भगवति जनन्यप्येवमिति सुविधिः ॥ ९ ॥ सकलसत्त्वसन्तापहरणात् शीतलः। तथा गर्भस्थे भगवति पितुः पूर्वोत्पन्नोऽचिकित्स्यपित्तदाहो जननीकरस्पर्शादुपशान्त इति शीतलः ॥ १० ॥ श्रेयांसावंसावस्य श्रेयांसः, पृषोदराऽऽदित्वात्। यथा-गर्भस्थेऽस्मिन् केनाप्यनाक्रान्तपूर्वा देवताऽधिष्ठितशय्या जनन्याऽऽक्रान्तेति श्रेयो जातमिति श्रेयांसः ॥ ११ ॥ वसुपूज्यनृपतेरयं वासुपूज्यः। यद्वा-गर्भस्थेऽस्मिन् वसु हिरण्यं, तेन वासवो राजकुलं पूजितवानिति। वसवो देवविशेषाः, तेषां पूज्यो वा वसुपूज्यः, प्रज्ञाऽऽद्यणि वासुपूज्यः ॥ १२ ॥ विगतो मलोऽस्य, विमलज्ञानाऽऽदियोगाद्वा विमलः। यद्वा-गर्भस्थे मातुर्मतिस्तनुश्च विमला जातेति विमलः ॥ १३ ॥ न विद्यते गुणानामन्तोऽस्यानन्तः अनन्तजिदेकदेशो वा अनन्तः, "भीमो भीमसेनः" इति न्यायात्। स चासौ तीर्थकृच्च अनन्ततीर्थकृत् ॥ १४ ॥ २७ ॥ दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसङ्घातं धारयतीति धर्मः। तथा गर्भस्थे जननी दानाऽऽदिधर्मपरा जातेति धर्मः ॥ १५ ॥ शान्तियोगात् तदात्मकत्वात् तत्कर्तृकत्वाच्चाऽयं शान्तिः। तथा गर्भस्थे पूर्वोत्पन्नाऽशिवशान्तिरभूदिति शान्तिः ॥ १६ ॥ कुः पृथ्वी तस्यां स्थितवानिति कुन्थुः, पृषोदराऽऽदित्वात्। तथा-गर्भस्थे भगवति जननी रत्नानां कुन्थुराशिं दृष्टवतीति कुन्थुः ॥ १७ ॥ "सर्वो नाम महासत्त्वः, कुले य उपजायते। तस्याऽभिवृद्धये वृद्धै-रसावर उदाहृतः ॥ १ ॥" इति वचनादरः। तथा-गर्भस्थे भगवति जनन्या स्वप्ने सर्वरत्नमयोऽरो दृष्ट इत्यरः ॥ १८ ॥ परीषहाऽऽदिमल्लजयान्निरुक्तान्मल्लिः। तथा-गर्भस्थे भगवति मातुः सुरभिकुसुममाल्यशयनीयदोहदो देवतया पूरित इति मल्लिः ॥ १९ ॥ मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः, "मनेरुदेतौ चास्य वा" ॥ (उणा० ६१२) इति इप्रत्यये उपान्त्यस्योत्वं, शोभनानि व्रतान्यस्य सुव्रतः, मुनिश्चासौ सुव्रतश्च मुनिसुव्रतः। तथा-गर्भस्थे जननी मुनिवत् सुव्रता जातेति मुनिसुव्रतः ॥ २० ॥ परीषहोपसर्गाऽऽदिनामनात् "नमेस्तु वा" ॥ (उणा० ६१३) इति विकल्पेनोपान्त्यस्येकाराभावपक्षे नमिः। यद्वा-गर्भस्थे भगवति परचक्रनृपैरपि प्रणतिः कृतेति नमिः ॥ २१ ॥ धर्मचक्रस्य नेमिवन्नेमिः; नेमीतीकारान्तोऽपि दृश्यते। यथा-"वन्दे सुव्रतनेमिनौ।" इति ॥ २२ ॥ स्पृशति ज्ञानेन सर्वभावानिति पार्श्वः। तथा-गर्भस्थे जनन्या निशि शयनीयस्थयाऽन्धकारे सर्पो दृष्ट इति गर्भानुभावोऽयमिति मत्वा पश्यतीति निरुक्तात् पार्श्वः, पार्श्वोऽस्य वैयावृत्त्यकरो यक्षः, तस्य नाथः पार्श्वनाथः, "भीमो भीमसेनः" इति न्यायाद् वा पार्श्वः ॥ २३ ॥ विशेषेण ईरयति प्रेरयति कर्माणीति वीरः ॥ २४ ॥ इत्यभिधानचिन्तामणौ श्रीहेमचन्द्रसूरयः। ☜

निशिभक्तम्-

मूलगुणेसुं दुण्हं, सेसाणुत्तरगुणेसु निसि भुत्तं (२६९)

द्वयोर्जिनयोः ऋषभ१वीरयोः २४ शासने, मूलगुणेषु निशि भोजनप्रत्याख्यानम्, (सेसाणुत्तरगुणेसु निसि भुत्तं) शेषाणां द्वाविंशतिमितानां जिनानामुत्तरगुणेषु निशि भोजनप्रत्याख्यानम् । सत्त० १२४ द्वार ।

प्रकीर्णकानि-

........................सव्वेसि पइन्नगा ससीसकया ।

नियनियसीसपमाणा, नेया...................... (२७०)

सर्वेषां जिनानां प्रकीर्णकानि स्वशिष्यकृतानि भवन्ति निजनिजशिष्यप्रमाणानि, येषां जिनानां यावन्तः शिष्यास्तेषां तावत्प्रमाणानि प्रकीर्णकानि ग्रन्थविशेषा ज्ञेयाः । सत्त० १२४ द्वार ।

(९७) पञ्चकल्याणकम्-

पउमप्पभे णं अरहा पंच चित्ते होत्था । तं जहा-चित्ताहिं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कंते, चित्ताहिं जाए, चित्ताहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, चित्ताहिं अणंते अणुत्तरे णिव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने, चित्ताहिं परिनिव्वुए ॥ १ ॥

पुप्फदंते णं अरहा पंच मूले होत्था । मूलेणं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कंते एवं चेव ।

एएणं अभिलावेणं इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ-

" पउमप्पभस्स चित्ता, मूले पुण होइ पुप्फदंतस्स ।
पुव्वाऽसाढा सीयल-स्स उत्तरा विमलस्स भद्दवया ॥ १ ॥
रेवइ य अणंतजिणो, पूसो धम्मस्स संतिणो भरणी ।
कुंथुस्स कत्तियाओ, अरस्स तह रेवईओ य ॥ २ ॥
मुणिसुव्वयस्स सवणो, आसिणि नमिणो य नेमिणो चित्ता ।
पासस्स विसाहाओ, पंच य हत्थुत्तरे वीरो ॥ ३ ॥ "

समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरे होत्था । तं जहा-हत्थुत्तराहिं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कंते, हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरइ, हत्थुत्तराहिं जाए, हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता ०जाव पव्वइए, हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे ०जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने ।

पद्मप्रभ ऋषभाऽऽदिषु षष्ठः, पञ्चसु च्यवनाऽऽदिदिनेषु चित्रानक्षत्रविशेषो यस्य स पञ्चचित्रः, चित्राभिरिति रूढ्या बहुवचनम् । च्युतोऽवतीर्ण उपरिमोपरिमग्रैवेयकादेकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकात्, च्युत्वा च (गब्भं ति) गर्भे कुक्षौ व्युत्क्रान्त उत्पन्नः कौशाम्ब्यां धराभिधानमहाराजभार्यायाः सुसीमानामिकायाः माघमासबहुलषष्ठ्यां, जातो गर्भनिर्गमेन कार्त्तिकबहुलद्वादश्यां, तथा मुण्डो भूत्वा केशकषायाऽऽद्यपेक्षया, अगाराभिष्क्रम्यानगारितां श्रमणतां प्रव्रजितो गतोऽनगारतया च प्रव्रजितः कार्त्तिकशुद्धत्रयोदश्यां, तथाऽनन्तं पर्यायानन्तत्वात्, अनुत्तरं सर्वज्ञानोत्तमत्वात्, निर्व्याघातमप्रतिपातित्वात्, निरावरणं सर्वथा स्वावरणक्षयात्, कटकुट्याऽऽद्यावरणाभावाद्वा, कृत्स्नं सकलपदार्थविषयत्वात्, परिपूर्णं स्वावयवापेक्षयाऽखण्डं पौर्णमासीचन्द्रबिम्बवत् । किमित्याह-केवलं ज्ञानान्तरासहायत्वात्, संशुद्धत्वाद्वा । अत एव वरं प्रधानं केवलवरं, ज्ञानं च विशेषावभासं, दर्शनं च सामान्यावभासं ज्ञानदर्शनं, तच्च तच्चेति केवलवरज्ञानदर्शनं, समुत्पन्नं जातम्, चैत्रशुक्लपञ्चदश्याम् । तथा परिनिर्वृतो निर्वाणं गतः, मार्गशीर्षबहुलैकादश्याम् । आदेशान्तरेण फाल्गुनबहुलचतुर्थ्यामिति ॥ (एवं चेव त्ति) पद्मप्रभसूत्रमिव पुष्पदन्तसूत्रमप्यध्येतव्यम्, एवमनन्तरोक्तस्वरूपेण । एतेनानन्तरत्वात्प्रत्यक्षेणाभिलापेन सूत्रपाठेनमास्तिकाः सूत्रसंग्रहणिगाथा अनुगन्तव्या अनुसर्त्तव्याः शेषसूत्राभिलापनिष्पादनार्थम् । (पउमप्पभस्सेत्यादि) तत्र पद्मप्रभस्य चित्रानक्षत्रं च्यवनाऽऽदिषु पञ्चसु स्थानकेषु भवतीत्यादिगाथासरार्थो वक्तव्यः, सूत्राभिलापस्त्वाद्यसूत्रद्वयस्य साक्षाद्दर्शित एव । इतरेषां त्वेवम्-"सीयले णं अरहा पंच पुव्वासाढे होत्था । तं जहा-पुव्वासाढाहिं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कंते, पुव्वासाढाहिं जाए ।" इत्यादि । एवं सर्वाण्यपीति । व्याख्या त्वेवम्-पुष्पदन्तो नवमतीर्थकर आनतकल्पादेकोनविंशतिसागरोपमस्थितिकात् फाल्गुनबहुलनवम्यां मूलनक्षत्रे च्युतः, च्युत्वा काकन्दीनगर्यां सुग्रीवराजभार्यायाः रामाभिधानायाः गर्भत्वेन व्युत्क्रान्तो मूलनक्षत्रे मार्गशीर्षबहुलपञ्चम्यां जातः, तथा मूल एव ज्येष्ठशुद्धप्रतिपदि, मतान्तरेण-मार्गशीर्षबहुलषष्ठ्या, निष्क्रान्तः । तथा मूल एव कार्त्तिकशुद्धतृतीयायां केवलज्ञानमुत्पन्नम् । तथाऽश्वयुजः शुद्धनवम्याम्, आदेशान्तरेण-वैशाखबहुलषष्ठ्यां, निर्वृत इति । तथा शीतलो दशमजिनः प्राणतकल्पाद्विंशतिसागरोपमस्थितिकाद्वैशाखबहुलषष्ठ्यां पूर्वाषाढानक्षत्रे च्युतः, च्युत्वा च भद्दिलपुरे दृढरथनृपतिभार्याया नन्दायाः गर्भतया व्युत्क्रान्तः, तथा पूर्वाषाढास्वेव माघबहुलद्वादश्यां जातः, तथा पूर्वाषाढास्वेव माघबहुलद्वादश्यां निष्क्रान्तः, तथा पूर्वाषाढास्वेव पौषस्य शुक्ले, मतान्तरेण-बहुलपक्षे, चतुर्दश्यां ज्ञानमुत्पन्नम्, तथा तत्रैव नक्षत्रे श्रावणशुद्धपञ्चम्यां, मतान्तरेण-श्रावणबहुलद्वितीयायां, निर्वृत इति । एवं गाथात्रयोक्तानां शेषाणामपि सूत्राणां प्रथमानुयोगपदानुसारेणोपयुज्य व्याख्या कार्या । नवरं चतुर्दशसूत्रेऽभिलापविशेषोऽस्तीति तद्दर्शनार्थमाह-(समणे इत्यादि) हस्तोपलक्षिता उत्तरा हस्तोत्तरा, हस्तो वोत्तरो यासां ता हस्तोत्तरा उत्तराफाल्गुन्यः, पञ्चसु च्यवनगर्भहरणाऽऽदिषु हस्तोत्तरा यस्य स तथा, गर्भात् गर्भस्थानात् । (गब्भं ति) गर्भे गर्भस्थानान्तरे संहृतो नीतो, निर्वृतस्तु स्वातिनक्षत्रे कार्त्तिकामावास्यायामिति । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

(९८) पर्यायान्तकृद्भूमिः-

तेसिं चिय नाणाओ, मुणीण गयकम्मयाण सिद्धिगमो ।
अंतमुहुत्ते दुतिचउ-वरिसेसुं इगदिणाईसु ॥ ३२४ ॥

तेषामृषभनेमिपार्श्वान्तिमशेषाणां केवलज्ञानाद् मुनीनां गतकर्मकाणां सिद्धिगमो मोक्षगमनं संजातम् । ऋषभजिनस्य केवलोत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तेन मोक्षमार्गश्चलितः, प्रथमभगवति मरुदेवी स्वामिनी मोक्षं गता १ । नेमिजिनस्य केवलज्ञानाद्वर्षद्वयादनन्तरं मोक्षमार्गश्चलितः २ । पार्श्वजिनस्य केवलोत्पत्त्यनन्तरं वर्षत्रयेण मोक्षमार्गश्चलितः ३ । वीरजिनस्य केवलज्ञानादनन्तरं वर्षचतुष्टयादनन्तरं मोक्षमार्गश्चलितः ४ । तत्कल्पति-

रिकजिनानां विंशतिपारगतानामेकादिनाऽऽदिषु मोक्षमार्गश्रितः ५ । इति गाथार्थः ॥ ३९४ ॥ सप्त० १५९ द्वार ।

अथ प्रतिक्रमणसंख्या-

देसिय-राइय-पक्खिय--चउमासिय--वच्छरीयनामाओ ।
दुण्हं पण पडिक्कमणा, मज्झिमगाणं तु दो पढमा ।३७६।

दैवसिक-रात्रिक-पाक्षिक- चातुर्मासिक--सांवत्सरिकनामतः (दुण्हं पण पडिक्कमणा) द्वयोर्जिनयोः प्रथमचरमजिनयोः पञ्चाऽपि प्रतिक्रमणानि भवन्ति । (मज्झिमगाणं तु दो पढम त्ति) मध्यवर्त्तिनां द्वाविंशतिजिनानां शासने द्वे प्रथमे प्रतिक्रमणे दैवसिकरात्रिकलक्षणे भवतः, नान्य इति गाथार्थः ।३८६। सप्त० १३३ द्वार ।

प्रथमगणधरनामानि-

एएसिं चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं पढमसीसा होत्था । तं जहा-

" पढमेऽत्थ उसभसेणे, बीए पुण होइ सीहसेणे य ।
चारूरु वज्जणाभे, चमरे तह सुव्वए विदब्भे य ॥ ३९ ॥
दिन्ने वाराहे पुण, आणंदे गोथुभे सुहम्मे य ।
मंदर जसे अरिट्ठे, चक्काउहसंबकुंभअभिए य ॥४०॥
इंदकुंभे य सुंभे, वरदत्ते अज्जदिन्न इंदभूई य ।
उदितोदितकुलवंसा, विसुद्धवंसा गुणेहिँ उववेया ।
तित्थप्पवत्तयाणं, पढमा सिस्सा जिणवराणं ॥४१॥ "

पुण्डरीको वृषभसेनाऽपरनामा १, सिंहसेनः २, चारुः ३, वज्रनाभः ४, चमरगणिः ५, सुव्रतः (मतान्तरेण प्रद्योतनः) ६, विदर्भः ७, दत्तः ८, वाराहः ९, आनन्दः (मतान्तरेण पद्मनन्दः) १०, कौस्तुभः (कृतार्थः) ११, सुभूमः (सुधर्मा) १२, मन्दरः १३, यशोधरः १४, अरिष्टः १५, चक्रायुधः १६, साम्बः १७, कुम्भः १८, अभिनयः (भिषजः) १९, इन्द्रकुम्भः (मल्लिः) २०, शुम्भः २१, वरदत्तः २२, आर्यदत्तः २३, इन्द्रभूतिः २४। एतानि प्रथमगणधराणां नामानि * । स० ।

प्रथमप्रवर्तिन्यः-

एएसि णं चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं पढमासिस्सणी होत्था । तं जहा-

" बंभी फग्गू सामा, अजिया तह कासवी रई सोमा ।
सुमणा वारुणि सुजसा, धारणि धरणी धरा पउमा ।४२।
अज्जा सिवा सुई दा-मणी य रक्खी य बंधुवई ।
पुप्फवई अनिला ज-क्खदिन्न तह पुप्फचूला य ॥४३॥
चंदणसहिआ पवत्तणि, चउवीसाणं जिणवरिंदाणं ॥ "

तत्र ब्राह्मी, फल्गुः, श्यामा, अजिता, काश्यपी, रतिः, सोमा, सुमना, वारुणी, सुलसा (सुयशाः) धारिणी, धरणी, धरा, पद्मा,

* "सिरिवसहसेण पहुसी-हसेण चारुरु वज्जनाहऽक्खा ।
चमरो पज्जोयविय-ब्भदिन्नपहुणो वराहो य ॥२०६॥
पउमंद कयत्थो वि य, सुहम्ममंदरजसा अरिट्ठो य ।
चक्काउह संबो कुं-भ भिसह मल्ली य सुंभो य ॥२०७॥
वरदत्त अज्जदिन्ना, तहिंदभूई य गणहरा पढमा ।" प्रव० ८ द्वार ।
इति प्रवचनसारोद्धाराऽऽदौ नामभेदोऽपि ।

इति प्रथमगाथया चतुर्दशप्रवर्त्तिनीनामानि । आर्या, शिवा, श्रुतिः (शुभा) दामिनी (अञ्जुका) रक्षी (भावितात्मा) बन्धुमतिनामा, पुष्पवती, अनिला (अमिला) यक्षदत्ता (यक्षिणी) तथा पुष्पचूला, चः समुच्चये, चन्दनासहितास्तु एताः प्रवर्तिन्यः । प्रव० ९ द्वार ।

प्रथमश्रावकाः-

सेयंस नंद सुव्वो, संखो उसहस्स नेमिपमुहाणं । (२१८)

श्रीऋषभस्य प्रथमः श्रावकः श्रेयांसनामा १ । नेमिजिनस्य नन्दः २ । पार्श्वस्य सुव्रतः ३ । शङ्खो वीरस्य ४ । शेषाणां विंशतिजिनानामप्रसिद्धाः, पुरातनग्रन्थेष्वनिबन्धनात् । सप्त० १०५ द्वार ।

प्रथमश्राविकाः--

साहि सुभद्दा महसु-व्वया सुनंदा य सुलसा य ॥(२१७)

ऋषभस्य सुभद्रा १ । नेमेः महासुव्रता २ । पार्श्वस्य सुनन्दा ३ । वीरस्य सुलसा ४ । अन्येषामप्रसिद्धाः, ग्रन्थेष्वनिबन्धनात् । सप्त० १०६ द्वार ।

प्रत्येकबुद्धमुनिसंख्या-

नियनियसीसपमाणा, नेया पत्तेअबुद्धा वि । (२७०)

प्रत्येकबुद्धा अपि मुनयो निजनिजशिष्यप्रमाणा ज्ञेयाः । सप्त० १२५ द्वार । ('मुणि' 'साहु' शब्दे विशेषः)

(प्रमाणाङ्गुलम् ' अंगुल ' शब्दे प्रथमभागे ४४ पृष्ठे निरूपितम्)

प्रमादः--

वीरुसहाण पमाओ, अंतमुहुत्तं तहेवऽहोरत्तं । (१७९)

वीरस्यान्तर्मुहूर्त्तमात्रं प्रमादो जातः । ऋषभस्याऽहोरात्रं जातः । अन्येषां प्रमादो नास्ति । सप्त० ८५ द्वार ।

परीषहाः-

उदिता परीसहा सिं, पराइया ते य जिणवरिंदेहिं ।

उदिताः परीषहाः शीतोष्णाऽऽद्य एषां भगवतां तीर्थकृतां, परं ते परीषहाः सर्वैरपि जिनवरेन्द्रैः पराजिताः । गतं परीषहद्वारम् । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

(९९) अथ जिनप्रातिहार्याण्याह-

कंकेल्लि कुसुमवुट्ठी, दिव्वज्झुणिचामरासणाइं च ।
भावलयभेरि (दुंदुहि) छत्तं, जिणाण इय पाडिहेराइं ।२०८।

(कंकेल्लिकुसुमवुट्ठि त्ति) जिनशरीराद् द्वादशगुणः कङ्केल्लिपादपः, अशोकाऽपरपर्यायः १ । पञ्चवर्णकुसुमानां वृष्टिः २ । (दिव्वज्झुणि चामरासणाइं च) दिव्यध्वनिः ३, श्वेतचामराणि ४, स्वर्णरत्नाऽऽत्मकं सिंहासनम् ५ । (भावलयभेरिदुंदुहि त्ति) भावलयं मौलिपृष्ठे भामण्डलम् ६, भेरिदुन्दुभिनामा वाद्यविशेषः ७ । (छत्तं) छत्रमातपत्रं जिनमस्तकोपरि ८ । (जिणाण इय पाडिहेराइं) जिनानामेतानि प्रातिहार्याण्युक्तानीति गाथार्थः ॥२०८॥ सप्त० ९९ द्वार ।

(तीर्थकराणां पारणकालो, पारणद्रव्याणि च ' उसह ' शब्दे द्वितीयभागे ११३३ पृष्ठे निरूपितानि)

(१००) पारणदायकाः-

एएसि णं चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं पढमभिक्खादायारो होत्था । तं जहा-

" सिज्जंस बंभदत्ते, सुरिंददत्ते य इंददत्ते य ।
पउमे य सोमदेवे, माहिंदे सोमदत्ते य ॥ २६ ॥
पुस्से पुणव्वसू पुण, णंद सुणंदे जए य विजए य ।
तत्तो य धम्मसीहे, सुमित्त तह वग्घसीहे अ ॥ २७ ॥
अपराजिएँ विससेणे, वीसइमो होइ उसभसेणो य ।
दिन्ने वरदत्त धन्ने, बहुले तह आणुपुव्वीए ॥ २८ ॥
एए वि सुद्धलेसा, जिणवरभत्तीइ पंजलिउडाओ ।
तं कालं तं समयं, पडिलाभेई जिणवरिंदे " ॥ २९ ॥

श्रेयांसः १,ब्रह्मदत्तः २,सुरेन्द्रदत्तः ३,इन्द्रदत्तः ४,पद्मः ५, सोमदेवः ६,माहेन्द्रः ७,सोमदत्तः ८,पुष्यः ९,पुनर्वसुः १०,नन्दः ११, सुनन्दः १२, जयः १३, विजयः १४,धर्मसिंहः १५. सुमित्रः १६, व्याघ्रसिंहः १७, अपराजितः १८, विश्वसेनः १९,ऋषभसेनः २० (पाठान्तरे-ब्रह्मदत्तः २०) दिन्नः २१,वरदत्तः २२ (पाठान्तरे धर-दिन्नः २२) धन्यः २३,बहुलब्राह्मणः २४। एते आनुपूर्व्या जिनानां प्रथमभिक्षादातारो ज्ञेयाः । स० ।

पारणदायकगतिः-

अट्ठ य तब्भवसिद्धा, सेसा तम्मि उ भवे व तइए वा ।
सिज्झिस्संति सगासे, जिणाण पडिवन्नपव्वज्जा ॥१६७॥

अष्टौ प्रथमदातारः तस्मिन्नेव भवे मोक्षं गताः, शेषाः षोडश-जिनप्रथमदातारः तस्मिन्नेव भवे तृतीये वा भवे जिनानां समीपे प्रतिपन्नप्रव्रज्याः सन्तः सेत्स्यन्ति मोक्षं यास्यन्तीति । सत्त० ७८ द्वार ।

पारणदायकदिव्यपञ्चकम्-

पण दिव्वा जलकुसुमा-ण वुट्ठि वसुहार चेलउक्खेवो ।
दुंदुहिझुणी सुराणं, अहो सुदाणं ति घोसणया ॥१६८॥
(विवरणं तु 'उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११३३ पृष्ठे गतम्)

तत्र पारणदायकवसुधारावृष्टिः-

सव्वेसिं पि जिणाणं, जहियं लद्धा उ पढमभिक्खा उ ।
तहियं वसुधाराओ, सरीरमेत्ता उ वुट्ठाओ ॥३२॥

सर्वेषामपि जिनानां यत्र प्रथमभिक्षा लब्धा,तत्र वसुधारा (स-रीरमेत्ता उ त्ति) पुरुषमात्रा उच्चत्वेन देवैर्वृष्टा । स० । सत्त० ।

सड्ढदुवालसकोडी, सुवण्णवुट्ठीइ होइ उक्कोसा ।
लक्खा सड्ढदुवालस, जहन्निया होइ वसुहारा ॥१६९॥

सार्द्धद्वादशकोटिस्वर्णवृष्टिश्च भवति उत्कृष्टा, सार्द्धद्वादश-लक्षाणि जघन्यका भवति वसुधारा ॥१६९॥ सत्त० ८० द्वार ।

जिनानां पारणकपुराण्याह-

हत्थिणपुरं अउज्झा, सावत्थी तह अउज्झ विजयपुरं ।
बंभत्थलं च पाडलि-संडं तह पउमसंडं च ॥ १६१ ॥
सेयपुरं रिट्ठपुरं, सिद्धत्थ महापुरं च धन्नकडं ।
तह वद्धमाण सोमण-स मंदिरं चेव चक्कपुरं ॥१६२॥
रायपुरं तह मिहिला, रायगिहं तह य होइ वीरपुरं ।
बारवई कोवकडं, कुल्लागं पारणपुराइं ॥१६३॥

हस्तिनापुरम् । पाठान्तरे-गजपुरम् १। अयोध्या २। श्रावस्ती ३ । अयोध्या ४ । विजयपुरम् ५ । ब्रह्मस्थलम् ६ । पाटलिखण्ड-म् ७ । तथा पद्मखण्डं नगरम् ८ ॥ श्वेतपुरम् ९ । रिष्टपुरम् १० । सिद्धार्थपुरम् ११ । महापुरम् १२ । धान्यकटम् १३ । वर्द्धमान-पुरम् १४ । सौमनस्यम् १५ । मन्दिरपुरम् १६ । चक्रपुरम् १७ ॥ राजपुरम् १८ । मिथिला १९ । राजगृहम् २० । वीरपुरम् २१ । द्वा-रवती २२ । कोपकटं नगरम् २३ । कुल्लागः सन्निवेशः २४ । एतानि जिनानां पारणकपुराणीत्यर्थः । सत्त० ७९ द्वार ।

(१०१) तीर्थकरपितृनाम-

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे णं ओसप्पिणीए चउव्वीसं तित्थगराणं पियरो होत्था । तं जहा-

" णाभी य जियसत्तू य, जियारी संवरे वि य ।
मेहे धरे पइट्ठे य, महसेणे य खत्तिए ॥ ५ ॥
सुग्गीवे दढरहे विण्हू, वसुपुज्जे य खत्तिए ।
कयवम्मा सीहसेणे, भाणू य विस्ससेणे य ॥ ६ ॥
सूरे सुदंसणे कुंभे, सुमित्ते विजए समुद्दविजए य ।
राया य आससेणे, सिद्धत्थे च्चिय खत्तिए ॥ ७ ॥
उदितोदितकुलवंसा, विसुद्धवंसा गुणेहिँ उववेया ।
तित्थप्पवत्तयाणं, एए पियरो जिणवराणं ॥ ८ ॥ "

नाभिः १, जितशत्रुः २, जितारिः ३, संवरः ४,मेघः ५,धरः ६, प्रतिष्ठः ७, महासेनः ८, सुग्रीवः ९, दृढरथः १०, विष्णुः ११, व-सुपूज्यः १२, कृतवर्मा १३, सिंहसेनः १४, भानुः १५, विश्वसेनः १६, सूरः १७, सुदर्शनः १८, कुम्भः १९, सुमित्रः २०, विजयः २१,समुद्रविजयः २२,अश्वसेनो राजा २३, सिद्धार्थः २४। एते क्रमेण चतुर्विंशतिरर्हतां पितरः क्षत्रिया राजानः । स० ।

तीर्थकरपितृणां गतिः-

नागेसुं उसभपिआ, सेसाणं सत्त हुंति ईसाणे ।
अट्ठ य सणंकुमारे, माहिंदे अट्ठ बोधव्वा ॥३२८॥

नागेषु नागकुमारेषु भवनपतिद्वितीयनिकायवर्तिषु सुरेषु श्रीऋषभनाथपिता नाभिनामा, गत इति शेषः । तथा शेषा-णामजितनाथप्रभृतीनां चन्द्रप्रभान्तानां सप्तानां पितरः भवन्ति गता ईशाने द्वितीयदेवलोके । सैद्धान्तिकास्तु-श्रीअजितस्वा-मिपितुर्जितशत्रोर्मुक्तिगमनमाचक्षते, अनुयोगद्वारादौ तथैव भ-णनात् । यदाह श्रीहेमसूरिः-

" राजा बाहुबलिः सूर्य-यशाः सोमयशा अपि ।
अन्येऽप्यनेकशः केऽपि, शिवं केऽपि दिवं ययुः ॥ १ ॥
जितशत्रुः शिवं प्राप, सुमित्रस्त्रिदिवं गतः ॥ "
इति योगशास्त्रे, त्रिषष्टिचरित्रेऽपि च ।

तथा सुविधिप्रभृतीनामष्टौ च पितरः सनत्कुमारे तृतीयदेव-लोके । तथा कुन्थुप्रमुखाणामष्टौ पितरो माहेन्द्रे चतुर्थदेवलो-के गता बोद्धव्याः । प्रव० १२ द्वार ।

(१०२) पूर्वप्रवृत्तिकालः-

पुव्वपवित्ति जिणाणं, असंखकालो इहासि जा कुंथू ।
पासं जा संखिज्जो, वरिससहस्सं तु वीरस्स ॥ ३२७ ॥

ऋषभाऽऽदीनां पूर्वप्रवृत्तिकाल एवम्-ऋषभादारभ्य कुन्थु-जिनं यावत् असंख्यातकालमासीत् पूर्वप्रवृत्तिः । अराजिना-दारभ्य पार्श्वनाथपर्यन्तं संख्यातकालः पूर्वप्रवृत्तिः । वीरस्य सहस्रवर्षपर्यन्तं पूर्वप्रवृत्तिरासीत् । सत्त० १६२ द्वार ।

पूर्वविच्छेदकालमानम्-

एमेव छेयकालो, नवरं वीरस्स वीससमसहसा ।

पासस्स नत्थि सो वा, सेससुयपावीपि जा नित्थं ॥२१८॥

एवमेव पूर्वरीत्या छेदकालोऽपि ज्ञेयः । श्रीऋषभस्यासंख्यातकालं यावत्पूर्वव्युच्छेदः । एवं कुन्थुजिनं यावद् ज्ञेयम् । ततोऽरजिनस्य संख्यातकालं यावत् पूर्वव्युच्छेदः । एवं पार्श्वनाथं यावद् ज्ञेयम् । नवरं वीरस्य विंशतिवर्षसहस्राणि पूर्वविच्छेदः । श्रीपार्श्वनाथस्य स पूर्वविच्छेदकालो वा नास्ति । अत्र विकल्पः केषांचिदाचार्याणां मतमास्त्यित्यावसेयः । शेषश्रुतप्रवृत्तिः यावत्तीर्थम् । अयमर्थः-यावद् यस्य तीर्थङ्करस्य तीर्थं तावत्कालं पूर्वव्यतिरिक्ता श्रुतप्रवृत्तिरिति गाथार्थः । सत्त० १६२ द्वार ।

(१०३) पूर्वभवनिरूपणम्-

(ऋषभस्वामी पूर्वभवाः ' उसह ' शब्दे द्वितीयभागे ११३३ पृष्ठे कथिताः)

चन्द्रप्रभस्य सप्त भवाः-

सिरिवम्मनिवो सोह-म्मसुरवरो अजियसेणचक्की य ।
अच्चुयपहु पउमनिवो, य वेजयंते य चंदपहो ॥ २३ ॥

प्रथमे भवे श्रीवर्मनामा राजा १ । द्वितीयभवे सौधर्मदेवलोके देवः २ । तृतीयभवेऽजितसेननामा चक्रवर्ती ३ । तुर्यभवे अच्युतेन्द्रः ४ । पञ्चमभवे पद्मनामा नृपः ५ । षष्ठभवे द्वितीयानुत्तरविमाने वैजयन्ते देवो जातः ६ । सप्तमभवे चन्द्रप्रभनामाऽष्टमतीर्थपः ७ ।

शान्तिनाथस्य द्वादश भवाः-

सिरिसेणो अभिनंदिय,जुयल सुरा अमियतेयसिरिविजया ।
पाणय बल हरि तो हरि, नरए खयरऽच्चुए दो वि ॥२४॥
वज्जाउह सहसाउह, पिउसुय गेविज्ज तइएँ नवमे वा ।
मेहरहदढरहा तो, सव्वट्ठे संति गणहारी ॥ २५ ॥

प्रथमभवे-श्रीषेणो राजाऽभूत, तस्याभिनन्दिता राज्ञी १ । (जुयल त्ति) द्वितीयभवे उत्तरकुरुक्षेत्रे द्वावपि युगलिनौ जातौ २ । (सुर त्ति) तृतीये सौधर्मकल्पे देवः ३ । (अमियतेय सिरिविजय त्ति) तुर्यभवे जिनजीवोऽमिततेजोनामा विद्याधरो जातः, मित्रजीवः श्रीविजयो राजा जातः ४ । (पाणय त्ति) पञ्चमे प्राणतनाम्नि दशमे देवलोके द्वावपि देवौ जातौ ५ । (बलहरि त्ति) षष्ठभवेऽस्मिन् जम्बूद्वीपपूर्वविदेहमध्यस्थे रमणीयाख्ये विजये सुभगायां नगर्यां जिनजीवो बलभद्रो जातः । मित्राजीवो वासुदेवो जातः ६ । (तो हरि) ततः हरिर्नरके गतः । ततो नरकादुद्धृत्य (खयर त्ति) खचरौ द्वावपि विद्याधरौ,संजमं लात्वा सप्तमे भवे अच्युते गतौ ७ ॥२४॥ (वज्जाउह त्ति) ततोऽष्टमभवे जिनजीवो वज्रायुधराजा जातः, मित्रजीवः तस्य सहस्रायुधनामा पुत्रो जातः ८ । (गेविज्ज त्ति) ततो नवमे ग्रैवेयके द्वावपि देवौ जातौ । मतान्तरे-तृतीये ग्रैवेयके देवौ जातौ ९ । (मेहरह त्ति) दशमभवे ततश्च्युतौ तस्मिन् जम्बूद्वीपे प्राग्विदेहविभूषणे पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिण्यां नगर्यां जिनजीवो मेघरथः, मित्राजीवो दृढरथः, एवं द्वावपि भ्रातरौ जातौ १० । (सव्वट्ठे त्ति) एकादशभवे ततो द्वावपि भ्रातरौ संयमं लात्वा सम्यक्संयमं प्रपाल्य सर्वार्थसिद्धे विमाने देवौ सम्भूतौ ११ । (संतिगणहारि त्ति) द्वादशे भवे भगवान् शान्तिनाथः, पूर्वभवमित्राजीवो सर्वार्थसिद्धविमानात् च्युत्वा भगवतः पुत्रत्वेन जातः, भगवतः चक्रवर्तित्वे सेनानीरभूत्, ततः पश्चात् संजमं लात्वाऽऽद्यगणधरो जातः १२ ।

मुनिसुव्रतस्य नव भवाः-

सिवकेउ सुहम्मसुरे, कुवेरदत्त तियकप्पि वज्जकुंडलओ ।
बंभे सिरिवम्मनिवो, अवराई सुव्वओ नवमे ॥ २६ ॥

प्रथमभवे शिवकेतुनामा राजा १ । द्वितीयभवे सौधर्मे देवः २ । तृतीयभवे कुवेरदत्तनामा नृपः ३ । तुर्यभवे तृतीयकल्पे सनत्कुमारे देवः ४ । पञ्चमभवे वज्रकुण्डलनामा राजा ५ । षष्ठे भवे ब्रह्मनाम्नि पञ्चमदेवलोके देवो जातः ६ । सप्तमभवे श्रीवर्मराजा जातः ७ । अष्टमेऽपराजितनाम्नि तुर्यानुत्तरे विमाने देवः ८ । नवमे भवे मुनिसुव्रतजिनः ९ ।

नेमिनाथस्य नव भवाः-

धणधणवइ सोहम्मे, चित्तगई खेयरो य रयणवई ।
माहिंदे अवराइय, पीइमई आरणे तत्तो ॥ २७ ॥
सुपइट्ठो संखो वा, जसमइ भज्जाऽवराइयविमाणे ।
नेमिजिणो राईमइ, नवमभवे दो वि सिद्धा य ॥ २८ ॥

प्रथमभवे-धननामा राजाऽभूत्, तस्य धनवती राज्ञी १ । द्वितीये भवे सौधर्मे कल्पे द्वावपि देवौ जातौ २ । तृतीयभवे चित्रगतिनामा विद्याधरो, राज्ञीजीवो रत्नवती प्रिया ३ । तुर्यभवे द्वावपि माहेन्द्रे देवलोके देवौ जातौ ४ । पञ्चमभवे अपराजितो राजा, प्रीतिमती राज्ञी ५ । षष्ठे भवे आरणदेवलोके द्वावपि देवौ जातौ ६ ॥ २७ ॥ सप्तमभवे सुप्रतिष्ठः; मतान्तरे-शङ्खनामा राजा बभूव; धनवतीजीवो यशोमती भार्या जाता ७ । अष्टमभवे अपराजितनाम्नि तुर्यानुत्तरविमाने देवौ जातौ ८ । नवमभवे भगवान् श्रीनेमिजिनः, पत्नीजीवः राजीमती जाता ९ । तदनन्तरं द्वावपि सिद्धौ मोक्षं गतौ ॥ २८ ॥

पार्श्वस्य दश भवाः-

कमठमरुभूइजाया, कुक्कुडअहि हत्थि नरएँ सहसारे ।
सप्प खयरिंद नारएँ, अच्चुयसुर सबर नरनाहो ॥२९॥
नारएँ गेविज्जसुरो, सीहो निवई य नरय पाणयगे ।
कंठो विप्पो पासो, संजाया दो वि दसमभवे ॥ ३० ॥

प्रथमे भवे-कमठमरुभूतिनामानौ भ्रातरौ जातौ,तत्र मरुभूतिनामा भगवज्जीवः १ । द्वितीयभवे कमठजीवः कुर्कुटाहिर्जातः, जिनजीवो हस्तिर्जातः २ । तृतीयभवे कमठो नरके गतः,जिनजीवः सहस्रारेऽष्टमदेवलोके गतः ३ । चतुर्थभवे कमठजीवः सर्पो जातः, जिनजीवो विद्याधरेन्द्रोऽभूत् ४ । पञ्चमभवे कमठजीवो नैरयिको जातः, जिनजीवोऽच्युते देवो जातः ५ । षष्ठभवे कमठजीवः शबरः भिल्लोऽजनि, जिनजीवो नरनाथो बभूव ६ ॥ २९ ॥ सप्तमभवे कमठजीवो नरके गतः, जिनजीवो ग्रैवेयके सुरो जातः ७ । अष्टमभवे कमठजीवः सिंहो जातः,पार्श्वजीवो नृपतिर्जातः ८ । नवमे भवे कमठजीवो नरके नारको जातः,पार्श्वजीवः प्राणतनाम्नि दशमे देवलोके देवो जातः ९ । दशमे भवे कमठजीवः कमठनामा विप्रोऽभूत, मरुभूतिजीवः पार्श्वनाथनामा त्रयोविंशतितमो जिनो जातः१० । एवं सन्तौ द्वावपि दशमभवे ॥३०॥ सत्त० १ द्वार ।

(वीरस्य सप्तविंशतिभवाः " वीर " शब्दे वक्ष्यन्ते)

सप्ततिशतस्थाने वीरस्याष्टाविंशतिभवा निरूपिताः,तत्र देवानन्दोदरात् २७ सप्तविंशतिः, त्रिशलोदरादष्टाविंशतितमः ।

शेषजिनानां भवाः-

ससाएहमिमे भणिया, पयरूभवा तेसि सेसयाणं च ।

तइयभवदीवपमुहं, नायव्वं वक्खमाणाओ ॥ ३४ ॥

सप्तजिनानामिमे भणिताः प्रकटभवाः, तेभ्यः सप्तजिनेभ्यः शेषाणामनुक्तभवानां सप्तदशजिनानां तृतीयभवद्वीपप्रभृति ज्ञेयं वक्ष्यमाणाद् ग्रन्थात् । अयं भावः-शेषजिनानां त्रयो भवा अधिकाराद् ज्ञेयाः । तथा पूर्वभवद्वीपदेशविजयाऽऽदिकथनेन, पूर्वभवनामकथनेन च प्रथमभवो ज्ञेयः १, पूर्वभववेवलोककथनेन च द्वितीयो भवो ज्ञेयः २, तृतीयस्तु जिनभवः ३, इति सर्वेषां जिनानां पूर्वभवा उक्ताः । सप्त० २ द्वार । ('मल्ली' शब्दे मल्लिनाथस्य त्रयो भवा वक्ष्यन्ते)

(१०४) अथ पूर्वभवगुरवः सर्वेषां जिनानां प्रतिपाद्यन्ते--

वयसेणो अरिदमणो, संभंतो विमलवाहणो य तहा ।
सीमंधर पिहियासव, अरिदमण जुगंधर गुरू य ॥ ४७ ॥
सव्वजगाणंदगुरू, संथाहो वज्जदत्त वयनाहो ।
तह सव्वगुत्तनामे, चित्तरहो विमलवाहणओ ॥ ४८ ॥
घणरह संवर तह सा-हुसंवरो तह य होइ वरधम्मो ।
तह य सुनंदो नंदो, अइजस दामोदरो य पुट्टिलओ ४६

वज्रसेनः १ । अरिदमनः २ । संभ्रान्तः ३ । विमलवाहनः ४ । सीमन्धरः ५ । पिहिताश्रवः ६ । अरिदमनः ७ । युगन्धरः ८ । सर्वजगदानन्दः ६ । संस्ताघः १० । वज्रदत्तः ११ । वज्रनाभः १२ । सर्वगुप्तः १३ । चित्ररथः १४ । विमलवाहनकः १५ । घनरथः १६ । संवरः १७ । साहुसंवरः १८ । तथा च भवति वरधर्मः १६ । सुनन्दः २० । नन्दः २१ । अतियशाः २२ । दामोदरः २३ । पोट्टिलकः २४ । सप्त० ६ द्वार ।

पूर्वभवायुः-

धम्मस्स मज्झिमाऊ, सेसाणुक्कोसयं तमिमं । (५६)
तित्तीसं तित्तीसं, गुणतीसं दुसु तितीस इगतीसं ।
अडवीसं तित्तीसं, गुणवीसं वीस वावीसं ॥ ५७ ॥
वीसऽट्ठारस वीसं, बत्तीस कमेण पंचसु तितीसं ।
वीस तितीसं वीसं, वीसऽयरा पुव्वभवआऊ ॥ ५८ ॥

धर्मनाथस्य मध्यमाऽऽयुः । शेषजिनानामुत्कृष्टकमेव तदिदं वक्ष्यमाणम् ॥ ५६ ॥ त्रयस्त्रिंशत्सागराणि १ । त्रयस्त्रिंशत्सागराणि २ । एकोनत्रिंशत् साग० ३ । द्वयोः-त्रयस्त्रिंशत्साग० ४ । त्रयस्त्रिंशत्साग० ५ । एकत्रिंशत्साग० ६ । अष्टाविंशतिःसाग० ७ । त्रयस्त्रिंशत्साग० ८ । एकोनविंशतिःसाग० ६ । विंशतिः साग० १० । द्वाविंशतिः साग० ११ ॥५७॥ विंशतिः साग० १२ । अष्टादश साग० १३ । विंशतिः साग० १४ । द्वात्रिंशत्साग० १५ , क्रमेण पञ्चसु-त्रयस्त्रिंशत् साग० १६ । त्रयस्त्रिंशत् साग० १७ । त्रयस्त्रिंशत् साग० १८ । त्रयस्त्रिंशत् साग० १९ । त्रयस्त्रिंशत्साग० २० । विंशतिः साग० २१ । त्रयस्त्रिंशत् साग० २२ । विंशतिः साग० २३ । विंशतिः सागराणि २४ । इति जिनानां पूर्वभवायुः । सप्त० १३ द्वार ।

पूर्वभवक्षेत्राणि--

बारस पुव्वविदेहे, तिन्नि कमा भरह एरवए भरहे ।
पुव्वविदेहे तिन्नि य, मल्लिऽवरविदेहे पण भरहे ॥ ३६ ॥
मज्झिमपेरुनगाओ, धायइपुक्खरगयाइँ भरहाई ।
खित्ताइँ पुव्वखंडे, खंडवियारो न जंबुम्मि ॥ ३७ ॥

ऋषभाऽऽद्याः द्वादश जिनाः पूर्वमहाविदेहे जाताः १२ त्रीणि क्रमात्-भरते १३, ऐरवते १४, पुनः भरते १५ ज्ञेयाः । शान्तिः १६, कुन्थुः १७, अरः १८, एते त्रयोऽपि जिना पूर्वमहाविदेहे ज्ञेयाः । मल्लिः पश्चिममहाविदेहे १६ । मुनिसुव्रतः २०, नमिः २१, नेमिः २२, पार्श्वः २३, वर्द्धमानः २४. एते पञ्चापि भरते ज्ञेयाः । मध्यममेरुः सुदर्शननामा, तस्मात् धातकीखण्डभरताऽऽदीनि पुष्करार्द्धभरताऽऽदीनि च क्षेत्राणि पूर्वखण्डे । अत्रायं भावः-धातकीखण्डः, पुष्करार्द्धद्वीपश्च इषुकारगिरिभ्यां विभक्तौ स्तः तेनोभयोरपि द्वौ द्वौ खण्डौ भवतः, एकः पूर्वखण्डोऽपरः पश्चिमखण्डश्च । ततोऽत्र यानि तीर्थकृता पूर्वभवक्षेत्राणि भरताऽऽदीनि तानि सर्वाण्यपि पूर्वखण्डसंबन्धीनि, न तु पश्चिमखण्डसम्बन्धीनीति । ननु तर्हि जम्बूद्वीपगतक्षेत्राणि किंखण्डसंबन्धीनीत्याह-खण्डविचारो जम्बूद्वीपे नास्ति, तत्र कस्यापि भाजकस्याभावादिति । सप्त० ३ द्वार ।

पूर्वभवक्षेत्रादिशा-

विमलो धम्मो मुणिसु-व्वयाइ पण आसि मेरुदाहिणओ ।
मेरुत्तरओऽणंतो, सीओयादाहिणे मल्ली ॥ ३८ ॥
सीयाए उत्तरओ, उसहसुमइसुविहिसंतिकुंथुजिणा ।
सेसा दस दाहिणओ, इय पुव्वभवम्मि खित्तदिसा ॥ ३९ ॥

विमलः, धर्मश्चैतौ द्वौ; मुनिसुव्रतः, नमिः, नेमिः, पार्श्वः, वर्द्धमानः, एवं च पञ्च जिनाः, एते सर्वे सप्त जिना मेरुतो दक्षिणत आसन् । अनन्तोऽनन्तजिज्जिनः ८ मेरोरुत्तरत आसीत् । सीतोदानद्या दक्षिणपार्श्वे श्रीमल्लिजिनः ६ । सीतानद्या उत्तरतः ऋषभः १०, सुमतिः ११, सुविधिः १२, शान्तिः १३, कुन्थुः १४, एते जिनाः समुत्पन्नाः पूर्वभवे । शेषाः स्थिता ये दश जिनास्ते दक्षिणस्यां दिशि जाताः । इति सर्वेषां जिनानां पूर्वभवक्षेत्रादिशः । सप्त० ४ द्वार ।

पूर्वभवजिनहेतुः-

पढमचरिमेहिँ पुट्ठा, जिणहेऊ वीस ते य इमे ॥ (५०)

प्रथमः-ऋषभः, चरमो-वीरः, ताभ्यां स्पृष्टा जिनहेतवो विंशतिः, यैर्हेतुभिः जिनो भवति । ते च इमे वक्ष्यमाणा भवेयुः । सप्त० १० द्वार । आ० क० ।

तानेव हेतूनाह-

अरिहंतसिद्धपवयण-गुरुथेरबहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छल्लया य एसिं, अभिक्खनाणोवओगे अ ॥ ३१२ ॥

अत्र तिस्रो गाथाः तत्र प्रथमगाथायामष्टौ कारणान्युक्तानि, द्वितीयायां नव, तृतीयायां त्रीणि । तत्र प्रथमगाथाव्याख्या-अशोकाऽऽद्यष्टमहाप्रातिहार्याऽऽदिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तीर्थंकराः, अपगतसकलकर्मांशाः परमसुखिन एकान्तं कृतकृत्याः सिद्धाः, प्रवचनं द्वादशाङ्गं, तदुपयोगानन्यत्वात् संघो वा प्रवचनम्, गृणन्ति यथावस्थितशास्त्रार्थमिति गुरवो धर्मोपदेशाऽऽदिदातारः, स्थविरा जातिश्रुतपर्यायभेदभिन्नाः । तत्र जातिस्थविराः-वर्षषष्टिप्रमाणाः । श्रुतस्थविराः--समवायाङ्गधारिणः । पर्यायस्थविराः-विंशतिवर्षव्रतपर्यायाः । बहु प्रभूतं श्रुतं येषां ते बहुश्रुताः, बहुश्रुतत्वमापेक्षिकं प्रतिपत्तव्यम् । श्रुतं च त्रिधा-सूत्रतः, अर्थतः, उभयतश्च । तत्र सूत्रधरेभ्योऽर्थधराः प्रधानाः, तेभ्योऽप्युभयधराः प्रधाना इति । विचित्रमनशनाऽऽदिभेदभिन्नं तपो विद्यते येषां ते तपस्विनः सामान्यसाधवः । अर्हन्तश्च सिद्धाश्च प्रवचनं च

गुरवश्च स्थविराश्च बहुश्रुताश्च तपस्विनश्च अर्हत्सिद्धप्रवचनगुरुस्थविरबहुश्रुततपस्विनः । सूत्रे च "बहुस्सुए" इत्यत्र एकारः प्राकृतत्वादलाक्षणिकः । तेषु । (एसिं ति) प्राकृतत्वात्सप्तम्यर्थे षष्ठी । तत एतेषु सप्तसु स्थानेषु वत्सलभावो वत्सलता अनुरागः ७, यथाऽवस्थितगुणोत्कीर्तनं तदनुरूपोपचारलक्षणास्तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणमिति शेषः । तथा-अभीक्ष्णमनवरतं ज्ञानोपयोगो ज्ञाने व्याप्रियमाणता ८ । इदमष्टमं कारणम् ॥ ३१२ ॥

दंसणविणए आव–स्सए अ सीलव्वए निरइयारो ।
खणलवतववियाए, वेयावच्चे समाही य ॥ ३१३ ॥

द्वितीयगाथाव्याख्या-दर्शनं सम्यक्त्वं, विनयो ज्ञानाऽऽदिविनयः । स च प्रागुक्तो वक्ष्यमाणो वा, दर्शनं च विनयश्च दर्शनविनयम्, समाहारद्वन्द्वः; तस्मिन् । आवश्यकमवश्यकर्त्तव्यं प्रतिक्रमणाऽऽदि; तस्मिन् । शीलानि च व्रतानि च शीलव्रतम्, अत्रापि समाहारद्वन्द्वः । तस्मिन् । तत्र शीलान्युत्तरगुणाः, व्रतानि मूलगुणाः । एतेषु निरतिचारः सन्, तीर्थकरनामकर्म्म बध्नातीति क्रियायोगः । एतावता पञ्च कारणान्युक्तानि । तथा-क्षणलवे तपसि त्यागे वैयावृत्ये च समाधिस्तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणम् । तत्र क्षणलवग्रहणमशेषकालविशेषोपलक्षणम्, क्षणलवाऽऽदिषु कालविशेषेषु निरन्तरं संवेगभावनातो ध्यानाऽऽसेवनतश्च समाधिः क्षणलवसमाधिः । तथा-तपसि बाह्याऽऽभ्यन्तरभेदभिन्ने यथाशक्ति निरन्तरं प्रवृत्तिस्तपःसमाधिः । त्यागो द्विधा-द्रव्यत्यागः, भावत्यागश्च । द्रव्यत्यागो नाम-आहारोपधिशय्याऽऽदीनामप्रायोग्याणां परित्यागः, प्रायोग्याणां च यतिजनेभ्यो दानम् । भावत्यागः-क्रोधाऽऽदीनां विवेकः, ज्ञानाऽऽदीनां च यतिजनेभ्यो वितरणम् । एतस्मिन् द्विविधेऽपि त्यागे सूत्रानतिक्रमेण यथाशक्ति निरन्तरं प्रवृत्तिस्त्यागसमाधिः । वैयावृत्यं दशविधम् । तद्यथा-आचार्यवैयावृत्यम् १, उपाध्यायवैयावृत्यम् २, स्थविरवैयावृत्यम् ३, तपस्विवैयावृत्यम् ४, ग्लानवैयावृत्यम् ५, शैक्षकवैयावृत्यम् ६, साधर्मिकवैयावृत्यम् ७, कुलवैयावृत्यम् ८, गणवैयावृत्यम् ९, सङ्घवैयावृत्यं चेति १० । एकैकं त्रयोदशविधम् । तद्यथा-भक्तदानम् १, पानदानम् २, आसनप्रदानम् ३, उपकरणप्रत्युप्रेक्षा ४, पादप्रमार्जनम् ५, वस्त्रप्रदानम् ६, भेषजप्रदानम् ७, अध्वनि साहाय्यम् ८, दुष्टस्तेनाऽऽदिभ्यो रक्षणम् ९, वसतौ प्रविशतां दण्डकग्रहणम् १०, कायिकामात्रकसमर्पणम् ११, संज्ञामात्रकसमर्पणम् १२, श्लेष्ममात्रकसमर्पणं चेति १३ । एतेषु वैयावृत्यभेदेषु यथाशक्ति निरन्तरं प्रवृत्तिर्वैयावृत्यसमाधिः ।

अप्पुव्वनाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पहावणया ।
एएहिँ कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ३१४ ॥

तृतीयगाथाव्याख्या-अपूर्वस्य पूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरं ग्रहणमपूर्वज्ञानग्रहणमष्टादशं तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणम् । एकोनविंशतितमं श्रुतभक्तिः श्रुतविषयं बहुमानम् । विंशतितमं प्रवचने प्रभावना यथाशक्ति प्रवचनार्थोपदेशदानाऽऽदिरूपा । एभिरनन्तरोक्तैः कारणैस्तीर्थकरत्वं लभते जीवः ।

एतानि च कानिचित् कारणानि सूत्रकार एव स्वयं व्याचष्टे-

संघो पवयणमित्थं, गुरुणो धम्मोवएसयाईया ।
सुत्तत्थोभयधारी, बहुस्सुया हुंति विक्खाया ॥ ३१५ ॥
जाईसुयपरियाए, पडुच्च थेरो तिहा जहक्कमेणं ।
सट्ठीवरिसो समवा–यधरओ वीसवरिसो य ॥ ३१६ ॥
भत्ती पूआ वण्ण–प्पयडण वज्जणमवण्णवायस्स ।
आसायणपरिहारो, अरिहंताईण वच्छल्लं ॥ ३१७ ॥
नाणुवओगो भिक्खं, दंसणसुद्धी अ विणयसुद्धी अ ।
आवस्सयजोएसुं, सीलवएसुं निरइयारो ॥ ३१८ ॥
संवेगभावणाज्झा–ण सेवणं खणलवाइकालेसु ।
तवकरणं जइजणसं–विभागकरणं जहसमाही ॥ ३१९ ॥
वेयावच्चं दसहा, गुरुमाईणं समाहिजणणं च ।
किरियादारेण तहा, अपुव्वनाणस्स गहणं तु ॥ ३२० ॥
आगमबहुमाणो वि य, तित्थस्स पभावणं जहासत्ती ।
एएहिँ कारणेहिं, तित्थयरत्तं समज्जिणई ॥ ३२१ ॥

"संघो पवयणं" इत्यादि गाथासप्तकं,व्याख्यातार्थं चैतत्;नवरं स्थविरबहुश्रुतयोर्गाथाऽनुलोम्याद्व्यतिक्रमनिर्देशः । तथा-तृतीय (३१७) गाथायां भक्तिरान्तरो बहुमानविशेषः, पूजा यथौचित्येन पुष्पफलाऽऽहारवस्त्राऽऽदिभिरुपचारः,वर्णस्य श्लाघायाः प्रकटनं प्रकाशनं, वर्जनं परिहरणमवर्णवादस्य अश्लाघायाः, आशातनाया वक्ष्यमाणायाः परिहारो वर्जनम् । एतदर्हदादीनां सप्तानां वात्सल्यं वत्सलता । तथा षष्ठ (३२०) गाथायां वैयावृत्यं भक्तदानाऽऽदिक्रियाद्वारेण गुर्वादीनां समाधिजननम् । तत्पुनर्दशधा पूर्वोक्तप्रकारेण । यद्वा-शीलव्रताभ्यामेकमेव कारणं कृत्वा समाधिरिति भिन्नमेव तीर्थकरगोत्रबन्धस्थानं विवक्ष्यते । ततो वैयावृत्यं दशधा गुर्वादीनां, तथा तेषामेव क्रियाद्वारेण समाधिजननं कार्यकरणद्वारेण स्वस्थताऽऽपादनमिति । तथा-ऋषभनाथेन वर्द्धमानस्वामिना च पूर्वभवे एतान्यनन्तरोक्तानि सर्वाण्यपि स्थानान्यासेवितानि, मध्यमेषु पुनरजितस्वामिप्रभृतिषु द्वाविंशतितीर्थकरेषु केनाप्येकं, केनापि त्रीणि, यावत्केनाऽपि सर्वाण्यपि स्थानानि स्पृष्टानीति । एतच्च तीर्थकरनामकर्म मनुष्यगतावेव वर्तमानः पुरुषः स्त्री नपुंसको वा तीर्थकरभवात् पृष्ठतस्तृतीयभवं प्राप्य बध्नाति । आह-तीर्थकरनामकर्मणो जघन्यत उत्कर्षतश्च बन्धस्थितिरन्तःसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणा, ततः कथमुक्तं तीर्थकरभवात् प्राक् तृतीयभवे बध्यत इति ?। नैष दोषः । द्विविधो हि बन्धः-निकाचनारूपः, अनिकाचनारूपश्च । तत्र अनिकाचनारूपस्तृतीयभवात् प्राक् सुतरामपि भवति, जघन्योऽप्यन्तःसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणत्वात् । निकाचनारूपस्तु तीर्थकरभवात् प्राक् तृतीयभवे एव, "तं च कहं वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाऽऽईहिं । बज्झइ तं तु भयवओ, इय भवो सक्कइत्ता णं" ॥१॥ इति वचनप्रामाण्यात् । तत्र निकाचितमवन्ध्यफलम्, इतरत्तु उभयथाऽपि, निकाचनारूपश्च बन्धस्तृतीयभवादारभ्य तावत्प्रवर्त्तते यावत्तीर्थकरभवे अपूर्वकरणस्य संख्येयभागाः, तत ऊर्द्ध्वं व्यवच्छेदः, केवलज्ञानोत्पत्तौ च अष्टमहाप्रातिहार्याऽऽदिरूपे सुरेन्द्रकृते पूजोपचारे सति,सदेवमनुजासुरायां परिषदि ग्लानिपरिहारेण धर्म्मदेशनया श्रुतचारित्ररूपधर्मप्ररूपणलक्षणया चतुस्त्रिंशता देहसौगन्ध्यादिभिरतिशयैः, पञ्चत्रिंशता सुरवचनातिशयैस्तद्वेद्यत इति । प्रव० १० द्वार ।

पूर्वभवद्वीपाः--

जंबूधायइपुक्खर-दीवा चउ चउ जिणाण पुव्वभवे ।
धायइ विमलाइ तिगे, जंबू संतिप्पमुहनवगे ॥ ३९ ॥

ऋषभाऽऽदिचतुर्णां जिनानां पूर्वभवे जम्बूद्वीप आसीत् । सुमत्यादीनां चतुर्णां जिनानां पूर्वभवे धातकीखण्ड आसीत् । सुविध्यादिचतुर्णां जिनानां पूर्वभवे पुष्करद्वीप आसीत् १२ । विमलाऽऽदीनां त्रयाणां जिनानां पूर्वभवे धातकीखण्डद्वीप आसीत् १५ । शान्त्यादिनवजिनानां पूर्वभवे जम्बूद्वीप आसीत् २४ । इति पूर्वभवद्वीपाः । सत्त० २ द्वार ।

पूर्वभवनामानि-

एएसि चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं पुव्वभवया णामधेया होत्था । तं जहा-

" पढमेऽत्थ वइरणाभे, विमले तह विमलवाहणे चेव ।
तत्तो य धम्मसीहे, सुमित्त तह धम्ममित्ते य ॥११॥
सुंदरबाहू तह दी-हबाहु जुगबाहु लट्ठबाहू य ।
दिन्ने य इंददत्ते, सुंदर माहिंदए चेव ॥१२॥
सीहरहे मेहरहे, रुप्पी अ सुदंसणे य बोधव्वा ।
तत्तो य नंदणे खलु, सीहगिरी चेव वीस इमे ॥१३॥
अदीणसत्तु संखे, सुदंसणे नंदणे य बोधव्वे ।
इमिसे ओसप्पिणिए, तित्थकराणं तु पुव्वभवा" ॥१४॥

जिनानां पूर्वभवनामानि क्रमेण यथा-वज्रनाभः १ । विमलः २ । विमलवाहनः ३ । धर्मसिंहः ४ । सुमित्रः ५ । धर्ममित्रः ६ । सुन्दरबाहुः ७ । दीर्घबाहुः ८ । युगबाहुः ९ । लष्टबाहुः १० । दिन्नः ११ । इन्द्रदत्तः १२ । सुन्दरः १३ । माहेन्द्रः १४ । सिंहरथः १५ । मेघरथः १६ । रूपी १७ । सुदर्शनः १८ । नन्दनः १९ । सिंहगिरिः २० । अदीनशत्रुः २१ । शङ्खः २२ । सुदर्शनः २३ । नन्दनः २४ । पूर्वभवे जिनानामेतानि नामानि बभूवुरिति । स० । सत्त० ।

पाठान्तरे-वज्रनाभः १ । विमलवाहनः २ । विपुलबलः ३ । महाबलः ४ । अतिबलः ५ । अपराजितः ६ । नन्दिषेणः ७ । पद्मः ८ । महापद्मः ९ । पुनरपि पद्मः १० । नलिनीगुल्मः ११ । पद्मोत्तरः १२ । पद्मसेनः १३ । पद्मरथः १४ । भलिह्नरथः १५ । मेघरथः १६ । सिंहावहः १७ । धनपतिः १८ । वैश्रवणः १९ । श्रीवर्मा २० । सिद्धार्थः २१ । सुप्रतिष्ठः २२ । आनन्दः २३ । नन्दनः २४ ।

पूर्वभवनगर्यः-

पुंडरिगिणी सुसीमा, सुभापुरी रयणसंचया नेया ।
चउगतिगम्मि महापुरि, रिट्ठा तह अरिलपुरं च ॥ ४२ ॥
पुंडरिगिणि खग्गिपुरी, तहा सुसीमा य वीयसोगा य ।
चंपा तह कोसंबी, रायगिहाऽउज्झ अहिछत्ता ॥४३॥

चतुष्कत्रिके एतानि नगरीनामानि ज्ञेयानि । तथा च-ऋषभः १, सुमतिः ५, सुविधिः ९, एते त्रयो जिनाः पुण्डरीकिण्यां पूर्वभवे जाताः । अजितः २, पद्मप्रभः ६, शीतलः १०, एते त्रयो जिनाः सुसीमायां जाताः । संभवः ३, सुपार्श्वः ७, श्रेयांसः ११, एते त्रयो जिनाः शुभापुर्यां जाताः । अभिनन्दनः ४, चन्द्रप्रभः ८, वासुपूज्यः १२, एते जिनास्त्रयो रत्नसंचयायां जाताः । विमलः १३ महापुर्याम् । अनन्तजिनः १४ रिष्टनगर्याम् । धर्मः १५ भद्दिलपुरे जातः । शान्तिः १६ पुण्डरीकिण्यां जातः । कुन्थुजिनः १७ खड्गिपुर्याम् । अरजिनः १८ सुसीमायां पुर्याम् । मल्लिजिनः १९ वीतशोकायाम् । मुनिसुव्रतः २० चम्पायाम् । नमिः २१ कौशाम्ब्याम् । नेमिजिनः २२ राजगृहे । पार्श्वजिनः २३ अयोध्यायाम् । वीरः २४ अहिच्छत्रानगर्यां पूर्वभवे जातः । सत्त० ६ द्वार ।

पूर्वभवराज्यम्-

जंबुद्दीवे णं दीवे इमीसे ओसप्पिणीए तेवीसं तित्थंकरा पुव्वं मंडलियरायाणो होत्था । तं जहा-अजित संभव अभिणंदण० जाव पासो वद्धमाणो य । उसभे णं अरहा कोसलिए पुव्वभवे चक्कवट्टी होत्था । स० २३ सम० ।

पूर्वभवविजयाः-

पुक्खलावई य वच्छा, रमणिज्जा मंगलावई कमसो ।
नेआ जिणचउगतिगे, जिणतियगे खित्तनामाओ ॥४०॥
पुक्खलवइ आवत्तो, वच्छा सलिलावई जिणचउक्के ।
मुणिसुव्वयाइपणगे, विजया खित्ताण नामेणं ॥ ४१ ॥

जिनानां चतुष्कत्रिके क्रमश एते विजया ज्ञेयाः । यथा पुष्कलावतीविजयः-प्रथमे, पञ्चमे, नवमे । वत्साविजयो--द्वितीये, षष्ठे, दशमे । रमणीयाख्यविजयः-तृतीये, सप्तमे, एकादशे । मङ्गलावतीविजयः-चतुर्थे, अष्टमे, द्वादशे । एवं द्वादशजिनानां विजयाः कथिताः । (जिणतियगे खित्तनामाओ त्ति) जिनत्रिके-विमलः १३ अनन्तः १४ धर्मश्चेति १५ त्रिके क्षेत्रनामतो विजया ज्ञेयाः । तेषां विजयाभावात्तत्स्थाने भरतैरावतभरतरूपाणि पूर्वोक्तानि क्षेत्राण्येव ज्ञेयानीति भाव इति गाथार्थः ॥ ४० ॥ ततः शान्तिः कुन्थुररो मल्लिश्चेतिरूपे जिनचतुष्के क्रमेण पुष्कलावत्याद्या विजयाः । यथा-पुष्कलावतीविजयः षोडशजिने १६ । आवर्त्तविजयः सप्तदशे जिने १७ । वत्साविजयोऽष्टादशे जिने १८ । सलिलावतीविजय एकोनविंशतितमे जिने १९ । (मुणिसुव्वयाइपणगे त्ति) मुनिसुव्रताऽऽदिपञ्चके-मुनिसुव्रतो नमिर्नेमिः पार्श्वो वीरश्चेतिरूपे (विजया खित्ताण नामेणं ति) क्षेत्रनाम्ना विजया ज्ञेयाः । एतेषां पञ्चानामपि भरतक्षेत्रसम्भवेन विजयाभावात्तत्स्थाने क्षेत्राणामेव नामानि ज्ञेयानीति भावः ॥ ४१ ॥ सत्त० ५ द्वार ।

ऋषभः १, सुमतिः ५, सुविधिः ९, एतेषां पूर्वभवे पुष्कलावतीविजयः । अजितः २, पद्मप्रभः ६, शीतलः १०, एतेषां वत्साविजयः । संभवः ३, सुपार्श्वः ७, श्रेयांसः ११, एतेषां रमणीयाख्यविजयः । अभिनन्दनः ४, चन्द्रप्रभः ८, वासुपूज्यः १२, एतेषां पूर्वभवे मङ्गलावतीविजयः । विमलः १३, अनन्तः १४, धर्मः १५, एतेषां क्षेत्रनामतो विजया ज्ञेयाः, तेषां विजयाभावात्, तत्स्थाने भरतैरावतरूपाणि पूर्वोक्तानि क्षेत्राण्येव ज्ञेयानि । शान्तिजिनः १६ पुष्कलावतीविजये । आवर्त्तविजये कुन्थुजिनः १७ । अरजिनः १८ वत्साविजये । मल्लिजिनः सलिलावतीविजये १९ । मुनिसुव्रतः २०, नमिः २१, नेमिः २२, पार्श्वः २३, वीरः २४, एतेषां क्षेत्रनाम्ना विजया ज्ञेयाः, भरतक्षेत्रे विजयाभावात् तत्स्थाने क्षेत्राणामेव नामानीति ।

पूर्वभवस्वर्गाः-

सव्वट्ठं तह विजयं, सत्तमगेविज्जयं दुसु जयंतं ।
नवमं छट्ठं गेवि-ज्जयं तत्रो वेजयंतं च ॥ ५४ ॥
आणय पाणय अच्चुय, पाणय सहसार पाणयं विजयं ।
तिसु सव्वट्ठ जयंतं, अवराइय पाणयं चेव ॥ ५५ ॥
अवराइय पाणयगं, पाणयगमिमे य पुव्वभवसग्गा (५६)

सर्वार्थसिद्धनामकं विमानमृषभजिने १ । एवं सर्वत्र जिननामपूर्वकं योज्यम् । तथा विजयं विमानम् २ । सप्तमग्रैवेयकम् ३ । द्वयोः-जयन्तम् ४, जयन्तम् ५ । नवमग्रैवेयकम् ६ । षष्ठग्रैवेयकम् ७ । वैजयन्तम् । ८ ॥ ५४ ॥ आनतः ९ । प्राणतः १० । अच्युतः ११ । प्राणतः १२ । सहस्रारः १३ । पुनः प्राणतः १४ । विजयमनुत्तरविमानम् १५ । त्रिषु जिनेषु सर्वार्थसिद्धम् १६, सर्वार्थसिद्धम् १७, सर्वार्थसिद्धम् १८ । जयन्तं विमानम् १९ । अपराजितविमानम् २० । प्राणतदेवलोकः २१ ॥ ५५ ॥ अपराजितविमानम् २२ । प्राणतनामा दशमदेवलोकः २३ । प्राणतकः २४ । एते जिनानां पूर्वभवस्वर्गा ज्ञेयाः ॥ सप्त० १२ द्वार ।

पूर्वभवसूत्राणि-

जंबुद्दीवे णं दीवे इमीसे णं ओसप्पिणीए तेवीसं तित्थगरा पुव्वभवे एक्कारसंगिणो होत्था । तं जहा-अजित संभव अभिणंदण सुमई० जाव पासो वद्धमाणो य । उसभे णं अरहा कोसलिए चोद्दसपुव्वी होत्था । स० २३ सम० ।

तत्र श्रुतलाभद्वारमाह-

पढमस्स वारसंगं, सेसाणिक्कारसंगसुयलंभो ॥

प्रथमस्य भगवत ऋषभस्वामिनः पूर्वभवे श्रुतलाभः परिपूर्णं द्वादशाङ्गम् । अवशेषाणामजितस्वामिप्रभृतीनामेकादशाङ्गानि । यस्य च यावान् पूर्वभवे श्रुतलाभः, तस्य तावान् तीर्थकरजन्मन्यपि अनुवर्तते । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

(१०५) फणकारणानि, फणानप्याह-

इग पण नव य सुपासे, पासे फण तिन्नि सग इगार कमा ।
फणिसिज्जासुविणाओ, फणिंदभत्तीएँ नऽन्नेसु ॥१२७॥

(इग पण नव य सुपासे त्ति) एकः, पञ्च, नव च फणाः सुपार्श्वे सप्तमजिने, (पासे फण तिन्नि सग इगार त्ति) पार्श्वनाथे फणात्रयः ३, सप्त ७, एकादश च (कम त्ति) क्रमात् । (फणिसिज्जासुविणाउ त्ति) फणिशय्यास्वप्नात् श्रीसुपार्श्वे जिने फणाः, यतो गर्भस्थे भगवति जननी एकफणे पञ्चफणे नवफणेऽपि च नागतल्पे स्वप्नमध्ये स्वां सुप्तां ददर्श ।

यत उक्तं श्रीहेमाऽऽचार्यकृतसुपार्श्वचरित्रे-

" सुप्तामेकफणे पञ्च-फणे नवफणेऽपि च ।
नागतल्पे ददर्श स्वां, देवी गर्भे प्रवर्द्धिनि ॥ १ ॥
पृथ्व्या देव्या तथा स्वप्ने, दृष्टं तादृग् महोरगम् ।
शक्रोऽपि चक्रे भगव-न्मूर्ध्नि छत्रमिवापरम् ॥ २ ॥
तदादि चानूत्समव-सरणेष्वपरेष्वपि ।
नाग एकफणः पञ्च-फणो नवफणोऽथवा ॥ ३ ॥ " इत्यादि ।

(फणिंदभत्तीएँ इति) फणीन्द्रभक्त्या श्रीपार्श्वनाथे । यतः फणीन्द्रो धरणः श्रीपार्श्वे पूर्वभवोपकारित्वादतीव भक्तिमानिति कारणात् फणा भवन्ति । (नऽन्नेसिं ति) अन्येषां द्वाविंशतिजिनानां न भवन्ति । इति गाथार्थः ॥ १२७ ॥ सप्त० ४३ द्वार ।

फलदायकाः-

आरुग्गं बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं च मे दिंतु ।
किं णु हु णिदाणमेतं, ... ॥

णु इति वितर्के, किमिदं निदाणं कीरति ? । उच्चति-भासा एत्थ भवति । तं जधा-(भासा असच्चमोसा गाधा) सा असच्चामोसा दुवालसविहा । तत्थ जा जायणी सा एसा साहुणो संसारविमोक्खत्थं भणति । "ण हु खीणपेज्जदोसा, देंति समाधिं च बोधिं वा । " आह-जदि न पसीदंति, न वा देंति, तो किं नमस्कारो कीरति ? । उच्यते-जधा अग्गी न तूसति, न वा देति, तह वि जो सीतपरिगतो सो अल्लियति, सो य सकज्जं निप्फाएति; एवं ते वि खीणरागदोसमोहा न किंचि वि देंति, न वा तूसंति, जो पुण पणमति, सो अत्थितमत्थं लभति । उक्तं च-"चन्द्रं दृष्ट्वा यथा तोयं," इति श्लोकः । अत्थियउजंतेहिं ते वि आरोग्गादीया लाभा लब्भंति, जम्हा एतेसिं एते गुणा, तेण परमा भत्ती कातव्वा ।" आ० चू० २ अ० । (बद्धस्पृष्टकर्म 'लोगसार' शब्दे वक्ष्यते)

(१०६) अथ बलवर्णनम्-

निवईहिं बला बलिणो, कोडिसिलुक्खेवसत्तिणो हरिणो ।
तद्दुगुणबला चक्की, जिणा अपरिमियबला सव्वे ॥१२९॥
हरिसंसयछेयत्थं, वीरेणं पयडियं बलं निययं ।
मेरुगिरिकंपणेणं, हेउअभावा न सेसेहिं ॥१३०॥

(निवईहिँ बला बलिणो त्ति) नृपतिभ्यो १ बला बलदेवा बलिनो बलिष्ठाः २। " निवईहिँ " इत्यत्र प्राकृतत्वात्पञ्चम्यर्थे तृतीया । (कोडिसिलुक्खेवसत्तिणो हरिणो त्ति) कोटिशिलोत्पाटनशक्तिमन्तो हरयो वासुदेवाः ३ । (तद्दुगुणबला चक्कि त्ति) तत्तस्माद्वासुदेवबलाद् द्विगुणबलाश्चक्रिणः चक्रवर्तिनः ४ । (जिणा अपरिमिअबला सव्वे त्ति) जिनाः सर्वेऽपि अपरिमितबलाः, अनन्तबला इत्यर्थः । अत्र चक्रयादीनां बलप्रमाणं प्रसङ्गात् कथितमिति गाथार्थः । १२९ । (हरिसंसयछेयत्थं ति) इन्द्रसंशयच्छेदनार्थम् । (वीरेणं पयडिअं बलं निययं ति) श्रीवीरेण प्रकटितं बलं निजकम् । केन प्रकटितम् ?, मेरुपर्वतकम्पनेन । (हेउअभावा न सेसेहिं ति) हेत्वभावाद् न शेषैः शेषजिनैः प्रकटितं, यतः किमपि बलप्रकटने हेतुर्नाभूत्, अतो न प्रकाशितमिति गाथार्थः ॥ १३० ॥ सप्त० ४८ द्वार ।

प्रथमान्तिमयोस्तीर्थकरयोः शरीरमाने भिन्नत्वं, बले च भिन्नत्वं नास्ति, तत्कथम् ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रथमान्तिमजिनयोः शरीरमानभेदेऽपि न बले भेदः । " अपरिमियबला जिणवरिंदा " इत्यागमप्रामाण्याद्विशेषेणाऽनन्तबलत्वमवसीयते । १ प्र० ही० २ प्रका० ।

(१०७) अथ जिनभक्तानां राज्ञां नामान्याह-

भरहसगरामियसेणा, य मित्तविरिओ य सच्चविरिओ य ।
तह अजियसेणराया, दाणविरिय मघवराया य ॥२२०॥
जुद्धविरिय सीमंधर, तिविट्ठविएहू दुविट्ठ अ सयंभू ।

पुरिसुत्तमविएहू पुरि–ससीह कोणालयनिवो य ॥२२१॥
निवइकुबेर सुभूमा–ऽजिय विजयमहो य चक्किहरिसेणो।
कएहो पसेण सेणिय,जिणाण जिणभत्तरायाणो॥२२२॥
वित्तीइ सड्ढबारस, लक्खे पीईएँ दिंति कोडीओ ।
चक्की कणयं हरिणो, रययं निवई सहस्सलक्खे ॥२२३॥
भत्तिविहवाणुरूवं, अन्ने वि य दिंति इब्भमाईया ।
सोऊण जिणाऽऽगमणं, निउत्तमनिउत्तएसुं वा ॥२२४॥

(भरहसगरमियसेणा य) ऋषभशासने भक्तनृपो भरतः १। एवं सर्वत्र जिननामपूर्वकं भक्तनृपनामानि वाच्यानि । सगरः २ । मृगसेनश्च ३ । (मित्तविरिओ य सच्चविरिओ य) मित्रवीर्यश्च ४ । सत्यवीर्यश्च ५ । (तह अजियसेणराया) तथा–अजितसेनो राजा ६ । (दाणविरिअ मघवराया य) दानवीर्यः ७ । मघवराजा ८ चेति गाथार्थः ॥ २२० ॥ (जुद्धविरिअ सीमंधर त्ति) युद्धवीर्यः ९ । सीमन्धरः १० । (तिविठ्ठविएहू दुविट्ठ अ सयंभू) त्रिपृष्ठविष्णुः ११ । द्विपृष्ठश्च १२ । स्वयंभूः वासुदेवः १३ । (पुरिसुत्तमविएहु पुरिससीह त्ति) पुरुषोत्तमः वासुदेवः १४ । पुरुषसिंहः वासुदेवः १५ । (कोणालयनिवो य) कोणालकनृपश्च १६ । इति गाथार्थः ॥ २२१ ॥ (निवइकुबेरसुभूमा) कुबेरनामा नृपतिः १७ । सुभूमनामा १८ । (अजियविजयमहो य चक्किहरिसेणो) अजितः १९ । विजयमहश्च २० । चक्रिहरिषेणः २१ । (कएहो पसेण सेणिय त्ति) कृष्णः २२ । प्रसेनजित् २३ । श्रेणिकः २४ । (जिणाण जिणभत्तरायाणो) जिनानामतिजिनभक्ता राजानो भवन्तीति गाथार्थः ॥ २२२ ॥ (वित्तीइ सड्ढबारस लक्खे पीईइ दिंति कोडीओ) सार्द्धद्वादशलक्षाणि वृत्त्या ददति, प्रीत्या सार्द्धद्वादशकोटीर्ददति । (चक्की कणयं) चक्रिण एतावत्कनकं ददति । (हरिणो रययं) वासुदेवा एतावत् रजतं ददति । (निवई सहस्सलक्खे) नृपतयः सामान्यराजानः सहस्राणि लक्षाणि च क्रमेण वृत्त्या प्रीत्या च ददतीति गाथार्थः ॥ २२३ ॥ (भत्तिविहवाणुरूवं) भक्तिविभवानुरूपम् । (अन्ने वि अ दिंति इब्भमाईया) अन्येऽपि ददति इभ्यश्रेष्ठिसेनापत्यादयः । (सोऊण जिणाऽऽगमणं) श्रुत्वा जिनागमनं जिनानामागमनं (निउत्तमणिउत्तएसुं वा) मकारस्यालाक्षणिकत्वात् नियुक्तपुरुषेषु वा, अनियुक्तपुरुषेषु वा । इति गाथार्थः ॥ २२४ ॥ सत्त० १०७ द्वार ।

(१०८) मनःपर्यवज्ञानिनः–

………………, सव्वे मणणाणि एगलक्खा य ।
पणयालीससहस्सा, पंचसया इगनवइअहिया ॥२५४॥

सर्वेषां तीर्थकृतामेकीकृताः सन्तः मनःपर्यवज्ञानिन एकलक्षाश्च (पणयालीससहस्सा) पञ्चचत्वारिंशत्सहस्राणि (पंच सया इगनवइअहिया) एकनवत्यधिकपञ्चशतानि १४-५५९१, सर्वेषां जिनानां मनःपर्यवज्ञानिसंख्या । सत्त० १७ द्वार ।

बारससहस्स तिएहं, सयसड्ढा सत्त पंच य दिवड्ढं ।
एगदस सड्ढ छस्सय, दस सहसा चउसया सड्ढा ।३५७।
दससहसा तिन्नि सया, नव दिवड्ढ सया य अट्ठसहसा य ।
पंचमय सत्तसहसा, सुविहिजिणे सीयले चेव ॥३५८॥
छसहस्स दोएहमित्तो, पंच सहस्सा य पंच य सयाइं ।
पंचसहस्सा चउरो,सहस्स सय पंच यऽब्भहिया ॥३५९॥
चउरो सहस्स तिन्नि य, तिन्नेव सया हवंति चालीसा ।
सहसन्दुगं पंचसया, इगवन्ना अरजिणिंदस्स ॥ ३६० ॥
सत्तरसयाइ पन्ना, पंच दस सया य बार सय सट्ठी ।
सहसे सय अद्धऽट्ठम, पंचेव सया उ वीरस्स ॥३६१॥

" बारससहस्स " इत्यादिगाथापञ्चकम् । अथाणामृषभाजितसंभवनाम्नां तीर्थकृतां द्वादश द्वादश मनःपर्यवज्ञानिसहस्राणि, परमाऽऽदिजिनस्य सार्द्धसप्तशताधिकानि; अजितस्य पञ्चशताधिकानि, संभवजिनस्य सार्द्धशताधिकानि । तथा श्रीअभिनन्दनस्य मनःपर्यवज्ञानिनामेकादश सहस्राणि सार्द्धषट्शताधिकानि । श्रीसुमतेर्दशसहस्राणि सार्द्धचतुःशताधिकानि । श्रीपद्मप्रभस्य दशसहस्राणि शतत्रयाधिकानि । श्रीसुपार्श्वस्य नव सहस्राणि सार्द्धैकशताधिकानि । श्रीचन्द्रप्रभस्य अष्टौ सहस्राणि । श्रीसुविधिजिनस्य सप्तसहस्राणि पञ्चशताधिकानि । शीतलेऽप्येतावन्त एव । श्रेयांसजिनस्य,श्रीवासुपूज्यजिनस्य च षट् षट् सहस्राणि । (इत्तो त्ति) इतोऽनन्तरं विमलजिनस्य पञ्च सहस्राणि पञ्चशताधिकानि । अनन्तजिनस्य पञ्चसहस्राणि । श्रीधर्मस्य चत्वारि सहस्राणि पञ्चशताधिकानि । श्रीशान्तिजिनस्य चत्वारि सहस्राणि । श्रीकुन्थोस्त्रीणि सहस्राणि चत्वारिंशदधिकशतत्रयाधिकानि । श्रीअरजिनस्य सहस्रद्विकमेकपञ्चाशदधिकपञ्चशताऽभ्यधिकम् । श्रीमल्लेः सप्तदशशतानि पञ्चाशदधिकानि । श्रीमुनिसुव्रतस्य पञ्चदशशतानि । श्रीनमिजिनस्य द्वादशशतानि षष्ट्यधिकानि । श्रीनेमेरेकं सहस्रम् । श्रीपार्श्वजिनस्य शतान्यर्द्धाष्टमानि, सार्द्धानि सप्त शतानीत्यर्थः । श्रीवीरजिनस्य च पञ्चैव शतानीति । प्रव० २२ द्वार ।

(महाव्रतानि पञ्च प्रथमान्तिमतीर्थकृतोः, चत्वारि मध्यमानां द्वाविंशतेरिति ' गोयमकेसिज्ज ' शब्दे तृतीयभागे ९६० पृष्ठे स्पष्टीकृतम्)

(१०९) तीर्थकरमातृनामानि–

जम्बुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए चउवीसं तित्थगराणं मायरो होत्था । तं जहा–
"मरुदेवि विजय सेणा, सिद्धत्था मंगला सुसीमा य ।
पुहवी लक्खण रामा, नंदा विएहू जया सामा ॥३२२॥
सुजसा सुव्वय अइरा, सिरिया देवी पभावई पउमा ।
वप्पा सिवा य वामा,तिसला देवी य जिणमाया॥३२३"स०।

भगवत ऋषभस्वामिनो माता मरुदेवी । अजितस्वामिनो विजया । शंभवनाथस्य सेना । अभिनन्दनस्य सिद्धार्था । सुमतिनाथस्य मङ्गला । पद्मप्रभस्य सुसीमा । सुपार्श्वस्य पृथिवी । चन्द्रप्रभस्य लक्ष्मणा । सुविधिस्वामिनो रामा । शीतलस्य नन्दा । श्रेयांसस्य विष्णुः । वासुपूज्यस्य जया । विमलस्य श्यामा । अनन्तजिनस्य सुयशाः । धर्मनाथस्य सुव्रता । शान्तिनाथस्य अचिरा । कुन्थुनाथस्य श्रीः । अरस्वामिनो देवी । मल्लिजिनस्य प्रभावती । मुनिसुव्रतस्य पद्मा । नमिनाथस्य वप्रा । अरिष्टनेमेः शिवा । पार्श्वनाथस्य वामा । वर्द्धमानस्वामिनस्त्रिशला । प्रव० ११ द्वार ।

तीर्थकरमातृगतिः—

अट्ठएहं जणणीओ, तित्थयराणं तु हुंति सिद्धाओ ।
अट्ठ य सणंकुमारे, माहिंदे अट्ठ बोधव्वा ॥ ३२७ ॥

अष्टानां तीर्थकृतामृषभाऽऽदीनां चन्द्रप्रभान्तानां जनन्यो मातरो भवन्ति सिद्धाः, तदनु सुविध्यादीनां शान्तिनाथपर्यन्तानामष्टौ जनन्यः सनत्कुमारे तृतीये देवलोके गताः, तथा कुन्थुप्रभृतीनां श्रीमहावीरान्तानामष्टौ जनन्यो माहेन्द्रचतुर्थदेवलोके गता बोद्धव्या इति । प्रव० १२ द्वार ।

(११०) मोक्षाऽऽसनम्–

वीरोसहनेमीणं, पलियंकं सेसयाण उस्सग्गो ।
पलियंकासणमाणं, सदेहमाणा तिभागूणं ॥ ३१६ ॥

वीरः १,ऋषभः २,नेमिः ३,एतेषां जिनानां पर्यङ्काऽऽसनम् । शेषजिनानामुत्सर्ग आसनम्,मोक्षगमने इति शेषः । पर्यङ्काऽऽसनमानं तु-स्वदेहमानात् तृतीयभागोनं यदा क्रियते, तदा पर्यङ्काऽऽसनमानं भवतीति । सत्त० १५१ द्वार ।

मोक्षस्थानानि–

अट्ठावयचंपुज्जय–पावासम्मेयसेलसिहरेसु ।
उसभ वसुपुज्ज नेमी, वीरो सेसा य सिद्धिगया ॥

अष्टापदचम्पोज्जयन्तपापासम्मेतशैलशिखरेषु यथाक्रममृषभो वासुपूज्योऽरिष्टनेमिर्वीरो भगवान्, शेषाश्च तीर्थकृतः सिद्धिं गताः । अष्टापदे ऋषभस्वामी सिद्धिमगमत् । चम्पायां वासुपूज्यः । उज्जयन्तेऽरिष्टनेमिः । भगवान्महावीरः पापायाम् । शेषा अजितस्वामिप्रभृतयः सम्मेतशैलशिखरे इति । आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रव० । पञ्चा० ।

(मोक्षतपः) अधुनाऽन्तक्रियाद्वारावसरः। सा चान्तक्रिया निर्वाणलक्षणा, सा कस्य केन तपसा क जाता किंयत्परिवृतस्य चेत्येतदभिधित्सुराह–

निव्वाणमंतकिरिया, सा चोद्दसमेण पढमनाहस्स ।
सेसाण मासिएणं, वीरजिणिंदस्स छट्ठेणं ॥

सा च निर्वाणलक्षणा अन्तक्रिया प्रथमनाथस्याऽऽदितीर्थकृतश्चतुर्दशकेन षड्भिरुपवासैरभूत् । शेषाणामजितस्वामिप्रभृतीनां पार्श्वनाथपर्यन्तानां द्वाविंशतेस्तीर्थकृतां मासिकेन तपसा, मासोपवासेनेत्यर्थः, अन्तक्रियाऽभवत् । भगवतो वीरजिनेन्द्रस्य पुनः षष्ठेन-द्वाभ्यामुपवासाभ्याम् । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

मोक्षनक्षत्राण्याह–

अभिई मिगसिर अद्दा, पुस्स पुणव्वसु य चित्त अणुराहा ।
जिट्ठा मूलं पुव्वा–साढा धणिट्ठुत्तराभद्दा ॥ ३११ ॥
रेवइ रेवइ पुस्सो, भरणी कत्तिय य रेवई भरणी ।
सवणऽस्सिणि चित्त विसा-ह साइ जिणमोक्खणक्खत्ता ३१२

ऋषभस्वामिनोऽभिजिन्नक्षत्रे निर्वाणम् १ । एवं सर्वत्र । मृगशिरः २ । आर्द्रा ३ । पुष्यः ४ । पुनर्वसु ५ । चित्रा ६ । अनुराधा ७ । ज्येष्ठा ८ । मूलम् ९ । पूर्वाषाढा १० । धनिष्ठा ११ । उत्तराभाद्रपदा १२ ॥ ३११ ॥ रेवती १३ । रेवती १४ । पुष्यः १५ । भरणी १६ । कृत्तिका १७ । रेवती १८ । भरणी १९ । श्रवणः २० । अश्विनी २१ । चित्रा २२ । विशाखा २३ । स्वातिः २४ । एतानि जिनानां क्रमेण मोक्षनक्षत्राणि । सत्त० १४८ द्वार ।

मोक्षपरिवारः–

एगो भयवं वीरो, तेत्तीसाएँ सह निव्वुओ पासो ।
छत्तीसेहिं पंचहिँ, सएहिँ नेमी उ सिद्धिगतो ॥
पंचहिँ समणसएहिं, मल्ली संती उ नवसएहिँ तु ।
अट्ठसएणं धम्मो,सएहिँ छहिँ वासुपुज्जजिणो ॥
सत्तसहस्साऽणंतइ–जिणस्स विमलस्स छस्सहस्साइं ।
पंचसयाइँ सुपासे, पउमाभे तिन्नि अट्ठ सया ॥
दसहिँ सहस्सेहुसभो, सेसा उ सहस्सपरिवुडा सिद्धा ।

वीरो भगवानेक एकाकी सन् निर्वृतः । त्रयस्त्रिंशता साधुभिः सह निर्वृतः पार्श्वनाथः । पञ्चभिः शतैः, षट्त्रिंशैः-षट्त्रिंशदधिकैः सह सिद्धिं गतो नेमिररिष्टनेमिः । पञ्चभिः श्रमणशतैः सह परिनिर्वृतो मल्लिस्वामी । नवभिः शतैः परिवृतः शान्तिनाथः । अष्टभिः शतैर्धर्मः । षड्भिः शतैर्वासुपूज्यजिनः सिद्धिं गतः। अनन्तजितो जिनस्य निर्वाणं गच्छतः सप्तसहस्राणि परिवारः । विमलनाथस्य षट् सहस्राणि । पञ्चशतानि सुपार्श्वनाथस्य । पद्मप्रभस्य त्रीणि अष्टोत्तराणि शतानि । दशभिः सहस्रैः परिवृत ऋषभस्वामी निर्वाणमगच्छत् । शेषास्त्वजितस्वामिप्रभृतय उक्तव्यतिरिक्ताः प्रत्येकं सहस्रपरिवृताः सिद्धाः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रव० ।

मोक्षपथः–

सुमुणिसुसावगरूवो, मुक्खपहो रयणतिगसरूवो वा ।
सव्वजिणेहिं भणिओ,......................[३२५]

सुमुनयः सुश्रावकास्तद्रूपो मोक्षपथः, रत्नत्रयस्वरूपो वा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपो वा मोक्षपथः सर्वजिनैः कथितः । सत्त० १६० द्वार ।

अथ जिनानां मोक्षमासाऽऽदयः कथ्यन्ते–

माहस्स किण्हतेरसि, दोसुं सियचित्तपंचमी नेया ।
वइसाहसुद्धअट्ठमि, तह चित्ते सुद्धनवमी य ॥ ३०६ ॥
कसिणा मग्गइगारसि, फग्गुणभद्दवयसत्तमी किण्हा ।
भद्दवयसुद्धनवमी, वइसाहे बहुलबीया य ॥३०७॥
कसिणा सावणतइया, आसाढे तह य चउदसी सुद्धा ।
आसाढकसिणसत्तमि, सियपंचमि चित्तजिट्ठेसु ॥३०८॥
जिट्ठे कसिणा तेरसि, वइसाहे पत्थि मग्गसियदसमी ।
फग्गुणसुद्धदुवालसि, किण्हा नवमी य जिट्ठस्स ।३०९।
वइसाहअसियदसमी, आसढे सावणेऽट्ठमी सुद्धा ।
कत्तियऽमावसि सिवमा–समाइ भणिया जिणिंदाणं।३१०।

(माहस्स किण्हतेरसि) माघस्य कृष्णत्रयोदशी ऋषभस्य निर्वाणे १ । एवं सर्वजिनानां नामपूर्वकं मोक्षगमनमासाऽऽदि वाच्यम् । (दोसुं सियचित्तपंचमी नेय त्ति) द्वयोरजितसंभवजिनयोः चैत्रस्य श्वेतपञ्चमी ज्ञेया २।३। (वइसाहसुद्धअट्ठमि) वैशाखमासस्य शुक्लाऽष्टमी ४ । (तह चित्ते सुद्धनवमी य) तथा चैत्रे शुक्लनवमी ५ चेति गाथार्थः ॥ ३०६ ॥ (कसिणा मग्गइगारसि) कृष्णा मार्गशीर्षमासस्यैकादशी ६ । (फग्गुणभ-

इवयसत्तमी किण्हा) फाल्गुनमासस्य कृष्णा सप्तमी ७। भाद्रपदमासस्य कृष्णा सप्तमी ८। (भद्दवयसुक्कनवमी) भाद्रपदशुक्लनवमी ९। (वइसाहे बहुलबीया य) वैशाखे कृष्णद्वितीया १० चेति गाथार्थः ३०७ ॥ (कसिणा सावणतइया) कृष्णश्रावणस्य तृतीया ११। (आसाढे तह य चउद्दसी सुद्धा) आषाढे तथा चतुर्दशी शुक्ला श्वेता १२ (आसाढकसिणसत्तमि) आषाढस्य कृष्णा सप्तमी १३। (सियपंचमि चित्तजिट्ठेसु) श्वेतपञ्चमी चैत्रे १४। जैष्ठेऽपि श्वेतपञ्चमी १५। इति गाथार्थः। ॥ ३०८॥ (जिट्ठे कसिणा तेरसि) ज्येष्ठे कृष्णा त्रयोदशी १६। (वइसाहे पडिव मग्गसियदसमी) वैशाखे कृष्णा प्रतिपत् १७। मार्गशीर्षस्य श्वेतदशमी १८। (फग्गुणसुक्कदुवालसि) फाल्गुनशुक्लद्वादशी १९। (किण्हा नवमी य जिट्ठस्स) ज्येष्ठस्य कृष्णा नवमी २० चेति गाथार्थः ॥ ३०९ ॥ (वइसाहअसियदसमी) वैशाखस्य कृष्णदशमी २१। (आसाढे सावणेऽट्ठमी सुक्का) आषाढे शुक्लाऽष्टमी २२। श्रावणेऽपि शुक्लाऽष्टमी २३। (कत्तियऽमावसि) कार्त्तिकस्याऽमावास्या श्रीवीरस्य निर्वाणे २४। (सिवमासमा इअ णिआ जिणिंदाणं ति) एवं सर्वजिनेन्द्राणां मोक्षमासाऽऽदयो भणिताः। इति गाथार्थः ॥ ३१० ॥ सत्त० १४७ द्वार।

मोक्षराशयः–

मयरो वसहो मिहुणो, दुसु कक्कड कन्न दुसु अली य धणू।
धणु कुंभो तिसु मीणो, कक्कड मेसो वसह मीणो ॥ ३१३ ॥
मेसो मयरो मेसो, तिसु तुल्ल एए उ मुक्खरासीओ ।(३१४)

ऋषभजिनस्य मोक्षे मकरराशिः १। एवं सर्वजिनानां नामपूर्वं मोक्षराशयो वाच्याः। वृषः २। मिथुनम् ३। द्वयोः–कर्कटः ४, कर्कटः ५। कन्या ६। द्वयोः जिनवरयोः–अली च वृश्चिकः ७, वृश्चिकः ८। धनुः ९। धनुः १०। कुम्भः ११। त्रिषु पुनर्जिनेषु–मीनः १२, मीनः १३, मीनः १४। कर्कटः १५। मेषः १६। वृषभः १७। मीनः १८॥ ३१३ ॥ मेषः १९। मकरः २०। मेषः २१। त्रिषु जिनेषु–तुला २२, तुला २३, तुला २४। एते तु जिनानां मोक्षराशयः। सत्त० १४९ द्वार।

मोक्षविनयः–

…………………, पंचविहो मोक्खविणओ त्ति।
दंसणनाणचरित्ते, तवे य तह उवयारिया चेव।
एसो हु मोक्खविणओ, दुहा व गिहिमुणिकिरियरूवो ३२६

दर्शनम्, ज्ञानम्, चारित्राणि, तपः, उपकारिता च। एष पञ्चविधो मोक्षविनयः। द्विविधो वा मोक्षविनयः–गृहस्थक्रियारूपः, मुनिक्रियारूपश्च। सत्त० १६१ द्वार।

मोक्षवेला–

अवरण्हे सिद्धि गया, संभवपउमाभसुविहिवसुपुज्जा।
सेसा उसहाईया, सेयंसंता उ पुव्वण्हे ॥ ३२१ ॥
धम्मअरनमीवीरा–ऽवररत्ते पुव्वरत्तए सेसा (३२२)

अपराह्णे पश्चिमप्रहरे सिद्धिं गता मोक्षं प्राप्ताः संभवपद्मप्रभसुविधिवासुपूज्याः। शेषाः ऋषभादिश्रेयांसान्ता अष्टौ जिनाः पूर्वाह्णे सिद्धिं गताः। धर्मारनमिवीरा अपररात्रे मोक्षं गताः। शेषा अष्टौ जिनाः पूर्वरात्रे मोक्षं गताः। सत्त० १५५ द्वार।

मोक्षारकशेषकालः–

…………ऽरसेसमवि तं तु नियनियाउ विणा। (३२३)

मोक्षारकशेषमपि पूर्ववद् जन्मारकशेषवत्। परन्तु निजनिजायुर्विना अरकशेषमानं भवति। तथाहि–ऋषभस्य जन्मारकशेषं चतुरशीतिलक्षपूर्वाणि नवाशीतिपक्षाधिकानि तन्निजायुर्वा निष्कृयते, तदा नवाशीतिपक्षा अवशिष्यन्ते। तत एतावत् श्रीऋषभस्य मोक्षारकशेषं भवति। एवं सर्वत्र भावना कार्या। सत्त० १५७ द्वार।

मोक्षारकाः–

पुव्वं व मोक्खअरया, ………………।(३२२)

मोक्षारकः पूर्ववत्। "अरका भंजिउजकालरूवे" इत्यादिना प्रोक्त इत्यर्थः। ऋषभस्य तृतीयारके मोक्षः, शेषाणां चतुर्थारके। सत्त० १५६ द्वार।

मोक्षावगाहनामानम्–

सव्वेसि सिवोगाहण–तिभागऊणा नियासणपमाणा ॥ (३१७)

सर्वेषां शिवगतानामवगाहना शरीरमानं तृतीयभागोना निजाऽऽसनप्रमाणात् भवति। सत्त १५२ द्वार।

(वीराऽऽद्यासनानि 'आसण' शब्दे द्वितीयभागे ४७० पृष्ठे निरूपितानि) (अवगाहना 'ओगाहणा' शब्दे तृतीयभागे ७६ पृष्ठे निरूपिता)

(१११) अथ राज्यकालमभिधित्सुराह–

तेसट्ठि पुव्वलक्खा, तिपन्न चउचत्त सड्ढ छत्तीसा।
गुणतीस सड्ढ इगवीस, चउदस सड्ढच्छ अद्धऽद्धं ॥ १३९ ॥
अजिआओ जा सुविही, पुव्वंगा ताविमेऽहिया नेया।
इग चउ अड बारस सो–ल वीस चउवीस अडवीसा ॥ १४०
तो सयलक्ख दु चत्ता, ते सुन्नं तीस पनर पंच तओ।
सहस पणवीस तत्तो, पाउणचउवीस इगवीसं ॥ १४१ ॥
सुन्न पनर पण तत्तो, तिसुन्न रज्जं च चक्किकालो वि।
(१४२)

(तेसट्ठि पुव्वलक्ख त्ति) पूर्वलक्षशब्दस्य दशसु योगात् त्रिषष्टिपूर्वलक्षाणि राज्यकाल ऋषभस्य १। एवं नामग्राहं सर्वत्र वाच्यम्। (तिपन्न चउ चत्त सड्ढ छत्तीसा) त्रिपञ्चाशल्लक्षपूर्वाणि "अजिआउ जा सुविहीत्यादिना" वक्ष्यमाणत्वात् पूर्वाङ्गेण एकेन सहितानि २। चतुश्चत्वारिंशत्पूर्वलक्षाणि चतुःपूर्वाङ्गसहितानि ३। सार्द्धषट्त्रिंशत्पूर्वलक्षाणि अष्टपूर्वाङ्गाधिकानि ४। (गुणतीससड्ढइगवीस) एकोनत्रिंशत्पूर्वलक्षाणि द्वादशपूर्वाङ्गाधिकानि ५। सार्द्धैकविंशतिपूर्वलक्षाणि षोडशपूर्वाङ्गाधिकानि ६। (चउदस सड्ढच्छ अद्धऽद्धं) चतुर्दशपूर्वलक्षाणि विंशतिपूर्वाङ्गसहितानि ७। सार्द्धषट्पूर्वलक्षाणि चतुर्विंशतिपूर्वाङ्गसहितानि ८। अर्द्धं पूर्वलक्षम्। कोऽर्थः? पञ्चाशत्पूर्वसहस्राण्यष्टाविंशतिपूर्वाङ्गसहितानि ९। केवलमर्द्धपूर्वलक्षं पञ्चाशत्पूर्वसहस्राणीत्यर्थः १०। इति गाथार्थः ॥ १३९ ॥ अथ पूर्वोक्तेषु पूर्वेषु पूर्वाङ्गप्रक्षेपमाह–(अजिआओ जा सुविही पुव्वंगा ताविमेऽहिया नेय त्ति) अजितजिनादारभ्य यावत् सुविधिजिनो नवमजिनो भवति, तावदिमानि वक्ष्यमाणानि पूर्वाङ्गाण्यधिकानि ज्ञेयानि। तानि दर्शयति–(इग चउ अड बारस सो–ल वीस चउवीस

अडवीस त्ति) एकं १, चत्वारि २, अष्टौ ३, द्वादश ४, षोडश ५, विंशतिः ६, चतुर्विंशतिः ७, अष्टाविंशतिः ८। योजना तु प्रागेव दर्शितेति गाथार्थः ॥१४०॥ (तो सयसक्क ड्डुवत्त त्ति) ·········· (?) ततः शून्यं राज्याभावः १२। लक्षशब्दोऽग्रेऽपि योज्यते । त्रिंशल्लक्षवर्षाणि १३। पञ्चदशवर्षलक्षाणि १४। ततः पञ्चलक्षवर्षाणि १५। (सहस्सपणवीस तत्तो त्ति) सहस्रशब्दस्य नमिजिनं यावद्योगः कृतः पञ्चविंशतिवर्षसहस्राणि १६। (पाउणचउवीसहस्सवीसं ति) पादोनचतुर्विंशवर्षसहस्राणि १७ एकविंशतिवर्षसहस्राणि १८। इति गाथार्थः ॥१४१॥ (सुन्न पनर पण तत्तो) शून्यं राज्याभावः १६, पञ्चदशसहस्राणि वर्षाणाम् २०। पञ्चवर्षसहस्राणि २१। ततः (तिसुन्न रज्जं च चक्किकालो वि) त्रिस्थानेषु शून्यं राज्याभावः २२। २३। २४। राज्यं च एतावन्तं कालं जिनानाम् । सत्त० ५५ द्वार।

(११२) अथ रुद्रनामान्याह–

भीमावलि जियसत्तू, रुद्दे विस्सानलो य सुपइट्ठो ।
अयलो य पुंडरीओ, अजियधरो अजियनाभो य ।३३७।
पेढालो तह सच्चइ, एए रुद्दा इगारसंगधरा ।
उसहाजिअ सुविहाई–अरजिण सिरिवीरतित्थभवा ३३८

भीमावलिनामा रुद्रः १। जितशत्रुः २। रुद्रः ३। विश्वानलः ४। सुप्रतिष्ठः ५। अचलः ६। पुण्डरीकः ७। अजितधरः ८। अजितनाभः ९ ॥ ३३८ ॥ पेढालः १०। सत्यकिः ११। एते रुद्रा रुद्रतपःकारका महामुनय एकादशाङ्गधरा एकादशाङ्गपाठकाः। (उसहाजिअ सुविहाई–अरजिण सिरिवीरतित्थभव त्ति) ऋषभाजितयोः सुविध्याद्यष्टजिनानां श्रीवीरस्य च तीर्थे भवाः। एवमेकादशानामपि तीर्थकृतां तीर्थेष्वेकादशापि रुद्राः। ते च ऋषभशासने भीमावलिनामा जातः १। अजितशासने जितशत्रुनामा जातः २। सुविधिशासने रुद्रनामा ३। शीतलशासने विश्वानलनामा ४। श्रेयांसशासने सुप्रतिष्ठनामा ५। वासुपूज्यशासने अचलनामा ६। विमलशासने पुण्डरीकः ७। अनन्तशासने अजितधरः ८। धर्मशासने अजितनाभः ९। श्रीशान्तिशासने पेढालः १०। वीरतीर्थे सत्यकिः ११। एते एकादश रुद्रा जाताः। सत्त० १६७ द्वार।

अथ जिनवराणां प्रसङ्गाद् गणधराऽऽहारकमाण्डलिकान्तानामुत्तमपुरुषाणां देवानां च रूपवर्णनमाह–

सव्वसुरा जइ रूवं, अंगुट्ठपमाणयं विउव्विज्जा ।
जिणपायंगुट्ठं पइ, न सोहए तं जहिंगालो ॥ १२० ॥
गणहरआहारअणु–त्तरा य जाव णं चक्किवासुबला ।
मंडलिया जा हीणा, छट्ठाणगया भवे सेसा ॥ १२१ ॥

(सव्वसुरा जइ रूवं अंगुट्ठपमाणयं विउव्विज्ज त्ति) सर्वे देवाः सम्भूय यद्येकं रूपमङ्गुष्ठप्रमाणकमङ्गुष्ठमात्रं विकुर्वेयुः। (जिणपायंगुट्ठं पइ त्ति) जिनपादाङ्गुष्ठं प्रति–जिनस्य पादौ जिनपादौ तयोरङ्गुष्ठः जिनपादाङ्गुष्ठः, तं प्रति (न सोहए तं जहिंगालो) न शोभते तद्रूपं, यथा अङ्गारो, भगवद्रूपाग्रे तदङ्गारसदृशं दृश्यते। इति गाथाऽर्थः ॥१२०॥ (गणहरआहारअणुत्तरा य त्ति) गणधराहारकानुत्तराश्च (जाव णं चक्किवासुबल त्ति) यावद् व्यन्तरचक्रिवासुदेवबलदेवाः (मंडलिआ जा हीण त्ति) माण्डलिका यावत् क्रमेण रूपेण हीना भवन्ति। यथा जिनेभ्यो गणधरा रूपेण हीनाः १। ततश्चाऽऽहारकं शरीरम् २। ततश्चानुत्तरवासिनः सुराः ३। ततो नवमाद्युत्क्रमेण ग्रैवेयकसुराः, ततो द्वादशाद्युत्क्रमेण कल्पवासिनः सुराः, ततो ज्योतिष्कदेवाः, ततो भवनपतिदेवाः, ततो व्यन्तरदेवा रूपेण हीनाः ४। तेभ्योऽपि चक्रिणो रूपेण हीनाः ५। ततो वासुदेवा रूपेण हीनाः ६। ततो बला बलभद्रा रूपेण हीनाः ७। ततो माण्डलिका रूपेण हीनाः ८। (छट्ठाणगया भवे सेसा) लोकाः षट्स्थानगता भवेयुः। इति गाथार्थः ॥१२१॥ सत्त ४७ द्वार।

(११३) साम्प्रतं लाञ्छनान्याह–

वसह गय तुरय वानर–कुंचो कमलं च सत्थिओ चंदो ।
मयर सिरिवच्छ गंडय, महिस वराहो य सेणो य ॥३८१॥
वज्जं हरिणो छगलो, नंदावत्तो य कलस कुम्मो य ।
नीलुप्पल संख फणी, सीहो अ जिणाण चिण्हाइं ।३८२।

वृषभः १। गजः २। तुरगः ३। वानरः ४। क्रौञ्चः ५। कमलं च ६। स्वस्तिकः ७। चन्द्रः ८। मकरः ९। श्रीवत्सः १०। गण्डकः ११। महिषः १२। वराहश्च १३। श्येनश्च १४ ॥३८१॥ वज्रम् १५। हरिणः १६। छगलकः १७। नन्द्यावर्त्तश्च १८। कलशः १९। कूर्मः २०। नीलोत्पलम् २१। शङ्खः २२। फणी २३। सिंहश्च २४। जिनानां नाभेयाऽऽदीनां चिह्नानि क्रमेण ज्ञातव्यानीति। प्रव० २६ द्वार।

लक्षणद्वारम्–

अट्ठुत्तरो सहस्सो, सव्वेसिं लक्खणाइँ देहेसु । (१९३)

अष्टोत्तरसहस्रः–अष्टेनाधिकः सहस्रः १००८, सर्वेषां तीर्थपानां शरीरेषु लक्षणानि भवन्ति। सत्त० ४४ द्वार।

लोकान्तिकदेवैर्बोधनम्–

सव्वे वि सयंबुद्धा, लोगंतियबोहिया य जीयं ति ।
(सव्वेसिं परिच्चाओ, संवच्छरियं महादाणं ॥)

सर्वे एव तीर्थकृतः स्वयंबुद्धा वर्त्तन्ते, तथापि लोकान्तिकदेवानामियं स्थितिः–यदुत स्वयंबुद्धानपि भगवतो बोधयन्ति, ततो जीतमिति कल्प इति कृत्वा लोकान्तिकदेवैर्बोधिताः सन्तो निष्क्रामन्ति। आ० म० १ अ० १ खण्ड। आ० चू०।

अथ वस्त्रवर्णानाह–

पुरिमंतिमतित्थेसुं, ओहनिज्जुत्तीभणियपरिमाणं ।
सियवत्थं इयराणं, वण्णपमाणेहिँ जहलद्धं ॥ २१७ ॥

(पुरिमंतिमतित्थेसुं) प्रथमजिनतीर्थे अन्तिमजिनतीर्थे च (ओहनिज्जुत्तीभणियपरिमाणं) ओघनिर्युक्तिसूत्रोक्तपरिमाणम् (सियवत्थं ति) सितं श्वेतं वस्त्रं ज्ञेयम्। (इयराणं वण्णपमाणेहिँ जहलद्धं ति) इतरेषां द्वाविंशतिजिनानां वर्णप्रमाणैः वस्त्रवर्णैर्यथालब्धं यथाप्राप्तम्, अनियतवर्णमनियतप्रमाणं चेत्यर्थः ॥ २१७ ॥ सत्त० १४२ द्वार।

वर्णो जिनानाम्—

पउमाभवासुपुज्जा, रत्ता ससिपुप्फदंत ससिगोरा ।
सुव्वयनेमी काला, पासो मल्ली पियंगाभा ॥ ३८३ ॥
वरतवियकणयगोरा, सोलस तित्थंकरा मुणेयव्वा ।
एसो वण्णविभागो, चउवीसाए जिणिंदाणं ॥ ३८४ ॥

पद्मप्रभवासुपूज्यौ जपापुष्पवर्णौ । शशिपुष्पदन्तौ-चन्द्रप्रभसुविधी शशिगौरौ चन्द्रवद्गौरौ । सुव्रतनेमिजिनौ इन्द्रनीलमणिवत्कालौ । पार्श्वमल्लिजिनौ प्रियङ्ग्वाभौ, प्रियङ्गुः फलिनीतरुः,तदाभौ, नीलावित्यर्थः । वरमकृत्रिमं तापितं यत्कनकं तद्वद् गौराः शेषाः षोडश तीर्थङ्करा ज्ञातव्याः । एष वर्णविभागश्चतुर्विंशतेस्तीर्थकराणामिति । प्रव० ३० द्वार ।

दो तित्थयरा नीलुप्पलसमा वन्नेणं पण्णत्ता । तं जहा-मुणिसुव्वए चेव,अरिट्ठणेमी चेव । दो तित्थयरा पियंगुसमा वन्नेणं पण्णत्ता । तं जहा- मल्ली चेव, पासे चेव । दो तित्थयरा पउमगोरा वन्नेणं पण्णत्ता । तं जहा-पउमप्पहे चेव,वासुपुज्जे चेव । दो तित्थयरा चंदगोरा वन्नेणं पण्णत्ता । तं जहा-चंदप्पभे चेव, पुप्फदंते चेव ।

पद्मं रक्तोत्पलं तद्वद्गौरौ, रक्तावित्यर्थः । तथा-चन्द्रगौरौ चन्द्रशुभ्रावित्यर्थः । शेषं सुगमम् । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

(११४) अथ तीर्थकृतां पञ्चत्रिंशद् वाग्गुणानाह-

वयणगुणा सग सद्दे, अत्थे अडवीस मिलिय पणतीसं ।
तेहिँ गुणेहिँ मणुण्णं, जिणाण वयणं कमेण इमं ।२०२।
वयणं सक्कयगंभी-रघोसउवयारुदत्तयाजुत्तं ।
पडिनायकरं दक्खि-न्नसहियमुवणीयरागं च ॥ २०३ ॥
सुमहत्थं अव्वाहय-मसंसयं तत्तनिट्ठियं सिट्ठं ।
पत्थावुचियं पडिहय-परुत्तरं हिययपीइकरं ॥ २०४ ॥
अणुण्णसाभिकंखं, अभिजायं अइसिणिद्धमहुरं च ।
ससलाहापरनिंदा-वज्जियमपइन्नपसरजुयं ॥ २०५ ॥
पयडक्खरपयवक्कं, सत्तपहाणं च कारगाइजुयं ।
ठवियविसेसमुयारं, अणेगजाईविचित्तं च ॥ २०६ ॥
परमम्मविब्भमाई-विलंबवुच्छेयखेयरहियं च ।
अब्भुयं धम्मत्थजुयं, सलाहणिज्जं च चित्तकरं ॥२०७॥

(वयणगुणा सग सद्दे) भगवद्वचनगुणा एते वक्ष्यमाणा भवन्ति-तत्र शब्दे गुणाः सप्त । (अत्थे अडवीस) अर्थेऽष्टाविंशतिः । (मिलिअ पणतीसं) उभयेऽपि मिलिताः पञ्चत्रिंशत् वचनगुणा भवन्ति । (तेहिँ गुणेहिँ मणुण्णं) तैर्गुणैर्मनोज्ञम् (जिणाण वयणं कमेण इमं)जिनानां वचनं क्रमेणेदं वक्ष्यमाणं ज्ञेयम् । कोऽर्थः?-अत्र स्फुटं गुणा न वक्ष्यन्ते,किं तु तैर्विशिष्टं क्रमेण वचनं वक्ष्यतीति गाथार्थः ॥ २०२ ॥ (वयणं सक्कयगंभीरघोसउवयारुदत्तयाजुत्तं)जगवद्वचनं संस्कृताऽऽदिलक्षणयुक्तम् १,गम्भीरघोषयुक्तं गम्भीरशब्दोपेतं मेघस्येव २,उपचारयुक्तमग्राम्यमित्यर्थः ३। उदात्ततायुक्तमुच्चैर्वृत्तितायुक्तम् ४। (पडिनायकरं दक्खिन्नसहियं)प्रतिनादकरं प्रतिरवोपेतम् ५,दाक्षिण्यसहितम्,सरलत्वयुक्तं न तु किञ्चिदपि वक्रम् ६ । (उवणीअरागं च) उपनीतरागं च मालवकैशिक्यादिग्रामरागयुक्तम् ७। एते सप्ताऽपि शब्दापेक्षया गुणाः । इतिगाथार्थः ॥२०३॥ अथार्थविवक्षया कथ्यन्ते-(सुमहत्थं) सुष्ठु महार्थं बृहदभिधेयम् ८। (अव्वाहयं) अव्याहतं पूर्वापरवाक्यार्थाविरुद्धम् ९, (असंसयं) संशयरहितमसंदिग्धम् १०। (तत्तनिट्ठिअं) तत्त्वनिष्ठितं विवक्षितवस्तुस्वरूपानुसारि ११,(सिट्ठं) शिष्टाभिमतसिद्धान्तोक्तार्थं,वक्तुः शिष्टतासूचकं वा १२। (पत्थावुचिअं) प्रस्तावोचितं देशकालानुगुणम् १३।(पडिहयपरुत्तरं)निराकृतान्योत्तरं परदूषणाविषयम् १४।(हिअयपीइकरं) हृदयप्रीतिकरमिति गाथार्थः १५ ॥२०४॥ (अन्नुन्नसाभिकंखं) मिथः साभिकाङ्क्षमन्योन्यगृहीतं परस्परेण पदानां वाक्यानां वा सापेक्षतायुक्तम् १६। (अभिजायं) अभिजातं वक्तुः प्रतिपाद्यस्य वा भूमिकाऽनुसारि १७। (अइसिणिद्धमहुरं च)अतिस्निग्धमधुरं च,घृतगुडाऽऽदिवत् सुखकारि १८। (ससलाहापरनिंदावज्जिअं) स्वश्लाघापरनिन्दावर्जितमात्मोत्कर्षपरनिन्दाविप्रमुक्तम् १९। (अपइन्नपसरजुयं) अप्रकीर्णप्रसरयुक्तं सुसंबद्धं सत् प्रसरणयुक्तम् । असंबद्धाधिकारत्वातिविस्तरयोरभावयुक्तमिति गाथार्थः २० ॥ २०५ ॥ (पयडक्खरपयवक्कं) प्रकटाक्षरपदवाक्यं वर्णाऽऽदीनां विच्छिन्नत्वयुक्तम् २१।(सत्तप्पहाणं च)सत्त्वप्रधानं च साहसोपेतम्२२। (कारगाइजुअं)कारकाऽऽदियुतम्,कारकवचनलिङ्गाऽऽदियुतं तद्विपर्यासरहितम् २३ । (ठविअविसेसं) स्थापितविशेषमारोपितविशेषं वचनान्तरापेक्षयाऽऽहितविशेषम् २४। (उआरं) उदारमभिधेयस्याऽर्थस्यातुच्छत्वयुतम् २५ । (अणेगजाईविचित्तं च) अनेकजातिविचित्रं जात्या वर्णनीयं वस्तुस्वरूपवर्णनानि तत्संश्रयाद्विचित्रम्२६,चः पुनरर्थे इति गाथार्थः॥२०६॥ (परमम्मविब्भमाईविलंबवुच्छेअखेअरहिअं च)परमर्मरहितं परमर्मानुद्घट्टनस्वरूपम्२७। विभ्रमाऽऽदिरहितं विभ्रमो वक्तृमनसो भ्रान्तता,स आदिर्येषां विक्षेपाऽऽदीनां ते विभ्रमाऽऽदिमनोदोषास्तैर्विप्रमुक्तम् २८। विलम्बरहितम्२९। पदवाक्यवर्णाऽऽदीनां व्युच्छेदरहितं विवक्षार्थसिद्धिं यावदव्यवच्छिन्नवचनप्रमेयम् ३०। खेदरहितं च अनायाससंभवम् ३१। (अब्भुअं) अद्भुतमत्यौत्सुक्यरहितम् ३२। (धम्मत्थजुयं) धर्मार्थयुतं धर्मार्थाऽव्यामनपेतम् ३३ । (सलाहणिज्जं च) श्लाघनीयं च उक्तगुणयोगात् प्रशंसनीयम् ३४ । (चित्तकरं) चित्रकरम् उत्पादिताविच्छिन्नकौतूहलम् ३५। इति गाथार्थः ॥२०७॥ सत्त० ९८ द्वार ।

(जिनवाण्यतिशयाः 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे ३२ पृष्ठे दर्शिताः)

(११५) तीर्थकराणां यतिमुनिसंख्याप्रतिपादनार्थमाह-

सहुछसया दुवालस,सहस्स बारस य चउसयऽब्भहिया ।
बारेक्कारससहस्सा, दसलक्खा छसय पन्नासा ॥३४६॥
छन्नउई चुलसीई, उहत्तरं सट्ठि अद्धपन्ना य ।
पन्नासा य सयाणं, सीयाला अहव बायाला ॥ ३४७ ॥
चत्तीसा बत्तीसा, अट्ठावीसा सऊण चउवीसा ।
विसहस्सा सोलसया, चउदस बारस दस सयाइँ ।३४८।
अट्ठसया छ्च सया, चत्तारि सयाइँ हुंति वीरम्मि ।
वाइमुणीण पमाणं, चउवीसाए जिनवराणं ॥ ३४९ ॥

" सहुछसया " इत्यादिगाथाचतुष्टयम् । प्रथमजिनस्य वादियतीनां द्वादशसहस्राणि सार्द्धषट्शतानि, पञ्चाशदधिकैः षड्भिः शतैरधिकानीत्यर्थः। श्रीअजितजिनस्य द्वादशसहस्राणि चतुःशताधिकानि । श्रीशंभवस्य द्वादशसहस्राणि । श्रीअभिनन्दनस्य एकादशसहस्राणि । श्रीसुमतिजिनस्य दशसहस्राणि पञ्चाशदधिकषट्शताभ्यधिकानि "छन्नवई" इत्यादिगाथायामुत्तरार्द्धवर्त्तिशतानामिति पदं सर्वत्र संबध्यते । ततः श्रीपद्मप्रभस्य वादिनां षण्णवतिः शतानाम्, कोऽर्थः?,नवसहस्राणि षट्शतैरधिकानीति।

श्रीसुपार्श्वजिनस्य चतुरशीतिः, चतुर्भिः शतैरधिका अष्टौ सहस्राणि । चन्द्रप्रभस्य षट्सप्ततिः शतानाम्, षड्भिः शतैरधिकानि सप्त सहस्राणीत्यर्थः । श्रीसुविधिजिनस्य षष्टिः शतानां, षट्सहस्राणीत्यर्थः । श्रीशीतलजिनस्य अष्टपञ्चाशच्छतानां, पञ्चसहस्राण्यष्टशताधिकानीत्यर्थः । श्रीश्रेयांसस्य पञ्चाशत् शतानां, पञ्च सहस्राणीत्यर्थः । श्रीवासुपूज्यस्य सप्तचत्वारिंशच्छतानि, चत्वारि सहस्राणि सप्तशताधिकानीत्यर्थः । (अहव बायाल त्ति) अथवा मतान्तरेण-श्रीवासुपूज्यस्य द्विचत्वारिंशच्छतानि, चत्वारि सहस्राणि शतद्वयाधिकानीत्यर्थः । श्रीविमलजिनस्य द्वात्रिंशच्छतानि, त्रीणि सहस्राणि शतद्वयाधिकानीत्यर्थः । श्रीअनन्तजिनस्य द्वात्रिंशच्छतानि । श्रीधर्मजिनस्य अष्टाविंशतिः शतानां, सहस्रद्वयमष्टशताधिकमित्यर्थः । श्रीशान्तिनाथस्य शतानां चतुर्विंशतिः, द्वे सहस्रे शतचतुष्टयाधिके इत्यर्थः । श्रीकुन्थुजिनस्य द्वे सहस्रे । श्रीअरनाथस्य षोडश शतानि, षट्शताधिकं सहस्रमित्यर्थः । श्रीमल्लिजिनस्य चतुर्दश शतानि, शतचतुष्टयाधिकं सहस्रमित्यर्थः । श्रीमुनिसुव्रतस्य द्वादश शतानि, सहस्रमेकं शतद्वयाधिकमित्यर्थः । श्रीनमिजिनस्य दश शतानि, सहस्रमित्यर्थः । श्रीनेमिजिनस्य अष्टौ शतानि । श्रीपार्श्वजिनस्य षट्शतानि । श्रीवीरजिनस्य चत्वारि शतानि भवन्ति । इति वादिमुनीनां वादसमरेषु सुरासुरैरप्यजेयानां प्रमाणं चतुर्विंशतेर्जिनवराणामिति ॥ प्रव० १६ द्वार । स्था० ।

तीर्थकरविवाहविषयः-

मल्लिं नेमिं मुत्तुं, तेसिं विवाहो य भोगफला ।(१३५)

मल्लिजिनं नेमिजिनं च मुक्त्वा, तेषां द्वाविंशतिजिनानामुक्तव्यतिरिक्तानां विवाहश्च जातो भोग्यफलाद्, भोग्यफलकर्मोदयादित्यर्थः । सत्त० ५३ द्वार ।

तीर्थकृतां येषु ग्रामनगराऽऽदिषु विहार आसीत्तदेवाऽऽह-

मगहारायगिहाइसु, मुणओ खेत्तारिएसु विहरिंसु ।
उसभो य नेमि पासो, वीरो य अणारिएसुं पि ॥

मन्यन्ते स्म जगतः समस्तस्यापि त्रिकालावस्थामिति मुनयो भगवन्तस्तीर्थकृतः,ते सर्वेऽपि मगधाऽऽदिषु जनपदेषु राजगृहाऽऽदिषु नगरेषु,क्षेत्रार्येषु आर्यक्षेत्रेषु,विहृतवन्तः । इह आर्यक्षेत्रचिन्तायां शास्त्रान्तरेषु मगधाऽऽदयो जनपदाः,राजगृहाऽऽदीनि च नगराण्युक्तानीत्यत्रापि " मगहारायगिहाइसु " इत्युक्तम्, अन्यथा ऋषभस्वामिन आदितीर्थकरस्य तदनुरोधेन नगरचिन्तायां विनीताऽऽदिरित्युच्येतेति । ऋषभस्वामी, अरिष्टनेमिः, पार्श्वनाथो, वीरश्च भगवानित्येते चत्वारस्तीर्थकृतोऽनार्येष्वपि क्षेत्रेषु विहृतवन्तः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

(११६) वैक्रियकमुनयः-

वेउव्वियलद्धीणं, वीससहस्सा य सयछगऽब्भहिया ।
वीससहस्सा चउसय, इगुणीससहस्स अट्ठसया ।३४२।
इगुणीससहस्स अट्ठा-र चउसया सोलसहस अट्ठ सया ।
सत्तिसय पनरस चउदस,तेरस बारस सहस दसमे ।३४३।
इक्कारस दस नव अ-ट्ठ सत्त छ सहस्स एगचत्त सया ।
सत्त सहस्स सतिसया,दुन्नि य सहसा नवसयाइं ।३४४।
दुन्नि सहस्सा पंच य, सहस्स पनरस सयाइ नेमिम्मि ।
इक्कारससय पासे, सयाइँ सत्तेव वीरजिणे ॥ ३४५ ॥

" वेउव्वियलद्धीणं " इत्यादिगाथाचतुष्टयम् । वैक्रियलब्धिमतां नानाविधवैक्रियरूपकरणशक्तानां मुनीनामादिजिनेन्द्रस्य विंशतिः सहस्राणि, षट्शतान्यधिकानि । श्रीअजितजिनस्य विंशतिसहस्राणि सचतुःशतानि, शतचतुष्टयाधिकानि । श्रीशंभवजिनस्यैकोनविंशतिः सहस्राणि शताष्टकाधिकानि । श्रीअभिनन्दनस्यैकोनविंशतिः सहस्राणि । श्रीसुमतिजिनस्य चतुःशताधिकानि अष्टादश सहस्राणि । श्रीपद्मप्रभस्य षोडश सहस्राणि अष्टोत्तरशताधिकानि । श्रीसुपार्श्वजिनस्य शतत्रयाधिकानि पञ्चदश सहस्राणि । श्रीचन्द्रप्रभस्य चतुर्दश सहस्राणि । श्रीसुविधेस्त्रयोदश सहस्राणि । श्रीशीतलस्य द्वादश सहस्राणि । श्रीश्रेयांसस्यैकादश सहस्राणि । श्रीवासुपूज्यस्य दश सहस्राणि । श्रीविमलस्य नव सहस्राणि । श्रीअनन्तजिनस्याष्टौ सहस्राणि । श्रीधर्मजिनस्य सप्त सहस्राणि । श्रीशान्तिनाथस्य षट् सहस्राणि । श्रीकुन्थुजिनस्यैकपञ्चाशत् शतानि, पञ्चसहस्राण्येकशताधिकानीत्यर्थः । श्रीअरजिनस्य सप्त सहस्राणि त्रिभिः शतैरधिकानि । श्रीमल्लिजिनस्य द्वे सहस्रे नवशताधिके । श्रीमुनिसुव्रतस्य द्वे सहस्रे । श्रीनमिजिनस्य पञ्च सहस्राणि । श्रीनेमिजिनस्य पञ्चदश शतानि । श्रीपार्श्वजिनस्य एकादश शतानि । श्रीवीरजिनस्य शतानि सप्तैवेति ॥ प्रव० १८ द्वार ।

आर्यासंग्रहप्रमाणमृषभाऽऽदिजिनानाम्-

तिन्नेव य लक्खाइं, तिण्णि य तीसाइँ तिन्नि छत्तीसा ।
तीसा य छच्च पंच य, तीसा चउरो य वीसाइं ॥
चत्तारि य तीसाइं, तिन्नि असीया य तिन्नि मित्तो य ।
वीसुत्तरं छलऽहियं, तिसहस्सऽहियं च लक्खं च ॥
लक्खं अट्ठ सयाणि य, बासट्ठिसहस्स चउसयसमग्गा ।
एगट्ठी छच्च सया, सट्ठिसहस्सा सया छच्च ॥
सट्ठि पणपन्न पन्ने-गचत्त चत्ता तहऽट्ठतीसं च ।
छत्तीसं च सहस्सा, अज्जाणं संगहो एसो ॥

भगवत आदितीर्थकरस्याऽऽर्यिकाणां त्रीणि लक्षाणि । अजितस्वामिनस्त्रीणि लक्षाणि, त्रिंशानि-त्रिंशत्सहस्राभ्यधिकानि । शंभवनाथस्य त्रीणि लक्षाणि षट्त्रिंशत्सहस्राभ्यधिकानि । अभिनन्दनस्य षट् लक्षाणि, त्रिंशानि-त्रिंशत्सहस्राभ्यधिकानि । सुमतिनाथस्य पञ्च लक्षाणि त्रिंशत्सहस्राधिकानि । पद्मप्रभस्य चत्वारि लक्षाणि विंशतिसहस्राधिकानि । सुपार्श्वस्य चत्वारि लक्षाणि त्रिंशत्सहस्राण्यधिकानि । चन्द्रप्रभस्वामिनस्त्रीणि लक्षाण्यशीतिसहस्रोत्तराणि । सुविधिस्वामिनस्त्रीणि परिपूर्णानि लक्षाणि । (तिन्नि मित्तो य इति) त्रिलक्षमात्रमार्यासंग्रह इति गम्यते इत्यर्थः । शीतलनाथस्य विंशत्युत्तरं विंशतिसहस्राधिकं लक्षम् । श्रेयांसस्य षट्सहस्राधिकं लक्षम् । वासुपूज्यस्य त्रिसहस्राधिकं लक्षम् । विमलनाथस्य परिपूर्णं लक्षम् । अनन्तजितो लक्षमेकमष्टौ च शतानि । धर्मनाथस्य द्वाषष्टिसहस्राणि चतुःशतसमग्राणि-चतुःशताभ्यधिकानि । शान्तिनाथस्य एकषष्टिः सहस्राणि षट्शतानि । कुन्थुनाथस्य षष्टिः सहस्राणि षट्शतानि । अरनाथस्य षष्टिः सहस्राणि । मल्लिस्वामिनः पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणि । मुनिसुव्रतस्वामिनः पञ्चाशत्सहस्राणि । नमिनाथस्यैकचत्वारिंशत्सहस्राणि । अरिष्टनेमेश्चत्वारिंशत्सहस्राणि । पार्श्वनाथस्याऽष्टात्रिंशत्सहस्राणि ।

भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः षट्त्रिंशत्सहस्राणि । एवमृषभाऽऽदीनां जिनानां यथाक्रममार्यिकासंग्रहः । आ० म० १ अ०१ खण्ड ।

सर्वसंयतीनां संख्या-

चोआलीसं लक्खा, बायालसहस्स चोसयसमग्गा ।
अज्जाछक्कं एसो, अज्जाणं संगहो कमसो ॥३४१॥

चतुश्चत्वारिंशल्लक्षाणि षट्चत्वारिंशत्सहस्रैश्चतुःशताधिकैः समग्राणि पूर्णानि आर्याषट्कं च, एष आर्यिकाणां संग्रह इति । प्रव० १९ द्वार ।

अथ मुनिस्वरूपम्-

पढमियरवीरतित्थे, रिउजड-रिउपन्न-वक्कजडा (२९३)

प्रथमजिनतीर्थे मुनयः ऋजुजडाः, इतरस्मिन् मध्यमजिनतीर्थे ऋजुप्राज्ञाः, वीरतीर्थे मुनयो वक्रजडाः। सत्त० १३६ द्वार ।

संयतप्रमाणम्-

चुलसीइं च सहस्सा, एगं च दुवे य तिन्नि लक्खाइं ।
तिन्नि य वीसऽहियाइं, तीसऽहियाइं च तिन्नेव ॥
तिन्नि य अड्ढाइज्जा, दुवे य एगं च सयसहस्साइं ।
चुलसीइं च सहस्सा, विसत्तरिं अट्ठसट्ठिं च ॥
छावट्ठिं चोवट्ठिं, बावट्ठिं सट्ठिमेव पन्नासा ।
चत्ता तीसा वीसा, अट्ठारस सोलस सहस्सा ॥
चोद्दस य सहस्साइं, जिणाण जइसीससंगहपमाणं ।

भगवत ऋषभस्वामिनश्चतुरशीतिसहस्राणि श्रमणानाम् । एकं लक्षम्-अजितस्य । द्वे लक्षे शम्भवनाथस्य । त्रीणि लक्षाणि अभिनन्दनस्य । सुमतेः त्रीणि लक्षाणि विंशतिसहस्राण्यधिकानि । पद्मप्रभस्य त्रीणि लक्षाणि त्रिंशत्सहस्राधिकानि । सुपार्श्वस्य त्रीणि लक्षाणि । चन्द्रप्रभस्य अर्द्धतृतीयानि लक्षाणि । सुविधेर्द्वे लक्षे । शीतलस्य एकं लक्षम् । श्रेयांसस्य चतुरशीतिः श्रमणानां सहस्राणि । वासुपूज्यस्य द्वासप्ततिः सहस्राणि । विमलस्य अष्टषष्टिः सहस्राणि । अनन्तजिनस्य षट्षष्टिः सहस्राणि । धर्मनाथस्य चतुःषष्टिः सहस्राणि । शान्तिनाथस्य द्वाषष्टिः सहस्राणि । कुन्थुनाथस्य षष्टिः सहस्राणि । अरनाथस्य पञ्चाशत्सहस्राणि । मल्लिनाथस्य चत्वारिंशत्सहस्राणि । मुनिसुव्रतस्वामिनस्त्रिंशत्सहस्राणि । नमिस्वामिनो विंशतिः सहस्राणि । अरिष्टनेमेरष्टादश सहस्राणि, पार्श्वनाथस्य षोडश सहस्राणि । भगवतो महावीरस्य चतुर्दश सहस्राणि । एतद्यतिशिष्यसंग्रहप्रमाणं जिनानामृषभाऽऽदीनां यथाक्रममवसातव्यम् । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

एतेषां सर्वसङ्ख्यामीलनेन यद् भवति तदाह-

अट्ठावीसं लक्खा, अडयालीसं च तह सहस्साइं ।
सव्वेसिं पि जिणाणं, जईण माणं विणिद्दिट्ठं ॥३३६॥

(अट्ठावीसमित्यादि) अष्टाविंशतिर्लक्षाणि अष्टचत्वारिंशच्च तथा सहस्राणि सर्वेषामपि जिनानां संबन्धिनां यतीनां मानं परिमाणं विनिर्दिष्टं विनिश्चितमेतच्च ये श्रीजिनेन्द्रैर्निजकरकमलेन दीक्षितास्तेषामेवैकत्र पिण्डितनापरिमाणं,न पुनर्गणधराऽऽदिभिरपि ये दीक्षिताः,तेषामतिबहुत्वादिति । प्रव० १७ द्वार ।

तीर्थकृतां संयमनिरूपणम्-

......................सं-जमो य पढमंतिमाण दुविगप्पो ।
सेसाणं सामइओ, सत्तरसंगो य सव्वेसिं ॥

संयमोऽपि सामायिकाऽऽदिरूपः प्रथमान्तिमजिनयोर्द्विविकल्पः । इत्वरं सामायिकं, छेदोपस्थापनीयं चेत्यर्थः । शेषाणां मध्यमानां द्वाविंशतितीर्थकृतां यावत्कथिकमेवैकं सामायिकं, न शेषं छेदोपस्थापनाऽऽदि, तथाकल्पत्वात् । सप्तदशाङ्गः सप्तदशभेदः, चः पुनरर्थे । सर्वेषां तीर्थकृतामभूत् । ते च सप्तदश भेदा अमी-" पञ्चाश्रवाद्विरमणं, पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः । दण्डत्रयविरतिश्चे-तिसंयमः सप्तदशभेदः ॥ १ ॥ " आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

(११७) इदानीं परित्यागद्वारमाह-

संवच्छरेण होही, अभिनिक्खमणं तु जिणवरिंदाणं ।
तो अत्थसंपयाणं, पवत्तए पुव्वसूरम्मि ॥

संवत्सरेण जिनवरेन्द्राणामभिनिष्क्रमणं भविष्यति, ततोऽर्थसंप्रदानमर्थस्य सम्यक् तीर्थप्रभावनाबुद्ध्या, अनुकम्पाबुद्ध्या च, न तु कीर्तिबुद्ध्या,प्रदानं जनेभ्यः प्रवर्तते पूर्वसूर्ये,पूर्वाह्न इत्यर्थः ।

कियत्प्रतिदिवसं दीयते ?, इत्याह—

एगा हिरन्नकोडी, अट्ठेव अणूणगा सयसहस्सा ।
सूरोदयमाईयं, दिज्जइ जा पायरासाओ ॥

एका हिरण्यस्य कोटी अष्टौ चाऽन्यूनानि परिपूर्णानि शतसहस्राणि लक्षाणि इति प्रतिदिवसं दीयते । कथं दीयते ?, इत्याह-सूर्योदय आदौ यस्य दानस्य तत्सूर्योदयाऽऽदि,क्रियाविशेषणमेतत् । सूर्योदयादारभ्य दीयते इति भावः। कियन्तं कालं यावदित्याह-प्रातराशात्-प्रातः प्रभाते अशनमाशः, प्रातराशः, तस्मात्तमभिव्याप्य, प्रातर्भोजनकालं यावदिति भावः ।

यथा दीयते तथा प्रतिपादयन्नाह-

सिंघाडगतिगचउक्क-चच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु ।
दारेसु पुरवराणं, रत्थामुहमज्झकारेसु ॥

शृङ्गाटकं नाम-शृङ्गाटकाऽऽकृतिपथयुक्तं त्रिकोणं स्थानम्, त्रिकं यत्र रथ्यात्रयं मिलति, चतुष्कं चतुष्पथसमाहारः, चत्वरं बहुरथ्यापातस्थानम्, चतुर्मुखं यस्माच्चतसृष्वपि दिक्षु पन्थानो निस्सरन्ति, महापथो राजपथः, शेषः सामान्यः पन्थाः पथः, तत एतेषां द्वन्द्वः । तथा पुरवराणां द्वारेषु, प्रतोलीष्वित्यर्थः । तथा-रथ्यानां मुखानि प्रवेशाः, मध्यकारा मध्य एव, कारशब्दस्य स्वार्थिकत्वात्, रथ्यामुखमध्यकाराः, तेषु ।

किमित्याह-

वरवरिया घोसिज्जइ, किमिच्छियं दिज्जए बहुविहीए ।
सुरअसुरदेवदाणव-नरिंदमहियाण निक्खमणे ॥

वरं याचध्वं वरं याचध्वमित्येवं घोषणा समयपरिभाषया वरवरिकोच्यते । सा वरवरिका पूर्वं शृङ्गाटकाऽऽदिषु घोष्यते । ततः कः किमिच्छति ?-यो यदिच्छति तस्य तद्दानं समयपरिभाषयैव किमिच्छिकमुच्यते; किमिच्छिकं यथा भवति एवं दीयते । क्व?,इत्याह-सुरैर्वैमानिकज्योतिष्कैरसुरैर्भवनपतिव्यन्तरैः,देवदानवनरेन्द्रैरिति । इन्द्रग्रहणं प्रत्येकमभिसंबध्यते-देवेन्द्रैः शक्राऽऽदिभिः, दानवेन्द्रैश्चमरेन्द्राऽऽदिभिः, नरेन्द्रैश्चक्रवर्तिप्रभृतिभिर्महितानां भगवतां तीर्थकृतां निष्क्रमणे इति ।

साम्प्रतमेकैकेन तीर्थकृता कियद्द्रव्यजातं संवत्सरेण दत्तमित्येतत्प्रतिपादयन्नाह-

तिन्नेव य कोडिसया, अट्ठासीयं ति होंति कोडीओ ।

अभिइं च सयसहस्सा, एयं संवच्छरे दिन्नं ॥

श्रीण्येव कोटिशतानि, अष्टाशीतिश्च भवन्ति कोटयः, अशीतिश्च शतसहस्राणि ३८८८००००००, एतावत्प्रमाणमेकैकेन तीर्थकृता संवत्सरे दत्तम्। एतच्च प्रतिदिनदेयं त्रिभिः षष्ट्यधिकैर्वासरशतैर्गुणयित्वा परिभावनीयम्। आ०म० १ अ०१ खण्ड।
['दाण'–'महादाण' शब्देऽस्य महादानत्वं वक्ष्यते, हारिभद्राष्टके, पञ्चाशकेचाऽस्य प्रयोजनं फलं च]

(११८) श्राविकामानमाह–

पढमस्स पंच लक्खा, चउपन्न सहस्स तयणु पण लक्खा।
पणयालीस सहस्सा, छ लक्ख छत्तीस सहसा य ॥ ३७० ॥
सत्तावीस सहस्सा–ऽहिय लक्खा पंच पंच लक्खा य।
सोलससहस्सअहिया, पण लक्खा पंच उ सहस्सा ॥ ३७१ ॥
उवरिं चउरो लक्खा, धम्मो जा उवरि सहस तेणवई।
इगनवई इगहत्तरि, अडवन अडयाल छत्तीसा ॥ ३७२ ॥
चउवीसा चउदस ते–रसेव तत्तो तिलक्ख जा वीरो।
तदुवरि तिनवइ इगासी, विसत्तरी सयरि पन्नासा ३७३॥
अडयाला छत्तीसा, इगुणचतऽट्ठारसेव य सहस्सा।
सड्ढीण माणमेयं, चउवीसाए जिणवराणं ॥ ३७४ ॥

तत्र प्रथमस्याऽऽदिजिनस्य श्राविकाणां पञ्च लक्षाणि चतुःपञ्चाशत्सहस्राधिकानि। तदनु प्रथमतीर्थकरादनन्तरम्–अजितस्य श्राविकाणां पञ्च लक्षाणि पञ्च चत्वारिंशत्सहस्राधिकानि। श्रीशंभवस्य षट् लक्षाणि षट्त्रिंशत्सहस्राणि च। अभिनन्दनस्य सप्तविंशतिसहस्राधिकानि लक्षाणि पञ्च। सुमतिजिनस्य लक्षाणि पञ्च षोडशसहस्राधिकानि। श्रीपद्मप्रभस्य लक्षाणि पञ्च पञ्चसहस्राधिकानि। इत उपरि पद्मप्रभादारभ्य धर्मजिनं यावत् श्राविकाणां चत्वारि लक्षाणि। प्रत्येकमुपरि च त्रिनवत्यादीनि सहस्राणि। कोऽर्थः?–सुपार्श्वस्य श्राविकाणां लक्षचतुष्टयं त्रिनवतिसहस्राधिकम्। चन्द्रप्रभस्य लक्षचतुष्टयमेकनवतिसहस्राधिकम्। सुविधेर्लक्षचतुष्टयमेकसप्ततिसहस्राधिकम्। शीतलस्य लक्षचतुष्टयमष्टपञ्चाशत्सहस्राधिकम्। श्रेयांसस्य लक्षचतुष्टयमष्टचत्वारिंशत्सहस्राधिकम्। वासुपूज्यस्य लक्षचतुष्टयं षट्त्रिंशत्सहस्राधिकम्। विमलस्य लक्षचतुष्टयं चतुर्विंशतिसहस्राधिकम्। अनन्तस्य लक्षचतुष्टयं चतुर्दशसहस्राधिकम्। धर्मस्य लक्षचतुष्टयं त्रयोदशसहस्राधिकम्। ततः श्रीशान्तिनाथादारभ्य प्रत्येकं लक्षत्रयं श्राविकाणां यावन्महावीरम्, तदुपरि च त्रिनवत्यादीनि सहस्राणि। तत्र श्रीशान्तेर्लक्षत्रयं त्रिनवतिसहस्राधिकम्। कुन्थोर्लक्षत्रयमेकाशीतिसहस्राधिकम्। अरजिनस्य लक्षत्रयं द्विसप्ततिसहस्राधिकम्। मल्लेर्लक्षत्रयं सप्ततिसहस्राधिकम्। मुनिसुव्रतस्य लक्षत्रयं पञ्चाशत्सहस्राधिकम्। श्रीनमेर्लक्षत्रयमष्टचत्वारिंशत्सहस्राधिकम्। श्रीनेमेर्लक्षत्रयं षट्त्रिंशत्सहस्राधिकम्। श्रीपार्श्वस्य लक्षत्रयमेकोनचत्वारिंशत्सहस्राधिकम्। वीरजिनस्य च लक्षत्रयमष्टादशसहस्रैरधिकम्। श्राविकाणां मानमेतत् चतुर्विंशतिजिनानाम्। प्रव० २५ द्वार।

सर्वसंख्या–

इगकोडी पणलक्खा, अडतीससहस्स सड्ढीओ ॥ ३४६ ॥

सर्वेषां जिनानां पिण्डीकृता एका कोटिः, पञ्च लक्षाणि, अष्टात्रिंशत्सहस्राणि श्राविकाः १०५३८०००। सत्त० ११५ द्वार।

(११९) उत्कृष्टजघन्याभ्यां विचरतां तीर्थकृतां संख्यां, तथोत्कृष्टजघन्याभ्यां तेषां जन्मसंख्यां चाऽऽह–

सत्तरिसयमुक्कोसं, जहन्न वीसा य दस य विहरंति।
जम्मं पइ उक्कोसं, वीस दस य हुंति उ जहन्ना ॥ ३२९ ॥

सप्तत्यधिकं शतमुत्कृष्टत एककालं तीर्थकृतः समयक्षेत्रे विहरन्ति, पञ्चसु भरतेष्वेकैकस्य भावात्, ऐरवतेष्वपि पञ्चसु तावतां भावात्, पञ्चसु महाविदेहेषु प्रत्येकं द्वात्रिंशता विजयैः कलितेषु तीर्थकृतां षष्ट्यधिकशतस्य सद्भावादेतत्संख्यायाः सम्भव इति। तथा–जघन्यतो विंशतिस्तीर्थकृत एककालं विहरमाणाः प्राप्यन्ते। तथाहि–जम्बूद्वीपस्य पूर्वविदेहे शीतामहानद्या द्विभागीकृते दक्षिणोत्तरदिग्भागेनैकैकस्य सद्भावाद् द्वौ, अपरविदेहे शीतोदाया महानद्या द्विभागीकृते तथैव द्वौ जिनेन्द्रौ, मिलिताश्चत्वारः; एवमपरद्वीपद्वयसंबन्धिमहाविदेहचतुष्टयेऽपि चत्वारश्चत्वार इति पञ्चचतुष्कका विंशतिः, भरतैरावतयोस्तु एकान्तसुषमाऽऽदावभाव एव। अन्ये तु सूरयो दशैव जघन्यतो विहरन्तीति मन्यन्ते, पञ्चानां महाविदेहानां पूर्वापरविदेहयोः प्रत्येकमेकैकस्य विहरतः सद्भावेन दशानामेव तीर्थकृतां प्राप्यमाणत्वात्। तथा–जन्म प्रति जन्माऽऽश्रित्योत्कृष्टत एककालं विहरमाणजिनविंशतिवद् विंशतिस्तीर्थकृतो भवन्ति। यतः सर्वेषामपि तीर्थकृतामर्धरात्रसमय एव जन्म, ततो महाविदेहेषु तीर्थकृज्जन्मसमये भरतैरावतक्षेत्रेषु दिवससद्भावेन तीर्थकृदुत्पन्नत्वादेतावन्त एव प्राप्यन्ते। ननु महाविदेहवर्तिषु विजयेषु चतुर्भ्योऽधिकानामपि तीर्थकृतामुत्पत्तेः संभवात् कथमुत्कृष्टपदे विंशतिरेवेति? उच्यते–इह हि मेरौ पण्डकवने चूलिकायाश्चतसृषु पूर्वाऽऽदिषु दिक्षु प्रत्येकं चतुर्योजनप्रमाणबाहल्याः पञ्चयोजनशतप्रमाणाऽऽयामा मध्यभागेऽर्द्धतृतीययोजनशतप्रमाणविष्कम्भा अर्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थिताः सर्वश्वेतसुवर्णमय्यश्चतस्रोऽभिषेकशिलाः, तत्र चूलिकायाः पूर्वदिग्भाविन्यां पाण्डुकम्बलशिलायां द्वे तीर्थकराभिषेकसिंहासने। तद्यथा–एकमुत्तरतः, एकं दक्षिणतः। तत्र ये शीताया महानद्या उत्तरतः कच्छाऽऽदिषु विजयेषु तीर्थकरा उपजायन्ते, ते औत्तराहे सिंहासने सुरेन्द्रैरभिषिच्यन्ते। ये पुनः शीताया महानद्या दक्षिणतो मङ्गलावतीप्रमुखेषु विजयेषूत्पद्यन्ते, ते दाक्षिणात्ये सिंहासनेऽभिषिच्यन्ते। तथा चूलिकायाः पश्चिमदिग्भाविन्यां रक्तकम्बलशिलायां द्वे सिंहासने। तद्यथा–एकमुत्तरतः, एकं दक्षिणतः। तत्र शीतोदाया महानद्या दक्षिणतः पद्माऽऽदिषु विजयेषु तीर्थकरा उत्पद्यन्ते, ते दाक्षिणात्ये सिंहासनेऽभिषिच्यन्ते। ये तु शीतोदाया महानद्या उत्तरतो गन्धिलावतीप्रमुखेषु विजयेषु जायन्ते, ते उत्तराहे सिंहासने। तथा चूलिकाया दक्षिणदिग्भाविन्यामतिपाण्डुकम्बलशिलायां ये भरतक्षेत्रसमुद्भवास्तीर्थकरास्तेऽभिषिच्यन्ते। उत्तरदिग्भाविन्यां त्वतिरक्तकम्बलशिलायामैरवतक्षेत्रसमुद्भवास्तीर्थकरास्तेऽभिषिच्यन्ते। सिंहासनानि च सर्वरत्नमयानि सर्वाण्यपीत्येवं पञ्चधनुःशताऽऽयामविष्कम्भाण्यर्द्धतृतीयधनुःशतबाहल्यानीति। ततः समधिकाभिषेकसिंहासनाभावादेव विदेहेषु चतुर्भ्योऽधिकानां तीर्थकृतामेककालमुत्पत्त्यभाव इति॥ जघन्यतः पुनर्दशैव एककालमुत्पद्यन्ते, पञ्चसु भरतेषु पञ्चसु चैरवतेषु प्रत्येकमेकैकस्य सद्भावात्। भरतैरवतेषु हि जिनजन्मसमये महाविदेहेषु दिनसद्भावाच्चाधिकानामुत्पत्तिरिति। प्रव० १३–१४ द्वार।

(१२०) सर्वायुः-

चउरासीइ बिसत्तरि, सट्ठी पन्नासमेव लक्खाइं ।
चत्ता तीसा वीसा, दस दो एगं च पुव्वाणं ॥
चउरासीइं बाव-त्तरी य सट्ठी य होइ वासाणं ।
तीसा य दस य एगं, च एवमेए सयसहस्सा ॥
पंचाणउइसहस्सा, चउरासीई य पंचपण्णा य ।
तीसा य दस य एगं, सयं च बावत्तरी चेव ॥

भगवत आदितीर्थकरस्य सर्वायुश्चतुरशीतिपूर्वाणां लक्षाणि । अजितस्वामिनो द्वासप्ततिः पूर्वलक्षाणि । शंभवनाथस्य षष्टि. पूर्वलक्षाणि । अभिनन्दनस्य पञ्चाशत्पूर्वलक्षाणि । सुमतेश्चत्वारिंशत् । पद्मप्रभस्य त्रिंशत् । सुपार्श्वस्य विंशतिः । चन्द्रप्रभस्य दश पूर्वलक्षाणि । सुविधेर्द्वे पूर्वलक्षे । शीतलस्यैकं पूर्वलक्षम् ॥ श्रेयांसस्य चतुरशीतिवर्षशतसहस्राणि । वासुपूज्यस्य द्विसप्ततिवर्षलक्षाणि । विमलस्य षष्टिवर्षलक्षाणि । अनन्तजित स्त्रिंशद्वर्षलक्षाणि । धर्मस्य दशवर्षलक्षाणि । शान्तिनाथस्यैकं वर्षलक्षम् । कुन्थुनाथस्य पञ्चनवतिर्वर्षसहस्राणि । अरनाथस्य चतुरशीतिवर्षसहस्राणि । मल्लिस्वामिनः पञ्चपञ्चाशद्वर्षसहस्राणि । मुनिसुव्रतस्य त्रिंशद्वर्षसहस्राणि । नमिनाथस्य दशवर्षसहस्राणि । अरिष्टनेमेरेकं वर्षसहस्रम् । पार्श्वनाथस्यैकं वर्षशतम् । वर्द्धमानस्वामिनो द्वासप्ततिवर्षाणि । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

सामान्यमुनिसंख्या-

गणहरकेवलिमणओ-हिपुव्विवेउव्विवाइणं संखं ।
मुणिसंखाए सोहिय, नेया सामन्नमुणिसंखा ॥२६७॥

गणधराः १, केवलिनः २, मनःपर्यवज्ञानिनः ३, अवधिज्ञानिनः ४, पूर्वधराः ५, वैक्रियलब्धयो ६, वादिनश्च ७, एतेषां संख्यां (मुणिसंखाए सोहिय नेआ सामन्नमुणिसंखा) मुनिसंख्यायाः "चुलसिसहस्सलक्खा" इत्याद्युक्तायाः शोधयित्वा निष्कास्य सामान्यमुनिसंख्या ज्ञेया । कोऽर्थः ?-यस्य यावन्तो मुनयो भवन्ति, तेभ्यस्तद्गणधराऽऽदयः पृथक् क्रियन्ते, यावन्तोऽवशिष्यन्ते, तावन्तस्तस्य सामान्यमुनयो भवन्तीति गाथार्थः ॥२६७॥

एगुणवीस य लक्खा, तह छासीई हवंति सहसाइं ।
इगवन्नाअहियाइं, सामन्नमुणीण सव्वग्गं ॥ २६८ ॥

एकोनविंशतिलक्षाणि (तह छासीई हवंति सहसाइं) तथा लक्षोपरि षडशीतिसहस्राणि (इगवन्नाअहिआइं) एकपञ्चाशदधिकानि (सामन्नमुणीण सव्वग्गं) एतत् सामान्यमुनीनां सर्वाग्रं सर्वसंख्या ज्ञेया । अङ्कतो यथा--१९ ८६०५१ । इति गाथार्थः । २६८ ॥ सत्त० १२२ द्वार ।

परिगृतदर्पगणिकृतप्रश्नो यथा-तीर्थकराणां चतुर्दशसहस्राऽऽदिका साधुसंख्योक्ता, चतुर्दशपूर्व्यादयः किं तत्संख्यामध्ये गण्यन्ते, यद् वा ते भिन्नाः ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-तीर्थकराणां चतुर्दशपूर्व्यादयश्चतुर्दशसहस्राऽऽदिपरिवारसंख्यामध्ये गण्यन्ते, न वेति प्रश्नमाश्रित्य-

"गणहरकेवलिमणओ-हिपुव्विवेउव्विवाइणं संखं ।
मुणिसंखाए सोहिय. नेया सामन्नमुणिसंखा ॥ १ ॥
एगुणवीस य लक्खा, तह छासीई हवंति सहसाइं ।
इगवन्नाअहियाइं, सामन्नमुणीण सव्वग्गं" ॥ २ ॥

तथा--

अट्ठावीसं लक्खा, अडयालीसं च तह सहस्साइं ।
सव्वेसिं पि जिणाणं, जईण माणं विणिद्दिट्ठं ॥ ३ ॥"

इति वचनयोरनुसारेण यथोक्तसंख्यामध्ये गण्यन्ते चतुर्दशपूर्व्यादय इति सम्भाव्यते ।

तथा-

"पञ्चाशीतिसहस्राणि, लक्षं सार्द्धशतानि षट् ।
परिवारेऽभवन् सर्वे, मुनयोऽस्य जगद्गुरोः ॥ १ ॥"

एतदनुसारेण च श्रीऋषभदेवस्य चतुरशीतिसहस्रसंख्यातो भिन्ना एव ते इति । यतः सामान्यसाधुविशेषसाधुसंख्यामीलनेन यथोक्तसंख्या संभावनया पूर्यमाणाऽस्तीति । तत्त्वं तु सर्वविद्वेद्यमिति ॥ ७ प्र० । ही० ४ प्रका० ।

... भविष्यन्ति

...तीसं तीर्थप्रभावकानुक्त्या ... उवइसंति ।
... , वयात उसभो अ वीरो अ ॥ २० ॥

द्वाविंशतिस्तीर्थकरा मध्यमाः सामायिकसंयमम (उवइसंति) उपदिशन्ति । यदैव सामायिकमुच्चार्यते तदैव व्रतेषु स्थाप्यते । छेदोपस्थापनिकं पुनर्वदतः-ऋषभश्च, वीरश्च । एतदुक्तं भवति-प्रथमतीर्थकरचरमतीर्थकरतीर्थे हि प्रव्राजितमात्रः सामायिकसंयतो भवति तावद्यावच्छस्त्रपरिज्ञाऽवगमः, एवं हि पूर्वमासीत् । अधुना तु षड्जीवनिकायावगमं यावत्, तथा पुनः सूत्रतोऽर्थतश्चावगतया सम्यगपराधस्थानानि परिहरन्व्रतेषु स्थाप्यत इत्येवं निरतिचारः, सातिचारः पुनर्मूलस्थानं प्राप्त उपस्थाप्यत इति ॥ २० ॥ आव० ४ अ० । (विशेषस्तु 'कप्प' शब्दे तृतीयभागे २३४ पृष्ठे गतः)

अथ सामायिकसंख्यामाह--

सव्वेहिँ चउसमइआ, सम्मसुयदेससव्वविरईहिं ।
भणिया सागरकोडा-कोडीसेसेसु कम्मेसु ॥ २८५ ॥

(भणिय त्ति) सर्वैर्जिनैः चत्वारि सामायिकानि भणितानि । ह्रस्वत्वपुंस्त्वनिर्देशस्तु प्राकृतत्वात् । तानि काभिरित्याह-(सम्मसुयदेससव्वविरईहिं) सम्यक्त्वश्रुतदेशसर्वविरतिभिः-सम्यक्त्वसामायिकम्, श्रुतसामायिकम्, देशविरतिसामायिकम्, सर्वविरतिसामायिकं चेति । एतानि कदा भवन्तीत्याह-(सागरकोडाकोडीसेसेसु कम्मेसु) सागरकोटाकोटीशेषेषु कर्मसु, जीवानामित्याहार्यम् । ततश्चायं समुदायार्थः-जीवानामेककोटाकोटीस्थितिकेषु सप्तस्वपि कर्मसु, आयुषस्तु स्वभावत एककोटिकमध्यस्थितिकत्वात् चत्वारि सामायिकानि भवन्तीति सर्वैर्जिनैर्भणितमिति गाथार्थः ॥२८५॥ सत्त० १३२ द्वार । (अस्य स्वरूपं विशेषतः 'सामाइय' शब्दे वक्ष्यते)

(१२१) श्रावकव्रतसंख्या-

सड्ढाणं हिंसालिय-अदत्तमेहुणपरिग्गहाणिवित्ती ।
इय पण अणुव्वयाइं, साहूण महव्वया एए ॥ २७५ ॥
दिसिविरई भोगुवभो-गमाण तहऽणत्थदंडविरई य ।
समइय देसऽवगासिय,पोसह तिहिँ संविभागवया ।२७६।

प्रथमं श्राद्धानां सम्यक्त्वपूर्वकं हिंसाऽऽलीकादत्तमैथुनपरिग्रहाणां निवृत्तिः प्रत्याख्यानम् ५ । (इय पण अणुव्वयाइं ति) एतानि पञ्चाणुव्रतानि, हिंसाऽऽदिभ्यो देशतो निवृत्तिरूपत्वात् । (साहूण महव्वया एए त्ति) एतान्येव पञ्चापि साधूनां महाव्र-

तानि, हिंसाऽऽदिभ्यः सर्वतो निवृत्तिरूपत्वात् । इति गाथार्थः ।। २७५ ।। अथ श्राद्धानां त्रीणि गुणव्रतान्याह—(दिसिविरई भोगुवभो-गमाण तह ऽणत्थदंडविरई य त्ति) दिग्विरतिः ६, भोगोपभोगमानं ७, तथा ऽनर्थदण्डविरतिश्चेति ८ त्रीणि गुणव्रतानि । अथ चत्वारि शिक्षाव्रतान्याह-(समइय देसऽवगासिअ पोसह तिहिँ संविभागवया) सामायिकम् ९, देशावकाशिकम् १०, पौषधः ११, अतिथिसंविभागः १२ । एतानि व्रतानि गृहमेधिनां ज्ञेयानीति गाथार्थः ।। २७६ ।। सत्त० १२७ द्वार ।

साधुव्रतसंख्या—

साहुगिहीण वयाइं, कमेण पण बार पढमचरिमाणं ।
अन्नेसिं चउ बारस, चउत्थपंचमवएगत्ता ।। २७४ ।।

श्रीऋषभतीर्थे, श्रीवीरस्य तीर्थे च साधूनां पञ्च महाव्रतानि, श्राद्धानां द्वादश व्रतानि (अन्नेसिं चउ बारस चउत्थपंचमवएगत्ता) अन्येषां द्वाविंशतिजिनानां तीर्थे चत्वारि व्रतानि साधूनां, श्राद्धानां द्वादश व्रतानि । कस्मात् ?, चतुर्थपञ्चमव्रतैकत्वात् चतुर्थपञ्चमव्रतयोरेकत्वादभेदात्, परिग्रहप्रत्याख्याने कृते स्त्रीप्रत्याख्यानं कृतमेव, स्त्रीणामपि परिग्रहरूपत्वात्, परिग्रहमन्तरेणाऽसंभवाच्च ।। इति गाथार्थः ।।२७४।। सत्त० १२७ द्वार ।

(१२२) अथ तीर्थकरमातुः चतुर्दश स्वप्नानाह-

गय वसह सीह अभिसे-य दाम ससि दिणयरं झयं कुंभं ।
पउमसर सागर विमा-ण भवण रयणऽग्गि सुविणाइं ।।७०।।

गजः १, वृषभः २, सिंहः ३, लक्ष्म्या अभिषेकः ४, (दाम ससि दिणयरं झयं कुंभं) पुष्पस्रक् ५, चन्द्रः ६, दिनं करोतीति दिनकरः सूर्यः ७, ध्वजः, ८ कुम्भः पूर्णकलशः ९, (पउमसरसागरविमाण) पद्मसरः १०, सागरः समुद्रः ११, विमानम् १२ । (भवणरयणऽग्गि सुविणाइं ति) भवनम् १२, रत्नोपचयः १३, निर्धूमाग्निश्चेति १४ स्वप्ना ज्ञेयाः । इति गाथार्थः ।। ७० ।।

स्वप्नकारणान्याह-

नरयउवट्टाण इहं, भवणं सग्गच्चुयाण उ विमाणं ।
वीरुसहसेसजणणी, नियंसु ते हरिविसहगयाइँ ।।७१।।

नरकोद्वृत्तानां नरकादागतानां जिनानां जननी अत्र भवनं पश्यति, (सग्गच्चुआण उ विमाणं) स्वर्गाच्च्युतानां तु जननी स्वप्ने विमानं पश्यति । (वीरुसहसेसजणणी) जननीशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । वीरजननी १, ऋषभजननी २, शेषजिनानां च जनन्यः २२, (निअंसु ते हरिवसहगयाइं) ददृशुस्तान् स्वप्नान् सिंह१वृषभ२गजा२२दीन्-वीरजननी पूर्वं सिंहं ददर्श, ऋषभदेवस्य जननी पूर्वं वृषभं ददर्श, शेषजिनानां जनन्यः पूर्वं गजं ददृशुः । इति गाथार्थः ।। ७१ ।।

दुनरयकप्पगिविज्जा, हरी अ निरयविमाणएहिँ जिणा ।
पढमा चक्कि दुनरया, बला चउसुरेहिँ चक्किबला ।।७२।।

द्विनरकादागताः-द्वादशकल्पादागताः, ग्रैवेयकादागताश्च हरयो वासुदेवा भवन्तीति । (निरयविमाणएहिँ जिणा) प्रथमद्वितीयतृतीयनरकादागताश्च तीर्थङ्करा भवन्ति । प्रथमनरकादागताश्चक्रिणो भवन्ति । (दुनरया बला) द्विनरकादागताश्च बलदेवा भवन्ति । (चउसुरेहिँ चक्किबला) भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकासुरेभ्यः समागताश्चक्रिबलभद्रा भवन्तीति गाथार्थः ।। ७२ ।।

जिणचक्कीण य जणणी, नियंति चउदस गयाइँ वरसुविणे ।
सगचउतिइगाइ हरी-बलपडिहरिमंडलियमाया ।।७३।।

(जिणचक्कीण य जणणि त्ति) जिनानां चक्रवर्तिनां च जनन्यः (नियंति चउदसगयाइ वरसुविणे) पश्यन्ति चतुर्दश गजाऽऽदीन् प्रधानस्वप्नान् (सगचउतिइगाइ हरी बलपडिहरिमंडलियमाया) मातृशब्दस्य प्रत्येकं योगात् सप्त हरिमातरः, चतुरो बलदेवमातरः, त्रीन् प्रतिवासुदेवमातरः, एकाऽऽदीन् माण्डलिकमातरः स्वप्नान् पश्यन्तीति गाथार्थः ।।७३।। सत्त० १८ द्वार ।

स्वप्नविचारकाः-

पढमस्स पिया इंदा, सेसाणं जयण-सुविणसत्थविऊ ।
अट्ठ वियारिंसु सुहे, सुविणे चउदस जणणिदिट्ठे ।।७४।।

प्रथमस्य ऋषभजिनस्य पिता, तथा इन्द्राः स्वप्नान् विचारयन्ति स्म । शेषजिनानां जनकाः, तथा स्वप्नशास्त्रविदो विप्राः, (अट्ठ वियारिंसु त्ति) प्राकृतत्वाद् विभक्तिलोपाद् अर्थेन विचारयन्ति स्म । कान् ?, (सुहे सुविणे त्ति) शुभान् स्वप्नान् चतुर्दशसंख्याकान् । पुनः कथंभूतान् ? (जणणिदिट्ठे त्ति) जननीदृष्टान् मातृभिर्विलोकितान् । सत्त०१९ द्वार । ('वीर' शब्दोऽत्र विलोकनीयः)

शेषश्रुतप्रवृत्तिकालः-

..............., सेससुअपवित्ति जा तित्थं ।। ३९० ।।

शेष इति पूर्वव्यतिरिक्तः श्रुतप्रवृत्तिः यावत् यस्य तीर्थङ्करस्य तीर्थं तावत्कालं स्थास्यति । सत्त० १६१ द्वार ।

तीर्थकरजीवानां नरके परमाधार्मिककृता पीडा भवति, न वेति ? प्रश्ने, उत्तरम्-अत्राप्येकान्तो ज्ञातो नास्ति । ६ प्र० । ही०३ प्रका० ।

(१२३) जंबुद्दीवे णं दीवे उक्कोसपए चोत्तीसं तित्थयरा समुप्पज्जंति ।

(उक्कोसपए चोत्तीसं तित्थगरा समुप्पज्जंति त्ति) समुत्पद्यन्ते, सम्भवन्तीत्यर्थः; न त्वेकसमये जायन्ते, चतुर्णामेवैकदा जन्मसंभवात् । तथाहि-मेरौ पूर्वापरशिलातलयोर्द्वे द्वे सिंहासने भवतोऽतो द्वावेव द्वावेवाभिषिच्येते, अतो द्वयोर्द्वयोरेव जन्मेति । दक्षिणोत्तरयोः क्षेत्रयोस्तदानीं दिवससद्भावान्न भरतैरावतयोर्जिनोत्पत्तिः, अर्द्धरात्र एव जिनोत्पत्तेरिति । स० ३४ सम० ।

भरतक्षेत्रेऽतीतोत्सर्पिण्यां जिनेश्वराः-

केवलनाणी निव्वा-णि सागरो जिण महाजसो विमलो ।
सव्वाणुभूइ सिरिहर, दत्तो दामोयर सुतेओ ।।२९०।।
सामिजिणो य सिवासी, सुमई सिवगइ जिणो य अत्थाहो ।
नाह नमीसर अनिलो, जसोहरो जिण कयग्घो य ।।२९१।।
धम्मीसर सुद्धमई, सिवकर जिण संदणो य संपइ य ।
ऽतीउस्सप्पिणिभरहे, जिणेसरे नामओ वंदे ।। २९२ ।।

केवलज्ञानी, निर्वाणी, सागरो जिनो, महायशाः, विमलो, नाथसुतेजाः । अन्ये सर्वानुभूतिमाहुः । श्रीधरो, दत्तः, दामोदरः, सुतेजाः, इति प्रथमगाथायां दश । स्वामिजिनः, चः समुच्चये । शिवाशी । अन्ये मुनिसुव्रतमाहुः । सुमतिः१३, शिवगतिः१४, जिनः अस्तावः १५, नाथः नमीश्वरः, अनिलो, यशोधरो जिनः, कृतार्थश्च । द्वितीयगाथायामस्यां नव ।। धर्मीश्वरः । केचिज्जिनेश्वरमाहुः । शुद्धमतिः, शिवकराजिनः, स्यन्दनश्च, सम्प्रतिजिनश्च । अतीतोत्सर्पिण्यां भारते जिनेश्वरानेतान्नामतो वन्देऽहमिति तृतीयगाथायां पञ्च जिनाः । प्रव० ७ द्वार ।

ऐरवते तीर्थकराः-

जंबुद्दीवे दीवे एरवए वासे इमीसे ओसप्पिणीए चउव्वीसं तित्थगरा होत्था । तं जहा-

" चंदाणणं सुचंदं, अग्गीसेणं च नंदिसेणं च ।
इसिदिन्नं वयहारिं, वंदामो सामचंदं च ॥ ६० ॥
वंदामि जुत्तिसेणं, अजियसेणं तहेव सिवसेणं ।
बुद्धं च देवसम्मं, सययं निक्खित्तसत्थं च ॥ ६१ ॥
असंजलं जिणवसहं, वंदे य अणंतयं अमियणाणिं ।
उवसंतं च धुवरयं, वंदे खलु गुत्तिसेणं च ॥ ६२ ॥
अतिपासं च सुपासं, देवेसरवंदियं च मरुदेवं ।
निव्वाणगयं च धरं, खीणदुहं सामकोट्ठं च ॥ ६३ ॥
जियरागमग्गिसेणं, वंदे खीणरयमग्गिउत्तं च ।
वोक्कसियपिज्जदोसं, वारिसेणं गयं सिद्धं ॥ ६४ ॥ "

जम्बूद्वीपैरवते अस्यामवसर्पिण्यां चतुर्विंशतिस्तीर्थंकरा अभूवन्, तांश्च स्तुतिद्वारेणाऽऽह । तद्यथा-(चंदाणणं सुचंदं, अग्गीसेणं च नंदिसेणं च) क्वचिदात्मसेनोऽप्ययं दृश्यते । ऋषिदिन्नं, व्रतधारिणं च वन्दामहे श्यामचन्द्रं च ॥ ६० ॥ वन्दे युक्तिसेनं, क्वचिदयं दीर्घबाहुर्दीर्घसेनो वोच्यते । अजितसेनं, क्वचिदयं शताऽऽयुरुच्यते । तथैव शिवसेनं, क्वचिदयं सत्यसेनोऽभिधीयते, सत्यकिश्चेति । बुद्धं चावगततत्त्वं च देवशर्माणं देवसेनापरनामकं, सततं सदा, वन्दे इति प्रकृतम् । निक्षिप्तशस्त्रं च,नामान्तरतः श्रेयांसम् ।६१। (असंजलं ति)असज्वलं जिनवृषभं, पाठान्तरेण-स्वयंजलं, वन्दे अनन्तजिनममितज्ञानिनं,सर्वज्ञमित्यर्थः। नामान्तरेणाऽयं सिंहसेन इति । उपशान्तं च उपशान्तसंज्ञं,धूतरजसं वन्दे खलु गुप्तिसेनं च ॥६२॥ (अइपासं ति)अतिपार्श्वं च सुपार्श्वं देवेश्वरवन्दितं च मरुदेवं निर्वाणगतं च धरं धरसंज्ञं,क्षीणदुःखं श्यामकोष्ठम् ।६३। (जिय त्ति) जितरागमग्निषेणं, महासेनापरनामकं वन्दे क्षीणरजसमग्निपुत्रं च, व्यवकृष्टप्रेमद्वेषं च वारिषेणं, गतं सिद्धमिति । स्थानान्तरे किञ्चिदन्यथाऽप्यानुपूर्वी नाम्नामुपलभ्यते । स० ।

(भविष्यत्तीर्थकरा अस्मिन्नेव शब्दे २२९१ पृष्ठे व्याख्याताः)

अथ तेषां पूर्वभवानाह-

एएसि णं चउव्वीसाए तित्थगराणं पुव्वभविया चउव्वीसं नामधेज्जा भविस्संति । तं जहा-

" सेणिय सुपास उदए, पोट्टिल अणगार तह दढाऊ य ।
कत्तिय संखेय तहा, नंद सुनंदे य सतए य ॥ १ ॥
बोधव्वा देवई य, सच्चइ तह वासुदेव बलदेवे ।
रोहिणि सुलसा चेवं, तत्तो खलु रेवई चेव ॥ २ ॥
तत्तो हवइ सयाली, बोधव्वे खलु तहा भयाली य ।
दीवायणे य कण्हे, तत्तो खलु नारए चेव ॥ ३ ॥
अंबड दारुमडे वा, साई बुद्धे य होइ बोधव्वे ।
भावीतित्थगराणं, णामाइं पुव्वभवियाइं " ॥४॥

एतेषां यावत्संख्याकं यद् भविष्यति तदाह-

एएसि णं चउव्वीसाए तित्थगराणं पियरो मायरो भविस्संति । चउव्वीसं पढमसीसा भविस्संति । चउव्वीसं पढमसिस्सणीओ भविस्संति । चउव्वीसं पढमभिक्खादायगा भविस्संति । चउव्वीसं चेइयरुक्खा भविस्संति । स०।

ऐरवतवर्षभाविनस्तीर्थकराः-

जंबुद्दीवे एरवए वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए चउव्वीसं तित्थगरा भविस्संति । तं जहा-

" सुमंगले अ सिद्धत्थे, णिव्वाणे य महाजसे ।
धम्मज्झए य अरहा, आगमिस्सेण होक्खइ ॥ १ ॥
सिरिचंदे पुप्फकेऊ, महाचंदे य केवली ।
सुयसागरे य अरहा, आगमिस्सेण होक्खइ ॥ २ ॥
सिद्धत्थे पुण्णघोसे य, महाघोसे य केवली ।
सच्चसेणे य अरहा, आगमिस्सेण होक्खइ ॥ ३ ॥
सूरसेणे य अरहा, महासेणे य केवली ।
सव्वाणंदे य अरहा, देवउत्ते य होक्खइ ॥ ४ ॥
सुपासे सुव्वए अरिहा, अरहे य सुकोसले ।
अरहा अणंतविजए, आगमिस्सेण होक्खइ ॥ ५ ॥
विमले उत्तरे अरहा, अरहा य महाबले ।
देवाणंदे य अरहा, आगमिस्सेण होक्खइ ॥ ६ ॥
एए वुत्ता चउव्वीसं, एरवयम्मि केवली ।
आगमिस्सेण होक्खंति, धम्मतित्थस्स देसगा" ॥७॥ स०।

(तीर्थकृतो जन्मभूम्यादौ गमनफलं 'दंसणभावणा' शब्दे वक्ष्यते)
(तीर्थकृतामाशातना 'आसायणा' शब्दे द्वितीयभागे ४८० पृष्ठे निरूपिता) (केवलज्ञानेन ज्ञात्वा स्वयमेव तीर्थं करोतीति 'ववहारसुय' शब्दे द्वितीयभागे १०५६ पृष्ठे उक्तम्)

(१२४) तीर्थकरा यद्यपि कृतकृत्याः, तथापि तपःकर्म, उपधानश्रुतमुपसर्गसहनं च कुर्वन्ति-

जो जइया तित्थयरो, सो तइया अप्पणम्मि तित्थम्मि ।
वण्णेइ तवोकम्मं, उवहाणसुयम्मि अज्झयणे ॥ ८३ ॥
सव्वेसिं तवोकम्मं, नीरुवसग्गं तु वण्णियं जिणाणं ।
नवरं तु वद्धमाण-स्स सोवसग्गं मुणेयव्वं ॥ ८४ ॥
तित्थयरो चउनाणी, सुरमहिओ सिज्झियव्वयं धुवम्मि ।
अणिगूहियबलविरिओ, तवोविहाणम्मि उज्जमइ ॥८५॥
किं पुण अवसेसेहिं, दुक्खक्खयकारणेसु विहिएहिं ।
होइ परक्कमियव्वं, सपच्चवायम्मि माणुस्से ॥ ८६ ॥
आचा० नि० १ श्रु० ९ अ० १ उ० ।

सर्वेषां तीर्थकृतां सदृशानि सूत्राणि-

अत्र शिष्यः प्राऽऽह-

निक्खेवा य निरुत्ता-णि जा य कहणा भवे पगासस्स ।
जह रिसभाईयाऽऽहं-सु किमेवं वद्धमाणो वि ?॥

ये निक्षेपाश्चतुष्कसप्तकाऽऽदयो,यानि च निरुक्तानि सूत्रार्थयो-

रनन्तरमुक्तानि, या च चतुर्भिरनुयोगद्वारैः प्रकाशस्यार्थस्य कथना, चशब्दादेकार्थिकानामपि या कथना। एतानि यथा ऋषभाऽऽदयस्त्रयोविंशतिस्तीर्थकरा आख्यातवन्तः, तथा किमेवं भगवान् वर्द्धमानस्वाम्यप्याख्याति, किं वाऽन्यथेति ?। उच्यते-तथैव।

ननु ते उच्चतराः, भगवान् वर्द्धमानस्वामी पुनः सप्तहस्तप्रमाणः, ततः कथं तथैवाऽऽख्यानम् ?, अत आह-

धिइसंघयणे तुल्ला, केवलभावे य विसमदेहा वि।
केवलनाणं तं चिय, पन्नवणिज्जा य चरमे वि ॥२०६॥

यथा विषमदेहा अपि तीर्थकृतः धृतिसंहनने केवलभावे च तुल्याः, तथा प्ररूपणायामपि तुल्याः। यतश्चरमेऽपि भगवति वर्द्धमानस्वामिनि तदेव केवलज्ञानं, त एव च प्रज्ञापनीया भावाः, ये ऋषभाऽऽदीनां, ततः कथं न तुल्या प्ररूपणा ?।

तत्र यो विशेषस्तमुपदर्शयति-

णायऽज्झयणाऽऽहरणा, इसिभासियमो पइन्नगसुया य।
एए हुंति अणियया, निययं पुण सेसमुप्पन्नं ॥२०७॥

ज्ञाताध्ययनेषु यान्याहरणानि दृष्टान्ताः, ते हि केचित्त एव भवेयुर्ये ऋषभाऽऽदिभिरुपन्यस्ताः, केचिदन्यथा, ये प्रत्युत्पन्ना इति। तथा यानि ऋषिभाषितानि, प्रकीर्णकश्रुतानि च, एतान्यनियतानि-कदाचिद् भवन्ति, कदाचिन्न भवन्ति। यानि च भवन्ति तान्यपि कदाचित्तथार्थयुक्तानि, कदाचिदन्यथाऽर्थोपेतानि। शेषं पुनरुत्पन्नं प्रायेण नियतम्।

आह-कः पुनरत्र दृष्टान्तः, यथा वर्द्धमानस्वाम्यपि तथैवाऽऽख्यातीति ?। दृष्टान्तमाह-

जह सव्वजणवएसुं, एक्कं चिय सगडवत्तिणिपमाणं।
विसमाणि य वत्थूणी, सगडाईणं तह णिरुत्ता ॥२०८॥

यथा शकटाऽऽदीनाम्, आदिशब्दाद् गन्त्र्यादिपरिग्रहः। यद्यपि विषमाणि वस्तूनि केषाञ्चिन्महान्ति, केषाञ्चित् क्षुल्लकानि, तथाऽपि सर्वेष्वपि जनपदेषु एकमेव तदा शकटवर्तिन्याः प्रमाणं, सर्वत्राक्षाणां चतुर्हस्तप्रमाणत्वात्। तथा निरुक्तानि, उपलक्षणमेतत्, निक्षेपाऽऽदीनि च प्ररूपणामधिकृत्य तुल्यानि।

आह-नन्ववश्यं पूर्वरथानां, संप्रतिरथानां च विस्तरस्यास्ति विशेष एव, महाप्रमाणानां पूर्वमनुष्याणामल्पप्रमाणानामधुनातनमनुष्याणां विशेषो भवति।

तत आह-

जइ वि य वत्थू हीणा, पुव्विल्लरहेहिँ संपयरहाणं।
तह वि जुगम्मि जुगम्मी, सहत्थचउहत्थगा अक्खा ॥२०९॥

यद्यपि पूर्वतनरथेभ्यः साम्प्रतरथानां वस्तूनि हीनानि, तथाऽपि युगे युगे सर्वत्राऽऽत्महस्तेन चतुर्हस्तका अक्षाः, ततः सर्वेष्वपि जनपदेष्वेकं शकटवर्तिन्याः प्रमाणम्। तथा यद्यपि पूर्वकाले महाप्रमाणा मनुष्याः, संप्रतिकाले स्वल्पप्रमाणाः, तथाऽपि सर्वेषां तदेव केवलज्ञानं, तदेव संहननं, त एव च प्रज्ञापनीया भावा इति तुल्या प्ररूपणा।

ननु पञ्चधनुःशतिकप्रभृतीनां महान्तीन्द्रियाणि, तेन तेषां प्रभूततरक्षेत्रे विषयोपलम्भविशेषोऽपि स्यात्।

अत आह-

पुरिमेहिँ जइवि हीणा, इंदियमाणाउ संपयनराणं।
तह वि य सि उवलद्धी, खित्तविभागेण तुल्ला उ ॥२१०॥

पूर्वेभ्यः पूर्वकालभाविभ्यः पुरुषेभ्यो यद्यपि साम्प्रतनराणां सम्प्रतिमनुष्याणामिन्द्रियमानानि हीनानि, तथाप्यात्माङ्गुलमधिकृत्य क्षेत्रविभागे तेषां तुल्या उपलब्धिः। तथाहि-श्रोत्राऽऽदीन्द्रियप्रमाणं श्रोत्राऽऽदीन्द्रियविषयप्रमाणं चात्माङ्गुलतः, तत्र यथा पूर्वमनुष्याणां द्वादशयोजनाऽऽदिकं क्षेत्रप्रमाणम्, तथाऽधुनातनमनुष्याणामपि। तथा चोक्तम्-"सोइंदियस्स णं भंते ! केवइए विसए पन्नत्ते ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखिज्जइभागाओ, उक्कोसेणं बारसेहिंतो जोयणेहिं।" इत्यादि। एवं हीनाधिकशरीरप्रमाणत्वेऽपि केवलेनोपलम्भस्तुल्य एवेति न कश्चिद्दोषः। अन्यच्च-शरीराऽऽश्रितानीन्द्रियाणि, ततः शरीरप्रमाणविषये, तदाश्रितानामिन्द्रियाणामपि प्रमाणविशेषभावात्तद्विषयक्षेत्रोपलम्भविशेषः। बृ० १ उ०।

(१२५) प्रकीर्णकवार्ताः-

तित्थयरे भगवंते, अणुत्तरपरक्कमे अमियनाणी।
तिन्ने सुगइगइगए, सिद्धिपहपदेसए वंदे ॥ १०१५ ॥

तीर्थकरान् भगवतोऽनुत्तरपराक्रमानमितज्ञानिनस्तीर्णान् सुगतिगतिगतान् सिद्धिपथप्रदेशकान् वन्दे। (आ० म०) ननु तीर्थकरानित्यनेनैव भगवत इति गतं, तीर्थकृन्नामुक्तलक्षणभक्त्याव्यभिचारात्, ततः किमनेन विशेषणेन ?। तदयुक्तम्। अस्य नयमतान्तरावलम्बिपरिकल्पितबुद्धाऽऽदितीर्थकरतिरस्कारपरत्वात्। तथाहि-न ते बुद्धाऽऽदयः स्वस्वदर्शनरूपतीर्थकारिणोऽपि तत्त्ववृत्त्या भगवन्तः, यथोक्तसमग्रैश्वर्याऽऽदिगुणकलापायोगादिति। (आ० म०) ननु येऽनुत्तरपराक्रमास्तेऽमितज्ञानिन एव, क्रोधाऽऽदिपरिक्षयोत्तरकालमवश्यममितज्ञानस्य भावात्। सत्यमेतत्। केवलं ये क्लेशक्षयेऽप्यमितज्ञानं नाभ्युपगच्छन्ति। तथा च तद्ग्रन्थः-"सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु। कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते ?॥ १ ॥" इत्यादि। तन्मतव्यवच्छेदफलमिदं विशेषणमित्यदोषः। तद्व्यवच्छेदश्चैवम्-सर्वभावपरिज्ञानाभावे तत्त्ववृत्त्यैकस्याऽपि वस्तुनः परिज्ञानायोगात्, सर्वस्याऽपि यथायोगमनुवृत्तव्यावृत्तधर्मतया सर्वैः सह सव्यपेक्षत्वात्। आह च-"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः। सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥ १ ॥" आचाराङ्गेऽप्युक्तम्-"जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ।" इति। अथवा-ये स्वसिद्धान्ते छद्मस्थवीतरागास्तेऽनुत्तरपराक्रमा भवन्ति, कषायाऽऽदिशत्रूणामाक्रमणात्, न त्वमितज्ञानिनः, केवलज्ञानाभावात्। ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमिदं विशेषणमिति। (आ० म०) अनेन ये प्राप्ताऽणिमाऽऽद्यष्टविधैश्वर्यं स्वेच्छाविलसनशीलं पुरुषं तीर्णं प्रतिपादयन्ति। तथा च तद्ग्रन्थः-"अणिमाऽऽद्यष्टविधं प्रा-प्यैश्वर्यं कृतिनः सदा। मोदन्ते सर्वभावज्ञा-स्तीर्णाः परमदुस्तरम् ॥१॥" इत्यादि। तद्व्यवच्छेदमाह। (आ० म०) सिद्धिपथप्रदेशकान्, अनेनानेकभव्यसत्त्वोपकारितीर्थकरनामकर्मविपाकोदयसमन्वितं भगवतां स्वरूपमाह। आ० म० १ अ० १ खण्ड।

प्रश्नोत्तराणि-

तीर्थकरा एकस्मिन् समये कति सिद्ध्यन्ति ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-एकस्मिन्समये उत्कर्षतः चत्वारस्तीर्थकराः सिद्ध्यन्तीति सिद्धपञ्चाशिकाऽऽद्यक्षरमस्तीति। ८६ प्र०। सेन० १ उल्ला०। यथाऽत्र भरते श्रीवीरजन्मर्क्षे भस्मग्रहः, तथाऽन्यक्षेत्रे तीर्थकृतां जन्मर्क्षे

स आगतोऽस्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-दशस्वपि क्षेत्रेषु तीर्थकृतां च्यवनाऽऽदीनि कल्याणकान्येकस्मिन्नेव नक्षत्रे भवन्तीत्यागमोक्तत्वाद्गर्भसमग्रहाऽऽदिसंक्रमणं सर्वं समानमेवेति । ९३ प्र० । सेन० २ उल्ला० । " वीरस्सायंगुलं दुगुणं ति " कथं सर्वे जिनाः विंशत्यधिकशताङ्गुलाः कथिताः, प्रमाणाङ्गुलस्य पञ्चाशदङ्गुलस्यैकविंशतिभागेऽहमानं वीरस्य कथितमस्ति, तेन चोत्सेधाङ्गुलैकशताष्टषष्टिमानं जायते, विंशतिशतद्विगुणीकरणे चत्वारिंशदधिकद्विशताङ्गुलानि स्युः, सार्द्धत्रयहस्तमाने तु पाश्चात्यमानं विसंवदतीति प्रश्ने, उत्तरम्-" वीरस्सायंगुलं दुगुणं " इत्येतद्गाथावृत्तौ मतत्रयमस्ति,तत्रानुयोगद्वारचूर्ण्यभिप्रायेण श्रीवीर आत्माङ्गुलेन चतुरशीत्यङ्गुलप्रमाणश्चतुरशीतिद्विगुणीकरणेऽष्टषष्ट्यधिकशतमुत्सेधाङ्गुलानां भवतीति न किञ्चिदनुपपन्नम्, एतदाश्रित्य विस्तरस्तु संग्रहणीवृत्तावस्ति । ११५ प्र० । सेन० २ उल्ला० । तीर्थकृतां त्रयोदशाऽऽदिभवाः प्रथमसम्यक्त्वलाभापेक्षयाऽप्रतिपतितसम्यक्त्वलाभापेक्षया वा, प्रसिद्धमहद्भवापेक्षया वा,किं वा प्रकारान्तरेणेति प्रश्ने, उत्तरम्-आवश्यकाऽऽद्यभिप्रायेण श्रीऋषभाऽऽदितीर्थकृतां त्रयोदशाऽऽदिभवाः प्रथमसम्यक्त्वलाभापेक्षया गण्यन्ते, न त्वन्यापेक्षयेति । १६५ प्र० । सेन० २ उल्ला० । सार्द्धद्वीपद्वये जघन्योत्कृष्टत एकस्मिन् समये तीर्थकृतां कत्यभिषेकाः ?,तथा तत्र कत्यरका भवन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-सार्द्धद्वीपद्वये जघन्यत एकसमये दश तीर्थकरा मेरुपञ्चके शक्रैरभिषिच्यन्ते, उत्कृष्टतस्तु विंशतिः, तथा तत्र जघन्यतश्चत्वारोऽरकाः, उत्कृष्टतस्तु पञ्च भवन्तीति ज्ञायते । ६५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तीर्थकृज्जननी चतुर्दश स्वप्नान् स्फुटान्, चक्रवर्तिजननी त्वस्फुटान् इत्यक्षराणि सन्ति, प्रघोषो वेति प्रश्ने, उत्तरम्-चक्रवर्तिमाताऽस्फुटान् पश्यति । तदुक्तम्-" चतुर्दशाप्यमून् स्वप्नान्, साऽपश्यत् किञ्चिदस्फुटान् । सा प्रभोः प्रमदा सूते, नन्दनं चक्रवर्तिनम् ॥ १ ॥ " इति वासुपूज्यचरित्रे । १०४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । जनन्या द्विश्चतुर्दशस्वप्ना दृष्टाः, उत एकवारम् ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-शान्तिनाथजनन्या द्विश्चतुर्दश स्वप्ना दृष्टाः । यदुक्तं शत्रुञ्जयमाहात्म्येऽष्टमपर्वणि "द्विः स्वप्नदर्शनादर्हच्चक्रिजन्मसुनिश्चया । रत्नगर्भेव सा गर्भं, बभार शुभदोहदा ॥ ७६ ॥ " इति । एवमन्यत्रापीति । १०७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । भरतैरवततीर्थकृद्व्यतिरिक्तानां तीर्थकृतां कीदृग् वर्णविभागः ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-पञ्चवर्णान्यतरवर्णरूपो वर्णविभागो ज्ञेयोऽत्रापि पूर्वोक्त एव हेतुरिति । ३५० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । बलदेवकर्णद्वैपायनशङ्खाऽऽख्याऽऽगामिष्यच्चतुर्विंशतौ तीर्थकृतो भविष्यन्ति, ते किं नवमराम १ कौन्तेय २ द्वारकादाहकाः ३ श्रीवीरप्रथमश्रावका एव ?; अथवा किमन्ये वेति प्रश्ने, उत्तरम्-शङ्खः श्रीवीरप्रथमश्रावकादन्यस्तीर्थकृत्त्वोस्थानाङ्गवृत्तावुक्तोऽस्ति । द्वैपायनो द्वारिकादाहकोऽन्यो वेति निर्णयः केवलिगम्यः । कृष्णभ्राता बलदेव आवश्यकनिर्युक्त्यादावागामिष्यच्चतुर्विंशतिकायां कृष्णतीर्थे सेत्स्यत्युक्तोऽस्ति, तेन बलदेवः कश्चिन्नामान्तरेणावगन्तव्यः । कर्णस्थाने तु शास्त्रे कृष्णः प्रोक्तोऽस्ति, सोऽपि नामान्तरेण बोध्योऽत एव शास्त्रान्तरैः सह विसंवादं संभाव्य प्रवचनसारोद्धारवृत्तिकारेणाऽपि द्विधा एव भावितीर्थकृज्जीवा व्यक्ता विवृताः सन्ति, न शेषा इति । ३६० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । समवसरणस्थस्य तीर्थङ्करस्य आज्ञा यतयश्च कथं वन्दन्ते ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-समवसरणस्थस्य तीर्थकृतः आज्ञा यतयश्च वन्दित्वा यथास्थाने निषीदन्तीति हारिभद्र्यां, परं तद्वन्दनरीतिः क्वापि लिखिता नास्ति, तस्मादाधुनिकवन्दनरीतिरेव संभाव्यत इति । ४३६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तीर्थकृतां जन्मभवनानन्तरं देवाः कियत्प्रमाणां रत्नाऽऽदिवृष्टिं कुर्वन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-"उसभे णं अरहा कोसलिए० जाव विहरइ, ततो वेसमणो सक्कवयणेणं बत्तीसं हिरण्णकोडीओ, बत्तीसं नंदासणाइं, बत्तीसं भद्दासणाइं भगवतो तित्थयरस्स जम्मणभवणम्मि साहरइ । " इत्यावश्यकबृहद्वृत्ति ७६ पत्रे, एतदनुसारेण, तथा-

" कुण्डले क्षौमयुग्मं चो-च्छीर्षे मुक्त्वा हरिर्व्यधात् ।
श्रीदामरत्नदामाढ्यमुल्लोचे स्वर्णकन्दुकम् ॥ ४२ ॥
द्वात्रिंशद्रत्न-रूप्य-कोटिवृष्टिं विरच्य सः ।
वाढमाघोषयामास-ति सुरैराभियोगिकैः ॥ ४३ ॥ "

इतिकल्पकिरणावल्यनुसारेण च, तीर्थकृतां जन्मभवनानन्तरं देवविहिता वृष्टिः द्वात्रिंशद्धिरण्यकोटिप्रमाणा भवतीति । ४४४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

' तित्थयर ' शब्दस्यविषयसूची—

(१) तीर्थकरशब्दसिद्धिः ।
(२) तीर्थकृतां तीर्थकरणशीलत्वम् ।
(३) तीर्थकृतामचेलत्वेऽपि संयमविराधनाऽऽदयो दोषा न भवन्तीति निरूपणम् ।
(४) तीर्थकृतामनुत्तरोपपातिकमुनिसंख्या ।
(५) ये तीर्थकरेषु अष्टादश दोषा न भवन्ति तेषां प्ररूपणम् ।
(६) तीर्थकराणामभिग्रहाः ।
(७) अङ्गोपाङ्गाऽऽदिष्वबद्धा अपि ये आदेशपदाभिधेयाः पदार्था ज्ञानिभिः प्रकाशिताः तेषां सङ्ख्यानिरूपणा ।
(८) तीर्थकराणां तीर्थे षडावश्यकं यस्मिन् समये क्रियते तन्निरूपणम् ।
(९) तीर्थकरा यादृशमाहारं कुर्वन्ति तन्निरूपणम् ।
(१०) तीर्थकृज्जन्मावसरे शक्रस्याऽऽसनचलनानन्तरमवधिना तीर्थकरजन्मावबुध्य हरिनैगमेष्याज्ञाप्रतिपादनम् ।
(११) आदेशानन्तरं हरिनैगमेषी यत्कृतवान् तद्वर्णनम् ।
(१२) हरिनैगमेषिकृतघण्टानादेन यद्भूत्तन्निरूपणम् ।
(१३) ततश्च घण्टानादेनो यद् प्रवृत्तं तत्प्रतिपादनम् ।
(१४) सौधर्मे कल्पे पदातिपतिकर्तव्यनिरूपणम् । (देवानां चिन्तनम्)
(१५) सौधर्मे शक्राऽऽदेशानन्तरं यज्जातं तन्निरूपणम् ।
(१६) इन्द्रो यत् पालकमादिष्टवान् तदुक्तिवर्णनम् ।
(१७) तदनु यदनुतिष्ठति स्म पालकस्तन्निरूपणम् ।
(१८) तत्कृतप्रेक्षागृहमण्डपवर्णनम् ।
(१९) माणवकमणिपीठिकावर्णनम् ।
(२०) आस्थाननिवेशनप्रक्रियाप्रतिपादनम् ।
(२१) तदनन्तरं शक्रक्रियाप्ररूपणम् ।
(२२) सामानिकाऽऽदिभिरास्थानस्य पूर्तेः प्ररूपणम् ।
(२३) प्रतिष्ठासोः शक्रस्य पुरःप्रस्थायिनां क्रमवर्णनम् ।
(२४) ततो यदकार्षीत् शक्रस्तन्निरूपणम् ।
(२५) मेरुगमनवर्णनम् ।

(२६) तत ईशानेन्द्राऽऽगमनावसरः ।
(२७) चमरबलिधरणभवनवासिवाणमन्तरज्योतिष्काऽऽदी-
नामागमननिरूपणम् ।
(२८) ततोऽच्युतेन्द्रो यद्कार्षीत्तन्निरूपणम् ।
(२९) तत्रेन्द्राऽऽदयो यत्कुर्वन्ति तत्प्रतिपादनम्, ततस्तत्रै-
वाभिषेकनिगमनपूर्वकमाशीर्वादकरणम् ।
(३०) अवशिष्टानामिन्द्राणां वक्तव्यता ।
(३१) तत्रावशिष्टशक्रकृताभिषेकावसरः ।
(३२) ततः कृतकृत्येन शक्रेण भगवतो जन्मपुरप्रापणम् ।
(३३) वैश्रवणद्वारा शक्रकृत्यप्ररूपणम् ।
(३४) अस्मासु स्वस्थानं प्राप्तेषु भगवति मा दुर्दृष्टिं केऽपि नि-
क्षिपन्त्विति शक्राऽऽज्ञोद्घोषणा ।
(३५) अष्टाह्निकामहोत्सवः ।
(३६) भवनपत्यादीनामिन्द्रसंख्याप्रतिपादनम् ।
(३७) तीर्थकरकृतोपदेशं प्ररूप्य ये धर्मोपायस्य देशकास्ते-
षां प्ररूपणम् ।
(३८) तीर्थकरप्रसङ्गात् साधूनां द्वादशोपकरणसंख्यायाः,सा-
ध्वीनां पञ्चविंशत्युपकरणसंख्यायाश्च व्यावर्णनम् ।
(३९) श्रीपार्श्ववीरतीर्थकरयोरुपसर्गप्ररूपणम् ।
(४०) उत्सेधात्मगुलेनाऽऽत्माङ्गुलेन च जिनानां देहमानम् ।
(४१) चतुर्विंशतिजिनानामवधिज्ञानिमुनिसंख्यावर्णनम् ।
(४२) तीर्थकृतां कल्पशोभिः ।
(४३) तीर्थकृद्भिः कर्मव्यावर्णनं, तैरपि कर्मवेदनं च ।
(४४) जिनानां कुमारवासकालमानम् ।
(४५) केवलोत्पत्तिस्थानानि ।
(४६) जिनानां केवलोत्पादकं तपः ।
(४७) तीर्थकृतां केवलोत्पत्तिमासतिथीनां प्ररूपणम् ।
(४८) यस्य वृक्षस्याधो यस्य तीर्थकृतः केवलज्ञानमुत्पन्नं त-
न्निरूप्य केवलवृक्षप्रमाणनिरूपणम् । तत्राऽपि चैत्यत-
रूणां विशेषतः प्रमाणकथनम् ।
(४९) यस्मिन् वने यस्य केवलज्ञानमुत्पन्नं तन्नामनिर्देशः ।
(५०) यस्यां वेलायां केवलज्ञानमुत्पन्नं तन्निरूपणम् ।
(५१) जिनानां गृहस्थकाल-केवलिकालमानं निरूप्य श्राम-
ण्यपर्यायात् छद्मस्थपर्यायापगमे केवलिपर्यायः स्व-
यमेव ज्ञेय इति श्रामण्यपर्यायनिरूपणम् । तथा तीर्थ-
कृतां केवलिमानविमर्शः ।
(५२) तीर्थकृद्गणसंख्याप्रतिपादनम् ।
(५३) तीर्थकृतां गणधराणां संख्याप्ररूपणम् ।
(५४) जिनानां गर्भस्थितिमानम् ।
(५५) गृहवासे यावन्ति ज्ञानानि तीर्थकृतां भवन्ति तन्निरू-
पणम् ।
(५६) तीर्थकरगोत्राणां, तीर्थकरवंशानां च वर्णनम् ।
(५७) तीर्थकृतां चतुर्दशपूर्विणः ।
(५८) श्रावकसंख्या चतुर्विंशतितीर्थकृताम् ।
(५९) जिनानां चक्रित्वकालः ।
(६०) जिनानां सामायिकाऽऽदिचारित्रस्य प्रतिपादनम् ।
(६१) च्यवननक्षत्रमृषभाऽऽदिजिनानाम् ।
(६२) च्यवनकल्याणकतिथयश्च्यवनमासाश्च ।
(६३) ऋषभाऽऽदीनां क्रमतश्च्युतिराशयः ।
(६४) जिनानां च्यवनवेला ।
(६५) सर्वजिनानां छद्मस्थकालमानम् ।
(६६) तीर्थकृतां छद्मस्थतपोमानम् ।
(६७) तीर्थकरयक्षाणां नामानि ।
(६८) तीर्थकरदेवीनां नामानि ।
(६९) तीर्थकरजन्मनगर्यः ।
(७०) तीर्थकरजन्मदेशाः ।
(७१) तीर्थकरजन्ममासाऽऽदिप्ररूपणम् ।
(७२) तीर्थकरजन्मारकप्ररूपणानन्तरं जन्मारकाणां शेषका-
लविचारः ।
(७३) तीर्थप्रसिद्धजिनजीवप्रतिपादनम् ।
(७४) भविष्यत्तीर्थकरवर्णनम् ।
(७५) युगान्तकृद्भूमिप्ररूपणम् ।
(७६) तीर्थकृतां स्थितिकल्पः ।
(७७) सर्वेषां जिनानां शासने तत्त्वसंख्या ।
(७८) तीर्थप्रवृत्तिकालप्रतिपादनम् ।
(७९) तीर्थकरकल्याणकतपोविधानम् ।
(८०) तीर्थकरणप्रयोजनवर्णनम् ।
(८१) तीर्थोच्छेदकालः ।
(८२) तीर्थकरप्रसङ्गात् द्वादशचक्रिनववासुदेवनवबलदेव-
नामानि, त्रिषष्टिशलाकापुरुषमानम्, प्रतिवासुदेवना-
मानि, यस्य तीर्थे ये चक्रिवासुदेवबलदेवा जातास्तेषां
च निरूपणम् ।
(८३) वर्तमानकालीनचतुर्विंशतितीर्थकरनामानि, बलदेव-
वासुदेवपितृमातृनामानि, दशारमण्डलानि, वासुदेव-
बलदेवानां पूर्वभवनामानि, तेषां पूर्वभवधर्माऽऽचार्य-
नामानि, तन्निदानभूमयः,तन्निदानकारणानि, तेषां प्र-
तिशत्रुनामानि, तेषां मध्ये ये यत्र यान्ति तन्निरूपणम् ।
(८४) तीर्थोत्पत्तिप्ररूपणम् ।
(८५) तीर्थकराणां निर्गमनकालस्य प्रतिपादनम् ।
(८६) दर्शननामनिरूपणानन्तरं यस्य तीर्थकरस्य समये यद्
दर्शनमुत्पन्नं तन्निरूपणम् ।
(८७) ऋषभाऽऽदितीर्थकृतां व्रतपर्यायः, दीक्षातरूणां च
नामप्रतिपादनम् ।
(८८) यस्तीर्थकरो येन तपसा निष्क्रान्तस्तदभिधानम् ।
(८९) यावत्परिवारेण भगवन्तो दीक्षामाशिश्रियन्, तन्निरूप-
णम् ।
(९०) तीर्थकृतां दीक्षापुरम्, दीक्षासमये मनःपर्यवज्ञानोत्प-
त्तेः प्ररूपणम् ।
(९१) तीर्थकराणां दीक्षामासपक्षतिथिप्रतिपादनम्, दीक्षा-
लिङ्गम्, दीक्षासमये लोचमुष्टिः, दीक्षावनानि, यस्मि-
न् वयसि ते निष्क्रान्तास्तन्निरूपणं च ।
(९२) दीक्षाशिबिकाऽऽदिप्रतिपादनम् ।
(९३) षट्पञ्चाशद्दिक्कुमारीनामानि, तासां करणीयनिरू-
पणं च ।
(९४) देवदूष्यप्ररूपणम्, देवदूष्यवस्त्रस्थितिमानाऽऽदिनि-
र्देशः ।
(९५) प्रसङ्गतस्तीर्थकरप्रतिपादितत्वेन धर्मभेदप्ररूपणं, तथै-
चित्याष्टकं च ।
(९६) चतुर्विंशतिजिननामसामान्यार्थस्तद् विशेषार्थश्च ।
(९७) तीर्थकृतां पञ्चकल्याणके नक्षत्रैक्यप्ररूपणम् ।

(९८) तीर्थकृतां केवलज्ञानानन्तरं मुनीनां मोक्षगमनमानम्, प्रतिक्रमणसंख्या, प्रथमगणधरनामानि, प्रथमप्रवर्तिन्यः, प्रथमश्रावकाः, प्रथमश्राविकाः, प्रत्येकबुद्धमुनिसंख्या, तीर्थकृतां प्रमादविचारः, तीर्थकृतां परीषहसहनविमर्शश्च ।

(९९) जिनानामष्टमहाप्रातिहार्याणि ।

(१००) जिनानां प्रथमपारणदायकनामानि, तेषां गतिश्च, पारणदायकार्थे देवकृतदिव्यपञ्चकनामानि, तत्र वसुधाराप्रमाणप्ररूपणम्, जिनानां पारणकपुरनामानि ।

(१०१) तीर्थकराणां पितृनामानि, पितॄणां गतिश्च ।

(१०२) पूर्वप्रवृत्तिकालः, पूर्वविच्छेदकालमानं च ।

(१०३) सर्वतीर्थकराणां यावन्तः पूर्वभवास्तेषु तेषां नामानि ।

(१०४) तीर्थकृतां पूर्वभवगुरवः, तथा तेषां पूर्वभवायुः, पूर्वभवक्षेत्राणि, पूर्वभवक्षेत्रदिशा, पूर्वभवजिनहेतवो विंशतिविधाः, पूर्वभवद्वीपाः, पूर्वभवनामानि, पूर्वभवनगर्यः, पूर्वभवराज्यम्, पूर्वभवविजयाः, पूर्वभवस्वर्गाः, पूर्वभवसूत्राणि, तत्र श्रुतलाभद्वारम् ।

(१०५) पार्श्वसुपार्श्वयोः फणकारणानि, तेषां फणसंख्या च, जिनानामारोग्याऽऽदिफलदायकत्वविचारः ।

(१०६) नृपतिबलदेववासुदेवचक्रितीर्थकृतां बलतारतम्यप्रतिपादनम् ।

(१०७) जिनभक्तानां राज्ञां नामानि ।

(१०८) तीर्थकरमनःपर्यवज्ञानिसंख्याकथनम् ।

(१०९) तीर्थकरमातृनामानि, तासां गतिश्च ।

(११०) तीर्थकराणां मोक्षाऽऽसनं, मोक्षस्थानानि, यावता तपसा तीर्थकृन्मोक्षसिद्धिस्तन्निरूपणम्, मोक्षनक्षत्राणि, मोक्षपरिवारः, मोक्षपथः, मोक्षमासपक्षतिथयः, मोक्षराशयः, मोक्षविनयः, मोक्षवेला, मोक्षारकशेषकालः, मोक्षारकप्रतिपादनम्, मोक्षगतानां शरीरमानम् ।

(१११) तीर्थकृतां राज्यकालमानम् ।

(११२) तीर्थकृतां रूढतपःकारकमुनिसंख्या, तत्र प्रसक्तात् गणधराऽऽदिमाणमालिकान्तानां, देवानां च रूपवर्णनम् ।

(११३) तीर्थकृतां लाञ्छनानि, तेषां लक्षणद्वारम्, तीर्थकृत्सु लोकान्तिकदेवैर्बोधनम्, जिनवस्त्रवर्णानि, जिनानां च वर्णनिरूपणम् ।

(११४) तीर्थकृतां पञ्चत्रिंशद्वाग्गुणाः ।

(११५) तीर्थकराणां वादिमुनिसंख्या, तीर्थकृतां विवाहविषयश्च, येषु ग्रामनगरेषु तेषां विहार आसीत् तन्निरूपणम् ।

(११६) तीर्थकृतां वैक्रियकमुनयः, तेषामेवाऽऽर्यिकासंग्रहप्रमाणम्, मुनिस्वरूपम्, संयतसंयतीप्रमाणम्, तीर्थकृतां संयमप्रतिपादनम् ।

(११७) परित्यागद्वारे जिनेन्द्राणामभिनिष्क्रमणसमये दानविचारः ।

(११८) जिनश्राविकामानम् ।

(११९) उत्कृष्टजघन्याभ्यां विचरतां तीर्थकृतां संख्या, तथोत्कृष्टजघन्याभ्यां तेषां जन्मसंख्या च ।

(१२०) सर्वेषां तीर्थकृतां सर्वायुः, तथा तेषां सामान्यमुनिसंख्या, तीर्थकृत्सामायिकोपदेशविचारः, सामायिकसंख्या च ।

(१२१) श्रावकव्रतसंख्या, साधुव्रतसंख्या च ।

(१२२) तीर्थकरमातुश्चतुर्दश स्वप्नाः, स्वप्नकारणानि, स्वप्नविचारकाः, शुभाशुभप्रवृत्तिकालः ।

(१२३) भरतक्षेत्रेऽतीतोत्सर्पिण्यां जिनेश्वरनामानि, ऐरवते तीर्थकराः, भविष्यत्तीर्थकराणां पूर्वभवनामानि, तेषां पितृमातृप्रथमशिष्यप्रथमशिष्याप्रथमभिक्षादायकसंख्या, ऐरवतक्षेत्रभाविनस्तीर्थकराः ।

(१२४) कृतकृत्या अपि तीर्थकरास्तपःकर्मोपधानश्रुतमुपसर्गसहनाऽऽदिकं कुर्वन्तीति निरूप्य,सर्वेषां तीर्थकराणां सहस्राणि सूत्राणीत्यत्र गुरुशिष्ययोः प्रश्नोत्तराणि ।

(१२५) प्रकीर्णकवार्ताः ।

तित्थयरगंडिया-तीर्थकरगण्डिका-स्त्री० । तीर्थकरैकवक्तव्यताधिकारानुगतायां वाक्यपद्धतौ, स० ।

तित्थयरणाणुप्पत्तितव-तीर्थकरज्ञानोत्पत्तितपस्-न० । स्वनामख्याते चित्रतपसि, पञ्चा० ।

तत्स्वरूपमाह-

तित्थंकरणाणुप्प-त्तिसमभिओ तहऽवरो तवो होइ ।
पुव्वोइएण विहिणा, कायव्वो सो पुण इमो त्ति ॥१२॥

तीर्थकरज्ञानोत्पत्तिरिति संज्ञा संजाता यस्य तत्तीर्थकरज्ञानोत्पत्तिसंज्ञितम्,पुंस्त्वं तु सर्वत्र प्राकृतत्वात् । तथेति समुच्चये, अपरमन्यत्,तपो भवति स्यात् । पूर्वोदितेन विधिना ऋषभाऽऽदिक्रमेण गुर्वाज्ञया विशुद्धक्रियया, मतान्तरेण तन्मासादिनोऽपन्येवं लक्षणेन, (कायव्वो त्ति)कार्यम्(सो पुण त्ति) तत्पुनः प्रकृततपः, (इमो त्ति) इदं वक्ष्यमाणम्,इति समासौ । इति गाथाऽर्थः ॥१२॥

तदेवाऽऽह-

अट्ठमभत्तंतम्मि य, पासोसहमल्लिऽरिट्ठनेमीणं ।
वसुपुज्जस्स चउत्थे-ण छट्ठभत्तेण सेसाणं ॥१३॥

(अस्यार्थोऽनुपदमेव 'तित्थयर' शब्दे २२६३ पृष्ठे केवलतपोनामकेऽधिकाराङ्के गतः)

उसभाऽऽइयाणमेयं, जायाइं केवलाइँ णाणाइं ।
एयं कुणमाणो खलु, अचिरेणं केवलमुवेइ ॥१४॥

ऋषभाऽऽदिकानां जिनानाम्,अत्र तपसि कृते,जातान्युत्पन्नानि, केवलानि केवलसंज्ञितानि,ज्ञानानि संवेदनानि। अत एतत् तीर्थकरज्ञानोत्पत्तिसंज्ञितं तपः, कुर्वाणः, कालान्तरेण केवलं लभत इति व्यक्तम् । उवेइत्ति पाठान्तरं वेति ॥१४॥ पञ्चा०१९विव० ।

तित्थयरणाम-तीर्थकरनामन्-न० । नामकर्मभेदे, यदुदयवशादष्टमहाप्रातिहार्यप्रमुखाश्चतुस्त्रिंशदतिशयाः प्रादुर्भवन्ति । कर्म० ६ कर्म० । श्रा० । पं० सं० ।

तित्थेण तिहुयणस्स वि,पुज्जो से उदओ केवलिणो(४६)

तीर्थेन तीर्थकरनामकर्मवशात्,त्रिभुवनस्यापि देवमानवदानवलक्षणत्रिलोकस्याऽपि, पूज्योऽभ्यर्चनीयो भवति । ' से ' तस्य तीर्थकरनामकर्मण उदयो विपाकः केवलिन उत्पन्नकेवलज्ञानस्यैव,यदुदयाज्जीवः सदेवमनुजासुरलोकपूज्यमुत्तमोत्तमं तीर्थं

प्रवर्तयति । यदागमः-"तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थयरे तित्थं ?। गोयमा ! अरिहा ताव नियमा तित्थंकरे, तित्थे पुण चाउवण्णे समणसंघे पढमगणहरे वा ।" इति परममुनिप्रणीतधर्मतीर्थस्य प्रवर्तयितृपदमवाप्नोति, तत्तीर्थंकरनाम इत्यर्थः। (४६) कर्म०१कर्म०।

ननु केवलज्ञानावाप्तौ कृतकृत्यो भवान् किमिति धर्मदेशनायां प्रवर्तत इत्याशङ्कायामाह-

वीतरागोऽपि सद्वेद्य-तीर्थकृन्नामकर्मणः ।
उदयेन तथा धर्म-देशनायां प्रवर्त्तते ॥ १ ॥

वीतरागोऽपि विगताभिष्वङ्गोऽपि, सरागः किल प्रवर्तत इति शब्दार्थः । सद्वेद्यं च सातवेदनीयं, तीर्थकृन्नाम च सद्वेद्यतीर्थकृन्नाम्नी, ते एव कर्म सद्वेद्यतीर्थकृन्नामकर्म्म। अथवा-सता शोभनेन धर्मदेशनाऽऽदिना प्रकारेण यद्वेद्यते तत्सद्वेद्यं, तच्च तीर्थकृन्नामकर्म्म च, तस्य, उदयेन विपाकेन, तथा तेन प्रकारेण समवसरणाऽऽदिश्रीसमनुभवलक्षणेन, धर्मदेशनायां कुशलानुष्ठानप्रज्ञापनायां, प्रवर्त्तते व्याप्रियते इति ॥ १ ॥ हा० ३१ अष्ट०। सम्म०। जी०। ननु सूत्रकर्तुः परमाऽपवर्गप्राप्तिः, अपरं सत्त्वानुग्रहः, तदर्थप्रतिपादकस्याऽर्हतः किं प्रयोजनमिति चेत् ?। उच्यते-न किञ्चित्,कृतकृत्यत्वाद्भगवतः। प्रयोजनमन्तरेणार्थप्रतिपादनप्रयासो निरर्थक इति चेत् ?। न। तस्य तीर्थकरनामकर्मविपाकोदयप्रभवत्वात् । उक्तं च-" तं च कहं वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाए उ ।" इति। श्रोतृणामनन्तरं प्रयोजनं विवक्षिताऽध्ययनार्थपरिज्ञानं, परं निःश्रेयसं पदं, विवक्षिताध्ययनसम्यगर्थावगमतः संयमः, संयमप्रवृत्त्या सकलकर्मक्षयोपपत्तेः। जी० १ प्रति०। "ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम्। गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः" ॥१॥ (इत्यन्यदीयमतम्) स्था० १ ठा०। आ० म०। पं० सं०। उत्त०। (तीर्थकृन्नामबन्धहेतवः 'तित्थयर' शब्दे २२१४ पृष्ठे निरूपिताः)

तित्थयरणामगोयकम्म-तीर्थकरनामगोत्रकर्म-न०। तीर्थकरत्वनिबन्धनं नाम तीर्थकरनाम, तच्च गोत्रं च कर्मविशेष एवेत्येकवद्भावात् तीर्थकरनामगोत्रम्। अथवा-तीर्थकर इति नामगोत्रमभिधानं यस्य तत्तीर्थकरनामगोत्रम्। तीर्थकरनामाऽऽख्ये नामकर्मभेदे, स्था०।

समणस्स जगवओ महावीरस्स तित्थंसि नवहिं जीवेहिं तित्थकरनामगोयकम्मे निव्वत्तिए। तं जहा-* सेणिएणं, सुपासेणं,उदाइणा,पुट्टिलेणं अणगारेणं, दढाउणा, संखेणं, सयएणं,सुलसाए सावियाए,रेवईए। एस णं अज्जो कण्हे वासुदेवे रामे बलदेवे उदए पेढालपुत्ते पुट्टिले सयए गाहावई दारुए नियंठे सच्चई य णियंठीपुत्ते सावियबुद्धे अम्मडे परिव्वाए,अज्जा वि णं सुपासा पासावच्चेज्जा आगमेस्साए उस्सप्पिणीए चाउज्जामं धम्मं पन्नवित्ता सिज्झिहिंति० जाव अंतं काहिंति। स्था० ९ ठा०।

तित्थयरणिग्गमतव-तीर्थकरनिर्गमतपस्-न०। स्वनामख्याते विप्रतपसि, पञ्चा०।

* श्रेणिको राजा १, सुपार्श्वो वर्द्धमानस्वामिपितृव्यः २, उदायी कूणिकपुत्रः श्रेणिकपौत्रः ३।

तत्र तीर्थकरनिर्गमतपः प्रतिपादयंस्तदाह-

तित्थयरणिग्गमो खलु, ते जेण तवेण णिग्गया सव्वे ।
ओसप्पिणीएँ सो पुण, इमीएँ एसो विणिद्दिट्ठो ॥ ६ ॥

तीर्थकरैर्निर्गमं गृहवासाद्यत्कृतं तपस्तत्तीर्थकरनिर्गमं तपः। खलुरलङ्कारे। तच्च कीदृशमित्याह--ते तीर्थकरा येन तपसा निर्गता गृहवासात्सर्वेऽवसर्पिण्याम् (सो पुण त्ति) तत्पुनस्तपोऽस्यां वर्त्तमानायाम (एसो त्ति) एतद् वक्ष्यमाणम् । (विणिद्दिट्ठो त्ति) उक्तमिति गाथार्थः ॥ ६ ॥

एतदेवाऽऽह-

सुमइ त्थ णिच्चभत्ते-ण णिग्गओ वासुपुज्जो (जिणो)चउत्थेणं।
पासो मल्ली वि य अ-ट्ठमेण सेसा उ छट्ठेणं ॥ ७॥

सुमतिः पञ्चमजिनः । "त्थ" इति पादपूरणे निपातः । नित्यभक्तेनानवरतभोजनेन, अविहितोपवास इत्यर्थः । निर्गतो गृहवासान्निष्क्रान्तः। तथा वासुपूज्यो द्वादशो जिनोऽर्हन् चतुर्थेनैकोपवासरूपेण । पार्श्वस्त्रयोविंशतितमः, मल्लिरेकोनविंशतितमः, अष्टमेनोपवासत्रयरूपेण । शेषास्तु विंशतिः पुनः षष्ठेनोपवासद्वयरूपेणेति गाथाऽर्थः ॥ ७ ॥ (एतदेव 'तित्थयर' शब्दे २२७७ पृष्ठे निष्क्रमणतपःप्ररूपणावसरे व्याख्यातम्)

एतद्विधानविधिमाह-

उसभाइकमेणेमो, कायव्वो ओहओ सइ बलम्मि ।
गुरुआणापरिसुद्धो, विसुद्धकिरियाएँ धीरेहिं ॥ ८ ॥

ऋषभाऽऽदिक्रमेण नाभेयनिर्गमाऽऽद्यानुपूर्व्या, एष तीर्थकरनिर्गमः, कर्त्तव्यो विधेयः, ओघतः सामान्येनोत्सर्गेणेत्यर्थः । सति विद्यमाने, बले शक्तौ, तथाविधबलाभावे पुनर्व्यतिक्रमणकरणेऽपि न दोष इति भावः। गुर्वाज्ञया परिशुद्धो निर्दोषस्तत्संपादनाद् गुर्वाज्ञापरिशुद्धः । तथा-विशुद्धक्रिययाऽनवद्यानुष्ठानेन, धीरैः सात्त्विकैरिति गाथार्थः ॥ ८ ॥

इहैव मतान्तरमाह-

अन्ने तम्मासदिणे-सु वेंति लिंगं इमस्स जावम्मि ।
तप्पारणसंपत्ती, तं पुण एयं इमेसिं तु ॥ ९ ॥

अन्ये अपरे सूरयः,तेषामृषभाऽऽदिजिननिर्गमतपसां ये मासाः प्रतीताः, दिनानि च तिथयः, तानि तन्मासदिनानि, तेषु, न मासान्तरतिथ्यन्तरेषु, ब्रुवते तीर्थकरनिर्गमतपः । तथाहि-ऋषभस्वामिनो निष्क्रमणतपोऽङ्गीकृत्य चैत्रमासबहुलाष्टमीदिन एव षष्ठं कार्यं, वर्द्धमानस्वामिनश्च मार्गशीर्षबहुलदशमीदिन एवेति। एवमन्येषामपीति । तथा लिङ्गं लक्षणम्, अस्य ऋषभाऽऽदिनिर्गमतपसः, भावे संसिद्धौ, तेषामृषभाऽऽदीनां यस्य यत्पारणं भोजनमासीत्तस्य संपत्तिः प्राप्तिस्तत्पारणसंपत्तिः,तत्पुनः पारणकमेतद्वक्ष्यमाणमेषामृषभाऽऽदीनाम्। तुशब्दः पूरणे। इति गाथार्थः ॥ ९ ॥ पञ्चा० १९ विव० । ('उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११३३ पृष्ठे यावता कालेन भिक्षा लब्धा, यच्च पारणकमासीत् तन्निरूपितम्)

तित्थयरत्त-तीर्थकरत्व-न०। अर्हत्त्वे, यो० बिं०। आ० म०। (तीर्थकरत्वहेतवः 'तित्थयर' शब्देऽनुपदमेव २२९४ पृष्ठे व्याख्याताः)

तित्थयरदाण–तीर्थकरदान–न० । तीर्थकृद्दीयमाने, वरघोषणायां सत्यां श्रावको, योषिच्च तद्दानं गृहीतः, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–तीर्थकृद्दानसमये ज्ञाताधर्मकथाऽऽदिषु सनाथानाथपथिककार्पटिकाऽऽदीनां याचकानां ग्रहणाधिकारो दृश्यते, न तु व्यवहारिणाम्, तेन श्रावकोऽपि कश्चिद्यदि याचकीभूय गृह्णाति तदा गृह्णातु, योषितस्तु प्रायस्तत्राधिकारो न दृश्यत इति । ३०७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

तित्थयरभत्ति–तीर्थकरभक्ति–स्त्री० । परमगुरुविनये, पञ्चा० १ विव० ।

तित्थयरमाइतव–तीर्थकरमातृतपस्–न० । तीर्थकरमातृपूजायुक्तं तपस्तीर्थकरमातृतपः । भाद्रपदे सप्तभिरेकाशनकैर्निष्पाद्ये चित्रतपोभेदे, पञ्चा० १९ विव० ।

तित्थयरमोक्खगमणतव–तीर्थकरमोक्षगमनतपस्–न० । स्वनामख्याते चित्रतपसि, पञ्चा० ।

तत्स्वरूपमाह–

तित्थयरमोक्खगमणं, अहावरो एत्थ होइ विण्णेओ ।
जेण परिनिव्वुया ते, महाणुभावा तओ य इमो ॥१५॥

तीर्थकरमोक्षगमनं नाम, अथानन्तरम्, (अवरो त्ति) अपरम्, अत्र तपोऽधिकारे, भवति स्यात्, (विण्णेउ त्ति) विज्ञेयम् । येन तपसा, परिनिर्वृता निर्वाणं गताः, ते तीर्थकराः, महानुभावा अचिन्त्यशक्तयः, (तओ य इमो त्ति) तच्च तीर्थकरनिर्वा[illegible]ऽख्यं तपः, इदं वक्ष्यमाणमिति गाथाऽर्थः ॥१५॥

तदेवाऽऽह–

निव्वाणमंतकिरिया, सा चोद्दसमेण पढमनाहस्स ।
सेसाण मासिएणं, वीरजिणिंदस्स छट्ठेणं ॥ १६ ॥

निर्वाणं निर्वृतिः, अन्तक्रियेति अन्तक्रियाशब्देनोच्यते, साऽन्तक्रिया (चोद्दसमेण त्ति) चतुर्दशभक्तेनोपवासषट्करूपेण, प्रथमनाथस्य ऋषभजिनस्य, शेषाणामजिताऽऽदीनां मासिकेन मासोपवासरूपेण, वीरजिनेन्द्रस्य षष्ठेनेति व्यक्तमिति गाथाऽर्थः ॥१६॥ पञ्चा० १९ विव० । ('तित्थयर' शब्देऽपि २२७९ पृष्ठे गतेयं गाथा) " समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अट्ठसया अणुत्तरोववाइयाणं गइकल्लाणाणं० जाव आगमेसिभद्दाणं उक्कोसिया अणुत्तरोववाइसंपया होत्था ।" स्था० ८ ठा० । (एते 'तित्थयर' शब्दे २२४८ पृष्ठे सर्वेषां तीर्थकृतां न्यक्षेण प्रतिपादिताः)

तित्थयरसम–तीर्थकरसम–पुं० । सर्वाऽऽचार्यगुणयुक्ततया सुधर्माऽऽदिवत्तीर्थकरकल्पे, ग० ।

तित्थयरसमो सूरी, सम्मं जो जिणमयं पयासेइ ।
आणं अइक्कमंतो, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥२७॥

स सूरिस्तीर्थकरसमः सर्वाऽऽचार्यगुणयुक्ततया सुधर्माऽऽदिवत्तीर्थंकरकल्पो विज्ञेयः । न च वाच्यं चतुस्त्रिंशदतिशयाऽऽदिगुणविराजमानस्य तीर्थकरस्योपमा सूरेस्तादृक्त्वाऽभावाऽनुचिता । यथा तीर्थकरोऽर्थं भाषते, एवमाचार्योऽप्यर्थमेव भाषते । तथा यथा तीर्थंकर उत्पन्नकेवलज्ञानो भिक्षार्थं न हिण्डते, एवमाचार्योऽपि भिक्षार्थं न हिण्डते, इत्याद्यनेकप्रकारैस्तीर्थकरानुकारित्वस्य सर्वोऽतिशायित्वस्य परमोपकारित्वाऽऽदेश्च ख्यापनार्थम्, तस्य व्याख्यातरत्वात् । किं च–श्रीमहानिशीथपञ्चमाध्ययनेऽपि भावाऽऽचार्यस्य तीर्थकरसाम्यमुक्तम् । यथा–"से भयवं ! किं तित्थयरसंतिअं आणं नाइक्कमिज्जा, उदाहु आयरियसंतिअं ? । गोयमा ! चउव्विहा आयरिया भवंति । तं जहा–नामायरिया, ठवणायरिया, दव्वायरिया, भावायरिया । तत्थ णं जे भावायरिया ते तित्थयरसमा चेव दट्ठव्वा, तेसिं संतिअं आणं नाइक्कमेज्ज त्ति । " स कः यः सम्यक् यथास्थितं, जिनमतं जगत्प्रभुदर्शनं नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतरूपनयसप्तकाऽऽत्मकं, प्रकाशयति भव्यानां दर्शयतीत्यर्थः । २७ । ग० १ अधि० ।

तित्थयरसिद्ध–तीर्थकरसिद्ध–पुं० । तीर्थकराः सन्तो ये सिद्धा ऋषभाऽऽदिवत्ते तीर्थकरसिद्धाः । सिद्धभेदेषु, पा० । न० । नं० । आ० चू० ।

तित्थयराऽऽणा–तीर्थकराऽऽज्ञा–स्त्री० । जिनोपदेशे, पञ्चा० १६ विव० । "तित्थगराणा मूलं, नियमा धम्मस्स तीए वाघाए । किं धम्मो किमहम्मो, मूढा नेअं वि पाविंति ॥१॥ " दर्श० १ तत्त्व ।

तित्थयराभिमुह–तीर्थकराभिमुख–त्रि० । तीर्थकरसम्मुखे, बृ० १ उ० ।

तित्थयरी–तीर्थकरी–स्त्री० । स्त्रीत्वविशिष्टे तीर्थकरे, यथा कुम्भीमल्लिस्वामिनीप्रभृतिका तीर्थकरी, सामान्यसाध्व्यादिका वा वेदितव्या । यतः सिद्धप्राभृतटीकायामेवोक्तम्–"कुंभीओ वि मल्लीपमुहाओ अज्जाओ य सामन्नसाहुणीपमुहाओ व हुंति त्ति ।" नं० ।

तित्थराय–तीर्थराज–पुं० । शत्रुञ्जयपर्वते, ती० १ कल्प ।

तित्थसिद्ध–तीर्थसिद्ध–पुं० । तीर्यते संसारसागरोऽनेनेति तीर्थम्, [illegible]सकलजीवाजीवाऽऽदिपदार्थसार्थप्ररूपकं परमगुरुप्रणीतं प्रवचनम्, तच्च निराधारं न [illegible] । प्रज्ञा० १ पद । नं० । ध० । आ० चू० । [illegible]प्रथमगणधरो वा; तस्मिन्नुत्पन्ने ये सिद्धास्ते तीर्थसिद्धाः । तीर्थे उक्तलक्षणे सति सिद्धा निर्वृता जम्बूस्वाम्यादिवदिति तीर्थसिद्धाः । पा० । तीर्थे सति सिद्धा निर्वृता ऋषभसेनगणधराऽऽदिवदिति तीर्थसिद्धाः । सिद्धभेदेषु, स्था० १ ठा० ।

तित्थसेवण–तीर्थसेवन–न० । तीर्थम् उक्तलक्षणं, तस्य सेवनं तीर्थसेवनम् । द्रव्यभावतीर्थसेवायाम्, ध० । तीर्थकरनामकर्मनिबन्धनत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थम् । तथा–तीर्थं द्रव्यतो जिनदीक्षाज्ञाननिर्वाणस्थानम् । यदाह–" जम्मं दिक्खा नाणं, तित्थयराणं महाणुभावाणं । जत्थ य किर निव्वाणं, आगाढं दंसणं होइ ॥ १ ॥ " इति । भावतस्तु ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽधारः श्रमणसंघः, प्रथमगणधरो वा । यदाह–" तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थयरे तित्थं ? । गोयमा ! अरिहा ताव नियमा तित्थयरे, तित्थे पुण चाउव्वण्णे समणसंघे, पढमगणहरे वा । " इति । तस्य सेवनम् । ध० २ अधि० ।

तित्थाणुसज्जणा–तीर्थानुषञ्जना–स्त्री० । जिनशासनानुषञ्जनायाम्, कल्प० ।

जप्पभिइं च णं से खुद्दाए भासरासी महग्गहे दोवाससहस्सट्ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्तं संकंते, तप्पभिइं च णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य नो उदिओदिए पूआसक्कारे पवत्तइ ॥ १३० ॥ जया णं से खुद्दाए भासरासी महग्गहे दोवाससहस्सट्ठिई० जाव जम्मनक्खत्ताओ विइक्कंते भविस्सइ, तया णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य उदिओदिए पूआसक्कारे भविस्सइ ॥१३१॥

यतः प्रभृति स क्षुद्राऽऽत्मा भस्मराशिनामा ग्रहो द्विवर्षसहस्रस्थितिः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य जन्मनक्षत्रं संक्रान्तः, ततः प्रभृति श्रमणानां तपस्विनां निर्ग्रन्थानां साधूनां, निर्ग्रन्थीनां साध्वीनां च उदितोदित उत्तरोत्तरं वृद्धिमान् ईदृशः यः पूजा वन्दनाऽऽदिसत्कारो वस्त्रदानाऽऽदिबहुमानः,स न प्रवर्तते। अत एव शक्रेण स्वामी विज्ञप्तः-यत् क्षणमायुर्वर्द्धयत, येन भवत्सु जीवत्सु भवज्जन्मनक्षत्रं संक्रान्तो भस्मराशिग्रहो भवच्छासनं पीडयितुं न शक्ष्यति। ततः प्रभुणोक्तम्-न खलु शक्र ! कदाचिदपि इदं भूतपूर्वं,प्रक्षीणमायुर्जिनेन्द्रैरपि न वर्द्धयितुं शक्यते,ततोऽवश्यंभाविनी तीर्थबाधा भविष्यत्येव, किं तु षडशीतिवर्षायुषि कल्किनि कुनृपतौ त्वया निगृहीते सति वर्षसहस्रद्वये पूर्णे मज्जन्मनक्षत्राद् भस्मग्रहे व्यतिक्रान्ते च त्वत्स्थापितकल्किपुत्रधर्मदत्तराज्यादारभ्य साधुसाध्वीनाम उदितोदितः पूजासत्कारो भविष्यतीति ॥१३०॥ सूत्रकारा अपि तदेवाऽऽहुः-(जया णमित्यादि) यदा च क्षुद्रात्मा भस्मराशिर्महाग्रहः द्विवर्षसहस्रस्थितिकः यावद् भगवज्जन्मनक्षत्राद् व्यतिक्रान्तो भविष्यति, तदा श्रमणानां निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च उदितोदितः पूजासत्कारो भविष्यति। कल्प० ६ क्षण।

से भयवं ! केवइएणं कालेणं पहे कुगुरुभावी होंति ?। गोयमा ! इओ य अद्धतेरसण्हं वाससयाणं साइरेगाणं समइक्कंताणं परओ भविंसु। से भयवं ! केणं अट्ठेणं ?। गोयमा ! तक्कालं इड्ढीरससायगारवसंगए ममीकारअहंकारऽग्गीए अंतो संपज्जलंतबोंदी अहमहं ति कयमाणसे अमुणियसमयसब्भावे गणी भविंसु,एएणं अट्ठेणं। से भयवं ! किं सव्वे वि एवंविहे तक्कालगणी भविंसु?। गोयमा ! एगंतेणं नो सव्वे,के य पुण दुरंतपंतलक्खणे अदट्ठव्वे णं एगाए जणणीए जमगसमगं पसूए निम्मेरे पावसीले दुज्जायजम्मे सुरोद्दपयंडाभिग्गहियदूरमहामिच्छद्दिट्ठी भविंसु। से भयवं ! कहं ते समुवलक्खेज्जा ?। गोयमा ! उस्सुत्तउम्मग्गपवत्तणुद्दिस्सए,अणुमईपच्चएण वा। महा० ७ अ० १ चू०।

उत्सर्पिण्यामन्तिमजिनस्य तीर्थानुषञ्जना-

उस्सप्पिणि अंतिमजिण-तित्थं सिरिरिसहनाणपज्जाया।
संखेज्जा जावइआ, ताव पमाणं धुवं भविही ॥४५३॥

इह श्रीऋषभस्वामिनः केवलज्ञानपर्यायो वर्षसहस्रोन एकपूर्वलक्षः, तत एवंस्वरूपा ज्ञानपर्यायाः संख्येया यावन्तो भवन्ति तावत्प्रमाणमुत्सर्पिण्यामन्तिमजिनस्य चतुर्विंशतितमस्य भद्रकृन्नाम्नस्तीर्थकृतस्तीर्थं ध्रुवं निश्चितं भविष्यति। संख्येयपूर्वलक्षणं तत्तीर्थमित्यर्थः। प्रव० २६५ द्वार। दर्श०। ति०। (कदा कस्य श्रुतस्य व्यवच्छेद इति तु 'तित्थयर' शब्दे २२७२ पृष्ठे निरूपितः)

व्यवच्छेदाधिकारादेवेदमाह-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवइयं कालं पुव्वगए अणुसिज्जिस्सइ ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए ममं एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसिज्जिस्सइ। जहा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए देवाणुप्पियाणं एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसिज्जिस्सइ, तहा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए अवसेसाणं तित्थगराणं केवइयं कालं पुव्वगए अणुसिज्जित्था ?। गोयमा ! अत्थेगइयाणं संखेज्जं कालं, अत्थेगइयाणं असंखेज्जं कालं। जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवइयं कालं तित्थे अणुसिज्जिस्सइ ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए ममं एगवीसं वाससहस्साइं तित्थे अणुसिज्जिस्सइ। जहा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए देवाणुप्पियाणं एकवीसं वाससहस्साइं तित्थे अणुसिज्जिस्सइ, तहा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमेस्साणं चरमतित्थगरस्स केवइयं कालं तित्थे अणुसिज्जिस्सइ ?। गोयमा ! जावइएणं उसभस्स अरहओ कोसलियस्स जिणपरियाए तावइयाए संखेज्जाइं आगमेस्साणं चरमतित्थगरस्स तित्थे अणुसिज्जिस्सइ।

(जंबुद्दीवे णमित्यादि) (देवाणुप्पियाणं ति) युष्माकं संबन्धि (अत्थेगइयाणं संखेज्जं कालं ति) पश्चानुपूर्व्या पार्श्वनाथाऽऽदीनां संख्यातं कालम्। (अत्थेगइयाणं असंखेज्जं कालं ति) ऋषभाऽऽदीनाम (आगमेस्साणं ति) आगमिष्यतां भविष्यतां महापद्माऽऽदीनां जिनानाम्। (कोसलियस्स त्ति) कोशलदेशजातस्य। (जिणपरियाए त्ति) केवलिपर्यायः, स च वर्षसहस्रन्यूनं पूर्वलक्षमिति। भ० २० श० ८ उ०।

अधुना........"अणुसज्जणा य दस चोद्दस अट्ठ दुप्पसहे" (३३४) इत्यस्य व्याख्यानमाह-

दस ता अणुसज्जंती, जा चोद्दसपुव्वि-पढमसंघयणं।
तेण परेणऽट्ठविहं, जा तित्थं ताव बोधव्वं ॥ ३४१ ॥

यावत्प्रथमसंहननं, चतुर्दशपूर्वी च, तावद्दश प्रायश्चित्तानि अनुषज्जन्ति स्म। एतौ च प्रथमसंहननचतुर्दशपूर्विणौ समकं व्यवच्छिन्नौ, तयोश्च व्यवच्छिन्नयोरनवस्थाप्यं, पाराञ्चितं च व्यवच्छिन्नम्। ततः परेणानवस्थाप्यपाराञ्चितव्यवच्छेदादर्वाक्, अष्टविधं प्रायश्चित्तं तावदनुषज्जते, अनुवर्तमानं बोद्धव्यं, यावत्तीर्थव्यवच्छेदकाले चतुःप्रसभो नाम सूरिर्भविष्यति, तस्मिन् कालगते तीर्थे, चारित्रं च व्यवच्छेदमयते।

यदप्युक्तं "देंता वि न दीसंति" (३३०) इत्यादि। तत्राऽऽह-

दोसु उ वोच्छिन्नेसुं, अट्ठविहं देंतया करेंता य।
न वि केई दीसंती, वयमाणे भारिया चउरो ॥ ३४२ ॥

द्वयोरनवस्थाप्यपाराञ्चितयोः, अथवा-प्रथमसंहननचतुर्दशपूर्विणोः, व्यवच्छिन्नयोरष्टविधं प्रायश्चित्तं ददतः, कुर्वन्तो वा केचिन्न दृश्यन्ते, इति वदति पराक्रिन्नप्रायश्चित्तं चत्वारो प्रायश्चित्ता गुरुका मासाः।

दोसु वि वोच्छिन्नेसुं, अट्ठविहं देंतया करेंता य ।
पच्चक्खं दीसंती, जहा तहा मे निसामेहि ॥ ३४३ ॥

द्वयोरन्तिमयोः प्रायश्चित्तयोः प्रथमसंहननचतुर्दशपूर्विणोर्वा व्यवच्छिन्नयोरष्टविधं प्रायश्चित्तं ददतः, कुर्वन्तश्च प्रत्यक्षं दृश्यन्ते यथा, तथा मम कथयतो निशमय ।

पंचेव निग्गंठा खलु, पुलागवकुसा कुसीलनिग्गंथा ।
तह य सिणाया तेसिं, पच्छित्तं जहक्कमं वोच्छं ॥३४४॥

पञ्चैव खलु निर्ग्रन्था भवन्ति । तद्यथा-पुलाको, बकुशः, कुशीलः, निर्ग्रन्थः, स्नातकश्च । एतेषां च स्वरूपं व्याख्याप्रज्ञप्तेरवसेयम् । एतेषां प्रायश्चित्तं यथाक्रमं वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञां पूरयति-

आलोयणपडिक्कमणे, मीसविवेगे तवे विउस्सग्गे ।
एए छ पच्छित्ता, पुलागनियंठस्स बोधव्वा ॥३४५॥

आलोचना, प्रतिक्रमणं, मिश्रं, विवेकः, तपः, व्युत्सर्गः, एतानि षट् प्रायश्चित्तानि पुलाकनिर्ग्रन्थस्य बोधव्यानि ।

बउसपडिसेवगाणं, पायच्छित्ता हवंति सव्वे वि ।
थेराण भवे कप्पे, जिणकप्पे अट्ठहा होंति ॥३४६॥

बकुशप्रतिसेवकयोर्बकुशस्य, प्रतिसेवनाकुशीलस्य च सर्वाण्यपि दशाऽपि प्रायश्चित्तानि भवन्ति । तौ च बकुशकुशीलौ स्थविराणां कल्पे भवतः, जिनकल्पे, उपलक्षणमेतत्-यथालन्दकल्पे च, तयोः प्रायश्चित्तमष्टधा भवति, अनवस्थाप्यपाराञ्चितयोरभावात् ।

आलोयणा विवेगो य, नियंठस्स दुवे भवे ।
विवेगो य सिणायस्स, एमेया पडिवत्तिओ ॥३४७॥

आलोचनाप्रायश्चित्तविवेकप्रायश्चित्ते निर्ग्रन्थस्य भवतः, स्नातस्य केवल एको विवेकः । एवमेताः पुलाकाऽऽदिषु प्रतिपत्तयः ।

पंचेव संजया खलु, नायसुएण कहिया जिणवरेणं ।
तेसिं पायच्छित्तं, अहक्कमं कित्तइस्सामि ॥३४८॥

ज्ञातसुतेन जिनवरेण वर्द्धमानस्वामिना पञ्चैव खलु संयताः कथिताः, तेषां यथाक्रमं प्रायश्चित्तं कीर्तयिष्यामि ।

तदेव कीर्तयति-

सामइयसंजयाणं, पायच्छित्तानि छेदमूलरहियऽट्ठा ।
थेराण जिणाणं पुण, तवपंतं छव्विहं होइ ॥३४९॥

सामायिकसंयतानां स्थविराणां स्थविरकल्पिकानां छेदमूलरहितानि शेषाण्यष्टौ प्रायश्चित्तानि भवन्ति । जिनानां जिनकल्पिकानां पुनः सामायिकसंयतानां तपःपर्यन्तं षड्विधं प्रायश्चित्तं भवति ।

छेदोवट्ठावणिए, पायच्छित्ता हवंति सव्वे वि ।
थेराण जिणाणं पुण, मूलंतं अट्ठहा होइ ॥३५०॥

छेदोपस्थापनीये संयमे वर्तमानानां स्थविराणां सर्वाण्यपि प्रायश्चित्तानि भवन्ति, जिनकल्पिकानां पुनर्मूलपर्यन्तमष्टधा भवति ।

परिहारविसुद्धीए, मूलंता अट्ठ होंति पच्छित्ता ।
थेराण जिणाणं पुण, छव्विह छेयादिवज्जं च ॥३५१॥

परिहारविशुद्धिके संयमे वर्तमानानां स्थविराणां मूलान्तान्यष्टौ प्रायश्चित्तानि भवन्ति । जिनानां पुनश्छेदाऽऽदिवर्जं षड्विधम् ।

आलोयणा विवेगो य, तइयं तु न विज्जती ।
सुहुमे य संपराए य, अहक्खाए तहेव य ॥३५२॥

सूक्ष्मसम्पराये, यथाख्याते च संयमे वर्तमानानामालोचना, विवेक इत्येवंरूपे द्वे प्रायश्चित्ते भवतः, तृतीयं तु न विद्यते ।

ततः प्रस्तुते किमायातमिति चेदत आह-

बउसपडिसेवया खलु, इत्तरि-छेया य संजया दोन्नि ।
जा तित्थऽणुसज्जंती, अत्थि हु तेणं तु पच्छित्तं ॥३५३॥

निर्ग्रन्थचिन्तायां बकुशः, प्रतिसेवकः प्रतिसेवनाकुशीलः, इत्येतौ द्वौ निर्ग्रन्थौ; संयतचिन्तायाम् इत्वरी-इत्वरसामायिकवान्, छेदश्छेदोपस्थाप्यश्चेति द्वौ संयतौ, यावत्तीर्थं तावदनुषज्जतोऽनुवर्त्तेते, तेन ज्ञायते अस्ति संप्रत्यपि प्रायश्चित्तम् । व्य० १० उ० । (विशेषविस्तरस्तु 'वोच्छेय' शब्दे वक्ष्यते) (कल्किराज्ये तीर्थं नष्टप्रायमासीदिति 'कक्कि' शब्दे तृतीयभागे १८१ पृष्ठे समुक्तम्)

तित्थाभिसेअ-तीर्थाभिषेक-पुं० । लौकिकतीर्थस्नाने, औ० ।

तित्थिय-तीर्थिक-त्रि० । अन्यमतीये सम्मतपापे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

तित्थुग्गालिय-तीर्थोद्गालिक-न० । स्वनामख्याते प्रकीर्णके, तित्थु० ।

"जयइ ससिपायनिम्मल-तिहुअणवित्थिअपुण्णजसकुसुमो ।
उसभो केवलदंसण-दिवायरो दिट्ठिदट्ठव्वो ॥ १ ॥
बावीसइं च निज्जिय-परीसहकसायविग्घसंघाया ।
अजिआईया भविया-ऽरविंदरविणो जयंति जिणा ॥ २ ॥
जयइ सिद्धत्थनरिं-दविमलकुलविपुलनहलियमयंको ।
महिपालससिमहोरग-महिंदमहिओ महावीरो ॥ ३ ॥
नमिऊण समणसंघं, सुनायपरमत्थपायडं वियडं ।
वोच्छं निरुछयवत्थं, तित्थुग्गालीए संखेवं ॥ ४ ॥
रायगिहे गुणसिलए, भणिया वीरेण गणहराणं तु ।
पयसयसहस्समेयं, वित्थरओ लोगनाहेणं ॥ ५ ॥
अइमंखेवं मोत्तुं, मोत्तूण पवित्थरं अहं भणिमो ।
अप्पक्खरं महत्थं, जह भणियं लोगनाहेणं ॥ ६ ॥
कालो उ अणाईओ, पवाहरूवेण होइ नायव्वो ।
निहणविहूणो सो च्चिय, बारसअंगेहिँ निद्दिट्ठो ॥७॥" तित्थु० ।

"एसा य पयसहस्से-ण वण्णिया समणगंधहत्थीणं ।
पुट्ठेण य रायगिहे, तित्थुग्गाली उ वीरेणं ॥ १२४५ ॥
सोउं तित्थुग्गालिं, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
पणमह सुगइगयाणं, सिद्धाणं निट्ठियट्ठाणं ॥ १२४६ ॥
भद्दं सव्वजगुज्जो-यगस्स भद्दं जिणस्स वीरस्स ।
भद्दं सुरासुरनमं-सियस्स भद्दं धुयरयस्स ॥ १२४७ ॥
गुणभवणगहण ! सुयरय-ण ! भरियदंसण ! विसुद्धरत्थागा ! ।
संघनगर ! भद्दं ते, अक्खंडचरित्तपागारा ! ॥ १२४८ ॥
जं उद्दिट्ठं सुयाओ, अहव गतीए जथोवदेसेणं ।
तं च विरुद्धं नाउं, सोहेयव्वं सुयधरेहिं ॥ १२४९ ॥
मणपरमोहिपुलाए, आहारगखवगउवसमे कप्पे ।
संजमतियकेवलिसि-ज्झणा उ जंबुम्मि विच्छिन्ना ॥१२५०॥
पुव्वाणं अणुओगो, संघयणं पढमं च संठाणं ।

सुसुमममहापाणाणि य, वोच्छिन्ना थूलभद्दम्मि ॥ १२५१ ॥
दसपुव्वा वोच्छिन्ना, संपुन्ना सुरजवम्मि संपत्ते ।
वयरम्मि महाभावे, संघयणं अद्धनारायं ॥ १२५२ ॥
वासिहिं कप्पे, पंच महाणी उ कप्पजवणा य ।
नवसयतियणउएहिं, वोच्छिन्ना संघआणाए ॥ १२५३ ॥
तीर्थोद्गालिकासिद्धान्तः ।
तेतीसं गाहाओ, होंति सयाऊ सहस्समेगं च ।
तित्थुग्गालियसंखा, एसा भणिया उ अंकेणं" ॥१२५४॥ तित्थु०।

तित्थुण्णतिकारग–तीर्थोन्नतिकारक–त्रि० । प्रवचनप्रभावनाकारिणि, पञ्चा० ८ विव० ।

तित्थुदय–तीर्थोदय–पुं० । तीर्थकरनामोदये, यतः सयोग्यादौ तीर्थकरनामोदयो भवति । यदुक्तम्–"उदए जस्स सुरासुरनरवइनिवहेहिँ पूइओ होइ । तं तित्थयरं नामं, तस्स विवागो हु केवलिणो ॥ १ ॥" ततः पूर्वोक्तैकचत्वारिंशति तीर्थकरनाम क्षिप्यते, जाता द्विचत्वारिंशत्, सा च सयोगिनि भवतीति । (२१) कर्म० २ कर्म० ।

तित्थेस–तीर्थेश–पुं० । तीर्थस्य प्रागुक्तस्य, तदाऽऽधेयस्याऽऽगमस्य वा, ईं लक्ष्मीं महिमानं, श्यति तत्तदसद्भूतदूषणोद्घोषणैः स्वाभिप्रायेण तनूकरोति यः स तीर्थेशः । तीर्थान्तरीये बहिरङ्गापकारिणि, (रत्ना०) तीर्थस्य चतुर्वर्णस्य श्रीश्रमणसङ्घस्येशः स्वामी तीर्थेशः । तीर्थकरे, रत्ना० १ परि० ।

तिदंड–त्रिदण्ड–न० । त्रयाणां दण्डानां समाहारस्त्रिदण्डम् । त्रयाणां दण्डानां समाहारे, औ० । भ० ।

तिदंडि–(ण्)–त्रिदण्डिन्–पुं० । मनोवाक्कायदण्डत्रयपरिक्रमार्थं दण्डत्रयधारके वेदान्तावलम्बिश्रमणभेदे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । सूत्र० । (नमस्कारफले त्रिदण्ड्युदाहरणं 'णमोकार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७४४ पृष्ठे गतम्)

तिदसावास–त्रिदशावास–पुं० । देवलोके, प्रा० ढुण्ढि० ४ पाद ।

तिदिस–त्रिदिश्–न० । तिस्रो दिशः समाहृतास्त्रिदिक् । दिक्त्रये, रा० ।

तिध–तथा–अव्य० । "कथं-यथा-तथां थाऽऽदेरेमेमेहेधा डितः" ॥ ८ । ४ । ४०१ ॥ इत्यपभ्रंशे थादेरवयवस्य डित्संज्ञकः 'इध' इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । साम्ये, अभ्युपगमे, पृष्टप्रतिवाक्ये, समुच्चये, निश्चये च । वाच० ।

तिपरिवत्त–त्रिपरिवर्त्त–त्रि० । त्रिभिर्वारैर्वेष्टनीये, बृ० ३ उ० ।

तिपह–त्रिपथ–न० । त्रयाणां पथां समाहारे, वाच० । अनु० ।

तिपायण–त्रिपातन–न० । "कायवयमणा तिन्नि उ, अहवा देहाउ इंदिया पाणा । सामित्त वायाणे, होयऽतिवाओ य करणेसुं ॥७४॥" इत्युक्तलक्षणे प्राणिविनाशे, पिं० । त्रीणि कायवाङ्मनांसि, यद्वा–त्रीणि देहाऽऽयुरिन्द्रियलक्षणानि । पातनं व्यापातो, विनाश इत्यर्थः । अत्र च त्रिधा समासविवक्षा । तद्यथा–षष्ठीतत्पुरुषः, पञ्चमीतत्पुरुषः, तृतीयातत्पुरुषश्च । तत्र षष्ठीतत्पुरुषोऽयम्-त्रयाणां कायवाग्मनसां पातनं विनाशनं त्रिपातनम् । एतच्च परिपूर्णगर्भजपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामवसेयम्, एकेन्द्रियाणां तु कायस्यैव केवलस्य, विकलेन्द्रियसंमूर्च्छिमतिर्यग्मनुष्याणां तु कायवचसोरेवेति । यद्वा-त्रयाणां देहाऽऽयुरिन्द्रियरूपाणां पातनं विनाशनं त्रिपातनम् । इदं च सर्वेषामपि तिर्यग्मनुष्याणां परिपूर्णं घटते, केवलं यथा येषां सम्भवति तथा तेषां वक्तव्यम्, यथा एकेन्द्रियाणां देहस्यौदारिकस्य आयुषस्तिर्यगायूरूपस्येन्द्रियस्य स्पर्शनेन्द्रियस्य, द्वीन्द्रियाणां देहस्यौदारिकरूपस्य आयुषस्तिर्यगायुष इन्द्रिययोश्च स्पर्शनरसनलक्षणयोरित्यादि । पञ्चमीतत्पुरुषस्त्वयम्-त्रिभ्यः कायवाङ्मनोभ्यो, देहाऽऽयुरिन्द्रियेभ्यो वा पातनं व्यावनमिति त्रिपातनम् । अत्राऽपि त्रिभ्यः परिपूर्णेभ्यः कायवाङ्मनोभ्यः पातनं गर्भजपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणाम्, एकेन्द्रियाणां तु कायादेव केवलात्, विकलेन्द्रियसंमूर्च्छिमतिर्यग्मनुष्याणां तु कायवाग्भ्यामिति, देहाऽऽयुरिन्द्रियरूपेभ्यः पातनं सर्वेषामपि परिपूर्णं सम्भवति । तथा तेषां प्रागिव वक्तव्यम् । तृतीयातत्पुरुषः पुनरयम्–त्रिभिः कायवाङ्मनोभिर्विनाशकेन स्वसम्बन्धिभिः पातनं विनाशनं त्रिपातनम् ॥७२॥ ('आधाकम्म' शब्दे द्वि० भा० २२० पृष्ठेऽपि व्याख्येया) पिं० । प्रश्न० । सूत्र० ।

तिपुंज–त्रिपुञ्ज–न० । शुद्धाशुद्धमिश्रपुञ्जत्रये, विशे० । "आलंबणमलहंती, जह सट्ठाणं न मुंचए इलिआ । एवं अकयतिपुंजी, मिच्छं चिअ उवसमी एइ ॥१॥" ध० २ अधि० ।

तिपुक्खर–त्रिपुष्कर–न० । त्रीणि पुष्कराणि त्रिपुष्करम् । "संख्यापूर्वो द्विगुः" ॥ २ । १ । ५२ । इति समासः । अनु० । "वाराः क्रूरास्तिथिर्भद्रा, नक्षत्रं द्विपादकम् । जातेऽत्र जारजो योगो, मरणेऽत्र त्रिपुष्करम् ॥१॥" इति ज्योतिषोक्ते योगभेदे, पुं० । वाच० ।

तिपुड–त्रिपुट–पुं० । त्रयः पुटा यस्य । खेसारीकलापभेदे, शरे, तालकयष्ट्यां, गोक्षुरे, हस्तभेदे च । सूक्ष्मैलायाम्, मल्लिकायाम्, त्रिवृदोषधौ, कर्णस्फोटायां, देवीभेदे च । स्त्री० । टाप् । वाच० । जं० ५ वक्ष० ।

तिपुर–त्रिपुर–पुं० । त्रीणि स्वर्गाऽऽदिस्थानानि पुराण्यस्य । असुरभेदे, वाच० । त्रीणि पुराणि त्रिपुरम् । "संख्यापूर्वो द्विगुः" ॥२।१।५२॥ इति समासः । अनु० । पुरत्रयमात्रे, न० । वाच० ।

तिप्प–तृप्त–त्रि० । "इत्कृपाऽऽदौ" ॥ ८ । १ । १२८ ॥ इति ऋत इत्वम् । प्रा० १ पाद । अतिशयोपभोगेन निवृत्तेच्छे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

तृप्–धा० । ज्वा०–आत्म० । क्षरणे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । "तिप्पामि वा पीडामि वा ।" (तिप्पामि त्ति) शरीरबलं क्षरामि । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । "तिप्पंति ।" सुखात्परिवर्त्यमानं, पराँश्च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

तिप्पणया–तेपनता–स्त्री० । तिपेः क्षरणार्थत्वादश्रुमोचने, भ० २५ श० ७ उ० । स्था० । शोकातिरेकादेव अश्रुलालाऽऽदिक्षरणप्रापणायाम्, भ० ३ श० ३ उ० । आर्तध्यानलक्षणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । परिदेवने, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । त्रिभिर्योगैः परितापे, आ० चू० ४ अ० ।

त्रिपातनता–स्त्री० । त्रिभ्यो मनोवाक्कायेभ्यः पातनं त्रिपातनं, तद्भावस्त्रिपातनता । त्रिपातनभावे, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

तिभाग–त्रिभाग–पुं० । तृतीयो भागस्त्रिभागः । मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात्समासः । तृतीयेंऽशे, कर्म० २ कर्म० ।

तिमहुर–त्रिमधुर–न० । त्रीणि मधुराणि समाहृतानि त्रिमधुरम् । "संख्यापूर्वो द्विगुः" ॥ २ । १ । ५२ ॥ इति समासः । अनु० । घृतसितामाक्षिकरूपे मधुरत्रये, वाच० ।

तिमि–तिमि–पुं० । मत्स्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद । औ० । कल्प० । " अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम, शतयोजनविस्तरः । तिमिङ्गिलगिलोऽप्यस्ति, तद्गिलोऽप्यस्ति राघवः ॥१॥" सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । समुद्रे, वाच० । महामत्स्ये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तिमिंगिल–तिमिङ्गिल–पुं० । तिमिं मत्स्यं गिरति । 'गृ' निगरणे । खश्, मुम् च । "अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम, तथा चास्ति तिमिङ्गिलः ।" वाच० । मत्स्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद । मीने, दे० ना० ५ वर्ग १३ गाथा । कल्प० । सूत्र० । औ० । महामत्स्यतमे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तिमिंगिलगिल–तिमिङ्गिलगिल–पुं० । महामत्स्ये, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

तिमिच्छाओ–देशी–कश्चिदित्यर्थे, पथिके च । दे० ना० ५ वर्ग १३ गाथा ।

तिमिण–देशी–आर्द्रदारुणि, दे० ना० ५ वर्ग ११ गाथा ।

तिमिर–तिमिर–न० । अन्धकारे, कल्प० ३ क्षण । " जदा कण्हचउद्दसीए रातीए रयरेणुधूमिगा भवति, तदा तम्मि तिमिरं भण्णति । अहवा–पित्तुदएण दव्वत्थिकयदियस्संतरकरणं भवति ।" नि० चू० ४ उ० । निकाचिते कर्मणि, ध० २ अधि० । विज्ञानाल्पतायाम्, बहलापरिज्ञाने, आ० चू० ५ अ० । पर्वतकवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

तिमिरिच्छ–देशी– करञ्जद्रुमे, दे० ना० ५ वर्ग १३ गाथा ।

तिमिला–त्रिमिला–स्त्री० । तूर्यभेदे, औ० ।

तिमिसगुहा–तिमिस्रगुहा–स्त्री० । वैताढ्यगुहायाम्, यया स्वस्थेऽश्वाक्रवर्ती चिलातक्षेत्रं याति । स्था० ९ ठा० । ताश्च भरतैरवतवर्षयोर्दीर्घवैताढ्ययोर्द्वे, कच्छाऽऽदिद्वात्रिंशद्विजयेषु द्वात्रिंशदित्येवं चतुस्त्रिंशज्जम्बूद्वीपे । (स्था० ८ ठा०) एवं धातकीखण्डे, पुष्करार्द्धे च प्रत्येकमष्टषष्टिस्तासां प्रमाणम् । स्था० २ ठा० ३ उ० । तत्र कृतमालको देवः स्था० २ ठा० ३ उ० । स० । जं० । आ० क० । (तत्र भरतचक्रिगमनं 'भरह' शब्दे वक्ष्यते) "तिमिसगुहा अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं ।" स्था० ८ ठा० ।

तिमिसगुहाकूड–तिमिस्रगुहाकूट–पुं० । न० । तिमिस्रगुहाऽधिपदेवस्य निवासभूतं कूटं तिमिस्रगुहाकूटम् । वैताढ्यपर्वतस्य तृतीये कूटे, जं० १ वक्ष० । स्था० ।

तिमुह–त्रिमुख–त्रि० । त्रिभिर्मुखैर्युक्ते, प्रव० २६ द्वार ।

तिम्म–तिग्म–न० । तिज्–मक्, अस्य गः । "ग्मो वा" ॥ ८ । २ । ६२ ॥ इति ग्मस्य विकल्पेन मकारः । प्रा० २ पाद । तीक्ष्णे, तद्वति, त्रि० । वाच० ।

तिय–त्रिक–न० । त्रित्वसंख्यायाम्, रा० । आ० म० । त्रिपथयुक्ते स्थाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

त्रिज–त्रि० । त्रिभ्यो धातुमूलजीवसक्तेभ्यो जातं त्रिजम् । सर्वस्मिन् वस्तुनि, विशे० ।

तियंकर–त्रिकङ्कर–पुं० । स्वनामख्याते क्षपके, पिं० । (तदुदाहरणं 'सुद्धपरिणाम' शब्दे वक्ष्यते)

तियणाण–त्र्यज्ञान–न० । त्रयाणामज्ञानानां समाहारस्त्र्यज्ञानम् । मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपे, कर्म० ४ कर्म० ।

तियस–त्रिदश–पुं० । तिस्रो दशा जन्मसत्ताविनाशाऽऽख्याः, न तु वृद्धिपरिणामक्षया मर्त्यानामिव दशा येषां ते त्रिदशाः । देवेषु, वाच० । आ० म० ।

तियसलोग–त्रिदशलोक–पुं० । स्वर्गे, वाच० । आ० म० ।

तियसिंदणमंसिय–त्रिदशेन्द्रनमस्यित–त्रि० । त्रिदशाः सुमनसस्तेषामिन्द्रास्त्रिदशेन्द्रास्तैर्नमस्यितः । देवेन्द्रनते, ग० १ अधि० ।

तिरयणमाला–त्रिरत्नमाला–स्त्री० । ज्ञानदर्शनचारित्ररूपरत्नत्रयमालायाम्, संथा० । " चारित्तसुद्धसाला, तिरयणमाला तुमे भव्वा ।" संथा० ।

तिरासि–त्रिराशि–न० । जीवाजीवनोजीवभेदात्त्रयो राशयः समाहृतास्त्रिराशि । राशित्रये, स्था० ७ ठा० ।

तिरिअजोणि–तिर्यग्योनि–पुं० । तिरश्चामुत्पत्तिस्थाने, प्रज्ञा० १ पद ।

तिरिअंच–तिर्यक्–त्रि० । चतुर्थगतिके तिरश्चां वैक्रियशरीरकरणं मूलशरीरेण सह संबद्धमसंबद्धं वा स्यादिति प्रश्ने, उत्तरम्–संबद्धमसंबद्धं च भवतीति । ७३ प्र० । सेन० २ उल्ला० । युगलिकदेवतिर्यञ्चः कल्पवृक्षाऽऽहारं कुर्वन्त्यन्यद्वेति प्रश्ने, उत्तरम्–गोप्रभृतयः कल्पवृक्षाऽऽहारं कुर्वन्ति, तथाऽन्यद् धान्यतृणाऽऽदिकमपि कुर्वन्तीति संभाव्यत इति । ५६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

तिरिक्ख–तिर्यक्–त्रि० । 'अञ्चु' गतौ । तिरोऽञ्चतीति तिर्यङ्, तिरश्चस्तिर्यग्देशः । प्रज्ञा० १ पद । चतसृणां गतीनां चतुर्थगतिमापन्ने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तिरिक्खजोणिय–तिर्यग्योनिक–पुं० । तिर्यग्लोके योनय उत्पत्तिस्थानानि येषां ते तिर्यग्योनिकाः । जी० १ प्रति० । स्था० । " तिरिक्खजोणिया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा–इत्थी, पुरिसा, नपुंसगा ।" स्था० ३ ठा० १ उ० ।

तिर्यग्योनिज–पुं० । तिर्यग्लोके योनयस्तिर्यग्योनयः, तत्र जातास्तिर्यग्योनिजाः । जी० १ प्रति० । जीवभेदे, स्था० ८ ठा० । जी० । " तिविहा तिरिक्खजोणिया पण्णत्ता । तं जहा–इत्थी, पुरिसा, नपुंसगा ।" स्था० ३ ठा० १ उ० । तिर्यक्त्वकारणानि–" चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्मं पगरेंति । तं जहा–माइल्लयाए, नियडिल्लयाए, अलियवयणेणं, कूडतुलाकूडमाणेणं ।" स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तैर्यग्योनिक–त्रि० । तैरश्चे तिर्यग्योनिकृते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तिरिक्खपयाइ(ण्)–तिर्यक्प्रचायिन्–त्रि० । परस्परसमानाधिकरणत्वे सति परस्परसमानकालीने, यथा रूपरसाऽऽदयः, अणुत्वस्थौल्याऽऽदयश्च । नयो० ।

तिरिक्खजूय–तिर्यग्जृम्भ–त्रि० । पशुकल्पे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

तिरिक्खसामण्ण–तिर्यक्सामान्य–न० । तिर्यग्गुणभेदिनाऽनुवृत्ताकारप्रत्ययेन गृह्यमाणे, रत्ना० ।

तिर्यक्सामान्यस्य स्वरूपं सोदाहरणमुपदर्शयन्ति-

प्रतिव्यक्ति तुल्या परिणतिस्तिर्यक्सामान्यं, शबलशाबले-याऽऽदिपिण्डेषु गोत्वं यथा ॥ ४ ॥

व्यक्तिं व्यक्तिमभिभिव्य समाना परिणतिस्तिर्यक्सामान्यं विज्ञेयम् । अत्र सौगताः संगिरन्ते--गौर्गौरित्याद्यनुगताऽऽकारप्रतिपत्तेरन्यव्यावृत्तिमात्रेणैव व्यक्तिषु प्रसिद्धेरनवसर एव सदृशपरिणामस्वरूपसामान्यस्वीकारः । सर्वतो व्यावृत्तानि हि स्वलक्षणानि न समानाप्यासमानमन्येन मिश्रयन्तीति । तदेतन्मरुमरीचिकाचक्रोदकाचान्तयेऽञ्जलिपुटप्रसारणम् । यत इयमन्यव्यावृत्तिर्बहिः,अन्तर्वा भवेत् । तत्र बाह्यमुण्डाऽऽदिविशेषप्रतिष्ठैकान्यव्यावृत्तेर्बहिः सद्भावे सामान्यरूपता दुर्निवारा । आन्तरत्वे तु तस्याः कथं बहिरर्थाभिमुख्येनोल्लेखः स्यात् ? । भ्रान्तः, बहिर्वा सेत्यपि स्वाभिप्रायप्रकटनमात्रम् । तथाभूतं ह्यन्यव्यावृत्तिस्वरूपं किञ्चित्,न किञ्चिद्वा । किञ्चिच्चेत्,नूनमन्तर्बहिर्वा तेन भाव्यं,तत्र च प्रतिपादितदोषानतिक्रमः । न किञ्चिच्चेत्, कथं तथाभूतप्रत्ययहेतुः ? । वासनामात्रनिर्मित एवायमिति चेत्, तर्हि बहिरर्थापेक्षा न भवेत् । न ह्यन्यकारणको भावोऽन्यदपेक्षते,धूमाऽऽदेः सलिलाऽऽद्यपेक्षाप्रसङ्गात् । किं च-वासनाऽप्यननुगतार्थविषयैवोपजायते । न चात्यन्तासत्वेन स्वन्मते सामान्यानुभवसम्भवः । अपि च-वासना तथाभूतं प्रत्ययं विषयतयोत्पादयेत्,कारणमात्रतया वा ? । प्राचि पक्षे सकलविशेषानुयायिनी पारमार्थिकी परिच्छेद्यस्वभावा वासनेति पर्यायान्तरेण सामान्यमेवाऽभिहितं भवेत् । कारणमात्रतया तु वासनायाः सदृशप्रत्ययजनने विषयोऽस्य वक्तव्यः,निर्विषयस्य प्रत्ययस्यैवासंभवात् । न च सदृशपरिणामं विमुच्यापरस्तद्विषयः संगच्छते,प्रागुदीरितदोषानुषङ्गात् । किं च-इयमन्यव्यावृत्तिः स्वयमसमानाऽऽकारस्य,समानाऽऽकारस्य वा वस्तुनः स्यात् । प्राक्तनविकल्पकल्पनायामतिप्रसङ्गः,कुरङ्गतुरङ्गतरङ्गाऽऽदिष्वपि तत्संभवाऽऽपत्तेः,तथा च तेष्वनुगताऽऽकारैकप्रत्ययानुषङ्गः । स्वयं समानाऽऽकारस्य तु वस्तुनोऽभ्युपगमे समुपस्थित एवायमतिथिः सदृशपरिणामः कथं पराणुद्यताम् ? । ननु यथा प्रत्यासत्त्या केचन भावाः स्वयं सदृशपरिणामं बिभ्रति, तथैव स्वयमतद्रूपात्मका अपि सन्तस्तथा किं नावभासेरन्निति चेत् ? । तदनुचितम् । चेतनेतरभेदाभावप्रसङ्गात् । यथैव हि प्रत्यासत्त्या चेतनेतरस्वभावान् भावाः स्वीकुर्वन्ति, तथैव स्वयमतद्रूपात्मका अपि सन्तस्तथा किं नावभासेरन्नित्यपि ब्रुवाणस्य ब्रह्माद्वैतवादिनो न वक्त्रं वक्रीभवेत् । चेतनेतरव्यतिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽसत्वात्कथमस्य तथावभासनम् ?, इत्यन्यत्राऽपि तुल्यम् । न खलु सदृशपरिणामशून्यं स्वलक्षणमप्यस्ति,यत्तथाऽवभासेत । ननु स्वलक्षणस्य विसदृशाऽऽकाराऽऽत्मनः सदृशपरिणामाऽऽत्मकत्वं विरुध्यते । नैवम् । ज्ञानस्य चित्राऽऽकारतावद्बहिर्ग्राह्यापेक्षया ग्राहकाऽऽकारतावच्चैकस्यानेकाऽऽत्मकत्वाविरोधात् । ततो व्यावृत्तप्रत्ययहेतुविसदृशाऽऽकारतावद् वस्तुनः सदृशपरिणामाऽऽत्मकत्वमप्यनुयायिप्रत्ययहेतुः स्वीकार्यम् ॥ ४ ॥ रत्ना० ५ परि० ।

तिर्यक्सामान्यलक्षणमाह-

तुल्या परिणतिर्भिन्न-व्यक्तिषु यत्तदुच्यते ।
तिर्यक्सामान्यमित्येव, घटत्वं तु घटेष्विव ॥५॥

यद् भिन्नव्यक्तिषु भिन्नप्रदेशविशेषेषु, तुल्या समाना एकरूपा एकाकारा परिणतिः द्रव्यशक्तिः, तत्तिर्यक्सामान्यमुच्यते । यथा-घटेषु घटत्वम्, गोषु शाबलेयाऽऽदिषु गोत्वम्, अश्वेषु अश्वत्वं तिष्ठति सामान्यरूपम्, तथा अनेकाऽऽकारघटलक्षेष्वपि घटत्वमेवेति तिर्यक्सामान्यमिति । अत्र कश्चिदाह-यद् घटाऽऽदिभिन्नव्यक्तिषु यथा घटत्वाऽऽदिकं सामान्यमेकमेवास्ति, तथा पिण्डकुशूलाऽऽदिभिन्नव्यक्तिषु मृदादिसामान्यमेकमेवास्ति, तर्हि तिर्यक्सामान्योर्ध्वतासामान्ययोः को विशेषः ? । तत्राऽऽह-यत्र देशभेदेन या एकाऽऽकारा प्रतीतिरुत्पद्यते, तत्र तिर्यक्सामान्यमभिधीयते । यत्र पुनः कालभेदेन अनुगताऽऽकारा प्रतीतिरुत्पद्यते, तत्र ऊर्ध्वतासामान्यमभिधीयत इति । एवं सति दिगम्बरानुसारी कश्चिद्वक्ति-षण्णां द्रव्याणां कालपर्यायरूप ऊर्ध्वताप्रचयः,कालं विना पञ्चद्रव्याणामवयवसंघातरूपस्तिर्यक्प्रचयश्चास्ति । एवं वदतां तेषां मते तिर्यक्प्रचयस्याऽऽधारो घटाऽऽदिस्तिर्यक्सामान्यं भवति । तथा परमाणुरूपप्रचयपर्यायाणामाधारो भिन्न एव युज्यते, तस्मात्पञ्चद्रव्याणां स्कन्धदेशप्रदेशभावेन एकानेकव्यवहार उत्पादनीयः, परं तु तिर्यक्प्रचय इति नामान्तरमप्रयोजकं, घाणुकापेक्षयत्, इति नियमः ॥ ५ ॥ द्रव्या० २ अध्या० ।

तिरिच्छि-तिरश्चीन-त्रि० । तिर्यक्-स्वार्थे खः । तिर्यग्गते, "एतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः" इति माघः। वाच० । आचा० । नि० चू० ।

तिरिच्छसंतारिमा-तिरश्चीनसन्तारिमा-स्त्री० । लाङ्गूलवद्ऋजुगामिन्यां नौकायाम्, नि० चू० १ उ० ।

तिरिच्छसंपातिम-तिरश्चीनसंपातिम-त्रि० । तिर्यग्गामिनि, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

तिरिच्छि-तिर्यच्-त्रि० । "तिर्यचस्तिरिच्छिः" ॥ ८ । ४ । १४३॥ इति तिर्यच्छब्दस्य 'तिरिच्छि' इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । वक्रे, वाच० ।

तिरिड-पुं० । देशी-तिमिरवृक्षे, दे० ना० ५ वर्ग ११ गाथा ।

तिरिडिअ-देशी-तिमिरयुक्ते, विचिते च । दे० ना० ५ वर्ग २१ गाथा ।

तिरिड्डी-देशी-उष्णवाते, दे० ना० ५ वर्ग १२ गाथा ।

तिरिदुग-तिर्यग्द्विक-न० । तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपे, कर्म० ५ कर्म० ।

तिरिय-तिर्यक्-त्रि० । चतसृषु गतिषु चतुर्थगतिमापन्ने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । स्था० । कर्म० । आचा० । औ० । संथा० । तिर्यग्लोके, स्था० ३ ठा० ४ उ० । मध्ये, अनु० ।

तीरित-त्रि० । पारं प्रापिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार । अन्तं प्रापिते, व्य० १ उ० । " पडिमा तीरिया किट्टिया । " तीरं पारं नीता पूर्णेऽपि कालाऽवधौ किञ्चित्कालावस्थानेन । स्था० ७ ठा० ।

तिरियंकट्टु-तिर्यक्कृत्वा-अव्य० । अपहस्तयित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

तिरियंगोरवपरिणाम-तिर्यग्गौरवपरिणाम-पुं० । आयुःपरिणामभेदे, येन आयुःस्वभावेन जीवस्य तिर्यग्दिशि गमनशक्तिलक्षणपरिणामो भवति । प्राकृतत्वादनुस्वारः । स्था० ६ ठा० ।

तिरियगइ-तिर्यग्गति-स्त्री० । तिर्यक्षु तिरश्चां तिर्यक्त्वप्रसाधिका गतिस्तिर्यग्गतिः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । तिरोऽञ्चन्ति गच्छ-

ञ्चतीति तिर्यञ्चः। व्युत्पत्तिनिमित्तं चैतत्, प्रवृत्तिनिमित्तं तिर्यग्गतिनाम। एते चैकेन्द्रियाऽऽदयः, ततस्तिर्यक्षु विषये गतिस्तिर्यग्गतिः। कर्म० ४ कर्म०। तिर्यग्नामकर्मोदयसंपाद्ये तिर्यक्त्वलक्षणे पर्यायविशेषे, स्था० १० ठा०। तिर्यक्परिभ्रमणे, चं० प्र०।

कथं सूर्यस्तिर्यक् परिभ्रमतीति ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह–

ता कहं ते तिरियगती आहिया ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमाओ अट्ठ पडिवत्तीओ पण्णत्ता। तं जहा–तत्थेगे एवमाहंसु–ता पुरच्छिमिल्लातो लोयंताओ पातो मरीइसंघाए आगासंसि उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरितं करेति, तिरितं करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंसि लोगंसि सायं मरीइसंघाए आगासंसि विद्धंसति, एगे एवमाहंसु ॥ १ ॥

एगे पुण एवमाहंसु–ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए आगासातो उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंसि लोगंतंसि सायं सूरिए आगासंसि विद्धंसति, एगे एवमाहंसु ॥ २ ॥

एगे पुण एवमाहंसु–ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए सयावट्ठाई आगासातो उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता सायं अहे आगासमणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता अहे पडिआगच्छइ, अहे पडिआगच्छित्ता पुणरवि अवरभुओ पुरच्छिमिल्लाओ लोयंताओ पातो सूरिए आगासाओ उत्तिट्ठति, एगे एवमाहंसु ॥ ३ ॥

एगे पुण एवमाहंसु–ता पुरच्छिमिल्लाओ लोगंतातो पातो सूरिए पुढवियातो उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंसि लोगंसि सायं सूरिए पुढविकायंसि विद्धंसति, एगे एवमाहंसु ॥ ४ ॥

एगे पुण एवमाहंसु–ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए पुढवियातो उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंसि लोगंसि सायं सूरिए पुढविकायं अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता पुढविअहे पडिआगच्छति, पडिआगच्छित्ता पुणरवि अवरभुओ पुरच्छिमिल्लातो लोयंतातो पातो सूरिए पुढवियातो उत्तिट्ठति, एगे एवमाहंसु ॥ ५ ॥

एगे पुण एवमाहंसु–ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए आउकायंसि उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंसि लोगंसि सायं सूरिए आउकाए विद्धंसति, एगे एवमाहंसु ६ ।

एगे पुण एवमाहंसु–ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए आउकायंसि उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंसि सायं सूरिए आउकायं अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता अहे पडिआगच्छति, अहे पडिआगच्छित्ता पुणरवि अवरभुओ पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए आउकायंसि उत्तिट्ठति, एगे एवमाहंसु ७ ।

एगे पुण एवमाहंसु–ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो बहूइं जोयणाइं, बहूइं जोयणसयाइं, बहूइं जोयणसहस्साइं दूरं उड्ढं उप्पतित्ता एत्थ णं पातो सूरिए आगासातो उत्तिट्ठति, से णं इमं दाहिणड्ढं लोगं तिरियं करेति, करेत्ता उत्तरड्ढं लोगं तमेव रातो, से णं इमं उत्तरड्ढं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता दाहिणड्ढं लोगं तमेव रातो, से णं इमाइं दाहिणुत्तरलोगाइं तिरितं करेति, करेत्ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो बहूइं जोयणाइं तं चेव० जाव दूरं उड्ढं उप्पतित्ता, एत्थ णं पातो सूरिए आगासातो उत्तिट्ठति, एगे एवमाहंसु ८ ।

वयं पुण एवं वयामो–ता जंबुद्दीवस्स दीवस्स पाईणपडीणायताए उदीणदाहिणायताए जीवाए मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दाहिणपुरच्छिमंसि उत्तरपच्चच्छिमंसि य चउभागमंडलंसि इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जातो भूमिभागातो अट्ठ जोयणसताइं उड्ढं उप्पतित्ता एत्थ णं पातो दुवे सूरिया आगासातो उत्तिट्ठंति, ते णं इमाइं दाहिणुत्तराइं जंबुद्दीवभागाइं तिरितं करेंति, करेत्ता पुरच्छिमपच्चच्छिमाइं जंबुद्दीवभागाइं तमेव रातो, ते णं इमाइं पुरच्छिमपच्चच्छिमाइं जंबुद्दीवभागाइं तिरितं करेंति, करेत्ता दाहिणुत्तराइं जंबुद्दीवभागाइं तमेव रातो, ते णं इमाइं दाहिणुत्तराइं पुरच्छिमपच्चच्छिमाणि य जंबुद्दीवभागाइं तिरितं करेंति, करेत्ता पुरच्छिमपच्चच्छिमाइं जंबुद्दीवस्स दीवस्स पाईणपडीणायता० जाव एत्थ णं पातो दुवे सूरिया आगासातो उत्तिट्ठंति ।

(ता कहं ते तिरियगई इत्यादि) अस्त्यन्यदपि प्रभूतं प्रष्टव्यं, परमेतावदेव तावत् पृच्छामि–कथं 'ते' त्वया भगवन् ! सूर्यस्य तिर्यग्गतिस्तिर्यक्परिभ्रमणमाख्यातमिति वदेत् ?। एवमुक्तो भगवानेतद्विषये परतीर्थिकप्रतिपत्तिमिथ्याभावोपदर्शनाय प्रथमतस्ता एव प्रतिपत्तीरुपदर्शयति (तत्थ खलु इत्यादि) तत्र तस्यां सूर्यस्य तिर्यग्गतौ तिर्यग्गतिविषये, खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपा अष्टौ प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः। ता एव क्रमेणाऽऽह–(तत्थेगे इत्यादि) तत्र तेषां परतीर्थिकानामष्टानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहुः। 'ता' इति पूर्ववत्, पौरस्त्याल्लोकान्तात्, ऊर्द्धमिति गम्यते; पूर्वस्यां दिशीति भावार्थः। प्रातः प्रभातसमये मरीचिसंघातः, किरणसंघात इत्यर्थः। आकाशे उत्तिष्ठति उत्पद्यते। एतेन एतदुक्तं भवति–नैतद्विमानं, नाऽपि रथो, नापि देवतारूपः सूर्यः, यथाऽपरे वदन्ति, किं तु किरणसंघात एवैष वर्तुलगोलाऽऽकारो लोकस्वाभाव्यात्प्रतिदिवसं पूर्वस्यां दिशि प्रातराकाशे समुत्पद्यते, यतः सर्वत्र प्रकाशः प्रसरमधिरोहति। स इत्थंभूतो मरीचिसंघातः, उपर्युद्यन् सन्, णमिति वाक्यालङ्कारे। इमं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानं तिर्यग्लोकं तिर्यक् करोति। किमुक्तं भवति ?–तिर्यक्परिभ्रमन् इमं तिर्यग्लोकं प्रकाशयतीति, तिर्यक्कृत्वा पश्चिमे लोकान्ते सायं सान्ध्ये समये तथाजगत्स्वाभाव्यात्स मरीचिसंघात आकाशे विध्वंसते ध्वंसमुपयाति। एवं सकलकालमपि। अत्रैवोपसंहारः–(एगे एवमाहंसु) १। एके पुनरेवमाहुः–पौरस्त्याल्लो-

कान्तादूर्द्ध्वं,प्रातः सूर्यो लोकप्रसिद्धो देवतारूपो भास्करः,तथाजगत्स्वाभाव्यादाकाशे उत्तिष्ठति उत्पद्यते, स चोत्पन्नः सन् इमं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानं मनुष्यलोकं तिर्यक्करोति तिर्यक्परिभ्रमति. लोकं प्रकाशयतीत्यर्थः। तिर्यक्कृत्वा पश्चिमे लोकान्ते सायं सान्ध्ये समये आकाशे विध्वंसते । अत्रोपसंहारः-(एगे एवमाहंसु) २। एके पुनरेवमाहुः-पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्ध्वं, प्रातः सूर्यो देवतारूपः सदाऽवस्थायी तथाविधपुराणशास्त्रप्रसिद्ध आकाशे उत्तिष्ठति उद्गच्छति,स चोद्गतः सन् इमं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानं मनुष्यलोकं तिर्यक्कृत्वा सायं सान्ध्ये समये अधः आकाशमनुप्रविशति, प्रविश्य च अधः प्रत्यागच्छति,अधोलोकं प्रकाशयन् प्रतिनिवर्तते इत्यर्थः। तन्मतेन हि भूरियं गोलाऽऽकारा,लोकोऽपि च गोलाऽऽकारतया व्यवस्थितः । इदं च सम्प्रति तीर्थान्तरीयेषु विजृम्भते, ततस्तद्गतपुराणशास्त्रादेतत् सम्यगवसेयम । अस्य च त्रयो भेदाः। एके एवमाहुः-प्रातः सूर्य आकाशे उद्गच्छति। अपरे आहुः-पर्वतशिरसि। अन्ये आहुः-समुद्रे इति। तत्र प्रथमानामिदं मतमुपन्यस्तम्। अधः प्रत्यागत्य च पुनरप्यपरभुवोऽधो भुवः,पृथिव्या अधोभागेन विनिर्गत्येत्यर्थः। पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्ध्वमाकाशे प्रातः सूर्य उद्गच्छति। एवं सर्वदाऽपि द्रष्टव्यम् । अत्रोपसंहारः-(एगे एवमाहंसु) ३ । एके पुनरेवमाहुः-पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्ध्वं प्रातः सूर्यो देवरूपः तथाविधः पुराणप्रसिद्धः पृथिवीकायमध्ये उदयभूधरशिरसि उत्तिष्ठत्युद्गच्छति । स चोत्पन्नः सन्निमं मनुष्यलोकं तिर्यक्करोति, प्रकाशयतीत्यर्थः। तिर्यक् कृत्वा पश्चिमे लोकान्ते सायं सान्ध्ये समये सूर्यः पृथिवीकाये अस्तमयभूधरशिरसि (विद्धंसति) विध्वंसमुपयाति । एवं प्रतिदिवसं सकलकालं जगतः स्थितिः परिभावनीया । अत्रोपसंहारः-(एगे एवमाहंसु) ४ । एके पुनरेवमाहुः-पौरस्त्यात् लोकान्तादूर्द्ध्वं प्रातः सूर्यो देवतारूपः सदाऽवस्थायी पृथिवीकाये उदयभूधरशिरसि उत्तिष्ठति उद्गच्छति, स चोद्गतः सन् इमं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानं मनुष्यलोकं तिर्यग् करोति, तिर्यक्कृत्वा पश्चिमलोकान्ते सायं सान्ध्ये समये पृथिवीकायमस्तमयभूधरमनुप्रविशति, प्रविश्य चाधः प्रत्यागच्छति, अधोभागवर्तिनं लोकं प्रकाशयन् प्रतिनिवर्तते। ततः पुनरप्यपरभुवोऽधो भुवः, पृथिव्या अधोभागाद्विनिर्गत इत्यर्थः । पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्ध्वं प्रातः सूर्यः पृथिवीकाये उदयभूधरशिरसि उत्तिष्ठति-उद्गच्छति.भूतभूगोलवादिनः परं पूर्वे आकाशे उत्तिष्ठन्तीति प्रतिपन्नाः, एते तु पर्वतशिरसीति विशेषः । अत्रैवोपसंहारः-(एगे एवमाहंसु) ५। एके पुनरेवमाहुः-पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्ध्वं प्रातः सूर्योऽप्काये पूर्वसमुद्रे उत्तिष्ठति उत्पद्यते, स चोत्पन्नः सन्निमं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानं लोकं तिर्यक्करोति,तिर्यग् कृत्वा पश्चिमे लोकान्ते सायं सान्ध्ये समये सूर्योऽप्काये पश्चिमसमुद्रे विध्वंसते, विध्वंसमायाति। एवं सर्वदाऽपि । अत्रोपसंहारः-(एगे एवमाहंसु) ६। एके पुनरेवमाहुः-पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्ध्वं प्रातः सूर्यः सदाऽवस्थायी पुराणशास्त्रप्रसिद्धोऽप्काये पूर्वसमुद्रे उत्तिष्ठति उद्गच्छति, स चोद्गतः सन्निमं लोकं तिर्यक् करोति, तिर्यक्परिभ्रमन्निमं लोकं प्रकाशयतीत्यर्थः । तिर्यक् कृत्वा पश्चिमे लोकान्ते सायं सान्ध्ये समये सूर्योऽप्कायं पश्चिमसमुद्रमनुप्रविशति, प्रविश्य चाधः प्रत्यागच्छति, अधोभागवर्तिनं लोकं प्रकाशयन् प्रतिनिवर्तते इति भावः । अधः प्रत्यागत्य चापरभुवोऽधःपृथिव्यधोभागाद्विनिर्गत्येत्यर्थः । पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्ध्वं, प्रातः सूर्योऽप्काये पूर्वसमुद्रे उत्तिष्ठति उद्गच्छति। एवं सकलकालमपि । अत्रैवोपसंहारः-(एगे एवमाहंसु) ७। एके पुनरेवमाहुः-पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्ध्वं प्रथमतो बहूनि योजनानि, ततः क्रमेण बहूनि योजनशतानि, तदनन्तरं क्रमेण बहूनि योजनसहस्राणि दूरमूर्द्ध्वमुत्प्लुत्य बुद्ध्या गत्वा, अत्रास्मिन्नवकाशे प्रातः सूर्यो देवतारूपः सदाऽवस्थायी उत्तिष्ठति उद्गच्छति,स चोद्गतः सन् इमं दक्षिणार्द्धलोकं दक्षिणदिग्भाविनमर्द्धलोकं, दक्षिणलोकस्यार्द्धमित्यर्थः। तिर्यक् करोति,तिर्यक्परिभ्रमन्निमं दक्षिणलोकार्द्धं प्रकाशयतीत्यर्थः। दक्षिणं चार्द्धलोकं तिर्यक् कुर्वन् तदैवोत्तरमर्द्धलोकं रात्रौ करोति, ततः स सूर्यः क्रमेणममर्द्धलोकम उत्तरमर्धलोकं तिर्यक् करोति, तत्रापि तिर्यक्परिभ्रमन् उत्तरमर्द्धलोकं प्रकाशयतीत्यर्थः । उत्तरं चार्द्धलोकं तिर्यक्परिभ्रमणेन प्रकाशयन् तदेव दक्षिणमर्द्धलोकं रात्रौ करोति, ततः स सूर्य इमौ दक्षिणोत्तरार्द्धलोकौ तिर्यक् कृत्वा भूयोऽपि पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्ध्वं प्रथमतो बहूनि योजनानि गत्वा, ततः क्रमेण बहूनि योजनशतानि, तदनन्तरं बहूनि योजनसहस्राणि दूरमूर्द्ध्वमुत्प्लुत्य बुद्ध्या गत्वाऽत्रास्मिन्नवकाशे प्रातः सूर्य आकाशे उत्तिष्ठति उद्गच्छति। एवं सकलकालम । अत्रोपसंहारमाह-(एगे एवमाहंसु) ८ ।

तदेवं परप्रतिपत्तीरुपदर्श्य सम्प्रति स्वमतमुपदर्शयति-(वयं पुण इत्यादि) वयं पुनरुत्पन्नकेवलज्ञानाः केवलज्ञानेन यथावस्थितं वस्तूपलभ्य एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामः। तमेव प्रकारमाह-(ता इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्योपरि यद्वा तद्वा मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा,चतुर्विंशत्यधिकशतसंख्यान् मण्डलान् परिकल्प्येत्यर्थः । भूयश्च प्राचीनप्रतीचीनाऽऽयतया उदीच्यदक्षिणाऽऽयतया जीवया प्रत्यञ्चया,दवरिकया इत्यर्थः । तत्तन्मण्डलं चतुर्विंशतिभागैर्विभज्य दक्षिणपौरस्त्ये उत्तरपश्चिमे च चतुर्भागमण्डले चतुर्भागे एकत्रिंशद्भागप्रमाणे एतावति किल चतुरशीत्यधिकमपि मण्डलशतं सूर्यस्योदये प्राप्यते इति । " चउव्वीसेणं सएणं छित्ता चउब्भागमंडलंसि " इत्युक्तम। अस्याः प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाया रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्ध्वम,अष्टौ योजनशतान्युत्प्लुत्य बुद्ध्या गत्वा,अत्रान्तरे प्रातर्द्वौ सूर्यौ उत्तिष्ठत उद्गच्छतः, दक्षिणपौरस्त्ये मण्डलचतुर्भागे भारतः सूर्य उद्गच्छति,अपरोत्तरस्मिन् मण्डलचतुर्भागे ऐरावतः सूर्यः। तौ चोद्गतौ भारतैरावतौ सूर्यौ यथाक्रममिमौ दक्षिणोत्तरौ जम्बूद्वीपभागौ तिर्यक् कुरुतः। किमुक्तं भवति ?-भारतः सूर्यो दक्षिणपौरस्त्यमण्डलचतुर्भागे उद्गतः सन् तिर्यक् परिभ्रमति,तिर्यक्परिभ्रमन् मेरोर्दक्षिणभागं प्रकाशयति। ऐरावतः पुनः सूर्योऽपरोत्तरदिग्विभागे उद्गच्छति,स चोद्गतः सन् तिर्यक्परिभ्रमति, तिर्यक्परिभ्रमन् मेरोरुत्तरभागं प्रकाशयतीति। इत्थं च भारतैरावतौ सूर्यौ यदा मेरोर्दक्षिणोत्तरौ जम्बूद्वीपभागौ तिर्यक् कुरुतः, तदैव तौ पूर्वपश्चिमौ जम्बूद्वीपभागौ रात्रौ कुरुतः । एकोऽपि सूर्यस्तदा पूर्वभागं,पश्चिमभागं वा न प्रकाशयतीत्यर्थः । दक्षिणोत्तरौ च भागौ तिर्यक् कृत्वा ताविमौ पूर्वपश्चिमौ जम्बूद्वीपभागौ तिर्यक्कुरुतः। इयमत्र भावना-ऐरावतः सूर्यो मेरोरुत्तरभागे तिर्यक्परिभ्रम्य तदनन्तरं मेरोरेव पूर्वस्यां दिशि तिर्यक्परिभ्रमति। भारतः सूर्यो मेरोर्दक्षिणतस्तिर्यक्परिभ्रम्य तदनन्तरं मेरोरेव पश्चिमे भागे तिर्यक्परिभ्रमतीति। इत्थं च यदा ऐरावतभारतसूर्यौ यथाक्रमं पूर्वपश्चिमभागौ तिर्यक् कुरुतः,तदैव दक्षिणोत्तरौ जम्बूद्वीपभागौ रात्रौ कुरुतः। एकोऽपि सूर्यस्तदा दक्षिणभागमु-

वरनागं वा न प्रकाशयतीति । अत इत्थं यथाक्रममैरावतभारतसूर्यौ पूर्वपश्चिमभागौ तिर्यक् कृत्वा यो भारतः सूर्यः, स उत्तरपश्चिमे मण्डलचतुर्भागे उदयमासादयति । यश्चैरावतः, स दक्षिणपौरस्त्ये मण्डलचतुर्भागे इति । एतदेवोपदर्शयन्नुपसंहारमाह -(ते णमित्यादि) भारतैरावतौ सूर्यौ प्रथमतो यथाक्रममिमौ दक्षिणोत्तरौ जम्बूद्वीपभागौ, ततो यथायोगं पूर्वपश्चिमौ जम्बूद्वीपभागौ, भारतः पश्चिमं भागं, ऐरावतः पूर्वभागमित्यर्थः । तिर्यग् कृत्वा जम्बूद्वीपस्योपरि यथा तथा मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्वा भूयश्च प्राचीनप्रतीचीनाऽऽयतया उदीच्यदक्षिणाऽऽयतया च जीवया प्रत्यञ्चया, दवरिकया इत्यर्थः । चतुर्भिर्विभज्य यथायोगं दक्षिणपौरस्त्ये उत्तरपश्चिमे वा मण्डलचतुर्भागे अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्ध्वम् अष्टौ योजनशतानि तत्तुल्यात्मिन्नवकाशे प्रातर्वा सूर्यावाकाशे उत्तिष्ठत उद्गच्छतः, य उत्तरभागं पूर्वस्मिन्नहोरात्रे प्रकाशितवान्, स दक्षिणपौरस्त्ये मण्डलचतुर्भागे उद्गच्छति । यस्तु दक्षिणभागं प्रकाशयति स्म, स उत्तरपश्चिमे मण्डले चतुर्भागे । एवं सकलकालं जगतः स्थितिः परिभावनीया । चं० प्र० २ पाहु० ।

तिरियतिग-तिर्यक्त्रिक-न० । तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीतिर्यगाऽऽयुर्लक्षणे, कर्म० २ कर्म० ।

तिरियदिसा-तिर्यग्दिशा-स्त्री० । पूर्वाऽऽदिकासु दिक्षु, आव० ६ अ० । रुचकात्तिर्यक्प्रव्यूढत्वात्तिर्यग्दिश इति व्य० ... एताश्चाष्टौ ... वाह्यन्ते । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

[illegible]

तिरियदिसिप्पमाणाइक्कम-तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रम-पुं० । तिर्यग्दिशि यावत्प्रमाणं परिगृहीतं ... तस्यातिलङ्घने, आव० ६ अ० । उपा० ।

तिरियदिसिव्वय-तिर्यग्दिग्व्रत-न० । तिर्यग्दिशः पूर्वाऽऽदिकास्तासां संबन्धि तासु वा व्रतं तिर्यग्दिग्व्रतम । एतावती दिक् पूर्वेणावगाहनीया, एतावती दक्षिणेनेत्यादि, न परत इत्येवंभूते दिग्व्रते, आव० ६ अ० ।

तिरियदुग-तिर्यग्द्विक-न० । तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीद्विके, कर्म० ५ कर्म० ।

तिरियपव्वय-तिरश्चीनपर्वत-पुं० । तिरश्चीनं पर्वतं तिरश्चीनपर्वतम् । गच्छतो मार्गावरोधके पर्वते, भ० १४ श० ५ उ० ।

तिरियभित्ति-तिर्यग्भित्ति-स्त्री० । तिरश्चीनायां प्राकारवरण्डकाऽऽदिभित्तौ, भ० १४ श० ५ उ० । आचा० ।

तिरियलोग-तिर्यग्लोक-पुं० । सातिरेकः सप्तरज्जुप्रमाणोऽधोलोकोर्ध्वलोकयोर्मध्ये अष्टादशयोजनशतप्रमाणस्तिर्यग्भागावस्थितत्वात्तिर्यग्लोकः । स्था० ३ ठा० २ उ० । लोकभेदे, अनु० ।

पुव्वाणुपुव्वी अहोलोए, तिरियलोए, उड्ढलोए ।

तयोश्चाधोलोकोर्ध्वलोकयोर्मध्ये अष्टादश योजनशतानि तिर्यग्लोकः, समयपरिभाषया तिर्यक् मध्ये व्यवस्थितो लोकस्तिर्यग्लोकः । अथवा--तिर्यक्शब्दो मध्यमपर्यायः, तत्र च क्षेत्रानुभावात्प्रायो मध्यमपरिणामवन्त्येव द्रव्याणि संभवन्त्यतस्तद्योगात्तिर्यक् मध्यमो लोकस्तिर्यग्लोकः । अथवा-स्वकीयोर्ध्वाधोभागात्तिर्यग्भाग एवातिविशालतयाऽत्र प्रधानम, अतस्तेन व्यपदेशः कृतः, तिर्यग्भागप्रधानो लोकस्तिर्यग्लोकः ।

उक्तं च-

" मज्झणुभावं खेत्तं, जं तं तिरियं ति वयणपज्जवओ ।
भण्णइ तिरियं विसालं, अतो व तं तिरियलोगो त्ति ॥ १ ॥ "

(वयणपज्जवउ त्ति) मध्यानुभाववचनस्य तिर्यग्ध्वनेः पर्यायतामाश्रित्येत्यर्थः । अनु० । तिर्यग्लोकविभक्तिस्तु जम्बूद्वीपलवणसमुद्रधातकीखण्डकालोदसमुद्रेत्यादिद्विगुणद्विगुणवृद्ध्या द्वीपसागरस्वयम्भूरमणपर्यन्तस्वरूपनिरूपणम । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आव० ।

तिरियलोगचूला-तिर्यग्लोकचूडा-स्त्री० । तिर्यग्लोकस्य चूडा तिर्यग्लोकचूडा, तिर्यग्लोकातिक्रान्तत्वात् । अथवा-तिर्यग्लोकप्रतिष्ठितस्य मेरोरुपरि चत्वारिंशद्योजना चूडा तिर्यग्लोकचूडा । तिर्यग्लोकोपरिभागे, नि० चू० १ उ० ।

तिरियवसइ-तिर्यग्वसति-स्त्री० । तिर्यग्योनौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तिरियवाय-तिर्यग्वात-पुं० । तिर्यग्गच्छन् यो वाति वातः स तिर्यग्वातः । तिर्यक्प्रवृत्तजाति वायुभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

तिरियविग्गहगइ-तिर्यग्विग्रहगति-स्त्री० । गतिभेदे, स्था० १० ठा० ।

तिरियसंसारविउस्सग्ग-तिर्यक्संसारव्युत्सर्ग-पुं० । संसारव्युत्सर्गभेदे, औ० ।

तिरियसत्त-तिर्यक्सत्त्व-न० । तिर्यग्योनिजन्तुषु, प्रश्न० २ विश्व० ।

तिरिच्छ-तिरश्चीन-त्रि० । प्राकृतलक्षणेन निष्पन्ने 'तिरिच्छ' शब्दे " तस्य श्चोऽनादौ " ॥ ८ । ४ । २९ ॥ इति मागध्यामनादौ वर्तमानस्य छस्य तालव्यशकाराऽऽक्रान्तश्चकारो भवति 'श्च' ... पाद । तिर्यग्भवे, वाच० ।

तिरीड-किरीट-पुं० । न० । शेखरप्राणयुक्ते, औ० । प्रश्न० । मुकुटे, स० । शिरोवेष्टने, वाच० ।

तिरीट-पुं० । वृक्षविशेषे, बृ० २ उ० ।

तिरीडपट्टग-तिरीटपट्टक-न० । तिरीटो वृक्षविशेषस्तस्य यः पट्टो वल्कललक्षणं, तन्निष्पन्नं वा तिरीटपट्टकम । बृ० २ उ० । वृक्षत्वङ्मये वस्त्रे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

तिरोभाव-तिरोभाव-पुं० । अन्तर्धाने, विशे० ।

तिरोवई-देशी-वृत्यन्तरिते, दे० ना० ५ वर्ग १३ गाथा ।

तिरोहिअ-तिरोहित-त्रि० । अन्तर्हिते, आच्छादिते, वाच० । आचा० ।

तिल-तिल-धा० । गतौ, भ्वादि०-पर०-सक०-सेट् । तेलति, अतेलीत् । वाच० ।

तिल-धा० । स्नेहे, तुदा०-पर०-अक०-सेट् । तिलति, अतेलीत् । वाच० ।

तिल-पुं० । स्वनामख्याते धान्यभेदे, " साली वीही गोहुम-जवा कलमसूरितिलमुग्गा । " प्रज्ञा० १ पद । आचा० । प्रव० । जं० । आ० क० । विपा० । स्था० । तत्फले च । न० । वाच० । वर्णेन तिलसदृशकाले, " जंपियतिलकीडगा य त्ति । " वापिताः कालान्तरं प्राप्ता ये तिला धान्यविशेषास्तद्वद् ये वर्णमाधर्म्यास्ते तथा । ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

पञ्चविंशे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० । कल्प० । "दो तिलया।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

तिलकुट्टी–तिलकुट्टी–स्त्री० । तैलविकृतौ विकृतिभेदे, प्रव० ४ द्वार । "तिलमल्ली तिलकुट्टी, दद्धतिलं तहोसहुव्वरियं । लक्खाइदव्वपकं, तिल्लं तिल्लम्मि पंचेव ॥१॥" ध० २ अधि० ।

तिल्लग–तिल्लक–पुं० । वृक्षविशेषे, प्र० १ श० १ उ० । स० । औ० । कल्प० । रा० । जं० । यः स्त्रीकटाक्षनिरीक्षितो विकसति तत्पुष्पे, जं० ३ वक्ष० । विशेषकापरपर्याये ललाटाऽऽभरणविशेषे, औ० । जं० । ज्ञा० । सूत्र० । तं० । पुण्ड्रे, स० ७ सम० । तं० । ज्ञा० । सू० प्र० । चं० प्र० । प्रथमवासुदेवस्य त्रिपृष्ठस्य प्रतिशत्रौ, स० ७ सम० । ति० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । प्रज्ञा० १ पद । वसन्तपुरनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, यस्य सुदर्शना नाम भार्या । पिं० । (अस्य 'पव्वय' शब्दे कथा वक्ष्यते) देवपूजनावसरे तिलकं क्रियते,न वेति प्रश्ने. उत्तरम्-देवपूजावेलायां तिलककरणनिषेधो ज्ञातो नास्त्यात्मीयगच्छे इति । ७६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

तिल्लगकरणी–तिलककरणी–स्त्री० । तिलकः क्रियते यया सा तिलककरणी । दन्तमय्यां सुवर्णाऽऽत्मिकायां वा शलाकायाम्, सूत्र० । यया गोरोचनाऽऽदियुक्तया तिलकः क्रियते । यदि वा गोरोचनया तिलकः क्रियते, सा च तिलककरणीत्युच्यते । गोरोचनायाम्, अथवा-तिलकाः क्रियन्ते पिष्यन्ते वा यत्र सा तिलककरणी । तिलकंपवणोपकरणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

तिलगरयण–तिलकरत्न–न० । पुण्ड्रविशेषे,जं०१ वक्ष० । "तिलगरयणऽद्धचंदचित्ते ।" तिलकरत्नानि पुण्ड्रकविशेषास्तैरर्द्धचन्द्रैश्च चित्राणि नानारूपाणि तिलकार्द्धचन्द्रचित्राणि । जी० १ प्रति० ।

तिलगसूरि–तिलकसूरि–पुं० । वैक्रमीये संवत्सरे १३६० मिते विद्यमाने हर्षपुरीयगच्छीये राजशेखरसूरिशिष्ये, जै० इ० ।

तिल्लगायरिय–तिल्लकाचार्य–पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, येन भद्रबाहुविरचितस्य यतिजीतकल्पस्योपरि टीका कृता । जीत० । अयमाचार्यः शिवप्रभसूरिशिष्यः, तेन च वैक्रमीये संवत्सरे १२९६ मिते आवश्यकलघुवृत्तिर्नाम ग्रन्थो विरचितः; दशवैकालिकसूत्रटीका, प्रत्येकबुद्धचरित्रं, प्रतिक्रमणसूत्रलघुवृत्तिश्चेत्यादयो ग्रन्था अप्यनेन कृताः । जै० इ० ।

तिलचुण्ण–तिलचूर्ण–न० । चूर्णिकाभेदे, "से किं तं चुण्णियाभेदे ? चुण्णियाभेदे जं णं तिलचुण्णाण वा,मुग्गचुण्णाण वा ।" प्रज्ञा० ११ पद ।

तिलथंभ–तिलस्तम्ब–पुं० । तिलवृक्षगुल्मे, कुम्मग्रामे तिलस्तम्बं दृष्ट्वा गोशालकस्य वीरस्वामिनं प्रति तज्जीवपृच्छा । भ० १५ श० । आ० म० । (एतच्च ' गोसालग ' शब्दे तृतीयभागे १०१५ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

तिलपिट्ठ–तिलपिष्ट–न० । कुट्टिततिलचये, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

तिलपीलग–तिलपीडक–त्रि० । तिलयन्त्रवाहनपरे, द्वा० ।

वादींश्च प्रतिवादींश्च, वदन्तो निश्चितं तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीडकवद्गतौ ॥ ५ ॥

तिलपीडकवत् तिलपीडक इव निरुद्धाक्षिसंचारस्तिलयन्त्रवाहनपरो, यथा ह्ययं नित्यं भ्राम्यन्नपि निरुद्धाक्षितया न तत्परिमाणमवबुध्यते, एवमेतेऽपि वादिनः स्वपक्षाभिनिवेशान्धा विचित्रं वदन्तोऽपि नोक्तयमानतत्त्वं प्रतिपद्यन्ते इति । द्वा० २३ द्वा० ।

तिलपुप्फवण्ण–तिलपुष्पवर्ण–पुं० । चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराकपे ग्रहभेदे, सू० प्र० २० पाहु० । चं० प्र० । द्वात्रिंशत्तमे महाग्रहे, "दो तिलपुप्फवण्णा ।" स्था० १ ठा० । कल्प० ।

तिलभट्ट–तिलभट्ट–पुं० । अन्तर्दुष्टमणवकुथितहृदयाया वृन्दरामायाः पत्यौ, तं० ।

तिलमल्ली–तिलमल्ली–स्त्री० । तैलविकृतौ विकृतिभेदे, प्रव० ४ द्वार । ध० ।

तिलयसीह–तिलकसिंह–पुं० । तालनन्दनामनगरवास्तव्यस्य तालध्वजनामराजस्य स्वनामख्याते युवराजे, दर्श० १ तत्त्व ।

तिलविगइ–तिलविकृति–स्त्री० । तैलविकारे, "तिलमल्ली १ तिलकुट्टी २, दद्धतिलं ३, तहोसहुव्वरियं ४ । लक्खाइदव्वपकं, तेल्लं ५ तिल्लम्मि पंचेव ॥ १ ॥" ध० २ अधि० ।

तिलसंगलिया–तिलसंगलिका–स्त्री० । तिलफलिकायाम्, भ० १५ उ० ।

तिलसक्कुलिया–तिलशष्कुलिका–स्त्री० । तिलप्रधानायां पिष्टमयपोट्टलिकायाम्, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । जी० ।

तिलागणि–तिलाग्नि–पुं० । तिला धान्यविशेषाः,तेषामवयवा अपि तिलाः,तेषामग्निस्तद्दहनप्रवृत्तो वह्निस्तिलाग्निः । तिलावयवदहनप्रवृत्ते वह्नौ, स्था० ८ ठा० ।

तिलिविलिय–तिलिविलिक–पुं० । जलचरजीवविशेषे, कल्प० ३ क्षण ।

तिलोग–त्रिलोक–पुं० । त्रयो लोकाः समाहृतास्त्रिलोकाः । समाहृतेषु त्रिषु लोकेषु, नं० ।

तिलोगचूडामणि–त्रिलोकचूडामणि–पुं० । त्रिभुवनशिरोरत्नकल्पे, पञ्चा० ८ विव० ।

तिलोगदंसि (ण्)–त्रिलोकदर्शिन्–पुं० । त्रिलोकमूर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणं द्रष्टुं शीलं येषां ते त्रिलोकदर्शिनः । तीर्थकृत्सु सर्वज्ञेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

तिलोगपुज्ज–त्रिलोकपूज्य–पुं० । सुरनराऽऽदिलक्षणभुवनत्रितयपूजनीये, पञ्चा० ६ विव० ।

तिलोगमहिय–त्रिलोकमहित–पुं० । त्रिलोकमहिते तीर्थकृति, बृ० । त्रयो लोकाः समाहृताः, समवसरणे त्रयाणामपि संगतात् । तथाहि-समागच्छन्ति जगतां तीर्थकृतां समवसरणेऽधोलोकवासिनो भवनपतयः, तिर्यग्लोकवासिनो वाणमन्तरास्तिर्यग्मनुष्याज्योतिष्काः, ऊर्द्धलोकवासिनः कल्पोपपन्नका देवाः,त्रिलोकेन महिताः पूजिताः, त्रिभिर्वा लोकैर्महिता–त्रिलोकमहिताः । बृ० १ उ० ।

तिलोदग–तिलोदक–न० । निस्त्वचिततिलधावनजले, कल्प० ३ अधि० ७ क्षण । तिलैः केनचित्प्रकारेण प्रासुकीकृते उदके, ध० २ अधि० । स्था० । आचा० ।

तिल्ल-तैल्ल-न०। तिलस्य विकारः, अण्। "तिलाऽऽदिस्निग्धवस्तूनां, स्नेहस्तैलमुदाहृतम्।" इत्युक्ते तिलसर्षपातसीकुसुम्भानां स्निग्धवस्तूनां स्नेहरूपे विकारे, वाच०। प्रश्न०। तैलं चतुर्धा, तिलातसीकुसुम्भसर्षपभेदात्। स्था० ६ ठा०।

तिल्लग-तैल्लक-त्रि०। तैलविक्रयकारके, सू० १ उ०। प्रव०।

तिल्लोदा-तैलोदा-स्त्री०। शशकाऽऽख्येन धूर्तेन परिकल्पिते वृष्टितिलसमुद्भूते नदीभेदे, नि० चू० १ उ०।

तिवँ-तथा-अव्य०। प्राकृते तथेत्यस्य तिमादेशे। "मोऽनुनासिको वो वा" ॥८।४।३९७॥ इत्यपभ्रंशेऽनादौ वर्त्तमानस्यासंयुक्तस्य मकारस्यानुनासिको वँकारः। प्रा० ४ पाद। तेन प्रकारेणेत्यर्थे, वाच०।

तिवई-त्रिपदी-स्त्री०। मल्लस्येव रज्ज्वां गतिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। भूमौ पदत्रयन्यासे, औ०। मल्ल इव रङ्गभूमौ त्रिपदीच्छेदं करोति। भ० ३ श० २ उ०। हस्तिनां पादबन्धनार्थे रज्जुभेदे, वाच०।

तिवग्ग-त्रिवर्ग-पुं०। त्रयो वर्गास्त्रिवर्गाः। धर्मार्थकामत्रये, लोकवेदसमयत्रये, सूत्रार्थतदुभयत्रये च। आ० चू० १ अ०। आ० म०। आचा०।

तिवग्गसाहण-त्रिवर्गसाधन-न०। त्रिवर्गस्य वक्ष्यमाणस्वरूपस्य, न त्वेकैकस्य, साधनं सेवनं त्रिवर्गसाधनम्। त्रिवर्गसेवने, ध०।

अन्योन्यानुपघातेन, त्रिवर्गस्यापि साधनम्। (२३)

त्रिवर्गो धर्मार्थकामाः, तत्र यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः, १ यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः २, यत आभिमानिकरसानुविद्धा सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः ३। ततोऽन्योन्यस्य परस्परस्याऽनुपघातेनाऽऽपीडनेन त्रिवर्गस्याऽपि उक्तस्वरूपस्य, न त्वेकैकस्येत्यपिशब्दार्थः; साधनं सेवनम्। त्रिवर्गसाधनविकलस्योभयभवभ्रष्टत्वेन जीवननैरर्थक्यात्। यदाह"यस्य त्रिवर्गशून्यानि, दिनान्यायान्ति यान्ति च। स लोहकारभस्त्रेव, श्वसन्नपि न जीवति" ॥१॥ तत्र धर्मार्थयोरुपघातेन तादात्विकविषयसुखलुब्धो वनगज इव को नाम न भवत्यास्पदमापदाम्? न च तस्य धनं, धर्मः, शरीरं वा; यस्य कामेऽत्यन्ताऽऽसक्तिः। धर्मकामातिक्रमाद्धनमुपार्जितं परेऽनुभवन्ति, स्वयं तु परं पापस्य भाजनं, सिंह इव सिन्धुरवधात्। अर्थकामातिक्रमेण च धर्मसेवा यतीनामेव धर्मो, न गृहस्थानाम्। न च धर्मबाधयाऽर्थकामौ सेवेत, बीजभोजिनः कुटुम्बिन इव नास्त्यधार्मिकस्याऽऽयत्यां किमपि कल्याणम्। स खलु सुखी योऽमुत्र सुखाविरोधेनेहलोकसुखमनुभवति। तस्माद्धर्माबाधनेन कामार्थयोर्यतितव्यम्। एवमर्थबाधया धर्मकामौ सेवमानस्य ऋणाधिकत्वम्। कामबाधया धर्मार्थौ सेवमानस्य गार्हस्थ्याभावः स्यात्। एवं च तादात्विकमूलहरकदर्येषु धर्मार्थकामानामन्योऽन्यबाधा सुलभैव। तथाहि-यः किमप्यसंचिन्त्योत्पन्नमर्थमपव्ययति स तादात्विकः १, यः पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः २, यो भृत्याऽऽत्मपीडाभ्यामर्थं संचिनोति, न तु क्वचिदपि व्ययते स कदर्यः ३। तत्र तादात्विकमूलहरयोरर्थभ्रंशेन धर्मकामयोर्विनाशान्नास्ति कल्याणम्। कदर्यस्य त्वर्थसंग्रहो राजदायादतस्कराणां निधिः, न तु धर्मकामयोर्हेतुरिति। अनेन त्रिवर्गबाधा गृहस्थस्य कर्तुमनुचितेति प्रतिपादितम्। यदा तु दैववशाद्बाधा संभवति, तदोत्तरोत्तरबाधायां पूर्वस्य पूर्वस्य बाधा रक्षणीया। तथाहि-कामबाधायां धर्मार्थयोर्बाधा रक्षणीया, तयोः सतोः कामस्य सुकरोत्पादत्वात्। कामार्थयोस्तु बाधायां धर्मो रक्षणीयः, धर्ममूलत्वादर्थकामयोः। उक्तं च-"धर्मश्चेन्नावसीदेत, कपालेनाऽपि जीवतः। आढ्योऽस्मीत्यवगन्तव्यं, धर्मवित्ता हि साधवः ॥ १ ॥" ध० १ अधि०।

तिवणी-त्रिवनी-स्त्री०। औषधिविशेषे, नी० ६ कल्प।

तिवरिस-त्रिवर्ष-पुं०। स्त्री०। प्रव्रज्यापर्यायेण यस्य त्रीणि वर्षाणि नाधिकमित्येव त्रिवर्षो भवति। प्रव्रज्यापर्यायेण त्रिवर्षजाते नवे, व्य० ३ उ०।

तिवरिसपरियाय-त्रिवर्षपर्याय-पुं०। स्त्री०। त्रीणि वर्षाणि पर्यायः प्रव्रज्यापर्यायो यस्य स त्रिवर्षपर्यायः। प्रव्रज्यापर्यायेण त्रिवर्षजाते नवे, व्य० ३ उ०।

तिवलिय-त्रिवलिक-त्रि०। रेखात्रयोपेते, रा०। औ०। ज्ञा०। भ०।

तिवली-त्रिवली-स्त्री०। वलित्रये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। विपा०।

तिवलीविणीय-त्रिवलीविनीत-त्रि०। तिस्रो वलयो विनीता विशेषतः प्रापिता यत्र तत् त्रिवलीविनीतम्। वलित्रययुक्ते, जी० ३ प्रति० ४ उ०।

तिवस्सजाय-त्रिवर्षजात-त्रि०। त्रीणि वर्षाणि जातानि यस्य स त्रिवर्षजातः। "कालाः द्विगोरमेयैः" ॥ ३। १। ५७ ॥ इति तत्पुरुषः। ज्यो० २ पाहु०। जन्मतो वर्षत्रयाणि जातानि यस्य स त्रिवर्षजातः। जन्मतः प्रव्रज्यातो वा त्रिवर्षजाते, नं०।

तिवारखल्लणा-त्रिवारस्खलना-स्त्री०। त्रीन् वारान् यावत्स्खलिते, पञ्चा० १२ विव०।

तिविंदु-त्रिबिन्दु-न०। बिन्दुत्रयसमाहारे, अनु०।

तिविट्ठु-त्रिपृष्ठ-पुं०। प्राकृतत्वादार्षत्वाच्च 'तिविट्ठु' इति निर्देशः। प्रव० २ द्वार। वर्त्तमानप्रथमवासुदेवे, ति०। आ० म०। प्रश्न०। आ० क०। कल्प०। आव०। प्रव०। आ० चू०। "तिविट्ठे णं वासुदेवे असीइं धणूइं उड्ढं उच्चत्तेण होत्था।" "तिविट्ठे णं वासुदेवे असीइवाससयसहस्साइं महाराया होत्था।" स० ८० सम०। त्रिपृष्ठवासुदेवस्य चतुरशीतिवर्षलक्षाणि सर्वाऽऽयुरिति चत्वारि लक्षाणि कुमारत्वे, शेषं तु महाराज्ये इत्यादि। स० ८० सम०। "तिविट्ठे णं वासुदेवे चउरासीइं वाससयसहस्साइं परमाउयं पालइत्ता अप्पइट्ठाणे नरए नेरइयत्ताए उववन्ने।" (तिविट्ठु त्ति) प्रथमवासुदेवः श्रेयांसजिनकालजातीति, अप्रतिष्ठानो नरकः सप्तमपृथिव्याः पञ्चानां मध्यम इति। स० ८४ सम०।

पुत्तो पयावइस्स, मिआवईकुच्छिसंभवो भयवं।
नामेण तिविट्ठु त्ती, आई आसी दसाराणं ॥ १ ॥

अत्र कथा-

"इहास्ति पोतनपुरं, नगरं जिनसागरम्।
भूरिश्रीजिनसंशोभि, आपूर्णाखिलजन्तुकम् ॥ १ ॥
राजा रिपुप्रतिशत्रु-र्यत्प्रतापमहाग्निना।
आलीढाः शत्रवः सर्वे, ज्वलत्तृणाणुतां ययुः ॥ २ ॥

देव्याश्चतस्य च भद्रायाः, बलदेवः सुतोऽजवत् ।
चतुर्भिः सूचितः स्वप्नै-रचलोऽचलसौष्ठवः ॥ ३ ॥
मृगावती च पुत्र्यासीद्, रूपातिशयशालिनी ।
जगाम जनकं नन्तुं, सोन्मिषन्नवयौवना ॥ ४ ॥
दृष्ट्वा तामनुरागेण, स्वाङ्कपर्यङ्कगां व्यधात् ।
विवोढुं तामथोपायं, चिकीर्षुर्विससर्ज च ॥ ५ ॥
पुरप्रधानान्याहूया-ऽप्राक्षीदिति ततो नृपः ।
इह यज्जायते रत्नं, स्यात्तत्कस्येति कथ्यताम् ? ॥ ६ ॥
अथोचुस्ते तवैवेति, त्रिरुपादाय तद्वचः ।
आनाययत्ततस्तत्रो-द्वोढुं राजा मृगावतीम् ॥ ७ ॥
पश्यत्सु तेषु सर्वेषु, पुत्रीमपि मृगावतीम् ।
गान्धर्वेण विवाहेन, राजा स्वयमुपायत ॥ ८ ॥
भद्रा विरक्ता भोगेभ्य-स्त्यक्त्वाऽनाचारिणं नृपम् ।
सुतमादाय निर्गत्य, प्रययौ दक्षिणापथम् ॥ ९ ॥
विरचय्याचलस्तत्र, पुरीं माहेश्वरीं नवाम् ।
संस्थाप्य जननीं तत्र, तातोपान्तं ययौ स्वयम् ॥ १० ॥
अग्रे च तत्पितुर्लोकै-र्मौलं नाम व्यलोप्यत ।
स्वप्रजायाः पतित्वेन, प्रजापतिरितीरितम् ॥ ११ ॥
विश्वभूतिश्च्युतः शुक्रा-न्मृगावत्या अथोदरे ।
कथितः सप्तभिः स्वप्नै-र्विष्णुरित्यवतीर्णवान् ॥ १२ ॥
पुण्येऽहःसु संजज्ञे, तनुजुर्विष्णुरादिमः ।
त्रिकरण्डकपृ(पृ)ष्ठत्वात्, त्रिपृ(ए)ष्ठ इति संज्ञितः ॥ १३ ॥
अशीतिधनुरुच्चाङ्गः, खेलन् भ्रात्रा बलेन सः ।
द्विसप्ततिकलाऽभिज्ञः, क्रमाद्यौवनमासदत् ॥ १४ ॥
विशाखभूतिजीवश्च, भवं भ्रान्त्वाऽथ केसरी ।
जज्ञे तुङ्गगिरौ शङ्ख-पुरदेशनिषूदकः ॥ १५ ॥
प्रतिविष्णुः पृच्छति स्मा-ऽश्वग्रीवो मे कुतो मृतिः ? ।
भाविनीति निमित्तज्ञः, सोऽप्याचख्याविदं तदा ॥ १६ ॥
चण्डवेगाभिधं दूतं, यो दूतं धर्षयिष्यति ।
यस्तुङ्गगिरिसिंहं च, हेलयैव हनिष्यति ॥ १७ ॥
ततः शङ्खपुरे शाली-नश्वग्रीवोऽध्यवापयत् ।
वारकेण महीपालान्, तत्त्राणार्थमथाऽऽदिशत् ॥ १८ ॥
शक्तः प्रजापतेः पुत्रौ, स शुश्राव महौजसौ ।
ततोऽध्यर्थं चण्डवेगं, दूतं तस्मै प्रयुक्तवान् ॥ १९ ॥
तदा प्रजापतेरग्रे, संगीतिरङ्गमागते ।
अकस्मादागतश्चण्ड-वेगस्तद्भङ्गजङ्गदः ॥ २० ॥
अभ्युत्तस्थे भूभुजाऽसौ, तदीयस्वामिशङ्कया ।
मन्त्री पृष्टः कुमाराभ्या-मह्युः कोऽयमाह सः ॥ २१ ॥
अश्वग्रीवस्य दूतोऽयं, राजराजस्य दुर्दमः ।
गच्छन्नयं निवेद्यो मा-विति तावूचतुर्निजान् ॥ २२ ॥
प्रजापतिस्तमन्येद्यु-र्व्यसृजत्कृतगौरवम् ।
स्वजनैर्ज्ञापितौ तौ च, कुमारावन्वधावताम् ॥ २३ ॥
तमर्द्धमार्गे प्राप्य स्व-हस्तयोश्चक्रतुः सुखम् ।
काकवत् लगुडाऽऽपाते, तत्सहायाश्च नेशिरे ॥ २४ ॥ (?)
ज्ञात्वा प्रजापतिस्तच्च, दूतमानीय तं गृहे ।
सत्कृत्योचे कुर्विनयं, माऽऽख्यः कौमारमीशितुः ॥ २५ ॥
आमेत्युक्त्वा ययौ दूतः, क्ष्मापतेः परमग्रतः ।
पत्ताश्च यातैः कथितं, सर्वं दूतस्य धर्षणम् ॥ २६ ॥
तद्दूतोऽपि तथैवाऽऽख्य-दलीकाभ्मा कुपञ्चुपः ।
अश्वग्रीवोऽनुशिष्यान्यं, दूतं प्रैषीत्प्रजापतेः ॥ २७ ॥

गत्वोचे रक्ष शालींस्त्वं, सिंहाद्राजाऽऽज्ञयैव सः ।
राजोवाच सुतावेत-त्फलं दूतखलीकृतेः ॥ २८ ॥
अवारकेऽपि यद्भू-दादेशः शालिरक्षणे ।
इत्युक्त्वा प्रस्थितं भूपं, प्रतिबोध्य गतौ सुतौ ॥ २९ ॥
कियत्कालं कथं सिंह-मस्थेऽरक्षन्नृपा इति ।
त्रिपृष्ठपृष्टैः शिष्टं तैः, शालीनां परिचारकैः ॥ ३० ॥
पत्त्यश्वेभरथैर्वप्रं, कृत्वाऽरक्षन् क्षितीश्वराः ।
कर्षणग्रहणं याव-दागता वारकक्रमात् ॥ ३१ ॥
स्थास्यतीयच्चिरं कोऽत्र, त्रिपृष्ठः स्माऽऽह तान् प्रति ।
दर्श्यतां मम सिंहः स, येनैकोऽपि निहन्मि तम् ॥ ३२ ॥
तुङ्गाऽऽचलगुहायां तै-र्दर्शितः केशरी ततः ।
रथाऽऽरूढौ कुमारौ ता-वयाभिष्टामुभौ गुहाम् ॥ ३३ ॥
तां गुहामभितो लोका-श्चक्रुः कलकलाऽऽरवम् ।
तं च पञ्चाननः श्रुत्वाऽ-भ्यागाज्जृम्भापराऽऽननः ॥ ३४ ॥
अहं रथी पत्तिरसौ, युक्तो नौ नैष संगरः ।
रथात्ततोऽवततार, त्रिपृष्ठः फलकासिभृत् ॥ ३५ ॥
फलकासी मम करे, एष दाढानखाऽऽयुधः ।
तदप्यनुचितं भाति, तत्ताव्यपि मुमोच सः ॥ ३६ ॥
दध्यौ तं प्रेक्ष्य सिंहोऽथ, धाष्टर्यादेको यदागमत् ।
यच्चानशस्त्रमुक्तिश्चा-हंयुर्हन्मि तदेणवत् ॥ ३७ ॥
विचिन्त्यैवं महाकोपा-दजानानो हरिं हरिः ।
दत्त्वा फालां करालां स, त्रिपृष्ठोपान्तमापतत् ॥ ३८ ॥
एकेनैव करेणोष्ठा-धरौ धृत्वा हरिं हरिः ।
पाटयामास त जीर्ण-पट्टांशुकमिव क्षणात् ॥ ३९ ॥
पुष्पाऽऽभरणवस्त्रैश्च, वृष्टं देवतया हरौ ।
शौर्येण विस्मितैर्लोकै-स्तुष्टुवे स स्फुटन्मुखैः ॥ ४० ॥
एकाकिना मारितोऽह-मिति सिंहः स्फुरंस्तदा ।
गौतमजीवस्तत्सुत-स्तमूचे मा स्म खिद्यथाः ॥ ४१ ॥
पशुसिंहो नृसिंहेन, मारितोऽसीति का व्यथा ? ।
प्रीतस्तद्वचसा मृत्वा, तुर्योर्व्यां नारकोऽभवत् ॥ ४२ ॥
कुमारावाप्ततत्कृत्ती, चलितौ नगरं निजम् ।
प्रास्यैरूचे हयग्रीवं, स्वैरं तिष्ठ रिपोर्वधात् ॥ ४३ ॥
तत् श्रुत्वा सोऽथ साशङ्कः, प्रैषीद् दूतं प्रजापतेः ।
सुतौ प्रेषय मत्पार्श्वे, कुर्वेऽमू यत्पृथग् नृपौ ॥ ४४ ॥
प्रजापतिर्बभाषेऽह-मेष्यामि न सुतौ तु मे ।
दूतोऽवादीद् न चेदेवं, सज्जो युद्धाय तद्भव ॥ ४५ ॥
इत्युक्ते भर्षयित्वा तं, कुमारौ दूतमूचतुः ।
यत् शिक्षितमरे ! कुर्याः, दुर्दान्तोऽद्यापि ते प्रभुः ॥ ४६ ॥
दूताऽऽख्यातो हयग्रीवः, सर्वौघेणाऽचलद्युधि ।
त्रिपृष्ठः साचलश्चाद्रौ, रथावर्तेऽमिलत्स्वयम् ॥ ४७ ॥
उभयोः सैन्ययोर्युद्धे, जायमानेऽतिनिष्ठुरे ।
दोलारूढेव तत्कालं, जयलक्ष्मीः समाभवत् ॥ ४८ ॥
ऊचे त्रिपृष्ठोऽश्वग्रीवं, वीक्ष्यानेकजनक्षयम् ।
युद्धमस्त्वावयोरेव, वराकैः किं हतैर्जनैः ? ॥ ४९ ॥
आक्षाक्षियुद्धेऽश्वग्रीवः, खिन्नश्चक्रं विमुक्तवान् ।
त्रिपृष्ठोरसि तुम्बेन, चक्रं निपतति स्म तत् ॥ ५० ॥
त्रिपृष्ठस्तच्छिरश्छेत्तै-र्वाच्छिन्नतरक्षणात्तयोः ।
पुष्पवृष्टिः कृता देवै-राद्यौ विष्णुबलाविति ॥ ५१ ॥
तदैव प्रणतौ तौ च, समस्तैरपि राजभिः ।
भरतक्षेत्रयाम्यार्द्धं, चक्रतुर्लीलया वशे ॥ ५२ ॥

मौलौ छत्रमिवाधार्षीत्, शिलां कोटिशिलाभिधाम् ।
उत्पाट्य दोष्णैकेनाऽपि, लीलया विष्णुरादिमः ॥ ५३ ॥
सोऽथागात्पोतनपुरं, जगज्जित्वरविक्रमः ।
अभिषिक्तो नृपैर्देवै-रर्द्धचक्रिपदे ततः ॥ ५४ ॥
एकदा गायनाः केऽप्य-गायन्निशि हरेः पुरः ।
तान्प्रियकं स्मोऽऽह मध्येते, विसर्ज्याः शयिते त्वया ॥ ५५ ॥
आमित्यूचे विसृष्टास्ते-ऽनेन सुप्तेऽपि न प्रभौ ।
उत्थितः प्रभुरूचे तान्, श्रुत्वा तं किं न वारिताः ? ॥ ५६ ॥
सोऽवदद्गीतलोभेन, तच्छ्रुत्वाऽकुपन्नृपः ।
तत्कर्णयोः प्रगेऽक्षेप्सी-त्तप्तं त्रपु मृतश्च सः ॥ ५७ ॥
वेद्यं स्वकाचयत्कर्मा-ऽसातं तेन हरिस्तदा ।
निस्त्रिंशः क्रियया स्वात्म्याद्, दुष्कर्म प्राज्यमार्जयत् ॥ ५८ ॥
महापरिग्रहाऽऽरम्भ-हिंसाऽऽद्यैः कलुषाऽऽत्मकः ।
चतुरशीत्यब्दलक्षं, राज्यं कृत्वाऽऽद्यकेशवः ॥ ५९ ॥
मृत्वा सप्तमनरक--पृथ्व्यां नैरयिकोऽभवत् ।
अचलस्तद्वियोगाऽऽत्त-व्रतो मृत्वा शिवं ययौ" ॥ ६० ॥ आ० क० ।
भविष्यदष्टमवासुदेवे, ती० २० कल्प । स० ।

तिविमी-देशी-पुटिकायाम्, दे० ना० ५ वर्ग १२ गाथा ।

तिविह-त्रिविध-त्रि० । तिस्रो विधा यस्य स त्रिविधः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । त्रिप्रकारे, व्य० १ उ० । प्रश्न० । ध० । पा० । आव० । मनोवाक्कायलक्षणे, कृतकारितानुमतिलक्षणे च । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । (" तिविहं तिविहेणं पच्चक्खामि " इति 'सामाइय' शब्दे व्याख्यास्यते)

तिविहाऽऽहार-त्रिविधाऽऽहार-पुं० । आहारत्रये, त्रिविधाऽऽहारद्विविधाऽऽहारप्रत्याख्याने श्राद्धानां पानीयतुर्याऽऽहारौ किं भक्ष्यौ, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-श्राद्धानां त्रिविधाऽऽहारद्विविधाऽऽहारप्रत्याख्यानेऽपि पानीयतुर्याऽऽहारौ भद्यौ ज्ञेयौ; परमयं विशेषः-येन प्रातस्त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्यानं कृतं स्यात्तस्यैकाशनाऽऽदिकरणसमये तुर्याऽऽहारं कल्पते, न तु स्थानानन्तरमिति; पानीयं तु उभयत्राप्यचित्तं कल्पते । द्विविधाऽऽहारप्रत्याख्याने तु द्वयोरपि भद्यतया संभवोऽस्ति, संध्यायां तु त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्याने पानकाऽऽकारानुच्चारणात् सचित्तमपि पानीयं कल्पते, न तु तुर्याऽऽहारः । द्विविधाऽऽहारप्रत्याख्याने तूभावपि भक्ष्यौ संभवत इति । ५१ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

तिव्व-तीव्र-न० । रौद्रे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । उत्कटे, आ० म० २ अ० । आव० । दुःसहे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । अत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । औ० । असह्ये, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । " कक्कसा, पगाढा, चंडा, दुहा, तिव्वा, दुरहियासत्ति " एकार्थाः । विपा० १ श्रु० १ अ० । गाढे, प्रश्न० ६ द्वार । तीव्रानुभवगन्धजनिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । नि० चू० । प्रबले, द्वा० २१ द्वा० । रौद्रे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । उत्कटे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । दुर्विषहे, दे० ना० ५ वर्ग ११ गाथा । प्रकृष्टे, स० ११ अङ्ग । निम्बाऽऽदिवत् तिक्ते, त्रि० । भ० ६ श० ३४ उ० । " तिव्वे रोगायंके पाउब्भूए । " सामान्यस्य झगिति मरणहेतौ, भ० १५ श० ।

तिव्वअणुराग-तीव्रानुराग-पुं० । अत्यन्ताध्यवसाये, ध० २ अधि० ।

तिव्वकसायपरिणइ-तीव्रकषायपरिणति-स्त्री० । उत्कृष्टानां दीर्घकालान्तरावस्थायिनां वा क्रोधाऽऽदिकषायाणां परिणामे, पं० चू० ।

तिव्वखिंसण-तीव्रखिंसन-न० । अत्यर्थनिन्दायाम्, औ० । प्रश्न० ।

तिव्वगिद्ध-तीव्रगृद्ध-त्रि० । अत्यर्थमनुपपन्ने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

तिव्वगिलाण-तीव्रग्लान-त्रि० । आत्यन्तिकव्याधिमति, पञ्चा० ४ विव० ।

तिव्वचरित्तमोहणीय-तीव्रचारित्रमोहनीय-न० । कषायव्यतिरिक्ते नोकषायलक्षणे मोहनीये कर्मणि, भ० ८ श० ६ उ० ।

तिव्वतरग-तीव्रतरक-न० । अतिशयोत्कटे, पञ्चा० १५ विव० ।

तिव्वदंसणमोहणिज्ज-तीव्रदर्शनमोहनीय-न० । मिथ्यात्वतया दर्शनमोहनीये, भ० ८ श० ६ उ० ।

तिव्वपरिणाम-तीव्रपरिणाम-त्रि० । तीव्रो दुःसहः परिणामः परिणतिर्येषां ते तीव्रपरिणामाः । दुःसहपरिणतिकेषु, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

तिव्वपावाभिभूय-तीव्रपापाभिभूत-त्रि० । तीव्रेणातिदारुणेन पापेन मिथ्यात्वाऽऽदिनाऽभिभूतः परतन्त्रीकृतस्तीव्रपापाभिभूतः । अतिदारुणेन मिथ्यात्वाऽऽदिना परतन्त्रीकृते, षो० विं० ।

तिव्वभाव-तीव्रभाव-पुं० । गाढसंक्लिष्टपरिणामे, पञ्चा० ३ विव० ।

तिव्वरागा-तीव्ररागा-स्त्री० । उत्कटविषयानुबन्धायां भाषायाम्, ध० ३ अधि० ।

तिव्ववेर-तीव्रवैर-त्रि० । अविच्छिन्नोत्कटवैरे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज्ञा० ।

तिव्वसंकिलेस-तीव्रसंक्लेश-पुं० । उत्कृष्टदुष्टपरिणामे, उत्कृष्टदुरध्यवसाये, पञ्चा० १६ विव० ।

तिव्वसंवेग-तीव्रसंवेग-पुं० । भृशं दुःखप्रचुराऽऽकुलभवभये, अ० । 'तीव्रसंवेगसंजातश्रद्धः'-तीव्रसंवेगेन भृशं दुःखलक्षाऽऽकुलभवभयेन संजाता सम्यगुत्पन्ना श्रद्धा श्रद्धानं धर्माऽऽदिषु यस्य स तथा । तं० ।

तिव्वसढ-तीव्रशठ-त्रि० । तीव्रैरुपसर्गैरभिद्रुते शाठानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । आत्यन्तिकसदनुष्ठानकरणरुचौ, पञ्चा० ४ विव० ।

तिव्वाभिताव-तीव्राभिताप-त्रि० । दुःसहसन्तापयति, " तिव्वाभितावे नरए पडन्ते । " तीव्रो दुःसहः खादिराङ्गारमहाराशितापादनन्तगुणोऽभितापः संतापो यस्मिन् स तथा । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । तीव्रकर्मबन्धरूपे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

तिव्वाभितावि (ण्) -तीव्राभितापिन्-त्रि० । तीव्रोऽसह्यो योऽभितापः क्रकचपाटनकुम्भीपाकतप्तत्रपुपानशाल्मल्यालिङ्गनाऽऽदिरूपः, स विद्यते यस्याऽसौ तीव्राभितापी । तीव्रवेदनाऽभिभूते, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

तिव्वाभिलास-तीव्राभिलाष-पुं० । अत्यन्ताध्यवसायित्वे, आव० ६ अ० । उपा० ।

तिव्वुएह–तीव्रोष्ण–त्रि० । अत्युष्णे, आव० ५ अ० ।

तिसंकु–त्रिशङ्कु–पुं० । श्रीमदयोध्यानिवासीक्ष्वाकुवंशस्य श्रीहरिश्चन्द्रमहानरेन्द्रस्य स्वनामख्याते पितरि, ती० ३७ कल्प ।

तिसंधि–त्रिसन्धि–त्रि० । आदिमध्यावसानेषु सन्धिभावात् (जी० ३ प्रति० ४ उ०) त्रिषु स्थानेषु सन्धियुक्ते, ज० ३ श० ६ उ० ।

तिसट्ठिसलागा–त्रिषष्टिशलाका–स्त्री० । अर्हच्चक्रवर्तिबलदेववासुदेवप्रतिवासुदेवानां त्रिषष्टेः पुरुषाणां शलाकारूपे चक्रे, ह्री० ३ प्रका० ।

तिसण्ण–त्रिसंज्ञ–त्रि० । तिस्र आहारभयपरिग्रहरूपाः संज्ञा येषां ते तथा । आहारभयपरिग्रहसंज्ञायुक्ते, यो० बिं० ।

तिसत्तखुत्त–त्रिसप्तकृत्वस्–अव्य० । एकविंशतिवारेषु, पिं० । जी० । भ० ।

तिसमइय–त्रिसमयिक–त्रि० । त्रयः समयास्त्रिसमयं, तदस्यास्ति स त्रिसमयिकः । समयत्रयवर्तिनि, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

तिसमय–त्रिसमय–न० । त्रयः समयाः समाहृतास्त्रिसमयम् । समयत्रयसमाहारे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

तिसमयसिद्ध–त्रिसमयसिद्ध–पुं० । सिद्धत्वसमयात्तृतीयसमयवर्तिनि सिद्धे, प्रज्ञा० १ पद ।

तिसमयाऽऽहारग–त्रिसमयाऽऽहारक–पुं० । आहारं गृह्णातीत्याहारकः । त्रयः समयाः समाहृतास्त्रिसमयं,त्रिसमयमाहारकस्त्रिसमयाऽऽहारकः । "व्याप्तौ" ॥ ३ । १ । ६१ ॥ इति समासः । "नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम्" ॥ ३ । १ । १८ ॥ इति वा समासः । त्रीन् समयान् यावदाहारके, आ० म० १ अ० १ खण्ड । विशे० । नं० ।

तिसमुट्ठाण–त्रिसमुत्थान–त्रि० । त्रिभ्यो धर्मार्थकामेभ्यः समुत्थानं तद्विषयत्वेनोत्पत्तिरस्येति त्रिसमुत्थानम् । धर्मार्थकामजाते, दश० २ अ० ।

तिसमुद्दखायकित्ति–त्रिसमुद्रख्यातकीर्ति–त्रि० । पूर्वदक्षिणापरदिग्विभागव्यवस्थितत्वात् पूर्वापरदक्षिणास्त्रयः समुद्रास्त्रिसमुद्रम् । उत्तरतस्तु हिमवान्, वैताढ्यो वा । त्रिसमुद्रे ख्याता कीर्तिर्यस्याऽसौ त्रिसमुद्रख्यातकीर्तिः । दक्षिणार्द्धभरतव्यापिकीर्तौ, नं० ।

तिसर–त्रिशरस्–न० । त्रीणि शरांसि त्रिशरः। वाच० । शरत्रये, अनु० । विपा० । राक्षसभेदे, ज्वरे, कुबेरे, वाच० ।

तिसरग–त्रिसरक–न० । हारविशेषे, औ० । ज्ञा० । तं० । जं० ।

तिसला–त्रिशला–स्त्री० । सिद्धार्थनरेन्द्रभार्यायां महावीरस्वामिनो मातरि, स्था० १० ठा० । प्रव० । आचा० । स० । आव० । ('वीर' शब्देऽस्याः सर्वा वक्तव्यता)

तिसलोगा–त्रिश्लोका–न० । त्रयः श्लोकाश्छन्दोविशेषरूपा आधिक्येन यासु तास्तथा । यथा–"सिद्धाणं बुद्धाणं" इत्यादेकः श्लोकः । "जो देवाण" इत्यादिको द्वितीयः । "एक्को वि नमोक्कारो" इत्यादिकस्तृतीयः । इत्येवंरूपश्लोकत्रयाऽऽत्मिकायां स्तुतौ, प्रव० ३९ द्वार ।

तिसीस–त्रिशीर्ष–पुं० । शिखरिपर्वतस्य प्रथमकूटाधिपतौ देवे, द्वी० ।

तिसुगंध–त्रिसुगन्ध–त्रि० । त्वगेलाकेसरैस्तुल्ये त्रिजातके, "त्वगेलाकेसरैस्तुल्यं,त्रिसुगन्धं त्रिजातकम् ।" जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

तिसूल–त्रिशूल–न० । त्रीणि शूलानि शिखाऽग्राणि यत्र । स्वनामख्याते अस्त्रभेदे, वाच० । सूत्र० ।

तिसूलिया–त्रिशूलिका–स्त्री० । लघुत्रिशूले, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

तिसोवाण–त्रिसोपान–न० । त्रयाणां सोपानानां समाहारस्त्रिसोपानम् । सोपानत्रये, रा० ।

तिसोवाणपडिरूवग–त्रिसोपानप्रतिरूपक–न० । त्रयाणां सोपानानां समाहारस्त्रिसोपानम् । त्रिसोपानानि च तानि प्रतिरूपकाणि चेति विशेषणसमासः । विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् । सुन्दरे सोपानत्रये, जी० ।

तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते । तं जहा–वयरामया निम्मा, रिट्ठामया पतिट्ठाणा, वेरुलियामया खंभा, सुवण्णरुप्पमया फलगा, वइरामया संधी, लोहितक्खमईओ सूईओ, नाणामणिमया अवलंबणा अवलंबणबाहाओ । जी० ३ प्रति० ४ उ० । (टीका सुगमा)

तिस्सगुत्त–तिष्यगुप्त–पुं० । द्वितीयनिह्नवे वसुनामाऽऽचार्यशिष्ये, विशे० । (अस्य वृत्तं ' जीवपएस ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १५४४ पृष्ठे गतम्)

तिहा–त्रिधा–अव्य० । त्रिप्रकारे, अनु० ।

तिहि–तिथि–पुं० । स्त्री० । चन्द्रनिष्पादिते अहोरात्रे, चं० प्र० १० पाहु० । पर्वणि, आतु० ।

अथ तिथिस्वरूपं, तिथिमानं चाऽऽह–

कम्मो निरंसयाए, मासो ववहारकारगो लोए ।
सेसा उ संसयाए, ववहारे दुक्करा घित्तुं ॥ (सू०प्र०१० पाहु०)

आदित्यकर्म*चन्द्रनक्षत्राभिवर्द्धितमासानां मध्ये कर्मसंवत्सरसंबन्धी × मासो निरंशतया परिपूर्णत्रिंशदहोरात्रप्रमाणतया लोके सुखेन व्यवहारको भवति । तथाहि–इतरजनोऽप्येवं बालिशास्त्रिंशदहोरात्रान् परिगणय्य मासं परिकल्पयन्ति । शेषास्तु मासाः सूर्यमासचन्द्रमासाऽऽदयः सांशतया सावयवतया व्यवहारे लोकव्यवहारप्रवर्त्तनविषये लौकिकैर्ग्रहीतुं दुष्कराः, दुःखेन स्वयं ज्ञातुं शक्यन्ते इत्यर्थः । तथाहि–सूर्यमासः सार्द्धानि त्रिंशद्दिनानि । चन्द्रमास एकोनत्रिंशद्दिनानि, द्वात्रिंशद्द्वाषष्टिभागा दिनस्य ÷ । नक्षत्रमासः सप्तविंशतिर्दिनानि, एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागा दिनस्य + । अभिवर्द्धितमास

---

* ऋतुमासस्य कर्ममास इति नामान्तरम् । उक्तं च–"एस चेव उउमासो कम्ममासो ...... " भण्णइ । " व्य० १ उ० ।

× कर्म लौकिको व्यवहारः, तत्प्रधानः संवत्सरः कर्मसंवत्सरः । ऋतुसंवत्सरे । अत्र 'कम्मसंवच्छर' शब्दस्तृतीयभागे ३४५ पृष्ठे द्रष्टव्यः ।

÷ तृतीयभागे ' चंदमास ' शब्दः १०७० पृष्ठे द्रष्टव्यः ।

+ चतुर्थभागे ' णक्खत्त ' शब्दः १७६१ पृष्ठे द्रष्टव्यः ।

एकत्रिंशद्दिनानि, एकविंशत्युत्तरशतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानां दिनस्य *। न चैतद्व्यालिशा जानते, केवलं चान्द्रो मासोऽस्ति, तदपेक्षया चिन्त्यमाने परिपूर्णत्रिंशत्तिथ्यात्मकत्वात् लोके व्यवहारपथं चरतीति ।

तिथिपरिमाणज्ञापनार्थमिदमुपक्रम्यते, तत्र तिथिस्वरूपज्ञानार्थं यन्निमित्ता अहोरात्राः, यन्निमित्ताश्च तिथयस्तदेतत्प्ररूपयति–

सूरस्स गमणमंडल–विभागनिप्फाइया अहोरत्ता ।
चंदस्स हाणिवुड्डी–कएण निप्फज्जए उ तिही ॥

सूर्यस्याऽऽदित्यस्य गमनयोग्यानि यानि मण्डलानि तेषां प्रत्येकं यो विभागो, त्रिंशिष्टः समभागतया भाग इत्यर्थः । तेन निष्पादिता अहोरात्राः । किमुक्तं भवति ?–एकैकस्मिन् मण्डले यावता कालेन मण्डलार्द्धं गमनेन पूरयति तावत्कालप्रमाणा अहोरात्राः ॥ चन्द्रस्य चन्द्रमण्डलस्य पुनः हानिवृद्धिकृतेन कालपरिमाणेन निष्पद्यते तिथिः । अत्रायं भावार्थः–चन्द्रमण्डलस्य कृष्णपक्षे यावता कालेनैकैकः षोडशभागो द्वाषष्टिभागचतुष्टयप्रमाणो हानिमुपपद्यते,यावता च कालेन शुक्लपक्षे एकः षोडशभागः प्रागुक्तप्रमाणः परिवर्द्धते, तावत्कालप्रमाणास्तिथयः । एतावांश्चाहोरात्राणां तिथीनां च परस्परं कालविशेषः–अहोरात्रो द्वाषष्टिभागपरिच्छिन्नो विधीयते । तस्य सत्का ये एकषष्टिभागाः, तावत्प्रमाणा तिथिः ।

इहेदमुक्तम्–चन्द्रस्य वृद्धिहानिकृतेन निष्पद्यते तिथिः । तत्र शिष्याणामुदपादि संमोहः–कथं चन्द्रस्य शाश्वतिकतयोपवर्ण्यमानस्य, वृद्धिहानी घटेते इति ?। ततः शिष्याणां संमोहमपनेतुकामो यथोक्तस्वरूपप्ररूपणार्थमाह–

चंदस्स नेव हाणी,न वि वुड्ढी वा अवट्ठिओ चंदो ।
सुक्किलभावस्स पुणो, दीसइ वुड्ढी य हाणी य ॥

चन्द्रस्य चन्द्रमण्डलस्य स्वरूपतो नैव हानिर्नाऽपि वृद्धिः, किं त्ववस्थित एव सदा चन्द्रः, चन्द्राऽऽदिविमानानां शाश्वतिकत्वात् । यद्येवं कथं साक्षात् प्रत्यक्षत उपलभ्येते वृद्धिहानी ?। तत आह–(सुक्किलेत्यादि)शुक्लभावस्य शुक्लतायाः,दर्शनपथप्राप्तस्यैव कृता दृश्यते वृद्धिर्हानिर्वा,न तु स्वरूपतश्चन्द्रमण्डलम् ।

किमत्र कारणम् ?, अत आह–

किण्हं राहुविमाणं, हेट्ठा चउरंगुलं च चंदस्स ।
तेणोवट्टइ चंदो, परिवड्ढइ वा वि नायव्वो ॥

इह द्विविधो राहुः। तद्यथा–पर्वराहुः, ध्रुवराहुश्च । तत्र यः पर्वराहुस्तत्कृता चिन्ता क्षेत्रसमासटीकायां कृता। यस्तु ध्रुवराहुकस्य विमानं कृष्णं, तच्च चन्द्रमण्डलस्याधस्तात् चतुरङ्गुलमसंप्राप्तं सत् चारं चरति । तच्च कृष्णपक्षे आत्मीयेन पञ्चदशेन भागेन प्रतिदिवसमेकैकं भागं द्वाषष्टिभागीकृतस्य चन्द्रमण्डलस्य सत्का ये चत्वारो भागास्तावत्प्रमाणमावृणोति । शुक्लपक्षे च प्रतिदिवसं तावन्तमेकैकं भागमात्मीयेन पञ्चदशेन [पञ्चदशेन] भागेनापसरत् प्रकटीकरोति। तेन कारणेन चन्द्रः कृष्णपक्षे अपवर्त्तते हीयते, शुक्लपक्षे परिवर्द्धत इति ज्ञातव्यः । किमुक्तं भवति ?–तेन कारणेन चन्द्रमण्डलस्य वृद्धिहानी प्रतिभासेते, न तु ते तात्त्विक्यौ स्त इति ।

एतदेव स्पष्टं भावयति–

तं रययकुमुयसरिस–प्पहस्स चंदस्स राइसुभगस्स ।
लोए तिहि त्ति नियमं, भमइ हाणीएँ वुड्ढीए ॥

यत एवं चन्द्रमण्डलस्य राहुविमानकृताऽऽवरणानावरणजनिते वृद्धिहानी, तत् तस्मात् कारणात् चन्द्रस्य रजतकुमुदपुष्पतुल्यप्रभस्य रात्रिसुभगस्य रजन्यामतिमनोहारितया प्रतिभासनशीलस्य, हानौ वृद्धौ यथोदितस्वरूपायां, यथोदितभागप्रमाणायां च लोके तिथिरिति नियमं निश्चितं भण्यते।

सम्प्रति भागप्रमाणमेव निर्दिदिक्षुराह–

सोलसभागे काऊ–ण उडुवइं हायतेऽत्थ पन्नरसे ।
तत्तियमेत्ते भागे, पुणो वि परिवड्ढई जोण्हे ॥

उडुपतिं चन्द्रमण्डलमित्यर्थः, षोडशभागान् राहुदेवः कृत्वा बुद्ध्या परिकल्प्य, तथाजगत्स्वाभाव्यात् कृष्णपक्षे, अत्र एषु षोडशसु भागेषु मध्ये प्रतिदिवसमेकैकभागहानिकरणेन सकले कृष्णपक्षे पञ्चदश भागान् हापयति । ज्योत्स्ने ज्योत्स्नासमन्विते, शुक्लपक्ष इत्यर्थः, प्रतिदिवसमेकैकभागपरिवर्द्धनेन परिपूर्णपक्षे तावन्मात्रान्, पञ्चदशसंख्यानित्यर्थः । भागान्, पुनरपि परिवर्द्धयति । इयमत्र भावना–इह चन्द्रविमानं द्वाषष्टिसंख्यैर्भागैः परिकल्प्यते,परिकल्प्य च तेषां भागानां पञ्चदशो भागो ह्रियते, हृते च भागे लब्धाश्चत्वारो द्वाषष्टिभागाः,शेषौ द्वौ भागौ तिष्ठतः, तौ च सदाऽनावृतौ। एषा किल चन्द्रमसः षोडशीकलाप्रसिद्धिः। तत्र कृष्णपक्षे प्रतिपदि ध्रुवराहुविमानं चन्द्रमण्डलस्याधो भागेन चतुरङ्गुलमसंप्राप्तं सत् चारं चरदात्मीयेन पञ्चदशेन भागेन द्वौ द्वाषष्टिभागौ सदाऽनावरणस्वभावौ मुक्त्वा शेषद्वाषष्टिसत्कभागाऽऽत्मकस्य चन्द्रमण्डलस्य सत्कं चतुर्भागाऽऽत्मकं पञ्चदशभागमावृणोति । द्वितीयायामात्मीयाभ्यां (?) पञ्चदशभागानावृणोति । ततः शुक्लपक्षे प्रतिपदि पञ्चदशभागान् अनावृतान् करोति, तदा च सर्वाऽऽत्मना परिपूर्णं चन्द्रमण्डलं लोके प्रकटं भवति। उक्तं च–"कइविहे णं भंते ! राहू पन्नत्ते ?। गोयमा ! दुविहे राहू पन्नत्ते। तं जहा–धुवराहू य,पव्वराहू य। तत्थ णं जे से धुवराहू, से णं बहुलस्स पक्खस्स पाडिवए पन्नरसतिभागेणं पन्नरसभागं चंदलेसमावरमाणे आवरमाणे चिट्ठइ। तं जहा–पढमाए पढमं भागं,बिइयाए बिइयं भागं० जाव पन्नरसेसु पन्नरसं भागं। चरमसमए चंदे रत्ते भवइ, अवसेसे समए चंदे रत्ते वा विरत्ते वा भवइ,तं चेव सुक्कपक्खस्स उवदंसेमाणे उवदंसेमाणे चिट्ठइ। तं जहा–पढमाए पढमं भागं, बिइयाए बिइयं भागं० जाव पन्नरसेसु पन्नरसं भागं।" इति। (भ० १२ श० ६ उ०)

तत्र–

कालेण जेण हायइ, सोलसभागो य सा तिही होइ ।
तं चेव य वुड्ढीए, एवं तिहिणो समुप्पत्ती ॥

यावता कालेन कृष्णपक्षे षोडशो भागो द्वाषष्टिभागः सचतुर्भागाऽऽत्मको हीयते हानिमुपगच्छति, स एतावान् कालविशेषस्तिथिर्भवति। तथा चैवं वृद्ध्याऽपि तिथिर्भवति। किमुक्तं भवति ?–यावता कालेन शुक्लपक्षे षोडशभागं प्रागुक्तक्रमेण परिवर्द्धयति, तावत्प्रमाणः कालविशेषस्तिथिरिति अहोरात्रस्य द्वाषष्टिभागाः, तावत्प्रमाणा तिथिरित्यर्थः । एवंविधैर्भगवद्भिस्तीर्थकरगणधरैः समुत्पत्तिराख्याता ।

कियत्संख्याकास्तिथय इति तत्संख्यानिरूपणार्थमुपक्रमाह–

भावइए परिहायइ, भागे वड्ढइ य आणुपुव्वीए ।

* प्रथमभागे 'अभिवड्ढिय' शब्दः ७५७ पृष्ठे द्रष्टव्यः ।

तावइया होंति तिही, तेसिं नामाणि वोच्छामि ॥

इह यावता कालेनैकश्चन्द्रमण्डलस्य षोडशो भागो द्वाषष्टिभागसत्कचतुर्भागाऽऽत्मकः परिहीयते,वर्द्धते वा,तावत्कालप्रमाणा एका तिथिरिति प्रागुपपादितम् । ततो यावतो भागान् चन्द्रमसो राहुविमानं कृष्णपक्षे छादयति, यावतश्च भागानानुपूर्व्या क्रमेण शुक्लपक्षे परिवर्द्धयति, तावत्प्रमाणाः शुक्लपक्षे कृष्णपक्षे च तिथयो भवन्ति। तत्र पञ्चदश भागान् कृष्णपक्षे छादयति, पञ्चदशैव भागान् शुक्लपक्षे परिवर्द्धयति; ततः पञ्चदश कृष्णपक्षे तिथयः, पञ्चदश शुक्लपक्षे च । सम्प्रति तासां तिथीनां नामानि वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

पाडिवग बिइय तइया, य चउत्थी पंचमी य छट्ठी य ।
सत्तमि अट्ठमि नवमी, दसमी एगारसी चेव ॥
बारसि तेरसि चाउ-द्दसी य निट्ठवणिगा य पन्नरसी ।
किण्हम्मि य जोण्हम्मि य, एसेव विही मुणेयव्वा ॥

कृष्णपक्षे प्रथमा तिथिः प्रतिपद्, द्वितीया द्वितीया, एवं यावन्निष्ठापनिका परिसमाप्तिकारिका पञ्चदशी, अमावास्या इत्यर्थः । ज्योत्स्न्येऽपि,पक्षे इत्यर्थः। एष एवानन्तरोदितो नाम्ना विधिर्ज्ञातव्यः । तद् यथा-प्रथमा प्रतिपत्, द्वितीया द्वितीया, तृतीया तृतीया । एवं यावत् परिसमाप्तिकारिका पञ्चदशी, पौर्णमासी इत्यर्थः ॥ इह विचित्रो विधिर्नाम्नामागमे मासाऽऽदीनां तिथिपर्यन्तानामुक्तः, ततस्तिथिनाम्नां प्रस्तावाद् मासोऽपि विनेयजनानुग्रहार्थमुपवर्ण्यन्ते-इह च एकैकस्मिन् संवत्सरे द्वादश मासाः, तेषां च नामधेयानि द्विविधानि । तद्यथा-लौकिकानि, लोकोत्तराणि च। तत्र लौकिकान्यमूनि। तद्यथा-श्रावणः,भाद्रपदः, आश्वयुजः,कार्त्तिकः, मार्गशीर्षः,पौषः,माघः,फाल्गुनः,चैत्रः, वैशाखः, ज्येष्ठः, आषाढ इति । लोकोत्तराण्यमूनि । तद्यथा-प्रथमः श्रावणे अभिनन्दितः,द्वितीयः प्रतिष्ठितः प्रतिपत्तव्यः,तृतीयो विजयः, चतुर्थः प्रीतिवर्द्धनः, पञ्चमः श्रेयान्, षष्ठः शिवः, सप्तमः शिशिरः,अष्टमो हैमवान्,नवमो वसन्तमासः,दशमः कुसुमसंभवः,एकादशो निदाघः, द्वादशो वनविरोहः। तथा चोक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ-"एगमेगस्स णं भंते ! संवच्छरस्स कति मासा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुवालस मासा पण्णत्ता । तेसि णं दुविहा नामधिज्जा पण्णत्ता । तं जहा-लोइया, लोउत्तरिया य । तत्थ लोइया नामा इमे । तं जहा-सावणे,भद्दवए०जाव आसाढे । लोगुत्तरिया नामा इमे । तं जहा-

"अभिणंदिते पइट्ठे य, विजए पीइवद्धणे ।
सेयंसे य सिवे चेव, सिसिरे य सहेमवं ॥ १ ॥
नवमे वसंतमासे, दसमे कुसुमसंभवे ।
एक्कारसे निदाहे य, वणविरोहे य बारसमे ॥२॥"(जं०७ वक्ष०)

एकैकस्मिंश्च मासे द्वौ पक्षौ, तयोश्च नामधेये गुणनिष्पन्ने इमे । तद्यथा-बहुलः पक्षः, शुक्लपक्षश्च। तत्र योऽन्धकारबहुलः पक्षः स बहुलपक्षः । यस्तु ज्योत्स्नाधवलिततया शुक्लः पक्षः स शुक्लपक्षः । उक्तं च-"एगमेगस्स णं भंते ! मासस्स कइ पक्खा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दो पक्खा पण्णत्ता । तं जहा-बहुलपक्खे य, सुक्कपक्खे य ।" (जं० ७ वक्ष०) एकैकस्मिंश्च पक्षे पञ्चदश दिवसाः । तद्यथा-प्रथमः पूर्वाङ्गो, द्वितीयः सिद्धमनोरमः, तृतीयो मनोहरः, चतुर्थो यशोभद्रः, पञ्चमो यशोधरः, षष्ठः सर्वकामसमृद्धः, सप्तम इन्द्रमूर्द्धाभिषिक्तः, अष्टमः सौमनसः, नवमो धनञ्जयः, दशमोऽर्थसिद्धः, एकादशोऽभिजातः, द्वादशोऽत्यशनः, त्रयोदशः शतञ्जयः, चतुर्दशोऽग्निवेश्म, पञ्चदश उपशमः । तथा चोक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ-"एगमेगस्स णं भंते ! पक्खस्स कइ दिवसा पण्णत्ता ? । गोयमा ! पन्नरस दिवसा पण्णत्ता । तं जहा-पडिवादिवसे, बिइयादिवसे० जाव पन्नरसीदिवसे । एएसि णं भंते ! पन्नरसण्हं दिवसाणं कइ नामधिज्जा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पन्नरस नामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-

"पुव्वंगे १ सिद्धमणो-रमे अ २ तत्तो मणोहरे चेव ३ ।
जसभद्दे य ४ जसहरे ५, छट्ठे सव्वकामसमिद्धे य ६ ॥१॥
इंदमुद्धाभिसित्ते य ७, सोमणस ८ धणंजए य बोधव्वे ९ ।
अत्थसिद्धे १० अभिजाए ११, अच्चसणे १२ सयंजए चेव १३ ॥२॥
अग्गिवेसे १४ उवसमे १५, दिवसाणं नामधिज्जाइं । "
(जं० ७ वक्ष०)

एकैकस्मिंश्च पक्षे पञ्चदश रात्रयः । तद्यथा-प्रतिपद्रात्रिः, द्वितीयारात्रिः, यावत्पञ्चदशीरात्रिः। नामानि च रात्रीणां क्रमेणामूनि नामानि । तद्यथा-प्रथमा उत्तमा, द्वितीया सुनक्षत्रा, तृतीया एलापत्या, चतुर्थी यशोधरा, पञ्चमी सौमनसा, षष्ठी श्रीसम्भूता, सप्तमी विजया, अष्टमी वैजयन्ती, नवमी जयन्ती, दशमी अपराजिता, एकादशी इच्छा, द्वादशी समाहारा, त्रयोदशी तेजाः, चतुर्दशी अतितेजाः, पञ्चदशी देवानन्दा । तथा चोक्तम्-"एगमेगस्स णं भंते ! पक्खस्स कइ राईओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! पन्नरस राईओ पण्णत्ताओ । तं जहा-पडिवाराई, बीयाराई० जाव पन्नरसीराई । एएसि णं भंते ! पन्नरसण्हं राईणं कइ नामधेज्जा पण्णत्ता ? । गोयमा ! पन्नरस नामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-

"उत्तमा य सुनक्खत्ता, एलावच्चा जसोधरा ।
सोमणसा चेव तहा, सिरिसंभूया य बोधव्वा ॥१॥
विजया य वेजयंती, जयंति अपराजिया य इच्छा य ।
समाहारा चेव तहा, तेआ य तहाऽइतेया य ॥२॥
देवाणंदा राई, रयणीए नामधिज्जाइं ।" (जं० ७ वक्ष०)

एकैकस्मिंश्च पक्षे पञ्चदश तिथयः । ताश्च द्विधा । तद्यथा-दिवसतिथयः, रात्रितिथयश्च । तत्र दिवसतिथीनाममूनि नामानि । तद्यथा-प्रथमा नन्दा, द्वितीया भद्रा, तृतीया जया, चतुर्थी तुच्छा, पञ्चमी पूर्णा । ततः पुनरपि-षष्ठी नन्दा, सप्तमी भद्रा, अष्टमी जया, नवमी तुच्छा, दशमी पूर्णा । ततः पुनरप्येकादशी नन्दा, द्वादशी भद्रा, त्रयोदशी जया, चतुर्दशी तुच्छा,पञ्चदशी पूर्णा । तथा चोक्तं चन्द्रप्रज्ञप्तौ-"ता कहं ते तिहीओ आहिया ति वएज्जा?। तत्थ खलु इमा दुविहा तिही पण्णत्ता । तं जहा-दिवसतिही, राइतिही य । ता कहं ते दिवसतिही आहिया ति वएज्जा? ता एगमेगस्स पक्खस्स पन्नरस दिवसतिही पण्णत्ता । तं जहा-

" नंदे भद्दे जए तुच्छे, पुण्णे पक्खस्स पंचमी ।
पुणरवि-
नंदे भद्दे जए तुच्छे, पुण्णे पक्खस्स दसमी ॥१॥
पुणरवि-
नंदे भद्दे जए तुच्छे, पुण्णे पक्खस्स पन्नरसी ।
एवं तिगुणा तिगुणा, तिहीउ सव्वेसि दिवसाणं ॥ २ ॥"
(चं० प्र० १० पाहु०)

यास्तु रात्रितिथयस्तासामिमानि नामानि । तद्यथा-प्रथमा उग्रवती, द्वितीया भोगवती,तृतीया यशोमती,चतुर्थी सर्वसिद्धा, पञ्चमी शुभनामा । पुनरपि षष्ठी उग्रवती, सप्तमी भोगवती,

अष्टमी यशोमती, नवमी सर्वसिद्धा, दशमी शुभनामा । ततः पुनरप्येकादशी उग्रवती, द्वादशी भोगवती, त्रयोदशी यशोमती, चतुर्दशी सर्वसिद्धा, पञ्चदशी शुभनामेति । उक्तं च चन्द्रप्रज्ञप्तावेव-"ता कहं ते राइतिही आहिय त्ति वएज्जा ? । ता एगमेगस्स णं पक्खस्स पन्नरस राइतिही पन्नत्ता । तं जहा-"उग्गवई भोगवई, जसोवई सव्वसिद्ध सुहनामा ।" पुणरवि-"उग्गवई भोगवई, जसोवई सव्वसिद्ध सुहनामा ।" पुणरवि-"उग्गवई भोगवई, जसोवई सव्वसिद्ध सुहनामा । एवं तिगुणा एया, तिहीउ सव्वासि राईणं" ॥ १ ॥ इति । (चं० प्र० १० पाहु०) तदेवमुक्तानि तिथीनां नामानि, प्रसङ्गतो मासदिवसरात्रीणामपि ।

संप्रति यावन्मुहूर्तप्रमाणा तिथिस्तावत्प्रमाणां तिथिं प्रतिपादयति-

एउणतीसं पुण्णा, उ मुहुत्ता सोमतो तिही होइ ।
भागा वि य बत्तीसं, बासट्ठिकएण छेएणं ॥

सोमतश्चन्द्रमस उपजायते तिथिः, सा च तत उपजायमाना एकोनत्रिंशत्परिपूर्णमुहूर्ता, एकस्य मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिकृतेन छेदेन प्रविभक्तस्य सक्त्का द्वात्रिंशद् भागाः । तथाहि-अहोरात्रस्य द्वाषष्टिभागीकृतस्य सत्का ये एकषष्टिभागाः, तावत्प्रमाणा तिथिरित्युक्तम् । तत्रैकषष्टिस्त्रिंशता गुण्यते, जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । एते च किल द्वाषष्टिभागीकृतसकलतिथिगतमुहूर्त्तसत्का अंशाः, ततो मुहूर्त्ताऽऽनयनार्थं तेषु द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, हृते च भागे लब्धा एकोनत्रिंशन्मुहूर्त्ताः, द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य । एतावन्मुहूर्त्तप्रमाणा तिथिः । एतावता हि कालेन चन्द्रमण्डलगतः पूर्वोदितप्रमाणः षोडशो भागो हानिं चोपगच्छति, वर्द्धते वा, तत एतावानेव तिथेः परिमाणकालः । (चं० प्र० १० पाहु०)

साम्प्रतमीप्सितदिने तिथिपरिमाणज्ञापनार्थं करणमाह-

तिहिरासिमेव बाव-ट्ठीजइयं सेसमेगसट्ठिगुणं ।
बावट्ठीए जइए, सेसे अंसा तिहिसमत्ती ॥

ईप्सिततिथिराशिर्द्वाषष्ट्या भागैः परिपूर्णैरहोरात्रा भवन्ति, ततः परिपूर्णाहोरात्रपातनार्थं द्वाषष्ट्या विभागः क्रियते, विभागे च कृते यच्छेषमुपलभ्यते तदेकषष्टिगुणं क्रियते, एकैकस्यास्तिथेर्द्वाषष्टिभागीकृताहोरात्रसत्कैकषष्टिभागप्रमाणत्वात् । कृत्वा चैकषष्टिगुणं द्वाषष्ट्या विभज्यते, द्वाषष्ट्या भागैः परिपूर्णस्याहोरात्रस्य पतनाद् द्वाषष्ट्या च भागे कृते ये अंशाः राशेः पश्चादवतिष्ठन्ते, सा तिथिपरिसमाप्तिः, तावदंशप्रमाणे तस्मिन् दिने तिथिरित्यर्थः । यथा वा कोऽपि पृच्छति-द्वाषष्ट्या च भागे कृतेऽपि युगे प्रथमे चान्द्रे संवत्सरे आश्वयुजमासे शुक्लपक्षे पञ्चमी कियत्प्रमाणेति ? । तत्र किल तिथिः तावदंशप्रमाणा, तस्मिन् दिने तिथिरित्यर्थः । राशिरादित आरभ्य पञ्चमीपर्यवसानोऽशीतिसंख्या इत्यशीतिर्ध्रियते, तस्या द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, स्थिताः पश्चादष्टादश, ते एकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि दश शतानि अष्टानवत्यधिकानि १०९८ तेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, स्थिताः पश्चात् चतुश्चत्वारिंशदंशाः, आगतमेतावद्द्वाषष्टिभागप्रमाणा तस्मिन् दिने पञ्चमी तिथिः । एवमन्यत्रापि भावनीयम् । (?) ज्यो० ४ पाहु० । चं० प्र० । सू० प्र० । ज्य० । आ० म० । आ० चू० । (काशनो ये दिवसा वर्जनीयास्ते ' आलोयणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४२० पृष्ठे दर्शिताः) दिवसेभ्यस्तिथयो बलिष्ठाः-" दिवसा उ तिही बलिओ, तिहिओ बलियं तु सुब्बई रिक्खं । " ग० प० ।

अथ पञ्चदशतिथिफलमाह-

पडिवाए पडिवत्ती, नत्थि विवत्ती जणंति बीआए ।
तइयाएँ अत्थसिद्धी, विजयग्गी पंचमी भणिया ॥ ४ ॥
जा एस सत्तमी सा, उ बहुगुणा इत्थ संसओ नत्थि ।
दसमीएँ पत्थियाणं, भवंति निक्कंटगा पंथा ॥ ५ ॥
आरुग्गमविग्घं खे-मयं च इक्कारसिं वियाणाहि ।
जे वि हु हुंति अमित्ता, ते तेरसिपट्ठिओ जिणइ ॥ ६ ॥
चाउद्दसिं पन्नरसिं, वज्जिज्जा अट्ठमिं च नवमिं च ।
छट्ठिं च चउत्थिं बा-रसिं च दुन्हं पि पक्खाणं ॥ ७ ॥
पढमी पंचमि दसमी-पन्नरसिक्कारसी वि य तहेव ।
एएसु य दिवसेसुं, सेहस्स निक्खमणं कुज्जा ॥ ८ ॥
नंदा भद्दा विजया, तुच्छा पुन्ना य पंचमी होइ ।
मासेण य छच्चारे, इक्किका वत्तए नियए ॥ ९ ॥
नंदे जए य पुन्ने य, सेहनिक्खमणं करे ।
नंदे भद्दे सुभद्दाए, पुन्ने अणसणं करे ॥ १० ॥ ग० प० ।

धर्म्मकर्माऽऽदिषु तिथिकृत्या तिथिरेव ग्राह्या-

तिथिश्च प्रातः प्रत्याख्यानवेलायां या स्यात्सा प्रमाणम्, सूर्योदयानुसारेणैव लोकेऽपि दिवसाऽऽदिव्यवहारात् । आहुरपि-
" चाउम्मासिअवरिसे, पक्खिअपंचऽट्ठमीसु नायव्वा ।
ताओ तिहिओ जासिं, उदेइ सूरो न अण्णाओ ॥ १ ॥
पूआ पच्चक्खाणं, पडिक्कमणं तह य निअमगहणं च ।
जीए उदेइ सूरो, तीए तिहीए उ कायव्वं ॥ २ ॥
उदयम्मि जा तिही सा, पमाणमिअराएँ कीरमाणीए ।
आणाभंगऽणवत्था, मिच्छत्तविराहणं पावे " ॥ ३ ॥

पाराशरस्मृत्यादावपि-

" आदित्योदयवेलायां, या स्तोकाऽपि तिथिर्भवेत् ।
सा संपूर्णेति मन्तव्या, प्रभूता नोदयं विना " ॥ १ ॥

उमास्वातिवाचकप्रघोषश्चैवं श्रूयते-

" क्षये पूर्वा तिथिः कार्या, वृद्धौ कार्या तथोत्तरा ।
श्रीवीरमोक्षकल्याणं, कार्यं लोकानुगैरिह " ॥ १ ॥ इति ।

एवं पौषधाऽऽदिना पर्वदिवसा आराध्या इति पर्वकृत्यानि । ध० २ अधि० । द्वितीयाऽऽदिपञ्चपर्वी श्राद्धविध्यादिस्वीयग्रन्थातिरिक्तग्रन्थे काऽस्ति ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-द्वितीयाऽऽदिपञ्चपर्व्यो उपादेयत्वं संविग्नगीतार्थाऽऽचीर्णतया संभाव्यते, अक्षराणि तु श्राद्धविधेरन्यत्र दृष्टानि न स्मरन्ति । १५ प्र० । "मासम्मि पव्वछक्कं, तिन्नि अ पव्वाइँ पक्खम्मि ।" इतिगाथोक्ता चतुःपर्वी सर्वश्राद्धानां, किं वा लेपश्राद्धाधिकारवर्णिता ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-"मासम्मि पव्वछक्कं, तिन्नि य पव्वाइँ पक्खम्मि ।" इति गाथोक्तैव चतुःपर्वी सर्वश्राद्धानां संभाव्यते, न तु लेपश्राद्धाधिकारोक्ता । १६ प्र० । ही० २ प्रका० । यदा पञ्चमी तिथिस्त्रुटिता भवति तदा तत्तपः कस्यां तिथौ क्रियते ?, पूर्णिमायां च त्रुटितायां कुत्र ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-यदाऽत्र पञ्चमी तिथिस्त्रुटिता भवति, तदा तत्तपः पूर्वस्यां तिथौ क्रियते, पूर्णिमायां च त्रुटितायां त्रयोदशीचतुर्दश्योः क्रियते, त्रयोदश्यां विस्मृतौ प्रतिपद्यपीति । ४ प्र० । ही० ४ प्रका० । महा-

विदेहेषु कल्याणकतिथ्यादिकमिदमेव, अन्यद्वा ? इति प्रश्ने,उत्तरम्-महाविदेहेषु कल्याणकतिथ्यादिकमिदमेवेति न सम्भाव्यते,यदाऽत्रत्यतीर्थकृतां च्यवनाऽऽदिकल्याणकं,तदा तत्र दिवससद्भावात्. तत्प्रतिपादकाक्षरमपि नोपलभ्यते।१७प्र०। ही० १ प्रका०। तिस्र एव पूर्णिमाः पर्वत्वेन संगीयन्ते, सर्वा अपि वेत्यत्र प्रश्ने, उत्तरम्-"कुन्नं तिहीण मज्झम्मि, का तिही अज्ज वासरे ?।" इत्याद्यागमानुसारेणाऽविच्छिन्नवृद्धपरम्परया च सर्वा अपि पूर्णिमाः पर्वत्वेन मान्या भवन्ति। २प्र०। ही०१ प्रका०। पूर्णिमाऽमावास्ययोर्वृद्धौ पूर्वमौदयिकी तिथिराराध्यत्वेन व्यवस्थापनाऽस्तीति केनचिदुक्तम्, श्रीतातपादाः पूर्वतनीमाराध्यत्वेन प्रसादयन्ति, तत्किमिति प्रश्ने,उत्तरम्-पूर्णिमाऽमावास्ययोर्वृद्धौ औदयिक्येव तिथिराराध्यत्वेन विज्ञेया । ४ प्र० । ही० ३ प्रका० । "छन्नं तिहीण मज्झम्मि, का तिही अज्ज वासरे ? । " इत्याद्यागमवाक्यम्, तत्कुत्राऽऽम्नेऽस्ति, तन्नामग्राहं प्रसाद्यः, यतोऽत्र स्तनिकाः राजसमक्षमेव वदन्ति, यज्जैनजीर्णग्रन्थमध्ये द्वितीयैकादशीप्रमुखतिथीनां चतुःपर्वीनां मानमाराध्यत्वेन नास्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-"छन्नं तिहीण मज्झम्मि, का तिही अज्ज वासरे ?।" इत्यादि गाथा श्राद्धदिनकृत्यसूत्रेऽस्ति,तद्व्याख्यानं च ७-१४-१५। एताः सितेतरभेदात् षट् तिथय इति । द्वितीयैकादशीप्रमुखतिथीनामक्षराणि तु श्राद्धविधेरन्यत्र न सन्ति, तथा ज्ञानपञ्चम्यक्षराणि महानिशीथे सन्तीति । १८० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । "बहुसु य तिहीसु य पव्वणीसु य।" मदनाऽऽदित्रयोदश्यादितिथिषु, ध०१अ०३३३०।

तिहिवुड्डि-तिथिवृद्धि-स्त्री० । अष्टम्यादितिथिवृद्धौ अग्रेतन्या आराधनं क्रियते, यतस्तद्दिने प्रत्याख्यानवेलायां घटिकाद्विका सा भवति, तावत्या एवाऽऽराधनं भवति, तदुपरि नवम्यादीनां भवनात्, संपूर्णायास्तु विराधनं जातं,पूर्वदिने भवनात्।अथ यदि प्रत्याख्यानवेलायां विलोक्यते, तदा तु पूर्वदिने द्वितयमप्यस्ति, प्रत्याख्यानवेलायां समग्रदिनेऽपीति स्पष्टमाराधनं भवतीति प्रश्ने, उत्तरम्-" क्षये पूर्वा तिथिः कार्या, वृद्धौ कार्या तथोत्तरा।" इति उमास्वातिवाचकवचनप्रामाण्याद् वृद्धौ सत्यां स्वल्पाऽप्यग्रेतना तिथिः प्रमाणमिति । १८४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

तिही-तिथी-स्त्री० । ' तिहि ' शब्दार्थे, चं० प्र० १० पाहु० ।

तिहु-कुतस्-अव्य० । " कुतसः कउ कहं तिहु " ॥ ८ । ४ । ४१६ ॥ इत्यपभ्रंशे कुतःशब्दस्य ' तिहु ' इत्यादेशः । कस्मादित्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

तिहुयण-त्रिभुवन-न० । अधस्तिर्यगूर्ध्वलोकभेदे, आव०४अ०।

तिहुयणतिलग-त्रिभुवनतिलक-पुं० । श्रीमाणिक्यपुरे श्रीजीवितचन्द्रप्रभस्वामिप्रतिमायाम्, ती० ४३ कल्प ।

तिहुयणजाणु-त्रिभुवनजानु-पुं० । अहिच्छत्रापूजितायां स्वनामख्यातायां पार्श्वजिनप्रतिमायाम्, ती० ४३ कल्प ।

तीय-अतीत-त्रि० । अतिशयेन इतो गतोऽतीतः, पिधानवदकारलोपः। वर्त्तमानत्वमतिक्रान्ते,स्था०३ ठा०४ उ०। पो०। आव० ।

तीयवयण-अतीतवचन-न० । कृतवानित्येवंरूपे षोडशवचनेषु तृतीये वचने, आचा० २ श्रु० १ चू०१ अ० १ उ० ।

तीर-तीर-पुं० । पर्यन्ते, नि० चू० १ उ० । तटे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। पारे, स्था० ४ ठा० १ उ० । प्रवाहात्परकूले, विशे०। "दकतीरंसि चिट्ठिसए । " उदकतीरं उदकोपकण्ठम् । चू०१ उ०।

शक्-धा० । सामर्थ्ये । स्वादि०-पर०-अक०-अनिट् । " शकेश्चय-तर-तीर-पाराः" ॥ ८ । ४ । ८६ ॥ इति शक्नोतेस्तीर इत्यादेशः । 'तीरइ ।' शक्नोति । प्रा० ४ पाद ।

तृ-धा० । तरणे, प्लवने, अभिभवे च । भ्वादि०-पर०-सक०-सेट् । " तृ-कृ-तृ-आमीरः" ॥ ८ । ४ । २५० ॥ इति तृधातोरन्त्यस्य ईर इत्यादेशः । 'तीरइ' । तरति । प्रा० ४ पाद ।

तीरंगम-तीरङ्गम-त्रि० । तीरं गच्छन्तीति तीरङ्गमाः, अत्र, मुमागमश्च । पारगामिनि, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

तीरट्ठ-तिरस्थ-त्रि० । सम्यक्त्वाऽऽदिप्राप्तेः संसारपारिमाणात् तटस्थे, दशा० २ अ० ।

तीरट्ठि(ण्)-तिरार्थिन्-त्रि० । तीरं पारं भवार्णवस्यार्थयत इत्येवंशीलस्तीरार्थी, तीरस्थायी वा, तीरस्थितिरितिवा प्राकृतत्वात् ' तीरट्ठी ' इति । स्था ४ ठा० १ उ० । सूत्र० । भवार्णवतितीर्षौ, दश० १० अ० ।

तीरहुत्त-तीरभुक्त-पुं० । विदेहजनपदेषु, " इहेव भारहे वासे पुव्वदेसे विदेहो नाम जणवओ, संपइकाले तिरहुत्तदेसो त्ति भण्णति । " ती० १ कल्प ।

तीरित्ता-तारयित्वा-अव्य० । यावज्जीवमाराध्येत्यर्थे, कल्प० ९ क्षण ।

तीरिय-तारित-त्रि० । पूर्णेऽपि प्रत्याख्यानकालावधौ किञ्चित्कालावस्थानेन तीरं नीते, प्रव० ४ द्वार । आचा० । " एता भिक्खुपडिमा तीरिया भवइ ।" पूर्णेऽपि तदवधौ स्तोककालावस्थानात्तीरिता भवति । दशा० १ तत्व । आ० चू० । समासे, व्य० १ उ० ।

तीसइमुहुत्त-त्रिंशन्मुहूर्त्त-त्रि० । त्रिंशतं मुहूर्त्तान्चन्द्रभागो येषां तानि तथा। त्रिंशन्मुहूर्त्तानि यावच्चन्द्रेण सह युज्यमाननक्षत्रे, स्था० ६ ठा० ।

तीसगुत्त-तिष्यगुप्त-पुं० । राजगृहनगरवास्तव्यस्य वसुनामाऽऽचार्यस्य स्वनामख्याते शिष्ये, स च जीवप्रादेशिकानां निह्नवानां धर्माऽऽचार्यः । विशे० । आ० क० । उत्त० । स्था० । आ० म० । आ० चू० । (तद्वक्तव्यता लेशतो 'जीवपएसिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १५५४ पृष्ठे उक्ता)

तीसभद्द-तिष्यभद्र-पुं० । माढरसगोत्रस्याऽऽर्यसंभूतविजयस्थविरस्य स्वनामख्याते शिष्ये, कल्प० ८ क्षण ।

तीसल्लनिस्सल्ल-त्रिशल्यनिःशल्य-त्रि० । मायानिदानमिथ्यादर्शनरूपशल्यत्रयरहिते, पा० ।

..............................तीसल्लनिस्सल्लो (२१)

शल्यते बाध्यते प्राणी एभिरिति शल्यानि । द्रव्यतस्तोमराऽऽदीनि, भावतस्तु मायाऽऽदीनि । निर्गतानि शल्यानि यस्य स निःशल्यः। स चैकशल्यापेक्षयाऽपि स्यादित्याह-त्रीणि च तानि शल्यानि च त्रिशल्यानि, तेषु विषये निःशल्यः त्रिशल्यनिःशल्यः। तत्र मायाशल्यम्-माया निकृतिः, सैव शल्यं मायाशल्यम् । नितरां दायते लूयते मोक्षफलमनिन्द्यब्रह्मचर्याऽऽदिसाध्यकुशलकर्मकल्पतरुवनमनेन देवर्द्ध्यादिप्रार्थनपरिणामनिशितासिनेति निदानं, तदेव शल्यं निदानशल्यम् । मिथ्यादर्शनशल्यम्-मिथ्या विपरीतं, दर्शनं तत्त्वानवबोधलक्षणं मिथ्यादर्शनं, तदेव शल्यं मिथ्यादर्शनशल्यमिति । (२३) पा० ।

तीसा-त्रिंशत्-स्त्री० । " विंशत्यादेर्लुक् " ॥ ८ । १ । २८ ॥ इत्यनुस्वारस्य लुक् । प्रा० १ पाद । " ईर्जिह्वासिंहत्रिंशद्विंशतौ त्या " ॥ ८ । १ । ९२ ॥ इति इकारस्येकारः । त्रिरावृत्तदशसंख्यायाम्, प्रा० १ पाद ।

तीसिया-त्रिंशिका-स्त्री० । त्रिंशद्वर्षपर्यायायां स्त्रियाम्, व्य० ७ उ० ।

तु-तु-अव्य० । समुच्चये, विशे० । नि० चू० । दर्श० । अवधारणे, विशे० । उत्त० । सूत्र० । दश० । प्रव० । आ० म० । नि० चू० । पञ्चा० । विशेषणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । आचा० । वितर्के, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । आव० । पञ्चा० । पूरणे, स्था० ४ ठा० २ उ० । नि० चू० । पञ्चा० । पादपूरणे, पञ्चा० ४ विव० । नि० चू० । पुनःशब्दार्थे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । दश० । पूर्वस्माद्विशेषदर्शने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । एवकारार्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ४ उ० । ग० । अने० । दर्श० । दश० । नं० । आ० म० । स्था० । अप्यर्थे, दर्श० १ तत्त्व । यस्मादर्थे, नि० चू० १ उ० । चशब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । शब्दार्थप्रदर्शने, नि० चू० १५ उ० । भेदे, "तुः स्याद्भेदेऽवधारणे ।" स्था० । आ० म० । निष्क्रमे, प्रव० ४ द्वार । अव्ययत्वेनाऽनेकार्थत्वात् हेतौ, व्य० १ उ० । कारणापेक्षायाम्, नि० चू० १ उ० । तुशब्दो यच्छब्दार्थे द्रष्टव्यः । "तणं तु चित्तमचित्तं" तेणं जं तं चित्तमचित्तमित्यर्थः । नि० चू० १ उ० । विकल्पदर्शने, नि० चू० १ उ० । परिग्रहे, नि० चू० १ उ० । सादृश्ये, स्था० । अप्रतिषेधे, स्तोकप्रायश्चित्तप्रदानविशेषे, नि० चू० १ उ० । अनेकप्रकारविशेषणे, दश० ४ अ० । पर्याप्तिवचने, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

तुअर-तुवर-पुं० । धान्यविशेषे, जं० १ वक्ष० । कषायरसे च । तद्वति, त्रि० । आढक्यां, सौराष्ट्रमृत्तिकायां च । स्त्री० । पित्वात् ङीप् । स्वार्थे कन् । तुवरिकाऽप्यत्रैव । वाच० ।

तुं-त्वाम्-त्रि० । " तं-तुं-तुमं-तुवं-० ॥ ८ । ३ । ९२ ॥ इत्यादिनाऽमासहितस्य युष्मदः 'तुं' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तव-त्रि० । "तइ-तुं-ते-तुम्हं-०" ॥ ८ । ३ । ९९ ॥ इत्यादिना षष्ठ्येकवचनेन ङसा सहितस्य 'तुं' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

त्वम्-त्रि० । " युष्मदस्तं तुं-० " ॥ ८ । ३ । ९० ॥ इत्यादिना सिसहितस्य युष्मदः 'तुं' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुंग-तुङ्ग-त्रि० । उच्चैस्त्वगुणयुक्ते, स० । जं० । औ० । जी० । कल्प० । सू० प्र० । उन्नते, औ० । अत्युच्चे, रा० ।

तुंगार-तुङ्गार-पुं० । दक्षिणपूर्वस्या दिग्वाते, आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ० चू० ।

तुंगिय-तुङ्गिक-पुं० । वत्सदेशान्तर्गते स्वनामख्याते ग्रामे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । " अत्तभद्दं तुंगिय चेव । " तुङ्गिकगणे तुङ्गिकापत्यगोत्रे, नं० ।

तुंगिया-तुङ्गिका-स्त्री० । स्वनामख्यातायां नगर्याम्, भ० ।

तुङ्गिकानगरीश्रावकसमुदायवान् दृष्टान्तश्चैवम्-

तीसे णं तुंगियाए नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे पुप्फवईए नामं चेइए होत्था । वण्णओ । तत्थ णं तुंगियाए नयरीए बहवे समणोवासया परिवसंति, अड्ढा दित्ता वित्थिण्णविपुलभवणसयणाऽऽसणजाणवाहणाऽऽइण्णा बहुधणबहुजायरूवरयया आओगपओगसंपउत्ता विच्छड्डियविउलभत्तपाणा बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूया बहुजणस्स अपरिभूया अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरनिज्जरकिरियाहिगरणबंधप्पमोक्खकुसला असहेज्जदेवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिन्नरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगादीएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जा निग्गंथे पावयणे निस्संकिया निक्कंखिया निव्वितिगिच्छा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा अभिगयट्ठा विणिच्छियट्ठा अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, ऊसियफलिहा अवंगुयदुवारा चियत्तंतेउरपरघरप्पवेसा बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्ममणुपालेमाणा समणे णिग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं पीढफलगसेज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेणं पडिलाभेमाणा अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति । तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जाइसंपन्ना कुलसंपन्ना बलसंपन्ना रूवसंपन्ना विणयसंपण्णा णाणसंपन्ना दंसणसंपण्णा चरित्तसंपन्ना लज्जालाघवसंपन्ना ओयंसी तेयंसी वच्चंसी जसंसी जियकोहा जियमाणा जियमाया जियलोभा जियनिद्दा जियइंदिया जियपरीसहा जीवियासामरणभयविप्पमुक्का बहुस्सुया बहुपरिवारा पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडा अहाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुग्गामं दूइज्जमाणा सुहं सुहेणं विहरमाणा जेणेव तुंगिया नयरी, जेणेव पुप्फवईए चेइए, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हेत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥

(अड्ढ त्ति) आढ्या धनधान्याऽऽदिभिः परिपूर्णाः, (दित्त त्ति) दीप्ताः प्रसिद्धाः, दृप्ता वा दर्पिताः (वित्थिण्णविपुलभवणसयणाऽऽसणजाणवाहणाऽऽइण्णा) विस्तीर्णानि विस्तारवन्ति विपुलानि प्रचुराणि भवनानि गृहाणि शयनाऽऽसनयानवाहनैराकीर्णानि येषां ते तथा। अथवा विस्तीर्णानि विपुलानि भवनानि येषां, शयनाऽऽसनयानवाहनानि चाऽऽकीर्णानि गुणवन्ति येषां ते तथा । तत्र यानं गन्त्र्यादि, वाहनं त्वश्वाऽऽदि । (बहुधणबहुजायरूवरयया) बहु प्रभूतं धनं गणिमाऽऽदिकं, तथा बहुत्र जातरूपं सुवर्णं रजतं च रूप्यं येषां ते तथा । (आओगपओगसंपउत्ता) आयोगो द्विगुणाऽऽदिवृद्ध्याऽर्थप्रदानं, प्रयोगश्च कलान्तरं, तौ संप्रयुक्तौ व्यापारितौ यैस्ते तथा । (विच्छड्डियविउलभत्तपाणा) विच्छर्दितं विविधमुज्झितं बहुलोकभोजनत उच्छिष्टावशेषसंभवात्, विच्छर्दितं वा विविधविच्छित्तिमत्, विपुलं भक्तं च पानकं च येषां ते तथा । (बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूया) बहवो दासीदासा येषां, गोमहिषगवेलकाश्च प्रभूता येषां ते तथा । गवेलका उरभ्राः (बहुजणस्स अपरिभूया) बहोर्लोकस्याऽपरिभवनीयाः, "आसव" इत्यादौ क्रियाः कायिक्यादिका अधि-

करणं गन्त्रीयन्त्रकाऽऽदि । (कुसल त्ति) आस्रवाऽऽदीनां हेयोपादेयतास्वरूपवेदिनः (असहेज्जेत्यादि) अविद्यमानं साहाय्यं परसाहायिकमत्यन्तसमर्थत्वाद्येषां ते असाहाय्याः, ते च ते देवाऽऽद्यश्चेति कर्मधारयः । अथवा-व्यस्तमेवेदं, तेन असाहाय्या आपद्यपि देवाऽऽदिसाहाय्यकानपेक्षाः, स्वयं कृतं कर्म स्वयमेव भोक्तव्यमित्यदीनमनोवृत्तय इत्यर्थः। अथवा--पाखण्डिभिः प्रारब्धाः सम्यक्त्वविचलनं प्रति न परसाहाय्यकमपेक्षन्ते, स्वयमेव तत्प्रतिघातसमर्थत्वाज्जिनशासनात्यन्तभावितत्वाच्चेति, तत्र देवा वैमानिकाः(असुर त्ति)असुरकुमाराः(नाग त्ति)नागकुमाराः, उभयेऽप्यमी भवनपतिविशेषाः (सुवण्ण त्ति) सद्वर्णा ज्योतिष्काः, यक्षराक्षसकिन्नरकिंपुरुषा व्यन्तरविशेषाः (गरुल त्ति) गरुडध्वजाः सुपर्णकुमारा भवनपतिविशेषाः, गन्धर्वा महोरगाश्च व्यन्तरविशेषाः । (अणतिक्कमणिज्ज त्ति) अनतिक्रमणीया अचालनीयाः (लद्धट्ठ त्ति) अर्थश्रवणात् । (गहियट्ठ त्ति) अर्थावधारणात् । (पुच्छियट्ठ त्ति) सांशयिकार्थप्रश्नकरणात् । (अभिगयट्ठ त्ति) प्रश्नितार्थस्याभिगमनात् । (विणिच्छियट्ठ त्ति) ऐदम्पर्यार्थस्योपलम्भात् । अत एव-(अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता) अस्थीनि च कीकसानि, मिञ्जा च तन्मध्यवर्त्ती धातुरस्थिमिञ्जास्ताः प्रेमानुरागेण सार्वज्ञप्रवचनप्रीतिरूपकुसुम्भाऽऽदिरागेण रक्ता इव रक्ता येषां ते तथा । अथवा-अस्थिमिञ्जासु जिनशासनगतप्रेमानुरागेण रक्ता ये ते तथा । केनोल्लेखेनेत्याह-(अयमाउसो ! इत्यादि) अयमिति प्राकृतत्वादिदम् ।(आउसो ! त्ति) आयुष्मन्निति पुत्राऽऽदेरामन्त्रणम्। (सेसे त्ति) शेषनिर्ग्रन्थप्रवचनव्यतिरिक्तं धनधान्यपुत्रकलत्रमित्रकुप्रवचनाऽऽदिकमिति ।(ऊसियफलिह त्ति) उच्छ्रितमुन्नतं स्फटिकमिव स्फटिकं चित्तं येषां ते उच्छ्रितस्फटिकाः, मौनीन्द्रप्रवचनावाप्त्या परितुष्टमानसा इत्यर्थः । इति वृद्धव्याख्या । अन्ये त्वाहुः-उत्थितोऽर्गलास्थानादपनीयोर्ध्वीकृतो नतिरश्चीनः कपाटपश्चाद्भागादपनीत इत्यर्थः । परिघोऽर्गला येषां ते उच्छ्रितपरिघाः । अथवा--उच्छ्रितो गृहद्वाराद्पगतः परिघो येषां ते उच्छ्रितपरिघाः । औदार्यातिशयादतिशयदानदायित्वेन भिक्षुकाणां गृहप्रवेशार्थमनर्गलितगृहद्वारा इत्यर्थः॥ (अवंगुयदुवारे त्ति) अप्रावृतद्वाराः, कपाटाऽऽदिभिरस्थगितगृहद्वारा इत्यर्थः । सद्दर्शनलाभेन न कुतोऽपि पाषण्डिकाद्बिभ्यति, शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्घाटिताशिरसस्तिष्ठन्तीति भावः । इति वृद्धव्याख्या । अन्ये त्वाहुः--भिक्षुकप्रवेशार्थमौदार्यादस्थगितगृहद्वारा इत्यर्थः ॥ (चियत्तंतेउरपरघरप्पवेसा) (चियत्तो त्ति) लोकानां प्रीतिकर एवान्तःपुरे वा परगृहे वा प्रवेशो येषां ते तथा, अतिधार्मिकतया सर्वत्रानाशङ्कनीयास्त इत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः-(चियत्तो त्ति) नाऽप्रीतिकरोऽन्तःपुरपरगृहयोः प्रवेशः शिष्टजनप्रवेशनं येषां ते तथा । अनीर्ष्यालुताप्रतिपादनपरं चेत्थं विशेषणमिति । अथवा-(चियत्तो त्ति) त्यक्तोऽन्तःपुरपरगृहयोः परकीययोर्यथाकथञ्चित्प्रवेशो यैस्ते तथा । (बहूहिं इत्यादि) शीलव्रतान्यणुव्रतानि, गुणा गुणव्रतानि, विरमणानि औचित्येन रागाऽऽदिनिवृत्तयः,प्रत्याख्यानानि पौरुष्यादीनि,पौषधं पर्वदिनानुष्ठानं तत्रोपवासोऽवस्थानं पौषधोपवासः। एतेषां द्वन्द्वोऽतस्तैर्युक्ता इति गम्यम्। पौषधोपवास इत्युक्तम्, पौषधं च यदा यथाविधं च ते कुर्वन्तो विहरन्ति तद्दर्शयन्नाह-(चाउद्दसेत्यादि) इहोद्दिष्टा अमावस्याः (पडिपुण्णं पोसहं ति) आहाराऽऽदिभेदाच्चतुर्विधमपि सर्वतः । (वत्थपरिग्गहकंबलपायपुंछणेणं ति) । इह पतद्ग्रहः पात्रं, पादप्रोञ्छनं, रजोहरणं,पीठमासनं,फलकमवष्टम्भनफलकं, शय्या वसतिर्बृहत्संस्तारको वा, संस्तारको लघुतरः । एषां समाहारद्वन्द्वोऽतस्तेन । (अहापरिग्गहिएहिं ति) यथाप्रतिपन्नैर्न पुनर्ह्रासं नीतैः (थेरे त्ति) श्रुतवृद्धाः । (रूवसंपन्न त्ति) इह रूपं सुविहितनेपथ्यं, शरीरसुन्दरता वा, तेन सम्पन्ना युक्ता रूपसम्पन्नाः । (लज्जालाघवसंपन्न त्ति) लज्जा प्रसिद्धा, संयमो वा, लाघवं द्रव्यतोऽल्पोपधित्वं, भावतो गौरवत्यागः । (ओयंसी ति) ओजस्विनो मानसावष्टम्भयुक्ताः । (तेयंसी ति) तेजस्विनः शरीरप्रभायुक्ताः । (वच्चंसी ति) वर्चस्विनो विशिष्टप्रभावोपेताः, वचस्विनो वा विशिष्टवचनयुक्ताः । (जसंसी ति) ख्यातिमन्तः । अनुस्वारश्चैतेषु प्राकृतत्वात् । (जीवियासामरणभयविप्पमुक्क त्ति) जीविताऽऽशया, मरणभयेन च विप्रमुक्ता ये ते तथा । इह (?) यावत्करणादिदं दृश्यम्-" तवप्पहाणा गुणप्पहाणा । " गुणाश्च संयमगुणाः, तपःसंयमग्रहणं चेह तपःसंयमयोः प्रधानमोक्षाङ्गताऽभिधानार्थम् । तथा-" करणप्पहाणा चरणप्पहाणा " तत्र करणं पिण्डविशुद्ध्यादि, चरणं व्रतश्रमणधर्माऽऽदि । (निग्गहप्पहाणा) निग्रहोऽन्यायकारिणां दण्डः, (निच्छयप्पहाणा) निश्चयोऽवश्यङ्करणाभ्युपगमः, तत्त्वनिर्णयो वा । (मद्दवप्पहाणा अज्जवप्पहाणा) ननु जितक्रोधाऽऽदित्वान्मार्दवाऽऽदिप्रधानत्वमवगम्यत एव तत्किं मार्दवेत्यादिना ?। उच्यते-तत्रोदयविफलतोक्ता, मार्दवाऽऽदिप्रधानत्वे तूदयाभाव एवेति । (लाघवप्पहाणा) लाघवं क्रियासु दक्षत्वम्। (खंतिप्पहाणा मुत्तिप्पहाणा) (एवं विज्जामंतवेयबंभनयनियमसच्चसोयप्पहाणा चारुपण्णा) सत्प्रज्ञाः (सोही) शुद्धिहेतुत्वेन शोधयः, सुहृदो वा मित्राणि, जीवानामिति गम्यम्। (अणियाणा अप्पुस्सुया अबहिल्लेसा सुसामण्णरया अच्छिद्दपसिणवागरण त्ति) अच्छिद्राण्यविरलानि निर्दूषणानि वा प्रश्नव्याकरणानि येषां ते तथा। (कुत्तियावणभूय त्ति) कुत्रिकं स्वर्गमर्त्यपातालक्षणं भूमित्रयं, तत्सम्भवं वस्त्वपि कुत्रिकं, तत्सम्पादक आपणो हट्टः कुत्रिकाऽऽपणः, तद्भूताः समीहितार्थसम्पादनलब्धियुक्तत्वेन सकलगुणोपेतत्वेन वा तदुपमाः । (सद्धिं ति) सार्द्धं सहेत्यर्थः । सम्परिवृताः सम्यक् परिवारिताः, परिकरभावेन परिकरिता इत्यर्थः । पञ्चभिः श्रमणशतैरेव ।

तए णं तुंगियाए नयरीए सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु ०जाव एगदिसाभिमुहा णिज्जायंति, तए णं ते समणोवासया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा हट्ठतुट्ठा ०जाव सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! पासावच्चेज्जा थेरा भगवंतो जातिसंपण्णा ०जाव अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ।

(सिंघाडग त्ति) शृङ्गाटकफलाऽऽकारं स्थानं, त्रिकं रथ्यात्रयमीलनस्थानम्, चतुष्कं रथ्याचतुष्कमीलनस्थानम, चत्वरं बहुतररथ्यामीलनस्थानम्, महापथो राजमार्गः, पन्था रथ्यामात्रम् । यावत्करणात्-" बहुजणसद्देहिं वा " इत्यादिपूर्वव्याख्यातमत्र दृश्यम् ।

तं महाफलं खलु देवाणुप्पिया ! तहारूवाणं थेराणं भगवंता-

णं नामगोयस्स वि सवणयाए, किमंग ! पुण अभिगमण-वंदणनमंसणपडिपुच्छणपज्जुवासणयाए ०जाव गहणयाए; तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! थेरे भगवंते वंदामो, णमंसामो ०जाव पज्जुवासामो, एयएणं इहभवे परभवे ०जाव आणुगामियत्ताए भविस्सइ त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता जेणेव सयाइं गेहाइं, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता एहाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवराइं परिहिया अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा सएहिं सएहिं गेहेहिंतो पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमइत्ता एगयओ मेलायंति, पायविहारचारेणं तुंगियाए नयरीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छंति, निग्गच्छइत्ता जेणेव पुप्फवईए नामं चेइए होत्था, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता थेरे भगवंते पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंति । तं जहा-सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए, अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, एगसाडिएणं उत्तरासंगकरणेणं चक्खुप्फासे अंजलिपगहेणं मणसा एगत्तीकरणेणं जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति ०जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासंति । तए णं ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं तीसे य महइ महालियाए परिसाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेंति । जहा केसिसामिस्स० जाव समणोवासइत्ताए आणाए आराहए भवइ० जाव धम्मो कहिओ ॥

(पडिसुणेंति त्ति) अभ्युपगच्छन्ति । (सयाइं ति) स्वकीयानि । (कयबलिकम्म त्ति) स्नानानन्तरं कृतं बलिकर्म यैः स्वगृहदेवतानां ते तथा । (कयकोउयमंगलपायच्छित्त त्ति) कृतानि कौतुकमङ्गल्यान्येव प्रायश्चित्तानि दुःस्वप्नाऽऽदिविघातार्थमवश्यकरणीयत्वाद्यैस्ते तथा । अन्ये त्वाहुः-(पायच्छुत्त त्ति) पादेन पादे वा, छुप्ताश्चक्षुर्दोषपरिहारार्थं पादच्छुप्ताः, कृतकौतुकमङ्गलाश्च ते पादच्छुप्ताश्चेति विग्रहः । तत्र कौतुकानि मषीतिलकाऽऽदीनि, मङ्गलानि तु सिद्धार्थकदध्यक्षतदूर्वाऽङ्कुराऽऽदीनि । (सुद्धप्पावेसाइं ति) शुद्धाऽऽत्मानो वेष्याणि वेषोचितानि । अथवा-शुद्धानि च तानि प्रावेश्यानि च राजाऽऽदिसभाप्रवेशोचितानि शुद्धप्रावेश्यानि । (वत्थाइं पवराइं परिहिय त्ति) क्वचित् दृश्यते । क्वचिच्च-(वत्थाइं पवरपरिहिय त्ति) तत्र प्रथमपाठो व्यक्तः, द्वितीयस्तु प्रवरं यथा भवतीत्येवं परिहिताः प्रवरपरिहिताः । (पायविहारचारेणं ति) पादविहारेण, न यानविहारेण, यश्चारो गमनं स तथा तेन । (अभिगमेणं ति) प्रतिपत्त्या अभिगच्छन्ति समीपं गच्छन्ति । (सचित्ताणं ति) पुष्पताम्बूलाऽऽदीनाम् (विउसरणयाए त्ति) व्यवसर्जनया त्यागेन । (अचित्ताणं ति) वस्त्रमुद्रिकानाम (अविउसरणाए त्ति) अत्यागेन । (एगसाडिएणं ति) अनेकोत्तरीयशाटकानां निषेधार्थमुक्तम् । (उत्तरासंगकरणेणं ति) उत्तरासङ्ग उत्तरीयस्य देहे न्यासविशेषः । चक्षुःस्पर्शो दृष्टिपाते । (एगत्तीकरणेणं ति) अनेकत्वस्यानेकाऽऽलम्बनत्वस्यैकत्वकरणमेकालम्बनत्वकरणमेकत्वीकरणं, तेन । (तिविहाए पज्जुवासणाए त्ति) इह पर्युपासनात्रैविध्यं मनोवाक्कायभेदादिति । (महइमहालियाए त्ति) आलप्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वाद् महति महत्याः । भ० २ श० ५ उ० ।

तुंगियायण-तुङ्गिकायन-पुं० । तुङ्गिकगोत्रापत्ये ऋषौ, कल्प० ८ क्षण ।

तुंगी-देशी-रात्रौ, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा ।

तुंड-तुण्ड-न० । मुखे, विशे० । आ० क० । पुरोभागे, नि० चू० । "सायं से धूना सगडस्स तुंडे ठिता" नि० चू० १ उ० । आस्ये, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा ।

तुंडिक-तुण्डिक-पुं० । वेलाकूलवास्तव्ये स्वनामख्याते वणिजि. आ० क० । ('जत्तासिद्ध' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३१८ पृष्ठे कथा)

तुंडीर-देशी-मधुरबिम्बे, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा ।

तुंडूअ-देशी-जीर्णघटे, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा ।

तुंतुखडिअ-देशी-त्वरायुक्ते, दे० ना० ५ वर्ग १६ गाथा ।

तुंद-देशी-उदरे, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा ।

तुंदपरिमिय-तुन्दपरिमित-त्रि० । उदरभरणव्यग्रे, सूत्र० १० श्रु० ७ अ० ।

तुंदिल्ल-तुन्दिल-त्रि० । तुन्दमस्यास्तीति तुन्दिलः । यथेप्सितभोजनेन वर्द्धितोदरे, उत्त० ७ अ० ।

तुंब-तुम्ब-न० । अलाब्वाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । नि० चू० । ज्ञाताधर्मकथाऽध्ययने, स० १८ सम० । आव० । शकटनाभ्याम् "जेण कुलं आयत्तं, तं पुरिसं आयरेण रक्खंज्जा । न हि तुंबम्मि विणट्ठे, अरया साहारया होंति ॥ १ ॥" आ० म० १ अ० १ खण्ड । कप्रत्ययेऽपि । अनु० । उत्त० । स्था० ।

तुंबणाय-तुम्बज्ञात-न० । अलाबूदृष्टान्तप्रतिपादके षष्ठेऽध्ययने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आ० चू० । ('कम्म' शब्दे चैतत् तृतीयभागे ३३८ पृष्ठे उक्तम्)

तुंबर-तुम्बर-त्रि० । कषे आमे, "जह तरुणअंबगरसो, तुंबरकविठ्ठस्स वा वि जारिसओ । (१२)" उत्त ३४ अ० ।

तुंबरफल-तुम्बरफल-न० । हरीतकीप्रभृतिषु, बृ० १ उ० ।

तुंबवणग्गाम-तुम्बवनग्राम-पुं० । स्वनामख्याते ग्रामे. यत्र सुनन्दाभिधानां साध्वानां भार्यां मुक्त्वा धनगिरिणा दीक्षा गृहीता । कल्प० १ क्षण । आ० चू० । आ० म० ।

तुंबवीण-तुम्बवीण-त्रि० । तुम्बयुक्ता वीणा येषां ते तुम्बवीणाः । तुम्बवीणावादकेषु, जीव० ३ प्रति० ४ उ० ।

तुंबवीणिय-तुम्बवीणिक-त्रि० । तुम्बयुक्ताया वीणाया वादके, रा० । आचा० । प्रश्न० । ज्ञा० । अनु० ।

तुंबसाग-तुम्बशाक-पुं० । स्वनामख्याते शाकविशेषे, उत्त० २ अ० ।

तुंबा-तुम्बा-स्त्री० । चमरस्य बलस्य च लोकपालानामग्रमहिषीणां बाह्यपरिषदि, स्था० ३ ठा० २ उ० । चन्द्रस्य सू-

र्वस्य च सामानिकाग्रमहिषीणां चाभ्यन्तरपरिषदि, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

तुंबाग-तुम्बाक-न० । त्वक्मिञ्जाऽन्तर्वर्तिनि, आर्द्रायां तुलस्यां च । स्त्री० । दश० ५ अ० १ उ० ।

तुंबिणी-तुम्बिनी-स्त्री० । वल्लीविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

तुंबिल्ली-देशी-मधुपटले, उद्खले च । दे० ना० ५ वर्ग २२ गाथा ।

तुंबी-देशी-अलाब्वाम्, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा ।

तुंबुरु-तुम्बुरु-पुं० । श्रीसुमतेर्यक्षे, स च श्वेतवर्णो गरुडवाहनश्चतुर्भुजो वरदशक्तियुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, गदानागपाशयुक्तवामपाणिद्वयश्च । प्रव० २६ द्वार । शक्रस्य देवेन्द्रस्य गन्धर्वानीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा० । तृतीये गन्धर्वे, प्रज्ञा० १ पद । वृक्षविशेषे, स० ७ सम० ।

तुंबेअ-तुम्बेक-न० । ज्ञाताऽध्ययनभेदे, आव० ४ अ० ।

तुच्छ-तुच्छ-त्रि० । असारे, आव० ६ अ० । पं० व० । अल्पे, भ० ६ श० ३३ उ० । प्रश्न० । उन्मत्ते, न तुच्छो भवेन्नोन्मादं गच्छेत् । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । चतुर्थीनवमीचतुर्दशीरूपासु तिथिषु, चं० प्र० १० पाहु० । द० प० । सू० प्र० । रिक्ते, स च द्रव्यतो निर्धनो जलाऽऽदिरहितो घटाऽऽदिर्वा, भावतो ज्ञानाऽऽदिरहितः । आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । द्रमके, काष्ठहारकाऽऽदौ, अथवा-" ज्ञानैश्वर्यधनोपेतो, जात्यन्वयबलान्वितः । तेजस्वी मतिमान् ख्यातः, पूर्णस्तुच्छो विपर्ययात् ॥ १ ॥ " इत्युक्तलक्षणे अपूर्णे, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । अवशुष्के, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा ।

तुच्छइअ-देशी-रञ्जिते, दे० ना० ५ वर्ग १५ गाथा ।

तुच्छकहणा-तुच्छकथना-स्त्री० । अपरिणतदेशनायाम्, पं० व० ४ द्वार ।

तुच्छकुल-तुच्छकुल-त्रि० । अल्पकुटुम्बे, कल्प० ४ क्षण । चाण्डालाऽऽदीनां कुले, न० । स्था० ८ ठा० । आ० म० ।

तुच्छग-तुच्छक-त्रि० । अगम्भीरे, पञ्चा० ७ विव० । आ० चू० । आ० म० । आचा० ।

तुच्छत्त-तुच्छत्व-न० । निःसारतायाम्, भ० १८ श० ३ उ० ।

तुच्छय-देशी-रञ्जिते, दे० ना० ५ वर्ग १५ गाथा ।

तुच्छरूव-तुच्छरूप-त्रि० । तुच्छं हीनं रूपमाकारो यस्य स तुच्छरूपः । हीनाऽऽकारे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तुच्छुत्ति-तुच्छोक्ति-स्त्री० । तुच्छबुद्धिप्रणीतवचने, द्रव्या० १४ अध्या० ।

तुच्छोभासि(ण्)-तुच्छावभासिन्-त्रि० । तुच्छो धनश्रुताऽऽदिरहितोऽत एव तद्विनियोजकत्वात् तुच्छावभासी । दृष्टणामपूर्णावभासिनि, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तुच्छोसहिभक्खणया-तुच्छौषधिभक्षणता-स्त्री० । असाराणामौषधीनां भक्षणरूपे उपभोगपरिभोगाविरतिव्रतस्यातिचारे, उपा० १ अ० । उदाहरणम् " एगो कोत्तरकवगो, से गावो चाइ, राया निग्गओ, आयंतं पेच्छइ, ततो वारिए इतो चायइ, रन्नो कोरगेण पोट्टं फालियं, केत्तियाओ चाइयाओ होज्ज त्ति?, नवरि फेणं, अन्नं न किंचि अत्थि । " आव० ६ अ० । ध० २० ।

तुज्ज-तूर्य-न० । वाद्यभेदे, सू० प्र० १० पाहु० ।

तुज्झ-तव-त्वद्-त्रि० । "ङसिङस्भ्यां तइ-तुज्झ-तुध्राः" ॥८।४।३७२ ॥ इति ङसिङस्भ्यां सह युष्मदस्तुज्झ इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद ।

तुट्ट-त्रुट्-धा० । छेदने, दिवा० । तुदा०-पर०-सक०-सेट् । "शकाऽऽदीनां द्वित्वम्" ॥ ८ । ४ । २३० ॥ इति द्वित्वम् । प्रा० ४ पाद । त्रुट्यति व्यवच्छिद्यते जीवानां जीवितमिति शेषः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । त्रुट्यति च्यवते । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । जीविताच्च्यवने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । त्रोटयेदपनयेत् आत्मनः पृथक्कुर्यात्परित्यजेद्वा । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

तुट्ठ-त्रि० । संतुष्टे, उत्त० १८ अ० । तोषं कृतवति, आ० म० १ अ० १ खण्ड । औ० । जी० । ज० । रा० । आचा० । ज्ञा० । उत्त० । सन्तोषं प्राप्ते, कल्प० १ क्षण ।

तुट्ठि-तुष्टि-स्त्री० । संतोषे, कल्प० १ क्षण । मनःप्रसत्तौ, कल्प० ६ क्षण । नवधा तुष्टिः-प्रकृत्युपादानकालभोगाऽऽख्याः, अम्भःसलिलौघवृष्टयपरपर्यायवाच्याश्चतस्र आध्यात्मिकाः; शब्दाऽऽदिविषयोपरतयश्चार्जनरक्षणक्षयभोगहिंसादोषदर्शनहेतुजन्मानः पञ्च बाह्यास्तुष्टयः; ताश्च पारसुपारपारापारानुत्तमाम्भउत्तमाम्भःशब्दव्यपदेश्या इति । स्या० १५ श्लो० । उत्सवे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

तुड-तुड्-धा० । भेदे, तुदा०-पर०-सक०-सेट् । " तुडेस्तोड-तुट्ट-खुट्ट-खुडोक्खुडोल्लुक्क-णिलुक्क-लुक्कोल्लूराः " ॥ ८ । ४ । ११६ ॥ इति 'तुड'धातोरेते नवाऽऽदेशाः । प्रा० ४ पाद ।

तुडिय-त्रुटित-न० । तूर्ये, जं० ३ वक्ष० । औ० । स्था० । दिव्यतूर्ये, आ० म० १ अ० १ खण्ड । वेणुवीणामृदङ्गाऽऽदिषु आतोद्येषु, रा० । पटहाऽऽदौ, स्था० ८ ठा० । आतोद्ये, रा० । आ० म० । जी० । प्रज्ञा० । वादित्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । ततविततघनशुषिरभिन्नवादित्रे, कल्प० १ क्षण । जं० । दशा० । भ० । औ० । रा० । चतुरशीत्या लक्षैर्गुणिते त्रुटिताङ्गे, कर्म० ४ कर्म० । जं० । कल्प० । स्था० । अनु० । ज्यो० । जी० । भ० । बाहुरक्षिकायाम्, स्त्री० । रा० । ज्ञा० । स्था० । आचा० । सं० । औ० । स० । उत्त० । प्रज्ञा० । ज० । भ० । चमरस्य सामानिकानामभ्यन्तरपरिषदि, स्था० ३ ठा० २ उ० । "तुडियं विग्गलं ।" इति देशीभाषा । नि० चू० २ उ० ।

तुडियंग-त्रुटिताङ्ग-न० । चतुरशीत्या लक्षगुणितपूर्वे, स्था० २ ठा० ४ उ० । "चउरासीइं पुव्वसयसहस्साइं से एगे तुडियंगे ।" अनु० । जं० । कर्म० । भ० । सुषमसुषमायां भरतैरवतयोरकर्मभूमिषु च जायिनि कल्पवृक्षे, तं० । आव० । जी० । ति० । स० । त्रुटितानि तूर्याणि तत्करणत्वात् त्रुटिताङ्गः । तूर्यदायिनि, उक्तं च-" मत्तंगेसु य मज्जं १, सुहपेज्जं भायणाणि भिंगेसु २ । तुडियंगेसु य संगत-तुडियाइँ बहुप्पगाराइं ॥ ३ ॥ " स्था० १० ठा० ।

तुण्णओ-देशी-कुत्स्नाऽऽख्यतूर्यविशेषे, दे० ना० ५ वर्ग १६ गाथा

तुम्माग-तुमाक-त्रि० । सीवनकर्मकर्त्तरि, नं० । आचा० । आ० चू० । प्रज्ञा० । अनु० । आ० म० ।

तुण्णाग–तुन्नाक–त्रि० । ' तुन्नग ' शब्दार्थे, नं० ।

तुम्निय–तुम्नित–त्रि० । तुन्नकारवत् स्वकलाकौशलतः पूरिते छिद्रे. बृ० १ उ० ।

तुएिहक्क–तूष्णीक–त्रि० । " सेवाऽऽदौ वा " ॥८।२।९९॥ इति ककारस्य विकल्पेन द्वित्वम् । पक्षे–' तुण्हिअ ' । प्रा० २ पाद। मौनावलम्बिनि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । नि० चू० । तूष्णींभावं भजमाने, नि० चू० । " जह खाविए गंडूसं कोती घेत्तूण नाम तुणिहक्को । " नि० चू १ उ० । मृदौ, निश्चले च । दे० ना० ५ वर्ग १५ गाथा ।

तुएही–देशी–सूकरे, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा ।

तुद–तोद–पुं० । प्रतोदाऽऽदिषु, " रहंसि जुत्तं सरयंति बालं, आरुस्स विज्झंति तुदेण पिट्ठे । " कोपं कृत्वा प्रतोदाऽऽदिना पृष्ठदेशे तं नारकं परवशं नयन्ति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

तुप्प–तुप्र–पुं० । मृतककलेवरं वसाघृताऽऽदिभिः परिणामिते, बृ० १ उ० । नि० चू० । कौतुके, विवाहे, सर्षपे, म्रक्षिते, स्निग्धे, कुतुपे च । दे० ना० ५ वर्ग २२ गाथा ।

तुप्पग्ग–तुप्राग्र–न० । म्रक्षिताग्रे, कल्प० २ क्षण ।

तुप्पोट्ठ–तुप्रोष्ठ–त्रि० । तुप्रा म्रक्षिता मदनेन वा वेष्टिताः शीतरक्षाऽऽदिनिमित्तमोष्ठा येषां ते तुप्रोष्ठाः । म्रक्षितोष्ठेषु ग० २ अधि० । अनु० ।

तुबरी–तुबरी–स्त्री० । मालवकाऽऽदिप्रसिद्धे धान्यविशेषे, ध० २ अधि० ।

तुब्भ–त्वत्–त्रि० । " तुब्भ–तुज्झ० –" ॥ ८ । ३ । ९७॥ इत्यादिना ङसिना सह युष्मदस्तुब्भ इत्यादेशः। प्रा० ३ पाद ।

तुब्भत्तो–त्वत्तः–त्रि० । " तइ–तुव–तुम–तुह–तुब्भा ङसौ ॥ ८ ।३। ९६ ॥ इति ङसि परतो युष्मदस्तुब्भ इत्यादेशः । एवं 'तुब्भत्तो' इत्यपि । प्रा० ३ पाद ।

तुब्भाण–युष्माकम्–त्रि० । " तु–वो–भे–तुब्भ–तुब्भं–तुब्भाण०– " ॥८। ३ । १००॥ इत्यादिना आमासहितस्य युष्मदस्तुब्भाण इत्यादेशः। प्रा० ३ पाद ।

तुब्भे–यूयम्–त्रि० । " भे–तुब्भे–तुज्झे० –" ॥८।३। ९१॥ इत्यादिना जसा सहितस्य युष्मदस्तुब्भे इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुम–त्वम्–त्रि० । " तइ–तुं–ते–तुम्हं–तुह–तुहं–तुव–तुम० –" ॥ ८ । ३ । ९९ ॥ इत्यादिना षष्ठ्येकवचनेन सहितस्य युष्मदस्तुम इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद । बहुवचनोच्चारणयोग्ये तिरस्कारप्रधाने एकवचनान्ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । " तुमं ति वत्ता भवइ । " आव० १ अ० । स्था० ।

तुमइ–त्वया–त्रि० । " भे–दि–दे–ते–तइ–तए–तुमं–तुमइ० –" ॥८।३।९४॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदस्तुमइ इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुमए–त्वया–त्रि० । " भे–दि–दे–ते–तइ तए–तुमं तुमइ–तुमए० –" ॥८। ३।९४ ॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदस्तुमए इत्यादेशः । एवं ' तुमं ' इत्यपि । प्रा० ३ पाद ।

तुमत्तो–त्वत्तः–त्रि० " तइ तुव–तुम० –" ॥ ८ । ३ । ९६ ॥ इत्यादिना ङसि परतो युष्मदस्तुम इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुमाइ–त्वया–त्रि० । " भे–दि–दे–ते–तइ–तए–तुमं–तुमइ–तुमए–तुमे–तुमाइ० –" ॥८।३।९४ ॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदः 'तुमाइ' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तव–त्रि० । " तइ–तुं–ते–तुम्हं–तुह–तुहं–तुव–तुम–तुमे–तुमो–तुमाइ० –" ॥ ८ । ३ । ९९ ॥ इत्यादिना षष्ठ्येकवचनेन सह युष्मदस्तुमाइ इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुमाण–युष्माकम्–त्रि० । "तु–वो–भे–तुब्भ–तुब्भं–तुब्भाण–तुवाण–तुमाण० –" ॥ ८ । ३ । १०० ॥ इत्यादिना आमा सहितस्य युष्मदस्तुमाण इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुमातो–त्वत्तः–त्रि० । "अतो ङसेर्डातोडातू" ॥ ८ । ४ । ३२१ ॥ इति पैशाच्यामकारात्परस्य ङसेर्डितौ 'आतो–आतु' इत्यादेशौ । प्रा० ४ पाद ।

तुमे–त्वया–त्रि० । "भे–दि–दे–ते–तइ–तए–तुमं–तुमइ–तुमए–तुमे०" ॥८।३। ९४ ॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदस्तुमे इत्यादेशः। प्रा० ३ पाद ।

तव–त्रि० । " तइ–तुं–ते–तुम्हं–तुह–तुहं तुव० –" ॥ ८ ॥ ३ । ९९ । इत्यादिना ङसा सहितस्य युष्मदस्तुमे इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुम्हं–त्वया–त्रि० । "तइ–तुं–ते तुम्हं०" ॥८।३।९९॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदस्तुम्हमित्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुम्हकेर–युष्मदीय–त्रि० । युष्माकमिदम् । वाच० । " इदमर्थस्य केरः" ॥ ८ । २ । १४७ ॥ इति इदमर्थस्य प्रत्ययस्य केर इत्यादेशः । प्रा० २ पाद । "युष्मदर्थपरे तः" ॥ ८ । १ । २४६ ॥ इति युष्मच्छब्देऽर्थपरे यकारस्य तकारः । प्रा० १ पाद । युष्मत्संबन्धिनि, वाच० ।

तुम्हाण–युष्माकम्–त्रि० । "तु–वो–भे–तुब्भ–तुब्भं–तुब्भाण–तुवाण–तुमाण–तुहाण–तुम्हाण० –" ॥ ८ । ३ । १०० ॥ इत्यादिना आमा सहितस्य युष्मदस्तुम्हाण इत्यादेशः । "क्त्वास्यादेर्णस्वोर्वा" ॥ ८ । १ । २७ ॥ इति पक्षेऽनुस्वारोऽपि । प्रा० ३ पाद ।

तुम्हारिस–त्वादृश–त्रि० । " युष्मदर्थपरे तः " ॥ ८ । १ । २४६॥ इति तकारः । " दृशः क्विप् टक्सकः " ॥ ८ । १ । १४२ ॥ इति क्विप् टक्सक् एतदन्तस्य दृशेर्धातोर्ऋतो रिरादेशः । त्वत्सदृशे, प्रा० १ पाद ।

तुम्हे–यूयम्–त्रि० । "भे–तुब्भे–तुज्झे० –" ॥ ८ ।३। ९१ ॥ इत्यादिना जसा सहितस्य युष्मदस्तुम्हे इत्यादेशे "ब्भो–म्ह–ज्झौ वा" ॥ ८ । ३ । १०४ ॥ इति वचनात् हकारः । प्रा० ३ पाद ।

तुम्हेच्चय–यौष्माक–त्रि० । " युष्मदस्मदोऽञ एच्चयः" ॥ ८ । २ । १४९ ॥ इति युष्मदः परस्येदमर्थस्याञ एच्चय इत्यादेशः । प्रा० २ पाद ।

तुयट्टण–त्वग्वर्तन–न० । शयने, नि० चू० १० उ० । नं० । पि० । व्य० । दश० । उत्त० । स्था० । बृ० । संस्तारके प्रवर्तीय शयने, बृ० ३ उ० । निषण्णाऽऽसीने, 'तुयट्टंति' निषण्णा आसते । भ० १३ श० ६ उ० ।

तुयट्टिय–त्वग्वर्तित–त्रि० । वामपार्श्वतः परावृत्य दक्षिणपार्श्वेन, दक्षिणपार्श्वतः परावृत्य वामपार्श्वेन वा अवतिष्ठमाने, दश० ।

तुयट्टियव्व–त्वग्वर्तितव्य–न० । कर्तव्ये शयने, भ० २ श० १ उ० ।

तुयावइत्ता–तोदयित्वा–अव्य० । तोदं कृत्वा 'व्यथामुत्पाद्य' या प्रव्रज्या दीयते मुनिचन्द्रपुत्रस्य सागरचन्द्रेणेव सा तथा । प्रव्रज्याभेदे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

तुज्झ–युष्माकम्–त्रि० । "तु-वो-भे-तुब्भ-तुब्भं०–" ॥ ८ । ३ । १०० ॥ इत्यादिना आमा सहितस्य युष्मदस्तुब्भ इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुज्झे–यूयम्–त्रि० । "भे-तुब्भे-तुज्झ-तुम्ह०-" ॥ ८ । ३ । ९१ ॥ इत्यादिना जसा सहितस्य युष्मदस्तुज्झे इत्यादेशः । प्रा०३ पाद ।

तुज्झेहिं–युष्माभिः–त्रि० । "भे-तुब्भेहिं-उज्झेहिं-उम्हेहिं-तुय्हे-हिं०-" ॥ ८ । ३ । ९५ ॥ इत्यादिना भिसा सहितस्य युष्मदस्तुज्झेहिं इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुरंत–त्वरमाण–त्रि० । "तुरोऽत्यादौ" ॥ ८ । ४ । १७२ ॥ इति अत्यादौ परतस्त्वरशब्दस्य तुर इत्यादेशः । संप्राप्स्यति, प्रा० ४ पाद । ज्ञी० । नं० ।

तुरग–तुरग–पुं० । अश्वे, अनु० । कल्प० । औ० । प्रश्न० । रा० । तुरगा आटव्या महाकायाः पशवः परसरेति पर्यायाः । प्र० ११ श० ११ उ० ।

तुरगमुह–तुरगमुख–पुं० । अनार्यदेशविशेषे, प्रव० २७ द्वार । "कैकयकिरीयहयमुह-खरमुह तह तुरगमेंढयमुहा य ।" सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

तुरगमेंढग–तुरगमेढक–पुं० । धर्मसंस्काररहिते अनार्यदेशविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

तुरगारोहणसिक्खा–तुरगारोहणशिक्षा–स्त्री० । तुरगारोहण-विषयकशिक्षाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

तुरतुंगव–तुरतुङ्गव–पुं० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

तुरय–तुरग–पुं० । 'तुरग' शब्दार्थे, अनु० ।

तुरा–त्वरा–स्त्री० । वेगे, अभीष्टलाभार्थे विलम्बासहने च । वाच० । "अत्वरा सर्वकार्येषु, त्वरा कार्यविनाशिनी । त्वरमाणेन मूर्खेण, मयूरो वायसीकृतः ॥ १ ॥" आ० चू० १ अ० ।

तुरिमिणी–तुरिमिणी–स्त्री० । भारतवर्षे स्वनामख्यातायां नगर्याम्, दर्श० ३ तत्त्व । "पुरी तुरिमिणी तत्र, जितशत्रुर्नराधिपः । भद्राङ्गजो द्विजो दत्तः, कालिकाऽऽचार्यजामिजः॥ १ ॥" आ० क० । तुरिमिणीनगर्यामुपसर्गकारी तरुणजनो नृपात् हतमथितविप्रारब्धः । सू० ४ उ० ।

तुरिय–त्वरित–न० । "तुरोऽत्यादौ" ॥ ८ । ४ । ७१ ॥ इति त्वरशब्दस्य 'तुर' इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । ज्ञी० । रा० । आ० म० । प्रश्न० । भ० । अनु० । ज्ञा० । त्वरा संजाता अस्य । त्वरायुक्ते, प्र० ३ श० २ उ० । ज्ञा० । रा० । जी० । औत्सुक्यवत्याम्, कल्प० २ क्षण । आकुले च । वाच० ।

तूर्य–त्रि० । भेरीमृदङ्गपटहकरतालतालाऽऽदिषु, कल्प० २२ क्ष० । द्वादशप्रकारस्तूर्यसङ्घातः । स चायम्–" भंभामकुंदमद्दल-कडंबझल्लरिहुडुक्ककंसाला । काहलतलिमा वंसो, संखो पणवो य बारसमा ॥ १ ॥" आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

तुरियगइ–त्वरितगति–स्त्री० । मानसौत्सुक्यप्रवर्तितवेगवद्गतौ, भ० ३ श० २ उ० । "तुरियगई खिप्पगई ।" विद्युत्कुमारेन्द्रघोर-मितगत्यमितवाहनयोः पौरस्त्ये लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

तुरियभासि (ण्)–त्वरितभाषिन्–त्रि० । अविवेकभाषिणि, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

तुरिया–त्रुटिता–स्त्री० । बाहुरक्षिकायाम्, औ० ।

तुरी–देशी–पीने, तूलिकानामुपकरणे, दे० ना० ५ वर्ग २२ गाथा ।

तुरुक्क–तुरुष्क–न० । सिह्लके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । आ० म० । भ० ।

तुरुक्कधूव–तुरुष्कधूप–पुं० । सेह्लकलक्षणे धूपे, उत्त० १ अ० ।

तुरुक्ख–तुरुष्क–न० । सिह्लकाभिधाने गन्धद्रव्ये, स०३४सम० । औ० । प्रज्ञा० । जं० । रा० ।

तुल्ल–तुल्ल–धा० । उन्माने । चुरा०-उभ० । पक्षे-भ्वादि०-पर०-सक०-सेट् । वाच० । "तुलेरोहामः" ॥ ८ । ४ । २५ ॥ इति ण्यन्तस्य तुलेरोहाम इत्यादेशः । 'ओहामइ' । पक्षे-'तुलइ ।' प्रा० ४ पाद ।

तुलगा–देशी–काकतालीये, दे० ना० ५ वर्ग १५ गाथा ।

तुलणा–तुलना–स्त्री० । परिच्छेदे, "जहा इमेहिं दसहिं अंगेहिं पकलेहिं सूरिओ उट्ठेति, तहा तं कालं तुलेति ।" नि० चू०२ उ० । पञ्च तुलना जिनकल्पे उक्ताः, 'तवेण इत्यादि' । तुलना, भावना, परिकर्म चैकार्थाः । विशे० । व्य० । नि० चू० । पं० चू० । ध० । स्था० । उत्त० । (द्रव्याऽऽदितुलनया तोलयित्वैव प्रव्राजनीयः शिष्य इति 'पव्वज्जा' शब्दे वक्ष्यते)

तुलसी–तुलसी–स्त्री० । पत्रिकाविशेषे, प्रव० ४ द्वार । "कडी आदइ णीली, तुलसी तह माउलिंगा य ।" प्रज्ञा० १ पद । स्था० । पञ्चा० । सरसलतायाम्, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा । गुच्छविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

तुला–तुला–स्त्री० । औपम्ये, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । "एतं तुलमन्नेसिं इह संजिया इविया णावकंखंति ।" का पुनरसौ तुला ?, यथाऽऽत्मानं सर्वथा सुखाभिलाषितया रक्षसि, तथा परमपि रक्ष, यथा परं तथाऽऽत्मानमिति । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । तोलनदण्डे, वाच० ।

संप्रति तुलामानमाह–

पणतीस लोहपलिया, वट्टा बावत्तरंऽगुला दीहा ।
पंचपल धरणगस्स य, समायकरणे तुला होइ ॥

सुगालितानां पञ्चत्रिंशत्संख्यानां लोहपलानामस्याः घनैः कुट्टनेन निर्मापिता, वृत्ता सुवृत्ता, विषमोत्कर्षहीना इत्यर्थः । द्वासप्तत्यङ्गुला दीर्घा (पंचपल धरणगस्स य त्ति) ध्रियते येन तद्धरणं, धरणमेव धरणकं, येन धृत्वा तोल्यते तदित्यर्थः । तस्य प्रमाणं पञ्च पलानि कर्त्तव्यानि । ततः समायकरणे धरणके तुलायां संयोजिते सति यत्र प्रदेशे तुला ध्रियमाणा समा भवति, नैकस्मिन्नपि पक्षे अग्रतः पृष्ठतो वा नता उन्नता वा भवति, तत्र प्रदेशे समायकरणे-समतासमागमपरिज्ञान-

निमित्तरेखाकरणे, तुला परिपूर्णा भवति । तस्यां चैवंभूतायां तुलायां समकरणीरेखामपहाय शेषा रेखाः पञ्चविंशतिर्भवन्ति ।

तथा चाऽऽह-

सव्वग्गेण तुलाए, लेहाओ पंचवीसई होंति ।
चत्तारि य लेहाओ, जाओ नंदीपिणद्धाओ ॥

तुलायां तौल्यपरिमाणसूचिकाः सर्वाग्रेण सर्वसङ्ख्यया, रेखाः पञ्चविंशतिर्भवन्ति । तासां च पञ्चविंशतिसङ्ख्यानां रेखाणां मध्ये या रेखाः नन्दीपिनद्धाः फुल्लिकायुक्ताः, ताश्चतस्रो वेदितव्याः ।

तत्र पञ्चविंशतिमेव रेखाः प्ररूपयति-

समकरणि अद्धकरिसा, तत्तो करिसुत्तरा य चत्तारि ।
तत्तो पलुत्तराओ, जाव य दसग त्ति लेहाओ ॥
बारसिया पन्नरसी, वीसग एत्तो दसुत्तरा अट्ठ ।
एवं सव्वसमासो, लेहाणं पन्नवीसं तु ॥

तुलायां प्रथमा रेखा तावत् समकरणी भवति, यत्र प्रदेशे धरणकसहिता तुला ध्रियमाणा समा भवति तत्र प्रदेशे समतापरिज्ञानार्थमेका रेखा भवतीत्यर्थः। सा पञ्चविंशतिसङ्ख्यागणनेन गण्यते, तस्याः समतापरिज्ञाननिमित्ततया तौल्यवस्तुपरिमाणेऽनुपयोगात् । ततः प्रथमा रेखा अर्द्धकर्षा अर्द्धकर्षरूपपरिमाणसूचिका भवति । ततः कर्षोत्तरा कर्षाऽऽद्यैकैककर्षवृद्धिसूचिकाश्चतस्रो रेखा भवन्ति । तद्यथा--द्वितीया कर्षरूपपरिमाणसूचिका, तृतीया द्विकर्षसूचिका, चतुर्थी त्रिकर्षसूचिका, पञ्चमी चतुःकर्षसूचिका, पलसूचिकेत्यर्थः । (तत्तो इत्यादि) ततः पञ्चमरेखात ऊर्द्ध्वं रेखाः पलोत्तराः, एकैकपलवृद्धिसूचिकास्तावदवसेया यावद्दशकमिति दशपलसूचिका रेखा । तद्यथा-षष्ठी रेखा द्विपलसूचिका, सप्तमी त्रिपलसूचिका, अष्टमी चतुःपलसूचिका, नवमी पञ्चपलसूचिका, एकादशी सप्तपलसूचिका, द्वादशी अष्टपलसूचिका, त्रयोदशी नवपलसूचिका, चतुर्दशी दशपलसूचिका । (बारसेत्यादि) ततः पञ्चदशी रेखा द्वादशपलसूचिका, षोडशी पञ्चदशपलसूचिका, सप्तदशी विंशतिपलसूचिका । (एत्तो दसुत्तरा अट्ठ त्ति) अत ऊर्द्ध्वमष्टौ रेखा दशोत्तराः, दशकवृद्ध्या पलपरिमाणसूचिकाः । तद्यथा-- अष्टादशी रेखा त्रिंशत्पलसूचिका, एकोनविंशतितमा चत्वारिंशत्पलसूचिका, विंशतितमा पञ्चाशत्पलसूचिका, एकविंशतितमा षष्टिपलसूचिका, द्वाविंशतितमा सप्ततिपलसूचिका, त्रयोविंशतितमा अशीतिपलसूचिका, चतुर्विंशतितमा नवतिपलसूचिका, पञ्चविंशतितमा पलशतसूचिका, शतिके काण्डे पञ्चविंशतितमा रेखा भवतीत्यर्थः । एवमुक्तेन प्रकारेण रेखाणां सर्वसमासः सर्वसंक्षेपः, सर्वसंख्येत्यर्थः । पञ्चविंशतिरिति ।

यदुक्तम्-पञ्चविंशतिरेखाणां मध्ये चतस्रो रेखा नन्दीपिनद्धिका इति, तद्व्याचिख्यासुराह-

पंचसु य पन्नरसगे, तीसग पन्नासगे य लेहाओ ।
नंदीपिणद्धिकाओ, सेसाओ उज्जुलेहाओ ॥

पञ्चसु पञ्चदशसु त्रिंशति पञ्चाशति च या रेखास्ता नन्दीपिनद्धिकाः । किमुक्तं भवति ?-पञ्चपलपरिमाणसूचिका, पञ्चदशपलपरिमाणसूचिका, त्रिंशत्पलपरिमाणसूचिका, पञ्चाशत्पलपरिमाणसूचिका, एताश्चतस्रो रेखाः फुल्लिकायुक्ताः, शेषा एकविंशतिसङ्ख्या ऋजवः । तदेवमुक्तं तुलास्वरूपम् । ज्यो० १ पाहु० । गृहाणां दारुबन्धकाष्ठे, पलशते मापके, मेषावधितः सप्तमे राशौ, वाच० ।

तुलासम-तुलासम-पुं० । अरक्तद्विष्टे, यथा तुला समस्थिता न चाग्रतो न वा पुरतो नमति, सा इवाऽयं रागद्वेषविमुक्तो मानापमानसुखदुःखाऽऽदिषु समः । सू० ६ अ० । नि० चू० ।

तुलिय-तुलित-त्रि० । गुणिते, तं० । उत्त० ।

तुलेऊण-तोलयित्वा-अव्य० । सम्यङ् निश्चित्येत्यर्थे, सू० १ अ० ।

तुल्ल-तुल्य-न० । सदृशे, औ० । समाने, विशे० । एककाले, तं० । प्रज्ञा० ।

तुल्लचरित्त-तुल्यचारित्र-त्रि० । समानसामायिकाऽऽदिसंयमे, सू० ६ अ० ।

तुल्लट्ठिय-तुल्यस्थित-त्रि० । परस्परापेक्षया समानाऽऽयुष्के, भ० ३४ श० १ उ० ।

तुल्लय-तुल्यक-त्रि० । तुल्यमेव तुल्यकम् । समे, भ० १० श० ७ उ० ।

अथ तुल्यताऽभिधानार्थमाह-

रायगिहे० जाव परिसा पडिगया, गोयमाऽऽदि ! समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी--चिरसंसिट्ठो सि मे गोयमा !, चिरसंथुतो सि मे गोयमा !, चिरपरिचितो सि मे गोयमा !, चिरजुसिओ सि मे गोयमा !, चिराणुगओ सि मे गोयमा !, चिराणुवत्ती सि मे गोयमा !, अणंतरं देवलोए, अणंतरं माणुस्सए भवे, किं परं मरणा कायस्स भेदा इतो चुता दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो । जहा णं भंते ! एयमट्ठं वयं जाणामो पासामो तहा णं अणुत्तरोववाइया देवा एयमट्ठं जाणंति पासंति ? । हंता ! गोयमा ! जहा णं वयं एयमट्ठं जाणामो पासामो तहा णं अणुत्तरोववाइया देवा एयमट्ठं जाणंति पासंति । से केणट्ठेणं० जाव पासंति ? । गोयमा ! अणुत्तरोववाइया णं अणंता मणोदव्ववग्गणाओ लद्धाओ पत्ताओ अभिसमण्णागयाओ भवंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव पासंति । कतिविहे णं भंते ! तुल्लए पण्णत्ते ? । गोयमा ! छव्विहे तुल्लए पण्णत्ते । तं जहा-दव्वतुल्लए, खेत्ततुल्लए, कालतुल्लए, भवतुल्लए, भावतुल्लए, संठाणतुल्लए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-दव्वतुल्लए, दव्वतुल्लए ? । गोयमा ! परमाणुपोग्गले परमाणुपोग्गलस्स दव्वओ तुल्ले, परमाणुपोग्गले परमाणुपोग्गलवइरित्तस्स दव्वओ णो तुल्ले । दुपदेसिए खंधे दुपदेसियस्स खंधस्स दव्वओ तुल्ले, दुपदेसिए खंधे दुपदेसियवइरित्तस्स खंधस्स दव्वओ णो तुल्ले । एवं० जाव दसपएसिए । तुल्लसंखेज्जपएसिए खंधे संखेज्जपएसियस्स खंधस्स

दव्वओ तुल्ले । संखेज्जपएसिए खंधे संखेज्जपएसियवइरित्तस्स खंधस्स दव्वओ णो तुल्ले । एवं तुल्लअसंखेज्जपएसिए वि; एवं तुल्लअणंतपएसिए वि; से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-दव्वतुल्लए दव्वतुल्लए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-खेत्ततुल्लए खेत्ततुल्लए ?। गोयमा ! एगपएसोगाढे पोग्गले एगपएसोगाढस्स पोग्गलस्स खेत्तओ तुल्ले, एगपएसोगाढे पोग्गले एगपएसोगाढवइरित्तस्स पोग्गलस्स खेत्तओ णो तुल्ले । एवं० जाव दसपएसोगाढे; तुल्लसंखेज्जपएसोगाढे वि; एवं तुल्लअसंखेज्जपएसोगाढे वि; से तेणट्ठेणं० जाव खेत्ततुल्लए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-कालतुल्लए कालतुल्लए ?। गोयमा ! एगसमयट्ठिईए पोग्गले एगसमयस्स ठिइयस्स पोग्गलस्स कालओ तुल्ले, एगसमयट्ठिईए पोग्गले एगसमयट्ठिइयवइरित्तस्स कालओ णो तुल्ले । एवं० जाव दससमयट्ठिईए; तुल्लसंखेज्जसमयट्ठिईए एवं चेव; तुल्लअसंखेज्जसमयट्ठिईए वि एवं चेव, से तेणट्ठेणं० जाव कालतुल्लए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-भवतुल्ले भवतुल्ले ?। गोयमा ! णेरइए णेरइयस्स भवट्ठयाए तुल्ले, णेरइए णेरइयवइरित्तस्स भवट्ठयाए णो तुल्ले; तिरिक्खजोणिए एवं चेव; एवं मणुस्से वि; एवं देवे वि; से तेणट्ठेणं० जाव भवतुल्ले भवतुल्ले । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-भावतुल्ले भावतुल्ले ?। गोयमा ! एगगुणकालए पोग्गले एगगुणकालयस्स भावतुल्ले, एगगुणकालए पोग्गले एगगुणकालवइरित्तस्स पोग्गलस्स भावओ णो तुल्ले. एवं० जाव दसगुणकालए तुल्लसंखेज्जगुणकालपोग्गले तुल्लअसंखेज्जगुणकालए वि, एवं तुल्लअणंतगुणकालए वि, जहा कालए एवं णीलए लोहियए हालिद्दए सुक्किल्लए; एवं सुब्भिगंधे, एवं दुब्भिगंधे, एवं तित्ते० जाव महुरे; एवं कक्खडे० जाव लुक्खे, उदइए भावे उदइयस्स भावस्स भावओ तुल्ले, उदइयभाववइरित्तस्स भावओ णो तुल्ले. एवं उवसमिए वि । खइए खओवसमिए पारिणामिए सन्निवाइए भावे सन्निवाइयस्स भावस्स, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-भावतुल्लए भावतुल्लए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-संठाणतुल्लए संठाणतुल्लए ? । गोयमा ! परिमंडलसंठाणे परिमंडलस्स संठाणस्स संठाणओ तुल्ले, परिमंडलसंठाणे परिमंडलस्स संठाणवइरित्तस्स संठाणस्स संठाणओ णो तुल्ले । एवं वट्टे तंसे चउरंसे आयए, समचउरंससंठाणे समचउरंसस्स संठाणस्स संठाणओ तुल्ले, समचउरंससंठाणे समचउरंसस्स संठाणवइरित्तस्स संठाणओ णो तुल्ले; एवं परिमंडले वि; एवं० जाव हुंडे । से तेणट्ठेणं० जाव संठाणतुल्लए संठाणतुल्लए ।

(रायगिहे इत्यादि) तत्र किल भगवान् श्रीमन्महावीरः केवलज्ञानाप्राप्त्या सखेदस्य गौतमस्वामिनः समाश्वासनायाऽऽत्मनस्तस्य च भाविनीं तुल्यतां प्रतिपादयितुमाह-(गोयमेत्यादि) (चिरसंसिट्ठो सि त्ति) चिरं बहुकालं यावत्, चिरे वाऽतीते प्रभूते काले संश्लिष्टः स्नेहात्सम्बद्धश्चिरसंश्लिष्टोऽसि भवसि, मे मया मम वा त्वं हे गौतम ! (चिरसंथुतो सि) चिरं बहुकालमतीतं यावत्संस्तुतः स्नेहात्प्रशंसितश्चिरसंस्तुतः । (एवं चिरपरिचिए त्ति) पुनः पुनर्दर्शनतः परिचितश्चिरपरिचितः (चिरजुसिए त्ति) चिरसेवितश्चिरप्रीतो वा । 'जुषी' प्रीतिसेवनयोरिति वचनात् । (चिराणुगओ त्ति) चिरमनुगतो, ममानुगतिकारित्वात् । (चिराणुवत्ती सि त्ति) चिरमनुवृत्तिरनुकूलवर्तिता यस्यासौ चिरानुवृत्तिः । इदं च चिरसंश्लिष्टत्वाऽऽदिकं काऽऽसीदित्याह-(अणंतरं देवलोए त्ति) अनन्तरं निर्व्यवधानं यथा भवत्येवं देवलोके, अनन्तरे देवभवे इत्यर्थः । ततोऽपि अनन्तरं मनुष्यभवे, जात्यपेक्षयैकवचनस्य देवभवेषु मनुष्यभवेषु चेति द्रष्टव्यम् । तत्र किल त्रिपृष्ठभवे भगवतो गौतमः सारथित्वेन चिरसंश्लिष्टत्वाऽऽदिधर्मयुक्त आसीत् । एवमन्येष्वपि भवेषु संभवतीति । एवं च मयि तव गाढत्वेन स्नेहस्य न केवलज्ञानमुत्पद्यते, भविष्यति च तवाऽपि स्नेहक्षये तदित्यधृतिं मा कृथा इति गम्यमिति । (किं परं मरणा त्ति) किं बहुना (परं त्ति) परतो मरणान्मृत्योः ? । किमुक्तं भवति ?-कायस्य भेदात्, इतः (इओ चुए त्ति) इतः प्रत्यक्षाद् मनुष्यभवात् च्युतौ (दो वि त्ति) द्वावप्यावां तुल्यौ, भविष्याव इति योगः । तत्र तुल्यौ समानजीवद्रव्यौ. (एगट्ठ त्ति) एकार्थावेकप्रयोजनौ अनन्तसुखप्रयोजनत्वात् । एकस्थौ वा एकक्षेत्राऽऽश्रितौ सिद्धिक्षेत्रापेक्षयेति । (अविसेसमणाणत्त त्ति) अविशेषं निर्विशेषं यथा भवत्येवमनानात्वौ तुल्यज्ञानदर्शनाऽऽदिपर्यायाविति । इदं च किल भगवता गौतमेन चैत्यवन्दनायाष्टापदं गत्वा प्रत्यागच्छता पञ्चदश तापसशतानि प्रव्राजितानि समुत्पन्नकेवलानि च श्रीमन्महावीरसमवसरणमानीतानि तीर्थप्रणामकरणसमनन्तरं च केवलिपर्षदि समुपविष्टानि गौतमेन चाविदिततत्केवलोत्पादव्यतिकरेणाभिहितानि-यथा आगच्छत भोः साधवः ! भगवन्तं वन्दध्वमिति । जिननायकेन च गौतमोऽभिहितः-यथा गौतम ! मा केवलिनामाशातनां कार्षीः । ततो गौतमो मिथ्यादुष्कृतमदात् । तथा यानहं प्रव्राजयामि तेषां केवलमुत्पद्यते, न पुनर्मम, ततः किं तन्मे नोत्पत्स्यत एवेति विकल्पाकृतिं चकार । ततो जगद्गुरुणा गदितोऽसौ मनःसमाधानाय । यथा-गौतम ! चत्वारः कटा भवन्ति-सुम्बकटो, विदलकटः, चर्मकटः, कम्बलकटश्चेति । एवं शिष्या अपि गुरौ प्रतिबन्धसाधर्म्येण सुम्बकटसमाऽऽदयश्चत्वार एव भवन्ति । ('अट्ठावय' शब्दे प्रथमभागे २१६ पृष्ठे प्रसङ्गादुक्तैषा कथा) तत्र त्वं मयि कम्बलकटसमान इत्येतस्यार्थस्य समर्थनाय भगवता तदाऽभिहितमिति । एवं भाविन्यामात्मतुल्यतायां भगवताऽभिहितायामानिश्चयमश्रद्धेयमिति कृत्वा यद्यन्योऽप्येनमर्थं जानाति तदा साधु भवतीत्येतदभिप्रायेण गौतम एवाऽऽह-(जहा णं इत्यादि) (एयमट्ठं ति) एतमर्थमावयोर्भाविनुल्यतालक्षणम् । (वयं जाणामो त्ति) यूयं च वयं चेत्येकशेषाद् वयम् । तत्र यूयं केवलज्ञानेन जानीथ, वयं तु भवदुपदेशात् । तथाऽनुत्तरोपपातिका अपि देवा एनमर्थं जानन्तीति प्रश्नः ? । अत्रोत्तरम्-(हंता ! गोयमा ! इत्यादि) (मणोदव्ववग्गणाओ लद्धाओ त्ति) मनोद्रव्यवर्गणा लब्धास्तद्विषयावधिज्ञानल-

ऽिधमात्रापेक्षया (पसाओ त्ति) प्रासादस्तद्द्रव्यपरिच्छेदतः । (अभिसमन्नागयाओ त्ति) अभिसमन्वागतास्तद्गुणपर्यायपरिच्छेदनः । अयमत्र गर्भार्थः-अनुत्तरोपपातिकदेवा विशिष्टावधिना मनोद्रव्यवर्गणा जानन्ति, पश्यन्ति च; तासां चाचयोरयोग्यवस्थायामदर्शनेन निर्वाणगमनं निश्चिन्वन्ति । ततश्चाऽऽवयोर्जीवितुल्यतालक्षणमर्थं जानन्ति पश्यन्ति चेति व्यपदिश्यत इति । तुल्यताप्रक्रमादेवेदमाह-(कइविहेत्यादि) तुल्यं समं,तदेव तुल्यकम् । (दव्वतुल्लए त्ति) द्रव्यत एकाणुकाऽऽद्यपेक्षया तुल्यकं द्रव्यतुल्यकम् । अथवा-द्रव्यं च तत्तुल्यकं च द्रव्यान्तरेणेति द्रव्यतुल्यकं,विशेषणव्यत्ययात् । (खेत्ततुल्लए त्ति) क्षेत्रत एकप्रदेशावगाढत्वाऽऽदिना तुल्यकं क्षेत्रतुल्यकम् । एवं शेषाण्यपि,नवरं भवो नारकाऽऽदिः,भावो वर्णाऽऽदिः,औदयिकाऽऽदिर्वा,संस्थानं परिमण्डलाऽऽदि । इह च तुल्यव्यतिरिक्तमतुल्यं भवतीति तदपीह व्याख्यास्यते । (तुल्लसंखेज्जपएसिए त्ति) तुल्याः समानाः संख्येयाः प्रदेशा यत्र स तथा, तुल्यग्रहणमिह संख्यातत्वस्य संख्यातभेदत्वान्न संख्यानमात्रेण तुल्यताऽस्य स्यात्,अपि तु समानसंख्यत्वेनेत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थम् । एवमन्यत्रापीति । यच्चेह-अनन्तक्षेत्रप्रदेशावगाढत्वमनन्तसमयस्थायित्वं च नोक्तं, तदवगाहप्रदेशानां स्थितिसमयानां च पुद्गलानाश्रित्याऽनन्तानामभावादिति । (भवट्ठयाए त्ति) भव एवार्थो भवार्थः, तद्भावस्तत्ता, तया भवार्थतया । (उदइए भावे त्ति) उदयः कर्मणां विपाकः,स एवौदयिकः क्रियामात्रम् । अथवा-उदयेन निष्पन्न औदयिको भावो नारकत्वाऽऽदिपर्यायविशेषः, औदयिकस्य भावस्य नारकत्वाऽऽदेर्भावतो भावसामान्यमाश्रित्य तुल्यः समः । (एवं उवसमिए त्ति) औपशमिकोऽप्येवं वाच्यः । तथाहि-" उवसमिए भावे उवसमियस्स भावस्स भावओ तुल्ले, उवसमिए भावे उवसमियवइरित्तस्स भावस्स भावओ नो तुल्ले त्ति।" एवं शेषेष्वपि वाच्यम् । तत्र उपशम उदीर्णस्य कर्मणः, क्षयोऽनुदीर्णस्य विष्कम्भितोदयत्वं, स एव औपशमिकः क्रियामात्रम् । उपशमेन वा निर्वृत्त औपशमिकः सम्यग्दर्शनाऽऽदिः । (खइए त्ति) क्षयः कर्माभावः,स एव क्षायिकः, क्षयेण वा निर्वृत्तः क्षायिकः केवलज्ञानाऽऽदिः । (खओवसमिए त्ति) क्षयेणोदयप्राप्तकर्मणो विनाशेन सहोपशमो विष्कम्भितोदयत्वं क्षयोपशमः, स एव क्षायोपशमिकः क्रियामात्रमेव । क्षयोपशमेन वा निर्वृत्तः क्षायोपशमिको मतिज्ञानाऽऽदिः पर्यायविशेषः । नन्वौपशमिकस्य क्षायोपशमिकस्य च कः प्रतिविशेषः, उभयत्रापि उदीर्णस्य क्षयस्यानुदीर्णस्य चोपशमभावात् ?, उच्यते-क्षायोपशमिके विपाकवेदनमेव नास्ति, प्रदेशवेदकं पुनरस्त्येव, औपशमिके तु प्रदेशवेदनमपि नाऽस्तीति । (पारिणामिए त्ति) परिणमनं परिणामः, स एव पारिणामिकः । (सन्निवाइए त्ति) सन्निपात औदयिकाऽऽदिभावानां द्व्यादिमेलनं योगः,तेन निर्वृत्तः सान्निपातिकः । (संठाणतुल्लए त्ति) संस्थानमाकृतिविशेषः । तच्च द्वेधा, जीवाजीवभेदात् । तत्र अजीवसंस्थानं पञ्चधा । तत्र (परिमंडलसंठाणे त्ति) परिमण्डलं संस्थानं बहिर्वृत्ताद् वृत्ताऽऽकारं मध्ये शुषिरं यथा वलयस्य । तच्च द्वेधा, घनप्रतरभेदात् । (वट्टे त्ति) वृत्तं परिमण्डलमेवान्तःशुषिररहितं यथा कुलालचक्रस्य । इदमपि द्वेधा, घनप्रतरभेदात् । पुनरेकैकं द्विधा, समसंख्यविषमसंख्यप्रदेशभेदात् । एवं त्र्यस्रं,चतुरस्रं च, नवरं त्र्यस्रं त्रिकोणं शृङ्गाटकस्येव, चतुरस्रं तु चतुष्कोणं, यथा कुम्भिकायाः, आयतं दीर्घं यथा दण्डस्य । तच्च त्रेधा,श्रेण्यायतप्रतराऽऽयतघनाऽऽयतभेदात् । पुनरेकैकं द्विधा,समसंख्यप्रदेशासमसंख्यप्रदेशभेदात् । इदञ्च पञ्चविधमपि विस्रसाप्रयोगाभ्यां भवति । जीवसंस्थानं तु संस्थानाभिधाननामकर्मोत्तरप्रकृत्युदयसम्पाद्यो जीवानामाकारः, तच्च षोढा । तत्राऽऽद्यम्-(समचउरंसे त्ति) तुल्याऽऽरोहपरिणाहं सम्पूर्णाङ्गावयवत्वात्स्वाङ्गुलाष्टशतोच्छ्रयं समचतुरस्रं, तुल्याऽऽरोहपरिणाहत्वेन समत्वात्पूर्णावयवत्वेन च चतुरस्रत्वात्, अस्य चतुरस्रत्वं सङ्गतमिति पर्यायौ । (एवं परिमंडले वि त्ति) यथा समचतुरस्रमुक्तं तथा न्यग्रोधपरिमण्डलमपीत्यर्थः । न्यग्रोधो वटवृक्षस्तद्वत्परिमण्डलं नाभीत उपरि चतुरस्रलक्षणयुक्तमधश्च तदनुरूपं न भवति तस्मात्प्रमाणाद्धीनतरमिति । (एवं०जाव हुंडे त्ति) इह यावत्करणात्-" साइखुज्जे वामणे त्ति " दृश्यम् । तत्र (साइ त्ति) सादीनोऽभितोऽधश्चतुरस्रलक्षणयुक्तमुपरि च तदनुरूपं न भवति । (खुज्ज त्ति) कुब्जं ग्रीवाऽऽदौ हस्तपादयोश्चतुरस्रलक्षणयुक्तं संक्षिप्तविकृतमध्यम् । (वामणे त्ति) वामनं लक्षणयुक्तमध्यं ग्रीवाऽऽदौ हस्तपादयोरप्यादिलक्षणन्यूनम् । (हुंडे त्ति) हुण्डं प्रायः सर्वावयवेषु आदिलक्षणविसंवादोपेतमिति । भ० १४ श० ७ उ० ।

चत्तारि पएसग्गेणं तुल्ला पण्णत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, लोगागासे, एगजीवे ।

' चत्तारि ' इत्यादि कण्ठ्यम्, नवरं प्रदेशाग्रेण प्रदेशप्रमाणेनेति तुल्याः समानाः, सर्वेषामेषामसंख्यातप्रदेशत्वात् । (लोगागासे त्ति) आकाशस्यानन्तप्रदेशत्वेन धर्मास्तिकायाऽऽदिभिः सहातुल्यताप्रसक्तेर्लोकग्रहणम् । (एगजीव त्ति) सर्वजीवानामनन्तप्रदेशत्वाद् विवक्षिततुल्यताऽभावप्रसङ्गादेकग्रहणमिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तुव-तव-त्रि० । "तइ-तु-ते-तुम्हं-तुह-तुहं-तुव०-"॥८।३।९९॥ इत्यादिना ङसा सहितस्य युष्मदस्तुव इत्यादेशः । प्रा०३ पाद ।

तुवं-त्वाम्-त्रि० । "तं-तुं-तुमं-तुवं०-" ॥८।३।९२॥ इत्यादिना अमा सहितस्य युष्मदस्तुवं इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुवतो-त्वत्तः-त्रि० । "तइ-तुव०-"॥ ८ । ३ । ९६ ॥ इत्यादिना ङसेः परतो युष्मदस्तुव इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुवर-त्वर-धा० । वेगे, भ्वादि०-आत्म०-अक०-सेट् । " त्वरस्तुवरजअडौ" ॥ ८ । ४ । १७० ॥ इति त्वरधातोः 'तुवर' इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । कुस्तुम्भोदकाऽऽदिके, बृ० ३ उ० । वृक्षविशेषे, औ० । नि० चू० । श्रीमल्लिजिनस्य यक्षे, स च चतुर्मुख इन्द्रायुधवर्णो गजवाहनोऽष्टभुजो वरदपरशुशूलाभययुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टयो,बीजपूरकशक्तिमुद्गराक्षसूत्रयुतवामपाणिचतुष्टयश्च । प्रव० २६ द्वार ।

तुवरपत्त-तुवरपत्र-न० । पलाशपत्राऽऽदिषु, नि० चू० १ उ० ।

तुवरफल-तुवरफल-न० । हरीतक्यादिषु, नि० चू० १ उ० ।

तुवाण-युष्माकम्-त्रि० । " तु-वो-भे-तुब्भ-तुब्भं-तुब्भाण-तुवाण०-" ॥८।३।१००॥ इत्यादिना आमा सहितस्य युष्मदः 'तुवाण' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुस–तुष–पुं० । कोद्रवाऽऽदिषु, स्था० ८ ठा० । आचा० । धान्यत्वचि, वाच० ।
तुसमुह–तुषमुख–न० । बीजस्य तुषमुखकणिकायाम्, स्था० ८ ठा० ।
तुसग्गि–तुषाग्नि–पुं० । तुषाः कोद्रवाऽऽदयस्तेषामग्निस्तद्दहनप्रवृत्तो वह्निस्तुषाग्निः । कोद्रवाऽऽदिदहनप्रवृत्ते वह्नौ, स्था० ८ ठा० । औ० ।
तुसार–तुषार–पुं० । हिमे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० ।
तुसिणीय–तूष्णीक–त्रि० । मौनिनि, उत्त० २ अ० । वचनरहिते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । वाग्यमे, उपेक्षके, स्था० ३ ठा० ३ उ० । तूष्णीं शीले, उत्त० १ अ० । आचा० ।
तुसिय–तुषित–पुं० । पश्चकृष्णराजिमध्यवर्तिसुराजनामलोकान्तिकविमानदेवे, भ० ६ श० ५ उ० । स्था० । ज्ञा० । स० । असौ संज्ञान्तरतो मारुतोऽप्यभिधीयते । प्रव० २६७ द्वार । आ० म० ।
तुसेअंजण–देशी–द्वारुणि, दे० ना० ५ वर्ग १६ गाथा ।
तुसोदग–तुषोदक–न० । व्रीह्यादिधावनजले, कल्प० ९ क्षण । ग० । स्था० ।
तुह–तव–त्रि० । "तइ-तु-ते-तुम्हं-तुह०–" ॥ ८ । ३ । ९९ ॥ इत्यादिना ङसा सहितस्य युष्मदस्तुह इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद । त्वाम्–त्रि० । "तं-तु-तुमं-तुवं-तुह०–" ॥ ८ । ३ । ९२ ॥ इत्यादिना अमा सहितस्य युष्मदस्तुह इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।
तुहं–तव–त्रि० । "तइ-तु-ते-तुम्ह-तुह-तुहं०–" ॥ ८ । ३ । ९९ ॥ इत्यादिना ङसा सहितस्य युष्मदः 'तुहं' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।
तुहग–तुहक–पुं० । कन्दवनस्पतिविशेषे, उत्त० १ अ० ।
तुहत्तो–त्वत्तः–त्रि० । "तइ-तुव-तुम-तुह-तुब्भा ङसौ" ॥ ८ । ३ । ९६ ॥ इति पञ्चम्येकवचने परतो युष्मदस्तुह इत्यादेशः । ङसेस्तु 'त्तो' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।
तुहाण–युष्माकम्–त्रि० । "तु-वो-भे-तुब्भ-तुब्भं-तुब्भाण-तुवाण-तुमाण-तुहाण०–" ॥ ८ । ३ । १०० ॥ इत्यादिना आमा सहितस्य युष्मदस्तुहाण इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।
तुहार–युष्मदीय–त्रि० । "युष्मदादेरीयस्य डारः" ॥ ८ । ४ । ४३४ ॥ इत्यपभ्रंशे युष्मदादिभ्यः परस्य ईयप्रत्ययस्य डार इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद ।
तुहिणाचल–तुहिनाचल–पुं० । हिमालयपर्वते, "बभार शिरसा स्वर्ग-वाहिनीं तुहिनाचलः ।" का० क० ।
तूअ–देशी–इक्षुकर्मकरे, दे० ना० ५ वर्ग १६ गाथा ।
तूणइल्ल–तूणावत्–त्रि० । तूणाभिधानवाद्यवति, औ० ३ प्रति० ४ ड० । कल्प० । औ० । रा० । प्रश्न० । अनु० । ज्ञा० ।
तूणा–तूणा–स्त्री० । शाराऽऽश्रये, जं० २ वक्ष० । तूणाभिधानवाद्यविशेषे, औ० । रा० । अनु० । ज्ञा० ।
तूर–त्वर–धा० । वेगे, ज्वादि० – अक० – आत्म० – सेट् । "त्वादिशत्रोस्तूरः" ॥ ८ । ४ । १७१ ॥ इति त्वरधातोस्त्यादिशतृप्रत्यये परतस्तूर इत्यादेशः । 'तूरइ ।' त्वरते । प्रा० ४ पाद ।
तूर्य–न० । "ब्रह्मचर्य-तूर्य-सौन्दर्य-शौण्डीर्ये र्यो रः" ॥ ८ । २ । ६३ ॥ इति र्यस्य रः । प्रा० २ पाद । वादित्रभेदे, उत्त० २ अ० । ज्ञा० ।
तूरंत–त्वरमाण–त्रि० । प्राकृतत्वाच्च शतृप्रत्ययः । "त्यादिशत्रोस्तूरः" ॥ ८ । ४ । १७१ । इति त्वरधातोः शतृप्रत्यये परतस्तूर इत्यादेशः । संभ्राम्यति, प्रा० ४ पाद ।
तूरवइ–तूर्यपति–पुं० । नटमहत्तरे, बृ० १ उ० ।
तूरसद्द–तूर्यशब्द–पुं० । तूर्यशब्देनाभिधीयते संनिनादे, विशे० ।
तूल–तूल–न० । अर्कतूले, सू० प्र० २० पाहु० । आचा० । भ० । आ० म० । कल्प० ।
तूलकड–तूलकृत–त्रि० । अर्काऽऽदितूलनिष्पन्ने, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।
तूलिणी–देशी–शाल्मल्याम्, दे० ना० ५ वर्ग १७ गाथा ।
तूलिया–तूलिका–स्त्री० । संस्कृतरुताऽऽदिभृते शयनोपकरणे, ग० ३ अधि० । वालमय्यां, चित्रलेखनकूर्चिकायां च । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।
तूली–तूली–स्त्री० । अप्रतिलेख्यदूष्यविशेषे, जीत० । जं० । संस्कृतरुताऽऽदिभृते अर्कतूलाऽऽदिभृते वा शयनोपकरणे, बृ० ३ उ० ।
तूवर–तूवर–पुं० । कषाये, रा० । काले अजातशृङ्गे गवि, अजातश्मश्रुके पुरुषे, कषायरसवति, त्रि० । आढक्यां, सौराष्ट्रमृत्तिकायां च । स्त्री० । ङीप् । वाच० ।
तूस–तूष–धा० । तोषे, दिवा० – पर० – अक० – अनिट् । "रुषाऽऽदीनां दीर्घः" ॥ ८ । ४ । २३६ ॥ इति दीर्घः । 'तूसइ ।' तुष्यति । प्रा० ४ पाद ।
तूह–तीर्थ–न० । "दुःखदक्षिणतीर्थे वा" ॥ ८ । २ । ७२ ॥ इति संयुक्तस्य तीर्थशब्दस्य र्थस्य हः । प्रा० ४ पाद । "तीर्थे हे" ॥ ८ । १ । १०४ ॥ इति तीर्थशब्दे हे सति ईत ऊत्वम् । प्रा० ४ पाद । शास्त्रे, यज्ञे, क्षेत्रे, उपाये, स्त्रीरजसि, नद्यादेरवतरणे, घट्टाऽऽदौ, विद्याऽऽदिगुणयुतपात्रे, उपाध्याये, मन्त्रिणि, योनौ, दर्शने, ब्राह्मणे, आगमे, निदाने, अग्नौ, उपकूपजलाऽऽशये, दैहिके मानसिके भौमिके त्रिविधे पवित्रस्थाने, वाच० ।
तूहण–देशी–पुरुषे, दे० ना० ५ वर्ग १७ गाथा ।
तृणु–तनु–स्त्री० । "स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे" ॥ ८ । ४ । ३२९ ॥ इत्यपभ्रंशे स्वरस्थाने स्वरः । तणु । तिणु । तृणु । प्रा० ४ पाद । देहे, अल्पे, विरले, कृशे च । त्रि० । वाच० ।
ते–त्वया–त्रि० । "भे-दि-दे-ते०–" ॥ ८ । ३ । ९४ ॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदस्ते इत्यादेशः प्रा० ३ पाद ।
तव–त्रि० । "तइ-तु-ते०–" ॥ ८ । ३ । ९९ ॥ इत्यादिना ङसा सहितस्य युष्मदस्ते इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद । दश० ।
तस्मिन्–पुं० । प्राकृतशैलीवशात्तस्मिन्नित्यस्य स्थाने 'ते' इत्यादेशः । "ते णं काले णं ते णं समए णं" । रा० जं० । कल्प० । ('काल' शब्दे व्याख्यातम्) तच्छब्दस्य प्रथमाबहुवचने इति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।
तेअव–प्रदीप–धा० । प्रकर्षेण दीप्तौ, दिवा० – आत्म० – अक० – सेट् । "प्रदीपेस्तेअव-संदुम-संधुक्काब्भुत्ताः" ॥ ८ । ४ । १५२ ॥ इति प्रोपसर्गसहितस्य दीपधातोः 'तेअव' इत्यादेशः । 'तेअवइ ।' पक्षे–'पलीवइ ।' प्रदीप्यते । प्रा० ४ पाद ।

तेश्रा-तेजस्-स्त्री० । त्रयोदश्याम्, जं० ७ वक्ष० ।

तेइंदिय-त्रीन्द्रिय-पुं० । त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणरूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः । कर्म० ४ कर्म० । जी० । यूकामत्कुणगर्दभेन्द्रगोपकुन्थुमत्कोटपिपीलिकोपदेहिकाकर्पासास्थिकत्रपुसबीजकतुम्बुरुकाऽऽदिषु, पं० सं० १ द्वार । उत्त० । आव० । आ० म० ।

सम्प्रति त्रीन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापनाऽर्थमाह-

से किं तं तेइंदियसंसारसमावन्नजीवपन्नवणा ?। तेइंदियसंसारसमावन्नजीवपन्नवणा अणेगविहा पन्नत्ता । तं जहा-उवाइया, रोहिणिया, कुंथू, पिपीलिया, उद्देसगा, उद्देहिया, उक्कलिया, उप्पाया, उप्पडा, तणहारा, कट्ठहारा, पत्तहारा, मालुंया, तणविंटिया, पत्तविंटिया, पुप्फविंटिया, फलविंटिया, बीयविंटिया, तेंबुरुमिंजिया, तउसमिंजिया, कप्पासट्ठिमिंजिया, हिल्लिया, झिल्लिया, झिंगिरा, किंगिरिडा, बाहुया, लहुया, सुभगा, सोवत्थिया, सुयवेंटा, इंदकाइया, इंदगोवया, तुरुतुंबगा, कोत्थलवाहगा, जूया, हालाहला, पिसुया, सतवाइया, गोम्ही, कण्णसियालिया, (हत्थिसोंडा) जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते संमुच्छिमणपुंसगा । ते समासओ दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । एएसि णं एवमाइयाणं तेइंदियाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं अट्ठ जाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । सेत्तं तेइंदियसंसारसमावन्नजीवपण्णवणा ॥

(से किं तमित्यादि) अथ का सा त्रीन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना ?। भगवानाह-त्रीन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना अनेकविधा प्रज्ञप्ता। तानेव तद्यथेत्यादिनोपदर्शयति । एते च औपचयिकप्रभृतयस्त्रीन्द्रिया देशविशेषतो लोकतश्चावगन्तव्याः । नवरं (गोम्ही कण्णसियालिया जे यावन्ने तहप्पगारा) येऽपि चान्ये तथाप्रकारास्ते सर्वे त्रीन्द्रिया ज्ञातव्या इति शेषः। (ते सव्वे संमुच्छिमनपुंसगा) इत्यादि पूर्ववत् । (एतेसि णमित्यादि) एतेषां त्रीन्द्रियाणामेवमादिकानामौपचयिकप्रभृतीनां पर्याप्ताऽपर्याप्तानां सर्वसङ्ख्यया अष्टौ जातिकुलकोटीनां योनिप्रमुखाणि योनिप्रवाहाणि शतसहस्राणि भवन्ति, अष्टौ कुलकोटिलक्षा भवन्तीति भावः। इत्याख्यातं तीर्थकृद्भिः । उपसंहारमाह-(सेत्तमित्यादि) तदेवमुक्ता त्रीन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना । प्रज्ञा० १ पद । जी० । स्था० ।

अथ त्रीन्द्रियानाह-

से किं तं तेइंदिया ?। तेइंदिया अणेगविहा पन्नत्ता । तं जहा-जेओ जहा पएणवणाए । उवइया, रोहिणिया, हत्थिसोंडा, जे यावन्ने तहप्पगारा, ते समासतो दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-पज्जत्ता य, अपज्जत्ता य। तहेव जहा बेइंदियाणं, णवरं सरीरोगाहणा, उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं ठिती, जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं एगूणपन्नराइंदियाणं, सेसं तहेव दुगतिया दुआगतिआ परित्ता असंखेज्जा पन्नत्ता । सेत्तं तेइंदिया ।

(से किं तमित्यादि) अथ के ते त्रीन्द्रियाः ?। सूरिराह-त्रीन्द्रिया अनेकविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-(जेओ जहा पन्नवणाए) भेदो यथा प्रज्ञापनायां तथा वक्तव्यः । स चैवम्-"उवाइया, रोहिणिया, कुंथू, पिपीलिया, उद्देसगा, उद्देहिया, उक्कलिया, उप्पाया, उप्पडा, तणहारा, कट्ठहारा, पत्तहारा, मालुंया, तणबेंटका, पत्तबेंटका, पुप्फबेंटया, फलबेंटया, बीयबेंटया, तेंबुरुमिंजिया, तउसमिंजिया, कप्पासट्ठिमिंजिया, हिल्लिया, झिल्लिया, झिंगिरा, झिंगिरडा, बाहुया, लहुया, सुभगा, सोवत्थिया, सुयबेंटा, इंदकाइया, इंदगोवया, तुरुतुंबगा, कोत्थलवाहगा, जूया, हालाहला, पिसुया, सतवाइया, गोम्ही, हत्थिसोंडा । " इति । एते च केचिद्देशप्रतीताः, केचिद्देशविशेषतोऽवगन्तव्याः । नवरम्-(गोम्ही कण्णसियाली जे यावन्ने तहप्पगारा इति) येऽपि चान्ये तथाप्रकारा एवंप्रकारास्ते सर्वे त्रीन्द्रिया ज्ञातव्याः । (ते समासतो इत्यादि) समस्तमपि सूत्र द्वीन्द्रियवत् परिभावनीयं, नवरमवगाहनाद्वारे उत्कर्षतो अवगाहना त्रीणि गव्यूतानि, इन्द्रियद्वारे त्रीणि इन्द्रियाणि, स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षेन एकोनपञ्चाशद् रात्रिन्दिवानि । शेष तथैव, उपसंहारमाह-(सेत्त तेइंदिया) उक्तास्त्रीन्द्रियाः । जी० १ प्रति० ।

त्रीन्द्रियवक्तव्यतामाह-

तेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १३७ ॥
कुंथू पिवीलिया दंसा, उक्कलुद्देहिया तहा ।
तणहार कट्ठहारा य, मालुगा पत्तहारगा ॥ १३८ ॥
कप्पासट्ठिमिंजा य, तिंदुगा तउसमिंजगा ।
सतावरी य गुम्मी य, बोधव्वा इंदकाइया ॥ १३९ ॥
इंदगोवगमाईयाऽणेगहा एवमाइश्रो ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥१४०॥
संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच साईया, सपज्जवसिया वि य ॥ १४१ ॥
एगूणवरणऽहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया ।
तेइंदिअआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ १४२ ॥
संखेज्जकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णगं ।
तेइंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १४३ ॥
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
तेइंदियजीवाणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ १४४ ॥
एएसिं वएणओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणदेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १४५ ॥

एतदपि पूर्ववन्नवरं त्रीन्द्रियोच्चारणं विशेषः, तथा कुन्थवोऽनुद्धरिप्रभृतयः, पिपीलिकाः कीटकाः, गुम्मी शतपदी । एवमन्येऽपि यथासंप्रदायं वाच्याः । एकोनपञ्चाशदहोरात्राण्यायुःस्थितिरिति । उत्त० ३६ अ० । पि० । आ० । भ० । (त्रीन्द्रियाणां परिभोगः ' परिभोग ' शब्दे वक्ष्यते)

तेइच्छ-चैकित्स्य-न० । चिकित्साया भावश्चैकित्स्यम् । व्याधिप्रतिक्रियारूपे, दश० ३ अ० । आचा० ।

तेइच्छिय—चैकित्स्यिक—त्रि० । वैद्ये, सू० १ उ० ।

तेउ—तेजस्—न० । उष्णोद्योतलक्षणे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । उष्णरूपे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । पक्तृगुणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अग्निकुमारेन्द्रयोरग्निसिंहाग्निमानवयोः पूर्वदिग्लोकपाले, पुं० । स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

तेउकंत—तेजस्कान्त—पुं० । अग्निकुमारेन्द्रयोरग्निसिंहाग्निमानवयोरुत्तरदिग्लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

तेउक्काइय—तेजस्कायिक—पुं० । तेजो वह्निः, तदेव कायः शरीरं येषां ते तेजस्कायाः, तेजस्काया एव स्वार्थिके कप्रत्ययविधानात्तेजस्कायिकाः । जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । एकेन्द्रियजीवभेदे, दश० ।

अथ तेजसो जीवत्वसिद्धिमाह-

तेउ चित्तमंत—मक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥ ३ ॥

सात्मकोऽग्निः, आहारेण वृद्धिदर्शनात्, बालकवत् । दश० ४ अ० । तेजः सात्मकमाहारोपादानात् तद्वृद्धिविशेषोपलब्धेः, तद्विकारदर्शनाच्च, पुरुषवत् । आह च- "अपरप्पेरियतिरिया-नियमियदिग्गमणओ निलोगो व्व । अनलो आहाराओ, विद्धि-विगारोवलंभाओ" ॥ १ ॥ इति । स्था० १ ठा० । सूत्र० । व्य० । विशे० ।

सम्प्रति तेजस्कायिकानाह-

से किं तं तेउक्काइया ? । तेउक्काइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—सुहुमतेउक्काइया य, बादरतेउक्काइया य । से किं तं सुहुमतेउक्काइया ? । सुहुमतेउक्काइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । सेत्तं सुहुमतेउक्काइया । से किं तं बादरतेउक्काइया ? । बादरतेउक्काइया अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा—इंगाले, जाला, मुम्मुरे, अच्ची, अलाए, सुद्धागणी, उक्का, विज्जू, असणी, णिग्घाए, संघरिससमुट्ठिए, सूरकंतमणिणिस्सिए, जे यावन्ने तहप्पगारा, ते समासओ दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा, ते णं असंपत्ता । तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा एएसिं वण्णादेसेणं गंधादेसेणं रसादेसेणं फासादेसेणं सहस्सऽग्गसो विहाणाइं संखिज्जाइं जोणिप्पमुहसयसहस्साइं पज्जत्तगणिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ णियमा असंखेज्जा । सेत्तं बादरतेउक्काइया, सेत्तं तेउक्काइया ।

(से किं तमित्यादि) सुगमं. नवरमङ्गारो विगतधूमः, ज्वाला आज्वल्यमानः, खादिराऽऽदिज्वालाऽनलसम्बद्धा दीपशिखेत्यन्ये । मुर्मुरः फुम्फुकाऽऽदौ भस्ममिश्राग्निकणरूपः, अर्चिरनलाप्रतिबद्धा ज्वाला, आलातमुल्मुकं, शुद्धोऽग्निरयःपिण्डाऽऽदौ, उल्का चुडुली, विद्युत्प्रतीता, अशनिराकाशे पतदग्निमयः कणः, निर्घातो वैक्रियाशनिप्रपातः, सङ्घर्षसमुत्थितोऽरण्याऽऽदिकाष्ठानिर्मथनसमुद्भूतः, सूर्यकान्तमणिनिःसृतः-सूर्यखराकरणसम्पर्के सूर्यकान्तमणेर्यः समुपजायते, (जे यावन्ने तहप्पगारा इति) येऽपि चान्ये तथाप्रकारा एवंप्रकारास्तेजस्कायिकाः, तेऽपि बादरतेजस्कायिकतया वेदितव्याः. ते समासतो इत्यादि प्राग्वत् । नवरमत्रापि सप्त योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणि सप्त वेदितव्यानि । प्रज्ञा० १ पद ।

अथ तेजस्कायिकप्रतिपादक उद्देशकः समारभ्यते । तस्य चोपक्रमाऽऽदीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि तावद्यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे तेजउद्देशक इति नाम, तत्र तेजसो निक्षेपाऽऽदीनि द्वाराणि वाच्यानि, अत्र च पृथिवीविकल्पतुल्यत्वात् केषाञ्चिदतिदेशो द्वाराणामपरेषां तादृगलक्षणत्वात् अपोद्धार इत्येतद् द्वयमुररीकृत्य निर्युक्तिकृद् गाथामाह-

तेउस्स वि दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्तं तु विहाणे, परिमाणुवभोगसत्थे य ॥११६॥

(तेउस्स वीत्यादि) तेजसोऽप्यग्नेरपि द्वाराणि निक्षेपाऽऽदीनि, यानि पृथिव्याः समधिगमेऽभिहितानि, तान्येव वाच्यानि । अपवादं दर्शयितुमाह-नानात्वं भेदो विधानपरिमाणोपभोगशस्त्रेषु, तुरवधारणे । विधानाऽऽदिष्वेव च नानात्वं, नान्यत्रेति । चशब्दाल्लक्षणद्वारपरिग्रहः ॥ ११६ ॥

यथाप्रतिज्ञातनिर्वहणार्थमादिद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह-

दुविहा य तेउजीवा, सुहुमा तह बायरा य लोगम्मि ।
सुहुमा य सव्वलोए, पंचेव य बायरविहाणा ॥११७॥

(द्विविधेत्यादि) स्पष्टा ॥ ११७ ॥

बादरपञ्चभेदप्रतिपादनायाऽऽह-

इंगाल अगणि अच्ची, जाला तह मुम्मुरे य बोधव्वे ।
बायरतेउविहाणा, पंचविहा वण्णिया एए ॥११८॥

(इंगालेत्यादि) दग्धेन्धनो विगतधूमज्वालोऽङ्गारः-इन्धनस्थः प्लोषक्रियाविशिष्टरूपः, तथा विद्युदुल्काऽशनिसंघर्षसमुत्थितः सूर्यमणिसंसृताऽऽदिरूपश्चाग्निः, दाह्यप्रतिबद्धो ज्वालाविशेषोऽर्चिः, ज्वाला छिन्नमूलाऽनङ्गारप्रतिबद्धा, प्रविरलाग्निकणानुविद्धं भस्म मुर्मुरः । एते बादरा अग्निभेदाः पञ्च भवन्तीति । एते च बादराग्नयः स्वस्थानाङ्गीकरणान्मनुष्यक्षेत्रेऽर्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेष्वव्याघातेन पञ्चदशसु कर्मभूमिषु व्याघाते सति पञ्चसु विदेहेषु, नान्यत्र, उपपाताङ्गीकरणेन लोकासंख्येयभागवर्तिनः । तथा चाऽऽगमः-"उववाएणं दोसु उड्ढकवाडेसु तिरियलोयतट्टे य ।" अस्यायमर्थः-अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रावाहल्ये पूर्वापरदक्षिणोत्तरस्वयम्भूरमणपर्यन्ताऽऽयते ऊर्द्ध्वाधोलोकप्रमाणे कपाटे तयोः प्रविष्टा बादराग्निषूत्पद्यमानकास्तद्व्यपदेशं लभन्ते । तथा-(तिरियलोयतट्टे य त्ति) तिर्यग्लोकस्थालके च व्यवस्थितो बादराग्निषूत्पद्यमानो बादराग्निव्यपदेशभाग् भवति ॥ अन्ये तु व्याचक्षते-तयोस्तिष्ठतीति तत्स्थः, तिर्यग्लोकश्चासौ तत्स्थश्च तिर्यग्लोकतत्स्थः । तत्र च स्थित उत्पित्सुर्बादराग्निव्यपदेशमासादयति । अस्मिंश्च व्याख्याने कपाटान्तर्गत एव गृह्यते, स च द्वयोरूर्ध्वकपाटयोरित्यनेनैवोपात्त इति तद्व्याख्यानाभिप्रायं न विद्मः । कपाटस्थापना चेयम्-समुद्घातेन सर्वलोकवर्तिनः, ते च पृथिव्यादयो मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता बादराग्निषूत्पद्यमानास्तद्व्यपदेशभाजः सर्वलोकव्यापिनो भवन्ति । यत्र च बादराः पर्याप्तकास्तत्रैव बादरा अपर्याप्तकाः, तन्निश्रया तेषामुत्पद्यमानत्वात् । तदेवं सूक्ष्मा बादराश्च पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन प्रत्येकं द्विधा भवन्ति । एते च वर्णगन्ध-

रसस्पर्शाऽऽदेशैः सहस्राग्रशो भिद्यमानाः सङ्ख्येययोनिप्रमुखशतसहस्रभेदपरिमाणा भवन्ति । तत्रैषां संवृता योनिरुष्णा च सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा । सप्त चैषां योनिलक्षा भवन्ति ॥ ११८ ॥

साम्प्रतं चशब्दसमुच्चितं लक्षणद्वारमाह-

जह देहप्परिणामो, रत्तिं खज्जोयगस्स सा उवमा ।
जरियस्स य जह उम्हा, तह उवमा तेउजीवाणं ॥११९॥

(जहेत्यादि) यथेति दृष्टान्तोपन्यासार्थः । देहपरिणामः प्रतिविशिष्टा शरीरशक्तिः, रात्राविति विशिष्टकालनिर्देशः । खद्योतक इति प्राणिविशेषपरिग्रहः । यथा तस्याऽसौ देहपरिणामो जीवप्रयोगनिर्वृत्तशक्तिराविर्भावित, एवमङ्गाराऽऽदीनामपि प्रतिविशिष्टा प्रकाशाऽऽदिशक्तिरनुमीयते जीवप्रयोगविशेषाऽऽविर्भावितेति । यथा वा-ज्वरोष्मा जीवप्रयोगं नातिवर्त्तते, जीवाधिष्ठितशरीरकानुपात्येव भवति, एवैवोपमाऽऽग्नेयजन्तूनाम्, न च मृता ज्वरिणः क्वचिदुपलभ्यन्ते, एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामग्नेः सचित्तता सूत्रकृद्ग्रन्थोपपत्तिमुखेन प्रतिपादिता । संप्रति प्रयोगमारोप्यतेऽयमेवाऽर्थः-जीवशरीराण्यङ्गाराऽऽदयः, छेद्यत्वाऽऽदिहेतुगणान्वितत्वात्, सास्नाविषाणाऽऽदिसङ्घातवत्, तथा आत्मसंयोगाऽऽविर्भूतोऽङ्गाराऽऽदीनां प्रकाशपरिणामः, शरीरस्थत्वात्, खद्योतकदेहपरिणामवत्, तथा-आत्मसंप्रयोगपूर्वकोऽङ्गाराऽऽदीनामूष्मा, शरीरस्थत्वात्, ज्वरोष्मवत् । न चाऽऽदित्याऽऽदिभिरनेकान्तः । सर्वेषामात्मप्रयोगपूर्वकं यत उष्णपरिणामभाक्त्वं तस्मान्नानेकान्तः, तथा सचेतनं तेजो, यथायोग्याऽऽहारोपादानेन वृद्धिविशेषतद्विकारवत्त्वात्, पुरुषवत् । एवमादिना लक्षणेनाऽऽग्नेया जन्तवोऽवसेयाः ॥ ११९ ॥ इत्युक्तं लक्षणद्वारम् ।

अथ परिमाणद्वारमाह-

जे बायरपज्जत्ता, पल्लियस्स असंखभागमेत्ता उ ।
सेसा तिन्नि वि रासी, वीसुं लोगा असंखेज्जा ॥१२०॥

(जे बायरेत्यादि) ये बादरपर्याप्ताऽनलजीवाः क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागमात्रवर्तिप्रदेशराशिपरिमाणा भवन्ति, ते पुनर्बादरपृथिवीकायपर्याप्तकेभ्योऽसंख्येयगुणहीनाः, शेषास्त्रयोऽपि राशयः पृथ्वीकायवद्भावनीयाः । किं तु बादरपृथिवीकायापर्याप्तकेभ्यो बादराऽऽग्नेयापर्याप्तका असंख्येयगुणहीनाः सूक्ष्मपृथिवीकायापर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माऽऽग्नेयापर्याप्तका विशेषहीनाः, सूक्ष्मपृथिवीकायपर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माऽऽग्नेयपर्याप्तका विशेषहीना इति ॥ १२० ॥

साम्प्रतमुपभोगद्वारमाह-

दहणे पयावणपगा-सणे य सेए य भत्तकरणे य ।
बायरतेउक्काए, उवभोगगुणा मणुस्साणं ॥ १२१ ॥

(दहणेत्यादि) दहनं-शरीराऽऽद्यवयवस्य वाताऽऽद्यपनयनार्थं, प्रकृष्टं तापनं प्रतापनं-शीतापनोदाय, प्रकाशकरणमुद्द्योतकरणं-प्रदीपाऽऽदिना, भक्तकरणमोदनाऽऽदिरन्धनम्, स्वेदो-ज्वरविशूचिकाऽऽदीनाम् । इत्येवमादिष्वनेकप्रयोजनेषूपस्थितेषु मनुष्याणां बादरतेजस्कायविषया उपभोगरूपा गुणा उपभोगगुणा भवन्तीति ॥ १२१ ॥

तदेवमेवमादिभिः कारणैः समुपस्थितैः सततमारम्भप्रवृत्ता गृहिणो यत्याभासा वा सुखैषिणस्तेजस्कायजन्तून् हिंसन्तीति दर्शयितुमाह-

एएहिँ कारणेहिं, हिंसंति उ तेउकाइए जीवे ।
सायं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरेंति ॥ १२२ ॥

(एएहिं इत्यादि) एतैर्दहनाऽऽदिभिः कारणैस्तेजस्कायिकान् जीवान् हिंसन्तीति संघट्टनपरितापनाऽपद्रावणानि कुर्वन्ति, सातं सुखं तदात्मनोऽन्विष्यन्तः परस्य बादराग्निकायस्य, दुःखमुदीरयन्त्युत्पादयन्तीति ॥ १२२ ॥

साम्प्रतं शस्त्रद्वारम्, तच्च द्रव्यभावशस्त्रभेदात् द्विधा,
द्रव्यशस्त्रमपि समासविभागभेदात् द्विधैव,
तत्र समासतो द्रव्यशस्त्रप्रतिपादनायाऽऽह-

पुढवी आउक्काए, उल्ला य वणस्सई तसा पाणा ।
बायरतेउक्काए, एयं तु समासओ सत्थं ॥ १२३ ॥

पृथिवी धूलिः, अप्कायश्च आर्द्रश्च वनस्पतिः त्रसाश्च प्राणिनः, एतद् बादरतेजस्कायजन्तूनां समासतः सामान्येन शस्त्रमिति ॥ १२३ ॥

विभागतो द्रव्यशस्त्रमाह-

किंची सकायसत्थं, किंची परकाएँ तदुभयं किंची ।
एयं तु दव्वसत्थं, भावे य असंजमो सत्थं ॥ १२४ ॥

(किंचीत्यादि) किञ्चिच्छस्त्रं स्वकाय एव अग्निकाय एवाग्निकायस्य । तद्यथा-तार्णोऽग्निः पार्णाग्नेः शस्त्रमिति । किञ्चिच्च परकायशस्त्रमुदकाऽऽदि । उभयशस्त्रं पुनस्तुषकरीषाऽऽदिव्यतिमिश्रोऽग्निरपराग्नेः । तुशब्दो भावशस्त्रापेक्षया विशेषणार्थः । एतत्तु पूर्वोक्तं समासविभागरूपं पृथिवीस्वकायाऽऽदिद्रव्यशस्त्रमिति । भावशस्त्रं दर्शयति-भावे शस्त्रमसंयमो दुःप्रणिहितमनोवाक्कायलक्षण इति ॥ १२४ ॥

अथोपसंहारमाह-

सेसाइं दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
एवं तेउद्देसे, निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥ १२५ ॥

(सेसाणीत्यादि) उक्तशेषाणि द्वाराणि तान्येव, यानि पृथिव्युद्देशकेऽभिहितानि । एवमुक्तप्रकारेण, तेजस्कायाभिधानोद्देशके निर्युक्तिः कीर्तिता व्यावर्णिता भवतीति ॥ १२५ ॥

साम्प्रतं सूत्रानुगमे स्खलिताऽऽदिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्-

से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ ॥ ३२ ॥

(से बेमीत्यादि) अस्य च संबन्धः प्राग्वद्वाच्य इति । येन मया सामान्याऽऽत्मपदार्थपृथिव्यप्कायजीवप्रविभागव्यावर्णनमकारि स एवाहमुपर्यविच्छिन्नज्ञानप्रवाहस्तेजोजीवस्वरूपोपलम्भसमुपजनितजिनवचनसमदो ब्रवीमि । किं पुनस्तदिति दर्शयति-(णेवेत्यादि) इह हि प्रकरणसंबन्धाल्लोकशब्देनाग्निकायलोकोऽभिधित्सितः, अतस्तमग्निलोकं जीवत्वेन नैव स्वयमात्मनाऽभ्याचक्षीत, नैवापह्नुवीतेत्यर्थः । एतद्व्याख्याने ह्यात्मनोऽपि ज्ञानाऽऽदिगुणकलापानुमितस्याभ्याख्यानमवाप्नोति । अथ च प्रत्यक्षमभिव्यक्तस्याभ्याख्यानं नैवाऽऽत्मनो न्याय्यम्, एवं तेजस्कायस्यापि प्रसाधितत्वात् अभ्याख्यानं क्रियमाणं न युक्तिपथम-

भवति । एवं चास्य युक्त्यागमबलप्रसिद्धस्याऽभ्याख्याने क्रियमाणे सत्यात्मनोऽप्यहंप्रत्ययसिद्धस्याभ्याख्यानं भवतः प्राप्तम् । एवमस्त्विति चेत्, तन्नेति दर्शयति-(नेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा) नैवाऽऽत्मानं-शरीराधिष्ठातारं ज्ञानगुणं प्रत्यात्मसंवेद्यं प्रत्याचक्षीत, तस्य शरीराधिष्ठातृत्वेनाऽऽहृतमिदं शरीरं केनचिदभिसन्धिमता, तथा त्वर्कामदं शरीरं केनचिदभिसन्धिमतैवेत्येवमादिभिर्हेतुभिः प्रसाधितत्वात् । न च प्रसाधितप्रसाधनं पिष्टपेषणवद् विद्वज्जनमनांसि रञ्जयति । एवञ्च सत्यात्मवत्प्रसाधितमग्निलोकं यः प्रत्याचक्षीत सोऽतिसाहसिक आत्मानमभ्याख्याति निराकरोति, यश्चाऽऽत्माभ्याख्यानप्रवृत्तः स सर्वैवाग्निलोकमभ्याख्याति, सामान्यपूर्वकत्वाद्विशेषाणाम्, सति ह्यात्मसामान्ये पृथिव्याद्यात्मविभागः सिद्ध्यति, नान्यथा, सामान्यस्य विशेषव्यापकत्वात्; व्यापकविनिवृत्तौ च व्याप्यस्याप्यवश्यंभाविनी विनिवृत्तिरिति कृत्वा । एवमयमग्निलोकः सामान्याऽऽत्मवदनभ्याख्यातव्य इति प्रदर्शितम् ।

अधुनाऽग्निजीवप्रतिपत्तौ सत्यां तद्विषयसमारम्भकटुकफलपरिहारोपन्यासाय सूत्रमाह-

जे दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे ।

(जे दीहेत्यादि) य इति मुमुक्षुर्दीर्घलोको-वनस्पतिर्यस्मादसौ कायस्थित्या परिमाणेन शरीरोच्छ्रयेण च शेषैकेन्द्रियेभ्यो दीर्घो वर्तते । तथाहि-कायस्थित्या तावत् "वणस्सइकाइए णं भंते ! वणस्सइकाए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?। गोयमा ! अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ, खेत्तओ अणंता लोया असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागे ।" परिमाणतस्तु-"पडुप्पन्नवणस्सइकाइयाणं भंते ! केवतिकालस्स निल्लेवणा सिया ?। गोयमा ! पडुप्पन्नवणस्सइकाइयाणं नत्थि निल्लेवणा ।" तथा शरीरोच्छ्रयाच्च दीर्घो वनस्पतिः । " वणस्सइकाइयाणं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! साइरेगं जोयणसहस्सं सरीरोगाहणा ।" न तथाऽन्येषामेकेन्द्रियाणाम्, अतः स्थितमेतत्सर्वथा दीर्घलोको वनस्पतिरिति । अस्य च शस्त्रमग्निः, यस्मात्स हि प्रवृद्धज्वालाकलापाऽऽकुलः सकलतरुगणप्रध्वंसनाय प्रभवति, अतोऽसौ तदुत्सादकत्वाच्छस्त्रम् । ननु च सर्वलोकप्रसिद्धया कस्मादग्निरेव नोक्तः ?, किं वा प्रयोजनमुररीकृत्योक्तं दीर्घलोकशस्त्रमिति ?। अत्रोच्यते-प्रेक्षापूर्वकारितया, न निरभिप्रायमेतत्कृतमिति । यस्मादयमुत्पाद्यमानो ज्वाल्यमानो वा हव्यवाहः समस्तभूतग्रामघाताय प्रवर्त्तते, वनस्पतिदाहप्रवृत्तस्तु बहुविधसत्त्वसंहतिविनाशकारी विशेषतः स्यात्, यतो वनस्पतौ कृमिपिपीलिकाभ्रमरकपोतश्वापदाऽऽदयः संभवन्ति, तथा पृथिव्यपि तरुकोटरव्यवस्थिता स्यात्, आपोऽप्यवश्यायरूपाः, वायुरपीषच्चञ्चलस्वभावकोमलकिसलयानुसारी संभाव्यते । तदेवमग्निसमारम्भप्रवृत्त एतावतो जीवान्नाशयति, अस्यार्थस्य सूचनाय दीर्घलोकशस्त्रग्रहणमकरोत् सूत्रकार इति ।

तथा चोक्तम्-

" जायतेयं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए ।
तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओ वि दुरासयं ॥ ३३ ॥
पाईणं पडिणं वा वि, उड्ढं अणुदिसामवि ।
अहे दाहिणओ वा वि, दहे उत्तरओ वि य ॥ ३४ ॥
भूयाण-मेस-माघाओ, हव्ववाहो न संसओ ।
तं पईवपयावट्ठा, संजया किंचि नारभे ॥३५॥" (दश० ६ अ०)

अथवा बादरतेजस्कायाः पर्याप्तकाः स्तोकाः, शेषाः पृथिव्यादयो जीवकाया बहवः, भवस्थितिरपि त्रीण्यहोरात्राणि स्वल्पा, इतरेषां पृथिव्यब्वायुवनस्पतीनां यथाक्रमं द्वाविंशतिसप्तत्रिदशवर्षसहस्रपरिमाणा दीर्घा भवस्थितिरिति । अतो दीर्घलोकः-पृथिव्यादिः, तस्य शस्त्रमग्निकायः, तस्य क्षेत्रज्ञो निपुणोऽग्निकायं वर्णाऽऽदितो जानातीत्यर्थः । खेदज्ञो वा, खेदः-तद्व्यापारः सर्वसत्त्वानां दहनाऽऽत्मकः पाकाऽऽद्यनेकशक्तिकलापोपचितः प्रवरमणिरिव जाज्वल्यमानो लब्धाग्निव्यपदेशः यतीनामनारम्भणीयः, तमेवंविधं खेदमग्निव्यापारं जानातीति खेदज्ञः, अतो य एव दीर्घलोकशस्त्रस्य खेदज्ञः स एवाशस्त्रस्य सप्तदशभेदस्य संयमस्य खेदज्ञः । संयमो हि न कञ्चज्जीवं व्यापादयति, अतोऽशस्त्रम् । एवमनेन संयमेन सर्वसत्त्वाभयप्रदायिनाऽनुष्ठीयमानेनाग्निजीवविषयः समारम्भः शक्यः परिहर्तुं पृथिव्यादिकायसमारम्भश्चेत्येवमसौ संयमे निपुणमतिर्भवति, ततश्च निपुणमतित्वाद्विदितपरमार्थोऽग्निसमारम्भाद् व्यावृत्य संयमानुष्ठाने प्रवर्त्तते ।

इदानीं गतप्रत्यागतलक्षणेनाविनाभावित्वप्रदर्शनार्थं विपर्ययेण सूत्रावयवपरामर्शं करोति-

जे असत्थस्स खेयण्णे, से दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे ॥३२॥

(जे असत्थस्स इत्यादि) यश्चाशस्त्रे संयमे निपुणः, स खलु दीर्घलोकशस्त्रस्याग्नेः, क्षेत्रज्ञः खेदज्ञो वा, संयमपूर्वकं ह्यग्निविषयखेदज्ञत्वम् । अग्निविषयखेदज्ञतापूर्वकं च संयमानुष्ठानम्, अन्यथा तदसंभव एवेत्येतद्गतप्रत्यागतफलमाविर्भावितं भवति ।

कैः पुनरिदमेवमुपलब्धमित्यत आह-

वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं,

(वीरेहीत्यादि) अथवा सद्भूतप्रसिद्धौ सत्यां वाक्यप्रसिद्धिर्भवति, इत्यत उपदिश्यते-(वीरेहीत्यादि) घनघातिकर्मसंघातविदारणानन्तरप्राप्ताऽतुलकेवलश्रिया विराजन्त इति वीराः-तीर्थकराः, तैर्वीरैरर्थतो दृष्टमेतद्गणधरैश्च सूत्रतोऽग्निशस्त्रं दृष्टम्, अशस्त्रं संयमस्वरूपं चेति । किं पुनरनुष्ठायेदं तैरुपलब्धमिति ?। अत्रोच्यते-(अभिभूयेति) अभिभवो नामाऽऽदिश्चतुर्धा, द्रव्याभिभवो रिपुसेनाऽऽदिपराजयः, आदित्यतेजसा वा चन्द्रग्रहनक्षत्राऽऽदितेजोऽभिभवः, भावाभिभवस्तु—परीषहोपसर्गानीकज्ञानदर्शनाऽऽवरणमोहान्तरायकर्मनिर्दलनं, परीषहोपसर्गाऽऽदिसेनाविजयाद्विमलं चरणं, चरणाच्छेदज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयः, तत्क्षयान्निरावरणमप्रतिहतमशेषज्ञेयग्राहि केवलज्ञानमुपजायते । इदमुक्तं भवति-परीषहोपसर्गज्ञानदर्शनाऽऽवरणीयमोहान्तरायाण्यभिभूय केवलमुत्पाद्य तैरुपलब्धमिति ।

यथाभूतैस्तैरिदमुपलब्धं तद्दर्शयति-

संजएहिं सया जत्तेहिं सया अप्पमत्तेहिं ॥ ३३ ॥

सम्यग् यताः संयताः प्राणातिपाताऽऽदिभ्यस्तैः, तथा सदा सर्वकालं चरणप्रतिपत्तौ मूलोत्तरगुणभेदायां निरतिचारत्वाद्यतमानास्तैः, तथा सदा सर्वकालं न विद्यते प्रमादो मद्यविषयकषायविकथानिद्राऽऽदयो येषां ते प्रमत्ताः, तैरेवंभूतैर्महावीरैः केवलज्ञानचक्षुषेदं दीर्घलोकशस्त्रम्, अशस्त्रं च संयमो दृष्-

मुपलब्धमिति । अत्र च यत्नग्रहणादीर्यासमित्यादयो गुणा गृह्यन्ते । अप्रमादग्रहणात्तु मद्याऽऽदिनिवृत्तिरिति । तदेवमेतत्प्रधानपुरुषप्रतिपादितमग्निशस्त्रमपायदर्शनादप्रमत्तैः साधुभिः परिहार्यमिति ॥

एवं प्रत्यक्षीकृतानेकदोषजालमप्यग्निशस्त्रमुपभोगलोभात्प्रमादवशगा ये न परिहरन्ति, तानुद्दिश्य विपाकदर्शनायाऽऽह–

जे पमत्ते गुणट्ठीए से हु दंडे त्ति पवुच्चइ ॥ ३४ ॥

यो हि प्रमत्तो भवति मद्यविषयाऽऽदिप्रमादैरसंयतो 'गुणार्थी' रन्धनपचनप्रकाशाऽऽतापनाऽऽद्यग्निगुणप्रयोजनवान् स दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायोऽग्निशस्त्रसमारम्भकतया प्राणिनां दण्डहेतुत्वाद्दण्डः, प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यते, आयुर्घृताऽऽदिव्यपदेशवदिति ।

यतश्चैवं ततः किं कर्त्तव्यमित्यत आह–

तं परिण्णाय मेहावी, इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं ॥ ३५ ॥

(तं परिण्णाय मेहावी) तमग्निकायसमारम्भं दण्डफलं परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञाप्रत्याख्यानपरिज्ञाभ्यां मेधावी मर्यादाव्यवस्थितो वक्ष्यमाणप्रकारेण व्यवच्छेदमात्मन्याचिनोतीति । तमेव प्रकारं दर्शयितुमाह–(इयाणीत्यादि) यमहमग्निसमारम्भं विषयप्रमादेनाऽऽकुलीकृतान्तःकरणः सन् पूर्वमकार्षं, तमिदानीं जिनवचनोपलब्धाग्निसमारम्भदण्डतत्त्वः नो करोमीति ॥

अन्ये त्वन्यथावादिनोऽन्यथाकारिण इति दर्शयितुमाह–

लज्जमाणा पुढो पास–अणगारा मो त्ति एगे पवदमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव अगणिसत्थं समारभइ, अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा अगणिसत्थं समारभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहियाए से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं णायं भवति–एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु णरए, इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ ३६ ॥

(लज्जमाणेत्यादि) यावत्–(अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ त्ति) अस्य ग्रन्थस्योक्तार्थस्याऽयमर्थो लेशतः प्रदर्श्यते–लज्जमानाः स्वाऽऽगमोक्तानुष्ठानं कुर्वाणाः सावद्यानुष्ठानेन वा लज्जां कुर्वाणाः, पृथग्विभक्ताः शाक्याऽऽदयः, पश्येति संयमानुष्ठाने स्थिरीकरणार्थं शिष्यस्य चोदना, अनगारा वयमित्येके प्रवदमानाः, किं तैर्विरूपमाचरितं येनैवं प्रदर्श्यन्त इति दर्शयति–यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैरग्निकर्मसमारम्भेण अग्निशस्त्रं समारभमाणः सन्नन्याननेकरूपान् प्राणिनो विहिनस्ति, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, यथाऽस्यैव परिफल्गुजीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं यत्करोति तद्दर्शयति–स परिवन्दनाऽऽद्यर्थी स्वत एवाग्निशस्त्रं समारभते, तथाऽन्यैश्चाग्निशस्त्रं समारम्भयति, तथाऽन्यांश्चाग्निशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते । तच्चाग्नेः समारम्भणं 'से' तस्य सुखलिप्सोरमुत्रान्यत्र चाहिताय भवति । तथा–तदेव च तस्याबोधिलाभाय भवति । स इति यस्यैतदसदाचरणं प्रदर्शितं स तु शिष्यस्तदग्निसमारम्भणं पापायेत्येवं संबुध्यमान आदानीयं ग्राह्यं सम्यग्दर्शनाऽऽदि सम्यगुत्थायाभ्युपगम्य श्रुत्वा भगवदन्तिकेऽनगाराणां वा इहैकेषां साधूनां ज्ञातं भवति । किं तद्दर्शयति ?–एषोऽग्निसमारम्भः ग्रन्थः कर्महेतुत्वात्, एष एव मोह एष एव मार एष एव नरकस्तद्धेतुत्वादिति भावः । इत्येवमर्थं च गृद्धो लोको यत्करोति तद्दर्शयति–यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैरग्निकर्म समारभते, तदारम्भेण चाग्निशस्त्रं समारभते, तच्चाऽऽरभमाणोऽन्याननेकरूपान् प्राणिनो विहिनस्तीति ॥

कथं पुनरग्निसमारम्भप्रवृत्ता नानाविधान् प्राणिनो विहिंसन्तीति दर्शयितुमाह–

से बेमि–संति पाणा पुढविणिस्सिया तणणिस्सिया पत्तणिस्सिया कट्ठणिस्सिया गोमयणिस्सिया कयवरणिस्सिया, संति संपातिमा पाणा आहच्च संपयंति, अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति ॥ ३७ ॥

(से बेमीत्यादि) तदहं ब्रवीमि यथा नानाविधजीवहिंसनमग्निकायसमारम्भेण भवतीति । यथाप्रतिज्ञातार्थं दर्शयति–सन्ति विद्यन्ते प्राणा जन्तवः, पृथिवीकायनिश्रिताः पृथिवीकायमवलम्ब्य परिणता इत्यर्थः । तदाश्रिता वा कृमिकुन्थुपिपीलिकागण्डूपदाहिमण्डूकवृश्चिककर्कटकाऽऽदयः । तथा–वृक्षगुल्मलतावितानाऽऽदयः । तथा–तृणपत्रनिश्रिताः पतङ्गेलिकाऽऽदयः । तथा–काष्ठनिश्रिता घुणोद्देहिकापिपीलिकाऽण्डाऽऽदयः । गोमयनिश्रिताः–कुन्थुपनकाऽऽदयः । कचवरः–पत्रतृणधूलिसमुदायः, तन्निश्रिताः कृमिकीटपतङ्गाऽऽदयः । तथा–सन्ति विद्यन्ते संपतितुमुत्प्लुत्योत्प्लुत्य गन्तुमागन्तुं वा शीलं येषां ते संपातिनः प्राणिनो–भ्रमरमक्षिकाभ्रमरपतङ्गमशकपक्षिवाताऽऽदयः, एते च संपातिन आहत्योपेत्य स्वत एव । यदि वा अत्यर्थं कदाचिद्वा अग्निशिखायां संपतन्ति च । तत्रैव पृथिव्यादिनिश्रितानां जीवानां यद्भवति तद्दर्शयितुमाह–(अगणिं चेत्यादि) रन्धनपचनतापनाऽऽद्यग्निगुणार्थिभिरवश्यमग्निसमारम्भो विधेयः; तत्समारम्भे च पृथिव्यादिनिश्रितानां जीवानामेता वक्ष्यमाणा अवस्था भवन्ति, छान्दसत्वात् तृतीयाऽर्थे द्वितीया । ततश्चायमर्थः–अग्निना स्पृष्टाः छुप्ता एके केचन संघातमधिकं गात्रसंकोचनं मयूरपिच्छवदापद्यन्ते, चशब्दस्याऽऽधिक्यार्थत्वात्, खलुशब्दोऽवधारणे, अग्नेरेवायं प्रतापो नापरस्येति । यदि वा सप्तम्यर्थे द्वितीया । स्पृष्टशब्दश्च पतितवचनः । ततश्चायमर्थो भवति–अग्नावेव स्पृष्टाः पतिता एके शलभाऽऽदयः, संघातं समेकीभावेनाधिकं गात्रसंकोचनमापद्यन्ते प्राप्नुवन्ति, ये च तत्राग्नौ पतिताः संघातमापद्यन्ते ते प्राणिनः, तत्राग्नौ पर्यापद्यन्ते । पर्यापत्तिः–संमूर्च्छनम्, ऊष्माभिभूता मूर्च्छामापद्यन्ते इत्यर्थः । अथ किमर्थं सूत्रकृता विभक्तिपरिणामोऽकारीति ? उच्यते–मागधदेशीसमनुवृत्तेः, व्याख्याविकल्पप्रदर्शनार्थं वा । अध्याहाराऽऽश्रयोऽपि व्याख्याङ्गमित्यनेन

शिष्यो ज्ञापितो भवति। अथ के पुनस्तेऽध्याहाराऽऽदय इति?, उच्यते-अध्याहारो, विपरिणामो, व्यवहितकल्पना, गुणकल्पना, लक्षणा, वाक्यभेदश्चेति । इह च द्वितीयाविभक्तेः सप्तमीपरिणामः कृत इति। ये च तत्राग्नौ पर्यापद्यन्ते ते प्राणिनः कृमिपिपीलिकाभ्रमरनकुलाऽऽदयः, तत्राग्नावपद्रावन्ति प्राणान् मुञ्चन्तीत्यर्थः। तदेवमग्निसमारम्भे सति न केवलमग्निजन्तूनां विनाशः, किं त्वन्येषामपि पृथिवीतृणपत्रकाष्ठगोमयकचवराऽऽश्रितानां सम्पातिनां च व्यापत्तिरवश्यम्भाविनीति। अत एव च भगवत्यां भगवतोक्तम्-"दो पुरिसा सरिसवया अन्नमन्नेहिं सद्धिं अगणिकायं समारंभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं समुज्जालेति, एगे विज्झवेति । तत्थ णं के पुरिसे महाकम्मयराए?, के पुरिसे अप्पकम्मयराए ?। गोयमा ! जे उज्जालेति से महाकम्मयराए, जे विज्झवेति से अप्पकम्मयराए ॥ "

तदेवं प्रभूतसत्त्वोपमर्दनकरमग्न्यारम्भं विहाय मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च तत्परिहारः कार्य इति दर्शयितुमाह-

एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थं समारंभे, नेवऽण्णेहिं अगणिसत्थं समारंभावेज्जा, अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे न समणुजाणेज्जा, जस्सेते अगणिकम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे ॥ ३७ ॥ त्ति बेमि ॥

(एत्थ सत्थेत्यादि) अत्राग्निकाये शस्त्रं स्वकायपरकायभेदभिन्नं समारभमाणस्य व्यापारयत इत्येते आरम्भाः पचनपाचनाऽऽदयो बन्धहेतुत्वेन परिज्ञाता भवन्ति । तथाऽत्रैवाग्निकाये शस्त्रमसमारभमाणस्यैते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति । यस्यैते अग्निकायसमारम्भा ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाता भवन्ति, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति, स एव मुनिः परमार्थतः परिज्ञातकर्मेति । ब्रवीमीति पूर्ववदिति। आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

सम्प्रति तेजस्कायपिण्डमाह-

तिविहो तेउक्काओ, सचित्तो मीसओ य अच्चित्तो ।
सच्चित्तो पुण दुविहो, निच्छय-ववहारओ चेव ॥४१॥

त्रिविधः तेजस्कायः । तद्यथा-सचित्तो, मिश्रोऽचित्तश्च । सचित्तः पुनर्द्विविधः-निश्चयतः, व्यवहारतश्च ।

निश्चयव्यवहाराभ्यामेव सचित्तस्य द्वैविध्यमाह-

इट्टगपागाईणं, बहुमज्झे विज्जुमाइ निच्छयओ ।
इंगालाई इयरो, मुम्मुरमाई य मिस्सो उ ॥ ४२ ॥

इष्टकापाकः प्रतीतः । आदिशब्दात् कुम्भकारपाकक्षुल्लकचुल्ल्यादिपरिग्रहः। तेषां च बहुमध्यभागे विद्युदादिश्च विद्युदुल्काप्रमुखस्तेजस्कायो निश्चयतः सचित्तः, शेषस्तु अङ्गाराऽऽदिकः, अङ्गारो-ज्वालारहितोऽग्निः, आदिशब्दात् ज्वालाऽऽदिपरिग्रहः । व्यवहारतः सचित्तः । सम्प्रति मिश्रं तेजस्कायमाह-(मुम्मुरमाई य मिस्सो उ) मुर्मुरः कारीषोऽग्निः, आदिशब्दादर्द्धविध्याताऽऽदिपरिग्रहः । इत्यंभूतो मिश्र इति ।

साम्प्रतमचित्तं तेजस्कायपिण्डमाह-

ओयणवंजणपाणग-आयामुसिणोदगं च कुम्मासा ।
डगलगसरक्खसूई, पिप्पलमाई उ उवओगो ॥ ४३ ॥

ओदनः-शाल्याऽऽदिभक्तं, व्यञ्जनं-पत्रशाकतीमनाऽऽदि । पानकं-काञ्जिकम् । तत्र ह्यवश्रावणं प्रक्षिप्यते, ततस्तदुपेक्षया काञ्जिकस्याग्निकायता। आयामम्-अवश्रावणं, उष्णोदकम्-उद्वृत्तत्रिदण्डम् । एतेषां च पदानां समाहारद्वन्द्वः । चकारो मण्डकाऽऽदिसमुच्चयार्थः । कुल्माषाः पक्वा माषाः । एते च ओदनाऽऽदयोऽग्निनिष्पन्नत्वेनाग्निकार्यत्वादग्नयो व्यपदिश्यन्ते । भवति च तत्कार्यत्वात्तच्छब्देन व्यपदेशः । यथा-द्रम्मो भक्षितोऽनेनेत्यादौ ओदनाऽऽदयश्चाचित्ताः, तत एतेषामचित्ताग्निकायत्वेनाभिधानं न विरुध्यते। तथा डगलकाः-पक्वेष्टकाखण्डानि, सरजस्को-भस्म, सूची लोहमयी वस्त्रसीवनिका । अथवा (सरक्खसूइ त्ति) रक्षा भस्म, सह रक्षया वर्त्तेत इति सरक्षा सूची । किमुक्तं भवति?- रक्षा च, सूची चेति । पिप्पलकः-किञ्चिद्वक्रः क्षुरविशेषः । आदिशब्दान्नखरदनिकाऽऽदिपरिग्रहः । एतानि च डगलकाऽऽदीनि पूर्वमग्निरूपतया परिणतान्यासीरन्, ततो भूतपूर्वगत्या संप्रत्यपि अग्निकायत्वेन व्यपदिश्यन्ते, अचित्तानि च। न चैतेषामचित्ताग्निकायत्वाभिधाने विरोधः ।··· (?) संप्रत्यचित्ताग्निकायस्य प्रयोजनमाह-(उवओगो त्ति) एतेषामोदनाऽऽदीनां य उपयोगो भोजनाऽऽदावुपयुज्यमानता, तदचित्ताग्निकायेन साधूनां प्रयोजनम्; द्रव्याऽऽदिभेदाच्चतुर्विधत्वमचित्ताग्निकायस्य प्रागिव यथायोगं भावनीयम् । उक्तस्तेजस्कायपिण्डः । पिं० । ओघ० । आ० म० । कल्प० । बृ० । (प्रथमं तेजस्कायोद्दीपनम् ऋषभदेवेन शिक्षितमिति 'उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११२६ पृष्ठे उक्तम्) ('सदीवयसह' प्रस्तावे साधूनामग्निसेवना प्रदर्शयिष्यते) (विकाले विहरतामग्निसेवना 'विहार' शब्दे वक्ष्यते)

अथ तेजस्कायहिंसानिषेधमाह-

जायतेयं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए ।
तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओ वि दुरासयं ॥ ३३ ॥

जाततेजा अग्निः, तं जाततेजसं, नेच्छन्ति मनःप्रभृतिभिरपि पापकं पाप एव पापकस्तं, प्रभूतसत्त्वापकारित्वेनाशुभमित्यर्थः । किं नेच्छन्तीत्याह-ज्वलयितुमुत्पादयितुं, वृद्धिं वा नेतुम् । किंविशिष्टमित्याह-तीक्ष्णं छेदकरणाऽऽत्मकम्, अन्यतरत् शस्त्रं सर्वशस्त्रम् । एकधाराऽऽदिशस्त्रव्यवच्छेदेन सर्वतोधारशस्त्रकल्पमिति भावः । अत एव सर्वतोऽपि दुराश्रयं सर्वतोधारत्वेनानाश्रयणीयमिति सूत्रार्थः ॥ ३३ ॥

एतदेव स्पष्टयन्नाह-

पाईणं पडिणं वा वि, उड्ढं अणुदिसामवि ।
अहे दाहिणओ वा वि, दहे उत्तरओ वि य ॥ ३४ ॥

अग्निरिति शेषः । प्राच्यां प्रतीच्यां वाऽपि, पूर्वायां पश्चिमायां चेत्यर्थः । ऊर्ध्वमनुदिक्ष्वपि, सुपां सुपो भवन्तीति सप्तम्यर्थे षष्ठी । विदिक्ष्वपीत्यर्थः । अधो दक्षिणतश्चापि दहति दाह्यं भस्मीकरोति, उत्तरतोऽपि च सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च दहतीति सूत्रार्थः ॥ ३४ ॥

यतश्चैवमतः-

भूयाण-मेस-माघाओ, हव्ववाहो न संसओ ।
तं पईवपयावट्ठा, संजया किं चि नारभे ॥ ३५ ॥

भूतानां स्थावराऽऽदीनामेष आघातः, आघातहेतुत्वादाघातः । हव्यवाहोऽग्निर्न संशय इत्येवमेवैतदाघात एवेति भावः । येनैवं तेन तं हव्यवाहं प्रदीपप्रतापनार्थमालोकशीतापनोदार्थं, संयताः साधवः किञ्चित्सङ्घट्टनाऽऽदिनाऽपि नारभन्ते, संयतत्वापगमनप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ३५ ॥

यस्मादेवम्-

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तेउकायसमारंभं, जावजीवाइँ वज्जए ॥ ३६ ॥

व्याख्या पूर्ववत् ॥ ३६ ॥ दश० ६ अ० ।

अथ तेजस्कायविधिमाह-

इंगालं अगणिं अच्चिं, अलायं वा सजोइयं ।
न उंजिज्जा ण घट्टिज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ॥ ८ ॥

अङ्गारं ज्वालारहितम्, अग्निमयःपिण्डानुगतम्, अर्चिः छिन्नज्वालम्, आलातमुल्मुकं वा; सज्योतिः साग्निकमित्यर्थः । किमित्याह-नोत्सिञ्चेत् न घट्टयेत्, तत्रोत्सिञ्चनमुत्सेचनं प्रदीपाऽऽदेः, घट्टनं मिथश्चालनं, तथा नैनमग्निं निर्वापयेत् अभावमापादयेन्मुनिः साधुरिति सूत्रार्थः । दश० ८ अ० ।

अग्निकायस्य मध्येन नैरयिकाऽऽदयो व्यतिव्रजन्ति-

णेरइयाणं भंते ! अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा ? । गोयमा ! अत्थेगइए वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-अत्थेगइए वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा ? । गोयमा ! णेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-विग्गहगइसमावण्णगा य, अविग्गहगइसमावण्णगा य । तत्थ णं जे से विग्गहगइसमावण्णए णेरइए से णं अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा, से णं तत्थ झियाएज्जा ? । णो इणट्ठे समट्ठे । णो खलु तत्थ सत्थं कमइ । तत्थ णं जे से अविग्गहगइसमावण्णए णेरइए से णं अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं णो वीईवएज्जा, से तेणट्ठेणं णो वीईवएज्जा । असुरकुमारे णं भंते ! अगणिकायपुच्छा ? । गोयमा ! अत्थेगइए वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा । से केणट्ठेणं० जाव णो वीईवएज्जा ? । गोयमा ! असुरकुमारा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-विग्गहगइसमावण्णगा य, अविग्गहगइसमावण्णगा य । तत्थ णं जे से विग्गहगइसमावण्णए असुरकुमारे, से णं जहेव णेरइए० जाव कमइ, तत्थ णं जे से अविग्गहगइसमावण्णए असुरकुमारे, से णं अत्थेगइए अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा, जे णं वीईवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा ? । णो इणट्ठे समट्ठे । णो खलु तत्थ सत्थं कमइ । से तेणट्ठेणं एवं० जाव थणियकुमारा एगिंदिया जहा णेरइया । बेइंदिया णं भंते ! अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं जहा असुरकुमारे तहा बेइंदिए वि, णवरं जे णं वीईवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा ? । हंता ! झियाएज्जा । सेसं तं चेव० जाव चउरिंदिया । पंचिंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! अगणिकायपुच्छा ? । गोयमा ! अत्थेगइए वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! ? । गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-विग्गहगइसमावण्णगा य, अविग्गहगइसमावण्णगा य । विग्गहगइसमावण्णए जहेव णेरइए० जाव णो खलु तत्थ सत्थं कमइ, अविग्गहगइसमावण्णगा पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-इड्ढिपत्ता य, अणिड्ढिपत्ता य । तत्थ णं जे से इड्ढिप्पत्ते पंचिंदियतिरिक्खजोणिए णं से णं अत्थेगइए अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा । जे णं वीईवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा ? । णो इणट्ठे समट्ठे । णो खलु तत्थ सत्थं कमइ । तत्थ णं जे से अणिड्ढिपत्ते पंचिंदियतिरिक्खजोणिए, से णं अत्थेगइए अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा, जे णं वीईवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा ? । हंता ! झियाएज्जा । से तेणट्ठेणं० जाव णो झियाएज्जा । एवं मणुस्से वि, वाणमंतरजोइसियवेमाणिए जहा असुरकुमारे ।

(नेरइयाणमित्यादि) इह च क्वचिदुद्देशकार्थसंग्रहगाथा दृश्यते । सा चेयम्-" नेरइय अगणिमज्झे, दस ठाणा तिरियपोग्गले देवे । पव्वयभित्ती उल्लं-घणा य पल्लंघणा चेव ॥ १ ॥" इति । अर्थश्चास्या उद्देशकार्थावगमगम्य इति । (णो खलु तत्थ सत्थं कमइ त्ति) विग्रहगतिसमापन्नो हि कार्मणशरीरत्वेन सूक्ष्मः, सूक्ष्मत्वाच्च तत्र शस्त्रमग्न्यादिकं न क्रामति । (तत्थ णं जे से इत्यादि) अविग्रहगतिसमापन्न उत्पत्तिक्षेत्रोपपन्नोऽभिधीयते, न तु ऋजुगतिसमापन्नः, तस्येह प्रकरणेऽनधिकृतत्वात् । स चाग्निकायस्य मध्येन व्यतिव्रजति, नारकक्षेत्रे बादराग्निकायस्याभावान्मनुष्यक्षेत्र एव तद्भावात् । यच्चोत्तराध्ययनाऽऽदिषु श्रूयते-"हुयासणे जलंतम्मि, दड्ढपुव्वो अणेगसो ।" इत्यादि । तदग्निसदृशद्रव्यान्तरापेक्षयाऽवसेयम् । सम्भवन्ति च तथाविधशक्तिमन्ति द्रव्याणि तेजोलेश्याद्रव्यवदिति । असुरकुमारसूत्रे विग्रहगतिको नारकवत्, अविग्रहगतिकस्तु कोऽप्यग्नेर्मध्येन व्यतिव्रजेत् यो मनुष्यलोकमागच्छति, यस्तु न तत्रागच्छत्यसौ न व्यतिव्रजेत्, व्यतिव्रजन्नपि च न ध्मायते वा, ध्मायतेऽतो न खलु तत्र शस्त्रं क्रमते, सूक्ष्मत्वाद्वैक्रियशरीरस्य, शीघ्रत्वाच्च तद्गतेरिति । (एगिंदिया जहा नेरइय त्ति) कथम् ?, यतो विग्रहे तेऽप्यग्निमध्येन व्यतिव्रजन्ति, सूक्ष्मत्वाच्च दह्यन्ते च, अविग्रहगतिसमापन्नकाश्च तेऽपि नाग्नेर्मध्येन व्यतिव्रजन्ति, स्थावरत्वात्, यच्च तेजोवायूनां गतिप्रसतयाऽग्निमध्येन व्यतिव्रजनं दृश्यते, तदिह न विवक्षितमिति संभाव्यते, स्थावरत्वमात्रस्यैव विवक्षितत्वात् । स्थावरत्वे ह्यस्ति कथञ्चिदेषां गत्यभावो, यदपेक्षया स्थावरास्ते व्यपदिश्यन्ते, अन्यथाऽधिकृतव्यपदेशस्य निर्निबन्धनता स्यात् । यच्च-द्रव्यादिपारतन्त्र्येण पृथिव्यादीनामग्निमध्येन व्यतिव्रजनं दृश्यते, तदपि न विवक्षितम्, स्वातन्त्र्यकृतस्यैव तस्य विवक्षणात् । चूर्णिकारः पुनरेवमाह-"एगिंदियाणं गई नत्थि त्ति ।"

ते न गच्छन्ति । "एगे वाउकायाइपरप्पेरणेसु गच्छंति, विराहिज्जंति य" इति ॥ पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सूत्रे-(इड्ढिपत्ता य त्ति) वैक्रियलब्धिसम्पन्नाः (अत्थेगइए अगणिकायस्सेत्यादि) अस्त्येककः कश्चित्पञ्चेन्द्रियतिर्यग् यो मनुष्यलोकवर्ती स तत्राग्निकायसम्भवात्तन्मध्ये न व्यतिव्रजेत् । यस्तु मनुष्यक्षेत्राद् बहिर्नासावग्नेर्मध्येन व्यतिव्रजेत्, अग्नेरेव तत्राभावात्, तदन्यो वा; तथाविधसामर्थ्याभावात् । (णो खलु तत्थ सत्थं कमइ त्ति) वैक्रियाऽऽद्धिलब्धिमति पञ्चेन्द्रियतिरश्चि नाग्न्यादिकं शस्त्रं क्रमत इति । भ० १४ श० ५ उ० । (अग्नेरुज्ज्वालकः प्रज्वालको वा महाकर्मेति कालोदायिप्रश्नेन "अणउत्थिय" शब्दे प्रथमभागे ४४७ पृष्ठे विचारितम्)

अथ अङ्गारकारिकासु तेजस्कायस्थितिः-

इंगालकारियाए णं भंते ! अगणिकाए केवइयं कालं संचिट्ठइ ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि राइंदियाइं अन्ने वि त्थ वाउयाए वुक्कमइ, ण विणा वाउयाएणं अगणिकाए उज्जलइ । पुरिसे णं भंते ! अयं अयकोट्ठंसि अयोमएणं संडासएणं उव्विहमाणे वा पव्विहमाणे वा कइकिरिए ? । गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे अयं अयकोट्ठंसि अयोमएणं संडासएणं उव्विहिंति वा, पव्विहिंति वा, तावं च णं से पुरिसे काइयाए० जाव पाणाइवायकिरिया पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि णं जीवाणं सरीरेहिंतो अयणिव्वत्तिए अयकोट्ठे णिव्वत्तिए संडासए णिव्वत्तिए इंगाला णिव्वत्तिया इंगालकड्ढिणी णिव्वत्तिया भंडा णिव्वत्तिया, ते वि णं जीवा काइयाए० जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा ॥

(इंगालकारियाए त्ति) अङ्गारान् करोतीति अङ्गारकारिका अग्निशकटिका, तस्याम्, न केवलं तस्यामग्निकायो भवति (अन्ने वि त्थ त्ति) अन्योऽप्यत्र वायुकायो व्युत्क्रामति । यत्राग्निस्तत्र वायुरिति कृत्वा । कस्मादेवमित्याह-(ण विणेत्यादि) भ० १६ श० १ उ० । सूत्र० । नि० चू० । (तेजस्कायस्य आहारः 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ४९६ पृष्ठे उक्तः) (तेजस्कायस्य प्रतिसेवना 'पडिसेवणा' शब्दे वक्ष्यते) (ओदनाऽऽदयः किंशरीरा इति 'अगणिजीवसरीर' शब्दे प्रथमभागे १५६ पृष्ठे उक्ताः)

तेउपुट्ठ-तेजःस्पृष्ट-त्रि० । तेजसा अग्निना स्पृष्टो दह्यमानः । अग्निना दह्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

तेउप्पन्न-तेजःप्रभ-पुं० । अग्निकुमारेन्द्रयोरग्निसिंहाग्निमानवयोः पश्चिमदिग्लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । अग्निकुमारेन्द्रयोरग्निसिंहाग्निमानवयोरुत्तरदिग्लोकपाले, भ० ३ श० ८ उ० ।

तेउप्फास-तेजःस्पर्श-पुं० । उष्णस्पर्शे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । उष्णस्पर्शोऽत्र आतापनाऽऽधिकारे । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

तेउलेस्सा-तेजोलेश्या-स्त्री० । तेजोऽग्निज्वाला, तद्वर्णानि यानि द्रव्याणि, लोहितानीत्यर्थः । तत्साचिव्याज्जाता तेजोलेश्या । स्था० १ ठा० । विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवायां तेजोज्वालायां लेश्यायां सुखासिकायाम्, विपा० १ श्रु० १ अ० । रा० । कं० प्र० । जं० ।

निर्ग्रन्थानामेव लब्धिविशेषस्य कारणत्रयमाह-

तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे संखित्तविउलतेउलेस्से भवइ । तं जहा-आयावणयाए, खंतिखमाए, अपाणगेणं तवोकम्मेणं ।

(तिहिमित्यादि) संक्षिप्ता लघूकृता विपुलाऽपि विस्तीर्णाऽपि सती, अन्यथाऽऽदित्यबिम्बवद् दुर्दर्शः स्यादिति । तेजोलेश्या तपोविभूतिजं तेजस्वित्वं तैजसशरीरपरिणतिरूपं महाज्वालाकल्पं येन स संक्षिप्तविपुलतेजोलेश्यः, आतापनानां शीताऽऽदिभिः शरीरस्य सन्तापनानां भाव आतापनता, शीताऽऽतपाऽऽदेः सहनमित्यर्थः । तथा; क्षान्त्या क्रोधनिग्रहेण क्षमा मर्षणं, न त्वशक्ततयेति क्षान्तिक्षमा, तथा; अपानकेन पारणककालादन्यत्र तपःकर्मणा षष्ठाऽऽदिनेति । अभिधीयते च भगवत्याम्-"जे णं गोसाला ! एगाए सनहाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडासएणं छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ, से णं अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेउलेस्से भवइ ।" इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

आत्मज्ञानमग्नस्य वाचंयमस्य तेजोलेश्या युज्यत इत्याह-

तेजोलेश्याविवृद्धिर्या, साधोः पर्यायवृद्धितः ।
भाषिता भगवत्यादौ, सेत्थंभूतस्य युज्यते ॥ ५ ॥

टीका सुगमा । अष्ट० २ अष्ट० ।

जे इमे अज्जत्ताए समणा णिग्गंथा विहरंति, एए णं कस्स तेउलेस्सं वीईवयइ ? । गोयमा ! मासपरियाए समणे णिग्गंथे वाणमंतराणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । दुमासपरियाए समणे णिग्गंथे असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । एवं एएणं अभिलावेणं तिमासपरियाए समणे णिग्गंथे असुरकुमाराणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । चउमासपरियाए समणे णिग्गंथे गहगणणक्खत्तताराख्वाणं जोइसियाणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । पंचमासपरियाए समणे णिग्गंथे चंदिमसूरियाणं जोइसियाणं जोइसिरायाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । छम्मासपरियाए समणे णिग्गंथे सोहम्मीसाणाणं देवाणं । सत्तमासपरियाए सणंकुमारमाहिंदाणं देवाणं । अट्ठमासपरियाए समणे णिग्गंथे बंभलोगलंतगाणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । णवमासपरियाए समणे णिग्गंथे महासुक्कसहस्साराणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । दसमासपरियाए समणे णिग्गंथे आणयपाणयआरणऽच्चुयाणं देवाणं । एक्कारसमासपरियाए समणे णिग्गंथे गेवेज्जगदेवाणं । बारसमासपरियाए समणे णिग्गंथे अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । तेण परं सुक्के सुक्काभिजाए भवित्ता, तओ पच्छा सिज्झइ० जाव अंतं करेइ ।

(जे इमे इत्यादि) य इमे प्रत्यक्षाः (अज्जत्ताए त्ति) आर्यतया पापकर्मबहिर्भूततया, अद्यतया वा अधुनातनतया, वर्तमानकाले इत्यर्थः । (तेउलेस्सं ति) तेजोलेश्यां सुखासिकां,

तेजोलेश्या हि प्रशस्तलेश्योपलक्षणं, सा च सुखासिकाहेतुरिति कारणे कार्योपचारात् तेजोलेश्याशब्देन सुखासिका विवक्षितेति । (वीईवयंति) व्यतिव्रजन्ति व्यतिक्रामन्ति । (असुरिंदवज्जियाणं ति) चमरबलिवर्जितानाम्, (तेण परं ति) ततः संवत्सरात्परतः । (सुक्के त्ति) शुक्लो नामाऽभिन्नवृत्तोऽमत्सरी कृतज्ञः सदारम्भी हितानुबन्ध इति, निरतिचारचरण इत्यन्ये । (सुक्काभिजाय त्ति) शुक्लाभिजात्यः, परमशुक्ल इत्यर्थः । अत एवोक्तम्-"आकिञ्चन्यं मुख्यं, ब्रह्मापि परं सदागमविशुद्धम् । सर्वं शुक्लमिदं खलु, नियमात्संवत्सरादूर्ध्वम् ॥१॥" एतच्च श्रमणविशेषमेवाऽऽश्रित्योच्यते, न पुनः सर्व एवैवंविधो भवतीति । भ० १४ श० ९ उ० । अथ गोशालः प्रभुमागत्याप्राक्षीत्-तेजोलेश्या कथं भवति ? । स्वाम्याह-नैरन्तर्येण षष्ठपारणके मुष्टिमध्यगतकुल्माषपिण्डिकया एकेन च पानीयचुलुकेन यापयतः षड्भिर्मासैर्भवति । आ० क० । वर्णतो-वह्निज्वालाशुकमुखकिंशुकतरुणार्कहिङ्गुलकाऽऽदिलोहितद्रव्यसमानवर्णैः, रसतः-परिणताऽऽम्रसुपक्वकपित्थाऽऽदिसमधिकरसैः, गन्धतः-विचिकिलपाटलाऽऽदिसमधिकगन्धैः,स्पर्शतः-शाल्मलीफलतूलाऽऽदिसमधिकस्पर्शैः तेजोवर्णद्रव्यैर्निष्पन्नत्वात्तैजसी संज्ञा । (५ गा०) तेजोवर्णद्रव्यैर्निष्पन्ने लेश्याभेदे, पा० । पं० व० । उत्त० । स० । तेजोलेश्यायाः पुद्गलाः सचित्ताः, अचित्ता वेति प्रश्ने, उत्तरम्-लब्धिः पुद्गलरूपा न भवति,शक्तिरूपा भवति, परं तेजोलेश्यापुद्गला जीवेन मुखाज्जीवप्रदेशसहिता निष्कासिताः,तस्माज्जीवप्रयोगनिष्कासितत्वात्सचित्ता ज्ञायन्त इति । ७४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

तेउल्लेस्सालद्धि-तेजोलेश्यालब्धि-स्त्री० । क्रोधाऽऽधिक्यात्प्रतिपन्थिनं प्रति सुखेनानेकयोजनप्रमाणक्षेत्राऽऽश्रितवस्तुदहनदक्षतीव्रतरतेजोलेश्यानिसर्जनशक्तौ, प्रव० २७० द्वार ।

तेउसमुग्घाय-तैजससमुद्घात-पुं० । तेजसि विषये भवस्तैजसः, स चासौ समुद्घातश्च तैजससमुद्घातः । प्रव० २३१ द्वार । तेजोलेश्याविनिर्गमकालभाविनि तैजसनामकर्मपुद्गलपरिशाटनहेतौ समुद्घातविशेषे, प्रज्ञा० ३४ पद । तेजोलेश्याविनिर्गमकालभाविनि तैजसशरीरनामकर्माऽऽश्रये समुद्घातभेदे, प्रव० २३२ द्वार । तथाहि-तेजोनिसर्गलब्धिमान् क्रुद्धः साध्वादिः सप्ताष्टौ पदानि अवष्वष्क्य विष्कम्भबाहल्याभ्यां शरीरमानमायामतस्तु संख्येययोजनप्रमाणं जीवप्रदेशदण्डं शरीराद् बहिः प्रक्षिप्य क्रोधविषयीकृतं मनुष्याऽऽदि निर्दहति,तत्र च प्रभूतांस्तैजसशरीरनामकर्मपुद्गलान् शातयति । प्रव० २३१ द्वार । स्था० । आचा० । ('गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०१६ पृष्ठे वैश्यायनबालतपस्विना तेजोलेश्या गोशालकोपरि प्रयुक्ता, भगवता वीरेण वारितेति निदर्शितम्)

तेउसीह-तेजःसिंह-पुं० । अग्निकुमारेन्द्रयोरग्निसिंहाग्निमानवयोर्दक्षिणदिग्लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

तेउसोय-तेजःशौच-न० । तेजसा अग्निना तद्विकारेण वा भस्मना शौचं तेजःशौचम् । शौचभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

तेंदुअ-न० । देशी-तुम्बुरूणि, दे० ना० ५ वर्ग १७ गाथा ।

तेंदुसय-तेन्दुसक-पुं० । कन्दुके, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

तेंबुरु-तेम्बुरु-पुं० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० ।

तेक्काल-त्रैकाल्य-न० । त्रयश्च ते कालाः, तेषां भावस्त्रैकाल्यम् । अतीतानागतवर्त्तमानरूपे काले, दर्श० ५ तत्त्व ।

तेगारपव्वय-त्र्याकारपर्वत-पुं० । स्वनामख्याते पर्वते, यत्र सहस्रफणो पार्श्वनाथः पूज्यते । ती० ४ कल्प ।

तेगिच्छ-चैकित्स्य-न० । चिकित्साकर्मणि, बृ० १ उ० । व्य० । कल्प० । "तिविहे तेगिच्छम्मि उ, उज्जुय वाउलणसाहणा चेव । पण्णवणमणिच्छंते, दिट्ठंतो भंडिपोएहिं ॥ १ ॥" इति । व्य० १ उ० । नि० चू० । (आचार्याऽऽदीनां चिकित्सा 'पच्छित्त' शब्दे व्याख्यास्यते)

तेगिच्छायण-चैकित्सायन-त्रि० । चिकित्सगोत्रापत्ये, जं० ४ वक्ष० ।

तेगिच्छिद्दह-चैकित्स्यह्रद-पुं० । निषधपर्वतस्थे धृतिदेवताके स्वनामख्याते ह्रदे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

तेजलपुर-तेजलपुर-न० । सुराष्ट्रदेशस्थिते स्वनामख्याते पुरे, ती० । यत्र श्रीपार्श्वप्रतिमा पूज्यते । "तेजपालमंतिणा गिरिनारतले निअनामंकिअतेजलपुरस्स पुव्वदिसाए उग्गसेणगढं नाम दुग्गं जुगाइनाहप्पमुहजिणमंदिरराहिल्लं विज्जइ, तस्स य तिण्णि नाम धिज्जाइं पसिद्धाइं । तं जहा- उग्गसेणगढं ति वा, खंगारगढं ति वा, जुण्णदुग्गं ति वा । गढस्स बाहिं दाहिणदिसाए चउरिअविइलट्ठयउवरिआए सुवाभयाइं ठाणाइं चिट्ठंति । " ती० ४ कल्प ।

तेजस्सिया-तेजस्विता-स्त्री० । प्रतिवादिक्षोभाऽऽपादिकायां शरीरस्य स्फूर्तिमत्यां देदीप्यमानतायाम्, व्य० १ उ० ।

तेड्डु-पुं० । देशी-शलभे, पिशाचे च । दे० ना० ५ वर्ग २३ गाथा ।

तेण-स्तेन-त्रि० । चौरे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । आचा० । सूत्र० । आव० । तं० । भ० । दशा० । व्य० । "तेणा दुविहा निविहा वा । " व्य० २ उ० । "णाणातिकारणेहिं गममाणे अतरा तेणा भवंति । " नि० चू० ५ उ० । बृ० । पं० भा० । पं० चू० । ग० ।

इयाणिं तेणो-

अक्कंतितो य तेणो, पागतिनो गामदेसअद्धाणो ।
तक्करखणगतेणो, पच्चवणा होंति कायव्वा ॥ ३६१ ॥

अक्कमिए बला हरंतो अक्कंतितो, राते हरंतो पागतितो, अथवा-राउलवग्गस्स अक्कंतितो पागयजणस्स हरति । उपागतिउमागतो हरंतो गामतेणो । सदेसे परदेसं व हरंतो देसतेणो । गामदेसंतरेसु हरंतो अंतरतेणो । पंथसु हरतो अद्धाणतेणो । तद्देवसिकं करोतीति तक्करो, नो अन्नं किंचि किसिमादि करोतीति । खत्तं खणतो खाणगतेणो ।

सो समासेण चउव्विहो तेणो-

दव्वे खेत्ते काले, भावे वा तेणगस्स निक्खेवो ।
एएसिं तु चउण्हं, पत्तेअपरूवणं वोच्छं ॥ ३६२ ॥

कंठा ।

इमो दव्वतेणो-

सच्चित्ते अच्चित्ते, य मीसए होंति दव्वतेणा उ ।
साहम्मिअण्णधम्मिय-गारत्थीहिं च नायव्वा ॥ ३६३ ॥

सच्चित्तं-दुपदचउप्पदापदं, अच्चित्तं-हिरण्णाऽऽदि, मिस्सं-सभंडमत्तोवगरणं, अक्खराऽऽदि फलादि वा देसो वा सचित्ताचित्तं, तं पुण साचित्ताऽऽदि दव्वं साहम्मियाण अण्णधम्मियाण गारत्थियाण वा अवहरंतो दव्वतेणो । सो तिविहो-उक्कोसो, मज्झिमो, जहण्णो ।

इयाणिं खेत्तकालभावतेणो तिण्णि वि जुगवं भण्णति-

सगदेसपरविदेसग-अंतरतेणा य होंति खेत्तम्मि ।
राई दिवा व काले, भावम्मि य नाणतेणा तु ॥ ३६४ ॥
हयगयराईलच्छी-माणिक्काइं तु तेणो उक्कोसो ।
गोमहिसखेत्तखणखा-रियाणि तेणो य मज्झिमओ ॥३६५॥
गंठीछेदगपथिजण-दव्वहरो वा जहण्णतेणो उ ।
एकेक्को वि य एत्तो, पडिगपडिच्छगतेणो उ ॥३६६॥

सदेसतो, परदेसतो, एतेसिमंतरे वा हरंतो खेत्ततेणगो। रातो वा दिया वा हरंतो कालतेणो। भावतेणो-णाणदंसणचरित्ते हरंतो। हयगयरायिच्छिमाणिक्के हरंतो उक्कोसो। गोमहिसखेत्तखणखा-रियाऽऽदि वा हरंतो मज्झिमो । पहियजणमोसगो, गंठिभेदगो, असणाऽऽदि वा हरंतो जहण्णो। एक्केक्के चउप्पगारा इमे-तेणो, तेणतेणो, पडिच्छगो, पडिच्छगपडिच्छगो ।

इमे उदाहरणा तिसु वि-

गोविंदज्जा णाणे, दंसणे सत्थट्ट हेतुगट्टा य ।
एवं वि गच्छा चरणा, उदायिवहगादिया चरणे ॥३६७॥
सचित्तं अच्चित्तं, च मीसगं तेणियं कुणति जो उ ।
समणाण व समणीण व, न कप्पती तारिसे दिक्खा ३६८

गोविंदो णाम भिक्खू, सो एगेणाऽऽयरिएण वादे जितो अट्ठारस वारा। ततो तेण चिंतियं-सिद्धंतसरूवं जाव एतेसिं णो लब्भति, ताव ते जेतुं न सक्किज्जति। ताहे सो णाणदंसणचरणहरणट्ठा तस्सेवाऽऽयरियस्स अंते णिक्खंतो तस्स य सामाइयाऽऽदिपढंतस्स सहं सम्मत्तं। ततो गुरुं वंदित्ता भणति-देहि मे वते । णाणु इयाणिं ते णाणाणिं। तेण सब्भावो कहितो। ताहे गुरुणा इयाणिं से वयाणि। पच्छा तेण एगिंदियजीवसाहणा गोविंदणिज्जुत्ती कया। एस णाणतेणो। (एष चैवार्थो ' गोविंदणिज्जुत्ति ' शब्दे तृतीयभागे १०१२ पृष्ठे प्रदर्शितः) एवं दंसणपभावगसत्थट्ठा, कक्कडगमादिहेतुगट्ठा वा जो णिक्खमति, सो दंसणतेणो। जो एवं करणट्ठा चरणं गेण्हति, भंजिउं वा गंतुकामो, जहा वा रण्णो वहणट्ठा उदायिमारगेण चरणं गहियं। आदिसद्दातो मधुरकोंडइल्ला, एते सव्वे चरित्ततेणा । एते दव्वाऽऽदितेणा समणसमणीणं ण कप्पंति पव्वावेउं ।

पव्वाविते इमे दोसा-

वह बंधण उद्दवणं, व खिंसणं आसियावणं चेव ।
णिव्विसयं व णरिंदो, करेज्ज संघं व से भट्टो ॥ ३६९ ॥

तस्स च, पव्वावगाऽऽयरियस्स वा, सव्वस्स वा गच्छस्स लत्तकसाऽऽदिएहिं वहं करेज्ज, बंधणं णियलाऽऽदिएहिं, उद्दवणं मारणं, खिंसा-धिरत्थु ते पव्वज्जाए त्ति । आसियावणं-पव्वज्जातो, गामनगरातो वा धाडेज्ज। अहवा-णरिंदो रुट्ठो णिव्विसए करेज्ज, कुलगणसंघं वा णिव्विसयं करेज्ज । कुलगणसंघाण वा वहाऽऽदिए वीए पगारे करेज्ज ।

किं चान्यत्-

अयसो य अकित्ती वा, उड्डाहं वा तहिं पवयणस्स ।
तेसिं पि होइ एवं, सव्वे एयारिसा समणा ॥ ३७० ॥

पूर्ववत्, णवरि तेणत्थे वसव्वा, तेणं जो पव्वावेति, तस्स आणाऽऽदिया दोसा ।

इमं च से पच्छित्तं-

सग्गामे परगामे, सदेसे परदेसे अंतो बाहिं च ।
दिट्ठाऽदिट्ठा सोही, मासलहु अंते मूलाई ॥ ३७१ ॥

सग्गामे, परग्गामे, सदेसे, परदेसे. एतेसिं अधो उक्कोसमज्झिमजहण्णा उविज्जंति। एतेसिं अहो अंतो बाहिं ठविज्जति। एतेसिं अहो दिट्ठाऽऽदि। एतस्सऽधो मूलं ।

मूलं छेदो छग्गुरु, छल्लहु चत्तारि गुरुग लहुगा य ।
गुरुया लहुया मासो, रायविमुक्कस्स जा ताव ॥३७२॥

मूलाइ जाव मासलहुं ताव ठविज्जति । इमा चारणा-सग्गामे उक्कोसं अंतो दिट्ठं जो अवहरति, तं जो पव्वावेति तस्स मूलं; अदिट्ठे छेदो; बाहिं दिट्ठे छेदो, अदिट्ठे छग्गुरु; मज्झिमे छेदो अंतो छल्लहुए ठायति; जहण्णे छग्गुरुया अंतो चउगुरुगे ठायति । एवं परग्गामे अदिट्ठकंतिचारणाए छेदाढत्तं चउलहुए ठायति । सदेसे छग्गुरु, आढत्तं मासगुरुए ठायति । परदेसे छल्लहु, आढत्तं मासलहुए ठायति, अण्णधा वि चारिज्जंते एतदेव भवति। जम्हा एते दोसा तम्हा ण पव्वावेयव्वा तेणा ।

कारणतो पव्वावे-

मुक्को व मोइओ वा, अहवा वीसज्जितो नरिंदेणं ।
अद्धाणे परदेसे, दिक्खाए उत्तिमट्ठे वा ॥ ३७३ ॥

बंधणागारसोधणे मुक्को सयमणेण, अण्णेण वा दंडेण मोइओ, रण्णा वा विसज्जितो। जहा पभवो। अहवा संयज्ज(?)अविघातवत्। अद्धाणे परदेसे वा उत्तिमट्ठं वा पडिवज्जंतो दिक्खिज्जति। तेण त्ति गतं। नि० चू० ११ उ०। वन्दनदोषविशेषे, प्रव० ।

हाउं परस्स दिट्ठिं, वंदंते तेणियं हवइ एअं ।
तेणो वि य अप्पाणं, गूहइ ओभावणा मा मे ॥१६७॥

(हाउं परस्स त्ति) परस्याऽऽत्मव्यतिरिक्तस्य साधुश्रावकाऽऽदेर्दृष्टिं हित्वा वञ्चयित्वा वन्दमाने सति शिष्यैः स्तैन्यवन्दनकं भवति। एतदेवोत्तरार्द्धेन स्पष्टतरं व्याचष्टे-स्तेन इव तस्कर इवान्यसाध्वाद्यन्तर्द्धानेनाऽऽत्मानं गूहयति स्थगयति । कस्मादित्याह-(ओभावणा मा मे त्ति) लघ्वसाव्यतिविद्वान् किमन्येषां वन्दनकं प्रयच्छतीत्येवंभूताऽपभ्राजना मम मा भूदित्यर्थः। प्रव० २ द्वार। ध० । वृ० । आ० चू० (साधर्मिकाणामन्यधार्मिकाणां च स्तैन्यं कुर्वन् अनवस्थाप्यो भवतीति ' अणवट्टप्प ' शब्दे प्रथमभागे २९३ पृष्ठे उक्तम्)

तेणउइ-त्रिनवति-स्त्री० । अधिकायां नवतिसंख्यायाम्, " तेणउइ गणा, तेणउइ गणधरा । " स० ९३ सम० ।

तेणग-स्तेनक-त्रि० । चौरे, स्तेनकाश्चौरा विघ्नकरा भवन्ति । ग० ३ अधि० ।

तेणणाय-स्तेनज्ञात-न० । चौरोदाहरणे, पञ्चा० ६ विव० ।

तेणप्पओग-स्तेनप्रयोग-पुं० । स्तेनानां प्रयोगोऽभ्यनुज्ञानम्-हरत यूयमिति हरणक्रियायां प्रेरणेति यावत् । अथवा-स्तेनोपकरणानि कुशिकाकर्त्तरिकाघर्घरिकाऽऽदीनि, तेषामर्पणं विक्रयणं वा स्तेनप्रयोगः। तस्करप्रयोगे स्थूलाऽदत्तादानविरते व्रतेऽतिचारे, ध० । अत्र च यद्यपि चौर्यं न करोमि न कारयामीत्येवं. प्रतिपन्नव्रतस्य स्तेनप्रयोगे व्रतभङ्ग एव, तथापि किमधुना यूयं

निर्व्यापारास्तिष्ठत ?, यदि वो भक्ताऽऽदि नास्ति, तदाऽहं तद्ददामि; भवदानीतमोषस्य वा यदि विक्रायको न विद्यते, तदाऽहं विक्रेष्ये इत्येवंविधवचनैश्चौरान् व्यापारयतः स्वकल्पनया तद्व्यापारणं परिहरतो व्रतसापेक्षस्यासावतिचारः । इति द्वितीयोऽतिचारः । (४५ गा०) ध० २ अधि० ।

तेणाणुबंधि (ण्)-स्तेनानुबन्धिन्-पुं० । 'रुद्दज्झाण' शब्देऽर्थोऽस्य द्रष्टव्यः । ध० २ अधि० ।

तेणाहड-स्तेनाऽऽहृत-पुं० । चौराऽऽनीते स्थूलादत्ताऽऽदानविरते प्रथमेऽतिचारे, तत्सामर्थ्यमतिलोभात्काणक्रयेण गृह्णतोऽतिचरति तृतीयव्रतमित्यतिचारहेतुत्वात्स्तेनाऽऽहृतम् । अतिचारता चाऽस्य साक्षाच्चौर्यप्रवृत्तेः । उपा० १ अ० । वृ० । पञ्चा० । आ० । स्तेनाश्चौराः, तैर्वर्धमानाऽऽनीतं किञ्चित्कुङ्कुमाऽऽदि देशान्तरात्स्तेनाऽऽहृतम् । आव० ६ अ० ।

तेणिक्क-स्तैनिक्य-न० । स्तेये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

तेणिक्कहरणबुद्धि-स्तैनिक्यहरणबुद्धि-त्रि० । स्तेयेन हरणे बुद्धिर्येषां ते तथा । स्तेयहरणमतियुक्तेषु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

तेणिस-तैनिस-त्रि० । तिनसाभिधानवृक्षसंबन्धिनि, भ० ७ श० ६ उ० ।

तेण्ण-स्तैन्य-न० । चौर्ये, नि० चू० १ उ० ।

तेतल-तेतल-पुं० । धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य गन्धर्वानीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा० ।

तेतलि (ण्)-तेतलिन्-पुं० । तेतलिपुरराजस्य कनकरथस्यामात्यपितरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । दर्श० । मनुष्यजातिभेदे, जं० १ वक्ष० ।

तेतलिसुय-तेतलिसुत-पुं० । तेतलिपुरराजस्य कनकरथस्यामात्ये, ज्ञा० ।

तत्कथा चैवम्-

तेणं कालेणं तेणं समएणं तेतलिपुरे नामं नगरे होत्था । तस्स णं तेतलिपुरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं पमयवणे णामं उज्जाणे होत्था । तत्थ णं तेतलिपुरे णयरे कणगरहे णामं राया होत्था । तस्स णं कणगरहस्स रण्णो पउमावती णामं देवी होत्था । तस्स णं कणगरहस्स रण्णो तेतलिपुत्ते णामं अमच्चे होत्था सामदामभेयदंडे । तत्थ णं तेतलिपुरे कलाए नामं मूसियारदारए होत्था, अड्ढे ०जाव अपरिभूए । तस्स णं भद्दा नामं भारिया होत्था । तस्स णं कलायस्स मूसियारदारगस्स धूया भद्दाए अत्तया पोट्टिला णामं दारिया होत्था, रूवेण य जोव्वणेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा । तए णं पोट्टिला दारिया अण्णया कयाइ ण्हाया सव्वालंकारविभूसिया चेडियाचक्कवालसद्धिं संपरिवुडा उप्पिं पासायवरगया आगासतलगंसि कणगमएणं तिंदूसएणं कीलमाणी विहरति । इमं च णं तेतलिपुत्ते अमच्चे ण्हाए आसखंधवरगए महया भडचडगरहआसवाहणियाए णिज्जायमाणे कलायस्स मूसियारदारगस्स गिहस्स अदूरसामंतेणं वीतीवयति । तते णं से तेतलिपुत्ते मूसियारदारगस्स गिहस्स अदूरसामंतेणं वीतीवयमाणे वीतीवयमाणे पोट्टिलं दारियं उप्पिं आगासतलगंसि कणगमएणं तिंदूसएणं कीलमाणी पासति; पासित्ता पोट्टिलाए दारियाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य ०जाव अज्झोववण्णे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी- एस णं देवाणुप्पिया ! कस्स दारिया, किंणामधेज्जा य ?। तए णं ते कोडुंबियपुरिसे तेतलिपुत्तं एवं वयासी-एस णं सामी ! कलायस्स मूसियारस्स धूया भद्दाए अत्तिया पोट्टिला णामं दारिया रूवेण य ०जाव सरीरा । तए णं से तेतलिपुत्ते आसवाहणियाओ पडिनियत्ते समाणे अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! कलायस्स मूसियारदारगस्स धूयं भद्दाए अत्तयं पोट्टिलं दारियं मम भारियत्ताए वरेह । तए णं ते अब्भिंतरट्ठाणिज्जा पुरिसा तेतलिणा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा करयल० तह त्ति जेणेव कलायस्स मूसियारस्स गिहे, तेणेव उवागया । तए णं से कलाए मूसियारए तेतलिपुत्ते पुरिसे एज्जमाणे पासति, पासित्ता हट्ठतुट्ठा आसणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छति, अणुगच्छित्ता आसणेणं उवनिमंतेति । आसत्थे वीसत्थे सुहासणवरगए अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे एवं वयासी-संदिसह णं देवाणुप्पिया ! किमागमणप्पओयणं ?। तते णं ते अब्भिंतरट्ठाणिज्जा कलायं मूसियं एवं वयासी-अम्हे णं देवाणुप्पिया ! तव धूयं भद्दाए अत्तयं पोट्टिलं दारियं तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स भारियत्ताए वरेमो । तं जति णं जाणासि देवाणुप्पिया ! जुत्तं वा पत्तं वा सलाहणिज्जं वा सरिसो संजोगो वा, ता दिज्जउ णं पोट्टिला दारिया तेतलिपुत्तस्स, ता भण देवाणुप्पिया ! किं दलामो सुक्कं ?। तते णं कलाए मूसियारदारए ते अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे एवं वयासी-एस चेव देवाणुप्पिया ! मम सुक्के, जं णं तेतलिपुत्ते मम दारियानिमित्तेणं अणुग्गहं करेति । ते अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे विउलेणं असणपाणखाइमसाइमपुप्फवत्थ० जाव मल्लालंकारेणं सक्कारेति, संमाणेति, पडिविसज्जेति । तए णं कलायस्स मूसियारदारगस्स गिहातो पडिनिक्खमंति, जेणेव तेतलिपुत्ते अमच्चे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तेतलिपुत्तं अमच्चं एयमट्ठं निवेदेंति । तए णं कलाए मूसियारए अण्णया कयाइं सोहणंसि तिहिकरणणक्खत्तमुहुत्तंसि पोट्टिलं दारियं ण्हायं सव्वालंकार-

विजूसियं सीयं दुरूहइ, दुरूहित्ता मित्तणातिसद्धिं संपरिवुडे साओ गिहाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता सव्विड्ढीए० जाव रवेणं तेतलिपुरं णयरं मज्झंमज्झेणं जेणेव तेतलिस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोट्टिलं दारियं तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स सयमेव भारियत्ताए दलयति। तए णं तेतलिपुत्ते पोट्टिलं दारियं भारियत्ताए उवणीयं पासति, पासित्ता हट्ठतुट्ठे पोट्टिलाए सद्धिं पट्टयं दुरूहति, दुरूहित्ता सेयपीएहिं कलसेहिं अप्पाणं मज्जावेति, मज्जावेत्ता अग्गिहोमं कारेति, पाणिग्गहणं करेति, पोट्टिलाए भारियाए सद्धिं मित्तनाइ० जाव परियणं विउलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पुप्फवत्थ० जाव पडिविसज्जति। तते णं से तेतलिपुत्ते पोट्टिलाए भारियाए अणुरत्ते अविरत्ते उरालाई भोगभोगाइं० जाव विहरति। तते णं से कणगरहे राया रज्जे य रट्ठे य बले य वाहणे य कोसे य कोट्ठागारे य अंतेउरे य मुच्छिए गिद्धिए अभिसमण्णागए जाए पुत्ते वियंगेति, अप्पेगइयाणं हत्थंगुलियाइं छिंदति, अप्पेगइयाणं हत्थे अंगुट्ठए छिंदति, अप्पेगइयाणं पायंगुलियाओ छिंदति, एवं पायंगुट्ठए वि, एवं कण्णसक्कुलीए वि, एवं नासापुडाइं फालेति, एवं अंगमंगाइं वियंगेति। तए णं तीसे पउमावतीए देवीए अण्णया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-एवं खलु कणगरहे राया रज्जे य० जाव पुत्ते वियंगेति० जाव अंगमंगाइं वियंगेति, तं जइ णं अहं दारयं पयायामि तं सेयं खलु ममं तं दारगं कणगरहस्स रहस्सियं चेव संरक्खमाणीए संगोवेमाणीए विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता तेतलिपुत्तं अमच्चं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! कणगरहे राया रज्जे य० जाव वियंगेति, तं जइ णं अहं देवाणुप्पिया! दारगं पयायामि, तए णं तुमं कणगरहस्स रहस्सियं चेव अणुपुव्वेणं संरक्खमाणे संगोवेमाणे संवड्ढेहि। तते णं से दारए उम्मुक्कबालभावे० जाव जोव्वणगमणुप्पत्ते तव मम भिक्खाभायणे भविस्सति। तते णं से तेतलिपुत्ते पउमावतीए देवीए एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता पडिगए। तए णं पउमावती देवी पोट्टिला य अमच्ची सममेव गब्भं परिवहंति, सममेव गब्भं परिवड्ढंति। तए णं सा पउमावती देवी नवण्हं मासाणं० जाव पियदंसणं सुरूवं दारगं पयाया, जं रयणिं च णं पउमावती देवी दारगं पयाया तं चेव रयणिं पोट्टिला अमच्ची नवण्हं मासाणं विणिहायमावण्णियं दारियं पयाया। तए णं सा पउमावती देवी अम्मधाइं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! अम्मो! तेतलिपुत्तं रहस्सियं चेव सद्दावेहि। तए णं सा अम्मधाती तह त्ति एयमट्ठं पडिसुणेति, अंतेउरस्स अवदारेणं णिग्गच्छति, णिग्गच्छित्ता जेणेव तेतलिस्स गिहे जेणेव तेतलिपुत्ते तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता करयल० जाव एवं वयासी-एवं खलु भो देवाणुप्पिया! पउमावई देवी सद्दावेति। तए णं तेतलिपुत्ते अम्मधाईए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा हट्ठतुट्ठे अम्मधाईए सद्धिं साओ गिहाओ णिग्गच्छति, णिग्गच्छित्ता अंतेउरस्स अवदारेणं रहस्सियं चेव अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता जेणेव पउमावई देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल० एवं वयासी-संदिसह णं देवाणुप्पिए! जं मए कायव्वं? तए णं सा पउमावती देवी तेतलिपुत्तं अमच्चं एवं वयासी-एवं खलु कणगरहे राया० जाव वियंगेति, अहं च णं देवाणुप्पिया! दारगं पयाया, तुमं च णं देवाणुप्पिया! तं दारगं गेण्हाहि० जाव तव मम सम्मं भिक्खाभायणे भविस्सति त्ति कट्टु तेतलिपुत्तस्स हत्थे दलयति। तते णं तेतलिपुत्ते पउमावतीए देवीए हत्थाओ दारगं गेण्हति, उत्तरिज्जेणं पिहेइ, अंतेउरस्स रहस्सियं अवदारेणं णिग्गच्छति, णिग्गच्छित्ता जेणेव सए गिहे जेणेव पोट्टिला भारिया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता पोट्टिलं च एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! कणगरहे राया रज्जे य० जाव वियंगेति, अयं च णं दारए कणगरहस्स पुत्ते पउमावईए देवीए अत्तए, तं णं तुमं देवाणुप्पिए! इमं दारगं कणगरहस्स रहस्सियं चेव अणुपुव्वेणं संरक्खाहि य, संगोवाहि य, संवड्ढेहि य, तए णं एस दारए उम्मुक्कबालभावे तव य मम य पउमावईए य आहारे भविस्सइ त्ति कट्टु पोट्टिलाए पासे णिक्खिवति, णिक्खिवित्ता पोट्टिलाओ पासाओ तं विणिहायमावण्णियं दारियं गेण्हति, उत्तरिज्जेणं पिहेइ, पिहेइत्ता अंतेउरस्स अवदारेणं अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता जेणेव पउमावती देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पउमावतीए देवीए पासे ठावेति० जाव पडिनिग्गते। तए णं तीसे पउमावतीए देवीए अंगपडियारियाओ पउमावतिं देविं विणिहायमावण्णियं च दारियं पासंति, पासित्ता जेणेव कणगरहे राया करयल० एवं वयासी-एवं खलु सामी! पउमावतीए मत्तल्लियं दारियं पयाया। तए णं कणगरहे राया तीसे मत[illegible] दारियाए नीहरणं करेति, बहूइं लोइयाइं मयकिच्चाइं [illegible]रेति, करेइत्ता कालेणं विगयसोए जाए। तए णं ते[illegible]तलिपुत्ते कल्लं कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं

यासी-खिप्पामेव चारगसालाए सोहणं करेह ०जाव ठिती वडिया, जम्हा णं अम्हं एस दारए कणगरहस्स रज्जे जाए, तं होउ णं दारए णामेणं कणगज्झए० जाव अलं भोगसमत्थे जाए । तए णं सा पोट्टिला अन्नया कयाइं तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स अणिट्ठा अमणुण्णा अकंता अप्पिया जाया यावि होत्था । णेच्छइ णं तेतलिपुत्ते अमच्चे पोट्टिलाए नामगोत्तमवि सवणयाए, किं पुण दरिसणं वा परिजोगं वा । तए णं तीसे पोट्टिलाए अण्णया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स पुव्विं इट्ठा कंता मणुण्णा पिया आसि,इयाणिं अणिट्ठा अकंता अमणुण्णा अप्पिया जाया०जाव नेच्छइ तेतलिपुत्ते अमच्चे मम नामं०जाव परिजोगं वा ओहयमणसंकप्पा०जाव झियायइ । तते णं तेतलिपुत्ते अमच्चे पोट्टिलं ओहयमणसंकप्पं० जाव झियायमाणं पासति, पासइत्ता पोट्टिलं एवं वयासी-मा णं तुमं देवाणुप्पिए ! ओहयमणसंकप्पे, तुमं मम महाणसंसि विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेहि, उवक्खडावेइत्ता बहूणं समणमाहणाणं०जाव वणीवगाणं देयमाणी य दवावेमाणी य विहरह । तए णं सा पोट्टिला तेतलिपुत्तेणं अमच्चेणं एवं वुत्ता समाणी हट्ठतुट्ठा तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स एयमट्ठं सम्मं पडिसुणेति,पडिसुणेइत्ता कल्लाकल्लिं महाणसंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं०जाव दवावेमाणी विहराति । तेणं कालेणं तेणं समएणं सुव्वयाओ णामं अज्जियाओ इरियासमियाओ०जाव गुत्तबंभयारिणीओ बहुस्सुयाओ बहुपरिवाराओ पुव्वाणुपुव्विं जेणेव तेतलिपुरे णयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणीओ विहरंति । तए णं तासिं सुव्वयाणं अज्जाणं एगे संघाडए पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेति० जाव अडमाणीओ तेतलिस्स गिहं अणुपविट्ठाओ । तए णं सा पोट्टिला ताओ अज्जाओ एज्जमाणीओ पासति, पासइत्ता हट्ठतुट्ठा आसणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठित्ता वंदइ, णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता विउलेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभेइ० पडिलाभित्ता एवं वयासी-एवं खलु अहं अज्जाओ ! तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स पुव्विं इट्ठा कंता पिया मणुण्णा आसि, इयाणिं अणिट्ठा अकंता अप्पिया अमणुण्णा० जाव दंसणं वा परिभोगं वा । तं तुब्भे णं अज्जाओ ! बहुणायाओ बहुसिक्खियाओ बहुपढियाओ, तुब्भे बहूणि गामागर० जाव आहिंडेह, बहूणं राईसर० जाव गेहाइं अणुप्पविस्सह, तं अत्थि याइं भे अज्जाओ ! केइ कहिं वि चुण्णजोए वा मंतजोए वा कम्मणजोए वा कम्मजोए वा हियउड्डावणे वा काउड्डावणे वा आभिओगिए वा वसीकरणे वा कोउयकम्मे वा भूइकम्मे वा कंदे मूले छल्ली वल्ली मूलिया वा गुलिया वा ओसहे वा भेसज्जे वा उवलद्धपुव्वे. जेणाहं तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स पुणरावि इट्ठा कंता पिया मणुण्णा भवेज्जामि ? । तए णं ताओ अज्जाओ पोट्टिलाए एवं वुत्ताओ समाणीओ दो वि कण्णे ठायंति, पोट्टिलं एवं वयासी-अम्हे णं देवाणुप्पिए ! समणीओ निग्गंथीओ० जाव गुत्तबंभयारिणीओ, नो खलु कप्पति अम्हं देवाणुप्पिए ! एयप्पयारं कण्णेहिं वि निसामेत्तए, किमंग ! पुण उवदिसित्तए वा, आयरित्तए वा । अम्हे णं तव देवाणुप्पिए ! विचित्तं केवलिपण्णत्तं धम्मं परिकहेज्जामो । तए णं सा पोट्टिला ताओ अज्जाओ एवं वयासी-इच्छामि णं अज्जाओ ! तुब्भं अंतिए केवलिपण्णत्तं धम्मं णिसामित्तए । तए णं ताओ अज्जाओ पोट्टिलाए विचित्तं धम्मं परिकहेंति । तए णं सा पोट्टिला धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा एवं वयासी-सद्दहामि णं अज्जाओ ! निग्गंथं पावयणं पत्तिए०जाव से जहेयं तुब्भे वदह, इच्छामि णं अहं तुब्भं अंतिए पंचाणुव्वइयं०जाव गिहिधम्मं पडिवज्जित्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तए णं सा पोट्टिला तासिं अज्जाणं अंतिए पंचाणुव्वयं० जाव गिहिधम्मं पडिवज्जति, ताओ अज्जाओ वंदइ, नमंसति, नमंसइत्ता पडिविसज्जेति । तए णं सा पोट्टिला समणोवासिया जाया० जाव पडिलाभेमाणा २ विहरइ । तए णं तीसे पोट्टिलाए अण्णया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं तेतलिपुत्तस्स पुव्विं इट्ठा कंता पिया मणुण्णा आसि, इयाणिं अणिट्ठा अकंता अप्पिया अमणुण्णा० जाव परिभोगं वा । तं सेयं खलु मम सुव्वयाणं अज्जाणं अंतिए पव्वइत्तए, एवं संपेहेति, संपेहेइत्ता कल्लं पाओ जेणेव तेतलिपुत्ते अमच्चे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयलपरिग्गहियं एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए सुव्वयाणं अज्जाणं अंतिए धम्मे निसंते०जाव अब्भणुण्णाए पव्वइत्तए । तए णं तेतलिपुत्ते पोट्टिलं एवं वयासी-एवं खलु तुमं देवाणुप्पिए ! मुंडे भवित्ता पव्वइया समाणी कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववज्जिहिसि त्ति, तं जइ णं तुमं देवाणुप्पिए ! ममं ताओ देवलोगाओ आगम्म केवलिपण्णत्ते धम्मे बोहेहि, तो अहं विसज्जेमि, अह णं तुमं मम ण संबोहेसि, तो ण विसज्जेमि । तए णं सा पोट्टिला तेतलिपुत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेति । तए णं तेतलिपुत्ते विउलं असणं पा-

णं खाइमं साइमं उवक्खडाविंति मित्तनाइ० जाव आमंतेति, आमंतेत्ता ०जाव संमाणेति, पोट्टिलं ण्हायं०जाव पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरूहइ, दुरूहइत्ता मित्तणाति० जाव परिवुडे सव्वड्ढीए०जाव रवेणं तेतलिपुरस्स मज्झंमज्झेणं जेणेव सुव्वयाणं अज्जाणं उवस्सए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीयाओ पच्चोरुहति, पच्चोरुहइत्ता पोट्टिलं पुरओ कट्टु जेणेव सुव्वया अज्जा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता वंदति, णमंसति, नमंसइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम पोट्टिला भारिया इट्ठा पिया कंता मणुण्णा एस णं संसारभयउव्विग्गा० जाव पव्वइत्तए, पडिच्छंतु णं देवाणुप्पिया ! सिस्सिणिभिक्खं दलयामि। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह। तए णं सा पोट्टिला सुव्वयाहिं अज्जाहिं एवं वुत्ता समाणी हट्ठतुट्ठा उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए सयमेव आभरणमल्लालंकारं मुयइ, मुयइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, करेइत्ता जेणेव सुव्वयाओ अज्जाओ तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसइत्ता एवं वयासी-आलित्तेणं एवं जहा देवाणंदा० जाव इक्कारस अंगाइं बहूणि वासाणि सामण्णपरियायं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झोसेत्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाइं आलोइय पडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अणुत्तरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववण्णा।। तए णं से कणगरहे राया अण्णया कयाइं कालधम्मुणा संजुत्ते यावि होत्था। तते णं ते ईसरपभिइओ० जाव णीहरणं करेति, करेतित्ता अण्णमण्णं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! कणगरहे राया रज्जे य०जाव पुत्ते वियंगित्ता। अम्हे णं देवाणुप्पिया! रायाहीणा रायाहिट्ठिया रायाहीणकज्जा, अयं च णं तेतलिअमच्चे कणगरहस्स रण्णो सव्वट्ठाणेसु सव्वभूमियासु लद्धपच्चए दिण्णवियारे सव्वकज्जवड्ढावए यावि होत्था, तं सेयं खलु अम्हं तेतलिपुत्तं अमच्चं कुमारं जाइत्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेइत्ता जेणेव तेतलिपुत्ते अमच्चे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तेतलिपुत्तं अमच्चं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! कणगरहे राया रज्जे य रट्ठे य० जाव वियंगेति, अम्हे य णं देवाणुप्पिया! रायाहीणा० जाव रायाहीणकज्जा, तुमं च णं देवाणुप्पिया! कणगरहस्स रण्णो सव्वट्ठाणेसु० जाव रज्जधुराचिंतए। तं जइ णं देवाणुप्पिया! अत्थि केइ कुमारे रायलक्खणसंपण्णे रायाभिसेयारिहे, तए णं तुमं दलाहि, जा णं अम्हे महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचामो। तए णं तेतलिपुत्ते अमच्चे तेसिं ईसरपभिए एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेइत्ता कणगज्झयं कुमारं ण्हायं सव्वालंकारविभूसियं० जाव सस्सिरीयं करेत्ता तेसिं ईसर० जाव उवणेति, उवणेइत्ता एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया! कणगरहस्स रण्णो पुत्ते पउमावईए देवीए अत्तए कणगज्झए णामं कुमारे अभिसेयारिहे रायलक्खणसंपण्णे मए कणगरहस्स रण्णो रहस्सियं संवड्ढिए, तं एयं तुब्भे महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचह, सव्वं च से उट्ठाणपारियावणियं परिकहेइ। तए णं ते ईसर कणगज्झयं कुमारं महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचति। तए णं कणगज्झए कुमारे राया जाए महया हिमवंतजाए० जाव रज्जं पालेमाणे विहरइ। तए णं सा पउमावती देवी कणगज्झयं रायं सद्दावेति। सद्दावेइत्ता एवं वयासी-एस णं पुत्ता! तव रज्जे०जाव अंतेउरे य, तुमं च तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स पहावेणं, तेतलिपुत्तं अमच्चं आढाहि, परियाणाहि, सक्कारेहि, सम्माणेहि० तं अब्भुट्ठेहि, पज्जुवासेहि य, वयंतं पडिसंसाहेहि, अद्धासणेणं उवनिमंतेहि, भोगं च से अणुवड्ढेहि। तए णं से कणगज्झए पउमावतीए देवीए तह त्ति पडिसुणइ० जाव भोगं च संवड्ढेइ। तए णं से पोट्टिले देवे तेतलिपुत्तं अमच्चं अभिक्खणं अभिक्खणं केवलिपण्णत्तं धम्मं संबोहेति, नो चेव णं से तेतलिपुत्ते संबुज्झइ। तते णं तस्स पोट्टिलदेवस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए पत्थिए चिंतिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था-एवं खलु कणगज्झए राया तेतलिपुत्तं आढाति० जाव भोगं च संवड्ढेति, तए णं से तेतलिपुत्ते अभिक्खणं अभिक्खणं संबोहेमाणे वि धम्मे णो संबुज्झति, तं सेयं खलु मम कणगज्झयं रायं तेतलिपुत्ताओ विप्परिणामित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेइत्ता कणगज्झयं तेतलिपुत्तातो विप्परिणामेति। तए णं तेतलिपुत्ते कल्लं ण्हाए० जाव पायच्छित्ते आसखंधवरगए बहूहिं पुरिसेहिं सद्धिं संपरिवुडे साओ गिहाओ णिग्गच्छति, णिग्गच्छित्ता जेणेव कणगज्झए राया तेणेव पहारेत्थगमणाए। तए णं तेतलिपुत्तं अमच्चं जहा बहवे राईसरतलवर० जाव पभिइओ पासंति, ते तहेव आढायंति, परियाणंति, अब्भुट्ठेंति, सक्कारेंति, सम्माणेंति, अंजलिपरिग्गहियं करेंति। इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं उरालाहिं कल्लाणाहिं सिवाहिं धण्णाहिं मंगल्लाहिं सस्सिरियाहिं वग्गूहिं आलवमाणा य संलवमाणा य पुरओ य पिट्ठओ य पासओ य मग्गओ य समणुगच्छंति। तए णं से तेतलिपुत्ते जेणेव कणगज्झए राया तेणेव उवागच्छइ। तए णं से कणगज्झए राया तेतलिपुत्तं अमच्चं एज्जमाणं पासति, पासेत्ता णो आढाति, णो परियाणइ, णो अब्भुट्ठेति, अणाढा-

यमाणे अपरियाणमाणे परंमुहे णं चिट्ठति । तते णं से तेतलिपुत्ते अमच्चे कणगज्झयस्स रस्रो अंजलिं करेति । तते णं से कणगज्झए राया अणाढिज्जमाणे तुसिणीए परंमुहे संचिट्ठति । तए णं तेतलिपुत्ते अमच्चे कणगज्झयं विप्परिणयं जाणित्ता भीए० जाव संजायभए एवं वयासी- रुट्ठे णं मम कणगज्झए राया, हीणे णं मम कणगज्झए राया, अवज्झाए णं मम कणगज्झए राया, तं ण णज्जइ णं मम केणइ कुमारेणं मारेहेति त्ति कट्टु भीए तत्थे० जाव सणियं सणियं पच्चोसक्केइ, पच्चोसक्केइत्ता तमेव आसखंधं दुरूहेति, दुरूहइत्ता तेतलिपुरं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव पहारेत्थगमणाए; तेतलिपुत्तं जे जहा ईसर० जाव पासंति ते तहा नो आढायंति, नो परियाणंति, नो अब्भुट्ठेति, नो अंजलिं करिंति, इट्ठाहिं० जाव नो संलवंति, नो पुरओ य पिट्ठओ य पासओ य समणुगच्छंति । तते णं तेतलिपुत्ते अमच्चे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ । जा वि य से तत्थ बाहिरिया परिसा भवति । तं जहा-दासेइ वा, पेसेइ वा, भाइल्लएइ वा, सा वि य णं णो आढाइ० २ । जा वि य से अब्भितरिया परिसा भवति । तं जहा-पियाइ वा, मायाइ वा, भज्जाइ वा, सुएहाइ वा, सा वि य णं च नो आढाति० ३ । तए णं से तेतलिपुत्ते जेणेव वासघरे जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता सयणिज्जंसि निसीयति, णिसीयइत्ता एवं वयासी-एवं खलु अहं सयाओ गिहाओ णिग्गच्छामि, तं चेव० जाव अब्भिंतरिया परिसा नो आढाति, नो अब्भुट्ठेइ, तं सेयं खलु मम अप्पाणं जीवियाओ ववरोवित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेइत्ता तालउडं विसं आसगंसि पक्खिवति, से य विसे णो संकम्मति । तए णं से तेतलिपुत्ते नीलुप्पल० जाव असिं खंधंसि ओहरति, तत्थ वि य से धारा ओपल्ला । तए णं से तेतलिपुत्ते अमच्चे जेणेव असोगवणिया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता पासगं गीवाए बंधेति, बंधइत्ता रुक्खं दुरूहइ, दुरूहइत्ता पासं रुक्खे बंधइ, बंधइत्ता अप्पाणं मुयति, तत्थ वि य से रज्जू छिन्ना । तए णं से तेतलिपुत्ते महइमहालियं सिलं गीवाए बंधेति, बंधइत्ता अत्थाहमतारमपोरिसीयंसि उदगंसि अप्पाणं मुयति, तत्थ वि से थाहे जाते । तए णं से तेतलिपुत्ते अमच्चे सुक्कंसि तणकूडंसि अगणिकायं पक्खिवति, पक्खिवइत्ता अप्पाणं मुयति, तत्थ वि य से अगणिकाये विज्झाए । तए णं तेतलिपुत्ते अमच्चे एवं वयासी-सद्धेयं खलु भो समणा वयंति, सद्धेयं खलु भो माहणा वयंति, सद्धेयं खलु समणा माहणा वयंति, अहं एगो असद्धेयं वयामि, एवं खलु अहं सह पुत्तेहिं अपुत्ते, को मेदं सद्दहिस्सति ?, सह मित्तेहिं अमित्ते, को मेदं सद्दहिस्सति ?, एवं अत्थेणं दारेणं दासेहिं पेसेहिं परिजणेणं । एवं खलु [तेतलिपुत्ते णं अमच्चे] कणगज्झएणं रन्ना अवज्झाएणं समाणेणं तेतलिपुत्तेणं अमच्चेणं तालउडगे विसे आसगंसि पक्खित्ते, से वि य णं णो संकमइ, को मेदं सद्दहिस्सति ?, तेतलिपुत्तेणं अमच्चेणं नीलुप्पल० जाव खंधंसि असिं ओहरिए, तत्थ वि य से धारा ओपल्ला, को मेदं सद्दहिस्सति ?, तेतलिपुत्ते अमच्चे पासगं गीवाए बंधित्ता० जाव रज्जू छिन्ना, को मेदं सद्दहिस्सति ?, तेतलिपुत्ते अमच्चे महालियं सिलं० जाव बंधेत्ता अत्थाह० जाव उदगंसि अप्पा मुक्के, तत्थ वि य णं थाहे जाते, को मेदं सद्दहिस्सति ?, तेतलिपुत्ते अमच्चे सुक्कंसि तणकूडे० अग्गी विज्झाए, को मेदं सद्दहिस्सति ?, ओहयमणसंकप्पे० जाव झियायइ । तए णं से पोट्टिले देवे पोट्टिलारूवं विउव्वति, विउव्वइत्ता तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स अदूरसामंते ठिच्चा एवं वयासी-हं भो तेतलिपुत्ता ! पुरओ पवाए, पिट्ठओ हत्थिभयं, दुहओ अचक्खुफासे, मज्झे सराणि वरिसंति, गामे पलित्ते अरन्ने झियाइ, अरन्ने पलित्ते गामे झियाइ, आउसो ! तेतलिपुत्ता ! कओ वयामो ? । तए णं से तेतलिपुत्ते अमच्चे पोट्टिलं एवं वयासी-भीयस्स खलु भो पव्वज्जा सरणं, उक्कंठियस्स सदेसगमणं, छुहियस्स (छायस्स) अन्नं, तिसियस्स पाणं, आउरस्स भेसज्जं, माइयस्स (माइज्जस्स) रहस्सं, अभिजुत्तस्स पच्चयकरणं, अद्धाणं परिस्संतस्स (तस्स) वाहणगमणं, तरिउकामस्स पवहणकिच्चं, परं अभिउंजिउकामस्स सहायकिच्चं । खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स एत्तो एगमवि ण भवति । तए णं से पोट्टिले देवे तेतलिपुत्तं अमच्चं एवं वयासी-सुट्ठु णं तुमं तेतलिपुत्ता ! एयमट्ठं आयाणाहि त्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयइ, वयइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए । तए णं तस्स तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स सुभेणं परिणामेणं जाईसरणे समुप्पण्णे । तए णं तस्स तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं इहेव जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे पुक्खलावईविजए पोंडरिगिणीए रायहाणीए महापउमे नामं राया होत्था । तए णं अहं थेराणं अंतिए मुंडे भवित्ता० जाव चउद्दस पुव्वाइं बहूणि वासाणि सामण्णपरियायं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए महासुक्के कप्पे देवत्ताए उववन्ने । तए णं अहं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं ठिइक्खएणं भवक्खएणं इहेव तेतलिपुरे णयरे तेतलिस्स अमच्चस्स भद्दाए भारियाए दारगत्ताए पच्चायाए; तं सेयं खलु मम पुव्वदिट्ठाइं पंच महव्वयाइं सयमेव उवसंपज्जित्ता

णं विहरित्तए एवं संपेहेति, संपेहित्ता सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहति, आरुहइत्ता जेणेव पमयवणे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलापट्टयंसि सुहनिसण्णस्स अणुचिंतेमाणस्स पुव्वाहियाइं सामाइयाइं इक्कारस अंगाइं चोद्दस पुव्वाइं सयमेव अभिसमण्णागयाइं। तते णं तस्स तेतलिपुत्तस्स अणगारस्स सुभेणं परिणामेणं ०जाव तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं कम्मरयविकरणकरं अपुव्वकरणं पविट्ठस्स अणंते अणुत्तरे णिव्वाघाए णिरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पण्णे। तए णं तेतलिपुरे णगरे अहासन्निहिएहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं देवीहि य देवदुंदुभीओ समाहयाओ, दसद्धवण्णे कुसुमे निवाइए, दिव्वे गीयं, गंधव्वनिणादे कयाए यावि होत्था। तए णं से कणगज्झए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एवं वयासी–एवं खलु तेतलिपुत्ते अमच्चे मए अवज्झाए० जाव मुंडे भवित्ता पव्वइए, तं गच्छामि णं तेतलिपुत्तं अणगारं वंदामि, णमंसामि, पज्जुवासामि, एयमट्ठं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेमि एवं संपेहेइ, संपेहित्ता ण्हाए० जाव चाउरंगिणीए सेणाए जेणेव पमयवणे उज्जाणे, जेणेव तेतलिपुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तेतलिपुत्तं अणगारं वंदइ, णमंसइ, एयमट्ठं च विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेति, णच्चासण्णे ०जाव पज्जुवासेइ। तते णं से तेतलिपुत्ते अणगारे कणगज्झयस्स रण्णो तीसे य धम्मं परिकहेइ। तए णं से कणगज्झए राया तेतलिपुत्तस्स केवलिस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं सावगधम्मं पडिवज्जति, समणोवासए जाए अहिगयजीवाजीवे। तए णं तेतलिपुत्ते केवली बहूणि वासाणि केवलिपरियागं पाउणित्ता० जाव सिद्धे।

अथ चतुर्दशज्ञातं विवियते–अस्य चायं पूर्वेण सहाभिसंबन्धः। पूर्वस्मिन् सतां गुणानां सामग्र्यभावे हानिरुक्ता, इह तु तथाविधसामग्रीसद्भावे गुणसंपदुपजायत इत्यभिधीयते, इत्येवं संबन्धमिदं सर्वं सुगमं, नवरम् (कलाए त्ति) कलादो नाम्ना, मूषिकारदारक इति पितृव्यपदेशेनेति। (अभिंतरठाणिज्जे त्ति) आभ्यन्तरस्थानीयनाम्ना इत्यर्थः (?)। (वियंगेइ त्ति) व्यङ्गयति, विगतकर्णनासाहस्ताद्यङ्गान् करोतीत्यर्थः। अथवा-(वियंगेइ त्ति) विकृन्तति, छिनत्तीत्यर्थः। (संरक्खमाणीए त्ति) संरक्षन्त्या आपद्भ्यः, संगोपयन्त्याः प्रच्छादनतः। (भिक्खाभायणे त्ति) भिक्षाभाजनमिव भिक्षाभाजनं, तदस्माकं भिक्षोरिव निर्वाहकारणमित्यर्थः। "पढमाए पोरिसीए सज्झायं" इत्यादौ यावत्करणादिदं द्रष्टव्यम्–" बीयाए पोरिसीए झाणं झियायइ, तइयाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसंभंते मुहपोत्तियं पडिलेहेइ, भायणवत्थाणि पडिलेहेइ, भायणाणि पमज्जइ, भायणाणि उग्गाहेइ, जेणेव सुव्वयाओ अज्जाओ, तेणेव उवागच्छइ, सुव्वयाओ अज्जाओ वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी–इच्छामो णं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए तेयलिपुरे नयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुयाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह। तए णं ताओ अज्जाओ सुव्वयाहिं अज्जाहिं अब्भणुण्णाओ समाणीओ सुव्वयाणं अज्जाणं अंतिआओ उवस्सयाओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमइत्ता अतुरिअमचवलमसंभंताए गईए जुगंतरपलोयणाए दिट्ठीए पुरओ रिअं सोहेमाणीओ तेयलिपुरे णयरे उच्चणीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियं अडमाणीओ।" इति। तत्र गृहेषु समुदानं भिक्षा गृहसमुदानं, तस्मै गृहसमुदानाय, भिक्षाचर्यं भिक्षानिमित्तं विचरणम्, अटन्त्यः कुर्वाणाः। (अत्थि याइं भे त्ति) "याइं ति" देशभाषायां, 'भे त्ति' भवतीनाम्। (चुण्णजोए त्ति) द्रव्यचूर्णानां योगः, स्तम्भनाऽऽदिकर्मकारी (कम्मणजोए त्ति) कुष्ठाऽऽदिरोगहेतुः (कम्मजोए त्ति) काम्ययोगः कमनीयताहेतुः, (हियउड्डावणे त्ति) हृदयोड्डापनं चित्ताऽऽकर्षणहेतुः (कायउड्डावणे त्ति) कायाऽऽकर्षणहेतुः। (आभिओगिए त्ति) पराभिभवनहेतुः (वसीकरणे त्ति) वश्यताहेतुः (कोउयकम्मे त्ति) सौभाग्यनिमित्तं स्नपनाऽऽदि (भूइकम्मे त्ति) मन्त्राभिसंस्कृतभूतिदानम्। (रायाहीणा इत्यादि) राजाधीनाः, राज्ञो दूरेऽपि वर्तमाना राजवशवर्तिन इत्यर्थः। राजाधिष्ठिताः, तेन स्वयमध्यासिता राजाधिष्ठिताः, राजाधीनानि राजाऽऽयत्तानि कार्याणि येषां ते वयं राजाधीनकार्याः। (सव्वं च से उट्ठाणपारियावणियं ति) सर्वं च 'से' तस्य उत्थानं चोत्पत्तिः, पारितापनिका च कालान्तरं यावत्स्थिरतरेत्युत्थानपारितापनकं तत्परिकथयतीति। (वयंत पाडिमंसाहेहि त्ति) विनयप्रस्तावाद् व्रजन्तं प्रतिसंसाधय अनुव्रज। अथवा वाचा तं प्रतिसंस्तावय–साधूक्तं साध्वित्येवं प्रशंसां कुर्वित्यर्थः। भोगं वर्तनम्। "इह णमित्यादौ" हीनोऽयं मम प्रीत्येति गम्यते। अपध्यातो दुष्टचिन्तावान्। ममेति ममोपरि कनकध्वजः। पाठान्तरेण–दुर्ध्यातोऽहं दुष्टचिन्ताविषयीकृतोऽहं कनकध्वजेन राज्ञा, तत् तस्मान्न ज्ञायते केनापि कुमारेण विरूपमारणप्रकारेण मारयिष्यतीति। (खंधंसि ववहरइ त्ति) स्कन्धे उपहरति विनिवेशयतीति। धारा (ओपल्ल त्ति) अवदीर्णा, कुण्ठीभूतेत्यर्थः। (अत्थाहं ति) अस्तं निरस्तमविद्यमानमधस्तलं प्रतिष्ठानं यस्य तदस्ताधः, स्ताघो वा प्रतिष्ठानं, तदभावादस्ताघम। अतारं यस्य तरणं नास्ति, पुरुषः परिमाणं यस्य तत्पौरुषेयं, तन्निषेधादपौरुषेयम्। ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः। मकारौ च प्राकृतत्वात्। अनस्तत्र "सद्धेयं" इत्यादि। श्रद्धेयं श्रमणा वदन्ति आत्मपरलोकपुण्यपापाऽऽदिकमर्थजातम्, अतीन्द्रियस्यापि तस्य प्रमाणाबाधितत्वेन श्रद्धानगोचरात्। अहं पुनरेकोऽश्रद्धेयं वदामि–पुत्राऽऽदिपरिवारयुक्तस्यात्मनो राजसंमतस्य च अपुत्राऽऽदित्वमराजसंमतत्वं च, विषकूपासकजलाग्निभिरहिंस्यत्वं चाऽऽत्मनः प्रतिपादयतो मम युक्तिबाधितत्वेन जनप्रतीतेरविषयत्वेनाश्रद्धेयत्वादिति। प्रस्तुतसूत्रभावना–" तए णमित्यादि।" हं भोः! इत्यामन्त्रणे। पुरतोऽग्रतः प्रपातो गर्तः, पृष्ठतो हस्तिभयं (दुहओ त्ति) उभयतः। अचक्षुःस्पर्शोऽन्धकारः, मध्ये मध्यभागे यत्र वयमास्महे, तत्र शरा बाणा निपतन्ति, ततश्च सर्वतो भयं वर्तते इत्यर्थः। तथा ग्रामः प्रदीप्तोऽग्निना ज्वलति, अरण्यं च ध्मायतेऽनुपशान्तदाहं वर्तते। अथवा–ध्यायतीव ध्यायति, अग्नेरविध्यानेन जागर्तीवेत्यर्थः। अथवा–अरण्य प्रदीप्तं, ग्रामो

भायते न विध्यापयति, एवं सर्वस्यापि भयानकत्वात् स्थानान्तरस्य चाभावात्, आयुष्मँस्तेतलिपुत्र ! (कश्च त्ति) क व्रजामः ?, क भीतैरन्यस्मत्माभिरिदानीमन्येनापि प्रवतीति प्रश्नः । उत्तरं च-भीतस्य प्रव्रज्या शरणं, भवतीति गम्यते। अथ कथं भीतस्य प्रव्रज्या शरणं भवति ?। अत्रोच्यते-यथोत्कण्ठिताऽऽदीनां स्वदेशगमनाऽऽदीनि। तत्र (बुहियस्सं त्ति) बुभुक्षितस्य। माग्निनो वञ्चकस्य, रहस्यं गुप्तत्वं, शरणमिति सर्वत्र गमनीयम्। अभियुक्तस्य सम्पादितदूषणस्य, प्रत्ययकरणं दूषणापोहेन प्रतीत्युत्पादनम्, अध्वानं मार्गं गच्छतः परिश्रान्तस्य गन्तुमशक्तस्य (वाहणगमणं) शकटाऽऽद्यारोहणं शरणमिति योज्यम्। तरीतुकामस्य नद्यादिकं प्लवनं तरणं कृत्यं कार्यं यस्य तत्प्लवनकृत्यं तरकाण्डम्। परमभियोक्तुकामस्याभिभवितुकामस्य (सहायकम्मं त्ति) सहायकृत्यं मित्राऽऽदिकृत्यं (खंतेत्यादि) क्षान्तस्य क्रोधनिग्रहेण, दान्तस्येन्द्रियनोइन्द्रियदमेन, जितेन्द्रियस्य विषयेषु रागाऽऽदिनिषेद्धुः, (एत्तो त्ति) एतेभ्योऽनन्तरोदितेभ्योऽग्नेः प्रपाताऽऽदिभ्यो भयेभ्यः एकमपि भयं न भवति, प्रव्रजितस्य सामायिकपरिणत्या शरीराऽऽदिषु निरभिष्वङ्गत्वाद् मरणाऽऽदिभयाभावादिति। एवं देवेनामात्यः स्ववाचा भीतस्य प्रव्रज्या श्रेयसीत्यभ्युपगमं कारयित्वा एवमुक्तः-(सुट्ठु इत्यादि) अयमर्थो भीतस्य प्रव्रज्या शरणमिति यदि प्रतिज्ञायते, तदा सुष्ठु ते मतं, यथाभिजुनस्त्वमिदानीमसीति एनमर्थमाजानीहि-अनुष्ठानद्वारेणावबुध्यस्व, प्रव्रज्यां विधेहीति यावत्। इह च यद्यपि सूत्रे उपनयो नोक्तस्तथाऽप्येवं द्रष्टव्यः-" जाव न दुक्खं पत्ता, माणब्भंसं च पाणिणो पायं। ताव न धम्मं गेण्हंति भावओ तेयलिसुउ व्व ॥ १ ॥" इति। ज्ञा० १ श्रु० १४ अ०। आ०म०। आ० क०। विशे०। तेतलिसुतप्रतिबद्धवक्तव्यताके चतुर्दश ज्ञाताध्ययने, ३। तए[५] सम्ब० द्वार। ज्ञा०। आ० चू०।

प्पहनमागच्छति, उवागच्छइ ...-नाम ...,

ज्जं पाइयस्स (पाइज्जस्स) रहस्स, ...

... एवं खलु अहं सयाओ ...

तेतिल्ल-तैतिल-पुं०। गण्डकपशौ, आ० ... विशेषावचनापरपर्याये बवाऽऽदिनक्षत्रतुर्थे करणे, जं० ७ वक्ष०।

तेतिलिपुर-तेतलिपुर-न०। स्वनामख्याते पुरे, यत्र कनकरथस्यामात्यस्तेतलिसुत आसीत्। ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०। आ० म०। दर्श०। आ० चू०।

तेतीस-त्रयस्त्रिंशत्-स्त्री०। " एत् त्रयोदशाऽऽदौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन " ॥ ८। १। १६५ ॥ इत्यादेः स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन सह एत्त्वति। त्र्यधिकायां त्रिंशत्संख्यायाम्, प्रा० १ पाद।

तेत्तिअ-तावत्-त्रि०। " इदंकिमश्च डेत्तिअ-डेत्तिल-डेद्दहाः" ॥ ८। २। १५७॥ इति तच्छब्दात् 'डेत्तिअ' प्रत्ययः। तत्परिमाणवति, प्रा० २ पाद।

तेत्तिर-तित्तिर-पुं०। लोमपक्षिभेदे, जी० १ प्रति०।

तेत्तुल्ल-तावत्-त्रि०। " अतो डेत्तुल्लः " ॥ ८। ४। ४३५ ॥ इत्यपभ्रंशे तच्छब्दात्परस्यातोः प्रत्ययस्य 'डेत्तुल्ल' इत्यादेशः। डित्वाट्टिलोपः। प्रा० ४ पाद। तत्परिमाणवति, वाच०।

तेय-तेजस्-पुं०। " स्नमदामशिरोऽनभः " ॥ ८। १। ३२॥ इति सान्तत्वात्तेजःशब्दस्य पुंस्त्वम्। प्रा० १ पाद। अभितापे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। प्रभावे, अन्त० १ श्रु० ६ वर्ग ३ अ०। षष्ठौ, प्रज्ञा० १ पाद। स्था०। कान्तौ, उपा० २ अ०। शरीरस्य कान्तौ, स्था० ८ ठा०। नि०। शरीरसंबन्धिनि दीप्तिषि, प्रभावे च। औ०। " अह तेओ पुण देहे अणोतप्पया चेव।" तेजः पुनर्देहे शरीरेऽनवत्रप्यता अस्रज्जनयिता दीप्तियुक्तत्वेनापरिभूतत्वम्। बृ० १ उ०। दीप्तौ, उपा० २ अ०। आचा०। तेजोलेश्यायाम्, स्था० १ ठा०। शरीरप्रभायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आहारपाककारणभूतेषु तेजोनिसर्गहेतुषु चोष्णपुद्गलेषु, कर्म० ५ कर्म०। रसाऽऽद्याहारपाकजनने तेजोनिसर्गलब्धिनिबन्धने च। अनु०। बृहद्भेदे, ति०। स्तेये, नं०। चौर्ये, विशे०। पञ्चा०।

तेयंसी-तेजस्विन्-त्रि०। तेजः शरीरप्रभा, तद्वांस्तेजस्वी। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। शरीरप्रभायुक्ते, भ० २ श० ५ उ०। स०। नि०। आचा०। दीप्तिमति, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०। सू०।

तेयग-तैजस-न०। तेजःपुद्गलानां विकारस्तैजसम्। " विकारे " ॥ ६। २। ३०। इत्यण्। ऊष्मलिङ्गे, भुक्ताऽऽहारपरिणमनकारणे शरीरभेदे, यद्वशाच्च विशिष्टतपःसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुंसस्तेजोलेश्याविनिर्गमः। उक्तं च-" सव्वस्स उम्हसिद्धं, रसाऽऽइआहारपाकजणगं च। तेयगलद्धिनिमित्तं, च तेयग होइ नायव्वं ॥ १ ॥ " जी० १ प्रति०। व्या०। प्रज्ञा०। (तैजसशरीरव्याख्या सर्वा ' सरीर ' शब्दे वक्ष्यते) वैश्वानरे, पुं०। स० ३० सम०।

तेयगणाम-तैजसनाम-(न्) न०। तेजोनिबन्धनं नाम तैजसनाम, तैजसशरीरनिबन्धने नामकर्मणि, यदुदयवशात्तैजसशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय तैजसशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया संबन्धयतीति। कर्म० १ कर्म०।

तेयगलद्धि-तैजसलब्धि-स्त्री०। क्रोधाऽऽधिक्यात्प्र...

...तपोन्वितप्रतिसुखेन विशिष्टतपोजन्यानेकयोजनप्रमाणक्षेत्राऽऽश्रितवस्तुदहनसामर्थ्येनो ज्वलज्ज्वालामोचनशक्तौ, ग०। सा तु, यो यमी नित्यं षष्ठं तपः करोति पारणके कुल्माषमुष्ट्या जलचुलुकेन चाऽऽस्ते, तस्य षण्मासान्ते सिद्ध्यतीति। ग० ३ अधि०।

तेयगसमुग्घाय-तैजससमुद्घात-पुं०। तेजसि विषये भवस्तैजसः, स चासौ समुद्घातश्च तैजससमुद्घातः। तेजोलेश्याविनिर्गमकालभाविनि तैजसशरीरनामकर्माऽऽश्रये समुद्घातविशेषे, पं० सं० २ द्वार। प्रज्ञा०। स०। प्रव०। (किञ्चिद्वक्तव्यता ' तेउसमुग्घाय ' शब्देऽत्रैव भागे २३५० पृष्ठे गता) (अस्य सर्वा वक्तव्यता तु ' समुग्घाय ' शब्दे वक्ष्यते)

तेयजणण-तेजोजनन-न०। माहात्म्योत्पादने, सू० ३ श०।

तेयपाल-तेजःपाल-पुं०। पोरवाडकुलजाते अणहिल्लपाटणनगरराजस्य श्रीवीरधवलस्य मन्त्रिणि, ती०।

तेजःपालवस्तुपालकल्पः-

"श्रीवस्तुपालतेजः-पालौ मन्त्रीश्वरावुभावास्ताम्।
यौ भ्रातरौ प्रसिद्धौ, कीर्तनसंख्यां तयोर्ब्रूमः" ॥ १ ॥

पूर्वं गूर्जरधरित्रिमण्डनायां मण्डलीमहानगर्यां श्रीवस्तुपालतेजःपालाऽऽख्यौ वसतः स्म। अन्यदा श्रीमत्पत्तनवास्तव्यप्राग्वाटान्वयठक्कुरश्रीचण्डपालाऽऽत्मजठक्कुरश्रीचण्डप्रसादाङ्गजमन्त्रिश्रीसोमकुलावतंसठक्कुरश्रीआसराजनन्दनौ कुमारदेवीकुक्षिसरोवरराजहंसौ श्रीवस्तुपालतेजःपालौ श्रीशत्रुञ्जयगिरिनाराऽऽ-

द्वितीर्थयात्रायै प्रस्थितौ हडालाग्रामं गत्वा यावत् स्वां विभूतिं चिन्तयतस्तावल्लक्षत्रयं सर्वस्वं जातम् । ततः सुराष्ट्रायां सौस्थ्यमाकलय्य लक्षमेकमवन्यां निधातुं निशीथे महाश्वत्थतले खानं खानयामासतुः । तयोः खानयतोः कस्यापि प्राक्तनः कनकपूर्णः शौल्वकलशो निरगात्, तमादाय श्रीवस्तुपालः तेजःपालजायामनुपमादेवीं मान्यतयाऽपृच्छत्-कैतन्निधीयत इति ? । तयोक्तम्-गिरिशिखरे एवैतदुच्चैः स्थाप्यते, यथा प्रस्तुतनिधिवन्नान्यसात्स्यात् । तच्छ्रुत्वा श्रीवस्तुपालस्तद् द्रव्यं श्रीशत्रुञ्जयोज्जयन्तादावव्ययत् । कृतयात्रौ व्यावृत्तौ धवलक्कपुरमगात् । अत्रान्तरे माहणदेवी नाम कान्यकुब्जेश्वरसुता जनका[कु]ञ्चलिकापदे(?) गुर्जरधरित्रीमवाप्य तदाधिपत्यं भुक्त्वा मृता सती तत्रैव देशाधिष्ठात्री देवता समजनि । सैकदा स्वप्ने वीरधवलनृपस्याकथयत्-यद्वस्तुपालतेजःपालौ राज्यचिन्तकप्राग्रहरौ विधाय सुखेन राज्यं शाधि । इत्थं कृते राज्यराष्ट्रवृद्धिस्तव भविष्यतीत्यादिश्य स्वं च प्रकाश्य तिरोदधे देवी । प्रातरुत्थाय नृपतिर्वस्तुपालतेजःपालावाहूय सत्कृत्य च ज्यायसः स्तम्भतीर्थधवलक्कयोराधिपत्यमेवादात् । तेजःपालस्य तु सर्वराज्यव्यापारमुद्रां ददौ । ततस्तौ षड्दर्शनदान-नानाविधधर्मस्थानविधापनाऽऽदिभिः सुकृतशतानि चिनुतः स्म नित्यमनुसमयम् । तथाहि-लक्षमेकं सपादं जिनबिम्बानां कारितम्, अष्टादश कोटयः षण्णवतिर्लक्षाः श्रीशत्रुञ्जयतीर्थे द्रविणं व्ययितम्, द्वादश कोटयोऽशीतिर्लक्षाः श्रीउज्जयन्ते, द्वादश कोटयस्त्रिपञ्चाशद् लक्षा अर्बुदाशिखरे, लूणिगवसत्यां नव शतानि चतुरशीतिश्च पौषधशालाः कारिताः, पञ्चशतानि दन्तमयसिंहासनानां, पञ्चशतानि पञ्चोत्तराणि समवसरणानां जादरमयानां (?), ब्रह्मशालाः सप्त शतानि, सप्त शतानि सत्रागाराणाम्, सप्तशती तपस्विकापालिकमठानाम्, सर्वेषां भोजननिर्वापाऽऽदिदानं कृतं, त्रिंशच्छतानि द्व्युत्तराणि माहेश्वराऽऽयतनानां, त्रयोदश शतानि चतुरुत्तराणि शिखरबद्धजैनप्रासादानां, त्रयोविंशतिशतानि जीर्णचैत्योद्धाराणाम्, अष्टादशकोटिसुवर्णव्ययेन सरस्वतीभाण्डागाराणां स्थानत्रये भरणं कृतं, पञ्चशती ब्राह्मणानां वेदपाठं करोति स्म, वर्षमध्ये सङ्घपूजात्रितयं, पञ्चाशच्छती श्रमणानां गृहे नित्यं विहरति स्म, तटिककार्पटिकानां सहस्रं साधिकं प्रत्यहं भुङ्क्ते स्म, त्रयोदश तीर्थयात्राः सङ्घपतीभूय कृताः । तत्र प्रथमयात्रायां चत्वारि सहस्राणि च पञ्चशतानि शकटानां सशय्यापालकानां, सप्तशती सुखासिकानाम्, अष्टादशशती वाहिनीनाम्, एकोनविंशतिः शतानि श्रीकारिणाम्, एकविंशतिः शतानि श्वेताम्बराणां, एकादश शतानि दिगम्बराणां, चत्वारि शतानि सार्द्धानि जैनगायनानां, त्रयस्त्रिंशच्छती बन्दिजनानाम् । चतुरशीतिस्तडागाः सुबद्धाः, चतुःशती चतुःषष्ट्यधिका वापीनां, पाषाणमयानि द्वात्रिंशद् दुर्गाणि, दन्तमयजैनरथानां चतुर्विंशतिः, विंशं शतं शाकमाटिनानां, सरस्वतीकण्ठाऽऽभरणाऽऽदीनि चतुर्विंशतिर्बिरुदानि श्रीवस्तुपालस्य चतुःषष्टिर्मसीतयः कारिताः । दक्षिणस्यां श्रीपर्वतं यावत्, पश्चिमायां प्रभासं यावत्, उत्तरस्यां केदारं यावत्, पूर्वस्यां वाराणसीं यावत् तयोः कीर्त्तनानि, सर्वाग्रेण त्रीणि कोटिशतानि चतुर्दश लक्षा अष्टादश सहस्राणि अष्टशतानि लोष्टिकात्रितयोनानि द्रव्यव्ययतः त्रिषष्टिवारान् संग्रामे जैत्रपत्रं गृहीतम् । अष्टादश वर्षाणि तयोर्व्यापृतिः । एवं तयोः पुण्यकृत्यानि कुर्वतोः कियताऽपि कालेन श्रीवीरधवलनृपः कालधर्ममवाप्त् । ततस्तत्पट्टे तदीयस्तनयः श्रीमान् वीसलदेवस्ताभ्यां मन्त्रिप्रवराभ्यां राज्येऽभिषिक्तः । सोऽपि समर्थः सन् क्रमेण दुर्मेदः सचिवान्तरं विधाय मन्त्रितेजःपालमपाचकार । तदेतदवलोक्य पुरोधाः सोमेश्वरनामा महाकविर्नृपमुद्दिश्य साक्षेपं नव्यं काव्यमपठत् । यथा-

"मांसोन्मांसलपाटलापरिमलव्यालोलरोलम्बिनः (?),
प्राप्य प्रौढिमिमां समीर ! महतीं पश्य त्वया यत्कृतम् ।
सूर्याचन्द्रमसौ निरस्ततमसौ दूरं तिरस्कृत्य यत्,
पादस्पर्शसहं विहायसि रजः स्थाने तयोः स्थापितम् " ॥१॥

इत्यादि तयोः पुरुषरत्नयोर्वृत्तशेषमादित उत्पत्तिस्वरूपं तु लोकप्रसिद्धित एवावगन्तव्यम् ।

" गीतार्ह्ययनवर्येण, सूराद्धिह्णाय कीर्त्तिना ।
कीर्तनानामियं संख्या, श्रीमतोर्मन्त्रिमुख्ययोः ॥ १ ॥ "

श्रीमहामात्यवस्तुपालतेजःपालकीर्त्तनसंख्याकल्पः ।

" यद्व्यासितमर्हद्भिः, तद्धि तीर्थं प्रचक्षते ।
अर्हन्तश्च तयोश्चित्त-मध्यवात्सुरहर्निशम् ॥ १ ॥
तत्तीर्थरूपयोर्युक्त्या, पुरुषश्रेष्ठयोस्तयोः ।
कीर्त्तनोत्कीर्त्तनेनापि, व्याख्या कल्पकृतेर्न किम् ? ॥ २ ॥
इत्यालोच्य हृदा कल्प-लेशं मन्त्रीशयोस्तयोः ।
एतं विरचयाञ्चक्रुः, श्रीजिनप्रभसूरयः ॥३॥ " ती० ४१ कल्प ।

तेयमंडल–तेजोमण्डल–न० । प्रभापटले, स० ६ सम० ।

तेयमाहप्पकंतिजुत्त–तेजोमाहात्म्यकान्तियुक्त-त्रि० । तेजो दीप्तिर्माहात्म्यं महानुभावता, कान्तिः काम्यता, तैर्युक्ते, उपा० २ अ० ।

तेयलिपुर–तेतलिपुर–'तेतलिपुर' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

तेयलेस्सा–तेजोलेश्या–स्त्री० । विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवायां तेजोज्वालायाम्, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । (सा कथं भवतीति ' तेउलेस्सा ' शब्देऽनुपदमेव २३४१ पृष्ठे द्रष्टव्या)

तेयवंत–तेजस्विन्–त्रि० । प्रभावति, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार ।

तेयवीरिय–तेजोवीर्य–पुं० । भरतराजस्य पुत्रपरम्परायां भरतात्पञ्चमे महाबलस्य पुत्रे, स्था० ८ ठा० ।

तेया–तेजस्–स्त्री० । त्रयोदश्याम्, ज्यो० ४ पाहु० । चं० प्र० । लोकोत्तररीत्या त्रयोदश्यां रात्रौ, कल्प० ६ क्षण ।

त्रेता–स्त्री० । सत्ययुगानन्तरवर्तिनि युगभेदे, वाच० । "तेयाजुगे य दासरही रामो सीयालक्खणसंजुओ वि ।" ती० २७ कल्प । दक्षिणाग्निगार्हपत्याऽऽहवनीयाऽऽत्मके समुदिते अग्नित्रये, द्यूतक्रीडासाधनस्याक्षस्य यस्मिन् पार्श्वे त्रयोऽङ्कास्तस्य पार्श्वस्य उत्तानतया पतने द्यूतविशेषे, वराटकानां मध्ये त्रयाणामुत्तानतया पतने च । 'त्रेताहृतसर्वस्वम्' । इति मृच्छकटिकटीका । वाच० ।

तेयाणुबंधि (ण्)–स्तेयानुबन्धिन्–न० । स्तेनस्य चौरस्य कर्म स्तेयं, तीव्रक्रोधाऽऽद्याकुलतया तदनुबन्धवत्स्तेयानुबन्धिनि, भ० २५ श० ७ उ० । रौद्रध्यानभेदे, दर्श० । अतितीव्रक्रोधलोभाऽऽकुलमानसस्य श्रमणान्धबधिराजक्रमाऽऽदिष्वपि प्राणप्रहाणसुखाऽपि परद्रव्यापहरणेच्छा परलोकापायानिरपेक्षस्य ? नीरोः । अत एवाऽऽह-श्रीभगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः-

"तह तिव्वकोहलोहा-उलस्स भूओवघायणमणज्जं। परदव्वहरणचित्तं, परलोगावायनिरवेक्खं" ॥ १ ॥ दर्श० ४ तत्त्व।

तेयाली-तेयालिन्-पुं०। वृक्षभेदे, "ताले तमाले तक्कलितेयालीसालिसारकल्लोणे।" प्रश्न० १ पाद।

तेरसी-त्रयोदशी-स्त्री०। चन्द्रस्य त्रयोदशकलाक्रियारूपे तिथौ, वाच०। त्रयोदश्यां यात्रा शुभकरी। तदुक्तम्-"जे वि हु हुंति अमित्ता, ते तेरसिपट्ठिओ जिणइ।" द० प०। ज्यो०।

तेरह-त्रयोदश(न्)-पुं०। "एत्त्रयोदशाऽऽदौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन" ॥ ८।१।१६५॥ त्रयोदशमित्येवंप्रकारेषु संख्याशब्देष्वादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह एकारः। प्रा० १ पाद। "संख्यागद्गदे रः" ॥ ८।१।२१९॥ इति दस्य रः। प्रा० १ पाद। त्र्यधिकदशसंख्याऽन्विते, वाच०।

तेरासिय-त्रैराशिक-पुं०। जीवाजीवनोजीवभेदात्त्रयो राशयः समाहृतास्त्रिराशि, तत्प्रयोजनं येषां ते त्रैराशिकाः। स्था० ७ ठा०। आ० म०। त्रीन् राशीन् जीवाजीवनोजीवरूपान् वदन्ति ये ते त्रैराशिकाः। औ०। जीवोऽजीवो जीवाजीवश्च, लोकोऽलोको लोकालोकश्च, सत् असत् सदसत्। नयचिन्तायामपि त्रिविधं नयमिच्छन्ति। तद्यथा-द्रव्यास्तिकम्, पर्यायास्तिकम्, उभयास्तिकं च। उक्तं च-त्रिभी राशिभिश्चरन्तीति त्रैराशिकाः। नं०। त्रिराशिभिर्दीव्यन्ति जिगीषन्तीति त्रैराशिकाः। उत्त० ३ अ०। जीवाजीवनोजीवराशित्रयवादिरोहगुप्तमतानुसारिषु षष्ठेषु निह्नवेषु, आ० क०।

अथ षष्ठवक्तव्यतामभिधित्सुराह-

पंच सया चोयाला, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
पुरिमंतरंजियाए तेरासियदिट्ठि उप्पन्ना ॥२४५१॥

[illegible] पञ्चवर्षशतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि तदा सिद्धिं गतस्य श्रीमन्महावीरस्य, अत्रान्तरे अन्तरञ्जिकायां पुर्यां त्रैराशिकदृष्टिरुत्पन्नेति ॥ २४५१ ॥

कथमुत्पन्ना ?, इत्याह-

पुरिमंतरंजि भुयगिह, बलसिरि सिरिगुत्त रोहगुत्ते य।
परिवायपोट्टसाले, घोसण पडिसेहणा वाए ॥ २४५२ ॥

संग्रहगाथेयम्। अस्याश्च कथानकादर्थोऽवसेयः। तच्चेदम्-अन्तरञ्जिका नाम नगरी, तस्याश्च बहिर्भूतगृहं नाम चैत्यम्। तत्र च श्रीगुप्तनामाऽऽचार्यः स्थितः। तस्यां च नगर्यां बलश्रीर्नाम राजा। श्रीगुप्ताऽऽचार्याणां च रोहगुप्तो नाम शिष्योऽन्यत्र ग्रामे स्थित आसीत्। अतोऽसौ गुरुवन्दनार्थमन्तरञ्जिकायामागतः। तत्र चैकः परिव्राजको लोहपट्टकेनोदरं बद्धा जम्बूवृक्षशाखया च हस्ते गृहीतया नगर्यां भ्राम्यति। किमेतदिति च लोकेन पृष्टो वदति-मदीयोदरमतीव ज्ञानेन पूरितत्वात् स्फुटतीति लोहपट्टेन बद्धम्। जम्बूद्वीपमध्ये च मम प्रतिवादी नास्ति इत्यस्यार्थस्य सूचनार्थं जम्बूवृक्षशाखा हस्ते गृहीता। ततस्तेन परिव्राजकेन सर्वस्यामपि नगर्यां "शून्याः सर्वेऽपि परप्रवादाः, नास्ति कश्चिन्मम प्रतिवादी।" इत्युद्घोषणापूर्वकः पटहको दापितः। लोहपट्टकरूपोट्टजम्बूवृक्षशाखायोगाच्च तस्य लोके "पोट्टशाल" इति नाम जातम्। ततस्तत्पटहको नगर्यां प्रविशता रोहगुप्तेन दृष्टः, तदुद्घोषणा च श्रुता। ततोऽहं तेन सार्द्धं वादं दास्यामीत्यभिधाय गुरूनपृष्ट्वाऽपि निषिद्धस्तेनाऽसौ पटहकः। गुरुसमीपं चाऽऽगत्याऽऽलोचयता कथितोऽयं व्यतिकरस्तेषाम्। आचार्यैः प्रोक्तम्-न युक्तं त्वयाऽनुष्ठितम्, स हि परिव्राजको वादे निर्जितोऽपि विद्यास्वतिकुशलत्वात्पश्चादुपतिष्ठते, तस्य चैताः सप्त विद्या वादे स्फुरन्ति ॥२४५२॥

काः पुनस्ताः ?, इत्याह-

विच्छु य सप्पे मूसग, मिगी वराही य काग पोयाई।
एयाहिं विज्जाहिं, सो य परिव्वायगो कुसलो ॥२४५३॥

(विच्छु य त्ति) वृश्चिकप्रधाना विद्या गृह्यते। (सप्पे त्ति) सर्पप्रधाना विद्या (मूसग त्ति) मूषकप्रधाना। तथा-मृगी नाम विद्या मृगीरूपेणोपघातकारिणी। एवं वराही च। (काग पोयाइ त्ति) काकविद्या, पोताकीविद्या च। पोताक्यः शकुनिकाः। एतासु विद्यासु, एताभिर्वा विद्याभिः स परिव्राजकः कुशल इति। ततो रोहगुप्तेनोक्तम्-यद्येवं, तत्किमिदानीं नष्टुं क्वापि शक्यते?, निषिद्धस्तत्पटहकः, यद्भवति तद्भवतु। ततः सूरिभिः प्रोक्तम्-यद्येवं, तर्हि पठितसिद्धा एवैताः सप्त तत्प्रतिपक्षविद्या गृहाण ॥२४५४॥

काः पुनस्ताः ?, इत्याह-

मोरी नउलि बिराली, वग्घी सीही य उलुगि ओलावी।
एयाओ विज्जाओ, गिण्ह परिव्वायमहणीओ ॥२४५४॥

वृश्चिकानां प्रतिपक्षभूता मयूरी विद्या, सर्पाणां तु प्रतिपक्षभूता नकुली। मूषकाणां बिडाली। एवं व्याघ्री, सिंही, उलूकी। (ओलावि त्ति) पोताकीप्रतिपक्षभूता उल्लावकप्रधाना विद्येत्यर्थः। एताः परिव्राजकमथनीर्विद्या गृहाण त्वम्, इति सूरिणा प्रोक्ते गृह्णाति रोहगुप्तः। तथा रजोहरणं चाभिमन्त्र्य सूरिभिस्तस्य समर्पितम्। अभिहितश्च यद्यपि [illegible] किञ्चित्प्रणीत[illegible] तदा तन्निवारणार्थमेतत्स्तकस्योपरि भ्रमणीयम्। ततश्चेन्द्राणामप्यजेयो भविष्यसि, किमुत मनुष्यमात्रस्य तस्येति?। ततश्च गतो राजसभां रोहगुप्तः। प्रोक्तं च तत्र तेन-किमेष द्रमकः परिव्राजको जानाति?, करोत्वयमेव यदृच्छया पूर्वपक्षम्, येनाहं निराकरोमि। ततः परिव्राजकेन चिन्तितम्-निपुणाः खल्वेते भवन्ति, तदमीषामेव सम्मतं पक्षं परिगृह्णामि, येन निराकर्त्तुं न शक्नोति। विचिन्त्य चेदमभ्यधायि-इह जीवाश्चाजीवाश्चेति द्वावेव राशी, तथैवोपलभ्यमानत्वात्, शुभाशुभाऽऽदिराशिद्वयवत् इत्यादि। ततो रोहगुप्तेन तद्बुद्धिपरिभवनार्थं स्वसम्मतोऽप्ययं पक्षो निराकृतः। कथम्?, इति चेत्? उच्यते-असिद्धोऽयं हेतुः, अन्यथोपलम्भात्, जीवा अजीवा नोजीवाश्चेति राशित्रयदर्शनात्। तत्र जीवा नारकतिर्यगादयः, अजीवास्तु परमाणुघटाऽऽदयः, नोजीवास्तु गृहकोकिलापुच्छाऽऽदयः। ततो जीवाऽजीवनोजीवरूपास्त्रयो राशयः, तथैवोपलभ्यमानत्वात्, अधममध्यमोत्तमाऽऽदिराशित्रयवत्, इत्यादियुक्तिभिः निष्प्रश्नव्याकरणः कृत्वा जितः परिव्राजको रोहगुप्तेन। ततोऽसौ क्रुद्धो वृश्चिकविद्यया रोहगुप्तविनाशार्थं वृश्चिकान् मुञ्चति। ततो रोहगुप्तस्तत्प्रतिपक्षभूतमयूरीविद्यया मयूरान्मुञ्चति। तैश्च वृश्चिकेषु हतेषु परिव्राजकः सर्पान्मुञ्चति। इतरः तत्प्रतिघातार्थं नकुलानवसृजति। एवं मूषिकाणां बिडालान्, मृगीणां व्याघ्रान्, शूकराणां सिंहान्, काकानामुलूकान्, पोतकी०

मामुलावकात् मुञ्चति । ततो गर्दभी मुक्ता, तां चाऽऽगच्छन्तीं दृष्ट्वा रोहगुप्तेन रजोहरणं मस्तकस्योपरि भ्रमयित्वा तेनैव रजोहरणेन ताडिता सती परिव्राजकस्योपरि मूत्रपुरीषोत्सर्गं कृत्वा गताऽसौ । ततः सत्रापांतना, सभ्यैः, समस्तलोकेन च निन्द्यमानो नगराान्निर्वासितः परिव्राजकः ॥ २४५४ ॥

इतः परं यद्मूलसूत्रभाष्यकारः प्राऽऽह–

जेऊण पोट्टसालं, छलूओ भणइ गुरुमूलमागंतुं ।
वायम्मि मए विजिओ, सुणह जहा सो महामज्झे ।२४५५।
रासिदुगगहियपक्खो, तइयं नोजीवरासिमादाय ।
गिहकोकिलाइपुच्छ–च्छेओदाहरणओऽभिहिए ।२४५६।
भणइ गुरू सुट्ठु कयं, किं पुण जेऊण कीस नाभिहियं ? ।
अयमवसिद्धंतो णे, तइओ नोजीवरासि त्ति ॥ २४५७ ॥
एवं गए वि गंतुं, परिसामज्झम्मि भणसु नायं णे ।
सिद्धंतो किं तु मए, बुद्धिं परिभूय सो समिओ ॥ २४५८ ॥
बहुसो स भण्णमाणो, गुरुणा पडिभणइ किमवसिद्धंतो ? ।
जइ नाम जीवदेसो, नोजीवो हुज्ज को दोसो ? ॥ २४५९ ॥

पोट्टशालं परिव्राजकं जित्वा गुरुचरणमूलमागत्य रोहगुप्तोऽपरनाम्ना तु षडुलूको भणति–स परिव्राजकाधमः समस्तनृपसभामध्ये यथा वादे मया विजितस्तथा शृणुत यूयम्, कथयामीति । तदेवाऽऽह–राशिद्वयगृहीतपक्षः स परिव्राजको मया वादे विजित इति प्राक्तनेन संबन्धः । किं कृत्वा ?, इत्याह–तृतीयं नोजीवराशिमादाय पक्षीकृत्य, कुतो दृष्टान्तादसौ पक्षीकृत्य ?, इत्याह–गृहकोकिलाऽऽदीनां पुच्छमेव छिन्नत्वाच्छेदः, तदुदाहरणतस्तद्दृष्टान्तादित्यर्थः । एवं रोहगुप्तेनाभिहिते गुरुर्भणति–सुष्ठु कृतं त्वया यदसौ जितः, किं तु तत्रोत्थितेन त्वया किमेतन्नाभिहितम् ? । किम् ?, इत्याह–तृतीयो नोजीवराशिरित्ययं (णे त्ति) नोऽस्माकमपसिद्धान्तः, जीवाजीवलक्षणराशिद्वयस्यैवाऽस्मत्सिद्धान्तेऽभिहितत्वादिति । तस्मादेवं गतेऽपि, एतावत्यपि गते इत्यर्थः, तत्र परिषन्मध्ये गत्वा भण प्रतिपादय, (नायं णे त्ति) नोऽस्माकं नायं सिद्धान्तः, किं तु स परिव्राजकस्तद्बुद्धिं परिभूय तिरस्कृत्य शमित उपशमं नीतो, दर्पं त्याजित इत्यर्थः । एवं बहुशोऽनेकधा गुरुणा भण्यमानः स रोहगुप्तः प्रतिभणति प्रत्युत्तरयति–आचार्य ! किमयमपसिद्धान्तः ?, यदि हि नोजीवलक्षणतृतीयराश्यभ्युपगमे कोऽपि दोषः स्यात्तदा स्यादयमपसिद्धान्तः, न चैतदस्ति । कुतः ?, इत्याह–यदि नाम गृहकोकिलापुच्छाऽऽदिजीवदेशो नोजीवो भवेन्नोजीवत्वेनाऽभ्युपगम्येत, तर्हि को दोषः स्यात् ?, न कमपि दोषमत्र पश्याम इत्यर्थः । ततः किमित्यपसिद्धान्तत्वे दोषपरिहारार्थं पुनर्मां तत्र प्रेषयसीति भावः ।

कस्मान्न दोषः ?, इत्याह–

जं देसनिसेहपरो, नोसद्दो जीवदव्वदेसो य ।
गिहकोइलाइपुच्छं, विलक्खणं तेण नोजीवो ॥२४६०॥

यद्यस्मान्नोजीव इत्यत्र नोशब्दो देशनिषेधपरो, न तु सर्वनिषेधपरः, नोजीवो जीवैकदेशो, न तु सर्वस्यापि जीवस्याऽभाव इत्यर्थः । भवत्वेवं देशनिषेधको नोशब्दः, परं गृहकोकिलाऽऽदिपुच्छं जीवदेशो न भविष्यतीत्याशङ्कयाऽऽह–जीवद्रव्यैकदेशश्च गृहकोकिलाऽऽदिपुच्छम्,आदिशब्दाच्छिन्नपुरुषाऽऽदिहस्ताऽऽदयः परिगृह्यन्ते । कथम्भूतं तद् गृहकोकिलाऽऽदिपुच्छम् ?, इत्याह–विलक्षणम्, जीवाऽजीवेभ्य इति गम्यते । तथाहि–न तावद् गृहकोकिलाऽऽदिपुच्छं जीवत्वेन व्यपदेष्टुं शक्यते, तत्कायैकदेशत्वेन तद्विलक्षणत्वात् । नाप्यजीव इत्यभिधातुं पार्यते, स्फुरणाऽऽदिभिस्तेभ्योऽपि विलक्षणत्वात् । यनैवं, तेन कारणेन पारिशेष्यान्नोजीव एतदुच्यत इति ॥ २४६० ॥

सिद्धान्तेऽपि धर्मास्तिकायाऽऽदिदेशवचनादुक्त एव नोजीवः । कथम् ?, इत्याह–

धम्माइदसविहाऽऽदे–सओ य देसो वि जं पिहं वत्थुं ।
अपिहुब्भूओ किं पुण, छिन्नं गिहकोलियापुच्छं ? ।२४६१।
इच्छइ जीवपएसं, नोजीवं जं च समभिरूढो वि ।
तेणऽत्थि तओ समए, घडदेसो नोघडो जह वा ॥२४६२॥

चकारस्य भिन्नक्रमत्वाद्यस्मात्कारणाद्देशोऽपीत्यपिशब्दस्यापि भिन्नक्रमत्वाद्धर्मास्तिकायाऽऽदिदेशिनः (अपिहुब्भूओ त्ति) अपृथग्भूतोऽप्येकत्वमापन्नोऽपि देशः (पिहुं वत्थु त्ति) सिद्धान्ते पृथग् वस्तु भणित इति शेषः, पृथग्वस्तुत्वेन निर्दिष्ट इत्यर्थः । किं पुनर्यच्छिन्नमात्मनः पृथग्भूतं कृतं,तद् गृहकोकिलाऽऽदिपुच्छं पृथग् वस्तु न भविष्यति ?,भविष्यत्येवेति । तच्च जीवच्छिन्नत्वेन पृथग्भूतत्वात्, स्फुरणाऽऽदिना चाजीवविलक्षणत्वात्सामर्थ्यान्नोजीव एवेति भावः । कुतः पुनर्वचनाऽऽदेशात्सिद्धान्ते पृथग् वस्तु भणितः ?, इत्याह–(धम्माइदसविहाऽऽदेसउ त्ति) धर्मास्तिकायाऽऽदीनाममूर्त्ताजीवानां दशविधाऽऽदेशतो दशविधत्वभणनात् । एतदुक्तं भवति–अजीवप्ररूपणां कुर्वद्भिरुक्तं परममुनिभिः–"अजीवा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–रूविअजीवा य, अरूविअजीवा य । रूविअजीवा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा–खंधा, देसा, पएसा, परमाणुपोग्गला । अरूविअजीवा दसविहा पण्णत्ता । तं जहा–धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पएसे,एवं अधम्मत्थिकाए वि, आगासत्थिकाए वि, अद्धासमए ।" तदेवं धर्मास्तिकायाऽऽदीनां दशविधत्वभणनेन तद्देशस्य पृथग्वस्तुत्वमुक्तमेव, अन्यथा दशविधत्वानुपपत्तेः । यदा च धर्मास्तिकायाऽऽदीनां देशस्तेभ्योऽपृथग्भूतोऽपि पृथग्वस्तूच्यते, तदा गृहकोकिलापुच्छाऽऽदिकं छिन्नत्वेन जीवात् पृथग्भूतं सुतरां वस्तु भवति । तच्च जीवाजीवविलक्षणत्वान्नोजीव इत्युक्तमेवेति । अपि च–यद्यस्मात्कारणाज्जीवप्रदेशं नोजीवं समभिरूढनयोऽपीच्छति, तेन तस्मात्तकोऽसौ नोजीवः समये सिद्धान्तेऽप्यस्ति, न पुनर्मयैव केवलेनोच्यते, तथा चानुयोगद्वारेषु प्रमाणद्वारान्तर्गत नयप्रमाणं विचारयता प्रोक्तम्–"समभिरूढो सद्दनयं भणइ–जइ कम्मधारएणं भणासि तो एवं भणाहि–जीवे य से पएसे य, से पएसे नोजीवे" इति । तदनेन प्रदेशलक्षणो जीवैकदेशो नोजीव उक्तः, यथा घटैकदेशो नोघट इति । तस्मादस्ति नोजीवलक्षणस्तृतीयराशिः, युक्त्याऽऽगमसिद्धत्वात्, जीवाजीवाऽऽदितत्त्ववदिति ॥ २४६१ ॥ २४६२ ॥

तदेवं षडुलूकेनोक्त आचार्यः प्रतिविधानमाह–

जइ ते सुयं पमाणं, तो रासी तेसु तेसु सुत्तेसु ।

दो जीवाजीवाणं, न सुए नोजीवरासि त्ति ॥२४६३॥

" धम्माइदसविहाऽऽदेसओ य " इत्याद्युपन्यासात्सूत्रप्रामाण्यवादी किल लक्ष्यते भवान्, तद्यदि सत्यमेव तव सूत्रं प्रमाणम्, ततस्तर्हि तेषु तेषु सूत्रेषु जीवाजीवरूपौ द्वावेव राशी प्रोक्तौ। तथा च स्थानाङ्गसूत्रम्-" दुवे रासी पन्नत्ता। तं जहा-जीवा चेव, अजीवा चेव। " तथाऽनुयोगद्वारसूत्रेऽप्युक्तम्-"कइविहा णं भंते ! दव्वा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-जीवदव्वा य, अजीवदव्वा य। " तथोत्तराध्ययनसूत्रे चाभिहितम्-" जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए। " इत्याद्यन्येष्वपि सूत्रेषु द्रष्टव्यम्। नोजीवराशिस्तु तृतीयः श्रुते न क्वचिदप्यभिहितः, तत्कथं तत्सत्त्वप्ररूपणा न श्रुताऽऽशातनेति ?। न च धर्म्मास्तिकायाऽऽदीनां देशस्तेभ्यो भिन्नः कोऽप्यस्ति, विवक्षामात्रेणैव तस्य भिन्नवस्तुत्वकल्पनात् ॥२४६३॥

एवं पुच्छाऽऽदिकमपि गृहकोकिलाऽऽदिजीवेभ्योऽभिन्नमेव, तत्संबद्धत्वाद्, अतो जीव एव तत्, न तु नोजीव इति दर्शयन्नाह-

गिहकोलियाइपुच्छे, छिन्नम्मि तदंतरालसंबंधो ।

मुत्तेऽभिहिओ सुहुमा-ऽमुत्त तणओ तदग्गहणं ॥२४६४॥

गृहकोकिलाऽऽदीनां पुच्छाऽऽदिकेऽवयवे छुरिकाऽऽदिना छिन्नेऽपि तयोर्गृहकोकिलापुच्छाऽऽदिवस्तुनोर्यदन्तराले विचाले तत्पर्यन्ते जीवप्रदेशानां संबन्धः संयोगस्तदन्तरालसंबन्धः सूत्रेऽभिहितः श्रीरीशिकाः। म० । भगवतीसूत्रम्-" अह भंते ! कुम्मा कुम्मावलिया, गोहे गोहावलिया, मणुस्से मणुस्सावलिया, पसुरासि इति ... श्रैराशिकाः। उत्त० ३ अ० । [illegible] रोहगुप्तमतानुसारिषु षट्सु निह्नवेऽहिसात्रालिया, पयासि णं दुहा

अथ षष्ठवक्तव्यतामभिधित्सुः [illegible] णं जे अंतरा, ते वि णं [illegible] तथा च [illegible] गयस्स ! से णं भंते ! अंतरे हत्थेण वा, पाएण वा, अंगुलियाए वा, कट्ठेण वा, किलिंचेण वा, मणुस्सावलिया, महिसे [illegible] वा, तिहा वा, अमंमेज्जहा वा [illegible] [illegible] णं वा, तेहिं जीवपएसेहिं फुडा ?। हंता फुडा । पुरिसे णं भंते ! अंतरं हत्थेण वा, पाएण वा, अंगुलियाए वा, कट्ठेण वा [illegible] आमुसमाणे वा, संमुसमाणे वा, आलिहमाणे वा [illegible] णे वा, अन्नयरेण वा तिक्खेणं सत्थजाएणं आच्छिंदमाणे वा, विच्छिंदमाणे वा, अगणिकाएणं समोडहमाणे तेसिं जीवपएसाणं किंचि आबाहं वा विबाहं वा उप्पाएइ, छविच्छेयं वा करेइ ?। नो इणट्ठे समट्ठे। नो खलु तत्थ सत्थं संकमइ।" इति। यदि नामैवं सूत्रे जीवप्रदेशानां तदन्तरालसंबन्धोऽभिहितः, तर्हि तदन्तराले ते जीवप्रदेशाः किमिति नोपलक्ष्यन्ते ?, इत्याह-(सुहुमेत्यादि) कार्मणशरीरस्य सूक्ष्मत्वात्, जीवप्रदेशानां चामूर्त्तत्वादन्तराले तेषां जीवप्रदेशानां सतामप्यग्रहणं तदग्रहणमिति ॥ २४६४ ॥

ननु यथा देहे पुच्छाऽऽदौ च स्फुरणाऽऽदिभिर्लिङ्गैर्जीवप्रदेशा गृह्यन्ते, तथा सन्तोऽप्यन्तराले किमिति ते न गृह्यन्ते ?, इत्याह-

गज्झा मुत्तिगयाओ, नाऽऽगासे जह पईवरस्सीओ ।

तह जीवलक्खणाइं, देहे न तदंतरालम्मि ॥२४६५॥

इह भूकुड्यवरण्डकान्धकाराऽऽदीनि वस्तून्येव मूर्त्तियोगान्मूर्त्तिरुच्यन्ते। ततश्च यथा मूर्त्तिगता यथोक्तवस्तुगता एवेत्यर्थः, प्रदीपरश्मयो ग्राह्या भवन्ति, न तु केवल आकाशे प्रसृताः, तथा तेनैव प्रकारेण जीवो लक्ष्यते यैस्तानि जीवलक्षणानि भाषणोच्छ्वासनिःश्वासधावनवल्गनस्फुरणाऽऽदीनि देह एव गृह्यन्ते, न तु तदन्तराल इति ॥ २४६५ ॥

यतश्चैवं ततः किम् ?, इत्याह-

देहरहियं न गिण्हइ, निरतिसओ नातिसुहुमदेहं व ।

न य से होइ विबाहा, जीवस्स भवंतराले व्व ॥२४६६॥

देहाभावे जीवलक्षणानामभावाद्देहरहितं मुक्ताऽऽत्मानं विग्रहगत्याऽऽयान्तरालवर्त्तिनं वा जीवं निरतिशयः केवलज्ञानाऽऽद्यतिशयरहितो जन्तुर्न गृह्णाति। तथा-अतिसूक्ष्मो देहो यस्य तमतिसूक्ष्मदेहं निगोदाऽऽदिजीवं कार्मणकाययोगिनं वा जन्तुं नाऽसौ गृह्णाति। न च 'से' तस्य जीवस्यान्तरालवर्त्तिषु प्रदेशेष्वग्निजलाऽऽदिभिर्वा विबाधा पीडा काचिद्भवति, भवान्तराले कार्मणशरीरवर्त्तिजीवप्रदेशवदिति ॥२४६६॥

ननु गृहकोकिलाऽऽदिजीवस्य छिन्नत्वात्पुच्छाऽऽदिकं खण्डं नष्टं, ततश्च तत्तस्मात्पृथग्भूतं नोजीवः कस्मान्नोच्यते ?, यथा घटाच्छिन्नत्वात्पृथग्भूतं स्थापितं घटखण्डं घटैकदेशत्वान्नो-घटः ?, तदयुक्तम्। कुतः ?, इत्याह-

दव्वामुत्तत्ताऽकय-भावादविकारदरिसणाओ य ।

अविणासकारणाहि य, नभसो व्व न खंडसो नासो ॥२४६७॥

खण्डशो जीवस्य नाशो न भवतीति प्रतिज्ञा, अमूर्त्तद्रव्यत्वाद्, अकृतकभावात्-अकृतकत्वादित्यर्थः। तथा-घटाऽऽदेः कपालाऽऽदिवद्विकारदर्शनाभावाद्, अविनाशकारणत्वाच्च-विनाशकारणानामभिघाताऽऽदीनामभावादित्यर्थः। अत्रैते हेतवः सर्वेषु नभस इव इति दृष्टान्त इति ॥ २४६७ ॥

खण्डशो नाशे च जीवस्य दोषानाह-

नासे य सव्वनासो, जीवस्स नासो य जिणमयच्चाओ ।

तत्तो य अणिमोक्खो, दिक्खावेफल्लदोसा य ॥२४६८॥

शस्त्रच्छेदाऽऽदिना जीवप्रदेशस्य नाशे चेष्यमाणे क्रमशः सर्वनाशोऽपि कदाचित्तस्य भवेत्। तथाहि-यत् [illegible] इयति तस्य सर्वनाशो दृष्टः, यथा घटस्येति ?। ततश्च [illegible] यते जीवः, ततः सर्वनाशस्तस्य प्राप्तः, तेन किमपि [illegible] सूयते ?, इति चेत्। तदयुक्तम् [illegible] [illegible] [illegible] ऽऽदेः, तथा [illegible] करोमि। ततः परिव्राजकेन चिन्तितम् [illegible] । कुतः ?, इत्याह-([illegible] [illegible] यत्यादि) स च जीवस्य सर्वनाशो न युक्तः, यस्माज्जिनमतत्यागहेतुत्वाज्जिनमतत्यागोऽसौ। जिनमते हि जीवस्य सतः सर्वथा विनाशोऽसतश्च सर्वथोत्पादः सर्वत्र निषिद्ध एव। यदाह-" जीवा णं भंते ! किं वड्ढंति, हायंति, अवट्ठिया ?। गोयमा ! नो वड्ढंति, नो हायंति, अवट्ठिया।" इत्यादि। अतो जीवस्य सर्वथा नाशेऽभ्युपगम्यमाने जिनमतत्याग एव स्यात्। तथा ततस्तत्सर्वनाशादनिर्मोक्षो मोक्षाभावः प्राप्नोति, मुमुक्षोः सर्वथा नाशात्। मोक्षाभावे च दीक्षाऽऽदिकष्टानुष्ठानवैफल्यं, क्रमेण च सर्वेषामपि जीवानां सर्वनाशे संसारस्य शून्यताप्राप्तिः, कृतस्य च शुभाशुभकर्मणो जीवस्य सर्वनाश एवमेव नाशात्कृतनाशप्रसङ्ग इत्यादि वाच्यमिति न जीवस्य खण्डशो नाशः। गृहकोकिलाऽऽदीनां पुच्छाऽऽदिखण्डस्य पृथग्भूतत्वेन प्रत्यक्षत एव नाशो दृश्यत इति चेत्। तदयुक्तम्। औदारिकशरीरस्यैव हि तत्खण्डमध्यक्षतो वीक्ष्यते, न तु जीवस्य, तस्यामूर्त्तत्वेन केनापि स्वरूपेणानुपलक्ष्यत्वादिति ।

अथात्रैव परोऽभिप्रायमाशङ्क्य दूषयति-

अह मंओ इव संघा-यभेयधम्मा स तो वि सव्वंसि ।

अवरोप्परसंकरओ, सुहाइगुणसंकरो पत्तो ॥ २४६९ ॥

अथ पुद्गलस्कन्ध इव सावयवत्वात्स जीवः सङ्घातभेदधर्माऽभ्युपगम्यते, यथा कश्चिद्विवक्षितपुद्गलस्कन्धेऽन्यस्कन्धगतं खण्डं समागत्य संहन्यते संबध्यते, तद्गतं च खण्डं भित्त्वाऽन्यत्र गच्छति, एवं जीवस्याप्यन्यजीवखण्डं संहन्यते, तद्गतं तु भिद्यत इत्येवं सङ्घातभेदधर्मा जीव इष्यत इति । अतः खण्डशो नाशेऽपि संघातस्यापि सद्भावान्न तस्य सर्वनाश इति परस्याभिप्रायः । अत्र दूषणमाह-(तो वि सव्वेसिं इत्यादि) एवमपि च सति सर्वेषामपि सर्वलोकवर्तिनां जीवानां परस्परसङ्करतः सुखाऽऽदिगुणसङ्करः प्राप्तः । इदमुक्तं भवति-यदेकं जीवसंबन्धि शुभाशुभकर्मान्वितं खण्डमन्यजीवस्य संबध्यते, अन्यसंबन्धि तु खण्डं तस्य संबध्यते, तदा तत्सुखाऽऽदयोऽन्यस्य प्रसजन्ति, अन्यसुखाऽऽदयस्तु तस्य, इत्येवं सर्वजीवानां परस्परं सुखाऽऽदिगुणसाङ्कर्यं स्यात् । तथैकस्य कृतनाशः, अन्यस्याकृताभ्यागम इत्यादि वाच्यमिति ॥ २४६९ ॥

अन्यमपि पराभिप्रायमाशङ्क्य दूषणान्तरमाह-

अह अविमुक्को वि तओ, नोजीवो तो पइप्पएसं ते ।
जीवम्मि असंखेज्जा, नोजीवा नत्थि जीवो ते ॥ २४७० ॥

अथैतद्दोषभयान्न जीवस्य छेदोऽभ्युपगम्यते, किं त्वविमुक्तोऽप्यच्छिन्नोऽपि जीवसंबद्धोऽपि तकोऽसौ जीवदेशो नोजीवत्वेनेष्यते, यथा धर्मास्तिकायाऽऽद्येकदेशो नोधर्मास्तिकायाऽऽदिः; ततस्तर्हि प्रतिप्रदेशं ते तव नोजीवसद्भावादेकैकस्मिञ्जीवेऽसंख्येया नोजीवाः प्राप्ताः, ततस्ते तव नास्ति कोऽपि जीवसंभवः, सर्वेषामपि जीवानां प्रत्येकमसंख्येयनोजीवत्वप्राप्तेरिति ॥ २४७० ॥

दूषणान्तरमपि प्रसञ्जयन्नाह--

एवमजीवा वि पइ-प्पएसभेएणं नोअजीव त्ति ।
नत्थि अजीवा केई, कयरे ते तिन्नि रासि त्ति ? ॥ २४७१ ॥

एवमजीवा अपि धर्मास्तिकायाऽऽदयो द्व्यणुकस्कन्धाऽऽदयो घटाऽऽदयश्च प्रतिप्रदेशभेदतोऽजीवैकदेशत्वाद् नोऽजीवाः, घटैकदेशतोऽघटवदिति, अतोऽजीवाः केचनाऽपि न सन्ति, परमाणूनामपि पुद्गलास्तिकायलक्षणाजीवैकदेशत्वेन नोऽजीवत्वात्सर्वत्र नोअजीवानामेवोपपद्यमानत्वात् । ततश्च कतरे ते त्रयो राशयः-त्वया ये राजसभायां प्रतिज्ञाताः, उक्तन्यायेन नोजीवनोअजीवलक्षणराशिद्वयस्यैव सद्भावात् , इति । तस्माद् बहुदोषप्रसङ्गान्न जीवच्छिद्यत इति स्थितम् ॥ २४७१ ॥

छिद्यतां वाऽसौ तथापि न नोजीवसिद्धिरिति दर्शयन्नाह-

छिन्नो व होउ जीवो, कह सो तल्लक्खणो वि नोजीवो ? ।
अह एवमजीवस्स वि, देसो तो नोअजीवो त्ति ॥ २४७२ ॥
एवं पि रासओ ते, न तिन्नि चत्तारि संपसज्जंति ।
जीवा तहा अजीवा, नोजीवा नोअजीवा य ॥ २४७३ ॥

पुच्छाऽऽद्यवयवच्छेदेन छिन्नोऽपि भवतु गृहकोकिलाऽऽदिजीवः, केवलं तस्य जीवस्य लक्षणानि स्फुरणाऽऽदीनि यस्याऽसौ तल्लक्षणोऽपि सन्नसौ पुच्छाऽऽदिदेशः कथं केन हेतुना नोजीवो भण्यते ? । इदमुक्तं भवति-सम्पूर्णोऽपि गृहकोकिलाजीवः स्फुरणाऽऽदिलक्षणैरेव जीवो भण्यते, स्फुरणाऽऽदीनि च लक्षणानि छिन्ने तदवयवेऽपि पुच्छाऽऽदिके दृश्यन्ते, अतस्तल्लक्षणयुक्तोऽप्यसौ किमिति जीवो न भण्यते, येन नोजीवकल्पनाऽत्र विधीयते ?, इति । (अह एवमिति) अथैवं जीवलक्षणैः सद्भावेऽपि पुच्छाऽऽदिकस्तदवयवो नोजीव एवेष्यते, न पुनः स्वाग्रहस्त्यज्यत इत्यर्थः । अत्र सूरिराह- (तो त्ति) ततस्तर्हि अजीवस्यापि घटाऽऽदेर्देशो नोअजीवः प्राप्नोति, जीवैकदेशनोजीववदिति । अस्त्वेवं, न किञ्चिद् मम विनश्यतीति चेत् । नैवम् । कुतः ?, इत्याह--(एवं पीत्यादि) एवमप्यभ्युपगम्यमाने ये भवता त्रय एव राशय इष्यन्ते, ते न घटन्ते, किं तु चत्वारो राशयः संप्रसजन्ति । तद्यथा--जीवाः, तथा अजीवाः, नोजीवाः, नोअजीवाश्चेति ॥ २४७२ ॥ २४७३ ॥

अत्र यः परस्य परिहारस्तस्य स्वपक्षेऽपि समानतां दिदर्शयिषुः सूरिराह-

अह ते अजीवदेसो, अजीवसामण्णजाइलिंगो त्ति ।
भिन्नो वि अजीवो च्चिय, न जीवदेसो वि किं जीवो ? ॥ २४७४ ॥

अथ ते तवाऽजीवस्य घटस्कन्धाऽऽदेर्देश एकदेशो भिन्नोऽपि स्कन्धात्पृथग्भूतोऽप्यजीव एव, न तु नो अजीवः । कुतः ?, इत्याह-अजीवेन सामान्यं जातिलिङ्गं यस्यासावजीवसामान्यजातिलिङ्ग इति कृत्वा । तत्राजीवत्वं जातिः, पुंलिङ्गलक्षणं च लिङ्गम् । एतच्च द्वयमप्यजीवतद्देशयोः सामान्यमेव, ततस्तद्देशोऽप्यजीव एव । हन्त ! यद्येवं, तर्हि जीवदेशोऽपि किमिति जीवो नेष्यते, तस्याऽपि जीवेन समानजातिलिङ्गत्वादिति ॥ २४७४ ॥

गाथाचतुर्थपादोक्तमेवार्थं प्रमाणेन दृढयन्नाह-

छिन्नगिहकोलिया वि हु, जीवो तल्लक्खणेहिँ सयलो व्व ।
अह देसो त्ति न जीवो, अजीवदेसो त्ति नोऽजीवो ? ॥ २४७५ ॥

छिन्नगृहकोकिलाऽपि-छिन्नः पुच्छाऽऽदिको गृहकोकिलाऽऽदिजीवावयवोऽपीत्यर्थः । किम् ?, इत्याह-जीवः, इति प्रतिज्ञा । हेतुमाह-(तल्लक्खणेहिं ति) तल्लक्षणैर्हेतुभूतैः-स्फुरणाऽऽदितल्लक्षणयुक्तत्वादित्यर्थः । (सयलो व्व त्ति) यथा सकलः परिपूर्णोऽछिन्नो गृहकोकिलाऽऽदिर्जीव इत्यर्थः । एष दृष्टान्तः । अथ गृहकोकिलाऽऽदेर्जीवस्य पुच्छाऽऽदिकस्तदवयवो देश एवेति कृत्वा न जीव इष्यते, सम्पूर्णस्यैव जीवत्वात्, यद्येवमजीवस्यापि घटाऽऽदेर्देशो 'नो' नैवाऽजीवः प्राप्नोति, सम्पूर्णस्यैवाजीवत्वात् । ततोऽयमजीवदेशोऽपि नोअजीव एव स्यात्, न त्वजीवः । तथा च सति स एव राशिचतुष्टयप्रसङ्ग इति ॥ २४७५ ॥

यदुक्तम्-" इच्छइ जीवपएसं, नो जीवं जं च समभिरूढो वि ।" (२४६२) इत्यादि । तत्राऽऽह-

नोजीवं ति न जीवा-दन्नं देसमिह समभिरूढो वि ।
इच्छइ बेइ समासं, जेण समाणाहिगरणं सो ॥ २४७६ ॥
जीवे य से पएसे, जीवपएसे एव नोजीवो ।
इच्छइ न य जीवदलं, तुमं व गिहकोलियापुच्छं ॥ २४७७ ॥
न य रासिन्तयमिच्छइ, तुमं व नोजीवमिच्छमाणो वि ।
अन्नो वि नओ नेच्छइ, जीवाजीवाहियं किं पि ॥ २४७८ ॥

इह-"जीवे य से पएसे य से सपएसे नोजीवे ।" इत्यत्रानुयोगद्वारोक्तसूत्राऽऽलापके समभिरूढनयोऽपि नोजीवमिति नेच्छ-

सीति संबन्धः-नोजीवत्वेन नेच्छतीत्यर्थः । कं कर्मतापन्नम् ? । देशम् । कथंभूतम् ? । जीवादनन्यं जीवाव्यतिरिक्तं देशं नोजीवं समभिरूढनयोऽपि नेच्छति-किं त्वव्यतिरिक्तमेव तं तस्मादिच्छतीत्यर्थः । कुत एतद्विज्ञायते ?, इत्याह-येन कारणेन देशदेशिनोः कर्मधारयलक्षणं समानाधिकरणमेव समासमसौ समभिरूढनयो भवीत्यभ्युपगच्छति, न पुनर्नैगमाऽऽदिरिव तत्पुरुषमित्यर्थः । समानाधिकरणसमासश्च नीलोत्पलाऽऽदीनामिव विशेषणविशेष्याणामभेद एव भवति । अतो ज्ञायते-जीवादनन्यरूपमेव देशं नोजीवमिच्छति समभिरूढ इति, एवं कथं तृतीयराशिः स्याद् ?, इति । तदेव समभिरूढाभिमतं समानाधिकरणसमासं दर्शयति-(जीवे य से इत्यादि) जीवश्चासौ प्रदेशश्च जीवप्रदेशः, स एव (नोजीवो त्ति) स एव जीवादव्यतिरिक्तो जीवप्रदेशो नोजीव इत्येवमिच्छति समभिरूढनयः, न पुनर्जीवदलं जीवात्पृथग्भूतं तत्खण्डं नोजीवमिच्छत्यसौ, यथा गृहकोकिलाऽऽदीनां पुच्छाऽऽदिखण्डं नोजीवं त्वमिच्छसीति । अपि च-नोजीवमिच्छन्नपि समभिरूढनयो यथा त्वं तथा नोजीवराशेर्जीवाजीवराशिद्वयाद्भेदं नेच्छति, किं तु जीवाजीवलक्षणं राशिद्वयमेवेच्छति, नोजीवस्यात्रैवान्तर्भावात् । तथाऽन्योऽपि नैगमाऽऽदिर्नयो जीवाऽजीवेभ्योऽधिकं किमपि नोजीववस्तु नेच्छत्येव । ततस्त्वदीय एवायं नूतनः कश्चिन्मार्ग इति ।

तथाऽभ्युपगम्यापि सूरिराह-

इच्छउ व समभिरूढो, देसं नोजीवमेगनइयं तु ।
मिच्छत्तं सम्मत्तं, सव्वनयमयावरोहेणं ॥२४७९॥
तं जइ सव्वनयमयं, जिणमयमिच्छसि पवज्ज दो रासी ।
पयविप्पडिवत्तीए, वि मिच्छत्तं किं नु रासीसु? ॥२४८०॥

इच्छतु वा समभिरूढनयस्त्वमिव जीवादभिन्नमपि तद्देशं नोजीवं, तथाऽप्येकनयस्येदं मतमैकनयिकं, मिथ्यात्वं चैतच्छाक्यमतवत्, इत्यतो न तत्प्रमाणीकर्तव्यम् । सम्यक्त्वं तु सर्वनयमतावरोधेन समस्तनयमतसंग्रहेणैव भवति । ततो यदि सर्वनयमयं जिनमतं प्रमाणमिच्छसि, तदा प्रतिपद्यस्व जीवाजीवलक्षणौ द्वावेव राशी । अन्यथा-" पयमक्खरं पि एक्कं, पि जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं । सेसं रोयंतो वि हु, मिच्छद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ १ ॥" इत्यादिवचनात्पदविप्रतिपत्त्याऽपि मिथ्यात्वमापद्यते, किमुत सकलेषु राशिषु विप्रतिपत्त्या तत्र भविष्यति ?, इति ॥ २४८० ॥

तदेवं युक्तिभिर्गुरुणा संबोध्यमाने रोहगुप्तेऽग्रतः किं संजातम् ?, इत्याह-

एवं पि भण्णमाणो, न पवज्जइ सो जओ तओ गुरुणा ।
चिंतियमयं पणट्ठो, नासिहई मा बहुं लोगं ॥२४८१॥
तो णं रायसभाए, निग्गिण्हामि बहुलोगपच्चक्खं ।
बहुजणनाओऽवसिओ, होही अग्गेज्झपक्खो त्ति २४८२
तो बलसिरिनिवपुरओ, वायं नाओवणीयमग्गाणं ।
कुणमाणाणमईया, सीसाऽऽयरियाण छम्मासा ॥२४८३॥
एक्को वि नावसिज्जइ, जाहे तो भणइ नरवई नाऽहं ।
सत्तो सोउं मीयं-ति रज्जकज्जाणि मे भगवं ! ॥२४८४॥
गुरुणाऽभिहिओ भवओ, सुणावणत्थमियमेत्तियं जणियं ।
जइ सि न सत्तो सोउं, तो निग्गिण्हामि णं कल्लं ॥२४८५॥

प्रकटार्था एवैताः, नवरम्-(बहुजणनाओऽवसिओ त्ति) बहुजनस्य ज्ञातो विदितोऽवसितो मया जितः सन्नग्राह्यवचनः सर्वस्याऽपि भविष्यति । (तो बलसिरिनिवपुरओ त्ति) ततो बलश्रीनाम्नो राज्ञः पुरत इत्यर्थः । (नाओवणीयमग्गाणं ति) नीयते संवित्ति प्राप्यते वस्त्वनेनेति न्यायः प्रस्तुतार्थसाधकं प्रमाणं, येनोपन्यस्तेन सतोपनीतो ढौकितः प्रसङ्गनाऽऽगतः सकलस्याऽपि तर्कस्य मार्गो येषां ते तथा, तेषां न्यायोपनीतमार्गाणां रोहगुप्तश्रीगुप्तसूरीणामिति ।

ततो द्वितीयदिने किमभूदित्याह-

बीयदिणे बेइ गुरू, नरिंद ! जं मेइणीए सब्भूयं ।
तं कुत्तियावणे स-व्वमत्थि सव्वप्पतीयमियं ॥२४८६॥
तं कुत्तियावणसुरो, नोजीवं देइ जइ न सो नत्थि ।
अह भणइ नत्थि तो न-त्थि किं व हेउप्पबंधेणं २४८७
तं मग्गिज्जउ मुल्ले-ण सव्ववत्थूणि किं त्थ कालेणं ।
इय होउ त्ति पवन्ने, नरिंदपइवाइपरिसाहिं ॥ २४८८ ॥
सिरिगुत्तेणं छलुगो, छम्मासा विकड्ढिऊण वाए जिओ ।
आहरणकुत्तियावण, चोयालसएण पुच्छाणं ॥२४८९॥

द्वितीयदिने ब्रवीति गुरुः श्रीगुप्तसूरिः-नरेन्द्र ! पृथ्वीपते ! इह मेदिन्यां पृथिव्यां यत्किमपि सद्भूतं विद्यमानं वस्तु तत्सर्वमपि कुत्रिकाऽऽपणेऽस्तीति सर्वजनस्य भवतां च प्रतीतमेवेदम् । तत्र कूनां स्वर्गपातालमर्त्यभूमीनां त्रिकं कुत्रिकम्; तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति कृत्वा, तत्स्थलोका अपि कुत्रिकमुच्यते, कुत्रिकमापणयति व्यवहरति यत्र हट्टेऽसौ कुत्रिकाऽऽपणः । अथवा-धातुजीवमूललक्षणेभ्यस्त्रिभ्यो जातं त्रिजं, सर्वमपि वस्त्वित्यर्थः । कौ पृथिव्यां त्रिजमापणयति व्यवहरति यत्र हट्टेऽसौ कुत्रिजाऽऽपणः, अस्मिंश्च कुत्रिकाऽऽपणे वणिजः कस्याऽपि मन्त्राऽऽराधितः सिद्धो व्यन्तरसुरः क्रायकजनसमीहितं सर्वमपि वस्तु कुतोऽप्यानीय संपादयति । तन्मूल्यद्रव्यं तु वणिगेव गृह्णाति । अन्ये तु वदन्ति-वणिग्रहिताः सुराधिष्ठिता एव ते आपणा भवन्ति । ततो मूल्यद्रव्यमपि स एव व्यन्तरसुरः स्वीकरोति । एते च कुत्रिकाऽऽपणाः प्रोतियोतचण्डप्रद्योतनृपकाले उज्जयिन्यादिनगराऽऽदिस्थानेषु काऽपि कियन्तोऽप्यासन्नित्यागमेऽभिहितम् । ततस्तस्मात् कुत्रिकाऽऽपणसुरो यदि मूल्येन याचितः सन् नोजीवं जीवाजीवव्यतिरिक्तं वस्तुरूपं कमपि ददाति, तदाऽसौ न नास्ति, अपि तु विद्यमानमस्त्येव । अथायमेव वदति-नास्ति तद्व्यतिरिक्तः कोऽपि नोजीवः, तदा नास्त्येवाऽसौ, किं तदस्तित्वसाधनाय युष्मद्राज्यप्रयोजनक्षतिकारिणा कण्ठशोषफलेन हेतुप्रबन्धोपन्यासेन ?, इति । तत्तस्माद् याच्यन्तां मूल्येन सर्ववस्तूनि कुत्रिकाऽऽपणसुरः, किमत्र कालेन कालविलम्बेन ?, इत्यर्थः । एवं गुरुभिरुक्ते बलश्रीनरेन्द्रेण, प्रतिवादिना रोहगुप्तेन, सत्यपर्षदा च युक्तियुक्तत्वादेवं भवतु इति प्रतिपन्ने श्रीगुप्ताऽऽचार्येण षडुलूको रोहगुप्तः पूर्वं षण्मासान्विकृष्यातिबाह्य वादे जितो निगृहीतः । केन ?, इत्याह-कुत्रिकाऽऽपणं यानि वक्ष्यमाणभूजलज्वलनाऽऽद्याहरणानि उदाहरणानि तद्विषयपृच्छानां चतुश्चत्वारिंशच्छतेन, प्राकृतशैल्या छन्दोवशाऽऽनुलोम्यादार्षत्वादत्र व्यस्ययेन निर्देश इति ॥ २४८६ ॥ २४८७ ॥ २४८८ ॥ २४८९ ॥

कथं पुनरिदं चतुश्चत्वारिंशं शतं पृच्छानां भवतीत्याह-

भूजलजलणानिलनह-कालदिसाऽऽया मणो य दव्वाइं ।
नवंति नवेयाइं, सत्तरस गुणा इमे अन्ने ॥ २४९० ॥
रूवरस-गंधफासा, संखा परिमाणमहमह पुहुत्तं च ।
संजोगविभागपरा-परत्तबुद्धी सुहं दुक्खं ॥ २४९१ ॥
इच्छा दोसपयत्ता, एत्तो कम्मं तयं च पंचविहं ।
उक्खेवणऽवक्खेवण-पसारणाऽऽकुंचणं गमणं ।२४९२।
सत्ता सामन्नं पि य, सामन्नविसेसया विसेसो य ।
समवाओ य पयत्था, छ च्छत्तीसप्पभेया य ॥२४९३॥
पगईए अगारेण य, नोगारोभयनिसेहओ सव्वे ।
गुणिया ओयालसयं, पुच्छाणं पुच्छिओ देवो ॥२४९४॥

इह द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायलक्षणाः षट् सूत्रपदार्थास्तेन षडुलूकेन कल्पिताः । तत्र द्रव्यं नवधा । कथम्?, इत्याह-(भूजलेत्यादि) भूमिः, जलं, ज्वलनः, अनिलः, नभः, कालः, दिक्, आत्मा, मनश्चेत्येतानि नव द्रव्याणि भण्यन्ते । गुणाः सप्तदश भवन्ति । तद्यथा-रूपं, रसः, गन्धः, स्पर्शः, संख्या, परिमाणं, महत्त्वं, पृथक्त्वं, संयोगः, विभागः, परापरत्वे, बुद्धिः, सुखं, दुःखम्, इच्छा, द्वेषः, प्रयत्नश्चेति । इतः कर्म । तत्पुनः पञ्चविधम् । तद् यथा-उत्क्षेपणम्, अवक्षेपणम्, आकुञ्चनं, प्रसारणं, गमनमिति । सामान्यं त्रिविधम् । तद्यथा-सत्ता, सामान्यं, सामान्यविशेषश्चेति । तत्र द्रव्यगुणकर्मलक्षणेषु त्रिषु पदार्थेषु सद्बुद्धिहेतुः सत्ता । सामान्यं द्रव्यत्वगुणत्वाऽऽदि । सामान्यविशेषस्तु-पृथ्वीत्वजलत्वकृष्णत्वनीलत्वाऽऽद्यवान्तरसामान्यरूप इति । अन्ये त्वित्थं सामान्यस्य त्रैविध्यमुपवर्णयन्ति-अविकल्पं महासामान्यं, त्रिपदार्थहेतुसद्बुद्धिसूता सत्ता, सामान्यविशेषो द्रव्यत्वाऽऽदि । महासामान्यसत्तयाविशेषणत्वस्य इत्यन्ये । द्रव्यगुणकर्मपदार्थत्रयसद्बुद्धिहेतुः सामान्यम्, अविकल्पा सत्तेत्यर्थः । सामान्यविशेषस्तु द्रव्यत्वाऽऽदिरूप एव । इत्यलं प्रसङ्गेनेति । विशेषश्चान्त्यः । समवायपदार्थश्चेति । तदेवमेते द्रव्याऽऽदयः षट् पदार्थाः षट्त्रिंशत्प्रभेदाः-नवानां द्रव्याणां, सप्तदशानां गुणानां, पञ्चानां कर्मणां, त्रयाणां सामान्यानां, विशेषसमवाययोश्च मीलने षट्त्रिंशद्विकल्पा भवन्तीत्यर्थः । एते च सर्वे प्रकृत्या, अकारेण, नोकारेण, उभयनिषेधतश्चेत्येतैश्चतुर्भिः प्रकारैर्गुणिताः सन्तो यच्चतुश्चत्वारिंशं शतं पृच्छानां भवति तत्पृष्टः कुत्रिकाऽऽपणदेवः । इदमत्र हृदयम्-नञ्रहितं शुद्धं पदमिह प्रकृतिरुच्यते, तया शुद्धपदरूपया प्रकृत्या पृथिव्यादयः पदार्थाः पृच्छ्यन्ते । तद्यथा-" पृथिवीं देहि " इत्यादि । तथा लुप्तस्य नञः स्थाने योऽकारस्तेन चाकारेण संयुक्तया प्रकृत्या पृच्छा विधीयते । यथा-'अपृथिवीं देहि' इत्यादि । तथा नोकारेण संयुक्तया प्रकृत्या पृच्छा । यथा-'नोपृथ्वीं देहि' इत्यादि । तथा नोकाराकारलक्षणं यदुभयं तेन योऽसौ प्रकृत्या निषेधः तस्माच्च पृष्टः सुरः । यथा-"नोअपृथ्वीं देहि" इत्यादि । एवं जलाऽऽदिष्वपि प्रत्येकमेते प्रकृत्यकारनोकारोभयनिषेधलक्षणाश्चत्वारः पृच्छाप्रकारा वक्तव्या इति । एतदभिप्रायवता प्रोक्तम्-(सव्वे गुणिय त्ति) आह-ननु " पृथ्वीं देहि " इत्यादिका याचना एव कथं पृच्छाः प्रोच्यन्ते ?। सत्यं, किं तु 'पृथ्वीं देहि' इत्यादियाचनाद्वारेण पृथिव्याद्यस्तित्वमेवासौ देवः पृच्छ्यते,

नोजीवं याचितो यदसौ जीवाजीवव्यतिरिक्तं तं दास्यति तदाऽयमस्ति, नान्यथा इत्येवमेव प्रतिज्ञातत्वात् । ततो याचनाऽप्यनास्तित्वतः पृच्छा एवेत्यदोषः ।

कथं पुनरेताः कुत्रिकाऽऽपणसुरस्य पृच्छाः कृताः?, इत्याशङ्कय दिग्मात्रोपदर्शनार्थमाद्य पृथ्वीलक्षणं भेदमधिकृत्याऽऽह—

पुढवि त्ति देइ लेट्टुं, देसो वि समाणजाइलिंगो त्ति ।
पुढवि त्ति सो अपुढविं, देहि त्ति य देइ तोयाऽऽइ ।२४९५।

पृथ्वीं याचितः कुत्रिकाऽऽपणसुरो लेष्टुं ददाति । आह-अप्रस्तुतमिदम्, अन्यस्मिन्याचिते अन्यस्य प्रदानात् । नैवम् । कुतः?, इत्याह-(देसो वीत्यादि) देशोऽपि लेष्टुलक्षणः (पुढवि त्ति) पृथिव्येव मन्तव्या, पृथिवीत्वलक्षणाया जातेः स्त्रीलिङ्गलक्षणस्य लिङ्गस्य च समानत्वात् । इह यत्र पृथ्वीत्वजातिः स्त्रीलिङ्गं च वर्तते तत् पृथिवीति व्यवहर्तव्यं, यथा- रत्नप्रभाऽऽदि, तथा च लेष्टुः, तस्मात्पृथ्वीति । अपृथिवीं देहीत्येवं याचितोऽसौ देवस्तोयाऽऽदि प्रयच्छति ॥ २४९५ ॥

नोपृथ्वीं याचितस्तर्हि किं ददातीत्याह—

देसपडिसेहपक्खे, नोपुढविं देइ लेट्टुदेसं सो ।
लेट्टुदव्वावेक्खो, कीरइ देसोवयारो से ॥२४९६॥
इहरा पुढवि च्चिय सो, लेट्टु व्व समाणजाइलक्खणओ ।
लेट्टुदलं ति व देसो, जइ तो लेट्टू वि तद्देसो ॥ २४९७ ॥

नोशब्दस्य देशप्रतिषेधपक्षे नोपृथ्वीं याचितोऽनन्तरमेव समस्तपृथ्वीत्वेनोपचरितस्य लेष्टोरेव देशं तत्खण्डरूपं ददात्यसौ देवः । आह-ननु देशनिषेधपक्षे नोपृथ्वी तद्देश एव गृह्यते, यस्तु लेष्टुदेशः स पृथिवीदेशस्याऽपि देश एव, न तु पृथ्वीदेशः, तत्कथं नोपृथिवीं याचितस्तं ददाति ?, इत्याह-(लेट्टुदव्वेत्यादि) लेष्टुद्रव्यापेक्षः 'से' तस्य लेष्टुदेशस्य देशोपचारः क्रियते । इदमुक्तं भवति-लेष्टौ तावदनन्तरोक्तयुक्तेः संपूर्णपृथ्वीद्रव्यत्वमारोपितं, ततो लेष्टुलक्षणपृथ्वीद्रव्यापेक्षया तद्देशस्याऽपि पृथ्वीदेशत्वमुपचर्यते, इतरथा अन्यथा पुनः परमार्थतो लेष्टुवत्समानजात्यादिलक्षणत्वादिति पूर्वोक्तहेतोः सोऽपि लेष्टुदेशः पृथिव्येव मन्तव्या । अथ पराभिप्रायमाविष्कृत्य परिहारार्थमाह-(लेट्टुदलं ति व देसो जइ त्ति) यदि तु भोः पर ! त्वं मन्यसे--योऽयं लेष्टोर्देशः स दलं लेष्टोरेव खण्डमात्रं, ततः समानजातिलक्षणत्वेऽपि नाऽसौ पृथ्वीति । अत्र परिहारमाह-(तो लेट्टू वि तद्देसो त्ति) ततस्तर्हि " पुढवि त्ति देइ लेट्टुं देसो वि " इत्यादौ यः पूर्वं लेष्टुः पृथ्वीत्वेनोक्तः सोऽपि त्वन्मतेन पृथिव्या देश एव । ततस्त्वदभिप्रायेण सोऽपि पृथ्वीदलरूपत्वाद् न पृथ्वी, लेष्टुदेशवदिति ॥ २४९६ ॥ २४९७ ॥

अस्त्वेवमिति चेत् , तदयुक्तम् । कुतः?, इत्याह--

देहि भुवं तो जणिए, सव्वाऽऽणेया न यावि सा सव्वा ।
सक्का सक्केण वि या-णेउं किमुयावसेसेणं ? ॥ २४९८ ॥

यदि लेष्टुर्न पृथ्वी, ततस्तर्हि भुवं देहीत्युक्ते सर्वाऽपि संपूर्णा साऽऽनेया प्रसज्यते, न च सा सर्वा शक्रेणाप्यानेतुं शक्या, किमुतावशेषेण कुत्रिकाऽऽपणदेवाऽऽदिमात्रेण ?, इति । तर्हि किमत्र तत्त्वम् ?, इति भवन्त एव कथयन्तु इति ॥ २४९८ ॥

इत्थं प्रेरके उपसन्ने दृष्टान्तोपन्यासद्वारेण सूरिः प्रस्तुतार्थनिर्णयमाह-

जह घडमाणय भणिए, न हि सव्वाऽऽणयणसंभवो किं तु ।
देसाइविसिट्ठं चिय, तमत्थवसओ समप्पेइ ॥ २४९९ ॥
पुढवि त्ति तहा भणिए, तदेगदेसे वि पगरणवसाओ ।
लेट्ठुम्मि जायइ मई, जहा तहा लेट्ठुदेसे वि ॥ २५०० ॥

यथा सामान्येन घटमानय[पटमानय]इत्युक्तेऽपि न खलु सर्वस्याऽपि घटस्य सामान्यतयैवाऽऽनयनसंभवोऽस्ति, किं तु सर्वस्याऽऽनेतुमशक्यत्वात्, प्रायः सर्वेण प्रयोजनाभावाच्च, अर्थवशात्सामर्थ्यात् एव नियतदेशकालाऽऽद्यवच्छिन्नं विशिष्टमेव कञ्चिद् घटमानीय समर्पयति, तथाऽत्रापि पृथ्वीं देहीति प्रोक्ते सर्वस्या आनेतुमशक्यत्वात्, प्रायस्तया प्रयोजनाभावाच्च, यथा तदेकदेशेऽपि पृथिव्येकांशेऽपि लेष्टौ देवस्य समर्पणमतिर्जायते । कुतः?, इत्याह-प्रकरणवशाद्, 'अनेनाऽपि तदेकदेशेन लेष्टुना प्रस्तुतार्थः सेत्स्यति' इत्येवं प्रस्तावबशादित्यर्थः । प्रकृतमाह-(तहा लेट्ठुदेसे वि त्ति) यथा पृथिवीं देहीत्युक्ते सति प्रतिपादितन्यायेन तदेकदेशेऽपि लेष्टौ समर्पणमतिर्जायते । तथा तेनैव प्रकारेण नोपृथ्वीं देहीत्युक्ते तत्स्वरूपे तदेकदेशेऽपि समर्पणबुद्धिरुत्पद्यत इति ॥ २४९९ ॥ २५०० ॥

आह-ननु " इहरा पुढवि च्चिय सो, लेट्ठु व्व समाणजाइलक्खणओ । " (२४९७) इति वचनाल्लेष्ठ्वेकदेशः पूर्वं भवद्भिः पृथिवीत्वेनोक्तः स कथमिदानीं नोपृथिवी स्याद् ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-

लेट्ठुदव्वावेक्खाए, तह वी तद्देसभावओ तम्मि ।
उवयारो नो पुढवी, पुढवि च्चिय जाइलक्खणओ २५०१॥

यद्यपि लेष्ठ्वेकदेशः पृथिव्येव, तथाऽपि (उवयारो त्ति) तस्मिन् लेष्ठ्वेकदेशे नोपृथिवीत्वस्योपचारः क्रियत इत्यर्थः । कया?, इत्याह-लेष्टुद्रव्यापेक्षया लेष्टोः प्रागुक्तन्यायेन यत्पृथिवीद्रव्यत्वमारोपितं, तदपेक्षयेत्यर्थः । कुतः?, इत्याह-तद्देशभावतो लेष्टुद्रव्यैकदेशत्वादित्यर्थः । प्रागुक्तन्यायेन तावल्लेष्टुरेवेह पृथ्वीद्रव्यं, तदपेक्षया च तदेकदेशे नोपृथ्वीत्युपचर्यत इति भावः । परमार्थतस्त्वयं लेष्ठ्वेकदेशलक्षणो नोपृथिव्येव मन्तव्यम्, समानजातिलक्षणत्वादिति को वै न मन्यते, अस्माभिरेव प्रागुक्तत्वात्, इदानीमपि च स्मर्यमाणत्वादिति ? ॥ २५०१ ॥

नोअकारोभयनिषेधपक्षमधिकृत्याऽऽह-

पडिसेहदुगं पगइं, गमेइ जं तेण नोअपुढवि त्ति ।
भणिए पुढवि त्ति गई, देसनिसेहे वि तद्देसो ॥ २५०२ ॥

" द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः " इति वचनाद् नोकाराकारलक्षणं प्रतिषेधद्वयं यस्मात्प्रकृतिं गमयति-प्रकृतमेवार्थं प्रतिपादयतीत्यर्थः । तेन कारणेन ' नोअपृथ्वी ' इति भणिते नोशब्दस्य सर्वनिषेधपरत्वात् पृथिवीगतिर्भवति-पृथिव्याः प्रतिपत्तिर्भवतीत्यर्थः । (देसनिसेहे वि तद्देसो त्ति) देशनिषेधवाचके तु नोशब्दे तस्या जलाऽऽदिरूपाया अपृथिव्या एवोत्तरपदे श्रूयमाणाया देशः-देशो गम्यते, देशनिषेधके नोशब्दे नोअपृथ्वीति याचिते जलाऽऽदिरूपा पृथिव्येकदेशं देवो ददातीत्यर्थः ॥ २५०२ ॥

अथ प्रस्तुतार्थतात्पर्यमाह-

उवयाराओ तिविहं, धुवमधुवं नोधुवं च सो देइ ।
निच्छयओ धुवमधुवं, तह सावयवाई सव्वाइं ॥ २५०३ ॥

स कुत्रिकाऽऽपणदेवो याचितः सन् वस्तु ददाति । कतिविधम्?, किं वा तत् ?, इत्याह-त्रिविधं त्रिप्रकारं, चतुर्थस्य नोअनुपक्षस्य प्रथमपक्ष एवान्तर्भावात् । तत्र ध्रुवं सर्वम्, अध्रुवं जलाऽऽदि, नोध्रुवं तस्यैकदेशं ददाति । कुतः?, इत्याह-उपचाराद्-व्यवहारनयमताऽऽश्रयणादित्यर्थः, स एव हि देशदेशिव्यवहारं मन्यते, न तु निश्चय इति भावः । अत एवाऽऽह-(निच्छओ इत्यादि) निश्चयतस्तु ध्रुवमध्रुवं चेत्येवं द्विविधमेव वस्तु ददाति, तृतीयस्य नोऽनुपक्षस्य देशदेशिव्यवहार एवोपपद्यमानत्वात्, तस्य च निश्चयनयेनानभ्युपगमादिति । तदेवं "भूजलजलण " (२४९०) इत्यादौ पृथिव्याः प्रथमं निर्दिष्टत्वात्सामान्यतः कल्पितम् । अथ शेषाणि जलाऽऽदिवस्तून्यधिकृत्याऽऽह-(तह सावयवाइ ति) न केवलमित्थं भुवं ददाति, तथा शेषाण्यपि जलाऽऽदिवस्तूनि "पगइए अगारेणं" (२४९४) इत्यादिप्रकारेण विशेष्य याचितः सन् व्यवहारनयमतेन यथोक्तार्थाभिधाना त्रिप्रकाराणि ददाति । कुतः?, इति चेत् । उच्यते-यतः सावयवानि सदेशान्येतानि सर्वाण्यपि जलाऽऽदिवस्तूनि, अतस्तृतीयोऽपि देशविषयो दानप्रकार एतेषु संभवतीति भावः । निश्चयनयमतेन तु देशदेशिव्यवहाराभावादेतान्यपि जलाऽऽदीनि द्विप्रकाराण्येव ददातीति । तदेवं सावयवे वस्तुनि प्रकारत्रयेण प्रकारद्वयेन च यथोक्तरूपया दानं संभवति ॥ २५०३ ॥

अथ निरवयवे वस्तुनि प्रकारद्वयेनैव दानसंभव इति दर्शयन्नाह-

जीवमजीवं दाउं, नोजीवं जाइओ पुणरजीवं ।
देइ चरिमम्मि जीवं, न तु नोजीवं सजीवदलं ॥ २५०४ ॥

जीवं देहीति याचितः सुरो जीवं शुकसारिकाऽऽदिकं दत्त्वा, 'अजीवं देहि' इति याचितस्त्वजीवमुपलखण्डाऽऽदिकं दत्त्वा कृतार्थो जायते, नोजीवं याचितः पुनरजीवमुपलखण्डाऽऽदिकमेव ददाति, नोशब्दस्य सर्वनिषेधपरत्वात् । चरमे तु नोअजीवलक्षणे विकल्पे जीवमेव शुकाऽऽदिकं ददाति, द्वयोर्नञोः प्रकृतार्थगमकत्वात्, नोशब्दस्य च सर्वनिषेधकत्वादिति, न तु स कुत्रिकाऽऽपणदेवो जीवं जीवदलं जीवखण्डरूपं कस्यापि विकल्पे ददाति । इति जीवाजीवलक्षणौ द्वावेव राशी, न तु तृतीयः, असत्त्वात्, खरविषाणवदिति ॥ २५०४ ॥

ततः किमभूदित्याह-

तो निग्गहिओ छलुओ, गुरू वि सक्कारमुत्तमं पत्तो ।
धिद्धिक्कारोवहओ, छलुओ वि सभाहिँ निच्छूढो ॥ २५०५ ॥

ततो यदा कुत्रिकाऽऽपणसुरेण जीवव्यतिरिक्तो नोजीवो न दत्तः, असत्त्वात्, तदा निगृहीतो निर्जितः षडुलूकः । गुरुरपि श्रीगुप्ताऽऽचार्यो नरनाथाद् लोकाच्च सत्कारमुत्तमं प्राप्तः । षडुलूकोऽपि गुरुप्रत्यनीकत्वाज्जनप्रयुक्तधिक्कारोपहतो राजसभातो निष्कासित इति ॥ २५०५ ॥

ततः किम् ?, इत्याह-

वाए पराजिओ सो, निव्विसओ कारिओ नरिंदेण ।

पोसाविथं च नयरे, जयइ जिणो वद्धमाणो त्ति ॥२५०६॥
तेणाजिनिविसाओ, समयाविगण्पियपयत्थमादाय ।
वइसेसियं पणीयं, फाईकयमण्णमण्णेहिं ॥ २५०७ ॥

स रोहगुप्तो गुरुणा वादे पराजितः सन् नरपतिना निर्विषयः समाज्ञप्तः, पटहकेन च वाद्यमानेन घोषापितं समस्तनगरे- "जयति जिनः श्रीमान्वर्द्धमानः" इति । रोहगुप्तस्य च वादे निर्जितस्याऽपि प्रत्यनीकतोद्वेजितेन गुरुणा खेलमल्लकः शिरसि स्फोटितः । ततो भस्मखरण्टितवपुषा तेनाभिनिवेशात्स्वमतिकल्पितान् द्रव्याऽऽदिपदार्थानाश्रित्य वैशेषिकमतं प्रणीतं, तच्चान्यान्यैस्तच्छिष्याऽऽदिभिरियन्तं कालं यावत्स्फातिमानीतमिति ॥ २५०६ ॥ २५०७ ॥

ननु रोहगुप्त इत्येवास्य नाम, तत्कथं षडुलूक इत्यसकृत्प्रागुक्तोऽसौ ?, इत्याह-

नामेण रोहगुत्तो, गुत्तेण य छप्पए स चोलुओ ।
दव्वाऽऽइछप्पयत्थो-वएसणाओ छलुओ त्ति ॥२५०८॥

नाम्नाऽसौ रोहगुप्तो गोत्रेण च पुनरुलूकगोत्रसम्भूतत्वादसावुलूक इत्याख्यायते- द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायलक्षणषट्पदार्थप्ररूपणेन षट्पदार्थप्रधान उलूकः षडुलूक इत्ययं व्यपदिश्यते ॥ २५०८ ॥ विशे० । सूत्र० । कल्प० । स० । आ० म० । आ० चू० । नपुंसक, पिं० ।

तेरिच्छिय-तैरश्चिक-तैर्यग्योन-त्रि० । तिर्यग्योनिभ्यो भवस्तैर्यग्योनः । तिर्यग्योनिकृते, विशे० ।

तेल्ल-पुं०-तैल-न० । प्राकृतत्वात्पुंस्त्वम् । तिलस्य विकारः, अण् । "तैलाऽऽदौ वा" ॥८।२।६८॥ इत्यनादौ वर्तमानस्य व्यञ्जनस्य वा द्वित्वम् । प्रा०२ पाद । "तिलाऽऽदिस्निग्धवस्तूनां, स्नेहस्तैलमुदाहृतम् ।" इत्युक्ते तिलसर्षपातसीप्रभृतीनां स्निग्धवस्तूनां स्नेहरूपे विकारे, वाच० । "चत्तारि हुंति तेल्ला, तिलअयसिकुसुंभसरिसवाणं च । विगईओ सेसाइं, डोलाईणं न विगईओ ॥१॥" प्रव० ४ द्वार । स्था० । उत्तरत्र स्थितस्य चात्र संबन्धात् तैलानि चत्वारि भवन्ति । केषां संबन्धीनि ?। तत्राऽऽह-तिलातसीकुसुम्भसर्षपाणां, शेषाणां डोलाऽऽदीनां मधूकफलाऽऽदीनाम्, आदिशब्दादिङ्गुदीकरञ्जसर्षपादीनां संबन्धीनि तैलानि न विकृतयः । प्रव० ४ द्वार । ध० । अनु० । सूत्र० । ज्ञा० । आ० चू० । नि० चू० । नि० । आव० ।

तेल्लकेला-तैलकेला-स्त्री० । सौराष्ट्रप्रसिद्धे मृन्मये तैलभाजनविशेषे, स च भङ्गभयात् सुष्ठु संगोप्यते । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । तं० । नि० ।

तेल्लचम्म-तैलचर्म-न० । तैलाभ्यक्तस्य यत्र स्थितस्य संवाधना क्रियते तत्तैलचर्म । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । तैलाभ्यक्तस्य संवाधनाकरणसाधने चर्मणि, औ० ।

तेलुक्क-त्रैलोक्य-न० । त्रयो लोकास्त्रिलोकाः, त्रिलोका एव त्रैलोक्यम् । चतुर्वर्णाऽऽदित्वात्स्वार्थे ष्यण् प्रत्ययः । तं० । "ऐत एत्" ॥८।१।१४८॥ इत्यादेर्वर्त्तमानस्यैकारस्य एत्वम् । प्रा० १ पाद । भुवनपतिव्यन्तरविद्याधरज्योतिष्कवैमानिकेषु, तं० । स्वर्गमर्त्यपातालत्रये तन्निवासिप्राणिगणे, ग० १ अधि० । भुवनत्रये, प्रश्न०५ सम्ब०द्वार । "तेलुक्कणमियकमजुयला ।" त्रैलोक्येन स्वर्गमर्त्यपातालत्रयलक्षणेन, तन्निवासिप्राणिगणेनेत्यर्थः । नमितं क्रमयुगलं येषां ते त्रैलोक्यनमितक्रमयुगलाः । ग० १ अधि० । "तेलुक्करंगमज्झे ।" त्रैलोक्यमेव यो रङ्गः । मल्लयुद्धमण्डपे, कल्प० ५ क्षण ।

तेलुक्कगुरु-त्रैलोक्यगुरु-पुं० । त्रैलोक्यवासिसत्त्वेभ्यो गृणन्ति शास्त्रार्थमिति त्रैलोक्यगुरवः, तद्गुणाधिकत्वान्माननीयत्वाद्वा । तीर्थंकरेषु, पं० सू० १ सूत्र ।

तेलुक्कदंसि(ण्)-त्रैलोक्यदर्शिन्-पुं० । सर्वज्ञे, आ० ।

तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइय-त्रैलोक्यनिरीक्षितमहितपूजित-पुं० । निरीक्षिताश्च महिताश्च पूजिताश्चेति निरीक्षितमहितपूजिताः त्रैलोक्येन निरीक्षितमहितपूजिताश्च ये ते तथा । सर्वज्ञे, तं० ।

तेलुक्कमत्थयत्थ-त्रैलोक्यमस्तकस्थ-पुं० । त्रैलोक्यस्य मस्तकं सर्वोपरिवर्ती सिद्धिक्षेत्रविभागस्तस्मिंस्तिष्ठन्तीति त्रैलोक्यमस्तकस्थः । षो० १५ विव० । सकललोकचूडामणिभूते, पं० व० ४ द्वार ।

तेलुक्कसुंदर-त्रैलोक्यसुन्दर-पुं० । त्रिषु लोकेषु प्रधाने, षो० १५ विव० । त्रैलोक्यसुन्दरतायाम्, त्रैलोक्ये सर्वस्मिन्नपि जगति शेषवस्तुभ्यः सुन्दरता शोभनता तां तथोक्ताम् । षो०१५ विव० ।

तेलोक्कदेवमहिय-त्रैलोक्यदेवमहित-पुं० । भुवनत्रयवासिभिः सुरासुरैरभ्यर्चितेषु, बृ० ३ उ० । त्रिभुवनवासिभिर्भवनपत्यादिभिर्देवैर्महितेषु, व्य० २ उ० ।

तेल्ल-तैल-पुं० । 'तेल' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

तेल्लकेल्ला-तैलकेल्ला-स्त्री० । 'तेलकेला' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

तेल्लग-तैलक-पुं० । सुराविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

तेल्लचम्म-तैलचर्म-न० । 'तेलचम्म' शब्दार्थे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ० ।

तेल्लपल्ल-तैलपल्य-न० । तैलपेढाऽऽख्ये सौराष्ट्रप्रसिद्धे मृन्मये तैलस्य भाजनविशेषे, स च भङ्गभयात्सुष्ठु संगोप्यते । दशा० १० अध्या० ।

तेल्लपाइया-तैलपायिका-स्त्री० । जीवभेदे, "तेल्लपाइयातो तातो तिक्खेहिं तुंडेहिं अतीव दंसंति ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

तेल्लपूय-तैलपूप-पुं० । तैलप्रधाने पूपे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । जी० ।

तेल्लपूयसंठाणसंठिय-तैलपूपसंस्थानसंस्थित-पुं० । तैलेन पक्वः पूपस्तैलपूपः । तैलेन हि पक्वोऽपूपः प्रायः परिपूर्णवृत्तो भवति न घृतपक्व इति तैलविशेषसाम्यम्, तस्येव यत्संस्थानं तेन संस्थितः । तस्मिन्, अत्र तैलाऽऽदित्वाल्लकारस्य द्वित्वम् । जं० १ वक्ष० । जी० ।

तेल्लसमुग्गय-तैलसमुद्गक-पुं० । सुगन्धितैलाऽऽधारविशेषे, उक्तं च जीवाभिगममूलटीकायाम्- "तैलसमुद्गकः सुगन्धितैलाऽऽधारः ।" जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० ।

तेल्लसुरभियाकरण-तैलसुरभिकाकरण-न० । स्त्रीणां षट्त्रिंशत्कायां कलायाम्, कल्प० ७ क्षण ।

तेल्लिय–तैलिक–त्रि० । तैलविक्रयकारिणि, व्य० ६ उ० । आव० ।

तेल्लोक्कविहियमहियपूइय–त्रैलोक्यविहितमहितपूजित–पुं० । त्रैलोक्येन त्रिलोकवासिना जनेन (विहिय त्ति) समग्रैश्वर्याऽऽद्यतिशयसंदोहदर्शनसमाकुलचेतसा हर्षभरनिर्भरेण प्रबलकुतूहलवलादनिमिषलोचनेनावलोकितः। (महिय त्ति) सेव्यतया वाञ्छितः पूजितश्च पुष्पाऽऽदिभिर्यः स तथा । तस्मिन्, उपा० ७ अ० ।

तेल्लोक्कसक्कय–त्रैलोक्यसत्कृत–पुं० । लोकत्रयपूजिते, पा० ।

तेवँ–तथा–अव्य० । प्राकृतलक्षणेन निष्पन्नस्य तेम इत्यस्य "मोऽनुनासिको वो वा" ॥ ८ । ४ । ३९७ ॥ इत्यपभ्रंशेऽनादौ वर्तमानस्यासंयुक्तस्य मकारस्यानुनासिको विकल्पेन वँकारः । क्वचिल्लाक्षणिकस्याऽपि । तेन प्रकारेणेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

तेवग्ग–त्रिवर्ग–पुं० । त्रयो वर्गास्त्रिवर्गाः । लोकरूढ्या धर्मार्थकामेषु, नं० ।

तेवट्ठि–त्रिषष्टि–स्त्री० । त्र्यधिकायां षष्टिसंख्यायाम्, " तेवट्ठीए राइंदिएहिं । " स० ६३ सम० ।

तेवड–तावत्–त्रि० । " वा यत्तदोतोर्डेवडः " ॥ ८ । ४ । ४०७ ॥ इत्यपभ्रंशे तावतो वकारस्य डित्संज्ञकः ' एवड ' इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । तत्परिमाणवति, वाच० ।

तेवत्त–त्रिचत्वारिंशत्–"गोणाऽऽदयः" ॥ ८ । २ । १७४ ॥ इति निपातनात् त्रिचत्वारिंशदित्यस्य 'तेवत्त' इत्यादेशः । त्र्यधिकायां चत्वारिंशत्संख्यायाम् , प्रा० २ पाद ।

तेवत्तरि–त्रिसप्तति–स्त्री० । त्र्यधिकायां सप्ततिसंख्यायाम् , स० ७२ सम० ।

तेवीस–त्रयोविंशति–स्त्री० । "एत्त्रयोदशाऽऽदौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन " ॥ ८ । १ । १६५ ॥ इत्यादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह एकारः । त्र्यधिकायां विंशतिसंख्यायाम्, प्रा० १ पाद ।

त्रयोविंश–त्रि० । त्र्यधिकविंशतिसंख्यापूरके, प्रा० १ पाद ।

तेवीसइम–त्रयोविंशतितम–त्रि० । त्र्यधिकविंशतिसंख्यापूरके , स्था० ६ ठा० ।

तेहिं–तेहिं–अव्य० । "तादर्थ्ये केहिं-तेहिं-रेसि-रेसिं-तणेणाः" ॥ ८ । ४ । ४२५ ॥ इत्यपभ्रंशे तादर्थ्ये द्योत्ये ' तेहिं ' इति निपातः । प्रा० ४ पाद ।

तेहु–तादृश–त्रि० । " यादृक्-तादृक्-कीदृगीदृशां दादेर्डेहुः " ॥ ८ । ४ । ४०२ ॥ इत्यपभ्रंशे दादेरवयवस्य डित्संज्ञक 'एहु' इत्यादेशः । तथाविधेऽर्थे, प्रा० ४ पाद ।

तो–तस्मात्–पुं० । "तदो डोः" ॥ ८ । ३ । ६७ ॥ इति तच्छब्दात्परस्य ङसेर्डो इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद । मं० ।

तोअअ–देशी–चातके, दे० ना० ५ वर्ग १८ गाथा ।

तोक्कअ–देशी–अनिमिषतत्परे, दे० ना० ५ वर्ग १८ गाथा ।

तोड–तुड–धा० । भेदे, तुदा० पर० सक० सेट् । "तुडेस्तोड०" ॥ ८ । ४ । ११६ ॥ इत्यनेन 'तोड ' इत्यादेशः । 'तोडइ' । तुडति । प्रा० ४ पाद । आचा० ।

तोडन–तोड़न–न० । व्यथने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । असहने, दे० ना० ५ वर्ग १७ गाथा ।

तोडहिया–तोडहिका–स्त्री० । ' खरमुही ' इत्याख्ये वाद्यविशेषे, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ० ।

तोड्ड–तोड्ड–पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

तोण–तूण–पुं० । " स्थूणा तूणे वा " ॥ ८ । १ । १२५ ॥ इति तूणस्योत ओत्वम् । प्रा० १ पाद । शरभस्त्रायाम्, ज्ञा० १ श्रु०१ अ० । शरभृत्यपरनामधेये बाणाऽऽश्रये, विपा० १ श्रु० ३ अ० । जी० । इषौ, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

तोणीर–तूणीर–पुं० । "ओत्कुष्माण्डी-तूणीर-कूर्पर-स्थूल-ताम्बूल-गुडूची-मूल्ये " ॥ ८ । १ । १२४ ॥ इत्यूत ओत्वम् । प्रा० १ पाद । इषुधौ, वाच० ।

तोण्ड–तुण्ड–न० । " ओत्संयोगे " ॥ ८ । १ । ११६ ॥ इति संयोगे परे आदेरुत ओत्वम् । मुखे, प्रा० १ पाद ।

तोतडी–देशी–करम्बे, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

तोतातिग–तौतातिक–पुं० । मीमांसकभेदे, नित्यमुक्तस्य च निरतिशयं यत्सुखं तद्व्यक्तिर्मुक्तिरिति तौतातिकाः। द्वा० ३१ द्वा० ।

तोदग–तोदक–त्रि० । व्यथके, उत्त० २० अ० ।

तोमर–तोमर–पुं० । बाणविशेषे, ज० ३ वक्ष० । प्रश्न० । आचा० । " असिमत्तिकोंतनोमर-सूलतिसूलेसु सूइवियगासु । " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । औ० ।

तोमरिअ–देशी–शस्त्रप्रमार्जके, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

तोमरी–देशी–वल्ल्याम्, दे० ना० ५ वर्ग १७ गाथा ।

तोय–तोय–न० । जले, व्य० २ उ० । आव० । व्यथायाम्, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तोयधारा–तोयधारा–स्त्री० । ऊर्ध्वलोकवास्तव्यायां पञ्चम्यां दिक्कुमारिकायाम्, आ० म० १ अ० १ खण्ड । आव० । नि० । आ० चू० । जं० । "अष्टोर्ध्वलोकादेत्यैनाः, नत्वाऽर्हन्तं समातृकम् । तत्र गन्धाम्बुपुष्पौघ-वर्षं हर्षाद्वितेनिरे ॥ १ ॥ " आ० क० ।

तोयपिट्ठ–तोयपृष्ठ–न० । जलोपरितनभागे, औ० ।

तोरण–तोरण–न० । द्वारावयवविशेषे, पञ्चा० २ विव० । स्था० । आचा० । रा० । प्रश्न० । जं० । प्रज्ञा० । औ० । स० । बहिर्द्वारे स्तम्भोपरिस्थे सिंहाऽऽकारे काष्ठे, द्वारबहिर्भागे च, कन्धरायाम्, न० । वाच० । स्था० ।

तोरणमादि–तोरणाऽऽदि–न० । इह मकारः प्राकृतत्वात् । द्वारावयवविशेषप्रभृतिषु, आदिशब्दात्पीठदेवच्छन्दकपुष्पकादिपर्यायपरिग्रहो भवति । पञ्चा० २ विव० ।

तोरामदा–त्वरामत्–न० । नेत्ररोगभेदे, "मम्मक्कडक्क्मा तोरामदा महाजसा वंका विवेका कुम्मीआ अच्छिक्मा कणिक्मा । " महा० ३ अ० ।

तोल्ल–तोल–पुं० । न० । मगधदेशप्रसिद्धे पले, तं० । गुञ्जाऽशीतिपरिमाणे कर्षे, वाच० । स्वार्थे कन्, एवुल् वा । तोलकमप्यत्र । वाच० ।

तोल्लण–तोलन–न० । माने, आचा० १ श्रु० ४ चू० १ अ० । पुरुषे, दे० ना० ५ वर्ग १७ गाथा ।

तोव्हट–देशी–कर्णाऽऽभरणभेदे, कमलकर्णिकायां च । दे० ना० ५ वर्ग २३ गाथा ।

तोस–तोष–पुं० । प्रमोदे, पञ्चा० २ विव० । धने, दे० ना० ५ वर्ग १७ गाथा ।

तोसग–तोसक–पुं० । स्वनामख्यातेऽवन्तिराजे, ति० ।

तोषक–त्रि० । परितोषकारके, वाच० ।

तोसलि (ण्)–तोसलिन्–पुं० । स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र गच्छन् वीरः सप्त वारान् रज्ज्वा बद्धः, ततस्तोसलिकक्षत्रियेण मोचितः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । तोसलिदेशस्थे स्वनामख्याते आचार्ये, आचा० । अत्र कथानकमिदम्–"तोसली नामाऽऽचार्योऽरण्यमहिषीभिः प्रारब्धः, तोसलिदेशे वा बहवो महिष्यः सम्भवन्ति, ताभिश्च कदाचिदेकः साधुरटव्यन्तर्वर्त्यारब्धः । स च ताभिः क्षुद्यमानोऽनिर्वाहमवगम्य चतुर्विधाऽऽहारं प्रत्याख्यातवानिति । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

तोसलिपुत्त–तोसलिपुत्र–पुं० । दशपुरनगरस्थे स्वनामख्याते आचार्ये, यत्र सोमदेवब्राह्मणस्य रुद्रसेनायां भार्यायामुत्पन्नश्चतुर्दशविद्यापारगो रक्षितो नाम पुत्रो बभूव । तेन च मातृप्रेरितेन तोसलिपुत्राऽऽचार्याणां समीपे दीक्षा प्रतिपन्ना । विशे० । आ० म० । आ० चू० । आ० क० ।

तोसलिय–तोसलिक–पुं० । तोसलिग्रामाधिपे क्षत्रिये, आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ० चू० ।

तोसिय–तोषित–त्रि० । संतोषं प्रापिते, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य–श्री १००८ श्री–
विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
तकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

थकारः

थ–थ–पुं० । दन्तस्थानोऽयं स्पर्शसंज्ञको वर्णः । एका० । पुरु– डः । भयवारके, व्याधिभेदे, भयचिह्ने, भक्षणे च । रक्षणे, मङ्गले, भये च । न० । वाच० ।

" थः पुमानिन्दुकल्लोल–विरामेषु महीधरे (४५)
स्यादास्फालनशब्दे च, ज्वाले था तु स्त्रियां नदी ॥
थं नपुंसकलिङ्गे तु, भवेद्भयनिवारणे ॥ ४६ ॥
त्रिलिङ्ग्यां तु थकारोऽसौ, सितासितपृथुष्वपि । " इति माधवः । एका० ।

"थो मिथ्यावाचके भ्रान्ते, शोके थाऽऽरब्धवस्तुनि ।
निमग्ने चाग्निगर्भीरे, थं स्तोकार्थे नपुंसकम् ॥ ६४ ॥
मरुदेशप्रदेशेऽपि, थाऽऽवन्तः स्थलयोगिति ।
देवकूटे कषाये स्त्री, दृढे परिवृढेऽपि था ॥ ६५ ॥
थुः पुंसि पर्वते द्रोणे, व्रणे थुर्निर्दले पुमान् ।
निष्ठीवने थले भूते, थीर्यन्तो भाजने भुवि ॥ ६६ ॥ " इति विश्वदेवशंभुमुनिः । एका० । वाक्यालङ्कारे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । पादपूरणे च । अव्य० । पञ्चा० ११ विव० ।

थनुड्ड–देशी–भल्लातके, दे० ना० ५ वर्ग २६ गाथा ।

थंडिल्ल–स्थण्डिल्ल–न० । परानुपरोधात्प्रासुके भूभागे, ग० २ अधि० । आव० ।

अथ स्थण्डिलवक्तव्यता–तत्र गमनविधिरुच्चारप्रश्रवणव्युत्सर्जनं च । तत्र च स्थण्डिले वक्तव्ये येऽर्थाधिकारास्तानभिधित्सुर्द्वारगाथामाह–

भेया सोहि अवाया, वज्जणया खलु तहा अणुण्णा य ।
कारणविही य जयणा, थंडिल्ले होंति अहिगारा ॥ ४२१ ॥

प्रथमतो भेदाः स्थण्डिलस्य वक्तव्याः, तदनन्तरं स्थण्डिले व्युत्सृजतः शोधिः प्रायश्चित्तम, ततोऽपायाः, तदनन्तरं वर्जनद्वारम, ततः परमनुज्ञा, ततः कारणविधिः, तदनन्तरं यतना । एते वक्ष्यमाणाः स्थण्डिले अधिकाराः ।

तत्र प्रथमतो भेदद्वारप्रतिपादनार्थमाह–

अचित्तेण अचित्तं, मीसेण अचित्त लक्कमीसेणं ।
सचित्त लक्कणं, अचित्त चउत्तंग एकेके ॥ ४२२ ॥

अचित्ते स्थण्डिले पन्थानमधिकृत्य त्रयो भेदाः–अचित्तं स्थण्डिलमचित्तेन पथा गम्यते १। अचित्तं मिश्रेण पथा २. केन मिश्रेण?, इत्यत आह–षट्कायमिश्रेण २। तथा–अचित्तं सचित्तेन पथा ३। स पन्थाः सचित्तः कथम्?, इत्याह–षट्केन षड्भिर्जीवनिकायैः ३ । एवमचित्ते स्थण्डिले त्रयो भेदाः । एवं मिश्रे ३ । सचित्ते च ३ । एतेषामचित्तमिश्रसचित्तानामेकैकस्मिन् भङ्गे चतुर्भङ्गी ।

तामेवोपदर्शयति–

अणवायमसंलोए, अणवाए चेव होति संलोए ।
आवायमसंलोए, आवाए चेव संलोए ॥ ४२३ ॥

अनापातमसंलोकमिति प्रथमो भङ्गः । अनापातं संलोकवदिति द्वितीयः । आपातवदसंलोकमिति तृतीयः । आपातवत् संलोकवदिति चतुर्थः । गाथायां मत्वर्थीयप्रत्ययस्य लोपः प्राकृतत्वात्, अभ्राऽऽदित्वाद्वा अकारप्रत्ययः । अमीषां चतुर्णां भङ्गानां प्रथमो भङ्गोऽनुज्ञातः । शेषाः प्रतिकुष्टाः । निर्ग्रन्थीनां तृतीयोऽनुज्ञातः ।

चतुर्थं स्थण्डिलं व्याख्यानयति–

तत्थाऽऽवायं दुविहं, सपक्ख–परपक्खतो उ णायव्वं ।
दुविहं होइ सपक्खं, संजय तह संजतीणं च ॥ ४२४ ॥
संविग्गमसंविग्गा, संविग्गमणुण्ण–एतरा चेव ।
असंविग्गा वि य दुविहा, तप्पक्खिय एयरा चेव ॥ ४२५ ॥

तत्राऽऽपातवदसंलोकवतोर्मध्ये आपातमापातवद् द्विविधं ज्ञातव्यम् । तद्यथा–स्वपक्षतः, परपक्षतश्च : स्वपक्षाऽऽपातवत्, परपक्षाऽऽपातवच्चेत्यर्थः । तत्र स्वपक्षे स्वपक्षविषये द्विविधमापातवत् । तद्यथा–संयतानां, संयतीनां च–संयताऽऽपातवत्–संयत्यापातवच्चेति भावः । संयता अपि द्विविधाः–संविग्नाः–उद्यतविहारिणः, असंविग्नाः–शिथिलाः पार्श्वस्थाऽऽदयः । संविग्ना अपि द्विविधाः–मनोज्ञाः सांभोगिकाः, इतरे अमनोज्ञा असांभोगिकाः । असंविग्ना अपि द्विविधाः–तत्पाक्षिकाः संविग्नपाक्षिकाः, इतरे असंविग्नपाक्षिकाः । उक्तः स्वपक्षाऽऽपातवत् ॥ ४२५ ॥

सम्प्रति परपक्षाऽऽपातवत्प्राऽऽह–

परपक्खे वि य दुविहं, माणुस तेरिच्छगं च नायव्वं ।
एक्केकं पि य तिविहं, पुरिसित्थिनपुंसगं चेव ॥ ४२६ ॥

परपक्षेऽपि–परपक्षविषयेऽप्यापातवद् द्विविधं ज्ञातव्यम्–मानुष्यं, तैरश्चं च–मनुष्याऽऽपातवत्, तिर्यगापातवच्चेत्यर्थः । एकैकमपि मानुषं, तैरश्चं च त्रिविधम् । तद्यथा–पुरुषवत्, स्त्रीवत्, नपुंसकवच्च ।

पुरिसाऽऽवातं तिविधं, दंडिए कोडुंबिए य पागतिए ।
ते सोयऽसोयवाई, एमेव णपुंसइत्थीसु ॥ ४२७ ॥

पुरुषाऽऽपातवत् त्रिविधम् । तद्यथा–दाण्डिके, कौटुम्बिके, प्राकृते च–दाण्डिकपुरुषाऽऽपातवत्, कौटुम्बिकपुरुषाऽऽपातवत्, प्राकृतपुरुषाऽऽपातवच्चेत्यर्थः दण्डिकाः–राजकुलानुगताः, कौटुम्बिकाः–शेषा महर्द्धिकाः, इतरे प्राकृताः । ते च त्रयोऽपि प्रत्येकं द्विधा–शौचवादिनः, अशौचवादिनश्च । एवमेव अनेनैव प्रकारेण नपुंसकस्त्रियोरपि वक्तव्यम् । किमुक्तं भवति?–नपुंसकाऽऽपातवच्च प्रत्येकं प्रथमतो दण्डिकाऽऽदिभेदतस्त्रिविधं, ततः शौचवाद्यशौचवादिभेदतः पुनरेकैकं द्विविधम् । उक्तं मनुष्याऽऽपातवत् ।

अधुना तिर्यगापातवदाह–

दित्तमदित्ता तिरिया, जहण्णमुक्कोसमज्झिमा तिविहा ।

एमेवित्थिनपुंसा, दुगुंछिअदुगुंछिया नवरं ॥४२८॥

तिर्यञ्चो द्विविधाः-दृप्ताः, अदृप्ताश्च । दृप्ता दर्पवन्तः, अदृप्ताः शान्ताः । ते प्रत्येकं त्रिविधाः-जघन्याः, उत्कृष्टाः, मध्यमाश्च । जघन्या एडकाऽऽदयः, मध्यमा महिषाऽऽदयः, उत्कृष्टा हस्त्यादयः । एते किल पुरुषा उक्ताः । एवमेव स्त्रीनपुंसका अपि वक्तव्याः, नवरं ते दृप्ताः, अदृप्ताश्च प्रत्येकं द्विविधा विज्ञेयाः । तद्यथा-जुगुप्सिताः, अजुगुप्सिताश्च । जुगुप्सिता गर्दभ्यादयः । इतरे अजुगुप्सिताः । उक्तमापातवत् । संलोकवदू मनुष्येष्वेव द्रष्टव्यम् । ते च मनुष्यास्त्रिविधाः । तद्यथा-पुरुषाः, स्त्रियः, नपुंसकाश्च । एकैके प्रत्येकं त्रिविधाः-प्राकृताः, कौटुम्बिकाः, दाण्डिकाश्च । पुनरेकैके द्विविधाः-शौचवादिनः, अशौचवादिनश्च ।

उक्तं च-

"आलोगो मणुएसुं, पुरिसित्थिनपुंसगाण बोधव्वो ।
पायय-कुडुंबि-दंडिय-असोय तह सोयवादीणं" ॥ १ ॥

तत्रैव चाऽऽपातसंलोकौ चरमभङ्गे, द्वितीये आपातः, तृतीये संलोकः । उक्ता भेदप्रभेदयुक्ता एते स्थण्डिलभेदाः । गतं भेदद्वारम् ।

अधुना शोधिद्वारमाह-

मणुयतिरिएसु लहुगा, चउरो गुरुगा य दित्ततिरिएसु ।
तिरियनपुंसित्थीसु य, मणुसित्थिनपुंसगे गुरुगा ॥४२९॥

मनुष्याणां शौचवादिनां पुरुषाणां, तिरश्चां च पुरुषाणामदृप्तानामापाते [गाथायां सप्तमी षष्ठ्यर्थे] स्थण्डिलं व्युत्सृजतः प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः । (गुरुगा य दित्ततिरिएसु त्ति) दृप्तानां तिरश्चामापाते चत्वारो गुरुकाः । तथा-तिर्यग्नपुंसकस्त्रीषु तिर्यग्योनीनां नपुंसकस्त्रीणां दृप्तानामापाते (मणुसित्थिनपुंसगे इति) मनुष्याणां स्त्रीनपुंसकानां शौचवादिनामापाते प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ।

मणुयतिरियपुरिसेसुं, दोसु वि लहुगा तवेण कालेण ।
कालगुरू तवगुरुगा, दोहिँ गुरू अच्छुकंती वा ॥४३०॥

मनुष्याणामशौचवादिनां पुरुषाणां, तिरश्चां सदृप्तानां पुरुषाणामापाते द्वयानामपि पृथक् पृथक् प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, तपसा कालेन च लघवः । मनुष्यस्त्रीनपुंसकानामशौचवादिनामापाते चत्वारो गुरुकाः । द्वाभ्यां गुरुकाः । तद्यथा-कालगुरुकाः, तपोगुरुकाः । अर्द्धापक्रान्तिर्वा द्रष्टव्या । सा चैवम्-तिरश्चां दृप्तानां पुरुषाणामापाते, न (?) मनुष्याणां गृहिणां पार्श्वस्थानां वा पुरुषाणामशौचवादिनामापाते चत्वारो लघुकाः, तिर्यक्स्त्रीनपुंसकानामदृप्तानामजुगुप्सितानां वाऽऽपाते कालगुरुकाश्चत्वारो लघुकाः । तेषामेव तिर्यक्स्त्रीनपुंसकानां दृप्तानां जुगुप्सितानां चाऽऽपाते चत्वारो गुरुलघुकाः, तपोगुरवः । मनुष्यस्त्रीनपुंसकानामशौचवादिनामपि त एव तपोगुरवः, चत्वारो लघुकाः । इयमेकेषामाचार्याणां मतेनार्द्धापक्रान्तिरुपदर्शिता ।

सम्प्रति भाष्यकारोऽन्यथाऽर्द्धापक्रान्तिमाह-

पागएँ कोडुंबीए, दंडिएँ अस्सोयसोयवादीसु ।
चउगुरुगा जमलपया, अहवा चउ छच्च गुरु-लहुगा ॥४३१॥

प्राकृते, कौटुम्बिके, दाण्डिके च प्रत्येकमशौचवादिनि चार्द्धापक्रान्तिरवसेया । सा चैवम्-प्राकृतानामशौचवादिनां पुरुषाणामापाते चत्वारो लघुकाः, तपसा कालेन च लघवः । तेषामेव शौचवादिनां प्राकृतपुरुषाणामापाते त एव चत्वारो लघवः, कालगुरुकाः । कौटुम्बिकानामशौचवादिनां पुरुषाणामापाते कालगुरुकाः, चत्वारो लघवः । तेषामेव कौटुम्बिकपुरुषाणां शौचवादिनामापाते चत्वारो लघवः, तपोगुरुकाः । दाण्डिकपुरुषाणामशौचवादिनामापाते तपोगुरवश्चतुर्लघवः । तेषामेव शौचवादिनामापाते चतुर्लघवो, द्वाभ्यां गुरुकास्तपसा कालेन च ।

उक्तं च-

" पागइयसोयवादी-पुरिसाणं लहुग दोहि वी लहुगा ।
ते चेव य कालगुरू, तेसिं चिय सोयवादीणं ॥ १ ॥
ते च्चिय लहु कालगुरू, कोडुंबीणं असोयवादीणं ।
तेसिं चिय ते चेव उ, तवगुरुगा सोयवादीणं ॥ २ ॥
दंडिएँ असोयम्मि च्चिय, सोयम्मि य दोहि गुरुग चउलहुगा ।
एस पुरिसाण भणिओ, इत्थिनपुंसाण वी एवं ॥ ३ ॥ "

(चउगुरुगा जमलपया इति) यमलपदानि स्त्रीनपुंसकलक्षणानि चतुर्गुरुकाणि वक्तव्यानि । तानि चैवम्-प्राकृतस्त्रीणामशौचवादिनीनामापाते चत्वारो गुरुकाः, द्वाभ्यां लघवः । तद्यथा-तपसा, कालेन च । तासामेव शौचवादिनीनां चत्वारो गुरुकाः । कौटुम्बिकस्त्रीणामशौचवादिनीनामापाते कालगुरवश्चत्वारो गुरुकाः । तासामेव शौचवादिनीनामापाते तपोगुरुकाश्चत्वारो गुरवः । एवमेव दाण्डिकस्त्रीणामशौचवादिनीनामपि, शौचवादिनीनां च चत्वारो गुरुकाः; द्वाभ्यां गुरवः-तपसा, कालेन च । एवमेव नपुंसकानामप्यापाते वक्तव्यम् । अत्र च मतान्तरमाह-अथवा स्त्रीणामापाते चतुर्गुरुकाः, उक्तप्रकारेण तपसा कालेन च विशेषिताः, नपुंसकानामापाते षड् लघवो यथोक्तक्रमेण तपःकालविशेषिताः ।

सम्प्रति तिर्यगापातमधिकृत्यार्द्धापक्रान्तिमाह-

तिरिएसु वि एवं चिअ, अदुगुंछदुगुंछदित्तऽदित्तेसु ।
अमणुस्सेयर लहुगो, संजतिवग्गम्मि चउगुरुगा ॥४३२॥

एवमेवाऽनेनैव प्रकारेण तिर्यग्जुगुप्सिताजुगुप्सितदृप्तादृप्तेष्वर्द्धापक्रान्तिरवसेया । तद्यथा-प्राकृतपुरुषगृहीतानामदृप्तानां तिर्यक्पुरुषाणामापाते चत्वारो लघवः, द्वाभ्यां लघुकाः, तपसा कालेन च । तेषामेव च दृप्तानां त एव चत्वारो लघवः कालगुरुकाः । कौटुम्बिकपरिगृहीतानामपि तिर्यक्पुरुषाणामदृप्तानामापाते च त एव कालगुरुकाश्चत्वारो लघवः । तेषामेव दृप्तानां तपोगुरवश्चत्वारो लघुकाः । दाण्डिकपरिगृहीतानां तिर्यक्पुरुषाणामदृप्तानामापाते त एव चत्वारो लघवः, तपोगुरुकाः । तेषामेव दृप्तानामापाते चतुर्लघुकाः, द्वाभ्यां गुरवः-तपसा, कालेन च । तथा प्राकृतपरिगृहीतानां स्त्रीणां नपुंसकानां च तिरश्चामजुगुप्सितानामापाते चत्वारो गुरुकाः, द्वाभ्यां लघवः-तपसा, कालेन च । तेषामेव जुगुप्सितानामापाते चत्वारो गुरुकाः कालगुरवः । कौटुम्बिकपरिगृहीतानां तिर्यक्स्त्रीनपुंसकानामापाते त एव कालगुरुकाश्चत्वारो गुरवः । तेषामेव च जुगुप्सितानामापाते चत्वारो गुरुकास्तपोगुरवः । एवमेव दाण्डिकपरिगृहीतानामपि तिर्यक्स्त्रीनपुंसकानामदृप्तानामापाते द्रष्टव्याः । दृप्तानामापाते चत्वारो गुरुकाः, द्वाभ्यां गुरवः-कालेन, तपसा च । उक्तास्तिर्यक्ष्वप्यर्द्धापक्रान्तिः । सम्प्रति स्वपक्षाऽऽपाते शोधिमाह-अमनोज्ञानामसांभोगिकानां सांभोगिकानां संविग्नानामितरेषां वाऽसंविग्नानामापाते प्रायश्चित्तं लघुको मासः । संयतीवर्गे समापतति संयतीनामापाते चत्वारो गुरुकाः ।

सम्प्रति प्रागुक्तमेवार्थमुपदिदर्शयिषुराह-

जइतिरियपासंडे-मणुयासोएहिँ दोहिँ लहुलहुगा ।
कालगुरू तवगुरुगा, दोहिँ गुरू अच्छुकंति दुगे ॥ ४३३ ॥

अत्रेष्वसंसु तिर्यक्षु पुरुषेषु, मनुष्येषु गृहस्थेषु पाखण्डिषु चाशौचवादिषु आपतत्सु चत्वारो लघुकाः, द्वाभ्यां लघवः । मनुष्यस्त्रीनपुंसकानां शौचवादिनामापाते चत्वारो गुरुकाः, द्वाभ्यां गुरवः । तद्यथा-तपोगुरुकाः, कालगुरुकाश्च । शेषेषु तु तिर्यङ्मनुष्यभेदेषु द्विके तपःकालयक्षेऽर्द्धापक्रान्तिः, क्वचित्तपोगुरुका, क्वचित्कालगुरुकेत्येवंरूपाऽवसातव्या । सा च प्राक् दर्शिता । गतं शोधिद्वारम् ।

इदानीमपायद्वारमाह-

अमणुन्नेतरगमणे, वितहाऽऽयरणम्मि होइ अहिगरणं ।
पउरदवकरण दट्ठुं, कुसीले सेहाऽऽदिगमणं च ॥ ४३४ ॥

अमनोज्ञानामसांभोगिकानां संविग्नानामितरेषां चासंविग्नानामागमने आपाते सति वितथाऽऽचरणे दृश्यमाने भवति परस्परमधिकरणम् । इयमत्र भावना-आचार्याणां परस्परमन्यथा सामाचार्यः, ततोऽसांभोगिकानां सामाचारी वितथाऽऽचरणदर्शने नैषा सामाचारीति परस्परमधिकरणं तु वर्त्तते । इतरे कुशीलाः पार्श्वस्थाऽऽदयः, ते प्रचुरेण वारिणा पुनःप्रक्षालनं कुर्वन्ति, ततस्तेषां कुशीलानां प्रचुरद्रवेण पुतनिर्लेपकरणं दृष्ट्वा शैक्षकाणाम्, आदिशब्दात् शौचवादिनां मन्दधर्मिणां च गमनं तेषां समीपे भवति ।

निग्गंथाणं पढमं, सेसा खलु होंति तेसिँ पडिकुट्ठा ।
दव अप्प कलुस असती, अवण्ण पुरिसेसु पडिसेहो ॥ ४३५ ॥

यत एवमापाते दोषास्तस्मान्निर्ग्रन्थानां प्रथमं स्थण्डिलमनापातमसंलोकमित्येवंरूपं, शेषाणि त्रीणि खलु तेषां निर्ग्रन्थानां प्रतिकुष्टानि प्रतिषिद्धानि । अथ परपक्षापाते, तत्रापि पुरुषाऽऽपातं व्रजति तदा नियमतो द्रवमकलुषं परिपूर्णं च नेतव्यम् । अन्यथा द्रवे पानीये अल्पे कलुषे वा, यदि वा-असति-विना पानीयेन गतो भवेत्, ततस्ते दृष्ट्वाऽवर्णमश्लाघां कुर्युः, यथा-अशुचयोऽमी, न केवलमवर्णं कुर्युः किं तु प्रतिषेधोऽपि तैः क्रियते, यथा-माऽकोऽप्यमीषामशुचीनां भक्तं, पानं वा दद्यात् । एष पुरुषेषु पुरुषाऽऽपाते दोषः ।

सम्प्रति स्त्रीनपुंसकाऽऽपाते दोषानाह-

आय-पर-तदुभए वा, संकाईया हवंति दोसा उ ।
पंडित्थिसंगे गहिते, उड्डाहो पडिगमणमादी ॥ ४३६ ॥

स्त्रीणां नपुंसकानां वाऽऽपाते आत्मनि, परे, तदुभयस्मिन् शङ्काऽऽदयो दोषा भवन्ति । तत्राऽऽत्मनि साधुः शङ्काविषयः क्रियते, यथा-एष किमप्युद्भ्रामयति । परैः स्त्री, नपुंसको वा शङ्क्यते-यथैते पापकर्माण एनं साधुं कामयन्त इति । तदुभयस्मिन्, यथा-द्वावप्येतौ परस्परमत्र मैथुनार्थमागतौ । तदेवमुक्ताऽऽशङ्का । आदिशब्दादवर्णाऽऽदिदोषपरिग्रहः । तथा-स्त्र्यापाते नपुंसकाऽऽपाते वा स साधुरात्मपरोभयसमुत्थेन दोषेण स्त्रिया पण्डकेन वा सार्द्धं सङ्गं मैथुनं कुर्यात् । तत्र केनचिद् रागेण दृष्ट्वा गृहीतः स्यात्, ततः प्रवचनस्योड्डाहः, तथा स उड्डाहित इति कृत्वा प्रतिगमनाऽऽदीनि कुर्यात् ।

अस्मिन्नेव चतुर्थे स्थण्डिले तिर्यगापाते दोषानाह-

आहणणादी दित्ते, गरहियतिरिएसु संकमादी य ।
एमेव य संलोए, तिरिए वज्जित्तु मणुएसुं ॥ ४३७ ॥

इमे दृप्ततिर्यगापाते आहननाऽऽदयो दोषाः, आहननं शृङ्गाऽऽदिभिस्ताडनम्, आदिशब्दान्मूर्च्छागमनमारणाऽऽदिपरिग्रहः । गर्हितेषु तिर्यक्षु गर्हिततिर्यक्स्त्रीनपुंसकाऽऽपाते शङ्का मैथुने, आदिशब्दात् प्रतिसेवितापीत्यादयो दोषाः । यथा-आपाते दोषा उक्ताः, एवमेव संलोकेऽपि तिर्यग्योनिकान् वर्जयित्वा मनुष्येषु द्रष्टव्याः । किमुक्तं भवति?-एषां संलोके नास्ति कश्चिदनन्तरोदितो दोषः, मनुष्याणां तु स्त्रीपुरुषनपुंसकानां संलोके ये आपाते दोषास्ते वेदितव्याः ।

यदि कदाचिदात्मपरोभयसमुत्था मैथुनदोषा न भवेयुः, तथाऽप्यमी संभाव्यन्ते-

जत्थऽम्हे पासामो, जत्थ य आयरइ नातिवग्गो णे ।
परिभवकामेमाणो, संकेयगादित्तको वा वि ॥ ४३८ ॥

यत्र वयममुमागच्छन्तं पश्यामो, यत्र वाऽस्माकं ज्ञातिवर्गो निरन्तरं संचरति विचारार्थं गच्छति, तत्राऽस्माकं परिभवं कामयमानो, दत्तसंकेतो वा समागच्छति ।

किं च-

कलुस दवे असतीए, पुरिमाऽऽलोए हवंति दोसा उ ।
पंडित्थीसु वि य तहा, खुद्धे वेउव्विए मुच्छा ॥ ४३९ ॥

द्रवे पानीये कलुषे, असति अविद्यमाने च पुरुषाऽऽलोके दोषाः प्रागुक्ता अवर्णाऽऽदयो भवन्ति । तथा-पण्डा नपुंसकाः, पण्डेषु स्त्रीषु च संलोकमानेषु क्षुब्धे, वैकुर्विके वा सागारिके दृष्टे मूर्च्छा भवेत् । इयमत्र भावना-नपुंसकः स्त्री वा सागारिकं स्वभावत एवातिस्थूलं लम्बं च, यदि वा-कर्षायितम्, अथवा-तद्दोषेण वैकुर्विकं दृष्ट्वा तद्विषयाभिलाषमूर्च्छामापन्नास्तं साधुमुपसर्गयेत्, तस्मात् त्रयाणामपि संलोको वर्जनीयः । गतं चतुर्थं स्थण्डिलम् ।

इदानीं तृतीयमापातवदसंलोकमधिकृत्य दोषानाह-

आयसमुत्था तिरिए, पुरिसे दवकलुस असति उड्डाहो ।
आयोभय इत्थीसु अ, आगच्छंते य आसंका ॥ ४४० ॥

तिर्यगापाते आत्मसमुत्था दोषाः । तद्यथा-स्त्रीणां नपुंसकानां चाऽऽपाते मैथुनाऽऽशङ्काऽऽदयो दोषाः, इमानां तिर्यक्पुरुषाणामापाते आत्मन उपघातः । तथा-पुरुषे मनुष्यपुरुषाऽऽपाते द्रवे कलुषे, असति वा प्रवचनस्योड्डाहः । तथा-स्त्रीषु, चशब्दान्नपुंसकेषु आगच्छत्सु च आत्मोभयविषया, आत्मोभयग्रहणं परस्योपलक्षणम्, आत्मपरोभयविषया आशङ्का । सा च प्रागेव भाविता ।

आरायदोस तइए, विइए संलोयतो भवे दोसा ।
ते दो वि नत्थि पढमे, तहि गमणं तत्थिमा मेरा ॥ ४४१ ॥

तृतीये स्थण्डिले आपातदोषाः, द्वितीये च संलोकतो दोषा भवन्ति वेदितव्याः । ते च द्वेऽपि-आपातदोषाः, संलोकदोषाश्च प्रथमे स्थण्डिले न सन्ति, ततस्तत्र गमनं विधेयम् । तत्रेयं मर्यादा ।

तामेवाऽऽह-

कालमकाले सन्ना, कालो तइयाए सेसगमकालो ।

पढमापोरिसि आपु-च्छपाणगमपुप्फि अन्नदिसिं ॥४४२॥

द्विविधा संज्ञा। तद्यथा-काले, अकाले च। तत्र कालस्तृतीयस्यां पौरुष्यां, शेषकं सर्वमपि प्रातःप्रभृतिकमकालः। तत्र तावद् काले संज्ञायां विधिरुच्यते-कथं गन्तव्यम्?, तत्र यदि प्रथमायां पौरुष्यां भवेत् तदा पात्रमुद्ग्राह्य पानकनिमित्तं व्रजति, अथ नोद्ग्राहयति पात्रं,ततो लोको जानीयात्; यथा-एष बहिर्गमननिमित्तं पानीयं गृह्णाति, ततश्चतुर्थं रसिकं न दद्यात्। अपि चोद्ग्राहिते पात्रेऽयमधिको गुणः-कोऽपि श्राद्धो ग्रामान्तरं, नगरान्तरं वा गन्तुकामः प्रधावितः, अन्नुद्ग्राहितायां संज्ञायां तं प्रतिलाभयेत्, सोऽपि लाभयेत्, सोऽपि लाभो भवति, शङ्काऽपि च नोपजायते, यथा-एष बहिर्गमनाय पानकनिमित्तं हिण्डते। स पुनः कीदृशं पानीयं गृह्णीयात्?,अत आह-अपुष्पितमच्छं सुगन्धं चतुर्थरसिकं न भवति,तादृशं तत उष्णोदकाऽऽदि गृह्णीयात्। (अन्नदिसिंमिति) यस्यां दिशि संज्ञाभूमिस्तस्यां पानकस्य न गन्तव्यम्। यदि पुनस्तस्यां गच्छति, ततोऽतिरिक्तं ग्रहीतव्यं, यदि द्वौ जनौ तदा, यथा तृतीयस्याप्युद्धरति। किं बहुना?, यावन्तो व्रजन्ति तावतां योग्यमतिरिक्तं तथा गृह्णाति यथा एकस्योद्धरति। एवं पानीयं गृहीत्वा समागतो बहिः प्रतिश्रयस्य पादौ प्रमार्ज्य दण्डकं स्थापयित्वा ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य आलोच्य गुरोः पानकं दर्शयित्वा आपृच्छति, गुरुमापृच्छ्य संज्ञाभूमिं व्रजामीति गच्छति। तत्र जघन्योऽपि कश्चित् व्रजति, तर्हि यथा एकस्योद्धरति तावत्प्रमाणमात्रके पानकं गृह्णाति, तच्चोद्ग्राहितं पात्रमन्यस्य समर्प्य दण्डकं प्रमार्ज्य आवश्यकीं कृत्वा व्रजति। यथोक्तविधेरकरणे सर्वत्र प्रायश्चित्तं मासलघु।

उक्तमेवार्थं स्पष्टतरमुपदर्शयति-

अतिरेगगहणउग्गा-हियम्मि आलोय पुच्छिउं गच्छे।
एसा उ अकालम्मी, अहिंडिए हिंडिए काले ॥४४३॥

पात्रे उद्ग्राहिते एकजनातिरेकेण पानीयस्य ग्रहणं कर्त्तव्यं, कृत्वा च गुरोः पुरत आलोच्य गुरुमापृच्छ्य संज्ञाभूमिं गच्छेत्। एषा अकाले संज्ञा उक्ता। संप्रति कालसंज्ञा वक्तव्या। काले कालसंज्ञा (अहिंडिते हिंडिते वा) इयमत्र भावना-तृतीयस्यां पौरुष्यां कालस्य प्रतिक्रमणे यावन्नाद्यापि भिक्षावेला भवति तावत् संज्ञाभूमिं व्रजति। अथाहिण्डिते समुद्दिष्टे भाजनेषु च प्रक्षालितेषु यावन्नावगाहते चतुर्थपौरुषीकालः, तावद्गच्छति, अथोत्सूरे भिक्षावेला, चिरं वा हिण्डितः, ततोऽवगाढायामपि चरमपौरुष्यां गच्छति।

तत्र को विधिरित्याह-

कप्पेऊणं पाए, एक्केकस्स उ दुवे पडिग्गहगे।
दाउं दो दो गच्छे, तिण्हट्ठ दवं च घेत्तूणं ॥४४४॥

पात्राणि कल्पयित्वा विशोध्य त्रीन् कल्पान् पात्राणां निर्लेपनाय दत्त्वा एकैकस्याऽऽत्मीयाऽऽत्मीयसंघाटकस्य द्वौ द्वौ पतद्ग्रहकौ दत्त्वा द्वौ द्वौ संज्ञाभूमिं गच्छेयाताम्। कथमित्याह-त्रयाणामर्थाय द्रवं गृहीत्वा, पानकं हि तावत्प्रमाणं ग्रहीतव्यं यावत्पश्चादेकस्योद्धरति। इयमत्र भावना-ये ये संघाटकास्तेषां तेषामेको द्वौ पतद्ग्रहौ धारयति, द्वितीयश्चान्येन समं याति, तेषु चाऽऽगतेषु ये प्रागितरे स्थितास्ते व्रजन्ति, इतरे चाऽऽगताः पात्राणि धारयन्ति,यावन्तश्च गच्छन्ति तावतां योग्यमेकातिरिक्तं पानकं मात्रके गृह्णन्ति।

कथं पुनस्ते गच्छन्तीत्यत आह-

अजुगलिया अतुरंता, विगहारहिया वयंति पढमं तु।
निसिइत्तु डगलगहणं, आवडणं वच्चमासज्ज ॥ ४४५ ॥

अयुगलिता न समश्रेणिकयुगलरूपतया स्थिताः, अत्वरिताः, विकथारहिताः स्त्रीभक्ताऽऽदिकथा अकुर्वाणाः प्रथममनापातासंलोकलक्षणं स्थण्डिलं व्रजन्ति। तत्र निषद्य उपविश्य, नोर्द्ध्वस्थिता इत्यर्थः। उर्द्ध्वस्थितानां सम्यक्प्रक्षेपणासंभवात्। डगलग्रहणं कुर्वन्ति-ये भूमावसंबद्धाः पुनर्निर्लेपनाय लेष्टुकास्ते डगलकाः, तानाददते। आदाय चैतेषां भूमावापातनं कुर्वन्ति येन वृश्चिकाऽऽदिस्तेऽपसरति। उक्तं च-"ते डगले छिद्दिया-वेइ, तत्तो जो तत्थ विच्छुगाई, सो अवसरति।" इति। तेषां च डगलकानां प्रमाणं वर्चः परीत्यमासाद्य प्रतिपत्तव्यं, यो भिन्नवर्चाः स त्रीन् डगलकान् गृह्णाति, अन्यो त्वेकं वा।

आलोएऊण दिसा, संडासगमेव संपमज्जित्ता।
पेहियपमज्जिएसु य, जयणाए थंडिले णिसिरे ॥४४६॥

स्थण्डिलं गत्वा तत्र दिशामापातसंलोकवर्जनार्थमालोकनं कुर्यात्, दिश आलोक्य तदनन्तरं संडासकं संप्रमार्ज्य प्रेक्षितेषु प्रमार्जितेषु च तत्र प्रदेशेषु स्थण्डिलेषु पुरीषं निसृजेत् व्युत्सृजेत्। कथमित्याह-यतनया "दिसिपवणगामसूरिय।" इत्यादिवक्ष्यमाणलक्षणया तत्पुनरनापातासंलोकं स्थण्डिलमेभिर्वक्ष्यमाणैर्दशभिः स्थानैः विशुद्धं ज्ञातव्यम्।

तान्येवाऽऽह-

अणावायमसंलोए, परस्सऽणुवघातिए।
समे अज्झुसिरे यावि-ऽचिरकालकयम्मि य ॥४४७॥
वित्थिण्णे दूरमोगाढे-ऽनासण्णे बिलवज्जिए।
तसपाणबीयरहिए, उच्चाराऽऽदीणि वोसिरे ॥ ४४८॥

अनापातमसंलोकं,परस्यानुपघातिकं, समम्, अशुषिरम्, अचिरकालकृतं, विस्तीर्णं, दूरमवगाढम्,अनासन्नं,-बिलवर्जितं, त्रसप्राणबीजरहितं यत् स्थण्डिलं तत्र उच्चाराऽऽदीनि उच्चारप्रस्रवणप्रभृतीनि व्युत्सृजेत्। एष एककः संयोगो दर्शितः।

संप्रति द्विकाऽऽदिसंयोगानुपदर्शयति-

इगदुगतिगचउपंचग-छगसत्तगअट्ठनवगदसगेहिं।
संजोगा कायव्वा, भंगसहस्सं चउव्वीसं ॥ ४४९ ॥

अमीषामनन्तरोदितानां दशानां पदानामेकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताष्टनवदशकैः संयोगाः कर्त्तव्याः, तेषु च भङ्गाः सर्वसंख्यया चतुर्विंशत्यधिकं सहस्रम्। अथ कस्मिन् संयोगे कियन्तो भङ्गकाः?। उच्यते-इह भङ्गानामानयनकरणमिदम्-दशाऽऽदयोऽङ्का एकैकेन हीनास्तावत् स्थाप्यन्ते यावत् पर्यन्ते एकः, ततस्ते यथाक्रममेभी राशिभिर्गुणयितव्याः। तद्यथा-दशक एककेन, नवकः पञ्चभिः,अष्टकः पञ्चदशभिः, सप्तकस्त्रिंशता, षट्को द्वाचत्वारिंशता, पञ्चकोऽपि द्वाचत्वारिंशता, चतुष्कस्त्रिंशता, त्रिकः पञ्चदशभिः, द्विकः पञ्चकेन, एकक एककेन। स्थापना-

१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१
१	५	१५	३०	४२	४२	३०	१५	५	१

अमीषां चामीभिर्गुणाकारैर्गुणने जाता एकाकाऽऽदिसंयोगेष्वियं भङ्गसंख्या। तद्यथा-एककसंयोगे दश। द्विकसंयोगे पञ्चचत्वारिंशत्। त्रिक-

संयोगे विंशत्युत्तरं शतम्। चतुष्कसंयोगे द्वे शते दशोत्तरे। पञ्चसंयोगे द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके। षट्संयोगे द्वे शते दशोत्तरे। सप्तकसंयोगे विंशं शतम् । अष्टकसंयोगे पञ्चचत्वारिंशत् । नवकसंयोगे दश । दशकसंयोगे एकः । एकं च वसत्यादिषु विविक्ते प्रदेशे स्थण्डिलमिति सर्वभङ्गसंख्या एकत्र मीलयित्वा रूपाधिका क्रियते, ततश्चतुर्विंशं भङ्गसहस्रं भवति ।

"समभंगगणणकरणं, दसगाऽऽति ओसरंत जावेक्को।
एए उ गुणेयव्वा, छमेहिँ रासीहिँ जहकमसो ॥ १ ॥
एक्कग पंचग पन्नर, तीसा बायाल पंच जा ठाणा ।
परतो बायालीसा, पडिलोममवेहि जावेक्को ॥ २ ॥
एक्कगसंजोगादी, गुणिया लद्धा हवंति एमेते ।
मिलिया रूवाहियया, भंगसहस्सं चउव्वीसं ॥ ३ ॥"

संप्रत्येतानि दश शुद्धानि पदानि व्याख्यातव्यानि, यत्र यत्र दोषास्ते तत्र तत्र कथनीयाः, तत्राऽऽपातवत् संलोकवच्च पूर्वं व्याख्यातम् । इदानीं परस्यौपघातिकमाह-

आया पवयण संजम, तिविहं उवघातियं मुणेयव्वं ।
आराम वच्च अगणी, घायाऽऽदमुई य अन्नत्य ॥४५०॥

इह पूर्वार्द्धपदानां पश्चार्द्धपदानां च यथाक्रमं योजना । सा [illegible]-औपघातिकमुपघातप्रयोजनकं स्थण्डिलं त्रिविधं ज्ञातव्यम् । तद्यथा-आत्मोपघाति, प्रवचनोपघाति, संयमोपघाति च । तत्राऽऽत्मोपघाति आरामः, तत्र हि संज्ञां व्युत्सृजतो घातोऽऽदि पिट्टनाऽऽदि । प्रवचनोपघाति-वर्चो गृहं, तद्धि जुगुप्सितमशुच्यात्मकत्वात्, ततस्तत्र संज्ञाव्युत्सर्गे ईदृशा एते इति प्रवचनोपघातः । संयमोपघाति-अग्निरग्निस्थानं, तत्र हि संज्ञाव्युत्सर्गे ते अग्न्यारम्भिणोऽन्यत्राऽस्थण्डिले अग्निस्थानं कुर्वन्ति, त्यजन्ति वा तां संज्ञामस्थण्डिले ।

संप्रति विषमस्थण्डिले दोषानाह-

विसमपलोट्टणि आया, इयरस्स पलोट्टणम्मि छक्काया ।
झुसिरम्मि विच्छुगादी, उभयक्कमणे तसादीया ॥४५१॥

विषमे स्थण्डिले साधुः प्रलोटेत, पतेदिति भावः । तत्र चाऽऽत्मा विराध्येत । इतरस्य पुरीषस्य, प्रस्रवणस्य च प्रलोटने षट्काया विराध्यन्ते । तथाहि-प्रलोटमेवेतत्-पुरीषं, प्रस्रवणं वा प्रलोटेन षट्कायान् विराधयति । एषा संयमविराधना । शुषिरे संज्ञाऽऽदि व्युत्सृजतो वृश्चिकाऽऽदिभिरात्मनो विराधना । आदिशब्देन सर्पाऽऽदिपरिग्रहः । उभयं संज्ञाप्रस्रवणं, तेनाऽऽक्रमणे त्रसाऽऽदयः त्रसस्थावरप्राणा विराध्यन्ते । एषा संयमविराधना।

अथ कीदृशं चिरकालकृतं स्थण्डिलमत आह-

जे जम्मि उउम्मि कया, पयावणादीहिँ थंडिल्ला ते उ ।
होंति इयरे चिरकया, वासावासे य बारसगं ॥ ४५२ ॥

यानि स्थण्डिलानि यस्मिन् ऋतौ प्रतापनाऽऽदिभिः कृतानि तानि तस्मिन्नचिरकालकृतानि भवन्ति । यथा-हेमन्तकृतानि हेमन्त एवाचिरकालकृतानि । इतराणि तु ऋत्वन्तरव्यवहितानि चिरकालकृतानि, अस्थण्डिलानि तानीति भावः । यत्र पुनरेकं वर्षारात्रं सगोधने ग्रामे उषितस्तत्र द्वादशकं द्वादश संवत्सराणि स्थण्डिलं [illegible], परमस्थण्डिलं भवति ।

सम्प्रति विस्तीर्णमाह--

हत्थाऽऽयामं चउरंस, जहण्ण उक्कोस जोयण विच्छिन्नं ।
चउरंगुलप्पमाणं, जहन्नयं दूरमोगाढं ॥ ४५३ ॥

जघन्यं विस्तीर्णं चतुरस्रं चतसृष्वपि दिक्षु हस्ताऽऽयामम, उत्कृष्टं द्वादशयोजनानि, तच्च चक्रवर्तिस्कन्धावारनिवेशे प्रतिपत्तव्यम् । दूरावगाढमाह--यत्राधस्ताच्चतुरङ्गुलप्रमाणमचित्तम्-चत्वारि अङ्गुलान्यचित्ता भूमिः, तज्जघन्यं दूरमवगाढम्, अर्थात्पञ्चाङ्गुलप्रभृतिकमाचत्तं यस्याधस्तात्तदुत्कृष्टं दूरमवगाढम् ।

साम्प्रतमासन्नमाह-

दव्वाऽऽसन्नं भवणा-दियाण तहियं तु संजमाऽऽयाए ।
आयापवयणसंजम-दोसा पुण भावआसन्ने ॥४५४॥

आसन्नं द्विविधम्-द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्याऽऽसन्नं भवनाऽऽदीनां निकटम । आदिग्रहणाद् देवकुलानां, ग्रामस्य, पथो, वृक्षस्य च परिग्रहः । यस्य हि वृक्षस्य हस्तिपादप्रमाणस्कन्धः, तस्य समन्ततो हस्तो वर्जयितव्य । तत्र यदि द्रव्याऽऽसन्ने व्युत्सृजति, ततः संयमे, आत्मनि च विराधना । तत्र यद् गृहाऽऽदीनामासन्नं तत् स्थण्डिलं परित्यज्यान्यत्र स्थण्डिलं कुर्युः, अथ वा पानीयेन तत्प्रक्षालयेयुः । ततः संयमविराधना । आत्मविराधना पिट्टनाऽऽदिजाता । भावाऽऽसन्नं नाम तावत्तिष्ठति, यावत्संज्ञा भृशम् नागच्छति, ततोऽनधिसहः स्थण्डिलं गन्तुमशक्नुवन् अस्थण्डिले, भवनाऽऽदीनां वा प्रत्यासन्ने व्युत्सृजेत् । तत्र चाऽऽत्मविराधना, संयमविराधना च प्राग्वत् । अत्राऽस्थण्डिलमिति कृत्वा [illegible]को वा निष्ठुरीति संज्ञां धारयति आत्मविराधना, मरणस्य ग्लानत्वस्य चावश्यं [illegible]भावात् । अनाधिसहेन उत्सता तेन लोकपुरतोऽस्थाने संज्ञाव्युत्स[illegible]र्गे पुनर्जङ्घाऽऽदिक्षेपणे वा प्रवचनोपघातः ।

सविले, त्रसप्राणबीजोपेते दोषानाह-

होंति विले दो दोसा, तसेसु बीएसु वा वि ते चेव ।
संजोगतो य दोसा, मूलगमा होंति सविसेसा ॥ ४५५ ॥

विले संज्ञां व्युत्सृजतो द्वौ दोषौ । तद्यथा-आत्मविराधना, संयमविराधना च । तत्र यदा विले प्रविशन्त्या संज्ञया प्रस्रवणेन तद्गता जीवा बाध्यन्ते तदा संयमविराधना । सर्पाऽऽदिभक्षणे आत्मविराधना । त्रसेषु, बीजेषु च तावेव द्वौ दोषौ संयमाऽऽत्मविराधनालक्षणौ । तत्र त्रसेषु बीजेषु प्राणव्यपरोपणात्संयमविराधना सुप्रतीता । त्रसेष्वात्मविराधना, तेभ्य उपद्रवसंभवात् । बीजेष्वात्मविराधना-बीजगृकाऽवयवानामतितीक्ष्णानां पदेषु लग्नतः पादप्रलोटनतः पततो वा । तदेवमेकैकस्मिन् वर्जनीये स्थण्डिले दोषा उक्ताः । अस्माच्च मूलगमादेकैकसंयोगरूपात् द्विकत्रिकाऽऽदिपदानां संयोगतः सविशेषा बहुबहुतरका भवन्ति ज्ञातव्याः । द्विकसंयोगे द्विगुणास्त्रिकसंयोगे त्रिगुणा यावद्दशसंयोगे दशगुणा इति ।

सम्प्रति प्रागुक्तमपि प्रायश्चित्तमन्याऽऽचार्यपरिपाट्या, मनाक् विशेषप्रदर्शनार्थतया च पुनराह--

पंथम्मि य आलोए, झुसिरम्मि तसेसु चेव चउलहुगा ।
पुरिसावाए य तहा, तिरियावाए य ते चेव ॥ ४५६ ॥

पथ आसन्ने पुरुषाणामालोके, शुषिरे, त्रससंकुले च संज्ञां व्युत्सृजतः प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः । तथा सर्वमनुष्यपुरुषाऽऽपाते, सर्वतिर्यक्पुरुषाऽऽपाते च प्रत्येकं त एव चत्वारो लघवः । सर्वग्रहणं मनुष्येषु कौटुम्बिकाऽऽदिभेदपरिग्रहार्थम् ।

तिर्यङ्मनुष्याऽऽदिभेदसंग्रहार्थमाह-

इत्थिनपुंसाऽऽवाए, आवासम्मे बिले य चउगुरुगा ।
पणगं लहुयं गुरुगं, बीए सेसेसु मासलहुं ॥ ४५७ ॥

सर्वासां प्राकृताऽऽदिभेदभिन्नानां स्त्रीणामापाते च, तथा आवासके बिलसहिते च स्थण्डिले व्युत्सृजतः प्रत्येकं चत्वारो गुरुकाः, प्रत्येकबीजसंकुले स्थण्डिले लघूनि पञ्चरात्रिन्दिवानि, अनन्तबीजसंकुले गुरुकाणि,शेषेष्वशुद्धेषु स्थण्डिलेषु मासलघु। यच्चान्यदा पर्यन्ते तदपि सर्वमाप्नोति । यत्रासामाचारीकरणं तत्रापि मासलघु ।

अपमज्जणा अपडिले-हणा य दुपमज्जणा दुपडिलेहा ।
तिएँ मासिय पणगं लहु,कालतवे वा चरिमसुद्धो ॥४५८॥

संज्ञां व्युत्स्रष्टुकामो न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति मासलघु, कालगुरु, तपोलघु । न प्रमार्जयति प्रत्युपेक्षते मासलघु, द्वाभ्यां लघु । एवं त्रिकेषु स्थानेषु मासिकं लघु, कालेन तपसा चोक्तप्रकारेण विशेषितम् । अथ प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति, तत्र दुष्प्रत्युपेक्षिते दुष्प्रमार्जिते रात्रिन्दिवपञ्चकं लघु, दुष्प्रत्युपेक्षिते प्रमार्जिते रात्रिन्दिवपञ्चकं लघु, तपोलघु, कालगुरु । प्रत्युपेक्षिते दुष्प्रमार्जिते रात्रिन्दिवपञ्चकं लघु, द्वाभ्यां लघुकम् । एवं त्रिकेषु त्रिस्थानेषु पञ्चकं, कालेन तपसा चोक्तप्रकारेण विशेषितं, चरमेषु प्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितमित्येवंरूपे भङ्गे शुद्धो न प्रायश्चित्तभाक् ।

खुड्डे धावणे कुसिरे, तह खुत्तो अपडिलेहणा लहुगो ।
घरवाविवच्चगोवय-ठिअमल्लगछड्डणे लहुगा ॥ ४५९ ॥

इयमपि गाथाऽन्याऽऽचार्यपरिपाटिसूचिका, ततो न पुनरुक्तता, नापि विरोधो, मतान्तरत्वात् । क्षुल्लकं स्तोकं यदि धावनं प्रक्षोटनमित्यर्थः। तत्र तथा शुषिरे स्थण्डिले तथाकृतोऽप्रत्युपेक्षणायां प्रत्येकं प्रायश्चित्तं लघुको मासः । तथा-गृहे यदि संज्ञां व्युत्सृजति वाप्यां वर्चसि गृहे वर्चस उपरि वा गोष्पदे वा ऊर्ध्वस्थितो वा तथा मल्लके व्युत्सृज्य यदि परिष्ठापयति तदा सर्वेष्वेतेषु स्थानेषु प्रायश्चित्तं प्रत्येकं चत्वारो लघवः । गतमपायद्वारम् ।

इदानीं वर्जनाद्वारमाह-

दिसिपवणगामसूरिय-छायाएँ पमज्जिऊण तिक्खुत्तो ।
जस्सुग्गहो ति काऊ-ण वोसिरे आयमे वा वि ॥४६०॥

उत्तरदिक्,पूर्वदिक् च लोके पूज्या, ततस्तस्याः पृष्ठप्रदाने लोकमध्ये अवर्णवादो भवति, वाममन्तरं वा किञ्चित् मिथ्यादृष्टिः कुप्येत । तथा च सति जीवितव्यस्य विनाशः, तस्मात् दिवा रात्रौ च पृष्ठं पूर्वस्याम्, उत्तरस्यां तु दिवा । दक्षिणस्यां दिशि रात्रौ निशाचराः संचरन्ति । ततस्तस्यां पृष्ठं रात्रौ वर्जयेत् । उक्तं च-"उभे मूत्रपुरीषे तु, दिवा कुर्यादुदङ्मुखः । रात्रौ दक्षिणतश्चैव, तथा चाऽऽयुर्न हीयते ॥ १ ॥" तथा यतः पवनस्ततः पृष्ठं न कुर्यात्, मा लोको ब्रूयात्-अयशस्येतदेते इति, नासिकायां चार्शांसि मा भूवन् । तथा ग्रामस्य, सूर्यस्य च पृष्ठं न दातव्यं, लोकेऽवर्णवादसंजननात् । तथाहि-सूर्यस्य, ग्रामस्य वा पृष्ठदाने लोको ब्रूते-न किञ्चित् जानन्त्येते यल्लोकोद्योतकरस्यापि सूर्यस्य, यस्मिन् ग्रामे स्थीयते तस्याऽपि च पृष्ठं ददतीति । तथा संसक्तग्रहणिश्छायायां व्युत्सृजेत्, येन द्वीन्द्रियविनाशो न भवति । तथा त्रिःकृत्वस्त्रीन् वारान् प्रमार्ज्य । उपलक्षणमेतत्--प्रत्युपेक्ष्य च व्युत्सृजेत् । तत्राप्रत्युपेक्षणे अप्रमार्जने, दुष्प्रत्युपेक्षणे दुष्प्रमार्जने च प्रायश्चित्तं प्रागुक्तम् । तथा यस्यावग्रहः सोऽनुजानीयादिति अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेत्, आचमेद्वा । एष गाथार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुराह--

उत्तर पुव्वा पुज्जा, जम्माए निसियरा अभिवडंति ।
घाणारिसा य पवणे, सूरियगामे अवण्णो उ ॥ ४६१ ॥

उत्तरा, पूर्वा च लोके पूज्यते, ततो दिवा रात्रौ च पूर्वस्यामुत्तरस्यां वा पृष्ठं न दद्यात्, तथा न याम्या दक्षिणा, तस्यां रात्रौ निशाचरा देवा अभिपतन्ति समागच्छन्ति, ततस्तस्यां रात्रौ पृष्ठं न दद्यात्, तथा यतः पवनस्ततः पृष्ठकरणे अशुभगन्धघ्राणिर्नासिकायां चार्शांस्युपजायन्ते । तस्मात्पवनस्यापि पृष्ठं न कर्त्तव्यम् । सूर्यस्य,ग्रामस्य च पृष्ठकरणे अवर्णो लोकमध्ये यथाऽभिहितः प्राक्, ततस्तयोरपि न दातव्यं पृष्ठमिति ।

" छायाए " इति व्याख्यानार्थमाह--

संसत्तग्गहणी पुण, छायाए निग्गयाइँ वोसिरइ ।
छायासति उण्हम्मि वि, वोसिरिय मुहुत्तगं चिट्ठे ॥४६२॥

संसक्ता द्वीन्द्रियैर्ग्रहणिः पायुर्यस्यासौ संसक्तग्रहणिः,स द्वीन्द्रियरक्षणार्थं छायायां वृक्षाऽऽदिनिर्गतायां व्युत्सृजति । अथ छायाऽऽद्याऽपि न निर्गच्छति, मध्याह्न एव संज्ञा प्रवृत्ता, ततः छायाया 'असति' अभावे उष्णेऽपि स्वशरीरच्छायायां पुरीषस्य कृत्वा व्युत्सृजति, व्युत्सृज्य च मुहूर्त्तं तथैव तिष्ठति, येनैतावता कालेन स्वयोगतः परिणमन्ति, अन्यथोष्णेन महती परितापना स्यात् ।

अथ व्युत्सृजन् स्वोपकरणं कथं धरतीत्यत आह-

उवगरणं वामगऊ-रुगम्मि मत्तो य दाहिणे हत्थे ।
तत्थऽण्णत्थ व पुंछे, तिहिँ आयमणं अदूरम्मि ॥४६३॥

उपकरणं दण्डकं रजोहरणं च वामे ऊरौ स्थापयति, मात्रकं दक्षिणहस्ते क्रियते, डगलकानि च वामहस्तेन धारणीयानि, ततः संज्ञां व्युत्सृज्य तत्रान्यत्र वा प्रदेशे डगलकैः पुतं पुंसयति रूक्षयति, पुंसयित्वा त्रिभिर्नावापूरकैश्चुलुकैरित्यर्थः । आचमनं निर्लेपनं करोति । तथा चोक्तम्-"तिहि नावाए पूरएहिं आयमइ, निल्लेवेति वा । नावा पूरओ नाम-पसती ।" इति । तदपि चाऽऽचमनमदूरे करोति । यदि पुनर्दूरे आचमति तत उड्डाहः, कश्चित् दृष्ट्वा चिन्तयेत्-अनिर्लेपपुतो गत एष इति ।

संप्रत्यालोके प्रायश्चित्तविधिमाह-

आलोगं पि य तिविहं, पुरिसित्थिनपुंसकं च बोधव्वं ।
लहुगा पुरिसाऽऽलोए, गुरुगा य नपुंसइत्थीसु ॥ ४६४ ॥
आवातं पि य दुविहं, माणुसतेरिच्छयं च नायव्वं ।
एक्केक्कं पि य तिविहं, पुरिसित्थिनपुंसगे चेव ॥ ४६५ ॥

आलोकमपि च त्रिविधं त्रिप्रकारम् । तद्यथा-पुरुषाऽऽलोकं, स्त्र्यालोकं, नपुंसकाऽऽलोकम् । गाथायां पदैकदेशे पदसमुदायोपलक्षणानि । तत्र पुरुषाऽऽलोके प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः । स्त्र्यालोके नपुंसकाऽऽलोके च चत्वारो गुरुकाः । तदेवमचित्तं स्थण्डिलमधिकृत्य यथा भणितम् । अथ सचित्तेन मिश्रेण वा यदा तद् गच्छति तदा तदेव प्रायश्चित्तम् ।

पम, उ
तिप-

छक्काय-चउसु लहुगा, परित्ते लहुगा य गुरुग साहारे ।
संघट्टणे परियावणे, लहु गुरुग निवायणे मूलं ॥४६६॥

षट्कायाः-पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसरूपाः, तेषां मध्ये चतुर्षु पृथिव्यप्तेजोवायुरूपेषु संघट्टनाऽऽदिषु लघुकाः प्रायश्चित्तम् । परित्तकवनस्पतिकायेऽपि च लघुकाः । साधारणे अनन्तवनस्पतिकायिके संघट्टनाऽऽदिषु गुरुकाः । तथा द्वीन्द्रियाऽऽदीनां संघट्टने परितापने च यथायोगं लघुका गुरुकाश्च प्रायश्चित्तम् । अपितनिपातने विनाशे मूलम् । इयं तत्र भावना-पृथिवीकायं संघट्टयति मासलघु, परितापयति, जीविताद् व्यपरोपयतीत्यर्थः, चतुर्लघु । एवमप्काये, तेजस्काये, वायुकाये, प्रत्येकवनस्पतिकाये च द्रष्टव्यम् । उक्तं च-" छक्काया ऽऽदिमचउसु, तह य परित्तम्मि होति वणकाए । लहु गुरु मासो चउलहु, घट्टणपरितावउद्दवणे ॥१॥ " एतत् प्रायश्चित्तमेकैकस्मिन् दिवसे संघट्टनाऽऽदिकरणे, यदि पुनर्द्वौ दिवसौ पृथिव्यादि संघट्टयति तदा मासगुरु, परितापयति चतुर्लघु, जीविताच्च व्यपरोपयति चतुर्गुरु, त्रीन् दिवसान् निरन्तरं पृथिव्यादीन् संघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, अपद्रावयति षड्लघु, निरन्तरं चतुर्लघु, निरन्तरं चतुरो दिवसान् संघट्टने चतुर्गुरु, परितापने षड्लघु, अपद्रावणे षड्गुरु, पञ्चदिवसान् निरन्तरं पृथिव्यादीनां संघट्टने षड्लघु, परितापने षड्गुरु, अपद्रावणे मासिकच्छेदः, षड् दिवसान् निरन्तरं संघट्टने षड्गुरु, परितापने मासिकच्छेदः, अपद्रावणे चतुर्मासच्छेदः, परितापने षण्मासिकः, अपद्रावणे मूलम् । उक्तं च-"दोहिं (पहिं) चमेहिं मासगुरुए आदेसा चउगुरुए ठाणि० जाव अट्ठहिं दिवसेहिं... संपयंति । " ... अनन्तवनस्पतिकं यदि संघट्टयति तदा मासगुरु, परितापयति चतुर्लघु, अपद्रावयति चतुर्गुरु, द्विदिवसाऽऽदि निरन्तरं संघट्टनाऽऽदिषूत्तरोत्तरैकैकस्थानवृद्धितः सप्तभिर्दिनैर्मूलं, द्वीन्द्रियं संघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, जीविताद् व्यपरोपयति षड्लघु । अत्र द्व्यादिदिवसं निरन्तरं संघट्टनाऽऽदिषु षड्भिर्दिवसैर्मूलं, त्रीन्द्रियं संघट्टयतश्चतुर्गुरु, परितापयतः षड्लघु, जीविताद्व्यपरोपयतः षड्गुरु । अत्र पञ्चभिर्दिवसैर्मूलं, चतुरिन्द्रियं संघट्टयतः षड्लघु, परितापयतः षड्गुरु, जीविताद् व्यपरोपयतो मासिकश्छेदः । अत्र चतुर्भिर्दिवसैर्मूलं, पञ्चेन्द्रियं संघट्टयतः षड्गुरु, परितापयतश्छेदः, अपद्रावयतो मूलम्, अत्र द्वयोर्दिवसयोरनवस्थाप्यं, त्रिषु दिवसेषु पाराञ्चिकम् । गतं वर्जनाद्वारम् ।

अधुनाऽनुज्ञाद्वारमाह-

पढमिल्लुगस्स असती, वाघातो वा इमेहिँ ठाणेहिं ।
पडिणीए तेणे वाले, खेत्तुदयनिविट्ठथीअपुमं ॥४६७॥

प्रथममेव 'पढमिल्लुकं' प्राकृतत्वात् स्वार्थे इल्लुकप्रत्ययः । प्रथममनापातासंलोकलक्षणं स्थण्डिलं तद् नास्ति, ततस्तस्य प्रथमस्याभावे, अथवा स्वतोऽप्येभिः स्थानैर्व्याघातो भवेत् । तान्येव स्थानान्याह-" पडिणीए " इत्यादि । प्रत्यनीकस्तत्र तिष्ठति, स्तेना वा पथि द्विविधाः । तद् यथा-उपकरणस्तेनाः, शरीरस्तेना वा । व्याला वा तत्र सर्पाऽऽदयो विद्यन्ते, क्षेत्रं वा तत्र क्रान्तम्, उदकेन वा तत् स्थण्डिलमाप्लुतम् । ग्रामो वसिका स्कन्धावारो वा तत्र निविष्टः, स्त्री, नपुंसको वा तत्र मैथुनार्थं संयतीरागकृतः प्रतीक्षते ।

स्थण्डि० ति वाघाए, पुरिसाऽऽलोयम्मि होति जयणाए ।
मत्तगअपमज्जणरुगल, कुरुकुअ तिविहे उाए- रेहभेदो ॥४६८॥

एवं प्रथमस्य स्थण्डिलस्याभावे, व्याघाते वा ...स्थण्डिलमनापातं संलोकवद् गन्तव्यम् । तत्र संयतानां सांभोगिकानां संविग्नानामालोके गन्तव्यं, तदभावे असांभोगिकानामपि । तत्रापरिणताः पूर्वमेव ग्राहयितव्याः । यथा-केषाञ्चिदाचार्याणां निसर्गसामाचर्यम्, ततो यूयं मा तान् वितथसामाचारीकान् दृष्ट्वा प्रतिनोदयेत, तेऽपि यदि नोदयन्ति तर्हि उदासीनास्तिष्ठथ । एवमसंखडाऽऽदयो दोषाः परिहृता भवन्ति । असांभोगिकानामप्यापातस्यासंभवे यत्र पार्श्वस्थाऽऽदीनामालोकस्तत्र गच्छन्ति, तस्याप्यभावे यत्र पार्श्वस्थाऽऽदीनामापातस्तत्र व्रजन्ति । तत्र क्षुल्लकाऽऽदयोऽपरिणताः पूर्वं ग्राहयितव्याः-यथा एते निर्धर्माणो जिनाऽऽज्ञाप्रकोपिनो वितथमाचरन्ति, तस्मा यूयमेतेषां चारित्रं चित्ते कुरुत, यथैतत् सुन्दरमिति । संयत्यापातवश्च सर्वप्रयत्नेन परिहरेत् । अन्यथा कृतसङ्केतका अत्र समागच्छन्तीति शङ्काऽऽदयः, आत्मपरोभयसमुत्थाश्च दोषाः संभवन्ति । एषा स्वपक्षे यतना । संप्रति परपक्षेऽभिधीयते-तत्र चानापातवतोऽसंभवे (पुरिसालोयम्मि होति जयणाए त्ति) पुरुषाऽऽलोके पुरुषाऽऽलोकवति गन्तव्यं, तत्र यतनया भवति कर्तव्यमाचमनाऽऽदि । तामेव यतनामाह-(मत्तगअपमज्जणरुगलकुरुकुअ त्ति) प्रत्येकं च प्रचुरं द्रवं, डगलकानां चाप्रमार्जनं, न तानि डगलकानि प्रमार्जयन्ते, हीनानां दोषसंभवाद्, कुरुकुचाऽऽचमनानन्तरं कर्तव्याः* । (तिविहे दुविहभेओ होति) त्रिविधे प्रत्येकं द्विविधो भेदो द्रष्टव्यः । इयमत्र भावना-त्रिविधः परपक्षः । तद्यथा-पुरुषस्त्रीनपुंसकः । एकैकः पुनर्द्विविधः-शौचवादी, अशौचवादी च । अथवाऽन्यथा प्रत्येकं त्रिभेदः-श्रावकोऽश्रावकश्च । अथवा... [illegible] ...मध्यमः, तरुणश्च । यदि वा-प्राकृतः, कौटुम्बिको, दण्डिकश्च । एते च त्रयो भेदा यथा पुरुषस्य, तथा स्त्रीनपुंसकयोरपि द्रष्टव्याः । तेषु यतनया गन्तव्यम् ।

कथमित्यत आह-

तेण परं पुरिसाणं, असोयवादीण वच्चे आवायं ।
इत्थिनपुंसाऽऽलोए, परंमुहो कुरुकुया सा य ॥४६९॥

ततः पुरुषाऽऽलोकवतः स्थण्डिलात्परतः, पुरुषाऽऽलोकवतः स्थण्डिलस्याऽसति पुरुषाणामशौचवादिनामापातमापातवत् स्थण्डिलं व्रजेत्, तत्र च यतना प्रागुक्ता द्रष्टव्या । तस्याप्यसंभवे शौचवादिनामप्यापातवद् गन्तव्यम् । तस्यासंभवे स्त्र्यालोके, नपुंसकाऽऽलोके वा गन्तव्यम् । इयमत्र भावना-प्रथमतोऽशौचवादिनीनां स्त्रीणामालोके गन्तव्यम्, तत्र गतः सन् तासां पराङ्मुख उपविशेत्, यतना च सा कुरुकुचाऽऽदिका कर्तव्या । तस्याऽप्यसंभवे शौचवादिनीनामप्यालोके गन्तव्यं, तदभावे नपुंसकानामशौचवादिनामालोके, तस्याऽसंभवे शौचवादिनामप्यालोके । यतना सर्वत्र सैव ।

तेण परं आवायं, पुरिसेयरइत्थियाण तिरियाणं ।
तत्थ वि य परिहरेज्जा, दुगुंछिए दित्तऽदित्ते य ॥४७०॥

ततः परं शौचवादिनामपि नपुंसकानामालोकस्यासंभवे पुरुषेतरस्त्रीणां तिरश्चामापाते व्रजेत्, तत्रापि इमानसमांश्च जुगुप्सितान् परिहरेत्, अपरिहारे यतनां कुर्यात् । अयमत्र भावा-

* कुरुकुचा-बहुना जलेन पादप्रक्षालनाऽऽदि ।

थः-शौचवादिनां नपुंसकानामालोकासंभवे तिर्यक्पुरुषाणाम् दुष्टानामापाते व्रजेत् । तत्रेयं यतना-दण्डहस्ता वारंवारेण व्युत्सृजन्ति । उक्तं च-

" तेण परं पुरिसाणं, असोयवादीण वच्चे आवायं ।
इत्थिनपुंसाणं, आलोयपरम्मुहा कुरुया ॥ १ ॥
पच्छा तिरिपुरिसाणं, अदुट्ठदुट्ठाण वच्चे आवायं ॥
दुट्ठेसु दंडहत्था, वारं वारेण वोसिरणं ॥ २ ॥ "

तस्याप्यभावे तिर्यक्स्त्रीणामजुगुप्सितानामापाते व्रजेत्, तदसंभवे जुगुप्सितानामप्यापाते, तदभावे तिर्यक्नपुंसकानामजुगुप्सितानामापाते, तदभावे जुगुप्सितानामप्यापातम्, केवलं तत्र तथोपविशन्ति, यथा परस्परं सर्वे प्रेक्षन्ते ।

तत्तो इत्थिनपुंसा, तिविहा तत्थ वि असोयवाईणं ।
सहियं च सद्दकरणं, आउलगमणं कुरुकुया य ॥४७१॥

ततः स्त्रीनपुंसकानामापाते गन्तव्यं, ते च स्त्रीनपुंसकास्त्रिविधाः । तद्यथा-प्राकृताः, कौटुम्बिकाः, दाण्डिकाश्च । ते च प्रत्येकं द्विधा-शौचवादिनः, अशौचवादिनश्च । तत्र प्रथमतोऽशौचवादिनामापाते व्रजनीयम्, तत्र च शब्दकरणम्, आकुलगमनं, कुरुकुचा च कार्या । इयमत्र भावना-जुगुप्सितानामपि नपुंसकानामापातवतोऽसंभवे मनुष्यस्त्रीणामशौचवादिनीनामापाते गन्तव्यम्, केवलं स्थविरसहितैः प्रविशद्भिश्च परस्परं महान्तः शब्दा उच्चारणीयाः, येन तास्तान् श्रुत्वा निर्गच्छन्ति, आकुलीभूताश्च तत्र प्रविशन्ति, येन 'व्याकुला अमी' इति ता दृष्टिविक्षेपाऽऽदिकं न कुर्वन्ति, अगत्ताऽऽदिषु च स्थानेषु सकृद् व्युत्सृजन्ति, यथा शेषोऽपि लोको दूरस्थः प्रेक्षते, तेऽपि च साधवस्तथा उपविशन्ति यथा परस्परं प्रेक्षन्ते, तत एवमात्मपरोभयदोषा न संभवन्ति ।

उक्तं च-

" तत्थ पुण थेरसहिया, आउलसद्दं करिति पविसंता ।
जह सद्देणं ताओ, निंति तओ अगत्तमादीसु ॥
ठाणेसु वोसिरिंतो, पेच्छंति य जह परोप्परं सव्वे ।
आयपरोभयदोसा, ते एवं वज्जिया होंति " ॥ २ ॥

आचमनानन्तरं च कुरुकुचा कर्त्तव्या, चशब्दाद् मृत्तिकया हस्तपुनःप्रक्षालनं, बहिर्मात्रकस्य कल्प इति परिग्रहः । तदसंभवे शौचवादिनीनामपि मनुष्यस्त्रीणामापाते, तस्याभावे नपुंसककानामशौचवादिनामप्यापाते, तदसंभवे शौचवादिनामप्यापाते गन्तव्यम् । सर्वत्रापि यतनाऽनन्तरोक्तैव ।

इत्थिनपुंसाऽऽवाते, जा उण जयणा उ मत्तगादीया ।
पुरिसाऽऽवाए जयणा, सव्वे च उ मत्तगादीया ॥४७२॥

स्त्र्यापाते, नपुंसकाऽऽपाते च या पुनर्यतना मात्रकाऽऽदिका अनन्तरमुक्ता, सैव पुरुषाऽऽपातेऽपि प्राक् मात्राऽऽदिका यतना द्रष्टव्या । एवं तावदचित्तस्थण्डिलं चतुःप्रकारमचित्तेन पथा गम्यमुक्तम् । तदभावे मिश्रेणाऽपि पथा तदपवादेन गच्छेत् । तदभावे सचित्तेनाऽपि । तत्राऽपि यतना सैव प्रागुक्ता । उक्तं च-" एवमचित्तेण पहेण, जयणा उ भणिया चउब्भंगे । मीससचित्तपहेसु य, एस च्चिय भंगजयणा उ " ॥ १ ॥ संप्रति मिश्रं वक्तव्यं, यतोऽचित्तस्थण्डिलासंभवेऽपवादतो मिश्रमपि गम्यते, तदपि चानापातासंलोकाऽऽदिभेदतश्चतुःप्रकारम्, तस्यापि च त्रयः पन्थानः । तद्यथा-अचित्तः, मिश्रः, सचित्तश्च ।

तानेवाऽऽह-

अच्चित्तेणं मीसं, मीसं मीसेण छक्कमीसेणं ।
सच्चित्तछक्कएणं, मीसे चउभंगियपदेसे ॥ ४७३ ॥

मिश्रस्थण्डिलमचित्तेन पथा गम्यं, तदभावे मिश्रेणेत्यत आह-षट्कमिश्रेण षड्जीवनिकायमिश्रेण, तदभावे मिश्रं स्थण्डिलं षट्कायसचित्तेन पथा गन्तव्यम् । उक्तं च-" पढममचित्तपहेणं, मीसं मीसेण छक्कमीसेण । सच्चित्तछक्कएणं, मीसं तू थंडिलं गच्छे ॥१॥ " तच्च मिश्रं स्थण्डिलमध्वनि ग्रामात् ग्रामं प्रति व्रजतो द्रष्टव्यम् । तत्र मात्रकैर्यतना कर्त्तव्या । अथ मात्रकाणि न विद्यन्ते व्युत्सृजतां परिष्ठापयतां च सागारिकसंपातः, तदा धर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशान् निश्राकृत्य व्युत्स्रष्टव्यम् । उक्तं च-" जहियं पुण सागारिय-धम्मादिपएस तहियं निस्साए । वोसिरइ एय मीसं, भणिय समासेण थंडिल्लं ॥१॥ " उक्तं मिश्रं स्थण्डिलम् । तदभावेऽपवादतः सचित्तमपि गन्तव्यं, तदप्यनापातासंलोकाऽऽदिभेदतश्चतुःप्रकारं, तस्याऽपि च त्रयः पन्थानः । तद्यथा-अचित्तः, मिश्रः, सचित्तश्च ।

तत्र येन क्रमेण गन्तव्यं, तं क्रममाह-

अचित्तेण सचित्तं, मीसेण सचित्त छक्कमीसेण ।
सचित्तछक्कएणं, सचित्त चउभंगियपदेसे ॥ ४७४ ॥

सचित्तमपि स्थण्डिलं चतुर्भङ्गिकम्, तत्र प्रथमतोऽनापातासंलोकं गन्तव्यम्, तदभावे द्वितीयं, तदभावे तृतीयं, तदभावे चतुर्थमपि । तत्र यतना प्रागेवोक्ता । तत्र च प्रथमतोऽचित्तेन पथा गन्तव्यं, तदभावे तत् सचित्तं मिश्रेण पथा गम्यम् । केन मिश्रेणेत्यत आह-षट्कमिश्रेण षड्जीवनिकायमिश्रेण, तस्याऽसंभवे सचित्तेन पथा सचित्तं गन्तव्यम्, केन ?, सचित्तेन षट्केन षड्जीवनिकायैः, । अत्रापि मात्रकैर्यतना कर्त्तव्या । मात्रकाणामभावे व्युत्सर्गे परिष्ठापने वा सागारिकसंभवे धर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशानां निश्रा कर्त्तव्या । उक्तं च-" ज च्चिय मीसे जयणा, सच्चेव सचित्ते वि होइ कायव्वा । मत्तादिअपरिसेसा, जा धम्मादीपएसा उ ॥ १ ॥ "

तदेवमुक्तं स्थण्डिलमिदानीमेतस्य यः कल्पिकः, तमभिधित्सुराह-

पढियसुयगुणियमगुणिय-धारमधार उवउत्तो परिहरति ।
आलोणाऽऽयरियाऽऽदी, आयरिउ विसोहिकारो से ४७५

यस्मादजानतः प्रायश्चित्तं, तस्माद् येन सप्तसप्तकाऽऽदि सूत्रं पठितं पाठतः, श्रुतमर्थतः, तच्च गुणितमभ्यस्तं वाऽऽस्पदे ऽगुणितं वा धारितं वाऽऽस्पदेऽनवधारितं वा, तथापि य उपयुक्तः सन् स्थण्डिलं परिहरति-उक्तप्रकारेणोपयुक्तः परिभोगयति, स विचारकल्पिकः । तथा तेन स्थण्डिलसूत्रेण पठितेन वाऽपठितेन वा गुणितेन वा अगुणितेन वा धारितेन वा अधारितेन वा उपयुक्तो वाऽनुपयुक्तो वा यां विराधनां करोति, तामाचार्याऽऽदेरालोचयति, तदभावेऽन्यस्याप्युपाध्यायाऽऽदेः, आलोचिते 'से' तस्य विशोधिकारः प्रायश्चित्तप्रदानेन शुद्धिकर्त्ता आचार्यः । किमुक्तं भवति ?-यदा आचार्यः प्रायश्चित्तं ददाति, ततः स शुद्धिमापद्यते । गतं विचारद्वारम् । बृ० १ उ० । प्रति० । पञ्चा० । आ० । चू० । नि० चू० । ('णिग्गंथी ' शब्दे २०४८ पृष्ठेऽत्रैव भागे तासां स्थण्डिलं प्रतिपादितम्)

स्थण्डिलगमनविधिः-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उच्चारपासवणकिरियाए उव्वाहिज्जमाणे सयस्स पायपुंछणस्स असतीए तओ पच्छा साहम्मियं जाएज्जा ॥

"से" इत्यादि । स भिक्षुः कदाचिदुच्चारप्रस्रवणकर्तव्यतयो-द्वाधितः स्वकीयपादपुञ्छनमभावादाघुकाराऽऽ-... साधर्मिक साधुं याचेत, पूर्व-प्रत्युपेक्षितं पादपुञ्छनकं समाध्यादिकमित्यतो मासलघु, पादितं भवति-वेगधारणं न कर्तव्यमिति ।

अपि च-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल्लं जाणेज्जा-सअंडं सपाणं० जाव मक्कडासंताणयंमि तहप्पगारंसि थंडिल्लंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । स भिक्षुरुच्चारप्रस्रवणाऽऽशङ्कायां पूर्वमेव स्थण्डिलं गच्छेत्तस्मिंश्च साण्डाऽऽदिके अप्रासुकत्वादुच्चाराऽऽदि न कुर्यात् ।

किञ्च—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल्लं जाणेज्जा-अप्पपाणं अप्पबीयं० जाव मक्कडासंताणयंमि तहप्पगारंसि थंडिलंसि उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । अल्पाण्डकाऽऽदिके प्रासुके कार्यमिति ।

औद्देशिकं स्थण्डिलम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल्लं जाणेज्जा-अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स, अस्सिं पडियाए बहवे साहम्मिया समुद्दिस्स, अस्सिं पडियाए एगं साहम्मिणिं समुद्दिस्स, अस्सिं पडियाए बहवे साहम्मिणीओ समुद्दिस्स, अस्सिं पडियाए बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगे पगणिय २ समुद्दिस्स पाणाइं ४ ०जाव उद्देसियं चेतेति, तहप्पगारं थंडिल्लं पुरिसंतरकडं वा ०जाव बहिया णीहडं वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । स भिक्षुर्यत् पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात्। तद्यथा-एकं बहून् वा साधर्मिकान् समुद्दिश्य, तत्प्रतिज्ञया कदाचित् कश्चित् स्थण्डिलं कुर्यात् । तथा-श्रमणाऽऽदीन् प्रगणय्य वा कुर्यात्, तच्चैवंभूतं पुरुषान्तरस्वीकृतमस्वीकृतं वा मूलगुणदुष्टमौद्देशिकं स्थण्डिलमाश्रित्योच्चाराऽऽदि न कुर्यादिति ।

किञ्च-अपुरुषान्तरकृते स्थण्डिले उच्चाराऽऽदि न कुर्यात्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-बहवे समणमाहणकिवणवणीमगअतिही समुद्दिस्स पाणाइं ४ ०जाव उद्देसियं चेतेति, तहप्पगारं थंडिलं अपुरिसंतरकडं ०जाव बहिया अणीहडं वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा-पुरिसंतरकडं०जाव बहिया णीहडं वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

"से" इत्यादि। स भिक्षुर्यावदन्तिके स्थण्डिलेऽपुरुषान्तरस्वीकृते उच्चाराऽऽदि न कुर्यात्, पुरुषान्तरस्वीकृते कुर्यादिति ।

अपिच-क्रीतकृताऽऽदिस्थण्डिलम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-अस्सिं पडियाए कयं वा कारियं वा पामिच्चियं वा छण्णं वा घट्ठं वा मट्ठं वा लित्तं वा समट्ठं वा संपधूवियं वा अण्णयरंसि तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

"से" इत्यादि । स भिक्षुः साधुमुद्दिश्य क्रीताऽऽद्युत्तरगुणदुष्टे स्थण्डिले उच्चाराऽऽदि न कुर्यादिति ।

किञ्च-यत्र गृहपत्यादयः ... अन्यथा कुर्वन्ति-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-इह खलु गाहावई वा गाहावइपुत्ता वा कंदाणि वा मूलाणि वा० जाव हरियाणि वा अंतातो वा बाहिं णीहरंति, बाहीओ वा अंतो साहरंति. अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

"से" इत्यादि । स भिक्षुर्गृहपत्यादिना कन्दाऽऽदिके स्थण्डिलान्निष्कास्यमाने तत्र वा निक्षिप्यमाणे नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति।

तथा-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-खंधंसि वा पीढंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा अट्टंसि वा पासायंसि वा अण्णयरंसि वा थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । स भिक्षुः स्कन्धाऽऽदौ स्थण्डिले नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति ।

किञ्च-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-अणंतरहियाए पुढवीए ससणिद्धाए पुढवीए ससरक्खाए पुढवीए मट्टियाए मक्कडाए चित्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलुए चित्तमंताए कोलावासंसि वा दारुयंसि वा जीवपइट्ठियंसि वा०जाव मक्कडासंताणयंसि अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि। स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात् । तद्यथा-अनन्तरितायां सचित्तायां पृथिव्यां नोच्चाराऽऽदि न कुर्यात्, शेषं सुगमम् । नवरं (कोलावासंसि त्ति) घुणावासम्।

अपिच-यत्र गृहकन्दाऽऽदीनि परिशाटयन्ति-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-इह खलु गाहावई वा गाहावइपुत्ता वा कंदाणि वा० जाव बीयाणि वा परिसाडेंसु वा, परिसाडेंति वा, परिसाडिस्संति वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात् । तद्यथा-यत्र गृहपत्यादयः कन्दमूलाऽऽदिपरिक्षेपणाऽऽदिकाः क्रियाः कालत्रयवर्त्तिन्यः कुर्युः, तत्रैहिकाऽऽमुष्मिकापायभयादुच्चाराऽऽदि न कुर्यादिति ।

तथा यत्र गृहपतिपुत्राः शाल्याऽऽदीनि वपन्ति-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-इह खलु गाहावई वा गाहावतीपुत्ता वा सालीणि वा वीहीणि वा मुग्गाणि वा मासाणि वा तिलाणि वा कुलत्थाणि वा जवाणि वा जवजवाणि वा पइरिंसु वा, पइरिंति वा, पइरिस्संति वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । यत्र च गृहपत्यादयः शाल्याऽऽदीन्युप्तवन्तो, वपन्ति, वपस्यन्ति वा तत्राप्युच्चाराऽऽदि न विदध्यादिति ।

किञ्च-यत्र कचवराऽऽदिपुञ्जाः-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-आमोयाणि वा घसाणि वा भिलुहाणि वा विज्जुलाणि वा खाणुयाणि वा कडयाणि वा पगड्डाणि वा दरीणि वा पदुग्गाणि वा समाणि वा विसमाणि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात् । तद्यथा- आमोकानि कचवरपुञ्जाः, घसा बृहत्यो भूमिराजयः, भिलुहाणि श्लक्ष्णभूमिराजयः, विज्जुलं पिच्छलं, स्थाणुः प्रतीतः, "कडयाणि" इक्षुयावनालिकाऽऽदिदण्डकाः, प्रगर्त्ता महागर्त्ताः, दरी प्रतीता, प्रदुर्गाणि कुड्यप्राकाराऽऽदीनि । एतानि च समानि वा विषमाणि वा भवेयुः, तदेतेष्वात्मसंयमविराधनासंभवान्नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति ।

किञ्च मानुषरन्धनाऽऽदिस्थण्डिलानि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-माणुसरंधणाणि वा महिसकरणाणि वा वसभकरणाणि वा अस्सकरणाणि वा कुक्कुडकरणाणि वा मक्कडकरणाणि वा लावयकरणाणि वा वट्टयकरणाणि वा तित्तिरकरणाणि वा कवोयकरणाणि वा कविंजलकरणाणि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात् । तद्यथा-मानुषरन्धनानि चुल्ल्यादीनि, तथा महिष्यादीनुद्दिश्य यत्र किञ्चित्क्रियते, तथा तत्र स्थाप्यन्ते, तत्र लोकविरुद्धप्रवचनोपघाताऽऽदिभयान्नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति ।

तथा-वैहानसस्थानाऽऽदि आरामाऽऽदि परिहरेत्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-वेहाणसट्ठाणेसु वा गिद्धपिट्ठट्ठाणेसु वा तरुपतणट्ठाणेसु वा मेरुपवडणट्ठाणेसु वा विसभक्खणट्ठाणेसु वा अगणिकंडयट्ठाणेसु वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-आरामाणि वा उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणसंडाणि वा देवकुलाणि वा सभाणि वा पवाणि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

'से" इत्यादि । स भिक्षुर्विहानसस्थानानि मानुषोल्लम्बनस्थानानि, गृध्रपृष्ठस्थानानि यत्र मुमूर्षवो गृध्राऽऽदिभक्षणार्थं रुधिराऽऽदिलिप्तदेहा निपत्याऽऽसते, तरुपतनस्थानानि यत्र मुमूर्षव एवानशनेन तरुवत्पतिताऽऽसते स्तिष्ठन्ति, तरुभ्यो वा यत्र पतन्ति, एवं मेरुपतनस्थानान्यपि । मेरुश्चात्र पर्वतोऽभिधीयत इति । एवं विषभक्षणाग्निप्रवेशस्थानाऽऽदिषु नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति । अपि च-" से " इत्यादि । आरामदेवकुलाऽऽदौ नोच्चाराऽऽदि विदध्यादिति ।

तथा अट्टालकाऽऽदिषु-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा गोपुराणि वा अण्णयरंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ॥

" से " इत्यादि । प्राकारसम्बन्धिन्यट्टालकाऽऽदौ नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति ।

किञ्च-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-तियाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउम्मुहाणि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

त्रिकचत्वराऽऽदौ च नोच्चाराऽऽदि व्युत्सृजेदिति ।

किञ्च-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-इंगालडाहेसु वा खारडाहेसु वा मडयडाहेसु वा मडयथूभियासु वा मडयचेइएसु वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

'से' इत्यादि । स भिक्षुरङ्गारदाहस्थाने श्मशानाऽऽदौ नोच्चाराऽऽदि विदध्यादिति ।

अपि च-पङ्काऽऽयतनेषु-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-णदियायतणेसु वा पंकायतणेसु वा उग्घायतणेसु वा सेयणवहंसि वा अण्णयरंसि तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

" से " इत्यादि । नद्यायतनानि यत्र तीर्थस्थानेषु लोकाः पुण्यार्थं स्नानाऽऽदि कुर्वन्ति । पङ्कायतनानि यत्र पङ्किलप्रदेशे लोका धर्मार्थं लोटनाऽऽदिक्रियां कुर्वन्ति, उद्घायतनानि यानि प्रवाहत एव पूज्यस्थानानि, तडागजलप्रवेशोऽथ मार्गो वा सेचनपथेऽवनिकाऽऽदौ नोच्चाराऽऽदि विधेयमिति ।

तथा मृत्खन्यादिषु-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-णवियासु वा मट्टियखाणियासु णवियासु गोप्पयलेहियासु गवायणीसु वा खाणीसु वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

" से " इत्यादि । स भिक्षुरभिनवासु मृत्खनिषु, तथा नवासु गोप्रलेह्यासु गवादनीषु, सामान्येन वा गवादनीषु वा खनिषु नोच्चाराऽऽदि विदध्यादिति ।

किञ्च-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल्लं जाणेज्जा-डागवच्चंसि वा सागवच्चंसि वा मूलगवच्चंसि वा हत्थकरवच्चंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिल्ले णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । 'डागे त्ति' डागप्रधानं शाकं पत्रप्रधानं तु शाकमेव, तद्वति स्थाने मूलकाऽऽदिवति च नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति ।

तथा-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-असणवणंसि वा सणवणंसि वा धायइवणंसि वा केयइवणंसि वा अंबवणंसि वा असोगवणंसि वा णागवणंसि वा पुन्नागवणंसि वा चुल्लगवणंसि वा अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु वा पत्तोवएसु वा पुप्फोवएसु वा फलोवएसु वा बीओवएसु वा हरिओवएसु वा णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

" से " इत्यादि । अशनो बीयकः, तद्वनाऽऽदौ च नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति ।

तथा पत्रपुष्पफलाऽऽद्युपवेष्टिते कथं वोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति दर्शयति स्वपात्रं गृहीत्वा यथा कर्त्तव्यमुच्चारप्रस्रवणम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सयपाययं वा परपाययं वा गहाय से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, अणावायंसि असंलोइयंसि अप्पपाणंसि० जाव मक्कडासंताणयंसि अहारामंसि वा उवस्सयंसि ततो संजयामेव उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा, वोसिरित्ता से तमादाय एगंतमवक्कमेज्जा, अणावायंसि० जाव मक्कडासंताणयंसि अहारामंसि वा झामथंडिल्लंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि अचित्तंसि ततो संजयामेव उच्चारपासवणं परिट्ठवेज्जा, इयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं० जाव जएज्जासि त्ति बेमि ।

" से " इत्यादि । स भिक्षुः स्वकीयं परकीयं वा पात्रकं समाधिस्थानं गृहीत्वा स्थण्डिलमनापातमसंलोकं गत्वोच्चारं, प्रस्रवणं वा कुर्यात्प्रतिष्ठापयेद्वेति । शेषमध्ययनसमाप्तिं यावत् पूर्ववदिति । आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० । चू० । (स्थविरकल्पिकाः स्थण्डिले गुदप्रमार्जनं कुर्वन्ति, न तु जिनकल्पिका इति 'लेव' शब्दे वक्ष्यते) (सार्थेन सह गमने रात्रिविहारे सर्वथैव स्थण्डिलं न प्राप्यन्ते, धर्माधर्माऽऽकाशास्तिकायप्रदेशेषु अपि व्युत्सृजन्ति 'विहार' शब्दे वक्ष्यन्ते) (निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च मिथ उपाश्रयगमने स्थण्डिलदोषा 'वसहि' शब्दे वक्ष्यन्ते) (रात्रौ विचारभूमौ न गन्तव्यमिति 'विहार' शब्दे वक्ष्यते) (स्थण्डिलयतना नगरोपरोधे 'उवरोह' शब्दे द्वितीयभागे ९१० पृष्ठे उक्ता) ('पज्जुसणा' शब्दे तात्कालिकयो भ्रमयो ग्राह्याः) (स्थण्डिले उच्चारप्रस्रवणपरिष्ठापना 'पारिट्ठवणा' शब्दे दर्शयिष्यते) (स्थण्डिलविषये शिष्यपरीक्षा 'आलोयणा' शब्दे द्वितीयभागे ४१० पृष्ठे गता) संज्ञां व्युत्सृज्याऽऽचार्येण वसती रक्षणीयेति 'वसहि' शब्दे एकाकिना वसतिरक्षणप्रस्तावे वक्ष्यते)

गोचरचर्याविषयः-

गोअरग्गपविट्ठो य, वच्चं मुत्तं न धारए ।
ओगासं फासुअं नच्चा, अणुन्नविअ वोसिरे ॥ १९ ॥

गोचराग्रप्रविष्टस्तु वर्चो मूत्रं वा न धारयेत्, अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वाऽनुज्ञाप्य व्युत्सृजेदिति । अस्य विषयो वृद्धसंप्रदायादवसेयः । स चाऽयम्-पुव्वमेव साहुणा संनाकाइओवओगं काऊण गोयरे पविसिअव्वं । कहंचि ण कओ, कए वा पुणो हुज्जा, ताहे वच्चं मुत्तं न धारेयव्वं, जओ मुत्तनिरोहे चक्खुवघाओ भवति । वच्चनिरोहे जीविओवघाओ असोहणा अ आयविराहणा । जओ भणिअ-" सव्वत्थ संजममित्यादि " । अओ संघाडयस्स सयभाणाणि समप्पिअ पडिस्सए पाणय गहाय सन्नाभूमीए विहिणा वोसिरिज्जा । वित्थरओ जहा ओहणिज्जुत्तीए ॥ " इति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥ दश० ५ अ० ।

आचार्येणानेकवार स्थण्डिलभूमौ न गन्तव्यमिति 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे १५ पृष्ठे उक्तम्) (ग्लानार्थं गच्छतो मध्य व्युत्सर्गो 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ९६९ पृष्ठे उक्तः)

श्रावकस्य मलोत्सर्गः-

तत्र च मलोत्सर्गो मौनेन निरवद्याऽऽदिस्थानाऽऽदिविधिनैवोचितः । यत.-"मूत्रोत्सर्गं मलोत्सर्गं, मैथुनं स्नानभोजनम् । सन्ध्याऽऽदिकर्म पूजा च, कुर्यात् पञ्च च मौनवान् " ॥ १ ॥ विवेकविलासेऽपि-" मौनी वस्त्राऽऽवृत. कुर्याद्, दिनसन्ध्याद्वयेऽपि च । उदङ्मुखः शकृन्मूत्र, रात्रौ याम्याननः पुनः ॥ १ ॥ इति । ध० २ अधि० ।

अथाऽऽह-

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठवित्ता ण पुंछति, ण पुंछंतं वा साइज्जइ ॥ १४२ ॥

ण पुंछति ण णिल्लेवेति ।

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठवित्ता कट्ठेण वा कलिंचेण वा अंगुलियाए वा सिलागाए वा पुंछइ, पुंछंतं वा साइज्जइ ॥ १४३ ॥

कलिंचो-वंसकप्परी आणादिया दोसा, तस्स मासलहुं ।

गाहा-

उच्चारमायरित्ता, जे भिक्खू ण पुंछती अविहिणा वा ।
पुंछिज्ज व अविहीए, सो पावति आणमादीणि ॥ ३०३ ॥

आयरित्ता वोसिरित्ता, अविधी कट्ठादिया बितियसुत्ते ।

गाहा-

पच्छालणं दुवेणं, उत्तमउत्तेण लावणादीणि ।
संजम आयविराहण, अविधीए पुंछणे दोसा ॥ ३०४ ॥

अणरुगासिते अतीव लक्खारियं, दवेण जुत्तेण थोवेणंति भणियं होति, तेण ण सुज्झति । असुद्धे दिट्ठे उड्डाहो, सेहो वा विप्परिणमेज्ज । अह अजुत्तेण बहुणा दवेण धोवति तो प्लावणादिदोसा, एते अपुंछिज्जंते दोसा । अविधीए पुंछिते इमं पच्छद्धं,अविधिपुंछिएहिं आयविराहणा । अह जीवकाओ त्ति संजमविराहणा य ।

इमा अविधी—

कट्ठेण कलिंचेण व, पत्तसलागाएँ अंगुलीए वा ।

एसा अविधी भणिता, डगलगमादी विधी चेव ॥३०५॥

एते पलासपत्ताऽऽदि,डगलेण वा, चीरेण वा,अंगुलिए वा एसा तिविधा विधी। डगला पुण दुविधा-संबद्धा भूमीए हुज्ज, असंबद्धा वा होज्ज। जे असंबद्धा ते तिविधा-उक्कोसा तिउवला लेट्टू मसिणा मज्झिमा, इट्टालं जहण्णं ।

जम्हा एते दोसा-

तम्हा पुंछाऽऽदाणं, काऊणं डगलगाण छड्डेज्जा ।

उत्थाणोसहपाणे, असती व मणकुज्ज आदाणं ॥३०६॥

आयाणं डगलगादीण छड्डेज्ज उच्चारं वोसिरिज्जा । बितियपदं गाहा पच्छद्धं-उत्थाणं अतिसारो, ओसहपीतो वा ण गेण्हति, असती वा ण गेण्हति ।

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठवित्ता णायमइ, णायमंतं वा साइज्जइ ॥ १४४ ॥

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठवित्ता तत्थेव आयमति, आयमंतं वा साइज्जइ ॥ १४५ ॥

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठवित्ता अइदूरे आयमति, आयमंतं वा साइज्जइ ॥ १४६ ॥

तिण्णि सुत्ता-उच्चारे वोसिरिज्जमाणे अवस्सं पासवणं भवति त्ति तणगहिणं पासवणं पुंछाओ अणगारिए णायमंति, जहा-उच्चारे तत्थेव त्ति; थंडिले जत्थ सण्णा ओसरिया, अतिदूरे हत्थसयपमाणमेत्ते ।

गाहा--

उच्चारं वोसिरित्ता, जे भिक्खू णेव आयमेज्जा वि ।

दूरे अच्चासण्णे, सो पावति आणमादीणि ॥३०७॥

आयमणं णिल्लेवणं, आसण्णं तत्थेव थंडिले ।

अणायमंते इमे दोसा—

अयसो पवयणहाणी, विप्परिणामे व सेहए दुगुंछा ।

दोसा अणायमंते, दूराऽऽसण्णाऽऽयमंते य ॥ ३०८ ॥

अयसो-इमे असोइणो त्ति ण एते णिल्लेवेंति, ण पव्वयंति, अण्णे वि पव्वयंते वारेंति पवयणहाणी-दंसणे चरित्ते वा अब्भुवगमं काउंकामस्स विप्परिणामो भवति, सेहाण वा मा एतेहिं विट्ठलेहिं सह संफासं करेह,एसा दुगुंछा । दूरे वि एते दोसा, आसण्णे वि एते चेव दोसा। कहं?-सागारिओ पासति, संजओ आयमंतं वोसिरिउं दूरं गतो, सागारिओ वि जोविउं पराभग्गो, ण णिल्लेवेंति लोगस्स कहेति। आसण्णे तत्थेव संजतो णिल्लेवेउं गतो, सागारिए आगंतु पलोइयं० जाव मुत्तियं पेक्खति, एतं संकातिअं-ण णिल्लेवितं, पच्छा लोगस्स कहेति ।

गाहा--

उत्थाणोसहपाणे, दवे असतीए व णायमेज्जाहि ।

थंडिल्लस्स व असती, आसण्णे वा वि दूरे वा ॥३०९॥

असहस्स थंडिलस्स असति तत्थेव णिल्लेवेंति, थंडिलाओ वा दूरं गंतुं णिल्लेवेंति, सागारिओ पुणो वा लेवावेंति ।

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठवित्ता परं तिण्हं णावापूराणं आयमइ, आयमंतं वा साइज्जइ ॥ १४७ ॥

णाव त्ति पसती, ताहिं तिहिं आयमियव्वं । अण्णे भणंति-अंजली पढमणावापूरं तिहा करेति, अवयवे वि किंचित् बितियं णावापूरं तिहा करेत्ता सव्वावयवं विसोहिति, ततियं णावापूरं तिहा करेत्ता तिण्णि कप्पे करेति सुद्धं, अतो परं जति तो मासलहुं ।

गाहा-

उच्चारमायरित्ता, परेण तिण्हं तु णावपूराणं ।

जे भिक्खू आयामति, सो पावति आणमादीणि ॥३१०॥

इमे दोसा-

उच्छोलणुप्पिलावण-पडणं तसपाणतरुगणादीणं ।

कुरुकुयदोसा य पुणो, परेण तण्हाऽऽयमंतस्स ॥ ३११ ॥

उच्छोलणा पधोविस्स दुल्लभा, सोवि तारिसयस्स उच्छोलणा दोसा भवंति, पिपीलिगाऽऽदीणं वा पासणाण उप्पिलावणा हवति, खिल्लगंधे तसा पडंति, तरुगणपत्ताणि वा पुप्फाणि वा फलाणि वा पडंति, आतिग्गहणेणं पुढविआउतेउवाऊण य, यत्राग्निस्तत्र वायुना भवितव्यमिति कृत्वा कुरुकुयकरणे य पाउसत्तं भवति ।

कारणे अतिरित्ते ण आयमे-

बितियपद ससहरो-गअरिसा सागारसोयवादीसु ।

उत्थाणोसहपाणे, परेण तिण्हाऽऽयमेज्जासि ॥ ३१२ ॥

जेण वा णिल्लेवं णिग्गंधं भवतीत्यर्थः । नि० चू० ४ उ० ।

यदुदयेनाऽऽत्मा सदसद्विवेकविकलत्वात् स्थण्डिलवद् भवति स स्थण्डिलः । क्रोधे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

थंडिल्ल-देशी-मण्डले, दे० ना० ५ वर्ग २५ गाथा ।

थंब-देशी-विषमे, दे० ना० ५ वर्ग २४ गाथा ।

थंभ-स्तम्भ-पुं० । "थठावस्पन्दे" ॥ ८ । २ । ९ ॥ इति स्पन्दाभावकृत्तौ स्तम्भेस्तस्य थकारठकारौ । 'थंभो' 'ठंभो' । प्रा० २ पाद । उत्तमजातीयोऽहं कथमेतेषां भिक्षाचराणां हीनजातीयानां पार्श्वे गच्छामीत्यादिलक्षणे जात्याद्यभिमाने, आ० म० १ अ० २ खण्ड । उत्त० । आव० । दश० । अहङ्कारे, उत्त० ११ अ० । अवमाननायाम, ज० १२ श० ५ उ० । गर्वे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । शैलदारुमयाऽऽदौ, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० । स्थाणौ, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

थंभण-स्तम्भन-न० । ऊर्ध्वीकरणे, औ० ।

थंभणय-स्तम्भनक-न० । नवभयहराऽऽख्यपार्श्वनाथस्थाने पुरभेदे, ती० ४३ कल्प ।

"थंभणयकप्पमज्झे, जं संगहियं न वित्थरभएणं ।

तं सिरिजिणपहसूरी, सिलुंछमिव किं पि जंपेइ ॥ १ ॥"

वक्खारपव्वए रयणसीहराया, तस्स भोपालनामिअं धूअं रूवलावण्णसंपन्नं दट्ठूण ताए सयासुरायस्स तं सेवमाणस्स वा सुमिणो दिट्ठो, पुत्तो नागज्जुणो नाम जाओ। सो अ जणएण पुत्तसिणेहमोहिअमणेण सव्वासिं महो महीणं फलाइं मूलाइं दलाइं कंदाइं अ भुंजाविओ। तप्पभावेणं सो महासिद्धीहिं अलंकिओ सिद्धपुरिसु त्ति विक्खाओ पुहविं विअरंतो सालवाहणो रण्णो कलागुरू जाओ। सो अ गयणगामिणीविज्जाऽज्झयणत्थं पालित्तयपुरे सिरिपालित्तायरिए सेवेइ। अन्नया भोअणावसरे पायप्पलेवबलेण गयणे उप्पइए पासइ, अट्ठावयाइं तित्थाणि नमंसिआ सट्ठाणमुवागया। तेसिं पाए पक्खालिऊण सत्तुत्तरसयमहोसहाणं आसायणवण्णगंधाईहिं नामाइं निच्छइऊण गुरूवएसं विणा वि पायं लेवं काउं कुक्कुडपोओ व्व उप्पयंतो अवडतडे निवडिओ। वणजज्जरिअंगो गुरूहिं पुट्ठो-किमेअं ति?। तेण जहट्ठिए वुत्ते तस्स कोसल्लचमक्कारिआ आयरिआ तस्स सिरे पउमहत्थं दाउं भणंति-सट्ठिअंतदुलोदगेण ताणि ओसहाणि वट्टित्ता पायपलेवं काउं गयणे चक्किआसि त्ति। तओ तं सिद्धिं पाविअ परितुट्ठो पुणो कया वि गुरुमुहाओ सुणेइ-जहा सिरिपासनाहपुराओ साहिज्जंतो सव्वइत्थीलक्खणोवलक्खिअंगो अ महासई वि लयाए अमहिज्जंतो रसो कोडिवेही हवइ। तं सोऊण सो पासनाहपडिमं अन्नेसिउमारद्धो॥ इओ अ बारवईसमुद्दविजयदसारेणं सिरिनेमिनाहमुहाओ महाऽइसयं नाऊण रयणमई सिरिपासनाहपडिमा पासायम्मि ठविता पूइआ। बारवईदाहाणंतरं समुद्देण पाविया सा पडिमा तहेव समुद्दमज्झे ठिआ। कालेण कंतीवासिणो धणवइनामस्स संजत्तिअस्स जाणवत्तं देवयाइसयाओ खलिअं जत्थ जिणबिंबं चिट्ठइ त्ति दिव्ववायाए निच्छिअं नाविए तत्थ परिक्खिविअ सत्तहिं आमतंतूहिं संदाणिअ उद्धरिआ पडिमा। निअनयरीए नेऊण पासायम्मि ठविआ चिंताइरित्तलाहपहिट्ठेण पूइज्जइ पइदिणं। तओ सव्वाइसाइ तं बिंबं नाऊण नागज्जुणो सिद्धरससिद्धिनिमित्तं अवहरिऊण सेढीनईए तडे ठाविसु। तस्स पुरओ रसग्गाहणत्थं सिरिसालवाहणरण्णो चंदलेहाभिहाणं महासईदेविं सिद्धमंतरसनिद्धेण तत्थ आणाविअ पइनिसं रसमद्दणं कारेइ। एवं तत्थ सुओ भुज्जो गयागएणं तीए बंधु त्ति पडिवन्नो। सा तेसिं ओसहाणं मद्दणकारणं पुच्छेइ। सो अ कोडीरसवेहे वुत्तंतं जहट्ठिअं कहेइ। अन्नया दुण्ह निअपुत्ताणं तीए निवेइअं-जहा एअस्स रससिद्धी होहि त्ति। ते रसलुद्धा निअरज्जं मुत्तुं नागज्जुणपासमागया छइअवेण तं रसं घित्तुमणा पच्छन्नवेसा जत्थ नागज्जुणो भुंजइ तत्थ रससिद्धिवत्तं पुच्छंति। सा य तज्जाणणत्थं तहट्टं सलूणं रसवइं साहेइ, छम्मासे अइक्कंते खारं त्ति वुत्तिया तेण रसवई, तओ इंगिएहिं रसं सिद्धं नाऊण पुत्ताण निवेइअं तीए। तेहिं च परंपराए नायं, जहा वासुगिणाए अस्स दब्भंकुराओ मच्चू कहिओ त्ति, तेण च सत्थेण नागज्जुणो निहओ। जत्थ य रसो थंभिओ तत्थ थंभणयं नाम नयरं संजायं। तओ कालंतरेण तं बिंबं वयणमित्तविज्जं भूमिअंतरिअंगं संवुत्तं॥ इओ अ चंदकुले सिरिवद्धमाणसूरिसीसजिणेसरसूरीणं सीसो सिरिअभयदेवसूरी गुज्जरत्ताए संभाणयट्ठाणे विहरिओ। तत्थ महावाहिवसेण अइसाररोगे जाए, पच्चाऽऽसन्नगामनगरेहिंतो पक्खिअपडिक्कमणत्थमागंतुकामो विसेसेण आहूओ, मिच्छादुक्कडदाणत्थं सव्वो वि सावयसंघो। तेरसीअद्धरत्ते अ भणिअं-पहुणो सासणदेवयाए भयवं! जग्गहसु। अह तओ मंदसरेणं वुत्तं पहुणा-के तुमे?। निद्दादेवीए भणिअं-एआओ नव सुत्तकुक्कुडीओ उम्मोहेसु। पहुणा भणिअं न सक्केमि। तीए भणिअं-कहं न सक्केसि?, अज्ज वि वीरतित्थं धीर! पभावेसि, नवंगवित्तीओ अ काहिसि। भय वया भणियं-अहमेवंविहसरीरे कोहामि। देवया वुत्तं-थंभणयपुरे सेढीनइउवकंठे खंखरपलासमज्झे सयं सयंभूसिरिपासनाहो अत्थइ, तत्थ पुरं देवं वंदह, जेण सुत्थसरीरा होह। तओ गोसे साहू अ सावयसंघेण वंदिया पहुणा भणियं-थंभणए पासनाहं वंदिस्सामो। संघेण विनायं-नूणं कोइ उवएसो पहू, णं, तो एवं आइसंति। तओ भणिअं-संघेण अम्हे वि वंदिस्सामो। तओ वाहणेण गच्छंतस्स पहुणो थणयं सरीरं सुत्थं जायं। अओ धवलक्कयाओ परओ चरणचारेण विहरंता पत्ता थंभणपुरं गुरू, सावया सव्वत्थ पासनाहमवलोइंति। गुरुणा भणिआ-खंखरपलासमज्झे पलोएह, तेहिं तहा कए दिट्ठं सिरिपासनाहपडिमामुहं। तत्थ य दड्ढंगि एगा धेणू आगम्म पडिमामत्थए खीरं झरइ। तओ पहिट्ठेहिं सावएहिं जहा दिट्ठं निवेइअं गुरुणो। अभयदेवसूरी वि तत्थ गंतुं मुहदंसणमेत्तेण थोउमाढत्तो-"जय तिहुयणवरकप्परुक्ख" इच्चाइनवकालिअवत्तेहिं। तओ सोलससु वित्तेसु कएसु पच्चक्खा हूआ सव्वंगपडिमा। अओ चेव-"जय पच्चक्खजिणेसर त्ति" सत्तरसमे वित्ते पढिअं। तओ बत्तीसाए पुण्णाए अंतिमवित्तदुगं अइव देवयाकड्ढणकरं ति नाऊण देवयाए विन्नत्तं न य बत्तीसाए वि वित्तेहिं सांनिज्झं करिस्सामि त्ति, अंतिमवित्तदुगं अवणारेह, मा अम्हं कलिजुगे आगमणं दुक्खाय होति। पहुणा तहा कयं। संघेण सह चिइवंदणा कया। तत्थ संघेण उत्तुंगं देवहरयं कारिअं। तओ उवसंतरोगेण पहुणा तोसिओ सिरिपासस्सामी, न च महासिद्धं पसिद्धं। कालाइक्कमेण कया नागाईणं नवगाणं वित्ती, आयारंगसूअगडंगाणं तु पुव्वि पि सीलंगाऽऽयरिएण कया आसि। तओ एगं चिरं वीरतित्थं पभाविअं पहुणा त्ति।" इति स्तम्भनककल्पशिलोञ्छः। ती० ५२ कल्प।

" दढवाहिविहुरिअंगा, अणसणगहणत्थमाहविअसंघा।
नवसुत्तकुक्कुडीविमो-क्खणाय भणिया निसि सुरीए॥ १॥
दो वि अ हत्थअसत्था, नवंगवित्तरणकहाउमुज्झरिया।
थंभणयपासपुरओ, उवइट्ठाऽऽरोग्गाविहूणो य॥ २॥
थंभणयाभिवालया, धवलक्कपुराउ पयचरणचारी।
थंभणपुरम्मि पत्ता, सेढीनइउवरयमाभवणे॥ ३॥
गोपयवरणुवलक्खिय-थुणि 'जय तिहुअण' थयकप्परुक्खओ।
पासे पुरिअथवणा, गोविअ सकलं च वित्तदुगं॥ ४॥
संघ कराविअ नवणं, नयरे ठाविअ पासनाहपडिमा।
सिरिअभयदेवसूरी, वि जयउ नवंगवित्तिकरा॥ ५॥
यत्मार्गेऽपि चतुःसहस्रशरदां देवाऽऽलये योऽर्चितः,
स्वामी वासवचारुदेवकरणैः स्वर्वार्धिमध्ये ततः।
कान्त्यामिभ्यधनेश्वरेण महता नागार्जुनेनार्चितः,
पायात् स्तम्भनके पुरे स नयतः श्रीपार्श्वनाथो जिनः॥१॥"
ती० ६ कल्प।

थंभणयपुर-स्तम्भनक-न०। भवजयहराऽऽवयपार्श्वनाथस्थाने पुरभेदे, ती० ६ कल्प।

थंभणया-स्तम्भनता-स्त्री०। श्रीवायां धमन्यादीनां तिष्ठतो

वाऽऽत्मनोऽङ्गप्रदेशानामवरोधे, प्रज्ञा० १६ पद । आ० म० । सूत्र० ।

थंभणी–स्तम्भनी–स्त्री० । स्तम्भनकारिणि विद्याभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ज्ञा० ।

थंभिय–स्तम्भित–त्रि० । स्तब्धीकृते, स्था० ७ ठा० । "कइगतुखियथंभियभुया।" प्रज्ञा० २२ पद । औ० । स० । प्रज्ञा० । आ० म० ।

थक–फक–धा० । गतौ, "फक्कस्थक्कः" ॥ ८ । ४ । ७ ॥ इति फक्केस्थक्काऽऽदेशः । प्रा० ४ पाद । अवसरे, दे० ना० ५ वर्ग २४ गाथा । 'थक्कइ' फक्कति । "धातवोऽऽर्थान्तरेऽपि ॥ ८ । ४ । २५९ ॥ इति नीचां गतिं करोति विडम्बयति वा तदर्थे बोद्धव्याः । प्रा० ४ पाद ।

स्था–धा० । गतिनिवृत्तौ, "स्थष्ठा-थक्क-चिट्ठ-निरप्पाः" ॥ ८ । ४ । १६ ॥ इति तिष्ठतेस्थक्काऽऽदेशः । "थक्कइ"-तिष्ठति । प्रा० ४ पाद । प्रस्तावे, पुं० । "थक्के आलो नि नाऊणं" व्य० ६ उ० । देशोऽवसरः स्थकमिति पर्यायाः । विशे० ।

थकारंत–थकारयत्–त्रि० । 'थका' इत्येवं महान्तं शब्दं कुर्वति, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

थगण–स्थगन–न० । पिधाने, स्था० ४ ठा० ४ उ० । संवरणे, आव० ६ अ० ।

थगिय–स्थगित–त्रि० । पिहिते, दशा० ५ अ० १ उ० । संवृते, परिच्यक्ते, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आव० ।

थग्गया–देशी–चञ्चौ, दे० ना० ५ वर्ग २६ गाथा ।

थग्घ–पुं० । देशी-गाधे, दे० ना० ५ वर्ग २४ गाथा ।

थट्टी–देशी–पशौ, दे० ना० ५ वर्ग २४ गाथा ।

थण–स्तन–पुं० । वक्षोजे, पयोधरे, मांसगोले, ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग १ अ० । अनु० । कुचे, है० । आव० ।

थणगच्छीर–स्तनकक्षीर–न० । पयोधरदुग्धे, तं० ।

थणण–स्तनन–न० । रारटने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० आक्रन्दने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आलोरे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । सशब्दनिःश्वासे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

थणदोस–स्तनदोष–पुं० । कायोत्सर्गदोषभेदे, "ओच्छाइऊण य थणे, चोलगपट्टेण ठाइ उस्सग्गं ।" अवच्छाद्य स्थगयित्वा स्तनौ चोलपट्टेन दंशाऽऽदीनां रक्षणार्थम् । अथवा-अनाभोगदोषेण वा अज्ञानदोषेण करोत्युत्सर्गमिति स्तनदोषः ॥ प्रव० ५ द्वार ।

थणपीलण–स्थनपीडन–न० । पयोधरचम्पने, तं० ।

थणहर–स्तनभर–पुं० । "ख-घ-थ-ध-भाम्" ॥ ८ । १ । १८७ ॥ इति भस्य हः । वक्षोजगौरवे, प्रा० १ पाद ।

थणिय–स्तनित–न० । मेघगर्जिते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । अनु० । प्रव० । दीर्घनिःस्वराऽऽक्रन्दने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । रसिते, स० । भोगसमये सुरतरघनगर्जितानुकारिशब्दे, उत्त० १६ अ० । कुलमन्दध्वनौ, त्रि० । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्तनितकुमारे भवनपतिभेदे, तं० ।

थणियकुमार–स्तनितकुमार–पुं० । सुवर्णानियुक्तहयवररूपाचिह्नधरे दशमे भवनपतिनिकाये, प्रज्ञा० २ पद । स्था० । "छावत्तरिं थणियकुमारावाससयसहस्सा पण्णत्ता ।" भ० १६ श० १३ उ० ।

थणियसद्द–स्तनितशब्द–पुं० । मेघगर्जिते, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

थत्तिअ–देशी–विश्रामे, दे० ना० ५ वर्ग २६ गाथा ।

थद्ध–स्तब्ध–त्रि० । मानवति, स० ३० सम० । अहङ्कारिणि, उत्त० १७ अ० । ग० । यत्किञ्चनकारिणि मानिनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । स्तब्धकृते द्वितीयदोषदुष्टे वन्दने, बृ० ३ उ० । आव० । प्रव० । स्तब्धस्तावत् द्रव्यतो, भावतश्च । भवत्यत्र चतुर्भङ्गिका । तद्यथा-द्रव्यतः स्तब्धो न भावतः, भावतः स्तब्धो न द्रव्यतः । अपरो द्रव्यतो भावतश्च । अन्यः पुनर्न द्रव्यतो नाऽपि भावत इति । अत्र चरमो भङ्गः शुद्धः । शेषभङ्गकेष्वपि भावतस्तब्धोऽशुद्ध एव । द्रव्यतस्तु भक्तो विकल्पितः वदरपृष्ठस्थूलविवादिवाधितोऽवनामं कर्तुमशक्तः कारणिकः स्यादपि स्तब्धो न तु निष्कारणिक इति भावः । बृ० ३ उ० ।

थद्धभरदह–स्तब्धरहद–पुं० । अयोध्यायां स्वर्गद्वारस्थाने ह्रदे, "गोमुहजक्खो जत्थ थद्धभरद्दहो सरऊनईए समं मिलितो सग्गदुवारं ति पसिद्धिमावन्नो ।" ती० १२ कल्प ।

थमिय–देशी–विस्मृते, दे० ना० ५ वर्ग २५ गाथा ।

थय–स्तव–पुं० । 'ष्टुञ्' स्तुतावित्यस्मादच् । आ० चू० ३ अ० । गुणकीर्तने, व्य० ।

अथ स्तुतिस्तवयोर्विशेषमभिधित्सुराह–

एगदुगे तिसलोगा, थुईसु अन्नेसि होइ जा सत्त ।
देविंदत्थयमादी, तेणं तु परं थया होइ ॥

एकश्लोका, द्विश्लोका त्रिश्लोका वा स्तुतिर्भवति । परतश्चतुःश्लोकाऽऽदिकः स्तवः । अन्येषामाचार्याणां मतेन एकश्लोकाऽऽदिकः यावत् सप्त स्तवः, यथा देवेन्द्रस्तवाऽऽदयः । आदिशब्दात्कर्मस्तवाऽऽदिपरिग्रहः । व्य० ७ उ० । "संथा० । थओ चउव्विहो, णामठवणाओ गताओ" । आ० चू० १ अ० । आ० म० । सूत्र० । पञ्चा० ।

अधुना स्तवनिक्षेपप्रतिपादनार्थमाह–

नामं ठवणा दविए, भावे य थयस्स होइ निक्खेवो ।
दव्वथओ पुप्फादी, संतगुणुक्कित्तणा भावे ॥३॥

(नामं ति) नामस्तवः, स्थापनास्तवः, द्रव्यविषयो द्रव्यस्तवः । (भावे त्ति) भावविषयो भावस्तवः । इत्थं स्तवस्य निक्षेपो न्यासो भवति, चतुष्प्रकार इति शेषः । तत्र सुगमत्वा-न्नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यस्तवस्वरूपमाह–द्रव्यस्तवः पुष्पाऽऽदिः, आदिशब्दाद् गन्धरूपाऽऽदिपरिग्रहः । कारणे कार्योपचारादेवमाह–अन्यथा द्रव्यस्तवः पुष्पाऽऽदिभिः समभ्यर्चनमिति द्रष्टव्यम् । तथा सद्गुणोत्कीर्तना भावे इति । सन्तश्च ते गुणाश्च सद्गुणाः । अनेन असत्सु गुणेषु कीर्तनानिषेधमाह, करणे मृषावाददोषसङ्गात् । सद्गुणानामुत्कीर्तनात् प्राबल्येन परया भक्त्या कीर्तना संस्तवना । यथा–
" प्रकाशितं तथैकेन, त्वया सम्यक् जगत्त्रयम् ।

समग्रैरपि नो नाथ !, परतीर्थाधिपैस्तथा ॥ १ ॥
विद्योतयति वा लोकं, यथैकोऽपि निशाकरः ।
समुद्गतसमग्रोऽपि, किं तथा तारकागणः ? " ॥ २ ॥

इत्यादि लक्षणा भावे इति द्वारपरामर्शो भावस्तव इत्यर्थः । इति चाश्रितप्रतिष्ठितोऽर्थः सम्यग् ज्ञानाय प्रभवतीति चालनां कदाचित् विनेयः करोति, कदाचित् स्वयमेव गुरुरपि । तथा चोक्तम्-" कत्थइ पुच्छइ सीसो, कहिँ च पुट्ठा कहंति आयरिया । " इत्यादि ।

तत्र वित्तपरित्यागाऽऽदिना द्रव्यस्तव एव ज्यायानित्यल्पबुद्धीनामाशङ्कासंभवः, तदुदासार्थं तदनुवादपुरःसरमाह-

दव्वत्थओ य भाव-त्थओ य दव्वत्थओ बहुगुणो त्ति ।
बुद्धि सिया अनिउण-मइवयणमिणं छजीवहिअं ॥४॥

द्रव्यस्तवो, भावस्तव इत्यनयोर्मध्ये द्रव्यस्तवो बहुगुणः । प्रभूततरगुण इत्येवंबुद्धिः स्यादेवं चेन्मन्यसे इति भावः । तथाहि-किलाऽस्मिन् क्रियमाणे वित्तपरित्यागात् शुभ एवाध्यवसायः, तीर्थस्य चोन्नतिकरणं दृष्ट्वा च तं क्रियमाणमन्येऽपि प्रतिबुध्यन्ते इति स्वपरानुग्रहः, सर्वमिदं सप्रति पक्षं चेतसि निधाय द्रव्यस्तवो बहुगुण इत्यस्यासारताख्यापनायाऽऽह-(अनिउणमइवयणमिति) अनिपुणमतेर्वचनमिदम्-यत् द्रव्यस्तवो बहुगुण इति । किमित्यत आह-षड्जीवहितं षण्णां पृथिवीकायाऽऽदीनां जीवाहितं जिनास्तीर्थकृतो ब्रुवते ।

किं षड्जीवहितमित्यत आह-

छज्जीवकायसंजमो, दव्वथए सो विरुज्झई कसिणो ।
तो कसिणसंजमविऊ, पुप्फाईयं न इच्छंति ॥५॥

षण्णां जीवनिकायानां पृथिव्यादिलक्षणानां संयमः संघट्टना परित्यागः षड्जीवकायसंयमः। एष हितम्। यदि वा-मेवं, ततः किमित्यत आह-द्रव्यस्तवे पुष्पाऽऽदिसमभ्यर्चनलक्षणे षड्जीवनिकायसंयमः कृत्स्नः संपूर्णो विरुध्यते, न सम्यक् संपद्यते, पुष्पाऽऽदिसंलुञ्चनसंघट्टनाऽऽदिना कृत्स्नसंयमव्याघातभावात्, यतश्चैवं (तो त्ति) तस्मात्कृत्स्नसंयमप्रधानं विद्वांसस्ते तत्त्वतः-साधव उच्यन्ते,कृत्स्नसंयमग्रहणमकृत्स्नसंयमविदुषां श्रावकाणां व्यपोहार्थम्-पुष्पाऽऽदिकं द्रव्यस्तवं नेच्छन्ति न बहु मन्यन्ते।यच्चोक्तम्-द्रव्यस्तवे क्रियमाणे वित्तपरित्यागात् शुभ एवाध्यवसाय इत्यादि। तदपि यत्किञ्चित्,व्यभिचारात्, कस्यचिदल्पसत्त्वस्य अविवेकिनो वा शुभाध्यवसायानुपपत्तेः। दृश्यते च कीर्त्याद्यर्थमपि सत्त्वानां द्रव्यस्तवे प्रवृत्तिः। शुभाध्यवसायभावे तु-स एव भावस्तवः। इतरस्तु तत्कारणत्वेनाप्रधानमिति । तथा भावस्तव एव सति तत्त्वतस्तीर्थस्योन्नतिकारणं भावस्तवमतः सम्यगमराऽऽदीनामपि पूज्यत्वात्तमेव च दृष्ट्वा क्रियमाणमन्येऽपि सुतरां प्रतिबुध्यन्ते । शिष्ट इति स्वपरानुग्रहोऽपीहैवेति गाथाभावार्थः।

आह-यद्येवं किमयं द्रव्यस्तव एकान्ततो हेय एव वर्त्तते, आहोस्विदुपादेयोऽपीति ?। उच्यते-साधूनां हेय एव, श्रावकाणामुपादेयोऽपि ।

तथा चाऽऽह भाष्यकारः-

अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।
संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥ ६ ॥

अकृत्स्नं, संयममिति सामर्थ्याद्गम्यते, प्रवर्त्तयन्तीत्यकृत्स्नप्रवर्त्तकाः, तेषां विरताविरतानां श्रावकाणामेष द्रव्यस्तवः खलु युक्त एव। खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् । किंकृतोऽयमित्याह-संसारप्रतनुकरणः संसारक्षयकारक इति भावः । आह-यः प्रकृत्यैवासुन्दरः स कथं श्रावकाणामपि युक्तः ?। उच्यते-अत्र कूपदृष्टान्तः-" जहा नवनगराइसन्निवेसे केइ पभूयजलाभावतो तण्हाइपरिगया तदवणोदार्थं कूपं खणंति, तेसिं च जइ वि तण्हाऽऽइया वड्ढंति, मट्टियाकद्दमाईहि य मलिणिज्जंति, तहा वि तदुब्भवेणं तेसिं तिण्हाइयसोयमलो पुव्वगो य फिट्टइ, सेसकालं च ते तदन्ने य लोगा सुहभायणा भवंति, एवं दव्वथए जइ वि असंजमो, तहा वि तत्तो चेव सा परिणामसुद्धी भवति । जा असंजमवज्जिय अन्नं च निरवसेसं खवेति-तहा ऽविरता विही एस दव्वत्थओ कायव्वो सुहाणुबंधी, पभूयनिज्जराफलो य त्ति।" उक्तः स्तवः। आ० म० २ अ०। सूत्र०। पञ्चा०। (द्रव्यस्तवो व्यासेन ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे २४४५ पृष्ठे प्रत्यपादि)

कयमत्थ पसंगेणं, जहोचिआ चेव दव्वभावथया ।
अन्नोन्नसमणुविद्धा, नियमेणं होंति नायव्वा ॥१॥

कृतमत्र प्रसङ्गेन द्रव्यस्तवाऽऽदिविचारे एवं यथोचितभावे च प्रधानगुणभावतः द्रव्यभावस्तवादीनि अन्योऽन्यसमनुविद्धौ नियमेन भवतः ज्ञातव्यौ अन्यथा स्वरूपाभावः। इति गाथार्थः ।

अनयोर्वृद्धिमाह-

अप्पविरिअस्स पढमो, सहकारिविसेसभूअओ सेओ ।
इअरस्स बज्झचाया, इअरो च्चिअ एस परमत्थो ॥२॥

अल्पवीर्यस्य प्राणिनः प्रथमो द्रव्यस्तवः सहकारिविशेषभूतो वीर्यस्य श्रेयानिति । इतरस्य बहुवीर्यस्य साधोर्बाह्यत्यागादिति बाह्यद्रव्यस्तवत्यागेन इतर एव श्रेयान् भावस्तव इत्येष परमार्थोऽत्र द्रष्टव्यः । इति गाथार्थः ।

विपर्यये दोषमाह-

दव्वत्थयं पि काउं, ण तरइ जो अप्पवीरिअत्तेणं ।
परिसुद्धं भावथयं, काही सो संभवो एस ॥ ३ ॥

द्रव्यस्तवमपि कर्त्तुमौचित्येन न शक्नोति यः स सत्त्वोऽल्पवीर्यत्वेन हि नापरिशुद्धं भावस्तवं यथोक्तमित्यर्थः । करिष्यत्यसावसंभव एषः, बलाभावात । इति गाथार्थः ।

एतदेवाऽऽह-

जं सो उक्किट्ठयरं, अवेक्खई वीरिअं इहं णिअमा ।
ण हि पलसयं पि वोढुं, असमत्थो सव्व यं वहइ ॥४॥

यदसौ भावस्तव उत्कृष्टतरमपेक्षते वीर्यं शुभाऽऽत्मपरिणामरूपमिह नियमात् अतोऽल्पवीर्यः कथं करोत्येतमिति । न हि पलशतमपि वोढुमसमर्थः मन्दवीर्यः सत्त्वः सर्वं तं वहति पलशततुल्यो द्रव्यस्तवः, सर्वतस्तुल्यश्च भावस्तवः। इति गाथार्थः ।

एतदेव स्पष्टयति-

जो बज्झचाएणं, णो इत्तिरिअं पि णिग्गहं कुणइ ।
इह अप्पणो सयासे, सव्वच्चाएण कह कुज्जा ? ॥५॥

यो बाह्यत्यागेन बाह्यवित्तेनेत्वरमपि निग्रहं करोति । बन्धनाऽऽदौ इहाऽऽत्मनः क्रुद्धः सदाऽऽसौ यावज्जीवं सर्वत्यागेन बाह्याऽऽभ्यन्तरत्यागेन कथं कुर्यादात्मनो निग्रहम्। इति गाथार्थः।

अनयोरेव तु गुणलाघवविधिमाह-

आरंभच्चाएणं, णाणाऽऽइगुणेसु वट्टमाणेसु ।
दव्वत्थयहाणी वि हु, न होइ दोसाय परिसुद्धा ॥६॥

आरम्भत्यागेन हेतुना ज्ञानाऽऽदिगुणेषु वर्द्धमानेषु सत्सु द्रव्यस्तवहानिरपि कर्तुर्न भवति दोषाय परिशुद्धा सानुबन्धा । इति गाथाऽर्थः ॥ ६ ॥

इहैव तन्त्रयुक्तिमाह-

एत्तो चि य णिद्दिट्ठो, धम्मम्मि चउव्विहम्मि वि कमो अ ।
इह दाणसीलतवभा-वणामए अन्नहाजोगा ॥ ७ ॥

अत एव द्रव्यस्तवाऽऽदिन्यायाद् निर्दिष्टो भगवद्भिर्धर्मे चतुर्विधेऽपि क्रमोऽयं वक्ष्यमाणः, इह प्रवचने दानशीलतपोभावनामये धर्मेऽन्यथाऽयोगादस्य धर्मस्येति गाथाऽर्थः ॥ ७ ॥

तदेवाऽऽह-

संतं बज्झमणिच्चं, ठाणे दाणं पि जो ण विअरेइ ।
इय खुद्दगो कहं सो, सीलं अइदुद्धरं धरइ ? ॥ ८ ॥

सद्विद्यमानं, बाह्यमात्मनो भिन्नम, अनित्यमशाश्वतं, स्थाने पात्राऽऽदौ, दानं वित्तकाऽऽदि यो न वितरति न ददाति क्षौद्र्यात् (इय) एवं क्षुद्रको वराकः कथमसौ शीलं महापुरुषसेवितमतिदुर्द्धरं धारयति ?, नैवेति गाथाऽर्थः ॥ ८ ॥

असीलो अ ण जायइ, सुद्धस्स तवस्स हंदि विसओ वि ।
जहसत्तीएँ तवस्सी, भावइ कह भावणाजालं ? ॥ ९ ॥

'अशीलश्च न जायते' नियम एव शुद्धस्य तपसो मोक्षाङ्गभूतस्य, हन्दि विषयोऽपि यथाशक्त्या तपस्वी मोहपरं तत्र भावयति कथं भावनाजालम् ?, तत्त्वतो नैव । इति गाथाऽर्थः ॥ ९ ॥

एत्थं च दाणधम्मो, दव्वत्थयरूवमो गहेअव्वो ।
सेसा उ सुपरिसुद्धा, णेया भावत्थयसरूवा ॥ १० ॥

अत्र च प्रक्रमे दानधर्मो द्रव्यस्तवरूप एव ग्राह्योऽप्रधानत्वात्, शेषास्तु सुपरिशुद्धाः शीलधर्माऽऽदयो ज्ञेया भावस्तवस्वरूपाः प्रधानत्वादिति गाथाऽर्थः ॥ १० ॥

इहैवातिदेशमाह-

इय आगमजुत्तीहिं, तं तं सुत्तमहिगिच्च धीरेहिं ।
दव्वत्थयाऽऽइरूवं, विवेइयव्वं सबुद्धीए ॥ ११ ॥

(इय) एवमागमयुक्तिभिस्तत्तत्सूत्रमधिकृत्य धीरैर्बुद्धिमद्भिर्द्रव्यस्तवाऽऽदिरूपं विवेक्तव्यं-सम्यगालोच्येति वक्तव्यं स्वबुद्ध्या । इति गाथाऽर्थः ॥ ११ ॥

उपसंहरन्नाह-

एसेह थयपरिण्णा, समासओ वण्णिआ मए तुब्भं ।
वित्थरओ भावत्थो, इमीएँ सुत्ताउ णायव्वो ॥ १२ ॥

एषेह स्तवपरिज्ञा स्तवपद्धतिः समासतो वर्णिता मया युष्माकं विस्तरतो भावार्थोऽस्याः स्तवपरिज्ञायाः सूत्राज्ज्ञातव्यः । इति गाथाऽर्थः ॥१२॥ पं० व० ४ द्वार । प्रति० । दर्श० । ध० । परपाक्षिकसंपादितस्तोत्राऽऽदिकं मातङ्गतुरुष्कसंपादितरसवतीवदनास्वाद्यमेव, कश्चिद्विशेषो वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-परपाक्षिकसंपादितस्तोत्राऽऽदीनां मातङ्गतुरुष्काऽऽदिसंपादितरसवत्युपमानं सतां वक्तुमेवानुचितमिति किं प्रतिवचनेन ?। १३ प्र० । ही० १ प्रका० । शक्रस्तवपाठे, उत्त० २९ अ० । श्रीआदिनाथवारके यं चतुर्विंशतिस्तवं पठितवन्तः, तमेवार्वाक् श्रीमहावीरवारकेऽपि, परं सूत्रपाठनियमो नास्तीति परम्पराऽस्तीति युक्तिरपि च तथैव दृश्यते । १७ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

थयण-स्तवन-न० । स्तुतौ, "थुइथयणवंदणनमं-सणाणि एगट्ठियाणि एयाणि ।" आव० २ अ० ।

थयथुइमंगल-स्तवस्तुतिमङ्गल-न० । स्तवः शक्रस्तवपाठः, स्तुतिस्तूर्ध्वीभूय कथनम् । स्तवाश्च स्तुतयश्च स्तवस्तुतयः, ता एव मङ्गलं स्तवस्तुतिमङ्गलम् । स्तवस्तुतिरूपे भावमङ्गले, उत्त० २९ अ० ।

स्तवफलप्रतिपादनम्-

थयथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । थयथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणयइ । नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ ॥ १४ ॥

हे भदन्त ! स्तवः शक्रस्तवरूपः, स्तुतिर्या ऊर्ध्वीभूय कथनरूपा । अथवा-एकाऽऽदिसप्तश्लोकान्ता यावदष्टोत्तरशतश्लोका वाच्याः । स्तुतिश्च स्तवश्च स्तुतिस्तवौ, तौ एव मङ्गलं भावमङ्गलरूपं स्तुतिस्तवमङ्गलं, तेन स्तुतिस्तवमङ्गलेन जीवः किं जनयति ? । स्तवस्तुतिमङ्गलेनेति पाठस्तु आर्षत्वात् । गुरुः प्रश्नोत्तरमाह-हे शिष्य ! स्तवस्तुतिमङ्गलेन जीवो ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभं जनयति । तत्र ज्ञानं मतिश्रुताऽऽदि, दर्शनं क्षायिकसम्यक्त्वं, चारित्रं विरतिरूपं, तद्रूप एव बोधिलाभो जैनधर्मप्राप्तिर्ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभस्तं जनयति, ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभसम्पन्नश्च जीव आराधनां ज्ञानाऽऽदीनामासेवनामाराधयति साधयति । कीदृशीमाराधनाम् ?-कल्पविमानोत्पत्तिकां, कल्पाश्च विमानानि च तेषु उत्पत्तिर्यस्याः सा कल्पविमानोत्पत्तिका, ताम् । पुनः कीदृशीमाराधनाम् ?, अन्तक्रियाम्-अन्तस्य संसारस्य, कर्मणां वा अवसानस्य क्रिया अन्तक्रिया, तामेवंभूतां ज्ञानाऽऽद्याराधनां साधयति, कल्पाः सौधर्माऽऽदयो देवलोकाः, विमानानि नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरविमानानि ज्ञानाऽऽद्याराधनया कश्चिद्भरताऽऽदिवत् दीर्घकालेन मुक्तिं प्राप्नोति । कश्चिद् गजसुकुमालवत् स्वल्पकालेनैव मुक्तिं प्राप्नोतीति भावः ॥ १४ ॥ उत्त० २९ अ० । (तद्वक्तव्यता 'गयसुकुमाल' शब्दे तृतीयभागे ८४३ पृष्ठे द्रष्टव्या)

थयपरिण्णा-स्तवपरिज्ञा-स्त्री० । "वण्णिज्जइ जीए इव, दुविहो वि गुणाऽऽइभावेण ।" वर्ण्यते यस्यां ग्रन्थपद्धतौ स्तवः द्विविधोऽपि द्रव्यभावरूपो गुणाऽऽदिभावेन गुणप्रधानरूपतया । प्राभृतविशेषे, पं० व० ४ द्वार । प्रति० । (सा च सूत्ररूपा इदानीमनतिप्रसिद्धा, गाथारूपपञ्चवस्तुकप्रकरणे प्रतिपादिता, अस्माभिः 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२२० पृष्ठे विन्यस्ता)

थयपाढ-स्तवपाठ-पुं० । शक्रस्तवाऽऽदिस्तवपठने, पञ्चा० ३ विव० ।

थयविहि-स्तवविधि-पुं० । स्तवः पूजा तस्य विधिर्विधानं प्रकारः स्तवविधिः । स्तवपरिज्ञायाम्, "नमिऊण जिणं वीरं,

निओगपुव्वं समासओ वोच्छं । थयविहिमागमसुद्धं, सपरेसिमणुग्गहट्ठाए ॥ १ ॥ " पञ्चा० ६ विव० ।

थयसरण-स्तवस्मरण-न० । चतुर्विंशतिस्तवानुचिन्तने, पञ्चा० ८ विव० ।

थर-पुं० । देशी-दधिसरे, दे० ना० ५ वर्ग २४ गाथा ।

थरहरिअ-न० । देशी-कम्पिते, दे० ना० ५ वर्ग २७ गाथा ।

थरू-पुं० । देशी-त्सरौ, दे० ना० ५ वर्ग २४ गाथा ।

थल-स्थल-न० । अटव्याम्, दशा० ७ अ० । उच्चभूमिभागे, उत्त० २ अ० । भूमिप्रदेशविशेषे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । ध० । " थलेसु बीयाइं । " यदा प्रचुरः वर्षा भवति तदा स्थलेषु फलावाप्तिः । उत्त० १२ अ० । आकाशे, नि० चू० १ उ० । (स्थलव्याख्या ' णईसंतार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७४० पृष्ठे द्रष्टव्या)

थलअ-पुं० । देशी-मण्डपे, दे० ना० ५ वर्ग २५ गाथा ।

थलकुक्कुडियंड-स्थलकुक्कुटचण्ड-न० । इह कवलप्रक्षेपणाय मुखे विकासिते यदाकाशं भवति तत्स्थलं भण्यते, स्थलमेव कुक्कुटचण्डकं स्थलकुक्कुटचण्डकम् । कवलप्रक्षेपार्थं विकाशिते मुखे, व्य० ७ उ० ।

थलकुक्कुडियंडप्पमाण-स्थलकुक्कुटचण्डप्रमाण-न० । मुखविवरप्रमाणे कवले, यावत्प्रमाणमात्रेण कवलेन मुखे प्रक्षिप्यमाणेन मुखं न विकृतं भवति । व्य० ७ उ० ।

थलचार-स्थलचार-पुं० । स्थले रथाऽऽदिना देशान्तरावाप्तौ, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

थलयपुप्फ-स्थलजपुष्प-न० । विचकिलकोरण्टकाऽऽदिके स्थल एव जायमाने कुसुमे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रज्ञा० ।

थलयर-स्थलचर-पुं० । स्थले चरतीति स्थलचरः । स्था० १० ठा० । स्थलजेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु, स्था० १० ठा० । स० ।

स्थलचरभेदाः-

से किं तं थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ? । थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया, परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया । से किं तं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ? । चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संमुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया, गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया । जहेव जलयराणं तहेव चउक्कओ भेदो । सेत्तं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया । से किं तं परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ? । परिसप्पथलयरपंचिंदिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया, भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया । से किं तं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ? । उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता । जहेव जलयराणं तहेव चउक्कओ भेओ । एवं भुयगपरिसप्पाण वि भाणियव्वा । सेत्तं भुयगपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया । सेत्तं थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ।

अथ के ते पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः ? । पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-जलचराः, स्थलचराः, खचराश्च । अथ के ते जलचराः ? । जलचरा द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-संमूर्च्छिमाश्च, गर्भव्युत्क्रान्तिकाश्च । अथ के ते संमूर्च्छिमाः ? संमूर्च्छिमा द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-पर्याप्तकाश्च, अपर्याप्तकाश्च । अथ के ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः ? । गर्भव्युत्क्रान्तिका द्विविधाः । तद्यथा पर्याप्तकाः, अपर्याप्तकाश्च । एवं चतुष्पदा उरःपरिसर्पा भुजपरिसर्पाः पक्षिणश्च प्रत्येकं चतुष्प्रकारा वक्तव्याः । जी० ३ प्रति० ४ उ० । प्रज्ञा० ।

थली-स्थली-स्त्री० । देवद्रोण्याम्, नि० चू० १ उ० ।

थलीघोडय-स्थलीघोटक-पुं० । देवमकरापरपर्याये पशुविशेषे, व्य० ७ उ० ।

थव-स्तव-पुं० ' थय ' शब्दार्थे, आ० चू० ३ अ० ।

थवइय-स्तबकित-त्रि० । संजातपुष्पस्तबके, भ० १ श० १ उ० । जी० । औ० । ज्ञा० । जं० । रा० ।

थवइल्ल-पुं० । देशी-प्रसारितोरुद्वयोपविष्टे, दे० ना० ५ वर्ग २६ गाथा ।

थवण-स्तवन-न० । ' थयण ' शब्दार्थे, आव० २ अ० ।

थवथुइमंगल-स्तवस्तुतिमङ्गल-न० । ' थयथुइमंगल ' शब्दार्थे, उत्त० २९ अ० ।

थवपरिण्णा-स्तवपरिज्ञा-स्त्री० । ' थयपरिण्णा ' शब्दार्थे, पञ्चा० ६ विव०

थवपाढ-स्तवपाठ-पुं० । ' थयपाढ ' शब्दार्थे, पञ्चा० ३ विव० ।

थवय-स्तवक-पुं० । पुष्पगुच्छे, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

थवविहि-स्तवविधि-पुं० । ' थयविहि ' शब्दार्थे, पञ्चा० ६ विव० ।

थवसरण-स्तवस्मरण-न० । ' थयसरण ' शब्दार्थे, पञ्चा० ८ विव० ।

थविर-स्थविर-पुं० । प्रव्रजितव्यापारान् संयमयोगेषु सीदतः साधून् ज्ञानाऽऽदिषु ऐहिकाऽऽमुष्मिकापायदर्शनतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः । प्रव० २ द्वार । प्रति० । स्था० । ध० । उत्त० । आचा० । " स्थविरविचाकिलापस्कारे " ॥ ८ । १ । १६६ ॥ इति ओदः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सहैत् ' थेरो ' । अपि-' थविरो ' इत्यपि । प्रा० १ पाद । " ज्ञानार्द्रा शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम " ॥ ८ । २ । ८९ ॥ इति थाद्वित्वनिषेधः । प्रा० २ पाद । सीदतां स्थिरीकरणहेतौ, दश० ९ अ० १ उ० । द्वा० । व्य० । ध० ।

अधुना स्थविरस्वरूपमाह-

संविग्गो मद्दविओ, पियधम्मो नाणदंसणचरित्ते ।
जे अट्ठे परिहायइ, सारेंतो ते हवइ थेरो ॥

यः संविग्नो मोक्षाभिलाषी, मार्दवितः संज्ञानमार्दविकः, (?) प्रियधर्मा एकान्तवल्लभ', संयमानुष्ठाने यो ज्ञानदर्शनचारित्रेषु मध्ये यानर्थानुपादेयानुष्ठानविशेषान् परिहापयति हानिं नयति

तान् तं स्मारयन् भवति स्थविरः, सीदमानान्साधून् ऐहिका-ऽऽमुष्मिकापायप्रदर्शनतो मोक्षमार्गे स्थिरीकरोतीति स्थविर इति व्युत्पत्तेः ।

तथा चाऽऽह-

थिरकरणा पुण थेरो, पवत्तिवावारिएसु अत्थेसु ।
जो जत्थ जई सीयइ, तं सवलो तं पचोदेति ॥

प्रवृत्तिव्यापारितेष्वर्थेषु यो यत्र यतिः सीदति, सद् विद्यमानं बलं यस्य स सद्बलः तथाभूतः स प्रचोदयति प्रकर्षेण शिक्षयति स स्थिरकरणात् स्थविर इति । उक्तं स्थविरस्य स्वरूपम् । व्य० १ उ० ।

अथ स्थविरपदयोग्यगुणानाह-

तेन व्यापारितेष्वर्थे-ष्वनगारांश्च सीदतः ।
स्थिरीकरोति सच्छक्तिः, स्थविरो भवतीह सः ॥ ७३ ॥

तेन प्रवर्तकेन व्यापारितेषु नियोजितेष्वर्थेषु तपःसंयमाऽऽदि-कार्येषु सीदतः प्रमादाऽऽदिनाऽप्रवर्तमानानगारान् साधून् यः स्थिरीकरोति तत्तदुपायेन दृढीकरोति । कीदृशः ?, सच्छक्तिः-सत्सामर्थ्यः, स साधुरिह जिनमते स्थविरो भवति नान्य इति भावः ॥ ७३ ॥ ध० ३ अधि० । सप्ततिवर्षाणां षष्टि-वर्षाणां वोपरिवर्तिनि (ध० ३ अधि० । कल्प० । व्य०) श्रुतवृद्धे, भ० २ श० ५ उ० । ज्ञा० । चतुर्दशपूर्वविदि (आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०) भद्रबाहुस्वाम्यादौ, विशे० । आचार्याऽऽदिगुरौ, स० २ सम० । गच्छप्रतिबद्धे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । गच्छमहति, व्य० ३ उ० । प्रव० । जरसा जीर्णे, स्थविरभूमिप्राप्ते सूत्रार्थतदुभयोपेते, व्य० २ उ० । धर्मपरिणत्या निवृत्त्या समग्रसत्क्रियामतौ, जी० १ प्रति० । भ० । आ० क० । आ० म० । ध० । ज्ञा० । (स्थविराणां जातिश्रुतपर्यायाः 'थविरभूमि' शब्दे वक्ष्यन्ते)

तओ थेरभूमीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-जाइथेरे, सुयथेरे, परियायथेरे । सट्ठिवासजाए समणे निग्गंथे जाइथेरे, ठाणसमवायधरे णं निग्गंथे सुयथेरे, वीसवासपरियाए णं समणे निग्गंथे परियायथेरे ॥

" तओ थेरे " इत्यादि कण्ठ्यम् । नवरं स्थविरो वृद्धस्तस्य भूमयः पदव्यः स्थविरभूमय इति । जातिर्जन्म, श्रुतमागमः, पर्यायः प्रव्रज्या, तैः स्थविरा वृद्धा ये ते तथोक्ता इति । इह च भूमिकाभूमिवतोरभेदादेवमुपन्यासः, अन्यथा भूमिका अभिहिता इति ता एव वाच्याः स्युरिति । एतेषां त्रयाणां क्रमेणानुकम्पापूजनवन्दनानि विधेयानि । यत उक्तं व्यवहारे-

" आहारे उवहिसेज्जा-संथारे खेत्तसंकमे ।
किइछंदाणुवत्तीहिं, अणुकंपइ थेरगं ॥ १ ॥
उट्ठाणाऽऽसणदाणाई, जोगाहारप्पसंसणा ।
नीयसेज्जाइणिद्देस-वज्जणा पूयए सुयं ॥ २ ॥
उट्ठाणं वंदणं चेव, गहणं दंडगस्स य ।
अगुरुणो वि य णिद्देसे, तइयाए पवत्तए ॥ ३ ॥ " इति ।
स्थविरा इति । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

दस थेरा पण्णत्ता । तं जहा-गामथेरा नगरथेरा रट्ठथेरा पसत्थारथेरा कुलथेरा गणथेरा संघथेरा जाइथेरा सुयथेरा परियायथेरा ॥

(दसेत्यादि) स्थापयन्ति दुर्व्यवस्थितं जनं सन्मार्गे स्थिरीकुर्वन्तीति स्थविराः, तत्र ये ग्रामनगरराष्ट्रेषु व्यवस्थाकारिणो बुद्धिमन्त आदेयाः प्रभविष्णवस्ते तत्तत्स्थविरा इति ३ । प्रशासति शिक्षयन्ति ये ते प्रशास्तारो धर्मोपदेशकाः, ते च ते स्थिरीकरणात्स्थविराश्चेति प्रशास्तृस्थविराः ४ । ये कुलस्य गणस्य सङ्घस्य च लौकिकस्य लोकोत्तरस्य च व्यवस्थाकारिणस्तद्भङ्क्तुश्च निग्राहकास्ते तथोच्यन्ते ७ । जातिस्थविराः षष्टिवर्षप्रमाणजन्मपर्यायाः ८ । श्रुतस्थविराः समवायाऽऽद्यङ्गधारिणः ९ । पर्यायस्थविरा विंशतिवर्षप्रमाणप्रव्रज्यापर्यायवन्त इति १० । स्था० १० ठा० । तपस्तेजःस्थविरेभ्यः क्षान्तिक्षमास्थविराः अनन्तगुणविशिष्टा इति गोशाले भगवदुक्तिः । भ० १५ श० । पं० भा० । (स्थविरो गोचरचर्यायै उपकरणान्यपि नयेदिति ' उवहि ' शब्दे द्वितीयभागे १०७८ पृष्ठे गतम्)

थविरकंचुइज्ज-स्थविरकञ्चुकीय-पुं० । अन्तःपुरप्रयोजननिवेदके प्रतीहारे, ज्ञा० ९ श० ३३ उ० ।

थविरकप्प-स्थविरकल्प-पुं० । ६ त० । आचार्याऽऽदीनां गच्छप्रतिबद्धानां सामाचार्याम् , स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

कः पुनरसौ स्थविरकल्पक्रमः ?, इत्याह-

पव्वज्जा सिक्खावय-मऽत्थग्गहणं च अनियओ वासो ।
निप्फत्ती य विहारो, सामायारी ठिई चेव ॥ ७ ॥

इह स्थविराणामयं क्रमः-यदुत प्रथमं तावद्योग्याय विनीतशिष्याय विधिवद्दापिताऽऽलोचनाय प्रशस्तेषु द्रव्याऽऽदिषु स्वयं गुणसुस्थितेन गुरुणा विधिनैव प्रव्रज्या प्रदातव्या । ततः शिक्षापदमिति शिक्षायाः पदं स्थानं शिक्षापदम्, शिक्षैव वा पदं स्थानं शिक्षापदम्; विधिना प्रव्राजितस्य शिष्यस्य ततः शिक्षाऽधिकारो भवतीत्यर्थः । सा च शिक्षा द्विविधा-ग्रहणशिक्षा, आसेवनाशिक्षा च । तत्र द्वादश वर्षाणि यावत्सूत्रं त्वयाऽध्येतव्यमित्युपदेशो ग्रहणशिक्षा । आसेवनाशिक्षा तु-प्रत्युपेक्षणाऽऽदिक्रियोपदेशः । आह च-" सा पुण दुविहा सिक्खा, गहणे आसेवणे य णायव्वा । गहणे सुत्ताहिज्जण, आसेवणे पच्चुवेक्खाई ॥१॥ " अन्ये तु-शिक्षाशब्दाद् व्रतमिति पदं पृथक् कृत्वा व्रतमिति कोऽर्थः?-शिक्षाऽनन्तरं रात्रिभोजनविरमणषष्ठेषु पञ्चसु महाव्रतेषूपस्थाप्यते शिष्यः, इत्येतदपि द्वितीयं व्याख्यानं कुर्वन्ति, एतच्च कल्पचूर्ण्यां चिरन्तनटीकायां च न दृष्टमित्यस्माभिरुपेक्षितम् । ततः सूत्रेऽधीते यद्विनेयः कार्यते, तदाह-(अत्थग्गहणं च त्ति) द्वादश वर्षाण्यधीतसूत्रः स्वप्नसावर्थग्रहणं कार्यते, तस्य पूर्वाधीतसूत्रस्य द्वादश वर्षाणि यावदेषोऽर्थ ग्राह्यत इत्यर्थः । यथाहि-हलारघट्टगन्त्र्यादिमुक्तो बुभुक्षितो बलीवर्दः प्रथमं तावच्छोभनमशोभनं वा तृणाऽऽदिकमास्वादमनवगच्छन्नपि सर्वमभ्यवहरति, पश्चाच्च रोमन्थावस्थायां तदास्वादमवगच्छति, एवं विनेयोऽर्थमनवबुध्यमानोऽपि द्वादश वर्षाणि सर्वं सूत्रमधीते, अर्थावगमाभावे च तत्तस्यानास्वादं भवति, अर्थग्रहणावस्थायां तु तदवगमात्सुस्वादमाप्यायकं च जायते, अतोऽधीतसूत्रेण द्वादश वर्षाण्यवश्यमर्थः श्रोतव्यः । यथा वा-कृषीबलः शाल्यादिधान्यं प्रथमं वपति, ततः पालयति, लुनाति, मलति, पुनीते, गृहमानयति, पश्चात्तु निराकुलचित्तस्तदुपभोगं करोति, तदभावे वपनाऽऽदिपरिश्रमस्य निष्फलत्वप्रसङ्गात्; एवं शिष्योऽपि सूत्रमधीत्य यदि तदर्थं न श्रृ-

णुयात्, तदा तदध्ययनप्रयासो विफल एव स्यात्; तस्मात्सूत्राध्ययनानन्तरमवश्यमेव द्वादश वर्षाणि तदर्थः श्रोतव्यः । तस्मात्स्थित एवं स्थविरकल्पक्रमो-यदुत प्रथमं प्रव्रज्या, ततः सूत्राध्ययनं, ततोऽर्थग्रहणमिति । अतोऽनुयोगप्रदानक्रमेणैवेहाधिकार इत्येवं प्रस्तुतमभिसंबध्यते । सूत्राध्ययनानन्तरभावी हि तदर्थव्याख्यानरूपः स्थविरकल्पक्रमदृष्टोऽनुयोग एवाऽऽवश्यकस्य शास्त्रकृता वक्तुमारब्धः, अतः सूत्राध्ययनकालस्यातिक्रान्तत्वेनेह विवक्षितत्वादनुयोगस्यैवाऽभिधित्सितत्वात् तत्प्रधानक्रमेणैवाधिकार इति भावः । एतावच्चास्यां गाथायां प्रकृतोपयोगि । यत् पुनरन्यदत्राऽऽख्यास्यते-" अनियओ वासो । निप्फत्ती य विहारो " इत्यादि, तत्प्रासङ्गिकमित्यवगन्तव्यम् । तत्र (अनियओ वासो त्ति) ततोऽस्य गृहीतसूत्रार्थस्य शिष्यस्याऽनियतो वासः क्रियते, ग्रामनगरसन्निवेशाऽऽदिष्वनियतनिवासेनैव गृहीतसूत्रार्थः शिष्यो यद्याचार्यपदयोग्यः, तदा जघन्यतोऽपि सहायद्वयं दत्त्वाऽऽत्मतृतीयो द्वादश वर्षाणि यावन्नानादेशदर्शनं नियमेन कार्यत इत्यर्थः, आचार्यपदाऽनर्हस्य त्वनियमः। आचार्यपदार्होऽपि किमिति देशदर्शनं कार्यत इति ?, चेत् । उच्यते-स हि नानादेशेषु पर्यटंस्तीर्थकराणां जन्माऽऽदिदीक्षाभूमीः पश्यति; ताश्च दृष्ट्वा अत्र जाताः, इह दीक्षां प्रतिपन्नाः, अस्मिंश्च देशे निर्वृता भगवन्तः, इत्याद्यध्यवसायतो हर्षातिरेकात्तस्य सम्यक्त्वस्थैर्यं भवति; अन्येषां च स पश्चात् तत्स्थिरतामुत्पादयति, श्रुताऽऽद्यतिशायिनश्चाऽऽचार्याऽऽदीन्नानास्थानेषु पश्यतः सूत्रार्थेषु सामाचार्यां चाऽस्य विशेषोपलम्भो भवति, नानादेशभाषासमाचारांश्चैव बुध्यते, ततश्च तत्तद्देशजानामपि विनेयानां तत्तद्भाषया धर्मं कथयति, ततः प्रतिबोध्य तान् प्रव्राजयति, पूर्वप्रव्राजितास्तु तदुपसंपदं प्रतिपद्यन्ते, निःशेषास्मद्भाषासमाचारकुशलोऽयमिति शिष्याणां तदुपरि प्रीतियोगश्च जायते, इत्यादिगुणदर्शनादनियतवासः । (निप्फत्ती य त्ति) एवं चाऽनियतवासेन द्वादश वर्षाणि पर्यटतस्तस्याऽऽचार्यपदार्हस्य शिष्यत्वेनाऽऽत्मनो निष्पत्तिर्भवति, अन्येषां च प्रव्रजितशिष्याणां तदन्तिके निष्पत्तिर्जायत इति । (विहारो त्ति) एवं शिष्यत्वेन निष्पत्तौ, सूरिपदे च प्राप्ते, स्वपरोपकारकरणेन दीर्घे च पर्याये परिपालिते, अन्यस्मिंश्च योग्यशिष्ये आचार्यपदे व्यवस्थापिते ततोऽनन्तरं विहरणं विशेषेण भगवदभिहितमार्गे पराक्रमणं विहारो विशेषानुष्ठानरूपोऽनेन कर्तव्यः । स च द्विविधः-भक्तपरिज्ञेङ्गिनीपादपोपगमनलक्षणमभ्युद्यतमरणं, जिनकल्पपरिहारविशुद्धिककल्पयथालन्दिककल्पप्रतिपत्तिर्वा । अस्मिंश्च द्विविधेऽपि विहारे सामाचारी ज्ञात्वाऽनुष्ठेया । सा चाऽऽद्ये मरणलक्षणे विहारे-

" निप्फाइया य सीसा, सउणी जह अंडयं पयत्तेणं ।
बारस संवच्छरियं, सो संलेहं अह करेइ ॥ १ ॥
चत्तारि विचित्ताइं, विगईनिज्जूहियाइँ चत्तारि ।
संवच्छरे उ दोन्नि उ, एगंतरियं च आयामं ॥ २ ॥
नाइविगिट्ठो य तवो, छम्मासे परिमियं च आयामं ।
अन्ने वि य छम्मासे, होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥ ३ ॥
वासं कोडीसहियं, आयामं कट्टु आणुपुव्वीए ।
गिरिकंदरं तु गंतुं, पायवगमणं अह करेइ ॥ ४ ॥ "

इत्यादिका ज्ञातव्याः । द्वितीये तु विहारे जिनकल्पाऽऽदिप्रतिपत्तौ सामाचारी निर्दिश्यते-तत्र जिनकल्पाऽऽदिप्रतिपित्सुना आदावेव पूर्वापररात्रकाले तावदिदं चिन्तनीयम्-विशुद्धचारित्राऽनुष्ठानेन कृतं मयाऽऽत्महितम्, शिष्याद्युपकारतः परहितं च, निष्पन्नाश्चेदानीं मम गच्छपरिपालनक्षमाः शिष्याः, ततो विशेषेणैव साम्प्रतं ममाऽऽत्महितमनुष्ठातुमुचितमिति, विचिन्त्य चैवं सति परिज्ञाने आत्मीयमायुःशेषं स्वयमेव पर्यालोचयति, तदभावेऽन्यमतिशायिनमाचार्याऽऽदिकं पृच्छति, तत्र स्तोके स्वायुषि भक्तपरिज्ञाऽऽदीनामन्यतरन्मरणं प्रतिपद्यते । अथ दीर्घमायुः, केवलं जङ्घाबलपरिक्षीणः, तदा वृद्धवासं स्वीकुरुते, पुष्टायां तु शक्तौ जिनकल्पाऽऽदिप्रतिपत्तिमुररीकरोति । तत्र जिनकल्पं प्रतिपित्सुना प्रथममेव तावत्पञ्चभिस्तुलनाभिरात्मा तोलनीयः । तद्यथा-

" तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य ।
तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ " ॥ १ ॥

तुलना, भावना, परिकर्म चेत्येकार्थानि । तत्राऽऽचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविरगणावच्छेदकलक्षणाः प्रायः पञ्चैव जनाः प्रशस्ताभिरेताभिः पञ्चभिर्भावनाभिर्जिनकल्पं प्रतिपित्सवः प्रथममेवाऽऽत्मानं भावयन्ति । अप्रशस्तास्तु कन्दर्पदेवकिल्बिषिकाऽऽभियोगिकासुरसंमोहस्वरूपाः पञ्च भावनाः सर्वथा दूरतः परित्यजन्ति । तत्र तपसाऽऽत्मानं भावयंस्तथा बुभुक्षां पराजयते यथा देवाऽऽद्युपसर्गाऽऽदिनाऽनेषणाऽऽदिकरणतो यदि षण्मासान् यावदाहारं न लभते, तथाऽपि न बाध्यते । सत्त्वभावनया तु भयं पराजयते । तत्र भयजयार्थं रात्रौ सुप्तेषु शेषसाधुषूपाश्रय एव कायोत्सर्गं कुर्वतः प्रथमा सत्त्वभावना भवति । द्वितीयाऽऽदिकास्तूपाश्रयबाह्याऽऽदिप्रदेशेषु । आह च-"पढमा उवस्सयम्मी, बीया बाहिं तइयचउक्कम्मि । सुन्नहरम्मि चउत्थी, अह पंचमिया मसाणम्मि ॥ १ ॥ " सूत्रभावनया तु स्वनामवत् सूत्रं परिचितं तथा करोति यथा रात्रौ दिवा चोच्छ्वास-प्राण-स्तोक-लवमुहूर्ताऽऽदिकं कालं सूत्रपरावर्तनानुसारेणैव सर्वं सम्यगवबुध्यते, एकत्वभावनया चाऽऽत्मानं भावयन् सङ्घाटकसाध्वादिना सह पूर्वप्रवृत्तालापसूत्रार्थसुखदुःखाऽऽदिप्रश्नपरस्परकथाऽऽदिव्यतिकरान् सर्वानपि परिहरति, ततो बाह्यममत्वे मूलत एव व्यवच्छिन्ने पश्चाद्देहोपध्यादिभ्योऽपि भिन्नमात्मानं पश्यन् सर्वथा तेष्वपि निरभिष्वङ्गो भवति । (अत्रोदाहरणम्-'एगत्तभावणा ' शब्दे तृतीयभागे ९१ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) बलभावनायां बलं द्विविधम्-शारीरं, मानसधृतिबलं च । तत्र शारीरमपि बलं जिनकल्पादन्यशेषजनाऽतिशायिकमेष्टव्यम्, तपःप्रभृतिभिस्त्वपकृष्यमाणस्य यद्यपि शारीरं बलं तथाविधं न भवति, तथाऽपि धृतिबलेनाऽऽत्मा तथा भावयितव्यो यथा महद्भिरपि परीषहोपसर्गैर्न बाध्यते । एताभिः पञ्चभिर्भावनाभिर्भावितात्मा जिनकल्पिकप्रतिरूपो गच्छेऽपि प्रतिवसन्नाहाराऽऽदिपरिकर्म प्रथममेव करोति, तत्राऽऽहारं तृतीयपौरुष्यामवगाढायां वल्लचणकाऽऽदिकमन्तं प्रान्तं रूक्षं च । " संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धड तह होइ अप्पलेवा य । उग्गहिआ पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया" ॥१॥ एतासां सप्तानां पिण्डैषणानां मध्ये आद्यद्वयवर्जशेषपञ्चानां मध्यादन्यतरैषणाद्वयाभिग्रहेणाऽऽहारं गृह्णाति, एकया भक्तम्, अपरया त्वेषणया पानकमिति । एवमात्माऽऽगमोक्तविधिना गच्छान्तर्गतः पूर्वमेवाऽऽत्मानं परिकर्म्य ततो जिनकल्पं प्रतिपित्सुः सङ्घं मीलयति, तदभावे स्वगणं तावदवश्यमाह्वयते, ततस्तीर्थकरसमीपे, तदभावे गणधरसन्निधाने, तदसत्त्वे चतुर्दशपूर्वधरान्तिके, तदसंभवे दशपूर्वधराऽभ्यर्णे, तदभावे तु

यदाऽथवाऽशोकवृक्षाऽऽदीनामासन्नो जिनकल्पमभ्युपगच्छति, निजपदव्यवस्थापितं सूरिम्, सबालवृद्धं गच्छं, विशेषतः पूर्वविरुद्धांश्च क्षमयति । तद्यथा-

" जइ किंचि पमाएणं, न सुट्ठु भे वट्टियं मए पुव्विं ।
तं भे ! खामेमि अहं, निस्सल्लो निक्कसाओ य ॥ १ ॥
आणंदमंसुपायं, कुणमाणा ते वि भूमिगयसीसा ।
खामंति तं जहरिहं, जहारिहं खामिया तेण ॥ २ ॥
खामेंतस्स गुणा खलु, निस्सल्लयविणयदीवणा मग्गे ।
लाघवियं एगत्तं, अप्पडिबंधो य जिणकप्पे ॥ ३ ॥ "

निजपदस्थापितसूरिप्रभृतीनामनुशास्तिं प्रयच्छति । तद्यथा-

" पालिज्ज सगणमेयं, अप्पडिबद्धो य होज्ज सव्वत्थ ।
एसो हु परंपरओ, तुमं पि अंते कुणसु एवं ॥ १ ॥
पुव्वपवत्तं विणयं, मा हु पमाएहि विणयजोग्गेसु ।
जो जेण पगारेणं, उवजुज्जइ तं च जाणाहि ॥ २ ॥
ओमो समराइणिओ, अप्पतरसुओ य मा यऽणं तुब्भे ।
परिभवह एस तुम्ह वि, विसेसओ संपयं पुज्जो ॥ ३ ॥ "

इत्यादि शिक्षां दत्त्वा गच्छाद्विनिर्गते चक्षुर्गोचराऽतीते तस्मिन् आनन्दिताः साधवः प्रतिनिवर्तन्ते । उक्तं च-

" पक्खी व पत्तसहिओ, सभंडगो वच्चए निरवइक्खो ।
धीरो घणवंद्रामो, नीहरिओ विज्जुपुंजो व्व ॥ १ ॥
सीहम्मि व मंदरकं-दराउ गच्छा विणिग्गए तम्मि ।
चक्खुविसयमइगए, अ इंति आणंदिया साहू ॥ २ ॥
जाजोएवं खेत्तं, निव्वाघाएण मासनिव्वाहिं ।
गंतूण तत्थ विहरे, साहू पडिवन्नजिणकप्पो ॥ ३ ॥ "

एवं च प्रतिपन्नजिनकल्पो यत्र ग्रामे मासकल्पं,चतुर्मासकं वा करिष्यति, तत्र षड्भागान् कल्पयति । ततश्च यत्र भागे एकस्मिन् दिने गोचरचर्यायां हिण्डितस्तत्र पुनरपि सप्तम एव दिवसे पर्यटति, भिक्षाचर्या ग्रामान्तरगमनं च तृतीयपौरुष्यामेव करोति, चतुर्थपौरुषी च यत्रावगाहते, तत्र नियमादवतिष्ठते । भक्तं पानकं च पूर्वोक्तैषणाद्वयाभिग्रहेणालेपकृदेव गृह्णाति । एषणाऽऽदिविषयं मुक्त्वा न केनाऽपि सार्द्धं जल्पति । एकस्यां च वसतौ यद्यप्युत्कृष्टतः सप्त जिनकल्पिकाः प्रतिवसन्ति, तथाऽपि परस्परं न भाषन्ते । उपसर्गपरीषहान् सर्वानपि सहत एव, रोगेषु चिकित्सां न कारयत्येव, तद्वेदनां तु सम्यगेव विषहते, आपातसंलोकाऽऽदिदोषरहित एव स्थण्डिले उच्चाराऽऽदीन् करोति, माऽस्वाध्याये," अममत्त अपरिकम्मा, णियमा जिणकप्पियाण वसहीओ । एमेव य थेराणं, मोत्तूण पमज्जणं एक्कं ॥ १ ॥ " इति वचनात्परिकर्मरहितायां वसतौ तिष्ठति, यद्युपविशति तदा नियमादुत्कुटुक एव, न तु निषद्यायाम्, औपग्रहिकोपकरणस्याभावादिति । मत्तकरिव्याघ्रसिंहाऽऽदिके च संमुखे समापतत्युन्मार्गगमनाऽऽदिना ईर्यासमितिं न भिनत्ति, इत्याद्यन्याऽपि जिनकल्पिकानां सामाचारी समयसमुद्रादवगन्तव्या । (ठिई चेव त्ति) तथा पूर्वोक्ते द्विविधेऽपि विहारे स्थितिः श्रुतसंहननाऽऽदिका ज्ञातव्या । तथाहि- जिनकल्पिकस्य तावज्जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारवस्तु, उत्कर्षतस्त्वसंपूर्णानि दशपूर्वाणि श्रुतं भवति । प्रथमसंहननो वज्रकुड्यसमानावष्टम्भश्चायं भवति । स्वरूपेण पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु, संहरणतस्त्वकर्मभूमिष्वपि भवति । उत्सर्पिण्यां जन्मतस्तृतीयचतुर्थारकयोरेव, जन्ममात्रेण तु द्वितीयारकेऽपि, अवसर्पिण्यां तु जन्मना तृतीयचतुर्थारकयोरेव, सद्भावतस्तु पञ्चमारकेऽपि, संहरणेन तु सर्वस्मिन्नपि काले प्राप्यते । प्रतिपद्यमानकः सामायिकच्छेदोपस्थापनीयचारित्रयोः, पूर्वप्रतिपन्नस्तु सूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्रयोरप्युपशमश्रेण्यामवाप्यते । प्रतिपद्यमानानामुत्कृष्टतः शतपृथक्त्वम्, पूर्वप्रतिपन्नानां तु सहस्रपृथक्त्वं जिनकल्पिकानां लभ्यते । जिनकल्पिकः प्रायोऽपवादं नासेवते, जङ्घाबलपरिक्षीणस्त्वविहरमाणोऽप्याराधकः । आवश्यकीनैषेधिकीमिथ्यादुष्कृतगृहिविषयपृच्छोपसंपल्लक्षणाः पञ्च सामाचार्योऽस्य भवन्ति, न त्विच्छाऽऽदयः । अन्ये त्वाहुः-आवश्यकीनैषेधिकीगृहस्थोपसंपल्लक्षणास्तिस्र एव भवन्ति, आरामाऽऽदिनिवासिन ओघतः पृच्छाऽऽदीनामप्यसंभवादिति । लोचं चाऽसौ नित्यमेव करोति, इत्येवमाद्यपराऽपि स्थितिर्जिनकल्पिकानामागमादवसेया । परिहारविशुद्धिककल्पसामाचार्यादिवक्तव्यताऽत्रैव ग्रन्थे पुरस्ताद्वक्ष्यते ।

यथालन्दिकानां तु-"तवेण सत्तेण सुत्तेण" इत्यादिका भावनाऽऽदिवक्तव्यता यथा जिनकल्पिकानाम् । यस्तु विशेषः स लेशतः प्रोच्यते-तत्रोदकार्द्रः करो यावता शुष्यति, तत आरभ्योत्कृष्टतः पञ्चरात्रिन्दिवानि यावत्कालोऽत्र समयपरिभाषया लन्दमित्युच्यते । ततश्च पञ्चरात्रिन्दिवलक्षणस्योत्कृष्टस्य लन्दस्याऽनतिक्रमेण चरन्तीति यथालन्दिकाः । पञ्चको हि गणोऽमुकं कल्पं प्रतिपद्यते । ग्रामं च गृहपङ्क्तिरूपाभिः षड्भिर्वीथीभिर्जिनकल्पिकवत्परिकल्पयन्ति, किं त्वेकैकस्यां वीथ्यां पञ्च पञ्च दिनानि पर्यटन्तीत्युत्कृष्टलन्दचारिणो यथालन्दिका उच्यन्ते । एते च प्रतिपद्यमानका जघन्यतः पञ्चदश भवन्ति, उत्कृष्टतस्तु सहस्रपृथक्त्वम् । पूर्वप्रतिपन्नास्तु जघन्यतः कोटिपृथक्त्वम्, उत्कृष्टतोऽपि कोटिपृथक्त्वं भवन्ति । एते च यथालन्दिका द्विविधा भवन्ति-गच्छे प्रतिबद्धाः, अप्रतिबद्धाश्च । गच्छे च प्रतिबन्धोऽमीषां कारणतः, किञ्चिदश्रुतस्यार्थस्य श्रवणार्थमिति मन्तव्यमिति । पुनरेकैकशो द्विधा-जिनकल्पिकाः, स्थविरकल्पिकाश्च । ये जिनकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते जिनकल्पिकाः, ये तु पुनरपि स्थविरकल्पं समाश्रयिष्यन्ते ते स्थविरकल्पिकाः । एतेषां च स्थविरकल्पिकजिनकल्पिकभेदभिन्नानां यथालन्दिकानां परस्परमयं विशेषः । यदाह-

" थेराणं नाणत्तं, अतरंतं अप्पिणंति गच्छस्स ।
गच्छे निरवज्जेणं, करेंति सव्वं पि पडिकम्मं ॥ १ ॥
एक्केक्कपडिग्गहगा, सप्पाउरणा हवंति थेरा उ ।
जेसिं उण जिणकप्पे, न य तेसिं वत्थपायाणि ॥ २ ॥
निप्पडिकम्मसरीरा, अवि अच्छिमलं पि नेव अवणिंति ।
विसहंति जिणा रोगं, कारेंति कयाइ न तिगिच्छं ॥ ३ ॥ "

इत्यलं विस्तरेण । तदर्थिना तु कल्पग्रन्थोऽन्वेषणीय इति (७)। विशे० । (संक्षेपत एष स्थविरकल्पः) (विस्तरतस्तु 'अहालंद' शब्दे प्रथमभागे ८६१ पृष्ठे प्रतिपादितः) (शेषाणि तु सर्वाण्यपि जिनकल्पतुल्यवक्तव्यान्येवेत्युक्तं शुद्धिपरिहारनानात्वम्)(विहारद्वारं ' विहार ' शब्दे वक्ष्यते) (स्थापनाकल्पविधिः ' ठवणाकुल ' शब्दे तृतीयभागे १६८६ पृष्ठे गतः)

यदि ज्ञानाऽऽदिपुष्टालम्बनं भवति तदा चिकित्साऽऽदिविधानान् न सहन्ते, इतरथा न सम्यग्दीनमनसः सहन्त इति-

दुविहं पि वेयणं ते, निक्कारणओ सहंति जइया वा ।

अममत्त अपरिकम्मा, वसही वि पमज्जणं मोत्तुं ॥७६३॥

द्विविधामप्याभ्युपगमिकीमौपक्रमिकीं च वेदनां निष्कारणतः सहन्ते, भाज्या वा असहिष्णुत्वाऽऽदिकारणवशतो न सहन्तेऽपीति भावः। तथा वसतिरपि तेषाममत्वा ममेयमित्यभिष्वङ्गरहिता। "अपरिकम्मा" उपलेपनाऽऽदिपरिकर्मवर्जिता। किं सर्वथैव?, नेत्याह-प्रमार्जनामेकां मुक्त्वा, कारणे तु सममत्वा सपरिकर्माऽपि भवति, परिणतचारित्राणां शैक्षाऽऽदीनां ममेयमित्यभिष्वङ्गविधानात् सममत्वा सपरिकर्मा त्वपरिकर्माया वसतेरलाभे द्रष्टव्या।

अथ विशेषमाह-

तिगमाईया गच्छा, सहस्स-बत्तीसई उसभसेणे ।
थंडिल्लं पि य पढमं, वयंति सेसे वि आगाढे ॥ ७७४ ॥

त्रिकाऽऽदयस्त्रिचतुःप्रभृतिपुरुषपरिमाणा गच्छा भवेयुः। किमुक्तं भवति?-एकस्मिन् गच्छे जघन्यतस्त्रयो जना भवन्ति, गच्छस्य साधुसमुदायरूपत्वात्, तस्य च त्रयाणामधस्तादभावादिति। तत ऊर्ध्वं ये चतुःपञ्चप्रभृतिपुरुषसंख्याका गच्छास्ते मध्यमपरिमाणतः प्रतिपत्तव्यास्तावद्यावदुत्कृष्टं परिमाणं न प्राप्नोति। किं पुनस्तदिति चेत्?, अत आह-(सहस्सबत्तीसई उसभसेणे त्ति) द्वात्रिंशत्सहस्राण्येकस्मिन् गच्छे उत्कृष्टं साधूनां परिमाणं, यथा श्रीऋषभस्वामिप्रथमगणधरस्य भगवत ऋषभसेनस्येति। तथा स्थण्डिलमपि प्रथमम्-अनापातमसंलोकमेतद्गच्छवासिनो व्रजन्ति। आगाढे तु भावासन्नाऽऽदौ कारणे शेषाण्यपि अनापातसंलोकप्रभृतीनि स्थण्डिलानि गच्छन्ति।

कियच्चिरमिति द्वारं विशेषयन्नाह-

केचिर कालं वसिहिह, ण ठंति निक्कारणम्मि इइ पुट्ठा ।
अन्नं वा मग्गंती, ठविंति माहारणमलंभे ॥ ७६५ ॥

कियच्चिरं कालं यूयमस्यां वसतौ वत्स्यथेति पृष्टाः सन्तो निष्कारणे न तिष्ठन्ति, किं तु क्षेत्रान्तरं गच्छन्ति। अथ बहिरशिवाऽऽदीनां कारणानि, ततस्तत्रैव क्षेत्रे अन्यां वसतिं मार्गयन्ति। अथ मृग्यमाणाऽप्यन्या न लभ्यते, ततः साधारणं वचनं स्थापयन्ति, यथा निर्व्याघाते तावद् वयं मासं यावद् तिष्ठामहे, व्याघाते तु हीनाधिकमलाघवार्थम्।

शेषद्वाराणि तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशन्नाह-

एमेव सेसएसु वि, केवइया वसिहिह त्ति जा णेयं ।
निक्कारणे पडिसेहो, कारणे जयणं तु कुव्वंति ॥७७६॥

एवमेव कियच्चिरद्वारवत्, शेषेष्वपि उच्चारप्रस्रवणाऽऽदिषु कियद्द्वारेषु, कियन्तो वत्स्यथेति द्वारं यावन्नेयम्। किमित्याह-एतेष्वपि निष्कारणे प्रतिषेधो, न वसन्तीति भावः। कारणे तु यतनां कुर्वन्ति। किमुक्तं भवति?-यदि तिष्ठतामुच्चारप्रस्रवणयोः परिष्ठापनकाले फलिहकाभ्यन्तरतो नानुजानन्ति-यतस्तत्र न तिष्ठन्ति। अथाशिवाऽऽदिभिः कारणैस्तिष्ठन्ति तत उच्चारं प्रस्रवणं वा मात्रकेषु व्युत्सृज्य बहिः परिष्ठापयन्ति। एवमवकाशाऽऽदिष्वपि द्रष्टव्यं, तत्रमवकाशे यत्र प्रदेशे उपवेशनभाजनधावनाऽऽदि नानुजानन्ति, तत्र नोपविशन्ति। कमठकाऽऽदिषु च भाजनानि धावन्ति, तृणफलकान्यपि यानि नानुजानाति, तानि न परिभुञ्जते। संरक्षता नाम-यत्र तिष्ठतामगारिणो भणन्ति-गवाऽऽदिभिर्भज्यमानां वसतिमन्यद्वा समीपवर्ति गृहं संरक्षत, तत्राऽशिवाऽऽदिभिः कारणैः तिष्ठन्तो भणन्ति-यदि वयं तदानीं द्रक्ष्यामस्ततो रक्षिष्याम इति। संस्थापनता नाम-वसतेः संस्कारकरणं, तस्यामपि नियुक्ता भणन्ति-वयमकुशलाः संस्थापनाकर्मणि कर्तव्ये, सप्राभृतिकायामपि वसतौ कारणतः स्थिता देशतः सर्वतो वा क्रियमाणायां प्राभृतिकायां स्वकीयमुपकरणं प्रयत्नेन संरक्षन्ति, यावत्प्राभृतिका क्रियते तावदेकस्मिन् पार्श्वे तिष्ठन्ति, सदीपायां साग्निकायां वसतौ कारणे स्थिता आवश्यकं बहिः कुर्वन्ति। अवधानं नाम-यदि गृहस्थाः क्षेत्राऽऽदि गच्छन्तो भणन्ति-अस्माकमपि गृहेषूपयोगो दातव्यो, मा शुनस्तेनकाऽऽदयः प्रविश्यापद्रवं कार्षुरिति, तत्रापि कारणे स्थिताः स्वयमेवावधानं ददति, अनुपस्थापितशैक्षैर्वा दापयति। यत्र च कति जना वत्स्यथेति पृष्टे सति कारणतस्तिष्ठद्भिः परिमाणनियमः कृतः-एतैर्नाधिकैः स्थातव्यं नाधिकैः, ततो यद्यन्ये प्राघूर्णकाः समागच्छन्ति तदा तेषामेव स्थापनाय भूयोऽप्यनुज्ञापनीयः सागारिकः, यद्यनुजानाति, ततः सुन्दरमेव, अथ नानुजानाति, ततोऽन्यस्यां वसतौ स्थापनीयास्ते प्राघूर्णका इति।

भिक्षाचर्याऽऽदीनामवशिष्यमाणद्वाराणां विशेषमाह-

नियया ऽनियया भिक्खा-यरिया पाणऽलेवऽलेवाडं ।
अंबिलमणंबिलं वा, पडिमा सव्वा वि अविरुद्धा ।७७७।

भिक्षाचर्या नियता कदाचिदाभिग्रहिकी, अनियता कदाचिदनाभिग्रहिकी, पानकं वा लेपकृतं न भवेदलेपकृतं वा, द्राक्षाचिञ्चापानकाऽऽदि तत्क्षणमलाऽऽदिकं च लेपकृत् सौवीराऽऽदिकं, वल्लचणकाऽऽदिकं चालेपकृतमाचाम्लमनाचाम्लं वा द्वयमपि कुर्वन्ति, प्रतिमाश्च मासिक्याऽऽदिका भद्राऽऽदिका वा सर्वा अप्येषामविरुद्धा इति। उक्तं सामाचारीद्वारम्।

अथ स्थितिद्वारमभिधित्सुर्द्वारगाथाद्वयमाह-

खेत्ते काले चरित्ते, तित्थे परियाए आगमे वेए ।
कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिग्गहा य ॥ ७६८ ॥
पव्वावणा मुंडावणा, मणसाऽऽवन्ने उ नत्थि पच्छित्तं ।
कारणे पडिकम्मम्मि य, भत्तं पंथो य भयणाए ॥७७९॥

क्षेत्रे काले चारित्रे तीर्थे पर्याये आगमे वेदे कल्पे लिङ्गे लेश्यायां ध्याने गणनायाम, एतेषु स्थितिर्वक्तव्या। अभिग्रहाश्चामीषामभिधातव्याः। एवं प्रव्राजना, मुण्डापना, मनसाऽऽपन्नेऽप्यपराधे नास्ति प्रायश्चित्तं, कारणे प्रतिकर्माणि च स्थितिः भक्तं पन्थानश्च भजनया। इति गाथाद्वयसमुदायार्थः।

अवयवार्थं तु प्रतिद्वारं विभणिषुराह-

पन्नरस कम्मभूमिसु, खेत्तऽवोसप्पिणी य तिसु होज्जा ।
तिसु दोसु य उस्सप्पे, चउरो पलिभाग साहरणा ॥८००॥

क्षेत्रद्वारे जन्मतः, सद्भावतश्च स्थविरकल्पिकाः पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु भरतैरावतविदेहपञ्चकलक्षणासु भवन्ति, संहरणतः पञ्चदशानां कर्मभूमीनां त्रिंशतामकर्मभूमीनामन्यतरस्यां भूमौ भवेयुः, अथ कालः, तमाश्रित्यावसर्पिण्यां जन्मतः, सद्भावतश्च त्रिषु तृतीयचतुर्थपञ्चमारकेषु भवेयुः। (तिसु दोसु

य उस्सप्पे त्ति) उत्सर्पिण्यां जन्मतस्त्रिषु द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु आरकेषु, सद्भावतस्तु द्वयोस्तृतीयचतुर्थारकयोर्भवन्ति, नोअवसर्पिण्युत्सर्पिणीकाले जन्मतः, सद्भावतश्च दुःषमसुषमाप्रतिभागे भवन्ति। संहरणतस्तु चत्वारोऽपि प्रतिभागा अमीषां विषयतया प्रतिपत्तव्याः । तद्यथा-सुषमसुषमाप्रतिभागः, दुःषमदुःषमाप्रतिभागः, सुषमदुःषमाप्रतिभागः, दुःषमसुषमाप्रतिभागश्चेति ।

पढमबिइएसु पडिव-ज्जमाण इयरे उ सव्वचरणेसु ।
नियमा तित्थे जम्म-ऽट्ठ जहन्ने कोडि उक्कोसे ॥८०१॥
पव्वज्जाए मुहुत्तो, जहन्नमुक्कोसिया उ देसूणा ।
आगमकरणे भइया, ठियकप्पे अट्ठिए वा वि ॥ ८०२ ॥

प्रतिपद्यमानका अमी प्रथमे वा सामायिकाऽऽख्ये, द्वितीये वा छेदोपस्थापनीयाऽऽख्ये चारित्रे भवेयुः। इतरे नाम-पूर्वप्रतिपन्नाः, ते सर्वेष्वपि चरणेषु भवन्ति, सामायिकाऽऽदिषु यथाख्यातपर्यन्तेष्विति भावः। तथा नियमादमी तीर्थे भवन्ति, नातीर्थे। पर्यायो द्विधा-गृहपर्यायः, प्रव्रज्यापर्यायश्च । तत्र गृहपर्यायो जघन्यतो जन्मत आरभ्याऽष्टौ वर्षाणि, उत्कर्षतः पूर्वकोटी। प्रव्रज्यापर्यायो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तः, तदनन्तरं मरणात्प्रतिपाताद्वा। उत्कर्षतस्तु देशोना पूर्वकोटी । आगमोऽपूर्वश्रुताध्ययनं, तस्य करणे भाज्या-अमी कुर्वन्ति वा, न वा तमिति भावः । कल्पद्वारे-स्थितकल्पे वा अस्थितकल्पे वा भवेयुः । वेदद्वार सुज्ञानत्वाद्भाष्यकृता न भावितम्। इत्थं तु द्रष्टव्यम्-वेदः स्त्रीपुंनपुंसकभेदात् त्रिविधोऽप्यमीषां प्रतिपत्तिकाले भवेत्। किमुक्तं भवति?-पूर्वप्रतिपन्नानां त्ववेदकत्वमपि भवतीति।

भइया उ दव्वलिंगे, पडिवत्ती सुद्धलेसधम्मम्मि ।
पुव्वपडिवन्नगा पुण, लेसाझाणे य अन्नयरे ॥ ८०३ ॥

प्रतिपद्यमानकाः, पूर्वप्रतिपन्नकाश्च द्रव्यलिङ्गे भक्ता विकल्पिताः-कश्चित्तत्र भवत्यपीति, भावलिङ्गं तु नियमात्सर्वदैव भवति । तथा प्रतिपत्तिः शुद्धलेश्याधर्मध्यानयोर्भवेत् । किमुक्तं भवति?-प्रथमतः प्रतिपद्यमानकाः शुद्धास्वेव तिसृषु लेश्यासु आज्ञाविचयाऽऽदौ च धर्मध्याने वर्त्तमानाः प्रतिपत्तव्याः । पूर्वप्रतिपन्नकाः पुनः षण्णां लेश्यानामन्यतरस्यां लेश्यायामार्त्ताऽऽदीनां च ध्यानानामन्यतरस्मिन् ध्याने भवेयुः। बृ० १ उ०।

अथैताभिर्भावलेश्याभिरुपचितस्य कर्मणः कथमुदयो भवति ?, इत्याह-

जं चिज्जए उ कम्मं, जं लेसं परिणतस्स तस्सुदए ।
असुभो सुभो व गीतो, अपत्थपत्थन्नउदओ व्व ॥८०४॥

(जं लेसं ति) सप्तम्यर्थे द्वितीया। ततोऽयमर्थः-यस्यां कृष्णाऽऽदीनामन्यतरस्यां लेश्यायां परिणतस्य जीवस्य यदशुभं शुभं वा कर्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदि चीयते। कर्मकर्त्तर्ययं प्रयोगः, स्वयं बन्धमुपगच्छतीत्यर्थः । तस्यैवमशुभरूपतया, शुभरूपतया वा बद्धस्य कर्मण उदयाऽऽवलिकां प्राप्तस्याशुभः, शुभो वा तथाऽनुरूप एवोदयो गीतः संशब्दितस्तीर्थकरैः । दृष्टान्तमाह-अपथ्यपथ्यान्नोदय इव । यथा अपथ्यान्नं भुक्तवतो ज्वराऽऽदिरोगद्वारेणापथ्य एवोदयो भवति, पथ्यान्नं तु भुक्तवतो मुखमासिकाऽऽदिद्वारेण पथ्यः, एवं कर्मणोऽपि प्रशस्ताप्रशस्तलेश्यपरिणामबद्धस्य विपाकः शुभाशुभो भवतीति ।

अथ गणनाद्वारमाह-

पडिवज्जमाणभइया, एको व सहस्ससो व उक्कोसो ।
कोडिसहस्सपुहत्तं, जहन्न उक्कोसपडिवन्ना ॥ ८१० ॥

स्थविरकल्पस्य प्रतिपद्यमानका भाज्या विवक्षितकाले भवेयुः, न वा, यदि भवेयुस्तत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतो यावत् सहस्रपृथक्त्वं, पूर्वप्रतिपन्नाः जघन्यतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वं, नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदे विशेषाधिकत्वम्। गतं गणनाद्वारम्। बृ० १ उ० । ('अभिग्गह' शब्दे प्रथमभागे ७१३ पृष्ठेऽभिग्रहा उक्ताः) एते च द्रव्याऽऽदयश्चतुर्विधा अप्यभिग्रहास्तीर्थकरैरपि यथायोगमाचीर्णत्वाद्, मोहमदापनयनप्रत्यलत्वाच्च गच्छवासिनां तथाविधसहिष्णुपुरुषविशेषापेक्षया महान्तः कर्मनिबन्धने प्रतिपत्तव्या इति ।

अथ प्रव्राजनामुण्डापनाद्वारे भावयति-

सच्चित्तदव्वियकप्पं, छव्विहमवि आयरंति थेरा उ ।
कारणओ असहू वा, उवएसं दिंति अन्नत्थ ॥ ८११ ॥

प्रव्राजनामुण्डापनाभ्याम, उपलक्षणत्वात् षड्विधोऽपि सचित्तद्रव्यकल्पो गृहीतः। तद्यथा-प्रव्राजना, मुण्डापना, शिक्षापना, उपस्थापना, संभुञ्जना, संवासना चेति। तमेवंविधं षड्विधमपि सचित्तद्रव्यकल्पमाचरन्ति स्थविरा गच्छवासिनः।(कारणओ त्ति) तथाविधैरनाभाव्यताऽऽदिभिः कारणैः, असहिष्णवो वा स्वयं वस्त्रपात्राऽऽदिभिर्ज्ञानाऽऽदिभिश्च शिष्याणां संग्रहोपग्रहौ कर्तुमसमर्था उपदेशमन्यत्र गच्छान्तरं, ददति प्रयच्छन्ति-अमुकत्र गच्छे संविग्नगीतार्था आचार्याः सन्ति तेषां समीपे भवता दीक्षा प्रतिपत्तव्येति। अथ मनसाऽऽपन्ने नास्ति प्रायश्चित्तम्।

इदं व्याख्यानयति-

जीवो पमायबहुलो, पडिवक्खे दुक्करं ठवेउं जे ।
कित्तियमेत्तं वोच्छिति, पच्छित्तं दुग्गतारिणी व ? ॥८१२॥

अयं जीवः प्रमादबहुलोऽनादिभवाभ्यस्तप्रमादभावनाभावितः, ततः प्रतिपक्षेऽप्रमादे स्थापयितुं दुष्करं भवति, दुःखेनाप्रमादभावनायां स्थाप्यते इत्यर्थः । " जे " इति पादपूरणे । अतो दुर्गत ऋणिक इव अतिप्रभूत ऋणं अतिचपलचित्तसंभवापराधवशादयं प्रमादबहुलो जीव उपदेशमापद्यमानं कियन्मात्रं प्रायश्चित्तं वक्ष्यति वोढुं शक्नोतीति मनसाऽऽपन्नेऽप्यपराधे नास्ति तपःप्रायश्चित्तं स्थविरकल्पिकानाम्, आलोचनाप्रतिक्रमणप्रायश्चित्तं तु तत्रापि भवत इति मन्तव्यम्। अथ "कारणे पडिकम्ममि य त्ति (७६६)" पदं व्याख्यायते-कारणमशिवावमौदर्याऽऽदि, तत्रोत्पन्ने द्वितीयपदमप्यासेवन्ते। तथा निष्कारणे निष्प्रतिकर्मशरीराः, कारणे तु ग्लानमाचार्यवादिनं धर्मकथिकं च प्रतीत्य पादधावनमुखमार्जनशरीरसंबाधनाऽऽदिकरणात् सप्रतिकर्माण इति। "भत्तं पंथो य भयणाए त्ति (७६५)" भक्तं पन्थाश्च भजनया। किमुक्तं भवति ?-उत्सर्गतस्तावत्तृतीयपौरुष्यां भिक्षाटनं विहारं कुर्वन्ति। अपवादतस्तु तदानीं भिक्षाया अलाभे काले वा पूर्यमाणे शेषास्वपि पौरुषीष्विति। गतं स्थितिद्वारम्।

अथोपसंहरन्नाह-

गच्छम्मि य एस विही, नायव्वो होइ आणुपुव्वीए ।
जं एत्थं णाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥ ८१३ ॥

गच्छे गच्छवासिनामेषोऽनन्तरोक्तो विधिर्ज्ञातव्य आनुपूर्व्या परिपाट्या, यदत्र नानात्वं विशेषस्तदहं वक्ष्ये समासेन ।

एतदेव सविशेषमाह-

सामायारी पुणरवि, तेसिं इमा होइ गच्छवासीणं ।
पडिसेहो व जिणाणं, जं जुज्जइ वा तगं वोच्छं ॥८२०॥

सामाचारी पुनरपि तेषां गच्छवासिनां मासकल्पेन विहरतामेषा वक्ष्यमाणा भवति, जिनानां जिनकल्पिनामस्या एव सामाचार्याः प्रतिषेधो वा वक्तव्यः । यद्वा-प्रत्युपेक्षणाऽऽदिकं तेषामपि युज्यते तत् किमपि वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

पडिलेहण निक्खमणे, पाहुडिया भिक्ख कप्पकरणे य ।
गच्छ सतिए अ कप्पे, अंबिल भरिए अ उसित्ते ॥८२१॥
परिहरणा अणुजाणे, पर कम्मे खलु तहेव गेलन्ने ।
गच्छपडिबंधऽहालं-दि उवरि दोसा य अववादे ॥८२२॥

प्रथमतः प्रत्युपेक्षणा वक्तव्या, ततो निष्क्रमणम्-कस्यां वारायामुपाश्रयाद् निर्गन्तव्यमिति । प्राभृतिका सूक्ष्मबादरभेदाद् द्विविधा, भिक्षा गोचरचर्या, कल्पकरणं च भाजनस्य धावनविधिलक्षणमित्येतानि वक्तव्यानि । (गच्छ सइए त्ति) शतिकाः शतसंख्यपुरुषपरिमाणा ये गच्छास्तेषु प्रभूतेन पालकेन प्रयोजनं भवेत् । तत्र (कप्पे अंबिल त्ति) कल्प्यं कल्पनीयम्, अम्लं च सौवीरं ग्रहीतव्यम्, अनेन संबन्धेन सौवीरिणीसप्तकमभिधानीयम् । (भरिए त्ति) तस्याः सौवीरिण्याः सप्तविधं भरणं वाच्यम् । (उसित्त त्ति) उत्सेचनमुत्सिक्तं, सौवीरस्योत्सिञ्चनमित्यर्थः, तत्स्वरूपं च निरूपणीयम् । (परिहरण त्ति) नोदकः प्रश्नयिष्यति-यदि साम्प्रतं केष्वपि गच्छेष्वित्थमाधाकर्माऽऽदयो दोषा उद्भवन्ति, तत् पूर्वं सहस्रेषु गच्छेषु साधवः कथमाधाकर्माऽऽदीनां परिहरणं कृतवन्त इति ? । अत्राऽऽचार्यः प्रतिवक्ष्यति । अनुयानं रथयात्रा, उपलक्षणत्वात् स्नात्राऽऽदेरपि परिग्रहः । ततो यथा संप्रति रथयात्राऽऽदौ समवसरणे सहस्रसंख्याका अपि साधवो मिलिताः सन्त आधाकर्माऽऽदिकं परिहरन्ति, तथा पूर्वमपि परिहृतवन्त इत्यनेन संबन्धेनानुयानविषयो विधिर्वक्तव्यः । ततः परं कर्मस्वरूपं निरूपयितव्यम्, खलुर्वाक्यालङ्कारे । तथैव ग्लानविधिः प्रतिपादनीयः । गच्छप्रतिबद्धानां यथालन्दिकानां सामाचारी दर्शनीया । तत उपरि मासकल्पादूर्ध्वं तिष्ठतां स्थविरकल्पिकानां दोषा अभिधातव्याः । ततोऽपवादो द्वितीयपदमुपदर्शनीयमिति द्वारगाथाद्वयसमासार्थः । बृ० १ उ० । (प्रत्युपेक्षणा ' पडिलेहणा ' शब्दे वक्ष्यते)

अथ निष्क्रमणद्वारमाह-

निरवेक्खो तइयाए, गच्छे निक्कारणम्मि तह चेव ।
बहुविक्खेव दसविहे, सावेक्खे निग्गमो जइओ ॥८२३॥

निरपेक्षो जिनकल्पिकः प्रतिमाप्रतिपन्नकाऽऽदिर्गच्छसत्कापेक्षारहितः, स तृतीयस्यामेव पौरुष्यामुपाश्रयाद् निर्गच्छति, गच्छे गच्छवासिनोऽपि साधवो निष्कारणे तथैव निर्गच्छन्ति, तृतीयस्यां पौरुष्यामित्यर्थः । परं गच्छे यदाऽऽचार्योपाध्यायाऽऽदिविषयभेदाद् दशविधं वैयावृत्त्यं, तेन यो बहुविधो व्याक्षेपः, तेन सापेक्षे गच्छवासिनि निर्गमो भजनीयः, कदाचित्तृतीयस्यां, कदाचित्प्रथमद्वितीयचतुर्थीषु वा पौरुषीष्विति ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां व्याख्यानयति—

गहिए भिक्खं भोत्तुं, सोहिय आवस्स आलयमुवेइ ।
जहिँ णिग्गतो तहिँ चिय, एमेव य खित्तसंकमणे ॥८३४॥

निरपेक्षो भगवान् तृतीयपौरुष्यामुपाश्रयाद्विनिर्गत्य भिक्षामटित्वा गृहीते सति भैक्ष्ये अनापाते असंलोके च स्थाने भुक्त्वा आवश्यकं च संज्ञाकायिकीलक्षणं शोधयित्वा, यस्यामेव पौरुष्यां निर्गतस्तस्यामेव भूय आलयमुपाश्रयमुपैति, तृतीयस्यामित्यर्थः । एवमेव च क्षेत्रसंक्रमणेऽपि द्रष्टव्यम्, क्षेत्रात् क्षेत्रान्तरगमनमपि तृतीयस्यां करोतीति भावः । स्थविरकल्पिका अपि निष्कारणे तृतीयस्यामेव भिक्षामटित्वा प्रतिश्रयमनुद्दिश्य संज्ञाभूमिं गत्वा तस्यामेव प्रत्यागच्छन्ति, क्षेत्रसंक्रमणमप्येवमेव, कारणतस्तु न कोऽपि प्रतिनियमः ।

तथा चाह-

अतरंतबालवुड्ढे, तवस्सिआएसमाइकज्जेसु ।
बहुसो वि होज्ज विसणं, कुलाइकज्जेसु य विभासा ॥८३५॥
उच्चारविहारादी, संभमभयचेइवंदणाऽऽईया ।
आयपरोभयहेउं, विणिग्गमा बण्णिया गच्छे ॥८३६॥

अतरन्तो ग्लानस्तस्य, तथा बालवृद्धयोः, तपस्विनः क्षपकस्य, आदेशस्य प्राघूर्णकस्य, आदिशब्दादाचार्योपाध्यायशैक्षकलविधमःप्रभृतीनां यानि कार्याणि तत्प्रायोग्यभक्तपानौषधाऽऽदिग्रहणरूपाणि, तेषु बहुशोऽपि बहूनपि वारान् गृहपतिगृहेषु प्रवेशनं गच्छसाधूनां भवति । तथा कुलं नागेन्द्रचान्द्राऽऽदि, आदिशब्दाद् गणः कुलसमुदायो, गणसमुदायः सङ्घः, चतुर्वर्णरूपो वा, तत्कार्येषु च विभाषा कर्त्तव्या । सा चैषां कुले गणे सङ्घे वा आभाव्याऽनाभाव्यविषयः कोऽपि व्यवहारः समुपस्थितस्य यथावत्परिच्छेदनं कर्त्तव्यम्, प्रत्यनीको वा कोऽपि साधूनामुपस्थितस्तस्य शिक्षणं विधेयम्, चैत्यद्रव्यं वा कश्चित्तिःशङ्कं मुष्णाति स शासितव्यो वर्त्तत इत्यादि । तथा-उच्चारः पुरीषं, तस्योपलक्षणत्वात्प्रस्रवणाऽऽदेर्व्युत्सर्जनार्थं बहिर्गन्तव्यम्, विहारो नाम वसतावस्वाध्यायिके समुत्पन्ने सति स्वाध्यायनिमित्तमन्यत्र गमनम्, आदिग्रहणात् पूर्वगृहीतपीठफलकप्रत्यर्पणप्रभृतिपरिग्रहः । संभ्रमो नाम-उदकाऽग्न्याहस्त्याद्यागमनसमुत्थ आकस्मिकः संत्रासः । भयं तु सामान्येन समुत्थं दुष्टस्तेनाऽऽद्युपद्रवप्रभवम्, चैत्यानि जिनबिम्बानि, तेषां वन्दनम् । आदिशब्दादपूर्वबहुश्रुताऽऽचार्यवन्दनाऽऽदिपरिग्रहः । एवमादीनि यान्यात्मनः परेषामुभयस्य वा हेतोः कार्याणि तन्निमित्तं बहुशोऽपि प्रतिश्रयाद्विनिर्गमा वर्णिताः प्रतिपादिता इति । गतं निष्क्रमणद्वारम् । (प्राभृतिका 'वसहि' शब्दे वक्ष्यते) (भिक्षा 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ६६७ पृष्ठे द्रष्टव्या) (कल्पकरणं ' लेव ' शब्दे वक्ष्यते) (ग्लानाऽऽदिद्वाराणि-ग्लानाऽऽदिशब्देषु द्रष्टव्यानि)

एसो उ थेरकप्पो, समासओ मे निसामेहि ।
तिविहम्मि संजमम्मि उ, बोधव्वो होति थेरकप्पो तु ॥
सामाइयछेदपरिहा-रिए य तिविहम्मि एक्कम्मि ।
ठिए अट्ठिए व कप्पे, सामाइयसंजमो मुणेयव्वो ॥
छेदपरिहारिया पुण, णियमाओ होंति ठितकप्पे ।
एतेसु थेरकप्पो, जह जिणकप्पीण उग्गहो दोसु ॥
गहणं चऽभिग्गहाणं, पंचाहि दोहिं च ण तह इत्थं ।

बाले वुड्ढे सेहे-ऽगीतत्थे णाणदंसणप्पेही ॥
दुब्बलसंघयणम्मि य, गच्छे य इहेसणा भणिता ।
जहसंभवं तु सेसा, खेत्ताऽऽदि विजासियव्व दारा तु ॥
उवरिं तु मासकप्पे, वित्थरिओ विभासते तेसिं। पं०भा०।

"इयाणिं थेरकप्पो। तत्थ,गाहा-(तिविहम्मि संजमम्मि)थेरकप्पो। सो तिविहो-सामाइओ,छेओवट्ठावणिओ,परिहारविसुद्धिओ त्ति। सामाइओ ठियकप्पे,अट्ठियकप्पे वा। छेओवट्ठावणिओ,परिहारविसुद्धिओ ठियकप्पे चेव। तत्थ सामाइयसंजमो-ठियकप्पे वा, अठियकप्पे वा। बिइओ नाम-छेओवट्ठावणिओ, सो ठियकप्पे नियमा। तइओ परिहारविसुद्धिओ,सो नियमा ठियकप्पे। परिहारविसुद्धिओ नप्पढमयाए जिणपायमूले पडिवज्जति, जहा मासकप्पे, नवरि उदीरणमेत्तं, गणप्पमाणेणं जहन्नेणं तिन्नि गणा, उक्कोसेण सयग्गसो। पुरिसप्पमाणेण जहन्नेण सत्तावीसं, उक्कोसेण सयपुहुत्तं। छट्ठे उद्देसे तेसिं सुत्तं विभासिज्जइ। ते दुविहा-जिणकप्पिया, थेरकप्पिया य। जिणकप्पिया आवकहिया, थेरकप्पिया अट्ठारसमासे अतिच्छिऊण कयाइ जिणकप्पं पडिवज्जंति, कयाइ तमेव कप्पं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति, अहवा पुणो वि तमेव गच्छं एंति। सेसं जहा मासकप्पे,पुव्वपडिवन्नए पडुच्च जइ अत्थि जहन्नेण सयपुहुत्तं, उक्कोसेण सहस्सग्गसो। अहालंदिया वि एमेव, नवरि दुविहा-गच्छपडिबद्धा य, गच्छनिग्गया य, जहा मासकप्पे। जे अपडिबद्धा ते दुविहा-जिणकप्पिया य, थेरकप्पिया य। जिणकप्पिया किंचि परिकम्मं न करेंति। थेरकप्पिया गच्छमाणं ति नियमा पडिग्गहधारी। तत्थ वि गिलाणस्स परिकम्मं थेरकप्पिया फासुएण पडोयारेण अहालंदियस्स करेंति। सेसं जहा मासकप्पे। नवरं गणप्पमाणेण जहन्नेण तओ गणा, उक्कोसेण सयग्गसो। एवं पडिवज्जमाणयं पुरिसप्पमाणे जहन्नेणं पन्नरस, उक्कोसेण सयग्गसो। पुव्वपडिवन्नए पडुच्च जहन्नेण सयग्गसो, उक्कोसेण सहस्सपुहुत्तं। सेसा जहा जिणकप्पियाणं ठिई, एत्थ थेरकप्पिया ते नेयव्वा जहा कप्पे, अज्जाण मासकप्पो व्व नेयव्वो, जहा कप्पो सिज्झइ।" जिनकल्पाऽऽद्या द्रव्यक्षेत्रकालभावाभिग्रहेषु अभिगृहीतैषणाया आहाराऽऽदि गृह्णन्ति, स्थविरकल्पिकाः किमर्थं प्रकीर्णैषणाया आहाराऽऽदि गृह्णन्ति, प्रकीर्णा अनभिगृहीतैषणा इत्यर्थः। आचार्य आह-"बालवुड्ढथेराणं बाला वुड्ढा य कारणे पव्वाविया, ते जइ अभिग्गहिया एसणाए गेण्हंति। अभिग्गहिए एसणाए य च दवावेज्जा सरिसो लाभो, सेहाईणं च अभाविया णं दुब्बलसंघयणाणं नाणदरिसणाऽऽइसु य पडिबद्धायं दिवसं हिंडंताणं चेव लभिस्सति। पच्छा संघयणदुब्बलत्तणेण, अभावियत्तणेण य संजमं छड्डेंति, पासत्थाईहिं परतित्थएहिं वा गमिस्संति, पच्छा तित्थवोच्छेओ भविस्सइ। गच्छो य महिड्ढिओ। स बालवुड्ढाओ लोयणवणायरभूमा, जिणकप्पियाओ जं च गच्छाओ चेव प्रसूतिः, प्रवृत्तिरित्यर्थः। अन्हा गच्छेऽपि किं एहाए विसुद्धाए हिंडमाणा उग्गमाइसुद्धं आहाराइ गेण्हंता, भुंजंता य जहन्नेण अट्ठ पवयणमायाओ, उक्कोसेण चोद्दस पुव्वाणि अहिज्जंति, अव्वोच्छित्तिकरा य हुंति, ओहिमणपज्जवकेवलाणं च उप्पाएंति, सोहम्माइकप्पोवएसु जाव सव्वट्ठसिद्धे वि उववज्जंति। एएण कारणेण गच्छे परिकिलेसणा जहासंभवं। थिरकप्पियाणं खित्तकाला जहा मासकप्पे, एसणाइ य जहा मासकप्पे।" पं० चू०।

अहुणा उ थेरकप्पं, वोच्छामि विहिं समासेणं ॥
गहणे चउव्विहम्मि वि, तीए गहणं तु परमजत्तेणं ।
जं पाणबीयरहियं, हवेज्ज तरमाणए सोही ॥
गहणं चउव्विहं ती, वत्थं पातं च सेज्ज आहारो ।
एतेसिं असतीए, गहणं पढमं तु बीयस्स ॥
बितियं पातं भणति, किं कारणं तस्स गहणं पढमं तु ।
तेण विणा वोहिपरिभा, गिहिभायणजोगे हाणी य ॥
अहवा चउव्विहं तू, असणादी तत्थ भोज्जगहणं तु ।
तत्थ तु बितियं पाणं, तस्स तु गहणं पढमताए ॥
असतीएँ फासुयस्सा, तस्सहिए कंदबीयसहिए वा ।
किं कारण तेण विणा, आसुं पाणक्खतो होज्जा ॥
तरमाणे गिण्हति सुद्धं अतरो पेल्लेज्ज तह संथारे ।
संथरतो गेण्हंतो, पावति सट्ठाणपच्छित्तं ॥
सत्त दुए दसए वा, अणेगठाणेण वा भवग्गहणं ।
एत्तो तिगातिरित्तं, उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं ॥
जइयं ति कप्पति त्ती, तस्सऽसतीए असुद्धं पि ।
एसो तु थेरकप्पो,........................ ॥ पं० भा० ।

इयाणिं थेरकप्पो गाहा-(गहणे चउव्विहे त्ति) चउव्विहे-वत्थं,पायं,आहारो,सेज्जा। चउण्ह वि असइ पढमया य घेप्पइ। किं कारणं?-तेण विणा परिमाइहाणी चेव। अहवा-असणाइ पढमं, तत्थ बिइयं पाणगहणं परमपयत्तेण नयमाणो पढमं संथरमाणो तसपाणबीयरहिया कंदमूलरहिए गेण्हइ,अतरंतो पुण तसपाणसहिए वा,बीयकंदमूलसहिए वा गेण्हइ। किं कारणं? तेण विणा आसु पाणक्खओ होज्जा। तरमाणो सुद्धं गेण्हेज्जा। अतरंतो पेल्लेज्जा। गाहा-(सत्त दुए त्ति) पिंडेसणपाणेसणाओ। (दसए त्ति) दस एसणादोसा। (अणेगठाणे त्ति) उग्गमाइ पन्नरस सोलस। एत्तो तिगाइरित्तं नाम-उग्गमउप्पायणएसणासुद्धं। तव्विवरीयं जं एतेहिं चेव उग्गमाईहिं असुद्धं, तं गेण्हेज्जा गच्छसंरक्खणहेउं गच्छवासीहिं। अइयं नाम कारणे कप्पइ, इयरहा न कप्पइ। एस थेरकप्पो। पं० चू०। (स्थविरकल्पिनामुपधिः 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०६१ पृष्ठे उक्तः) (स्थविरकल्पो जिनकल्पश्च द्वावप्येतौ महर्द्धिकाविति 'गच्छ' शब्दे तृतीयभागे ८०४ पृष्ठे उक्तम्)

थविरकप्पट्ठिइ-स्थविरकल्पस्थिति-स्त्री०। स्थविरा आचार्याऽऽदयो गच्छप्रतिबद्धास्तेषां कल्पस्थितिः स्थविरकल्पस्थितिः। बृ० ४ उ०। कल्पस्थितिभेदे, बृ० ५ उ०। स्था०। पं० चू०। पं० भा०।

संप्रति स्थविरकल्पस्थितिमाह-

संजमकरणुज्जोया, णिप्फातग णाणदंसणचरित्ते ।
दीहाउ वुड्ढवासे, वसहीदोसेहि य विमुक्का ॥ ४०७ ॥

संयमः पञ्चाऽऽश्रवविरमणाऽऽदिरूपः, पृथिव्यादिरक्षारूपो वा सप्तदशविधः, तं कुर्वन्ति यथा तत्पालयन्तीति संयमकरणाः। म-

ण्यादिदर्शनात् कर्तर्यनट्प्रत्ययः । उद्द्योतकाः-तपसा प्रवचनस्योज्ज्वालकाः। ततः संयमकरणाश्च ते उद्द्योतकाश्चेति विशेषणसमासः । यद्वा-पूर्वपौरुषीकरणेन संयमकरणमुद्द्योतयन्तीति संयमकरणोद्द्योतकाः । तथा-ज्ञानदर्शनचारित्रेषु शिष्याणां निष्पादकाः, तेषां चाक्रान्ताऽऽदीनामव्यवस्थितिकारका भवन्तीति शेषः, यदा च ते दीर्घाऽऽयुषो जङ्घाबलपरिक्षीणाश्च भवन्ति, तदा वृद्धाऽऽवासमभ्यासतं, तत्रैव क्षेत्रे वसन्तोऽपि वसतिदोषैः कालातिक्रान्ताऽऽदिभिः, चशब्दादाहारोपधिदोषैश्च वियुक्ता वर्जिता भवन्ति, न तैर्लिप्यन्त इत्यर्थः ॥ ४०७ ॥

मोत्तुं जिणकप्पठिइं, जा मेरा एस वन्नियां हेट्ठा ।
एसा उ दुपदजुत्ता, होति ठिती थेरकप्पस्स ॥४०८॥

जिनकल्पस्थितिग्रहणेन, उपलक्षणत्वात् सर्वेषामपि गच्छनिर्गतानां स्थितिः परिगृह्यते । ततस्तां मुक्त्वा,या अधस्तादस्मिन्नेवाध्ययने मर्यादा स्थितिरेषा अनन्तरमेव वर्णिता । यद्वा-सामायिकाध्ययनमादौ कृत्वा यावदस्मिन्नेवाध्ययने इदं षाड्विधकल्पस्थितिसूत्रमत्रान्तरे गच्छनिर्गतसामाचारीं मुक्त्वा या शेषा सामाचारी वर्णिता सा द्विपदयुक्ता उत्सर्गापवादपदद्वययुक्ता स्थविरकल्पसंस्थितिर्भवति ॥ ४०८ ॥ बृ० ६ उ० ।

थविरकप्पिय-स्थविरकल्पिक-पुं० । स्थविरकल्पमाश्रिते, प्रव० ७० द्वार । बृ० ।

थविरभूमि-स्थविरभूमि-स्त्री० । स्थविरो वृद्धस्तस्य भूमयः स्थविरभूमयः । वृद्धपदवीषु, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

स्थविरभूमयः-

तओ थेरभूमीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-जातिथेरे, सुयथेरे, परियायथेरे य । सट्ठिवरिसजाए जातिथेरे, ठाणसमवायधरे सुयथेरे, वीसवासपरियाए परियायथेरे ॥

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह-

थेराणमंतिए वासो, सो य थेरो इमो तिहा ।
भूमि त्ति य ठाणं ति य, एगट्ठा होंति कालो य ॥

अनन्तरसूत्रे अन्तेवासिन उक्ताः। अन्तिके निवासः स्थविराणाम, स च स्थविरोऽनं वक्ष्यमाणस्त्रिधेत्यनेन क्रमेण सूत्रमिदं समापतितमित्येष सूत्रसंबन्धः । संप्रत्यस्य व्याख्या-तिस्रः स्थविराणां भूमयः प्रज्ञप्ताः-भूमिरिति स्थानमिति अत्रस्थारूपः काल इति त्रयोऽपि शब्दा एकार्थाः । " थेरभूमि त्ति वा, थेरट्ठाणं ति वा, थेरकालो त्ति वा एगट्ठमिति । "

तिविहम्मि य थेरम्मी, परूवणा जा जहिं सए ठाणे ।
अणुकंप सुए पूआ, परियाए वंदणाऽऽदीणि ॥

त्रिविधस्थविरे त्रिविधस्थविरविषये या यत्र स्वके स्थाने प्ररूपणा सा सूत्रतः कर्तव्या । तद्यथा-षष्टिवर्षजातो जातिस्थविरः, स्थानसमवायधरः श्रुतस्थविरः, विंशतिवर्षपर्यायः पर्यायस्थविरः । तथा जातिस्थविरस्यानुकम्पा कर्तव्या, श्रुते श्रुतस्थविरस्य पूजा, पर्याये पर्यायस्थविरस्य वन्दनाऽऽदीनि ।

संप्रत्येतान्येव त्रीणि कर्तव्यानि विस्तरेणाऽऽह-

आहारोवहिसेज्जा-संथारे खेत्तसंकमे ।
कितिकंदाणुवत्तीहिं, अणुवत्तंति थेरगं ॥
छंदाणाऽऽसणदाणाऽऽदी, जोग्गऽऽहारप्पसंसणा ।
नीयसेज्जाएँ निद्देस-वत्तित्तं पूयए सुयं ॥
उट्ठाणं वंदणं चेव, गहणं दंडगस्स य ।
परियायथेरगस्स, करेंति अगुरोरवि ॥

जातिस्थविरस्य कालस्वभावानुमत आहारो दातव्यः, उपधिर्यावता संस्तरति तावत्प्रमाणः, शय्या वसतिः, सा ऋतुक्षमा दातव्या, संस्तारको मृदुकः। क्षेत्रसंक्रमे क्षेत्रान्तरं संक्रामयितव्ये तदीयोपधिमन्ये वहन्ति, पानीयेन चाऽनुकम्पना । उक्ता जातिस्थविरस्याऽनुकम्पा । श्रुतस्थविरस्य पूजामाह-(कितित्यादि)कृतिकन्दोऽनुवृत्तिभ्यां स्थविरं श्रुतस्थविरमनुवर्तयन्ति । किमुक्तं भवति?-श्रुतस्थविरस्य कृतिकर्म वन्दनकं दातव्यम्, छन्दतश्च तस्याऽनुवर्तनीयम् । तथा-(उट्ठाणं त्ति) आगतस्याऽभ्युत्थानं कर्तव्यम्, आसनप्रदानम् । आदिशब्दात् पादप्रमार्जनाऽऽदिपरिग्रहः । तथा योग्याऽऽहारोपनयनम्, समक्षपरोक्षत्वाभ्यां प्रशंसना गुणकीर्तनम् ।तथा-तत्समक्षं नीचशय्यायामवस्थातव्यं, निर्देशवर्तित्वम्,एवं श्रुतं श्रुतस्थविरं पूजयेत् । तथा-पर्यायस्थविरस्याऽगुरोरप्यप्रव्राजकस्याप्यवाचनाऽऽचार्यस्या-ऽप्यागच्छत उत्थानं कुर्वन्ति, वन्दनकं,वक्ष्यमाणतो दण्डकस्य च ग्रहणमिति सूत्रम् । व्य० १० उ० ।

थविरभूमिपत्त-स्थविरभूमिप्राप्त-त्रि० । आचार्यपदप्राप्ते, व्य० १ उ० । सूत्रार्थतदुभयोपेते, बृ० १ उ० ।

थविरय-स्थविरक-पुं० । जीर्णे, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । सूत्र० । शतातीते वृद्धे. "पिया ते थेरओ तात !, ससा ते खुड्डिया इमा । " (३) सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

थविरवेयावच्च-स्थविरवैयावृत्त्य-न० । स्थविराणां भक्तपानाऽऽदिभिरुपष्टम्भे, औ० । (स्थविरवैयावृत्त्यं 'थविरभूमि' शब्देऽनुपदमेव संक्षेपतः प्रोक्तम्)

थविरावली-स्थविराऽऽवली-स्त्री० । पैदयुगीनसाधूनामुपकारार्थं प्रवचननेतृणामावलिकायाम, नं० ।

सा च सुधर्मस्वामिनः प्रवृत्ता-

सुहम्मं अग्गिवेसाणं, जंबूनामं च कासवं ।
पभवं कच्चायणं वंदे, वच्छं सिज्जंभवं तहा ॥ २५ ॥
जसभद्दं तुंगियं वंदे, संभूयं चेव य माढरं ।
भद्दबाहुं च पाइन्नं, थूलभद्दं च गोयमं ॥ २६ ॥
एलावच्चसगोत्तं, वंदामि महागिरिं सुहत्थिं च ।
तत्तो कोसियगुत्तं, बहुलस्स सरिव्वयं * वंदे ॥ २७ ॥
हारियगुत्तं साइं, वंदामो हारियं च सामज्जं ।
वंदे कोसियगुत्तं, संडिल्लं अज्जजीयधरं ॥ २८ ॥
तिसमुद्दखायकित्तिं, दीवसमुद्देसु गहियपेयालं ।
वंदे अज्जसमुद्दं, अक्खुभियसमुद्दगंभीरं ॥ २९ ॥
भणगं करगं झरगं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं ।
वंदामि अज्जमंगुं, सुयसागरपारगं धीरं ॥ ३० ॥
वंदामि अज्जधम्मं, तत्तो वंदे य भद्दगुत्तं च ।
तत्तो य अज्जवइरं, तवनियमगुणेहिँ वइरसमं ॥ ३१ ॥
वंदामि अज्जरक्खिय-खमणे रक्खियचरित्तसव्वस्से ।

* " सरिव्वयं " सदृशवयसम् ।

रयणकरंडगभूआ, अणुओगा रक्खिआ जेहिं ॥३२॥
नाणम्मि दंसणम्मि य, तवविणयणिच्चकालमुज्जुत्तं ।
अज्जयनंदिलखमणं, सिरसा वंदे पसंतमणं ॥ ३३ ॥
वड्ढउ वायगवंसो, जसवंसो अज्जनागहत्थीणं ।
वागरणकरणभंगिय-कम्मप्पयडीपहाणाणं ॥ ३४ ॥
जच्चंजणधाउसम-प्पहाणमुद्दियवलयनिहाणं ।
वड्ढउ वायगवंसो, रेवइनक्खत्तनामाणं ॥ ३५ ॥
अयलपुरा णिक्खंते, कालियसुयआणुओगिए धीरे ।
बंभद्दीवगसीहे, वायगपयमुत्तमं पत्ते ॥ ३६ ॥
जेसु इमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि ।
बहुनयरनिग्गयजसे, तं वंदे खंदिलायरिए ॥ ३७ ॥
तत्तो हिमवंतमहं-तविक्कमे धिइपरक्कममणंते ।
सज्झायमणंतधरे, हिमवंते वंदिमो सिरसा ॥ ३८ ॥
कालियसुयअणुओ-गधारए धारए य पुव्वाणं ।
हिमवंतखमासमणे, वंदे णागज्जुणायरिए ॥ ३९ ॥
मिउमद्दवसंपन्ने, अणुपुव्विं वायगत्तणं पत्ते ।
ओहसुयसमायारे, नागज्जुणवायए वंदे ॥ ४० ॥
गोविंदाणं पि नमो, अणुओगे विउलधारणिंदाणं ।
निच्चं खंतिदयाणं, परूवणे दुल्लभे दाणं ॥४१॥
तत्तो य भूयदिन्नं, निच्चं तवसंजमे अनिव्विन्नं ।
पंडियजणसामन्नं, वंदामी संजमविहिन्नू ॥ ४२ ॥
वरकणगतवियचंपग-विउलवरकमलगब्भसरिवन्ने ।
भवियजणहिययदइए, दयागुणविसारए धीरे ॥ ४३ ॥
अड्ढभरहप्पहाणे, बहुविहसज्झायसुमुणियपहाणे ।
अणुओगियवरवसभे, नाइलकुलवंसनंदिकरे ॥ ४४ ॥
भूयहियकरपगब्भे, वंदेऽहं भूयदिन्नमायरिए ।
भवभयवुच्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीणं ॥ ४५ ॥
सुमुणियनिच्चानिच्चं, सुमुणियसुत्तत्थधारयं निच्चं ।
वंदेऽहं लोहिच्चं, सब्भावुब्भावणातच्चं ॥ ४६ ॥
अत्थमहत्थयखाणिं, सुसमणवक्खाणकहणनिव्वाणिं ।
पयईए महुरवाणिं, पयओ पणमामि दूसगणिं ॥ ४७ ॥
तवनियमसच्चसंजम-विणयऽज्जवखंतिमद्दवरयाणं ।
सीलगुणगद्दियाणं, अणुओगजुगप्पहाणाणं ॥ ४८ ॥
सुकुमालकोमलतले, तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पाए पावयणीणं, पडिच्छगसएहिं पणिवइए ॥ ४९ ॥
जे अन्ने भगवंते, कालियसुयअणुओगिए धीरे ।
ते पणमिऊणं सिरसा, नाणस्स परूवणं वोच्छं ॥ ५० ॥
इह स्थविराऽऽवलिका सुधर्मस्वामिनः प्रवृत्ता, शेषगणधराणां सन्तानप्रवृत्तेरभावात् । नं० ।

तदाह-

अवसेसा गणहरा निरवच्चा वुच्छिन्ना ४ । समणे भगवं महावीरे कासवगुत्ते । समणस्स णं भगवओ महावीरस्स कासवगुत्तस्स अज्जसुहम्मे थेरे अंतेवासी अग्गिवेसायणगोत्ते । थेरस्स णं अज्जसुहम्मस्स अग्गिवेसायणसगोत्तस्स अज्जजंबूनामे णं थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते । थेरस्स णं अज्जजंबूनामस्स कासवगोत्तस्स अज्जप्पभवे थेरे अंतेवासी कच्चायणसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जप्पभवस्स कच्चायणसगोत्तस्स अज्जसिज्जंभवे थेरे अंतेवासी मणगपिया वच्छसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जसिज्जंभवस्स मणगपिउणो वच्छसगोत्तस्स अज्जजसभद्दे थेरे अंतेवासी तुंगियायणसगोत्ते ५ । संखित्तवायणाए अज्जजसभद्दाओ अग्गओ एवं थेरावली भणिया । तं जहा-थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स तुंगियायणसगोत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा-थेरे अज्जसंभूइविजए माढरसगुत्ते, थेरे अज्जभद्दबाहू पाईणसगुत्ते । थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जथूलभद्दे गोयमसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा-थेरे अज्जमहागिरी एलावच्चसगोत्ते, थेरे अज्जसुहत्थी वासिट्ठसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जसुहत्थिस्स वासिट्ठसगुत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा-सुट्ठियसुप्पडिबुद्धा, कोडियकाकंदगा वग्घावच्चसगोत्ता । थेराणं सुट्ठियसुप्पडिबुद्धाणं कोडियकाकंदगाणं वग्घावच्चसगुत्ताणं अंतेवासी थेरे अज्जइंददिन्ने कोसियगुत्ते । थेरस्स णं अज्जइंददिन्नस्स कोसियगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जदिन्ने गोयमसगुत्ते । थेरस्स णं अज्जदिन्नस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जसीहगिरी जाईसरे कोसियसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जसीहगिरिस्स जाईसरस्स कोसियसगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जवइरे गोयमसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जवइरसेणे उक्कोसियगोत्ते । थेरस्स णं अज्जवइरसेणस्स उक्कोसियगोत्तस्स अंतेवासी चत्तारि थेरा-थेरे अज्जनाइले, थेरे अज्जपोमिले, थेरे अज्जजयंते, थेरे अज्जतावसे । थेराओ अज्जनाइलाओ अज्जनाइला साहा निग्गया । थेराओ अज्जपोमिलाओ अज्जपोमिला साहा निग्गया । थेराओ अज्जजयंताओ अज्जजयंती साहा निग्गया । थेराओ अज्जतावसाओ अज्जतावसी साहा निग्गया इति ॥ ६ ॥ वित्थरवायणाए पुण अज्जजसभद्दाओ पुरओ थेरावली एवं पलोइज्जइ । तं जहा-थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स तुंगियायणसगोत्तस्स इमे दो थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था । तं जहा-थेरे अज्जभद्दबाहू पाईणसगोत्ते, थेरे अज्जसंभूइविजए माढरसगुत्ते । थेरस्स णं अज्जभद्दबाहुस्स पाईणसगोत्तस्स इमे

चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था । तं जहा–थेरे गोदासे, थेरे अग्गिदत्ते, थेरे जण्णदत्ते, थेरे सोमदत्ते कासवगोत्ते णं । थेरेहिंतो गोदासेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो इत्थ णं गोदासे गणे नामं गणे निग्गए । तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति । तं जहा–तामलित्तिआ, कोडिवरिसिया, पोंडवद्धणिया, दासीखब्बडिया । थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगोत्तस्स इमे दुवालस थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था । तं जहा–

" नंदणभद्दे थेरे, उवणंदे तीसभद्दे जसभद्दे ।
थेरे अ सुमणभद्दे, मणिभद्दे पुण्णभद्दे य ॥ १ ॥
थेरे अ थूलभद्दे, उज्जुमई जंबुनामधिज्जे य ।
थेरे य दीहभद्दे, थेरे तह पंडुभद्दे य ॥ २ ॥ "

थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगुत्तस्स इमाओ सत्त अंतेवासिणीओ अहावच्चाओ अभिन्नायाओ होत्था । तं जहा–

"जक्खा य जक्खदिन्ना, भूया तह चेव भूयदिन्ना य ।
सेणा वेणा रेणा, भइणीओ थूलभद्दस्स ॥ १ ॥ "

थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमसगुत्तस्स इमे दो थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था । तं जहा–थेरे अज्जमहागिरी एलावच्चसगोत्ते, थेरे अज्जसुहत्थी वासिट्ठसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जमहागिरिस्स एलावच्चसगोत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था । तं जहा–थेरे उत्तरे, थेरे बलिस्सहे, थेरे धणड्ढे, थेरे सिरिभद्दे, थेरे कोडिन्ने, थेरे नागे, थेरे नागमित्ते, थेरे छडुलूए रोहगुत्ते कोसियगुत्ते णं ॥ थेरेहिंतो णं छडुलूएहिंतो रोहगुत्तेहिंतो कोसियगुत्तेहिंतो तत्थ णं तेरासिया साहा णिग्गया । थेरेहिंतो णं उत्तरबलिस्सहेहिंतो तत्थ णं उत्तरबलिस्सहे नामं गणे णिग्गए । तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति । तं जहा–कोसंबिया, सोइत्तिया, कोडंबाणी, चंदनागरी । थेरस्स णं अज्जसुहत्थिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स इमे दुवालस थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था । तं जहा–

" थेरे अ अज्जरोहणे, भद्दजसे मेहगणि अ कामिड्ढी ।
सुट्ठिय सुप्पडिबुद्धे, रक्खिय तह रोहगुत्ते य ॥ १ ॥
इसिगुत्ते सिरिगुत्ते, गणी य बंभे गणी य तह सोमे ।
दस दो अ गणहरा खलु, एए सीसा सुहत्थिस्स ॥ २ ॥ "

थेरेहिंतो णं अज्जरोहणेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो तत्थ णं उद्देहगणे णामं गणे निग्गए । तस्सिमाओ चत्तारि साहाओ निग्गयाओ, छच्च कुलाइं एवमाहिज्जंति । से किं तं साहाओ ? । साहाओ एवमाहिज्जंति । तं जहा– उदुंबरिज्जिया, मासपूरिया, मइपत्तिया, पुण्णपत्तिया । सेत्तं साहाओ । से किं तं कुलाइं ? । कुलाइं एवमाहिज्जंति । तं जहा–

" पढमं च नागभूयं, बीअं पुण सोमभूइअं होइ ।
अह उल्लगच्छ तइयं, चउत्थयं हत्थलिज्जं तु ॥ १ ॥
पंचमगं नंदिज्जं, छट्ठं पुण पारिहासयं होइ ।
उद्देहगणस्सेए, छच्च कुला हुंति नायव्वा ॥ २ ॥ "

थेरेहिंतो णं सिरिगुत्तेहिंतो हारियसगोत्तेहिंतो इत्थ णं चारणगणे नामं गणे णिग्गए । तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, सत्त य कुलाइं एवमाहिज्जंति । से किं तं साहाओ ? । साहाओ एवमाहिज्जंति । तं जहा–हारिअमालागारी, संकासिआ, गवेधुआ, वज्जनागरी । सेत्तं साहाओ । से किं तं कुलाइं ? । कुलाइं एवमाहिज्जंति । तं जहा–

" पढमित्थ वत्थलिज्जं, बीयं पुण पीइधम्मिअं होइ ।
तइअं पुण हालिज्जं, चउत्थयं पूसमित्तिज्जं ॥ १ ॥
पंचमगं मालिज्जं, छट्ठं पुण अज्जवेडयं होइ ।
सत्तमगं कण्हसहं, सत्त कुला चारणगणस्स ॥ २ ॥ "

थेरेहिंतो णं भद्दजसेहिंतो भारद्दायसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उडुवाडियगणे नामं गणे णिग्गए । तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, तिन्नि कुलाइं एवमाहिज्जंति । से किं तं साहाओ ? । साहाओ एवमाहिज्जंति । तं जहा-चंपिज्जिया, भद्दिज्जिया, काकंदिआ, मेहलिज्जिया । सेत्तं साहाओ । से किं तं कुलाइं ? । कुलाइं एवमाहिज्जंति । तं जहा–

" भद्दजसिअं तह भद्दगु-त्तिअं तइअं च होइ जसभद्दं ।
एयाइं उडुवाडिय-गणस्स तिन्नेव य कुलाइं ॥ १ ॥ "

थेरेहिंतो णं कामिड्ढीहिंतो इत्थ णं वेसवाडियगणे णामं गणे निग्गए । तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, चत्तारि कुलाइं एवमाहिज्जंति । से किं तं साहाओ ? । साहाओ एवमाहिज्जंति । तं जहा–सावत्थिया, रज्जपालिया, अंतरिज्जिया, खेमलिज्जिया । सेत्तं साहाओ । से किं तं कुलाइं ? । कुलाइं एवमाहिज्जंति । तं जहा–

" गणिअं मेहिय काम-ड्ढिअं च तह होइ इंदपुरगं च ।
एयाइं वेसवाडिय-गणस्स चत्तारि उ कुलाइं ॥ १ ॥ "

थेरेहिंतो णं इसिगुत्तेहिंतो काकंदिएहिंतो वासिट्ठसगोत्तेहिंतो एत्थ णं माणवगणे णामं गणे निग्गए । तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, तिन्नि य कुलाइं एवमाहिज्जंति । से किं तं साहाओ ? । साहाओ एवमाहिज्जंति । तं जहा–कासविज्जिया, गोअमिज्जिया, वासिट्ठिआ, सोरट्ठिआ । सेत्तं साहाओ । से किं तं कुलाइं ? । कुलाइं एवमाहिज्जंति । तं जहा–

" इसिगुत्तिय इत्थ पढमं, बीयं इसिदत्तिअं मुणेअव्वं ।
तइयं च अभिजयंतं, तिन्नि कुला माणवगणस्स ॥ १ ॥ "

थेरेहिंतो णं सुट्ठियसुप्पडिबुद्धेहिंतो कोडियकाकंदएहिंतो वग्घावच्चसगोत्तेहिंतो इत्थ णं कोडियगणे णामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, चत्तारि कुलाइं च एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ ?। साहाओ एवमाहिज्जंति। तं जहा-"उच्चानागरि विज्जा-हरी य वइरी य मज्झिमिल्ला य। कोडियगणस्स एया, हवंति चत्तारि साहाओ ॥१॥" सेत्तं साहाओ। से किं तं कुलाइं ?। कुलाइं एवमाहिज्जंति। तं जहा-"पढमित्थ बंभलिज्जं, बिइयं नामेण वत्थलिज्जं तु। तइयं पुण वाणिज्जं, चउत्थयं पण्हवाहणयं ॥१॥" थेराणं सुट्ठियसुप्पडिबुद्धाणं कोडियकाकंदगाणं वग्घावच्चसगोत्ताणं इमे पंच थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा-थेरे अज्जइंददिन्ने पियगंथे, थेरे विज्जाहरगोवाले कासवगुत्ते णं, थेरे इसिदत्ते, थेरे अरिहदत्ते। थेरेहिंतो णं पियगंथेहिंतो एत्थ णं मज्झिमा साहा निग्गया, थेरेहिंतो णं विज्जाहरगोवालेहिंतो कासवगोत्तेहिंतो एत्थ णं विज्जाहरी साहा निग्गया। थेरस्स णं अज्जइंददिन्नस्स कासवगुत्तस्स अज्जदिन्ने थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जदिन्नस्स गोयमसगुत्तस्स इमे दो थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा-थेरे अज्जसंतिसेणिए माढरसगुत्ते, थेरे अज्जसीहगिरी जाईसरे कोसियगोत्ते। थेरेहिंतो णं अज्जसंतिसेणिएहिंतो माढरसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उच्चनागरी साहा निग्गया। थेरस्स णं अज्जसंतिसेणियस्स माढरसगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा-थेरे अज्जसेणिए, थेरे अज्जतावसे, थेरे अज्जकुबेरे, थेरे अज्जइसिपालिए। थेरेहिंतो णं अज्जसेणिएहिंतो एत्थ णं अज्जसेणिया साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जतावसेहिंतो एत्थ णं अज्जतावसी साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जकुबेरेहिंतो णं इत्थ णं अज्जकुबेरा साहा निग्गया। थेरेहिंतो अज्जइसिपालिएहिंतो इत्थ णं अज्जइसिपालिया साहा निग्गया। थेरस्स णं अज्जसीहगिरिस्स जाईसरस्स कोसियगुत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा--थेरे धणगिरी, थेरे अज्जवइरे, थेरे अज्जसमिए, थेरे अरिहदिन्ने। थेरेहिंतो णं अज्जसमिएहिंतो गोयमसगुत्तेहिंतो इत्थ णं बंभदीविया साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जवइरेहिंतो गोयमसगोत्तेहिंतो इत्थ णं अज्जवइरी साहा निग्गया। थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोयमसगुत्तस्स इमे तिन्नि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा-थेरे अज्जवइरसेणे, थेरे अज्जपउमे, थेरे अज्जरहे। थेरेहिंतो णं अज्जवइरसेणेहिंतो इत्थ णं अज्जनाइली साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जपउमेहिंतो अज्जपउमा साहा निग्गया, थेरेहिंतो णं अज्जरहेहिंतो इत्थ णं अज्जजयंती साहा निग्गया। थेरस्स णं अज्जरहस्स वच्छसगुत्तस्स अज्जपूसगिरी थेरे अंतेवासी कोसियगुत्ते। थेरस्स णं अज्जपूसगिरिस्स कोसियगुत्तस्स अज्जफग्गुमित्ते थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जफग्गुमित्तस्स गोयमसगुत्तस्स अज्जधणगिरी थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जधणगिरिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स अज्जसिवभूई थेरे अंतेवासी कुच्छसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जसिवभूइस्स कुच्छसगोत्तस्स अज्जभद्दे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते। थेरस्स णं अज्जभद्दस्स कासवगुत्तस्स अज्जनक्खत्ते थेरे अंतेवासी कासवगोत्ते। थेरस्स णं अज्जनक्खत्तस्स कासवगुत्तस्स अज्जरक्खे थेरे अंतेवासी कासवगोत्ते। थेरस्स णं अज्जरक्खस्स कासवगोत्तस्स अज्जनागे थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जनागस्स गोयमसगोत्तस्स अज्जजेहिले थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जजेहिलस्स वासिट्ठसगोत्तस्स अज्जविण्हू थेरे अंतेवासी माढरसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जविण्हुस्स माढरसगोत्तस्स अज्जकालए थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जकालियस्स गोयमसगोत्तस्स इमे दुवे थेरा अंतेवासी गोयमसगोत्ता-थेरे अज्जसंपालिए, थेरे अज्जभद्दे। एएसि णं दुण्हं थेराणं गोयमसगुत्ताणं अज्जवुड्ढे थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जवुड्ढस्स गोयमसगोत्तस्स अज्जसंघपालिए थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जसंघपालियस्स गोयमसगोत्तस्स अज्जहत्थी थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते। थेरस्स णं अज्जहत्थिस्स कासवगोत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी सुव्वयगोत्ते। थेरस्स णं अज्जधम्मस्स सुव्वयगोत्तस्स अज्जसीहे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते। थेरस्स णं अज्जसीहस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते। थेरस्स णं अज्जधम्मस्स कासवगोत्तस्स अज्जसंडिल्ले थेरे अंतेवासी।

"वंदामि फग्गुमित्तं, च गोयमं धणगिरिं च वासिट्ठं।
कुच्छं सिवभूइं पि य, कोसिय दुज्जंत कण्हे य ॥१॥
तं वंदिऊण सिरसा, भद्दं वंदामि कासवसगुत्तं।
नक्खं कासवगुत्तं, रक्खं पि य कासवं वंदे ॥२॥
वंदामि अज्जनागं, च गोयमं जेहिलं च वासिट्ठं।
विण्हुं माढरगुत्तं, कालगमवि गोयमं वंदे ॥३॥

गोयमगुत्तकुमारं, संपलियं तह य भद्दयं वंदे ।
थेरं च अज्जवुड्ढं, गोयमगुत्तं नमंसामि ॥ ४ ॥
तं वंदिऊण सिरसा, थिरसत्तचरित्तनाणसंपन्नं ।
थेरं च संघवालिय-कासवगुत्तं पणिवयामि ॥५ ॥
वंदामि अज्जहत्थिं, च कासवं खंतिसागरं धीरं ।
गिम्हाण पढममासे, कालगयं चेव सुद्धस्स ॥६॥
वंदामि अज्जधम्मं, च सुव्वयं सीलल्लद्धिसंपन्नं ।
जस्स (स) निक्खमणे देवो, छत्तं वरमुत्तमं वहइ ॥७॥
हत्थं कासवगुत्तं, धम्मं सिवसाहगं पणिवयामि ।
सीहं कासवगुत्तं, धम्मं पि अ कासवं वंदे ॥८॥
तं वंदिऊण सिरसा, थिरसत्तचरित्तनाणसंपन्नं ।
थेरं च अज्जजंबुं, गोयमगुत्तं नमंसामि ॥९॥
मिउमद्दवसंपन्नं, उवउत्तं नाणदंसणचरित्ते ।
थेरं च नंदियं पि य, कासवगुत्तं पणिवयामि ॥१०॥
तत्तो अ थिरचरित्तं, उत्तमसम्मत्तसत्तसंजुत्तं ।
देवड्डिगणिखमासमणं, माढरगुत्तं नमंसामि ॥११॥
तत्तो अणुओगधरं, धीरं मइसागरं महासत्तं ।
थिरगुत्तखमासमणं, वच्छसगुत्तं पणिवयामि ॥१२॥
तत्तो अ नाणदंसण-चरित्ततवसुट्ठिअं गुणमहंतं ।
थेरं कुमारधम्मं, वंदामि गणिं गुणोवेयं ॥१३॥
सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दवगुणेहिँ संपन्ने ।
देवड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ॥ १४ ॥
कल्प० ४ क्षण ।

थविरोवघाइय-स्थविरोपघातिक-पुं० । स्थविरा आचार्याऽऽदिगुरवस्तान् आचारदोषेण शीलदोषेणावज्ञाऽऽदिभिर्वोपहन्तीत्येवंशीलः, स एव वा स्थविरोपघातिकः । दशा० १ अ० । स्था० । पञ्चासमाधिस्थे, आ० क० ४ अ० । दशा० । आ० चू० ।

थवी-स्त्री० । देशी-प्रसविकायाम् , दे० ना० ५ वर्ग २४ गाथा ।

थस-पुं० । देशी-विस्तीर्णार्थेषु, दे० ना० ५ वर्ग २५ गाथा ।

थह-पुं० । देशी-निलये, दे० ना० ५ वर्ग २४ गाथा ।

थाइणी-स्थायिनी-स्त्री० । प्रतिवर्षविजननशीलायाम्, स्थायिन्यो नाम वडवास्ता उच्यन्ते वर्षे वर्षे विजायन्ते याः । बृ० ३ उ० ।

थाऊण-स्थित्वा-अव्य० । गतेर्निवृत्त्येत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

थाण-स्थान-न० । " स्थः ठा-थक्क-चिट्ठ-निरप्पाः " ॥ ८ । ४ । १६ ॥ इति स्थाधातोष्ठाऽऽदेशो बाहुलकत्वान्न । प्रा० ४ पाद ।

थाणणिउत्त-स्थाननियुक्त-त्रि० । स्थाने पदे नियुक्ताः स्थाननियुक्ताः । प्रवर्तकस्थविरगणावच्छेदकाऽऽख्येषु पदस्थगीतार्थेषु, बृ० १ उ० ।

थाणय-देशी-न० । आलवाले, दे० ना० ५ वर्ग २७ गाथा ।

थाणविसेस-स्थानविशेष-पुं० । आसनविशेषे, विशे० ।

थाणाणिउत्त-स्थानानियुक्त-त्रि० । सामान्यसाधुषु, बृ० १ उ० ।

थाणु-स्थाणु-पुं० । " स्थाणावहरे " ॥ ८ । २ । ७ ॥ इति हरेऽर्थे स्थस्य न खः । प्रा० २ पाद । हरे, शिवे, को० । स्तम्भे, स्था० ४ ठा० २ उ० । कीलके, विशे० ।

थाम-स्थामन्-न० । वीर्ये, बृ० १ उ० । " ओजो वीरियं थामं " इत्येकार्थाः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । नि० चू० । पं० सं० । क्रियायाम्, (ग०) सामर्थ्ये, ग० १ अधि० । सूत्र० । प्राणे, शारीरबलयुक्ते, ओघ० । ज्ञा० । पिं० । स्था० । बलवति, त्रि० । नि० चू० ११ उ० । विस्तीर्णार्थेषु, दे० ना० ५ वर्ग २५ गाथा ।

थामवं-स्थामवत्-त्रि० । स्थाम बलं, तदस्य संयमविषयमस्तीति स्थामवान् । अनु० २ अ० । शीताऽऽतपाऽऽदिसहनं प्रति सामर्थ्यवति, उत्त० ३ अ० । मनोबलयुक्ते, (उत्त०) धैर्ययुक्ते, उत्त० २ अ० ।

थामावहारविजढ-स्थामापहारविमुक्त-त्रि० । अनिगूहितबलवीर्ये, बृ० १ उ० ।

थार-पुं० । देशी-घने, दे० ना० ५ वर्ग २७ गाथा ।

थाल-स्थाल-न० । भट्टे, भ० १५ श० । पाकपात्रे च । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । रा० । जं० ।

थालइ-स्थालकिन्-पुं० । गृहीतभाण्डे वानप्रस्थभेदे, नि० १ श्रु० १ वर्ग० ७ अ० । औ० । भ० ।

थालपाणय-स्थालपानक-न० । स्थालं भट्टं तत्पानकमिव दाहोपशमहेतुत्वात् स्थालपानकम् । आर्द्रातिकानामकदकवीये स्थालके, भ० १५ श० ।

थाली-स्थाली-स्त्री० । उखायाम्, जी० ३ प्रति० २ उ० । पिठर्याम, स्था० ३ ठा० १ उ० । सू० प्र० । प्रा० म० ।

थालीपाग-स्थालीपाक-त्रि० । स्थाल्यामुखायां पाको यस्य तत्स्थालीपाकम् । स्थाल्यां पके, स्था० । "थालीपागसुद्धं मणुण्णं भोयणं ।" स्थाली पिठरी, तस्यां पाको यस्य तत्तथा । अन्यत्र हि पक्वमपक्वं वा न तथाविधं स्यादितीदं विशेषणमिति । शुद्धं भक्तदोषवर्जितं, स्थालीपाकं च तच्छुद्ध स्थालीपाकेन वा शुद्धमिति विग्रहः । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

थावच्चा-स्थापत्या-स्त्री० । द्वारवतीवास्तव्यां स्वनामख्यातायां गृहपतिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

थावच्चापुत्त-स्थापत्यापुत्र-पुं० । स्थापत्यायाः गृहपतिकायाः सुते, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

तद्वक्तव्यता-

जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं बारवई णामं नयरी होत्था; पाईणपडीणायामा उदीणदाहिणवित्थिण्णा नवजोयणवित्थिण्णा दुवालसजोयणाऽऽयामा धणवइमइणिम्माया चामीयरपवरपागारा णाणामणिपंचवण्णक(वि)सीसग-

सोहिया अलयापुरीसंकासा पमुइयपक्कीलिया पच्चक्खं देवलोगभूया। तीसे णं बारवईए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए रेवतगे णामं पव्वए होत्था; तुंगे गगणतलमणुलिहंतसिहरे णाणाविहगुच्छगुम्मलयावल्लिपरिगते हंसमिगमयूरकोंचसारसचक्कवायमयणसालकोइलकुलोववेए अणेगतडकडगवियरउज्झरपवायपब्भारसिहरपउरे अच्छरगणदेवसंघचारणविज्जाहरमिहुणसंकिण्णे निच्चच्छणए दसारवरवीरपुरिसतेलोक्कबलवगाणं, सोमे सुभगे पियदंसणे सुरूवे पासादीए दरिसणीए अभिरूवे पडिरूवे। तस्स णं रेवयगस्स पव्वयस्स अदूरसामंते एत्थ णं नंदणवणे णामं उज्जाणे होत्था; सव्वओ य पुप्फफलसमिद्धे रम्मे णंदणवणप्पगासे पासादीए। तस्स णं उज्जाणस्स बहुमज्झदेसभाए सुरप्पिए णामं जक्खाययणे होत्था, दिव्वे वन्नओ। तत्थ णं बारवईए णगरीए कण्हे नामं वासुदेवे राया परिवसति। से णं तत्थ समुद्दविजयपामोक्खाणं दसण्हं दसाराणं बलदेवपामोक्खाणं पंचण्हं महावीराणं उग्गसेणपामोक्खाणं सोलसण्हं राईसहस्साणं पज्जुण्णपामोक्खाणं अद्धुट्ठाणं कुमारकोडीणं संबपामोक्खाणं सट्ठीणं दुद्दंतसाहस्सीणं वीरसेणपामोक्खाणं एकवीसाए वीरसहस्सीणं महासेणपामोक्खाणं छप्पन्नाए बलवगसाहस्सीणं रुप्पिणिपामोक्खाणं बत्तीसाए महिलासाहस्सीणं अणंगसेणपामोक्खाणं अणेगाणं गणियासाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं राईसरतलवर ०जाव सत्थवाहप्पभिईणं वेयड्ढगिरिसागरपेरंतस्स दाहिणड्ढभरहस्स य बारवईए णगरीए आहेवच्चं ०जाव पालेमाणे विहरति। तत्थ णं बारवतीए णयरीए थावच्चा णामं गाहावतिणी परिवसति। अड्ढा ०जाव अपरिभूया। तीसे णं थावच्चाए गाहावतिणीए पुत्ते 'थावच्चापुत्ते' णामं सत्थवाहदारए होत्था, सुकुमालपाणिपाए ०जाव सुरूवे। तए णं सा थावच्चा गाहावइणी तं दारगं साइरेगअट्ठवासमयं जाणित्ता सोहणंसि तिहिकरणणक्खत्तमुहुत्तंसि कलाऽऽयरियस्स उवणेति०जाव भोगसमत्थं जाणेत्ता बत्तीसाए बालियाणं एगदिवसेणं पाणिं गिण्हावेइ, बत्तीसाओ दाओ ०जाव बत्तीसाए इब्भकुलबालियाहिं सद्धिं विपुले सद्दफरिसरसरूवगंधे०जाव भुंजमाणे विहरति। तेणं कालेणं तेणं समएणं अरिहा अरिट्ठनेमी सो चेव वन्नओ-दसधणुस्सेहे नीलुप्पलगवलगुलियअयसीकुसुमप्पगासे अट्ठारसएहिं समणसाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे चत्तालीसं अज्जियासाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे ०जाव जेणेव बारवती णगरी जेणेव रेवयगे पव्वए जेणेव णंदणवणउज्जाणे जेणेव सुरप्पियस्स जक्खस्स जक्खायतणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति। परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ। तए णं से कण्हे वासुदेवे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सुहम्माए सभाए मेघोघरसियं गंभीरं महुरसद्दं कोमुईयं भेरिं तालेह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा ०जाव मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी-सामी! तह त्ति ०जाव पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता कण्हस्स वासुदेवस्स अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमइत्ता जेणेव सुहम्मा सभा जेणेव भेरी तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता तं मेघोघरसियगंभीरं महुरसद्दं कोमुईयं भेरिं तालेंति। ततो णिद्धमहुरगंभीरपडिसुएणं पि व सारइएणं बलाहएणमणुरसियं भेरीए। तए णं तीसे कोमुईयाए भेरीए तालियाए समाणीए बारवईए नयरीए नवजोयणवित्थिन्नाए दुवालसजोअणाऽऽयामाए संघाडगतिगचउक्कचच्चरकंदरदरीयविवरकुहरगिरिसिहरणगरगोपुरपासायदुवारभवणदेवकुलपडिसुयासयसहस्ससंकुलं सद्दं करेमाणा बारवइं नयरिं सब्भिंतरियबाहिरियं सव्वओ समंता से सद्दे विप्पसरित्था। तए णं तीसे बारवतीए नयरीए नवजोअणवित्थिन्नाए दुवालसजोअणाऽऽयामाए समुद्दविजयपामोक्खा दस दसारा० जाव गणियासहस्साए कोमुईयाए भेरीए सद्दं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा ०जाव ण्हाया आविद्धवग्घारियमल्लदामकलावा अहयवत्थचंदणोक्किण्णगायसरीरा अप्पेगइया हयगयरहसीयासंदमाणी अप्पेगइया पायविहारचारेणं पुरिसवग्गुरा परिक्खित्ता कण्हस्स वासुदेवस्स अंतियं पाउब्भवित्था। तए णं से कण्हे वासुदेवे समुद्दविजयपामोक्खे दस दसारे० जाव अंतियं पाउब्भवमाणे पासित्ता हट्ठतुट्ठे०जाव कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चाउरंगिणिं सेणं सज्जेह, विजयं च गंधहत्थिं च उवट्ठवेह। ते वि तहेव उवट्ठवेंति०जाव पज्जुवासंति। थावच्चापुत्ते वि णिग्गए, जहा मेहो तहेव धम्मं सोच्चा निसम्म जेणेव थावच्चा गाहावइणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पायग्गहणं करेति, जहा मेहस्स तहा चेव णिवेयणा, जाहे नो संचाएति विसयाणुलोमाहि य विसयपडिकूलाहि य बहूहिं आघवणाहि य पन्नवणाहि य विन्नवणाहि य सन्नवणाहि य आघवित्तए वा ४, ताहे अकामिया चेव थावच्चापुत्तस्स दारगस्स निक्खमणमणुमणित्था। तए णं सा थावच्चा गाहावइणी आसणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठेइत्ता महत्थं महग्घं महरिहं

रायारिहं पाहुडं गेण्हति, गेण्हित्ता मित्तणाइ० जाव संपरिवुडा जेणेव कण्हस्स वासुदेवस्स भवणवरपडिदुवारदेसभाए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता पडिहारदेसिएणं मग्गेणं जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता करयलं वद्धावेति, वद्धावेत्ता तं महग्घं महरिहं रायारिहं पाहुडं च उवणेति, उवणेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम एगे पुत्ते थावच्चापुत्ते णामं दारए इट्ठे कंते० जाव से णं संसारभउव्विग्गे इच्छति अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स० जाव पव्वइत्तए, अहं णं णिक्खमणसक्कारं करेमि, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! थावच्चापुत्तस्स णिक्खममाणस्स छत्तमउडचामराओ वि दिण्णाओ। तए णं से कण्हे वासुदेवे थावच्चागाहावइणिं एवं वयासी-अत्थाहि णं तुमं देवाणुप्पिया ! सुणिव्वुया वीसत्था, अहं णं सयमेव थावच्चापुत्तस्स दारगस्स निक्खमणसक्कारं करिस्सामि। तए णं से कण्हे वासुदेवे चाउरंगिणीए सेणाए विजयं हत्थिरयणं दुरूढे समाणे जेणेव थावच्चाए गाहावतिणीए भवणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता थावच्चापुत्तं एवं वयासी-मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! मुंडे भवित्ता पव्वाहि, भुंजाहि णं देवाणुप्पिया ! विपुले माणुस्सए कामभोगे ममं बाहुच्छायापरिग्गहिए, केवलं देवाणुप्पियस्स अहं नो संचाएमि वाउकायं उवरिमेणं गच्छमाणं निवारेत्तए, अण्णेणं देवाणुप्पियस्स जो किंचि वि आबाहं वा पबाहं वा उप्पाएइ, तं सव्वं निवारेमि । तए णं थावच्चापुत्ते कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ते समाणे कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-जइ णं तुमं देवाणुप्पिया ! ममं जीवियंतकरणं मच्चू एज्जमाणं निवारेसि, जरं वा सरीररूवं विणासिणिं सरीरं अइवयमाणिं णिवारेसि, तए णं अहं तव बाहुच्छायापरिग्गहिए विउले माणुस्सए कामभोगे भुंजमाणे विहरामि । तए णं से कण्हे वासुदेवे थावच्चापुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे थावच्चापुत्तं एवं वयासी-एए णं देवाणुप्पिया ! दुरतिक्कमणिज्जा णो खलु सक्का सुबलिएणावि देवेण वा दाणवेण वा णिवारेत्तए, णण्णत्थ अप्पणो कम्मक्खएणं । तए णं से थावच्चापुत्ते कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-जइ णं एए दुरतिक्कमणिज्जा णो खलु सक्का० जाव णण्णत्थ अप्पणो कम्मक्खएणं, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! अण्णाणमिच्छत्तअविरइकसायसंचियस्स अप्पणो कम्मक्खयं करित्तए । तए णं से कण्हे वासुदेवे थावच्चापुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुम्हे देवाणुप्पिया ! बारवईए णयरीए सिंघाडगतिगचउक्कचच्चर० जाव महापहेसु हत्थिखंधवरगया महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा उग्घोसणं करेह । एवं खलु देवाणुप्पिया ! थावच्चापुत्ते संसारभयउव्विग्गे भीए जम्मणजरामरणाणं इच्छति अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतिए मुंडे भवित्ता पव्वइत्तए। जो खलु देवाणुप्पिया ! राया वा जुवराया वा देवी वा कुमारे वा ईसरे वा तलवरे वा कोडुंबियपुरिसा माडंबियइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाहे वा थावच्चापुत्तं पव्वयंतमणुपव्वयति, तस्स णं कण्हे वासुदेवे अणुजाणति, पच्छाऽऽतुरस्स वि य से मित्तणाइजोगक्खेमं वट्टमाणी पडिवहति त्ति कट्टु घोसेणं घोसेह० जाव घोसंति। तए णं थावच्चापुत्तस्स अणुराएणं पुरिससहस्सं निक्खमणाभिमुहं ण्हायं सव्वालंकारविभूसियं पत्तेयं पत्तेयं पुरिससहस्सवाहिणीसु सिवियासु दुरूढं समाणं मित्तणातिपरिवुडं थावच्चापुत्तस्स अंतियं पाउब्भवित्था। तए णं से कण्हे वासुदेवे पुरिससहस्सं अंतियं पाउब्भवमाणं पासइ, पासइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-जहा मेहस्स निक्खमणाभिसेओ तहेव सीयपीएहिं कलसेहिं ण्हावेति, ण्हावेइत्ता तए णं से थावच्चापुत्ते सहस्सपुरिसेहिं सद्धिं सिवियाए दुरूढे समाणे० जाव रवेणं बारवईणयरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव अरहओ अरिट्ठनेमिस्स छत्तातिछत्तं पडागाइपडागं पासंति, पासंतित्ता विज्जाहरचारण० जाव पासित्ता सिवियाओ पच्चोरुहंति। तए णं से कण्हे वासुदेवे थावच्चापुत्तं पुरओ कट्टु जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी सव्वं तं चेव आभरणं। तए णं थावच्चा गाहावइणी हंसलक्खणेणं पडसाडएणं आभरणमल्लालंकारं पडिच्छइ, हारवारिधारछिन्नमुत्तावलिप्पगासाइं अंसूणि विणिम्मुयमाणी विणिम्मुयमाणी एवं वयासी-जइ अव्वं जाया ! घडियव्वं जाया ! परिक्कमियव्वं जाया ! अस्सिं च णं अट्ठे णो पमाएयव्वं, जामेव दिसिं पाउब्भूआ तामेव दिसिं पडिगया। तए णं से थावच्चापुत्ते पुरिससहस्सेणं सद्धिं सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति० जाव पव्वइए। तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारे जाए इरियासमिए भासासमिए एसणासमिए आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिए उच्चारपासवणखेलजल्लसंघाणपारिट्ठावणियासमिए। तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारे अरिहओ अरिट्ठनेमिस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ, बहूहिं० जाव चउत्थं विहरेइ। तए णं अरिहा अरिट्ठनेमी थावच्चापुत्तस्स अणगारस्स तं इब्भाइयं अणगारसहस्सं सीसत्ताए दलयति। तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारे अण्णया कयाइं अरहं अरिट्ठनेमिं वंदति, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे सहस्सेणं अणगारेणं सद्धिं बहिया

जणवयविहारं विहरित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया !। तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारसहस्सेणं सद्धिं तेणं उरालेणं उदग्गेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं बहिया जणवयविहारं विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं सेलगपुरे णामं णगरे होत्था। वण्णओ। तस्स णं सेलगपुरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए सुभूमिभागे णामं उज्जाणे होत्था। तस्स णं सेलगपुरस्स सेलए णामं राया होत्था, पउमावती देवी, मंडुए कुमारे जुवराया। तस्स णं सेलगस्स पंथगपामोक्खा णं पंच मंतिसया होत्था; चउव्विहाए बुद्धीए उववेए रज्जधुरचिंतए यावि होत्था. तए णं थावच्चापुत्ते णामं अणगारे सहस्सेणं अणगारेणं सद्धिं जेणेव सेलगपुरे जेणेव सुभूमिभागे णामं उज्जाणे तेणेव समोसढे। सेलए वि राया णिग्गए। धम्मो कहिओ। धम्मं सोच्चा जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे उग्गा भोगा ०जाव चइत्ता हिरण्णं विहरंति० जाव पव्वइए, तहा णं नो संचाएमि पव्वइत्तए। तओ णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वयं०जाव समणोवासए ०जाव अभिगयजीवाजीवे०जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति। पंथगपामोक्खा णं पंच मंतिसया समणोवासगा जाया। थावच्चापुत्ते बहिया जणवयविहारं विहरति। तेणं कालेणं तेणं समएणं सोगंधिया णामं णगरी होत्था। वण्णओ। नीलासोए उज्जाणे। वण्णओ। तत्थ णं सोगंधियाए णयरीए सुदंसणे णामं णगरसेट्ठी परिवसइ, अड्ढे० जाव अपरिभूए। तेणं कालेणं तेणं समएणं सुए णामं परिव्वायए होत्था, रिउव्वेय-जजुव्वेय-सामवेय-अथव्वणवेय-सट्ठितंतकुसले संखसमए लद्धट्ठे पंचजमपंचणियमजुत्तं सोयमूलयं दसप्पयारं परिव्वायगधम्मं दाणधम्मं च सोयधम्मं च तित्थाभिसेयं च आघवेमाणे पण्णवेमाणे धाउरत्तवत्थपरिहिए तिदंडकुंडियछत्तछण्णालियाअंकुसपवित्तियकेसरिहत्थगए परिव्वायगसहस्सेणं सद्धिं संपरिवुडे जेणेव सोगंधिया णयरी जेणेव परिव्वायगाऽऽवसहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता परिव्वायगाऽऽवसहंसि भंडणिक्खेवणं करेइ, करेइत्ता संखसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं सोगंधियाए सिंघाडगबहुजणो अण्णमण्णस्स एवं खलु सुए परिव्वायए इह हव्वमागते ०जाव विहरति। परिसा णिग्गया। सुदंसणे वि णिग्गए। तए णं से सुए परिव्वायए तीसे परिसाए सुदंसणस्स य अण्णेसिं च बहूणं संखाणं परिकहेइ। एवं खलु सुदंसणा ! अम्हं सोयमूलए धम्मे पण्णत्ते। से वि य सोए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-दव्वसोए य, भावसोए य। दव्वसोए य उदएणं, मट्टियाए य। भावसोए य दब्भेहि य, मंतेहि य।

जं णं अम्हं देवाणुप्पिया ! किंचि असुई भवति, तं सव्वं सज्जपुढवीए आलिंपति, तओ पच्छा सुद्धेण वारिणा पक्खालिज्जइ, तओ तं असुई सुई भवइ; एवं खलु जीवा जलाभिसेयपूयप्पाणो अविग्घेणं सग्गं गच्छंति। तए णं सुदंसणे सुयस्स अंतिए धम्मं सोच्चा हट्ठतुट्ठे सुयस्स अंतियं सोयमूलं धम्मं गिण्हेइ, गिण्हेइत्ता परिव्वायए विउलेणं असणपाणखाइमसाइमवत्थे पडिलाभेमाणे० जाव विहरइ। तए णं से सुए परिव्वायए सोगंधियाओ णयरीओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं थावच्चापुत्ते णामं अणगारे सहस्सेणं अणगारेणं सद्धिं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे जेणेव सोगंधिया णयरी जेणेव नीलासोए उज्जाणे तेणेव समोसढे। परिसा णिग्गया। सुदंसणे वि णिग्गए थावच्चापुत्तं णामं अणगारं आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं वयासी-तुम्हाणं किंमूलए धम्मे पण्णत्ते ?। तते णं थावच्चापुत्ते सुदंसणेणं एवं वुत्ते समाणे सुदंसणं एवं वयासी-सुदंसणा ! विणयमूले धम्मे पण्णत्ते। से वि य णं विणए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-आगारविणए य, अणगारविणए य। तत्थ णं जे से आगारविणए, से णं पंच अणुव्वयाइं, सत्त सिक्खावयाइं, एगारस उवासगपडिमाओ। तत्थ णं जे से अणगारविणए से णं पंच महव्वयाइं पण्णत्ताइं। तं जहा--सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं०जाव मिच्छादंसणसल्लाओ। दसविहे पच्चक्खाणे, बारस भिक्खुपडिमाओ। इच्चेएणं दुविहेणं विणयमूलेणं धम्मेणं आणुपुव्वेणं अट्ठ कम्मपयडीओ खवेत्ता लोयग्गपइट्ठाणे भवइ। तए णं थावच्चापुत्ते सुदंसणं एवं वयासी-तुब्भे णं सुदंसणा ! किंमूलए धम्मे पण्णत्ते ?। अम्हाणं देवाणुप्पिया ! सोयमूले धम्मे पण्णत्ते ०जाव सग्गं गच्छंति। तए णं थावच्चापुत्ते सुदंसणं एवं वयासी-सुदंसणा ! से जहानामए केइ पुरिसे एगं महं रुहिरकयं वत्थं रुहिरेणं चेव धोएज्जा, तए णं सुदंसणा ! तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेणं चेव पक्खालिज्जमाणस्स अत्थि सोही, नो इणट्ठे समट्ठे, एवामेव सुदंसणा ! तुब्भं पि पाणातिवाएणं ०जाव मिच्छादंसणसल्लेणं णत्थि सोही, जहा तस्स रुहिरकयवत्थस्स रुहिरेणं चेव पक्खालिज्जमाणस्स णत्थि सोही। सुदंसणा ! से जहाणामए केइ पुरिसे एगं महं रुहिरकयवत्थं सज्जियक्खारेणं अणुलिंपइ, अणुलिंपइत्ता पय-

णं* आरुहेति, उण्हं गाहेति, उण्हं गाहेत्ता तओ पच्छा सुद्धेणं वारिणा धोवेज्जा, से णूणं सुदंसणा ! तस्स रुहिरकयवत्थस्स सज्जियाखारेणं अणुलित्तस्स पयणं आरुहियस्स उण्हं गाहियस्स सुद्धेणं वारिणा पक्खालिज्जमाणस्स सोही जवइ ?। हंता जवइ। एवामेव सुदंसणा ! अम्हं पि पाणाइवायवेरमणेणं ०जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं अत्थि सोही, जहा वि तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स०जाव सुद्धेणं वारिणा पक्खालिज्जमाणस्स अत्थि सोही। तत्थ णं सुदंसणे संबुद्धे थावच्चापुत्तं वंदति, णमंसति, णमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं जंते ! धम्मं सोच्चा जाणित्तए० जाव समणोवासए० जाव अहिगयजीवाजीवे ०जाव पडिलाजेमाणे विहरति। तए णं तस्स सुयस्स परिव्वायगस्स इमीसे कहाए लद्धट्ठस्स समाणस्स अयमेयारूवे०जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु सुदंसणेणं सोयमूलं धम्मं विप्पजहाय विणयमूले धम्मे पडिवन्ने, तं सेयं खलु ममं सुदंसणस्स दिट्ठिं वामेत्तए, पुणरवि सोयमूले धम्मे आघवित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेतित्ता परिव्वायगसहस्सेणं सद्धिं जेणेव सोगंधिया णयरी जेणेव परिव्वायगावसहे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता परिव्वायगाऽऽवसहंसि भंडगनिक्खेवणं करेति, करेइत्ता धाउरत्तवत्थपरिहिए पविरलपरिव्वायगसद्धिं संपरिवुडे परिव्वायगाऽऽवसहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता सोगंधियाए णयरीए मज्झं मज्झेणं जेणेव सुदंसणस्स गिहे जेणेव सुदंसणे तेणेव उवागच्छइ। तए णं से सुदंसणे तं सुयं एज्जमाणं पासति, पासइत्ता नो अब्भुट्ठेति, नो पच्चुग्गच्छति, नो आढाति, नो परियाणाइ, नो वंदति, तुसिणीए संचिट्ठति। तए णं से सुए परिव्वायगे सुदंसणं अणब्भुट्ठियं पासेत्ता एवं वयासी-तुमे णं सुदंसणा ! अण्णया ममं एज्जमाणं पासेत्ता अब्भुट्ठेसि०जाव वंदसि, इयाणिं सुदंसणा ! तुमं ममं एज्जमाणं पासेत्ता०जाव नो वंदइ, तं कस्स णं तुमे सुदंसणा ! इमेयारूवे विणयमूले धम्मे पडिवन्ने ?। तए णं सुदंसणे सुएणं परिव्वायएणं एवं वुत्ते समाणे आसणाओ अब्भुट्ठेइ, करयल० सुयं परिव्वायगं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतेवासी थावच्चापुत्ते णामं अणगारे ०जाव इहमागए, इह चेव नीलासोए उज्जाणे विहरइ, तस्स णं अंतिए विणयमूले धम्मे पडिवन्ने। तए णं से सुए परिव्वायए सुदंसणं एवं वयासी-तं गच्छामो णं सुदंसणा ! तव धम्मायरियस्स थावच्चापुत्तस्स अंतियं पाउब्भवामो, इमं च णं एयारूवाइं अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छामो, तं जइ णं मे से एयाइं अट्ठाइं०जाव वागरेति, ततो णं अहं वंदामि, णमंसामि, अह मे से इमाइं अट्ठाइं० जाव नो वागरेइ, तते णं अहं एएहिं चेव अट्ठेहिं हेऊहिं निप्पट्ठपसिणवागरणं करिस्सामि। तए णं से सुए परिव्वायगसहस्सेणं सुदंसणेण य सेट्ठिणा सद्धिं जेणेव नीलासोए उज्जाणे जेणेव थावच्चापुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता थावच्चापुत्तं एवं वयासी-जत्ता ते जंते !, जवणिज्जं, अव्वाबाहं, फासुयं विहारं ?। तए णं थावच्चापुत्ते सुएणं एवं वुत्ते समाणे सुयं परिव्वायं एवं वयासी-सुया ! जत्ता वि मे, जवणिज्जं वि मे, अव्वाबाहं पि मे, फासुयं विहारं पि मे। तए णं से सुए थावच्चापुत्तं एवं वयासी-से किं तं भंते ! जत्ता ?। सुया ! जं णं मम णाणदंसणचारित्ततवसंजममाइएहिं जोएहिं जोयणा सेयं जत्ता। से किं तं भंते ! जवणिज्जं ?। सुया ! जवणिज्जे दुविहे पन्नत्ते। तं जहा-इंदियजवणिज्जे य, नोइंदियजवणिज्जे य। से किं तं इंदियजवणिज्जं ?। सुया ! जं णं मम सोइंदियचक्खिंदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं निरुवहयाइं वसे वट्टंति से तं इंदियजवणिज्जे। से किं तं णोइंदियजवणिज्जे ?। सुया ! जं णं कोहमाणमायालोभा खीणा उवसंता नो उदयंति से तं नोइंदियजवणिज्जे। से किं तं जंते ! अव्वाबाहं ?। सुया ! जं णं मम वाइयपित्तियसिंभियसन्निवाइयविविहरोगायंका णो उदीरेंति से तं अव्वाबाहं। से किं तं भंते ! फासुयविहारं ?। सुया ! जं णं आरामेसु उज्जाणेसु देवउलेसु सभासु पवासु इत्थीपसुपंडगविवज्जियासु वसहीसु पाडिहारियं पीढफलगसिज्जासंथारगं ओगिण्हित्ता णं विहरामि से तं फासुयं विहारं॥ सरिसवया ते भंते ! किं जक्खेया, अभक्खेया ?। सुया ! सरिसवया जक्खेया वि, अभक्खेया वि। से केणट्ठेणं जंते ! एवं वुच्चइ-सरिसवया जक्खेया वि, अभक्खेया वि ?। सुया ! सरिसवया दुविहा पन्नत्ता। तं जहा-मित्तसरिसवया, धन्नसरिसवया। तत्थ णं जे ते मित्तसरिसवया ते तिविहा पन्नत्ता। तं जहा-सहजायया, सहवड्डिया, सहपंसुकीलिया य, ते णं समणाणं निग्गंथाणं णिग्गंथीणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते धन्नसरिसवया ते दुविहा पन्नत्ता। तं जहा-सत्थपरिणया य, असत्थपरिणया य। तत्थ णं जे ते असत्थपरिणया ते समणाणं णिग्गंथाणं अजक्खेया। तत्थ णं जे ते सत्थपरिणया ते दुविहा पन्नत्ता। तं जहा-फासुया य, अफासुया य। तत्थ णं जे अफासुया ते सुया ! नो जक्खेया। तत्थ णं जे ते फासुया ते दुविहा पन्नत्ता। तं जहा-जाइया य, अजाइया य। तत्थ णं जे ते अजाइया ते अभक्खेया। तत्थ णं जे ते जाइया ते दुविहा पन्नत्ता। तं जहा-एसणिज्जा य, अणेसणिज्जा य। तत्थ णं जे ते अणेसणिज्जा ते णं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते एसणिज्जा ते दुविहा पन्नत्ता। तं जहा-लद्धा य,

* शुल्कथुपरि ।

अलद्धा य । तत्थ णं जे अलद्धा ते अभक्खेया । तत्थ णं जे लद्धा ते निग्गंथाणं भक्खेया । एएणं अट्ठेणं सुया ! एवं वुच्चइ-सरिसवया भक्खेया वि, अभक्खेया वि । एवं कुलत्था वि भाणियव्वा । नवरं इमं णाणत्तं-इत्थिकुलत्था य, धण्णकुलत्था य । इत्थिकुलत्था तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-कुलवधूया य, कुलमाउया य, कुलधूया य । धण्णकुलत्था तहेव । एवं मासा वि । नवरं इमं णाणत्तं-मासा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-कालमासा य, अत्थमासा य, धण्णमासा य । तत्थ णं जे ते कालमासा ते णं दुवालसविहा पण्णत्ता । तं जहा-सावणे०जाव आसाढे । ते णं अभक्खेया । अत्थमासा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-हिरण्णमासा य, सुवण्णमासा य । ते णं अभक्खेया । धण्णमासा तहेव ॥ एगे भवं, दुवे भवं, अणेगे भवं, अक्खए भवं, अव्वए भवं, अवट्ठिए भवं, अणेगभूयभावभविए भवं ? । सुया ! एगे वि अहं, दुवे वि अहं ०जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-एगे वि अहं ०जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं ? । सुया ! दव्वट्ठयाए एगे अहं, णाणदंसणट्ठयाए दुवे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, अवट्ठिए वि अहं, उवओगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं । एत्थ णं से सुए संबुद्धे । तए णं थावच्चापुत्तं अणगारं वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए केवलिपण्णत्तं धम्मं निसामित्तए । धम्मकहा भाणियव्वा । तए णं से सुए परिव्वायए थावच्चापुत्तस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! परिव्वायगसहस्सेणं सद्धिं संपरिवुडे देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता पव्वइत्तए ? । अहासुहं देवाणुप्पिया ! । तओ उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए तिदंडयाओ० जाव धाउरत्ताओ य एगंते एडेति, एडेइत्ता सयमेव सिहं उप्पाडेति, उप्पाडेइत्ता जेणेव थावच्चापुत्ते ०जाव मुंडे भवित्ता ०जाव पव्वइए, सामाइयमाइयाइं चउद्दस पुव्वाइं अहिज्जति । तए णं थावच्चापुत्ते सुयस्स अणगारसहस्सं सीसत्ताए विहरति । तए णं थावच्चापुत्ते सोगंधियाओ नीलासोयाओ उज्जाणाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ । तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारसहस्सेणं सद्धिं संपरिवुडे जेणेव पुंडरीए पव्वए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पुंडरीयं पव्वयं सणियं सणियं दुरूहति, दुरूहतित्ता मेघघणसन्निगासं देवसन्निवायपुढवीसिलापट्टयं ०जाव पाओवगमणं समणुपन्ने । तए णं से थावच्चापुत्ते णामं अणगारे बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए ०जाव केवलवरनाणदंसणं समुप्पाडेत्ता तओ पच्छा सिद्धे बुद्धे ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे । तए णं से सुए अण्णया कयाइ जेणेव सेलगपुरे णगरे जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे तेणेव समोसरिए । परिसा णिग्गया । सेलओ वि णिग्गओ, धम्मं सोच्चा० जाव देवाणुप्पिया ! पंथगपामोक्खाइं पंचमंतिसयाइं आपुच्छामि, मंडुअं कुमारं रज्जे ठावेमि, तओ पच्छा देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वयामि ? । अहासुहं देवाणुप्पिया ! । तए णं से सेलए राया सेलगपुरं णगरं मज्झं मज्झेणं अणुप्पविसइ, जेणेव सए गेहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सीहासणे सण्णिसण्णे । तए णं से सेलए राया पंथयपामोक्खे पंचमंतिसए सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए सुयस्स अंतिए धम्मे निसंते, से वि य मे धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए, अहं णं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गे ०जाव पव्वयामि, तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! किं करेह, किं वसह, किं वा ते हियइच्छिए सामत्थे ? । तए णं ते पंथगपामोक्खा पंचमंतिसया सेलयं रायं एवं वयासी-जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! संसार ०जाव पव्वयह, अम्हाणं देवाणुप्पिया ! किं अण्णे आहारे वा, आलंबे वा । अम्हे वि य णं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गा ०जाव पव्वयामो । जहा णं देवाणुप्पिया ! अम्हं बहुसु कज्जेसु य कारणेसु य ०जाव तहा णं पव्वइयाण वि समणाणं बहुसु० जाव चक्खू । तए णं से सेलए राया पंथयपामुक्खे पंच मंतिसए एवं वयासी-जइ णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे संसारभयउव्विग्गा ०जाव पव्वयह, तं गच्छह णं देवाणुप्पिया ! सएसु सएसु कोडुंबेसु जेट्ठपुत्ते कुडुंबमज्झे ठावेत्ता पुरिससहस्सवाहिणीयाओ सीयाओ दुरूढा समाणा मम अंतियं पाउब्भवह । ते वि तहेव पाउब्भवंति । तए णं से सेलए राया पंचमंतिसयाइं पाउब्भवमाणाइं पासति, पासइत्ता हट्ठतुट्ठे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! मंडुयस्स कुमारस्स महत्थं० जाव रायाभिसेयं उवट्ठवेह, ०जाव अभिसिंचंति, ०जाव राया जाए विहरइ । तए णं से सेलए राया मंडुयं आपुच्छति । तए णं से मंडुए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव सेलगपुरं नगरं आसियं ०जाव गंधवट्टिभूयं करेह, कारवेह य, एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । तए णं से मंडुए राया दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव सेलयस्स रण्णो महत्थं ०जाव निक्खमणाभिसेयं, जहा मेहस्स तहेव, नवरं पउमावती

देवी अग्गकेसे पडिच्छइ; सव्वे वि पडिग्गहं गहाय सीयं दुरूहंति, अवसेसं तहेव०जाव सामाइयमाइयाइं इक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, बहूहिं चउत्थ०जाव विहरइ। तए णं से सुए सेलगस्स अणगारस्स ताइं पंथगपामुक्खाइं पंच अणगारसयाइं सीसत्ताए वियरइ। तए णं से सुए अणगारे अन्नया कयाइं सेलगपुराओ सुभूमिभागाओ उज्जाणाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ। तए णं से सुए अणगारे अन्नया कयाइ तेणं अणगारसहस्सेणं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं विहरमाणे जेणेव पुंडरीए पव्वए ०जाव सिद्धा बुद्धा मुत्ता अंतगडा। तए णं तस्स सेलगस्स रायरिसिस्स तेहिं अंतेहि य पंतेहि य तुच्छेहि य लूहेहि य अरसेहि य विरसेहि य सीएहि य उण्हेहि य कालाइक्कंतेहि य पमाणाइक्कंतेहि य णिच्चं पाणभोयणेहि य पयइसुकुमालस्स य सुहोचियस्स सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूया उज्जला० जाव दुरहियासा, कंडूदाहपित्तजरपरिगयसरीरे०जाव विहरइ। तए णं से सेलए रायरिसिए तेणं रोगायंकेणं सुक्के किसे जाए यावि होत्था। तए णं से सेलए रायरिसी अन्नया कयाइं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे०जाव जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे तेणेव विहरइ। परिसा णिग्गया। मंडुओ वि राया णिग्गओ, सेलयं अणगारं वंदति, नमंसति, पज्जुवासति। तए णं से मंडुए राया सेलयस्स अणगारस्स सरीरयं सुक्कं भुक्खं लुक्खं० जाव सव्वाबाहं सरोगं पासइ, पासइत्ता एवं वयासी—अहं णं भंते! तुब्भं अहापवत्तेहिं तिगिच्छिएहिं अहापवत्तेणं ओसहभेसज्जभत्तपाणेणं तिगिच्छं आउट्टावेमि, तुब्भे णं भंते! मम जाणसालासु समोसरह, फासुयं एसणिज्जं पीढफलगसिज्जासंथारयं ओगिण्हित्ता णं विहरह। तए णं से सेलए अणगारे मंडुयस्स रण्णो एयमट्ठं 'तह' त्ति पडिसुणेइ। तए णं से मंडुए राया सेलयं रायरिसिं वंदति, णमंसति, णमंसइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तए णं सेलए रायरिसी कल्लं०जाव जलंते सभंडमत्तोवगरणमायाए पंथगपामोक्खेहिं पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं सेलगपुरमणुपविसति, जेणेव मंडुयस्स रण्णो जाणसालाओ तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता फासुयं पीढं०जाव विहरइ। तए णं से मंडुए राया तिगिच्छिए सद्दावेति, सद्दावित्ता एवं वयासी—तुब्भे णं देवाणुप्पिया! सेलयस्स रायरिसिस्स फासुयं एसणिज्जं०जाव तिगिच्छं आउट्टेह। तए णं ते तिगिच्छिया मंडुएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा सेलयस्स रायरिसिस्स अहापवत्तेहिं ओसहभेसज्जभत्तपाणेहिं तिगिच्छं आउट्टेंति, मज्जपाणयं च उवदिसंति। तए णं तस्स सेलयस्स अहापवत्तेहिं० जाव मज्जपाणएण य से रोगायंके उवसंते यावि होत्था, हट्ठे० जाव बलियसरीरे जाए ववगयरोगायंके। तए णं से सेलए तंसि रोगायंकंसि उवसंतंसि समाणंसि तंसि विउले असणं पाणं खाइमं साइमं मज्जपाणए य मुच्छिए गढिए गिद्धे अज्झोववन्ने पासत्थे पासत्थविहारी ओसण्णे ओसण्णविहारी कुसीले कुसीलविहारी पमत्ते पमत्तविहारी संसत्ते संसत्तविहारी उउबद्धपीढफलगसेज्जासंथारए पमत्ते यावि होत्था, नो संचाएति फासुयं एसणिज्जं पीढफलगं पच्चप्पिणित्ता मंडुयं च रायं आपुच्छित्ता बहिया जणवयविहारं विहरित्तए। तए णं तेसिं पंथगवज्जाणं पंचण्हं अणगारसयाणं अण्णया कयाइं एगओ सहियाणं० जाव पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणाणं अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था। एवं खलु सेलए रायरिसी चइत्ता रज्जं० जाव पव्वइए, विउले णं असणं पाणं खाइमं साइमं मज्जपाणए मुच्छिए नो संचाएति०जाव विहरित्तए, नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया! समणाणं०जाव पमत्ताणं विहरित्तए, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं कल्लं सेलयं रायरिसिं आपुच्छित्ता पाडिहारियं पीढफलगसिज्जासंथारयं पच्चप्पिणित्ता सेलयस्स अणगारस्स पंथयं अणगारं वेयावच्चकरं ठवित्ता बहिया अब्भुज्जएणं० जाव विहरित्तए, एवं संपेहइ, कल्लं जेणेव सेलए रायरिसी तेणेव उवागच्छित्ता सेलयं आपुच्छित्ता पाडिहारियं पीढफलग० जाव पच्चप्पिणंति, पंथयं अणगारं वेयावच्चकरं ठावेंति, बहिया० जाव विहरंति। तए णं से पंथए अणगारे सेलयस्स रायरिसिस्स सेज्जासंथारउच्चारपासवणखेलसंघाणमत्तओसहभेसज्जभत्तपाणएणं अगिलाणविणएणं वेयावडियं करेति। तए णं से सेलए रायरिसी अन्नया कयाइं कत्तियचाउम्मासियंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं आहारमाहारिए सुबहुं च मज्जपाणयं पीए पुव्वावरण्हकालसमयंसि सुहप्पसुत्ते। तए णं से पंथए कत्तियचाउम्मासियंसि कयकाउस्सग्गे देवसियं पडिक्कमणं पडिक्कंते चाउम्मासियं पडिक्कमणं काउं कामे सेलयं रायरिसिं खामणट्ठयाए सीसेणं पाएसु संघट्टेति। तए णं से सेलए रायरिसी पंथएणं सीसेणं पाएसु संघट्टिए समाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता एवं वयासी—से केस णं भो! एस अपत्थियपत्थिए०जाव परिवज्जिए, जेणं मम सुहपसुत्तं पाए संघट्टेति?। तए णं पंथए अणगारे सेलएणं एवं वुत्ते समाणे भीए तत्थे तसिए करयल० जाव कट्टु एवं वयासी—अहं णं भंते! पंथए सिस्से कयकाउ-

स्सग्गे देवसियं पडिक्कमणं पडिक्कंते चाउम्मासियं खामे-माणे देवाणुप्पियं वंदमाणे सीसे णं पाएसु संघट्टेमि, तं खमंतु मं देवाणुप्पिया ! णाइ भुज्जो भुज्जो एवं करणयाए त्ति कट्टु सेलयं अणगारं एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेति । तए णं तस्स सेलयस्स रायरिसिस्स पंथएणं अणगारेणं एवं वुत्तस्स अयमेयारूवे० जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं रज्जं च० जाव ओसन्न० जाव उउबद्धपीढ०विहरामि, तं खलु णो कप्पइ समणाणं पासत्थाणं० जाव विहरित्तए, तं सेयं खलु कल्लं मंडुयं रायं आपुच्छित्ता पाडिहारियं पीढफलगसेज्जासंथारयं पच्चप्पिणित्ता पंथएणं अणगारेणं सद्धिं बहिया अब्भुज्जएणं० जाव जणवयविहारं विहरित्तए, एवं संपेहेति, संपेहेइत्ता कल्लं ० जाव विहरइ । एवामेव समणाउसो !० जाव णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा ओसन्नो० जाव संथारए पमत्ते विहरइ, से णं इहलोए चेव बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं हीलणिज्जे संसारो जाणियव्वो । तए णं ते पंथगवज्जा पंच अणगारसया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा अण्णमण्णं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-सेलए रायरिसी पंथएणं बहिया० जाव विहरइ । तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं सेलयं रायरिसिं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, एवं संपेहेंति, संपेहेइत्ता सेलयं रायरिसिं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति । तए णं ते सेलयपामोक्खा पंच अणगारसया बहूणि वासाणि सामण्णपरियायं पाउणित्ता जेणेव पुंडरीए पव्वए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जहेव थावच्चापुत्ते तहेव सिद्धा । एवामेव समणाउसो ! जो निग्गंथो वा णिग्गंथी वा० जाव विहरइ । ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

(धणवइमइनिम्माय त्ति) धनपतिर्वैश्रवणः, तन्मत्या निर्मापिता निरूपिता, अलकापुरी वैश्रवणयक्षपुरी, प्रमुदितप्रक्रीडिता, तद्वासिजनानां प्रमुदितप्रक्रीडितत्वात् । रैवतक उज्जयन्तः (चक्कवाय त्ति) चक्रवाकः (मयणसार त्ति) मदनसारिका, अनेकानि तटानि कटकाश्च गण्डशैला यत्र स तथा । (विवर त्ति) विवराणि च, अवझराश्च निर्झरविशेषाः, प्रपाताश्च भृगवः, प्राग्भाराश्च ईषदवनता गिरिदेशाः, शिखराणि च कूटानि प्रचुराणि यत्र स तथा; ततः कर्मधारयः । अप्सरोगणैर्देवसङ्घैः, चारणैर्जङ्घाचारणाऽऽदिभिः साधुविशेषैर्विद्याधरमिथुनैश्च (संविकिन्न त्ति) संकीर्ण आसेवितो यः स तथा । नित्यं सर्वदा क्षणा उत्सवा यत्राऽसौ नित्यक्षणिकः । केषामित्याह-दशाराः समुद्रविजयाऽऽदयः, तेषु मध्ये वराश्च एव वीरा धीरपुरुषा ये ते तथा । (तेलोक्कबलवगाणं) त्रैलोक्यादपि बलवन्तोऽतुलबलिनेमिनाथयुक्तत्वाद् ये ते तथा, ते च ते च तेषाम् । (बत्तीसाओ दाओ) द्वात्रिंशत्प्रासादाः, द्वात्रिंशत्सुवर्णकोट्यः, द्वात्रिंशद्धिरण्यकोट्य

इत्यादिको दायो दानं वाच्यः, यथा मेघकुमारस्य । (सो चेव गमओ त्ति) " आइगरे तित्थगरे " इत्यादिर्यो महावीरस्य अभिहितः (गवल त्ति) महिषशृङ्गं, गुलिका नीली, गवलस्य वा गुलिका गवलगुलिका । अतसी मालवकप्रसिद्धो धान्यविशेषः । (कोमुइयं ति) तत्सम्बन्धाम् । कौबस्सामुदायिकीमिति पाठः । तत्र सामुदायिकी जनमीलकप्रयोजना । (सिद्धमहुरगंभीरपडिसुयएणं पि य त्ति) स्निग्धमधुरगम्भीरं प्रतिश्रुतं प्रतिशब्दो यस्य स तथा, तेनैव । केनेत्याह-शारदिकेन शरत्कालजातेन, बलाहकेन मेघेन रसितं शब्दायितं भेर्या । शृङ्गाटकाऽऽदीनि प्राग्वत् । गोपुरं नगरद्वारं, प्रासादो राजगृहं, द्वाराणि प्रतीतानि, भवनानि गृहाणि, देवकुलानि प्रतीतानि, तेषु याः (पडिंसुय त्ति) प्रतिश्रुतः प्रतिशब्दः, तासां यानि शतसहस्राणि लक्षाः, तैः संकुला या सा तथा, तां कुर्वन् । कामित्याह-द्वारकां द्वारवतीं नगरीं, कथंभूतामित्याह-(सब्भितरबाहिरियं ति) सहाभ्यन्तरेण मध्यभागेन, बाहिरिकया च प्राकाराद्बहिर्नगरदेशेन या साभ्यन्तरबाहिरिका, ताम् । (से इति) स भेरीसम्बन्धी शब्दः (विप्पसरित्थ त्ति) विप्रासरत् । (पामोक्खा इति) प्रमुखाः (आविद्धवग्घारियमल्लदामकलाव त्ति) परिहितप्रलम्बपुष्पमालासमूहा इत्यादिवर्णकः प्राग्वत् । (पुरिसवग्गुरा परिक्खित्ता) वागुरा मृगबन्धनं, वागुरेव वागुरा समुदायः । (नन्नत्थ अप्पणो कम्मक्खयं ति) न इति यदेतन्मरणाऽऽदिवारणशक्तेर्निषेधनं, तदन्यत्राऽऽत्मनः कृतात् । आत्मनो वा संबन्धिनः कर्मक्षयात्, आत्मना क्रियमाणमात्मीयं वा कर्मक्षयं, वर्जयित्वेत्यर्थः । आत्मनेत्यादौ (अत्ताणो अप्पणो वा कम्मक्खयं करित्तए त्ति) कर्मणि इह षष्ठी द्रष्टव्या । (पच्छाऽऽउरस्स इत्यादि) पश्चादस्मिन् राजाऽऽदौ प्रव्रजिते सति आतुरस्यापि च द्रव्याऽऽद्यभावाद् दुःस्थस्य 'से' तस्य, तदीयस्येत्यर्थः । मित्रज्ञातिनिजकसंबन्धिपरिजनस्य, योगक्षेमवार्तमानीं प्रतिवहति । तत्रालब्धस्येप्सितस्यैव वस्तुनो लाभो योगः, लब्धस्य परिपालनं क्षेमः, ताभ्यां वर्तमानकालभवा वार्तमानी योगक्षेमवार्तमानी, तां-निर्वाहं, राजा करोतीति तात्पर्यम् । (इति कट्टु) इति कृत्वा इतिहेतोरेवंरूपामेव घोषणां घोषयत कुरुत । (पुरिससहस्समित्यादि) इह पुरुषसहस्रं स्नाताऽऽदिविशेषणम् । स्थापत्यापुत्रस्यान्तिके प्रादुर्भूतमिति संबन्धः । (विज्जाहरचारणे त्ति) " इह जंभए य देवे उववमाणे " इत्यादि द्रष्टव्यम् । एवमन्यदपि मेघकुमारचरितानुसारेण पूर्ववदेतद् व्याख्यातव्यमिति । (इरियासमिए इत्यादि) (एसणासमिए आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिए) आदानेन ग्रहणेन सह भाण्डमात्राया उपकरणलक्षणपरिच्छदस्य या निक्षेपणा मोचनं तस्यां समितः सम्यक्प्रवृत्तिमान् (उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणपारिट्ठावणियासमिए) उच्चारः पुरीषं, प्रस्रवणं मूत्रं, खेलो निष्ठीवनं, सिंघाणो नासामलः, जल्लः शरीरमलः । इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-" मणसमिए वयसमिए कायसमिए । " चित्ताऽऽदीनां कुशलानां प्रवर्तक इत्यर्थः । " मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते " चित्ताऽऽदीनामशुभानां निषेधकः । एतदेवाऽऽह-" गुत्ते । " योगापेक्षया " गुत्तिंदिए । " इन्द्रियाणां विषयेष्वसत्प्रवृत्तिनिरोधात् । " गुत्तबंभचारी । " वसत्यादिनवब्रह्मचर्यगुप्तियोगात् । " अकोहे ४ । " कथमित्यत आह-" संते । " सौम्यमूर्तित्वात् । " पसंते । " कषायोदयस्य विफलीकरणात् ।

"उवसंते।" कषायोदयाभावात् । "परिनिव्वुडे।" स्वास्थ्यातिरेकात्। "अणासवे।" हिंसाऽऽदिनिवृत्तेः । "अममे।" ममेत्युल्लेखस्याभिष्वङ्गतोऽसद्भावात् । "अकिंचणे।" निर्द्रव्यत्वात् । "छिन्नगंथे।" मिथ्यात्वाऽऽदिभावग्रन्थिच्छेदात् । "निरुवलेवे।" तथाविधबन्धहेतुत्वाभावेन तथाविधकर्मानुपादानात् । एतदेवोपमाभिरुच्यते-"कंसपाई व मुक्कतोए।" बन्धहेतुत्वेन तोयाऽऽकारस्य स्नेहस्याभावात् । "संखो इव निरंजणे।" रञ्जनस्य रागस्य कर्तुमशक्यत्वात् । "जीवो विव अप्पडिहयगई।" सर्वत्रौचित्येनास्खलितविहारित्वात् । "गगणमिव निरालंबणे।" देशग्रामकुलाऽऽदीनामनालम्बकत्वात् ।"वायुरिव अप्पडिबद्धे।" क्षेत्राऽऽदौ प्रतिबन्धाभावेनौचित्येन सततविहारित्वात् । "सारयसलिलं व सुद्धहियए।" कषायकलुषतावर्जनात् । "पुक्खरपत्तं पि व निरुवलेवे।" पद्मपत्रमिव भोगाभिलाषलेपाभावात् । "कुम्मो इव गुत्तिंदिए।" कूर्मः कच्छपः । "खग्गविसाणं व एगजाए।" खड्ग आरण्यः पशुविशेषः,तस्य विषाणं शृङ्गं, तदेकं भवति, तद्वदेको जातो योऽसङ्गत्वतः सहायत्यागेन स तथा। "विहग इव विप्पमुक्के।" आलयाप्रतिबन्धेन। "भारंडपक्खी व अप्पमत्ते।" भारण्डपक्षिणो हि-"एकोदराः पृथग्ग्रीवाः,अन्योऽन्यफलभक्षिणः।प्रमत्ता इव नश्यन्ति, यथा भारण्डपक्षिणः ॥ १ ॥" जीवद्वयरूपा भवन्ति, ते च सर्वदा चकितचित्ता भवन्ति इति । "कुंजरो इव सोंडीरे।" कर्मशत्रुसैन्यं प्रति शूर इत्यर्थः। "वसभो इव जायथामे।" आरोपितमहाव्रतभारवहनं प्रति जातबलो, निर्वाहकत्वात् । "सीहो इव दुद्धरिसे।" दुर्धर्षणीय उपसर्गमृगैः।"मंदरो इव निप्पकंपे" परीषहपवनैः। "सागरो इव गंभीरे।" अतुच्छचित्तत्वात् । "चंदो इव सोमलेस्से।" शुभपरिणामित्वात् । "सूरो इव दित्ततेए।" परेषां क्षोभकत्वात् ।"जच्चकंचणं व जायरूवे।" अपगतदोषलक्षणकुद्रव्यत्वेनोत्पन्नस्वस्वभावः। "वसुंधरा इव सव्वफाससहे" पृथ्वीवत् शीताऽऽतपाऽऽद्यनेकविधस्पर्शक्षमः। "सुहुयहुयासणो व्व तेयसा जलंते" घृताऽऽदितर्पितवैश्वानरवत् प्रभया दीप्यमानः। "नत्थि णं तस्स भगवंतस्स कत्थइ पडिबंधो भवइ" नास्त्ययं पक्षो यदुत तस्य कुत्रापि प्रतिबन्धो भवति। "से य पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा-दव्वओ, खित्तओ,कालओ,भावओ। दव्वओ-सचित्ताचित्तमीसेसु। खित्तओ गामे वा नगरे वाऽरण्णे वा खले वा घरे वा अंगणे वा।" खलं धान्यमलनाऽऽदिस्थण्डिलम्।"कालओ समए वा आवलियाए वा।" असंख्यातसमयरूपायाम् । "आणापाणुए वा।" उच्छ्वासनिःश्वासकाले "थोवे वा" सप्त प्राणरूपे "खणे वा" बहुतरोच्छ्वासरूपे वा "लवे" सप्तस्तोकरूपे वा।"मुहुत्ते वा" लवसप्तसप्ततिरूपे "अहोरत्ते वा पक्खे वा मासे वा अयणे वा।" दक्षिणायनेतररूपे प्रत्येकं षण्मासप्रमाणे, संवत्सरे वा "अन्नतरे वा दीहकालसंजोए" युगाऽऽदौ "भावओ कोहे वा माणे वा माए वा लोहे वा भए वा हासे वा।" हास्ये हर्षे वा। "एवं तस्स न भवइ।" एवमनेकधा तस्य प्रतिबन्धो न भवति। "से णं भगवं वासीचंदणकप्पे।" वास्यां चन्दनकल्पो यः स तथा। अपकारिणोऽप्युपकारकारीत्यर्थः। वासीवाऽऽकृष्टे,तनप्रवृत्तं चन्दनं कल्पयति यः स तथा। "समतिणमणिलेट्ठुकंचणे समसुहदुक्खे" समानि उपेक्षणीयतया तृणाऽऽदीनि यस्य स तथा। "इहलोयपरलोयअप्पडिबद्धे जीवियमरणनिरवकंखे संसारपारगामी कम्मसत्तुनिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिए एवं च णं विहरइ त्ति।" एवमीर्यासमित्यादिगुणयोगेनेति ।

(पंचाणुव्वइयं) इह यावत्करणादेवं दृश्यम्-"सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं काहिसि। तए णं से सेलए राया थावच्चापुत्तस्स अणगारस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं० जाव उवसंपज्जइ। तए णं से सेलए राया समणोवासए जाए"(अभिगयजीवाजीवे) इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"उवलद्धपुण्णपावे आसवसंवरनिज्जरकिरियाहिगरणबंधमोक्खकुसले।" क्रिया कायिक्यादिका,अधिकरणं खड्गनिर्वर्त्तनाऽऽदि। एतेन च ज्ञानितोक्ता। "असहेज्जे।" अविद्यमानसहायः, कुतीर्थिकप्रेरितः सम्यक्त्वाऽऽविचलनं प्रति न परसाहाय्यमपेक्षते इति भावः। अत एवाऽऽह-"देवासुरनागजक्खरक्खसकिंनरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जे" देवा वैमानिका ज्योतिष्काः,शेषा भवनपतिव्यन्तरविशेषाः, गरुडाः सुपर्णकुमाराः। एवं चैतत्,यतः-"निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए।" मुक्तदर्शनान्तरपक्षपातः। "निव्वितिगिच्छे" फलं प्रति निःशङ्कः "लद्धट्ठे। अर्थश्रवणतः। "गहियट्ठे।" अर्थावधारणेन। "पुच्छियट्ठे।" संशये सति "अभिगयट्ठे।" बोधात्। "विणिच्छियट्ठे" ऐदम्पर्योपलम्भात्। अत एव "अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ते।" अस्थीनि च प्रसिद्धानि, मिञ्जा च तन्मध्यवर्ती धातुः, अस्थिमिञ्जाः, ताः प्रेमानुरागेण सार्वज्ञप्रवचनप्रीतिलक्षणकुसुम्भाऽऽदिरागेण रक्ता इव रक्ता यस्य स तथा। केनोल्लेखेनेत्याह-"अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे।" (आउसो त्ति) आयुष्मन्निति पुत्राऽऽदेरामन्त्रणम्। शेषं धनधान्यपुत्रदारराज्यकुप्रवचनाऽऽदि। "ऊसियफलिहे" उच्छ्रितं स्फटिकमिव स्फटिकमन्तःकरणं यस्य स तथा। मौनीन्द्रप्रवचनावाप्त्या परितुष्टमना इत्यर्थः। इति वृद्धव्याख्या। केचित्त्वाहुः-उच्छ्रितः अर्गलास्थानादपनीय ऊर्ध्वीकृतो, न तिरश्चीनः कपाटपश्चाद्भागादपनीत इत्यर्थः। उत्सृतो वा अपगतः परिघोऽर्गला गृहद्वारे यस्याऽसौ उत्सृतपरिघः, उच्छ्रितपरिघो वा। औदार्यातिरेकाद्दानशयदानदायित्वेन भिक्षुकप्रवेशार्थमनर्गलितगृहद्वार इत्यर्थः। "अवंगुयदुवारे" अपावृतद्वारः कपाटाऽऽदिभिः भिक्षुकप्रवेशार्थमस्थगितगृहद्वार इत्यर्थः इत्येकीयं व्याख्यानम्। वृद्धानां तु भावनावाक्यमेवम् यदुत सद्दर्शनलाभे,न कस्माच्चित्पाषण्डिकाद्विभेति, शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्घाटशिरास्तिष्ठतीति भावः। "चियत्तंतेउरघरदारप्पवेसे।" (चियत्त त्ति) नाप्रीतिकरः अन्तःपुरगृहे द्वारेण नापद्वारेण प्रवेशः शिष्टजनोचितप्रवेशनं यस्य स तथा। अनीर्ष्यालुत्वं चाऽनेनोक्तम्। अथवा-(चियत्तो त्ति) लोकानां प्रीतिकर एव अन्तःपुरे वा गृहे वा गृहद्वारे वा प्रवेशो यस्य स तथा। अतिधार्मिकतया सर्वत्रानाशङ्कनीयत्वादिति। "चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणे।" उद्दिष्टा अमावास्या पौषधमाहारं पौषधाऽऽदिव्रतचतुष्टयरूपम्। "समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं।" पतद्ग्रहं पात्रं,पादप्रोञ्छनं रजोहरणम्। "ओसहभेसज्जेणं" भेषजं पथ्यम् "पाडिहारिएणं पीढफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणे।" प्रातिहारिकेण पुनःसमर्पणीयेन, पीठमासनं, फलकमवष्टम्भार्थं, शय्या वसतिः, शयनं वा यत्र प्रसारितपादैः स्वप्यते, संस्तारको लघुतरः "अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।" (सुए परिव्वायगे त्ति) शुको व्यासपुत्रः ऋग्वेदाऽऽद्ययध्यायी वेदाः, षष्टितन्त्रं साङ्ख्यमतं,साङ्-

ब्रह्मसमये साङ्ख्यसमाचारे लब्धार्थः। वाचनान्तरे तु यावत्करणादेवमिदमवगन्तव्यम्-ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्वणवेदानामि-तिहासपञ्चमानामितिहासः पुराणं, निघण्टुषष्ठानां निघण्टुर्नामकोशः, साङ्गोपाङ्गानामङ्गानि शिक्षाऽऽदीनि, उपाङ्गानि तदुक्तप्रपञ्चनपराः प्रबन्धाः। सरहस्यानामैदंपर्ययुक्तानां,सारकः-अध्यापनद्वारेण प्रवर्त्तकः,स्मारको वाऽन्येषां विस्मृतस्य स्मारणात्। वारकोऽशुद्धपाठनिषेधकः,पारगः पारगामी षडङ्गवित्। षष्टितन्त्रविशारदः षष्टितन्त्रं कापिलीयकशास्त्रं,षडङ्गवेदकत्वमेव व्यनक्ति-संख्याने गणितस्कन्धे, शिक्षाकल्पे शिक्षायामक्षरस्वरूपनिरूपके शास्त्रे,कल्पे तथाविधसामाचारीप्रतिपादके,व्याकरणे शब्दलक्षणे छन्दसि पद्यवचनलक्षणनिरूपके. निरुक्ते शब्दनिरुक्तप्रतिपादके, ज्योतिषामयने ज्योतिःशास्त्रे। अन्येषु च ब्राह्मणकेषु शास्त्रेषु च परिनिष्ठित इति वाचनान्तरम्॥ पञ्चयमपञ्चनियमयुक्तम्। तत्र पञ्च यमाः-प्राणातिपातविरमणाऽऽदयः, नियमास्तु-शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि। शौचमूलकं यमनियमर्मीलनाद् दशप्रकारम्। धातुरक्तानि वस्त्राणि प्रवराणि परिहितो यः स तथा। त्रिदण्डाऽऽदीनि सप्त हस्ते गतानि यस्य स तथा। तत्र कुण्डिका कमण्डलुः,कचित् काञ्चनिका करोटिका वाऽधीयते, ते च क्रमेण रुद्राक्षकृतमाला मृद्भाजनं चोच्यते। षण्नालिकं त्रिकाष्ठिका, अङ्कुशो वृक्षपल्लवच्छेदार्थः, पवित्रकं ताम्रमयमङ्गुलीयकं, केसरी चीवरखण्डं प्रमार्जनार्थम्। (संखाणं ति) साङ्ख्यमतम्। (सन्नकुहंति त्ति) कुमारपृथिवी (पवयणं आरुहेइ) पाकस्थाने चुल्लयामारोपयति, ऊष्माणमुष्णत्वं ग्राहयति, (दिट्ठिं वामेत्तए त्ति) मतं वमयितुं त्याजयितुमित्यर्थः। (अट्ठाइं ति) अर्थान् अर्थ्यमानत्वादधिगम्यमानत्वादित्यर्थः। प्रार्थ्यमानत्वाद्वा याच्यमानत्वादित्यर्थः। वक्ष्यमाणयात्रायापनीयाऽऽदीन्। तथा तानेव (हेऊइं त्ति) हेतून्, अन्तर्वर्त्तिन्यास्तदीयज्ञानसंपदो गमकात्। (पसिणाइं ति) प्रश्नान्, पृच्छ्यमानत्वात्। (कारणाइं ति) कारणानि, विवक्षितार्थनिश्चयस्य जनकानि। (वागरणाइं ति) व्याकरणानि, प्रत्युत्तरतया व्याक्रियमाणत्वादेषामिति। (निप्पट्ठपसिणवागरणं ति) निर्गतानि स्पष्टानि स्फुटानि प्रश्नव्याकरणानि प्रश्नोत्तराणि यस्य स तथा तम्। (खोणाउवसंत त्ति) क्षयोपशममुपगता इत्यर्थः। एतेषां च यात्राऽऽदिपदानामागमिकगम्भीरार्थत्वेनाऽऽचार्यस्य तदर्थपरिज्ञानमसंभावयता उपभ्राजनार्थं प्रश्नः कृत इति। (सरिसवय त्ति) एकत्र सवयसः सदृशवयसः, अन्यत्र सर्षपाः सिद्धार्थकाः। (कुलत्थ त्ति) एकत्र कुले तिष्ठन्तीति कुलस्थाः, अन्यत्र कुलत्था धान्यविशेषाः। सरिसवयाऽऽदिपदप्रश्नश्च छलग्रहणेनोपहासार्थं कृत इति। (एगे भवं ति) एको भवान् इति एकत्वाभ्युपगमे आत्मनः कृते सूरिणा श्रोत्राऽऽदिविज्ञानानामवयवानां चात्मनोऽनेकतोपलब्ध्या एकत्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगः शुकेन कृतः (दुवे भवं ति) द्वौ भवानिति च द्वित्वाभ्युपगमे अहमित्येकत्वविशिष्टस्यार्थस्य द्वित्वविरोधेन द्वित्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगो विहितः। अक्षयः अव्ययः;अवस्थितो भवान्, अनेन नित्यात्मपक्षः पर्यनुयुक्तः। अनेके भूता अतीता भावाः सत्त्वाः परिणामा वा भाव्याश्च भाविनो यस्य स तथा। अनेन चातिक्रान्तभाविसत्ताप्रश्नेन अनित्याऽऽत्मपक्षः पर्यनुयुक्तः। एकतरपरिग्रहे अन्यतरस्य दूषणायेति। तत्राऽऽचार्येण स्याद्वादस्य निखिलदोषगोचरातिक्रान्तत्वात्समवलम्ब्योत्तरमदायि-एकोऽप्यहम्,कथम्?, द्रव्यार्थतया, जीवद्रव्यस्यैकत्वात्,न तु प्रदेशार्थतया। तथा ह्यनेकत्वान्ममेत्यवयवाऽऽदीनामनेकत्वोपलम्भो न बाधकः। तथा कञ्चित्स्वभावमाश्रित्यैकत्वसंख्याविशिष्टस्याऽपि पदार्थस्य स्वभावान्तरद्वयापेक्षया द्वित्वमपि न विरुद्धम्, इत्यत उक्तम्-द्वावप्यहं ज्ञानदर्शनार्थतया, न चैकस्य स्वभावभेदो दृश्यते। एको हि देवदत्ताऽऽदिपुरुषः एकदैव तत्तदपेक्षतया पितृत्वपुत्रत्वभ्रातृत्वभ्रातृव्यत्वपितृव्यत्वमातुलत्वभागिनेयत्वादीननेकान् स्वभावाँल्लभत इति। तथा प्रदेशार्थतया असंख्येयप्रदेशतामाश्रित्याक्षयः,सर्वथा प्रदेशानां क्षयाभावात्। अव्ययः कियतामपि च व्ययाभावात्। किमुक्तं भवति?-अवस्थितो नित्यः। असंख्येयप्रदेशो हि न कदाचनापि व्यपैति, अतो नित्यताऽभ्युपगमेऽपि न दोषः। उपयोगार्थतया विविधविषयानुपयोगानाश्रित्य अनेकभूतभावभविकोऽपि अतीतानागतयोर्हि कालयोरनेकविषयबोधानामात्मनः कथञ्चिदभिन्नानामुत्पादाद्विगमाच्चानित्यपक्षो न दोषायेति। पुण्डरीकेण आदिदेवगणधरेण निर्वाणत उपलक्षितः पर्वतः,तस्य तत्र प्रथमं निर्वृतत्वात्पुण्डरीकपर्वतः शत्रुञ्जयः। (अंतेहिं येत्यादि) अन्तैर्वल्लचणकाऽऽदिभिः, प्रान्तैस्तैरेव भुक्तावशेषैः पर्युषितैर्वा, रूक्षैर्निःस्नेहैः, तुच्छैरल्पैः, अरसैः हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृतैः,विरसैः पुराणत्वाद्विगतरसैः,शीतैः शीतलैः, उष्णैः प्रतीतैः, कालातिक्रान्तैः तृष्णाबुभुक्षाकालाप्राप्तैः; प्रमाणातिक्रान्तैः बुभुक्षापिपासामात्रानुचितैः। चकाराः समुच्चयार्थाः। एवंविधविशेषणान्यपि पानाऽऽदीनि निष्ठुरशरीरस्य न भवन्ति बाधायै। अत आह-प्रकृतिसुकुमारकस्येत्यादि। " वेयणा पाउब्भूया " इत्यस्य स्थाने " रोगायंके " इति क्वचिद् दृश्यते। तत्र रोगश्चासावातङ्कश्च कृच्छ्रजीवितकारीति समासः। कण्डूः कण्डूतिः, दाहः प्रतीतः,तत्प्रधानेन पित्तज्वरेण परिगतं शरीरं यस्य स तथा। ते इच्छन्ति चिकित्साम्। (आउंटावेमि त्ति) आवर्त्तयामि कारयामि। (सभंडमत्तोवगरणमायाए त्ति) भाण्डमात्रा पतद्ग्रहपरिच्छदश्च,उपकरणं च वर्षाकल्पाऽऽदि भाण्डमात्रोपकरणं, स्वं च तदात्मीयं भाण्डमात्रोपकरणं च स्वभाण्डमात्रोपकरणं, तदादाय गृहीत्वा, अभ्युद्यतेन सोद्यमेन, प्रदत्तेन गुरुणोपदिष्टेन,प्रगृहीतेन गुरुसकाशादङ्गीकृतेन, विहारेण साधुवर्त्तनेन, विहर्तुं वर्त्तितुं,पार्श्वे ज्ञानाऽऽदीनां बहिस्तिष्ठतीति पार्श्वस्थः। गाढग्लानत्वाऽऽदिकारणं विना शय्यातराभ्याहृताऽऽदिपिण्डभोजकत्वादागमोक्तविशेषणः। स च सकृदनुचितकरणेनाल्पकालमपि भवति,तत उच्यते-पार्श्वस्थानां यो विहारो बहूनि दिनानि यावत्तथावर्त्तनं स पार्श्वस्थविहारः, सोऽस्यास्तीति पार्श्वस्थविहारी। एवमवसन्नाऽऽदिविशेषणान्यपि, नवरमवसन्नो विवक्षितानुष्ठानालसः, आवश्यकस्वाध्यायप्रत्युपेक्षणाध्यानाऽऽदीनामसम्यक्कारीत्यर्थः। कुत्सितः शीलः कुशीलः, कालविनयाऽऽदिभेदभिन्नानां ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽचाराणां विराधक इत्यर्थः। प्रमत्तः पञ्चविधप्रमादयोगात्, संसक्तः कदाचित्संविग्नगुणानां कदाचित्पार्श्वस्थाऽऽदिदोषाणां संबन्धाद् गौरवत्रयसंसक्तत्वाच्चेति। ऋतुबद्धेऽपि अवर्षाकालेऽपि पीठफलकाऽऽदिशय्यासंस्तारकं यस्य स तथा। (नाइ भुज्जो एवं करणयाए त्ति) नैव भूयः पुनरपि (एवं) इत्थं करणाय, प्रवर्त्तिष्ये इति शेषः। एवमेवेत्यादिरुपनयः। इह गाथा-"सिढिलियसंजमकज्जा,वि होइउ उज्जमंति जइ पच्छा। संवेगाओ ते सेलगो व्व आराहया होंति॥ १॥" ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। ध० र०। अग्रु०।

थावय–स्थापक–पुं० । स्थापयति पक्षमक्लेपेण प्रसिद्धव्याप्तिकत्वात् समर्थयति यः स तथा । हेतुभेदे, (स्था०) यथा परिव्राजकधूर्तो–लोकमध्यभागे दत्तं बहुफलं भवति तच्चाहमेव जानामीति मायया प्रतिग्राममन्यान्यलोकमध्यं प्ररूपयति सति तन्निग्रहाय कश्चित् श्रावको लोकमध्यस्यैकत्वात्कथं बहुषु ग्रामाऽऽदिषु तत्सम्भव इत्येवंविधोपपत्त्या त्वद्दर्शितो लोकमध्यभागो न भवतीति पक्षं स्थापितवानिति स्थापको हेतुः । उक्तं च–" लोगस्स मज्झजाणण, थावयहेऊ उदाहरणं । (८७)" (दश०१अ०) इति । स चायम्–अग्निरत्र धूमात्,तथा नित्यानित्यं वस्तु,द्रव्यपर्यायतस्तथैव प्रतीयमानत्वादिति। अनयोश्च प्रतीतिव्याप्तिकतया कालक्षेपेण साध्यस्थापनात् स्थापक इति । स्था० ४ ठा०३उ० ।

साम्प्रतं स्थापकहेतुमधिकृत्याऽऽह–

लोगस्स मज्झजाणण, थावयहेऊउदाहरणं ।(८७)

लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य मध्यज्ञानं,किम्?,स्थापकहेतावुदाहरणमित्यक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्–"एगो परिव्वायगो हिंडति । सो य पक्वेइ–खेत्ते दाणाऽऽदि सफलं ति कट्टु समखेत्ते कायव्वं । अहं लोयस्स मज्झं जाणामि, ण पुण अन्नो । तो लोगो तमाढाति । पुच्छिओ य संतो चउसु वि दिसासु खीलए णिहणिऊण रज्जूए पमाणं काऊण माइट्ठाणिओ भणति–एयं लोयमज्झं ति । तओ लोओ विम्हयं गच्छति–अहो! भट्टारएण जाणियं ति । एगो य सावओ, तेण नायं । कहं धुत्तो लोयं पयारेइ त्ति ? , तो अहं पि वंचामि त्ति कलिऊण भणियं–ण एस लोयमज्झो,तुज्झो तुमं ति । तओ सावएण पुणो भावेऊण अन्नो देसो कहिओ–जहेस लोयमज्झो त्ति । लोगो तुट्ठो । अन्ने भणंति–अणेगगामेसु अन्नं अन्नं मज्झं परूवंतयं दट्ठूण विरोधो चोइयति, एवं सो तेण परिव्वायगो णिप्पिट्ठपसिणवागरणो कओ । एसो लोइओ थावगहेऊ । लोउत्तरे वि चरणकरणाणुओगे कुस्सुतीसु असंभावणिज्जमग्गाहरओ सीसो एवं चेव पण्णवेयव्वो । दव्वाणुओगेण वि साहुणा तारिसं जाणियव्वं । तारिसो य पक्खो गेण्हियव्वो । जस्स पुरो उत्तरं चेव दाउं न तीरइ । पुव्वावरविरुद्धो दोसो य ण हवति ।" दश० १ अ० ।

थावर–स्थावर–पुं० । तिष्ठतीत्येवंशीलः स्थावरः । जी०१ प्रति० । शीताऽऽतपाऽऽद्युपेतत्वेऽपि स्थानान्तरं प्रत्यनभिसर्पितया स्थानशीले, उत्त० ४ अ० । स्थावरनामकर्मोदयात् पृथिव्यादिके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । आ० चू० । स्था० । नं० । स्थावराः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । द्विविधः स्थावरः,सूक्ष्मबादरभेदात् । सूक्ष्मस्थावरो वनस्पत्यादिः । बादरस्थावरः पृथिव्यादिः । पा० । सूत्र० ।

तिविहा थावरा पएणत्ता । तं जहा–पुढविकाइया, आउकाइया, वणस्सइकाइया ।

स्थानशीलत्वात्, स्थावरनामकर्मोदयाद् वा स्थावराः । शेषं व्यक्तमेवेति । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

स्थावराऽऽदिविभागमाह–

भूमी घरा य तरुगण, तिविहं पुण थावरं मुणेयव्वं ।
चक्कारबद्धमाणुस, दुविहं पुण होइ दुपयं तु ॥ ११ ॥

भूमिः,गृहाणि,तरुगणश्च,चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः,त्रिविधं पुनरोघतः स्थावरं मन्तव्यम् । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि?, स्वगतान् भेदान्,तद्यथा–भूमिः क्षेत्रं, तच्च त्रिधा–सेतु, केतु, असेतुकेतु च, गृहाणि प्रासादाः। तेऽपि त्रिविधाः।खातोच्छ्रितोभयरूपाः। तरुगणा नालिकेर्याद्यारामा इति । चक्रारबद्धमानुषमिति । चक्रारबद्ध गन्त्र्यादि , मानुषं दासाऽऽदि । एवं द्विपदं पुनर्भवति द्विविधम् । इति गाथार्थः ॥२२॥ दश० ६ अ० । राजगृहजाते वीरजिनस्य चतुर्दशपूर्वभवजीवे स्वनामख्याते विप्रे, कल्प०२ क्षण। आ० चू०। आ०म० । तिष्ठन्तीत्येवंशीला उष्णाऽऽद्यभितापेऽपि तत्परिहारासमर्थाः स्थावराः । "स्थेशभासपिसकसो वरः"॥४॥२॥८२॥(हैम०)इति वरप्रत्ययः।पृथिवीकायिकाः, अप्कायिकाः, तेजस्कायिकाः, वायुकायिकाः, वनस्पतिकायिका एकेन्द्रियाः। तद्विपाकवेद्यं कर्माऽपि स्थावरनाम । तेजोवायूनां तु स्थावरनामोदयेऽपि चलनं स्वाभाविकमेव, न पुनरुष्णाऽऽद्यभितापेन द्वीन्द्रियाऽऽदीनामिव विशिष्टमिति । कर्म० १ कर्म० ।

थावरकाय–स्थावरकाय–पुं० । स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावराः पृथिव्यादयः, तेषां काया राशयः । स्थावरो वा कायः शरीरं येषां ते स्थावरकायाः । पृथिवीकायाऽऽदिषु, स्था० ।

थावरकाए दुविहे पएणत्ते । तं जहा–भवसिद्धिए चेव, अभवसिद्धिए चेव । स्था० २ ठा० १ उ० ।

(एतद्व्याख्या तु स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या)

पंच थावरकाया पएणत्ता । तं जहा–इंदे थावरकाये,बंभे थावरकाये, सिप्पे थावरकाये, सम्मई थावरकाये, पयावच्चे थावरकाये । पंच थावरकायाहिवई पएणत्ता । तं जहा–इंदे थावरकायाहिवई० जाव पयावच्चे थावरकायाहिवई ।

(पंचेत्यादि) स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावराः पृथिव्यादयः, तेषां काया राशयः, स्थावरो वा कायः शरीरं येषां ते स्थावरकायाः । इन्द्रसंबन्धित्वादिन्द्रः स्थावरकायः पृथिवीकायः, एवं ब्रह्मशिल्पसम्मतिप्राजापत्या अपि अप्कायाऽऽदित्वेन वाच्या इति । एतन्नायकानाह–(पंचेत्यादि) स्थावरकायानां पृथिव्यादीनामिति संभाव्यन्ते, अधिपतयो नायका दिशामिवेन्द्राग्न्यादयो,नक्षत्राणामिवाश्व्यमदहनाऽऽदयो,दक्षिणोत्तरलोकार्द्धयोरिव शक्रेशानाविति स्थावरकायाधिपतय इति । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

थावरचउक्क–स्थावरचतुष्क–न० । स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणलक्षणे स्थावरोपलक्षिते चतुष्के, कर्म० २ कर्म० ।

थावरजाइ–स्थावरजाति–स्त्री० । एकेन्द्रियजातौ, क० प्र० १ प्रक० ।

थावरणाम(ण)–स्थावरनामन्–न० । अस्पन्दनत्वनिबन्धने नामकर्मभेदे, था० । यदुदयवशादुष्णाऽऽद्यभितापेऽपि तत्स्थानपरिहारासमर्थाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावरा जायन्ते । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० । प्रव० ।

थावरतिग–स्थावरत्रिक–न० । स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकलक्षणे स्थावरोपलक्षिते त्रिके, कर्म० ४ कर्म० ।

थावरदसग–स्थावरदशक–न० । स्थावरोपलक्षिते दशके, कर्म०। इतरस्त्रसदशकात् स्थावरदशकं विपर्यस्तं विपरीतार्थं

भवति । तथाहि-तिष्ठन्तीत्येवंशीला उष्णाऽऽद्यभितापेऽपि तत्परिहारासमर्थाः स्थावराः । " स्थेशभासपिसकसो वरः " ॥५।२।८१॥ (हैम०) इति वरप्रत्ययः । पृथिवीकायिका अप्कायिकाः तेजस्कायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिका एकेन्द्रियाः, तद्विपाकवेद्यं कर्माऽपि स्थावरनाम, तेजोवायूनां तु स्थावरनामोदयेऽपि चलनं स्वाभाविकमेव, न पुनरुष्णाऽऽद्यभितापेन द्वीन्द्रियाऽऽदीनामिव विशिष्टमिति ॥ १ ॥ कर्म० १ कर्म० ।

थावरसुहुमअपज्जं, साहारणअथिरअसुभदुभगाणि ।
दुस्सरऽणाइज्जाऽजसं, ... ॥ २७ ॥

इहापि नामशब्दस्य संबन्धात् स्थावरनाम सूक्ष्मनाम अपर्याप्तनाम साधारणनाम अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम दुःस्वरनाम अनादेयनाम (अजस त्ति) अयशःकीर्तिनाम । (२७) कर्म० १ कर्म० ।

थावरदुग- स्थावरद्विक-न० । स्थावरसूक्ष्मलक्षणे स्थावरोपलक्षिते द्विके, कर्म० २ कर्म० ।

थावरविस-स्थावरविष-न० । विषभेदे, यद्धि भुक्तं सत्पीडयति । स्था० ६ ठा० ।

थासग-स्थासक-पुं० । दर्पणाऽऽकारे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । विपा० । आदर्शकाऽऽकारे, भ० ११ श० ११ उ० । औ० । हस्तबिम्बे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । अश्वाऽऽभरणविशेषे, पुं० । अनु० ।

थासगावली-स्थासकाऽऽवली-स्त्री० । ६ त० । दर्पणाऽऽकृतीनां स्थासकानां स्फुरकाऽऽदिषु उपर्युपरि स्थितानां पङ्क्तौ, अनु० १ वर्ग २ अ० ।

थाह-स्ताघ-न० । यावति जले नासिका न ब्रुडति तावति जले, सू० ४ उ० । गाधे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । दीर्घे, दे० ना० ५ वर्ग ३० गाथा ।

थिग्गल-स्थिग्गल-न० । प्रदेशपतितसंस्कृते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । प्रज्ञा० । छिद्रे, " आलोय थिग्गलं दारं, संधिं दगभवणाणि य । चरंतो न विणिज्झाए, संकट्ठाणविवज्जए " ॥ १५ ॥ दश० ५ अ० १ उ० । साधुर्वस्त्रे थिग्गलकं ददाति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-यो भिक्षुर्वस्त्रस्यैकं थिग्गलं ददाति, ददन्तं वा अनुमोदयति, तस्य दोषाः, यः कारणे अयतः त्रयाणां थिग्गलानां परतश्चतुर्थं थिग्गलं ददाति, तस्य प्रायश्चित्तं निशीथसूत्रप्रथमोद्देशके, एतदनुसारेण साधूनां थिग्गलदानं न कल्पत इति । ४३५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

थिण्ण-स्त्यान-त्रि० । " ष्टः स्त्यानखल्वाटे " ॥ ८ । १ । ७४ ॥ इति स्त्यास्थाने ष्टर्वा यथुक्त, स्त्यानेष ष्टती थी, नो णः । प्रा० २ पाद । सेवाऽऽदित्वाद् णद्वित्वम् । प्रा० २ पाद । कठिने, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । निःस्नेहे, दर्से च । दे० ना० ५ वर्ग ३० गाथा ।

थिप्प-तृप्-धा० । तृप्तौ, " तृपः थिप्पः " ॥ ८ । ४ । १३८ ॥ इति तृप्यतेः थिप्पेत्यादेशः । 'थिप्पइ ।' तृप्यति । प्रा० ४ पाद ।

विगल-धा० । विक्षरणे, " विगलेः थिप्प-णिट्टुहौ " ॥ ८ । ४ । १७५ ॥ इति विगलते- स्थिप्पाऽऽदेशः । 'थिप्पइ ।' विगलति । प्रा० ३ पाद ।

थिमिअ-न० । देशी स्थिरं, दे० ना० ५ वर्ग २७ गाथा ।

थिमिउं-स्तिमितुम्-अव्य० । आर्द्रीकर्तुमित्यर्थे, स० प्र० ।

थिमिओदय-स्तिमितोदक-न० । यस्याधः कर्दमो नास्ति तादृशे जले, औ० ।

थिमिय-स्तिमित-त्रि० । स्वचक्रपरचक्रतस्करडमराऽऽदिसमुत्थभयकल्लोलमालाविवर्जिते, सू० प्र० १ पाहु० । रा० । प्रश्न० । भ० । भयवर्जितत्वेन स्थिरे, औ० । विपा० । ज्ञा० । निभृते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । दशारपुरुषाणां तृतीये पुरुषे, अन्त० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । स च अन्धकवृष्णेर्धारण्याः सुतः अरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सिद्ध इति अन्तकृद्दशानां प्रथमवर्गे चतुर्थेऽध्ययने चिन्तितम् । अन्त० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । स्था० ।

थिमियमज्झ-स्तिमितमध्य-त्रि० । स्तिमितं स्थिरं मध्यं देहिनोऽन्तःकरणं यस्मिन् सति तत्तथा । निश्चलमनस्के, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

थिमियमेइणी-स्तिमितमेदिनी-स्त्री० । निर्भरजनपदे, प्रति० ।

थिर-स्थिर-त्रि० । संहननधृतिभ्यां बलवति, आव० ४ अ० । आचा० । सूत्र० । निश्चले, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्था० । प्रश्न० । उत्त० । अप्रकम्पे, भ० ११ श० ११ उ० । आव० । अनतिश्लथे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । दृढे, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० २ उ० । नं० । आ० म० । बृ० । नि० चू० । स्थायिनि, पञ्चा० १७ विव० । असंख्येयकालावस्थायिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । तत्रावस्थाया ध्रुवकर्मिके, स्था० ६ उ० । स्थिरा नाम येषां तत्रैव गृहाणि । बृ० १ उ० । ध्रुवे, नि० चू० ५ उ० । प्रारब्धकार्यस्यापान्तराल एवापरित्यागकारिणि, ध० ३ अधि० । स्थिरो नाम उद्योगं कुर्वन्नपि न परिताम्यति । व्य० ३ उ० । " रूढा बहुसंभूया, थिरा वा ओसढा वि य । (३५)" स्थिरा निष्पन्ना । दश० ७ अ० ।

थिरग्गहत्थ-स्थिराग्रहस्त-त्रि० । स्थिरोऽग्रहस्तो यस्य स स्थिराग्रहस्तः । जी० ३ प्रति० २ उ० । सुलेखकवत् तथाविधहस्ते, उत्त० ४ अ० । भ० ।

थिरचित्त-स्थिरचित्त-त्रि० । अविचलमानसे, जीवा० ६ अधि० ।

थिरछक्क-स्थिरषट्क-न० । स्थिरशुभशुभगसुस्वराऽऽदेययशःकीर्तिरूपे स्थिरोपलक्षिते, कर्म० १ कर्म० ।

थिरजम-स्थिरयम-पुं० । यमभेदे, द्वा० ।

स च-

सत्क्षयोपशमोत्कर्षा-दतिचाराऽऽदिचिन्तया ।
रहिता यमसेवा तु, तृतीयो यम उच्यते ॥ २७ ॥

(सदिति) सतो विशिष्टस्य क्षयोपशमस्योत्कर्षादुद्रेकादतिचाराऽऽदीनां चिन्तया रहिता, तदभावस्यैव विनिश्चयात्, यमसेवा तु तृतीयो यमः स्थिरयम उच्यते ॥ २७ ॥ द्वा० १६ द्वा० ।

थिरजस-स्थिरयशस्-त्रि० । अनश्वरकीर्तौ, " समणगणपवरगंधहत्थीणं थिरजसाणं । " स० ७ अङ्ग ।

थिरजाय-स्थिरजात-पुं० । स्थिरेण निर्विघ्नेन जात उत्पन्नो गर्भे स्थिरजातः । चिरेण जाते, तं० ।

थिरणाम(ण्)-स्थिरनामन्-न० । नामकर्मभेदे, यदुदयात् शरीरावयवानां शिरोऽस्थिदन्तानां स्थिरता भवति । " दंतअट्ठिमाइ थिरं । (४६)" स्थिरं स्थिरनामोदयेन दन्तास्थ्यादि निश्चलं

भवति, यदुदयात् शिरोऽस्थिग्रीवाऽऽदीनामवयवानां स्थिरता भवति तत् स्थिरनाम (४६) । कर्म० १ कर्म० । प० सं० ।

थिरतरय-स्थिरतरक-पुं० । अतिशयस्थिरे, पञ्चा० ११ विव० ।

थिरता-स्थिरता-स्त्री० । उत्कर्षकाष्ठाप्राप्तौ, द्वा० १० द्वा० । महाव्रतेषु एव धर्मे वा स्थैर्यहेतौ निश्चलत्वे, पा० । ध० । स्थैर्ये, बृ० ४ उ० । स्थिरता-जिनधर्मं प्रति परस्य स्थिरताऽऽपादनं, स्वस्य वा परतीर्थिकसमृद्धिदर्शनेऽपि जिनप्रवचनं प्रति निष्प्रकम्पता । ध० २ अधि० ।

वत्स ! किं चञ्चलस्वान्तो, भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा विषीदसि ।
निधिं स्वसन्निधावेव, स्थिरता दर्शयिष्यति ॥ १ ॥
ज्ञानदुग्धं विनश्येत, लोभविक्षोभकूर्चकैः ।
अम्लद्रव्यादिवास्थैर्या-दिति मत्वा स्थिरो भव ॥ २ ॥
अस्थिरे हृदये चित्रा, वाग्नेत्राऽऽकारगोपना ।
पुंश्चल्या इव कल्याण-कारिणी न प्रकीर्तिता ॥ ३ ॥
अन्तर्गतं महाशल्य-मस्थैर्यं यदि नोद्धृतम् ।
क्रियौषधस्य को दोष-स्तदा गुणमयच्छतः ? ॥ ४ ॥
स्थिरता वाङ्मनःकायै-र्येषामङ्गाङ्गितां गता ।
योगिनः समशीलास्ते, ग्रामेऽरण्ये दिवा निशि ॥ ५ ॥
स्थैर्यरत्नप्रदीपश्चे-द्दीप्रः संकल्पदीपजैः ।
तद्विकल्पैरलं धूमै-रलं धूमैस्तथाऽऽश्रवैः ॥ ६ ॥
उदीरयिष्यसि स्वान्ता-दस्थैर्यपवनं यदि ।
समाधेर्धर्ममेघस्य, घटां विघटयिष्यसि ॥ ७ ॥
चारित्रं स्थिरतारूप-मतः सिद्धेष्वपीष्यते ।
यतन्तां यतयोऽवश्य-मस्या एव प्रसिद्धये ॥ ८ ॥
अष्ट० ३ अष्ट० ।

थिरपइण्ण-स्थिरप्रतिज्ञ-त्रि० । भाषितस्यानन्यथाकारके, आव० ६ अ० ।

थिरपरिवाडि-स्थिरपरिपाटि-पुं० । स्थिरा अतिशयेन निरन्तराऽभ्यासतः स्थैर्यमापन्ना अनुयोगपरिपाट्यो यस्य स स्थिरपरिपाटिः । प्रव० ६५ द्वार । व्य० । अनु० । ग० । परिचितसूत्रार्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

थिरव्वय-स्थिरव्रत-पुं० । व्रतेषु स्थिरे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

थिरसंघयण-स्थिरसंहनन-पुं० । स्थिरं दृढं (प्रथममित्यर्थः) संहननं यस्य सः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । बलवच्छरीरे, दशा० ४ अ० । अविघटमानसंहनने, भ० १५ श० ।

थिरसंघयणया-स्थिरसंहननता-स्त्री० । तपःप्रभृतिषु शक्तियुक्तायाम्, उत्त० १ अ० । शरीरसंपद्भेदे, स्था० ८ ठा० । प्रव० ।

थिरसत्त-स्थिरसत्त्व-पुं० । स्थिरं परीषहाऽऽदिसंपातेऽप्यचञ्चलात्मकं सत्त्वं यस्य स स्थिरसत्त्वः । तस्मिन्, स्था० ४ ठा० ३ उ० । निश्चलमानसावष्टम्भे, बृ० १ उ० ।

थिरसरीर-स्थिरशरीर-पुं० । शारीरबलोपेते, बृ० १ उ० ।

थिरसीस-पुं० । देशी-निर्भीके, निर्भरे, बद्धशिरस्त्राणे, दे० ना० ५ वर्ग २१ गाथा ।

थिरसुह-स्थिरसुख-न० । निःप्रकम्पानुद्वेजनीये, "स्थिरसुखमासनम्," इति पतञ्जलिः । द्वा० २२ द्वा० ।

थिरा-स्थिरा-स्त्री० । योगदृष्टिभेदे, द्वा० । स्थिरा च जिनग्रन्थेरेव, सा च रत्नाभा, तदुद्बोधो हि रत्नताराऽऽसमानः, तद्भावोऽप्रतिपाती प्रवर्द्धमानो निरपायो नापरपरितापकृत् परितोषहेतुः प्रायेण प्रणिधानाऽऽदियोनिरिति । (२६) द्वा० २० द्वा० ।

प्रत्याहारः स्थिरायां स्या-द्दर्शनं नित्यमभ्रमम् ।
तथा निरतिचारायां, सूक्ष्मबोधसमन्वितम् ॥ १ ॥

(प्रत्याहार इति) स्थिरायां दृष्टौ प्रत्याहारः वक्ष्यमाणलक्षणः । तथा-निरतिचारायां दर्शनं नित्यमप्रतिपाति, सातिचारायां तु प्रक्षीणनयनपटलोपद्रवस्य तदुत्थोपाऽऽयनवबाधकल्पमपि भवति, तथाऽतिचारभावात्, रत्नप्रभायामिव धूल्यादेरुपद्रवः, अभ्रम भ्रमरहितम्, तथा सूक्ष्मबोधेन समन्वितम् ॥ १ ॥

विषयासंप्रयोगेऽन्तः-स्वरूपानुकृतिः किल ।
प्रत्याहारो हृषीकाणा-मेतदायत्ततापरः ॥ २ ॥

(विषयेति) विषयाणां चक्षुरादिग्राह्याणां रूपाऽऽदीनामसंप्रयोगे तद्ग्रहणाभिमुख्यत्यागेन स्वरूपमात्रावस्थाने सति अन्तःस्वरूपानुकृतिश्चित्तनिरोधनिरोध्यतासंपत्तिः किल हृषीकाणां चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां प्रत्याहारः । यत उक्तम्-" स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।" इति ।(२-५४) कीदृशोऽयमित्याह-एतदायत्ततापरः इन्द्रियवशीकरणैकफलः । अभ्यस्यमाने हि प्रत्याहारे तथायत्तानीन्द्रियाणि भवन्ति यथा बाह्यविषयाभिमुखतां नीयमानान्यपि न यान्तीति । तदुक्तम्-"ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणामिति ।" (२-५५) ॥ २ ॥

अतो ग्रन्थिविभेदेन, विवेकोपेतचेतसाम् ।
तपायै भवचेष्टा स्या-द्बालक्रीडोपमाऽखिला ॥ ३ ॥

(अत इति) अतः प्रत्याहाराद्, ग्रन्थिविभेदेन विवेकोपेतचेतसां भवचेष्टाऽखिला चक्रवर्त्यादिसुखरूपाऽपि बालक्रीडोपमा बालधूलीगृहक्रीडातुल्या, प्रकृत्यसुन्दरत्वास्थिरत्वाभ्यां तपायै स्यात् ॥ ३ ॥

तत्त्वमत्र परं ज्योति-र्ज्ञस्वभावैकमूर्तिकम् ।
विकल्पतल्पमारूढः, शेषः पुनरुपप्लवः ॥ ४ ॥

(तत्त्वमिति) अत्र स्थिरायां ज्ञस्वभाव एका मूर्तिर्यस्य तत्तथा, ज्ञानाऽऽदिगुणनेतृत्वस्याऽपि व्यावहारिकत्वात् । परं ज्योतिरात्मरूप तत्त्वं परमार्थसत् । शेषः पुनर्भवप्रपञ्चो विकल्पतल्पमारूढ उपप्लवो भ्रमविषयः, परिदृश्यमानरूपस्याभावात् ॥ ४ ॥

भवभोगिफणाऽऽभोगो, भोगोऽस्यामवभासते ।
फलं धनादिधर्मस्या-स्तुल्यं यत्पुण्यपापयोः ॥ ५ ॥

(भवेति) अस्यां स्थिरायाम्, भोग इन्द्रियार्थसुखसंबन्धः, भवभोगिफणाऽऽभोगः संसारसर्पफणाऽऽटोपोऽवभासते, बहुदुःखहेतुत्वात् । नानुपहत्य भूतानि भोगः संभवति, ततश्च पापम्, ततो दारुणदुःखपरम्परेति । धर्मप्रभवत्वाद्भोगो न दुःखदो भ-

विष्यतीत्यत्राऽऽह-यद् यस्मात् पुण्यपापयोर्द्वयोर्हि फलमनात्मधर्मत्वात्तुल्यम् । व्यवहारतः सुशीलत्वकुशीलत्वाभ्यां द्वयोर्विभेदेऽपि निश्चयतः संसारप्रवेशकत्वेन कुशीलत्वाविशेषात् ॥५॥

धर्मादपि भवन् भोगः, प्रायोऽनर्थाय देहिनाम् ।
चन्दनादपि संभूतो, दहत्येव हुताशनः ॥६॥

(धर्मादिति) धर्मादपि भवन् भोगो देवलोकाऽऽदौ, प्रायो बाहुल्येन, अनर्थाय देहिनां, तथा प्रमादविधानात् । प्रायोग्रहणं शुद्धधर्माक्षेपिभोगनिरासार्थम्, तस्य प्रमादबीजत्वायोगात् । अत्यन्तानवद्यतीर्थकराऽऽदिफलशुद्धेः पुण्यशुद्ध्यादावागमाभिनिवेशाद्धर्मसारचित्तोपपत्तेरिति । सामान्यतो दृष्टान्तमाह-चन्दनादपि तथा शीतप्रकृतेः संभूतो दहत्येव हुताशनः, दहनस्य दाहकस्वभावापरावृत्तेः। प्राय एतदेवं न दहत्यपि कश्चित्, सत्यमन्त्राभिसंस्कृतादाहादिसिद्धेः सकललोकसिद्धत्वादिति वदन्ति। युक्तं चैतत्, निश्चयतो येनांशेन ज्ञानाऽऽदिकं तेनांशेनाऽबन्धनमेव, येन च प्रमादाऽऽदिकं तेन बन्धनमेव । सम्यक्त्वाऽऽदीनां तीर्थकरनामकर्माऽऽदिबन्धकत्वस्याऽऽपि तदविनाभूतयोगकषायगतस्योपचारेणैव समर्थनात्, इन्द्रियार्थसंबन्धाऽऽदिकं तूदासीनमेवेत्यन्यत्र विस्तरः ॥ ६ ॥

स्कन्धात्स्कन्धान्तराऽऽरोपे, भारस्येव न तात्त्विकी ।
इच्छाया विरतिर्भोगा-त्तत्संस्कारानतिक्रमात् ॥७॥

(स्कन्धादिति) स्कन्धात् स्कन्धान्तराऽऽरोपे भारस्येव भोगादिच्छाया विरतिर्न तात्त्विकी, तत्संस्कारस्य कर्मबन्धजनितानिष्टभोगसंस्कारस्याऽनतिक्रमात् । तदतिक्रमो हि प्रतिपक्षभावनया तत्तनूकरणेन स्यात्, न तु विच्छेदेन प्रसुप्तमात्रेण चेति । इत्थं भोगासारताविभावनेन स्थिरायां स्थैर्यमुपजायते, मत्यामस्यामपरैरपि योगाऽऽचार्यैरलौल्याऽऽदयो गुणाः प्रोच्यन्ते।

यथोक्तम्-

" अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं,
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च,
योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ॥ १ ॥
मैत्र्यादियुक्तं विषयेषु चेतः,
प्रभावयद्धैर्यसमन्वितं च ।
द्वन्द्वैरधृष्यत्वमभीष्टलाभो,
जनप्रियत्वं च तथा परं स्यात् ॥ २ ॥
दोषव्यपायः परमा च तृप्ति-
रौचित्ययोगः समता च गुर्वी ।
वैराऽऽदिनाशोऽथ ऋतम्भरा धी-
र्निष्पन्नयोगस्य तु चिह्नमेतत् " ॥ ३ ॥ इति ।

इहाप्येतदकृत्रिमं गुणजातमिन एवाऽऽरभ्य विहेयम् ॥ ७ ॥ द्वा० २४ द्वा० ।

थिरावलिया-स्थिराऽऽवलिका-स्त्री० । भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति० ।

थिरासयत्त-स्थिराऽऽशयत्व-चित्तस्थैर्ये, पं० सू० ४ सूत्र ।

थिरीकरण-स्थिरीकरण-न०। सीदतां चारित्राऽऽदिषु स्थैर्यहेतौ, जीत० । धर्माद् विषीदतां तत्र चाकवचनचातुर्यादवस्थापने, प्रव० ६ द्वार । पञ्चा० । दश० । ध० । स्वगतपरगतधर्मव्यापाराणां स्थिरत्वाऽऽधाने, पञ्चा० ४ विव० । नि० चू० ।

एतेसुं चिअ खमणा-ऽऽदिएसु सीदंति चोयणा जा तु ।
बहुदोसे माणुस्से, मा सीद थिरीकरणमेयं ॥२७॥

सीदंतो णाम-जो थिरसंघयणो धितिसंपण्णो हट्ठो य ण उज्जमति खमणाऽऽदिएसु, एसा सीयणा। चोयणा प्रेरणा, नियोजनेत्यर्थः, तं पुण चोयणं करेति अवायं दंसेउं । अओ भण्णति-(बहुदोसे माणुस्से)दोसा अवाया । ते य"दंडकसंसत्थगाहा।" अहवा-अरसासकासखयकुट्ठाऽऽदओ संपओगविप्पओगदोसेहि य जुत्तं। मा इति पडिसेहे । एवं वयणकिरियासहायत्तेण संजमे थिरं करेति त्ति थिरीकरणं।सेसं कंठं। नि० चू० १ उ०। "जहा उज्जेणीए अज्जाऽऽसाढो कालं करेंते संजए अप्पाहेइ । मम दरिसावं दिज्जह, जहा उत्तरज्झयणे सुए, तं अक्खाणयं सव्वं तहेव । तम्हा जो जहा अज्जासाढो थिरो कओ, एवं जेऽन्नेविया ते थिरीकरेयव्वा । " दश० ३ अ० । दृढीकरणे, नि० चू० ४ उ० ।

थिरीकरणे आसाढो उदाहरणं-" उज्जेणीए आसाढो आयरिओ कालं करिंते साहू समाहीए णिज्जवेति, अप्पाहेति य-जहा ममं दरिसावं देज्जह, ते य ण देंति। सो य सव्वंय गतो पव्वज्जाए, तओ हाथिओ य, सलिंगेण सिस्सेण य से ओई। पउत्ता, दिट्ठो ओहावंतो आगतो, अंतरा य गामविउव्वणं णाडयाकरणं, पच्छा रायं सरयकालव्वयसंथारोपधावणं, अंतरा य अप्पागाममज्झा स तलागछद्दारगविकुव्वणं जलमज्झे खेलणं आयरिओ पासित्ता ठितो। तेहिं समाणं वाणमंतरवसहिमुवागतो, पच्छा कालिया ते एगमेगस्स आभरणाणि हरिउमारद्धो, पच्छा तेसिं दिठंता कहयंति परिवाडीए ।

पढमो भणति--

" जेण भिक्खं बलिं देमि, जेण पोसेमि णायए ।
सा मे मही अक्कमति, जायं सरणतो भयं ॥ १२४ ॥ "

सो भणति-अतिपंडितो सि, मुंच आभरणाणि ।

बितिओ वि आरद्धो, सो भणति-

" बहुस्सुयं चित्तकहं, गंगा वहइ पाडलं ।
वुज्झमाणग ! भद्दं ते, लप ता किंचि सुहासियं ॥ १२५ ॥"

ततिओ भणति, सुणेहि अक्खाणयं-

" जेण रोहंति बीयाणि, जेण जीयंति कासगा ।
तस्स मज्झे विवज्जामि, जायं सरणतो भयं ॥ १२६ ॥
जमहं दिया य राओ य, तप्पेमि महुसप्पिसा ।
तेण मे उडओ दड्ढो, जायं सरणतो भयं ॥ १२७ ॥"

अह वा--

" वग्घस्स मए भीतेणं, पावओ सरणं कतो ।
तेण दड्ढं ममं अंगं, जायं सरणओ भयं ॥ १२८ ॥ "

चउत्थो भणति--

" संघणपवणसमत्थो, पुव्वं होऊण संपइं कीस ? ।
दरुयगहियग्गहत्थो, वयंस ! को णामओ वाही ? ॥ १२९॥"

सो भणइ--

" जेट्ठासाढेसु मासेसु, मारुओ सुहसीयलो ।
तेण मे भज्जते अंगं, जायं सरणतो भयं ॥ १३० ॥
जेण जीवंति सत्ताणि, निरोहम्मि अणंतए ।
तेण मे भज्जए अंगं, जायं सरणओ भयं ॥ १३१ ॥ "

पंचमो भणइ-

" जाव वुच्छं सुहं वुच्छं, पादवे निरुवद्दवे ।
मूलाओ उट्ठिता वल्ली, जातं सरणतो भयं ॥ १३२ ॥"

डंडो भणति-

"अब्भितरया खुभिया, पेल्लंति बाहिरा जणा ।
छिसं भयइ मायंगा !, जायं सरणतो भयं" ॥१३३॥

अहवा-

"जत्थ राया सयं चोरो, भंडिओ य पुरोहिओ ।
दिसं भयह णायरिया !, जायं सरणओ भयं" ॥१३४॥

अहवा-

"अइरुग्गयए य सूरिए, चेइयथूभगए य वायसे ।
भित्तीगयए य आयवे, सहि ! सुहिओ हु जणो न बुज्झइ ॥१३५॥
तुम एव य अम्म हे ! लवे, मा हु विमाणय जक्खमागए ।
जक्खाहडए हु तायए, अन्नि दाणि विमग्ग ताययं ॥१३६॥
नवमासय कुच्छिधारिया, पासवणे पुरिसे य मद्दिए ।
धूया मे गेहिए हडे, सरणए असरणए य मे जायए" ॥१३७॥

एवं सव्वाभरणाणि घेत्तूण पयाओ, अंतरा य संजतीविउव्वणं तं दट्ठूण भणति-

"सयमेव य लुक्क लोविया,
अप्पाणिआ य वियारि खाणिया ।
ओवाइयलक्खओ य सि,
किं थेला ! बवेति वाससी ?" ॥ १३८ ॥
" कडए ते कुंडले य ते,
अंजिअक्खि ! तिलयते य ते ।
पवयणस्स उड्डाहकारिए !,
दुट्ठा सेहि ! कतोऽसि आगता ? ॥ १३९ ॥ "
" राईसरिसवमित्ताणि, परछिद्दाणि पाससि ।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि, पासंतो वि ण पाससि" ॥ १४० ॥

सा य पडिभणति-

" समणोऽसि संजतो असि, बंभयारी समलेट्ठुकंचणे ।
वेहारियवायओ य ते, जिट्ठज्ज ! किं ते परिग्गहे ? ॥१४१॥"

(उत्त० नि० २ अ०) (एतासां गाथानामर्थः "दंसणपरीसह" शब्देऽग्रे वक्ष्यते) पुणरवि य पयाओ रायरुक्खखंधावारविउव्वणं, पडिबुद्धो य। जहा तेण देवेण तस्स आसाढभूतिस्स थिरीकरणं कतं, एवं जहासत्तिओ थिरीकरणं कायव्वं।" नि० चू० १ उ०।

थिल्लि-थिल्लि-स्त्री०। वेगसराऽऽदिद्वयविनिर्मिते यानविशेषे, दशा० ६ अ०। सूत्र०। जं०। रा०। लाटानां यत् 'अड्डपल्लाणं' रूढं, तदन्यविषयेषु थिल्लिरित्युच्यते। जी० ३ प्रति० ४ उ०। औ०। ज्ञा०। ज०।

थिवथिवंत-स्तिवस्तिवत्-त्रि०। थिगथिगायमाने, तं०। "थिवथिवंतं बीभच्छं।" थिवथिवायमानमन्त्रैर्बीभत्सं, रौद्रमित्यर्थः। तं०।

थिवुग-स्तिबुक-पुं०। [illegible], आ० चू० १ अ०। आ० म०। प्रज्ञा०। दर्श०। विशे०।

थिवुगसंकम-स्तिबुकसंक्रम-पुं०। "पिंडपगईण जा उदयसंगया तीए अणुदयगयाउ। संकामिऊण वेयइ जं एसो थिवुगसंकामो ॥७॥" इत्युक्तलक्षणे संक्रमभेदे, पं० सं० ५ द्वार। क० प्र०।

थिहु-स्तिहु-स्त्री०। साधारणबादरवनस्पतिकायभेदे, जी० १ प्रति०।

थीण-स्त्यान-त्रि०। संघातमापन्ने, स्था० ६ ठा०।

थीणगिद्धि-स्त्यानगृद्धि-स्त्री०। स्त्याना बहुत्वेन संघातमापन्ना गृद्धिरभिकाङ्क्षा जाग्रदवस्थाऽध्यवसितार्थसाधनविषया यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानगृद्धिः, तस्यां हि सत्यां जाग्रदवस्थाऽध्यवसितमर्थमुत्थाय साधयति, स्त्याना वा पिण्डीभूता ऋद्धिरात्मशक्तिरूपा यस्यामिति स्त्यानर्द्धिरित्यप्युच्यते। तद्भावे हि स्वप्तुः केशवार्द्धबलसदृशी शक्तिर्भवति। अथवा-स्त्याना जडीभूता चैतन्यर्द्धिर्यस्यामिति स्त्यानर्द्धिरिति, तादृशविपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानर्द्धिः, स्त्यानगृद्धिरिति वा। स्था० ९ ठा०। प्रव०। उत्त०। "गोणाऽऽदयः" ॥ ८। २। १७४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण थीणद्धीतिनिपातः। कर्म १ कर्म०। निद्राविशेषे, कर्म० ६ कर्म०।

थीणद्धि-स्त्यानर्द्धि-स्त्री०। स्त्याना पिण्डीभूता ऋद्धिरात्मशक्तिरूपा यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानर्द्धिः। तद्भावे हि उत्कर्षतः प्रथमसंहननस्य केशवार्द्धबलसदृशी शक्तिर्भवति, श्रूयते चैवं कथानकं आगमे-कस्मिंश्चित्प्रदेशे कोऽपि क्षुल्लको विपाकप्राप्तस्त्यानर्द्धिनिद्रासहितो द्विरदेन दिवा खलीकृतः, ततः स तस्मिन् बद्धाऽभिनिवेशो रजन्यां स्त्यानर्द्ध्युदये वर्तमानः समुत्थाय तद्दन्तयुगलमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारि च प्रक्षिप्य पुनः सुप्तवान् इत्यादि। तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानर्द्धिः। (६ गा०) कर्म० ६ कर्म०। ग०। पं० सं०। जीत०।

स्त्यानर्द्धिदृष्टान्तानाह-

पोग्गलमोयगफरुसग-दंते वडसालभंजणे सुत्ते ।
एतेहिं पुणो तस्स, विगिंचणा होति जयणाए ॥१४०॥

पुद्गलं पिशितं, मोदको लड्डुकः, फरुसकः कुम्भकारो, दन्ताः प्रतीताः, वटशाखाभञ्जनम्, एतानि पञ्चोदाहरणानि सुप्ते स्त्यानर्द्धिनिद्रायां भवन्ति। एतैरेतद्दृष्टान्तोक्तैर्लिङ्गैः स्त्यानर्द्धिं परिज्ञाय, तस्य स्त्यानर्द्धिमतः साधोर्यतनया विवेचनं परित्यागः कर्त्तव्यो भवति।

तत्र पुद्गलदृष्टान्तमाह-

पिसियासि पुव्व महिसं, विगिंचियं दिस्स तत्थ निसि गंतुं ।
अन्नं हंतुं खायति, उवस्सयं सेसगं णेति ॥ १४१ ॥

"एगम्मि गामे एगो कुडुंबी पक्काणि य तल्लियाणि य निस्समणेसु अभिगओ मंसप्पगारे जक्खेइ। सो य तहारूवाणं थेराण अंतिए धम्मं सोउं पव्वइओ गामाइसु विहरइ। तेण य एगत्थ गामे महिसो विगिंचमाणो दिट्ठो। तस्स मंसे अभिलासो जातो। तेण अभिलासेण अवोच्छिन्नेणेव भिक्खं हिंडित्ता अब्भुच्छिऊण वियारभूमिं गतो। चरिमा [illegible] कया। आवस्सयं काउ पाओसिया पोरिसी विहिता। तदभिलासो चेव सुत्तो। सुत्तस्सेव थीणद्धी जाया। सो उट्ठिओ अणाभोगनिव्वत्तिएणं कारणेणं गतो महिसमंडलं। अन्नं महिसं हंतुं भक्खयित्ता सेसं आणेतुं उवस्सयस्स उवरिं ठवितं। पच्चूसे गुरूणं आलोएइ-एरिसो सुविणो दिट्ठो। साहूहिं दिसावलोकं करेंतेहिं दिट्ठं कुणिमं, जाणियं-जहा एस थीणद्धी, ताहे लिंगपारंचियं पच्छित्तं से दिन्नं।" अथ गाथाऽक्षरार्थः-पिशिताशी कश्चित्पूर्वं गृहवासे आसीत्। स च महिषं विकर्तितं दृष्ट्वा संजाततद्भक्षणाभिलाषस्तत्र महिषमण्डले निशि रात्रौ गत्वा अन्यं महिषं हत्वा खादति, शेषमुद्धरितमुपाश्रयं नयति।

मोदकदृष्टान्तमाह-

मोयगजत्तमलद्धुं, भंतु कवाडे घरस्स निसि खाति ।
भाणं च भरेऊणं, आगतो आवस्सए विगडे ॥१४२॥

एकः साधुर्भिक्षां हिण्डमानो मोदकभक्तं पश्यति । तत्र सुचिरमवलोकितमवभासितं च. परं न लब्धं, ततस्तदलब्ध्वा तद्गुध्यवसायपरिणत एव प्रसुप्तः। रात्रौ तत्र गत्वा गृहस्य कपाटौ भङ्क्त्वा मोदकान् भक्षयति । शेषैर्मोदकैर्भाजनं भृत्वा समागतः। प्राभातिके आवश्यके विकटयति-ईदृशः स्वप्नो मया दृष्ट इति । ततः प्रभाते मोदकभृतभाजनं दृष्ट्वा ज्ञातमयथा स्त्यानर्द्धिरिति,तस्यापि लिङ्गपाराञ्चिकं दत्तम् । शेषं पुद्गलाऽऽख्यानकवद्वक्तव्यम् ।

अथ फरुसकदृष्टान्तमाह-

अवरो फरुसगमुंडो, मट्टियपिंडे व छिंदिउं सीसे ।
एगंते अवयज्झइ, पासुत्ता णं विगडणा य ॥ १४३ ॥

अपरः कश्चित् फरुसकः कुम्भकारः क्वापि गच्छे मुण्डो जातः, प्रव्रजित इत्यर्थः। तस्य रात्रौ प्रसुप्तस्य स्त्यानर्द्धिरुदीर्णा। स च पूर्वं मृत्तिकाच्छेदाभ्यासी,ततो मृत्तिकापिण्डानीव समीपप्रसुप्तानां साधूनां शिरांसि छेत्तुमारब्धः। तानि च शिरांसि, कलेवराणि चैकान्ते अपोज्झति। शेषाः साधवोऽपसृताः। स च भूयोऽपि प्रसुप्तः। ततः प्रभाते ईदृशः स्वप्नो मया दृष्ट इति विकटना कृता। प्रभाते च साधूनां शिरांसि, कलेवराणि च पृथक्भूतानि दृष्ट्वा ज्ञातम्-यथा स्त्यानर्द्धिरिति लिङ्गपाराञ्चिकं दत्तम् ।

अथ दन्तदृष्टान्तमाह-

अवरो वि धाडिओ म-त्तहत्थिणा पुरकवाडे भंतूण ।
तस्सुक्खणित्तु दंते, वसहीबाहिं विगडणा य ॥ १४४॥

अपरः कोऽपि साधुर्गृहस्थभावे मत्तहस्तिना शुण्डामुत्क्षिप्य धावता धाटितः पलायमानो महता कष्टेन उज्झितः, एष चूर्णभिप्रायः । निशीथचूर्णिकृता तु-" एगो साहू गायरग्गगतो हत्थिणा पक्खित्तो ।" इति लिखितम्। एवमुभयथाऽपि हस्तिकृतं पराभवं स्मृत्वा स साधुस्तस्योपरि प्रद्वेषमापन्नः प्रसुप्तः। उदीर्णस्त्यानर्द्धिरुत्थाय पुरकपाटौ भङ्क्त्वा हस्तिशालां गत्वा तस्य हस्तिनो व्यापादनं कृत्वा दन्तानुत्खन्य वसतेर्बहिः स्थापयित्वा भूयोऽपि सुप्तः । प्रभाते च विकटना-स्वप्नमालोचयति । साधुभिश्च दिग्यवलोकनं कुर्वद्भिर्गजदन्तावीक्षितौ । ततः स्त्यानर्द्धिमान् असाविति कृत्वा लिङ्गपाराञ्चिकः कृतः ।

वटशाखाभञ्जनदृष्टान्तमाह-

उब्भामग वडसाले-ण घट्टितो केइ पुव्ववणहत्थी ।
वडसालभंजणाऽऽगण, उस्सगाऽऽलोयणा गोसे ॥१४५॥

एकः साधुरुद्भ्रामकः भिक्षाचर्यां गतः, तत्र ग्रामस्यापान्तराले वटवृक्षो महान् विद्यते, स च साधुर्गाढतरमुष्णाभिहतो भरितभाजनस्तृषितबुभुक्षित ईर्योपयुक्तो वेगेनाऽऽगच्छन्। (वडसालेण त्ति) लिङ्गव्यत्ययात् वटपादपस्य शाखया शिरसि घट्टितः सुष्ठुतरं परितापितः, ततो वटस्योपरि प्रद्वेषमुपगतः, तदध्यवसायपरिणतश्च प्रसुप्तः। उदीर्णस्त्यानर्द्धिरुत्थाय तत्र गत्वा वटपादपं भङ्क्त्वा सम्मूलतोयां शाखामानीयोपाश्रयोपरि स्थापितवान्। उत्सर्गे च आवश्यककायोत्सर्गेत्रिके कृते,तथैव गुरूणामालोचयति,ततो दिग्यवलोके कृते तथैव ज्ञातम्, लिङ्गपाराञ्चिकश्च कृतः। केचिदाचार्या ब्रुवते-स साधुः पूर्वभवे वनहस्ती बभूव, ततो मनुजभवमागतस्य प्रव्रजितस्योदीर्णस्त्यानर्द्धेः पूर्वभवाभ्यासाद्वटशालाभञ्जनमभवत् । शेषं प्राग्वत् ।

कथं पुनरसौ परित्यजनीय इत्याह-

केसवअद्धबलं प-न्नवेंति मुय लिंग णत्थि तुह चरणं ।
णेच्छस्स हरइ संघो, ण वि एको मा पदोसं तु ॥१४६॥

केशवो वासुदेवस्तस्य बलादर्द्धबलं स्त्यानर्द्धिमतो भवतीति तीर्थकृदादयः प्रज्ञापयन्ति । एतच्च प्रथमसंहननिनामङ्गीकृत्योक्तम् । इत्यादि । बृ० ४ उ० ।

थिणद्धितिग-स्त्यानर्द्धित्रिक-न० । निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिलक्षणे स्त्यानर्द्धर्युपलक्षिते त्रिके, कर्म० ३ कर्म० । " स्तस्य थोऽसमस्तस्तम्बे" ॥८।२।४५॥ इति स्तस्य थः । प्रा० २ पाद ।

थुंडुकिअ-न० । देशी -रुष्कुपितवदनसंकोचने,मौने च । दे० ना० ५ वर्ग ३१ गाथा ।

थुइ-स्तुति-स्त्री० । स्तवने, आव० २ अ० । सूत्र० । स्तुतिर्द्विधा-प्रणामरूपा, असाधारणगुणोत्कीर्त्तनरूपा च । नं० । श्लोकोत्तरसद्भूततीर्थकृद्गुणवर्णनपरायां (प्रव० १ द्वार) एकश्लोकप्रमाणायां (पञ्चा० ४ विव०) ऊर्द्धीभूय जघन्येन चतुष्पयस्तुतिप्रकथने, मध्यमेनाष्टस्तुतिकथने, उत्कृष्टेन १०८ स्तुतिकथने, उत्त० १४ अ० । ध० । नि० चू० । अनुशिष्टौ, व्य० १ उ० । संथा० । (स्तुतिस्तवयोर्विशेषः ' थव ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २३८३ पृष्ठे उक्तः) चैत्यवन्दनायां यत्कायोत्सर्गानन्तरं भण्यते तास्तुतय इति वृद्धाः । (तास्तिस्रश्चतस्रो वा दीयन्ते इति ' चेइयवंदण ' शब्दे तृतीयभागे १३१३ पृष्ठे स्तुतिप्रस्तावे प्रत्यपादि) तिस्रः स्तुतीराहतीर्व्याख्यायाऽऽह हरिभद्रसूरिः-तिस्रः स्तुतयो नियमेनोच्यन्ते,केचित्तु अन्या अपि पठन्ति; न च तत्र नियम इति न तद्व्याख्यानक्रिया । एवमेतत्पाठतोपचितपुण्यसंभारा उचितेषूपयोगफलमेतदिति ज्ञापनार्थं पठन्ति-" वेयावच्चगराणं संतिगराणं सम्मद्दिट्ठिसमाहिगराणं करेमि काउस्सग्गं ।"इत्यादि यावद् "वोसिरामि ।" व्याख्या-पूर्ववत्,नवरं-वैयावृत्यकराणां प्रवचनार्थे व्यापृतभावानां यथाऽम्बाकूष्माण्ड्यादीनां शान्तिकराणां क्षुद्रोपद्रवेषु सम्यग्दृष्टीनां सामान्येनाऽन्येषां समाधिकराणां स्वपरयोस्तेषामेव स्वरूपमेतदेवैषामिति वृद्धसंप्रदायः । एतेषां संबन्धिनं, सप्तम्यर्थे वा षष्ठी, एतद्विषयम्-एतानाश्रित्य, करोमि कायोत्सर्गमिति । कायोत्सर्गविस्तरः पूर्ववत्, स्तुतिश्च, नवरमेषां वैयावृत्यकराणां तथा तद्भाववृद्धेरित्युक्तप्रायं, तदपरिज्ञानेऽप्यस्मात् तच्छुभसिद्धावित्यमेव वचनं ज्ञापकं,न चासिद्धमेतद्, अभिचारुकाऽऽदौ तथेक्षणात्,सदौचित्यप्रवृत्त्या सर्वत्र प्रवर्त्तितव्यमित्यैदम्पर्यमस्य,तदेतत् सकलयोगबीजं वन्दनाऽऽदिप्रत्ययमित्यादि न पठ्यते, अपि त्वन्यत्रोच्छ्वसितेनेत्यादि,तेषामविरतत्वात्, सामान्यप्रवृत्तेरित्थमेवोपकारदर्शनात्, वचनप्रामाण्यादिति व्याख्यातम् " सिद्धेभ्यः " इत्यादिसूत्रम् । ल० । आव० । ध० ।

" ता उस्सग्गं किच्चा, वितीयचिसिलोगिया य इह थुत्ति ।
जमइ अहवा थट्ठ-माणाइसव्वञ्जिणिंदाण ॥ २६ ॥
पुव्वुत्तकयं विहिणा, कट्ठुति सुत्तत्थयं च संविग्गा ।
सुअस्स जगवं नाणं, उस्सग्गाविओ थुणइ संपुत्ति ॥२७ ॥
तत्तिया अहवा वट्ट माणा तिसिलोगिया य सुहवणा ।
कम्मस्स निज्जरट्ठा, महया सद्देण घोसंति ॥ २८ ॥
किच्चा तु पुव्वविहिणा, सक्कयं कहइ जाव पणिहाणं ।" (२६)
सन्ध० प० ।
" तिन्नि वा कट्ठई जाव, थुईओ तिसिलोइआ ।
ताव तत्थ अणुण्णायं, कारणेण परेण वि ॥ १ ॥ "
तिस्रः स्तुतयः कायोत्सर्गानन्तरं या दीयन्ते ता यावत्कर्षति, भणतीत्यर्थः । किंविशिष्टाः ? तत्राऽऽह-त्रिश्लोकिकाः त्रयः श्लोकाः छन्दोविशेषरूपा आधिक्येन यासु तास्तथा । " सिद्धाणं बुद्धाणं० " इत्येकः श्लोकः । " जो देवाण वि० " इति द्वितीयः । " एक्को वि नमोक्कारो० " इति तृतीय इति । ध० २ अधि० । बृ० । ओघ० । प्रति० ।
एतैर्व्याघातकारणैः समुपस्थितैः देशतः सर्वतो वाऽऽवश्यकमकृत्वा गच्छन्ति । तत्र देशतः कथमकृत्वेत्यत आह-

थुतिमंगलकितिकम्मे, काउस्सग्गे य तिविह किइकम्मे ।
तत्तो य पडिक्कमणं, आलोयणयाऍ कितिकम्मं ॥

स्तुतिमङ्गलमकृत्वा, स्तुतिमङ्गलाकरणे चाऽयं विधिः-आवश्यके समाप्ते द्वे स्तुती उच्चार्य तृतीयां स्तुतिमकृत्वा आभिग्रयां गच्छन्ति । तत्र च गत्वा ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य तृतीयां स्तुतिं ददति । अथवा-आवश्यके समाप्ते एकां स्तुतिं कृत्वा द्वे स्तुती अभिशय्यां गत्वा पूर्वविधिनोच्चरन्ति । अथवा-समाप्ते आवश्यकेऽभिशय्यां गत्वा तत्र तिस्रः स्तुतीर्ददति । अथवा-स्तुतिभ्यो यद् वाक् तत् कृतिकर्म, तस्मिन्नकृते तेऽभिशय्यां गत्वा तत्रैर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य मुखवस्त्रिकां च प्रत्युपेक्ष्य कृतिकर्म कृत्वा स्तुतीर्ददति । व्य० ३ उ० । (इत्यादि प्र० भागे ७२४ पृष्ठे विस्तरः)

आवस्सय काऊणं, जिणोवइट्ठं गुरूवएसेणं ।
तिन्नि थुती पडिलेहा, कालस्स विही इमो तत्थ ॥

आवश्यकं जिनोपदिष्टं गुरूपदेशेन कृत्वा पर्यन्ते तिस्रः स्तुतयः प्रवर्त्तमाना वक्तव्याः । तद्यथा-प्रथमा एकश्लोकिका, द्वितीया द्विश्लोकिका, तृतीया त्रिश्लोकिका । इत्यादि । व्य० ७ उ० । पं० व० । पञ्चा० ।

सुकयं आणत्तिं पिव, लोए काऊण सुकयकिइकम्मा ।
वड्ढंतीओ थुइओ, गुरुथुइगहणे कए तिन्नि ॥६॥

सुकृतामाज्ञामिव लोके कृत्वा कश्चिद्विनीतः सुकृतकृतिकर्म्मा सन्निवेदयत्येवमेतदपि द्रष्टव्यम् । तदनु कायप्रमार्जनानन्तरकाले वर्द्धमानाः स्तुतयो रूपतः शब्दतश्च गुरुस्तुतिग्रहणे कृते सति तिस्रस्तिस्रो भवन्ति । इति गाथाऽर्थः ॥ पं० व० २ द्वार ।

निस्सकडमनिस्सकडे, वि चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि ।
वेलं च चेइयाणि य, नाउं एक्किक्किया वा वि ॥

निश्राकृते गच्छप्रतिबद्धे, अनिश्राकृते च तद्विपरीते, चैत्ये सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते, अथ प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति, भूयांसि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेलां, चैत्यानि वा ज्ञात्वा, प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्येति । बृ० १ उ० । ('वंदण' शब्दे विशेषो वक्ष्यते) " तं काउं आवस्सगं अंते तिन्नि अहवा-एगा एकसिलोगा, बितिया बिसिलोगा, थुतीओ करेंति । " आ० चू० ४ अ० । आव० । सम्पूर्णचैत्यवन्दना तिसिलोगा संपुण्णा भवति । पञ्चा० ३ विव० । (चतुर्थस्तुतिवन्दना स्तुतित्रयेणेति ' चेइयवंदण ' शब्दे १३१२ पृष्ठे द्रष्टव्यास्तु किलाऽर्वाचीन विशेषः ' चेइयवंदण ' शब्दे १३२० पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (स्तुतिविषये) " सुयस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं " इत्यादि प्राग्वत् यावद् " वोसिरामि, पृष्ठे तृतीयभागे द्रष्टव्यः " इत्यादि प्राग्वत् यावद् " वोसिरामि, उस्सग्गं वंदणवत्तियाए । " एवमेव काउस्सग्गं करेति । " आह एवं सुत्तं पठित्ता पणवीसुस्सासे ॥ नमोक्कारेण पारित्ता विसुद्ध-" सुयनाणस्स चउत्थी त्ति तती नमोक्कारो । " सम्मत्तदंसणचरणदंसणसुयातियारा मगलानिमित्तं चरणदंसण...
गाणं सिद्धाण थुतिं कट्ठेति, भणिय च सिद्धाणं थुईए । " इति ।
सा चेयं स्तुतिः-" सिद्धाणं बुद्धाणं० " इत्यादि । आव० ५ अ० ।

थुइजुयल-स्तुतियुगल-न० । समयपरिभाषया स्तुतिचतुष्टये, पञ्चा० ३ विव० ।

थुइमंगल-स्तुतिमङ्गल-न० । प्रतिक्रमणस्यान्ते स्तुतित्रयभणने, ओघ० ।

थुइवुड्ढि-स्तुतिवृद्धि-स्त्री० । प्रवर्द्धमानस्तुतिपरिपाठे, पञ्चा० ८ विव० ।

थुक्कार-थूत्कार-पु० । महता शब्देन थूत्करणे, रा० ।

थुक्किअ-न० । देशी-उन्नते, दे० ना० ५ वर्ग २८ गाथा ।

थुड-स्थुड-न० । वनस्पतीनां स्कन्धभागे, स्था० १० ठा० ।

थुड्डहीर-न० । देशी-चामरे, दे० ना० ५ वर्ग २८ गाथा ।

थुणण-स्तवन-न० । स्तोत्रैर्गुणकीर्तने, आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ० । दशा० ।

थुणा-पुं० । देशी-हमे, दे० ना० ७ वर्ग २७ गाथा ।

थुरुणुल्लण-न० । देशी-शय्यायाम्, दे० ना० ५ वर्ग २८ गाथा ।

थुल्लम-पु० । देशी-पटकुट्याम, दे० ना० ५ वर्ग २८ गाथा ।

थुल्ल-थोर-त्रि० । रस्य लः । " सेवाऽऽदौ वा " ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति लद्वित्वम् । प्रा० २ पाद । परिवर्तने, दे० ना० ५ वर्ग २७ गाथा ।

स्थूल-त्रि० । मोट्टे, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

थुवअ-स्तावक-त्रि० । " उः सास्नास्तावके " ॥ ८ । १ । ७५ ॥ इति आदेरात उत्वम् । स्तोतरि, प्रा० १ पाद ।

थुव्वंत-स्तूयमान-त्रि० । " न वा कर्मभावे व्वः क्यस्य च लुक् " ॥ ८ । ४ । २४२ ॥ इति भावे कर्मणि वा वर्तमानस्य स्तु-धातोरन्ते द्विरुक्तो वकारोऽऽगमो वा । प्रा० ४ पाद । आस्तिनन्द्यमाने, ज्ञा० १४ श० ।

थू-थु-अव्य० । " थू कुत्सायाम् " ॥ ८ । २ । २०० ॥ ' थू ' इति कुत्सायां प्रयोक्तव्यम् । कुत्सायाम्, " थू निल्लज्जो लोओ । " प्रा० २ पाद ।

थूण-स्तेन-पुं० । " ऊः स्तेने वा " ॥ ८ । १ । १४७ ॥ इति स्तेनशब्दस्यैतो वा ऊत्वम् । ' थूणो ' पक्षे-' थेणो । ' चौरे, प्रा० १ पाद । स्तेन, दे० ना० ५ वर्ग २७ गाथा ।

थूणा—स्थूणा—स्त्री० । गृहनाऽऽदिस्तम्भनार्थबल्लीकाष्ठे, नि० चू० १३ उ० । "थूणा णं भंते ! उड्ढं ऊसिया समाणी जावइयं खेत्तं ओगाहित्ता णं चिट्ठति, तिरियं पि य णं आयता समाणी तावइयं चेव खेत्तं ओगाहित्ता णं चिट्ठइ ? । हंता गोयमा ! थूणा णं उड्ढं ऊसिया तं चेव चिट्ठइ ।" प्रज्ञा० १५ पद । पूर्वजनपदभेदे, पूर्वस्यां दिशि स्थूणाविषय यावद् विहरेत् । बृ० १ उ० । अश्वे, दे० ना० ५ वर्ग २९ गाथा ।

थूणाग—स्थूणाक—पुं० । स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र एकः सामुद्रिकः छद्मस्थविहरतो वीरजिनस्य लक्षणानि दृष्ट्वा विस्मितः शक्रेण प्रत्युक्तः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

थूणामंडव—स्थूणामण्डप—पुं० । स्थूणाप्रधाने वस्त्राऽऽच्छादिते मण्डपे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

थूभ—स्तूप—पुं० । संघातावयवविनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । चैत्ये, जं० २ वक्ष० । रा० । जिनजनकादेहाऽऽदिदग्धस्थानेषु भरतेन स्तूपाः प्रवर्तन्त । आचा० (?) । रा० । आ० क० । उप० । ('आयारपकप्प' शब्दे द्वितीयभागे ३४५ पृष्ठे देवनाविकुर्वितस्तूपस्तुपद्वौविवादो दर्शितः) समूहे, विशे० । "थूभा पुण विक्खा होंति ।" "इट्टगादिचियावचा थूभो ज्ञायति ।" नि० चू० ३ उ० ।

थूभकरंड—स्तूपकरण्डक—न० । भूपभपुराऽऽसन्ने धन्ययक्षाऽऽधामे उद्याने, विपा० २ श्रु० ७ अ० ।

थूभमह—स्तूपमह—पुं० । स्तूपस्य विशिष्टे काले पूजायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

थूभिया—स्तूपिका—स्त्री० । लघुशिखरे, जं० १ वक्ष० । जी० । रा० । ज्ञा० ।

थूरी—स्त्री० देशी—तन्तुवायोपकरणे, दे० ना० ५ वर्ग ३० गाथा ।

थूल—स्थूल—त्रि० । प्रमाणतः मौल्यतश्च (आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । प्रश्न०) महति, प्रश्न० ४ संव० द्वार । बृहति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । बृहत्काये उपचितमांसशोणिते, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । उत्त० । आंसपुले, उत्त० १ अ० ।

थूलगअदिन्नादाण—स्थूलादत्ताऽऽदान—न० । स्थूलं परिस्थूलविषयत्वेन प्रसिद्धमिदं चौर्याऽऽरोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमदत्ताऽऽदानम् । आव० ६ अ० । तृतीयेऽणुव्रते, आव० । परिस्थूलविषयं चौर्याऽऽरोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमिति दुष्टाध्यवसायपूर्वकं स्थूलं, विपरीतमितरत्, स्थूलमेव स्थूलकं, स्थूलकं च तत् अदत्तादानं चेति समासः । आव० ६ अ० ।

थूलगअदिन्नादाणवेरमण—स्थूलकादत्ताऽऽदानविरमण—न० । श्रावकस्य तृतीयेऽणुव्रते, आव० ६ अ० । ('अदिन्नादाणवेरमण' शब्दे प्रथमभागे ५४० पृष्ठे व्याख्यातमिदम्)

थूलघोण—पुं० । देशी—शूकरे, दे० ना० ५ वर्ग २९ गाथा ।

थूलत्थंतरणासता—स्थूलार्थान्तरनाशता—स्त्री० । स्थूलार्थान्तरघटाऽऽदिनाशतायाम्, विशेषस्य सामान्यरूपादनित्यत्वे, द्रव्या० १८ अध्या० ।

थूलगपाण—स्थूलकप्राण—पुं० । द्वीन्द्रियाऽऽदिजीवे, आ० चू० ६ अ० ।

थूलगपाणवहविरयाइ—स्थूलकप्राणवधविरत्यादि—पुं० । असुक्रमसत्त्वहिंसाविरमणप्रभृतौ, पञ्चा० १ विव० ।

थूलगपाणवहवेरमण—स्थूलकप्राणवधविरमण—न० । प्रथमाणुव्रते, पञ्चा० । स्थूला असूक्ष्माः कुदृष्टिभिरपि प्राणित्वेन प्रायः प्रतीयमानत्वाद् द्वीन्द्रियाऽऽदयः, त एव स्थूलकाः । एतेनैकेन्द्रियाणां व्युदासः । सम्यग्दृष्टिभिरेव प्रायः प्रतीयमानत्वेन तेषां सूक्ष्मत्वात् । प्राणा उच्छ्वासाऽऽदयः, तद्योगात्प्राणाः प्राणिनः, अनेनाचेतनानां व्युदासः, तद्वधस्यहाप्रत्याख्येयत्वात् । तेषां वधो हिंसा, तस्य विरमणं विरतिः स्थूलकप्राणवधविरमणम् । पञ्चा० १ विव० ।

थूलगपाणाइवाय—स्थूलकप्राणातिपात—पुं० । स्थूला एव स्थूलकाः, प्राणा इन्द्रियाऽऽदयः, तेषामतिपातः स्थूलकप्राणातिपातः । द्वीन्द्रियाऽऽदिजीववधे, आव० ६ अ० ।

थूलगपाणाइवायवेरमण—स्थूलकप्राणातिपातविरमण—न० । प्रथमाणुव्रते, आव० ६ अ० । आ० चू० । ('पाणाइवायवेरमण' शब्दे व्याख्यास्यते)

थूलगमुसावाय—स्थूलकमृषावाद—पुं० । परिस्थूलवस्तुविषयेऽतिदुष्टविवक्षासमुद्भवः स्थूलः, स्थूल एव स्थूलकः, स्थूलकश्चाऽसौ मृषावादश्चेति समासः । आव० ६ अ० । आ० । स्थूलानृतवादे, पञ्चा० १ विव० ।

थूलगमुसावायवेरमण—स्थूलकमृषावादविरमण—न० । द्वितीयाणुव्रते, आव० ६ अ० । ('मुसावाय' शब्दे व्याख्यास्यते)

थूलभद्द—स्थूलभद्र—पुं० । शकटालपुत्रे आर्यसंभूतविजयस्य शिष्ये, कल्प० ८ क्षण ।

"अथाभूत्रवमे नन्दे, मन्त्रिराट् कल्पवंशजः । (५६)
शकटालः सुतौ तस्य, स्थूलभद्रश्रियकौ ।
यक्षा च यक्षदिन्ना च, भूताऽथ भूतदिन्नका ॥५७॥
सेणा वेणा तथा रेणा, तत्पुत्र्यः सप्त चाभवन् ।
द्विजो वररुचिस्त्वासीत्-नवनन्दं स शंसति ॥५८॥
अष्टोत्तरशतश्लोकैः-नन्दो मन्त्रिणमैक्षत ।
मन्त्री न किञ्चिदप्यूचे, तद्भार्यामथ सोऽस्तवीत् ॥५९॥
पृष्टस्तयोचे त्वद्भर्ता, मत्काव्यानि प्रशंसतु ।
उक्तस्तदर्थं मन्त्र्यूचे, न मिथ्यात्वं स्तवीम्यहम् ॥६०॥
मुहुस्तयोपरुद्धोऽवक्, स तदुक्तं सुभाषितम् ।
दीनाराष्टशतं नन्द-स्तस्यादात्प्रत्यहं ततः ॥६१॥
मन्त्र्यूचेऽवनीश ! किं दत्त, सोऽवदत् त्वत्प्रशंसया ।
मन्त्र्यूचे न प्रशंसामि, लौकिकानि पठत्यसौ ॥६२॥
मत्पुत्र्योऽपि पठन्त्यूचे, राज्ञा स्वः पार्श्वे सुताः ।
एकश्रुताऽऽदिपाठास्ताः, मन्त्रिणाऽन्तर्हिता धृताः ॥६३॥
राजसौधे द्विजोऽथाऽऽगा-त्ताः स्वपाठेऽपठन् क्रमात् ।
राज्ञा वररुचेर्दानं, वारितं स ततो निशि ॥६४॥
मुक्त्वाऽम्बुयन्त्रे दीनारान्, गङ्गान्तः स्तौति सोऽह्नि ताम् ।
हत्वांऽह्रिणा तदादाय, दत्ते गङ्गेति सोऽवदत् ॥६५॥
तच्छ्रुत्वा पार्थिवोऽमात्य-मूचे ददेऽस्य जाह्नवी ।
मन्त्र्यूचे मयि तत्रस्थे, चेद्दास्यति ददाति तत् ॥६६॥
उपमाबापयन्मन्त्री, तद् द्विजस्थापितं जले ।
प्रातर्नन्दोऽगमत्तत्र -ऽऽर्योऽपि मन्त्रियुतः स्तवम् ॥६७॥
स्तवान्तेऽन्तर्जले मग्नः, किञ्चिन्न प्राप स द्विजः ।

मन्त्री पोट्टलिकां राज्ञः, प्रदर्श्यादत्त तस्य ताम् ॥ ६८ ॥
मार्षीत्युद्भावितोऽप्यासी--न्मन्त्रिच्छिद्राणि वीक्षते ।
श्रीयकस्याथ वीवाहे, माङ्गलिक्याय भूभुजः ॥६९॥
सामग्रीं क्रियमाणां सो--ऽज्ञासीद्दासीमुखात्ततः ।
क्रीडन्ति डिम्भरूपाणि, दायं दायं सुखाऽऽदिकाम् ॥७०॥
अपाठयद्वररुचिः, सर्वेष्वपि पथेष्विदम् ।
"तं न विजाणइ लोओ, जं सगडालो करेसिइ ।
नंदराउं मारेवि करि, सिरियउं रज्जे ठवेसइ" ॥७१॥
राजपाठ्यां नृपः श्रुत्वा, तच्चरैर्वीक्ष्य चाकुपत् ।
नमतो मन्त्रिणः क्ष्मानु-स्ततो जज्ञे पराङ्मुखः ॥ ७२ ॥
मन्त्री गृहं गतः पुत्र-मूचे भोः ! मम मृत्युना ।
कुटुम्बं जीवतादेत-न्नो चेत्सर्वं विनङ्क्ष्यति ॥ ७३ ॥
ततो नृपं नमन्तं मां, वत्स ! खड्गेन घातयेः ।
आः पापमित्यथार्द्दीऽस्त, मन्त्र्यूचे मां विषान्मृतम् ॥ ७४ ॥
घ्नतः पापं न ते सोऽथ, तदादिष्टं तथाऽकरोत् ।
हा हा अकार्यमित्यूचे, राज्ञाऽथ श्रीयकोऽवदत् ॥ ७५ ॥
यो वो नेष्टः स नोऽप्येवं, ततः संस्कार्यं तं नृपः ।
श्रीयकं स्माऽऽह मन्त्री स्याः,सोऽवग् भ्राताऽस्ति मे बृहन्॥७६॥
कोशागृहे स्थूलभद्र--स्तमथाजूहवन्नृपः ।
निर्ययौ द्वादशाब्दान्ते, राज्ञोक्तः स्माऽऽह चिन्तये ॥ ७७ ॥
राजोचे शोकवन्यन्त-श्चिन्तयान्यत्र मा गमः"।
सोऽथ तत्र गतो दध्यौ, क्व भोगा राज्यचिन्तने ? ॥ ७८ ॥
"मुद्रेयं खलु पारवश्यजननी सौख्यच्छिदे देहिनां,
नित्यं कर्कशकर्मबन्धनकरी धर्मान्तरायाऽऽवहा ।
राजार्थैकपरैव संप्रति पुनः स्वार्थप्रजार्थापहृत्,
तद् ब्रूमः किमतः परं मतिमतां लोकद्वयापायकृत् ? ॥७९॥"
गतिश्च नरकाऽन्ता स्या--त्कृत्वा लोचं ततस्तदा ।
रत्नकम्बलदशाभी--रजोहरणमप्यथ ॥८०॥
नृपमेत्याबदद्धर्म--लाभस्तेऽस्त्विति चिन्तितम् ।
राजोचे निर्वहेः सुष्ठु, यातोऽसौ दर्शयवा-नृपः ॥८१॥
मिषात् कोशागृहे यास्य--त्यैक्षिष्टोपरि स्थितः ।
मृतकेभ्यो जनोऽपैति, मुखानि पिदधाति च ॥ ८२ ॥
निर्विकारः स भगवान्, ययौ दृष्ट्वाऽथ भूभृता ।
श्रीयकः स्थापितो मन्त्री, स्थूलभद्रः पुनर्मुनिः ॥ ८३ ॥
संभूतसूरेः शिष्योऽभूत्, श्रीयको भ्रातुरञ्जसा ।
मिलितुं याति कोशायाः, स्थूलभद्ररता च सा ॥८४॥
मनुष्यमीहते नान्य-मुपकोशा तु तत्स्वसा ।
तत्संभोक्ता वररुचि-स्तत्कोशां श्रीयकोऽवदत् ॥ ८५ ॥
इतो मृतः पिताऽस्माकं, भ्रातुश्च विरहोऽभवत् ।
तव प्रियवियोगोऽभू-त्तदेनं पाययाऽऽसवम् ॥ ८६ ॥
स्वस्रा तदुक्तया चन्द्र-प्रभां स पायितः सुराम् ।
श्रीयकस्येति कोशाऽऽख्य-त्सोऽथ भावितमब्रुजम् ॥ ८७ ॥
नृपाऽऽस्थाने वररुचे-रार्पयत्कस्यचित्करात् ।
तेनाऽऽघ्रातं तदैव द्राक्, तत्रैवाऽवमदासवम् ॥ ८८ ॥
निःसारितोऽथ ह्रीस्तित्वा, प्रायश्चित्तं द्विजा ददुः ।
तप्तस्य त्रपुणः पानं, तेनाऽसौ पञ्चतां गतः ॥ ८९ ॥
स्थूलभद्रस्तपः कुर्वन्, विहरन् गुरुभिः सह ।
आगमत्पाटलीपुत्रं, वर्षाकालमथाऽन्यदा ॥ ९० ॥
अग्राहाभिग्रहं साधु-रेकः सिंहगुहास्थितौ ।
अन्यः सर्पबिले चान्यः, कूपकाऽऽस्यदारुणि ॥ ९१ ॥

स्थूलभद्रश्चतुर्मासीं, कर्तुं कोशागृहे पुनः ।
सिंहसर्पौ शमं यातौ, तुष्टा कोशा प्रियाऽऽगमात् ॥ ९२ ॥
उत्थायोचे विधेयं किं, चतुर्मास्याश्रयोऽस्त्विह ।
सैव चित्रशालाऽस्ति, स्थितस्तस्यां प्रभुस्ततः ॥ ९३ ॥
रात्रौ शृङ्गारमाधाय, प्रभुक्षोभार्थमागता ।
न पारितः क्षोभयितुं, प्रभुर्मन्दरसोदरः ॥ ९४ ॥
धर्मं श्रुत्वा ततो जज्ञे, श्राविका धर्मतत्त्ववित् ।
राजादिष्टं नरं मुक्त्वा, सा ब्रह्मव्रतमग्रहीत् ॥ ९५ ॥
चतुर्मासाऽऽगमे सिंह-गुहाऽऽद्यरागतान् मुनीन् ।
गुरुः स्माऽऽह स्वागत वो, हंहो ! दुष्करकारकाः ! ॥९६॥
आयाते स्थूलभद्रे तु, गुरुरुत्थाय सम्भ्रमात् ।
ऊचे ते स्वागतं साधो !, कृतदुष्करदुष्कर ! ॥ ९७ ॥
त्रयोऽपि तेऽथ सासूयाः, मिथः स्माऽऽहुस्तपस्विनः ।
अमात्यपुत्र इत्येवं, बहुमन्यन्त सूरयः ॥ ९८ ॥
अथ सिंहगुहासाधु-रन्यप्रावृषि मत्सरात् ।
कोशागृहे चतुर्मासी-कृतेऽभिग्रहमग्रहीत् ॥ ९९ ॥
आचार्यैरुपयुक्त्याऽथ, वारितोऽपि जगाम सः ।
वसतिर्मार्गिता दत्ता, तया तां स निरीक्ष्य च ॥ १०० ॥
अनुरक्तोऽर्थयामास, सा नैच्छद्भणति स्म तम् ।
आनय द्रव्यलक्षं मे, सोऽवदन्मे कुतो धनम् ? ॥ १०१ ॥
सोचे नेपालभूपालः, साधूनां रत्नकम्बलम् ।
ददाति लक्षमूल्यं स, तत्रागाल्लब्धवांश्च तत् ॥ १०२ ॥
आगच्छतश्च चौराणां, लक्षं याति इत्यवक् शुकः ।
स्तेनसेनापतिर्वीक्ष्या-ऽऽयान्तं भिक्षुमुपैक्षत ॥ १०३ ॥
गते तत्र पुनः कीरो-ऽवादील्लक्षं गतं गतम् ।
ततस्तमनुगत्योचे, सोऽवग्गच्छेऽस्ति कम्बलम् ॥ १०४ ॥
तत्र वेश्याकृते मुक्तो, ययौ तस्याः ददौ च तम् ।
तया चन्दनिकायां स, क्षिप्तो वार्यतां मुनेः ॥ १०५ ॥
सोचे शोचस्यमुं न स्व, त्वमपीदृग् भविष्यसि ।
सत्तो विषयपङ्कान्तः, स प्रबुद्धोऽथ तद्गिरा ॥ १०६ ॥
मिथ्यादुष्कृतमुक्त्वाऽगाद्, गुरोरालोचयत्ततः ।
तपालब्धोऽथ गुरुणा, ज्ञातमात्मपरान्तरम् ॥ १०७ ॥
स्थूलभद्रोऽधर्मेद तां, चिर परिचितामपि ।
सत्वस्तु प्रार्थयामास, विगुप्तोऽर्थार्जनेन च । १०८ ॥
गुरुभक्तिमशक्यान्यः, स्थूलभद्रं च सोऽथ तम् ।
रथिकस्यान्यदा कोशां, ददौ राजा पुरोऽस्य सा ॥ १०९ ॥
स्थूलभद्रगुणानाख्य-त्र तथापाठयत्तम् ।
(इतः कथानकं वर्णयत्यामुक्तम्)
तस्मिंश्च काले संजज्ञे, दुष्कालो द्वादशाब्दकः ।
इतस्ततोऽम्बुधेस्तीरे, नमनिःकम्य साधुभिः ॥ ११० ॥
विस्मृतिं याति सिद्धान्ते, गुणनाऽभावतस्तदा ।
पाटलीपुत्रे स्थित्वा, यद्यस्याऽऽयाति तच्छ्रुतम् ॥१११॥
मेलयद्भिः समस्तं तै-र्मिलितैकादशाऽऽत्मिका ।
भद्रबाहुर्द्वादशाङ्ग-भृन्नेपालेषु निश्चित ॥ ११२ ॥
सङ्घः सङ्घाटकेनोचे, पूर्वाण्यध्यापयेति तम् ।
गुरुरूचे महाप्राणं, प्रविष्टोऽस्मि ततोऽधुना ॥ ११३ ॥
न क्षमो वाचनां दातुं, संघस्याऽऽचार्यामिवृत्य सः ।
पुनः सङ्घाटकेनोचे, सङ्घाऽऽज्ञां यो विलङ्घते ॥ ११४ ॥
को दण्डस्तस्य सोऽवोच-त्सङ्घाद्बाह्यो हि सः ।

ततोऽधुना किं क्रियते, सोऽवग्मोद्घाटनं कुरु ॥ ११५ ॥
शिष्यान् प्रेषयतां प्राज्ञान्, दास्ये सप्ताऽपि वाचनाः ।
भिक्षाचर्यांः समायातः, कालवेलाविकालयोः ॥ ११६ ॥
संज्ञाभूम्यागतश्चैव, तिस्रश्चाऽऽवश्यके पुनः ।
सिद्धे ध्याने महाप्राणे, स परावर्त्तते भुनम् ॥ ११७ ॥
आंद्दन्तं ततोऽध्यार्दि, यावदन्तर्मुहूर्ततः ।
स्थूलभद्राऽऽदिकाऽऽयासी--च्छिष्यपञ्चशती ततः ॥११८॥
निरन्तरं वाचनाना मभावेऽध्येतुमक्षमाः ।
स्थूलभद्रं विना सर्वे, पराभज्याऽपरे ययुः ॥११९॥
ध्याने स्तोकावशेषे स, पृष्टः श्रीभद्रबाहुना ।
किं खिद्यसे न खिद्येऽहं, कश्चित्कालं क्षमस्व तत् ॥१२०॥
सिद्धध्यानः सदा सर्व-दिनं दास्यामि वाचनाम् ।
सोऽप्राक्षीत्किं मयाऽधीतं, शेषं वा सूरयोऽभ्यधुः ॥१२१॥
अष्टाशीतिर्हि सूत्राण्यो-पम्य सिद्धार्थमन्दरौ ।
इतो न्यूनेनाऽपि परं, समयेन पठिष्यसि ॥१२२॥
दशपूर्वी छिवस्तूना-ऽध्यापि ध्याने समर्थिते ।
अत्रान्तरे विहारेण, प्रययुः पाटलीपुरे ॥१२३॥
समाप्ययास्तव्रतास्तत्र, स्थूलभद्रस्य जामयः ।
उद्यानस्थान् गुरून् स्थूल-भद्रं चाऽऽनन्तुमाययुः ॥ १२४ ॥
गुरूनत्वाऽवदन् कुत्र, ज्येष्ठाऽऽर्यः सूर्यांऽभ्यधुः ।
परत्र गुणयन्नस्ति, धीदध्याऽऽयान्तीः सहोदराः ॥१२५॥
ऋद्धिं दर्शयितुं सिंह-रूपमाधाय तस्थिवान् ।
ताः सिंहं वीक्ष्य पृष्ठक्कु-र्सार्यः सिंहेन भक्षितः ॥१२६॥
गुरुरूचे न सिंहः स, भ्राता वो लब्धिमैक्षयत् ।
इत्याकर्ण्यसमथाऽऽनमु-स्ताः क्षान्तोऽपि कौशलम् ॥१२७॥
यक्षोवाच परिव्रज्य, श्रीयको वर्षपर्वणि ।
अमनार्थं मयाऽकारि, निशीथे मृत्युमाप्तवान् ॥१२८॥
ततश्च मामभुञ्जानां, विदेहे देवताऽनयत् ।
तत्र पृष्ट्वः प्रभुः प्राऽऽह, ऋषिहत्याऽत्र ते न तत् ॥१२९॥
मया निन्येऽध्ययनं, स्वाम्युक्तं मुक्तिमात्रतः (?) ।
वन्दित्वा तास्ततो याताः, द्वितीयेऽह्नि गुपनक्ष्युपः ॥ १३० ॥
न गुरुर्वाचनां दत्ते, स ज्ञात्वा स्वकृतं ततः ।
नैतत्पुन. करिष्यामी-त्येवं कष्टेन भूयसा ॥१३१॥
क्षामितोऽध्यापयच्चैव-मुक्ता माऽन्य ददेः पुनः ।
ब्युच्छिन्नाऽथ चतुःपूर्वी, दशनाऽन्त्यच्छिन्नस्तुगुरुः ॥ १३२ ॥
योगसंग्राहिता चैव, शिक्षायां स्थूलभद्रवत् । " आ० क० ।

थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जथूलभद्दे गोयमसगुत्ते ॥

स्थविरस्याऽऽर्यसंभूतिविजयस्य माठरगोत्रस्य शिष्यः स्थविर आर्यः स्थूलभद्रो गौतमगोत्रोऽभूत् । तत्संबन्धश्चाऽयम्-पाटलिपुरे शकटालमन्त्रिपुत्रः श्रीस्थूलभद्रो द्वादश वर्षाणि कोशागृहे स्थितो वररुचिद्विजप्रयोगात्पितरि मृते नन्दराजेनाऽऽकार्य मन्त्रिमुद्राऽऽदानायाऽभ्यर्थितः सन् पितृमृत्युं स्वचित्ते विचिन्त्य दीक्षामादत्त, पश्चाच्च संभूतविजयान्तिके व्रतानि प्रतिपद्य तदादेशपूर्वकं कोशागृहे चतुर्मासीमस्थात्, तदन्ते च बहुहावभावविधायिनीमपि तां प्रतिबोध्य गुरुसमीपमागतः सन् तैर्दुष्करदुष्करकारक इति संघसमक्षं प्रोचे, तद्वचसा पूर्वाऽऽयाताः सिंहगुहासर्पबिलकूपकाष्ठस्थायिनस्त्रयो मुनयो दूनाः, तेषु सिंहगुहास्थायी मुनिर्गुरुणा निवार्यमाणोऽपि द्वितीयचतुर्मास्यां कोशागृहे गतो, दृष्ट्वा च तां दिव्यरूपां चलचित्तोऽजनि, तदनु तया नेपालदेशाऽऽनायितरत्नकम्बलं खाते क्षिप्त्वा प्रतिबोधितः समागत्योवाच-

" स्थूलभद्रः स्थूलभद्रः, स एकोऽखिलसाधुषु ।
युक्तं दुष्करदुष्कर-कारको गुरुणा जगे " ॥ १ ॥
"पुष्फफलाणं च रसं, सुराए मंसाण महिलियाणं च ।
जाणंता जे विरया, ते दुक्करकारए वंदे " ॥ २ ॥

कोशाऽपि तत्प्रतिबोधिता सती स्वकामिनं पुष्पार्पितबाणैर्दूरस्थाम्रलुम्ब्यानयनगर्वितं रथकारं सर्षपराशिस्थसूच्यग्रस्थपुष्पोपरि नृत्यन्ती प्राऽऽह-

" न दुक्करं अम्बयलुंबितोडणं, न दुक्करं सरिसवनच्चियाई ।
तं दुक्करं तं च महाणुभावं, जं सो मुणी पमयवणम्मि वुच्छो ।३।"

कवयोऽपि-

" गिरौ गुहायां विजने वनान्तरे,
वासं श्रयन्तो वशिनः सहस्रशः ।
हर्म्येऽतिरम्ये युवतीजनान्तिके,
वशी स एकः शकटालनन्दनः ॥ ४ ॥
योऽग्नौ प्रविष्टोऽपि हि नैव दग्ध-
श्छिन्नो न खड्गाग्रकृतप्रचारः ।
कृष्णाहिरन्ध्रेऽप्युषितो न दष्टो,
नाक्तोऽञ्जनागारनिवासतो यः ॥ ५ ॥
वेश्या रागवती सदा तदनुगा षड्भी रसैर्भोजनं,
शुभ्रं धाम मनोहरं वपुरहो नव्यो वयःसङ्गमः ।
कालोऽयं जलदाऽऽविलस्तदपि यः कामं जिगायाऽऽदरात्,
तं वन्दे युवतिप्रबोधकुशलं श्रीस्थूलभद्रं मुनिम् ॥ ६ ॥
रे काम ! वामनयना तव मुख्यमस्त्रं,
वीरा वसन्तपिकपञ्चमचन्द्रमुख्याः ।
त्वत्सेवका हरिविरञ्चिमहेश्वराऽऽद्याः
हा हा हताश ! मुनिनाऽपि कथं हतस्त्वम् ? ॥ ७ ॥
श्रीनन्दिषेणरथनेमिमुनीश्वराऽऽर्द्र-
कुक्ष्या त्वया मदन रे ! मुनिरेव दृष्टः ।
ज्ञातं न नेमिमुनिजम्बुसुदर्शनानां,
तुर्यो भविष्यति निहत्य रणाङ्गणे माम् ॥ ८ ॥
श्रीनेमिनोऽपि शकटालसुतं विचार्य
मन्यामहे वयमसुं भटमेकमेव ।
देवोऽद्रिदुर्गमधिरुह्य जिगाय मोहं
यन्मोहनाऽऽलयमयं तु वशी प्रविश्य ॥ ९ ॥ "

अन्यदा द्वादशवर्षदुर्भिक्षप्रान्ते संघाऽऽग्रहेण श्रीभद्रबाहुभिः साधुपञ्चशत्याः प्रत्यहं वाचनासप्तकेन दृष्टिवादे पाठ्यमाने सप्तानामवाचनानिरन्येषु साधुषु उद्विग्नेषु श्रीस्थूलभद्रो वस्तुद्वयोनं दशपूर्वी पपाठ । अथैकदा यक्षासाधवीप्रमुखीनां वन्दनार्थमागतानां स्वभगिनीनां सिंहरूपदर्शनेन दूनाः श्रीभद्रबाहवो 'वाचनायामयोग्यस्त्वम्' इति श्रीस्थूलभद्रमूचिवांसः। पुनः संघाऽऽग्रहात् ' अथाऽन्यस्मै वाचना न देया ' इत्युक्त्वा सूत्रतो वाचनां ददुः ।

तथा चाऽऽहुः-

" केवली चरमो जम्बू-स्वाम्यथ प्रभवप्रभुः ।

शय्यंभवो यशोभद्रः, संभूतविजयस्तथा ॥ १ ॥
भद्रबाहुः स्थूलभद्रः, श्रुतकेवलिनो हि षट् ॥" कल्प० ८ क्षण। ति० । प्रा० क० । त० । आ० चू० । नं० । आव० । स्था० । उत्त० ।

" थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगुत्तस्स इमाओ सत्त अंतेवासिणीओ अहावच्चाओ अभिन्नायाओ होत्था । तं जहा-
" जक्खा य जक्खदिन्ना, भूया तह चेव भूयदिन्ना य ।
सेणा वेणा रेणा, भइणीओ थूलभद्दस्स ॥ १ ॥ " कल्प० ८ क्षण ।

जससभद्दं तुंगियं वंदे, भूयं चेव य माढरं ।
भद्दबाहुं च पाइन्नं, थूलभद्दं च गोयमं ॥ २६ ॥

स्थूलभद्रं, चः समुच्चये । गौतमं गौतमस्यापत्यम् गौतमः । " ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च " । ४ । १ । १४४ ॥ इत्यण्प्रत्ययः । तं, वन्दे इति क्रियायोगः । नं० ।

श्रीस्थूलभद्रो कोशागृहावस्थितत्वादाहारमपि गृहीतवानिति जनप्रवादः, परं शय्यातरपिण्डत्वेन कथं न जनप्रवादनिबन्धनमिति प्रश्ने, उत्तरम्-श्रीस्थूलभद्रस्य कोशागृहेऽवस्थितिरागमव्यवहारिणुज्ञातत्वेन यथा नानुचिता, तथा शय्यातरपिण्डग्रहणमपि ज्ञेयम् । ते हि सातिशयज्ञानवत्तया त्रैकालिकाविहितं विमृश्यैव सर्वमप्यनुजानन्त इति । ११० प्र० । सेन० १ उल्ला० । श्रीस्थूलभद्रस्य यतित्वे वेश्यागृहस्थितिः, सा सिद्धान्तोक्ता, न वा ?, यदि सिद्धान्तोक्ता, स सिद्धान्तो नामग्राहं प्रसाद्य इति प्रश्ने,उत्तरम्- नन्दीसूत्रे पारिणामिकयां बुद्धौ स्थूलभद्रः,कार्मिकयां तु वेश्या,सारथिश्च उदाहरणतयोक्ताः सन्ति,एतदर्थप्रतिपादने स्थूलभद्रस्य यतित्वेऽपि वेश्यागृहेऽवस्थानमुक्तमस्तीति । प्र० २२६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । श्रीस्थूलभद्रस्य नाम चतुरशीतिचतुर्विंशति यावत्स्थास्यति, तत्कुत्र ग्रन्थेऽस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-श्रीस्थूलभद्रस्य नाम चतुरशीतिचतुर्विंशति यावत्स्थास्यति, तच्चारित्राऽऽदिष्वस्तीति बोध्यम् । ९१ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

थूलरोट्टग-स्थूलरोट्टक-पुं० । बृहद्रोट्टके ' वाटी ' इति प्रसिद्धे, ध० २ अधि० ।

थूलवय-स्थूलवचस्-पुं० । स्थूलमनिपुणं वचो येषां ते स्थूलवचसः । आविचार्यभाषिषु, ध० २ अधि० । उत्त० ।

थूलादत्तादाण-स्थूलादत्ताऽऽदान-न० । स्थूलं च तददत्तस्याऽवितीर्णस्य द्रव्यस्याऽऽदानं ग्रहणं स्थूलादत्ताऽऽदानम् । पञ्चा० १ विव० । परिस्थूलवस्तुविषयं चौर्याऽऽरोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धे अतिदुष्टाध्यवसायपूर्वके चौर्ये, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

थूलि-धूलि-स्त्री० । " चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ " ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति धकारस्य थकारः । रेणौ, प्रा० ४ पाद ।

थूली-स्थूली-स्त्री० । गोधूमस्थूलचूर्णे, गोधूमानां स्थूलचूर्णः सर्पिषा सिक्तः स्थाल्यां पक्वः स्थूलीति मालवप्रसिद्धा । ध० २ अधि० ।

थूह-पुं० । देशी-प्रासादशिखरे, चातके, वल्मीके च । दे०ना०५ वर्ग ३२ गाथा ।

थेअ-स्थित-त्रि० । " क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स० " ॥ ८ । २ । ७७ ॥ इत्यादिना सलुक् । " युवर्णस्य गुणः " ॥ ८ । ४ । २३७ ॥ " क-ग-च-ज-त० " ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इत्यादिना तलुक् । गतनिवृत्ते, प्रा० ढु० ४ पाद ।

थेग-थेग-पुं० । कन्दविशेषे, ध० २ अधि० । प्रव० ।

थेज्ज-स्थैर्य-न० । स्थिरतायाम्, औ० । अष्ट० । स्थेये, त्रि० । प्रीतिकरतया गच्छचिन्तायाः प्रमाणभूते, अनेकशो वा प्रीतिकरीकृते, व्य० ३ उ० ।

थेज्जकरण-स्थैर्यकरण-न० । चित्तस्थिरतासंपादने, पञ्चा० १ विव० ।

थेण-पुं० । देशी-स्तेने, दे० ना० ५ वर्ग २९ गाथा ।

थेणिल्लिअ-न० । देशी-हृते, भीते च । दे०ना०५वर्ग३२गाथा ।

थेमिच-स्थैमित्य-न० । निश्चलत्वे, द्वा० १८ द्वा० ।

थेय-स्तेय-न० । परस्वापहरणे, द्वा० २० द्वा० ।

थेर-स्थविर-पुं० । ' थविर ' शब्दार्थे, प्रव० २ द्वार । चतुर्मुखे ब्रह्मणि, दे० ना० ५ वर्ग २९ गाथा ।

थेरकंचुइज्ज-स्थविरकञ्चुकिन्-पुं० । ' थविरकंचुइज्ज ' शब्दार्थे, भ० ६ श० ३३ उ० ।

थेरकप्प-स्थविरकल्प-पुं० । ' थविरकप्प ' शब्दार्थे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

थेरकप्पट्ठिइ-स्थविरकल्पस्थिति-स्त्री० । ' थविरकप्पट्ठिइ ' शब्दार्थे, बृ० ४ उ० ।

थेरकप्पिय-स्थविरकल्पिक-पुं० । ' थविरकप्पिय ' शब्दार्थे, प्रव० ७० द्वार ।

थेरभूमि-स्थविरभूमि-जातिश्रुतपर्यायस्थविरेषु, स्थविरभूमिस्त्रिधा । स्था० ३ ठा० २ उ० । (' थविरभूमि ' शब्दे २३६४ पृष्ठे व्याख्याता)

थेरभूमिपत्त-स्थविरभूमिप्राप्त-त्रि० । ' थविरभूमिपत्त ' शब्दार्थे, व्य० १ उ० । बृ० ।

थेरय-स्थविरक-पुं० । ' थविरय ' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

थेरवेयावच्च-स्थविरवैयावृत्य-न० । ' थविरवेयावच्च ' शब्दार्थे, व्य० १ उ० ।

थेरावली-स्थविरावली-स्त्री० । ' थविरावली ' शब्दार्थे, नं० ।

थेरासण-न० । देशी-पद्मे, दे० ना० ५ वर्ग २९ गाथा ।

थेरोवघाइय-स्थविरोपघातिक-पुं० । ' थविरोवघाइय ' शब्दार्थे, दशा० १ अ० ।

थेव-स्तोक-त्रि० । स्तोके, " थेवं पि हु नं बहु होइ । " (१९०) आव० नि० १ अ० । आ० म० । विशे० । देशी-बिन्दौ, दे०ना० ५ वर्ग २९ गाथा ।

थेवरिअ-देशी-जन्मनि, तूर्ये च । दे० ना० ५वर्ग २९ गाथा ।

थोअ-पुं० । देशी-रजके, मूलके च । दे० ना० ५ वर्ग ३२ गाथा ।

थोक-स्तोक-त्रि० । " स्तोकस्य थोक-थोव-थेवाः " ॥ ८ । २ ।१२५॥ इति स्तोकस्य थोकाऽऽदेशः । प्रा० २ पाद । अपर्याप्ते, आचा०१ श्रु० २ अ०४ उ०। को०। "अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च । न हु भे वीससियव्वं, थेवं पि हु तं बहुं होइ" ॥ १२० ॥ आव० १ अ० । आ० म० । विशे० ।

थोगुच्चय-स्तोकोच्चय-पुं० ।स्तोकस्योच्चयणे, ज्यो० १ पाहु० ।

थोणा-स्थूणा-स्त्री० । " स्थूणातूणे वा " ॥ ८ । १ । १२५ ॥ इति उत ओत्वम् । छादनस्तम्भे, प्रा० १ पाद ।

थोत्त-स्तोत्र-न० । " स्तस्य थोऽसमस्तस्तम्बे " ॥८ । २ । ४४ ॥ इति स्तस्य थः । प्रा० २ पाद । बहुश्लोकप्रमाणे स्तवे, पञ्चा० ४ विव० । पो० । स्तोत्राणि तु जिनानाम् (आप्तानाम्) पञ्चा० १ विव० ।

थोत्तगरुई-स्तोत्रगुर्वी-स्त्री० । स्तोत्रमहत्यां पूजायाम् , पञ्चा० ४ विव० ।

थोत्तरयणकोस-स्तोत्ररत्नकोश-पुं० । मुनिसुन्दरसूरिविरचिते जिनस्तवनग्रन्थे, कल्प० ।

तथोक्तं श्रीमुनिसुन्दरसूरिभिः स्वकृतस्तोत्ररत्नकोशे-
" वीराद्धिनन्दाङ्क (९९३) शरद्यचीकरत्,
त्वच्चैत्यपूते ध्रुवसेननृपतिः ।
यस्मिन्महैः संसदि कल्पवाचना-
माद्यां तदानन्दपुरं न कः स्तुते ? ॥१॥ " कल्प० ७ क्षण ।

थोत्तग-स्तोत्रक-पुं० । चकारहिकारतुशब्दवाशब्दाऽऽदिषु निपातेषु, विशे० । आ० म० ।

थोयव्व-स्तोतव्य-त्रि० । पूजनीये, पञ्चा० ।

चरणपडिवत्तिरूवो,थोयव्वोचियपवित्तिओ गुरुओ। (२४)

चरणप्रतिपत्तिरूपश्चारित्राभ्युपगमस्वभावः, भावस्तव इति प्रकृतम् । स्तोतव्ये पूजनीये भगवति वीतरागे विषयभूते या उचिता संगता प्रवृत्तिः प्रवर्त्तनं, सा स्तोतव्योचितप्रवृत्तिः,तस्याः स्तोतव्योचितप्रवृत्तेर्हेतोर्गुरुको गरीयान् द्रव्यस्तवापेक्षया। पञ्चा०६ विव० ।

थोर-स्थूल-त्रि० । " स्थूले लो रः " ॥८।१।२५५॥ इति लस्य रः । प्रा० १ पाद । " ओत्कूष्माण्डी-तूणीर-कूर्पर-स्थूल०- " ॥ ८ । १ । १२४ ॥ इत्यादिना ऊत ओत्वम् । पृथुले, प्रा० १ पाद । क्रमपृथुलपरिवर्तुले, दे० ना० ५ वर्ग ३० गाथा ।

थोल-पुं० । देशी--वस्त्रैकदेशे, दे० ना० ५ वर्ग ३० गाथा ।

थोव-स्तोक-पुं० । सप्तप्राणाऽऽत्मके कालविशेषे, "सत्त पाणाणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे ।" भ०१ श० १ उ० । ते च प्राणाः सप्त सप्तसंख्याका एकः स्तोकः । ज्यो० १ पाहु० । तं० । कल्प० । कर्म० । स्था० । अनु० । स्था० । प्रव० । अल्पे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । स्था० । विशे० । स्वल्पे, आव० ४ अ० । गणनाप्रमाणहीने, त्रि० । विशे० । दर्श० । "थोवाऽऽहारो थोवभणिओ अ, जो होई थोवणिद्दो अ । थोवोवहिउवगरणे, तस्स हु देवा वि परिणमंति ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

थोवग-स्तोकक-पुं० । चातकपक्षिणि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

थोह-न० । देशी बले, दे० ना० ५ वर्ग ३० गाथा ।

थोहरी-थोहरी-स्त्री० । स्नुहीतरौ, ध० ३ अधि० । प्रव० ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य-श्री १००८ श्री-
विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
थकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

दकारः

द-द-पुं० । दा-दैप्-वा कः । पर्वते, दत्ते, खण्डने, वाच० । दाने, पूजने, क्षीणे, दानशौण्डे, पालके, देवे, दीप्तौ, दुराधर्षे, दयायाम्, दमने, दीने, दन्दशूके, बद्धे, बन्धने, बोधे, बाले, बीजे, बलोदिते, विदोषे, चालने, चीवरे, वरे, प्राणे च । कान्तौ, दिवि, गङ्गायाम्, कुले, कालकृते, उपदायाम्, नैवेद्ये, निर्नाथवनितायाम्, भार्यायां च । स्त्री० । छेदे, संबोधने, पाने, वैराग्ये, अपलोचने, दातरि च । त्रि० । ए० को० ।

"दः पुमान् दातरि प्राणे, दा स्त्रियां क्रान्तिदानयोः ॥४७॥
छेदे संबोधने पाने, वैराग्ये चापलोचने ।
दक्षिणालिङ्ग्यां भवेद् मूके, ग्राहकेन्द्रवकेशशि (?) ॥४८॥" इति माधवः । एका० ।

"दो दाने पूजने क्षीणे, दानशौण्डे च पालके ।
देवे दीप्तौ दुराधर्षे, दोर्भुजे दीर्घदेशके ॥६७॥
दयायां दमने दीने, दंदशूकेऽपि दः स्मृतः ।
बद्धे च बन्धने बोधे, बाले बीजे बलोदिते ॥६८॥
विदोषेऽपि पुमानेष, चालने चीवरे वरे ।
दाऽऽवन्तो दिवि गङ्गायां, कुले कालकृते च दा ॥६९॥
उपदायां च नैवेद्ये, निर्नाथवनिता च दा ।"
इति विश्वदेवशंभुमुनिः । एका० ।

दअरी-स्त्री० । देशी-सुरायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ३४ गाथा ।

दआलु-दयालु-त्रि० । दय-आलुच् । वाच० । "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥ ८ । १ । १७७ । इति स्वरात्परस्यानादिभूतस्यासंयुक्तस्य यस्य प्रायिको लुक् । प्रा० १ पाद । कृपायुक्ते, वाच० ।

दइअ-न० । देशी-रक्षिते, दे० ना० ५ वर्ग ३५ गाथा ।

दइच्च-दैत्य-पुं० । दितेरपत्यम् । दिति-ण्यः । वाच० । "अइर्दैत्यादौ च" ॥ ८ । १ । १५१ ॥ इति दैत्यशब्दे ऐतो अइ इत्यादेशः । 'दइच्चो ।' असुरे, प्रा० १ पाद ।

दइण्ण-दैन्य-न० । दीनस्य भावः ष्यञ् । वाच० । "अइर्दैत्यादौ च" ॥ ८ । १ । १५१ ॥ इति दैन्यशब्दे ऐतो अइ इत्यादेशः । 'दइण्णं ।' प्रा० १ पाद । दीनत्वे, कार्पण्ये च । वाच० ।

दइय-दयित-पुं० । दय-क्तः । पत्यौ, वल्लभे, रक्षिते, नं० । आचा० । ज्ञा० । आ० म० । प्रियमात्रे च । त्रि० । भार्यायाम्, स्त्री० । वाच० ।

दइवज्ज-दैवज्ञ-पुं० । दैवं पूर्वजन्मार्जितं शुभं जनानां जन्मलग्नाऽऽदिना जानाति । ज्ञा-कः । वाच० । "ज्ञो ञः" ॥ ८ । २ । ८३ ॥ ज्ञसम्बन्धिनो ञस्य लुग्वा भवति । 'दइवज्जो ।' प्रा० २ पाद । गणके, ज्योतिर्विदि च । वाच० ।

दइवयप्पभाव-दैवतप्रभाव-पुं० । विधिसामर्थ्ये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

दइव्व-दैव-न० । देवादागतम् । देवो देवताऽस्य देवस्येदं वा अण् । वाच० । "सेवाऽऽदौ वा" ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति अन्त्यस्य वा द्वित्वम् । 'दइव्वं ।' 'दइवं ।' प्रा० २ पाद । भाग्ये, फलोन्मुखे शुभाशुभकर्मणि, "प्राग्जन्मनि कृतं कर्म, शुभं वा यदि वा शुभम् । दैवशब्देन निर्दिष्टमिह जन्मनि तद्बुधैः ॥१॥" वाच० ।

दउलताबाद-दौलताऽऽबाद-पारसीकः शब्दः । प्रान्तदेशीये स्वनामख्याते नगरे, यत्र जिनप्रभसूरिर्विहृतः । ती० ४८ कल्प ।

दआभास-दकाभास-पुं० । शिवकस्य वेलन्धरनागराजस्य आवासपर्वते, जी० ३ प्रति० ४ उ० । स्था० ।

दओदर-दकोदर-न० । जलोदरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

दओह-दकौघ-पुं० । पानीयप्रवाहे, सू० १ उ० । स्था० ।

दंड-दण्ड-पुं० । दण्डयते-व्यापाद्यते प्राणिनो येन स दण्डः । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । प्राणिन आत्मानं वा दण्डयतीति दण्डः । आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । स्था० । दण्ड्यते पापकर्मणा लुप्यते येन स दण्डः । ध० २ अधि० । दुष्प्रयुक्तमनोवाक्कायलक्षणे हिंसामात्रे, "एगे दंडे ।" एकत्वं चास्य सामान्यतयोद्देशात् । स० २ सम० । आतु० । भूतोपमर्दे, ध० २ अधि० । आचा० । सूत्र० । प्राणव्यपरोपणविधौ, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । वधाऽऽदिरूपे परनिग्रहे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । दण्डयति पीडामुत्पादयतीति दण्डः । दुःखविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । परितापकारिणि, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० । पापोपादानस्तुतिरूपे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । उपतापे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । मनोवाक्कायानामसदृव्यापारे, उत्त० १९ अ० । आचा० । प्राणिपीडाकारके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । दण्डयन्ते धनापहारेण ह्यणि येन ते दण्डाः । ध० २ अधि० । चारित्रैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते परात्मा इति दण्डाः । दुष्प्रयुक्तमनोवाक्कायेषु, ध० ३ अधि० । आचा० । स्था० । दुःस्थत्वमात्रे, उत्त० ३१ अ० ।

दण्डं निरूपयन्नाह-

दो दंडा पण्णत्ता । तं जहा-अट्ठादंडे चेव, अणट्ठादंडे चेव । णेरइयाणं दो दंडा पण्णत्ता । तं जहा-अट्ठादंडे चेव, अणट्ठादंडे चेव । एवं चउवीसदंडओ० जाव वेमाणियाणं ।

(दो दंडा इत्यादि) दण्डः प्राणातिपाताऽऽदिः, स चार्थाय-इन्द्रियाऽऽदिप्रयोजनाय यः सोऽर्थदण्डः, निष्प्रयोजनस्त्वनर्थदण्ड इति । उक्तरूपमेव दण्डं सर्वजीवेषु चतुर्विंशतिदण्डकेन निरूपयन्नाह-(नेरइयाणं इत्यादि) पर्याप्तमिति नारकस्यार्थदण्डानर्थदण्डाभिलापेन चतुर्विंशतिदण्डको नेयो, तथा नारकस्य स्वशरीरक्षार्थं परस्योपद्रवमर्थदण्डः, प्रवेशमात्रादनर्थदण्डः । पृथिव्यादीनामनाभोगतव्याहारग्रहणे जीववधभावादर्थदण्डः, अन्यथा तु अनर्थदण्डः । अथवा-उभयमपि भवान्तरार्थदण्डाऽऽदिप्राणिनोरिति सम्यग्दर्शनाऽऽदिश्रयवतामेव स्वनर्थदण्डो नास्तीति । स्था० २ ठा० १ उ० । त्रयो दण्डाः मन आदयः । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

तओ दंडा पत्नत्ता। तं जहा-मणदंडे, वयदंडे, कायदंडे। नेरइयाणं तओ दंडा पएणत्ता। तं जहा-मणदंडे, वयदंडे, कायदंडे। विगलिंदियवज्जं० जाव वेमाणियाणं।

दण्ड्यम्, तथरं मनसा दण्डनमात्मनः परेषां चेति मनोदण्डः। अथवा-दण्ड्यतेऽनेनेति दण्डो, मन एव दण्डो मनोदण्ड इति। एवमितरावपि। विशेषचिन्तायां चतुर्विंशतिदण्डके-(नेरइयाणं तओ दंडेत्यादि) यावद्वैमानिकानामिति सूत्रं वाच्यम्। नवरं (विगलिंदियवज्जं ति) एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियान् वर्जयित्वेत्यर्थः। तेषां हि दण्डत्रयं न सम्भवति, यथायोगं वाङ्मनसोरभावादिति। स्था० ३ ठा० ३ उ०। स०। ("कायदंड" शब्दे तृ० भागे ४६२ पृष्ठे, तथा वचोदण्डाऽऽदिशब्देषु उदाहरणानि द्रष्टव्यानि) राजनीतिभेदे, स्था०। स च-" वधश्चैव परिक्लेशो, धनस्य हरणं तथा। इति दण्डविधानज्ञै-र्दण्डोऽपि त्रिविधः स्मृतः ॥ १ ॥ " स्था० ३ ठा० ३ उ०। ज्ञा०। आ० म०। मिथ्यादर्शनमायानिदानशल्येषु, ध० २ अधि०। शरीरधनयोरपहारे, विपा० १ श्रु० ४ अ०। निग्रहे, आव०। दण्डो, निग्रहो, यातना, विनाश इति पर्यायाः। आव० ६ अ०। विपा०। प्रश्न०। अपराधानुसारेण राजग्राह्ये द्रव्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। राजाऽऽज्ञायाम्, अपराधिदण्डने, स्था० ५ ठा० ३ उ०। सैन्ये, प्रायश्चित्तदानावसरे राजस्थापितदण्डपुरुषाणां स्वेच्छाचारित्वे दण्डः। व्य० १ उ०। स्वपरदण्डहेतौ च, सूत्र० २ श्रु० ४ अ०। प्राणिनां दण्डहेतौ, आयुधे धनुरित्यादिके परकार्ये कारणत्राणकारात्। आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। दण्डनं दण्डः परिधानामनुशासनम्। स्था० ७ ठा०। नि० चू०। दण्डयतीति दण्डः। यष्टिविशेषे, जं० २ वक्ष०। सूत्र०। उत्त०। " लट्ठी आयपमाणा, विलट्ठिओ चउरंगुलेन परिहीणा। दंडो बाहुपमाणो, विदंडओ कक्खामित्तो य ॥ १ ॥ " इति दण्डयष्ट्योर्भेदः। जीत०। पं० भा०। उत्त०। नि० चू०।

सचित्तदारुदण्डाऽऽदीनि करोति-

जे भिक्खू सचित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥ जे भिक्खू सचित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे भिक्खू सचित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥

दो सुत्ता उच्चारेयव्वा। सचित्ता जीवसहिता, वेणु वंसो, वेत्तो विवंधसा, ते उ चेव दारू सीसवादिकरणं, परहस्ताद् ग्रहणमित्यर्थः। ग्रहणादुत्तरकालं अपरिभोगेन धरणमित्यर्थः।

गाहा-

सच्चित्त मीसगे वा, जे भिक्खू दंडए करे व धारे वा।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ ९७ ॥
सयमेव छेदणम्मी, जीवा दिट्ठे परेण उड्डाहो।
परछिण्णमीसदोसा, भारेण विराहणा दुविधा ॥ ९८ ॥

सयं छेयणे जीवोवघातो, परेण दिट्ठे उड्डाहो भवति, परिच्छिण्णे वि मीसवणस्सति त्ति जीवोवघातो भवति, सार्द्रत्वाच्च गुरुः, गुरुत्वादात्मसंयमोपघातः।

गाहा-

सुत्तणिवातो एत्थं, परछिण्णे होति दंडए तिविधे।
सो चेव मीसओ खलु, सेसे लहुगा य गुरुगा य ॥ ९९ ॥

तिविधो-वंसवेत्तदारुमयो य, सो चेव परच्छिण्णो मीसो भवति, एत्थ सुत्तणिवातो (सेस त्ति) सचित्तो, परित्ते चउलहुअं, अणंते चउगुरुअं।

गाहा-

बितियपदमणप्पज्झे, गेलण्णऽद्धाणसंजमभए वा।
उवहीसरीरतेणगे, पडिणीए साणमादीसु ॥ १०० ॥

अणप्पज्झो करेति।

गिलाणअद्धाणेसु इमं वक्खाणं। गाहा-

वहणं तु गिलाणस्सा, बालादुवही पलंब अद्धाणे।
अच्चित्तं मीसितर, सेसेसु वि गहण जतणाए ॥ १०१ ॥

गिलाणो, बालो, वुड्ढो, पलंबाणि वा अद्धाणे वज्झंति, सावयभएण वारणट्ठा घेप्पंति, उवहिसरीराणं रक्खणट्ठा, तेणगपडिणीयसाणमादीण णिवारणट्ठा, पुव्वं अचित्तं, पच्छा मीसं, सेसा परित्ताणंता, पुव्वं परित्ता, पच्छा अणंता।

सूत्रम्-

जे भिक्खू चित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा कारेइ, कारंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू चित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा धारेइ, धारंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे भिक्खू चित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥ जे भिक्खू विचित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥ जे भिक्खू विचित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा धारेइ, धारंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥ जे भिक्खू विचित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

एवं विचित्ते वि दो आलावगा। चित्रक एकवर्णः, विचित्रो नानावर्णः, करेति धरेति वा, तस्स मासलहुं।

गाहा-

चित्ते व विचित्ते वा, जे भिक्खू दंडए कए य धारे वा।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ १०२ ॥

चित्तो णाम-एगतरेण वण्णेण उज्जलो, विचित्तो दोहिं वण्णेहिं, चित्तविचित्तो पंचवण्णेहिं।

गाहा-

सहजेणाऽऽगंतूण व, अण्णतरजुओ विचित्तवण्णेणं।
दुप्पभिति संजओ पुण, विचित्त आविज्जूसिते सुत्तं ॥ १०३ ॥

सहजो णाम-तद्द्रव्यस्थितः, कल्माषिकावंशदण्डकवत्, आगन्तु-

कः-चित्रकराऽऽदिचित्रितः, सूत्रस्याभिप्रायोऽत्रिभूषाभूषिते प्रायश्चित्तं भवति ।

गाहा-

बितियपदं गेलण्णे, असती अद्धाणसंजमभए वा ।
उवहीसरीरतेणगे, पडिणीए आणमादीणि ॥ १०४ ॥

अच्चोर्सि दंडगाणं अभावे चित्तविचित्ताऽऽदि गेण्हंति।" नि० चू० ५ उ०।सूत्र०। प्रव०।(दण्डपञ्चकं 'दंडपणग' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते) चतुर्हस्ते (स० ४ सम०) धनुःपर्याये मानभेदे, अनु०। ज्यो०। कुक्षिद्वयनिष्पन्नो दण्डः । अनु० । दण्ड इव दण्डः । ऊर्ध्वाध आयते शरीरबाहल्ये जीवप्रदेशकर्मपुद्गलसमूहे, आ० १ श्रु० १ अ० । आ० चू० । ("पढमे समये दंडं करेइ ।" इति 'केवलिसमुग्घाय' शब्दे तृतीयभागे ६६३ पृष्ठे व्याख्यातम्)

दंडकिरिया-दण्डक्रिया-स्त्री० । सर्वविषनिवारिण्यां विद्यायाम्, आव० ४ अ० ।

दंडखाय-दण्डखात-न० । वाराणसीस्थे तीर्थभेदे, यत्र भव्यपुष्कराऽऽवर्तकः पूज्यते । ती० ४३ कल्प ।

दंडग-दण्डक-पुं० । साधूपकरणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । पादप्रोञ्छनके, जीत० । ध० । बृ० । "अरिहंतचेइआणं" इत्यादौ चैत्यवन्दनस्तवे, ध० २ अधि० । वाक्यपद्धतौ, स्था० ३ ठा० । ("चउवीसदंडय" शब्दे तृतीयभागे १०५८ पृष्ठे व्याख्यातम्) वेत्रलतायाम, ओघ० । चतुर्विंशतिदण्डकमध्ये भवनद्वीपानां दण्डकदशकमोक्तमपरेषां व्यन्तराऽऽदिकानां दण्डक एकैकः प्रोक्तस्तत्र किं कारणमिति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र सूत्रकृतां विवक्षैव प्रमाणमिति । ७० प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

दंडगथुइजुगल-दण्डकस्तुतियुगल-न० । दण्डकश्च "अरहंतचेइआणं" इत्यादि, स्तुतिश्च प्रतीता, तयोर्युगलं युग्मम्, एते एव वा युगलं, दण्डकस्तुतियुगलम् । स्वनामख्याते स्तुतियुगले, पञ्चा० २ विव० ।

दंडगमई-दण्डकमयी-स्त्री० । दण्डको वंशवेत्राऽऽदिमयी यष्टिस्तैर्निर्वृत्तायां चिलिमिलिकायाम, बृ० १ उ० । नि० चू० ।

दंडगराय-दण्डकराज-पुं० । जनस्थानराजे, यो हि शुक्रस्य दुहितुर्देवजान्याः शीलं भञ्जयन् शप्तः सन् सराज्यः क्षारतां प्राप्तः । ती० २७ कल्प ।

दंडगुरुय-दण्डगुरुक-पुं० । दण्डेन गुरुको दण्डगुरुकः । यस्य महान् दण्डो भवति असौ दण्डेन गुरु भवति । तस्मिन्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दंडणायग-दण्डनायक-पुं० । तन्त्रपालके, राष्ट्ररक्षके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । औ० । भ० । नृपाले, स्वदेशचिन्ताकर्तरि च । कल्प० ३ क्षण ।

दंडणिक्खेव-दण्डनिक्षेप-पुं० । दण्डः प्राणिपीडालक्षणः, तस्य निक्षेपः परित्यागः । संयमे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

दंडणीइ-दण्डनीति-स्त्री० । दण्डनं दण्डः परिधीनामनुशासनं, तत्र तस्य वा स एव नीतिर्नयो दण्डनीतिः । स्था० ७ ठा० । दण्डेनोपलक्षितायां नीतौ, स्था० ९ ठा० । ति० । आ० म० । कल्प० । आ० चू० । (कस्य कुलकरस्य कीदृशी दण्डनीतिरिति 'कुलगर' शब्दे तृतीयभागे ५९३ पृष्ठे उक्तम्)

दंडतयविरइ-दण्डत्रयविरति-स्त्री० । दण्ड्यते चारित्रैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते एभिरात्मेति दण्डा दुर्युक्तमनोवाक्कायाः, तेषां त्रयं तस्य विरतिरशुभप्रवृत्तिनिरोधः । दुर्युक्तमनोवाक्कायत्रयाऽशुभप्रवृत्तिनिरोधे, ध० ३ अधि० ।

दंडदारु-दण्डदारु-न० । ब्रह्मचारिणामेकैकक्षणतः स्थाप्ये सप्ताङ्गानामन्यतमेऽङ्गे, भ० ११ श० ३ उ० ।

दंडपणग-दण्डपञ्चक-न० । यष्ट्यादिदण्डपञ्चके, प्रव० ।

लट्ठी तहा विलट्ठी, दंडो अ विदंडओ अ नाली अ ।
भणिअं दंडयपणगं, वक्खाणमिणं भवे तस्स ॥६७६॥

यष्टिः, तथा-वियष्टिः, तथा-दण्डः, तथा-विदण्डः, तथा-नालिका, एतद्दण्डपञ्चकं भणितं तीर्थकरगणधरैः, तस्य च दण्डपञ्चकस्येदं वक्ष्यमाणरूपं व्याख्यानं भवेत्

एतदेवाऽऽह-

लट्ठी आयपमाणा, विलट्ठि चउरंगुलेण परिहीणा ।
दंडो बाहुपमाणो, विदंडओ कक्खमेत्तओ ॥ ६७७ ॥

"लट्ठी" इत्यादि । यष्टिरात्मप्रमाणः सार्द्धहस्तत्रयमानो वियष्टिर्यष्टेः सकाशाच्चतुर्भिरङ्गुलैः परिहीनो न्यूनो भवति, दण्डो बाहुप्रमाणः स्कन्धप्रदेशप्रमाण विदण्डः कक्षामात्रः कक्षाप्रमाणः ।

लट्ठीए चउरंगुल-समूसिया दंडपंचगे नाली ।
नइपमुहजलुत्तारे, तीए थाहिज्जए सलिलं ॥ ६७८ ॥

यष्टेः सकाशात् चतुरङ्गुलसमु[illegible]
ङ्गुलैः अतिरिक्ता, पौरुषाङ्गु[illegible]भूता आत्मप्रमाणा[illegible]
पञ्चके दण्डपञ्चकमध्ये ना[illegible]ाधिकहस्तत्रयमानेत्यर्थः। इदा-
नीमेतेषां पञ्चानामपि द[illegible] नाम दण्डपञ्चक इति । इदा-
नुपूर्व्या अपि व्याख्याऽङ्गा[illegible]नां प्रयोजनं प्रतिपिपादयिषुरना-
माह-नदीप्रमुखजलोत्त[illegible]ारप्रथमं नालिकायाः प्रयोजन-
मित्यया नालिकया नदीह्रदाऽऽदिकमुत्तरीतुमनोभिर्मुनि-
इति परिमीयते । [illegible]ाष्यते सलिलमिदं गाधमगाधं वा

अथ य[illegible]

बज्झइ लट्ठीए ज[illegible]ष्ट्यादीनां प्रयोजनमाह-
घट्टिज्जए उवस्स[illegible]-णिआ विलट्ठीए कत्थइ दुवारं ।
"बज्झइ" इत्यादि[illegible]-तयणं तेणाइरक्खट्ठा ॥ ६७९ ॥

वेलायां सागारिक[illegible] यद्वा यष्टिदण्डकेन उपाश्रये भोजनाऽऽदि-
तथा-वियष्ट्या वि[illegible]ऽऽदिरक्षणार्थं यवनिका तिरस्करिणी बध्यते,
स्कराऽऽदिरक्ष[illegible]यष्टिदण्डकेन कुत्राऽपि प्रत्यन्तग्रामाऽऽदौ त-
स्माद्वारभवनाश्रयमुपाश्रयसत्कं द्वारं घट्यते आहन्यते, येन
उउबद्[illegible] तस्करश्वानकाऽऽदयो नश्यन्तीति ।

जं सो [illegible]म उ दंडो, विदंडओ धिप्पए वरिसकाले ।
नयर[illegible]ओ निज्जइ, कप्पंतरिओ जओ तणुओ ॥६८०॥

स्थाने, तेन हि काले भिक्षाभ्रमणाऽऽदिवेलायां दण्डको दुष्पदानां गवाश्वाऽऽदीनां द्विपदानां मनुष्याऽऽदीनां, चतुष्पदानां निवारणं क्रियते, दुर्गस्थानं बहुपदानां शरभाऽऽदीनां निवारणं भवति, वृद्धस्य च भग्न च व्याघ्रचौराऽऽदिभये प्रहरणं भनहेतुर्भवतीत्यादिप्रयोजनम् ।

तथा वर्षाकाले विदण्डको गृह्यते, यद् यस्मात् लघुको भवति, ततः कल्पान्तरितः कल्पस्याभ्यन्तरे कृतः सुखेनैवच्छाद्यते अप्काये, यथाऽप्कायेन न स्पृश्यत इति ॥ ६८० ॥

इदानीमेतेषां दण्डानां शुभाशुभस्वरूपप्रतिपादनायाऽऽह-

विसमाइ वद्धमाई, दस य पसत्थाइ एगवन्नाइ ।
दंडेसु अपोल्लाई, सुहाइँ सेसाइँ असुहाइं ॥ ६८१ ॥

पूर्वोक्तेषु पञ्चसु दण्डकेषु,पर्वाणि ग्रन्थिमध्यानि, एवंविधानि शुभानि भवन्तीति सम्बन्धः। तत्र विषमाणि एकत्रिपञ्चसप्तनवकरूपाणि, तथा दश च दशसंख्यानि । तथा वर्द्धमानानि उपर्युपरि प्रवर्द्धमानानि। तथा एकवर्णानि न पुनस्त्रिवर्णकानि । तथा-(अपोल्लाइ त्ति) अशुषिराणि,निबिडानीत्यर्थः, एवंविधविशेषणविशिष्टपर्वोपेताः स्निग्धवर्णा मसृणा वर्तुलावर्तुलाश्च दण्डका यतिजनस्य प्रशस्ता इति भावः । (सेसाइं असुहाइं ति) शेषाणि पूर्वोक्तविपरीतस्वरूपाणि, पर्वाणि अशुभान्यप्रशस्तानीति । एकाऽऽदिपर्वणां च शुभाशुभफलमित्थमोघनिर्युक्तावुक्तम् । यथा-

" एगपव्वं पसंसंति, दुपव्वा कलहकारिका ।
तिपव्वा लाभसंपन्ना, चउपव्वा मारणंतिया ॥ १ ॥
पंचपव्वा उ जा लट्ठी, पंथे कलहनिवारिणी ।
छपव्वाए य आयंको, सत्तपव्वा निरोगिया ॥ २ ॥
अट्ठपव्वा असंपत्ती, नवपव्वा जसकारिया ।
दसपव्वा उ जा लट्ठी, तहियं सव्वसंपई ॥ ३ ॥ " इति ।
प्रव० ८१ द्वार । ध० ३ अधि० ।

जे भिक्खू दंडगं वा लट्ठियं वा अवलेहणियं वा वेणुसूइयं वा सयमेव परिघट्टेइ वा, संठवेइ वा, जमावेइ वा, परिघट्टंतं वा संठवंतं वा जमावेयंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥

इदमपि प्रथमोद्देशकवद्वक्तव्यम् ।

गाहा-

दंडग विदंडए वा, लट्ठि विलट्ठी य तिविध तिविधा तु ।
वेणुमय वेत्त दारुय, बहु अप्प अहाकडे चेव ॥ १७० ॥
नि० चू० २ उ० ।

दंडपरिहार--दण्डपरिहार--पुं० । महत्यां जीर्णकम्बलिकायाम् वृ० १ उ० ।

दंडपह--दण्डपथ--पुं० । गोदण्डमार्गे, सूत्र० ।

अंधे व से दंडपहं गहाय,
अविओसिए धासति पावकम्मी । (५)

यथा ह्यन्धस्त्वकुर्वितको दण्डपथं गोदण्डमार्गं प्रमुखोज्ज्वलं गृहीत्वाऽऽश्रित्य व्रजन् सम्यगकोविदतया धृष्यते कण्टकश्वापदाऽऽदिभिः पीड्यते, एवं केवललिङ्गधार्यनुपशान्तक्रोधः कर्कशभाष्यधिकरणोद्दीपकस्तथा । (अविओसिए त्ति) अनुपशान्तद्वन्द्वः पापमनार्थं कर्मानुष्ठानं यस्याऽसौ पापकर्मा, घृष्यते चतुर्गतिके संसारे यातनास्थानगतः पौनःपुन्येन पीड्यत इति ॥ ५ ॥ सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

दंडपासि(ण्)-दण्डपार्श्विन्-पुं० । दण्डस्य पार्श्वे दण्डपार्श्वं, तद्विद्यते यस्याऽसौ दण्डपार्श्वी । स्वल्पतया स्तोकापराधेऽपि कुप्यति दण्डं च पातयति यः तस्मिन्, दशा० ६ अ० । सूत्र० ।

दंडपुंछणय--दण्डपुञ्छनक--न० । दण्डयुक्तायां संमार्जन्याम्, जं० ५ वक्ष० । सणकहस्तकेशरपर्णाऽऽदिशलाकासमुदाये च, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दंडपुरक्खड-दण्डपुरस्कृत-पुं० । सदा पुरस्कृतदण्डे, दशा० ६ अ० । सूत्र० ।

दंडप्पयार-दण्डप्रकार-पुं० । आज्ञाविशेषे, स० ।

दण्डप्रचार-पुं० । सैन्यविचरणे, स० ।

दंडभी-दण्डभी-स्त्री० । दण्डं जीवकर्मसमारम्भं मृषावादाऽऽदिकं, दण्डाद्बिभेतीति दण्डभीः । दण्डभीते, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

दंडमाइ-दण्डाऽऽदि-पुं० । मल्लानां धरणिपाताऽऽद्युभयाङ्गयुद्धप्रभृतिषु, पिं० ।

दंडय-दण्डक-पुं० । ' दंडग ' शब्दार्थे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दंडरयण-दण्डरत्न-न० । रत्नविशेषे, आ० चू० १ अ० । "...... दंडरयणं परामुसइ । तए णं भवे दंडरयणं रयणपंचसइयं वइरसारमइयं विणासणं सव्वसत्तुसेन्नाणं खंधावारेण नरवइस्स गुहादरीविसमपब्भारगिरिपव्वाताणं समीकरणं संतिकरणं सुभकरणं रन्नो हियइच्छियमणोरहपूरगं दिव्वमपडिहयं दंडरयणं गहाय सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्कइ ।" आ० चू० १ अ० । स्था० । प्रश्न० ।

दंडरुइ-दण्डरुचि-पुं० । " एगंतदंडरुइणो । " हिंसनश्रद्धे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दंडलक्खण-दण्डलक्षण-न० । दण्डस्वरूपनिरूपणे, जं० ।

दण्डलक्षणम्-

" यथातपत्राङ्कुशवेत्रचाप-
वितानकुन्तध्वजचामराणाम् ।
व्यापातलश्रीमधुकृष्णवर्ण-
कलाक्रमेणैव हिताय दण्डाः (?) ॥ १ ॥
मन्त्रि १ सु २ धन ३ कुल ४ क्षयावहा
रोग ५ मृत्यु ६ जननाश्च पर्वभिः ।
द्व्यादिनिर्दिकविवर्धितैः क्रमा-
द्द्वादशान्तविरतैः समैः फलम् ॥ २ ॥
यात्राप्रसिद्धि १ र्द्विषतां विनाशो २,
लाभाः प्रभूताः ३ वसुधा ४ ऽऽगमश्च ।
वृद्धिः ५ पशूनामभिवाञ्छितार्थः ६,
स्याद् विषमयुग्मेषु तदीश्वराणाम् ॥ ३ ॥ " जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । सूत्र० । औ० । स० । (अत्र विशेषो ' लट्ठि ' शब्दे वीक्ष्यः)

दंडलाइय-दण्डलातिक-पुं० । दण्डो गृहीतो येन स दण्डलातः, सुखाऽऽदिदर्शनात् निष्ठान्तस्य परनिपातः । दण्डलात एव दण्डलातिकः (प्राकृतत्वात्) स्वार्थिक इक्प्रत्ययः । यथा-पृथिवीकायिक इत्यत्र । गृहीतदण्डे राज्ञि, व्य० १ उ० ।

दंडवइ-दण्डपति-पुं० । यः पुनस्तं दण्डमुद्यमयति तस्मिन्, वृ० २ उ० ।

दंडविज्जा-दण्डविद्या-स्त्री० । वंशदण्डाऽऽदिपर्वसंख्याफलकथने, उत्त० १५ अ० ।

दंडवीरिय-दण्डवीर्य-पुं० । भरतचक्रवर्तिवंशोद्भवे भरतात्सप्तमे स्वनामख्याते नृपे, स्था० ८ ठा० । आव० । आ० चू० ।

दंडसत्थपरिजुण्ण-दण्डशस्त्रपरिजीर्ण-पुं० । दण्डा वेत्रदण्डाऽऽदयः, शस्त्राणि खड्गाऽऽदीनि, ताभ्यां परिजीर्णे समन्ततो दुर्बलभावमापादिते, दशा० ६ अ० २ उ० ।

दंडसमायाण-दण्डसमादान-न० । समादीयते कर्म एभिरिति समादानानि कर्मोपादानहेतवः, दण्डा एव मनोदण्डाऽऽदयः प्राणव्यपरोपणाध्यवसायरूपाः समादानानि दण्डसमादानानि । कर्मोपादानहेतुषु प्राणव्यपरोपणाध्यवसायरूपेषु मनोदण्डाऽऽदिषु, जी० ३ प्रति० २ उ० । दण्डयतीति दण्डः पापोपादानसंकल्पः, तस्य समादाने ग्रहणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रति० । आचा० । आ० चू० ।

दंडा[illegible]-दण्डाऽऽयतिक-पुं० । दण्डस्येवाऽऽयतिर्दीर्घत्वं पादपुष्कराऽऽवर्तकः [illegible] दण्डाऽऽयतिकः । स्था० ५ ठा० १ [illegible]

दंडायइय-[illegible]-पुं० । साधुप्रकरणे, [illegible] औ० । सूत्र० ।

[illegible] प्रसारणेन यत्स्थित[illegible] अ० । "अरिहंतचेइ[illegible]यतो दीर्घो दण्डाउ० । प्रसारितदेहे, स्था० ७ ठा० [illegible], स्था० १ ठा० । सूत्र० ।

दंडायत-दण्डाऽऽयत-पुं० । दण्डवद् [illegible]) वेत्रलता[illegible] ऽऽयतः । भून्यस्ताऽऽयतशरीरे, पञ्चा० १८ विव० [illegible] प्रव० ।

दंडारक्खिग-दण्डाऽऽरक्षिक-पुं० । दण्डधरे, नि० चू० । "दंडधरो दंडाऽऽरक्खिगो दंडगहियग्गहत्थो सव्वतो अंते० घरं रक्खइ, रण्णो वयणेण इत्थिं पुरिसं वा अंतेपुरं णीणेति, पवेसेति वा । एस दंडाऽऽरक्खिगो ।" नि० चू० ६ उ० ।

दंडासणिय-दण्डाऽऽसनिक-पुं० । दण्डस्येवाऽऽयतं पादप्रसारणेन तद्दीर्घं यदासनं तद्दण्डाऽऽसनं, तदस्यास्तीति दण्डाऽऽसनिकः । आसनविशेषाभिग्रहवति, सू० ५ उ० ।

दंडि (ण्)-दण्डिन्-पुं० । दण्डधारिणि, जं० ३ वक्ष० । औ० । दशा० । सूत्रकनके, दे० ना० ५ वर्ग ३३ गाथा । करणपतौ च । व्य० १ उ० । स्था० ।

दंडिय-दण्डिक-पुं० । राजनि, व्य० ४ उ० । ध० ।

दंडिया-दण्डिका-स्त्री० । लेखोपरि राजमुद्रायाम्, बृ० १ उ० ।

दंडुक्कड-दण्डोत्कट-पुं० । दण्ड आज्ञा, अपराधिदण्डनं वा, सैन्यं वा उत्कटः प्रकृष्टो यस्य, तेन वोत्कटो यः स दण्डोत्कटः । उत्कटभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

दण्डोत्कल-पुं० । दण्डेन उत्कलति वृद्धिं याति यः स दण्डोत्कलः । उत्कटभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

दंत-दन्त-पुं० । दशने, "दशनानि च कुन्दकलिकाः स्युः ।" है० । आचा० । (साधोर्दन्तघर्षणाऽऽचारनिषेधः 'अणायार' शब्दे प्रथमभागे ३१२ पृष्ठे उक्तः)

दान्त-पुं० । दमयतीन्द्रियाऽऽदिदमं करोतीति दान्तः । दश० १० अ० । पापेभ्य उपरते, दश० १० अ० । इन्द्रियनोइन्द्रियदमने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । सूत्र० । जितेन्द्रिये, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । सूत्र० । दशा० । प्रश्न० । उत्त० । व्य० । आचा० । ग० । अ० । सूत्र० । दशा० । प्रश्न० । उत्त० । व्य० । क्रोधाऽऽदिरहिते, उत्त० २ अ० । भ० । उपशान्ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आ० म० । इन्द्रियजयलक्षणे, व्य० १ उ० । समर्थे, स्था० ७ ठा० । वश्येन्द्रिये, धर्मध्यायिनि च । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । पर्वतैकदेशे, दे० ना० ५ वर्ग ३३ गाथा ।

दंतकम्म-दन्तकर्म-न० । दन्तपुत्तलिकाऽऽदिषु, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ० ।

दंतकलह-दन्तकलह-पुं० । वाग्युद्धे, "अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम् ।" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

दंतकुंडी-दन्तकुण्डी-स्त्री० । इडुभाजने, मकारोऽलाक्षणिकः । तं० ।

दंतकुडी-दन्तकुटी-स्त्री० । दंष्ट्रासु, तं० ।

दंतणिवाय-दन्तनिपात-पुं० । दशनच्छेदरूपेऽसंप्राप्तकामे, दशा० ६ अ० ।

दंतधावण-दन्तधावन-न० । दन्तकाष्ठे, नि० चू० ३ उ० । (दन्तधावननिषेधः 'एहाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१६१ पृष्ठे गतः)

दंतपक्खालण-दन्तप्रक्षालन-न० । दन्ताः प्रक्षाल्यन्ते अपगतमलाः क्रियन्ते येन तद्दन्तप्रक्षालनम् । दन्तकाष्ठे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । आचा० । अनु० ।

दंतपहावण-दन्तप्रधावन-न० । अङ्गुल्यादिना क्षालने, दशा० ३ अ० ।

[illegible]-दन्तपात्र-न० । दन्तनिर्मिते पात्रे, आचा० २ श्रु० १ [illegible]

दंत[illegible] [illegible] नगरे, व्य० चू० ६ अ० १ [illegible]

दंतपुर-दन्तपुर-स्वनामख्याते [illegible] चू० । [illegible] १ उ० । उत्त० । आव० । आ० क० । नि० चू० । [illegible]

दंतमणि-दन्तमणि-पुं० । प्रधानदन्ते, हस्तिप्रभृतीनां दन्तजमणौ च । प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

दंतमल-दन्तमल-पुं० । दन्तकिट्टे, नि० चू० ३ उ० ।

दंतमलमइल-दन्तमलमलिन-न० । दन्तमलमलीमसे, तं० ।

दंतमाल-दन्तमाल-पुं० । द्रुमजातिविशेषे, जं० २ वक्ष० ।

दंतवक्क-दन्तवक्र-पुं० । दन्तपुरराजे, यद्भार्यायाः सत्यवत्याः दन्तमयप्रासादकरणे दोहदो जातः, तन्नगर एव धनमित्रवणिग्भार्यायाः धनश्रियास्तथैव दोहदं पूरयितुकामस्य दृढमित्रस्य बध्यमानस्य सुमोचयितुं धनमित्रो यथातथं वदन् मुक्तो राजकुलात् । व्य० ६ उ० । नि० चू० । आव० । उत्त० । आ० चू० । (इति आलोचनायां 'पडिकमण' शब्दे व्याख्यास्यते)

दंत (पा) वण-दन्तपावन-न० । दन्ताः पूयन्ते पवित्रीक्रियन्ते येन काष्ठखण्डेन तद् दन्तपावनम् । प्रव० ४ द्वार । दन्तमलापकर्षणकाष्ठे, उपा० १ अ० । दशा० । दशननिर्लेपनकाष्ठे यष्टिमधुकादौ, पञ्चा० ५ विव० । स्था० । दर्श० ।

दंत(पा)वणविहि-दन्तपावनविधि-पुं० । दन्तमलापकर्षणविधौ, उपा० १ अ० । ('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे विस्तरः)

दंतवाणिज्ज-दन्तवाणिज्य-न० । दन्ताऽऽश्रितं दन्तविषयं वाणिज्यम् । दन्तक्रयविक्रययोः, ध० २ अधि० । यत्र प्रथमत एव पुलिन्दानां दन्ताऽऽनयननिमित्तं मूल्यं ददाति, आकरे वा गत्वा क्रयं क्रीणाति, ततस्ते वनाऽऽदौ गत्वा तदर्थं घ्नन्ति, तद्विक्रयपूर्वं यद्

जीवनं तस्मिन्, प्रव० ६ द्वार । ध० ६० । आव० । आ० चू० । आ० । पञ्चा० । म० ।

दंतवेयणा–दन्तवेदना–स्त्री० । दन्तपीडायाम्, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

दंतसेढी–दन्तश्रेणी–स्त्री० । दशनपङ्क्तौ, जं० ४ वक्ष० । औ० ।

दंतसेणी–दन्तश्रेणी–स्त्री० । 'दंतसेढी' शब्दार्थे, जं० ४ वक्ष० ।

दंतसोहणग–दन्तशोधनक–न० । दन्तानां मलनिःसारणसाधने उपकरणभेदे, पं० भा० ।

पविरलदंतो थेरो, सेच्छाऽऽदीणं तु दंतअग्गाणं ।
खेवाइअरतिसारिय–रक्खट्टारोहसोहणयं ॥
अच्छादणमादिसुं चिय, पिप्पलतो विकरणाइ कंडाणं ।
माणाहिगवत्थादी–पगासमुइत्ताणकरणाहा ॥ पं० भा० ।

"दंतसोहणमाइस्स त्ति।"(२७) मकारोऽलाक्षणिकः। अपिशब्दस्य गम्यमानत्वाद् दन्तशोधनाऽऽदेरप्यतितुच्छस्य, आस्तामन्यस्य । (२७) उत्त० १६ अ० ।

दंतामय–दन्ताऽऽमय–पुं० । दन्तरोगे, नि० चू० ३ उ० ।

दंतार–दन्तकार–पुं० । दन्तशिल्पिनि, प्रज्ञा० १ पद ।

दंति(ण्)–दन्तिन्–पुं० । हस्तिनि, आ० चू० १ अ० । अनन्तजीववनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दंतिअ–पुं० । देशी–शशके, दे० ना० ५ वर्ग ३४ गाथा ।

दंतिंदिय–दान्तेन्द्रिय–त्रि० जिताक्षे, पञ्चा० १७ विव० ।

दंतिक–दान्तिक–न० । मोदकमण्डकाशोकवर्त्यादिकं यद्बहुविधं दन्तखाद्यकं तस्मिन्, बृ० १ उ० । तन्दुलचूर्णे, बृ० १ उ० । नि० चू० । दर्श० । " मंसानिविट्ठि काउं, सेवइ दंतिक्कयं ति। " पं० व० १ द्वार ।

दंतिक्कचुण्ण–दन्तिकचूर्ण–पुं० । तन्दुललोट्टे, तन्दुलचूर्णमोदकाऽऽदिखाद्यकवृन्दे, "दंतिक्कचुण्णं वा । " दन्तिकचूर्णस्तन्दुललोट्टः । यद्वा–दन्तिकं तन्दुलचूर्णं, चूर्णं तु मोदकाऽऽदखाद्यकचूर्णम् । बृ० १ उ० ।

दंतिया–दन्तिका–स्त्री० । गुल्मभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दंतिवक्किया–दन्तवर्त्ती–स्त्री० । पत्रकाऽऽलयग्रामवास्तव्यस्य स्कन्दकनाम्नो ग्रामकूटपुत्रस्य दास्याम्, आ० चू० १ अ० । आ० म० ।

दंतुक्खलिय–दन्तोत्खलिक–पुं० । फलभोजिषु, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० । औ० । भ० ।

दंतुट्ठ–दन्तोष्ठ–पुं० । दन्तानामोष्ठयोश्च समाहारे, स्था० ७ ठा० ।

दंतुर–दन्तुर–त्रि० । उन्नता दन्ताः सन्त्यस्य, दन्त–उरच् । उन्नतदन्तयुक्ते, उन्नताऽऽनते विषमस्थाने च । वाच० । आ० म० ।

दंद–द्वन्द्व–पुं० । शीतोष्णाऽऽदिषु, द्वा० २२ द्वा० । समुच्चयप्रधाने समासभेदे, अनु० ।

से किं तं दंदे ? । दंदे–दन्ताश्च ओष्ठौ च दन्तोष्ठम्, स्तनौ च उदरं च स्तनोदरम्, वस्त्रं च पात्रं च वस्त्रपात्रम्, अश्वश्च महिषश्च अश्वमहिषम्, अहिश्च नकुलश्च अहिनकुलम् । सेत्तं दंदे ।

तत्र समुच्चयप्रधानो द्वन्द्वः । दन्ताश्चोष्ठौ च दन्तोष्ठम्, स्तनौ च उदरं च स्तनोदरमिति प्राण्यङ्गत्वात् समाहारः । वस्त्रपात्रमित्यादौ त्वप्राणिजातित्वाद्, अश्वमहिषमित्यादौ पुनः शाश्वतिकवैरित्वात् । एवमन्यान्यप्युदाहरणानि भावनीयानि । अनु० ।

दंभ–दम्भ–पुं० । मायया परवञ्चने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स० । स्त्रीकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

दंभण–दम्भन–न० । वैरान्निप्रतापितैर्लोहशलाकाभिः परशरीरे अङ्का उत्पाद्यन्ते तेषु, विपा० १ श्रु० ६ अ० । वञ्चने च । प्रश्न० ४ द्वार ।

दंभबहुल–दम्भबहुल–त्रि० । दम्भो मायया परवञ्चनं तदुत्कटे, सूत्र० ४ श्रु० २ अ० ।

दंभुब्भव–दम्भोद्भव–पुं० । स्वनामख्याते राजनि, यो हि महाद्भिर्नाश । ध० १ अधि० ।

दंभोलि–दम्भोलि–पुं० । दम्भोलि क्षेप्यति । दम्भ–ओलिः । वाच० । वज्रे, अक्षे, प्रति० । कल्प० ।

दंस–दश्–धा० । नाशोपक्रमप्रवर्तने, " दृशेर्दाव-दंस-दक्खवाः " ॥ ८ । ४ । ३२ ॥ इति दृशेर्ण्यन्तस्य एते त्रय आदेशाः स्युः । "दावइ । दंसइ । दक्खवइ । दरिसइ । " दर्शयति । प्रा० ४ पाद ।

दंश–पुं० । दश् श–अच् । " शषोः सः " ॥ ८ । १ । २६० ॥ इति शकारस्य सकारः । दंशः । प्रा० १ पाद । वनमक्षिकायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । आव० । उत्त० । दन्तैः कर्तनाऽऽदौ घञ् । कर्मणि, मर्मणि, दोषे, खण्डने, सर्पाऽऽघाते, दन्ते च । वाच० ।

दर्श–पुं० । दर्शनं दर्शः । सम्यक्त्वे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दंसण–दर्शन–न० । दृश्यन्ते अवलोक्यन्ते ज्ञायन्ते वा जीवाऽऽदयः पदार्था अनेनास्मादस्मिन्निति दर्शनम् । दृश्–ल्युट् । "र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा " ॥ ८ । २ । १०५ ॥ इति र्शस्य संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात् पूर्वमिकारो वा । "दरिसणं । दंसणं" । प्रा० २ पाद । दृष्टिर्वा दर्शनम् । सम्यक्त्वाऽपरपर्याये, दर्शनमोहनीयक्षयाऽऽद्याविर्भूते तत्त्वश्रद्धानरूपे आत्मपरिणामे, " एगे दंसणे । " स्था० १ ठा० । तच्चोपाधिभेदादनेकविधमपि श्रद्धानसामान्यादेकम्, एकजीवस्य चैकदा एकस्यैव भावादिति । ननु बोधसामान्याद् ज्ञानसम्यक्त्वयोः कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते–रुचिः सम्यक्त्वं, रुचिकारणं तु ज्ञानम् । यथोक्तम्–"नाणमवायधिईओ, दंसणमिट्ठं जहोग्गहेहाओ (?) । तह तत्तरुई सम्मं, रोइज्जइ जेण तं नाणं ॥ १ ॥ " स्था० १ ठा० । दर्श० । आचा० । सूत्र० । उत्त० । द्वा० । औ० । ध० र० । आव० । ध० । दा० । संथा० । द्वा० । प्र० । प्रव० । आ० म० । स० । आतु० । ओघ० । भ० ।

सम्यक्त्वमिथ्याभेदाद् द्विविधं दर्शनम्–

दुविहे दंसणे पण्णत्ते । तं जहा–सम्मदंसणे चेव, मिच्छादंसणे चेव ।

" दुविहे दंसणे " इत्यादि सत्र सूत्राणि सुगमान्येव । नवरं दृष्टिर्दर्शनं तत्त्वेषु रुचिः, तच्च सम्यगविपरीतं जिनोक्तानुसारि, तथा मिथ्या विपरीतमिति ।

सम्यग्दर्शनभेदमाह-

सम्मदंसणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-णिसग्गसम्मदंसणे चेव, अभिगमसम्मदंसणे चेव ।

णिसग्गसम्मदंसणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पडिवाई चेव, अपडिवाई चेव । अभिगमसम्मदंसणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पडिवाई चेव, अपडिवाई चेव ।

(सम्मद्दंसणे इत्यादि) निसर्गः स्वभावोऽनुपदेश इत्यनर्थान्तरम् । अभिगमो गुरूपदेशाऽऽदिरिति, ताभ्यां यत्तत्तथा, क्रमेण मरुदेवीभरतवदिति । (निसग्गेत्यादि) प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति सम्यग्दर्शनमौपशमिकं क्षायोपशमिकं वा अप्रतिपाति क्षायिकं, तत्रैषां क्रमेण लक्षणम्-इहौपशमिकीं श्रेणिमनुप्रविष्टस्यानन्तानुबन्धिनां दर्शनमोहनीयत्रयस्य चोपशमादौपशमिकं भवति, यो वाऽनादिमिथ्यादृष्टिरकृतसम्यक्त्वमिथ्यात्वमिश्राभिधानशुद्धाशुद्धोभयरूपमिथ्यात्वपुञ्जत्रिपुञ्जीक एवाऽक्षीणमिथ्यादर्शनोऽक्षपक इत्यर्थः, सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, तस्यौपशमिकं भवतीति । कथम्?, इह यदस्य मिथ्यादर्शनमोहनीयमुदीर्णं तदनुभवेनैवोपक्षीणम्, अन्यच्च मन्दपरिणामतया नोदितम्, अतस्तदन्तर्मुहूर्त्तमात्रमुपशान्तमास्ते, विष्कम्भितोदयमित्यर्थः । तावन्तं कालमस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभ इति ।

आह च-

" उवसामगसेढिगय-स्स होति उवसामियं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुंजे, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥ १ ॥
खीणम्मि उदिण्णम्मी, अणुदिज्जंते य सेसमिच्छत्ते ।
अंतोमुहुत्तकालं, उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ २ ॥" इति ।

अन्तर्मुहूर्त्तमात्रकालत्वादेवास्य प्रतिपातित्वम् । यच्चानन्तानुबन्ध्युदये औपशमिकसम्यक्त्वात्प्रतिपततः सास्वादनमुच्यते तदौपशमिकमेव, तदपि च प्रतिपात्येव, जघन्यतः समयमात्रत्वात्, उत्कृष्टतस्तु षडावलिकमानत्वादस्येति । तथा इह यदस्य मिथ्यादर्शनदलिकमुदीर्णं तदुपक्षीणं, यच्चानुदीर्णं तदुपशान्तम्, उपशान्तं नाम-विष्कम्भितोदयमुपनीतमिथ्यास्वभावं च, तदिह क्षयोपशमस्वभावमनुभूयमानं क्षायोपशमिकमित्युच्यते । नन्वौपशमिकेऽपि यथा क्षयक्षयोपशमश्च, तथेहापीति कोऽनयोर्विशेषः?। उच्यते-अयमेव हि विशेषो-यदिह वेद्यते दलिकं, न तत्र, इह हि क्षायोपशमिके प्रदेशमितमनुसमयमुदीर्णं वेद्यते क्षीयते च, औपशमिके तूदयविष्कम्भनमात्रमेव । आह च-" मिच्छत्तं जमुदिण्णं, तं खीणं अणुदियं च उवसंतं । मीसीभावपरिणयं, वेइज्जंतं खओवसमं ॥१॥" इति । एतदपि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तस्थितिकत्वात्, उत्कर्षतः षट्षष्टिसागरोपमस्थितिकत्वाच्च प्रतिपातीति । यदपि च क्षपकस्य सम्यग्दर्शनदलिकचरमपुद्गलानुभवनरूपं वेदकमित्युच्यते, तदपि क्षायोपशमिकभेदत्वात् प्रतिपात्येवेति । तथा मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वमोहनीयक्षयात् क्षायिकमिति । आह च-"खीणे दंसणमोहे, तिविहम्मि वि भवनियाणभूयम्मि । निप्पच्चवायमउलं, सम्मत्तं खाइयं होइ ॥१॥" इति । इदं तु क्षायिकत्वादेवाप्रतिपातिं । अत एव सिद्धत्वेऽप्यनुवर्त्तते ।

मिच्छादंसणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अभिग्गहियमिच्छादंसणे चेव, अणभिग्गहियमिच्छादंसणे चेव । अभिग्गहियमिच्छादंसणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सपज्जवसिए चेव, अपज्जवसिए चेव । एवमणभिग्गहियमिच्छादंसणे वि ।

(मिच्छादंसणे इत्यादि) अभिग्रहः कुमतपरिग्रहः, स यत्राऽस्ति तदाभिग्रहिकं, तद्विपरीतमनाभिग्रहिकमिति । (अभिग्गहियेत्यादि) आभिग्रहिकमिथ्यादर्शनं सपर्यवसितं सपर्यवसानं सम्यक्त्वप्राप्तौ, अपर्यवसितमभव्यस्य सम्यक्त्वाप्राप्तेः, तच्च मिथ्यात्वमात्रमपतीतकालतयाऽनुवृत्त्याऽऽभिग्रहिकमिति व्यपादिश्यते ॥ ६ ॥ अनाभिग्रहिकं भव्यस्य सपर्यवसितम्, इतरस्याऽपर्यवसितमिति । स्था० २ ठा० १ उ० । आ० म० । दर्शनं त्रिविधम् । तद्यथा-मिथ्यादर्शनं, सम्यग्मिथ्यादर्शनम्, सम्यग्दर्शनं च । आ० म० १ अ० १ खण्ड । दर्शनं मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वभेदात्त्रिविधम् । विशे० । क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकभेदाद्दर्शनं त्रिविधम् । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदाद्दर्शनं चतुर्धा । विशे० । औपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकक्षायिकभेदात्पञ्चविधम् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । पं० भा० ।

दर्शनस्य सप्तविधत्वमाह-

सत्तविहे दंसणे पण्णत्ते । तं जहा-सम्मदंसणे, मिच्छदंसणे, सम्मामिच्छादंसणे, चक्खुदंसणे, अचक्खुदंसणे, ओहिदंसणे, केवलदंसणे ।

"दंसणे" इत्यादि सुगमम् । नवरं सम्यग्दर्शनं सम्यक्त्वम्, मिथ्यादर्शनं मिथ्यात्वं, सम्यग्मिथ्यादर्शनं मिश्रमिति । एतच्च त्रिविधमपि दर्शनमोहनीयभेदानां क्षयक्षयोपशमोपशमेभ्यो जायते, तथाविधरुचिस्वभावं चेति । चक्षुर्दर्शनाऽऽदि तु दर्शनाऽऽवरणीयभेदचतुष्टयस्य यथासंभवं क्षयोपशमक्षयाभ्यां जायते, सामान्यग्रहणस्वभावं चेति । तदेवं श्रद्धानसामान्यग्रहणयोर्दर्शनशब्दवाच्यत्वाद्दर्शनं सप्तधोक्तमिति । अनन्तरं केवलदर्शनमुक्तं, तच्च छद्मस्थावस्थाया अनन्तरं भवतीति । स्था० ७ ठा० ।

अष्टविधत्वम्-

अट्टविहे दंसणे पण्णत्ते । तं जहा-सम्मदंसणे, मिच्छदंसणे, सम्मामिच्छदंसणे, चक्खुदंसणे० जाव केवलदंसणे, सुविणदंसणे ।

"अट्ठविहे दंसणे" इत्यादि कण्ठ्यम् । केवलं स्वप्नदर्शनस्याचक्षुर्दर्शनान्तर्भावेऽपि सुप्तावस्थोपाधितो भेदो विवक्षित इति । स्था० ८ ठा० । पं० भा० । कारकरोचकदीपकभेदाद्वा दर्शनं त्रिविधम् । आतु० । (एते भेदाः 'सम्मत्त' शब्दे स्फुटीभविष्यन्ति, सम्यक्त्वपर्यायत्वाद् दर्शनस्य, नवरमिह दर्शनाऽऽदिशब्दे छद्मस्थदर्शनवीतरागदर्शनभेदाः प्रदर्शयिष्यन्ते) श्रद्धानलक्षणे व्यवसाये, व्यवसायांशत्वात्तस्य । स्था० ३ ठा० ३ उ० । 'दृशिर्' प्रेक्षणे, दृश्यते सम्यक् परिज्ञायते सावद्यमनेनेति दर्शनम् । चारित्रे, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् । संथा० । सम्यक्त्वप्रभावकशास्त्रे, आव० ४ अ० । स्था० । शास्त्रमात्रे, विशे० । दर्शनविशोधके सूत्रे, व्य० १ उ० । बृ० । उत्त० । "गोविंदनिज्जुत्तिमाई दंसणं ।" नि० चू० ११ उ० । अभिप्राये, उपदेशे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । दृश्यते सामान्यरूपेण वस्त्वनेनेति दर्शनम् । उत्त० ८ अ० । दृश्यते विलोक्यते वस्त्वनेनेति दर्शनम् । यद् वा-दृष्टि-

दर्शनम्। कर्म० ४ कर्म०। दर्शनाऽऽवरणकर्मक्षयोपशमाऽऽविर्भूते सामान्यमात्रग्रहणे, अनु०। स्था०।

दंसणावरणिज्जे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–देसदंसणावरणिज्जे, सव्वदंसणावरणिज्जे।

दर्शनं सामान्यार्थबोधरूपमावृणोतीति दर्शनाऽऽवरणीयम्। उक्तं च–"दंसणसीले जीवे, दंसणघायं करेइ जं कम्मं। तं पडिहारसमाणं, दंसणवरणं भवे जीवे ॥ १ ॥" (देस त्ति) देशदर्शनाऽऽवरणीयं, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनाऽऽवरणीयम्। सर्वदर्शनाऽऽवरणीयं तु निद्रापञ्चकं, केवलदर्शनाऽऽवरणीयं चेत्यर्थः। स्था० २ ठा० ४ उ०। सूत्र०। सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि, सामान्याऽऽत्मके बोधे, कर्म० ४ कर्म०। औ०। आचा०। नं०। निर्विशेषविशेषाणां ग्रहणे, आ० म० १ अ०। नं०। "पासइ त्ति दंसणं,ज सामन्नग्गहणं न दंसणं, अणागारमित्यर्थः।" नं०। विशे०। ("जं सामण्णग्गहणं, दंसणमेयं विसेसियं नाणं।" (सम्म० १ गा० १ काण्ड) इति द्रव्यपर्यायास्तिकनययोर्मतेन 'उवओग' शब्दे द्वितीयभागे ८६० पृष्ठे चिन्तितम्)

चक्खु अचक्खू ओही, केवलदंसण अणागारा। (१९)

चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनरूपाणि चत्वारि दर्शनानि। तत्र चक्षुषा दर्शनं वस्तुसामान्यांशाऽऽत्मकं ग्रहणं चक्षुर्दर्शनम्, अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद्दर्शनं सामान्यांशाऽऽत्मकं ग्रहणं तदचक्षुर्दर्शनम्, अवधिना रूपिद्रव्यमर्यादया दर्शनं सामान्यांशग्रहणमवधिदर्शनम्, केवलेन संपूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद्दर्शनं सामान्यांशग्रहणं तत्केवलदर्शनमिति। किंरूपाण्येतानि दर्शनानि?, अत आह–अनाकाराणि सामान्याऽऽकारयुक्तत्वे सत्यपि न विद्यते विशिष्टो व्यक्त आकारो येषु तान्यनाकाराणि। कर्म० ४ कर्म०। अष्ट०। पं० सू०। प्रव०। अवलोकने, पि०। पञ्चा०। आत्मनः प्रकटने, व्य० १ उ०।

दंसणकप्प–दर्शनकल्प–पुं०। कल्पभेदे, पं० भा०।

……………, एत्तो वोच्छामि दंसणे कप्पं।
सद्दहणलक्खणं तु, जिणोवदिट्ठेसु भावे तु।
छउमत्थकायस्सा, आयरियपरंपरागते अत्थे।
आगाढकारणेसुं, सद्दहसु णिवेमणं तत्थ।
छक्काए सद्दहितं इणं–भयण पुणो वि सद्दहेयव्वं।
आगाढमणागाढे, आयरियव्वं तु जं तत्थ।
दव्वे खेत्ते काले, भावे पुरिसे तिगिच्छ असहाए।
एतेहि कारणेहिं, सत्तविहं होइ आगाढं।
एगादीया वुड्ढी, एगुत्तरिया य होति दव्वाणं।
ओमत्थगपरिहाणी, दव्वागाढं वियाणाहि।
जंपेति पुणो वेज्जो, सचित्तं दुल्लभं च दव्वं च।
अपरिहरंतो अत्थति, उद्दिसितं जाव सो ताति।
जाहे उदिहाणी, ताहे ओमत्थहाणिए भणति।
अम्हे करेमो जोगं, अलंभे एगस्स किं कुणिमो?।
एवं तु हावयंता, खेत्तं कालं च भावमासज्ज।
ता जूहंती जाव तु, लंभे जेसिं तु दव्वाणं।
अह पुण भणेज्ज एवं, अवस्समेतेहिँ कज्जदव्वेहिं।
एतं दव्वागाढं, तहिं जए पणगहाणीए।
खेत्तागाढं इणमो, असती खेत्ताण मासजोग्गाणं।
असिवं वा अन्नत्था, णदीवया होज्ज रुद्धा तु।
आघरियादिअहारग, अहवा अन्नत्थ सावया होज्ज।
अंतर जहिं च गम्मति, वाला तह तेण खुत्तियं वा वि।
एतेहि कारणेहिं, खेत्तागाढम्मि एरिसे पत्ते।
अत्थंति असढभावा, एगखेत्ते वि जयणाए।
कालस्स वा वि असती, वासावासे वियारणा णत्थि।
एतेहि कारणेहिं, कालागाढं वियाणाहि।
वासाजोग्गं खेत्तं, पडिलेहित्ता तु कालओ बहुए।
वच्चंताण य अंतर–वासं तू णिवडितु पवत्तं।
रुहरं चेऽतरखेत्तं, ताहे तं चेव पुव्वखेत्तं तु।
गंतू वसती वासं, समतीत वीतिदमरातं।
अतिउक्कडं व दुक्खं, अप्पा वा वेदणाभए आसु।
एतेहि कारणेहिं, भावागाढं वियाणाहि।
अव्भुक्कडमूलाऽऽदी, अहिडक्काई तु वेदण अप्पा।
तत्थऽग्गितावणाऽऽदी, दाहच्छेदोवगाढाऽऽदी।
जम्मि विणट्ठे गच्छ–स्स विणासो तह य णाणचरणाणं।
एतेहि कारणेहिं, पुरिसागाढं वियाणाहि।
तस्स तु सुद्धालंभे, जावज्जीवं पि होति सुद्धेणं।
कायव्वं तू णियमा, पुरिसागाढं भवे एतं।
जेण कुलं आयत्तं, तं पुरिसं आदरेण रक्खाहि।
ण हु तुंबम्मि विणट्ठे, अरया साहारगा होंति।
संजोगदिट्ठपाठी, फासुगउवदेसणासु जो कुसलो।
एतारिसस्स असती, णायव्व तिगिच्छमागाढं ॥
मज्जणतूलिविभासा, अरणे पाउरणए य पाणे य।
केवडियाण पदाणे, अवध वत्तो गिलाणो तु ॥
उज्जवसहावरहितो, अव्वत्ता वा वि अहव असमत्था।
एयऽसहायागाढं, तम्हा ण मुणी ण विहरेज्ज ॥
जावंति पवयणम्मी, पडिसेवा मूलमुत्तरगुणेसु।
ता सव्वसु सुद्धेसुं, सुद्धमसुद्धा असुद्धेसु ॥
आगाढमणागाढे, एवं जं जत्थ होति करणिज्जं।
तं तह सद्दहमाणो, दंसणकप्पो भवति एसो ॥ पं० भा०।

इयाणिं दंसणकप्पो। तत्थ गाहा–(छक्काए) छक्काएसु विसुवगएसु इममवं सद्दहियव्वं,जो आयरियपरंपराए आगओ अत्थो, आगाढे अणागाढे य आयरिज्जइ तं सद्दहियव्वं, तत्थिमाणि सत्त आगाढाणि। गाहा–(दव्वे खेत्ते) दव्वे ताव वेज्जो पुच्छियव्वो जाव इयाणि दव्वाणि लब्भइ,तावइयाणि न पडिसेविज्जंति। जहा–एयं अम्हे न कप्पइ। जाहे लब्भहाणि ताहे क मंथइपरिहाणीए भण्णइ। गाहा (एगादीया) एगाईए वुड्ढीए अम्हे करेसु, जो-

णं मग्गसु, तं चेव जाव कलमसाली (खेत्तं कालं गाहा) तहेव य जहिं भत्तो तहिं गच्छंति । अहवा जणेज्जा-आवस्सियाणि दव्वाणि जाणियव्वाणि, दुल्लहाणि परिजाणइ, स तेसुमाईणि भवइस्सइ, ताहे तं दव्वागाढं पणगपरिहाणीए जयंति, जाव चउगुरुएण वि गेण्हंति । (खेत्तागाढं गाहा) खेत्तस्स वा अलंभे असइ मासपाउग्गाणं खेत्ताणं एगत्थ अच्छंति, असिवं वा, अण्णत्थ नईतीरं ति गंतूण अकारगं वा आयरियाणं अण्णत्थ सावया वा, तत्थ अंतरा वा तिव्वजाईया वा अण्णम्मि देसे अंतरा वा ताहे एगत्थ अत्थंति । अहवा खेत्तागाढं अद्धाणे अद्धाणकप्पनिक्खवसहिसण्णाभूमिपाणगपलंबाऽऽइसु जयणा, सा सद्दहियव्वा । एवं खेत्तागाढं । कालओ कालेण बहुतो वासावासपाउग्गं खेत्तं चक्कंताणं अंतरा वासं पडियं, तं च अंतरा खेत्तं सचित्तसहगं, ताहे तं चेव पुव्वपडिलेहियं खेत्तं जंति, वच्चंता वि अइच्छिए वा वासावासे जइ वासइ मग्गसिरे दस राया तिण्णि होंति, उक्कोसेण ओमोयरियाए वा, जा जयणा आहाराऽऽइसु । एयं कालागाढं । इयाणिं भावागाढं । (गाहा अइक्कडं च) अइउक्कडं ति विसूइयाइ, अहिदट्ठविसअप्पा वा वेयणाहिं य पत्तूलाइ, तत्थ अग्गी कड्डाइ वा परित्ताणंताइ दायव्वं । एयं भावागाढं । पुरिसागाढे जम्मि विणट्ठे गच्छस्स विणासो नाणदरिसणचरित्ताऽऽईणं विणासो । (न हु तुंबम्मि विणट्ठे गाहा) ताहे तस्स असुद्धेणावि कीरइ, जाव जीवइ । एयं पुरिसाऽऽगाढं । (गाहा-संजोगदिट्ठपाढी) वेज्जस्स वा संजोगदिट्ठपाढिस्स असइ गीयत्थसंविग्गस्स, ताहे गीयत्थवेज्जस्स जा पाहुडिया कीरइ पहाणभोयणचोयणाइ, तं सद्दहइ । एयं ति तिगिच्छागाढं । (गाहा-होज्ज दुस्सहाय) सहाया वा से नत्थि अवत्तव्वया सुत्तेण वा दोसा य हिंडमाणस्स वा एगागियस्स ताहे एगत्थ अत्थइ, एगत्थ अत्थंतो अपायच्छित्तो जाव सहाए न लभइ पाउग्गे । (एयऽसहायागाढं गाहा) जावंति एयमाइयाओ, जावंति पडिसेवणाओ मूलुत्तरगुणेसु, ताओ एएसु सव्वेसु कारणेसु सुद्धेसु सुद्धाओ, एएसु सव्वेसु कारणेसु अ अप्पत्तेसु करेइ असुद्धाओ । एस दंसणकप्पो ।" पं० चू० ।

दंसणकुसील-दर्शनकुशील-पुं० । कुशीलशब्दप्रदर्शितस्वरूपे कुशीलभेदे, महा० ३ अ० ।

दंसणखवग-दर्शनक्षपक-पुं० । पदैकदेशे पदप्रयोगात् दर्शनमोहनीयस्य क्षपके, कर्म० ५ कर्म० । दर्शनमोहनीयक्षये, क्षयोपशमे च । स्था० १ ठा० ।

दंसणगुणप्पमाण-दर्शनगुणप्रमाण-न० । गुणप्रमाणभेदे, अनु० ।

अथ दर्शनगुणप्रमाणमाह-

से किं तं दंसणगुणप्पमाणे ? । दंसणगुणप्पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-चक्खुदंसणगुणप्पमाणे, अचक्खुदंसणगुणप्पमाणे, ओहिदंसणगुणप्पमाणे, केवलदंसणगुणप्पमाणे । चक्खुदंसणं चक्खुदंसणस्स घडपडकडरहाऽऽइएसु दव्वेसु, अचक्खुदंसणं अचक्खुदंसणस्स आयभावे, ओहिदंसणं ओहिदंसणस्स सव्वरूविदव्वेहिं, न पुण सव्वपज्जवेहिं, केवलदंसणं केवलदंसणस्स सव्वदव्वेहिं अ, सव्वपज्जवेहि अ । सेत्तं दंसणगुणप्पमाणे ।

(से किं तं दंसणगुणप्पमाणे इत्यादि) दर्शनाऽऽवरणकर्मक्षयोपशमाऽऽदिजं सामान्यमात्रग्रहणं दर्शनमिति । उक्तं च-"जं सामन्नग्गहणं, भावाणं नेव कट्टुमागारं । अविसेसिऊण अत्थे, दंसणमिइ वुच्चए समए ॥१॥" तदेवाऽऽत्मनो गुणः, स एव प्रमाणं दर्शनगुणप्रमाणम् । इदं च चक्षुर्दर्शनाऽऽदिभेदाच्चतुर्विधम् । तत्र भावचक्षुरिन्द्रियाऽऽवरणक्षयोपशमाद्, द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च, चक्षुर्दर्शनिनश्चक्षुर्दर्शनलब्धिमतो जीवस्य घटाऽऽदिषु द्रव्येषु चक्षुषा दर्शनं चक्षुर्दर्शनं, भवतीति क्रियाऽध्याहारः । सामान्यविषयत्वेऽपि चास्य यद् घटाऽऽदिविशेषाभिधानं तत्सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदभेदादेकान्तेन विशेषेभ्यो व्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याऽग्रहणख्यापनार्थम् । उक्तं च-" निर्विशेषं विशेषाणां, ग्रहो दर्शनमुच्यते ।" इत्यादि । चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयं, मनश्चाचक्षुरुच्यते, तस्य दर्शनं न चक्षुर्दर्शनं, तदपि भावचक्षुरिन्द्रियाऽऽवरणक्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च, अचक्षुर्दर्शनिनोऽचक्षुर्दर्शनलब्धिमतो जीवस्याऽऽत्मभावे भवति, आत्मनि आत्मनि जीवे भावः संश्लिष्टतया संबन्धो, विषयस्य घटाऽऽदेरिति गम्यते, तस्मिन् सति इदं प्रादुर्भवति रूपम् । इदमुक्तं भवति-चक्षुरप्राप्यकारि, ततो दूरस्थमपि स्वविषयं परिच्छिनत्तीत्यस्याऽर्थस्य ख्यापनार्थं घटाऽऽदिषु चक्षुर्दर्शनं भवतीति पूर्वं विषयस्य भेदेनाभिधानम् । श्रोत्राऽऽदीनि तु प्राप्यकारीणि, ततो द्रव्येन्द्रियसंश्लेषद्वारेण जीवेन सह संबद्धमेव विषयं परिच्छिन्दन्तीत्येतद्दर्शनार्थमात्मभावे भवतीत्येवमिह विषयस्याभेदेन प्रतिपादनमकारीति । उक्तं च-" पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासई अपुट्ठं तु ।" इत्यादि । अवधेर्दर्शनमवधिदर्शनम् । अवधिदर्शनिनोऽवधिदर्शनाऽऽवरणक्षयोपशमसमुद्भूताऽवधिदर्शनलब्धिमतो जीवस्य सर्वरूपिद्रव्येषु भवति, न पुनः सर्वपर्यायेषु, यतोऽवधेरुत्कृष्टतोऽप्येकवस्तुगताः सङ्ख्येया असङ्ख्येया वा पर्याया विषयत्वेनोक्ताः, जघन्यतस्तु द्वौ पर्यायौ द्विगुणितौ, रूपरसगन्धस्पर्शलक्षणाश्चत्वारः पर्याया इत्यर्थः । उक्तं च-" दव्वाओ असंखेज्जे, संखेज्जेआ वि पज्जवे लहइ । दो पज्जवे दुगुणिए, लहइ य एगाउ दव्वाओ ॥१॥ " अत्राऽऽह-ननु पर्याया विशेषा उच्यन्ते, न च दर्शनं विशेषविषयं भवितुमर्हति, ज्ञानस्यैव तद्विषयत्वात्कथमिहावधिदर्शनविषयत्वेन पर्याया निर्दिष्टाः, सत्यमुक्तं, केवलं पर्यायैरपि घटशरावोदञ्चनाऽऽदिभिर्मृदाऽऽदिसामान्यमेव तथा तथा विशिष्यते, न पुनस्तेन एकान्तेन व्यतिरिच्यन्ते, अतो मुख्यतः सामान्यं, गुणीभूतास्तु विशेषा अप्यस्य विषयो भवन्तीतिख्यापनार्थोऽत्र तदुपन्यासः, केवलं सकलद्रव्यविषयत्वेन परिपूर्णं दर्शनं, केवलदर्शनिनस्तदावरणक्षयाऽऽविर्भूततल्लब्धिमतो जीवस्य सर्वद्रव्येषु मूर्त्तामूर्त्तेषु सर्वपर्यायेषु च भवतीति । मनःपर्यायज्ञानं तु तथाविधक्षयोपशमपाटवात् सर्वदा विशेषानेव गृह्णदुत्पद्यते, न सामान्यम्, अतस्तद्दर्शनं नोक्तमिति । तदेतद्दर्शनगुणप्रमाणम् । अनु० ।

दंसणगह-दर्शनग्रह-पुं० । मताऽऽग्रहे, षो० ११ विव० ।
('णाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७८१ पृष्ठे गतमस्य विवेचनम्)

दंसणचारित्तमोह-दर्शनचारित्रमोह-पुं० । द्विरूपमोहनीये कर्मणि, प्रश्न० । ननु चारित्रमोहस्य हेतुर्मैथुनमिति प्रतीतम् । तदाह-"तिव्वकसाओ बहुमो-हपरिणओ रागदोससंजुत्तो ।" प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

दंसणट्ठ-दर्शनार्थ-त्रि० । दर्शनं तत्त्वानां श्रद्धानं, तदर्थं वस्तुनि, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

दंसणट्ठया-दर्शनार्थता-स्त्री० । दर्शनप्रभावकशास्त्रार्थिकत्वे, व्य० ५ उ० २ अ० ।

दंसणणय-दर्शननय-पुं० । दर्शनेन एव सम्यक्त्वमित्येवंभूते नये, आव० । 'णाणणय' शब्दे १६८६ पृष्ठे ज्ञानप्राधान्यं चारित्रप्राधान्यं च वर्णयित्वाऽऽह; तत्र दर्शननयमतावलम्बी अधिगतज्ञाननये इदमाह-

जह नाणेणं न विणा, चरणं नादंसणिस्स इय नाणं ।
न य दंसणं न भावो, तेन य दिट्ठिं पणिवयामो ॥८४॥

यथा ज्ञानेन विना न चरणं, किं तु सहैव, नादर्शनिन एवं ज्ञानं, किं तु दर्शनिन एव । "सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं, मिथ्यादृष्टेर्विपर्यासः ।" इति वचनात् । तथा न च दर्शनं न भावः, किं तु भाव एव; भावश्चिह्नान्तर्गतमित्यर्थः । तेन कारणेन ज्ञानस्य सद्भावभावित्वाद्दर्शनस्य ज्ञानोपकारकत्वात् प्राग्वद् (दिट्ठि त्ति) प्राकृतशैल्या दर्शनमस्यास्तीति दर्शनी, तं दर्शनिनं प्रणमामः पूजयामः । इति गाथार्थः ॥ ८४ ॥

स्यादेतत् सम्यक्त्वज्ञानयोर्युगपद्भावादुपकार्योपकारकभावानुपपत्तिरित्येतदसत्; यतः-

जुगवं पि समुप्पन्नं, सम्मत्तं अहिगमं विसोहेइ ।
जह कयगमंजणाई, जलदिट्ठीओ विसोहंति ॥ ८५ ॥

युगपदपि तुल्यकालमपि समुत्पन्नं संजातं सम्यक्त्वं ज्ञानेन सह अधिगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते पदार्था येन सोऽधिगमः, ज्ञानमेवोच्यते, तमधिगमं विशोधयति, ज्ञानं विमलीकरोतीत्यर्थः । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह-यथा कतकाञ्जने जलदृशौ विशोधयत इति । कतको वृक्षस्तस्येदं कातकं फलम्, अञ्जनं सौवीराऽऽदि, कातकं चाञ्जनं च कातकाञ्जने, अनुस्वारोऽलाक्षणिको, अलमुदकं, दृष्टिः स्वविषये लोचनप्रसरलक्षणा, जलं च दृष्टिश्च जलदृशौ, ते शोधयतः । इति गाथार्थः ।

साम्प्रतमुपन्यस्तदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकेनांशतो भावनिकां प्रतिपादयन्नाह-

जह जह सुज्झइ सलिलं, तह तह रूवाइँ पासई दट्ठा ।
इय जह जह तत्तरुई, तह तह तत्तागमो होइ ॥ ८६ ॥

यथा यथा शुद्ध्यति सलिलं कातकफलसंयोगात्तथा तथा रूपाणि लक्ष्याणि पश्यति द्रष्टा । (इय) एवं यथा यथा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वलक्षणा, संजायत इति क्रिया । तथा तथा तत्त्वाऽऽगमः तत्त्वपरिच्छेदो भवतीति । एवमुपकारकं सम्यक्त्वं ज्ञानस्येति गाथार्थः ।८६।

स्यादेतन्निश्चयतः कार्यकारणभाव एवोपकार्योपकारकभावः, स चासम्भवी युगपज्जातयोरित्यत्रोच्यते-

कारणकज्जविभागो, दीवपगासाण जुगवजम्मे वि ।
जुगवुप्पन्नं पि तहा, हेऊ नाणस्स संमत्तं ॥ ८७ ॥

यथेह कारणकार्यविभागो दीपप्रकाशयोर्युगपज्जन्मनि युगपदुत्पादेऽपीत्यर्थः, युगपदुत्पन्नमपि तथा हेतुः कारणं ज्ञानस्य सम्यक्त्वम् । यस्मादेवं तस्मात्सकलगुणमूलत्वाद् दर्शनस्य दर्शनिन एव कृतिकर्म कार्यमात्मनाऽपि तत्रैव यत्नः कार्यः, सकलगुणमूलत्वादेवेति । उक्तं च-"द्वारं मूलं प्रतिष्ठानमाधारो भाजनं निधिः । धर्मद्रुमस्य हेतोर्द्विषट्कस्य, सम्यग्दर्शनमिष्यते ॥१॥" अयं गाथाऽभिप्रायः ।

इत्थं चोदकेनोक्ते सत्याहाऽऽचार्यः-

नाणस्स जइ वि हेऊ, सत्तिमयनिअयं तहा वि संमत्तं ।
तम्हा फलसंपत्ती, न जुज्जई नाणपक्खे व्व ॥ ८८ ॥
जह तिक्खरुई वि नरो, गंतुं देसंतरं नयविहूणो ।
पावेइ न तं देसं, नयजुत्तो चेव पाउणइ ॥ ८९ ॥
इय नाणचरणरहिओ, सम्मद्दिट्ठी वि मुक्खदेसं तु ।
पाउणइ नेव नाणाऽऽ-इसंजुओ चेव पाउणइ ॥ ९० ॥

इदमन्यकर्तृकं गाथात्रयं सोपयोगमितिकृत्वा व्याख्यायते-ज्ञानस्य यद्यपि हेतुः कारणं, सम्यक्त्वमिति योगः । अपिशब्दोऽभ्युपगमवादसंसूचकः । अभ्युपगम्याऽपि ब्रूमः । तत्त्वतस्तु कारणमेव न भवति, द्वयोरपि विशिष्टक्षयोपशमकार्यत्वात्स्वविषयनियतमिति कृत्वा । स्वविषयश्चास्य तत्त्वेषु रुचिरेव । तथाऽपि तस्मात् सम्यक्त्वात् (फलसंपत्ती न जुज्जई) फलसंप्रसिर्न युज्यते, मोक्षसुखप्राप्तिर्न घटत इत्यर्थः । स्वविषयनियतत्वादेव, असहायत्वादित्यर्थः । ज्ञानपक्ष इव । अनेन तत्प्रतिपादितलक्षणदृष्टान्तसंग्रहमाह-यथा ज्ञानपक्षो मार्गज्ञाऽऽदिभिर्दृष्टान्तैरसहायस्य ज्ञानस्यैहिकाऽऽमुष्मिकफलसाधकत्वमुक्तम्, एवमत्रापि दर्शनाभिलापेन द्रष्टव्यम् । दिङ्मात्रं तु प्रदर्श्यते-यथा तीक्ष्णरुचिरपि नरः तीव्रश्रद्धोऽपि पुरुषः, गन्तुं देशान्तरं, देशान्तरगमन इत्यर्थः । नयविहीनः, ज्ञानाऽऽगमक्रियालक्षणनयशून्य इत्यर्थः । प्राप्नोति न तं देशं गन्तुमिष्टं तद्विषयश्रद्धायुक्तोऽपि, नययुक्त एव प्राप्नोति । (इय) एवं ज्ञानचरणरहितः सम्यग्दृष्टिरपि तत्त्वश्रद्धानयुक्तोऽपि मोक्षदेशं तु प्राप्नोति नैव सम्यक्त्वप्रभावादेव, किं तु ज्ञानाऽऽदिसंयुक्त एव प्राप्नोति । तस्मात् तत् त्रितयं प्रधानम्, एतत्त्रितययुक्तस्यैव कृतिकर्म कार्यं, त्रितयं चाऽऽत्मना सेवनीयम्, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति वचनात् । अयं गाथात्रितयार्थः ।

एवमपि तत्त्वे समाख्याते ये अल्पधर्मभूयिष्ठाः, तानि चालम्बनानि प्रतिपादयन्ति, तदेतदभिधित्सुराह-

धम्मनियत्तमईआ, परलोयपरम्मुहा विसयगिद्धा ।
चरणकरणे असत्ता, सेणिअरज्जं ववइसंति ॥ ९१ ॥

धर्मश्चारित्रधर्मः परिगृह्यते, तस्मान्निवृत्ता मतिर्येषां ते धर्मनिवृत्तमतयः, परः प्रधानो लोकः परलोकः मोक्षः, तस्मात् पराङ्मुखाः, विषयगृद्धाः शब्दाऽऽदिविषयानुरक्ताः; ते एवंभूताश्चरणकरणे अशक्ता असमर्थाः सन्तः श्रेणिकराज्यं व्यपदिशन्त्यालम्बनमिति गाथार्थः ॥ ९१ ॥

न सेणिओ आसि तया बहुस्सुओ,
न यावि पन्नत्तिधरो न वायगो ।
सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सई,
समिक्ख पन्नाइ, वरं खु दंसणं ॥ ९२ ॥

(न सेणिओ इत्यादि) न श्रेणिको नरपतिः आसीत्तदा तस्मिन्काले बहुश्रुतो बह्वागमः, महाकल्पाऽऽदिश्रुतधर इत्यर्थः । न चाऽपि प्रज्ञप्तिधरो न चापि भगवतीवेत्ता, न वाचकः-न पूर्वधरः, तथाऽपि सोऽसहायो दर्शनप्रभावादेव (आगमिस्साइ त्ति) आगम्यामागामिनि काले, जिनो भविष्यति तीर्थकरो भविष्यति । यतश्चैवमतः समीक्ष्य दृष्ट्वा प्रज्ञया बुद्ध्या दर्शनावि-

पाकं तीर्थकराऽऽख्यफलप्रसाधकम (वरं खु दंसणं ति) 'खु' शब्दस्यावधारणार्थत्वात् वरं दर्शनमेव, अङ्गीकृतमिति वाक्यशेषः। अयं वृत्तार्थः। किं च--शक्य एवोपाये प्रेक्षावतः प्रवृत्तिर्युज्यते, न पुनरशक्ये शिरःशूलशमनाय तक्षकफणाऽलङ्कारग्रहणकल्पे चारित्रे, चारित्रं च तत्त्वतः मोक्षोपायत्वे सत्यप्यशक्याऽऽसेवनं, सूक्ष्मापराधैरपि अनुपयुक्तगमनाऽऽदिभिर्विराध्यमानत्वादायासरूपत्वाच्च नियमेन छद्मस्थस्य तद्भ्रंश उपजायते सर्वस्यैव॥६२।

अतः-

भट्ठेण चरित्ताओ, सुट्ठुअरं दंसणं गहेअव्वं ।

सिज्झंति चरणरहिआ, दंसणरहिआ न सिज्झंति ॥६३।

भ्रष्टेन च्युतेन, कुतः ?, चारित्रात्, सुतरां दर्शनं ग्रहीतव्यं, पुनर्बोधिलाभानुबन्धि, स्वर्गाऽऽदेर्वा ग्रहीतव्येऽशक्यमोक्षोपायत्वात्। तथा च सिध्यन्ति चरणरहिताः प्राणिनः दीक्षाप्रवृत्त्यनन्तरमृतान्तकृत्केवलिनः, दर्शनरहितास्तु न सिध्यन्ति, अतो दर्शनमेव प्रधानं सिद्धिकारणं, तद्भावनाविरत्वादित्ययं गाथाऽर्थः ॥ ६३ ॥ आव० ३ अ० ।

दंसणतह-दर्शनतथ्य-शङ्काऽऽद्यतिचाररहिते जीवाऽऽदितत्त्वश्रद्धाने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

दंसणपडिमा-दर्शनप्रतिमा-स्त्री० । उपासकानां प्रथमप्रतिमायाम, ध० २ अधि० । प्रव० । पञ्चा० । ('उवासगपडिमा' शब्दे द्वितीयभागे १०६७ पृष्ठे व्याख्यातेयम)

दंसणपभावग-दर्शनप्रभावक-पुं० । सर्वज्ञशासनप्रकाशके, जीवा १३ अधि० ।

दंसणपरिणाम-दर्शनपरिणाम-पुं० । सम्यग्दर्शनपरिणामे, प्रज्ञा० १३ पद ।

दंसणपरीसह-दर्शनपरीषह-पुं० । दर्शनं सम्यग्दर्शनं तदेव क्रियाऽऽदिवादिनां विचित्रमतश्रवणेऽपि सम्यक्परिषह्यमाणं निश्चलचित्ततया धार्यमाणं परीषहः। यद्वा-दर्शनशब्देन दर्शनव्यामोहहेतुरैहिकाऽऽमुष्मिकफलानुपलम्भाऽऽदिरिह गृह्यते,ततः स एव परीषहः दर्शनपरीषहः। दर्शनपरीषहे, उत्त० २ अ० । स० । प्रव० । जिनानां जिनोक्तभावानां चाश्रद्धानवर्जनरूपे परीषहे, भ० ८ श० ८ उ० । "जिनास्तदुक्तजीवा वा, धर्माधर्मौ भवान्तरम । परोक्षत्वान्मृषा नैव, चिन्तयेत्प्राप्तदर्शनः ॥ १ ॥" ध० ३ अधि० ।

एतदेव सूत्रकृदाह-

नत्थि णूणं परे लोए, इड्ढी वा वि तवस्सिणो ।

अदुवा वंचिओ मि त्ति, इइ भिक्खू ण चिंतए ॥४४॥

नास्ति न विद्यते, (णूणं) निश्चितं परलोको, जन्मान्तरमित्यर्थः। भूतचतुष्टयाऽऽत्मकत्वाच्छरीरस्य, तस्य चेहैव पातात्, चैतन्यस्य च भूतधर्मत्वात्। तदतिरिक्तस्य चाऽऽत्मनः प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानत्वात्, ऋद्धिर्वा तपोमाहात्म्यरूपा। अपिः पूरणे। कस्य?, तपस्विनः, सा चाऽऽमर्षौषध्यादिः-

" पादरजसा प्रशमनं, सर्वरुजां साधवः क्षणात् कुर्युः ।

त्रिभुवनविस्मयजननात्, दद्युः कामाँस्तृणाग्राद्वा ॥ १ ॥

धर्माद्रत्नोन्मिश्रित-काञ्चनवर्षाऽऽदिसर्गसामर्थ्यम ।

अद्भुतभीमोरुशिला--सहस्रसंपातशक्तिश्च ॥ २ ॥"

इत्यादिका च, तस्या अप्यनुपलभ्यमानत्वादिति भावः। (अथवा कि तु) अथवा किं बहुना?, वञ्चितोऽस्मि, भोगानामिति गम्यते। (इति) इत्यमुना शिरस्तुण्डमुण्डनोपवासाऽऽदिना यातनाऽऽत्मकेन धर्मानुष्ठानेन। उक्तं च-" तपांसि यातनाश्चित्राः, संयमो भोगवञ्चना । " इत्यादि । (इति) इत्यनन्तरमुपदर्शितं भिक्षुर्न चिन्तयेत् न ध्यायेत्, परिफल्गुरूपत्वादस्य। तथाहि यत्तावदुक्तम्-"भूतचतुष्टयाऽऽत्मकत्वाच्छरीरस्य जन्मान्तराऽभाव इति।" तदसत्। न हि शरीरस्य जन्मान्तरानुयायित्वमस्माभिरुच्यते, किं त्वात्मनः, न च भूतधर्म एव चैतन्ये आत्मव्यपदेशः, तस्य तद्धर्मत्वेनोत्तरत्र निषेत्स्यमानत्वात्। यदपि ऋद्धिर्वा तपस्विनो नास्ति, तदपि वचनमात्रमेव। अथाऽऽत्मन ऋद्धीनां चाऽऽभावे अनुपलम्भो हेतुरुक्तः,सोऽपि स्वसंबन्धी, सर्वसम्बन्धी वा?। तत्र न तावदात्मनोऽभावे स्वसम्बन्ध्यनुपलम्भो हेतुः, स्वयं तस्य घटाऽऽदिवदनुपलभ्यमानत्वात्, यथैव हि घटाऽऽदिगता रूपाऽऽदय उपलभ्यन्ते, तथा आत्मगता अपि ज्ञानसुखाऽऽदय इति नात्र महदन्तरमुत्पश्यामः। उक्तं चाऽश्वसेनवाचकेन-"आत्मप्रत्यक्ष आत्माऽयम्।" इत्यादि। अथाऽयं न दृग्गोचर इति नास्तीत्युच्यते,नाऽयमप्येकान्तः। यतस्तेनैवोक्तम्-"न च नास्तीह तत्सर्वं, चक्षुषा यन्न गृह्यते।" अन्यथा-चैतन्यमपि न दृग्गोचर इति तस्याऽप्यसत्त्वं स्यात्, अथ तत् स्वसंविदितमिति सदुच्यते, अयमपि तथाभूत एवेति सदस्तु। उक्तं हि-" अस्त्येव चाऽऽत्मा प्रत्यक्षो, जीवो ह्यात्मानमात्मना । अहमस्मीति संवेत्ति, रूपाऽऽदीनि यथेन्द्रियैः ॥१॥" इति। किं बहुना ?, यथा चैतन्यमस्तीत्यभ्युपगम्यते, तथाऽऽत्माऽप्यभ्युपगन्तव्यः,तथा चाऽऽह-"ज्ञानं स्वस्थं परस्थं वा,यथा ज्ञानेन गृह्यते। ज्ञाता स्वस्थः परस्थो वा, तथा ज्ञानेन गृह्यताम् " ॥ १ ॥ इति। अथ सर्वसम्बन्ध्यनुपलम्भ आत्माभावे हेतुः, अयमप्यसिद्धः, अहमस्मीतिप्रत्ययेन प्रतिप्राणि स्वात्मनः [illegible] सर्वाऽऽत्मनामुपलम्भस्य प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्, [illegible]नामप्यभावे सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भोऽसिद्धः। स [illegible] तु नियतदेशकालापेक्षोऽन्यथा वा?। प्रथमपक्षे को [illegible]क्रमाह?, कालान्तरदेशान्तरवर्तिनां सामनुपलम्भस्य (उपलब्ध[illegible])[illegible]कमपि सम्मतत्वात्। द्वितीयपक्षे पुनरनैकान्तिकता, दे[illegible]ऽदिविप्रकृष्टानामनुपलम्भेऽपि सत्त्वात्, दृश्यते च कश्चित्कद[illegible]चरणरेणुस्पर्शनाऽऽदितो रोगोपशमाऽऽदिः; ततश्चेहापि क[illegible]न्तरे महाविदेहाऽऽदिषु च सर्वकालमृद्धयन्तराणामपि संभव[illegible]नुमीयमानत्वात्। यदपि वञ्चितोऽस्मीति भोगसुखानामनेन [illegible]स्तुण्डमुण्डनोपवासाऽऽदिना यातनाऽऽत्मकेन धर्मानुष्ठाने[illegible]। तदप्यसमीक्षिताभिधानम। भोगसुखानां दुःखानुषक्तत्वेन [illegible]र्थादिमामनादेयत्वात्। तथा च वात्स्यायनोऽप्याह। तद्यथा-"[illegible]असंपृक्तमसमनादेयम, एवं दुःखानुषक्तं सुखमनादेयमिति।" [illegible]गश्च-यद्विपत्तानुविद्धं न तत्स्वतस्तदेव, यथा विषव्यामि[illegible]म, अनुभिकाङ्क्षाशोकाऽऽदिभिमिश्रं च वैषयिकं सुखम्। न च [illegible]स्त्यादीनां प्रतिप्राणि स्वसंवे[illegible]सिद्धता, कालत्रये यथायोगमनुऽऽत्मकत्वम्, मनइन्द्रिययोगाना[illegible]त्वात्, नाऽपि तपसो यातनाऽऽ[illegible]त्वेन तत्प्रतिपादनात्। उक्तं हि-" मनइन्द्रिययोगाना-महानिश्चाव, जिनैः[illegible]तोऽत्र तत्कथं तस्य, युक्ता स्यात् दुःखरूपता ? ॥१॥' देहश्च क्रियमाणोऽऽत्मकत्वेऽपि समी[illegible]कारकतुण्डमुण्डमाऽऽदुःखदायकता। यदुक्तम्-"दृष्टा चेष्टार्थस[illegible]र्थसम्पादकत्वेन न दुःखदा। रत्नाऽऽदिवाणिज्यादीनां, तद्वच्चापि भोग्य[illegible]तस्तौ, कायपीडाऽप्ययोगश्च-यदिष्टार्थप्रसाधकं, न तत् कायपीडाऽऽत्मकत्वेऽपि दुःख-[illegible]म्॥१॥"प्र-

द्धार्थं,यथा रत्नवणिजामध्वश्रमाऽऽदि, इष्टार्थप्रसाधकं च तपः, न चास्याप्यसिद्धता, प्रशमहेतुत्वेन तपसस्तत्परिपाकितारतम्यात्परमाऽऽनन्दतारतम्यस्यानुभूयमानत्वेन तत्प्रकर्षे तस्याऽपि प्रकर्षानुमानात् । प्रयोगश्च-यत्तारतम्येन यस्य तारतम्यं तस्य प्रकर्षे तत्प्रकर्षः, यथाऽग्नितापप्रकर्षे तपनीयविशुद्धिप्रकर्षः, अनुभूयते च प्रशमतारतम्येन परमाऽऽनन्दतारतम्यम्, लोकप्रतीतत्वाच्चेति सूत्रार्थः ॥४४॥

तथा—

अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवाऽवि भविस्सइ ।
मुसं ते एवमाहंसु, इति भिक्खू न चिंतए ॥४५॥

अभूवन्नासन् जिनाः रागाऽऽदिजेतारः, अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपको निपातः-ततश्च विद्यन्ते जिनाः, अस्य कर्मप्रवादपूर्वसप्तदशप्राभृतोद्धृततया वस्तुतः सुधर्मस्वामिनैव जम्बूस्वामिनं प्रति प्रणीतत्वात्, तत्काले च जिनसंभवादित्थमुक्तम्; विदेहाऽऽदिक्षेत्रान्तरापेक्षया चेति भावनीयम् । (अदुवेति) अथवा अपिर्भिन्नक्रमः । (भविस्सइ त्ति) वचनव्यत्ययाद्भविष्यन्ति, जिनाः, इत्यपि मृषा अलीकम्, ते जिनास्तित्ववादिनः, (एवं) अनन्तरोक्तन्यायेन (आहंसु त्ति) आहुः ब्रुवते,इति भिक्षुर्न चिन्तयेत्, जिनस्य सर्वज्ञाधिक्षेपप्रतिक्षेपाऽऽदिषु प्रमाणोपपन्नतया प्रतिपादनाच्च तदुपदेशमूलत्वाच्च सकलैहिकाऽऽमुष्मिकव्यवहाराणामिति सूत्रार्थः ॥ ४५ ॥

इदानीं शिष्याऽऽगमनद्वारम् । तत्र च "नत्थि णूणं परे लोए(४४)" इति सूत्रावयवसूचितमुदाहरणं निर्युक्तिकृदाह—

ओहाविउकामो ऽवि य, अज्जासाढो उ पणियभूमीए ।
काऊण रायरूवं, पच्छा सीसेण अणुसिट्ठो ॥१२३॥

अवधावितुकामोऽपि उन्निष्क्रमितुकामोऽपि, चः पूरणे, आर्यापाढस्तु पणितभूमौ व्यवहारभूमौ, हट्टमध्य इत्यर्थः । कृत्वा राजरूपं पश्चाच्छिष्येणानुशिष्टः । इति गाथाऽक्षरार्थः ॥ १२३ ॥

भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादवसेयः । स चायम्-"अत्थि वच्छाभूमीए अज्जासाढा नामाऽऽयरिया बहुस्सुया,बहुसीसपरिवारा य । तत्थ य गच्छे जो कालं करेति तं णिज्जावेंति भत्तपच्चक्खाणाऽऽइणा । तो बहवे णिज्जामिया । अन्नया एगो अप्पणतो सीसो आयरतरेण भणितो-देवलोगाओ आगंतूण मम दरिसणं देज्जासु । ण य सो आगतो वक्खित्तचित्तत्तणओ । पच्छा सो चिंतेइ-सुबहुं कालं किलिट्ठोऽहं, सलिंगेण चेव ओहावति । पच्छा तेण सीसेण देवलोगगएण आभोइतो, पेच्छइ-ओहावेंतं,पच्छा तेण तस्स पहे गामो विउव्वितो,णरूपेच्छा य । सो तत्थ छम्मासे पेच्छंतो अत्थितो, ण छुहं ण तण्हं कालं वा दिव्वप्पभावेण वेयति, पच्छा तं संहरिउं गामस्स बहिं विजणे उज्जाणे छद्दारए सव्वालंकारविभूसिए विउव्वति संजमपरिक्खणत्थं, दिट्ठा तेण ते, गिण्हामि एसिमाहरणगाणि, वरं सुहं जीवंतो त्ति । सो एगं पुढविदारयं भणति-आणेहि आभरणगाणि । सो भणति-भगवं ! एगं ताव मे अक्खाणयं सुणेहि, ततो पच्छा गेण्हेज्जासि । भणति-सुणेमि । सो भणइ-एगो कुंभकारो, सो मट्टियं खणंतो तडीए अक्कंतो । सो भणति "-

जेण भिक्खं बलिं देमि, जेण पोसेमि णायए ।
सा मे मही अक्कमइ, जायं सरणओ भयं ॥ १२४ ॥

(जेण त्ति) प्राकृतशैल्या यया भिक्षां बलिं ददामि, यथाक्रमं भिक्षुदेवेभ्य इति गम्यते । (जेण त्ति) यया पोषयामि (णायए त्ति) ज्ञातीन्, सा (मे त्ति) मां मही आक्रामति अवष्टभ्नाति; जातम् उत्पन्नम्, शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥ १२४ ॥

अयमिहोपनयः-चौरभयादहं भवन्तं शरणमागतः, त्वं चैवं विलुम्पसि, ततो ममाऽपि जातं शरणतो भयम्, एवमुत्तरत्राप्युपनया भावनीयाः । " तेण भणइ-अतिपंडियवाइतो सि त्ति घेत्तूण आभरणगाणि पडिग्गहे छुहाणि । गतो पुढविकाइओ । इयाणिं आउक्काओ वीओ, सो वि अक्खाणयं कहेति-जहा एगो तालायरो कहाकहओ पाडलओ णाम, सो अन्नया गंगं उत्तरंतो उवरि वुट्ठोदएण हीरति, तं पासिऊण जणो भणति "-

बहुस्सुयं चित्तकहं, गंगा वहति पाडलं ।
वुज्झमाणग ! भद्दं ते, लव ता किंचि सुभासियं ॥१२५॥

बहुश्रुतं बहुविदं, चित्रकथं नानाकथाकथकं, गङ्गा वहति पाटलं पाटलनामकम्, उह्यमानक ! भद्रं ते, लप ब्रूहि (ता इति) तावद्यावदद्यापि दूरं न नीयस इति भावः, किञ्चिदस्यल्पं सुभाषितं सूक्तमिति श्लोकार्थः ॥ १२५ ॥

सोऽप्यादीत्-

जेण रोहंति वीयाणि, जेण जीवंति कासया ।
तस्स मज्झे विवज्जामि, जायं सरणतो भयं ॥ १२६ ॥

येन जलेन रोहन्ति प्रादुर्भवन्ति बीजानि, येन जीवन्ति प्राणधारणं कुर्वन्ति कर्षकाः कृषीवलाः, तस्य मध्ये (विवज्जामि त्ति) विपद्ये म्रिये, जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥१२६॥

" तस्स वि तहेव गेण्हति । एस आउक्काओ गतो । इयाणिं तेउक्काओ ततिओ, तहेव अक्खाणयं कहेति-एगस्स तावसस्स अग्गिणा उडओ दड्ढो, पच्छा सो भणति"-

जमहं दिया य राओ य, तप्पेमि महुसप्पिसा ।
तेण मे उडओ दड्ढो, जायं सरणओ भयं ॥ १२७ ॥

यमहं दिवा च रात्रौ च तर्पयामि प्रीणयामि मधुसर्पिषा तेनाग्निना-अग्निना, मे उटजस्तापसाऽऽश्रमो दग्धो, जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥ १२७ ॥

अथवा-

वग्घस्स मए भीएणं, पावगो सरणं कओ ।
तेण दड्ढं ममं अंगं, जायं सरणओ भयं ॥ १२८ ॥

(वग्घस्स त्ति) सुब्व्यत्ययाद् व्याघ्रात् पुण्डरीकाद् मया भीतेन पावकः अग्निः शरणीकृतः, तेनाङ्गं शरीरं मम दग्धं, जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥ १२८ ॥

"तस्स वि तहेव गिण्हति । एस तेउक्काओ । इयाणिं वाउक्काओ चउत्थो, तहेव अक्खाणयं कहेति-जहा एगो जुवाणो घणनिचियसरीरो, सो पच्छा वाएहिं गहितो, अन्नेण भण्णति"-

लंघणपवणसमत्थो, पुव्वं होऊण संपयं कीस ? ।
दंडगहियग्गहत्थो, वयंस ! किं नामओ वाही ? ॥ १२९ ॥

(लंघणेत्यादि) लङ्घनम्-उत्प्लुत्य गमनं, प्लवनं धावनं, तत्समर्थः पूर्वं भूत्वा साम्प्रतम् (कीस त्ति) कस्माद् (दंडगहियग्गहत्थो त्ति) प्राकृतत्वाद् गृहीतदण्डाग्रहस्तो,गच्छसीति गम्यते । तद्यं ते वयस्य ! किंनामको व्याधिरिति गाथाऽर्थः ॥ १२९ ॥

स आऽऽह-

जिट्ठाऽऽसाढेसु मासेसु, जो सुहो वाइ मारुओ ।
तेण मे भज्जए अंगं, जायं सरणओ भयं ॥ १३० ॥

ज्येष्ठाऽऽषाढयोर्मासयोर्यः शुभशैत्याऽऽदिगुणान्वितत्वेन शोभनो वाति मारुतो वायुः, तेन मे मम भज्यतेऽङ्गम्, तस्य मेघोन्नतिसंभवत्वेन वातप्रकोपादिति भावः । एवं च जातं शरणतो भयम्, घर्मार्दितानां हि शरणमयमिति श्लोकार्थः ॥१३०॥

अथवा-

जेण जीवंति सत्ताणि, णिरोहम्मि अणंतए ।
तेण मे भज्जए अंगं, जायं सरणओ भयं ॥ १३१ ॥

येन वातेन जीवन्ति सत्त्वानि, निरोधे प्रक्रमाद्वातस्य अनन्तके अपरिमिते, तेन मे भज्यतेऽङ्गम्, जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥ १३१ ॥

"तस्स वि तहेव गेण्हति । एसो वाउक्काओ गतो । इयाणिं वणस्सइकाइओ पंचमो, तहेव अक्खाणयं कहेति-जहा एगम्मि रुक्खे केसिं पि सउणाणं आवासो, तहियं पिल्लगाणि जायाणि, पच्छा रुक्खऽब्भासाओ वल्ली उट्ठिया, रुक्खं वेढंती उवरिं विलग्गा, वल्लीअणुसारेण सप्पेण विलग्गिऊण ते पिल्लगा खाइया । पच्छा सेसगा भणंति "--

जाव वुच्छं सुहं वुच्छं, पादवे निरुवद्दवे ।
मूलाओ उट्ठिया वल्ली, जायं सरणतो भयं ॥ १३२ ॥

यावदुषितं सुखमुषितं पादपे निरुपद्रवे, इदानीं मूलादुत्थिता वल्ली, ततो वृक्षादेव तत्त्वतो भयं, स चोक्तनीत्या शरणमिति जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥ १३२ ॥

"तस्स वि तहेव गेण्हति । एस वणस्सतिकाओ गतो । इयाणिं तसकाओ छट्ठो, तहेव अक्खाणयं कहेति-जहा एगं नगरं परचक्केण रोहियं, तत्थ य बाहिरियाए मायंगा, ते अब्भिंतरएहिं णिच्छुब्भंति, बाहिं परचक्केण घेप्पंति । पच्छा केण वि अक्खाण भण्णति"-

अब्भिंतरया खुभिया, पिल्लंति य बाहिरा जणा ।
दिसं भयह मायंगा !, जायं सरणओ भयं ॥ १३३ ॥

अभ्यन्तरकाः नगरमध्यवर्तिनः, क्षुभिताः परचक्रात्त्रस्ताः, प्रेरयन्ति निष्काशयन्ति, मा भूदस्माऽऽविलय एभ्यो वा भेदः, चशब्दो भिन्नक्रमः, ततो बाह्याश्च परचक्रलोका उपद्रवन्ति, जन इति गम्यते । नगरसत्का एत इति, अतो दिशं भजत मातङ्गाः !, यतो जातं शरणतो भयं, नगरं हि भवतां शरणं, तत एव भयमिति श्लोकार्थः ॥ १३३ ॥

"अथवा-एगत्थ नयरे सयमेव राया चोरो, पुरोहितो भंडिओ त्ति, ततो दो वि विहरंति । पच्छा लोओ अप्पमप्पं भणति"-

जत्थ राया सयं चोरो, भंडिओ य पुरोहितो ।
दिसं भयह नागरिया !, जायं सरणओ भयं ॥ १३४ ॥

यत्र राजा स्वयं चौरः-स्वपुरं मुष्णाति, भाण्डकश्च पुरोहितः, अतो दिशं भजत नागरकाः !, जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥ १३४ ॥

"अहवा एगस्स धिज्जातीयस्स धूया, सा य जोव्वणत्था, वड्डिरूवदंसणिज्जा, सो धिज्जातिओ तं पासिऊण अज्झोववण्णो, तीसे कएण अतीव दुब्बलीभूओ, बंभणीए पुच्छितो-निब्बंधे कए कहियं । ताए भण्णति-मा अधिइं करेसु, तहा करेमि जहा केणइ पओएण संपत्ती हवति । पच्छा धूयं भणति-अम्ह पुव्विं दारियं जक्खा भुंजंति, पच्छा वरस्स दिज्जति, तो तव कालपक्खचउद्दसीए जक्खो एहि, मा तं विमाणेसु, मा य तत्थ तुमं उज्जोयं काहिसि । तीए वि जक्खकोऊहल्लेण दीवओ सरावेण ठविओ णीओ, सो य आगतो, सो तं परिभुंजिऊण रत्तिं किलंतो पसुत्तो । इमाए कोउएण सरावं फेडियं, नवरं पेच्छति पियरं, ताए णायं-जं होइ तं होउ, इच्छाए भुंजामि भोए, पच्छा ताइं रतिकिलंताइं पभाए सूरे न पडिबुज्झंति । पच्छा बंभणी मागहियं भणति"-

अइरुग्गयए य सूरिए,
चेतियथूभगए य वायसे ।
भित्तीगयए य आयवे,
सहि ! सुहिओ हु जणो ण बुज्झइ ॥ १३५ ॥

अचिरोद्गतके च सूर्ये, कोऽभिप्रायः ?-प्रथमोदिते रवौ, चैत्यस्तूपगते च वायसे, अनेनोच्चे विवक्षणीत्यादि, भित्तिगते चाऽऽतपे, अनेन चोच्चतर इति । सखि ! सुखितो, दुर्वाक्यालङ्कारे, जनो न बुध्यते-न निद्रां जहाति । अनेनाऽऽत्मनो दुःखितत्वं प्रकटयति, सा हि भर्तृविरहदुःखिता रात्रौ न निद्रां लब्धवतीति मागधिकाऽर्थः ॥ १३५ ॥

" पच्छा सा तीसे धूया पडिसुणित्ता पडिभणति मागहियं"-

तुम एव य अम्म हे ! लवे,
मा हु विमाणएँ जक्खमागयं ।
जक्खाहडए हु तायए,
अण्णिं दाणि विमग्ग ताययं ॥ १३६ ॥

त्वमेव चाम्ब ! मातः हे ! इत्यामन्त्रणे, अलापीः-उक्तवती, शिक्षामये, यथा-(मा हु त्ति) मैव (विमाणय त्ति) विमंस्था विमुखं कृथा यक्षमागतम्, यक्षाऽऽहृतको (हु त्ति) खलु तातकोऽन्यमिदानीं विमार्गय अन्वेषय, तातकमिति मागधिकाऽर्थः ॥ १३६ ॥

" पच्छा सा धिज्जाइणी भणति "-

णवमासे कुच्छीएँ धालिया,
पासवणे पुलिसे य मद्दिए ।
धूया मे गेहिए हडे,
सलणए असलणए य मे जायए ॥ १३७ ॥

"नव मासान् कुक्षौ धारिता या, प्रस्रवणं पुरीषं च मर्दितं, यस्या इति गम्यते । (धूय त्ति) दुहिता च, गम्यमानत्वात्तया मे मम गेहिको भर्ता, हृतश्चौरितोऽतो हेतोः, शरणकमशरणकम, अपकारित्वान्मे जातमिति मागधिकाऽर्थः ॥ १३७ ॥

अहवा एगेण धिज्जाइएण तलायं खणावियं, तत्थेव पालीए देसे देउलमारामो कओ, तत्थ तेण जण्णो पवत्तिओ, छगलगा जत्थ मारिज्जंति । अण्णया कयाइ सो धिज्जातिओ मरिऊण छगलगो चेव आयातो, सो य घेत्तूणं अप्पाणिज्जेहिं पुत्तेहिं तस्स चेव तलाए जण्णे मारिउं निज्जति, सो य जाईसरो णिज्जमाणो अप्पाणिज्जियाए भासाए बुब्बुयति, अप्पणा चेव सोयमाणो-जहा मम चेव पवत्तियं, एवं सो वेयमाणो साहुणा अतिसयणाणिणा एगेण दीसति । तेण भणियं "-

सयमेव य लुक्ख लोविया, अप्पणिया य वियड्डि खाणिया ।

ओवाइयलद्धओ य सि, किं छेला ! वेतेति वाससी ? ।१३०।

स्वयमेव च आत्मनैव च (लुक्क त्ति) लुञ्चलोपात् लुञ्चा रोपि-ताः, भवतेति गम्यते। आम्मा वा च "वियड्डु" इति देशीवचनतः तडागिका आनिता । याचितस्य प्रार्थितस्य प्रासादुपरि देवेभ्यो देयमुपयाचितं, तेनैव लब्धः-अवसरः दुरापत्वेनोपयाचितल-ब्धः, स एवोपयाचितलब्धकोऽसि त्वमिति, किं छगलक ! (वेतेति वाससी) आरससीति मागधिकाऽर्थः ॥ १३० ॥

"ततो सो छगलको तेण पढियव्वं तुयिहक्को ठिओ, तेण चिउज्जाइ-यण चिंतियं-किं पि पव्वायगेण पढियं, तेण एस तुसिणीओ ठिओ, ततो सो तं तवस्सिं भणति-किं भगवं ! एस छगलको तुब्भेहिं पढियमेत्ते चेव तुसिणीओ ठिओ ?। तेण साहुणा तस्स कहियं-जहा एस तुज्झ पिया । किमभिन्नाणं ?। तेण भणियं-अहं जाणा-मि। किं पुण एसो कहिहि त्ति । तेण छगलगेण पुव्वभवे पुत्तेण समं निहाणगं निहियं, तं गंतूण पाएहिं खणखडेति, एयम-भिन्नाणं । पच्छा तेण मुक्को, साहुसमीवे धम्मं सोऊण भत्तं पच्चक्खाएऊण देवलोगं गतो। एव तेण सरणमिति काउं त-डागाऽऽरामे अप्पो य पवत्तिओ, तमेव असरणं जायं।" एवंवि-धोऽत्र समवतारः। "एवं तुब्भं अम्हे गया मरणं।" इह च पूर्वं मनुष्यजातिस्थस्य स्मरणार्थमुदाहरणत्रयमिदं तु तिर्यग्जाते-रिति भावनीयम्। "सो तहेव तस्स आहरणगाणि घेत्तूण सिग्घं गंतु समाढत्तो पंथं, नवरिं संजई पासति,मंडियं टिविडिक्कियं। तेण सा भणति"-

कडए य ते कुंडले य ते

अंजियक्खि ! तिलयए य ते ।

पवयणस्स उड्डाहकारिए !,

दुट्ठाऽसेहि ! कत्तोऽसि आगया ? ॥ १३९ ॥

कटके च ते तव, कुण्डले च ते, अञ्जिताक्षि ! तिलकश्च ते त्वया कृतः, प्रवचनस्य उड्डाहकारिके ! दुष्टाशासिते ! कुतो-ऽस्यागतेति मागधिकाऽर्थः ॥ १३९ ॥

दर्शनपरीक्षाऽर्थं च साध्वीविकरणम् । सैवमुक्ता सतीदमाह-

राईसरिसवमित्ताणि, परच्छिद्दाणि पाससि ।

अप्पणो बिल्लमेत्ताणि, पासंतो वि न पाससि ॥१४०॥

राजिकासर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यस्यात्मनो बिल्व-मात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसीति श्लोकार्थः ॥ १४० ॥

तथा-

समणो सि संजओ असि, बंभयारी समलेट्ठुकंचणो ।

वेहारियवाअओ य ते, जिट्ठज्ज ! किं ते पडिग्गहे ? ।१४१।

श्रमणोऽसि संयतोऽसि बहिर्मुखपा ब्रह्मचारी च समलोष्टकाञ्च-नो विहारिकवातकश्च ते यथाऽहं वैहारिक इत्यादिरूपो ज्येष्ठार्य ! किं ते तव पतद्ग्रहक इति श्लोकार्थः ॥ १४१ ॥

"एवं ताए उड्डाहितो समाणो पुणो वि गच्छति, नवरं पेच्छइ खंधावारमितं,तस्स किर निवडमाणो दंडियस्सेव सवडहुत्तो गतो,तेण हत्थिखंधा ओयरित्ता वंदिओ,भणिओ य-भयवं ! अहो परमं मंगलं निमित्तं च,जं साहू अज्ज मए दिट्ठो। भयवं ! ममाणु-ग्गहत्थं फासुयएसणिज्जं इमं मोयगाऽऽदि संबलो घेप्पति, सो नेच्छति, भायणे आभरणगाणि छूढाणि मा दीसिहिंति, तेण दंडिएण बला मोडिऊण पडिग्गहो गहितो, जाव मोयगे

छुहति, ताव पेच्छति आहरणगाणि, तेण सो खरंटितो, अम्बा-लङ्को य। पुणो वि संबोहितो-जहा ण जुज्जति तुब्भं एवं विपरि-णामो, मज्झं च अणागमणकारणं सुणेसु-" संकंतदिव्वपेम्मा, विसयपसत्ताऽसमत्तकत्तव्वा। अणहीणमणुयकज्जा,णरभवम-सुहं ण इंति सुरा ॥१॥" पच्छा दिव्वं देवरूवं काऊण पडिगतो, तेण पुव्विं दंसणपरीसहो णाहियासिओ, पच्छा अहियासि-तो।" एवं शेषसाधुभिरपि सहनीयो दर्शनपरीषहः। इहोदाहर-णोपदर्शकत्वात्प्रकृतिनिर्युक्तेः कथं सूत्रस्पर्शकत्वमिति यत्कै-श्चिदुच्यते। तदयुक्तम्। सूत्रसूचितार्थाभिधायित्वात्तस्याः, तद-भिधानस्य तत्त्वतः सूत्रव्याख्यानरूपत्वेन सूत्रस्पर्शकत्वादिति । किं च-"कालीपव्वंगसंकासे"(२गा०)इत्यादिना क्षुदादिभिरत्य-न्तपीडितस्याऽपि यत्परीषहसहनमुक्तं, तत्र मन्दसत्त्वस्य कस्यचि-दश्रद्धानात्सम्यक्त्वविचलितमपि संजायेतेति तद्दृढीकरणार्थं दृष्टान्ताभिधानमर्थतः सूत्रस्पर्शकमिति व्यक्तमेवैतत्, न च केषां-चिदिहोदाहरणानां निर्युक्तिकालादर्वाक्कालभावित्वेनान्योक्तत्व-माशङ्कनीयम्, स हि भगवांश्चतुर्दशपूर्ववित् श्रुतकेवली का-लत्रयविषयं वस्तु पश्यत्येवेति कथमन्यकृतत्वाऽऽशङ्केति । उत्त० २ अ०।

दंसणपरीसहविजय-दर्शनपरीषहविजय-पुं० । दर्शनपरीषहस-हने, पं०सं०। स चैवम्-"दंसण त्ति."(२२)दर्शनविषयपरीषहो-ऽपि दर्शनमित्युक्तम्, तत्र सर्वपापस्थानेभ्यो विरतः प्रकृष्टतपो-ऽनुष्ठायी निःसङ्गश्चाहं, तथाऽपि न धर्माधर्मफलभूतान् देवनार-काऽऽदीन् पश्यामि,ततो महोपवासाऽऽद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यवि-शेषाः प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रम्,इत्येवं यत् मिथ्यादर्शनमोह-नीयस्य प्रदेशोदयतः कदध्यवसायस्योत्थानं स दर्शनपरीषहः।स चैवं सोढव्यः-देवा मनुष्यलोकानामपेक्षया परमसुखिनः, न च संप्रति दुःषमाऽनुभावतस्तीर्थकराऽऽदिरस्ति,ततः परमसुखाऽऽ-सक्तत्वात्मनुष्यलोके च कार्याभावाच्च संप्रति मनुष्याणां दर्शन-पथगोचरतामायान्ति । नारकास्तु निरन्तरं तीव्रतरवेदनाऽऽर्त-त्वात् पूर्वकृतदुष्कर्मविपाकोदयनिगडनिगडितत्वाच्च गमनाऽऽ-गमनशक्तिविकलाः, ततस्तेऽपि नेहाऽऽगच्छन्ति। नापि दुःषमा-ऽनुभावत उत्तमसंहननासंभवे संप्रति तादृशी तपोविशेषवा-सितचित्त भावनोल्लासो वा, येन ऋद्ध्यतिशयोत्पादनतस्तत्स्था-ने देवनारकान्पश्यति; चिरन्तनपुरुषाणां तूत्तमसंहननवशाद्दु-ष्कराः तपोविशेषशक्तिरुत्तमा च भावना समासीत्, ततः सर्वं तेषामुपपद्यत इति । (२२) पं० सं० ५ द्वार ।

दंसणपायच्छित्त-दर्शनप्रायश्चित्त-न० । प्रायश्चित्तभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । ('पच्छित्त' शब्दे चैतत् व्याख्यास्यते)

दंसणपुरिस-दर्शनपुरुष-पुं० । सम्यक्त्वयुक्तपुरुषे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

दंसणबल-दर्शनबल-पुं० । दृढदर्शने, प्रश्न० १ संव० द्वार । दर्शनबलं सर्ववेदिवचनप्रामाण्यादतीन्द्रियाऽऽदियुक्तिगम्यप-दार्थरोचनलक्षणम् । स्था० १० ठा० ।

दंसणबुद्ध-दर्शनबुद्ध-न० । बुद्धभेदे,"दुविहा बुद्धा पण्णत्ता। तं जहा-णाणबुद्धा चेव, दंसणबुद्धा चेव।" स्था०२ ठा०४ उ०।

दंसणबोहि (ण्)-दर्शनबोधिन्-पुं० । दर्शनमोहनीयक्षयोपश-माऽऽदिसम्यक्श्रद्धानलाभे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

दंसणभावणा—दर्शनभावना—स्त्री० । सम्यक्त्वपर्यालोचने आचा० ।

तित्थगराण भगवओ, पवयणपावयणिअइसइड्ढीणं ।
अहिगमणणमणदरिसण—कित्तणओ पूयणा थुणणा ॥४॥

तीर्थकृतां भगवतां, प्रवचनस्य च द्वादशाङ्गस्य गणिपिटकस्य, तथा प्रावचनिनामाचार्याऽऽदीनां युगप्रधानानां, तथाऽतिशयिनामृद्धिमतां केवलिमनःपर्यायावधिमच्चतुर्दशपूर्वविदां, तथाऽऽमर्षौषध्यादिप्राप्तर्द्धीनां यदभिगमनं, गत्वा च दर्शनम्, तथा नमनम्, गुणोत्कीर्त्तनं, संपूजनं गन्धाऽऽदिना, स्तोत्रैः स्तवनम्, इत्यादिका दर्शनभावना । अनया हि दर्शनभावनयाऽनवरतं भाव्यमानया दर्शनशुद्धिर्भवतीति ॥ ४ ॥

किं च—

जम्माभिसेयणिक्खम—णचरणणाणुप्पत्ती य णिव्वाणी ।
दियलोयभवणमंदिर—णंदीसरभोमनगरेसुं ॥ ५ ॥

तीर्थकृतां जन्माभिषेकभूमिषु, तथा निष्क्रमणचरणज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणभूमिषु, तथा देवलोकभवनेषु, मन्दरेषु, तथा नन्दीश्वरद्वीपाऽऽदौ, भौमेषु च पातालभवनेषु, यानि शाश्वतानि चैत्यानि, तानि वन्देऽहमिति द्वितीयगाथाऽन्ते क्रिया ॥ ५ ॥

अट्ठावयमुज्जंते, गयग्गपयए य धम्मचक्के य ।
पासरहावत्तणयं, चमरुप्पायं च वंदामि ॥ ६ ॥

एवमष्टापदे, तथा श्रीमदुज्जयन्तगिरौ, गजाग्रपदे दशार्णकूटवर्त्तिनि, तथा तक्षशिलायां धर्मचक्रे, तथा अहिच्छत्रायां पार्श्वनाथस्य धरणेन्द्रमहिमास्थाने, एवं रथाऽऽवर्ते पर्वते वैरस्वामिना यत्र पादपोपगमनं कृतं, यत्र च श्रीवर्द्धमानमाश्रित्य चमरेन्द्रेणोत्पतनं कृतम्, एतेषु च स्थानेषु यथासम्भवमभिगमनवन्दनपूजनगुणोत्कीर्त्तनाऽऽदिकाः क्रियाः कुर्वतो दर्शनशुद्धिर्भवतीति ॥ ६ ॥

किं च—

गणियं णिमित्त जुत्ती, संदिट्ठी अवितहं इमं णाणं ।
इय एगंतमुवगया, गुणपच्चइया इमे अत्था ॥ ७ ॥

प्रवचनविदाममी गुणप्रत्ययिका अर्था भवन्ति । तद्यथा—गणितविषये बीजगणिताऽऽदौ परं पारमुपगतोऽयम् । तथा अष्टाङ्गस्य निमित्तस्य पारगोऽयम् । तथा—दृष्टिपातोक्ता नानाविधा युक्तिर्द्रव्यसंयोगाद्, हेतुत्वाद्वेति । तथा सम्यगविपरीता दृष्टिर्दर्शनमस्य त्रिदशैरपि चालयितुमशक्या । तथा अवितथमस्येदं ज्ञानं यथैवायमाह तथैव प्रावचनिकस्याऽऽचार्याऽऽदेः प्रशंसां कुर्वतो दर्शनविशुद्धिर्भवति ।

एवमन्यदपि—

गुणमाहप्पं इसिणा—मकित्तणं सुरणरिंदपूया य ।
पोराणचेइयाणि य, इइ एसा दंसणे होइ ॥ ८ ॥

गुणमाहात्म्यमाचार्याऽऽदेर्वर्णयतः, तथा पूर्वमहर्षीणां च नामोत्कीर्त्तनं कुर्वतः, तेषामेव च सुरनरेन्द्रपूजाऽऽदिकं कथयतः, तथा चिरन्तनचैत्यानि पूजयत इत्येवमादिकां क्रियां कुर्वतस्तद्वासनावासितस्य दर्शनविशुद्धिर्भवतीत्येषा प्रशस्ता दर्शनविषया भावनेति । आचा० २ श्रु० ३ चू० १५ अ० ।

साम्प्रतं दर्शनभावनास्वरूपगुणदर्शनार्थमिदमाह—

संकाऽऽइदोसरहिओ, पसमत्थिज्जाऽऽइगुणगणोवेओ ।
होइ असंमूढमणो, दंसणसुद्धीइ झाणम्मि ॥ ३२ ॥

शङ्काऽऽदिदोषरहित इति—शङ्कनं शङ्का । आदिशब्दात्काङ्क्षाऽऽदिपरिग्रहः । उक्तं च—“ शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसापरपाषण्डसंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ।” इति । एतेषां च स्वरूपं प्रत्याख्यानाध्ययने न्यक्षेण वक्ष्यामः । तत्र शङ्काऽऽदय एव सम्यक्त्वाऽऽख्यप्रशमगुणातिचारत्वाद्दोषाः शङ्काऽऽदिदोषाः, तै रहितस्त्यक्तः, उक्तदोषरहितत्वादेव किम्?, प्रशमस्थैर्याऽऽदिगुणगणोपेतः, तत्र प्रकर्षेण श्रमः प्रश्रमः खेदः, स च स्वपरसमयतत्त्वाधिगमरूपः, स्थैर्यं तु जिनशासने निष्प्रकम्पता । आदिशब्दात्प्रभावनाऽऽदिपरिग्रहः । उक्तं च—“ स्वपरसमयकौशलं, थिरया जिणसासणे पभावणया । आययणसेवभत्ती, दंसणदीवा गुणा पंच ” ॥ १ ॥ प्रशमस्थैर्याऽऽदय एव गुणाः, तेषां गणः समूहः, तेनोपेतो युक्तो यः स तथाविधः । अथवा—प्रशमाऽऽदिना स्थैर्याऽऽदिगुणगणेनोपेतः । तत्र प्रशमाऽऽदिगुणगणः प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणः, स्थैर्याऽऽदिस्तु दर्शित एव । य इत्थंभूतः असौ भवत्यसंमूढमनाः, तत्त्वान्तरेऽभ्रान्तचित्त इत्यर्थः । दर्शनशुद्ध्योक्तलक्षणया हेतुभूतया । क्व?, ध्याने । इति गाथाऽर्थः ॥ ३२ ॥ आव० ४ अ० ।

दंसणभेइणी—दर्शनभेदिनी—स्त्री० । ज्ञानाऽऽद्यतिशयतः कुतीर्थिकप्रशंसारूपायां विकथायाम्, तद्यथा—“सूक्ष्मयुक्तिशतोपेतं, सूक्ष्मबुद्धिकरं परम् । सूक्ष्मार्थदर्शिभिर्दृष्टं, श्रोतव्यं बौद्धशासनम् ॥१॥” इत्यादि । एवं हि श्रोतॄणां तदनुरागात् सम्यग्दर्शनभेद इति । स्था० ७ ठा० । ध० । ग० ।

दंसणमत्त—दर्शनमात्र—न० । दृष्टिमात्रे, पञ्चा० १२ विव० ।

दंसणमूढ—दर्शनमूढ—पुं० । मिथ्यात्विषु, दर्शनमूढा मिथ्यात्वोदयः । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

दंसणमोह—दर्शनमोह—पुं० । दृष्टिर्दर्शनं यथावस्थितवस्तुपरिच्छेदः, तन्मोहयतीति “कर्मणोऽण्” ॥ ५ । १ । ७२ ॥ इत्यण्प्रत्ययः । मोहनीयकर्मभेदे, कर्म० ।

दंसणमोहं तिविहं, सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं ।
सुद्धं अद्धविसुद्धं, अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥ १४ ॥

दर्शनमोहं पूर्वोक्तशब्दार्थं, त्रिविधं त्रिप्रकारं भवति । (सम्मं ति) सम्यक्त्वं, मिश्रं सम्यग्मिथ्यात्वं, तथैव मिथ्यात्वम् । एतदेव स्वरूपत आह—शुद्धमर्द्धविशुद्धमविशुद्धं तद्भवति क्रमशः क्रमेणेति । अयमत्रार्थः—मिथ्यात्वपुद्गलद्रव्यं मदनकोद्रवन्यायेन शोधितं सद् विकाराजनकत्वेन शुद्धं सम्यक्त्वं भवति, तदेव किञ्चिद्विकारजनकत्वेनार्द्धविशुद्धं मिश्रम्, तदेव सर्वथाऽप्यविशुद्धं मिथ्यात्वमिति । उक्तं हि—

“ तथेह प्रदीपस्य, स्वच्छाभ्रपटलैर्गृहम् ।
न करोत्यावृतिं काञ्चि—देवमेतदुचेरपि ॥ १ ॥
एकपुञ्जी द्विपुञ्जी च, त्रिपुञ्जी वाऽनुक्रमात् ।
दर्शनपुनयवांश्चैव, मिथ्यादृष्टिः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥ ”

अत्राऽऽह—सम्यक्त्वं कथं दर्शनमोहनीयं स्यात्, न हि तद्दर्शनं मोहयति, तस्यैव दर्शनत्वात्? । उच्यते—मिथ्यात्वप्रकृतित्वेनातिचारसंभवादौपशमिकाऽऽदिमोहत्वाच्च दर्शनमोहनीयमिति । कर्म० १ कर्म० । स्था० ।

दंसणरइय—दर्शनरचित—त्रि० । दर्शने दृष्टिमार्गे रचितो विहितो दर्शनरचितः । दृष्टिमार्गविहिते वस्तुनि, औ० ।

दर्शनरतिद–त्रि० । दर्शने सति रतिदो सुखप्रदो दर्शनरतिदः । दर्शने सति सुखप्रदे वस्तुनि, श्री० ।

दर्शनरतिक–त्रि० । दिदृक्षणीये, रा० ।

दंसणरय–दर्शनरत–त्रि० । दर्शनानुरक्ते, आव० । "बहुसु य समरसुयसंपराएसु दंसणरए समंतओ कलहं सदक्खिणं अणुगवेसमाणे ।" ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

दंसणलद्धिय–दर्शनलब्धिक–पुं० । श्रद्धानमात्रलब्धिके, भ० ८ श० २ उ० ।

दंसणलूसि (ण्)–दर्शनलूषिन्–पुं० । सम्यग्दर्शनविध्वंसिनि, असदनुष्ठानेन स्वतो भ्रष्टे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

दंसणवावन्नग–दर्शनव्यापन्नक–पुं० । दर्शनं सम्यक्त्वं व्यापन्नं भ्रष्टं येषां ते तथा । निह्नवेषु, प्रश्न० ९३ द्वार ।

दंसणविणय–दर्शनविनय–पुं० । दर्शनं सम्यक्त्वं, तदेव विनयो दर्शनविनयः, दर्शनस्य वा तदव्यतिरेकात् दर्शनगुणाधिकानां शुश्रूषणाऽनाशातनारूपो विनयो दर्शनविनयः । स्था० ७ ठा० । सम्यग्दर्शनगुणाधिकेषु शुश्रूषाऽऽदिकरणे विनये,भ०२५श० ७ उ० उक्तं च-" पवयणमणेसरसंघो, दंसणमिच्छंति इत्थ सम्मत्तं । विणओ दंसणमेमि, कायव्वो चेव एवं तु ॥१५॥" संथा० ।

दंसणविराहणा–दर्शनविराधना–स्त्री० । विराधना खण्डना, दर्शनं सम्यग्दर्शनं क्षायिकाऽऽदि, तस्य विराधना दर्शनविराधना । दर्शनप्रत्यनीकतानिह्नवाऽऽदिरूपायां तपोविराधनायाम्, स० ३ सम० ।

दंसणविसोहि–दर्शनविशुद्धि स्त्री० । दर्शनाऽऽचारपरिपालनतो विशुद्धिर्दर्शनविशुद्धिः । विशुद्धिभेदे, स्था० १० ठा० । दर्शनविशुद्धिकारकाणि शास्त्राणि, तदर्थमध्वानं गच्छेत् । बृ० १ उ० ।

दंसणसंकिलेस–दर्शनसंक्लेश–पुं० । दर्शनस्य संक्लेशोऽविशुद्ध्यमानता स दर्शनसंक्लेशः । संक्लेशभेदे, स्था० १० ठा० ।

दंसणसंग–दर्शनसङ्ग–पुं० । दर्शनेऽवलोकनेऽभिष्वङ्गो दर्शनसङ्गः । अवलोकनाभिष्वङ्गे, प्रश्न० १७ विव० ।

दंसणसंपन्न–दर्शनसम्पन्न–पुं० । अविरतसम्यग्दृष्टौ, बृ० १ उ० । स्था० । दर्शनसम्पन्नः शुद्धोऽहमित्येवं मन्यते । स्था० ८ ठा० ।

दंसणसंपन्नया–दर्शनसंपन्नता–स्त्री० । दर्शनस्य क्षायोपशमिकस्य सम्पन्नता । तस्याः क्षायोपशमसम्यक्त्वसहितत्वे, उत्त० ।

दंसणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तच्छेयणं करेइ, परं न विज्झायइ, [परं अणुज्झायमाणे] अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ ॥ ६० ॥

दर्शनसम्पन्नतया क्षायोपशमिकसम्यक्त्वसमन्वितया भवहेतुभूतं मिथ्यात्वं, तस्य छेदनं क्षपणं करोति । कोऽर्थः ?-क्षायिकसम्यक्त्वमवाप्नोति । ततश्च परमित्युत्तरकालमुत्कृष्टतस्तस्मिन्नेव भवे मध्यमजघन्यापेक्षया तृतीये तुर्ये वा अग्रभवे स्वरूपस्थानसमभूतकेवलज्ञानावाप्तौ न विध्यापयति न ज्ञानदर्शनप्रकाशाभावरूपं विध्यापनमवाप्नोति, किं त्वनुत्तरेण क्षायिकत्वात् प्रधानेन, ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शनं, तेनाऽऽत्मानं संयोजयन् प्रतिसमयमपरापरेणोपयोगरूपतयोत्पद्यमानेन घटयन् । संयोजनं च भेदेऽपि स्यादत आह-भावयंस्तेनाऽऽत्मानमात्मसात्कुर्वन् विहरति भवस्थकेवलितया मुक्ततया चाऽऽस्ते । पठन्ति च-" अणुत्तरेणं णाणदंसणेणं विहरइ त्ति ।" अत्र च लक्षणे तृतीया । उत्त० पाई० २९ अ० ।

दंसणसमाहि–दर्शनसमाधि–पुं० । भावसमाधिभेदे, सूत्र० । दर्शनसमाधौ व्यवस्थितो जिनवचनभावितान्तःकरणो निर्वातशरणप्रदीपवत् कुमतवायुभिर्भ्राम्यते । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

दंसणसावग–दर्शनश्रावक–पुं० । दर्शनं सम्यक्त्वं तत्प्रतिपन्नः श्रावको दर्शनश्रावकः । उपाशकानां प्रथमप्रतिमायाम्, स० १० सम० । आ० चू० । तत्र दर्शनं सम्यक्त्वं, तत्प्रतिपन्नः श्रावको दर्शनश्रावकः । इह च प्रतिमानां प्रक्रान्तत्वेऽपि प्रतिमाप्रतिमावतोरभेदोपचारात्प्रतिमावतो निर्देशः कृतः । एवमुत्तरपदेष्वपि । प्रथमश्च श्रावको दर्शनश्रावकः । इह च प्रतिमानां प्रक्रान्तत्वेऽपि प्रतिमाभावार्थः सम्यग्दर्शनस्य शङ्काऽऽदिशल्यरहितस्याऽणुव्रताऽऽदिगुणविकलस्याऽभ्युपगमः सा प्रतिमा प्रथमेति । स० १० सम० ।

दंसणसावय–दर्शनश्रावक–पुं० । ' दंसणसावग ' शब्दार्थे, स० १० सम० ।

दंसणसुद्धि–दर्शनशुद्धि–स्त्री० । सम्यग्दर्शननिर्मलतायाम्, व्य० ४ अ० । प्रति० । सम्यग्दर्शननिर्मलताप्रतिपादके श्रीचन्द्रप्रभसूरिविरचिते स्वनामख्याते ग्रन्थे च । दर्श० १ तत्त्व ।

संप्रति स्वयं सौम्यवस्तुगृहीतनामधेयो भगवान् ग्रन्थकारः स्वनाम व्युत्पत्त्या प्रकटयन् ग्रन्थस्वरूपं प्रयोजनं च दर्शयन्निदं गाथाद्वयमाह--

चंददुमपरहरिसूर–रिद्धिपयनिवहपढमवण्णेहिं ।
जेसिं नामं तेहिं, परोवयारम्मि निरएहिं ॥ ५७ ॥
इय पायं पुव्वाऽऽयरि–यरइयगाहाण संगहो एसो ।
विहिओ अणुग्गहत्थं, कुमग्गलग्गाण जीवाणं ॥ ५८ ॥

चन्द्राऽऽदीनां रिद्धिपर्यवसानानां पदनिवहानां प्रथमवर्णैः प्रथमाक्षरैः येषां नामाऽभिधानं, तैः, चन्द्रप्रभसूरिभिरित्यर्थः । कथंभूतैः ? परोपकारनिरतैः । इति निगदितप्रकारेण प्रायः पूर्वाऽऽचार्यरचितगाथाभिरेष संग्रहो विहितो निष्पादितोऽनुग्रहार्थं कुमार्गलग्नानां कुप्रवचनकुदेशनावासितान्तःकरणानां भव्यप्राणिनामिति गाथाद्वयार्थः ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

अस्य हि सकलशास्त्रगतार्थप्रतिपादकस्य सकलसुयतिसुश्रावकसमाचारप्रकाशकस्य सकलसंदेहदावानलसुधाधारासपातसदृशस्य शास्त्रस्य को नामापि ग्रहीष्यतीत्याह--

जे मज्झत्था धम्म–त्थिणो य जेसिं च आगमे दिट्ठी ।
तेसिं उवयारकरो, एसो न उ संकिलिट्ठाणं ॥ ५९ ॥

ये केचनानिर्दिष्टस्वभावाः प्राणिनः; किंभूताः ?–मध्यस्था अत्युत्कटरागद्वेषविकलतया समचेतसः, धर्मार्थिनश्च शिवसुखाभिलाषितया पक्षपातपरिहारेण पूर्वापरपर्यालोचकाः; येषां चाऽऽगमे दृष्टिर्हृदयलोचनं, तेषामुपकारकर एषोऽनन्तरोदितः, न चैव संक्लिष्टानां मिथ्यात्वाभिनिवेशवशविलुप्तविवेकानां, ते

हि घूकप्रकृत्यैव विपरीतस्वभावाः, अतो वस्त्वपि अवस्तु- बुद्ध्या गृह्णन्तीति गाथाऽर्थः ॥ ५६ ॥

संप्रति ग्रन्थकार एवास्य यथावस्थितार्थाभिधायकानि नामान्यभिधातुकाम आह-

उवएसरयणकोसं, संदेहविसोसहिं व वित्रयजणा ! ।
अहवा वि पंचरयणं, दंसणसुद्धिं इमं भणह ॥ ६० ॥

उपदेशा हेयोपादेयोपेक्षणीयार्थेषु हानोपादानोपेक्षणीयभणनानि, त एव रत्नानि, तेषां कोश इव भाण्डागारवदुपदेशरत्नकोशः, तम्; संदेहो दोलायमानता, स एव विषं तस्यैवौषधिः- संदेहविषापहारित्वादस्याः संदेहविषौषधिः, ताम्; वेति विकल्पनार्थः । विज्ञजना हि कृतिनः !, अथवाऽपि पञ्चरत्नं, सकलसुखमूलहेतुपञ्चपदार्थप्रकाशकत्वादस्याः । दर्शनशुद्धिमिमां भणत प्रतिपादयत । इति गाथाऽर्थः ॥ ६० ॥

सामान्यमभिधायेदानीमस्यैव माहात्म्योपदर्शनायाऽऽह-

मिच्छमहण्णवतारण-तरियं आगमसमुद्दबिंदुसमं ।
कुग्गाहगहमंतं, संदेहविसोसहिं परमं ॥ ६१ ॥

मिथ्यात्वमहार्णवतारणतरिकां कुवासनोदधिपरमयानपात्रम्, आगमसमुद्रबिन्दुसमं सिद्धान्तोदधिनिस्यन्दिबिन्दुकल्पं, कुग्राहग्रहमन्त्रं, निर्णाशकमित्यर्थः । संदेहविषौषधिं परमां प्रकृष्टामिति गाथाऽर्थः ॥६१॥

संप्रति पुनरपि शास्त्रगतोपदेशमाह-

एयं दंसणसोहिं, सव्वे भव्वा पढंतु निसुणंतु ।
जाणंतु कुणंतु लहं-तु सिवसुहं सासयं ज त्ति ॥६२॥

एतां दर्शनशुद्धिं सर्वेऽपि भव्याः पठन्तु सूत्रतः, निशृण्वन्तु अर्थतः, जानन्तु पुनः पुनरभ्यासतः कुर्वन्तु एतदुक्तमनुतिष्ठन्तु, लभन्तां शिवसुखं शाश्वतं झगितीति गाथाऽर्थः॥६२॥ दर्श० ४ तत्त्व ।

"यावत्पाथोधयोऽमी सुरगिरिरखिलाऽऽलोकलोकोदरस्थो,
यावद् द्वीपोऽथ जम्बूस्त्रिभुवनतिलकः पूर्णचन्द्राऽऽकृतिश्च ।
यावज्जैनोऽत्र धर्मः प्रभवति हि शशी भूतलं तावदेतां,
भव्याः शृण्वन्तु भव्यां विषयविमुखताऽऽपादिकां बोधिदां च"
॥१॥ दर्श० ५ तत्त्व ।

दंसणाभिगम-दर्शनाभिगम-पुं० । दर्शनं सामान्यग्राही बोधः, तच्चेह गुणप्रत्ययावध्यादिप्रत्यक्षरूपम् । तेनाभिगमे वस्तुनः परिच्छेदे, तत्प्राप्तौ च । स्था० ६ ठा० ।

दंसणाऽऽया-स्त्री० । दर्शनाऽऽत्मन्-पुं० । षष्ठे आत्मनो भेदे, दर्शनाऽऽत्मा सर्वजीवानाम् । ज० । प्राकृतत्वाच्च सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देशः । भ० १२ श० १० उ० ।

दंसणायार-दर्शनाऽऽचार-पुं० । आचरणमाचारो व्यवहारो, दर्शनं सम्यक्त्वं, तदाचारः । स्था० २ ठा० ३ उ० । सम्यक्त्ववतां व्यवहारे, स० १ अङ्ग । पञ्चा० ।

अथ दर्शनाऽऽचारभेदानाह-

निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह-थिरीकरणं, वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥२६९॥

शङ्कनं शङ्का संदेहः, तस्याऽभावो निःशङ्कितम्, दर्शनस्य सम्यक्त्वस्याऽऽचारः । इत्येवमन्यत्रापि । तथा काङ्क्षनं काङ्क्षा-अन्यान्यदर्शनग्रहः, तदभावो निष्काङ्क्षितं, तथा विचिकित्सा मतिविभ्रमः- युक्त्याऽऽगमोपपन्नेऽप्यर्थे फलं प्रति संमोहः, तदभावो निर्विचिकित्सम् । यद्वा-विद्वज्जुगुप्सा मलमलिना एते इत्यादि साधुजुगुप्सा, तदभावो निर्विद्वज्जुगुप्सं, तत एषां द्वन्द्वः, पुंल्लिङ्गनिर्देशश्च प्राकृतत्वात् । तथा-अमूढा तपोविद्याऽतिशयाऽऽदिकुतीर्थिकर्द्धिदर्शनेऽप्यमोहस्वभावा अविचलिता, सा च सा दृष्टिश्च सम्यग्दर्शनम्-अमूढदृष्टिः । अथवा-निर्गताः शङ्किताऽऽदिभ्यो ये ते निःशङ्कितनिःकाङ्क्षितनिर्विचिकित्सा जीवाः, अमूढा दृष्टिरस्येत्यमूढदृष्टिश्च जीव एव, तत एते धर्मधर्मिणोरभेदोपचाराद् दर्शनाऽऽचारभेदा भवन्तीति । तथा-उपबृंहणमुपबृंहा-समानधार्मिकाणां क्षमणावैयावृत्त्याऽऽदिसद्गुणप्रशंसनेन तत्सद्गुणवृद्धिकरणम्, स्थिरीकरणं तु-धर्माद्विषीदतां तत्रैव चारुवचनचातुर्याद्व्यवस्थापनम्, उपबृंहा च स्थिरीकरणं च उपबृंहास्थिरीकरणे । तथा तेषां वात्सल्यं च प्रभावना च वात्सल्यप्रभावने । तत्र वात्सल्यं-समानदेवगुरुधर्माणां भोजनवसनदानोपकाराऽऽदिभिः संमाननं, प्रभावना-धर्मकथाप्रतिवादिनिर्जयदुष्करतपश्चरणकरणाऽऽदिभिर्जिनवचनप्रकाशनम् । यद्यपि च प्रवचनं शाश्वतत्वात्तीर्थकरभाषितत्वाद्वा सुरासुरनमस्कृतत्वाद्वा स्वयमेव दीप्यते, तथापि दर्शनशुद्धिमात्मनोऽभीप्सुर्यो येन गुणेनाधिकः स तेन तत्प्रवचनं प्रभावयति, यथा भगवदार्यवज्रस्वामिप्रभृतिक इति । एते अष्टौ दर्शनाऽऽचाराः ॥ २६९ ॥ प्रव० ६ द्वार । नि० चू० । ध० । ति० । ग० । नं० । आचा० । दश० । (विशेषस्तु 'आयार' शब्दे द्वितीयभागे ३४० पृष्ठे द्रष्टव्यः)

दंसणायाराइयार-दर्शनाऽऽचारातिचार-पुं० । सम्यक्त्वव्यवहारातिचरणे, जीत० ।

दंसणायारातियारपायच्छित्त-दर्शनाऽऽचारातिचारप्रायश्चित्तन० । प्रायश्चित्तभेदे, जीत० ।

अधुना दर्शनाऽऽचारातिचारप्रायश्चित्तमाह-

संकाऽऽइएसु देसे, खमणं मिच्छोववूहणाऽऽइसु ।
पुरिमाऽऽई खमणंतं, भिक्खूपभिईण य चउण्हं ॥२८॥
एयं चिय पत्तेयं, उववूहाऽऽईणमकरणे जयणा ।
आयामंतं निव्वी-गमाऽऽइ पासत्थसड्ढेसु ॥ २९ ॥

इह दर्शनाऽऽचारातिचारोऽष्टधा । तद्यथा-शङ्का, आकाङ्क्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टिः, उपबृंहा, स्थिरीकरणं, वात्सल्यं, प्रभावना चेति । तत्र संशयकरणं शङ्का । सा द्विधा-देशतः, सर्वतश्च । तत्र देशतस्तुल्येऽपि जीवत्वे कथमेके भव्याः, अपरे त्वभव्या इत्यादि । सर्वतस्तु प्राकृतभाषानिबद्धमिदं श्रुतं न ज्ञायते-किं सर्वज्ञेन प्रणीतम्, आहोस्वित् कुशलमतिनाऽपि परिकल्पितमिति ॥ १ ॥ आकाङ्क्षाऽपि-देशतः कुतीर्थिकमतमाकाङ्क्षति-अस्मिन्नपि अत्वहिंसैव धर्मो, मोक्षश्च फलमुक्तम् इति । सर्वतः सर्वकुमतान्याकाङ्क्षति कृषीवल इव सर्वधान्यान्युप्तवानि कदाचित्किञ्चित्फलतीति धिया ॥ २ ॥ विचिकित्सा- आत्मनः फलं प्रत्यनाश्वासः, यथा-आसेवितदशानुष्ठायिनां पुरातनानां महासत्त्वानां मोक्षः, अस्मादृशानां त्वल्पानल्पक्लेशलुञ्चनाऽऽदि कष्टमेव, मन्दसत्त्वत्वात् क मोक्षसंभवः ?, इति देशतः स्तोकोऽनाश्वासः । स सर्वतस्तु सर्वथाऽनाश्वासः । यथा-"विद्ल" ज्ञाने (धातुपाठे) विदन्तीति विदः साधवः, तेषां जुगुप्सा विज्जुगुप्सा । देशतोऽहो ! मलदुर्गन्धा इमे मनुजा यद्यचुकेन स्नायुः स्यात् का दोषः स्यादिति ? । सर्वतस्तु साकल्यादिनैकत्र देशे

मिथः संसृष्टभोजिनो गुप्तिगृहवासिन इव महामहीमसाकृतासतः प्रागुक्तदानत्वेनाऽऽजन्म भिक्षाचरा इत्यादि ॥३॥ मूढदृष्टिः-परतीर्थिनां राजाऽऽदिकृतां पूजां, मन्त्राऽऽद्यतिशयान् वा दृष्ट्वा, तदागमान् वा श्रुत्वा देशतः स्तोको मतिव्यामोहः । सर्वतस्तु सर्वथा ॥४॥ उपबृंहा-प्रशंसा ज्ञानदर्शनतपःसंयमवैयावृत्त्योद्यतानां साध्वादीनामुत्साहवृद्धिहेतुः प्रशस्ता मिथ्याऽऽशंसा, शाक्यचरकाऽऽदीनां त्वसावप्रशस्ता ॥५॥ स्थिरीकरणं-सीदतश्चारित्राऽऽदिषु स्थैर्यहेतुः प्रशस्ता, असंयमविषये पुनस्तदप्रशस्ता ॥ ६ ॥ वात्सल्यम्-आचार्यग्लानप्राघूर्णकबालवृद्धाऽऽदीनामाहारोपध्यादिना समाधिसंपादनं प्रशस्तं, गृहस्थपार्श्वस्थाऽऽद्युपष्टम्भरूपं तदप्रशस्तम् ॥ ७ ॥ प्रभावना च-तीर्थकरप्रवचनाऽऽदिविषया प्रशस्ता, कुतीर्थिकविषया त्वप्रशस्ता ॥८॥ इह च प्रशस्ताऽऽदीनां प्रशस्तानामकरणेऽतिचारता, अप्रशस्तानां तु करणे देशसर्वभेदाभ्यामुपबृंहाऽऽदीनामपि शङ्काऽऽदीनामिव ज्ञेय इति दर्शनाचारातिचारस्याष्टौ भेदाः । तत्र शङ्काऽऽदिकेषु चतुर्षु भेदेषु देशतः क्षपणं मिथ्योपबृंहणाऽऽदिषु च सूचकत्वात् सूत्रस्य मिथ्याशब्देन मिथ्यात्वाऽऽदयो गृह्यन्ते, तेषामुपबृंहणा मिथ्योपबृंहणा, अप्रशस्तेत्यर्थः । तथा आदिशब्दात् स्थिरीकरणवात्सल्यप्रभावना गृह्यन्ते, तत्राप्रशस्तेष्वपि चतुर्दशतः क्षपणमेव । एतच्चौघतः पुरुषानपेक्षया ज्ञेयम् । अत्राऽऽह-ननु शङ्काऽऽदिकेष्वित्यनेनैव समानप्रायश्चित्तत्वाद् एतान्यपि भेदा गृहीष्यन्ते, किं मिथ्योपबृंहणाऽऽदिषु चेति पृथगुक्तं, विशेषाभावात्? । उच्यते-उपबृंहाऽऽदयो हि प्रशस्ताः, अप्रशस्ताश्च भवन्ति । तत्राप्रशस्ता एव समानप्रायश्चित्ताः, न प्रशस्ताः, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं मिथ्योपबृंहणाऽऽदिषु विविच्य प्रोच्यते, अन्यथा प्रशस्तोपबृंहणाऽऽदीनामपि शङ्काऽऽदिवत् प्रायश्चित्तं स्यात् । न च तेषु प्रायश्चित्तं भवति, तेषां विशिष्टपुण्यानुबन्धहेतुत्वात् । विभागतः पुनः शङ्काऽऽदिकेषु मिथ्योपबृंहणाऽऽदिषु चैतेष्वपि देशतः पुरिमार्द्धाऽऽदि क्षपणान्तं भिक्षुवृषभादीनां चतुर्णाम्, तत्र भिक्षोः पुरिमार्द्धः, वृषभस्यैकाशनम्, उपाध्यायस्य आचामाम्लम्, आचार्यस्य क्षपणमिति । सर्वतस्त्वेतेष्वपि सूत्रं वक्ष्यति । प्रशस्तोपबृंहाऽऽद्यकरणे प्रायश्चित्तमाह-प्रत्येकं भिक्षुप्रभृतीनां यतेरुपलक्षणत्वात् प्रवचनाऽऽदेश्चोपबृंहाऽऽद्यकरणे, एतदेवानन्तरोद्दिष्टं पुरिमार्द्धाऽऽदि प्रायश्चित्तम् । अयं भावार्थः-यदि भिक्ष्वाऽऽदयो हि प्रवचनाऽऽदिकानां वृंहामादिशब्दात् स्थिरीकरणं वात्सल्यं प्रभावनां वा न कुर्वन्ति, तदा भिक्षोः पुरिमार्द्धं, वृषभस्यैकाशनम्, उपाध्यायस्याऽऽचाम्लम्, आचार्यस्य क्षपणमिति । उत्तरार्द्धस्तूत्तरगाथासंबद्धत्वात्तया सह व्याख्यास्यते ।

सा चेयम्-

परिवाराऽऽइनिमित्तं, ममत्तपरिपालणाऽऽइवच्छल्ले ।
साहम्मिओ त्ति संजम-हेउं वा सव्वहा सुद्धा ॥३०॥

परिवारः सहायरूपः, आदिशब्दादाहारोपधिशय्याः, तेषां निमित्तम् । अयमाशयः-पार्श्वस्थाऽऽद्यानुकूल्येन सहायाऽऽहारोपधिशय्या लप्स्यन्त इति कृत्वा (पासत्थसड्ढेसु त्ति) उपलक्षणत्वात्पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दाऽऽदिषु, श्रावकस्वजनाऽऽदिषु च विषये ममत्वपरिपालनाऽऽदिवात्सल्ये ममत्वं प्रतिबन्धरूपं, परिपालना त्वौषधाऽऽद्यैः, आदिशब्दात्संभोगसंवाससूत्रार्थदानानि, इत्यादिके वात्सल्ये कृते सति (आयामंतं निव्वीयगाइ त्ति) भिक्षुवृषभोपाध्यायाऽऽचार्याणां निर्विकृतिकपुरिमार्द्धैकाशनाऽऽचामाम्लानि यथासंख्यं भवन्ति । अथ पुनः साधर्मिक इति समानधार्मिकोऽसाविति, संयमं चासौ मत्संसर्गात्करिष्यतीति हेतोः, वाशब्दत्वात् कुलगणसङ्घाऽऽदिकार्येषु सहायाऽऽदिकं करिष्यतीत्यादिबुद्ध्या सर्वस्मिन्ममत्वाऽऽदिके वात्सल्ये कृतेऽपि शुद्धा ॥ ३१ ॥ इत्युक्तं दर्शनाचारातिचारप्रायश्चित्तम् । जीत० । "इदाणिं दंसणे पच्छित्तं भणति-तीसु वि संका, कंखा, वितिगिच्छा य, एताइं तिन्नि । एतासु तिसु वि देसे पत्तेयं पत्तेयं गुरुगा मूलमिति, सव्वे छेदो. पुणसद्दो सव्वसंकाऽऽदिविसेसावधारणे दट्ठव्वो । सव्वेहिं ति सव्वसंकाए सव्वकंखाए सव्ववितिगिच्छाए य, होंति भवन्तीत्यर्थः । किं तत्?, मूलमिति अनुकारिसणवक्कं दट्ठव्वं ।" नि० चू० १ उ० ।

इयाणिं पच्छित्ता भण्णंति-

दिट्ठीमोहे अपसं-सणे य अथिरीकरणे य लहुआ तु ।
वच्छल्लपभावणाण य, अकरणेण सट्ठाणपच्छित्तं ॥३४॥

"दिट्ठिमोहं करेति, अहवा उववूहं न करेति, अहवा अणुववूहिते केति आयरिया मासलहुं भणंति । सम्मत्ताऽऽदीसु थिरीकरणं ण करेति, अहवा केति भणंति मासलहु, वच्छल्ले सामण्णविसेसेण य भणियं, तं चेव सट्ठाणं इमाए गाहाए भणियं, "आयरिए य गिलाणे गुरुगा गाहा ।" पभावणं अकरेंतस्स सामण्णेण चउगुरुगा, विसेसेण सट्ठाणपच्छित्तं, तं च इमं-अतिसेसिनिड्डिधम्मकहिवादिविज्जरायसम्मतो, गणसम्मतो अतीतणिमित्तेण य एते ससत्तीए पवयणपभावणं ण करेंति चउगुरुगा, पडुप्पण्णाऽणागतेण य पभावणं ण करेंति चउलहुगा, पडुप्पण्णाऽऽगतेण य पभावणं ण करेंति चउगुरुगा । एवं सट्ठाणपच्छित्तं । अहवा-अतिसेसमादिणो पुरिसा इमेसिं पंचण्हं पुरिसाणं अंतरगता । तं जहा-आयरियउवज्झायभिक्खुथेरखुड्डगा, एएसु सट्ठाणपच्छित्ता भण्णंति, आयरिओ पभावणं ण करेति चउगुरुगा, उवज्झाओ ण करेति, अहवा भिक्खू ण करेति मासगुरु, थेरो ण करेति मासलहु, खुड्डो ण करेति भिन्नमासो । भणिओ दंसणायारो ।" नि० चू० १ उ० ।

दंसणाराहणा-दर्शनाऽऽराधना-स्त्री० । सम्यक्त्वाऽऽराधने, "तिविहा दंसणाऽऽराहणा-उक्कोसा, मज्झिमा, जहण्णा ।" स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

दंसणारिय-दर्शनाऽऽर्य-पुं० । अष्टमे अनृद्धिप्राप्ताऽऽर्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद । (दर्शनार्यभेदाऽऽदयस्तु 'आरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३३६ पृष्ठे उक्ताः)

दंसणावरण-दर्शनाऽऽवरण-न० । दर्शनं सम्यक्त्वमावृणोतीति दर्शनाऽऽवरणम् । उत्त० ३३ अ० । दृश्यतेऽनेनेति दृष्टिर्दर्शनम् । सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणाऽऽत्मको बोधः । आव्रियते आच्छाद्यतेऽनेनेत्यावरणम् । यद्वा-आवृणोति आच्छादयति, रूपाऽऽदिरूपः कर्मबन्धनप्रत्यये आवरणं मिथ्यात्वाऽऽदि, स च जीवव्यापाराऽऽहृतकर्मवर्गणान्तःपाती विशिष्टपुद्गलसमूहः, ततो दर्शनस्याऽऽवरणं दर्शनाऽऽवरणम् । कर्म० १ कर्म० । आवरणीयकर्मभेदे, प्रव० ७२ द्वार । स्था० । पं० सं० । कर्म० । (दर्शनाऽऽवरणस्य बन्धोदयसत्तास्थानानां संवेधः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६६ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

नवविहे दंसणावरणे कम्मे पण्णत्ते । तं जहा-निद्दा, निद्दानिद्दा, पयला, पयलापयला, थीणगिद्धी, चक्खुदंसणावरणे, अचक्खुदंसणावरणे, ओहिदंसणावरणे, केवलदंसणावरणे ॥

(नवेत्यादि) सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणाऽऽत्मको बोधो दर्शनं, तस्याऽऽवरणस्वभावं कर्म दर्शनाऽऽवरणं, तन्नवविधम्। तत्र निद्रापञ्चकं तावत्-'द्राक्' कुत्सायां गतौ, नियतं द्राति कुत्सितत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यमनयेति निद्रा सुखप्रबोधा स्वापावस्था, नखच्छोटिकामात्रेणाऽपि यत्र प्रबोधो भवति। तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रेति कार्येण व्यपदिश्यते। तथा निद्राऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा, शाकपार्थिवाऽऽदित्वान्मध्यपदलोपी समासः। सा पुनर्दुःखप्रबोधा स्वापावस्था, तस्यां हि अत्यर्थमस्फुटतरीभूतचैतन्यत्वाद् दुःखेन बहुभिर्घोलनाऽऽदिभिः प्रबोधो भवत्यतः सुखप्रबोधनिद्राऽपेक्षया अस्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि कार्यद्वारेण निद्रानिद्रेत्युच्यते। उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलत्यस्यां स्वापावस्थायामिति प्रचला। सा ह्युपविष्टस्योर्ध्वस्थितस्य वा घूर्णमानस्य स्वप्तुर्भवति। तथाविधविपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचलेत्युच्यते। तथैव प्रचलाऽतिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला। सा हि चङ्क्रमणाऽऽदि कुर्वतः स्वप्तुर्भवति, अतः स्थानस्थितस्वप्तृभवां प्रचलामपेक्ष्यातिशायिनी। तद्विपाका कर्मप्रकृतिरपि प्रचलाप्रचला। स्त्याना बहुत्वेन संघातमापन्ना गृद्धिरभिकाङ्क्षा जाग्रदवस्थाऽध्यवसितार्थसाधनविषया यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानगृद्धिः, तस्यां हि सत्यां जाग्रदवस्थाऽध्यवसितमर्थमुत्थाय साधयति, स्त्याना वा पिण्डीभूता ऋद्धिरात्मशक्तिरूपा यस्यामिति स्त्यानर्द्धिरित्यप्युच्यते, तद्भावे हि स्वप्तुः केशवार्द्धबलसदृशी शक्तिर्भवति। अथवा स्त्याना जमीभूता चैतन्यर्द्धिरस्यामिति स्त्यानर्द्धिरिति। तादृशविपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानर्द्धिः, स्त्यानगृद्धिरिति वा। तदेवं निद्रापञ्चकं दर्शनाऽऽवरणक्षयोपशमाद् अवाप्तात्मलाभानां दर्शनलब्धीनामावारकमुक्तम्। अधुना यद् दर्शनलब्धीनां मूलत एव लाभमावृणोति तदिदं दर्शनाऽऽवरणचतुष्कमुच्यते। चक्षुषा दर्शनं सामान्यग्राही बोधश्चक्षुर्दर्शनं, तस्याऽऽवरणं चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम्। अचक्षुषा चक्षुर्वर्जेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा वा दर्शनं यत् तदचक्षुर्दर्शनं, तस्याऽऽवरणमचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम्। अवधिना रूपिमर्यादयाऽवधिरेव वा करणनिरपेक्षो बोधरूपो दर्शनं सामान्यार्थग्रहणमवधिदर्शनम्, तस्याऽऽवरणमवधिदर्शनाऽऽवरणम्। तथा केवलमुक्तस्वरूपं, तच्च तद्दर्शनं च, तस्याऽऽवरणं केवलदर्शनाऽऽवरणमित्युक्तं नवविधं दर्शनाऽऽवरणम्। स्था० ९ ठा०।

इदानीं नवविधं दर्शनाऽऽवरणं कर्म व्याख्यानयन्नाह-

दंसणचउ पण निद्दा, वेत्तिसमं दंसणाऽऽवरणं ॥ (९)

इह 'भीमो भीमसेनः' इति न्यायात्, पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद्वा "दंसणचउ" इतिशब्देन दर्शनाऽऽवरणचतुष्कं गृह्यते। तत्र दृष्टिर्दर्शनं, दृश्यते परिच्छिद्यते सामान्यरूपं वस्त्वनेनेति वा दर्शनं, तस्याऽऽवरणान्याच्छादनानि दर्शनाऽऽवरणानि, तेषां चतुष्कं दर्शनाऽऽवरणचतुष्कम्। तथा-"पण निद्द त्ति" 'द्राक्' कुत्सितगतौ (धातुपाठः) द्राति कुत्सितत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यं यासु ता निद्राः। "भिदाद्यः" ॥५।३।१०८॥ इति (सूत्रेण) अङ्प्रत्ययः। पञ्चेति पञ्चसंख्याः-निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिरूपाः निद्राः पञ्च, निद्रापञ्चकमित्यर्थः। ततो दर्शनाऽऽवरणचतुष्कं निद्रापञ्चकमिति नवधा दर्शनाऽऽवरणं भवति। किंविशिष्टमित्याह-(वेत्तिसमं ति) वेत्रिणा प्रतीहारेण समं तुल्यं वेत्रिसमम्। यथा राजानं द्रष्टुकामस्याप्यनभिप्रेतस्य लोकस्य वेत्रिणा स्खलितस्य राज्ञो दर्शनं नोपजायते, तथा दर्शनस्वभावस्याप्यात्मनो येनाऽऽवृतस्य स्तम्भकुम्भाम्भोरुहाऽऽदिपदार्थसार्थस्य न दर्शनमुपजायते, तदेवंविधम् दर्शनाऽऽवरणम्। उक्तं च-

"दंसणसीले जीवे, दंसणघायं करेइ जं कम्मं।
तं पडिहारसमाणं, दंसणवरणं भवे कम्मं ॥१॥
जह रन्नो पडिहारो, अणभिप्पेयस्स सो उ लोगस्स।
रन्नो तह दरिसाव, न देइ दट्ठुं पि कामस्स ॥२॥
जह राया तह जीवो, पडिहारसमं तु दंसणाऽऽवरणं।
तेण हि विबंधएणं, न पेच्छई सो घडाईयं ॥३॥" इति ।९।

अथ दर्शनाऽऽवरणचतुष्कं व्याचिख्यासुराह-

चक्खुदिट्ठिअचक्खू-सेसिंदिय ओहिकेवलेहिं च ॥
दंसणमिह सामन्नं, तस्साऽऽवरणं तयं चउहा ॥ १० ॥

इह चक्षुःशब्देन दृष्टिर्गृह्यते, अचक्षुःशब्देन "सेसिंदिय त्ति" चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियाणि गृह्यन्ते। ततश्च चक्षुश्चाचक्षुश्चावधिश्च केवलं च चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानि, तैः चक्षुरचक्षुरवधिकेवलैः। चशब्दोऽचक्षुःशेषेन्द्रियवदत्र मनसः समुच्चये। दर्शनमिह प्रवचने सामान्यं सामान्योपयोग उच्यते। यदुक्तम्-"जं सामन्नग्गहणं, भावाणं नेव कट्टु आगारं। अविसेसिऊण अत्थे, दंसणमिय वुच्चए समए ॥१॥" तस्याऽऽवरणं दर्शनाऽऽवरणं, तच्चतुर्धा भवति-चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणमचक्षुर्दर्शनावरणमवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणमिति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्-इह चक्षुर्दर्शनं नाम यच्चक्षुषा रूपसामान्यग्रहणं, तस्याऽऽवरणं चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणं, चक्षुःसामान्योपयोगाऽऽवरणमिति यावत्। अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद्दर्शनं स्वस्वविषयसामान्यपरिच्छेदोऽचक्षुर्दर्शनं, तस्याऽऽवरणमचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम्। अवधिना रूपिद्रव्यमर्यादया दर्शनं सामान्यार्थग्रहणमवधिदर्शनं, तस्याऽऽवरणमवधिदर्शनाऽऽवरणम्। केवलेन सम्पूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद्दर्शनं वस्तुसामान्यांशग्रहणं तत् केवलदर्शनं, तस्याऽऽवरणं केवलदर्शनाऽऽवरणम्। अत्राऽऽह-ननु यथाऽवधिदर्शनाऽऽवरणं कर्मोच्यते, तथा मनःपर्यायज्ञानस्यापि दर्शनाऽऽवरणं कर्म किं नोच्यते? उच्यते-मनःपर्यायज्ञानं तथाविधक्षयोपशमपाटवात् सर्वदा विशेषानेव गृह्णदुत्पद्यते, न सामान्यम्, अतस्तद्दर्शनाभावात्तदावरणं कर्माऽपि न भवति। अत्र च चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणोदये एकद्वित्रीन्द्रियाणां मूलत एव चक्षुर्न भवति, चतुःपञ्चेन्द्रियाणां तु सदपि चक्षुस्तथाविधं तदुदये विनश्यति, तिमिराऽऽदिना वाऽस्पष्टं भवति। चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनसां पुनर्यथासम्भवमनवाप्तमस्पष्टत्वं वाऽचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणोदयादित्येवमादिना दर्शनाऽऽवरणचतुष्कम् ॥१०॥ कर्म० १ कर्म०। चक्षुषा दर्शनं चक्षुर्दर्शनं, तस्याऽऽवरणं चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम्।६। अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं, तस्याऽऽवरणमचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम्।७। अवधिरेव दर्शनं रूपिद्रव्यसामान्यग्रहणम् अवधिदर्शनं, तस्याऽऽवरणमवधिदर्शनाऽऽवरणम्।८। केवलमेव सकलजगद्भाविवस्तुतत्त्वसामान्यग्रहणरूपं दर्शनं केवलदर्शनं, तस्याऽऽवरणं केवलदर्शनाऽऽवरणम्।९। अत्र निद्रापञ्चकं प्राप्तायां दर्शनलब्धावुपघातकृत्, चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणाऽऽदिचतुष्टयं तु मूलत एव दर्शनलब्धिमुपहन्ति। आह च गन्धहस्ती-निद्राऽऽदयः सम-

धिगतायां एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते, दर्शनाऽऽवरणचतुष्टयं तु समूलोच्छेदित्वात्समूलघातं हन्ति दर्शनलब्धिमिति । (६ गाथा) कर्म० ६ कर्म० । दर्शनाऽऽवरणस्य नवोत्तरप्रकृतयः । तद्यथा-निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धिः । (एषां पूर्वोक्तानां व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम्, अचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम्, अवधिदर्शनाऽऽवरणम्, केवलदर्शनाऽऽवरणं च । (६ गाथा) कर्म० ६ कर्म० । आ० । पं० सं० । (अत्र विशेषः ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २६४ पृष्ठे, २५९ पृष्ठे च द्रष्टव्यः)

दंसणावरणिज्ज-दर्शनाऽऽवरणीय-न० । दर्शनाऽऽवरणप्रकृतौ, स० ९ सम० । आचा० । प्रश्न० ।

दंसणावरणिज्जवग्ग-दर्शनावरणीयवर्ग-पुं० ।दर्शनाऽऽवरणप्रकृतिसमुदाये, क० प्र० १ प्रक० ।

दंसणि (ण्)-दर्शनिन्-पुं० । दर्शनमस्यास्तीति दर्शनी । सम्यक्त्ववति, आव० ३ अ० । " दंसणेणं दंसणी ।" अनु० । आव० । रा० ।

दंसणिज्ज-दर्शनीय-पुं० । आ..यदर्शनो यः स ...। शा० १ श्रु० १ अ० । दर्शनयोग्ये, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । यानि पश्यनश्चक्षुषी श्रमं न गच्छतः । जी० ३ प्रति० ४ उ० । ज्ञा० । स्था० । सू० प्र० ।

दंसणिड्ढि-दर्शनर्द्धि-स्त्री० । दर्शनर्द्धिः प्रशमाऽऽदिरूपा । तथा-" सम्मद्दिट्ठी जीवो, विमाणवज्जं न बंधए आउं । जति वि ण सम्मत्तजढो, अहव ण बद्धाउओ पुव्विं ॥ १ ॥ " (दश० नि० २०६ गाथाटी०) इत्याद्युक्तलक्षणायां प्रशमाऽऽदिरूपायां सम्यक्त्वसम्पत्तौ, दश० ३ अ० ।

दंसणिंद-दर्शनेन्द्र-पुं० । इन्द्रभेदे, स्था० १० ठा० । (व्याख्याऽस्य ' इंद ' शब्दे द्वितीयभागे ५३४ पृष्ठे गता)

दंसणोवघाय-दर्शनोपघात-पुं० । शङ्काऽऽदिभिः सम्यक्त्वविराधनायाम्, स्था० १० ठा० ।

दंसणोवसंपया-दर्शनोपसम्पत्-स्त्री० । सम्पद्भेदे, दर्शनप्रभावनीयसम्मत्यादिशास्त्रपरिभावनार्थमेव दर्शनोपसम्पदिति । ध० ३ अधि० ।

दंसतिग-दर्शनिक-न० । चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनलक्षणे, कर्म० ४ कर्म० ।

दंसमसग-दंशमशक-पुं० । दंशाश्च मशकाश्च दंशमशकाः । उभये अप्येते चतुरिन्द्रियाः, महत्त्वामहत्त्वकृतश्चैषां विशेषः । अथवा-दंशो दशनं, भक्षणमित्यर्थः । तत्प्रधाना मशका दंशमशकाः । चतुरिन्द्रियजीवभेदेषु, स० २१ सम० ।

दंसमसगपरीसह-दंशमशकपरीषह-पुं० । दशन्तीति दंशाः, पचाऽऽदित्वादच्प्रत्ययः । मारयितुं शक्नुवन्तीति मशकाः । दंशाश्च मशकाश्च दंशमशकाः । अथवा- दंशो दंशनं, भक्षणमित्यर्थः, तत्प्रधाना मशका दंशमशकाः चतुरिन्द्रियविशेषाः, यूकाऽऽद्युपलक्षणं चैते एव परीषहो दंशमशकपरीषहः । उत्त० २ अ० । प्रव० । स० । दंशमशकाऽऽदिभिर्दश्यमानोऽपि न ततः स्थानाद्गच्छेत् च तदपनयनार्थं धूमाऽऽदिना यतेत, न च व्यजनाऽऽदिना निवारयेदित्यनुतिष्ठतः (आव० ४ अ०) देहव्यथामुत्पादयत्स्वपि तेष्वनिवारणजयद्वेषाभावकरणरूपे परीषहे, भ० ८ श० ८ उ० । "दृष्टोऽपि दंशमशकैः, सर्वाऽऽहाराभिलाषवित् । त्रासं द्वेषं निरासं न, कुर्यात्कुर्यादुपेक्षणम् ॥ १ ॥ " ध० ३ अधि० । उत्त० । सूत्र० ।

एतदेव सूत्रकृदाह-

पुट्ठो य दंसमसएहिं, समरे-व महामुणी ।
णागो संगामसीसे व, सूरे अभिहणे परं ॥ १० ॥

स्पृष्टः-अभिद्रुतः । चः पूरणे । दंशमशकैः, उपलक्षणत्वाद् यूकाऽऽदिभिश्च (समरे व त्ति) "पदाद्वाऽलोपाविसर्जनं" ॥ इति रेफात्, ततः सम एव-तद्गतानया स्पृष्टास्पृष्टावस्थयोस्तुल्य एव । यद्वा--समन्तादरयः,शत्रवो यस्मिन्नसमरे तस्मिन्नाति संग्रामशिरोविशेषणम् । वेति पूरणे । महामुनिः प्रशस्तयतिः । किमित्याह- (णागो संगामसीसे वेति) इवार्थस्य वाशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् इव हस्तीव संग्रामस्य शिर इव शिरः प्रकर्षावस्था सम्प्रामशिरस्तस्मिन् शूरः पराक्रमवान् । यद्वा-शूरो योधः, नागोऽन्तर्भावितोपमार्थत्वात् नागशब्दस्य च गम्यमानत्वात् शरघाताऽभिहन्यात्, कोऽर्थः--? अभिजयेत् । परं शत्रुम् । अयमभिप्रायः--यथा शूरः करी, यद्वा यथा वा योधः शरैस्तुद्यमानोऽपि तदगणनया रणशिरसि शत्रून् जयति, एवमयमपि दंशाऽऽदिभिरभिद्रूयमाणोऽपि भावशत्रुं क्रोधाऽऽदिकं जयेदिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

यथा च भावशत्रुर्जेतव्यस्तथोपदेष्टुमाह-

ण संतसे ण वारेज्जा, मणं पि न पओसए ।
उवेहे नो हणे पाणे, भुंजंते मंससोणिए ॥ ११ ॥

न संत्रसेदोद्विजेत,दंशाऽऽदिभ्य इति गम्यते । यद्वा-अनेकार्थत्वाद्धातूनां न कम्पयेत्, तैस्तुद्यमानोऽपि, अङ्गानीति शेषः । न निवारयेद् न निषेधयेत्,प्रक्रमाद् दंशाऽऽदीनेव तुदतो,मा भूदन्तराय इति, मनश्चित्तं तदपि,आस्तां वचनाऽऽदि,न प्रदूषयेत्र प्रदुष्टं कुर्यात्, किं तु (उवेहे त्ति) उपेक्षेत औदासीन्येन पश्येत, अत एव न हन्यात् प्राणान् प्राणिनो भुञ्जानान् आहारयतो मांसशोणितम् । अयमिहाशयः-अत्यन्तबाधकेष्वपि दंशकाऽऽदिषु-

" शृगालवृकरूपैश्च, नदद्भिर्घोरनिष्ठुरम् ।
आक्षेपन्तोऽटनस्त्वायु, प्रक्षन्ते रुधिरोक्षिताः ॥ १ ॥
श्वरूपैः श्यामशबलैः-श्वापुच्छैर्भयान्वितैः ।
परस्परं विरुध्यद्भि-र्विलुप्यन्ते दिशो दिशम् ॥ २ ॥
काकगृध्राऽऽदिरूपैश्च, लोहतुण्डैर्बलान्वितैः ।
विनिकृष्टाक्षिजिह्वान्त्राः, क्षिप्यन्ते महीतले ॥ ३ ॥
प्राणोपक्रमणैर्घोरै-र्दुःखैरेवंविधैरपि ।
आयुष्यक्षपितं नैव,म्रियन्ते दुःखभागिनः ॥ ४ ॥ " इत्यादि ।

तथा-असंक्लिष्ट एते आहारार्थिनश्च भोज्यमेतेषां मद्वपुः बहुसाधारणं च यदि भक्षयन्ति किमत्र प्रद्वेषेणेति च विचिन्तयन् तदुपेक्षणपरो न तदुपघातं विदध्यादिति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

इदानीं पश्चिद्वारं, तत्र स्पृष्टो दंशमशकैरित्यादिसूत्रसूचितमुदाहरणमाह-

चंपाए सुमणुभद्दो, जुवराया धम्मघोससीसो य ।
पंथम्मि मसगपरिपी-यसोणितो सो वि कालगतो ॥ ९१ ॥

चम्पायां सुमनुभद्रो युवराजो धर्मघोषशिष्यश्च पथि मशक-

परिपीतशोणितः, सोऽपि कालगतः। इति गाथाऽक्षरार्थः॥९३॥ भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादवसेयः। स चायम्-" चंपाए नयरीए जियसत्तुस्स रन्नो पुत्तो सुमणुभद्दो जुवराया, धम्मघोसस्स अंतिए धम्मं सोऊण निव्विण्णकामभोगो पव्वइतो, ताहे चेव एगल्लविहारपडिमं पडिवन्नो, पच्छा हेट्ठाभूमीए विहरंतो सरयकाले अडवीए पडिमागतो रत्तिं मसएहिं खज्जइ, सो ते ण पमज्जति, सम्मं सहइ, रत्तीए पीयसोणितो कालगतो। एवं अहियासेयव्वं। " इत्यवसितो दंशमशकपरीषहः। उत्त० पाई० २ अ०।

दंसमसगपरीसहविजय-दंशमशकपरीषहविजय-पुं०। दंशमशकाऽऽदिव्यथापीडासहने, पं० सं०। तथा दंशपरीषह इत्यत्र दंशग्रहणमशेषशरीरोपघातकसत्त्वोपलक्षणम्, यथा काकेभ्यो रक्षतां सर्पिः, इत्यत्र काकग्रहणमुपघातकोपलक्षणम्। तेन दंशमशकमक्षिकामत्कुणकीटपिपीलिकावृश्चिकाऽऽदिभिर्बाध्यमानस्याऽपि ततः स्थानादनपगच्छतः, तेषां च दंशमशकाऽऽदीनां त्रिविधं त्रिविधेन बाधामकुर्वतो, व्यजनाऽऽदिनाऽपि तान् न निवारयतो यत्सम्यक् दंशमशकाऽऽदिव्यथापीडासहनं स दंशपरीषहविजयः। पं० सं० ४ द्वार।

दंसमाण-दशत्-त्रि०। भक्षणं कुर्वति, " अप्पे जणे णिवारेइ लूसणए सुणए दंसमाणे। " आचा० १ श्रु० ९ अ० ३ उ०।

दंसिय-दर्शित-त्रि०। प्रकटिते, अनु०। प्रकाशिते च। उत्त० ९ अ०। प्रज्ञा०।

दक्ख-दक्ष-त्रि०। दक्ष-अच्। निपुणे, कल्प० ५ क्षण। सूत्र०। चतुरे, स्था० ७ ठा०। उत्त०। सूत्र०। शीघ्रकारिणि, उत्त० ५ अ०। बृ०। नि० चू०। ज्ञा०। अनु०। भ०। सकलकलाकुशले, कल्प० ६ क्षण। कार्याणामविलम्बकारिणि, उपा० ७ अ०। जी०। आ० म०। कल्प०। रा०। उत्त०। भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य स्वनामख्याते पदात्यानीकाधिपतौ च। स्था० ५ ठा० १ उ०।

दक्खज्ज-पुं०। देशी-गृध्रे, दे० ना० ५ वर्ग ३४ गाथा।

दक्खत्त-दक्षत्व-न०। आशुकारित्वे, उत्त० ३ अ०।

साम्प्रतं दक्षत्वं, तत्प्रसङ्गमाह-

सत्थाहसुओ दक्ख-त्तणेण सेट्ठीसुओ य रूवेण।
बुद्धीए अमच्चसुओ, जीवइ पुन्नेहिँ रायसुओ ॥१९६॥
दक्खत्तणयं पुरिस-स्स पंचगं सइगमाहु सुंदेरं।
बुद्धी पुण साहस्सा, सयसाहस्साइँ पुन्नाइं ॥१९७॥

दक्षत्वं पुरुषस्य सार्थवाहसुतस्य पञ्चकमिति पञ्चरूपकफलम्। शतिकं शतफलमाह सौन्दर्यं श्रेष्ठिपुत्रस्य। बुद्धिः पुनः सहस्रवती सहस्रफला मन्त्रिपुत्रस्य। शतसहस्राणि पुण्यानि शतसहस्रफलानि राजपुत्रस्येति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। तच्चेदम्-" जहा बंभदत्तो कुमारो, कुमारामच्चपुत्तो, सेट्ठिपुत्तो, सत्थवाहपुत्तो। एते चउरो वि परोप्परं उल्लावेइ-जहा को भे केण जीवति?। तत्थ रायपुत्तेण भणियं-अहं पुन्नेहिं जीवामि। कुमारामच्चपुत्तेण भणियं-अहं बुद्धीए। सेट्ठिपुत्तेण भणियं-अहं रूवस्सित्तणेणं। सत्थवाहपुत्तो भणति-अहं दक्खत्तणेण। ते भणंति-अण्णत्थ गंतुं विआणेमो। ते गया अन्नं नयरं जत्थ ण णज्जंति। उज्जाणे आवासिता। दक्खस्स आदेसो दिन्नो-सिग्घं भत्तपरिव्वयं आणेहि। सो वीहिं गंतुं एगस्स थेरवाणियगस्स आवणे ठिओ। तस्स बहुगा कइया एंति। तद्दिवसं को वि ऊसवो, सो ण पहुप्पति पुडए बंधेउं। ततो सत्थवाहपुत्तो दक्खत्तणेण जस्स जं उवउज्जति लवणतेल्लघयगुडसुंठिमिरियं एवमादि तस्स तं देति। अतिविसिट्ठो लाभो लद्धो। तुट्ठो भणति-तुम्हेऽत्थ आगंतुया, उयाहु वत्थव्वया?। सो भणति-आगंतुया। तो अम्ह गिहे असणपरिग्गहं करेज्जह। सो भणति-अन्ने मम सहाया उज्जाणे अत्थंति, तेहिं विणा णाहं भुंजामि। तेण भणियं-सव्वे वि एंतु, आगया। तेण तेसिं भत्तसमालहणतंबोलादि उवउत्तं, तं पंचण्हं रूवयाणं। बितीयदिवसे रूवस्सी वणियपुत्तो वुत्तो-अज्ज तुमे दायव्वो भत्तपरिव्वओ। एवं भवउ त्ति सो उट्ठेऊण गणियापाडगं गओ अप्पयं मंडेउं। तत्थ य देवदत्ता नाम गणिया पुरिसवेसिणी बहूहिं रायपुत्तसेट्ठिपुत्ताऽऽदीहिं मग्गिया णेच्छति। तस्स य तं रूवसमुदायं दट्ठूण खुभिया। पडिदासियाए गंतूण तीए माउए कहियं-जहा दारिया सुंदरजुवाणे दिट्ठिं देइ। तओ सा भणति-भण एयं मम गिहमणुवरोहेण एज्जह। इहेव भत्तवेलं करेज्जह। तहेव आगता। सइओ दव्ववओ कओ। तइयदिवसे बुद्धिमंतो अमच्चपुत्तो संदिट्ठो-अज्ज तुमे भत्तपरिव्वओ दायव्वो। एवं हवउ त्ति सो गओ करणसालं। तत्थ य तइओ दिवसो ववहारस्स छिज्जंतस्स परिच्छेदं न गच्छइ। दो सवत्तीओ। तासिं भत्ता चयग्गो। एक्काए पुत्तो अत्थि, इतरी अपुत्ता य। सा तं दारयं णेहेण उवचरति, भणति य-मम पुत्तो। पुत्तमाया भणइ य-मम पुत्तो। तासिं न परिच्छिज्जइ। तेण भणितं-अहं छिंदामि ववहारं। दारओ दुहा कज्जतु, दव्वं पि दुहा एव। पुत्तमाया भणति-न मे दव्वेण कज्जं, दारगो वि तीए भवतु, जीवंतं पासिहामि पुत्तं। इतरी तुसिणीया अत्थति। ताहे पुत्तो मायाए दिण्णो। तहेव सहस्सं उवओगो। चउत्थे दिवसे रायपुत्तो भणितो-अज्ज रायपुत्त! तुम्हेहिं पुन्नाहिएहिं जोगवहणं वहियव्वं। एवं हवउ त्ति, तओ रायपुत्तो तासिं अंतियाओ णिग्गंतु उज्जाणे ठिओ। तम्मि य नयरे अपुत्तो राया मओ। आसो अहिवासिओ, जम्मि रुक्खच्छायाए रायपुत्तो निसण्णो सा ण ओयत्तति। तओ आसेण तस्सोवरि ठाऊण हिंसितं। राया य अभिसित्तो। अणेगाणि सयसहस्साणि जाताणि। एवं अत्थुप्पत्ती भवइ। दक्खत्तणं ति दारं गतं॥ इदाणि सामभेयदंडुवप्पयाणेहिं चउहिं जहा अत्थो विढप्पति। पढमं उदाहरणं-सीयालेण भमंतेण हत्थी मओ दिट्ठो। सो चिंतेइ-लद्धो मए उवाएण ताव निच्छूढएण खाइयव्वो जाव सीहो आगतो। तेण चिंतियं-सविट्ठेण ठाइयव्वं। एतस्स सीहेण भणियं-किं अरे! भाइणज्ज! अच्छिज्जति?। सीयालेण भणियं-आम ति माम!। सीहो भणति-किमेयं मयं ति?। सियालो भणति-हत्थी। केण मारिओ?। वग्घेण। सीहो चिंतेइ-कहमहं ऊणजातिएण मारियं भक्खामि?। गओ सीहो। णवरं वग्घो आगतो। तस्स कहियं-सीहेण मारिओ। सो पाणियं पाउं णिग्गतो। वग्घो नट्ठो। एस भेओ। जाव काओ आगतो। तेण चिंतियं-जइ एयस्स न देमि तो काउ काउ त्ति वासियसद्देणं अन्ने काया एहिंति। तेसिं कागरुणसद्देणं सियालाइ अन्ने बहवे एहिंति। कित्तिया वारेहामि। अओ एतस्स उवप्पयाणं देमि, तेण तओ तस्स खंडं छित्ता दिण्णं। सो

तं चिपूण गतो । जाव सियालो आगतो । तेण णायं-एयस्स दढेण वारणं करेमि, भिउडिं काऊण वेगो दिण्णो । णट्ठो सियालो । उक्तं च-" उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत् । नीचमल्पप्रदानेन, समं तुल्यपराक्रमैः ॥१॥ " इत्युक्तः कथागाथाया भावार्थः ॥ १९६ ॥ १९७ ॥ दश० ३ अ० ।

दक्खत्तं भंते ! साहू, आलसियत्तं साहू ?। जयंती ! अत्थेगइयाणं जीवाणं दक्खत्तं साहू, अत्थेगइयाणं जीवाणं आलसियत्तं साहू । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-तं चेव ०जाव साहू ?। जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया० जाव विहरंति, एएसि णं जीवाणं आलसियत्तं साहू । एएसि णं जीवा अलसाउमाणा णो बहूणं जहा सुत्ता तहा अलसा जाणियव्वा, जहा जागरा तहा दक्खा जाणियव्वा० जाव संजोएत्तारो भवंति । एए णं जीवा दक्खा समाणा बहूहिं आयरियवेयावच्चेहिं उवज्झायवेयावच्चेहिं थेरवेयावच्चेहिं तवस्सिवेयावच्चेहिं गिलाणवेयावच्चेहिं सेहवेयावच्चेहिं कुलवेयावच्चेहिं गणवेयावच्चेहिं संघवेयावच्चेहिं साहम्मियवेयावच्चेहिं अत्ताणं संजोएत्तारो भवंति । एएसि णं जीवाणं दक्खत्तं साहू, से तेणट्ठेणं तं चेव० जाव साहू । भ० १२ श० २ उ० ।

दक्खपइण्ण-दक्षप्रतिज्ञ-पुं० । दक्षा निपुणा प्रतिज्ञा यस्य स तथा । समीचीनामेव प्रतिज्ञां करोति, तां च सम्यक् निर्वाहयति । कृतायाः समीचीनप्रतिज्ञायाः सम्यङ्निर्वाहके, कल्प० ५ क्षण ।

दक्खा-द्राक्षा-स्त्री० । मृद्वीकायाम्, स्था० ४ ठा० ३ उ० । प्रव० ।

दक्खिण-दक्षिण-पुं० । दक्ष-इनन् । सर्वनायिकासु समानुरागे नायकभेदे, मध्यदेशाद्दक्षिणे देशे च । वाच० । जं० । ज्यो० । शरीरस्य दक्षिणे भागे, अनुत्तरे, सरले, परच्छन्दानुवर्तिनि, अवामभागस्थे, औदार्यवति च । त्रि० । वाच० । आ० म० । कल्प० ।

दक्खिणकूलग-दक्षिणकूलक-पुं० । येगङ्गाया दक्षिणकूल एव वस्तव्यं तेषु, औ० । भ० । नि० ।

दक्खिणत्त-दक्षिणत्व-न० । षष्ठे सत्यवचनातिशये, रा० ।

दाक्षिणात्य-त्रि० । दक्षिणस्यां दिशि भवः । दक्षिणा-त्यक् । नारिकेले, दक्षिणदिग्भवमात्रे, त्रि० । वाच० । दाक्षिणात्यानामसुरकुमाराऽऽदीनाम् । प्रज्ञा० २ पद ।

दक्खिणपच्छिमा-दक्षिणपश्चिमा-स्त्री० । नैर्ऋत्यकोणे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दक्खिणपुव्वा-दक्षिणपूर्वा-स्त्री० । दक्षिणपूर्वयोरन्तराला दिक् दक्षिणपूर्वा । अग्निकोणे, वाच० । पं० व० ।

दक्खिणमहुरा-दक्षिणमथुरा-स्त्री० । उत्तरमथुरायाः सकाशाद्दक्षिणस्यां दिशि स्थितायां मथुरायाम्, दर्श० १ तत्त्व ।

दक्खिणा-दक्षिणा-अव्य० । दिग्देशवृत्तेर्दक्षिणशब्दात् प्रथमापञ्चमीसप्तम्यर्थे आच् । प्रथमाऽऽद्यर्थविशेषिते दक्षिणदिग्देशार्थे याम्यदिशि, यज्ञशेषे कर्मणः साङ्गताऽर्थं देये द्रव्ये च । वाच० । दाने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । आ० म० । " दक्खिणाए पडिलम्भो, अत्थि वा णत्थि वा पुणो । " सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । स्था० । यज्ञपत्न्याम्, "अध्वरस्येव दक्षिणा । " इति रघुः । प्रतिष्ठायाम्, दक्षिणकालिकायां रुचिप्रजापतेः कन्यायाम्, परिक्रयद्रव्ये, नायिकाभेदे च । स्त्री० । वाच० ।

दक्खिणायण-दक्षिणाऽयन-न० । दक्षिणस्यामयनं गमनम् । तत् यस्मिन् काले, कर्कटे वा रविसंक्रमणे तदादि षण्मासे काले च । वाच० । ज्यो० (अत्राधिकं तु ' अयण ' शब्दे प्रथमभागे ७५० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

दक्खिणावह-दक्षिणापथ-पुं० । ७ त० । अक्रान्तदवन्तिनगरीमतिक्रम्य दक्षिणदिग्वर्तिदेशभेदे, वाच० । " इतो य वइरस्सामी दक्खिणावहे विहरइ । " आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । वाच० ।

दक्खिण्ण-दाक्षिण्य-न० । दक्षिणस्य भावः ष्यञ् । अनुकूलत्वे, दर्श० ४ तत्त्व । दक्षिणार्हे ऋत्विजि, वाच० । मार्दवे, द्वा० ६ द्वा० ।

दाक्षिण्यलक्षणमाह-

दाक्षिण्यं परकृत्ये-ऽप्यपि योगपरः शुभाऽऽशयो ज्ञेयः ।
गाम्भीर्यधैर्यसचिवो, मात्सर्यविघातकृत् परमः ॥ ४ ॥

दाक्षिण्यं पूर्वोक्तस्वरूपं परकृत्येष्वपि परकार्येष्वपि योगपर उत्साहपरः शुभाऽऽशयः शुभाध्यवसायो ज्ञेयः, गाम्भीर्यधैर्यसचिवः परैरलक्ष्यमध्यो गम्भीरस्तद्भावो गाम्भीर्यं, धैर्यं धीरता स्थिरत्वं ते गाम्भीर्यधैर्ये सचिवौ सहायावस्येति, मात्सर्यविघातकृत् परप्रशंसाऽसहिष्णुत्वविघातकृत्, परमः प्रधानः शुभाऽऽशय इति ॥ ४ ॥ षो० ४ विव० ।

दक्खु-दक्ष-त्रि० निपुणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दृष्ट-न० । दर्शने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

पश्य-पुं० पश्यतीति पश्यः । दर्शके, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दक्खुदंसण-दक्षदर्शन-न० । सर्वज्ञदर्शने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । सर्वज्ञोक्तशासनानुयायिनि च । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दृष्टदर्शन-न० । सर्वज्ञदर्शने, सर्वज्ञोक्तशासनानुवर्तिनि च । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

पश्यदर्शन-न० । सर्वज्ञाभ्युपगमे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दक्खुवाहिय-दक्षव्याहृत-त्रि० । सर्वज्ञोक्ते सर्वज्ञाऽऽगमे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दृष्टव्याहृत-त्रि० । दृष्टातीतानागतव्यवहितसूक्ष्मपदार्थदर्शिनाऽभिहिते सर्वज्ञाऽऽगमे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

पश्यव्याहृत-त्रि० । पश्येन सर्वज्ञेन व्याहृतमुक्तं पश्यव्याहृतम् । सर्वज्ञोक्ते सर्वज्ञाऽऽगमे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दग–दक–न० । पानीये, ग० ३ अधि० । स्था० । प्रश्न० । आ० म० । दश० । प्रज्ञा० । नि० चू० । कल्प० । बृ० । अप्काये, आ० चू० ४ अ० । आव० । अष्टाशीतिमहाग्रहान्तर्गते स्वनामख्याते ग्रहे, चं० प्र० २० पाहु० । " दो दगा । " स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० । सू० प्र० ।

दगकलसग–दककलशक–पुं० । उदकभृते भृङ्गारे, रा० ।

दगकुंभग–दककुम्भक–पुं० । दकघटे, रा० ।

दगगब्भ–दकगर्भ–पुं० । दकस्योदकस्य गर्भा इव गर्भा दकगर्भाः । कालान्तरे जलवर्षणस्य हेतुषु तत्संसूचकेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ० । (चतुर्द्धा दकगर्भाः 'उदगगब्भ' शब्दे द्वितीयभागे ७७१ पृष्ठे द्रष्टव्याः)

दगछड्डण–दकछर्दन–न० । उदकप्रतिष्ठापने, उदकप्रक्षेपस्थाने च । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० ।

दगछड्डणमत्तय–दकछर्दनमात्रक–पुं० । उदकप्रतिष्ठापनमात्रके, उपकरणधावनोदकप्रक्षेपस्थाने च । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० ।

दगणिग्गम–उदकनिर्गम–पुं० । जलवीणिकायाम, नि० चू० १० उ० ।

दगतीर–उदकतीर–न० । उदकाऽऽकराद्यत्र नीयते उदकं तस्मिन्, नि० चू० १६ उ० । उदकोपकण्ठे, बृ० १ उ० ।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा दगतीरंसि चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा तुयट्टित्तए वा णिद्दाइत्तए वा पयलाइत्तए वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारमाहारित्तए, उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए, सज्झायं वा करित्तए, धम्मं जागरित्तए, झाणं वा झाइत्तए, काउस्सग्गं वा ठाणं ठाइत्तए ॥ १७ ॥

न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा दकतीरे उदकोपकण्ठे स्थातुं वा ऊर्द्धस्थितस्यासितुम्, निषत्तुं वा उपविष्टस्य स्थातुम्, त्वग्वर्तयितुं वा दीर्घं कायं प्रसारयितुम्, निद्रायितुं वा सुखप्रतिबोधावस्थया निद्रया शयितुम्, प्रचलायितुं वा स्थितस्य स्वप्तुम्, अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वाऽऽहारमाहारयितुम् उच्चारं वा प्रस्रवणं वा खेलं वा सिङ्घाणं वा परिष्ठापयितुम्, स्वाध्यायं वा वाचनाऽऽदिकं कर्तुम्, धर्मं ध्यानलक्षणं जागरयितुम्, धातूनामनेकार्थत्वात् (झाणं वा झाइत्तए) ध्यानमनुस्मर्तुमिति, कायोत्सर्गं वा अथाऽभिभवभेदाद् द्विविधकायोत्सर्गलक्षणं स्थानं स्थातुं, कर्तुमित्यर्थः । एष सूत्रार्थः ॥१६॥

अथ निर्युक्तिविस्तरः-

दगतीरे चिट्ठणाऽऽदी, जूवगे आयावणा य बोधव्वा ।
लहुओ लहुया लहुया, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥२५२॥

दकतीरे स्थानाऽऽदीनि कुर्वतः प्रत्येकं लघुको मासः, यूपके वक्ष्यमाणलक्षणे वसतिं गृह्णत चतुर्लघुकाः, आतापना प्रतीता, तामपि दकतीरे कुर्वन् चतुर्लघुकाः प्रायश्चित्तं बोद्धव्यम्, तत्रापि प्रत्येकमाज्ञाऽऽदयो दोषाः ।

अत्र दकतीरस्य प्रमाणे च आदेशाः सन्ति, तानेव दर्शयति–

नयणे पूरे दिट्ठे, तडि सिंचणे वीइमेव पुट्ठे य ।
अत्थंते आरण्णय–गामपसुमणुस्सइत्थीओ ॥ २५३ ॥

नोदक आह–उदकाऽऽकराद्यत्रोदकं नीयते तद्दकतीरम् । यावन्मात्रं नदीपूरेणाऽऽक्रम्यते तद्दकतीरम् । यद्वा–यत्र स्थितैर्जलं दृश्यते तद्दकतीरम् । अथवा–या नद्यास्तटी भवति । यदि वा–यत्र जले स्थिते जलस्थितेन शृङ्गकाऽऽदिना सिच्यते । अथ यावन्तं भूभागं वीचयः स्पृशन्ति । यदि वा यावान् प्रदेशो जलेन स्पृष्टः । एतद्दकतीरम् । सूरिराह–यानि त्वया दकतीरलक्षणानि प्रतिपादितानि, तानि न भवन्तीति, किं तु आरण्यका ग्रामेयका वा पशवो मनुष्याः स्त्रियो वा जलार्थिन आगच्छन्तः साधुं यत्र स्थितं दृष्ट्वा तिष्ठन्ति, निवर्तन्ते वा तद्दकतीरमुच्यते ।

एतदेव सविशेषमाह–

सिंचणवीईपुट्ठा, दगतीरं होइ न पुण तम्मत्तं ।
ओतरिउत्तरिउमणा, जहिँ दट्टु तसंति तं तीरं ॥२५४॥

नयनपूरदृष्टप्रभृतीनां समानामादेशानां मध्यात्सेचनवीचिभिश्च सिञ्चनवीचिस्पृष्टलक्षणानि दकतीरं भवन्ति, न पुनस्तावन्मात्रमेव, किं तु आरण्यका ग्रामेयका वा तिर्यग्मनुष्या जलपानाऽऽद्यर्थमवतरीतुमुत्तरीतुमनसो जलचरा वा यत्र स्थितं साधुं दृष्ट्वा त्रस्यन्ति, तदव्यभिचारि दकतीरमुच्यते ।

तत्र च स्थानादिनिषीदनाऽऽदिकरणे दोषान् दर्शयति–

अहिगरणमंतराए, छेदण उमास आगाहियासे य ।
आइणाण सिंचजलचर–खहथलचरपाणण वित्तासो ॥२५५॥

दकतीरे तिष्ठतः साधोरधिकरणं वक्ष्यमाणलक्षणं, बहूनां च प्राणिनामन्तरायं भवति । तथा साधोः सकाशादीनां पादपेभ्यः छेदनकाः सूक्ष्मावयवरूपा उड्डीय पानीये निपतेयुः । यद्वा–छेदनं नाम ते प्राणिनः साधुं दृष्ट्वा प्रतिनिवृत्ताः सन्तो हरिताऽऽदिछेदनं कुर्वन्ते । (उमास त्ति) उन्मार्गाभिमुखाः पुरुषा जले निपतन्ति, ततोऽप्कायविराधना । यदि वा तेषां प्राणिनां तृषाऽर्त्तानामुच्छ्वासोदञ्चनं भवेत्, मरणमित्यर्थः । (आगाहियासे त्ति) अनाभोगात्तामगाहिरणवस्ते अनीर्थं जलमवतरेयुः, साधुं वा कश्चिदतीवमहत्त्वत्रासः पानीयं पिबन्, दुष्टगवाश्वऽऽदिना वा तस्याऽऽहननं भवेत्, दकतीरस्थितं वा अनुकम्पया प्रत्यनीकतया वा कश्चिद् दृष्ट्वा सिञ्चनं कुर्यात्, जलचरखचरस्थलचरप्राणिनां च वित्रासो भवेत् ।

तथाधिकरणं व्याचिख्यासुराह–

दट्ठूण वा नियत्तण, अभिहणणं वा वि अन्नमन्नेणं ।
गामाऽऽरण्णपसूणं, जा जहिँ आरोवणा भणिया ॥२५६॥

साधुं दृष्ट्वा आरण्यकाऽऽदिप्राणिनां निवर्तनं भवति । अभिहननं वा परस्परं तेषां भवेत् । (अन्नमन्नेण त्ति) अन्यमन्योन्यार्थेन वा ते जलमवतरेयुः । तेषां च ग्रामाऽऽरण्यपशूनां निवर्तनाऽऽदौ षट्कायोपमर्दः सम्भवेत " छक्काय चउसु लहुगा " इत्यादिका या यत्राऽऽरोपणा सा तत्र द्रष्टव्या । एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति–

पडिपहनियत्तमाण–म्मि अंतराए य निमज्जणे चरिमे ।

मिच्छगइ तंनिमित्तं, अभिघातो काय आयाए ॥२५७॥

आरण्यकास्तिर्यञ्चः तिर्यक्स्त्रियो वा पानीयं पिबाम इत्याशया तीर्थाभिमुखमायान्तं साधुं दृष्ट्वा, दकतीरस्थितं वा दृष्ट्वा प्रतिपथेन निवर्तन्ते, निवर्तमाने च तत्राऽऽरण्यकप्राणिगणे साधोरधिकरणं भवति। तेषां च तृषाऽऽर्तानामन्तरायं, चशब्दात् परितापना च कृता भवति। तत्रैकस्मिन् परितापिते छेदः, द्वयोस्तु मूलं, त्रिष्वनवस्थाप्यं, चतुर्षु परितापितेषु पाराञ्चिकम्। एतेनान्तरायपदं व्याख्यातम्। (तिमरणे चरिमं ति) यद्येकस्तृषाऽऽर्तो म्रियते ततो मूलं, द्वयोर्म्रियमाणयोरनवस्थाप्यं, त्रिषु म्रियमाणेषु साधोः पाराञ्चिकम्। एतेनोद्द्रावणपदं विवृतम्। साधुं दृष्ट्वा ते तिर्यञ्चो भीताः शीघ्रगत्या पलायमाना अन्यमन्योऽन्यं वा अभिघातयेयुः, षट्कायानां वा तन्निमित्तमभिघातं विदध्युः। तत्र "छक्काय चउसु लहुगा" इत्यादिकं कायविराधनानिष्पन्नं प्रायश्चित्तम्, तृषा वा तिर्यञ्चस्तस्यैव साधोराहननाऽऽदिना आत्मविराधनां कुर्युः। अनेन हननपदं व्याख्यातम्।

"अगणिदियासे अन्नकयेणं (२५६)" इति पदद्वयं व्याख्यति-

अतरे पत्ते मो चं-व मग्गो अपरिक्खहरियाऽऽदी।
ओवरे कूड मगरा, जइ घुंटे तसे य कुहओ वि ॥२५८॥

अथ तृषाभिभूतास्ते ग्रामादय अतटेनाऽऽरोहेण वाऽवतरेयुः, छिन्नटङ्के वाऽवपातं दद्युः, ततः परितापनाऽऽदिनिष्पन्ना शोधाऽऽरोपणा। अथ वा स पथाऽऽभिलषितो मार्गः प्रवर्तते, तत्र चापरिक्षुण्णेन वा कण्टेन गच्छन्तो हरिताऽऽदीनां छेदनं कुर्युः, तत्र तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। एतेन छेदनपदं व्याख्यातम्। (ओवरग त्ति) गर्ता, तत्र प्रपतेयुः, तीर्थे वा केनचित् कूटं स्थापितं भवेत् तेन कूटेन बद्धा विनाशमश्नुवते। एतेनापि छेदनपदं व्याख्यातम्। उदकेन वा जलमवतीर्णा मकराऽऽदिभिः कवलीक्रियन्ते। अन्यतीर्थेनावतीर्णेन वा साधुनिमित्तमवतीर्णास्तु समीपवर्तिनि अप्काये यावतः घुण्टान् कुर्वन्ति तावन्ति चतुर्लघूनि। (तसे य त्ति) अचित्ते अप्काये यदि द्वीन्द्रियमश्नाति ततः षड्लघुकं, चतुरिन्द्रिये छेदः, पञ्चेन्द्रिये एकस्मिन् मूलं, द्वयोरनवस्थाप्यम्, त्रिषु पञ्चेन्द्रियेषु पाराञ्चिकम्। (दुहओ वि त्ति) यत्राप्कायोऽपि, सचित्तद्वीन्द्रियाऽऽदयश्च त्रसास्तत्र द्वाभ्यामप्कायत्रसविराधनाभ्यां निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। सर्वत्रापि च द्वीन्द्रियेषु षट्सु त्रीन्द्रियेषु ......(?) चतुरिन्द्रियेषु चतुर्षु पञ्चेन्द्रियेषु त्रिषु पाराञ्चिकम्। एते तावदारण्यकतिर्यक्समुत्था दोषा उक्ताः।

अथ ग्रामेयकतिर्यङ्मनुष्यान् दोषानुपदर्शयति-

गामेयकुच्छियाऽकु-च्छिया य एक्केक दुट्ठऽदुट्ठा य।
दुट्ठा जह आरन्ना, दुगुंछियऽदुगुंछिया नेया ॥ २५९ ॥

ते ग्रामेयकास्तिर्यञ्चो द्विविधाः-कुत्सिता जुगुप्सिताः, अकुत्सिता अजुगुप्सिताः, ते द्वयेऽपि यथा आरण्यकाः तथैव दोषानाश्रित्य ज्ञेयाः, जुगुप्सिताः साधुना गर्दभाऽऽदयः, अजुगुप्सिता गवाऽऽदयः। पुनरेकैके द्विविधाः-दुष्टा अदुष्टाश्च। तत्र ये जुगुप्सिता अजुगुप्सिता दुष्टाः ते द्वयेऽपि यथा आरण्यकास्तथैव दोषानाश्रित्य ज्ञेयाः। ये अजुगुप्सिता अदुष्टास्तेष्वपि यथासंभवं दोषा उपयुज्य वक्तव्याः।

यत्पुनः जुगुप्सिता अदुष्टास्तेषु दोषानाह-

जुत्तिकरदोसे कु-च्छियपडिणीयओभे गिण्हणाऽऽदीया।
आरन्नमणुयथीसु वि, ते चेव नियत्तणाऽऽईया ॥२६०॥

येन साधुना महाशब्दिका, या जुगुप्सिता तिरश्ची-गृहस्थकाले भुक्ता, तस्य तां दृष्ट्वा स्मृतिः, इतरस्य कौतुकम्, एवं भुक्ताभुक्तसमुत्था दोषा भवन्ति। अथवा तासु जुगुप्सितासु तिरश्चीसु पार्श्ववर्तिनीषु प्रत्यनीकः कोऽपि (ओभ त्ति) अभ्याख्यानं दद्यात्-"मयैष श्रमणको महाशब्दिकां प्रतिसेवमानो दृष्टः।" इति। तत्र ग्रहणाऽऽकर्षणप्रभृतयो दोषाः। एवं ग्रामेयकाऽऽरण्यकेषु तिर्यक्षु दोषा उपदर्शिताः। अथ मनुष्येष्वभिधीयते-(आरन्न इत्यादि) मनुष्या द्विविधाः-आरण्यकाः, ग्रामेयकाश्च। तत्राऽऽरण्यकेषु पुरुषेषु त एव दोषाः, स्त्रीष्वप्यारण्यकासु त एव निवर्तनान्तरायाऽऽदयो दोषाः।

एते चान्ये अत्यधिकाः-

पायं अपाउयाओ, सवराईओ तहेव निच्छेका।
आरियपुरिसकुतूहल, आउजय पुलिंद आसु वहे ॥२६१॥

प्रायो बाहुल्येन शबरीप्रभृतय आरण्यका अनार्यस्त्रियोऽप्रावृता वस्त्रविरहिता निश्छेका निर्लज्जाश्च भवन्ति, ततः साधुं दृष्ट्वा आर्योऽयं पुरुष इति कृत्वा कौतूहलेन तत्राऽऽगच्छेयुः, ताश्च दृष्ट्वा साधोरात्मपरोभयसमुत्था दोषा भवेयुः। तदीयपुलिन्दश्च तां साधुसमीपाऽऽगतां विलोक्य ईर्ष्यान्तरेण प्रेरितः साधोः, पुलिन्द्याः, उभयस्य वा आशु शीघ्रं वधं कुर्यात्।

थीपुरिसअणायारे, खोभो सागारियं ति वा पहणे।
गामित्थीपुरिसेहि वि, तच्चिय दोसा इमे अन्ने ॥२६२॥

अथवा स पुलिन्दः पुलिन्द्या सहानाचारमाचरेत्, ततः स्त्रीपुरुषानाचारे दृष्टे चित्तक्षोभो भवेत्, कूजिते च चित्ते प्रतिगमनाऽऽदयो दोषाः। यद्वा-स पुलिन्दस्तां प्रतिसेवितुकामः सागारिकमिति कृत्वा तं साधुं प्रहरयात्। एते आरण्यकेषु स्त्रीपुरुषेषु दोषा उक्ताः। ग्रामेयकस्त्रीपुरुषेष्वपि त एव दोषाः। एते चाऽन्येऽधिका भवन्ति-

चंकमणं निल्लेवण, चिट्ठित्ता तम्मि चेवमाईयं तु।
अत्थंते संकापद, मज्जण दट्ठुं सतीकरणं ॥ २६३ ॥

चङ्क्रमणं, निर्लेपनं वा तत्र गृहस्थः कर्तुकामोऽपि साधुं दृष्ट्वा कश्चिदन्यत्र गत्वा करोति, कश्चित्तु तत्रैव तीर्थे साधुसमीपे गत्वा करोति, तथा (चिट्ठित्त त्ति) कश्चिद् गृहस्थः साधुना सह गोष्ठीनिमित्तं तत्रैव स्थित्वा पश्चादन्यत्र गच्छति, एवमधिकं भवेत्। तथा दकतीरे तिष्ठति साधौ शङ्कापदं वक्ष्यमाणलक्षणमगारिणां जायते, मज्जनं च विधीयमानं दृष्ट्वा स्मृतिकरणं भुक्तभोगिनाम्, उपलक्षणत्वात् अभुक्तभोगिनां कौतुकमुपजायते।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां विवृणोति-

अन्नत्थ व चंकम्मति, आयमणऽन्नत्थ वा वि वोसिरइ।
कोनाली चंकमणे, परकूलातो वि तत्थेइ ॥ २६४ ॥

कश्चिद्दकतीरे चङ्क्रमणं करिष्यामीति भुक्तभोगिनामुपलक्षणत्वादभुक्तभोगिनां च कौतुकाभिप्रायेणाऽऽयातः साधुं दृष्ट्वा ततः स्थानादन्यत्र चङ्क्रम्यते। वाशब्दात् कश्चिदन्यत्र चङ्क्र-

क्रममाणं साधुं विलोक्य तत्राऽऽगत्य चङ्क्रम्यते । एवमाचमनं निर्लेपनं तत्कर्तुकामः,संज्ञां वा व्युत्स्रष्टुकामः साधुं दृष्ट्वा अन्यत्र गत्वा, अन्यतो वा तत्राऽऽगत्य निर्लेपयति, व्युत्सृजति वा । तथा कश्चिदगारो गन्तुकामोऽपरकूले चङ्क्रम्यमाणं साधुं निरीक्ष्य (कोनाश्चि त्ति) गोष्ठी, तां साधुना सह करिष्यामीति मत्वा तदर्थं चङ्क्रमणं कर्तुं परकूलादपि तत्राऽऽगच्छति,मनन्त्र साधुनिमित्तमागच्छन्नागतास्तिष्ठति च षट्कायान् विराधयेत् ।

" अत्थंते संकापयं (२६३) " इत्यत्राऽऽह-

दगमेहुणसंकाए, लहुगा गुरुगा उ मूल निस्संके ।
दगतूरकोंचवीरग-पघंसकेसादलंकारे ॥ २६५ ॥

साधुं दकतीरे तिष्ठन्तं दृष्ट्वा कश्चिदगारः शङ्कां कुर्यात्-किमेष उदकपानार्थं तिष्ठति, उत मैथुने दत्तसंकेतां काञ्चिदागच्छन्तीं प्रतीक्षते । तत्रोदकपानशङ्कायां चतुर्लघु, मैथुनाऽऽशङ्कायां चतुर्गुरु, निःशङ्किते मूलम् । "मज्जण दहं सतीकरणं (२६३) " इति पदं व्याख्यायते । कोऽपि मज्जनं कुर्वंस्तथा कथञ्चिज्जलमास्फालयति यथा दकतूर्यमुदके मुरजाऽऽदितूर्याणां शब्दो भवति । यद्वा-कोऽपि क्रौञ्चवीरकेण जलमाहिण्डते,क्रौञ्चवीरको नाम-पेटासदृशो जलयानविशेषः। (पघंस त्ति) स्नात्वा पटवासाऽऽदिभिः स्वशरीरं कोऽपि प्रघर्षति । यद्वा-(केसादलंकारे त्ति) केशवलमालाऽऽभरणालङ्कारैरात्मानमलङ्करोति, एतद् मज्जनाऽऽदिकं दृष्ट्वा भुक्ताभुक्तसमुत्थाः स्मृत्यादयो दोषाः । एवं पुरुषेषु भणिताः ।

अथ स्त्रीदोषान् दर्शयति-

मज्जणवहणट्ठाणे-सु अत्थते इत्थिणं ति गहणाऽऽदी ।
एमेव कुच्छिनेतर-इत्थी सविसेस मिहुणेसु ॥ २६६ ॥

सपरिग्रहस्त्रीणां वसन्ताऽऽदिपर्वणि, अन्यत्र वा या जलक्रीडा, यद्वा सामान्यतो मलदाहोपशमनार्थं स्नानं, तन्मज्जनमुच्यते । तेषु जलवहनस्थानेषु स्त्रीणां संबन्धिषु तिष्ठन्तं तं दृष्ट्वा तदीयो ज्ञातिवर्गश्चिन्तयति-अस्मदीयस्त्रीणां मज्जनाऽऽदिस्थाने एष श्रमणः परिजनेन कामयमानो वा तिष्ठति, ततो दुष्टशील इति कृत्वा ग्रहणाऽऽकर्षणाऽऽदीनि कुर्यात् । याः पुनरपि गृहस्त्रियस्ताः कुत्सिता रजकयादयः, इतरा अकुत्सिता ब्राह्मण्यादयः, तत्र च एवमेवाऽऽत्मपरोभयसमुत्थाऽऽदयो दोषाः । मिथुनेषु स्त्रीपुरुषेषु मैथुनक्रीडया रममाणेषु सविशेषतरा दोषा भवन्ति । ये च चङ्क्रमणाऽऽदयो दोषाः पूर्वमुक्तास्तेऽप्यत्र तथैव द्रष्टव्याः । यत एते दोषा अतो दकतीरे अमूनि सूत्रोक्ताऽऽदीनि न कुर्यात् ।

चिट्ठणयनिसीयणया, तुयट्ट निद्दा य पयल सज्झाए ।
झाणाऽऽहारवियारे, काउस्सग्गे य मासलहुं ॥ २६७ ॥

स्थाने १ निषदने २ त्वग्वर्तने ३ निद्रायां ४ प्रचलायां ५ स्वाध्याये ६ ध्याने ७ आहारे ८ विचारे ९ कायोत्सर्गे चेति १० दशसु पदेषु दकतीरे विधीयमानेषु प्रत्येकं मासलघुः अस्मसामाचारीनिष्पन्नमिति भावः । (बृ०) (निद्रास्वरूपं ' णिद्दा ' शब्दे तथा-निद्रानिद्रास्वरूपं च ' णिद्दाणिद्दा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०७२ पृष्ठे द्रष्टव्यम) (प्रचलास्वरूपं ' पयला ' शब्दे वक्ष्यते, प्रचलाप्रचलास्वरूपं च ' पयलापयला ' शब्दे वक्ष्यते)

अथ विस्तरतः प्रायश्चित्तं वर्णयितुकाम आह-

संपाइमे असंपा-इमे य दिट्ठे तहेव अदिट्ठे ।

पणगं लहु गुरु लहुगा,गुरुग अहालंदपोरिसी अहिया २६९

दकतीरे संपातिमे असंपातिमे वा उभयस्मिन्नपि वक्ष्यमाणलक्षणे दृष्टोऽदृष्टो वा तिष्ठति, कियन्तं पुनः कालमित्याह-यथालन्दपौरुषीम् । तत्र यथालन्दं त्रिधा-जघन्यं, मध्यमम्, उत्कृष्टं वा । तत्र तरुणस्त्रिया उदकार्द्रः करो यावता कालेन शुष्यति तज्जघन्यम्, उत्कृष्टं पूर्वकोटीप्रमाणम् । तयोरपान्तराले सर्वमपि मध्यमम् । तत्र जघन्येन यथालन्देनाधिकारः । एवं यथालन्दाऽऽदिभेदात्त्रिविधं कालं दकतीरे तिष्ठतः पञ्चकं लघुका ………(?) गुरुकाश्चत्वारो मासाः प्रायश्चित्तम् । एतदुपरिष्टाद्व्यक्तीकरिष्यते ।

अथ संपातिमासंपातिमपदे व्याख्याति-

जलजा तु असंपाती, संपातिम सेसगा उ पंचिंदी ।
अहवा मोत्तु विहंगे, होंति असंपातिमा सेसा ॥ २७० ॥

जलजा मत्स्यमण्डूकाऽऽदयः, तेऽसंपातिमाः, तैर्युक्तं दकतीरमप्यसंपातिमम् । शेषाः पञ्चेन्द्रियस्थलचराः खचरा वा येऽन्तरादागत्य संपतन्ति ते संपातिमाः,तैर्युक्तं तत्संपातिमम् । अथवा-विहङ्गाः पक्षिणो यत्राऽऽगत्य संपतन्ति तत्संपातिमम्, तान् मुक्त्वा शेषाः स्थलचरा जलचरा वा सर्वेऽप्यसंपातिमाः, तद्युक्तं दकतीरमसंपातिमम् ।

अथ पूर्वोक्तं प्रायश्चित्तं व्यक्तीकुर्वन्नाह-

असंपाइ अहालं-दे अदिट्ठे पंच दिट्ठि मासो उ ।
पोरिसि अदिट्ठि दिट्ठे, लहुगुरु अहिगुरुगलहुआओ ॥ २७१ ॥

असंपातिमे दकतीरे जघन्यं यथालन्दमदृष्टस्तिष्ठति पञ्चरात्रिन्दिवानि, दृष्टस्तिष्ठति मासलघु, असंपातिमे पौरुषीमदृष्टस्तिष्ठति मासलघु, दृष्टस्तिष्ठति मासगुरु, अधिकां पौरुषीमदृष्टस्तिष्ठति मासगुरु, दृष्टस्तिष्ठति चतुर्लघु । एतदसंपातिमे भणितम् ।

संपाइमे वि एवं, मासादी नवरि ठाइ चउगुरुए ।
भिक्खूवसभायरिए, तवकालविसेसिया अहवा ॥ २७२ ॥

संपातिमेऽप्येवमेवाऽऽलापकास्तथा प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम्, नवरं लघुमासादारभ्य चतुर्गुरुके तिष्ठति एतद्दोषतः प्रायश्चित्तमुक्तम् । अथवा-एतान्येव भिक्षुवृषभाभिषेकाऽऽचार्याणां तपःकालविशेषितानि भवन्ति । तथाहि-पूर्वोक्तं सर्वमपि प्रायश्चित्तं भिक्षोस्तपसा कालेन च लघुकम्, वृषभस्य कालगुरु तपोलघु, अभिषेकस्य तपोगुरु काललघु, आचार्यस्य तपसा कालेन च गुरुकम् । अत्र चाभिषेकपदं गाथायामनुक्तमपि 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति न्यायात्प्रतिपत्तव्यम् । एष द्वितीय आदेशः ।

अहवा भिक्खुस्सेवं, वसभे लहुगाइ ठाइ छल्लहुए ।
अभिसेगे गुरुगादी, छग्गुरुलहुछेद (?) आयरिए ॥ २७३ ॥

अथ यदेतत्प्रायश्चित्तमुक्तं तद्भिक्षोर्द्रष्टव्यम् । वृषभस्य तु मासलघुकादारभ्य षड्लघुके तिष्ठति, तत्रासंपातिमे यथालन्दपौरुषीमधिकपौरुषीषु दृष्टादृष्टयोर्मासलघुकादारभ्य चतुर्गुरुके तिष्ठति, संपातिमे एतेष्वेव स्थानेषु मासगुरुकादारभ्य षड्लघुके पर्यवस्यति । अभिषेकस्योपाध्यायस्य असंपातिमे मासगुरुकादारभ्य षड्लघुके तिष्ठति, संपातिमे चतुर्लघुकादारभ्य षड्गुरुके तिष्ठति, आचार्यस्य च-

तुर्लघुकादारभ्य षड्गुरुके तिष्ठति, संपातिमे चतुर्गुरुकादारभ्य छेदे निष्ठामुपगच्छति । एष तृतीय आदेशः ।

अथ चतुर्थमादेशमाह–

अहवा पंचण्हं सं-जईण समणाण चेव पंचण्हं ।
पणगादी आरद्धं, नेयव्वं जाव चरिमपदं ॥२७४॥

अथवा क्षुल्लकाऽऽदिभेदात् पञ्चानां संयतीनां, श्रमणानां चैव पञ्चानां पञ्चकाऽऽदेरारब्धं प्रायश्चित्तं तावन्नेतव्यं यावच्चरमपदं पाराञ्चिकम् ।

एतदेव सविशेषमाह–

संजइ संजय तह सं-पऽसंप अहलंदपोरिसीअहिया ।
चिट्ठाई अदिट्ठे, दिट्ठे पणगाइ जा चरिमं ॥ २७५ ॥

संयत्यः-क्षुल्लिका, स्थविरा, भिक्षुणी, अभिषेका, प्रवर्तिनी चेति पञ्चविधाः, संयता अपि क्षुल्लकस्थविरभिक्षूपाध्यायाऽऽचार्यभेदात् पञ्चधा । (संपऽसंप त्ति) सूचकत्वात् सूत्रस्य संपातिममसंपातिमं वा दकतीरं यथालन्दपौरुष्यधिकपौरुषीलक्षणं कालत्रयं, स्थाननिषदनाऽऽदीनि च दशपदानि, अदृष्टे दृष्टे चेति पदद्वयम्, एतेषु पदेषु पञ्चकाऽऽदिकं चरमप्रायश्चित्तं यावन्नेतव्यम् ।

कियन्ति पुनः प्रायश्चित्तस्थानानि भवन्तीति दर्शयति–

पण दस पनरस वीसा, पणवीसा मास चउरो छच्चेव ।
लहु गुरुगा सव्वेते, छेदो मूलं दुगं चेव ॥ २७६ ॥

पञ्चरात्रिन्दिवानि, दशरात्रिन्दिवानि, पञ्चदशरात्रिन्दिवानि, विंशतिरात्रिन्दिवानि, पञ्चविंशतिरात्रिन्दिवानि, मासिकं, चत्वारो मासाः, षण्मासाश्च । एतानि सर्वाणि लघुकानि गुरुकाणि च । तद्यथा-लघुकं पञ्चरात्रिन्दिवानि इत्यादि । एतानि षोडश संजातानि । छेदो, मूलं, द्विकं चैव-अनवस्थाप्यपाराञ्चिकं युगम । एवं विंशतिरात्रिन्दिवानि प्रायश्चित्तस्थानानि भवन्ति ।

अथाऽमीषामेव पदानां चारणिकां कुर्वन्नाह–

पणगाइ असंपाइम, संपाइम दिट्ठमेवऽदिट्ठे य ।
चउगुरुए ठाइ खुड्डी, सेसाणं वुड्ढि एक्केक्कं ॥ २७७ ॥

असंपातिमे यथालन्दमदृष्टा क्षुल्लिका तिष्ठति लघुपञ्चकं, दृष्टा तिष्ठति गुरुपञ्चकं, पौरुषीमदृष्टा तिष्ठति गुरुपञ्चकं, दृष्टा तिष्ठति लघुदशकम, अधिकपौरुषीमदृष्टा तिष्ठति लघुदशकम, दृष्टायां गुरुदशकम् । संपातिमे यथालन्दमदृष्टा तिष्ठति गुरुपञ्चकं, दृष्टा तिष्ठति लघुदशकं, पौरुषीमदृष्टा तिष्ठति लघुदशकं, दृष्टायां गुरुदशकं, समधिकां पौरुषीमदृष्टायां तिष्ठन्त्यां गुरुदशकम, दृष्टायां लघुपञ्चदशकम् । एवमूर्द्ध्वस्थानमाश्रित्योक्तम् । निषीदन्त्यास्तु गुरुकं पञ्चरात्रिन्दिवेभ्यः प्रारभ्य गुरुपञ्चदशरात्रिन्दिवेषु, त्वग्वर्तनं कुर्वन्त्या लघुदशरात्रिन्दिवादारभ्य लघुविंशतिरात्रिन्दिवेषु, एवं निद्रायमाणाया गुरुविंशतिरात्रिन्दिवेषु, उच्चारप्रस्रवणं आचरन्त्या लघुमासे, स्वाध्यायं विदधानाया मासगुरुके, धर्मजागरिकया जाग्रत्याश्चतुर्लघुके, कायोत्सर्गं कुर्वन्त्याश्चतुर्गुरुके इति । एवं क्षुल्लिकायाः प्रायश्चित्तमुक्तम् । शेषाणां तु स्थविराऽऽदीनामेकैकं स्थानमुपरि वर्द्धते, अधस्ताच्च एकैकं स्थानं हीयते । स्थविराया गुरुपञ्चकादारब्धं षड्लघुकं यावत् भिक्षुण्या लघुदशकादारब्धं षड्गुरुकान्तम् । अभिषेकाया गुरुदशकादारब्धं छेदपर्यन्तम् । प्रवर्त्तिन्या लघुपञ्चदशकादारब्धं मूलान्तमवसातव्यम् ।

एतदेवाऽऽह–

छल्लहुए ठाइ थेरी, भिक्खुणि छग्गुरुए छेदे गणिणी तु ।
मूलं पवत्तिणी पुण, जह भिक्खुणि खुड्डए एवं ॥२७८॥

स्थविरा षड्लघुके, भिक्षुणी षड्गुरुके, गणिनी-अभिषेका, सा छेदे, प्रवर्त्तिनी पुनर्मूले तिष्ठतीति । यथा च भिक्षुण्यामेवं क्षुल्लकेऽपि द्रष्टव्यम् । दशभ्यो लघुरात्रिन्दिवेभ्यः षड्गुरुकान्तमसंपातिमाऽऽदिषु प्रायश्चित्तं भवतीत्यर्थः ।

गणिणिसरिसो उ थेरो, पवत्तिणिविज्जागमरिसओ भिक्खू ।
अक्कंती एवं, सपयं मपयं गणिगुरूणं ॥ २७९ ॥

गणिनी अभिषेका, तस्याः सदृशः स्थविरो, यथा अभिषेकायाः गुरुदशकमादौ कृत्वा छेदान्तं भणितं, तथा स्थविरस्यापि भणनीयमिति भावः । प्रवर्त्तिन्याः प्रायश्चित्तविभागेन सदृशो भिक्षुर्भवति, लघुपञ्चदशकात्प्रभृति मूलान्तं प्रायश्चित्तं तस्याऽपि ज्ञेयमिति हृदयम । एवमर्वागेकान्तादधस्तनैकपदहानोपरितनपदैकवृद्ध्यात्मिकया गणी उपाध्यायो, गुरुराचार्यः, तयोरपि स्वपदं स्वपदं यावत्प्रायश्चित्तं नेतव्यम् । तत उपाध्यायस्य गुरुपञ्चदशकमादौ कृत्वा स्वपदमनवस्थाप्यम्, आचार्यस्य लघुविंशतिरात्रिन्दिवादारभ्य स्वपदं पाराञ्चिकं यावद् द्रष्टव्यम ।

एवं तु चिट्ठणाऽऽदिसु, सव्वेसु पदेसु जाव उस्सग्गो ।
पच्छित्ते आदेसा, इक्किक्कयम्मि चत्तारि ॥२८०॥

एवममुना प्रकारेण स्थाननिषदनाऽऽदिषु सर्वेष्वपि पदेषु कायोत्सर्गं यावदेकैकस्मिन् पदे प्रायश्चित्तविषयाश्चत्वार आदेशा भवन्ति । तद्यथा-एकं तावदौघिकं प्रायश्चित्तं, द्वितीयं तदेव तपःकालविशेषितं, तृतीयं छेदान्तम, चतुर्थं चारणिकाप्रायश्चित्तम । गतं दकतीरद्वारम् ।

अथ यूपकस्यावसरः, तमेवाभिधित्सुराह–

संकमे जूवे अचले, चले य लहुगो य हुंति लहुगा य ।
तम्मि वि सो चेव गमो, णवरि गिलाणे इमं होइ ॥२८१॥

यूपकं नाम सेतुरथवा जलमध्यवर्त्ति तटं, तत्र देवकुलिका गृहं वा भवेत्, तत्र वसति गृह्णतश्चतुर्लघुकाः । तत्र यूपं संक्रमेण वा गम्येत, जलेन वा । संक्रमो द्विविधः-चलोऽचलश्च । अचलेन गच्छतो मासलघु । चलो द्विविधः-सप्रत्यपायः, निष्प्रत्यपायश्च । निष्प्रत्यपायेन गच्छतश्चतुर्गुरुकं भवति । सप्रत्यपायेन व्रजतश्चत्वारो लघुकाः । तस्मिन्नपि यूपके, स एव गमः सा वक्तव्यता या दकतीरे भणिता । "अहिगरणमंतराए" (२५५) इत्यारभ्य यावदेकैकस्मिन् पदे चत्वार आदेशा इति । नवरं ग्लानं प्रतीत्य इदमभ्यधिकं दोषजालं भवति–

दट्ठूण य सइकरणं, ओभासण विराहिए य आइयणं ।
परितावण चउलहुगा, अकप्प पडिसेव मूल दुगं ॥२८२॥

ग्लानस्य तदुदकं दृष्ट्वा स्मृतिकरणमीदृशी स्मृतिरुत्पद्यते-पिबाम्यहमुदकम् । ततो सोऽवभाषणं करोति, यदि दीयते ततः संयमविराधना, अथ न दीयते, ततो ग्लानः परितापितः । विरहिते च कारणतः साधुभिः प्रतिश्रये उदकस्याऽऽपानं कुर्यात्, यदि स्वलिङ्गेनाऽऽपिबति ततश्चतुर्लघुकम्, अथ (दुगं ति) स्वलिङ्गं, गृहिलिङ्गं च, तेनाऽकल्प्यमप्कायं प्रतिसेवते ततो मूलं, तेन चापथ्यतानागाढपरितापनाऽऽदयो दोषाः, तन्निष्पन्नमाचार्यस्य प्रायश्चित्तम ।

अथवा-(अकप्पं पडिसेव मूलदुगं ति) अकल्प्यं प्रतिसेव्य भग्नव्रतोऽहमिति कृत्वा यद्येको ग्लानोऽवधावते तत आचार्यस्य मूलं, द्वयोरनवस्थाप्यं, त्रिषु पाराञ्चिकम्।

आउक्काए लहुगा, पूतरगादीतसेसु जा चरिमं ।
जे गेलन्ने दोसा, भिड्डुलनं सेहे ते चेव ॥ २८३ ॥

अप्काये प्रतिसेविते चतुर्लघुकाः, पूतरकाऽऽदित्रसेषु चरमं पाराञ्चिकं यावत्सेतव्यम्। तत्र पूतरकाऽऽदिषु द्वीन्द्रियेषु षड्लघुकम्, त्रीन्द्रियेषु षड्गुरुकम्, चतुरिन्द्रियेषु छेदः, पञ्चेन्द्रिये मत्स्याऽऽदौ उदकेन सह गिलिते एकस्मिन् मूलं, द्वयोरनवस्थाप्यं, त्रिषु पाराञ्चिकम्, ये च ग्लान्ये ग्लानस्य स्मृतिकरणाऽऽदयो दोषा उक्ताः, धृतिदुर्बले मन्दाऽऽश्रये शैक्षे त एव द्रष्टव्याः। गतं यूपकद्वारम्।

अथ तापनाद्वारमाह निर्युक्तिकारः-

आयावण तह चेव य, नवरि इमं तत्थ होइ नाणत्तं ।
मज्जण सिंचण परिणा-म विक्ति तह देवया पंता ॥ २८४ ॥

ये दकतीरे अधिकरणान्तरायाऽऽदयो दोषा उक्ताः, ते यथासंभवं दकतीरे इव, यूपके इव वा आतापनां कुर्वतः तथैव भणितव्याः, नवरमिदं नानात्वं विशेषो भवति- तत्राऽऽतापयतो मज्जनं वा सिञ्चनं वा कश्चित्कुर्यात्, परिणामो वा तस्य स्नानाऽऽदिविषयो भवेत्, वृत्तिर्वा जीविका मण्डूकानां व्यवच्छिद्येत, प्रान्ता वा देवता लोकेनाऽपूज्यमाना साधोरुपसर्गं कुर्यात्।

तत्र मज्जनसिञ्चनपरिणामद्वाराणि व्याख्यानयति-

मज्जंति व सिंचंति व, पडिणीयऽणुकंपया व णं केइ ।
तण्हुण्हपरिगयस्स व, परिणामो ण्हाणपियणेसु ॥ २८५ ॥

णमिति तमातापकं प्रत्यनीकतया, अनुकम्पया वा केचिन्मज्जयन्ति वा स्नपयन्ति, सिञ्चन्ति वा भृङ्गारादिभिरञ्जलीभिर्वा निर्वापयन्ति। यद्वा-तस्याऽऽतापकस्य तृषितोऽहमित्येवं तृष्णापरिगतस्य, घर्माभिभूतमात्रोऽहमित्येवमुष्णपरिगतस्य वा स्नानपानयोः परिणामः संजायते।

वृत्तिद्वारं, प्रान्तदेवताद्वारं चाऽऽह-

आउट्टजणो मरुगा-ण अदाणे खीरितिरिक्ख छोन्नाऽऽदी ।
पच्चक्खदेवपूयण, खरियावरणं च खित्ताऽऽई ॥ २८६ ॥

तस्य तापनया आवृत्तो जनो मरुकानां दानं ददाति, न तत्तेषामदाने, खरी छुच्छुरिका, तिरश्ची महाशब्दिकाप्रभृतिका, तद्विषयं सांभाव्याख्यानद्वन्द्वाऽऽदयो दोषा भवेयुः। तथा प्रत्यक्षदेवता इयमिति कृत्वा तस्य साधोः पूजनं, देवतायाश्च अपूजनम्, ततः (खरियावरणं ति) संयतवेषमावृत्य तत्प्रतिरूपं कृत्वा छुच्छुरिकां प्रतिसेवमानां देवता दर्शयेत्। क्षिप्तचित्ताऽऽदिकं वा तं श्रमणं सा देवता कुर्यादिति।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां स्पष्टयति-

आयावण साहुस्सा, अणुकंपं तस्स कुणइ गामो उ ।
मरुयाणं च पओसो, पडणीयाणं च संका तु ॥ २८७ ॥

तस्य साधोर्दकतीरे आतापनां कुर्वतो ग्रामजनः सर्वोऽप्यावृत्तः, ततश्चानुकम्पां तस्य करोति, पारणादिवसे भक्ताऽऽदिकं सविशेषं तस्य ददातीत्यर्थः; अयं प्रत्यक्षदेवः, किमस्माकमन्येषां मरुकाऽऽदीनां दत्तेन, एतस्य दत्तं बहुफलं भवतीति कृत्वा। ततो मरुकाणामदीयमाने प्रद्वेषः संजातः, ततस्ते छुच्छुरिकामहाशब्दिकाऽऽदिविषयमयशः प्रवदेयुः; अथैव संयतोऽस्माभिश्छुच्छुरिकां महाशब्दिकां वा प्रतिसेवमानो दृष्ट इति। तत्र ये प्रत्यनीकास्तेषां शङ्का भवति। तत्र च गुरुकाः, निःशङ्किते मूलम्। अथवा ये प्रत्यनीकास्ते शङ्कन्ते-कस्मादेष तीर्थस्थाने आतापयति, किं स्तैन्यार्थीति। गतं वृत्तिद्वारम्। अथ "पच्चक्खदेव (२८६)" इत्यादि पश्चार्द्धं भाव्यते-यत्राऽऽसावातापयति तत्र प्रत्यासन्ना देवता वर्तते, तस्या लोकः सर्वोऽपि पूर्वं पूजापर आसीत्, तं च साधुं तत्राऽऽतापयन्तं दृष्ट्वा अयं प्रत्यक्षदेवतामिति कृत्वा लोकः संपूजयितुं लग्नः, ततः सा देवता अपूज्यमाना प्रद्विष्टा सती छुच्छुरिकाऽऽद्यभ्याख्यानं दद्यात्। अथवा-साधुरूपमावृत्य तत्प्रतिरूपं कृत्वा छुच्छुरिकां तिरश्चीं वा प्रतिसेवमानं दर्शयेत्, क्षिप्तचित्तं वा कुर्यात्, अपरां च अकल्प्यप्रतिसेवनाऽऽदिकामाकृतिं दर्शयेत्, यस्मादियन्तो दोषास्तस्माद्दकतीरे यूपके वा न स्थानाऽऽदीनि पदानि कुर्यात्।

अथ कुर्यादपि, कथमित्याह-

पढमे गिलाणकारणे, बीए वसहीए असइए वसई ।
राइणियकज्जकारणे, ततिए बितियपद जतणाए ॥ २८८ ॥

प्रथमं दकतीरं, तत्र ग्लानकारणात् तिष्ठेत्, द्वितीयं यूपकं, तत्र निर्दोषाया वसतेरसत्यभावे वसति तिष्ठति, तृतीयमातापनापदं, तत्र राजिको राजा, तदायत्तं यत् कुलगणसङ्घकार्यं, तत्कारणं तिष्ठेत्। एवं त्रिष्वपि दकतीराऽऽदिषु यतनया वक्ष्यमाणलक्षणया द्वितीयपदं तत्रावस्थानलक्षणं सेवेत।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां भावयति-

विज्जस्सवियऽट्ठयाए, निज्जंतो गिलाणो अमति वसहीए ।
जोग्गाए वा असती, चिट्ठे दगतीर णोतारे ॥ २८९ ॥

ग्लाने वैद्यस्य समीपं नीयमाने, द्रव्यमौषधं तदर्थं वा अन्यत्र नीयमानेऽन्यत्र वसतेरभावे दकतीरेऽपि तिष्ठेत्। अथवा विद्यते वसतिः परं न ग्लानयोग्या, ग्लानयोग्यवसतेरसति तत्र वसेत्। अथवा-विश्रमणार्थं दकतीरे मुहूर्तमात्रं ग्लानोऽवतिष्ठेत्, तमपि मनुष्यतिरश्चामनवतारे अपायगमार्गेऽवतारयेत्।

तत्र च स्थितानामियं यतना-

उदगंतेण चिलिमिली, पडियरए मोत्तु सेस अन्नत्थ ।
पडियर पडिसंलीणा, करेंति सव्वाणि वि पदाणि ॥ २९० ॥

उदकं येनान्तेन पार्श्वेन भवति ततश्चिलिमिली काष्ठको वा दीयते, ये च ग्लानस्य प्रतिचरकास्तान् मुक्त्वा शेषाः सर्वेऽप्यन्यत्र तिष्ठन्ति, प्रतिचरका अपि प्रतिसंलीनास्तथा तिष्ठन्ति यथा संपातिमसत्त्वानां संत्रासो न भवति, एवं सर्वाण्यपि स्थाननिषदनाऽऽदीनि पदानि कुर्यात्। गता दकतीरयतना। बृ० १ उ०।

दगतुंड-दकतुण्ड-पुं०। पक्षिभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

दगतूर-उदकतूर्य-न०। उदके मुखाऽऽदितूर्याणां शब्दे, बृ० १ उ०।

दगथालग-दकस्थालक-पुं०। कंसाऽऽदिमये उदकभृतभाजने, रा०।

दगपंचवस्र–दकपञ्चवर्ण–पुं० । अष्टाशीतिमहाग्रहाणां चतुस्त्रिंशत्तमे स्वनामख्याते ग्रहे, स्था० । 'दो दगपंचवस्रा ।' स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० ।

दगपासाय–दकप्रासाद–पुं० । स्फटिकप्रासादे, जं० १ वक्ष० ।

दगपिप्पली–उदकपिप्पली–स्त्री० । हरितवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दगफासिया–दकस्पर्शिका–स्त्री० । अवश्याये, कल्प० ६ क्षण ।

दगवाह–दकवाह–पुं० । उदकमार्गे, नि० चू० ८ उ० ।

दगभवण–उदकभवन–न० । जलगृहे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० ।

दगभास–दकाभास–पुं० । शिवकस्य वेलन्धरनागराजस्य आवासपर्वते, स० ७७ सम० ।

दगमंचग–दकमञ्चक–पुं० । स्फटिकमञ्चके, जं० १ वक्ष० । जी० ।

दगमंडग–दकमण्डप–पुं० । स्फाटिके मण्डपे, रा० ।

दगमंडव–उदकमण्डप–पुं० । न० । उदकक्षरणयुक्ते मण्डपे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

दगमंडवग–दकमण्डपक–पुं० । न० । स्फटिकमण्डपके, जं० १ वक्ष० । जी० । उदकक्षरणयुक्ते मण्डपे, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

दगमग्ग–उदकमार्ग–पुं० । उदकवाहे, नि० चू० ८ उ० ।

दगमट्टिआ–उदकमृत्तिका–स्त्री० । उदकप्रधानायां मृत्तिकायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० १ उ० । अचिरापूकायाऽऽर्द्रीकृतमृत्तिकायाम्, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । दशा० । अनुपहतभूमौ चिक्खल्ले, ध० । दकमप्कायो, मृत्तिका पृथ्वीकायः, तयोर्द्वन्द्वे, ध० २ अधि० । आ० चू० । आव० । सचित्ते मिश्रे च कर्दमे, बृ० ४ उ० । दकसंयुक्ता मृत्तिका, विवेकद्रव्यप्रयोगपूर्विका ताम्रवेचनकलाऽप्युपचाराद्दकमृत्तिका । तस्यां द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गतायां पञ्चदश्यां कलायाम्, जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । स० ।

दगमट्टिआयाण–उदकमृत्तिकाऽऽदान–न० । आदीयते अनेनेत्यादानो मार्गः । उदकमृत्तिकाऽऽदानमार्गे, दश० ५ अ० १ उ० ।

दगमट्टिया–उदकमृत्तिका–स्त्री० । 'दगमट्टिआ' शब्दार्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

दगमालग–दकमालक–न० । स्फटिकमालके, जं० १ वक्ष० । जी० ।

दगरक्खस–उदकराक्षस–पुं० । जलमानुषाऽऽकृतौ जलचरविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

दगरय–उदकरजस्–न० । विन्दुमात्रे, कल्प० ९ क्षण । पानीयकणिकायाम्, जी० ३ प्रति० ४ उ० । बृ० । औ० । जं० । रा० । आ० म० । कल्प० । प्रज्ञा० । उदकरेणौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दगलेव–दकलेप–पुं० । नाभिप्रमाणजलावतरणे, स्था० ५ ठा० २ उ० । आव० ।

दगवस्र–दकवर्ण–पुं० । अष्टाशीतिमहाग्रहाणां चतुस्त्रिंशत्तमे ग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० । पञ्चत्रिंशत्तमे च ग्रहे, चं० प्र० २० पाहु० ।

दगवारग–उदकवारक–पुं० । लघुपानीयघटे, बृ० १ उ० । रा० । गडुके, नि० चू० १२ उ० । जी० ।

दगवीणिया–दकवीणिका–दकस्य वीणिका दकवीणिका । उदकवाहे, नि० चू० १ उ० ।

दगसंघट्ट–दकसङ्घट्ट–न० । अर्द्धजङ्घाप्रमाणं यावदुत्तुपतार्यं जलं तादृशे क्षेत्रे, नि० चू० १० उ० । कल्प० ।

दगसंसट्ठहडा–उदकसंसृष्टाहृता–स्त्री० । उदकसंबन्धाऽऽनीतायां हस्तमात्रगतोदकसंसृष्टायां परिष्ठापनायाम्, आव० ४ अ० ।

दगसत्तघाइ(ण्)–दकसत्त्वघातिन्–पुं० । जलप्राणिहिंसके, सूत्र० टीपि० १ श्रु० ७ अ० ।

दगसीम–उदकसीमन्–पुं० । मनःशिलाकस्य वेलन्धरनागराजस्याऽऽवासपर्वते, स० ८७ सम० । जी० ।

दगसोकरिग–दगसौकरिक–पुं० । परिव्राजके, बृ० १ उ० ।

दगाभास–दकाभास–पुं० । 'दगभास' शब्दार्थे, स० ७७ सम० ।

दगाहरण–उदकाऽऽहरण–न० । उदकमाह्रियते येन तदुदकाऽऽहरणम् । कुटवर्द्धनिकाऽऽदौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

दच्चा–दत्त्वा–अव्य० । दानं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० । दश० ।

दच्छ–दक्ष–त्रि० । अच् । "छोऽक्ष्यादौ" ॥८।२।१७॥ इति संयुक्तस्य छः । प्रा० २ पाद । निपुणे, वाच० । तीक्ष्णे, दे० ना० ५ वर्ग ३३ गाथा । (निरूपितमस्य सर्वं 'दक्ख' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४४० पृष्ठे)

दज्झ–दग्ध–त्रि० । दह–क्तः । भस्मीकृते कथूणे, न० । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दट्ठ–दृष्ट–न० । दृश–क्तः । "दृशस्तेन ठः" ॥८।४।२१३॥ दृशोऽन्त्यस्य तकारेण सह द्विरुक्तष्ठकारो भवति । इति ठकाराऽऽदेशः । 'दट्ठं ।' प्रा० ढुं० ४ पाद । "दट्ठव्वं ।" "दट्ठूण ।" प्रा० ४ पाद । स्वपरचक्रभये वीक्षिते, लौकिके च । वाच० ।

दट्ठंतिय–दार्ष्टान्तिक–त्रि० । दृष्टान्तपरिच्छेद्ये, आव० ४ अ० ।

दट्ठव्व–द्रष्टव्य–त्रि० । अवगन्तव्ये, पञ्चा० ४ विव० ।

दट्ठूण–दृष्ट्वा–अव्य० । "क्त्वस्तुमत्तूणतुआणाः" ॥८।२।१४६॥ इति क्त्वाप्रत्ययस्य तूणाऽऽदेशः । प्रा० २ पाद । चक्षुषा उपलभ्येत्यर्थे, पञ्चा० २ विव० । प्रश्न० । नि० चू० ।

दडवड–अवस्कन्द–धा० । अवस्कन्द–आधारे घञ् । "शीघ्राऽऽदीनां वहिल्लाऽऽदयः" ॥८।४।४२२॥ इति अपभ्रंशे अवस्कन्दस्य दडवडाऽऽदेशः । धाट्याम्, (ढाका) इति प्रसिद्धायाम्, "तहिँ मयरद्धयदडवडउ,पडइ अपूरइ कालि ।" प्रा० ४ पाद । "निहुए गमिही रत्तडी,दडवड होइ विहाणु ।" प्रा० ढुं० ४ पाद । धाट्याम्, दे० ना० ५ वर्ग ३५ गाथा ।

दड्ढ–दग्ध–त्रि० । भस्मीकृते, आव० ४ अ० । प्रश्न० । "अगिदड्ढाणं ।" औ० । "दड्ढमुड्डागं करेज्जा ।" नि० चू० १ उ० । "पत्तं दीहदड्ढस्स किरियणिमित्तं जोइ घेप्पति ।" नि० चू० १ उ० । बृ० । संथा० । प्रश्न० ।

दड्ढ–त्रि० । दग्धानाऽऽहृते, प्रा० १ पाद ।

दार्ढ्य–न० । दृढत्वे, षो० १२ विव० । आचा० ।

दड्ढच्छवि–दग्धच्छवि–त्रि० । शीताऽऽदिभिरुपहतत्वचि, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दड्ढतिल्ल–दग्धतैल–न० । पक्वान्मोत्तीर्णतैले, ध० २ अधि० ।

दढ–दृढ–न० । दृह क्तः । नि० इडभावः । लौहे, रूपककाव्यभेदे, नितान्ते, वाच० । अतिशये, पञ्चा० १ विव० । अत्यर्थे, पञ्चा० २ विव० । पं० व० । तद्वति, बलवति, औ० । ज्ञा० । निष्प्रकम्पे, नं० । विस्रोतसिकारहिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । स्थिरे, उत्त० १७ अ० । निश्चले, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । समर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । अतिनिबिडे, रा० । स्थूले, प्रगाढे, शक्ते, कठिने च । त्रि० । वाच० । प्रश्न० । स्था० । “ एवं तासिं दढं सोहियं आयं । ” आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दढकेउ–दृढकेतु–पुं० । ऐरवते भविष्यमाणे चतुर्दशे जिने, प्रव० २ द्वार । ती० ।

दढजत्तकय–दृढयत्नकृत–न० । परमाऽऽदरविहिते, पञ्चा० ४ विव० ।

दढणेमि–दृढनेमि–पुं० । द्वारवत्यां समुद्रविजयस्य शिवानाम्न्यां भार्यायामुत्पन्ने पुत्रे, अन्त० । स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्यायः शत्रुञ्जये सिद्ध इति अन्तकृद्दशानां चतुर्थवर्गस्य दशमेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ३ वर्ग ८ अ० ।

दढधणु–दृढधनुष्–पुं० । जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यत्यष्टमे कुलकरे, स्था० १० ठा० । जम्बूद्वीपे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यामैरवते वर्षे भविष्यति सप्तमे कुलकरे, स० । ती० ।

दढधम्म–दृढधर्मन्–पुं० । श्रुतचारित्ररूपे धर्मे दृढो द्रव्यक्षेत्राऽऽद्यापद्युदयेऽपि निश्चलः स दृढधर्मा । राजदन्ताऽऽदित्वाद् दृढशब्दस्य पूर्वनिपातः । बृ० १ उ० । स्था० । व्य० । आ० म० । तत्कथा–“ दुसविहवेयालम्मे, अप्पतरे खिप्पमुज्झमं कुणइ । अच्चंतमणेच्चाणि, धिइविरियकिसो पढमभंगो ॥१॥ ” अङ्गीकृतापरित्यागे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । दृढः स्थिरः निश्चलः धर्मो यस्य स तथा । ओघ० । आपद्यपि धर्मादविचले, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । कर्म० । स्था० । दृढे चारित्रे स्थिरे, बृ० ३ उ० । दृढः समर्थो धर्मः स्वभावः संग्रामाभङ्गरूपो यस्य स तथा । समर्थस्वभावे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । स्वनामख्याते देवे च, “ ईसाणदेवसयसमीवातो दढधम्मो नाम देवो आगतो भणइ । ” आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दढधम्मया–दृढधर्मता–स्त्री० । दृढधर्मत्वे, स० ३२ सम० । आव० । आ० चू० । आ० क० । स० । (आपत्सु दृढधर्मता सोदाहरणा ' आवई ' शब्दे द्वितीयभागे २४५ पृष्ठे व्याख्याता)

दढपइण्ण–दृढप्रतिज्ञ–पुं० । सूर्याभस्य देवस्य देवलोकाच्च्युतस्य महाविदेहे वर्षे कस्यचिदाढ्यस्य पुत्रत्वेनोत्पत्स्यमाने जीवे, तदुत्पत्तौ सत्यां तन्मातापित्रोर्दृढा प्रतिज्ञा भविष्यतीति तदन्वर्थनामकरणात् । रा० । अन्त० । (' सूरियाभ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे तच्चरितं वक्ष्यते)

दढपरक्कम–दृढपराक्रम–पुं० । संयमे, स्थिरवीर्यभाजि, उत्त० १६ अ० ।

दढपाणिपायपासपिट्ठंतरोरुपरिणय–दृढपाणिपादपार्श्वपृष्ठान्तरोरुपरिणत–त्रि० । दृढं पाणिपादं यस्य, तथा पार्श्वौ पृष्ठान्तरे च ऊरू च परिणते परिनिष्ठितां गते यस्य स तथा । उत्तमसंहनने, भ० १४ श० १ उ० । जी० ।

दढप्पहारि–दृढप्रहारिन्–त्रि० । गाढप्रहारे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । ती० । सिद्धभेदे, पुं० । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० क० । (कथा ' तवसिद्ध ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२०७ पृष्ठे द्रष्टव्या)

दढभूमि–दृढभूमि–त्रि० । स्थिरे, द्वा० १० द्वा० । बहुम्लेच्छदेशे, यत्र श्रीभगवान् वीरः कोष्ठ चैत्ये एकरात्रिकया प्रतिमया स्थितः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । दृढा भूमिरस्य । योगविशेषेण संस्कृतान्तःकरणे, विषयसुखरागाऽऽदिना चालयितुमशक्यचित्ते च । वाच० ।

दढमइ–दृढमति–त्रि० । दृढा निश्चला मतिर्यस्य स तथा । निश्चलमतौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

दढमित्त–दृढमित्र–पुं० । दन्तपुरनगरवास्तव्यस्य धनमित्रनाम्नो वणिजः स्वनामख्याते मित्रे, आव० ४ अ० । (कथाऽन्यत्र)

दढमित्तित्त–दृढमैत्रीत्व–न० । निश्चलसौहृदे, बृ० १ उ० ।

दढरह–दृढरथ–पुं० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे अतीतायामवसर्पिण्यां जातेऽष्टमे कुलकरे, स० । स्था० । अस्यामेवावसर्पिण्यां जातस्य दशमतीर्थकरस्य शीतलस्य पितरि, स० । स्था० । आव० । ति० । प्रव० । नवनवतितमे ऋषभनन्दने, कल्प० ७ क्षण ।

दढरहा–दृढरथा–स्त्री० । व्यन्तरेन्द्राणां कालाऽऽदीनां तत्सामानिकाग्रमहिषीणां च बाह्यायां पर्षदि, धरणाऽऽदीनां नवनपतीन्द्राणां लोकपालाग्रमहिषीलक्षणबाह्यपर्षदि च । स्था० ३ ठा० २ उ० । जीवा० ।

दढवइर–दृढवैर–त्रि० । अतिशयवैरशालिनि, दृढवैराः स्त्रियः, इहापरत्र दारुणवैरकारणत्वात् । तं० ।

दढव्वय–दृढव्रत–त्रि० । दृढानि निश्चलानि व्रतानि नियमा उत्तरगुणा इत्यर्थो यस्यासौ दृढव्रतः । निश्चलनियमे, ग० २ अधि० । ध० । आफलोदयं प्रारब्धकार्यात्यागिन च । वाच० ।

दढाउ–दृढाऽऽयुष्–पुं० । पञ्चमतीर्थकरस्य पूर्वभवजीवे, “सर्वानुभूतिनामानं, दृढाऽऽयुषो जीवपञ्चमं वन्दे ।” प्रव० ४६ द्वार । स० । ती० । जी० ।

दणुअवह–दनुजवध–पुं० । “ लुग्भाजनदनुजराजकुले जः सस्वरस्य न वा ” ॥८।१।२६७॥ इत्यनेन सस्वरजकारस्य वा लुक् । दानवमारणे, प्रा० १ पाद ।

दणुयवह–दनुजवध–पुं० । ' दणुअवह ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

दत्तियावुड्ढि–दत्तिकावृद्धि–स्त्री० । द्वात्रिंशत्तमे स्त्रीकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

दत्त–दत्त–त्रि० । दा–क्त । विसृष्टे, त्यक्ते, रचिते, वाच० । अनुज्ञाते, प्रश्न० ३ संव० द्वार । वितीर्णे, स्था० ५ ठा० १ उ० । व्यक्ते, जं० १ वक्ष० । भारते वर्षेऽस्यामेवावसर्पिण्यां जाते सप्तमे वासुदेवे, स० ३५ सम० । आव० । मेतार्यगणधरपितरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति पञ्चमे कुलकरे, स० । ति० । स्था० । ती० ।

भद्राऽङ्गजे कालिकाऽऽचार्यजामिजे, आ० क० । दर्श० । आ० चू० । आ० म० । (यो हि तुरुमिणीपुराधिपं मारयित्वा राजा भूत्वा अनेकान् यज्ञानिष्ट्वा कालिकाऽऽचार्यवचनानुसारेण मृत्वा नारको जात इति " सम्मावाय " शब्देऽस्मिन्नेव भागे कथा वक्ष्यते) भारते वर्षेऽतीतायामुत्सर्पिण्यामतीते सप्तमे जिने, प्रव० ७ द्वार । सकलस्थविराणां जङ्घाबलपरिक्षयेण नियतवासं प्रतिपन्नानां शिष्ये, आ० क० । आ० चू० । उत्सर्पिण्यादौ भविष्यति जिनधर्मोद्धारके महाराजे, ति० । विपाकश्रुते नवमेऽध्ययने उदाहृतायां देवदत्तायाः पितरि, स्था० १० ठा० । गन्धर्वनागदत्तस्य पितरि लक्ष्मीपुरवास्तव्ये श्रेष्ठिनि, आ० क० । पार्श्वस्वामिवन्दनकृत ईश्वरराजस्य पूर्वभवे वसन्तपुरवास्तव्ये पुरोहितपुत्रजीवे, ती० १४ कल्प । समुद्रदत्तवणिग्विश्वपुरीवास्तव्ये स्वनामख्याते सांयात्रिके, ध० र० । स्वनामख्याते चम्पानगरीराजे महाचन्द्रस्य कुमारस्य पितरि, विपा० २ श्रु० ९ अ० । चन्द्रनाऽऽगते स्वनामख्याते गृहपतौ, स च वीरान्तिके प्रव्रज्य अनशनेन मृत्वा सुधर्मायां सभायां तस्मिन् सिंहासने गङ्गदत्तया देवतया द्विसागरोपमस्थितिक उपपन्न इति सप्तमे पुष्पिकाऽध्ययने सूचितम् । नि० १ श्रु० ३ वर्ग ६ अ० । स्वनामख्याते कल्किराजपुत्रे, " पसरसन्न तित्थयरे विक्कमवरिसे समुंजे कल्किं करित्ता जिणभवणमंडियं च वसुहं काउं भज्जियातित्थयरनामो सग्गं गंतुं चित्तगुत्तो नाम जिणवरो होति ।" ती० २० कल्प । स्वनामख्याते वेश्यायामप्रद्युम्नाने पुरुषे, पुं० । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । दाने, न० । उत्त० १ अ० ।

दात्र–न० । शस्त्रभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

दत्ति–दत्ति–स्त्री० । अविच्छिन्नदाने, पञ्चा० १८ विव० । " दत्तीओ जत्तिए वारे, खिवई होंति तत्तिया । अवोच्छिन्नानि वा पाथो, दत्ती होइ दवंतरं ॥१॥" इति । स्था० ५ ठा० १ उ० । पञ्चा० । कल्प० । करस्थादयादिभ्यो भक्तपानानि अव्यवच्छिन्नधारया पतति भिक्षा या, सा दत्तिरभिधीयते । भिक्षाविच्छेदे च द्वितीया दत्तिः, एवं सिक्थमात्रेऽपि पतिते भिक्षैव दत्तिरिति । प्रव० ४ द्वार ।

दत्तिसंख्यासूत्रम्–

संखा दत्तियस्स णं भिक्खुस्स पडिग्गहधारिस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स जावतियं जावतियं अंतो पडिग्गहस्स उविइत्ता दलएज्जा, तावइयाओ ताओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया । तत्थ से केइ छज्जएण वा दूसएण वा वालएण वा अंतो पडिग्गहंसि उविइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्तीति वत्तव्वं सिया । तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिंडं साहणिय अंतो पडिग्गहंसि उविइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्तीति वत्तव्वं सिया ॥ ३९ ॥

संख्या परिमाणं दत्तिकायाः,सूत्रे पुंस्त्वमार्षत्वात्,यावद् यावत् कश्चिदन्तः पतद्ग्रहे (उविइत्ता) अवनम्य दद्यात्, तत्र तावत्यो दत्तय इति वक्तव्यं स्यात् । किमुक्तं भवति ?-एकस्यामपि भिक्षायामुत्पादितायां यावतो यावतो वारान् विच्छिद्य विच्छिद्य ददाति तावत्यस्तत्र दत्तय इति । तत्र 'से'तस्य साधोः कश्चिन् गायकेन वंशादलमयेन,दूष्येण वा वस्त्रेण,वालकेन वा गोमहिष्यादिवालकृतेन गालनाऽऽदिना अन्तः पतद्ग्रहे अवनम्य दद्यात्, साऽपि, णमिति वाक्यालङ्कारे, एका दत्तिरिति वक्तव्यं स्यात् । तत्र 'से' तस्य साधोर्बहवो भुञ्जाना भिक्षार्थं साधुमागतं दृष्ट्वा सर्वे ते स्वीयं स्वीयं पिण्डं संहृत्य एकं पिण्डं कृत्वा अन्तः पतद्ग्रहे (उविइत्ता) अवनम्य दद्यात,सर्वाऽपि,णमिति पूर्ववत्, एका दत्तिरिति वक्तव्यम् । एतत्सूत्रं पतद्ग्रहधारिणा उक्तम् ।

सम्प्रति पाणिपतद्ग्रहविषयमाह–

संखा दत्तियस्स णं भिक्खुस्स पाणिपडिग्गहस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स जावतियं जावतियं अंतो पाणिंसि उविइत्ता दलएज्जा, तावइयाओ ताओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया । तत्थ से केइ छज्जएण वा दूसएण वा वालएण वा अंतो पाणिंसि उविइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्तीति वत्तव्वं सिया । तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिंडं साहणिय अंतो पाणिंसि उविइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्तीति वत्तव्वं सिया ॥ ४० ॥

(पाणीत्यादि) पाणिपतद्ग्रहस्यापि विषये एवमेव सूत्रं वक्तव्यमिति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

सम्प्रति भाष्यविस्तरः–

हत्थेण व मत्तेण व, भिक्खा होई समुज्जया ।
दत्तिओ जत्तिए वारे, खिवती होंति तत्तिया ॥ १०९ ॥

हस्तेन वा, मात्रेण वा,या समुद्यता उत्पादिता भिक्षा,सा भिक्षेत्युच्यते । दत्तयः पुनस्तामेव भिक्षां यावतो वारान् विच्छिद्य क्षिपति तावत्यो भवन्ति ।

अव्वोच्छिन्ननिवायाओ, दत्ती होइ उ वेतरा ।
एगाणेगासु चत्तारि, विभागा भिक्खदत्तिसु ॥ ११० ॥

अव्यवच्छिन्ननिपातात् दत्तिर्भवति, इतरा वा भिक्षा च भवति, भिक्षादत्तिषु च एकानेकासु विषये चत्वारो विभागा विकल्पाः।

तानेवाऽऽह–

इग भिक्खा इग दत्ती, एगा भिक्खा यऽणेगदत्तीओ ।
णेगा वि य एगाओ, णेगाओ चेव णेगाओ ॥ १११ ॥

एका भिक्षा एका दत्तिरिति प्रथमो विकल्पः । एका भिक्षा अनेका दत्तय इति द्वितीयः । अनेका भिक्षा एका दत्तिरिति तृतीयः । अनेका भिक्षा अनेका दत्तय इति चतुर्थः । तत्र प्रथमभङ्ग एव दायकेन अव्यवच्छिन्ना भिक्षा दत्ता, सा एका भिक्षा एका च दत्तिः । द्वितीयभङ्गे व्यवच्छिन्ना दत्ता । तृतीयभङ्गे सूत्रमिदम्–" तत्थ से बहवे भुंजमाणा " इत्यादि " जाव सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया ।(४० सू०)" अस्येयं भावना–केचित्पथिकाः कर्मकरा वा एकत्रावकाशे पृथक् पृथक् उपस्कृत्य भुञ्जते, तेषामेकः साधुना तत्र च भिक्षार्थमागत्य धर्मलाभः समुद्दिष्टस्ततः स परिवेषक आत्मीयाद् ददामीति व्यवसितः, ततस्तैरपि शेषकैः स भाण्यते–प्रत्येकं प्रत्येकमस्मदीयमध्यादपि साधवे भिक्षां देहि, ततस्तेन परिवेषकेण सर्वेषां सत्कान् गृहीत्वा एकत्र संमील्याव्यवच्छिन्नं दत्तम्, एवमनेका भिक्षा एका दत्तिरित्युपपद्यते । चतुर्थभङ्गोऽप्येवमेव, नवरं व्यवच्छिन्नं दानमिति ।

अत्र दत्तिष्वेकानेकदायकभिक्षाभेदतोऽष्टौ भङ्गाः, तानुपदिदर्शयिषुः प्रथमत एकानेकदायकभिक्षाविषयां चतुर्भङ्गीमाह-

एमेव एगऽणेगे, दायगभिक्खासु होंति चउभंगा।
एगो एगं देती, एगोऽणेगा उ णेग एगं च ॥ ११२ ॥
णेगा य अणेगाओ, पाणीसु पडिग्गहधरेसु।

एवमेव अनेनैव प्रकारेण एकस्मिन् अनेकस्मिंश्च दायके, एकानेकभिक्षासु च चतुर्भङ्गी भवति। गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात्। तामेव चतुर्भङ्गीमाह-एको दायक एकां भिक्षां ददाति१, एकोऽनेकाः २, अनेके एकाम्, ३, अनेके अनेकाः४। एते चत्वारो भङ्गाः पाणिषु पाणिभोजिषु, पतद्ग्रहधरेषु च द्रष्टव्याः।

अत्र यथा दत्तिष्वष्टौ भङ्गास्तथा दर्शयति-

एगो एगं एक्कसि, एगो एगं चऽणेगसो वारे।
एगोऽणेगा एक्कसि, एगोऽणेगा तु बहुसो तु ॥ ११३ ॥

एको दायक एकां भिक्षामेकवारं ददाति॥१॥ एको दायक एकां भिक्षां बहुशो वारान् विच्छिद्य विच्छिद्य ददाति॥२॥ एको दायकोऽनेका भिक्षा एकवारमव्यवच्छेदेन ददाति॥३॥ एको दायकोऽनेका भिक्षा बहुशो वारान् विच्छिद्य विच्छिद्य ददाति॥४॥ एवमेकमधिकृत्य एकानेकभिक्षासु दत्तिविषया चतुर्भङ्ग्यभिहिता।

साम्प्रतमनेकान् दायकानधिकृत्य एकानेकभिक्षासु दत्तिविषयां चतुर्भङ्गीमाह-

णेगा एगं एक्कसि, णेगा एगं चऽणेगसो वारे।
णेगा णेगा एक्कसि, णेगा णेगा य बहुवारे ॥ ११४ ॥

अनेके दायका एकां भिक्षामेकवारमव्यवच्छेदेन ददति ॥ ५ ॥ अनेके दायका एकां भिक्षामनेकशो वारान् विच्छिद्य विच्छिद्य ददति ॥ ६ ॥ अनेके दायका अनेका भिक्षा एकत्र संपिण्ड्य एकवारं ददति ॥ ७ ॥ अनेके दायका अनेका भिक्षा विच्छिद्य विच्छिद्य बहून् वारान् ददति ॥ ८॥

पाणिपडिग्गहियस्स वि, एसेव कमो भवे निरवसेसो।
गणवासे निरवेक्खो, सो पुण सपडिग्गहो जइतो ॥११५॥

पाणिपतद्ग्रहकस्यापि एष एवानन्तरोदितः क्रमो भवति निरवशेषो ज्ञातव्यः, स च पाणिपतद्ग्रहभोजी गणवासे निरपेक्षः सपतद्ग्रहो भाजिनो विकल्पितः कदाचित्स्यात् कदाचिन्नेति, ततस्तस्य पाणिपतद्ग्रहभोजिता। व्य० ६ उ०।

सुत्तं-

जे भिक्खू गिलाणस्सऽट्ठाए परं तिण्हं वियडदत्तीणं पडिगाहेइ, पडिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

दत्तीए पसमाणं पसती, तिण्हं पसतीणं परेण चउत्था पसती गिलाणकज्जेण वि ण घेत्तव्वा, जो गिण्हति तस्स चउलहुं।

गाहा-

जे भिक्खु गिलाणस्सा, परेण तिण्हं तु वियडदत्तीणं।
गिण्हेज्ज आदिएज्ज व, सो पावति आणमादीणि॥ १०॥

तिण्हं दत्तीणं परतो गहणे वि चउलहुं, (आदियणे त्ति) पिवतस्स वि चउलहुं।

तिण्हं दत्तीणं परतो आहरणे, आदियणे वा इमे दोसा-

अप्पच्चओ य गरहा, सद्दोसो गेहिवड्ढणं चेव।
तिण्ह परं गेण्हंते, परेण खिसाऽऽइयं चेव ॥ ११ ॥

(अप्पच्चओ त्ति) जहा एस पच्चइतो होउं वियडं गिण्हति, आपिवति वा, तहा एस अण्णं पि करेति मेहुणाऽऽदियं (गरह त्ति) एस एणं नीयकुलजातितो त्ति। सद्दोसो पि ते पलवंति वमइ वा। पुणो पुणो गहणे वा वियडे गेही वड्ढति। खिसाधिरत्थु ते पादिसवज्जाए त्ति।

गाहा-

दिट्ठं कारणगहणं, तस्स पमाणं तु तिण्णि दत्तीओ।
णातुं व अगारिए, सेहादिअसंलवंतो य ॥१२॥

तिण्णि दत्तीओ तिण्णि पसतीओ, कारणाओ ताओ याए असागारिगे अत्थांत, णिहुत्तो तासिं पसती णिज्जइ वा, अभावियसेहअपरिणामगेहिं सद्धिं उल्लावणं करेति, गिहीहिं वा। नि० चू० १६ उ०। (द्वितीयपदं ' पसइ ' शब्दे वक्ष्यते) (भिक्षुप्रतिमासु दत्तिप्रमाणं ' भिक्खुपडिमा ' शब्दे वक्ष्यते)

दत्तिय-दत्रिक-पुं०। वातपूर्णे चर्मणि, नि० चू० १ उ०।

दत्तिया-दात्रिका-स्त्री०। छेदसाधने शस्त्रे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

दत्तेगाइग्गह-एकादिदत्तिग्रह-पुं०। प्राकृते पूर्वापरनिपातोऽतन्त्रमिति पूर्वनिपातः। एकद्व्यादिभिक्षाविशेषग्रहणे, पञ्चा० १८ विव०।

दत्तेसणिज्ज-दत्तैषणीय-न०। उत्पादाऽऽद्येषणादोषरहिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

दत्थर-पुं०। देशी-हस्तशाटके, दे० ना० ५ वर्ग ३४ गाथा।

ददंत-ददत्-न०। दायके, सू० १ अ०।

दद्दर-दर्दर-न०। बहले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। रा०। जं०। जी०। आ० म०। प्रज्ञा०। औ०। चीरावनद्धकुण्डिकाऽऽदिभाजनमुखे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। जी०। आ० म०। रा०। यस्य चतुर्भिश्चरणैरवस्थानं भुवि तस्मिन् गोधाचर्मावनद्धे वाद्यविशेषे, जं० २ वक्ष०। जी०। रा०। चपेटाप्रकारे; प्रज्ञा० २ पद। आ० म०। जी०। ज्ञा०। रा०। औ०। निरन्तरकाष्ठफलकमये निःश्रेणिविशेषे, पिं०। सोपानवीथ्याम्, वृ०। घने, पुं०। स०।

दद्दरपिहाण-दर्दरपिधान-न०। वस्त्रमयबन्धने, बृ० ३ उ०।

दद्दरिया-दर्दरिका-स्त्री०। उत्तालनेन वाद्यमाने वाद्यविशेषे, आ० चू० १ अ०। ' चउचलणपइट्ठाणा गोहिया। ' चतुर्भिश्चरणैः प्रतिष्ठानं भुवि यस्याः सा तथा गोधाचर्मणाऽवनद्धेति भाविका वाद्यविशेषः, दर्दरिकेति यत्पर्यायः। स्था० ७ ठा०। अनु०। रा०।

दद्दु-दद्रु-पुं०। दद्-रुः। क्षुद्रकुष्ठभेदे, "दाद" इति प्रसिद्धे, जं० २ वक्ष०। भ०। कच्छ्वाम्, वाच०। "दद्दुकिडिभसिन्दुकिडिय-फरुसच्छविविचलंगा।" प्र० ३ आ० ६ उ०।

दद्दुर-दर्दुर-पुं०। दृणाति कर्णौ शब्दैः दरन्। वाच०। मण्डूके, व्य० १ उ०। प्रश्न०। भ०। ज्ञा०। औ०। स्वनामख्याते पर्वते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। जं०। भ०। राहौ, सू० प्र० १९ पाहु०।

धर्म्मावतंसकमुक्ते कल्पे, प्रश्न० ५ संव० द्वार। मण्डूकी भूत्वा दर्दुरावतंसके जाते देवे, ज्ञा०।

जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णगरे होत्था। तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था। तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं गुणसिलए णामं चेइए होत्था। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे चउद्दसहिं समणसाहस्सीहिं० जाव सद्धिं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे जेणेव रायगिहे णयरे जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव समोसढे अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिणिहत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं सोहम्मे कप्पे दद्दुरवडिंसए विमाणे सभाए सुहम्माए दद्दुरंसि सीहासणंसि दद्दुरे देवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं चउहिं अग्गमहिसीहिं तिहिं परिसाहिं एवं जहा सूरियाभे० जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति। इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं विउलेणं ओहिणा आभोएमाणे० जाव नट्टविहिं उवदंसित्ता पडिगए, जहा सूरियाभे भंते त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं आयाहिणं पयाहिणं करेइ, वंदति, णमंसति, णमंसइत्ता एवं वयासी—अहो णं भंते ! दद्दुरे देवे महिड्डिए ६। दद्दुरस्स णं भंते ! देवस्स सा दिव्वा देवड्डी २ कहिं गता, कहिं अणुप्पविट्ठा ?। गोयमा ! सरीरं गया, सरीरं अणुप्पविट्ठा, कूडागारदिट्ठंते *। दद्दुरेणं भंते ! देवेणं सा दिव्वा देवड्ढी किण्णा लद्धा किण्णा पत्ता० जाव अभिसमण्णागया ?। एवं खलु गोयमा ! इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे रायगिहे णामं णयरे होत्था। गुणसिलए चेइए। तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स सेणिए णामं राया होत्था। तत्थ णं रायगिहे णयरे णंदे णामं मणियारसेट्ठी परिवसइ, अड्ढे दित्ते० जाव अपरिभूए। तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा ! रायगिहे णयरे जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव समोसढे। परिसा णिग्गया। सेणिओ वि राया णिग्गतो। तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे ण्हाए पायविहारचारेणं० जाव पज्जुवासति। तए णं णंदे मणियारसेट्ठी धम्मं सोच्चा समणोवासए जाते, जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तए णं अहं गोयमा ! रायगिहाओ णयराओ पडिणिक्खंतो बहिया जणवयविहारेणं विहरामि। तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी अण्णया कयाइं असाहुदंसणेण य अपज्जुवासणाए य अणाणुसासणाए य असुस्सूसणाए य सम्मत्तपज्जवेहिं परिहायमाणेहिं, मिच्छत्तपज्जवेहिं पवड्ढमाणेहिं मिच्छत्तं विप्पडिवण्णे जाते यावि होत्था। तए णं णंदे मणियारसेट्ठी अण्णया कयाइं गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूलंसि मासंसि अट्ठमभत्तं परिगिण्हति, पोसहसालाए० जाव विहरति। तए णं णंदस्स अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि तण्हाए छुहाए अभिभूयस्स समाणस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए ५—धण्णा णं ते० जाव ईसरपभिइओ, जेसिं णं रायगिहस्स बहिया बहुओ वावीओ पोक्खरणीओ ०जाव सरपंतियाओ, जत्थ णं बहुजणो ण्हाइ अ, पियति य, पाणियं च संवहति, तं सेयं खलु ममं कल्लं पाउप्पभाए सेणियं रायं आपुच्छित्ता रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए वेभारपव्वयस्स अदूरसामंते वत्थुपाढगरोइयंसि भूमिभागंसि०जाव णंदं पोक्खरणिं खणावित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेइत्ता कल्लं पाओ पोसहं पारेति, पारेइत्ता ण्हाए कयबलिकम्मे मित्तणाइ ०जाव सद्धिं संपरिवुडे महत्थं ०जाव पाहुडं रायारिहं गिण्हति, गिण्हइत्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता ०जाव पाहुडं उवट्ठवेति, उवट्ठवेइत्ता एवं वयासी—इच्छामि णं सामी ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे रायगिहस्स णयरस्स बहिया ०जाव खणावित्तए ?। अहासुहं देवाणुप्पिया !। तए णं णंदे सेणिएणं रण्णा अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठतुट्ठे रायगिहं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छति, णिग्गच्छतित्ता वत्थुपाढगरोइयंसि भूमिभागंसि णंदं पुक्खरिणिं खणावेउं पयत्ते यावि होत्था। तए णं सा णंदा पुक्खरिणी आणुपुव्वेणं खणमाणा खणमाणा पोक्खरिणी जाए यावि होत्था; चाउक्कोणा समतीरा अणुपुव्वं सुजायवप्पसीयलजला संछण्णपत्तभिसमुणाला बहुउप्पलपउमकुमुदनलिणीसुभगसोगंधियपुंडरीयमहापुंडरीयसयपत्तसहस्सपत्तफुल्लकेसरोववेया परिहत्थभमंतमत्तछप्पयअणेगसउणगणमिहुणविरियसद्दुमहुरसरणाइया पासादीया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा। तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी णंदाए पोक्खरिणीए चउदिसिं चत्तारि वणसंडे रोवावेति। तए णं ते वणसंडा आणुपुव्वेण संरक्खिज्जमाणा संगोविज्जमाणा संवड्ढिज्जमाणा वणसंडा जाया किण्हा० जाव निकुरंबभूया पत्तिया पुप्फिया० जाव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति। तए णं णंदे मणियारसेट्ठी पुरच्छिमिल्ले वणसंडे एगं महं चित्तसभं करावेति, अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं पासाईया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा। तत्थ णं बहूणि किण्हाणि य०जाव सुक्किल्लाणि य कट्ठकम्माणि य पोत्थकम्माणि य चित्तलेपगंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमाइं उवदंसिज्जमाणा चिट्ठंति। तत्थ णं बहूणि आसणाणि य सयणाणि य अत्थुयपच्चत्थुया चिट्ठंति। तत्थ णं बहवे णडा य० जाव दिण्णभत्तवेतणा

तालायरकम्मं करेमाणा विहरंति । रायगिहविणिग्गओ य जत्थ बहुजणो तेसु पुव्वनत्थेसु आसणेसु य सयणेसु य संनिसण्णो य संतुट्ठो य सुहमाणो य सोहमाणो य सुहं सुहेणं विहरति । तए णं णंदे मणियारसेट्ठी दाहिणिल्ले वणसंडे एगं महं महाणससालं कारावेति, अणेगखंभ० जाव रूवं । तत्थ णं बहवे पुरिसा दिण्णभत्तवेतणा विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडेंति, बहूणं समणमाहणअतिहिकिविणवणीमगाणं परिभाएमाणा परिभुंजावेमाणा विहरंति । तए णं णंदे मणियारसेट्ठी पच्चच्छिमिल्ले वणसंडे एगं महं तेगिच्छियसालं कारावेइ, अणेगखंभसय० । तत्थ णं बहवे वेज्जा य वेज्जपुत्ता य जाणुया य जाणुपुत्ता य कुसला य कुसलपुत्ता य दिण्णभत्तवेतणा बहूणं वाहियाण य गिलाणाण य रोगियाण य दुब्बलाण य तेगिच्छं कम्मं करेमाणा विहरंति । अण्णे य एत्थ बहवे पुरिसा दिण्णभत्तवेतणा तेसिं बहूणं वाहियाण य रोगियाण य गिलाणाण य दुब्बलाण य ओसहभेसज्जभत्तपाणेणं पडियारं करेमाणा विहरंति । तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी उत्तरिल्ले वणसंडे एगं महं अलंकारियसभं कारेइ अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं० जाव पासाईया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा । तत्थ णं बहवे अलंकारियमणुस्सा दिण्णभत्तवेतणा बहूणं समणाण य अणाहाण य गिलाणाण य रोगियाण य दुब्बलाण य अलंकारियकम्मं करेमाणा विहरंति । तए णं तीए णंदाए पोक्खरिणीए बहवे सणाहा य अणाहा य पंथिया य पहियकरोडिका य तणाहारा कट्ठाहारा पत्ताहारा अप्पेगइया ण्हायंति, अप्पेगइया पाणियं पियंति, अप्पेगइया पाणियं संवहंति, अप्पेगइया विसज्जियसेयजल्लमल्लपरिस्समनिद्दखुप्पिवासा सुहं सुहेणं विहरंति । रायगिहविणिग्गओ वि जत्थ बहुजणो, किं ते ?, जलरमणविविहमज्जणकयलिलयाहरयकुसुमसत्थरयअणेगसउणिगणरुयरिभियसंकुलेसु सुहं सुहेणं अभिरममाणा अभिरममाणा विहरति । तए णं णंदाए पोक्खरिणीए बहुजणो ण्हायमाणो य पीयमाणो य पाणियं च संवहमाणो य अण्णमण्णं एवं वयासी-धण्णे णं देवाणुप्पिया ! णंदे मणियारसेट्ठी, कयत्थे० जाव जम्मजीवियफले । जस्स णं इमेयारूवा णंदा पोक्खरिणी चाउक्कोणा० जाव पडिरूवा । जस्स णं पुरच्छिमिल्ले तं चेव सव्वं चउसु वि वणसंडेसु० जाव रायगिहणयरविणिग्गओ जत्थ बहुजणो आसणेसु य सयणेसु य सण्णिसण्णे य संतुयट्टो य पेच्छमाणो य साहेमाणो य सुहं सुहेणं विहरति । तए णं धण्णे कयत्थे कयपुण्णे कयाणुलोया सुलद्धे माणुस्सए जम्मजीवियफले णंदस्स मणियारस्स । तए णं रायगिहे णयरे सिंघाडग० जाव बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं परूवेइ, एवं विण्णवेइ-धण्णे णं देवाणुप्पिया ! णंदे मणियारसेट्ठी, सो चेव गमओ० जाव सुहं सुहेणं विहरति । तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे धाराहयकलंबुगं पिव समुस्ससियरोमकूवे परं साया सोक्खमणुभवमाणो विहरति ॥ तए णं तस्स णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स अण्णया कयाइ सरीरगंसि सोलस रोगायंका पाउब्भूया । तं जहा-"सासे १ कासे २ जरे ३ दाहे, ४ कुच्छिसूले ५ भगंदरे ६। अरिसा ७ अजीरए ८ दिट्ठी-९ मुद्धसूले १० अकारए ११॥१॥" अच्छिवेयणा १२ कण्णवेयणा १३ कंडू य १४ उदरे १५ कोढे १६ । तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी सोलसहिं रोगायंकेहिं अभिभूए समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! रायगिहे णयरे सिंघाडग० जाव महापहेसु महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स सरीरगंसि सोलस रोगायंका पाउब्भूया । तं जहा-सासे० जाव कोढे । तं जो णं इच्छति देवाणुप्पिया ! विज्जो वा विज्जपुत्तो वा जाणुओ वा जाणुपुत्तो वा कुसलो वा कुसलपुत्तो वा णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स तेसिं च णं सोलसण्हं रोगाणं एगमवि रोगायंकं उवसामेत्तए, तस्स णं णंदे मणियारसेट्ठी विउलं अत्थसंपयाणं दलयति त्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चं पि घोसेह० जाव पच्चप्पिणह । ते वि तहेव० जाव पच्चप्पिणंति । तए णं रायगिहे णयरे इमेयारूवं घोसणं सोच्चा णिसम्म बहवे वेज्जा य वेज्जपुत्ता य० जाव कुसलपुत्ता य सत्थकोसहत्थगता य सिलियाहत्थगता य गुलियाहत्थगता य ओसहभेसज्जहत्थगता य सएहिं सएहिं गिहेहिंतो णिक्खमंति, णिक्खमइत्ता रायगिहं णगरं मज्झंमज्झेणं जेणेव णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स सरीरं पासंति, तेसिं रोगायंकाणं नियाणं पुच्छंति, पुच्छइत्ता णंदस्स मणियारस्स बहूहिं उव्वलणेहि य उव्वट्टणेहि य सिणेहपाणेहि य वमणेहि य विरेयणेहि य सेयणेहि य अवदहणेहि य अवण्हाणेहि य अणुवासणेहि य वत्थिकम्मेहि य निरूहेहि य सिरावेहेहि य तच्छणाहि य पच्छणाहि सिरोवत्थीहि य तप्पणाहि य पुडपाएहि य छल्लीहि य वल्लीहि य मूलेहि य कंदेहि य पत्तेहि य पुप्फेहि य फलेहि य बीएहि य सिलियाहिं य गुलियाहि य ओसहेहि य भेसज्जेहि य इच्छंति तेसिं सोलसण्हं रोगायंकाणं एगमवि रोगायंकं उवसामित्तए, नो चेव णं संचाएइ उवसामित्तए । तए णं ते बहवे वेज्जा य

०जाव नो संचाएंति तेसिं सोलसण्हं रोगाणं एगमवि रोगातंकं उवसामित्तए, ताहे संता तंता परितंता०जाव पडिगया । तते णं णंदे मणियारसेट्ठी तेहिं सोलसेहिं रोगायंकेहिं अभिभूए समाणे णंदाए पुक्खरिणीए मुच्छिए तिरिक्खजोणिएहिं निबद्धाउए बद्धपएसिए अट्टदुहट्टवसट्टे कालमासे कालं किच्चा णंदाए पुक्खरिणीए दद्दुरीए कुच्छिंसि दद्दुरत्ताए उववन्ने । तते णं णंदे मणियारजीवे दद्दुरीए गब्भातो विणिम्मुक्के समाणे उम्मुक्कबालभावे विण्णायपरिणयमित्ते जोव्वणगमणुप्पत्ते णंदाए पोक्खरिणीए अभिरममाणे अभिरममाणे विहरति । तए णं णंदाए पोक्खरिणीए बहुजणो ण्हायमाणो य पाणियं पियमाणो य पाणियं संवहमाणो य अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ–धन्ने णं देवाणुप्पिया ! णंदे मणियारसेट्ठी, जस्स णं इमेयारूवा णंदा पुक्खरिणी चाउक्कोणा ०जाव पडिरूवा, जस्स णं पुरच्छिमिल्ले वणसंडे चित्तसभा अणेगखंभसय ०तहेव चत्तारि सभाओ०जाव जम्मजीवियफले । तए णं तस्स दद्दुरस्स तं अभिक्खणं अभिक्खणं बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था–कहिं मन्ने मए इमेयारूवे सद्दे णिसंतपुव्वे त्ति कट्टु सुभेणं परिणामेणं०जाव जाईसरणे समुप्पन्ने, पुव्वजातिसमरणं समागच्छति । तते णं तस्स दद्दुरस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था–एवं खलु अहं इहेव रायगिहे णगरे णंदे णामं मणियारसेट्ठी होत्था अड्ढे०जाव अपरिभूए । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे०जाव समोसढे । तए णं मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं ०जाव पडिवन्ने । तए णं अहं अन्नया कयाइ असाधुदंसणेण य ०जाव मिच्छत्तं विप्पडिवन्ने, तए णं अहं अन्नया कयाइ गिम्हकालसमयंसि ०जाव उवसंपज्जित्ता णं विहरामि, एवं जहेव चिंता, आपुच्छणं च, णंदा पुक्खरिणी, वणसंडा, सभाओ, सेसं तं चेव सव्वं०जाव णंदाए पुक्खरिणीए दद्दुरीए कुच्छिंसि दद्दुरत्ताए उववन्ने । तं अहो ! णं अहं अहन्ने अकयत्थे अकयपुन्ने णिग्गंथाओ पावयणाओ नट्ठे भट्ठे परिब्भट्ठे, तं सेयं खलु ममं सयमेव पुव्वपडिवन्नाइं पंचाणुव्वयाइं सत्त सिक्खावयाइं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, एवं संपेहेति, संपेहित्ता पुव्वपडिवन्नाइं पंचाणुव्वयाइं ०जाव आरुहति, आरुहइत्ता इमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हति, कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणस्स विहरित्तए । छट्ठस्स वि य णं पारणगंसि कप्पइ मे णंदाए पुक्खरिणीए परिपेरंतेसु फासुएणमुण्होदएणं उम्मद्दणालोलियाहि य वित्तिं कप्पेमाणस्स विहरित्तए, इमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हति, अभिगिण्हइत्ता जावज्जीवाए छट्ठंछट्ठेणं० जाव विहरति । तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा ! रायगिहे णयरे गुणसिलए चेइए समोसढे । परिसा णिग्गया । तए णं णंदाए पुक्खरिणीए बहुजणो ण्हायइ, पाणियं पियइ, पाणियं संवहइ, अन्नमन्नं आइक्खइ० जाव समणे भगवं महावीरे इहेव गुणसिलए चेइए समोसढे, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं वंदामो, णमंसामो०जाव पज्जुवासामो, इहभवे परभवे हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए अणुगामियत्ताए भविस्सति । तते णं तस्स दद्दुरस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म अयमेयारूवे अज्झत्थिए समुप्पज्जित्था-एवं खलु समणे भगवं महावीरे, तं गच्छामि णं वंदामि, णमंसामि, एवं संपेहेति, णंदाओ पुक्खरिणीओ सणियं सणियं उत्तरति, उत्तरित्ता जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ताए उक्किट्ठाए दद्दुरगईए वीईवयमाणे जेणेव मम अंतिए तेणेव पहारेत्थ गमणाए, इमं च णं सेणिए राया भिंभसारे ण्हाए कयकोउय ०जाव सव्वालंकारविभूसिए हत्थिखंधवरगते सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धारिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं महया हयगयरहभडचडगरचाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे मम पायं वंदए हव्वमागच्छति, तते णं से दद्दुरे सेणियस्स रन्नो एगेणं आसकिसोरेणं वामपाएणं अक्कंते समाणे अंतणिग्घाइए कयावि होत्था । तए णं से दद्दुरे अथामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे अधारणिज्जमिति त्ति कट्टु एगंतमवक्कमति, अवक्कमइत्ता करतलपरिग्गहियं तिक्खुत्तो सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी–नमोऽत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं०जाव संपत्ताणं, नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स मम धम्मायरियस्स०जाव संपाविउकामस्स, पुव्विं पि य णं मए समणस्स भगवओ महावीरस्स० जाव संपत्तेणं अंतिए थूलगपाणाइवाए पच्चक्खाए० जाव थूलए परिग्गहे पच्चक्खाए । तं इयाणिं पि तस्सेव अंतिए सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि०जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खाए जावज्जीवाए सव्वं असणं पाणं खाइमं साइमं पच्चक्खाए जावज्जीवाए, जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं० जाव सम्मं फुसंतु, एयं पि य णं चरिमेहिं ऊसासेहिं वोसिरामि त्ति कट्टु तए णं से दद्दुरे कालमासे कालं किच्चा० जाव सोहम्मे कप्पे दद्दुरवडिंसए विमाणे उववायसभाए दद्दुरदेवत्ताए उववन्ने । एवं खलु गोयमा ! दद्दुरेणं देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया । दद्दुरस्स

णं भंते ! देवस्स केवइयं कालं ठिती पन्नत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पन्नत्ता । से णं दद्दुरे देवे आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता महाविदेहे वासे सिज्झिहिति, बुज्झिहिति० जाव अंतं करेहिति ।

(एवं सूरियाभ त्ति) यथा राजप्रश्नकृते सूर्याभो देवो वर्णितः, एवमयमपि वर्णनीयः । कियता वर्णकेनेत्याह-(०जाव दिव्वाइं इत्यादि) स चायं वर्णकः-" निहिं परिसाहिं सत्तहिं अणीएहिं सत्तहिं अणीयाहिवईहिं । " इत्यादि । (इमं च णं केवलकप्पं ति) इमं च-केवलः परिपूर्णः, स चासौ कल्पश्च स्वकार्यकरणसमर्थ इति केवलकल्पः, केवल एव वा केवलकल्पः, तम् । (आभोएमाणे त्ति) इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"पासइ समणं भगवं महावीरं । " इत्यादि । (कूडागारदिट्ठंते त्ति) एवं चाऽसौ-" से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सरीरगं गया, सरीरगं अणुपविट्ठा ? । गोयमा ! से जहानामए कूडागारसाला सिया दुहओ । " बाहिरन्तश्च "गुत्ता लित्ता ।" साऽऽवरणत्वेन, गोमयाऽऽद्युपलेपनेन च । उभयतो गुप्तत्वमेवाऽऽह-"गुत्ता" बहिःप्राकारावृता । "गुत्तदुवारा ।" अन्तर्गुप्तेत्यर्थः । अथवा-गुप्ता गुप्तद्वाराणां केषाञ्चित् स्थगितत्वात्, केषाञ्चिदस्थगितत्वादिति । "निवाया ।" वायोरप्रवेशात् । "निवायगंभीरा ।" किल महद् गृहं निवातं प्रायो न भवतीत्यत आह-"निवातगंभीरा ।" निर्वातविशालेत्यर्थः । " तीसे णं कूडागारसालाए अदूरसामंते एत्थ णं महं एगे जणसमूहे चिट्ठइ, तए णं से जणसमूहे एगं महं अब्भवद्दलयं वा वासवद्दलयं वा महावायं वा एज्जमाणं पासइ, पासइत्ता तं कूडागारसालं अंतो अणुपविसित्ता णं चिट्ठइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-सरीरगं गया, सरीरगं अणुपविट्ठ त्ति । " असाधुदर्शनेनेति, साधूनामदर्शनेन, अत एवापर्युपासनया अनासेवनया, अननुशासनया शिक्षाया अभावेन, अशुश्रूषणया श्रवणेच्छाया अभावेन, सम्यक्त्वपर्यवैः सम्यक्त्वरूपपरिणामविशेषैरेवं मिथ्यात्वं विशेषेण प्रतिपन्नः विप्रतिपन्नः, काष्ठकर्माणि दारुमयपुत्रिकाऽऽदिनिर्मापणानि । एवं सर्वत्र, नवरं पुस्तं वस्त्रं चित्रं लेप्यं च प्रसिद्धं, ग्रन्थिमानि यानि सूत्रेण ग्रथ्यन्ते, मालावत् । वेष्टिमानि वेष्टनतो निष्पाद्यन्ते, पुष्पमालालम्बूसकवत् । पूरिमाणि यानि पूरणतो भवन्ति, कनकाऽऽदिप्रतिमावत् । संघातिमानि संघातनिष्पाद्यानि, रथाऽऽदिवत् । उपदर्श्यमानानि लोकैरन्योऽन्यमित्यर्थः । (तालायरकम्मं ति) प्रेक्षणककर्मविशेषः । (तेगिच्छियसालं ति) चिकित्साशालामरोगशालां, वैद्या भिषग्वरा आयुर्वेदपाठकाः, वैद्यपुत्रास्तत्पुत्रा एव, (जाणुय त्ति) ज्ञायकाः, शास्त्रानध्यायिनोऽपि शास्त्रप्रवृत्तिदर्शनेन रोगस्वरूपतच्चिकित्सावेदिनः । कुशलाः स्ववितर्काच्चिकित्साऽऽदिप्रवीणाः । (वाहियाणं ति) व्याधितानां विशिष्टचित्तपीडावतां, शोकाऽऽदिविप्लुतचित्तानामित्यर्थः । अथवा-विशिष्टा आधिर्यस्मात्स व्याधिः स्थिररोगः कुष्ठाऽऽदिः, तद्वतां ग्लानानां क्षीणहर्षाणामशक्तानामित्यर्थः । रोगितानां संजातज्वरकुष्ठाऽऽदिरोगिणाम्, आशुघातिरोगाणां वा (ओसहमित्यादि) औषधमेकद्रव्यरूपं, भेषजं द्रव्यसंयोगरूपम् । अथवा-औषधमनेकद्रव्यरूपम्, भेषजं तु पथ्यम् । भक्तं तु भोजनमात्रम्, प्रतिचारककर्म प्रतिचारकत्वम् । (अलंकारियसभं ति) नापितकर्मशालाम् । (विसज्जिय इत्यादि) विसृष्टस्वेदजल्लमलपरिश्रमनिद्राक्षुत्पिपासाः । तत्र जल्लः स्थिरो मालिन्यहेतुः, मलस्तु स एव कठिनीभूत इति । राजगृहाद्विनिर्गतोऽपि च यत्र बहुजनः । (किं ते त्ति) किं तदित्याह-उच्यते-जलरमणैर्मज्जनक्रीडाभिः, विविधमज्जनैः बहुप्रकारस्नानैः, कदलीनां लतानां च गृहकैः, कुसुमस्र(प्र)स्तरैः, अनेकशकुनिगणरुतैश्च । कीदृशैः ?, रिभितैः स्वरघोलनावद्भिर्मधुरैरित्यर्थः । संकुलानि यानि तानि तथा तेषु, पुष्करिणीवनखण्डचतुष्केषु पञ्चसु वस्तुष्विति प्रक्रमः । (संतुयट्टो य त्ति) शयितः (साहेमाणो य त्ति) प्रतिपादयन् । (गमओ त्ति) पूर्वोक्तपाठः । (साया सोक्खं त्ति) सातानां सातवेदनीयोदयात् सौख्यं सुखम् । " सासे " इत्यादि श्लोकः प्रतीतार्थः, नवरम् (अजीरए त्ति) आहारापरिणतिः । (दिट्ठीमुद्धसूले त्ति) दृष्टिशूलं नेत्रशूलं, मूर्धशूलं मस्तकशूलम् । (अकारए त्ति) भक्तद्वेषः । " अच्छिवेयणा " इत्यादि श्लोकातिरिक्तम् । (कंडू त्ति) खर्जूः । (उदरे त्ति) उदरं, जलोदरमित्यर्थः । (सत्थकोसेत्यादि) शस्त्रकोशः क्षुरनखरदनाऽऽदिभाजनं, स हस्ते गतः स्थितो येषां ते तथा । एवं सर्वत्र । नवरं शिलिकाः किराततिक्ताऽऽदितृणरूपाः, प्रतलपाषाणरूपा वा शस्त्रादितीक्ष्णीकरणार्थाः । तथा-गुटिका द्रव्यसंयोगनिष्पादितगोलिकाः । औषधभेषजे तथैव । (उव्वलणेहीत्यादि) उद्वलनानि देहोपलेपनविशेषाः, यानि देहाद् हस्तामर्शनेनापनीयमानानि मलाऽऽदिकमाकर्षयन्तीति । उद्वर्त्तनानि तान्येव । विशेषस्तु लोकरूढितोऽवसेय इति । स्नेहपानानि घृतविशेषपक्वघृताऽऽदिपानानि । वमनानि प्रसिद्धानि । विरेचनान्यधोविरेकाः । स्वेदनानि सप्तधान्यकाऽऽदिभिः(?) । अवदहनानि दम्भनानि । अपस्नानानि स्नेहापनयनहेतुद्रव्यसंस्कृतजलेन स्नानानि । अनुवासना चर्मयन्त्रप्रयोगेणापानेन जठरे तैलप्रवेशनानि । वस्तिकर्माणि चर्मवेष्टनप्रयोगेण शिरःप्रभृतीनां स्नेहपूरणानि, गुदे वा वर्त्यादिक्षेपणानि । निरूहा अनुवासना एव, केवलं द्रव्यकृतो विशेषः । शिरावेधा नाडीवेधनानि, रुधिरमोक्षणानीत्यर्थः । तक्षणानि त्वचः क्षुरप्राऽऽदिना तनूकरणानि । प्रक्षणानि ह्रस्वानि त्वचो विदारणानि । शिरोवस्तयः शिरसि बद्धस्य चर्मकोशस्य संस्कृततैलापूरलक्षणाः । प्रागुक्तानि वस्तिकर्माणि सामान्यानि, अनुवासनानिरूहशिरोवस्तयस्तु तद्भेदाः । तर्पणानि स्नेहद्रव्यविशेषैर्बृंहणानि । पुटपाकाः कुष्ठिकानां कणिकावेष्टितानामग्निना पचनानि । अथवा-पुटपाकाः पाकविशेषनिष्पन्ना औषधविशेषाः । छल्लयो रोहिणीप्रभृतयः, वल्लयो गुडूचीप्रभृतयः । कन्दाऽऽदीनि प्रसिद्धानि । एतैरिच्छन्ति एकमपि रोगमुपशमयितुमिति । (निबद्धाउए त्ति) प्रकृतिस्थित्यनुभागबन्धापेक्षया । (बद्धपएसिए त्ति) प्रदेशबन्धापेक्षयेति । (अंतनिग्घाइए त्ति) निर्घातितान्तः । (सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि) इत्यनेन यद्यपि सर्वग्रहणम्, तथाऽपि तिरश्चां देशविरतिरेव ।

इहार्थे गाथे-

" तिरियाणं चारित्तं, निवारियं अह तओ पुणो तेसिं ।
सुव्वइ बहुयाणं पि य, महव्वयारोहणं समए ॥ १ ॥
न महव्वयसब्भावे, विचरणपरिणामसंभवो तेसिं ।
न बहुगुणाणं पि जओ, केवलसंभूइपरिणामो ॥ २ ॥ " इति ।

इह यद्यपि सूत्रे उपनयो नोक्तस्तथाऽप्येवं द्रष्टव्यः-

"संपन्नगुणो वि जओ, सुसाहुसंसग्गिवज्जिओ पायं ।
पावइ गुणपरिहाणिं, दद्दुरजीवो व्व मणियारो ॥१॥ " त्ति ।

अथवा--

" तित्थयरवंदणत्थं, चलिओ भावेण पावए सग्गं ।
अह दद्दुरदेवेणं, पत्तं वेमाणियसुरत्तं ॥ ४ ॥ " इति ।

ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । सेडुकस्य ब्राह्मणस्य स्वसमेतजीवे, आ० क० । (' सेडुय ' शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः)

दद्दुरवडिंसग-दर्दुरावतंसक-न० । दर्दुरदेवाधिष्ठिते विमाने, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

दप्प-दर्प-पुं० । दृप्-घञ्, अच् वा । निष्कारणेऽनाचारे, व्य० ४ उ० । अत्यन्तं कामभोगे, नि० चू० १ उ० । माने, स० ५१ सम० । धृष्टतायाम्, भ० १२ श० ५ उ० । अष्टमे गौण ब्रह्मणि, दर्पो देहदमना, तज्जनकत्वात्तस्य दर्पं इत्युच्यते । आह च--"रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा हवंति । दित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुमं जहा साउफलं तु पक्खी ॥ १ ॥ " अथवा-दर्पः सौजन्याऽऽत्माभिमानः, तत्र भवं चेदं, न हि प्रशामादिन्द्रियाणां पुरुषस्याब्रह्मप्रवृत्तिः सम्भवतीति दर्प एवोच्यते । तदुक्तम्-"प्रशान्तवाहिचित्तस्य, सम्भवन्त्यखिलाः क्रियाः । मैथुनव्यतिरेकिण्यो, यदि रागो न मैथुनं ॥ १ ॥ " प्रश्न० ४ संव० द्वार । स्त्रीणां मानमर्दनादुत्पन्ने गर्वे, उत्त० १ अ० । धावनवल्गनादिवनाऽऽदौ, जीत० । पञ्चा० । ध० । "दप्पो पुण होइ वग्गणाईओ । " इति । व्य० १० उ० । " जो अणेगव्वायामजोग्गं वग्गणाऽऽदिकिरियं करेति णिक्कारणे सो दप्पो । " नि० चू० १ उ० । प्रमादे , नि० चू० ।

" दस दारा दप्पे " इत्यस्य व्याख्या-

वायामवग्गणाऽऽदी, णिक्कारणधावणं तु तह चेव ।
कायाऽपरिणयगहणं, अकप्पं जं वा अगीतेणं ॥४६४॥

वायामो जहा-लगुडभमाडणं, उवलयकट्ठाणं वग्गणं, मल्लवत् । आदिसद्दग्गहणा बाहुजुद्धकरण, वाधरारूवणं । णिक्कारणेण धावणं अबुयणपयाणं । दप्पो गतो । नि० चू० १ उ० ।

दप्पण-दर्पण-पुं० । पुरुषप्रतिबिम्बदर्शनाऽऽधारे, वाच० । आदर्शे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । पं० व० । नि० चू० । प्रश्न० । जं० । आ० चू० । रा० ।

दप्पणिज्ज-दर्पणीय-त्रि० । बलकरे, उत्साहवृद्धिकरे च । स्था० ६ ठा० । कल्प० । ज्ञा० । औ० । प्रज्ञा० । जी० ।

दप्पपडिसेवणा-दर्पप्रतिसेवना-स्त्री० । आगमप्रतिषिद्धप्राणातिपाताऽऽद्यासेवायाम, स्था० १० ठा० । नि० चू० । (विस्तरस्तु ' पडिसेवणा ' शब्दे वक्ष्यते)

दप्पिय-दर्पित-त्रि० । दृप्ते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । दर्पाद्विराधका भवन्ति ज्ञानाऽऽदीनाम् । नि० चू० १ उ० । दर्पयति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दप्पुल्ल-दर्पवत्-त्रि० । " आल्विल्लोल्लाल--वन्त-मन्तेत्तेर--मणा मतोः " ॥ ८ । २ ॥ १५६ ॥ इति मतोः स्थाने उल्लाऽऽदेशः । दृप्ते, प्रा० २ पाद ।

दब्भ-दर्भ-पुं० । ' दभ ' ग्रन्थे । घञ् । वाच० । समूले कुशे, समूला दर्भाः, अमूलाः कुशाः । भ० ८ श० ६ उ० । आ० म० । आचा० । नि० । विपा० । न० । अन्त० । प्रज्ञा० । दर्भैरमूलैः कुशैर्मूलभूतैर्जात्या दर्भकुशभेद इत्यन्ये । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । " कुशाः काशाः बल्वजाश्च, तथाऽन्ये तृणगोमशाः । मौञ्जाश्च शाद्वलाश्चैव, षट् दर्भाः परिकीर्तिताः ॥ १ ॥ " इत्युक्तेषु काशाऽऽदिषु षट्सु तृणेषु, वाच० ।

दब्भपुप्फ-दर्भपुष्प-पुं० । दर्वीकरसर्पविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । प्रश्न० ।

दब्भय-दर्भक-पुं० । समूले कुशे, भ० १८ श० १ उ० ।

दब्भवण-दर्भवन-न० । दर्भकानने, "आलणाहिं किं ते असिवणं दब्भवणं ? । " दर्भवनं प्रतीतं, दर्भपत्राणि छेदकानि, तदग्राणि च भेदकानि भवन्तीति तद्घातनाहेतुत्वेनोक्तम् । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दब्भवत्तिय-दर्भवर्तित-पुं० । न० । दर्भिणः शरीरविकर्तने, दशा० ६ अ० ।

दब्भविज्जा-दर्भविद्या-स्त्री० । रोगप्रतीकरणविद्याभेदे, अन्या यत्रे दर्भविषया जवति विद्या, यथा दर्भैरपमृज्यमान आतुरः प्रगुणो भवति । व्य० ५ उ० ।

दब्भियायण-दार्भ्यायण-पुं० । दर्भगोत्रापत्ये, " चित्ता णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । दब्भियायणसगोत्ते पण्णत्ते । " सू० प्र० १० पाहु० । जं० । चं० प्र० ।

दम-दम-पुं० । दम-घञ् । इन्द्रियनिग्रहे, प्रश्न० ४ संव० द्वार । स० । इन्द्रियोपशमे, नं० । आचा० । उत्त० । दाके, बाह्येन्द्रियाणां स्वेयविषयव्यतिरिक्तेभ्यो निवर्त्तने, "निग्रहो बाह्यवृत्तीनां, दम इत्यभिधीयते । " इत्युक्ते बाह्येन्द्रियव्यापाररोधे विकारहेतुसन्निधानेऽपि मनसः स्थैर्ये, "कुत्सितात्कर्मणो विप्र !, यच्च चित्तनिवारणम् । स कीर्तितो दमः, " इत्युक्ते कुकर्मभ्यो मनसो निवारणे, कर्दमे, दमने च । वाच० ।

दमग्ग-पुं० । देशी-दरिद्रे, दे० ना० ५ वर्ग ३४ गाथा ।

दमग-दमक-पुं० । हस्त्यश्वाऽऽदीनां प्रथमं विनयग्राहके, नि० चू० ११ उ० ।

द्रमक-पुं० । दुर्गते, रङ्के, व्य० ३ उ० । दरिद्रे, नि० चू० १५ उ० । आ० म० । आ० क० । बृ० । ज्ञा० । विशे० । आव० । द्रमको नाम दरिद्रो भूत्वा यः प्रव्रजति । बृ० १ उ० ।

दमगभत्त-द्रमकभक्त-न० । रङ्कभ्यो दीयमाने भक्ते, नि० चू० ६ उ० ।

दमघोस-दमघोष-पुं० । शिशुपालपितरि, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । वसुदेवस्वसुः पत्यौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

दमण-दमन-न० । उपतापे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । पशूनां शिक्षाग्रहणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दमणग-दमनक-पुं० । पुष्पजातिविशेषे ' दमना ' इतिख्याते, प्रश्न० ५ संव० द्वार । रा० । गन्धद्रव्यविशेषे च । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । आ० म० । " दमणगपुडाण वा । " जं० १ वक्ष० । रा० ।

दमणा-दमना-स्त्री० । गन्धद्रव्यविशेषे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दमदंत-दमदन्त-पुं० । स्वनामख्याते हस्तिशीर्षकपुराधिपतौ, येन हस्तिनागपुरं रुद्धम् । आ० म० ।

अथ दमदन्तसंबन्धो यथा-" अत्थि तिमुहपुरं पि व विबुह-जणसमाइण्णं उवट्ठुणं व पुन्नागपडिपुन्नपयारोवरि दिप्पंतरयकं-विसीसं हत्थिसीसं नाम नयरं । " जत्थ धुवं वणियाणं, ववहार-पराण अइसमिद्धाणं । वणियारयाण लीलं, घणओ वि न पावए कह वि ॥ १ ॥ " तत्थ समरचत्तरवेरिवारपेरियदंतिभग्गदंतो दमदंतो नाम राया । " कित्ती रणहयरिउनय-संजुया जस्स चंदकरसरिसा । रज्झं करेइ दुज्जण-जणमणदहणं हुयासु व्व ॥ १ ॥ " अन्नया सो दमदंतराया तिखंडभरहेसरं दुद्धरवेरि-रायपडिवासुदेवं सेवेउं रायगिहं नगरं गओ । तम्मि समए ह-त्थिणाउराओ नीहरिऊण सपरियणेहिं पंडवेहिं तस्स देसो ढलं लाहिय लूसिओ । इमं सरूवं दमदंतरण्णा रायगिहाओ वलिएण सुणिऊण परमं पओसमुव्वहंतेण नासियदिसेणं नियसिन्नेण सह हत्थिणाउरं समंतओ, जंबुद्दीवं पि व लवणसायरेणं, वेढियं । त-ओ सो दूयमुहेणं पंडवे विन्नवेइ-अम्ह देसो तुम्हेहिं वीरजणग-रहणिज्जेण छलेण लूसिओ, न बलेण । जओ-" छलमुचियं की-वाणं, कीवाण वयं णियनिरहिए ठाणे । बलवंताण नराणं, न एस मग्गो सुवंसाणं ॥ १ ॥ " ता जइ तुम्हाण पयरं सुयदंड-बलमत्थि, तो पुराओ निग्गंतूण दमपरक्कमपरिसासिहाए सन्नभ-डीलमुव्वहह । तओ एवंविहं दूएण तज्जिया अवि पंडवा भयभीया न नीहरिया सनयराओ जुज्झिउं । तओ बहुदि-णरोहणनिव्विण्णो दमदंतो हत्थिसीसपुरं गओ एवं चिं-तिऊण-" खत्तियकुलब्भवाणं, समुदपत्ताण सिंहपोय व्व । जुज्झं काउं उचियं, अन्नह अजसो फुरइ लोए ॥ १ ॥ " इओ य नाएणं रज्जं पालयंतो दमदंतो कइवयदिणेहिं धइकंते-हिं सिरिनेमिनाहसीससिरिधम्मघोससूरिवयणगहसंजूयपभू-यसंवेगरसरंगंतरंगिणीए धम्मदेसणाए एहाऊण विगय-पावलंतावो रज्जमकज्जं, भंडारे कारागारे, पेयसीओ रक्ख-सीओ, विसए विसे, चउरंगसाहणं दुग्गइसाहणं व मन्नंतो संवेगं गओ संसारसुहमुज्झिय वज्जियसव्वसावज्जकज्ज-मणवज्जं पव्वज्जं पडिवज्जइ । तओ रायरिसी कमेण गी-यत्थो होउं विहरंतो पंडवराजिए हत्थिणाउरे गोउरदुवारे मेरु व्व निप्पकंपो पडिमं ठिओ । तम्मि समए रायवाडियाए निग्गच्छंतेहिं पंचहिं पंडवेहिं पलोइय वाहणेहिं उत्तरिय न-मंसिओ जावसारं मुणीसरो । अहो ! दुक्करकारओ एस राय-रिसी इय अभिनंदिय पुरओ पत्थिएसु तेसु तत्थ आगओ सपरियणो पयईए दुज्जणो दुज्जोहणो, तं मुणिं पिक्खिय अ-णेण अम्हाणं फुरपुरसागयं किंपिलद्धरसमवहारियं, पुव्व-वइरमणुसरंतो मायंगेण ताडेइ, तब्भावं मुणंतेण तप्परिय-णेण पाहाणखंडेहिं आहणिऊण सिट्ठुरासी कओ, रायवाडीए वलिएण जुहिट्ठिररण्णा तत्थ तं मुणिमपिच्छंतेण तट्ठाणे सिट्ठु-रासिं पलोयंतेण नियपरियणो पुट्ठो-कहिं विहरिओ स मह-प्पा धम्मकप्पवुक्खकप्पो ?। तेणावि दुज्जोहणवुत्तंतो तप्पुरओ वु-त्तो । तं सुणिय अईव अधिइं कुणंतो पायकेहिं सिट्ठुरासिं दूरे काराविय अंगसंवाहणेहिंतो अंगं सज्जं निम्मविय सयं तं मुणिवरं खामिय पत्तो पासायं जुहिट्ठिरनरवरो । दमदंतो वि संवेगवेगेण एवं भावेइ-" एस मे सासओ अप्पा, नाणदंसण-संजुओ । सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥१॥ " तओ स कोरवेसु अवकारकारिसु, पंडवेसु य उवयारपरेसु सम-चित्तवित्तिं धारेइ । अह जुहिट्ठिररण्णो सेवाऽवसराऽऽगयं दुज्जो-हणं एवं निब्भत्थेइ-अरे कुमार ! अंगीकयमायंगायार ! इहभ-वपरभवदुगंछणिज्जं मुणिवरावमाणणं किं तए कयं ?, अइया किं तुमं कत्थ वि गओ आसि, किं वा तस्स परक्कमं गीयमाणं न तए सुयं, जइया तेन वेढियं तुम्हा हत्थिणाउरं ?, अणेण य रायरिसिणा पुव्विं पंचावि वयं जिया, संपइ पुण पंच वि इंदिया । धरिओ य दुद्धरो महव्वयभारो, अतो को तं निज्जि-णिउं सक्कइ, तओ सो वि रायरिसी तं दुस्सहं परिसहं सहंते संवेगावेसेण झाणंतरियं पडिवज्जिय गुणसेणिमारुहिय सं-पत्तकेवलनाणो सिवपुरं गओ । " वुत्तंतमेयं दमदंतसाहुणो, चित्ते निसित्ता सममित्तसत्तुणो । संवेगरंगंगणनट्टसोलया, हवेह सिद्धिं परिणेह लीलया ॥ १ ॥ " ॥ ९७ ॥ ग० २ अधि० । आ० क० । आ० चू० । आ० म० ।

दमदमाय-दमदमाय-नामधा० । आडम्बरकरणे, अदमद् दम-दूवनि । " अव्यक्तानुकरणादनेकस्वरात् कृभ्वस्तिना अनितौ द्विश्च " ॥ ७ । २ । १४५ ॥ (हैम०) इति डाच्प्रत्ययः, दमदद्-द्विर्वचनं च । " डाच्यादौ " ॥ ७ । २ । १४९ ॥ (हैम०) इति तलुक् । " डित्यन्त्यस्वराऽऽदेः " ॥ २ । १ । ११४ ॥ (हैम०) इत्यन्तलुक् । " डाच्लोहिताऽऽदिभ्यः षित् " ॥ ३ । ४ । ३० ॥ (हैम०) इति क्यच्प्रत्ययः । " क्यङोर्यलुक् " ॥ ८ । ३ । १३८ ॥ इतिक्यजन्तसम्बन्धिनो यस्य लुक् । 'दमदमाइ ।' 'दमदमाअइ ।' दमदमायति । प्रा० ३ पाद ।

दमय-द्रमक-पुं० । कर्मकरे, बृ० १ उ० ।

दमयंती-दमयन्ती-स्त्री० । भीमपुत्र्यां नलनृपमहिष्याम्, ती० । (कथाऽन्यत्र)

दमसायर-दमसागर-पुं० । दम इन्द्रियदमोऽर्थात् चारित्रम् । द-म एव दुस्तरत्वात् सागर इव दमसागरः । तरितुमशक्यत्वात् सागरकल्पे दमे, उत्त० १६ अ० ।

दमिड-द्रविड-पुं० । देशभेदे, तद्देशस्थे च । वाच० । नं० । प्रव० ।

दमिल-द्रमिल-पुं० । अनार्यक्षेत्रे, तज्जे मनुष्ये च । प्रश्न० १ पद । नि० चू० । सूत्र० । प्रव० ।

दमिला-द्रमिला-स्त्री० । अनार्यदेशोत्पन्नायां योषिति, भ० ९ श० ३३ उ० ।

दमी-दमिन्-पुं० । दमो विद्यते येषां ते दमिनः । उपशमवत्सु साधुषु, उत्त० १६ अ० । जितेन्द्रिये, उत्त० २२ अ० । उद्वृत्त-दमनशील च । उत्त० १६ अ० ।

दमीसर-दमीश्वर-पुं० । दमो विद्यते येषां ते दमिनो जिते-न्द्रियाः, तेषामीश्वरो दमीश्वरः । उपशमवतां साधूनामैश्वर्य-धारिणि, उत्त० १६ अ० ।

दमेयव्व-दमितव्य-त्रि० । वशीकर्तव्ये, उत्त० १ अ० ।

दम्म-दम्य-त्रि० । दमनयोग्ये, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० । दश० । आ० क० ।

द्रम्म-पुं० । पणषोडशके, वाच० ।

दय-न० । देशी-जले, शोके, दे० ना० ५ वर्ग ३३ गाथा ।

दयपत्त-दयाप्राप्त-त्रि० । प्राप्तकरुणागुणे, औ० । दयाकारिणि च । स्था० ६ ठा० । रा० ।

दया-दया-स्त्री० । दय-भिदा०-अङ् । " यस्मादपि परक्लेशं, हर्तुं या हृदि जायते । इच्छा भूमिसुरश्रेष्ठ !, सा दया परिकी-

लिता ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे दण्डभेदे, वाच० । कृपायाम्, द्वा० २४ अष्ट० । आचा० । स० । सूत्र० । अनुकम्पायाम्, दश० ९ अ० १ उ० । आव० । प्रश्न० । जीवरक्षायाम्, दश० १ अ० । स्वव्यापारपरव्यापारप्राणरक्षणायाम्, अष्ट० २७ अष्ट० । दुःखितजन्तुदुःखत्राणाभिलाषे, ध० १ अधि० । "न तद्दानं न तद्ध्यानं, न तज्ज्ञानं न तत्तपः । न सा दीक्षा न सा भिक्षा, दया यत्र न विद्यते ॥ १ ॥" संथा० ।

दयाइअ–न० । देशी–रक्षिते, दे० ना० ५ वर्ग ३५ गाथा ।

दयालु–दयालु–त्रि० । दय–आलुच् । कृपायुक्ते, वाच० ।

दयावत्–त्रि० । "आल्विल्लोल्लाल-वन्तमन्तेत्तेर-मणा मतोः" ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इति मतोः स्थाने आलु इत्यादेशः । प्रा० २ पाद । सघृणे, दर्श० ४ तत्त्व । सत्त्वानुकम्पके, ध० र० । दुःखितजन्तुत्राणाभिलाषुके, प्रव० २३९ द्वार ।

सम्प्रति दशमं गुणं प्रविकटयिषुराह-

मूलं धम्मस्स दया, तयणुगयं सव्वमेवऽणुट्ठाणं ।
सिद्धं जिणिंदसमए, मग्गिज्जइ तेणिह दयालू ॥१७॥

मूलमाद्यं कारणं धर्मस्योक्तनिरुक्तस्य दया प्राणिरक्षा । यदुक्तं श्रीआचाराङ्गसूत्रे-"से बेमि जे अईया, जे पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंता ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पन्नवेंति, एवं परूवयंति-सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परितावेयव्वा, न उवद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे निइए सासए समिच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेइए ।" इत्यादि । अतोऽस्या एव रक्षार्थं शेषव्रतानि । तथा चाऽन्यत्रापि-"अहिंसैव मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी । अस्याः संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥१॥" इति । अत एव तदनुगतं जीवदयासङ्गतं सर्वमेव विहाराऽऽहारतपोवैयावृत्त्याऽऽदि सदनुष्ठानं, सिद्धं प्रतीतं, जिनेन्द्रसमये पारगतगदितसिद्धान्ते । तथा चोक्तं श्रीशय्यंभवसूरिपादैः-"जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए । जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥१॥" (दश०) इति । अन्यैरप्युक्तम्-"न सा दीक्षा न सा भिक्षा, न तद्दानं न तत्तपः । न तद् ज्ञानं न तद् ध्यानं, दया यत्र न विद्यते ॥ १ ॥" इति । मृग्यते अन्विष्यते तेन कारणेनेह धर्माधिकारे दयालुर्दयाशीलः । स हि किल स्वल्पस्याऽपि जीववधस्य यशोधरजीवसुरेन्द्रदत्तमहाराजस्येव दारुणविपाकमवबुध्यमानो न जीववधे प्रवर्त्तते इति ॥ १७ ॥ ध० र० ।

दयावण–पुं० । देशी–दीने, दे० ना० ५ वर्ग ३५ गाथा ।

दयासूरि–दयासूरि–पुं० । द्रव्यानुयोगार्थोपदेशके तपागच्छप्रधाने स्वनामख्याते सूरौ, द्रव्या० १५ अध्या० ।

दर–दर–अव्य० । ईषदर्थे, अर्द्धार्थे च । "दरार्द्धाल्पे" ॥ ८ । २ । २१५ ॥ दर इत्यव्ययमर्द्धार्थे ईषदर्थे च प्रयोक्तव्यम् । "दरविअसिअं ।" अर्द्धेनेषद्वा विकसितमित्यर्थः । प्रा० २ पाद । प्रव० । विशे० । न्यूनतायाम्, दरा द्विविधाः । तद्यथा-पेट्टदराः, धान्यभाजनदराश्च । पेट्टमुदरं, तद्रूपा दराः पेट्टदराः । धान्यभाजनानि कटपल्यादयः, तान्येव दरा धान्यभाजनदराः । बृ० १ उ० । नि० चू० । गर्त्ते, दे० ना० ५ वर्ग ३३ गाथा ।

दरंदर–पुं० । देशी–उल्लासे, दे० ना० ५ वर्ग ३७ गाथा ।

दराजिमिअ–दराजिमित–त्रि० । अर्द्धभुक्ते, बृ० ३ उ० ।

दरादिण्ण–दरदत्त–त्रि० । ईषद्वितीर्णे, पञ्चा० १० विव० ।

दरपट्ठाविय–दरप्रस्थापित–त्रि० । अर्द्धप्रस्थापिते, नि० चू० १६ उ० ।

दरमत्त–पुं० । देशी–बलात्कारे, दे० ना० ५ वर्ग ३७ गाथा ।

दरवंदिय–दरवन्दित–न० । द्वात्रिंशद्वन्दनकदोषे, "देसीकहविसंते, करेति दरवंदियं कुंचो ।" देशीकथावृत्तान्तान् यत्र करोति तद्धि परिकुञ्चितम् । बृ० ३ उ० ।

दरविंदर–पुं० । देशी–दीर्घे, विरले च । दे० ना० ५ वर्ग ५२ गाथा ।

दरसण–दर्शन–न० । मते, यथा-" आगारमावसंता वा, अरण्णे वा वि पव्वया । इमं दरसणमावन्ना, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥ १ ॥" सूत्र० ।

दरसणिज्ज–दर्शनीय–त्रि० । द्रष्टुं योग्ये, चं० प्र० १८ पाहु० । पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यति तस्मिंश्च । भ० ३ श० ५ उ० ।

दरहिंडिय–दराहिण्डित–त्रि० । अर्द्धपर्यटिते, बृ० ४ उ० ।

दरिअ–पुं० । देशी–दृप्ते, दे० ना० ५ वर्ग ३५ गाथा ।

दरिद्द–दरिद्र–त्रि० । धनविहीने, स्था० ४ ठा० ३ उ० । अनीश्वरे, दुःस्थे च । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

दरिद्दकुल–दरिद्रकुल–न० । अनीश्वरे, स्था० ८ ठा० । निर्धनकुले च । कल्प० ३ क्षण ।

दरिद्दथेर–दरिद्रस्थविर–पुं० । कृताङ्गलानगरीवास्तव्ये समहिते लाऽऽरम्भे स्वनामख्याते स्थविरे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दरिद्दीहूय–दरिद्रीभूत–त्रि० । अदरिद्रे दरिद्रतां गते, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

दरिय–दृप्त–त्रि० । दृप–क्तः । "अरिर्दृप्ते" ॥ ८ । १ । १४४ ॥ दृप्तशब्दे ऋतोऽरिरादेशो भवति । 'दरिओ' । प्रा० १ पाद । "दृप्ते" ॥ ८ । २ । ९६ ॥ दृप्तशब्दे शेषस्य द्वित्वं न भवति । "समधम्मिअ ! बीसत्थो, सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण । गोलाणईकच्छकुंज-वासिणा दरियसीहेण ॥१॥" (इति गाथासप्तशत्याम्) प्रा० २ पाद । गर्विते, वाच० । औ० । दर्पाऽऽध्माते, रा० । प्रश्न० । "दरियनागदप्पमहणा ।" दृप्तनागदर्पमथना । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

दरियमह–दृप्तमह–पुं० । विशिष्टे काले दर्पात्पूजायाम्, आचा० २ श्रु० १ अ० १ चू० १ उ० ।

दरिस–दृश्–(श्)धा० । चाक्षुषज्ञाने, भ्वा०–पर०–सक०–अनिट् । वाच० । "दृशाऽऽदीनामरिः" ॥ ८ । ४ । २३५ ॥ इति दृशेर्दरिः । 'दरिसइ ।' प्रा० ४ पाद । पश्यति । अदर्शत्, अद्राक्षीत् । वाच० । "दर्शं दर्शं सुरूपां कामि ।" आ० क० ।

दरिसण–दर्शन–न० । "र्शर्षतप्तवज्रे वा" ॥ ८ । २ । १०५ ॥ इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारो वा भवति । 'दरिसणं ।' 'दंसणं ।' प्रा० २ पाद । सम्यक्त्वे, आ० क० । आतु० । आगमे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । संवेदने, स० १० सम० । प्रकाशने, स० ५ अङ्ग । आलोकने, स० । वाक्ये च । स० ६ अङ्ग ।

दरिसणरइय–दर्शनरतिक–त्रि० । दर्शने आलोकने रतिर्यस्मिन् स दर्शनरतिकः । दिदृक्षणीये, रा० ।

दरिसणावरणिज्ज-दर्शनाऽऽवरणीय-न० । दर्शनं सामान्यार्थबोधरूपमावृणोतीति दर्शनाऽऽवरणीयम् । दर्शनाऽऽवरणकर्मणि, स्था० । उक्तं च-"दंसणसीले जीवे, दंसणघायं करेइ जं कम्मं । तं पडिहारसमाणं, दंसणावरणं भवे जीवे ॥ १ ॥" इति । स्था० २ ठा० ४ उ० । (अस्य सर्वा वक्तव्यता 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २५१ पृष्ठे द्रष्टव्या)

दरिसणिज्ज-दर्शनीय-त्रि० । दर्शनाय चक्षुर्व्यापाराय हितं दर्शनीयम् । औ० । यं पश्यंश्चक्षुषा श्रमं न गच्छति तस्मिन्, स० । ज्ञा० । नि० । विपा० । दर्शनयोग्ये, जं० १ वक्ष० । रा० । प्रज्ञा० । रूपातिशये, भ० म० १ श० १ उ० । आचा० । रा० । सू० प्र० । औ० । शोभने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

दरिसयंत-दर्शयत्-त्रि० प्रकटयति, स० २ अङ्ग ।

दरिसावण-दर्शन-न० । कृपायां प्रेरणे, आव० १ अ० ।

दरी-दरी-स्त्री० । पर्वतकन्दराविशेषे, भ० ३ श० ४ उ० । ज्ञा० । जं० । आचा० । आव० । शृगालाऽऽद्युत्कीर्णभूमिविशेषेषु, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । मूषिकाऽऽदिकृतायां लघ्व्यां खड्डायाम, जं० २ वक्ष० ।

दरुम्मिल्ल-न० । देशी-घने, दे० ना० ५ वर्ग ३७ गाथा ।

दल-दद्-धा० । दाने, "दस्यडः, रुस्य लः । 'दलइ ।' सूत्र०१ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आचा० । अंग० ।

दल-न० । दल-अच् । पत्रे, विशे० । भागे, पं० सं० ५ द्वार । उपादानकरणे, पञ्चा० ७ विव० । ध० । जिनभवननिष्पत्त्यङ्गके, दर्श० १ तत्त्व । शस्त्रच्छेदे, अपकृष्टद्रव्ये, तमालपत्रे, उच्चतायाम्, पङ्के, अर्द्धे च । वाच० । खण्डे, विशे० । उत्सेधवद्वस्तुनि च । पुं० । वाच० ।

दलयित्ता-दत्त्वा-अव्य० । दानं कृत्वेत्यर्थे, आचा०२ श्रु० ३ चू० ।

दलंती-दलयती-स्त्री० । घरट्टेन गोधूमाऽऽदिचूर्णयन्त्याम, पिं० ।

दलयमाण-ददत्-त्रि० । दानं कुर्वति, स्था० ३ ठा० १ उ० । "हत्थतालं दलयमाणे ।" हस्तेन ताडनं हस्ततालः, तं "दलयमाणे" ददत् यष्टिमुष्टिलकुटाऽऽदिभिर्मरणाऽऽदिनिरपेक्ष आत्मनः परस्य वा प्रहरन्निति भावः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । "अत्थादाणं दलमाणे त्ति ।" अर्थादानं द्रव्योपार्जनकारणमष्टाङ्गनिमित्तं ददत् प्रयुञ्जान इत्यर्थः । स्था० ३ ठा०४ उ० ।

दलागणि-दलाग्नि-पुं० । दलानि पत्राणि तेषामग्निस्तद्दहनप्रवृत्तो वह्निः तस्मिन् , स्था० ७ ठा० ।

दलिअ-न० । देशी-निकूणिताक्षे, दे० ना० ५ वर्ग ५२ गाथा ।

दलिद्द-दरिद्र-पुं० । दरिद्रा-अच् आलोपः । वाच० । 'हरिद्राऽऽदौ लः" ॥ ८ । १ । २५४ ॥ इत्यसंयुक्तस्य रस्य लः । प्रा० १ पाद । निर्धने, दीने च । वाच० ।

दलिय-दलिक-न० । यां प्रकृतिं बध्नाति जीवस्तदनुभावेन प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकम् । तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ० । पं० सं० । परमाण्वात्मके, पं० सं० ५ द्वार । वस्तु दलिकं द्रव्यं योग्यमर्हमित्यनर्थान्तरम् । आ० म० १ अ० २ खण्ड । विशे० ।

दव-दव-पुं० । दुनोति-दु-अच् । वने, वाच० । वनानले च । दर्श० १ तत्त्व । प्रव० । उत्त० । भावे-अप् । उपतापे, वाच० ।

द्रव-पुं० । द्रु-अप् । रसे, वेगे, गतौ, पलायने, परिहासे, वाच० । जले, पिं० । विकृतिविशेषे, आव० ६ अ० । सप्तदशविधे संयमे च, कर्मकाठिन्यद्रवणकारित्वाद् विलयहेतुत्वाच्च । आचा० १ श्रु० १ अ०७ उ० । सूत्र० । पानके, बृ० १ उ० । यच्च क्षीरादिं द्रवाऽऽदिकमलेपकृतं, यच्च दुग्धतैलवसाद्रवघृताऽऽदिकं लेपकृतं तदुभयमपि द्रवमित्युच्यते । बृ० ५ उ० । नि० चू० । गरुडे, दे० ना० ५ वर्ग ३३ गाथा ।

दवकर-द्रवकर-त्रि० । परिहासकारिणि, भ० ७ श० ३३ उ० । औ० ।

दवकारी-द्रवकारी-स्त्री० । परिहासकारिण्याम् , भ० ११ श० ११ उ० ।

दवगंधित्त-द्रवगन्धित्व-न० । द्रवस्य गूथस्य कुथितस्येवाऽऽद्रिव गन्धो यस्यास्ति । तस्मिन्, ध० १ अधि० ।

दवगुड-द्रवगुड-पुं० । अपिण्डीकृते आर्द्रगुडे, प्रव० ४ आश्र० द्वार । पं० व० ।

दवग्गि-द (दा) वाग्नि-पुं० । दवस्य वनस्य अग्निः दवाग्निः । वाच० । "वाऽव्ययोत्खाताऽऽदावदातः" ॥ ८ । १ । ६७ ॥ इति आदेराकारस्य अत्वम् । "दवग्गी । दावग्गी ।" प्रा०१ पाद । वनोद्भवेऽग्नौ, औ० । प्रश्न० । उत्त० । "दवग्गिजालाभिहए" जी० १ प्रति० । "दवग्गिणा" दवाग्निना वह्निज्वालनेन निर्दयं यथा भवति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दवग्गिकम्म-दवाग्निकर्म-न० । क्षेत्ररक्षानिमित्तं वने दवदाने,यथोत्तरापथे दग्धे हि तत्र तरुणं तृणमुत्तिष्ठति । पञ्चा०१ विव० ।

दवग्गिदाण-दवाग्निदान-न० । भूमिषु तरुणतृणरोहणार्थं वने क्रियमाणे दवकर्मणि, ध० २ अधि० ।

दवग्गिदावणया-दवाग्निदापनता-स्त्री० । दवाग्नेर्दवस्य दापनं दानं प्रयोजकत्वमुपलक्षणत्वाद्दानं च दवाग्निदापनं, तदेव प्राकृतत्वात् "दवग्गिदावणया ।" कर्मन उपभोगपरिभोगव्रतातिचाररूपाणां पञ्चदशकर्मादानानामन्यतमे, (भ० ८ श० ५ उ० । आ०) क्षेत्राऽऽदिशोधनार्थमग्नेर्वनाग्नेर्वितरणे, उपा० १ अ० । आव० ।

दवण-द्रवन-न० । याने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

दवणमग्ग-द्रवनमार्ग-पुं० । द्रवनमिति यानं, तन्मार्गो द्रवनमार्गः । तस्मिन्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

दवदप्पसील-द्रुतदर्पशील-त्रि० । असमीक्ष्य कारिणि, पं० व० ४ द्वार ।

भामइ दुअं दुअं ग-च्छए अदरितो व गोविसो सरए ।
सव्वदुयदुयकारी, फुट्टइ व ठिओ वि दप्पेणं ॥४६०॥

द्रुतं द्रुतम् असमीक्ष्य संभ्रमाऽऽवेशवशाद्यो भाषते,यश्च द्रुतं द्रुतं गच्छति । क इवेत्याह-शरदि दर्पित इव वृषांकुर इव गोवृषो बलीवर्द्दाविशेषः । शरदि हि प्रचुरचारिप्राणतया,मक्षिकाऽऽद्युपद्रवरहिततया च गोवृषो मदोद्रेकाद्धिक्कूलः पर्यटनीयवमसावपि निरङ्कुशस्त्वरितं त्वरितं गच्छति, एवं सर्वद्रुतद्रुतकारी प्रत्युपेक्षणाऽऽदीनां सर्वासामपि क्रियाणामतित्वरितकारी, स च दर्पेण तीव्रमदोद्रेकवशात् स्फुटतीव स्थितोऽपि सन् गमनाऽऽदिकां क्रियामकुर्वन्नपि इत्यर्थः । एव द्रुतदर्पशील उच्यते । बृ० १ उ० ।

दवदव–द्रुतद्रुतम्–अव्य०। त्वरिते, दशा०१ अ०। नि० चू०। बृ०।

दवदवचारि (न्)–द्रुतद्रुतचारिन्–पुं०। द्रुतगमनशीले, दशा० १ अ०। आव०। स०। आ० चू०। ('असमाहिठाण' शब्दे प्रथमभागे ८४२ पृष्ठे प्रतिपादितमस्य स्वरूपम्)

दवदाण–दवदान–न०। दवस्य दवाग्नेस्तृणाऽऽदिदहननिमित्तं दानं वितरणं दवदानम्। प्रव० ६ द्वार। अरण्ये अग्निप्रज्वालने, ध० २ अधि०। तच्च द्विधा भवति–व्यसनात् फलनिरपेक्षप्रवृत्तिरूपात्, फलापेक्षप्रवृत्तिरूपाच्च। यथा वनेचरा एवमेव तृणाऽऽदावग्निं प्रज्वालयन्ति, पुण्यबुद्ध्या वा, यथा–मे यदा मरणसमयस्तदा इयन्तो मम श्रेयोऽर्थं धर्मदीपोत्सवाः करणीयाः। अथवा–जीर्णतृणदाहे सति नवतृणाङ्कुरोद्गमाद् गावश्चरन्तीति क्षेत्रे वा सस्यसंपत्तिनिमित्तमग्निं ज्वालयन्तीति। यदुक्तम्–"वणदवदाणमरत्ने, दवग्गिदाणं तु जीवबहुजणयं।" प्रव० ६ द्वार। ध०। सूत्र०।

दवर–पुं०। देशी–तन्तौ, दे० ना० ५ वर्ग ३५ गाथा।

दवरग–दवरक–पुं०। रज्जौ, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। आ० म०। रा०। सूत्र०। दोरके, आ० म० १ अ० २ खण्ड।

दवरिया–दवरिका–स्त्री०। पलाशाऽऽदिवल्कनिर्मितायां रज्जौ, वलनाऽऽदिसंस्कृतो विशिष्टावस्थां प्राप्तः सन् वल्कलो दवरिकेत्युच्यते। विशे०। सू० प्र०।

दवविरोह–द्रवविरोध–पुं०। काञ्जिकेन सह विरोधे, ओघ०।

दवसील–द्रवशील–त्रि०। दर्पद्रुतगमनभाषणाऽऽदौ, स्था० ४ ठा० ४ उ०। बृ०। (अनुपदमेव 'दवदवप्पसील' शब्दे २४५० पृष्ठे व्याख्यातं चैतत्)

दवहुत्त–न०। देशी–ग्रीष्ममुखे, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा।

दवावण–दापन–न०। दानक्रियायां प्रेरणे, नि० चू० २ उ०।

दवावेमाण–दापयत्–त्रि०। दानं कारयति, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

दविड–द्रविड–पुं०। अनार्यदेशभेदे, तज्जे मनुष्ये च। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। शत्रुञ्जये दशभिः कोटिभिः साकं सिद्धिं गते नृपे, ती० १ कल्प। द्रविडदेशोत्पन्नायां योषिति च। तत्र स्त्री०। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

दविण–द्रविण–न०। द्रु–इनन्। धने, व्य० १ उ०। पो०। वाच०। काञ्चने, पराक्रमे, बले च। वाच०।

दविणसंहरणाइ–द्रविणसंहरणाऽऽदि–पुं०। पितुर्वेश्मनि निक्षेपाऽऽदौ, कल्प० ७ क्षण।

दविय–द्राविक–पुं०। द्रवः संयमः सप्तदशविधान्ः कर्मकाठिन्यद्रावकारित्वात् विलयहेतुत्वात्। आचा०१ श्रु०१ अ०७ उ०। कर्मग्रन्थिद्रावणो द्रवः संयमः, स विद्यते यस्याऽसौ द्राविकः। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। आचा०। सम्यक्संयमोत्थानेनोत्थिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। तृणाऽऽदिद्रव्यसमुदाये, भ० १ श० ८ उ०। सूत्र०।

द्रव्य–न०। द्रवति गच्छति तांस्तान् ज्ञानाऽऽदिप्रकारानिति द्रव्यम्। दशा० २ अ०। तत्तद्गुणानां भाजने, कल्प० ५ क्षण। रागद्वेषरहिते, दशा० १० अ०। आचा०। सूत्र०। भव्ये मुक्तिगमनयोग्ये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। आचा०। "दविए बंधणं मुक्के, सव्वओ छिण्णबंधणे।" द्रव्यं भव्यो मुक्तिगमनयोग्यः, "द्रव्यं च भव्यः" इति वचनात्। रागद्वेषविरहाद्वा द्रव्यभूतोऽकषायीत्यर्थः। यदि वा–वीतराग इति, वीतरागोऽल्पकषाय इत्यर्थः। तथा चोक्तम्–"किं सक्का वो तुंजे, सरागधम्मम्मि कोइ अकसायी। संते वि जो कसाए, निगिण्हई सो वि तत्तुल्लो ॥ १ ॥" सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। रागद्वेषकालिकोपद्रवरहितत्वाद्वा जातसुवर्णवत्तद्द्रव्यभूते, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। धर्माधर्माऽऽकाशपुद्गलजीवकालाऽऽत्मके गुणपर्यायाऽऽधारे, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०।

दवियएक्कय–द्रव्यैकक–पुं०। चतुर्विधैककान्यतमे, स्था० ४ ठा० २ उ०। (एककानां चातुर्विध्यं 'एकक' शब्दे तृतीयभागे २ पृष्ठे गतम्)

दवियकप्प–द्रव्यकल्प–पुं०। कल्पनीयद्रव्ये, पं० भा०।

जेण परिग्गहिएणं, दव्वेणं कप्पो होति णोकप्पे।
तं दव्वमेव कप्पो, कारणकज्जोवयाराओ ॥
सो तिविहो बोधव्वो, जीवमजीवे य मीसओ चेव।
एतेसिं तु विभागं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ पं० भा०।

(जीवकल्पाऽऽदीनां तु व्याख्या स्वस्वस्थाने) प्रव्राजना १–मुण्डापना २–शिक्षापना ३–उपस्थापना ४–संभोजना ५–संवसना ६–रूपे षट्के, पं० चू०। (एते कल्पाः 'अवट्ठवणाकप्प' शब्दे ८०४ पृष्ठे द्रष्टव्याः)

दवियकप्पो समहिगतो, ण जाणिय जं हिट्ठ तं भणामि त्ति।
सो जवाती विसेसो, इणमो वोच्छं समासेणं ॥
दव्वं तु गिणिहयव्वं, सुद्धंगविमुत्त गविसणा दुविहा।
सविही अविही एया, अविहीए इमं मुणेयव्वं ॥
दव्वाणि जाणि काणि ति, गहणं जोए हवेंति साहूणं।
तेसिं तु संभवं म–ग्गमाणे न तु माहते अत्थं ॥
अविहीए दोस गिंहुव–हिमेज्जसज्झायणिग्गमपवेसो।
णवकहगदुयचउक्के, एते सव्वे ण पावेंति ॥
साली तुंबीमादी, आहारे फलहिमादि उवहिम्मि।
रुक्खा पुण सेज्जाए वा वि गया हु साहूणं ॥
होज्जा एताइं पु–च्छिऊण कत्थ एयाणि ताहें तहिं गच्छे।
अविहिगवेसण एसा, अह भणिता विहणिज्जुत्तीए ॥
आहारोवहिसेज्जा–ण णाणदव्वेहिं होति निप्फत्ती।
वेसाण मिरिय पिप्पलि–अल्लगघततेल्लगुलमादी ॥
हिमवंते पिप्पलिओ, मलए मिरियाण होति उप्पत्ती।
हिंगुस्स रमणविसए, जीरगमादी य जो जत्थ ॥
मा अम्हं अद्धाए, मावो कीयाइ वच्छवच्छा वा।
फलगादी मा रुक्खो–ऽवरोविसो अम्ह अद्धाए।
एमादि विमग्गंतो, पभवं णाणादियाण परिहाणी।
तह वत्थपायसेज्जा–ण मरति सो अंतरा चेव ॥
एवं सो हिंडंतो, जत्तं पाणं च णाणमुवहिं वा।

कह उग्गमेज्ज कह वा, सज्झायं कुणतु हिंडंतो ? ॥
जो णिक्खमणपवेसे, कालो भणितो उ वासउडुबद्धे ।
दुचउक्कं उडुबद्धे, विहारो हेमंतगिम्हेसु ॥
णवमो वासावासे, एसो कप्पो जिणेहिँ पन्नत्तो ।
एयस्स संखमाणं, वोच्छामि अहं समासेणं ॥
दोणिह सया चत्ताला, उडुबद्धे एत्तिओ विहारे तु ।
वासासू पन्नासा, पणगं पणगं तु सति सीयट्ठा ॥
पुरपच्छिममज्झाणं, सव्वेसिं एस कालछेदो तु ।
णिचं हिंडंतेणं, विराहितो होति सो नियमा ॥
तम्हा खलु उप्पत्ती, ण एसियव्वा तु तेसिँ दव्वाणं ।
जस्सट्ठा निप्फन्नं, तं गंतुं पुच्छते मतिमं ॥
अतिबहुयपज्जत्तजहा, णातुं दव्वकुलदेसभावे य ।
पुच्छति सुद्धमसुद्धं, ताहे गहणं अगहणं वा ॥
अहवा पुट्ठो भणेज्जा, समणाहिकयं व अहव निक्खित्तं ।
पच्छित्तं वा वि भवे, तत्थ तु दारा इमे होंति ॥
समणे समणी सावय, सावि य संबंधि इड्डिमागाय ।
रायातु णिक्खेवे, वेसा णिक्खेवयं कुज्जा ॥
दमए दूभग भट्ठे, समणच्छणहे वाय तेणे य ।
ण य णाम ण वत्तव्वं, पुट्ठे रुट्ठे जहा वयणं ॥
एतेसिं दाराणं, विभास भणिता जहा व कप्पम्मि ।
सव्वे य निरवसेसा, णायव्वा सव्वदव्वेसु ॥
जं पुण जत्था इणहं, दव्वे खेत्ते य होज्ज काले य ।
तहिं का पुच्छा तू, जह उज्जेणीएँ मंडेसु ॥
एमेव माहमासे, किमराए मंखकीएँ का पुच्छा ? ।
विइ सिणहव कुसम्मी, बहुए दव्वम्मि का पुच्छा ? ॥
तम्हा तु गहणकाले, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
सो होज्जा दव्वस्स तु, ण मूलओ तस्स उप्पत्ती ॥
कीते पामिच्चे छि-ज्जए य णिप्फत्तिए य निप्फणहे ।
कज्जं णिप्फत्तिमयं, ममाणिते होति निप्फणहं ॥
कंमिनकीताऽऽदीया, तंदुलमादी तु होज्ज समट्ठा ।
णिप्फत्ती सा तु भवे, आयट्ठायासु निप्फन्नं ॥
तं होति कप्पणिज्जं, जं पुण समणट्ठ होज्ज णिप्फन्नं ।
तं तु न कप्पति एत्थं, च चोयए चोदओ इणमो ॥
णिप्फत्तिओ य णिप्फ-न्नओ य गहणं तु होज्ज समणस्स ।
णिप्फत्तिओ य सुद्धे, कहं णु णिप्फन्नए सोही ? ॥
एवं गवेसियव्वं, तं एगट्ठाणगं परिच्चत्तं ।
जायति अफासुदव्वे-ण चेव गहणं तु साहूणं ॥
तो तेणं साहूणं, किं कज्जं होति तु गविट्ठेणं ।
अन्नं पि य एगकुले, ण हु आकरो सव्वदव्वाणं ॥
तिलकडुयमादियाणं, सव्वदव्वाण संभवेग कुले ।
ताणि तु गवेसमाणे, हाणी सव्वेव णाणादी ॥
तम्हा पप्पं परिहर, अपप्प चिय वज्जतो वि वज्जति हु ।
अप्पप्पं साहेंतो, विवज्जति ण तं च साहेति ॥
णिप्फत्ती समणट्ठा, समणट्ठा चेव कातु णिप्फन्नं ।
गहितं होज्ज जयंते-ण तत्थ सोही कहं होति ? ॥
एवमवि अप्पमत्तो, उवउत्तो उज्जयं गवेसंतो ।
सुद्धो जइ चावन्नो, खमओ इव सो असढभावो ॥
जो पुण मुक्कधुराओ, णिरुज्जमो जइ वि सो उ णाऽऽवन्नो ।
तह वि य आवन्नो चिय, आहाकम्मं परिणउ व्व ॥
एयस्स साहणट्ठं, अहवा अन्नं पि जायए एत्थ ।
कारगसुत्तं इणमो, तमहं वोच्छं समासेणं ॥
एगम्मि वितिएयँ तय-म्मि जं अत्थकुसलजिणदिट्ठा ।
एतेसु जुत्तजोगी, विहरंतो अहाजयं भुज्जे ॥
अंगग्गहणं पढमं, आयारो तस्स वितियसुयखंधे ।
तस्स वि बीयज्झयणे, उद्देसे तस्स ततियम्मि ॥
अइ सुत्तं खलु सेयक-वस्सेणं होज्ज सुलभे उ ।
अहवा वी तइ एत्ती, अज्झयणम्मी तइज्जम्मी ॥
तस्स वि तइउद्देसे, आदीसुत्तम्मि जं समक्खायं ।
जदि संकमो असुद्धो, ताहे जयणाएँ जुत्तो उ ॥
देसूणं पि हु कोडिं, अत्थंतो सो वि सुज्झती णियमा ।
तम्हा विसुद्धभावो, सुज्झति णियमा जिणमयम्मि ॥
बाहिरकरणे जुत्तो, उवओग सद्दिट्ठिओ सुयधराणं ।
जं दोससमावन्नो, विससाणं जिणवयणतो सुद्धो ॥
दव्वेण य भावेण य, सुद्धासुद्धे य होति चउभंगो ।
ततिओ दोसु वि सुद्धो, चउत्थओ उभयह विसुद्धो ॥
बीओ भावविसुद्धो, दव्वविसुद्धो य पढयओ होति ।
अहवा वि दोसकरणं, दव्वे भावे य दुविहं तु ॥
भावविसुद्धा-राहगो, दव्वतो सुद्धो य होतऽसुद्धो य ।
जे जिणदिट्ठा दोसा, रागादी तेहिँ न उ लिप्पे ॥
एतेसामन्नतरं, कीयादी आणुवत्तस जो गिण्हे ।
तट्ठाणगावराहे, संवड्ढियमोऽवराहाणं ॥
आवण्णे सट्ठाणं, दिज्जति अह पुण बहुं तु आवण्णो ।
तहियं किं दायव्वं, भण्णति इणमो सुणह वोच्छं ॥
सुज्झइ तवेण दिज्जा, तवु छेदो वा तहेव मूलं वा ।
कत्थेदं भणयंती, भण्हति तु णिसीहणामम्मि ॥
वीसतिमे उद्देसे, मास चउमास तह य छम्मासं ।
उग्घातमणुग्घातं, भणितं सव्वं जहाकमसो ॥
एसो तु दवियकप्पो, जहक्कमं वण्णितो समासेणं ।
"अज्ज मए सुयं, गाहा-(दव्वाणि) जाणि पुण साहुस्स आहा-
गाईणि दव्वाणि गहणं एंति, तेसिं जइ संभवं मग्गइ, कओ एस
साली उप्पन्ना दिघोसणपाडुज्झयाए (?) मीणिसाए ? । आगारि

भणति-कओ पयाणि तंदुलाणि आणीयाणि?। अत्थाहि ताव जाव पुच्छामि। ताए सिट्ठं-वणाओ। भत्थ सावित्र! मा साहुनिमित्तं साली वाविया होज्जा। एवं कप्पट्टीओ वच्छे नीणिए फलहीए उप्पत्तिं गवेसंति, तुंबीओ वा गवेसइ तुंबीए उप्पत्ति लाउए नीणिए, कक्का वा सेज्जानिमित्तं। एवं सो पुच्छिऊण कत्थ पयाणि उप्पन्नाणि त्ति, ताहे तहिं गच्छति, जहा पिंडनिज्जुत्तीए, एएसिं आहाराईणं मूलुप्पत्ती, तंदुला वि गवेसमाणो अत्थं न सोहयइ।" आहारादीनां निष्पत्ती च ज्ञानदर्शनचारित्रार्थसिद्धिः। "भत्ते पाणे गाहा-(एवं सो हिंडंतो, भत्तं पाणं च उग्गमसुद्धहिं वा। कह उग्गमेउ कइ वा, सज्झायं कुणउ हिंडंतो) सज्झायाईहिं वा सोहेउ निच्चं हिंडंतो। जे य निक्खमणपवेसणकाला अट्ठओ उवट्ठिया मासा निक्खमणकालो त्ति भण्णइ, पवेसकालो य वासावासो भण्णो, ते तस्स न भवंति हिंडंतस्स। (दुचउक्क त्ति) चत्तारि हेमंतिया, चत्तारि गिम्हिया, एएसु अणुण्णाओ विहारो। गाहा-(दोण्णि सया चत्ताला) हेमंतगिम्हासु होंति दिवसाणं मासकप्पेण, वासासु य पंचासा पंचधा दसियया, तस्स न भवइ निच्चं हिंडंतस्स संवच्छरेण तिण्णि सयाइं दिवससयाइं विहारकाले दुपक्खे वि साहूण साहुणीण य। गाहा-(पुरपच्छिममज्झाणं) पुरच्छिमपच्छिममज्झिमाणं तित्थयराणं सव्वेसिं। गाहा-(एत्त कायच्छेओ तु) तिविहम्मि वि निविहे वि आहारोवहिसेज्जाणं अणेगेहिं दव्वेहिं संभवो भवइ, आहारे ताव पिप्पलिघयत्तेमणेहिं, ताहे कित्तियस्स हिंडस्सइ जत्थ ताणि निप्फन्नाणि।" निष्पत्तिरुत्पत्तिरित्यर्थः।" पिप्पलीओ हिमवंते, मरियाणि मलए, हिंगु रमणेसु, वत्थाणि तामलित्तीए पुंडवद्धणसिंधुसोरट्ठासु वत्थाणं उप्पत्तीओ, जाव ताणि हिंडइ, ताव णाणाइ परिहाणी, अंतरा चेव मरइ। एवं पाए सेज्जाए य। तम्हा नो निप्फत्ती मग्गियव्वा। निप्फत्ती णाम-मूलसंभवो, णिप्फन्नं हि तस्स सयासाओ कडे, तस्स निट्ठिए चउभंगो। एत्थ णिप्फन्नेणाहिगारो। पच्चुप्पन्नो नाम-तहेव दव्वकुलदेसभावे य मग्गइ, जहा पिंडनिज्जुत्तीए। नोमूलगामं पुच्छइ दव्वाणं, एयं पुच्छइ-किंनिमित्तमुवक्खडियं, एवं पुच्छिऊण गिण्हइ। गाहा-(समणे समणी) भत्तपाणे वत्थपाएसु वा नीणिएसु पुच्छइ-कस्सेयं?। सो पुच्छिओ भणेज्जा-तुब्भं चेव निमित्तं उवक्खडियं, कीयं, पामिच्चयं परियट्टियइ, वत्थं वा वुणावियं, कीयं, पामिच्चयं परियट्टियइ, वच्छं वा वुणावियं, पामिच्चयं परियट्टियइ। इयाणिं तुब्भट्ठाए मइ कयं, कीयाणि वा कयणीयाणि, कीयमाइ वा, एवं साहेज्जा, समणेण वा समणीए वा सावएण वा सावियाए वा इड्ढिमंतेण वा मामएण वा दमएण वा दूभएण वा रज्जमहट्ठेण वा वायाए वा तेणएण वा पक्खेवयाणि दूहाणि, समणं समणी वा लिंगत्था भणंति-अम्हं न गेण्हंति, ते य संधणं करेज्जा, सावओ वा साविया वा, तेसिं साहओ न गिण्हंति, आहाराइ ते पक्खेवणं कुज्जा, संबंधिओ संबंधिणी वा, सो तेसिं न गेण्हइ, आहाराइ से पक्खेवणं कुज्जा, इड्ढिमंतो वा रूरूजंरूभोइयाइ, तेसिं साहवो न गेण्हंति, ते आहाराइ पक्खेवणं कुज्जा। मामओ नाम-मा मम कोइ घरे ढुक्कउ, सा भुयत्तणेण ओइया सड्ढी, सा पक्खेवयं कुज्जा। राया मम रायपिंडं न गेण्हंति, सो पक्खेवयं कुज्जा आहाराइ। तेणयस्स वा साहवो न गेण्हंति, सो आहाराइ पक्खेवयं कुज्जा। निक्खेवं पुण-एत्थ एत्तं वा संविग्गा असंविग्गा वा साहवो असिवाइसु कारणेसु अण्णदेसं गच्छमाणा निक्खेविज्जा। तेहिं भणियं-अमुए काले पउज्जामो, तो साहूण देज्जाह, संभोइयाणं देज्जइ, असंभोइयाणं पासत्थाइए व संथरमाणो न गेण्हति, दमओ दूभगो रज्जमहट्ठो वा आहाराइ पुच्छिओ भणेज्जा-कस्सेयं ति?। भणेज्जा-सामि! किं मम आहाराइं वत्थपायाइं वि नत्थि। दूभओ-जइ अहं रन्नो अविरइयाए, अविरइया वा भोगियस्स, तो मम वत्थाईणि वि नत्थि। भट्ठो भणेज्जा-जइ अहं रज्जाओ ईसरियाओ भट्ठो, तोऽहं किमाहाराईणं वि ताहामि, सेसं जहा पेढियाए। गाहा-(न य नाम न वत्तव्वं, पुट्ठे कहे जहा वयणं।) अथवा जत्थ पुण आइन्नं खेत्तं काले वा भवइ, जं जस्स देसे पवत्तइ, पउरं च जहा उज्जेणीए मंरुया। तत्थ का पुच्छा?। जत्थ पुण दव्वकुलदेसभावे अपुव्वकरणं दट्ठूण पुच्छा-किं निमित्तं पयाणि आहाराईणि कयाणि। मूलगुणउत्तरगुणेसु आहारोवहिसेज्जाणं गहणं विसोहेयव्वं साहुणा। गाहा-(कीते पामिच्चे) एवं कीयपामिच्चछेज्जा अणेसणाईणि निप्पज्जंति, तंदुला वा लाउया वा संजयट्ठाए कीयाणि वा कत्तियाणि वा सुत्ताणि, लाउयाणि वा संजयट्ठाए रुत्ताणि, पच्छा आयट्ठा निप्फन्नाणि कप्पंति, संजयाणं रुक्खा वा संजयट्ठाए रुत्ता, पच्छा आयट्ठाए छिन्नाणि य घराणि य कयाणि, आयट्ठाए निप्फाइयाणि ताहे कप्पंति, जं तं निप्फत्तीतो आयट्ठानिप्फन्नं तं कप्पइ, कज्जं निप्फत्तिमयं ति। कज्जं नाम-आहाराइमयं ति। जहा तंदुलमयं आहारं, सुत्तमयाणि वत्थाणि समाणिए त्ति, तस्स कडं-तस्स निप्फन्नं। गाहा-(णिप्फत्तिओ य) एवं अगवेसणानिप्फन्नं तो गवेसणं, गहणं वा। गाहा-पच्छद्धं, चोदग आह-णिप्फत्तिओ वि निप्फन्नओ व साहुस्स आहाराई गहणं होज्जा। निप्फत्तिओ असुद्धं कहं निप्फन्नं गेण्हइ?। उच्यते-एवं ताव गवेसियव्वं (एगमिति) निप्फन्नं गवेसिज्जइ, न तु मूलनिप्फत्ती दव्वाणं, मूलनिप्फत्तिए गविट्ठाए बहुदोसा। आह-जइ एवं गवेसिज्जइ, जं गेज्झइ निप्फन्नं किं एगट्ठाणं परिच्चयइ?। एगट्ठाणयं नाम-उप्पत्ती तंदुलाईणं, वत्थाईणं च। उच्यते-न हु सव्वदव्वा, न हु एगकुले नाणादव्वाणि तिलकडुयाईणि संभवंति। किं तु एवं गवेसमाणस्स तुज्झ सव्वदव्वाणं मूलुप्पत्ती आहाराईण सुद्धी चेव न नाविस्सइ। मज्झमाईणं च जहा णिद्दोसा हिंडंतस्स। गाहा-(एवमवि अप्पमत्तो) एवमित्यवधारणे। किमवधारणीयं?। एवमप्पमत्तस्स गवेसमाणस्स जइ वि निप्फन्नं संजयट्ठाए न जाणेज्जा, तओ तं च परिभुंजेज्जा आहारोवहिसेज्जा, ताहे तम्मि परिभुत्ते विसुज्झइ, जहा सो समणो सुद्धं गवेसमाणो, जो पुण मुक्कधुराओ। मुक्कधुरो नाम-आहाराइ उग्गमाईहिं मुक्को तत्तो सो लग्गइ जहा सए। गाहा-(आहाकम्मं परिणउ त्व) अन्नेसु आयारंगेसु सेज्जाणं तइए उद्देसए भणियाए। इह खलु नो सुलभे उवस्सए भवइ, जुत्तजोगी। गवेसंतो सुद्धो चेव भवइ, उग्गमाइअसुद्धे वि। अहवा-नइयम्मि अज्झयणे आयरियाणं जइ संकमे असुद्धो कओ। अहवा-संकमेण वज्झइ, असिवाइकारणेसु तत्थ वि तहेव देसूणं पि पुव्वकोडिं अत्थमाणो सुज्झइ। एएसु उग्गमाइसु आहाराइसु जुत्तजोगी परिहरंतो आहाउयं पालमाणो सिज्झइ। गाहा-(बाहिरकरणे) एवं जइ बाहिरकरणेण संपउत्तो उवओगो होइ तो महिड्ढिओ सुयधराणं" महर्द्धिक इति महाऋद्धित्वमावहति। "को दिट्ठंतो, गाहा-(जं दोससमावन्नो वि) समणो सुद्धो!। सुयनाणपमाणेण दोसकारणम्मि दव्वओ नाम एगो सुद्धो, नो भावओ। चउभंगो। तइओ दव्वं भावओ सुद्धो। चउत्थो दोहिं वि असुद्धो। तस्स का कहा?, जे पढमबितिया तेसु भणाणा, बिइए भंगे दव्वओ असुद्धो

वि, भावओ सुद्धो । अहवा-दुविहं कारणे दव्वे, भावे य सुद्धो वा । भावओ सुद्धो आराहओ होइ, जे जिणदिट्ठा भावा रागादयो, तेहिं न लेप्पइ जम्हा । गाहा-(एतेसामन्नयरं) एएसिं कीयाईणं आहाराईण वा जो (अणुवउत्त जो गिण्हे) तस्साऽऽलोयणपडिक्कंतस्स, जया पुण बहुइओ आलोयणा होज्जा ।" तत्र कथं दातव्यम् ?। उच्यते-"सव्वस्स हेउं समक्खिऊण जइ तवेण सुज्झइ तो तवो दिज्जइ, इहरहा छेओ वा, मूलं वा । कह एवं पमाणं जाणियं ?। उच्यते-निसीहस्स वीसइमे उद्देसए । एस ताव दवियकप्पो ।" पं० चू० ।

पंचएहं असणादी-ण पणवीस तिहा भवे विसोही उ ।
अहवा वि उ उद्दसिया, एत्तो तिगवड्डिया सोही ॥
असणं पाणं वत्थं, पायं सेज्जा य पंच एतेसिं ।
सुद्धी पण वीसति वा, उग्गम तह एसणाए य ॥
सुयणाणपमाणेण तु, गहियमसुद्धे वि होति सुद्धो तु ।
अहवा वि तु उद्दसिया, सोलस उप्पायणादोसा ॥
एएसिं सव्वेसिं, हणपयणकिणादि णवहिँ कोडीहिं ।
कयकारिताणुमोदिन, एसा तिगवड्डिता सोही ॥ पं० भा० ।

तत्थ दव्वकप्पो ताव आहारमाइ । गाहा-(असणं पाणं वत्थं पायंसेज्जा) एएसिं पंचण्ह वि पंचपंचगविसोहि त्ति । पचपंचगा नाम-पन्नरस उग्गमदोसा, दस एसणादोसा । एए पंचपंचगा पंचवीसं ओवेतो पणवीसाए सुयनाणमाणओ सुद्धा । अहवा-छ दस य-सोलस उप्पायणा दोसा, एएसिं सव्वेसिं पि तियवड्डिया सोहि त्ति । " न हणइ न हणावेइ, हणंतं नाणुजाणइ । न पयइ न पयावेइ, पयंतं नाणुजाणइ ॥ १ ॥ न किणइ न किणावेइ, किणंतं नाणुजाणइ ।" एस दव्वकप्पो । पं० चू० ।

दवियत्ता-स्त्री०-द्रव्याऽऽत्मन्-पुं० । द्रव्यं त्रिकालानुगामि उपसर्जनीकृतकषायाऽऽदिपर्यायं, तद्रूप आत्मा द्रव्याऽऽत्मा । आत्मभेदे, स च सर्वेषां जीवानाम् । भ० १२ श० १० उ० ।

दवियरस-द्रवितरस-पुं० । द्रवयुक्तनिर्यासे, ओघ० ।

दवियाणुओग-द्रव्यानुयोग-पुं० । अनुयोगभेदे, स्था० ।

तत्स्वरूपम्-

दसविहे दवियाणुओगे पण्णत्ते । तं जहा-दवियाणुओगे, माउयाणुओगे, एगट्ठियाणुओगे, करणाणुओगे, अप्पियाणप्पिए, भावियाभाविए, बाहिराबाहिरे, सासयासासए, तहणाणे, अतहणाणे ॥

(दसविहे इत्यादि) अनुयोजनं सूत्रस्यार्थेन संबन्धनम्, अनुरूपोऽनुकूलो वा योगः सूत्रस्याभिधेयार्थं प्रति व्यापारोऽनुयोगः, व्याख्यानमिति भावः स च चतुर्द्धा, व्याख्येयभेदात् । तद्यथा-चरणकरणानुयोगो, धर्मकथाऽनुयोगो, गणितानुयोगो, द्रव्यानुयोगश्च । तत्र द्रव्यस्य जीवाऽऽदेरनुयोगो विचारो द्रव्यानुयोगः । स च दशधा । तत्र (दवियाणुओगे त्ति) यज्जीवाऽऽदेर्द्रव्यत्वं विचार्यते स द्रव्यानुयोगः । यथा-द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायान्, द्रूयते वा तैस्तैः पर्यायैरिति द्रव्यम्, गुणपर्यायवदित्यर्थः, तत्र सति जीवे ज्ञानाऽऽदयः सहभावित्वलक्षणा गुणाः, न हि तद्वियुक्तो जीवः कदाचनापि संभवति, जीवत्वहानेः । तथा पर्याया अपि मानुषत्वबाल्याऽऽदयः कालकृतावस्थालक्षणाः तत्र सन्त्येवेत्यतो भवत्यसौ गुणपर्यायवत्वाद्द्रव्यमित्यादि द्रव्यानुयोगः । स्था० १० ठा० । (मातृकानुयोगाऽऽदीनां शब्दार्थः पृथक् पृथक्)

दवियाऽऽता-स्त्री०-द्रव्याऽऽत्मन्-पुं० । 'दवियत्ता' शब्दार्थे, भ० १२ श० १० उ० ।

दव्व-द्रव्य-न० । द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम् । " कृद्बहुलम् ॥ " इति वचनात्कर्तरि यः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । नि० चू० । जं० । अनु० । अनादिमदुत्प्रेक्षितपर्यायशृङ्खलाऽऽधारेऽर्थे, विशे० । सू० । स्था० ॥

अथ द्रव्यलक्षणमाह-

दवए दुयए दोरव-यवो विगारो गुणाण संदावो ।
दव्वं भव्वं भाव-स्स भूअभावं च जं जोग्गं ॥ २८ ॥

'द्रु' 'द्रु' गतावित्ति धातुः, ततश्च द्रवति तांस्तान् स्वपर्यायान् प्राप्नोति मुञ्चति वेति तद् 'द्रव्यम्,' इत्युत्तरार्द्धादावपि सर्वत्र सम्बध्यते । तथा द्रूयते स्वपर्यायैरेव प्राप्यते मुच्यते चेति द्रव्यं, यान्किल पर्यायान् द्रव्यं प्राप्नोति, तैस्तदपि प्राप्यते, यांश्च मुञ्चति, तैस्तदपि मुच्यत इति भावः । तथा द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रुः सत्ता, तस्या एवावयवो, विकारो वेति द्रव्यम् । अवान्तरसत्तारूपाणि हि द्रव्याणि महासत्ताया अवयवा विकारा वा भवन्त्येवेति भावः । तथा गुणा रूपरसाऽऽदयः, तेषां, संद्रवणं संद्रावः समुदायो घटाऽऽदिरूपो द्रव्यम् । तथा-(भव्व भावस्स त्ति) भविष्यतीति भावः, तस्य भावस्य भाविनः पर्यायस्य यद्भव्यं योग्य तदपि द्रव्यम्, राज्यपर्यायार्हकुमारवत् । तथा भूतभावं चेति-भूतः पश्चात्कृतो भावः पर्यायो यस्य तद् भूतभाव, तदपि द्रव्यम्, अनुभूतघृताऽऽधारत्वपर्यायरिक्तघृतघटवत् । चशब्दाद् भूतभविष्यत्पर्यायं च द्रव्यमिति ज्ञातव्यम् । भूतभविष्यद्घृताऽऽधारत्वपर्यायरिक्तघृतघटवदिति । एतदपि भूतभावम् । तथा भूतभविष्यद्भावं च । कथंभूतं सद्द्रव्यम् ?, इत्याह-यद्योग्यं भूतस्य भावस्य, भूतभविष्यतोश्च भावयोरिदानीमसत्त्वेऽपि यद्योग्यमर्हं तदेव द्रव्यमुच्यते, नान्यत् । अन्यथा सर्वेषामपि पर्यायाणामनुभूतत्वादनुभविष्यमाणत्वाच्च सर्वस्यापि पुद्गलाऽऽदेर्द्रव्यत्वप्रसङ्गात् । इति गाथार्थः ॥ २८ ॥ विशे० । स्था० । द्रव्या० । अनु० । स० । नि० चू० । नं० । सूत्र० । आव० ।

गुणपर्यायाऽऽधारो द्रव्यम्-

गुणपर्याययोः स्थान-मेकरूपं सदाऽपि यत् ।
स्वजात्या द्रव्यमाख्यातं, मध्ये भेदो न तस्य वै ॥ १ ॥

गुणपर्याययोर्भाजनं कालत्रये एकरूपं द्रव्यं स्वजात्या निजत्वेन एकस्वरूपं भवति, परं पर्यायवद् न परावृत्तिं लभते, तद् द्रव्यमुच्यते । यथा-ज्ञानाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं जीवद्रव्यम्, रूपाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं पुद्गलद्रव्यम्, सर्वरक्तत्वाऽऽदिघटत्वाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं मृद्द्रव्यम् । यथा वा तन्तवः पटापेक्षया द्रव्यम्, पुनस्तन्तवोऽवयवापेक्षया पर्यायाः । कथम् ?, यतः पटविचाले पटावस्थाविचाले च तन्तूनां भेदो नास्ति, तन्त्ववयवावस्थायामन्वयत्वरूपो भेदोऽस्ति , तस्मात् पुद्गलस्कन्धमध्ये द्रव्यपर्यायत्वमापेक्षिकं बोध्यम् । अथ कश्चिदेवं कथयिष्यति-

द्रव्यत्वं तु स्वाभाविकं न जातम्, आपेक्षिकं जातं, तदा तं समाधत्ते-भोः तार्किक ! शृणु । यत् सकलवस्तूनां व्यवहाराऽपेक्षयैव जायते, न तु स्वभावेन, तस्मादत्र न कश्चिद्दोषः । ये च समवायिकारणप्रमुखैर्द्रव्यलक्षणं मन्यते, तेषामप्यपेक्षामनुसर्तव्यैवेति । गुणपर्यायवद्द्रव्यमिति तत्त्वार्थे । विस्तरस्तु द्रव्याणामुद्देशलक्षणपरीक्षाभिस्तत्रैवास्ति, अतस्ततोऽवसेयः ॥ १ ॥ द्रव्या० २ अध्या० ।

" सहभावी गुणो धर्मः, पर्यायः क्रमभाव्यथ ।
भिन्ना अभिन्नास्त्रिविधा-स्त्रिलक्षणयुता इमे ॥ २॥
मुक्ताभ्यः श्वेतताऽऽदिभ्यो, मुक्तादाम यथा पृथक् ।
गुणपर्यायव्यक्तेर्द्रव्यशक्तिस्तथाऽऽश्रिता ॥३॥" द्रव्या० २ अध्या० ।

गुणाऽऽश्रयो द्रव्यम्-

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥६॥

गुणानां वक्ष्यमाणानामाश्रय आधारः, यत्रैवस्थाऽस्ते उत्पद्यन्ते, उत्पद्य चाऽवतिष्ठन्ते, प्रलीयन्ते च, तद्द्रव्यम् । अनेन रूपाऽऽद्य एव वस्तु, न तद्व्यतिरिक्तमन्यदिति तथागतमतमपास्तम् । तथाहि-यदुत्पादविनाशधर्म यस्योत्पादविनाशौ, न ततोऽतिरिक्तम्, यथा घटात्पटः, न भवतः पर्यायोत्पादविनाशयोर्द्रव्यस्योत्पादविनाशौ । न चायमसिद्धो हेतुः, स्थासकोशकुशूलाऽऽद्यवस्थासु मृदादिद्रव्यस्याऽऽनुगामित्वेन दर्शनात् । न चास्य मिथ्यात्वं, कदाचिदन्यथादर्शनासिद्धेः ।

उक्तं हि-

" यो ह्यन्यरूपसंवेद्यः, संवेद्येतान्यथा पुनः ।
स मिथ्या न तु तेनैव, यो नित्यमवगम्यते ॥ १ ॥ "

तथैकस्मिन् द्रव्ये ह्याऽऽश्रयभूते आश्रिताः, के ते ?, गुणा रूपाऽऽदयः । एतेन च ये द्रव्यमेवेच्छन्ति, तद्व्यतिरिक्तांश्च रूपाऽऽदीन् अविद्योपदर्शितानाहुः, तन्मतनिषेधः कृतः । संविन्निष्ठा हि विषयव्यवस्थितयः । न च रूपाऽऽद्युत्कलितरूपं कदाचित् केनचित् द्रव्यमवगतम्, अवगम्यते वा, अतस्तद्विवर्त्त एव रूपाऽऽदयो, न तु तात्त्विकाः केचन तद्भेदेन सन्ति । नन्वेवं रूपाऽऽदिविवर्तो द्रव्यमित्यपि किं न कल्प्यते ? । अथ तथैव प्रतीतिः । एवं सति प्रतीतिरुभयत्र साधारणेत्युभयमुभयाऽऽत्मकमस्तु । लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्, पर्यायाणां वक्ष्यमाणरूपाणां तु, विशेषेण उभयोर्द्वयोः प्रकृतत्वाद् द्रव्यगुणयोराश्रिताः (भवे त्ति) भवेयुः स्युः । अनेन च य एवमाहुः-यदाद्यन्तयोरभवत्, मध्येऽपि तत्तथैव, यथा मरीचिकाऽऽदौ जलाऽऽदि । न सन्ति च कुशूलकपालाऽऽद्यवस्थयोर्घटाऽऽदिपर्यायाः, ततो द्रव्यमेवाऽऽदिमध्यान्तेषु सत्, पर्यायाः पुनरसन्तो वैराकाशकेशाऽऽदिभिः सदृशा अपि भ्रान्तैः सत्यतया लक्ष्यन्ते । यथोक्तम्-" आदावन्ते च यन्नास्ति, मध्येऽपि हि न तत् तथा । वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥ १ ॥ " ते अपाकृताः । तथाहि-आद्यन्तयोरसत्त्वेन मध्येऽप्यसत्त्वं साधयतामिदमाकूतम्-यद् कचिदसत्तत्सर्वमिदमसदिति, ततश्च मृद्द्रव्ये अप्युद्रव्यस्यासत्त्वात्सर्वमिदमप्यसत्त्वप्रसङ्गः । अथेष्टमेवैतत्, सत्तामात्रस्यैव तत्त्वत इष्टत्वात् । उक्तं हि-"सर्वमेकं सदविशेषात् ।" नन्वेवमभावे भावाभावाङ्गीकरस्यापि सर्वथाभावप्रसङ्गः, तस्माद्बाधकप्रत्ययोदय एवासत्त्वेऽपि निबन्धनमिति न कचिदसत्त्वे तस्यावश्यं भावः, ततो द्रव्यवत्पर्यायाणामप्यबाधितबोधविषयत्वे सत्यत्वमस्तु, तथा गुणेष्वपि नवपुराणाऽऽदिपर्यायाः प्रत्यक्षप्रतीताः, एके कियत्कालभाविनः, प्रतिसमयभाविनस्तु पुराणत्वाऽऽद्यन्यथाऽनुपपत्तेरनुमानतोऽवसीयन्ते । ततश्च द्रव्यगुणपर्यायाऽऽत्मकमेकं सवत्रमणिवर्णानपतङ्गाऽऽदिवद्वा वस्त्विति स्थितमिति सूत्रार्थः । उत्त० पाइ० २८ अ० । प्रज्ञा० । (" दव्वं पज्जवविजुअं, दव्वविउत्ता य पज्जवा नत्थि । उप्पायठिइभंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं ॥ १२ ॥ " इति द्रव्यलक्षिका प्रथमकाण्डस्था सम्मतितर्कग्रन्थगाथा 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८८६ पृष्ठे द्रव्यपर्यायार्थिकप्रस्तावे व्याख्याता) (एष पदार्थो "दव्वगुण" शब्दे उपपादयिष्यते) द्रव्यगुणपर्यायाश्च यथोत्तरं सूक्ष्माः । आ० म० ३ अ० १ खण्ड । (" दव्वं जहा परिणयं, तहेव अत्थि त्ति तम्मि समयम्मि । विगयभविस्सेहि उ प-ज्जएहिँ भयणा विभयणा वा ॥ ४ ॥ " (सम्म० ३ काण्ड) इत्यादिगाथोक्तं द्रव्यस्य नित्यत्वाऽऽद्यनेकधर्मान्वितत्वम् ' अणेगंतवाय ' शब्दे प्र० भागे ४२६ पृष्ठे उक्तम्) (उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति लक्षणमपि ' अणेगंतवाय ' शब्दे प्रथमभागे ४२६ पृष्ठे समुक्तम्)

अथ गृहीमो गुणानामाश्रयो द्रव्यलक्षणं, तच्चैवंलक्षणं द्रव्यं किमेकम् ?, उत तस्य भेदा अपि सन्तीति ?, आह-

धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल-जंतवो ।
एस लोगो त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ ७ ॥

धर्म इति धर्मास्तिकायः, अधर्म इति अधर्मास्तिकायः, आकाशमिति आकाशास्तिकायः, कालोऽद्धा समयाऽऽत्मकः, पुद्गलजन्तवश्च इति-पुद्गलास्तिकायः, जीवास्तिकायः । एतानि द्रव्याणीति शेषः । प्रसङ्गतो लोकस्वरूपमप्याह-एष इत्यादि सुगममेव । नवरमेष इति सामान्यतः प्रतीतो, लोक इत्येवंस्वरूपः, कोऽर्थः ?, अनन्तरोक्तद्रव्यषट्काऽऽत्मकः । उक्तं हि-"धर्माऽऽदीनां वृत्ति-र्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोक-स्तद्विपरीतं ह्यलोकाऽऽख्यम् " ॥१॥ इति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

आह-किमेतेऽपि धर्माऽऽदयो भेदवन्तः, उतान्यथा ? । उभयथाऽपीति क्रमः । तथा चाऽऽह-

धम्मो अहम्मो आगासं, एगं दव्वं वियाहियं ।
अणंताणि य दव्वाइं, कालो पोग्गल-जंतवो ॥ ८ ॥

धर्मोऽधर्म आकाशं, द्रव्यमिति धर्माऽऽदिभिः प्रत्येकं योज्यते, एकैकमेकसंख्याया एव, एतेषु भावाद्राख्यातं तीर्थकृद्भिरिति गम्यते । ततः किं कालाऽऽदिद्रव्याण्यप्येवमेवेत्याह-अनन्तान्यनन्तसंख्यानि, स्वगतभेदानन्त्यात् । चः पुनरर्थे उत्तरत्र योक्ष्यते । कानि द्रव्याणि कतमानि, कालः, पुद्गलं, जन्तवश्चोक्तरूपाः, कालस्य चानन्त्यमतीतानागतापेक्षयेति सूत्रार्थः । उत्त० २८ अ० । आचा० । स० ।

षड्द्रव्यनिगमनम्-

एवं समासेन षडेव भेदान्,
द्रव्यस्य विस्तारतयाऽऽगमेभ्यः ।
श्रुत्वा समभ्यस्य च भव्यलोकाः !,
अर्हत्क्रमाम्भोजयुगं भजन्तु ॥ २१ ॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण समासेन संक्षेपेण च षडेव षट्संख्यावतो जीवधर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलान् भेदान् द्रव्यस्य पदार्थस्य षण्णामपि द्रव्यशब्दः पृथग् युक्तः सन् षड्द्रव्यत्वमापाद्य-

ति । अतो द्रव्यस्य षडेव भेदान् सूत्रोक्तान् श्रुत्वा विस्तारतया विस्तारयुक्तया, आगमेभ्यः स्याद्वादसमुद्दिष्टेभ्यः, आकर्ण्य, श्रवणविषयीकरणं श्रवणं, तत्र विस्तारेणैव श्रुतानामवगमो जायतेऽतो विस्तारतया श्रुत्वा, च पुनः, समन्वयस्य वाचा उद्घोषणद्वारा कण्ठे कृत्वा, मनसि निदिध्यास्य, भो भव्यलोकाः! सम्यक्त्वप्राणिनः ! अर्हत्क्रमाम्भोजयुगं श्रीजिनचरणभजनस्थैर्ये भजन्तु, श्रुत्वा समन्वयस्य च श्रीप्रभुस्मृतिरेव साधीयसी, तत्कृत्वा तत्करणं श्रेयो निबन्धनमिति । तथा भोजेति संकेतेन संदर्भकर्तुर्नामनिदर्शनमिति । अत्राध्याये सम्यक्त्वदाढ्याय सर्वज्ञेदाऽऽख्यानमिति प्रयोजनं चेति ॥ २१ ॥ द्रव्या० १०अध्या०।

द्रव्यभेदानाह-

कइविहा णं भंते ! दव्वा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविहा दव्वा पण्णत्ता । तं जहा-जीवदव्वा य, अजीवदव्वा य । अजीवदव्वा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा- रूवी अजीवदव्वा य, अरूवी अजीवदव्वा य । एवं एएणं अभिलावेणं जहा अजीवपज्जवा० जाव से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-ते णं णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा, अणंता । जीवदव्वा णं भंते ! किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता ?। गोयमा ! णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा, अणंता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जीवदव्वा णं णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा, अणंता ?। गोयमा ! असंखेज्जा णेरइया० जाव असंखेज्जा वाउकाइया, अणंता वणस्सइकाइया, असंखेज्जा बेइंदिया, एवं० जाव वेमाणिया, अणंता सिद्धा । से तेणट्ठेणं० जाव अणंता ।

(अजीवपज्जव त्ति) यथा प्रज्ञापनायां विशेषाभिधाने पञ्चमे पदेऽजीवपर्यवाः पठिताः, तथेहाजीवद्रव्यसूत्राण्यध्येयानि । तानि चैवम्-" अरूविअजीवदव्वा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए० ।" इत्यादि । तथा-" रूविअजीवदव्वा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता । तं जहा-खंधा० ।' इत्यादि । तथा. "ते णं भंते ! किं संखेज्जा, किं असंखेज्जा, अणंता ?। गोयमा ! णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा, अणंता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! अणंता परमाणू, अणंता दुपएसिया खंधा, अणंता तिपएसिया खंधा० जाव अणंता अणंतपएसिया खंध त्ति । "

द्रव्याधिकारादेवेदमाह-

जीवदव्वा णं भंते ! अजीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अजीवदव्वा णं जीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ?। गोयमा ! जीवदव्वा णं अजीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । णो अजीवदव्वा णं जीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ?। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव हव्वमागच्छंति । गोयमा ! जीवदव्वा णं अजीवदव्वा परियादियंति, अजीवदव्वा परियादियत्ता ओरालियं वेउव्वियं आहारगं तेयगं कम्मगं सोइंदियं० जाव फासिंदियं, मणजोगं वइजोगं कायजोगं आणापाणुत्तं च णिव्वत्तयंति, से तेणट्ठेणं० जाव हव्वमागच्छंति । णेरइया णं भंते ! अजीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति, अजीवदव्वा णं णेरइया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ?। गोयमा ! णेरइया णं अजीवदव्वा परिभोगत्ताए० जाव हव्वमागच्छंति. णो अजीवदव्वा णं णेरइया ०जाव हव्वमागच्छंति । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! णेरइया णं अजीवदव्वे परियादियंति, अजीवदव्वे परियादियंतित्ता वेउव्वियं तेयगं कम्मगं सोइंदियं० जाव फासिंदियं आणापाणुत्तं च णिव्वत्तयंति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-एवं० जाव वेमाणिया, णवरं सरीरइंदियजोगा जाणियव्वा जस्स जं अत्थि ॥

(जीवदव्वा णं भंते ! अजीवदव्वा इत्यादि) इह जीवद्रव्याणि परिभोजकानि, सचेतनत्वेन ग्राहकत्वात् । इतराणि तु परिभोग्यानि, अचेतनतया ग्राह्यत्वादिति ।

द्रव्याधिकारादेवेदमाह-

से णूणं भंते ! असंखेज्जे लोए अणंताइं दव्वाइं आगासे भइयव्वाइं । हंता ! गोयमा ! असंखेज्जे लोए० जाव भइयव्वाइं । लोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे कइदिसिं पोग्गला चिज्जंति ?। गोयमा ! णिव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं ॥

(से णूणमित्यादि) (असंखेज्जे त्ति) असङ्ख्यातप्रदेशाऽऽत्मक इत्यर्थः । (अणंताइं दव्वाइं ति) जीवपरमाण्वादीनि । " आगासे भइयव्वाइं ति " काकाऽस्य पाठः, ससस्याश्च पघ्वर्यत्वादाकाशस्य भक्तव्यानि सर्तव्यानि, धारणीयानीत्यर्थः । पृच्छतोऽयमभिप्रायः-कथमसंख्यातप्रदेशाऽऽत्मके लोकाऽऽकाशेऽनन्तानां द्रव्याणामवस्थानम् ?। हंता ! इत्यादिना तत्र तेषामनन्तानामप्यवस्थानमावेदितम् । आवेदयतश्चायमभिप्रायः-यथा प्रतिनियतेऽपवरकाऽऽकाशे प्रदीपप्रभापुद्गलपरिपूर्णेऽप्यपरापरप्रदीपप्रभापुद्गला अवतिष्ठन्ते, तथाविधपुद्गलपरिणामसामर्थ्यात्, एवमसङ्ख्यातेऽपि लोके तेष्वेव २ प्रदेशेषु द्रव्याणां तथाविधपरिणामवशेनावस्थानात्. अनन्तानामपि तेषामवस्थानमविरुद्धमिति । असंख्याते लोकेऽनन्तद्रव्याणामवस्थानमुक्तं, तत्रैकैकस्मिन् प्रदेशे तेषां चयापचयाऽऽदिमद्भवतीत्यत आह-(लोगस्सेत्यादि) (कइदिसिं पोग्गला चिज्जंति) कतिभ्यो दिग्भ्य आगत्य एकत्राऽऽकाशप्रदेशे चीयन्ते लीयन्ते ।

आकाशप्रदेशे द्रव्याणि-

लोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे कइ दिसिं पोग्गला छिज्जंति ?। एवं चेव । एवं उवचिज्जंति, एवं अवचिज्जंति ॥

(छिज्जंति त्ति) व्यतिरिक्ता भवन्ति (उवचिज्जंति त्ति) स्कन्धरूपाः पुद्गलाः पुद्गलान्तरसम्पर्कादुपचिता भवन्ति । (अवचिज्जंति त्ति) स्कन्धरूपा एव प्रदेशविघटनेनापचीयन्ते ।

द्रव्याधिकारादेवेदमाह । जीवाऽऽनिरूपण द्रव्यग्रहणम्-

जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं ओरालियसरीरत्ताए गे-

एहइ, ताइं किं ठियाइं गेएहइ, अट्ठियाइं गेएहइ ?। गोयमा ! ठियाइं पि गेएहइ, अट्ठियाइं पि गेएहइ। ताइं भंते ! किं दव्वओ गेएहइ, खेत्तओ गेएहइ, कालओ गेएहइ, भावओ गेएहइ ?। गोयमा ! दव्वओ वि गेएहइ, खेत्तओ वि गेएहइ, कालओ वि गेएहइ, भावओ वि गेएहइ। ताइं दव्वओ अणंतपएसियाइं दव्वाइं, खेत्तओ असंखेज्जपएसोगाढाइं, एवं जहा पन्नवणाए पढमे आहारुद्देसए० जाव णिव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउदिसिं, सिय पंचदिसिं । जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं वेउव्वियसरीरत्ताए गेएहति, ताइं किं ठियाइं० एवं चेव, णवरं णियमं छद्दिसिं, एवं आहारगसरीरत्ताए वि। जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं तेयगसरीरत्ताए गेएहति पुच्छा ?। गोयमा ! ठियाइं गेएहति, णो अट्ठियाइं गेएहति, सेसं जहा ओरालियसरीरस्स, कम्मगसरीरे एवं चेव, एवं० जाव भावओ गेएहइ, ताइं किं एगपएसियाइं गेएहइ, दुपएसियाइं गेएहइ, एवं जहा भासापदे० जाव आणुपुव्विं गेएहइ, णो अणाणुपुव्विं गेएहइ। ताइं भंते ! कइ दिसिं गेएहइ ?। गोयमा ! णिव्वाघाएणं जहा ओरालियस्स। जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं सोइंदियत्ताए गेएहइ, जहा वेउव्वियसरीरं, एवं ०जाव जिब्भिंदियत्ताए, फासिंदियत्ताए जहा ओरालियसरीरं, मणजोगत्ताए जहा कम्मगसरीरं, णवरं णियमा छद्दिसिं, एवं वइजोगत्ताए वि, कायजोगत्ताए वि जहा ओरालियसरीरस्स । जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं आणापाणुत्ताए गेएहति, जहेव ओरालियसरीरत्ताए०जाव सिय पंचदिसिं ॥

(ठियाइं ति) स्थितानि जीवप्रदेशावगाढक्षेत्रस्याभ्यन्तरवर्त्तीनि, अस्थितानि च तदनन्तरवर्त्तीनि । तानि पुनरौदारिकशरीरपरिणामविशेषादाकृष्य गृह्णाति । अन्ये त्वाहुः- स्थितानि तानि यानि नैजन्ते, तद्विपरीतानि त्वस्थितानि, (किं दव्वओ गिएहइ त्ति) किं द्रव्यमाश्रित्य गृह्णाति, द्रव्यतः किंस्वरूपाणि गृह्णातीत्यर्थः । एवं क्षेत्रतः क्षेत्रमाश्रित्य कतिप्रदेशावगाढानीत्यर्थः। वैक्रियशरीराधिकारे "नियमं छद्दिसिं ति" यदुक्तं तत्रायमभिप्रायः-वैक्रियशरीरी पञ्चेन्द्रिय एव प्रायो भवति, स च त्रसनाड्या मध्य एव, तत्र च षण्णामपि दिशामनावृतत्वमलोकेन विवक्षितलोकदेशस्येत्यत उच्यते-(नियमं छद्दिसिं ति) यच्च वायुकायिकानां त्रसनाड्या बहिरपि वैक्रियकरणं भवति, तदिह न विवक्षितमप्रधानत्वात्, तस्य च कथाविदलोकान्तनिष्कुटे वा वैक्रियशरीरी वायुर्न संभवतीति। तैजससूत्रे-(ठियाइं गिएहइ ति) जीवावगाढक्षेत्राभ्यन्तरीभूतान्येव गृह्णाति। (नो अट्ठियाइं गिएहइ त्ति) न तदनन्तरवर्त्तीनि गृह्णाति, तस्याऽऽकर्षपरिणामाभावात् । अथवा-स्थितानि स्थिराणि गृह्णाति, नोऽस्थितान्यस्थिराणि, तथाविधस्वभावत्वात् । (जहा भासापदे त्ति) यथा प्रज्ञापनाया एकादशे पदे तथा वाच्यम्। तच्च-(तिपएसियाइं गिएहइ ०जाव अणंतपएसियाइं गिएहइ इत्यादि) श्रोत्रेन्द्रियसूत्रे-(जहा वेउव्वियसरीरं ति) यथा वैक्रियशरीरद्रव्यग्रहणं स्थितास्थितद्रव्यविषयं षड्दिक्कं च,एवमिदमपि; श्रोत्रेन्द्रियद्रव्यग्रहणं हि नाडीमध्य एव, तत्र च -(सिय तिदिसिमित्यादि) नास्ति व्याघाताभावादिति (फासिंदियत्ताए जहा ओरालियसरीरं ति) अयमर्थः-स्पर्शनेन्द्रियतया तथा द्रव्याणि गृह्णाति यथौदारिकशरीरं स्थितास्थितानि षड्दिगागतप्रभृतीनि चेति भावः । (मणजोगत्ताए जहा कम्मगसरीरं, नवरं नियमा छद्दिसिं ति) मनोयोगतया तथा द्रव्याणि गृह्णाति यथा कार्मणस्थितान्येव गृह्णातीति भावः। केवलं तत्र व्याघातेनेत्याद्युक्तमिह तु नियमात् षड्दिशीत्येव वाच्यम्, नाडीमध्य एव मनोद्रव्यग्रहणभावात् । अत्रसानां हि तन्नास्तीति । (एवं वइजोगत्ताए वि) मनोद्रव्यवद्भाग्द्रव्याणि गृह्णातीत्यर्थः । (कायजोगत्ताए जहा ओरालियसरीरस्स त्ति) काययोगद्रव्याणि स्थितास्थितानि षड्दिगागतप्रभृतीनि चेत्यर्थः। भ० २५ श० ४ उ० ।

दुविहा दव्वा पएणत्ता । तं जहा—गइसमावन्नगा चेव, अगइसमावन्नगा चेव ॥

द्रव्यसूत्रे गतिर्गमनमात्रमेव, शेषं तथैवेति पृथ्वीकायवत्। स्था०१ ठा० । (किं द्रव्यं गुरु, किं वा लघ्विति 'अगुरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १५७ पृष्ठे चिन्तितम्। पुद्गलास्तिकायप्रदेशः किं द्रव्यमिति 'पोग्गलत्थिकाय' शब्दे वक्ष्यते) (द्रव्यक्षेत्रकालभावानां परस्परं समावेशः 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३४२ पृष्ठे चिन्तितः) (जीवास्तिकायाऽऽदीनां द्रव्यप्रदेशार्थतयाऽल्पबहुत्वम 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे ५१४ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) संयम, आचा० १ श्रु० ४ अ० ८ उ०।

वैशेषिकरीत्या द्रव्याणि, तत्र दोषश्च-

पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति नव द्रव्याणि। तदत्र पृथिव्यप्तेजोवायूनां पृथग्द्रव्यत्वमनुपपन्नम् । तथाहि-त एव परमाणवः प्रयोगविस्रसाभ्यां पृथिव्यादित्वेन परिणमन्तोऽपि न स्वकीयं द्रव्यत्वं त्यजन्ति, न चावस्थाभेदेन द्रव्यभेदो युक्तः, अतिप्रसङ्गादिति । आकाशकालयोश्चास्माभिरपि द्रव्यत्वमभ्युपगतमेव । दिशस्त्वाकाशावयवभूताया अनुपपन्नं पृथग्द्रव्यत्वम्, अतिप्रसङ्गदोषादेव । आत्मनश्च स्वशरीरमात्रव्यापिन उपयोगलक्षणस्याभ्युपगतद्रव्यत्वमिति । मनसश्च पुद्गलविशेषतया पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भाव इति परमाणुवद्भावान्मनसश्च जीवगुणत्वादात्मन्यन्तर्भाव इति । यदपि तैरभिधीयते-यथा पृथिवीत्वयोगात्पृथिवीति, तदपि स्वप्रक्रियामात्रमेव । यतो न हि पृथिव्याः पृथग्भूतं पृथिवीत्वमपि, येन तद्योगात्पृथिवी भवेत्,अपि तु सर्वमपि यदस्ति तत्सामान्यविशेषाऽऽत्मकं नरसिंहाऽऽकारमुभयस्वभावमिति ।

तथा चोक्तम्-

" नान्वयः सहभेदत्वा-न्न भेदोऽन्वयवृत्तितः।
मृद्भेदद्वयसंसर्ग-वृत्ति जात्यन्तरं घटः ॥ १ ॥ "

तथा-

" नरस्य सिंहरूपत्वा-न्न सिंहो नररूपतः ।
शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यन्तरं हि सः ॥१॥ " इत्यादि।

अथ रूपरसगन्धस्पर्शा रूपिद्रव्यवृत्तेर्विशेषगुणाः, तथा संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे इत्येते सामान्यगुणाः, सर्वद्रव्यवृत्तित्वात् । तथा-बुद्धिः सुखदुःखे-

इच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारा आत्मगुणाः । गुरुत्वं पृथिव्युदकयोः, द्रव्यस्वभावत्वेन परोपाधिकत्वं पृथिव्युदकाग्निषु, स्नेहोऽम्भस्येव, वेगाऽऽख्यः संस्कारो मूर्त्तद्रव्येष्वेव, आकाशगुणः शब्द इति । तत्र संख्याऽऽदयः सामान्यगुणा रूपाऽऽदिवद्द्रव्यस्वभावत्वेन परोपाधिकत्वाद् गुणा एव न भवन्ति । अथापि स्युस्तथाऽपि न गुणानां पृथक्त्वव्यवस्था, तत्पृथक्त्वभावे द्रव्यस्वरूपहानेः, गुणपर्यायवद् द्रव्यमिति कृत्वा नान्तरीयकतया द्रव्यग्रहणेनैव ग्रहणं न्याय्यमिति न पृथग्भावः । किं च-तस्य भावस्तत्त्वमित्युच्यते । भावप्रत्ययश्च यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलावित्यनेन भवति । तत्र घटो रक्त उदकस्याऽऽहारको जलवान् सर्वैरेव घट उच्यते । अत्र च घटस्य भावो घटत्वं, रक्तस्य भावो रक्तत्वम्, आहारकस्य भाव आहारकत्वं, जलवतो भावो जलवत्त्वमित्यत्र घटसामान्यरक्तगुणक्रियाद्रव्यसंबन्धरूपाणां गुणानां सद्भावात्, द्रव्ये पृथुबुध्नाकार उदकाऽऽद्याहारणक्षमे कुटकाऽऽख्ये शब्दस्य घटाऽऽदेरभिनिवेशः, तत्र त्वतलौ, इह च रक्ताऽऽख्यको गुणो, यत्सद्भावाद्रक्ततरश्च तद् द्रव्यं यत्र शब्दनिवेशो येन भावप्रत्ययः स्यादिति । किमिदानीं रक्तस्य भावो रक्तत्वमिति न भवितव्यम्?, भवितव्यमुपचारेण । तथाहि-रक्त इत्येतद् द्रव्यत्वेनोपचर्य तस्य सामान्यं भाव इति रक्तत्वमिति । न चोपचारस्तत्त्वचिन्तायामुपयुज्यते, शब्दसिद्धावेव तस्य कृतार्थत्वादिति । शब्दश्चाऽऽकाशस्य गुण एव न भवति, तस्य पौद्गलिकत्वादाकाशस्य चामूर्त्तत्वादिति । शेषं तु प्रक्रियामात्रं,न साधनदूषणयोरङ्गम् । क्रियाऽपि द्रव्यसमवायिनी गुणवत्पृथगाश्रयितुं न युक्तेति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आ० चू० । आ० म० । स्या० । तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगाऽऽत्ममनांसि नवैव द्रव्याणि । पृथिव्यप्तेजोवायुरित्येतच्चतुःसंख्यं नित्यानित्यभेदाद् द्विप्रकारं द्रव्यम् । तत्र परमाणुरूपं नित्यम्, सदकारणवन्नित्यमिति वचनात् । तदारब्धं तु द्व्यणुकाऽऽदिकार्यद्रव्यमनित्यम् । आकाशाऽऽदिकं तु नित्यमेव, अनुत्पत्तिमत्त्वात् । एषां च द्रव्यत्वाभिसंबन्धाद् द्रव्यरूपता । द्रव्यत्वाभिसंबन्धाद् यानि तु नैव,न च तानि द्रव्यत्वाभिसंबन्धवन्ति । यथा गुणाऽऽदिवस्तूनीति केवलव्यतिरेकिहेतुबलात् पृथिव्यादीनि द्रव्याऽऽदिगुणाऽऽदिभ्यो व्यावृत्तरूपाणि सिद्धानि, पृथिव्यादीनामपि भेदवतां पृथिवीत्वाभिसंबन्धाऽऽदिकं लक्षणमितरेभ्यो भेदव्यवहारे तच्छब्दवाच्यत्वे वा साध्ये केवलव्यतिरेकिरूपं द्रष्टव्यम्,अभेदवतां त्वाकाशकालदिग्द्रव्याणामनादिसिद्धतच्छब्दवाच्यता द्रष्टव्या । सम्म० ३ काण्ड । (भिक्षायां ग्राह्यद्रव्यविचारो 'गोयरचरिया' शब्दे तृ०भागे ६७६ पृष्ठे उक्तः। पानकसंसक्ताऽऽदिशब्देषु च वक्ष्यते) पित्तले, विक्ते, विलेपनद्रव्ये, भेषजे, भव्ये जन्तुनि, विनये, मद्ये, व्याकरणोक्ते लिङ्गसङ्ख्याऽन्वयिनि पदार्थे, द्रोर्वृक्षस्य विकारः, तस्येदं वा यत् । वृक्षविकारे, तत्संबन्धिनि च । त्रि० । वाच० । पं० देवविजयगणिकृतप्रश्ने, उत्तरम्-कश्चित् श्राद्धः स्वद्रव्येण प्रतिमां, कश्चित्पुस्तकं च कारयति, लिखति वा, तदा प्रतिमाकर्तुर्देवद्रव्यं, पुस्तकलेखकस्य ज्ञानद्रव्यं च लगति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-उभयोरपि यथाक्रमं ते उभे न लगत इति संभाव्यते । १६७ प्र० । सेन० २ उल्ला० । गोमहिष्यजाप्रभृतीनां सर्पिषः,एवं क्षारामिक्षाऽऽदिपयसां, गोमहिष्यादितक्राणां चैकद्रव्यत्वमुत भिन्नद्रव्यत्वं वा?,श्राद्धविधौ त्वित्थं प्रोक्तम्-यत्पृथक् पृथक् नामाऽऽस्वादवर्णैस्तैन द्रव्यत्वम्,परं तेषु तक्राऽऽदिषु पृथक् पृथक् आस्वादवत्त्वं, न तु नामत्वमतस्तत्र कया रीत्या द्रव्यसंख्या गण्यते?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-गोमहिष्यजाप्रभृतीनां सर्पिषः, क्षारामिक्षाऽऽदिपानीयानां च, गोमहिष्यादितक्राणां चैकद्रव्यत्वं गण्यते, यत उभयभिन्नत्वे सति भिन्नद्रव्यत्वं स्यादिति । २०१ प्र० । सेन० २ उल्ला० । अहम्मदावादसंघकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च । यथा-आम्लतक्रमधुरतक्रयोः, तप्तोष्णोदकशीतोदकयोः, तथा मेघजलकूपजलयोरेकद्रव्यत्वं गण्यते पृथग् वेति प्रश्ने, उत्तरम्-आम्लतक्रमधुरतक्रप्रमुखाणामेकद्रव्यत्वं गण्यत इति । १२४ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । (भाषाद्रव्यस्य भनुतटिकादिभेदाः 'सद्दव्वभेय' शब्दे वक्ष्यन्ते)

दव्वंतर-द्रव्यान्तर-न० । एकद्रव्यादन्यस्मिन् द्रव्ये तद्द्रव्यसदृशे, सम्म० । यथा-गोत्वसदृशपरिणतियुक्ताच्छावलेयद्रव्यात्तत्सदृशपरिणतियुक्तं बाहुलेयाऽऽदिद्रव्यान्तरम् । सम्म० ३ काण्ड । " पच्चुप्पन्नं भावं, विगयभविस्सेहि जं समाणेइ । एय पडुच्च वयणं, दव्वंतरणिस्सियं जं च ॥३॥ " सम्म० ३ काण्ड ।

दव्वछक्क-द्रव्यषट्क-न० । षडेव षट्कं, द्रव्याणां षट्कं द्रव्यषट्कम् । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकालस्वभावे षड्द्रव्यसमुदाये, दर्श० १ तत्त्व ।

दव्वजाय-द्रव्यजात-न० । तथाविधाशनाऽऽदिद्रव्यविशेषे, उत्त० २९ अ० । द्रव्यप्रकारे, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

दव्वट्ठपएसट्ठया-द्रव्यार्थप्रदेशार्थता-स्त्री० । द्रव्यार्थप्रदेशार्थोभयाऽऽश्रयणे, भ० २५ श० ३ उ० ।

दव्वट्ठया-द्रव्यार्थता-स्त्री० । द्रव्यमुपेक्षितपर्यायं वस्तु, तदेवार्थो द्रव्यार्थः, तद्भावस्तत्ता । भ० १० श० ४ उ० । द्रव्यत्वे, अनु० । द्रव्यं च तदर्थश्चेति द्रव्यार्थः, तस्य भावो द्रव्यार्थता । प्रदेशगुणपर्यायाऽऽधारतायामवयविद्रव्यतायाम्, स्था० १ ठा० । द्रव्यास्तिकनयमते, "दव्वट्ठयाए सासया, पज्जवट्ठयाए असासया ।" द्रव्यार्थतया द्रव्यास्तिकनयमतेन शाश्वती, द्रव्यास्तिकनयो हि द्रव्यमेव तात्त्विकमभिमन्यते, न पर्यायान्, द्रव्यं चान्वयपरिणामित्वात् । अन्यथा द्रव्यत्वायोगात्, अन्वयित्वाच्च सकलकालभावीति भवति द्रव्यार्थतया शाश्वती । जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

दव्वट्ठाणाउय-द्रव्यस्थानाऽऽयुष्-न० । द्रव्यं पुद्गलद्रव्यं, तस्य स्थानं भेदः परमाणुद्विप्रदेशकाऽऽदि, तस्याऽऽयुः स्थितिः । अथवा-द्रव्यस्याणुत्वाऽऽदिभावेन यत्स्थानमवस्थानं तद्रूपमायुर्द्रव्यस्थानाऽऽयुः । द्रव्यस्थितौ, भ० ५ श० ७ उ० ।

दव्वट्ठिइ-द्रव्यस्थिति-स्त्री० । द्रव्याणां वर्तनाकाले, विशे० । भ० । (सा च चतुर्विधा 'काल' शब्दे तृतीयभागे ४७१ पृष्ठे गता) ('उवचय' शब्दे द्वितीयभागे ८८१ पृष्ठे चकारदृष्टान्तेन च)

दव्वट्ठिय-द्रव्यार्थिक-पुं० । द्रव्यमेवार्थो यस्य, न तु पर्यायः, स द्रव्यार्थिकः । नयभेदे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

द्रव्यास्थित-पुं० । द्रव्ये च वस्तुतत्त्वबुद्ध्या स्थितो, न तु पर्याये इति द्रव्यास्थितः । नयभेदे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

द्रव्यास्तिक-पुं० । अस्तीति मतिरस्य आस्तिकः । "द्रैष्टि-

काऽऽत्थिकमाऽऽस्तिक०-॥" इति निपातनाट्ठिकण्, द्रव्ये आस्तिको, न तु पर्याये इति द्रव्यास्तिकः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । अं० । द्रव्यमात्रप्ररूपके मूलनयभेदे, रत्ना० ७ परि० ।

द्रव्यार्थिकमतम्-

द्रव्यार्थिकमते द्रव्यं, तत्त्वं नेष्टमतः पृथक् । (१२)

द्रव्यार्थिकस्य मते द्रव्यं परमार्थतः सत्, अतो द्रव्यात् पृथग् भिन्नं विकल्पसिद्धं गुणपर्यायस्वरूपं तत्त्वं नेष्टम्, तन्मतेऽपि तस्य परमार्थतोऽसत्त्वादिति भावः । नयो० । ("नित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थारमूलवागरणी । दव्वट्ठिओ य,"(३ गाथा) इत्यादिगाथया 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८७६ पृष्ठे द्रव्यार्थिकनयो विवृतः) स च शुद्धाऽशुद्धभेदेन द्विधा । तत्र शुद्धो द्रव्यास्तिको नयग्रहनयाभिमतविषयप्ररूपकः । सर्वमेकं सदविशेषादिति शुद्धद्रव्यास्तिकाभिप्रायः । अशुद्धस्तु द्रव्यार्थिको व्यवहारनयमतार्थावलम्बी एकान्तनित्यचेतनाचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकसाङ्ख्यदर्शनाऽऽश्रितः, अत एव तन्मतानुसारिणः साङ्ख्याः । सम्म० १ काण्ड । वक्ष्यति चाऽऽचार्यः-" जं काविलं दरिसणं, एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं । " इति नैगमनयाभिप्रायः । द्रव्यास्तिकः शुद्धाशुद्धतया आचार्येण न प्रदर्शित एव । नैगमस्य सामान्यग्राहिणः संग्रहेऽन्तर्भूतत्वाद्विशेषग्राहिणश्च व्यवहारे इति नैगमाभावादिति द्रव्यप्रतिपादकनयप्रत्ययराशिमूलव्याकरणी द्रव्यास्तिकः शुद्धाऽशुद्धतया व्यवस्थितः, अत्र पर्यायास्तिक ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतनयप्रत्ययराशिमूलव्याकरणी शुद्धाशुद्धतया व्यवस्थितः । सम्म० १ काण्ड । नयो० । स्या० ।

"दव्वट्ठिअनयपयडी" (सम्म० १ काण्ड ४ गाथा) अस्याश्च गाथायाः सर्वमेव शास्त्रं विवरणम् । " दव्वट्ठिओ अ पज्जवनओ य " (३) इत्यादिपश्चार्धैकदेशस्य विवरणायाऽऽह सूरिः-

दव्वट्ठिअनयपयडी, सुद्धा संगहपरूवणाविसओ ।

पडिरूवे पुण वयण-त्थनिच्छओ तस्स ववहारो ॥ ४ ॥

इति गाथासूत्रम् । अत्र च संग्रहनयप्रत्ययः शुद्धो द्रव्यास्तिको, व्यवहारनयप्रत्ययस्त्वशुद्ध इति तात्पर्यार्थः ॥ अवयवार्थस्तु-द्रव्यास्तिकनयस्य व्यावर्णितस्वरूपस्य, प्रकृतिः स्वभावः, शुद्धेत्यसंकीर्णा विशेषासंस्पर्शवती, संग्रहस्याभेदतया (?) हि नयस्य प्ररूपणा-प्ररूप्यते नयेनैव कृत्वोपदर्शना पदसंहतिः, तस्या विषयोऽभिधेयः, विषयाऽऽकारेण विषयिणो वृत्तस्य विषयव्यवस्थापकत्वात्, उपचारेण विषयेण विषयिप्रकथनमेतत् । अन्यथा कः प्रस्तावः शुद्धद्रव्यास्तिके विधातुं प्रक्रान्ते संग्रहप्ररूपणायाः ?, स च संग्रहप्ररूपणाभिप्रायेण भाव एव । तथाहि-जातिद्रव्यगुणक्रियापरिज्ञापितरूपेण, स्वार्थद्रव्यालिङ्गकर्माऽऽदिप्रकारेण वा सुबन्तस्य योऽर्थः स भावाद् व्यतिरिक्तो वा भवेदव्यतिरिक्तो वा ? । यदि व्यतिरिक्तस्तदा निरुपाख्यत्वादत्यन्ताभाववासितन्ताऽऽदिरूप इति कथं सुबन्तवाच्यः? अव्यतिरिक्तश्चेत्कथं न भावमात्रता सुबन्तार्थस्य, तिङन्तार्थस्यापि क्रियाकालकारकपुरुषोपग्रहवचनाऽऽदिरूपेण परिभाष्यमाणस्य सत्तारूपतैव । तथाहि-पचतीत्यत्र क्रिया विक्लित्तिलक्षणा, काल आरम्भप्रभृतिरपवर्गपर्यन्तो वर्तमानस्वरूपः, कारकः कर्ता, पुरुषः परः, भावाऽऽत्मकैरुपग्रहः परार्थता, वचनमेकत्वं यद्यपि प्रतिपत्तिविषयः, तथाऽपि सत्यमेवैतत् । यतः क्रिया ह्यसती वेत्कारकैर्न साध्येत, खपुष्पाऽऽदिवत्, सती चेदस्तित्वमात्रमेव, सा कारकैराभिव्यज्यत इति । एवं कालाऽऽदयोऽप्यसन्तश्चेत् शशशृङ्गादिवत्, सदात्मकाश्चेत्कथं नास्तित्वादभिन्नाः (?) इति सत्तैव तिङन्तस्यार्थः, घटोऽस्तीत्यस्यार्थे यद्वाक्यं प्रयुज्यते घटः सन्निति, तत्र भावाभिधायिता पदद्वयस्यापि । तथाहि-घट इति विशेषणं, सन्निति विशेष्यम् । अत्र द्वयेनाऽपि वा भावविपरीतेन भाव्यम् । न ह्यन्यथा तद्विशेषणं, नापि तद्विशेष्यं स्यात्, निरुपाख्यत्वात्, अत्यन्ताभाववत् । यदि पुनरभावविपरीतं तदिष्यते, विशेषणविशेष्ययोः कथं न भावरूपता ? । तेन यदेव घटस्य भावो घटत्वं, तदेव घटः, यच्च सतो भावः सत्त्वं, तदेव सन्निति सर्वत्र संग्रहाभिप्रायतः प्ररूपणाविषयो भाव एव । उक्तं चैतत् समयसद्भावमभिदधताऽन्येनापि--

" अस्त्यर्थः सर्वशब्दाना-मिति प्रत्याय्य लक्षणम् ।
अपूर्वदेवताशब्दैः, समं प्राऽऽहुर्गवादिषु ॥ १ ॥
घटाऽऽदीनां नवाऽऽकारा-न्प्रत्यापयति वाचकः ।
वस्तुमात्रनिवेशित्वा-त्तद्गतिर्नान्तरीयका ॥ २ ॥ " इति ।

अत एव "यत्र विशेषक्रिया नैव श्रूयते तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषे प्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते," इत्युक्तं शब्दसमयविद्भिरिति । अथगतिश्चैवं युक्ता-यदि सत्तां पदार्थो न व्यभिचरेत्, अव्यभिचरेत् । अव्यभिचारे च तदावेशात्तदात्मकतैव, आत्मपरित्यागे वा स्वरूपहानमिति न सन्मात्रमेवाव्यक्तस्य, शब्दस्य वा विषयः, निःशेषमशेषपृथक्व्यवस्थापितमधुराऽऽदिरसपानकद्रव्यवत् । भेदप्रतिभासस्तु भेदप्रतिपादकाऽऽगमोपहतान्तःकरणानां तिमिरोपप्लुतदृशामेकशशलाञ्छनमण्डलस्यानेकत्वावभासनवदसदिति सर्वभेदानपह्नुवानः सर्वं सन्मात्रतया संगृह्णन् संग्रहः, शुद्धा द्रव्यास्तिकप्रकृतिरिति स्थितम् । तामेव शुद्धां 'पडिरूवे पुण(४)' इत्यादिगाथापश्चार्धेन दर्शयत्याचार्यः-प्रतिरूपं प्रतिबिम्बं, प्रतिनिधिरिति यावत् । विशेषेण घटाऽऽदिना द्रव्येण संकीर्णा सत्ता, पुनरिति, प्रकृतिं स्मारयति । तेनाऽयमर्थः-विशेषेण संकीर्णा सत्ता प्रकृतिः स्वभावो वचनार्थनिश्चय इति हेयोपादेयोपेक्षणीयवस्तुविषयनिवृत्तिप्रवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारसंपादनार्थम्, उच्यत इति वचनं, तस्य घट इति विभक्तरूपतयाऽस्तीत्यविभक्ताऽऽत्मतया प्रतीयमानो व्यवहारक्षमोऽर्थः, तस्य निश्चयो निर्गतः पृथग्भूतश्च यः परिच्छेदः, तस्येति द्रव्यास्तिकस्य, व्यवहार इति लोकप्रसिद्धव्यवहारप्रवर्तनपरो नयः सोऽभिमन्यते । यदि हि हेयोपादेयोपेक्षणीयस्वरूपाः परस्परतो विभिन्नस्वभावाः सद्रूपतया शब्दप्रभवे संवेदने भावाः प्रतिभान्ति, ततो निवृत्तिप्रवृत्त्युपेक्षणो व्यवहारस्तद्विषयः प्रवृत्तिमासादयति, नान्यथा । न चैकान्ततः सन्मात्राविशिष्टेषु संग्रहाभिमतेषु पृथक्स्वरूपतया परिच्छेदो बाधितरूपो व्यवहारनिबन्धनः संभवतीति । तथाहि-यदाऽऽकारे निरपेक्षतया स्वग्राहिणो ज्ञाने प्रतिभासमाधत्ते, तत्तथैव सदिति व्यवहर्तव्यं, यथा प्रतिनियतं सत्ताऽऽदिरूपम्, सन्निवेशघटाद्याकारनिरपेक्षं च घटाऽऽदिकं स्वावभासिनि ज्ञाने स्वरूपं सन्निवेशयतीति स्वभावहेतुः । घटाऽऽदिनिरपेक्षत्वं च पटाऽऽदेः घटाऽऽद्यभावेऽपि भावादवभासमानाच्च सिद्धम् । यद्वा-प्रतिशब्दो वीप्सायाम्, रूपशब्दश्च वस्तुन्यत्र प्रवर्तते । तेनायमर्थः-रूपं रूपं प्रति प्रतिवस्तु, वस्तु प्रति यो वचनार्थनिश्चयः, तस्य प्रकृतिः स्वभावः स व्यवहार इति । तथाहि-प्रतिरूपमेव वचनार्थनिश्चयो व्यवहारहेतुः, न पुनरस्तित्वमात्रनिश्चयः, यतोऽस्तीत्युक्तेऽपि श्रोता शङ्कामुपगच्छन् लक्ष्यते, अतः किमित्युक्तम् लक्ष्यतेऽस्ती-

त्याशङ्कायां द्रव्यमित्युच्यते,तदपि किम्?,पृथिवी,साऽपि का?, वृक्षः, सोऽपि कः?,चूतः, तत्राप्यर्थित्वे यावत्पुष्पितः फलितः,इत्यादि तावद्भिनत्ति यावद् व्यवहारसिद्धिरिति । व्यवहारो हि नानारूपतया सत्तां व्यवस्थापयति, तथैव संव्यवहारसंभवात्। अतो व्यवहरतीति व्यवहार इत्यन्वर्थसंज्ञां बिभ्रदशुद्धा द्रव्यास्तिकप्रकृतिर्भवति ।

विशेषप्रस्तारस्य पर्यायनया मूलव्याकरणी, शब्दाऽऽदयश्च शेषाः पर्यायनयभेदा इति प्रागुक्तं, तत्समर्थनार्थम्-

मूलणिमेणं पज्जव-णयस्स उज्जुसुअवयणविच्छेदो ।
तस्स उ सद्दाईआ, साहपसाहा सुहुमभेया ॥ ५ ॥

इति गाथासूत्रम् । अस्य तात्पर्यार्थः-पर्यायनयस्य प्रकृतिराद्या ऋजुसूत्रः,स त्वशुद्धा, शब्दः शुद्धा,शुद्धतरा समभिरूढः,अत्यन्तशुद्धा त्वेवंभूत इति । अवयवार्थस्तु-मूलनिमेणमाधारः,पर्यायविशेषः, तस्य नय उपपत्तिबलात्परिच्छेदः, तस्य, ऋजु वर्त्तमानसमयं,वस्तु,स्वरूपावस्थितत्वात्, तदेव सूत्रयति परिच्छिनत्ति, नातीतानागतं,तस्यासत्त्वेन कुटिलत्वात्। तस्य वचनं पदं वाक्यं वा,तस्य विच्छेदोऽन्तःसीमेति यावत्। ऋजुसूत्रवचनस्येति कर्मणि षष्ठी ।तेन ऋजुसूत्रस्यायमर्थो मान्यस्येति प्ररूपयतो वचनं विच्छिद्यमानं यत्तन्मूलनिमेणमत्र गृह्यते। ननु कथं वचनाविच्छेदः शब्दरूपः परिच्छेदस्वभावस्य नयस्याऽऽधारः। नैष दोषः, विषयेण विषयिकथनरूपत्वादस्य । न च वचनार्थोऽस्य विषयो, न शब्द इति वक्तव्यं, वचनार्थयोरभेदात् वचनमपि यतो विषयः; अथ विषय एव किमोक्त इति न प्रेरणीयम्,शब्दाभिहितस्यैव प्रमाणत्वमिति ज्ञापनार्थत्वादेवमभिधानम्, तस्य च पूर्वापरपर्यायविविक्ते एकपर्याय एव प्ररूपयतो वचनं विच्छिद्यते,एकपर्यायस्य परपर्यायासंस्पर्शात् । उक्तं च तन्मतमर्थं प्ररूपयद्भिः-" पलालं न दहत्यग्नि-र्दह्यते न गिरिः क्वचित् । नासंयतः प्रव्रजति, भव्यजीवो न सिद्ध्यति ॥१॥ " पलालपर्यायस्याग्निसद्भावपर्यायात्यन्तभिन्नत्वाद् यः पलालो नाऽसौ दह्यते,यश्च भस्मभावमनुभवति, नासौ पलालपर्याय इति। सम्म०१काण्ड। (" नामं ठवणा दविए,त्ति एस दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो। " (६ गाथा सम्म०१ काण्ड) इत्यादिगाथाया ' णय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७७८ पृष्ठे व्याख्यातोऽर्थः)

एतदेवाऽऽह-

तिर्यगूर्द्ध्वप्रचयिनः, पर्यायाः खलु कल्पिताः ।
सत्यं तत्रान्वयि द्रव्यं, कुण्डलाऽऽदिषु हेमवत् ॥ १३ ॥

(तिर्यगिति) तिर्यक्प्रचयिनः परस्परसमानाधिकरणत्वे सति परस्परसमानकालीना रूपरसाऽऽदय अणुत्वस्थौल्याऽऽदयश्च, ऊर्द्ध्वप्रचयिनः परस्परसमानाधिकरणत्वे सति परस्परभिन्नकालीना रक्तश्यामत्वाऽऽदयः, संयोगविभागाऽऽदयश्च, पर्यायाः खलु निश्चितं, कल्पिता वासनाविशेषप्रभवविकल्पसिद्धा अपारमार्थिका इति यावत् । तेषु कल्पनारूढेषु पर्यायेष्वन्वयि व्यापकतया प्रतीयमानं द्रव्यं सत्यं, कुण्डलाऽऽदिषु नानाकाञ्चनपर्यायेष्वन्वीयमानं, हेमवत्। अयं भावः-यथा शुक्तौ रजतभ्रान्तौ बाधाऽवतारानन्तरं रजताभावज्ञानेऽपि शुक्तेर्भासमानत्वाद् शुक्तेः सत्यत्वं, रजतस्य चासत्यत्वं, तथा कुण्डलाऽऽद्यभावज्ञानेऽपि हेम्नो भानात् कुण्डलाऽऽदिपर्यायाणामसत्यत्वं,हेमद्रव्यस्य सत्यत्वम् । एवमन्यत्रापि भावनीयमिति ।

नन्वेवं भ्रमाधिष्ठानत्वमेव सत्यत्वं, भ्रमविषयत्वं चासत्यत्वमित्यागतम्,न चासत्यत्वं प्रत्यक्षप्रमीयमाणेषु पर्यायेष्वव्यापकम्,एवं तत्र तदसत्स्वरूपसत्यत्वमपि तेष्वव्यापकमिति चेद्,न,सत्यरजतस्याऽपि प्रतिभासकाले सत्ताभानेन कालत्रयसत एवैतत्त्वे सत्यत्वस्वीकारात्। अत एव कालत्रयवृत्त्यत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वमेव परमार्थसत्यत्वमित्यभिप्रेत्याऽऽहैतत्साम्प्रदायिकः ॥१३॥

आदावन्ते च यन्नास्ति, मध्येऽपि हि न तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तो-ऽवितथा इव लक्षिताः ॥१४॥

(आदाविति) आदावन्ते च यद्वस्तु नास्ति,तन्मध्येऽपि मध्यकालेऽपि न तथा,नास्ति इत्यर्थः। न हि प्रागभावध्वंसानवच्छिन्नकालसंबन्धः सत्त्व इत्यभ्युपगन्तुं शक्यम्, उत्पत्तिविनश्यत्तासमययोरुत्पत्तिविनाशव्यापारव्यग्रयोरन्वयिव्यवहारात् ; न च तद्विवेके मध्यभागः कश्चिदवशिष्यते, इक्षुदण्डस्येव सकलमूलाग्रभागच्छेदे । किं च-पूर्वं पश्चाच्चासत्स्वभावस्य कथं मध्यमक्षणे सत्स्वभावत्वम्,स्वभावविरोधात्, मध्यमक्षणे सन्नेव पर्यायः पूर्वापरकालयोरसद्व्यवहारकारीति न स्वभावविरोध इति चेत्, तर्हि पूर्वापरकालयोरसत्स्वभाव एवायं मध्यमक्षणसंबन्धेन सद्व्यवहारकारीत्येव किं न स्वीक्रियते?, तस्मान्न निरपेक्षपारमार्थिकसत्ताक(?) न पर्यायाः,किं तु वितथैः शशविषाणाऽऽदिभिः काल्पनिकत्वेन सदृशाः सन्तोऽनादिलौकिकव्यवहारवासनावशादवितथा इव लक्षिताः, लोकैरिति शेषः ॥ १४ ॥

नन्वेवं द्रव्यार्थिकनये पर्यायाणां शशविषाणप्रायत्वात्तदवगाहिज्ञानमलीकविषयत्वेन मिथ्या स्याद्, न च घटाऽऽदिज्ञानविनिर्मुक्तविषयको द्रव्योपयोगः कश्चिदवशिष्यते, इति नामशेषता च तस्य स्यादित्याशङ्क्य शुद्धावान्तरद्रव्यार्थिकभेदेन तस्य द्वैविध्यात्तानुपपत्तिरित्यभिप्रायवानाह-

अयं द्रव्योपयोगः स्या-द्विकल्पेऽन्त्ये व्यवस्थितः ।
अन्तरा द्रव्यपर्याय-धीः सामान्यविशेषवत् ॥ १५ ॥

(अयमिति) अयं द्रव्योपयोगो द्रव्यार्थिकनयजन्यो बोधोऽन्त्ये विकल्पे शुद्धसंग्रहाऽऽख्ये व्यवस्थितः पर्यायशुद्ध्या अविचलितः स्यात्, अन्तरा शुद्धसंग्रहशुद्धर्जुसूत्रविषयमध्ये द्रव्यपर्यायधीरेव स्यात्, सामान्यविशेषबुद्धिवत् । यथा हि परेषां द्रव्यत्वाऽऽदिकं द्रव्यापेक्षया सामान्यं सद् गुणाऽऽद्यपेक्षया विशेषाऽऽख्यां लभते, तथाऽस्माकं घटाऽऽदिकं स्वपर्यायापेक्षया सामान्यं सद् गुणाऽऽद्यपेक्षया पर्यायाऽऽख्यां लभते,इति यद्यवगाही अवान्तरद्रव्यार्थिकः पर्यायोपसर्जनतां, द्रव्यमुख्यतां चाऽवगाहमानो न विकथ्यते,असतोऽप्युपसर्जनतया आश्रयणं च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाऽऽकाशस्य शब्दग्राहकतां वदतां नार्किकाणाम्, आनुपूर्वीविशेषविशिष्टस्य शब्दस्य श्रोत्रग्राह्यतां वदतां मीमांसकाऽऽदीनां च दृश्यत एवेति भावः। यद्वा-घटाऽऽदिद्रव्यार्थिकेन पर्यायविनिर्मुक्तद्रव्याऽऽकारेणैव ग्रहः, पर्यायनयेन तत्र पर्यायत्वाऽऽपादने च पर्यायविशिष्टतया ग्रहणमित्येवं सूक्ष्मेक्षिकायां शुद्धसंग्रहादन्यविशेषं यावद्व्यवस्थितिः,अन्त्यविशेषविकल्पे च शुद्धर्जुसूत्रलक्षणे कारणाभावादेव द्रव्योपयोगो व्यवस्थितः स्याद्युगपत् स्यादिति व्याख्येयम् । न चानयाऽनवस्थयैवैकस्याऽपि बोधस्यानापत्तिः, तत्तदवान्तरभेदप्रवृत्तौ वा विषयान्तरसंचारानुपपत्तिः,पर्यायान्तरजिज्ञासोपरमे तद्बाधविश्रान्तेरिति भावनीयम् । तदिदमुक्तं सम्मतौ-

" पज्जवणयवुक्कंतं,वत्थुं दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं ।
जाव दविओवओगो, अपच्छिमवियप्पणिव्वयणो ॥८॥ "

(पूर्वं ' णय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८८६ पृष्ठे गाथेयं व्याख्याता) किं विवहाद्युपयुक्तत्वेन किञ्चिद् विधियते-न विद्यते पश्चिमे विकल्पनिर्वचने सविकल्पधीव्यवहारलक्षणे यत्र स तथा, संग्रहावसान इति यावत् । अतः परं विकल्पवचनाप्रवृत्तेरीदृशो यावद् द्रव्योपयोगः प्रवर्त्तते तावद् द्रव्यार्थिकस्य वचनीयं वस्तु, तच पर्यायनयेन वि-विशेषेण उत्-प्राबल्येन क्रान्तमेव विषयीकृतमेव पर्यायनयाऽऽक्रान्तं सत्तायां मानाभावादित्येकोऽर्थः ।

यद्वा-यद् वस्तु सूक्ष्मतरसूक्ष्मतमाऽऽदिबुद्धिना पर्यायनयेन स्थूलरूपं त्यजता व्युत्क्रान्तं-गृहीत्वा मुक्तं, किमिवं सत्सामान्यं, यद् घटाऽऽदिविशेषानुपरक्तविषयीभवदस्य-माकारेण (?) यावच्छुद्धरूपतमोऽन्त्यो विशेषस्तावत्तस्तत्र द्रव्यार्थिकस्य वचनीयमतो यावदपश्चिमविकल्पनिर्वचनो योऽन्त्यो विशेषस्तावद् द्रव्योपयोगः प्रवर्त्तते इति द्वितीयोऽर्थः ।

अत एव द्रव्यपर्यायविषयतया, तदितरविषयतया वा न शुद्धजातीयद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकव्यवस्था, किं तूपसर्जनीकृतान्य-प्रधानीकृतस्वार्थविषयतया । तदुक्तम्-

" दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा, णत्थि णओ नियमसुद्धजाईओ ।
ण य पज्जवट्ठिओ णा-म कोइ भयणाय उ विसेसो ॥ ९ ॥"

प्रजनोपसर्जनप्रधानभावावगाहनादसामान्यसंग्रहेऽपि शुद्ध-द्रव्यार्थिकान्तिको न स्यादिति चेन्न, स्यादेवं पर्यायनयविचारानवतारदशायामेव तस्य शुद्धत्वव्यवस्थितेः, तदवतारे तु पूर्व-प्रवृत्तद्रव्यार्थिकाप्रामाण्यनिश्चयेन तदर्थाभावस्यैव निश्चयात् । तदुक्तम्-

" दव्वट्ठिअवत्तव्वं, अवत्थु णियमेण होइ पज्जाए ।
तह पज्जववत्थु अव-त्थुमेव दव्वट्ठिअणयस्स ॥ १० ॥ "
(सम्म० १ काण्ड)

अवस्तु इतरनयप्राधान्योपस्थितिजनितं तदप्रामाण्यनिश्चयकृताऽवस्तुत्वनिश्चयविषयः, तस्मात्पर्यायविनिर्मुक्तप्रकारताकस्य पर्यायनिष्ठोपसर्जनत्वस्य विषयताकस्य वा द्रव्यार्थिकस्य तत्तत्कोपनीतस्वार्थविचारदशायामेव शुद्धत्वं पर्यायनयाऽऽख्यानतावाऽऽकाङ्क्षायां वाशुद्धत्वमिति विवेकः । नयो० ।

अथ नवसु नयेषु प्रथमो द्रव्यार्थिकनय उक्तः, अतस्तस्य भेदा दश, तेषु प्रथमं भेदं विवरीषुराह-

द्रव्यार्थिकनयस्त्वाद्यो, दशधा समुदाहृतः ।
शुद्धद्रव्यार्थिकस्तत्र, ह्यकर्मोपाधितो भवेत् ॥ ९ ॥

(द्रव्यार्थिकेति) द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाऽऽदिक्रमेण नया नव वर्त्तन्ते, तेषु आद्यः प्रथमो द्रव्यार्थिको नयः दशधा दशप्रकारः समुदाहृतः, तत्र च प्रथमो द्रव्यार्थिकनयः शुद्धद्रव्यार्थिक इति अकर्मोपाधितः कर्मणामुपाधिना रहितः शुद्धद्रव्यार्थिकः कथ्यते । सद् द्रव्यम् । लक्षणं त्विदम्--सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्याप्नोतीति सत्, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सद्, अर्थक्रियाकारि च सत् । यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्,यच्च नार्थक्रियाकारि तदेव परतोऽप्यसत्, इति निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्या स्वभावविभावपर्यायान् द्रवति, द्रोष्यति, अदुद्रुवत् इति द्रव्यम् । गुणपर्यायवद् द्रव्यम्,गुणाश्रयो द्रव्यं वा ।

यदुक्तं विशेषाऽऽवश्यकसूत्रे--"दवए दुयए दोरव-यवो विगारो गुणाण संदावो । दव्वं भव्वं भाव-स्स भूअभावं च जं जोग्गं॥२८॥"
('दव्व' शब्देऽनुपदमेवास्याः २४६२पृष्ठे व्याख्या गता) द्रवति ताँस्तान्पर्यायान् प्राप्नोति मुञ्चति वा १। द्रूयते स्वपर्यायैरेव प्राप्यते मुच्यते वा २ । द्रुः सत्ता, तस्या एवावयवो विकारो वेति द्रव्यम् । ३--४ । अवान्तरसत्तारूपाणि द्रव्याणि महासत्ताया अवयवो विकारो भवत्येवेति भावः । गुणाः रूपरसाऽऽदयः,तेषां सद्भावः समूहो घटाऽऽदिरूपो द्रव्यम् ५ । तथा(भव्वं भविस्सति) भविष्यतीति भावः,तस्य भाविनः पर्यायस्य योग्यं यद्द्रव्यं तदपि द्रव्यम्, राजपर्यायार्हकुमारवत् ६ । तथा भूतं हि पश्चात्कृतो भावः पर्यायो यस्य तदपि द्रव्यम् । इति दिक् । तदेव द्रव्यमर्थः प्रयोजनं यस्यासौ द्रव्यार्थिकः, अस्त्यर्थे ठक्प्रत्ययः । शुद्धः कर्मोपाधिरहितश्चाऽसौ द्रव्यार्थिकश्च शुद्धद्रव्यार्थिक इति ॥ ९ ॥

अथ तस्य द्रव्यार्थिकस्य शुद्धताया विषयं दर्शयन्नाह-

यथा संसारिणः सन्ति, प्राणिनः सिद्धसन्निभाः ।
शुद्धाऽऽत्मानं पुरस्कृत्य, भवपर्यायतां विना ॥ १० ॥
उत्पादव्यययोर्गौणे, सत्तामुख्यतयाऽपरः ।
शुद्धद्रव्यार्थिको भेदो, ज्ञेयो द्रव्यस्य नित्यवत् ॥ ११ ॥

प्राणा द्रव्यभावभिन्नाः सन्ति येषां ते प्राणिनः । संसारो गतिचतुष्काऽऽविर्भावः,सोऽस्ति येषां ते संसारिणः । यथा येन प्रकारेण शुद्धाऽऽत्मत्वाऽऽदिलक्षणेन, सिद्धसन्निभाऽष्टकर्मनिर्मुक्तजीवनिभा विद्यन्ते । किं कृत्वा सन्ति?,शुद्धाऽऽत्मानं मूलभावं,तथा सहजभावं शुद्धाऽऽत्मनः स्वरूपं,पुरस्कृत्याग्रे कृत्वा,कथम्?,विना,केन विना?, भवपर्यायतां,भवः संसारस्तस्य पर्यायो भावस्तत्ता भवपर्यायता,तां विना । एतावता या चाऽनादिकालिकी जीवस्य संसारावस्था वर्त्तते, सा प्रस्तुताऽपि न गण्यते । अविद्यमानोऽपि बाह्याऽऽकारेण सिद्धाऽऽकारः,तथाऽपि गृह्यतेऽन्तर्विद्यमानत्वात् । तदायमात्मा शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन सिद्धसम एवास्तीति भावः । अत्र भावमात्रपरा द्रव्यसंग्रहगाथा-" मग्गणगुणठाणेहिं, च उदसहिं हवंति तह असुद्धणया । विण्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥ १ ॥ " ॥ १० ॥ (उत्पादेति) उत्पादस्य व्ययस्य च गौणतायां, तथा सत्ताया ध्रुवात्मकतायाश्च मुख्यतायाम्, अपर इति द्वितीयो भेदः शुद्धद्रव्यार्थिकस्य ज्ञेयः । यतः- उत्पादव्यययोर्गौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिको नाम द्वितीयो भेदः २ । अस्य मते द्रव्यं नित्यं गृह्यते, नित्यं तु कालत्रयेऽप्यविचलितस्वरूपं,सत्तामात्रायैवेदं युज्यते,कथम्?,पर्यायाणां प्रतिक्षणं ध्वंसिनां परिणामित्वेनानित्यत्वोपलब्धेः,परं तु जीवपुद्गलाऽऽदिद्रव्याणां सत्ता अव्यभिचारिणी नित्यभावमवलम्ब्य त्रिकालाविचलितस्वरूपाऽवतिष्ठते, ततो द्रव्यस्य नित्यवदिति द्रव्यस्य नित्यत्वेन द्वितीयो भेदः ॥ ११ ॥

अथ तृतीयभेदमुपदिशन्नाह-

कल्पनारहितो भेदः, शुद्धद्रव्यार्थिकोऽन्वितः ।
तृतीयो गुणपर्याया-दभिन्नः कथ्यते ध्रुवम् ॥ १२ ॥

भेदः कल्पनया रहितः कल्पनारहितस्तृतीयो भेदः शुद्धद्रव्यार्थिकनामाऽस्ति ३ । यथा जीवद्रव्यं, पुद्गलाऽऽदिद्रव्यं च निजनि-

अगुणपर्यायेभ्यश्चाभिन्नमस्ति, यद्यपि भेदो वर्त्तते द्रव्याऽऽदीनां गुणपर्यायेभ्यः, तथाऽपि भिन्नविषयिण्यर्पणा न कृता, अभेदाख्यैवार्पणा कृता, अतः कारणाद्यद् यद् द्रव्यं तत्तद् द्रव्यजन्यगुणपर्यायाभिन्नं तिष्ठति । यदेव द्रव्यं तदेव गुणा, यदेव द्रव्यं तदेव पर्याया, महापटजन्यखण्डरूपटत्वस्तदात्मकत्वात् । अत्र हि विवक्षावशाद् भिन्नाभिन्नत्वं ज्ञेयमिति ॥ १२ ॥

अथ चतुर्थं भेदमाह--

कर्मोपाधेरशुद्धाऽऽख्य-श्चतुर्थो भेद ईरितः ।
कर्मभावमयस्त्वात्मा, क्रोधी मानी तदुद्भवात् ॥ १३ ॥

(कर्मेति) कर्मोपाधेः सकाशात् कर्ममिश्रजीवद्रव्यस्याशुद्धत्वं जायते, ततः कर्मोपाधेरशुद्धद्रव्यार्थिकश्चतुर्थो भेदः कथितः । यतः कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति भेदः । अस्य च लक्षणं कथयति-यथा कर्मभावमयः कर्मणां ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनां भावाः प्रकृतयस्ते प्रचुरा यत्रेति कर्मभावमयः, आत्मा तादृग्रूपो लक्ष्यते । येन येन कर्मणा आगत्य आत्मा निरुद्ध्यते, तदा तत्तत्कर्मस्वभावतुल्यपरिणतः सन् व्यवह्रियते, यतः क्रोधोदयाद् जीवः क्रोधीति व्यपदिश्यते, मानकर्मोदयाज्जीवो मानीति व्यपदिश्यते । एवं यदा यद् द्रव्यं येन भावेन परिणमति, तदा तद् द्रव्यं तन्मयं कृत्वा ज्ञेयम् । यथा-लोहोऽग्निना परिणतो यदा काले प्राप्यते तदा अग्निरूप एवोच्यते, न तु लोहरूपः । एवमात्माऽपि मोहनीयाऽऽदिकर्मोदयेन यदा क्रोधाऽऽदिपरिणतः स्यात् तदा क्रोधाऽऽदिरूप एव बोद्धव्यः । अत एवाष्टधाऽऽत्मनो भेदाः सिद्धान्ते व्याख्याता इति ।

अथ पञ्चमं भेदमाह-

उत्पादव्ययसापेक्षो-ऽशुद्धद्रव्यार्थिकोऽग्रिमः ।
एकस्मिन्समये द्रव्य-मुत्पादव्ययध्रौव्ययुक् ॥ १४ ॥

उत्पादव्ययसापेक्षः पञ्चमो भेदोऽशुद्धद्रव्यार्थिको ज्ञेयः । यतः-उत्पादव्ययसापेक्षः सत्ताग्राहकोऽशुद्धद्रव्यार्थिकः पञ्चम इति ।५। यथा एकस्मिन्समये द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यरूपं कथ्यते । कथं तद् ?, यः कटकाऽऽद्युत्पादसमयः स एव केयूराऽऽदिविनाशसमयः, परं तु कनकसत्ता कटककेयूरयोः परिणामिन्यावर्जनीयैव । एवं सति त्रैलक्षण्यग्राहकत्वेनेदं प्रमाणवचनमेव स्यान्न तु नयवचनमिति चेन्न । मुख्यगौणभावेनैवानेन नयेन त्रैलक्षण्यग्रहणान्मुख्यनयं स्वस्वार्थग्रहणेन नयानां सप्तभङ्गीमुखेनैव व्यापारात् ॥ १४ ॥

अथ षष्ठभेदमाह-

भेदस्य कल्पना शुद्ध-अशुद्धः षष्ठ इष्यते ।
यथाऽऽत्मनो हि ज्ञानाऽऽदि-गुणाः शुद्धः प्रकल्पनात्॥ १५॥

(भेदेति) अशुद्धद्रव्यार्थिकः षष्ठो भेदो भेदस्य भेदभावस्य कल्पनां गृह्णन् सन् जायते, यथाहि ज्ञानाऽऽदयो गुणाः शुद्धा आत्मनः कथ्यन्ते, इत्यत्र षष्ठी विभक्तिर्भेदं कथयति, भिक्षोः पात्रमितिवत् । परमार्थतस्तु गुणगुणिनोर्भेद एव नास्ति, तस्मात् कल्पितो भेदोऽत्र ज्ञेयो, न तु साहजिकः ॥ १५ ॥

अथ सप्तमं भेदं कथयति-

अन्वयी सप्तमश्चैक-स्वभावः समुदाहृतः ।
द्रव्यमेकं यथा प्रोक्तं, गुणपर्यायभावितम् ॥ १६ ॥

(अन्वयीति) अन्वयद्रव्यार्थिकः सप्तमो भेद एकस्वभाव उक्तः । यथा-द्रव्यं चैकं गुणैः पर्यायैश्च भावितं वर्त्तते, द्रव्यमेकं गुणपर्यायस्वभावमस्ति । गुणेषु रूपाऽऽदिषु, पर्यायेषु कम्बुग्रीवाऽऽदिषु द्रव्यस्य घटस्यान्वयोऽस्ति । यतस्तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः । अथवा-सति सद्भावोऽन्वयः । यथा- सति दण्डे घटोत्पत्तिः । अत एव यदा द्रव्यं ज्ञायते तदा द्रव्यार्थोऽऽदेशेन तदनुगतसर्वगुणपर्याया अपि ज्ञायन्ते । यथा-सामान्यप्रत्यासत्त्या परस्य सर्वा व्यक्तिरपि अवगन्तव्या, तथा अत्राऽपि ज्ञेयमित्यन्वयद्रव्यार्थिकः सप्तम इति ॥ १६ ॥

अथाष्टमभेदोत्कीर्तनमाह-

स्वद्रव्याऽऽदिकसंग्राही, ह्यष्टमो भेद आहितः ।
स्वद्रव्याऽऽदिचतुष्कस्य, सदर्थो दृश्यते यथा ॥ १७ ॥

(स्वेति) स्वद्रव्याऽऽदिग्राहको द्रव्यार्थिकोऽष्टमो भेदः कथितः । यथा-अर्थो घटाऽऽदिः स्वद्रव्यतः स्वक्षेत्रतः स्वकालतः स्वभावतः सत्त्वेन प्रवर्तते । स्वद्रव्याद् घटः काञ्चनो, मृन्मयो वा ॥ १ ॥ स्वक्षेत्राद् घटः पाटलिपुत्रो, माथुरो वा ॥२॥ स्वकालाद् घटो वासन्तिको, ग्रैष्मो वा ॥३॥ स्वभावात् घटः श्यामो, रक्तो वा ॥४॥ एवं चतुर्ष्वपि घटद्रव्यस्य सत्ता प्रमाणमित्येवाऽस्ति । स्वद्रव्याऽऽदिग्राहको द्रव्यार्थिकोऽष्टमो भेद इति ज्ञेयम् ॥ १७ ॥

अथ नवमं भेदमाह-

परद्रव्याऽऽदिकग्राही, नवमो भेद उच्यते ।
परद्रव्याऽऽदिकेभ्योऽस-त्त्वर्थः संज्ञाप्यते यथा ॥ १८ ॥

तेषु द्रव्यार्थाऽऽदिषु परद्रव्याऽऽदिग्राहको द्रव्यार्थिको नवमः ॥९॥ यथाऽर्थो घटाऽऽदिः परद्रव्याऽऽदिचतुष्टयेभ्योऽसन् वर्त्तते । घटापेक्षया परद्रव्यं पटः, अतस्तन्त्वादिरूपो घटोऽसन्नस्ति ॥१॥ परक्षेत्राद् यथा-घटो माथुरो वर्त्तते, न काशीजः, किं तु घटक्षेत्रं मथुरा, तदपेक्षया काशी भिन्ना । अत एव परक्षेत्रात्काशीलक्षणादसन् घटः ॥२॥ परकालाद् यथा-घटो वसन्ते निष्पन्नोऽतो वासन्तिको घटः, वसन्तापेक्षया ग्रैष्मो भिन्नस्ततो ग्रीष्मकालजाद्वासन्तिको घटोऽसन् ॥३॥ परभावात्-विवक्षितश्यामाऽऽदिभावापेक्षया रक्तो घटोऽसन् वर्त्तते ॥४॥ एवं परद्रव्याऽऽदिग्राहको द्रव्यार्थिको नवमः ॥ १८ ॥

अथ दशमभेदोत्कीर्त्तनमाह-

परमभावसंग्राही, दशमो भेद आप्यते ।
ज्ञानस्वरूपकस्त्वात्मा, ज्ञानं सर्वत्र सुन्दरम् ॥ १९ ॥

परमभावसंग्राही परमभावग्राहको दशमो भेदः कथितः ॥१०॥ यथा-ज्ञानस्वरूपक आत्मा ज्ञानस्वरूपी कथितः, दर्शनचारित्रवीर्यलेश्याऽऽदयो ह्यात्मनो गुणा अनन्ताः सन्ति, परं तु तेषु एकं ज्ञानं सारतरं वर्त्तते । अन्यद्रव्येभ्य आत्मनो भेदो ज्ञानगुणेन दर्शयिष्यते । तस्मात्कारणात्सर्वोपाधिवर्जितत्वेनाऽऽत्मनः परमस्वभावो ज्ञानमेवाऽऽस्ते । इत्थमन्येषामपि द्रव्याणां परमभावा असाधारणगुणा प्रतीतव्याः । परमभावग्राहको द्रव्यार्थिको दशम इति । अत्रानेकस्वभावानां मध्ये ज्ञानाऽऽख्यः परमस्वभावो गृहीत इति द्रव्यार्थिकस्य दश भेदाः ॥ १९ ॥ द्रव्या० ५ अध्या० ।

द्रव्यार्थिकभेदानाह:-

आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रिधा ॥ ६ ॥

आद्यो द्रव्यार्थिकः । रत्ना० ७ परि० । (तत्र नैगमाऽऽदीनां व्याख्याऽन्यत्र)

दव्वणय-द्रव्यनय-पुं० । द्रव्यार्थिकनये, सूत्र० ।

द्रव्यनय आह-"यथा नामाऽऽदि नाऽऽकारं, विना संवद्यते तथा । नाऽऽकारोऽपि विना द्रव्यं, सर्वं द्रव्याऽऽत्मकं ततः ॥१॥" तथाहि-द्रव्यमेव मृदादि निखिलस्थासकोशकुशूलकपालाऽऽद्याकारानुयायि वस्तु सत्, तस्यैव तत्तदाकारानुयायिनः सद्बोधविषयत्वात्, स्थासकोशाऽऽद्याकाराणां तु मृद्द्रव्यातिरेकिणां कदाचिदनुपलम्भात्, तथोत्पादाऽऽदिसकलविकारविरहितं तथातथाऽऽविर्भावतिरोभावमात्रान्वितं संमूर्छितसर्वप्रभेदनिर्भेदबीजं द्रव्यमागृहीतलक्षणाऽऽदिप्रभेदरहितमिव सरःसलिलवत् । सूत्र० १ श्रु० ।

आह च-

दव्वपरिणाममित्तं, मोत्तूणाऽऽगारदरिसणं किं तं ? ।
उप्पायव्वयरहियं, दव्वं चिय निव्वियारं तं ॥ ६६ ॥

को हि नाम स्थापनानयस्याऽऽकारग्रहः ?, यस्माद्द्रवतीति द्रव्यमनादिमदुत्प्रेक्षितपर्यायशृङ्खलाऽऽधारं मृदादिपूर्वपर्यायमात्रतिरोभावेऽभिनवपर्यायमात्राऽऽविर्भावः परिणामो द्रव्यस्य परिणामो द्रव्यपरिणामः, स एव तन्मात्रं, तद् मुक्त्वा किमन्यदाकारदर्शनं, येनोच्यते "आगारो च्चिय मइसद्दवत्थु ।" इत्यादि ?। ननु द्रव्यमेव तत्, किंविशिष्टम्?, उत्पादव्ययरहितं, निर्विकारम्-उत्फणविफण-कुण्डलिताऽऽकारसमन्वितसर्पद्रव्यवद् विकाररहितं; किं हि नाम तत्राऽपूर्वमुत्पन्नं, विद्यमानं वा विनष्टं, येन विकारः स्यादिति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ ६६ ॥

ननु कथमुत्पादाऽऽदिरहितमुच्यते, यावता सर्पाऽऽदिके द्रव्ये उत्फणविफणाऽऽदयः पर्याया उत्पद्यमाना निवर्तमानाश्च प्रत्यक्षेणैव दृश्यन्ते ?, इत्याह-

आविब्भावतिरोभा-वमेत्तपरिणामकारणमचिंतं ।
निच्चं बहुरूवं पि य, नडो व्व वेसंतराऽऽवन्नो ॥ ६७ ॥

आविर्भावश्च तिरोभावश्च, तावेव तन्मात्रं, तदेव परिणामः, तस्य कारणं द्रव्यं, यथा सर्पे उत्फणविफणाऽवस्थयोरिति; न ह्यत्रापूर्वं किञ्चिदुत्पद्यते, किं तर्हि ?, छन्नरूपतया विद्यमानमेवाऽऽविर्भवति । नाप्याविर्भूतं किञ्चिन्नश्यति, किं तु छन्नरूपतया तिरोभावमेवाऽऽसादयति । एवं च सत्याविर्भावतिरोभावमात्र एव कार्योपचारात्कारणत्वमस्यौपचारिकमेव । तस्मादुत्पादाऽऽदिरहितं द्रव्यमुच्यत इति । आह-ननु यद्येकस्वभावं निर्विकारं द्रव्यं, तर्ह्यनन्तकालभाविनामनन्तानामप्याविर्भावतिरोभावानामेकहेलयैव कारणं किमिति न भवति ?, इत्याह-अचिन्त्यमचिन्त्यस्वभावं द्रव्यं, तेनैकस्वभावस्याऽपि तस्य क्रमेणैवाऽऽविर्भावतिरोभावप्रवृत्तिः, सर्पाऽऽदिद्रव्येष्वेकस्वभावेष्वप्युत्फणविफणाऽऽदिपर्यायक्रमप्रवृत्तेः प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति । ननु यद्येवम्, उत्फणविफणाऽऽदिबहुरूपत्वात्पूर्वावस्थापरित्यागेनोत्तरावस्थाऽधिगमादनित्यता द्रव्यस्य किमिति न भवति ?, इति चेत्. इत्याह-वेषान्तराऽऽपन्ननटवद् बहुरूपमपि द्रव्यं नित्यमेव । इदमुक्तं भवति-यथा नायकविदूषककापालिकाऽऽदिपात्रावसरेषु वेषान्तराण्यापन्नो वेषान्तराऽऽपन्नो नटो बहुरूपः, एवमुत्फणविफणाऽऽदिभावैर्यद्यपि द्रव्यमपि बहुरूपम्, तथाऽपि नित्यमेव, स्वयमविकारित्वात्, आकाशवत्; यथाहि घटपटाऽऽदिसंबन्धेन बहुरूपमप्याकाशं स्वयमविकारित्वाद् नित्यम्, एवं द्रव्यमपीति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ ६७ ॥

कारणमेव च सर्वत्र त्रिभुवने विद्यते, न कथंचित् कार्यम्, यच्च कारणं तत् सर्वं द्रव्यमेव, इति दर्शयन्नाह-

पिंडो कारणमिट्ठं, पयं व परिणामओ तहा सव्वं ।
आगाराइ न वत्थुं, निक्कारणओ खपुप्फं व ॥ ६८ ॥

मृदादिपिण्डः कारणमिष्टं कारणमात्रमेवाभ्युपगम्यते । कुतः?, इत्याह-परिणामित्वात् परिणमनशीलत्वात्, पयोवद् दुग्धवत् । यथा च पिण्डः, तथाऽन्यदपि सर्वं स्थासकोशकुशूलाऽऽदिकं त्रैलोक्यान्तर्गतं वस्तु कारणमात्रमेव, परिणामित्वात्, पयोवत्, यद् यत् कारणं तत् सर्वं द्रव्यमेव, इति द्रव्यनयस्य स्वपक्षसिद्धिः । ननु मृत्पिण्डाऽऽदीनां कार्यभूताः स्थासकोशकुशूलघटाऽऽदयः प्रत्यक्षेणैव दृश्यन्ते, संबन्धिशब्दश्च कारणशब्दः सर्वदैव कार्यापेक्ष एव प्रवर्तते, तत् कथं कारणमात्रमेवाऽस्ति, न कार्यम् ?, इति चेत् । नैवम्, आविर्भावतिरोभावमात्र एव कार्योपचारात्, उपचारस्य चावस्तुत्वात् । इति स्वपक्षं व्यवस्थाप्य परपक्षं दूषयितुमाह-(आगारेत्यादि) द्रव्यमात्रं विहाय स्थापनाऽऽदिनयैर्यदाकाराऽऽदिकमभ्युपगम्यते, तद् सर्वमवस्तु । कुतः ?, इत्याह-निष्कारणत्वात् कारणमात्ररूपतयाऽनभ्युपगमात्, तदभ्युपगमे स्वस्मत्पक्षवर्तित्वप्रसङ्गात्, इह यत् कारणं न भवति तद् न वस्तु, यथा गगनकुसुमम्, अकारणं च परैरभ्युपगम्यते सर्वमाकाराऽऽदिकम्, अतो वस्तु । इति गाथाऽर्थः ॥ ६८ ॥ विशे० ।

दव्वणाम-द्रव्यनामन्-न० । द्रव्यलक्षणेऽर्थे, अनु० । तच्च-"से किं तं दव्वणामे ?। दव्वणामे छव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-धम्मत्थिकाए० जाव अद्धासमए य । सेत्तं दव्वणामे ।" अनु० ।

दव्वतो-द्रव्यतस्-अव्य० । भावशून्यत्वेनाप्रधानतयाऽयथार्थमित्यर्थे, पञ्चा० १६ विव० ।

दव्वत्त-द्रव्यत्व-न० । द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छतीति द्रव्यं, तस्य भावस्तत्त्वम् । द्रव्यभावे, द्रव्या० ।

द्रव्यत्वं द्रव्यभावत्वं, पर्यायाऽऽधारताश्रयः ।
प्रमाणेन परिच्छेद्यं, प्रमेयं भणिगद्यते ॥ ३ ॥

द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छतीति द्रव्यं, तस्य भावस्तत्त्वम् । द्रव्यभावो हि पर्यायाऽऽधारताऽभिव्यङ्ग्यजातिविशेषः । "द्रव्यत्वं जातिरूपत्वाद् गुणो न भवति," इत्यनैयायिकाऽऽदिवासनया आशङ्का न कर्तव्या. यतः-"सहभाविनो गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः ।" इत्थमेव जैनशासने व्यवस्थाऽस्तीति । द्रव्यत्वं चेद् गुणः स्याद् रूपाऽऽदिवदुत्कर्षापकर्षभागि स्यादिति तु कुचोद्यम्, एकत्वाऽऽदिसंख्यायाः परमतेऽपि व्यभिचारेण तथा व्याप्त्यभावादेव निरसनीयम् ॥ ३ ॥ द्रव्या० ११ अध्या० ।

दव्वत्थव-द्रव्यस्तव-पुं० । द्रव्ये द्रव्यविषयः स्तवः पूजा द्रव्यस्तवः । भावस्तवकारणभूते स्तवभेदे, पञ्चा० । स च-

दव्वे भावे य थओ, दव्वे भावथयरागओ सम्मं ।
जिणभवणाऽऽदिविहाणं, भावथओ चरणपडिवत्ती ॥ २ ॥

द्रव्ये द्रव्यविषयः, भावस्तवकारणभूत इत्यर्थः । भावे भावविषयः पारमार्थिकः, परिणामविशेषरूपो वेत्यर्थः । चशब्दः समुच्चये । स्तवः स्तोतव्यपूजनं, भवतीति गम्यम् । तत्राऽऽद्यं तावदाह-द्रव्ये द्रव्यविषयः स्तवः । क इत्याह-(जिणभवणाऽऽद-

विहाणं) अर्हद्गृहप्रतिमाऽऽदीनां करणम्, उपलक्षणत्वात्कारणं च । कथ ?, सम्यगागमनीत्या। कुतः ?, भावस्तवरागतः सर्वविरतिबहुमानात् । चरणं हि निर्वाणैकहेतुत्वाच्चरणं, ततस्तत्प्राप्त्युपायश्च द्रव्यस्तव इति विधेयोऽसावित्येवंरूपादिति ।

अथ भावस्तवस्वरूपमाह--भावस्तवः परमार्थपूजनमध्यात्मपूजा वा । क इत्याह--चरणप्रतिपत्तिः--सर्वविरत्यभ्युपगमः । इति गाथाऽर्थः ॥ २ ॥

अथ द्रव्यस्तवलक्षणं प्रपञ्चयन्नाह-

जिणभवणबिंबठावण-जत्तापूजाऽऽइ सुत्तओ विहिणा ।
दव्वत्थओ त्ति नेयं, भावत्थयकारणत्तेण ॥ ३ ॥

जिनस्यार्हतो भवनं च गृहं, बिम्बं च प्रतिमा, स्थापनं च प्रतिष्ठा, यात्रा चाष्टाह्निका महिमा, पूजा च पुष्पाऽऽद्यर्चनम्, आदिर्यस्य जिणगुणगानाऽऽदेस्तज्जिनभवनबिम्बस्थापनयात्रापूजाऽऽदि । द्रव्यस्तव इति ज्ञेयमिति योगः । तच्च न यथाकथञ्चिदित्याह-सूत्रत आगममाश्रित्य, तदपि विधिना । "जह होइ तह सम्मं" इत्यादिना विधानेन द्रव्यस्तवो भावस्तवकारणभूतपूजा, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः । ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । केन हेतुनेत्याह-भावस्तवकारणत्वेन चरणप्रतिपत्तिरूपभावस्तवहेतुत्वात् । द्रव्यशब्दो ह्यत्र कारणपर्यायः । इति गाथाऽर्थः ॥ ३ ॥

कथं पुनरिदं जिनभवनाऽऽदि भावस्तवहेतुतां प्रतिपद्यत इत्याह-

विहियाणुट्ठाणमिणं, ति एवमेयं सया करेंताणं ।
होइ चरणस्स हेऊ, णो इहलोगाद्दवेक्खाए ॥ ४ ॥

विहितमाप्ताऽऽगमे विधेयतयाऽनुमतं यदनुष्ठानं क्रिया तद्विहितानुष्ठानम् । इदं जिनभवनाऽऽदिकरणलक्षणम् , इति अनेनोल्लेखेन , एवमनेन भावस्तवानुरागलक्षणेन स्तवविधिलक्षणेन वा प्रकारेण । एतज्जिनभवनाऽऽदिविधानम्, सदा सर्वकालम् , कुर्वतां विदधताम्, भवति जायते , चरणस्य सर्वविरतिरूपचारित्रस्य, हेतुर्निमित्तम् । एतदेव जिनभवनाऽऽदि । उक्तविपर्यये यद्भवति तदाह--(णो) नैव । इहलोकाऽऽद्यपेक्षया ऐहभविककीर्त्यादिपारभविकदेवत्वराज्याऽऽदिपदार्थाभिलषणेन चरणस्य हेतुर्भवति । एतज्जिनभवनाऽऽदिविधानं निदानदूषितत्वात् । इति गाथाऽर्थः ॥ ४ ॥

भावस्तवकारणत्वं तदनुरागश्च द्रव्यस्तवनिबन्धनमुक्तम्, तत्राऽसौ यथा भावस्तवहेतुः स्यात्तथा दर्शितं, न पुनस्तदनुराग इत्याशङ्क्याऽऽह--

एवं चिय भावथए, आणाआराहणा उ रागो वि ।
जं पुण इय विवरीयं, तं दव्वथओ वि णो होइ ॥ ५ ॥

(एवं चिय) एवमेव विहितानुष्ठानमिदमित्यभिप्रायेणैव, भावस्तवे चरणप्रतिरूपे, रागोऽपि बहुमानोऽपि, न केवलं चरणहेतुत्वमित्यपिशब्दार्थः । कुत एतदेवमित्याह-आज्ञाऽऽराधनादाप्तोपदेशानुपालनात्, निर्निदानतामेव हि जिनाः समनुमन्यन्ते । उक्तविपर्ययमाह-यज्जिनभवनाऽऽदिविधानम् , पुनरिति पूर्वोक्तार्थविलक्षणताप्रतिपादनार्थः, इति विपरीतमनन्तरोक्तविधिविपर्ययः, तम्, तज्जिनभवनाऽऽदिविधानम्, द्रव्यस्तवोऽप्युक्तनिर्वचनो न केवलं भावस्तवः, उत्सूत्रत्वात् , न भवति न जायते । इति गाथाऽर्थः ॥ ५ ॥

उक्तविधिविपरीततायामपि तद् द्रव्यस्तवो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह--

भावे अइप्पसंगो, आणाविवरीयमेव जं किंचि ।
इह चित्ताणुट्ठाणं, तं दव्वथओ भवे सव्वं ॥ ६ ॥

भावे च सत्तायां पुनर्द्रव्यस्तवस्योक्तविपरीतत्वेऽपि । किं स्यादित्याह-अतिप्रसङ्गोऽतिव्याप्तिलक्षणानिष्टाऽऽपत्तिरित्यर्थः । अतिप्रसङ्गमेव व्यनक्ति--आज्ञाविपरीतमेव आप्तवचनविपर्यस्तमपि । एवकारस्यापिशब्दार्थत्वाद्, यदित्यनुष्ठानम् । किञ्चिदनियतस्वरूपम् , इह स्तवविचारे, चित्रानुष्ठानं नानाप्रकारा हिंसाऽऽदिक्रिया, तदनुष्ठानम्, द्रव्यस्तवो निर्णीतशब्दार्थो, भवेत् जायेत । सर्वं समस्तम् । आज्ञाविपरीतत्वाविशेषेण जिनभवनाऽऽदिविधानवदिति गाथाऽर्थः ॥ ६ ॥

इहार्थे परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

जं वीयरागगामी, अह तं णणु गरहितं पि हु म एवं ।
सिय उचियमेव जं तं, आणाआराहणा एवं ॥ ७ ॥

यदित्यनुष्ठानम्, वीतरागगामि जिनविषयम्, अथेति परप्रश्नार्थः , तदनुष्ठानमाज्ञाविपरीतमपि द्रव्यस्तवो भवति, न पुनर्यत्किञ्चन हिंसाऽऽदिकम, अतः कथमतिप्रसङ्ग इति परमतम् । एतत्परिहरन्नाह--(णन्विति) परमतासमाप्तौ, गर्हितमपि निन्द्यमपि गालीप्रदानाऽऽदिकम्, आस्तामगर्हितम् । हुशब्दो वाक्यालङ्कारे,स इति द्रव्यस्तवः, भवेद् । एवमनेन भवदभ्युपगतन्यायेनाऽऽज्ञाविपरीतमप्यनुष्ठानं वीतरागविषयं द्रव्यस्तव इत्येवंलक्षणेन । पुनः परमतमाशङ्कमान आह-स्याद्भवेत्, तव मतिरिति गम्यम् । यत्पुनरुचितमेव सङ्गतमेव, यदित्याज्ञाविहितं वीतरागगामि, तदित्यनुष्ठानं द्रव्यस्तवो भवति, न पुनर्गर्हितमपीति नातिप्रसङ्गः । इत्यत्रोत्तरमाह--आज्ञाऽऽराधनाऽऽप्ताऽऽदेशपालनेन । एवमनेनैव प्रकारेणाऽऽज्ञाविपरीतमपि यदुचितमनुष्ठानं तद् द्रव्यस्तव इत्येवंलक्षणेन द्रव्यस्तवाभ्युपगमे आज्ञाऽनुपालनारूपत्वादुचितस्य । नाह्याज्ञोत्तीर्णमप्युचितं भवितुमर्हति । इति गाथाऽर्थः ॥ ७ ॥

उचितानुष्ठानस्याऽऽज्ञाऽनुपालनारूपत्वमेव दर्शयन्नाह -

उचियं खलु कायव्वं, सव्वत्थ सया णरेण बुद्धिमता ।
इय फलसिद्धी णियमा, एस च्चिय होइ आणं ति ॥ ८ ॥

उचितमेव देशकालावस्थाऽऽद्यपेक्षया सङ्गतमेव,खल्ववधारणे, कर्तव्यं विधेयम, सर्वत्र समस्ते देशे, पात्रे वा । सदा सर्वदा, नरेण पुरुषेण । नरग्रहण प्राणिमात्रोपलक्षणम् । धर्मोपदेशे नराणां प्राधान्याम्, बुद्धिमता मतिमता,बुद्धिविकलो हि न तत् कर्तुं क्षमते, बुद्धिविकलत्वादेव । अथ कस्मादेवमुपदिश्यत इत्याह-इत्यनेनोचितकरणेन, फलसिद्धिः साध्यनिष्पत्तिः, नियमान्निश्चयेन, साध्यश्च मुख्यवृत्त्या मोक्षार्थः, तत्कारणतया धर्मार्थः, प्रसङ्गतश्चेतरावपि । प्रकृतार्थयोजनायाऽऽह--एषैवानन्तरोक्ता उचितक्रिया, भवति वर्तते , आज्ञा आप्तोपदेशः, तत उचितकरणमाज्ञाऽऽराधनेति स्थितम् । इतिशब्दः समाप्तावुपप्रदर्शने वा । इति गाथाऽर्थः ॥ ८ ॥

उचितकरणं द्रव्यस्तव इत्युक्तम्, अथैतस्यैव विपर्ययमाह--

जं पुण एयविउत्तं, एगंतेणेव भावसुन्नं ति ।

तं विसयम्मि वि ण तओ, भावथयाहेउओ णेयं ॥९॥

यदित्यनुष्ठानम्, पुनःशब्दो विशेषद्योतनार्थः, एतद्विमुक्तमौचित्यरहितम् । तथा एकान्तेनैव सर्वथैव, भावशून्यं बहुमानशून्यम्, एकान्तग्रहणात् भावलेशयुक्तस्य कथञ्चिदौचित्यवियुक्तस्यापि द्रव्यस्तवत्वमाह, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थो भिन्नक्रमश्च । तदित्यनुष्ठानम्, विषयेऽपि वीतरागेऽपि, विधीयमानम्, आस्तामविषये । न तको न द्रव्यस्तवो, भवतीति ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । कुतः ?, इत्याह-भावस्तवाहेतुतः, इह भावप्रत्ययस्य लुप्तस्य दर्शनाद्भावस्तवाहेतुत्वाद्भावस्तवाकारणत्वात् । इति गाथाऽर्थः ॥ ९ ॥

अथ कस्माद्भावस्तवाहेतुभूतमनुष्ठानं द्रव्यस्तवो न भवतीत्यत्राऽऽशङ्कायामाह-

समयम्मि दव्वसद्दो, पायं जं जोग्गयाएँ रूढो त्ति ।
णिरुवचरितो उ बहुहा, पओगभेदोवलंभाओ ॥१०॥

समये सिद्धान्ते, द्रव्यशब्दो द्रव्यमित्येष ध्वनिः, प्रायो बाहुल्येन, प्रायोग्रहणात् क्वचिदप्राधान्येऽपि, वर्तत इति सूचनार्थः । यदिति यस्मादर्थे, अयं च " भावत्थयहेऊ (१२)" इत्यनेन व्यवहितगाथाऽवयवेन संभत्स्यते । योग्यतायां योग्यताभिधाने, रूढ प्रसिद्ध इत्येवं वक्ष्यमाणोदाहरणन्यायेन उपचरितादुपचारान्निष्क्रान्तो निरुपचरितोऽकाल्पनिकः, तुशब्द एवकारार्थः, तेन निरुपचरित एव । कुत एतदेवमित्याह-बहुधा बहुभिः प्रकारैः, प्रयोगभेदोपलम्भात् प्रयुक्तविशेषदर्शनात् । इति गाथाऽर्थः ॥ १० ॥

प्रयोगभेदानेव दर्शयन्नाह-

मिउपिंडो दव्वघडो, सुसावगो तह य दव्वसाहु त्ति ।
साहू य दव्वदेवो, एमाइ सुए जओ भणितं ॥११॥

मृत्पिण्डो मृत्तिकापिण्डो द्रव्यघटो द्रव्यतो योग्यतया घटो द्रव्यघटः, सुश्रावकः शोभनः श्रमणोपासकः, तथा चेति समुच्चये । द्रव्यतो योग्यतया साधुर्द्रव्यसाधुः । इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः । साधुश्च संयतः पुनः, द्रव्यतो योग्यतया देवः सुरो द्रव्यदेवः । (एमाइ त्ति) इह चशब्दलोपः प्राकृतत्वात्, ततश्च एवमादि च इत्यादि प्रयोगजातम् । आदिशब्दाद् द्रव्यनारकाऽऽदिग्रहः । श्रुते प्रवचने, यतो यस्माद्भणितमुक्तम्, ततः प्रयोगभेदोपलम्भाद् द्रव्यशब्दो योग्यतायां रूढः । इति गाथाऽर्थः ॥११॥

यतो योग्यतायां द्रव्यशब्दः-

ता भावत्थयहेऊ, जो सो दव्वत्थओ इहं इट्ठो ।
जो उ ण एवंभूओ, स अप्पहाणो परं होति ॥१२॥

तत्तस्माद्भावस्तवहेतुश्चरणप्रतिपत्तिकारणं साक्षात्परम्परया वा यो जिनभवनविधानाऽऽद्यनुष्ठानविशेषः । (सो इति) असौ द्रव्यस्तवः पूर्वोक्तस्वरूपः । इह द्रव्यस्तवाधिकारे, अन्यत्र पुनः स्तवशब्दार्थेऽपि, तत्रानुपयुक्तपुरुषाऽऽदिलक्षणोऽपि, इष्टोऽभिमतो द्रव्यस्तवस्वरूपविदुषाम् । ननु भावस्तवाहेतुरपि द्रव्यस्तवोऽन्यत्राऽऽगमेऽभिधीयते, तत्कथमित्याह-यः पुनर्द्रव्यस्तवविशेषः, (न) नैव, एवंभूतोऽमुं प्रकारं भावस्तवकारणत्वलक्षणं प्राप्तः, स द्रव्यस्तवः, अप्रधानोऽशोभनः, परं केवलम्, भवति जायते, द्रव्यस्तवस्याप्राधान्येऽपि प्रवृत्तेः, अशोभनत्वं चास्य भावस्तवाहेतुत्वादेवेति गाथाऽर्थः ॥१२॥

अप्राधान्यार्थतामेव द्रव्यशब्दस्य दर्शयन्नाह-

अप्पाहन्ने वि इहं, कत्थइ दिट्ठो उ दव्वसद्दो त्ति ।
अंगारमद्दगो जह, दव्वायरिओ सयाऽभव्वो ॥१३॥

अप्राधान्येऽप्रधानत्वेऽपि, न केवलं योग्यतायामेव । इह प्रवचने, क्वचित् शब्दविषये, दृष्टस्तु उपलब्ध एव, द्रव्यशब्दो द्रव्य इति ध्वनिः, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । इहैव निदर्शनमाह-अङ्गारमर्दकः प्रवचनप्रतीतः । यथेति दृष्टान्तार्थः । द्रव्याऽऽचार्य आचार्यत्वयोग्यताया अभावादप्रधानाऽऽचार्यः । कियन्तं कालं यावदित्याह-सदा आजन्माऽपीत्यर्थः । अथवा-स च स पुनः, अभव्यो मुक्तेरयोग्यो यत इति गाथाऽर्थः ॥१३॥ (अङ्गारमर्दकसंविधानकं तु ' अंगारमद्दग ' शब्दे प्र० भागे ४३ पृष्ठे गतम्)

" जो उ न एवंभूतो, स अप्पहाणो परं होइ । (१२)" इत्येवं पूर्वोक्तमर्थं निगमयन्नाह-

अप्पाहन्ना एवं, इमस्स दव्वत्थयत्तमविरुद्धं ।
आणावज्झत्तणओ, न होइ मोक्खंगया णवरं ॥१४॥

अप्राधान्याद्भावस्तवाहेतुत्वेनाशोभनत्वात्, एवमुक्तेन न्यायेनाप्राधान्यार्थे द्रव्यशब्दप्रवृत्तिदर्शनलक्षणेन, (इमस्स त्ति) अस्य भावस्तवाहेतोर्द्रव्यस्तवस्य, द्रव्यस्तवत्वं द्रव्यस्तवता, अविरुद्धं सङ्गतमेव । एवं तर्हि भावस्तवहेतोस्तदहेतोश्च द्रव्यस्तवत्वाविरुद्धतायां सत्यामविशेष एव तयोः । सत्यम् । नवरं केवलम्, न भवति न जायते, मोक्षाङ्गता निर्वाणहेतुता । 'इमस्स' इति वर्तते । कुतः ?, आज्ञाबाह्यत्वादागमवचनबहिष्कृतत्वात् । यदाज्ञाबाह्यं तन्मोक्षाङ्गं न भवति, तथाविधहिंसाऽऽदिवत्, आज्ञाबाह्यश्चायं भावस्तवाहेतुर्द्रव्यस्तवः । इति गाथाऽर्थः ॥ १४ ॥

यथाऽस्मादप्रधानान्मोक्षो न भवति, तथा फलान्तरमपि किं नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह--

भोगाऽऽदिफलविसेसो, उ अत्थि एत्तो वि विसयभेदेण ।
तुच्छो उ तगो जम्हा, हवति पगारंतरेणावि ॥ १५ ॥

भोगा मनोज्ञशब्दाऽऽदयः, आदिशब्दात्स्वर्गसुकुलप्रत्ययातिशुभशरीराऽऽदिपरिग्रहः । त एव फलविशेषः साध्यभेदो भोगाऽऽदिफलविशेषः, पुनरस्ति भवति, इतोऽपि अप्रधानद्रव्यस्तवादपि, न केवलं प्रधानद्रव्यस्तवादेव । अथ कथमाज्ञाबाह्यानुष्ठानस्यैवं फलमित्याशङ्क्याऽऽह--विषयभेदेन गोचरविशेषेण, निखिलातिशयमाणिक्यमकराऽऽकरभगवद्वीतरागलक्षणेन हेतुना; न हि भगवद्विषयमाज्ञाविकलमप्यनुष्ठानमफलम्, पात्रप्राधान्यादिति । ननु यद्येवं फलमाज्ञाबाह्यानुष्ठानं, तदा कथमस्याप्रधानद्रव्यस्तवतेत्यत्राऽऽह-तुच्छः स्वल्पः पुनः, तकोऽसौ भोगाऽऽदिफलविशेषो, नाऽसौ विवेकिनां फलतयाऽवभासते । कस्मादेवमित्याह-यस्मात् कारणात्, भवति जायते, तको भोगाऽऽदिफलविशेष इति प्रकृतम् । प्रकारान्तरेणाप्युपायान्तरेणाऽपि, जिनभवनाऽऽदिव्यतिरेकेणाऽपि, बालतपःप्रभृतिभिरपीत्यर्थः । " दौर्गत्यदोषविच्छेदिमणिप्राप्तिपटीयसः । पारावारावतारस्य-काचखण्डप्राप्तिः फलं किमु ? ॥१॥ " इति गाथाऽर्थः ॥ १५ ॥

अथ द्रव्यस्तवस्याऽद्रव्यस्तवतामाशङ्क्य परिहरन्नाह--

उचियाणुट्ठाणाओ, विचित्तजइजोगतुल्लमो एस ।
जं ता कह दव्वथओ, तद्दारेणऽप्पभावाओ ॥ १६ ॥

(उचियाणुट्ठाणाओ) इह भावप्रत्ययस्य लुप्तत्वेनोचितानुष्ठा-

मन्वादासोपदिष्टत्वेन विहितक्रियारूपत्वाद्विविधयतियोगतुल्यो ग्लानप्रतिचरणस्वाध्यायाऽऽदिरूपनानाविधसाधुव्यापारसदृशोऽतिशुभ इत्यर्थः । मकारोऽत्र प्राकृतशैलीप्रभवः । एषोऽनन्तरोक्तो, जिनभवनविधानाऽऽदिकोऽनुष्ठानविशेषः । (यदिति) यस्मादेवम्, तत्तस्मात्, कथं केन प्रकारेण, द्रव्यस्तवो भवति । न कथञ्चिदित्यर्थः । भावस्तवैव एवाऽयमिति हृदयम् ।

अत्रोत्तरमाह-तद्द्वारेण जिनभवनाऽऽदिविधानमुखेन अल्पः साधुयोगापेक्षया स्तोको, भावः शुभाध्यवसायो यस्मात्स तथा, तस्मात्, इह च भावप्रत्ययो दृश्यः, अतोऽल्पभावत्वात् । इति गाथार्थः ॥१६॥

अमुमेव गाथार्थं भावयन्नाह-

जिणभवणाऽऽदिविहाण-दारेणं एस होति सुहजोगो ।
उचियाणुट्ठाणं पि य, तुच्छो जइजोगतो णवरं ॥१७॥

जिनभवनाऽऽदिविधानद्वारेण अर्हदालयबिम्बप्रभृतिकरणमुखेन, एष द्रव्यस्तवः, भवति वर्तते, शुभयोगो यतियोगवत् प्रशस्तव्यापारः । तथा-उचितानुष्ठानमपि च विहितक्रियाऽपि च जिनभवनाऽऽदिविधानद्वारेणैव । अपि चेति समुच्चये । यद्यप्येवं तथाऽपि तुच्छोऽसारः, अल्पभावरूपत्वाद्, यतियोगतः साधुव्यापारात्सकाशात्, नवरं केवलम् । यतियोगो हि स्वरूपेणैव शुभः, उचितानुष्ठानरूपश्चायं पुनर्जिनभवनाऽऽदिद्वारेणैव, न तु स्वरूपतः, स्वरूपेण तस्य मनागवद्यरूपत्वात् । इति गाथाऽर्थः ॥ १७ ॥ पञ्चा० ६ विव० । दर्श० । आ० म० । पं० व० । प्रति० । सं० । दर्श० । ('थय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २३८४ पृष्ठे विशेषोऽस्य वीक्ष्यः) (द्रव्यस्तवस्य करणे कारणे च श्रावकोऽधिकारीति अनुमोदने च साधुरपीति च 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२२२ पृष्ठे प्रत्यपादि)

अथमिहापि द्रव्यस्तवस्य संक्षिप्तोऽर्थः-

अयथानामियं पूर्णा, सूत्रोक्ताऽऽचारपालनात् ।
द्रव्यस्तवाद् गृहस्थानां, देशतस्तद्विधिस्त्वयम् ॥१॥
न्यायार्जितधनो धीरः, सदाचारः शुभाऽऽशयः ।
भवनं कारयेज्जैनं, गृही गुर्वादिसंमतः ॥२॥
तत्र शुद्धा महीमादौ, गृह्णीयाच्छास्त्रनीतितः ।
परोपतापरहितां, भविष्यच्छुभसन्ततिम् ॥३॥
अप्रीतिर्नैव कस्याऽपि, कार्या धर्मोद्यतेन वै ।
इत्थं शुभानुबन्धः स्या-दत्रोदाहरणं प्रभुः ॥४॥
आसन्नोऽपि जनस्तत्र, मान्यो दानाऽऽदिना यतः ।
इत्थं शुभाऽऽशयस्फात्या, बोधिवृद्धिः शरीरिणाम् ॥५॥
इष्टकाऽऽदि दलं चारु, दारु वा सारवन्नवम् ।
गवाद्यपीडया ग्राह्यं, मूल्यैरुचितैर्यत्नतः ॥६॥
भृतका अपि सन्तोष्याः, स्वयं प्रकृतिसाधवः ।
धर्मो भावेन न व्याज्या-द्धर्ममित्रेषु तेषु तु ॥७॥
स्वाऽऽशयश्च विधेयोऽत्रा-निदानो जिनगामतः ।
अन्याऽऽरम्भपरित्यागा-दुज्झाऽऽदियतनावता ॥ ८ ॥
इत्थं चैषोऽधिकत्यागा-त्सदारम्भः फलान्वितः ।
प्रत्यहं भाववृद्ध्याऽऽसौ-जीवयङ्कः प्रकीर्तितः ॥ ९ ॥
जिनगेहं विधायैवं, शुद्धमव्ययनीवि च ।
प्राक् तत्र कारयेद्बिम्बं, साधिष्ठानं हि वृद्धिमत् ॥ १० ॥
विभवोचितमूल्येन, कर्त्तुः पूजापुरस्सरम् ।
देयं तदनघस्यैव, यथा चित्तं न नश्यति ॥ ११ ॥
द्वा० ९ द्वा० ।

दव्वदेवत्त-द्रव्यदेवत्व-न० । साध्ववस्थायाम्, भ० १४ श० ७ उ० ।

दव्वधम्म-द्रव्यधर्म-पुं० । न० । दानधर्मे, यो दानधर्मः स द्रव्यधर्मोऽन्नगन्तव्य इति । तथा चोक्तम्-" अन्नं पानं च वस्त्रं च, आलयः शयनाऽऽसनम् । शुश्रूषा वन्दनं तुष्टिः, पुण्यं नवविधं स्मृतम् " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

दव्वपिय-द्रव्यप्रिय-त्रि० । द्रव्यं परिहासः, तत्प्रिये, औ० ।

दव्वपुरिस-द्रव्यपुरुष-पुं० । पुरुषत्वेन उत्पत्स्यते यस्तस्मिन्, उत्पन्नपूर्वे च । स्था० । विशेषोऽत्रैन्द्रसूत्राद् द्रष्टव्यः । भवत्यत्र भाष्यगाथा-" आगमओऽणुवउत्तो, इयरो दव्वपुरिसो तिहा नइओ । एगभवियाइ तिविहो, मूलुत्तरणिम्मिओ वा वि " ॥१॥ मूलगुणनिर्मितः पुरुषप्रायोग्याणि द्रव्याणि, उत्तरगुणनिर्मितस्तु तदाकारवन्ति तान्येवेति भावपुरुषभेदाः । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

दव्वपोग्गलपरियट्ट-द्रव्यपुद्गलपरिवर्त्त-पुं० । ७ त० । द्रव्यविषयके पुद्गलपरिवर्त्ते, कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० । प्रव० । (तद्व्याख्या 'पोग्गलपरियट्ट' शब्दे वक्ष्यते)

दव्वप्पमाण-द्रव्यप्रमाण-न० । द्रव्याणां गणनायाम्, यथा एतावन्तोऽत्रौदनभेदाः, एतावन्ति च शाकविधानानि, इयन्तश्च खाद्यविशेषाः, एतावन्ति च द्राक्षापानकाऽऽदीनि पानकानि । व्य० ६ उ० । अनु० ।

दव्वभावतदुभयकप्प-द्रव्यभावतदुभयकल्प-पुं० । द्रव्यभावसंमिलिते कल्पे, पं० भा० ।

तदुभयकप्पो अहुणा, एते च्चिय दव्वभावकप्पा तु ।
दोण्णि वि मिलिया एते, तदुभयकप्पो इमो सो य ॥
आहारे अट्ठविहे, सेज्जोवहि पंचपंचगविसोही ।
दंसणचरित्तगुत्ता, तवसमितिगुणेहिँ सोहेति ॥
असणाऽऽदीतो चउहा, उवकारि चउव्विहो य तस्सेव ।
एसऽट्ठविहाऽऽहारो, परूवणा तस्सिमा होति ॥
असणं तु ओदणाऽऽदी,तदुवकारी उ खीरकुसणाऽऽदी ।
पाणं तु पाणमेव तु, कप्पूराऽऽदी तु उवकारी ॥
खाइम फलाइयं तू, सुंठाऽऽदी होति तदुवकारी तु ।
साइम तंबोलाऽऽदी, गुलाऽऽदी तदुवकारी तु ॥
एतं आहाराऽऽदी, उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं ।
उप्पाएँ दंसणाऽऽदी-हि जुतो अहवा तदट्ठाए ॥ पं० भा० ।

इयाणिं उभयकप्पो-एए चेव दो दव्वभावकप्पे य मेलिया एगट्ठा य उभयकप्पो भवइ, दव्वियकप्पस्स पुरिमद्धं, भावकप्पस्स पच्छिमद्धं । गाहा-(आहारे अट्ठविहे त्ति) अट्ठविहं

आहारे असणे मूलगुणसुद्धे, उत्तरगुणसुद्धे य । एवं पाणे, एवं खाइमे मूलगुणउत्तरगुणसुद्धे, एवं साइमे सेओवहीणं, एमेव पंचपंचगविसोही, सावओ य दंसणचारित्तबाइगुणाहिं सोहेइ। एस उभयकप्पो । पं० चू० ।

दव्वजुय-द्रव्यजूत-पुं० । अनुपयुक्ते, नि० चू० २ उ० ।

दव्वरासि-द्रव्यराशि-पुं० । पुरीषाऽऽदिद्रव्यसमूहे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

दव्वलिंग-द्रव्यलिङ्ग-न० । भावविकलत्वेनाप्रधानप्रव्रजिताऽऽदिनेपथ्यचरणलक्षणे वेषे, पञ्चा० ४ विव० । औ० ।

दव्वलिंगधर-द्रव्यलिङ्गधर-पुं० । विडम्बकप्राये, पं० व० ४ द्वार । द्रव्यलिङ्गी आनानो यदि स्वयं महाव्रतीभूय विहरति, तदाऽऽराधको भवति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-गुर्वादिसामग्र्यभावे यदि स्वयं महाव्रतीभूय विहरति, तदाऽऽराधकः, अन्यथा नेति । १२३ प्र० । सेन० १ उल्ला० । द्रव्यलिङ्गिनो द्रव्यं जिनप्रासादे वा प्रतिमायां वा जीवदयायां वा ज्ञानकोशे वा कुत्र कुत्र व्यापार्यते ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्--द्रव्यलिङ्गिनो द्रव्यं जिनानां प्रासादे प्रतिमायां च नोपयोगः, जीवदयायां ज्ञानकोशे चोपयोगीति ज्ञातमस्ति । १६३ प्र० । सेन ३ उल्ला० ।

दव्वलेस्सा-द्रव्यलेश्या-स्त्री० । औदारिकशरीराऽऽदिवर्णे, भ०१ श० ए उ० ।

दव्वलोय-द्रव्यलोक-पुं० । लोकभेदे, भ० ११ श० १० उ० । ("लोग" शब्दे व्याख्यास्यते चैषः)

दव्ववणाऽऽहरण-द्रव्यव्रणोदाहरण-पुं० । ज्ञातज्ञाते, पञ्चा० १६ विव० ।

दव्ववय-द्रव्यव्यय-पुं० । द्रव्यव्यये, सेन० । सप्तक्षेत्रमुक्तद्रव्यान्तः साधुसाध्वीद्रव्यस्य व्ययः साधुसाध्वीनां कस्मिन् स्थाने योज्यते श्राद्धैरिति प्रश्ने, उत्तरम्-सप्तक्षेत्रीमुक्तद्रव्यस्य व्ययः साधुसाध्वीक्षेत्रयोरापत्त्राणवैद्याऽऽनयनमार्गसाहाय्यकरणाऽऽदिषु श्राद्धैः कार्यत इति । ३७२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

दव्ववेय-द्रव्यवेद-पुं० । स्त्रीपुंसोर्नपुंसकस्य च बाह्ये आकारे, कर्म० ४ कर्म० ।

दव्वसंभारिय-द्रव्यसंभारित-न० । द्रव्यैः कर्पूरपाटलाऽऽदिभिः संभारितं वासितं द्रव्यसंभारितम् । कर्पूरपाटलाऽऽदिवासिते जले, बृ० २ उ० ।

दव्वसंमत्त-द्रव्यसम्यक्त्व-न० । अनाभोगवद्रुचिमात्रे सम्यक्त्वे, "जिणवयणमेव तत्तं, एत्थ रुई होइ दव्वसम्मत्तं ।" जिनवचनमेव तत्त्वं नान्यदित्यत्र रुचिर्भवतीति द्रव्यसम्यक्त्वम् । पं० वं० ४ द्वार । ध० ।

दव्वसमय-द्रव्यसमय-पुं० । द्रव्यस्य सम्यगयनं द्रव्यसमयः । द्रव्यपरिणतिविशेषे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

दव्वसार-द्रव्यसार-पुं० । प्रव्यलक्षणसारे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

दव्वसिणाण-द्रव्यस्नान-न० । बाह्यस्नाने, ध० । द्रव्यस्नानं वपुःप्राविडम्बसुखकरत्वाऽऽदिना भावशुद्धिहेतुः । उक्तं चाष्टके-
" जलेन देहदेशस्य, क्षणं यच्छुद्धिकारणम् ।
प्रायोऽन्यानुपरोधेन, द्रव्यस्नानं तदुच्यते ॥ १ ॥"

देहदेशस्य त्वङ्मात्रस्यैव, क्षणं, न तु प्रभूतकालं, प्रायः शुद्धिहेतुर्न त्वेकान्तेन, तादृग् रोगग्रस्तस्य क्षणमप्यशुद्धेः, प्रक्षालनार्हमलादन्यस्य मलस्य कर्णनासाऽऽद्यन्तर्गतस्यानुपरोधेनाप्रतिषेधेन । यद्वा-प्रायो जलादन्येषां प्राणिनामनुपरोधेनाऽव्यापादनेन द्रव्यस्नानं बाह्यस्नानमित्यर्थः । ध० २ अधि० ।

दवसील-द्रव्यशील-न० । चेतनाचेतनाऽऽदेर्द्रव्यस्य स्वभावे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

दव्वसुद्ध-द्रव्यशुद्ध-न० । उद्गमाऽऽदिदोषरहिते द्रव्ये, भ० १५ श० । प्रासुके, विपा० २ श्रु० १ अ० ।

दव्वहालिया-द्रव्यहालिका-स्त्री० । कुहनाऽऽख्यवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दव्वहोमा-द्रव्यहोमा-स्त्री० । नानाविधैर्द्रव्यैः कणवीरपुष्पाऽऽदिभिर्मधुघृताऽऽदिभिर्वोच्चाटनाऽऽदिकैः कार्यैः होमो हवनं यस्यां सा द्रव्यहोमा तस्याम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दव्वाणंतय-द्रव्यानन्तक-न० । जीवद्रव्याणां पुद्गलद्रव्याणां वा यदनन्तकं तस्मिन्, स्था० १० ठा० ।

दव्वाणुओग-द्रव्यानुयोग-पुं० । षड्द्रव्यविचारे, द्रव्या० १ अध्या० । आचा० । ('दवियाणुओग' शब्दे २४६२ पृष्ठे व्याख्याऽस्य)

दव्वाणुओगतक्कणा-द्रव्यानुयोगतर्कणा-स्त्री० । द्रव्यगुणपर्यायविचारे, तत्प्रतिपादके ग्रन्थे च । द्रव्या० ।

श्रीगुणाऽऽदिजिनं नत्वा, कृत्वा श्रीगुरुवन्दनम् ।
आत्मोपकृतये कुर्वे, द्रव्यानुयोगतर्कणाम् ॥ १ ॥
विना द्रव्यानुयोगोहं, चरणकरणाऽऽख्ययोः ।
सारं नेति कृतिश्रेष्ठं, निर्दिष्टं सम्मतौ स्फुटम् ॥ २ ॥

(श्रीगुणाऽऽदीत्यादि) तत्र प्रथममिष्टदेवतानमस्करणेन सप्रयोजनाभिधेयो दर्शितः । आद्यपदद्वयेन मङ्गलाऽऽचरणं, नमस्कारकरणं च १ । आत्मार्थिन इहाधिकारिणः २ । तेषामर्थबोधो भविष्यतीत्युपकाररूपं प्रयोजनम् ३ । द्रव्याणामनुयोगोऽभिधेयः ४ । अथ द्रव्यानुयोग इति कः शब्दार्थः ?, अनुयोगो हि सूत्रार्थयोर्व्याख्यानम्, तस्य चत्वारो भेदाः । तत्र प्रथमश्चरणानुयोगः, आचारवचनमाचाराङ्गाऽऽदिसूत्राणि १ । द्वितीयो गणितानुयोगः संख्याशास्त्रं, चन्द्रप्रज्ञप्त्यादिसूत्राणि २ । तृतीयो धर्मकथानुयोगः-आख्यायिकावचनम्, ज्ञाताधर्मकथाऽङ्गाऽऽदिसूत्राणि ३ । चतुर्थो द्रव्यानुयोगः षड्द्रव्यविचारः, सूत्रकृताङ्गाऽऽदिसूत्राणि, संमतितत्त्वार्थप्रमुखप्रकरणानि च महाशास्त्राणि, ततोऽन्त्यभेदविचारणामहं कुर्वे ॥१॥ (विना द्रव्येति) द्रव्यानुयोगोहं द्रव्यगुणपर्यायविचारं विना चरणकरणयोः सारं न, चरणसप्तत्याः करणसप्तत्याश्च सारं केवलं द्रव्यानुयोग एव, इत्ययं निष्कर्षः । सम्मतिग्रन्थे स्फुटं प्रकटं, कृतिश्रेष्ठं बुधजनबहुलं, निर्दिष्टं कथितं, बुधा एव जानते, न तु बालादयः । यतः-" चरणकरणप्पहाणा, ससमयपरसमयमुक्कवावारा । चरणकरणस्स सारं, णिच्छयसुद्धं न याणंति " ॥ ६७ ॥ (सम्म० ३ काण्ड) इतीयं गाथा सम्मतौ कथिता, अतश्चरणकरणानुयोगमूल इहोपायो द्रव्यानुयोग एव उक्तः । द्रव्या० १ अध्या० ।

गुणानां हि विकाराः स्युः, पर्याया द्रव्यपर्यवाः।
इत्यादि कथयन् देव-सेनो जानाति किं हृदि ? ॥१७॥

इत्थं पदार्थाः प्रणिधाय मूर्ध्नि,
परीक्षिता ज्ञानगुरोः सदाज्ञाम् ।
तुच्छोक्तिमुत्सृज्य विमोहमूला-
मर्हत्क्रमाम्भोजरतेन सर्वे ॥ १८ ॥

गुणविकाराः पर्याया एवं कथयित्वा तेषां भेदाधिकारे पर्याया द्विविधाः-द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्चेति कथयंश्च देवसेनो दिगम्बराऽऽचार्यो नयचक्रग्रन्थकर्त्ता हृदि चित्ते किं जानाति ?, अपि तु संभावितार्थं न किमपि जानातीत्यर्थः । पूर्वापरविरुद्धभाषणादसत्प्रलापप्राय एवेदमित्यभिप्रायः । किञ्च-द्रव्यपर्याया एव कथनीयाः, परं तु गुणपर्याया इति पृथग् भेदोत्कीर्तनं न कर्त्तव्यं, द्रव्ये गुणत्वाधिरोपाद्,गुणे च गुणत्वाभावादिति निष्कर्षः ॥ १७ ॥ इत्थमनया रीत्या पदार्था द्रव्यगुणपर्यायाः परीक्षिताः स्वरूपलक्षणभेदाऽऽदिकथनेन विशदीकृताः । किंकृत्वा ?, ज्ञानगुरोः परम्पराऽऽगतश्रुताऽऽचार्यस्य, सदाज्ञां सत्यनिदेशं, मूर्ध्नि मस्तके,निधाय संस्थाप्य । पुनः किंकृत्वा ?, विमोहमूलां भ्रमनिबन्धनां, तुच्छोक्तिं तुच्छबुद्धिप्रणीतवचनम्,उत्सृज्यापाकृत्य । कीदृशेन मया ?, अर्हत्क्रमाम्भोजरतेन वीतरागचरणकमलसेवनरसिकेन, सर्वे पदार्था मया परीक्षिता इत्यर्थः । भोजेति नामनिरूपणं चेति ॥ १८ ॥ द्रव्या० १४ अध्या० ।

द्रव्याऽऽदिकानां तु विचारमेवं,
विज्ञापयिष्यन्ति सुमेधसो ये ।
प्राप्स्यन्ति ते सन्ति यशांसि लक्ष्म्यः,
सौख्यानि सर्वाणि च वाञ्छितानि ॥ १ ॥
गुरोः श्रुतेश्चानुभवात्प्रकाशितः,
परो हि द्रव्याऽऽद्यनुयोग आन्तरः ।
जिनेश्वरवाणीजलधौ सुधाकरः,
सदा शिवश्रीपरिभोगनागरः ॥ २ ॥

एवमनया रीत्या, द्रव्याऽऽदिकानां विचारं ये सुबुद्धयो विज्ञापयिष्यन्ति, ते सुमेधसः, इह सन्ति शोभनानि यशांसि । पुनः लक्ष्म्यः,परत्र सर्वाणि वाञ्छितानि सुखानि प्राप्स्यन्तीति भावः॥१॥ गुरोः ज्ञानगुरोः, श्रुतेः सिद्धान्तात्, अनुभवात् स्वानुभूतेः, आन्तरोऽन्तर्ध्यानमयः, परः प्रकृष्टो द्रव्यानुयोगः प्रकाशितः । कीदृशः ?, वीतरागवचनसमुद्रे चन्द्र इव चन्द्रः, निरन्तरं शिवलक्ष्मीविलासे नायक इव नागर इति ॥२॥ द्रव्या० १५ अध्या० ।

दव्वादेस-द्रव्याऽऽदेश-पुं० । आदेशः प्रकारो द्रव्यरूप आदेशो द्रव्याऽऽदेशः । भ० १४ श० ४ उ० । द्रव्यप्रकारेण द्रव्यत इत्यर्थे, परमाणुत्वाऽऽद्याश्रित्येति यावत् । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

दव्वाभाव-द्रव्याभाव-पुं० । निष्परिग्रहत्वेनार्थासत्तायाम्, पञ्चा० ६ विव० ।

दव्वाभिग्गह-द्रव्याभिग्रह-पुं० । लेपकृताऽऽदिद्रव्यविषये, ग० १ अधि० ।

दव्वाभिग्गहचरय-द्रव्याभिग्रहचरक-पुं० । द्रव्याभिग्रहेण चरति भिक्षामटति द्रव्याऽऽश्रिताभिग्रहं वा चरत्यासेवते यः स द्रव्याभिग्रहचरकः । औ० । भिक्षाचर्यावति, भिक्षाचर्यायाश्च द्रव्याद्यभेदविवक्षणाद् भिक्षायां च । भ० २५ श० ७ उ० । ग०

दव्वायरिय-द्रव्याऽऽचार्य-पुं० । आचार्यत्वयोग्यताया अभावादप्रधानाऽऽचार्ये, पञ्चा० ६ विव० ।

दव्वालंकार-द्रव्यालङ्कार-पुं० । स्वनामख्याते ग्रन्थे, यत्र चार्थाक्रमतखण्डनं कृतम । स्या० ।

दव्वावइ-द्रव्याऽऽपत्-स्त्री० । कल्पनीयाऽशनाऽऽदिद्रव्यदुर्लभतायाम्, जीत० ।

दव्वावस्सय-द्रव्याऽऽवश्यक-न० । द्रव्यरूपमावश्यकं प्रकृतं, तच्चाऽऽवश्यकोपयोगाधिष्ठितः साध्वादिदेहाऽवन्दनकाऽऽदिसूत्रोच्चारणलक्षणश्चाऽऽगम आवर्तकाऽऽदिका क्रिया चाऽऽवश्यकमुच्यते, आवश्यकोपयोगशून्यस्तु ता एव देहाऽऽगमक्रिया द्रव्याऽऽवश्यकम् । तस्मिन्, अनु० ।

दव्विंद-द्रव्येन्द्र-पुं० । इन्द्रभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (व्याख्या तु ' इंद ' शब्दे द्वितीयभागे ५३३ पृष्ठे गता)

दव्विय-दैविक-पुं० । देवेन कृतोपद्रवे, व्य० ४ उ० ।

दव्वी-दर्वी-स्त्री० । भाजनविशेषे, आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । आव० । पिं० । प्रज्ञा० ।

दव्वीअर-पुं० । देशी-सर्पे, दे० ना० ५ वर्ग ३७ गाथा ।

दव्वीकर-दर्वीकर-पुं० । दर्वीव दर्वी फणा तत्करणशीलाः दर्वीकराः । अहिभेदे, प्रज्ञा० ।

दर्वीकरभेदानभिधित्सुराह-

से किं तं दव्वीकरा ? । दव्वीकरा अणेगविहा पणत्ता । तं जहा-आसीविसा, दिट्ठीविसा, उग्गविसा, भोगविसा, तयाविसा, लालाविसा, उस्सासविसा, णिस्सासविसा, कण्हसप्पा, सेदसप्पा, काउदरा, दब्भपुप्फा, कोलाहा, मेलिमिंदा, सेसिंदा, जे यावण्णे तहप्पगारा । से त्तं दव्वीकरा ।

आश्यो दंष्ट्रास्तासु विषं येषां ते आशीविषाः । उक्तं च-"आसी दाढा तग्गय-महाविसा आसीविसा मुणेयव्वा" इति । दृष्टौ विषं येषां ते दृष्टिविषाः, उग्रं विषं येषां ते उग्रविषाः, भोगः शरीरं, तत्र विषं येषां ते भोगविषाः, त्वचि विषं येषां ते त्वग्विषाः, प्राकृतत्वाच्च 'तयाविसा' इति पाठः । लाला मुखाऽऽस्रावः, तत्र विषं येषां ते लालाविषाः, निःश्वासे विषं येषां ते निःश्वासविषाः, कृष्णसर्पाऽऽदयो जातिभेदा लोकतः प्रतिपत्तव्याः । उपसंहारमाह-" से त्तं दव्वीकरा । " प्रज्ञा० १ पद ।

दव्वोवओग-द्रव्योपयोग-पुं० । द्रव्यार्थिकनयजन्यबोधे, सं० ।

दव्वोवगाहणा-द्रव्यावगाहना-स्त्री० । द्रव्यस्य पर्यायैरवगाहना आश्रयणं द्रव्यावगाहना । अवगाहनाभेदे, स्था० ४ ठा० । (' ओगाहणा ' शब्दे तृ० भाग ७६ पृष्ठे व्याख्यातेयम्)

दव्वोसह-द्रव्यौषध-न० । बहुद्रव्यसमुदायौषधे,नि० चू० २ उ० ।

दस-दश-त्रि० । सङ्ख्याभेदे, दश० ।

णामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो खलु निक्खेवो, दसगस्स उ छव्विहो होइ ॥७॥

आह-किमिति प्रकारान्तराभिधाय दशाशब्द उपन्यस्तः ? । उच्यते-एतत्प्रतिपादनार्थमेव द्रुमादीनां गम्यमानत्वात् । तत्र नामस्थापने सुगमे । द्रव्यदशक दश द्रव्याणि-सचित्ताचित्तमिश्रा-

णि मनुष्यरूपरूटकाऽऽदिविभूषितानीति। क्षेत्रदशकं दश क्षेत्रप्रदेशाः,कालदशकं-दश काला वर्तनाऽऽदिरूपत्वात्कालस्य दशावस्थाविशेषा इत्यर्थः। वक्ष्यति च-"बाला किड्डा मंदा" इत्यादिना। भावदशकं-दश भावाः, ते च सान्निपातिकभावे स्वरूपतो भावनीयाः। अथ चैन एव विवक्षया दशाध्ययनविशेषा इति। एष एवंभूतः खलु निक्षेपो न्यासः, दशशब्दस्य बहुवचनत्वाद्दशानां षड्विधो भवति। नत्र खलुशब्दोऽवधारणार्थः। एष एव प्रक्रान्तोपयोगीति। तुशब्दो विशेषणार्थः। किं विशिनष्टि ?। नाऽयं दशशब्दमात्रस्य, किं तु तद्वाच्यस्याऽर्थस्याऽपीति गाथाऽर्थः ॥ १ ॥ दशा० १ अ०। अनु०। कल्प०। स्था०।

दसउर-दशपुर-न०। साम्प्रतं 'मन्दसोर' इति प्रसिद्धे स्वनामख्याते नगरे, आ० क०।

" आस्तां तावद्दिताऽऽर्यो, वक्ष्ये दशपुरोद्गमम् (२)
अस्त्यकम्पा पुरी चम्पा, तत्राऽऽसीत्स्वर्णहारकः।
कुमारनन्दिः स्त्रीलोलः, श्रीमान् श्रीद इवापरः ॥ ३ ॥
दृष्टं दृष्टं सुरूपां स्त्रीं, पञ्चस्वर्णशताऽऽहृतेः।
उद्वहन् लम्पटः सोऽनू-दोषित्पञ्चशतीपतिः ॥ ४ ॥
मतीर्ष्यालुस्ततः सौध-मेकस्तम्भं विधाप्य सः।
विललास समं ताभि-र्देवीभिरिव देवराट् ॥ ५ ॥
अथान्यदा पञ्चशैल-द्वीपगं व्यन्तरीयुगम्।
गच्छन्नन्दीश्वरद्वीप-यात्रायां वृत्रहाऽऽज्ञया ॥ ६ ॥
विद्युन्मालीव तत्कान्तः, प्रच्युतः पञ्चशैलराट्।
ततो विरहदुःखार्ते, शून्यं पश्यदिशस्ततः ॥ ७ ॥
कुमारनन्दि चम्पायां, दृष्ट्वोद्याने व्यचिन्तयत्।
एषोऽस्मद्वल्लभो भावी, ततस्य स्वमदर्शयत् ॥ ८ ॥
के युवामिति तेनोक्ते, ताभ्यां देव्यावितीरितम्।
ऊचे च याचमागच्छेः, पञ्चशैलमथो गते ॥ ९ ॥
नृपमुक्त्वा स तद्वक्तोऽ-वादयत् पटहं पुरे।
कुमारनन्दि यः पञ्च-शैलं नयति तस्य सः ॥ १० ॥
स्वर्णकोटिं प्रदत्ते तं, दध्रे वृद्धनियामकः।
पुत्राणां तद्धनं दत्वा, तं पोते न्यस्य सोऽचलत् ॥ ११ ॥
दूरं गत्वा जगादे तं, निर्यामः किञ्चिदीक्षसे।
सोऽन्यधात्किमपि श्यामं, प्रेक्षे निर्यामकोऽब्रवीत् ॥ १२ ॥
नितम्बेऽद्रेर्वटोऽस्त्येष, पोतोऽस्याऽधोऽयमेष्यति।
त्वमशावसम्भेयाः, पोतोऽस्याधः स्फुटिष्यति ॥ १३ ॥
गतस्य तत्र शैलोर्द्ध्वं, भारुण्डाः पञ्चशैलतः।
त्रिशोवाऽरुयंहयो श्यात्याः, पश्यन्त्येकोदराः खगाः ॥ १४ ॥
तन्मध्यपदलग्नस्त्वं, पञ्चशैले गमिष्यसि।
इत्युक्तः स तथाऽकार्षीत्, पञ्चशैलं जगाम च ॥ १५ ॥
निर्यामकः पुनः पोत-स्फोटादत्र गतो मृतः।
व्यन्तरीभ्यां तु ताभ्यां स, दृष्टः श्रीस्तस्य दर्शिता ॥ १६ ॥
इत्थमनेन देहेन, भोग्ये आवां न ते ततः।
हासाप्रहासाकान्तः स्यां, पञ्चशैलाऽधिपो मृतः ॥ १७ ॥
इत्युक्त्वाऽग्निप्रवेशाऽऽदं, कुर्वीथा दानपूर्वकम्।
तत्करं धारयतोद्याने, नीत्वा ताभ्याममोटि सः ॥ १८ ॥
अथाऽऽगत्य जनोऽप्राक्षी-त्प्रोक्षितं तत्र किं त्वया ?।
सोऽवदत्ते मया दृष्टे, व्यन्तर्यौ मर्त्यदुर्लभे ॥ १९ ॥
श्रमणोपासको मित्रं, नागिलस्तत्र तेन सः।
वारितोऽप्यविशद्वह्नौ, दत्वा दानं निदानवान् ॥ २० ॥
पञ्चशैलाधिपः सोऽनु-त्पाधिकोऽथ नागिलः।
परिव्रज्याऽच्युते जातः, शक्रसामानिकः सुरः ॥ २१ ॥
अथान्यदाऽष्टमद्वीपे, यात्रायां पटहाऽग्रहे।
पटहोऽक्षेपि शक्रेण, विद्युन्मालिगले बलात् ॥ २२ ॥
वादयन्नथ भीतोऽगात्, ज्ञात्वा तं नागिलोऽवधेः।
आगात्द्रष्टुं स तत्तेजो-ऽसहमानः पलायत ॥ २३ ॥
तेनः संहृत्य मां वेत्सी-त्युक्तोऽवग्वेत्ति को न वः ?।
प्राक्रूपमथाऽऽदर्श्य, ज्ञापितो धर्मवैभवम् ॥ २४ ॥
संविग्नः सोऽवदन्मित्र !, कर्त्तव्यमधुना दिश।
तेनोक्तं कुरु वीरार्चां, सम्यक्त्वं भावि ते ततः ॥ २५ ॥
महाहिमवतः सोऽथा-ऽऽहृत्य गोशीर्षचन्दनम्।
कृत्वाऽर्चां तेन वीरस्य, न्यक्षिपत्काष्ठसंपुटे ॥ २६ ॥
प्रेक्ष्यान्तःसागरं पोतं, षण्मासोत्पातबाधितम्।
निवार्य तेषामुत्पात-मार्पयत् तं समुद्गकम् ॥ २७ ॥
उवाचास्त्यात्र देवाधि-देवार्चा भूभुजेऽर्प्यं ताम्।
आगत्योऽन्तःपुरे वीत-भये वीतभयस्ततः ॥ २८ ॥
उदायनो नृपस्तत्र, प्रीतभावितमानसः।
तस्य प्रभावती देवी, प्रेयसी परमाऽऽर्हता ॥ २९ ॥
राज्ञः समर्पितः पोत-वणिग्भिः स समुद्गकः।
देवाधिदेवप्रतिमा, मध्येऽस्त्यस्येत्यभाषत ॥ ३० ॥
पर्शुस्तस्येन्द्राऽऽद्यर्चाऽर्थं, वाहितोऽपि हि नाऽवहत्।
प्रभावत्युक्तदेवाधि-देवश्रीवीरमूर्त्तये ॥ ३१ ॥
स्पर्शोऽपि परशोः प्राद्व-साऽऽर्चा देवनिर्मिता।
कृत्वान्तःपुरे चैत्यं, सदाऽऽनर्च प्रभावती ॥ ३२ ॥
देवी तत्राऽन्यदाऽनृत्य-द्राजा वीणामवादयत्।
देव्याः शीर्षमदृष्ट्वाऽस्य, भ्रष्टं तद्वादनं करात् ॥ ३३ ॥
देवी रुष्टाऽवदद् दुष्टु, नृत्तं किं मे, न सोऽवदत्।
निर्बन्धात् कथिते देवी, स्माऽऽहाऽऽर्हत्या न मेऽस्ति भीः ॥ ३४ ॥
देवी स्नात्वाऽन्यदा चेटी-मूचे वासांस्युपानय।
साऽनयद्र(त्र)क्तवासांसि, देव्यूचे किमिदं हसे ! ॥ ३५ ॥
देवार्चाप्रगुणां मां किं, न जानासीति तां क्रुधा।
करस्थदर्पणेनाहन्-मर्माऽऽघाताच्च सा मृता ॥ ३६ ॥
मृतां तां वीक्ष्य देवीति, दध्यौ हा खण्डितं व्रतम्।
ततो राजानमापृच्छ्या-ऽनशनं विदधाम्यहम् ॥ ३७ ॥
निर्बन्धेऽमंस्त तद्राजा, बोध्योऽहमिति चाब्रवीत्।
कृत्वाऽथाऽनशनं मृत्वा, देवी देवोऽभवद्दिवि ॥ ३८ ॥
प्रतिमां देवदत्तां च, कुब्जा देव्याज्ञयाऽऽर्चयत्।
देवी देवेन स्वमाऽऽद्यै-र्बोधितोऽप्यबुध्यत राट् ॥ ३९ ॥
ततः प्रभावती देवी, भौतो भूत्वाऽगमत्सभाम्।
सुफलान्यार्पयद्राज्ञे, राजा ताभ्याद सादरः ॥ ४० ॥
सन्ति कैतान्यपृच्छच्च, भौतं सोऽब्रवदाश्रमे।
ततस्तेन समं राजा, तत्कृतेऽगात्तदाश्रमे ॥ ४१ ॥
सोऽथ तैर्मोक्तुमारेभे, नश्यंस्तेभ्यो ययौ वने।
साधूनालोक्य तत्राऽस्थात्, श्रुत्वा धर्ममबुध्यत च ॥ ४२ ॥
ततः प्रभावतीदेवो, दर्शयित्वा स्वमूचिवान्।
राजन्नितो मे देवर्द्धि-स्तत् त्वमत्र दृढो भव ॥ ४३ ॥
स्मरेः कार्ये च गाढे मा-मित्युक्त्वा तत्र जग्मिवान्।
वीक्ष्याऽऽस्थाने तथैव स्वं, सोऽर्हद्धर्मे दृढोऽभवत् ॥ ४४ ॥
इतश्च श्राद्धो गान्धारो, नत्वा तीर्थकृतोऽखिलाः।
नन्तुं वैताढ्यचैत्यानि, तन्मूलेऽस्थादुपोषितः ॥ ४५ ॥
तत्र शासनदेव्या स, नित्यचैत्यान्यवन्दत।

तोषाद्वास्मै सर्वकाम- गुटिकानां शतं ददौ ॥ ४६ ॥
सोऽथ वीतभये दिव्य--प्रतिमां नन्तुमागमत् ।
तत्राभूद्दतिसारोऽस्य, पालितो देवदत्तया ॥ ४७ ॥
उल्लाघः सोऽथ नाक्तस्यै, दत्त्वा प्रव्राजितः स्वयम् ।
वर्णः स्वर्णसमो मे ऽस्त्वि-त्याशैकां गुटिकामसौ ॥ ४८ ॥
तत्प्रभावात्तथाभूता, दध्यौ भोगार्थिनी पुनः ।
एष राजा पितृप्रायः, परे चास्य मुखेलकाः ॥ ४९ ॥
प्रद्योतार्थमथ प्राऽऽश, द्वितीयां गुटिकामसौ ।
सुवर्णगुटिकारूपं, तस्य तद्देऽथ थाऽब्रवीत् ॥ ५० ॥
तेन प्रेष्यत दूतोऽस्यै, प्रेक्षये तं तावदाह सा ।
अनलगिरिणाऽथाऽऽगा-द्रात्रौ दृष्टोऽरुदद्व सः ॥ ५१ ॥
अहमेष्यामि यद्येतां, प्रतिमां सह नेष्यसि ।
स तत्प्रपद्य तत्पार्श्वे, निशां निर्गम्य जग्मिवान्॥ ५२ ॥
तत्समां प्रतिमामन्यां, कारयित्वाऽगमत्पुनः ।
मुक्त्वैतां तां गृहीत्वा च, सुवर्णगुटिकां च सः ॥ ५३ ॥
तत्रानलगिरेर्मूत्रो-च्चारगन्धेन बाधिताः ।
उदायनगजाः सर्वे-ऽप्यजूर्णिर्मदास्तदा ॥ ५४ ॥
राजपुंभिस्ततो राज्ञो, विज्ञप्तं देव ! दासिका ।
हृता प्रद्योतराजेन, रात्रावागत्य चोरवत् ॥ ५५ ॥
या त्वसौ प्रतिमा साऽस्ति, तेऽप्यधुर्देव ! विद्यते ।
पूजाकालेऽथ पुष्पाणि, दृष्ट्वा म्लानान्यचिन्तयत् ॥ ५६ ॥
प्रतिबिम्बं विमुच्याऽत्र,प्रतिमा सा हृताऽमुना ।
प्रतिमां मुञ्च चेटयस्तु, दूतेनोचेऽथ तं नृपः ॥ ५७ ॥
नार्पयत्तां स राजाऽथा--चालीज्ज्येष्ठेऽपि तं प्रति ।
दशादि गणराजान-स्तस्य तेन सहाचलन् ॥ ५८ ॥
तापाचे च मरौ सैन्यं, जलाभावाद्व्यपद्यत ।
ततः प्रभावतीदेवः, स्मृतोऽकार्षीत्त्रिपुष्करीम् ॥ ५९ ॥
आदिमध्यान्तगां सैन्य-सुस्थोऽथोज्जयिनीं ययौ ।
पुनर्दूतेन राजोचे, प्रद्योतं को जनक्षयः ? ॥ ६० ॥
द्वयेऽपि सैनिकाः सन्तु, पश्यन्तः पारिपार्श्वकाः ।
आरूढयोः पदात्योर्वा, तुल्यस्थित्योः रणोऽस्तु नौ ॥ ६१ ॥
ऊचे प्रद्योतराजोऽपि, सावष्टम्भमिदं वचः ।
योत्स्यावहे रथेनाऽऽवां, प्रागभ्येत्य रणाङ्गणे ॥ ६२ ॥
अथाऽऽरुह्यानलगिरिं, प्रद्योतः प्रातरागतः ।
उदायनो रथेनाऽऽगा-दवन्तीशं जगाद च ॥ ६३ ॥
राजन्नसत्यसन्धोऽसि, नास्ति मोक्षस्तथापि ते ।
भावी प्रद्योत ! खद्योत--स्त्वं मे बाणार्कसङ्कुलः ॥ ६४ ॥
रथं न्यस्याथ मण्डल्यां, प्रद्योतेऽनुदायनः ।
उत्क्षिप्तोत्क्षिप्तपादान्तः, क्षिप्त्वा बाणानपातयत् ॥ ६५ ॥
प्रद्योतो निपतन्नागाद्, बद्धोदायनजूभुजा ।
भाले दासीपतिरिति, दत्त्वाऽङ्कं धरणे कृतः ॥ ६६ ॥
गत्वा राजा ततोऽवन्त्यां, दत्त्वाऽऽज्ञां सर्वतो निजाम् ।
निषिद्धः प्रतिमां गृह्ण-न्नधिष्ठात्र्याऽचलत्ततः ॥ ६७ ॥
वर्षाकाले विचालेऽस्या-द्ववस्कन्दभयादथ ।
धूलीवप्रं विधायाऽस्थु-र्दशाऽपि परितो नृपाः ॥ ६८ ॥
प्रद्योतो धरणस्थोऽपि, बुभुजे नृभुजा सह ।
पृष्टः पर्युषणायां च, भोज्यं सूदेन नेऽस्तु किम् ? ॥ ६९ ॥
चपलोऽवादीद्द्वयान्मृत्योः, का पृच्छा मेऽद्य सूद ! ?।
स बभाषे पर्युषणा, राजेन्द्रोऽद्याऽस्त्युपोषितः ॥ ७० ॥
सोऽस्मद्धान्मेऽप्यनकार्थः, पर्वपर्युषणाऽद्य चेत् ।
ममाऽपि मातापितरौ, श्राद्धकौ यद् बभूवतुः ॥ ७१ ॥
सूदाख्यातो नृपस्याऽऽख्य-द्राजोचे धूर्त एषकः ।
किं पुनर्मम बद्धेऽस्मिन्, प्रतिक्रान्तिर्न सेत्स्यति ॥ ७२ ॥
ततः स क्षामितो मुक्त्वा, दत्तास्तस्यैव मालवाः ।
ललाटे पट्टबन्धश्च, बद्धोऽङ्कच्छादनाकृते ॥ ७३ ॥
नृपा मुकुटबद्धाः प्राक्, बद्धपट्टा इतोऽभवन् ।
वर्षाऽव्यतिक्रमेऽयासी--न्निजं पुरमुदायनः ॥ ७४ ॥
आगत्याऽऽगत्य यस्तत्र, वसति स्म वणिग्जनः ।
सोऽस्थात्तत्रैव तज्जज्ञे, पुरं दशपुरं ततः ॥ ७५ ॥ "
आ० क०। दश०। विशे०। आ० चू०। आ० म०। उत्त०। नं०।

दसकालिय-दशकालिक-न०। कालेन निर्वृत्तं कालिकं, प्रमाण-कालेनेति भावः । दशाध्ययनभेदाऽऽत्मकत्वाद्दशप्रकारं कालिकम्, प्रकारशब्दलोपाद्दशकालिकम् । दशवैकालिकाऽऽख्ये ग्रन्थे, दश० १ अ० ।

दसगुण-दशगुण-पुं० । एकगुणापेक्षया दशाभ्यस्ते, स्था० १० ठा० ।

दसगुणकालग-दशगुणकालक--पुं० । दशगुण एकगुणकालापेक्षया दशाभ्यस्तः कालो वर्णविशेषो येषां तेषु, स्था० १० ठा० ।

दसजाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्स-दशजातिकुलकोटि-योनिप्रमुखशतसहस्र-न० । दशैव जातौ यानि कुलकोटीनां जातिविशेषलक्षणानां योनिप्रमुखाणि उत्पत्तिस्थानद्वारकाणि शतसहस्राणि लक्षाणि तेषु, स्था० १० ठा० ।

दसट्ठाण-दशस्थान-न० । दशसु प्रकारेषु, दश स्थानानि नैरयिकाणामनिष्टानि, देवानां चेष्टानि शब्दाऽऽदीनीति । भ० १४ श० ५ उ० । (' वीइवयण ' शब्दे प्रसंगाद् वक्ष्यन्ते)

दसट्ठाणणिव्वत्तिय-दशस्थाननिर्वर्तित-पुं० । दशभिः स्थानैः प्रथमसमयैकेन्द्रियत्वाऽऽदिभिः पर्यायैर्हेतुभिर्ये निर्वृत्ता बन्धयोग्यतया निष्पादितास्तेषु, दशभिः स्थानैर्निर्वर्तिता येषां तेषु च । स्था० १० ठा० ।

दसण-दशन-पुं० । 'दशनानि च कुन्दकलिकाः स्युः' है० । दश्यते अनेन । दन्ते, शिखरे च । करणे ल्युट् । कवचे, भावे ल्युट् । दंशन, दन्ताऽऽदिना आघाते च । प्रव० ३० द्वार । वाच० ।

दसणाम-दशनामन्-न० । दशविधपदार्थनामनि, अनु० ।

अथ दशनामाभिधानार्थमाह-

से किं तं दसनामे ?। दसनामे दसविहे पण्णत्ते । तं जहा-गोणे, नोगोणे, आयाणपएणं, पडिवक्खपएणं, पहाणयाए, अणाइयसिद्धे, नामेणं, अवयवेणं, संजोगेणं, पमाणेणं । अनु० । (टीका सुगमा)

दसण्ण-दशार्ण-पुं० । दश ऋणानि दुर्गाणि जलानि वा यत्र । ऋणशब्दे वृद्धिः । वाच० । मृत्तिकावतीपुरीप्रतिबद्धे देशविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । सूत्र० । उत्त० । प्रव० । आ० म० । नदीभेदे, स्त्री० । वाच० ।

दसण्णकूड-दशार्णकूट-न० । स्वनामख्याते कूटे, आ० क० । आ० म० । आचा० । आ० चू० । प्रति० । ('गयग्गपय' शब्दे तृतीयभागे ८४२ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

दसण्णपुर–दशार्णपुर–न० । स्वनामख्याते नगरे, यत्र दशार्णभद्रो नृपः श्रीभगवन्तं महावीरं दशार्णकूटनगरनिकटसमवसृतं ववन्दे । स्था० १० ठा० । आव० । आ० चू० । आ० म० ।

दसण्णभद्द–दशार्णभद्र–पुं० । स्वनामख्याते दशार्णपुरराजे, स्था० । दशार्णभद्रो दशार्णपुरनगरनिवासी विभवतस्त्रिविधुर्यो भगवन्तं महावीरं दशार्णकूटनगरनिकटसमवसृतमुद्यानपालवचनादुपलभ्य यथा न केनापि वन्दितो भगवाँस्तथा मया वन्दनीय इति राज्यसंपद्बलेनाकलितश्च चिन्तयामास । ततः प्रातः सविशेषकृतस्नानविलेपनाऽऽभरणाऽऽदिविभूषः प्रकल्पितप्रधानद्विपपतिपृष्ठाऽऽरूढो वहनाऽऽदिविविधक्रियाकारिसदर्पसर्पच्चतुरङ्गसैन्यसमन्वितः पुष्पमाणवकसमुद्घुष्यमाणाऽगणितगुणगणः सामन्तामात्यमन्त्रिराजदौवारिकदूताऽऽदिपरिवृतः सान्तःपुरपौरजनपरिवृत आनन्दमयमिव संपादयन्महीमण्डलमाखण्डल इवामरावत्या नगरान्निर्जगाम । निर्गत्य च समवसरणमभिगम्य यथाविधि भगवन्तं भव्यजननलिनवनविबोधनाभिनवभानुमन्तं महावीरं वन्दित्वोपाविवेश । अवगतदशार्णभद्रभूपाभिप्रायं च तन्मानविनोदनोद्यतं कृताष्टमुखे प्रतिमुखं विहिताष्टदन्ते प्रतिदन्तं कृताष्टपुष्करिणीके प्रतिपुष्करिणि निरूपिताष्टपुष्करे प्रतिपुष्करं विरचिताष्टदले प्रतिदलं विरचितद्वात्रिंशद्बद्धनाटके ऐरावणेन्द्रे समारूढं स्वश्रिया निखिलं गगनमण्डलमापूरयन्तममरपतिमवलोक्य कुतोऽस्यादृशामीदृशी विभूतिः?, कुतोऽनेन निरवद्यो धर्म इति, ततोऽहमपि तं करोमि, इति विज्ञाय प्रवव्राज, जितोऽहमधुना त्वयेति भणित्वा यमिन्द्रः प्रणिपपात । सोऽयं दशार्णभद्रः संज्ञाप्यते, परमनुत्तरोपपातिकाङ्गे नाधीतः क्वचित्सिद्धश्च श्रूयत इति । तथा अतिमुक्तक एव श्रूयते अन्तकृद्दशाङ्गे-पलाशपुरे नगरे विजयस्य राज्ञः श्रीनाम्न्या देव्या अतिमुक्तको नाम पुत्रः षड्वार्षिको गौतम गोचराऽऽगतं दृष्ट्वा एवमवादीत्-के यूयम्?। किं पर्यटत?। ततो गौतमोऽवादीत्-श्रमणा वयं, भिक्षार्थं च पर्यटामः । तर्हि भदन्ताः ! आगच्छत युष्मभ्यं भिक्षां दापयामीति भणित्वाऽङ्गुल्या भगवन्तं गृहीत्वा स्वगृहमानैषीत् । ततः श्रीदेवी हृष्टा भगवन्तं प्रतिलम्भयामास । अतिमुक्तकः पुनरवोचत्-यूयं क्व वसथ?। भगवानुवाच-भद्र ! मम धर्माऽऽचार्याः श्रीवर्द्धमानस्वामिन उद्याने वसन्ति, तत्र वयं परिवसामः । भदन्ता ! गच्छाम्यहं भवद्भिः सार्द्धं भगवतो महावीरस्य पादान् वन्दितुम्?। गौतमोऽवादीत्-यथासुखं देवानां प्रिय !। ततो गौतमेन सह गत्वाऽतिमुक्तकः कुमारो भगवन्तं वन्दते स्म । धर्मं श्रुत्वा प्रतिबुद्धो गृहमागत्य पितरावब्रवीत्-यथा संसारान्निर्विण्णोऽहं प्रव्रजाम्यनुजानीत युवाम् । तावूचतुः-वत्स ! त्वं किं जानासि?। ततोऽतिमुक्तकोऽवादीत्-अम्ब ! तात ! यदेवाहं जानामि तदेव जानामीति । ततस्तौ तमवादिष्टाम् । कथमेतत्?। सोऽब्रवीत्-अम्ब ! तात ! जानाम्यहं यदुत-जातेनाऽवश्यं मर्त्तव्यं, न जानामि तु कदा वा कस्मिन् वा कियच्चिराद्वा । तथा न जानामि कैः कर्मभिर्नरकाऽऽदिषु जीवा उत्पद्यन्ते । एतत्पुनर्जानामि, यथा-स्वयं कृतैः कर्मभिर्यान्ति । तदेवं मातापितरौ प्रतिबोध्य प्रवव्राज, तपः कृत्वा च सिद्ध इति । इह त्वयमनुत्तरोपपातिकेषु दशमाध्ययनतयोक्तस्तदपर एवाऽयं भविष्यतीति । स्था० १० ठा० । आव० । उत्त० । आ० म० । आ० चू० । आ० क० । तथा च-"सट्ठिकरिसहस्स" इति गाथाया व्याख्यानं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-चतुःषष्टिसंख्या हस्तिसहस्राः, किंभूताः?, सहाष्टदन्तैर्यानि तानि साष्टदन्तानि, अष्टसंख्यानि शिरांसि अष्टशिरांसि, साष्टदन्तानि च तानि अष्टशिरांसि च साष्टदन्ताष्टशिरांसि चतुःषष्टिगुणीकृतानि साष्टदन्ताष्टशिरांसि येषां ते चतुःषष्टिसाष्टदन्ताष्टशिरसः । अत्र मध्यमपदलोपी समासो ज्ञेयः । अष्टानां च चतुःषष्ट्या गणने द्वादशोत्तराणि पञ्चशतानि शिरांसि प्रतिगजं स्युरिति, तथैकैकस्मिन् दन्तेऽष्टाष्टपुष्करिण्य इति । ५३ प्र० । सेन० २ उल्ला० । तथा दशार्णभद्राधिकारे हस्तिमुखाऽऽदिविकुर्वणा किमिन्द्रेण कृता, किमुतैरावणदेवेन वेति प्रश्ने, उत्तरम्-आवश्यकचूर्ण्याद्यनुसारेण हस्तिमुखाऽऽदि सर्वमिन्द्राऽऽदेशादैरावणेन विचक्रे, आवश्यकवृत्त्याद्यनुसारेण तु तत्सर्वं स्वयं बिडौजसेति । ११७ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

दसतिग–दशत्रिक–न० । दशात्मकेऽवयवे समुदाये, संघा० १ अधि० १ प्रस्ता० । ('चेइयवंदण' शब्दे तृतीयभागे १०९८ पृष्ठे दशत्रिकाणि प्रतिपादितानि)

दसदसमिया–दशदशमिका–स्त्री० । दश दशमानि दिनानि यस्यां सा दशदशमिका । दशदशकनिष्पन्नायां भिक्षुप्रतिमायाम्, स्था० ।

दसदसमिया णं भिक्खुपडिमा एगेणं राइंदियसएणं अद्धछट्ठेहि य भिक्खासएहिं अहासुत्तं० जाव आराहिया भवइ ।

(दसेत्यादि) दश दशमानि दिनानि यस्यां सा दशदशमिका, दशदशकनिष्पन्नेत्यर्थः । भिक्षूणां प्रतिमा प्रतिज्ञा भिक्षुप्रतिमा एकेनेत्यादि दशदशकानि दिनानां शतं भवतीति प्रथमे दशदशभिक्षा । द्वितीये विंशतिः । एवं दशमे शतम् । सर्वमीलने पञ्चशतानि पञ्चाशदधिकानि भवन्तीति । (अहासुत्तेत्यादि) (अहासुत्तं) सूत्रानतिक्रमेण, यावत्करणात्-(अहाअत्थं) अर्थस्य निर्युक्त्यादेरनतिक्रमेण (अहातच्चं) शब्दार्थानतिक्रमेण (अहामग्गं) क्षायोपशमिकभावानतिक्रमेण (अहाकप्पं) तदाचारानतिक्रमेण, सम्यक्कायेन, न मनोरथमात्रेण, (फासिया) विशुद्धपरिणामप्रतिपत्त्या (पालिया) सीमां यावत्तत्परिणामाहान्या, शोधिता निरतिचारतया शोभिता वा तत्समाप्तौ भिक्षादानानुष्ठानकरणतः, तारिता तीरं नीता प्रतिज्ञातकालोपर्यप्यनुष्ठानात्, कीर्तिता नामत इदं चेदं च कर्त्तव्यमस्यां तत्कृतं मयेत्येवमिति । आराधिता सर्वपदमीलनात्, भवति जायत इति प्रतिमाऽभ्यासः । स्था० १० ठा० । प्रव० । । स० । अन्त० ।

दसदसय–दशदशक–न० । शते, स्था० १० ठा० ।

दसदिट्ठंत–दशदृष्टान्त–पुं० । मनुष्यलाभे दशसु दृष्टान्तेषु, आ० म० १ अ० २ खण्ड । (ते च 'माणुसत्त' शब्दे वक्ष्यन्ते)

दसदिवसिय–दशदिवसिक–त्रि० । दशाहिके, "दसदिवसियं ठिइवडियं ।" ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

दसधणु–दशधनुष्–पुं० । जम्बूद्वीपे द्वीपे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यामैरवते वर्षे भविष्यति षष्ठे कुलकरे, स० । ति० । जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां दशमे कुलकरे च । स्था० १० ठा० ।

दसद्धवण्ण–दशार्द्धवर्ण–त्रि० । पञ्चवर्णे, स० ३४ सम० । रा० ।

औ०। जी० । "दसद्धवएणस्स कुसुमस्स आणुस्सेहपमाणमेत्तं ।" रा० ।

दसपएसिय–दशप्रदेशिक–पुं० । दशाणुके, स्था० १० ठा० ।

दसपएसोगाढ–दशप्रदेशावगाढ–पुं० । दशप्रदेशेष्वाकाशस्यावगाढा आश्रिता दशप्रदेशावगाढाः । आकाशस्य दशसु प्रदेशेषु आश्रिते, स्था० १० ठा० ।

दसपुव्वि(ण्)–दशपूर्विन्–पुं० । अधीतोत्पादाऽऽदिपूर्वदशके, कल्प० ।

"महागिरिः सुहस्ती च, सूरिः श्रीगुणसुन्दरः ।
श्यामाऽऽर्यः स्कन्दिलाऽऽचार्यो, रेवतीमित्रसूरिराट् ॥ १ ॥
श्रीधर्मो भद्रगुप्तश्च, श्रीगुप्तो वज्रसूरिराट् ।
युगप्रधानप्रवराः, दशैते दशपूर्विणः ॥२॥" कल्प० ८ क्षण ।

दसबल–दशबल–पुं० । "दशपाषाणे हः" ॥ ८ । १ । २६२ ॥ इति शकारस्य वैकल्पिको हकारः । 'दसबलो । दहबलो ।' प्रा०१ पाद । दश बलानि यस्य सः । बुद्धभगवति, को० । "दानशीलक्षमावीर्य–ध्यानप्रज्ञाबलानि च । उपायाः प्रणिधिर्ज्ञानं, दश बुद्धबलानि वै" ॥ १ ॥ वाच० ।

दसम–दशम–त्रि० । दशानां पूर्णः, डटि मट् । येन दश संख्या पूर्यते तस्मिन्, आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ० । पञ्चा० ।

दसमभत्तिय–दशमभक्तिक–पुं० । दिनचतुष्टयमुपोषिते, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

दसमी–दशमी–स्त्री० । ङीप् । सा च "शताऽऽयुर्वै पुरुषः" इति श्रुतेः, पुरुषस्याऽऽयुःकालस्य शतसंवत्सरतया दशभिर्विभागः । नवतेरूर्ध्वं दशवर्षावच्छिन्ने काले पुरुषावस्थाऽऽदौ, वाच० । द० प० । ज्यो० । ('तिहि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २३३० पृष्ठे दशमीफलान्युक्तानि)

दसमुद्दामंडियग्गहत्थ–दशमुद्रामण्डिताग्रहस्त–पुं० । दशभिर्मुद्राभिर्मण्डितौ अग्रहस्तौ येषां तेषु, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

दसमुद्दियाणंतय–दशमुद्रिकानन्तक–न० । हस्ताङ्गुलीमुद्रिकादशके, भ० ६ श० ३३ उ० ।

दसरत्तट्ठिइवडिया–दशरात्रस्थितिपतिता–स्त्री० । कुलक्रमागते पुत्रजन्मानुष्ठाने, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

दसरह–दशरथ–पुं० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षेऽस्यामेवोत्सर्पिण्यां जातेऽष्टमस्य वासुदेवस्य पितरि, स्था० ९ ठा० । आव० । ति० । स० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते नवमे कुलकरे, स्था० १० ठा० । स० ।

दसविह–दशविध–त्रि० । दशप्रकारके, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

दसविहकप्प–दशविधकल्प–पुं० । कल्पाकल्पाऽऽदिके दशप्रकारे कल्पे, पं० भा० । (दशविधकल्पाः 'कप्प' शब्दे तृतीयभागे २२९ पृष्ठे उक्ताः)

दसवेयालिय–दशवैकालिक–न० । विकालेनापराह्णलक्षणेन निर्वृत्तं वैकालिकम्, दशाध्ययननिर्माणं च तद्वैकालिकं च मध्यपदलोपाद्दशवैकालिकम् । पा० । नं० । शय्यंभवसूरिकृते स्वनामख्याते श्रुतग्रन्थे, अस्य दशवैकालिकस्यानुयोगः । तत्रानुयोगव्याख्या स्वस्थाने निरवशेषोक्ता ।

इह तु–

एयाइँ परूवेउं, कप्पे वण्णियगुणेण गुरुणा उ ।
अणुओगो दसवेया–लियस्स विहिणा कहेयव्वो ॥ ६ ॥

एतानि निक्षेपाऽऽदिद्वाराणि ('अणुओग' शब्दे) प्ररूप्य व्याख्याय कल्पे वर्णितगुणेन गुरुणा, षट्त्रिंशद्गुणसमन्वितेनेत्यर्थः । अनुयोगो दशवैकालिकस्य, विधिना प्रवचनोक्तेन कथयितव्य आख्यातव्यः । इति गाथाऽर्थः ॥ ६ ॥ सम्प्रत्यजानानः शिष्यः पृच्छति–यदि दशकालिकस्यानुयोगः, ततस्तद्दशकालिकं भदन्त! किमङ्गमङ्गानि, श्रुतस्कन्धः श्रुतस्कन्धाः, अध्ययनम्, अध्ययनानि, उद्देशक उद्देशका इत्यष्टौ प्रश्नाः । एतेषां मध्ये त्रयो विकल्पाः खलु प्रयुज्यन्ते, तद्यथा–दशकालिकं, श्रुतस्कन्धः, अध्ययनानि, उद्देशकाश्चेति, यतश्चैवमतो दशाऽऽदीनां निक्षेपः कर्त्तव्यः । तद्यथा–दशानां कालस्य श्रुतस्कन्धस्याध्ययनस्य, उद्देशकस्य चेति ।

तथा चाऽऽह निर्युक्तिकारः–

दसकालियं ति नामं, संखाए कालओ य निद्देसो ।
दसकालिय सुअखंधं, अज्झयणुद्देस निक्खिविउं ॥ ७ ॥

दशकालिकं प्राग्निरूपितशब्दार्थम, इति एवं तूक्तं, यन्नाम अभिधानम् । इदं किम ?, संख्यानं संख्या, तया, कालतश्च कालेन चायं निर्देशः–निर्देशनं निर्देशः, विशेषाभिधानमित्यर्थः । अस्य च निबन्धनं विशेषेण वक्ष्यामः "मणगं पडुच्च" इत्यादिना ग्रन्थेन । यतश्चैवमतः–(दसकालियं ति) कालेन निर्वृत्तं कालिकं, दशशब्दस्य कालशब्दस्य च निक्षेपः । निर्युक्त्यर्थस्तु निक्षेपः । तथा श्रुतस्कन्धम्, तथाऽध्ययनमुद्देशं तदेकदेशभूतम । किम् ? । निक्षेप्तुमनुयोगोऽस्य कर्त्तव्य इति गाथाऽर्थः । दश० १ अ० । (दशशब्दस्य निक्षेपः 'दस' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४५६ पृष्ठे गतः) (कालशब्दस्य च 'काल' शब्दे तृतीयभागे ४७० पृष्ठादारभ्य विशेषो द्रष्टव्यः)

इह पुनर्दिवसप्रमाणकालेनाऽधिकारः, तत्राऽपि तृतीयपौरुष्या, तत्राऽपि बहुतिक्रान्तयेति । आह–यदुक्तम्–"एगयं तु भावणं ति," तत्कथं न विरुध्यत इति ? । उच्यते–क्षायोपशमिकभावकाले शय्यंभवेन निर्व्यूढं, प्रमाणकाले चोक्तलक्षणमित्यविरोधः । अथवा–प्रमाणकालोऽपि भावकाल एव, तस्याऽद्धाकालस्वरूपत्वात्, तस्य च भावत्वादिति ।

तथा चाऽऽह निर्युक्तिकारः–

सामाइयअणुक्कमओ, वण्णेउं विगयपोरिसीए उ ।
निज्जूढं किर सिज्जं–भवेण दसकालियं तेणं ॥ १२ ॥

सामायिकमावश्यकप्रथमाध्ययन, तस्यानुक्रमः परिपाटीविशेषः, सामायिके वाऽनुक्रमः सामायिकानुक्रमः, ततः सामायिकानुक्रमतः सामायिकानुक्रमेण, वर्णयितुम, अनन्तरोपन्यस्तगाथाद्वाराणीति प्रक्रमाद्गम्यते । विगतपौरुष्यामेव, तुशब्दस्याऽवधारणार्थत्वात्, निर्व्यूढं पूर्वगताद्धृत्य विरचितम् । किलशब्दः परोक्षाऽऽप्ताऽऽगमवादसंसूचकः । शय्यंभवेन चतुर्दशपूर्विणा, दशकालिकं प्राग्निरूपितशब्दार्थं, तेन कारणेनोच्यत इति गाथार्थः ॥ १२ ॥ श्रुतस्कन्धयोश्च निक्षेपश्चतुर्विधो द्रष्टव्यः, यथाऽनुयोगद्वारेषु, स्थानाशून्यार्थं किञ्चिदुच्यते–इह नोआगमतः ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतं पुस्तकपत्रन्यस्तम । अथवा–

सूत्रमध्ययनाऽऽदि । भावश्रुतं त्वागमतो ज्ञाता उपयुक्तः । नोआगमतस्त्विदमेव दशकालिकं,नोशब्दस्य देशवचनत्वात् । एवं नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यश्रुतस्कन्धः सचेतनाऽऽदिः। तत्र सचित्तो द्विपदाऽऽदिः। अचित्तो द्विप्रदेशिकाऽऽदिः। मिश्रः सेनाऽऽद्येवदेशाऽऽदिरिति । तथा-भावस्कन्धस्त्वागमतस्तदर्थोपयोगपरिणाम एव । नोआगमतस्तु दशकालिकश्रुतस्कन्ध एवेति, नोशब्दस्य देशवचनत्वादिति। इदानीमध्ययनोद्देशकाभ्यासप्रस्तावः। तं चानुयोगद्वारप्रक्रमाऽऽयातं प्रत्यध्ययनं यथासंभवमोघनिष्पन्ने निक्षेपे लाघवार्थं वक्ष्याम इति । ततश्च यदुक्तम्-"दसकालियसुयखंधं, अज्झयणुद्देस णिक्खिविउं" (६) अनुयोगोऽस्य कर्त्तव्य इति तदंशतः संपादितमिति ।

साम्प्रतं प्रस्तुतशास्त्रसमुत्थानवक्तव्यताऽभिधित्सयाऽऽह-

जेण व जं व पडुच्चा, जत्तो जावंति जह य ते ठविया ।
सो तं च तओ ताणि य, तहा य कमसो कहेयव्वं ॥ १३ ॥

येन वाऽऽचार्येण,यद्वा वस्तु,प्रतीत्याङ्गीकृत्य,यतश्चाऽऽत्मप्रवादाऽऽदिपूर्वेभ्यो,यावन्ति वाऽध्ययनानि,यथा च येन प्रकारेण,तान्यध्ययनानि,स्थापितानि न्यस्तानि,स चाऽऽचार्यः, तच्च वस्तु,ततस्तस्मात्पूर्वात्,तानि चाध्ययनानि, तथा च तेनैव प्रकारेण, क्रमशः क्रमेणानुपूर्व्या कथयितव्यं प्रतिपादयितव्यमिति गाथासमासार्थः । अवयवार्थं तु प्रतिद्वारं निर्युक्तिकार एव यथाऽवसरं वक्ष्यति ।

तत्राधिकृतशास्त्रकर्तुः स्तवद्वारेणाऽऽद्यद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाऽऽह-

सेज्जंभवं गणहरं, जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं ।
मणगपियरं दसका-लियस्स निज्जूहगं वंदे ॥ १४ ॥

सेज्जंभवमिति नाम, गणधरमिति अनुत्तरज्ञानदर्शनाऽऽदिधर्मगणं धारयतीति गणधरस्तम्, जिनप्रतिमादर्शनेन प्रतिबुद्धं, तत्र रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाऽऽदिजेतृत्वाज्जिनः, तस्य प्रतिमा सद्भावस्थापनारूपा, तस्याः दर्शनमिति समासः । तेन हेतुभूतेन, प्रतिबुद्धं मिथ्यात्वाज्ञाननिद्राऽपगमेन सम्यक्त्वविकाशं प्राप्तम् । मनकपितरमिति मनकाऽऽख्यापत्यजनकम्,दशकालिकस्य प्राकृतरूपिताक्षरार्थस्य, निर्यूहकं पूर्वगतोद्धृतार्थविरचनाकर्त्तारं, वन्दे स्तौमि । इति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्- " एत्थ वद्धमाणसामिस्स चरमतित्थगरस्स सीसो तित्थसामी सुहम्मो नाम गणधरो आसि । तस्स वि जंबू णामो, तस्स वि य पभवो त्ति । तस्सऽन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तम्मि चिंता समुप्पन्ना-को मे गणधरो होज्ज त्ति? । अप्पणो गणे य संघे य सव्वओ उवओगो कओ, ण दीसइ कोइ अव्वोच्छित्तिकरो । ताहे गारत्थेसु उवउत्तो, उवओगे कए रायगिहे सेज्जंभवं माहणं जन्नं जयमाणं पासति । ताहे रायगिहं नगरं आगंतूण संघाडयं आणवेति जन्नवाडं गंतुं भिक्खट्ठा धम्मं लाहेह, तत्थ तुब्भे अतित्था विउज्जाहिह ताहे तुब्भे भणिज्जह-"अहो कट्ठं तत्तं न ज्ञायते इति ।" तओ गया साहू, अतित्था विणाय तेहिं भणितं-"अहो कट्ठं तत्तं न ज्ञायते । " तेण य सेज्जंभवेण दारमूले ठिएणं तं वयणं सुयं । ताहे सो चिंतेइ-एते उवसंता तवस्सिणो, असच्चं न वयंति त्ति काउं अज्झावगसगासं गंतुं भणति-किं तत्तं ?। सो भणति-वेदा तत्तं । ताहे सो असिं कड्ढिऊण भणति-सीसं ते छिंदामि, अह मे तुमं तत्तं न कहेसि । तओ अज्झावओ भणति-पुण्णो ! मम समये भणियमेयं वेदत्थे, परं सीसच्छेदे कहियव्व त्ति संपयं कहयामि जं एत्थ तत्तं, एतस्स जूवस्स हेट्ठा सव्वरयणमई पडिमा अरहओ सा वुच्चइ त्ति आरिहओ धम्मो तत्तं। ताहे सो तस्स पाएसु पडितो । सो य जन्नवाडओ उवक्खोविउं तस्स चेव दिण्णो । ताहे सो गंतूण ते साहू गवेसमाणे गओ आयरियसगासं । आयरियं वंदित्ता साहुणो य भणति-मम धम्मं कहेह । ताहे आयरिया उवउत्ता-जहा इमो सो त्ति, ताहे आयरिएहिं साहुधम्मो कहिओ । संबुद्धो पव्वइओ सो चउद्दसपुव्वी जाओ । जया य सो पव्वइओ तया य तस्स गुव्विणी महिला होत्था । तम्मि य पव्वइए लोगो णियल्लओ तं तमहस्सति-जहा तरुणाए भत्ता पव्वइतो, अपुत्ताए अवि अत्थि तव किंचि पोट्टे त्ति पुच्छंति ?। सा भणतिउवलक्खेमि मणगं । तओ समएण दारगो जाओ, ताहे णिव्वत्तवारसाहस्स णियल्लओहिं जम्हा पुच्छिज्जंतीए माताए से भणिओ मणगं ति, तम्हा मणओ से णामं कयं ति । जया सो अट्ठवरिसो जाओ ताहे सो मातरं पुच्छति-को मम पिया?। सा भणइ-तव पिया पव्वइओ । ताहे सो दारओ णासिऊणं पिउसगासं पट्ठिओ । आयरिया य तं कालं चंपाए विहरंति । सो वि य दारओ चंपामेवाऽऽगतो । आयरिएण य सण्णाभूमिं गएण सो दारओ दिट्ठो । दारएण वंदिओ आयरिओ । आयरियस्स य तं दारगं पेच्छंतस्स णेहो जाओ। तस्स वि दारगस्स तहेव । आयरिएहिं पुच्छियं-भो दारग ! कुतो ते आगमणं ?। सो दारगो भणति-रायगिहातो । आयरिएण भणियंरायगिहे तुमं कस्स पुत्तो, नत्तुओ वा ?। सो भणइ-सेज्जंभवो नाम बंभणो त्ति तस्साहं पुत्तो, सो य किर पव्वइओ । तेहिं भणियं-तुमं केण कज्जेण आगओऽसि ?। सो भणइ-अहं पि पव्वइस्सं। पच्छा सो दारओ भणति-तो जाणह, तं तुम्हे जाणह?। आयरिया भणंति-जाणेमो । तेण भणियं-सो कहिं ति?।ते भणंति-सो मम मित्तो एगसरीरभूतो, पव्वयाहि तुमं मम सगासे । तेण भणियं-एवं करेमि । तओ आयरिया आगंतुं पडिस्सए आलोएंति सच्चित्तो पडुप्पन्नो । सो पव्वइतो । पच्छा आयरिया उवउत्ता केवतियं कालं एस जिवइ त्ति । णायं-जाव छम्मासा । ताहे आयरियाणं बुद्धी समुप्पन्ना-इमस्स थोवयं आउं,किं कायव्वं ति ? । तं चोद्दसपुव्वी कम्हि वि कारणे समुप्पन्ने णिज्जूहति, दसपुव्वी पुण अपच्छिमो अवस्समेव णिज्जूहति । ममं पि इमं कारणं समुप्पन्नं, तो अहमवि णिज्जूहामि । ताहे आढत्तो निज्जूहिउं । ते य निज्जूहिज्जंतो वियाले निज्जूढा थोवावसेसे दिवसे, तेण तं दसवेयालियं भणिज्जति ।" अनेन च कथानकेन न केवलं येन वेत्यस्यैव द्वारस्य भावार्थोऽभिहितः, किं तु यद्वा प्रतीत्यैतस्यापीति ।

तथा चाऽऽह निर्युक्तिकारः-

मणगं पडुच्च सेज्जं-भवेण निज्जूहिया दसऽज्झयणा ।
वेयालियाइ ठविया, तम्हा दसकालियं नाम ॥ १५ ॥

मनकं प्रतीत्य मनकाऽऽख्यमपत्यमाश्रित्य,शय्यंभवेनाऽऽचार्येण, निर्यूढानि पूर्वगतादुद्धृत्य विरचितानि, दशाध्ययनानि द्रुमपुष्पिकाऽऽदीनि । (वेयालियाइ ठविय त्ति) विगतः कालो विकालः, विकलनं वा विकाल इति । विकालः शकलः खण्डश्चेत्यनर्थान्तरम् । तस्मिन् विकालेऽपराह्णे स्थापितानि न्यस्तानि द्रुमपु-

पिका ऽऽदीन्यध्ययनानि यतः, तस्माद्दशकालिकं नाम । व्युत्पत्तिः पूर्ववत् । दशवैकालिकं वा विकालेन निर्वृत्तम्, संकासाऽऽदिपाठाच्चातुरर्थिकष्ठक् । "तद्धितेष्वचामादेः" ॥ ७ । २ । ११७ ॥ इत्यादिवृद्धेर्वैकालिकम् । दशाध्ययनानिर्माणं च तद्वैकालिकं च दशवैकालिकमिति गाथार्थः ।

एवं येन वा यद्वा प्रतीत्येति व्याख्यातम् । इदानीं

यतो निर्यूढानीत्येतद्व्याचिख्यासुराह–

आयप्पवायपुव्वा, निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती ।

कम्मप्पवायपुव्वा, पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥ १६ ॥

सच्चप्पवायपुव्वा, निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ ।

अवसेसा निज्जूढा, नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥ १७ ॥

बीओ वि य आएसो, गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ ।

एयं किर निज्जूढं, मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ॥ १८ ॥

इहाऽऽत्मप्रवादपूर्वं यत्राऽऽत्मनः संसारिमुक्ताऽऽद्यनेकभेदभिन्नस्य प्रवदनमिति, तस्मान्निर्यूढा भवति धर्मप्रज्ञप्तिः, षड्जीवनिकेत्यर्थः । तथा–कर्मप्रवादपूर्वात् । किम् ?। पिण्डस्य तु एषणा त्रिविधा निर्यूढेति वर्त्तते । कर्मप्रवादपूर्वं नाम–यत्र ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मणो निदानाऽऽदिप्रवदनमिति । तस्मात् किम् ?। पिण्डस्यैषणा त्रिविधा गवेषणा–ग्रहणैषणा–ग्रासैषणाभेदभिन्ना । निर्यूढा सा पुनस्तत्राऽमुना संबन्धेन पतति । आधाकर्मोपभोक्ता ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मप्रकृतीर्बध्नाति । उक्तं च–"आहाकम्मं भुंजमाणे समणे अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ ।" इत्यादि । शुद्धपिण्डोपभोक्ता चाशुभाश्च बध्नातीत्यलं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः । सत्यप्रवादपूर्वाद् निर्यूढा भवति वाक्यशुद्धिस्तु । तत्र सत्यप्रवादं नाम–यत्र जनपदसत्याऽऽदेः प्रवदनमिति । वाक्यशुद्धिर्नाम–सप्तममध्ययनम् । अवशेषाणि प्रथमद्वितीयाऽऽदीनि निर्यूढानि नवमस्यैव प्रत्याख्यानपूर्वस्य तृतीयवस्तुन इति । द्वितीयोऽपि चाऽऽदेशः । आदेशो विध्यन्तरम्, गणिपिटकाद्याचार्यसर्वस्वाद् द्वादशाङ्गादाचाराऽऽदिलक्षणात्, इदं दशकालिकं, किलेति पूर्ववत्, निर्यूढमिति च । किमर्थम् ?। मनकस्योक्तस्वरूपस्य अनुग्रहार्थमिति गाथात्रयार्थः । एवं यत इति व्याख्यातम् ॥ १८ ॥

अधुना यावन्तीत्येतत्प्रतिपाद्यते–

दुमपुप्फियाइया खलु, दस अज्झयणा सभिक्खुयं जाव ।

अहिगारा वि य एत्तो, वोच्छं पत्तेयमेक्केक्कं ॥ १९ ॥

तत्र द्रुमपुष्पिकेति प्रथमाध्ययननाम, तदादीनि दशाध्ययनानि । (सभिक्खुयं जाव त्ति) सभिक्ष्वध्ययनं यावत्, खलुशब्दो विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि ?। तदन्ये द्वे चूडे । यावन्तीति व्याख्यातम् । यथा चैत्येतत् पुनरधिकाराभिधानद्वारेणैव च व्याचिख्यासुः संबन्धकत्वेनेदं गाथाद्वयमाह–अधिकारा अपि यातो वक्ष्ये प्रत्येकमेकैकस्मिन्नध्ययने । तत्राध्ययनपरिसमाप्तेर्योऽनुवर्तते सोऽधिकारः । इति गाथाऽर्थः ॥ १९ ॥

पढमे धम्मपसंसा, सो य इहेव जिणसासणम्मि त्ति ।

बिइए धिइए सक्का, काउं जे एस धम्मो त्ति ॥ २० ॥

तइए आयारकहा, उ खुड्डिया आयसंजमोवाओ ।

तह जीवसंजमो वि य, होइ चउत्थम्मि अज्झयणे ॥ २१ ॥

भिक्खविसोही तवसं–जमस्स गुणकारिया उ पंचमए ।

छट्ठे आयारकहा, महई जोग्गा महयणस्स ॥ २२ ॥

वयणविभत्ती पुण स–त्तमम्मि पणिहाणमट्ठमे भणियं ।

णवमे विणओ दसमे, समाणियं एस भिक्खु त्ति ॥ २३ ॥

प्रथमेऽध्ययने कोऽर्थाधिकारः ?, इत्यत आह–धर्मप्रशंसा । दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, तस्य प्रशंसा स्तवः, सकलपुरुषार्थानामेव धर्मः प्रधानमित्येवंरूपा । तथाऽन्यैरप्युक्तम्–"धनदोऽर्थार्थिनां प्रोक्तः, कामिनां सर्वकामदः । धर्म एवापवर्गस्य, पारम्पर्येण साधकः ॥ १ ॥" इत्यादि । स चात्रैव जिनशासने धर्मो, नाऽन्यत्र, इहैव निरवद्यवृत्तिसद्भावात् । एतच्चोत्तरत्र न्यक्षेण वक्ष्यामः । धर्माभ्युपगमे च सत्यपि मा भूदभिनवप्रव्रजितस्याधृतेः संमोह इत्यतस्तन्निराकरणार्थाधिकारवदेव द्वितीयाध्ययनम् । आह च–द्वितीयेऽध्ययने अयमर्थाधिकारः । धृत्या हेतुभूतया शक्यते कर्तुम् । 'जे' इति पूरणार्थो निपातः, एष जैनो धर्म इति । उक्तं च–"जस्स धिई तस्स तवो, जस्स तवो तस्स सा गती सुलभा । जे अधितिमंतपुरिसा, तवो वि खलु दुल्लहो तेसिं ॥ १ ॥" सा पुनर्धृतिराचारे कार्या, न त्वनाचारे, इत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव तृतीयाध्ययनम् । आह च–तृतीयेऽध्ययने कोऽर्थाधिकारः ?, इत्यत आह–आचारगोचरा कथा आचारकथा, सा चेहैवाणुविस्तरभेदात् । यत आह–क्षुल्लिका लघ्वी, सा च आत्मसंयमोपायः । संयमनं संयमः, आत्मनः संयम आत्मसंयमस्तदुपायः । उक्तं च–"तस्याऽऽत्मा संयमे यो हि, सदाचारे रतः सदा । स एव धृतिमान् धर्म–स्तस्यैव च जिनोदितः ॥ १ ॥" इति । स चाऽऽचारः षड्जीवनिकायगोचरः प्राय इत्यतश्चतुर्थमध्ययनम् । अथवाऽऽत्मसंयमस्तदन्यजीवपरिपालनमेव तत्त्वतः, इत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव चतुर्थमध्ययनम् । आह च–तथा जीवसंयमोऽपि भवति चतुर्थेऽध्ययनेऽर्थाधिकार इति । अपिशब्दादात्मसंयमोऽपि तद्भाव्येव वर्त्तते । उक्तं च–"छसु जीवनिकाएसुं, जे बुहे संजए सदा । से चेव होति विण्णेये, परमत्थेण संजए ॥ १ ॥" इत्यादि । एवमेव धर्मः, स च देहे स्वस्थे सति पाल्यते, स चाऽऽहारमन्तरेण प्रायः स्वस्थो न भवति, स च सावद्येतरभेद इत्यनवद्यो ग्राह्य इत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव पञ्चममध्ययनमिति । आह च–भिक्षाविशोधिस्तपःसंयमस्य गुणकारिकैव पञ्चमेऽध्ययनेऽर्थाधिकार इति । तत्र भिक्षणं भिक्षा, तस्या विशोधिः सावद्यपरिहारेणेतरस्वरूपकथनमित्यर्थः, तपःप्रधानः संयमस्तपःसंयमः, तस्य गुणकारिकैवेयं वर्त्तत इति । उक्तं च–"से संजमे समक्खाते, निरवज्जाहार जे विऊ । धम्मकायट्ठिते सम्मं, सुहजोगाण साहए ॥ १ ॥" इत्यादि । गोचरप्रविष्टेन च सता स्वाचारं पृष्टेन तद्विदाऽपि न महाजनसमक्षं तत्रैव विस्तरतः कथयितव्यः, अपि तु आलये । गुरवो वा कथयन्तीति वक्तव्यम् । अतस्तदर्थाधिकारवदेव षष्ठमध्ययनमिति । आह च–षष्ठेऽध्ययनेऽर्थाधिकारः आचारकथा । साऽपि महती, न क्षुल्लिका, योग्या उचिता, महाजनस्य विशिष्टपरिषद इत्यर्थः । वक्ष्यति च–"गोयरग्गपविट्ठो उ, न निसिज्जइ कत्थइ । कहं च न पबंधिज्जा, चिट्ठित्ता व संजए ॥ १ ॥" इत्यादि । आलयगतेनापि तेन, गुरुणा वा वचनदोषगुणाभिज्ञेन निरवद्यवचसा कथयितव्यमिति । अतस्तदर्थाधिकारवदेव सप्तममध्ययनमिति । आह च–"वयणविभत्ती" इत्यादि । वचनस्य विभक्तिर्वचनविभक्तिः, विभजनं विभक्तिरेवंभूतमनवद्यम्, इत्थंभूतं च सावद्यमित्यर्थः, पुनःशब्दः शेषाध्ययनार्थाधिकारेभ्य अस्याधिकृतार्थाधिकारस्य विशेषणार्थः

इति सप्तमेऽध्ययनेऽर्थाधिकार इति । उक्तं च-" सावज्जऽणवज्जाणं, वयणाणं जो न याणति विसेसं । वोत्तुं पि तस्स न खमं, किमंग ! पुण देसणं काउं ॥ १ ॥ " इत्यादि । तथा निरवद्यं वचः स्वाचारे प्रणिहितस्य भवतीत्यतस्तदर्थाधिकारवदेवाष्टममध्ययनमिति । आह च-प्रणिधानमष्टमेऽध्ययनेऽर्थाधिकारत्वेन भणितमुक्तम् । प्रणिधानं नाम-विशिष्टश्चेतोधर्म इति । उक्तं च-" पणिहाणरहियस्सेह, निरवज्जं पि भासियं । सावज्जतुल्लं विन्नेयं, अज्झत्थेणेह संवुडं ॥१॥ " इत्यादि । आचारप्रणिहितश्च यथोचितविनयसंपन्न एव भवतीत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव नवममध्ययनमिति । आह च-नवमेऽध्ययने विनयोऽर्थाधिकार इति । उक्तं च-" आयारपणिहाणम्मि, से सम्मं वट्टती वुहे । णाणादीणं विणीते जे, मोक्खट्ठा णिव्विगिच्छिए ॥ १ ॥ " इत्यादि । एतेष्वेव नवस्वध्ययनार्थेषु यो व्यवस्थितः स सम्यग्भिक्षुरित्यनेन संबन्धेन स भिक्ष्वध्ययनमिति । आह च-दशमेऽध्ययने समाप्तिं नीतमिदं साधुक्रियाऽभिधायकं शास्त्रम् । एतत्क्रियासमन्वित एव भिक्षुर्भवति । अत आह-एष भिक्षुरिति गाथाचतुष्टयार्थः ।

स एवंगुणयुक्तोऽपि भिक्षुः कदाचित् कर्मपरतन्त्रत्वात्कर्मणश्च बलवत्त्वात्सीदेत्, ततस्तस्य स्थिरीकरणं कर्तव्यमतस्तदर्थाधिकारवदेव चूडाद्वयमित्याह-

दो अज्झयणा चूलिय, विसीययंते थिरीकरणमेगं ।
विइए विवित्तचरिया, असीयणगुणाइरेगफला ॥ २४ ॥

द्वे अध्ययने । किम् ? । चूडा चूडेव चूडा, तत्र प्रमादवशाद्विसीदति सति साधौ संयमे स्थिरीकरणमेकं प्रथमम्, स्थिरीकरणफलमित्यर्थः । तथा च तत्रावधावनप्रेक्षिणः साधोर्दुःप्रजीवित्वे नरकपाताऽऽदयो दोषा वर्ण्यन्ते इति । तथा च द्वितीयेऽध्ययने विविक्तचर्या वर्ण्यते । किंभूता ?, असीदनगुणातिरेकफला, तत्र विविक्तचर्यैकान्तचर्या द्रव्यक्षेत्रकालभावेष्वसंबद्धता, उपलक्षणं चैषा नियतचर्याऽऽदीनामिति । असीदनगुणातिरेकः फलं यस्याः सा तथाविधेति गाथाऽर्थः ॥ २४ ॥

दसकालियस्स एसो, पिंडत्थो वण्णिओ समासेणं ।
एत्तो एक्केक्कं पुण, अज्झयणं कित्तइस्सामि ॥ २५ ॥

दशकालिकस्य प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य, एषोऽनन्तरोदितः, पिण्डार्थः सामान्यार्थः, वर्णितः प्रतिपादितः, समासेन संक्षेपेण, अत ऊर्ध्वं पुनरेकैकमध्ययनं, कीर्तयिष्यामि प्रतिपादयिष्यामीति, पुनःशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः । इति गाथाऽर्थः ॥ २५ ॥ दश० १ अ० ।

अथ शास्त्रकर्तुः स्तवमाह-

सिज्जंभवं गणहरं, जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं ।
मणगपिअरं वि दसका-लिअस्स निज्जूहगं वंदे ॥ १ ॥

शय्यंभवम्, अनुत्तरज्ञानाऽऽदिधर्मगणं धारयतीति गणधरस्तं, जिनप्रतिमादर्शनेन प्रतिबुद्धं मिथ्यात्वाविरत्यज्ञाननिद्राऽपगमेन सम्यक्त्वविकाशं प्राप्तं, निर्यूहकं पूर्वगतोद्धृतार्थविरचनाकर्तारं, मनकपितरं दशवैकालिककृतं वन्दे स्तौमीति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः-श्रीसुधर्मशिष्यो हि जम्बूः, तस्य श्रीप्रभवः, तस्य शय्यम्भवः ॥ १ ॥

मणगं पडुच्च सिज्जं-भवेण निज्जूहिआ दसऽज्झयणा ।
वेआलिआइ ठविआ, तम्हा दसकालिअं नाम ॥ २ ॥

मनकं प्रतीत्य मनकाऽऽख्यमपत्यमाश्रित्य शय्यंभवेन निर्यूढानि पूर्वगतादुद्धृत्य विरचितानि, दश अध्ययनानि द्रुमपुष्पिकाऽऽदीनि सभिक्ष्वध्ययनप्रान्तानि । विगतः कालो विकालः, विकसनं वा विकालः, शकलः खण्डश्चेति । तस्मिन् विकाले निर्यूढं दशाध्ययननिर्माणं च इदं वैकालिकम् ॥ २ ॥

यं प्रतीत्य कृतं तद्गतवक्तव्यतामाह-

छहिँ मासेहिँ अहीयं, अज्झयणमिणं तु अज्जमणगेणं ।
छम्मासा परिआओ, अह कालगओ समाहीए ॥ ३ ॥

षड्भिर्मासैरधीतं पठितमध्ययनमिदं तु अधीयत इत्यध्ययनम् । इदमेव दशवैकालिकाऽऽख्यं शास्त्रम् । केनाऽधीतमित्याह-आर्यमणकेन भावाऽऽराधनयोगात् आराद् यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यः, आर्यश्चासौ मणकश्चेति विग्रहः । तेन, षण्मासाः पर्याय इति । तस्याऽऽर्यमणकस्य षण्मासा एव प्रव्रज्याकालः, अल्पजीवितत्वात् । अत एवाऽऽह-अथ कालगतः समाधिनेति । यथोक्ताध्ययनपर्यायानन्तरं कालगत आगमोक्तेन विधिना मृतः, समाधिना शुभलेश्याध्यानयोगेनेति गाथाऽर्थः ॥ ३ ॥
अत्र चैवं वृद्धवादः-यथा तेनैतावता श्रुतेनाऽऽराधितमेवमन्येऽप्येतदध्ययनानुष्ठानत आराधका भवन्त्विति ।

आणंदअंसुपायं, कासी सिज्जंभवा तहिं थेरा ।
जसभद्दस्स य पुच्छा, कहणा य विआलणा संघे ॥ ४ ॥

आनन्दाश्रुपातम्-अहो आराधितमनेनेति हर्षाश्रुमोक्षणमकार्षुः कृतवन्तः शय्यंभवाः आख्यातवर्णितस्वरूपाः, तत्र तस्मिन् काले स्थविराः श्रुतपर्यायवृद्धाः प्रवचनगुरवः, पूजार्थं बहुवचनमिति । यशोभद्रस्य च शय्यंभवप्रधानशिष्यस्य, गुर्वश्रुपातदर्शनेन किमेतदाश्चर्यमिति विस्मितस्य सतः पृच्छा-भगवन् ! किमेतदकृतपूर्वमित्येवंभूता ? । कथना च भगवतः संसारस्नेह ईदृशः सुतो ममाऽयमित्येवंरूपा । पश्चात्तापश्च यशोभद्रादीनाम् । अहो ! गुराविव गुरुपुत्रके वर्तितव्यमिति, न तत् कृतमस्माभिरित्येवंभूतप्रतिबन्धदोषपरिहारार्थम् । न मया कथितं नाम भवतां दोष इति गुरुपरिसंस्थापनं च । विचारणा संघ इति । शय्यंभवेनाल्पायुषमेनमवेत्य मयेदं शास्त्रं निर्यूढं किमत्र युक्तमिति निवेदिते विचारणा संघे-कालह्रासदोषात् प्रभूतसत्त्वानामिदमेवोपकारकमतस्तिष्ठत्वेतदित्येवंभूता स्थापना चेति गाथाऽर्थः । दश० २ चू० । वीरमोक्षात् " वासाएँ सहस्सेहिँ, वरिससहस्सेहिँ नवहिँ वोच्छेदो । दसवेयालियसुत्तस्स दिवसाहम्मि बोद्धव्वो ॥८१०॥ " ति० ।

दसवेयालियणिज्जुत्ति-दशवैकालिकनिर्युक्ति-स्त्री० । दशवैकालिकस्य भद्रबाहुस्वामिरचितनिर्युक्तिग्रन्थे, दश० ।

" जयति विजितान्यतेजाः, सुराऽसुराधीशसेवितः श्रीमान् ।
विमलस्त्रासविरहित-स्त्रिलोकचिन्तामणिर्वीरः ॥ १ ॥"

इहार्थतोऽर्हत्प्रणीतस्य सूत्रतो गणधरोपनिबद्धपूर्वगतोद्धृतस्य शारीरमानसाऽऽदिकटुकदुःखसन्तानविनाशहेतोर्दशकालिकाभिधानस्य शास्त्रस्यातिसूक्ष्ममहार्थगोचरस्य व्याख्या प्रस्तूयते । तत्र प्रस्तुतार्थप्रविघ्नविषयेष्टदेवतानमस्कारद्वारेणाऽशेषविघ्नविनायकाऽपोहसमर्था परममङ्गलाऽऽलयामिमां प्रतिज्ञागाथामाह निर्युक्तिकारः-

सिद्धिगइमुवगयाणं, कम्मविसुद्धाण सव्वसिद्धाणं ।

णमिऊणं दसकालिय-णिज्जुत्तिं कित्तइस्सामि ॥ १ ॥

सिद्धिगतिमुपगतेभ्यो नत्वा दशकालिकनिर्युक्तिं कीर्त्तयिष्यामीति क्रिया । तत्र सिद्ध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्त्यस्यामिति सिद्धिर्लोकाग्रक्षेत्रलक्षणा । तथा चोक्तम्-" इह बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झइ । (औ० २ गा०) " गम्यत इति गतिः, कर्म्मसाधनम् । सिद्धिरेव गम्यमानत्वाद्गतिः सिद्धिगतिः, तामुप सामीप्येन गताः प्राप्तास्तेभ्यः सकललोकाग्रक्षेत्रप्राप्तेभ्य इत्यर्थः । प्राकृतशैल्या चतुर्थ्यर्थे षष्ठी । यथोक्तम्-" छट्ठीविभत्तीए भन्नइ चउत्थी । " तत्रैकेन्द्रियाः पृथिव्यादयः सकर्मका अपि तद्रूपगमनमात्रमधिकृत्य यथोक्तस्वरूपा भवन्त्यत आह कर्मविप्रमुक्तेभ्यः । क्रियत इति कर्म ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिलक्षणं, तेन विप्रमुक्ता वियुक्ताः कर्मविप्रमुक्ताः, कर्मकलङ्करहिता इत्यर्थः । तेभ्यः कर्मविप्रमुक्तेभ्यः । आह-एवं तर्हि वक्तव्यं न सिद्धिगतिमुपगतेभ्योऽव्यभिचारात् । तथाहि-कर्मविप्रमुक्ताः सिद्धिगतिमुपगता एव भवन्ति । न । अनियतक्षेत्रविभागोपगतसिद्धप्रतिपादनपरदुर्नयनिरासार्थत्वादस्य । तथाचाहुरेके-" रागाऽऽदिवासनामुक्तं, चित्तमेव निरामयम् । सदा नियतदेशस्थं, सिद्ध इत्यभिधीयते " ॥ १ ॥ इत्यलं प्रसङ्गेन । दश० १ अ० ।

दससण्णाविक्खंभण-दशसंज्ञाविष्कम्भण-न० । दश च ताः संज्ञाश्च तासां विष्कम्भणं निरोधस्तस्मिन्, पो० ५ विव० ।

दससमयट्ठिइय-दशसमयस्थितिक-त्रि० । दश समयान् स्थितिर्येषां तेषु, स्था० १० ठा० ।

दससय-दशशत-न० । सहस्रसङ्ख्यायाम्, स्था० १० ठा० ।

दससयसहस्स-दशशतसहस्र-न० । दशलक्षाऽऽत्मिकायां संख्यायाम्, अनु० ।

दससहस्स-दशसहस्र-न० । सङ्ख्याभेदे, अनु० ।

दसहा-दशधा-अव्य० । दशविधे, उत्त० २३ अ० । वाच० ।

दसहासामायारी-दशधासामाचारी-स्त्री० । दशधेत्याख्याऽभिधानं यस्याः सा । दशप्रकारलक्षणायामिच्छाकाराऽऽदिसामाचार्याम्, ध० ३ अधि० । (ताश्च दश ' सामायारी ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

दसा-दशा-स्त्री० । दन्-श-अङ्, नि० नलोपः । चरितगतिसिद्धिगमनलक्षणायामवस्थायाम्, नं० । अनुभागेन युक्तो विभागो दशा । नि० चू० ११ उ० । वर्षशताऽऽयुष्कापेक्षया वर्षदशकप्रमाणायां कालकृतायां अन्यावस्थायाम्, दश० ।

साम्प्रतं प्रस्तुतोपयोगित्वात्कालस्य कालदशकद्वारे विशेषार्थप्रतिपिपादयिषयेदमाह-

बाला किड्डा मंदा, बला य पन्ना य हायणि पवंचा ।
पब्भार मम्मुही सा-यणी य दसमा उ कालदसा ॥ १० ॥

बाला क्रीडा च मन्दा च बला च प्रज्ञा च हायिनी ईषत्प्रपञ्चा प्राग्भारा मृन्मुखी शायिनी । तथाहि एता दश दशा अन्यावस्थाविशेषलक्षणा भवन्ति ।

आसां च स्वरूपमिदमुक्तं पूर्वमुनिभिः-

" आतामित्तस्स जंतुस्स, जा सा पढमिया दसा ।
ण तत्थ सुहदुक्खाइं, बहु जाणंति बालया ॥ १ ॥
बितियं च दसं पत्तो, णाणाकिड्डाहि किड्डइ ।
न तत्थ कामभोगेहिं, तिव्वा उप्पज्जई मई ॥ २ ॥
ततियं च दसं पत्तो, पंचकामगुणे नरो ।
समत्थो भुंजिउं जाए, जइ से अत्थि घरे धुवा ॥ ३ ॥
चउत्थी उ बला नाम, जं नरो दसमस्सिओ ।
समत्थो बलं दरिसिउं, जइ होइ निरुवद्दवो ॥ ४ ॥
पंचमिं च दसं पत्तो, आणुपुव्वीए जो नरो ।
इच्छियत्थं विचिंतेति, कुडुंबं वाऽभिकंखति ॥ ५ ॥
छट्ठी उ हायणी नाम, जं नरो दसमस्सिओ ।
विरज्जइ य कामेसु, इंदिएसु य हायति ॥ ६ ॥
सत्तमिं च दसं पत्तो, आणुपुव्वीइ जो नरो ।
निट्ठुहइ चिक्कणं खेलं, खासति य अभिक्खणं ॥ ७ ॥
संकुचियवलीचम्मो, संपत्तो अट्ठमिं दसं ।
णारीणमणभिप्पेओ, जराए परिणामितो ॥ ८ ॥
णवमी मम्मुही नाम, जं नरो दसमस्सिओ ।
जराघरे विणस्संतो, जीवो वसइ अकामओ ॥ ९ ॥
हीणभिन्नसरो दीणो, विवरीओ विचित्तओ ।
दुब्बलो दुक्खिओ सुवइ, संपत्तो दसमिं दसं ॥ १० ॥ "

दश० १ अ० । स्था० । तं० । नि० चू० । दीपवर्त्याम्, " अपेक्षन्ते न च स्नेहं, न पात्रं न दशाऽन्तरम् । परोपकारनिरताः, मणिदीपा इवोत्तमाः ॥ १ ॥ " इत्युद्भटः । चित्ते कामकृते विरहिणां नेत्ररागाऽऽद्यवस्थादशके, वाच० । वस्त्राञ्चले, वाच० । दशैव दशसंख्या एव दशा दशाधिकाराभिधायकत्वाद्दशा इति बहुवचनान्तं स्त्रीलिङ्गम् । शास्त्राख्याभिधाने, पा० । दशाध्ययनप्रतिबद्धप्रथमवर्गयोगाद्दशाग्रन्थविशेषे, अणु० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

दस दसाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-कम्मविवागदसाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, आयारदसाओ, पण्हावागरणदसाओ, बंधदसाओ, दोगिद्धिदसाओ, दीहदसाओ, संखेवियदसाओ ॥

(दस त्ति) दशसंख्याः (दसाओ त्ति) दशाधिकाराभिधायकत्वाद्दशा इति बहुवचनान्तं स्त्रीलिङ्गं शास्त्राख्याभिधानम् इति । कर्मणोऽशुभस्य विपाकः फलं कर्मविपाकः, तत्प्रतिपादिका दशाध्ययनाऽऽत्मकत्वाद् दशाः कर्मविपाकदशाः । विपाकश्रुताऽऽख्यस्यैकादशाङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धः, द्वितीयश्रुतस्कन्धोऽप्यस्य दशाध्ययनाऽऽत्मक एव । न चासाविहाभिमतः, उत्तरत्र विवरिष्यमाणत्वादिति । तथा-साधूनुपासते सेवन्त इत्युपासकाः श्रावकाः, तद्गतक्रियाकलापप्रतिबद्धा दशा दशाध्ययनोपलक्षिता उपासकदशाः सप्तममङ्गमिति । तथा-अन्तो विनाशः, स च कर्मणस्तत्फलभूतस्य वा संसारस्य कृतो यैस्तेऽन्तकृतः, ते च तीर्थकराऽऽदयः, तेषां दशा अन्तकृद्दशाः, इह चाऽष्टमाङ्गस्य प्रथमवर्गे दशाध्ययनानीति तत्संख्ययोपलक्षितत्वादन्तकृद्दशा इत्यभिधानेनाष्टममङ्गमाभिहितम् । तथोत्तरः प्रधानो नास्योत्तरो विद्यत इत्यनुत्तर उपपतनमुपपातो जन्मेत्यर्थोऽनुत्तरश्चासावुपपातश्चेत्यनुत्तरोपपातः, सोऽस्ति येषां तेऽनुत्तरोपपातिकाः सर्वार्थसिद्धाऽऽदिविमानपञ्चकोपपातिन इत्यर्थः, तद्वक्तव्यता प्रतिबद्धा दशा दशाध्ययनोपलक्षिता अनुत्तरोपपातिकदशा

नवममङ्गमिति । तथा-चरणमाचारो ज्ञानाऽऽदिविषयः पञ्चधा आचारप्रतिपादनपरा दशा दशाध्ययनाऽऽत्मिका आचारदशा दशाश्रुतस्कन्ध इति या रूढाः, तथा प्रश्नश्च पृच्छा, व्याकरणानि च निर्वचनानि प्रश्नव्याकरणानि, तत्प्रतिपादिका दशा दशाध्ययनाऽऽत्मिकाः प्रश्नव्याकरणदशा दशममङ्गमिति । तथा-बन्धदशा द्विगृद्धिदशा दीर्घदशाः संक्षेपिकदशाश्चास्माकमप्रतीता इति । स्था० १० ठा० । ध० । पा० । प्रश्न० । "दस उद्देसणकाला, दसाण कप्पस्स हुंति छच्चेव । दस चेव य ववहार-स्स हुंति सव्वे वि छव्वीसं ॥४८॥" आ०चू० १ अ० । "छव्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेहिं ।" आव० ४ अ० । ज्योतिषोक्ते नक्षत्रानुसारेण सूर्याऽऽदिग्रहाणां स्वामित्वेन भोग्यकाले, वाच० ।

दसार-दशार्ह-पुं० । "दशार्हे" ॥८।२।८५॥ इति हस्य लुक् । प्रा० २ पाद । हरिवंशकुलोद्भवेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आ० म० । समुद्रविजयाऽऽदिवसुदेवान्ता दश दशाराः । स० । अन्त० । समयभाषया वासुदेवे, स्था० २ ठा० ३ उ० । वासुदेवकुलीनप्रजासु, स० । अन्धदशानां चतुर्थेऽध्ययने दशाराणां वक्तव्यता उक्ता, सा चेदानीं नोपलभ्यते, अन्धदशानां व्युच्छिन्नत्वात् । स्था० १० ठा० । बलदेवे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । "दसण्हं दसाराणं बलदेवपामोक्खाणं ।" नि० १ श्रु० ४ वर्ग १ अ० ।

दसारगंडिया-दशार्हगण्डिका-स्त्री० । दशार्हवक्तव्यतार्थाधिकारानुगतासु वाक्यपद्धतिषु, यत्र दशार्हाणां पूर्वजन्माऽऽद्यभिधीयते । स० ।

दसारचक्क-दशार्हचक्र-न० । यादवसमूहे, उत्त० । "दसारचक्केण य सो, सव्वओ परिवारिओ ।" उत्त० २२ अ० ।

दसारमंडण-दशार्हमण्डन-न० । दशार्हाणां वासुदेवकुलीनप्रजानां मण्डनाः शोभाकारिणो दशार्हमण्डनाः । दशार्होत्तमपुरुषेषु, स० ।

दसारमंडल-दशार्हमण्डल-न० । दशार्हाणां वासुदेवानां मण्डलानि दशार्हमण्डलानि, बलदेववासुदेवद्वयलक्षणाः समुदाया दशार्हमण्डलानि । बलदेववासुदेवद्वयलक्षणे समुदाये, स० । (बलदेववासुदेवयोः सर्वा वक्तव्यता 'तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२७४ पृष्ठे उक्ता) ('बलदेववासुदेव' शब्दयोः भविष्यद्बलदेववासुदेवा वक्ष्यन्ते)

दशार्हप्रसङ्गतः भरतवर्षे भविष्यद्बलदेववासुदेवपितृमातृप्रभृतिनामनिर्देशः-

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए नव बलदेववासुदेवपियरो भविस्संति । नव वासुदेवमायरो भविस्संति, नव बलदेवमायरो भविस्संति । नव दसारमंडला भविस्संति । तं जहा- उत्तमपुरिसा, मज्झिमपुरिसा, पहाणपुरिसा, तेयंसी० एवं सो चेव वण्णओ भाणियव्वो० जाव नीलगपीतगवसणा । दुवे दुवे रामकेसवा भायरो भविस्संति । तं जहा-

"नंदे य नंदमित्ते, दीहबाहू य महबाहू ।
अइबले महाबले, बलभद्दे य सत्तमे ॥१॥
तिविट्ठू य दुविट्ठू य, आगमिस्सेण वण्हिणो ।
जयंते विजए भद्दे, सुप्पभे य सुदंसणे ॥२॥
आणंदे णंदणे पउमे, संकरिसण अपच्छिमे । "

पूर्वभवनामाऽऽदीनि -

एएसि णं नवण्हं बलदेववासुदेवाणं पुव्वभविया नव णामधेज्जा भविस्संति, नव धम्माऽऽयरिया भविस्संति, नव नियाणभूमीओ भविस्संति, नव नियाणकारणा भविस्संति, नव पडिसत्तू भविस्संति । तं जहा- तिलए य लोहजंघे वइरजंघे य केसरी पहराए अपराजिए, भीमसेणे महाभीमे सुग्गीवे य अपच्छिमे ।

"एए खलु पडिसत्तू, कित्तीपुरिसाण वासुदेवाणं ।
सव्वे वि चक्कजोही, हम्मिहिंति सचक्केहिं ॥ १ ॥ "

ऐरवते वर्षे येषां पितृमातृप्रभृतयः-

जंबुद्दीवे दीवे एरवए वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए नव बलदेववासुदेवपियरो भविस्संति, णव वासुदेवमायरो भविस्संति, णव बलदेवमायरो भविस्संति, णव दसारमंडला भविस्संति । तं जहा- उत्तमपुरिसा, मज्झिमपुरिसा, पहाणपुरिसा० जाव दुवे दुवे रामकेसवा भायरो भविस्संति, णव पडिसत्तू भविस्संति, णव पुव्वभवणामधेज्जा, णव धम्मायरिया, णव णियाणभूमीओ, णव णियाणकारणा, आयाए एरवए आगमिस्साए भाणियव्वा, एवं दोसु वि आगमिस्साए भाणियव्वा । स० ।

दसारवग्ग-दशार्हवर्ग-पुं० । दशार्हसमुदाये, दश० १ अ० ।

दसारवरवीरपुरिस-दशार्हवरवीरपुरुष-पुं० । दशार्हाणां समुद्रविजयाऽऽदीनां दशार्हस्य वा वासुदेवस्य ये वराश्च पुरुषास्ते । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । दशार्हाः समुद्रविजयाऽऽदयस्तेषु मध्ये वरास्त एव वा वरा वीरपुरुषास्ते दशार्हवरवीरपुरुषाः । दशार्हश्रेष्ठपुरुषेषु, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

दसारवंस-दशार्हवंश-पुं० । बलदेववासुदेववंशे, "तीसे णं समाए तओ वंसा समुप्पज्जित्था ।" जं० २ वक्ष० । ति० । स० ।

दसासुयखंध-दशाश्रुतस्कन्ध-पुं० । दशाध्ययनप्रतिपादको ग्रन्थो दशा, स चाऽसौ श्रुतस्कन्धश्च दशाश्रुतस्कन्धः । दशाकल्पापरपर्यायेऽसमाधिस्थानाऽऽद्यर्थाभिधायकतयाऽर्थतो वर्द्धमानस्वाम्युक्ते सूत्रतो द्वादशस्वङ्गेषु गणधरैस्ततोऽपि मन्दमेधसामनुग्रहायातिशायिभिः प्रत्याख्यानपूर्वादुद्धृत्य पृथक् दशाध्ययनत्वेन व्यवस्थापिते ग्रन्थे, दशा० ।

" यथास्थिताशेषपदार्थसार्थ-क्रमार्थसन्धानविधिप्रवीणम् ।
जिनं जनाऽऽनन्दकरं कृपाऽब्धिं, नमामि भव्याम्बुजबोधसूरम् ॥१॥
स्तुमे महावीरजिनस्य तेजो, भवाब्धिनीराऽऽकरपारगस्य ।
अनादिदुष्कर्मगणस्य नित्यं, तृणायितं यत्र सुखापमेव (?) ॥२॥
श्रीवसुभूतितनूजं, वन्दे श्रीगौतमाभिधं सदा साधुम् ।
सकललब्ध्येकनिलयं, मध्यं गुणचन्द्रनौघस्य ॥ ३ ॥
येषां प्रसादमासाद्य, जायते शास्त्रकौशलम् ।
श्रीगुरूणामहं तेषां, वन्दे चरणपङ्कजम् ॥ ४ ॥
अध्ययनदशाकमेतत्, चूर्णिकृता यदपि वर्णितं सम्यक् ।
तदपि स्मरयति मामिह, वृत्तिविधौ वाक्यकृद्भक्तिः ॥ ५ ॥"

इह रागद्वेषाऽऽद्यभिभूतेन संसारपारावारसारिजीवेनेन्द्रिया-

ऽऽयतनमानसानेकालिकदुःखोपनिपातपीडितेन तत्परिहाराय हेयोपादेयपदार्थसार्थविज्ञानविधौ यत्नः कर्त्तव्यः, स च न विशिष्टविवेकमृते, विवेकोऽपि न प्राप्ताशेषातिशयकलापाऽऽप्तोपदेशं विना, स चाऽऽप्त आत्यन्तिकदोषप्रक्षयादेव भवितुमर्हति । स च वीतरागस्यैव, अत आरभ्यते अर्हद्वचनानुयोगः। अयं च दशाश्रुतस्कन्धोऽतिगम्भीरोऽल्पाक्षरैर्व्याख्यातश्चूर्णिकृता, अत एवाऽल्पबुद्धीनामुपकारासमर्थः, तेन तेषामनुग्रहार्थं मया तस्य किञ्चिद्विस्तरतो व्याख्यानमारभ्यते-अथ दशाश्रुतस्कन्ध इति कः शब्दार्थः ? । उच्यते-दशाऽध्ययनप्रतिपादको ग्रन्थो दशा, स चासौ श्रुतस्कन्धश्चेति दशाश्रुतस्कन्धः, दशाकल्प इति वा पर्यायनाम । अयञ्च ग्रन्थोऽसमाधिस्थानाऽऽदिपदार्थशासनाच्छास्त्रम् । ननु दशाश्रुतस्कन्धप्रारम्भोऽयुक्तः, प्रयोजनाऽऽदिभी रहितत्वात्, कण्टकशाखामर्दनाऽऽदिवादित्याशङ्काऽपनोदाय प्रयोजनाऽऽदिकमादावुपन्यसनीयम् । यदुक्तम्- " पूर्वमेवेह संबन्धः, भाभिधेयं प्रयोजनम । मङ्गलं चैव शास्त्रस्य, प्रयोक्तव्यं प्रवर्त्तकम ॥ १ ॥ " दशा० १ अ० । तत्र प्रथमेऽध्ययने विंशतिरसमाधिस्थानानि । द्वितीयेऽध्ययने एकविंशतिः शबलाः । तृतीये त्रयस्त्रिंशदाशातनाः । चतुर्थेऽष्टौ गणिसम्पदः । पञ्चमे दश चित्तसमाधिस्थानानि । षष्ठे एकादशोपासकप्रतिमाः । सप्तमे द्वादश भिक्षुप्रतिमाः । अष्टममध्ययनं कल्पसूत्राऽऽख्यं पृथगस्ति, तत्र तीर्थकृच्चरितं, पर्युषणाकल्पः, स्थविराऽऽवली चेत्यधिकाराः । नवमे त्रिंशन्मोहनीयस्थानानि । दशमे नव निदानस्थानानि । दशा० १० अ० । ध० । " जणितो दसाण भेदो, जत्थ सरसवेहिँ होइ सरिसाणं । समणमिम फग्गुमित्ते, गोयमगोत्ते महासत्ते ॥ १ ॥ " ति० ।

दसाहिया-दशाहिका-स्त्री० । दशदिवसप्रमाणायां पुत्रजन्मक्रियायाम, भ० ११ श० ११ उ० ।

दसाहुस्सव-दशाहोत्सव-पुं० । दशदिवसमहे, प्रति० ।

दसिया-दशिका-स्त्री० । वस्त्राञ्चले, बृ० ३ उ० । वर्त्तिकायां च । दूष्यस्याग्रभागे ऊर्णिकादशिका बध्यन्ते । बृ० ७ उ० ।

दसुत्तरा-दशोत्तरा-स्त्री० । दशाधिके अष्टौ रेखा दशोत्तरा दशकवृद्ध्या पलपरिमाणसूचिकाः । ज्यो० २ पाहु० ।

दसू-देशी-शोके, दे० ना० ५ वर्ग ३४ गाथा ।

दसेर-पुं० । देशी-सूत्रकनके, दे० ना० ५ वर्ग ३३ गाथा ।

दस्सु-दस्यु-पुं० । चौरे, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० । अदत्ताऽऽहरो वा दस्युर्वाऽपहरति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

दह-दशन्-त्रि० । दन्-श-कनिन् । वाच० । "दशपाषाणे हः" ॥ ८ । १ । २६२ ॥ इति दशन्शब्दे शकारस्य हकारः । 'दह । दस ।' प्रा० १ पाद । सङ्ख्याविशेषे, वाच० ।

द्रह--पुं० । " द्रेरो न वा " ॥ ८ । २ । ८० ॥ इति रेफस्य वा लुक् । जलाऽऽशये , प्रा० २ पाद ।

ह्रद-पुं० । " ह्रदे हृदोः " ॥ ८ । २ । १२० ॥ इति हकारदकारयोर्व्यत्ययः । प्रा० २ पाद । अगाधजलाऽऽशये, जं० ४ वक्ष० । आचा० । चं० प्र० । नं० । प्रश्न० ।

जंबू ! मंदरस्स उत्तरदाहिणेणं चुल्लहिमवंतसिहरीसु वासहरपव्वएसु दो महद्दहा पण्णत्ता बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अण्णमण्णं णाइवट्टंति आयामविक्खंभउव्वेहसंठाणपरिणाहेणं । तं जहा-पउमद्दहे चेव, पुंडरीयद्दहे चेव । तत्थ णं दो देवयाओ महिड्डियाओ जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति । तं जहा-सिरि चेव, लच्छी चेव । एवं महाहिमवंतरुप्पिसु वासहरपव्वएसु दो महद्दहा पण्णत्ता बहुसमतुल्ला० जाव महापउमद्दहे चेव, महापोंडरीयद्दहे चेव । देवताओ-हिरि चेव, बुद्धि चेव । एवं निसहनीलवंतेसु तिगिच्छिद्दहे चेव, केसरिद्दहे चेव । देवताओ-धिई चेव, कित्ती चेव ।

(जंबू इत्यादि) इह च हिमवदादिषु षट्सु वर्षधरेषु क्रमेणैते पद्माऽऽदयः षडेव ह्रदाः । तद्यथा-" पउमे य महापउमे, तिगिच्छि केसरिद्दहे चेव । हरए महपुंडरीए, पुंडरीए चेव य दहाओ ॥ १ ॥ " हिमवत उपरि बहुमध्यभागे पद्मह्रद एव शिखरिणः पौण्डरीकाः, ते च पूर्वापराऽऽयतौ सहस्रं पञ्चशतविस्तृतौ चतुष्कोणौ दशयोजनावगाढौ रजतकूलौ वज्रमयपाषाणौ तपनीयतलौ सुवर्णमध्यरजतमणिवालुकौ चतुर्दशमणिसोपानौ स्वभावतारौ तोरणध्वजच्छत्राऽऽदिविभूषितौ नीलोत्पलपुण्डरीकाऽऽदिचितौ विचित्रशकुनमत्स्यविचरितवौ षट्पदपटलोपभोग्याविति । (तत्थ णं ति) तयोर्महाह्रदयोर्द्वे देवते परिवसतः-पद्मह्रदे श्रीः, पौण्डरीके लक्ष्मीः । ते च भवनपतिनिकायाद्व्यन्तरजे, पल्योपमस्थितिकत्वात् । व्यन्तरदेवीनां हि पल्योपमार्द्धमेवाऽऽयुरुत्कर्षतो भवति । भवनपतिदेवीनां तूत्कर्षतोऽर्द्धपञ्चपल्योपमान्यायुर्भवति । आह च-" अद्धुट्ठअद्धपंचमपलिओवमअसुरजुयलदेवीणं । सेसवणदेवयाण य, देसूणं अद्धपलियमुक्कोसं ॥१॥ " इति । तयोश्च महाह्रदयोर्मध्ये योजनमाने पद्मे अर्द्धयोजनबाहल्ये दशावगाढे जलान्ताद् द्विक्रोशोच्छ्रये वज्राऽरिष्टवैडूर्यमूलकन्दनाले वैडूर्यजाम्बूनदमयबाह्याभ्यन्तरपत्रे कनककर्णिके तपनीयकनककेसरे तयोः कर्णिकेऽर्द्धयोजनमाने तदर्द्धबाहल्ये तदुपरि देव्योर्भवने इति । (एवमित्यादि) महाहिमवति महापद्मो, रुक्मिणि तु महापौण्डरीकः, तौ च हिमवद्ध्रदाऽऽयामौ तदर्द्धविष्कम्भौ द्वियोजनमानपद्मयामवन्तौ । तयोर्देवते परिवसतः । महापद्मे ह्रीः, पौण्डरीके बुद्धिरिति । (एवमित्यादि) निषधे तिगिच्छिह्रदे धृतिर्देवता, नीलवति केसरिह्रदे कीर्तिर्देवता । तौ च ह्रदौ चतुर्द्विमहह्रदाऽऽयामविष्कम्भाविति । भवति चात्र गाथा-"एएसु सुरवहूओ, वसंति पलिओवमट्ठिईआओ । सिरिहिरिधीकित्तीओ, बुद्धीलच्छीसमाणाओ ॥१॥ " इति । स्था० २ ठा० ३ उ० । द्वारवत्यां बलदेवस्य राज्ञः रेवत्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, नि० । स चारिष्टनेमितीर्थकरानगारस्य वरदत्ताभिधानस्यान्तिके प्रव्रज्याऽनशनेन मृत्वा देवलोके उत्पन्नः , ततश्च्युत्वा महाविदेहे वर्षे सेत्स्यतीति निरयावलिकाऽन्तर्गतवृष्णिदशानां तृतीयेऽध्ययने सूचितम । नि० १ श्रु० ४ वर्ग १० अ० ।

जंबू ! मंदरस्स दाहिणेणं तओ महाद्दहा पण्णत्ता । तं जहा-पउमद्दहे, महापउमद्दहे, तिगिच्छिद्दहे । तत्थ णं तओ देवयाओ महिड्डियाओ० जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति । तं जहा-सिरी, हिरी, धिई । एवं उत्तरेण वि, णवरं केसरि-

दहे महापोंडरीयदहे पोंडरीयदहे देवयाओ-कित्ती, बुद्धी, लच्छी । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

षष्ठे स्थाने-

जंबुद्दीवे दीवे छ महद्दहा पएणत्ता । तं जहा-पउमदहे, महापउमदहे, तिगिच्छिद्दहे, केसरिद्दहे, पुंडरीयदहे, महापुंडरीयदहे । तत्थ णं छ देवयाओ महिड्डियाओ०जाव पलिओवमट्ठिईया परिवसंति । तं जहा-सिरि, हिरि, धिइ, कित्ती, बुद्धी, लच्छी । स्था० ६ ठा० ।

सव्वे वि णं महद्दहा दस जोयणाइं उव्वेहेणं पएणत्ता । स्था० ।

दहगलण-ह्रदगलन-न० । ह्रदस्य मध्ये मत्स्याऽऽदिग्रहणार्थं भ्रमणे, जलनिःसारणे च । विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

दहण-दहन-पुं० । दह-ल्युट् । दहतीति दहनः । अग्नौ, विशे० । आ० चू० । ज्वालाभिर्भस्मीकरणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । कृत्तिकानक्षत्रे, दहनः कृत्तिकाया देवता । स्था० २ ठा० ३ उ० पाटलिपुत्रनगरवास्तव्यस्य हुताशननाम्नः श्रावकस्य ज्वलनशिखायां भार्यायां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, आ०क० । चित्रकवृक्षे, भल्लातके, दुष्टचेतसि च । भावे ल्युट् । दाहे, वाच० ।

दहणसील-दहनशील-पुं० । ज्वालनस्वभावे, तं० । " पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या, शठं च मित्रं चपलं कलत्रम् । विलासकालेऽपि दरिद्रता च,विनाऽग्निना पञ्च दहन्ति देहम् ॥१॥"तं० ।

दहप्पवहण-ह्रदप्रवहण-न० । ह्रदजलस्य प्रकृष्टे वहने, विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

दहफुल्लिया-ह्रदफुल्लिका-स्त्री० । वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दहबल-दशबल-पुं० । 'दसबल' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

दहमद्दण-ह्रदमर्दन-ह्रदस्य मध्ये पौनःपुन्येन परिभ्रमणे, जले निःसारिते पङ्कमर्दने च । विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

दहमदल-ह्रदमर्दल-न० । 'दहमद्दण' शब्दार्थे, विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

दहमह-ह्रदमख-ह्रदस्य विशिष्टे काले पूजायाम, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

दहमहण-ह्रदमथन-न० । ह्रदजलस्य तरुशाखाभिर्विलोडने, विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

दहमुह-दशमुख-पुं० । " दशपाषाणे हः " ॥ ८ । १ । २६२ ॥ इति शकारस्य वैकल्पिको हकारः । 'दहमुहो । दसमुहो ।' रावणे, प्रा० १ पाद ।

दहवई-ह्रदवती-स्त्री० । " दो दहवईओ । " स्था० २ ठा० ३ उ० । 'दहावई' शब्दार्थे, स्था० ६ ठा० ।

दहवहण-ह्रदवहन-न० । स्वत एव ह्रदाज्जलनिर्गमे, विपा० २ श्रु० ८ अ० ।

दहवोल्ली-स्त्री० । देशी- स्थालयाम, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दहावई-ह्रदावती-स्त्री० । ह्रदा अगाधजलाऽऽशयाः सन्त्यस्यामिति ह्रदावती । जं० ४ वक्ष० । जम्बूद्वीपे मेरोः पूर्वस्यां दिशि शीताया महानद्याः दक्षिणतः सकृतायामन्तर्नद्याम, स्था० ६ ठा० ।

तस्स णं दहावईकुंडस्स दाहिणेणं तोरणेणं दहावई महाणई पवूढा समाणी कच्छावई आवत्ते विजए दुहा वि भयमाणा भयमाणी दाहिणेणं सीआ महाणई समप्पेइ । सेसं जहा गाहावईए । जं ४ वक्ष० ।

दहावईकुंड-ह्रदावतीकुण्ड-न० । ह्रदावतीनाम्न्या अन्तर्नद्या उद्गमकुण्डे, जं० ।

कहि णं भंते ! महाविदेहे वासे दहावईकुंडे णामं कुंडे पएणत्ते ?। गोयमा ! आवत्तस्स विजयस्स पच्चच्छिमेणं कच्छगावईए विजयस्स पुरच्छिमेणं णीलवंतस्स दाहिणिल्ले णितंबे एत्थ णं महाविदेहे वासे दहावईकुंडे णामं कुंडे पएणत्ते । सेसं जहा गाहावईकुंडस्स ०जाव अट्ठो ।

ह्रदावतीकुण्डं प्रकृतम् । शेषं यथा ग्राहावतीकुण्डस्य रूपाख्यानं ग्राहावतीद्वीपपरिमाणभवनवर्णकनामार्थकथनप्रमुखं तथा ज्ञेयं, नवरं ह्रदावतीद्वीपो ह्रदावतीति नामार्थः समधिगम्यः, ह्रदा अगाधजलाऽऽशयाः सन्त्यस्यामिति ह्रदावती । साधनिका प्राग्वत् । जं ४ वक्ष० ।

दहि-दधि-न० । दध-इन् । दुग्धविकृतिभेदे, प्रव० ४ द्वार । औ० । दश० । प्रज्ञा० । स्था० । प्रश्न० । दधिनवनीतघृतानि चत्वार्येव गवादिसम्बन्धीनि, यस्माद्दुष्ट्रीणां तानि दध्यादीनि न भवन्ति । पं० व० २ द्वार । आ० चू० । आव० । स्था० । दिनद्वयातीते दध्न्यपि जीवसंसक्तिर्यथा-" जइ मुग्गमासमाई, विदलं कच्चम्मि गोरसे पडइ । ता तसजीवुप्पत्तिं, भणंति दहिए वि दुदिणुवरिं ॥ १ ॥ " हारिभद्रदशवैकालिकवृत्तावपि-" रसजास्तक्रारनालदधितीमनाऽऽदिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्तीति । " " दध्यहर्द्वितयातीतम् । " इति हैममपि वचः । ध० २ अधि० । आचा० । वस्त्रे च, धा-कि-द्वित्वम् । धारणकर्त्तरि, त्रि० । वाच० । " पदयोः सन्धिर्वा " ॥ ८।१।५ ॥ इति सन्धिविकल्पः " दहि ईसरो । दहीसरो ।" प्रा० १ पाद । "दहिघणगरयचंदकुंदयासंतियमुत्तलआच्छिद्दविमलदसणा ।" जी० ३ प्रति० ४ उ० । निर्विकृतिकदुग्धजं दधि निर्विकृतिकं, विकृतिर्वेति प्रश्ने, उत्तरम्-पर्वविधदुग्धजं दध्यपि निर्विकृतिकं स्यात्, परं प्रसङ्गपरम्पराशैथिल्यात्र ग्राह्यमिति वृद्धसंप्रदायः । १०७ प्र० । सेन० २ उल्ला० । षोडशप्रहरानन्तरं दध्यभक्ष्यं स्यात्, द्वादशप्रहरानन्तरं वेति व्यक्त्या प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-"आमगोरससंपृक्तं, द्विदलं पुष्पितौदनम् । दध्यहर्द्वितयातीतं, क्वथिताऽन्नं च वर्जयेत् " ॥ १ ॥ इति योगशास्त्रतृतीयप्रकाशे । एतद्व्याख्यालेशो यथा । इह हि इयं स्थितिः-कश्चिद्भावो हेतुगम्येषु त्वागममात्रं प्रतिपादयन् आज्ञाविराधकः स्यादित्यामगोरससंपृक्तद्विदलाऽऽदौ न हेतुगम्यो जीवसद्भावः, किं त्वागमगम्य एव । तथाहि-"आमगोरससंपृक्ते द्विदले,"आदिशब्दात् पुष्पितौदने, अहर्द्वितयातीते च दधि, क्वथितान्ने च ये जन्तवस्ते केवलज्ञानिभिर्दृष्टा इत्यामगोरसद्विदलाऽऽदिभोजनं वर्जयेदिति, तद्भोजनात् द्विप्राणातिपातलक्षणो दोषः स्यादिति । अहर्द्वितया-

तीतमिति कोऽर्थः?,दिनद्वयातिक्रमेऽभक्ष्यस्य दिवसग्रहणेन रात्रिग्रहणं सीमागतमेव,यथा-त्रिंशद्दिनैर्मासः, पञ्चदशदिनैः पक्ष इत्यर्थः। एतावता रात्रिद्वयातिक्रमे द्वादशाऽऽदिप्रहरातिक्रान्तं दध्यभक्ष्यं, यदा प्रथमदिवसे प्रभाते मेलितं तदा षोडशप्रहरानन्तरमेवाभक्ष्यं भवति , परं षोडशप्रहरनियमो नेति संभाव्यत इति । यतः पूर्वदिने संध्यायां मेलितं द्वादशप्रहरानन्तरमभ्यभक्ष्यं भवतीति । ए३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

दहिउप्फ–न० । देशी–नवनीते, दे० ना० ५ वर्ग ३५ गाथा ।

दहिघण–दधिघन–पुं० । दधिपिण्डे, जं० १ वक्ष० । प्रज्ञा० । जी० । रा० ।

दहिट्ठ–पुं० । देशी–कपित्थे, दे० ना० ५ वर्ग ३५ गाथा ।

दहित्थार–पुं० । देशी–दधिसरे, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दहिमुहपव्वय–दधिमुखपर्वत–पुं० । पर्वतभेदे, स्था० । दधिवत् श्वेतं मुखं शिरो रजतमयत्वाद् येषां ते दधिमुखाः । उक्तं च–"संखदलविमलनिम्मल–दहिघणगोखीरहारसंकासा । गगणतलमणुलिहंता, सोहंत दधिमुहा रम्मा " ॥ १ ॥ इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । नन्दीश्वरद्वीपेऽञ्जनपर्वतानां प्रत्येकं चतुर्दिक्षु पुष्करिणीनां मध्यभागस्थेषु स्वनामख्यातेषु पर्वतेषु, स० ।

सव्वे वि णं दहिमुहा पव्वया पल्लासंठाणसंठिया सव्वत्थ समा विक्खंभुस्सेहेणं चउसट्ठिं चउसट्ठिं जोयणसहस्साइं पण्णत्ता ।

(सव्वे वि णमित्यादि) इतोऽष्टमे नन्दीश्वराऽऽख्ये द्वीपे पूर्वाऽऽदिषु दिक्षु चत्वारोऽञ्जनकपर्वता भवन्ति, तेषां च प्रत्येकं चतसृषु दिक्षु चतस्रः पुष्करिण्यो भवन्ति , तासां च मध्यभागेषु प्रत्येकं दधिमुखपर्वता भवन्ति,ते च षोडश पल्यकसंस्थानसंस्थिताः समानाः सर्वत्र समा विष्कम्भेण मूलाऽऽदिषु दशसहस्रविष्कम्भत्वात्तेषाम् । क्वचित्तु-"विक्खंभुस्सेहेणं" इति पाठः,तत्र तृतीयैकवचनलोपदर्शनाद्विष्कम्भेणेति व्याख्येयम । तथा-उत्सेधेनोच्चत्वेन चतुष्षष्टिरिति । स० ६४ सम० । (अस्य वर्णकस्तु ' अंजणग ' शब्दे प्रथमभागे ४८ पृष्ठे उक्तः)

दहिवण्ण–दधिपर्ण–पुं० । वृक्षभेदे, स्था० १० ठा० । प्रज्ञा० । स० । औ० । ति० । रा० ।

दहिवासुया–दधिवासुका–स्त्री० । वनस्पतिविशेषे, जी० । " दहिवासुयामंडवगे । " दधिवासुका नाम वनस्पतिविशेषः, तन्मया मण्डपका दधिवासुकामण्डपकाः । जी० ३ प्रति० ४ उ० । जं० । रा० ।

दहिवाहण–दधिवाहन–पुं० । चेटकमहाराजदुहितुः पद्मावत्याः पत्यौ चम्पाराजे, आ० क० । आ० चू० । स च स्वभार्यया पद्मावत्या सह दोहदपूरणार्थमुद्यानभूमिकां गतः, तत्र मत्तेन हस्तिना उत्पथमानीतो गृहं प्रत्यावृत्तः,पद्मावती तु वने हृता प्रव्रजिता च पुत्रमेकं जनयित्वा मातङ्गेषु अक्षिपत्, स च करकण्डुनामा क्रमेण राजा भूत्वा एकस्मै ब्राह्मणाय ग्रामदानार्थं दधिवाहनं प्रयोद्धुं युयुत्सुः स्वमात्रा पद्मावत्या निवारितः,क्रमेण प्राव्राजीत्, दधिवाहनोऽपि प्रव्रजितः । आ० क० । आ० चू० । आव० । ती० । उत्त० । (इयं कथा ' करकंडु ' शब्दे तृतीयभागे ३५७ पृष्ठे उक्ता)

दहिव्वय–दधिव्रत–पुं० । न दध्यत्ति दधिव्रतः । दधिप्रत्याख्यानवति, आव० ४ अ० । ' पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः । " रत्ना० ।

दा–दा–धा० । जुहो०–उभ०–सक०–सेट् । दाने, वाच० । " स्वराणां स्वराः ॥ ८ । ४ । २३८ ॥ " इति दाधातोराकारस्यैकारः । "देइ । दाइ । " प्रा० ४ पाद ।

दाअ–पुं० । देशी–प्रतिभुवि, दे० ना० ५ वर्ग ३८ गाथा ।

दाइ–दाइ–अव्य० । अभिप्रायाभिदर्शने, नि० चू० २ उ० ।

दाइज्जमाण–दर्श्यमाण–पुं० । चक्षुषा प्रत्यक्षं कार्यमाणे वस्तुनि, कल्प० ५ क्षण ।

दाइय–दायाद–पुं० । पुत्राऽऽदिषु, भ० ९ श० ३३ उ० । दायिक–पुं० । गोत्रिके, कल्प० ५ क्षण । " दायिकमुनमाणिक्यः, प्रेरितवानस्मदादिजनान् ।" भ०४१ श० १९ उ० ।

दाइया–दारिका–स्त्री० । बालिकायाम, आ० म० १ अ० २ खण्ड । "एवं परिवाडीए सुंदरी दाइया ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दाउं–दातुं–अव्य० । सकृद्दानं कर्तुमित्यर्थे, उपा० १ अ० । " दाउं वा अणुप्पदाउं वा रायाभिओगेण ।" प्रति० ।

दाकलस–उदककलश–पुं० । लघुतरघटे, भ० १५ श० ।

दाकुंभ–उदककुम्भ–पुं० । महाघटे, भ० १५ श० ।

दाघ–दाह–पुं० । ' दाह ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

दाडिम–दाडिम–न० । " डो लः ॥ ८ । १ । २०२ ॥" स्वरात् परस्यासंयुक्तस्यानादेर्डस्य प्रायो लुग् भवति । ' दालिम । दाडिम । ' वाच० । जी० । आ० । आचा० । ज्ञा० ओघ० । रा० ।

दाडिमपुप्फप्पगासपीवरधरा–दाडिमपुष्पप्रकाशपीवराधरा–स्त्री० । दाडिमपुष्पप्रकाशः पीवरः प्रवरः सुभगोऽधरो यासां ता दाडिमपुष्पप्रकाशपीवराधराः । सुन्दराधरोष्ठासु योषित्सु, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

दाढा–दंष्ट्रा–स्त्री० " दंष्ट्राया दाढा " ॥ ८ । २ । १३९ ॥ दंष्ट्राशब्दस्य 'दाढा 'इत्यादेशो भवति । प्रा० २ पाद । दशनविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । आव० । "वराहं दाढाए" अनु० । दंष्ट्रार्थं वराहाऽऽदयो व्यापाद्यन्ते । आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

दाढिकालि–दंष्ट्रिकाऽऽवलि–स्त्री० । यमलक–तुल्यवस्तूनां पङ्क्तौ, व्य०, ज्ञात० । यथा मनुष्यमध्ये धर्मलितो मयरत्नपाङ्क्तिरूपा दाढिकाऽऽलिर्दंष्ट्रिकावलिर्निरीक्ष्यते,एवं धौतपातिकाऽपि द्विजस्यक्षस्तदाशरपरिधानरूपा दृश्यमाना दाढिकालिरिव प्रतिभातीति कृत्वा दाढिकालिरुच्यते । बृ० ३ उ० ।

दाढिगालि–दंष्ट्रिकाऽऽवलि–स्त्री० । 'दाढिकालि' शब्दार्थे,ज्ञात० ।

दाढिया–दंष्ट्रिका–स्त्री० । उत्तरोष्ठकेशगुच्छे दशनविशेषे, ओष्ठस्याधोभागे च । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । न० । विंशतिदंष्ट्राशालिनि. त्रि० । अनु० ।

दाढियालि दंष्ट्रिकाऽऽवलि–स्त्री० । 'दाढिकालि' शब्दार्थे, ज्ञात० ।

दाढुड्डिय–दंष्ट्रोद्धृत–त्रि० । उत्खातदंष्ट्रे, दश० १ चू० ।

दाण–दान–न० । दा–भावे ल्युट् । वितरणे, प्रश्न० ६ द्वार । पञ्चा० । प्रश्न० । लब्धस्याऽन्नाऽऽदेर्ग्लानाऽऽदिभ्यो वितरणे, प्रश्न० ३ संव० द्वार । अशनाऽऽदिप्रदाने, आव० ४ अ० । स्वपरानुग्रहार्थमर्थिने दीयत इति दानम् । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । उत्त० । कल्प० । कर्म० । याचकाभीप्सितार्थे धने, कल्प० ५ क्षण । उत्त० । "दानेन महाभोगो, देहिनां सुरगतिश्च शीलेन । भावनया च विमुक्ति-स्तपसा सर्वाणि सिद्ध्यन्ति " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

" दाणं च तत्थ तिविहं, नाणपयाणं च अभयदाणं च ।
धम्मोवग्गहदाणं, च नाणदाणं इमं तत्थ ॥ ९२ ॥ "
" सरिसे वि मणुयजम्मे, पयं सयलं पि केइ कयपुन्ना ।
जं जाणंति जए तं, सुनाणदाणप्पभावेण ॥ ९४ ॥
दितो य नाणदाणं, भुवणं जिणसासणं समुद्धरइ ।
सिरिपुंडरीयगणहर, इव पावइ परमपयमउलं ॥ ९५ ॥
ता दायव्वं नाणं, अणुसरियव्वा सुनाणिणो मुणिणो ।
नाणस्स सया भत्ती, कायव्वा कुसलकामेहिं ॥ ९६ ॥
बीयं तु अभयदाणं, तं इह अभएण सयलजीवाणं ।
अभउ त्ति धम्ममूलं, दयाइधम्मो पसिद्धमिणं ॥ ९७ ॥
इक्कं चिय अभयपया–णमित्थ दाऊण सव्वसत्ताणं ।
घज्जालह व्व कमसो, सिज्झंति पहीणजरमरणा ॥ ९८ ॥
नाऊण इमं भयवं–कयाण जीवाण सरणरहियाणं ।
साहीणं दायव्वं, भविएहिं अभयदाणमिणं ॥ ९९ ॥
धम्मोवग्गहदाणं, तइयं पुण असणवसणमाईणि ।
आरंभनियत्ताणं, साहूणं हुंति देयाणि ॥ १०० ॥
तित्थयरचक्कवट्टी, बलदेवा वासुदेवमंडलिया ।
जायंति जगब्भहिया, सुपत्तदाणप्पभावेण ॥ १०१ ॥
जह भयवं रिसहजिणो, घयदाणबलेण सयलजयनाहो ।
जाओ जह नरहवई, भरहो मुणिभत्तदाणेण ॥ १०२ ॥

अवि य–

दंसणमित्तेण वि मुणि–वराण नासेइ दिणकयं पावं ।
जो देइ ताण दाणं, तेण जए किं न सुविढत्तं ? ॥ १०३ ॥
तं सुपवित्तं भवणं, मुणिणो विहरंति जत्थ समभावा ।
न कया वि साहुरहिओ, जिणधम्मो पायडो होइ ॥ १०४ ॥
ता तेसिं दायव्वं, सुद्धं दाणं गिहीहिँ जत्तेण ।
अणुकंपोचियदाणं, दायव्वं निययसत्तीए ॥ १०५ ॥

किं च–

न तवो सुट्ठु गिहीणं, विसयाऽऽसत्ताण होइ न हु सीलं ।
सारंभाण न भावो, तो साहीणं सया दाणं ॥ १०६ ॥
इय तिविहं पि हु दाणं, नरवर ! संखेवओ तुहऽक्खायं ।
विरयरियसिवसुहसीलं, संपइ सीलं निसामेसु ॥ १०७ ॥
ध० र० (७०) ।

दाणफलं सवितूणं, लावावे तु गिहिअन्नतित्थीहिं ।
जो पादं उप्पाए, लवंगविद्धं तु तं होति ॥ २०८ ॥

दाणफलं अप्पणा कहेति, गिहिअन्नतित्थिएहिं वा कहावेत्ता जो पादं उप्पादेति, एयं लवंगविद्धं भण्णति ।

तस्सिमे विहाणा–

लोइय लोउत्तरियं, दाणफलं तु दुविधं समासेण ।

लोइयऽणेगविधं पुण, लोउत्तरियं इमं तत्थ ॥ २०९ ॥

समासतो दुविहं दाणफलं–लोइयं, लोउत्तरियं च । लोइयं अणेगविहं–गोदानं, भूमिदानं, हिरण्णदानं, अन्नप्रदानाऽऽदि । लोउत्तरियं इमं ।

गाहा–

असणे पाणे भेसज्ज–ज्जपत्तवत्थे य सेज्जसंथारे ।
भोज्जविहि पाणऽऽेगे, जायणभूसाविविहसयणा ॥ २१० ॥

पाणाऽऽदियाण सत्तण्हं पच्छद्धेणं जहासंखफला । असणदाणे भोज्जविही भवति, पानकदाने द्राक्षापानकविधी, भेसज्जदाणेण आरोग्गो, पत्तदाणेण भायणविधी, वत्थदाणेण विभूसणविधी, सेज्जादाणेण विविहा, संथारगदाणेण अनेगभोगंगादिसेज्जाविहाणा भवंति ।

संखेवओ वा फलं इमं–

अहवाऽवि समासेणं, साधूणं पीतिकारओ पुरिसो ।
इह य परत्थ य पावति, पीदाओ पीवरतराओ ॥ २११ ॥

अहवासद्दो विगप्पवाचगो । समासो संखेवो, साधूणं भत्तपाणेहिं पीतीतो उप्पादंतो इहलोए परलोए य पीवराओ पीतीओ पावति, पीवर प्रधानं, तरशब्दः आधिक्यतरकर्मवाचकः, सर्वजनाधिक्यतरा प्रीत्यः, प्राप्नोतीत्यर्थः । शेषं पूर्ववत्, णवरं–

एसेव गमो णियमा, दुविधा उवहिम्मि होति णायव्वो ।
पुव्वे अवरे य पदे, सेज्जाऽऽहारे वि य तहेव ॥ २१२ ॥

दुविहे उवकरणं–ओहिए, उवग्गहिए य । तस्सगावाएहिं एसेव गमो, सेज्जआहारेसु वि एसेव विही जाणियव्वो । नि० चू० २ उ० ।

दशविधं दानम्–

दसविहे दाणे पण्णत्ते । तं जहा–
"अणुकंपा संगहे चेवा–ऽभया कालुणिए ति य ।
लज्जाए गारवेणं च, अधम्मे पुण सत्तमे ॥ १ ॥
धम्मे य अट्ठमे वुत्ते, काहिइ य कयंति य । " स्था० १० ठा० ।

(अनुकम्पादानव्याख्या 'अणुकंपादाण' शब्दे प्रथमभागे ३६० पृष्ठे द्रष्टव्या) (संग्रहदानविस्तरः 'संगहदाण' शब्दे वक्ष्यते) (अभयदानव्याख्या ' अभयदाण ' शब्दे प्र० भागे ७०६ पृष्ठे प्रतिपादिता) (कारुणिकदानव्याख्या ' कालुणिय ' शब्दे तृतीयभागे ५०२ पृष्ठे द्रष्टव्या) (लज्जादानविस्तरः ' लज्जादाण ' शब्दे वक्ष्यते) (गौरवदानव्याख्या ' गारवदाण ' शब्दे तृतीयभागे ८७१ पृष्ठे द्रष्टव्या) (अधर्मदानव्याख्या ' अधम्मदाण ' शब्दे प्रथमभागे ५६८ पृष्ठे गता) (धर्मदानव्याख्यानम् ' धम्मदाण ' शब्दे वक्ष्यते) (करिष्यतिदानविस्तरस्तु ' काहीइदाण ' शब्दे तृतीयभागे ४०६ पृष्ठे द्रष्टव्यः) (कृतदानविषयः ' कयदाण ' शब्दे तृतीयभागे ३५४ पृष्ठे समुक्तः) १० ॥ शिष्येभ्यो विसर्जने, विशे० । (लोके दानप्रकारश्च प्रथममृषभस्वामिना प्रवर्तित इति ' उसह ' शब्दे द्वितीयभागे ११२७ पृष्ठे उक्तः) दाने लौकिका आहुः–" वारिदस्तृप्तिमाप्नोति, सुखमक्षय्यमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टा–मायुष्कमभयप्रदः " ॥ १ ॥ अत्र चैकमेव सुभाषितमभयप्रदानमिति, तुषमध्ये कणिकावत् ।

आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। " दाणाण सेट्ठं अभय-प्पयाणं । " (२३) सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । " मध्याह्नेऽर्चा तु सत्पात्र-दानपूर्वं तु भोजनम् । " (६५) सत्पात्रं साध्वादि, तस्मिन् दानपूर्वं दानं दत्त्वेत्यर्थः, भोजनमभ्यवहरणं, 'तुः' एवकारार्थः । ततः सत्पात्रदानपूर्वमेव भोजनमिति निष्कर्षः । (६५) ध० २ अधि० । (साधुभ्यो दानप्रकारः ' अहासंविभाग ' शब्दे प्रथमभागे ३२ पृष्ठे उक्तम)

इह तत्रानुक्तं तत्स्वरूपम्-

आहारवस्त्रपात्राऽऽदेः, प्रदानमतिथेर्मुदा ।
उदीरितं तदतिथि-संविभागव्रतं जिनैः ॥४०॥

अतिथेः साधोः, मुदा हर्षेण, गुरुत्वभक्त्यतिशयेन, न त्वनुकम्पाऽऽदिनेत्यर्थः । प्रदानम्-प्रकर्षेण मनोवाक्कायशुद्ध्या दानं वितरणम्। कस्य ?, आहारवस्त्रपात्राऽऽदेः, तत्राऽऽहाराऽशनाऽऽदिः चतुर्विधः, वस्त्रं प्रतीतम्, कम्बलो वा, पात्रं पतद्ग्रहाऽऽदि, आदिशब्दाद् वसतिपीठफलकशय्यासंस्तारकाऽऽदिग्रहणम्, अनेन हिरण्याऽऽदिदाननिषेधः, तेषां यतेरनधिकारित्वात् । तदतिथिसंविभागव्रतम् । जिनैः-अर्हद्भिः, उदीरितं प्रतिपादितम् । तत्र अतिथेः उक्तलक्षणस्य, सङ्गतः-आधाकर्माऽऽदिद्विचत्वारिंशद्दोषरहितो, विशिष्टो भागो विभागः पश्चात्कर्माऽऽदिदोषपरिहारायांशदानरूपोऽतिथिसंविभागः, तद्रूपं व्रतम् । अतिथिसंविभागव्रतमाहाराऽऽदीनां च न्यायार्जितानां प्रासुकैषणीयानां कल्पनीयानां च देशकालश्रद्धासत्कारक्रमपूर्वकमात्मानुग्रहबुद्ध्या यतिभ्यो दानमित्यर्थः । तत्र शाल्यादिनिष्पत्तिभागो देशः १, सुभिक्षदुर्भिक्षाऽऽदिः कालः २, विशुद्धश्चित्तपरिणामः श्रद्धा ३, अभ्युत्थानाऽऽसनदानवन्दनानुव्रजनाऽऽदिः सत्कारः ४, यथासंभवं पाकस्य पेयाऽऽदिपरिपाट्या प्रदानं क्रमः ५, तत्पूर्वकं देशकालाऽऽद्यौचित्येनेत्यर्थः । यदूचुः-" नायागयाणं कप्पणिज्जाणं अन्नपाणाईणं दव्वाण देसकालसद्धासक्कारकमजुत्तं पराए भत्तीए आयाणुग्गहबुद्धीए संजयाण दाणं अतिहिसंविभागो । "

अनूदितं चैतत् श्रीहेमसूरिभिः-

" प्रायः शुद्धैर्नाशविधिना प्रासुकैरेषणीयैः,
कल्पप्रायैः स्वयमुपहितैर्वस्तुभिः पानकाऽऽद्यैः ।
काले प्राप्तान् सदनमसमश्रद्धया साधुवर्गान्,
धन्याः केचित्परमविहिता हन्त ! संमानयन्ति ॥ १ ॥
अशनमखिलं खाद्यं स्वाद्यं भवेदथ पानकं,
यतिजनहितं वस्त्रं पात्रं सकम्बलप्रोञ्छनम् ।
वसतिफलकप्रस्थं मुख्यं चरित्रविवर्द्धनं,
निजकमनसः प्रीत्याधायि प्रदेयमुपासकैः ॥ २ ॥ "

तथा-

" साहूण कप्पणिज्जं, जं न वि दिन्नं कहिंचि किंचि तहिं ।
धीरा जहुत्तकारी, सुसावगा तं न भुंजंति ॥ ३ ॥
वसहीसयणाऽऽसणभ--त्तपाणभेसज्जवत्थपायाई ।
जइ वि न पज्जत्तधणो, थोवा वि हु थोवयं दिज्जा ॥ ४ ॥ "

वाचकमुख्यस्त्वाह-

" किञ्चित् शुद्धं कल्प्यमकल्प्यं, स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम् ।
पिण्डः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाऽऽद्यं वा ॥ १ ॥
देशं कालं पुरुषम-वस्थामुपयोगशुद्धिपरिणामान् ।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं, नैकान्तात् कल्पते कल्प्यम् ॥ २ ॥"

ननु यथा शास्त्रे आहारदातारः श्रूयन्ते, न तथा वस्त्राऽऽदिदातारः, न च वस्त्राऽऽदिदानस्य फलं श्रूयते, तत्र वस्त्राऽऽदिदानं युक्तम् । नैवम् । भगवत्यादौ वस्त्राऽऽदिदानस्य साक्षादुक्तत्वात् । यथा-" समणे निग्गंथे फासुयएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं पीढफलगसिज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणे विहरति । " इत्याहारवत्संयमाऽऽधारशरीरोपकारकत्वाद्वस्त्राऽऽदयोऽपि साधुभ्यो देयाः । ध० २ अधि० । पञ्चा० । (पोषधं पारयता श्रावकेण नियमात्साधुभ्यो दत्त्वा भोक्तव्यमिति, तद्विधिश्च ' पोसहपारणगविहि ' शब्दे वक्ष्यते)

काले देशे कल्प्यं, श्रद्धायुक्तेन शुद्धमनसा च ।
सत्कृत्य च दातव्यं, दानं प्रयताऽऽत्मना सद्भ्यः ॥ १ ॥ "

तथा-

" दानं सत्पुरुषेषु, स्वल्पमपि गुणाधिकेषु विनयेन ।
वटकणिकेव महान्तं, न्यग्रोधं सत्फलं कुरुते ॥ २ ॥
इत्यादि ।

"दुःखसमुद्रं प्राज्ञा-स्तरन्ति पात्रार्पितेन दानेन ।
लघुनेव मकरनिलयं, वणिजः सद्यानपात्रेण ॥ १ ॥ " आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

यदाह-

" पठति पाठयते पठतामसौ, वसनभोजनपुस्तकवस्तुभिः ।
प्रतिदिनं कुरुते य उपग्रहं, स इह सर्वविदेव भवेन्नरः ॥१॥ "

लिखितानां च पुस्तकानां संविग्नगीतार्थेभ्यो बहुमानपूर्वकं व्याख्यापनं, व्याख्यापनार्थं दानं, व्याख्यायमानानां च प्रतिदिनं पूजापूर्वकं श्रवणं चेति । साधूनां च जिनवचनानुसारेण सम्यक्त्वचारित्रमनुपालयतां दुर्लभं मनुष्यजन्म सफलं कुर्वतां स्वयं तीर्णानां परं तारयितुमुद्यतानामां तीर्थकरगणधरेभ्यः, आ च तद्दिनदीक्षितेभ्यः सामायिकसंयतेभ्यो यथोचितप्रतिपत्त्या स्वधनवपनं, यथा उपयुज्यमानस्य चतुर्विधाऽऽहारभेषजवस्त्राऽऽश्रयाऽऽदेर्दानम्, न हि तदस्ति यद्द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयाऽनुपकारकं नाम, तत्सर्वस्वस्याऽपि दानं, साधुधर्मोद्यतस्य स्वपुत्रपुत्र्यादेरपि समर्पणं च । ध० २ अधि० । जी० । स्था० । दशा० । (श्रमणेभ्योऽप्रासुकदानेनाल्पाऽऽयुः, प्रासुकदानेन दीर्घायुरिति 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे ११ पृष्ठे प्रतिपादितम्) "दानात्कीर्तिः सुधाशुभ्रा, दानात्सौभाग्यमुत्तमम् । दानात्कामार्थमोक्षाः स्युर्दानधर्मो वरस्ततः ॥ १ ॥ " पञ्चा० ४ विव० ।

" दानेन सत्त्वानि वशीभवन्ति,
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दाना-
त्तस्माद्धि दानं सततं प्रदेयम् ॥ १ ॥ " ध० र० ।

न्यायाऽऽत्तं स्वल्पमपि हि, भृत्यानुपरोधतो महादानम् ।
दीनतपस्व्यादौ गुर्वनुज्ञया दानमन्यत्तु ॥ १३ ॥

न्यायाऽऽत्तं ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राणां स्वजातिविहितव्यापारोपात्तम्, स्वल्पमपि हि स्तोकमपि हि, भृत्यानुपरोधतो भृत्यानुपरोधेन पोष्यवर्गाविघातेन, महादानं विशिष्टदानम्, दीनतपस्व्यादौ विषये, गुर्वनुज्ञया पित्रादिकुलपुरुषानुज्ञया, यदेवंविशेषणं तन्महादानम् । दानमन्यत्तु न्यायाऽनुपात्तमृत्याद्युप-

शोधाऽऽदिना विपर्ययेण दीयमानमन्यत् पुनर्दानमेव भवति ॥ १३ ॥ षो० ५ विव० ।

माऽऽतुरापथ्यतुल्यं य-द्दानं तदपि चेष्यते ।
पात्रे दीनाऽऽदिवर्गे च, पोष्यवर्गाऽविरोधतः ॥ ११ ॥

यत् आतुरापथ्यतुल्यं ज्वराऽऽदिरोगाविधुरस्य घृताऽऽदिदानसदृशं मुशलाऽऽदिदानं दायकग्राहकयोरपकारि न भवति, तद्दानमपि चेष्यते । पात्रे दीनाऽऽदिवर्गे च,पोष्यवर्गस्य मातापित्रादिपोषणीयलोकस्याऽविरोधतो वृत्तेरनुच्छेदात् ॥ ११ ॥

लिङ्गिकृपणाऽऽद्याः पात्रम्-

लिङ्गिनः पात्रमपचाः,विशिष्य स्वक्रियाकृताः ।
दीनान्धकृपणाऽऽदीनां, वर्गः कार्यान्तराक्षमः ॥ १२ ॥

(लिङ्गिन इति) लिङ्गिनो व्रतसूचकतथाविधनेपथ्यवन्तः सामान्यतः पात्रमादिधार्मिकस्य । विशिष्य विशेषतोऽपचाः स्वयमपाचकाः, उपलक्षणात्परैरपाचयितारः, पच्यमानाननुमन्तारश्च । स्वक्रियाकृतः स्वशास्त्रोक्तानुष्ठानाप्रमत्ताः । तदुक्तम्-" व्रतस्था लिङ्गिनः पात्र-मपचास्तु विशेषतः । स्वसिद्धान्ताविरोधेन, वर्तन्ते ये सदैव हि ॥१॥ " दीनान्धकृपणाऽऽदीनां वर्गः समुदायः, कार्यान्तराक्षमो भिक्षाऽतिरिक्तनिर्वाहहेतुव्यापारासमर्थः । यत उक्तम्-" दीनान्धकृपणा ये तु, व्याधिग्रस्ता विशेषतः । निःस्वाः क्रियाऽन्तराशक्ता,एतद्वर्गो हि मीलकः ॥ १ ॥ " इति । दीनाः क्षीणसकलपुरुषार्थशक्तयः, अन्धा नयनरहिताः, कृपणाः स्वभावत एव सतां कृपास्थानम्, व्याधिग्रस्ताः कुष्ठाऽऽद्यभिभूताः, निःस्वा निर्धनाः ॥ १२ ॥ द्वा० १२ द्वा० । यो० बि० ।

अथ दाने कृतपुण्यकथा-

" शालिग्राम इति ग्राम-स्तत्रैका स्थविराऽभवत् ।
तत्पुत्रो वत्सपालोऽभूत्, सोऽन्यदा पायसोत्सवे ॥ १ ॥
दृष्ट्वा पायसमश्नन्ति, डिम्भरूपाणि सोऽपि च ।
ऊचे मातर्ममाप्यद्य-मद्य राध्नुहि पायसम् ॥ २ ॥
नास्ति यत्किञ्चित्यरोदीत्सा-ऽपृच्छन्नुपगृह्य स्त्रियः ।
निर्बन्धेऽकथयत्ताश्च, कृपया सर्वमार्पयन् ॥ ३ ॥
तयाऽथ पायसं रद्धा, सुतस्य परिवेषितम् ।
स्थाविराऽन्तर्गता साधुरागतो मासपारणे ॥ ४ ॥
तत्र्यंशं स ददौ साधो र्ध्यौ स्तोकमिदं ततः ।
द्वितीयकं ददौ ऽयंशं, पुनश्चिन्तयति स्म सः ॥ ५ ॥
शेषस्यास्याऽपरः किञ्चि-स्तदेतद्विनङ्क्ष्यति ।
तृतीयमप्यदात्ऽयंशं, स्वर्गस्तेनार्जितस्तदा ॥ ६ ॥
ज्ञात्वाऽम्बा जेमितं भूयः, क्षैरेयाऽभृत भाजनम् ।
आकण्ठं बुभुजे ! सोऽथ, विसूच्या मृतवान्निशि ॥ ७ ॥
गतः स्वर्गं ततश्च्युत्वाऽ-त्रैव राजगृहे पुरे ।
श्रेणिको यत्र राजेन्दुरभयो मन्त्रिपुङ्गवः ॥ ८ ॥
महाजनस्य मुख्योऽभूत्, तत्र श्रेष्ठी धनावहः ।
यद्द्रव्यसंख्या नाज्ञायि, बिन्दुसंख्येव वारिधेः ॥ ९ ॥
तस्य तस्योत्तमकुला, भद्रा तस्याऽऽसीत्प्रिया ।
स तस्योदरे जीवः, सुतत्वेनावतीर्णवान् ॥ १० ॥
कृतपुण्योऽयमात्मेति, तत्रोचे गर्भगे जनः ।
कृतपुण्याभिधश्चक्रे, जन्मतो द्वादशाह्नि सः ॥ ११ ॥
वर्द्धमानः पाठयोग्यो, ग्राहितः सकलाः कलाः ।
विवाहितस्ततो मात्रा, क्षिप्तो दुर्ललितेषु सः ॥ १२ ॥
तैः प्रावेशि स वेश्यौक-स्तत्राऽस्थाद् द्वादशाब्दिकाम् ।
पिता मृतोऽपि नाज्ञायि, मात्रा मा भूत्सुतोऽसुखी ॥ १३ ॥
वित्तमानायितं नित्यं, प्रेषयत्पुत्रवत्सला ।
मृत्यौ तस्याः स्नुषाऽप्येवं, स्वप्रियप्रीतये व्यधात् ॥ १४ ॥
नाश्नेऽथ धने कृत्स्ने, वेश्याहस्ते तदङ्गना ।
निजमाभरणं प्रैषी-द्विवेदाऽक्काऽथ निःस्वताम् ॥ १५ ॥
सदीनारसहस्रं त-त्तस्याः प्रत्यर्पितं तया ।
अथाऽक्कया सुताऽज्ञायि, निःस्वो निःसार्यतामयम् ॥ १६ ॥
स नैच्छदथ धक्कित्वा, गृहमार्जनदम्भतः ।
उत्तारितोऽथ धम्मिल्ल-मूचे दास्या स्थितोऽसि किम्? ॥ १७ ॥
अशृङ्गपशुरेवासि, निरस्तोऽपि न यासि यत् ।
सोऽथ दध्यौ कथायोक्तो, धिग्वेश्याविश्वस्तोऽस्म्यहम् ॥ १८ ॥
गृहवर्त्माऽविदन् पृष्ठ-न्नूचे तैः क्वाऽस्ति तद्गृहम् ? ।
वेश्याऽऽसक्तस्त्वत्सुतोऽभू-त्ततः सर्वं क्षयं गतम् ॥ १९ ॥
ततः कथञ्चिद् ज्ञात्वाऽगा-ज्जीर्णे शीर्णे निजे गृहे ।
भार्या च सहसोत्थाय, कुलीना विनयं व्यधात् ॥ २० ॥
लज्जितो विनयात्तस्याः, मातापित्रोश्च शोकतः ।
सर्वस्वहरणाच्चाभूद्, दुःखरत्नत्रयाधिपः ॥ २१ ॥
तदेकजीविता साऽपि, गणिकाऽगात्तदन्तिके ।
तं शोकदुःखचिन्ताऽऽर्त्तं, प्रिया प्रोवाचमब्रवीत् ॥ २२ ॥
अक्काटङ्कसहस्रं तं, निजान्याभरणानि च ।
पुरो विमुच्य हे भर्तः !,नीवीयं तत्पणाय्यताम् ॥२३॥(युग्मम्)
मासमेकं स तत्राप्या-त्प्रियाविनयरञ्जितः ।
ततः साऽऽपन्नसत्त्वाऽभूत्, शुक्तिवद् मौक्तिकोदरा ॥ २४ ॥
सार्थेऽथ प्रस्थितेऽचालीद्, मुक्त्वा तत्सत्कृते धनम् ।
कृतपुण्यः पुण्यधनो, धनोपार्जनहेतवे ॥ २५ ॥
उपदेवकुलं सार्थ-मध्ये पल्यङ्कगं निशि ।
प्रियं विमुच्य भार्ये तं, वपुषेव गृहं गते ॥ २६ ॥
श्रेष्ठिन्या चैकया तत्र, भिन्नः पोतः सुतो मृतः ।
श्रुत्वेत्यचिन्त्यपुत्रत्वा-न्मा गाद्राजकुले धनम् ॥ २७ ॥
नाऽऽरोदयत्स्वाऽरोदी-त्तां वार्तामप्यवारयत् ।
वार्त्ताकृतो धनं दत्त्वा, सोचे माऽऽख्य इह कश्चित् ॥ २८ ॥
चतस्रोऽपि स्नुषाश्चोक्ताः, कश्चिदानीयते पुमान् ।
स्युर्युष्माकं यथा पुत्राः, गृहसर्वस्वरक्षकाः ॥ २९ ॥
ऊचुस्ताः किमिदं श्वश्रु !, युज्यते सा जगाद ताः ।
अकार्यमपि कार्येण, क्रियते नास्ति दूषणम् ॥ ३० ॥
साऽथागात् सस्नुषा सार्थे, कृतपुण्यं विलोक्य तम् ।
सर्वाः सतल्पमुत्पाट्य, सुतं स्वगृहमानयन् ॥ ३१ ॥
वृद्धा जागरिते तस्मिन्-अन्यथात्कपटे पटुः ।
कुलदेवतया नीतो, वत्स ! त्वमासि मे सुतः ॥ ३२ ॥
एताश्च तत्सुते कान्ताः, कान्त्याऽपास्तसुराङ्गनाः ।
सौधं जिनविमानाभं, भुङ्क्ष्व भोगान् यथासुखम् ॥३३॥
कृतपुण्योऽखिलं वीक्ष्य, वृद्धोक्तं दध्यिवानिति ।
किमेतत्कुलचिन्ताऽऽदौ-ऽत्र भोगानुपस्थितान् ॥३४॥
तत्र द्वादशभिर्वर्षैः, क्रीडन् स्वे वेश्मनीव सः ।
सर्वासामपि पत्नीनां, पुत्रान् त्रिंशतमजीजनत् ॥३५॥
इतस्तत्परिणीतायाः, गुर्व्याः पत्न्याः सुतोऽभवत् ।
सोऽप्येकादशवर्षोऽस्ति, पठन् पण्डितसन्निधौ ॥३६॥
द्वादशाब्द्या स पत्राऽऽगा-त्सार्थस्तत्रैव चावसत् ।

ऊचे स्नुषाः पुनः श्वश्रू-र्नीत्वाऽसौ तत्र मुच्यताम् ॥३७॥
कश्चिदेऽथ स्नुषा नैतद्, युज्यते श्वश्रु ! साऽवदत् ।
यूयं जाताः सपुत्रिण्यः, कार्यं किमधुनाऽमुना ? ॥३८॥
अकृत्यमपि कार्यं किं, कृत्वा पश्चान्न मुच्यते ?।
अनर्घ्यं भुक्तमस्माभ्यां, तत्किं भवत्वं सदैव तत् ?॥३९॥
दुग्धभ्रान्त्या चन्द्रकान्तां, पायित्वा स शायितः ।
तत्कान्ताभिः शम्बलार्थं, मोदका रत्नगर्भिताः ॥४०॥
तस्याक्रियन्त खट्वेन, मुक्ता उच्छीर्षके च ते ।
अथोत्पाट्य यथा नीतो, मुक्तस्तत्र तथैव सः ॥४१॥
प्रबुद्धोऽचिन्तयच्चाव-स्ततः कथमिहागमम् ?।
तावत्तत्राऽऽगते पत्न्यौ, तथैव तमपश्यताम् ॥४२॥
ताभ्यामूचेऽथ किं नाथ !, द्योऽनोऽकार्षीर्नाऽऽगतम् ।
मार्गच्छाया न काऽप्यत्र, दृश्यतेऽङ्कुषु येन वा (?) ॥४३॥
ददौ शून्यात् स हुङ्कारान्, धृष्टोऽहमिति चिन्तयन् ।
अथोत्थाय ययौ गेहं, प्रियाऽऽसत्तलशम्बलः ॥४४॥
आययौ लेखशालायाः, पितरि क्षान्ति चाऽऽत्मजः ।
तस्यादादुद्दतो वश्या, शम्बलान्मोदकं करे ॥४५॥
सोऽश्नन्ययौ बहिस्तास्तं, तत्र रत्नं विलोक्य च ।
आर्पयत्कान्दविकस्य, प्रत्यहं मोदकाऽऽप्तये ॥४६॥
जलान्तःक्षेपणाद् ज्ञानं, जलकान्तं च तेन तत् ।
भुञ्जाना मोदकं जग्रे, दृष्ट्वा रत्नं प्रियाऽवदत् ॥४७॥
रत्नीकृत्य लाघवार्थं- मर्जनां किं प्रियाऽऽनयः ? ।
द्रुमित्युक्त्वा प्रविष्टोऽन्त-स्तत्प्रियाप्रेम भावयन् ॥४८॥
इतश्च सेचनाऽऽख्येऽसौ, नद्यामग्राहि तन्तुना ।
मन्त्रिणा पटहोऽदायि, योऽधुना जलकान्तदः ॥४९॥
तस्य राजा निजां पुत्रीं, राज्यार्द्धं च प्रयच्छति ।
तदाऽर्पयत्कान्दविक-स्तं तु तेनामुचद्गजम् ॥५०॥
पृष्टः कान्दविको राज्ञा, कुतस्तेऽभूदिदं वद ?।
चौर्यादात्तं स भीत्याऽऽह, ददौ मे कृतपुण्यजः ॥५१॥
राजोचे न चेद् वेद य-स्त्वं व्रज निजे गृहे ।
अकार्षीत् कृतपुण्यस्य, देशं पुर्यां च दत्तवान् ॥५२॥
स त्रिभार्योऽभुनग् भोगा-नन्यदाऽभयमूचिवान् ।
प्रियाचतुष्टयोदन्त-मदपूर्वं यथा तथा ॥५३॥
अचीकरत्ततश्चैत्यं, द्विद्वारमभयो बहिः ।
कृतपुण्यसमं तत्र, लेप्ययक्षं न्यवेशयत् ॥५४॥
सापत्याभिः समस्ताभिः, स्त्रीभिर्यक्षोऽयमर्च्यताम् ।
भावी रोगोऽन्यथाऽऽज्ञाना-मिति चाऽघोषयत्पुरे ॥५५॥
अभयः कृतपुण्यश्च, निविष्टौ यक्षमण्डपे ।
आयान्तीः पश्यतः पौरी-र्यावत्ताः समुपागताः ॥५६॥
यक्षं पतिमिव प्रेक्ष्या-रुदंस्ताः प्रेमसाश्रवः ।
यक्षोत्सङ्गेऽपि नृधिया, तदपत्यान्युपाविशन् ॥५७॥
उपलक्ष्याभयो बुद्ध्या, स्थविरां तामतर्जयत् ।
कृतपुण्यस्य ताः पत्नीः, सर्वस्वमपि चार्पयत् ॥५८॥
पत्नीभिः सप्तभिः सार्द्धं, संसारसुखमन्वभूत् ।
कृतपुण्यो यथार्थाऽऽख्यो, मर्त्येष्वाकेऽप्यमर्त्यवत् ॥५९॥
अन्यदा समवासार्षीत्, श्रीवीरस्तत्र तीर्थकृत् ।
कृतपुण्यो नमस्कृत्य, स्वामिनं पृष्टवान् सुधीः ॥६०॥
संपत्तिश्च विपत्तिश्च, कथमासीन्मम प्रभो ! ।
स्वाम्यूचे हन्त ! ते जज्ञे, लक्ष्मीः पायसदानतः ॥६१॥
देवाद्वयविधानाच्च, बभूवान्तरिकाद्वयम् ।
तच्छ्रुत्वा तत्क्षणात्सर्वं, सामायिकमुपाददे ॥६२॥" आ० क० ।

" नो कप्पइ अन्नउत्थिए " इत्यारभ्य " तेसिं असणं वा दाउं अणुप्पदाउं " इति सम्यक्त्वग्रहणसमये प्रत्याख्यायते। अत्राऽऽह-इह पुनः को दोषः स्यात्येनेत्थं तेषामन्ययूथिकानामशनाऽऽदिदाने प्रतिषेध इति ?। उच्यते-तेषां तद्भक्तानां च मिथ्यात्वस्थिरीकरणं, धर्मबुद्ध्या ददतः सम्यक्त्वनाशश्च, तथा आरम्भाऽऽदिदोषाश्च । पुनरापन्नानामनुकम्पया दद्यादपि ।

यत उक्तम्--

" सव्वेहिं पि जिणेहिं, दुज्जयजियरागदोसमोहेहिं ।
सत्ताणुकंपणट्ठा, दाणं न कहिं वि पडिसिद्धं " ॥१॥

तथा च भगवन्तस्तीर्थकरा अपि त्रिभुवनैकनाथाः प्रविव्रजिषवः सांवत्सरिकमनुकम्पया प्रयच्छन्ति दानमित्यलं विस्तरेण । आव० ६ अ० । आचा० । उपा० ।

से समणुण्णे असमणुण्णस्स असणं पाणं खाइमं साइमं वा णो पाएज्जा, णो णिमंतेज्जा, णो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि ।

(से समणुन्ने इत्यादि) न केवलं गृहस्थेभ्यः कुशीलेभ्यो वाऽकल्प्यमिति कृत्वाऽऽहाराऽऽदिकं न गृह्णीयात्समनोज्ञः, अमनोज्ञाय तत्पूर्वोक्तम् अशनाऽऽदिकं न प्रदद्यात्, नाऽपि परमत्यर्थमाद्रियमाणोऽशनाऽऽदि निमन्त्रयेत्, अन्यथा वा तेषां वैयावृत्यं कुर्यादिति । ब्रवीमीति शब्दावधिकारपरिसमाप्त्यर्थौ ।

किं नु तर्हि किंभूताय दद्यादित्याह-

धम्ममायाणह पवेदियं वद्धमाणेण मइमया, समणुण्णे समणुण्णस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पायं वा सेज्जं वा० पाएज्जा, णिमंतेज्जा, कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि ।

(धम्मं इत्यादि) धर्मं दानधर्मं जानीत यूयं प्रवेदितं कथितं, केन श्रीवर्द्धमानस्वामिना?, किंभूतेन?, मतिमता केवलिना । किंभूतं धर्ममिति दर्शयति-यथा समनोज्ञः साधुरुद्युक्तविहारी, अपरस्मै समनोज्ञाय चारित्रवते सांभोगिकायैकसामाचारीप्रविष्टायाशनाऽऽदिकं चतुर्विधं, तथा वस्त्राऽऽदिकमपि चतुष्कं, प्रदद्यात् प्रयच्छेत् । तथा तदर्थं च निमन्त्रयेत्, पेशलमत्यादरं वैयावृत्यमङ्गमर्दनाऽऽदिकं कुर्यात्, नैतत्पूर्वस्तेभ्यो गृहस्थेभ्यः कुतीर्थिकेभ्यः पार्श्वस्थाऽऽदिभ्योऽसांभोगिकेभ्योऽसमनोज्ञेभ्यो वा तत्पूर्वोक्तं कुर्यादिति । किं तु समनोज्ञेभ्य एव, परमत्यर्थमाद्रियमाणस्तदर्थमादरं परमुपदर्शयन् सम्यग् वैयावृत्यं कुर्यात्, तदेवं गृहस्थाऽऽदयः कुशीलास्त्याज्या इति निदर्शितम् । अय तु विशेषः-गृहस्थेभ्यो यावत्प्रव्रज्यते तावद् गृह्णाति, केवलमकल्पनीयं प्रतिपद्यते, असमनोज्ञेभ्यस्तु दानग्रहणं प्रति सर्वनिषेधः । आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० । ('आहाकम्मिय' शब्दे प्रथमभागे ४६३ पृष्ठे तेभ्योऽशनाऽऽदिदानप्रतिषेधपराणि सूत्राणि प्रतिपादितानि)

पार्श्वस्थाऽऽदिभ्योऽशनाऽऽदि न देयम्-

जे भिक्खू पासत्थस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं

वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥८०॥ जे भिक्खू पासत्थस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥८१॥ जे भिक्खू पासत्थं वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥८२॥ जे भिक्खू पासत्थं वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥८३॥

गाहा-

जे भिक्खू पासत्थो-सएणकुसीलाण णितियवासाणं ।
देज्जा अहव पडिच्छे, सो पावति आणमादीणि ॥२७७॥

पासत्थस्स असणं वा पडिच्छइ इत्यादि, एवं ओसन्ने वि दो सुत्ता, संसत्ते वि दो, णितिए वि दो। एतेसिं जो देति, तेसिं वा हत्थाओ पडिच्छति, तस्स आणाऽऽदी।।

अहवा-

पासत्थादी पुरिसा, जत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते ।
जे णाणभुविहियाणं, ण होंति करणेण समणुण्णा ।२७८।

कंठा।

किं कारणं तेहिं समाणं दाणग्गहणं पडिसिज्झति ?। भण्णति-

पासत्थमहाछंदे, कुसीले ओसण्णमेव संसत्ते ।
उग्गमउप्पायणए-सणा य बायालमवराहा ॥ २७९ ॥

जम्हा अयमाणाणं साधूणं ते पासत्थादी करणेणं ति किरियाए समणुण्णा सदृशा न भवन्ति, तम्हा दाणग्गहणं पडिसिज्झति। अहवा-जम्हा ते करणेणं तुल्ला ण भवंति, तम्हा तेहिं सह समणुण्णया ण भवति, संभोगो ण भवतीत्यर्थः। किं चान्यत् । पासत्थगाहा-ते पासत्थादी उग्गमदोसेसु सोलससु उप्पायणादोसेसु य सोलससु दससु य एसणादोसेसु एतेसु बायालमवराहेसु णिच्चं वट्टंति, अतो हेतेण तेसिं ते सातिज्जिता, अणुमोदिता इत्यर्थः। तेसिं हत्थाओ गेण्हंतेण उग्गमदोसा पडिसेविता भवंति ।

गाहा-

उग्गमउप्पायणए-सणा य तिविहेण तिकरणविसोही।
पासत्थे अहाछंदे, कुसीले णितिए वि एमेव ॥ २८० ॥

उग्गमाऽऽदियाणं तिण्हं पि तिकरणविसोहिं ति सयं ण करेंति, अण्णं पि ण कारवेंति, अण्णं च करेंतं ण समणुजाणंति। एक्केक्कं मणवयणकाएहिं तिविहं । एवं तिकरणविसोहिं ण करेंति त्ति वक्कसेसं । एवं ण करेंति पासत्थादी चउरो अहाछंदपंचमा। णितियवासी पुण किरियकलावं जति वि असेसं करेति, तहा वि णितियवासित्तणओ एवं चेव दट्ठव्वो ।

एयाणि गाहा (?)-

"एतेहि असुद्धपडिसे-वणा य अविसुद्धे चउ गुरुगा।"

एयाइं सेहाए ते पासत्थादी ठाणाणि ओ चिते से मग्गणं करेति त्ति वुत्तं भवति। सो णियचारित्तं विसोहेइ। एएसु पुण असुद्धेसु नियमा चरित्तभेदो, अशुद्धिरित्यर्थः। चरित्तेणं असुद्धेणं मोक्खाभावो, तेण पडिकुट्ठं दाणकरणं एतेसु, जो पुण एतेसु तिकरणविसोहिं करेति सो णियमा चरित्तं विसोहेति ।

उग्गमदोसा गाहा (?)-

जम्हा उग्गमाऽऽदिदोसा पासत्थादी ण वज्जंति, तम्हा विसुद्धि त्ति चारित्तविसुद्धी, तं इच्छंतो ते वि पासत्थादी वज्जेज्जा, एस णियमो।

किंच-

सुज्झइ गाहा (?)-

जो पासत्थादियाण देति तस्स पासत्थादिसु रागो लक्खिज्जइ, जो पुण तेसिं हत्था गेण्हति तस्स तेसु मज्झत्थं पीती। लक्खिज्जति, तम्हा तेसु जा दाणग्गहणे रागपीती, सा वज्जेयव्वा । कम्हा ?, जम्हा दुट्ठसंसग्गातो बहु दोसा, अदुट्ठसंसग्गातो य गुणा भवंति। तम्हा ते दुट्ठसंसग्गिकते दोसे परिहरेज्जा।

ण वि रागो गाहा (?)-

सुहसीलजणो पासत्थादी, तेसु ण वि रागो, ण वि दोसो। अत्थ चोदकः-एवं अत्थावत्तीओ णज्जति, तेसु संसग्गि पडुच्च णाणुण्णा, णावि पडिसेहो। जति अहागवत्तीए संसग्गी भवति, भवतु णाम, ण दोसो ?। उच्यते-जति वि तेहिं ण रागो ण दोसो वा, तहा वि तेहिं जा संसग्गी सा वज्जणिज्जा। कहं ?। उच्यते-वणे सुको वणसुको, वणचरेण वा गहितो सुको वणसुको, तेण कयं उवमं उदाहरणं, तं दट्ठूण जाणिऊण बुधा पंडिता बतिकरो संसग्गी, तं णेच्छंति ।

" माताऽप्येका पिताऽप्येको, मम तस्य च पक्षिणः ।
अहं मुनिभिरानीतः, स च नीतो गवाशनैः ॥ १ ॥
गवाशनानां स गिरः शृणोति, वयं च राजन् ! मुनिपुङ्गवानाम् ।
प्रत्यक्षमेतद्भवताऽपि दृष्टं, संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ॥२॥"

अण्णं च पडिसिद्धं तित्थकरेहिं, जहा अकुसीलेण सदा भवियव्वं, पुणो पडिसिज्झति-जो कुसीलो तेण सह संसग्गो ण कायव्वो, एस पडिसेहो । असंविग्गस्स पाहुणस्स तिण्णि वारे देति माइट्ठाणविमुक्को। तस्स आउट्टंतस्स पक्खिस मासलहुं, दो तिण्णि य वारे वि मासलहुं, ततियवाराओ परं नियमा माइस्स मासगुरुं, विसंभोगे य जीतं आविसुद्धं संभुंजति, तस्स च चउगुरुगा, दूरे सोधारणं काउ त्ति अंतिके अण्णं संभोतिया गता, तत्थ अण्णे गंतुमणा पुच्छेज्जा-ते अम्हं किं संभोतिया ?। तत्थ आयरिओ जति एगंतेण भणति संभोतिया, तो मासलहुं। अह भणति-असंभोइया, तो वि मासलहुं, असंखडादी दोसा। तम्हा आयारपणं साधारणं कायव्वं, भो सुण-संभोती होइया इदाणिं न णज्जति, तुब्भे णाउं भुंजेज्जह । जम्हा एवमादी दोसगुणा भवंति तम्हा तेसिं ण दायव्वं, णावि तेसिं हत्याओ पडिच्छियव्वं ।

इमो अववादो-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
एएहिँ कारणेहिँ, देज्ज व गिण्हेज्ज जयणाए ॥२८१॥
अद्धाणम्मि विवित्ता, हिमदेसे सिंधु एव ओमम्मि ।
गेलण्ण कोट्ठकंबल-अहिमाइ पडेण ओमज्जे ॥ २८२ ॥

गाहा कंठा ।

अडऊण गाहा (?)-

अडऊण मासिएहिं ति। जे उ उद्देसिअमादी ठाणा तेसु पुव्वं गिण्हति त्ति वुत्तं भवति, जता तेसु ण लब्भति तदा पासत्थादि उवदिट्ठेसु गिहेसु गिण्हेति, तहा वि असतीए, ताहे पुव्वगतो पासत्थो पारक्खियघरेसु दवावेति, तहा वि असतीए पासत्थसंघाडेणं हिंडाति, एसा तेसिं समीवातो गहणे जयणा, तेहिं वा असंथरे देज्जा, ण दोसो ।

जे भिक्खू ओसण्णस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥८४॥ जे भिक्खू ओसण्णस्स

असणं वा४ पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥८५॥ जे भिक्खू ओसन्नस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥८६॥ जे भिक्खू ओसन्नस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥८७॥ जे भिक्खू कुसीलस्स असणं वा ४ देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥८८॥ जे भिक्खू कुसीलस्स असणं वा ४ पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥८९॥ जे भिक्खू कुसीलस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥९०॥ जे भिक्खू कुसीलस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥९१॥ जे भिक्खू णितियवासस्स असणं वा ४ देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥९२॥ जे भिक्खू णितियस्स असणं वा ४ पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥९३॥ जे भिक्खू णितियं वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥९४॥ जे भिक्खू णितियं वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥९५॥ जे भिक्खू संसत्तस्स असणं वा ४ देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥९६॥ जे भिक्खू संसत्तस्स असणं वा ४ पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥९७॥ जे भिक्खू संसत्तस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥९८॥ जे भिक्खू संसत्तस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ९९ ॥

जे भिक्खू गाहा। पासत्थादी गाहा। पासत्थगाहा। उग्गमगाहा। एताणि गाहा। उग्गमदोसगाहा। सुज्झइ गाहा। ण वि रागा गाहा। असिवे गाहा। जत्थ सुलभं वत्थं तम्मि विसए, अप्पतरे वा असिवादिकारणे होज्जा, एवमादिकारणेहिं तं विसयमेव गच्छंतो इह असंभंतो पासत्थादियत्थं गेण्हेज्जा, देज्ज वा तेसिं। अहवा-अद्धाण गाहा २८२। अद्धाणं वा विविक्ता मुसिया असंभंता पासत्थादि तत्थ गेण्हेज्जा, हिमदेसे वा सीताभिभूया पाडिहारियं गेण्हेज्जा, एमेव सिंधुमादिविसए अंमसिम उज्जलवत्थे भिक्खं लभंति, अप्पणो तम्मि उज्जलवत्थे असंते पासत्थादियाण गेण्हेज्ज, गेलण्णे वा किमिकुट्ठादिए कंबलरयणं पासत्थादियाण देज्ज, गिण्हेज्ज वा, अहिमादिणा रुक्के वा सगलकसिणं आमज्जणं कायव्वं, अप्पणो असंते पासत्थवत्थं गेण्हेज्ज वा, देज्ज वा तेसिं। नि० चू० १५ उ०।

जे भिक्खू अइरेगपडिग्गहं खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा थेरगस्स वा थेरियाए वा अहत्थच्छिन्नस्स अपायच्छिन्नस्स अकण्णच्छिण्णस्स अनासच्छिण्णस्स अणोट्ठच्छिन्नस्स सत्तस्स देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

हत्था अच्छिण्णा जेसिं ते अहत्थच्छिण्णा भाणियव्वा। एवं सव्वे पदा। सत्ता समर्थः। एतेसिं दितस्स चउलहुं।

गाहा-

अव्वालवुड्ढदाणे, इत्थीपुरिसाण जुंगिताणं वा।
सुत्तत्थधारिएण व, पज्जत्तसकोवितार्ण वा ॥ १३६ ॥

अबाला बालभावं अतिक्कंता, अवुड्ढा वुड्ढभावं अप्पत्ता, सरीरेण जातीए वा अजुंगिता, सुत्तं च अधीयं, जेहिं अत्थो वि सुतो, गोयत्था इत्यर्थः। वीर्यं वा उप्पादणशक्तिः, गीतत्थत्तणातो चेव पज्जत्तो, पादकप्पितो त्ति वुत्तं भवति, सकोविता गमणागमणचेट्ठा, ते य सवीरियत्तणतो चेव सकोविता, एतेसिं जो इत्थीण वा पुरिसाण वा अतिरेगपडिग्गहं देति, अहवा।

गाहा--

अभिणवपुराणगहितं, पातमच्छिण्णं तहेव छिण्णं च।
निदिट्ठमणिद्दिट्ठं, पाते देंताण आणादी ॥ १३७ ॥

अभिणवं पुराणं वा जं तं अच्छिण्णं छिण्णं वा गणिमादियाण णिद्दिट्ठ वा अणिद्दिट्ठं वा जो देइ, तस्स आणादिया दोसा। चउलहुं च से पच्छित्तं, जो सुत्तपडिसिद्धाणं देति।

इमाण य अदेंतस्स दोसा। गाहा-

अद्धाणणिग्गयादी-णऽदेंतो दोसा तु वण्णिता पुव्विं।
रोगजरोवस्सग्गं, णिरुयस्स कमीसदेहिं तु ॥ १३८ ॥

दितस्स उवसंथारो, जो हत्थपादादिविगलो, तस्स जुत्तं दाण, समत्थस्स किं दिज्जति?, णं तु सयमेव आणेउ त्ति, भेसं कंठ।

इमेहिं पुण कारणेहिं समत्थस्स दिज्जति-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे जए व गेलण्णे।
सेहे चरित्तसावय-भए व अद्धाण जयणाए ॥ १३९ ॥

एते असिवादिकारणा दाणसायणतुमीए होज्जा, अंतरदेसे वा अद्धाणे वा खुड्डादियाण दाणं प्रति जयणा कायव्वा, जत्थ बहुतरा णिज्जरा, जत्थ वा बहुतरा हाणी दोसइ, पुव्वं तस्स दायव्वं, जो वा पडिच्छिण्णादिओ कमो भणितो, तेण दायव्वं।

गाहा-

एएहिं कारणेहिं, सक्काण वि देति असमत्था।
जेसिं होज्जितरे वा, तेसिं पुण सज्ज परिहाणी ॥ १४० ॥

अच्छिण्णहत्थादिया सक्का, तेसिं देज्ज, जेण तेसिं असमत्थो। असमत्थो णाम तायणसंघेत्रो, अभाव इत्यर्थः। इतरे हत्थपादच्छिण्णादिया, तेसिं परिहाणी होज्ज वा, ण वा, तेसिं पुण सक्काण भायणाभावे सज्जंति, वहूने चेव परिहाणी, तम्हा तेसिं दायव्वं।

गाहा-

जे चेव सक्कदाणे, असक्क असमत्थए दोस पावेंति।
असमत्थए सक्काण वि, ते चेव अदेंति पावेंति ॥ १४१ ॥
जं ते असंथरंता, अप्पेसणं जं च भाणजुमीए।
पावेंति तहा सावय-तेणादिविराहणा जं च ॥ १४२ ॥

सक्कस्स देंतो जे दोसा भणिता, असक्कस्स य अदेंतो जे दोसा भणिया, ते चेव दोसा सक्काण वि असमत्थए अदेंतो पावति, तम्हा असिवादिकारणे अच्छिण्णं सक्कस्स वि दायव्वं ॥ १४१ ॥ अह ण देति तो इमे दोसा—ते अच्छि-

पासत्थादिया असंयरंता जं अणेसणं पेल्लिस्संति, जं च भायणभूमीए अंतरा आसवादि वा पाविस्संति, भायणभूमीगयाण वा सयणेहिं सेहो त णिक्खमाविज्जति, भायणाण वा गच्छंता सावयण खज्जंति, तेणेहिं वा ओडुज्झंति, जं च अण्णं किं चि सरीरसंजमविराहणं पावेंति, तं सव्वं पायाच्छत्तं अदेंते पावति ।

अहवा इमाए जयणाए भायणा दायव्वा । गाहा–

पुव्वं तु असंजोगी, दुगतिगवच्छं तहेव हुंडादी ।
तो पच्छा इतराण वि, तेसिं देंतो जवे सुद्धो ॥१४३॥

तेसिं सव्वाणं असिवादिकारणेहिं दिज्जंते पुव्वं जं असंतोइयं पाई, तं दिज्जति, दोसु वा तिसु वा ठाणेसु जं बद्धं, तं दिज्जति, हुंडं वा ताइहाणि वा अलक्खणजुत्ताणि दिज्जंति, जति ते णत्थि, तो पच्छा इयराण वि समोइयाणि अभिन्नाणि समचउरंसाणि लक्खणजुत्ताणि य देंतो सुद्धो भवति ।

अतिरेकप्रतिग्रहं दर्शति–

जे भिक्खू अइरेगपडिग्गहगं खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा थेरगस्स वा थेरियाए वा हत्थच्छिण्णस्स पायच्छिण्णस्स कण्णच्छिण्णस्स णासच्छिण्णस्स असक्कं ण देइ, ण देयंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

पुव्विल्लसुत्ताओ चेव इमं सुत्तं परिणक्खयतं, किं च–पूर्वं एते अद्धाणादिया अत्थतो भणिता, इह पुण सुत्ततो चेव भणति ।

गाहा–

अद्धाण बालवुड्ढा–ऽऽउराण दुविहाण जुंगिताणं च ।
मुत्तत्थधारिएगं, अगजतऽविकोविताणं वा ॥१४४॥

दुविधा जुंगिता–जातीए, सरीरेण वा । सेसं पूर्ववत् ।

गाहा–

अभिणवपुराणगहितं, पायमच्छिण्णं तहेव छिण्णं च ।
णिद्दिट्ठमणिद्दिट्ठं, तेसिं अदेंताण आणादी ॥ १४५ ॥

कंठा पूर्ववत् ।

गाहा–

अद्धाणओमअसिवे, उद्दिट्ठासति अदेंते जं पावे ।
पायअसंभावाए, थेरस्स य जाति जं कुज्जा ॥ १४६ ॥

पूर्ववत् ।

गाहा–

दुविहजरयआउराणं, तप्पडिचरगाण विज्जहाणी य ।
जुंगितो पुव्वनिसिद्धो, भण्णति देसंतरो पच्छा ॥१४७॥

आसुकारी दीहरोगेण वा, अहवा–आगंतुओ तदुत्थेण वा भायणाभि विणा जा परिहाणी, तं अदेंतो पावति । णणु दुविहो जुंगितो–अणलसुत्तेण पुव्वं णिसिद्धो, स पच्छा कहं पव्वाविज्जति ? । भण्णति–जातिजुंगितो वि देसंतरे पव्वाविज्जति, इतरो वि सरीरजुंगिओ पव्वज्जाए ठितो, पच्छा जाते तेसिं इमा विही अतिधव्वा ।

गाहा–

जातीयजुंगितो खलु, जत्थ ण णज्जति तहिं तु सो अत्थ ।
असुगणिमित्तं ति गओ, इतरो जहि णज्जति तहिं तु ।१४८।

पूर्ववत्कंठा ।

गाहा–

जं वच्चंता कारा–वेंति ण जं पि य करेंति उड्डाहं ।
किं णु हु गिहिसामण्णे, वि जुंगिता लोकसंका तु ॥१४९॥

कंठा पूर्ववत् ।

सरीरविकले दाणं पडुच्च इमो कमो । गाहा–

पादऽच्छिन्नासकरके–ण जुंगिते जातिजुंगितो चेव ।
वोच्चत्थे चउ लहुगा, सरिसे पुव्वं तु समणीणं ॥१५०॥

पादादिविकलं भणिय कमातो जो वोच्चत्थं देति, तस्स चउलहुं, साहुसाहुणीणं सरिसे विकलभावे दोण्ह वि दायव्वं । असति दोण्ह वि समणीसु पुव्वं दायव्वं ।

अदाणे इमो अववातो । गाहा–

वितियपदमणप्पज्झे, देज्ज व अविकोविते य अप्पज्झे ।
जाणंतो असतीए, उ मंदधम्मेसु वज्जेज्जा ॥ १५१ ॥

अणप्पज्झो खित्तचित्तादिगे ण देज्ज, सेहो वा अकोवितो गुणदोसेसु, सो वा ण देज्ज । अप्पज्झो वा जाणंतो वि असतीए भायणस्स ण देज्ज, विज्जमाणं पि पासत्थादिसु वा मंदधम्मेसु ण देज्जा; पमादादिकारणेसु अदेंतो वि सुद्धो । नि० चू० १४ उ० ।

" असणुण्णमसणीए, पत्ते दाणं भवे अणत्थाय ।
जह कडुयतुंबदाणं, नागसिरिभवम्मि दोवइए ॥ १ ॥ "

ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । (अत्र 'दुवई' शब्दे विशेषो द्रष्टव्यः)

दाने जातिर्न निमित्तम्–" जे वा जाइनाइपक्खवाएण साहूणं दाणाइसु पयट्टंति, न गुणाऽगुणचिंताए, ते वि विपज्जासभायणं । जम्हा गुणा पूयणिज्जा, ते चेव दाणाइसु पयट्टेण निमित्तं कज्जंतु, किं जाइनाइपवित्तेहिं, जओ स जाईए निक्कम्मा वि अत्थि, ता तेसु दाणं महाफलं होज्जा, अह तेसु य गुणा अत्थि, तहा वि ते च्चिय पवित्तिनिमित्तं दाणाइसु करिंतु, न किंचि जाइणाइणा । " दर्श० ३ तत्त्व ।

तीर्थंकृते भिक्षादानं महाफलं, तत्र पञ्च दिव्यानि जायन्ते–

तए णं तस्स विजयस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं पडिगगहसुद्धेणं तिविहं तिकरणसुद्धेणं दाणेणं मए पडिलाभिए समाणे देवाउयणिबद्धे संसारपरित्तीकए गिहंसि य से इमाइं पंच दिव्वाइं पाउब्भूयाइं । तं जहा–वसुहारा वुट्ठा १, दसद्धवण्णे कुसुमे णिवातिते २, चेलुक्खेवे कए ३, आहयाओ देवदुंदुहीओ ४, अंतरा वि य णं आगासे अहो दाणे अहो दाणे त्ति घुट्ठे ५ । भ० १५ श० ।

(श्रमणमाहनेभ्यो दाने फलम् ' आउ ' शब्दे द्वितीयभागे १२ पृष्ठे दर्शितम्)

यच्च तीर्थंकृतो दानं तदद्भुतम् । अनन्तरं जगद्गुरोर्महादानमुक्तम् । तच्च न युक्तमिति परमतमाशङ्क्याह–

कश्चिदाहास्य दानेन, क इवाऽर्थः प्रसिद्ध्यति ।
मोक्षगामी ध्रुवं ह्येष, यतस्तेनैव जन्मना ॥१॥

कश्चिद् दुर्विदग्धमतिः, आह ब्रूते, अस्य जगद्गुरोर्दानेन वितरणेन क इव?, न कश्चिदित्यर्थः, अर्थः पुरुषार्थो, धर्मार्थकाममोक्षाणामन्य-

तमः, फलं वा प्रतिलप्स्यति निष्पद्यते, अर्थाऽऽदिषु तस्य निरपेक्षत्वात् । दानधर्मस्य च तत्कारणत्वान्मोक्षार्थः सिद्धयतीति चेदत्राह-मोक्षं निर्वाणं गमिष्यति यास्यतीति मोक्षगामी, ध्रुवं निश्चितं, हिशब्दो जिनदानस्य प्रयोजनाभावभावनार्थः । एष जगद्गुरुर्यतो यस्मात्कारणात्, तेनैवाऽऽद्येन, यस्मिन् जन्मनि दानं ददाति न जन्मपरम्परया, जन्मना भवेन, दानं हि भवपरम्परया मोक्षफलं, येन च तज्जन्मनैवावश्यं सिद्धितव्यं, तस्य दानेन न कश्चिदर्थ इति ॥१॥

अथोत्तरमाह-

उच्यते कल्प एवास्य, तीर्थकृन्नामकर्मणः ।
उदयात् सर्वसत्त्वानां, हित एव प्रवर्त्तते ॥ २ ॥

उच्यते अनन्तरोदिताऽऽक्षेपस्य समाधिरभिधीयते, कल्पशब्दः करणार्थः । यदाह- " सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा । औपम्ये चाधिवासे च, कल्पशब्दं विदुर्बुधाः ॥ १ ॥ " करणं च क्रिया, समाचार इत्यर्थः । ततश्च कल्प एव जीतमेव, वक्ष्यमाणे दानाऽऽदिना सर्वसत्त्वहितवर्त्तनलक्षणोऽस्य जगद्गुरोर्न पुनः फलविशेषं प्रति प्रत्याशा । किंरूपोऽसौ कल्प इत्याह-तीर्थकृन्नाम तीर्थकरस्य संबन्धि तीर्थकरत्वनिबन्धनं यन्नामाऽऽख्यं कर्माऽदृष्टं तत्तथा, तस्य तीर्थकृन्नामकर्मण उदयाद्विपाकात् सर्वसत्त्वानां सकलशरीरिणाम् । इह च हितशब्दयोगेऽपि न चतुर्थी, संबन्धस्यैव विवक्षितत्वात् । हिते पथ्यानुकूलविधावेव, इह यदिति शेषो दृश्यः, तेन यदेतत् प्रवर्त्तते व्याप्रियते भगवानिति ततश्चास्य दानात् कल्पपरिपालनं विना नान्यत् फलमस्तीति भावनेति ॥ २ ॥

परिहारान्तरमाह-

धर्माङ्गख्यापनार्थं च, दानस्याऽपि महामतिः ।
अवस्थौचित्ययोगेन, सर्वस्यैवानुकम्पया ॥ ३ ॥

धर्मस्य कुशलाऽऽत्मपरिणामविशेषस्याङ्गमवयवः कारणं वा धर्माङ्गं, तस्य ख्यापनं प्रकाशनं धर्माङ्गख्यापनं, तस्मै इदं धर्माङ्गख्यापनार्थं, सावप्रत्ययगर्भत्वान्निर्देशस्य धर्माङ्गताख्यापनार्थमिति द्रष्टव्यम । महादानं दत्तवानिति प्रक्रमगम्यम् । धर्माङ्गं दानं भगवता प्रवृत्तत्वाच्छीलवदिति भव्यजनसंप्रत्ययार्थमित्यर्थः । चशब्दः पूर्वोक्तपरिहारापेक्षया परिहारान्तरसमुच्चयार्थः । कस्येत्याह-दानस्याऽपि वितरणस्यापि, न केवलं शीलाऽऽदेर्धर्माङ्गत्वेऽपिशब्दार्थः । महामतिरवधाऽऽदिबोधो भगवान्, किं यथाकथञ्चिदस्य धर्माङ्गतायाः ख्यापनं, नेत्याह-अवस्थाया भूमिकाया औचित्ययोग आनुरूप्यलक्षणधर्मसंबन्धः-अवस्थौचित्ययोगः, तेन, स्वभूमिकोचितत्वेनेत्यर्थः । धर्माङ्गता च तस्य किं गृहिणामेव, नेत्याह-सर्वस्यैव, एवशब्दस्याऽपिशब्दार्थत्वात्र केवलं गृहिण एव, निरवशेषस्यापि दानार्थिनो गृहिणो वाऽनुकम्पया कृपया, न तु गृहिणामनुकम्पादानमुचितम्, " अणुकंपादाणं पुण, जिणेहिँ न कयाइ पडिसिद्धं । " इति वचनात् । यत्तु पुनः साधुः साधवे ददाति तदनुकम्पानिमित्तं न भवति, भक्तिनिमित्तत्वात्तस्य । यत् पुनरसंयताय दानं तत् साधोर्न संभवति, " गिहिणो वेयावडियं, न कुज्जा अभिवायणवंदणपूयणं च । " इति वचनात् । ततः सर्वस्याऽपि गृहस्थस्यैव इत्यवधेयं, नैवम्, यतो विशिष्टपुष्टाऽऽलम्बनसद्भावे यतेरप्यनुकम्पादानसंभव इति न दोषः । अमुं चार्थं ग्रन्थकार एव व्यक्तीकरिष्यति । श्रूयते चाऽऽगमे आर्यसुहस्त्याचार्यस्य रङ्कदानं, न चानुकम्पादानं साधुषु न संभवति, " आयरिय अणुकंपाए, गच्छो अणुकंपिओ महाभागो । " इति वचनादिति ॥ ३ ॥

धर्माङ्गमेव दानं यतः-

शुभाऽऽशयकरं ह्येत-दाग्रहच्छेदकारि च ।
सदभ्युदयसाराङ्ग-मनुकम्पाप्रसूति च ॥ ४ ॥

शुभं प्रशस्तमाशयं चित्तं कर्तुं शीलमस्येति शुभाऽऽशयकरं, हि इति यस्मादेवं तस्माद्धर्माङ्गता दानस्येति प्रकृतम् । एतदिति दानम् । तथा-आग्रहच्छेदकारि च-वित्तं प्रति ममकारलक्षणाभिनिवेशनाशकम्, चशब्दः समुच्चये । तथा सन् शोभनोऽभ्युदयान्तरानुबन्धित्वेन योऽभ्युदयः कल्याणावाप्तिः, तस्य साराङ्गं प्रधानकारणं सदभ्युदयसाराङ्गम् । आह च- " दानेन भोगानाप्नोति, यत्र यत्रोपपद्यते । शीलेन भोगान् स्वर्गं च, निर्वाणं चाधिगच्छति ॥ १ ॥ " तथाऽनुकम्पाया दयायाः सकाशात् प्रसूतिः प्रभवो यस्य तदनुकम्पाप्रसूतिः । चशब्दः समुच्चय इति ॥ ४ ॥ हा० २ अष्ट० । पञ्चा० । कल्प० । द्वा० । (प्रायश्चित्तदानविधिः ' पच्छित्त ' शब्दे वक्ष्यते)

अथ दानं प्रति विधिनिषेधविभागः-

से णाइए, णादियावए, ण समणुजाणति (८७) ।

(से णाइए इत्यादि) स भिक्षुस्तदा कल्प्यं नाददीत न मूर्च्छयाऽऽन्यपरमादापयेद् ग्राहयेत्, नाऽन्यपरमनेषणीयमाददानं समनुजानीयात् । अथवा-सहङ्गालं सधूमं वा नाद्यात् भक्षयेन्नापरमादयेददन्तं वा न समनुजानीयादिति । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

दाणट्ठया य जे पाणा, हणंति तसथावरा ।
तेसिं सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थि त्ति णो वए ॥ १८ ॥

अन्नपानदानार्थमाहारमुदकं च पचनपाचनाऽऽदिकया क्रियया कूपखननाऽऽदिकया चोपकल्पयेत् । तत्र यस्माद् हन्यन्ते व्यापाद्यन्ते त्रसाः स्थावराश्च जन्तवस्तस्मात्तेषां रक्षानिमित्तं साधुरात्मगुप्तो जितेन्द्रियोऽत्र भवदीयानुष्ठाने पुण्यमित्येवं नो वदेदिति ॥१८॥

यद्येवं, नास्ति पुण्यमिति ब्रूयात्तदेतदपि न ब्रूयादित्याह-

जेसिं तं उवकप्पंति, अन्नपाणं तहाविहं ।
तेसिं लाभंतरायं ति, तम्हा णत्थि त्ति णो वए ॥१९॥

(जेसिमित्यादि) येषां जन्तूनां तदन्नपानाऽऽदिकं किल धर्मबुद्धयोपकल्पयन्ति, तथाविधं प्राण्युपमर्ददोषदुष्टं निष्पादयन्ति, तन्निषेधे च यस्मात्तेषामाहारपानार्थिनां तल्लाभान्तरायो विघ्नो भवेत्, तदभावेन तु पीड्येरन्, तस्मात्कूपखननसत्राऽऽदिके कर्मणि नास्ति पुण्यमित्येतदपि नो वदेदिति ॥१९॥

एतमेवार्थं पुनरपि समासतः स्पष्टतरं बिभणिषुराह-

जे य दानं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं ।
जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करेंति ते ॥२०॥

(जे य दाणमित्यादि) ये केचन प्रपासत्राऽऽदिकं दानं बहूनां जन्तूनामुपकारीति कृत्वा प्रशंसन्ति श्लाघन्ते, ते परमार्थानभिज्ञाः, प्रभूततरप्राणिनां तत्प्रशंसाद्वारेण वधं प्राणातिपातमिच्छन्ति, तद्दानस्य प्राणातिपातमन्तरेणानुपपत्तेः । येऽपि च किल सूक्ष्मधियो वयमित्येवं मन्यमाना आगमसद्भावानभिज्ञाः प्रतिषेधन्ति निषेधयन्ति, तेऽप्यगीतार्थाः, प्राणिनां वृत्तिच्छेदं वर्त्तनोपा-

वक्षिपं कुर्वन्तीति ॥२०॥ सूत्र०१ श्रु०११ अ०। आचा०। आव०। (कृतप्रत्याख्यानोऽशनाऽऽदिदानं न कुर्यादिति 'पच्चक्खाण' शब्दे वक्ष्यते) (कुक्ज्ञातेः साधुभिर्धर्मकाऽऽदिभ्यो न देयमसंयतपोषणत्वादिति 'मोयग' शब्दे विस्तरेण वक्ष्यते) "धेनुशर्मप्रदं दान-मनुकम्पासमन्वितम्। भक्त्या सुपात्रदानं तु, मोक्षदं देशितं जिनैः ॥१॥" द्वा० १ द्वा०। (अनुकम्पा० (२) इत्यादिभिर्द्वात्रिंशः श्लोकैरनुकम्पादानम् 'अणुकंपादाण' शब्दे प्रथमभागे ३६० पृष्ठे व्याख्यानम्)

नन्वेवं "गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा" इत्याद्यागमविरोधः ?, इत्यत आह-

वैयावृत्ये गृहस्थानां, निषेधः श्रूयते तु यः ।
स औत्सर्गिकतां बिभ्रद्, नैतस्यार्थस्य बाधकः ॥१२॥

(वैयावृत्य इति) गृहस्थानां वैयावृत्ये तु साधोर्यो निषेधः श्रूयते, स औत्सर्गिकतां बिभ्रदेतस्यापवादिकस्यार्थस्य बाधकः। अपवादो ह्युत्सर्गं बाधते, न तूत्सर्गोऽपवादमिति ॥१२॥

सूत्रान्तरं समाधत्ते-

ये तु दानं प्रशंसन्ती-त्यादिसूत्रेऽपि संगतः ।
विहाय विषयो मृग्यो, दशानेदं विपश्चिता ॥१३॥

(ये त्विति) ये तु दानं प्रशंसन्तीत्यादिसूत्रेऽपि "जे उ दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं। जे अ णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥ २० ॥" इति सूत्रकृतसूत्रेऽपि दशाभेदं विहाय संगतो युक्तो विषयो विपश्चिता मृग्य पेक्ष्यपर्यनुयुक्ता विचारणीयो, न तु पदार्थमात्रे मूढतया शाप्यम्, अपुष्टाऽऽलम्बनविषयतयैवास्योपपादनात्। आह च-"ये तु दानं प्रशंसन्ती-त्यादि सूत्रं तु यत् स्मृतम्। अवस्थाभेदविषयं, द्रष्टव्यं तन्महात्मभिः ॥ १ ॥" इति ॥१३॥

पुनः शङ्कते-

नन्वेवं पुण्यबन्धः स्यात्, साधोर्न च स इष्यते ।
पुण्यबन्धान्यपीडाभ्यां, छन्नं भुङ्क्ते यतो यतिः ॥१४॥

(नन्विति) नन्वेवमपवादतोऽपि साधोरनुकम्पादानेऽभ्युपगम्यमाने पुण्यबन्धः स्यात्, अनुकम्पायाः सातबन्धहेतुत्वात्। न च स पुण्यबन्ध इष्यते साधोः, यतो यस्माद् यतिः पुण्यबन्धान्यपीडाभ्यां हेतुभ्यां छन्नं भुङ्क्ते ॥१४॥

एतदेव स्पष्टयति-

दीनाऽऽदिदाने पुण्यं स्या-त्तददाने च पीडनम् ।
शक्तौ पीडाऽप्रतीकारे, शास्त्रार्थस्य च बाधनम् ॥१५॥

(दीनाऽऽदीति) प्रकटं भोजने दीनाऽऽदीनां याचमानानां दाने पुण्यं स्याद्, न चानुकम्पावतस्तेषामदत्त्वा कदापि भोक्तुं शक्यः। अतिधार्ष्ट्यमवलम्ब्य कथञ्चित्तेषामदाने च पीडनं स्यात्तेषां तद्दातरि अप्रीतिरूपं,शासनद्वेषात्परत्र च कुगतिलक्षणरूपम्। तदप्रीतिदानपरिणामाभावाच्च दोषो भविष्यतीत्याशङ्कयाऽऽह-शक्तौ सत्यां पीडायाः परदुःखस्याप्रतीकारेऽनुद्धारे च शास्त्रार्थस्य पराप्रीतिपरिहारप्रयत्नप्रतिपादकस्य बाधनं, दाताऽऽदिषु योग्येषु शक्तिनिगूहनस्यापि चारित्रप्रतिपक्षत्वात्। प्रसिद्धोऽयमर्थः सममात्रके ॥ १५ ॥

किञ्च दानेन भोगाऽऽप्ति-स्ततो भवपरम्परा ।
धर्माधर्मक्षयान्मुक्ति-र्मुमुक्षोर्नेष्टसिद्धिदः ॥ १६ ॥

किं च दानेन हेतुना भोगाऽऽप्तिर्भवति, ततो भवपरम्परा मोक्षधारावृद्धेः, तथा धर्माधर्मयोः पुण्यपापयोः क्षयान्मुक्तिः, इति हेतोरदोऽनुकम्पादानं मुमुक्षोर्नेष्टम् ॥ १६ ॥

सिद्धान्तयति-

नैवं यत्पुण्यबन्धोऽपि, धर्महेतुः शुभोदयः ।
वह्नेर्दाह्यं विनाश्यैव, नश्वरत्वात् स्वतो मतः ॥ १७ ॥

(नैवमिति) नैवं यथा प्रागुक्तम्, यत् यस्मात्पुण्यबन्धोऽपि शुभोदयः सद्विपाको धर्महेतुर्मतः, तद्धेतुभिरेव दशाविशेषेऽनुबद्धः, पुण्यानुबन्धिपुण्यबन्धसंभवात्,प्राणातिपातविरमणाऽऽदौ तथाऽवधारणात्। न चायं भुक्तिपरिपन्थी, दाह्यं विनाश्य वह्नेरिव तस्य पापं विनाश्य स्वतो नश्वरत्वाच्छाशीलत्वात्। शास्त्रार्थाबाधेन निर्जराप्रतिबन्धकपुण्यबन्धाभावाच्च दोष इति गर्भोऽर्थः ॥ १७ ॥

भोगाऽऽप्तिरपि नैतस्मा-द्भोगपरिणामतः ।
मन्त्रितं श्रद्धया पुंसां, जलमप्यमृतायते ॥ १८ ॥

(भोगाऽऽप्तिरिति) भोगप्राप्तिरपि नैतस्मादापवादिकादनुकम्पादानात्, अभोगपरिणामतो भोगानुभवोपनायकाध्यवसायाभावात्। दृष्टान्तमाह-मन्त्रितं जलमपि पुंसां श्रद्धया भक्त्याऽऽमृताय तेऽमृतकार्यकारि भवति। एवं हि भोगहेतोरप्यप्रशस्ताध्यवसायविशेषाद्भोगानुपनतिकपपद्यत इति भावः ॥ १८ ॥

नन्विदं हरिभद्रसंमत्या भवद्भिर्व्यवस्थाप्यते, तेनैव चाभिनिवेश्योक्तमित्याशङ्कयाऽऽह-

न च स्वदानपोषार्थ-मुक्तमेतदपेशलम् ।
हरिभद्रो ह्यदोऽनाधिद्,यतः संविग्नपाक्षिकः ॥१९॥

(न चेति) न च स्वदानस्य स्वीयासंयतदानस्य पोषार्थं समर्थनार्थमुक्तमेतदपेशलमसुन्दरम्। यतो यस्मात्संविग्नपाक्षिको हरिभद्रोऽदः प्रागुक्तं, हि निश्चितमभाणीत्। न हि संविग्नपाक्षिकोऽनृतं ब्रूते। तदुक्तं सप्तविंशतितमाष्टकविवरणे-" स्वकीयासंयतदानसमर्थनागर्भार्थकमिदं प्रकरणं सूरिणा कृतमिति केचित्कल्पयन्ति। हरिभद्राऽऽचार्यो हि भोजनकाले शङ्खवादनपूर्वकमर्थिभ्यो भोजनं दापितवानिति श्रूयते। न चैतत्संभाव्यते,संविग्नपाक्षिको ह्यसौ,न च संविग्नस्य तत्पाक्षिकस्य वाऽनागमिकार्थोपदेशः संभवति, तस्यदानिप्रसङ्गात्। आह च-" संविग्गो अणुवमं, ण देइ दुक्खासिमं कडुविवागं। जाणंतो तम्मि तहा, अतहक्कारो उ मिच्छत्तं " ॥ १ ॥ इति ॥ १९ ॥

भक्तिस्तु भवनिस्तार-वाञ्छा स्वस्य सुपात्रतः ।
तया दत्तं सुपात्राय, बहुकर्मक्षयक्षमम् ॥ २० ॥

(भक्तिस्त्विति) भक्तिस्तु स्वस्य सुपात्रतो भवनिस्तारवाञ्छा। आराध्यस्येष्टज्ञानं भक्तिः, आराधना च गौरवितप्रीतिहेतुः, क्रिया गौरवितस्तेन चेत्येतदपि फलतो नैतल्लक्षणमतिरेके। तया भक्त्या सुपात्राय दत्तं बहुकर्मक्षये क्षमं समर्थं भवति ॥ २० ॥

तथाहि-

पात्रदानचतुर्भङ्ग्या-माद्यः संशुद्ध इष्यते ।
द्वितीये भजना शेषा-वनिष्टफलदौ मतौ ॥ २१ ॥

(पात्रेति) पात्रदानविषयिणी या चतुर्भङ्गी-संयताय शुद्ध-

दानम्, संयतायाशुद्धदानम्, असंयताय शुद्धदानम्, असंयतायाऽशुद्धदानमित्यभिलापा । तत्राद्यो भङ्गः सम्यगतिशयेन शुद्ध इष्यते, निर्जराया एव जनकत्वात् । द्वितीये भङ्गे कालाऽऽदिभेदेन फलभावाऽभावाभ्यां भजना विकल्पाऽऽत्मिका । शेषौ तृतीयचतुर्थभङ्गौ अनिष्टफलदौ एकान्तकर्मबन्धहेतुत्वान्मतौ ॥ २१ ॥

शुद्धं दत्त्वा सुपात्राय, सानुबन्धशुभार्जनात् ।
सानुबन्धं न बध्नाति, पापं बद्धं च मुञ्चति ॥ २२ ॥

(शुद्धमिति) सुपात्राय प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मणे शुद्धमशनाऽऽदिकं दत्त्वा सानुबन्धस्य पुण्यानुबन्धिनः शुभस्य पुण्यस्यार्जनात् सानुबन्धमनुबन्धसहितं पापं न बध्नाति, बद्धं च पूर्वं पापं मुञ्चति त्यजति । इत्थं च पापनिवृत्तौ प्रधानभङ्गप्रयोजकपुण्येन मोक्षसौलभ्यमावेदितं भवति ॥२२॥

भवेत्पात्रविशेषे वा, कारणे वा तथाविधे ।
अशुद्धस्यापि दानं हि, द्वयोर्लाभाय नान्यथा ॥ २३ ॥

(भवेदिति) पात्रविशेषे वाऽऽगमाभिहितस्वरूपकपकाऽऽदिरूपे, कारणे वा तथाविधे दुर्भिक्षदीर्घाध्वग्लानत्वाऽऽदिरूपे आगाढे, अशुद्धस्याऽपि दानं हि सुपात्राय द्वयोर्दातृगृहीत्रोर्लाभाय भवेत्, दातुर्विवेकशुद्धान्तःकरणत्वात्, गृहीतुश्च गीतार्थाऽऽदिपदवत्त्वात्; नान्यथा पात्रविशेषस्य कारणविशेषस्य वा विरहे ॥ २३ ॥

नन्वेवं संयतायाशुद्धदाने फलं द्वयोरस्तु भजना, दातुर्बहुतरनिर्जराऽल्पतरपापकर्मबन्धजनकमित्थं तु भगवत्युक्तं कथमपवादाऽऽदावपि भावशुद्ध्या फलविशेषादित्यत आह-

अथवा यो गृही मुग्धो, लुब्धकज्ञातभावितः ।
तस्य तत् स्वल्पबन्धाय, बहुनिर्जरणाय च ॥ २४ ॥

(अथवेति) अथवा पक्षान्तरे, यो गृही मुग्धोऽसत्शास्त्रार्थो लुब्धकज्ञातेन मृगेषु लुब्धकानामिव साधुषु श्राद्धानां यथाकथञ्चिद्दानाऽऽद्युपष्टम्भकेनानुधावनमेव युक्तमिति पार्श्वस्थप्रदर्शितेन भावितो वासितः, तस्य तत्संयतायाऽशुद्धदानं तु मुग्धत्वादेव स्वल्पपापबन्धाय, बहुकर्मनिर्जरणाय च भवति ॥

अल्पाऽऽयुष्कत्वम्-

इत्थमाशयवैचित्र्या-दत्राल्पाऽऽयुष्कहेतुता ।
युक्ता चाशुभदीर्घाऽऽयु-र्हेतुता सूत्रदर्शिता ॥ २५ ॥

(इत्थमिति) इत्थममुना प्रकारेण, आशयवैचित्र्याच्छुभाशुभभेदात्, अत्र संयताऽशुद्धदाने, अल्पाऽऽयुष्कहेतुताऽशुभदीर्घाऽऽयुर्हेतुता च, सूत्रदर्शिता स्थानाङ्गाऽऽयुक्ता, युक्ता, मुग्धाभिनिविष्टयोरेतदुपपत्तेः । शुद्धदायकापेक्षयाऽशुद्धदायके मुग्धेऽल्पशुभाऽऽयुर्बन्धसंभवात् । शुभक्षणनमहत्त्वकथाया अल्पतायाश्च सूत्रान्तरविरोधेनासंभवादिति । स्वकमदः स्थानाङ्गसूत्रादौ ॥ २५ ॥

यस्तूत्तरगुणाशुद्धं, प्रकृतिविषयं वदेत् ।
तेनात्र भजनासूत्रं, दृष्टं सूत्रकृते कथम् ? ॥ २६ ॥

(यस्त्विति) यस्तु आधाकर्मिकस्यैकान्तदुष्टत्वं मन्यमानः प्रकृतेऽर्थे, प्रक्रान्तगोचरं भगवतीविषयम्, उत्तरगुणाशुद्धं वदेत् । आधाकर्मपरित्यागेनाऽऽशाऽऽदिसंसक्ताशाऽऽदिबालेऽप्यप्रासुकानेषणीयपदप्रवृत्तिदर्शनात् । तेन चैवं यूकापरिजनभयात्परिधानपरित्यजता, अत्र विषये, सूत्रकृते, भजनासूत्रम्, कथं दृष्टम् ? । एवं हि तदनाचारश्रुते श्रूयते-" अहागडाइं भुंजंति, अन्नमन्ने सकम्मुणा । उवलित्ते वियाणिज्जा-ऽणुवलित्ते त्ति वा पुणो " ॥१॥ अत्र ह्याधाकर्मिकस्य फलं भजनैव व्यक्तीकृता, अन्योऽन्यपदमहत्त्वनार्थान्तरस्य कर्तुमशक्यत्वात्, स्वरूपतोऽसावद्ये भजनाव्युत्पादनस्यानतिप्रयोजनत्वाच्चेति संक्षेपः ॥ २६ ॥

शुद्धं वा यदशुद्धं वा-ऽसंयताय प्रदीयते ।
गुरुत्वबुद्ध्या तत्कर्म-बन्धकृन्नाऽनुकम्पया ॥ २७ ॥

(शुद्धं वेति) असंयताय यच्छुद्धं वाऽशुद्धं वा गुरुत्वबुद्ध्या प्रदीयते तदसाधुषु साधुसंज्ञया कर्मबन्धकृत्, न पुनरनुकम्पया । अनुकम्पादानस्य क्वाऽप्यनिषिद्धत्वात् । " अणुकंपादाणं पुण, जिणेहि न कयाइ पडिसिद्धं । " इति वचनात् ॥ २७ ॥

दोषपोषकतां ज्ञात्वा, तामुपेक्ष्य ददज्जनः ।
प्रज्ज्वाल्य चन्दनं कुर्यात्, कष्टामङ्गारजीविकाम् ॥२८॥

अतः पात्रं परीक्षेत, दानशौण्डः स्वयं धिया ।
तत् त्रिधा स्यान्मुनिः श्राद्धः, सम्यग्दृष्टिस्तथाऽपरः ॥२९॥

एतेषां दानमेतत्स्थ-गुणानामनुमोदनात् ।
औचित्यानतिवृत्त्या च, सर्वसंपत्करं मतम् ॥ ३० ॥

दोषेति स्पष्टः ॥ २८ ॥ अत इति स्पष्टः ॥ २९ ॥ (एतेषामिति) एतेषां मुनिश्राद्धसम्यग्दृशां दानम्, एतत्स्थानामेतद्वृत्तीनां गुणानामनुमोदनात्तद्दानस्य तद्भक्तिपूर्वकत्वात्, औचित्यानतिवृत्त्या स्वाचारानुल्लङ्घनेन च, सर्वसंपत्करं ज्ञानपूर्वकत्वेन परम्परया महानन्दप्रदं मतम् ॥ ३० ॥

शुभयोगेऽपि यो दोषो, द्रव्यतः कोऽपि जायते ।
कूपज्ञातेन स पुन-र्नानिष्टो यतनावतः ॥ ३१ ॥

(शुभयोगेऽपीति) पात्रदानवद्धार्मिकवात्सल्याऽऽदौ शुभयोगेऽपि प्रशस्तव्यापारेऽपि यः कोऽपि द्रव्यतो दोषो जायते, स कूपज्ञातेन आगमप्रसिद्धकूपदृष्टान्तेन, यतनावतो यतनापरायणस्य नानिष्टः, स्वरूपतः सावद्यत्वेऽप्यनुबन्धतो निरवद्यत्वात् । तदिदमुक्तम्-" जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स । सा होइ णिज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥१॥" अत्र हि अपवादपदप्रत्ययाया विराधनाया व्याख्यानात् फलजनकतादृशपरिणामविशेषादिको ज्ञानपूर्वकत्वेन क्रियाभेद एव लभ्यते । यत्तु वर्जनाभिप्रायजन्यां निर्जरां प्रति जीवघातपरिणामाजन्यत्वेन जीवविराधनायाः प्रतिबन्धकाभावत्वेनैवाथ हेतुत्वमिति कश्चिदाह साहसिकः, तस्यापूर्वमेव व्याख्यानमपूर्वमेव चाऽऽगमतर्कशास्त्रं, कथं तावत्तस्याः प्रतिबन्धकत्वाभावाज्जीवघातपरिणामविशिष्टत्वेन प्रतिबन्धकत्वे च विशेषणाभावप्रयुक्तस्य विशिष्टाभावस्य शुद्धविशेष्यस्वरूपत्वे विशेष्याभावप्रयुक्तस्य तस्य शुद्धविशेषणरूपस्यापि संभवाज्जीवघातपरिणामोऽपि देवानां प्रियस्य निर्जराहेतुः प्रसज्येत । अथ वर्जनाभिप्रायेण जीवघातपरिणामजन्यत्वलक्षणं स्वरूपमेव विराधनायास्त्याज्यतेऽनो नेयमसती प्रतिबन्धिकेति चेत्, किमनया विराधनापदं प्रवृत्तिनिमित्तं, विशेषणं वा ? । आद्ये प्रवृत्तिनिमित्तं नास्तिपदं वोक्यम इत्ययमुन्मत्तप्रलापः । अन्त्ये चाकथितात्वच्यामिति शिष्यव्यामोहनमात्रमेतत् । अथ यद्धर्मविशिष्टं वस्तु निजस्वरूपं जहाति स धर्मस्तत्रोपाधिरिति नियमाद्वर्जनाभिप्रायविशिष्टा हि जीवविराधना जीवघातपरिणामजन्यत्वं

संयमनाशहेतुं परित्यजतीति भावार्थपर्यालोचनादनुपहितवि-राधनात्वेन प्रतिबन्धकत्वं लभ्यत इत्युपहितायास्तस्याः प्रति-बन्धकाभावत्वमक्षतमिति चेत्, प्रकृतविराधनात्वकौ जीवघात-परिणामजन्यत्वस्यावश्यत्वेन त्याजयितुमशक्यत्वात् । अत एव तत्प्रकारकप्रमितिप्रतिबन्धकत्वस्यापि तद्धानस्यानुपपत्तेः । स्यादे-तत् । वर्जनाभिप्रायाजन्याभोगविराधनात्वेन प्रतिबन्धकत्वे न कोऽपि दोषः, प्रत्युत वर्जनाभिप्रायस्य पृथक्कारणत्वाकल्पनाल्ला-घवमिति । मैवम् । विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहात्, अ-न्यथा दोषाभावविशिष्टबाधत्वेनैव दुष्टज्ञाने प्रतिबन्धकत्वप्रसङ्गा-त्, विशेष्याभावस्थलेऽतिप्रसङ्गाच्च । तस्माद् वर्जनाभिप्रायस्यैव फलविशेषं निश्चयतो हेतुत्वं, व्यवहारेण च तत्तत्क्रियाणां भावा-नुगतानां निमित्तत्वमिति साम्प्रतम् । विपञ्चितं चेदमन्यत्रेति नेह विस्तरः ॥ ३१ ॥

इत्थं दानविधिज्ञाता, धीरः पुण्यप्रभावकः ।
यथाशक्ति ददद्दानं, परमाऽऽनन्दभाग् भवेत् ॥ ३२ ॥

इत्थमिति स्पष्टः ॥ ३२ ॥ द्वा० १ द्वा० ।

दक्षिणायाम्, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । 'दो' अवखण्डने ल्युट् । खण्डने, विशे० । आव० । गजमदे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । मदकारिणि, "दाणवारिसिक्तकपोलमूलं ।" कल्प० २ क्षण । तीर्थकृद्दानमभव्याः प्राप्नुवन्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्, ते नाप्नुवन्तीति वृद्धवादः, अक्षराणि तु ग्रन्थे दृष्टानि न स्मरन्तीति । १६८ प्र० । सेन० २ उल्ला० । केनापि स्वगृहं जिनगृहे मुक्तं, तत्र श्राद्धः कोऽपि भाटकं दत्त्वा तिष्ठति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-यद्यपि साधिकभाटकप्रदानपूर्वकमवस्थाने दोषो न लगति, तथाऽपि तथाविधकारणमन्तरेदं युक्तिमत्त्व प्र-तिभाति, देवद्रव्यभोगाऽऽदौ निःशूकताप्रसङ्गादिति । ४१७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । पौषधमध्ये याचकाऽऽदेर्दानं दातुं कल्पते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-मुक्तवृत्त्या पौषधमध्ये याचकाऽऽदेर्दानं दातुं न कल्पते, कस्मिंश्चित्कारणविशेषे तथा जिनशासनोन्नतिं ज्ञात्वा कदाचिद्यदि ददाति तदा निषेधो ज्ञातो नास्तीति । ४३३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

दाणंतराय-दानान्तराय-न० । दीयते इति दानं, तद्विषयमन्त-रायं दानान्तरायम् । प्रथमायामन्तरायस्योत्तरप्रकृतौ यदुदय-वशात् सति विभवेऽपि समागते च गुणवति पात्रे दत्ताऽस्मै बहुफलमिति जानन्नपि दातुं नोत्सहते, तद्दानान्तरायम् । त-स्मिन्, कर्म० ६ कर्म० । पं० सं० । स० ।

दाणग्गहण-दानग्रहण-न० । प्रदानाऽऽदानयोः, नि० चू० ५ उ० ।

दाणजुय-दानयुत-पुं० । दानरुचौ, कर्म० १ कर्म० ।

दाणट्ठ-दानार्थ-न० । दानमर्थो यस्य तद्दानार्थम् । दाननिमित्ते, प्रश्न० ५ संव० द्वार । सूत्र० ।

दाणधम्म-दानधर्म-पुं० । दानधर्मकर्तव्यतायाम्, "दानात्की-र्त्तिः सुधाशुभ्रा, दानात्सौभाग्यमुत्तमम् । दानात्कामार्थमोक्षाः स्यु-र्दानधर्मो वरस्ततः ॥ १ ॥" पञ्चा० २ विव० ।

दाणव-दानव-पुं० । दनोरपत्यम्, अण् । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । "कगचजतदपयवां प्रायो लुक्" ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इति प्राय-ग्रहणात्स्वरात्परस्यानादिभूतस्यासंयुक्तस्यापि वकारस्यालुक् । 'दाणवो ।' प्रा० १ पाद । भवनपतिविशेषे, व्यन्तरभेदे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । असुरे, अनु० । स्था० । उत्त० । आ० म० ।

दाणविंद-दानवेन्द्र-पुं० । चमराऽऽदौ, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दाणविग्घणास-दानविघ्ननाश-पुं० । दत्तापलापे, प्रश्न० ३ सं-व० द्वार ।

दाणसड्ढ-दानश्राद्ध-पुं० । प्रकृत्यैव दानरुचौ, ध० २ अधि० । वृ० ।

दाणसूर-दानशूर-पुं० । तृतीये शूरभेदे, "दाणसूरे वेसमणे ।" दानशूरो वैश्रवण उत्तराशालोकपालस्तीर्थकराऽऽदिजन्मपारण-काऽऽदिरत्नवृष्टिपातनाऽऽदिनेति । उक्तं च-"वेसमणवयणसंचो-इया उ ते तिरियजंभगा देवा । कोडिग्गसो हिरण्णं, रयणाणि य तत्थ उवर्णेति ॥ १ ॥" इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । संथा० ।

दाणाइ-दानाऽऽदि-पुं० । वितरणप्रभृतौ, आदिशब्दाद् गुरुसे-वातपःप्रभृतीनां च संग्रहः । पञ्चा० २ विव० ।

दाणामा-दानमयी-स्त्री० । प्रव्रज्यायाम्, "दाणामाए पव्वज्जा-ए पव्वइए ।" भ० ३ श० २ उ० ।

दाणिं-इदानीम्-अव्य० । "इदानीमो दाणिं" ॥ ८ । ४ । २७७ ॥ शौरसेन्यामिदानीमः स्थाने 'दाणिं' इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । सम्प्रतीत्यर्थे, भ० ३ श० २ उ० । सूत्र० । "अणंतरकर-णीयं दाणिं आणवेदु अय्यो ।" व्यत्ययात्प्राकृतेऽपि-"अन्नं दाणि बोहि ।" प्रा० ४ पाद । "शुणध दाणिं हगे ! शक्कावयालतित्थनि-वाशी धीवले ! ।" प्रा० ४ पाद । वाक्यालङ्कारे, सू० १ उ० ।

दाणुवएस-दानोपदेश-पुं० । अन्नाऽऽहारप्रदानोपदेशे, आव० ६ अ० । पञ्चा० ।

दाथालय-उदकस्थालक-न० । उदकार्द्रस्थालके, भ० १५ श० ।

दादलिआ-स्त्री० । देशी-अङ्गुली, दे० ना० ५ वर्ग० ३७ गाथा ।

दाम-दामन्-न० । दो-मनिन् । "स्नमदामशिरोनभः" ॥ ८ । १ । ३२ ॥ इति पर्युदासान्न पुंस्त्वम् । 'दामं ।' प्रा० १ पाद । स्रजि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । मालायाम्, भ० ११ श० ११ उ० । क-ल्प० । प्रज्ञा० । औ० । आ० क० । स्था० । रज्जौ, प्रश्न० ३ आ-श्र० द्वार । स्त्रियां डाप् । दामा । मनःशिलाकस्य वेलन्धर-नागराजस्याऽऽवासपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ० । स्त्रियां डाप् । दामा । दामे । वाच० । पाशकविशेषे, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

दामग-दामक-न० । रज्जुमयपादसंयमने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दामड्ढि-दामर्द्धि-पुं० । शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराज्ञः स्वनाम-ख्याते वृषभानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

दामण-दामन-न० । बन्धने, प्रव० ३८ द्वार ।

दामणी-दामनी-स्त्री० । गवादीनां बन्धनविशेषभूतायां रज्जौ, भ० १६ श० ६ उ० । अं० । अष्टादशतमायां तीर्थकरप्रवर्त्तिन्या-म्, प्रव० ९ द्वार । "कुन्थुस्स दामणी अज्जु ।" ति० । दाम-न्याकारे स्त्रीणां सुलक्षणविशेषे च । अं० २ वक्ष० । प्रसवे, नया-नयोश्च । दे० ना० ५ वर्ग ४२ गाथा ।

दामन्नग-दामन्नक-पुं० । राजगृहनगरवास्तव्यस्य मणिकारश्रे-ष्ठिनः स्वनामख्याते पुत्रे, आव० ६ अ० । आ० चू० । (स च पूर्वभवे मत्स्यमांसप्रत्याख्यानपरिपालनाद् मणिकारश्रेष्ठिनः पुत्रत्वेनो-त्पन्नः क्रमेण सागरपतिसार्थवाहस्य गृहस्वामी जातः । ततो

देवलोकं गत्वा ततश्च्युत्वा सेत्स्यतीति ' पच्चक्खाण ' शब्दे उदाहरिष्यते)

दामदुग–दामद्विक–न० । मालाद्वये, भ० १६ श० ६ उ० । स्था० ।

दामलिवि–दामलिपि–स्त्री० । ब्राह्मया लिपेः सप्तदशे भेदे, स० १७ सम० ।

दामिली–द्राविडी–स्त्री० । द्रविडदेशोद्भवायां तद्भाषानिबद्धायां मन्त्रविशेषरूपायां विद्यायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दामोअर–दामोदर–पुं० । " नादियुज्योरन्येषाम् " ॥ ८ । ४ । ३२७ ॥ चूलिकापैशाचिकेऽप्यन्येषामाचार्याणां मतेऽनादौ वर्त्तमानस्य तृतीयो न । दामोदरो । प्रा० ४ पाद । जीर्णदुर्गस्योत्तरदिशि गिरिद्वारे पञ्चमवासुदेवस्य प्रतिमायाम्, ती० ४ कल्प ।

दाय–दाय–पुं० । दा–कर्मणि घञ् । " विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य, पुत्रैर्यत्र प्रकल्प्यते । " इत्युक्ते पित्रादिसम्बन्धवति तद्धपरमे तत्सम्बन्धवति पुत्राऽऽदिभिर्विभजनीये द्रव्ये, विवाहकाले जामात्रादिभ्यो देये धने च । भावे घञ् । वाच० । पर्वदिवसाऽऽदौ दाने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । कल्प० । सामान्यदाने च । भ० । औ० । ज्ञा० । भ० । 'दो' भावे घञ् । खण्डने, 'दैप्' करणाऽऽदौ घञ् । अम्बुनि, स्थाने, लये, सोल्लुण्ठनवाक्ये च । वाच० ।

दायग–दायक–पुं० । दातरि, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० । प्रश्न० ।

दायगदोस–दायकदोष–पुं० । ग्रहणैषणायाः षष्ठे दोषे, पिं० ।

अथ दायकद्वारं गाथाषट्केनाऽऽह–

बाले वुड्ढे मत्ते, उम्मत्ते वेविए य जरिए य ।
अंधेल्लए पगलिए, आरूढे पाउयाहिँ च ॥ ६०३ ॥
हत्थेंदुनियलबद्धे, विवज्जए चेव हत्थपाएहिं ।
तेरासि गुव्विणी बा–लवच्छ भुंजंति घुसुलंती ॥ ६०४ ॥
भज्जंती य दलंती, कंडंती चेव तह य पीसंती ।
पिंजंती रुंचंती, कत्तंती पमद्दमाणी य ॥ ६०५ ॥
छक्कायवग्गहत्था, समणट्ठा निक्खिवित्तु ते चेव ।
ते चेवोगाहंती, संघट्टंताऽऽरभंती य ॥ ६०६ ॥
संसत्तेण य दव्वे–ण लित्तहत्था य लित्तमत्ता य ।
उव्वत्तंती साहा–रणं व दिंती य चोरिययं ॥ ६०७ ॥
पाहुडियं व ठवंती, सपच्चवाया परं च उद्दिस्स ।
आभोगमणाभोगे–ण दलंती वज्जणिज्जा य ॥ ६०८ ॥

बालाऽऽदिका वर्जनीया इति क्रियायोगः । तत्र बालो जन्मतो वर्षाष्टकस्याभ्यन्तरवर्ती १, वृद्धः सप्ततिवर्षाणां, मतान्तरापेक्षया षष्टिवर्षाणां वा उपरिवर्त्ती २, मत्तः पीतमदिराऽऽदिः ३, उन्मत्तो दृप्तो, ग्रहगृहीतो वा ४, वेपमानः कम्पमानशरीरः ५, ज्वरितो ज्वररोगपीडितः ६, अन्धश्चक्षुर्विकलः ७, प्रगलितो गलत्कुष्ठः ८, आरूढः पादुकयोः काष्ठमयोपानहोः ९ ॥ ६०३ ॥ तथा हस्तान्दुना करविषयकाष्ठबन्धनेन निगडेन च पादविषयलोहमयबन्धेन बद्धः १०, हस्ताभ्यां पादाभ्यां वर्जितश्छिन्नत्वात् ११–१२, त्रैराशिको नपुंसकः १३, गुर्विणी आपन्नसत्त्वा १४, बालवत्सा स्तन्योपजीविशिशुका १५, भुञ्जाना भोजनं कुर्वती १६, घुसुलन्ती दध्यादि मथ्नती १७ ॥ ६०४ ॥ भर्जमाना चुल्ल्यां कवल्लिकाऽऽदि चनीपकादी स्फोटयन्ती १८, दलन्ती घरट्टेन गोधूमाऽऽदि चूर्णयन्ती १९, कण्डयन्ती उदूखले तन्दुलाऽऽदिकं छडयन्ती २०, पिषन्ती शिलायां तिलामलकाऽऽदि प्रमृद्नन्ती २१, पिञ्जन्ती पिञ्जनेन रुताऽऽदिकं विरलं कुर्वती २२, रुञ्चन्ती कार्पासं लोठन्या लोठयन्ती २३, कृन्तन्ती कर्त्तनं कुर्वती २४, प्रमृद्नन्ती रुतं कराभ्यां पौनःपुन्येन विरलं कुर्वती २५ ॥ ६०५ ॥ षट्कायव्यग्रहस्ता षट्कायव्यग्रहस्ता २६, तथा श्रमणार्थं भिक्षामादाय तानेव षट्कायान् भूमौ निक्षिप्य ददती २७, तांश्च षट्कायानवगाहमाना पादाभ्यां चालयन्ती २८, संघट्टयन्ती तानेव षट्कायान् शेषशरीरावयवेन च स्पृशन्ती २९, आरभमाणा तानेव षट्कायान् विनाशयन्ती ३० ॥ ६०६ ॥ ससंक्तेन दध्यादिना द्रव्येण लिप्तहस्ता खरण्टितहस्ता ३१, तथा तेनैव द्रव्येण दध्यादिना संसक्तेन लिप्तमात्रा खरण्टितमात्रा ३२, सदुर्त्तयन्ती महापिठराऽऽदिकमुद्धृत्य तन्मध्याद्ददती ३३, साधारणं बहूनां सत्कं ददती ३४, तथा चोरितं ददती ३५ ॥ ६०७ ॥ प्राभृताऽऽदिनिमित्तं मूलस्थालयामाकृष्य स्थगनिकाऽऽदौ मुञ्चन्ती ३६, सप्रत्यपाया संभाव्यमानापायदार्थी ३७, तथा विवक्षितसाधुव्यतिरेकेण परमन्यं स्वार्थादिकमुद्दिश्य इष्टान् स्थापितं तद्ददती ३८, तथा–आभोगेन साधूनामित्थं न कल्पत इति परिज्ञायाप्यशुद्धं ददती ३९, अथवा–अनाभोगेनाशुद्धं ददती ४०, सर्वसंख्यया चत्वारिंशद्दोषाः ॥ इह प्राक्तनाऽऽदिद्वारेषु–"संसज्जिमेहि वज्जं, अगारिहिएहि पि गोरसदवेहिं ।" इत्यादिग्रन्थेन संसक्ताऽऽदिदोषाणामभिधानेऽपि यद् भूयोऽप्यत्र " संसत्तेण य दव्वे–ण लित्तहत्था य लित्तमत्ता य । (६०७) " इत्याद्यभिधानं, तद्दशेषदायकदोषाणामेकत्रोपदर्शनार्थमित्यदोषः ॥ ६०८ ॥

संप्रत्येतेषामेव दायकानामपवादमधिकृत्य वर्जनावर्जनविभागमाह–

एएसि दायगाणं, गहणं केसिं वि होइ भइयव्वं ।
केसिं वी अग्गहणं, तव्विवरीए भवे गहणं ॥ ६०९ ॥

एतेषां बालाऽऽदीनां दायकानां मध्ये केषांचिद्–मुत्तन आरभ्य पञ्चविंशतिसंख्यानां ग्रहणं भजनीय कदाचित्तथाविधं महत्प्रयोजनमुद्दिश्य कल्पते, शेषकालं नेति । तथा केषांचित्षट्कायव्यग्रहस्ताऽऽदीनां पञ्चदशानां हस्ताद्ग्रहणं भिक्षायाः, तद्विपरीते तु बालाऽऽदिविपरीतेषु दातरि भवेद् ग्रहणम् ।

सम्प्रति बालाऽऽदीनां हस्ताऽऽद्भिक्षाग्रहणे ये दोषाः संभवन्ति ते दर्शनीयाः, तत्र प्रथमतो बालमाश्रित्य दोषानाह–

का माहिग अप्पाहण, दिने वत्तगहणा पज्जंते ।
कंजियमग्गण दिण्णे, उड्डाहपओसचारभडा ॥ ६१० ॥

काचिदभिनवा श्राद्धिका श्रमणेभ्यो भिक्षां दद्या इति निजपुत्रिकां (अप्पाहणं ति) संदिश्य क्षेत्रं गृहीत्वा क्षेत्रं जगाम, गतायां तस्यां कोऽपि साधुर्भद्रको भिक्षामागतः, तया च बालिकया तस्मै तन्दुलौदनो वितीर्णः, सोऽपि च संघाटकमुख्यः साधुस्तां बालिकां मुग्धतरामवगम्य लाम्पट्यतो भूयो भूय उवाच–पुनर्देहि पुनर्देहीति । ततस्तया समस्तोऽप्योदनो दत्तः । तत एवमुक्त्वा घृतगुडदध्यादिकमपि । अपराह्ने च समागता जननी, उपविश्य भोजनाय भणिता च निजपुत्रिका–देहि पुत्रि ! मह्यमोदनमिति । साऽवोचत्–दत्तः समस्तोऽप्योदनः साधवे । साऽब्रवीत्–शोभनं कृतवती, मुञ्चत्वं मे देहि । सा प्राह–मुद्गा अपि साधवे सर्वे दत्ताः । एवं यद् यत् किमपि सा

याचते, तत्सर्वं साधवे दत्तमिति। ततः पर्यन्ते काञ्जिकमा-
चमयाचि। बालिका भणति-तदपि साधवे दत्तमिति। ततः सा-
ऽतिलघ्वाकुलिका दृष्टा सती पुत्रिकामेवमपृच्छत्-किमिति त्व-
या सर्वं साधवे दत्तम्?। सा ब्रूते-स साधुर्भूयो भूयो याचते,ततो
मया सर्वमदायि। ततः सा साधोरुपरि कोपाऽऽवेशमाविशन्ती
सूरीणामन्तिकमगमत्। अवकथच्च सकलमपि साधुवृत्तान्तं,
यथा- भवदीयः साधुरित्थमित्थं मत्पुत्रिकायाः सकाशात् या-
चित्वा याचित्वा सर्वमोदनाऽऽदिकमानीतवानिति। एवं तस्यां
महता शब्देन कथयन्त्यां शब्दश्रवणतः प्रातिवेशिकजनोऽन्यो-
ऽपि च परम्परया भूयान्मिलितो, ज्ञातश्च सर्वैरपि साधुवृत्ता-
न्तः,ततो विदधाति तेऽपि कोपावेशिनः साधूनामवर्णवादम्-नून-
ममी साधुवेषविडम्बितकाभरजटा इव लुण्टाकाः, न साधुवद्-
वृत्ता इति। ततः प्रवचनावर्णवादापनोदाय सूरिभिस्तस्याः
सर्वजनस्य च समक्षं स साधुर्निर्भर्त्स्योपकरणं च सकलमाच्छि-
द्य वसतेर्निष्काशितः, तत एवं तस्मिन्निष्काशिते आविकायाः
कोपः प्रशममगमत्। ततः सूरीणामुक्तवती-क्षमाश्रमण! भ-
गवन्! मा मन्निमित्तमेव निष्काशयतां, क्षमस्वैकं ममापराधमि-
ति, ततो भूयोऽपि यथावत्साधुः शिक्षित्वा प्रवेशितः। सूत्रं सु-
गमं, नवरम् (उड्डाहपओसचारजण्ण इति) लोके उड्डाहस्ततो
लोकस्य प्रद्वेषभावतश्चारभटा इव लुण्टाका अमी न साधव
इत्यवर्णवादः। यत एवं बालाद्भिक्षाग्रहणे दोषाः,ततो बालान्न
ग्राह्यमिति।

संप्रति स्थविरदायकदोषानाह-

थेरो गलंतलालो, कंपणहत्थो पडिज्ज वा देंतो।
अपहु त्ति य अवियत्तं,एगयरे वा उभयओ वा ॥६११॥

अत्यन्तस्थविरो हि प्रायो गलल्लालो भवति, ततो देयमपि
वस्तु लालया खरण्टितं भवतीति तद्ग्रहणे लोके जुगुप्सा। तथा-
कम्पमानहस्तो भवति, ततो हस्तकम्पनवशात्तद् वस्तु भूमौ
निपतति। तथा च-षड्जीवनिकायविराधना,तथा-स्वयं वा स्थ-
विरो ददत् निपतेत्, तथा च सति तस्य पीडा, भूम्याश्रितषड्-
जीवनिकायविराधना च। अपि च-प्रायः स्थविरो गृहस्याप्रभुः
स्वामी भवति, ततस्तेन दीयमानमप्रभुत्वेन सति विचिन्त्य गृहे
स्वामित्वेन नियुक्तस्य "अवियत्तं" प्रद्वेषः स्यात्, स च एकतर-
स्मिन् साधौ, यद्वा-उभयोरपीति।

मत्तोन्मत्तावाभित्य दोषानाह-

उव्वयास भाणभेओ, वमणं असुइ त्ति लोगगरिहा य।
पंतावणं च मत्ते, वमणविवज्जा य उम्मत्ते ॥ ६१२ ॥

मत्तः कदाचिन्मत्ततया साधोरालिङ्गनं विदधाति, भाजनं वा
भिनत्ति। यद्वा-कदाचित् पीतमासवं वदतो वमति, वमंश्च साधुं,
साधुपात्रं वा खरण्टयति। ततो लोके जुगुप्सा-धिगमी साध-
वोऽशुचयो ये मत्तादपीत्थं भिक्षां गृह्णन्तीति। तथा- कोऽपि मत्तो
मद्यवशाद्विह्वलतया-रे मुण्ड! किमत्राऽऽयात इति ब्रुवन् घातमपि
विदधाति, तत एवं यतो मत्तेऽव्यालाऽऽदयो दोषाः, तस्मा-
त्ततो ग्राह्यम्। एत एवाऽऽलिङ्गनाऽऽदयो दोषा वमनवर्जा
उन्मत्तेऽपि, तस्मात्ततो पि न ग्राह्यम्।

संप्रति वेपितज्वरिताबाभित्य दोषानाह-

वेवण परिसाडणया, पासे व छुभेज्ज भाणभेओ वा।
एमेव य जरियम्मि वि, जरसंकमणं व उड्डाहो ॥६१३॥

वेपितात्तु दातुः सकाशाद्भिक्षाग्रहणे देयवस्तुनः परिशाटनं भ-
वति। यद्वा-पार्श्वे साधुभाजनाद् बहिः स वेपितो देयं वस्तु क्षि-
पेत्। यद्वा-येन स्थाल्यादिना भाजनेन कृत्वा भिक्षामानयति त-
स्य भूमौ निपाते भेदः स्फोटनं स्यात्। एवमेव ज्वरितेऽपि दोषा
भावनीयाः। किं च-ज्वरितात् ग्रहणे ज्वरसंक्रमणमपि साधो-
र्भवेत्, तथा जनोड्डाहो यथा-अहो! अमी आहारलम्पटाः, य-
दित्थं ज्वरपीडितादपि भिक्षां गृह्णन्तीति।

अन्धगलत्कुष्ठावाभित्य दोषानाह-

उड्डाह कायपडणं, अंधे भेओ य पासछुहणं वा।
तद्दोसी संकमणं, गलंतभिसाभिसद्देहे य ॥ ६१४ ॥

अन्धाद्भिक्षाग्रहणे उड्डाहः, स चायम्-अहो! अमी औदरिका
यदन्धादपि भिक्षां दातुमशक्नुवतो भिक्षां गृह्णन्तीति। तथा-
अन्धोऽपश्यन् पादाभ्यां भूम्याश्रितषड्जीवनिकायघातं विदधा-
ति। तथा-लोष्टाऽऽदौ स्खलितः सन् भूमौ निपतेत्। तथा-वस-
तिभिक्षादानायोत्पाटितहस्तगृहीतस्थाल्यादिभाजनभङ्गः। तथा-
स देयं वस्तु पार्श्वे भाजनबहिस्तात् प्रक्षिपेत्, अदर्शनात्। त-
स्मादन्धादपि न ग्राह्यम्। तथा त्वग्दोषवति, किंविशिष्टे?, इ-
त्याह-गलितभृशभिन्नदेहे। अत्राऽऽर्षत्वात् व्यत्यासेन पदयो-
जना। स्या चैवम्-भृशमतिशयेन गलत् अङ्कुरकं रुधिरं
च बहिर्वहत् भिन्नश्च स्फुटितो देहो यस्य स तथा तस्मि-
न्, तदादिसंक्रमणे कुष्ठव्याधिसंक्रान्तिः स्यात्, तस्मात्ततोऽपि
न ग्राह्यम्।

संप्रति पादुकाऽऽरूढादिचतुष्टयदोषानाह-

पाउयदुरूढपडणं, बद्धे परियाव असुइखिसा य।
करछिन्नाऽसुइखिसा,ते चिय पायम्मि पडणं च ॥६१५॥

पादुकाऽऽरूढस्य भिक्षादानाय प्रचलतः कदाचिद् दुःस्थितत्वात्
पतनं स्यात्। तथा-बद्धे दातरि भिक्षां प्रयच्छति परितापो
दुःखं तस्य भवेत्। तथा-(असुइ त्ति) तस्य पुरीषोत्सर्गाऽऽदौ जलेन
तस्याशौचकरणासंभवात्, ततो भिक्षाग्रहणे लोके जुगुप्सा, य-
था-अमी अशुचयो यदेतस्मादप्यशुचिपूतत्वात् भिक्षामाददत
इति। एवं छिन्नकरेऽपि भिक्षां प्रयच्छति लोके जुगुप्सा, तथा-
हस्ताभावेन शौचकरणासंभवात्। एतच्चोपलक्षणम्,तेन हस्ता-
भावे येन कृत्वा भाजने न भिक्षां ददाति। यद्वा-देयं वस्तु तस्य
पतनमपि भवति। तथा च सति षड्जीवनिकायव्याघातः। एत
एव दोषाः पादेऽपि छिन्नपादेऽपि दातरि द्रष्टव्याः, केवलं पादा-
भावेन तस्य भिक्षादानाय प्रचलतः प्रायो नियमतः पतनं पातो
भवेत्। तथा च सति भूम्याश्रितकीटिकाऽऽदिकसत्त्वव्याघातः।

संप्रति नपुंसकमधिकृत्य दोषानाह-

आयपरोभयदोसा,अभिक्खगहणम्मि खोभणं नपुंसे।
लोगदुगुंछा संका, एरिसया नूणमेए वि ॥ ६१६ ॥

नपुंसके भिक्षां प्रयच्छति आत्मपरोभयदोषाः। तथाहि-नपुंस-
काद् भिक्षाग्रहणेऽतिपरिचयो भवति, अतीव परिचयात् तस्य
नपुंसकस्य साधोर्वा क्षोभो वेदोदयरूपः समुपजायते। ततो
नपुंसकस्य साधुलिङ्गाऽऽश्लेषणेन द्वयस्यापि मैथुनसेवया क-
र्मबन्धः, अभीक्ष्णग्रहणशब्दोपादानाच्च कदाचित् भिक्षाग्रहणे
दोषाभावमाह, परिचयाभावात्। तथा लोके जुगुप्सा-यदेते नपुं-
सकादपि भिक्षाग्राहिका आददते इति, साधूनामप्युपरि जनस्य
शङ्का भवति तस्माद् यदेतेऽपि साधवो नूनमीदृशा नपुंसकाः।

कथमत्यासन्नेन सह भिक्षाग्रहणव्याजेनोऽन्तपरिचयं विदधत इति ।

संप्रति गुर्विणीं बालवत्सां चाश्रित्य दोषानुपदर्शयति-

गुव्विणि गब्भे संघ-ट्टणा उ उट्ठंत-वेसमाणीए ।
बालाई मंसुंडुग, मज्जाराई विराहिज्जा ॥ ६१७ ॥

गुर्विण्या भिक्षादानार्थमुत्तिष्ठन्त्या भिक्षां दत्त्वा स्थाने उपविशन्त्याश्च गर्भस्य संघट्टनं संचलनं भवति, तस्माच्च ततो ग्राह्यम । (बालाई मंसुंडुग त्ति) अत्राऽऽर्षत्वाद् व्यत्यासेन पदयोजना-बालमिति शिशुं भूमौ,मञ्चिकाऽऽदौ वा निक्षिप्य यदि भिक्षां ददाति,तर्हि तं बालं मार्जाराऽऽदयो विडालसारमेयाऽऽदयो मांसेन्दुकाऽऽदि मांसखण्डं शशकशिशुरिति वा कृत्वा विराधयेत् विनाशयेत । तथा--आहारखरण्टितौ शुष्कौ हस्तौ भवतः,ततो भिक्षां दत्त्वा पुनर्डिम्भं हस्ताभ्यां गृह्णमाणस्य बालस्य पीडा भवेत्,ततो बालवत्सातोऽपि न ग्राह्यम ॥६१७॥ पिं०॥

किं च-

थणगं पिज्जमाणी य, दारगं वा कुमारियं ।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं, आहरे पाणभोयणं ॥ ४२ ॥

स्तनं पाययन्ती, कमित्याह-दारकं वा, कुमारिकाम । वाशब्दस्य व्यवहितः संबन्धः । अत एव नपुंसकं वा । तद्दारकाऽऽदि, निक्षिप्य रुदद् भूम्यादौ आहरेत् पानभोजनम् । अत्रायं वृद्धसंप्रदायः-" गच्छवासी, जइ थणजीवी पियंतो णिक्खित्तो, तो न गिण्हंति । रोवउ वा, मा वा; अह अन्नं पि आहारेइ, तो जति ण रोवइ,तो गिण्हंति, अह रोवइ,तो न गिण्हंति । अह अपियंतो णिक्खित्तो थणजीवी रोवइ,तओ ण गिण्हंति । अह न रोवति, तो गिण्हंति । गच्छनिग्गया पुण जाव थणजीवी ताव रोवउ वा,मा वा, पियंतओ वा, अपियंतओ वा ण गिण्हंति । जाहे अन्नं पि आहारेउं आढत्तो भवति, ताहे जइ पियंतओ, तो रोवउ वा, मा वा,ण गिण्हंति । अह अपियंतओ, तो जइ रोवइ, तो परिहरंति, अरोविए गेण्हंति । सीसो आह-को तत्थ दोसोऽत्थि ?। आयरिओ भणइ-तस्स निक्खिप्पमाणस्स खरेहिं हत्थेहिं घिप्पमाणस्स अथिरत्तणेण परितावणा दोसा,मज्जाराऽऽदि वा अवहरेज्ज । " इति सूत्रार्थः ॥४२॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४३ ॥

तद्भवेद् भक्तपानं त्वनन्तरोदितं संयतानामकल्पिकं, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः । ॥ ४३ ॥ दश० ५ अ० १ उ० ।

भुञ्जानां मथ्नतीं चाऽऽश्रित्य दोषानाह-

भुंजंती आयमणे, उदगं वोच्छी य लोगगरिहा य ।
घुसुलंती संसत्तं, करम्मि लित्ते वहे रसगा ॥ ६१८ ॥

भुञ्जाना दात्री भिक्षादानार्थमाचमनं करोति, आचमने च क्रियमाणे उदकं विराध्यते, अथ न करोत्याचमनं, तर्हि लोके बोटिरीतिकृत्वा गर्हा स्यात् । तथा-"घुसुलंती" दध्यादि मथ्नन्ती यदि तद् दध्यादिसंसक्तं मथ्नाति, तर्हि तेन संसक्तदध्यादिना लिप्ते करे तस्या भिक्षां ददत्याः,तेषां रसजीवानां वधो भवति, ततस्तस्या अपि हस्तान्न कल्पते ।

संप्रति पेषणाऽऽदिदोषानुपदर्शयति-

दगवीए संघट्टण, पीसणकंडदलभज्जणे डहणं ।
पिंजंत रुवणाई, दिन्ने लित्ते करे उदगं ॥ ६२० ॥

पेषणकण्डनदलनानि कुर्वतीनां हस्तान्निक्षाग्रहणे उदकबीजसंघट्टनं स्यात । तथाहि-पिषन्ती यदा भिक्षादानायोत्तिष्ठति तदा पिष्यमाणतिलाऽऽदिसत्काः काश्चित्कणिकाः सचित्ता अपि हस्ताऽऽदौ लगिताः संजयन्ति, ततो भिक्षादानाय हस्ताऽऽदिप्रस्फोटने भिक्षां वा दत्त्वा भिक्षासंपर्कलग्नानां विराधना भवति । भिक्षां वा दत्त्वा भिक्षाऽवयवखरण्टितौ हस्तौ अम्भसा प्रक्षालयेत् । ततः पेषणे उदकबीजसंघट्टना । एवं कण्डनदलनयोरपि यथायोगं भावनीयम । तथा-भर्जने भिक्षां ददत्या वेलालगनेन कालक्षेपणेन गोधूमाऽऽदीनां दहनं स्यात । तथा-पिञ्जनं, रुञ्जनमित्यशब्दात्कर्तनप्रमर्दने वा कुर्वती भिक्षां दत्त्वा भिक्षाऽवयवखरण्टितौ हस्तौ अम्भसा प्रक्षालयेत, ततस्तत्रोदकं विनश्यतीति न ततो भिक्षा कल्पते ।

सम्प्रति षट्कायव्यग्रहस्ताऽऽदिपञ्चकस्वरूपं गाथाद्वयेनाऽऽह-

लोणदगअगणिवत्थी, फलाइ मच्छाइ सजीय हत्थम्मि ।
पाएणोगाहणया, संघट्टण सेसकाएणं ॥ ६२१ ॥
खणमाणी आरभए, मज्जए धोएज्ज सिंचए किंचि ।
छेयविसारणमाई, छिंदइ छट्ठे फुरफुरंते ॥ ६२२ ॥

इह सा षट्कायव्यग्रहस्ता उच्यते, यस्या हस्ते सजीवं लवणमुदकमग्निर्वायुपूरितो वा बस्तिः,फलाऽऽदिकं बीजपूराऽऽदिकं मत्स्याऽऽदयो वा विद्यन्ते,ततः सा यद्येतेषां सजीवलवणाऽऽदीनां मध्यतमादपि श्रमणभिक्षादानार्थं भूम्यादौ निक्षिपति, तर्हि न कल्पते । तथा-अवगाहना नाम यदेतेषां षड्जीवनिकायानां पादेन संघट्टनं शेषकायेन हस्ताऽऽदिना संमर्दनं संघट्टनमाचरमाणा ॥६२१॥ कुद्दालादिना भूम्यादि खनन्ती, अनेन पृथिवीकायाऽऽरम्भ उक्तः । यद्वा-मज्जन्ती शुद्धेन जलेन स्नाती । अथवा--धावन्ती शुद्धेनोदकेन वस्त्राणि प्रक्षालयन्ती । यदि वा-किञ्चित् वृक्षवल्ल्यादि सिञ्चन्ती,एतेनाप्कायाऽऽरम्भो दर्शितः । उपलक्षणमेतत् । उज्ज्वालयन्ती वा फूत्कारेण वैश्वानरं वस्त्यादिकं वा सचित्तवातभृतमितस्ततः प्रक्षिपन्ती,एतेनाग्निवायुसमारम्भ उक्तः । तथा शाकाऽऽदेः छेदविसारणं कुर्वती । तत्र छेद पुष्पफलाऽऽदेः खण्डनं, विसारणं तेषामेव खण्डानां शोषणायाऽऽतपे मोचनम । आदिशब्दात्तन्दुलमुद्गाऽऽदीनां शोधनाऽऽदिपरिग्रहः । तथा-छिन्दन्ती षष्ठान् त्रसकायान् मत्स्याऽऽदीन् "फुरफुरंते" इति परिस्फुरतः, पीडया चलत इत्यर्थः । अनेन त्रसकायाऽऽरम्भ उक्तः । इत्थं षड्जीवनिकायानारभमाणाया हस्तान्न कल्पते ।

सम्प्रति षट्कायव्यग्रहस्तेतिपदस्य व्याख्याने मतान्तरमुपदर्शयति-

छक्कायवग्गहत्था, केई कोलाइ कन्नलइयाइ ।
सिद्धत्थगपुप्फाणि य, सिरम्मि दिन्नाइ वज्जेंति ॥ ६२३ ॥

केचिदाचार्याः षट्कायव्यग्रहस्तेतिपदमस्य कोलाऽऽदीनि बदराऽऽदीनि, आदिशब्दात्कर्कराऽऽदिपरिग्रहः (कन्नलइया इति) कर्णपिनद्धानि । तथा-सिद्धार्थकपुष्पाणि शिरसि दत्तानि वर्जयन्ती ।

अन्ने भणंति इयसु वि,एसणदोसेसु अत्थि उग्गहणं ।
तेण न वज्जं भण्णइ, न तु गहणं दायए गहणे ॥ ६२४ ॥

अन्ये त्वाचार्यदेशीया भणन्ति । यथा-दशस्वपि शङ्किताऽऽदिषु एषणादोषेषु मध्ये तद्ग्रहणं षट्कायव्यग्रहस्तेष्युपादानमस्ति, तेन कारणेन शङ्काऽऽदियुक्तदेशविषयाग्रहणं न वर्ज्यं, तदेतदपार्थकं, यत आह-जघन्ये अनोत्तरं हीयते, न तु दायकग्रहणादेषणादोषमध्ये षट्कायव्यग्रहस्तेष्वस्य ग्रहणं विद्यते, तत्कथमुच्यते, न तद्ग्रहणमिति ।

सम्प्रति संसक्तिमद्रव्यवदाद्यादिदोषानाह--

संसज्जिमम्मि देसे, संसज्जिमदव्वलित्तकरमत्ते ।

संचारायत्तणओ, उक्खिप्पंते वि ते चेव ॥ ६२५ ॥

संसक्तिमति संसक्तिमद्रव्यवति, देशे मण्डले,संसक्तिमता द्रव्येण लिप्तः करो मात्रं वा यस्याः सा तथाविधा दात्री भिक्षां ददती कदाचिदप्रमादात् सत्त्वान् हन्ति,तस्मात्सा वर्ज्यते । तथा-महतः पिठराऽऽदेरपवर्तने संचारः, सूक्ष्मात्सूक्ष्ममिति संचारिमकीटिकामत्कोटाऽऽदिसत्त्वव्याघातः । इदमुक्तं भवति-महत् पिठरं यदा तदा वा नोत्पाट्यते, नापि यथा तथा वा संचार्यते, महत्त्वादेव, किं तु प्रयोजनविशेषोत्पत्तौ सकृत्, ततस्तदाश्रित्य प्रायः कीटिकाऽऽदयः सत्त्वाः संजायन्ते । ततो यदा तत्पिठराऽऽदिकमुत्क्षिप्य किंचिद्ददाति तदा तदाश्रितजन्तुव्यापादः। एते च दोषा उत्पाट्यमानेऽपि महति पिठराऽऽदौ, तथाऽपि हि भूयो निक्षेपणे हस्तसंस्पर्शनो वा संचारिमकीटिकाऽऽदिसत्त्वव्याघातः । अपि च तथाभूतस्य महत उत्पाटने दात्र्याः पीडाऽपि भवति, तस्मात्तदुत्पाटनेऽपि भिक्षा कल्पते ।

सम्प्रति साधारणं चोरितं वा ददत्या दोषानाह-

साधारणं बहूणं, तत्थ उ दोसा जहेव अणिसट्ठे ।

चोरियए गहणाई, भयए सुण्हाइ वा देंते ॥ ६२६ ॥

बहूनां साधारणं यदि ददाति, तर्हि तत्र यथा प्राक् अनिसृष्टे दोषा उक्तास्तथैव द्रष्टव्याः। तथा-चौर्येण भृतककर्मकरे स्नुषाऽऽदौ वा ददति ग्रहणाऽऽदयो ग्रहणबन्धनताडनाऽऽदयो दोषा द्रष्टव्याः, तस्मात्तदपि न कल्पते । पिं० ।

विशेषमाह-

गुव्विणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोयणं ।

भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ॥३९॥

गुर्विण्या गर्भवत्या उपन्यस्तमुपकल्पितम् । किं तदित्याह-विविधमनेकप्रकारं, पानभोजनं द्राक्षापानकखण्डखाद्यकाऽऽदि । तत्र भुज्यमानं तया विवर्जयेत्,मा भूत्तस्याल्पत्वेनाऽभिलाषाऽनिवृत्त्या गर्भपतनाऽऽदिदोष इति । भुक्तशेषं भुक्तोद्वरितं, प्रतीच्छेत्, यत्र तस्या निवृत्तोऽभिलाष इति सूत्रार्थः ॥ ३९ ॥

किं च-

सिया य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी ।

उट्ठिया वा निसीएज्जा, निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥४० ॥

स्याच्च कदाचिच्च,श्रमणार्थं साधुनिमित्तं, गुर्विणी पूर्वोक्ता, कालमासवती गर्भाधानान्नवममासवतीत्यर्थः । उत्थिता वा यथाकथंचिन्निषीदेत्-ददामीति साधुनिमित्तम् । निषण्णा वा स्वव्यापारेण पुनरुत्तिष्ठेत्-ददामीति साधुनिमित्तमेवेति सूत्रार्थः ॥ ४० ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।

दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४१॥

तद्भवेद् भक्तपानं तु, तथा निषीदनोत्थानाभ्यां दीयमानं संयतानामकल्पिकम् । इह च स्थविरकल्पिकानामनिषीदनोत्थानाभ्यां यथावस्थितया दीयमानं कल्पिकम् । जिनकल्पिकानां त्वापन्नसत्त्वया प्रथमदिवसादारभ्य सर्वथा दीयमानमकल्पिकमेवेति संप्रदायः । यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत,न मम कल्पते तादृशमित्येतत्पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः ॥४१॥ दश० ५ अ०१ उ० । कस्मिंश्चिद्दायकदोषेषु जीतकल्पानुसारेण निर्विकृतिकं प्रायश्चित्तम् । जीत० । प्रव० । आचा० । उत्त० । ग० । ध० । ओघ० । दश० । पञ्चा० । आचा० । नि० चू० । स्था० । (नीचतोऽशनाऽऽदि ददाति इत्यत्र 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ६६५ पृष्ठे उक्तम्)

दायगसुद्ध-दायकशुद्ध-त्रि० । दायकः शुद्धो यत्राऽऽशंसाऽऽदिदोषरहितत्वात् । दायकदोषरहिते, भ० १५ श० । दायकशुद्धं तु यत्र दाता औदार्याऽऽदिगुणान्वितः । विपा० २ श्रु० १ अ० ।

दायण-दापन-न० । यथा गृहीतत्तकपानयोर्निवेदने, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

दायणा-दापना-स्त्री० । पृच्छाप्रतिपृच्छयार्थस्य व्याख्याने,"दायणा तदत्थस्स वक्खाणं ।"(२६३२) विशे० । आ०म० । आ०चू० ।

दायव्व-दातव्य-त्रि० । दातुं योग्ये, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

दायाद-दायाद-पुं० । दायं विभजनीयधनमादत्ते । आ-दा-कः । पुत्रे, सपिण्डे, वाच० । पितृपिण्डोदकदानयोग्ये, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दायार-दायार-पुं० । दायाय दानार्थमिष्यति आगच्छन्तीति दायाराः । याचके, कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

दार-दार-पुं० । ब० व० । दारयन्ति विदारयन्ति पुरुषस्यान्तरङ्गगुणानिति दाराः । भ्रातृ० । दारयन्ति भ्रातृस्नेहम्, दृ-णिच्, अप् । पत्न्याम् , सा हि पत्युः भ्रातृस्नेहं भिनत्तीति लोकप्रसिद्धम् । वाच० । कलत्रे, प्रश्न० ६ द्वार । आ० चू० । आव० । स्त्रियाम् , सूत्र० २१ अ० ।

द्वार-न० । प्रासादभवनदेवकुलाऽऽदीनां (रा०) प्रवेशमुखे, विशे० । प्रश्न० । भ० । दश० । प्रज्ञा० । नि० चू० । अनु० । रा० । (विजयाऽऽदीनां जम्बूद्वीपद्वाराणां वक्तव्यता 'जंबूदीव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३७२ पृष्ठे उक्ता) (सुधर्माभविमानद्वारवक्तव्यता 'सुरियाभ' शब्दे द्रष्टव्या) गृहाऽऽदिनिर्गमस्थाने, प्रतीहारे, उपाये, मुखे च । वाच० । कटिसूत्रे, दे०ना० ५ वर्ग ३८ गाथा ।

दारग-दारक-पुं० । दृणाति भिनत्ति उदरं दृ-ण्वुल् । वाच० । बालके, व्य० ३ उ० । दश० । रा० । आ० क० । सूत्र० । ज्ञा० । आ० म० । डिम्भदारककुमारकाणामल्पबहुबहुतरकालकृतो विशेषः । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । बालिकायाम् , स्त्री० । टाप् । अत इत्वम् । वाच० । आ० म० । प्रश्न० । अन्त० । आचा० । भेदके, ग्रामशूकरे, पुं० । वाच० ।

दारजक्खिणी-द्वारयक्षिणी-स्त्री० । द्वारस्थायां यक्षिण्याम् , आव० ४ अ० ।

दारट्ठ-द्वारस्थ-पुं० । द्वारपाले, वृ० १ उ० ।

दारकंता-स्त्री० । देशी--पेटायाम, दे० ना० ५ वर्ग ३८ गाथा ।

दारपडियरग-द्वारप्रतिचरक-पुं० । अभ्यन्तरमूलस्थापिनि, प्रव० ७१ द्वार ।

दारपिंड–द्वारपिण्ड–पुं० । द्वारशाखायाम्, जं० १ वक्ष० । जी० ।

दारपिहाण–द्वारपिधान–न० । द्वारकपाटस्थगने, (तत्र द्वारपिधाने दोषाः । कारणे तत्कर्तव्यता च 'वसइ' शब्दे वक्ष्यते)

णो पिहे ण यावपंगुणे,
दारं सुण्णघरस्स संजए ।
पुट्ठे ण उदाहरे वायं,
ण समुच्छे णो संथरे तणं ॥ १३ ॥

केनचित्कथनाऽऽदिनिमित्तेन शून्यं गृहमाश्रितो भिक्षुः, तस्य गृहस्य द्वारं कपाटाऽऽदिना न पिदधीत न स्थगयेन्नापि तच्चालयेत् । यावत् (ण यावपंगुणे त्ति) नोद्घाटयेत्, तत्रस्थोऽन्यत्र वा केनचिद्धर्माऽऽदिकं मार्गं वा पृष्टः सन् सावद्यां वाचं नोदाहरेद् न ब्रूयात् । आभिग्रहिको जिनकल्पिकाऽऽदिर्निरवद्यामपि न ब्रूयात् । तथा न समुच्छिन्द्यात् तृणानि कचवरं च प्रमार्जनेन नापनयेत, नापि शयनार्थी कश्चिदाभिग्राहिकस्तृणाऽऽदिकं संस्तरेत्, तृणैरपि संस्तारकं न कुर्यात्, किं पुनः कम्बलाऽऽदिनाऽन्यो वा सुषिरतृणं न संस्तरेदिति ॥१३॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

दारवाल–द्वारपाल–पुं० । द्वाररक्षके, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दारविलजोग–द्वारविलयोग–पुं० । स्थगने, पं० व० ४ द्वार ।

दारमंतभेय–दारमन्त्रभेद–पुं० । दाराणां कलत्राणामुपलक्षणत्वान्मित्राऽऽदीनां च मन्त्रो मन्त्रणं तस्य भेदः प्रकाशनं दारमन्त्रभेदः । स्वदारसन्तोषस्य द्वितीयव्रतस्य तृतीयेऽतिचारभेदे, प्रव० । अस्य चानुवादकत्वेन सत्यत्वाद् यद्यपि नातिचारत्वं घटते, तथाऽपि विश्रब्धभाषितार्थप्रकटनजनितलज्जाऽऽदितः कलत्रमित्राऽऽदेर्मरणाऽऽदिसंभवेन परमार्थतोऽस्याऽसत्यत्वात् कथञ्चिदसत्यरूपत्वेनातिचारतैव । रहस्यदूषणं हि रहस्यमाकाराऽऽदिना विज्ञायान्याधिकृत एव प्रकाशयति, इह तु मन्त्रयितैव स्वयं मन्त्रं भिनत्तीत्यनयोर्भेदः । प्रव० ६ द्वार ।

दारावती–द्वारावती–स्त्री० । सौराष्ट्रदेशप्रतिबद्धायां राजधान्याम्, प्रज्ञा० १ पद ।

दारिआ–देशी–वेश्यायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ३७ गाथा ।

दारु–दारु–न० । काष्ठे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । स्था० । ज्ञा० । नि० चू० ।

दारुग–दारुक–पुं० । वासुदेवस्य धारिण्यां देव्यामुत्पन्ने पुत्रे, स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां तृतीयवर्गस्य द्वादशेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ३ वर्ग १ अ० । दारुकोऽनगारो वासुदेवस्य पुत्रो भगवतोऽरिष्टनेमिनाथस्य शिष्योऽनुत्तरोपपातिकोत्पादित इति । स्था० ६ ठा० । कृष्णसारथौ च । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । दारु-स्वार्थे कन् । देवदारुवृक्षे, वाच० । काष्ठे, न० । आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० । आ० म० । आव० । उत्त० ।

दारुघर–दारुगृह–न० । करपत्रस्फाटितदारुफलकमये गृहे, व्य० ४ उ० ।

दारुण–दारुण–पुं० । 'दृ' भये णिच् । दारयति विदारयति चित्तमिति दारुणः । चित्रके, वाच० । दारयन्ति जनमनांसि इति दारुणाः । विलपिताऽऽक्रन्दिताऽऽदिषु, उत्त० ६ अ० । रौद्ररसे, भयानकरसे, वाच० । रौद्रे च । ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । प्रश्न० । दारयन्ति मन्दसत्त्वानां संयमविषयां धृतिमिति दारुणाः । भाषायाम्, स्त्री० । उत्त० २ अ० । भयानके, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । असह्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । भयावहे, दुःसहे, भीषणे, भयहेतौ च । वाच० ।

दारुणभाव–दारुणभाव–पुं० । रौद्राध्यवसाये, बृ० ३ उ० ।

दारुणमति–दारुणमति–स्त्री० । रौद्रमतौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दारुणविवाग–दारुणविपाक–पुं० । नरकाऽऽदिदुःखकारणत्वेन घोरोदये, पञ्चा० ८ विव० । रौद्रफले, पञ्चा० १५ विव० । तीव्रविपाके कर्मणि, धं० १ विव० ।

दारुणसहाव–दारुणस्वभाव–त्रि० । दारुणः क्रोधाग्निवत् स्वभावो यस्याऽसौ दारुणस्वभावः । क्रोधाग्निस्वभावे, व्य० १ उ० ।

दारुदंडय–दारुदण्डक–न० । रजोहरणस्य काष्ठमयेऽन्तर्दण्डे, यत्र दारुमयस्य दण्डस्याग्रभागे ऊर्णिका दशिका बध्यन्ते तद्दारुदण्डकम् । बृ० ५ उ० ।

दारुपव्वय–दारुपर्वत–पुं० । दारुनिर्मापित इव पर्वतविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० ।

दारुपाय–दारुपात्र–न० । काष्ठमये पात्रे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । आचा० ।

दारुय–दारुक–पुं० । वसुदेवस्य धारिण्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, तद्वक्तव्यता गजसुकुमारस्येव । अन्त० २ श्रु० ३ वर्ग १ अ० ।

दारुसंकम–दारुसंक्रम–पुं० । जले सेत्वादिकरणे, स्थले गर्ताकुलाऽऽदिके च । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

दालण–दारण–न० । विदारणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दालि–दालि–स्त्री० । मुद्गाऽऽदिदले, प्रव० ३८ द्वार । उत्त० । ध० ।

दालिअ–देशी–चक्षुषि, दे० ना० ५ वर्ग ३८ गाथा ।

दालिद्द–दारिद्र्य–न० । "हरिद्राऽऽदौ लः" ॥ ८ । १ । २५४ ॥ इति असंयुक्तस्य रस्य लः । 'दालिद्दं ।' धनराहित्ये, प्रा० १ पाद ।

दालियंब–दालिकाम्ल–न० । दाल्या मुद्गाऽऽदिमय्या निष्पादितेऽम्ले, उपा० १ अ० ।

दालिमरसिय–दाडिमरसिक–त्रि० । दाडिमरससंसृष्टे, विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

दाव–दाव–पुं० । दवानले, आव० ४ अ० ।

दावग्गि–दावाग्नि–पुं० । 'दवग्गि' शब्दार्थे, औ० ।

दावद्दव–दावद्रव–पुं० । समुद्रतटवृक्षविशेष, ज्ञा० १ श्रु० ११ अ० । स० । प्रश्न० । आव० । आ० चू० । ('आराहग' शब्दे द्वितीयभागे ३७७ पृष्ठेऽस्य वक्तव्यता)

दावर–द्वापर–न० । यत्र प्रश्नकस्यापि प्रथमो भङ्गो न प्राप्यते तदा द्वापर इति । समयपरिभाषया द्वितीये, बृ० १ उ० ।

दावरजुम्म–द्वापरयुग्म–न० । द्वाभ्यामाश्रित एव कृतयुग्मात्त्रेतोजाभ्यां यदपरं युग्मं कृतयुग्मादन्यत्तन्निपातनाविधेर्द्वापरयुग्मं, न० । " जेणं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दु-

बहीरमाणे दुपज्जवसिए । से तं दावरजुम्मे ।" भ० १८ श० ४ उ० । द्विपर्यवसाने राशौ च । स्था० ४ ठा० ३ उ० । सूत्र० ।

दावाणल-दावानल-पुं० । वनहुताशने, आव० ४ अ० ।

दावारय-उदकवारक-न० । जलपात्रे, प्र० १५ श० ।

दास-दास-पुं० । शूद्रदास्याः सञ्जाते, दुर्भिक्षाऽऽदिष्वर्थाऽऽदिना वा क्रीते, ऋणाऽऽदिव्यतिरेके वा गर्भकर्मकरे, ग० १ अधि० । ध० । दासा दासीपुत्राऽऽदयः । स्था० ३ ठा० १ उ० । सूत्र० । जी० । चू० । भृतकविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । चेटके, औ० । प्रश्न० । रा० । पं० भा० । पं० चू० ।

गब्भे कीतं अणए, दुब्भिक्खे सावराहरुद्धे वा ।
सपयाण व समणीण य, न कप्पती तारिसे दिक्खा ॥३८५॥

गब्भे त्ति आमालिदासो, किणित्ता दासो कतो, रिणं अदेंतो दासत्तणेण पट्टो, दुब्भिक्खे दाति दासत्तणेण पाठो, किम्मवि कारणे अवराधा दंडं अदेंतो रमा दासो कतो, बंदिग्गो णिरुद्धो दविणं अदेंतो दासो कतो । एते दिक्खेतुं ण कप्पंति । नि० चू० ११ उ० ।

दासचेडग-दासचेटक-पुं० । दासस्य भृतकविशेषस्य चेटकः कुमारकः दासचेटकः । अथवा-दासश्चासौ चेटकश्चेति दासचेटकः । दासकुमारे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

दासत्त-दासत्व-न० । शूद्रदासीपुत्रतायाम्, भ० १२ श० ७ उ० ।

दासपोरुस-दासपौरुष-न० । चेटकचेटीपतिप्रमुखाऽऽदिके, उ-त्त० ३ अ० ।

दासरहि-दासरथि-पुं० । दशरथापत्ये, "तेयाजुगे य दास-रही रामो सीयालक्खणसंजुओ पिउआणाए वनवासं गओ ।" ती० २५ कल्प ।

दासवाय-दासवाद-पुं० । दासोऽयमाचार्य इति वाच्यायाम्, स्था० ६ ठा० ।

दासी-दासी-स्त्री० । चेटिकायाम्, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । औ० । रा० । दास्यो घटयोषितः सर्वापसदाः, ताभिरपि सह सम्पर्कं परिहरेत् । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

दासीखब्बडिया-दासीकर्बटिका-स्त्री० । स्थविरगोदासाभि-धानस्य गोदासगणस्य चतुर्थशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण ।

दासीचोर-दासीचोर-पुं० । चेटीचौरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दाह-दाह-पुं० । "दो धोऽनुस्वारात्" ॥ ८ । १ । २६४ ॥ इति सूत्रे क्वचिदननुस्वारादपीति वचनात् हस्य घः । 'दाहो । दाघो ।' प्रा० १ पाद । बाह्ये संतापे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । भस्मीकरणे, नि० चू० १ उ० । रोगभेदे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । विपा० । ज्ञा० । आ० म० । "अहोत्था विउलो दाहो, सव्वगत्तेसु पत्थिवा ! ।" (१९) उत्त० २० अ० । आम-संतापे च । वाच० ।

दाहवक्कंतिय-दाहव्युत्क्रान्तिक-त्रि० । दाहो व्युत्क्रान्त उत्पन्नो यस्याऽसौ दाहव्युत्क्रान्तः, स एव दाहव्युत्क्रान्तिकः । दाहोत्पन्ने, भ० ३ श० ११ उ० । ज्ञा० ।

दाहा-दाढा-स्त्री० । महदस्थिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

दाहिण-दक्षिण-त्रि० । "दुःखदक्षिणतीर्थे वा" ॥ ८ । २ । ७२ ॥ एषु संयुक्तस्य हः । 'दाहिणो । दक्खिणो ।' प्रा० २ पाद । अ-वामभागस्थे, वाच० । सू० प्र० । आचा० ।

दाहिणगामुय-दक्षिणगामुक-पुं० । दक्षिणस्यां दिशि गमनशी-ले, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दाहिणड्ढभरह-दक्षिणार्द्धभरत-पुं० । भरतक्षेत्रस्य दक्षिणार्द्धे, कल्प० १ क्षण ।

दाहिणड्ढभरहकूड-दक्षिणार्द्धभरतकूट-न० । दक्षिणार्द्धभरत-नाम्नो देवस्याऽऽवासभूते कूटे, जं० १ वक्ष० ।

दाहिणड्ढमाणुस्सखेत्त-दक्षिणार्द्धमनुष्यक्षेत्र-पुं० । दक्षिणार्द्धम-नुष्यक्षेत्रभवेषु, "दाहिणड्ढमाणुस्सखेत्ताणं छावट्ठि चंदा पभा-सिंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा, छावट्ठि सूरिया त-विंसु वा, तवंति वा, तविस्संति वा ।" स० ६६ सम० ।

दाहिणड्ढलोगाहिवइ-दक्षिणार्द्धलोकाधिपति-पुं० । लोकस्या-र्द्धमर्द्धलोको दक्षिणो योऽर्द्धलोको दक्षिणार्द्धलोकस्तस्य योऽ-धिपतिः । तस्मिन्, उपा० २ अ० । कल्प० ।

दाहिणत्त-दक्षिणत्व-न० । सरलत्वे, स० ३५ सम० ।

दाहिणदारिय-दक्षिणद्वारिक-न० । दक्षिणं द्वारं येषामस्ति ता-नि दक्षिणद्वारिकाणि । अश्विन्यादिषु सप्तनक्षत्रेषु, स्था० ७ ठा० । दक्षिणदिशि येषु गच्छतः शुभं भवति । स० ७ सम० ।

दाहिणपच्छिमा-दक्षिणपश्चिमा-स्त्री० । नैर्ऋत्यकोणे, रा० । स्था० ।

दाहिणभुय-दक्षिणभुज-पुं० । दक्षिणहस्ते, रा० । सू० प्र० ।

दाहिणवाय-दक्षिणवात-पुं० । दक्षिणस्याः दिशः समागच्छति वाते, प्रज्ञा० १ पद । स्था० ।

दाहिणा-दक्षिणा-स्त्री० । दक्षिणस्यां दिशि, स्था० ६ ठा० ।

दाहिणायण-दक्षिणायन-पुं० । न० । रवेः कर्कसंक्रमादनन्तरं षण्मासाऽऽत्मके समये, सू० प्र० १० पाहु० ।

दाहिणावत्त-दक्षिणाऽऽवर्त-पुं० । अनुकूलप्रवृत्तावावर्ते, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दाहिणिल्ल-दाक्षिणात्य-त्रि० । दक्षिणदिग्भवभागे, स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रज्ञा० ।

दि-त्वया-तृतीया । "भे दि०" ॥ ८ । ३ । ९६ ॥ इत्यादिना त्वया इत्य-स्य स्थाने दि इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

दिअ-द्विज-पुं० । द्विर्जायते जन-डः । बृत्तौ संख्याया वाद्याधस्य-म् । वाच० । "सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥ ८ । २ । ७९ ॥ इति संयुक्तस्याधः स्थितस्य वकारस्य लुक् । द्विजः । दिओ । प्रा० २ पाद । "द्विन्योरुत्" ॥ ८ । १ । ९४ ॥ इति सूत्रे क्वचिदिति वचनाद् न उत्वम् । दिओ । प्रा० १ पाद । ब्राह्मण, क्षत्रि-या-ऽऽदिवर्णत्रये, "जन्मना जायते शूद्रः, संस्कारैर्द्विज उच्यते ।" दन्ते, अण्डजे विहगाऽऽदौ, तुम्बुरुवृक्षे च । वाच० ।

द्विप-पुं० । द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबति । पा-कः । हस्तिनि, वाच० ।

दिअंबर-दिगम्बर-पुं० । शिवे, नग्ने, आर्हतभेदे, वाच० । साधुभेदे, आ० म० । ह्री० । आचा० ।

दिअंबरदंसण-दिगम्बरदर्शन-न० । दिगम्बराणां शास्त्रे, आ० म० १ अ० १ खएड ।

दिअज्झ-देशी-सुवर्णकारे, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दिअधुत्त-देशी-काके, दे० ना० ५ वर्ग ४१ गाथा ।

दिअर-देवर-पुं० । देव-अरच् । "एत इद्वा वेदना-चपेटा-देवर-केसरे" ॥ ८ । १ । १४६ ॥ इति एत इत्वम । 'दिअरो । देवरो ।' प्रा० १ पाद । पत्युः कनिष्ठभ्रातरि, वाच० ।

दिअलिअ-देशी-मूर्खे, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दिअसिअ-देशी-सदाभोजने, अनुदिने च । दे० ना० ५ वर्ग ४० गाथा ।

दिअह-दिवस-पुं० । दीव्यत्यत्र दिव-असच् किच्च । षष्ठिदएडाऽऽत्मके समये, "दिअहा जंति झडप्पडहिँ, पडहिँ मणोरह पच्छि ।" प्रा० ४ पाद ।

दिअहड-दिवस-पुं० । षष्टिदएडाऽऽत्मके समये, "जे मह दिण्णा दिअहडा, दइए पवसंतेण । ताण गणंतिएँ अङ्गुलिउ, जज्जरिआउ नहेण ॥" प्रा० ४ पाद । प्रवसता वल्लभेन दयितेन ये मम दिवसा दत्तास्तान् गणयन्त्या ममाङ्गुल्यो नखेन जर्जरिताः । प्रा० ढुं० ४ पाद ।

" नाक्षत्रः षष्टिघटिकः, सावनो दिवसः स्मृतः ।
त्रिंशद्भागोऽर्कराशेस्तु, दिवसः सौर उच्यते ॥ १ ॥
चान्द्रस्तु तिथ्यवच्छिन्नो, भौमो भूपाग्धिर्मतः । "

इत्युक्तेषु सावनाऽऽदिषु दिनेषु च । वाच० । " भमरा एत्थु वि लिम्बडइ, केवि दिअहडा विलम्बु । " प्रा० ४ पाद ।

दिअहुत्त-देशी-पूर्वाह्णभोजने, दे० ना० ५ वर्ग ४० गाथा ।

दिआहम-देशी-भासपक्षिणि, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दिइ-दृति-स्त्री० । दृ-क्तिन् । जलाऽऽधारे चर्ममये भाजने, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । अनु० ।

दिइआ-दृतिका-स्त्री० । चर्मनिर्मितोदकपात्रे, मत्स्यभेदे च । वाच० । अनु० ।

दिकाण-द्रेष्काण-पुं० । मेषाऽऽदीनां लग्नानां दशांशाऽऽत्मके त्रिभागे, " कूराणदिक्काणलोगेसुं, उत्तमठं तु कारए । एवं जगाणि आणिज्जे, दिक्काणेसु ण संसओ ॥१॥ " द० प० ।

दिक्खकाल-दीक्षाकाल-पुं० । योगकाले, आ० म० १ अ० २ खएड ।

दिक्खाभाव-दीक्षाभाव-पुं० । प्रव्रज्याया भावे, पञ्चा० १८ विव० ।

दिक्खा-दीक्षा-स्त्री० । दीक्षणं दीक्षा । प्रव्रज्यायाम्, ओघ० । कथा० ।

साम्प्रतं ज्ञानत्रयभावाभावयोर्दीक्षाऽधिकारित्वानधिकारित्वप्रतिपादनायाऽऽह-

अस्मिन् सति दीक्षाया, अधिकारी तत्त्वतो भवति सत्त्वः ।
इतरस्य पुनर्दीक्षा, वसन्तनृपसन्निभा ज्ञेया ॥ १ ॥

अस्मिन् ज्ञानत्रये, सति विद्यमाने, दीक्षाया निर्ग्रन्थरूपायाः, अधिकारी अधिकारवान्, शास्त्रनयोदितत्वेन तत्त्वतः परमार्थतो भवति, सत्त्वः पुमान्, इतरस्याऽनधिकारिणः, पुनर्दीक्षा व्रतरूपा, वसन्तनृपसन्निभा विडम्बनाप्राया चैत्रमासपरिहासकृतराजसन्निभा मुखचपेटादीक्षावरकार्याकरणेन ज्ञेया ज्ञातव्या ॥ १ ॥

अधुना दीक्षाया निरुक्तमुपदर्शयन् ज्ञानिन एव तां नियमयन्नाह-

श्रेयोदानादशिव-क्षपणाच्च सतां मतेह दीक्षेति ।
सा ज्ञानिनो नियोगाद्, यथोदितस्यैव साध्वीति ॥ २ ॥

श्रेयोदानाच्छ्रेयः सुन्दरं तस्य दानं वितरणं तस्मात्, अशिवं प्रत्यवायस्तत्क्षपणाच्च तन्निरसनाच्च, सतां मुनीनां मताऽभिप्रेता, इह प्रवचने, दीक्षेति प्रागुक्ता । इत्येवमनया निरुक्तप्रक्रियया, सा दीक्षा, ज्ञानिनो ज्ञानवतो, नियोगान्नियोगेन, यथोदितस्यैवाधिकारिण एव, साध्वीति निरवद्या वर्तते ॥ २ ॥

ननु च यदि ज्ञानिन एव नियमेन साध्वी दीक्षा, ततः कथं पूर्वोक्तज्ञानत्रयविकलानां माषतुषप्रभृतीनां समये सा श्रेयसी श्रूयत इत्याशङ्कयाऽऽह-

यो निरनुबन्धदोषा-च्छ्राद्धोऽनाभोगवान् वृजिनभीरुः ।
गुरुभक्तो ग्रहरहितः, सोऽपि ज्ञान्येव तत्फलतः ॥ ३ ॥

य एवंविधो निरनुबन्धदोषाच्छ्राद्धः । निरनुबन्धो व्यवच्छिन्नसन्तानो दोषो रागाऽऽदिर्निरनुबन्धश्चासौ दोषश्च तस्माच्छ्राद्धः श्रद्धावान् । यस्तु सानुबन्धदोषात्क्लिष्टकर्मोदयात्कथञ्चिच्छ्राद्धो भवति, स नेह गृह्यते । अनाभोगवान् अनाभोगोऽपरिज्ञानमात्रमेव केवलं ग्रन्थार्थाऽऽदिषु सूक्ष्मबुद्धिगम्येषु स विद्यते यस्य स तथा वृजिनं पापं तस्माद्भीरुर्भीजनशीलः संसारविरक्तत्वेन । गुरवः पूज्यास्तेषु भक्तो गुरुबहुमानात् । ग्रह आग्रहो मिथ्याऽभिनिवेशस्तेन रहितो ग्रहरहितोऽनेन सम्यग्दर्शनवत्त्वमस्याऽऽवेदयति, सोऽपि य एवमुक्तविशेषणवान्, ज्ञान्येव ज्ञानवानेव । तत्फलतो ज्ञानफलसंपन्नत्वेन, ज्ञानस्याऽपि ह्यनदेव फलं संसारविरक्तत्वगुरुभक्तत्वाऽऽदि, तदस्याऽपि विद्यत इति कृत्वा ॥ ३ ॥

कथं पुनर्ज्ञानफलं माषतुषाऽऽदेर्गुरुबहुमानमात्रेण तथाविधज्ञानविकलस्य सन्मार्गगमनाऽऽदीत्याशङ्कयाऽऽह-

चक्षुष्मानेकः स्या-दन्धोऽन्यस्तत्परतानुवृत्तिपरः ।
गन्तारौ गन्तव्यं, प्राप्नुत एतौ युगपदेव ॥४॥

चक्षुरमलमनुपहतं विद्यते यस्य स चक्षुष्मानेकः कश्चित् स्यात्कश्चित्पुरुषो मार्गगमनप्रवृत्तः, अन्धो दर्शनविकलोऽन्यस्तत्परः, केवलं मार्गानुसारितया विशिष्टविवेकसंपन्नत्वेन च । तत्परतानुवृत्तिपरस्तस्य चक्षुष्मतो मतमभिप्रायो वचनं वा तत्परतं तदनुवृत्तिपरस्तदनुवर्त्तनप्रधानः शेषानुमतवचनपरित्यागेन । एतौ द्वावपि चक्षुष्मदन्धौ गन्तारौ गमनशीलावनवरतप्रयाणककृत्या गन्तव्यं विवक्षितनगराऽऽदि । प्राप्नुत एतौ युगपदेवैककालमेव । इदमुक्तं भवति-चक्षुष्मान् पुरुषस्तावत् प्रज्ञोपपन्नस्तु पुरुषः, एवमनयोर्व्यतिरेकपक्षस्यास एवान्तरं नापरं महत्, यदि वा तदपि समानपदन्यासयोः साहित्येन वा तुल्यप्रयोजनयोरभीष्टैकनगराऽऽदिकप्राप्ति प्रत्यविशेषोऽस्तीति । यदि भवेदनयोरन्तरं तथा गुरुमाषतुषकल्पानिष्पन्नयोर्ज्ञानिज्ञानिनोः फलं प्रति सन्मार्गगमनप्रवृत्तयोर्मार्गपर्यन्तप्राप्तौ मुक्त्यवस्थायां न किञ्चिदन्तरमिति गर्भार्थः ॥ ४ ॥

एवं समानफलत्वं क्षान्त्यादीनामिति प्रतिपाद्य दीक्षाऽर्हत्वं विशेषज्ञानासमन्वितस्यापि दर्शयति–

यस्याऽस्ति सत्क्रियाया–मित्थं सामर्थ्ययोग्यताऽविकला ।
गुरुभावप्रतिबन्धाद्, दीक्षोचित एव सोऽपि किल ॥ ५ ॥

यस्य विशिष्टज्ञानरहितस्याप्यस्ति विद्यते सत्क्रियायां सदाचारे, इत्थमनेन प्रकारेण, सामर्थ्ययोग्यता सामर्थ्येन समानफलसाधकत्वरूपेण योग्यताऽविकला परिपूर्णा, गुरुषु धर्माऽऽचार्याऽऽदिषु भावप्रतिबन्धाद् भावतः प्रतिबद्धत्वेन हेतुना दीक्षोचित एव दीक्षायोग्य एव प्रस्तुतः, किलेत्याप्ताऽऽगमवादः, यतः संसारविरक्त एवास्या अधिकारी शेषगुणवैकल्येऽपीत्युक्तम् ॥५॥

इदानीं दीक्षायाः समानफलतया देयत्वमभिदधानो विषमफलस्य चाऽदेयत्वमुपदर्शयन्निदमाह–

देयाऽस्मै विधिपूर्वं, सम्यक्तन्त्रानुसारतो दीक्षा ।
निर्वाणबीजमेषे–त्यनिष्टफलदाऽन्यथाऽत्यन्तम् ॥ ६ ॥

देया दातव्याऽस्मै योग्याय विधिपूर्वं विधानपूर्वं सम्यगवैपरीत्येन तन्त्रानुसारतः शास्त्रानुसारतो दीक्षा व्रतरूपा निर्वाणस्य बीजं मोक्षसुखप्राप्तिहेतुत्वेन । एषेति दीक्षैषाऽनिष्टफलदा विपर्ययफला संसारफलाऽन्यथाऽयोग्याय दीयमानाऽत्यन्तमतिशयेनेति ॥६॥

का पुनरियं दीक्षेत्याह–

देशासमग्राऽऽख्येयं, विरतिर्न्यासोऽत्र सद्वति च सम्यक् ।
तन्नामाऽऽदिस्थापन–मविहतं स्वगुरुयोजनतः ॥७॥

देशाऽऽख्या, समग्राऽऽख्या चेयं दीक्षा विरतिरुच्यते, देशविरतिदीक्षा, सर्वविरतिदीक्षा चेत्यर्थः । न्यासो निक्षेपोऽत्र दीक्षायां सन्न्यास इत्यर्थः । सा विद्यते यस्य तद्वांस्तस्मिंस्तद्वति च पुरुषे देशदीक्षावति, सर्वदीक्षावति च सम्यक् समीचीनं संगतम् । तन्नामाऽऽदिस्थापनं तेषां प्रवचनप्रसिद्धानां नामाऽऽदीनां चतुर्णां स्थापनमारोपणमविहतं उपद्रवरहितमनुपप्लवमिति यावत् । कथं तन्नामाऽऽदिस्थापनम्? स्वगुरुयोजनतः स्वगुरुभिरात्मीयपूज्यैर्योजनं संबन्धनमौचित्येन यत्र तन्नामाऽऽदीनां ततः सकाशात् ॥ ७ ॥

कथं पुनर्विशिष्टनामन्यासस्य स्वगुरुभिः प्रसादीकृतस्य दीक्षानिमित्तत्वमिति मन्यमानं परं प्रत्याह–

नामनिमित्तं तत्त्वं, तथा तथा चोद्धृतं पुरा यदिह ।
तत्स्थापना तु दीक्षा, तत्त्वेनान्यस्तदुपचारः ॥ ८ ॥

नामनिमित्तं नामहेतुकं तद्भावस्तत्त्वं नामप्रतिपाद्यगुणाऽऽत्मकत्वम्, कृतप्रशान्ताऽऽदिनाम्नः प्रशमाऽऽदिस्वरूपोपलम्भात् । तन्नाम्नि च तद्गुणस्मरणाऽऽद्युपलब्धेस्तथा तथा चोद्धृतं तेन तेन स्वरूपेणोद्धृतमुद्दिष्टं कृतनिर्वाहम् । पुरा पूर्वं, यद्यस्मादिह प्रवचने, मुनिभिः तत्स्थापना तु तस्यैव नाम्नः स्थापना तु स्थापनैव नामन्यास एव दीक्षा प्रस्तुता, तत्त्वेन परमार्थेनान्यस्तदुपचारोऽन्यक्रियाकलापस्तदुपचारस्तस्या दीक्षाया उपचारो वर्तते, विशेषोपचारात् ॥ ८ ॥

कस्मात्पुनर्नामाऽऽदिन्यासे महानादरः क्रियत इत्याशङ्क्याऽऽह–

कीर्त्यारोग्यध्रुवपद–संप्राप्तेः सूचकानि नियमेन ।
नामाऽऽदीन्याचार्याः, वदन्ति तत्तेषु यतितव्यम् ॥ ९ ॥

कीर्त्तिः श्लाघा, आरोग्यं नीरुजत्वं, प्राकृतसहजौत्पातिकरोगविरहेण, ध्रुवं स्थैर्यं भावप्राधान्यान्निर्देशस्य । पदं स्थानं विशिष्टपुरुषावस्थारूपमाचार्यत्वाऽऽदि । कीर्त्तिश्चारोग्यं च ध्रुवं च पदं च कीर्त्यारोग्यध्रुवपदानि, तेषां संप्राप्तिः पूर्वैरासाद्यः, तस्याः प्राप्तिपूर्विकायाः प्राप्तेः सूचकानि गमकानि नियमेनावश्यंतया, नामस्थापनाद्रव्यभावरूपाण्याचार्याः पूज्या वदन्ति ब्रुवते । तत्तस्मात्तेषु नामाऽऽदिषु यतितव्यं यत्नो विधेयः। इह चेदं तात्पर्यमवसेयम्–अन्वर्थनाम्नो हि कीर्त्तनमात्रादेव शब्दार्थप्रतिपत्तेर्विदुषां प्राकृतजनस्य च मनःप्रसादात्कीर्त्तिराविर्भवति । यथा सुधर्मभद्रबाहुस्वामिप्रभृतीनामुत्तमपुरुषाणां प्रवचने कीर्त्तिरुदपादि । स्थापनाऽप्याकारवती रजोहरणमुखवस्त्रिकाऽऽदिधारणद्वारेण भावगर्भप्रवृत्त्या आरोग्यमुपजनयति, द्रव्यमप्याचाराऽऽदिश्रुतं सकलसाधुक्रिया वाऽभ्यस्यमाना व्रतस्थैर्योपपत्तये प्रभवति, भावोऽपि सम्यग्दर्शनाऽऽदिरूपः पूर्वोक्तपदावाप्तये संपद्यते । न हि विशिष्टभावमन्तरेणाऽऽमोक्षविशिष्टपदावाप्तिर्जायते भवति । अथवा सामान्येनैव कीर्त्यारोग्यमोक्षसंप्राप्तेः सूचकानि सर्वाण्येव नामाऽऽदीनीति ॥ ९ ॥

किमिति दीक्षाप्रस्तावे नामाऽऽदिषु यतितव्यमित्याशङ्क्याऽऽह–

तत्संस्कारादेषा, दीक्षा संपद्यते महापुंसः ।
पापविषापगमात् खलु, सम्यग्गुरुधारणायोगात् ॥१०॥

तत्संस्कारान्नामाऽऽदिसंस्कारादेषा द्विविधा दीक्षा व्रतरूपा संपद्यते संजायते महापुंसो महापुरुषस्य, न ह्यमहापुरुषा व्रतधारिणो भवन्ति । पापं विषमिव पापविषं, तस्यापगमात् खल्वपगमादेव, पापविषयोर्वाऽपगमात् । विषापहारिणी दीक्षेति केषाञ्चित् प्रसिद्धिस्तदनुरोधादिदमुक्तम् । पापविषापगमादेव दीक्षेति सम्यगवैपरीत्येन गुरुश्च धारणा च गुरुधारणे, ताभ्यां योगः संबन्धस्तस्माद् गुरुधारणायोगात् । गुरुयोगात्पापापगमो, धारणायोगाच्च विषापगम इति ॥ १० ॥

दीक्षा संपद्यते महापुंस इत्युक्तं तत्संपत्तौ सर्वविरतस्य यद्भवति तदाह–

संपन्नायां चास्यां, लिङ्गं व्यावर्णयन्ति समयविदः ।
धर्मैकनिष्ठतैव हि, शेषत्यागेन विधिपूर्वम् ॥ ११ ॥

संपन्नायां च संजातायां चास्या दीक्षाया लिङ्गं लक्षणं व्यावर्णयन्ति कथयन्ति समयविदः आगमवेदिनः, धर्मैकनिष्ठतैव हि धर्मतत्परतैव हि, शेषत्यागेन धर्मादन्यः शेषस्तत्त्यागेन तत्परिहारेण, विधिपूर्वं शास्त्रोक्तविधानपुरःसरं यथा भवत्येवं शेषत्यागेन धर्मैकनिष्ठता सेवनीया नान्यथेति भावः ॥ ११ ॥

अस्यामेव सर्वविरतिदीक्षायां क्षान्त्यादियोजनामार्याद्वयेन दर्शयति–

वचनक्षान्तिरिहाऽऽदौ, धर्मक्षान्त्यादिसाधनं भवति ।
शुद्धं च तपोनियमाद्, यमश्च सत्यं च शौचं च ॥१२॥
आकिञ्चन्यं मुख्यं, ब्रह्मापि परं सदागमविशुद्धम् ।
सर्वं शुक्लमिदं खलु, नियमात्संवत्सरादूर्ध्वम् ॥ १३ ॥

वचनक्षान्तिरागमक्षान्तिरिह दीक्षायामादौ प्रथमं धर्मक्षान्त्यादिसाधनं भवति । आदिशब्दान्मार्दवाऽऽदिग्रहः। धर्मक्षान्त्यादीनां साधनं वचनक्षान्तिर्भवति, तत्पूर्वकत्वात्तेषाम्, शुद्धं चाकि-

हं च तपो द्वादशभेदं नियमाद्धियमेन यमश्च संयमश्च, सत्यं चाविसंवादनाऽऽदिरूपं शौचं च बाह्याभ्यन्तरभेदम् ॥ १२ ॥

आकिञ्चनस्य भाव आकिञ्चन्यं, मुख्यं निरुपचरितम्, ब्रह्मापि ब्रह्मचर्यमपि, परं प्रधानम्, सदागमविशुद्धं सदर्थप्रतिपादक आगमः सदागमः,तेन विशुद्धं निर्दोषं,सर्वं पूर्वोक्तं दशविधमपि क्षान्त्यादिशुक्लमिदं खलु निरतिचारमिदमेव नियमादितरव्यावृत्त्या शुक्ल्याऽशुक्लाभिन्नकर्मत्वात्संवत्सरादूर्ध्वं क्रियमाणयोगेन संवत्सरकालात्ययेन शुक्लं भवतीति ॥ १३ ॥

अस्यैव दीक्षावतः पूर्वोत्तरकालभाविगुणयोगमाह-

ध्यानाध्ययनाभिरतिः, प्रथमं पश्चात्तु भवति तन्मयता ।
सूक्ष्मार्थालोचनया, संवेगः स्पर्शयोगश्च ॥ १४ ॥

ध्यानं धर्म्यं शुक्लं च स्थिराध्यवसानरूपं, यथोक्तम्-"एकालम्बनसंस्थस्य, सदृशप्रत्ययस्य च । प्रत्ययान्तरनिर्मुक्तः, प्रवाहो ध्यानमुच्यते ॥ १ ॥" अध्ययनं स्वाध्यायपाठः,ध्यानं चाध्ययनं च ध्यानाध्ययने । अध्ययनपूर्वकत्वेऽपि ध्यानस्याल्पाच्तरत्वादभ्यर्हणीयत्वाच्च पूर्वनिपातः, तयोरभिरतिराशक्तिरनवरतप्रवृत्तिः प्रथममादौ दीक्षासंपन्नस्य, पश्चात्तु पश्चात्पुनर्भवति । तन्मयता तन्मयत्वं तत्परता, सूक्ष्माश्च तेऽर्थाश्च बन्धमोक्षाऽऽदयः, तेषामालोचना,तया सूक्ष्मार्थाऽऽलोचनया, संवेगो मोक्षाऽभिलाषः स्पर्शयोगश्च स्पर्शस्तत्त्वज्ञानं तेन योगः संबन्धः संभवतीति ॥ १४ ॥

स्पर्शयोगश्चेत्युक्तं तत्र स्पर्शलक्षणमाह--

स्पर्शस्तत्त्वाऽऽप्तिः, संवेदनमात्रमविदितं त्वन्यत् ।
वन्ध्यमपि स्यादेतत्, स्पर्शस्त्वक्षेपतत्फलदः ॥ १५ ॥

स्पृश्यतेऽनेन वस्तुनस्तत्त्वमिति स्पर्शः,स च कीदृगित्याह-तत्त्वाप्तिस्तत्त्वस्य तस्य वस्तुनो जीवाऽऽदेस्तत्त्वं स्वरूपं तस्याऽऽप्तिरुपलम्भो ज्ञानं स्पर्श उच्यते,संवेदनमात्रं वस्तुस्वरूपपरामर्शशून्यमविदितं त्वन्यत् कथञ्चिद्वस्तुग्राहित्वेऽपि न विदितं वस्तु तदित्यविदितमुच्यते,वन्ध्यमपि निष्फलमपि स्यादेतत् संवेदनमात्रं, स्पर्शस्तु स्पर्शः पुनरक्षेपतत्फलदोऽक्षेपेणैव तत् स्वसाध्यं फलं ददातीत्ययमनयोः स्पर्शसंवेदनयोर्विशेष इति ॥ १५ ॥

संवेगस्पर्शयोगेन दीक्षावान् यत् करोति, तदाह-

व्याध्यभिभूतो यद्व-न्निर्विण्णस्तेन तत्क्रियां यत्नात् ।
सम्यक्करोति तद्व-द्दीक्षित इह साधुसच्चेष्टाम् ॥ १६ ॥

व्याधिना कुष्ठाऽऽदिनाऽभिभूतो ग्रस्तो यद्वद्यथा,निर्विण्णो निर्वेदं प्राप्तस्तेन व्याधिना तत्क्रियां तच्चिकित्सां व्याधिप्रतीकाररूपां यत्नाद्यत्नेन सम्यक्करोति विधत्ते, तद्वत्तथा दीक्षित इह प्रक्रमे साधूनां सच्चेष्टा विनयाऽऽदिरूपा तां साधुसच्चेष्टाम् ॥ १६ ॥ षो० १२ विव० । अथ षट्पं० शुभविजयगणिकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च-यथा तीर्थकृद्भिः सह ये दीक्षां गृह्णन्ति ते किं तीर्थकृद्वत्पारणाऽऽदिकं कुर्वन्त्युत भिन्नमिति प्रश्ने, उत्तरम्-तीर्थकरैः सार्द्धं दीक्षाग्रहणं कुर्वद्भिः स्वयं स्वकृतस्वस्वतपोऽवकाशाऽऽद्यनुसारेण तपस्याग्रहणं क्रियते,न तु तीर्थकरवत्,प्रथमतीर्थकृता सार्द्धं तु तीर्थकरवत् पारणकं कुर्वन्तीति ज्ञायते ॥ १८७ प्र० । सेन० २ उल्ला० । सिंहाऽऽदिसंक्रान्तित्रयमध्ये तथाऽऽवर्तिकामासमध्ये च कानि कानि धर्मकार्याणि शुद्ध्यन्ति,कानि नेति प्रश्ने,उत्तरम्-दीक्षाप्रतिष्ठाऽऽदिकं न शुद्ध्यत्यन्यानि तु शुद्ध्यन्तीति, चतुर्मासकमध्येऽपि उपस्थापनामालारोपणाऽऽदि विना धर्मकार्याणि सर्वाणि शुद्ध्यन्ति, कारणवशात् तदपि विजयदशम्यनन्तरं शुद्ध्यतीति योगोपधानप्रवेशमालाऽऽदीनां तु दिनशुद्धिरेव विलोक्या न मासशुद्ध्याऽऽदि । १२४ प्र० । सेन० २ उल्ला० । ('पव्वज्जा' शब्दे दीक्षाविधिर्वक्ष्यते) सर्वमन्थानप्रदानेन भावसत्रे,पं० व० १ द्वार । षो०,आ० म० १ अ० २ खण्ड । प्रव० । पञ्चा० । (नपुंसकाऽऽदीनां दीक्षितानां परिष्ठापना 'परिट्ठवणा' शब्दे वक्ष्यते)

दिक्खागुण-दीक्षागुण-पुं० । जिनदीक्षाधर्मे, जिनसाध्वागमभक्तिप्रभावनाऽऽदौ च । पञ्चा० २ विव० । षो० ।

दिक्खादावण-दीक्षादापन-न० । प्रौढोत्सवैः सुताऽऽदीनां प्रव्राजने, प्रव० । तथैव प्रौढोत्सवैः सुताऽऽदीनामादिशब्दात्पुत्रपुत्रीभ्रातृभ्रातृव्यस्वजनसुहृत्परिजनाऽऽदीनां दीक्षादापनम्,उपलक्षणत्वादुपस्थापनाकारणं च, श्रूयतेऽपि कृष्णचेटकनृपयोः स्वापत्यविवाहनेऽपि नियमवतोः स्वपुत्र्यादीनामन्येषां च थावच्चापुत्राऽऽदीनां प्रौढोत्सवैः प्रव्राजना,इयं च महाफला । यतः-" ते धन्ना कयपुन्ना,जणओ जणणी अ सयणवग्गो अ । जेसिं कुलम्मि जायइ, चारित्तधरो महापुत्तो " ॥ १ ॥ इति । (६७) ध० २ अधि० ।

दिक्खावयपरिणय-दीक्षावयःपरिणत-त्रि० । दीक्षावयोऽभ्यां सम्प्राप्ते, ध० २ अधि० ।

दिक्खाविहाण-दीक्षाविधान-न० । दीक्षाविधौ,पञ्चा० २ विव० ।

दिक्खिऊण-प्रेक्षित्वा-अव्य० । दृष्ट्वेत्यर्थे, नं० ३ कल्प ।

दिक्खियजिणोमाण-दीक्षितजिनावमान-अधिवासितजिनप्रोङ्खणके, पञ्चा० ८ विव० ।

दिक्खोवयार-दीक्षोपकार-पुं० । भव्यसत्त्वस्य दीक्षादानेनानुग्रहे, पञ्चा० १८ विव० ।

दिगंबर-दिगम्बर-पुं० । ' दियंबर ' शब्दार्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दिगायरिय-दिगाचार्य-पुं० । दिगाचार्यशब्देन किमुच्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्-सचित्ताचित्तमिश्रवस्त्वनुज्ञाया दिगाचार्य इति योगशास्त्रप्रकाशवृत्तौ प्रायश्चित्ते वैयावृत्त्यमपि व्याख्यातत्वाद्दिगाचार्यशब्दार्थो ज्ञेय इति । १३७ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

दिगिंछा-देशी-बुभुक्षायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । स० । ज० ।

दिगिंछापरिगय-दिगिञ्छापरिगत-त्रि० । क्षुधाव्याप्ते, दश० ५ अ० । आ० चू० ।

दिगिंछापरिसह-दिगिञ्छापरि (री) षह-पुं० । इह च दिगिञ्छेति देशीवचनेन बुभुक्षोच्यते,सैवात्यन्तव्याकुलत्वहेतुत्वादसह्यत्वात्तया आहारपरिपाकाऽऽदिद्वाऽऽगमोक्तविधिनैव परीति सर्वप्रकारेण सह्यत इति परीषहः । क्षुत्परीषहे, उत्त० २ अ० । भ० । स० । ('खुहा' शब्दे तृतीयभागे ७५५ पृष्ठे व्याख्यातम्)

दिगिंछापरीसह-दिगिञ्छापरीषह-पुं० । ' दिगिंछापरिसह ' शब्दार्थे, उत्त० २ उ० ।

दिगु-द्विगु-पुं० । संख्यापूर्वे समासभेदे, " संख्यापूर्वो द्विगुः " । २ । १ । ५२ ॥ इति पाणिनिवचनम् । अनु० ।

से किं तं दिगुसमासे ? । दिगुसमासे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-तिन्नि कडुगाणि तिकडुगं, तिन्नि महुराणि तिमहुरं,

तिण्णि गुणाणि तिगुणं, तिण्णि पुराणि तिपुरं, तिण्णि सराणि तिसरं, तिण्णि पुक्खराणि तिपुक्खरं, तिण्णि विंदुआणि तिविंदुअं, तिण्णि पहाणि तिपहं, पंच नदीओ पंचनदिं, सत्त गया सत्तगयं, नव तुरंगा नवतुरंगं, दस गामा दसगामं, दस पुराणि दसपुरं । सेत्तं दिगुसमासे ।

"संख्यापूर्वो द्विगुः" ॥ २।१।५२ ॥ त्रीणि कटुकानि समाहृतानि त्रिकटुकम् । एवम्-त्रीणि मधुराणि समाहृतानि त्रिमधुरं, पञ्चाऽऽदिगणे दर्शनादिह पञ्चमूलीत्यादिषु स्त्रियामीप्रत्ययो न भवति, एवं शेषाण्यप्युदाहरणानि भावनीयानि । अनु० ।

दिग्घ-दीर्घ-पुं० । दृ-घञ् । घस्य गत्वम् । " दीर्घे वा " ॥ ८ । २ । ९१ ॥ दीर्घशब्दे शेषस्य घस्य उपरि पूर्वो वा भवति । "दिग्घो । दीहो ।" प्रा० २ पाद । शालतलावृक्षे, उष्ट्रे, द्विमात्रे स्वरवर्णे च । आयते, वाच० । स्थूले च । त्रि० । जं० २ वक्ष० ।

दिच्छा-दित्सा-स्त्री० । दातुमिच्छायाम्, अनु० ।

दिट्ठ-दिष्ट-न० । दिश-क्तः । भाष्ये, "न दिष्टमिदं कुरुते" इति माघः । काले, पुं० । उपदिष्टे, वाच० । प्रतिपादिते च । त्रि० । ग्यो० ।

दृष्ट-न० । दृश-क्तः । स्वपरचक्रभये वीक्षिते, वाच० । दर्शने, सू० १ श्रु० । नि० चू० । स्था० । अवलोकिते, पञ्चा० ७ विव० । प्रज्ञा० । दर्श० । प्रश्न० । आव० । स्था० । सूत्र० । व्य० । उत्त० । उपलब्धे, हा० ३१ अष्ट० । अभिमते, अनु० । लौकिके च । त्रि० । वाच० ।

आगमतत्त्वं ज्ञेयं, तद्दृष्टेष्टाविरुद्धवाक्यतया ॥ (१०)

आगमतत्त्वं ज्ञेयं भवति, तत्कथं ज्ञेयम् ? । दृष्टं प्रत्यक्षानुमानप्रमाणोपलब्धमिष्टमागमेन स्ववचनैरेवाभ्युपगतं, ताभ्यामविरुद्धानि वाक्यानि यस्मिन्नागमतत्त्वे तद् दृष्टेष्टाविरुद्धवाक्यम्, तद्भावस्तया । (१०) षो० १ विव० ।

दिट्ठंत-दृष्टान्त-पुं० । दृष्टोऽन्तो नाशोऽवसानं यस्मिन् । मरणे, वाच० । दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्तः, अतीन्द्रियप्रमाणादृष्टसंवेदनं निष्ठां नयतीत्यर्थः । दश० १ अ० । आ० म० । दृष्टोऽन्तः परिच्छेदो विवक्षितः साध्यसाधनयोः संबन्धव्याविनाभावरूपस्य प्रमाणेन यत्र ते दृष्टान्ताः । प्रज्ञा० ३० पद । साध्यस्योपमाभूते, मं० । उदाहरणे, विशे० ।

दृष्टान्तफलम्-

पुव्वभणिआ जिणा, य वारिया कहमियाणि कप्पंति ? ।

सुण आहरणं चोयग !, ण कमति सव्वत्थ दिट्ठंतो ॥ १६७ ॥

पूर्वसूत्रे भवद्भिरजिनानि भिक्षाणि च वारितानि प्रतिषिद्धानि, कथमिदानीमस्मिन् सूत्रे कल्पन्ते ?, इति भणतः, न युक्तं पूर्वापरव्याहतमीदृशं वक्तुमिति भावः । अत्राऽऽचार्यः प्राऽऽह-शृणु निशमय, आहरणं दृष्टान्तम्, हे नोदक ! यथा कल्पते । अत्र नोदको गुरुवचनमनाकर्ण्य ज्ञविदग्धतादर्पाऽऽध्मातः प्रतिवक्ति-आचार्य ! न सर्वत्राप्यर्थे दृष्टान्तः क्रमते, दृष्टान्तमन्तरेणाप्यर्थप्रतिपत्तेः ।

तथाहि-

जइ दिट्ठंता सिद्धी, एवमसिद्धी उ आणगेज्झाणं ।

अह ते तेसि पसिद्धी, पसाहए किं नु दिट्ठंता ॥ १९९ ॥

यदि दृष्टान्तादर्थानां सिद्धिस्तर्हि आज्ञाग्राह्याणां निगोदभव्याभव्याऽऽदीनामर्थानामसिद्धिः प्रसज्येत. अथ ते तथाऽऽज्ञया तेषां प्रसिद्धिस्ततः किं नु इति वितर्के । किमेवं दृष्टान्ततोऽर्थसिद्धिः क्रियते ।

किं चान्यत्-

कप्पम्मि अकप्पम्मि य, दिट्ठंता जेन होंति अविरुद्धा ।

तम्हा न तेमि सिद्धी, विहि अविहि विसोवजोग इव ॥ २०० ॥

दृष्टान्तेन यद्यदागमस्य इष्टं तत्सर्वं यदृच्छया प्रसाध्यते, तथा कल्प्यते हिंसा कर्तुं विधिनेति प्रतिज्ञा, निष्प्रत्यपायत्वादिति हेतुः । यथा विधिना विषोपभोगदृष्टान्तः । अस्य च भावना यथा-विधिना मन्त्रपरिगृहीतं विषं खाद्यमानमदोषाय भवति, अविधिना पुनः खाद्यमानं महान्तमनर्थमुपढौकयति । एवं हिंसाऽपि विधिना विधीयमाना न दुर्गतिगमनाय प्रभवति, अविधिना तु विधीयमाना दुर्गतिगमनायोपदिष्टा, यतश्चैवमतो निष्प्रत्यपायत्वात् कल्प्यते कर्तुं हिंसेति निगमनम् । एवं कल्पोऽकल्पो वा येन कारणेन दृष्टान्ता अविरुद्धा भवन्ति, कल्प्यमप्यकल्प्यम्, अकल्प्यमपि कल्प्यम् । यदृच्छया दृष्टान्तबलेन क्रियत इति भावः । तस्मान्न तेभ्यो दृष्टान्तेभ्योऽर्थानां सिद्धिर्भवति । गाथायां पञ्चम्यर्थे षष्ठी । विधिनाऽविधिना च विषोपभोग इवेति ।

इत्थं नोदकेन स्वपक्षे स्थापिते सति सूरिराह-

असिद्धी जइ नाएण, नायं किमिह उच्चते ? ।

अह ते नायतो सिद्धी, नायं किं परिसिज्झए ? । २०१ ।

यदि ज्ञातेन दृष्टान्तेनार्थानामसिद्धिः, ततस्त्वया ज्ञातं विषदृष्टान्त इह किमुच्यते किमेवमभिधीयते ? । अथ ते ज्ञाततो दृष्टान्तसिद्धिः, ततोऽस्माभिरुच्यमानं ज्ञातं किं प्रतिषिध्यते ? ।

किं च-

अंधकारो पदीवेण, वज्जए न उ अप्पहा ।

तहा दिट्ठंतिओ भावो, तेणेव उ विसुज्झति ॥ २०२ ॥

अन्धकारशब्दस्य पुंनपुंसकलिङ्गत्वाद् यथाऽन्धकारो रात्रौ प्रदीपेनैव वर्ज्यते विशोध्यते, न तु नैवान्यथा । विशोधिते च तस्मिन् घटाऽऽदिकं वस्तु परिस्फुटमुपलभ्यते, तथाऽपि दार्ष्टान्तिको दृष्टान्तग्राह्यो भावः पदार्थोऽन्धकारवद्गतिगहनोऽपि तेनैव दृष्टान्तेन प्रदीपकल्पेन विशुद्ध्यते निर्मलीभवति, विशुद्धे च तस्मिन् परिस्फुटा विवक्षितार्थप्रतिपत्तिर्भवतीति दृष्टान्तोपदर्शनमत्र क्रियते । किञ्च-सौवप्रीणिता वयं, स्ववाक्येनैव भवता यद् दृष्टान्तेनार्थप्रसाधनमभ्युपगतम्, अस्माकमपि त्वदीय एव दृष्टान्तः सूत्रस्य सार्थकत्वं प्रसाधयिष्यति । बृ० १ उ० २ प्रक० । आ० चू० । नि० चू० । विशे० । आव० । (न दृष्टान्तमात्रादर्थसिद्धिरिति 'पलंब' शब्दे वक्ष्यते) शास्त्रे, अलङ्कारोक्ते अलङ्कारभेदे च । वाच० ।

दिट्ठंतपरिणाम-दृष्टान्तपरिणाम-पुं० । दृष्टान्तेन अवबोधयितव्ये, व्य० ।

दृष्टान्तपरिणामकमाह-

परोक्खं हेउगं अत्थं, पच्चक्खेण उ साहियं ।

जिणेहिं एस अक्खातो, दिट्ठंतपरिणामगो ॥ ४७ ॥

परोक्षं, हेतुकं हेतुना लिङ्गेन गम्यं हेतुकम्, अर्थं प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षप्रसिद्धेन दृष्टान्तेन साधयन् आत्मबुद्धावारोपयन् यो वर्तते दृष्टान्तपरिणामको जिनैराख्यातो, दृष्टान्तेन विवक्षितमर्थं परिणामयत्यात्मबुद्धावारोपयतीति दृष्टान्तपरिणामक इति व्युत्पत्तेः । व्य० १० उ० ।

दिट्ठंताभास–दृष्टान्ताऽऽभास–पुं० । दुष्टदृष्टान्ते, रत्ना० ।

अथ दृष्टान्ताऽऽभासान् भासयन्ति–

साधर्म्येण दृष्टान्ताऽऽभासो नवप्रकारः ॥ ५८ ॥

दृष्टान्तो हि प्राग् द्विप्रकारः प्रोक्तः, साधर्म्येण वैधर्म्येण च । ततस्तदाभासोऽपि तथैव वाच्य इति साधर्म्यदृष्टान्ताऽऽभासस्तावत् प्रकारतो दर्शितः ॥ ५८ ॥

प्रकारानेव कीर्तयन्ति–

साध्यधर्मविकलः १, साधनधर्मविकलः २, उभयधर्मविकलः ३, संदिग्धसाध्यधर्मा ४, संदिग्धसाधनधर्मा ५, संदिग्धोभयधर्मा ६, अनन्वयः ७, अप्रदर्शितान्वयः ८, विपरीतान्वयश्च ९ इति ॥ ५९ ॥

इतिशब्दः प्रकारपरिसमाप्तौ, एतावन्त एव साधर्म्यदृष्टान्ताऽऽभासप्रकारा इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

क्रमेणामूनुदाहरन्ति–

तत्रापौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वाद् दुःखवदिति साध्यधर्मविकलः (१) ॥ ६० ॥

पुरुषव्यापाराभावे दुःखानुत्पादेन दुःखस्य पौरुषेयत्वात् । तत्रापौरुषेयत्वसाध्यस्यावृत्तेरयं साध्यधर्मविकल इति । (१) ॥ ६० ॥

तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव हेतौ परमाणुवदिति साधनधर्मविकलः (२) ॥ ६१ ॥

परमाणौ हि साध्यधर्मोऽपौरुषेयत्वमस्ति, साधनधर्मस्त्वमूर्तत्वं नास्ति, मूर्तत्वात्परमाणोः (२) ॥ ६१ ॥

कलशवदित्युभयधर्मविकलः (३) ॥ ६२ ॥

तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव च हेतौ कलशदृष्टान्तस्य पौरुषेयत्वान्मूर्तत्वाच्च साध्यसाधनोभयधर्मविकलता (३) ॥ ६२ ॥

रागाऽऽदिमानयं वक्तृत्वाद्देवदत्तवदिति संदिग्धसाध्यधर्मा (४) ॥ ६३ ॥

देवदत्ते हि रागाऽऽदयः सदसत्त्वाभ्यां संदिग्धाः, परचेतोवृत्तीनां परोक्षत्वाद्रागाऽऽद्यव्यभिचारिलिङ्गादर्शनाच्च (४)॥६३॥

मरणधर्माऽयं रागाऽऽदिमत्त्वान्मैत्रवदिति संदिग्धसाधनधर्मा (५) ॥ ६४ ॥

मैत्रे हि साधनधर्मो रागाऽऽदिमत्त्वाऽऽख्यः संदिग्धः (५) ॥६४॥

नायं सर्वदर्शी रागाऽऽदिमत्त्वान्मुनिविशेषवदिति संदिग्धोभयधर्मा (६) ॥ ६५ ॥

मुनिविशेषे सर्वदर्शित्वरागाऽऽदिमत्त्वाऽऽख्यौ साध्यसाधनधर्मौ संदिह्येते, तदव्यभिचारिलिङ्गादर्शनात् (६) ॥ ६५ ॥

रागाऽऽदिमान्विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वादिष्टपुरुषवदित्यनन्वयः (७) ॥ ६६ ॥

यद्यपीष्टपुरुषे रागाऽऽदिमत्त्वं च वक्तृत्वं च साध्यसाधनधर्मौ दृष्टौ, तथाऽपि यो यो वक्ता स स रागाऽऽदिमानिति व्याप्त्यसिद्धेरनन्वयत्वम् (७) ॥ ६६ ॥

अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्यप्रदर्शितान्वयः (८) ॥ ६७ ॥

अत्र यद्यपि वास्तवोऽन्वयोऽस्ति तथाऽपि वादिना वचनेन न प्रकाशित इत्यप्रदर्शितान्वयत्वम् । यद्यप्यत्र वस्तु नष्टो न कश्चिद्दोषः, तथाऽपि परार्थानुमाने वचनगुणदोषानुसारेण वक्तृगुणदोषौ परीक्षणीयाविति प्रवक्तव्य वाचनिक दुष्टत्वम् । एवं विपरीतान्वयाप्रदर्शितव्यतिरेकविपरीतव्यतिरेकेष्वपि द्रष्टव्यम् । (८) ॥ ६७ ॥

अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यदनित्यं तत्कृतकं घटवदिति विपरीतान्वयः (९) ॥ ६८ ॥

प्रसिद्धानुवादेन ह्यप्रसिद्धं विधेयं; प्रसिद्धं चात्र कृतकत्वं हेतुत्वेनोपादानात्; अप्रसिद्धं त्वनित्यत्वं साध्यत्वेन निर्देशात्; इति प्रसिद्धस्य कृतकत्वस्यैवानुवादसर्वनाम्ना यच्छब्देन निर्देशो युक्तः, न पुनरप्रसिद्धस्यानित्यत्वस्य; अनित्यत्वस्यैव च विधिसर्वनाम्ना तच्छब्देन परामर्शो युक्तः, न तु कृतकत्वस्य (९) ॥ ६८ ॥

अथ वैधर्म्यदृष्टान्ताऽऽभासमाहुः–

वैधर्म्येणाऽपि दृष्टान्ताऽऽभासो नवधा ॥ ६९ ॥

तानेव प्रकारान्निर्दिशन्ति–

असिद्धसाध्यव्यतिरेकः १, असिद्धसाधनव्यतिरेकः २, असिद्धोभयव्यतिरेकः ३, संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः ४, संदिग्धसाधनव्यतिरेकः ५, संदिग्धोभयव्यतिरेकः ६, अव्यतिरेकः ७, अप्रदर्शितव्यतिरेकः ८, विपरीतव्यतिरेकश्च ९, ॥ ७० ॥

अथैतान् क्रमेणोदाहरन्ति–

तेषु भ्रान्तमनुमानं प्रमाणत्वात्, यत्पुनर्भ्रान्तं न भवति न तत्प्रमाणं यथा स्वप्नज्ञानमिति, असिद्धसाध्यव्यतिरेकः स्वप्नज्ञानाद् भ्रान्तत्वस्याऽनिवृत्तेः (१) ॥ ७१ ॥

निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं प्रमाणत्वात्, यत्तु सविकल्पकं न तत्प्रमाणं यथा लैङ्गिकमित्यसिद्धसाधनव्यतिरेकः लैङ्गिकात्प्रमाणत्वस्याऽनिवृत्तेः (२) ॥ ७२ ॥

नित्यानित्यः शब्दः सत्त्वात्, यस्तु न नित्यानित्यः स न संस्तद्यथा–स्तम्भ इत्यसिद्धोभयव्यतिरेकः स्तम्भान्नित्यानित्यत्वस्य सत्त्वस्य चाव्यावृत्तेः (३) ॥ ७३ ॥

व्यक्तमनन्तरसूत्रद्वयमपि (३) ॥ ७३ ॥

असर्वज्ञोऽनाप्तो वा कपिलोऽक्षणिकैकान्तवादित्वात्, यः सर्वज्ञ आप्तो वा स क्षणिकैकान्तवादी यथा सुगत इति संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः सुगतेऽसर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोर्व्यावृत्तेः संदेहात् (४) ॥ ७४ ॥

अत्र च परमार्थतोऽसिद्धसाध्यव्यतिरेक एव क्षणिकैकान्तस्य प्रमाणबाधितत्वेन तद्वादिनामसर्वज्ञतानाप्ततासिद्धेः केवल-

त्वयानिक्षेपकप्रमाणमाहात्म्यपरामर्शनशून्यानां प्रमातृणां संदिग्धसाध्यव्यतिरेकत्वेनाऽऽभात इति तथैव कथितः (४) ॥७४॥

अनादेयवचनः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो रागाऽऽदिमत्त्वात्; पुनरादेयवचनः स वीतरागः, तद्यथा-शौद्धोदनिरिति संदिग्धसाधनव्यतिरेकः शौद्धोदनौ रागाऽऽदिमत्त्वस्य निवृत्तेः संशयात् (५) ॥ ७५ ॥

यद्यपि तद्दर्शनानुरागिणां शौद्धोदनेरादेयवचनत्वं प्रसिद्धं, तथापि रागाऽऽदिमत्त्वाभावस्तन्निश्चायकप्रमाणवैकल्यतः संदिग्ध एव (५) ॥ ७५ ॥

न वीतरागः कपिलः करुणाऽऽस्पदेष्वपि परमकृपयाऽनर्पितनिजपिशितशकलत्वात्, यस्तु वीतरागः स करुणाऽऽस्पदेषु परमकृपया समर्पितनिजपिशितशकलः, तद्यथा-तपनबन्धुरिति संदिग्धोभयव्यतिरेक इति तपनबन्धौ वीतरागत्वाभावस्य करुणाऽऽस्पदेष्वपि परमकृपयाऽनर्पितनिजपिशितशकलत्वस्य च व्यावृत्तेः संदेहात् (६) ॥७६॥

तपनबन्धुर्बुद्धो वैधर्म्यदृष्टान्ततया यः समुपन्यस्तः स न ज्ञायते किं रागाऽऽदिमानुत वीतरागः, तथा-करुणाऽऽस्पदेषु परमकृपया निजपिशितशकलानि समर्पितवान् वा, तन्निश्चायकप्रमाणापरिस्फुरणात् (६) ॥ ७६ ॥

न वीतरागः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वात्, यः पुनर्वीतरागो न स वक्ता यथोपलखण्ड इत्यव्यतिरेकः (७) ॥ ७७ ॥

यद्यपि किलोपलखण्डादुभयं व्यावृत्तं तथापि व्याप्त्या व्यतिरेकासिद्धेरव्यतिरेकत्वम् (७) ॥ ७७ ॥

अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदित्यप्रदर्शितव्यतिरेकः (८) ॥ ७८ ॥

अत्र यन्नित्यं न भवति तन्न कृतकमपि न भवतीति विद्यमानोऽपि व्यतिरेको वादिना वचनेन नोद्भावित इत्यप्रदर्शितव्यतिरेकत्वम् (८) ॥ ७८ ॥

अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद्यदकृतकं तन्नित्यं यथाऽऽकाशमिति विपरीतव्यतिरेकः (९) ॥ ७९ ॥

वैधर्म्यप्रयोगे हि साध्याभावः साधनाभावाऽऽक्रान्तो दर्शनीयो, न चैवमत्रेति विपरीतव्यतिरेकत्वम् (९) ॥७९॥ रत्ना० ६ परि०।

दिट्ठंतिय-दार्ष्टान्तिक-त्रि० । प्रथमेऽभिनयभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । रा० । आ० म० ।

दिट्ठगुण-दृष्टगुण-पुं० । दृष्टाः प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणतोऽनुभूतगुणधर्मा यस्य तस्मिन्, स्था० ।

दिट्ठत्थ-दृष्टार्थ-पुं० । दृष्ट उपलब्धोऽर्थः छेदश्रुताभिधेयरूपो येन स दृष्टार्थः । गीतार्थे, बृ० १ उ० ।

दिट्ठदोसपतिता-दृष्टदोषपतिता-स्त्री० । दृष्टः दोषश्चौर्याऽऽदिर्यस्याः सा तथा । सा चासौ पतिता च दृष्टदोषपतिता । आत्याद्दिर्वाहकृन्नायाम्, अन्त० ३० वर्ग ८ अ० ।

दिट्ठधम्म-दृष्टधर्म-पुं० । दृष्टोऽवगतो यथावस्थितो धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यो येन स तथा । अवगतधर्मे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

दिट्ठपह-दृष्टपथ-पुं० । दृष्टो ज्ञानाऽऽदिको मोक्षस्य पन्था येन स दृष्टपथः । दृष्टमोक्षमार्गे, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

दिट्ठपाठी-दृष्टपाठी-पुं० । दृष्टः पाठो येन स दृष्टपाठी । अधीतवैद्यके, नि० चू० ४ उ० ।

दिट्ठफल-दृष्टफल-पुं० । दृष्टमेव प्रत्यक्षं फलं पूजाऽऽदिकं फलमर्थः प्रयोजनं यस्याऽसौ दृष्टफलः । अपरोक्षफले, विशे० ।

दिट्ठभय-दृष्टभय-पुं० । दृष्टं संसाराद्भयं सप्तप्रकारं वा येन स तथा । अवगतसप्तप्रकारभये, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

से हु दिट्ठभए मुणी, जस्स णत्थि ममाइयं ।

शरीराऽऽदेः परिग्रहात्साक्षात्पारम्पर्येण वा पर्यालोच्यमानं सप्तप्रकारमपि भयमापनीपद्यत इत्यतः परिग्रहपरित्यागे ज्ञातभयत्वमवसीयते । अवगतसंसारभये, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

दिट्ठमदिट्ठ-दृष्टादृष्ट-न० । वन्दनकभेदे, "अंतरितो तमसे वा, ण वंदती वंदती उ दीसंतो ।" बहुषु वन्दमानेषु साध्वादिना कचिद्व्यवहितमसि वा सान्धकारप्रदेशे व्यवस्थितो मौनं विधायोपविश्य चाऽऽस्ते, न तु वन्दते, दृश्यमानस्तु वन्दते । एतद् दृष्टादृष्टं वन्दनकम् । बृ० ३ उ० । आव० । आ० चू० । ध० ।

दिट्ठलाभिय-दृष्टलाभिक-पुं० । दृष्टस्यैव भक्ताऽऽदेर्लाभः, अदृष्टस्यापवरकाऽऽदिमध्याभिर्गतस्य श्रोत्राऽऽदिभिः कृतोपयोगस्य भक्ताऽऽदेर्लाभस्तेन चरन्ति ये ते दृष्टलाभिकाः । भिक्षाभिग्रहविशेषयुक्ते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ध० । आ० चू० । स्था० । औ० ।

दिट्ठमार-दृष्टमार-पुं० । उपलब्धतत्त्वे, व्य० १० उ० ।

दिट्ठसाहम्म-दृष्टसाधर्म्य-न० । दृष्टं न पूर्वोपलब्धेनार्थेन सह साधर्म्यम् । सामान्यतो दृष्टानुमाने, अनु० ।

दिट्ठाभट्ठ-दृष्टाभाषित-त्रि० । कृतदर्शनाऽऽलापे, भ० ३श० १उ० ।

दिट्ठि-दृष्टि-स्त्री० । दर्शनं दृष्टिः । विशे० । चक्षुर्द्वारोत्पन्नदर्शने, अनु० । स्था० । सूत्र० । विशे० । द्रव्या० । आचा० । आतु० । न० । समुद्भूतपदार्थगतं सम्यग्दर्शने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । तद्रुचि, भ० ६ श० ४ उ० । धर्मप्रज्ञापनायाम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । जिनप्रणीतवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तौ, प्रज्ञा० ३४ पद । जी० । सूत्र० । स्था० ।

जीवा णं भंते ! सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी ? । गोयमा ! जीवा सम्मदिट्ठी वि, मिच्छादिट्ठी वि, सम्मामिच्छादिट्ठी वि । एवं णेरइया वि । असुरकुमारा वि एवं चेव जाव थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं पुच्छा ? । गोयमा ! पुढविकाइया नो सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, णो सम्मामिच्छादिट्ठी । एवं० जाव वणस्सइकाइया । बेइंदियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! बेइंदिया सम्मादिट्ठी वि, मिच्छादिट्ठी वि, नो सम्मामिच्छादिट्ठी । एवं० जाव चउरिंदिया । पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सवाणमंतरजोइसियवेमाणिया सम्मदिट्ठी वि, मिच्छादिट्ठी वि, सम्मामिच्छादिट्ठी वि । सिद्धाणं पुच्छा ? । गोयमा ! सिद्धा णं सम्मदिट्ठी, णो मिच्छादिट्ठी, णो सम्मामिच्छादिट्ठी ।

(जीवा णं भंते ! किं सम्मदिट्ठी इत्यादि) सुगममापदपरिसमाप्तेः, नवरं सास्वादनसम्यक्त्वयुक्तोऽपि सूत्राऽभिप्रायेण पृथिव्यादिषु नोत्पद्यते, "उभयाभावो पुढवाइएसु" इति वचनात् । द्वीन्द्रियाऽऽदिषु सास्वादनसम्यक्त्वयुक्त उपपद्यते । ततः पृथिव्यादयः सम्यग्दृष्टयः प्रतिषिद्धा द्वीन्द्रियाऽऽदयोऽभिहिताः ॥ सम्यग्मिथ्यादृष्टिपरिणामः पुनः संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां भवति, न शेषाणां, तथास्वाभाव्यात् । अत उभयेऽपि सम्यग्मिथ्यादृष्टयः प्रतिषिद्धाः । प्रज्ञा० १६ पद । जी० । भ० । (दृष्टित्रितयेऽल्पबहुत्वम् 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६९१ पृष्ठे उक्तम्) अन्तःकरणप्रवृत्तौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । बुद्धौ, उत्त० २ अ० । नेत्रे, ग० १ अधि० ।

दिट्ठिआ-दिष्ट्या-अव्य० । दिश-क्त-अन्त्यादि० नि० । वाच० । दिष्ट्या, दिट्ठ्‌या इति विश्लेषे " ह्रे-श्री-ह्री-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यास्वित् " ॥ ८ । २ । १०४ ॥ इत्यनेन यापूर्वे इकारः लोकात् " ष्टस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे " ॥ ८ । २ । ३४ ॥ इति ष्टस्य ठः । " अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम् " ॥ ८ । २ । ८९ ॥ इति द्वित्वे " कगचजतदपयवां प्रायो लुक् " ॥ ८ । १ । १७७॥ इति यलुक् । 'दिट्ठिया ।' प्रा० ढुं० २ पाद । मङ्गले, हर्षे, भाग्येनेत्यर्थे च । वाच० ।

दिट्ठिकीव-दृष्टिक्लीब-पुं० । यश्चिलिमिलिकान्तर्गतः सर्वतः सर्वं करोति तादृशे क्लीबे, " दिट्ठिकीवो सव्वं चिलिमिलियंतरितो करेति । " नि० चू० ४ उ० ।

दिट्ठिजुद्ध-दृष्टियुद्ध-न० । योधप्रतियोधयोश्चक्षुर्भ्यां निर्निमेषावस्थाने, अं० २ वक्ष० ।

दिट्ठिणिव्वत्ति-दृष्टिनिर्वृत्ति-स्त्री० । निर्वर्त्तनं निर्वृत्तिर्निष्पत्तिः, दृष्टेर्निर्वृत्तिः दृष्टिनिर्वृत्तिः । दृष्टिनिष्पत्तौ, भ० ।

कइविहा णं भंते ! दिट्ठिणिव्वत्ती पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिविहा दिट्ठिणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-सम्मदिट्ठिणिव्वत्ती, मिच्छादिट्ठिणिव्वत्ती, सम्मामिच्छादिट्ठिणिव्वत्ती । एवं० जाव वेमाणिया । जस्स जइविहा दिट्ठी । भ० १९ श० ८ उ० ।

दिट्ठिदंड-दृष्टिदण्ड-पुं० । क्रियास्थानभेदे, आव० ।

......................, दिट्ठिविवज्जासओ इमो होइ ।
जो मित्तममित्तं ती, काउं घाइज्ज अहवा वि ॥ ४९ ॥
गामाईघाएसु व, अतेणं तेणं ति वावि घाइज्जा ।
दिट्ठिविवज्जासे सो, किरिआठाणं तु पंचमयं ॥ ५० ॥
आव० ४ अ० ।

दिट्ठिमं-दृष्टिमत्-पुं० । दर्शनं दृष्टिः सदनुष्ठानं वा यस्यासौ दृष्टिमान् । आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । यथावस्थितान् पदार्थान् श्रद्दधाने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । सम्यग्दर्शनिनि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

दिट्ठिया-दृष्टिका (जा)-स्त्री० । दृष्टेर्जाता दृष्टिजा । अथवा-दृष्टं दर्शनं वस्तु वा निमित्ततया यस्यामस्ति सा दृष्टिका । दर्शनार्थं या गतिक्रिया, दर्शनाद्वा यत्कर्मोदेति सा दृष्टिजा, दृष्टिका वा । स्था० २ ठा० १ उ० । आव० ।

दिट्ठिराग-दृष्टिराग-त्रि० । दिट्ठिरागो त्ति सयमियं किरियावं अकिरियवाईणमाह-" सुमती णियसत्थो, वेणइआणं च बत्तीसं ।" स्वकीयायां स्वकीयायां दृष्टौ रक्ता इति, यतो "जिणवयणबाहिरमती, मूढा णियदंसणाणुराएण । सव्वण्णु कहितमेते, मोक्खगई न तु पवज्जंति" ॥१॥ स्वकीयायां स्वकीयायां दृष्टौ रक्ते, आ० चू० १ अ० । "रागेण" (४) दृष्टिरागाऽऽदिरूपेण गोविन्दवाचकोत्तमाचार्यमिव । ध० २ अधि० । आ० म० ।

दिट्ठिवाय-दृष्टिपात (वाद)-पुं० । दृष्टयो दर्शनानि नया वा उच्यन्ते अभिधीयन्ते पतन्ति वा अवतरन्ति यत्रासौ दृष्टिवादो, दृष्टिपातो वा । प्रवचनपुरुषस्य द्वादशेऽङ्गे, स्था० ४ ठा० १ उ० । दृष्टिर्दर्शनं सम्यक्त्वाऽऽदि, वदनं वादो, दृष्टीनां वादो दृष्टिवादः । प्रव० १४४ द्वार ।

दृष्टिवादं पर्यायतो दशधाऽऽह-

दिट्ठिवायस्स णं दस नामधिज्जा पण्णत्ता । तं जहा-दिट्ठिवाएइ वा हेतुवाएइ वा भूयवाएइ वा तच्चावाएइ वा सम्मावाएइ वा धम्मावाएइ वा भासाविजएइ वा पुव्वगएइ वा अणुओगगएइ वा सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहेइ वा ।

हिनोति गमयति जिज्ञासितमर्थमिति हेतुः, अनुमानोत्थापकं लिङ्गमुपचारादनुमानमेव वा वादो हेतुवादः । तथा-भूताः सद्भूताः पदार्थाः, तेषां वादो भूतवादः । तथा-तत्त्वानि वस्तूनामैदम्पर्याणि, तेषां वादस्तत्त्ववादः, तथ्यो वा सत्यो वादस्तथ्यवादः । तथा-सम्यगविपरीतो वादः सम्यग्वादः । तथा-धर्माणां वस्तुपर्यायाणां धर्मस्य वा चारित्रस्य वादो धर्मवादः । तथा-भाषा सत्याऽऽदिका, तस्या विचयो निर्णयो भाषाविचयः, भाषाया वाचो विजयः समृद्धिर्यस्मिन् स भाषाविजयः । तथा-सर्वश्रुतात्पूर्वं क्रियन्त इति पूर्वाणि उत्पादपूर्वाऽऽदीनि चतुर्दश, तेषु गतोऽभ्यन्तरीभूतस्तत्स्वभाव इत्यर्थः इति पूर्वगतः । तथा अनुयोगः प्रथमानुयोगस्तीर्थकराऽऽदिपूर्वभवाऽऽदिव्याख्यानग्रन्थो गण्डिकाऽनुयोगश्च भरतनरपतिवंशजानां निर्वाणगमनानुत्तरविमानगमनवक्तव्यताव्याख्यानग्रन्थ इति द्विरूपोऽनुयोगो गतोऽनुयोगगतः एतौ च पूर्वगतानुयोगगतौ दृष्टिवादांशावपि दृष्टिवादतयोक्तावयवे समुदायोपचारादिति । तथा-सर्वे विज्ञे, ते च ते प्राणाश्च द्वीन्द्रियाऽऽदयो भूताश्च तरवो जीवाश्च पञ्चेन्द्रियाः सत्त्वाश्च पृथिव्यादय इति द्वन्द्वगर्भः कर्मधारयः, ततस्तेषां सुखं शुभं वा आवहतीति सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखाऽऽवहः, सुखाऽऽवहत्वं च संयमप्रतिपादकत्वात्तस्यासौ निर्वाणहेतुत्वाच्चेति । स्था० १० ठा० ।

से किं तं दिट्ठिवाए ? । दिट्ठिवाए णं सव्वभावपरूवणा आघविज्जइ । से समासओ पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-परिकम्मे १, सुत्ताइं २, पुव्वगए ३, अणुओगे ४, चूलिया ५ ।

दृष्टयो दर्शनानि, वदनं वादः, दृष्टीनां वादो यत्र स दृष्टिवादः । अथवा-पतनं पातो, दृष्टीनां पातो यत्र स दृष्टिपातः । तथाहि-तत्र सर्वनयदृष्टय आख्यायन्ते । तथा चाऽऽह सूरिः-" दिट्ठिवाएणं " इत्यादि । दृष्टिवादेन । अथवा-दृष्टिपातेन । यद्वा-दृष्टिवादं, दृष्टिपाते । णमिति वाक्यालङ्कारे । सर्वभावप्ररूपणा आख्यायते, (से समासतो पञ्चविधं पण्णत्ते इत्यादि) सर्वमिदं प्रायो व्यवच्छिन्नं, तथाऽपि लेशतो यथागतसंप्रदायकं किञ्चि-

द्वादशाध्ययने-स दृष्टिवादो, दृष्टिपातो वा समासतः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा--परिकर्म१, सूत्राणि २, पूर्वगतम् ३, अनुयोगः ४, चूलिका ५ ।

से किं तं परिकम्मे ? । परिकम्मे सत्तविहे पएणत्ते । तं जहा–सिद्धसेणियापरिकम्मे १, मणुस्ससेणियापरिकम्मे २, पुट्ठसेणियापरिकम्मे ३, ओगाढसेणियापरिकम्मे ४, उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे ५, विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ६, चुयाचुयसेणियापरिकम्मे ७ ।

से किं तं सिद्धसेणियापरिकम्मे ? । सिद्धसेणियापरिकम्मे चउद्दसविहे पएणत्ते । तं जहा–माउयापयाइं १, एगट्ठियपयाइं २, पादोट्ठपयाइं ३, आगासपयाइं ४, केउभूयं ५, रासिबद्धं ६, एगगुणं ७, दुगुणं ८, तिगुणं ९, केउभूए १०, पडिग्गहे ११, संसारपडिग्गहे १२, नंदावत्तं १३, सिद्धावत्तं १४ । सेतं सिद्धसेणियापरिकम्मे ॥ १ ॥

से किं तं मणुस्ससेणियापरिकम्मे ? । मणुस्ससेणियापरिकम्मे चउद्दसविहे पएणत्ते । तं जहा–ताइं चेव माउयापयाइं १, एगट्ठियपयाइं २, पादोट्ठपयाइं ३, आगासपयाइं ४, केउभूयं ५, रासिबद्धं ६, एगगुणं ७, दुगुणं ८, तिगुणं ९, केउभूए १०, पडिग्गहे ११, संसारपडिग्गहे १२, नंदावत्तं १३, मणुस्सावत्तं १४ । सेतं मणुस्ससेणियापरिकम्मे ॥ २ ॥

से किं तं पुट्ठसेणियापरिकम्मे ? । पुट्ठसेणियापरिकम्मे इक्कारसविहे पएणत्ते । तं जहा–आगासपयाइं १, केउभूयं २, रासिबद्धं ३, एगगुणं ४, दुगुणं ५, तिगुणं ६, केउभूए ७, पडिग्गहे ८, संसारपडिग्गहे ९, नंदावत्तं १०, पुट्ठावत्तं ११ । सेतं पुट्ठसेणियापरिकम्मे ॥ ३ ॥

से किं तं ओगाढसेणियापरिकम्मे ? । ओगाढसेणियापरिकम्मे इक्कारसविहे पएणत्ते । तं जहा–आगासपयाइं १, केउभूयं २, रासिबद्धं ३, एगगुणं ४, दुगुणं ५, तिगुणं ६, केउभूए ७, पडिग्गहे ८, संसारपडिग्गहे ९, नंदावत्तं १०, ओगाढावत्तं ११ । सेतं ओगाढसेणियापरिकम्मे ॥ ४ ॥

से किं तं उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे ? । उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे इक्कारसविहे पएणत्ते । तं जहा–आगासपयाइं १, केउभूयं २, रासिबद्धं ३, एगगुणं ४, दुगुणं ५, तिगुणं ६, केउभूए ७, पडिग्गहे ८, संसारपडिग्गहे ९, नंदावत्तं १०, उवसंपज्जणावत्तं ११ । सेतं उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे ॥ ५ ॥

से किं तं विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ? । विप्पजहणसेणियापरिकम्मे एक्कारसविहे पएणत्ते । तं जहा–आगासपयाइं १, केउभूयं २, रासिबद्धं ३, एगगुणं ४, दुगुणं ५, तिगुणं ६, केउभूए ७, पडिग्गहे ८, संसारपडिग्गहे ९, नंदावत्तं १०, विप्पजहणावत्तं ११ । सेतं विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ॥ ६ ॥

से किं तं चुयाचुयसेणियापरिकम्मे ? । चुयाचुयसेणियापरिकम्मे एक्कारसविहे पएणत्ते । तं जहा–आगासपयाइं १, केउभूयं २, रासिबद्धं ३, एगगुणं ४, दुगुणं ५, तिगुणं ६, केउभूए ७, पडिग्गहे ८, संसारपडिग्गहे ९, नंदावत्तं १०, चुयाचुयावत्तं ११, सेतं चुयाचुयसेणियापरिकम्मे ॥ ७ ॥ छ चउक्कनइयाइं, सत्त तेरासियाइं । सेतं परिकम्मे ॥१॥

तत्र परिकर्मनाम योग्यताऽऽपादनं तद्धेतुः शास्त्रमपि परिकर्म । किमुक्तं भवति ?–सूत्रपूर्वगतानुयोगः, तत्रार्थग्रहणयोग्यतासंपादनसमर्थानि परिकर्माणि, यथा गणितशास्त्रे संकलनाऽऽदीन्याद्यानि षोडश परिकर्माणि शेषगणितसूत्रार्थग्रहणयोग्यतासंपादनसमर्थानि । तथाहि-यथा गणितशास्त्रे तद्योग्य-षोडशपरिकर्मगृहीतसूत्रार्थः सन् शेषगणितशास्त्रग्रहणयोग्यो भवति, नान्यथा, तथा गृहीतविवक्षितपरिकर्मसूत्रार्थः सन् शेषसूत्राऽऽदिरूपदृष्टिवादश्रुतग्रहणयोग्यो भवति, नेतरथा । तथा चोक्तं चूर्णौ–" परिकम्मं ति योग्यताकरणं, जहा गणियस्स सोलस परिकम्मा, तग्गहियसुत्तत्थो सेसगणियस्स जोग्गो भवति, एवं गहियपरिकम्मसुत्तत्थो सेससुत्ताइं दिट्ठिवायसुयस्स जोग्गो भवइ । इति" तच्च परिकर्म सिद्धश्रेणिकापरिकर्माऽऽदिमूलभेदापेक्षया सप्तविधं, मातृकापदाऽऽद्युत्तरभेदापेक्षया त्र्यशीतिविधं. तच्च समूलोत्तरभेदं सूत्रतोऽर्थतश्च व्यवच्छिन्नं यथागतसंप्रदायतो वाच्यम, एतेषां सिद्धश्रेणिकापरिकर्माऽऽदीनां सप्तानां परिकर्मणामाद्यानि षट् परिकर्माणि स्वसमयवक्तव्यताऽनुगतानि, स्वसिद्धान्तप्रकाशकानीत्यर्थः । ये तु गोशालकप्रवर्तिता आजीविकाः पाषण्डिनः, तन्मतेन च्युताच्युतश्रेणिकापरिकर्मसहितानि सप्तापि परिकर्माणि, स्वसमयवक्तव्यता तु प्रज्ञाप्यन्ते । संप्रत्येतेष्वेव परिकर्मसु नयचिन्ता । तत्र-नयाः सप्त नैगमाऽऽदयः । नैगमोऽपि द्विधा–सामान्यग्राही, विशेषग्राही च । तत्र यः सामान्यग्राही स संग्रहं प्रविष्टः, यस्तु विशेषग्राही स व्यवहारम् । आह च भाष्यकृत्-" जो सामन्नग्गाही, स नेगमो संगह गओ अहवा । इयरो ववहारमिओ, जो तेण समाणनिद्देसो ॥ ३९ ॥ " (विशे०) शब्दाऽऽदयश्च त्रयोऽपि नया एक एव नयः परिकल्प्यते, तत एवं चत्वार एव नयाः, एतैश्चतुर्भिर्नयैराद्यानि षट् परिकर्माणि स्वसमयवक्तव्यतया परिचिन्त्यन्ते । तथा चाऽऽह चूर्णिकृत्-" इयाणि परिकम्मनयचिंता, नेगमो दुविहो–संगाहिओ, असंगाहिओ य । संगहं पविट्ठो संगाहिओ, असंगाहिओ ववहारं । तम्हा संगहो, ववहारो, उज्जुसुओ, सद्दाइ य इक्को, एवं चउरो नया एएहिं चउहिं नएहिं ससमयगइपरिकम्मा चिंतिज्जंति । " तथा चाऽऽह चूर्णिकृत्-" चउक्कनइयाइं ति । " आद्यानि षट् परिकर्माणि । चतुर्नयिकानि चतुर्नयोपेतानि । तथा–ते एव गोशालकप्रवर्तिता आजीविकाः पाषण्डिनः त्रैराशिका उच्यन्ते । कस्मादिति चेत् ?, उच्यते–इह ते सर्वं वस्तु त्र्यात्मकमिच्छन्ति । तद्यथा–जीवः, अजीवः, जीवाजीवश्च । लोकः, अलोकः, लोकालोकश्च । सत्, असत्,

सप्तमत । नयचिन्तायामपि त्रिविधं नयमिच्छन्ति । तद्यथा-द्रव्यास्तिकम्, पर्यायास्तिकम्, उभयास्तिकं च । उक्तं च-तत्र त्रिभी राशिभिश्चरन्तीति त्रैराशिकाः, तन्मतेन सप्ताऽपि परिकर्माणि चिन्त्यन्ते । तथा चाऽऽह सूत्रकृत्-" सत्त तेरासिया ।" इति । सप्त परिकर्माणि त्रैराशिकयानि त्रैराशिकमतानुसारीणि । एतदुक्तं भवति-पूर्वसूरयो नयचिन्तायां त्रैराशिकमतमवलम्बमानाः सप्तापि परिकर्माणि त्रिविधयाऽपि नयचिन्तया चिन्तयन्ते स्मेति । (सेत्तं परिकम्मे) तदेतत्परिकर्म ॥१॥

से किं तं सुत्ताइं ? । सुत्ताइं बावीसं पण्णत्ताइं । तं जहा-उज्जुसुयं १, परिणयापरिणयं २, बहुभंगियं ३, विप्पच्चइयं ४, अणंतरं ५, परंपरमाणं ६, संजूहं ७, संभिण्णं ८, अहच्चायं ९, सोवत्थियं १०, घंटं ११, नंदावत्तं १२, बहुलं १३, पुट्ठापुट्ठं १४, वियावत्तं १५, एवंभूयं १६, दुयावत्तं १७, वत्तमाणुप्पयं १८, समभिरूढं १९, सव्वओभदं २०, पणामं २१, दुपडिग्गहं २२ । इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं छिन्नच्छेयनइयाणि ससमयसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं अच्छिन्नच्छेयनइयाणि आजीवियसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं तिगनइयाणि तेरासियसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं चउक्कनइयाणि ससमयसुत्तपरिवाडीए, एवामेव सपुव्वावरेणं अट्ठासीइं सुत्ताइं भवंतीति मक्खायं । सेत्तं सुत्ताइं ॥ २ ॥

(से किं तं सुत्ताइं ति) अथ कानि सूत्राणि ? । सर्वस्य पूर्वगतस्य सूत्रार्थस्य सूचनात्सूत्राणि । तथाहि-तानि सूत्राणि सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां सर्वनयानां सर्वभङ्गविकल्पानां प्रदर्शकानि । तथा चोक्तं चूर्णिकृता-"ताणि य सुत्ताणि सव्वदव्वाणं सव्वपज्जवाणं सव्वनयाणं सव्वभंगविकप्पाण य पदंसगाणि सव्वस्स पुव्वगयस्स सुयस्स अत्थस्स य सूयगत्ति सूयणत्ति सूया भणिया जहाभिहाणत्था ।" इति । आचार्य आह-सूत्राणि द्वाविंशतिः प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-ऋजुसूत्रमित्यादि । एतान्यपि संप्रति सूत्रतोऽर्थतश्च व्यवच्छिन्नानि यथागतसंप्रदायतो वा वाच्यानि, तानि सूत्राणि नयविभागतो विभज्यमानानि अष्टाशीतिसंख्यानि भवन्ति । कथमिति चेदत आह-(इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं इत्यादि) इह यो नाम नयसूत्रं छेदेन छिन्नमेवाभिप्रैति न द्वितीयेन सूत्रेण सह संबन्धयति । यथा-" धम्मो मंगलमुक्किट्ठं " इति श्लोकम्, तथा ह्ययं श्लोकः छिन्नच्छेदनयमतेन व्याख्यायमानो न द्वितीयाऽऽदीन् श्लोकानपेक्षते, नाऽपि द्वितीयाऽऽदयः श्लोका अमुम् । अयमत्राभिप्रायः-तथा कथञ्चनाप्यमुं श्लोकं पूर्वसूरयः छिन्नछेदनयमते व्याख्यान्ति स्म, यथा न मनागपि द्वितीयाऽऽदिश्लोकानामपेक्षा भवति, द्वितीयाऽऽदीनपि श्लोकान् तथा व्याख्यानयन्ति स्म, यथा न तेषां प्रथमश्लोकस्यापेक्षा, तथा सूत्राण्यपि यन्नयाभिप्रायेण परस्परं निरपेक्षाणि व्याख्यान्ति स्म, स छिन्नच्छेदनयः । छिन्नो द्विधाकृतः पृथक्कृतः छेदः पर्यन्तो येन सः छिन्नछेदः, प्रत्येकं कल्पितपर्यन्त इत्यर्थः । स चाऽसौ नयश्च छिन्नच्छेदनयः, इत्येतानि द्वाविंशतिसूत्राणि स्वसमयसूत्रपरिपाट्या स्वसमयवक्तव्यतामधिकृत्य सूत्रपरिपाट्यां विवक्षितायां छिन्नच्छेदनयिकानि, अत्र "अतोऽनेकस्वरात्" ।७।२।६॥ (हैम०) इति मत्वर्थीय इकप्रत्ययः । ततोऽयमर्थः-छिन्नच्छेदनयवन्ति द्रव्याणि । तथा (इच्चेइयाइं इत्यादि) इत्येतानि द्वाविंशतिसूत्राणि आजीविकसूत्रपरिपाट्यां गोशालप्रवर्तिताऽऽजीविकपाषण्डिमतेन सूत्रपरिपाट्यां विवक्षितायामच्छिन्नच्छेदनयिकानि । इयमत्र भावना-अच्छिन्नच्छेदनयो नाम यः सूत्रं सूत्रान्तरेण छिन्नमर्थतः सूत्रं सूत्रान्तरेण सहाच्छिन्नमित्यर्थः, तत्संबन्धमभिप्रैति । यथा-"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं" इति श्लोकम् । तथा ह्ययं श्लोकोऽच्छिन्नच्छेदनयमतेन व्याख्यायमानो द्वितीयाऽऽदीन् श्लोकानपेक्षते, द्वितीयाऽऽदयोऽपि श्लोका एनं श्लोकम् । एवमेतान्यपि द्वाविंशतिसूत्राणि अक्षररचनामधिकृत्य परस्परं विभक्तान्यप्यच्छिन्नच्छेदनयमतेनार्थसंबन्धमपेक्ष्य सापेक्षाणि वर्तन्ते । तदेवं नयाभिप्रायेण परस्परं सूत्राणां संबन्धाऽसंबन्धावधिकृत्य भेदो दर्शितः । सम्प्रत्यन्यथा नयविभागमधिकृत्य भेदं दर्शयन्ति-(इच्चेइयाइं इत्यादि) इत्येतानि द्वाविंशतिसूत्राणि त्रैराशिकसूत्रपरिपाट्यां विवक्षितायां त्रिकनयिकानि, त्रिकाणि प्राकृतत्वात्स्वार्थे कप्रत्ययः । ततोऽयमर्थः-त्रिनयिकानि त्रिनयोपेतानि । किमुक्तं भवति ?-त्रैराशिकमतमवलम्ब्य द्रव्यास्तिकाऽऽदिनयत्रिकेण चिन्त्यन्ते इति । तथा इत्येतानि द्वाविंशतिसूत्राणि स्वसमयसूत्रपरिपाट्यां स्वसमयवक्तव्यतामधिकृत्य सूत्रपरिपाट्यां विवक्षितायां चतुर्नयिकानि संग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दरूपनयचतुष्टयोपेतानि संग्रहाऽऽदिनयचतुष्टयेन चिन्त्यन्ते इत्यर्थः । एवमेतेनैव प्रकारेण (पुव्वावरेणं ति) पूर्वाणि चापराणि च पूर्वापरं, समाहारप्रधानो द्वन्द्वः, पूर्वापरसमुदाय इत्यर्थः । तत एतदुक्तं भवति-नयविभागतो विभिन्नानि पूर्वाणि अपराणि च सूत्राणि समुदितानि सर्वसंख्यया अष्टाशीतिसूत्राणि भवन्ति, चतसृणां द्वाविंशतीनामष्टाशीतिमानत्वात् । इत्याख्यातं तीर्थकरगणधरैः (सेत्तं सुत्ताइं) तान्येतानि सूत्राणि ।

से किं तं पुव्वगए ? । पुव्वगए चउद्दसविहे पण्णत्ते । तं जहा-उप्पायपुव्वं १, अग्गेणीयं २, वीरियप्पवायं ३, अत्थिनत्थिप्पवायं ४, नाणप्पवायं ५, सच्चप्पवायं ६, आयप्पवायं ७, कम्मप्पवायं ८, पच्चक्खाणप्पवायं ९, विज्जाणुप्पवायं १०, अवंझं ११, पाणाउं १२, किरियाविसालं १३, लोकबिंदुसारं १४ । उप्पायपुव्वस्स णं दस वत्थू चत्तारि चूलियावत्थू पण्णत्ता । अग्गेणीयपुव्वस्स णं चोद्दस वत्थू दुवालस चूलियावत्थू पण्णत्ता । वीरियपुव्वस्स णं अट्ठ वत्थू अट्ठ चूलियावत्थू पण्णत्ता । अत्थिणत्थिप्पवायपुव्वस्स अट्ठारस वत्थू दस चूलियावत्थू पण्णत्ता । नाणप्पवायपुव्वस्स बारस वत्थू पण्णत्ता । सच्चप्पवायपुव्वस्स णं दोण्णि वत्थू पण्णत्ता । आयप्पवायपुव्वस्स णं सोलस वत्थू पण्णत्ता । कम्मप्पवायपुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता । पच्चक्खाणपुव्वस्स णं वीसं वत्थू पण्णत्ता । विज्जाणुप्पवायपुव्वस्स णं पण्णरस वत्थू पण्णत्ता । अवंझपुव्वस्स णं बारस वत्थू पण्णत्ता । पाणाउपुव्वस्स णं तेरस वत्थू पण्णत्ता । किरियाविसालपुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता । लोगबिंदुसारपुव्वस्स णं पणवीसं वत्थू पण्णत्ता । " दस चोद्दस अट्ठ अट्ठा-रसेव बारस दुवे य वत्थूणि ।

सोलस तीसा वीसा, पन्नरस अणुप्पवायम्मि ॥ १ ॥
बारस इक्कारसमे, बारसमे तेरसेव वत्थूणि ।
तीसा पुण तेरसमे, चोद्दसमे पन्नवीसा उ ॥ २ ॥
चत्तारि दुवालस अ-ट्ठ चेव दस चेव चूलवत्थूणि ।
आइल्लाण चउण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि ॥ ३ ॥
सेत्तं पुव्वगए ३ ॥

(से किं तं इत्यादि) अथ किं तत् पूर्वगतम् ? । इह तीर्थकरस्तीर्थप्रवर्त्तनकाले गणधरान् सकलश्रुतार्थावगाहनसमर्थानधिकृत्य पूर्वं पूर्वगतसूत्रार्थं भाषते, ततस्तानि पूर्वाण्युच्यन्ते, गणधराः पुनः श्रुतरचनां विदधाना आचाराऽऽदिक्रमेण विदधति, स्थापयन्ति वा । अन्ये तु व्याचक्षते-पूर्वं पूर्वगतसूत्रार्थमर्हन् भाषते, गणधरा अपि पूर्वं पूर्वगतसूत्रं विरचयन्ति, पश्चादाचाराऽऽदिकम् । अत्र चोदक आह-नन्विदं पूर्वापरविरुद्धं, यस्मादाचारनिर्युक्तावुक्तम्-"सव्वेसिं आयारो पढमो" इत्यादि । सत्यमुक्तम्, किं तु तत्स्थापनामधिकृत्योक्तम् । अक्षररचनामधिकृत्य पुनः पूर्वं पूर्वाणि कृतानि, ततो न कश्चित्पूर्वापरविरोधः । सूरिराह- (पुव्वगते इत्यादि) पूर्वगतं श्रुतं चतुर्दशविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा-उत्पादपूर्वमित्यादि । तत्रोत्पादप्रतिपादकं पूर्वमुत्पादपूर्वम् । तथाहि-तत्र सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां चोत्पादमधिकृत्य प्ररूपणा क्रियते । आह च चूर्णिकृत्-"पढमं उप्पायपुव्वं, तत्थ सव्वदव्वाणं पज्जवाण य उप्पायभावमंगीकाउं पण्णवणा कया ।" इति । तस्य पदपरिमाणमेका पदकोटी । द्वितीयमग्रायणीयम् । अग्रं परिमाणं तस्य अयनं गमनं, परिच्छेद इत्यर्थः । तस्मै हितमग्रायणीयम्, सर्वद्रव्याऽऽदिपरिमाणपरिच्छेदकारीति भावार्थः । तथाहि-तत्र सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां सर्वजीवविशेषाणां च परिमाणमुपवर्ण्यते । यत उक्तं चूर्णिकृता-"बिइयं अग्गेणीयं, तत्थ सव्वदव्वाणं पज्जवाण य सव्वजीवाण य अग्गं परिमाणं वन्निज्जइ ।" इति । अग्रायणीयस्य पदपरिमाणं षण्णवतिपदशतसहस्राणि तृतीयं पूर्वं विरचयन्ति । पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् वीर्यप्रवादं तत्र सकर्मेतराणां जीवानामजीवानां च वीर्यं प्रवदन्तीति वीर्यप्रवादं, कर्मणि अण्प्रत्ययः । तस्य पदपरिमाणं सप्ततिपदशतसहस्राणि । चतुर्थम् अस्तिनास्तिप्रवादं, तत्र यद्वस्तु लोकेऽस्ति धर्मास्तिकायाऽऽदि, यच्च नास्ति खरशृङ्गाऽऽदि, तत्प्रवदतीत्यस्तिनास्तिप्रवादम् । अथवा-सर्वं वस्तु स्वरूपेणास्ति, पररूपेण नास्तीति अस्तिनास्तिप्रवाद, तस्य पदपरिमाणं षष्टिः पदशतसहस्राणि । पञ्चमं ज्ञानप्रवादं-ज्ञानं मतिज्ञानाऽऽदिभेदभिन्नं पञ्चप्रकारं तत्सप्रपञ्चं वदतीति ज्ञानप्रवादं, तस्य पदपरिमाणम्, एका पदकोटी पदेनैकेन न्यूना । षष्ठं सत्यप्रवादं, सत्यं संयमो वचनं वा तत्सत्यसंयमं वचनं वा प्रकर्षेण सप्रपञ्चं वदतीति सत्यप्रवादं, तस्य पदपरिमाणम् एका पदकोटी षड्भिः पदैरधिका । सप्तमं पूर्वम्-आत्मप्रवादमात्मानं जीवमनेकधा नयमतभेदेन यत्प्रवदतीति तदात्मप्रवादं, तस्य पदप्रमाणं षड्विंशतिपदकोटयः । अष्टमं कर्मप्रवादं कर्म ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकमष्टप्रकारं, तत्प्रकर्षेण प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाऽऽदिभिर्भेदैः सप्रपञ्चं वदति कर्मप्रवादं, तस्य पदपरिमाणम्-एका कोटी अशीतिश्च पदसहस्राणि, नवमं (पच्चक्खाणं ति) अत्रापि पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् प्रत्याख्यानप्रवादमिति द्रष्टव्यम् । प्रत्याख्यानं सप्रभेदं यद्वदति तत्प्रत्याख्यानप्रवादं, तस्य पदप्रमाणं चतुरशीतिपदलक्षाणि । दशमं विद्याऽनुप्रवादं, विद्याऽनेकातिशयसंपन्ना अनुप्रवदति साधनानुकूल्येन सिद्धिप्रकर्षेण प्रवदतीति विद्याऽनुप्रवादं, तस्य पदपरिमाणम्, एका पदकोटी दश च पदलक्षाः । एकादशमवन्ध्यं, वन्ध्यं नाम-निष्फलं, न विद्यते वन्ध्यं यत्र तदवन्ध्यम् । किमुक्तं भवति ?-यत्र सर्वेऽपि ज्ञानतपःसंयमाऽऽदयः शुभफलाः, सर्वे च प्रमादाऽऽदयोऽशुभफला यत्र वर्ण्यन्ते तदवन्ध्यं नाम, तस्य पदपरिमाणं षड्विंशतिपदकोटयः । द्वादशं प्राणायुः, प्राणाः पञ्चेन्द्रियाणि, त्रीणि मानसाऽऽदीनि बलानि, उच्छ्वासनिःश्वासौ च आयुश्च प्रतीतं, ततो यत्र प्राणा आयुश्च सप्रभेदमुपवर्ण्यते, तदुपचारतः प्राणाऽऽयुरित्युच्यते, तस्य पदपरिमाणमेका पदकोटी षट्पञ्चाशच्च पदलक्षाणि । त्रयोदशं क्रियाविशालम्-क्रियाः कायिक्याऽऽदयः, संयमक्रियाछन्दःक्रियाऽऽदयश्च, ताभिः प्ररूप्यमाणाभिर्विशालं, तस्य पदपरिमाणं नव पदकोटयः । चतुर्दशं लोकबिन्दुसारम् लोके जगति श्रुतलोके वा अक्षरस्योपरि बिन्दुरिव सारं सर्वोत्तमं सर्वाक्षरसन्निपातलब्धिहेतुत्वाद् लोकबिन्दुसारं, तस्य पदपरिमाणमर्द्धत्रयोदश पदकोटयः । (उप्पायपुव्वस्स णं) इत्यादि कण्ठ्यं, नवरं वस्तु ग्रन्थविच्छेदविशेषः, तदेव क्षुल्लकं वस्तु, तानि चाऽऽदिमेष्वेव चतुर्षु पूर्वेषु न शेषेषु । तथा चाऽऽह-"आइल्लाण चउण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि । सेत्तं पुव्वगए ।" तदेतत् पूर्वगतम् । नं० । (अनुयोगव्याख्या 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३४१ पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्या) (मूलप्रथमानुयोगः 'मूलपढमाणुओग' शब्दे वक्ष्यते) (गण्डिकानुयोगव्याख्या 'गंडियाणुओग' शब्दे तृतीयभागे ७७१ पृष्ठे द्रष्टव्या)

से किं तं चूलियाओ ? । चूलियाओ आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं, सेसाइं पुव्वाइं अचूलियाइं । सेत्तं चूलियाओ । दिट्ठिवायस्स णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, से णं अंगट्ठयाए बारसमे अंगे एगे सुयखंधे, चोद्दस पुव्वाइं, संखिज्जा वत्थू, संखिज्जा चूलवत्थू, संखिज्जा पाहुडा, संखिज्जा पाहुडपाहुडा, संखिज्जाओ पाहुडियाओ, संखिज्जाओ पाहुडपाहुडियाओ, संखिज्जाइं पयसयसहस्साइं पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासया कडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति । एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जति । सेत्तं दिट्ठिवाए ॥ १२ ॥

अथ कास्ताश्चूलाः ? । इह चूला शिखरमुच्यते । यथा मेरौ चूलाः, तत्र चूला इव चूला दृष्टिवादे परिकर्मसूत्रपूर्वानुयोगोक्तानुक्तार्थसंग्रहपरा ग्रन्थपद्धतयः । तथा चाऽऽह चूर्णिकृत्-"दिट्ठिवाए जं परिकम्मसुत्तपुव्वाणुजोगे चूलियं न भणियं, तं चूलासु भणियं ति ।" अत्र सूरिराह-चूला आदिमानां चतुर्णां पूर्वाणाम्, शेषाणि पूर्वाण्यचूलिकानि, ता एव चूलाः, आदिमानां चतुर्णां पू-

बीनां प्राक् पूर्ववक्तव्यताप्रस्तावे चूलावस्तूनीति भणिताः । आह च चूर्णिकृत्-" ताओ अचूलाओ आइल्लपुव्वाणं चउण्हं चूलावत्थू भणियं ।" एताश्च सर्वस्यापि दृष्टिवादस्योपरि किल स्थापिताः । तथैव च पठ्यन्ते, ततः श्रुतपर्वते चूला इव राजन्ते इति चूला इत्युक्ताः । तथा चोक्तं चूर्णिकृता-"ते सव्वुवरि ठिया पढिज्जंति य अतो तेसु य पव्वयचूला इव चूला ।" इति । तासां च चूलानामियं संख्या प्रथमपूर्वस्य चतस्रः, द्वितीयपूर्वस्य द्वादश, तृतीयपूर्वस्याष्टौ, चतुर्थपूर्वस्य दश । तथा च पूर्वमुक्तं सूत्रे-"चत्तारि दुवालस अट्ठ चेव दस चेव चूलावत्थूणि आइल्लाणं चउण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि ।" सर्वसंख्यया चतुस्त्रिंशत् चूलिकाः (सेसं चूलिय त्ति) अथैताश्चूलिकाः (दिट्ठिवायस्स णं) इत्यादि पाठसिद्धं, नवरम् (संखेज्जा वत्थु त्ति) संख्येयानि वस्तूनि, तानि च पञ्चविंशत्युत्तरे द्वे शते । कथमिति चेत्? उच्यते-प्रथमे पूर्वे दश वस्तूनि, द्वितीये चतुर्दश, तृतीयेऽष्टौ, चतुर्थे अष्टादश, पञ्चमे द्वादश, षष्ठे द्वे, सप्तमे षोडश, अष्टमे त्रिंशत्, नवमे विंशतिः, दशमे पञ्चदश, द्वादश एकादशे, त्रयोदश द्वादशे, त्रिंशत्त्रयोदशे, चतुर्दशे पञ्चविंशतिः । तथा च सूत्रे प्राक् पूर्ववक्तव्यतायामुक्तम्-

" दस चोद्दस अट्ठ अट्ठा-रसेव बारस दुवे य वत्थूणि ।
सोलस तीसा वीसा, पन्नरस अणुप्पवायम्मि ॥१॥
बारस एक्कारसमे, बारसमे तेरसेव वत्थूणि ।
तीसा पुण तेरसमे, चउदसमे पण्णवीसाओ ॥२॥ "

सर्वसंख्यया वस्तूनि द्वे शते पञ्चविंशत्यधिके, तथा संख्येयानि चूलावस्तूनि, तानि च चतुस्त्रिंशत्संख्याकानि । नं० । स० । वृ० । आ० म० । दश० । प्रज्ञा० । सूत्र० । व्य० । कर्म० । अनु० । अां० अपेक्षया सूक्ष्मजीवाऽऽदिभावकथने, ध० १ अधि० । स्था० । सर्वदृष्टीनां तत्र समवतारस्तस्य जनके, पं० सू० ।

ननु स्त्रीणां दृष्टिवादः किमिति न दीयते ?, इत्याह-

तुच्छा गारवबहुला, चलिंदिया दुब्बला धिईए य ।
इय अइसेसज्झयणा, भूयावाओ य नो थीणं ॥५५२॥

यदि हि दृष्टिवादः स्त्रियाः कथमपि दीयेत, तदा तुच्छाऽऽदिस्वभावतया अहो ! अहं या दृष्टिवादमपि पठामीत्येवंगर्वाऽऽध्मातमानसाऽसौ पुरुषपरिभवाऽऽदिष्वपि प्रवृत्तिं विधाय दुर्गतिमभिगच्छेत् । अतो निरवधिकृपानीरनीराधाभः परानुग्रहप्रवृत्तैर्भगवद्भिः तीर्थकरैरुत्थानसमुत्थानश्रुताऽऽदीन्यतिशयवन्त्यध्ययनानि दृष्टिवादश्च स्त्रीणां नानुज्ञातः । अनुग्रहार्थं पुनस्तासामपि किञ्चित् श्रुतं देयमित्येकादशाङ्गाऽऽदिविरचनं सफलमिति गाथाऽर्थः ॥ ५५२ ॥ विशे० । कर्म० । वृ० ।

दिट्ठिवायअक्खेवणी-दृष्टिवादाऽऽक्षेपणी-स्त्री० । दृष्टिवादस्य कथाभेदे, स्था० ४ ठा० । (' अक्खेवणी ' शब्दे प्रथमभागे १५२ पृष्ठे व्याख्या)

दिट्ठिवायउवएसा-दृष्टिवादोपदेशा-स्त्री० । दृष्टिर्दर्शनं सम्यक्त्वाऽऽदि वादो दृष्टीनां वादो दृष्टिवादस्तद्विषय उपदेशः प्ररूपणं यस्याः सा दृष्टिवादोपदेशा इति । तृतीये संज्ञाभेदे, प्रव० १४४ द्वार ।

दिट्ठिविपज्जय-दृष्टिविपर्यय-पुं० । मिथ्याऽभिनिवेशे, ठा० ७ ठा० ।

दिट्ठिविपरियासदंड-दृष्टिविपर्यासदण्ड-पुं० । दृष्टेर्विपर्यासो रज्जुमिव सर्पबुद्धिस्तया दण्डो दृष्टिविपर्यासदण्डः । मेघुकाऽऽदिबुद्ध्या शराऽऽद्यभिघातेन चटकाऽऽदिव्यापादने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अहावरे पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासिया दंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा भाईहिं वा भगिणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूताहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे मित्तं अमित्तमेव मन्नमाणे मित्ते हयपुव्वे भवइ, दिट्ठिविपरियासिया दंडे ॥ १२ ॥ से जहाणामए केइ पुरिसे गामघायंसि वा णगरघायंसि वा खेडकव्वडमडंबघायंसि वा दोणमुहघायंसि वा पट्टणघायंसि वा आसमघायंसि वा सन्निवेसघायंसि वा निगमघायंसि वा रायहाणिघायंसि वा अतेणं तेणमिति मन्नमाणे अतेणे हयपुव्वे भवइ दिट्ठिविपरियासिया दंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ, पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासिया दंडवत्तिए त्ति आहिए ॥ १३ ॥

अथाऽपरं पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यासदण्डप्रत्ययिकमित्याख्यायते । तद् यथानाम कश्चित्पुरुषश्चारनटाऽऽदिको मातापितृभ्रातृभगिनीभार्यापुत्रदुहितृस्नुषाऽऽदिभिः सार्धं वसन्मित्रम् अनिपालनकृतं मित्रमेव दृष्टिविपर्यासादमित्रोऽयमित्येवं मन्यमानो हन्याद् व्यापादयेत्, तेन च दृष्टिविपर्यासवता मित्रमेव हतपूर्वं भवतीति, अतो दृष्टिविपर्यासदण्डोऽयम् ॥१२॥ पुनरप्यन्यथा तमेवाऽऽह-(से जहेत्यादि) तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः पुरुषकारमुद्वहन् ग्रामघाताऽऽदिके विप्लवे भ्रान्तचेता दृष्टिविपर्यासादचौरमेव चौरोऽयमित्येवं मन्यमानो व्यापादयेत्, तदेवं तेन भ्रान्तमनसा विभ्रमाऽऽकुलेनाचौर एव हतपूर्वो भवति, सोऽयं दृष्टिविपर्यासदण्डः । तदेवं खलु तस्य दृष्टिविपर्यासवत तत्प्रत्ययिकं सावद्यं कर्माधीयते, तदेवं पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यासप्रत्ययिकमाख्यातमिति ॥१३॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ध० । आ० चू० । स्था० ।

दिट्ठिविस-दृष्टिविष-पुं० । दृष्टौ विषं येषां ते दृष्टिविषाः । दर्वीकरसर्पभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । स्था० ।

दिट्ठिविसभावणा-दृष्टिविषभावना-स्त्री० । दृष्टौ विषं येषां ते दृष्टिविषाः, तत्स्वरूपप्रतिपादिका दृष्टिविषया भावना । पा० । अङ्गबाह्यकालिकश्रुतविशेषे, पा० । प० व० । व्य० ।

दिट्ठिसंचार-दृष्टिसंचार-पुं० । निमेषाऽऽदौ, ध० २ अधि० । आव० । ल० ।

दिट्ठिसंपण्ण-दृष्टिसंपन्न-पुं० । सम्यग्दृष्टियुक्ते, ध० ३ अधि० । आव० । स्था० ।

दिट्ठिसंपण्णया-दृष्टिसम्पन्नता-स्त्री० । सम्यग्दृष्टितायाम्, स्था० १० ठा० ।

दिट्ठिसंबंध-दृष्टिसम्बन्ध-पुं० । संयतीनां दृष्टिगाम्भीयया दृष्ट्या संबन्धनानि । संयते, व्य० ७ उ० ।

दिट्ठिसम्मोह-दृष्टिसम्मोह-पुं० । अन्यथादर्शनहेतौ, षो० ।

दृष्टिसंमोहलक्षणम्-

गुणतस्तुल्ये तत्त्वे, संज्ञाभेदाऽऽगमान्यथादृष्टिः ।

भवति यतोऽसावधमो, दोषः खलु दृष्टिसंमोहः ॥११॥

गुण उपकारफलं, ततोऽभिमत्य तुल्ये समाने द्वयोर्वस्तुनोः, तद्भावस्तत्त्वं तस्मिंस्तुल्ये सति । संज्ञाभेदादागमान्यथादृष्टिः, आगमेन आगमविषये अन्यथा विपरीता दृष्टिर्मतिरध्यवसायोऽ्यथा-दृष्टिस्तु अविद्यमानासः । संज्ञाभेदेन नामभेदमात्रेणाऽऽगमान्यथादृष्टि-रिति पुरुषः परिगृह्यते । भवति जायते, यतो यस्माद् दोषादसौ दोषोऽधमो निकृष्टः, खलुशब्दोऽवधारणे, अधम एव दोषो दृष्टिसंमोहाभिधानः । इदमत्र हृदयम्-निदर्शनमात्रेण द्वयो-रारम्भयोर्भोगोपभोगलक्षणं फलमाश्रित्य तुल्यमेव तत्त्वम् । तत्रै-कस्मिन्नारम्भे प्रवृत्तः पुरुषः तत्फलोपयोगी तमारम्भं सावद्यं मन्यते, अपरस्तु तत्समान एव प्रवृत्तस्तमारम्भं निर्दोषं मन्यते । तत्फलं च स्वयमेवोपभुङ्क्ते, यतो दोषात् स दृष्टिसंमोह इति । अथवा-गुणः पारमार्थिको योऽध्यवसायविशेषस्तदङ्गीकरणेन तुल्ये तत्त्वे संज्ञाभेदादागमान्यथादृष्टिः पुरुषो यतो दोषात् प्रवर्त्तते स दृष्टिसंमोहो नाम दोषो जायते । अत्र तु गुणतो भावाऽऽश्रयाद् गुणाश्च तुल्यं तत्त्वं स्वरूपं द्वयोरारम्भयोरात्मनोऽर्थक्रियाभेदेन वस्तु-तोऽन्यत्र चैत्याऽऽयतनाऽऽदिविषये कुर्वाहरणग्रामाऽऽदौ शास्त्री-याध्यवसायभेदेन प्रवृत्तत्वात् स्वयं च तत्फलस्यानुपयोगात् केवलमागमानुसारितया तदुपलिप्सापरित्यागेन ग्रामक्षेत्राऽऽद्या-रम्भमपरिहरतोऽपि न दृष्टिसंमोहाऽऽख्यो दोषः, तदन्तरस्य-ख्याऽऽरम्भपरिवर्जनात् । दर्शनमागमो जिनमतं, तत्र संमोहः संमूढता, अन्यथाऽऽवस्थान्यथाप्रतिपत्तिर्दर्शनसंमोहः । न चैवंविध-स्याऽऽगमिकस्य दोषः संभवतीति । तथा चाऽऽगमः-"चोएइ चेइआणं, खेत्ताहिरण्णाइ गामगावाइ । लग्गंतस्स उ जइणो, तिकरणसोही कहं नु भवे ? ॥१॥" अयं च स चोद्यः परिहा-रोऽन्वेषः । यदि वा-अहिंसाप्रशमाऽऽदीनां तन्त्रान्तरेष्वपि तुल्ये तत्त्वे परिभाषाभेदमात्रेणाऽऽगमेष्वन्यथादृष्टिः पुरुषो यतो भवति स दृष्टिसंमोह इति ॥११॥ षो० ४ विव० ।

दिट्ठिमार-दृष्टिमार-पुं० । दृष्टिलग्नवे, आ० चू० १ अ० ।

दिट्ठिमूल-दृष्टिमूल-न० । नेत्रमूले, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

दिट्ठिसेवा-दृष्टिसेवा-स्त्री० । हावभावानुसारेण दृष्टेर्दृष्टिमीलने, प्रव० १६६ द्वार । दशा० ।

दिट्ठल्लय-दृष्ट-त्रि० । चक्षुषा उपलब्धे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दिण-दिन-पुं० । द्यति तमः सूर्यकिरणोपश्लिष्टे षष्टिघटिका-ऽऽत्मके तद्विशिष्टे वा चतुर्यामाऽऽत्मके काले, वाच० । पञ्चा० ५ विव० । घस्र-सूर्याह्न-दिवस-वासरेति पर्यायाः, दिन-दिवस-वासराणां पुन्नपुंसकत्वम् । है० ।

दिणकय-दिनकृत-पुं० । सूर्ये, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

दिणकर-दिनकर-पुं० । दिनं करोति स्वोदयेन कृ-टच् । दिने करः किरणो यस्य वा । सूर्ये, वाच० । अनु० । दिनकरणशीले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । सू० प्र० । आ० चू० । आ० म० । कल्प० ।

दिणकरपण्णत्ति-दिनकरप्रज्ञप्ति-स्त्री० । सूर्यप्रज्ञप्तिनामके ग्रन्थे, ज्यो० २१ पाहु० ।

दिणकिच्च-दिनकृत्य-न० । स्वनामख्याते ग्रन्थे, ध० २ अधि० । दिवसकार्ये, वाच० ।

दिणक्खय-दिनक्षय-पुं० । "एकस्मिन्सावने त्वह्नि, तिथीनां त्रितयं यदा । तदा दिनक्षयः प्रोक्तः" इत्युक्ते एकसावनदिनस्पर्शि-तिथित्रयरूपे काले, वाच० । स्था० ६ ठा० ।

दिणवुड्ढि-दिनवृद्धि-स्त्री० । अधिकदिने, अतिरात्रोऽधिकदिनवृद्धिरिति यावत् । स्था० ६ ठा० ।

दिणरासि-दिनराशि-पुं० । अहोरात्रपुञ्जे, ज्यो० १ उ० ।

दिणसूरि-दिनसूरि-पुं० । इन्द्रदत्तसूरिशिष्ये सिंहगिरिसूरि-गुरौ स्वनामख्याते सूरौ, ग० ४ अधि० ।

दिण्ण-दत्त-त्रि० । दा-क्तः । वितीर्णे, त्यक्ते, रक्षिते च । द्वाद-शपुत्रमध्ये (दत्तक) पुत्रभेदे । वाच० । प्रज्ञा० २ पद । औ० । रा० । आचा० । उत्त० । वितीर्णे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । प्रश्न० । आचा० । नमेरेकविंशतितमजिनस्य प्रथमभिक्षादायके, स० । आ० म० । निवेशिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । चन्द्रप्रभ-स्याष्टमजिनस्य प्रथमे शिष्ये, स० । श्रेयांसस्यैकादशमस्य जि-नस्य पूर्वभवे जीवे, स० । अप्राप्तदण्डवर्त्तकस्थे स्वनामख्याते ताप-से च । पुं० । उत्त० १० अ० । आ० म० । भावे क्तः । दाने, "दत्तं सप्तविधं प्रोक्त-मदत्तं षोडशाऽऽत्मकम् । पण्यमूल्यं भृतिस्तुष्ट्या, स्नेहात्प्रत्युपकारतः ॥१॥ स्त्रीणां चानुग्रहार्थं च, दत्तं सप्तविधं स्मृतम्" इत्युक्ते दानभेदे च । न० । वाच० । "दि-ण्णभत्तवेयणा ।" दत्तं भृतिभक्तलक्षणं द्रव्यं भोजनस्वरूपं वर्तनं मूल्यं येभ्यस्ते तथा । ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । पा० । उत्त० ।

दैन्य-न० । दीनस्य भावः ष्यञ् । दीनत्वे, कार्पण्ये च । वाच० । शोके च । स्था० १० ठा० । आव० ।

दिण्णगणि (न्)-दत्तगणिन्-पुं० । वीरमोक्षात् सार्द्धद्वादशशते वर्षे जाते स्वनामख्याते प्रसिद्धे गणिनि, तिं० ।

दिण्णय-दत्तक-पुं० । स्वार्थे कन् । "दद्याद् माता पिता वा यं, स पुत्रो दत्तको भवेत्" इत्युक्ते स्वनामख्याते पुत्रभेदे, वाच० । दत्तकः पुत्रतया वितीर्णो, यथा बाहुबलिनाऽनलवेगः श्रूयते, स च पुत्रवत्पुत्रः । स्था० १० ठा० ।

दित्तवयण-दीप्तवचन-न० । कुपितवचने, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

दित्त-दीप्त-पुं० । दीप-क्तः । निम्बूके, सिंहे च । स्वर्णे, हिङ्गुनि च । न० । वाच० । आज्वल्यमाने, चं० प्र० १ पाहु० । जं० । भ० । नं० । नि० । ज्ञा० । उज्ज्वले, नं० । कान्तिमति, रा० । ज्वलिते, दग्धे, भासिते, द्युतिमति, वाच० । भास्वरे च । त्रि० । चं० प्र० १६ पाहु० । ज्ञा० । लाङ्गलिकायाम, अग्निशिखौषधौ, ज्योतिष्मत्यां च । टाप् । वाच० । धातुकर्मवीर्या-ऽऽदियुक्ते, "दित्तं च कामा समभिद्दवंति ।" उत्त० ३४ अ० । प्रसिद्धे, "अड्ढा दित्ता वित्थिण्णविपुलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णा ।" भ० २६ श० ३ उ० । स्था० ।

दृप्त-त्रि० । दृप-क्तः । गर्विते, वाच० । दर्पवति, औ० । दशा० । भ० । ज्ञा० । प्रश्न० । स्था० । जं० ।

दित्तचित्त-दीप्तचित्त-पुं० । स्त्री० । हर्षातिरेकेणापहृतचित्ते, बृ० ३ उ० ।

दीप्तचित्तस्य चिकित्सा-

दित्तचित्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणाव-च्छेदियस्स निज्जूहित्तए अगिलाए तस्स करणिज्जं वे-

यावज्जीवं जाव ततो रोगातंकातो विप्पमुक्को, ततो पच्छा तस्स अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥ ११ ॥

अस्य व्याख्या संक्षेपतः प्राग्वत् ॥ ११ ॥

सम्प्रति भाष्यकारो विस्तरमभिधित्सुराह–

एसेव गमो नियमा, दित्ताऽऽदीणं पि होति नायव्वो ।
जो होइ दित्तचित्तो, सो पलवति अनिच्छियव्वाइं ॥ १४९ ॥

एष एवानन्तरः क्षिप्तचित्तसत्कः गमः प्रकारो लौकिकलोकोत्तरिकभेदाऽऽदिरूपो, दीप्तानामपि दीप्तचित्तप्रभृतीनामपि नियमाद् वेदितव्यः, यत्पुनर्नानात्वं तदभिधातव्यम् । तदेवाधिकृतसूत्रेऽभिधित्सुराह–(जो होइ इत्यादि) यो भवति दीप्तचित्तः सोऽनीप्सितव्यानि बहूनि प्रलपति, बहूनीप्सितप्रलपनं तस्य लक्षणं, क्षिप्तचित्तस्त्वपहतचित्ततया मौनेनाप्यवतिष्ठते, इति परस्परं सूत्रयोर्विशेष इति भावः ॥ १४९ ॥

अथ कथमेष दीप्तचित्तो भवतीति तत्कारणप्रतिपादनार्थमाह–

इति एस असंमाणा, खित्तो सम्माणतो हवति दित्तो ।
अग्गीव इंधणेहिं, दिप्पइ चित्तं इमेहिं तु ॥ १५० ॥

इति प्रागुक्तेन प्रकारेण, एष क्षिप्तः क्षिप्तचित्तोऽसंमानतोऽपमानतो भवति, दीप्तो दीप्तचित्तः पुनः सम्मानतो विशिष्टसम्मानावाप्तितो भवति । दीप्तचित्तो नाम–यस्य दीप्तं चित्तं, तच्च चित्तं दीप्यते, अग्निरिवेन्धनैरेभिर्वक्ष्यमाणैर्लाभमदाऽऽदिभिः ॥ १५० ॥

तानेवाऽऽह–

लाभमदेण व मत्तो, अहवा जेऊण दुज्जए सत्तू ।
दित्तम्मि सातवाहणो, तमहं वुच्छं समासेणं ॥ १५१ ॥

लाभमदेन वा मत्तः सन् दीप्तचित्तो भवति, अथवा दुर्जयान् शत्रून् जित्वा, उभयस्मिन्नपि दीप्ते दीप्तचित्ते लौकिको दृष्टान्तः–शातवाहनो राजा, तमहं शातवाहनदृष्टान्तं समासेन वक्ष्ये ॥ १५१ ॥

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति–

महुरा दंडाऽऽणत्ती, निग्गय सहसा अपुच्छियं कयरं ।
तस्स य तिक्खा आणा, दुहा गया दो वि पाडेउं ॥ १५२ ॥

गोयावरीए नईए तडे पइट्ठाणं नयरं, तत्थ सालवाहणो राया, तस्स खरगओ अमच्चो, अन्नया सो सालवाहणो राया दंडनायगं आणवेइ–महुरं घेत्तूण सिग्घमागच्छ । सो य सहसा अपुच्छिऊण दंडेहिं सह निग्गतो । ततो चिंता जाया–का महुरा घेत्तव्वा, दक्खिणमहुरा, उत्तरमहुरा वा ? । तस्स आणा तिक्खा, पुणो पुच्छिउं न तीरति । ततो दंडा दुहा काऊण दोसु वि पेसिया, गहिया तो दो वि महुराओ । ततो वद्धावगो पेसिओ । तेणाऽऽगंतूण राया वद्धाविओ–देव ! दो वि महुराओ गहियाओ, अन्नो आगतो–देव ! अग्गमहिसीए पुत्तो जातो, अन्नो आगतो–देव ! अमुगत्थ पदेसे विपुलो निहीपायडो जातो । ततो उवरुवरि कल्लाणनिवेदणेण हरिसवसविसप्पमाणहियओ परवसो जातो । ततो हरिसं धारेउमचायंतो सयणिज्जं कुट्टइ, खंभे आहणइ, कुड्डे विद्दवइ, बहूणि य असमंजसाणि पलवति । ततो खरगेणामच्चेण तमुवायेण पडिबोहिउकामेण खंभा कुड्डा बहू विद्दविया । रण्णा पुच्छियं–केण विद्दवियं ? । सो भणइ–तुब्भेहिं । ततो मम सम्मुहमलीयमेवं भणति त्ति रुट्ठेण रण्णा खरगो पाएण ताडिओ । ततो संकेइयपुरिसेहिं उप्पाडितो, अन्नत्थ संगोविओ य । ततो कम्हि पओयणे समावडिए रण्णा पुच्छिओ–कत्थ अमच्चो चिट्ठति ? । संकेतियपुरिसेहिं कहियं–देव ! तुम्हं अविणयकारि त्ति सो मारितो । राया विसूरिउं पवत्तो–दुट्ठु कयं मए, तयाणिं न किंचि वेइयं ति । ततो सभावत्थो जातो, ताहे संकेइयपुरिसेहिं विण्णवितो देव ! गवेसामि जइ वि कयाइ चंडालेहिं रक्खितो हुज्जा । ततो गवेसिऊण आणीतो, राया संतुट्ठो, अमच्चेण सब्भावो कहितो, तुट्ठेण विउला भोगा दिण्णा ।" साम्प्रतमक्षरार्थो विवियते–शातवाहनेन राज्ञा मथुराग्रहणाय दण्डस्य दलस्याऽऽज्ञप्तिः कृता, ते दण्डाः सहसा कां मथुरां गृह्णीम इत्यपृष्ट्वा निर्गताः, तस्य च राज्ञ आज्ञा तीक्ष्णा, ततो भूयः प्रष्टुं न शक्नुवन्ति, ततस्ते दण्डा द्विविधा गता द्विधा विभज्य, एके दक्षिणमथुरायामपरे उत्तरमथुरायां गता इत्यर्थः । ते अपि च मथुरे पातयित्वा ते समागताः ॥ १५२ ॥

सुयजम्ममहुरपाडण–निहिलंभनिवेयणा जुगव दित्तो ।
सयणिज्जखंभकुड्डे, घट्टेइ इमाइँ पलवंतो ॥ १५३ ॥

सुतस्य जन्म, मथुरयोः पातनं, निधिलाभस्य च युगपन्निवेदनायां स हर्षवशात् दीप्तचित्तोऽभवत्, दीप्तचित्ततया च इमानि वक्ष्यमाणानि प्रलपन् शयनीयस्तम्भकुड्यानि घट्टयति ॥ १५३ ॥

तत्र यानि प्रलपति तान्याह–

सच्चं भण गोयावरि ! पुव्वसमुद्देण साहिया संती ।
सालाहणकुलसरिसं, जति ते कूले कुलं अत्थि ॥ १५४ ॥

हे गोदावरि ! पूर्वसमुद्रेण साधिकृता कृतमर्यादा सती सत्यं भण ब्रूहि, यदि तव कूले शातवाहनकुलसदृशं कुलमस्ति ॥ १५४ ॥

उत्तरतो हिमवंतो, दाहिणतो सालवाहणो राया ।
समभारभरक्कंता, तेण न पल्हत्थए पुहवी ॥ १५५ ॥

उत्तरे उत्तरस्यां दिशि हिमवान् गिरिर्दक्षिणतः शातवाहनो राजा, तेन समभारभराऽऽक्रान्ता सती पृथिवी न पर्यस्यति । अन्यथा यद्यहं दक्षिणतो न स्यां, ततो हिमवद्भाराऽऽक्रान्ता नियमतः पर्यस्येत् ॥ १५५ ॥

एयाणि य अन्नाणि य, पलवंतो सो अणिच्छियव्वाइं ।
कुसलेण अमच्चेणं, खरगेणं सो उवाएणं ॥ १५६ ॥

एतान्यनन्तरोदितानि, अन्यानि च सोऽनीप्सितव्यानि बहूनि प्रलपितवान्, ततः कुशलेन खरकनाम्नाऽमात्येनोपायेन प्रतिबोधयितुकामेन ।

किमित्याह–

विद्दवियं केणं ति य, तुब्भेहिं पायतालणा खरए ।
कत्थ त्ति मारितो सो, दुट्ठु त्ति य दंसणे भोगा ॥ १५७ ॥

विद्रावितं विनाशितं समस्तं स्तम्भकुड्याऽऽदि । राज्ञा पृष्टम्–केनेदं विनाशितम् ? । अमात्यः सम्मुखीभूय सरोषं निष्ठुरं च ब्रवीति–युष्माभिः । ततो राज्ञा कुपितेन तस्य पादेन ताडना कृता, तदनन्तरं संकेतितपुरुषैः स उत्पाटितः, संगोपितश्च । ततः समागते कस्मिंश्चित्प्रयोजने राज्ञा पृष्टम्–कुत्राऽमात्यो वर्त्तते ? । संकेतितपुरुषैरुक्तम्–देव ! युष्मत्पादानामविनयकारी मारितः । ततो दुष्टु कृतं मयेति प्रभूतं विसूरितवान् । स्वस्थीभूतेऽस्मिन् ज्ञाते संकेतितपुरुषैरमात्यदर्शनं कारितम् । सद्भावकथनानन्तरं राज्ञा तस्मै विपुला भोगाः प्रदत्ता इति ॥ १५७ ॥

उक्तो लौकिको दीप्तचित्तो, लोकोत्तरिकमाह-

महऽज्झयणं भत्तखीरे, कंबलगपडिग्गहे फलगसड्ढे ।
पासाए कप्पट्ठे, वायं काऊण वा दित्तो ॥ १५८ ॥

महाध्ययनं पौण्डरीकाऽऽदिकं दिवसेन, पौरुष्या वा समागतम्, अथवा-भक्तमुत्कृष्टं लब्धं, नास्मिन्क्षेत्रे भक्तमीदृशं केनापि लब्धपूर्वं, यदि वा-क्षीरं चातुर्जातकसंमिश्रमवाप्तं, नैतादृशमुत्कृष्टं क्षीरं केनापि लभ्यते, यदि वा-कम्बलरत्नमतीवोत्कृष्टम्, अथवा-विशिष्टवर्णाऽऽदिगुणोपेतम्, अपलक्षणहीनं पतद्ग्रहं (फलग त्ति) यद्वा-फलकं चम्पकपट्टाऽऽदिकम् । अथवा-आढ्यमीश्वरमतिशयश्रावकत्वेन प्रतिपन्नं लब्धम् । यदि वा-प्रासादे सर्वोत्कृष्टे उपाश्रयत्वेन लब्धे, (कप्पट्ठे इति) ईश्वरपुत्रे रूपवति प्रज्ञानिधाने लब्धे प्रमोदते, प्रमोदभरवशाच्च दीप्तचित्तो भवति । अनेन ज्ञानमदेन वा मत्त इति लोकोत्तरे योजनम् । अधुना दुर्जयान् शत्रून् जित्वेत्येतद्योजयति-(वायं काऊण व त्ति) वादं वा परप्रवादिना दुर्जयेन सह कृत्वा तं पराजित्यातिहर्षवशतो दीप्तो दीप्तचित्तो भवति ॥१५८॥

साम्प्रतमेनामेव गाथां विनेयजनानुग्रहाय विवरीषुराह-

पुंडरियमाइयं खलु, अज्झयणं कड्ढिऊण दिवसेणं ।
हरिसेण दित्तचित्तो, एवं होज्जाहि कोई उ ॥ १५९ ॥

कश्चित्पौण्डरीकाऽऽदिकमध्ययनं खलु दिवसेन, उपलक्षणमेतत्-पौरुष्यादिना वा, कर्षित्वा पठित्वा, हर्षेण दीप्तचित्तो भवेत्, एवमध्ययनलाभेन दीप्तचित्तता ॥ १५९ ॥

दुल्लहदव्वे देसे, पडिसेवितय तं अलद्धपुव्वं वा ।
आहारोवहिवसही, अहुणविवाहो व कप्पट्ठो ॥१६०॥

दुर्लभद्रव्ये देशे, तद् दुर्लभद्रव्यं, केनाप्यलब्धपूर्वं, वाशब्दः समुच्चये, प्रतिसेव्य लब्ध्वा, दीप्तचित्तो भवति । एवमाहारे भक्तक्षीराऽऽदिके, उपधौ कम्बलरत्नाऽऽदिके, वसतौ प्रासादाऽऽदिरूपायां लब्धायाम्, यदि वा-(कप्पट्ठो त्ति) ईश्वरपुत्रोऽधुना कृतविवाहः प्रज्ञानिधानं शिष्यत्वेन लब्ध इति हर्षेण दीप्तचित्तो भूयात् ॥ १६० ॥

तत्रैतेषु दीप्तचित्तेषु यतनामाह-

दिवसेण पोरिसीए, तुमए ठवियं इमेण अद्धेण ।
एयस्स नत्थि गव्वो, दुम्मेहतरस्स को तुज्झं ? ॥१६१॥

दिवसेन, पौरुष्या वा त्वया पौण्डरीकाऽऽदिकमध्ययनं स्थापितं पठितं, तदनेन दिवसस्य, पौरुष्या वा अर्द्धेन, तथाप्येतस्य नास्ति गर्वः, तव पुनर्दुर्मेधसः को गर्वः ?, नैव युक्त इति भावः । एतस्मादपि तव हीनप्रज्ञत्वात् ॥ १६१ ॥

तद्दव्वस्स दुगुंछा, दिट्ठंतो भावणा असरिसेणं ।
पगयम्मि पण्णवेत्ता, विज्जाऽऽदि विसोहि जा कम्मं॥१६२॥

यतो दुर्लभद्रव्यं भक्तं क्षीराऽऽदि तेन लब्धं, तस्य द्रव्यस्य जुगुप्सनं क्रियते, यथा नेदमतिशोभनम्, अमुको वाऽस्य दोष इत्यादि । यद्वा-दृष्टान्तोऽप्येतावदीदृशमासीदित्येवमिति प्रदर्शनं क्रियते । तस्य दृष्टान्तस्य भावना असदृशेन तस्मात् शतभागेन, सहस्रभागेन वा यो हीनस्तेन कर्त्तव्या । तथा (पगयम्मि इत्यादि) प्रकृते अवमतरस्य विशिष्टे प्रासादाऽऽदिके संपादे तथाविधं श्रावकमितरं वा प्राप्य तदभावे कस्यापि महर्द्धिकस्य, विद्याऽऽदि, आदिशब्दाद् मन्त्रचूर्णाऽऽदिपरिग्रहः, यावत्कर्मापि प्रयुज्य, ततोऽवमतरस्य विशिष्टप्रासादाऽऽदि संपादने तस्यापभ्राजना संपादनीया, येन प्रगुणो भवति । ततः पश्चाद्विद्याऽऽदिप्रयोगजनितपापविशुद्ध्यर्थे विशोधिः प्रायश्चित्तं प्रतिपत्तव्येति ॥ १६२ ॥

साम्प्रतमेतदेव विवरीषुराह-

उक्कोसं बहुविहियं, आहारोवगरणफलगमादीयं ।
खुड्डेणोमतरेणं, आणीतो जामितो पउणो ॥ १६३ ॥

उत्कृष्टं बहुविधिकं बहुभेदमाहारं भक्तक्षीराऽऽदिकमुपकरणं कम्बलरत्नप्रभृति फलकं चम्पकपट्टतिनिसपट्टाऽऽदिकम, आदिशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः, तथाविधश्राद्धप्रज्ञापनेन विद्याऽऽदिप्रयोगेण वा संपाद्य क्षुल्लेण क्षुल्लकेन, गुणतोऽवमतरेण शतभागसहस्रभागाऽऽदिना हीनेन आनीतमुपदर्श्य सोऽपभ्राजितः क्रियते, ततः प्रगुणो भवति ॥ १६३ ॥

प्रासादाऽऽदिविषयं यतनामाह-

आदिट्ठसड्ढकहणं, आउट्टा अभिणवो य पासाओ ।
कयमित्ते य विवाहे, सिद्धादिसुया कइयवेणं ॥१६४॥

यस्तेन श्राद्धो न दृष्टोऽदृष्टपूर्वः, तस्यादृष्टस्य श्राद्धस्य कथनं प्रज्ञापना, उपलक्षणमेतत्-अन्यस्य महर्द्धिकस्य विद्याऽऽदिप्रयोगतोऽभिमुखीकरणं वा, ततस्ते श्रावका: सन्तस्तस्य लब्धमानिनः समीपमागत्य ब्रुवते-यथमेतेन क्षुल्लकेन प्रज्ञापिताः, ततोऽभिनव एव कृतमात्र एव युष्माकं मे प्रासादो दत्त इति । तथा सिद्धपुत्राऽऽदिकेषु प्रज्ञापनं, विद्याऽऽदिप्रयोगं वा कृत्वा तत्सुताः कृतमात्रविवाहा एव व्रतार्थं तत्समक्षमुपस्थापनीयो, येन तस्यापभ्राजनोपजायते, ततः पश्चाद् स्वः । तथा कैतवेन कपटेन सिद्धाऽऽदिसुताः सिद्धपुत्राऽऽदिसुताः कृतमात्र एव विवाहे उत्पादनीयाः, शकुनाऽऽदिवैगुण्यमुद्भाव्य मुच्यन्ते, यदि न स्यात् तात्त्विकी व्रतश्रद्धेति ॥ १६४ ॥

" वायं काऊण व " इत्यत्र यतनामाह-

चरगाऽऽदि पण्णवेउं, पुव्वं तस्स पुरतो जिणावेंति ।
ओमतरगेण तत्तो, पगुणति ओजामितो एवं ॥१६५॥

चरकाऽऽदिकं प्रच्छन्नं परवादिनमधःकृतसाधोर्वादे वाऽसाध्यं पूर्वं प्रज्ञाप्य प्रकल्पितस्याधिकृतस्य वादाभिमानिनः साधोः पुरतोऽवमतरेण चरकाऽऽदिकं जापयन्ति परवृषभाः, ततः स एवमपभ्राजितः सन् प्रगुणायते प्रगुणो भवति ॥ १६५ ॥ व्य० २ उ० । बृ० ।

दित्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥ ११ ॥

दीप्तचित्तां निर्ग्रन्थीं गृह्णन्नवलम्बमानो वा नातिक्रामत्याज्ञाम् । तत्र निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या वा अपि वक्तव्यता वक्तव्या, नवरमेतत्प्रत्यभिलापः कर्त्तव्यः । बृ० ६ उ० । स्था० । नि० । ओघ० ।

दित्ततव-दीप्ततपस्-पुं० । दीप्तं तपो यस्य स दीप्ततपः । हुताशन इव कर्मवनदाहकत्वेन ज्वलत्तेजस्के तपस्विनि, विपा० १ श्रु० १ अ० । ज्ञा० । स्था० । औ० । नि० । भ० ।

दित्तधर-दीप्तधर-पुं० । ज्वलितधारके, स्था० १० ठा० ।

दृप्तधर-पुं० । दर्पवत्कारके, स्था० १० ठा० ।

दित्ता-दीप्ता-स्त्री० । ज्वलन्त्याम्, भ० १६ श०।

दिति-दिति (ती)-स्त्री० । दोऽवखण्डने, क्तिन् वा ङीप् । दैत्यमातरि कश्यपपत्न्याम, भावे क्तिन् । खण्डने, वाच० । पुनर्वसुनक्षत्राधिष्ठातृदेवतायाम , स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० ।

दीप्ति-स्त्री० । दीप-क्तिन् । कान्तौ, " कान्तिरेव वयोभोग-देशकालगुणाऽऽदिभिः । उद्दीपिताऽतिविस्तारं, प्राप्ता दीप्तिरिहोच्यते ॥ १ ॥ " इत्युक्ते स्त्रीणां गुणभेदे, वाच० । दीपने, द्वा० १ श्रु० १० अ० ।

दितिमं-दीप्तिमत्-पुं० । परवादिनामक्षोभ्ये षट्त्रिंशत्सूरिगुणानां चतुस्त्रिंशत्तमे गुणे, ग० १ अधि० । आचा० । प्रव० ।

दित्या-दित्सा-स्त्री० । दातुमिच्छायाम, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

दिदिक्खा-दिदृक्षा-स्त्री० । द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा । दर्शनेच्छायाम, नं० । षो० ।

दिदृक्षा भवबीजं वा-विद्या चाऽनादिवासना ।
भङ्ग्यैवैवाऽऽश्रिता माऽल्लय-शैववेदान्तिसौगतैः ॥२७॥

(दिदृक्षेति) पुरुषस्य प्रकृतिविकारान् द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा सैवेयमिति साङ्ख्याः, भवबीजमिति शैवाः, अविद्येति वेदान्तिकाः, अनादिवासनेति सौगताः ॥ २१ ॥ द्वा० १२ द्वा० ।

दिद्ध-दिग्ध-पुं० । दिह-क्तः । विषाक्तबाणे, वह्नौ च । भावे क्तः । स्नेहे, लेपने, न० । कर्मणि क्तः । लिप्ते, वाच० । नि० चू० १ उ० ।

दिप्प-दीप्र-त्रि० । प्रकाशिते, " दीप्रदीपाङ्कुरायते । " रत्ना० १ परि० ।

दिप्पंत-दीप्यमान-त्रि० । भासमाने. नि०चू० १ उ० । दीप्यमानविमलग्रहगणसमप्रभाः । दीप्यमानो रजन्यां भास्वान् विमलोऽभ्र धूल्याद्यपगमेन ग्रहगणो ग्रहसमूहस्तेन समा प्रभा यासां ताः । जी० ३ प्रति० ४ उ० । अनर्थे, दे०ना० ५ वर्ग ३१ गाथा ।

दिप्पमाण-दीप्यमान-त्रि० । भासमाने, औ० । कल्प० । " दिप्पमाणसोहं । " दीप्यमाना शोभा यस्य तम् । कल्प० ३ क्षण ।

दिप्पा-दीप्रा-स्त्री० । दीपप्रभासदृश्याम, ध० १ अधि० । योगदृष्टिभेदे, द्वा० ।

प्राणायामवती दीप्रा, योगोत्थानविवर्जिता ।
तत्त्वश्रवणसंयुक्ता, सूक्ष्मबोधमनाश्रिता ॥ १६ ॥

प्राणायामवती प्राणायाममहिता दीप्रा दृष्टिः योगोत्थानेन विवर्जिता, प्रशान्तवाहितालाभात् । तत्त्वश्रवणेन संयुक्ता, शुश्रूषाफलभावात् । सूक्ष्मबोधेन विवर्जिता, वेद्यसंवेद्यपदाप्राप्तेः ॥ १६ ॥ द्वा० २२ द्वा० । (प्राणायामव्याख्या ' पाणायाम ' शब्दे द्रष्टव्या) (तत्त्वश्रुतिश्च ' तत्तसुइ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१८३ पृष्ठे गता)

कर्मवज्रविभेदेना-नन्तधर्मकगोचरे ।
वेद्यसंवेद्यपदजे, बोधे सूक्ष्मत्वमत्र न ॥ १३ ॥

(कर्मेति) कर्मैव वज्रमतिदुर्भेदत्वात् तस्य विभेदेनानन्तधर्मकं भेदाभेदनित्यत्वानित्यत्वाऽऽद्यनन्तधर्मात्मकं यद्वस्तु तद्गोचरे वस्तुनस्तथात्वपरिच्छेदिनि, वेद्यसंवेद्यपदजे बोधे सूक्ष्मत्वं यच्चदत्र दीप्रायां दृष्टौ न भवति, तदग्रभूमिकारूपत्वाद्—

दृष्ट्याः । तदुक्तम्-" अवाऽऽस्योधिसमुत्तारात्, कर्मवज्रविभेदतः । ज्ञेयव्याप्तेश्च कार्त्स्न्येन, सूक्ष्मत्वं नाऽयमत्र तु ॥ १ ॥ " ॥२३॥

अवेद्यसंवेद्यपदं, चतसृष्वासु दृष्टिषु ।
पक्षिच्छायाजलचर-प्रवृत्त्याभं यदुल्वणम् ॥ २४ ॥

(अवेद्येति) आसु मिथ्याऽऽद्यासु चतसृषु दृष्टिषु यदस्माद्वेद्यसंवेद्यपदम् उल्वणमधिकम् । पक्षिच्छायायां जलसंसर्गिण्यां जलधिया जलचरप्रवृत्तिरिवाऽऽभा यस्य तत्तथा । तत्र हि न तात्त्विकं वेद्यसंवेद्यपदं, किं त्वारोपाधिष्ठानसंसर्गितयाऽतात्त्विकम, अत एवानुल्वणमित्यर्थः । एतदपि चरमासु चरमयथाप्रवृत्तकरणेन इत्याचार्याः । तदिदमभिप्रेत्योक्तम्-" अवेद्यसंवेद्यपदं, यस्मादासु तथोल्वणम् । पक्षिच्छायाजलचर-प्रवृत्त्याभमतः परम् ॥ १ ॥ " ॥२४॥

वेद्यं संवेद्यते यस्मि-न्नपायाऽऽदिनिबन्धनम् ।
पदं तद् वेद्यसंवेद्य-मन्यदेतद्विपर्ययात् ॥ २५ ॥

(वेद्यमिति) वेद्यं वेदनीयं वस्तुस्थित्या, तथा भावयोगिभ्यामन्येनाविकल्पकज्ञानग्राह्यमित्यर्थः । संवेद्यते सम्यगुपशमानुरूपं निश्चयबुद्ध्या विज्ञायते, यस्मिन्नाशयस्थाने, अपायाऽऽदिनिबन्धनं नरकस्वर्गाऽऽदिकारणं हिंसाऽहिंसाऽऽदि तद्वेद्यसंवेद्यं पदम्, अन्यदवेद्यसंवेद्यपदमेतद्विपर्ययादुक्तलक्षणव्यत्ययात् । यद्यपि शुद्धं यथावद्वस्तुवेदनं माषतुषाऽऽद्याशयस्यापि, यच्चनामात्रेण च मिथ्याऽऽदिदृष्टेरपि संभवि, तथाऽपि वेद्यसंवेद्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं ग्रन्थिभेदजनितो रुचिविशेष एवेति न दोषः ॥२५॥

अपायशक्तिमालिन्यं, सूक्ष्मबोधविघातकृत् ।
न वेद्यसंवेद्यपदे, वज्रतण्डुलसन्निभे ॥ २६ ॥

(अपायेति) अपायशक्तिमालिन्यं नरकाऽऽद्यपायशक्तिमालिन्यं, सूक्ष्मबोधस्य विघातकृत् अपायहेतुत्वासेवनात्कृत्वर्जनकृत्यानुबन्धस्य अज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमाभावनियतत्वात् । न वेद्यसंवेद्यपदे उक्तलक्षणे वज्रतण्डुलसन्निभे, प्रायो दुर्गतावपि मानसदुःखाभावेन तद्वेद्यसंवेद्यपदवतो ज्ञानपाकायोगात् । एतत्त्वस्याहारकं वेद्यसंवेद्यपदं ज्ञानमाश्रित्योक्तम् । निश्चयनयस्तु प्रतिपतितसम्यग्दर्शनानामनन्तसंसारिणां नास्त्येव वेद्यसंवेद्यपदभावः । नैश्चयिकतत्त्वनि क्षायिकसम्यक्त्वे श्रेणिकाऽऽदेरिव पुनर्दुर्गत्ययोगेन तप्तलोहपदन्यासतुल्यया अपि पापप्रवृत्तेरसंभवात् एवोपपत्तेः ।

यदुक्तम्-
" अतोऽन्यदुत्तरा स्वस्मात्, पापे कर्माऽऽगमोऽपि हि ।
तप्तलोहपदन्यास-तुल्या वृत्तिः क्वचिद्यदि ॥ १ ॥
वेद्यसंवेद्यपदतः, संवेगातिशयादिति ।
चरमैव भवत्येषा, पुनर्दुर्गत्ययोगतः ॥ २ ॥ " इति ॥ २६ ॥

तदुक्तिः स्थूलबोधस्य, बीजमन्यत्र चाशनम् ।
तत्र यत्पुण्यबन्धोऽपि, हन्तापायोत्तरः स्मृतः ॥ २७ ॥

(तदुक्तिरिति) अन्यत्र चावेद्यसंवेद्यपदे तदुक्तिरपायशक्तिः स्थूलबोधस्य बीजमकृतमर्माभिमुखम् । तत्रावेद्यसंवेद्यपदे यदस्मात् पुण्यबन्धोऽपि हन्तापायोत्तरो विघ्नानन्तरीयकः स्मृतः, तत्स्तत्पुण्यस्य पापानुबन्धित्वात् ॥ २७ ॥

प्रवृत्तिरपि योगस्य, वैराग्यान्मोहगर्भतः ।
प्रसूतेऽपायजननी-मुत्तरां मोहवासनाम् ॥ २८ ॥

(प्रवृत्तिरपीति) तत्रेति प्राक्तनमत्रानुषज्यते । तत्र मोहगर्भतो वैराग्याद् योगस्य प्रवृत्तिरपि सद्गुरुपारतन्त्र्याभावेऽपायजननोन्मुखतां मोहवासनां प्रसूते, मोहमूलानुष्ठानस्य मोहवासनाऽवन्ध्यबीजत्वात्, अतोऽत्र योगप्रवृत्तिरप्यकिञ्चित्करीति भावः ॥ २८ ॥

अवेद्यसंवेद्यपदे, पुण्यं निरनुबन्धकम् ।
भवाभिनन्दिजन्तूनां, पापं स्यात्सानुबन्धकम् ॥२९॥

(अवेद्येति) अवेद्यसंवेद्यपदे पुण्यं निरनुबन्धकमनुबन्धरहितं स्यात् । यदि कदाचित् स्यात् पापानुबन्धि, सानुबन्धे तत्र ग्रन्थिभेदस्य नियामकत्वात् । भवाभिनन्दिना क्षुद्रत्वाऽऽदिदोषवतां जन्तूनां पापं सानुबन्धकमनुबन्धसहितं स्यात्,रागद्वेषाऽऽदिप्राबल्यस्य तदनुबन्धावन्ध्यबीजत्वात् ॥२९॥

अकृत्यं कृत्यमाजाति, कृत्यं चाकृत्यमेव हि ।
अत्र व्यामूढचित्तानां, कण्डूकण्डूयनाऽऽदिवत् ॥३०॥

(कुकृत्यमिति) कुकृत्यं प्राणातिपाताऽऽदिकृत्यं करणीयमाभाति । कृत्यं चाहिंसाऽऽदि,अकृत्यमेव हि अनाचरणीयमेव । अत्राऽवेद्यसंवेद्यपदे व्यामूढचित्तानां मोहप्रस्तमानसानां, कण्डूमतां कण्डूयनाऽऽदिवत् । आदिना कृम्याकुलस्य कुष्ठिनोऽग्निसेवनग्रहः । कण्डूयकाऽऽदीनां कण्ड्वादिविव भवाभिनन्दिनामवेद्यसंवेद्यपदादेव विपर्ययधीरिति भावः ॥३०॥

एतेऽसच्चेष्टयाऽऽत्मानं, मलिनं कुर्वते निजम् ।
बडिशाऽऽमिषवत्तुच्छे, प्रसक्ता भोगजे सुखे ॥३१॥

(एत इति) एते भवाभिनन्दिनोऽसच्चेष्टया महारम्भाऽऽदिप्रवृत्तिलक्षणया निजमात्मानं मलिनं कुर्वते, कर्मरजःसम्बन्धात्, बडिशाऽऽमिषवद् मत्स्यगलमांसवत् । तुच्छेऽल्पे रौद्रविपाके प्रसक्ताः भोगजे भोगप्रभवे सुखे ॥३१॥

अवेद्यसंवेद्यपदं, सत्सङ्गाऽऽगमयोगतः ।
तद्दुर्गतिप्रदं जेयं, परमाऽऽनन्दमिच्छता ॥३२॥

(अवेद्येति) यतोऽस्यायं दारुणो विपाकः,तत्तस्मादवेद्यसंवेद्यपदं दुर्गतिप्रदं नरकाऽऽदिदुर्गतिकारणम्, सत्सङ्गाऽऽगमयोगतो विशिष्टसंगमाऽऽगमसम्बन्धात् । परमाऽऽनन्दं मोक्षसुखमिच्छता जेयम्, अस्यामेव भूमिकायामन्यदा जेतुमशक्यत्वात् । अत एवानुवादपरोऽप्यागम इति योगाऽऽचार्या अयोग्यनियोगासिद्धेरिति ॥३२॥ द्वा० २२ द्वा० ।

दिय-द्विज-पुं० । द्विर्जायते, सुजर्थे कृतौ द्विशब्दः, जन-डः । संस्कृतब्राह्मणे, वाच० । आचा० । सूत्र० ।

दिव-न० । दिव-कः । स्वर्गे, दिवौकस इत्यत्राऽन्तता । दिवसे, वने च । वाच० । स० ४३ सम० ।

द्विक-त्रि० । द्वि०व० । द्विकसंख्यायां,तद्युक्ते च । त्रि० । वाच० ।

दियपोय-द्विजपोत-पुं० । पक्षिशावे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

दियस-दिवस-पुं० । दीव्यन्त्यत्र, दिव असच् किच्च । सूर्यकिरणोपलक्षिते पञ्चदशमुहूर्त्ताऽऽत्मके काले, तं० । ज्यो० । मासस्य त्रिंशत्तमे भागे, ज्यो० ४ पाहु० ।

दियसगर-दिवसकर-पुं० । सूर्ये, को० ।

दियसबंभयारि (ण्)-दिवसब्रह्मचारिन्-पुं० । दिवसे ब्रह्म चरतीत्येवंशीलो दिवसब्रह्मचारी । दिवसे मैथुनत्यागिनि, पञ्चा० १० विव० । स० । आ० चू० ।

दिया-दिवा-अव्य० । दिव-कः । दिवसे, पा० । भ० ।

दियाभोयण-दिवाभोजन-न० । दिवसभोजने, नि० चू० ११ उ० । (दिवाभोजनस्य अवर्णवादे प्रायश्चित्तम् ' राईभोयण ' शब्दे वक्ष्यते)

दियालोगच्चुय-देवलोकच्युत-त्रि० । ऋषीभूते, "दियालोगच्चुयाभासिया ।" देवलोकच्युतैः ऋषीभूतैराभाषितानि देवलोकच्युताऽऽभाषितानि । स० ४३ सम० ।

दिरअ-द्विरद-पुं० । " छिन्योरत " ॥ ८ । १ । ९४ ॥ इत्यत्र बहुलाधिकारादित्वं न । प्रा० १ पाद । द्वौ रदौ यस्य सः । हस्तिनि, वाच० ।

दिलिवेढय-दिलिवेष्टक-पुं० । ग्राहभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दिलिंदिअ-देशी-दोले, दे० ना० ५ वर्ग ४० गाथा ।

दिल्लीपुर-दिल्लीपुर-न० । यमुनातटस्थे इन्द्रप्रस्थनामके नगरे, ती० १६ कल्प ।

दिव-दिव-न० । स्वर्गे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

दिवड्ढ-द्व्यर्द्ध-त्रि० । द्वितीयमर्द्धं यस्य तद् द्व्यर्द्धम् । सार्द्धे, सू० प्र० १० पाहु० । चं० प्र० । आ० म० । ज्यो० । स० ।

द्व्यपार्द्ध-त्रि० । द्वितीयमपार्द्धं यत्र तद् द्व्यपार्द्धम् । सार्द्धे, स्था० ६ ठा० ।

दिवड्ढखेत्त-द्व्यपार्द्धक्षेत्र-न० । सार्द्धक्षेत्रे, सू० प्र० १ पाहु० ।

दिवड्ढखेत्तिय-द्व्यपार्द्धक्षेत्रिक-त्रि० । द्व्यपार्द्धं क्षेत्रं येषां ते । सार्द्धक्षेत्रिके, स्था० ६ ठा० ।

द्व्यर्द्धक्षेत्रिक-त्रि० । द्व्यर्द्धं क्षेत्रं येषां ते । सार्द्धोपेतक्षेत्रिके, स० ४५ सम० । ज्यो० । सू० प्र० । चं० प्र० । आ० म० ।

दिवस-दिवस-पुं० । " दिवसे सः " ॥ ८ । १ । २६३ ॥ इति सस्य पाक्षिको हः । प्रा० १ पाद । दिवसकरप्रभाप्रकाशितनभःखण्डरूपे सूर्यकिरणाऽऽस्पृष्टव्योमखण्डरूपे वा चतुःप्रहराऽऽत्मके समये, विशे० । स० । औ० । ध० । प्रश्न० । द्वी० ।

ता कहं ते दिवसा आहिय त्ति वएज्जा ? । ता एगमेगस्स णं पक्खस्स पन्नरस दिवसा पण्णत्ता । तं जहा-पडिवादिवसे, बितियदिवसे, जाव०पन्नरसे दिवसे । ता एतेसि णं पन्नरसण्हं दिवसाणं पन्नरस णामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-

" पुव्वंगे सिद्धमणो-रमे य तत्तो मणोहरे चेव ।
जसभद्दे य जसोधरे, सव्वकामसमिद्धे ति य ॥ १ ॥
इंदमुद्धाभिसित्ते, सोमणसे धणंजए य बोधव्वे ।
अत्थसिद्धे अभिजिते, अच्चसणे सतंजए चेव ॥ २ ॥
अग्गिवेसे उवसमे, दिवसाणं नामधेज्जाइं । "

(ता कहं ते इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण, केन क्रमेणेत्यर्थः ? । भगवन् ! त्वया दिवसा आख्याता इति व-

न्त् ? भगवानाह-(पगंमगस्स णामित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । एकैकस्य, अत्रापान्तरालवर्ती, मकारोऽलाक्षणिकः, णमिति वाक्यालङ्कारे । पक्षस्य पञ्चदश दिवसाः प्रज्ञप्ताः, वक्ष्यमाणक्रमयुक्ताः। तमेव क्रममाह-(तं जहेत्यादि) तद्यथा-प्रतिपत्प्रथमो दिवसो, द्वितीया द्वितीयो दिवसः, तृतीया तृतीयो दिवसः, एवं यावत्पञ्चदशी पञ्चदशो दिवसः । (ता एएसि णामित्यादि) तत्र एतेषां पञ्चदशानां दिवसानां क्रमेण पञ्चदश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-प्रथमः प्रतिपल्लक्षणः पूर्वाङ्गनामा, द्वितीयः सिद्धमनोरमः, तृतीयो मनोहरः, चतुर्थो यशोभद्रः, पञ्चमो यशोधरः, षष्ठः सर्वकामसमृद्धः, सप्तम इन्द्रमूर्द्धाभिषिक्तः, अष्टमः सौमनसो, नवमो धनञ्जयो, दशमोऽर्थसिद्धः, एकादशोऽभिजित, द्वादशोऽत्यसनं, त्रयोदशः शतञ्जयः, चतुर्दशोऽग्निवेशः, पञ्चदश उपशमः । एतानि दिवसानां क्रमेण नामधेयानि । चं०प्र० १० पाहु० १३ पाहु० पाहु० । द्वादशाऽऽदिमुहूर्त्तो दिवसः । आ० म० २ अ० । अहोरात्रे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । (दिनरात्रिहानिवृद्धी ' सूरमंडल ' शब्दे वक्ष्यते)

दिवसतिहि-दिवसतिथि-स्त्री० । तिथेः पूर्वभागे, सू० प्र० १० पाहु० । चं०प्र० ।

दिवसभयग-दिवसभृतक-पुं० । भृयते पोष्यते स्मेति भृतः, स एव भृतकः, कर्मकर इत्यर्थः । प्रतिदिवसं नियतमूल्येन कर्मकरणार्थं यो गृह्यते सः । प्रतिदिवसं नियतमूल्येन कर्मकरणार्थं गृहीते भृत्ये, स्था० ४ ठा० १ उ० । पं० चू० । पं० भा० ।

दिवसुज्जुत्त-दिवसोद्युक्त-त्रि० । प्रतिदिनमुद्यते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दिवह-दिवस-पुं० । ' दिवस ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

दिवाकर-दिवाकर-पुं० । सूर्ये, उत्त० ११ अ० । रा० । ज्ञा० । औ० । " उत्तिट्ठंते दिवायरे जलंते इव । " उत्त० ११ अ० ।

दिवाकरकूड-दिवाकरकूट-पुं० । जम्बूमन्दरदक्षिणे रुचकवरपर्वतस्याष्टमे कूटे, स्था० ८ ठा० ।

दिवागर-दिवाकर-पुं० । ' दिवाकर ' शब्दार्थे, उत्त० ११ अ० ।

दिवागरकूड-दिवाकरकूट-पुं० । ' दिवाकरकूड ' शब्दार्थे, स्था० ८ ठा० ।

दिविट्ठ-द्विपृष्ठ-पुं० । द्वितीये वासुदेवे, ति० । आव० ।

दिवे-दिवा-अव्य० । " किलाऽथवा-दिवा-सह-नहेः किराहवइ दिवे सहुं नाहिं " ॥ ८ । ४ । ४१९ ॥ इति दिवा इत्यस्य 'दिवे' इत्यादेशः । दिवसे, वाच० । " दिवे दिवे गंग एहाणु । " प्रा० ४ पाद ।

दिव्व-दिव्य-त्रि० । दीव्यतेऽनेन दिव-क्यप् । उत्तमे, स० १० सम० । औ० । प्रधाने, रा० । प्रश्न० । जी० । ज० । औ० । ज्ञा० । स्था० । चं० प्र० । सू० प्र० । प्रज्ञा० । विशिष्टे, स० १० सम० । नं० । स्वर्गगतवस्तुविषये, स्था० ३ ठा० ३ उ० । आ० क० । भ० । सुरनिर्मिते, आ० म० १ अ० २ खण्ड । स्था० । आ० क० । देवोचिते, औ० । कल्प० । देवरमणे, रा० । व्यन्तरादिहासाऽऽदिविषये पापश्रुतभेदे, ध० ३ अधि० । व्यन्तराऽऽदिकृते उपसर्गे, आव० ४ अ० । विशे० । दश० । कल्प० । सूत्र० । आ० चू० । दैवजन्ये, न० । द्यौः स्वर्गस्तद्वासी देवोऽप्युपचाराद् द्यौः, तत्र भवो दिव्यः । वैमानिकाऽऽदिदेवसम्बन्धिनि, स्था० ४ ठा० ४ उ० । " दिव्वं ठाणं मणनिव्वुइकरं । " ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । " दिव्वजुयलपरिहिओ । " उत्त० २२ अ० । मनोहरे, धर्मनाऽऽत्मके च । दिवि भवं यत् । लवङ्गे, चन्दने, शपथरूपे, अलौकिकप्रमाणभेदे, गुग्गुलौ, तन्त्रोक्ते भावभेदे च । न० । नायकभेदे, पुं० । वाच० ।

दिव्वग-दिव्यक-त्रि० । व्यन्तराऽऽदिना हास्यप्रद्वेषाऽऽदिजनिते उपसर्गभेदे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

दिव्वजाग-दिव्ययाग-पुं० । जिनपूजायाम्, कल्प० ५ क्षण ।

दिव्वतुडिय-दिव्यत्रुटित-न० । वेणुवीणामृदङ्गाऽऽद्यातोद्ये, रा० । दिव्यतूर्य—न० । वाद्यभेदे, रा० ।

दिव्वदेवजुति-दिव्यदेवद्युति-स्त्री० । विशिष्टायां शराऽऽभरणाऽऽदिदीप्तौ, स० १० सम० । स्था० ।

दिव्वदेविड्ढि-दिव्यदेवर्द्धि-स्त्री० । प्रधानपरिवाराऽऽदिरूपायां देवर्द्धौ, स० १० सम० । स्था० ।

दिव्वदेवाणुभाव-दिव्यदेवानुभाव-त्रि० । उत्तमवैक्रियकरणाऽऽदिप्रभावे, स० १० सम० । स्था० ।

दिव्वज्झुणि-दिव्यध्वनि-पुं० । सर्वप्राणिश्रुतिसुखदायां स्वस्वभाषापरिणामिन्यां संशयशतव्यवच्छेद्यां योजनव्यापिन्यां भगवद्वाण्याम्, दर्श० १ तत्त्व ।

दिव्वाग-दिव्याक-पुं० । मकुलिसर्पभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दिव्वायवत्त-दिव्याऽऽतपत्र-स्त्री० । शोभने आतपत्रे, रा० ।

दिव्वामा-स्त्री० । देशी-चामुण्डायाम्, दे०ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दिसा-दिक्-स्त्री० । " दिक्प्रावृषोः सः " ॥ ८ । १ । १९ ॥ इति अन्त्यव्यञ्जनस्य सः 'दिसा' । प्रा० १ पाद । दिश क्विप् वा टाप् । आशायां, ककुभि च । वाच० । दिशतीति दिक् । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । दिश्यते व्यपदिश्यते पूर्वाऽऽदितया वस्त्वनयेति दिक् । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

तां निर्युक्तिकारो निक्षेप्तुमाह-

नामं ठवणा दविए, खेत्त तावे य पन्नवगजावे ।
एस दिसानिक्खेवो, सत्तविहो होइ नायव्वो ॥ ४० ॥

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रतापप्रज्ञापकभावरूपः सप्तधा दिग्निक्षेपो ज्ञातव्यः, तत्र सचित्ताऽऽदिद्रव्यस्य दिगित्यभिधानं नामदिक्, चित्रलिखितजम्बूद्वीपाऽऽदेर्दिग्विभागस्थापनं स्थापनादिक् ।

द्रव्यादिक्प्रतिपादनायाऽऽह-

तेरसपएसियं खलु, तावइएसु भवे पएसेसुं ।
जं दव्वं ओगाढं, जहन्नगं तं दसदिसागं ॥ ४१ ॥

द्रव्यदिग् द्वेधा-आगमतो, नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञातानुपयुक्तः, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता त्रिविधा-अर्थाद्दशप्रदेशिकं द्रव्यमाश्रित्य या प्रवृत्ता, समुच्चयादर्थो, अर्थाद्दशप्रदेशिकमेव दिक्, न पुनर्दशप्रदेशिकं यत् कैश्चिदुक्तमिति, प्रदेशाः-परमाणवस्तैर्निष्पादितं कार्यद्रव्यं तावत्स्वेव क्षेत्रप्रदेशेष्ववगाढं जघन्यं द्रव्यमाश्रित्य दशादिग्विभागपरिकल्पनातो द्रव्यादिगियमिति । तत्स्थापना (२) । त्रिबाहुकं त्रयःप्रदेशिकमभिलिख्य चतसृषु दिक्ष्वेकैकाणुवृद्धिः कार्या ।

क्षेत्रदिशमाह-

अट्ठपएसो रुयगो, तिरियं लोयस्स मज्झयारम्मि ।
एस पभवो दिसाणं, एसेव भवे अणुदिसाणं ॥ ४२ ॥

तिर्यग्लोकमध्ये रत्नप्रभापृथिव्या उपरि बहुमध्यदेशे मेरुमध्ये सर्वक्षुल्लकप्रतरौ, तयोरुपरितनस्य चत्वारः प्रदेशा गोस्तनाऽऽकारसंस्थाना अधस्तनस्यापि चत्वारस्तथाभूता एवेत्येषोऽष्टाकाशप्रदेशाऽऽत्मकश्चतुरस्रो रुचको दिशामनुदिशां च प्रभव उत्पत्तिस्थानमिति । स्थापना (३) ।

आसामभिधानान्याह-

इंदऽग्गेई जम्मा, य नेरई वारुणी य वायव्वा ।
सोमा ईसाणा वि य, विमला य तमा य बोधव्वा ॥४३॥

आसामाग्नेयी विजयद्वारानुसारेण शेषाः प्रदक्षिणतः सप्ताऽपरेयाः, ऊर्ध्वं विमला तमा बोद्धव्या इति ।

आसामेव स्वरूपनिरूपणायाऽऽह-

दुपएसाइ दुरुत्तर, एगपएसा अणुत्तरा चेव ।
चउरो चउरो य दिसा, चउराइ अणुत्तरा दुन्नि ॥४४॥

तत्रो महादिशो द्विप्रदेशाऽऽद्या द्विद्विप्रदेशोत्तरवृद्धाः,विदिशश्चतस्र एकप्रदेशरचनाऽऽत्मिकाः, अनुत्तरा वृद्धिरहिताः ऊर्ध्वाधो दिग्द्वयं त्वनुत्तरमेव चतुःप्रदेशाऽऽदिरचनाऽऽत्मकम् ।

किञ्च-

अंता साईयाओ, बाहिरपासे अपज्जवसियाओ ।
सव्वाणंतपएसा, सव्वा य भवंति कडजुम्मा ॥ ४५ ॥

सर्वाऽप्यन्तर्मध्ये सादिका रुचकाऽऽद्या इति कृत्वा बहिश्चालोकाऽऽकाशाऽऽश्रयणादपर्यवसिताः, सर्वाश्च दशाप्यनन्तप्रदेशाऽऽत्मिका भवन्ति । (सव्वा य हवंति कडजुम्म त्ति) सर्वासां दिशां प्रत्येकं ये प्रदेशास्ते चतुष्ककेनापह्रियमाणाश्चतुष्कावशेषा भवन्तीति कृत्वा, तत्प्रदेशाऽऽत्मिकाश्च दिश आगमसंज्ञया " कडजुम्म त्ति " शब्देनाभिधीयन्ते । तथा चाऽऽगमः- " कइ णं भंते ! जुम्मा पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि जुम्मा पण्णत्ता । तं जहा-कडजुम्मे, तेउए, दावरजुम्मे, कलिओए । से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! जे णं रासी चउक्कगावहारेणं अवहीरमाणे अवहीरमाणे चउपज्जवसिए सिया, से णं कडजुम्मे । एवं तिपज्जवसिए तेउए, दुपज्जवसिए दावरजुम्मे, एगपज्जवसिए कलिओए त्ति । "

पुनरप्यासां संस्थानमाह-

सगडुद्धिसंठियाओ, महादिसाओ य होंति चत्तारि ।
मुत्तावली य चउरो, दो चेव य होंति रुयगनिभा ॥४६॥

महादिशश्चतस्रोऽपि शकटोर्द्धसंस्थानाः, विदिशश्च मुक्तावलिनिभाः, ऊर्ध्वाधोदिग्द्वयं रुचकाऽऽकारमिति ।

तापदिशमाह-

जस्स जओ आइचो, उएइ सा तस्स होइ पुव्वादिसा ।
जत्तो य अत्थमेइ उ, अवरादिसा सा उ नायव्वा ॥४७॥

दाहिणपासम्मि य दा-हिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं ।
एया चत्तारि दिसा, तावक्खेत्ते उ अक्खाया ॥४८॥

तापयतीति ताप आदित्यः, तदाश्रिता दिक् तापदिक्, शेषं सुगमं, केवलं दक्षिणपार्श्वाऽऽदिव्यपदेशः पूर्वाऽभिमुखस्येति द्रष्टव्यः ।

तापदिगङ्गीकरणेनान्योऽपि व्यपदेशो भवतीति प्रसङ्गेन आह-

जे मंदरस्स पुव्वे-ण मणुस्सा दाहिणेण अवरेणं ।
जे यावि उत्तरेणं, सव्वेसिं उत्तरो मेरू ॥ ४९ ॥

सव्वेसिं उत्तरेणं, मेरू लवणो य होइ दाहिणओ ।
पुव्वेणं उट्ठेई, अवरेणं अत्थमइ सूरो ॥ ५० ॥

ये मन्दरस्य मेरोः पूर्वेण मनुष्याः क्षेत्रदिगङ्गीकरणेन, रुचकापेक्षं पूर्वाऽऽदिदिक्त्वं वेदितव्यं, तेषामुत्तरो मेरुर्दक्षिणेन लवण इति तापदिगङ्गीकरणेन,शेषं स्पष्टम् ।

प्रज्ञापकदिशमाह-

जत्थ य जो पण्णवओ, कस्स वि साहइ दिसासु य निमित्तं ।
जत्तोमुहो य ठाई, सा पुव्वा पच्छओ अवरा ॥ ५१ ॥

प्रज्ञापको यत्र कचित् स्थितः दिशां मध्ये कस्यचिन्निमित्तं कथयति, स यदभिमुखस्तिष्ठति, सा पूर्वा, पृष्ठतश्चापरेति, निमित्तकथनं चोपलक्षणमन्योऽपि व्याख्याता ग्राह्य इति ।

शेषदिक्साधनार्थमाह-

दाहिणपासम्मि उ दा-हिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं ।
एयासिमंतरेणं, अण्णा चत्तारि विदिसाओ ॥ ५२ ॥

एतासिं चेव अट्ठ-ण्हमंतरा अट्ठ होंति अण्णाओ ।
सोलस सरीरउस्सय-बाहल्ला सव्वतिरियदिसा ॥५३॥

हेट्ठा पायतलाणं, अहोदिसा सीसउवरिमा उड्ढा ।
एया अट्ठारस वी, पण्णवगदिसा मुणेयव्वा ॥ ५४ ॥

एवं पकप्पियाणं, दसण्ह अट्ठण्ह चेव य दिसाणं ।
नामाइं वोच्छामी, जहक्कमं आणुपुव्वीए ॥ ५५ ॥

पुव्वा य पुव्वदक्खिण, दक्खिण तह दक्खिणाऽवरा चेव ।
अवरा य अवरउत्तर, उत्तर पुव्वुत्तरा चेव ॥ ५६ ॥

सामुत्थाणी कविला, खेलेज्जा खलु तहेव अहिधम्मा ।
परियाधम्मा य तहा, सावित्ती पण्णवित्ती य ॥ ५७ ॥

हेट्ठा नेरइयाणं, अहोदिसा उवरिमा उ देवाणं ।
एयाइं नामाइं, पण्णवगस्सा दिसाणं तु ॥ ५८ ॥

एताः सप्त गाथाः कण्ठ्याः, नवरं द्वितीयगाथायां सर्वतिर्यग्दिशां बाहल्यं पिण्डः शरीरोच्छ्रयप्रमाणमिति ।

साम्प्रतमासां संस्थानमाह-

सोलस तिरियदिसाओ, सगडुद्धीसंठिया मुणेयव्वा ।
दो मल्लगमूलाओ, उड्ढे य अहे वि य दिसाओ ॥५९॥

षोडशाऽपि तिर्यग्दिशः शकटोर्द्धसंस्थाना बोद्धव्याः, प्रज्ञापकप्रदेशे संकटा बहिर्विशालाः,नारकदेवाऽऽश्रये द्वे एव ऊर्ध्वाऽधोगामिन्यौ शरावाऽऽकारे भवतः, यतः शिरोमूले पादमूले च स्वल्पस्थानमल्लकबुध्नाऽऽकारे गच्छन्त्यौ च विशाले भवत इति । आसां सर्वासां तात्पर्यं यन्त्रकादवसेयम्, तच्चेदम् (४) ।

भावदिङ्निरूपणार्थमाह-

मणुया तिरिया काया, तहऽग्गबीया चउक्कगा चउरो ।

देवा नेरइया वा, अट्ठारस हुंति भावदिसा ॥ ६० ॥

मनुष्याश्चतुर्भेदाः, तद्यथा-संमूर्छनजाः, कर्मभूमिजाः, अकर्मभूमिजाः, अन्तरद्वीपजाश्चेति । तथा-तिर्यञ्चो द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चेति चतुर्धा, कायाः पृथिव्यप्तेजोवायवश्चत्वारः, तथा-अग्रमूलस्कन्धपर्वबीजाश्चत्वार एव, एते षोडश देवनारकप्रक्षेपादष्टादश, एभिर्भावैर्जीवनाज्जीवो व्यपदिश्यत इति भावदिगष्टादशभेदेति । अत्र च सामान्यदिग्ग्रहणेऽपि यस्यां दिशि जीवानामविगानेन गत्यागती स्पष्टे सर्वत्र संभवतः, तयैवेहाधिकार इति तामेव निर्युक्तिकृत्साक्षाद्दर्शयति, भावदिक्षाविनाभाविनी सामर्थ्यादधिकृतैव ।

एतस्तदर्थमन्या दिशश्चिन्त्यन्त इत्यत आह-

पन्नवगदिसऽट्ठारस, भावदिसाओ वि तत्तिया चेव ।

एकेक्कं विंधेज्जा, हवंति अट्ठारसऽट्ठारा ॥ ६१ ॥

पन्नवगदिसाए पुण, अहिगारो एत्थ होइ णायव्वो ।

जीवाण पोग्गलाण य, एयासु गयागई अत्थि ॥ ६२ ॥

प्रज्ञापकापेक्षया अष्टादशभेदा दिशः, अत्र च भावदिशोऽपि तावत्प्रमाणा एव प्रत्येकं संभवन्तीत्यत एकैकां प्रज्ञापकदिशं भावदिगष्टादशकेन विध्येत् ताडयेद्, अतोऽष्टादशाष्टादशकाः, ते च संख्यया त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि भवन्तीति, एतच्चोपलक्षणम्, तापदिगादावपि यथासंभवमायोजनीयमिति । क्षेत्रदिशि तु चतसृष्वेव महादिक्षु संभवो, न विदिगादिषु, तासामेकप्रदेशिकत्वाच्चतुष्प्रदेशिकत्वाच्चेति गाथाद्वयार्थः । अयं च दिक्संयोगकलापः-" अन्नयरीओ दिसाओ आगओ अहमंसि" इत्यनेन परिगृहीतः । सूत्रावयवार्थश्चायम्-इह दिग्ग्रहणात् प्रज्ञापकदिशश्चतस्रः पूर्वाऽऽदिका ऊर्ध्वाऽधोदिशौ च परिगृह्येते, भावदिशश्चाष्टादशाऽपि, अनुदिग्ग्रहणात्तु प्रज्ञापकविदिशो द्वादशेति, तत्रासंज्ञिनां नैषोऽवबोधोऽस्ति, संज्ञिनामपि केषाञ्चिद्भवति, केषाञ्चिन्नेति, यथाऽहममुष्या दिशः समागत इहेति । " एवमेगेसिं णो णायं भवइ त्ति " एवमित्यनेन प्रकारेण प्रतिविशिष्टदिग्विदिगागमनं नैकेषां विदितं भवतीत्येतदुपसंहारवाक्यम् ।

एतदेव निर्युक्तिकृदाह-

केसिंचि णाणसण्णा, अत्थी केसिंचि नत्थि जीवाणं ।

कोऽहं परम्मि लोए, आसी कयरा दिसाओ वा ॥ ६३ ॥

केषाञ्चिज्जीवानां ज्ञानाऽऽवरणीयक्षयोपशमवतां ज्ञानसंज्ञाऽस्ति, केषाञ्चित्तु तदावृत्तिमतां न भवतीति । यादृग्भूता संज्ञा न भवति तां दर्शयति-कोऽहं परस्मिन् लोके जन्मनि मनुष्याऽऽदिरासम्, अनेन भावदिग् गृहीता, कतरस्या वा दिशः समायातः, इत्यनेन तु प्रज्ञापकदिगुपात्तेति, यथा कश्चिन्मदिरामदघूर्णितलोललोचनोऽव्यक्तमनोविज्ञानो रथ्यामार्गनिपतितश्चलच्छ्वाच्छूत्कृतश्ववगणापलिह्यमानवदनो गृहमानीतो मदात्यये न जानाति कुतोऽहमागत इति, तथा प्रकृतो मनुष्याऽऽदिरपीति गाथाऽर्थः ।

न केवलमेषैव संज्ञा नास्ति, अपराऽपि नास्तीति

सूत्रकृदाह-

अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी ?, के वा इओ चुए इह पेच्चा भविस्सामि ? । ३ ।

अस्ति विद्यते ममेत्यनेन षष्ठ्यन्तेन शरीरं निर्दिशति, ममास्य शरीरकस्याधिष्ठाता, अतति-गच्छति सततगामित्वप्रवृत्तः आत्मा-जीवोऽस्तीति, किंभूतः ?, औपपातिकः, उपपातः-प्रादुर्भावो जन्मान्तरसंक्रान्तिः, उपपाते भव औपपातिक इति, अनेन संसारिणः स्वरूपं दर्शयति, स एवंभूत आत्मा ममास्ति नास्तीति चैवंभूता संज्ञा केषाञ्चिदज्ञानावष्टब्धचेतसां न जायत इति । तथा-कोऽहं नारकतिर्यग्मनुष्याऽऽदिः पूर्वजन्मन्यासम् ?, को वा देवाऽऽदिः 'इतो' मनुष्याऽऽदेर्जन्मनः च्युतो विनष्टः, इह संसारे प्रेत्य जन्मान्तरे भविष्यामि उत्पत्स्ये, एषा च संज्ञा न भवतीति । इह च यद्यपि सर्वत्र भावदिशाधिकारः प्रज्ञापकदिशा च, तथाऽपि पूर्वसूत्रे साक्षात् प्रज्ञापकदिगुपात्ता, अत्र तु भावदिगित्यवगन्तव्यम् । ननु चात्र संसारिणां दिग्विदिगागमनाऽऽदिका विशिष्टा संज्ञा निषिध्यते, न सामान्यसंज्ञेति, एतच्च संज्ञिनि धर्मिण्यात्मनि सिद्धे सति भवति, " सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते " इति वचनात्, स च प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणगोचरातीतत्वाद्दुरुपपादः, तथाहि-नासावध्यक्षेणार्थसाक्षात्कारिणा विषयीक्रियते, तस्यातीन्द्रियत्वाद्, अतीन्द्रियत्वं चास्यनावभिप्रकृष्टत्वात्, अतीन्द्रियत्वादेव च तदव्यभिचारिकार्याऽऽदिलिङ्गसम्बन्धग्रहणासंभवान्नाप्यनुमानेन, तदप्रत्यक्षत्वे तत्सामान्यग्रहणशक्त्यनुपपत्तेः, नाप्युपमानेन, आगमस्याऽपि विवक्षायां प्रतिपाद्यमानायामनुमानान्तर्भावात् । अन्यत्र च बाह्येऽर्थे सम्बन्धाभावादप्रमाणत्वम्, प्रमाणत्वे वा परस्परविरोधित्वाच्चागमेन, तमन्तरेणापि सकलार्थोपपत्तेर्नाप्यर्थापत्त्या, तदेव प्रमाणपञ्चकाऽगोचरत्वात् षष्ठप्रमाणविषयत्वाद्भाव एवाऽऽत्मनः । प्रयोगश्चायम्-नास्त्यात्मा, प्रमाणपञ्चकविषयातीतत्वात्, खरविषाणवदिति, तदभावे च विशिष्टसंज्ञाप्रतिषेधाभावसंभवेनानुत्थानमेव सूत्रस्येति, एतत्सर्वमनुपासितगुरोर्वचः । तथाहि-प्रत्यक्ष एवाऽऽत्मा, तद्गुणस्य ज्ञानस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्, स्वसंविदिष्टाश्च विषयव्यवस्थितयः, घटपटाऽऽदीनामपि रूपाऽऽदिगुणप्रत्यक्षत्वादेवाध्यक्षत्वमिति, मरणाभावप्रसङ्गाच्च न चैतद्गुणव्यतिरेकमाशङ्कनीयम्, तेषां सदा सांनिध्यसंभवादिति, हेयोपादेयपरिहारोपादानप्रवृत्तेश्चानुमानेन परात्मनि सिद्धिर्भवतीति, एवमन्यैव दिशोपमानाऽऽदिकमपि स्वाश्रया स्वविषये यथासंभवमायोज्यं, कथं मीनतद्गुणानित्याऽऽगमेन विशिष्टप्रज्ञानिषयकारणादिमिति चाऽऽत्मसिद्धित्वेनाऽऽत्मसद्भावः प्रतिपाद्यते, शेषाऽऽगमानां चानाप्तप्रणीतत्वादप्रामाण्यमेवेति । अत्र चास्त्यात्मेत्यनेन क्रियावादिनः सप्रभेदा नास्तीत्यनेन चाक्रियावादिनः एतदुक्तः पारिशेष्याच्चाज्ञानिकवैनयिकाश्च सप्रभेदा उपात्ताः, ते चामी-

" असियसयं किरियाणं, अकिरियवाईण होइ चुलसीई ।

अन्नाणि य सत्तट्ठी, वेणइयाणं च बत्तीसा " ॥ १ ॥ तत्र जीवाजीवाऽऽस्रवबन्धपुण्यपापसंवरनिर्जरामोक्षाऽऽख्या नव पदार्थाः स्वपरभेदाभ्यां नित्यानित्यविकल्पद्वयेन च कालनियतिस्वभावेश्वराऽऽत्माऽऽश्रयणादशीत्युत्तरं भेदशतं भवति क्रियावादिनाम्, एते चास्तित्ववादिनोऽभिधीयन्ते । इयमत्र भावना-अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः ॥ १ ॥ अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालतः ॥ २ ॥ अस्ति जीवः परतो नित्यः कालतः ॥ ३ ॥ अस्ति जीवः परतोऽनित्यः कालतः ॥ ४ ॥ इत्येवं कालेन चत्वारो भेदा लब्धाः, एवं नियतिस्वभावेश्वराऽऽत्मभिरप्येकैकेन चत्वारश्चत्वारो विकल्पा लभ्यन्ते, एते च पञ्च चतुष्का विंशतिर्भवति । इयं च जीवपदार्थेन लब्धा, एवमजीवाऽऽदयोऽ-

प्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिभेदा भवन्ति । ततश्च नव विंशतयः शतमशीत्युत्तरं भवति १८० । तत्र स्वत इति स्वेनैव रूपेण जीवोऽस्ति, न परोपाध्यपेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वे इव, नित्यः-शाश्वतो न क्षणिकः, पूर्वोत्तरकालयोरवस्थितत्वात्, कालत इति काल एव विश्वस्य स्थित्युत्पत्तिप्रलयकारणम् । उक्तं च-"कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १ ॥" स चातीन्द्रियो युगपच्चिरक्षिप्रक्रियाऽभिव्यङ्ग्यो हिमोष्णवर्षाव्यवस्थाहेतुः क्षणलवमुहूर्त्तयामाहोरात्रमासर्त्त्वयनसंवत्सरयुगकल्पपल्योपमसागरोपमोत्सर्पिण्यवसर्पिणीपुद्गलपरावर्त्तातीतानागतवर्त्तमानसर्वाद्धाऽऽदिव्यवहाररूपः ॥ १ ॥ द्वितीयविकल्पे तु कालादेवाऽऽत्मनोऽस्तित्वमभ्युपेयं, किं त्वनित्योऽसाविति विशेषोऽयं पूर्वविकल्पात् ॥ २ ॥ तृतीयविकल्पे तु परत एवास्तित्वमभ्युपगम्यते, कथं पुनः परतोऽस्तित्वमात्मनोऽभ्युपेयते ?, नन्वेतत्प्रसिद्धमेव सर्वपदार्थानां परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदः, यथा दीर्घत्वापेक्षया ह्रस्वत्वपरिच्छेदो, ह्रस्वत्वापेक्षया च दीर्घत्वस्येति । एवमेव चानात्मनः स्तम्भकुम्भाऽऽदीन् समीक्ष्य तद्व्यतिरिक्ते वस्तुन्यात्मबुद्धिः प्रवर्त्तते इति, अतो यदात्मनः स्वरूपं तत्परत एवावधार्यते, न स्वत इति ॥ ३ ॥ चतुर्थविकल्पोऽपि प्राग्वदिति चत्वारो विकल्पाः ॥ ४ ॥ तथाऽन्ये नियतित एवाऽऽत्मनः स्वरूपमवधारयन्ति, का पुनरियं नियतिरिति ?। उच्यते-पदार्थानामवश्यंतया यथाभवने प्रयोजककर्त्री नियतिः । उक्तं च-" प्राप्तव्यो नियतिबलाऽऽश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा । भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥ १ ॥" इयं च मस्करिपरिव्राजकमतानुसारिणां प्राय इति । अपरे पुनः स्वभावादेव संसारव्यवस्थामभ्युपयन्ति, कः पुनरयं स्वभावः?, वस्तुनः स्वत एव तथापरिणतिभावः स्वभावः ।

उक्तं च-

" कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं,
विचित्रभावं मृगपक्षिणां च ।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं,
न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ? ॥ १ ॥
स्वभावतः प्रवृत्तानां, निवृत्तानां स्वभावतः ।
नाहं कर्त्तेति भूतानां, यः पश्यति स पश्यति ॥ २ ॥
केनाञ्जितानि नयनानि मृगाङ्गनानां,
कोऽलङ्करोति रुचिराङ्गरुहान् मयूरान् ।
कश्चोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति,
को वा दधाति विनयं कुलजेषु पुंसु ? ॥ ३ ॥"

तथाऽन्येऽभिदधते-समस्तमेतज्जगदीश्वरात्प्रसूतं, तस्मादेव स्वरूपेऽवतिष्ठते, कः पुनरयमीश्वरः ?, अणिमाऽऽद्यैश्वर्ययोगादीश्वरः । उक्तं च-" अज्ञो जन्तुरनीशः स्या-दात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेच्छ्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा ॥ १ ॥" तथाऽन्ये ब्रुवते-न जीवाऽऽदयः पदार्थाः कालाऽऽदिभ्यः स्वरूपं प्रतिपद्यन्ते, किं तर्हि ?, आत्मनः, कः पुनरयमात्मा?, आत्माद्वैतवादिनां विश्वपरिणतिरूपः । उक्तञ्च-" एक एव हि भूताऽऽत्मा, भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥" तथा-" पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् " इत्यादि । एवमस्ति जीवः स्वतः नित्यः कालत इत्येवं सर्वत्र योज्यम् । तथा-अक्रियावादिनो-नास्तित्ववादिनः, तेषामपि जीवाजीवाऽऽस्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाऽऽख्याः सप्त पदार्थाः स्वपरभेदद्वयेन तथा कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वराऽऽत्मभिः षड्भिश्चिन्त्यमानाश्चतुरशीतिविकल्पा भवन्ति । तद्यथा-नास्ति जीवः स्वतः कालतः, नास्ति जीवः परतः कालतः, इति कालेन द्वौ लब्धौ, एवं यदृच्छानियत्यादिष्वपि द्वौ द्वौ भेदौ प्रत्येकं भवतः, सर्वेऽपि जीवपदार्थे द्वादश भवन्ति, एवमजीवाऽऽदिष्वपि प्रत्येकं द्वादशेति सप्त द्वादशकाश्चतुरशीतिरिति ८४ । अयमत्रार्थः-नास्ति जीवः स्वतः कालत इति, इह पदार्थानां लक्षणेन सत्ता निश्चीयते, कार्यतो वा ?। न चाऽऽत्मनस्तादृगस्ति किञ्चिल्लक्षणं, येन सत्तां प्रतिपद्येमहि, नाऽपि कार्यमणूनामिव महीध्राऽऽदि संभवति, यच्च लक्षणकार्याभ्यां नाधिगम्यते वस्तु तन्नास्त्येव वियदिन्दीवरवत्, तस्मान्नास्त्यात्मेति । द्वितीयविकल्पोऽपि यच्च स्वतो नात्मानं बिभर्त्ति गगनारविन्दाऽऽदिकं तत्परतोऽपि नास्त्येव, अथ वा सर्वपदार्थानामेव परमाणुादर्शनात्सर्वोऽयं भ्रान्तमागमृगतृष्णान्यायतो जलानुपलब्धेः सर्वानुपलब्धितो नास्तित्वमध्यवसीयते । उक्तं च-" यावद् दृश्यं परस्तावद्-भागः स च न दृश्यते " इत्यादि । तथा " यदृच्छातोऽपि नास्तित्वमात्मनः, का पुनर्यदृच्छा ?, अनभिसन्धिपूर्विकाऽर्थप्राप्तिर्यदृच्छा ।

" अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं,
चित्रं जनानां सुखदुःखजातम् ।
काकस्य तालेन यथाऽभिघातो,
न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽभिमानः ॥ १ ॥
सत्यं पिशाचाः स्म वने वसामो,
भेरीं कराग्रैरपि न स्पृशामः ।
यदृच्छया सिद्ध्यति लोकयात्रा,
भेरीं पिशाचाः परिताडयन्ति ॥ २ ॥"

यथा काकतालीयमबुद्धिपूर्वकं, न काकस्य बुद्धिरस्ति- मयि तालं पतिष्यति, नापि तालस्याभिप्रायः- काकोपरि पतिष्यामि, अथ च तत्तथैव भवति, एवमन्यदप्यतर्कितोपनतम् आकृपाणीयमातुरभेषजीयमन्धकण्टकीयमित्यादि द्रष्टव्यम्, एवं सर्वं जातिजरामरणाऽऽदिकं लोके यादृच्छिकं काकतालीयाऽऽदिकल्पमवसेयमिति । एवं नियतिस्वभावेश्वराऽऽत्मभिरप्यात्मा निराकर्त्तव्यः । तथा-अज्ञानिकानां सप्तषष्टिर्भेदाः । ते चामी-जीवाऽऽदयो नव पदार्थाः, उत्पत्तिश्च दशमी, सन्, असत्, सदसत्, अवक्तव्यः, सदवक्तव्यः, असदवक्तव्यः, सदसदवक्तव्यः, इत्येतैः सप्तभिः प्रकारैर्विज्ञातुं न शक्यन्ते, न च विज्ञातैः प्रयोजनमस्ति । भावना चेयम्-सन् जीव इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन ?, असन् जीव इति को जानाति ?, किं वा तेन ज्ञातेनेत्यादि । एवमजीवाऽऽदिष्वपि प्रत्येकं सप्त विकल्पाः, नव सप्तकास्त्रिषष्टिः, अमी चान्ये चत्वारस्त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते । तद्यथा-सती भावोत्पत्तिरिति को जानाति ?, किं वाऽनया ज्ञातया ?, एवमसती सदसती अवक्तव्या भावोत्पत्तिरिति को वेत्ति ?, किं वाऽनया ज्ञातयेति, शेषविकल्पत्रयमुत्पत्त्युत्तरकालं पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्र न संभवतीति नोक्तम्, एतच्चतुष्टयप्रक्षेपात्सप्तषष्टिर्भवन्ति । तत्र सन् जीव इति को वेत्ति ?, इत्यस्यायमर्थः--न कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति, योऽतीन्द्रियान् जीवाऽऽदीनवभोत्स्यते, न च तैर्ज्ञातैः किञ्चित्फलमस्ति । तथाहि-यदि नित्यः सर्वगतो मूर्त्तो ज्ञानाऽऽदिगु-

णोऽपेतः, एतद्गुणव्यतिरिक्तो वा ?, ततः कतमस्य पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति, तस्मादज्ञानमेव श्रेयः। अपि च-तुल्येऽप्यपराधे अज्ञानकरणे लोके स्वल्पो दोषो, लोकोत्तरेऽपि आकुट्टिकानाभोगसहसाकाराऽऽदिषु क्षुल्लकभिक्षुस्थविरोपाध्यायसूरीणां यथाक्रममुत्तरोत्तरं प्रायश्चित्तमित्येवमन्येष्वपि विकल्पेष्वायोज्यम्। तथा वैनयिकानां द्वात्रिंशद्भेदाः, ते चानेन विधिना भावनीयाः, सुरनृपयतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृष्वष्टसु मनोवाक्कायप्रदानचतुर्विधविनयकरणात्। तद्यथा-देवानां विनयं करोति मनसा वाचा कायेन, तथा-देशकालोपपन्नेन दानेनेत्येवमादि। एते च विनयादेव स्वर्गापवर्गमार्गमभ्युपयन्ति, तच्चैवंभूतस्यानेकफलकारणो विनयः, सर्वत्र चैवंविधेन विनयेन देवाऽऽदिपूपतिष्ठमानः स्वर्गापवर्गभाग् भवति। उक्तं च-"विणया णाण णाणाओ दंसणं दंसणाहि चरणं च। चरणाहिंतो मोक्खो, मोक्खे सोक्खं अणाबाहं॥१॥" अत्र च क्रियावादिनामस्तित्वे सत्यपि केषाञ्चित्सर्वगतो नित्योऽनित्यः कर्ताऽकर्ता मूर्तोऽमूर्तः श्यामाकतण्डुलमात्रोऽङ्गुष्ठपर्वमात्रो दीपशिखोपमो हृदयाधिष्ठान इत्यादिकः। अस्ति चौपपातिकश्च, अक्रियावादिनां त्वात्मैव न विद्यते, कुतः पुनरौपपातिकत्वम् ?, अज्ञानिकास्तु नात्मानं प्रति विप्रतिपद्यन्ते, किंतु तज्ज्ञानमकिञ्चित्करमेवामिति, वैनयिकानामपि नात्माऽस्तित्वे विप्रतिपत्तिः, किं त्वन्यन्मोक्षसाधनं विनयादृते न संभवतीति प्रतिपन्नाः। तत्रानेन सामान्याऽऽत्मास्तित्वप्रतिपादनेनाक्रियावादिनो निरस्ता द्रष्टव्याः। आत्मास्तित्वानभ्युपगमे च-

"शास्ता शास्त्रं शिष्यः, प्रयोजनं वचनहेतुदृष्टान्ताः।
सन्ति न शून्यं भुवन-स्तदभावाच्चाप्रमाणं स्यात्॥१॥
प्रतिषेध्यप्रतिषेधौ, स्तश्चेच्छून्यं कथं भवेत्सर्वम् ?।
तद्भावेन तु सिद्धा, अप्रतिसिद्धा जगत्यर्थाः॥२॥"

एवं शेषाणामप्यत्रैव यथासंभवं निराकरणमुत्प्रेक्ष्यमिति ॥३॥

गतमानुषङ्गिकम्। प्रकृतमनुस्त्रियते-तत्रेह "एवमेगेसिं णो णायं भवइ" इत्यनेन केषाञ्चिदेव संज्ञानिषेधात्केषाञ्चित्तु भवतीत्युक्तं भवति, तत्र सामान्यसंज्ञायाः प्रतिप्राणि सिद्धत्वात्कारणपरिज्ञानस्य चेहाकिञ्चित्करत्वाद्विशिष्टसंज्ञायास्तु केषाञ्चिदेव भावात् तस्याश्च भवान्तरगाम्यात्मस्वरूपप्रतिपादने सोपयोगित्वात् सामान्यसंज्ञाकारणप्रतिपादनमनादृत्य विशिष्टसंज्ञायाः कारणं सूत्रकृद्दर्शयितुमाह-

से जं पुण जाणेज्जा सह संमइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं अंतिए वा सोच्चा, तं जहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि० जाव अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं जं णायं भवति-अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ, सोऽहं ॥ ४ ॥

'से जं पुण जाणेज्ज त्ति' सूत्रं यावत् 'सोऽहमिति।' 'से' इति निर्देशो मागधदेश्या प्रथमैकवचनान्तः, स इत्यनेन च यः प्राग्निर्दिष्टो ज्ञाता विशिष्टक्षयोपशमाऽऽदिमान्स प्रत्यवमृश्यते, यदित्यनेनापि यत्प्राग्निर्दिष्टं दिग्वादिगागमनं, तथा कोऽहमभूवमतीतजन्मनि देवो नारकस्तिर्यग्योनो मनुष्यो वा ?, स्त्री पुमान्नपुंसको वा ?। को वाऽमुतो मनुष्यजन्मनः प्रच्युतोऽह प्रेत्य देवाऽऽदिर्भविष्यामीत्येतत्परामृश्यते, जानीयादवगच्छेत्, इदमुक्तं भवति-न कश्चिदनादौ संसृतौ पर्यटन्नमुमान् दिगागमनाऽऽदिकं जानीयात्, यः पुनर्जानीयात्स एवम्-(सह सम्मइयाए त्ति) सहशब्दः संबन्धवाची, सदिति प्रशंसायां, मतिः ज्ञानम्। अयमत्र वाक्यार्थः-आत्मना सह सदा या सन्मतिर्वर्तते, तया सन्मत्या कश्चिज्जानाति, सहशब्दविशेषणाच्च सदाऽऽत्मस्वभावस्य मतेरावेदितं भवति, न पुनर्यथा वैशेषिकाणां व्यतिरिक्ता सती समवायवृत्त्याऽऽत्मनि समवैतीति। यदि वा (सम्मइए त्ति) स्वकीयया मत्या स्वमत्येति, तत्र निसर्गदृष्ट्याऽऽदिकं स्वकीयं दृष्टमतः सहशब्दविशेषणं, सहशब्दश्चासमस्त इति, सत्यपि चाऽऽत्मनः सदा मतिसंनिधाने प्रबलज्ञानाऽऽवरणाऽऽवृतत्वाच्च सदा विशिष्टोऽवबोध इति, सा पुनः सन्मतिः, स्वमतिर्वा अवधिमनःपर्यायकेवलज्ञानजातिस्मरणभेदाच्चतुर्विधा ज्ञेयाः, तत्रावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानानां स्वरूपमन्यत्र विस्तरेणोक्तं, जातिस्मरणं त्वाभिनिबोधिकविशेषः, तदेवं चतुर्विधया मत्याऽऽत्मनः कश्चिद्दिशमागत्यागतं जानाति, कश्चिच्च परव्याकरणेन, तत्र परः-तीर्थकृत्सर्वज्ञः, तस्यैव परमार्थतः परशब्दवाच्यत्वात्परत्वं, तस्य तेन वा व्याकरणम्-उपदेशस्तेन जीवान्नरकादींश्च पृथिव्यादीन् तद्गत्यागती च जानाति, अपरः पुनरन्येषां तीर्थकरव्यतिरिक्तानामतिशयज्ञानिनामन्तिके श्रुत्वा जानातीति, एतच्च जानाति तत् सूत्रावयवेन दर्शयति। तद्यथा-पूर्वस्या दिश आगतोऽहमस्मि, एवं दक्षिणस्याः पश्चिमाया उत्तरस्या ऊर्ध्वदिशोऽधोदिशोऽन्यतरस्याः दिशोऽनुदिशो वा आगतोऽहमस्मीत्येवमेकेषां विशिष्टक्षयोपशमाऽऽदिमतां तीर्थकरान्यातिशयज्ञानिबोधितानां च ज्ञानं भवति, तथा प्रतिविशिष्टदिगागमनपरिज्ञानान्तरमेवामतदपि ज्ञानं भवति, यथाऽस्ति मेऽस्य शरीरकस्याधिष्ठाता ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण उपपातुको भवान्तरसंक्रान्तिभागसर्वगतो भोक्ता मूर्तिरहितोऽविनाशी शरीरमात्रव्यापीत्यादिगुण आत्मेति। स च द्रव्यकषाययोगोपयोगज्ञानदर्शनचारित्रवीर्याऽऽत्मभेदादष्टधा, तत्रोपयोगाऽऽत्मना चाहमिहेत्यधिकारः, शेषास्तु तद्दर्शनयोपयुज्यन्त इति उपन्यस्ताः। तथा-अस्ति च ममाऽऽत्मा, योऽमुष्या दिशोऽनुदिशश्च सकाशादनुसञ्चरति गतिप्रायोग्यकर्मोपादानादनु पश्चात् सञ्चरत्यनुसञ्चरति, पाठान्तरं वा-(अणुसंसरइ त्ति) दिशोऽनुदिशं गमनं तदादिगागमनं वा स्मरतीत्यर्थः। साम्प्रतं सूत्रावयवेन पूर्वसूत्रोक्तमेवार्थमुपसंहरति-सर्वस्या दिशः सर्वस्याश्चानुदिशो य आगतोऽनुसञ्चरति, अनुसंस्मरतीति वा सः, अहमित्यात्मोल्लेखः, अहंप्रत्ययग्राह्यत्वादात्मनः, अनेन पूर्वाऽऽद्याः प्रज्ञापकदिशः सर्वा गृहीताः, भावदिशश्चेति। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। आ० चू०। स्था०। (अहं कस्या दिश आगत इति विचारः 'आया' शब्दे द्वितीयभागे १०७ पृष्ठे निदर्शितः)

प्राच्यामुदीच्यां प्रव्राजनाऽऽदि प्रवर्तते-

दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पइ निग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पव्वावित्तए पाईणं चेव, उदीणं चेव। एवं मुंडावित्तए १ सिक्खावित्तए २ उवट्ठावित्तए ३ संभुंजित्तए ४ संवसित्तए ५ सज्झायं उद्दिसित्तए ६ सज्झायं समुद्दिसित्तए ७ सज्झायमणुजाणित्तए ८ आलोइत्तए ९ पडिक्कमित्तए १० निंदित्तए ११ गरहित्तए १२ विउट्टि-

त्तए १३ विसोहित्तए १४ अकरणयाए १५ अब्भुट्ठित्तए अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जित्तए १६ ।

द्वे दिशौ काष्ठे अभिगृह्याऽङ्गीकृत्य, तदभिमुखीभूयेत्यर्थः । कल्प्यते युज्यते, निर्गता ग्रन्थाद्धनाऽऽदेरिति निर्ग्रन्थाः साधवः, तेषां निर्ग्रन्थ्यः साध्व्यः, तासां प्रव्राजयितुं रजोहरणाऽऽदिदानेन प्राचीनां प्राचीं, पूर्वामित्यर्थः । उदीचीनामुदीचीमुत्तरामित्यर्थः । उक्तं च-"पुव्वामुहो उ उत्तर-मुहो व देज्जाऽहवा पडिच्छेज्जा । जाए जिणादओ वा, हवेज्ज जिणचेइयाइं वा ॥१॥" इति । (एवमिति) यथा प्रव्राजनसूत्रं दिग्द्वयाभिलापेन अधीतम, एवं मुण्डनाऽऽदिसूत्राण्यपि षोडशाऽध्येतव्यानीति । तत्र मुण्डयितुं शिरोलुञ्चनेन १, शिक्षयितुं ग्रहणशिक्षापेक्षया सूत्रार्थौ ग्राहयितुमासेवनाशिक्षापेक्षया तु प्रत्युपेक्षणाऽऽदि शिक्षयितुमिति २, उपस्थापयितुं महाव्रतेषु व्यवस्थापयितुम् ३, संभोजयितुं भोजनमण्डल्यां निवेशयितुम् ४, संवासयितुं संस्तारकमण्डल्यां निवेशयितुम् ५, सुष्ठु आ मर्यादयाऽधीयत इति स्वाध्यायोऽङ्गाऽऽदिस्तमुपदेष्टुं योगविधिक्रमेण सम्यग्योगेनाधीष्वेदमित्येवमुपदेष्टुमिति ६, समुद्देष्टुं योगसमाचार्यैव स्थिरपरिचितं कुर्विदमिति वक्तुमिति ७, अनुज्ञातुं तथैव सम्यगेतद्धारयाऽन्येषां च प्रवेदयेत्येवमभिधातुमिति ८, आलोचयितुं गुरवेऽपराधान् निवेदयितुमिति ९, प्रतिक्रमितुं प्रतिक्रमणं कर्तुमिति १०, निन्दितुमतिचारान् स्वसमक्षं जुगुप्सितुम् ११ । आह च-" सचरित्तपच्छयावो ।" निन्दति गर्हितुं गुरुसमक्षं तानेव जुगुप्सितुम । आह च-" अचरित्तपच्छयावो ।" निन्दति गर्हितुं गुरुसमक्षं तानेव जुगुप्सितुम् १२ । आह च-" गरहा वि तहा जातीयमेव, नवरं परप्पयासणय त्ति ।" (विउट्टित्तए त्ति) व्यतिवर्तयितुं विच्छोटयितुं विकुट्टयितुं वा, अतिचारानुबन्धि विच्छेदयितुमित्यर्थः १३, विशोधयितुमतिचारपङ्कापेक्षयाऽऽत्मानं विमलीकर्तुमिति १४, अकरणतया पुनर्न करिष्यामीत्येवमभ्युत्थातुमभ्युपगन्तुमिति १५, यथार्हमतिचाराऽऽद्यपेक्षया यथोचितं पापच्छेदकत्वात्, प्रायश्चित्तविशोधकत्वाद्वा प्रायश्चित्तम । उक्तं च-" पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं तु भण्णए तेण । पाएण वा वि चित्तं, विसोहए तेण पच्छित्तं ॥१॥" इति । तपःकर्म निर्विकृतिकाऽऽदिकं प्रतिपत्तुमभ्युपगन्तुमिति १६ ।

सप्तदशं सूत्रं साक्षादेवाऽऽह-

दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पइ णिग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसियाणं भत्तपाणपडियाइक्खियाणं पाओवगयाणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए । तं जहा-पाईणं चेव, उदीणं चेव।

पश्चिमैवामङ्गलपरिहारार्थमपश्चिमा, सा चासौ मरणमेव योऽन्तस्तत्र भवा मारणान्तिकी, सा चासौ संलिख्यतेऽनया शरीरकषायाऽऽदीति संलेखना तपोविशेषः, सा चेति अपश्चिममारणान्तिकसंलेखना, तस्याः (झूसण त्ति) जोषणा सेवा, तया लक्षणधर्मेणेत्यर्थः । (झूसियाणं ति) सेवितानां,तद्युक्तानामित्यर्थः । तया वा झूषितानां क्षपितानां, क्षपितदेहानामित्यर्थः, तथा भक्तपाने प्रत्याख्याते यैस्ते तथा, तेषां,पादपवदुपगतानामचेष्टतया स्थितानामनशनविशेषं प्रतिपन्नानामित्यर्थः, कालं मरणकालमनवकाङ्क्षतां तत्रानुत्सुकानां विहर्तुं स्थातुमिति ॥ १७ ॥ स्था० २ ठा० १ उ० । नि० चू० ।

तिसृभिर्दिग्भिर्गत्यादि प्रवर्तते-

तओ दिसाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-उड्ढा, अहो, तिरिया । (स्था०) एवं आगई वक्कंती आहारे वुड्ढी णिवुड्ढी गइपरियाए समुग्घाए कालसंजोगे दंसणाभिगमे णाणाभिगमे जीवाभिगमे । तिहिं ठाणेहिं जीवाणं अजीवाभिगमे पण्णत्ते । तं जहा-उड्ढाए, अहोए, तिरियाए । एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं । एवं मणुस्साण वि ।

दिक्निरूपणपूर्वकं तासु गत्यादि निरूपयन् "तओ दिसाओ" इत्यादि सूत्राणि चतुर्दशानि, सुगमानि च, नवरं दिश्यते व्यपदिश्यते पूर्वाऽऽदितया वस्त्वनयेति दिक्,सा च नामाऽऽदिभेदेन सप्तधा । आह च निर्युक्तिकृत्-"नामं ठवणा दविए,खेत्तदिसा तावखेत्त पण्णवए । सत्तमिया भावदिसा, सा होइऽट्ठारसविहा उ ॥४०॥"(आचा०नि०)तत्र द्रव्यस्य पुद्गलस्कन्धाऽऽदेर्दिग् द्रव्यदिक् १, क्षेत्रस्याऽऽकाशस्य दिक् क्षेत्रदिक् । सा चैवम्-"अट्ठपएसो रुयगो, तिरियं लोगस्स मज्झयारम्मि । एस पभवो दिसाणं, एसेव भवे अणुदिसाणं ॥४२॥"(आचा०नि०) तत्र पूर्वाऽऽद्या महादिशश्चतस्रोऽपि द्विप्रदेशाऽऽदिकाऽऽद्युत्तरा अनुदिशास्तु एकप्रदेशा अनुत्तरा ऊर्ध्वाधोदिशौ तु चतुराऽऽदि अनुत्तरे । यतोऽवाचि-

" दुपएसाऽऽदि दुरुत्तर, एगपएसा अणुत्तरा चेव ।
चउरो चउरो य दिसा, चउराइ अणुत्तरा दोन्नि ॥ ४४ ॥
सगडुद्धिसंठियाओ, महादिसाओ हवंति चत्तारि ।
मुत्तावली य चउरो, दो चेव य होंति रुयगनिभा ॥ ४६ ॥ "

नामानि चासाम्-" इंदऽग्गेयी जम्मा, य नेरई वारुणी य वायव्वा । सोमा ईसाणा वि य, विमला य तमा य बोधव्वा ॥४३॥ " तापः सविता,तदुपलक्षिता क्षेत्रदिक् तापक्षेत्रदिक्,सा चाऽनियता । यत उक्तम्-"जेसिं जत्तो सूरो,उदेइ तेसिं तई हवइ पुव्वा । तावक्खेत्तदिसाओ,पयाहिणं सेसयाओ सा ॥४७॥" इति । (आचा०नि०)तथा प्रज्ञापकस्याऽऽचार्यादेर्दिक् प्रज्ञापकदिक् । सा चैवम-" पण्णवओ जो अभिमुहो,सा पुव्वा सेसिया पयाहिणओ । तस्सेवऽणुगंतव्वा,अग्गेयाइ दिसा नियमा ॥५१॥"

भावदिक् चाष्टादशविधा-

" पुढवि-जल-जलण-वाया, मूला खंधग्गपोरबीया य ।
बि ति चउ पंचिंदिय-तिरि-य-नारगा देवसंघाया ॥१॥
संमुच्छिम-कम्माक-म्मभूमगनरा तहंऽतरद्दीवा ।
भावदिसा दिस्सइ जं, संसारी निययमेयाहिं ॥२॥ " इति ।

इह च क्षेत्रतापप्रज्ञापकदिग्भिरेवाधिकारः,तत्र च तिर्यग्ग्रहणेन पूर्वाऽऽद्याश्चतस्र एव दिशो गृह्यन्ते, विदिक्षु जीवानामनुश्रेणिगामितया वक्ष्यमाणगत्याऽऽगत्युत्क्रान्तीनामयुज्यमानत्वात्, शेषपदेषु च विदिशामविवक्षितत्वात् । यतोऽत्रैव वक्ष्यति-"तिहिं दिसाहिं जीवाणं गई पवत्तइ ।" इत्यादि । तथा ग्रन्थान्तरेऽप्याहारमाश्रित्योक्तम्-" निव्वाघाएणं नियमा छद्दिसिं ति ।" तत्र " तिहिं दिसाहिं ति " सप्तमी तृतीया पञ्चमी वा यथायोगं व्याख्येयेति, गतिः प्रज्ञापकस्थानापेक्षया मृत्वाऽन्यत्र गमनमेवमिति पूर्वोक्ताभिलापसूत्रार्थः । आगतिः प्रज्ञापकप्रत्यासन्नस्थाने आगमनमिति, व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिः, आहारः प्रतीतः, वृद्धिः शरीरस्य वर्द्धनं, हानिः शरीरस्यैव हानिः, गतिपर्यायश्चलनं जीवत एव, समुद्घातो वेदनाऽऽ-

दिलक्षणः,कालसंयोगो वर्तनाऽऽदिकालक्षणानुभूतिर्मरणयोगो वा, दर्शनेनावध्यादिना प्रत्यक्षप्रमाणभूतेनाभिगमो बोधो दर्शनाभिगमः,एवं ज्ञानाभिगमः जीवानां ज्ञयानामवध्यादिनैवाभिगमो जीवाभिगम इति। " तिहिं दिसाहिं जीवाणं अजीवाभिगमे पन्नत्ते। तं जहा-उड्ढा,अहो,तिरिया।"एवं सर्वत्राभिलापनीयमिति दर्शनार्थं परिपूर्णान्त्यसूत्राभिधानमिति। एतान्यजीवाभिगमान्तानि सामान्यजीवसूत्राणि। चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायां तु नारकाऽऽदिपदेषु दिक्त्रये गत्यादीनां त्रयोदशानामपि पदानां सामस्त्येनासम्भवात्,पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु मनुष्येषु च तत्संभवात् । तन्निर्देशमाह-(एवमित्यादि) यथा सामान्यसूत्रेषु गत्यादीनि त्रयोदशपदानि दिक्त्रयेऽभिहितान्येवं पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्येषु इति भावः। एवं चैतानि षड्विंशतिसूत्राणि भवन्तीति। अथैषां नारकाऽऽदिषु कथमसम्भव इति?,उच्यते-नारकाऽऽदीनां द्वाविंशतेर्जीवविशेषाणां नारकदेवेषूत्पादाभावादूर्ध्वाधोदिशोर्विवक्षया गत्यागत्योरभावः,तथा दर्शनज्ञानजीवाजीवाभिगमा गुणप्रत्यया अवध्यादिप्रत्यक्षरूपा दिक्त्रये न सन्त्येव। भवप्रत्ययावधिपक्षे तु नारकज्योतिष्कास्तिर्यगवधयो भवनपतिव्यन्तरा ऊर्ध्वावधयो वैमानिका अधोऽवधय एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां त्ववधिर्नास्त्येवेति। स्था० ३ ठा० २ उ०।

षड्भिर्दिग्भिश्च गत्यागती प्रवर्त्तेते--

छहिं दिसाहिं जीवाणं गई पवत्तइ। तं जहा-पाईणाए० जाव अहाए, एवमागई वक्कंती आहारे वुड्ढी निवुड्ढी विगुव्वणा गइपरियाए समुग्घाए कालसंजोगे दंसणाभिगमे जीवाऽभिगमे अजीवाभिगमे, एवं पंचेंदियतिरिक्खजोणियाण वि, मणुस्साण वि ॥

षड्भिर्दिग्भिर्जीवानां गतिरुत्पत्तिस्थाने गमनं प्रवर्त्तते। अनुश्रेणिगमनादेषामित्येवमेतानि चतुर्दश सूत्राणि नेयानि। नवरं गतिरागतिश्च। प्रज्ञापकस्थानापेक्षिण्यौ प्रसिद्धे एव, व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिस्थानप्राप्तस्योत्पादः, सोऽपि अनुगतौ षट्स्वेव दिक्षु, तथा आहारः प्रतीतः, सोऽपि षट्स्वेव दिक्षु,एतद्व्यवस्थितप्रदेशावगाढपुद्गलानामेव जीवेन स्पर्शनात्, स्पृष्टानामेवाऽऽहरणादित्येवं षड्दिक्कता यथासंभवं वृद्ध्यादिष्वप्यूह्येति। तथा वृद्धिः शरीरस्य, निर्वृद्धिर्हानिस्तस्यैव, विकुर्वणा वैक्रियकरणं, गतिपर्यायो गमनमात्रं न परलोकगमनरूपः, तस्य गत्यागतिग्रहणेन गृहीतत्वादिति। समुद्घातो वेदनाऽऽदिकः सप्तविधः,कालसंयोगः समयक्षेत्रमध्ये आदित्याऽऽदिप्रकाशसंबन्धलक्षणः,दर्शनं सामान्यग्राही बोधः, तच्चेह गुणप्रत्ययावध्यादिप्रत्यक्षरूपं, तेनाभिगमो वस्तुनः परिच्छेदस्तत्प्राप्तिर्वा दर्शनाभिगमः। एवं ज्ञानाभिगमोऽपि, जीवाभिगमः सत्त्वाऽभिगमो, गुणप्रत्ययावध्यादिप्रत्यक्षतः। अजीवाभिगमः पुद्गलास्तिकायाऽऽद्यभिगमः, सोऽपि तथैवेति। एवमिति,तथा-"छहिं दिसाहिं जीवाणं गई पवत्तइ" इत्यादिसूत्राण्युक्तानि। एवं चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायाम्--"पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं छहिं दिसाहिं गई।" इत्यादीन्यपि वाच्यानि। तथा मनुष्यसूत्राण्यपि, शेषेषु नारकाऽऽदिपदेषु षट्सु दिक्षु गत्यादीनां सामस्त्येनासम्भवः तथाहि-नारकाऽऽदीनां द्वाविंशतेर्जीवविशेषाणां नारकदेवेषूत्पादाभावादूर्ध्वाधोदिशोर्विवक्षया गत्यागत्योरभावः, तथा दर्शनज्ञानजीवाऽजीवाभिगमा गुणप्रत्ययावधिलक्षणप्रत्यक्षसन्तानरूपा न सन्त्येव, तेषां भवप्रत्ययावधिपक्षे तु नारकज्योतिष्कास्तिर्यगवधयो, भवनपतिव्यन्तरा ऊर्ध्वावधयो, वैमानिकास्त्वधोऽवधयः, शेषा निरवधय एवेति भावना। विवक्षाप्रधानानि च प्रायोऽन्यत्राऽपि सूत्राणीति। स्था० ६ ठा०।

रायगिहे० जाव एवं वयासी-किमियं भंते! पाईणे त्ति पवुच्चइ?। गोयमा! जीवा चेव, अजीवा चेव। किमियं भंते! पडीणे त्ति पवुच्चइ?। गोयमा! एवं चेव। एवं च दाहिणा, एवं च उदीणा, एवं उड्ढा, एवं अहा वि। कइ णं भंते! दिसाओ पण्णत्ताओ?। गोयमा! दस दिसाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-पुरच्छिमा, पुरच्छिमदाहिणा, दाहिणा, दाहिणपच्चच्छिमा, पच्चच्छिमा, पच्चच्छिमुत्तरा, उत्तरा, उत्तरपुरच्छिमा, उड्ढा, अहो ॥

(किमियं भंते! पाईण त्ति पवुच्चइ त्ति) किमेतद्वस्तु यत्प्रागेव प्राचीनं दिग्विवक्षायां प्राचीना प्राची पूर्वेति प्रोच्यते?, उत्तरं तु जीवाश्चैवाऽजीवाश्चैव जीवाजीवरूपा प्राची, तत्र जीवा एकेन्द्रियाऽऽदयोऽजीवास्तु धर्मास्तिकायाऽऽदिदेशाऽऽदयः इदमुक्तं भवति-प्राच्यां दिशि जीवा अजीवाश्च सन्तीति।

एयासि णं भंते! दसण्हं दिसाणं कइ नामधेज्जा पण्णत्ता?। गोयमा! दस नामधेज्जा पण्णत्ता। तं जहा-" इंदा अग्गेयी य जमा, य नेरई वारुणी य वायव्वा। सोमा ईसाणीया, विमला य तमा य बोधव्वा ॥ १ ॥"

(इंदेत्यादि) इन्द्रो देवता यस्याः सैन्द्री,अग्निर्देवता यस्याः सा आग्नेयी, एवं यमो देवता याम्या, निर्ऋतिर्देवता नैर्ऋती, वरुणो देवता वारुणी, वायुर्देवता वायव्या,सोमो देवता सौम्या, ईशानदेवता ऐशानी, विमलतया विमला, तमा रात्रिस्तदाकारत्वात्तमाऽन्धकारेत्यर्थः, अत्र ऐन्द्री पूर्वा, शेषाः क्रमेण, विमला तूर्ध्वं, तमा पुनरधोदिगिति, इह च दिशः शकटोर्द्धसंस्थिताः, विदिशस्तु मुक्तावल्याकाराः, ऊर्ध्वाधोदिशौ च रुचकाकारे। आह च-" सगडुद्धिसंठियाओ, महादिसाओ हवंति चत्तारि। मुत्तावली य चउरो, दो चेव य होंति रुयगनिभा।।"(४६) इति (आचा०)

इंदा णं भंते! दिसा किं जीवा जीवदेसा जीवपएसा; अजीवा, अजीवदेसा, अजीवपएसा?। गोयमा! जीवा वि, तं चेव० जाव अजीवपएसा वि। जे जीवा ते णियमं एगिंदिया बेइंदिया० जाव पंचिंदिया अणिंदिया; जे जीवदेसा ते णियमं एगिंदियदेसा० जाव अणिंदियदेसा, जे जीवपएसा ते णियमं एगिंदियपएसा० जाव अणिंदियपएसा। जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-रूवी अजीवा, अरूवी अजीवा य। जे रूवी अजीवा ते चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा-खंधा, खंधदेसा, खंधपएसा, परमाणुपोग्गला।

(जीवा इत्यादि) ऐन्द्री दिग् जीवाः, तस्यां जीवानामस्तित्वात्। एवं जीवदेशाः,जीवप्रदेशाश्चेति। तथा अजीवानां पुद्गलाऽऽदीनामस्तित्वादजीवाः, धर्मास्तिकायाऽऽदिदेशानां पुनर-

स्तित्वादजीवदेशाः, एवमजीवप्रदेशा अपीति । तत्र ये जीवास्ते एकेन्द्रियाऽऽद्याऽनिन्द्रियाश्च केवलिनो, ये तु जीवदेशास्ते एकेन्द्रियाऽऽदीनाम् ६, एवं जीवप्रदेशा अपि ।

जे अरूवी अजीवा ते सत्तविहा पम्मत्ता । तं जहा–नो धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पएसा; नो अधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पएसा; नो आगासत्थिकाए, आगासत्थिकायस्स देसे, आगासत्थिकायस्स पएसा, अद्धासमए ।

(जे अरूवी अजीवा ते सत्तविह त्ति) कथम् ?, (नोधम्मत्थिकाए) अयमर्थः-धर्मास्तिकायः समस्त एवोच्यते, स च प्राची दिग् न भवति, तदेकदेशभूतत्वात्तस्याः, किं तु धर्मास्तिकायस्य देशः, सा तदेकदेशभागरूपेति । तथा तस्यैव प्रदेशाः सा भवति, असंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकत्वात्तस्याः २। एवमधर्मास्तिकायस्य देशः, प्रदेशाश्च २। एवमाकाशास्तिकायस्य देशः, प्रदेशाश्च २। अद्धासमयश्चेति । तदेवं सप्तप्रकारा रूप्यजीवरूपा ऐन्द्री दिगिति ।

अग्गेयी णं भंते ! दिसा किं जीवा, जीवदेसा, जीवप्पएसा पुच्छा ?। गोयमा ! णो जीवा, जीवदेसा वि, जीवप्पएसा वि; अजीवा वि, अजीवदेसा वि, अजीवप्पएसा वि; जे जीवदेसा ते णियमा एगिंदियदेसा ।

"अग्गेयी णं" इत्यादि प्रश्नः, उत्तरं तु जीवा निषेधनीया विदिशामेकप्रादेशिकत्वादेकप्रदेशे च जीवानामवगाहाभावात्, असंख्येयप्रदेशावगाहित्वात् तेषाम्, तत्र "जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसे त्ति ।" एकेन्द्रियाणां सकललोकव्यापकत्वादाग्नेय्यां नियमादेकेन्द्रियदेशाः सन्तीति ।

अहवा एगिंदियदेसा य, बेइंदियस्स देसे १, अहवा एगिंदियदेसा य, बेइंदियस्स देसा २, अहवा एगिंदियदेसा य, बेइंदियाण य देसा ३, अहवा एगिंदियदेसा, तेइंदियस्स देसे, एवं चेव तियभंगो भाणियव्वो । एवं० जाव अणिंदियाणं तियभंगो, जे जीवप्पएसा ते णियमा एगिंदियप्पएसा, अहवा एगिंदियप्पएसा य बेइंदियस्स पएसा, अहवा एगिंदियप्पएसा य बेइंदियाण य पएसा, एवं आदिल्लविरहिओ० जाव अणिंदियाणं । जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–रूवी अजीवा य, अरूवी अजीवा य, जे रूवी अजीवा ते चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा–खंधा, खंधदेसा, खंधप्पएसा, परमाणुपोग्गला । जे अरूवी अजीवा ते सत्तविहा पण्णत्ता । तं जहा–नो धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पएसा, एवं अधम्मत्थिकायस्स वि० जाव आगासत्थिकायस्स पएसा, अद्धासमए विदिसासु नत्थि, जीवा देसे भंगो होइ सव्वत्थ ।

जमा णं भंते ! दिसा किं जीवा ?। जहा इंदा तहेव णिरवसेसं, णेरइया जहा अग्गेयी, वारुणी जहा इंदा, वायव्वा जहा अग्गेयी, सोमा जहा इंदा, ईसाणी जहा अग्गेयी, विमलाए जीवा जहा अग्गेयीए, अजीवा जहा इंदाए, एवं तमा वि, णवरं अरूवी छव्विहा अद्धासमओ न भण्णइ ॥

(अहवेत्यादि) एकेन्द्रियाणां सकललोकव्यापकत्वादेव, द्वीन्द्रियाणां चाल्पत्वेन क्वचिदेकस्याऽपि तस्य संभवादुच्यते-एकेन्द्रियाणां देशाश्च, द्वीन्द्रियस्य च देश इति द्विकयोगे प्रथमः १ । अथवा-एकेन्द्रियपदं तथैव, द्वीन्द्रियपदे त्वेकवचनं, देशपदे पुनर्बहुवचनमिति द्वितीयः, अयं च यदा द्वीन्द्रियो बहुभिर्निजदेशैरेनां स्पृशति तदा स्यादिति । अथवा एकेन्द्रियपदं तथैव, द्वीन्द्रियपदं देशपदं च बहुवचनान्तमिति तृतीयः । स्थापना-एके० देशाः ३, द्वी० १ देशः १ । एके० देशाः ३, द्वी० १ देशः ३ । एके० देशाः ३, द्वी० १ देशाः ३ । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियानिन्द्रियैः सह प्रत्येकं भङ्गत्रयं दृश्यम्-एवं प्रदेशपक्षोऽपि वाच्यो, नवरमिह द्वीन्द्रियाऽऽदिषु प्रदेशपदं बहुवचनान्तमेव, यतो लोकव्यापकावस्थानिन्द्रियवर्जजीवानां यत्रैकः प्रदेशस्तत्रासङ्ख्याता एव भवन्ति, लोकव्यापकावस्थानिन्द्रियस्य पुनर्यद्यप्येकत्र क्षेत्रप्रदेश एक एव प्रदेशस्तथाऽपि तत्प्रदेशपदं बहुवचनमेवाग्नेय्यां तत्प्रदेशानामसङ्ख्यातानामवगाहत्वादतः सर्वेषु द्विकसंयोगेष्वाद्यविरहितं भङ्गकद्वयमेव भवतीत्येतदेवाऽऽह-(आइल्लविरहिओ त्ति) द्विकभङ्ग इति शेषः । (विमलाए जीवा जहा अग्गेयीए त्ति) विमलायामपि जीवानामनवगाहात् (अजीवा जहा इंदाए त्ति) समानवक्तव्यत्वात्, एवं (तमा वि त्ति) विमलावत्तमाऽपि वाच्येत्यर्थः। अथ विमलायामनिन्द्रियसम्भवात्तद्देशाऽऽदयो युक्ताः,तमायां तु तस्यासम्भवात्कथं त इति ?। उच्यते-दण्डाऽऽद्यवस्थं तमाश्रित्य तस्य देशो, देशाः, प्रदेशाश्च विवक्षया तत्रापि युक्ता एवेति । अथ तमायां विशेषमाह-(णवरमित्यादि) (अद्धासमओ न भण्णइ त्ति) समयव्यवहारो हि सञ्चरिष्णुसूर्याऽऽदिप्रकाशकृतः, स च तमायां नास्तीति तत्राद्धासमयो न भण्यत इति । अथ विमलायामपि नास्त्यसाविति, कथं तत्र समयव्यवहारः ?, इत्युच्यते-मन्दरावयवभूतस्फटिककाण्डे सूर्याऽऽदिप्रभासंक्रान्तिद्वारेण तत्र सञ्चरिष्णुसूर्याऽऽदिप्रकाशभावादिति । भ० १० श० १ उ० ।

दिगादिविदिक्प्रवहद्वारे-

इंदा णं भंते ! दिसा किमादिया, किंपवहा, कइपदेसादिया, कइपदेसुत्तरा, कइपदेसिया, किंपज्जवसिया, किंसंठिया पण्णत्ता ?। गोयमा ! इंदा णं दिसा रुयगादिया रुयगप्पवहा दुपदेसिया दुपदेसुत्तरा, लोगं पडुच्च असंखेज्जपएसिया, अलोगं पडुच्च अणंतपएसिया, लोगं पडुच्च सादिया सपज्जवसिया, अलोगं पडुच्च सादिया अपज्जवसिया, लोगं पडुच्च मुरजसंठिया, अलोगं पडुच्च सगडुद्धियसंठिया पण्णत्ता । अग्गेयी णं भंते ! दिसा किमादिया, किंपवहा, कइपएसादिया, कइपएसविच्छिण्णा, कइपएसिया, किंपज्जवसिया, किंसंठिया पण्णत्ता ?। गोयमा ! अग्गेयी णं दिसा रुयगादिया रुयगप्पवहा एगपदेसादिया एगपदेसविच्छिण्णा अणुत्तरा, लोगं पडुच्च असंखेज्जपदेसिया, अलोगं पडुच्च अणंतपदेसिया, लोगं पडुच्च सादिया सपज्जवसिया, अलोगं पडुच्च अपज्जव-

सिया छिन्नमुत्तावलिसंठिता पन्नत्ता । जमा जहा इंदा । णेरई जहा अग्गेयी । एवं जहा इंदा तहा दिसा चत्तारि । जहा अग्गेयी तहा चत्तारि विदिसाओ । विमला णं भंते ! दिसा किमादिया पुच्छा ? । गोयमा ! जहा अग्गेयी, विमला णं दिसा रुयगादिया रुयगप्पवहा चउप्पदेसादिया दुपदेसवित्थिण्णा अणुत्तरा, लोगं पडुच्च सेसं जहा अग्गेयी, णवरं रुयगसंठिया । एवं तमा वि ॥

(किमादिय त्ति) क आदिः प्रथमो यस्याः सा किमादिका, आदिश्च विवक्षया विपर्ययेणाऽपि स्यादित्यत आह-(किंपवह त्ति) प्रवहति प्रवर्त्ततेऽस्मादिति प्रवहः, कः प्रवहो यस्याः सा तथा । (कतिपएसाइय त्ति) कति प्रदेशा आदिर्यस्याः सा कतिप्रदेशाऽऽदिका । (कइपएसुत्तरा त्ति) कति प्रदेशा उत्तरे वृद्धौ यस्याः सा तथा । (लोगं पडुच्च मुरजसंठिय त्ति) लोकान्तस्य परिमण्डलाऽऽकारत्वेन मुरजसंस्थानता दिशः स्यात्ततश्च लोकान्तं प्रतीत्य मुरजसंस्थितेत्युक्तम् । एतस्य च पूर्वाऽऽदिदिशमाश्रित्य चूर्णिकारकृतेयं भावना-" पुव्वुत्तराए पएसहाणी तहा दाहिणपुव्वाए रुयगदेसे मुरयहेट्ठं दिसि अ ते चउप्पएसा दट्ठव्वा, मज्झे य तुंग हवति त्ति । " (अलोगं पडुच्च सगडुद्धिसंठिय त्ति) शकटोद्ध्याकारं कल्पनीयम्, आदौ सङ्कीर्णत्वात्तत उत्तरोत्तरं विस्तीर्णत्वादिति । भ० १३ श० ४ उ० । ध० । स्था० ।

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स बहुमज्झदेसभाए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्लेसु खुड्डगपयरेसु एत्थ णं अट्ठपएसिए रुयगे पन्नत्ते, जओ णं इमाओ दस दिसाओ पवहंति । तं जहा-पुरच्छिमा, पुरच्छिमदाहिणा, दाहिणा, दाहिणपच्चच्छिमा, पच्चच्छिमा, पच्चच्छिमुत्तरा, उत्तरा, उत्तरपुरच्छिमा, उड्ढा, अहो । स्था० १० ठा० ।

तुच्छस्य दरिद्रश्रावकस्य दिगाद्यपेक्षया दिश्यते यया शिष्यः सा दिगाचार्योपाध्याया । पञ्चा० ५ विव० ।

एगपक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पति इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए, जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ।

एकः समानः पक्ष एकपक्षः, सोऽस्यास्तीति एकपाक्षिकः, प्रव्रज्यया श्रुतेन च स्ववर्गस्य, भिक्षोः कल्पते इत्वरां कियत्कालभाविनीम्, इत्वरग्रहणमुपलक्षणम् । यावत्कथिकां च । दिशमाचार्यत्वमुपाध्यायत्वं वा, अनुदिशं वा आचार्योपाध्यायपदाद्वितीयस्थानवर्त्तित्वं, वाशब्दो विकल्पार्थः । उपदेष्टुं वा, तस्य वा स्वयं धारयितुं, यथा वा तस्य गणस्य प्रीतिकं स्यात्, तथा वा दिशमनुदिशं वा उद्दिशेत् । किमुक्तं भवति ?-भिन्नपाक्षिकमप्यपवादपदेन स्वगणप्रीत्याऽऽचार्याऽऽदिपदाध्यारोपितं कुर्यादिति संक्षेपार्थः ।

व्यासार्थं तु भाष्यकृद्विवक्षुः प्रथमतः पूर्वसूत्रेण सह संबन्धमाह-

निक्खित्तम्मि उ लिंगे, मूलं मातिज्जणाएँ एहाणाऽऽदी ।
दिग्णेसु य होइ दिसा, दुविधा वि य एस संबंधो ३१९

यदि लिङ्गं रजोहरणं ' निक्खित्तं ' परित्यक्तं भवति, ततस्तस्मिन्निक्षिप्ते लिङ्गे, यदि वा लिङ्गापरित्यागेऽपि स्नानाऽऽदेः "सादिज्जमाणे " अनुमनने, मूलं नाम प्रायश्चित्तं, दानेन समस्तपर्यायोच्छेदनः प्रदत्तेषु व्रतेषु द्विविधाऽप्याचार्यत्वमुपाध्यायत्वरूपा दिक् दीयते, ततोऽनन्तरसूत्रानन्तरं दिक्सूत्रोपन्यासः, एष पूर्वसूत्रेण सहाऽस्य सूत्रस्य संबन्धः ।

साम्प्रतमेकपाक्षिकत्वं व्याख्यानयति-

दुविहो य एगपक्खी, पव्वज्ज सुए य होइ नायव्वो ।
सुत्तम्मि एगवायण, पव्वज्जाए कुलिव्वाऽऽदी ॥३२०॥

द्विविधो द्विप्रकार एकपाक्षिको भवति ज्ञातव्यः । तद्यथाप्रव्रज्यायां, श्रुते च । तत्र सूत्रे सूत्रविषय एकपाक्षिकवाचन एका समाना परस्परं वाचना येभ्यः स तथा, एकगुरुकुलाधीत इत्यर्थः । प्रव्रज्यया चैकपाक्षिक एककुलवर्त्ती, आदिशब्दादेकगच्छवर्त्तिशिष्यसहाध्यायाऽऽदिपरिग्रहः ।

एतदेव स्पष्टतरमाह-

सकुलिव्व उ पव्वज्जा, पक्खित्तो एगवायणे सुयम्मि ।
अब्भुज्जतपरिकम्मे, मोहे रोगे च इत्तरिओ ॥ ३२१ ॥

प्रव्रज्यापाक्षिको नाम (सकुलिव्व उ त्ति) स्वकुलसंभवी, उपलक्षणमेतत्, तेन स्वगणसंभवी स्वशिष्य इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् । श्रुते श्रुतपाक्षिकः पुनरेकवाचनः । इह सूत्रे इत्वरादिग्रहणाद् यावत्कथिकस्यापि दिक्सूचिता । तामुभयीमपि व्याख्यानयति-(अब्भुज्जय इत्यादि) आचार्योऽभ्युद्यतविहारपरिकर्मकामः, उपलक्षणमेतत्, अभ्युद्यतमरणं वा प्रतिपत्तुमनाः । यावत्कथिकमाचार्यमुपाध्यायं वा स्थापयितुमाह-चिकीर्षुः वा कर्त्तुकाम इत्वरम् । अक्षरयोजना त्वियम्-अभ्युद्यतमरणे वा, यावत्कथिकानाचार्योपाध्यायानिति शेषः । मोहे रोगे चेत्वरः, बहुवचनं द्वित्वेऽपि प्राकृतत्वात्, आचार्यश्च यावत्कथिकाऽऽचार्यस्थापने द्विविधः-सापेक्षो, निरपेक्षश्च ।

तथा चात्र राजदृष्टान्तः, तमेवाऽऽह-

दिट्ठंतो जह राया, सावेक्खो खलु तहेव निरवेक्खो ।
सावेक्खो जुवरायं, ठवेइ इय गच्छुवज्झायं ॥ ३२२ ॥

दृष्टान्तोऽत्र यथा राजा । तथाहि राजा द्विविधः-सापेक्षो, निरपेक्षश्च । तत्र यः सापेक्षः स जीवन्नेव युवराजं स्थापयति, युवराजश्च स स्थापनीयो यस्मिन्ननुरक्ता परिषत् । ततः कालगतेऽपि राज्ञि न वैराज्यमुपजायते, किं तु तदवस्थमेव राज्यमनुवर्तते, यस्तु निरपेक्षः सन् स्थापयति युवराजं, तस्मिंश्चास्थापिते राज्ञि कालगते दायादानां परस्परकलहेन राज्यं विनाशमाविशति । एवमाचार्योऽपि द्विविधः-सापेक्षो, निरपेक्षश्च । तत्र यो गच्छसापेक्षः स जीवन्नेव गणधरं स्थापयति, तस्मिंश्च स्थापिते कालगतेऽप्याचार्ये गच्छो न सीदति । तथा चाऽऽह-इति एवं सापेक्षराज इव युवराजं, सापेक्ष आचार्यो जीवन्नेवेति वाक्यशेषः, गच्छोपाध्यायं गच्छनायकं स्थापयति । पुनर्गच्छनिरपेक्षः सन् आचार्यं जीवन् स्थापयति । तस्मिन् कालगते परस्परकलहभावतो गच्छो विनाशमुपयाति, तस्माद् जीवत्येव गणधरे आचार्य उपाध्यायो वा स्थापयितव्यः ।

साम्प्रत स्थिरत्वं चाऽऽचार्योपाध्यायस्थापनाविषयमाह-

गणहरपाउग्गासति, पमायअट्ठाविते व कालगते ।
थेराण पगासेंतो, जावऽन्नो न ठाविता तत्थ ॥ ३२३ ॥

गणधरस्य गणधरपदस्य प्रायोग्यो गणधरप्रायोग्यस्तस्यासति अभावे । अथवा-प्रमादतोऽस्थापित एवाऽऽचार्ये काल-

माने इत्वर आचार्य उपाध्यायो वा स्थाप्यते, स च यः स्थाप्यते, ते स्थविराणां गच्छमहत्तराणां प्रकाशयन्ति-यावदत्र,मूलाऽऽचार्यपदे यावज्यो न स्थापितो भवति,तावदेष युष्माकमाचार्य उपाध्यायो वा प्रवर्तक इति। इह एकपाक्षिको द्विविध उक्तः-प्रव्रज्यया, श्रुतेन च। अत्र च भङ्गचतुष्टयम्। तद्यथा-प्रव्रज्यया एकपाक्षिकश्रुतेन १, प्रव्रज्यया न श्रुतेन २, न प्रव्रज्यया श्रुतेन ३, न प्रव्रज्यया नापि श्रुतेन ४। एतदपि भङ्गचतुष्टयं कुलाऽऽदिष्वपि योजनीयम्।

तथा चाऽऽह-

पव्वज्जाए कुलस्स य, गणस्स संघस्स चेव पत्तेयं ।
समणं सुएण जंगा, कुज्जा कमसो दिसाबंधे ॥ ३२४ ॥

दिग्बन्धे आचार्यपदे, उपाध्यायपदे वा स्थाप्यमाने इत्यर्थः,प्रव्रज्यया कुलस्य गणस्य सङ्घस्य च प्रत्येकं श्रुतेन सार्द्धं भङ्गचतुष्टयं प्रत्येकं योजयेदिति भावः। तत्र प्रव्रज्यया भङ्गचतुष्टयमुपदर्शितम्। इदानीं कुलस्योपदर्श्यते-कुलेनैकपक्षः श्रुतेन च १। कुलेनैकपाक्षिको न श्रुतेन २। कुलेन नैकपाक्षिकः किं तु श्रुतेन ३। न श्रुतेन नापि कुलेन ४। एवं गणेन सङ्घेन च प्रत्येकं भङ्गचतुष्टयं भावनीयम्। तत्र प्रव्रज्यां कुलं गणं चाऽधिकृत्य यः प्रथमभङ्गवर्ती स इत्वरो, यावत्कथिको वा स्थापनीयः, तदभावे तृतीयभङ्गवर्त्ती यदि पुनर्द्वितीयभङ्गवर्तिनं,चतुर्थभङ्गवर्त्तिनं वा स्थापयति, तदा तस्य स्थापयितुः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुमासाः, न केवलमेतत् प्रायश्चित्तं, किं चाऽऽज्ञादयोऽपि दोषाः।

तथा चाऽऽह-

आणाऽऽइणो य दोसा, विराहणा होइ-एहिँ ठाणेहिं ।
संकिए अजिणवगहणे, तस्स व दीहेण कालेण ॥३२५॥

आज्ञाऽऽदय आज्ञाऽनवस्थाऽऽमिथ्यात्वविराधनारूपाः, चशब्दोऽनुक्तप्रायश्चित्तसमुच्चये। तत्र प्रायश्चित्तं प्रागेवोपदर्शितम्, तथा विराधना गच्छस्य भेदो भवति,आभ्यां वक्ष्यमाणाभ्यां स्थानाभ्याम्,तौ एव दर्शयति, शङ्किते अभिनवग्रहणे च साधूनां यदि ग्लानावस्था स्थापयितुः दीर्घेण कालेन रोगचिकित्सां वा कृत्वा समागतस्य शङ्कते।

एतदेव विभावयिषुः प्रथमत इत्वरस्य, यावत्कथिकस्य च स्थापने विषयमाह-

परिकम्मं कुणमाणे, मरणस्सऽब्भुज्जयस्स ववहारे ।
मोहे रोगतिगिच्छा, ओहावंते वि आयरिए ॥ ३२६ ॥

अभ्युद्यतस्य मरणस्य पादपोपगमनलक्षणस्य परिकर्म द्वादशसांवत्सरिकसंलेखनारूपं कुर्वाणे, यदि वा अभ्युद्यतविहारस्य जिनकल्पाऽऽदिप्रतिपत्तिलक्षणस्य परिकर्म तपोभावनाऽऽदिलक्षणं कुर्वति, यावत्कथिक आचार्यः स्थापनीयः, मोहे मोहचिकित्सायां, रोगचिकित्सायां,यदि वा अवधावत्याचार्ये इत्वर आचार्यः स्थापयितव्यः।

तत्र श्रुतानेकपाक्षिकेत्वराऽऽचार्यस्थापने दोषमाह-

दुविहतिगिच्छं काऊ-ण आगतो संकियम्मि कं पुच्छे ? ।
पुच्छंतु व कं इयरे, गणभेदो पुच्छणाहेउं ॥ ३२७ ॥

श्रुतेनाऽनेकपाक्षिकेत्वराऽऽचार्यस्थापने द्विविधचिकित्सां,मोहचिकित्सां, रोगचिकित्सां चेत्यर्थः। दीर्घकालं कृत्वा समागतः सन् शङ्किते सूत्रे, अर्थे च कं पृच्छेत् ?, नैव कञ्चनेति भावः। स्थापिताऽऽचार्यस्य भिन्नवाचनाकत्वात्,इतरे वा गच्छवासिनि आचार्ये मोहचिकित्सां वा कुर्वन्तः कं पृच्छन्तु, नैव कञ्चन, पूर्वोक्तादेव हेतोः। ततस्ते वाचनाप्रदायकमलभमाना गच्छान्तरमुपसंपद्येरन्, गच्छान्तरोपसंपत्तौ च प्रश्नहेतोर्गणभेदः स्यात्।

संप्रति श्रुतानेकपाक्षिकयावत्कथिकाऽऽचार्यस्थापने दोषमाह-

न तरइ सो संधाउं, अप्पाधारो व पुच्छिउं देइ ।
अन्नत्थ व पुच्छंते, सच्चित्ताऽऽदी उ गेण्हंति ॥ ३२८ ॥

स श्रुतानेकपाक्षिकः स्थापितो यावत्कथिक आचार्यो भिन्नवाचकत्वात् न शक्नोति संधातुं विस्मृतमालापकं दातुम्। अथवा-श्रुतानेकपाक्षिकोऽल्पश्रुतोऽप्युच्यते, ततोऽल्पाधारः, अल्पस्य सूत्रार्थस्य वाऽऽश्रय इति पृष्टः सन्नल्पं पृष्टमालापकं ददाति, अन्यत्र च गणान्तरे गत्वा पृच्छति, ते गच्छान्तरवर्तिन आचार्यास्तेनोत्पादितं सचित्ताऽऽदिकं गृह्णन्ति,अगीतार्थानां न किञ्चिदाभाव्यमिति जिनवचनात्तस्य च तेषां समीपे प्रस्थापना च।

उपसंहारमाह-

सुयतो अणेगपक्खिव, एए दोसा भवे ठवेंतस्स ।
पव्वज्जाऽणेगपक्खिं, ठवयंते इमे भवे दोसा ॥ ३२९ ॥

श्रुतानेकपाक्षिणमित्वरं,यावत्कथिकं वाऽऽचार्यं स्थापयत एते अनन्तरोदिता दोषा भवन्ति,प्रव्रज्याऽनेकपक्षिणं पुनरित्वरं, यावत्कथिकं वा स्थापयत इमे वक्ष्यमाणा भवन्ति दोषाः।

तानेव प्रतिपिपादयिषुराह-

दोण्ह वि बाहिरभावो, सच्चित्ताऽऽदीसु भंडणं नियमा ।
होइ गणस्स उ भेदो,सुचिरेण न एस अम्हं ति ॥३३०॥

प्रव्रज्यानेकपाक्षिक इत्वरयावत्कथिकाऽऽचार्यस्थापने द्वयोरपि, गच्छस्याऽऽचार्यस्य चेत्यर्थः। बहिर्भावो बहिर्भावाध्यवसायो भवति। तथाहि-योऽसौ स्थापयति आचार्यः स गच्छवर्तिनः साधून्समस्तानपि परकीयान्मन्यते, साधवोऽपि गच्छवर्तिनस्तं परमभिमन्यन्ते, एवं परस्परबहिर्भावाध्यवसाये भति स्थापितस्य गच्छवर्तिनां च साधूनामनाभाव्यानि सचित्ताऽऽदीनि गृह्णतां नियमतो भण्डनं कलहो भवति, तथा च सति प्रवचनोड्डाहः प्राक्तने व्यावर्णितः, प्रायश्चित्ताऽऽपत्तिश्च,अन्यच्च गच्छवर्तिनस्ते साधवो मन्यन्ते सुचिरेणापि प्रभूतेनाऽपि कालेन गच्छता-नास्माकमेव, परकीयत्वात्। उपलक्षणमेतत्, सोऽप्यभिमन्यते सुचिरेणाप्येते परकीया इत्येवं परस्परमध्यवसायभावतो गणस्य गच्छस्य भेदो भवति, तस्मादित्वरो, यावत्कथिको वा प्रथमभङ्गवर्ती स्थापयितव्यः।

अत्रैवापवादमाह-

अब्भयरतिगिच्छाए, पढमासति तइयभंगमित्तरियं ।
तइयस्सेव उ असती, बितिओ तस्सासति चउत्थो ३३१ ।

अन्यतरचिकित्सायां-मोहचिकित्सायां,रोगचिकित्सायां वा। आचार्यमित्वरमुपलक्षणमेतत्, अभ्युद्यतमरणप्रतिपत्त्यावभ्युद्यतविहारपरिकर्मप्रतिपत्तौ वा यावत्कथिकमाचार्यमुत्सर्गतः प्रथमभङ्गवर्तिनं स्थापयेत्, प्रथमभङ्गवर्तिनोऽसति अभावे, तृतीयं तृतीयभङ्गवर्तिनमित्वरम्, उपलक्षणमेतद्-यावत्कथिकं वा स्थापयेत्। तत्र सूत्रेऽर्थे च स शीघ्रं निष्पादयितव्यः। तृतीयस्याप्यपि तृतीयभङ्गवर्तिनः, एवकारोऽपिशब्दार्थः, अ-

सत्यभावे पुनर्द्वितीयो द्वितीयभङ्गवर्ती, तस्यासति चतुर्थः। तत्र योऽसौ चतुर्भङ्गवर्ती स्थापयितव्यो भवति स एतादृशगुणः--

पयतीएँ मिउसहावं, पगतीए संमतं वि णियमं वा ।
नाऊण गणस्स गुरुं, ठावेंति अणेगपक्खं पि ॥३३२॥

अनेकपाक्षिणमपि प्रव्रज्यापक्षरहितश्रुतसमानपक्षरहितमपि प्रथमद्वितीयतृतीयभङ्गवर्त्यसंभवे प्रकृत्या, स्वभावेन स्वकपक्षभावतो मृदुस्वभावमरोषणस्वभावं, तथा प्रकृत्या स्वभावेन सम्मतमभिमतं,समस्तस्याऽपि गच्छस्येति गम्यते। स्वजनसंबन्धभावतो वा निजकमात्मीयं ज्ञात्वा गणस्य गुरुः स्थापयितव्यः ।

तस्य चतुर्भङ्गवर्तिनः सचित्ताऽऽदिषु य आभवनव्यवहारस्तमभिधित्सुराह-

साहारणं तु पढमे, बिइए खेत्तम्मि तइएँ सहदुक्खे ।
अणहिज्जंते सीसे, तेसिं एक्कारस विभागा ॥ ३३३ ॥

प्रथमे वर्षे साधारणम्.किमुक्तं भवति?-यावल्लभते तस्य तद्,द्वितीये वर्षे यत्क्षेत्रे तदीये लभ्यते तद्गच्छवर्तिनां साधूनां,शेषं गणधरस्य, तृतीये वर्षे समदुःखोपनता यद् लभन्ते तत्तेषामेव गच्छवर्तिनामाभावयति, शेषं गणधरस्य, चतुर्थाऽऽदिषु वर्षेषु सर्वं गणधरस्य,एष आभवनव्यवहारोऽनधीयाने शिष्ये । किमुक्तं भवति?-ये स्थापिताऽऽचार्यस्य समीपे न पठन्ति तान् प्रति द्रष्टव्यः, ये पुनराचार्यस्य समीपे न पठन्ति तेषामेकादश विभागाः तथा चाऽऽह-शेषेऽध्याने एकादश विभागाः प्रकारा आभवद्व्यवहारस्य ।

तानेव प्रतिपिपादयिषुराह-

पुव्वुद्दिट्ठं तस्सा, पच्छुद्दिट्ठं पवायपंतस्स ।
संवच्छरम्मि पढमे, पडिच्छए जत्थ सचित्तं ॥ ३३४ ॥

प्रतीच्छके गच्छान्तरादध्ययनार्थमधिकृतगच्छोपसंपदं प्रपन्नो यत् आचार्यपदस्थापनातः पूर्वमुद्दिष्टं सचित्तम्, उपलक्षणमेतत्-अचित्तकं, वस्त्रपात्रं प्रथमे वर्षे भवति संपद्यते तत्सर्वं तस्य प्रतीच्छकस्य, एष प्रथमो विकल्पः। यत्पुनराचार्यपदस्थापनातः पश्चादुद्दिष्टं प्रथमे वर्षे संपद्यते सचित्ताऽऽदिकं तत्सर्वं प्रवाचयतोऽधिकृतस्थापनाऽऽचार्यस्याऽध्यापयितुः, एष द्वितीयो विकल्पः ।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, पडिच्छए जं तु होइ सचित्तं ।
संवच्छरम्मि बितिए, तं सव्वं पवायपंतस्स ॥ ३३५ ॥

आचार्यपदस्थापनातः पूर्वं पश्चाद्वा यदुद्दिष्टं सचित्तम्,उपलक्षणमेतदचित्तं वा,द्वितीये संवत्सरे भवति संपद्यते। किमाह--प्रतीच्छके गच्छान्तरादागत्य सूत्रार्थस्य वा प्रतीच्छन प्रतीच्छा, तया चरति प्रतीच्छिकस्तस्मिन्, तत्सर्वं प्रवाचयतोऽध्यापयितुरधिकृतस्थापिताऽऽचार्यस्य बोद्धव्यम् । एष तृतीयोऽपि विकल्पः।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, सीसम्मि उ जं तु होइ सचित्तं।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं गुरुस्स आभवति ॥३३६॥

आचार्यपदस्थापनातः पूर्वं पश्चाद्वा उद्दिष्टं यत् सचित्तम्,उपलक्षणत्वादस्याचित्तं, वस्त्राऽऽदिकं, शिष्ये प्रथमवर्षे भवति संपद्यते तत् सर्वं गुरोर्भवति। एष चतुर्थो विभागः।

पुव्वुद्दिट्ठं तस्सा, पच्छुद्दिट्ठं पवायपंतस्स ।
संवच्छरम्मि बिइए, सीसम्मि उ जं तु सचित्तं ॥३३७॥

यत्सचित्तमचित्तं वाऽऽचार्यपदस्थापनातः पूर्वमुद्दिष्टं सचित्तमचित्तं वा शिष्ये द्वितीये संवत्सरे भवति संपद्यते, तत्सर्वं तस्य शिष्यस्याऽऽभवति। एष पञ्चमो विभागः। यत्पुनराचार्यपदस्थापनातः पश्चादुद्दिष्टं सचित्तमचित्तं वा शिष्ये तृतीये संवत्सरे भवति संपद्यते, तत्सर्वं प्रवाचयतोऽधिकृतगुरोराभवति। एष सप्तमो विभागः।

पुव्वुद्दिट्ठं तस्सा, पच्छुद्दिट्ठं पवायपंतस्स ।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सिस्सिणीए उ सच्चित्तं ॥३३८॥

आचार्यपदस्थापनातः पूर्वमुद्दिष्टं सचित्तमचित्तं वा प्रथमे संवत्सरे शिष्यिकायाः शिष्याया आभवति। एषोऽष्टमो विभागः ८। यत्पुनराचार्यपदस्थापनातः पश्चादुद्दिष्टं सचित्ताऽऽदिकं प्रथमे संवत्सरे शिष्यायाः संपद्यते, तत्सर्वं प्रवाचयतोऽधिकृतस्य गुरोराभाव्यम्। एष नवमो विभागः ९।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, सिस्सीए उ जं तु सचित्तं ।
संवच्छरम्मि बितिए, एतं सव्वं पवायपंतस्स ॥ ३३९ ॥

पूर्वं पश्चादुद्दिष्टं सचित्तमचित्तं वा द्वितीये संवत्सरे शिष्यायाः संपद्यते, तत्सर्वं प्रवाचयतोऽधिकृतस्य गुरोः। एष दशमो विभागः।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, पडिच्छियाए उ जं तु सचित्तं ।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं पवायपंतस्स ॥ ३४० ॥

पूर्वं पश्चाद्वा यदुद्दिष्टं सचित्तमुपलक्षणमेतदचित्तं वा प्रथमे वर्षे प्रातीच्छिकायाः शिष्यायाः संपद्यते,तत्सर्वं प्रवाचयतोऽधिकृतस्य गुरोः। एवं न्यायेन द्वितीयाऽऽदिष्वपि संवत्सरेषूक्तः। एष एकादशोऽपि विभागः।

साम्प्रतमुपसंहारमाह-

जम्हा एते दोसा, दुविहे वि अ पक्खए तु अविए म्मि ।
तम्हा उ ठवेयव्वो, कमेणमेणं तु आयरिओ ॥ ३४१ ॥

द्विविध-अन्यपाक्षिके श्रुतप्रव्रज्यापक्षरहिते इत्यर्थः। स्थापिते चाऽऽचार्ये यस्मादेते अनन्तरोदिता दोषास्तस्मादनेनानन्तरोदितेन " पढमासति तइयभंगं (३३१) " इत्यादिलक्षणेन क्रमेण स्थापयितव्य आचार्य इति ।

अथ प्रथमभङ्गवर्ती केन विधिना स्थापयितव्यः?,उच्यते-

एगस्सेगदुगादी, निप्फण्णा तेसि चेंवइ दिसाओ ।
संपुच्छणओलोयण-दाणे मिलिएण दिट्ठंतो ॥३४२॥

एतस्य प्रथमभङ्गवर्तिनः स्थापिताऽऽचार्यस्य एकद्विकाऽऽदय एकद्वित्रिचतुरादयः शिष्या निष्पन्ना यदि भवन्ति, तत्र केषां, दिश आचार्यत्वमुपाध्यायत्वं चेत्यर्थः। बध्नाति, तथा योऽस्याचार्यैः सन्दिष्टो-यथैष युष्माकं निर्माप्याऽऽचार्यपदे स्थापनीयस्तस्य स्थापितगणधरेणाऽऽचार्यपदे स्थापितस्य शिष्याणां निष्पादनार्थं संप्रश्नम्, तद्गमनमवलोकनं साक्षात्तत्र गत्वा संयमयात्रानिर्वहन् प्रच्छनं दानं वस्त्रपात्राऽऽदेः। एतेषां समाहारो द्वन्द्वः, तस्मिन्नपि कृते विपरिणामाभावे मिलितेन गोपालद्वयमिलनेन दृष्टान्तो वक्तव्यो, द्वयोर्गोपालयोर्मिलितयोः प्रभूतं धनवृद्धिरभूत्, तथा युष्माकमस्माकं च मिलितानां विहरतां भूयात् ज्ञानाऽऽदिलाभो भवतामिति मिलितैर्विहर्तव्यमिति ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीषुरिदमाह-

गीयमगीया बहवो, गीयत्थसलक्खणा उ जे तत्थ ।
तेसिं दिसाउ दाउं, वियरंति सेसे जहरिहं तु ॥३४३॥

गच्छे बहवः साधवो (गीयमगीया इति) गीतार्था अगीतार्थाश्च, तत्र ये गीतार्थास्तत्रापि सलक्षणा आचार्यलक्षणोपेताः, तेषां दिश आचार्यपदानि दत्त्वा शेषान्साधून्यथार्हं यथायोग्यं, तथा केषाञ्चिदनुरत्नाधिकत्वेन केषाञ्चित्सामान्यतः शिष्यत्वेन वितरति प्रयच्छति । एतच्च तदा द्रष्टव्यं यदा प्रत्येकं बहवः शिष्याः प्राप्यन्ते, अन्यथा त्वेक एवाऽऽचार्यः स्थापनीयः, शेषाः समस्ता अपि शिष्यत्वेन संबध्यन्ते, तत्रापि सलक्षणानां देशो ज्ञायते ।

एतदेव सुव्यक्तमभिव्यक्तुराह-

मूलायरि रायणिओ, अणुमरिसो तस्स होउवज्झाओ ।
गीयमगीया सेसा, माज्झिल्लगा होंति सीसा ह ॥३४४॥

मूलाऽऽचार्यो नाम रात्निको रत्नाधिकः, तस्य मूलाऽऽचार्यस्यानुसदृशोऽनुरूप उपाध्यायः, शेषास्तु ये गीतागीतार्थास्ते तस्य 'मज्झिल्लगा' अनुरत्नाधिकाः, हकारोऽत्राक्षणिकः, शिष्या भवन्ति ।

रायणिया गीयत्था, अलाद्धिया धारयंति पुव्वदिसं ।
अपहुव्वंतॅ सलक्खणें, केवलमेगे दिसाबंधो ॥३४५॥

ये पुना रात्निका अनपर्यायेणाधिकाः, गीतार्थाः श्रुतसंपदुपेता अनभ्युनिष्पन्नाश्च केवलं समहे उपग्रहे चाऽलब्धिकाः, ते पूर्वदिशं पूर्वाऽऽचार्यप्रदत्तं दिशमनुरत्नाधिकत्वलक्षणं धारयन्ति, न त्वाचार्यपदमुपाध्यायत्वं वा तेषामारोप्यते, तल्लब्धिहीनत्वात् । एष विधिः-यावन्तः स्थापिता आचार्यास्तेषां प्रत्येकमनुगन्तव्यम्, एतच्च तदा क्रियते यदा भूयांसः साधवः स्थाप्यन्ते । (अपहुव्वंते इत्यादि) अप्रभवति प्रत्येकमाचार्याणां साधुपरिवारे भूयस्यप्राप्यमाणे केवलमेकस्मिन् सलक्षणे विशिष्टाऽऽचार्यलक्षणोपेते दिग्बन्ध आचार्यपदाध्यारोपः क्रियते ।

एतदेवाऽऽह-

सीसे य पहुव्वंते, सव्वेसिं तेसि होति दायव्वो ।
अपहुव्वंतेसुं पुण, केवलमेगे दिसाबंधो ॥ ३४६ ॥

शिष्ये शिष्यवर्गे प्रत्येकं प्रभवति तेषामाचार्यलक्षणोपेतानां सर्वेषामपि देशो दातव्यः । अप्रभवत्सु प्रत्येकं पूर्णतया साधुष्वप्राप्यमाणेषु केवलमेकस्मिन् सलक्षणतरे दिग्बन्धः कर्त्तव्यः, शेषाणां तु सलक्षणानां दिशोऽनुज्ञाप्याः ।

साम्प्रतं तेष्वाचार्यपदस्थापितेषूपकरणदानविधिमाह-

अचित्तं व जहरिहं, दिज्जइ तेसुं व बहुसु गीएसु ।
एस विही अक्खाओ, अगीएसुं इमो उ विही ॥३४७॥

तेषु वाऽऽचार्यपदस्थापितेषु बहुषु गीतार्थेषु अचित्तं वस्तु पात्राऽऽदि उपकरणं यथाऽर्हं यो यावन्मात्रार्हस्तस्य तावन्मात्रं दीयते, एष विधिराख्यातो गीतार्थेषु सूत्रार्थनिष्पन्नेष्वाचार्यलक्षणोपेतेषु, अगीतेष्वनधिगतसूत्रार्थेष्वाचार्यलक्षणोपेतेष्वयं वक्ष्यमाणो विधिर्द्रष्टव्यः ।

तमेवाऽऽह-

अरिहं व अनिम्मायं, नाउं थेरा भणंति जो ठविओ ।

एयं गीयं काउं, दिज्जाहि दिसं अणुदिसं वा ॥३४८॥

अर्हो नाम लक्षणोपेततयाऽऽचार्यपदयोग्यः, परमद्यापि सूत्रेऽर्थे च न निर्मातस्तमर्हमनिर्मातं ज्ञात्वा यो गणधरस्तत्काले स्थापितस्तं स्थविरा वृद्धा आचार्या भणन्ति-यथा एतं साधुं गीतं गीतार्थं कृत्वा दद्यात् भवान् दिशमनुदिशं वा ।

सो निम्माविय ठविओ, अत्थति जइ तेण सह ठिओ लट्ठं ।
अह न वि चिट्ठइ तहियं, संघाडो ता से दायव्वो ॥३४९॥

योऽसावाचार्येण संदिष्टो-यथैनं साधुं निर्माप्य एतस्मै दिशमनुदिशं वा दद्यात् स निर्मापितो निर्माप्याऽऽचार्यपदे स्थापितः, ततः स यदि निर्मापितः स्थापितस्तेन सह तिष्ठति विहरति ततो लष्टं समीचीनम् । अथ नैव, अपिशब्द एवकारार्थो, न तिष्ठति तत्र तस्य समीपे तर्हि (से) तस्य सङ्घाटो दातव्यः, एकः पूर्वाऽऽचार्येण वैयावृत्यकरो दत्तः, सोऽपि तेन सार्द्धं विहरति ।

तत्र ये स्थापितगणधरेणैको द्वौ त्रयो वा सहाया दत्ताश्च पूर्वाऽऽचार्यप्रदत्ता वैयावृत्यकरस्तान् पाठयति, ये चाभिनवशैक्षका उपस्थापिताः प्रव्राजिताः, तेऽप्यात्मनः शिष्यत्वेन सबन्धनीयाः, एवं संजातपृष्ठविहारः सन् अन्यत्र विहारेण गतः, तस्य तत्र विहरतः शिष्यान् संस्थापितगणधरो विपरिणमयितुकामो यत् समाचरति तदुपदर्शयति-

पेसेइ गंतुं व सयं व पुच्छे,
संबंधमाणो उवहिं व देती ।
सज्झंतिया मे व समाहिया वि,
सचित्तमेवं न लभे करेंतो ॥ ३५० ॥

यत्र स निर्मापितः स्थापितो विहरति तत्रोदन्तवाहकान्साधून् तच्छिष्याणां प्रेषयति । अथवा-स्वयमन्तराऽन्तरा गत्वा तान्पृच्छति । यथा-संस्तरथ यूयं सुखेन, यद् भो भवतां नास्ति तत्कथयत, येनाऽहं ददामीति । तथा तान् शिष्यानात्मनः संबन्धयन् उपधिं चान्तराऽन्तरा ददाति । तथा ये स्वाचार्यानिमित्तं समीपस्थायिनोऽनुरत्नाधिका गीतार्था इत्यर्थः, तान् तेषां निर्माप्यस्थापितानामाचार्याणां मुक्त्वा नात्मनः समालापयति संश्लेषयति, 'साहू' संश्लेषणे इतिवचनात् । एवं तेन गीतार्थाः शिष्याश्च विपरिणम्यमाना निर्मापितस्थापितस्य समीपं मुक्त्वा तं स्थापितगणधरमुपसंपद्यन्ते । स एव सचित्तं साधुवर्गलक्षणमात्मसात् कुर्वन् न लभते, व्यवहारतो न ते तस्याऽऽभवन्तीति भावः ।

अथैवमपि ते विपरिणम्यमाना न विपरिणमन्ति, नाऽपि तस्य समीपमायान्ति, ततोऽनेन दृष्टान्तेन तावत्संबन्धयन्ति, तमेव दृष्टान्तमाह-

गोवालगदिट्ठंतं, करेति जह दोन्नि भाउणो गोवा ।
रक्खंती गोणीओ, पिहप्पिहा असहिया दो वि ॥३५१॥
गलओ एगस्स उ, दिण्णा गोणी उ ताहे अन्नस्स ।
इय नाऊणं ताहे, सहिया जाया दुवे गोवा ॥ ३५२ ॥

" दोन्नि गोवाला सहोयरभाउगा भंडणं करेत्ता पत्तेयं पत्तेयं वेयणयणं गावीओ रक्खंति, अन्नया तेसिं एगो रोगी जातो, ततो तेण जाव न रक्खिया तो गावीओ परिहीणो जातो, अन्नया बितिओ पडिभग्गो, सो वि तहेव परिहीणो । ततो तेहिं एगाग-

यस्स न सोहणमिति चिंतऊण परोप्पर पीती कया, ततो एको पडिलग्गो तस्स विनिओ गावीओ रक्खइ, एव इयरस्स वि, एवं तेसिं दुव्वपरिवुड्डी जाया । एवं अम्हं पि वीसुं वीसुं विहरंताणं परिहाणी भवति, तम्हा मिलिया विहरामो, जेणं विउला णाणादीणं वुड्डी हवइ, जं तुब्भं तं तुब्भं चेव नाहं तं हरामि । एवं सम्मं संयावेत्ता सीसे लब्भंति, एवं विपरिणामेइ, तह वि सो न लहइ । "

संप्रत्यक्षरयोजना । गोपालकदृष्टान्तं करोति-यथा द्वौ गोपौ भ्रातृकौ, तौ द्वावप्यसहितौ पृथक् पृथग् वेतनेन गा रक्षतः, अन्यदा एकस्य ग्लानत्वे गा अन्यस्य गोस्वामिना दत्ताः, स वेतनाद् परिभ्रष्टः एवमितरोऽपि ग्लानत्वे वेतनपरिहाणो जातः, तत इति पृथक् असंहतस्थितस्य महती रूपहानिरिति कृत्वा जातौ द्वावपि सहिताविति ।

उपसंहारमाह-

एवं दोण्णि वि अम्हे, पिहप्पिहा नह विहरिमो समगं ।
वाघाते णऽण्णोण्णे, सीसा ण परं व न भयंति ॥१५३॥

एवं द्वयेऽपि वयं यद्यपि पृथक् पृथक् तिष्ठामः, तथाऽपि समकं संहिततया विहरामो, येन व्याघाते ग्लानत्वाऽऽदिलक्षणे, अन्योऽन्यस्य ज्ञानाऽऽदिहानिर्नोपजायते, शिष्या वा परं न भजन्ते, एवमपि सत्कुर्वाणो न लभते शिष्यम् । व्य० २ उ० ।

दिग्विपरिणामे-

जे भिक्खू दिसं विप्परिणामेइ, विप्परिणामंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ जे भिक्खू दिसं अवहरइ, अवहरंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

दिशेति व्यपदेशः-प्रव्रजनकाले, उपस्थापनाकाले वा य आचार्य उपाध्यायो वा व्यपदिश्यते सा तस्य दिशा इत्यर्थः । तस्यापहारः, तं परित्यज्य अन्यमाचार्यमुपाध्यायं वा प्रतिपद्यते इत्यर्थः । संजतीए पवत्तिणी ।

अवि य-

रागेण व दोसेण व, दिसावहारं करेति जो भिक्खू ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ १२५ ॥

रागेण-किंचि णीयल्लगं पासित्ता रागो जातो, नाहं तं दिसं गेण्हति, पुरिल्लं आयरिओवज्झाए उज्झेति । दोसेण-को वि कम्हि कारणे कलुसद्दो समणो अण्णं आयरियं संदिसति, तस्स चउगुरुं पच्छित्तं, आणादिणो दोसा भवंति ।

अहवा इमो रागेण उद्दिसति-

जातिकुलरूवजासा-धणबलपरिवारजसतवे लाभे ।
सत्तवयबुद्धिधारण, उग्गहसीले समायारी ॥ १२६ ॥

माउपक्खविसुद्धा जाती, पियापक्खविसुद्धं इक्खागुमादियं कुलं, सुविभत्तंगोवंगअहीणपंचेंदियत्तणं रूवं, मियमहुरकडुअजिहाणा भासा, धणिमं पव्वतियस्स वा तत्थ संऽस्थि, उववेयं संसोणिओ बलवं, विरियंतरायखओवसमेण वा बलवं, ससमयपरसमयविसारत्तणेण लोगुत्तरे य जसो, चउत्थादिणा बाहिरब्भंतरेण वा तवेण वा जुत्तो आहारोवकरणलाभसंपण्णो । विहिआवईसु अ अणुस्सुओ अदीणवक्को य सत्तमंतो, दुरज्झवसा-

णो वा ससमत्तो, तीसातिवरिसो तिहत्तो इव वयसं, उप्पाइयादिचउविहबुद्धिसु भेदो बुद्धिसं, बहुं धरेति, बहाविधं धरेइ, आणस्सिय धरेति, असंदिद्धं धरेति, दुद्धरं धरेइ, धुवं धरेइ, एवं उग्गहणे वि खमादी, सीलउववेतो सीलव, चक्कवालसमायारीए जुत्तो कुसलो य ।

एव-

एतेहिं उववेतं, रागेण परं च उद्दिसति कोइ ।
जच्चाइविहूणं वा, उज्झति कोई परिभवेणं ॥१२७॥

एतेहिं उववेयं कोइ रागेणं अण्णं आयरियं उद्दिसति, एतेहिं चेव जच्चादिएहिं विहूणं कोइ परिभवेण परिच्चयति, दोसेणेत्यर्थः ।

गाहा-

अहवण मेत्ती पुव्वं, पुयाओद्धपरिवारतो रागे ।
अहिकरणमसंपाणे, सभावऽणिट्ठं च दोसेणं ॥ १२८ ॥

'अहवण' शब्दो विकल्पप्रदर्शने, मित्रभावो मेत्ती, तत्पूर्वं वा सिमित्त, महाजणपूइयं, तेण वा सो पूइतो अट्ठारादिअड्डसंपण्णे, परिवारसंपण्णं वा, एतेहिं गुणेहिं उववेयं रागेण आयरियं पडिवज्जति, आयरिएण पुण सद्धिं अधिकरणे उप्पण्णे आयरिएण वा असंमाणिओ, सभावेण वा अणिट्ठं आयरियं परिच्चयति एस दोसेण ।

पुरिसंतरियपरिच्चाए अणणमुद्देसेण य इमे दोसा--

आणादिणो य दोसा, विराहणा होति संजमाऽऽताए ।
दुल्लभवोहीयत्तं, वितियपयविराहणा चेव ॥ १२९ ॥

तित्थकराणं आणाभंगो, आदिसद्दाओ अणवत्था--जहा एएण एयमणुच्च तहा अण्णे वि, एवं मिच्छत्तं अगमयंत, वितियपदविराहण संजमविराहणा । अण्णेण भणितो--किमायारयं परिच्चयसि ?, उत्तराउत्तरेण अधिकरणं, एत्थ आयसंजमविराहणा, दुल्लभबोधीयत्तं च णिव्वत्तेति, तम्हा दिसावहारं णो करे ।

वितियपदेण अण्णमायरियं उद्दिसिज्जा--

वितियपए आयरिए, ओसण्णोवाइए य कालगते ।
ओसण्णो छव्विहो खलु, वत्तमवत्तस्स मग्गणया ॥१३०॥

जइ आयरिओ ओसण्णो जातो, ओहाइओ वा, कालगतो वा, एए तिण्णि दारा । एत्थ ओसण्णो छव्विहो-पासत्था, ओसण्णो, कुसीलो, संसत्तो, अहाछंदो, णितिओ य । तम्मि गच्छे आयरिओ जो संकीयएओ वत्तो अवत्तो वा सो वत्तगतो कहं गण धरेति ति चउभंगेण मग्गणा कज्जति । सोलसवरिसाऽऽरेण वयसा अवत्तो, परेण वत्तो, अणधीयणिसीहो अगीयत्थो सुत्तेण अव्वत्तो वा, सुत्तेण गीयत्थो वएण वत्तो, सुत्तेण वि वत्तो वएण वि वत्तो, पढमभंगो । वितियओ सुअवत्तो ण वएण । ततिओ सुएण अवत्तो वएण वत्तो । चउत्थो दोहिं वि अवत्तो ।

वत्ते खलु गाहा--

वत्ते खलु गीयत्थे, अव्वत्ते वएण हवइऽगीयत्थे ।
ओसण्णो छव्विहो खलु, अहवोसाणो य संगमणा १३१

वएण वत्तो गीयत्थो एस पढमभंगो, खलु पादपूरणे, अवत्तो वएण एस वितियभंगो, पढमभंगे हवइ अगीयत्थे एस ततियभंगो, पढमभंगिल्लो उभयवत्तो, तस्स

इच्छा-अण्णमायरियं उद्दिसति वा, ण वा, सो वत्तोवमो ओस-ण्णायरियं सारेति, चोदयतीत्यर्थः । कहं ?, अण्णं गीतं पेसति, अहवा-ओसण्णं सयं गंतुं चोदेति तं, एस च सयं वा गच्छति ।

गाहा-

एगाह पणग पक्खे, चउमासे वरिसें जत्थ वा मिलति ।
चोदेति चोदवेती, अणिच्छें वड्ढावएँ सयं तु ॥ १३२ ॥

एगाहो त्ति ओसण्णे दिणे दिणे गंतुं सारेति, एगाहो वा एगंतरं पंचाहं पंचाहं दिणाण वा सारेति, एवं पक्खे, चाउम्मासे, वरिसंते य, जत्थ वा समोसरणादिसु मिलति, तत्थ वा सारेति, सव्वहा अणिच्छंतं तं सयमेव वड्ढावेति ।

अण्णं च-

आएसं च उद्दिसावे, पव्वयणट्ठा ण संगहट्ठाए ।
जति णाम गारवेण वि, मुएज्ज ऽणिच्छे सयं ठाति ॥ १३३ ॥

सो उभयवत्तो अण्ण वा आयरियं उद्दिसति, स्वाभिकमर्थं ?, पव्वयणट्ठा ण गच्छस्स संगहट्ठा, अप्पणो गहणट्ठा, स्व-यमेव शक्तत्वात्, मम जीवंते चेव अण्णमायरियं उद्दिसंति, जति णाम एरिसेण गारवेण ओसण्णत्तणं मुएज्ज, तहा वि साधू सव्वहा अणिच्छे, सयमेव आयरियपदे ठाति । गतो पढमभंगो ।

इयाणिं बितियभंगो । सुयवत्तो गाहा-

सुयवत्तो वयऽवत्तो, जणति गणं तेऽहं धारिउमसत्तो ।
सारेहि सगणमेयं, अण्णं व वयाम आयरियं ॥ १३४ ॥

जो सुत्तेण वत्तो वएण अव्वत्तो सो तं आयरियं भणति-एयं ते गणं अहं पडुप्पण्णवयसत्तणाओ य धारिउं असत्तो, एहि तुमं एयं सगणं सारेहि, अहवा ण सारेहि तो अम्हे अण्णं आयरियं वयामो इत्यर्थः ।

आयरियगाहा-

आयरिय-मुवज्झायं, पुच्छंते अप्पणो य असमत्थे ।
तिगसंवच्छरमद्धं, कुलगणसंघे दिसाबंधो ॥ १३५ ॥

आयारकुप्पसं वयसत्तणातो गणं वड्ढावेउमसमत्थो अण्णे आयरियउवज्झाए उद्दिसिउमिच्छंतो पुव्वायरियं भणति-अम्हे अण्णस्स आयरियस्स णो उवसंपज्जामो, सो य उवसंपण्णाण अम्हं सच्चित्तादी हरति, तुमं जति सगणं ण सारेति, तो अम्हे णिस्सं चेव आयरियं पडिवज्जामो, कुलिच्च कुलसमवायं काउं कुले ओवठ्ठवेंति,ताहे कुलेण जो दत्तो स तेसिं तिण्णि वरिसाणि सच्चित्तादि णो हरति,एवं गणे संघे य तिण्णि वरिसाणि ।

परतो इमा विधी-

सच्चित्तादि हरंति ण, कुलं पि णेच्छामों जं कुलं तुज्झं ।
वच्चामो अण्णगणं, संघं वा जति तुमं ण ठासि ॥ १३६ ॥

पुव्वायरियस्स अग्गतो भणितं-जं तुह कुलं तं कुलिच्चो, अम्हं तिण्ह वरिसाणं उवरि सच्चित्तादी हरति, जइ तुम्हं अम्हायरिओ ण ठासि तो अम्हे अतो वि परतो गणं संघं वा दूरतरं वयामो ताहे गणायरिओ ण ठासि, तो अम्हे अतो वि परभावेणं संघं वा दूरतरं वयामो, ताहे गणायरियं उद्दिसावेंति, गणसमवाए वा उवट्ठावेंति, सो वि संवच्छरं सच्चित्तादी ण हरति, एवं संघे उवट्ठावेंति, सो वि छम्मासे सच्चित्तादी ण हरति, एवं बितियपदेण दिसावहारं करेंति ।

गाहा-

एवं वि अठायंते, तावेतुं अद्धपंचमे वरिसे ।
सयमेव धरेति गणं, अणुलोमवएण सारेइ ॥ १३७ ॥

एवं अद्धपंचमे वरिसे पुव्वायरियं चोदणाहिं तावेउं अध तावेउं जाहे सो ण ठाइ, ताहे अद्धपंचमेहिं वरिसेहिं वयवत्तीभूतो सयमेव गणं धरेति, जत्थ य पासति तत्थ य पुव्वायरियं अणुलोमेहिं वयणेहिं सारेति, चोदयतीत्यर्थः ।

गाहा-

अहवा जति अत्थि थेरा, सत्ता परिकड्ढिउं ण तं गच्छं ।
पढमभंगसरिसओ, तस्स उ गमओ मुणेयव्वो ॥ १३८ ॥

अथवेति विकल्पवाची, अण्णगण गीयत्थे अण्णे य से थेरा गच्छपरिकड्ढणा अत्थि, तो अण्णं आयरियं ण उद्दिसंति, कम्हा ण उद्दिसंति ?, भण्णति-जतो पढमभंगसरिसो चेव एस गमो भवति । गतो बितियभंगो ।

इदाणिं ततियभंगो । गाहा-

वत्तव्वयो अगीओ, जति थेरा तत्थ केइ गीतत्था ।
तेसंऽतिए पढंतो, चोदंते असति अण्णत्थ ॥ १३९ ॥

जो पुण वयसा पत्तो स वयोवत्तो,अगीयत्थो पुण जइ सगच्छे थेरा, गीयत्थो तो सो तेहिं थेराणं अंतिए समीवे पढंतो गच्छस्स चोदणादि सारणं करेति, ओसण्णायरियं वा चोदेति, तेसिं गीयत्थथेराणं असति गणं घेत्तुं अघेत्तुं वा अण्णायरियसमीवे उवसंपज्जति, सुत्तट्ठाणं अट्ठा । गतो ततियभंगो ।

इदाणिं चउत्थो । गाहा-

जो पुण उभओऽवत्तो, वड्ढावगअसति सो उ उद्दिसति ।
सव्वे वि उद्दिसंता, मोत्तूण इमे तु उद्दिसति ॥ १४० ॥

जो सुत्तेण वएण अवत्तो सो गणवड्ढावगस्स असति अण्णत्थ आयरियं उद्दिसति, उवसंपद्यतेत्यर्थः । एते चउभंगिल्ला सव्वे वि इमे मोत्तुं उद्दिसंति ।

गाहा-

संविग्गमगीयत्थं, असंविग्गं अ गीयत्थं ।
आयरियउवज्झाया, उद्दिसमाणस्स चउगुरुगा ॥ १४१ ॥
सत्तरत्तं तवो होति, तओ छेदो पहावति ।
छेदेण छिन्नपरियाए, तओ मूलं ततो दुगं ॥ १४२ ॥
उद्धाणविरहियं वा, संविग्गं वा वि वयति गीयत्थं ।
चतुरो य अणुग्घाया,तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥ १४३ ॥

संविग्गं अगीयत्थं, असंविग्गं गीयत्थं, एते आयरियउवज्झायत्तेण उद्दिसंतस्स चउगुरुगं भवति ॥ १४१ ॥ अण्णे सत्तदिणे चउगुरु, छेदो, एवं छल्लहु, छग्गुरुगा वि छेदो सत्तदिणे वा, ततो एक्केक्कदिणं मूलं, अणवट्ठा, पारंचिया भवति । अहवा-छग्गुरुगतवो परियट्टणादिओ, छेदो सत्तदिणेसु

णेयो, ततो परं सूत्रं, अगयछपारंचियाए पच्छित्तं वियाणमाणेण संविग्गो गीयत्थो उद्दिसियव्वो ॥१४२॥ छट्ठाणविरहियं सदोसं संविग्गं गीयत्थं सदोसं जति उद्दिसति, तो चउगुरुगा पायच्छित्तं, आणादिया य दोसा भवंति ।

'छट्ठाणविरहिय त्ति' (१४३) अस्य व्याख्या-

छट्ठाण जाणि तेहिं, तव्विरहित काहिया चउरो ।

ते चिय उद्दिसमाणा, छट्ठाणगयाण जे दोसा ॥१४४॥

पासत्थो, ओसन्नो,कुसीलो,संसत्तो अहाछंदो,णितिओ य, एतेहिं छहिं ठाणेहिं विरहितो सदोसो।को भवति ?। भण्णति- काहियादिया चउरो-कोवाए, ममाए, संपसारए, पासणिए । अहवा-काहिए, पासणिए, मामाए, असंपक्किरिए। एते उद्दिसमाणस्स ते चेव दोसा, जे छट्ठाणगते भणिया । ओसण्णे त्ति गयं।

इदाणिं ओहाइयकालगते त्ति दो दारा-

ओहातियकालगते, जाविच्छा ताहे उद्दिसावेति ।

अव्वत्ते तिविहे वी, नियमा पुण संगहट्ठाए ॥ १४५ ॥

तासु वि दीवितकज्जा-सि वज्जिया जाति य तस्स तं णत्थि ।

निक्खिविय वयंति दुवे,भिक्खू किं दाणि णिक्खिवितुं १४६

दोण्हऽट्ठाए दोण्ह वि, णिक्खमणा होति उज्जमंतेसु ।

सीयंतेसु तु सगणो, वच्चति मा ते विणासेज्जा ॥१४७॥

वत्तम्मि जो गमो खलु, गणवच्छे सो गमो उ आयरिए ।

णिक्खमणे तम्मि चत्ता, जमुद्दिसे तम्मि ते पच्छा ॥१४८॥

ओहातियओमण्णे, भणति अणाहा वयं विणा तुज्झं ।

कयमासमसागारिए, दुप्पडिकतरगं जतो तिण्हं ॥ १४९॥

जो जेण जम्मि ठाण-म्मि ठावितो दंसणे व चरणे वा ।

सो तं ततो चुयं त-म्मि चेव काउं भवे णिरिणो ॥१५०॥

जति वि आयरिओ ओहातिओ। ओहावणं च दुविधं-सारूवियत्तणेण, गिहत्थत्तणेण वा । कालगते आयरिए जो पढमिल्लेसु तिसु भंगेसु अवत्ता तिण्णि भणिया, तेसिं जाहे इच्छा आयरियउवज्झाएसु इमो विधी ॥ वत्तम्मिगाहा । इह गणावच्छेतितो उवज्झाओ, जया उवज्झाओ आयरिओ वा अण्णं आयरियं उद्दिसति ताहे जो उभयवत्तम्मि भिक्खुम्मि विधी,स च्चेव गणावच्छेए आयरिए य विधी दट्ठव्वो, णवर गणणिक्खेवं काउं वयति सगणे, जे अण्णे आयरियउवज्झाया संविग्गा गीयत्था ते तेसिं गणणिक्खेवं करेति, असंविग्गा अगीतेसु तेसु जति णिक्खवंति तो तेण णिक्खिप्पमाणा चत्ता भवंति, तम्हा असंविग्गा गीतेसु णिक्खेवे अण्णभवे सगणा चेव वच्चति, जमुद्दिसति आयरिओ (तम्मि त्ति) तस्य ते सव्वे शिष्या भवंति, पडिच्छअणुवसंपन्नकालाओ पच्छा, उवसंपज्जणकालादारभ्येत्यर्थः । ओहाइयगाहा। ओहाइयं ओसण्णं वा आयरियं जत्थ पासति तत्थिमं भणति-तुज्झेहिं विणा अणाहा वयं, वयमित्यात्मनिर्देशे । असागारिए पदेसे तस्स ओमण्णो धावित्ता आयरियस्स कमेसु पदेसु सीसेण णिवडति, भणइ-एहि पमादेण अब्भुट्ठाणगादी करेह, अम्हे भो सुयमायणिभयं पि य इओ तओ डुलुडुलेमो ॥

सीसो पुच्छति-तस्स गिहीभूतस्स अच्चारियत्तणो किं पादेसु णिवडिज्जति ? । आयरिओ भणति-दुप्पडिकतरग जओ तिण्हं-मातु पितु धम्मायरियस्स य, एते परमोवकारिणो, एतेसिं दुक्खेण पच्चुवकारो काउं सक्कति । किं चान्यत्, जो जेण धम्मोवदेसप्पदाणादिणा दंसणे चरणे वा ठावितो, सो तं गुरुं दंसणचरणेहिंतो चुयंते देवदंसणचरणेसु ठावितं णिरिणयरिणो भवति, कृत्युपकारेत्यर्थः ।

भ आयरियउवज्झाया गणपरिवुडा अण्णायरियं उवसंपज्जंति, तदा इमो विधी-

णिक्खिवणे वि य अप्पणो, परे य मंतेसु तस्स ते देंति ।

संघाड देयऽमंतो, सो वि ण वावारेऽणापुच्छा ॥१५१॥

जया तेहिं आयरिओवज्झाएहिं आलोयणप्पदाणेण अप्पा उवणिक्खित्तो भवति, तदा भणंति-इमे य मे साहू,एस परिणिक्खेवो, तेण वि आयरिएण अप्पणो संतेसु साहूसु ण घेत्तव्वा, तस्स चेव ते देंति, अह वत्थव्वायरियस्स असंति साहूणं ता सव्वे घेत्तुं पाडिच्छायरियस्स एगसंघाडगं कप्पगं देंति, सो वि अ पाडिच्छायरिओ वत्थव्वायरियस्स अणापुच्छाए ते सिस्से ण वावारेति एसणाऽऽदिसु ।

सुत्त-

जे भिक्खू दिसं विप्परिणामेइ, दिसं विप्परिणामंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

इमो सुत्तस्स सुत्तेण सह संबंधः । गाहा-

सयमेव य अवहारो, होति दिसाए ण मे गुरू तो मे ।

अह भणिता विप्परिणा-मणा उ अणेगसिमा होंति ।१५२।

सयमिति स्वयम् अनन्तरसूत्रे विप्परिणामणा आत्मगता अभिहिता ।

इमा पुण वक्खमाणसुत्ते अण्णे अण्णस्स दिसाविप्परिणामणं करेति-

रागेण व दोसेण व, विप्परिणामं करेति जो भिक्खू ।

दुविहं तिविह दिसाए, सो पावति आणमादीणि ।१५३।

दिसं विप्परिणामेति रागेण वा दोसेण वा,रागेण-तम्मि सेहे अज्झोववातो गाढं, ताहे तेण रागेण विप्परिणामेउं अप्पणो अंते आकड्ढेति, दोसेण-मा तस्स सीसो भवउ त्ति वि विप्परिणामेति, आयरिओ उवज्झाया दुविहा दिसा साहूण, आयरियउवज्झाए पवत्तणी य तिविहा सजतीण दिसा, एया दिसा विप्परिणामेंतस्स आणादिया दोसा ।

सो पुण इमेहिं विप्परिणामेति । गाहा-

दहरो अकुलीणो त्ति य, दुम्मेहो दमग मंदबुद्धि त्ति ।

अवि य सपल्लाभलद्धी,सीसो परिभवति आयरियं ।१५४।

दहरो एस तव गुरू,तुमं च थेरो न जुज्जते जोगो ।

अविपक्कबुद्धि एसो, वए कज्जा वि जं किं वि ॥१५५॥

कोइ सेहो परिणयवओ तरुणायरियस्स समीवे पव्वइतुकामो अण्णेण भण्णति-दहरो एस तव गुरू, तुमं च परिणयवओ,ण एस आयरियसीससंजोगो जुज्जति । कहं पुत्तणत्तुसममाणस्स सीसो भविस्ससि?,कहं वा विणयं काहिसि?,किं च ते सज्जणादिजणो भणिहि त्ति ? । अहवा भणाति--सो दहरो अविपक्कबुद्धी, अविपक्कबुद्धित्तणेण अकज्जं पि कज्जं वयति, अविपक्कबुद्धित्तणातो किं वि दोसं करेज्जा ।

गाहा-

एमेव सेसएसु वि, तं निद्दंतो मयं परं वाऽवि ।
मेतेण अमंतेण व, पसंसए तं कुलादीहिं ॥१५६॥

सेसा-कुलाऽऽदिया पदा,तेहिं कुलाऽऽदिएहिं पदेहिं तं णिद्देति जस्स सवाढितो, सो पुण सओ परओ वा संतेहिं वा असंतेहिं वा कुलाऽऽदिएहिं जस्स पदुट्ठो मयं परं वा तं णिदति, तस्स सेहस्स अमुद्दिसति तम्मि संतेहि वा सयं परयं वा पसंसति-इमो कुलीणो, सो अकुलीणो, इमो मेहावी, सो दुम्मेहो, इमो ईसरणिकखंतो, सो दमगो । अहवा-इमो वत्थपत्ताइएहिं ईसरो, सो दमगो, इमो सुद्धिसंपण्णो, सो असुद्धिमं । अवि चाऽसौ अलद्धलाभलद्धी, इमो सलद्धिमं । इमेहिं कारणेहिं सिस्सो परो वाए परिजवति आयरियं । अहवा--पसंसने कुलाऽऽदीहिं सेहं-तं कुलमंतो, सो अकुलजो । एव सेसपदेसु वि कारणे विपरिणामणं पि करेज्ज ।

गाहा-

नाऊण य वोच्छेयं, पुव्वगए कालियाणुओगे य ।
सुत्तत्थजाणगस्सा, कप्पति विस्सासणा ताहे ॥ १५७ ॥

पूर्ववत् । नि० चू० १० उ० ।

"उभे मूत्रपुरीषे च, दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।
रात्रौ दक्षिणतश्चैव, तथा चाऽऽयुर्न हीयते ॥ १ ॥"

प्रव० १०६ द्वार ।

दिक्सिद्धि:-दिग्धर्मोपेतं द्रव्यं प्रमाणतः सिद्धम् । तथाहि-मूर्त्तेष्वेव द्रव्येषु मूर्त्तं द्रव्यमवधिं कृत्वैतदस्मात्, अतः पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेणापरेणोत्तरेणोत्तरपूर्वेणाधस्तादुपरिष्टादित्यमी दश प्रत्यया यया भवन्ति सा दिगिति । तथा च सूत्रम्-"अत इदमिति यतस्तद्दिशो लिङ्गमिति ।" एते हि विशेषप्रत्यया नाऽऽकस्मिकाः संभवन्ति । तथा च परस्पराऽऽपेक्षमूर्त्तद्रव्यनिमित्तानामितरेतराऽऽश्रयत्वेऽपि प्राच्यादिभेदेन नानात्वं कार्यविशेषाद् व्यवस्थितम् । प्रयोगश्चात्र-यदेतत् पूर्वापराऽऽदि ज्ञानं तद् मूर्त्तद्रव्यव्यतिरिक्तपदार्थनिबन्धनं, तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात् । सम्म० ३ काण्ड । सूत्र० । "दिसो दिसिं ।" एकस्या दिशोऽन्यां दिशं, पुनस्तस्या अन्यां दिशामित्यर्थः । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । विपा० । भ० । नरकपृथ्वीषु देवलोकेषु वाऽष्टसु दिक्षु, स्तनसु वा दिक्षु पङ्क्तिगतनरकाऽऽवासविमानविचारः प्रवर्तते, तत्र नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-ताप-प्रज्ञापक-भावदिशामावश्यकाऽऽनुकानां सप्तानां मध्ये का दिक् प्रवर्तते,एतासां दिशां मध्यवर्तिनी का च दिक्, तथा का च देवलोकाऽऽदिषु दिक् प्रवर्त्तते, तन्महेतुकं प्रश्न श्चमिति प्रश्ने, उत्तरम्-पङ्क्तिगतनरकाऽऽवासविमानविचाराधिकारे नामाऽऽदीनां सप्तानां दिशां मध्ये क्षेत्रदिग् ज्ञायत इति । १८ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

दिसाकुमार-दिक्कुमार-पुं० । सुवर्णानियुक्तगजरूपचिह्नधरे भवनवासिदेवभेदे, प्रज्ञा० २ पद । स० । ज० । स्था० । औ० । प्रव० । (दिक्कुमारसंख्या 'ठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०४ पृष्ठे द्रष्टव्या)

दिसाकुमारावास-दिक्कुमाराऽऽवास-पुं० । दिक्कुमाराणां भवनाऽऽवासे, "छावत्तरिं दिसाकुमाराणं वाससयसहस्सा पण्णत्ता ।" स० ७५ सम० ।

दिसाकुमारिया-दिक्कुमारिका-स्त्री० । दिक्कुमारभवनपतिदेवविशेषजातीयदेवीषु, आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ०चू० ।

रूपाऽऽद्याश्चतस्रो दिक्कुमारिकाः-

चत्तारि दिसाकुमारीमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-रूवा, रूवंसा, सुरूवा, रूवावई ॥

"चत्तारि दिसा" इत्यादि सुगमं, नवरं दिक्कुमार्यश्च ता महत्तरिकाश्च प्रधानतमाः, एतासां वा महत्तरिका दिक्कुमारीमहत्तरिकाः,एता मध्यरुचकवास्तव्या अर्हतो जातमात्रस्य नालकर्तनाऽऽदि कुर्वन्तीति । स्था० ४ ठा० १ उ० । चित्राऽऽद्याश्चतस्रो दिक्कुमार्यः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ० चू० ।

रूपाऽऽद्याः षट् दिशाकुमारिकाः-

छ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-रूवा, रूवंसा,सुरूवा,रूवावई,रूवकंता,रूवप्पभा । स्था०६ ठा० ।

दिग्धाऽऽदिवक्षस्कारकूटेष्वष्टौ नन्दोत्तराऽऽद्याः दिक्कुमार्यः-

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ महिड्डियाओ० जाव पलिओवमट्ठिइयाओ परिवसंति । तं जहा-" णंदुत्तरा य णंदा य, आणंदा णंदिवद्धणा । विजया वेजयंती य, जयंती अपराजिया ॥ १ ॥ " स्था० ८ ठा० । आ० म० । आ० चू० ।

कनकाऽऽदिकूटेषु समाहाराऽऽद्याष्टौ दिक्कुमार्यः-

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ महिड्डियाओ० जाव पलिओवमट्ठिइयाओ परिवसंति । तं जहा-"समाहारा सुप्पइण्णा, सुप्पबुद्धा जसोहरा । लच्छीवई सेसवई, चित्तगुत्ता वसुंधरा ॥ १ ॥" स्था० ८ ठा० । आ० म० ।

स्वस्तिकाऽऽदिकूटेष्विलादेव्याद्या अष्टौ दिक्कुमार्यः-

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ महिड्डियाओ० जाव पलिओवमट्ठिइयाओ परिवसंति । तं जहा-"इलादेवी सुरादेवी, पुढवी पउमावई । एगनासा णवमिया, सीया भद्दा य अट्ठमा ॥१॥" स्था० ८ ठा० । आ०म० आ०चू० ।

रत्नाऽऽदिकूटेष्वलम्बुषाऽऽद्या अष्टौ दिक्कुमार्यः-

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ महिड्डियाओ० जाव पलिओवमट्ठिइयाओ परिवसंति । तं जहा-" अलंबुसा मित्तकेसी, पुंडरी गीयवारुणी । आसा य सव्वगा चेव, उत्तराओ सिरी हिरी ॥१॥" स्था० ८ ठा० । आ० म० । आ० चू० ।

अधोलोकवासिन्यो भोगङ्कराऽऽद्या अष्टौ दिक्कुमार्यः-

अट्ठ अहोलोगवत्थव्वाओ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-"भोगंकरा भोगवती, सुभोगा भोगमालिणी । सुवच्छा वच्छमित्ता य, वारिसेणा बलाहगा ॥१॥" स्था० ८ ठा० । आ० म० ।

ऊर्ध्वलोकवासिन्यो मेघङ्कराऽऽद्या अष्टौ दिक्कुमार्यः-

अट्ठ उड्ढलोगवत्थव्वाओ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-"मेहंकरा मेहवई, सुमेघा मेघमालिनी ।
तोयधारा विचित्ता य, पुप्फमाला अणिंदिया ॥ १ ॥"
स्था० ८ ठा० । आ० म० ।

(ताश्च तीर्थकृज्जन्ममहोत्सवे आगता इति ' तित्थयर ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२७१ पृष्ठे द्रष्टव्याः) षट्पञ्चाशद्दिक्कन्यकानां कुमारीति संज्ञा कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र भवनपतयः सर्वेऽपि प्रायः क्रीडाप्रिया भवन्तीति कुमारा उच्यन्ते, तथा एता दिक्कुमार्योऽपि भवनपतित्वेन तद्वद्बोध्या इति । ३२५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

दिसागइंद-दिग्गजेन्द्र-पुं० । भूमिधारणाय दिक्ष्ववस्थितेषु गजेषु, द्वी० ।

जोयणसाहस्सीया, एए कूडा हवंति चत्तारि ।
पुव्वाइयाऽऽणुपुव्वी, दिसागइंदाण ते होंति ॥ १४१ ॥
पउमुत्तरे नीलवंतं, सुहत्थिया अंजणागिरी चेव ।
एए दिसागइंदा, दिवड्ढपलिओवमट्ठितिया ॥ १४२ ॥
पुव्वेण होइ विमलं, सयंपभे दक्खिणे दिसाभाए ।
अवरे पुण पच्छिमओ, णिच्चुज्जोयं च उत्तरओ ॥ १४३ ॥ द्वी० ।

दिसाचक्कवाल-दिक्चक्रवाल-न० । दिङ्मण्डले, तपोविशेषे च । एकत्र पारणके पूर्वस्यां दिशि यानि फलाऽऽदीनि तान्याहृत्य भुङ्क्ते, द्वितीये तु दक्षिणस्यामित्येवं दिक्चक्रवालेन तत्र तपःकर्मणि पारणककरणं तत्तपःकर्म दिक्चक्रवालमुच्यते । नि० १ श्रु० ३ वर्ग० ३ अ० । भ० ।

दिसाचर-दिक्चर-पुं० । भगवच्छिष्येषु देशाटेषु, पार्श्वापत्यीयेष्विति चूर्णिकारः । दिशायां चरन्ति यान्ति मन्यन्ते भगवतो वयं शिष्या इति दिक्चराः, देशाटा वा दिक्चरा भगवच्छिष्याः पार्श्वस्थीभूता इति । भ० १५ श० ।

दिसाजत्तिय-दिग्यात्रा-स्त्री० । देशान्तरगमने, उपा० १ अ० ।

दिसाडाह-दिग्दाह-पुं० । अन्यतमस्यां दिशि अधोऽन्धकारे उपरि च प्रकाशाऽऽत्मके दह्यमानमहानगरप्रकाशकल्पे, भ० ३ श० ७ उ० । जी० । नि० चू० । आ० चू० । अनु० । व्य० । स्था० । दिग्दाहो वायव्यादिषु मण्डलेषु भवन् शस्त्राग्निक्षुत्पीडाविधायी भवति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दिसाणाग-दिङ्नाग-पुं० । स्वनामख्याते बौद्धविद्वषि, सम्म० १ काण्ड ।

दिसाणुवाय-दिगनुपात-पुं० । दिगनुसरणे, प्रज्ञा० ३ पद ।

दिसादवेक्खा-दिगाद्यपेक्षा-स्त्री० । आचार्योपाध्यायाऽऽदिपरिवाराऽऽलम्बने, पञ्चा० ५ विव० ।

दिसादाह-दिग्दाह-पुं० । ' दिसाडाह ' शब्दार्थे, भ० ३ श० ७ उ० ।

दिसादि-दिगादि-पुं० । मेरुमध्यवर्तिनि रुचके, मेरौ च । दिशामादिर्दिगादिः । तथाहि-रुचकाऽऽदिर्दिशां विदिशां च प्रभवो रुचकश्चाष्टप्रदेशाऽऽत्मको मेरुमध्यवर्ती, ततो मेरुरपि दिगादिरुच्यते । सू० प्र० ५ पाहु० । चं० प्र० ।

दिसापरिमाण-दिक्परिमाण-न० । सर्वतोऽमुकदिशि वा इयदवधि गमनाऽऽदिनियमने, ध० २ अधि० ।

दिसापोक्खि(ण)-दिक्प्रोक्षिन्-पुं० । उदकेन दिशः प्रोक्ष्य ये फलपुष्पाऽऽदि समुच्चिन्वन्ति तादृशेषु तपस्विवानप्रस्थेषु, औ० । नि० । भ० । आ० चू० ।

दिसाबंध-दिग्बन्ध-पुं० । आचार्यत्वाऽऽदिलक्षणे दिशो बन्धे, ध० २ अधि० ।

दिसावाल-दिक्पाल-पुं० । दिशामधीश्वरेषु, वाच० । आ० म० ।

दिसामूढ-दिङ्मूढ-त्रि० । पूर्वस्यामपि पश्चिमा इत्याकारकज्ञानवति, " दिसामोहो से जातो, अहवा मूढे दिसं पडुच्च । " नि० चू० १९ उ० ।

दिसामोह-दिङ्मोह-पुं० । पूर्वस्यामपि पश्चिमा इत्याकारके ज्ञाने, ध० २ अधि० । नि० चू० ।

दिसायरिय-दिगाचार्य-पुं० । गुर्वादिषु दिग्वर्तिसाधूनां सारणाऽऽदिकर्तरि, हा० १ प्रका० । पञ्चा० ।

दिसावलोअ-दिगवलोक-पुं० । दिग्दर्शने, " सागारियसंरक्खणट्ठा उड्ढमहो तिरियं च दिसावलोगो कायव्वो । " नि० चू० ४ उ० ।

दिसावेरमण-दिग्विरमण-न० । प्रथमे गुणव्रतभेदे, ध० २ अधि० ।

दिसासुद्धि-दिक्शुद्धि-स्त्री० । तत्कालोच्छलितशकुनपवनाऽऽदिनिनादश्रवणपूर्णकुम्भभृङ्गारच्छत्रध्वजचामराऽऽद्यवलोकनशुभगन्धाऽऽघ्राणाऽऽदिलक्षणायां स्वनामख्यातायां शुद्धौ, ध० २ अधि० ।

दिसासोवत्थिय-दिक्स्वस्तिक-पुं० । जम्बूद्वीपे मेरुपूर्वे रुचकपर्वतस्याष्टमे कूटे, स्था० ८ ठा० ।

दिक्प्रोक्षितक-पुं० । दिक्प्रोक्षके, दक्षिणाऽऽवर्ते स्वस्तिके च । जी० ३ प्रति० ४ उ० । औ० । जं० ।

दिसासोवत्थियासण-दिक्स्वस्तिकाऽऽसन-न० । येषामधोभागे दिक्स्वस्तिका आलिखिताः सन्ति तेष्वासनविशेषेषु, जी० ३ प्रति० ४ उ० । जं० ।

दिसाहत्थिकूड-दिग्हस्तिकूट-पुं० । दिक्षु हस्त्याकारेषु कूटेषु, जं० ।

दिग्गजकूटवक्तव्यतामाह-

मंदरे णं भंते ! पव्वए भद्दसालवणे कइ दिसाहत्थिकूडा पण्णत्ता ? । गोयमा ! अट्ठ दिसाहत्थिकूडा पण्णत्ता । तं जहा-
" पउमुत्तरे णीलवंते, सुहत्थी अंजणागिरी ।
कुमुदे अ पलासे अ, वडेंसे रोअणागिरी ॥ १ ॥ "

कहि णं भंते ! मंदरे पव्वए भद्दसालवणे पउमुत्तरे णामं दिसाहत्थिकूडे पण्णत्ते ? । गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लाए सीआए उत्तरेणं एत्थ णं पउमुत्तरे णामं दिसाहत्थिकूडे पण्णत्ते । पंच जोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, पंच गाउअसयाइं उव्वेहेणं, एवं विक्खंभपरिक्खेवो भाणियव्वो चुल्लहिमवंतसरिसो, पासायाण तं चेव, पउमुत्तरो देवो, रायहाणी उत्तरपुरच्छिमेणं ॥ १ ॥

एवं णीलवंतदिसाहत्थिकूडे मंदरस्स दाहिणपुरच्छिमेणं पुरच्छिमिल्लाए सीआए दक्खिणेणं, एअस्स वि णीलवंतो देवो, रायहाणी दाहिणपुरच्छिमेणं ॥ २ ॥

एवं सुहत्थिदिसाहत्थिकूडे मंदरस्स दाहिणपुरच्छिमेणं दक्खिणिल्लाए सीओआए पुरच्छिमेणं, एअस्स वि सुहत्थी देवो, रायहाणी दाहिणपुरच्छिमेणं ॥ ३ ॥

एवं चेव अंजणागिरिदिसाहत्थिकूडे मंदरस्स दाहिणपच्चच्छिमेणं दक्खिणिल्लाए सीओआए पच्चच्छिमेणं, एअस्स वि अंजणागिरी देवो, रायहाणी पच्चच्छिमेणं ॥ ४ ॥

एवं कुमुदे वि दिसाहत्थिकूडे मंदरस्स दाहिणपच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमिल्लाए सीओआए दक्खिणेणं, एअस्स वि कुमुदो देवो, रायहाणी दाहिणपच्चच्छिमेणं ५ ।

एवं पलासे वि दिसाहत्थिकूडे मंदरस्स उत्तरपच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमिल्लाए सीओआए उत्तरेणं, एयस्स णं वि पलासो देवो, रायहाणी उत्तरपच्चच्छिमेणं ६ ।

एवं वडेंसे वि दिसाहत्थिकूडे मंदरस्स उत्तरपच्चच्छिमे उत्तरिल्लाए सीआए महाणईए पच्चच्छिमेणं, एअस्स वि वडेंसो देवो, रायहाणी उत्तरपच्चच्छिमेणं ७ ।

एवं रोअणागिरी दिसाहत्थिकूडे मंदरस्स उत्तरपुरच्छिमेणं उत्तरिल्लाए सीआए पुरच्छिमेणं, एअस्स वि रोअणागिरी देवो, रायहाणी उत्तरपुरच्छिमेणं, उत्तरिल्लाए सीआए पुरच्छिमेणं ८ ।

"मंदरे णं भंते ! पव्वए' इत्यादि प्रश्नसूत्रे विदिक्षु पेशान्यादिविदिक्प्रभृतिषु हस्त्याकाराणि कूटानि दिग्हस्तिकूटानि, कूटशब्दस्याकारानामध्येयां पर्वतत्वव्यवहार ऋषभकूटप्रकरण इव ज्ञेयः । स्थानाङ्गेऽष्टमस्थाने तु पूर्वाऽऽदिषु दिक्षु हस्त्याकाराणि । उत्तरसूत्रे पद्मोत्तरेति श्लोकः । पद्मोत्तरः, नीलवान्, सुहस्ती, अञ्जनागिरिः । "अञ्जनाऽऽदीनां गिरौ" ॥ ३ । २ । ७७ ॥ (हैम०) इत्यादिना दीर्घः । कुमुदः, पलाशः, अवतंसः, रोचनागिरिः । अन्यत्र रोहणागिरिः, अत्रापि दीर्घत्वं प्राग्वत् । अथैषां दिग्व्यवस्थां पृच्छन्नाह-(कहि णमित्यादि) क भदन्त ! मेरोर्जम्बूद्वीपे पद्मोत्तरो नाम दिग्हस्तिकूटः प्रज्ञप्तः ? । गौतम ! मन्दरस्यैशान्यां पौरस्त्याया मेरुतः पूर्वदिग्वर्तिन्याः शीताया उत्तरस्याम् । अनेनोत्तरदिग्वर्तिन्याः शीताया व्यवच्छेदः कृतः । अत्रान्तरे पद्मोत्तरो नाम दिग्हस्तिकूटोऽपि मेरुतः पञ्चाशद्योजनातिक्रम एव भवति, प्रासादजिनसमश्रेणिस्थितत्वात् । पञ्च योजनशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन, पञ्च गव्यूतशतान्युद्वेधेन, पद्मसुखावन्यायेन विष्कम्भः । अत्र विशेषितोऽयं प्राकृतः परिक्षेपश्च भणितव्यः । तथाहि-मूले पञ्च योजनशतानि, मध्ये त्रीणि योजनशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि, उपरि अर्द्धतृतीयानि योजनशतानीत्येवंरूपो विष्कम्भः, तथा मूले पञ्चदश योजनशतानि एकाशीत्यधिकानि, मध्ये एकादश योजनशतानि षडशीत्यधिकानि किञ्चिदूनानि, उपरितः सप्त योजनशतान्येकनवत्यधिकानि किञ्चिदूनानि इति परिक्षेपः । प्रासादाऽऽदीनां च एतद्गिरिदेवसत्कानां तथैव प्रमाणमिति गम्यं, यत्

क्षुल्लहिमवत्कूटपतिप्रासादस्येति । अत्र बहुवचननिर्देशो वक्ष्यमाणदिग्हस्तिकूटवर्तिप्रासादेष्वपि समानप्रमाणसूचनार्थम् । पद्मोत्तरदिग्हस्ती पद्मोत्तरोऽत्र देवः, तस्य राजधान्युत्तरपूर्वस्यामुत्तरदिग्वर्तिकूटाधिपत्वादस्येति १ । अथ शेषसूत्रन्यायेन प्रदक्षिणाक्रमेण दर्शयन्नाह-" एवं णीलवंत " इत्यादि व्यक्तं, नवरम् (एवमिति) पद्मोत्तरन्यायेन नीलवन्नाम्ना दिग्हस्तिकूटः । मन्दरस्य दक्षिणपूर्वस्यां पौरस्त्यायाः दक्षिणस्यां, ततोऽयं प्राच्यजिनभवनाऽऽग्नेयप्रासादयोर्मध्ये ज्ञेयः । एतस्यापि नीलवान् देवः प्रभुः, तस्य राजधानी दक्षिणपूर्वस्यामिति २ । "एवं सुहत्थि" इत्यादि व्यक्तं, नवरं दाक्षिणात्याया मेरुतो दक्षिणदिग्वर्तिन्याः शीतोदायाः पूर्वतः । अनेन मेरुतः पश्चिमदिग्वर्तिन्याः शीतोदायाः व्यवच्छेदः कृतः; अत्रान्तरे सुहस्तिदिग्हस्तिकूटः । आग्नेयप्रासाददाक्षिणात्यजिनभवनमध्यवर्तीत्यर्थः । एतस्याऽपि सुहस्ती देवः, राजधानी तस्य दक्षिणपूर्वस्यां, नीलवतः सुहस्तिनोरेकस्यामेव दिशि राजधानीत्यर्थः ३ । एवं समाधिदिग्हस्तिकूटाधिपयोरेकस्यां विदिशि राजधानीद्वयम् ४ अग्रेऽपि भाव्यम् । " एवं चेव " इत्यादि व्यक्तं, नवरं दाक्षिणात्यजिनगृहनैर्ऋतप्रासादयोर्मध्ये इत्यर्थः ४ । एवमित्यादि व्यक्तं, नवरं पाश्चात्यायाः पश्चिमाभिमुखं वहन्त्याः शीतोदाया दक्षिणस्यामिति नैर्ऋतप्रासादपाश्चात्यजिनभवनयोर्मध्यवर्तीत्यर्थः ५ । एवमिति व्यक्तं, पाश्चात्यजिनभवनवायव्यप्रासादयोरन्तर इत्यर्थः ६ । " एवं वडेंसे वि दिसाहत्थिकूडे " इत्यादि गतार्थं, नवरमुत्तरायां मेरुत उत्तरदिग्वर्तिन्याः शीतायाः पश्चिमतः, अनेन पूर्वदिग्वर्तिन्याः शीताया व्यवच्छेदः कृतः, वायव्यप्रासादोत्तराहभवनयोर्मध्यवर्तीत्यर्थः ७ । " एवं रोअणागिरी दिसाहत्थिकूडे " इत्यादि व्यक्तं, नवरम्-उत्तरायाः शीतायाः पूर्वतः, उत्तराहजिनभवनैशानप्रासादयोरन्तराले इत्यर्थः ८ । एषु च बहुभिः पूर्वाऽऽचार्यैः शाश्वतजिनभवनस्तोत्रेषु जिनभवनान्युच्यन्ते, इह तु सूत्रकृता नोक्तानि, तेन तत्त्वं केवलिनो विदन्ति । अत एवोक्तं रत्नशेखरसूरिभिः स्वोपज्ञक्षेत्रविचारे-" करिकूडं नहदहं, कुरुकंचणजमलसमविअड्ढेसु । जिणभवणविसंवाओ, जो तं जाणंति गीअत्था ॥१॥" इति । अथैषां वापी चतुष्कप्रासादानां जिनभवनानां करिकूटानां च स्थाननियमने । अत्र वृद्धानां संप्रदायः । तथाहि-भद्रशालवने हि मेरोश्चतसृष्वपि दिक्षु नदीद्वयप्रवाहैः कृता अतो दिक्ष्वेव भवनानि भवन्ति, किं तु नदीतटनिकटस्थानि भवनानि, गजदन्तनिकटस्थाः प्रासादाः, भवनप्राग्भावित्वात्, शीतायाः, शीतोदाऽन्तरालेष्वष्टसु करिकूटाः, अत एव विशेषतो दर्श्यते-मेरोरुत्तरपूर्वस्यामुत्तरकुरूणां बहिः शीताया उत्तरदिग्भागपञ्चाशद्योजनेभ्योऽपरः प्रासादः, तत्परिक्षेपोऽप्यश्चतस्रो वाप्यः । एवं शेषेष्वपि प्रासादेषु ज्ञेयम् । मेरोः पूर्वस्यां शीतायाः दक्षिणतः ५० योजनेभ्यः परतः सिद्धायतनं, मेरोर्दक्षिणपूर्वस्यां ५० योजनातिक्रमे देवकुरूणां बहिः शीताया दक्षिणत एव प्रासादः, मेरोर्दक्षिणतः ५० योजनातिक्रमे देवकुरूणां मध्ये शीतोदायाः पूर्वतः सिद्धायतनं, मेरोरपरदक्षिणतः ५० योजनान्यवगाह्य देवकुरूणां बहिः शीतोदाया दक्षिणतः प्रासादः, पश्चिमायां ५० योजनातिक्रमे शीतोदाया उत्तरतः सिद्धायतनं, मेरोरपरस्यां ५० योजनान्यवगाह्य उत्तरकुरूणां बहिः शीतोदायाः पश्चिमतः सिद्धायतनमिति । एतेषां चाष्टस्वन्तरेष्वष्टौ करिकूटा इति । जं० ४ वक्ष० । स्था० ।

दिसिदेवया-दिग्देवता-स्त्री० । इन्द्राऽऽदिषु, पञ्चा० ८ विव० । ध० ।

दिसिव्वय-दिग्व्रत-न० । प्रथमे गुणव्रतभेदे, आव० ६ अ० ।

साम्प्रतं तेषामेवाणुव्रतानां परिपालनाय भावनाभूतानि गुणव्रतान्यभिधीयन्ते । तानि पुनस्त्रीणि भवन्ति । तद्यथा-दिग्व्रतम् १, उपभोगपरिभोगपरिमाणम् २, अनर्थदण्डवर्जनमिति ३ । तत्राऽऽद्यगुणव्रतस्वरूपाभिधित्सयाऽऽह-

दिसिव्वए तिविहे पन्नत्ते । तं जहा-उड्ढदिसिव्वए, अहोदिसिव्वए, तिरिअदिसिव्वए ॥ ३५ ॥

(दिसिव्वए तिविहे इत्यादि) दिशो ह्यनेकप्रकाराः शास्त्रे वर्णिताः, तत्र सूर्योपलक्षिता पूर्वा, शेषाश्च दक्षिणाऽऽदिकास्तदनुक्रमेण द्रष्टव्याः । तत्र दिशासंबन्धि, दिक्षु वा व्रतम्-एतावत्सु पूर्वाऽऽदिदिग्विभागेषु मया गमनाऽऽद्यनुष्ठेयं, न परत इत्येवंभूतं दिग्व्रतम् । एतच्चोघतस्त्रिविधं प्रज्ञप्तम्, तीर्थकरगणधरैः । तद्यथेति पूर्ववत् । ऊर्द्ध्व दिक्, तत्संबन्धि तस्या वा व्रतम्-एतावती दिगूर्द्ध्वं पर्वताऽऽद्यारोहणादवगाहनीया, न परत इत्येवंभूतमिति भावना । अधः दिगधोदिक्, तत्संबन्धि तस्या वा व्रतमधोदिग्व्रतम्-एतावती दिगधः कूपाऽऽद्यवतरणादवगाहनीया, न परत इत्येवंभूतमिति हृदयम् । तिर्यग्दिशः पूर्वाऽऽदिकाः, तासां संबन्धि तासु वा व्रतं तिर्यग्दिग्व्रतम्-एतावती दिक् पूर्वेणावगाहनीया, एतावती दक्षिणेनेत्यादि, न परत इत्येवंभूतमिति भावार्थः । अस्मिंश्च सत्यवग्रहीतक्षेत्राद् बहिः स्थावरजङ्गमप्राणिगोचरो दण्डः परित्यक्तो भवतीति गुणः ।

इदमपि चातिचाररहितमनुपालनीयमतोऽस्यैवातिचाराभिधित्सुराह-

दिसिव्वयस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणिअव्वा, न समायरिअव्वा । तं जहा-उड्ढदिसिप्पमाणाइक्कमे, अहोदिसिप्पमाणाइक्कमे, तिरिअदिसिप्पमाणाइक्कमे, खेत्तवुड्ढी, सइअंतरधानं ॥ ३६ ॥

(दिसिव्वयस्स समणोवासएणमित्यादि) दिग्व्रतस्योक्तस्वरूपस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः, न समाचरितव्याः । तद्यथा-ऊर्द्ध्वदिग्व्रतप्रमाणातिक्रमः, यावत्प्रमाणं परिगृहीतं तस्यातिलङ्घनमित्यर्थः । एवमन्यत्रापि भावना कार्या । अधोदिक्प्रमाणातिक्रमः, तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रमः, क्षेत्रस्य वृद्धिः क्षेत्रवृद्धिरित्येकतो योजनशतपरिमाणमभिगृहीतमन्यतो दश योजनान्यभिगृहीतानि, तस्यां दिशि समुत्पन्ने कार्ये योजनशतमध्यादपनीयान्यानि दश योजनानि, तत्रैव स्वबुद्ध्या प्रक्षिपति संवर्द्धयत्येकत इत्यर्थः । स्मृतेर्भ्रंशोऽन्तर्धानं स्मृत्यन्तर्धानम्-किं मया परिगृहीतं, कया मर्यादया व्रतमित्येवमननुस्मरणमित्यर्थः । स्मृतिमूलं नियमानुष्ठानं, भ्रंशे नियमत एव नियमभ्रंश इत्यतिचारः । "एत्थ य सामायारी-उड्ढं जं पमाणं गहियं, तस्स उवरिं पव्वयसिहरे रुक्खे वा मक्कडो य पक्खी वा साहुस्स वत्थं आभरणं वा गेण्हिउं पमाणाइरेगं उवरिभूमिं वच्चेज्जा, तत्थ से न कप्पइ गंतुं, जाहे तं पडियं अन्नेण वा आणीयं ताहे कप्पइ । एयं पुण अट्ठावयउज्जिंतकूडसम्मेयसुपइट्ठवज्जनाभिसकूडअंजणगमंदराऽऽदिसु पव्वएसु नवेज्जा । एवं अहे कुवियाऽऽदिसु विभासा । तिरियं जं पमाणं गहियं, तं तिविहेण वि तिकरणेण णातिक्कमियव्वं । खेत्तवुड्ढी सावगेण न कायव्वा । कहं?, सो पुव्वेण भंडगं गहाय गओ जाव तं परिमाणं, ततो परेण भंडं अग्घइ त्ति काउं अवरेण जाणि जोयणाणि ताणि पुव्वदिसाए संवुड्ढइ, एसा खेत्तवुड्ढी, सं न कप्पइ काउं, सिय त्ति वालीणो होज्जा, णियत्तियव्वं विस्सरिए वा न गंतव्वं, अन्नो वि न विसज्जियव्वो, जे अणाणाए को वि गओ होज्जा, जं विसुमरिय खेत्तगतेण लद्धं, तं न गेण्हेज्जति" ॥ ३६ ॥ आव० ६ अ० । ध० । उपा० । आ० । पञ्चा० । ध० र० । आ० चू० ।

दिसीविजाय-दिग्विजाग-पुं० । ईशानाऽऽदिषु कोणेषु, सू० प्र० १ पाहु० । रा० ।

दिस्स-दृश्य-अव्य० । उत्प्रेक्ष्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

दिस्समाण-दृश्यमान-त्रि० । उपलभ्यमाने, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

दृश्यमान-त्रि० । चक्षुषा उपलभ्यमाने, आव० ५ अ० । आचा० ।

दिस्सा-दृष्ट्वा-अव्य० । उत्प्रेक्ष्येत्यर्थे, भ० १७ श० ८ उ० ।

दिह-दिह-धा० । उपचये, अनु० । अदा०-उभ०-सक०-अनिट् । देग्धि, दिग्धे । अधिक्षत । अदिग्ध । वाच० ।

दिहागअ-द्विधागत-त्रि० । "सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥ ४ । २ ७६ ॥ इति वलोपः । धस्य हः । द्विप्रकारं प्राप्ते, प्रा० ढुं० १ पाद ।

दिहि-धृति-स्त्री० । 'दिहि' इत्येतदर्थं तु "धृतेर्दिहिः" ॥ ८ । २ । १३१ ॥ इति वक्ष्याम इति धृतेर्दिहिः । प्रा० १ पाद । "धृतेर्दिहिः" ॥ ८ । २ । १३१ ॥ इति धृतिशब्दस्य दिहिरित्यादेशो वा । 'दिही । धिई ।' प्रा० २ पाद । स्त्री० । धृ-क्तिन् । तुष्टौ, धारणे, योगे, विष्कम्भादितोऽष्टमे योगे, सुखे, धारणायाम, अवसादेऽपि दार्ढ्याऽऽदेः स्तम्भनशक्तौ, अष्टादशाक्षरपादके छन्दोभेदे, अष्टादशसंख्यायां च । वाच० ।

दीण-दीन-त्रि० । दी-क्त, तस्य नः दुर्गते, भीते च । वाच० । रङ्के, पञ्चा० ७ विव० । दैन्यवति, विपा० १ श्रु० ७ अ० । आ० । क्षीणसकलपुरुषार्थशक्तौ, ष्ठा० १२ ठा० । ध० र० । करुणाऽऽस्पदे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । दुःस्थे, आ० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० । प्रश्न० । आतु० । शृगालस्वभावव्यवहारिणि, आचा० १ श्रु० ६ अ० । "दीणा तासं दीणे, गति दीणजायए पुरिसे । कं एक्का तस्स तत्, विणाए विट्ठीए तत्थ ।" व्य० ३ उ० ।

दीणजाइ-दीनजाति-त्रि० । दीना वा हीना जातिरस्येति दीनजातिः । हीनजातौ, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणदाण-दीनदान-न० । कृपणेष्वनुकम्पाविषयेण वितरणे, पञ्चा० ७ विव० ।

दीणदिट्ठि-दीनदृष्टि-पुं० । विकृतायचक्षुषि, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणपण्ण-दीनप्रज्ञ-पुं० । दीनसूक्ष्मार्थाऽऽलोचने, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणपरक्कम-दीनपराक्रम-पुं० । हीनपुरुषकारे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणपरिणय-दीनपरिणत-पुं० । अदीनः सन् दीनतया परिणतो यस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणपरियाय-दीनपर्याय-पुं० । दीनस्येव पर्यायोऽवस्था प्रव्रज्याऽऽदिलक्षणो यस्य तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणपरिवार-दीनपरिवार-पुं० । दीनः परिवारो यस्य तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणभावया-दीनभावता-स्त्री० । प्रत्यनीकाद्यपमानाऽऽदौ दैन्ये, दीनो भावो मानसाध्यवसायो यस्यासौ दीनभावो, दीनभावस्य भावो दीनभावता । आतु० ।

दीणभासि (ण्)-दीनभाषिन्-पुं० । दीनवद् भाषणशीले, दीनवद्दीनं वा भाषते । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणमण-दीनमनस्-पुं० । स्वभावेन एवानुन्नतचेतसि, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

दीणया-दीनता-अव्य० । दैन्ये, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणववहार-दीनव्यवहार-पुं० । दीनान्योन्यदानप्रतिदानाऽऽदिक्रिये, दीनाधिवादे च । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणवित्ति-दीनवृत्ति-पुं० । दीनस्येव वृत्तिर्वर्तनं जीविका यस्य तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणविमण(स्)-दीनविमनस्-त्रि० । दीनो दैन्यवान् विमनाः शून्यचित्तः, दीनश्चासौ विमनाश्च दीनविमनाः । दैन्यवच्छून्यचित्ते, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

दीणविमणवयण-दीनविमनोवदन-त्रि० । दीनस्येव विमनस्कं वदनं यस्य तस्मिन्, ज्ञा० १ श्रु० ३३ अ० । विपा० ।

दीणसंकप्प-दीनसंकल्प-त्रि० । कस्मांश्चित्स्वाजात्येऽपि कथञ्चिद्दीनविमर्शे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणसीलसमायार-दीनशीलसमाचार-पुं० । दीनधर्म्मानुष्ठाने, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणसेवि(ण्)-दीनसेविन्-पुं० । दीनं नायकं सेवते यस्तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणाणुकंपण-दीनानुकम्पन-न० । निःस्वान्धबधिरपङ्गुरोगाऽऽर्तप्रमृतीनामनुकम्पाकरणे, ध० २ अधि० ।

दीणार-दीनार-पुं० न० । दी-आरक् नुट् च । स्वर्णभूषणे, मुद्रायां, सुवर्णकर्षद्वये, निष्कमाने, वाच० । आचा० । आ० क० । औ० । नि० चू० । आ० म० ।

दीणारमालिया-दीनारमालिका-स्त्री० । दीनाराऽऽकृतिमालायाम्, औ० ।

दीणोभासी-दीनावभासि(वि)न्-पुं० । दीनवदवभासते प्रतिभाति, अवभाषते वा याचते इत्येवंशीले, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीत्त-दीप्त-त्रि० । भास्वरे, स्था० ७ ठा० ।

दीत्ता-दीप्ता-स्त्री० । दीपप्रभायां, योगदृष्टौ च । द्वा० २० द्वा० ।

(अस्या व्याख्या 'दित्ता' शब्देऽनुपदमेव २५२० पृष्ठे गता)

दीव-दीप-पुं० । दीप-कः । प्रदीपे, दर्श० १ तत्त्व । पं० । नि० चू० । दशा० । तैलाऽऽदिस्नेहयोगेन वर्तिकाद्याहृत्काशिकाऽग्निके, वाच० । प्रकाशके वस्तुनि, आ० १० ठा० । दीपशिखायाम्, स० १० समा० । दीपनाकृष्यायिकल्पे च । त्रिशे० । त्रिविधा दीपाः-अवलम्बनदीपाः, शृङ्खलाबद्धा इत्यर्थः । उत्कम्पनदीपा ऊर्ध्वदण्डवन्तः । पञ्जरदीपा अभ्रपटलाऽऽदिपञ्जरयुक्ताः । अयोऽप्येते त्रिविधाः सुवर्णरूप्यताम्रमयत्वादिति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । 'दीपी' दीप्तौ । दीपयति प्रकाशयतीति दीपः । भावतः श्रुतज्ञानलाभे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । ("सकलसंजयधम्मी, अवामिव अमइ सरिसद्वारेण । अत्थाइआइ पच्छा, सारिक्खे दीवगे उ विहे ॥२८॥" इत्यादि 'पारिच्छवणा' शब्दे वक्ष्यते) दीपाद्दीपशतं प्रदीप्यते ज्वलति, सोऽपि च प्रदीप्यते, दीपो न पुनरन्यान्यद्दीपोत्पत्त्यावापि क्षीयते । उत्त० १ अ० । (दीपाऽऽदिदर्शनैर्जिनपूजा, तत्फलाऽऽदिकं च 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२८६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

द्वीप-न० । द्विर्गता आपोऽत्र । अप् आदेरत ईत्व । वाच० । द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां आमदातृत्वाऽऽहाराऽऽपूपसृष्टहेतुलक्षणाभ्यां प्राणिनः पान्तीति द्वीपाः । जलसंवासनावितविशेषे क्षेत्रविशेषे, अनु० । जलवृते भूदेशे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । प्रज्ञा० । द्वीपोऽपि पूर्ववच्चतुर्धा-तत्र नामद्वीपो-यस्य द्वीप इति नाम । स्थापनाद्वीपो-या द्वीपस्य स्थापना । यथा-चित्रलिखितजम्बूद्वीपाऽऽदिः । द्रव्यद्वीपो द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतस्तदर्थज्ञातानुपयुक्तः नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरद्रव्यद्वीपौ सुबोधौ । तद्व्यतिरिक्तद्रव्यद्वीपो द्विधा-संदीनः, असंदीनश्च । तत्र यो हि पक्षमासाऽऽद्यावृत्तेन प्लाव्यते स संदीनो, विपरीतस्त्वसंदीनः-सिंहलद्वीपाऽऽदिः । भावद्वीपोऽपि द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतस्तदर्थज्ञातोपयुक्तः । नोआगमतस्तु साधुः । कथमित्याह-यथाहि नदीसमुद्रबहुमध्यप्रदेशे सांयात्रिका द्रव्यद्वीपमवाप्याऽऽश्वसन्ति, तथा पारातीतसंसारपारावारान्तर्वारखेदभेदस्थिनो देहिनः परमपरोपकारैकप्रवृत्तं साधुं समवाप्याऽऽश्वसन्ति, अतो भावतः परमार्थतो द्वीपो भावद्वीप उच्यते । सोऽपि संदीनासंदीनभेदाद् द्विधा-तत्र परीषहोपसर्गाऽऽद्यैः क्षोभ्यः संदीनः, तद्विपरीतस्त्वसंदीनः । अथवा-भावद्वीपः सम्यक्त्वं, तच्च प्रतिपातित्वादौपशमिकं, क्षायोपशमिकं च । संदीनो भावद्वीपः, क्षायिकं चासंदीन इति । ननु क्वचित् तत्पर्यायाऽऽपन्नं वस्तु भावनिक्षेपे निक्षिप्यते, यथाऽत्रैव जम्बूपर्यायमनुभवन् भावजम्बूत्वेन निक्षिप्तः । क्वचित्तदन्यपर्यायाऽऽपन्नं वस्तु भावनिक्षेपे निक्षिप्यते, यथाऽत्रैव भावद्वीपपर्यायमननुभवन् साधुः सम्यक्त्वं चेति परस्परमुदाहरणवैषम्यं कथं युक्तिमदिति ? । अत्रोच्यते-वस्तुगत्या तत्पर्यायाऽऽधारतया भवनं भाव इति कृत्वा तत्पर्यायाधारं वस्तु भावनिक्षेपे निक्षिप्यते । यत्तु तद्वस्तु भावनिक्षेपे निक्षिप्यते तत्तद्गतभावगतगुणाऽऽरोपादौपचारिकमिति न दोषः, विवक्षाया विचित्रत्वादिति । प्रस्तुते च-द्विधा गता लवणोदस्याऽऽपोऽस्मादिति अन्वर्थवशाद् द्वीपः, पृथिव्यादिपरिणामरूपत्वाद् द्रव्यद्वीपत्वं, तत्र च द्रव्यद्वीपेनात्राधिकारः, तत्राप्यसंदीनेनेति । अथ वेत्थं नामाऽऽदिभेदाद् द्वीपश्चतुर्धा--नामद्वीपो-द्वीप इति नाम, नामनामवतोरभेदोपचारात् । स्थापनाद्वीपो-द्वीपस्य स्थापनारूपः ऽऽद्याकारः । द्रव्यद्वीपो-द्वीपाऽऽरम्भकद्रव्याणि पृथिव्यादीनि, तदात्मकत्वाद् द्वीपानाम् । जं० १ । भावद्वीपस्तु स्थाप्याद्याकृतिमत् स्वाऽऽत्मकं सर्वतः समुद्रजलप्लावितं क्षेत्रखण्डम् । जं० १ वक्ष० । स च द्रव्यभावभेदाद् द्विधा-तत्र द्रव्यद्वीप आश्वासद्वीपः, आश्वास्यतेऽस्मिन्नित्याश्वासः, स चासौ द्वीपश्चाऽऽश्वासद्वीपः । यद्वा-श्वसनमाश्वासः, आश्वासाय द्वीप आश्वासद्वीपः, तत्र नदीसमुद्रबहुमध्यप्रदेशे जिनबोधिस्थाऽऽरवस्तमवाप्याऽऽश्वसन्ति । असावपि द्विधा--संदीनोऽसंदीनश्चेति । यो हि पक्षमासाद्युदकेन प्लाव्यते स संदीनो, विपरीतस्त्वसंदीनः, सिंहलद्वीपाऽऽदिः, यथा हि सांयात्रिकास्तं द्वीपमसंदीनमुद-

भद्रादेरुत्तितीर्षवः समवाप्याश्वसन्त्येवं तं भावसंधानायोत्थि- तं साधुमवाप्यापरे प्राणिनः समाश्वसन्ति । यदि वा दीप इति प्रकाशदीपः प्रकाशाय दीपः प्रकाशदीपः, स चाऽऽदित्यचन्द्रम- ण्यादिरसंदीनः,अपरस्तु विद्युदुल्काऽऽदिः संदीनः। यदि वा प्र- भुरेभ्यनतया विवक्षितकालावस्थायिसंदीनो,विपरीतस्तु संदी- न इति । यथा ह्यसौ स्फुटावेश्मनो हेयोपादेयहानोपादानवतां निमित्तभावमुपयाति तथा कश्चित्समुद्राऽऽद्यन्तर्वर्तिनामाश्वास- कारि च भवति,एवं ज्ञानसंधानायोत्थितः परीषहोपसर्गाक्षोभ्य- तयाऽसंदीनः साधुर्विशिष्टोपदेशदानतोऽपरेषामुपकारायेति । अ- परे भावद्वीपं, भावदीपं चान्यथा व्याचक्षते । तद्यथा-भावद्वीपः सम्यक्त्वं,तच्च प्रतिपातित्वादौपशमिकं, क्षायोपशमिकं च । सं- दीनो भावद्वीपः, क्षायिकं त्वसंदीन इति । तं द्विविधमप्यवाप्य परीतसंसारत्वात्प्राणिन आश्वसन्ति । भावदीपस्तु संदीनः श्रु- तज्ञानम, असंदीनस्तु केवलमिति । तच्चावाप्य प्राणिनोऽवश्य- माश्वासन्त्येवेति । आचा०१ श्रु०६ अ०३उ०। समुद्रान्तःपतितस्य अन्तोर्जलकल्लोलाऽऽकुलितस्य मुमूर्षोरतिश्रान्तस्य विश्रामहेतौ, सम्यक्त्वाऽऽदिके संसारभ्रमणविश्रामहेतौ,सूत्र०१ श्रु०११ अ०। (जम्बूद्वीपाऽऽदीनां गणना 'आणुपुव्वी' शब्दे द्वितीयभागे १४७ पृष्ठे गता) (जम्बूद्वीपनाम्ना कियन्तो द्वीपा इति 'जं- बूदीव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३७१ पृष्ठे गताः) (अन्तर्द्वीपा 'अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ८१ पृष्ठे उक्ताः)

दीवअ-देशी-कृकलासे, दे० ना० ५ वर्ग ४१ गाथा ।

दीवंग-द्वीपाङ्ग-पुं० । सुषमसुषमाजाते चतुर्थे कल्पवृक्षभेदे,दी- पः प्रकाशकं वस्तु, तत्कारणत्वाद्दीपाङ्गः । स्था० १० ठा० । प्र- श्न० । यथेह स्निग्धं प्रज्वलन्त्यः काञ्चनमय्यो दीपिका उद्द्योतं कुर्वाणा दृश्यन्ते तद्वद् द्वीपाङ्गा विस्रसापरिणतः प्रकृष्टोद्द्योतेन सर्वमुद्द्योतयन् वर्तते । तं० ।

दीवकलिया-दीपकलिका-स्त्री० । दीपशिखायाम्, अनु० ।

दीवकुमार-द्वीपकुमार-पुं० । भूषणनियुक्तसिंहरूपधरेषु भवन- वासिविशेषेषु, प्रज्ञा० २ पद । स्था० । औ० । भ० ।

द्वीपकुमाराः सर्वे समाहारा इत्यादिवक्तव्यता-

दीवकुमारा णं भंते ! सव्वे समाहारा, सव्वे समुस्सास- णिस्सासा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । एवं जहा पढमसए बिति- यउद्देसए दीवकुमाराणं वत्तव्वया तहेव०जाव समाउया स- मुस्सासणिस्सासा । एवं णागाऽवि । दीवकुमारा णं भंते ! कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! चत्तारि लेस्साओ प- ण्णत्ताओ । तं जहा-कण्हलेस्सा० जाव तेउलेस्सा । एएसि णं भंते ! दीवकुमाराणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ?। गोयमा ! स- व्वत्थोवा दीवकुमारा तेउलेस्सा, काउलेस्सा असंखेज्ज- गुणा,णीललेस्सा विसेसाहिया,कण्हलेस्सा विसेसाहिया । एएसि णं भंते ! दीवकुमाराणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउ- लेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पड्ढिया वा, महड्ढिया वा ?। गोयमा ! कण्हलेस्सेहिंतो णीललेस्सा महड्ढिया ०जाव सव्वमहड्ढिया वा तेउलेस्सा । सेवं भंते ! भंते त्ति ०जाव विहरइ ॥ भ० १६ श० ११ उ० ।

दीवकुमारावास-द्वीपकुमाराऽऽवास-पुं० । द्वीपकुमाराणां भव- नाऽऽवासे,"छावत्तरिं दीवकुमाराणं वाससयसहस्सा पण्णत्ता।" स० ७५ सम० ।

दीवग-दीपक-पुं० । दीप-स्वार्थे कन् । प्रदीपे, आ०म०१ अ०२ खण्ड। श्येनपक्षिणि, रागभेदे च । वाच० । सम्यक्त्वभेदे, स्व- यं तत्त्वश्रद्धानरहित एव मिथ्यादृष्टिः परस्य धर्मकथाऽऽदिभि- स्तत्त्वश्रद्धानं दीपयति प्रकाशयति, तत्सम्बन्धि सम्यक्त्वं दी- पकमुच्यते । विशे० ।

सयमिह मिच्छद्दिट्ठी, धम्मकहाईहि दीवइ परस्स ।
सम्मत्तमिणं दीवग, कारणफलभावओ णेयं ॥ ५० ॥

स्वयमिह मिथ्यादृष्टिरभव्यो भव्यो वा कश्चिदङ्गारमर्दकव- त् । अथ च-धर्मकथाऽऽदिभिर्धर्मकथया मातृस्थानानुष्ठानेना- तिशयेन वा केनचिद्दीपयतीति प्रकाशयति परस्य श्रोतुः स- म्यक्त्वमिदं व्यञ्जकम् । आह-मिथ्यादृष्टेः सम्यक्त्वमिति वि- रोधः ?। सत्यम्,किं तु कारणफलभावतो ज्ञेयं-तस्य हि मिथ्या- दृष्टेरपि यः परिणामः स खलु प्रतिपत्तृसम्यक्त्वस्य कारण- भावं प्रतिपद्यते, तद्भावभावित्वात्तस्य, अतः कारण एव का- र्योपचारात्सम्यक्त्वाविरोधः, यथाऽऽयुर्घृतमिति ॥५०॥ ध०। रथवीरपुरनामनगराद् बहिःस्थे स्वनामख्याते उद्याने, कल्प० ३ अ० । विशे० । आ० म० । आ० चू० । आ० क० । कुङ्कुमे, अ- र्थालङ्कारभेदे च । न० वाच० । दीपयति-णिच्-ण्वुल् । यमा- न्याम्, स्त्री० । कार्यप्रकाशके, कुशले च । त्रि० । स्त्रियां टाप्, अत इत्वम् । वाच० ।

दीवचंद-दीपचन्द्र-पुं० । ज्ञानधर्माऽऽग्रयपाठकशिष्ये स्वनाम- ख्याते पाठके, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

दीवचंपय-दीपचम्पक-न० । दीपस्थगनके, भ० ८ श० ६ उ० । रा० ।

दीवचंवग-दीपचम्पक-न० । 'दीवचंपय' शब्दार्थे, भ० ८ श० ६ उ० ।

दीवण-दीपन-पुं० । त्रि० । प्रकाशने, वाच० । ओघ० । दीपनं करोति कथयतीत्यर्थे, सू० १ अ० २ प्रक० ।

दीवणिज्ज-दीपनीय-त्रि० । दीपयति जठराग्निमिति दीपनीयः, बाहुलकात्कर्त्तर्यनीयप्रत्ययः । अग्निवृद्धिकरे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । स्था० । ज्ञा० । प्रज्ञा० ।

दीवमं-दीव्यत्-पुं० । क्रीडति, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

दीवयंत-दीपयत्-पुं० । शोभयति, कल्प० २ क्षण ।

दीवय-द्वीपक-पुं० । चित्रके, जी०१ प्रति० ।

दीववंदिर-द्वीपवन्दिर-न० । स्वनामख्याते श्रावकप्रधाने नगरे, पं० व० ४ द्वार ।

दीवसमुद्द-द्वीपसमुद्र-पुं० । जम्बूद्वीपाऽऽदिलवणसमुद्राऽऽदि- षु, जी० ।

द्वीपसमुद्रवक्तव्यतामाह-

कहि णं भंते ! दीवसमुद्दा, केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा, के महालया णं भंते ! दीवसमुद्दा, किंसंठिया णं भंते ! दीवसमुद्दा, किमागारभावपडोयारा णं भंते ! दीवसमुद्दा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवा दीवा, स-

लवणादिया समुद्दा, संठाणओ एकविहिविहाणा, वित्थारओ अणेगविहिविहाणा-दुगुणा दुगुणा पडुप्पाएमाणा पडुप्पाएमाणा पवित्थरमाणा पवित्थरमाणा ओभासमाणवीइया बहुउप्पलपउमकुमुदणलिणसुभगसोगंधियपोंडरीयमहापोंडरीयसतपत्तसहस्सपत्तपफुल्लकेसरोवचिया, पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइया परिक्खित्ता, पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ता अस्सिं तिरियलोए असंखेज्जा दीवसमुद्दा सयंभूरमणपज्जवसाणा पण्णत्ता समणाउसो !।

(कहि णं भंते ! दीवसमुद्दा इत्यादि) क कस्मिन्, णमिति वाक्यालङ्कारे, भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् !, द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः ?। अनेन द्वीपसमुद्राणामवस्थानं पृष्टम्। (केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा इति) कियन्तः कियत्संख्याकाः, भदन्त ! द्वीपसमुद्राः ?। अनेन द्वीपसमुद्राणां संख्यानं पृष्टम्। (के महालया णं भंते ! दीवसमुद्दा इति) किं महान् आलय आश्रयो व्याप्यक्षेत्ररूपो येषां ते महालयाः, किंप्रमाणा महालयाः, णमिति प्राग्वत्। द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः ?। किंप्रमाणं द्वीपसमुद्राणां महत्त्वमिति पाठः। एतेन द्वीपसमुद्राणामायामाऽऽदिपरिमाणं पृष्टम्। तथा-(किंसंठिया णं भंते ! दीवसमुद्दा इति) किं संस्थितं संस्थानं येषां ते किंसंस्थिताः, णमिति पूर्ववत्। भदन्त ! द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः ?। अनेन संस्थानं पप्रच्छ। (किमागारभावपडोयारा णं भंते ! दीवसमुद्दा पण्णत्ता इति) आकारभावः स्वरूपविशेषः, तस्याऽऽकारभावस्य प्रत्यवतारो येषां ते किमाकारभावप्रत्यवताराः। बहुव्रीहौ व्यधिकरणेऽपि समासः। णमिति पूर्ववत्। द्वीपसमुद्राः ?। किं स्वरूपं द्वीपसमुद्राणामिति भावः। अनेन स्वरूपविशेषविषयः प्रश्नः कृतः। भगवानाह-(गोयमेत्यादि) गौतम ! जम्बूद्वीपाऽऽदयो द्वीपाः, लवणाऽऽदिका लवणसमुद्राऽऽदिकाः समुद्राः, अनेन द्वीपानां समुद्राणां चाऽऽदिरुक्तः। एतच्चापृष्टमपि भगवता कथितमुत्तरत्रोपयोगित्वात्, गुणवते शिष्यायापृष्टमपि कथनीयमिति ज्ञापनार्थं च। (संठाणओ इत्यादि) संस्थानतः संस्थानमाश्रित्य (एगविहिविहाणा इति) एकविधि एकप्रकारं विधानं येषां ते एकविधिविधानाः, एकस्वरूपा इति भावः। सर्वेषां वृत्तसंस्थानसंस्थितत्वात्। विस्तरतो विस्तारमधिकृत्य पुनरनेकविधिविधानाः, अनेकविधानि अनेकप्रकाराणि विधानानि येषां ते तथा, विस्तारमधिकृत्य नानारूपा इत्यर्थः। तदेव नानारूपत्वमुपदर्शयति-(दुगुणा दुगुणा पडुप्पाएमाणा पडुप्पाएमाणा पवित्थरमाणा पवित्थरमाणा इति) द्विगुणं द्विगुणं यथा भवति एवं प्रत्युत्पद्यमानाः प्रत्युत्पद्यमानाः, गुण्यमाना इत्यर्थः। प्रविस्तरन्तः प्रविस्तरन्तः, प्रकर्षेण विस्तारं गच्छन्तः। तथाहि-जम्बूद्वीप एकं लक्षं, लवणसमुद्रो द्वे लक्षे, धातकीखण्डश्चत्वारि लक्षाणीत्यादि। (ओभासमाणवीइया इति) अवभासमाना वीचयः कल्लोला येषां तेऽवभासमानवीचयः। इदं विशेषणं समुद्राणां प्रतीतमेव, द्वीपानामपि वेदितव्यम्, तेष्वपि ह्रदनदीतडागाऽऽदिषु कल्लोलसंभवात्। तथा बहुभिरुत्पलपद्मकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रैः (फुल्ल त्ति) प्रफुल्लैर्विकसितैः (केसरे त्ति) केसरोपशोभितैरुपचिता उपचितशोभाका बहूत्पलपद्मकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रप्रफुल्लकेसरोपचिताः, तत्र उत्पलं गर्दभकं, पद्मं सूर्यविकाशि, कुमुदं चन्द्रविकाशि, नलिनमीषद्रक्तपद्मं, सुभगं पद्मविशेषः, सौगन्धिकं कह्लारं, पुण्डरीकं शताम्बुजं, तदेव बृहत् महापुण्डरीकं, शतपत्रसहस्रपत्रे पद्मविशेषौ पत्रसंख्याकृतभेदौ। (पत्तेयं पत्तेयमिति) प्रतिशब्दोऽत्राभिमुख्ये, "लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये" ॥ २। १। १४ ॥ इति च समासः, ततो वीप्सायामव्ययार्थो प्रत्येकशब्दस्य निर्वचनं, पद्मवरवेदिका परिक्षिप्ताः, प्रत्येकं प्रत्येकं वनखण्डपरिक्षिप्ताश्च। (सयंभूरमणपज्जवसाणा इति) जम्बूद्वीपाऽऽदयो द्वीपाः स्वयंभूरमणद्वीपपर्यवसानाः- लवणसमुद्राऽऽदयः स्वयंभूरमणसमुद्रपर्यवसानाः। अस्मिन् तिर्यग्लोके यत्र वयं स्थिताः असंख्येया द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः। हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! इह अस्मिन् "तिरियलोए" इत्यनेन संस्थानमुक्तम्। असंख्येया इत्यनेन संख्यानम्, "दुगुणा दुगुणा" इत्यादिना महत्त्वम्, "संठाणतो" इत्यादिना संस्थानम्। जी० ३ प्रति० ४ उ०।

कियन्ति द्वीपसमुद्राणां नामधेयानीति भगवानाह-

केवतिया णं भंते ! दीवसमुद्दा नामधेज्जेहिं पण्णत्ता ?। गोयमा ! जावइया लोगे सुभा नामा सुभा वण्णा० जाव सुभा फासा, एवतिया दीवसमुद्दा णामधेज्जेहिं पण्णत्ता।

गौतम ! यावन्ति लोके सामान्यतः शुभानि नामानि शङ्खचक्रस्वस्तिककलशश्रीवत्साऽऽदीनि, शुभाः वर्णाः, शुभा गन्धाः, शुभा रसाः, शुभाः स्पर्शाः-शुभवर्णनामानि, शुभगन्धनामानि, शुभरसनामानि, शुभस्पर्शनामानि च, एतावन्तो द्वीपसमुद्रा नामधेयैः प्रज्ञप्ताः, एतावन्ति द्वीपसमुद्राणां नामधेयानीति भावः।

सागरोपमप्रमाणतो द्वीपसमुद्रपरिमाणमाह-

केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा उद्धारसमएणं पण्णत्ता ?। गोयमा ! जावइया अड्डाइज्जाइं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया, एवतिया दीवसमुद्दा उद्धारसमएणं पण्णत्ता।

(केवइया णं भंते ! इत्यादि) कियन्तो भदन्त ! द्वीपसमुद्रा उद्धारसमयेन उद्धारपल्योपमसागरोपमप्रमाणेन प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम ! यावन्तोऽर्द्धतृतीयानामुद्धारसागरोपमाणामुद्धारसमया एकैकसूक्ष्मवालाग्रापहारसमयाः, एतावन्तो द्वीपसमुद्रा उद्धारेण प्रज्ञप्ताः। उक्तं च-"उद्धारसागराणं, अड्डाइज्जाण जत्तिया समया। दुगुणा दुगुणपवित्थर- दीवोदहि रज्जु एवइया ॥१॥"

दीवसमुद्दा णं भंते ! किं पुढवीपरिणामा, आउपरिणामा, जीवपरिणामा, पोग्गलपरिणामा ?। गोयमा ! पुढविपरिणामा वि, आउपरिणामा वि, जीवपरिणामा वि, पोग्गलपरिणामा वि ॥

(दीवसमुद्दा णं भंते ! इत्यादि) द्वीपसमुद्राः, णमिति पूर्ववत्। भदन्त ! पृथिवीपरिणामा अप्परिणामाः ?। भगवानाह-गौतम ! पृथिवीपरिणामा अपि अप्परिणामा अपि, पृथिव्य एव जीवपुद्गलपरिणामाऽऽत्मकत्वात् सर्वद्वीपसमुद्राणाम्।

दीवसमुद्देसु णं भंते ! सव्वपाणा सव्वभूया सव्वजीवा सव्वसत्ता पुढविकाइयत्ताए० जाव तसकाइयत्ताए उववण्णपुव्वा ?। हंता गोयमा ! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो, इति दीवसमुद्दा संमत्ता।

(दीवसमुद्देसु णं भंते ! सव्वपाणा सव्वभूया इत्यादि) द्वीपसमुद्रेषु, णमिति पूर्ववत्, सर्वेष्विति गम्यते । भदन्त ! सर्वे प्राणा द्वीन्द्रियाऽऽदयः, सर्वे भूताः तरवः, सर्वे जीवाः पञ्चेन्द्रियाः, सर्वे सत्त्वाः पृथिव्यादय उत्पन्नपूर्वाः ? । भगवानाह-गौतम ! असकृदुत्पन्नपूर्वाः । अथवा-अनन्तकृत्वः, सर्वेषामपि सांव्यवहारिकराश्यन्तर्गतानां जीवानां सर्वेषु स्थानेषु प्रायोऽनन्तश उत्पादात् ॥ जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

द्वीपसमुद्राणामुद्वेधम्-

सव्वे वि णं दीवसमुद्दा दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता ।

"सव्वे वि" इत्यादि सुगमं, नवरमुद्वेधम्-"ओडत्तं ति भणियं होइ ।" द्वीपानाम "ओरुत्तणाभावे त्ति" अधोदिशि सहस्रं यावद् द्वीपव्यपदेशः, जम्बूद्वीपे तु पश्चिमविदेहे जगतीप्रत्यासत्तौ "ओरुत्तमवि अत्थि त्ति ।" स्था०१० ठा० । द्वीपसमुद्रोपपातप्रतिपादके दीर्घदशानां षष्ठेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ।

दीवसागरपण्णत्ति-द्वीपसागरप्रज्ञप्ति-स्त्री० । द्वीपसागराणां प्रज्ञप्तयो यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः । पा० । दशमे कालिकश्रुतभेदे, पा० । नं० ।

दीवसिहा-दीपशिखा-स्त्री० । ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिभार्यायां सागरदत्तवणिक्सुतायाम्, उत्त० १३ अ० । नि० । ति० ।

दीवाइजलणभेय-दीपाऽऽदिज्वलनभेद-पुं० । दीपचन्द्रतारकाऽऽदीनां दीपनविशेषे, पञ्चा० २ विव० ।

दीवावह-दीपापह-त्रि० । दीपविनाशके, द्वा० २४ द्वा० ।

दीवायण-द्वैपायन-पुं० । द्वीपमयनं जन्मभूमिर्यस्य स द्वीपायनः,स एव प्रज्ञाऽऽद्यण् । "द्वीपे न्यस्तस्तया बाल-स्ततो द्वैपायनोऽभवत् ।" इत्युक्ते व्यासे, वाच० । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । षष्ठे ब्राह्मणपरिव्राजके, औ० । स्था० । ती० । दश० । आ० म० । स चाऽऽगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां विंशतितमस्तीर्थकरो भविष्यति । स० ।

दीवावली-दीपाऽऽवली-स्त्री० । दीपपङ्क्तौ, कार्तिकाऽमायां च । ती० २० कल्प । श्रीमहावीरस्य निर्वाणसमये अमावास्या तिथिः, स्वातिनक्षत्रं चाभूताम्, दीपालिकासंबन्धिगुणनसमये च कस्मिंश्चिद्वर्षे ते भवतः, कस्मिंश्चिन्न भेति । एतदुपरि केचनेत्थं कथयन्ति-यदा स्वात्यमावास्ये भवतस्तदा गुणनीयम् । अन्ये च-यस्मिन् दिने " मेरइया " इति लोकप्रसिद्धक्रियाविशेषस्तस्मिन् दिने गुणनीयमिति । तत्र " मेरइया " करणे भेदो भवति-एतद्देशमध्ये ये गुर्जरलोकाः सन्ति, तैः पाक्षिकदिने तानि कृतानि, एतद्देशीयैस्तु द्वितीयवासरे, ततः किं स्वस्वदेशानुसारेण " मेरइया " करणदिने गणनीयम्, उत गुर्जरदेशानुसारेणेति ? प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र दीपाऽऽलिकागुणनमाश्रित्य स्वस्वदेशीयलोका यस्मिन् दिने दीपाऽऽलिकां कुर्वन्ति तस्मिन् दिने गुणनीयमिति । ३ प्र० । ही० ४ प्रका० । कल्प० ।

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे, तं रयणिं च णं नवमल्लई-नवलेच्छई कासीकोसलगा अट्ठारसऽवि गणरायाणो अमावासाए पाराभोअं पोसहोववासं पट्ठविंसु, गए से भावुज्जुए, दव्वुज्जुयं करिस्सामो ॥ १२० ॥

(जं रयणिं च णं इत्यादि) यस्यां रात्रौ श्रमणो भगवान् महावीरः कालगतः, यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणः, तस्यां रात्रौ (नवमल्लई इत्यादि) नवमल्लिकाजातीयाः काशीदेशस्य राजानः, नवलेच्छकीजातीयाः कोशलदेशस्य राजानः, ते च कार्यवशाद् गणमेलापकं कुर्वन्ति इति गणराजानोऽष्टादश, ये चेटकमहाराजस्य सामन्ताः श्रूयन्ते, ते तस्याममावास्यायां पारं संसारपारमाभोगयति प्रापयति यत्तमेवंविधं (पोसहोववासं ति) पौषधोपवासं कृतवन्तः, आहारत्यागपौषधरूपम् उपवासं चक्रुरित्यर्थः । अन्यथा-दीपकरण न संभवति, ततश्च गतः स भावोद्योतः,ततो द्रव्योद्योतं करिष्याम इति तैः दीपाः प्रवर्तिताः, ततः प्रभृति दीपोत्सवः संवृत्तः, कार्तिकशुक्लप्रतिपदि च श्रीगौतमस्य केवलमहिमा देवैश्चक्रे, अतस्तत्रापि जनप्रमोदः, नन्दिवर्द्धननरेन्द्रश्च भगवतोऽस्तं श्रुत्वा शोकाऽऽर्तः सुदर्शनया भगिन्या संबोध्य सादरं स्वगेहमानि द्वितीयायां भोजितस्ततो भ्रातृद्वितीयापर्वरूढिः । कल्प० १ अधि० ६ क्षण । ती० । दीपाऽऽलिकाऽऽदिपर्वणि सुखभक्षिकाऽऽदिकरणे मिथ्यात्वमारभ्यतो वेति प्रश्ने, उत्तरम्-आरम्भो लगतीति ज्ञातमस्ति, न तु मिथ्यात्वमिति ॥ २२४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

दीविआ-देशी-उपदेहिकायां,मृगाऽऽकर्षण्यां च । दे० ना० ५ वर्ग ३ गाथा ।

दीविय-दीपित-त्रि० । कथिते, ओघ० ।

द्वीपिक-पुं० । शाकुनिकपुरुषसंबन्धिपञ्जरस्थतित्तिरौ, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

द्वीपिन्-पुं० । चित्रके, आ० म०१ अ०१ खण्ड । ज० । प्रश्न० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । जं० । स्था० । सूत्र० । प्रा० । आचा० ।

दीविय्य-द्वैप्य-त्रि० । द्वीपसंभवे, ज्ञा० १ श्रु० ११ अ० ।

दीविया-दीपिका-स्त्री० । ह्रस्वो दीपो दीपिका । ह्रस्वे दीपे, जं० २ वक्ष० । " दीवियाचक्कवालविंदे ।" दीपिकानां चक्रवालं सर्वपरिमण्डलरूपं वृन्दं दीपिकाचक्रवालवृन्दम् । जी० ३ प्रति० ४ उ० । जं० ।

दीवूसव-दीपोत्सव-पुं० । दीपमालिकायाम, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

दीवूसवअमावसा-दीपोत्सवामावास्या-स्त्री० । कार्तिकामावास्यायाम्, ती० २० कल्प ।

दीसंत-दृश्यमान-त्रि० । चक्षुषा प्रत्यक्षे,सूत्र०१ श्रु०१ अ०४उ० ।

दीह-दीर्घ-पुं० । दृ-घञ्, घस्य नेत्वम् । शालतनावृक्षे, उष्ट्रे, द्विमात्रे स्वरवर्णे च । वाच० । "पसे दीहे ।" आयते,स्था० १ ठा० । सूत्र० । विशे० । प्रज्ञा० । औ० । रा० । प्रचुरे, भ० १ श० ६ उ० । असंख्येये, त्रि० । विशे० । " दीहरहस्साइमपमाणे ।" विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

दीहकाल-दीर्घकाल-त्रि० । दीर्घः सन्तानापेक्षया अनादित्वात् कालः स्थितिबन्धकालो यस्य तद् दीर्घकालम् । दीर्घस्थितिकं. आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दीहकालिगी-दीर्घकालिकी-स्त्री० । कालिसंज्ञायाम्, विशे० ।

इह दीहकालिगी का-लिग त्ति भण्णा जया सुदीहं पि ।
संभरइ भूयमेस्सं, चिंतेइ य किह णु कायव्वं ? ॥५०८॥

इह दीर्घशब्दस्य लुप्तदर्शनाद् दीर्घकालिकी ' कालिकी ' इ-

स्युच्यते, कालिकी चासौ संज्ञा च पुंवद्भावात् 'कालिकसंज्ञा' इति द्रष्टव्यम् । यथा सुदीर्घमपि कालं भूतमतीतमर्थं स्मरति, एष्यच्च भावष्यद्वस्तु चिन्तयति-कथं नु नाम कर्तव्यम् ?,इत्येवा चिन्तामाश्रित्य दीर्घोऽतीताऽनागतवस्तुविषयः कालो यस्यां सा दीर्घकालिकी कालिकसंज्ञोच्यत इत्यर्थः ॥५०८॥ विशे० । (' सएणी ' शब्दे चैतया संज्ञिनो द्रष्टव्याः)

दीहकालिय-दीर्घकालिक-त्रि० । दीर्घः कालो विद्यते यस्य स दीर्घकालिकः । स्था० ३ ठा० १ उ० । चिरन्तने,दशा० ७ अ० ।

दीहकालियउवएस-दीर्घकालिकोपदेश-पुं० । दीर्घः कालो दीर्घकालः, सोऽस्यास्तीति दीर्घकालिकः, स चासावुपदेशश्च, उपदेशो भणनं, दीर्घकालोपदेशः । दीर्घकालिके भणने, आ० म० १ अ० (खण्ड ।

दीहखद्ध-दीर्घखद्ध *-त्रि० । प्रचुरतरे, व्य० ४ उ० ।

दीहगोरवपरिणाम-दीर्घगौरवपरिणाम-पुं० । यत आयुः स्वभावात् जीवस्य दीर्घं दीर्घगमनतया लोकान्ताद् लोकान्तं यावद् गमनशक्तिर्भवति स दीर्घगौरवपरिणामः । अष्टमे आयुषः परिणामे, इह गौरवशब्दो गमनपर्यायः । स्था० ६ ठा० ।

दीहजीह-देशी-शङ्खे, दे० ना० ५ वर्ग ४१ गाथा ।

दीहदक्क-दीर्घदष्ट-त्रि० । सर्पदष्टे, नि० चू० १ उ० ।

दीहत्त-दृष्टान्त-पुं० । देशीयशब्दमेतत् । उदाहरणे, दर्श० १ तत्त्व ।

दीहणिद्दा-दीर्घनिद्रा-स्त्री० । मरणे, चिरकालव्यापिन्यां निद्रायाम, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० । सुप्ताऽऽदित्याश्च पत्थम् । वाच० ।

दीहणिव-दीर्घनृप-पुं० । काम्पिल्यपुरराजे, यो हि ब्रह्मदत्तेन हतः । उत्त० १३ अ० ।

दीहदंत-दीर्घदन्त-पुं० । जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे आगामिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भाविष्यति द्वितीये चक्रवर्तिनि, स० । ति० । ती० ।

दीहदसा-दीर्घदशा-स्त्री० । ब० व० । दशाध्ययने ग्रन्थविशेषे, स्था० ।

दीहदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा-
" चंदे सूरे य सुक्के य, सिरिदेवी पभावई ।
दीवसमुद्दोववत्ती, बहुपुत्ती मंदरे इय ॥ १ ॥
थेरे संभूयविजए, पम्ह ऊसासनिस्समे ॥ "

दीर्घदशाः स्वरूपतोऽनवगता एव, तदध्ययनानि तु कानिचिन्निरयाऽऽवलिकाश्रुतस्कन्धे उपलभ्यन्ते, तत्र चन्द्रवक्तव्यताप्रतिबद्धं चन्द्राध्ययनम् । तथाहि-राजगृहे महावीरस्य चन्द्रज्योतिष्कराजो वन्दनं कृत्वा नाट्यविधिं चोपदर्श्य प्रतिगतः, गौतमश्च भगवन्तं तद्वक्तव्यतां पप्रच्छ, भगवांश्चोवाच-श्रावस्त्यामङ्गजिन्नामाऽयं गृहपतिरभूत्पार्श्वनाथसमीपे च प्रव्रजितो विराध्य च मनाक् श्रामण्यं चन्द्रतयोत्पन्नो, महाविदेहे च सेत्स्यतीति । तथा सूरवक्तव्यताप्रतिबद्धं सूरं, सूरवक्तव्यता चन्द्रवद्, नवरं सुप्रतिष्ठो नाम्ना बभूवेति । शुक्रो महा, तद्वक्तव्यता चैवम्-राजगृहे भगवन्तं वन्दित्वा शुक्रे प्रतिगते गौतमेन पृष्टे तथैव भगवानुवाच-वाराणस्यां सोमिलनामा ब्राह्मणोऽयमभवत्, पार्श्वनाथं चाऽपृच्छत्-"तं भंते ! जवणिज्जं," तथा-"सरिसवया मासा कुलत्था य ते भोज्जा," तथा-"एगे भवं दुवे भवं ." इत्यादि । भगवता चैतेषु विभक्तेषु व्याख्यातः श्रावको भूत्वा पुनर्विपर्यासादारामाऽऽदिलौकिकधर्मस्थानानि कारयित्वा दिक्प्रोक्षकतापसत्वेन प्रव्रज्य प्रतिषष्ठपारणके क्रमेण पूर्वाऽऽदिदिक्षु आनीय कन्दाऽऽदिकमभ्यवजहार । अन्यदाऽसौ यत्र क्वचन गर्ताऽऽदौ पतिष्यामि तत्रैव प्राणांस्त्यक्ष्यामि इत्यभिग्रहमभिगृह्य काष्ठमुद्रया मुखं बद्ध्वा उत्तराभिमुखः प्रतस्थौ, तत्र प्रथमदिवसे पराह्णसमये अशोकतरोरधो होमाऽऽदिकर्म कृत्वोषासि, तत्र देवेन केनाप्युक्तः-अहो सोमिल ब्राह्मण महर्षे ! दुःप्रव्रजितं ते, पुनर्द्वितीयेऽहनि तथैव सप्तपर्णस्याध उषित उक्तः, तृतीयाऽऽदिषु दिनेषु अश्वत्थवटोदुम्बराणामध उषितो भणितो देवेन, ततः पञ्चमदिनेऽसावादीदसौ-कथं नु नाम मे दुःप्रव्रजितम् ?। देवोऽवोचत्-त्वं पार्श्वनाथस्य भगवतः समीपे अणुव्रताऽऽदिकं श्रावकधर्मं प्रतिपद्याधुनाऽन्यथा वर्तसे इति दुःप्रव्रजितं तव, ततोऽद्यापि तानेवाणुव्रताऽऽदिकं धर्मं प्रतिपद्यस्व, येन सुप्रव्रजितं तव भवतीति । एवमुक्तः तथैव चकार, ततः श्रावकत्वं प्रतिपाद्यानालोचितप्रतिक्रान्तः कालं कृत्वा शुक्रावतंसके विमाने शुक्रत्वेनोत्पन्न इति । तथा श्रीदेवीसमाश्रयमध्ययनं श्रीदेवीति । तथाहि-रम्या राजगृहे महावीरवन्दनाय सौधर्मादाजगाम, नाट्यं दर्शयित्वा प्रतिजगाम च, गौतमस्तत्पूर्वभवं पप्रच्छ । भगवाँस्तं जगाद-राजगृहे सुदर्शनश्रेष्ठी बभूव, प्रियाभिधाना च तद्भार्या, तयोः सुता भूता नाम वृद्धकुमारिका पार्श्वनाथसमीपे प्रव्रजिता शरीरवकुशा जाता सातिचारा च मृत्वा दिवं गता, महाविदेहे च सेत्स्यतीति । तथा प्रभावती चेटकदुहिता वीतभयनगरनायकोदायनमहाराजभार्या, यया जिनबिम्बपूजाऽर्थं स्नानानन्तरं चेट्या सितवसनार्पणेऽपि विभ्रमाद्रक्तवसनमुपनीतमनवसरमेतदिति मन्यमानया मन्युना दर्पणेन चेटिका हता, मृता च, सा ततो वैराग्यादनशनं प्रतिपद्य देवत्वं प्रतिपन्ना, यया चोज्जयनीराजानं प्रति विक्रमेण प्रस्थितस्य ग्रीष्मे मासि पिपासाऽभिभूतसमस्तसैन्यस्योदायनमहाराजस्य स्वच्छशीतलजलपरिपूर्णत्रिपुष्करकरणेनोपकारोऽकारीत्येवंलक्षणप्रभावतीचरितयुक्तमध्ययनं प्रभावतीति संभाव्यते, न चैव निरयावलिकाश्रुतस्कन्धे दृश्यत इति पञ्चमम् । तथा बहुपुत्रिकादेवीप्रतिबद्धं सप्तमाध्ययनमुच्यते । तथाहि-राजगृहे महावीरवन्दनार्थं सौधर्माद् बहुपुत्रिकाभिधाना देवी समवततार, नाट्यं कृत्वा च प्रतिजगाम, केयमिति पृष्टे गौतमेन भगवानवादीत्-वाराणस्यां नगर्यां भद्राऽभिधानस्य सार्थवाहस्य सुभद्राऽभिधाना भार्येयं बभूव, सा च वन्ध्या पुत्रार्थिनी भिक्षार्थमागतमार्यासंघाटकं पुत्रलाभं पप्रच्छ । स च धर्ममचीकथत् । प्राव्राजीच्च सा बहुजनापत्येषु प्रीत्याऽभ्यङ्गोद्वर्त्तनापरायणा सातिचारा मृत्वा सौधर्ममगमत्, ततश्च्युत्वा च विन्ध्यगिरिसन्निवेशे ब्राह्मणीत्वेनोत्पत्स्यते, ततः पितृनामितेयं तस्यां ज्ञास्यति युगलप्रसवा च, सा षोडशभिर्वर्षैर्द्वात्रिंशद्रत्यानि जनयिष्यति, ततोऽसौ तासामार्यादार्याः प्रदास्यन्ति, तासां धर्मं कथयिष्यन्ति, श्रावकत्वं च सा प्रतिपत्स्यते, कालान्तरं प्रव्रजिष्यति, सौधर्मे चन्द्रसामानिकतयोत्पद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति । तथा स्थविरः संभूतविजयो भद्रबाहुस्वामिनो गुरुभ्राता स्थूलभद्रस्य भगवतः पुत्रस्य दीक्षादाता, तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धमध्ययनं स एवोच्यत इति नवमम् । शेषाणि प्रतीतानि । स्था० १० ठा० ।

* खद्धशब्देन प्रचुरमभिधीयते । प्रव० २ द्वार ।

दीहदिट्ठि–दीर्घदृष्टि–पुं० । दीर्घकालभावित्वाद्दस्यार्थस्यानर्थस्य च दृष्टिः पर्यालोचनम् । विमृश्यकारित्वे, अविमृश्यकारित्वे हि महादोषसम्भवात् । यत उक्तम्–" सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमाऽऽपदां पदम् । वृणुते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥१॥" इति । ध० १ अधि० । दीर्घा दृष्टिरस्य । पण्डिते, दीर्घा दूरगा दृष्टिर्यस्य । दूरवीक्षणे जन्तुभेदे, वाच० ।

दीहद्धा–दीर्घाद्धा–स्त्री० । पर्य्यालोचनायाम, क० प्र० १ प्रक० ।

दीहपट्ठ–दीर्घपृष्ठ–पुं० । यवराजामात्ये, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

दीहपास–दीर्घपार्श्व–पुं० । ऐरवते भाविनि षोडशे जिनेन्द्रे, प्रव० ७ द्वार । ति० ।

दीहबाहु–दीर्घबाहु–पुं० । ऋषभस्य त्रिसप्ततितमे पुत्रे, कल्प १ अधि० ७ क्षण । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां तृतीये वसुदेवे, स० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे अस्यामेवोत्सर्पिण्यां चन्द्रप्रभजिनस्य पूर्वभवे जीवे, स० ।

दीहभद्द–दीर्घभद्र–पुं० । माठरसगोत्रस्यार्यसंभूतिविजयस्य स्थविरस्यैकादशे स्वनामख्याते स्थविरेऽन्तेवासिनि, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

दीहमद्ध–दीर्घाद्ध–न० । दीर्घा अद्धा कालो यस्य तद्दीर्घाद्धम् । मकार आगमिकः । दीर्घकालगम्ये, स्था० २ ठा० १ उ० । प्रश्न० । ज० । सूत्र० । आ० ।

दीर्घाध्व–न० । दीर्घोऽध्वा मार्गो यस्मिन् तद्दीर्घाध्वम् । दीर्घमार्गगम्ये, स्था० २ ठा० १ उ० । प्रश्न० । भ० । सूत्र० । आ० । दीर्घमार्गे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

दीहमद्धा–दीर्घाद्धा–स्त्री० । दीर्घोऽद्धा कालो यस्यां सा दीर्घाद्धा, मकारस्त्वागमिकः । दीर्घकालगम्यायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

दीर्घाध्वा–स्त्री० । दीर्घोऽध्वा मार्गो यस्यां सा दीर्घाध्वा । दीर्घमार्गगम्यायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ० । औ० ।

दीहमाउ–दीर्घाऽऽयुष्–न० । चिरजीविते, शुभमितीह विशेषणं द्रष्टव्यमिति । स्था० १० ठा० ।

दीहर–दीर्घ–पुं० । " रो दीर्घात् " ॥ ८ । २ । १७१ ॥ इति दीर्घशब्दात्स्वार्थे रः । 'दीहरं । दीहं ।' प्रा० २ पाद । " सर्वत्र लवरामवन्द्रे " ॥ ८ । २ । ७९ ॥ इति लुक् । "खघथधभाम्" ॥ ८ । १ । १८७ ॥ इति घस्य हः । प्रा० ढुं० १ पाद । आयते, "अंके ते दीहरलोअण अन्नु ते भुअजुअलु ।" प्रा० २ पाद ।

दीहराय–दीर्घरात्र–न० । यावज्जीवे, आव० ४ अ० । आचा० ।

दीहलोय–दीर्घलोक–पुं० । वनस्पतौ, आचा० । यस्मादसौ कायस्थित्या परिमाणेन शरीरोच्छ्रयेण च शेषैकेन्द्रियेभ्यो दीर्घो वर्तते । तथाहि–कायस्थित्या तावत् " वणस्सइकाइए णं भंते ! वणस्सइकाए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? । गोयमा ! अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणिअवसप्पिणीओ, खेत्तओ अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पुग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागे ।" परिमाणतस्तु–" पडुप्पन्नवणस्सइकाइया णं भंते ! केवतिकालस्स निल्लेवणा सिया ? । गोयमा ! पडुप्पन्नवणस्सइकाइयाणं नत्थि निल्लेवणा ।" तथा–शरीरोच्छ्रयाच्च दीर्घो वनस्पतिः, " वणस्सइकाइयाणं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! साइरेगं जोयणसहस्सं सरीरोगाहणा ।" न तथाऽन्येषामेकेन्द्रियाणाम्, अतः स्थितमेतत्सर्वथा दीर्घलोको वनस्पतिरिति । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

दीहलोयसत्थ–दीर्घलोकशस्त्र–न० । वनस्पत्युत्सादकेऽग्नौ, आचा० । अस्य च शस्त्रमग्निः, यस्मात्स हि प्रवृद्धज्वालाकलापाऽऽकुलः सकलतरुगणप्रध्वंसनाय प्रभवति, अतोऽसौ तदुत्सादकत्वाच्छस्त्रम् । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

दीहवच्छ–दीर्घवृक्ष–पुं० । महति वृक्षे. आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

दीहवेयड्ढ–दीर्घ (विजयार्द्ध) वैताढ्य–पुं० । दीर्घे अर्द्धक्षेत्रविभागकारके पर्वतविशेषे, स्था० ।

जंबू ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो दीहवेयड्ढपव्वया पण्णत्ता । तं जहा–बहुसमतुल्ला० जाव भारहे चेव दीहवेयड्ढे, एरावए चेव दीहवेयड्ढे । भारहे णं दीहवेयड्ढे दो गुहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा–बहुसमतुल्लाओ अविसेसमणाणत्ताओ अन्नमन्नं णाइवट्टंति आयामविक्खंभुच्चत्तसंठाणपरिणाहेणं । तं जहा–तिमिसगुहा चेव, खंडगप्पवायगुहा चेव । तत्थ णं दो देवा महिड्ढिया० जाव पलिओवमट्ठिइया परिवसंति । तं जहा–कयमालए चेव, णट्टमालए चेव । एरावए णं दीहवेयड्ढे दो गुहा पण्णत्ता । तं जहा–जाव कयमालए चेव, णट्टमालए चेव ।

(दो दीहवेयड्ढ त्ति) वृत्तवैताढ्यव्यवच्छेदार्थं दीर्घग्रहणं, वैताढ्यौ विजयार्द्धौ चेति संस्कारः, तौ च भरतैरवतयोर्मध्यभागे पूर्वापरतो लवणोदधिं स्पृशन्तौ पञ्चविंशतियोजनोच्छ्रितौ तत्पादावगाढौ पञ्चाशद्विस्तृतौ आयतसंस्थितौ सर्वराजतावुभयतो बहिः काञ्चनमयरत्नाढ्याविति । आह च–" पणवीसं उव्विद्धो, पन्नासं जोयणाणि वित्थिण्णो । वेयड्ढो रययमओ, भरहक्खेत्तस्स मज्झम्मि ॥१॥" इति । (भारहे णमित्यादि) वैताढ्ये अपरतस्तमिस्रा गुहा गिरिविस्ताराऽऽयामा द्वादशयोजनविस्तारा अष्टयोजनोच्छ्रया आयतचतुरस्रसंस्थाना विजयद्वारप्रमाणद्वारा वज्रकपाटपिहिता बहुमध्ये द्वियोजनान्तराभ्यां त्रियोजनविस्ताराभ्यामुन्मग्नानिमग्नजलाभिधानाभ्यां नदीभ्यां युक्ता, तद्वत्पूर्वतः खण्डप्रपातगुहेति । (तत्थ णं ति) तयोस्तमिस्रायां गुहायां कृतमालकः, इतरस्यां नृत्तमालक इति । (एरवए) इत्यादि तथैव । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

जंबू ! मंदरस्स पुरच्छिमेणं सीआए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ दीहवेयड्ढा, अट्ठ तिमिसगुहाओ, अट्ठ खंडगप्पवायगुहाओ, अट्ठ कयमालगा देवा, अट्ठ णट्टमालगा देवा, अट्ठ गंगाओ, अट्ठ सिंधूओ, अट्ठ गंगाकुंडा, अट्ठ सिंधुकुंडा, अट्ठ उसभकूडा पण्णत्ता, अट्ठ उसभकूडा देवा पण्णत्ता । जंबू ! मंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठ दी-

इवेयड्ढा एवं चेव० जाव अट्ठ उसभकूडा देवा पन्नत्ता,नव-रमेत्थ रत्तारत्तवईओ,तासिं चेव कुडा। जंबू! मंदरपव्वच्छिमे णं सीओयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठ दीहवेयड्ढा० जाव अट्ठ नट्टमालगा देवा अट्ठ गंगाकुंडा अट्ठ सिंधुकुंडा अट्ठ गंगाओ अट्ठ सिंधूओ अट्ठ उसभकूडपव्वया अट्ठ उसभ-कूडा देवा पन्नत्ता। जंबू! मंदरपुरच्छिमेणं सीओयाए महा-णईए उत्तरेणं अट्ठ दीहवेयड्ढा० जाव अट्ठ नट्टमालगा देवा अट्ठ रत्तकुंडा अट्ठ रत्तावईकुंडा अट्ठ रत्ताओ० जाव अट्ठ उसभकूडदेवा पण्णत्ता। स्था० ८ ठा०। स०। जं०।

(तेषां कूटानि 'कूड' शब्दे तृतीयभागे ६१८ पृष्ठे द्रष्टव्यानि)

दीहसद्द-दीर्घशब्द-पुं०। दीर्घवर्णाऽऽश्रिते, मेघाऽऽदिशब्दव-द् दूरश्राव्ये च। स्था० १० ठा०।

दीहसुत्त-दीर्घसूत्र-न०। बृहत्सूत्रे, नि० चू०।

जे भिक्खू सणकप्पासाओ वा पोंडकप्पासाओ वा उणकप्पासाओ वा मिलकप्पासाओ वा दीहसुत्ताइं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ ५६ ॥ नि० चू० ५ उ०।

('सुत्त' शब्दे व्याख्यास्यते चैतत्)

दीहसेण-दीर्घसेन-पुं०। भरतक्षेत्रजचन्द्रप्रभजिनसमकालिके ऐरवतजे जिने, ति०। श्रेणिकस्य राज्ञो धारण्यां जाते स्वना-मख्याते पुत्रे, स च महावीरस्वामिनोऽन्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्ष-पर्यायः संलेखनया मृत्वा विजये देवलोके उपपद्य ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यतीत्यनुत्तरोपपातिकदशानां द्वितीयवर्गस्य प्रथमेऽध्ययने सूचितम्। अणु० १ श्रु० २ वर्ग १ अ०। अ-स्मादन्यः श्रेणिकधारणीसुत एतन्नामा वीरान्तिके प्रव्रज्य द्वाद-शवर्षपर्यायः संलेखनया मृत्वा सर्वार्थसिद्धे उपपन्नो महावि-देहे सेत्स्यतीत्यनुत्तरोपपातिकदशानां प्रथमवर्गस्य षष्ठेऽध्यय-ने सूचितम्। अणु० १ वर्ग १ अ०। भरतक्षेत्रजशान्तिनाथ-जिनसमकालिके ऐरवतजे जिने च। ति०।

दीहाउ-दीर्घाऽऽयुष्-न०। "आयुरप्सरसोर्वा" ॥ ८। १। २०॥ इत्यन्त्यव्यञ्जनस्य सो वा। 'दीहाउसो। दीहाऊ।' प्रा० १ पाद। दीर्घं सागरोपमपरिमिततया आयुरेषामिति दीर्घाऽऽयुः। उत्त० ५ अ०। चिरजीविन्वे, कल्प० १ क्षण।

दीहाउअत्ता-दीर्घायुष्टा-स्त्री०। दीर्घस्थितिकजीवितहेतुकर्म-त्वे, स्था० ३ ठा० १ उ०। (एतत्कारणानि 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे १२ पृष्ठे उक्तानि)

दीहासण-दीर्घाऽऽसन-न०। शय्याकारे आसने,जं०१ वक्ष०। जी०।

दीहिया-दीर्घिका-स्त्री०। ऋजुसारिण्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। रा०। जं०। अनु०। आचा०। जी०। प्रज्ञा०। भ०। नि० चू०। औ०।

दु-दुर्-अव्य०। अभावे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। जुगु-प्सायाम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड।

दुअं-द्रुतम्-अव्य०। त्वरिते, अनु०। वाच०।

दुअक्खर-देशी-षण्ढे, दे० ना० ५ वर्ग ४७ गाथा।

दुअक्खरय-द्व्यक्षरक-पुं०। दासे, भृतकः कर्मकरस्तद्विपयोऽ-क्षरको द्व्यक्षरकः, द्व्यक्षरकाभिधानो दास इत्यर्थः। पिं०।

दुअक्खरिया-द्व्यक्षरिका-स्त्री०। दास्याम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड।

दुअल्ल-दुकूल-न०। "दुकूले वा लश्च द्विः" ॥ ८। १। ११९॥ इति ऊकारस्य वैकल्पिकोऽकारः, तत्संनियोगे लस्य द्वित्वम्। 'दुअल्लं, दुऊलं।' आर्षे-'दुगुल्लं'। प्रा० १ पाद। वस्त्रे, औ०। दु-कन्वच्-कुच् च। दुवं कूलति। 'कूल' आवरणे। क्षौ-माम्बरे, सूक्ष्मवस्त्रे, न०। सूक्ष्मवस्त्रे च। वाच०।

दुआइ-द्विजाति-पुं०। "द्विन्योरुत्" ॥ ८। १। ९४॥ इति इकारस्य उत्त्वम्। प्रा० १ पाद। "सर्वत्र लवरामवन्द्रे" ॥ ८। २। ७९॥ इति वलुक्। प्रा० २ पाद। वाच०। द्वे जाती जन्मनि यस्य "ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्य-स्त्रयो वर्णा द्विजातयः।" इति मनूक्ते वर्णत्रये, "मातुरग्रेऽधिजननं, द्वितीयं मौञ्जिबन्धने" इत्युक्तेस्तेषां तथात्वम्। वाच०।

दुआइक्ख-दुराख्येय-न०। कृच्छ्राऽऽख्येये वस्तुतत्त्वे, स्था० ५ ठा० १ उ०।

दुआर-द्वार-न०। प्रवेशनिर्गममार्गे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। प्र-तोल्यां च। ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

दुआरिया-द्वारिका-स्त्री०। अपद्वारे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

दुआवत्त-द्विकाऽऽवर्त्त-पुं०। षोडशोऽच्छिन्नच्छेदनयिके दृ-ष्टिवादस्य सूत्रे, स० १२ अङ्ग।

दुइअ-द्वितीय-त्रि०। "द्विन्योरुत्" ॥ ८। १। ९४॥ इतीका-रस्योकारः। 'दुइओ।' प्रा० १ पाद। "पानीयाऽऽदिष्वित्" ॥ ८। १। १०१॥ इति ईकारस्य इकारः। 'दुइअ।' प्रा० १ पाद। "स-र्वत्र लवराम०-" ॥ ८। २। ७९॥ इत्यादिना वलुक्। प्रा० २ पाद। "कगचजत०-" ॥ ८। १। १७७॥ इत्यादिना तलोपः। द्वयोः पूरणः द्वितीयः। द्वयोः पूरणे द्वितीये भागे, वाच०।

दुइज्जित्तए-द्रोतुम्-अव्य०। विहर्त्तुमित्यर्थे, स्था०५ ठा०२ उ०।

दुउच्छ-गुप्-धा०। भ्वा०-आत्म०-अक०-सेट्। कुत्सने,वाच०। "गुपेः कुणदुगुच्छदुगुच्छाः" ॥ ८। ४। ४० ॥ इति दुगु-च्छाऽऽदेशः। "कग०-" ॥ ८। १। १७७॥ इति गलोपे, "दु-उच्छइ। दुगुंछइ।" प्रा० ४ पाद।

दुउण-द्विगुण-त्रि०। "द्विन्योरुत्" ॥ ८। १। ९४॥ इती-कारस्योकारः। 'दुउणो। बिउणो।' प्रा० १ पाद। द्वाभ्यां गु-ण्यते, गुण-कर्मणि कः। द्वाभ्यां गुणिते, वाच०।

दुऊल-दुकूल-न०। 'दुअल्ल' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद।

दुओणय-द्व्यवनत-न०। अवनतिरवनतमुत्तमाङ्गप्रधानं प्रणम-नमित्यर्थः,द्वे अवनते यस्मिन् तद् द्व्यवनतम्। द्विरवनतस्य वन्द-ने, आव०। एवं यदा प्रथममेव "इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए।" इत्यभिधाय छन्दोऽनुज्ञापनाया-ऽवनतमिति द्वितीयं पुनर्यदा कृताऽऽवर्त्तो निष्क्रान्तः"इच्छामि" इत्यादि सूत्रमभिधाय छन्दोऽनुज्ञापनायैवाऽवनतमिति। आव० ३ अ०। वृ०। प्रव०।

दुंदुमिश्र-देशी-गगनगर्जिते, दे० ना०५ वर्ग ४५ गाथा।

दुंदुभग-दुन्दुभक-पुं० । अष्टादशे महाग्रहे, "दो दुंदुभगा।" स्था० २ ठा० ३ उ० । चं०प्र० । कल्प० । जं० । सू० प्र० ।

दुंदुहि-दुन्दुभि-पुं० । ढक्काविशेषे, भ० ६ श० ३३ उ० । आ० चू० । औ० । रा० । कल्प० । जं० । महत्प्रमाणे मुरजे, नि० चू० १ उ० । भेर्याकारे संकटमुखे देवाऽऽतोद्यविशेषे, रा० । ज्ञा० । प्रश्न० । जी० । ज्ञा० ।

दुंदुमिणी-देशी-रूपवत्याम्, दे० ना० ५ वर्ग ५ गाथा ।

दुंदुहि-दुन्दुभि-पुं० । 'दुंदुहि' शब्दार्थे, रा० ।

दुंबत्ता-देशी-सरिति, दे० ना० ५ वर्ग ४८ गाथा ।

दुक्कड-दुष्कृत-न० । दुष्टं कृतं दुष्कृतम् । पापे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । आचा० । आ० म० । स० । असदनुष्ठाने, असातावेदनीयोदयरूपे पापफले, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । पापकरणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आ० म० । अकर्तव्ये, आव० ४ अ० । पापविपाके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । दुःखे च । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । "मिच्छाए मणदुक्कडाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए ।" आव० ३ अ० । "दुक्कडं ति वा, सावज्जमणुचिन्नं ति वा, पावकम्ममासेवितं ति वा वितहमाइण्णं ति वा एगट्ठा ।" आ० चू० १ अ० ।

दुक्कडकम्म-दुष्कृतकर्मन्-न० । दुष्टं कृतं दुष्कृतं, तदेव कर्मानुष्ठानम् । पापानुष्ठाने, दुष्कृतेन कर्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकं तद् दुष्कृतकर्म । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

दुक्कडकम्मकारि(ण्)-दुष्कृतकर्मकारिन्-पुं० । दुष्कृतं कर्म कर्तुं शीलं येषां ते दुष्कृतकर्मकारिणः । पापानुष्ठानकरणशीलेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

दुक्कडकारि(ण्)-दुष्कृतकारिन्-पुं० । पापविधायिनि, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

दुक्कडगरहा-दुष्कृतगर्हा-स्त्री० । दुष्कृतेष्विहपरभवगतेषु गर्हा । अकर्तव्यबुद्धिसारापरसाक्षिकयाम्, आव० १ अ० ।

दुक्कडतावि(ण्)-दुष्कृततापिन्-पुं० । दुष्कृतेनातिचाराऽऽसेवनेन तप्यते अनुतापं करोतीत्येवंशीलः दुष्कृततापी । अतिचाराऽऽसेवनानुतापकरणशीले, पञ्चा० १५ विव० ।

दुक्कडि(ण्)-दुष्कृतिन्-त्रि० । दुष्कृतं विद्यते येषां ते दुष्कृतिनः । नारकेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । महापापेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

दुक्कडिय-दुष्कृतिक-त्रि० । दुष्कृतमसदनुष्ठानं पापं वा तत्फलं वा असातावेदनीयोदयरूपं तद्विद्यते यस्मिन् स दुष्कृतिकः । असदनुष्ठायिनि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

दुक्कप्प-दुष्कल्प-पुं० । पार्श्वस्थाऽऽदीनां प्रवचननिन्दितानां कल्पे, पं० भा० ।

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए निच्चकाल पासत्थो ।
निंदं च निंदओ पव-यणम्मि तं जाणसु दुक्कप्पं ॥
दुक्कप्पविहारीणं, एगंताऽऽसातणाए बंधो य ।
आसातणाएँ बंधे-ण य दीहो होतु संसारो ॥ पं० भा० ।

दर्शनादिषु दुष्कल्पो । तत्थ सो दंसणाईहिं पासत्थो अच्छइ, निच्चं निंदिओ गरहिओ य पवयणम्मि, जेण ताइं जाणासि पडिसेवइ । गाहा-(दुक्कप्पविहारीणं) पाठसिद्धं । पं० चू० ।

दुक्कय-दुष्कृत-त्रि० । पापे, षो० १३ विव० । पापकर्मणि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दुक्कर-दुष्कर-त्रि० । कृ-खल् । दुष्करमेव दुक्करम् । कष्टसाध्ये, पञ्चा० १३ विव० । कर्तुमशक्ये, आव० ५ अ० । नि० चू० । ज्यो० । "अहो ! दुक्करकारआ ।" प्रा० २ पाद । "पभिरउ पइ मणोरहइं, दुक्करु एहउ करेह ।" प्रा० ४ पाद । दुःखेन क्रियते । कृ-खल् । आकाशे, वाच० । माघे, रात्रौ, चतुर्थीयत्नाने, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

दुक्करकरण-दुष्करकरण-न० । दुष्करकारितायाम्, व्य० १० उ० । नि० चू० । "दुक्करकरणं च कहं ?, उच्यते-ण दुक्करं जं पडिसेवियं तं जीवस्स सकुहाणुकूलं दुक्करं, नवरं जं चिरसंनिविसिकरणं तं दुक्करकरणं ति ।" नि० चू० २० उ० ।

दुक्काल-दुष्काल-पुं० । धान्यमहर्घताऽऽदिना दुष्टे समये, जं० १ वक्ष० ।

दुक्कुक्काणिआ-देशी-पतद्ग्रहे, दे० ना० वर्ग ४७ गाथा ।

दुक्कुलजम्मप्पसत्थि-दुष्कुलजन्मप्रशस्ति-स्त्री० । दुष्कुलेषु शकयवनशबरबर्बराऽऽदिसम्बन्धिषु यज्जन्म असदाचाराणां प्राणिनां प्रादुर्भावस्तस्य प्रशस्तिः प्रज्ञापना । असदाचाराणां प्रादुर्भावप्रज्ञापनायाम्, ध० । तत्र चोपदेशानां किमत्याह-"दुःखपरम्परानिवेदनमिति ।" दुःखानां शारीरमानसाशर्मलक्षणानां या परम्परा प्रवाहस्तस्या निवेदनं प्ररूपणम् । यथा-असदाचारपापवशाज्जीवा दुष्कुलेषूत्पद्यन्ते, तत्र चासुन्दरवर्णरसगन्धस्पर्शशरीरभाजां तेषां दुःखनिराकरणनिबन्धनस्य धर्मस्य स्वप्नेऽप्यनुपलम्भात् हिंसाऽनृतस्तेयाद्यकर्मप्रवणानां तत्कालाऽऽदिफलः पापकर्मोपचय एव सम्पद्यते, तदभिभूतानामिह परत्र चाऽत्यन्तविच्छिन्नानुबन्धा दुःखपरम्परा प्रसूयते । यदुच्यते-"कर्मभिरेव स जीवो, विवशः संसारचक्रमुपयाति । द्रव्यक्षेत्राद्धाभावभिन्नमावर्त्तते बहुशः ॥ १ ॥" ध० १ अधि० ।

दुक्कुद्द-देशी-असहने, दे० ना० ५ वर्ग ४४ गाथा ।

दुक्ख-दुःख-न० । "षाऽद्यवर्थवचनाऽऽद्या" ॥ ८ । १ । ३३ ॥ इति पुंसि वा प्रयोगः । 'दुक्खा । दुक्खाइं ।' प्रा० १ पाद । "कगटडतदपशषसः ×क ×पामूर्ध्वं लुक्" ॥ ८ । २ । ७७ ॥ एषां संयुक्तवर्णसम्बन्धिनामूर्ध्वं स्थितानां लुग् भवति । दुःखम् । प्रा० २ पाद । दुःखं करोति दुःखयति, दुःखयतीति दुःखम् । पापकर्मणि, उत्त० ६ अ० । सूत्र० । प्रश्न० । व्यवा० । महा० । आचा० । औ० । दुष्करे, बृ० ६ उ० । क्लेशे, स० ६ सम० । संसारे, उत्त० ३२ अ० । रोगे, उत्त० २ अ० । सूत्र० । असमाधिसमुत्पादे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । दुष्कृतकर्मफले, दश० १ अ० । असातावेदनीयोदये, आचा० २ श्रु० ४ चू० १ अ० । प्रतिकूलतयाऽवभासमाने राजसे चित्तधर्मे, द्वा० २१ द्वा० । उदयेन असातवेदनीयोदयं प्राप्ते (सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०) कष्टे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आचा० । अज्ञाने, मोहनीये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । असुखरूपे, भ० ५

श्रा० ६ अ० । तापानुभवरूपे, दश० १ अ० । असंवेद्ये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । विविधबाधनायोगरूपे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । असातोदयाऽऽदिरूपे कर्मफले, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अष्टप्रकारके कर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । असातोदये, अष्ट० २१ अष्ट० । आचा० । सूत्र० । असातोदयकारणे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । न० । सूत्र० । उत्त० । असातवेदनीयविपाकजनिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । परीषहोपसर्गजनितपीडायां च । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

"दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवेद् गर्भवासे नराणां,
बालत्वे चाऽपि दुःखं मललुलिततनुस्त्रीपयःपानमिश्रम् ।
तारुण्ये चाऽपि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः,
संसारे रे मनुष्याः! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥" ध० र० ।

तथाहि-

जाणंति अणुहवंति य, अणुजम्म जरामरणसंभवे दुक्खे ।
न य विसयेसु विरज्जंति, गोयमा ! दुग्गइगमणपत्थए जीवे ॥
महा० ६ अ० ।

दुक्खमेवमवीसामं, सव्वेसिं जगजंतुणं ।
एगं समयं तमभावे, जं सम्मं अहियासियं ॥ महा० ५ अ० ।

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतदुक्तं समासेन, लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १९ ॥

सर्वं परवशं पराधीनं दुःखं, तल्लक्षणयोगात् । सर्वमात्मवशमपराधीनं सुखम्, अत एव हेतोः, एतदुक्तं मुनिना संक्षेपेण समासेन, लक्षणं स्वरूपं सुखदुःखयोः । इत्थं च ध्यानजमेव तत्त्वतः सुखं, न तु पुण्योदयजमपीत्यावेदितं भवति । तदाह-" पुण्यापेक्षमपि ह्येवं, सुखं परवशं स्थितम् । ततश्च दुःखमेवैतद्, ध्यानजं तात्त्विकं सुखम् ॥ १ ॥ " द्वा० २४ द्वा० ।

सूईहिं अग्गिवण्णाहिं, संभिन्नस्स निरंतरं ।
जावइयं गोयमा ! दुक्खं, गब्भे अट्ठगुणं तओ ॥
गब्भाओ निप्फडंतस्स, जोणिजंतुनिपीलणे ।
कोडीगुणं तयं दुक्खं, कोडाकोडीगुणं पि वा ॥
जायमाणाण जं दुक्खं, मरमाणाण जंतुणो ।
तेण दुक्खविवागेणं, जाइं न सरंति अप्पणो ॥ महा० ५ अ० ।

एगे दुक्खे जीवाणं ।

(एगे दुक्खे) एकमेवाभिमतत्वग्रहणलक्षणं दुःखं यस्य स एकदुःखः । "एगे अक्खे त्ति" पाठान्तरे त्वेकधैवाऽऽख्या संज्ञा-ऽऽद्यर्थ्यपदेशो यस्य स त्वसंज्ञकः, संज्ञासंज्ञक इत्यादिकोऽपि व्यपदेशान्तरनिमित्तस्य कषायाऽऽदेरभावादिति संभवत्येकधाऽऽख्यः । एकधा सको वा जीवो यस्य स तथेति जीवानां प्राणिनामेकभूत एक इवाऽऽत्मोपम इत्यर्थः । एकान्तहितवृत्तित्वात् । एकत्वं चास्य बहूनामपि समत्वभावत्वादिति । अथवा-एकेत्यादिसूत्रान्तरसूत्ररूपसंज्ञकादस्यैषां स्वरूपप्रतिपादनापरं, तत्र प्राकृतत्वात् प्रत्येकमेकं दुःखं प्रत्येकैकदुःखं जीवानां स्वकृतकर्मफलभोगित्वात् । किमुक्तं तदित्याह-एकभूतममन्यतया व्यवस्थितं प्राणिषु, न सान्वयानामिव बाह्यमिति । स्था० १ ठा० ।

जीवानां दुःखवर्णकः-

कालं गमेंति दुक्खेहिं, मणुया पुव्वेहिँ उज्झिया ।

संखित्तमिमं भणियं, सव्वेसिं जगजंतुणं ॥
दुक्खं माणुसजाईणं, गोयम ! जं तं निबोधत ।
समणुसमयमणुभवंताण, सयहा उव्वेइयाण वि ॥
निव्विन्नाणं पि दुक्खेहिं, वेरग्गं न तहा वि जवे ।
दुविहं समासओ मुणसु, दुक्खं सारीर माणसं घोरं ॥
एए चंडमहारोद्दं, तिविहं एक्केक्कयं भवे ।
घोरं झाणमुहुत्त, घोरपयंडं महारोद्दं ॥
अणुसमयमविस्सामं, मुण .... ।
घोरं मणुस्सजाईणं, घोरपयंडं मुणे तिरिच्छासु ॥
घोरपयंडमहारोद्दं, नारयजीवाण गोयमा ! ।
माणुस्सं तिविहं जाणे, जहन्न मज्झुत्तमं दुहं ॥
नत्थि जहन्नं तिरिच्छाणं, दुहमुक्कोसं तु नारयं ।
जं तं जहण्णगं दुक्खं, माणुस्सं तं दुहा मुणे ॥
सुहुमबायरभेएणं, निव्विन्नागे इतरे दुवे ।
संमुच्छिमेसु मणुएसु, सुहुमं देवेसु बायरं ॥
चवणकाले महड्ढीणं, आजम्मं आभिओगियाण उ ।
सारीरं नत्थि देवाणं, दुक्खं णं माणुसेण य ॥
अइबलियं मज्झिमं हिययं, सयखंडं जइ न वी फुडे ।
णिव्विन्नागे य जे जाणिए, दोन्नि मज्झुत्तमे दुहे ॥
मणुयाणं ते समक्खाए, गब्भवक्कंतियाण उ ।
असंखेया उ मणुयाणं, दुक्खं जाणे वि मज्झिमं ॥
संखेयावासाणं तु, दुक्खं चेव उक्कोसगं ।
असोक्खं वेयणा, वाही पीडा दुक्खमणिव्वुई ॥
अ (ण) रागमरई केसं, एवमाई एगट्ठिया बहू ।
सारीरेयरभेदम्मि, जं जणियं तं पचक्खइ ॥
सारीरं गोयमा ! दुक्खं, सुपरिफुडं तमवधारय ।
बालग्गकोडिलक्खमयं, जागमित्तं ठिवं धुवे ॥
अत्थिरअणुणाणपदे-ससरं कुंथुमणुहविति खणं ।
तेण वि करकत्ति सल्लउं, हिययमक्कमए तणू ॥
सीयंती अंगमंगाइं, गुरुओ वेइ सव्व .... ।
सव्वसरीरस्सऽब्भंतरं, कंपे थरथरस्स य ॥
कुंथुफरासियमेत्तस्स, जं सलसले तणू ।
समेव संभिन्नसव्वंगे, फल्लए डज्झंतमाणसे ॥
चिंतंतो हा किं किमेयं, वाहे गुरुपीडाकरं ।
दीहुण्हमुक्कनीसासे, दुक्खं दुक्खेण नित्थरे ॥
किमेयं किंचिरं वाऽयं, किया चरण वा णड्डिही ।
कइ वाऽहं विमुच्चिस्सं, इमाओ दुक्खसंकडा ॥
गच्छं चिट्ठं सुवं उट्ठं, धावएणेस पलामिउं ।
कंडुयं किं च पुरे काउं, किं वा पच्छं करेमि हं ॥
एवं तिवग्गवावारं, छिच्चोरं दुक्खसंकडं ।
पविट्ठो बाढ संखेज्जा, आवलियाउ किलिस्सयं ॥

पुएणाहिं कंडुपामेसु, कंडू मे अम्हहा णो उवसमे ।
ता एयस्सुवसायणं, गोयम ! णिसुणेसु जं करे ॥
अहंतं कुंथु वावाए, जइ णो अन्नत्थ गयं भवे ।
कंडूयमाणेहि णिग्घादी, अणुवसमं णो किलम्मए ॥
जइ वावाएज्ज तं कुंथुं, कंडूयमाणो व ऽयग्हा ।
तो तं अट्टरोद्दज्झाणम्मि, पविट्ठं णिच्छयओ मुणे ॥
अह किलामे तओ भयगा, रोद्दज्झाणेयरस्स उ ।
कंडूयमाणस्स उण, देहं सुहुमट्टज्झाणं मुणे ॥
समज्जे रोद्दज्झाणट्ठो, उक्कोसं नारगाउयं ।
कुज्जागित्थीपंढतेरिच्छं, अट्टज्झाणं समज्जिणे ॥
कुंथुपइफरिसजणिया-ओ दुक्खाओ उवसमित्थया ।
एत्थ हलअफलोच्चूतं, जमवत्थंतरं वए ॥
तिव्वएणमुहज्झावसे, अइदीणविमणदुम्मणे ।
सुन्ने वयणे य मूढदिट्ठी, मंददरदीहनिस्ससे ॥
अविस्सामं दुक्खहेउयं, असुहं तेरिच्छनारयं ।
कम्मं निबंधइत्ता णं, जमिही जवपरंपरं ॥
एवं खउवसमाओ तं, कुंथुवइरजं दुहं ।
कह कह बहुकिलेसेणं, जइ खणमेक्कं पि उवसमे ॥
ता मह किलेसमुत्तिउं, सुहियं से अताणयं ।
मन्नंतो पमइओ हिट्ठो, सत्थच्छिओ वि चिट्ठइ ॥
चिंतइ किल निव्वुओ मि अहं, निद्दाविय दुक्खं पि मे ।
कंडुयणा-दिहिं सयमेव, न मुणे एवं जहा मए ॥
रोद्दज्झाणगएण ऽह, अट्टज्झाणे तहेव य ।
संवगइत्ता उ तं दुक्खं, अणंताणंतगुणं कडं ॥
जं वाऽणुभवयमणवरयं, जहा राई तहा दिणं ।
दुहमेवाणुभवमाणस्स, वीसामो नो भवेज्ज मे ॥
खणं पि नरयतिरिएसु, सागरोवमसंखया ।
रमरसविलज्जए हिययं, जं वा इत्थं ततो ण वि ॥
अहवा किं कुंथुजणिया, उमुक्को सो दुक्खसंकडा ।
खीणऽट्ठकम्मसारिसा सो, भवेज्ज जणुमेत्तेण वओ ॥
कुंथुमुवलक्खणं इहइं, सव्वं पच्चक्खदुक्खदं ।
अणुजवमाणो वि जं पाणी, ण य संती तेणुवेक्खइ ।
अन्ने वि गुरुयरे दुक्खे,सव्वेसिं संसारिणं । महा० २ अ० ।

नारकाणिरश्चां दुःखबाहुल्यं प्रतीतमेव-
"अच्छिनिमीलणमित्तं, नत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं ।
नरए नेरइआणं, अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥ १ ॥
जं नरए नेरइआ, दुक्खं पावंति गोयमा ! तिक्खं ।
तं पुण निगोअमज्झे, अणंतगुणिअं मुणेअव्वं ॥ २ ॥"
मानुष्यके गर्भजन्मजरामरणविविधाधिव्याधिदौर्गत्याऽऽद्युपद्रवैर्दुःखमेव,देवत्वेऽपि च्यवनदासत्वपराभवेर्ष्याऽऽदिभिः। उक्तं च-
" सूईहिं अग्गिवण्णाहिं, संभिन्नस्स निरंतरं ।
जारिसं गोयमा ! दुक्खं, गब्भे अट्ठगुणं तओ ॥ १ ॥
गब्भाओ नीहरंतस्स, जोणीजंतुनिपीलणे ।
सयसाहस्सिअं दुक्खं, कोडाकोडीगुणं पि वा ॥ २ ॥
बारगनिरोहवहबंधरोगघणहरणमरणवसणाइ ।
मणसंतावो अजसो, विग्गोवणया य माणुस्से ॥ ३ ॥
चिंतासंतावेहि अ, दारिद्दरुआहि दुप्पउत्ताहिं ।
लद्धूण वि माणुस्सं, मरंति केई सुनिव्विण्णा ॥ ४ ॥
ईसाविसायमयकोह-मायालोहेहिं एवमाई...हिं ।
देवा वि समभिभूआ, तेसिं कत्तो सुहं नाम ? ॥ ५ ॥" ध० २ अधि० ।

दुःखत्रयाभिहतस्य पुरुषस्य तदपघातहेतुत्वात् जिज्ञासोत्पद्यते । आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेति दुःखत्रयम् । तत्राऽऽध्यात्मिकं द्विविधम्-शारीरं, मानसं च । शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम् । मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम् । सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम् । बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा-आधिभौतिकमाधिदैविकं चेति । तत्राधिभौतिकं-मानुषपशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरनिमित्तम् । आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहाऽऽद्यावेशहेतुकम् । अनेन दुःखत्रयेण रजःपरिणामभेदेन बुद्धिवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलतयाऽभिसम्बन्धोऽभिघातः । (१५) स्या० ।

दुक्खी भंते ! दुक्खेणं फुडे ?। गोयमा ! दुक्खी दुक्खेणं फुडे, नो अदुक्खी दुक्खेणं फुडे । दुक्खी भंते ! नेरइए दुक्खेणं फुडे, अदुक्खी नेरइए दुक्खेण फुडे ?। गोयमा ! दुक्खी नेरइए दुक्खेणं फुडे, नो अदुक्खी नेरइए दुक्खेणं फुडे, एवं दंडओ० जाव वेमाणियाणं, एवं पंच दंडगा नेयव्वा-दुक्खी दुक्खेणं फुडे, दुक्खी दुक्खं परियाइयइ, दुक्खी दुक्खं उदीरेइ,दुक्खी दुक्खं वेएइ, दुक्खी दुक्खं निज्जरेइ ।

(दुक्खी भंते ! दुक्खेणं फुडे त्ति) दुःखनिमित्तत्वाद् दुःखं कर्म, तद्वान् जीवो दुःखी भदन्त ! दुःखेन दुःखहेतुत्वात् कर्मणा स्पृष्टो बद्धः, (नो अदुक्खी इत्यादि) नो नैवादुःखी अकर्मा दुःखेन स्पृष्टः,सिद्धस्यापि तत्प्रसङ्गादिति । (एवं पंच दंडगा णेयव्व त्ति) एवमित्यनन्तरोक्ताभिलापेन पञ्च दण्डका नेतव्याः,तत्र दुःखी दुःखेन स्पृष्ट इत्येक एव ।(दुक्खी दुक्खं परियाइयइ त्ति) द्वितीयः,तत्र दुःखी कर्मवान् दुःखं कर्मपर्यादत्ते,सामस्त्येनोपादत्ते, निधत्ताऽऽदि करोतीत्यर्थः । (उदीरेइ त्ति) तृतीयः । (वेएइ त्ति) चतुर्थः । (निज्जरेइ त्ति) पञ्चमः । उदीरणावेदननिर्जरणानि तु व्याख्यातानि प्रागिति । भ० ७ श० १ उ० ।

(जीवेन कृतं दुःखमिति ' किरिय ' शब्दे तृतीयभागे ५२६ पृष्ठे प्रतिपादितम्)

जीवा णं भंते ! किं अत्तकडे दुक्खे, परकडे दुक्खे, तदुभयकडे दुक्खे ?। गोयमा ! अत्तकडे दुक्खे, णो परकडे दुक्खे,णो तदुभयकडे दुक्खे । एवं० जाव वेमाणियाणं । भ० १७ श० ३ उ० ।

अष्टने, नं० भा० ५ अंश ५२ गाथा ।

दुक्खक्खंध-दुःखस्कन्ध-पुं० । असातोदयपरम्परायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

दुक्खक्खम-दुःखक्षम-त्रि० । दुःखसहे, दुःखमसातवेदनीयोदयकृतमुदीर्णं सम्यक् क्षमते सहते न वैक्लव्यमुपयाति नापि तदुपशमार्थं वैद्याद्याऽऽदि मृग्यते । आचा० २ श्रु० ४ चू० १ अ० ।

दुक्खक्खय-दुःखक्षय-पुं० । शारीरमानसानेकक्लेशविलये, पा० ।

दुक्खक्खव-दुःखक्षय-पुं० । दुःखमसुखं तत्कारणभूतं कर्म तत् क्षपयतीति दुःखक्षयः । असुखक्षये, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

दुक्खग्गहण-दुःखग्रहण-न० । दुःखलब्धे, पं० व० १ द्वार ।

दुक्खंत-दुःखान्त-त्रि० । दुःखानामन्तो दुःखान्तः । दुःखावसाने, पं० १६ विव० ।

दुक्खंतकर-दुःखान्तकर-त्रि० । असुखस्य तद्धेतुभूतस्य भवस्य कर्मणो वा विनाशकारिणि, पञ्चा० १४ विव० ।

दुक्खत्त-दुःखाऽऽर्त्त-त्रि० । दुःखपीडिते, प्रश्न० ३ द्वार ।

दुक्खत्तगवेसण-दुःखाऽऽर्त्तगवेषण-न० । दुःखाऽऽर्त्तस्य दुःखपीडितस्य गवेषणमौषधाऽऽदिना प्रतिजागरणं दुःखाऽऽर्त्तगवेषणम् । प्रश्न० १ द्वार । दुःखितस्य प्रतीकारकरणे, पञ्चा० १६ विव० ।

दुक्खपडिकूल-दुःखप्रतिकूल-त्रि० । दुःखद्वेषिणि, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दुक्खपरंपरा-दुःखपरम्परा-स्त्री० । दुःखजन्ममरणेषु वियोगाऽऽदिरूपासु संकटश्रेणिषु, आतु० ।

दुक्खपरंपराणिवेयण-दुःखपरम्परानिवेदन-न० । दुःखानां शारीरमानसाशर्मलक्षणानां प्रवाहप्ररूपणे, आतु० ।

दुक्खपालिया-दुःखपालिता-स्त्री० । दुःखेन पालयितुं शक्यायां बालावस्थायाम्, तं० ।

दुक्खफास-दुःखस्पर्श-पुं० । दुःखं स्पृशतीति दुःखस्पर्शः । असातोदयविपाकिनि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

दुक्खभय-दुःखभय-त्रि० । दुःखान्मरणाऽऽदिरूपाद्भयमेषामिति दुःखभयाः । मरणाऽऽदिभीतेषु, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

दुक्खमज्जिय-अर्जित-दुःख-पुं० । अर्जितमुपार्जितं दुःखं यैस्ते अर्जितदुःखाः । मकारोऽत्रालाक्षणिकः, प्राकृतत्वात्परनिपातः । सञ्चितदुःखे, उत्त० १ अ० ।

दुक्खमत्ता-दुःखमात्रा-स्त्री० । दुःखलेशे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

दुक्खमा-दुःषमा-स्त्री० । अवमकालाख्यायाम्, दशा० १ चू० ।

दुक्खमोक्ख-दुःखमोक्ष-त्रि० । दुःखानामसातोदयजनितानां विनाशे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

दुक्खर-दुष्कर-त्रि० । दुःखेन क्रियते इति दुष्करः । दुरनुष्ठाने, उत्त० ३ अ० ।

दुक्खरक्खिया-दुःखरक्षिता-स्त्री० । कष्टेन रक्षणयोग्यायाम्, "दुक्खरक्खियाओ।" तं० । दुःखरक्षिताः कष्टेन रक्षणयोग्याः यौवनावस्थायां (स्त्रियः) तं० ।

दुक्खरिय-दुष्कारिक-पुं० । दासे, नि० चू० १६ उ० ।

दुक्खरिया-दुष्कारिका-स्त्री० । दास्याम्, महाभाष्याम्, नि० चू० १६ उ० । वेश्यायां च । नि० चू० १ उ० ।

दुक्खविमोक्ख-दुःखविमोक्ष-पुं० । घातिकर्मभवोपग्राहिकर्मद्विमोक्षे, पं० व० ४ द्वार ।

दुक्खविमोक्खय-दुःखविमोक्षक-पुं० । दुःखविमोचके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

दुक्खविमोयग-दुःखविमोचक-पुं० । अष्टप्रकारकर्माऽपनेतरि, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

दुक्खसंभव-दुःखसंभव-पुं० । दुःखस्य संभवो येषु ते दुःखसम्भवाः । दुःखभाजनेषु, दुःखं करोति ततो दुःखयतीति वा दुःखं पापकर्म, ततः संभव उत्पत्तिर्येषां ते दुःखसम्भवाः । पापकर्मजेषु, उत्त० ६ अ० ।

दुक्खसंभार-दुःखसम्भार-पुं० । दुःखबाहुल्ये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दुक्खसमुदीरण-दुःखसमुदीरण-त्रि० । असुखप्रवर्त्तके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दुक्खसह-दुःखसह-त्रि० । परीषहोपसर्गकृतं दुःखं सहते इति दुःखसहः । आचा० १ श्रु० ७ अ० ४ उ० । परीषहजेतरि, दशा० ७ अ० ।

दुक्खावणता-दुःखापनता-स्त्री० । ताशब्दोऽत्र प्राकृतः । मरणलक्षणदुःखप्रापणायाम्, इष्टवियोगाऽऽदिदुःखहेतुप्रापणायां च । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

दुक्खाविज्जंत-दुःखाप्यमान-त्रि० । दुःखमनुभाव्यमाने, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दुक्खासिया-दुःखासिका-स्त्री० । उपसर्गाऽऽदिसम्पाद्यवेदनायाम्, स्था० ३ ठा० ४ उ० । आचा० ।

दुक्खाहड-दुःखाऽऽहृत-त्रि० । दुःखेनाऽऽह्रियते इति दुःखाऽऽहृतम् । दुःखोत्पादे, उत्त० ७ अ० ।

दुक्खि (ण्)-दुःखिन्-त्रि० । दुःखमसातवेदनीयमुदयेन यत् प्राप्तं तत्कारणं वा दुःखयतीति दुःखं, तदस्यास्तीति दुःखी । दुःखविशिष्टे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । आचा० ।

दुक्खी मोहे पुणो पुणो, निव्विंदेज्ज सिलोय पूयणं ।
एवं सहितेऽहिपासए, आयतुलं पाणेहि संजए ॥१२॥

दुःखमसातवेदनीयोदयेन यत्प्राप्तं, तत्कारणं वा, दुःखयतीति दुःखं, तदस्यास्तीति दुःखी सन् प्राणी पौनःपुन्येन मोहं याति सदसद्विवेकविकलो भवति । इदमुक्तं भवति-असातोदयाद् दुःखमनुभवन्नसौ मूढस्तत्करोति येन पुनः पुनः दुःखी संसारसागरमनन्तमप्येति तदेवंभूतं मोहं परित्यज्य सम्यगुत्थानेनोत्थाय निर्वेदेन जुगुप्सेत परिहरेदात्मश्लाघां स्तुतिरूपाम्, तथा पूजनं वस्त्राऽऽदिलाभरूपं परिहरेत् । एवमनन्तरोक्तान्या परिवर्त्तमानः सह हितेन वर्तत इति सहितो ज्ञानाऽऽद्युक्तो वा संयतः प्रव्रजितोऽपरप्राणिभिः दुःखार्थिभिरात्मतुलामात्मतुल्यतां दुःखाप्रियत्वसुखप्रियत्वरूपामधिकं पश्येत्,

आत्मतुल्यान् सर्वानपि प्राणिनः पालयेदिति ॥ १२ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दुक्खिय-दुःखित-त्रि० । "दुःखदक्षिणतीर्थे वा" ॥८।२।७२॥ इति संयुक्तस्य वा हः । 'दुहं । दुक्खं ।' प्रा० २ पाद । "निर्दुरोर्वा" ॥ ८। १। १३ ॥ इति दुरोऽन्त्यव्यञ्जनस्य वा लुक् । "दुक्खिओ । दुहिओ ।" प्रा० १ पाद । दुःखमसाताऽऽत्मकं जातमेषामिति दुःखिताः। जातदुःखेषु,उत्त० ३ अ० । "परदुक्खेण दुक्खिआ विरला ।" प्रा० २ पाद । रोगाऽऽदिपरिगतकुव्याप्ते, तं० ।

दुक्खुच्छेयाहि (ण्)-दुःखोच्छेदार्थिन्-पुं० । संसारक्लेशजिहासुषु, द्वा० २२ द्वा० ।

दुक्खुत्तेय-दुःखोत्तेय-त्रि० । कृच्छ्रबोध्ये, जीवा० ३३ अधि० ।

दुक्खुत्त-द्विःकृत्वस्-अव्य० । द्वौ वारावित्यर्थे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

दुक्खुव्वेय-दुःखोद्वेग-पुं० । दुःखादुद्वेगो यस्य स दुःखोद्वेगः । दुःखोद्विग्ने, "दुक्खुव्वेयसुहेसए ।" सुखस्यैषकः सुखैषकः दुःखोद्वेगश्चासौ सुखैषकश्च दुःखोद्वेगसुखैषकः । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दुखुर-द्विखुर-पुं० । द्वौ खुरौ प्रतिपदं येषां ते द्विखुराः । प्रज्ञा० १ पद । गोमहिषाऽऽदिषु,सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । उत्त० । स्था० । जी० ।

दुग-द्विक-न० । द्वैक्रियनिह्नवे, उत्तरपदलोपादेकसमये द्वे क्रिये समुदिते द्विक्रियं, तदधीयते तद्वादिनो वा द्वैक्रियाः । कालभेदेन क्रियानुभवप्ररूपिण इत्यर्थः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । उत्त० । स्था० । द्वौ साधर्मिकौ संविग्नसांभोगिकाऽऽदिकपार्श्वेकत एकस्मिन् स्थाने समुदितौ विहरतः,तत्रैकोऽन्यतरत् अकृत्यं स्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत् । यद्यगीतार्थः प्रतिसेवितवान् ततस्तस्मै शुद्धतपो दातव्यम् । अथ गीतार्थस्तर्हि यदि परिहारतपोयोग्यमापन्नस्ततः परिहारतपो दद्यात्, तदनन्तरं स्थाप्यते विविक्तं कृत्वा प्ररूप्यते इति स्थापनीयं परिहारतपोयोग्यमनुष्ठानं तत् स्थापयित्वा प्ररूप्य य आपन्नः स परिहारतपः प्रतिपद्यते, इतरः कल्पस्थितो भवति, स एव च तस्यानुपारिहारिकस्ततस्तेन तस्य करणीयं वैयावृत्त्यमित्येष सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अधुना निर्युक्तिविस्तरः-

दोमाइम्मिय छक्का-रसेव लिंगम्मि होइ चउभंगो ।
चत्तारि विहारम्मि उ, दुविहो भावम्मि भेदो उ ॥ ३ ॥

द्विशब्दस्य, साधर्मिकशब्दस्य च यथाक्रमं षट् द्वादश नामाऽऽदयो निक्षेपाः,द्विशब्दस्य षट्,साधर्मिकशब्दस्य द्वादशको निक्षेप इत्यर्थः। लिङ्गे लिङ्गविषये चतुर्भङ्गी भवति।सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । तथा विहारे चत्वारो नामाऽऽदयो निक्षेपाः । तत्र भावे द्विविधो भेदः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । व्यासार्थं च प्रतिपदमभिधित्सुः प्रथमतो द्विशब्दस्य षड्निक्षेपमाह-

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य होइ बोधव्वो ।
भावे य दुगे एसो, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ४ ॥

नामद्विकं,स्थापनाद्विकं,द्रव्ये द्रव्यविषयं द्विकम्, एवं क्षेत्रद्विकं कालद्विकं च भवति बोद्धव्यं,तथा भावे च भावविषयं च द्विकम्,एवं द्विके द्विशब्दस्य षट्को भवति निक्षेपः । तत्र नामद्विकं द्वे नामनी । अथवा यस्य द्विकमिति नाम तन्नामद्विकं, स्थापनाद्विकं द्वे स्थापने, द्विकस्य स्थापना वा द्विकम् ।

संप्रति द्रव्यक्षेत्रकालद्विकप्रतिपादनार्थमाह-

चित्तमचित्तं एगं-कयस्स जे जत्तिया दुगे भेया ।
खेत्ते दुपएसाऽऽदी, दुसमयमाई उ कालम्मि ॥ ५ ॥

द्रव्यद्विकं द्विविधम्-आगमतो,नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो द्विकशब्दार्थज्ञाता,तत्र चानुपयुक्तः। नोआगमतस्तु त्रिविधम्,ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात् । तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्राग्वत् । तद्व्यतिरिक्तं सचित्तमचित्तं च । एकैकस्य ये यावन्तो द्विकभेदाः संभवन्ति ते सर्वे वक्तव्याः । ते चेमे-सचित्तं द्रव्यं द्विकं द्विधा-संसारस्थं,निर्वृतं च । संसारस्थं द्विधा-एकेन्द्रियम्,अनेकेन्द्रियं च । तत्रैकेन्द्रियं पञ्चप्रकारम् पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिभेदात् । एकैकमपि द्विधा-पर्याप्तम्, अपर्याप्तं च । अनेकेन्द्रियं द्विधा-विकलेन्द्रियं, पञ्चेन्द्रियं च । विकलेन्द्रियं त्रिधा-द्वित्रिचतुरिन्द्रियभेदात्(?) पुनः प्रत्येकं द्विधा-पर्याप्तम्,अपर्याप्तम् । पञ्चेन्द्रियं द्विधा-संख्यातवर्षाऽऽयुष्कम्,असंख्यातवर्षाऽऽयुष्कं च । एकैकं द्विधा-पर्याप्तम्,अपर्याप्तं च । निर्वृतमपि द्विधा-अनन्तरसिद्धम्,परम्परसिद्धं च । अथवा-सचित्तं त्रिविधम् । तद्यथा-द्विपदं,चतुष्पदम्,अपदं च । तत्र द्विपदं द्वौ पुरुषावित्यादि । चतुष्पदं द्वौ बलीवर्दावित्यादि । अचित्तं द्वौ परमाणू,द्वौ द्विप्रदेशिकौ,द्वौ त्रिप्रदेशिकौ,यावद् द्वौ संख्यातप्रदेशिकौ, द्वावनन्तप्रदेशिकौ । संख्यातस्य संख्याता भेदाः । असंख्यातस्य असंख्याताः । अनन्तस्य अनन्ताः उक्तं द्रव्यद्विकम् । आह-(खेत्ते दुपएसाई) क्षेत्रे क्षेत्रविषयं द्विप्रदेशाऽऽदि आकाशप्रदेशाऽऽदिशब्दाद् द्विप्रदेशावगाढं वा द्रव्यं क्षेत्रद्विकं, तत्र द्विके तस्यावस्थानात् । यद्वा-तस्य द्वे नाम्नी, द्वे स्थापने इत्यादिपरिग्रहः । उक्तं क्षेत्रद्विकम् । कालद्विकमाह-द्विसमयाऽऽदिकं, द्वौ समयावादिशब्दाद् द्वे आवलिके, द्वौ मुहूर्तावित्यादिपरिग्रहः । अथवा-द्विसमयस्थितिकं द्रव्यं कालद्विके अवस्थानात् कालद्विकमादिशब्दाद् द्व्यावलिकास्थितिकाऽऽदिपरिग्रहः । उक्तं कालद्विकम् ।

अधुना भावद्विकमाह-

(भावे पसत्थमपस-त्थगं च दुविधं दुगं च णायव्वं ।
अविरयपमायमेव य, अपसत्थं होति दुविधं तु ॥६॥)
भावे पसत्थमियरं, होइ पसत्थं तु नाणं णोनाणं ।
केवलछउमत्थ नाणं, नो नाणे दिट्ठि चरणे य ॥६॥

भावद्विकं द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो द्विकशब्दार्थज्ञाता, तत्र चोपयुक्तः । "उपयोगो भावनिक्षेपः" इति वचनात् । नोआगमतो द्विधा । तद्यथा-प्रशस्तम्,इतरच्च । इतरं नामाऽप्रशस्तम् । तच्चेदम्-रागो, द्वेषश्च । प्रशस्तं द्विधा-ज्ञानं, नोज्ञानं च । तत्र ज्ञाने ज्ञानविषयं द्विकमिदम् । तद्यथा-केवलिकं, छाद्मस्थिकं च । नो ज्ञाने नोज्ञानविषयं द्विकम्-दृष्टिः, चरणं च । दृष्टिः सम्यक्त्वं, चरणं चारित्रम् ।

एतदेव सप्रभेदं प्ररूपयति-

एक्केकं पि य तिविहं, सट्ठाणे नत्थि खइए अइयारो ।
उवसामिएसु दोसु अ, अइयारो होज्ज सेसेसु ॥ ७ ॥

एकैकमपि दर्शनं, चरणं च प्रत्येकमित्यर्थः। त्रिविधं त्रिप्रकारम्। तद्यथा-क्षायिकम्, औपशमिकं, क्षायोपशमिकं च। तत्र क्षायिकं सम्यक्त्वं क्षायिकसम्यग्दृष्टावौपशमिकमुपशमश्रेण्यां, शेषकालं क्षायोपशमिकं, चरणमपि क्षायिकं क्षपकनिर्ग्रन्थस्य, औपशमिकमुपशमिकश्रेण्याम्, अन्यदा क्षायोपशमिकं,तत्र क्षायिके ज्ञाने दर्शने चारित्रे च स्वस्थाने नास्त्यतीचारः। तथाहि-केवलिनस्त्रिष्वपि ज्ञानदर्शनचारित्रेषु क्षायिकेषु वर्तमानस्य न तद्विषया काचिदपि विराधना। परस्थानेषु संज्वलनेऽपि, तथा श्रुतकेवल्यादेः क्षायिके दर्शने वर्तमानस्य दर्शने नास्ति विराधना, ज्ञानचरणयोस्तु भजनीति। (उवसामिएसु दोसु त्ति) द्वयोर्दर्शनचरणयोरौपशमिके भावे वर्तमानयोः स्वस्थाने नाऽस्त्यतीचारः, औपशमिकं हि दर्शनं चारित्रं नियमादुपशमश्रेण्यां भवति, तत्र कषायाणामुपशान्तत्वान्नास्ति कश्चिदतीचारसम्भवः। ज्ञानविराधनात् सम्भवेदप्यनुयोगतोऽन्यथा प्ररूपणाचिन्तनाऽऽदिसम्भवात्। उपशमश्रेणीतः पाते तु भवत्यतीचारः, औदयिकभावे वर्तमानत्वात्। शेषेषु पुनः क्षायोपशमे स्वस्थाने सातिचारो भवेत्, क्षायोपशमिकत्वात्।

एतदेवाऽऽह-

सट्ठाण परट्ठाणे, खओवसमिएसु तीसु वी भयणा।
दंसणाणचरणखइए, परठाणे होंति भयणा उ ॥ ८ ॥

क्षायोपशमिके भावे वर्तमानेषु त्रिष्वपि ज्ञानाऽऽदिषु स्वस्थाने परस्थाने चातिचारः,कदाचिद् भवति, कदाचिन्न भवतीत्यर्थः। दर्शने, उपलक्षणमेतत्, चरणे च, औपशमिके क्षायिके च स्वस्थानेऽतीचारो भवति, परस्थाने तु भजना।

अत्र येन द्विकेनाधिकारः तदभिधित्सुराह--

दव्वदुए दुपएणं, सच्चित्तेणं च एत्थ अहियारो।
मीसेणोदइएण य, भावम्मि वि होंति दोहिं पि ॥ ६ ॥

अत्र द्रव्यद्विकेन चाऽधिकारः-तत्र द्रव्यद्विकेन सचित्तेन तेनाऽपि च द्विपदेन साधर्मिकद्वयस्य चिन्त्यमानत्वात्, भावे मिश्रेण क्षायोपशमिकेन औदयिकेन चेति द्वाभ्यां भावाभ्यामधिकारः। अनयोरेव द्वयोर्भावयोर्वर्तमानस्यातीचारसंभवात्। व्य० २ उ०। द्वौ ककारौ यत्रासौ द्विकः। कृतके, पुं०। रत्ना० ८ परि०।

दुगुंछ-गुप-धा०। कुत्सने, भ्वा०-आत्म०-अक०-सेट्। वाच०। " जुगुप्सेर्झुणदुगुच्छदुगुञ्छाः " ॥ ८ । ४ । ४ ॥ इति जुगुप्सेर्दुगुच्छदुगुञ्छावादेशौ। ' दुगुच्छइ। दुगुंछइ। ' प्रा० ४ पाद। जुगुप्सते। अजुगुप्सिष्ट। वाच०।

दुगुंछग-जुगुप्सक-पुं०। गर्हके, आव० ३ अ०। मुनीनां जुगुप्सां कर्तुं योग्यायां योषिति, तं०।

दुगुंछण-जुगुप्सन-न०। गर्हणे,आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०।

दुगुंछमाण-जुगुप्समान-त्रि०। गर्हमाणे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

दुगुंछा-जुगुप्सा-स्त्री०। लोकविहितायां निन्दायाम्, विशे०। आ० चू०। दश०। सूत्र०। आचा०। परपुरस्कानदन्तधावनमलमलिनीभोजनाऽऽदिकमपरं शूनकलेवरादिकाऽऽदिकं जुगुप्सते सा जुगुप्सा। साध्वाचारनिन्दारूपे आन्तरग्रन्थे, बृ० १ उ० २ प्रक०। " अपहाणमाइएहिं, साहुं तु दुगुंछति दुगुंछा। " प्रव० ४ अ०। जुगुप्सा प्रवचनखिसा विकृताकारदर्शनेन मा भूदि-

त्येवं प्रत्ययो यत्र तत्तथा। प्रवचननिन्दायाम्, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

दुगुंछाकम्म-जुगुप्साकर्म-न०। यदुदयेन च विष्ठाऽऽदिबीभत्सपदार्थेभ्यो जुगुप्सते तज्जुगुप्साकर्म। कर्मभेदे, स्था० १० ठा०।

दुगुंछामोहणीय-जुगुप्सामोहनीय-न०। यदुदयात्सनिमित्तमनिमित्तं वा जीवस्याशुभवस्तुविषया जुगुप्सा भवति, तज्जुगुप्सामोहनीयम्। कर्म० १ कर्म०। यदुदयवशात्पुनर्जन्तोः शुभाशुभवस्तुविषयं व्यलीकमुपजायते तज्जुगुप्सामोहनीयम्। कर्मभेदे, कर्म० ६ कर्म०।

दुगुंछिउं-जुगुप्सित्वा-अव्य०। धिग्मां पापकारिणमित्यादिना निन्दां कृत्वेत्यर्थे, ध० २ अधि०।

दुगुंछिय-जुगुप्सित-त्रि०। गर्हिते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ०। जुगुप्सितापध्यगर्हिताः समानार्थाः। आ० म० १ अ० २ खण्ड।

दुगुंछियकुल-जुगुप्सितकुल-न०। छिम्पकाऽऽदिकुलेषु, ओघ०। चर्मकारकुलाऽऽदिषु, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ०।

सूत्रम्-

जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ,पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ॥२६॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।२७। जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु वसहिं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ॥ २९ ॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं उद्दिसइ, उद्दिसंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं समुद्दिसइ, समुद्दिसंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं अणुजाणइ, अणुजाणंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥३३॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं परियट्टेइ, परियट्टंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

चउलहुं तेसिं पच्छित्तं।

तेसिं इमे भेदा, सरूवं च। गाहा-

दुविहा दुगुंछिता खलु, इत्तरिया होंति आवकहिया य।
एएसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ६६१ ॥
सूयगमातंगकुला, इत्तरिया ते य होंति णिज्जूढा।
जे तत्थ जुंगिता खलु, ते होंति आवकहिया य ॥६६२॥

णिज्जूढा जे वत्ताकया लत्तणियत्तिय त्ति, आवकहिगा- जे जत्थ विसए जात्यादिजुंगिता, जहा दक्खिणापहे लोहे लोहकारकल्ला, लाडेसु णडवरुडचम्मकारादि ते आवकहिया।

गाहा-

सेज्जा असणवत्थादी, वसही अहव वायणादीणि।

जे भिक्खू गिएहेज्जा, विसेज्ज कुज्जा व आणादी ६६३॥

असणवत्थादियाण गहणं, जो वसहीए वा विसेज्ज पविसति, वायणादि वा सज्झायं कुज्जा, तस्स आणादिया दोसा ।

गाहा-

अयसो पवयणहाणी, विप्परिणामो तह दुगुंछा य ।
तेसिं च होति संका, सव्वे एयारिसा समणा ॥ ६६४ ॥
असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, अयाणमाणे वि वितियपदं ॥६६५॥

सव्वे साधवो नीया इत्यादि अयसः, असंभोअसंपत्त त्ति काम्रिस्यमज्ञतीति एवं पवयणहाणी, अभोज्जे दुभक्तादिग्रहणं दृष्ट्वा धम्माभिमुखा पूर्वप्रतिपन्नगा वा विपरिणमंते, स्वपाकादिसमाना इति जुगुप्सा, जेसु वि गेण्हइ तेसु वि संका-सव्वे एयलिंगधारिणो एते एयारिस त्ति अहं परिसो । इमो अववादो ।

एतेहिं आसवादिकारणेहिं जया घेप्पति तदा पणगपरिहाणी, जाहे चउलहुं पत्तो ताहे इमाए
जयणाए गेण्हति । गाहा-

अएणत्थ व ठावेउं, लिंगविवेगं च काउ पविसेज्जा ।
काऊण व उवओगं, अदिट्ठपत्तादिसंवरितो ॥ ६६६ ॥

सो दुगुंछितो असणवत्थादी अप्पसारियं अएणत्थ सुएणघरादिसु ठवाविज्जति, तं वि पच्छा गेएहति, अहवा रओहरणादि उवकरणं अएणत्थ ठवेतु सरक्खादि परलिंगं काउं जहा अदसादिदोसा ण भवंति, तहा पविसिउं गेण्हति । अहवा मज्झएहादिविरमणकाले दिगावलोयणं काउं अएणेण अदिस्संतो भेत्तयं पत्तं वा वासकप्पमादिणा सुट्ठु आवरेत्ता पविसति, गेएहइ पच्छा दियं पि जहा अविरुद्धं तहा गेएहति, वसहिं अएणत्थ असंभंतो बाहिं सावयतेणभएसु वसहिं गेण्हिज्जइ, जहा ण णज्जति सज्झायं ण करेति, रायदुट्ठादिसु अतिगतो अप्पसागारिसज्झायज्झाणधम्मकहादी वि करेज्ज । नि० चू० १६ उ० ।

दुगुण-द्विगुण-त्रि० । द्विरावृत्ते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आचा० । स० । "दुगुणं करेइ स पावं ।" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

दुगुल्ल-दुकूल-न० । गौडविषये विशिष्टे कार्पासिके वस्त्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० । जी० । दुकूलो वृक्षविशेषस्तस्य वल्कलं गृहीत्वोदूखले जलेन सह कुट्टयित्वा बुसीकृत्य च सूत्रीकृत्य वयते यत्तद् दुकूलम् । जं० २ वक्ष० । प्रश्न० । दुकूलाभिधानवृक्षत्वग्निष्पन्ने वस्त्रजातिविशेषे, भ० ११ श० ११ उ० । जी० । ज्ञा० । सू० प्र० । आ० म० । दशा० । नि० चू० । "दुगुल्लपट्टपरिच्छन्ने ।" दुकूलं वस्त्रं तस्य यः पट्टो युगलापेक्षया एकपट्टः, तेन आच्छादितः । कल्प० २ क्षण । रा० ।

दुगूल्ल-दुकूल-न० । 'दुगुल्ल' शब्दार्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

दुगोय-द्विगोत्र-न० । गोत्रवेदनीयकर्मद्विके, कर्म० । "गोयवेयणियं ।" इतिवचनाद्गोत्रवेदनीयस्वरूपं तत्र गोत्रमुच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रभेदाद् द्विधा । सातासातभेदाद्वेदनीयमपि द्विधा, इत्येताश्चतस्रः प्रकृतयो गोत्रद्विकशब्देन गृह्यन्ते । कर्म० ५ कर्म० ।

दुग्ग-दुर्ग-त्रि० । दुःखेन गम्यतेऽसौ कर्मणि-डः । विषमे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । गहने, दुर्विज्ञेये, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । दर्श० । अपराजितायां नीलद्यां च । स्त्री० । गुग्गुलौ, पुं० । दुःखेन गच्छत्यत्र । दुर्-गम-आधारे डः । पर्वताऽऽदिभिर्दुर्गमे पुरे कोट्ट (किला) (गढ) इतिख्याते दुर्गमदेशे, कान्तारे, दुःखेन संस्तरे संसारे, न० । वाच० । खातवलयप्राकाराऽऽदिदुर्गमे, भ० ७ श० ६ उ० । स्तेनपरचक्राऽऽद्युपगम्यस्थाने च । बृ० ३ उ० । भ० । ज० । कष्टसाध्ये, भ० २ श० ३ उ० । दुःखाऽऽश्रयणीये, भ० ५ श० ६ उ० । पर्वताऽऽदिदुर्गामिव कथमपि लङ्घयितुमशक्ये, स्था० ५ ठा० २ उ० । दुर्गमप्रदेशे च । विपा० १ श्रु० ३ अ० । दशा० ।

तिविहं च होति दुग्गं, रुक्खे सावए मणुस्सदुग्गं वा ।
निक्कारणम्मि गुरुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥११॥

त्रिविधं च भवति दुर्गम् । तद्यथा-वृक्षदुर्गं, श्वापददुर्गं, मनुष्यदुर्गं च । यद् वृक्षैरतीव गहनतया दुर्गमं, यत्र वा पथि वृक्षः पतितस्तद् वृक्षदुर्गम् । यत्र व्याघ्रसिंहाऽऽदीनां भयं तत् श्वापददुर्गम् । यत्र म्लेच्छबोधिकाऽऽदीनां मनुष्याणां भयं तन्मनुष्यदुर्गम् । एतेषु त्रिष्वपि दुर्गेषु यदि निष्कारणे निर्ग्रन्थीं गृह्णाति अवलम्बते वा चतुर्गुरु, आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः । बृ० ६ उ० । दुःखे, कष्टायां च । दे० ना० ५ वर्ग ५३ गाथा ।

दुग्गइ-दुर्गति-स्त्री० । दुष्टा गतिर्दुर्गतिः । दुष्टायां गतौ, स्था० ।

तओ दुग्गइओ पएणत्ताओ । तं जहा-णेरइयदुग्गई, तिरिक्खजोणियदुग्गई, मणुस्सदुग्गई (देवदुग्गई) ॥

मनुष्यदुर्गतिर्दुःखितमनुष्यापेक्षया, देवदुर्गतिः किल्बिषिकाऽऽद्यपेक्षया इति । स्था० ४ ठा० १ उ० । आतु० ।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुग्गइं गच्छंति । तं जहा-पाणाइवाएणं० जाव परिग्गहेणं । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

"तओ जिए सई होइ, दुविहं दोग्गइं गए । दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाए सुचिरादवि ॥ १८ ॥" उत्त० ७ अ० ।

दुग्गइगय-दुर्गतिगत-त्रि० । दुर्गतिं प्राप्ते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

दुग्गइगामि (ण्) -दुर्गतिगामिन्-त्रि० । दुर्गतिं नारकतिर्यग्रूपामयन्ति प्राणिनामिति दुर्गतिगामिन्यः । दुर्गतिगमनहेतौ, तिस्रो लेश्याः दुर्गतिगमनहेतवः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । दुर्गतो दरिद्रः सन् दुर्गतिं गमिष्यतीति दुर्गतिगामी । दुर्गतिगमनशीले च । पुं० । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

दुग्गइपहदायग-दुर्गतिपथदायक-पुं० । तिर्यग्नारककुमानुषकुदेवरूपदुर्गतिमार्गप्रापके, ग० २ अधि० ।

दुग्गइप्पवाअ-दुर्गतिप्रपात-त्रि० । दुर्गतौ नरकाऽऽदिकायां कर्तारं प्रपातयतीति दुर्गतिप्रपातः । दुर्गतौ वा प्रपातो यस्मात् स तथा । दुर्गतिपतनहेतौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दुग्गइफल-दुर्गतिफल-त्रि० । दुर्गतिः फलं यस्य स दुर्गतिफलः । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । कुदेवत्वाऽऽदिप्रयोजने, पञ्चा० ४ विव० ।

दुग्गइफलवाइ (ण्) -दुर्गतिफलवादिन्-पुं० । दुर्गतिः फलं यस्य स दुर्गतिफलः, तद्वदनशीला दुर्गतिफलवादिनः । दुर्गतिफलमार्गोपदेष्टरि मिथ्यादृष्टौ, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

दुग्गइवद्धण-दुर्गतिवर्द्धन-न० । संसारवर्द्धने, दश० ६ अ० ।

दुग्गउ–दुर्गौ–पुं० । गलिबलीवर्दे, दश० ६ अ० २ उ० ।

दुग्गंध–दुर्गन्ध–पुं० । दुष्टो गन्धो दुरभिगन्धो यस्यासौ दुर्गन्धः । दुरभिगन्धयुक्ते, दर्श० ३ तत्त्व । दुरभिगन्धे, स्था० ३ ठा० ६ उ० । भ० । आचा० ।

दुग्गग्गहण–दुर्गग्रहण–न० । पर्वतवनाऽऽदिदुर्गाऽऽश्रयणे, पञ्चा० ३ विव० ।

दुग्गद्दि–दुर्गाद्रि–पुं० । विषमपर्वते, अष्ट० २३ अष्ट० ।

दुग्गम–दुर्गम–त्रि० । दुःखेन गम्यते इति दुर्गमः । कृच्छ्रगतिके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । गन्तुमशक्ये, अष्ट० २२ अष्ट० । दुस्तरे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । कृच्छ्रवृत्तौ, स्था० ५ ठा० १ उ० । दुःखेन गम्यत इति दुर्गमम् । भावसाधनोऽयम्, कृच्छ्रवृत्तिरित्यर्थः । तद्भवति विनेयानामृजुजडत्वेन, वक्रजडत्वेन च । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

दुग्गय–दुर्गत–त्रि० । दुर्गतिरेषामस्तीत्यभ्रादित्वात् प्रत्यये दुर्गतः । दुःस्थे, स्था० ४ ठा० १ उ० । प्रश्न० । दरिद्रे, धनविहीने, ज्ञानविहीने च पुरुषे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

तओ दुग्गया पएणत्ता । तं जहा–णेरइयदुग्गया, तिरिक्खजोणियदुग्गया, मणुस्सदुग्गया । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

"दुग्गयरयणाऽऽयरस्सयणग्गहणतुल्लं (४०) ।" दुर्गतस्य दरिद्रस्य रत्नाकरे विचित्रमाणिक्योत्पादस्थाने प्राप्तस्य यद्रत्नग्रहणं माणिक्योपादानं तेन यत्तुल्यं सदृशमभिलाषोपरमाभावसाधर्म्यात्तद् दुर्गतरत्नाऽऽकररत्नग्रहणतुल्यम । पञ्चा० १२ विव० ।

दुग्गयणारी–दुर्गतनारी–स्त्री० । दारिद्र्योपहतयोषायाम, पञ्चा० ७ विव० ।

दुग्गयभव–दुर्गतभव–पुं० । दरिद्रकुलोत्पत्तौ, बृ० ६ उ० ।

दुग्गयसुय–दुर्गतसुत–पुं० । दरिद्रपुत्रे, पं० व० ३ द्वार ।

दुग्गसामि–दुर्गस्वामिन्–पुं० । सिद्धर्षिगुरुभ्रातुर्गर्गस्वामिनः शिष्ये, सिद्धर्षिकृतस्य उपमितभवप्रपञ्चस्य प्रथमादर्शे एतस्याभिलिखितः । जै० इ० ।

दुग्गह–दुर्ग्रह–पुं० । दुर्गृहीतत्वे, द्वा० १२ द्वा० ।

दुग्गा–दुर्गा–स्त्री० । महिषाऽऽरूढायामार्यायाम, ग० २ अधि० । आचा० । अनु० ।

दुग्गावी–दुर्गादेवी–स्त्री० । "दुर्गादेव्युदुम्बरपादपतनपादपीठेऽन्तर्दः" ॥ ८ । १ । २७० ॥ इति स्वरस्य मध्ये वर्तमानस्य दकारस्य वा लुक् । 'दुग्गावी ।' महिषाऽऽरूढायामार्यायाम, प्रा० १ पाद ।

दुग्गूढ–दुर्गूढ–त्रि० । दुर्गोपितेति, नि० चू० १ उ० । प्रच्छन्नप्रदेशाऽऽदिज्ञापिते च । व्य० ७ उ० ।

दुग्घडघडिय–दुर्घटघटित–त्रि० । दुराच्छादनया स्पृष्टे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दुग्घास–दुर्ग्रास–पुं० । दुर्भिक्षे, बृ० ३ उ० ।

दुग्घुट्ट–देशी–हस्तिनि, दे० ना० ५ वर्ग ४४ गाथा ।

दुघण–द्रुघण–पुं० । द्रुहन्ति अनेन । द्रुन करणे अप्, ह्रस्वः कुत्वं च । मुद्गरे, परशुभेदे, भूमिकल्पे च । वाच० । अनु० । सूत्र० । बहुकरे च । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दुचक्कमूल–द्विचक्रमूल–न० । गन्त्रीसमीपे, औ० ।

दुच्चय–दुस्त्यज–त्रि० । दुःखेन त्यक्तुं योग्ये, भ० ७ श० १ उ० ।

दुच्चर–दुश्चर–त्रि० । दुःखेन चर्यतेऽस्मिन्निति दुश्चरः । दुःखेन चर्यन्त इति दुश्चराणि । ग्रामाऽऽदिषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

दुच्चरलाढचारि (ण्)–दुश्चरलाढचारिन्–पुं० । दुश्चरश्चासौ लाढश्च तं चीर्णवान् विहृतवान् सः । दुश्चरे देशे ग्रामे च विहारं कृतवति, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

दुच्चिण्ण–दुश्चीर्ण–न० । मृषावादनपारदार्याऽऽदौ दुश्चरिते, तद्धेतुके कर्मणि च । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । विपा० । स्था० । औ० । सू० ।

दुच्चेट्ठिय–दुश्चेष्टित–न० । दुष्टं प्रतिषिद्धं धावनवल्गनाऽऽदिकायक्रियारूपं चेष्टितं यत्र तत्तथा । प्रतिषिद्धे धावनवल्गनाऽऽदौ कायक्रियारूपे चेष्टिते, तद्रूपे च । ध० २ अधि० ।

दुच्चंडिअ–देशी–दुर्ललिते, दुर्विदग्धे च । दे० ना० ५ वर्ग ५५ गाथा ।

दुच्चंवाल–देशी–कलहनिरते, दुश्चरिते, परुषवचने च । दे० ना० ५ वर्ग ५४ गाथा ।

दुच्चिंतिय–दुश्चिन्तित–न० । दुष्टमार्तरौद्रध्यानतया चिन्तितं यत्र स तथा । आर्तरौद्रध्यानतया चिन्तिते, तद्रूपे च । ध० २ अधि० । जीत० । आ० चू० ।

दुछक्क–द्विषट्क–त्रि० । द्वादशभेदे, ध० २ अधि० ।

दुजडि (ण्)–द्विजटिन्–पुं० । चतुरशीतितमे महाग्रहे, "दो दुजडी ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० । सू० प्र० ।

दुजुगल–द्वियुगल–न० । द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगलम् । हास्यरत्यरतिशोकलक्षणे नामकर्मोत्तरप्रकृतिद्वन्द्वे, कर्म० ५ कर्म० ।

दुज्जण–दुर्जन–पुं० । मिथ्यादृष्टिलोके, बृ० १ उ० ३ प्रक० । आ० चू० । "शकटं पञ्चहस्तेन, दशहस्तेन शृङ्गिणम । हस्तिनं शतहस्तेन, देशत्यागेन दुर्जनम् ॥१॥" परिहरेदित्यर्थः । वाच० ।

दुज्जणवज्ज–दुर्जनवर्ज–त्रि० । दुःशीलरहिते, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

दुज्जंत–दुर्यन्त–पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, कल्प० । "कोसिय दुज्जंत कण्हे य ।" कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

दुज्जय–दुर्जय–त्रि० । अभिजातवनामर्दे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । षट्पञ्चाशत्तमे ऋषभनन्दने च । कल्प० ७ क्षण । दुःखेन जीयतेऽभिभूयते इति दुर्जयः । दुस्त्यजे, उत्त० १३ अ० ।

दुज्जर–दुर्जर–दुःखेन जीर्यते यत् । "आहिणी वातला कक्का, दुर्जरा तककूर्चिका ।" वाच० । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

दुज्जाय–दुर्यात–न० । दुष्टं यातं दुर्यातम् । गमनाक्रियागर्हायाम, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । व्यसने, दे० ना० ५ वर्ग ४४ गाथा ।

दुज्जोहण-दुर्योधन-पुं० । स्वनामख्याते धृतराष्ट्रपुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । आ० म० । सिंहपुरनगरराजस्य सिंहरथाभिधानस्य स्वनामख्याते गुप्तिपाले, स्था० १० ठा० । विपा० ।

दुज्झा-दोग्धा-स्त्री० । दोहाहायाम्, दश० ७ अ० ।

दुज्झाण-दुर्ध्यान-न० । आर्त्तरौद्ररूपे ध्याने, ध० २ अधि० ।

दुज्झाय-दुर्ध्यात-त्रि० । दुष्टो ध्यातो दुर्ध्यातः । एकाग्रचित्ततया आर्त्तरौद्रलक्षणे, ध० २ अधि० । आव० । दुष्टचिन्ताविषयीकृते, ज्ञा० १ श्रु० १९ अ० ।

दुज्झोस-दुर्जोष-पुं० । दुःक्षये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

दुट्ठ-दुष्ट-त्रि० । दोषवति, प्रति० । बृ० । (स च विषयकषायभेदाद् द्विधेति 'पारंचिय' शब्दे व्याख्यास्यते) प्रद्विष्टे च राजनि, नि० चू० १ उ० । सूत्र० । दुर्मनसि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । द्विष्ट-त्रि० । तत्त्वं प्रज्ञापकं वा प्रति द्वेषवति, स्था० ३ ठा० ४ उ० । द्विष्टो द्वेषवान् अत्युत्कटद्वेषादयं द्विष्टस्तं प्राणग्राहं विना न मुञ्चति । दर्श० २ तत्त्व ।

दुट्ठगाह-दुष्टग्राह-पुं० । निर्दयमहामकराऽऽदिषु, नं० ।

दुट्ठचेय-दुष्टचेतस्-पुं० । कलुषान्तःकरणे, आचा० २ श्रु० ४ चू० १ अ० २ उ० ।

दुट्ठट्ठकम्मणिट्ठावग-दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापक-पुं० । दुष्टानामष्टानां कर्मणां निष्ठापके विनाशके केवलजिने, पं० सं० १ द्वार ।

दुट्ठवाइ (ण्)-दुष्टवादिन्-पुं० । प्रत्यक्षग्राहिणि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

दुट्ठस्स-दुष्टाश्व-पुं० । कुलक्षणघोटके, तं० । गर्दभे च । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

दुट्ठस्सहत्थिमाइ-दुष्टाश्वहस्त्यादि-पुं० । मारकतुरगकरिवरप्रभृतौ, पञ्चा० १८ विव० ।

दुट्ठसावयसमाहय-दुष्टश्वापदसमाहत-त्रि० । दुष्टाः क्षुद्राः श्वापदा व्याघ्राऽऽदयस्तैः समाहतेष्वभिभूतेषु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दुट्ठहियय-दुष्टहृदय-त्रि० । दुष्टचित्ते, तं० ।

दुट्ठाण-दुःस्थान-न० । शीताऽऽतपदंशमशकाऽऽदियुक्तेषु कायोत्सर्गाऽऽसनाऽऽद्याश्रयेषु, भ० १६ श० २ उ० ।

दुट्ठाणय-द्विस्थानक-न० । स्वनामख्याते स्थानाङ्गस्य द्वितीयेऽध्ययने, स्था० २ ठा० १ उ० ।

दुट्ठासण-दुष्टासन-न० । पादोपरि पादस्थापनाऽऽदिकेऽनौचित्योपवेशने, प्रव० ३७ द्वार । ध० ।

दुणाम-द्विनामन्-न० । द्विविधं द्विप्रकारकं च तद् नाम द्विनाम । नामभेदे, अनु० ।

से किं तं दुनामे ? । दुनामे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-एगक्खरिए अ, अणेगक्खरिए अ । से किं तं एगक्खरिए ? । एगक्खरिए ह्रीः, श्रीः, धीः, स्त्री । सेत्तं एगक्खरिए । से किं तं अणेगक्खरिए ? । अणेगक्खरिए-कन्ना, वीणा, लता, माला । सेत्तं अणेगक्खरिए ॥

(से किं तं दुनामे इत्यादि) यत एकवर्णं द्विनामात एव द्विविधं द्विप्रकारम् । तद्यथा-एकं च तदक्षरं च तेन निर्वृत्तमेकाक्षरिकम्, अनेकानि च तान्यक्षराणि च तैर्निर्वृत्तमनेकाक्षरिकम् । चकारौ समुच्चयार्थौ । तत्रैकाक्षरिके-ह्रीर्लज्जा, देवताविशेषो वा । श्रीर्देवताविशेषः । धीर्बुद्धिः । स्त्री योषिदिति । अनेकाक्षरिका कन्येत्यादि । उपलक्षणं चेदं बलाकापताकाऽऽदीनामाद्यक्षरनिष्पन्नानाम्नामिति । तदयं यदस्ति वस्तु तत्सर्वमेकाक्षरेण वा नाम्ना-ऽभिधीयतेऽनेकाक्षरेण वाऽतोऽनेन नामद्वयेन विवक्षितस्य सर्वस्यापि वस्तुजातस्याभिधानाद् द्विनामोच्यते, द्विरूपं तस्य सर्वस्य नाम द्विनाम, द्वयोर्वा नाम्नोः समाहारो द्विनामेति ।

एतदेव प्रकारान्तरेणाऽऽह-

अहवा दुनामे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-जीवणामे अ, अजीवणामे अ । से किं तं जीवणामे ? । जीवणामे-देवदत्तो, जण्णदत्तो, विण्हुदत्तो, सोमदत्तो । सेत्तं जीवणामे । से किं तं अजीवणामे ? । अजीवणामे-घडो, पडो, कडो, रहो । सेत्तं अजीवणामे ॥

(अहवा दुनामे इत्यादि) जीवस्य नाम जीवनाम, अजीवस्य नाम अजीवनाम । अत्रापि यदस्ति, तेन जीवनाम्ना, अजीवनाम्ना वा भवितव्यमिति । जीवाजीवनामभ्यां विवक्षितसर्ववस्तुसंग्रहो भावनीयः । शेषं सुगमम् ।

पुनरेतदेवान्यथा प्राऽऽह-

अहवा दुनामे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-विसेसिए, अविसेसिए य । अविसेसिए जीवदव्वे, अजीवदव्वे य । विसेसिए णेरइए तिरिक्खजोणिए मणुस्से देवे, अविसेसिए णेरइए, विसेसिए रयणप्पभाए सक्करप्पभाए वालुअप्पभाए पंकप्पभाए धूमप्पभाए तमाए तमतमाए, अविसेसिए रयणप्पभाए पुढविणेरइए, विसेसिए पज्जत्तए अ अपज्जत्तए अ, अविसेसिए तिरिक्खजोणिए, विसेसिए एगिंदिए बेइंदिए तेइंदिए चउरिंदिए पंचिंदिए, अविसेसिए पुढविकाइए आउकाइए तेउकाइए वाउकाइए वणस्सइकाइए, विसेसिए पुढविकाइए, अविसेसिए एगिंदिए, विसेसिए पुढविकाइए सुहुमकाइए अ बादरपुढविकाइए अ, अविसेसिए सुहुमपुढविकाइए, विसेसिए पज्जत्तयसुहुमपुढविकाइए अ, अविसेसिए अ बादरपुढविकाइए, विसेसिए पज्जत्तयबादरपुढविकाइए अ अपज्जत्तयबादरपुढविकाइए । एवं आउकाइए तेउकाइए वाउकाइए वणस्सइकाइए अ विसेसिअविसेसिअ जाणिअव्वा । अविसेसिए बेइंदिए, विसेसिए पज्जत्तयबेइंदिए अ अपज्जत्तयबेइंदिए य । एवं तेइंदिअचउरिंदिआ वि जाणिअव्वा । अविसेसिए पंचिंदिअतिरिक्खजोणिए, विसेसिए जलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए थलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए खयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए जलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए, विसेसिए संमुच्छिमजलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ गब्भवक्कंतिअजलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए संमुच्छिमजलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए, विसेसिए अपज्जत्तयसंमुच्छिमजलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ अपज्जत्तयसंमुच्छिमजलयरपंचिंदिअ-

तिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए गब्भवक्कंतिअजलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए, विसेसिए पज्जत्तयगब्भवक्कंतिअजलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए थलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए, विसेसिए चउप्पयथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ परिसप्पथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए चउप्पयथलयर०, विसेसिए संमुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ गब्भवक्कंतिअचउप्पयथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए संमुच्छिमचउप्पयथलयर०, विसेसिए पज्जत्तयसंमुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ अपज्जत्तयसंमुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए गब्भवक्कंतिअचउप्पयथलयरपंचिंदिअ०, विसेसिए पज्जत्तयगब्भवक्कंतिअचउप्पयथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ अपज्जत्तयगब्भवक्कंतिअचउप्पयथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए परिसप्पथलयर०, विसेसिए उरपरिसप्पथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ भुअपरिसप्पथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, एते वि संमुच्छिमा पज्जत्तगा अपज्जत्तगा य, गब्भवक्कंतिआ वि पज्जत्तगा अपज्जत्तगा य जाणिअव्वा। अविसेसिए खहयरपंचिंदिय० विसेसिए संमुच्छिमखहयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ गब्भवक्कंतिअखहयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए संमुच्छिमखहयरपंचिंदिअ० विसेसिए पज्जत्तयसंमुच्छिमखहयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ अपज्जत्तयसंमुच्छिमखहयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए गब्भवक्कंतिअखहयरपंचिंदिय० विसेसिए पज्जत्तयगब्भवक्कंतिअखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए मणुस्से, विसेसिए संमुच्छिममणुस्से अ गब्भवक्कंतिअमणुस्से अ, अविसेसिए संमुच्छिममणुस्से, विसेसिए पज्जत्तगसंमुच्छिममणुस्से अ अपज्जत्तगसंमुच्छिममणुस्से अ, अविसेसिए गब्भवक्कंतिअमणुस्से, विसेसिए पज्जत्तयगब्भवक्कंतिअमणुस्से अ अपज्जत्तगगब्भवक्कंतिअमणुस्से अ, अविसेसिए देवे, विसेसिए भवणवासी वाणमंतरे जोइसिए वेमाणिए अ, अविसेसिए भवणवासी, विसेसिए असुरकुमारे नागकुमारे सुवण्णकुमारे अग्गिकुमारे दीवकुमारे उदधिकुमारे दिसाकुमारे वाउकुमारे थणियकुमारे, सव्वेसिं पि अविसेसिअविसेसिअपज्जत्तगपज्जत्तगभेदा जाणिअव्वा। अविसेसिए वाणमंतरे, विसेसिए पिसाए भूते जक्खे रक्खसे किण्णरे किंपुरिसे महोरगे गंधव्वे, एतेसिं पि अविसेसियविसेसियपज्जत्तगअपज्जत्तगभेदा जाणिअव्वा। अविसेसिए जोइसिए, विसेसिए चंदे सूरे गहगणनक्खत्ते तारारूवे, एतेसिं पि अविसेसियविसेसियअपज्जत्तयपज्जत्तयभेआ जाणिअव्वा। अविसेसिए वेमाणिए, विसेसिए कप्पोवगो अ कप्पातीतगे अ, अविसेसिए कप्पोवगो, विसेसिए सोहम्मए ईसाणए सणंकुमारए माहिंदए बंभलोअए लंतयए सुक्कए सहस्सारए आणयए पाणयए आरणयए अच्चुयए, एतेसिं अविसेसियविसेसिअअपज्जत्तगपज्जत्तगभेदा भाणिअव्वा। अविसेसिए कप्पातीतए, विसेसिए गेवेज्जए अ अणुत्तरोववाइए अ, अविसेसिए गेवेज्जए, विसेसिए हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जए हेट्ठिममज्झिमगेविज्जए हिट्ठिमउवरिमगेविज्जए अ, अविसेसिए मज्झिमगेविज्जए, विसेसिए हेट्ठिममज्झिमगेवेज्जए मज्झिममज्झिमगेवेज्जए मज्झिमउवरिमगेवेज्जए अ, अविसेसिए उवरिमगेवेज्जए, विसेसिए उवरिमहेट्ठिमगेवेज्जए उवरिममज्झिमगेवेज्जए उवरिमउवरिमगेवेज्जए अ, एतेसिं पि सव्वेसिं अविसेसिअविसेसिअपज्जत्तगाऽपज्जत्तगभेदा भाणिअव्वा। अविसेसिए अणुत्तरोववाइए, विसेसिए विजयए वेजयंतए जयंतए अपराजिअए सव्वट्ठसिद्धए अ, एतेसिं पि सव्वेसिं अविसेसिअविसेसिअपज्जत्तगाऽपज्जत्तगभेदा भाणिअव्वा। अविसेसिए अजीवदव्वे, विसेसिए धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अद्धासमए अ, अविसेसिए पोग्गलत्थिकाए, विसेसिए परमाणुपोग्गले दुपएसिए तिपएसिए० जाव अणंतपएसिए अ। सेतं दुनामे॥

(अहवा दुनामे इत्यादि) द्रव्यमित्यविशेषनाम, जीवे अजीवे च सर्वत्र सद्भावात्। जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति च विशेषनाम, एकस्य जीव एवान्यस्य त्वजीव एव सद्भावादिति। ततः पुनरुत्तरापेक्षायां जीवद्रव्यमित्याद्यविशेषनाम, नारकस्तिर्यगित्यादि तु विशेषनाम, पुनरप्युत्तरापेक्षया नारकाऽऽदिकमविशेषनाम, रत्नप्रभायां भवो रत्नप्रभ इत्यादि तु विशेषनाम, एवं पूर्वमविशेषनाम, उत्तरोत्तरं तु विशेषनाम सर्वत्र भावनीयम्, शेषं सुगमं, नवरं संमूर्च्छन्ति तथाविधकर्मोदयाद् गर्भमन्तरेणैवोत्पद्यन्त इति संमूर्च्छिमाः, गर्भे व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिर्येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः, उरसा भुजाभ्यां च परिसर्पन्ति गच्छन्तीति विषधरगोधानकुलाऽऽदयः सामान्येन परिसर्पाः, विशेषतस्तूरसा परिसर्पन्तीत्युरःपरिसर्पाः सर्पाऽऽदय एव, भुजाभ्यां परिसर्पन्तीति भुजपरिसर्पा गोधानकुलाऽऽदय एव, शेषं सुखोन्नेयम्। तदेवमुक्ताः सामान्यविशेषनामतया जीवद्रव्यस्य सम्भाविनो भेदाः। साम्प्रतं प्रागुद्दिष्टमजीवद्रव्यमपि भेदतस्तथैवोदाहर्तुमाह-(अविसेसिए अजीवदव्वे) इत्यादि गतार्थं, तदेवं यदस्ति वस्तु तत्सर्वं सामान्यनाम्ना विशेषनाम्ना वा अभिधीयतेऽन्यथाऽपि द्विनामत्वं भावनीयम्। "सेतं दुनामे" इति निगमनम्। अनु०।

दुणावेढ—देशी-मशके, तडागे च। दे० ना० ५ वर्ग ६६ गाथा।

दुण्णय-दुर्नय-त्रि० । स्वार्थग्राहिणि इतरांशप्रतिक्षेपिणि, स्या० ५ अध्या० । नयाऽऽभासे, आ० म० । यस्तु नयान्तरनिरपेक्षः स दुर्नयो नयाभास इति ।

तथा चाऽऽहाकलङ्कः-

" भेदाभेदाऽऽत्मके ज्ञेये, भेदाभेदाभिसन्धयः ।
ये तदपेक्षाऽनपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते, ज्ञेयास्ते नयदुर्नयाः ॥ १ ॥ "

अस्याः कारिकाया लेशतो व्याख्या-भेदो विशेषोऽभेदस्तु सामान्यं, तदात्मके, सामान्यविशेषाऽऽत्मके इत्यर्थः । ज्ञेये प्रमाणपरिच्छेद्यवस्तुनि, ये भेदाभेदाभिसन्धयः सामान्यविशेषयोः पुरुषाऽभिप्राया अपेक्षाऽनपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते ते यथासङ्ख्यं नयदुर्नया ज्ञातव्याः। किमुक्तं भवति ?-विशेषसाकाङ्क्षः सामान्यग्राहकोऽभिप्रायो, विशेषपरिग्राहको वा सामान्यसापेक्षो नयः, इतरांशाकाङ्क्षारहितस्तु दुर्नयः ॥ आ० म० १ अ० २ खण्ड । इतरप्रतिक्षेपी तु नयो नयाऽऽभासो, दुर्नयो वेत्युच्यते । मलयगिरिचरणास्तु-नयो-दुर्नयः, सुनयश्चेति दिगम्बरव्यवस्था, न त्वस्माकं, नयदुर्नययोरर्थाविशेषात् । नयो० । परामर्शो अभिप्रेतधर्मावधारणाऽऽत्मकतया शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नयसंज्ञामश्नुवते । स्या० । एते मिथः परस्परं पृथग् भिन्नं भिन्नं पक्षप्रतिपक्षकदर्थिना वादप्रतिवादकदर्थनाविडम्बिना नयाः दुर्नया इत्यर्थः । अष्ट० ३२ अष्ट० ।

" स्वकृतपरिणतानां दुर्नयानां विपाकः,
पुनरपि सहनीयोऽन्यत्र ते निर्गुणस्य ।
स्वयमनुभवतोऽसौ दुःखमोक्षाय सद्यो,
भवशतगतिहेतुर्जायतेऽनिच्छतस्ते ॥ १ ॥" आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । सर्वे सावधारणाः सन्तो दुर्नयाः, अवधारणविरहितास्ते सुनयाः, सर्वैश्च सुनयैः स्याद्वादः । अनु० ।

दुण्णाम-दुर्नाम-पुं० । मदाद् दुष्टं नमनं दुर्नाम इति । मानकषायभेदे, भ० १२ श० ५ उ० ।

दुण्णामधिज्ज-दुर्नामधेय-त्रि० । पुराणः पतित इति कुत्सितनामधेये, दशा० १ चू० ।

दुण्णिक्क-देशी- चूर्णिते, दे० ना० ५ वर्ग ४५ गाथा ।

दुण्णिक्कम-दुर्निष्क्रम-त्रि० । दुःखेन नितरां क्रमः क्रमणं यत्र तस्मिन्, भ० ७ श० ६ उ० ।

दुण्णिक्खित्त-देशी-दुश्चरिते, दुर्दर्शे, दे० ना० ५ वर्ग ४५ गाथा ।

दुण्णिद्द-द्विनिद्र-न० । द्वयोर्निद्रयोः समाहारो द्विनिद्रम् । निद्राप्रचलालक्षणे निद्राद्विके, कर्म० ५ कर्म० ।

दुण्णिय-दुर्नीत-न० । दुष्टं नीतं दुर्नीतम् । दुष्कृते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । अप्राभृते, नि० चू० १ उ० ।

दुण्णियत्थ-देशी-जघनवस्त्रे,जघने च । दे० ना० ५ वर्ग ४३ गाथा ।

दुण्णिरिक्खरूव-दुर्निरीक्ष्यरूप-त्रि० । दुःप्रेक्ष्ये, कल्प० ३ क्षण ।

दुण्णिविट्ठ-दुर्निविष्ट-त्रि० । विह्वले निर्भरे, नि० चू० ११ उ० ।

दुण्णिवोह-दुर्निबोध-त्रि० । दुष्प्रापके, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

दुण्णिसीहिया-दुर्निषद्या-स्त्री० । दुःखहेतुस्वाध्यायभूमौ, भ० १६ श० २ उ० ।

दुण्णेय-दुर्ज्ञेय-त्रि० । दुरवगमे, आव० ४ अ० । आ० म० । दुर्लक्ष्ये, दशा० ४ अ० ।

दुत-द्रुत-त्रि० । शीघ्रे, पञ्चा० ७ विव० । त्वरिते, स्था० ७ ठा० । आशुइत्यर्थे, षो० ९ विव० ।

दुत्तर-दुस्तर-त्रि० । दुर्लङ्घ्ये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । उत्त० ।

दुत्ति-देशी-शीघ्रे, दे० ना० ५ वर्ग ४१ गाथा ।

दुत्तितिक्ख-दुस्तितिक्ष-त्रि० । परीषहाऽऽदौ दुःसहे, "पुरिमपच्छिमगाणं जिणाणं दुग्गमं भवइ । तं जहा-दुआइक्खं दुविभज्जं दुत्तितिक्खं दुरणुचरं ।" स्था० ५ ठा० १ उ० । (' तित्थयर ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६२ पृष्ठे व्याख्या)

दुत्तोस-दुस्तोष-त्रि० । यस्य तुष्टिः कर्तुं न शक्यते तस्मिन्, दशा० ५ अ० ।

दुत्थ-दुस्थ-त्रि० । दुर्गते, स्था० ३ ठा० ३ उ० । जघने, दे० ना० ५ वर्ग ४२ गाथा ।

दुत्थाह-देशी-दुर्भगे, दे० ना० ५ वर्ग ४३ गाथा ।

दुत्थुरुहुंड-देशी-पुरुषे, कलहशीलायां स्त्रियां च । दे० ना० ५ वर्ग ४७ गाथा ।

दुद्दंसण-द्विदर्शन-न० । द्वयोर्दर्शनयोः समाहारो द्विदर्शनम् । चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनद्वये, कर्म० ४ कर्म० ।

दुद्दंत-दुर्दान्त-त्रि० । दमयितुमशक्ये, उत्त० २७ अ० । चमूपि, उत्त० ३२ अ० । आ० म० ।

दुद्दम-दुर्दम-त्रि० । दुर्जेये, उत्त० १ अ० । स्वनामख्यातेऽश्वग्रीवराजदूते, आ० क० ।

दुद्दम-देशी-देवरे, दे० ना० ५ वर्ग ४४ गाथा ।

दुद्दसा-दुर्दशा-स्त्री० । दीनावस्थायाम्, अष्ट० ७ अष्ट० । सू० ।

दुद्दिट्ठ-दुर्दृष्ट-त्रि० । दुष्टे दृष्टे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

दुद्दिण-दुर्दिन-न० । मेघतिमिरदिने, पिं० ।

दुद्दोली-देशी-वृक्षपङ्क्तौ, दे० ना० ५ वर्ग ४३ गाथा ।

दुद्ध-दुग्ध-न० । "क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-ᳲ क ᳲ पामूर्ध्वं लुक्" ॥ ८ । २ । ७७ ॥ इति संयुक्तवर्णाऽऽदिभूतस्य गकारस्य लुक् । प्रा० २ पाद । "अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम् " ॥ ८ । २ । ८९ ॥ इत्यनादौ वर्तमानस्य शेषस्य धकारस्य द्वित्वम् । ' दुद्धं । ' प्रा० २ पाद । क्षीरे, दुग्ध पञ्चभेद गोमहिष्यजिकरभोरगालिकागर्दभिकामयदीष्टस्येन । प्रव० ४ द्वार । उत्त० । आ० म० । " पांसरु " इति नाम्ना प्रसिद्धस्य दुग्धस्य भक्षणे कोऽपि दोषो, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-लोकाक्त्या दोषः श्रूयते,न त्वागमे यशाक्षानुसारेणेति । ८० प्र० । सेन० २ उल्ला० । अथ पं० नगर्षिगणिकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च । यथा-उत्कालितदुग्धमध्ये प्रक्षिप्तगोधूमाऽऽदिचूर्णाऽवरटिकया तद् दुग्धं निर्विकृतिकं स्यान्न वेति प्रश्ने,उत्तरम्-गोधूमाऽऽदिचूर्णं प्रक्षिप्त सति यद्दुग्धमेकरसं वर्णान्तराऽऽदिप्राप्तं च भवति तन्निर्विकृतिकं भवतीति । १०८ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

दुद्धअ-देशी-समूहे, दे० ना० ५ वर्ग ४९ गाथा ।

दुद्धकाय-दुग्धकाय-पुं० । दुग्धघटकाये, परिहरणायां दुग्धघटकाय दृष्टान्त उक्तः । आव० ३ अ० । आ० क० ।

दुद्धगंधियमुह-देशी-बाले, दे० ना० ५ वर्ग ४० गाथा ।

दुद्धजाइ-दुग्धजाति-स्त्री० । आस्वादतः क्षीरसदृश्यां मदिरायाम्, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

दुद्धट्टी-दुग्धाटी-स्त्री० । आम्लेन युक्ते दुग्धे जातायां किलाटिकायाम्, बलाहिकायामित्यन्ये । प्रव० ४ द्वार । ध० ।

दुद्धर-दुर्द्धर-त्रि० । दुःखेन धर्तुं शक्यं,दुर्धरम् । दश० ४ अ० । गहने, स्था० ६ ठा० । दुर्वहे, स० । धारयितुमशक्ये, स्था० ३ ठ० । अनुकरणीये, प्रश्न० १ पद्द ।

दुद्धरधर-दुर्द्धरधर-त्रि० । दुर्धराणि प्राणातिपाताऽऽदिनिवृत्तिलक्षणानि पञ्च महाव्रतानि धारयतीति दुर्द्धरधरः । पञ्चमहाव्रतिके, प्रश्न० १ पाद्र ।

दुद्धरपहकरवेग-दुर्द्धरपथकरवेग-त्रि० । दुर्द्धरं दुर्वहं पन्थानं सम्यग्दर्शनाऽऽदिकं मोक्षमार्गं करोतीति दुर्द्धरपथकरस्तथाविधो वेगः प्रसरो यस्येति तस्मिन् । सू० १ ठ० ।

दुद्धरिस-दुर्द्धर्ष-पुं० । चतुःपञ्चाशत्तमे अपभनन्दने, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । अनभिभवनीये, त्रि० । नं० ।

दुद्धवलेहिया-दुग्धावलेहिका-स्त्री० । तण्डुलकचूर्णसिद्धे दुग्धे, प्रव० ४ द्वार । ध० ।

दुद्धसाडिया-दुग्धशाटिका-स्त्री० । द्राक्षामिश्रे राद्धे दुग्धे, दुग्धं शटति गच्छतीति व्युत्पत्तेः । प्रव० ४ द्वार ।

दुद्धसाडी-दुग्धशाटी-स्त्री० । द्राक्षासहिते पयसि, ध० २ अधि० ।

दुद्धाडी-दुग्धाटी-स्त्री० । अम्लयुक्ते दुग्धे, ध० २ अधि० ।

दुद्धिणिआ-देशी-स्नेहस्थापनभाण्डे, तुम्ब्यां च । दे० ना० ५ वर्ग ४४ गाथा ।

दुद्धिणी-देशी-स्नेहस्थापनभाण्डे, तुम्ब्यां च । दे० ना० ५ वर्ग ५४ गाथा ।

दुद्धोलणी-देशी-या दुग्धाऽपि दुह्यते तस्याम्, दे० ना० ५ वर्ग ४६ गाथा ।

दुप-द्विप-पुं० । द्वाभ्यां मुखेन, करेण चेत्यर्थः । पिबतीति द्विपः । "मूलविभुजाऽऽदयः" ॥५ । १ । १४४ ॥ इतिकप्रत्ययः। हस्तिनि, जी० ३ प्रति० १ उ० । आ० म० ।

दुपएस-द्विप्रदेश-त्रि० । द्वौ प्रदेशावारम्भकावस्येति द्विप्रदेशः । द्व्यणुके, भ० १ श० ।

द्विप्रवेश-त्रि० । द्वौ प्रवेशौ यस्मिंस्तद् द्विप्रवेशम् । द्वौ वारौ प्रवेश्ये, प्रथमो गुरुमनुज्ञाप्य प्रविशतः, द्वितीयः पुनर्निर्गत्य प्रविशत इति । प्रव० २ द्वार ।

दुपएसिय-द्विप्रदेशिक-त्रि० । प्रदेशद्वयावस्थिते, भ० ५ श० ७ उ० ।

दुपक्ख-दुष्पक्ष-पुं० । दुष्टः पक्षो दुष्पक्षः । असत्प्रतिज्ञाऽभ्युपगमे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

द्विपक्ष-न० । द्वौ पक्षौ समाहृतौ इति द्विपक्षम् । गृहस्थपक्षसंयतपक्षयोः समाहारे, सू० १ उ० । सूत्र० । रागद्वेषाऽऽत्मके पक्षद्वये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । "इमं दुपक्खं इममेगपक्खं, आहंसु छलायतणं च कम्मं (६)" द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षम् । सप्रतिपक्षेऽनैकान्तिके पूर्वापरविरुद्धार्थाऽभिधायितयाऽविरोधिवचने, (सूत्र०) कर्मबन्धनिर्जरणे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । द्विपक्षं कर्म सेवन्ते । तद्यथा-प्रव्रज्यामाधाकर्मिकवसत्यासेवनाद् गृहस्थत्वं च, रागं द्वेषं च, ईर्यापथं साम्परायिकं चेत्यादि । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

दुपडोआर-द्विपदावतार-त्रि० । द्वयोः स्थानयोः पर्यवसिते, स्था० ।

जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपडोआरं । तं जहा-जीव च्चेव,अजीव चेव,तस च्चेव,थावर चेव,सजोणिय चेव, अजोणिय चेव,साउय चेव,अणाउय चेव,सइंदिय च्चेव, अणिंदिय च्चेव,सवेयग च्चेव, अवेयग च्चेव, सरूवि च्चेव, अरूवि च्चेव,सपोग्गल च्चेव,अपोग्गल च्चेव, संसारसमावन्नग च्चेव, असंसारसमावन्नग चेव, सासय च्चेव, असासय च्चेव । आगासे चेव,नोआगासे चेव,धम्मे चेव, अधम्मे चेव, बंधे चेव, मोक्खे चेव, पुण्णे चेव, पावे चेव, आसवे चेव, संवरे चेव, वेयणा चेव, णिज्जरा चेव ॥

(जदत्थीत्यादि) संहिताऽऽदिः पूर्ववत्,यज्जीवाऽऽदिकं वस्तु अस्ति विद्यते, णमिति वाक्यालङ्कारे । क्वचित्पाठः-(जदत्थि च णं ति) तत्रानुस्वार आगमिकश्चशब्दः पुनरर्थः । एवं चास्य प्रयोगः-अस्त्यात्मादि वस्तु, पूर्वाध्ययनप्ररूपितत्वात्, यच्चास्ति लोके पञ्चास्तिकायाऽऽत्मके लोक्यते प्रमीयते इति लोक इति व्युत्पत्त्या लोकालोकरूपे वा, तत्सर्वं निरवशेषं द्वयोः पदयोः स्थानयोः पक्षयोर्विवक्षितवस्तुतद्विपर्ययलक्षणयोरवतारो यस्य तद् द्विपदावतारमिति । "दुपडोयारं" इति क्वचित्पठ्यते, तत्र द्वयोः प्रत्यवतारो यस्य तद् द्विप्रत्यवतारमिति स्वरूपवत, प्रतिपक्षवच्चेत्यर्थः । तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासे । (जीव च्चेव अजीव च्चेव त्ति) जीवाश्चैव अजीवाश्चैव, प्राकृतत्वात् संयुक्तपरत्वेन ह्रस्वः । चकारौ समुच्चयार्थौ । एवकारावधारणे । तेन च राश्यन्तरापोहमाह-नोजीवाऽऽख्यं राश्यन्तरमस्तीति चेत्,नैवं,सर्वनिषेधकत्वे नोशब्दस्य नोजीवशब्देनाजीव एव प्रतीयते, देशनिषेधकत्वे तु जीवदेश एव प्रतीयते, न च देशो देशिनोऽत्यन्तव्यतिरिक्त इति जीव एवासाविति । 'च्चेय' इति वा एवकारार्थः । " चिय च्चेय एवार्थे " इतिवचनात् । ततश्च जीवा एवेति विवक्षितवस्त्वजीवा एवेति च तत्प्रतिपक्ष इति । एवं सर्वत्र । अथवा यदस्तीति यत् सन्मात्रं वस्त्वित्यर्थः । तत् द्विपदावतारं द्विविधं जीवाजीवभेदादिति । शेषं तथैव । अथ त्रसेत्यादिनवसूत्र्या जीवतत्त्वस्यैव भेदान् सप्रतिपक्षाननुदर्शयति-तत्र त्रसनामकर्मोदयतस्त्रस्यन्तीति त्रसाः द्वीन्द्रियाऽऽदयः,स्थावरनामकर्मोदयात्तिष्ठन्तीत्येवंशीलाः स्थावराः पृथिव्यादयः, सह योन्योत्पत्तिस्थानेन सयोनिकाः संसारिणः,तद्विपर्यासभूता अयोनिकाः सिद्धाः,सहाऽऽयुषा वर्तन्त इति सायुषः,तदन्येऽनायुषः सिद्धाः। एवं सेन्द्रियाः संसारिणः,अनिन्द्रियाः सिद्धाऽऽदयः,सवेदकाः स्त्रीवेदाऽऽद्युदयवन्तः,अवेदकाः सिद्धाऽऽदयः,सह रूपेण मूर्त्या वर्तन्ते इति समासान्ते इन्प्रत्यये सति सरूपिणः संस्थानवर्णाऽऽदिमन्तः,सशरीरा इत्यर्थः । न रूपिणोऽ-

रूपिणो मुक्ताः,सपुद्गलाः कर्माऽऽदिपुद्गलवन्तो जीवाः,अपुद्गलाः सिद्धाः, संसारं भवं समापन्नका आश्रिताः संसारसमापन्नकाः संसारिणः, तदितरे सिद्धाः,शाश्वताः सिद्धाः,जन्ममरणाऽऽदिरहितत्वात् । अशाश्वताः संसारिणस्तद्युक्तत्वादिति । एवं जीवतत्त्वस्य द्विपदावतारं निरूप्याजीवतत्त्वस्य तं निरूपयन्नाह-(आगासे इत्यादि) आकाशं व्योम,नो आकाशं तदन्यद्धर्मास्तिकायाऽऽदिः,धर्मो धर्मास्तिकायो गत्युपष्टम्भगुणः,तदन्योऽधर्मोऽधर्मास्तिकायः स्थित्युपष्टम्भगुणः, सविपक्षबन्धाऽऽदितत्त्वसूत्राणि चत्वारि प्राग्वदिति । स्था० २ ठा० १ उ० ।

दुपडोयार-द्विप्रत्यवतार-न० । द्वयोः प्रत्यवतारो यस्य तद् द्विप्रत्यवतारम् । स्वरूपवति, प्रतिपक्षवति च । स्था० २ ठा० १ उ० ।

दुपय-द्विपद-पुं० । द्वे पदे यस्याऽसौ द्विपदः । मनुष्ये, स० १२ अङ्ग । अनु० । गन्धाम्, ध० २ अधि० । विशे० । सूत्र० । आचा० । आव० । देवे, पक्षिणि, राक्षसे च । "मिथुनतुलाघटकन्याः,द्विपदाख्याश्चापपूर्वभागश्च ।" इति ज्योतिषोक्ते राशिभेदे च । वाच० । प्रव० । नि० चू० । आ० चू० । उत्त० । ध० र० । "आसाढे मासे दुपया होइ पोरिसी ।" पादद्वयपरिमिते, त्रि० । उत्त० २६ अ० ।

द्रुपद-पुं० । स्वनामख्याते काम्पिल्यपुरराजे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

दुपयचउप्पयपमाणाइक्कम-द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम-पुं० । स्थूलपरिग्रहविरमणलक्षणस्य पञ्चमस्याऽणुव्रतस्य चतुर्थेऽतिचारे,ध०र० । तथा द्वे पदे येषां तानि द्विपदानि कलत्रावरुद्धदासीदासकर्मकरपदात्यादीनि, हंसमयूरकुक्कुटशुकसारिकाचकोरपारापतप्रभृतीनि च । चत्वारि पदानि येषां तानि चतुष्पदानि गोमहिषमेषाविककरभरासभतुरगहस्त्यादीनि, तानि यत्कर्भ प्राहयति सोऽतिचार इति संबन्धः । यथा किल केनाऽपि संवत्सराऽऽद्यवधिना द्विपदचतुष्पदानां परिमाणं कृतं,तेषां च विवक्षितसंवत्सराऽऽद्यवधिमध्य एव प्रसवेऽधिकद्विपदाऽऽदिभावाद् व्रतभङ्गः स्यादिति, तद्भयात्कियत्यपि काले गते गर्भं ग्राहयतो गर्भस्थद्विपदाऽऽदिभावेन बहिश्च तदभावेन कथञ्चिद् व्रतभङ्गाद्भङ्गरूपोऽतिचार इति चतुर्थः । प्रव० ६ द्वार । ध० । उपा० । नि० चू० । आव० ।

दुप्पउत्त-दुष्प्रयुक्त-त्रि० । दुष्टप्रयोगवति, स्था० १ ठा० । अकुशले, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

दुप्पउत्तकायकिरिया-दुष्प्रयुक्तकायक्रिया-स्त्री० । दुष्टं प्रयुक्तं प्रयोगो यस्य स दुष्प्रयुक्तस्तस्य कायक्रियायाम्,दुष्टं प्रयुक्तो दुष्प्रयुक्तः, स चाऽसौ कायश्च दुष्प्रयुक्तकायस्तस्य क्रियायां च । भ० ३ श० १ उ० ।

दुप्पउल्ल-दुष्पक्व-त्रि० । अर्द्धस्विन्ने, पञ्चा० १ विव० ।

दुप्पएसिय-द्विप्रदेशिक-पुं० । "दुपएसिया खंधा ।" स्कन्धाऽऽदिषु, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

दुप्पओग-दुष्प्रयोग-पुं० । दुष्टे मनोवाक्कायप्रयोगे, क्रोधाभिमानेर्ष्याऽऽदिलक्षणो मनोदुष्प्रयोगः,वाग्दुष्प्रयोगस्तु हिंसारूपाऽऽदिवचनलक्षणः, कायदुष्प्रयोगस्तु धावनवल्गनाऽऽदिः । दश० ४ अ० ।

दुप्पच्चुवेक्खिय-दुष्प्रत्युपेक्षित-त्रि० । विभ्रान्तचक्षुषा निरीक्षिते, प्रव० ६ द्वार ।

दुप्पजीवि (ण्)-दुष्प्रजीविन्-पुं० । दुःखेन कृच्छ्रेण प्रकर्षेणोदारभोगापेक्षया जीवितुं शीलं प्राणिनि, दश० १ चू० ।

दुप्परिक्कंत-दुष्परिक्रान्त-त्रि० । दुराक्रान्ते, आचा० ।

गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जातं दुप्परिक्कंतं भवति अवियत्तस्स भिक्खुणो ॥१५६॥

ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः, ग्रामादनु-पश्चादपरो ग्रामो ग्रामानुग्रामस्तं दूयमानस्यानेकार्थत्वाद्धातूनां विहरत एकाकिनः साधोर्यत्स्यात्तद्दर्शयति-दुर्यातं दुष्टं यातं दुर्यातं गमनक्रियाया गर्हा गच्छत एवानुकूलप्रतिकूलोपसर्गसद्भावाद्दढं कस्येव कृशगात्रभेदस्य दुष्प्रत्यन्तराजघातादिवत्, तथा-दुष्टं पराक्रान्तमाक्रान्तं स्थानमेकाकिनो भवति स्थूलभद्रस्येर्ष्यापितोपकोशागृहसाधोरिवेति, यदि वा चतुर्मासोषितभर्तृकागृहोषितसाधोरिव तस्य महासत्त्वतया अक्षोभेऽपि दुष्पराक्रान्तमेवेति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । दुःशब्दोऽत्रावार्थन्तेन प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिना अप्रतिक्रान्तानामानिवर्त्तितविपाकानां कर्म्मणि, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

दुप्पडिगर-दुष्प्रतिकर-त्रि० । दुःखेन प्रतिकर्तुमशक्ये,सू० ३ उ० ।

दुप्पडिग्गह-द्विप्रतिग्रह-न० । द्विप्रत्यवस्थ स्वसमयपरसमयस्थापिते सूत्रविशेषे, स० १२ अङ्ग ।

दुप्पडिपूर-दुष्प्रतिपूर-त्रि० । पूरयितुमशक्ये, तं० ।

दुप्पडिवूहणीय-दुष्प्रतिबृंहणीय-त्रि० । प्रतिबृंहणानर्हे, जीवितमायुष्कं तत् क्षीणं सत् दुष्प्रतिबृंहणीयम्, दुरनाचार्थो नैव वृद्धिर्नीयते इति यावत् । निष्प्रत्यूहप्रतिपालनार्हे, अथवा-जीवितं संयमजीवितं तद् दुष्प्रतिबृंहणीयं कामानुषक्तजनानर्थितेना दुःखेन निष्प्रत्यूहसंयमप्रतिपालन इति । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

दुप्पडियाणंद-दुष्प्रत्यानन्दय-त्रि० । बहुभिरपि संतापकारणैरनुत्पाद्यमानसंतोषे, विपा० १ श्रु० २ अ० । दुःखेन प्रत्यानन्द्यत इति दुष्प्रत्यानन्द्यः । इदमुक्तं भवति-नैरार्ता-हननापरेण केनचित् प्रत्युपकारेण हतुना गर्वाऽऽध्मातो दुःखेन प्रत्यानन्द्यते । यदि वा-सत्युपकारं प्रत्युपकारभीरुर्नैवानन्दते, प्रत्युत शठतया उपकारे दोषमेवाविष्कुर्वन्ति । तथा चोक्तम्-" प्रायः कृतमर्शकुशाः, नराः पूर्वोपकारिणाम् । दोषमुत्पाद्य गच्छन्ति, मद्गुराणामिव वाप्रतः ॥१॥ " इति । दशा० ६ अ० ।

दुप्पडियार-दुष्प्रतिकार-त्रि० । दुःखेन कृच्छ्रेण प्रतिक्रियते कृतोपकारेण पुंसा प्रत्युपक्रियते इति खल्प्रत्यये दुष्प्रत्युपकरः । प्रत्युपकर्तुमशक्ये, स्था० ।

तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो ! । तं जहा-अम्मापिउणो, भट्टिस्स, धम्मायरियस्स, संपाओ वि य णं केइ पुरिसे अम्मापियरं सयपागसहस्सपागेहिं तिल्लेहिं अब्भंगेत्ता सुरभिणा गंधट्टएणं उव्वट्टित्ता तिहिं उदगेहिं मज्जावेत्ता सव्वालंकारविभूसियं करेत्ता मणुन्नं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं भोअणं भोआवेत्ता जावज्जीवं पिट्ठिवडिंसियाए परिवहेज्जा, तेणावि तस्स अम्मापिउस्स दुप्पडियारं भवइ ॥

हे श्रमण ! हे आयुष्मन् !, समस्तनिर्देशो वा-हे श्रमणाऽऽयुष्मन्निति भगवता शिष्यः सम्बोधितः। अम्मया माता सह पिता जनकः अम्बापिता,तस्यैकं स्थानम्, जनकत्वेनैकत्वविवक्षणात् । तथा (भट्टिस्स त्ति) भर्तुः पोषकस्य,स्वामिन इत्यर्थः। इति द्वितीयम् । धर्मदाताऽऽचार्यो धर्माऽऽचार्यस्तस्येति तृतीयम् । आह च-"दुष्प्रतिकारौ माता-पितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन् । तत्र गुरुरिहामुत्र च, सुदुष्करतरप्रतीकारः ॥१॥" इति । तत्र जनकदुष्प्रतिकार्यतामाह-(संपाओ त्ति) प्रातः प्रभातं तेन संयुतः संप्रातः, संप्रातरपि च प्रभातसमकालमपि च, यदैव प्रातः संवृत्तं तदैवेत्यर्थः। अनेन कार्यान्तराव्यग्रतां दर्शयति, सकृदत्यतिशयार्थत्वाद्वाऽतिप्रभाते, प्रतिशब्दार्थत्वाद् वाऽस्य प्रतिप्रत्यासमित्यर्थः। कश्चिदिति कुलीन एव, न तु सर्वोऽपि,पुरुषो मानवो, देवति र्यग्भेदविशेषस्यप्रतिकारासम्भवात् । शतं पाकानामौषधिक्वाथानां पाके यस्य, औषधिशतेन वा सह पच्यते यत्, शतकृत्वो वा पाको यस्य, शतेन वा रूपकाणां मूल्यतः पच्यते यत्तच्छतपाकम्,एवं सहस्रपाकमपि, ताभ्यां तैलाभ्याम् । (अब्भंगित्ता) अभ्यङ्गं कृत्वा । (गंधट्टएणं ति) गन्धाट्टकेन गन्धद्रव्यक्षोदेन, उद्वर्योद्वर्तनं कृत्वा, त्रिभिरुदकैर्गन्धोदकोष्णोदकशीतोदकैर्मज्जयित्वा स्नापयित्वा, मनोज्ञं कलमौदनाऽऽदि,स्थाली पिठरी तस्यां पाको यस्य तत्तथा । अन्यत्र हि पक्कमपक्कं वा न तथाविधं स्यादितीदं विशेषणमिति। शुद्धं भक्तदोषवर्जितं, स्थालीपाकं च तच्छुद्धं, स्थालीपाकेन वा शुद्धमिति विग्रहः । अष्टादशभिर्लोकप्रतीतैर्व्यञ्जनैः शालनकैः सूपाऽऽदिभिर्व्याकुलं सङ्कीर्णं यत्तत्तथा । अथवा-अष्टादशभेदं तद्व्यञ्जनाऽऽकुलं चेति । अत्र भेदपदलोपेन समासः, भोजनं भोजयित्वा ।

एते चाष्टादश भेदाः—

"सूवोदणो१ जवन्नं२, तिन्नि य मंसा३ ६ गोरसो७ जूसो८ ।
भक्खा९ गुललावणिया१०, मूलफला११ हरियगं१२ डागो१३ ॥१॥
होइ रसालू१ ४ तहा१४, पाणं पाणीय१६ पाणगं चेव १७ ।
अट्ठारसमो सागो१८, निरुवहओ लोइओ पिंडो ॥ २ ॥"

अस्य व्याख्या-मांसत्रयं जलजाऽऽदिसत्कं,जूषो मुद्गतन्दुलजीरककटुभाण्डाऽऽदिरसः,भक्ष्याणि खण्डखाद्याऽऽदीनि,गुललावणिका गुडपर्पटिका लोकप्रसिद्धा, गुडधाना वा,मूलफलान्येकमेव पदं, हरितकं जीरकाऽऽदि, शाको वस्तुलाऽऽदिभर्जिका, रसालू मज्जिका। तल्लक्षणमिदम्-"दो घयपला महुपलं, दहिस्स अद्धाढयं मिरियवीसा । दस खंडगुलपलाइं, एस रसालू निवइजोग्गा ॥१॥" इति । पानं सुराऽऽदि,पानीयं जलं, पानकं द्राक्षापानकाऽऽदि, शाकस्तक्रसिद्ध इति ।

यावज्जीवं यावत्प्राणधारणं पृष्ठौ स्कन्धे अवतंस इवावतंसः शेखरस्तस्य करणमवतंसिका पृष्ठ्यवतंसिका, तया परिवहेत, पृष्ठ्यारोपितमित्यर्थः। तेनापि पर्याहकेन परिवहनेन वा तस्याम्बापितुर्दुष्प्रत्युपकरमशक्यप्रतीकार इत्यर्थः। अनुभूतोपकारतया प्रत्युपकारकारित्वात् । आह च-"कयउवयारो जो होइ सज्जणो होउ को गुणो तस्स ?। उवयारबाहिरा जे, हवंति ते सुंदरा सुयणा ॥ १ ॥" इति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अथ भर्तुर्दुष्प्रतिकार्यतामाह-

समणाउसो ! केइ महच्चे दरिदं समुक्कसेज्जा, तए णं से दरिद्दे समुक्किट्ठे समाणे पच्छा पुरं च णं विउलभोगसमिइसमन्नागए यावि विहरेज्जा । तए णं से महच्चे अन्नया कयाइं दरिद्दीहूए समाणे तस्स दरिद्दस्स अंतियं हव्वमागच्छेज्जा । तए णं से दरिद्दे तस्स भट्टिस्स सव्वस्सं वि दलयमाणे तेणावि तस्स दुप्पडियारं भवइ ।

कश्चित् कोऽपि, महती ऐश्वर्यलक्षणाऽर्चा अर्चा पूजा वा यस्य । अथवा-महांश्चासावर्थपतित्वादर्थश्च पूज्य इति महार्घो, महार्च्यो वा, माहत्यं महत्त्वं, तद्योगान्माहत्यो वा, ईश्वर इत्यर्थः । दरिद्रमनीश्वरं कञ्चन पुरुषमानतुःस्थं समुत्कर्षयेत् धनदानाऽऽदिनोत्कृष्टं कुर्यात्, ततः समुत्कर्षणानन्तरं स दरिद्रः समुत्कृष्टो धनाऽऽदिभिः (समाणे त्ति) सन् (पच्छ त्ति) पश्चात् काले (पुरं च णं ति) पूर्वकाले च, समुत्कर्षणकाल एवेत्यर्थः । अथवा पश्चात् भर्तुरसमक्षं, पुरश्च भर्तुः समक्षं च, विपुलया भोगसमित्या भोगसमुदयेन समन्वागतो युक्तो यः स तथा, सचापि विहरेत् वर्तेत, ततोऽनन्तरं स महार्घो भर्ता । (सव्वस्सं ति) सर्वं च तत् स्वं च द्रव्यं चेति सर्वस्वं, तदपि आस्तामल्पमिति । (दलयमाण त्ति) ददत्, न कृतप्रत्युपकारो भवतीति शेषः । अनन्तेनापि सर्वस्वदानेन सर्वस्वदायकेनापि वा दुष्प्रतिकरमेवेति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अथ धर्माऽऽचार्यदुष्प्रतिकार्यतामाह-

केइ तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतियमेगमवि आरियं धम्मं सोच्चा निसम्म कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ने । तए णं से देवे तं धम्मायरियं दुभिक्खाओ वा देसाओ सुभिक्खं देसं साहरेज्जा, कंताराओ वा णिक्कंतारं करेज्जा, दीहकालिएणं वा रोगातंकेण अभिभूयं विमोएज्जा, तेणावि तस्स धम्मायरियस्स दुप्पडियारं भवइ ।

(केइ इत्यादि) (आरियं ति) पापकर्मभ्य आराद्यातमिति आर्यमत एव धार्मिकमत एव सुवचनं श्रुत्वा श्रोत्रेण निशम्य मनसाऽवधार्य, अन्यतरेषु देवलोकेष्वन्यतरदेवानां मध्ये इत्यर्थः । देवत्वेनोत्पन्न इति । दुर्लभा भिक्षा यस्मिन् देशे स दुर्भिक्षस्तस्मात्संहरेत् नयेत् । कान्तारमरण्यं निर्गतः,कान्ताराग्निष्क्रान्तो निष्कान्तारस्तं, निष्कामितारं वा, दीर्घः कालो विद्यते यस्य सः दीर्घकालिकस्तेन रोगः कालसहः कुष्ठाऽऽदिरातङ्कः कृच्छ्रजीवितकारी सद्योघातीत्यर्थः, शूलाऽऽदिः,अनयोर्द्वन्द्वैकत्वे रोगाऽऽतङ्कं, तेनेति धर्मस्थापकं न तु भवति कृतोपकारः । शेषं सुगमम् । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

दुप्पडिलेह-दुष्प्रत्युपेक्ष्य-त्रि० । यत्र सम्यक् न शक्यते प्रत्युपेक्षितुं तस्मिन्, प्रव० ७४ द्वार ।

दुप्पडिलेहण-दुष्प्रत्युपेक्षण-त्रि० दुष्टमुद्भ्रान्तचेतसा प्रत्युपेक्षणं दुष्प्रत्युपेक्षणम् । आव ४ अ० । दुर्निरीक्षणे, आव० ४ अ० । आ० चू० ।

दुप्पडिलेहिय-दुष्प्रत्युपेक्षित-त्रि० दुर्निरीक्षिते, आचा० १ श्रु० १ चू० ।

दुप्पणिहाण-दुष्प्रणिधान-न० । प्रणिधानं प्रयोगः, दुष्टं प्रणिधानं दुष्प्रणिधानम् । आव० ६ अ० । अशुभमनःप्रभृत्यादिरूपे प्रयोगे, स्था० ।

तिविहे दुप्पणिहाणे पन्नत्ते । तं जहा-मणदुप्पणिहाणे,व-

यदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे । एवं पंचिंदियाणं० जाव वेमाणियाणं ॥

दुष्प्रणिधानमशुभमनःप्रवृत्त्यादिसामान्यप्रणिधानवत् व्याख्येयमिति । स्था० ३ ठा० १ उ० । प्रव० । आ० चू० । भ० । ध० ।

चउव्विहे दुप्पणिहाणे पण्णत्ते । तं जहा—मणदुप्पणिहाणे० जाव उवगरणदुप्पणिहाणे, एवं पंचेंदियाणं० जाव वेमाणियाणं । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

दुप्पणिहिय–दुष्प्रणिहित–त्रि० । विस्रोतोगामिनि, दशा० ८ अ० । स्था० । आचा० ।

दुप्पणोल्लिय–दुष्प्रणोद्य–त्रि० । दुःखेन प्रणोद्यते इति दुष्प्रणोद्यः । दुस्त्यजे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

दुप्पण्णवणिज्ज–दुष्प्रज्ञाप्य–न० । दुःखेन प्रज्ञप्तुं योग्ये, दुःखेन धर्मसंज्ञोपदेशनानार्यसङ्कल्पान्निवर्त्तन्ते । आचा० १ श्रु० १चू० ३ अ० १ उ० ।

दुप्पत–दुष्पत्र–न० । अपतनशीले पार्श्वविशेषे, " जं ठविज्जंतं उड्ढं ठायति, आलियं पुण पलोट्टति, तं दुप्पतं । " नि० चू० १ उ० ।

दुप्पतर–दुष्प्रतर–त्रि० । दुरुत्तरे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

दुप्पधंसग–दुष्प्रधर्षक–त्रि० । दुर्धर्ष एव दुर्धर्षकः । उत्त० ६ अ० । शत्रुभिर्दुराकलनीये, उत्त० ११ अ० ।

दुप्पमज्जण–दुष्प्रमार्जन–त्रि० । अविधिना प्रमार्जने, ध० २ अधि० ।

दुप्पमज्जिय–दुष्प्रमार्जित–त्रि० । अविधिना अनुपयुक्ततया च रजोहरणाऽऽदिना विशोधिते, प्रव० ६ द्वार । आचा० । आव० ।

दुप्पमज्जियचारि (ण्)–दुष्प्रमार्जितचारिण्–पुं० । दुष्प्रमार्जितेऽवस्थानानिषादनशयनीयकरनिक्षेपोच्चाराऽऽदिपरिष्ठापनकारके, दशा० १ अ० । स० । आ० चू० । प्रश्न० ।

दुप्पय–दुष्पद–न० । पुष्पकमूलेन प्रतिष्ठिते, भू० ३ उ० ।

दुप्पयारप्पमद्दण–दुष्प्रचारप्रमर्दन–त्रि० । दुष्प्रचाराश्चौराऽऽदयोऽन्यायकारिणस्तान् प्रमर्दयति यस्तस्मिन् । अन्यायकारिप्रचारनिवारके, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

दुप्परक्कंत–दुष्पराक्रान्त–न० । प्राणिघातादसत्पहाराऽऽदौ कर्मणि, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

दुप्परिअल्ल–देशी–अशक्ये दुर्गुणे, अनभ्यस्ते च । दे० ना० ५ वर्ग ५५ गाथा ।

दुप्परिकम्मतर–दुष्परिकर्म्मतर–न० । कष्टकसंयतेजोऽञ्जनभञ्जकरणाऽऽदिप्रक्रिये, ज० ६ श० १ उ० ।

दुप्परिच्चय–दुष्परित्यज–त्रि० । दुःखेन परित्यक्तुं योग्ये, उत्त० । " दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं । " उत्त० ८ अ० ।

दुप्परियत्तणसील–दुष्परिवर्त्तनशील–त्रि० । महता कष्टेन पश्चाद्गमनशीले, " मच्छो विव दुप्परियत्तणसीलाओ । " मत्स्यवत् दुष्परिवर्त्तनशीला महता कष्टेन परिवर्त्तनं पश्चाद्वालयितुं शीलं स्वभावो यासां तास्तथा स्त्रियः । तं० ।

दुप्परिवत्तणसील–दुष्परिवर्त्तनशील–त्रि० । 'दुप्परियत्तणसील' शब्दार्थे, तं० ।

दुप्पसि–दुष्प्रधृष्य–त्रि० । अपरिभवनीये, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

दुप्पउलिओसहिभक्खणया–दुष्पक्वौषधिभक्षणता–स्त्री० । भोजनतः परिभोग उपभोगव्रतस्यातिचारविशेषे, " दुप्पउलिओसहिभक्खणया । " दुष्पक्वा अग्निना अर्धपक्वा औषधयस्तद्भक्षणता । अतिचारता चास्य पक्वबुद्ध्या भक्षयतः । उपा० १ अ० । ध० । ध० २० । आव० ।

दुप्पउलिओसहिभक्खणया–दुष्पक्वौषधिभक्षणता–स्त्री० । ' दुप्पउलिओसहिभक्खणया ' शब्दार्थे, उपा० ७ अ० ।

दुप्पउलिय–दुष्पक्व–त्रि० । मन्दपक्वे, ध० २ अधि० ।

दुप्पवियरु–दुष्प्रावृत–त्रि० । परिधानवर्जिते, तं० ।

दुप्पवेस–दुष्प्रवेश–त्रि० । दुरवगाहे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । औ० ।

दुप्पवेसतरग–दुष्प्रवेशतरक–त्रि० । प्रवेष्टुमशक्ये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दुप्पसह–दुष्प्रसह–पुं० । कलिकनृपसमकालिके राजोपद्रुतसंरक्षके स्वनामख्याते आचार्ये, तं० २० कल्प । " दूसमपज्जंते वारसवरिसनिओ पव्वइय दुद्धकुलियनयणु दसवेयालियागमधरो अट्ठसिवंगप्पमाणगणहरमवज्झाओ अट्ठाउकिट्ठनवं दुप्पसहो नाम आयरिओ चरमजुगप्पहाणो अट्ठ वासाइ सामन्नं पालित्ता वीसवरिसाओ अट्ठमभत्तेण कयाणसणो सोहम्मे कप्पे पलिओवमाओसगो एगावयारी उप्पिज्जइ दुप्पसहो सूरी फग्गुसिरी अज्जा, नाइलो सावगो, सच्चसिरी साविया, एस अपच्छिमो संघो । " तं० २० कल्प । नि० ।

दुप्पसहंतं चरणं, जं भणियं भगवया इहं खेत्ते ।
आणाजुत्ताणमिणं, न होइ अहुणो त्ति वामोहो ॥५७॥

(दुप्पसहंतमिति) दुःखेन प्रकर्षप्रासनया महान् इति दुष्प्रसहः, तद्गुणयोगादाचार्योऽपि दुष्प्रसहः । यथा दण्डयोगाद्दण्डः पुरुष इति । स एवान्ते पर्यन्ते यस्य तत्तथा, चरणं चारित्रं भणितं प्रतिपादितं भगवता श्रीमन्महावीरेण, इहास्मिन् क्षेत्रे भरतनाम्नि यद्यस्मात्कारणात् तस्मादाज्ञायुक्तानामपि, न केवलमाज्ञाविहीनानामिदं प्रस्तुतं चारित्रं न भवति न जायतेऽधुनेति साम्प्रतं तन्मात्यन्तातिशयदर्शनाद्य इति तेषामसदग्राहगृहीतचेतसां व्यामोहो मूढतेति यावत् । महता च तेषामागमवचनान्यथाकरणादिति गाथार्थः ॥ ५७ ॥ दर्श० २ तत्त्व । शत्रुञ्जयतीर्थस्योद्धारके, " सुमङ्गलः शूरसेन इत्यस्योद्धारकारकाः । अथ दुष्प्रसहोऽन्त्य,नाथो विमलवाहनः ॥ १ ॥ " तं० १ कल्प । " अस्याः पश्चिममुद्धारं, राजा विमलवाहनः । श्रीदुष्प्रसहसूरीणा-मुपदेशाद्विधास्यति ॥ १ ॥ " तं० १ कल्प ।

दुप्पस्स–दुर्दर्श–त्रि० । दुःखेन दृश्यते इति दुर्दर्शः । परीषहाऽऽदौ दुर्दर्शे, " मज्झिमगाणं जिणाणं, दुप्पस्सं दुग्गमं भवइ । " स्था० ५ ठा० १ उ० । ('तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६२ पृष्ठे व्याख्या ।)

दुप्पहंसय–दुष्प्रधर्षक–त्रि० । दुरभिभवे, उत्त० ११ अ० ।

दुफास–द्विस्पर्श–त्रि० । द्वावधिकृतौ स्निग्धशीताऽऽत्मकौ स्पर्शावस्येति द्विस्पर्शः । उत्त० पाई० १ अ० । स्निग्धरूक्षशीतो-

ऽगुरुस्पर्शौ नामन्यतरौ चेत्यद्वयस्पर्शद्वययुक्ते, भ० १८ श० ६ उ० । स्था० ।

दुवालस–द्वादशन्–पुं० । द्वौ च दश च, अधिका वा दश, आत्वम । (बारा) सङ्ख्याभेदे, वाच० । प्रश्न० । सू० प्र० । आचा० । द्विरावृत्ता दश । विंशतिसङ्ख्यायाम, वाच० ।

दुवालसंग–द्वादशाङ्ग–न० । आर्षे ' दुवालसंगे ' इत्याद्यपि । प्रा० १ पाद । परमपुरुषस्याङ्गानीवाङ्गानि द्वादश अङ्गान्याचाराऽऽदीनि यत्र तद् द्वादशाङ्गम । श्रुते, अनु० ।

दुवालसंगं गणिपिडगं । तं जहा–आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ, विवाहपण्णत्ती, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइअदसाओ, पण्हावागरणाइं, विवागसुअं, दिट्ठिवाओ अ । (४२)

अनु० । पा० । सूत्र० । स० । नं० । स्था० ।

दुवालसंगि (ण्)–द्वादशाङ्गिन्–पुं० । श्रुतकेवलिनि, अ० ३ अधि० ।

दुवालसंगी–द्वादशाङ्गी–स्त्री० । अङ्गप्रविष्टे श्रुते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

दुवालसंसिग–द्वादशाश्रिक–त्रि० । द्वादश अश्रयः कोटयो यत्र तस्मिन् द्वादशकोणोपेते, अनु० । स्था० ।

दुवालसम–द्वादशम–त्रि० । द्वादशसङ्ख्यापूर्वके, स्था० ६ ठा० ।

दुवालसविह–द्वादशविध–त्रि० । द्वादशप्रकारे, प्रश्न० २ संव० द्वार । आ० चू० ।

दुवालसायतण–द्वादशायतन–न० । द्वादशायतनेषु, सूत्र० ।

अथ बौद्धमतं निरूप्यते-

तत्र हि पदार्था द्वादशायतनानि । तद्यथा–चक्षुरादीनि पञ्च, रूपाऽऽदयश्च विषयाः पञ्च, शब्दायतनं, धर्मायतनं च । धर्माः सुखाऽऽदयो, द्वादशायतनपरिच्छेदकत्वं प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रधाने प्रमाणे, तत्र चक्षुरादीन्द्रियाण्यजीवग्रहणेनैवोपात्तानि, भावेन्द्रियाणि तु जीवग्रहणेनेति । रूपाऽऽदयश्च विषया अजीवोपादानेनोपात्ता न पृथगुपादातव्याः । शब्दायतनं तु पौद्गलिकत्वाच्छब्दस्याजीवग्रहणेन ग्रहणम् । न च प्रतिव्यक्ति पृथक् पदार्थता युक्तिसङ्गतेति । धर्माऽऽत्मकं सुखं दुःखं च यद्यसातोदयरूपं, ततो जीवगुणस्वाज्जीवेऽन्तर्भावः । अथ तत्कारणं कर्म, ततः पौद्गलिकत्वादजीव इति । प्रत्यक्षं च तैर्निर्विकल्पकमिष्यते, तच्चानिश्चयाऽऽत्मकतया प्रवृत्तिनिवृत्त्योरनङ्गमित्यप्रमाणमेव । तदप्रामाण्ये तत्पूर्वकत्वादनुमानमपीति । शेषस्त्वाक्षेपपरिहारोऽन्यत्र सुविचारित इति नेह प्रतन्यते । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

दुविलय–दुविलक–पुं० । अनार्यदेशभेदे, प्रव० २७४ द्वार । सूत्र० ।

दुवेयग–द्विवेदक–पुं० । स्त्रीपुरुषवेदयुक्ते, बृ० ४ उ० ।

दुव्वद्ध–दुर्बद्ध–त्रि० । अविधिना बद्धे, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० ३ उ० ।

दुब्बल–दुर्बल–त्रि० । कृशाङ्गे, दीने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । सूत्र० । तं० । हीनबले, विपा० १ श्रु० ७ अ० । स्था० । भ० । असमर्थे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । रा० । अविद्यमाननियमे, विपा० १ श्रु० २ अ० । व्याधिपीडिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अदृढे, नि० चू० २ उ० । शारीरमानसावष्टम्भरहिते, जी० ३ प्रति० २ उ० । धृतिबलविकले, बृ० ४ उ० । नि० चू० । दुर्बलिकापुष्पमित्रे, आ० चू० १ अ० । ग्लानत्वादपुनर्वोत्थितेऽसमर्थशरीरे, बृ० ३ उ० । न विद्यते बलं गमने यस्मिन् स गाढाऽऽतपासंजवाऽऽदिना दुर्बलो, दुःशब्दोऽनाववाची । जङ्घाबाढाऽऽदिके च । व्य० २ उ० ।

दुब्बलचारित्त–दुर्बलचारित्र–पुं० । दुर्बलं चारित्रं इति दुर्बलचारित्रः । विनाकारणेन मूलोत्तरगुणप्रतिसेविनि, नि० चू० १ उ० । व्य० ।

संप्रति दुर्बलचारित्रद्वारमाह-

मूलगुणउत्तरगुणे, पडिसेवइ पणगमाइ जा चरिमं ।
धिइवीरियपरिहीणो, दुब्बलचरणो अणट्ठाए ।

मूलगुणोत्तरगुणविषयानपराधान् यः प्रतिसेवते सेवते । कथमित्याह–पञ्चकाऽऽदि यावच्चरमम् । इह पञ्चकशब्देन यत्र प्रतिसेविते रात्रिन्दिवपञ्चकमापद्यते स सर्वजघन्यश्चरणापराधः परिगृह्यते, आदिशब्दाद् दशरात्रिन्दिवाऽऽदिप्रायश्चित्तस्थानानि यावच्चरमं सर्वोत्कृष्टचरणापराधलक्षणं पाराञ्चिकप्रायश्चित्तस्थानमिति । कथंभूतः सन् प्रतिसेवते ?, इत्याह-धृतिवीर्यपरिहीणो मानसिकावष्टम्भबलरहितः सोऽपि यदि पुष्टाऽऽलम्बनतः प्रतिसेवते ततो न दोषभाग् भवेदित्याह-(अणट्ठाए त्ति) अर्थो दर्शनज्ञानाऽऽदिकं प्रयोजनं, तदभावोऽनर्थे, तेन यः प्रतिसेवते स एव दुर्बलचरणः ।

एवंविधस्य छेदश्रुतार्थदाने दोषबाहुल्यख्यापनार्थमिदमाह-

पंचमहव्वयभेदो, छक्कायवहो अ तेणऽणुण्णाओ ।
सुहसीलवियत्ताणं, कहेइ जो पवयणरहस्सं ॥

तेनाऽऽचार्येण पञ्चमहाव्रतभेदः, षट्कायवधश्चानुज्ञातः यः सुखशीलाव्यक्तानां शरीरशुश्रूषाऽऽदिकं शीलयन्तीति सुखशीलाः पार्श्वस्थाऽऽदयः, अव्यक्ताः श्रुतेन, वयसा च, सुखशीलाश्चाव्यक्ताश्चेति द्वन्द्वः । तेषामिति चूर्णिकृतः । निशीथचूर्णिकृतः पुनरयम्-सुखे शरीरसौख्ये शीलं स्वभावो व्यक्तः परिस्फुटो येषां ते सुखशीलव्यक्तास्तेषाम् । यद्वा-सुखं मोक्षसौख्यं, तन्निमित्तं तत् शीलं मूलोत्तरगुणानुष्ठानं, ततो वियतो यस्य उद्यम आत्मा वा येषां ते सुखशीलवियताः, सुखशीलव्यापृतमनो वा, तेषामुद्यमापि पार्श्वस्थाऽऽदीनामित्यर्थः । प्रवचनरहस्यं छेदयथार्थतत्त्वं कथयति ।

कथं पुनस्तेन पञ्चमहाव्रतभेदः, षट्कायवधश्चानुज्ञातो भवतीति ? । उच्यते--

निस्साणपदं पीहइ ऽनिस्साणविहारियं न रोएइ ।
तं जाण मंदधम्मं, इहलोगगवेसगं समणं ॥

निश्रायते मन्दश्रद्धाकैरासेव्यते इति निश्राणं तच्च तत्पदं च निश्राणपदम, अपवादपदमित्यर्थः । तदेव यः स्पृहयति, अनिश्राणविहारितां तु न रोचयति, तमेवंविधं श्रमणं जानीहि मन्दधर्माणमिहलोकगवेषकं, मनोज्ञरूपाऽऽद्युपभोगेन केवलस्यैवेहलोकस्य चिन्तकं परलोकपराङ्मुखम, एवंविधस्य च प्रवचनरहस्यप्रदाने विशेषतः पञ्चमहाव्रतभेदः, षट्कायवधश्च भवतीति युक्तमुक्तम । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

दुब्बलपच्चवमित्त–दुर्बलप्रत्यवमित्र–पुं० । अचलप्रातिवेशिकराजे, स्था० ६ ठा० । दुर्बलानामकारणवत्सले, रा० । सूत्र० ।

दुब्बलियत्त–दुर्बलिकत्व–न० । दुष्टं बलमस्यास्तीति दुर्बलिकस्तद्भावो दुर्बलिकत्वम् । दौर्बल्ये, भ० १२ श० २ उ० । नि० चू० ।

दुब्बलियापूसमित्त–दुर्बलिकापुष्यमित्र–न० । आत्मार्थमेव भिक्षां हिण्डमानो बहूनां दुर्बलिनामाहारं संपादयन् दुर्बलिकापुष्यमित्र इति । आर्यरक्षितसूरिपितरि स्वनामख्याते आचार्ये, स चाऽऽर्यरक्षितस्वामिनि दिवंगते स्वगणं परिपालयन् कर्मविषये विन्ध्येन सार्कं विप्रतिपद्यमानं गोष्ठामाहिलमुद्घाटितवान् । स्था० ७ ठा० । ध० र० । विशे० । आ०म० । आ० चू० ।

दुब्बिभज–दुर्विभज–न० । कष्टविभजनीये, स्था० ५ ठा० १ उ० । ('तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६२ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

दुब्भ–दुह–धा० । प्रपूरणे-उभ०-द्विक०-अनिट् । दोहे, " भो दुहलिहवहरुधामुच्चातः " ॥ ८ । ४ । २४५ ॥ इति दुहेरन्त्यस्य कर्मभावे द्विरुक्तो भो वा, तत्संनियोगे क्यस्य लुक् । 'दुब्भइ । दुहिज्जइ ।' प्रा० ४ पाद ।

दुब्भग–दुर्भग–त्रि० । सर्वैः परित्यक्ते निर्गतिके, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । अनिष्टे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

दुब्भगणाम–दुर्भगनाम–न० । द्विचत्वारिंशन्नामकर्मभेदे, यदुदयवशादुपकारकृदपि जनस्याप्रियो भवति तद् दुर्भगनाम । उक्तं च–" उवकारकारगो वि हु, न रुच्चइ दुभगो उ अस्सुदए ।" इति । कर्म० १ कर्म० । प्रव० । पं० सं० । आ० ।

दुब्भगतिग–दुर्भगत्रिक–न० । दुर्भगदुःस्वरानादेयस्वभावरूपे, कर्म० १ कर्म० ।

दुब्भगाकरा–दुर्भगाऽऽकरा–स्त्री० । सुभगमपि दुर्भगमाकरोति इति दुर्भगाऽऽकरा । सुभगस्य दुर्भगकारके विद्याभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दुब्भासिय–दुर्भाषित–न० । दुष्टं सावद्यवागरूपं भाषितं यत्र तत्तथा । ध० २ अधि० । अनागमिकार्थोपदेशे, पञ्चा० १९ विव० । असद्भूतोद्भावे, जीत० । गर्वे, आ० म० २ अ० १ खण्ड । दुर्वाचा प्रतिक्रान्ते च । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दुब्भि–दुरभि–पुं० । दुर्गन्धे वैमुख्यकृति, स्था० १ ठा० । नि० चू० । प्रज्ञा० । आचा० ।

दुब्भिक्ख–दुर्भिक्ष–न० । सस्योत्पत्त्यभावेन (दर्श० १ तत्त्व) दुर्लभा भिक्षा यस्मिन्देशे स दुर्भिक्षः । अलभ्यभिक्षाके देशे, स्था० ३ ठा० १ उ० । भिक्षाभावे, स्था० ४ ठा० २ उ० । कालविभ्रमे, आव० ६ अ० । दुष्काले, स० ३४ सम० । प्रव० । औ० । अन्नाकाले, दशा० १ अ० । वीरात्कियन्तो दुर्भिक्षा अजवन् , यतः केऽप्येवं कथयन्ति–दुर्भिक्षद्वयमजवत्, परिशिष्टपर्वाऽऽदौ च बहवः सन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–वीरादर्वाक् दुष्काला भूयांसो बभूवुः, परं साक्षाद् द्वादशाब्दं दुष्कालत्रयं शास्त्रे प्रोक्तं दृश्यते, तत्र परिशिष्टपर्वणि द्वयं, नन्दीवृत्तौ चैक इति । ये तु दुष्कालद्वयमेव कथयन्ति तत्कस्मिन् शास्त्रे वर्त्तते, तन्नाम ज्ञापनीयं, पश्चात्तदुत्तरविषये ज्ञास्यते इति । ३७८ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

दुब्भिक्खभत्त–दुर्भिक्षभक्त–न० । यद् भिक्षुकार्थं दुर्भिक्षे संस्क्रियते । भक्तभेदे, आ० १ श्रु० १ अ० । स्था० । " अरुविसिग्गयाणं भुक्खत्ताणं जं दुब्भिक्खे राया देति तं दुब्भिक्खभत्तं ।" नि० चू० ९ उ० ।

दुब्भिगंध–दुरभिगन्ध–त्रि० । दुर्गन्धे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । तीव्रतराशुभगन्धोपेते, आ० १ श्रु० ८ अ० । क्वथितकलेवरकाऽऽदौ, आचा० १ श्रु० ९ अ० २ उ० । रा० । दुरभिगन्धेन क्वथितकलेवराभिशायिनि नरके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । अमनोज्ञगन्धे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । दुष्टगन्धे च । ज्ञा० २ श्रु० ९ अ० । " एगे दुब्भिगंधे ।" स्था० १ ठा० । दुरभिगन्धपरिणता लसुनाऽऽदिवत् । प्रज्ञा० १ पद ।

दुब्भिसद्द–दुरभिशब्द–पुं० । दुरभिरशुभः मनोज्ञो यो न भवति । " एगे दुब्भिसद्दे ।" स्था० १ ठा० । अशुभशब्दे, प्रज्ञा० १३ पद ।

दुब्भूइ–दुर्भूति–स्त्री० । अशिवे, बृ० ३ उ० ।

दुब्भूय–दुर्भूत–त्रि० । दुष्टा जनधान्याऽऽदीनामुपद्रवहेतुत्वात् दुर्भूताः यूकामत्कुणोन्दुराग्निप्रभृतिरीतिविशेषेषु सत्त्वेषु, भ० ३ श० ७ उ० । अशिवे, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

दुब्भेय–दुर्भेद–त्रि० । दुर्भेद्ये दुःखकरणीये, विशे० । रा० ।

दुभागपत्त–द्विभागप्राप्त–त्रि० । द्विभागोऽर्द्धं तत्प्राप्तो द्विभागप्राप्तः । द्विभागप्राप्ते आहारे, द्विभागो वा प्राप्तोऽनेनेति द्विभागप्राप्तः । द्विभागप्राप्ते साधौ च । भ० ७ श० १ उ० ।

दुम·**धवल्लि**–नामधा० । धवलीकरणे, " धवलेर्दुमः " । ८।४।२४॥ इति धवलयतेर्ण्यन्तस्य वा दुमाऽऽदेशः । 'दुमइ । धवलइ ।' प्रा० ४ पाद ।

दुम–पुं० । द्रुः शाखाऽस्त्यस्य द्रुमः । वृक्षे, उत्त० ३२ अ० । वाच० । 'द्रु द्रु गती' इत्यस्य द्रुः, अरुकिमन्देश विद्यते इति तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुपि प्राप्ते "द्युद्रुभ्यां मः (५४४ उणा०)" इति मप्रत्ययान्तस्य द्रुम इति भवति । दशा० १ अ० ।

साम्प्रतं द्रुमनिक्षेपप्ररूपणायाऽऽह–

नामदुमो ठवणदुमो, दव्वदुमो चेव होइ भावदुमो ।
एमेव य पुप्फस्स वि, चउव्विहो होइ निक्खेवो ॥ ३४ ॥

नामद्रुमो यस्य द्रुम इति नाम अभिधानम् । स्थापनाद्रुमो द्रुम इति स्थापना । द्रव्यद्रुमश्चैव भवति । भावद्रुमः । तत्र द्रव्यद्रुमो द्विधा–आगमतो, नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञातानुपयुक्तो, नोआगमतस्तु–ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तस्त्रिविधः । तद्यथा–एकभविको, बद्धाऽऽयुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्च । तत्रैकभविको नाम य एकेन भवेनानन्तरं द्रुमेषूत्पत्स्यते । बद्धाऽऽयुष्कस्तु येन द्रुमनामगोत्रे कर्मणी बद्धे इति । अभिमुखनामगोत्रस्तु येन ते नामगोत्रे कर्मणी उदीरणावलिकायां प्रक्षिप्ते इति । अयं च त्रिविधोऽपि भाविभावद्रुमकारणत्वाद् द्रव्यद्रुम इति । भावद्रुमोऽपि द्विविधः–आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो ज्ञातोपयुक्तः । नोआगमतस्तु द्रुम एव द्रुमनामगोत्रे कर्मणी वेदयन्निति । एवमेव च यथा द्रुमस्य तथा, किम् ?, पुष्पस्यापि वक्तुमस्ताधिकारभूतस्य, चतुर्भेदो भवति निक्षेप इति गाथाऽर्थः ॥ ३४ ॥

साम्प्रतं नानादेशजविनेयगणासंमोहार्थमागमे द्रुमपर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्नाह–

दुमा य पायवा रुक्खा, आगमा विडिमा तरू ।
कुजा महीरुहा वच्छा, रोवगा रुंजगा वि य ॥ ३५ ॥

द्रुमाश्च पादपा वृक्षाः आगमा विटपिनस्तरवः कुजा महीरु-

इ। यथा दीपका रुजकाऽऽदयश्च। तत्र द्रुमाऽन्वर्थसंज्ञा पूर्ववत्। पद्भ्यां पिबन्तीति पादपा इति। एवमन्येषामपि यथासंभवमन्वर्थसंज्ञा वक्तव्या। रूढिदेशीशब्दा वा एते। इति गाथाऽर्थः ॥ ३५ ॥ दश० १ अ०। उत्त०। चमरस्याऽसुरेन्द्रस्याऽसुरकुमारराजः स्वनामख्याते पदात्यनीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा०। श्रेणिकस्य राज्ञो धारण्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, स च महावीरस्वामिनोऽन्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्यायः संलेखनया मृत्वाऽपराजिते देवलोके उपपद्य ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यतीत्यनुत्तरोपपातिकदशानां द्वितीयवर्गस्य सप्तमेऽध्ययने सूचितम्। अनु० १ श्रु० १ वर्ग ७ अ०। आरणे कल्पे स्वनामख्याते विमानभेदे, स० ६ सम०। पारिजाते,कुबेरे च। वाच०।

दुमंतअ-देशी-केशबन्धे, दे० ना० ५ वर्ग ४७ गाथा।

दुमगण-द्रुमगण-पुं०। वृक्षसङ्घाते, दश० १ अ०।

दुमण-धवलन-न०। सेटिकया श्वेतीकरणे, प्रश्न० ३ संव० द्वार।

दुमणी-देशी-सुधायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ४४ गाथा।

दुमत्त-द्विमात्र-त्रि०। "द्विन्योरुत्" ॥ ८। १। ९४॥ इति द्विशब्दे इकारस्योकारः 'दुमत्तो।' मात्राद्वययुक्ते, प्रा० १ पाद।

दुमपत्तय-द्रुमपत्रक-न०। प० न०। वृक्षपर्णे, उत्त०।

अथ वृक्षपर्णतया आयुषश्चलत्वमुपदर्शयन्नाह-

दुमपत्तेणोवमियं, अहट्ठिईए उवक्कमेणं च।
एत्थ कयं आइम्मी, तो दुमपत्तं ति अज्झयणं ॥ १८ ॥

द्रुमो वृक्षस्तस्य पत्रं पर्णं द्रुमपत्रं, तेनौपम्यमुपमा, प्रक्रमादायुषः। केन पुनर्गुणेनौपम्यमित्याह-यथास्थित्या स्वकालपरिपाकतः पातरूपयाऽनः, तथा उपक्रमणं दीर्घकालभाविन्याः स्थितेः स्वल्पकालेनाऽऽपादनमुपक्रमः। कोऽर्थः?- पाकादारत एव वाताऽऽदिनाऽवस्थितिविनाशनं, तेन च, अत्राध्ययने कृतं विहितमादौ प्रथमं यस्मात्ततो द्रुमपत्रमित्यध्ययनमिदमुच्यते, इति शेषः। इति गाथाऽर्थः।

यथा चास्य समुत्थानं तथा दर्शयन्नयोविंशतिसङ्ख्यं गाथाकदम्बकमाह-

मगहापुरनगराओ, वीरेण विसज्जणं तु सीसाणं।
सालमहासालाणं, पिट्ठीचंपं च आगमणं ॥ १९ ॥
पव्वज्जा गागिलस्स य, नाणस्स य उप्पाओ तिण्हं पि।
आगमणं चंपाए, वीरस्स य वंदणं तेसिं ॥ २० ॥
चंपाएँ पुण्णभद्द-म्मि चेइए णायओ पहियकित्ती।
आमंतेउं समणे, कहेइ भगवं महावीरे ॥ २१ ॥
अट्ठविहकम्ममहण-स्स तस्स पयईएँ सुद्धलेसस्स।
अट्ठावए नगवरे, निसीहियानिट्ठियट्ठस्स ॥ २२ ॥
उसहस्स नरहपिउणो, तेल्लोक्कपगासनिग्गयजसस्स।
जो आरोढुं वंदइ, चरिमसरीरो य सो साहू ॥ २३ ॥
साहुं संवासेई, असाहुं ण किर संवसावेइ।
अह सिद्धपव्वओ सो, पासे वेयड्ढसिहरस्स ॥ २४ ॥
चरिमसरीरो साहू, आरुहई नगवरं न अन्नोऽत्थ।
एयं तु उदाहरणं, कासी य तहिं जिणवरिंदो ॥ २५ ॥
सोऊण तं भगवओ, गच्छइ तहिँ गोयमो पहियकित्ती।
आरुज्झ तं नगवरं, पडिमाओ वंदइ जिणाणं ॥ २६ ॥
अह आगओ सपरिसो, सन्निहीए तहिं तु वेसमणो।
वंदित्तु चेइयाइं, अह वंदइ गोयमं भयवं ॥ २७ ॥
अह पुंडरीयनामं, कहेइ तहिँ गोयमो पहियकित्ती।
दसमस्स य पारणए, पव्वावे सीयकोडीणं ॥ २८ ॥
तस्स य वेसमणस्स य, परिसाए सुरवरो य तणुकम्मो।
तं पुंडरीयनामं, गोयम! कहियं निसामेइ ॥ २९ ॥
घेत्तूण पुंडरीयं, वग्गुविमाणाउ सो चुओ संतो।
तुंबवणे धणगिरिस्सा, अज्जसुनंदासुओ जाओ ॥ ३० ॥
दिन्ने य कोडिदिन्ने, सेवाले चेव होइ तइएसु।
एक्केक्कस्स य तेसिं, परिवारो पंचपंचसया ॥ ३१ ॥
हिट्ठिल्लाण चउत्थं, मज्झिल्लाणं तु होइ छट्ठं तु।
अट्ठममुवरिल्लाणं, आहारो तेसिमो होइ ॥ ३२ ॥
कंदाई सच्चित्तो, हेट्ठिल्लाणं तु होइ आहारो।
बिइयाणं अच्चित्तो, तइयाणं सुक्कसेवालो ॥ ३३ ॥
तं पासिऊण इड्ढिं, गोयमरिसिणो तओ तिवग्गा वि।
अणगारा पव्वइया, सपरिवारा विगयमोहा ॥ ३४ ॥
एगस्स खीरजेयण-हेउं नाणुप्पया मुणेयव्वा।
एगस्स य परिसा दं-सणेण एगस्स य जिणम्मि ॥ ३५ ॥
केवलिपरिसं तत्तो, वच्चंता गोयमेण ते भणिया।
इय एह वंदह जिणं, कयकिच्च जिणेण सो भणिओ ॥ ३६ ॥
सोऊण तं अरहओ, हियएणं गोयमो विचिंतेइ।
नाणं मे न उप्पज्जइ, भणिओ य जिणेण सो ताहे ॥ ३७ ॥
चिरसंसिट्ठं चिरपरि-चियं च चिरमणुगयं च मे जाण।
देहस्स य भेयम्मी, दुन्नि वि तुल्ला भविस्सामो ॥ ३८ ॥
जह मन्नेँ एयमट्ठं, अम्हे जाणामोँ खीणसंसारा।
तह मन्नेँ एयमट्ठं, विमाणवासी वि जाणंति ॥ ३९ ॥
जाणगपुच्छं पुच्छइ, अरहा किर गोयमं पहियकित्ती।
किं देवाणं वयणं, गज्झं आओ जिणवराणं ॥ ४० ॥
सोऊणं च भगवओ, मिच्छाचारस्स सो उवट्ठाइ।
तन्निस्साएँ भगवओ, सीसाणं देइ अणुसट्ठिं ॥ ४१ ॥
उत्त० नि०।

एतद्गाथार्थः प्रति स्पष्टमेव, नवरं मगधापुरनगरं राजगृहं, तस्यैव तत्कालापेक्षया मगधासु प्रधानपुरत्वात्, विद्यमानकरत्वाच्च, तथा (णायओ पहियकित्ति त्ति) नायकः सकलजगत्स्वामी, ज्ञात एव वा ज्ञातक उदारक्षत्रियः, ख्यातो वा प्रथिता सकलजगत्प्रख्याता कीर्तिर्यस्य स तथा, प्रकृत्या स्वभावेन शुक्लाऽत्यन्तनिर्मला लेश्या यस्य स तथा, (निसीहिय त्ति) निषिध्यन्ते निराक्रियन्ते अस्यां कर्माणीति नैषेधिका निर्वाणभूमिः, "करणाधारे" ॥५।३।१२९॥ इति बहुलग्रहणबलाद् ल्युट्,

निष्ठितार्थस्य समाप्तसकलकृत्यस्य, यद्वा निषेधे सकलकर्मनिराकरणलक्षणे भवो नैषेधिकः मुक्तिगतिस्तया निष्ठितार्थो यस्तस्य, ऋषभजस्य ऋषभतनयस्य स चान्योऽपि संभवत्यत आह-भरतपितुरिति। वन्दते स्तौति,प्रक्रमान्नैषेधिकां,प्रतिमां वा, तथा साधुं, सर्वमिन भृशं वासयति संवासयति; कोऽर्थः ?-रात्रिन्दिवं व्यवस्थापयति, नोऽसाधु संहरणाऽऽदिना नतिमपि, कि गेति परोक्षाऽऽप्तवादसूचकः,अथेत्युपन्यासे, सिद्धैरुपलक्षितः पर्वतः सिद्धपर्वतः, तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति तदधिष्ठायकदेवताविशेष एवोक्तः। यद्वा तत्तीर्थानुभाव एवायं यदसाधोस्तत्रावस्थानमेव न संपद्यते। तथा चरमशरीरः साधुरारोहतीत्यत्र पदप्रचारेणेति गम्यते। उदाहरणं कथनं, (कासी य त्ति) अकार्षीत्, अनेन चैवविधादेव प्रवादोऽस्यानकारणमुक्तम्। "चिसूण पुंडरीयं" इत्यादिना च प्रसङ्गाऽऽगतं वैरस्वामिजन्मोक्तम्, तथा-(पासिऊण इड्ढि त्ति)-तामेव प्रतीतामेव भगवति जङ्घाचारणलब्धिरूपां, तथा-(तिवग्गा वि त्ति) त्रयो वर्गा येषां ते त्रिवर्गाः, तेऽपि प्रक्रमाद् द्विककोडिदिन्नशैवलिनरूपयोऽपि, नैको, द्वौ वेत्यपिशब्दार्थः। (अणगारे त्ति) अविद्यमानगृहाः, ते च तापसाऽऽदयोऽपि स्युरत आह-प्रकर्षेण व्रजिता मिथ्यात्वाऽऽदिभ्यो विनिर्गताः प्रव्रजिताः, तथा-(एगस्स खीरभोयणहेउ त्ति) क्षीरान्नभोजनमेव विशुद्धाध्यवसायविशेषोत्पत्तिनिबन्धनतया हेतुः कारणं क्षीरभोजनहेतुः,मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात्समासः,तमाश्रित्येति शेषः। (नाणुप्पत्ति त्ति) ज्ञानस्योत्पादनमुत्पत्, संपदादित्वात् क्विप्,ज्ञानोत्पत्। तथा (चिरसंसिट्ठ त्ति) चिर प्रभूतकालं संसृष्टः स्वस्वाम्यादिसंबन्धेन संबद्धो यस्तं,चिरं परिचितः सहवासाऽऽदिना स पूर्वो यस्तम्। उभयत्र विरूपं पदुर्विस्पष्टपटुरितिवत् "सहसुपा" ॥२।१।४॥ इत्यत्र सुपेतियोगविभागात्समासः। चिरमनुगतमतिप्रायानुवर्तिनम, आत्मानमिति शेषः। ममेत्यात्मनिर्देशः। ततः प्रभूतमोहनीयाऽऽच्छादिततया न ते ज्ञानोत्पत्तिरित्यभिप्रायः। देहस्य तु शरीरस्य भेदे विनाशे ज्ञावद्यावां तुल्यौ मुक्तिपदप्राप्त्या समौ भविष्याव इति। मा त्वमधृतिं कृथा इति भावः। तथा येन प्रकारेण यथा (मन्ने त्ति) आर्षत्वात् पुरुषव्यत्ययः, ततो मन्यसे, त्वमेतं ज्ञानावाप्तिलक्षणमर्थं वस्तु, वयं जानीमोऽववुध्यामहे, किंविशिष्टाः सन्त इत्याह-क्षीणः पुनर्भवाभावतः संसारो येषां ते क्षीणसंसाराः, तेन प्रकारेण तथा व्यवच्छेदफलत्वाद्यथैव। किमित्याह-(मन्ने त्ति) प्राग्वत्, मन्यसे एतमर्थमनन्तरोक्तं, विमानवासिनोऽपि देवा जानन्त्यवबुध्यन्ते ?। एवं च यथा क्षीणसंसारा जानन्ति, तथा विमानवासिनोऽपि जानन्तीत्याशयवतः क्षीणसंसारिणां च परिज्ञानं प्रति साम्यमभिमतमित्यहो तवाविवेकितेत्युपालम्भः। तथा (जाणगपुच्छ त्ति) ज्ञापकपृच्छया पृच्छति, न हि तस्य भगवतः समस्तज्ञेयविषयविज्ञानचक्षुषः क्वचिदज्ञानमस्ति, किं तु गौतमं प्रतिबोधयितुमित्थमुपालभते-यथा, किम् ?, ईदृश्यस्ति क्षीणस्तीति देवास्तेषां वचनं वाचा (गज्झं ति) ग्राह्यमुपादेयम। (आओ त्ति) आर्षत्वात् आहोस्वित्,जिनानां वराः प्रधाना जिनवरा उत्पन्नकेवलास्तीर्थकृतः,तेषां, तदनेन एकमस्मत्परिज्ञानस्य देवपरिज्ञानस्य च साम्याऽऽपादनम्, अपरं तु साम्ये सत्यपि"देहस्स य भेयम्मि वि, दोण्णि वि तुल्ला भविस्सामो त्ति" अस्मद्वचनतः ज्ञातत्वोऽपि भवान् विनिश्चयमपि विहितवान्,देववचनात्तु सकृदनाकर्णितः तथा,ति प्रतिपाद्याष्टापदं प्रति प्रयात इत्यहो ते मोहविजृम्भितमित्युक्तं भवति। श्रुत्वा तदुपालम्भं भगवतः संबन्धि (मिच्छाचारस्स त्ति) आर्षत्वाद् मिथ्याचारदुष्कृतपाठरूपमालम्ब्यात् प्रतिक्रमितुमुपतिष्ठतीत्युपलक्षितं,तन्निश्चयेति गौतममनिश्चया अनुशिष्टिं शिक्षाम। एतद्भावार्थस्तु सम्प्रदायादवसेयः। स चायम्-

"तेण कालेणं तेणं समएणं पिट्ठचंपा नाम नयरी, तत्थ सालो राया, महासालो जुवराया, तेसिं सालमहासालाणं भगिणी जसवतीति। से पिढरो भत्तारो, जसवतीए अत्तओ पिढरपुत्तो गागली नाम कुमारो, तत्थ वद्धमाणसामी समोसढो सुभूमिभागे उज्जाणे, सालो निग्गतो, धम्मं सोच्चा जं णवरं महासालं रज्जे ठावेमि, सो अइगतो, तेण आपुच्छितो महासालो भणइअहं पि संसारभयउव्विग्गो जहा तुब्भे, इहं मेढीपमाणं तहा पव्वइयव्वस्स वि। ताहे गागली कंपिल्लाओ सद्दाविऊण पट्टो बद्धो, अभिसित्तो, राया जातो, तस्स माया कंपिल्लपुरे नयरे दिण्णल्लिया पिढरस्स, तेण तओ सद्दावितो, सो पुण तेसिं दो सिबियाओ कारेति जाव ते पव्वइया,सा भगिणी समणोवासिया जाया। तते णं ते समणा होतगा एक्कारस अंगाइं अहिज्जिया, तते णं समणे भगवं महावीरे बहिया जणवयविहारं विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नाम नयरे, तत्थ सामी समोसढो, ताहे सामी पुणो निग्गतो, चंपं पट्ठाविओ, ताहे सालमहासाला सामी आपुच्छंति, अम्हे वि पिट्ठचंपं वच्चामो, जइ नाम ताण कोइ बुज्झेज्जा, सम्मत्तं वा लहेज्जा, सामी वि जाणइ जहा ताणि संबुज्झिहंति, ताहे सामिणा गोयमसामी सोविज्जओ दिण्णो,सामी चंपं गतो, गोयमसामी पिट्ठचंपं गतो,तत्थ समोसरणं, गागली पिढरो जसवती य निग्गयाणि, भगवं धम्मं कहेइ,ताणि य धम्मं सोऊण संविग्गाणि, ताहे गागली भणइ-जं नवरं अम्मापियरं आपुच्छामि,जेट्ठपुत्तं च रज्जे ठवेमि,ताणि आपुच्छियाणि भणंति-जइ तुमं संसारभयउव्विग्गो, अम्हे वि,ता एसो पुत्तं रज्जे ठावित्ता अम्मापितीहिं समं पव्वतितो, गोयमसामी ताणि घेत्तूण चंपं वच्चइ, तेसिं सालमहासालाणं पंथे वच्चंताणं हरिसो जाओ, जहा संसारं उत्तारियाणि, एवं तेसिं सुहेण अज्झवसाणेण केवलणाणं उप्पन्नं। इयरेसिं पि चिंता जाया जहा एएहिं अम्हे रज्जे ठावियाणि, संसाराओ मोइयाणि, एवं चिंतंताणं सुहेण अज्झवसाणेणं तिण्हं पि केवलनाणं उप्पन्नं, एवं ताणि उप्पन्नणाणाणि चंपं गयाणि, सामीपयाहिणं करेमाणाणि तित्थं पणमिऊण केवलिपरिसं पट्ठावियाणि। गोयमसामी भगवं वंदिऊण तिक्खुत्तो पायसु पडितो उट्ठितो भणइ-कहिं वच्चह, एह तित्थयरं वंदह ?। ताहे सामी भणइ-मा गोयम ! केवली आसाएहि, ताहे आउट्टो खामेइ, संवेगं च गतो। तत्थ गोयमसामिस्स संका जाया-मा हं च णं सिज्झिज्जामि त्ति, एवं गोयमसामी चिंतेइ। इओ य देवाण संलावो वट्टतिजो अट्ठावयं विलग्गइ, चेइयाणि य वंदति धरणीगोयरो, सो तेण भवग्गहणेण सिज्झइ, ताहे सामी तस्स चित्तं जाणइ, ताव सयणसंबोहणत्थं एयस्स वि थिरया भविस्सइ त्ति दो वि कयाणि भविस्संति, एयस्स वि पच्चओ, ते य संबुज्झिस्संति त्ति। सो वि सामिं आपुच्छति-अट्ठावयं जामि त्ति। तत्थ भगवया भणियं-वच्च अट्ठावयं, चेइयाणि वंदह। ते एवं भगवं हट्ठतुट्ठो वंदित्ता गतो,तत्थ य अट्ठावए जणवयावायं सोऊण तिन्नि तावसा पंच पंच सयपरिवारा पत्तेयं ते अट्ठावयं विलग्गामो त्ति, तत्थ कोलिक्सति-कोडिन्नो, दिन्नो, सेवाली, जो

कोडिन्नो सो चउत्थं चउत्थं काऊण पच्छा मूलकंदाणि आहारेइ सच्चित्ताणि, सो पढमं मेहलं विलग्गो। दिन्नो य छट्ठं छट्ठेण काऊण परिसडियं पंडुपत्ताणि आहारेइ, सो वि य मेहलं विलग्गो। सेवाली अट्ठमं २ काऊण जो सेवालो सयं मइल्लओ तं आहारेइ, सो तइयं मेहलं विलग्गो। एवं ते वि ताव किलिस्संति। भयवं च गोयमे ओरालिए सरीरे अचिरुग्गयतरुणदिवायरकिरणसरिसतेए एंते पेच्छिऊण ते भणंति-एस किर एत्थ थुल्लओ समणो सिज्झिहि त्ति, जं अम्हे महातवस्सी सुक्का भुक्खा न तरामो विलग्गिउं, भगवं च गोयमे जंघाचारणलद्धीए लयातंतुपुडगं पि व निस्साए उप्पयइ०जाव ते य पलोयंति, एस आगओ, एसो अदंसणं गओ त्ति, ताहे ते विम्हिया जाया पसंसंति, अच्छंति य पलोएंता, जइ ओयरइ,तो एयस्स वयं सीसा, एवं ते पडिच्छंता अच्छंति. सामी वि चेइयाइं वंदित्ता उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए पुढविसिलापट्टए तयट्ठो असोगवरपायवस्स अहे तं रयणीवासाए उवगतो। इतो य सक्कस्स लोगपालो वेसमणो, सो वि अट्ठावयं चेइयं वंदेंतो एइ, सो चेइयाणि वंदित्ता गोयमसामिं वंदइ, ताहे सो धम्मं कहेइ, भगवं अणगारगुणे परिकहेइ-एवंसा अंताहारा पंताहारा एवं वन्नः, वेसमणो चिंतेइ-एस भगवं एरिसो साहुगुणे वन्नेइ,अप्पणो य से इमा सरीरसुकुमारया जारिसा देवाण वि नत्थि.भयवं तस्स आकूयं नाउं पुंडरीयं नामऽज्झयणं पन्नवेइ-जहा पोक्खलावईविजए पोंडरीगिणीए नयरीए नलिणवणे उज्जाणे समोसढे,महापउमे निग्गए,धम्मं सोच्चा जं०णवर देवाणुप्पिया ! पुंडरीयं कुमारं रज्जे ठवेमि ?। अहासुहं मा पडिबंधं करेह। एवं०जाव पुंडरीए राया जाए० जाव विहरइ। तए णं से कंडरीए कुमारे जुवराया जाए। तए णं से पउमे राया पुंडरीयरायं आपुच्छइ, तए णं से पुंडरीए सिवियं नीणेइ० जाव पव्वइए,णवरं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ, बहूहिं छट्ठऽट्ठममहातवोवहाणेहिं बहूणि वासाणि सामन्नं पालिऊण मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताए छेदित्ता० जाव सिद्धे। अन्नया य ते थेरा भगवंतो पुव्वाणुपुव्विं विहरमाणे०जाव पुंडरीगिणीए समोसढे, परिसा निग्गया। तए णं से पुंडरीए राया कंडरीएणं जुवरन्ना सद्धिं इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठे० जाव गए, धम्मकहा०जाव से पुंडरीए सावगधम्मं पडिवन्ने० जाव पडिगए सावए जाए। तए णं से कंडरीए जुवराया थेराण धम्मं सोच्चा हट्ठे० जाव जहेव तुब्भे वयह, जं०णवरं देवाणुप्पिया ! पुंडरीयं आपुच्छामि, तए णं० जाव पव्वयामि ?। अहासुहं पव्वय। तए णं से कंडरीए० जाव थेरे नमंसइ, नमंसित्ता अंतियाओ पडिनिक्खमइ, निक्खमित्ता तामेव चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ०जाव पच्चोरुहइ,जेणेव पुंडरीए राया तेणेव उवागच्छइ,करयल०जाव पुंडरीयं रायं एवं वयासी-एवं खलु मए देवाणुप्पिया ! थेराणं अंतिए०जाव धम्मे निसंते, से धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए। तए णं अहं देवाणुप्पिया ! संसारभउव्विग्गे भीए जम्मणमरणाणं, इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे थेराणं अंतिए० जाव पव्वइत्तए त्ति। तए णं से पुंडरीए राया एवं वयासी-मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! इयाणिं थेराणं अंतिए०जाव पव्वयाहि। अहं णं तुमं महया २ रायाभिसेएणं अभिसिंचिस्सामि। तए णं से कंडरीए पुंडरीयस्स रन्नो एयमट्ठं नो आढाइ,नो परिजाणइ,तुसिणीए संचिट्ठइ। तए णं से कंडरीए रायं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी-इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! ०जाव पव्वइत्तए त्ति। तए णं से पुंडरीए राया कंडरीयं कुमारं जाहे नो संचाएइ विसयाणुलोमाहिं बहूहिं आघवणाहि य पन्नवणाहि य सन्नवणाहि य विन्नवणाहि य आघवित्तए वा०४, ताहे विसयपडिकूलाहिं संजमभओव्वेगकरीहिं पन्नवणाहिं पन्नवेमाणे २ एवं वयासी-एवं खलु जाया ! निग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवलिए,एवं जहा पडिक्कमणे० जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ, किं तु अहीव एगंतदिट्ठी, खुरो इव एगतधाराए, लोहमया जवा चावेयव्वा, वालुयाकवले इव निस्सारे,गंगा व महानई पडिसोयं गमणीए, महासमुद्दे इव भुयाहिं दुत्तरे, तिक्खं चंकमियव्वं, असिधारं व तवं चरियव्वं,नो य खलु कप्पइ जाया ! समणाणं निग्गंथाणं पाणाइवाए वा०जाव मिच्छादंसणसल्लेइ वा अहाकम्मेइ वा उद्देसिएइ वा मिस्सजाए वा अज्झोयरए पूईकम्मे पामिच्चे आच्छेज्जे अणिसट्ठे अभिहडेइ वा ठवियए वा कंतारभत्तेइ वा दुब्भिक्खभत्तेइ वा गिलाणभत्तेइ वा पाहुणगभत्तेइ वा सज्जायरपिंडेइ वा मूलभोयणेइ वा कंदभोयणेइ वा फलभोयणेइ वा बीयभोयणेइ वा हरियभोयणेइ वा भोत्तए वा, पायए वा, तुमं च णं जाया ! सुहसमुचिए,णो चेव णं दुहसमुचिए, णालं सीतं णालं उण्हं णालं खुहा णालं पिवासा णालं चोरा णालं वाला णालं दंसा णालं मसगा णालं वाइयपित्तियसिंभियसन्निवाए विविहे रोगायंके उच्चावये वा गामकंटए वा बावीसं परीसहोवसग्गे उदिन्ने सम्मं अहियासित्तए त्ति, णो खलु जाया ! अम्हे इच्छामो तुब्भं खणमवि विप्पओगं,तं अच्छाहि ताव जाया ! अणुहवाहि रज्जसिरिं पच्छा पव्वइहिसि। तए णं से कंडरीए एवं वयासी-तहेव णं तं देवाणुप्पिया ! जं णं तुब्भे वयह,किं पुण देवाणुप्पिया ! निग्गंथे पावयणे कीवाणं कायराणं किंपुरिसाणं इहलोयपडिबद्धाणं परलोगपरम्मुहाणं विसयतिसियाणं दुरणुचरं पागयजणस्स, धीरस्स निच्छियस्स ववसियस्स नो खलु एत्थ किंचि दुक्करं करणाए, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया !० जाव पव्वइत्तए त्ति तए णं कंडरीयं पुंडरीए राया जाहे नो संचाएइ बहूहिं आघवणाहि य०४ आघवित्तए वा०४,ताहे अकामए चेव निक्खमणं अणुमन्नित्था। तए णं से पुंडरीए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-जहा महब्बलं महारिहं निक्खमणमहिमं करेह० जाव पव्वइतो,सामाइयमाइयाइं एगारस अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जित्ता बहूहिं चउत्थछट्ठऽट्ठमाईहिं तवोविहाणेहिं ०जाव विहरइ, अन्नया तस्स कंडरीयस्स अंतेहि य पंतेहि य० जाव रोगायंके पाउब्भूते० जाव दाहवक्कंतीए यावि विहरंति। तए णं ते थेरा भगवंतो अन्नया कयाइं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुगामं विहरमाणा पुंडरीगिणीए नलिणिवणे समोसढा,तए णं से पुंडरीए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे० जाव पज्जुवासइ। पत्थुया धम्मकहा भगवया। तए णं से पुंडरीए राया धम्मं सोच्चा जेणेव कंडरीए अणगारे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता कंडरीयं वंदइ,नमंसइ,नमंसित्ता कंडरीयस्स सरीरं सव्वाबाहं सरोगं पासइ, पासित्ता जेणेव थेरा तेणेव उवागच्छइ, थेरे वंदइ, वंदित्ता एवं वयासी-अहं णं भंते ! कंडरीयअणगारस्स अहापवत्तेहिं तेगिच्छएहिं फासुएसणिज्जेहिं अहापवत्तेहिं ओसहभेसज्जेहिं भत्तपाणेहिं तिगिच्छं आउट्टामि, तुब्भे णं भंते ! मम जाणसालासु समोसरह। तए णं थेरा पुंडरीयस्स रन्नो एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता जाणसालासु विहरंति। तए णं से

पुंडरीए कंडरीयस्स तेगिच्छं आउट्टेइ, तं मणुन्नं असणं पाणं खाइमं साइमं आहारियस्स समणस्स से रोगायंके खिप्पामेव उवसंते, हट्ठे जाए, आरोग्गे बलियसरीरे, तओ रोगायंकामुक्के वि समाणे तंसि मणुन्नंसि असणे० ४ मुच्छिए० जाव अज्झोववन्ने विविहे य पाणगम्मि, णो संचाएइ बहिया अब्भुज्जएणं विहारेणं विहरित्तए त्ति । तए णं से पुंडरीए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव कंडरीए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कंडरीयं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, वंदइत्ता एवं वयासी- धन्ने सि णं तुमं देवाणुप्पिया ! एवं सपुन्ने सि णं कयत्थे कयलक्खणं सुलद्धे णं तव देवाणुप्पिया ! माणुस्सए जम्मे जीवियफले जं णं तुमं रज्जं च० जाव अंतेउरं च विछड्डित्ता० जाव पव्वइए; अहं णं अहन्ने अकयपुन्ने, जं णं माणुस्सए भवे अणेगजाईजरामरणरोगसोगसारीरमाणसएकामदुक्खवेयणवसणसउवद्दवाभिभूए अधुवे अणितिए असासए संझब्भरागसरिसे जलबुब्बुयसमाणे कुसग्गजलबिंदुसन्निभे सुमिणगदंसणोवमे विज्जुलयाचंचले अणिच्चे सडणपडणविद्धंसणधम्मके पुव्विं पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वे इति, तहा माणुस्सयं सरीरयं पि दुक्खाययणं विविहवाहिसयसंनिकेयं अट्ठियकट्टुट्ठियसिराण्हारुजालओणद्धं संपिणद्धं मट्टियभंडं व दुब्बलं असुइसंकिलिट्ठं अणिट्ठं पि य सव्वकालसंठप्पयं जराकुणिमजज्जरघरं व सडणपडणविद्धंसणधम्मं पुव्विं वा पच्छा वा अवस्सविप्पजहियव्वं, कामभोगा वि य णं माणुस्सा वा असुई असासया वंतासवा एवं पित्तासवा खेलासवा सुक्कासवा सोणियासवा उच्चारपासवणखेलसिंघाणगवंतपित्तसुक्कसोणियसमुब्भवा अमणुन्नदुरूयमुत्तपूइपुरीसपुन्ना मयगंधुस्सासअसुभनिस्सासउव्वेयणगा बीभच्छा अप्पकालिया लहुस्सगा कलमलाहिया सुदुक्खा बहुजणसाहारणा परिकिलेसकिच्छदुक्खसज्झा अबुहजणनिसेविया सदा साहुगरहणिज्जा अणंतसंसारवद्धणा कडुगफलविवागा चुडुलि व्व अमुच्चमाणा दुक्खाणुबंधिणो सिद्धिगमणविग्घा पुव्विं वा पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वा भवंति त्ति । जे वि य णं रज्जे हिरन्ने सुवन्ने य० जाव सावएज्जे, से वि य णं अग्गिसाहिए चोरसाहिए रायसाहिए मच्चुसाहिए दाइयसाहिए अधुवे अणितिए असासए पुव्विं वा पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वे भविस्सइ त्ति, एवं विहम्मि रज्जे० जाव अंतेउरे य माणुस्सएसु य कामभोगेसु मुच्छिए नो संचाएमि० जाव पव्वइत्तए, तं धन्ने सि णं तुमं० जाव सुलद्धे णं मणुयजम्मे, जं णं पव्वइए । तए णं से कंडरीए पुंडरीएण एवं वुत्ते तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं से पुंडरीए दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी- धन्नो सि तुमं, अहं अहन्ने । तए णं से दोच्चं तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे अकामए अवसवसे लज्जाए गारवेण य पुंडरीयं रायं आपुच्छइ, थेरेहिं सद्धिं बहिया जणवयविहारं विहरइ । तए णं से कंडरीए थेरेहिं सद्धिं किंचि कालं उग्गंउग्गेणं विहरित्ता तओ पच्छा समणत्तणनिव्विन्ने समणत्तणनिब्भच्छिए समणगुणमुक्कजोगे थेराणं अंतियाओ सणियं सणियं पच्चोसक्कइ, जेणेव पुंडरीगिणी नयरी जेणेव पुंडरीयस्स रन्नो भवणे जेणेव असोगवणिया जेणेव असोगवरपायवे जेणेव पुढवीसिलापट्टए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता० जाव सिलापट्टयं दुरूहइ, दुरूहित्ता ओहयमणसंकप्पे० जाव झियाइ । तए णं पुंडरीयस्स अम्मधाई तत्थाऽऽगच्छइ० जाव तं तहा पासेइ, पासित्ता पुंडरीयस्स साहेइ, से वि य णं अंतेउरपरियालसंपरिवुडे तत्थ गच्छइ, गच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं० जाव धन्ने सि णं तुमं० जाव तुसिणीए । तए णं पुंडरीए एवं वयासी- अट्ठो भंते ! भोगेहिं ? । हंता ! अट्ठो । तए णं कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता कंडरीयस्स महत्थं० रायाभिसेयं० जाव रज्जं पसाहेमाणे विहरइ । तए णं से पुंडरीए सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, करेत्ता चाउज्जामं धम्मं पडिवज्जइ, कंडरीयस्स आयारं भंडगं सव्वं सुहसमुदयम्मि गेण्हइ, गेण्हेत्ता इमं अभिग्गहं गिण्हइ- कप्पइ मे थेराणं अंतिए धम्मं पडिवज्जित्ता पच्छा आहारं आहारित्तए त्ति कट्टु थेराभिमुहे निग्गए । कंडरीयस्स उ तं पाणीयं पाणभोयणं आहारियस्स नो सम्मं परिणए वेयणा पाउब्भूया उज्जला विउला० जाव दुरहियासा । तए णं से रज्जे य० जाव अंतेउरे य मुच्छिए जाए अज्झोववन्ने अट्टदुहट्टवसट्टे अकामए कालं किच्चा सत्तमपुढवीए तेत्तीससागरोवमट्ठिइए जाते । पुंडरीए वि य णं थेरे एत्थ एमि अंतिए ते दोच्चं पि चाउज्जामे धम्मे पडिवज्जति अट्ठमक्खमणपारणगंसि अरसं० जाव आहारेइ, तेण य कालाइक्कंतं सीयलसुक्खअरसविरसेण अपरिणएण वेयणा दुरहियासा जाया, तए णं से अधारणिज्जमिइ कट्टु करयलपरिग्गहियं० जाव अंजलिं कट्टु "नमोत्थु णं अरहंताणं० जाव संपत्ताणं," "नमोत्थु णं थेराणं भगवंताणं मम धम्मायरियाणं धम्मोवएसगाणं पुव्विं पि य णं मए थेराणं अंतिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए० जाव सव्वे अकरणिज्जे जोगे पच्चक्खाए, इयाणिं पि य णं तेसिं चेव णं भगवंताणं अंतिए सव्वपाणाइवायं० जाव सव्वं अकरणिज्जं जोगं पच्चक्खामि, जं पि य इमं इमं सरीरगं० जाव एयं पि चरिमेहिं ऊसासनीसासेहिं वोसिरामि त्ति," एवं आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सव्वट्ठसिद्धे तेत्तीससागरोवमाऊ देवो जातो, ततो चइत्ता महाविदेहे सिज्झिहि त्ति । तं मा तुमं दुब्बलत्तं बलियत्तं वा गेण्हाहि, जहा सो कंडरीओ तेण दुब्बलेणं अट्टदुहट्टवसट्टो सत्तमाए उववन्नो, पुंडरीओ पडिपुण्णगलकवोलो सव्वट्ठसिद्धे उववन्नो । देवाणुप्पिया ! बलितो दुब्बलो वा अकारणं एत्थ झाणनिग्गहो कायव्वो, झाणनिग्गहो परमं पमाणं, तत्थ वेसमणो अहो भगवया अप्पत्तयं नायं ति, एत्थ मईव संवेगमावन्नो त्ति वंदित्ता पडिगतो त्ति, तत्थ वेसमणस्स एगो सामाणिओ देवो, तेण य पुंडरीयज्झयणं ओगाहियं, पंच सयाणि सम्मत्तं च पडिवन्नो त्ति । केइ भणंति- जंभगो सो ताहे भगवं कल्लं चेइयाणि वंदित्ता पच्चोरुहइ, ते तावसा भणंति- तुब्भे अम्हाणं आयरिया, अम्हे तुब्भं सीसा । सामी भणइ- तुब्भं अम्ह य तिलोगगुरू आयरिया । ते भणंति- तुब्भ वि अन्नो आयरिओ ? । ताहे सामी भगवंतो गुणसंथवं करेइ, पव्वइया देवया, तेसिं लिंगाणि उवणीयाणि, ताहे ते भगवया सद्धिं वच्चंति, भिक्खावेला य जाया, भगवं भणइ- किं आणिज्जउ ? । ते भणंति- पायसो, भगवं च सव्वलद्धिसंपन्नो पडिग्गहेण महुघयसंजुत्तस्स पायसस्स भरेत्ता आगतो । ताहे भणइ- परिवाडीए ठाह, ते ठिया, भगवं च अक्खीणमहाणसिओ, ते धाया, ते हट्ठतुट्ठयरं आउट्टा, ताहे सयमाहारेइ, ताहे पुणरवि पट्ठिया, तेसिं च सेवालभक्खगाणं जेमियाणं चेव नाणं उप्पन्नं, दिन्नस्स वओ कुसाइच्छत्तं पेच्छ-

ताणं, कोडिन्नवग्गे सामिं दट्ठूण उवगयं। गोयमसामी पुण पुरतो पकहुमाणे सामी पयाहिणीकरेइ। ते वि केवलिपरिसं पहाविया। गोयमसामी भणइ-एह सामिं वंदह। सामी भणइ-मा गोयमा! केवली आसाएहि। गोयमसामी आउट्टो मिच्छादुक्कडं करेइ। ततो गोयमसामिस्स सुट्ठुतरं अधिई जाया। ताहे सामी गोयमं भणइ-किं देवाणं वयणं गज्झं, आओ जिणाणं? गोयमो भणइ-जिणवराणं। तो कीस अधिइं करेसि? ताहे सामी चत्तारि कडे पण्णवेइ। तं जहा-सुंबकडे, विदलकडे, चम्मकडे, कंबलकडे। एवं सामी वि गोयमसामीतो कंबलकडसमाणो। किं च-चिरसंसिट्ठो सि मे गोयमा!, चिरपरिचिओ सि मे गोयमा! ० जाव अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो, ताहे सामी 'दुमपत्तयं' नामऽज्झयणं पण्णवेइ। देवो वि वेसमणसामाणिओ ततो चइत्ता णं तुंबवणसंनिवेसे धणगिरी नाम गाहावई, सो अड्ढो, सो य पव्वइउकामो, तस्स य मायापियरो वारेइ, पच्छा से जत्थ जत्थ वारेंति, तत्थ तत्थ विपरिणामेंति, जहा अहं पव्वइउकामो। तस्स य तयाणुरूवस्स गाहावइस्स सुणंदा नाम धूया। सा भणइ-ममं देह। ताहे सा दिण्णा। तीसे य भाया अज्जसमिओ नाम पुव्वपव्वइओ, तीसे य सुणंदाए कुच्छिंसि सो देवो उववण्णो। ताहे भणइ धणगिरी-एस ते गब्भो बिइज्जओ होहिइ, सो सीहगिरिस्स पासे पव्वइओ। इतो य नवण्हं मासाणं दारओ जाओ।" इत्यादि भगवद्वैरस्वामिकथा आवश्यकचूर्णितोऽवसेयेत्युक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपः।

अधुना सूत्राऽऽलापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः; स च सूत्रे सतीत्यतः सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम्। तच्चेदम्-

दुमपत्तए पंडुयए, जह निवडइ रायगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए ॥१॥

द्रुमो वृक्षः, तस्य पत्रं पलाशं, तदेव तथाविधावस्थाप्राप्त्याऽनुकम्पितं द्रुमपत्रकं, (पंडुयए त्ति) आर्षत्वात् पाण्डुरकं, कालपरिणामतस्तथाविधरोगाऽऽदेर्वा प्राप्तवलक्षभावं, येन प्रकारेण यथा, निपतति शिथिलवृन्तबन्धनत्वाद् भ्रश्यति, प्रक्रमाद् द्रुमत एव रात्रिगणानां दिनगणाविनाभावित्वादुपलक्षणत्वाद्वा रात्रिन्दिवसमूहानाम्, अत्ययेऽतिक्रमे, एवमित्येवंप्रकारं, मनुष्याणां मनुजानां, शेषजीवोपलक्षणं चैतद्, जीवितमायुः, तदपि हि रात्रिन्दिवगणानामतिक्रमे यथास्थित्या क्षितिकालकापहाराऽऽत्मकेनाध्यवसायाऽऽदिजनितेनोपक्रमणेन वा जीवप्रदेशेभ्यो भ्रश्यतीत्येवमुच्यते। यतश्चैवमतोऽत्यन्तनिरुद्धः कालः समयस्तम्, अपिशब्दस्य गम्यमानत्वात् समयमपि, आस्तामावलिकाऽऽदि। गौतमेति गौतमसगोत्रस्येन्द्रभूतेरामन्त्रणम्, मा प्रमादीः मा प्रमादं कृथाः, शेषशिष्योपलक्षणं च गौतमग्रहणम्। उक्तं हि निर्युक्तिकृता-
"तन्निस्साए भगवं, सीसाणं देइ अणुसट्ठिं ॥"

अत्र च पाण्डुरकपत्राऽऽक्षिप्तं यौवनस्याप्यनित्यत्वमाविष्कीर्वन्नाह निर्युक्तिकृत्-

परियट्टियलावण्णं, चलंतसंधिं मुयंतविंटागं।
पत्तं वसणं पत्तं, कालं पत्तं भणइ गाहं ॥ ४२ ॥
जह तुब्भे तह अम्हे, तुब्भे वि य होहि य जहा अम्हे।
अप्पाहेइ पडंतं, पंडुयपत्तं किसलयाणं ॥ ४३ ॥
न वि अत्थि न वि य होहि इ, उल्लावो किसलपंडुपत्ताणं।
उवमा खलु एस कया, भवियजणविबोहणट्ठाए ॥४४॥

परिवर्त्तितं कालपरिणत्याऽन्यथाकृतं, लावण्यमभिरामता गुणाऽऽत्मकमस्येति परिवर्त्तितलावण्यं, यतोऽनन्तरस्य प्राणिव सौकुमार्याऽऽदि विनष्टं। तथा चलन्तः शिथिलीभवन्तः सन्धयो यस्मिंस्तत्तथा, अत एव (मुयंतविंटाग त्ति) मुञ्चत् त्यजत् सामर्थ्याद् वृक्षं वृन्तं पत्रबन्धनं यस्य तन्मुञ्चद्वृन्तकं, वृन्तस्य च वृक्षमोचने पत्रस्य पतनमेव भवतीत्येवमित्युक्तं भवति, पत्रं पर्णं, व्यसनमापदं, प्राप्तं व्यसनप्राप्तं, तथा कालः प्रक्रमात् पतनप्रस्तावः, तं, प्राप्तं गत कालप्राप्तं, भणत्यभिधत्ते, गीयत इति गाथा, तां छन्दोविशेषरूपाम्। तामेवाऽऽह-यथेति सादृश्ये, ततो यथा यूयं संप्रति किशलयभावमनुभवन्तः स्निग्धाऽऽदिगुणैर्वर्त्तमानाऽस्मानुपहसथ, तथा वयमतीतदशायां, तथा यूयमपि च भविष्यथ यथा वयमिति। जीर्णभावे हि यथा वयमिदानीं विवर्णविच्छायतयोपहास्यास्तथैव यूयमपि भाविनीति। (अप्पाहेइ त्ति) उक्तन्यायेनोपदिशति पितेव पुत्रस्य, पतद् भ्रश्यत्पाण्डुकपत्रं जीर्णपर्णं, किशलयानामभिनवपत्राणाम्। ननु किमेवं पत्रकिशलयानामुल्लापाः संभवन्ति, येनेदमुच्यते? अत आह-नैवास्ति नैव विद्यते, नैव भविष्यति, उपलक्षणत्वान्नैव भूतः, कोऽसौ?, उल्लापो वचनं, केषाम्?, किशलयपाण्डुपत्राणामुक्तरूपाणाम्। अत्र पंत्थाश्च यल्लोपः तदिह किमेवमुक्तमिति?, आह-उपमा उपमितिः, खलुरेवकारार्थः, तत उपमैवैषाऽनन्तरोक्ता, कृताऽभिहिता। (भवियजणविबोहणट्ठाए त्ति) प्रतीतमेव। यथेह किशलयानि पाण्डुपत्रेणानुशिष्यन्ते, तथा अन्योऽपि यौवनगर्वितोऽनुशासनीयः। तथा चैतदनुवादिना वाचकेनाभ्यधायि-"परिभवसि किमिति लोकं, जरसा परिजर्जरीकृतशरीरम्। अचिरात् त्वमपि भविष्यसि, यौवनगर्वं किमुद्वहसि?॥१॥" तदेवं जीवितयौवनयोरनित्यत्वमवगम्य न प्रमादो विधेय इति गाथात्रयार्थः।

पुनरायुषोऽनित्यत्वं ख्यापयितुमाह-

कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए ॥२॥

कुशो दर्भसदृशस्तृणविशेषः, तनुकत्वाच्च तस्योपादानं, तस्याग्रं प्रान्तस्तस्मिन्, यथेत्युपमाप्रदर्शकः, अवश्यायः शरत्कालभावी सूक्ष्मवर्षः, तस्य बिन्दुरिव बिन्दुकोऽवश्यायबिन्दुकः, स्तोकमल्पं, कालमिति गम्यते। तिष्ठत्यास्ते, लम्बमानको मनाग् निपतन्, बद्धाऽऽस्पदो हि कदाचित् कालान्तरमपि क्रमेतेत्येवं विशिष्यते। एवमित्युक्तसदृशं मनुजानां मनुष्याणां, मनुजग्रहणं च प्राग्वत्। (जीविय त्ति) जीवितं, यत एवं, ततः समयं गौतम! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः।

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नुपदेशमाह-

इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम! मा पमायए ॥३॥

इतीत्युक्तन्यायेन, इत्वरे अयनशीले, कोऽर्थः?-स्वल्पकालभाविनि, एतदुपक्रमहेतुभिरनपवर्त्यतया यथास्थित्यैवानुभवनीयतां गतवत्यायु, तच्चैवं निरुपक्रममेव, तस्मिन्, तथाऽनुकम्पित जीवितं जीवितकं, चशब्दस्य गम्यमानत्वात् तस्मिन्नायुषि सोपक्रमाऽऽयुषि, बहवः प्रभूताः प्रत्यवाया उपघातहेतवोऽध्यवसाननिमित्ताऽऽदयो यस्मिंस्तत्तथा, अनेन चानुकम्पताहेतुराविष्कृतः, एवं चोक्तद्रुमपत्रोदाहरणतः कुशाग्रजलबिन्दूदाहरणतश्च मनुजाऽऽयुर्निरुपक्रमं सोपक्रमं चेत्वरम्, अतोऽस्याप्यनित्यतां मत्वा विधुनीहि

जीवात् पृथक् कुरु, रजः कर्म, (पुरे कडं ति) पुरा पूर्वं तत्कालापेक्षया, कृतं विहितं पुराकृतम् । तद्विधुननोपायमाह-समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । पठन्ति च-"एवं मणुयाण जीविए, इत्वरिए बहुपच्चवायए ।" इति सुगममेवेति सूत्रार्थः ।

स्यात् पुनर्मनुष्यभावावाप्तावुद्यस्याम इत्याह-

दुल्लभे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं ।
गाढा य विवागकम्मुणो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥४॥

दुर्लभो दुरवापः, खलु विशेषणे, अकृतसुकृतानामिति विशेषं द्योतयति । मानुषो मनुष्यसंबन्धी, भवो जन्म, चिरकालेनापि प्रभूतकालेनापि, आस्ताम् अल्पकालेनेत्यपिशब्दार्थः । सर्वप्राणिनां सर्वेषामपि जीवानाम् । ननु मुक्तिगमनं प्रति भव्यानामिव केषाञ्चिन्मनुजभवावाप्तिं प्रति सुलभत्वविशेषोऽस्ति किमेवम्?, अत आह-गाढाः विनाशयितुमशक्यतया दृढाः, च इति यस्माद् (विवागकम्मुणो त्ति) विपाका उदयाः कर्मणां मनुष्यगतिविघातिप्रकृतिरूपाणां, यत एवमतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ।

कथं पुनर्मनुजत्वं दुर्लभं, यद्वा-यदुक्तं सर्वप्राणिनां दुर्लभं मनुजत्वमिति, तत्रैकेन्द्रियाऽऽदिप्राणिनां तद्दुर्लभत्वं दर्शयितुकामः कायस्थितिमाह-

पुढविक्कायमइगतो, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ५ ॥
आउक्कायमइगतो, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ६ ॥
तेउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ७ ॥
वाउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ८ ॥
वणस्सइकायमइगतो, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालमणंतदुरंतयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ९ ॥
बेइंदियकायमइगतो, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखेज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१०॥
तेइंदियकायमइगतो, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखेज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥११॥
चउरिंदियकायमइगतो, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखेज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१२॥
पंचिंदियकायमइगतो, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
सत्तऽट्ठभवग्गहणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१३॥
देवे नेरइए य मइगतो, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
एक्केक्कभवग्गहणं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १४ ॥

पृथ्वी कठिनरूपा, सैव कायः शरीरं पृथ्वीकायः, तम्, अतिशयेन मृत्वा मृत्वा तत्रैवोत्पत्तिलक्षणेन, गतः प्राप्तोऽतिगतः (उक्कोसं ति) उत्कर्षतो जीवः प्राणी, तुः पूरणे, संवसेत्तद्रूपतयैवावतिष्ठेत, कालं सङ्ख्याऽतीतमसङ्ख्यमित्यर्थः, यत एवमतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति ॥ एवमप्कायतेजस्कायवायुकायसूत्रत्रयमपि व्याख्येयम् ॥ तथा वनस्पतिसूत्रं, नवरं कालमनन्तमिति । अनन्तकायिकापेक्षमेतत्, प्रत्येकवनस्पतीनां कायस्थितेरसङ्ख्यातत्वात् । तथा-दुरन्तोऽन्तोऽस्येति दुरन्तम्, इदमपि साधारणापेक्षयैव, ते ह्यनन्ताद्यवधिस्तथा तत उद्वृत्ता अपि न प्रायो विशिष्टं मानुषाऽऽदिभवमाप्नुवन्ति । इह च कालं सङ्ख्यातीतमिति विशेषानभिधानेऽप्यसङ्ख्योत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानम्, अनन्तमिति चानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणमित्यवगन्तव्यम् । यत आगमः-"अस्संखोसप्पिणिओसप्पिणीतो एगिंदियाण उ चउण्हं । ता चेव अणंताओ, वणस्सइए उ बोधव्वा ॥ १ ॥" तथा द्वे इति सङ्ख्ये इन्द्रिये स्पर्शनरसनाऽऽख्ये येषां ते द्वीन्द्रियाः कृम्यादयः, तत्कायमतिगत उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्कालं सङ्ख्येयसंज्ञितं सङ्ख्यातवर्षसहस्राऽऽत्मकम्, अतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः ॥ एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसूत्रे अपि भावनीये ॥ तथा पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शनाऽऽदीनि येषां ते तथा, ते चोत्तरत्र देवनारकयोरभिधानाद् मनुष्यत्वस्य दुर्लभत्वेन प्रक्रान्तत्वात्तिर्यञ्च एव गृह्यन्ते, तत्कायमतिगतः, तत्कायोत्पन्न इत्यर्थः । उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्सप्त वाऽष्ट वा सप्ताष्टानि तानि च तानि भवग्रहणानि च जन्मोपादानानि सप्ताष्टभवग्रहणानि, यतोऽतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । तथा देवान् नैरयिकांश्च अतिगत उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् एकैकभवग्रहणं, ततः परमवश्यं नरेषु तिर्यक्षु चोत्पादात् ॥ यद्वा-(उक्कोसं ति) उत्कृष्यते तदन्येभ्य इत्युत्कर्षः, समुत्कृष्टं कालं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममानम्, (एक्केक्कभवगहणं ति) असंख्येयमानत्वादेकैकभवग्रहणमपि संवसत्यतो जीवः संवसेदतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रदशकार्थः ।

उक्तमेवार्थमुपसंहर्तुमाह-

एवं भवसंसारे, संसरइ सुहासुहेहि कम्मेहिं ।
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१५॥

एवमुक्तप्रकारेण पृथिव्यादिकायस्थितिलक्षणेन, भव एव तिर्यगादिजन्माऽऽत्मकः संसरणमाणत्वात्संसारो भवसंसारस्तस्मिन् संसरति पर्यटति, शुभानि शुभप्रकृत्यात्मकानि, अशुभानि चाशुभप्रकृतिरूपाणि शुभाशुभानि, तैः कर्मभिः पृथ्वीकायाऽऽदि प्रवृत्ति बन्धनैर्जीवः प्राणी, प्रमादैः बहुलो व्याप्तः प्रमादबहुलः, यद्वा-बहून् भेदान् लातीति बहुलो मद्याऽऽद्यनेकभेदः प्रमादो धर्मे प्रत्यनुद्यमाऽऽत्मको यस्य स बहुलप्रमादः, सूत्रे च व्यत्ययनिर्देशः प्राग्वत् । इह चायमाशयः-यतोऽयं जीवः प्रमादबहुलः सन् शुभाशुभानि कर्माण्युपचिनोति, उपचित्य च तदनुरूपासु गतिषु भवं जीवभावमुपगम्य भ्राम्यति, ततो दुर्लभत्वात्पुनर्मानुषत्वस्य, प्रमादमूलत्वाच्च सकलानर्थपरम्परायाः, समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः । एवं मनुजभवदुर्लभत्वमुक्तम् ।

इदानीं तदवाप्तावप्युत्तरोत्तरगुणावाप्तिरति दुरापेत्याह-

लद्धूण वि माणुसत्तणं, आगरियत्तं पुणरावि दुल्लहं ।
बहवे दसुया मिलक्खुया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१६॥
लद्धूण वि आरियत्तणं, अहीणपंचिंदियता हु दुल्लहा ।
विगलिंदियता हु दीसई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१७॥
अहीणपंचिंदियत्तं पि से लभे, उत्तमधम्मसुती हु दुल्लहा ।
कुतित्थिणिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८॥
लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।

मिच्छत्तणिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥
धम्मं पि हु सद्दहंतया, दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहिँ मुच्छिया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

लब्ध्वाऽपि प्राप्यापि मानुषत्वमिदं तावदतिदुर्लभमेव कथञ्चिल्लब्धाऽपीत्यपिशब्दार्थः । आर्यत्वं मगधाऽऽद्यार्यदेशोत्पत्तिलक्षणं, पुनरपि भूयोऽपि, आकारस्त्वलाक्षणिकः । दुर्लभं दुरवापम्, किमित्यत आह-बहवः प्रभूता दस्यवो देशप्रत्यन्तवासिनश्चौराः । (मिलिक्खुय त्ति) म्लेच्छा अव्यक्तवाचो, न यदुक्तमार्यैरवधार्यते, ते च शकयवनशबराऽऽदिदेशोद्भवाः, येऽयथा प्राप्यापि मनुजत्वं जन्तुरुत्पद्यते, ते च सर्वेऽपि धर्माधर्मगम्यागम्यभक्ष्याभक्ष्याऽऽदिसकलाऽऽर्यव्यवहारबहिष्कृतास्तिर्यञ्च एव वा । इति समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । इत्थमार्यदेशोत्पत्तिरूपमार्यत्वमपि दुर्लभम् । तथाविधमपि लब्ध्वाऽप्यार्यत्वमुक्तरूपमहीनान्यविकलानि पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शनाऽऽदीनि यस्य स तथा तद्भावोऽहीनपञ्चेन्द्रियता । हुरवधारणे भिन्नक्रमश्च, दुर्लभैव । यद्वा-हुः पुनरर्थे । अहीनपञ्चेन्द्रियता पुनर्दुर्लभा । इहैव हेतुमाह-विकलानि रोगाऽऽदिभिरुपहतानीन्द्रियाणि येषां तद्भावो विकलेन्द्रियता, हुरिति निपातोऽनेकार्थतया च बाहुल्यसूचकः । ततश्च यतो बाहुल्येन विकलेन्द्रियता दृश्यते, ततो दुर्लभाऽहीनपञ्चेन्द्रियता, तथा च समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । तथा कथञ्चिदहीनपञ्चेन्द्रियतामप्युत्कर्षतोऽतिदुर्लभामपि स इति जन्तुर्लभेत प्राप्नुयात्, तथाऽप्युत्तमः प्रधानो यो धर्मस्तस्य श्रुतिराकर्णना या सा तथा, हुरवधारणे भिन्नक्रमश्च । ततो दुर्लभैव, किमिति, यतः कुत्सितानि च तानि तीर्थानि कुतीर्थानि-शाक्योलूकाऽऽदिप्ररूपितानि, तानि विद्यन्ते येषामनुष्ठेयतया स्वीकृतत्वात्ते कुतीर्थिनः, तान्नितरां सेवते यः कुतीर्थिकनिषेवको जनो लोकः, कुतीर्थिनो हि यशःसत्काराऽऽद्यर्थिणो यदेव प्राणिप्रियं विषयाऽऽदि, तदेवोपदिशन्ति, तत्तीर्थकृतामप्येवंविधत्वात् । उक्तं हि-" सत्कारयशोलाभा-र्थिभिश्च मूढैरिहान्यतीर्थकरैः । अवसादितं जगदिदं, प्रियाण्यपथ्यान्युपदिशद्भिः ॥ १ ॥" इति सुकरैव तेषां सेवा । तत्सेवनाच्च कुत उत्तमधर्मश्रुतिः ? । पठ्यते च-"कुतित्थिणिसेवए जणे " इति स्पष्टम् । एवं तद्दुर्लभत्वमवधार्य समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । किं च-लब्ध्वाऽपि उत्तमधर्मविषयत्वादुत्तमां तां श्रुतिमुक्तरूपां, श्रद्धानं तत्त्वरुचिरूपं पुनरपि दुर्लभं दुरापमपि । इहैव हेतुमाह-मिथ्याभावो मिथ्यात्वम्-अतत्त्वेऽपि तत्त्वप्रत्ययरूपं, तं निषेवते यः स मिथ्यात्वनिषेवको, जनो लोकोऽनादिभवाभ्यस्ततया गुरुकर्मतया च तत्रैव च प्रायः प्रवृत्तेः । यत एवमतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः ॥ अन्यच्च-धर्मं, प्रक्रमात्सर्वज्ञप्रणीतम्, अपिर्भिन्नक्रमः, तुर्वाक्यालङ्कारे । ततः श्रद्दधतोऽपि कर्तुमभिलषन्तोऽपि दुर्लभकाः कायेन शरीरेण, उपलक्षणत्वात् मनसा वाचा च, स्पर्शका अनुष्ठातारः । कारणमाह-इहास्मिन् जगति कामगुणेषु मूर्च्छिता मूढाः, गृद्धिमन्त इत्यर्थः । जन्तव इति शेषः । प्रायेण ह्यपथ्येष्वेव विषयेष्वभिष्वङ्गः प्राणिनाम् । यत उक्तम्-" प्रायेण हि यदपथ्यं, तदेव चाऽऽतुरजनप्रियं भवति । विषयाऽऽतुरस्य जगत-स्तथाऽनुकूलाः प्रिया विषयाः ॥१॥" पाठान्तरतः कामगुणैर्मूर्च्छिता इव मूर्च्छिता विलुप्तधर्मविषयचैतन्यत्वात्, यतश्चैवमतो दुरापामिमामविकलां धर्मसामग्रीमवाप्य समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रषट्कार्थः ।

अन्यच्च-सति शरीरे तत्सामर्थ्ये च सति धर्मस्पर्शनेति तदनित्यताऽभिधानद्वारेण प्रमादोपदेशमाह-

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से सोयबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२१॥
परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से चक्खुबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २२ ॥
परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से घाणबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २३ ॥
परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से जिब्भबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २४ ॥
परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से फासबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २५ ॥
परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से सव्वबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २६ ॥

परिजीर्यति सर्वप्रकारं वयोहानिमनुभवति 'ते' तव, शरीरमेव जराऽऽदिभिरभिभूयमानतयाऽनुकम्पनीयमिति शरीरकम् । यद्वा-(परिजूरइ त्ति) "निन्देर्जूर०-" इति प्राकृतलक्षणात् परिनिन्दतीवाऽऽत्मानमिति गम्यते । यथा धिग्मां, कीदृशं यातमिति ? । किमिति, यतः केशाः शिरसिजाः, उपलक्षणत्वाल्लोमानि च, पाण्डुरा एव पाण्डुरका भवन्ति, पूर्वं जननयनहारिणोऽत्यन्तकृष्णाः, सम्प्रति शुक्लतां भजन्ते, 'ते' तव, पुनस्तेशब्दोपादानं शिष्यवाक्यत्वादुपदेशाधिकाराच्चादुष्टम् । एवमुत्तरत्रापि तथा । (से इति) तत् यत्प्रथममासीत् श्रोत्रयोः कर्णयोर्बलं दूराऽऽदिशब्दश्रवणसामर्थ्यं श्रोत्रबलं, चः समुच्चये । हीयते जरातः स्वयमपैति । यद्वा-शरीरजीर्णताऽवस्थाभाव्येतद्द्वयमपि योज्यं, यथा च परिजीर्यति शरीरकं तथा च सति केशाः पाण्डुरका भवन्ति । (से इति) अथ श्रोत्रबलं हीयते यतः ततः शरीरस्य तत्सामर्थ्यस्य चास्थिरत्वात् समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । एवं सूत्रपञ्चकमपि ज्ञेयम्, नवरमिह प्रथमतः श्रोत्रोपादानं प्रधानत्वात्, प्रधानत्वं च तस्मिन्सति शेषेन्द्रियाणामवश्यंभावात्, पटुतरक्षयोपशमजत्वाच्च तथोपदेशाधिकारादुपदेशस्य च श्रोत्रग्राह्यत्वात् ॥ तथा सर्वबलमिति

सर्वेषां करचरणाऽऽद्यवयवानां स्वस्वव्यापारसामर्थ्यम् । यद्वा-सर्वेषां मनोवाक्कायानां ध्यानाध्ययनचङ्क्रमणाऽऽदिचेष्टाविषयाऽशक्तिरिति सूत्रषट्कार्थः ।

अरातः शरीराशक्तिरुक्ता । सम्प्रति रोगतस्तमाह-

अरई गंडं विसूइया,
आयंका विविहा फुसंति ते ।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २७ ॥

अरतिर्वाताऽऽदिजनितश्चित्तोद्वेगः, गण्डं गडु, विध्यतीव शरीरं सूचिभिरिति विसूचिका अजीर्णविशेषः, आङ्क्रिति सर्वाऽऽत्मप्रदेशाभिव्याप्त्याऽऽतङ्कयन्ति कृच्छ्रजीवितमात्मानं कुर्वन्तीत्यातङ्काः सद्योघातिनो रोगविशेषाः, विविधा अनेकप्रकाराः, स्पृशन्ति पराभृशन्ति, 'ते' तव, शरीरकमिति गम्यते । ततश्च विपतति विशेषेण बलोपचयादपैति विध्वस्यति जीवं विमुक्तं विशेषेणाधः पतति शरीरकम् । अतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । सर्वत्र वर्त्तमाननिर्देशः प्राग्वत् । केशपाण्डुरत्वाऽऽदि च यद्यपि गौतमे न सम्भवति तथाऽपि तन्निश्रयाऽशेषशिष्यप्रतिबोधनार्थत्वाद् दुष्टमिति सूत्रार्थः ।

यथा चाप्रमादो विधेयस्तथाऽऽह-

वोच्छिंद सिणेहमप्पणो,
कुमुयं सारइयं व पाणियं ।
से सव्वसिणेहवज्जिए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २८ ॥

(वोच्छिंद त्ति) विविधैः प्रकारैरत्याबल्येन छिन्नत्यपनयत्युच्छिन्द्धि, स्नेहमभिष्वङ्गं, कस्य सम्बन्धिनम् ?, आत्मनः, किमिव ?, कुमुदमिव चन्द्रोद्योतविकाश्युत्पलमिव, (सारइयं व त्ति) सूत्रत्वात् शरदि भवं शारदं, चेत्युपमार्थो भिन्नक्रमश्च प्राग्योजितः । पानीयं जलं, यथा तत्प्रथमं जलमग्नमपि जलमपहाय वर्त्तते, तथा त्वमपि चिरसंसृष्टचिरपरिचितत्वाऽऽदिजनितमद्विषयस्नेहवशगोऽपि तमपनय, ऊर्ध्वनीय वत्स इति । अथानन्तरं सर्वस्नेहवर्जितः सन् समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । इह च जलमपहाय पत्रावति सिद्धे यच्छारदग्रहणोपादानं तच्छारदजलस्येव स्नेहस्याप्यतिमनोरमत्वख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः ।

किं च-

चिच्चा ण धणं च भारियं,
पव्वइओ हि सि अणगारियं ।
मा वंतं पुणो वि आविए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २९ ॥

त्यक्त्वा परिहृत्य, णेति वाक्यालङ्कारे । धनं चतुष्पदाऽऽदि, चशब्दो भिन्नक्रमः । ततो भार्यां च कलत्रं च, प्रव्रजितो गृहान्निष्क्रान्तः, हिरिति यस्मात् (सीति) सूत्रत्वेनाकारलोपादसि भवसि, (अणगारियं ति) अनगारेषु भावभिक्षुषु भवमनगारिकम्, अनुष्ठानं चास्य गम्यमानत्वात्, तच्च, प्रतिपन्नवानसीति शेषः । यद्वा-प्रव्रजितं प्रतिपन्नः (अणगारियं ति) अनगारतां, मा 'अमा मो मा' इति निषेधे । वान्तमुद्गीर्णं (पुणो वि त्ति) पुनरपि (आविए त्ति) आपिब, किं तु समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ।

कथं च वान्तपानं भवतीत्याह-

अवउज्झिय मित्तबंधवं,
विउलं चेव धणोहसंचयं ।
मा तं बिइयं गवेसए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ३० ॥

अपोह्य त्यक्त्वा, मित्राणि सुहृदो, बान्धवाश्च स्वजना इति समाहारः । मित्रबान्धवं, विपुलं विस्तीर्णं, चः समुच्चये भिन्नक्रमश्च । एवेति पूरणे । ततो धनं कनकाऽऽदिद्रव्यं, तस्यौघः समूहस्तस्य संचयो राशीकरणं धनौघसंचयः, तं च, मा, तमिति मित्राऽऽदिकं, द्वितीयं, पुनर्ग्रहणार्थमिति गम्यते । गवेषयान्वेषय, तत्परित्यागाच्छ्रामण्यमङ्गीकृत्य पुनस्तदभिष्वङ्गवान् मा भूः, त्यक्तं हि तद्वान्तोपमं, तदभिष्वङ्गश्च वान्तपानप्राय इत्यभिप्रायः । किं तु समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । इति सूत्रार्थः ।

इत्थं प्रतिबन्धनिराकरणार्थमभिधाय दर्शनविशुद्ध्यर्थमाह-

न हु जिणे अज्ज दिस्सई,
बहुमए दिस्सइ मग्गदेसिए ।
संपइ णेआउए पहे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ३१ ॥

'न हु' नैव जिनस्तीर्थकृदद्यास्मिन् काले दृश्यते अवलोक्यते, यद्यपीति गम्यते । तथाऽपि (बहुमए त्ति) पन्थाः । न च द्रव्यतो नगराऽऽदिमार्गो, भावतस्तु सातिशयश्रुतज्ञानदर्शनचारित्राऽऽत्मको मुक्तिमार्गः, तत्रेह भावमार्गः परिगृह्यते, दृश्यते उपलभ्यते, (मग्गदेसिए त्ति) भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य मार्गदेशनाद् मुक्तेर्देशको जिनः कथितो मार्गदेशकः । अयमाशयः-सम्प्रति यद्यपि जिनो न दृश्यते, तदुपदिष्टस्तु मार्गो दृश्यते, न चैवंविधोऽयमतीन्द्रियार्थदर्शिनं जिनं विना सम्भवति, अतिरिच्य चेतसो भाविनोऽपि भव्या न प्रमादं विधास्यन्तीति । अतः सम्प्रति इदानीं, मय्यपि सति इति भावः नैयायिके निश्चितमुक्त्याख्यफलप्रयोजने, पथि मार्गे, समयमपि गौतम ! केवलज्ञानानुत्पत्तितः संशयविधानेन मा प्रमादीः । यद्वा-त्रिकालविषयत्वात्सूत्रस्य भाविभव्योपदेशकमप्येतत् । ततोऽयमर्थः-यथा आद्यमार्गोपदेशकं नगरं वा पश्यन्तोऽपि पथ्यानमवलोकयन्तस्तस्याविच्छिन्नोपदेशनस्तत्प्रापकत्वं निश्चिन्वन्ति, तथा यद्यप्यद्य जिनः, उपलक्षणत्वाद् मोक्षश्च, नैव दृश्यते, तथाऽपि तद्देशितः पन्था मार्ग्यमाणत्वाद् मार्गो मोक्षस्तस्य (देसिए त्ति) सूत्रत्वाद्देशको मार्गदेशको दृश्यते, ततस्तस्यापि तत्प्रापकत्वं मामपश्यद्भिरपि भाविभव्यैर्निश्चेतव्यं, यतश्चैवं भाविभव्यानामुपदिश्यते । अतः सम्प्रतीत्यादि प्राग्वत्, द्विविधाऽपि चेत्थं व्याख्या, सूचकत्वात् सूत्रस्येति गाथाऽर्थः ।

अत्रैवार्थे पुनरुपदिशन्नाह-

अवसोहिय कंटगापहं,
ओइण्णोऽसि पहं महालयं ।
गच्छसि मग्गं विसोहियं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ३२ ॥

(अवसोहिय त्ति) अवशोध्यापसार्य पृथक्कृत्य, परिहृत्येति यावत् । (कंटगापहं ति) आकाराऽऽत्मानिकः, क-

पटकाश्च द्रव्यतो बब्बूलकण्टकाऽऽदयो, भावतस्तु चरकाऽऽदिकुश्रुतयः, तैराकुलः पन्थाः कण्टकपथस्तम्, तमश्चापनीर्णोऽस्यनुप्रविष्टो भवसि (पहं ति) पन्थानं (महालयं ति) महान्तं महतां वा आलय आश्रयो महालयः। स च द्रव्यतो राजमार्गो, भावतस्तु महद्भिस्तीर्थकराऽऽदिभिरप्याश्रितः सम्यग्दर्शनाऽऽदिमुक्तिमार्गस्तम्। कश्चिदवतीर्णोऽपि मार्गे न गच्छेदत आह-गच्छसि मार्गं, न पुनरवस्थित एवासि, सम्यग्दर्शनाऽऽद्यनुपालनेन मुक्तिमार्गगमनप्रवृत्तत्वात् । भवतस्तत्राप्यनिश्चयेऽपायप्राप्तिरेव स्यादित्याह-विशोध्येति विनिश्चित्य, तदेवं प्रवृत्तः सन् समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ।

एवं च पूर्वेण दर्शनविशुद्धिमनेन च मार्गप्रतिपत्तिमभिधाय ततस्तत्प्रतीतावपि कस्यचिदनुतापसंभव इति तन्निराचिकीर्षयाऽऽह-

अबले जह भारवाहए,
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया ।
पच्छा पच्छाणुतावए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ३३ ॥

अबलोऽविद्यमानशरीरसामर्थ्यो, यथेत्यौपम्ये, भारं वहतीति भारवाहकः । मा निषेधे । (मग्गे त्ति) मार्गं (विसमे त्ति) विषमं मन्दसत्त्वैरतिदुस्तरम्, (अवगाहिय त्ति) अवगाह्य प्रविश्य, त्यक्ताङ्गीकृतभारः सन्निति गम्यते । पश्चात्तत्कालानन्तरं, पश्चादनुतापकः पश्चात्तापकृत्, अभूदिति शेषः। इदमुक्तं भवति-यथा कश्चिद्देशान्तरगतो बहुभिरुपायैः स्वर्णाऽऽदिकमुपार्ज्य स्वगृहाभिमुखमागच्छन्नतिभीरुतयाऽन्यवस्तुत्यागेन तत् स्वर्णाऽऽदिक स्वशिरस्यारोप्य कतिचिद्दिनानि सम्यगुद्वहति, अनन्तरं च कश्चिदुपलाऽऽदिसंकुले पथि अहो ! अहमनेन भारेणाऽऽक्रान्त इति तमुत्सृज्य स्वगृहमागतोऽत्यन्तनिर्द्धनतयाऽनुतप्यते, किं मया मन्दभाग्येन तत्परित्यक्तमिति ? । एवं त्वमपि प्रमादपरतया त्यक्तसंयमभारः सन्नेवंविधो मा भूः, किं तु समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः।

कश्चिदमद्यापि निस्तरणीयमल्पं च निस्तीर्णमित्यभिसंधितोत्साहभङ्गोऽपि स्यादिति तदपनोदायाऽऽह-

तिण्णो हु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ? ।
अभितुर पारं गमित्तए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ३४ ॥

(तिण्णो हु सि त्ति) तीर्णः एवास्यर्णवमिवार्णवम्, (महं ति) महान्तं गुरुं, किमिति प्रश्ने, पुनरिति वाक्योपन्यासे । ततः किं पुनस्तिष्ठसि तीरं पारमागतः प्राप्तः ?। किमुक्तं भवति ?-भवस्तत्स्थितिहेतूनि च कर्माणि भावतोऽर्णव उच्यते, स च द्विविधोऽपि त्वयोत्तीर्णप्राय एवेति केन हेतुना तीरप्राप्तेऽप्यौदास्यं भजसे ?, नैवेदं तवोचितमित्याशयः, किं तु अभित्वरस्व अभ्याभिमुख्येन त्वरस्व शीघ्रो भव पारं परतीरं भावतो मुक्तिपदम्, (गमित्तए त्ति) गन्तुम् । अतश्च समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ।

अथापि स्यात् मम पारप्राप्तियोग्यतैव न समस्तीत आह ।

अथवा शेषशिष्यापेक्षया किमस्याप्रमादस्य फलं, यत् पुनरयमुपदिश्यत इत्याह-

अकलेवरसेणिमुस्सिया,
सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि।
खेमं च सिवं अणुत्तरं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ३५ ॥

कडेवरं शरीरम, अविद्यमानं कडेवरमेषामकडेवराः सिद्धाः,तेषां श्रेणिरिव श्रेणिरकडेवरश्रेणिः, यथोत्तरोत्तरशुभपरिणामप्राप्तिरूपया ते सिद्धिपदमारोहन्ति, क्षपकश्रेणिमित्यर्थः। यद्वा-कडेवराण्येकेन्द्रियशरीराणि, तन्मयत्वेन तेषां श्रेणिः कडेवरश्रेणिः वंशाऽऽदिविरचिता प्रासादाऽऽद्यारोहणहेतुः, तथा च या न साऽकडेवरश्रेणिरनन्तरोक्तरूपैव, ताम् (उस्सिय त्ति) उच्छ्रितां गमिष्यसीति संबन्धः। यद्वा-(उस्सिय त्ति) उच्छ्रयेवोच्छ्रितोत्तरसंयमस्थानावाप्त्या तामुच्छ्रितामिव कृत्वा, सिद्धिमिति सिद्धिनामानं, गौतम ! (लोयं गच्छसि त्ति) प्राग्वत् । लोकं गमिष्यसि, संशयव्यवच्छेदफलत्वाच्चास्य गमिष्यस्येव, क्षेमं परचक्राऽऽद्युपद्रवरहितम। च समुच्चये, भिन्नक्रमश्च ।शिवमनुत्तरं च,तत्र शिवमशेषदुरितोपशमनेन,अनुत्तरं नास्योत्तरमन्यत्प्रधानमस्तीत्यनुत्तरं, सर्वोत्कृष्टमित्यर्थः। यतश्चैवं ततः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ।

सम्प्रति निगमयन्नुपदेशसर्वस्वमाह-

बुद्धे परिनिव्वुडे चरे,
गामगए नगरे व संजए ।
संतिमग्गं च बूहए,
समयं गोयम! मा पमायए ॥ ३६ ॥

बुद्धोऽवगतहेयाऽऽदिविभागः, परिनिर्वृतः कषायाऽऽद्युपशमनतः समन्ताच्छीतीभूतः,चरेरासेवस्व, संयममिति शेषः। (गाम त्ति) सुपो लोपाद् ग्रामे गतः स्थितो, नगरे वा, उपलक्षणत्वादरण्याऽऽदिषु च। किमुक्तं भवति ?, सर्वत्रिस्मन्नभिष्वङ्गवान् सन्यद्यतः पापस्थानेभ्य उपरतः संयतः,शाम्यन्त्यस्यां सर्वदुरितानीति शान्तिः निर्वाणं, तस्या मार्गः पन्थाः। यद्वा-शान्तिरुपशमः, सैव मुक्तिः तस्या हेतुर्मार्गः शान्तिमार्गो,दशविधधर्मोपलक्षणं शान्तिग्रहणम ।तम्, चशब्दो भिन्नक्रमः,ततो बृंहयस्व भव्यजनप्ररूपणया वृद्धिं नयः,ततः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः।

इत्थं भगवदभिहितमिदमाकर्ण्य गौतमो यत् कृतवांस्तदाह-

बुद्धस्स निसम्म भासियं,
सुकहियमट्ठपओवसोहियं ।
रागं दोसं च छिंदिया,
सिद्धिगइं गए गोयमे (त्ति बेमि) ॥ ३७ ॥

बुद्धस्य केवलाऽऽलोकादवलोकितसमस्तवस्तुतत्त्वस्य,प्रक्रमात् श्रीमहावीरस्य,निशम्याऽऽकर्ण्य,भाषितमुक्तं,सुष्ठु शोभनेन नयानुगततत्त्वाऽऽदिना प्रकारेण,कथितं प्रबन्धेन प्रतिपादितं सुकथितम । अत एवार्थप्रधानानि पदान्यर्थपदानि,तैरुपशोभितं जातशोभमर्थपदोपशोभितम, रागं विषयाऽऽद्यभिष्वङ्गविषयम, द्वेषमपकारिण्यप्रीतिलक्षणं, चः समुच्चये। छित्त्वाऽपनीय, सिद्धिगतिं गतः प्राप्तो गौतम इन्द्रभूतिनामा भगवत्प्रथमगणधर इति सु-

स्थार्थः । इतिः परिसमाप्तौ । ब्रवीमीति पूर्ववत् । उत्त० पाई० १० अ० । मा० म० । आ० चू० । स० । नि० चू० ।

दुमपुप्फियज्झयण-द्रुमपुष्पिकाध्ययन-न० । द्रुमस्य पुष्पं द्रुमपुष्पम् । अवयवलक्षणः षष्ठीसमासः । द्रुमपुष्पशब्दस्य "प्रागिवात्कः" ॥ ५ । ३ । ७० ॥ इति वर्त्तमान अज्ञाते कुत्सिते सञ्ज्ञायां कनि प्रत्यये नकारलोपे च कृते द्रुमपुष्पक इति प्रातिपदिकस्य स्त्रीत्वविवक्षायाम् "अजाऽऽद्यतष्टाप्" ॥ ४ । १ । ४ ॥ इति टाप्प्रत्यये ऽनुबन्धलोपे च कृते "प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" ॥ ७ । ३ । ४४ ॥ इतीत्वे कृते "अकः सवर्णे दीर्घः" ॥ ६ । १ । १० ॥ इति दीर्घत्वे परगमने च द्रुमपुष्पिकेति भवति । द्रुमपुष्पोदाहरणयुक्ता द्रुमपुष्पिकेति । द्रुमपुष्पिका चासौ अध्ययनं चेति समानाऽऽधिकरणस्तत्पुरुषः । द्रुमपुष्पिकाऽध्ययनमिति ।

अस्य चैकार्थिकानि प्रतिपादयन्नाह-

दुमपुप्फिया य आहा-रएसणा गोयरे तया उंछो ।
मेस जलूगा सप्पे, वणऽक्खइसुगोलपुत्तुदगे ॥ ३७ ॥

(एषां पदानामर्थस्तत्तच्छब्देषु) दशवैकालिकस्य द्रुमपुष्पोदाहरणयुक्ते प्रथमेऽध्ययने, दश० नि० १ अ० ।

दुमराय-द्रुमराज-पुं० । प्रधानवृक्षे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

दुमसेण-द्रुमसेन-पुं० । नवमवासुदेवबलदेवयोः पूर्वजन्मे स्वनामख्याते धर्माऽऽचार्ये, स० । श्रेणिकस्य राज्ञो धारण्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, स च महावीरस्वामिनोऽन्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्यायः संलेखनया मृत्वाऽपराजिते देवलोके उपपद्य ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यतीत्यनुत्तरोपपातिकदशानां द्वितीयवर्गस्याष्टमेऽध्ययने सूचितम् । अणु० २ वर्ग १ अ० ।

दुमिय-धवलित-त्रि० । श्वेतीकृते, "दुमियघट्टमट्ठ ।" 'दुमिय' सुधापङ्कधवलितं घृष्टं पाषाणाऽऽदिना उपरि घर्षिते ततो मृष्टं मसृणीकृते । सू० प्र० २० पाहु० । चं० प्र० । भ० । कल्प० ।

दुमिस्स-द्विमिश्र-न० । औदारिकमिश्रवैक्रियकमिश्रद्विके, कर्म० ४ कर्म० ।

दुमुह-द्विमुख-पुं० । स्वनामख्याते द्वितीये प्रत्येकबुद्धे, उत्त० । काम्पिल्यपुरे जयवर्मराजा, तस्य गुणमाला प्रिया । अन्येद्युर्जयवर्मा राजा स्थपतीनित्याह-अद्भुतमास्थानमण्डपं कुरुत । वास्तुकैस्तैर्भूमिपूजापुरस्सरं भूमिभागं परीक्ष्य शुभमुहूर्ते खातं विरचितं, तत्र खाते पञ्चमदिवसे नानामणिमण्डितः स्वमणिरिव प्रज्वलन् मुकुटो दृष्टः * । तैर्विज्ञप्तो राजा सहर्षं प्रमुदितस्तं मुकुटं जग्राह । विविधवादित्रनिर्घोषपूर्वं महतोत्सवेन तं मुकुटं स्वगृहे प्रावेशयत् । कलाऽऽद्यैः सत्कृताः शिल्पिनो विमानसदृशमास्थानमण्डपं सद्यश्चक्रुः । चित्रकरैस्तत् सद्य एव विचित्रितम् । नृपः शुभमुहूर्ते तं मुकुटं मस्तके निधाय तस्मिन्नास्थानमण्डपे सिंहासने निषण्णः, तस्मिन् मुकुटे मूर्द्धस्थिते सति राज्ञो मुखद्वयं दृश्यते, तदनु स राजा लोके द्विमुखतया विख्यातः ।

अथैवं मुकुटकथा-अवन्तीशेन चण्डप्रद्योतेन मुकुटवर्णकं श्रुत्वा स्वदूतः प्रहितः । दूतोऽपि तत्र गत्वा द्विमुखं प्रति एवमवादीत्-राजन् ! तव मुकुटमिमं चण्डप्रद्योतनृपतिर्मार्गयति, यदि तव जीवितेन कार्यं, तदा तस्याऽयं प्रेष्यः । एवं दूतवचः श्रुत्वा द्विमुखनरेन्द्रः प्रोवाच-रे दूत ! तव स्वामिनो मम मुकुटग्रहणाभिलाषः स्ववस्तुहारणायैव जातोऽस्ति, त्वं तत्र गत्वा स्वस्वामिनं ब्रूयाः-शिवा देवी राज्ञी १, अनलगिरिनामा हस्ती २, अग्निभीरुनामा रथः ३, लोहजङ्घनामा ४ दूतश्चेति वस्तुचतुष्टयं ममाऽर्पयतामित्युक्तवा द्विमुखनृपेण स दूतो गले धृत्वा निष्कासितः, स्वस्थानं गत्वा चण्डप्रद्योताय तद्वचो निवेदयामास । क्रुद्धोऽथ चण्डप्रद्योतनृपतिर्गणनातीतकतुरगगजेन्द्ररथपदातिदलपरिवेष्टितः स्थाने स्थाने प्राभृतपूर्वकमभ्यागतानेकराजसैन्यवर्द्धमानबलः पञ्चालदेशसीमं प्राप । द्विगुणोत्साहो द्विमुखनृपस्तैः सप्तसुतैः सैनिकैश्च परिवृतश्चण्डप्रद्योतसंमुखमगात् । तयोर्घोरसंग्रामो बभूव । मुकुटप्रभावाद् द्विमुखराजस्तदा द्विगुणं भुजबलं प्रससार । क्षणेन सकलमपि चण्डप्रद्योतबलं तेन भग्नं नष्टं च चण्डप्रद्योतं रथान्निपात्य बद्ध्वा च स्वपुरं निन्ये द्विमुखनृपः, तं स्वाऽऽवासे भव्यरीत्या रक्षितवान् । अन्यदा चण्डप्रद्योतेन प्रकामस्वरूपां सल्लावण्यां कन्यां दृष्ट्वा यामिकानामेवमुक्तम्-अस्य द्विमुखराज्ञः कत्यपत्यानि सन्ति ?, इयमङ्गजा च कस्य ? । यामिका ऊचुः-अस्य राज्ञो वनमाला पत्नी सप्त सुतान् सुषुवे, अन्यदा तया चिन्तितम्-मम सप्त पुत्रा जाता लालिताश्च, पुत्री तु नैकाऽपि जातेति स्वमनोरथपूर्त्यै सा मदनयक्षमाराराध । अन्यदा सा कल्पद्रुममञ्जरीकां स्वप्ने ददर्श, क्रमेणेमां सुषुवे । यक्षोपयाचितं दत्त्वाऽस्या मदनमञ्जरीति नाम कृतम् । साऽधुना सर्वलोकचमत्कारकारी यौवनाऽऽगमं इयं जातेति यामिकवचनं श्रुत्वा, अप्सरोऽधिकं तद्रूपं च दृष्ट्वा कामाऽऽर्त्तश्चण्डप्रद्योतश्चिन्तयति-इयं चेन्मम पत्नी स्यात्तदा मम जीवितं सफलं स्यात्, राज्यभ्रंशोऽपि मे कल्याणाय जातः, यदीयं दृष्टा, चेद् द्विमुखराजा इमां मह्यं ददातु, तदाऽहमस्य यावज्जीवं सेवको भवामि । चण्डप्रद्योतस्येदृशः परिणामस्तस्य यामिकैर्ज्ञात्वा द्विमुखराज्ञे कथितः । राजाऽऽज्ञया यामिकैश्चण्डप्रद्योतः सभायामानीतः । द्विमुखराजाऽभ्युत्थानं कृत्वा चण्डप्रद्योतः स्वार्द्धाऽऽसने निवेशितः । स प्राञ्जलीभूय एवं बभाषे-मत्प्राणास्तव वशगाः सन्ति, मद्विभूतयस्त्वदायत्ताः सन्ति, त्वं मम प्रभुरसि, अहमतः परं सदैव तव सेवकोऽस्मि । अथ तद्भावज्ञो द्विमुखराजा चण्डप्रद्योताय नवयं निजां पुत्रीं ददौ, ज्योतिर्विद्भिः शुभमुहूर्ते दत्ते चण्डप्रद्योतनृपो द्विमुखराजपुत्रीं परिणीतवान्, करमोचनावसरे च तस्मै धनं द्रव्यं हस्तिमदन्तीदेशं च दत्तवान् । कन्यासहितं चण्डप्रद्योतं स्वदेशे द्विमुखो विसर्जितवान् । अन्यदा द्विमुखनरेन्द्रस्य पुरे लोकैरिन्द्रस्तम्भोऽद्भुतः कृतः, पूजितश्च, द्विमुखनृपोऽपि तं भृशं पूजितवान्, तस्मिन्महे व्यतीतेऽन्येद्युस्तमिन्द्रस्तम्भं विलुप्तशोभममेध्यान्तःपतितं द्विमुखराजा ददर्श, एवं च चिन्तितवान्-जनैर्यः पूजितो, मणिमालाकुसुमाऽऽदिभिश्च शृङ्गारितः सोऽयमिन्द्रस्तम्भः साम्प्रतमीदृशो जातः, यथाऽयं स्तम्भः पूर्वापरावस्थाभेदमाप्तः, तथा सर्वोऽपि संसारो नित्यां भिन्नामवस्थां प्राप्नोति, अवस्थाभेदकारणं रागद्वेषावेव, तत्प्रलयस्तु समताऽऽश्रयणाद्भवति, समता च ममतापरित्यागाद्भवति, ममतापरित्यागस्तु संयमं विना न भवतीति वैराग्यमापन्नः शासनदेवतासमर्पितवेषः सर्वविरतिसामायिकं द्विमुखराजः स्वयं प्रतिपद्य प्रत्येकबुद्धो बभूव । उक्तञ्च-"वाहृत्याश्रितं पौरजनैः सुरेश-ध्वजं च लुप्तं पतितं परेऽह्नि । भूतिं त्वभूतिं द्विमुखो निरीक्ष्य, बुद्धः प्रपेदे जिनराजधर्मम् ॥ १ ॥" इति । उत्त० ९ अ० । स्था० । महा० । ती० ।

---

* मुकुटं किरीटं पुन्नपुंसकमित्यमरः ।

दुमोक्ख-दुर्मोक्ष-त्रि० । दुःखेन मुच्यते इति दुर्मोक्षः । दुस्त्यजे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

दुम्मइ-दुर्मति-त्रि० । दुष्टा पापोपादानतया मतिर्यस्य सो दुर्मतिः । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । विपर्यस्तबुद्धौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

दुम्मइणी-देशी-कलहशीलायां स्त्रियाम् , दे० ना० ५ वर्ग ४७ गाथा ।

दुम्मण-दुर्मनस्-त्रि० । दैन्याऽऽदिमति, द्विष्ट इत्यर्थः । स्था० ३ ठा० २ उ० । " दुम्मणजणदइयवज्जियं । " कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

दुम्मणिय-दौर्मनस्य-न० । दुष्टमनोभावे, दश० ६ अ० ३ उ० ।

दुम्मय-दुर्मद-पुं० । दुष्टो मदो दुर्मदः । दुष्टमदे, तद्वति च । त्रि० । आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

दुम्मुह-दुर्मुख-पुं० । वसुदेवस्य धारण्यां जाते पुत्रे, अन्त० ३ वर्ग १ अ० । (तद्वक्तव्यता गजसुकुमारस्येव) मर्कटे, दे० ना० ५ वर्ग ४४ गाथा ।

दुम्मेह-दुर्मेधस्-पुं० । दुर्दुष्टा मेधा यस्यासौ दुर्मेधाः । दश० ७ अ० । दुर्बुद्धौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । दश० । विपा० । दुष्टा विपर्ययाऽऽदिदोषदुष्टत्वेन मेधा वस्तुरूपाऽवधारणशक्तिर्येषां ते दुर्मेधसः । विषयैर्जितेषु जन्तुषु, उत्त० ७ अ० ।

दुम्मोय-दुर्मोच-त्रि० । दुःक्षपणीये, विशे० ।

दुय-द्रुत-न० । शीघ्रे, स्था० ७ ठा० । नि० चू० । सं० । नाट्यभेदे, जं० ५ वक्ष० । आ० चू० । आ० म० । गेयदोषे,द्रुतं यत्त्वरितं गीयते, त्वरितगाने हि रागपूरितक्रस्याकिश्च न जवति । जं० १ वक्ष० । जी० । द्रवत्यूर्ध्वम्, द्रु-क्तः । वृक्षे, पुं० । शीघ्रगामिनि, द्रवीभूते, पलायिते च त्रि० । वाच० ।

दुयअ-द्विक-त्रि० । द्विपरिमाणे, भ० ८ श० १ उ० ।

द्विपद्-त्रि० । द्विपदे, " एवं दुयओ भंगो । " पृथिव्यप्कायप्रयोगपरिणतेष्विव द्विको द्विपरिमाणो, द्विपदो वा । भ० ८ श० १ उ० ।

दुयग्गा-देशी-द्वावपि वल्पती इत्यस्मिन्नर्थे, उत्त० । " बहुसो परितप्पंती दुयग्गा वि । " उत्त० १३ अ० ।

दुयचारित्त-द्रुतचारित्व-न० । असमाधिस्थानभेदे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

दुयट्ठाण-द्विकस्थान-न० । मूलगुणोत्तरगुणस्थाने, पं० चू० ।

दुयविलंबिय-द्रुतविलम्बित-न० । विलम्बितानिनये, रा० । आ० म० । छन्दोभेदे, वाच० ।

दुयसीलय-द्रुतशीलत्व-न० ।,अपर्यालोच्य संभ्रमाऽऽवेशाद् द्रुतं द्रुतं भाषणाऽऽदिषु, ध० । तथाहि-द्रुतशीलत्वं चाऽपर्यालोच्य संभ्रमाऽऽवेशाद् द्रुतं द्रुतं भाषणं तथा द्रुतं द्रुतं गमनं द्रुतं द्रुतं कार्यकरणं स्वजावस्थितेनाऽपि तीव्रोद्रेकवशाद्रूपेण स्फुटमिवेति च । ध० ३ अधि० ।

दुया-द्विता-स्त्री० । द्वयोर्भावे, षो० १६ विव० ।

दुयाह-द्विकाह-न० । दिनद्वये, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० ।

दुरयण-दुर्जन-पुं० । " जद्यर्यां यः " ॥ ८ । ४ । २६२ ॥ मागध्यां जद्यर्यां स्थाने यो भवतीति जस्य यः । प्रा० ४ पाद । दुष्टो जनो यस्मात्, यदाचरणेन साधुरपि दुष्यति । खले, वाच० ।

दुर-दुर्-अव्य० । अभावे, ध्य० २ उ० ।

दुरइक्कम-दुरतिक्रम-त्रि० । दुःखेनातिक्रमो लङ्घनं विनाशो येषां ते तथा । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । दुरतिलङ्घनीये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

दुरंत-दुरन्त-न० । दुष्टोऽन्तो विनाशः प्रान्तो वा यस्य तद् दुरन्तम् । दुर्विनाशे, दुष्प्रान्ते, सं० । आचा० । दुःखेनान्तः पर्यन्तो यस्य तद् दुरन्तम् । उत्त० ५ अ० । दुष्टपर्यन्ते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । दुरवसाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । विपाकदारुणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । "दुरंतपंतलक्खणो ।" दुरन्तानि दुष्टपर्यवसानानि प्रान्तान्यसुन्दराणि लक्षणानि यस्य स तथा । दशा० २ अ० । भ० ।

दुरंदर-देशी-दुःखोत्तीर्णे, दे० ना० ५ वर्ग ४६ गाथा ।

दुरणुचर-दुरनुचर-न० । स्था० ५ ठा० १ उ० । ('तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६२ पृष्ठे व्याख्या) दुःखाऽऽसेव्ये प्रवचने च । भ० १ श० ३३ उ० । ज्ञा० । दुःखेनानुचर्यते सेव्यते यः स तथा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । दुःखाऽऽसेव्ये संयमे,पञ्चा० १० विव० । मार्गे, संयमानुष्ठानविधौ च । पुं० । आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

दुरणुपालय-दुरनुपालक-पुं० । दुःखेनानुपालयत इति दुरनुपालकः, स एव दुरनुपालकः । दुःखानुपालनीये, उत्त० २३ अ० । पञ्चा० ।

दुरत्थ-दूरस्थ-त्रि० । ग्रामाऽऽदेर्बहिःस्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

दुरप्प (ण)-दुरात्मन्-पुं० । दुष्टाऽऽचारप्रवृत्ते आत्मनि, उत्त० २० अ० । ओघ० । आ० म० । प्रश्न० ।

दुरभि-दुरभि-पुं० । वैमुख्यकारिणि, अनु० ।

दुरभिगंध-दुरभिगन्ध-पुं० । दुरभिः सर्वेषामाभिमुख्येन दुष्टो गन्धो यस्यासौ दुरभिगन्धः । दुर्गन्धयुक्ते, औ० । ३ प्रति० २ उ० । आचा० ।

दुरभिगंधणाम-दुरभिगन्धनाम-न० । यदुदयात् शरीरेषु गन्धो दुरभिरुपजायते तद् दुरभिगन्धनाम । गन्धनामकर्मभेदे, कर्म० ६ कर्म० । पं० सं० ।

दुरभिगम-दुरभिगम-त्रि० । दुःखेनाभिगन्तव्ये, " तओ पच्छा अहेलोगे णं दुरभिगमे पण्णत्ते । " स्था० ३ ठा० ४ उ० । अथ इत्यधोलोकमभि समेत, एवं च सामर्थ्यात्प्रासमधोलोको दुरभिगमः, क्रमेण पर्यन्ताभिगम्यत्वादिति । स्था० ३ ठा० ४ उ० । दुरवबोधे च । स० १० अङ्ग ।

दुरवगाह-दुरवगाह-त्रि० । दुष्प्रवेशे, " स्वरेऽन्तरश्च " ॥ ८ । १ । १४ ॥ इति दुरन्त्यव्यञ्जनस्य स्वरपरे लुक् न । " दुरवगाहं ।" आव० १ अ० । दुष्प्रवेशो, विशे० । आ० म० । दुःखाध्येये च । स० १० अङ्ग ।

दुरस-द्विरस-न० । रसद्वये, तद्वति च । त्रि० । भ० १ श० ७ उ० । स्था० ।

दुराहि-दुरभि-पुं० । दुर्गन्धे, तं० ।

दुरहिगम-दुरभिगम-त्रि० । 'दुरभिगम' शब्दार्थे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

दुरहिट्ठिय-दुरधिष्ठित-त्रि० । दुराश्रये दुःसेवे, दश० ६ अ० ।

दुरहियास-दुरध्यास-त्रि० । सोढुमशक्ये दुर्विषहे, भ० १५ श० । दुरधिसह्ये, भ० ५ श० ६ उ० । उपा० । विपा० ।

दुरहियासय-दुरध्यासक-त्रि० । दुरधिसहनीये, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । सूत्र० ।

दुरहिसह-दुरधिसह-त्रि० । सोढुमशक्ये, स्था० ६ ठा० ।

दुराइ-द्विरात्र-न० । द्वयो रात्र्योः समाहारे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

दुराणुवत्त-दुरानुवर्त-त्रि० । दुःखेनानुवर्त्ये, व्य० ३ उ० ।

दुराराह-दुराराध-त्रि० । दुःखेनाऽऽराध्ये, कल्प० ३ अधि० ९ क्षण ।

दुरारोह-दुरारोह-त्रि० । दुःखेनाऽऽरुह्यतेऽध्यास्यत इति दुरारोहः । दुरध्यासे, उत्त० २३ अ० ।

दुरालोअ-देशी- तिमिरे, दे० ना० ५ वर्ग ४६ गाथा ।

दुरासय-दुराश्रय-त्रि० । दुःखेनाऽऽश्रीयत इति दुराश्रयः । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । दुःखेनाऽऽश्रयन्ति यमतिकोपनत्वाऽऽदिति दुराश्रयः । उत्त० पाइ० १ अ० । क्रूरे, उत्त० १ अ० ।

दुरासद-त्रि० । दुःखेनाऽऽसाद्यतेऽभिभूयते इति दुरासदम् । दुरभिभवे, दश० २ अ० । दुःसहे च । उत्त० २२ अ० ।

दुरितारि-दुरितारि-स्त्री० । श्रीसंभवजिनस्य प्रवचनदेव्याम्, प्रव० २७ द्वार ।

दुरिय-दुरित-न० । दुष्टमितं गमनं नरकाऽऽदिस्थानमनेनेति । वाच० । पापे, आतु० ।

दुरियारि-दुरितारि-स्त्री० । 'दुरितारि' शब्दार्थे, प्रव० २७ द्वार ।

दुरुक्त-दुरुक्त-न० । दुष्टमुक्तम् । दुष्टवचने, वाच० । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

दुरुत्तर-दुरुत्तर-त्रि० । "स्वरेऽन्तरश्च" ॥ ८ । १ । १४ ॥ इ-त्यन्त्यव्यञ्जनस्य स्वरे परे लुक् न । प्रा० १ पाद । दुःखेन उत्तीर्यते । दुर्-उत्-तॄ-खल् । दुस्तरे, दुष्टमुत्तरम् । प्रा० १ पाद । दुष्टे उत्तरे, न० । वाच० । दुर्लङ्घ्ये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । दुर्गमे च । त्रि० । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

दुरुत्तार-दुरुत्तार-त्रि० । दुःखेनोत्तरणीये, आव० ३ अ० ।

दुरुद्धर-दुरुद्धर-त्रि० । दुःखेनोद्धर्तुं शक्ये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

दुरुवचार-दुरुपचार-त्रि० । दुष्टे उपचारे, तद्वति च । 'दुरुवचाराओ ।' तं० । दुरुपचाराः- दुष्ट उपचार उपचाराश्रितवचनाऽऽदिविस्तारो यासां तास्तथा स्त्रियः । तं० ।

दुरुवणीय-दुरुपनीत-पुं० । दुष्टमुपनीतं निगमितमस्मिन्निति दुरुपनीतम् । उपन्यासहेतुभेदे, दश० १ अ० । स्था० ।

दुरुपनीतद्वारं व्याचिख्यासुराह-

अणिमिसगिण्हणभिक्खुग, दुरुवणीए उदाहरणं (८९)

अनिमिषा मत्स्याः, तद्ग्रहणे भिक्षुरुदाहरणम्, इदं च लौकिकम्, अनेन चोक्तन्यायाल्लोकोत्तरमप्याक्षिप्तं वेदितव्यमिति गाथादलाक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्- "किल कोइ तच्चणिओ जालवावडकरो मच्छगवहाए चलिओ । धुत्तेण भणइ-आयरिय ! अघणा ते कंथा । सो भणइ-जालमेतं ।" इत्यादि श्लोकादवसेयम्-

"कन्थाऽऽचार्याऽघना ते ननु शफरवधे जालमश्नासि मत्स्यान्,
ते मे मद्योपदंशाः पिबसि ननु युतं वेश्यया यासि वेश्याम् ।
कृत्वाऽरीणां गलेऽङ्घ्रिं क नु तव रिपवो येषु सन्धिं छिनद्मि,
चौरस्त्वं द्यूतहेतोः कितव इति कथं येन दासीसुतोऽस्मि ॥१॥"

इदं लौकिकम् । चरणकरणानुयोगे तु-

"इय सासणस्स वयणो, जायइ जेणं न तारिसं बूया ।
वादे वि बहइमिज्जइ, निगमणओ जेण तं चेव ॥ १ ॥"

उदाहरणदोषता पुनरस्य स्पष्टैवेति । दश० १ अ० ।

दुरुवयार-दुरुपचार-त्रि० । 'दुरुवचार' शब्दार्थे, तं० ।

दुरुव्वूहत्त-दुरुद्वहक-पुं० । दुःखेनोद्वहने, व्य० १ उ० ।

दुरुहमाण-दूरोहत्-त्रि० । दुष्टमारोहति, "सेज्जासंथारए दुरुहमाणे ।" आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० । "से भिक्खू वा भिक्खुणी वा णावं दुरुहमाणे ।" आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० ।

दुरुहियास-दुरध्यास-त्रि० । दुःखेनाधिसह्ये, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । जं० ।

दुरूढ-दूरूढ-त्रि० । आरूढे, स्था० ६ ठा० । जं० ।

दुरूव-दूरूप-त्रि० । दुष्टं रूपं यस्य स दूरूपः । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । बीभत्सदेहे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । विरूपे, आ० १ श्रु० १ अ० । "एगे दुरूवे ।" अमनोज्ञरूपे, स्था० १ ठा० । दुःस्वभावे च । भ० ७ श० ६ उ० । "दुरूवे दुवण्णे ।" भ० १ श० ८ उ० । स्था० ।

दुरूवनाय-दूरूपनाक-पुं० । दूरूपताहेतुतया परिणमति दूरूपतां करोतीत्यर्थे, भ० ७ श० १० उ० ।

दुरूवभक्खि (ण्)-दूरूपभक्षिन्-पुं० । अशुच्यादिभक्षके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

दुरूहण-दूरोहण-न० । आरोहणे, नि० चू० १२ उ० ।

दुरूहित्तु-दूरुह्य-अव्य० । समारुह्येत्यर्थे, समारोप्येत्यर्थे च । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

दुरूहिय-दूरुह्य-अव्य० । आरुह्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

दुरेह-द्विरेफ-पुं० । "द्विन्योरुत्" ॥ ८ । १ । ९४ ॥ इतीत उत्वम् । 'दुरेहो ।' प्रा० १ पाद । द्वौ रेफौ वाचकनाम्नि यस्य सः । भ्रमरे, तच्छब्दस्य रेफद्वयवत्त्वेन तद्वाच्यमधुकरपदार्थेऽपि द्विरेफत्वम् । वाच० ।

दुली-देशी-कूर्मे, दे० ना० ५ वर्ग ४२ गाथा ।

दुल्ल-देशी-वस्त्रे, दे० ना० ५ वर्ग ४१ गाथा ।

दुल्लग-देशी-अघटमाने, दे० ना० ५ वर्ग ४३ गाथा ।

दुल्लज-दुर्लज-पुं० । दुर्-लस्ज-खल् । कर्चूरे, दुरालभायाम्, श्वेतकण्टकार्यां च । स्त्री० । वाच० । दुरापे, त्रि० । प्रश्न० ३

आव० ४ द्वार । पञ्चा० । दश० । उत्त० । सूत्र० । आ०म० । आ० चू० । आतु० । आचा० । प्र० । " जीवियं नयइ, दुल्लहयं ब- यइ, दुक्करं करेइ, दुल्लहं लहइ, बोहिं बुज्झइ ।" (इत्यादिकाऽस्य ' आउ ' शब्दे द्वितीयभागे १३ पृष्ठे द्रष्टव्या) शतपाकसहस्र- पाकाऽऽदिद्रव्ये, नि० चू० १ उ० ।

दुल्लभदव्वागाढ–दुर्लभद्रव्यागाढ–पुं० । दुर्लभद्रव्यालाभेऽ- नागाढे, "सतपागसहस्सपागं वयं तेल्लं तेण साहुणो कज्जं, त- म्मि अलब्भंते दुल्लभदव्वागाढं ।" नि० चू० ११ उ० ।

दुल्लभबोहिय–दुर्लभबोधिक–पुं० । दुर्लभा बोधिर्भवान्तरे जि- नधर्मप्राप्तिर्यस्यासौ दुर्लभबोधिकः । भवान्तरे दुरापजिनध- र्मके, प्रति० । स्था० ('सुलभबोहिय' शब्दे वर्णकोऽस्य वक्ष्यते)

परिवारपूयहेऊ, पासत्थाणं च आणुवत्तीए ।

जो न कहेइ विसुद्धं, तं दुल्लहबोहियं जाण ॥२८॥

परिवार आत्मव्यतिरिक्तः,ततः परिवारेण पूजा, परिवारस्य वा पूजा परिवारपूजा। अथवा-परिवारपूजा हस्वप्रीतिप्रभवा,तस्या हेतुर्निमित्तमिति। पार्श्वः सम्यक्त्वं,तस्मिन् ज्ञानाऽऽदिपार्श्वे तिष्ठ- न्तीति पार्श्वस्थाः,तेषामनुवृत्तिरनुवर्त्तनं,तथा,यो न कथयति न प्रकाशयति, विशुद्धं सर्वविशुद्धं सर्वविदुपदिष्टं यथावस्थितं मु- क्तिमार्गं,तमाचार्यं साधुं वा दुर्लभबोधिकं जानीहि। अयमत्र भा- वार्थः-यो हि मनोज्ञसंविग्नोऽपि परिवारापेक्षया सम्यक्त्वसा- ध्वाचारं न कथयति, अयमन्यथा प्रवृत्तः सम्यक्कथनेन प्रकटो भविष्यति,ततोऽयं मयि सरोषो भविष्यति,ततः शारीराऽऽहारादि- नि न करिष्यति,पूजा वा न भविष्यतीति हेतोः,पार्श्वस्थानुवृत्त्या वा यदुत मामेते सम्यक् कथयतः प्रकोपं यास्यन्त्यतो वरमा- त्मनाऽप्येकं कृतमिति; एते चानुवर्णिता भवन्त्विति स्वबुद्ध्या सुन्दरमपि विदधानाः संसारसागरे निपतन्ति ।

यत उक्तम्-

" जिणाणाए कुणंताणं, नूणं निव्वाणकारणं ।

सुंदरं पि सबुद्धीए, सव्वं भवनिबंधणं ॥

जे मयमारंभरया, ते जीवा हुंति अप्पदोसयरा ।

जह महपावयरा, जे आरंभं पसंसंति ॥ "

यत एवमतः परमाऽऽराध्यकालिकसूरिभिरिव प्राणप्रहाणेऽपि परानुवृत्त्याऽपि नैवान्यथा ज्ञापणीयमिति गाथार्थः ॥ २८ ॥ दर्श० ३ तत्त्व ।

दुल्लभबोहियता–दुर्लभबोधिकता–स्त्री० । दुर्लभा बोधिर्जिनध- र्मो यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता । दुर्लभजिनधर्मतायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ० । प्रति० । रा० । (पञ्चभिः कारणैर्दु- र्लभबोधिकताकर्म करोतीत्युक्तम् ' अवण्णवाय ' शब्दे प्रथ- मभागे ७०२ पृष्ठे)

दुल्ललिय–दुर्ललित–न० । दुर्-' लल ' ईप्सायाम्, भावे क्तः । वाच० । दुष्टेच्छायाम्, दुर्लभवस्तुवाञ्छायाम्, महा० ६ अ० ।

दुल्लसिआ–देशी–दास्याम्, दे० ना० ५ वर्ग ४६ गाथा ।

दुल्लह–दुर्लभ–त्रि० । ' दुल्लभ ' शब्दार्थे,प्रश्न० ३आश्र०द्वार ।

दुल्लहबोहिय–दुर्लभबोधिक–पुं० । ' दुल्लभबोहिय ' शब्दार्थे, प्रति० ।

दुल्लहसेज्जा–दुर्लभशय्या–स्त्री० । असुलभवसतौ, पञ्चा० १७ विव० । नि० चू० ।

दुवअण–द्विवचन–न० । " द्विन्योरुत् " ॥ ८ । १ । ९४ ॥ इति द्विशब्देकारस्योकारः । " दुवअणं ।" प्रा०१ पाद । उच्यतेऽने- नोक्तिर्वेति वचनम् । द्वयोरर्थयोर्वचनं द्विवचनम् । स्था० ३ ठा० १ उ० । व्याकरणोक्ते औतस्प्रभृतिप्रत्यये, वाच० । वस्तुद्व- यप्रतिपादके वचने च । यथा वृक्षौ । आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० । आ० म० । प्रज्ञा० ।

दुवई–द्रौपदी–स्त्री० । द्रुपदराजदुहितरि, ज्ञा० ।

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं नयरी होत्था । तीसे णं चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुर- च्छिमे दिसीभाए सुभूमिभागे णामं उज्जाणे होत्था । तत्थ णं चंपाए णयरीए कोणिए णामं राया होत्था । महया हिमवंतवण्णओ । तत्थ णं चंपाए णयरीए तओ माहणा भायरो परिवसंति । तं जहा-सोमे १, सोमदत्ते २, सो- मभूई ३, अड्डा ०जाव रिउव्वेय ४ ०जाव सुपरिणिट्ठिए यावि होत्था । तेसि णं माहणाणं तओ भारियाओ हो- त्था । तं जहा-नागसिरी, भूतसिरी, जक्खसिरी, सुकु- मालपाणिपाया०जाव तेसिं णं माहणाणं इट्ठा कंता पिया मणुण्णा मणामा विउले माणुस्सए कामभोए० जाव विह- रंति । तए णं तेसिं माहणाणं अन्नया कयाइं एगयओ स- मुवागयाणं०जाव इमेयारूवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्पज्जि- त्था-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमे विउले धण०जाव सावएज्जे अलाहि० जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पकामं दाउं पकामं भोत्तुं पकामं परिभाएउं, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! अन्नमन्नस्स गिहेसु कल्लाकल्लिं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेउं, उवक्खडावेत्ता परिभुंजेमाणा विहरित्तए अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता कल्लाकल्लिं अन्नमन्नस्स गिहेसु विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेंति, उवक्खडावेत्ता परि- भुंजमाणा विहरंति । तए णं तीसे णागसिरीए माहणीए अन्नया कयाइं भोयणवारए जाए यावि होत्था । तए णं सा णागसिरी विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्ख- डेति,उवक्खडेत्ता एगं महं सालइयं तित्तालाउयं बहुसं- भारसंजुत्तं णेहावगाढं उवक्खडावेति, उवक्खडावेत्ता एगं बिंदुयं करयलंसि आसाएति, तं खारं कडुयं अखज्जं वि- सभूयं जाणित्ता एवं वयासी-धिरत्थु णं मम णागसिरीए अहन्नाए अपुन्नाए दूभगाए दूभगसत्ताए दूभगनिंबो- लियाए, तं जाए णं मए सालइए बहुसंभारसंभिए नेहाव- गाढे उवक्खडिए सुबहुदव्वक्खए य नेहक्खए य कए, तं जइ णं मम जाउयाओ जाणिस्संति, ताओ णं मम खिंसिस्संति, तं जाव ममं जाउया न जाणंति ताव ममं सेयं एयं साल- इयं तित्तालाउयं बहुसंभारनेहकयं एगंते गोवित्तए अन्नं

सालइयं महुरालाउयं० जाव नेहावगाढं उवक्खडियए एवं संपेहेति, संपेहेत्ता तं सालइयं० जाव गोवेति, गोवेत्ता अण्णं सालइयं महुरालाउयं उवक्खडेंति, उवक्खडेत्ता तेसिं माहणाणं एहायाणं० जाव सुहासणवरगयाणं तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं परिवेसेइ । तए णं ते माहणा जिमियभुत्तुत्तरागया समाणा आयंता चोक्खा परमसुइभूया सकम्मसंपउत्ता जाया यावि होत्था । तए णं ताओ माहणीओ एहायाओ०जाव विभूसियाओ तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आहारेंति, आहारेत्ता जेणेव सयाइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सकम्मसंपउत्ताओ जायाओ । तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा नामं थेरा० जाव बहुपरिवारा जेणेव चंपा णामं णगरी जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं० जाव विहरंति । परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया । तए णं तेसिं धम्मघोसाणं थेराणं अंतेवासी धम्मरुई नामं अणगारे उराले० जाव तेयलेस्से मासं मासेणं खममाणे विहरइ । तए णं से धम्मरुई णामं अणगारे मासक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, बीयाए पोरिसीए झाणं झियाइ, तइयाए पोरिसीए जहा गोयमसामी तहेव ओगाहेइ, ओगाहेत्ता तहेव धम्मघोसं थेरं आपुच्छति, आपुच्छित्ता० जाव जेणेव चंपा नयरी उच्चनीचमज्झिमाइं कुलाइं० जाव अडमाणे जेणेव नागसिरीए माहणीए गिहे, तेणेव अणुप्पविट्ठे । तए णं सा णागसिरी धम्मरुईणामं अणगारं एज्जमाणं पासति, पासित्ता तस्स सालइयस्स तित्तकडुयस्स बहुनेहाए पडिणिट्ठियाए हट्ठतुट्ठा उट्ठाए उट्ठेति, जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तं सालइयं तित्तालाउयं बहुणेहावगाढं धम्मरुइस्स अणगारस्स पडिग्गहए सव्वमेव निस्सरति । तए णं से धम्मरुई अणगारे अहापज्जत्तमिति कट्टु नागसिरीए माहणीए गिहाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता चंपाए नयरीए मज्झं मज्झेणं पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जेणेव धम्मघोसा थेरा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धम्मघोसस्स अदूरसामंते इरियावहियं पडिक्कमइ, पडिक्कमित्ता असणपाणं पडिलेहेइ, पडिलेहेइत्ता असणपाणं करयलंसि पडिदंसेति । तए णं ते धम्मघोसा थेरा तस्स सालइयस्स बहुनेहावगाढस्स गंधेणं अभिभूया समाणा ताओ सालइयाओ णेहावगाढाओ एगं बिंदुगं गहाय करयलंसि आसायंति, तित्तगं खारं कडुयं अखज्जं अभोज्जं विसभूयं जाणित्ता धम्मरुइं अणगारं एवं वयासी–जइ णं तुमं देवाणुप्पिया ! एयं सालइयं० जाव बहुणेहावगाढं आहारेइ, तेणं तुमं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि, तं मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! इमं सालइयं० जाव आहारेसि, मा णं तुमं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि, तं गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! इमं सालइयं एगंतमणावाए अचित्ते थंडिले परिट्ठवेह, परिट्ठवेत्ता अण्णं फासुयं एसणिज्जं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिग्गाहेत्ता आहारं आहारेहि । तए णं से धम्मरुई अणगारे धम्मघोसाणं थेराणं एवं वुत्ते समाणे धम्मघोसस्स थेरस्स अंतियाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता सुभूमिभागाओ उज्जाणाओ अदूरसामंते थंडिल्ले पडिलेहेति, पडिलेहेत्ता ततो सालइयाओ एगं बिंदुगं गहाय थंडिलंसि णिस्सरइ । तए णं तस्स सालइयस्स तित्तालाउयस्स बहुनेहावगाढस्स गंधेणं बहूणि पिपीलिगासहस्साणि पाउब्भूया, जं जहा णं पिपीलिया आहारेति, तं तहा अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जइ । तए णं तस्स धम्मरुइस्स अणगारस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था–जइ ताव इमस्स सालइयस्स० जाव एगम्मि बिंदुयम्मि पक्खित्तम्मि अणेगाइं पिपीलियासहस्साइं ववरोविज्जंति, तं जइ णं अहं एयं सालइयं थंडिलंसि सव्वं णिसिरामि तए णं बहूणं पाणाणं बहूणं भूयाणं बहूणं सत्ताणं बहूणं जीवाणं वहकरणं भविस्सति, तं सेयं खलु ममं तं सालइयं० जाव नेहावगाढं सयमेव आहारेत्तए, ममं चेव एएणं सरीरएणं णिज्जाउ त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता मुहपोत्तियं पडिलेहेति, पडिलेहेत्ता ससीसोवरियं कायं पमज्जेइ, पमज्जेत्ता तं सालइयं तित्तकडुयं बहुणेहावगाढं बिलमिव पण्णगभूएणं अप्पाणेणं सव्वं सरीरकोट्ठगंसि पक्खिवति । तए णं तस्स धम्मरुइस्स तं सालइयं० जाव णेहावगाढं आहारियस्स समाणस्स मुहुत्तंतरेणं परिणममाणंसि सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूया उज्जला० जाव दुरहियासा, तए णं धम्मरुई अणगारे अथामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे अधारणिज्जमिति कट्टु आयारभंडगं एगंते ठवेइ, ठवेत्ता थंडिल्लं पडिलेहेइ, पडिलेहेत्ता दब्भसंथारगं संथरेइ, संथरेत्ता दब्भसंथारगं दुरूहति, दुरूहित्ता पुरत्थाभिमुहे संपलियंकणिसण्णे करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी–"णमोऽत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं० जाव संपत्ताणं, णमोऽत्थु णं धम्मघोसाणं थेराणं मम धम्मायरियाणं मम धम्मोवएसगाणं पुव्विं पि य णं मए धम्मघोसाणं थेराणं अंतिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए० जाव सव्वे परिग्गहे, इयाणिं पि णं अहं तेसिं चेव भगवंताणं

अंतियं सव्वं पाणातिवायं पच्चक्खामि० जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि जावज्जीवाए जहा खंदओ० जाव चरिमेहिं ऊसासेहिं वोसिरामि" त्ति कट्टु आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालगए। तए णं ते धम्मघोसा थेरा धम्मरुइं अणगारं चिरगयं जाणेत्ता समणे निग्गंथे सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! धम्मरुई णामं अणगारे मासक्खमणपारणगंसि सालइयस्स० जाव गाढस्स निसिरणट्ठयाए बहिया णिग्गए चिरगए, तं गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! धम्मरुइस्स अणगारस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेह। तए णं ते समणा निग्गंथा० जाव पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता धम्मघोसाणं थेराणं अंतियाओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमइत्ता धम्मरुइस्स अणगारस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणा जेणेव थंडिले तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता धम्मरुइस्स अणगारस्स सरीरगं णिप्पाणं णिच्चेट्ठं जीवियाओ विप्पजढं पासंति, पासइत्ता हा हा अहो अकज्जमिति कट्टु धम्मरुइस्स अणगारस्स परिनिव्वाणवत्तियं काउस्सग्गं करेंति, धम्मरुइस्स अणगारस्स आयारभंडगं गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव धम्मघोसा थेरा तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता गमणागमणाए पडिक्कमंति, पडिक्कमइत्ता एवं वयासी-एवं खलु अम्हे तुम्हं अंतियाओ पडिणिक्खमाणा सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स परिपेरंते णं धम्मरुइस्स अणगारस्स सव्वं० जाव करेमाणा जेणेव थंडिल्ले तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ०जाव इहं हव्वमागया, तं कालगए णं भंते! धम्मरुई अणगारे, इमासे आयारभंडए। तए णं ते धम्मघोसा थेरा पुव्वगए उवओगं गच्छंति, उवओगं गच्छित्ता समणे णिग्गंथे णिग्गंथीओ य सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु अज्जो! मम अंतेवासी धम्मरुई णामं अणगारे पगइभद्दए ०जाव विणीए मासं मासेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं० जाव णागसिरीए माहणीए गिहं अणुप्पविट्ठे। तए णं सा णागसिरी माहणी० जाव णिसिरइ। तए णं से धम्मरुई णामं अणगारे अहापज्जत्तमिति कट्टु० जाव कालं अणवकंखमाणे विहरति, से णं धम्मरुई णामं अणगारे बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा उड्ढं सोहम्मे० जाव सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववण्णे। तत्थ णं अजहण्णमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं धम्मरुइस्स वि तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता। से णं धम्मरुई देवे ताओ देवलोगाओ० जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति, बुज्झिहिति० जाव अंतं काहिति। तं धिरत्थु णं अज्जो! णागसिरीए माहणीए अधण्णाए अपुण्णाए० जाव निंबोलियाए जाए णं तहारूवे साहूणं साहुरूवे धम्मरुई णामं अणगारे मासक्खमणपारणगंसि सालइएणं० जाव णेहावगाढेणं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविए। तए णं ते समणा निग्गंथा धम्मघोसाणं थेराणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म चंपाए णयरीए सिंघाडगतिग० जाव बहुजणस्स एवमाइक्खंति० ४ धिरत्थु णं देवाणुप्पिया! णागसिरीए माहणीए० जाव निंबोलियाए, जाए णं तहारूवे साहूणं साहुरूवे सालइएणं जीवियाओ ववरोवेति। तए णं तेसिं समणाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खंति० ४ धिरत्थु णं णागसिरीए माहणीए० जाव ववरोविए। तए णं ते माहणा चंपाए नयरीए बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ता० जाव मिसमिसेमाणा जेणेव णागसिरी माहणी, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता णागसिरिं माहणिं एवं वयासी-हं भो णागसिरी! अपत्थियपत्थिए दुरंतपंतलक्खणे हीणपुण्णचाउद्दसे धिरत्थु णं तव अधण्णाए अपुण्णाए निंबोलियाए० जाव णं तुमं तहारूवे साहूणं साहुरूवे मासक्खमणपारणगंसि सालइएणं० जाव ववरोविए, उच्चावयाहिं अक्कोसणाहिं अक्कोसंति, उच्चावयाहिं उद्धंसणाहिं उद्धंसेंति, उच्चावयाहिं निब्भत्थणाहिं निब्भत्थेंति, उच्चावयाहिं निच्छूहणाहिं निच्छूहेंति, उच्चावयाहिं निच्छोडणाहिं निच्छोडेंति, तज्जेंति, तालेंति, तज्जित्ता तालित्ता साओ गिहाओ निब्भच्छेंति। तए णं सा नागसिरी माहणी सयाओ गिहाओ निच्छूढा समाणी चंपाए नगरीए सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहेसु बहुजणेणं हीलिज्जमाणी खिंसिज्जमाणी निंदिज्जमाणी गरहिज्जमाणी तज्जिज्जमाणी तालिज्जमाणी पव्वहिज्जमाणी धिक्कारिज्जमाणी थुक्कारिज्जमाणी कत्थइ वि ठाणं वा निलयं वा अलभमाणी दंडिखंडनिवसणा खंडमल्लयखंडघडगहत्थगया फुट्टहडाहडसीसा मच्छियाचडगरेणं अन्निज्जमाणा० जाव गेहे गेहे णं देहंबलियाए वित्तिं कप्पेमाणी विहरति। तए णं तीसे नागसिरीए माहणीए तब्भवंसि चेव सोलस रोगायंका पाउब्भूया। तं जहा-"सासे १ खासे २ जरे ३ दाहे ४, कुच्छिसूले ५ भगंदरे ६। अरसा ७ जोणिसूले ८ ०जाव कोढे १६।" तए णं सा नागसिरी माहणी सोलसहिं रोगायंकेहिं अभिभूया समाणी अट्टदुहट्टवसट्टा कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमट्ठितीए नेरइयत्ताए उववण्णा। सा णं तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता मच्छेसु उववण्णा। तत्थ णं सत्थवज्झा दाहवक्कंतीए कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमाए पुढवीए उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिईए

नेरइयत्ताए उववन्ना। सा णं तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता दोच्चं पि मच्छेसु उववज्जति। तत्थ वि य णं सत्थवज्झा दाहवक्कंतीए दोच्चं पि अहे सत्तमाए पुढवीए उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिइएसु नेरइएसु उववज्जति। सा णं तओहिंतो० जाव उव्वट्टित्ता तच्चं पि मच्छेसु उववन्ना। तत्थ वि य णं सत्थवज्झा० जाव कालमासे कालं किच्चा दोच्चं पि छट्ठाए पुढवीए उक्कोसेणं, तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता उरगेसु, एवं जहा गोसालो पुढवीसु तहा नेयव्वं० जाव रयणप्पभाओ सत्तसु उववन्ना, तओ उव्वट्टित्ता सण्णीसु उववन्ना, तओ उव्वट्टित्ता जाइं इमाइं खहयरविहाणाइं० जाव अदुत्तरं च णं खरबायरपुढविकाइयत्ताएसु अणेगसयसहस्सखुत्तो, सा णं तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे चंपाए नयरीए सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स भद्दाए भारियाए कुच्छिंसि दारियत्ताए पयाया।

इदं सर्वं सुगमम्। नवरं (सालइयं ति) शारदिकं, सारेण वा रसेन चितं युक्तम्-सारचितम्, (तित्तालाउयं ति) कटुकतुम्बकम्, (बहुसंभारसंजुत्तं) बहुभिः संभारद्रव्यैरुपरि प्रक्षेपद्रव्यैस्त्वगेलाप्रभृतिभिः संयुक्तं यत्तत्तथा, स्नेहावगाढं स्नेहव्याप्तम्। (दूभगसत्ताए त्ति) दुर्भगः सत्त्वः प्राणी यस्याः सा तथा। (दूभगनिंबोलियाए त्ति) निम्बगुलिकेव निम्बफलमिव अत्यनादेयत्वसाधर्म्याद् दुर्भगानां मध्ये निम्बगुलिका दुर्भगनिम्बगुलिका। अथवा-दुर्भगानां मध्ये निम्बोलिता निमज्जिता दुर्भगनिम्बोलिता. (जाउयाउ त्ति) देवराणां जाया भार्या इत्यर्थः। (बिलमिवेत्यादि) बिले इव रन्ध्रे इव पन्नगभूतेन सर्पकल्पेन आत्मना करणभूतेन सर्वं तदलाबु शरीरकोष्ठकेन प्रक्षिपति। यथा किल बिले सर्प आत्मानं प्रक्षिपति प्रवेशयति पार्श्वान् असंस्पृशन्, एवमसौ वदनकन्दरपार्श्वान् असंस्पृशन्नाहारेण तद्संचारणतस्तदलाबु जठरबिले प्रवेशितवानिति भावः। (गमणागमणाए पडिक्कमंति त्ति) गमनागमनामीर्यापथिकीम्, (उच्चावयाहिं ति) असमञ्जसाभिः (अक्कोसणाहिं ति) मृताऽसि त्वमित्यादिभिर्वचनैः (उद्धंसणाहिं ति) दुष्कुलीनेत्यादिभिः कुलाऽऽद्यभिमानपातनार्थैः (निब्भच्छणाहिं ति) निःसराऽस्मद्गेहादित्यादिभिः (निच्छोडणाहिं ति) त्यजाऽस्मदीयं वस्त्राऽऽदीत्यादिभिः (तज्जेंति त्ति) ज्ञास्यसि पापे! इत्यादिभणनतः। (तालिंति त्ति) चपेटाऽऽदिभिः। हील्यमाना जात्युद्घट्टनेन, खिंस्यमाना परोक्षकुत्सनेन, निन्द्यमाना मनसा जनेन, गर्ह्यमाणा तत्समक्षमेव, तर्ज्यमाना अङ्गुलीचालनेन ज्ञास्यसि पापे! इत्यादिभणनतः। प्रव्यथ्यमाना यष्ट्यादिताडनेन, धिक्क्रियमाणा धिक्शब्दविषयीक्रियमाणा, एवं थूत्क्रियमाणा, दण्डि कृतसंधानं जीर्णवस्त्रं, तस्य खण्डं निवसनं परिधानं यस्याः सा तथा, खण्डमल्लकं खण्डशरावं भिक्षाभाजनं, खण्डघटकं च पानीयभाजनं, तौ हस्तयोर्गतौ यस्याः सा तथा। (फुट्ट त्ति) स्फुटितं स्फुटितकेशसंचयत्वेन विकीर्णकेशं। (हडाहडं ति) अत्यर्थं, शीर्षं शिरो यस्याः सा तथा। मक्षिकाचटकरेण मक्षिकासमुदायेन, अन्वीयमानमार्गा अनुगम्यमानमार्गा, मलाविलं हि वस्तु मक्षिकाभिर्वेष्ट्यत एवेति। देहबलिमित्येतद्व्याख्यानं देहबलिका, तया, अनुस्वारो नैपातिकः। (सत्थवज्झ त्ति) शस्त्रवध्या, जानेति गम्यते। (दाहवक्कंतीए त्ति) दाहव्युत्क्रान्त्या दाहोत्पत्त्या, "खहयरविहाणाइं० जाव अदुत्तरं च" इत्यत्र गोशालकाध्ययनसमानं सूत्रं तत एव दृश्यं, बहुत्वात्तु न लिखितम्।

तए णं सा भद्दा सत्थवाही नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं० जाव दारियं पयाया सुकुमालकोमलियगयतालुयसमाणा, तीसे णं दारियाए निव्वत्ताए बारसाहियाए अम्मापियरो इमं एयारूवं गोणं गुणनिप्फन्नं नामधेज्जं करेंति-जम्हा णं एसा दारिया सुकुमालगयतालुयसमाणा, तं होउणं अम्हं इमीसे दारियाए नामधेज्जं सुकुमालिया। तए णं तीसे दारियाए अम्मापियरो णामधेज्जं करेंति सुकुमालिय त्ति। तए णं सा सुकुमालिया दारिया पंचधाईपरिग्गहिया। तं जहा-खीरधाईए, मज्जणधाईए, मंडणधाईए, अंकधाईए, कीलावणधाईए, गिरिकंदरमल्लीणा इव चंपगलया णिव्वाया निव्वाघायंसि० जाव परिवड्ढइ। तए णं सा सुकुमालिया दारिया उम्मुक्कबालभावा रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा जाया आवि होत्था। तत्थ णं चंपाए णयरीए जिणदत्ते णामं सत्थवाहे परिवसइ अड्ढे। तस्स णं जिणदत्तस्स भद्दा भारिया सुकुमाला इट्ठा० जाव माणुस्सए कामभोगे पच्चणुब्भवमाणा विहरति। तस्स णं जिणदत्तस्स पुत्ते भद्दाए भारियाए अत्तए सागरए णामं दारए सुकुमाले० जाव सुरूवे। तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे अण्णया कयाइ सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स अदूरसामंतेणं वीतीवयति, इमं च णं सुकुमालिया दारिया ण्हाया चेडियासंपरिवुडा उप्पिं आगासतलगंसि कणगमयतेंदूसएणं कीलमाणी कीलमाणी विहरति। तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे सुकुमालियं दारियं पासइ, पासइत्ता सुकुमालियाए दारियाए रूवेण य जायविम्हए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया! कस्स दारिया, किं णामधेज्जं?। तए णं से कोडुंबियपुरिसा जिणदत्तेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा करयल० जाव एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया! सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स धूया भद्दाए अत्तए सुकुमालिया णामं दारिया सुकुमालपाणि० जाव उक्किट्ठा। तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे तेसिं कोडुंबियाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ण्हाए मित्तणातिसद्धिं संपरिवुडे चंपाए णयरीए मज्झं मज्झेणं जेणेव सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स गिहे तेणेव उवागए। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे जिणदत्तं सत्थवाहं

एज्जमाणं पासति, पासइत्ता आसणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठेत्ता आसणेणं उवनिमंतेति, उवनिमंतेत्ता आसत्थं वीसत्थं सुहासणवरगयं जिणदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी–भण देवाणुप्पिया ! किमागमणप्पओयणं ? । तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे सागरदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी–एवं खलु अहं देवाणुप्पिया ! तव धूयं भद्दाए अत्तयं सुकुमालियं सागरदत्तस्स भारियत्ताए वरेमि, जइ णं जाणह देवाणुप्पिया ! जुत्तं वा पत्तं वा सलाहणिज्जं वा सरिसो वा संजोगो, तो दिज्जउ णं सुकुमालिया दारिया सागरस्स दारगस्स, तए णं देवाणुप्पिया ! भण किं दलयामो सुकं सुकुमालियाए ? । तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे जिणदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! सुकुमालिया दारिया एगा जाया इट्ठा० ५ जाव किमंग ! पुण पासणयाए, तं नो खलु अहं इच्छामि सुकुमालियाए दारियाए खणमवि विप्पओगं, तं जइ णं देवाणुप्पिया ! सागरए दारए मम घरजामाउए भवइ, तो णं अहं सागरस्स दारगस्स सुकुमालियं दारियं दलयामि ? । तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे सागरदत्तेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ते समाणे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सागरं दारयं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–एवं खलु पुत्ता ! सागरदत्ते सत्थवाहे ममं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! सुकुमालिया दारिया इट्ठा ५, तं जइ णं सागरए दारए ममं घरजामाउए भवति० जाव दलयामि । तए णं से सागरए दारए जिणदत्तेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे अण्णया कयाइ सोहणंसि तिहिकरणे विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेति, उवक्खडावेत्ता मित्तनाइं आमंतेति, आमंतेत्ता सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता सागरं दारयं ण्हायं० जाव सव्वालंकारविभूसियं करेति, करेत्ता पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरूहावेति, दुरूहावेत्ता मित्तनाइ० जाव परिवुडे सव्विड्ढीए साओ गिहाओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता चंपा नगरिं जेणेव सागरदत्तस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सीयाओ पच्चोरुहति, पच्चोरुहेत्ता सागरं दारगं सागरदत्तस्स उवणेइ । तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेत्ता० जाव सम्माणेत्ता सागरं दारगं सुकुमालियाए दारियाए सद्धिं पट्टयं दुरूहावेति, दुरूहावेत्ता सेयापीतएहिं कलसेहिं मज्जावेति, मज्जावेत्ता होमं करावेति, करावेत्ता सागरदत्तं दारगं सुकुमालियाए दारियाए पाणिं गिण्हावेइ । तए णं सागरए दारए सुकुमालियाए दारियाए इमं एयारूवं पाणिफासं पडिसंवेदेति–से जहाणामए असिपत्तेइ वा० जाव मुम्मुरेइ वा, एत्तो अणिट्ठतराए चेव पाणिफासं संवेदेति । तए णं से सागरदारए अकामए अवसवसे मुहुत्तमेत्तं संचिट्ठति । तए णं सागरदत्ते सत्थवाहे सागरस्स दारयस्स अम्मापियरो मित्तणाइं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं पुप्फवत्थ० जाव सम्माणेत्ता पडिविसज्जेइ । तए णं सागरए दारए सुकुमालियाए सद्धिं जेणेव वासघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छेत्ता सुकुमालियाए दारियाए सद्धिं तलिमंसि निवज्जइ । तए णं से सागरए दारए सुकुमालियाए दारियाए इमं एयारूवं अंगफासं संवेदेति–से जहाणामए असिपत्तेइ वा० जाव अमणामतराए चेव अंगफासं पच्चणुब्भवमाणे विहरति । तए णं से सागरदारए अंगफासं असहमाणे अवसवसे मुहुत्तमेत्तं संचिट्ठति । तए णं सागरए दारए सुकुमालियं सुहपसुत्तं जाणेत्ता सुकुमालियाए दारियाए पासाओ उट्ठेति, उट्ठेत्ता जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सयणीयंसि निवज्जइ । तए णं सुकुमालिया दारिया तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धा समाणी पतिव्वया पतिमणुरत्ता पतिं पासे अपासमाणी तलिमाओ उट्ठेति, उट्ठेत्ता जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सागरस्स दारगस्स पासे णिवज्जति । तए णं से सागरए दारए सुकुमालियाए दारियाए दोच्चं पि इमं एयारूवं अंगफासं पडिसंवेदेति–से जहाणामए असिपत्तेइ वा० जाव अमणामतराए चेव अंगफासं पच्चणुब्भवमाणे विहरइ । तए णं सागरए दारए तं अंगफासं असहमाणे अकाममाणे अवसवसे मुहुत्तमेत्तं संचिट्ठति । तए णं सागरए दारए सुकुमालियं दारियं सुहपसुत्तं जाणेत्ता सयणिज्जाओ उट्ठेति, उट्ठेत्ता वासघरस्स दारं विहाडेति, विहाडेत्ता मारामुक्के विव काकए जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए । तए णं सुकुमालिया दारिया तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धा पतिव्वया० जाव अपासमाणी सयणिज्जाओ उट्ठेति, उट्ठेत्ता सागरस्स दारयस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणी करेमाणी वासघरस्स दारं विहाडियं पासति, पासेत्ता एवं वयासी–गए णं से सागरए दारए त्ति कट्टु ओहयमणसंकप्पा० जाव झियायति । तए णं सा भद्दा सत्थवाही कल्लं पाउ० दासचेडिं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! बहूवरस्स मुहधोवणियं उवणेहि । तए णं सा दासचेडी भद्दाए सत्थवाहीए एवं वुत्ता समाणी एयमट्ठं तह त्ति पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता मुह-

धोवणियं गिराहेइ, गिराहेत्ता जेणेव वासघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुकुमालियं दारियं० जाव झियायमाणिं पासेति, पासेत्ता एवं वयासी–किं णं तुमं देवाणुप्पिए ! ओहयमण०जाव झियाहि ?। तए णं सा सुकुमालिया दारिया तं दासचेडियं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! सागरए दारए ममं सुहपसुत्तं जाणित्ता मम पासाओ उट्ठेति, उट्ठेत्ता वासघरदुवारं अवगुणेति, अवगुणेत्ता० जाव पडिगए. तए णं अहं मुहुत्तंतरस्स० जाव दारं विहाडियं पासामि, गए णं से सागरए त्ति कट्टु ओहयमण० जाव झियामि। तए णं सा दासचेडी सुकुमालियाए दारियाए एयमट्ठं सोच्चा जेणेव सागरदत्ते सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सागरदत्तस्स एयमट्ठं निवेदेति। तए णं से सागरदत्ते दासचेडीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते० ५ जेणेव जिणदत्तस्स सत्थवाहस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जिणदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी–किं णं देवाणुप्पिया ! एवं जुत्तं वा पत्तं वा कुलाणुरूवं वा कुलसरिसं वा, जं णं सागरए दारए सुकुमालियं दारियं अदिट्ठदोसवडियं विप्पजहाय इहमागए, बहूहिं खिज्जणियाहि य रुंटणियाहि य उवालभति। तए णं जिणदत्ते सत्थवाहे सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं सोच्चा जेणेव सागरए दारए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता सागरं दारयं एवं वयासी–दुट्ठु णं पुत्ता ! तुमे कयं, सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स गिहाओ इह हव्वमागए, तेणं तं गच्छह णं तुमं पुत्ता ! एवमवि गए सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स गिहं। तए णं से सागरए जिणदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी–अवियाइं अहं ताओ गिरिपडणं वा तरुपडणं वा मरुप्पवायं वा जलप्पवेसं वा जलणप्पवेसं वा विसभक्खणं वा वेहाणसं वा सत्थावाडणं वा गिद्धपट्ठं वा पव्वज्जं वा विदेसगमणं वा अब्भुवगच्छेज्जामि, नो खलु अहं सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स गिहं गच्छेज्जामि। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे कुड्डंतरिए सागरस्स एयमट्ठं निसामेति, लज्जिए विलिए विड्डे विव जिणदत्तस्स गिहाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव सए गेहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुकुमालियं दारियं सद्दावेति, सद्दावेत्ता अंके निवेसेति, णिवेसेत्ता एवं वयासी–किं णं तव पुत्ता ! सागरएणं दारएणं मुक्का, अहं णं तुमं तस्स दाहामि, जस्स णं तुमं इट्ठा० जाव मणाभिरामा भविस्ससि त्ति सुकुमालियं दारियं ताहिं इट्ठाहिं० जाव बहूहिं वग्गूहिं समासासेइ, समासासेत्ता पडिविसज्जेति। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे अण्णया उप्पिं आगासतलगंसि सुहनिसण्णे रायमग्गं अवलोएमाणे अवलोएमाणे चिट्ठति। तए णं सागरदत्ते सत्थवाहे एगं महं दमगपुरिसं पासति दंडिखंडनिवसणं खंडमल्लगखंडघडगहत्थगयं मच्छियासहस्सेहिं० जाव अभिज्झमाणमग्गं। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! एतं दमगं पुरिसं विउलेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलोभेह, पडिलोभेत्ता गिहं अणुप्पवेसेह, अणुप्पवेसेत्ता खंडमल्लगं खंडघडगं च से एगंते पाडेह, पाडेत्ता अलंकारियकम्मं करेह, करेत्ता ण्हायं कयबलिकम्मं० जाव विभूसियं करेह, करेत्ता मणुण्णं असणं पाणं खाइमं साइमं भोयावेह, भोयावेत्ता ममं अंतियं उवणेह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा ०जाव पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता जेणेव से दमगपुरिसे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तं दमगं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलोभेंति, सयं गिहं अणुप्पवेसंति, अणुप्पवेसेत्ता तं खंडमल्लगं खंडघडगं च तस्स दमगपुरिसस्स एगंते पाडेंति। तए णं से दमगपुरिसे तंसि खंडमल्लगंसि खंडघडगंसि य पाडिज्जमाणंसि महया महया सद्देणं आरसति। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे तस्स दमगपुरिसस्स तं महया महया आरसियसद्दं सोच्चा णिसम्म [तए णं] सागरदत्ते कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी–किं णं देवाणुप्पिया ! एस दमगपुरिसे महया महया सद्देणं आरसति ?। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा तं सागरदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी–एस णं सामी ! तंसि खंडमल्लगंसि खंडघडगंसि य पाडिज्जमाणंसि महया महया सद्देणं आरसति। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे ते कोडुंबियपुरिसे एवं वयासी–मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! एयस्स दमगपुरिसस्स तं खंडमल्लगं० जाव पाडेह, पासे ठवेह, जहा णं पत्तियं भवति। ते वि तहेव ठवेंति, ठवेत्ता तस्स दमगस्स पुरिसस्स अलंकारियकम्मं करेंति, करेत्ता सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भिंगेंति, अब्भिंगिए समाणे सुरभिणा गंधुव्वट्टणएणं गायं उव्वट्टेंति, उसिणोदगगंधोदगेणं ण्हाणेंति, सीओदगेणं ण्हावेंति, ण्हावेत्ता पम्हलसुकुमालाए गंधकासाइए गायाइं लूहेंति, लूहेत्ता हंसलक्खणपडसाडगं परिहेंति, परिहेत्ता सव्वालंकारविभूसियं करेंति, करेत्ता विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं भोयावेंति, भोयावेत्ता सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स उवणेंति। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे सुकुमालियं दारियं ण्हायं० जाव सव्वालंकारविभूसियं करेत्ता तं दमगपुरिसं एवं वयासी–एस णं देवाणुप्पिया ! मम धूया

इट्ठा एवं णं अहं तव भारियत्ताए दलामि, भद्दियाए भद्दं भवेज्जासि। तए णं से दमगपुरिसे सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता सुकुमालियाए दारियाए सद्धिं वासघरं अणुप्पविसति, सुकुमालियाए दारियाए सद्धिं तलिमंसि निवज्जति। तए णं से दमगपुरिसे सुकुमालियाए दारियाए सद्धिं इमेयारूवं अंगफासं पडिसंवेदेति, सेसं जहा सागरस्स० जाव सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठेत्ता वासघराओ णिग्गच्छति, णिग्गच्छित्ता खंडमल्लगं खंडघडगं च गहाय मारामुक्के विव काए जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तए णं सा सुकुमालिया दारिया० जाव गए णं से दमगपुरिसे त्ति कट्टु ओहयमण० जाव झियायति। तए णं सा भद्दा कल्लं पाउप्पभायाए दासचेडिं सद्दावेति, सद्दावेत्ता० जाव सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं निवेदेति। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे तहेव संभंते समाणे जेणेव वासघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुकुमालियं दारियं अंके निवेसेइ, निवेसेत्ता एवं वयासी—अहो णं तुमं पुत्ता ! पुरा पुराणाणं० जाव पच्चणुब्भवमाणी विहरसि, तं मा णं तुमं पुत्ता ! ओहयमण० जाव झियाहि, तुमं णं पुत्ता ! मम महाणसंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं जहा पोट्टिला० जाव परिभाएमाणी विहराहि। तए णं सा सुकुमालिया दारिया एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता महाणसंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं० जाव दलमाणी विहरति।

सुकुमालकं कोमलं काममत्यर्थं गजतालुकसमाना, गजतालुकं ह्यत्यर्थं च सुकुमालं भवतीति। "जुत्तं वेत्यादि" युक्तं संगतं (पत्तं ति) प्राप्तं प्राप्तकालं, पात्रं वा गुणानामेव पुत्रः। श्लाघनीयं वा, सदृशो वा संयोगो विवाहयोरिति। "से जहानामए असिपत्तेइ वा" इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्-"करपत्तेइ वा खुरपत्तेइ वा कलंबचीरिकापत्तेइ वा सत्तिअग्गेइ वा कोंतग्गेइ वा तोमरग्गेइ वा भिंडिमालग्गेइ वा सूचिकलावएइ वा विच्छुयडंकेइ वा कविकच्छूइ वा इंगालेइ वा मुंमुरेइ वा अच्चीइ वा जालेइ वा अलाएइ वा सुद्धागणीइ वा भवे एयारूवे। नो इणट्ठे समट्ठे। एत्तो अणिट्ठतराए चेव अकंततराए चेव, अप्पियतराए चेव, अमणुण्णतराए चेव, अमणामतराए चेव त्ति।" तत्राऽसिपत्रं खड्गः, करपत्रं क्रकचं, क्षुरपत्रं क्षुरः, कदम्बचीरिकाऽपि लोकरूढ्याऽवसेयाति, वृश्चिककण्टकः, कपिकच्छूः खर्जूकारी वनस्पतिविशेषः, अङ्गारो निज्वरो निज्वालोऽग्निकणः, मुर्मुरोऽग्निकणमिश्रं भस्म, अर्चिरिन्धनप्रतिबद्धा ज्वाला, ज्वाला तु इन्धनच्छिन्ना, अलातमुल्मुकं, शुद्धाग्निरयःपिण्डाद्यन्तर्गतोऽग्निरिति। (अकामए त्ति) अकामको निरभिलाषः। (अवसवसे त्ति) अपस्ववशः, अपगतात्मा तन्त्रवश इत्यर्थः। (तलिमंसि निवज्जइ त्ति) तल्पे शयनीये निपद्यते, (पईवए त्ति) पतिं भर्तारं व्रतयति तमेवाभिगच्छामीत्येवं नियमं करोतीति। पतिव्रता पतिमनुरक्ता भर्तारं प्रति रागवतीति। (मारामुक्के विव काए त्ति) मार्यन्ते प्राणिनो यस्यां शालायां सा मारा शूना, तस्या मुक्तो यः स मारामुक्तो, माराद्वा मरणात्मारकपुरुषाद्वा मुक्तो विच्छुटितः, काको वायसः। (बहुवरस्स त्ति) वधूश्च वरश्च वधूवरं, तस्य, (कुलाणुरूवं ति) कुलोचितं, वणिजां वाणिज्यमिव (कुलसरिसं ति) श्रीमद्वणिजां रत्नवाणिज्यमिव (अदिट्ठदोसवडियं ति) न दृष्टे उपलब्धस्वरूपे दोषे दूषणे पतिता समापन्ना अदृष्टदोषपतिता तां (खिज्जणियाहिं ति) खेदक्रियाभिः, रुण्टनिकाभिः रोदनक्रियाभिः, (मरुप्पवायं च त्ति) निर्जलदेशे प्रपातं (सत्थोवाडणं ति) शस्त्रेणावपाटनं विदारणमात्मन इत्यर्थः। (गिद्धपट्ठं ति) गृध्रस्पृष्टं गृध्रैः स्पर्शनं कलेवराणां मध्ये निपत्य गृध्रैरात्मनो भक्षणमित्यर्थः। (अब्भुवगच्छेज्जामि त्ति) अभ्युपैमि। "पुरा पुराणाणं" इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्-"दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं कडाणं पावाणं कम्माणं पावगं फलवित्तिविसेसं ति।" अयमर्थः-पुरा पूर्वं भवे पुराणानामतीतकालभाविनां तथा दुश्चीर्णानि दुश्चरितं मृषावादनपारदारिकाऽऽदि, तद्धेतुकानि कर्माण्यपि दुश्चीर्णानि कार्यापदिश्यन्ते, अतस्तेषामेव दुष्पराक्रान्तं प्राणिघातादत्तापहाराऽऽदिकृतानां प्रकृत्यादिभेदेन, पुराशब्दस्येह संबन्धः, पापानामपुण्यरूपाणां कर्मणां ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनां पापकर्म अशुभं फलवृत्तिविशेषम्, उदयवर्तनमेवं प्रत्यनुभवन्ती विहरसि वर्त्तसे।

तेणं कालेणं तेणं समएणं गोवालियाओ अज्जाओ बहुस्सुयाओ एवं जहेव तेयलिनाए सुव्वयाओ, तहेव समोसढाओ, तहेव संघाडओ० जाव गिहं अणुप्पविट्ठो, तहेव० जाव सुकुमालिया पडिलाभेइ, पडिलाभेत्ता एवं वयासी—एवं खलु अज्जाओ ! अहं सागरस्स दारगस्स अणिट्ठा० जाव अमणामा, णेच्छइ णं सागरदारए मम नामं वा० जाव परिभोगं वा, जस्स जस्स वि य णं दिज्जामि तस्स तस्स वि य णं अणिट्ठा० जाव अमणामा भवामि, तुब्भे य णं अज्जाओ बहुणायाओ, एवं जहा पोट्टिला० जाव उवलद्धे, जेणं अहं सागरदारगस्स इट्ठा कंता० जाव भवेज्जामि। अज्जाओ तहेव भणंति, तहेव साविया जाया, तहेव चिंता, तहेव सागरदत्तं सत्थवाहं आपुच्छति, आपुच्छित्ता० जाव गोवालियाणं अज्जाणं अंतियं पव्वइया। तए णं सा सुकुमालिया अज्जा जाया इरियासमिया० जाव गुत्तबंभयारिणी बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठम० जाव विहरति। तए णं सा सुकुमालिया अज्जा अण्णया कयाइं जेणेव गोवालियाओ अज्जाओ तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वंदति, नमंसति, नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं अज्जा ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणी चंपाए णयरीए बाहिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स अदूरसामंतेणं छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं सूराभिमुही आयावेमाणी विहरित्तए। तए णं ताओ गोवालि-

याओ अज्जाओ सुकुमालियं अज्जं एवं वयासी-अम्हे णं अज्जो ! समणीओ निग्गंथीओ इरियासमियाओ०जाव गुत्तबंभयारिणीओ, नो खलु अम्हं कप्पति बहिया गामस्स वा०जाव सन्निवेसस्स वा०जाव छट्ठं छट्ठेणं०जाव विहरित्तए, कप्पति णं अम्हं अंतो उवस्सयस्स वत्तिपरिक्खित्तस्स संघाडिबद्धियाए णं समतलपइयाए आयावित्तए । तए णं सा सुकुमालिया अज्जा गोवालियाए अज्जाए एयमट्ठं नो सद्दहति, नो पत्तियति, नो रोवेति, एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स अदूरसामंते छट्ठं छट्ठेणं०जाव विहरति । तत्थ णं चंपाए नयरीए ललियनामं गोट्ठी परिवसइ, नरवइदिन्नवियारा अम्मापिइनिययनिप्पिवासा वेसविहारकयनिकेया णाणाविहअविणयप्पहाणा अड्ढा० जाव अपरिभूया । तत्थ णं चंपाए णयरीए देवदत्ता णामं गणिया होत्था सुकुमाला जहा अंडणाए । तए णं तीसे ललियाए गोट्ठीए अन्नया कयाइ पंच गोट्ठिल्लगपुरिसा देवदत्ताए गणियाए सद्धिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स सिरिं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तत्थ णं एगे गोट्ठिल्लपुरिसे देवदत्तं गणियं उच्छंगे धरेइ, एगे पुरिसे पिट्ठओ आयवत्तं धरेइ, एगे पुरिसे पुप्फपूरियं रयति, एगे पुरिसे पाए रएइ, एगे पुरिसे चामरुक्खेवं करेति । तए णं सा सुकुमालिया अज्जा देवदत्तं गणियं तेहिं पंचहिं गोट्ठिल्लपुरिसेहिं सद्धिं उरालेहिं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी पासति, पासित्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था-अहो णं इमा इत्थिया पुरा पोराणाणं०जाव विहरति । तं जइ णं मे इमस्स सुचरियस्स तवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, तो णं अहमवि आगमिस्सेणं भवग्गहणेणं इमेयारूवाइं उरालाइं माणुस्सगाइं०जाव विहरेज्जामि त्ति कट्टु णियाणं करेइ, करेत्ता आयावणभूमीए पच्चोरुहइ । तए णं सा सुकुमालिया अज्जा सरीरपाउसिया जाया यावि होत्था । अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवेइ, अभि० २ पाए धोवेइ, अभि० २ सीसं धोवेइ, अभि० २ मुहं धोवेइ, अभि० २ थणंतराइं धोवेइ, अभि० २ कक्खंतराइं धोवेति, अभि० २ गुज्झंतराइं धोवेति । जत्थ णं ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएइ, तत्थ वि य णं पुव्वामेव उदएणं अब्भुक्खित्ता तओ पच्छा ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ । तए णं ताओ गोवालियाओ अज्जाओ सुकुमालियं अज्जं एवं वयासी-एवं खलु अज्जे ! अम्हे समणीओ निग्गंथीओ इरियासमियाओ०जाव बंभचेरधारिणीओ, नो खलु कप्पति अम्हं सरीरपाउसियाए होत्तए, तुमं च णं अज्जे ! सरीरपाउसिया अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवेसि०जाव चेतेसि, तं तुमं णं देवाणुप्पिया ! एयस्स ठाणस्स आलोएहि०जाव पडिवज्जाहि । तए णं सुकुमालिया अज्जा गोवालियाणं अज्जाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा नो आढाइ, नो परियाणइ, अणाढाइमाणा अपरिजाणमाणा विहरति । तए णं ताओ अज्जाओ सुकुमालियं अज्जं अभिक्खणं अभिक्खणं हीलेंति०जाव परिभवंति, अभिक्खणं अभिक्खणं एयमट्ठं निवारेंति । तए णं तीसे सुकुमालियाए अज्जाए समणीहिं निग्गंथीहिं हीलिज्जमाणीए० जाव वारिज्जमाणीए इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था-जया णं अहं अगारमज्झे वसामि, तया णं अहं अप्पवसा, जया णं अहं मुंडा पव्वइया, तया णं अहं परवसा, पुव्विं च णं मम समणीओ आढंति, इयाणिं तु नो आढंति, तं सेयं खलु ममं कल्लं पाउब्भूया गोवालियाणं अज्जाणं अंतियाओ पडिणिक्खमेत्ता पाडिएक्कं उवस्सयं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता कल्लं गोवालियाणं अज्जाणं अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता पाडिएक्कं उवस्सयं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । तए णं सा सुकुमालिया अज्जा अणोहट्टिया अणिवारिया सच्छंदमई अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थं धोवति०जाव चेएति । तत्थ वि य णं पासत्था पासत्थविहारिणी ओसण्णा ओसण्णविहारिणी कुसीला कुसीलविहारिणी संसत्ता संसत्तविहारिणी बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे अन्नयरंसि विमाणंसि देवगणियत्ताए उववन्ना । तत्थेगइयाणं देवीणं नव पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता । तत्थ णं सुकुमालियाए देवीए नवपलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता । तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे पंचालेसु जणवएसु कंपिल्लपुरे णामं णयरे होत्था । वण्णओ । तत्थ णं दुवए णामं राया होत्था । वण्णओ । तस्स णं दुवयस्स रण्णो चुलणी णामं देवी होत्था, सुकुमाला०जाव सुरूवा । तस्स णं दुवयस्स रण्णो पुत्ते चुलणीए देवीए अत्तए धट्ठज्जुणे णामं कुमारे जुवराया होत्था । तए णं सा सुकुमालिया देवी ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे पंचालेसु जणवएसु कंपिल्लपुरे नगरे दुवयस्स रण्णो चुलणीए देवीए कुच्छिंसि दारियत्ताए पच्चाया । तए णं सा चुलणी देवी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणं राइंदियाणं वइक्कंताणं सुकुमालपाणिपायं अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरं दारियं पयाया । तए णं

तीसे दारियाए निव्वत्ते बारसाहिए दिवसे इमं एयारूवं णामं, जम्हा णं एसा दारिया दुवयस्स रण्णो धूया, चुलणीए देवीए अत्तया, तं होउणं अम्हं इमीसे दारियाए णामधिज्जं दोवई । तए णं तीसे अम्मापियरो इमं एयारूवं गोणं गुणनिप्फन्नं णामधेज्जं करिंति दोवई । तए णं सा दोवई दारिया पंचधाईपरिग्गहिया । तं जहा—खीरधाईए, अंकधाईए, मंडणधाईए, कीलावणधाईए, मज्जणधाईए । गिरिकंदरमल्लीणा इव चंपगलया णिवाया निव्वाघायंसि सुहं सुहेणं परिवड्ढइ । तए णं सा दोवई रायवरकन्ना उम्मुक्कबालभावा० जाव उक्किट्ठसरीरा जाया यावि होत्था । तए णं सा दोवई रायवरकन्नया अन्नया कयाइं अंतेउरियाओ ण्हायं ० जाव विभूसियं करेंति, दुवयस्स रण्णो पायवंदियं पेसेइ । तए णं सा दोवई रायवरकन्ना जेणेव दुवए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता दुवयस्स रण्णो पायग्गहणं करेति । तए णं से दुवए राया दोवइं दारियं अंके निवेसेति, दोवईए रायवरकन्नाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य जायविम्हए दोवइं रायवरकन्नं एवं वयासी—जस्स णं अहं तुमं पुत्ता ! रायस्स वा जुवरायस्स वा भारियत्ताए सयमेव दलइस्सामि, तत्थ णं तुमं दुहिया वा सुहिया वा भवेज्जासि ?, तए णं ममं जावज्जीवाए हिययदाहे भविस्सति; तं णं अहं पुत्ता ! अज्जयाइ सयंवरं रयामि, अज्जो ! पाए णं तुमं दिण्णसयंवरा, जं णं तुमं सयमेव रायं जुवरायं वा वरेहिसि, से णं तव भत्तारे भविस्सइ त्ति कट्टु ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं० जाव आसासेइ, पडिविसज्जेति । तए णं से दुवए राया दूयं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी—गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! बारवइं णगरिं, तत्थ णं तुमं कण्हं वासुदेवं समुद्दविजयपामोक्खं दसदसारे बलदेवपामुक्खं पंचमहावीरे उग्गसेणपामोक्खे सोलस रायसहस्से पज्जुण्णपामोक्खाओ अद्धुट्ठाओ कुमारकोडीओ संबपामोक्खाओ सट्ठिं दुद्दंतसाहस्सीओ वीरसेणपामुक्खाओ एक्कवीसं वीरपुरिससाहस्सीओ महसेणपामुक्खाओ छप्पन्नं बलवगसाहस्सीओ अन्ने य बहवे राईसरतलवरमाडंबियकोडुंबियइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाहप्पभिइओ करयलपरिग्गहियं दसणहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेहि, वद्धावेत्ता एवं वयाहि—एवं खलु देवाणुप्पिया ! कंपिल्लपुरे नगरे दुवयस्स रण्णो धूयाए चुलणीए देवीए अत्तयाए धट्ठज्जुणकुमारस्स भगिणीए दोवईए रायवरकन्नाए सयंवरे भविस्सइ, तं णं तुब्भे दुवयं रायं अणुगिण्हमाणा अकालपरिहीणा चेव कंपिल्लपुरे णगरे समोसरह । तए णं से दूए करयल० जाव कट्टु दुवयस्स रण्णो एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह० जाव उवट्ठवेंति । तए णं से दूए ण्हाए० जाव सस्सिरीए चाउग्घंटं आसरहं दुरूहति, दुरूहइत्ता बहूहिं पुरिसेहिं सन्नद्धबद्ध० जाव गहियाउहपहरणेहिं सद्धिं संपरिवुडे कंपिल्लपुरं णगरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छति, णिग्गच्छइत्ता पंचालजणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव देसप्पंते तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता सुरट्ठजणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव बारवती णगरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता बारवइं नगरिं मज्झं मज्झेणं अणुप्पविसति, जेणेव कण्हस्स वासुदेवस्स बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चाउग्घंटं आसरहं ठवेति, ठवेत्ता रहाओ पच्चोरुहेइ, मणुस्सवग्गुरापरिक्खित्ते पायचारविहारेणं जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता कण्हं वासुदेवं समुद्दविजयपामुक्खे य दसदसारे० जाव बलवगसाहस्सीओ करयल० तं चेव० जाव समोसरह । तए णं से कण्हे वासुदेवे तस्स दूयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियए तं दूयं सक्कारेइ, सक्कारित्ता संमाणेइ, संमाणित्ता पडिविसज्जेइ । तए णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! सभाए सुहम्माए सामुदाणियं भेरिं तालेहि । तए णं से कोडुंबियपुरिसे करयल० जाव कण्हस्स वासुदेवस्स एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता जेणेव सभाए सुहम्माए सामुदाणिया भेरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सामुदाणियं भेरिं महया महया सद्देणं तालेइ । तए णं ताए सामुदाणियाए भेरीए तालियाए समाणीए समुद्दविजयपामुक्खा दस दसारा० जाव महसेणपामुक्खाओ छप्पन्नं च बलवगसाहस्सीओ ण्हाया० जाव विभूसिया जहाविभवं इड्ढिसक्कारसमुदएणं अप्पेगइया हयगयगया, अप्पेगइया० जाव पायविहारचारेणं जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयल० जाव कण्हं वासुदेवं जएणं विजएणं वद्धावेंति । तए णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेह, हयगय० जाव पच्चप्पिणंति । तए णं से कण्हे वासुदेवे जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समुत्तजालाकुलाभिरामे० जाव अंजणगिरिकूडसन्निभं गयवरं नरवई दुरूढे । तए णं से कण्हे वासुदेवे समुद्दविजयपामोक्खेहिं दसदसारेहिं० जाव अणंगसेणपामोक्खाहिं अणेगाहिं गणियासाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए० जाव रवेणं बारवइं णगरिं म-

ज्झं मज्झेणं णिगच्छति, णिगच्छइत्ता सुरट्ठजणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव देसप्पंते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पंचालजणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव कंपिल्लपुरे णगरे तेणेव पहारेत्थगमणाए १ । तए णं से दुवए राया दोच्चं दूयं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! हत्थिणापुरं णयरं, तत्थ णं तुमं पंडुरायं सपुत्तयं जुहिट्ठिल्लं भीमसेणं अज्जुणं नउलं सहदेवं दुज्जोहणं जाइसयसमग्गं गंगेयं विदुरं दोणं जयद्दहं सउणिं कीवं अस्सत्थामं करयल० जाव कट्टु तहेव० जाव समोसरह । तए णं से दूए एवं वयासी जहा वासुदेवे, णवरं भेरी नत्थि० जाव जेणेव कंपिल्लपुरे णगरे तेणेव पहारेत्थगमणाए २। एएणेव कमेणं तच्चं दूयं चंपं नयरिं, तत्थ णं तुमं कण्हं अंगरायं सल्लनंदिरायं करयल० तहेव० जाव समोसरह ३ । चउत्थं दूयं सोत्थियमइं णगरिं, तत्थ णं तुमं सिसुपालं दमघोससुयं पंचभाइसयं संपरिवुडं करयल० तहेव० जाव समोसरह ४ । पंचमं दूयं हत्थिसीसं णयरं, तत्थ णं तुमं दमदंतं रायं करयल० जाव समोसरह ५ । छट्ठं दूयं महुरिं नगरिं, तत्थ णं तुमं धररायं करयल० जाव समोसरह ६ । सत्तमं दूयं रायगिहं णगरं, तत्थ णं तुमं सहदेवं जरासंधसुयं करयल० जाव समोसरह ७। अट्ठमं दूयं कोडिण्णं णगरं, तत्थ णं तुमं रुप्पिं भीसगसुयं करयल० तहेव० जाव समोसरह ८। नवमं दूयं विराडं णगरं, तत्थ णं तुमं कीयगं भाउसयसमग्गं करयल० जाव समोसरह ९ । दसमं दूयं अवसेसेसु गामागरणगरेसु अणेगाइं रायसहस्साइं० जाव समोसरह १० । तए णं से दूए तहेव णिग्गच्छति, णिग्गच्छइत्ता जेणेव गामागरणगर० जाव समोसरइ । तए णं ताइं अणेगाइं रायसहस्साइं तस्स दूयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा तं दूयं सक्कारेंति, संमाणेंति, संमाणेत्ता पडिविसज्जेंति । तए णं ते वासुदेवपामुक्खा बहवे रायसहस्सा पत्तेयं पत्तेयं ण्हाया सण्णद्धबद्धहत्थिखंधवरगया हयगयरहभडचडगरपहकर० सएहिं २ णगरेहिंतो अभिणिग्गच्छंति, अभिणिग्गच्छंतित्ता जेणेव पंचाले जणवए तेणेव पहारेत्थगमणाए । तए णं से दुवए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! कंपिल्लपुरे णगरे बहिया गंगाए महानदीए अदूरसामंतेणं एगं महयं सयंवरमंडवं करेह अणेगखंभसयसंनिविट्ठं लीलट्ठियसालिभंजियागं० जाव पच्चप्पिणंति । तए णं से दुवए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! वासुदेवपामुक्खाणं बहूणं रायसहस्साणं आवासे करेह, ते वि करेत्ता पच्चप्पिणंति । तए णं से दुवए राया वासुदेवपामुक्खाणं बहूणं रायसहस्साणं आगमणं जाणेत्ता पत्तेयं पत्तेयं० जाव हत्थिखंध० जाव सद्धिं संपरिवुडे अग्घं च पज्जं च गहाय सव्विड्ढीए कंपिल्लपुराओ णयराओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव ते वासुदेवपामोक्खा बहवे रायसहस्सा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ताइं वासुदेवपामुक्खाइं अग्घेण य पज्जेण य सक्कारेति, सम्माणेइ, सम्माणेत्ता तेसिं वासुदेवपामुक्खाणं पत्तेयं पत्तेयं आवासे वियरति । तए णं ते वासुदेवपामुक्खा जेणेव सयाइं सयाइं आवासाइं तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता हत्थिखंधाहिंतो पच्चोरुहंति, पत्तेयं पत्तेयं खंधावारनिवेसं करेंति, करेत्ता सएसु सएसु आवासेसु अणुप्पविसंति, सएसु सएसु आवासेसु य आसणेसु य सन्निसण्णा य संतुट्ठा य बहूहिं गंधव्वेहि य णाडएहि य उवगिज्जमाणा य उवणच्चिज्जमाणा य विहरंति । तए णं से दुवए राया कंपिल्लपुरं नगरं अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेति, उवक्खडावेत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च मज्जं च मंसं च सीधुं च पसन्नं च सुबहुं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं च वासुदेवपामोक्खाणं रायसहस्साणं आवासेसु साहरह, ते वि साहरंति । तए णं ते वासुदेवपामुक्खा तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं० जाव पसण्णं च आसाएमाणा० ४ जाव विहरंति । जिमियभुत्तुत्तरागया वि य णं समाणा आयंता चोक्खा० जाव सुहासणवरगया णं बहूहिं गंधव्वेहि य० जाव विहरंति । तए णं से दुवए राया पुव्वावरण्हकालसमयंसि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! कंपिल्लपुरं णयरं सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरमहापहेसु वासुदेवपामोक्खाण य रायसहस्साणं आवासेसु हत्थिखंधवरगया महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! कल्लं पाउप्पभाए दुवयस्स रण्णो धूयाए चुलणीए देवीए अत्तयाए धट्ठज्जुणस्स भगिणीए दोवईए रायवरकन्नाए सयंवरे भविस्सइ, तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! दुवयं रायाणं अणुगिण्हमाणा ण्हाया० जाव विभूसिया हत्थिखंधवरगया सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं महया हयगयरहभडचडगरेणं० जाव परिक्खित्ता जेणेव सयंवरे मंडवे तेणेव उवागच्छह, उवागच्छइत्ता पत्तेयं पत्तेयं नामंकेसु आसणेसु निसीयह, दोवइं रायवरकन्नं पडिवालेमाणा पडिवालेमाणा

चिट्ठह,घोसणं घोसेह,मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा तहेव पच्चप्पिणंति । तए णं से दुवए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सयंवरमंडवं आसियं संमज्जितोवलित्तं सुगंधवरगंधियं पंचवण्णपुप्फोवयारकलियं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्क० जाव गंधवट्टिभूयं मंचाइमंचकलियं करेह, करेत्ता वासुदेवपामोक्खाणं बहूणं रायवरसहस्साणं पत्तेयं पत्तेयं नामंकियाइं आसणाइं सेयवरपच्चुत्थुयाइं रएहि, रएत्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह, ते वि तहेव० जाव पच्चप्पिणंति । तए णं ते वासुदेवपामोक्खा बहवे रायाणो कल्लं पाउप्पभाए ण्हाया० जाव विभूसिया हत्थिखंधवरगया सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धारिज्जमाणेणं सेयवरचामरेहिं उद्धुव्वमाणेहिं महया हयगयरहभडचडगरेणं सद्धिं संपरिवुडा सव्वड्ढीए० जाव रवेणं जेणेव सयंवरमंडवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सयंवरं अणुप्पविसंति, अणुप्पविसइत्ता पत्तेयं २ नामंकिएसु आसणेसु निसीयंति, णिसीयंतित्ता दुवयरायवरकन्नं पडिवालेमाणा चिट्ठंति । तए णं से दुवए राया कल्लं पाउप्पभाए ण्हाया० जाव विभूसिए हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धारिज्जमाणेणं सेयवरचामरेहिं उद्धुव्वमाणेहिं महया हयगय० जाव सद्धिं संपरिवुडे कंपिल्लपुरं णगरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छति, णिग्गच्छइत्ता जेणेव सयंवरमंडवे जेणेव वासुदेवपामोक्खा बहवे रायवरसहस्सा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तेसिं वासुदेवपामोक्खाणं करयल०जाव वद्धावेइ,वद्धावेत्ता कण्हस्स वासुदेवस्स सेयवरचामरं गहाय उववीयमाणे उववीयमाणे चिट्ठति । तए णं सा दोवई रायवरकन्ना कल्लं पाउप्पभाए जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता मज्जणघरं अणुप्पविसति, अणुप्पविसइत्ता ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सुद्धप्पा वेसाइं मंगलाइं पवरवत्थपरिहिया सव्वालंकारविभूसिया मज्जणघराओ पडिनिक्खमइ,पडिनिक्खमेत्ता जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता जिणघरं अणुप्पविसति, अणुप्पविसइत्ता जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेइ, करेत्ता लोमहत्थगं परामुसइ, परामुसइत्ता एवं जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेति, तहेव भाणियव्वं० जाव धूवं डहति ।

(कप्पति णं अम्हं इत्यादि) " अम्हं ति " अस्माकं मते,प्रव्रजितानां इति गम्यते । अन्तर्मध्ये उपाश्रयस्य वसतेर्वृतिपरिक्षिप्तस्य, परेषामनालोकनेन इत्यर्थः । संघाटी निर्ग्रन्थिकाप्रच्छादनविशेषः, सा बद्धा नियोजिता, काये इति गम्यते । यथा सा संघाटीबद्धिका, तस्याः, पमिरयसाकारे, समतले इवोरपि भुवि विन्यस्तत्वात्पदे पादौ यस्याः सा समतलपादिका, तस्याः, आतापयितुमातापनां कर्तुं, कल्पत इति योगः । (ललिय त्ति) क्रीडाप्रधाना (गोट्ठि त्ति) जनस्य समुदायविशेषः । (नरवइदिन्नवियार त्ति) नृपानुज्ञातकामचारा (अम्मापीइनियर्गनिप्पिवास त्ति) मात्रादिनिरपेक्षा (वेसविहारकयनिकेय त्ति) वेश्याविहारेषु वेश्यामन्दिरेषु कृतो निकेतो निवासो यया सा तथा । (णाणाविहअविणयप्पहाणा) इति कण्ठ्यम् । (पुप्फपूरियं रएइ त्ति) पुष्पशेखरं करोति । (पाए रएइ त्ति) पादावलक्तकाऽऽदिना रञ्जयति । पाठान्तरे-"रोवेइ त्ति" धूनजलाभ्यामार्द्रयति । (सरीरबाउसिय त्ति) बकुशः शबलचारित्रः, स च शरीरत उपकरणतश्चेत्युक्तं, शरीरबकुशा साङ्गभूषाऽनुवर्तिनीति । (ठाणं ति) कायोत्सर्गस्थानं निषदनस्थानं वा शय्यां त्वग्वर्तनं नैषेधिकीं स्वाध्यायभूमिं चिन्तयति करोति । " आलोएहि० जाव " इत्यत्र यावत्करणात्-" निंदाहि गरिहाहि पडिक्कमाहि विउट्टाहि विसोहेहि अकरणयाए अब्भुट्ठेहि अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जाहि ।" इति दृश्यमिति । तत्राऽऽलोचनं गुरोर्निवेदनं,निन्दनं पश्चात्तापो,गर्हणं गुरुसमक्षं निन्दनमेव, प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतदानलक्षणम्, अकृत्यान्निवर्तनं वा । विप्रोटनमनुबन्धच्छेदनं, विशोधनं व्रतानां पुनर्नवीकरणं, शेषं कण्ठ्यमिति । (पाडिएक्कं ति) पृथक् (अणोहट्टिय त्ति) अविद्यमानोपघट्टको यदृच्छया प्रवर्तमानाया हस्तपादादिना निवर्तको यस्याः सा तथा । तथा नास्ति निवारको नैवं कार्षीरित्येवं निषेधको यस्याः सा तथा । (अज्जयाए त्ति) अद्यप्रभृति (अग्घं व त्ति) अर्घः पुष्पाऽऽदीनि पूजाद्रव्याणि, (पज्जं व त्ति) पादहितं पाद्यं, पादप्रक्षालनस्नेहमोद्वर्तनाऽऽदि । मद्यमधुप्रसन्नाऽऽख्याः सुराभेदा एव । (जिणपडिमाणं अच्चणं करेइ त्ति) कस्यांश्चिद् वाचनायामेतावदेव दृश्यते । वाचनान्तरेऽत्र तु-"ण्हाया०जाव सव्वालंकारविभूसिया मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता जिणघरं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसइत्ता जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेइ, करेइत्ता लोमहत्थगं परामुसइ, परामुसइत्ता एवं जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेति,तहेव भाणियव्वं०जाव धूवं डहइ त्ति।" इह यावत्करणादयेत इदं दृश्यम्-लोमहस्तकेन जिनप्रतिमां प्रमार्ष्टि, सुरभिणा गन्धोदकेन स्नपयति, गोशीर्षचन्दनेनानुलिम्पति, वस्त्राणि निवासयति, ततः पुष्पाणां माल्यानां, ग्रथितानामित्यर्थः । गन्धानां चूर्णानां, वस्त्राणामाभरणानां चाऽऽरोपणं करोति स्म, मालाकलापावलम्बनं पुष्पप्रकरं, तन्दुलैर्दर्पणाऽऽद्यष्टमङ्गलकाले रचनं करोति ।

डहइत्ता वामं जाणुं अंचेति, अंचेत्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि णिसीयइ, णिसीयइत्ता तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ, निवेसेत्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, पच्चुण्णमइत्ता करयल० जाव कट्टु एवं वयासी–नमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आदिगराणं तित्थगराणं सयंसंबुद्धाणं० जाव ठाणं संपत्ताणं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता जिणघराओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव अंतेउरे तेणेव उवागच्छइ । तए णं तं दोवइरायवरकन्नं अंतेउरियाओ सव्वालंकार–

विभूसियं करेंति, किं ते वरपायपत्तनेउर० जाव चेडियाचक्कवालमयहरगछंदपरिक्खित्ता अंतेउराओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता किड्डावियाए लेहियाए सद्धिं चाउग्घंटं आसरहं दुरूहति। तए णं से धट्ठज्जुणे कुमारे दोवईए रायवरकन्नाए सारत्थयं करेति। तए णं सा दोवई रायवरकन्ना कंपिल्लपुरं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सयंवरमंडवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता रहं ठवेइ, ठवेत्ता रहाओ पच्चोरुहति, पच्चोरुहइत्ता किड्डावियाए लेहियाए सद्धिं सयंवरमंडवं अणुप्पविसति, अणुप्पविसइत्ता करयल० तेसिं वासुदेवपामोक्खाणं बहूणं रायवरसहस्साणं पणामं करेति। तए णं सा दोवई रायवरकन्ना एगं महं सिरिदामगंडं, किं ते पाडलमल्लियं चंपय० जाव सत्तच्छयाईहिं गंधद्धणिं मुयंतं परमसुहफासं दरिसणिज्जं गिण्हति। तए णं सा किड्डाविया सुरूवा० जाव वामहत्थेणं चिल्लगं दप्पणं गहेऊण सललियं दप्पणसंकंतबिंबसंदंसिए य से दाहिणेणं हत्थेणं दरिसेइ पवररायसीहे फुडविसयविसुद्धरिभियगंभीरमहुरभणिया सा तेसिं सव्वेसिं पत्थिवाणं अम्मापिऊणं वंससत्तसामत्थगोत्तविक्कंतिकंतिबहुविहआगममाहप्परूव[जोव्वणगुणलावण्ण] कुलसीलजाणिया कित्तणं करेति, पढमं च ताव वण्हिपुंगवाणं दसारवरवीरपुरिसाणं तेलोक्कबलवगाणं सत्तुसयसहस्समाणावमद्दगाणं भवसिद्धियवरपुंडरीयाणं चिल्लगाणं बलवीरियरूवजोव्वणगुणलावण्णकित्तिया कित्तणं करेति। ततो पुणो उग्गसेणमाईणं जायवाणं भणइ य सोहग्गरूवकलियवरेहिं वरपुरिसगंधहत्थीणं जो हु ते होइ हियदइओ। तए णं सा दोवई रायवरकन्नगा बहूणं रायवरसहस्साणं मज्झं मज्झेणं समइच्छमाणी समइच्छमाणी पुव्वकयणियाणेणं चोइज्जमाणी चोइज्जमाणी जेणेव पंच पंडवा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ते पंचपंडवे तेणं दसद्धवण्णेणं कुसुमदामेणं आवेढियपरिवेढियं करेति, करेत्ता एवं वयासी-एए णं मए पंच पंडवा वरिया। तए णं ताइं वासुदेवपामोक्खाणि बहूणि रायसहस्साणि महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वयंति-सुवरियं खलु भो दोवईए रायवरकन्नाए त्ति कट्टु सयंवरमंडवाओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव सयाइं आवासं तेणेव उवागच्छंति। तए णं धट्ठज्जुणे कुमारे पंचपंडवे दोवइं च रायवरकन्नं चाउग्घंटं आसरहं दुरूहेति, दुरूहेत्ता कंपिल्लपुरं मज्झं मज्झेणं० जाव सयं भवणं अणुप्पविसति। तए णं दुवए राया पंचपंडवे दोवइं च रायवरकन्नं पट्टे दुरूहति, दुरूहित्ता सेयापीएहिं कलसेहिं मज्जावेति, मज्जावेत्ता अग्गिहोमं करेति, करेत्ता पंचण्हं पंडवाणं दोवईए य पाणिग्गहणं कारावेइ। तए णं से दुवए राया दोवईए रायवरकन्नाए इमं एयारूवं पीइदाणं दलयति। तं जहा-अट्ठ हिरण्णकोडीओ ० जाव अट्ठ पेसणकारीओ, अट्ठ दासीचेडीओ, अन्नं च विपुलं धणकणग० जाव दलयति। तए णं से दुवए राया ताइं वासुदेवपामोक्खाइं विउलेणं असणं पाणं खाइमं साइमं वत्थगंध० जाव पडिविसज्जेति। तए णं से पंडुए राया तेसिं वासुदेवपामुक्खाणं बहूणं रायसहस्साणं करयल ० जाव एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! हत्थिणाउरे णगरे पंचण्हं पंडवाणं दोवईए देवीए कल्लाणकरे भविस्सति, तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया! ममं अणुगिण्हमाणा समोसरह। तए णं ते वासुदेवपामुक्खा पत्तेयं पत्तेयं० जाव पहारेत्थगमणाए। तए णं से पंडुए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! हत्थिणाउरे णगरे पंचण्हं पंडवाणं पंच पासायवडिंसए करेह, अब्भुग्गयऊसिय० वण्णओ० जाव पडिरूवे। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा पडिसुणेंति० जाव करावेंति। तए णं से पंडुए राया पंचहिं पंडवेहिं दोवईए देवीए सद्धिं हयगयरहसंपरिवुडे कंपिल्लपुराओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव हत्थिणाउरे तेणेव उवागए। तए णं से पंडुए राया तेसिं वासुदेवपामुक्खाणं आगमणं जाणित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! हत्थिणाउरस्स णयरस्स बाहिया वासुदेवपामुक्खाणं बहूणं रायसहस्साणं आवासे करेह, अणेगखंभसय० तहेव० जाव पच्चप्पिणंति। तए णं ते वासुदेवपामुक्खा बहवे रायसहस्सा हत्थिणाउरं णयरं तेणेव उवागच्छंति। तए णं से पंडुए राया ते वासुदेवपामुक्खा० जाव आगए जाणेत्ता हट्ठतुट्ठे ण्हाए कयबलिकम्मे जहा दुवए राया जहारिहं आवासे दलयति। तए णं ते वासुदेवपामुक्खा बहवे रायसहस्सा जेणेव सयाइं आवासाइं तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता तहेव० जाव विहरंति। तए णं से पंडुए राया हत्थिणाउरं णयरं मज्झं मज्झेणं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-तुब्भे णं देवाणुप्पिया! विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं तहेव ० जाव उवणेंति। तए णं ते वासुदेवपामुक्खा बहवे राया ण्हाया कयबलिकम्मा तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं तहेव ० जाव विहरंति। तए णं से पंडुए राया ते पंचपंडवे दोवइं च देविं पट्टयं दुरूहति, सेयापीएहिं कलसेहिं ण्हावेति, कल्लाणकं करेति, करेत्ता ते वासुदेवपामोक्खे

बहवे रायसहस्से विउलेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पुप्फवत्थ० सक्कारेति, संमाणेति, सम्माणेत्ता० जाव पडिविसज्जेति। तए णं ताइं वासुदेवपामुक्खाइं बहूइं रायाइं० जाव पडिगयाइं। तए णं ते पंच पंडवा दोवईए देवीए सद्धिं कल्लाकल्लिं वारंवारेणं उरालाइं भोगभोगाइं० जाव विहरंति। तए णं से पंडुए राया अन्नया कयाइ पंचहिं पंडवेहिं कुंती देवी दोवईए देवीए सद्धिं अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडा सीहासणवरगया विहरति। इमं च णं कच्छुल्लए नारए दंसणेणं अइभद्दए विणीए अंतो अंतो य कलुसहियए मज्झत्थउवत्थिए य अल्लीणसोम्मपियदंसणे सुरूवे अमइलसगलपरिहिए कालमियचम्मउत्तरासंगरइयवच्छे दंडकमंडलुहत्थे जडामउडदित्तसिरए जण्णोवइयगणेत्तियमुंजमेहलावागलधरे हत्थकयकच्छभीए पियगंधव्वे धरणिगोयरप्पहाणे संवरणावरणिउयवयणुप्पयणिलेसिणीसु य संकामणिआभिओगपण्णत्तिगमणीथंभणीसु य बहूसु विज्जाहरीसु विज्जासु विस्सुयजसे इट्ठे रामस्स य केसवस्स य पज्जुण्णपईवसंबअनिरुद्धनिसढउम्मुयसारणगयसुमुहदुम्मुहाईणं जायवाणं अद्धुट्ठाण य कुमारकोडीणं हिययदइए संथवए कलहजुद्धकोलाहलप्पिए भंडणाभिलासी बहुसु य समरेसु य संपराएसु दंसणरए समंतओ कलहं सदक्खिणं अणुगवेसमाणे असमाहिकरे दसारवरवीरपुरिसतेलोक्कबलवगाणं आमंतेऊणं तं भगवइं पक्कमणिं गगणगमणदच्छं उप्पइणिं आवाहइत्ता गगणतलमभिलंघयंतो गामागरनगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणसंबाहसहस्समंडियं थिमियमेइणीयं णिब्भरजणपदं वसुहं ओलोइंतो रम्मं हत्थिणाउरं णयरं उवागए, पंडुरायभवणंसि अइवेगेणं समोवयइ। तए णं से पंडुराया कच्छुल्लनारयं एज्जमाणं पासति, पासइत्ता पंचहिं पंडवेहिं कुंतीए देवीए सद्धिं आसणाओ अब्भुट्ठेति, कच्छुल्लनारयं सत्तट्ठपयाइं पच्चुग्गच्छइ, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता महरिहेणं आसणेणं उवनिमंतेति। तए णं से कच्छुल्लनारए उदगपरिफोसियाए दब्भोवरि पच्चत्थुयाए भिसियाए निसीयति, निसीयइत्ता पंडुरायं रज्जे य० जाव अंतेउरे य कुसलोदंतं पुच्छति। तए णं से पंडुए राया कुंती देवी पंच य पंडवा कच्छुल्लनारयं आढंति० जाव पज्जुवासंति। तए णं सा दोवई देवी कच्छुल्लनारयं असंजयअविरयअप्पडिहयअपच्चक्खायपावकम्मे त्ति कट्टु नो आढाति० जाव णो पज्जुवासति। तए णं तस्स कच्छुल्लनारयस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था–अहो णं दोवई देवी रूवेण य० जाव लावण्णेण य पंचहिं पंडवेहिं अवइद्धा समाणी मम णो आढाति० जाव नो पज्जुवासति, तं सेयं खलु ममं दोवईए देवीए विप्पियं करित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता पंडुरायं आपुच्छति, आपुच्छइत्ता उप्पयणिं विज्जं आवाहेइ। ताए उक्किट्ठाए० जाव विज्जाहरगईए लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं पुरत्थाभिमुहे वीईवयइ, उवयत्ते यावि होत्था। तेणं कालेणं तेणं समएणं धायईसंडे दीवे पुरच्छिमद्धदाहिणड्ढभरहवासे अवरकंका नामं रायहाणी होत्था। तत्थ णं अवरकंकाए रायहाणीए पउमणाभे णामं राया होत्था महया हिमवंतवण्णओ। तस्स णं पउमणाभस्स रण्णो सत्त देवीसयाइं अवरोहे होत्था। तस्स णं पउमनाभस्स रण्णो पुत्ते सुणाभे णामं पुत्ते जुवराया वि होत्था। तए णं से पउमणाभे राया अंतेउरंसि अवरोहे संपरिवुडे सीहासणवरगए विहरति। तए णं से कच्छुल्लनारए जेणेव अवरकंका रायहाणी जेणेव पउमनाभस्स रण्णो भवणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पउमणाभस्स रण्णो भवणंसि झत्ति वेगेणं समोवइए। तए णं से पउमनाभे राया कच्छुल्लनारयं एज्जमाणं पासति, पासइत्ता आसणाओ अब्भुट्ठेति, अग्घेणं० जाव आसणेणं उवनिमंतेइ। तए णं से कच्छुल्लनारए उदगपरिफोसियाए दब्भोवरि पच्चत्थुयाए भिसियाए निसीयइ० जाव कुसलोदंतं आपुच्छति। तए णं से पउमनाभे राया णियओरोहे जायविम्हए कच्छुल्लनारयं एवं वयासी–तुमं देवाणुप्पिया! बहूणि गामाणि० जाव गिहाइं अणुप्पविससि, तं अत्थियाइं ते कहिं वि देवाणुप्पिया! एरिसए ओरोहे दिट्ठपुव्वे, जारिसए णं मम अवरोहे?। तए णं से कच्छुल्लनारए पउमणाभेणं रण्णा एवं वुत्ते समाणे ईसिं विहसियं करेति, करेत्ता एवं वयासी–सरिसेणं तुमं पउमनाभा! तस्स अगडदद्दुरस्स। के णं देवाणुप्पिया! से अगडदद्दुरे? एवं वयासी। जहा मल्लिणाए। एवं खलु देवाणुप्पिया! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणाउरे णयरे दुवयस्स रण्णो धूया चुलणीए देवीए अत्तया पंडुस्स सुण्हा पंचण्हं पंडवाणं भारिया दोवई णामं देवी रूवेण य० जाव उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा, दोवईए देवीए छिन्नस्स वि पायंगुट्ठस्स अयं तव अवरोहे सयमं कलं ण अग्घइ त्ति कट्टु पउमणाभं रायं आपुच्छति, आपुच्छइत्ता० जाव पडिगए। तए णं से पउमणाभे राया कच्छुल्लनारयअंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म दोवईए देवीए रूवे य लावण्णे य जोव्वणे य मुच्छिए गिद्धे जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पोसहसालं० जाव तं पुव्वसंगइयं देवं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणाउरे णयरे० जाव सरीरा, तं इच्छामि णं देवाणुप्पि-

या ! दोवइं देविं इह हव्वमाणीयं । तए णं पुव्वसंगइए देवे पउमणाभं एवं वयासी-नो खलु देवाणुप्पिया ! एयं भूयं वा, एयं भव्वं वा, एयं भविस्सं वा, जं णं दोवई देवी पंचपंडवे मोत्तूण अण्णेणं पुरिसेणं सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं० जाव विहरिस्सइ, तहा वि य णं अहं तव पीइट्ठाए दोवइं देविं इह हव्वमाणेमि त्ति कट्टु पउमणाभं आपुच्छइ, ताए उक्किट्ठाए० जाव लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं जेणेव हत्थिणाउरे नगरे तेणेव पहारेत्थगमणाए । तेणं कालेणं तेणं समएणं हत्थिणाउरे नयरे जुहिट्ठिल्ले राया दोवईए देवीए सद्धिं उप्पिं आगासतलंसि सुहपसुत्ते यावि होत्था । तए णं से पुव्वसंगइए देवे जेणेव जुहिट्ठिल्ले राया जेणेव दोवई देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता दोवईए देवीए ओसोवणिं दलयइ, दलयित्ता दोवइं देविं गेण्हइ, गेण्हइत्ता ताए उक्किट्ठाए० जाव जेणेव अवरकंका रायहाणी जेणेव पउमणाभस्स भवणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पउमणाभस्स भवणंसि असोगवणियाए दोवइं देविं ठावेइ, ओसोवणिं अवहरति, जेणेव पउमणाभे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया ! मए हत्थिणाउराओ णयराओ दोवई देवी इह हव्वमाणीया तव असोगवणियाए चिट्ठति, अओ परं तुमं जाणासि त्ति कट्टु जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए । तए णं सा दोवई देवी तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धा समाणी तं भवणं असोगवणियं च अपच्चभिजाणमाणी एवं वयासी-नो खलु अम्हं इमे सए पासाए, णो खलु एसा अम्हं सगा असोगवणिया, तं ण णज्जति णं अहं केणइ देवेण वा दाणवेण वा किण्णरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गंधव्वेण वा अण्णस्स रण्णो असोगवणियं साहरिय त्ति कट्टु ओहयमणसंकप्पा० जाव झियायति । तए णं से पउमणाभे राया ण्हाए० जाव सव्वालंकारविभूसिए अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडे जेणेव असोगवणिया जेणेव दोवई देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता दोवइं देविं ओहय० जाव झियायमाणिं पासइ, पासइत्ता एवं वयासी-किं णं तुमं देवाणुप्पिए ! ओहय० जाव झियाहि, एवं खलु तुमं देवाणुप्पिया ! मम पुव्वसंगइएणं देवेणं जंबुद्दीवाओ भारहाओ वासाओ हत्थिणाउराओ णयराओ जुहिट्ठिल्लस्स रण्णो भवणाओ साहरिया, तं मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! ओहय० जाव झियाहि, तुमं णं मए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं० जाव विहराहि । तए णं सा दोवई देवी पउमणाभं रायं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे बारवईए नयरीए कण्हे णामं वासुदेवे मम पियभाउए परिवसइ, तं जइ णं से छण्हं मासाणं मम कूवं नो हव्वमागच्छति, तए णं अहं देवाणुप्पिया ! जं तुमं वदसि तस्स आणाउवायवयणणिद्देसे चिट्ठिस्सामि । तए णं से पउमणाभे दोवईए देवीए एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता दोवइं देविं कण्णंतेउरे ठवेति । तए णं सा दोवई देवी छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं आयंबिलपरिग्गहिएणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणी विहरइ । तए णं से जुहिट्ठिल्ले राया तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धे समाणे दोवइं देविं पासे अपासमाणे सयणिज्जाओ उट्ठेइ, उट्ठेत्ता दोवईए देवीए सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ, दोवईए देवीए कत्थइ सुइं वा खुइं वा पवित्तिं वा अलभमाणे जेणेव पंडुराया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पंडुरायं एवं वयासी-एवं खलु ताओ ! मम आगासतलगंसि सुहपसुत्तस्स पासाओ दोवईए देवीए ण णज्जति-केणइ देवेण वा दाणवेण वा किंपुरिसेण वा किण्णरेण वा महोरगेण वा गंधव्वेण वा हिया वा, णीया वा, उक्खित्ता वा, तं इच्छामि णं ताओ ! दोवईए देवीए सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करित्तए । तए णं से पंडुराया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! हत्थिणाउरे नगरे सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरमहापहपहेसु महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! जुहिट्ठिल्लस्स रण्णो आगासतलगंसि सुहपसुत्तस्स पासाओ दोवई देवी ण णज्जइ केणइ देवेण वा दाणवेण वा किंपुरिसेण वा किण्णरेण वा महोरगेण वा गंधव्वेण वा हिया वा णीया वा उक्खित्ता वा ।

(वामं जाणुं अंचेइ त्ति) आकुञ्चयतीत्यर्थः । (दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निहट्टु) निहत्य, स्थापयित्वेत्यर्थः । (तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ) निवेशयतीत्यर्थः । (ईसिं पच्चुण्णमति, पच्चुण्णमइत्ता करयलपरिग्गहियं अंजलिं मत्थए कट्टु एवं वयासी-नमोऽत्थु णं अरहंताणं० जाव संपत्ताणं वंदति, नमंसइ, णमंसइत्ता जिणघराओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता ।" तत्र वन्दते चैत्यवन्दनविधिना प्रसिद्धेन, नमस्यति पश्चात्प्रणिधानाऽऽदियोगेनेति वृद्धाः । न च द्रौपद्याः प्रणिपातदण्डकमात्रं चैत्यवन्दनमभिहितम्, सूचनात् सूत्रं इति सूत्रप्रामाण्यादन्यस्यापि श्रावकाऽऽदेस्तावदेव तदिति मन्तव्यम् । चरितानुवादरूपत्वादस्य । न च चरितानुवादवचनानि विधिनिषेधसाधकानि भवन्ति, अन्यथा सूर्याभाऽऽदिदेववक्तव्यतायां बहूनां शस्त्राऽऽदिवस्तूनामर्चनं श्रूयत इति तदपि विधेयं स्यात् । किं चाविरतानां प्रणिपातदण्डकमात्रमपि चैत्यवन्दनं संभाव्यते, यतो वन्दते, नमस्यतीतिपदद्वयस्य वृद्धान्तरव्याख्यानमेवमुपदर्शितं जीवाभिगमवृत्तिकृता । विरतिमतामेव प्रसिद्धचैत्यवन्दनविधिर्भवति, अन्येषां तथाऽभ्युपगमपुरस्सरकायोत्सर्गासिद्धेः । ततो वन्दते सामान्येन, नमस्करोति आशयवृद्धेः प्रीत्युत्थानरूपनमस्कारेणेति । किं च-" समणेण सावएण य, अवस्स कायव्वयं हवति जम्हा । अंतो अहो निसिस्स य, तम्हा आव-

वस्सयं नाम ॥ १ ॥" तथा-"जं णं समणो वा समणी वा सावओ वा साविआ वा तच्चित्ते तम्मणे तल्लेस्से तदज्झवसिए उभओ कालं आवस्सए चिट्ठंति, से णं लोउत्तरिए भावावस्सए।" इत्यादिरनुयोगद्वारवचनात् । तथा सम्यग्दर्शनसंपन्नः प्रवचनभक्तिमान् षड्विधाऽऽवश्यकनिरतः षट्स्थानकयुक्तश्च श्रावको भवतीत्युमास्वातिवाचकवचनात् श्रावकस्य षड्विधाऽऽवश्यकसिद्धावावश्यकान्तर्गतप्रसिद्धं चैत्यवन्दनं सिद्धमेव भवतीति । (सारत्थयं ति) सारथ्यं सारथिकर्म "तए णं सा किड्डाविया" इत्यादौ वाचनान्तरे त्विदं दृश्यम्-"साभाविय-घरिसं लोइयजणस्स उस्सुयकरं विचित्तमणिरयणबद्धच्छ-रुअं ति ।" तत्र क्रीडापिका क्रीडनधात्री, (साभावियघरिसं ति) स्वाभाविकोऽकैतवकृतो घर्षो घर्षणं यस्य स तथा तं, दर्पणमिति योगः । (लोइयजणस्स उस्सुयकरं ति) तरुणलोकस्य औत्सुक्यकरं प्रेक्षणलक्षणस्य करं (विचित्तमणिरयणबद्धच्छरुअं ति) विचित्रमणिरत्नैर्बद्धः छरुको मुष्टिग्रहणस्थानं यः स तथा तं (चिल्लग) दीप्यमानं, दर्पणमादर्शम् (दप्पणसंकंत-बिंबसंदंसिए य त्ति) दर्पणे संक्रान्तानि यानि राज्ञां बिम्बानि प्रतिबिम्बानि तैः संदर्शिता उपलक्षिता ये ते तथा तांश्च (से) तस्याः दक्षिणहस्तेन दर्शयति स्म, द्रौपद्या इति प्रक्रमः । प्रवरराजसिंहान्, स्फुटः अर्थतो विशदं, वर्णतः विघुष्टं, शब्दार्थ-दोषरहितं, रिभित स्वरघोलनाप्रकारोपेतं, गम्भीरं मेघशब्दवद् मधुरं कर्णसुखकरं, भणितं भाषितं यस्याः क्रीडापिकायाः सा तथा तम, तथा (तेषां) मातापितरौ वंशाऽऽदिकं हरिवंशाऽऽदिकं, सत्त्वमात्मस्वबैकुञ्च्यकरमध्यवसानकरं च । सामर्थ्यं बलं,गोत्रं गौतमगोत्राऽऽदि,विक्रान्ति विक्रमं,कान्ति प्रभां, पाठान्तरेण कीर्तिं वा प्रख्याति, बहुविधाऽऽगमं नानाविधशास्त्रविशारदतामित्यर्थः, माहात्म्यं महानुभावतां,कुलं वंशस्यावान्तरभेदं, शीलं च स्वभावं जानाति या सा तथा, कीर्तनं करोति स्मेति । वृष्णिपुङ्गवानां यदुप्रधानानां दशाराणां समुद्रविजयाऽऽदीनां, दशारस्य वा वासुदेवस्य ये वरा वीराश्च पुरुषास्ते तथा, ते च ते त्रैलोक्येऽपि बलवन्तश्चेति विग्रहः । वीरास्तेषां शत्रुशतसहस्राणां रिपुलक्षाणां मानमवमृद्नन्ति ये ते तथा तेषां, तथा भविष्यतीति भव्या भाविनी सा सिद्धिर्येषां ते भवसिद्धिकास्तेषां मध्ये वरपुण्डरीकाणीव वरपुण्डरीकाणि ये ते तथा तेषाम्(चिल्लगाणं ति) दीप्यमानानां तेजसा । तथा-बलं शारीरं,वार्यं जीवप्रभवं. रूपं शरीरसौन्दर्यं, यौवनं तारुण्यं, गुणान् सौन्दर्याऽऽदीन्, लावण्यं च स्पृहणीयतां कीर्तयति या सा तथा, क्रीडापिका कीर्तनं करोति स्मेति पूर्वोक्तमपि क्रियाविशेषाभिधानायाभिहितमिति न दुष्टम् । (समइच्छमाणी ति)समतिक्रामन्ती (दसद्धवण्णेणं ति)इह श्रीदामगण्डेन पूर्वगृहीतेनेति सम्बन्धनीयम् । (कल्लाणकरे त्ति) कल्याणकरणं मङ्गलकरणमित्यर्थः । (इमं च णं ति) इतश्च (कच्छुल्लए नारए त्ति) एतन्नामा तापसः । इह क्वचिद् वाचनान्तरे इदं दृश्यम्-"दंसणेणं अइभद्दए" भद्रदर्शनमित्यर्थः । (विणीए अंतो अंतो य कलुसहियए) अन्तराऽन्तरा कलुषचित्तः, केलीप्रियत्वादित्यर्थः । (मज्झत्थउवत्थिए य त्ति) माध्यस्थ्यं समनाभ्युपगतो, व्रतग्रहणात इति भावः । (अल्लीणसोमपियदंसणे सुरूवे) आलीनानामाश्रितानां सौम्यमरौद्रं प्रियं च दर्शनं यस्य स तथा । (अमइलसगलपरिहिए) अमलिनं सकलमखण्डं,शकलं वा खण्डं,वल्कवास इति गम्यते । परिहितं निवसितं येन स तथा ।(कालमियचम्मउत्तरासंगरइयवच्छे)कालमृगचर्म उत्तरासङ्गेन रचितं वक्षसि येन स तथा । (दंडकमंडलुहत्थ जडामउडदित्तसिरए अण्णोवइयगणेत्तियमुंजमेहलवागलधरे) गणेत्रिका रुद्राक्षकृतं कलाचिकाभरणं,मुञ्जमेखला मुञ्जमयः कटीदवरकः,वल्कलं तरुत्वक् (हत्थकयकच्छभीए) कच्छपिका तद्रूपकरणविशेषः । (पियगंधव्वे) गन्धर्वप्रियः गीतप्रियः । (धरणिगोयरप्पहाणे) आकाशगामित्वात् । (संवरणावरणिओवयणुप्पयणिलेसणीसु य संकामणिआभिओगपण्णत्तिगमणीथंभणीसु य बहुसु विज्जाहरीसु विज्जासु विस्सुयजसे) इह संवरण्यादिविद्यानामर्थः शब्दानुसारतो वाच्यः । (विज्जाहरीसु त्ति) विद्याधरसंबन्धिनीषु, विश्रुतयशाः ख्यातकीर्तिः । (इट्ठे रामस्स य केसवस्स य पज्जुन्नपईवसंबअनिरुद्धनिसढउम्मुयसारणगयसुमुहदुम्मुहाईणं जायवाणं अद्धुट्ठाण य कुमारकोडीणं हिययदइए) वल्लभ इत्यर्थः । (संथवए) तेषां संस्तावकः (कलहजुद्धकोलाहलप्पिए) कलहो वाग्युद्धं,युद्धं तु आयुधयुद्धं, कोलाहलो बहुलोकमहाध्वनिः । (भंडणाभिलासी) भण्डनं पिशुनकाऽऽदिभिः (बहुसु य समरसंपराएसु)संग्रामेष्वित्यर्थः । (दंसणरए समंतओ कलहं सदक्खिणं ति) सदानमित्यर्थः । (अणुगवेसमाणे असमाहिकरे दसारवरवीरपुरिसतेलोक्कबलवगाणं आमंतेऊण तं भगवतिं पक्कमणिं गगणगमणदच्छं उप्पइओ० जाव गगणतलमभिलंघयंतो गामागरनगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणसंवाहसहस्समंडियं थिमियमेइणीयं णिब्भयजणपयं वसुहं ओलोइंतो रम्मं हत्थिणाउरं णगरं उवागए,) (असंजयअविरयअप्पडिहयअपच्चक्खायपावकम्मे त्ति कट्टु) असंयतः संयमरहितत्वात्, अविरतो विशेषतस्तपस्यरतत्वाच्च प्रतिहतानि न प्रतिषेधितानि अतीतकालकृतानि निन्दनतः न प्रत्याख्यातानि च भविष्यत्कालभावीनि पापकर्माणि प्राणातिपाताऽऽदिक्रिया येन । अथवा-न प्रतिहतानि सागरोपमकोटाकोट्या अन्तःप्रवेशनेन सम्यक्त्वलाभतः, न च प्रत्याख्यातानि सागरोपमकोटाकोट्या संख्यातसागरोपमैर्न्यूनताकरणेन सर्वविरतिलाभतः पापकर्माणि ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनि येन स तथेति पदद्वयस्य च कर्मधारयः । (कूवं ति)कूजकं व्यावर्त्तकबलमिति भावः ।

तं जो णं देवाणुप्पिया ! दोवईए देवीए सुइं वा खुइं वा पवित्तिं वा परिकहेइ,तस्स णं ते पंडुए राया विउलं अत्थसंपयाणं दलइ त्ति कट्टु घोसणं घोसावेह, एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा० जाव पच्चप्पिणंति । तए णं से पंडुए राया दोवईए देवीए कत्थइ सुइं वा० जाव अलभमाणे कुंतिं देविं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! बारवइं णगरिं कण्हस्स वासुदेवस्स एयमट्ठं णिवेदेहि,कण्हे णं परं वासुदेवे दोवईए देवीए मग्गणगवेसणं करेज्जा, अन्नहा न नज्जइ दोवईए देवीए सुइं वा खुइं वा पवित्तिं वा उवलभेज्जा । तए णं सा कुंती देवी पंडुएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणी० जाव पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता ण्हाया कयबलिकम्मा हत्थिखंधवरगया हत्थिणाउरं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ,णिग्गच्छइत्ता कुरुजणवयं मज्झं मज्झेणं जेणेव सुरट्ठा जणवए जेणेव बार-

वई णयरी जेणेव अग्गुज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता हत्थिखंधाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! जेणेव बारवई नगरी तेणेव बारवइं णगरिं अणुप्पविसह, अणुप्पविसित्ता कण्हं वासुदेवं करयल० जाव एवं वयह-एवं खलु सामी ! तुब्भं पिउच्छा कुंती देवी हत्थिणाउराओ नगराओ इह हव्वमागया तुब्भं दंसणं कंखइ। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा० जाव कहिंति। तए णं कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे हत्थिखंधवरगए हयगय० जाव बारवईए णयरीए मज्झं मज्झेणं जेणेव कुंती देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता हत्थिखंधाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता कुंतीए देवीए पायग्गहणं करेति, करेत्ता कुंतीए देवीए सद्धिं हत्थिखंधं दुरूहति, दुरूहइत्ता बारवइं नगरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सयं गिहं अणुप्पविसति। तए णं से कण्हे वासुदेवे कुंतिं देविं ण्हायं कयबलिकम्मं जिमियभुत्तुत्तरागयं० जाव सुहासणवरगयं एवं वयासी-संदिसह णं पिउच्छा ! किमागमणपओयणं ?। तए णं सा कुंती देवी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-एवं खलु पुत्ता ! हत्थिणाउरे णयरे जुहिट्ठिलस्स रण्णो आगासतलगंसि सुहप्पसुत्तस्स दोवईए देवीए पासाओ ण णज्जइ केणइ अवहिया वा० जाव उक्खित्ता वा, तं इच्छामि णं पुत्ता ! दोवईए देवीए मग्गणगवेसणं कयं। तए णं से कण्हे वासुदेवे कुंतिं देविं पिउच्छं एवं वयासी-जं नवरं पिउच्छा ! दोवईए देवीए कत्थइ सुइं वा० जाव लभामि, तो णं अहं पायालाओ वा भवणाओ वा अद्धभरहाओ वा समंताओ दुवइं देविं साहत्थिं उवणेमि त्ति कट्टु कुंतिं पिउच्छं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणेत्ता० जाव पडिविसज्जेइ। तए णं सा कुंती देवी कण्हेणं वासुदेवेणं पडिविसज्जिया समाणी जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया। तए णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! बारवइं णयरिं एवं जहा पंडू तहा घोसणं घोसावेति, घोसावेत्ता० जाव पच्चप्पिणंति, पंडुस्स जहा। तए णं से कण्हे वासुदेवे अण्णया कयाइं अंतो अंतेउरगए ओरोह० जाव विहरति। इमं च णं कच्छुल्लणारए जेणेव कण्हस्स रण्णो गिहे तेणेव० जाव समोवइए० जाव णिसीइत्ता कण्हं वासुदेवं कुसलोदंतं पुच्छइ। तए णं से कण्हे वासुदेवे कच्छुल्लं णारयं एवं वयासी-तुमं णं देवाणुप्पिया ! बहूणि गामाणि० जाव अणुप्पविससि, तं अत्थियाइं ते कहिंचि दोवईए देवीए सुई वा० जाव उवलद्धा। तए णं से कच्छुल्लए णारए कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अण्णया कयाइ धायईसंडे दीवे पुरच्छिमद्धे दाहिणड्ढभरहे वासे अवरकंकं रायहाणिं गए। तत्थ णं मए पउमणाभस्स रण्णो भवणंसि दोवई देवी जारिसिया दिट्ठपुव्वा यावि होत्था। तए णं से कण्हे वासुदेवे कच्छुल्लं णारयं एवं वयासी-तुब्भं चेव देवाणुप्पिया ! एयं पुव्वकम्मं। तए णं से कच्छुल्लनारए कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ते समाणे उप्पयणिं विज्जं आवाहेति, जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तए णं से कण्हे वासुदेवे दूतं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! हत्थिणाउरं णयरं पंडुस्स रण्णो एयमट्ठं निवेदेह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! धायइसंडे दीवे पुरच्छिमद्धे अवरकंकाए रायहाणीए पउमणाभस्स भवणंसि दोवईए देवीए पवत्ती उवलद्धा, तं गच्छंतु पंच पंडवा चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडा पुरच्छिमवेयालीए ममं पडिवालेमाणा चिट्ठंतु। तए णं से दूते० जाव भणइ-पडिवालेमाणा० जाव चिट्ठह, ते वि० जाव चिट्ठंति। तए णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सण्णाहियं भेरिं ताडेह, ते वि तालेंति। तए णं तीए सण्णाहियाए भेरीए सद्दं सोच्चा समुद्दविजयपामोक्खा दस दसारा० जाव छप्पण्णं बलवगसाहस्सीओ सण्णद्धबद्धा० जाव गहियाउहपहरणा। अप्पेगइया हयगया अप्पेगइया गयगया० जाव वग्गुरापरिक्खित्ता जेणेव सभा सुहम्मा जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता करयल० जाव वद्धावेंति। तए णं से कण्हे वासुदेवे हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धारिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं महया हयगयभडचडगरपहकरेणं बारवतीए नगरीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति, णिग्गच्छइत्ता जेणेव पुरच्छिमवेयाली समुद्दे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं एगओ मिलति, खंधावारनिवेसं करेति, करेत्ता पोसहसालं कारावेइ, कारावेत्ता पोसहसालं अणुप्पविसति, अणुप्पविसइत्ता सुट्ठियं देवं मणसीकरेमाणे चिट्ठति। तए णं कण्हस्स वासुदेवस्स अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि सुट्ठिओ० जाव आगओ। भण देवाणुप्पिया ! जं मए कायव्वं ?। तए णं से कण्हे वासुदेवे सुट्ठियं देवं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! दोवई देवी० जाव पउमणाभस्स भवणंसि साहरिया, तं णं तुमं देवाणुप्पिया ! मम पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठस्स छण्हं रहाणं लवणसमुद्दे मग्गं वियराहि, जं णं अहं अवरकंकं रायहाणिं दोवईए देवीए कूवं गच्छामि। तए णं से सुट्ठिए देवे

कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-किं णं देवाणुप्पिया ! जहा चेव पउमणाभस्स रण्णो पुव्वसंगतिएणं देवेणं दोवई० जाव साहरिया, तहा चेव दोवइं देविं धायईसंडाओ दीवाओ भारहाओ वासाओ० जाव हत्थिणाउरं साहरामि, उदाहु पउमणाभं रायं सपुरबलवाहणं लवणसमुद्दे पक्खिवामि ? । तए णं से कण्हे वासुदेवे सुट्ठियं देवं एवं वयासी-मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! ० जाव साहराहि । तुमं णं देवाणुप्पिया ! लवणसमुद्दे अप्पछट्ठस्स छण्हं रहाणं मग्गं वियराहि, सयमेवाहं दोवईए देवीए कूवं गच्छामि । तए णं से सुट्ठिए देवे कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-एवं होउ, पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठस्स छण्हं रहाणं लवणसमुद्दे मग्गं वियरइ । तए णं से कण्हे वासुदेवे चाउरंगिणिं सेणं पडिविसज्जेति, पडिविसज्जेत्ता पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे छहिं रहेहिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवयति, जेणेव अवरकंकाए रायहाणीए अग्गुज्जाणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता रहं ठावेति, ठावेत्ता दारुयं सारहिं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! अवरकंकं रायहाणिं अणुप्पविसाहि, पउमणाभस्स रण्णो वामेणं पाएणं पायपीढं अवक्कमेत्ता कुंतग्गेणं लेहं पणामेहि, पणामेत्ता तिवलियं भिउडिं णिलाडे साहट्टु आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए एवं वयाहि-हं भो पउमणाभा ! अपत्थियपत्थिया दुरंतपंतलक्खणा हीणपुण्णचाउद्दसा सिरिहिरिधिइकित्तिपरिवज्जिया अज्ज न भवसि, किं णं तुमं न याणासि कण्हस्स वासुदेवस्स भगिणिं दोवइं देविं इहं हव्वमाणेसि, तं एयमवि गए पच्चप्पिणाहि णं दोवइं देविं कण्हस्स वासुदेवस्स पच्चप्पिणाहि, अहवा जुज्झसज्जो णिग्गच्छाहि, एस णं कण्हे वासुदेवे पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे दोवईए देवीए कूवं हव्वमागए । तए णं से दारुए सारही कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता अवरकंकं रायहाणिं अणुप्पविसइ, जेणेव पउमनाभे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जाव वद्धावेइ, वद्धावेत्ता एवं वयासी-एस णं सामी ! मम विणयपडिवत्ती, इमा अण्णा मम सामिस्स समुहाऽऽणत्ति त्ति कट्टु आसुरुत्ते ४ वामपाएणं पायपीढं अवक्कमइ, अवक्कमित्ता कुंतग्गेणं लेहं पणामेइ, पणामेत्ता० जाव कूवं हव्वमागए । तए णं से पउमणाभे राया दारुएणं सारहिणा एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते ५ तिवलिभिउडिं निलाडे साहट्टु एवं वयासी-णो अप्पणामि णं अहं देवाणुप्पिया ! कण्हस्स वासुदेवस्स दोवइं देविं । एस णं अहं सयमेव जुज्झसज्जे णिग्गच्छामि त्ति कट्टु दारुयं सारहिं एवं वयासी-केवलं भो रायसत्थेसु दूते अवज्झे त्ति कट्टु असक्कारिय असंमाणिय अवद्दारेणं णिच्छुभावेमि । तए णं से दारुए सारही पउमणाभेणं असक्कारिए असंमाणे० जाव निच्छूढे समाणे जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जाव कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-एवं खलु अहं सामी ! तुम्ह वयणेणं० जाव णिच्छुभावेइ । तए णं से पउमणाभे राया बलवाउयं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेह । तयाणंतरं च णं छेयायरियउवदेसमइविगप्पणाविगप्पेहिं० जाव उवणेति । तए णं से पउमणाभे राया सण्णद्धबद्ध० जाव आभिसेक्कं हत्थिरयणं दुरूहति, दुरूहित्ता हयगयचाउरंगिणीए सेणाए परिवुडे जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव पहारेत्थ गमणाए । तए णं से कण्हे वासुदेवे पउमणाभं रायं एज्जमाणं पासति, पासइत्ता ते पंचपंडवे एवं वयासी-हं भो दारगा ! किं णं तुब्भे पउमणाभेणं सद्धिं जुज्झिह, उयाहु पिच्छिह । तए णं ते पंच पंडवा कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-अम्हे णं सामी ! जुज्झामो, तुम्हे पेच्छह । तए णं ते पंच पंडवा सण्णद्धबद्ध० जाव पहरणा रहे दुरूहंति, दुरूहित्ता जेणेव पउमणाभे राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता एवं वयासी-अम्हे वा पउमणाभे वा राय त्ति कट्टु पउमणाभेणं सद्धिं संपलग्गे यावि होत्था । तए णं से पउमणाभे राया ते पंच पंडवे खिप्पामेव हयमहियपवरविवडियचिंधद्धयपडागा० जाव दिसो दिसिं पडिसेहेति । तए णं ते पंच पंडवा पउमणाभेणं रण्णा हयमहियपवरविवडिय० जाव पडिसेहिया समाणा अथामा अबला० जाव अधारणिज्ज मिति कट्टु जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छंति । तए णं से कण्हे वासुदेवे ते पंच पंडवे एवं वयासी-कहं णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! पउमणाभेणं रण्णा सद्धिं संपलग्गा । तए णं ते पंच पंडवा कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे तुम्हेहिं अब्भणुण्णाया समाणा सण्णद्धबद्धा रहे दुरूहामो जेणेव पउमणाभे राया० जाव पडिसेहेए । तए णं से कण्हे वासुदेवे ते पंचपंडवे एवं वयासी-जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! एवं वयंता अम्हे णो पउमणाभे राय त्ति कट्टु पउमणाभेणं सद्धिं संपलग्गा, तो णं तुब्भे णो पउमणाभे हयमहियपवर० जाव पडिसेहिया । तं पेच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! अहं णो पउमणाभे राय त्ति कट्टु पउमणाभेणं रण्णा सद्धिं जुज्झामि, रहं दुरूहति, दुरूहइत्ता जेणेव पउमणाभे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सेयं गोखीरहारधवलं

तणुसोल्लियसिंदुवारं कुंदेंदुसंनिगासं नियगस्स बल-स्स हरिसजणणं रिउसेणाविणासकरं पंचजन्नं संखं परामुसति, परामुसइत्ता मुहवाउपूरियं करेति । तए णं तस्स पउमणाभस्स तेणं संखसद्देणं बलतिभाए हय० जाव पडिसेहिए ।

(सुई व त्ति) श्रूयत इति श्रुतिः शब्दस्ताम्, (खुतिं व त्ति) क-र्णं श्रुतिः शीत्काराऽऽदिः शब्दविशेष एव, ताम्, प्रयुक्तिं वार्त्ता, वार्तापर्यायत्वेन शेति। (ठिया व त्ति) हृता प्रदेशान्तरे स्थापिता, नीता नेया स्वस्थानं प्रापिता,आकृष्टा आकृष्टेति। (इमा अणे-त्यादि) इयमन्या अपरा मदीयस्वामिनः संबन्धिनी, विनयप्रति-पत्तिरिति वर्तते। (समुद्दाणसि कट्टु) स्वमुखेन स्वकीयवदनेन भणिता आज्ञासंदेशः स्वमुखाऽऽज्ञप्तिरिति कृत्वा,एवमभिधाय (आसुरुत्ते त्ति) क्रुद्धः (बलवाउए त्ति) बलव्यापृतः, सैन्य-व्यापारवान्। (आभिसेक्कं ति) अभिषेकमर्हतीत्याभिषेक्यं, मू-र्द्धाभिषिक्तमित्यर्थः। (छेयायरियउवएससमइकप्पणाविगप्पेहिं ति) छेको निपुणो य आचार्यः कलाचार्यः, तस्योपदेशास्तत्पूर्विका या मतेर्बुद्धेर्याः कल्पनाविकल्पाः कृतिभेदास्ते तथा तैरिति। इह वाचनान्तरे चेदं दृश्यम्-" सुनिउणेहिं ति " सुनिपुणैर्नरैः (उ-ज्जलनेवत्थहत्थपरिवच्छियं ति) उज्ज्वलनेपथ्येन निर्मलवेषेण (हत्थं ति) शीघ्रं,परिपाकितः परिगृहीतः परिवृतो यः स तथा। तम्। (सुसज्जं) सुष्ठु प्रगुणं (वम्मियसण्णद्धबद्धकवचियउप्पी-लियकच्छवच्छउगेवेज्जगलवरभूसणविरायंतं) वर्म्माणि नि-युक्ता वार्मिकाः तैः सन्नद्धः कृतसन्नाहो यः स वार्मिकसन्नद्धः, बद्धं कवचं सन्नाहविशेषो यस्य स बद्धकवचः, स एव बद्धकव-चिकः। अथवा-वर्मितः सन्नद्धो बद्धस्य कृपाणबन्धनात् कवचितश्च यः स तथा.मद्यश्चैतयोः शौकतोऽवसेयः। एकार्थाश्चैते शब्दाः, संनद्धता प्रकर्षाभिधानायोक्ता इति। तथा उत्पीडिता गाढीकृता कक्षा हृदयरज्जुर्वक्षसि यस्य स तथा। ग्रैवेयकं ग्रीवाऽऽ-भरणं बद्धं गले कण्ठे यस्य स तथा। प्रवरभूषणैर्विराजमानो यः स तथा। ततो वर्मिताऽऽदिपदानां कर्मधारयोऽतस्तम्। (आहयते-यज्जुत्तं सललियवरकण्णपूरविराइतं पलंबओचूलमहुयरकयंध-गारं) प्रलम्बानि अवचूलानि कटकन्यस्ताधोमुखकूर्चका यस्य स प्रलम्बावचूलः, मधुकरैर्भ्रमरैर्मदजलगन्धाऽऽकृष्टैः कृतमन्धकारं येन स तथा। ततः कर्मधारयोऽतस्तम् (चित्तपरिच्छेयपच्छदं) चित्रो विचित्रः परिच्छेदो लघुः प्रच्छदो वस्त्रविशेषो यस्य स तथा तम्। (पहरणावरणभरियजुद्धसज्जं) प्रहरणानां कुन्ताऽऽदी-नामावरणानां च कङ्कटानां भृतो यः स तथा। स च युद्धस-ज्जश्चेति कर्मधारयोऽतस्तम् । (सच्छत्तं सज्झयं सघंटं पंचामेलयपरिमंडियाभिरामं) पञ्चभिरापीडैः शेखरैः परिमण्डितोऽत एवाभिरामश्च रम्यो यः स तथा। (ओसारिय-जमलजुयलघंटं) अवसारितमवलम्बितं यमलं समं युगलं द्वयोर्घण्टयोर्येन स तथा तम्। (विज्जुपिणद्धं व कालमेहं) घ-ण्टाप्रहरणाऽऽदीनामुज्ज्वलत्वेन विद्युत्कल्पत्वात्,हस्तिदेहस्य च कालत्वेन महत्त्वेन च मेघकल्पत्वादिति। (उप्पाइयपव्वयं व च-क्कमंतं) चङ्क्रममाणमिवौत्पातिकपर्वतम् । पाठान्तरेण-औ-त्पातिकं पर्वतमिव (सक्खं ति) साक्षात् (मत्तं ति) मदवन्तं (गुलगुलंतं मणपवणजइणवेगं) मनःपवनज-यी वेगो यस्य स तथा तं भीमम्. [संगामिआओज्जं] सांग्रामिक-आयोगः परिकरो यस्य स तथा तम्। (आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेति, पडिकप्पेत्ता उवणेति त्ति) (हयमहियपवरविध-डियचिंधद्धयपडागे) हतमथिता अत्यर्थं हताः, अथवा हताः प्रहारतो, मथिता मानमथनाद् हतमथिताः, तथा प्रवरा वि-पातिताश्चिह्नध्वजाः कपिध्वजाऽऽदयः, पताकाश्च तदन्या येषां ते तथा। ततः कर्मधारयोऽतस्तान्। वाचनान्तरे-" किच्छो-वगयपाणे त्ति " दृश्यम। कष्टगतजीवितव्यानित्यर्थः। (अम्हे वा पउमनाभे वा राय त्ति कट्टु इति) अस्माकं पद्मनाभस्य वा पद्मनाभे वा राय त्ति कट्टु इति) अस्माकं पद्मनाभस्य वा, नो-न्व बलवत्त्वादिह संग्रामे वयं वा भवामः, पद्मनाभो वा, नो-भयेषामपीह संयुगे प्राणमस्तीति कृत्वा इति निश्चयं वि-धाय संप्रलग्नाः, योद्धुमिति शेषः । (अम्हे णो पउमनाभे राय त्ति कट्टु त्ति) वयमेवेह रणे जयामो न पद्मनाभो राजेति यदि स्वविषये विजयनिश्चयं कृत्वा पद्मनाभेन सार्द्धं योद्धुं संप्रलगिष्यथ, ततो न पराजयं प्राप्स्यथ, निश्चय-सारत्वात्फलप्राप्तेः। आह च-

" शुभाशुभानि सर्वाणि, निमित्तानि स्युरेकतः ।
एकतस्तु मनो याति, तद्विशुद्धं जयाऽऽवहम् ॥ १ ॥

तथा-

स्थाणिश्चयैकनिष्ठानां, कार्यसिद्धिः परा नृणाम् ।
संशयकुमार्चितानां, कार्ये संशीतिरेव हि ॥ २ ॥ "

शङ्खविशेषणानि कानिचिद् दृश्यन्ते-(सेयं गोखीरहारधवलं त-णुसोल्लियसिंदुवार कुंदकुसंनिगासं) (तणुसोल्लिय त्ति) म-ल्लिका, सिन्दुवारो निर्गुण्डिः (नियगस्स बलस्स हरिसजणणं रिउसेणाविणासकरं पंचजन्नं ति) पाञ्चजन्याभिधानम् ।

तए णं से कण्हे वासुदेवे धणुं परामुसति,वेढो धणुं पूरेइ,पूरे-इत्ता धणुसद्दं करेइ । तए णं तस्स पउमणाभस्स दोच्चे बलति-भाए तेणं धणुसद्देणं हयमहिय० जाव पडिसेहेति । तए णं से पउमणाभे राया तिभागबलावसेसे अथामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे अधारणिज्ज मिति कट्टु सिग्घं तुरियं चवलं जेणेव अवरकंका रायहाणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अवरकंकं रायहाणिं अणुप्पविसति, अ-णुप्पविसित्ता दुवाराइं पिहेति, रोहसज्जे चिट्ठइ । तए णं से कण्हे वासुदेवे जेणेव अवरकंका णयरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता रहं ठवेइ, ठवेइत्ता रहाओ पच्चोरुहेति, पच्चोरुहित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, एगं महं नरसीहरूवं विउव्वति, विउव्वइत्ता महया महया सद्देणं पाददद्दरं करेति । तए णं से कण्हेणं वासुदेवेणं महया महया सद्देणं पाददद्दरेणं कएणं समाणेणं अवरकंका राय-हाणी संभग्गपागारगोपुरट्टालयचरियतोरणपल्हत्थियपवरभ-वणसिरिघराओ सरसरस्स धरणियले सन्निवइया । तए णं से पउमणाभे राया अवरकंकं रायहाणिं संभग्गं० जाव पासित्ता भीए तसिए उव्विग्गे दोवइं देविं सरणं उवेइ । तए णं सा दोवई देवी पउमणाभं रायं एवं वयासी-किं णं तुमं देवाणुप्पिया ! ण जाणासि कण्हस्स वासुदेवस्स

उत्तमपुरिसस्स विप्पियं करेमाणे, तं एवमवि गते गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! ण्हाए उल्लपडसाडए ओचूलगवत्थणियत्थे अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडे अग्गाइं पवराइं रयणाइं गहाय मम पुरओ काउं कण्हं वासुदेवं करयल० जाव पायपडिए सरणं उवेहि, पणइवच्छला णं देवाणुप्पिया ! उत्तमपुरिसा । तए णं से पउमणाभे राया दोवईए देवीए एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता ण्हाए० जाव सरणं उवेइ,उवेत्ता करयल० जाव कट्टु एवं वयासी—दिट्ठा णं देवाणुप्पिया ! उत्तमपुरिसाणं इड्ढी०जाव परक्कमे, तं खामेमि णं देवाणुप्पिया ! ०जाव खमंतु णं देवाणुप्पिया ! ०जाव नाहं भुज्जो भुज्जो एवं अकरणयाए त्ति कट्टु पंजलिउडे पायवडिए कण्हस्स वासुदेवस्स दोवइं देविं साहत्थिं उवणेइ । तए णं से कण्हे वासुदेवे पउमनाभं रायं एवं वयासी—हं भो पउमणाभा ! अपत्थियपत्थिया ४ किं णं तुमं न याणासि मम भगिणिं दोवइं देविं इह हव्वमाणेमि । तं एवमवि गए नत्थि ते ममाहिंतो इयाणिं भयमत्थि त्ति कट्टु पउमणाहं रायं पडिविसज्जेइ,पडिविसज्जेइत्ता दोवतिं देविं गिण्हति,गिण्हइत्ता रहं दुरूहेति, दुरूहेत्ता जेणेव पंच पंडवा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता पंचपंडवाणं दोवइं देविं साहत्थिं उवणेइ । तए णं से कण्हे वासुदेवे पंचपंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठेहिं रहेहिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे तेणेव पहारेत्थगमणाए । तेणं कालेणं तेणं समएणं धायईसंडे दीवे पुरच्छिमद्धे भारहे वासे चंपा नामं नयरी होत्था,पुण्णभद्दे णामं चेइए । तत्थ णं चंपाए णयरीए कपिल्ले णामं वासुदेवे राया होत्था,महया हिमवंतवण्णओ । तेणं कालेणं तेणं समएणं मुणिसुव्वए अरिहंते चंपाए णयरीए जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव समोसढे, कपिल्ले वासुदेवे धम्मं सुणेइ । तए णं से कपिल्ले वासुदेवे मुणिसुव्वयस्स अरहओ धम्मं सुणेमाणे कण्हस्स वासुदेवस्स संखसद्दं सुणेइ । तए णं तस्स कपिलस्स वासुदेवस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था—किं मन्ने धायईसंडे दीवे भारहे वासे दोच्चे वासुदेवे समुप्पन्ने, जस्स णं अयं संखसद्दे ममं पिव मुहवायपूरिए वीयं जवइ । तए णं मुणिसुव्वए अरहा कपिल्लं वासुदेवं एवं वयासी—से णूणं कपिल्ला वासुदेवा ! मम अंतिए धम्मं णिसम्ममाणस्स संखसद्दं आकण्णित्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए किं मन्ने धायईसंडे दीवे०जाव वीयं भवइ, से णूणं कपिल्ला वासुदेवा ! अट्ठे समट्ठे हंता अत्थि । तं णो खलु कपिल्ला ! एवं भूयं वा,भवियं वा भविस्सं वा,जं णं एगखेत्ते एगजुगे एगसमएणं दुवे दुवे अरिहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जिंति वा, उप्पज्जिस्संति वा, एवं खलु कपिल्ला वासुदेवा ! जंबुद्दीवाओ भारहाओ वासाओ हत्थिणाउराओ णयराओ पंडुस्स रण्णो सुण्हा पंचण्हं पंडवाणं भारिया दोवई देवी तव पउमनाभस्स रण्णो पुव्वसंगइएणं देवेणं अवरकंकं रायहाणिं साहरिया । तए णं से कण्हे वासुदेवे पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे छहिं रहेहिं अवरकंकं रायहाणिं दोवईए देवीए कूवं हव्वमागए । तए णं तस्स कण्हस्स वासुदेवस्स पउमनाभेणं रण्णा सद्धिं संगामेमाणस्स०जाव अयं संखसद्दे तव मुहवायपूरिए इव वीयं जवइ । तए णं से कपिल्ले वासुदेवे मुणिसुव्वयं अरहं वंदइ,णमंसइ,णमंसइत्ता एवं वयासी—गच्छामि णं अहं भंते ! कण्हं वासुदेवं उत्तमपुरिसं सरिसपुरिसं पासामि । तए णं मुणिसुव्वए अरिहा कपिल्लं वासुदेवं एवं वयासी—णो खलु देवाणुप्पिआ ! एवं भूयं वा भव्वं वा भविस्सं वा,जं णं अरिहंता वा अरिहंतं पासंति, चक्कवट्टी वा चक्कवट्टिं पासंति, बलदेवा वा बलदेवं पासंति,वासुदेवा वा वासुदेवं पासंति,तह वि य णं तुमं कण्हस्स वासुदेवस्स लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवयमाणस्स सेयापीयाइं धयग्गाइं पासिहिसि । तए णं से कविल्ले वासुदेवे मुणिसुव्वयं अरिहंतं वंदइ,णमंसइ,णमंसइत्ता हत्थिखंधं दुरूहइ, दुरूहइत्ता सिग्घं जेणेव वेलाउले तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता कण्हस्स वासुदेवस्स लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवयमाणस्स सेयापीयाइं धयग्गाइं पासइ, पासइत्ता एवं वयासी—एस णं मम सरिसपुरिसे उत्तमपुरिसे कण्हे वासुदेवे लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवयति त्ति कट्टु पंचजण्णं संखं परामुसइ,परामुसइत्ता मुहवायपूरियं करेइ । तए णं से कण्हे वासुदेवे कविलस्स वासुदेवस्स संखसद्दं आयण्णेइ,आयण्णेइत्ता पंचजण्णं संखं मुहवायपूरियं करेति । तए णं दो वि वासुदेवा संखसद्दसामायारिं करेंति । तए णं से कविल्ले वासुदेवे जेणेव अवरकंका णयरी तेणेव उवागच्छति,उवागच्छइत्ता अवरकंकं रायहाणिं संभग्गतोरणं०जाव पासइ,पासइत्ता पउमनाभं रायं एवं वयासी—किं णं देवाणुप्पिआ ! एसा अवरकंका णयरी संभग्गा० जाव सन्निवाइया । तए णं से पउमनाभे कविलं वासुदेवं एवं वयासी—एवं खलु सामी ! जंबुद्दीवाओ भरहाओ वासाओ इहं हव्वमागम्म कण्हेणं वासुदेवेणं तुब्भे परिभूय अवरकंका णयरी०जाव सन्निवाइया । तए णं से कविल्ले वासुदेवे पउमनाहस्स रण्णो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा पउमनाभं रायं एवं वयासी—हं भो पउमणाभा ! अपत्थियपत्थिया ! किं णं तुमं न जाणासि मम सरिसस्स पुरिसस्स कण्हस्स वासुदेवस्स विप्पियं करेमाणा,कविल्ले वासुदेवे आसुरुत्ते० जाव पउमणाभं

णिव्विसयं आणवेइ, आणवेत्ता पउमनाहस्स पुत्तं अवरकंकाए रायहाणीए महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचइ, अभिसिंचइत्ता० जाव पडिगए । तए णं से कण्हे वासुदेवे लवणसमुदं मज्झं मज्झेणं वीईवइत्ता गंगं उवागए ते पंच पंडवे एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! गंगं महानई उत्तरह जाव ताव अहं सुट्ठियं लवणाहिवइं पासामि । तए णं ते पंच पंडवा कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ता समाणा जेणेव गंगा महानई तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता एगट्ठियाए नावाए मग्गणगवेसणं करेंति, करेत्ता एगट्ठियाए नावाए गंगं महानइं उत्तरंति, अण्णमण्णं एवं वयासी-पहू णं देवाणुप्पिया ! कण्हे वासुदेवे गंगं महानई बाहाहिं उत्तरित्तए, उदाहु णो पहू उत्तरित्तए त्ति कट्टु एगट्ठियणावं णूमंति, णूमंतित्ता कण्हं वासुदेवं पडिवालेमाणा चिट्ठंति । तए णं से कण्हे वासुदेवे सुट्ठियं लवणाहिवइं पासइ, पासइत्ता जेणेव गंगा महानई तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एगट्ठियाए नावाए सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेति, एगट्ठियं नावं अपासमाणे एगाए बाहाए रहं सतुरंगससारहिं गिण्हइ, गिण्हइत्ता एगाए बाहाए गंगं महानइं बासट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च वित्थिण्णं उत्तरिउं पवत्ते यावि होत्था । तए णं से कण्हे वासुदेवे गंगाए महानईए बहुमज्झदेसभाए संपत्ते समाणे संते तंते परितंते बद्धसेए जाए यावि होत्था । तए णं तस्स कण्हस्स वासुदेवस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था-अहो णं पंच पंडवा महाबलवगा, जेहिं गंगा महानई बासट्ठिजोयणाइं अद्धजोयणं च वित्थिण्णा बाहाहिं उत्तिण्णा, इच्छंतएहिं णं पंचहिं पंडवेहिं पउमनाभे राया हयमहिय० जाव णो पडिसेहिए । तए णं गंगा देवी कण्हस्स वासुदेवस्स इमं एयारूवं अब्भत्थियं० जाव जाणित्ता थाहं वितरइ । तए णं से कण्हे वासुदेवे मुहुत्तंतरं समासासेइ, समासासित्ता गंगं महानइं बासट्ठिं० जाव उत्तरइ, जेणेव पंच पंडवा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता पंचपंडवे एवं वयासी-अहो णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! महाबलवगा, जेणं तुब्भेहिं गंगा महानई बासट्ठि० जाव उत्तिण्णा, इच्छंतएहिं तुब्भेहिं पउमनाहे० जाव नो पडिसेहिए । तए णं ते पंच पंडवा कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ता समाणा कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे तुब्भेहिं विसज्जिया समाणा जेणेव गंगा महानई तेणेव उवागच्छित्ता एगट्ठिआए णावाए मग्गणगवेसणं तं चेव० जाव तुम्हे पडिवालेमाणा चिट्ठामो । तए णं से कण्हे वासुदेवे तेसिं पंचण्हं पंडवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते० जाव तिवलियं भिउडिं णिडाले कट्टु एवं वयासी-अहो जया णं मए लवणसमुदं दुन्नि जोयणसयसहस्सवित्थिण्णं वीईवइत्ता पउमणाहेणं हयमहिय० जाव पडिसेहित्ता अवरकंका संभग्गा, दोवई देवी साहत्थिं उवणीया, तया णं तुम्हे मम माहप्पं न विण्णायं, इयाणिं जाणिस्सइ त्ति कट्टु लोहदंडं परामुसइ, परामुसइत्ता पंचण्हं पंडवाणं रहं चूरेइ, चूरेत्ता णिव्विसए आणवेइ । तत्थ णं रहमद्दणे णामं कोट्टे निविट्ठे । तए णं से कण्हे वासुदेवे जेणेव सए खंधावारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सएणं खंधावारेणं सद्धिं अभिसमन्नागए यावि होत्था । तए णं से कण्हे वासुदेवे जेणेव बारवई नयरी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता अणुप्पविसति । तए णं ते पंच पंडवा जेणेव हत्थिणाउरे णयरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता जेणेव पंडू राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता करयल० जाव एवं वयासी-एवं खलु ताओ ! अम्हे कण्हेणं वासुदेवेणं निव्विसया आणत्ता । तए णं पंडुराया ते पंचपंडवे एवं वयासी-कहं णं पुत्ता ! तुब्भे कण्हेणं वासुदेवेणं णिव्विसया आणत्ता । तए णं ते पंच पंडवा पंडुरायं एवं वयासी-एवं खलु ताओ ! अम्हे अवरकंकाओ पडिणियत्ता लवणसमुदं दुन्नि जोयणसयसहस्साइं वीईवइत्ता, तए णं से कण्हे वासुदेवे अम्हे एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! गंगं महानइं उत्तरेह० जाव चिट्ठह जाव ताव अहं एवं तहेव० जाव चिट्ठामो । तए णं से कण्हे वासुदेवे सुट्ठियं लवणाहिवइं दट्ठूणं तं चेव सव्वं, णवरं कण्हस्स चिंता ण वुच्चइ० जाव णिव्विसए आणवेइ । तए णं से पंडुराया ते पंचपंडवे एवं वयासी-दुट्ठु णं पुत्ता ! कयं कण्हस्स वासुदेवस्स विप्पियं करेमाणेहिं । तए णं से पंडुराया कुंतिं देविं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! बारवइं णयरिं कण्हस्स वासुदेवस्स निवेएहि-एवं खलु देवाणुप्पिया ! तुमे पंचपंडवा णं निव्विसया आणत्ता, तुमं च णं देवाणुप्पिया ! दाहिणड्ढभरहस्स सामी, तं संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! ते पंच पंडवा कयरं देसं वा दिसिं वा विदिसिं वा गच्छंतु णं । तए णं सा कुंती पंडुणा रण्णा एवं वुत्ता समाणी हत्थिखंधं दुरूहति, दुरूहइत्ता जहा हेट्ठा० जाव संदिसंतु णं पिउत्था ! किमागमणपओयणं ? । तए णं सा कुंती कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-एवं खलु तुमं पुत्ता ! पंच पंडवा णिव्विसया आणत्ता, तुमं च णं दाहिणड्ढभरहसामी० जाव दिसिं वा विदिसिं वा गच्छंतु । तए णं से कण्हे वासुदेवे कुंतिं देविं एवं वयासी-अपूइवयणा

णं पिउत्था ! उत्तमपुरिसा चक्कवट्टी वा वासुदेवा वा बलदेवा वा, तं गच्छंतु णं पंच पंडवा दाहिणल्लं वेयालिं, तत्थ पंडुमहुरं णिवेसंतु, मम अदिट्ठसेवगा भवंतु त्ति कट्टु कुंतिं देविं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणेत्ता० जाव पडिविसज्जेइ । तए णं सा कुंती देवी० जाव पंडुस्स एयमट्ठं णिवेएइ । तए णं पंडुराया पंचपंडवे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे पुत्ता ! दाहिणिल्लं वेयालिं, तत्थ णं तुब्भे पंडुमहुरं णिवेसेह । तए णं ते पंच पंडवा पंडुस्स रण्णो० जाव तह त्ति पडिसुणंति, पडिसुणेत्ता सबलवाहणा हयगय० जाव हत्थिणाउराओ णयराओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव दक्खिणिल्ला वेयाली तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता पंडुमहुरं निवेसंति, निवेसित्ता तत्थ णं ते विपुलभोगसमिइसमण्णागया वि होत्था । तए णं सा दोवई देवी अन्नया कयाइं आवन्नसत्ता जाया वि होत्था । तए णं सा दोवई णवण्हं मासाणं० जाव सुरूवं दारगं पयाया० जाव सुकुमालं, निव्वत्तबारसाहस्स इमं एयारूवं गुणनिप्फन्नं नामधिज्जं करिंति, जम्हा णं अम्हं एस दारए पंचण्हं पंडवाणं पुत्ते दोवईए अत्तए, तं होउ णं अम्हं इमस्स दारगस्स णामधेज्जं पंडुसेणे त्ति, बावत्तरिं कलाओ० जाव अलं भोगसमत्थे जाए जुवराया० जाव विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा थेरा समोसढा, परिसा णिग्गया, पंडवा निग्गया, धम्मं सोच्चा एवं वयासी-जं णवरं देवाणुप्पिया ! दोवइं देविं आपुच्छामो, पंडुसेणं च कुमारं रज्जे ठावेमो, तओ पच्छा देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता० जाव पव्वयामो ?। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तए णं पंच पंडवा जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता दोवइं देविं सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिए ! अम्हेहिं थेराणं अंतिए धम्मं णिसंते० जाव पव्वयामो । तुमं देवाणुप्पिए ! किं करेसि ?। तए णं सा दोवई देवी पंच पंडवे एवं वयासी-जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गा० जाव पव्वयह, मम के अण्णे आलंबे वा० जाव भविस्सइ ?। अहं पि य णं संसारभयउव्विग्गा देवाणुप्पिएहिं सद्धिं पव्वइस्सामि । तए णं ते पंच पंडवा पंडुसेणस्स कुमारस्स अभिसेओ० जाव राया जाए ०जाव रज्जं पसाहेमाणे विहरइ । तए णं ते पंच पंडवा दोवई देवी य अन्नया कयाइं पंडुसेणं रायं आपुच्छंति । तए णं से पंडुसेणे राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! णिक्खमणाभिसेयं० जाव उवट्ठवेह, पुरिससहस्सवाहणीओ सिवियाओ उवट्ठवेह० जाव पच्चोरुहंति, जेणेव थेरा आयरिया आलित्तेणं० जाव समणा जाया चउद्दस पुव्वाइं अहिज्जंति, बहूणि वासाणि० जाव छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं सा दोवई देवी सीयाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता० जाव पव्वइया सुव्वयाए अज्जाए सिस्सणियत्ताए दलयंति, एक्कारसंगाइं० जाव अहिज्जइ, अहिज्जइत्ता बहूणि वासाणि छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं० जाव अप्पाणं भावेमाणी विहरइ । तए णं ते थेरा भगवंतो अन्नया कयाइं पंडुमहुराओ नयराओ सहस्संबवणाओ उज्जाणाओ पडिनिग्गच्छंति, पडिनिग्गच्छित्ता बहिया जणवयविहारं विहरंति । तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी जेणेव सुरट्ठाजणवए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सुरट्ठाजणवयंसि संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ० ४-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अरिहा अरिट्ठनेमी सुरट्ठाजणवए० जाव विहरइ । तए णं ते जुहिट्ठिल्लपामोक्खा पंच अणगारा बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा अन्नमन्नं सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अरहा अरिट्ठनेमी पुव्वाणुपुव्विं० जाव विहरइ, तं सेयं खलु अम्हं थेरा आपुच्छित्ता अरिहं अरिट्ठनेमिं वंदणाए गमित्तए, अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता थेरे भगवंते वंदंति, णमंसंति, णमंसइत्ता एवं वयासी-इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणा अरिहं अरिट्ठणेमिं० जाव गमित्तए ?। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तए णं ते जुहिट्ठिल्लपामोक्खा पंच अणगारा थेरेहिं अब्भणुन्नाया समाणा थेरे भगवंते वंदंति, णमंसंति, णमंसइत्ता थेराणं अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता मासं मासेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं गामाणुगामं दूइज्जमाणा० जाव जेणेव हत्थिकप्पे णयरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता हत्थिकप्पस्स बहिया सहस्संबवणे उज्जाणे० जाव विहरंति । तए णं ते जुहिट्ठिल्लवज्जा चत्तारि अणगारा मासखमणपारणए पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेंति, बीयाए एवं जहा गोयमसामी, णवरं जुहिट्ठिल्लं आपुच्छंति० जाव अडमाणा हत्थिकप्पे नयरे बहुजणस्स सद्दं निसामेंति-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अरहा अरिट्ठनेमी उज्जंतसेलसिहरे मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं पंचहिं छत्तीसेहिं अणगारसएहिं सद्धिं कालगए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे । तए णं जुहिट्ठिल्लवज्जा चत्तारि अणगारा बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा हत्थिकप्पाओ णयराओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमइत्ता

जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे जेणेव जुहिट्ठिल्ले अणगारे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भत्तपाणं पच्चक्खंति, गमणागमणं पडिक्कमंति, एसणमणेसणं आलोयंति, भत्तपाणं पडिदंसेंति, पडिदंसेत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! ०जाव अरिहा अरिट्ठनेमी कालगए, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! इमं पुव्वगहियं भत्तपाणं परिट्ठवित्ता सेत्तुंजए पव्वए सणियं सणियं दुरूहित्तए संलेहणाए झोसणाए झूसियाणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता तं पुव्वगहियं भत्तपाणं एगंते परिट्ठवेंति, परिट्ठवेत्ता जेणेव सेत्तुंजए पव्वए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता सेत्तुंजयं पव्वयं सणियं दुरूहंति, दुरूहइत्ता०जाव कालं अणवकंखमाणा विहरंति । तए णं ते जुहिट्ठिल्लपामोक्खा पंच अणगारा सामाइयमाइयाइं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता दोमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे० जाव तमट्ठमाराहेंति, अणंते०जाव केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने० जाव सिद्धा । तए णं सा दोवई अज्जा सुव्वयाणं अज्जियाणं अंते सामाइयमाइयाइं इक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववन्ना । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं दससागरोवमाइं ठिई पन्नत्ता । तत्थ णं दुवयस्स देवस्स दससागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । से णं भंते ! दुवए देवो ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं महाविदेहे वासे सिज्झिहिति०जाव संसारस्स अंतं काहिति । एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं सोलसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्ति बेमि ।

(वेदो त्ति) वेष्टक एकवस्तुविषयपदपद्धतिः । स चेह धनुर्विषयो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिप्रसिद्धोऽध्येतव्यः । तद्यथा-"अइरुग्गयबालचंदइंदधणुसन्निगासं ।" अचिरादुद्गतो यो बालचन्द्रः शुक्लपक्षद्वितीयाचन्द्रः, तेनेन्द्रधनुषा च वक्रतया सन्निकाशं सदृशं यत्तत्तथा । "वरमहिसदरियदप्पियदढघणसिंगग्गरइयसारं ।" वरमहिषस्य दृप्तदर्पितस्य संजातदर्पातिशयस्य यानि दृढानि घनानि च शृङ्गाग्राणि तैः रचितं सारं च यत्तत्तथा । 'उरगवरपवरगवलपवरपरहुयभमरकुलनीलिनिद्धंतधोयपट्ठं ।" उरगवरो नागवरः, प्रवरगवलं वरमहिषशृङ्गं, प्रवरपरभृतो वरकोकिलो, भ्रमरकुलं मधुकरनिकरो, नीली गुलिका, एतानीव स्निग्धं कालकान्तिमत्, ध्मातमिव ध्मातं च तेजसा ज्वलत्, धौतमिव धौतं च निर्मलं पृष्ठं यस्य तत्तथा । "निउणोवियमिसिमिसिंतमणिरयणघंटियाजालपरिक्खित्तं ।" निपुणेन शिल्पिना उपचितानामुज्ज्वलितानां मणिरत्नघण्टिकानां यज्जालं तेन परिक्षिप्तं वेष्टितं यत्तत्तथा । "तडितरुणकिरणतवणिज्जबद्धचिंधं" तडिदिव विद्युदिव तरुणाः प्रत्यग्राः किरणा यस्य तत्तथा, तस्य तपनीयस्य संबन्धीनि बद्धानि चिह्नानि लाञ्छनानि यत्र तत्तथा । "दद्दरमलयगिरिसिहरकेसरचामरवालअद्धचंदचिंधं ।" दर्दरमलयाभिधानौ यौ गिरी, तयोर्यानि शिखराणि, तत्संबन्धिनो ये केसरचामरवालाः सिंहस्कन्धचमरपुच्छकेशा अर्द्धचन्द्राश्च तल्लक्षणानि चिह्नानि यत्र तत्तथा । "कालहरियरत्तपीयसुक्किलबहुण्हारुणिसंपिणद्धजीवं ।" कालाऽऽदिवर्णा या बहवः स्नायवः शरीरान्तर्बन्धनतन्तवस्ताभिः संपिनद्धा जीवाः प्रत्यञ्चा यस्य स तत्तथा । "जीवियंतकरणं ति ।" शत्रूणामिति गम्यते । (संभग्गेत्यादि) संभग्नानि प्राकारो गोपुराणि च प्रतोल्यः, अट्टालकाश्च प्राकारोपरिस्थानविशेषाः, चरिका च नगरप्राकारान्तरेऽष्टहस्तो मार्गः, तोरणानि च यस्यां सा तथा । पर्यस्तितानि पर्यस्तीकृतानि, सर्वतः क्षिप्तानीत्यर्थः । प्रवरभवनानि श्रीगृहाणि च भाण्डागाराणि यस्यां सा तथा । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । (सरसरस्स त्ति) अनुकरणशब्दोऽयमिति । (उल्लपडसाडए त्ति) सद्यः स्नानेन आर्द्रौ पटशाटकौ उत्तरीयवस्त्रपरिधाने यस्य स तथा । (अवचूलगवत्थानयत्थे त्ति) अवचूलस्तोमुखस्थस्त मुत्कलाग्रं तं यथा भवतीत्येवं वस्त्रं निवसितं येन स तथा । (तं पत्तमवि गए नत्थि ते ममाहिंतो इयाणिं भयमत्थि त्ति) तत्प्राप्तमपि गत आसन्नकार्ये नास्ति भय पक्षो-यद्युत ते तव मत्तो भयम् किं तर्हि (पज्जहिय त्ति) तं (सुमति त्ति) गोपयन्ति । श्रान्तः खिन्नः, तान्तः मृत्काङ्क्षावान् जातः, परितान्तः सर्वथा खिन्नः एकार्थिकान्येते । (इच्छिय पाहिं त्ति) इच्छया क्रयाणि इत्यर्थः (वेयालीए त्ति) वेलातटे इति । इहापि सूत्रे उपनयो दृश्यते । एतच्चास्मा दृश्यः-

"सुबहूं पि तवकिलेसो, नियाणदोसेण दूसिओ संतो ।
न सिवाय दोवईए, जह किल सुकुमालियाजम्मे ॥ १ ॥"

अथवा-

"अमणुन्नमभत्तीए, पत्ते दाणं भवे अणत्थाय ।
जह कडुयतुंबदाणं, नागसिरिभवम्मि दोवईए ॥ २ ॥" इति । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । ती० । स्था० । प्रश्न० । आ० म० । हा० । प्रति० ।

दुवग्ग-द्विवर्ग-पुं० । उभयकोटौ, नि० चू० १५ उ० । आचा० ।

दुवण-दुवन-न० । उपतापने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

दुवय-द्विपद्-पुं० । 'दुपय' शब्दार्थे, स० १२ अङ्क ।

दुव्वामतग्ग-दुर्वामयतरक-पुं० । दुःस्थाऽऽयतरकलङ्के, भ० ६ श० १ उ० ।

दुवार-द्वार-न० । "पद्मछद्ममूर्खद्वारे वा" ॥ ८ । २ । ११२ ॥ इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उद्वा । 'दुवारं ।' पक्षे 'वारं ।' 'देरं ।' 'दारं ।' प्रा० २ पाद । प्रतोद्याम, आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रामस्य मुखं, सू० १ श्रु० ३ अ० ३ प्रक० । प्रासादनगरदेवकुलाऽऽदीनां प्रवेशमुखे च । सू० १ श्रु० ३ प्रक० । प्रज्ञा० । (अपावृतद्वारत्वमतो द्वारपिधानं संयतीभिः कर्तव्यमिति 'वसइ' शब्दे वक्ष्यते)

दुवारकम्म-द्वारकर्मन्-न० । द्वारस्य विषमायाः भूमेः समीकरणे, नि० चू० ४ उ० ।

दुवारपिहाण-द्वारपिधान-न० । कपाटमाश्रित्य द्वारस्थगने, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

दुवारवाहा-द्वारवाहा-स्त्री० । द्वारशाखे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ० ।

दुवारसाहा-द्वारशाखा-स्त्री० । द्वारपार्श्वस्थकाष्ठाऽऽक्षी, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० ।

दुवारिअ-दौवारिक-पुं० । "उच्चैर्ग्रेष्वौऽऽसैः" ॥८।१।१६०॥ इति औत उत् । 'दुवारिओ ।' प्रा० १ पाद ।

दौवारिक-पुं० । द्वारे नियुक्तः, ठक् । द्वारपाले, वाच० ।

दुवालसावत्त-द्वादशाऽऽवर्त्त-न० । "दुवालसावत्ते किलिकम्मे पण्णत्ते । तं जहा-'दुओणयं जहाजायं, किलिकम्मं बारसावयं । चउसिरं तिगुत्तं दुपवेसं एगनिक्खमणं ॥१॥" इति सूत्राभिधानगर्भेषु कायव्यापारविशेषेषु, स० १ सम० ।

दुविट्ठु-द्विपिष्ट पुं० । द्वितीये वासुदेवे, ति० । अवमे भविष्यति वासुदेवे, स० । तं० ।

दुविह-द्विविध-त्रि० । " द्विन्योरुत् " ॥ ८ । १ । ९४ ॥ इति द्विशब्देकारस्योकारः । 'दुविहो ।' प्रा० १ पाद । द्वे विधे प्रकारावस्येति द्विविधः । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । द्विप्रकारे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आचा० । विशे० । उत्त० । स्था० । प्रश्न० ।

दुविहजूमिपत्त-द्विविधजूमिप्राप्त-त्रि० । नरः (अवशुन्नऽऽगमत्वाऽऽदि)श्रुतपर्याय । यावत्पर्यायस्य यद्वक्तुं दीयते / कपवुनमावश्यकतायाम्मतां प्राप्ते, नि० चू० १९, उ० ।

दुवण्णा-दुर्वर्ण-न० । अशुभवर्णे, नि०चू० । "वण्णवाणमत्थेसु दुवण्णं ।" एकस्मिन्नपि पततीत्यर्थः । "अहवा-पमाणाइरित्ताइं सुवण्णं, सेसा सव्वे दुवण्णा ।" अनिष्टा इत्यर्थः । नि०चू०१ उ० । अ० । कुरूपे च । त्रि० । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दुव्वय-दुर्व्रत-त्रि० । असत्यव्रते, स्था० ४ ठा० ३ उ० । दुष्टानि व्रतानि येषां ते तथा । यथा मांसभक्षणं, व्रतकालसमाप्तौ प्रतननरसरोपघातेन मांसप्रदानम्, अन्यदपि तत्त्वोऽजमाऽऽदिकं दुष्टव्रतमिति । तथाऽन्यस्मिन् जन्मान्तरे अशुभमांसाऽऽदिकमखण्डप्रवृत्तिमाशोऽस्येवमज्ञानात् जन्मान्तरीयपञ्चरेत्सर्गादानमेव व्रतं गृह्णन्ति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । व्रतवर्जिते, विपा० १ श्रु० १ अ० । दशा० ।

दुव्वलचारित्त-दुर्बलचारित्र-पुं० । दुर्बलचारित्रे इति दुर्बलचारित्रः । विना कारणेन मूलोत्तरगुणपरिसेविनि, नि० चू० १ उ० । व्य० ।

दुव्वसुमुणि-दुर्वसुमुनि-पुं० । मोक्षगमनायोग्ये, आचा० ।

दुव्वसुमुणी अणाणाए तुच्छए गिलाइ वत्तए, एस वीरे पसंसिए (१००)

(दुव्वसु इत्यादि) वसु द्रव्यम्, तच्च भव्येऽर्थे द्रव्यमिति,द्रव्यं च भव्य इत्यनेन । भव्यश्च मुक्तिगमनयोग्यः, तत्प्रश्च मुक्तिगमनयोग्यं यत् द्रव्यं तद् वसु, दुष्टं वसु दुर्वसु.दुर्वसु चासौ मुनिश्च दुर्वसुमुनिः-मोक्षगमनायोग्यः । स च कुतो जायते ?, अनाज्ञया तीर्थकरोपदेशशून्यः,स्वैरीत्यर्थः । किमत्र तीर्थकरोपदेशो दुष्करं, येन स्वैरित्वमभ्युपगम्यते ?। नत्कुच्यते-उद्देशकाऽऽदेरारभ्य सर्वं यथासंभवमायोज्यम । तथाहि-मिथ्यात्वमोहितं लोकं सम्बोधुं, दुष्करव्रतेषु,व्यामरणान्यारोपयितुं,रसवती निग्रहीतुं,शब्दाऽऽदिविषयेष्विष्टानिष्टेषु माध्यस्थ्यं भावयितुं,प्रान्तरुक्षाणि भोक्तुम्,एवं यथोद्दिष्टया मौनीन्द्राज्ञया असिधारकल्पया दुष्करं सञ्चरितुम्, अनुकूलप्रतिकूलांश्च नानाप्रकारानुपसर्गान् सोढुम् । अलाहे च कर्मोदयोऽनाद्यतीतकालसुखभावना च कारणं,जीवो हि स्वभावतो दुःखजनितनिरोधसुखप्रियोऽतो निरोधकल्पयाऽऽज्ञायां दुःखं वसति । अतस्तं च किंभूतो भवतीत्याह-(तुच्छए इत्यादि) तुच्छो रिक्तः,स च द्रव्यतो निर्धनो, घटाऽऽदिरिव जलाऽऽदिरहितो,भावतो ज्ञानाऽऽदिरहितः । ज्ञानाऽऽदिरहितो हि कश्चित्संशीतिविषये केनचित्पृष्टोऽपरिज्ञानात् ग्लायति वक्तुं, ज्ञानसमन्वितो वा चारित्रिकः पूजासत्कारभयाच्छुद्धमार्गप्ररूपणावसरे ग्लायति यथावस्थितं प्रज्ञापयितुम् । तथाहि-प्रवृत्तमनिनिधिः संनिधिसंनिधिपातमात्रं । एवमन्यत्रापीति । यस्तु कथायमहाविषयाद्कल्पजनवञ्ज्ञोपजीवकः स सुवसुमुनिर्भवत्यरिक्तो न ग्लायति च वक्तुम, यथावस्थितवस्तुपरिज्ञानाद्युक्तात् । आह च-(एस इत्यादि) एष इति सुवसुमुनिर्ज्ञानाऽऽदरिक्तो यथावस्थितमार्गप्रज्ञापको वीरः कर्मविदारणात्, प्रशंसितस्तत्त्वविद्भिः श्लाघित इति । आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

दुव्वहु-दुर्वह-त्रि० । वोढुमशक्ये, उत्त० १७ अ० ।

दुव्वाइ-दुर्वाक्-पुं० । अप्रियवक्तर, दश० २ अ० ।

दुव्वियड्ड-दुर्विदग्ध-पुं० । ज्ञानलवगर्वाङ्कुरे, जीवा० २० अधि० । पण्डितम्मन्ये, स्था० ।

दुव्वियड्ढा-दुर्विदग्धा-स्त्री० । मिथ्याऽहङ्कारविडम्बितायां पर्षदि, नं० ।

दुव्वियचिंतिय-दुर्विचिन्तित-पुं० । दुष्टो विचिन्तितो दुर्विचिन्तितः । अशोभनतया अशुभे विचिन्तिते, "जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलं तयं चित्तं ।" इति वचनात् । ध०२ अधि० ।

दुव्वियाण-दुर्विज्ञ-त्रि० । दुर्विज्ञानादि, प्रश्न०१ आश्र०द्वार ।

दुव्वियाय-दुर्विज्ञात-त्रि० । दुष्टं विज्ञानं दुर्विज्ञातम् । दुष्टे विज्ञाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

दुव्विणीय-दुर्विनीत-त्रि० । दुर्विनययुक्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । आव० । आ० म० ।

दुव्वियड्ढ-दुर्विदग्ध-पुं० । 'दुव्वियड्ड' शब्दार्थे, जीवा०२०अधि० ।

दुव्वियड्ढ-दुर्विदग्ध-पुं० । ' दुव्वियड्ड ' शब्दार्थे, जीवा० २० अधि० ।

दुव्वियड्ढबुद्धि-दुर्विदग्धबुद्धि-पुं० । स्वाभिप्रायेणाऽऽगमानुसारिणि, दर्श० ५ तत्त्व ।

दुव्विभज-दुर्विभज-त्रि० । कष्टविभजनीये, "मज्झिमगाणं दुव्विभज्जं दुग्गमं भवइ ।" आवश्यकेऽपि तत्र दुर्विभजं कष्टविभजनीयम्, अत एवानुकूल्यादेव तत्त्वमवगीति । दुःशक शिक्षायां वस्तुतत्त्वस्य विज्ञानेनावस्थापनमित्यर्थः । दुर्विभव- मित्यत्र पाठान्तरे दुर्विभाव्यम्, दुःखाका विभावना कर्तुं तस्येत्यर्थः । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

दुव्विभाव-दुर्विभाव-त्रि० । दुर्लक्ष्ये, विशे० ।

दुव्वियड-दुर्विवृत-त्रि० । दुष्टविवृतो दुर्विवृतः परिधानवर्जिते, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

दुव्वियड्ढ–दुर्विदग्ध–पुं० । 'दुव्वियड्ढ' शब्दार्थे, औ० २० अधि० ।

दुव्वियड्ड–दुर्विदग्ध–पुं० । 'दुव्वियड्ढ' शब्दार्थे, औघा० २० अधि० ।

दुव्विसह–दुर्विषह–त्रि० । दुस्सहे, भ० ७ श० ६ उ० ।

दुव्विसोज्झ–दुर्विशोध्य–त्रि० । दुःखेन शुद्धिप्रकर्षप्रापणीये, पञ्चा० १६ विव० ।

दुव्विहिय–दुर्विहित–पुं० । पार्श्वस्थाऽऽदौ, आव० १ अ० ।

दुव्वोल–देशी- उपालम्भे, दे० ना० ५ वर्ग ४२ गाथा ।

दुस–दुष–धा० । दिवा०-पर०-अक०-अनिट् । वाच० । वैकृत्ये, विशे० । दुष्यति, अदुषत्, अदुक्षत् । वाच० ।

दुसण्णप्प–दुःसंज्ञाप्य–पुं० । दुःखेन कृच्छ्रेण संज्ञाप्यन्ते प्रज्ञाप्यन्ते बोध्यन्त इति दुःसंज्ञाप्याः । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

तओ दुसण्णप्पा पण्णत्ता । तं जहा–दुट्ठे, मूढे, वुग्गाहिए ॥३॥

अस्य संबन्धमाह–

सम्मत्ते वि अजोग्गा, किमु दिक्खणवायणासु दुट्ठादी ?।
दुसण्णप्पाऽऽरंभो, मा मोहपरिस्समो होज्जा ॥ ३२७ ॥

दुष्टाऽऽदयस्त्रयः सम्यक्त्वग्रहणेऽप्ययोग्याः, किं पुनर्दीक्षावाचनयोः ?। अतस्तेषां प्रज्ञापने मोघो निष्फलः प्रज्ञापकस्य परिश्रमो मा भूदिति दुःसंज्ञाप्यसूत्रमारभ्यते । अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य व्याख्या–त्रयो दुःखेन कृच्छ्रेण संज्ञाप्यन्ते प्रतिबोध्यन्त इति दुःसंज्ञाप्याः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा–दुष्टस्तत्त्वप्रज्ञापकं प्रति द्वेषवान्, स चाप्रज्ञापनीयो द्वेषेणोपदेशाप्रतिपत्तेः । एवं मूढो गुणदोषानभिज्ञः, व्युद्ग्राहितो नाम कुप्रज्ञापकदृढीकृतविपरीतबोधः । एष सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः–

दुसमाप्पो तिविहो, दुट्ठाई दुट्ठो वण्णितो पुव्वि ।
मूढस्स उ णिक्खेवो, अट्ठविहो होइ कायव्वो ॥३२८॥

दुःसंज्ञाप्यो दुष्टाऽऽदिभेदात्त्रिविधः, तत्र दुष्टः पूर्वं पाराञ्चिकसूत्रे यथा वर्णितस्तथाऽत्रापि मन्तव्यः । मूढस्य पुनरष्टविधो निक्षेपो वक्ष्यमाणनीत्या कर्तव्यो भवति ।

तत्र पदत्रयनिष्पन्नामष्टभङ्गीमाह–

दुट्ठे मूढे वुग्गा–हिते य भयणा उ अट्ठहा होइ ।
पढमगभंगे सुत्तं, पढमं बिइयं तु चरिमम्मि ॥ ३२९ ॥

दुष्टो मूढो व्युद्ग्राहित इति त्रिभिः पदैरष्टधा भजना भवति, अष्टौ भङ्गा इत्यर्थः । अत्र च प्रथमे भङ्गे प्रथमं सूत्रं निपतति, चरमेऽष्टमे भङ्गेऽदुष्टोऽमूढोऽव्युद्ग्राहित इत्येवंलक्षणे द्वितीयं वक्ष्यमाणं सूत्रमिति । बृ० ४ उ० ।

अथैषां मध्ये के प्रव्राजयितुं योग्याः ?, के वा नेत्याह–

मोत्तूण वेदमूढं, अप्पडिसिद्धा उ सेसगा मूढा ।
वुग्गाहिता य दुट्ठा, पडिसिद्धा कारणं मोत्तुं ॥३३०॥

वेदमूढं मुक्त्वा ये शेषा द्रव्यक्षेत्रमूढाऽऽदयस्तेऽप्रतिषिद्धाः, प्रव्राजयितुं कल्पन्ते इत्यर्थः । ये तु व्युद्ग्राहिता दुष्टाश्च कषायदुष्टाऽऽदयस्ते कारणं मुक्त्वा प्रतिषिद्धाः, कारणे तु कल्पन्ते इति भावः ।

किमर्थमेते प्रतिषिद्धाः ?, इत्याह–

जं तेहिँ अभिग्गहियं, आमरणंता य तं न मुंचंति ।
सम्मत्तं पि ण लग्गति, तेसिं कत्तो चरित्तगुणा ? ॥३३१॥

यतस्ते व्युद्ग्राहिताऽऽदिभिः किमपि शाक्याऽऽदिदर्शनमभ्युपगताऽऽदिकं मिथ्याश्रुतमभिगृहीतमाभिमुख्येनोपादेयतया स्वीकृतं तदामरणान्तं न मुञ्चन्ति । अथ चैतेषां सम्यक्त्वमपि न लगति, कुतश्चारित्रगुणा इति ?।

कथं पुनरमीषां सम्यक्त्वमपि न लगतीत्याह–

सोयमुयघोररणमुह–दारजरणंपयक्खिमइएसु ।
सग्गेसु देवपूय ण–चिरजीवणदाणदिट्ठेसु ॥ ३३२ ॥

इच्चेवमाइलोइय–कुस्सुइवुग्गाहणाकुहियकण्णा ।
फुडमवि दाइज्जंतं, गिण्हंति न कारणं केइ ॥ ३३३ ॥

इह लौकिकाऽऽदौ शौचश्रुतघोररणमुखदारभरणप्रेतकृत्यमयेषु देवपूजनचिरजीवनदानदृष्टेषु च स्वर्गेषु ये भाविता भवन्ति, तथा हि-शौचविधानात् पुत्रोत्पादनात् घोरसमरशिरःप्रवेशात् धर्मपत्नीपोषणात् पिण्डप्रदानाऽऽदिप्रेतकर्मविधानात् वैश्वानराऽऽदिदेवपूजनात् चन्द्रमहस्याऽऽदिरूपचिरकालजीवनात् ब्राह्मणेभ्योऽवाप्यते, इत्येवमादिलौकिककुश्रुतव्युद्ग्राहणाकुथितकर्णाः सन्तस्तथा कुश्रुतेरपघट्टनायां स्फुटमपि दर्श्यमानं कारणमुपपत्तिं केचिद्दुष्टकर्माणो न प्रतिपद्यन्ते, अतस्ते दुःसंज्ञाप्या मन्तव्याः । बृ० ४ उ० ।

दुसमदुसमा–दुःषमदुःषमा–स्त्री० । अवसर्पिण्याः षष्ठे उत्सर्पिण्याश्च प्रथमेऽरके, जं० । "एक्कवीसवाससहस्साइं कालो दुसमदुसमा ।" जं० ६ श० ७ उ० । स्था० । ती० । नि० । आ० चू० । तं० । ज्यो० । (अस्या वर्णकः "ओसप्पिणी" शब्दे तृ० भाग १२२ पृष्ठे, 'उस्सप्पिणी' शब्दे द्वि० भाग ११६१ पृष्ठे च द्रष्टव्यः)

दुसमय–द्विसमय–त्रि० । द्वौ समयौ यत्र स द्विसमयः । समयद्वयजाते, भ० १४ श० १ उ० ।

दुसमयसिद्ध–द्विसमयसिद्ध–पुं० । सिद्धत्वसमयाद्द्वितीयसमयवर्तिनि, प्रकारान्तरेण तृतीयसमयवर्तिनि परम्परसिद्धभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दुसमसुसमा–दुःषमसुषमा–स्त्री० । अवसर्पिण्याश्चतुर्थे उत्सर्पिण्यास्तृतीये चारके, जं० । "एगा सागरोवमकोडाकोडी बायालीसाए वाससहस्सेहिं ऊणिया कालो दुसमसुसमा ।" भ० ६ श० ७ उ० । जं० । (अस्या वर्णकस्तु 'ओसप्पिणी' शब्दे तृ० भागे १२१ पृष्ठे, 'उस्सप्पिणी' शब्दे द्वि० भागे ११७१ पृष्ठे च द्रष्टव्यः) "एगा दुसमसुसमा ।" स्था० १ ठा० ।

दुसमा–दुःषमा–स्त्री० । अवसर्पिण्याः पञ्चमे उत्सर्पिण्या द्वितीये चारके, भ० । "एक्कवीसं वाससहस्साइं कालो दुसमा ।" भ० ६ श० ७ उ० । स्था० । ती० । नि० । आ० चू० । ज्यो० । तं० । (अस्या वर्णकस्तु 'ओसप्पिणी' शब्दे तृतीयभागे १२१ पृष्ठे, 'उस्सप्पिणी' शब्दे द्वि० भागे ११६६ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्य.) " इमेहिं ठाणेहिं ओगाढं दुस्समं जाणेज्जा । तं जहा–अकाले वरिसइ, काले न वरिसइ, असाहू पूइज्जंति, साहू न

पुरिसंति, गुरुसु जणो मिच्छं पडिवन्नो अमणुण्णा सद्दा० जाव फासा।" स्था० १० ठा०। (अस्य वक्तव्यता ' कलिजुग ' शब्दे तृ० भागे ३८० पृष्ठे) नवरं " तओ गोयमसामी आणगपुव्वं पुच्छइ-भयवं ! तुम्हं निव्वाणानंतरं किं किं भविस्सइ ? । पहुणा भणियं सोम ! मम मुक्खगयस्स तिहिं वासेहिं अद्धनवमेहि य मासेहिं पंचम अरओ दूसमा भविस्सइ । मह मुक्खगमणाओ वासाणं चउसट्ठीए अपच्छिमकेवली जंबूसामी सिद्धिं गमिही। तेणं समयं पज्जवनाणं, परमोही, पुलायलद्धी, आहारगसरीरखवगसेढी, उवसमगसेढी, जिणकप्पो, परिहारविसुद्धि-सुहुमसंपराय-अहक्खायचारित्ताणि, केवलनाणं, सिद्धिगमणं च त्ति दुवालस ठाणाइं भारहे वासे वुच्छिज्जिहिंति । " अज्जसुहम्मप्पमुहा, होहिंति जुगप्पहाणआयरिया । दुप्पसहो जा सूरी, अवगहिया दोन्नि य सहस्सा ॥ १ ॥ " सत्तरिसमाऽहिए वाससए थूलभद्दम्मि सग्गगए चरमाणि चत्तारि पुव्वाणि, समचउरंससंठाणं, वज्जरिसहनारायं संघयणं, महापाणज्झाणं च वुच्छिज्जिहिइ । वासपंचसएहिं अज्जवइरे दसमं पुव्वं संघयणं चउक्कं च अवगच्छिही । मह मुक्खगमणाओ पालयनंदचंदगुत्ताइराईसु वोलीणेसु चउसयसत्तरेहिं विक्कमाइच्चो राया होही । तत्थ सट्ठिवारिसाणं पालगस्स रज्जं, पणपन्नसयं नंदाणं, अट्ठोत्तरं सयं मोरियवंसाणं, तीसं पूसमित्तस्स, सट्ठी बलमित्तभाणुमित्ताणं, चालीसं नरवाहणस्स, तेरस गद्दभिल्लस्स, चत्तारि ......सगस्स, तओ विक्कमाइच्चो । सो साहियसुवन्नपुरिसो पुहविं अरिणं काउं नियसंवच्छरं पवत्तिही । " तह गद्दभिल्लरज्जस्स छेयगो कालिगारिओ होही । तेवन्नचउसएहिं, गुणसयकलिओ सुयपउत्तो ॥ १ ॥ " दूसमाए वट्टमाणीए नयराणि गामभूयाणि होहिंति, मसाणरूवा गामा, जमदंडसमा रायाणो, दासप्पाया कुडुंबिणो, लंचगहणपरा निओगिणो, सामिदोहिणो सेवा, कालरत्तिसुण्हाओ सासूओ, सप्पिणीतुल्लाओ वहूओ, निल्लज्जाओ कडक्खविक्खेवाईहिं सिक्खिया वेसायरियाओ कुलंगणाओ, सच्छंदचारिणो पुत्ता य, सीसा य अकालवासिणो कालअवासिणो य, महासुहिया रोद्दसंमाणभयणा य दुज्जणा, दुट्ठआसवमाणपत्ता अप्पिट्ठिया य सज्जणा, परचक्कडमरदुब्भिक्खजुया देसा, लुद्दमसबहुला मेइणी, असज्झावपरा अत्थलुद्धा विप्पा, गुरुकुलवासच्चाइणो मंदधम्मा कसायकलुसियमणा समणा, अप्पबला सम्मादिट्ठिणो सुरनरा, ते चेव पबला मिच्छदिट्ठिणो होहिंति । देवा न दच्छिहिंति दरिसणं, न तहा फुरंतपहावा विज्जामंता, ओसहीणं गोरसकप्पूरसक्कराइदव्वाणं च रसवण्णगंधहाणी, नराणं बलमेहाआऊणि हाइस्संति, मासकप्पा य पाडिमाइ खित्ताणि न भविस्संति, पडिमाकप्पो सावयधम्मो वुच्छिज्जिहइ, आयरिया वि सीसाणं सम्मं सुयं न दाहिंति ।

" कलहकरा डमरकरा, असमाहिकरा अनिव्वुइकरा य ।
होहिंति इत्थ समणा, दससु वि खित्तेसु सयराहं ॥ १ ॥
ववहारदंडमंतादए, मुनिविज्जयाण य मुनीणं ।
गाहिहिंति आगमत्था, अणत्थजुत्ता य लद्दियदं ॥ २ ॥
उवगरणवत्थपत्ता-इयाण वसहीण सड्ढयाणं च ।
कज्जिहिंति कारणं, जह नरवइणो कुडुंबीणं ॥ ३ ॥ "

किं बहुणा-बहवे मंदा अन्ने समणा होहिंति, पुव्वायरियपरंपरागयं सामायारिं मुत्तूण नियमइविगप्पियं सामायारिं समायरिस्संति रच्चाविस्संति तहाविहं मुद्धजणं मोहम्मि पाडिस्संता उस्सुत्तभासिणो अप्पगुरुपरनिंदापरायणा य केइ होहिंति, बलवंता अनिट्ठुनिया, अप्पबला पूयनिया भविस्संति । " ती० २० कल्प ।

दुसमाकाल-दुःषमाकाल-पुं० । अवसर्पिण्याः पञ्चमे उत्सर्पिण्या द्वितीये च समये, जं० २ वक्ष० । " एक्कवीसं वाससहस्साइं कालो दूसमा । " भ० ६ श० ७ उ० । आचार्याणामुपाध्यायानां धर्माचार्याणां साधुसाध्वीश्रावकश्राविकाणां वा दुःप्रसहं यावद् दुःषमायां या संख्या दीपालिकाकल्पाऽऽदिषु उक्ताऽस्ति, सा कथा विवक्षया ?, पञ्चमारके दिनानि स्तोकानि जायन्ते, संख्या च बह्वीति लोकाः पृच्छन्ति, तत्र किमुत्तरं दीयत इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र भरतक्षेत्रे दुःषमाया अल्पकालत्वेऽपि भूमेः प्राचुर्याद् बहुषु देशेषु साध्वादिसंभवेन दीपालिकाकल्पाऽऽद्युक्तयुगप्रधानाऽऽदिसंख्याऽर्थतः संगच्छते, तत्त्वात्मज्ञातव्याख्यादिनेति बोध्यम् । ३८ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

दुसह-दुःसह-पुं० । " लुकि दुरो वा " ॥ ८ । १ । ११५ ॥ दुर उपसर्गस्य रेफलोपे सति ऊत् कार्यं वा । " दूसहो, दुसहो । " रेफलोपाभावे " दुस्सहो । " प्रा० १ पाद । " निर्दुरोर्वा " ॥ २ । १ । १३ ॥ इति दुरस्य व्यञ्जनस्य वा लुक् । " दुस्सहो । " प्रा० १ पाद । विशालापरनामके कल्पवृक्षभेदे, ति० ।

दुसुमिण-दुःस्वप्न-न० । अशुभसूचके स्वप्ने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दुस्संचार-दुःसंचार-त्रि० । दुर्गमार्गे, दशा० १० अ० ।

दुस्संबोह-दुःसम्बोध-पुं० । दुःखेन सम्बोध्यते धर्मचरणप्रतिपत्तिः कार्यत इति दुःसम्बोधः । दुःखेन धर्माऽऽचरणं प्रतिपाद्यमाने, बोधयितुमशक्ये च । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

दुस्समाण-दुष्यमाण-पुं० । द्वेषं कुर्वति, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

दुस्सरणाम-दुःस्वरनामन्-न० । यदुदयवशात्स्वरः श्रोतॄणां कर्णकटुः प्रादुर्भवति तद् दुःस्वरनाम । नामकर्मभेदे, कर्म० ६ कर्म० । पं० सं० । प्रव० । स्था० । कर्महीनस्वरे, कर्म० १ कर्म० ।

दुस्सल-दुःशल-स्त्री० । दुर्ग्रहे, दुर्विनीते, वृ० ६ उ० ।

दुस्सह-दुःषह-पुं० । ' दुसह ' शब्दार्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दुस्साहिय-दुःसहित-त्रि० । दुःखेनाधिसहिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

दुस्साहड-दुःसंहृत-त्रि० । दुःखेन संह्रियते मील्यते स्मेति दुःसंहृतम् । दुर्मिलं, उत्त० ७ अ० ।

दुस्सिज्जा-दुःशय्या-स्त्री० । विषमभूम्याऽऽदिरूपायां शय्यायाम्, दश० ८ अ० ।

दुस्सील-दुःशील-त्रि० । दुष्टं रागद्वेषाऽऽदिदोषविकृतं शीलं स्वभावः समाचाराचारो वा यस्यासौ दुःशीलः । उत्त० १ अ० । दशा० । विपा० । शुभस्वभावहीने, विपा० १ श्रु० १ अ० । दुष्टाऽऽचारे, व० १ अधि० । प्रश्न० । उत्त० । सू० । दुःसमाधौ च । पिशाचोलके च । " दुस्सीले रमणाओ ण मुच्चइ । " सूत्र० १ श्रु० १० अ० । " दुस्सीलाओ चरो विव । " चरवद् भिक्षाभक्षकचरोभवत् दुःशीला दुराचारा निर्लज्जत्वेन यत्र तत्र ग्रामनगराऽऽ-

रथ्यमार्गक्रमगृहोपाश्रयचैत्यगृहमनोवाटिकाऽऽदौ पुरुषाणां चा-ऽभ्युपकारित्वात् तथात्विधवेश्याकुट्टनीसीरन्ध्रिकामुण्डिकाऽऽदी-नामथ। (स्त्रियः) तं०। जिनदासश्रावकस्य भार्यायाम्, सा प्रतिमां प्रतिपन्नस्य स्वपत्युर्देहे लोहकीलकेन व्यथयाञ्चकार। आ० क०।

दुस्सुय-दुःश्रुत-त्रि०। दुष्टं श्रुतं श्रवणं यस्याऽसौ दुःश्रुतः। दुष्टश्रुते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। दुष्टं श्रुतं दुःश्रुतम्। दुष्टे श्रुते, न०। आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

दुस्सेज्जा-दुःशय्या-स्त्री०। दुःखोत्पादकवसतौ, भ० १ श० ६ उ०।

दुह-दुःख-न०। "दुःखदक्षिणतीर्थे वा" ॥ ८। २। ७२ ॥ इति संयुक्तस्य हः। 'दुहं। दुक्खं।' प्रा० २ पाद। नरके, नरकाऽऽवासे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। नरकाऽऽदियातना-स्थाने, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। दुःखहेतुत्वादसदनुष्ठाने, अ-सातवेदनीयोदयात् तीव्रपीडाऽऽत्मके असाते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। असातवेदनीयोदय, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। पीडायाम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। शारीरमनसोरननुकूले, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। दुःखोत्पादके च। सूत्र० १ श्रु० १० अ०। "विपुलकक्कसा य गाढा चंडा दुहा तिव्वा दुरहि-यासा।" इति एकार्थाः। विपा० १ श्रु० १ अ०।

दोह-पुं०। दुह-कर्मणि घञ्। दुग्धे, "सदोहधाएमेऽहनि।" इति स्मृतिः। आधारे घञ्। दोहनपात्रे, वाच०। भावे घञ्। दोहने, गोदोहनस्थाने च। बृ० ३ उ०।

दुहअ-दुर्हत-त्रि०। दुष्टं हतो दुर्हतः। दुष्टहते, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

द्विहत-त्रि०। द्वाभ्यां रागद्वेषाभ्यां हतो द्विहतः। द्वाभ्यां हते, आचा १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

दुर्जग-त्रि०। अल्पभाग्ये, प्रा० १ पाद।

दुहओ-द्विधा-अव्य०। प्रकारद्वये, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। रा०। सूत्र०। दश०।

द्विधातस्-अव्य०। द्वयोर्नागयोः, न० १६ श० ८ उ०। उभ-यत इत्यस्यार्थे च। दशा० १० अ०। आचा०। "दुहओ गुलि-त्ता।" बहिरन्तश्च गोमयाऽऽदिना लिप्ता। रा०। "दुहतो सं-वेल्लियग्गाणिवरगाणं।" द्विधातो द्वयोः पार्श्वयोः संवेल्लितानि अग्राणि यस्य तत् द्विधातः संवेल्लिताग्रं व्यस्तं सामर्थ्याद्-यत् येषां तथा तेषाम्। रा०। चूर्णितं, दे० ना० ५ वर्ग।

दुहओवक्क-द्विधावक्र-त्रि०। उभयते, भ० ११ श० ११ उ०। जी०।

दुहओखहा-द्विधाखा-स्त्री०। उभयतोऽङ्कुशाऽऽकारायां श्रेण्या-म्, स्था० ७ ठा०। भ०। नाड्या वामपार्श्वाऽऽदेर्नाड्याः प्रविश्य तयैव गत्वा अन्या एव दक्षिणपार्श्वाऽऽदौ ययोत्पद्यते सा द्वि-धाखा नाम्नी, वहिर्भूतयोर्वामदक्षिणपार्श्वलक्षणयोर्द्वयोराका-शयोरपर्याप्तया स्पृष्टत्वादिति। भ० २५ श० ३ उ०।

दुहओणंतय-द्विधाऽनन्तक-न०। सर्वाकाशायाम्, स्था० १०ठा०।

दुहओनागासंसप्पओग-द्विधानागाऽऽसंसाप्रयोग-पुं०। नवे-यानदृश्यतक्षकस्यैवंरूपेऽर्थे, स्था० १० ठा०। भ०।

दुहओवंका-द्विधावक्रा-स्त्री०। यस्यां वारद्वयं वक्रं कुर्वन्ति सा द्विधावक्रा। इयं चोर्ध्वक्षेत्रादाग्नेयदिशोऽधःक्षेत्रे वायव्यदि-शि गत्वा य उत्पद्यते तस्य भवति। तथाहि-प्रथमसमये आ-ग्नेयादितिर्यगेवाग्नेय्यां याति, ततस्तिर्यगेव वायव्यां,ततोऽधो वा-यव्यामेवेति। त्रिसमयेयं श्रमनाड्या मध्ये बहिर्वा भवतीति। भ० २५ श० ३ उ०। श्रेणिभेदे, उभयतो वक्रायां श्रेणावाम्। स्था० ७ ठा०।

दुहट्ट-दुर्घट-त्रि०। दुःस्थगे, उपा० २ अ०। दुरवाप्ये, विपा० १ श्रु० २ अ०।

दुःखाऽऽर्त-त्रि०। दुःखपीडिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

दुहट्टिय-दुःखार्तित-त्रि०। दुःखयन्तीति दुःखं रोगः,तेन आर्तः पीडितः क्रियते इति दुःखार्तितः। रोगपीडिते, दश० ६ अ०।

दुहट्ठ-दुःखार्थ-पुं०। दुःखमेवार्थो यस्मिन् स दुःखार्थः। नरके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

दुहण-दुघण-पुं०। वृक्षकूटे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। दुघणनर-विशेष च। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। उपा०।

दोहन-न०। दोहे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

दुहतोआवत्ता-द्विधातआवृत्ता-स्त्री०। द्वीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति०।

दुहलोगपडिणीय-द्विधालोकप्रत्यनीक-पुं०। पञ्चाग्नितपस्वि-रिन्द्रियार्थसाधनपरे गतिप्रत्यनीके, भ० ८ श० ८ उ०।

दुहव-दुर्भग-त्रि०। "लुंक दुरो वा" ॥ ८। १। १३ ॥ इति दुर उपसर्गस्य रेफलोपे उत ऊत्वं वा। प्रा० १ पाद। "कगच-जतदपयवां प्रायो लुक्" ॥ ८। ४। २५९ ॥ इति भस्य हः। "दुर्भगसुभगे वः" ॥ ८। १। १९२ ॥ इति गस्य वः। 'दुहवो।' 'दूहवो।' प्रा० दु० ४ पाद। वाच०। त्रि०। दुष्टं भगं भाग्य यस्य। अल्पभा-ग्ये, पतिस्नेहशून्यायां स्त्रियाम्, स्त्री०। वाच०।

दुहविमोयणतर-दुःखविमोचनतर-त्रि०। अतिशयेन दुःख-विमोच्ये, भ० १६ श० ३ उ०।

दुहविवाग-दुःखविपाक-पुं०। पापकर्मफले, विपा०।

पढमस्स णं भंते! सुयक्खंधस्स दुहविवागाणं समणेणं० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते?। तए णं सुहम्मे अणगारे जंबू अणगारं एवं वयासी-एवं खलु जंबू! समणेणं आ-इगरेणं० जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं दस अज्झयणा पण्ण-त्ता-"मियउत्ते, उज्झियए, अभग्गे सगडे,बहस्सई, नंदी। उंबरे, सोरियदत्ते, य देवदत्ता य अंजू य ॥ १॥"

(मियवक्के अध्ययनगाथा) तत्र (मियउत्ते त्ति) मृगापुत्रा-भिधानराजसुतवक्तव्यताप्रतिबद्धमध्ययनं मृगापुत्र एव। एवं सर्वत्र, नवरम् (उज्झियए त्ति) उज्झितको नाम सार्थवाहपुत्रः, (अभग्ग त्ति) सूत्रत्वाद् अभग्नसेनो नाम विजयाभिधानचौरसेनापति-पुत्रः। (सगडे त्ति)शकटाभिधानसार्थवाहसुतः। (बहस्सइ त्ति) सूत्रत्वादेव बृहस्पतिदत्तनामा पुरोहितपुत्रः। (नंदी त्ति) सूत्रत्वादेव नन्दिवर्द्धनो राजकुमारः। (उंबर त्ति) सूत्रत्वादेव उम्बरदत्तो नाम सार्थवाहसुतः। (सोरियदत्ते त्ति)सौरिकदत्तो

नाम सार्थवाहपुत्रः। चशब्दः समुच्चये। (देवदत्ता य त्ति) देवदत्ता नाम गृहपतिसुता। चः समुच्चये। अञ्जू नाम सार्थवाहसुता। चशब्दः समुच्चये। इति गाथासमासार्थः। विपा० १ श्रु० १ अ०। स०। "न इह दुक्खविवागाहिं,उववमाहिं तहिं तहिं। न य जीवो अजीवो उ, कयपुव्वो उ खित्तए ॥१॥" द० प०।

दुहवेयणतर-दुःखवेदनतर-त्रि०। अतिशयेन दुःखवेद्ये,भ०१६ श० २ उ०।

दुहसयविवाग-दुःखशतविपाक-पुं०। दुःखशतरूपे कर्मफले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

दुहसिज्जा-दुःखशय्या-स्त्री०। शेरते आसिति शय्याः, दुःखदाः शय्या दुःशय्याः। पा०।

चत्तारि दुहसेज्जाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-तत्थ खलु इमा पढमा दुहसेज्जा-से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए निग्गंथे पावयणे संकिए कंखिए वितिगिच्छिए भेयसमावन्ने कलुससमावन्ने निग्गंथं पावयणं णो सद्दहइ,णो पत्तियइ,णो रोएइ,निग्गंथं पावयणं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे मणं उच्चावयं नियच्छइ, विणिघायमावज्जइ, पढमा दुहसेज्जा। अहावरा दोच्चा दुहसेज्जा-से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए,सएणं लाभेणं णो तुस्सइ,परस्स लाभमासाएइ, पीहेइ, पत्थेइ, अभिलसइ, परस्स लाभमासाएमाणे० जाव अभिलसमाणे मणं उच्चावयं ति विणिघायमावज्जइ, दोच्चा दुहसेज्जा। अहावरा तच्चा दुहसेज्जा-से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए दिव्वे माणुस्सए कामभोगे आसाएमाणे०जाव अभिलसमाणे मणं उच्चावयं णियच्छइ, विणिघायमावज्जइ, तच्चा दुहसेज्जा। अहावरा चउत्था दुहसेज्जा-से णं मुंडे भवित्ता० जाव पव्वइए, तस्स णमेवं भवइ-जया णं अहमगारवासमावसामि तया णमहं संबाहणपरिमद्दणगायब्भंगगायुच्छोलणाइं लभामि, जप्पभिइं च णं अहं मुंडे भवित्ता०जाव पव्वइए, तप्पभिइं च णो अहं संबाहण० जाव गायुच्छोलणाइं आसाएमि०जाव अभिलसइ, से णं संबाहण० जाव गायुच्छोलणाइं आसाएमाणे० जाव मणं उच्चावयं नियच्छइ, विणिघायमावज्जइ, चउत्था दुहसेज्जा।

(चत्तारीत्यादि) सुगमा, नवरं दुःखदाः शय्याः दुःखशय्याः,ताश्च द्रव्यतोऽसत्यां खट्वाऽऽदिरूपाः, भावतस्तु दुःस्थात्मतया दुःश्रमणस्वभावाः प्रवचनाश्रद्धानपरलाभप्रार्थनकामाऽऽशंसनस्नानाऽऽदिप्रार्थनाविशेषिताः प्रकृताः सूत्रे इति। तासु मध्ये स कश्चिद् गुरुकर्मा, अयार्थो वाऽयम्, स च वाक्योपक्षेपे,प्रवचने शासने,शंकितः च प्रकटाऽऽदित्याद्विति। शङ्कितः एकभावविषयसंशये संयुक्तः, कांक्षितो मतान्तरमपि साधिवतिबुद्धः, विचिकित्सितः फलं प्रति शङ्कावान्, भेदसमापन्नो बुद्धिद्वैधमापन्नः-एवमिदं सर्वं जिनशासनोक्तमुत अन्यथा वेति। कलुषसमापन्नो नैतदेवमिति विपर्यस्त इति। न श्रद्धत्ते सामान्येनैवमिदमिति, नो प्रत्येति प्रतिपद्यते प्रीतिद्वारेण,नो रोचयति अभिलाषातिरेकेणाऽऽसेवनाभिमुखतयेति। मनःशिल्पसुखावचमसमञ्जसं, निगच्छति निर्याति, करोतीत्यर्थः। ततो विनिपातं धर्मभ्रंशं संसारं वा आपद्यते, एवमसौ आमणयशय्यायां दुःखमास्ते इत्येका। तथा केन स्वकीयेन लभ्यते लम्भनं येन लाभोऽन्नाऽऽदिरन्नाऽऽदेर्वा,तेन आशां करोत्याशयति-स नूनं मे दास्यतीत्येवमिति। आस्वादयति वा लभते चेत् तद् भुङ्क्ते। एवं स्पृहयति वाञ्छति, प्रार्थयति याचते, अभिलषति अर्थेऽत्यधिकतरं वाञ्छतीत्यर्थः। शेषमुक्तार्थमेवमप्यसौ दुःखमास्ते इति द्वितीया। तृतीया कण्ठ्या। अगारवासो गृहवासस्तमावसामि, तत्र वर्ते संबाधनं शरीरस्यास्थिसुखत्वाऽऽदिना नैपुण्येन मर्दनविशेषः, परिमर्दनं तु पृष्ठाऽऽदेर्मर्दनमात्रम्,परिशब्दस्य धात्वर्थमात्रवृत्तित्वात्,गात्राभ्यङ्गस्तैलाऽऽदिनाऽभ्रक्षणं,गात्रोत्क्षालनमङ्गधावनमेतानि लभेत कश्चिन्नेपथ्यतीति। शेषं कण्ठ्यमिति चतुर्थी। स्था० ४ ठा० ३ उ०। ध०। आचा०।

दुहसेज्जा-दुःखशय्या-स्त्री०। 'दुहसिज्जा' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

दुहा-द्विधा-स्त्री०। प्रकारद्वये, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। ध०। पञ्चा०।

द्विविध-त्रि०। द्वे विधे प्रकारावस्येति द्विविधः। द्विप्रकारे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

दुहापडिबद्ध-द्विधाप्रतिबद्ध-त्रि०। ('पव्वज्जा' शब्देऽस्य व्याख्या) द्विप्रकारेण बद्धे, स्था० ३ ठा० २ उ०।

दुहाव-छिद्-धा०। रुधा०-उभ०-सक०-अनिट्। द्वैधीकरण, वाच०। "छिदेर्दुहावणिच्छल्ल" ॥ ८।४।१२४॥ इत्यादिना छिदेर्दुहावाऽऽदेशः 'दुहावइ।' प्रा० ४ पाद। छिनत्ति। छिन्ते। अच्छैत्सीत्, अच्छिदत्। अच्छित्त। छित्। वाच०।

दुहावह-दुःखावह-त्रि०। दुःखमावहतीति। दुःखोपार्जके, नि०चू०१ उ०। दुःखदायके,उत्त०। "सव्वे कामा दुहावहा।" सर्वे कामाः शब्दाऽऽदयो दुःखाऽऽवहाः मृगाऽऽदीनामिव यतो दुःखावाप्तिहेतुत्वात्मत्सरेर्ष्याविषादाऽऽदिभिश्चिन्त्याकुलत्वो-त्पादकत्वात्परकाऽऽदिहेतुत्वाच्चेति। उत्त० पाई० १३ अ०। सूत्र०।

दुहावास-दुःखाऽऽवास-पुं०। नरकाऽऽदिषु,सूत्र०१ श्रु०८ अ०।

दुहि(ण्)-दुःखिन्-पुं०। दुःखयुक्ते, सूत्र० टी० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। उत्त०। आ० म०।

दुहिअय-दुःखित-त्रि०। 'स्वार्थे कश्च वा' ॥८।२।१६४॥ इति कः। 'दुहिअय, सुहियअए।' संजातदुःखे, प्रा० २ पाद।

दुहिय-दुःखित-त्रि०। दुःखं संजातमस्येति दुःखितः। संजातदुःखे,उत्त० ६ अ०। 'दुक्खिय' शब्दार्थे च। प्रा० २ पाद।

दुहिया-दुहिता-स्त्री०। "स्वस्रादेर्डा" ॥८।३।३५॥ इति दुहितृशब्दाद् डाप्रत्ययः, 'दुहियाहि' प्रा० ३ पाद। दुहितुः पतिः। षष्ठीतत्पुरुषसमासः। जामातरि, वाच०। आ० म०।

दुहिल-द्रुहिल न०। द्रोहस्वभावं द्रुहिलम्।

यथा-

" यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत् ।
आकाशमिव पङ्केन, नासौ पापेन युज्यते ॥ १ ॥
कलुषं वा दुहिलं, समता पुण्यपापयोः । " आ० म० १ अ० २ खण्ड । पुण्यपापक्षपनाऽऽदौ, सू० १ उ० ।

यथा-

" एतावानेव लोकोऽयं, यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे ! वृकपदं पश्य, यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥ १ ॥
पिब खाद च जातु शोभने !, यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
न हि भीरु ! गतं निवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥२॥"
इत्यादि वेदवचनाऽऽदिवस्तथाविधयुक्तिरहितम् । अनु० ।

दुहोवणीय-दुःखोपनीत-त्रि० । सामीप्येन प्राप्तदुःखे, दशा० १ चू० । दुःखेन पीरुषोपनीतान्युच्चारितानि दुःखोपनीतानि । पौरुषोच्चारितेषु, न० । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

दूअ-दूत-पुं० । अन्येषां गत्वा राजाऽऽदेशनिवेदके, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

दूइज्जंत-दूयमान-त्रि० । गच्छति, दश० ७ अ० ।

द्रवत्-त्रि० । ग्रामानुग्रामं गच्छति, "दूइज्जंता दुविधा, णिक्कारणिगा तहेव कारणिगा । असिवादी कारणिगा, चक्के थूभाइया इतरे ॥ १ ॥ " बृ० ५ उ० ।

दूइज्जंतग-दूइज्जन्तक-पुं० । मोराकसन्निवेशस्थेषु स्वनामख्यातेषु पाखण्डिषु, "तत्थ मोराए दूइज्जंतगा नाम पासंडा, तेसिं तत्थ आवासो । " स्वनामख्याते तेषामभिपतौ, भगवतो महावीरस्य पितुः सिद्धार्थकस्य वयस्ये, मित्रे च । आ० म० । मोराकसंनिवेश ग्रामस्य (तत्रवासी दूइज्जन्तकाख्यपाखण्डस्थो दूइज्जन्तक एवोच्यते) पितुः सिद्धार्थस्य वयस्यो मित्रं स भगवन्तमभिवाद्य वसतिं दत्तवानिति । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० ।

दूइज्जमाण-दूयमान-त्रि० । विहरति, धातूनामनेकार्थत्वात् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० ।

द्रवत्-त्रि० । गच्छति, औ० । रा० । विपा० । ज्ञा० । आचा० । भ० ।

दूइज्जित्तय-द्रोतुम्-अव्य० । विहर्तुमित्यर्थे, स्था० ५ ठा० २ उ० । "गामाणुगामं दूइज्जित्तए त्ति ।" ग्रामानुग्रामं विहर्तुम् । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

दूइपलासय-दूतिपलाशक-न० । वाणिजकग्रामे स्वनामख्याते चैत्ये, यत्र श्रीमहावीरस्वामी समवसृतः । भ० १० श० १ उ० । आ० चू० ।

दूई-दूती-स्त्री० । परस्परसंदिष्टार्थकथिका दूती । पिं० । द्वितीये उत्पादनदोषे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

दूतीपिण्डो यथा-

सग्गामे परगामे, दुविहा दूई उ होइ नायव्वा ।
सा वा सो वा पभणइ, भणइ तं छन्नवयणेणं ॥

इह दूती द्विधा । तद्यथा-स्वग्रामे, परग्रामे च । तत्र यस्मिन् ग्रामे साधुर्वसति तस्मिन्नेव ग्रामे यदि संदेशककथिका, ताहिं सा स्वग्रामदूती । या तु परग्रामे गत्वा संदेशं कथयति, सा परग्रामदूती । एकैकाऽपि च द्विधा । तद्यथा-प्रकटा, छन्ना च । तत्र सा तव माता, स च तव पिता एवं भणति संदेशं कथयति, सा प्रकटा । या तु तं संदेशं छन्नवचनेन कथयति सा छन्ना ।

एनमेवार्थं च सविशेषं व्यक्तीकरोति-

एक्केक्का वि य दुविहा, पागड छन्ना य छन्न दुविहा उ ।
लोगुत्तरे तत्थेगा, बीया पुण उभयपक्खे वि ॥

इह दूतीसमाचरणमपि दूती, साऽपि चैकैका स्वग्रामविषया, परग्रामविषया च द्विधा । तद्यथा-प्रकटा, छन्ना च । तत्र छन्ना पुनरपि द्विधा । तद्यथा-एका लोकोत्तरे लोकोत्तर एव, द्वितीयसंघाटकसाधोरपि गुप्ता इत्यर्थः । द्वितीया पुनरुभयपक्षेऽपि लोकोत्तरे वा, पार्श्ववर्तिनो जनस्य संघाटकसत्कद्वितीयसाधोरपि च गुप्तेति भावः ।

तत्र स्वग्रामपरग्रामविषयां प्रकटां दूतीमाह-

भिक्खाई वच्चंतो, अप्पाहणि नेइ खंतियाईणं ।
सा ते अमुगं माया, सो य पिया ते इमं भणइ ॥

भिक्षाऽऽदौ भिक्षाऽऽदिनिमित्तं इत्यर्थः, व्रजन् तस्मिन्नेव ग्रामस्य सत्के, संघाटकान्तरे परग्रामे वा (खंतियाईण) जनन्यादीनाम् । (अप्पाहणि) संदेशं कथयति । यथा सा ते माता अमुकं भणति, स वा ते पिता इदं भणति ।

सम्प्रति स्वग्रामपरग्रामविषयां लोकोत्तरे छन्नां दूतीमाह-

दूइत्तं खु गरहियं, अप्पाहिउ बिइयपच्चया भणइ ।
अविकोविया सुया ते, जा इह इयं भणसु खंति ॥

कोऽपि साधुः कस्याश्चित् पुत्रिकाया अप्याहितः संदिष्टः सन् एवं चिन्तयति-दूतीत्वं खलु गर्हितं साधूनाम्, तत एवं विचिन्त्य द्वितीयप्रत्ययाद् द्वितीयसंघाटकसाधुर्मा दूतीदोषदुष्टं संदिग्धयेदमर्थं मञ्जुलस्वरेणेदं भणति-यथा अविकाविदा अकुशला जिनशासने सा तव सुता, या इह इदं भणतीयां स्वस्थी जननीमिति । साऽप्यवगतार्थसंदेशका द्वितीयसंघाटकसाधुचमत्कृणार्थमेवं भणति-यावदिवामि तां निजसुतां येन पुनरेवं न संदिशतीति ।

सम्प्रति स्वग्रामपरग्रामविषयामुभयपक्षच्छन्नां दूतीमाह-

उभए वि य पच्छन्ना, खंत कहेज्जाहि खंतियाएँ तुमं ।
तं तह संजायं ति य, तहेव अह तं करेज्जासि ॥

उभयस्मिन्नपि च लोकलोकोत्तररूपे पक्षे प्रच्छन्ना दूती इयं यथा (खंत त्ति) विभक्तिलोपात् खान्तस्य पितुः, अथवा खान्तिकाया जनन्यास्त्वं कथय-यथा तद्दिवसे विवक्षितं कार्यं तथैव संजातम् । अथवा-तद् विवक्षितं तथैव कुर्यात् ।

सम्प्रति प्रकटपरग्रामदूतीमाश्रित्य दोषान् दृष्टान्तेनोपदर्शयति-

गामाण दोण्ह वेरं, सेज्जायरि धूय तत्थ खंतस्स ।
वहपरिणयखंतऽक्खण-न्याणं च नाए कए जुज्झं ॥
जामाइपुत्तपइमा-रणं च केई कहिंति जणवाओ ।
जामाइपुत्तपइमा-रणं च खंतेण मे सिट्ठं ॥

विकलीणो नाम ग्रामः, तस्योपकण्ठे गोकुलानिश्री ग्रामः, विकलीणग्रामे च धनदत्तो नाम कुटुम्बी, तस्य भार्या प्रियमती, तस्या दुहिता देवका, सा च तस्मिन्नेव ग्रामे सुन्दरेण परिणीता, तस्याः

पुत्रो वसिष्ठो,दुहिता रेवती। सा च गोकुलग्रामे संगमेन परिणीता, भिक्षमनी स्वाऽऽयुःक्षयात् पञ्चत्वमुपगता, धनदत्तोऽपि संसारभयभीतः प्रव्रज्यामग्रहीत्, गुरुभिश्च सार्द्धं विहरति। ततः कालान्तरे पुनरपि यथाविहारक्रमं तत्रैव ग्रामे समागतो निजदुहितुर्देवक्या वसनावासात्। तदानीं च तयोर्द्वयोरपि ग्रामयोः परस्परं वैरं वर्तते स्म। विस्तीर्णग्रामवासिना च गोकुलेन गोकुलग्रामस्योपरि धाटी सूत्रिता,धनदत्तश्च तन्निवारणाय ग्रामे भिक्षार्थं प्रविष्टवांस्ततो देवक्या दुहित्रा शय्यातर्या ज्ञापितः-यथा हे पितः! त्वं गोकुलग्रामे यास्यसि, ततो निजदौहित्र्या रेवत्याः कथय-यथा तव जनन्या संदिष्टम्-अयं ग्रामस्योपरि नवधाटया समागमिष्यति,ततः सकलमपि स्वकीयमेकान्ते स्थापयेरिति। ततः साधुना तथैव तस्यै कथितं,तया च निजभर्तुः,तेन च सकलग्रामस्य कथितम्। ततः सर्वोऽपि ग्रामः सन्नद्धबद्धकवचोऽभवत्, आगतश्च द्वितीयदिने धाटया विस्तीर्णग्रामो, जातं परस्परं महद्युद्धम्,तत्र सुन्दरो वसिष्ठश्च धाट्या सह गतो,संगमश्च गोकुलग्रामे वसति,त्रयोऽपि च युद्धे पञ्चत्वमुपजग्मुः, देवकी च पतिपुत्रजामातृमरणमाकर्ण्य विलपितुं प्रावर्तिष्ट,लोकश्च तन्निवारणाय समागतोऽवादीत्-यदि गोकुलग्रामो धाटीमागच्छन्तीं नाज्ञास्यत,ततोऽसन्नद्धो नायोत्स्यत्। तथा च न पत्यादयो म्रियेरन्। ततः केन दुरात्मना गोकुलग्रामो ज्ञापितः? एतच्च लोकस्य वचः श्रुत्वा संजातकोपा सैवमवादीत्-मया अजानन्त्या पित्रा दुहितुः संदिष्टं,ततस्तेन साधुवेषविडम्बकेन मत्पतिपुत्रजामातृमारकेण पित्रा ज्ञापितः। ततः स लोके श्मशाने स्थाने धिक्कारं लभते,प्रवचनस्य च मालिन्यमुपपादि। सूत्रं सुगमम्। पिं०। पञ्चा०। ध०। ग०। दर्श०। नि० चू०। दूतीनिशायां च। व्य० १ उ०।

दूईपिंड–दूतीपिण्ड–पुं० । कार्यसङ्घटनाय दूत्यं विधत्ते इति दूतीपिण्डः। द्वितीये उत्पादनादोषे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ए उ० ।

जे भिक्खू दूईपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ६० ॥

गिहिसंदेसगं णेति, आणेति वा, ज तण्णिमित्तं पिंडं लभति, सो दूतीपिंडो ।

गाहा-

जे भिक्खू दूतिपिंडं, गेण्हेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥१३६॥

अप्पणा गेण्हति, अण्णं वा गेण्हंतं अणुजाणाति, तस्स आणादिया दोसा, चउलहुं च पच्छित्तं ।

(अथैतत्पाठस्तु पिण्डनिर्युक्तिपाठतो गतार्थः)

नवरं बितियपदं इमेहिं कारणेहिं करेज्जा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, कुज्जा तं वा वि जयणाए ॥१४१॥

पूर्ववत् कण्ठ्या। नि० चू० १३ उ०।

दूण–देशी–हस्तिनि, दे० ना० ५ वर्ग ४४ गाथा।

दूत–दूत–पुं० । अन्येषां ज्ञात्वा राजाऽऽदेशनिवेदके,औ०। दशा०। कल्प०। ज्ञा०। भ०।

दूतविज्जा–दूतविद्या–स्त्री० । विद्याभेदे, व्य० १ उ० । काचिद् दूतविद्या भवति, तया च दूतविद्यया यो दूत आगच्छति, तस्य दंशस्थानमापद्यते,तेनैतस्य दंशस्थानमुपशाम्यति। व्य०५ उ०।

दूभगसत्ता–दुर्भगसत्त्वा–स्त्री० । दुर्भगः सत्त्वः प्राणी यस्याः सा तथा। दुर्भगप्राणिकायां योषिति, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

दूभगनिंबोलिया–दुर्भगनिम्बगुलिका–स्त्री० । निम्बगुलिकेव निम्बफलमिव अत्यनादेयत्वसाधर्म्याद् दुर्भगानां मध्ये निम्बगुलिका दुर्भगनिम्बगुलिका। दुर्भगत्वान्निम्बगुलिकावदनादेयायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

दुर्भगनिर्वोलिता–स्त्री० । दुर्भगानां मध्ये निर्वोलिता निर्मथिता निमज्जिता दुर्भगनिर्वोलिता। दुर्भगानां मध्ये निमज्जितायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

दूमग–दावक–त्रि० । उपतापके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दूमण–दवन–न० । उपतापने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

धवलन–न० । श्वेतीकरणे, व्य० ४ उ० ।

दुर्मनस्–न० । त्रि० । दुष्टमनसि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

दूमिअ–धवलित–त्रि० । " धवलेर्दुमः " ॥ ८ । ४ । २४ ॥ इति धवलयतेर्ण्यन्तस्य दुमादेशे " स्वराणां स्वरा बहुलम् । " ॥८ । ४ । २३८॥ इति दीर्घत्वम् । 'दूमिअं ।' प्रा० ४ पाद । सन्ध्यादिना श्वेतीकृते, ध० ३ अधि० । कल्प० । ज्ञा० । नि० चू० । दूमिया नाम सुकुमारलेपेन सुकुमारीकृतकुड्या,सेटिकया धवलीकृतकुड्या वा । बृ० १ उ० ।

दूमिय–धवलित–त्रि० । ' दूमिअ ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

दूय–दूत–पुं० । अन्येषां गत्वा राजाऽऽदेशनिवेदके, भ० ७ श० ए उ० । औ० ।

दूयकम्म–दूतकर्म–न० । द्वितीये उत्पादनादोषे, उत्त० २४ अ० । यदा गृहस्थगृहे गुप्तप्रकटसमाचारान् स्वजनाऽऽदीनां कथयित्वाऽऽहारं गृह्णाति तदा दूतकर्माऽऽख्यो द्वितीयो दोषः । उत्त० २४ अ० ।

दूयपलास–दूतपलाश–न० । वाणिजकग्रामनगरस्येशानकोणे स्वनामख्याते चैत्ये, उपा० १ अ० ।

दूयविज्जा–दूतविद्या–स्त्री० । विद्याभेदे, व्य० १ उ० ।

दूर–दूर–त्रि० । विप्रकृष्टे, भ० १ श० १ उ० । नि० चू० । अगोचरे च । भ० २ श० १ उ० । विप्रकर्षे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० । अत्यर्थे च । सं० । दीर्घकाले, दूरवर्तित्वान्मोक्षे च । पुं० । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

दूरगइय–दूरगतिक–त्रि० । सौधर्माऽऽदिगतिकेषु, स्था० ८ ठा० ।

दूरपाय–दूरपात–न० । दूरात्पतने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दूरय–दूरग–त्रि० । असमीपवर्तिनि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

दूरसुव्वंत–दूरश्रूयमाण–त्रि० । दूरे श्रूयमाणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दूरालइय–दूरालयिक–त्रि० । दूरालयो मोक्षस्तन्मार्गो वा, स विद्यते यस्येति मत्वर्थीयष्ठन्,दूरालयिकः। मोक्षगामिनि,आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

दूरालय-दूरालय-पुं० । मोक्षे, मोक्षमार्गे च । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

दूरत्थ-दूरस्थ-त्रि० । दूरस्थे, आव० ४ अ० ।

दूरुहइत्ता-दुरारुह्य-अव्य० । दुःखमारुह्येत्यर्थे, उपा० २ अ० ।

दूरुहमाणी-दुरारोहन्ती-स्त्री० । दुःखमारोहन्त्याम्, दशा० ५ अ० १ उ० ।

दूस-दुष-धा० । दिवा०-पर०-अक०-अनिट् । वैकृत्ये, वाच० । "दुषाऽऽदीनां दीर्घः" ॥ ८ । ४ । २३५ ॥ इति स्वरस्य दीर्घः । 'दूसइ ।' प्रा० ४ पाद । दुष्यति । अदुषत् । अदूदुषत् । वाच० ।

दूष्य-न० । तन्तुसन्तानसम्पन्ने, जं० २ वक्ष० । वस्त्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । उत्त० । आचा० । आ० म० । नि० चू० । आच्छादनवस्त्रे, औ० । वस्त्रजाता, जी० ३ प्रति० ४ उ० । चीनांशुकाऽऽदौ च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रश्न० ।

दूसंतर-दूष्यान्तर-न० । वस्त्ररचितभित्त्यन्तरे, उत्त० १६ अ० ।

दूसगणि (ण्)-दूष्यगणिन्-पुं० । नन्द्यध्ययनकर्तुर्देववाचकस्य स्वनामख्याते गुरौ, नं० ।

दूसण-दूषण-न० । दूष-णिच्-ल्युट् । कलङ्के, सं० । रावणस्य मातृष्वस्रेये भ्रातरि च । वाच० ।

दूसपट्टपरिपूय-दूष्यपट्टपरिपूत-न० । वस्त्रपट्टगालिते, तं० ।

दूसपणग-दूष्यपञ्चक-न० । वस्त्रपञ्चके, दशा० ।

दुविहं च दूसपणगं, समासओ तं पि होइ नायव्वं ।
अप्पडिलेहिय दूसं, दुप्पडिलेहं च विन्नेयं ॥ ७ ॥ दशा० १ अ० ।

अप्पडिलेहियदूसे, तूली उवहाणयं च णायव्वं ।
गंडुवधाणाऽऽलिंगिणि, मसूरए चेव पोत्तमए ॥६८४॥

दूष्यं वस्त्रं तद् द्विविधम् । अप्रत्युपेक्ष्यं, दुष्प्रत्युपेक्ष्यं च । तत्र यत्सर्वथाऽपि न प्रत्युपेक्षितुं शक्यते तदप्रत्युपेक्ष्यम्, यच्च सम्यक् न शक्यते प्रत्युपेक्षितुं तद् दुःप्रत्युपेक्ष्यम् । तत्र अप्रत्युपेक्षितदूष्यपञ्चकं यथा-तूली सुसंस्कृता रुतभृता अर्कतूलाऽऽदिभृता वा विस्तीर्णः शयनीयविशेषः । तथा उपधानकं हंसरोमाऽऽदिपूर्णमुच्छीर्षकम् । तथा उपधानकस्योपरि कपोलप्रदेशे या दीयते सा गण्डोपधानिका, गल्लमसूरिकेत्यर्थः । तथा जानुकूर्पराऽऽदिषु या दीयते सा आलिङ्गिनी । तथा वस्त्रकृतं चर्मकृतं वा वृत्तं रुताऽऽदिपूर्णमासनं मसूरकः । एतानि सर्वाण्यपि पोतमयानि वस्त्रमयानि प्रायेणेति ।

अथ दुष्प्रत्युपेक्षितपञ्चकमाह-

पल्हवि कोयवि पावा-रग नवए तह य दाढगाली य ।
दुप्पडिलेहियदूसे, एयं बीयं भवे पणगं ॥ ६८५ ॥

पल्हविः, कोयविः, प्रावारकः, नवकं, तथा दढगालिश्च, एतद् दुष्प्रत्युपेक्षितदूष्यविषयं द्वितीयं पञ्चकं भवेत् ।

अथैनदेव व्याख्यानयन्नाह-

पल्हवि हत्थुत्थरणं, कोयविओ रूयपूरिओ पडओ ।
दढगालि धोयपोती, सेसपसिद्धा भवे भेदा ॥ ६८६ ॥

पल्हविर्हस्त्यास्तरणं हस्तिनः पृष्ठे यदास्तीर्यते, कथरू इत्यर्थः । ये चान्ये आस्तरकाऽऽदयोऽल्परोमयुक्ता बहुरोमयुक्ता वा ते सर्वेऽप्यत्रान्तर्भवन्ति । यदुक्तं निशीथचूर्णौ-"जे य वग्घा अत्थरगा इत्थाइमाणभेदा मउरोमा अब्भूतरोमा वा, ते सव्वे इत्थ निवयंति त्ति ।" (वग्घाअत्थरग त्ति) यः किल वग्घोपरि न्यस्यते । तथा कोयविको रुतपूरितः पटः, बूरढीति यदुच्यते । ये चान्ये उल्वणरोमाणो नेपालकम्बलप्रभृतयस्ते सर्वेऽत्रान्तर्भवन्ति । उक्तं च-"जे अन्ने एवमाइभेदा उल्लणरोमा कंबलगादि ते सव्वे इत्थ निवयंति ।" तथा-दढगालिर्धौतपोतिका ब्राह्मणानां संबन्धि सदशपरिधानवस्त्रमित्यर्थः । ये चान्ये विमरसूत्रपट्टप्रभृतयो भेदास्ते सर्वेऽत्र निपतन्ति । उक्तं च-" विरलिमाई भूरिभेदा सव्वे एत्थ निवयंति त्ति ।" (विरलिमादि त्ति) दोरियाप्रमुखा, शेषौ च प्रावारकनवकलक्षणौ प्रसिद्धावेव भेदौ । तत्र प्रावरकः सलोमकः पटः । स च माणिक्याप्रतीतिकः । अन्ये तु प्रावारको बृहत्कम्बलः परियच्छिर्वेत्याहुः । प्रव० ८ द्वार । वृ० । अप्रतिलेखितदूष्यपञ्चकं चैकाशनकम् । असत्यपेऽपि तदेव प्रायश्चित्तम् । जीत० ।

दूसमा-दुःषमा-स्त्री० । 'दुसमा' शब्दार्थे, प्र०६ श०७ उ० ।

दूसमित्त-दूष्यमित्र-पुं० । पाटलिपुत्रे मौर्यवंशावतंसे स्वनामख्याते राजनि, ती० २० कल्प ।

दूसरणाम-दुःस्वरनाम-न० । 'दुसरनाम' शब्दार्थे, कर्म० ६ कर्म० ।

दूसरयण-दूष्यरत्न-न० । प्रधानवस्त्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । औ० ।

दूसल-देशी-दुर्भगे, दे० ना० ५ वर्ग ४२ गाथा ।

दूसह-दुस्सह-पुं० । 'दुसह' शब्दार्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दूसासण-दुःशासन-पुं० । "लुप्तयरवशषसां शषसां दीर्घः" ॥ ८ । १ । ४३ ॥ इति प्राकृतलक्षणवशादुपरि लुप्तरेफाऽऽकारस्य शकाराऽऽदेः स्वरस्य दीर्घः । 'दूसासणो ।' प्रा० १ पाद । स्वनामख्याते दुर्योधनभ्रातरि, वाच० ।

दूसिय-दूषित-त्रि० । दत्तदूषणे, प्राप्तदूषणे, अतिचारिते, मैथुनापवादयुक्ते, व्यव० । औ० ।

दूसियपंडग-दूषितपण्डक-पुं० । पण्डकभेदे, दूषितपण्डको द्विविधः-आसिक्तः, उपासिकश्च । वृ० । उपघातपण्डकोऽपि द्विविधो-वेदोपघाते, उपकरणोपघाते च ।

तत्र दूषितं पण्डकं तावद्व्याख्यानयति-

दूसियवेओ दूसिय, दोसु वि वेएसु सज्जए दूसी ।
दूसेति सगवेदो, दोसु व सेविज्जए दूसी ॥

दूषितो वेदो यस्य स दूषितवेदः, एष दूषित उच्यते । दूषितो नपुंसकपुरुषवेदयोः, अथवा नपुंसकस्त्रीवेदयोः सज्जयति प्रसङ्गं करोति, स प्राकृतशैल्या दूषी भण्यते । यो वा शेषौ स्त्रीपुरुषवेदौ दूषयति निन्दति स दूषी, द्वाभ्यां वा-आस्यकपोलकाभ्यां यः सेव्यते, सेवते वा स दूषी ।

अस्यैव भेदानाह-

आसित्तो ऊसित्तो, दुविहो दूसी उ होइ नायव्वो ।

आसित्तं सावच्चो, अणवच्चो होइ ऊसित्तो ॥

स दूषी द्विविधो ज्ञातव्यो भवति-आसिक्तः,उपसिक्तश्च । आसिक्तो नाम-सापत्यो यस्यापत्यमुत्पद्यते, सबीज इति भावः । यस्तु निरपत्योऽपत्योत्पादने सामर्थ्यविकलो,निर्बीज इत्यर्थः । स उपसिक्त उच्यते । बृ० ४ उ० । नि० चू० । पं०भा० । पं०चू० ।

दूसिया-दूषिका-स्त्री० । दूषयति नेत्रं क्लिन्नं करोति । दूष-णिच्-ण्वुल् । वाच० । नेत्रयोर्मले, नि० चू० ३ उ० । स्था० ।

दूसहल्ल-देशी-दुर्भग, दे० ना० ५ वर्ग ४३ गाथा ।

दूहट्ट-देशी-लज्जादुर्मनसि, दे० ना० ५ वर्ग ४८ गाथा ।

दूहव-दुर्भग-त्रि० । "वत्वे दुर्भगसुभगे वः" ॥ ८ । २ । १९२ ॥ इति गस्य वः । 'दूहवो ।' अभाग्ये, प्रा० १ पाद ।

दे-दे-अव्य० "दे संमुखीकरणे च ।" ॥ ८ । २ । १९६ ॥ संमुखीकरणे सख्या आमन्त्रणे च दे इति प्रयुज्यते । "दे पसिअ ताव सुंदरि !, दे आपसिअ निअत्तसु ।" प्रा० २ पाद ।

देअर-देवर-पुं० । "कगचजतदपयवां०-॥ ८ । १ । १७७ ॥ इत्यादिना वलुक् । 'देअरो ।' प्रा० १ पाद । वाच० । अनु० ।

देउल-देवकुल-न० । "यावत्तावज्जीवितावर्तमानाऽवटप्रावारकदेवकुलैवमेवे वः" ॥ ८ । १ । २७१ ॥ इति सस्वरस्य वकारस्यान्तर्वर्तमानस्य वा लुक् । 'देउलं ।' प्रा० २ पाद । देवस्थाने, आ० म० १ अ० २ खण्ड । रा० ।

देउलदरिसण-देवकुलदर्शन-न० । देवप्रतिमादर्शने, पिं० ।

देउलिया-देवकुलिका-स्त्री० । यक्षाऽऽदीनामायतने, बृ० १ उ० २ प्रक० । देवकुलपरिपाल्के, न० । ओघ० ।

देक्ख-दृश-धा० । उभा०-पर०-सक०-अनिट् । चाक्षुषज्ञाने, वाच० । "दृशो निअच्छपेच्छ०-" ॥ ८ । ४ । १८१ ॥ इत्यादिना देक्खाऽऽदेशः । 'देक्खइ ।' प्रा० ४ पाद । पश्यति । अदर्शत् । अद्राक्षीत् । वाच० ।

देज्ज-देय-त्रि० । दातुं योग्ये, पो० १२ विव० ।

देप्पिणु-दत्त्वा-अव्य० । "एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः" ॥ ८ । ४ । ४४० ॥ इत्यपभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्यैप्पिणवादेशः । दानं कृत्वेत्यर्थे, 'जेप्पि असेसु कसायबलु,देप्पिणु अभउ जयस्सु ।' प्रा० ४ पाद । अशेषकषायबलं जित्वा जगतोऽभयं दत्त्वा । प्रा० ढुं० ४ पाद ।

देयड-दृतिकार-पुं० । शिल्पाऽऽर्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद । ज्ञा० ।

देर-द्वार-न० । "द्वारे वा" ॥ ८ । १ । ७९ ॥ इति द्वारशब्दे आत एत्वम् । 'देरं ।' पक्षे-'दुआरं । दारं । वारं ।' निर्गमप्रवेशमुखे, प्रा० १ पाद ।

देल्लमहत्तर-देलमहत्तर-पुं० । सूराऽऽचार्यशिष्ये दुर्गस्वामिगुरौ, अयमाचार्यो ज्योतिर्निमित्तशास्त्रेषु अतिविज्ञानासीत् । जै० इ० ।

देव-पुं०-न० । देव-पुं० । "गुणाऽऽद्याः क्लीबे वा" ॥ ८ । १ । ३४ ॥ इति वा क्लीबत्वम् । 'देवाणि ।' देवाः । प्रा० १ पाद । दीव्यन्ति निरुपमक्रीडामनुभवन्तीति देवाः । नं० । दश० । स्था० । दीव्यन्ति यथेच्छं क्रीडन्तीति देवाः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रज्ञा० । स्था० । दीव्यन्ति स्वरूपे इति देवाः । अनु० २६ अनु० ।

तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा । तं जहा-माणुस्सगं भवं,आरिए खेत्ते जम्मं, सुकुलपच्चायाइं ।

(पीहेज्ज त्ति) स्पृहयेदभिलषेत् । आर्यक्षेत्रमर्द्धमर्द्धषड्विंशतिजनपदानामन्यतरं मगधाऽऽदिसुकुले इक्ष्वाक्वादौ देवलोकात्प्रतिनिवृत्तस्याजातिर्जन्म, आयातिर्वा आगतिः, सुकुलप्रत्याजातिः, सुकुलप्रत्यायातिर्वा, तामिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । (देवपरितापः ' परिताव ' शब्दे वक्ष्यते)

इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं देवे चइस्सामि त्ति जाणइ-विमाणाभरणाइं णिप्पभाइं पासित्ता, कप्परुक्खगं मिलायमाणं पासित्ता, अप्पणो तेयलेस्सं परिहायमाणं जाणित्ता ।

विमानाऽऽभरणानां निष्प्रभत्वमौत्पातिकं,तच्चक्षुर्विभ्रमरूपम् । (कप्परुक्खगं ति) चैत्यवृक्षम्,(तेयलेस्सं ति) शरीरदीप्तिं,सुखासिकां वा । 'इच्चेएहिं' इत्यादिनिगमनम् । भवन्ति चैवंविधानि लिङ्गानि देवानां च्यवनकाले । उक्तं च-"माल्यम्लानिः कल्पवृक्षप्रकम्पः, श्रीह्रीनाशो वाससां चोपरागः । दैन्यं तन्द्रा कामरागाङ्गभङ्गौ, दृष्टिभ्रान्तिर्वेपथुश्चारतिश्च ॥ १ ॥" इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । दीव्यन्ति क्रीडाऽऽदिधर्मभाजो भवन्ति,दीव्यन्ते स्तूयन्ते ये ते देवाः । स्था० ४ ठा० १ उ० । " दिवु " क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिष्विति दिवेरच्प्रत्यये देव इति सिद्धम् । दश० १ अ० । भवनपत्यादिषु, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आव० । आ० चू० । दर्श० । ओघ० । पिं० । स० । स्था० । ज्ञा० । प्रज्ञा० । औ० । सूत्र० । उत्त० । विशे० । ज्योतिष्कवैमानिकेषु, उत्त० १६ अ० । अनुत्तरसुरान्तेषु, औ० ।

देवानामस्तित्वं सायम्ब्लसमं गणधरं मौर्यं प्रत्याह भगवान्महावीरः-

ते पव्वइए सोउं, मोरिओ आगच्छइ जिणसगासं ।
वच्चामि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ १८६४ ॥
आभट्ठो य जिणेणं, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं ।
नामेण य गोत्तेण य,सव्वण्णू सव्वदरिसीणं ॥१८६५॥

गाथाद्वयमपि प्रकटार्थम् ॥ १८६४ ॥ १८६५ ॥

आभाष्य ततः किमुक्तः ?, इत्याह-

किं मण्णे अत्थि देवा,उयाहु नत्थि त्ति संसओ तुज्झ ।
वेयपयाण य अत्थं,न जाणसी तेसिमो अत्थो ॥१८६६॥

हे आयुष्मन् मौर्य ! त्वमेवं मन्यसे-किं देवाः सन्ति, न वेति, उभयथाऽपि वेदपदश्रवणात् ? । तथाहि-"स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छति ।" इत्यादि । तथा-"अपाम सोमममृता अभूम,अगमन् ज्योतिरविदाम देवान्,किं नूनमस्मात्तृणवदरातिः,किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य ।" इत्यादि । तथा 'को जानाति मायोपमान् देवान् गीर्वाणानिन्द्रयमवरुणकुबेराऽऽदीन् ।' इत्यादि । एतेषां च वेदपदानामयमर्थस्तव बुद्धौ प्रतिभासते, यथा स एष यज्ञ एव दुरितवारणक्षमत्वादायुधं प्रहरणं यस्यासौ यज्ञायुधी, यजमानोऽञ्जसा प्रगुणेन न्यायेन स्वर्गलोकं गच्छति, इति देवसत्ताप्रतिपत्तिः । तथा अपाम-पीतवन्तः, सोमं लतारसम्, अमृता अमरणधर्माणः, अभूम भूताः स्म, अगमन् गताः, ज्योतिः स्वर्गम्, अविदाम देवान्देवत्वं प्राप्ताः स्म, किं नूनमस्मान्तृणवत्करिष्यति, कोऽस्माविस्या-

ह-जरातिः व्याधिः,तथा किमु प्रश्ने,सूर्ति जराम्, अमृतमर्त्यस्येति-अमृतत्वं प्राप्तस्य मर्त्यस्य, पुरुषस्येत्यर्थः । अमरणधर्मिणो मनुष्यस्य किं करिष्यन्ति जराव्याधय इति भावः । अत्रापि देवसत्ताप्रतिपत्तिः । "को जानाति मायोपमान्" इत्यादीनि तु देवाभावप्रतिपादकानि, अतस्तव संशयः । अयुक्तश्चायम् । यतोऽमीषां वेदपदानामर्थं त्वं न जानासि,चशब्दाद्युक्तिं च न वेत्सि । यतेषां हि वेदपदानां नायमर्थो, यस्तवाभिप्रेतः, किं त्वयं वक्ष्यमाणलक्षण इति ।

अत्र भाष्यम्-

तं मन्नसि नेरइया, परतंता दुक्खसंपउत्ता य ।
न तरंतीहागंतुं, सद्धेया सुव्वमाणा वि ॥ १८६७ ॥
सच्छंदयारिणो पुण, देवा दिव्वप्पभावजुत्ता य ।
जं न कयाइ वि दरिसण-मुवेंति तो संसओ तेसु ॥ १८६८ ॥

मौर्य ! त्वमेवं मन्यसे-नारकाः स्वकृतपापनरकपालाऽऽदिपरतन्त्राः पराधीनवृत्तयोऽतीवदुःखसंघातविह्वलाश्च न शक्नुवन्त्यत्राऽऽगन्तुमतः प्रत्यक्षीकरणोपायाभावात् श्रूयमाणा अपि श्रद्धेया भवन्तु, देवास्तु स्वच्छन्दचारिणो दिव्यप्रभावयुक्ता इव तथाऽपि यस्मान्न कदाचिद्दर्शनपथमवतरन्ति, श्रूयन्ते च श्रुतिस्मृत्यादिषु, अतस्तेषु शङ्केति ॥ १८६७ ॥ १८६८ ॥

अत्रोत्तरमाह-

मा कुरु संसयमेए, सुदूरमणुयाइभिन्नजाईए ।
पेच्छसु पच्चक्खं चिय, चउव्विहे देवसंघाए ॥ १८६९ ॥

मौर्यपुत्र ! देवेषु मा संशयं कार्षीस्त्वम्,एतानेव हि सुदूरमत्यर्थं मनुजाऽऽदिभ्यो भिन्नजातीयान् दिव्याऽऽभरणविलेपनवसनकुसुममालाऽलङ्कृतान् भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकलक्षणांश्चतुर्विधदेवसंघातान् मम वन्दनार्थमिहैव समवसरणाऽऽगतान् प्रत्यक्षत एव पश्येति ॥ १८६९ ॥

अथैतद्दर्शनात्पूर्वं य आसीत्संशयः, स युक्तोऽभवत् ।
नैवम् । कुतः ?, इत्याह-

पुव्वं पि न संदेहो, जुत्तो जं जोइसा सपच्चक्खं ।
दीसंति तक्कया वि य, उवघायाणुग्गहा जगओ ॥ १८७० ॥

इह समवसरणाऽऽगतदेवदर्शनात्पूर्वमपि तवान्येषां च संशयो न युक्तो, यद्यस्माच्चन्द्राऽऽदित्याऽऽदिज्योतिष्कास्त्वया सर्वेणापि च लोकेन स्वप्रत्यक्षत एव सर्वथा दृश्यन्ते, अतो देशतः प्रत्यक्षत्वात् कथं समस्तामराभिस्तत्वशङ्का ? । किं च-सन्त्येव देवाः, लोकस्य तत्कृतानुग्रहोपघातदर्शनात् । तथाहि-दृश्यन्ते काश्चित्केचित्त्रिदशाः कस्याऽपि किञ्चिद्विभवप्रदानाऽऽदिनाऽनुग्रहं,तत्प्रहरणाऽऽदिना चोपघातं कुर्वन्तः, ततो राजाऽऽदिवत्कथमेते न सन्तीति ॥ १८७० ॥

पुनरपि परमाशङ्क्य ज्योतिष्कदेवास्तित्वं साधयन्नाह-

आलयमेत्तं च मई, पुरं व तव्वासिणो तह वि सिद्धा ।
जे ते देव त्ति मया, न य निलया निच्चपरिसुण्णा ॥ १८७१ ॥

अथैवंभूता मतिः परस्य भवेत्-आलया एव आलयमात्रं चन्द्राऽऽदिविमानानि, न तु देवाः, तत्कथं ज्योतिष्कदेवानां प्रत्यक्षत्वमभिधीयते ?। किं तद्यथा आलयमात्रमित्याह-(पुरं ति) यथा पुरं शून्यं लोकानामालयमात्रं स्थानमात्रं,न तु तत्र लोकाः सन्ति,एवं चन्द्राऽऽदिविमानान्यप्यालयमात्रमेव,न तु तत्र देवाः केचित्तिष्ठन्ति, अतः कथं तेषां प्रत्यक्षत्वम् ?। अत्रोत्तरमाह-तथाऽपि तद्वासिन आलयवासिनः सामर्थ्यात् सिद्धास्ते देवा इति मताः संमताः । यो ह्यालयः स सर्वोऽपि तन्निवासिना अधिष्ठितो दृष्टः,यथा प्रत्यक्षोपलभ्यमाना देवदत्ताऽऽद्यधिष्ठिता वसन्तपुराऽऽद्यालयाः, आलयाश्च ज्योतिष्कविमानान्यत आलयत्वान्यथानुपपत्त्यैव तन्निवासिनः सिद्धास्ते देवा इति मताः । आह ननु कथं ते देवाः सिद्ध्यन्ति ?, यादृशा हि प्रत्यक्षेण देवदत्ताऽऽदयो दृश्यन्ते तेऽपि तादृशा एव स्युरिति । तदयुक्तम् । विशिष्टा हि देवदत्ताद्यालयेभ्यश्चन्द्राद्यालयाः इत्यतस्तन्निवासिनोऽपि विशिष्टाः सिध्यन्ति, ते च देवदत्ताऽऽदिविलक्षणा देवा इति ।

अपरस्त्वाह-नन्वालयत्वादित्ययं हेतुस्तन्निवासिजनसाधनेऽनैकान्तिकः, शून्याऽऽलयैर्व्यभिचारात् । अत्रोत्तरमाह-(न य निलयेत्यादि) न च निलया आलया नित्यमेव शून्या भवन्ति । अयमभिप्रायः-ये केचिदालयास्ते प्राग्, इदानीमेष्यति वा कालेऽवश्यमेव तन्निवासिभिरधिष्ठिता एव भवन्ति, न तु नित्यमेव परिशून्याः । ततो यदा तदा वा चन्द्राऽऽद्यालयनिवासिनो देवाः सिध्यन्ति, इति ॥ १८७१ ॥

पुनरप्यत्र पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहारमाह-

को जाणइ व किमेयं, ति होज्ज निस्संसयं विमाणाइं ।
रयणमयनभोगमना-दिह जह विज्जाहराईणं ॥ १८७२ ॥

यदि वा एवंभूता मतिः परस्य भवेद्यदुत-चन्द्राऽऽद्यालयत्वेन यद्गीयते तदर्कादिकं को जानाति किमिदमवैति किं भयोऽग्निमयो गोलश्चन्द्रस्त्वम्बुमयः स्वभावतः स्वच्छः, आहोस्विदेवंभूता एवैते भास्वररत्नमया गोलका ज्योतिष्कविमानान्यतः कथमेतेषामालयत्वसिद्धिः ? । अत्र प्रतिविधानमाह- निःसंशयं विमानान्येतानि, रत्नमयत्वे सति नभोगमनात्, पुष्पकाऽऽदिविद्याधरतपस्विविमानवदिति । अभ्रविकारपवनाऽऽदिव्यवच्छेदार्थं रत्नमयत्वविशेषणमिति ॥ १८७२ ॥

अपरमपि पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

होज्ज मई मायं, तहा वि तक्कारिणो सुरा जे ते ।
न य मायाइविगारा, पुरं व निच्चोवलंभाओ ॥ १८७३ ॥

अथ परस्य मतिर्भवेन्नैते चन्द्राऽऽदिविमानान्यालयाः, किं तु मायैव मायाविना केनाऽपि प्रयुक्ता । अत्रोच्यते-मायात्वममीषामसिद्धं, वाङ्मात्रेणैव भवताऽभिधानात्तथाऽप्यभ्युपगम्यते, ये तत्कारिणः तथाविधमायाप्रयोक्तारस्ते सुराः सिद्धा एव, मनुष्याऽऽदीनां तथाविधवैक्रियकरणादर्शनात्, अभ्युपगम्य च मायात्वममीषामभिहितं, न चैते मायाऽऽदिविकाराः, नित्योपलम्भात्, सर्वेण सर्वदा दृश्यमानत्वादित्यर्थः, प्रसिद्धपाटलिपुत्राऽऽदिपुरवदिति । मायेन्द्रजालकृतानि हि वस्तूनि न नित्यमुपलभ्यन्त इति नित्यविशेषणोपादानमिति ॥ १८७३ ॥

प्रकारान्तरेणाऽपि देवास्तित्वं साधयन्नाह-

जइ नारगा पवन्ना, पगिट्ठपावफलभोइणो तेणं ।
सुबहुगपुण्णफलभुजो, पवत्तियव्वा सुरगणा वि ॥ १८७४ ॥

इह स्वकृतप्रकृष्टपापफलभोगिनस्तावत्केचिन्नारकाः प्रतिपत्तव्याः, ते च यदि प्रपन्नाः (तेणं ति) तर्हि तेनैव प्रकारेण स्वोपार्जितसुप्रबहुकपुण्यफलभुजः सुरगणा अपि प्रतिपत्तव्याः । अत्राऽऽह-नान्वेहयातिदुःखनरास्तिर्यञ्चश्चातिदुःखिताः प्रकृष्ट-

पापफलभुजो भविष्यन्ति, तथा मनुष्या एवातिसुखिताः प्रकृष्टपुण्यफलभुजो भविष्यन्ति, किमदृष्टनारकदेवपरिकल्पनयेति ? । तदयुक्तम् । प्रकृष्टपापफलभुजां सर्वप्रकारेणापि दुःखेन भवितव्यम्, न चातिदुःखितानामपि नरतिरश्चां सर्वप्रकारं दुःखं दृश्यते, सुखदपवनाऽऽलोकाऽऽदिसुखस्य सर्वेषामपि दर्शनात् । प्रकृष्टपुण्यफलभुजामपि सर्वप्रकारेणापि सुखेन भवितव्यम्, न चेहातिसुखितानामपि नराणां सर्वप्रकारं सुखमवलोक्यते, पूतिदेहोद्भवस्य रोगजराऽऽदिप्रभवस्य च दुःखस्य तेषामपि सद्भावात्, तस्मात्प्रकृष्टपापनिबन्धनसर्वप्रकारदुःखवेदिनो नारकाः, प्रकृष्टपुण्यहेतुकसर्वप्रकारसुखभोगिनो देवाश्चाभ्युपगन्तव्या एवेति ॥ १८७४ ॥

ननु यदि देवाः सन्ति, तर्हि स्वच्छन्दचारिणोऽपि किमित्यत्र ते कदाचिदपि नाऽऽगच्छन्तीत्याह –

संकंतदिव्वपेम्मा, विसयपसत्ताऽसमत्तकत्तव्वा ।

अणहीनमणुयकज्जा, नरभवमसुभं न एंति सुरा ॥ १८७५ ॥

नाऽऽगच्छन्तीह सदैव सुरगणाः, संक्रान्तदिव्यप्रेमत्वाद्विषयप्रसक्तत्वात्, प्रकृष्टरूपाऽऽदिगुणकामिनीप्रसक्तदृश्यदेशान्तरगतपुरुषवत्; तथाऽसमाप्तकर्तव्यत्वात्, बहुकर्तव्यताप्रसाधननियुक्तविनीतपुरुषवत् । तथा अनधीनं मनुजानां कार्यं येषां तेऽनधीनमनुजकार्याः, तद्भावस्तत्त्वं, तस्मान्नेहाऽऽगच्छन्ति सुराः, अनभिमतगेहाऽऽदौ निःसङ्गयतिवदिति । तथा अशुभत्वाद् नरभवस्य तद्गन्धासहिष्णुतया नेहाऽऽगच्छन्ति देवाः, स्वपरित्यक्तकलेवरवदिति ॥ १८७५ ॥

तत्किं सर्वथा तेऽत्र नाऽऽगच्छन्ति ?, नैवम्, अत एवाऽऽह –

नवरि जिणजम्मदिक्खा – केवलनिव्वाणमहनिओगेणं ।

भत्तीए सोम्म ! संसय – विच्छेयत्थं व एज्ज सुरा ॥ १८७६ ॥

पुव्वाणुरागओ वा, समयनिबंधा तवोगुणाओ वा ।

नरगणपीडाऽणुग्गह – कंदप्पाईहि वा केइ ॥ १८७७ ॥

नवरं जिनजन्मदीक्षाकेवलनिर्वाणमहोत्सवनियोगेन तत्कर्तव्यतानियमेनेह देवा आगच्छेयुः तत्र सौम्य ! केचिदिन्द्राऽऽदयो निजभक्त्या समागच्छन्ति, केचित्तु तदनुवृत्त्या, अन्ये संशयव्यवच्छेदार्थम्, अपरे तु पूर्वभवविकपुत्राऽऽद्यनुरागात्, समयनिबन्धः प्रतिबोधाऽऽदिनिमित्तः संकेतनिबन्धः, तस्माच्च केचिद्देवा इहाऽऽगच्छन्ति, अन्ये तु महासत्त्वसाध्वादितपोगुणसमाकृष्टाः, केचित्तु पूर्ववैरिकनरगणपीडार्थम्, अपरे तु पूर्वसुहृत्पुत्राऽऽद्यनुग्रहार्थम्, केचिद्देवाः कन्दर्पाऽऽदिभिरिहाऽऽगच्छन्ति । आदिशब्दात्साध्वादिपरीक्षाहेतोरिति द्रष्टव्यमिति । तदेवं निरूपितं देवानामत्राऽऽगमनकारणम्, अनागमनकारणं च ॥ १८७६ ॥ १८७७ ॥

अथ देवसिद्धावन्यदपि कारणमाह –

जाइस्सरकहणाओ, कासइ पच्चक्खदरिसणाओ य ।

विज्जामंतोवायण – सिद्धीओ गहविगाराओ ॥ १८७८ ॥

उक्किट्ठपुण्णसंचय – फलभावाओऽभिहाणसिद्धीओ ।

सव्वाऽऽगमसिद्धाओ, य संति देव त्ति सद्धेयं ॥ १८७९ ॥

सन्ति देवा इत्येतत् श्रद्धेयमिति प्रतिज्ञा, जातिस्मरणप्रत्ययितपुरुषेण कथनात्, नानादेशविचारिप्रत्ययितपुरुषावलोकितकथितविचित्रबृहद्देवकुलाऽऽदिवस्तुवत् । तथा कस्याऽपि तपःप्रभृतिगुणयुक्तस्य प्रत्यक्षदर्शनप्रवृत्तेश्च, केवलिनः प्रत्यक्षप्रमाणेनोपलम्भादित्यर्थः । दूरविप्रकृष्टनगराऽऽदिवत् । तथा विद्यामन्त्रोपयाचनेभ्यः कार्यसिद्धेः, प्रसादफलानुमितराजाऽऽदिवत् । तथा (गहविगाराउ त्ति) अत्र प्रयोगः – ग्रहाधिष्ठितपुरुषदेहो जीवव्यतिरिक्तादृश्यवस्त्वधिष्ठातृकः, पुरुषासंभाव्यविकारवत्क्रियादर्शनात्, संचरिष्णुयन्त्रव्यतिरिक्तमध्यप्रविष्टदृश्यमानपुरुषाधिष्ठितयन्त्रवत् । तथा तपोदानाऽऽदिक्रियासमुपार्जितोत्कृष्टपुण्यसंभारफलसद्भावात्, उत्कृष्टपापप्राग्भारफलसद्भावानारकवत् । एतच्च प्रागेव भावितम् । तथा देवा इति यदभिधानं ततोऽपि च देवानां सिद्धिः । एतच्चानन्तरगाथायां व्यक्तीकरिष्यते । तथा सर्वे च ते आगमाश्च सर्वाऽऽगमास्तेष्वविप्रतिपत्त्या सिद्धत्वाच्च सन्ति देवा इति ॥ १८७८ ॥ १८७९ ॥

यदुक्तम् – "अभिहाणसिद्धीउ (१८७९) त्ति" तद्भावयन्नाह –

देव त्ति सत्थयमिदं सुद्धत्तणओ घडाभिहाणं व ।

अह व मई मणुओ च्चिय, देवो गुणरिद्धिसंपन्नो ॥ १८८० ॥

तं न जओ तच्चत्थे, सिद्धे उवयारओ मया सिद्धी ।

तच्चत्थसीहसिद्धे, माणवसीहोवयारो व्व ॥ १८८१ ॥

'देवाः' इत्येतत्पदं सार्थक, व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदत्वात्, घटाऽऽदिवत् । तत्र दीव्यन्तीति देवा इति व्युत्पत्तिमत्त्वम्, समासतद्धितरहितत्वेन च शुद्धत्वम् । भावना चात्र प्रागुक्तैव । अथ परस्य मतिर्भवेन्ननु मनुष्य एवेह दृश्यमानो देवो भविष्यति, किमदृष्टदेवकल्पनया ? । किं सर्वोऽपि मनुष्यो देव इति । नेत्याह – गुणसंपन्नो गणधराऽऽदिः, ऋद्धिसंपन्नश्चक्रवर्त्यादिः । अत्रोच्यते – तदेतन्न यस्मात्सर्वं मुख्ये वस्तुनि क्वचित्सिद्धे सत्यन्यत्रोपचारतस्तत्सिद्धिर्मता, यथा मुख्ये यथार्थे सिंहेऽन्यत्र सिद्धे ततो माणवके सिंहोपचारः सिध्यति, एवमिहापि यदि मुख्या देवाः क्वचित्सिद्धा भवेयुस्तदा राजाऽऽदौ देवोपचारो युज्यते, नान्यथेति ॥ १८८० ॥ १८८१ ॥

देवाभावे चाग्निहोत्रक्रियाणां वैफल्यमिति दर्शयन्नाह –

देवाभावे विफलं, जमग्गिहोत्ताइयाण किरियाणं ।

सग्गीयं जन्नाण य, दाणाइफलं च तदजुत्तं ॥ १८८२ ॥

वा इत्यथवा, इदं दूषणम् – देवाभावेऽभ्युपगम्यमाने, यदग्निहोत्राऽऽदिक्रियाणाम्, "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादिना स्वर्गीयफलमुक्तं, तथा यज्ञानां च यत्फलमभिहितं, दानाऽऽदिफलं च यत्समस्तलोके प्रसिद्धम्, तत्सर्वमयुक्तं प्राप्नोति । स्वर्गो ह्येतेषां फलमुक्तं, स्वर्गिणां चाभावे कुतः स्वर्ग इति । "स एष यज्ञायुधी" इत्यादीनि च वेदवाक्यानि देवास्तित्वप्रतिपादनपराणि वर्त्तन्ते । अतः किं तान् न प्रतिपद्यसे ? । यद्यपि "को जानाति मायोपमान् गीर्वाणानिन्द्रयमवरुणकुबेराऽऽदीन्" इत्यादि वाक्यं, तदपि न देवानां नास्तित्वाभिधायकं, किन्तु सुराणामपि मायोपमत्वाभिधानेन शेषर्द्धिसमुदायानां सुतरामनित्यत्वप्रतिपादकं बोद्धव्यम् । अन्यथा हि देवास्तित्वप्रतिपादकवाक्यानि, श्रुतिमन्त्रपदैरिन्द्राऽऽदीनामाह्वानं चानर्थकं स्यात् ॥ १८८२ ॥

एतदेवाऽऽह –

जमसोमसूरसुरगुरु – साराज्जाईणि जयइ जन्नेहिं ।

मंताबाहणमेव य, इंदाईणं विहा सव्वं ॥ १८८३ ॥

यमेत्यादिपूर्वार्द्धस्यायमर्थः – वरुणचन्द्रशिवप्रभृतिक्रतुनिर्वर्त्तनाक्रिया "यम-सोम-सूर्य-सुरगुरु-स्वाराज्यानि जयति" इत्यादिनि देवा-

स्तित्वसूचकानि वेदवाक्यानि देवाभावे वृथैव स्युः। इह चा- कथषोडशप्रभृतयो यज्ञविशेषा मन्तव्याः, स यूपो यज्ञ एव हि क्रतुरुच्यते, यूपरहितस्तु दानाऽऽदिक्रियायुक्तो यज्ञ इति । स्वः स्वर्गस्तत्र राज्यानि जयत्युपार्जयतीत्यर्थ इति । तथा मन्त्रैरिन्द्राऽऽदीनामाह्वानं देवास्तित्व एवोपपद्यते,अन्यथा वृथैव स्यात् । इन्द्राऽऽदीनां मन्त्रपदैराह्वानमेवमवगन्तव्यम्-" इन्द्र ! आगच्छ मेधातिथे मेषवृषण ।" इत्यादि । तस्माद्युक्तितो वेद- वाक्येभ्यश्च सन्ति देवा इति स्थितम् । तदेवं छिन्नो मौर्यपुत्रस्य भगवता संशयः ॥१८७३॥ विशे० । सूत्र० । स्था० । आ० म० ।

देवानां स्वरूपं यथा-

अमिलायमल्लदामा, अणिमिसनयणा य नीरजसरीरा ।
चउरंगुलेण भूमिं, न छिवंति सुरा जिणो कहइ ॥

सुरा देवाश्चतुर्निकायभाविनोऽपि अम्लानमाल्यदामानः,तथा न विद्यते निमेषो येषां ते, अनिमेषे नयने येषां ते अनिमेषन- यनाः, तथा नीरजा निर्मलं शरीरं येषां ते नीरजःशरीराः । चतुरङ्गुलेन चतुर्भिरङ्गुलैर्भूमिं न स्पृशन्ति इति जिनः सर्वज्ञः कथयति । व्य० १ उ० ।

देवा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-एगसरीरी चेव,बिसरीरी चेव । स्था० २ ठा० २ उ० ।

देवाश्चतुर्विधास्तद्यथा-

से किं तं देवा ? । देवा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-भ- वणवासी, वाणमंतरा, जोइसिया, वेमाणिया ॥

(से किं तमित्यादि) अथ के ते देवाः ?। सूरिराह--देवाश्चतुर्वि- धाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-भवनवासिनो,व्यन्तरा, ज्योतिष्काः,वैमा- निकाः । प्रज्ञा० १ पद । नं० । स० । जी० । उत्त० ।

देवानाह -

देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमिज्ज वाणमंतर, जोइस वेमाणिया तहा ॥ २०३ ॥

देवा उक्तनिरुक्ताश्चतुर्विधाश्चतुष्प्रकारा उक्ताः, तीर्थकराऽऽदि- भिरिति गम्यते । ' ते 'इति तान् देवान् मे मम कीर्तयतः प्रति- पादयतः शृणु, आकर्णय शिष्यं प्रतीदमाह । तत्कीर्तनं भवन- भेदाभिधान चेति । तद्भेदानाह--(भोमिज्ज त्ति) भूमौ पृ- थिव्यां भवा भौमेयका भवनवासिनः, रत्नप्रभापृथिव्यन्तर्भूत- त्वाद् भवनानाम् । उक्तं हि--" इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणस- हस्समोगाहेत्ता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अ- ट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं भवणवासीणं देवाणं स- त्तभवणकोडीओ बावत्तरिं च भवणावाससयसहस्सा हवंती- ति मक्खायं ।" (वाणमंतर त्ति) अर्धमागधत्वाद्व्यन्तरा- --- पर्वतकर्पाऽऽत्मकविशेषरूपाणि निवासभूतानि वा गिरि- अर्थैवंभूता मति. पञ्कीनि येषां तेऽमी व्यन्तराः । उक्तं हि-" ते न्द्राऽऽदिविमानानि, न तु तेनपि लोकान् स्पृशन्तः स्थानान्तरात् परा- वृत्यमाश्रियीयते ?। किं तद्यथा निपत्तनियतगतिप्रचारा मनुष्यानपि यथा पुरं शून्यं लोकानामालयमात्र तथाविधेषु च शैलकन्दरान्त- सन्ति,एवं चन्द्राऽऽदिविमानान्यपयाश्रिता व्यन्तरा इत्युच्यन्ते । (जो- विमानानि, तान्यधासिन्या-

देवा अपि ज्योतींषि, प्रामः समागत इत्यादौ तन्निवासिजन- ग्रामवत् । विशेषेण मानयन्त्युपभुञ्जन्ति सुकृतिन एतानीति विमानानि,तेषु भवा वैमानिकाः । तथेति समुच्चये,इति सूत्रार्थः ।

एषामेवोत्तरभेदानाह-

दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वाणमंतरा ।
पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥ २०४ ॥

दशधा त्विति दशधैव (भवणवासि त्ति) भवनेषु वस्तुं शीलमेषामिति भवनवासिनः, अष्टधा अष्टप्रकारा वनेषु विचि- त्रोपवनाऽऽदिषूपलक्षणत्वादन्येषु च विविधाऽऽश्रयेषु क्री- डैकरसिकतया चरितुं शीलमेषामिति वनचारिणो व्यन्तराः, पञ्चविधाः पञ्चप्रकाराः (जोइसिय त्ति) ज्योतिःषु विमा- नेषु भवा ज्योतिष्काः, ज्योतींष्येव वा ज्योतिष्काः, द्विविधा वैमानिकास्तथेति सूत्रार्थः ।

एतानेव नामग्राहमाह-

असुरा नाग सुवन्ना, विज्जू अग्गी वियाहिया ।
दीवोदहिदिसावाया, थणिया भवणवासिणो ॥ २०५ ॥
पिसाय भूय जक्खा य, रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा ।
महोरगा य गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमंतरा ॥ २०६ ॥
चंदा सूरा य नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा ।
दिसाविचारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ॥ २०७ ॥
वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोधव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥ २०८ ॥
कप्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा ।
सणंकुमारमाहिंद-बंभलोगा य लंतगा ॥ २०९ ॥
महासुक्कसहस्सारा, आणया पाणया तहा ।
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥ २१० ॥
कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।
गेवेज्जाऽणुत्तरा चेव, गेवेज्जा नवविहा तहिं ॥ २११ ॥
हिट्ठिमाहेट्ठिमा चेव, हेट्ठिमामज्झिमा तहा ।
हेट्ठिमाउवरिमा चेव, मज्झिमाहिट्ठिमा तहा ॥ २१२ ॥
मज्झिमामज्झिमा चेव, मज्झिमाउवरिमा तहा ।
उवरिमाहिट्ठिमा चेव, उवरिमामज्झिमा तहा ॥ २१३ ॥
उवरिमाउवरिमा चेव, इइ गेवेज्जगा सुरा ।
विजया वेजयंता य, जयंता अपराजिया ॥ २१४ ॥
सव्वट्ठसिद्धगा चेव, पंचहाऽणुत्तरा सुरा ।
इइ वेमाणिया एए-ऽणेगहा एवमायओ ॥ २१५ ॥

सूत्रपञ्चैकादश प्रायः प्रतीतान्येव, नवरम्, असुरा इत्य- सुरकुमाराः । एवं नागाऽऽदिष्वपि कुमारशब्दः संबन्धनीयः । सर्वेऽपि ह्यमी कुमाराऽऽकारधारिण एव । यदाह-कुमारवदेते कान्तदर्शनाः सुकुमाराः मृदुमधुरललितगतयः शृङ्गाराभिजा- तरूपविक्रियाः कुमारवच्चोद्धतरूपवेषभाषाऽऽभरणप्रहरणावरणा- यानवाहनाः कुमारवच्चोल्बणरागाः क्रीडनपराश्चेत्यतः कुमारा इत्युच्यन्ते । (तारागणा इति) प्रकीर्णतारकासमूहाः, दिशासु

विशेषेण मेरुपादक्षिण्यनित्यचारितासरूपेण चरन्ति परिभ्रमन्तीत्येवंशीला विशाविचारिणः, तद्विमानानि लोकान्तशभिरेकादशभिर्योजनशतैर्मेरोरस्पृशन्त्यपि विश्वबाधया सततमेव प्रदक्षिणं चरन्तीति, नेत्येवमुक्ताः ज्योतींष्युक्तन्यायतो विमानान्यालया आश्रया येषां ते ज्योतिरालयाः, कल्प्यन्ते इन्द्रसामानिकत्रयस्त्रिंशाऽऽदिदशप्रकारत्वेन विभज्यन्ते देवा एतेष्विति कल्पा देवलोकाः, तानुपगच्छन्त्युत्पत्तिविषयतया प्राप्नुवन्तीति कल्पोपगाः, कल्पातुकरूपानतीतास्तदुपरिवर्तित्वात्तोत्पन्नतयाऽतिक्रान्ताः कल्पातीताः। (सोहम्मीसाणग त्ति) सुधर्मा नाम शक्रस्य सभा, साऽस्मिन्नस्तीति सौधर्मः कल्पः, स एषामवस्थितिविषयोऽस्तीति सौधर्मिणः । तथा ईशानो नाम द्वितीयदेवलोकः,तन्निवासिनो देवा अपि ईशानाः, त एवेशानकाः। एवमुत्तरत्रापि व्युत्पत्तिः कार्या । ग्रीवेव ग्रीवा लोकपुरुषस्य अधोदशरज्जूपरिवर्तिप्रदेशः,तन्निविष्टतयाऽतिभ्राजिष्णुतया च तदाभरणभूता ग्रैवेयका देवाऽऽवासाः, तन्निवासिनो देवा अपि ग्रैवेयकाः । न विद्यन्ते उत्तराः प्रधाना. स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशिष्टत्वयोऽन्ये देवा इत्यनुत्तराः। (हेट्ठिम त्ति) अधस्तनानुपरितनवद्विकत्रा प्रथमास्त्रयस्तेष्वपि (हेट्ठिम त्ति) अधस्तना अधस्तनाधस्तनाः प्रथमत्रिकाधोवर्तिनः, (हेट्ठिममज्झिमा तह त्ति) अधस्तनमध्यमाः प्रथमत्रिकमध्यवर्तिनः (हेट्ठिमाउवरिमा चेव त्ति) अधस्तनोपरितनाः प्रथमत्रिकोपरिवर्तिनां मध्ये तथा मध्यमा मध्यमत्रिकवर्तिनः,तेष्वपि अधस्तनाः। एवं मध्यममध्यमाः मध्यमोपरितना उपरिवर्तिनस्तेष्वधस्तना उपरितनाधस्तनाः । एवं उपरितनमध्यमा उपरितनोपरितनाः । इतिर्भेदसमाप्तौ । तत एते नवभेदा एव ग्रैवेयकाः सुराः । अभ्युदयविघ्नहेतून् विजयन्त इति विजयाः, तथैव वैजयन्ताः " कणादयो बहुलम " ॥ । ३ । १ ॥ इति बहुलवचनात् तप्रत्यये उपसर्गेकारः । एवं जयन्ताः । अपरैरन्यैरभ्युदयविघ्नहेतुभिर्गंतता अनभिभूता अपराजिताः, सर्वेऽर्थाः सिद्धा इव सिद्धा येषां ते सर्वार्थसिद्धाः, ते हि विजितप्रायकर्माण उपस्थितभद्रा एव तत्रोत्पत्तिभाज इतीत्यादीनि निगमनम । अत्र च वैमानिका इति वैमानिकभेदाः सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदनन्यत्वात्, एवमादय इति। आदिशब्दस्य प्रकारवचनत्वादेवप्रकारा इत्येकादशसूत्रार्थः ।

लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे परिकित्तिया ।
एत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥२१६॥
संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥ २१७ ॥

क्रमकालाभिधायिसूत्रद्वयं प्राग्वत् सादिसपर्यवसितत्वभावनार्थम ।

साहियं सागरं एक्कं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
भोमेज्जाणं जहन्नेणं, दस वाससहस्सिया ॥ २१८ ॥
पलिओवममेगं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
वंतराणं जहन्नेणं,दस वाससहस्सिया ॥ २१९ ॥
पलिओवममेगं तु, वासलक्खेण साहियं ।
पलिओवमट्ठभागो, जोइसेसु जहन्निया ॥ २२० ॥
दो चेव सागराइं, उक्कोसेणं वियाहिया ।
सोहम्मम्मि जहन्नेणं, एगं च पलिओवमं ॥ २२१ ॥
सागरा साहिया दोन्नि, उक्कोसेणं वियाहिया ।
ईसाणम्मि जहन्नेणं, साहियं पलिओवमं ॥ २२२ ॥
सागराणि अ सत्तेव, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
सणंकुमारे जहन्नेणं, दोन्निओ सागरोवमा ॥ २२३ ॥
साहिया सागरा सत्त, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
माहिंदम्मि जहन्नेणं, साहिया दुन्नि सागरा ॥ २२४ ॥
दस चेव सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
बंभलोए जहन्नेणं, सत्तओ सागरोवमा ॥ २२५ ॥
चउद्दस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
लंतगम्मि जहन्नेणं, दसओ सागरोवमा ॥ २२६ ॥
सत्तरस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
महासुक्के जहन्नेणं, चोद्दस सागरोवमा ॥ २२७ ॥
अट्ठारस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
सहस्सारे जहन्नेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥ २२८ ॥
सागरा अउणवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
आणयम्मि जहन्नेणं, अट्ठारस सागरोवमा ॥ २२९ ॥
वीसं तु सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
पाणयम्मि जहन्नेणं, सागरा अउणवीसई ॥ २३० ॥
सागरा एक्कवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे।
आरणम्मि जहन्नेणं, वीसई सागरोवमा ॥ २३१ ॥
बावीसा सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
अच्चुयम्मि जहन्नेणं, सागरा इक्कवीसई ॥ २३२ ॥
तेवीस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
पढमम्मि जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ॥ २३३ ॥
चउवीस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
बिइयम्मि जहन्नेणं, तेवीसं सागरोवमा ॥ २३४ ॥
पणवीस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
तइयम्मि जहन्नेणं, चउवीसं सागरोवमा ॥ २३५ ॥
छव्वीस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
चउत्थम्मि जहन्नेणं, सागरा पणवीसई ॥ २३६ ॥
सागरा सत्तवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
पंचमम्मि जहन्नेणं, छव्वीसं सागरोवमा ॥ २३७ ॥
सागरा अट्ठवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
छट्ठम्मि जहन्नेणं, सागरा सत्तवीसई ॥ २३८ ॥
सागरा अउणतीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
सत्तमम्मि जहन्नेणं, सागरा अट्ठवीसई ॥ २३९ ॥
तीसं तु सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
अट्ठमम्मि जहन्नेणं, सागरा अउणतीसई ॥ २४० ॥
सागरा इक्कतीसं तु, उक्कोसेण वियाहिया ।
नवमम्मि जहन्नेणं, तीसई सागरोवमा ॥ २४१ ॥

तेत्तीस सागराऊ, उक्कोसेणं वियाहिया ।
चउसुं पि विजयाईसु, जहन्ना इक्कतीसई ॥ २४२ ॥
अजहण्णमणुक्कोसं, तेत्तीसं सागरोवमा ।
महाविमाणे सव्वट्ठे, ठिई एसा वियाहिया ॥ २४३ ॥
जा चेव य आउठिई, देवाणं तु वियाहिया ।
सा तेसिं कायठिई, जहन्नमुक्कोसिया भवे ॥ २४४ ॥

सप्तविंशतिसूत्राणि प्रायो निगदसिद्धान्येव, नवरं (साहियं ति) प्राकृतत्वात् साधिकम् । (सागरं इति) सागरोपममेकम्, उत्कृष्टेन स्थितिर्भवति । भौमेयकानां भवनवासिनाम्, इयं च सामान्योक्तावप्युत्तरनिकायाधिपस्य बलेरवगन्तव्या । दक्षिणनिकाये त्विन्द्रस्यापि सागरोपममेव । उक्तं हि- "चमरं बलि सागरमाहियं ति ।" जघन्येन दशवर्षसहस्राणि प्रमाणमस्या दशवर्षसहस्रिका । इयमपि सामान्योक्तावपि किल्बिषाणामेव स्थितिप्रज्ञावाऽऽदीनां देवेषु सहैव ह्रासादिरुत्रापि भावनीयम् । तथा पल्योपमवर्षलक्षाधिकामिति । ज्योतिषामुत्कृष्टस्थित्यभिधानम्, चन्द्रापेक्षम्, सूर्यस्य तु वर्षसहस्राधिकं पल्योपममायुः । ग्रहाणामपि तदेव नातिरिक्तं, नक्षत्राणां तस्यैवार्द्धं, तारकाणां चतुर्भागः, तथा पल्योपमाष्टभागो ज्योतिःषु जघन्या स्थितिरित्यपि तारकापेक्षमेव । शेषाणां पल्योपमचतुर्थभागस्यैव जघन्यस्थितित्वात् । यत उक्तम्-चतुर्भागः शेषाणामिति । इह च सर्वत्र उत्कृष्टयोत्कृष्टजघन्यस्थित्योरपान्तरालवर्तिनी मध्यमा स्थितिरिति द्रष्टव्यं, तथा प्रथम इति प्रक्रमाद् ग्रैवेयकं अधस्तनाधस्तने । एवं द्वितीयाऽऽदिष्वपि ग्रैवेयकमितिसंबन्धनीयम् । अविद्यमानं जघन्यमिति जघन्यत्वमस्यामित्यजघन्या । तथा अविद्यमानमुत्कृष्टमित्युत्कृष्टत्वमस्यामित्यनुत्कृष्टा, अजघन्या चासावनुत्कृष्टा च जघन्यानुत्कृष्टा । मकारो लाक्षणिकः । महच्च तदायुः स्थित्याद्यपेक्षया विमानं च महाविमानं तच्च तत् । सर्वे निरवशेषा अर्थमानत्वादर्था अनुत्तरसुखाऽऽदयो यस्मिंस्तत् सर्वार्थं च महाविमानं सर्वार्थं तस्मिन् स्थितिरिति सर्वत्रायुःस्थितिप्रक्रमाद्देवानां तथा आयुःस्थितिरेव कायस्थितिस्त्वाभिधाने तत्रानन्तरमनुत्पत्तिरेवेत्यभिप्राय इति सप्तविंशतिसूत्रार्थः । अन्तरविधानाभिधायि च सूत्रद्वयं पूर्ववद्व्याख्येयम् ।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
विजढम्मि सए काए, देवाणं होज्ज अंतरं ॥ २४५ ॥
एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणदेसओ वा वि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ २४६ ॥

सूत्रद्वयं प्राग्वद्व्याख्येयम् ।

इत्थं जीवानजीवांश्च सविस्तरमुपदर्श्य निगमयितुमाह-

संसारत्था य सिद्धा य, इइ जीवा वियाहिया ।
रूविणो चेवऽरूवी य, अजीवा दुविहा वि य ॥ २४७ ॥

संसारस्थाश्च सिद्धाश्च इतीत्येवंप्रकारा जीवा व्याख्याता विशेषेण सकलभेदाऽऽख्यानात्मया प्रकथिताः । रूपिणश्चैव (रूवी य ति) प्रकारप्रश्लेषादरूपिणश्चाजीवा द्विविधा अपि व्याख्याता इति योग इति सूत्रार्थः ।

यदुक्तं जीवाजीवविभक्तिं शृणुतैकमनस इति, तत्र जीवाजीवविभक्तिमभिधाय शृणुतैकमनस इतिवचनात् कश्चिच्छ्रवणश्रद्धानमात्रेणैव कृतार्थतां मन्येत नयनस्तदाशङ्काऽपनोदार्थमाह-

इइ जीवमजीवे य, सोच्चा सद्दहिऊण य ।
सव्वनयाण अणुमए, रमेज्जा संजमे मुणी ॥ २४८ ॥

इतीत्येवंप्रकारान् (जीवमजीव त्ति) जीवाजीवानेतानन्तरोक्तान् श्रुत्वा अवधार्य श्रद्धाय च तथेति प्रतिपद्य सर्वे च ते नयाश्च सर्वनया ज्ञानक्रियानयान्तर्गता नैगमाऽऽदयः, तेषामनुमतेऽभिप्रेतस्तस्मिन् । कोऽर्थः ?, ज्ञानसहितसम्यक्चारित्ररूपे रमेत रतिं कुर्यात् । क ?, सम्यक्पमने पृथिव्यादिजीवोपमर्दनस्तृणपञ्चकाऽऽद्यजीवोपादानाऽऽदेश्च उपरमणं संयमः, तस्मिन् मुनिरुक्तरूप इति सूत्रार्थः । उत्त० ३६ अ० ।

पञ्चविधा देवास्तद्यथा-

कइविहा णं भंते देवा ! पण्णत्ता ? । पंचविहा देवा पण्णत्ता । तं जहा-भवियदव्वदेवा, नरदेवा, धम्मदेवा, देवाधिदेवा, भावदेवा ।

(कइविहा णमित्यादि) दीव्यन्ति क्रीडां कुर्वन्ति, दीव्यन्ते वा स्तूयन्ते आराध्यतया ते देवाः (भवियदव्वदेव त्ति) द्रव्यभूता देवा द्रव्यदेवाः, द्रव्यता चाप्राधान्याद् भूतभावत्वाद्वा, भाविभावत्वाद्वा । तत्राप्राधान्याद्देवगुणशून्या देवा द्रव्यदेवाः, यथा साध्वाभासा द्रव्यसाधवः । भूतभावपक्षे तु भूतस्य देवत्वपर्यायस्य प्राप्तकारणभावदेवत्वाद् द्रव्यदेवाः । भाविभावपक्षे तु-भाविनो देवत्वपर्यायस्य योग्या देवत्वेनोत्पत्स्यमाना द्रव्यदेवाः । तत्र भाविभावपक्षपरिग्रहार्थमाह-भव्याश्च ते द्रव्यदेवाश्चेति । नरदेवाः, (धम्मदेव त्ति) धर्मेण श्रुताऽऽदिना देवा धर्मप्रधाना वा देवा धर्मदेवाः (देवाऽदेव त्ति) देवान् शेषानतिक्रान्ताः पारमार्थिकदेवत्वयोगाद्देवा देवातिदेवाः " देवाहिदेव त्ति ।" क्वचिद् दृश्यते । तत्र च देवानामधिकाः पारमार्थिकदेवत्वयोगाद्देवा देवाधिदेवाः (भावदेव त्ति) भावेन देवगत्यादिकर्मोदयजातपर्यायेण देवा भावदेवाः ।

भवियद्रव्यदेवा यथा-

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-भवियदव्वदेवा भवियदव्वदेवा ? । गोयमा ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिए वा मणुस्से वा देवेसु उववज्जित्तए, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-भवियदव्वदेवा ।

(भविए इत्यादि) इह जात्येकवचनमतो बहुवचनार्थे व्याख्येयं, ततश्च ये भव्या योग्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका वा, मनुष्या वा देवेषूत्पत्तुं ते यस्मात्तद्भवियभावा इति गम्यम् । अथ तेनार्थेन तेन कारणेन हे गौतम ! तान् प्रत्ययमुच्यते-भव्यद्रव्यदेवा इति ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-नरदेवा नरदेवा ? । गोयमा ! जे इमे रायाणो चाउरंतचक्कवट्टी उप्पन्नसमत्तचक्करयणप्पहाणा णवनिहिपइणो समिद्धकोसा बत्तीसं रायवरसहस्सा णुयातमग्गा सागरवरमेहलाहिवइणो मणुस्सिंदा से तेणट्ठेणं० जाव नरदेवा ।

(जे इमे इत्यादि) (चाउरंतचक्कवट्टि त्ति) चतुरन्ताया भर-

ताऽऽदिपृथिव्या एते स्वामिन इति चातुरन्ताः, चक्रेण वर्त्तनशीलत्वाच्च चक्रवर्त्तिनः, ततः कर्मधारयः । चतुरन्तग्रहणेन च वासुदेवाऽऽदीनां व्युदासः, ते यस्मादिति वाक्यशेषः । (उप्पन्न-समत्तचक्करयणप्पहाण त्ति) आर्षत्वान्निर्देशस्य, उत्पन्नं समस्तरत्नप्रधानं चक्रं येषां ते तथा । (सागरवरमेहलाहिवइणो त्ति) सागर एव वरा मेखला काञ्ची यस्याः सागरवरमेखला पृथ्वी, तस्या अधिपतयो ये ते तथा, सागरमेखलान्तपृथिव्यधिपतय इति भावः । (से तेणट्टेणं ति) अथ तेनार्थेन तेन कारणेन गौतम ! तान् प्रत्येवमुच्यते नरदेवा इति ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-धम्मदेवा धम्मदेवा ? । गोयमा ! जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया० जाव गुत्तबंभयारी, से तेणट्ठेणं० जाव धम्मदेवा ॥

(जे इमे इत्यादि) य इमेऽनगारा भगवन्तस्ते यस्मादिति ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-देवाधिदेवा देवाधिदेवा ? । गोयमा ! जे इमे अरहंता भगवंतो उप्पण्णणाणदंसणधरा० जाव सव्वदरिसी, से तेणट्ठेणं० जाव देवाधिदेवा देवाधिदेवा ॥

(जे इमे इत्यादि) य इमे अर्हन्तो भगवन्तस्ते यस्मादुत्पन्नज्ञानदर्शनधरा इत्यादि । (से तेणट्ठेणं ति) अथ तेनार्थेन तान् प्रति गौतम ! एवमुच्यते देवाधिदेवा देवाधिदेवा इति ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-भावदेवा भावदेवा ? । गोयमा ! जे इमे भवणवइवाणमंतरजोइसियवेमाणिया देवा देवगइणामगोयाइं कम्माइं वेदेंति, से तेणट्ठेणं० जाव भावदेवा भावदेवा ॥

(जे इमे इत्यादि) ये इमे भवनपत्यादयस्ते यस्माद्देवगतिनामगोत्रे कर्मणी वेदयन्ति अनेनार्थेन तान् प्रत्येवमुच्यते-भावदेवा भावदेवा इति । भ० १२ श० ९ उ० । (भव्यद्रव्याऽऽदयः कुत उत्पद्यन्ते इति ' उववाय ' शब्दे द्वितीयभागे ७९७ पृष्ठे समुक्तम्) (अग्निदेवानां ' लोगंतिय ' शब्दे सूत्रपदम्)

चउवीसाए देविंदे वरागा-रागा-जोइस-वेमाणिआणं दसभट्ठापणविहा इम चउव्वीसं देवा केइ पुण बिंति अरिहंता ॥३०॥ आव० ४ अ० । आ० चू० । प्रश्न० ।

(महर्द्धिकाऽऽदिदेवानां पुद्गलाऽऽदानपूर्वकं गमनाऽऽदि 'पुग्गल' शब्दे वक्ष्यते) (तेषामनुपरिवर्तनता 'अणुपरियट्टण' शब्दे प्रथमभागे ३०५ पृष्ठे द्रष्टव्या) (अविशुद्धलेश्यदेवविषयकं ज्ञानं ' विभंग ' शब्दे वक्ष्यते) (पुरन्दराऽऽदिदेवानां लोकानि 'लोग' शब्दे प्रदर्शयिष्यन्ते) (देवानां जराभावाभावककथना ' जरा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४२५ पृष्ठे द्रष्टव्या)

शुक्रसहस्रारयोश्चतुर्देवदेवाः, अन्यत्र त्वन्यथा । यत आहु-
" भवणवणजोइसोहम्मी-सारोणे सत्त हौंति रयणीओ ।
एक्केकहाणि सेसे, दुदुगे य दुगे चउक्के य ॥ १ ॥
गेवेज्जेसु य दुन्नि य, एका रयणी अणुत्तरसुरेसु ॥ " इति भवधारणीयान्युत्तरवैक्रियाणि तु लक्षमपि संभवन्ति, उत्कृष्टेनेत्यर्थः, जघन्यतस्त्वङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणान्युत्पत्तिकाले भवधारणीयानि जघन्युत्तरवैक्रियाणि त्वङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणानीति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । (देवानामाहारः ' आहार ' शब्दे द्वितीयभागे ५०७ पृष्ठे गतः) (देवानां शब्द-

श्रवणं 'सद्द' शब्दे वक्ष्यते) (देवदुर्गतिः 'दुग्गइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४५४४ पृष्ठे द्रष्टव्या) (सदेवीकानामदेवीकानां देवानां परिचारः ' परियारणा ' शब्दे वक्ष्यते) (देवानामाशातना ' आसायणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४७८ पृष्ठे द्रष्टव्या) (देवानां धार्मिकत्वसिद्धिः ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२२४ पृष्ठे गता) (देवानामुद्वेगः ' उव्वेग ' शब्दे द्वितीयभागे १११३ पृष्ठे प्रतिपादितः) दीव्यन्ते स्तूयन्ते काचित्पूर्वभवपरम्परोपात्ततीर्थकृन्नामकर्मोदयतो नमन्त्रिविष्टपाधिपत्यसुरासुरमर्त्याधिपतिभिरिति देवाः । दर्श० १ तत्त्व । ज्ञानाऽऽदिप्रकृष्टगुणवति देवतातिशायिनि जिनाऽऽदिके देवविशेषे, दर्श० ।

चउतीसअइसयजुओ, अट्ठमहापाडिहेरकयसोहो ।
अट्ठदसदोसरहिओ, सो देवो नत्थि संदेहो ॥ ६ ॥

तत्र सकलत्रिभुवनातिशायिसर्वाऽऽश्चर्यनिधानभूतसर्वैश्वर्यनिवेदनपरभुवनजननयनाऽऽनन्दविधायकानन्यजनसाधारणचतुस्त्रिंशदतिशयैर्युतः समन्वितो यः स देव इति प्रकृतम् । अष्टमहाप्रातिहार्यैरशोकाऽऽदिभिः कृता विहिता शोभा यस्य सोऽपि देवः । अष्टादशदोषैरज्ञानाऽऽदिभी रहितो विवर्जितो यः स देवः । अयमत्र भावार्थः-यो हि देवो वा खेचरो वा वैक्रियाऽऽदिलब्धिमत्तरो वा इत्थंभूतस्फीतिमात्रपि यथोक्तवक्ष्यमाणरहितो न भवति न स देव इति नात्र संशयः संदेह इति गाथार्थः । दर्श० १ तत्त्व । अकम्पिकगणधरस्य पितरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । आगच्छति चतुर्विंशतितमे जिने, ति० । "चविस-मो अवइजोणो देवो ।" ती० ४१ कल्प । राजनि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । स्वनामख्याते द्वीपे, प्रज्ञा० १५ पद । " देवे णामं दीवे अद्धयाऽऽकारसंठिते ।" सू० प्र० १९ पाहु० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । प्रज्ञा० १५ पद । संमान्ये, अनु० । आराध्यतमे च । पञ्चा० १ विव० । कश्चन प्रचुरकर्मतया सत्यामपि सम्यक्त्वाऽऽदिकायां सामग्र्यां न तद्भव एव मोक्षमास्कन्दन्ति, अपि तु सौधर्माऽऽद्याः पञ्चानुत्तरविमानावसाना देवा भवन्तीति । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । स्था० । औ० । मेघाऽऽदीन् स्थितान् दृष्ट्वा न देव देवेति वदेत् ।

तहेव मेहं व नहं व माणवं,
न देव देव त्ति गिरं वएज्जा ।
समुच्छिए उन्नए वा पओए,
वएज्ज वा वुट्ठबलाहय त्ति ॥ ५२ ॥

तथैव मेघं वा नभो वा मानवं वाऽऽश्रित्य नो देवदेव इति गिरं वदेत्, मेघमुन्नतं दृष्ट्वा उन्नतो देव इति नो वदेत्, एवं नभ आकाशं मानवं राजानं वा देवमिति नो वदेत्, मिथ्यावादलाघवाऽऽदिप्रसङ्गात् । कथं तर्हि वदेदित्याह-उन्नतं दृष्ट्वा समुत्थित उन्नतो वा पयोद इति वदेद्वा वृष्टो बलाहक इति सूत्रार्थः । दश० ७ अ० । (देवानां परितापकारणानि "परिताव" शब्दे वक्ष्यन्ते)

दैव-न० । "एच्च दैवे" ॥ ८ । १ । १५३ ॥ इति दैवशब्दे ऐत एत्, अइश्च वा । "दिव्वं देव्वं दइव्वं दइवं ।" प्रा० १ पाद । पूर्वकृते कर्मणि, षो० ७ विव० ।

देवा णं भंते ! संजयाइ वत्तव्वं सिया ? । गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अब्भक्खाणमेयं देवाणं । देवा णं भंते !

असंजयाइ वत्तव्वं सिया ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे णि-ट्ठुरवयणमेयं देवाणं। देवा णं भंते ! संजयासंजयाइ वत्तव्वं सिया ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अब्भक्खाणमेयं देवा-णं। से किं खाइं णं भंते ! देवाइ वत्तव्वं सिया ?। गोय-मा ! देवा णं नोसंजयाइ वत्तव्वं सिया।

(देवा णमित्यादि) (से किं खाइं णं भंते ! देवाइ व-त्तव्वं सिय त्ति) " से " इति अथार्थः । किमिति प्रश्नार्थः (खाइं ति) पुनरर्थः। णं वाक्यालङ्कारार्थः। (देवाइ त्ति) य-ह्वस्तु तद्वक्तव्यं स्यादिति । (नोसंजयाइ वत्तव्वं सियात्ति) नोसंयता इत्येतद्वक्तव्यं स्यात् । असंयतशब्दपर्यायत्वेऽपि नो-संयतशब्दस्यानिष्ठुरवचनत्वाद् मृतशब्दापेक्षया परलोकीभूत-शब्दवदिति । भ० ५ श० ४ उ० ।

देवई–देवकी–स्त्री० । कृष्णस्य वासुदेवस्य मातरि, स० । आ० क० । आव० । ति० । सा च जम्बूद्वीपे भारते वर्षे आ-गमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां मुनिसुव्रतो नाम एकादशमो जि-नो भविष्यति । स० । " एक्कारसमो देवईजीवो मुणिसुव्व-ओ " ति। १६ कल्प । प्रव० ।

देवउत्त–देवोप्त–त्रि० । देवेनोप्तो देवोप्तः । देवनिष्पादिते, सू-त्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

देवगुत्त–देवपालिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

देवपुत्र–पुं० । देवस्य पुत्रो देवपुत्रः । देवसुते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

देवउत्तवाइ(ण्)–देवोप्तवादिन्–पुं० । देवेनोप्तो देवोप्तः, कर्षके-णेव बीजवपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लोक इत्येवंवादिनि प-रतीर्थिके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसि आहियं ।
देवउत्ते अयं लोए, ... ॥

इदमिति वक्ष्यमाणं, तुशब्दः पूर्वेभ्यो विशेषणार्थः । अ-ज्ञानमिति मोहविजृम्भणमिहास्मिन् लोके एकेषां न सर्वे-षामाख्यातमभिप्रायः । किं पुनस्तदाख्यातमिति तदाह-देवे-नोप्तो देवोप्तः कर्षकेणेव बीजवपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लो-क इत्यर्थः । देवैर्वा गुप्तो रक्षितो देवगुप्तः, देवपुत्रो वेत्या-दिकमज्ञानमिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

देवउप्फ–देशी–पक्कपुष्पे, दे० ना० ५ वर्ग ४६ गाथा ।

देवउल–देवकुल–देवस्थाने, आ० म० १ अ० २ खण्ड । प्रा० ।

देवं–दातुम्–अव्य० । " तुम एवमणाणहमणहिं च " ॥ ८ । ४ । ४४१ ॥ इति तुम एवादेशे 'देवं ।' दानं कर्तुमित्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

देवंधगार–देवान्धकार–पुं० । देवानामप्यन्धकारोऽसौ तद्व-शरीरप्रभाया अपि तत्राप्रभावत्वादिति देवान्धकारः । तिमिर-काये, स्था० ४ ठा० २ उ० । देवानामपि तत्रोद्योताभा-वेनान्धकारभावात् । भ० ६ श० ५ उ० । (अयं कुत्र भवती-ति 'लोगुज्जोय' शब्दे वक्ष्यते)

देवकज्ज–देवकार्य–न० । देवकृत्ये, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० । तथा चाह–" तं नाणं तं च विन्नाणं, तं कलासु अ कोसलं । सा बुद्धी पोरिसं तं च, देवकज्जेण जं वए ॥ १ ॥ " इति । ध० २ अधि० ।

देवकम्म(ण्)–देवकर्मन्–न० । देवक्रियायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

देवकाम्मण–न० । देवश्च कार्म्मणं च । तथाविधद्रव्यसंयोगे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

देवकलिया–देवोत्कलिका–स्त्री० । देवानां वातस्येवोत्कलिका देवोत्कलिका । देवलहरी, स्था० ४ ठा० ३ उ० । तत्समवाय-परिशेषे च । स्था० ३ ठा० १ उ० । जी० ।

देवकहकहय–देवकहकहक–पुं० । देवानां प्रमोदभरवशतः स्व-च्छावचनैर्बोलः कोलाहलो देवकहकहकः । देवकोलाहले, जी० ३ प्रति० ४ उ० । आचा० । देवप्रमोदकलकले, स्था० ४ ठा० ३ उ० । रा० । (अयं कुत्र भवतीति " लोगुज्जोय " शब्दे वक्ष्यते)

देवकाम–देवकाम–पुं० । देवभवसम्बन्धिविषये, उत्त० ७ अ० ।

देवकिब्बिस–देवकिल्बिष–पुं० । देवकिल्बिषभावनाजनिते देव-भेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

कइविहा णं भंते ! देवकिब्बिसिया पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा देवकिब्बिसिया पण्णत्ता । तं जहा–तिपलिओवमट्ठि-ईया, तिसागरोवमट्ठिईया, तेरससागरोवमट्ठिईया । कहि णं भंते ! तिपलिओवमट्ठिईया देवकिब्बिसिया परिवसंति ?। गोयमा ! उप्पिं जोइसियाणं हिट्ठिं सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु । एत्थ णं तिपलिओवमट्ठिईया देवकिब्बिसिया परिवसंति । कहि णं भंते ! तिसागरोवमट्ठिईया देवकिब्बिसिया परि-वसंति ?। गोयमा ! उप्पिं सोहम्मीसाणाणं कप्पाणं हिट्ठिं सणंकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु, एत्थ णं तिसागरोवमट्ठि-ईया देवकिब्बिसिया परिवसंति । कहि णं भंते ! तेरससा-गरोवमट्ठिईया देवकिब्बिसिया परिवसंति ?। गोयमा ! उप्पिं बंभलोगस्स कप्पस्स हिट्ठिं लंतए कप्पे, एत्थ णं तेरससागरोवमट्ठिईया देवकिब्बिसिया परिवसंति । देवकि-ब्बिसिया णं भंते ! केसु कम्मादाणेसु देवकिब्बिसियत्ता-ए उववत्तारो भवंति ?। गोयमा ! जे इमे आयरियपडि-णीया उवज्झायपडिणीया कुलपडिणीया गणपडिणी-या संघपडिणीया आयरियउवज्झायाणं अयसकरा अव-ण्णकरा अकित्तिकरा बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मि-च्छत्ताभिनिवेसेहि य अप्पाणं वा २ वुग्गाहेमाणा वुप्पाए-माणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, पाउणि-त्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवकिब्बिसिएसु देवेसु देवकिब्बि-

सियत्ताए उववत्तारो भवंति, तं चेव तिपलिओवमट्ठिईएसु वा, तिसागरोवमट्ठिईएसु वा, तेरससागरोवमट्ठिईएसु वा । देवकिब्बिसिया णं भंते ! ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छंति, कहिं उववज्जंति ? । गोयमा ! जाव चत्तारि पंच णेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवभवग्गहणाइं संसारं अणुपरियट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति० जाव अंतं करेंति, अत्थेगइया अणाईयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टंति । भ० ९ श० ३३ उ० ।

किल्बिषिका देवास्त्रिधा । तद्यथा-

तिविहा देवा किब्बिसिया पन्नत्ता । तं जहा-तिपलिओवमट्ठिईया, तिसागरोवमट्ठिईया, तेरससागरोवमट्ठिईया । कहि णं भंते ! तिपलिओवमट्ठिईया देवा किब्बिसिया परिवसंति ? । उप्पिं जोइसियाणं हिट्ठिं सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु, एत्थ णं तिपलिओवमट्ठिईया देवा किब्बिसिया परिवसंति । कहि णं भंते ! तिसागरोवमट्ठिईया देवा किब्बिसिया परिवसंति ? । उप्पिं सोहम्मीसाणाणं कप्पाणं हेट्ठिं सणंकुमारमाहिंदकप्पेसु, एत्थ णं तिसागरोवमट्ठिईया देवा किब्बिसिया परिवसंति । कहि णं भंते ! तेरससागरोवमट्ठिईया देवकिब्बिसिया परिवसंति ? । उप्पिं बंभलोयस्स कप्पस्स हिट्ठिं लंतगे कप्पे, एत्थ णं तेरससागरोवमट्ठिईया देवकिब्बिसिया परिवसंति ॥

"तिविहा" इत्यादि स्फुटम्, केवलं (किब्बिसिय त्ति) "नाणस्स केवलीणं, धम्माऽऽयरियस्स संघसाहूणं । माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥ १ ॥" इति । एवंविधं भावनोपात्तं किल्बिषं पापमुदये विद्यते येषां ते किल्बिषिका देवानां मध्ये किल्बिषिकाः पापाः । अथवा देवाश्च ते किल्बिषिकाश्चेति देवकिल्बिषिकाः, मनुष्येषु चण्डाला इवास्पृश्याः । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

देवकिब्बिसिया-दैवकिल्बिषिकी-स्त्री० । देवानां मध्ये किल्बिषाः पापाः, अत एवाऽस्पृश्याऽऽदिधर्माणश्चाण्डालप्रायाः, तेषामियं दैवकिल्बिषिकी । संक्लिष्टभावनाभेदे, बृ० १ उ० । प्रव० । दश० ।

अथ दैवकिल्बिषिकीं विभावयिषुराह-

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियाण सव्वसाहूणं ।
माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥

ज्ञानस्य केवलिनां धर्माऽऽचार्याणां सर्वसाधूनामेतेषामवर्णवादी, तथा मायी स्वशक्तिगूहनान्मायावान्, एष किल्बिषिकां भावनां करोतीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः । बृ० १ उ० ।

देवकिब्बिसियत्त-देवकिल्बिषिकत्व-न० । देवानां मध्ये किल्बिषश्चाण्डालप्रायोऽत एवास्पृश्याऽऽदिधर्मको, देवश्चासौ किल्बिषश्चेति वा देवकिल्बिषः, तस्य भावस्तत्ता । किल्बिषिकदेवत्वे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

चउहिं ठाणेहिं जीवा देवकिब्बिसियाए कम्मं पगरेंति । तं जहा-अरहंताणं अवण्णं वयमाणे, अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अवण्णं वयमाणे, आयरियउवज्झायाणमवण्णं वयमाणे वा, चाउव्वण्णस्स संघस्स अवण्णं वयमाणे ।

अवर्णोऽश्लाघाऽसद्दोषोद्भावनमित्यर्थः । अयमर्थोऽन्यत्रैवमुच्यते-" णाणस्स केवलीणं, धम्मायरियाण सव्वसाहूण । माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥ १ ॥ " इति । इह कन्दर्पभावना नोक्ता, चतुःस्थानकत्वाद्विस्थवसरश्चायमस्या इति सा प्रदर्श्यते-" कंदप्पे कुक्कुइए, दवसीले यावि हासणकरे य । विम्हावितो य सपरं, कंदप्पं भावणं कुणइ ॥१॥ " इति । कन्दर्पः कन्दर्पकथावान्, कुकुचितो भाण्डचेष्टो द्रवशीलो दर्पेण द्रुतगमनभाषणाऽऽदिः, हासनकरो वेषवचनादिना स्वपरहासोत्पादको, विस्मापक इन्द्रजाली । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे अ जे नरे ।
आयारभावतेणे अ, कुव्वइ देवकिब्बिसं ॥ ४६ ॥

तपस्तेनो वाक्स्तेनो रूपस्तेनस्तु यो नरः कश्चित्, आचारभावस्तेनश्च पालयन्नपि क्रियां तथाभावदोषात् किल्बिषं करोति । किल्बिषिकं कर्म निर्वर्तयतीत्यर्थः । तपस्तेनो नाम क्षपकरूपकतुल्यः कश्चित्केनचित् पृष्टस्त्वमसौ क्षपक इति । स पूजाऽऽद्यर्थमाह-अहम् । अथवा वक्ति-साधव एव क्षपकाः, तूष्णीं वाऽऽस्ते । एवं वाक्स्तेनो धर्मकथिकाऽऽदितुल्यरूपः कश्चित्केनचित्पृष्ट इति । एवं रूपस्तेनो राजपुत्राऽऽदितुल्यरूपः । एवमाचारस्तेनो विशिष्टाऽऽचारवत्तुल्यरूप इति । भावस्तेनस्तु परोत्प्रेक्षितं कथञ्चित् किञ्चित् श्रुत्वा स्वयमनुत्प्रेक्षितमपि ममैतत्प्रपञ्चेन चर्चितमित्याहेति सूत्रार्थः ।

लद्धूण वि देवत्तं, उववन्नो देवकिब्बिसे ।
तत्थावि से न याणाइ, किं मे किच्चा इमं फलं ॥ ४७ ॥

लब्ध्वाऽपि देवत्वं तथाविधक्रियापालनवशेन उपपन्नो देवकिल्बिषे देवकिल्बिषिकाये इति, तत्राप्यसौ न जानात्यविशुद्धावधिना, किं मम कृत्वा इदं फलं किल्बिषिकदेवत्वमिति सूत्रार्थः ।

अत्रैव दोषान्तरमाह-

तत्तो वि से चइत्ता णं, लब्भिही एलमूअयं ।
नरगं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ ४८ ॥

ततोऽपि देवलोकादसौ च्युत्वा लप्स्यते एलमूकतामजभाषाऽनुकारित्वं मानुषत्वे, तथा नरकं तिर्यग्योनिं वा पारम्पर्येण लप्स्यते, बोधिर्यत्र सुदुर्लभा सकलसंपन्निबन्धना यत्र जिनधर्मप्राप्तिर्दुरापा । इह च प्राप्नोत्येलमूकतामिति वाच्ये अलकृन्नवप्राप्तिख्यापनाय लप्स्यत इति भविष्यत्कालनिर्देश इति सूत्रार्थः ।

प्रकृतमुपसंहरति-

एयं च दोस दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं ।
अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए ॥ ४९ ॥

एतं च दोषमनन्तरोदितं सत्यपि श्रामण्ये किल्बिषिकत्वाऽऽदिप्राप्तिरूपं दृष्ट्वाऽऽगमतः ज्ञातपुत्रेण भगवता वर्द्धमानेन भा-

त्तिनमुक्तम्, अणुमात्रमपि स्तोकमात्रमपि, किमुत प्रभूतं, मेधावी मर्यादावर्ती, माया मृषावादमनन्तरोदितं वर्जयेत्परित्यजेत्। इति सूत्रार्थः। दश० ५ अ० २ उ०।

देवकिव्विसीया-दैवकिल्बिषिकी-स्त्री० । 'देवकिब्बिसिया' शब्दार्थे, वृ० १ उ०।

देवकुमार-देवकुमार-पुं० । देवबालके, रा० । तं० । स्त्रियां ङी-प् । देवबालिकायाम्, रा० ।

देवकुरा-देवकुरु-पुं० । जम्बूमन्दरपर्वतस्य दक्षिणस्थे स्वनामख्याते देशविशेषे, स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० । जम्बूद्वीपे द्वीपे दशसु क्षेत्रेषु स्वनामख्यातेऽष्टमे क्षेत्रे, स्था० १० ठा० । मन्दरपर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि देवकुरुषु देशेषु स्वनामख्याते ह्रदे च । स्था० ५ ठा० २ उ० । जम्बूद्वीपे द्वीपे षट्सु अकर्मभूमिषु स्वनामख्यातायामष्टमायां भूमौ, स्था० ६ ठा० । प्रव० । रतिकरपर्वते उत्तरस्यामीशानस्य देवराजस्य राजधान्यामग्रमहिष्याः स्वनामख्यातायां राजधान्यां च । स्त्री० । स्था० ४ ठा० २ उ० । जी० । ती० । जम्बूद्वीपे सौमनसे वक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते चतुर्थे कूटे, स्था० ७ ठा० । जम्बूद्वीपे द्वीपे विद्युत्प्रभवक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते तृतीये कूटे, स्था० ९ ठा० । जम्बूद्वीपे द्वीपे मेरुपर्वतस्य दक्षिणपश्चिमायां दिशि सिद्धाऽऽयतनाद्दक्षिणपश्चिमकूटाद्दक्षिणपश्चिमस्थे स्वनामख्याते कूटे च । स० । जं० ४ वक्ष० । स्था० । "दो देवकुराओ ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

कहि णं भंते! महाविदेहे वासे देवकुरा णामं कुरा पण्णत्ता? । गोयमा! मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं णिसहस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरेणं विज्जुप्पहस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं सोमणसस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं महाविदेहे वासे देवकुरा णामं कुरा पण्णत्ता, पाईणपडीणायया उदीणदाहिणविच्छिण्णा इक्कारस जोयणसहस्साइं अट्ठ य बायाले जोयणसए दुण्णि य एगूणवीसइभाए जोयणस्स विक्खंभेणं जहा उत्तरकुराए वत्तव्वया० जाव अणुसज्जमाणा पम्हगंधा मियगंधा अममा सहा तेयतली सणिचारी ॥

(कहि णं भंते ! इत्यादि) क्व भदन्त ! महाविदेहे वर्षे देवकुरवो नाम कुरवः प्रज्ञप्ताः? । गौतम ! मन्दरगिरेर्दक्षिणतो निषधाद्वर्षधरादुत्तरतो विद्युत्प्रभवक्षस्काराद्रेः पूर्वतो गजदन्तको गिरिः पर्वतः सौमनसवक्षस्काराद्रेः पश्चिमायाम् अत्रान्तरे देवकुरवो नाम कुरवः प्रज्ञप्ताः । शेषं प्राग्वत् । इमाश्चोत्तरकुरूणां यमलजातका इवेति । महतिदेशमाह-यथोत्तरकुरूणां वक्तव्यता । कियद्दूरमित्याह-यावदनुसज्जन्तः संतानेनानुवर्तमानाः, सन्तीति वर्तमाननिर्देशः कालत्रयेऽप्येषां सत्ताप्रतिपादनार्थः । के ते इत्याह-पद्मगन्धाः, मृगगन्धाः, अममाः, सहाः, तेजस्तलिनः, शनैश्चारिणः । एते मनुष्यजातिभेदाः । एतद्व्याख्यानं प्राक् सुषमावर्णनतो ज्ञेयम् । जं० ४ वक्ष० ।

देवकुरुमहद्दुम-देवकुरुमहाद्रुम-पुं० । द्रुमभेदे, "दो देवकुरुमहद्दुमा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

देवकुरुमहद्दुमावास-देवकुरुमहाद्रुमावास-पुं० । आवासभेदे, "दो देवकुरुमहद्दुमावासा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

देवकुरुय-देवकुरुज-पुं० । अकर्मभूमिकमनुष्यभेदे, अनु० । "पंचहिं देवकुरुएहिं ।" प्रज्ञा० १ पद ।

देवकुल-देवकुल-न० । सशिखरे देवप्रासादे, प्रश्न० १ आश्रद्वार । औ० । अनु० । आ० म० ।

देवकुलिय-देवकुलिक-पुं० । देवस्थाननियुक्ते देवपूजके, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

देवकुलिया-देवकुलिका-स्त्री० । देहर्याम्, सेन० । जिनमन्दिरे भ्रमन्त्यां देहरी इत्यपरपर्याया देवकुलिकाश्चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिर्वा कार्या इति प्रश्ने, उत्तरम्-मूलनायकात्पृथक् चतुर्विंशतिर्देवकुलिकाः क्रियन्ते इत्यक्षरया सूत्रधारा वदन्तीति । ७०३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

देवगइ-देवगति-स्त्री० । देवेषु गमनं गतिः देवगतिः, देवत्वप्राप्तिका वा गतिर्देवगतिः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । दीव्यन्तीति देवाः नाकिनः, तेषां गतिर्गम्यमानत्वाद् देवगतिः, नामकर्मोदयसंपाद्यो देवत्वलक्षणः पर्यायविशेषो वात देवगतिः । गतिभेदे, स्था० १० ठा० । प्रज्ञा० । रा० ।

देवगय-देवगत-पुंदेवाश्रिते, दर्श० ५ तत्त्व ।

देवगुण-देवगुण-पुं० । घातिकर्मक्षयाऽऽदौ, षो० ५ विव० ।

देवगुत्त-देवगुप्त-पुं० । स्वनामख्याते सप्तमे प्रद्योतपरिव्राजके, औ० । स्वनामख्याते भविष्यत्सु चतुर्विंशतितीर्थकरेष्वष्टमे तीर्थंकरे, ति० ।

देवचंद-देवचन्द्र-पुं० । दीपचन्द्रपाठकशिष्ये स्वनामख्याते-ऽष्टकग्रन्थटीकाकर्तरि, अष्ट० ।

"नाडिक्ष्येण सुबोधार्थं, देवचन्द्रेण धीमता ।
व्याख्याता सुगमा शुद्धा, टीकेयं तत्त्वबोधिनी ॥ ११ ॥"
"श्रीमान्नगुरुरहस्यानां, ज्ञानात् लब्धोदयेन च ।
देवचन्द्रेण बोधार्थं, सटीकं विनिर्मितम् ॥ १७ ॥" अष्ट० ३२ अष्ट० ।

वृहत्क्षेत्रसमासवृत्तिकारकस्य सिद्धसूरेः प्राशिष्ये चक्रसूरेः शिष्ये, अयमाचार्यः विक्रमसंवत् ११६४ मिते वर्तमान आसीत् । द्वितीयो देवचन्द्रसूरिः श्रीहेमचन्द्रसूरेः शिष्यः शान्तिनाथचरित्रस्थानाङ्गवृत्तिग्रन्थयोः कर्ताऽऽसीत् । तृतीयः प्रद्युम्नसूरिशिष्यो मानदेवसूरिपूर्णचन्द्रसूरिणोर्गुरुः, स च विक्रमसंवत् १२६२ मिते वर्तमान आसीत् ।

देवचंदगणि-देवचन्द्रगणिन्-पुं० । सटीकाष्टकस्तुतेः कर्तरि गणिनि, स च विक्रमसंवत् १६४८ मिते विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

देवचिंतग-दैवचिन्तक-पुं० । राज्ञां शुभाशुभचिन्तके, व्य० १० उ० ।

देवचेइय-देवचैत्य-न० । जिनप्रतिमायाम्, दशा० १० अ० ।

देवच्चण-देवार्चन-न० । देवपूजायाम्, "देवगुणपरिज्ञानात्-तद्भावानुगतमुत्तमं विधिना । स्यादादराऽऽदियुक्तं, यत्तद्देवार्चनं चेष्टम् ॥" षो० ५ विव० ।

देवछंदग-देवच्छन्दक-पुं० । देवाऽऽसने, जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० । आ० म० ।

देवजस-देवयशस्-पुं० । भगवतोऽरिष्टनेमिनः शिष्ये स्वनामख्यातेऽनगारे, अ० ० १ श्रु० २ वर्ग । अ० चू० ।

देवजाण-देवयान-न० । देववाहने, पञ्चा० २ विव० ।

देवजाणी-देवयानी-स्त्री० । शुक्रस्य महाग्रहस्य दुहितरि, ती० २७ कल्प ।

देवजिण-देवजिन-पुं० । भारते वर्षे स्वनामख्याते द्वाविंशतितमे भविष्यति जिने, प्रव० ७ द्वार ।

देवजुइ-देवद्युति-स्त्री० । शरीराऽऽभरणाऽऽदीनां दीप्तियोगे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ० । रा० ।

देवज्जग-देवार्यक-पुं० । देवश्रेष्ठे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

देवट्ठाण-देवस्थान-न० । देवभेदे, "चउवीसं देवट्ठाणा ।" चतुर्विंशतिर्देवस्थानानि देवभेदाः दश भवनपतीनाम, अष्टौ व्यन्तराणां, पञ्च ज्योतिष्काणाम्, एकं कल्पोपपन्नं वैमानिकानाम् । एवं चतुर्विंशतिः । स० २४ सम० ।

देवट्ठिइ-देवस्थिति-स्त्री० । देवमर्यादायाम्, स्था० ।

चउव्विहा देवाणं ठिई पण्णत्ता । तं जहा-देवे णामेगे, देवसिणाए णामेगे, देवपुरोहिए णामेगे, देवपज्जलणे णामेगे ।

स्थानादेवत्वमपि स्यादतो देवस्थितिसूत्रम्. स्थितिः क्रमो मर्यादा, राजाऽमात्याऽऽदिमनुष्यस्थितिवत्, देवः सामान्यो, नामेति वाक्यालङ्कारे । एकः कश्चित्, स्नातकः प्रधानो देव एव, देवानां वा स्नातक इति विग्रहः । एवमुत्तरत्रापि, नवरं पुरोहितः शान्तिकर्मकारी । (पज्जलणे त्ति) प्रज्वलयति दीपयति वर्णवादकरणेन मागधवदिति प्रज्वलित इति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

देवडुहडुहक-देवडुहडुहक-न० । देवडुहडुहेत्येवं शब्दप्रतिपादने, औ० ३ प्रति० ४ उ० । रा० ।

देवड्ढि-देवर्द्धि-स्त्री० । विमानरत्नाऽऽदिसंपदि, स्था० ३ ठा० ३ उ० । परिवाराऽऽदिसम्पदि च । नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ० । अन्तकृद्दशानां स्वनामख्याते तृतीयेऽध्ययने, स्था० १० ठा० । ('इड्ढि' शब्दे द्वितीयभागे ५८१ पृष्ठे वक्तव्यता गता)

देवड्ढिगणिखमासमण-देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण-पुं० । स्वनामख्याते वालभ्या वाचनायाः कारके आचार्ये, जै० इ० । अयमाचार्यः वीरमोक्षात् ९८० मिते विक्रमसंवत् ५१० मिते विद्यमान आसीत् । अनेन वलभीपुरे सर्व आगमः पुस्तकाऽऽरूढोऽकारि । एतत्समये एकं पूर्वं श्रुतज्ञेयमासीत् । जै० इ० । "सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दवगुणेहिँ संपन्ने । देवड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ॥ १४ ॥" कल्प० २ अधि० ८ क्षण । श्रीकल्पसूत्रं श्रीमहावीरात्तु नवशताशीतिवर्षातिक्रमे देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणैर्लिपितया पुस्तकाऽऽरूढं चक्रे । ततः पुराऽन्यदिकमपि पुस्तकमभूत् वेति प्रश्ने, उत्तरम्-सर्वोऽपि सिद्धान्तो देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणैर्नवशताशीतिवर्षातिक्रमे पुस्तकाऽऽरूढः कृतः, ततः पुराऽप्यपुस्तकानि बहून्यभूवन्निति । ६३ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

देवड्ढिपत्त-देवर्द्धिप्राप्त-पुं० । देवर्द्धिविकुर्वणासमर्थेषु, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

देवड्ढिवण्णण-देवर्द्धिवर्णन-न० । देवानामूर्ध्वविभूतिरूपाऽऽद्धिरूपायाः प्रकाशने, ध० । यथा तत्रोत्तमा रूपसंपत्, सत्स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्यायोगो, विशुद्धेन्द्रियावधित्वलक्षणः, प्रकृष्टानि भोगसाधनानि दिव्यो विमाननिवह इत्यादि वक्ष्यमाणमेव, तथा सुकुलाऽऽगमनोक्तिरिति । देवस्थानात् च्युतानामपि विशिष्टे देशे विशिष्टे काले निष्कलङ्केऽन्वये उदग्रे सदाचारेणाख्यायिकापुरुषयुक्तं अनेकमनोरथापूरकमत्यन्तनिरवद्यं जन्मेत्यादि वक्ष्यमाणलक्षणैव, तथा कल्याणपरम्पराऽऽख्यानमिति । ततः सुकुलाऽऽगमनानुत्तरं कल्याणपरम्परायास्तत्र सुन्दरं रूपम्, आलयो लक्षणानां, रहितमामयेनेत्यादिरूपाया अत्रैव धर्मफलाध्याये वक्ष्यमाणाया आख्यानं निवेदनं कार्यमिति । ध० १ अधि० ।

देवड्ढिवायग-देवर्द्धिवाचक-पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, यदाहुर्देवर्द्धिवाचकधराः । कर्म० ५ कर्म० ।

देवणागसूरि-देवनागसूरि-पुं० । कर्मस्तवटीकाकर्तुः गोविन्दगणिनो गुरौ, जै० इ० ।

देवणिकाय-देवनिकाय-पुं० । देवसमानधर्मप्राणिसङ्घे, स्था० ।

नव देवनिकाया पण्णत्ता । तं जहा-
" सारस्सय माइच्चा, वण्ही वरुणा य गद्दतोया य ।
तुसिता अव्वाबाहा, अग्गिच्चा चेव रिट्ठा य ॥१॥ "

सारस्वता आदित्या वह्नयो वरुणा गर्दतोयास्तुषिता अव्याबाधा आग्नेया एते कृष्णराजयन्तरेष्वष्टासु परिवसन्ति, रिष्टास्तु कृष्णराजिमध्यभागवर्त्तिनि रिष्टाभे विमानप्रस्तटे परिवसन्तीति । स्था० ६ ठा० । सूत्र० ।

देवतम-देवतमस्-न० । तमःकायभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

देवत्ता-देवत्व-न० । देवभावे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

देवताउववण-देवतोपवन-न० । व्यन्तरकानने, पञ्चा० ७ विव० ।

देवतिग-देवत्रिक-न० । देवगतिदेवानुपूर्वीदेवाऽऽयूरूपे, पं० सं० ५ द्वार ।

देवती-देवकी-स्त्री० । कृष्णस्य वासुदेवस्य मातरि, अन्त० ३ वर्ग० ८ अ० ।

देवथुइ-देवस्तुति-स्त्री० । " समासे वा " ॥ ८ । २ ॥ ९७ ॥ शेषाऽऽदेशयोः समासे वा द्वित्वमिति वैकल्पिकं थस्य द्वित्वम् । 'देवथुइ । देवत्थुई ।' देवस्तवे, प्रा० २ पाद ।

देवदत्त-देवदत्त-पुं० । देवा एनं देयासुरिति देवदत्तः । देवैर्दत्ते, त्रि० । " जावंति देवदत्ता, गिहीव अगिही व तेसि दाहामि । " (अत्र देवदत्तपदस्य बहवोऽर्थाः 'आधाकम्म' शब्दे द्वितीयभागे २२४ पृष्ठे प्रतिपादिताः) उत्तरमथुरावास्तव्ये स्वनामख्याते वणिजि, दर्श० ४ तत्त्व । ती० । धातकीखण्डभरते हरिषेणस्य राज्ञः समुद्रदत्तायां भार्यायां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, उत्त० १

अ० । (तत्कथा 'णमि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८०७ पृष्ठे प्रतिपादिता)

देवदत्ता—देवदत्ता—स्त्री० । चम्पायां नगर्यां स्वनामख्यातायां गणिकायाम्, दश० ३ अ० । ती० । ज्ञा० । (तत्कथा 'दक्खत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४४० पृष्ठे द्रष्टव्या) वीतभयनगरे उदायननृपतेर्महिष्याः प्रभावत्याः स्वनामख्यातायां चेट्याम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० क० । प्रश्न० । विपाकश्रुतस्य स्वनामख्याते नवमेऽध्ययने, स्था० । तत्र किल सुप्रतिष्ठे नगरे सिंहसेनो राजा श्यामाभिधानदेव्यामनुरक्तः, तद्वचनादेवैकोनानि पञ्च शतानि देवीनां तां मिमारयिषूणि ज्ञात्वा कुपितः सन् तन्मातॄणामेकोनपञ्चशतान्युपनिमन्त्र्य महत्यगारे आवासं दत्त्वा भक्ताऽऽदिभिः सम्पूज्य विश्रब्धानि सदेवीकानि सपरिवाराणि सर्वतो द्वारबन्धनपूर्वकमग्निप्रदानेन दग्धवांस्ततोऽसौ राजा मृत्वा षष्ठ्यां पृथिव्यां च गत्वा रोहितके नगरे दत्तसार्थवाहस्य दुहिता देवदत्ताऽभिधानाऽभवत्। सा च पुष्यनन्दिना राज्ञा परिणीता, स्वमातुर्भक्तिपरतया तत्कृत्यानि कुर्वन्नासामास तया च भोगविघ्नकारिणीति तन्मातुर्ज्वलल्लोहदण्डस्यापानप्रक्षेपेण सहसा दारुणवधो व्यधायि, राज्ञा चासौ विविधविडम्बनाभिर्विडम्ब्य विनाशितेति विपाकश्रुते देवदत्ताऽभिधानं नवममिति। स्था० १० ठा० ।

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रोहीडए णामं णयरे होत्था रिद्ध० २, पुढवीवडिंसए उज्जाणे, धरणे जक्खे, वेसमणदत्तो राया, सिरी देवी, पूसणंदी कुमारे जुवराया, रोहीडए णयरे दत्तणामं गाहावई परिवसइ अड्ढे, कण्हसिरी भारिया। तस्स णं दत्तस्स धूया कण्हसिरीए अत्तया देवदत्ता णामं दारिया होत्था, अहीण० जाव उक्किट्ठसरीरा। तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे० जाव परिसा णिग्गया। तेणं कालेणं तेणं समएणं जेट्ठे अंतेवासी छट्ठक्खमण० तहेव० जाव रायमग्गं ओगाढे हत्थी आसे पुरिसे पासइ, तेसिं पुरिसाणं मज्झगयं पासइ एगं इत्थियं अवओडगबंधणं उक्खित्तकण्णनासं० जाव सूलभिज्जमाणं पासइ, इमे अज्झत्थिए ४ तहेव णिग्गए० जाव एवं वयासी—एसि णं भंते ! इत्थिया पुव्वभवे का आसी ?। एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबूदीवे दीवे भारहे वासे सुपतिट्ठे णामं णयरे होत्था रिद्ध० ३, महासेणे राया, तस्स णं महासेणस्स रण्णो धारणीपामोक्खं देवीसहस्सं ओरोहे यावि होत्था। तस्स णं महासेणस्स पुत्ते धारिणीए देवीए अत्तए सीहसेणे णामं कुमारे होत्था अहीणजुवराया, तए णं तस्स सीहसेणस्स कुमारस्स अम्मापियरो अण्णया कयाइं पंच पासायवडिंसयाइं करेइ अब्भुग्गए०। तए णं तस्स सीहसेणस्स कुमारस्स अण्णया कयाइ सामापामोक्खाणं पंचण्हं रायवरकण्णगसयाणं एगदिवसेणं पाणिं गिण्हावेइ, पंचसय दाओ। तए णं सीहसेणस्स कुमारस्स सामापामोक्खेहिं पंचहिं देवीसएहिं सद्धिं उप्पिं० जाव विहरइ। तए णं से महासेणे राया अण्णया कयाइ कालधम्मुणा० णीहरणं राया जाए महया व तए णं से सीहसेणे राया सामाए देवीए मुच्छिए ४ अवसेसाओ देवीओ णो आढाइ णो परिजाणाइ, अणाढाइमाणे अपरिजाणमाणे विहरइ। तए णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणाइं पंच माईसयाइं इमीसे कहाए लद्धट्ठाइं समाणीयाए, एवं खलु सीहसेणे राया सामाए देवीए मुच्छिए ४, अम्हं धूयाओ णो आढाइ, णो परिजाणाइ, तं सेयं खलु अम्हं सामादेविं अग्गिपओगेण वा विसप्पओगेण वा सत्थप्पओगेण वा जीवियाओ ववरोवित्तए, एवं संपेहेइ संपेहेइत्ता सामादेवीए अंतराणि य छिद्दाणि य विरहाणि य पडिजागरमाणीओ विहरंति। तए णं सा सामादेवी इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणे एवं वयासी—एवं खलु ममं पंचण्हं सवत्तीसयाइं; इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे अण्णमण्णं एवं वयासी—एवं खलु सीहसेणे राया० जाव पडिजागरमाणीओ विहरंति, तं ण णज्जति णं ममं केणइ कुमरणेणं मारेस्संति त्ति कट्टु भीया जेणेव कोवघरे तेणेव उवागच्छइ, ओहय० जाव झियाइ। तए णं से सीहसेणे राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव कोवघरए जेणेव सामा देवी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता सामादेविं ओहय० जाव पासइ, पासइत्ता एवं वयासी—किं णं तुमं देवाणुप्पिया ! ओहय० जाव झियाइ। तए णं सामादेवी सीहसेणेणं रण्णा एवं वुत्ता समाणी उप्फेणउप्फेणियं सीहसेणरायं एवं वयासी—एवं खलु सामी ! ममं एकूणगं पंच सवत्तीसयाइं, पंच सवत्तीसयाणं इमीसे कहाए लद्धट्ठए सवणयाए अण्णमण्णं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु सीहसेणे राया सामादेवीए मुच्छिए ४ अम्हं धूयाओ णो आढाइ० जाव अंतराणि य छिद्दाणि य० जाव पडिजागरमाणीओ विहरंति, तं ण णज्जइ णं ममं केणइ कुमरणेणं मारिस्सइ त्ति कट्टु भीया ४ झियामि। तए णं से सीहसेणे राया सामादेविं एवं वयासी—मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! ओहय० जाव झियाहि त्ति, अहं णं तहा वत्तिहामि, जहा णं तव णत्थि कत्तो वि सरीरस्स आवाहे वा पवाहे वा भविस्सइ त्ति कट्टु ताहिं इट्ठाहिं समासासेति, तओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी—गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सुपइट्ठियस्स णयरस्स बहिया एगं महं कूडागारसालं करेह, अणेगखंभपासाईयं० ४ करेह, करेहत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा करयल० जाव पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता

सुप्पइट्ठियस्स णयरस्स बहिया पच्चच्छिमे दिसिभाए एगं महं कूडागारसालं० जाव करेइ, अणेगखंभसयसन्निविट्ठं पासाइया जेणेव सीहसेणे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तमाणत्तियं पच्चप्पिणइ । तए णं से सीहसेणे राया अन्नया कयाइ एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणाइं पंच माईसयाइं आमंतेइ । तए णं तासिं एगूणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणं पंच माइसयाइं सीहसेणेणं रण्णा आमंतियाइं समाणाइं सव्वालंकारविभूसियाइं करेइ, जहाविभवेणं जेणेव सुपइट्ठे णयरे जेणेव सीहसेणे राया तेणेव उवागच्छइ, तए णं से सीहसेणे राया एगूणं पंचदेवीसयाणं एगूणं पंचण्हं माईसयाणं कूडागारसालं आवसहं दलयइ । तए णं से सीहसेणे राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवणेह, सुबहुपुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं च कूडागारसालं साहरह । तए णं ते कोडुंबिय० तहेव० जाव साहरइ । तए णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणपंचण्हं माईसयाइं० जाव सव्वालंकारविभूसियाइं तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च० ६ आसाएमाणा ४ गंधव्वेहिं णाडएहि य उवगीयमाणाइं विहरइ । तए णं से सीहसेणे राया अद्धरत्तकालसमयंसि बहूहिं पुरिसेहिं संपरिवुडे जेणेव कूडागारसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता कूडागारसालाए दुवाराइं पिहेइ,कूडागारसालाओ समंता अगणिकायं दलयति । तए णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणगाणं पंच माइसयाइं सीहरण्णो आलीवियाइं समाणाइं रोयमाणाइं ३ अत्ताणाइं असरणाइं कालधम्मुणा संजुत्ताइं । तए णं से सीहसेणे राया एयकम्मे ४ सुबहु०जाव समज्जिणित्ता चउतीसं वाससयाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं ठिती उववण्णे, से णं ताओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव रोहीडए णयरे दत्तस्स सत्थवाहस्स कण्हसिरीए भारियाए कुच्छिंसि दारियत्ताए उववण्णे, तए णं सा कण्हसिरी णवण्हं मासाणं० जाव दारियं पयाया सुकुमाल० जाव सुरूवं । तए णं तीसे दारियाए अम्मापियरो णिव्वत्तबारसाहियाए विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं० जाव मित्तणामधेज्जं करेइ,होउ णं दारिया देवदत्ता णामेणं । तए णं सा देवदत्ता पंचधाईपरिग्गहिया० जाव परिवड्ढइ । तए णं सा देवदत्ता दारिया उम्मुक्कबालभावे जोव्वणेण य रूवेण य लावण्णेण य०जाव अईव २ सक्कत्ता उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा जाया यावि होत्या । तए णं सा देवदत्ता दारिया अण्णया कयाइ ण्हाया०जाव विभूसिया बहूहिं खुज्जाहिं० जाव परिक्खित्ता उप्पिं आगासतलगंसि कणगतिंदूसएणं कीलमाणी विहरइ । इमं च णं वेसमणदत्ते राया ण्हाया०जाव विभूसिए आसं दुरूहइ, बहूहिं पुरिसेहिं संपरिवुडे आसवाहणियाए णिज्जायमाणे दत्तस्स गाहावइस्स गिहस्स अदूरसामंते वीईवयमाणे । तए णं से वेसमणे राया०जाव वीईवयमाणे देवदत्तं दारियं उप्पिं आगासतलगंसि कीलमाणिं पासइ, पासइत्ता देवदत्ताए दारियाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य०जाव विम्हिए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-कस्स णं देवाणुप्पिया ! एसा दारिया, किं वा णामधेज्जेणं ? । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा वेसमणरायं करयल० एवं वयासी-एस णं सामी ! दत्तसत्थवाहस्स धूया कण्हसिरिअत्तया देवदत्ता णामं दारिया रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा । तए णं से वेसमणे राया आसवाहणिओ पडिणियत्ते समाणे अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! दत्तस्स धूयं कण्हसिरीअत्तयं देवदत्तं दारियं पूसणंदिस्स जुवरण्णो भारियत्ताए वरेह, जइ वि य सव्वरज्जसुंका । तए णं ते अब्भिंतरट्ठाणिज्जा पुरिसा वेसमणरण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठा करयल०जाव एवं पडिसुणेइ,पडिसुणेइत्ता ण्हाया०जाव सुद्धप्पावेससंपरिवुडा । तए णं जेणेव दत्तस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, तए णं से दत्ते सत्थवाहे ते पुरिसे एज्जमाणे पासइ, पासइत्ता हट्ठ आसणाओ अब्भुट्ठेइ, सत्तट्ठपयाइं अब्भुग्गए आसणेणं उवणिमंतेइ, उवणिमंतेइत्ता ते पुरिसे आसत्थे वीसत्थे सुहासणवरगए एवं वयासी-संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! किमागमणप्पओयणं ? । तए णं ते रायपुरिसा दत्तं सत्थवाहं एवं वयासी-अम्हे णं देवाणुप्पिया ! तव धूयं कण्हसिरीअत्तयं देवदत्तं दारियं पूसणंदिस्स जुवरण्णो भारियत्ताए वरेमो, तं जइ णं सि देवाणुप्पिया ! जुत्तं वा पत्तं वा सलाहणिज्जं वा सरिसो वा संजोगो, दिज्जउ णं देवदत्ता दारिया पूसणंदिस्स जुवरण्णो,भण देवाणुप्पिया ! किं दलयामो सुक्कं ? । तए णं से दत्ते ते अब्भिंतरठाणपुरिसस्स एवं वयासी-एयं च णं देवाणुप्पिया ! मम सुक्कं जं णं वेसमणदत्ते राया मम दारियाणिमित्तेणं अणुगेण्हइ, २ ते ठाणपुरिसे विउलेणं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेइ, पडिविसज्जेइ । तए णं से ठाणपुरिसे जेणेव वेसमणे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता वेसमणस्स रण्णो एयमट्ठं णिवेदेइ । तए णं से दत्ते गाहावई अण्णया सोहणंसि तिहिकरणदिवसणक्खत्त-

मुहुत्तंसि विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता मित्तणाई आमंतेइ, ण्हाए० जाव पायच्छित्ते सुहासणवरगए तेणं मित्तणाइसद्धिं संपरिवुडे तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा ४। एवं च णं विहरइ, जिमियभुत्तुत्तरागए आयंते ३ तं मित्तणाइं विउलं गंधपुप्फ० जाव अलंकारेणं सक्कारेइ, सक्कारेइत्ता देवदत्तं दारियं ण्हायं० जाव विभूसियं सरीरं पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरूहेए, दुरूहिएत्ता सुबहुमित्त० जाव सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए० जाव सव्वरवेणं रोहिडगं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव वेसमणे रण्णो गिहे जेणेव वेसमणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जाव वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता वेसमणे देवदत्तं दारियं उवणेइ। तए णं से वेसमणे देवदत्तं दारियं उवणीयं पासइ, पासइत्ता हट्ठ विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता मित्तणाइं आमंतेइ, ०जाव सक्कारेइ, सम्माणेइ, पूसणंदिकुमारं देवदत्तं दारियं पट्टयं दुरूहेइ, दुरूहेइत्ता सेयापीएहिं कलसेहिं मज्जावेइ, मज्जावेइत्ता वरणेवत्थाइं करेइ, करेइत्ता अग्गिहोमं करेइ, पूसणंदिकुमारं देवदत्ताए दारियाए पाणिं गिण्हावेइ। तए णं से वेसमणदत्ते राया पूसणंदिस्स कुमारस्स देवदत्तं दारियं सव्वड्ढीए० जाव रवेणं महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं पाणिग्गहणं करेइ, देवदत्ताए भारियाए अम्मापियरो मित्त० जाव परियणं च विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं वत्थगंधमल्लालंकारे य सक्कारेइ० जाव पडिविसज्जेइ। तए णं से पूसणंदिकुमारे देवदत्ताए दारियाए सद्धिं उप्पिं पासायफुट्टवत्तीसं उवगिज्जइ, उवगिज्जइत्ता० जाव विहरइ। तए णं तीसे वेसमणे राया अण्णया कयाइ कालधम्मुणा णीहरणं० जाव राया जाए पूसणंदी। तए णं से पूसणंदी राया सिरीए देवीए मायाभत्ते यावि होत्था, कल्लाकल्लिं जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पायवडणं करेइ, करेइत्ता सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भिंगावेइ, अट्ठिसुहाए मंससुहाए तयासुहाए रोमसुहाए चउव्विहाए संवाहणाए संवाहावेइ, संवाहावेइत्ता सुरभिणा गंधवट्टएणं उव्वट्टावेइ, उव्वट्टावेइत्ता तिहिं तिसिपाणीए, ण्हवरावेइ, उदएहिं मज्जावेइ, मज्जावेइत्ता तं जहा उसिणोदएणं, सीओदएणं, गंधोदएणं, विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं भोयावेइ, सिरीए देवीए ण्हायाए० जाव पायच्छित्ताए० जाव जिमियभुत्तुत्तरागयाए तओ पच्छा ण्हाइ, भुंजेइ वा उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ। तए णं तीसे देवदत्ताए देवीए अण्णया पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं करेइ, करेइत्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए ४ एवं खलु पूसणंदीराया सिरीए देवीए माइभत्ते० जाव विहरइ, तं एएणं विग्घएणं णो संचाएमि अहं पूसणंदिणा रण्णा सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे, एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता सिरीए देवीए अंतराणि य ३ पडिजागरमाणी पडिजागरमाणी विहरइ। तए णं सा सिरी देवी अण्णया कयाइ मज्जावी विरहियसयणिज्जंसि सुत्तजाया यावि होत्था। इमं च णं देवदत्ता देवी जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सिरीदेविं मज्जावीयं विरहियसयणिज्जंमि सुहपसुत्तं पासइ, पासइत्ता दिसालोयं करेइ, करेइत्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता लोहदंडं परामुसइ, परामुसइत्ता लोहदंडं तावेइ, तावेइत्ता तत्तं समजोइभूयं फुल्लकिंसुयसमाणं संडासएणं गहाय जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सिरीए देवीए अपाणंसि पक्खेवेइ। तए णं सा सिरी देवी महया महया सद्देणं आरसित्ता कालधम्मुणा०। तए णं से सिरीदेवीए दासचेडीओ आरसियसद्दं सोच्चा णिसम्म जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदत्तं देविं तओ अवक्कममाणिं पासइ, पासइत्ता जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सिरीदेविं णिप्पाणं णिच्चेट्ठं जीवविप्पजढं पासइ, पासइत्ता हा हा अहो अकज्जमिति कट्टु रोयमाणी ३ जेणेव पूसणंदी राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पूसणंदिरायं एवं वयासी-एवं खलु सामी! सिरी देवी देवदत्ताए देवीए अकाले चेव जीवियाओ ववरोविया। तए णं से पूसणंदी राया तासिं दासचेडीणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म महया माइसोएणं अप्फुण्णे समाणे परसुणियत्ते विव चंपगपायवे धसइ धरणीतलंसि सव्वंगेहिं सण्णिवडिए। तए णं से पूसणंदी राया मुहुत्तंतरेणं आसत्थे समाणे बहूहिं राईसर० जाव सत्थवाहेहिं मित्त० जाव सयणेण य सद्धिं रोयमाणे ३ सिरीए देवीए इड्ढीए णीहरणं करेइ, करेइत्ता आसुरुत्ते ४ देवदत्तं देविं पुरिसेहिं गिण्हावेइ, गिण्हावेइत्ता एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेइ। एवं खलु गोयमा! देवदत्ता देवी पुरा० जाव विहरइ। देवदत्ता णं भंते! देवी इओ कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति ?। गोयमा! असीइवासाइं पर० कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववण्णे, संसारो तहेव, तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता गंगपुरे णयरे हंसत्ताए पच्चायाहिति, से णं तत्थ साउणिएहिं वहिए समाणे तत्थेव गंगपुरे सेट्ठिबोही सोहम्मे महाविदेहे सिज्झिहिति० जाव अंतं काहिति।

(अब्भुग्गय त्ति) इदमेवं दृश्यम्-" अब्भुग्गयमूसियपहसिए विव । " अभ्युद्गतोच्छ्रितानि अत्यन्तोच्चानि प्रहसितानीव हसितुमारब्धानीवेत्यर्थः । " मणिकणगरयणचित्ते । " इत्यादि । "एगं च णं महं भवणं करेति अणेगखंभसयसंनिविट्ठं ।" इत्यादि भवनवर्णकसूत्रं दृश्यम् । (पंचसया उ दाओ त्ति) हिरण्यकोटिसुवर्णकोटिप्रभृतीनां प्रेक्षणकारिकान्तानां पदार्थानां पञ्च पञ्च शतानि सिंहसेनकुमाराय पितरौ दत्तवन्तावित्यर्थः । स च प्रत्येकं स्वजायाभ्यो दत्तवानिति । "महया" इत्यनेन " महयाहिमवंतमहंतमलयमंदरमहिंदसारे " इत्यादि राजवर्णको दृश्यः । (भीया जे त्ति) "भीया तथा जेमेव ।" इत्यर्थः। इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-(ओहयमणसंकप्पा भूमिगयदिट्ठीया करयलपल्हत्थमुही अट्टज्झाणोवगय त्ति)(उप्फेण उप्फेणियं ति) सकोपोष्मवचनं यथा भवतीत्यर्थः। इतोऽनन्तरवाक्यद्वयैकैकमक्षरं पुस्तकेषूपलभ्यते, तत्रैवमवगन्तव्यम्-"एवं खलु सामी! ममं एगूणगाणं पंचण्हं सवत्तीसयाणं एगूणं पंचमाईसयाइं इमीसे कहाए लद्धट्ठाइं समाणाए अन्नमन्नं सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु सीहसेणे राया सामाए देवीए मुच्छिए ४ अम्हं धूयाओ णो आढाइ, णो परिजाणइ, अणाढायमाणे अपरियाणमाणे विहरइ आथीन । यावत्करणादिदं दृश्यम्-"तं सेयं खलु अम्हं सामं देविं अग्गिपओगेण वा विसप्पओगेण वा सत्थप्पओगेण वा जीवियाओ ववरोवित्तए एवं संपेहेंति, संपेहित्ता सामं अंतराणि छिद्दाणि पडिजागरमाणीओ विहरंति, तं न नज्जइ णं सामी ! ममं केणइ कुमरणेणं मारिस्संतीति कट्टु भीया ४।" यावत्करणात्-" तत्थ तसिया उव्विग्गा ओहयमणसंकप्पा भूमिगयदिट्ठिया ।" इत्यादि दृश्यम । (वसिहामि त्ति) यतिष्ये । (अत्थि त्ति) न भवत्येवं पक्षो, यतुम (कत्ताइ त्ति) कुतोऽप्यपि शरीरकस्य आबाधो वा प्रबाधो वा भविष्यति, तत्र आबाध ईषत्पीडा, प्रबाधः प्रकृष्टा पीडैव ।(इति कट्टु त्ति) एवमभिधाय (अणेगखंभ त्ति) अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टमित्यर्थः । "पासा०" इत्यनेन "पासाईयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं" इति दृश्यम ।(जइ वि य सा सरज्जसुक त्ति) यद्यपि सा स्वकीयराज्यशुल्का, स्वकीयराज्यलभ्येत्यर्थः । (जुत्तं य त्ति) संगतम् ।(पत्तं य त्ति) पात्रं वा, अवसरप्राप्तं वा । (सलाहणिज्जं व त्ति) श्लाघनीयम् (सरिसो य त्ति) उचितः संयोगो वधूवरयोरिति । (आयंत त्ति) आचान्तो जलग्रहणात् (चोक्ख त्ति) चोक्षः सिक्थलेपाद्यपनयनात् । किमुक्तं भवति-(परमसुइभूय त्ति) अत्यन्तं शुचीभूत इति (सद्दावेंति) यावत्करणादिदं दृश्यम्- "कयबलिकम्मं कयकोउयमंगलपायच्छित्तं"(सव्वालंकारे त्ति) 'सुयड्डुमित्त' इत्यत्र यावत्करणात्-"मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरिजणेण ।" इति दृश्यम । "सव्विड्ढीए" इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम-"सव्वजुईए" सर्वद्युत्या आभरणादिसंबन्धिन्या सर्वयुक्त्या वा उचितेष्टवस्तुघटनालक्षणया, सर्वबलेन सर्वसैन्येन सर्वसमुदायेन पौराऽऽदिमीलनेन । (सव्वायरेण) सर्वोचितकृत्यकरणरूपेण । (सव्वविभूईए) सर्वसंपदा । (सव्वविभूसाए) समस्तशोभया । (सव्वसंभमेणं) प्रमोदकृतौत्सुक्येन (सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारेणं सव्वतूरसद्दसंनिनाएण) सर्वतूर्यशब्दानां मीलने यः संगतो नितरां नादो महान् घोषस्तेनेत्यर्थः । अल्पेष्वपि ऋद्ध्यादिषु सर्वशब्दप्रवृत्तिर्दृष्टा । अत आह-" महया इड्ढीए महया जुईए महया बलेणं महया समुदएणं महया वरतुडियजमगसमगप्पवाइएणं ।" (जमगसमग त्ति) युगपद्देवादिशब्देनाऽऽह-(संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरयमुइंगदुंदुहिनिग्घोसनाइयरवेणं) तत्र शङ्खाऽऽदीनां नितरां घोषो निर्घोषो महाप्रयत्नोत्पादितः शब्दः नादितं ध्वनिमात्रमेतद्द्वयलक्षणो यो रवः स तथा तेनेति । (मयापीएहिं ति) रजतसुवर्णमयैरित्यर्थः । (सिरीए देवीए मायाभत्ते यावि होत्था त्ति) श्रिया देव्याः, मातेति बहुमानबुद्ध्या भक्तः मातृभक्तश्चाप्यभूदिति । (कल्लाकल्लिं ति) प्रातः २ (गंधवट्टएणं ति) गन्धचूर्णेन (जिमियभुत्तुत्तरागयाए त्ति) जेमितायां कृतभोजनायां तथा भुक्तोत्तरमागतायां स्वस्थानमिति भावार्थः । उदारान्मनोज्ञान् भोगान् भुञ्जानो विहरति । (पुव्वरत्तावरत्त त्ति) पूर्वरात्रापररात्रकालसमये, रात्रेः पूर्वभागे पश्चाद्भागे चेत्यर्थः । (मज्जाइय त्ति) पीतमद्या (विरहियसयणिज्जंसि त्ति) विरहिते विजनत्वात् शयनीयं विरहितशयनीयं तत्र (परामुसइ त्ति) गृह्णाति (समजोइभूयं ति) समज्योतिषाऽग्निना भूतो जातो यः स तथा । (रोयमाणीओ त्ति) अश्रुविमोचनात् । इहान्यदपि पदद्वयमध्येयम् । तद्यथा-(कंदमाणीओ) आक्रन्दशब्दं कुर्वन्त्यः (विलवमाणीओ त्ति) विलापान् कुर्वन्त्यः (आसुरुत्ते त्ति) आशु शीघ्रं रुष्टः कोपेन विमोहितः । इहान्यदपि पदचतुष्कं दृश्यम् । तद्यथा (रुट्ठे त्ति) उदितरोषः (कुविए त्ति) प्रवृद्धकोपोदयः (चंडिक्किए त्ति) प्रकटितरौद्ररूपः (मिसिमिसेमाणे त्ति) कोपाग्निना दीप्यमान इव । विपा० १ श्रु० । ब्रह्मलोकादुपरि किं सम्यग्दृशो देवा अधिका उत मिथ्यादृशोऽधिका इति प्रश्ने, उत्तरम्- पञ्चमदेवलोकात्परतो युक्त्या विचार्यमाणे मिथ्यादृष्टिभ्यः सम्यग्दृष्टयो देवा अधिकाः संभाव्यन्त इति । २१२ प्र० । सेन० २ उल्ला० । चतुर्भिरङ्गुलैर्देवा भूमिं न स्पृशन्तीति यदुच्यते, तत् कुत्र स्थल इति प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-महीतलं कुत्रापि न स्पृशन्तीति संग्रहणीवृत्त्याद्यभिप्रायः । १६७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । देवानां भवधारणीयेनापि वपुषा कदाचित्कुत्रापि गमनं संभवति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-संगमकसुरसंबन्धाऽऽद्यनुसारेण देवानां भवधारणीयेनापि वपुषा कदाचिदत्राऽऽगमनं ज्ञायत इति । ३५२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । देवो देवीं मूलशरीरेण भुङ्क्ते, उत वैक्रियेण वेति प्रश्ने, उत्तरम्-उभयथाऽपि भोगो भवतीत्यक्षराणि श्रीभगवतीप्रज्ञापनाजीवाभिगमराजप्रश्नीयप्रमुखग्रन्थेषु सन्तीति । ३५६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । देवा मूलशरीरेण नग्नास्तिष्ठन्ति, किं वा वस्त्राणि परिदधतीति प्रश्ने, उत्तरम्-मूलशरीरेण वस्त्रपरिधाननिषेधो ज्ञातो नास्तीति । ३६१ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

देवड्ढिनमण—देवर्द्धिनमन—न० । श्रीकल्पसूत्रस्य स्थविरावलीप्रान्ते "देवड्ढिगणिं नमंसामि ।" इति गाथा पुस्तकाऽऽरूढकालीना, उत प्राक्कालीना ? । यदि पुस्तकाऽऽरूढकालीना तर्हि देवर्द्धिगणिकृतत्वे स्वस्य नमस्करणमनुचितम्, अन्यकृतत्वे तु सर्वा अपि स्थविरावलीगाथा अन्यकृताः कथं न भवन्ति, इत्याशङ्का । यदि प्राक्कालीना तदाऽग्रेतनानां नमस्करणं कथमुचितमिति प्रश्ने, उत्तरम्-इयं गाथा देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणशिष्येणान्येन वा पाश्चात्येन केनापि स्थविरेण कृतेति संभाव्यते, तथैवं सर्वा अपि तत्कृताः संभावनीयाः, अनुपपद्यमानत्वाभावात् । गतिस्तु तत्त्वस्यैव चिन्तनीया, प्रशमरतिवत्, यत्तत्राप्युमास्वातिवाचककृतायां प्रान्तगाथाद्वयके नमस्कारो दृश्यते, तेन

तद्देवाग्यकृतं ज्ञेयं, न च संपूर्णग्रन्थोऽपि, तत्र विप्रतिपत्तेरभावात्, ग्रन्थस्योभास्वातिवाचककृतत्वेन सुप्रतीतत्वादिति । ५६ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

देवदव्व-देवद्रव्य-न० । चैत्यद्रव्ये, कर्म० १ कर्म० । ह्री० । जीवा० ।

जिनद्रव्यसाधारणप्रस्तावाऽऽश्रित्यकरणद्वारेण भक्षणरक्षणवर्द्धनफलोपदर्शनाय गाथात्रयमाह-

जिणपवयणवुड्डिकरं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं ।
भक्खंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ होइ ॥ ५८ ॥
जिणपवयणवुड्डिकरं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं ।
रक्खंतो जिणदव्वं, परित्तसंसारिओ होइ ॥ ५६ ॥
जिणपवयणवुड्डिकरं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं ।
वड्ढंतो जिणदव्वं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ६० ॥

आसामक्षरार्थः सुगमः । भावार्थस्तु समस्तोऽपि पूर्वकथानकाद्वसेयः । यथा-अनर्थं चूडेनानेकशोऽनेकजन्मपरम्परासु महद् दुःखमनुभूतं, यथा च कश्चनकचिना जिनसाधारणद्रव्यं रक्षता वृद्धिमापादयताऽनेकगुणकल्याणमासाद्य तीर्थकृद् भूत्वा शान्तिपदमुपगतः । ततः सर्वथाऽस्मिन्नर्थे यत्नवद्भिर्भाव्यमिति गाथात्रयार्थः । दर्श० १ तत्त्व । दर्श० । देवद्रव्याधिकारे कथं श्राद्धैर्देवद्रव्यवृद्धिं कर्तुं शक्यते, यदुक्तमागमे-" भक्खंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ भणिओ । " इति ज्ञानद्रव्यात्मकव्यतिरिक्तानां यच्छ्रेष्ठेपां संसारवृद्धिं प्रति कारणं भवति, न हि विषं कस्यापि विकारकृन्न स्यात्सर्वेषामपायकृदेव स्याद्, ग्रन्थान्तरे आलोचनाधिकारे मूलकाऽऽदीनामपि दोषोत्पत्तिरुक्ताऽस्ति, तत्र का वृद्धिं प्रति रीतिरिति प्रश्ने, उत्तरम्-स्ववृत्त्या श्राद्धानां देवद्रव्यस्य विनाशन एव दोषो, यथाकालमुचितव्याजदानपूर्वकं ग्रहणे तु न भूयान् दोषः, समधिकव्याजदाने पुनर्दोषाभावोऽवसीयते, तेन तेषां यत्सद्व्यजनं तन्निःशूकताऽऽदिदोषपरिहारार्थं ज्ञेयम् । किञ्च-श्रीजिनशासने देवद्रव्यस्य विनाशे दुर्लभा बोधिता, तद्रक्षाऽऽदिदर्शनाद्दानोपेक्षणाऽऽदौ साधोरपि नरकदुःखं च शास्त्रे दर्शितम्, ततस्तेन तन्निक्षानं श्राद्धानां तस्या व्यापारणमेव यौक्तिकं मा कदाचित्प्रमादाऽऽदिना स्वल्पोऽपि तदुपभोगो भवत्विति सुस्थानस्थापनप्रत्यहसाराऽऽदिकरणपुरस्सरं सद्विनियोगव्यवहारपरिपालनेन च तथामपि न कोऽपि दोषः, किं नु तीर्थकृन्नामकर्मनिबन्धनाऽऽदिहेतुर्नाम भवति, इतरस्य तु तद्भोगदोषानभिज्ञस्य निःशूकताऽऽश्रयसंभवाद् वृद्ध्यर्थं ग्रहणकग्रहणपूर्वकं समर्पणे न दोष इति तथा व्यवह्रियमाणमस्तीति संभाव्यते, पूरकाऽऽदिषु तु वृद्ध्यर्थं समर्पणव्यवहाराभावात्तेषां तन्नक्षणे दोष एवेति । १५६ प्र० । सेन० २ उल्ला० । देवद्रव्यस्य गृहादौ श्राद्धैः तत् स्वयं व्याजेन गृह्यते, न वेति, तद्ग्राहकाणां दूषणं, किं वा भूषणमिति प्रश्ने, उत्तरम्-श्राद्धानां देवद्रव्यस्य व्याजेन न युज्यते ग्रहणं, निःशूकताप्रसङ्गात्, ननु वाणिज्याऽऽदौ व्यापारणीयं स्वल्पस्य देवद्रव्यभोगस्य शङ्कासंभवाऽऽदिदवर्गीयाऽऽयती दुष्टविपाकजनकतया दर्शितत्वादिति । ३७४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । इत्यभयं सांवत्सरिकाऽऽदिप्रतिक्रमणावसरे यद् घृतगुडतैलाऽऽदिकमानीते तद्देवद्रव्ये साधारणद्रव्ये वा समायातीति प्रश्ने, उत्तरम् यथाप्रतिज्ञं देवद्रव्ये साधारणद्रव्ये वा तत्समायातीत्यवबोध्यम् । ४३२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । श्राद्धा देवद्रव्यं व्याजेन गृह्णन्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-महत्कारणं विना न गृह्णन्तीति । ४१९ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । अथ वटपल्लीयसंघ हाम्भरतपुरं च यथा-शतशेकरकपुष्पाणि मालिकपार्श्वाद् गृहीत्वा जिनप्रतिमायाञ्च यत्यते, मालिकस्य तद् द्रव्यस्थाने धान्यवस्त्राऽऽदिकं समर्प्यते, तदर्पणे च श्रोकद्रकरशकमुद्धरति तद् द्रव्यं देवसत्कं मालिकसंबन्धि वेति प्रश्ने, उत्तरम्-शतवोकरकपुष्पाणि गृहीत्वा धान्यादि समर्प्यते, तदर्पणे च कर्षोशोरकेण यदुद्धरति तद्देवद्रव्यं भवति, न तु मालिकस्य, यतो लोके शतशेकरकपुष्पघटापनयशोवादो जायते, तस्मान्न्यूनघटापने दोषो लगति, तदुद्धारतं द्रव्यं देवद्रव्ये प्रक्षिप्यते तदा दोषो न लगतीति । ४१ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

देवदव्वहरण-देवद्रव्यहरण-न० । चैत्यद्रव्यग्रहणे, कर्म० १ कर्म० ।

देवदार-देवद्वार-न० । सिद्धाऽऽयतनस्य पूर्वदिक्कन्धे स्वनामख्याते द्वारे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

देवदारु-देवदारु-न० । गन्धाढ्ये तरौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । देवानां प्रियं दारु यस्य तत्काष्ठचन्दनस्य देवप्रियत्वात् । स्वनामख्याते वृक्षे, अयं पुमानप्यत्र-" अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम् ।" वाच० ।

देवदाली-देवदाली-स्त्री० बहुबीजके लताविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

देवदिन्न-देवदत्त-पुं० । राजगृहे नगरे धननाम्नः सार्थवाहस्य भद्रायां भार्यायां च जाते स्वनामख्याते पुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । देवप्रसादाल्लब्धेषु सुलसाया द्वात्रिंशत्पुत्रेषु, आ० क० ।

देवदीव-देवद्वीप-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपे, जी० ।

देवदीवे दो देवा महिड्ढीया-देवभद्दा, महाभद्दा ।

" देवे णं भंते ! दीवे किं समचक्कवालसंठिए, विसमचक्कवालसंठिए ?। गोयमा ! समचक्कवालसंठिए, नो विसमचक्कवालसंठिए । देवे णं भंते ! दीवे केवइयं चक्कवालविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ते, से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेणं वणसंडेणं परिक्खित्ते ।" सुगमं, नवरं एकया पद्मवरवेदिकया अष्टयोजनोच्छ्रयजगत्युपरि भाविन्येति द्रष्टव्यम् । एवमेकेन वनखण्डेन च । इदं तु सूत्र बहुषु पुस्तकेषु न दृश्यते, केषुचित् सदेवोत्पत्तिदेश इति लिखितम् । "कइ णं भंते" इत्यादि कति भदन्त ! देवस्य द्वीपस्य द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ?। भगवानाह-गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-" विजयवेजयन्तजयन्तअपराजित ।" "कहि णं भंते ! दीवस्स दीवेत्यादि ।" क भदन्त ! देवस्य द्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-गौतम ! देवद्वीपपूर्वार्द्धपर्यन्ते देवसमुद्रपूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि अत्र एतास्मिन्नवकाशे विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, प्रमाणं वर्णकश्च जम्बूद्वीपविजयद्वारवत्, नामान्वर्थसूत्रमपि तथैव । "कहि णं भंते ! इत्यादि ।" क भदन्त ! विजयस्य विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता ?। भगवानाह-गौतम ! विजयस्य द्वारस्य पश्चिमदिशि तिर्यगसंख्येयानि

योजनशतसहस्राण्यवगाह्य अत्रान्तरे विजयस्य विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता । सा च जम्बूद्वीपविजयद्वाराधिपतिविजयस्य देवस्येव वक्तव्या । एवं वैजयन्तजयन्तापराजितद्वारवक्तव्यताऽपि भावनीया, ज्योतिष्कवक्तव्यता सर्वाऽप्यसंख्येयतया वक्तव्या, नामान्वर्थचिन्तायामपि (दो देव त्ति) शब्दे देवमहाभद्रौ वक्तव्यौ । शेषं सर्वमरुणद्वीपवत् * । जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

देवदूस-देवदूष्य-न० । जिनवरस्य स्कन्धे संयमग्रहणावसरे सुरपतिर्यत्सुरदूष्यं मुञ्चति, तस्यावस्थानस्य मानं प्रमाणमिति प्रश्ने, उत्तरम्-दीक्षासमये देवेन्द्रमुक्तजिनवरस्कन्धस्थदेवदूष्यस्यावस्थानकालनियममाश्रित्य सप्ततिशतस्थानकानुसारेण श्रीवीरस्य साधिकं वर्षं यावच्छेषाणां च तीर्थकृतां यावज्जीवं देवदूष्यावस्थानकालमानं श्रीवीरवदिति ज्ञेयमिति । १३५ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

देवदूसजुगल-देवदूष्ययुगल-न० । देववस्त्रयुग्मे, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

देवदेव-देवदेव-पुं० । इन्द्रेषु, तीर्थकरेषु च । आ०चू० ५ अ० ।

देवदेवमहिय-देवदेवाधिक-पुं० । इन्द्रादप्यधिके तीर्थकराऽऽदौ, आ० चू० ५ अ० ।

देवदेवमहित-पुं० । देवाधिदेवपूजिते जिने, आ० चू० ५ अ० ।

देवदोणी-देवद्रोणी-स्त्री० । स्थलस्थाम, "साधर्मिमयस्थलीसु ।" नि० चू० १ उ० ।

देवपंचिंदियसंसारसमावन्नजीव-देवपञ्चेन्द्रियसंसारसमापन्नजीव-पुं० । पञ्चेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

देवपडिक्खोभ-देवप्रतिक्षोभ-पुं० । तमस्काये, " देवपडिक्खोभेइ वा ।" देवप्रतिक्षोभ इति वा, तत्क्षोभहेतुत्वात् । भ० ६ श० ५ उ० ।

देवपरियारणा-देवपरिचारणा-न० । श्रीविजयराजगणिकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च यथा-शक्राऽऽदयो देवाः संभोगं कर्तुकामाः देवलोकविमाने देवीभिः परिचारणां कुर्वन्ति, विमानादन्यत्र वा तदाश्रित्य प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-शक्राऽऽदयो देवा देवलोके स्वस्वसुधर्मसभायां देवीभिः सह परिचारणं न कुर्वन्ति, तत्र माणवकचैत्यस्तम्भसमुद्गकस्थजिनदंष्ट्राऽऽशातनाभयादित्यभिप्रायः प्रज्ञप्तिदशमशतकपञ्चमोद्देशकेऽस्तीत्युपलक्षणत्वादन्यत्र सिद्धाऽऽयतनाद्यतिरिक्तस्थाने परिचारणां कुर्वन्तीति संभाव्यते इति । १०१ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

देवपरिसा-देवपरिषद्-स्त्री० । देवपरिवारे, औ० ।

देवपव्वय-देवपर्वत-पुं० । जम्बूमन्दरपश्चिमस्थे सीतायाः महानद्या उत्तरकूलस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ० । जं० । स्था० । पश्चिमवनखण्डवेदिकायाविजयायाश्च पूर्वस्थे स्वनामख्याते पर्वतयुगले च । "दो देवपव्वया ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

देवपुत्थय-देवपुस्तक-न० । देवलोकपुस्तकेषु किंलिपीकृतमस्ति, किमभिधानं तद् शास्त्रमिति प्रश्ने, उत्तरम्-देवलोकपुस्तकेषु लिपीकरणं तत्रस्थव्यवहारमाश्रित्य संभाव्यते, तदभिधानं तु कुत्रापि दृष्टं नास्तीति । ७३ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

देवपुयाइणाय-देवपूजादिज्ञात-न० । देवतार्चनप्रभृत्युदाहरणे, पञ्चा० ८ विव० । देवपूजास्नात्रतश्च (?) तेणानन्तरं श्राद्धा आरात्रिकमङ्गलप्रदीपाऽऽदिकृत्यं कुर्वन्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-तथाकरणेऽधुना प्रवृत्तिर्न दृश्यते, निषेधस्तु शास्त्रे दृष्टो नास्तीति कश्चिद्देशविशेषे तत्कुर्वन्तीति । १०४ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

देवप्पहसूरि-देवप्रभसूरि-पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, दर्श० ५ तत्त्व । स च विचारसारप्रकरणकृतः प्रद्युम्नसूरेर्गुरोः पद्मप्रभसूरेर्गुरुः । द्वितीयोऽपि मुनिचन्द्रसूरिशिष्यः ताराचन्द्रगुरुः, तेन च पाण्डवचरित्रमहाकाव्यं मृगावतीचरित्रं चेति ग्रन्थौ रचितौ । तृतीयोऽपि विक्रमसंवत् १२१५ वर्षे मुनिसुव्रतचरित्रकारकस्य पद्मप्रभसूरेर्गुरुरासीत् । जै० इ० ।

देवप्पिय-देवप्रिय-पुं० । वसन्तपुरे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, ग० २ अधि० । (तत्कथा 'खुड्डक' शब्दे तृतीयभागे ७५४ पृष्ठे द्रष्टव्या)

देवफलिक्खोभ-देवपरिक्षोभ-पुं० । तमस्काये, " देवफलिक्खोभेइ व त्ति ।" देवानां परिक्षोभहेतुत्वादिति । भ० ६ श० ५ उ० । स्था० ।

देवफलिह-देवपरिघ-पुं० । देवानां परिघ इवार्गलेव दुर्लङ्घ्यत्वाद्देवपरिघ इति । भ० ६ श० ५ उ० । तमस्काये, भ० ६ श० ५ उ० । स्था० ।

देवभद्द-देवभद्र-पुं० । देवद्वीपस्थे स्वनामख्याते देवे, चं० प्र० २ पाहु० । सू० प्र० । चैत्रगच्छस्थे भुवनेन्दुसूरिशिष्ये स्वनामख्याते गणिनि, गु० ।

चैत्रगच्छमधिकृत्य-

"तत्र श्रीभुवनेन्दुसूरिसुगुरुर्भूभूषणं भासुर-
ज्योतिः सद्गुणरत्नरोहणगिरिः कालक्रमेणाभवत् (८)
तत्पादाम्बुजमण्डनं समभवत् पक्षद्वयीशुद्धिमा-
श्रीदेवेन्द्रकृद्गुणगुणाभ्यागद्गेहावाऽऽश्रतः ।
कालुष्यं च जडात्मकं परिहरन् दूरेण सन्मानस-
स्थायी राजमरालवद्गणिवरः श्रीदेवभद्रप्रभुः ॥ ९ ॥"

गु० ६ उ० । ध० र० । ग० । द्वितीयोऽप्येतन्नामा चन्द्रपालीयगच्छप्रधापकस्याभयदेवसूरेः शिष्यः प्रभानन्दसूरेर्गुरुः, स च विक्रमसंवत् १२९६ मिते आसीत् । तृतीयश्च चन्द्रगच्छे भद्रेश्वरसूरिशिष्यः, स विक्रमसंवत् १२४२ वर्षे आसीत्, यच्छिष्येण सिद्धसेनेन प्रवचनसारोद्धारटीका रचिता । चतुर्थश्च खरतरगच्छे प्रसन्नचन्द्राचार्यस्य शिष्यः विक्रमसंवत् ११६८ वर्षे विद्यमान आसीत्, येन पार्श्वनाथचरित्रं संवेगरङ्गमाला वीरचरित्रं कथारत्नकोशश्चेत्यादयोऽनेके ग्रन्था रचिताः । पञ्चमश्च चन्द्रसूरेः शिष्यस्तत्कृतसङ्ग्रहणीटीकाकृत् । जै० इ० ।

देवमइ-देवमति-स्त्री० । स्वर्गचातुर्ये, जं० ३ वक्ष० ।

देवमहाभद्द-देवमहाभद्र-पुं० । देवद्वीपस्थे स्वनामख्याते देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० । जी० ।

देवमहावर-देवमहावर-पुं० । देवसमुद्रस्थे स्वनामख्याते देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० । जी० ।

* पुस्तके मूलपाठो नोपलभ्यते ।

देवय-दैवत-न० । देवतैव दैवतम् । स्था० ३ ठा० १ उ० । देवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । दशा० । भ० । औ० । आव० । ओघ० । आ० म० । परमदेवतायां च । चं० प्र० १८ पाहु० ।

देवया-देवता-स्त्री० । रागाऽऽदिदोषरहिते, (विशे०) जिननायके, धर्माऽऽचार्ये, पञ्चा० १ विव० । प्रति० । इन्द्राऽऽदिदेवेषु, प्रति० । स्था० । ओघ० ।

देवयाणाम-देवतानामन्-न० । देवताऽभिधायके नामनि, अनु० ।

से किं तं देवयाणामे ?। देवयाणामे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-अग्गिदेवताहिं जाए अग्गिए अग्गिदिन्ने अग्गिसम्मे अग्गिधम्मे अग्गिदेवे अग्गिदासे अग्गिसेणे अग्गिरक्खिए । एवं सव्वनक्खत्तदेवतानामा जाणिअव्वा ।

एत्थ वि संगहणीगाहाओ-

"अग्गि पयावइ सोमे, रुद्दो अदिती विहस्सई सप्पे ।
पिति जग अज्जम सविआ, तट्ठा वाऊ अ इंदग्गी ॥ १ ॥
मित्तो इंदो निरती, आओ विस्सो अ बंभ विण्हू अ ।
वसु वरुण अय विवड्ढि, पूसा अग्गी जमे चेव ॥ २ ॥"

से तं देवतानामे ।

(से किं तं देवयाणामे इत्यादि) अग्निर्देवतासु जातः-आग्निकः । एवमग्निदत्तादीन्यपि । नक्षत्रदेवतानां संग्रहार्थमष्टा(?)गाथाद्वयं, तत्र कृत्तिकानक्षत्रस्याधिष्ठाता अग्निः, रोहिण्याः प्रजापतिः, एवं मृगशिरःप्रभृतीनां क्रमेण-सोमो रुद्रोऽदितिः बृहस्पतिः सर्पः पितृ भगः, अर्यमा सविता त्वष्टा वायुः, इन्द्राग्नी मित्रः, इन्द्रः, निर्ऋतिः, अम्भः, विश्वः ब्रह्मा विष्णुः, वसुः, वरुणः, अजः, विवर्द्धिः । अस्य स्थानेऽन्यत्र आहिर्बुध्नः पठ्यते । पूषा, अश्विः । यमश्चैवेति । (से तं देवतानामे) अनु० ।

देवयाणिओग-देवतानियोग-पुं० । देवतोद्देशे, पञ्चा० १६ विव० ।

देवयापणिहाण-देवताप्रणिधान-न० । सर्वक्रियाणां फलनिरपेक्षतयेश्वरसमर्पणरूपे ईश्वरप्रणिधाने, द्वा० २२ द्वा० ।

देवयाभिओग-देवताभियोग-पुं० । देवपरतन्त्रतायाम्, उपा० २ अ० ।

देवयाहिमुत्ति-देवताधिमुक्ति-स्त्री० । बुद्धकपिलाऽऽदिदेवताविशेषभक्तौ, ध० १ अधि० ।

देवर-देवर-पुं० । 'देअर' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

देवरण्ण-देवारण्य-न० । देवानामरण्यमिव बलाकत्वेन भासनत्वाच्च स देवारण्यमिति । तमस्काये, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

देवरमण-देवरमण-न० । सौगन्धिकाख्याया नगर्याः बहिरुत्तरपश्चिमायां दिशि स्थिते स्वनामख्याते उद्याने, विपा० १ श्रु० ४ अ० ।

देवराय-देवराज-पुं० । देवेषु कान्त्यादिगुणैः राजमाने, कल्प० १ अधि० १ क्षण । उपा० । इन्द्रे, आव० ४ अ० । कोशलाविषये कस्मिंश्चिद् ग्रामे स्थिते स्वनामख्याते कुटुम्बिनि परमश्रावके, पिं० ।

देवराट्-पुं० । देवेन्द्रे, "देवीभिरिव देवराट् ।" आ० क० ।

देवरायकुंजरवरप्पमाण-देवराजकुञ्जरवरप्रमाण-पुं० । देवराजो देवेन्द्रस्तस्य कुञ्जरो हस्ती तद्वद् वरं शास्त्रोक्तं प्रमाणं देहमानं यस्य स तथा । देवराजहस्तिशरीरप्रमाणसदृशप्रमाणशरीरे, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

देवल-देवल-पुं० । मुनिभेदे, व्यासशिष्ये, धौम्यस्य ज्येष्ठभ्रातरि, देवान् जीविकार्थं लाति लाकः । देवोपजीविनि, स्वार्थे कन् । अत्रैवार्थे, "देवकोपपजीवी च, नाम्ना देवलको भवेत् ।" इत्युक्ते विप्रे, वाच० । सूत्र० ।

देवलासुय-देवलासुत-पुं० । उज्जयिनीनृपे, आ० क० । आ० चू० ।

देवलोग-देवलोक-पुं० । देवानामिन्द्रादीनां लोकः स्थानम् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । सौधर्माऽऽदिषु द्वादशसु लोकेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । भ० ।

कइविहा णं भंते ! देवलोगा पण्णत्ता ?। गोयमा ! चउव्विहा देवलोगा पण्णत्ता । तं जहा-भवणवासी, वाणमंतरा, जोइसिया, वेमाणिया । भवणं भवणवासी दसविहा, वाणमंतरा अट्ठविहा, जोइसिया पंचविहा, वेमाणिया दुविहा । भ० ५ श० ९ उ० ।

देवलोके मिथ्यादृष्टिदेवदेवीनां क आचार इति प्रश्ने, उत्तरम्-यथा सम्यग्दृशां सिद्धाऽऽयतनेषु जिनाऽर्चनाऽऽदिप्रवृत्तिरूप आचारस्तथा मिथ्यादृशां नैव वर्तमानताऽऽदिप्रतिमापूजनाऽऽदिरूपः संभाव्यत इति । ९९ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

देवलोगगमण-देवलोकगमन-न० । सुकुलप्रत्यागतौ, स्था० ३ अष्ट० ।

देवलोगसमाण-देवलोकसमान-त्रि० । देवलोकसदृशे, दशा० १ चू० ।

देवलोय-देवलोक-पुं० । 'देवलोग' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

देवलोयगमण-देवलोकगमन-न० । 'देवलोगगमण' शब्दार्थे, स्था० ३ अष्ट० ।

देवलोयसमाण-देवलोकसमान-त्रि० । 'देवलोगसमाण' शब्दार्थे, दशा० १ चू० ।

देववंदणविहि-देववन्दनविधि-स्त्री० । देववन्दनविधौ, ध० र० । (अस्य व्याख्या 'वंदन' शब्दे) विंशतिस्थानाऽऽदिषु देववन्दनं मुखवस्त्रिकां विना घटते न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-मुखवस्त्रिकां विना देववन्दनं न घटते । २०३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । पद्गणनमेकवारं देववन्दनं वा विस्मृतं प्रत्याख्यानपारणात् प्राक् तत्करोति यदि तदा शुद्ध्यति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रथमदिने विस्मृतपदगणना न पतति देववन्दनं वा द्वितीयदिने पारणकरणात्पूर्वमपि महत्कारणं विना न शुद्ध्यति, क्रियमाणा तु दृश्यत इति आख्यातं, पतितं तु सांप्रतमो ज्ञातं नास्तीति । ३०६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा श्रीवीरहीरसूरीणां प्रतिमाऽग्रे यो देवान् वन्दते, स वासक्षेपं कृत्वा, अन्यथा नेति प्रश्ने, उत्तरम्-श्रीगुरुप्रतिमाग्रे देवा वन्दिता न शुद्ध्यन्ति, यदि च तीर्थकरप्रतिमा वासक्षेपिता भवति पट्टाऽऽदौ, तदा तदग्रे वासक्षेपं कृत्वा देवा व-

मिता: मुञ्चन्तीति । १४४ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । पौषधिके त्रिसन्ध्यं विस्तरेण देवा वन्द्यन्ते, नवकाराणि च सन्ति, मध्याह्ने देववन्दना तु सामाचारीपौषधविधिप्रकरणाऽऽदिषु दृश्यते इति प्रश्ने, उत्तरम्-यद्यपि पौषधिकश्राद्धानां सामाचार्यादिषु मध्याह्न एव वन्दनं दृश्यते, तथाऽपि " पडिक्कमओ गिहिणो वि हु, सगवेला पंच वेल इअरस्स । पूआसु तिसंझासु अ, होइ तिवेला जहन्नेणं " ॥१॥ इत्याद्यक्षरबलात्त्रिकालपूजाव्याघातत्वेन परम्परागतत्वेन च त्रिकालं देववन्दनं युक्तिमदेवेति । २९. प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

देववर-देववर-पुं० । देवसमुद्रे, स्वनामख्याते देवे, सू० प्र० १६ पाहु० । चं० प्र० । जी० ।

देववायग-देववाचक-पुं० । नन्द्यध्ययनकर्त्तरि दूष्यगणिशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, नं० ।

देवविग्गहगइ-देवविग्रहगति-स्त्री० । देवानां नाकिनां विग्रहात् क्षेत्रविभागानतिक्रम्य गतिर्गमनं देवविग्रहगतिः । स्थितिनिवृत्तिलक्षणायामृजुवक्ररूपायां विहायोगतिकर्म्माऽऽपाद्यायां वा गतौ, स्था० १० ठा० ।

देववूह-देवव्यूह-पुं० । देवानां व्यूहः सांग्रामिकव्यूह इव यो दुर्भेद्यमरवारस्स देवव्यूहः । सागराऽऽदौ, स्था० ४ ठा० २ उ० । भ० ।

देवसइ-देवस्मृति-स्त्री० । "नमो वीअरायाणं सव्वण्णूणं तेलोक्कपूइआणं जहट्ठिअवत्थुवाईणं । " इत्यादिरूपे जिनस्मरणे, ध० २ अधि० ।

देवसंघ-देवसङ्घ-पुं० । देवसमुदाये, औ० ।

देवसंसारविउस्सग्ग-देवसंसारव्युत्सर्ग-पुं० । संसारव्युत्सर्गभेदे, औ० ।

देवसक्खिय-देवसाक्षिक-त्रि० । देवताः साक्षिणो यत्र तद्देवसाक्षिकम् । देवसाक्षिमिति प्रत्याख्यानाऽऽदौ, पा० ।

देवसण्णत्ति-देवसंज्ञप्ति-स्त्री० । देवसंकेतैर्देवप्रतिबोधना या सा तथा । प्रव्रज्याभेदे, स्था० १० ठा० । " उदायणसंबोही पव्वाबाई देवसण्णत्ती ।" पं० भा० । पं० चू० ।

देवसण्णिवाय-देवसन्निपात-पुं० । देवानां भुवि समवतारे, "तिहिं ठाणेहिं देवसण्णिवाए सिया । तं जहा-अरहंतेहिं जायमाणेहिं अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं अरहंताणं णाणुप्पयमहिमासु, एवं देवुक्कलियादेवकहकहए । " स्था० ३ ठा० १ उ० । (अर्हतां परिनिर्वाणमहिमासु देवसन्निपातो ' लोगुज्जोय ' शब्दे) देवानां सन्निपातः समागमो रमणीयत्वाद्यत्र स तथा । देवसमागमोपेते शिलापट्टकाऽऽदौ, भ० २ श० १ उ० । देवसङ्घाते च । दा० ।

देवसत्त-देवशप्त-पुं० । नपुंसकभेदे, ग० १ अधि० । पं० भा० । " देवेहिं सत्तो देवसत्तो ।" पं० चू० ।

देवसमुद्द-देवसमुद्र-पुं० । स्वनामख्याते समुद्रे, " अत्थ देवोदे समुद्दे दो देवा महड्ढिया देवभद्द देवमहाभद्दा ।" देवः समुद्रो वृत्तो वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थितो यावत् परिक्षिप्य तिष्ठति, अत्राऽपि समचक्रवालाऽऽदिसूत्राणि तथैव, नवरं देवोदकस्य समुद्रस्य विजयद्वारं देवोदकसमुद्रपूर्वार्द्धपर्यन्ते नाम द्वीपपूर्वार्द्धपश्चिमादिशि, अत्रेति वक्तव्यम्-राजधानी विजयद्वारस्य पश्चिमदिशि देवं समुद्रं तिर्यगसंख्येयानि योजनशतसहस्राणि अवगाह्य वक्तव्या । एवं वैजयन्तजयन्तापराजितद्वारवक्तव्यताऽपि भावनीया, नामान्वर्थचिन्तायामपि देवभद्रदेवमहाभद्रौ देवौ, शेषं तथैव यथा देवो द्वीपः । जी० ३ प्रति० ।

देवसम्मण-देवशर्मन्-पुं० । कांपिल्यनगरासन्ने कस्मिंश्चित् ग्रामे स्थिते गौतमप्रतिबोधिते (तं०) स्वनामख्याते ब्राह्मणे, उत्त० १३ अ० । आ० चू० । कल्प० । आ० म० । जम्बूद्वीपे ऐरवते वर्षे अस्यामेवोत्सर्पिण्यां जाते देवसेनापरनामके स्वनामख्याते एकादशे तीर्थकरे, स० ।

देवसयणिज्ज-देवशयनीय-न० । देवशय्यायाम्, जी० ।

तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते, तस्स णं देवसयणिज्जस्स अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते । तं जहा-णाणामणिमया पडिपादा सोवण्णिया पादा णाणामणिमया पायसीसा जंबूणदमयाति गत्ताइं वइरामया संधी नानामणिमए वेज्जे रयनामया तूली लोहियक्खमया बिब्बोयणा तवणिज्जमई गंडोवहाणिया, से णं देवसयणिज्जे सालिंगणवट्टिए उहओ बिब्बोयणे दुहओ उण्णए मज्झणए गंभीरे गंगापुलिणवालुउद्दालसालिसए ओयवियखोमदुगुल्लपट्टपडिच्छयणे सुविरइयरयत्ताणे रत्तंसुयसंवुडे सुरम्मे आईणगरूयबूरणवणीयतूलफासमउए पासाईए । जी० ३ प्रति० ।

देवसिअ-दैवसिक-त्रि० । दिवसेन निर्वृत्तो दिवसपरिणामो वा दैवसिकः । दिवसभवे, आव० ४ अ० । ध० । प्रव० । आ० म० । आ० चू० । स्त्रियां ङीप् । दिवसे जाता दैवसिकी । दिवसभवायाम्, औ० । प्रतिक्रमणभेदे, (तद्वक्तव्यता ' पडिक्कमण ' शब्दे वक्ष्यते)

देवसीह-देवसिंह-पुं० । मथुरानगरस्थे स्वनामख्याते श्रमणोपासके, ती० ७ कल्प ।

देवसुंदर-देवसुन्दर-पुं० । सोमतिलकसूरिशिष्ये स्वनामख्याते सूरौ, ग० ४ अधि० । स च विक्रमसंवत् १४५७ मिते तपागच्छे विद्यमान आसीत्, विक्रमसंवत्-१३९६ मिते ऽस्य जन्म, विक्रमसंवत्-१४०४ मिते दीक्षा, विक्रमसंवत्-१४२० मिते सूरिपदं, ज्ञानसागरकुलमण्डनगुणरत्नसोमसुन्दराख्येति शिष्यास्तस्याऽऽसन् । जै० इ० ।

देवसुय-देवश्रुत-पुं० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे स्वनामख्याते षष्ठे भविष्यति जिने, प्रव० ७ द्वार । तथा षष्ठं देवश्रुतजिनं वन्दे ।" प्रव० ४ द्वार । ती० ।

देवसूरि-देवसूरि-पुं० । स्याद्वादरत्नाकर-(रत्ना० १ परि०) जीवानुशासनवृत्तिकारके, जीवा० १४ अधि० । एतस्य महात्मनः संक्षिप्तमितिवृत्तम्-गुर्जरदेशे मद्दाहृतग्रामे देवनागगृहपतेर्जिनदेव्यां भार्यायां पूर्णचन्द्रस्वप्नसूचितः सुतो जज्ञे, स्वप्नानुसारेण पूर्णचन्द्र इति नाम्ना प्रसिद्धिमगमत् । भृगुकच्छपु-

रे विक्रमसंवत्-११५२ वर्षे मुनिचन्द्रसूरिपार्श्वे दीक्षां जग्राह । तदानीं रामचन्द्र इति नाम लेभे, पश्चात्तर्कव्याकरणसाहित्याऽऽद्यनेकशास्त्रेषु परिनिष्ठां प्राप्य विक्रमसंवत्-११७४ सूरिपदं सहैव च तेन देवसूरिरिति नाम लब्धम् । ततः क्रमेण धवलकपुरे उदयश्रेष्ठिकारितसीमन्धरस्वामिप्रतिमां प्रातिष्ठिपत्, अणहिल्लपुरपत्तने वाहडश्रावकस्य वीरप्रभुप्रतिमामस्थापयत् । नागपुरराजं सिद्धराजाऽऽक्रान्तममोचयत् । कर्णाटकदेशे कर्णावत्यां नगर्यां गत्वा कुमुदचन्द्रं नाम वादप्रसिद्धं दिगम्बराऽऽचार्यं वादे आहूय अणहिल्लपुरपत्तने सिद्धराजसमक्षं तं पराजिग्ये । ततः संतुष्टेन सिद्धराजेन तस्मै दीनारलक्षं दातुमुत्सृष्टं, किं तु तेन निष्परिग्रहेण नाङ्गीकृतमिति तत्रैव श्रीऋषभदेवचैत्यं तद्द्रव्येण कारितम् । विक्रमसंवत्-१२२६ वर्षेऽयं देवसूरिर्देवलोकमगमत् । जै० इ० । जी० । मुनिचन्द्रसूरिशिष्ये रत्नप्रभसूरेर्गुरौ स्वनामख्याते आचार्ये, रत्ना० ८ परि० । "यैरत्र स्वप्रज्ञया, दिगम्बरस्याऽर्पिता पराभूतिः । प्रत्यक्षं विबुधानां, जयन्तु ते देवसूरयो भव्याः ॥२॥" निर्जितदुर्जयपरप्रवादाः श्रीदेवसूरिपादाः । स्या० । सामन्तभद्रसूरिशिष्ये स्वनामख्याते सूरौ, ग० । सर्वदेवसूरेर्गुरौ स्वनामख्याते सूरौ, ग० ।

वृद्धगच्छमभिकृत्य-

" अजनिष्ट प्रथमः, सूरिः श्रीसर्वदेवाऽऽह्वः ॥ २१ ॥

रूपश्रीरिति नृपति-प्रदत्तबिरुदोऽथ देवसूरिरभूत् ।

श्रीसर्वदेवसूरि-र्जज्ञे पुनरेव गुरुचन्द्रः ॥२२॥ " ग० ४ अधि० ।

देवसेण-देवसेन-पुं० । देवा सेना यस्य, देवाधिष्ठिता वा सेना यस्य स देवसेन इति । शतद्वारनगरस्थे महापद्मापरनामके स्वनामख्याते नृपे, " तस्स महापउमस्स रण्णो दुच्चे वि नामधिज्जे भविस्सइ देवसेणे त्ति ।" स्था० ६ ठा० ३ उ० । (एतद्वक्तव्यता 'महापउम' शब्दे वक्ष्यते) ऐरवतवर्त्तमानजिनेषु स्वनामख्याते षोडशे जिने, प्रव० ७ द्वार । भारते वर्षे भविष्यज्जिनस्य विमलवाहनस्य पूर्वभवजीवे, " देवसेणो विमलवाहणो तित्थयरो । " ती० २० कल्प । नयचक्रग्रन्थकारके स्वनामख्याते दिगम्बराऽऽचार्ये, " इत्थमेव समाविष्टं, नयचक्रेऽपि तत्कृता । " द्रव्या० ७ अध्या० । तज्जन्म विक्रमसंवत्-६५१ वर्षे रामसेनस्य स शिष्यः, तेन दर्शनसारभावसंग्रहतत्त्वसाराऽऽराधनासारधर्मसंग्रहाऽऽलापपद्धत्यादयो ग्रन्था विरचिताः । जै० इ० । भद्दिलपुरनगरे नागस्य गृहपतेः सुलसानामभार्यायामुत्पन्ने स्वनामख्याते पुत्रे, स चारिष्टनेमिसमीपे प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां पञ्चमेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० १ वर्ग १ अ० ।

देवसेणगणि-देवसेनगणिन्-पुं० । यशोभद्रसूरिशिष्ये पृथ्वीचन्द्रगुरौ,तेन च पर्युषणाकल्पटिप्पणो नाम ग्रन्थो विरचितः । जै०इ० ।

देवस्सपरिभोग-देवस्वपरिभोग-पुं० । देवस्वस्य जिनबिम्बनिर्माणार्थं कल्पितत्वेन जिनदेवद्रव्यस्य परिभोगो भक्षणं देवस्वपरिभोगः । जिनदेवद्रव्यभक्षणे, तच्चारात्तद्धेतुकं कर्म देवस्वपरिभोगः । तद्धेतुके कर्मणि च । पञ्चा० ५ विव० ।

देवा-देवा-स्त्री० । दिव० अच् । पद्मचारिण्यां लतायाम्, असनपर्ण्यां च । वाच० । प्रा० ।

देवाइ-देवादि-पुं० । देवाऽऽदियोगाद्देवाऽऽदिः । जिने, "देवाइ समणे भगवं महावीरे ।" रा० ।

देवाइदेव-देवातिदेव-पुं० । देवान् शेषानतिक्रान्ताः पारमार्थिकदेवत्वयोगाद्देवातिदेवाः । पञ्चविधभव्यद्रव्यदेवाऽऽदिदेवभेदे, भ० १२ श० ६ उ० ।

देवाउय-देवाऽऽयुष्-न० । देवानामायुष्कर्मणि, " चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति । तं जहा-पगइभद्दयाए, विणीययाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए । " स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

देवागमण-देवाऽऽगमन-न० । यद्यपि सुराणामचिन्त्यशक्त्या सर्वत्राऽऽगमनशक्तिरस्ति, तथापि सिद्धान्ते सुराणामागमनं प्रायो निर्याणमार्गेणोक्तं दृश्यत इति । ४६ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

देवाजीव-देवाऽऽजीव-त्रि० । देवं देवं प्रतिमाद्रव्यमाजीवति । जीव अण् । पूजार्हौ, व० ।

देवाणंद-देवाऽऽनन्द-पुं० । ऐरवते वर्षे भविष्यति चतुर्विंशतितमे स्वनामख्याते जिने,स० । "देवाणंदे य अरहा,समाहिं पडिदिसंतु मे ।" ति० ।

देवाणंदसूरि (ण्)-देवानन्दसूरिन्-पुं० । जयदेवसूरीन्द्रशिष्ये स्वनामख्याते सूरौ, ग० ४ अधि० ।

देवाणंदा-देवानन्दा-स्त्री० । ब्राह्मणकुण्डग्रामे कोडालसगोत्रस्य ऋषभदत्ताभिधानस्य ब्राह्मणस्य जालन्धरायणसगोत्रायां भार्यायां महावीरस्वामिनो मातरि, आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ० । पुरन्दराऽऽदिष्टेन हरिनैगमेषिदेवेन यदुदरात् त्रिशलाभिधानाया राजपत्न्या उदरसंक्रामणं भगवतो महावीरस्य कृतम् । स्था० १० ठा० । (एतच्च 'महावीर' शब्दे स्फुटीभविष्यति)

इह खलु जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे दाहिणड्ढभरहे दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेसंमि उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स देवाणंदाए माहणीए जालंधरायणसगोत्ताए सीहुब्भवभूएणं अप्पाणेणं कुच्छिंसि गब्भं वक्कंते समणे भगवं महावीरे । आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ० । स० । आ० म० । आ० चू० । कल्प० ।

(देवानन्दायाः प्रव्रज्याऽऽदिवक्तव्यता 'उसभदत्त' शब्दे द्वितीयभागे ११५३ पृष्ठे द्रष्टव्या) एतस्य स्वनामख्यातायां पञ्चदश्यां रात्रौ, जं० ७ वक्ष० । चं० प्र० । कल्प० । " अह देवाणंदा पुप्फचूलाणं अंतिए । " नि० १ श्रु० ४ वर्ग २ अ० ।

देवाणुपुव्वी-देवानुपूर्वी-स्त्री० । एकोनविंशतितमे शुभकर्मभेदे, उत्त० ३३ अ० ।

देवाणुपुव्वीए पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमसहस्सस्स एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणं, उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दस य वाससयाइं अबाहा । प्रज्ञा० २३ पद ।

देवाणुप्पिय-देवानुप्रिय-पुं० । सरलस्वभावे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । ज्ञा० । रा० । विपा० ।

देवाणुभाग-देवानुभाग-पुं० । अद्भुतवैक्रियशरीराऽऽदिशक्तियोगे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ० ।

देवाणुभाव–देवानुभाव–न०। कोपवशाद्वाऽऽदिजाते देवानां तेजो-विशेषे, सामर्थ्ये च । ग्राव० । रा० । भा० ।

देवातिदेव–देवातिदेव–पुं० । देवानां मध्येऽतिशयवत्त्वाद् देवातिदेवः । अर्हति, ध्या० ५ ठा० १ उ० ।

देवारण्ण–देवारण्य–न० । देवानां क्रीडास्थाने, ज्यो० ६ पाहु० । तमस्काये, देवारण्यमिति वा बलवद्देवभयादश्यतां देवानां तथाविधाऽऽरण्यमिव शरणभूतत्वात् । भ० ६ श० ५ उ० ।

देवावास–देवाऽऽवास–पुं० । देवानां भवनपत्यादीनां स्थानेषु, भ० १३ श० २ उ० । (तद्वक्तव्यता 'ठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०२ पृष्ठे द्रष्टव्या) अश्वत्थवृक्षे, वाच० ।

देवावासंतर–देवाऽऽवासान्तर–न० । देवाऽऽवासविशेषे, भ० १० श० ३ उ० ।

देवुक्कलिया–देवोत्कलिका–स्त्री० । 'देवकलिया' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

देवासुरसंगाम–देवासुरसङ्ग्राम–पुं० । देवासुरयुद्धे, भ० ।

अत्थि णं भंते ! देवा असुरा संगामा देवा असुरा ? । हंता अत्थि । देवासुरेसु णं भंते ! संगामेसु वट्टमाणेसु किं णं तेसिं देवाणं पहरणरयणत्ताए परिणमंति ? । गोयमा ! जं णं ते देवा तणं वा कट्ठं वा पत्तं वा सक्करं वा परामुसंति, तं णं तेसिं णं देवाणं पहरणरयणत्ताए परिणमंति । जहेव देवाणं तहेव असुरकुमाराणं ? । णो इणट्ठे समट्ठे, असुरकुमारा णं देवा णं णिच्चं विउव्वियाइं पहरणरयणाइं पण्णत्ता ।

(जं णं देवा तणं वा कट्ठं वेत्यादि) इह च यद्देवानां तृणाऽऽद्यपि प्रहरणीयं भवति तदचिन्त्यपुण्यसंभारवशात्सुभूमचक्रवर्तिनः स्थालमिव, असुराणां तु यन्नित्यविकुर्वितानि तानि भवन्ति तद्देवापेक्षया,तेषां मन्दतरपुण्यत्वात्तथाविधपुरुषाणामिवेत्यवगन्तव्यमिति । भ० १८ श० ७ उ० ।

देवाहिदेव–देवाधिदेव–पुं० । देवानामिन्द्राऽऽदीनामधिका देवाः पूज्यत्वाद्देवाधिदेवा इति । अष्टादशदोषरहितेषु, सं० १ तत्त्व । तीर्थकरेषु, ते च चतुर्विंशतिः । स० २३ सम० । आव० । (तद्वक्तव्यता 'तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२९४ पृष्ठे द्रष्टव्या) भायलस्वामिगढस्थायां जिनप्रतिमायां च । भायलस्वामिगढे देवाधिदेवः । ती० ४३ कल्प । आ० क० । नि० चू० ।

देवाहिवइ–देवाधिपति–पुं० । देवेषु अधिपतिर्देवाधिपतिः । देवेष्वधिककान्तिभाजि, उत्त० ११ अ० । सूत्र० । इन्द्रे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

देविंद–देवेन्द्र–पुं० । दीव्यन्तीति देवा भवनवास्यादयस्तेषामिन्द्राः प्रभवो देवेन्द्राः । चमराऽऽदिषु, आव० ४ अ० । आ० म० । कल्प० । ते च द्वात्रिंशत् । सं० । द्वा० प० । उपा० । (तद्वक्तव्यता 'इंद' शब्दे द्वितीयभागे ५३५ पृष्ठे द्रष्टव्या) (देवानां मनुष्यलोकगमनं 'मणुस्सलोय' शब्दे वक्ष्यते)

देविंदण्हाय–देवेन्द्रस्नात–न० । देवेन्द्रोदाहरणे, पञ्चा० ।

कायव्वो जहसत्तिं, पवरो देविंदण्हाएणं ॥ ८ ॥

यथा हि भगवतामर्हतां जन्ममहाऽऽदिषु सुरेन्द्रः सर्वविभूत्या सर्वाऽऽदरेण च शरीरसत्कारं विधत्ते, तद्वदन्यैरप्यसौ विधेयः ॥ ८ ॥ पञ्चा० ८ विव० ।

देविंदत्थय–देवेन्द्रस्तव–पुं० । देवेन्द्रवक्तव्यताप्रतिबद्धे स्वनामख्याते प्रकीर्णकग्रन्थभेदे, द० प० ।

देविंदपूइय–देवेन्द्रपूजित–पुं० । देवेन्द्राः शक्राऽऽदयस्तैः पूजितेषु समभ्यर्चितेषु अर्हत्सु, पं० सू० १ सूत्र ।

देविंदमुणीसर–देवेन्द्रमुनीश्वर–पुं० । रुद्रपालीयगच्छोद्भवे सङ्घतिलकसूरिशिष्ये, स च विक्रमसंवत् १४७० वर्षे विद्यमान आसीत्, तेन च प्रश्नोत्तररत्नमालावृत्तिनामा ग्रन्थो विरचितः । जै० इ० ।

देविंदसूरि–देवेन्द्रसूरि–पुं० । जगच्चन्द्रसूरिशिष्ये, धर्मरत्नटीकाकारके स्वनामख्याते आचार्ये, ध० र० । देवभद्रसूरिशिष्ये च । बृ० ६ उ० । "बायालीसा निवा देविंदसूरी जियमहविहवा जं सुयं गीइनामं कयं ता हुंति ।" सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

देविंदाइअणुगिति–देवेन्द्राऽऽद्यनुकृति–स्त्री० । देवाधिपदेवदानवप्रभृत्याचारानुकरणे, पञ्चा० ६ विव० ।

देविंदोग्गह–देवेन्द्रावग्रह–पुं० । अवगृह्यते स्वामिना स्वीक्रियते यः सोऽवग्रहः । देवेन्द्रस्य शक्रस्य ईशानस्य वाऽवग्रहः । दक्षिणलोकार्द्धे, उत्तरे च । प्रति० । भ० । देवेन्द्रस्य लोकमध्यवर्तिरुचकद्दक्षिणार्द्धमवग्रहः । आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० १ उ० ।

देविंदोववाय–देवेन्द्रोपपात–पुं० । स्वनामख्याते कालिकश्रुतभेदे, पा० ।

देविंधयार–देवान्धकार–न० । अन्धकारभेदे, स्था० ।

तिहिं ठाणेहिं देविंधयारे सिया । तं जहा–अरिहंतेहिं वोच्छिज्जमाणेहिं, अरिहंतपन्नत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे, पुव्वगए वोच्छिज्जमाणे ॥

देवानां भवनाऽऽदिष्वन्धकारं देवान्धकारं, लोकानुभावादेवेति, लोकान्धकारे उक्तेऽपि यद्देवान्धकारमुक्तं तत्सर्वत्रान्धकारसद्भावप्रतिपादनार्थमिति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

देविड्ढि–देवर्द्धि–स्त्री० । त्रिधात्रिधा प्रकारान्तरं बहुधा देवर्द्धिः । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

देवित्थी–देवस्त्री–स्त्री० । स्त्रीभेदे, जी० २ प्रति० । (तद् वक्तव्यता 'इत्थी' शब्दे द्वितीय भागे ५७५ पृष्ठे गता)

देविलासुय–देविलासुत–पुं० । अनुरक्तलोचनायाः पत्यौ स्वनामख्याते उज्जयनीनृपे, आव० ४ अ० । (तद्वक्तव्यता 'सव्वकामविरत्तया' शब्दे वक्ष्यते)

देवी–देवी–स्त्री० । दीव्यति, दिव अच् गौरा० ङीष् । दुर्गायाम्, वाच० । दश० । "यत्प्रभावाद्वदाम्यन्ते, पदार्थाः कल्पनां विना । सा देवी संविदे नः स्ता–दस्तकल्पलतोपमा ॥ ३ ॥" उत्त० १ अ० । मूर्वायाम्, स्पृक्कायां च । देवस्य पत्नी ङीप् । देवपत्न्याम्, वाच० । स्था० । "देवीणं उववाओ मुणेयव्वो ।" देवीनां सुरव-

धूनाम्। पञ्चा० २ विव०। प्रव०। राजाग्रमहिष्याम्, व्य०३ उ०। सू० प्र०। प्रश्न०। "तस्स णं सेणियस्स रण्णो धारणी नामं देवी होत्था।" ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। (देवीवर्णकः 'राज' शब्दे वक्ष्यते) जम्बूद्वीपे भारते वर्षे अस्यामेवोत्सर्पिण्यां सप्तमस्यारनाम्नश्चक्रवर्तिनः स्वनामख्यातायां मातरि, स०। आव०। अत्रैव दशमस्य हरिषेणचक्रवर्तिनः स्वनामख्यातायां पत्न्याम्, स०। अस्यामेवोत्सर्पिण्यामष्टादशमस्याऽरस्वामिनस्तीर्थकरस्य स्वनामख्यातायां मातरि, स०। प्रव०। आव०। (देवीनामाशातना 'आसायणा' शब्दे द्वितीयभागे ४८३ पृष्ठे द्रष्टव्या) विप्रकीर्णासुपधौ च। "देव्यस्ता विप्रयोषितः" इत्युक्ते। वाच०। तथेशाने सौधर्मे ज्योतिष्के व्यन्तरनिकाये असुराऽऽदिनिकाये च प्रत्येकं देवेभ्यो देवीवर्गो द्वात्रिंशदधिकद्वात्रिंशद्गुण इति प्रज्ञापनायां महादण्डके प्रोक्तमस्त्यन्यत्र तु "तिगुणा तिरूवअहिआ।" इत्यादिवचनात्सर्वसुरेभ्यः सर्वदेवीवर्गो द्वात्रिंशद्रूपाधिकद्वात्रिंशद्गुण इत्यत्रोत्तरवचनं कथं संगच्छते प्रज्ञापनायां सनत्कुमाराऽऽदिदेवेभ्यो देवीनामधिकत्वप्रतिपादनाऽऽदिप्रश्ने, उत्तरम्-ईशानाऽऽदिषु यद्देवापेक्षया देवीनां द्वात्रिंशद्गुणत्वं तदीशानाऽऽदिदेवभोग्यदेव्यपेक्षयाऽवगन्तव्यं, नेताधिका अपि तत्र देव्यः संभाव्यन्ते, ताश्च सनत्कुमाराऽऽदिदेवापेक्षया गण्यमाना द्वात्रिंशदधिकद्वात्रिंशद्गुणा भवन्तीति न कश्चन प्रज्ञापनोपाङ्गे "तिगुणा तिरूवअहिआ त्ति" गाथोक्तभावार्थयोर्भेद इति। ४१ प्र०। सेन० १ उ०।

देवीपडिमा-देवीप्रतिमा-स्त्री०। देव्या मूर्त्तौ, "तत्थ रक्षो देवीओ य पडिमा कया।" आ० म० १ अ० २ खण्ड।

देवुक्कलिया-देवोत्कलिका-स्त्री०। देवानां वा तदर्थेऽत्कालिका देवोत्कलिका। आ० म०१ अ०१ खण्ड। प्रश्न०। तत्समवायविशेषे, स्था० ३ ठा० १ उ०। रा०। देवलहरी च। स्था० ४ ठा० ३ उ०। (देवोत्कलिका कुत्र भवति इति 'लोगुज्जोय' शब्दे वक्ष्यते)

देवुज्जोय-देवोद्द्योत-पुं०। देवप्रकाशे, स्था०।

तिहिं ठाणेहिं देवुज्जोओ सिया। तं जहा-अरहंतेहिं जायमाणेहिं, अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं, अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु। स्था० ३ ठा० १ उ०। आम०। रा०। (अर्हतां परिनिर्वाणमहिमासु देवोद्द्योतो भवति इति 'लोगुज्जोय' शब्दे वक्ष्यते)

देविंदगणि (ण्)-देवेन्द्रगणिन्-पुं०। देवभद्रगणिशिष्ये तपागच्छीये स्वनामख्याते गणिनि, देवभद्रगणिमधिकृत्य-"तेषामुभौ विनेयौ, देवेन्द्रगणीन्द्रविजयचन्द्राह्वौ।" ग० ४ अधि०। बृहद्गच्छीये आम्रदेवसूरिगुरौ, स च विक्रमसंवत्-११२६ मिते विद्यमान आसीत्। उत्तराध्ययनसूत्रोपरि टीका प्रवचनसारोद्धारग्रन्थ आख्यानमणिकोशश्चेत्यादिका ग्रन्था अनेन चक्रिरे, अयमाचार्यः सैद्धान्तिकशिरोमणिनाम्ना प्रसिद्धः। जै० इ०।

देविंदवंदिय-देवेन्द्रवन्दित-पुं०। देवानां भुवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानामिन्द्राः स्वामिनो देवेन्द्रास्तैर्वन्दितेऽर्हति, कर्म० २ कर्म०।

देविंदसीहसूरि-देवेन्द्रसिंहसूरि-पुं०। अञ्चलगच्छीये अजितसिंहसूरिगुरौ, एतेन जैनमेघदूताऽऽद्या ग्रन्था रचिताः। विक्रमसंवत्-१३७१ वर्षेऽयं स्वरगमत्। जै० इ०।

देविंदसूरि-देवेन्द्रसूरिन्-पुं०। श्रीमज्जगच्चन्द्रसूरितपागच्छस्थापकशिष्ये स्वनामख्याते सूरौ, कर्म० १ कर्म०। अयमाचार्यः विक्रमसंवत्-१२७०-१३२७ वर्षाणामन्तराले आसीत्, तेन च सटीकः कर्मग्रन्थः, श्राद्धदिनकृत्यटीकावृत्तिः, नव्यकर्मग्रन्थपञ्चाशककवृत्तिः, सिद्धपञ्चाशकवृत्तिः, धर्मरत्नवृत्तिः, सुदर्शनश्रेष्ठिचरित्रं, देववन्दनभाष्यं, गुरुवन्दनभाष्यं, प्रत्याख्यानभाष्यमुपभाऽऽदियुद्धमानान्तस्तुतिः, पाक्षिकप्रतिक्रमणसूत्रवृत्तिरित्यादयनेके ग्रन्था विरचिताः। विक्रमसंवत्-१३२७ वर्षेऽयं स्वर्गतः। जै० इ०। स्वनामख्याते सूरौ च। "कह पुण देविंदसूरीहिं चत्तारि बिंबाणि अउज्झापुराओ आणियाणि।" ती० १२ कल्प।

देवेसरवंदिय-देवेश्वरवन्दित-पुं०। देवेन्द्रवन्दिते, "देवेसरवंदियं च मरुदेवं।" स०।

देव्व-दैव-पुं०। चतुर्थे विवाहभेदे, ध०। यत्र यज्ञार्थमृत्विजः कन्याप्रदानमेव दक्षिणा स दैवः। ध० १ अधि०।

देवोववाय-देवोपपात-पुं०। जम्बूद्वीपे भारते वर्षे आगामिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां त्रयोविंशतितमे स्वनामख्याते भविष्यति तीर्थकरे, स०।

देस-देश-पुं०। दिश-अच्। जनपदे, सू० ४ उ०। जीत०। स्था०। आव०। नि० चू०। रा०। मण्डले, स्था० ५ ठा०३ उ०। जन्मक्षेत्राऽऽदौ, स्था०३ ठा०३ उ०। प्रदेशे, स्था० ३ ठा०३ उ०। भ०। अनु०। प्रकारे, विशे०। स्था०। अवयवविशेषे, स्था० १ ठा०। जी०। अंशे, आतु०। प्रश्न०। पूर्वाऽऽदिदिक्षु, स्था० ७ ठा०। एकदेशे, उपा० १ अ०। प्रस्तावे, विशे०। देशः प्रस्तावोऽवसरो विभागः पर्याय इत्यनर्थान्तरम्। दशा० १ अ०। आ० म०। विशे०। ग्रामनगराऽऽदौ, दा० १२ अष्ट०। देशनं देशः। कथने, विशे०। आ० म०।

देसकहा-देशकथा-स्त्री०। तृतीये विकथाभेदे. ग० १ अधि०।

देसकहा चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा-देसविहिकहा, देसविकप्पकहा, देसच्छंदकहा, देसनेवत्थकहा।

तथा देशे मगधाऽऽदौ विधिर्विरचना भोजनमणिभूमिकाऽऽदीनां, भुज्यते वा यथा प्रथमतयेति देशविधिस्तत्कथा देशविधिकथा। एवमन्यत्रापि, नवरं विकल्पः सस्यनिष्पत्तिः, वप्रकूपाऽऽदिदेवकुलभवनाऽऽदिविशेषश्चेति। छन्दो गम्यागम्यविभागो यथा लाटदेशे मातुलभगिनी गम्या, अन्यत्राऽगम्येति। नेपथ्यं स्त्रीपुरुषाणां वेषः स्वाभाविको विभूषाप्रत्ययश्चेति इह दोषाः। स्था० ४ ठा० २ उ०। आव०। दश०। नि० चू०। औ०। स०। प्रश्न०। आ० चू०।

इयाणिं देसकहा-

छंदं विही विकप्पं, णेवत्थं बाहुविहं जणवयाणं।
एता कथा कधिंते, चतु जमला सुक्किआ चउरो॥१२५॥

गाहापच्छद्धं तहेव।

अग्गदुस्स इमा वक्खा-

छंदो गमं विधि रय-णा चेव य भुज्जते य जं पुव्वं।

सारणिकूवविकप्पो, णेवत्थं णोयकादीयं ॥ १२६ ॥

छंदो आयारो, गम्मा जहा लाडाणं माउलदुहिया, माउलस्स धूया वा गंमा, विही णाम वित्थरो, रयणा णाम जहा कोसलाविसए आहारभूमी हरितोवलित्ता कज्जति, पउमिणिपत्ताइएहिं भूमी अत्थरिज्जति, ततो पुप्फोवयारो कज्जति, तओ पत्ती ठविज्जति, ततो पासेहिं करोडगा कट्टोरगा मंकुया सिप्पीओ य ठविज्जंति, भुज्जते य जं पुव्वं, जहा-कोंकणे पया, उत्तरावहे सत्तुया, अन्नेसु वा जं विसएसु दाऊण पच्छा अणेगभक्खप्पगारा दिज्जंति, सारणीकूवाईओ विकप्पा भण्णति, णेवत्थं णोयकादीयं भवति । णोयका णाम-जा साडाणं कच्छा सा मरहट्ठयाणं णोयका भण्णति, तं च बालप्पभिति इत्थिया ताव बंधंति, जाव परिणीया, जाव य आवण्णसत्ता जाया, ततो मायणं कज्जति, सयणं मेलेऊण परूओ दिज्जति, तप्पभिइं फिट्टइ णोयका ।

इदाणिं देसकहा दोसदरिसणत्थं भण्णति-

रागद्दोसुप्पत्ती, सपक्खपरपक्खओ य अधिकरणं ।
बहुगुण इमो त्ति देसो, सोत्तुं गमणं च अण्णेसिं ॥ १२७ ॥

देसकहा तं जं देसं वण्णेति, तत्थ रागो, इयरे दोसो, रागदोसओ तं कम्मबंधो, किं च-सपक्खेण वा परपक्खेण वा सह अहिकरणं भवति, कहं ?, साधू एगं विसयं पसंसति, अवरं णिंदति, ततो सपक्खेण वा परपक्खेण वा भणितो-तुमं किं जाणसि कूवमंडुक्को ?; तो उत्तरपच्चुत्तराओ अधिकरणं भवति । किं चान्यत्-देसवण्णणमाणे अण्णो साहू चिंतेति-बहुगुणो इमो देसो वण्णिओ, सो वण्णिओ सोउं तत्थ गच्छति । देसकहि त्ति दारं । नि० चू० १ उ० ।

देसकाल-देशकाल-पुं० । देशः प्रस्तावोऽवसरो विभागः पर्याय इत्यनर्थान्तरम् । स देशरूपः कालो देशकालः । अभीप्सितवस्तुवाप्त्यवसरकालरूपे कालभेदे, विशे० । आतु० । आ० । चू० ।

इदानीं देशकालमभिधित्सुस्तत्स्वरूपं विवृण्वन्नाह-

जो जस्स जयावसरो, कज्जस्स सुभासुभस्स सो पायं ।
जायइ स देसकालो, देसोऽवसरो त्ति थक्को त्ति ॥ २०६३ ॥

देशः, अवसरः, थक्कमिति पर्यायाः, तद्रूपः कालो देशकालः, स भण्यते । क इत्याह-यो यस्य शुभस्याशुभस्य वा कार्यस्य निश्चितो यदाऽवसरः स देशकालो भण्यते, कथं निश्चितः ?, इत्याह-सोपायं वक्ष्यमाणोपायत इत्यर्थः । इति गाथार्थः ॥ २०६३ ॥

तत्र शुभस्य साध्वादिभिक्षाकालक्षणस्य कार्यस्य निश्चयोपायगर्भं प्रस्तावकालमाह-

निद्धूमगं च गामं, महिलाथूभं च सुण्णयं दट्ठुं ।
नीयं च काय ओलिंति जाया भिक्खस्स हरहरा ॥ २०६४ ॥

ओदनाऽऽदिपाकक्रियापरिसमाप्तेर्निर्धूमकं च ग्रामं, पानीयवाहिकामहिलास्तूपं च, कूपाऽऽदितटं शून्यं दृष्ट्वा तथा नीचं च काकाः, (ओलिंति त्ति) अवलीयन्ते गृहाणि प्रत्यागच्छन्तीत्यादि च चिह्नं दृष्ट्वा जानीयात्, यथा संजाता भैक्षस्य (हरहर त्ति) अतीव भिक्षाप्रस्ताव इति ॥ २०६४ ॥

अथाप्रशस्तस्य कार्यस्य निश्चयोपायपूर्वकं प्रस्तावकालमाह-

निम्मच्छियं महुं पा-यसो निही खज्जगावणो सुण्णो ।
जा यंगणे पसुत्ता, पउत्थवइया य मत्ता य ॥ २०६५ ॥

निर्मक्षिकमपगतसकलमाक्षिकं मधु, तथा प्रकटप्रकाशीभूतो निधिः, इत्येतद् दृष्ट्वा तद्ग्रहणस्य यः प्रस्तावो ज्ञायते स देशकालः । तथा खाद्यकाऽऽपणः कुल्लूरिकहट्टः शून्य इत्यवलोक्य यस्तद्गतखाद्यानां ग्रहणप्रस्तावो निर्णीयते, तथा या चाङ्गणे प्रसुप्ता प्रोषितपतिका च मदिरामत्ता च, तस्या अपि तदानीमतीवमदनाऽऽकुलीकृतत्वात्तो ग्रहणप्रस्तावो विज्ञायते, स सर्वोऽपि देशकालः । इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः ॥ २०६५ ॥ विशे० ।

देसकालण्णाण-देशकालज्ञान-न० । देशकालज्ञतायाम्, प्रव० ६ द्वार ।

देसकालजुय-देशकालयुत-त्रि० । क्षेत्रकालोचिते, प्रश्न० १ पद्य ।

देसकालण्णया-देशकालज्ञता-स्त्री० । अवसरोचितार्थसम्पादनरूपायां प्रस्तावज्ञतायाम्, भ० २५ श० ७ उ० ।

देसकालदाण-देशकालदान-न० । कष्टकाऽऽदौ विशिष्टनृपतेः प्रस्तावदानं, दश० ६ अ० १ उ० ।

देसकालभावण्णु-देशकालभावज्ञ-पुं० । देशं कालं भावं च जानातीति देशकालभावज्ञः । देशकालभावानां ज्ञातरि, प्रव० । देशं कालं भावं च लोकानां ज्ञात्वा सुखेन विहरति शिष्याणां चाऽभिप्रायान् ज्ञात्वा सुखेनानुवर्त्तयति । प्रव० ६५ द्वार । आचा० ।

देसकालाणुवइत्त-देशकालानुपतितत्व-न० । प्रस्तावोचितताकपे चतुर्दशे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० । रा० ।

देसकालसंभरण-देशकालसंस्मरण-न० । स्मरणभेदे, व्य० १ उ० ।

देसग-देशक-पुं० । देशयति कथयतीति देशकः । कथके, स० १ सम० ।

देसग्ग-देशाग्र-न० । देशान्ते, ज्ञा० १ श्रु० १५ अ० ।

देसघाइ (ण्) देशघातिन्-न० । स्वघात्यज्ञानाऽऽदेर्गुणस्य देशं मतिज्ञानाऽऽदिलक्षणं घातयन्तीत्येवंशीलानि देशघातीनि । देशघातिप्रकृतीनां रसस्पर्द्धकभेदे, पं० सं० ५ द्वार । देशघातीनि रसस्पर्द्धकानि भवन्ति । स्वस्य ज्ञानाऽऽदेर्गुणस्य देशमेकदेशं मतिज्ञानाऽऽदिलक्षणं घातयन्तीत्येवं शीलानि देशघातीनि । तानि चानेकप्रकारच्छिद्रशतसङ्कुलानि । तथाहि-कानिचित् अनेकबृहच्छिद्रशतसंकुलानि, वंशदलनिर्मापितकटवत् । कानिचिन्मध्यमानेकच्छिद्रशतसङ्कुलानि, कम्बलवत् । कानिचित् पुनरतीव सूक्ष्मानेकच्छिद्रशतसङ्कुलानि, तथाविधवस्त्रवत् । तथा तानि स्तोकस्नेहानि विशिष्टनैर्मल्यरहितानि च भवन्ति । तथा चोक्तम्-" देसविघाइत्तणओ, इयरो कडकंबलं सुसंकासो । विविहबहुछिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अविमलो य " ॥ १ ॥ क० प्र० ।

देशघातिस्वरूपमाह-

देसविघाइत्तणओ, इयरो कडकंबलंसुसंकासो ।
विविहबहुछिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अविमलो य ॥ ३७ ॥

इतरो देशघाती देशघातित्वात् स्वविषयैकदेशघातित्वाद् इति, स च विविधबहुच्छिद्रभृतः । तद्यथा-कश्चित् वंशदलनिर्मापितकट इवातिस्थूरच्छिद्रशतसंकुलः, कश्चित्कम्बल इव मध्यमविवरशतसंकुलः, कोऽपि पुनस्तथाविधमसृणवासोवदतीव सूक्ष्मविवरसंभृतः । (कडकंबलंसुसंकास इति) कटो वंशदलनिर्मापितः, कम्बल ऊर्णामयः, अंशुकं वस्त्रं, तत्संकाशः, तथा स्वरूपतोऽल्पस्नेहः स्तोकस्नेहाऽविभागसमुदायरूपः, अविमलश्च नैर्मल्यरहितश्चेति गाथार्थः ॥ ३० ॥ पं० सं० ३ द्वार । देशघातिरसस्पर्द्धकान्विते प्रकृतिभेदे, स्त्री० । ङीप् । पं० सं० ३ द्वार । " देसघाइरसेणं, पगईओ होंति देसघाईओ । " देशघातिरसेन देशघातिरसस्पर्द्धकसंबन्धेन प्रकृतयो मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिरूपाः पञ्चविंशतिसङ्ख्या देशघातिन्यो व्यपदिश्यन्ते । कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० । (ताश्च मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिरूपाः पञ्चविंशतिप्रकृतयः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६६ पृष्ठे उक्ताः)

देसच्चाइ (ण्)-देशत्यागिन्-पुं० । देशस्य जन्मभूम्याऽऽदेस्त्यागो देशत्यागः, स यस्मिन्नाचेनाय प्रभुणाऽऽज्ञाप्रदानाऽऽदावस्ति स देशत्यागी । जन्मभूम्याऽऽदित्यागवत्यविनये, स्था० ३ ठा० ३ उ० । नि० चू० ।

देसच्चाय-देशत्याग-पुं० । जन्मभूम्याऽऽदित्यागे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

देसच्छंद-देशच्छन्द-पुं० । देशविषयके गम्यागम्यविभागे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

देसच्छंदकहा-देशच्छन्दकथा-स्त्री० । देशकथाभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । (व्याख्या "देसकहा" शब्दे गता)

देसजइ-देशयति-पुं० । " सव्वेण च देसेण च, तेण जुओ होइ देसजई । " सर्वेण द्वादशव्रताऽऽत्मकेन देशेन वाऽन्यतरव्रतप्रतिपत्तिलक्षणेन युक्ते श्रावके, आतु० । " सम्मद्दंसणमहिओ, गिण्हंतो विरइमप्पसत्तीए । एगव्वयाइचरिमो, अणुमोयइ त त्ति देसजई ॥१॥ " कर्म० २ कर्म० ।

देसजय-देशयत-पुं० । देशे संकल्पनिरपराधत्रसवधविषये यतं यमनं संयमो यस्य स देशयतः । सम्यग्दर्शनयुते एकाणुव्रताऽऽदिधारिणि अनुमतिमात्रश्रावके, यदाह श्रीशिवशर्मसूरिवरः कर्मकृतौ-" एगव्वयाइ चरमो, अणुमोयइ त त्ति देसजई । " कर्म० ४ कर्म० ।

देसजुय-देशयुत-पुं० । षट्त्रिंशत्सूरिगुणानां प्रथमे गुणे, प्रव० । यो मध्यदेशे जातो यो वाऽर्द्धषड्विंशतिषु जनपदेषु स देशयुतः, स ह्यार्यदेशभाषितं जानाति । ततः सुखेन तस्य समीपे शिष्याः सर्वेऽप्यधीयते । प्रव० ६४ द्वार ।

देसड-देश-पुं० । " एवंपरंसमंध्रुवंमाममनाक् एम्व पर समाणु ध्रुवु मं मणाउं " ॥ ८ । ४ । ४१८ ॥ इत्यत्र प्रायोग्रहणाद् देशस्य देसडाऽऽदेशः । स्थाने, " माणि पणट्ठइ जइ न तणु, तो देसडा चइज्ज । " माने प्रणष्टे यदि ननुर्न त्यज्यते ततो देशस्त्यज्यते । प्रा० ढुं० ४ पाद ।

देसण-देशन-न० । प्ररूपणे, नं० ।

देसणा-देशना-स्त्री० । धर्मकथायाम्, षो० १४ विव० । ध० र० । स्था० । कथने, औ० २७ अधि० । आख्यातं भगवतेदं न कुशाग्राऽऽदिनिःसृतं, यथा कश्चिदभ्युपगम्यते-" तस्मिन्ध्यानसमापन्ने, चिन्तारत्नवदास्थिते । निःसरन्ति यथाकामं, कुड्याऽऽदिभ्योऽपि देशनाः ॥ १ ॥ " स्था० १ ठा० ।

देसणिग्गमण-देशनिर्गमन-न० । देशेषु विहारक्रमकरणे, व्य० ३ उ० ।

देसणिसूदग-देशनिषूदक-त्रि० । देशविनाशके, " विज्ञातच्युतिजीवश्च, भवं भ्रान्त्वाऽथ केसरी । अहो तुङ्गगिरौ शबल-पुरादेशनिसूदकः ॥१॥ " आ० क० ।

देसणी-देशनी-स्त्री० । प्रज्ञापन्याम्, दश० ७ अ० ।

देसणेवत्थ-देशनेपथ्य-न० । देशानुकूले स्त्रीपुरुषाणां वेषे, देशकथाभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ० । (व्याख्या 'देसकहा' शब्देऽनुपदमेव गता)

देसदंसण-देशदर्शन-न० । देशनिरीक्षणे, बृ० ।

शिष्यः पृच्छति ?, तेन जिनकल्पिकपदवीसंपादयितुमिच्छता द्वादश वर्षाणि सूत्रग्रहणं कृतं, द्वादशवर्षाण्यर्थः समग्रोऽपि गृहीतः, अतो देशदर्शनेन विना किमस्य न सिद्ध्यतीत्युच्यते-

जइ वि पगासोऽहिगओ, देसीभासाजुओ तहा वि खलु ।
तह्हुय मिगा य वीसुं, परयामाइ य पच्चक्खं ॥

यद्यपि तेन प्रकाशोऽर्थः सूत्रस्याधिगतः सम्यगभिज्ञातः, तथापि खलु निश्चयेनासौ विनेयो देशदर्शनेन देशीभाषायुतः कर्तव्यः । कुतः ?, इत्याह-(तह्हुय इत्यादि) उक्तकामिति कथानम, (सिय त्ति) स्याच्छब्दो भवत्यर्थे, आशङ्कायां, भजनायां च । तत्र भवत्यर्थे सुप्रसिद्धः । आशङ्कायां यथा-" दव्वथओ भावथओ, दव्वथओ बहुगुणो त्ति बुद्धि सिया । " भजनायां यथा-" सिय तिभागो सिय तिभागतिभागो " इत्यादि । (वीसु त्ति) विष्वक्, पृथगित्यर्थः । परकाणुदृष्टा प्रत्यक्षेण इत्यर्थः । एते, आदिग्रहणात् पयः पिच्च नीरमित्यादयश्च शास्त्रप्रसिद्धाः शब्दाः, तेषु तेषु देशेषु लोकेन तथा तथा व्यवह्रियमाणा देशदर्शनं कुर्वता, प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षेण उपलभ्यन्त इति ।

आह-यद्यसौ तान् प्रत्यक्षतो नोपलभेत, ततः का नाम न्यूनता भवेत् ?, उच्यते-

जो वि पगासो बहुसो, गुणिओ पच्चक्खओ न उवलद्धो ।
जच्चंधस्स व चंदो, फुडो वि संतो तहा स खलु ॥

योऽपि प्रकाशोऽर्थो बहुशो गुणितः स्वभ्यस्तीकृतः, परं न प्रत्यक्षेण उपलब्धः, स जात्यन्धस्येव चन्द्रः स्फुटोऽपि सन् खल्वनवधारणे, तथैवास्फुट एव मन्तव्यः । इदमत्र हृदयम्-यथा चन्द्रः प्रकटोऽपि साक्षाद्दर्शनं विना जात्यन्धस्य न परिस्फुटाऽऽकारः प्रतिभासते, एवमस्यापि शास्त्रानुसारतः प्रकटा अपि प्रत्यक्षदर्शनमन्तरेण न परिस्फुटा व्यवहारोपयोगिनोऽर्थाः प्रतिभासन्ते ।

यतश्चैवं ततः-

आयरियत्तअजविण, भयणा जविओ परीइ नियमेणं ।
अप्पत्तंओं महुम्, उज्जयं किं वाऽऽरियं खेत्तं ? ॥

आचार्यपदस्याऽयोग्यत्वात्मन् भजनाऽर्थग्रहणानन्तरं देशदर्शनं कारितं वा, न वा, यस्तु भव्य आचार्यपदयोग्यः स नि-

यमेन पर्येति देशदर्शनाय पर्यटति। स चाऽऽत्मतुलीयो अचन्येना- ब्ययन्तया कृत्वा प्रेषणीयः । किं च-अभयमिति किमनुबद्धका- लप्रायोग्यमिदं क्षेत्रम्, उत वर्षावासयोग्यम् ?. तथा किमेतदार्थ सार्द्धपञ्चविंशतिजनपदमध्यवर्ति, आहोस्विदनार्यम् ?,एतत्सर्वम- पि देशदर्शनं विदधानो जानाति ।

अथ देशदर्शनस्यैव गुणान्तराभिधित्सया द्वारगाथामाह-

दंसणसोही थिरकरण, देस अइसेस जणवयपरिच्छा ।
काउ सुयं दायव्वं, अविणीयाणं विवेगो य ।।

देशदर्शनं कुर्वतो दर्शनशुद्धिरात्मनः, स्थिरीकरणं चान्येषां भवति । (देस त्ति) नानादेशभाषासु कौशलम्, अतिशेषा अतिशया जनपदपरीक्षा च जायते, तत एतानि दर्शनशुद्ध्या- दीनि कृत्वा विनीतेभ्यः श्रुतं दातव्यम् । अविनीतानां विवेकः परित्यागः कर्तव्य इति द्वारगाथासमासार्थः ।

अथ विस्तरार्थं विभणिषुराह-

जम्मणनिक्खमणेसु य, तित्थयराणं महाणुभावाणं ।
इत्थ किर जिणवराणं, आगाढं दंसणं होइ ।।

जन्मनिष्क्रमणशब्दाभ्यां तदाधारभूता भूमयो गृह्यन्ते, जन्म- भूमिषु अयोध्याऽऽदिषु, निष्क्रमणभूमिषु उज्जयन्ताऽऽदिषु, चश- ब्दाज्ज्ञानोत्पत्तिभूमिषु पुरिमतालाऽऽदिषु, निर्वाणभूमिषु स- म्मेतशैलचम्पाऽऽदिषु, तीर्थकराणां महानुभावानां सातिशया- चिन्त्यप्रभावानां सम्बन्धिनीषु विहरतोऽत्र किल भगवतां जि- नवराणां जन्म जज्ञेऽत्र तु भगवन्तो दीक्षां प्रतिपन्नाः, इह केवलज्ञानमासादितवन्तः, इह पुनः परिनिर्वृताः, एवं बहु- जनमुखेन श्रुत्वा स्वयं च दृष्ट्वा निःशङ्कितत्वभावादा- गाढमतीव विशुद्धं दर्शनं सम्यक्त्वं भवतीति। गतं दर्श- नद्वारम् ।

अथ स्थिरीकरणद्वारमाह-

संवेगं संविग्गण, जणए सुविहिओ सुविहियाणं ।
आउत्तो जुत्ताणं, विसुद्धलेस्सो सुलेस्साणं ।।

संविग्नानां साधूनां संवेगं जनयति-अहो ! अयं भव्याचार्योऽ- नवगाहितसमस्तसिद्धान्तसिन्धुरप्युद्यतचरणकरणसामाचारीक इत्थं देशदर्शनं करोतीति भावनायाः स्थिरीकरणं करोती- त्यर्थः । स्वयं सुविहितानामुपानस्तेषामपि सुविहितानां स्व- यमायुक्तो विकथानिद्राऽऽदिप्रमादैरप्रमत्तस्तेषामपि युक्ता- नामप्रमादिनां यश्च विशुद्धलेश्यः तेषामपि सुलेश्यानामि- ति । गतं स्थिरीकरणद्वारम् । अत्र विशेषचूर्णिकृता दर्शन- शुद्धिद्वारं विवृण्वतेयं गाथा गृहीता, संवेगस्य सम्यग्दर्श- नलक्षणत्वात् संवेगदर्शनेन शुद्धिः कृता भवतीति कृत्वा स्थि- रीकरणद्वारं तु सूत्रत एव नोपात्तं, द्वारगाथायामपि " दंसण- सोही देसप्पवेस अइसेस जणवयपरिच्छा।" इत्येव एव पाठो गृहीतः, अतस्तदभिप्रायेण गतं दर्शनशुद्धिद्वारम् ।

अथ देशप्रवेशद्वारं व्याचष्टे-

नाणादेसीकुसलो, नाणादेसीकयस्स सुत्तस्स ।
अभिलावे अत्थकुसलो, होइ तओऽणेण गंतव्वं ।।
कहयति अभासियाण वि, अब्भासिए आवि पव्वयावेइ ।
सव्वे वि तत्थ पीई, बंधंति सभासिओ णे त्ति ।।

पियधम्मऽवज्जभीरू, साहम्मियवच्छलो असढभावो ।
संविग्गावेइ परं, परदेसपवेसणे साहू ।।

नानाप्रकारा मगधमालवमहाराष्ट्रलाटकर्णाटद्रविडगौडवि- दर्भाऽऽदिदेशभवा या देशी भाषा, तस्यां कुशलः सन् नाना- देशीकृतस्य नानादेशभाषानिबद्धस्य सूत्रस्याऽभिलापे उच्चा- रणेऽर्थकथने च कुशलो भवति, यत एवं ततोऽनेन देशदर्श- नार्थं गन्तव्यम् ॥ तथा-तज्ज्ञः कुत्सार्थत्वात् कुत्सिता अव्यक्त- वर्णविभागा भाषा येषां तेऽभाषिकास्तेषामप्यसौ धर्मं कथयति, निःशेषदेशभाषानिष्णातत्वात् । अभाषिकाँश्चापि तद्देशभाषया प्रतिबोध्य प्रव्राजयति;सर्वेऽपि च शिष्यास्तत्राऽऽचार्ये प्रीतिं बध्न- न्ति,स्वभाषिको "णेऽस्माकमयमिति कृत्वा। तथा प्रियधर्मा धर्म- श्रद्धालुरवद्यं पापकर्म तस्माद्भीरुरवद्यभीरुः, साधर्मिकाः साधव- स्तेषां वत्सलो वत्सलो भक्तपानाऽऽदिना, भावतस्तु स्खलिता- ऽऽदिषु सारणाऽऽदिना, अशठभावो मातृस्थानरहितः, एवंवि- धोऽसौ साधुः परदेशप्रवेशने वर्तमानः परमन्यं संयमयोगेषु सीदन्तमपि संविग्नयति मधुरवचनदानाऽऽदिना संविग्नं क- रोतीति । गतं देशद्वारम्, देशप्रवेशद्वारं वा ।

अथातिशयद्वारमाह-

सुत्तत्थथिरीकरणं, अइसेसाणं च होइ उवलद्धी ।
आयरियदंसणेणं, तम्हा सेविज्ज आयरिए ।।

आचार्याणां दर्शनेन, सेवनेनेति यावत् । सूत्रार्थस्थिरीकरणम- तिशयानां च पूर्वाणामुपलब्धिः प्राप्तिर्भवति, यत एवं तस्माद् सेवेत पर्युपासीताऽऽचार्यान् ।

एतदेव व्याख्यानयति-

उज्जए निस्संकियाइं, पुव्विं से जाइँ पुच्छमाणस्स ।
होइ जओ सुत्तत्थे, बहुस्सुए सेवमाणस्स ।।

उभये सूत्रेऽर्थे च यानि पूर्वं (से) तस्य शङ्कितानि पदानि, तानि आचार्याणां समीपे पृच्छतो निःशङ्कितानि जायन्ते । एवं बहुश्रुतान् सेवमानस्य जयः सूत्रार्थविषयेऽर्थः सातिशयो भ- वति, अतो बहुश्रुतपर्युपासनं विधेयम् ।

अपि च-

भवियाऽऽरिय देसाणं, दंसणं कुणइ एस इय सोउं ।
अन्ने वि उज्जमंते, विणिक्खमंते य से पासे ।।

भव्याचार्य एष देशानां दर्शनं करोति इति श्रुत्वाऽन्येऽपि प- र्युपास्यमानाचार्यसम्बन्धिनः शिष्या उद्यच्छन्ते सूत्रार्थग्रहणाऽऽ- दावुद्यमं कुर्वन्ति गृहिणोऽपि च तद्गुणग्रामरञ्जितमनसो वि- निष्क्रामन्ति दीक्षां प्रतिपद्यन्ते । (से) तस्य भविष्यदाचार्य- स्य पार्श्वे इति ।

अतिशयानामुपलब्धिः कथं भवतीत्याह-

सुत्तत्थे अइसेसा, सामायारी य विज्जजोगाऽऽई ।
विज्जाजोगाइसुए, विसंति दुविहा अओ होंति ।।

इहातिशयास्त्रिविधास्तद्यथा-सूत्रार्थातिशयाः, सामाचार्यति- शयाः, विद्यायोगाः । आदिशब्दान्मन्त्राश्चेति त्रयोऽतिशयाः । तत्र विद्या स्त्रीदेवताऽधिष्ठिता, पूर्वसेवाऽऽदिप्रक्रियासाध्या वा, योगाः पादलेपप्रभृतयो गगनगमनाऽऽदिफलाः, मन्त्राः पुरुष- देवताः, पठितसिद्धा वा । यद्वा-विद्यायोगाः, आदिशब्दान्मन्त्रा- श्च श्रुते एव विशन्ति अन्तर्भवन्ति, अतो द्विविधा अति-

शया भवन्ति, तत्र सूत्रार्थातिशयाः सामाचार्यातिशयाश्चैव्येतेषामतिशयानामुपलम्भिः आचार्यपर्युपासनायां भवति ।

अथ सामाचार्यामतिशयं विभावयिषुराह–

णिक्खमणे य पवेसे, आयरियाणं महाणुभावाणं ।
सामायारीकुसलो, अ होइ गणसंपवेसेणं ॥

स देशदर्शनं कुर्वाणस्तेषु तेषु नगराऽऽदिषु बहुश्रुतानामाचार्याणां महानुभावानां संबन्धी यो गणो गच्छस्तन्मध्ये यः सम्यगेकीभावेनैकत्रावस्थानलक्षणेन प्रवेशस्तेन बहुशो गणान्तरेषु निष्क्रमणे प्रवेशे च सामाचारीकुशलो भवति ।

कथमित्याह–

आगंतुमाहुजाव–म्मि अविदिए धम्मसालमाइठिया ।
उप्पत्तियाउ थेरा, सामायारीउ ठाविंति ॥

आगन्तुकाः प्राघूर्णकाः, उपसंपन्ना वा, तेषां साधूनां भावेऽविदिते कीदृशोऽमीभिप्रायेणाऽऽगताः, के वाऽमी इत्यपरिज्ञाते केचित् स्थविरा आचार्या धान्यशालायामादिशब्दात् घृतशालाऽऽदिष्ववस्थिता औत्पत्तिकीरनुत्पन्नपूर्वाः सामाचारीः स्थापयन्ति ।

कथमित्याह–

सव्वे वि पडिग्गहए, दंसेउं नीह पिंडवायट्ठा ।
आहिमरमाइसंका, पडिलेहेउं व पविसंति ॥

ते आचार्याः पिण्डपातार्थं भिक्षानिमित्तं साधून् निर्गच्छतो भणन्ति–सर्वेऽपि प्रतिग्रहान् दर्शयित्वा निर्गच्छत, अदर्शितप्रतिग्रहैर्न गन्तव्यम् । कुत इत्थं कुर्वन्तीत्याह–आभिमराऽऽद्याशङ्कया मा कश्चिदभिमर उदायिनृपमारकवत् श्रमणवेषेणाऽऽगतो भवेत्, आदिग्रहणेन चौरो वा मा धान्याऽऽदिमोषणायाऽऽगतो भवेदित्याद्याशङ्कयाऽपूर्वा सामाचारीं स्थापयन्ति, भिक्षाप्रतिनिवृत्ता अपि च गुरूणां पुरतः सर्वं प्रत्युपेक्ष्य ततः प्रविशन्तीत्याभिमराऽऽदिभिः कारणैरिति । गतमतिशयद्वारम् ।

अथ जनपदपरीक्षाद्वारमाह–

सभे नदी तलागे, कूवे अइपूरए य नावे वाणीए ।
मंस फलपुप्फभोगी, वित्थिन्ने खेत्त कप्पविही ॥

स देशदर्शनं कुर्वन् जनपदानां परीक्षां करोति–कस्मिन् देशे कथं धान्यनिष्पत्तिः, तत्र कश्चिद्देशोऽभ्रैः सस्यं निष्पद्यते, वृष्टिपानीयैरित्यर्थः । यथा लाटविषये, क्वापि नदीपानीयैर्यथा सिन्धुदेशे, क्वचित्तु तडागजलैर्यथा द्रविडविषये, क्वापि कूपपानीयैर्यथोत्तरापथे, क्वचिदतिपूरकेण, यथा बन्नासायां पूराप्लाव्यमानायां तत्पूरपानीयभावितायां क्षेत्रभूमौ धान्यानि प्रकीर्यन्ते । (नावेत्ति) यत्र नावमारोप्य धान्यमानीतमुपभुज्यते, यथा काननद्वीपे, (वाणि त्ति) यत्र वाणिज्येनैव वृत्तिरुपजायते, न कर्षणेन, यथा मथुरायाम्, (मंस त्ति) यत्र दुर्भिक्षे समापतिते मांसेन कालोऽतिवाह्यते । तथा यत्र पुष्पफलभोगी प्राचुर्येण लोको, यथा कोङ्कणाऽऽदिषु, तथा कानि विस्तीर्णानि क्षेत्राणि, कानि वा संकटानि (कप्पे त्ति) कस्मिन् क्षेत्रे कः कल्पो यथा सिन्धुविषयेऽनिमिषाऽऽद्याहारा अगर्हिताः । (विहि त्ति) कस्मिन् देशे कीदृशः समाचारो यथा सिन्धुषु रजकः संभोज्यो, महाराष्ट्रविषये कल्पपाला अपि संभोज्या इति ।

अपि च–

सज्झायसंजमहिए, दाणाइसमाउले सुलभवित्ती ।
कालुभयहिए खित्ते, जाण पडिणीयरहिए य ॥

स्वाध्यायहितं यत्राऽऽत्मके सूत्रार्थपौरुष्यौ भवतः, संयमहितं स्त्रीदोषरहितमनार्यजनरहिताऽऽदि वा । (दाणाइ त्ति) दानश्राद्धादिग्रहणादभिगमश्राद्धैर्वा समाकुलम् । अत एव सुलभा सुप्रापा वृत्तिर्हेतुराहारस्य संपत्तिर्यत्र तत् सुलभवृत्तिकं, तथा किमिदमागन्तुकभद्रकम्, उत वास्तव्यभद्रकमित्याद्युपलक्षणाद् द्रष्टव्यम् । (कालुभयहिए खित्ते त्ति) अमूनि वर्षावासप्रायोग्याणि, अमूनि तु ऋतुबद्धकालयोग्यानि, इत्युभयकालहितानि क्षेत्राणि जानाति, तथा प्रत्यनीकः साध्वादीनामुपद्रवकारी तद्रहितानि च क्षेत्राणि सम्यग् जानातीति । गतं जनपदपरीक्षाद्वारम् । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

देसधम्म–देशधर्म–पुं० । देशाऽऽचारे, देशधर्मो देशाऽऽचारः । स च प्रतिनियत एव नेपथ्याऽऽदिभेदलिङ्ग इति । दश० १ अ० ।

देसप्पंत–देशप्रान्त–पुं० । देशस्य शेषसीमायाम्, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

देसबंध–देशबन्ध–पुं० । देशतो देशापेक्षया बन्धः । बन्धभेदे, भ० ८ श० ६ उ० ।

देसभासा–देशभाषा–स्त्री० । मालवमहाराष्ट्राऽऽदिप्रसिद्धभाषायाम्, बृ० ६ उ० । पुरुषद्वासप्ततिकलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

देसय–देशक–पुं० । देशयतीति देशकः । उपदेष्टरि, आ० म० १ अ० १ खण्ड । आव० ।

देसवासी–देशवर्तिन्–पुं० । देशे आत्मनो वा देशेन वर्ततीति देशवर्ती । एकदेशमात्रे वर्तनशीले, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

देसविअप्पकहा–देशविकल्पकथा–स्त्री० । देशकथाभेदे, स्था० । (व्याख्या ' देसकहा ' शब्देऽनुपदमेव गता)

देसविण्णाण–देशविज्ञान–न० । विविधमण्डलेषु सञ्चरतो विचित्रलोकलोकोत्तरव्यवहारज्ञाने, पञ्चा० १७ विव० ।

देसवित्थाराणंतय–देशविस्तारानन्तक–न० । एक आकाशप्रतरः सर्वविस्तारानन्तकसर्वाऽऽकाशास्तिकाय इत्येवंरूपेऽनन्तभेदे, स्था० १० ठा० ।

देसविरइ–देशविरति–स्त्री० । देशः प्राणातिपाताऽऽदेः, एकदेशस्तु स्थूलसंकल्पनाऽऽदिः, तद्विषयं विरतिर्यस्यां निवृत्तौ सा देशविरतिः । विशे० । अणुव्रतादिप्रतिपत्तिपरिणामे, पञ्चा० १० विव० । देशविरतिसम्यक्त्वधारिणो द्वादशदेवलोके यान्ता भवेति प्रश्ने, उत्तरम्–द्वादशदेवलोके याता इत्यक्षराणि पञ्चाशकवृत्तौ च सन्तीति । ७५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

देसविरइगुणट्ठाण–देशविरतिगुणस्थान–न० । देशविरता एकद्व्याद्यणुव्रतधरभेदाः श्रावकाः, तेषां गुणस्थानम् । आव० ५ अ० । श्रावकसम्बन्धिगुणस्थाने, प्रव० । तथा सर्वसावद्ययोगस्य देशे एकव्रतविषयस्थूलसावद्ययोगाऽऽदौ सर्वव्रतविषयानुमतिवर्जसावद्ययोगात् विरतिर्यस्याऽसौ स देशवि-

रतः, सर्वसावद्ययोगविरतिस्तस्य नास्ति, प्रत्याख्यानाऽऽवरणकषायोदयात् सर्वविरतिरूपं हि प्रत्याख्यानमावृण्वन्तीति-प्रत्याख्यानाऽऽवरणा उच्यन्ते, इति देशविरतः, तस्य गुणस्थानं देशविरतगुणस्थानम् । प्रव० २२ द्वार । कर्म० । पं० सं० । दर्श० ।

देसविरइसामाइय-देशविरतिसामायिक-न० । देशविरतिलक्षणस्वरूपेण सामायिकमिति । सामायिकभेदे, अस्य पर्यायाः-"विरयाविरई संवुडमसंवुडे बालपंडिए चेव देसिक्कदेसविरई अणुधम्मो य ।" विशे० । आ० म० (एषां पदानां व्याख्या तत्तच्छब्दे) (वक्तव्यता सर्वैव 'सामाइय' शब्दे द्रष्टव्या)

देसविराहय-देशविराधक-पुं० । देशं स्तोकमंशं ज्ञानाऽऽदित्रयरूपस्य मोक्षमार्गस्य तृतीयभागरूपं चारित्रं विराधयति । प्राप्तस्य चारित्रस्यापालनादप्राप्तेर्वा देशमात्रस्य विराधके, भ० ८ श० १ उ० ।

देसविरुद्ध-देशविरुद्ध-न० । तत्तद्देशीयशिष्टैरनाचीर्णे, ध० । तत्र यद्यत्र देशे शिष्टजनैरनाचीर्णं तत्तत्र देशविरुद्धम् । यथा-सौवीरेषु कृषिकर्मेत्यादि । अथवा जातिकुलाऽऽद्यपेक्षयाऽनुचितं देशविरुद्धं, यथा ब्राह्मणस्य सुरापानमित्यादि । ध० २ अधि० ।

देसविहिकहा-देशविधिकथा-स्त्री० । देशकथाभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ० । (व्याख्या 'देसकहा' शब्देऽनुपदमेव गता)

देससंका-देशशङ्का-स्त्री० । देशविषये जीवाऽऽद्यन्यतमपदार्थैकदेशगोचरे शङ्काभेदे, प्रव० ६ द्वार । यथाऽस्ति जीवः केवलं सर्वगतोऽसर्वगतो वा सप्रदेशोऽप्रदेशो वेति शङ्का देशविषया, जीवाऽऽद्यन्यतमपदार्थैकदेशगोचरेत्यर्थः । प्रव० ६ द्वार । नि० चू० ।

देससाहणणबंध-देशसंहननबन्ध-पुं० । देशेन देशस्य संहननलक्षणो बन्धः संबन्धः शकटाङ्गाऽऽदीनामिव । देशसंहननबन्धभेदे, भ० ८ श० ९ उ० ।

देसादायारलंघण-देशाऽऽद्याचारलङ्घन-न० । जनपदग्रामकुलप्रभृतिसमाचारातिक्रमे, पञ्चा० ४ विव० ।

देसाराहय-देशाऽऽराधक-पुं० । सम्बोधरहितत्वात्क्रियापरत्वाद् देशं स्तोकमंशं मोक्षमार्गस्याऽऽराधयति । देशमात्राऽऽराधके, भ० ८ श० १ उ० ।

देसावगासिय-देशावकाशिक-न० । देशे दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य विभागोऽवकाशोऽवस्थानमवतारो विषयो यस्य तद्देशावकाशं, तदेव देशावकाशिकम् । दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य प्रतिदिनं संक्षेपकरणलक्षणे, सर्वव्रतसंक्षेपकरणलक्षणे वा । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

तयाणंतरं च णं देसावगासियस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा-आणवणप्पओगे १, पेसवणप्पओगे २, सद्दाणुवाए ३, रूवाणुवाए ४, बहिया पोग्गलपक्खेवे ५ । उपा० १ अ० । आव० । आ० चू० । सूत्र० । पञ्चा० ।

श्रावकस्य द्वितीयशिक्षाव्रते, आ० । ध० २० । ध० ।

६५७

अधुना देशावकाशिकव्रतातिचारानाह-

प्रेषणानयने शब्द-रूपयोरनुपातने ।
पुद्गलप्रेरणं चेति, मता देशावकाशिके ॥ ५६ ॥

प्रेषणं चाऽऽनयनं चेति प्रेषणानयने, शब्दश्च रूपं चैतयोरनुपातनेऽवतारणे, शब्दानुपातो रूपानुपातश्चेत्यर्थः । पुद्गलप्रेरणं चेति पञ्चातिचारा देशावकाशिके देशावकाशिकनाम्नि व्रते ज्ञेयाः । अयं भावः-दिग्व्रतविशेष एव देशावकाशिकव्रतम् । इयांस्तु विशेषः-दिग्व्रतं यावज्जीवं संवत्सरचतुर्मासीपरिमाणं वा, देशावकाशिकं तु दिवसप्रहरमुहूर्ताऽऽदिपरिमाणं, तस्य च पञ्चातिचाराः । तद्यथा-प्रेषणं भृत्यादेर्विवक्षितक्षेत्राद् बहिः प्रयोजनाय व्यापारणम्, स्वयं गमने हि व्रतभङ्गः स्यादिति अन्यस्य प्रेषणम्, देशावकाशिकव्रतं मा भूद्गमनागमनाऽऽदिव्यापारजनितप्राण्युपमर्द इत्यभिप्रायेण गृह्यते, स तु स्वयं कृतोऽन्येन वा कारित इति न कश्चित्फले विशेषः, प्रत्युत स्वयं गमने ईर्यापथविशुद्धेर्गुणः, परस्य पुनरनिपुणत्वादीर्यासमित्यभावे दोष इति प्रथमोऽतिचारः । १ । आनयनं विवक्षितक्षेत्राद् बहिः स्थितस्य सचेतनाऽऽदिद्रव्यस्य विवक्षितक्षेत्रे प्रापणं सामर्थ्यात्प्रेष्येण, स्वयं गमने हि व्रतभङ्गः स्यात्, परेण त्वानयने न भङ्ग इति बुद्ध्या यदाऽऽनाययति सचेतनाऽऽदि द्रव्यं तदाऽतिचार इति द्वितीयः । २ । शब्दस्य क्षुत्कासिताऽऽदेरनुपातनं श्रोत्रेऽवतारणं शब्दानुपातनं, यथा विहितस्वगृहवृतिप्राकाराऽऽदिव्यवच्छिन्नभूप्रदेशाभिग्रहः प्रयोजने उत्पन्ने विवक्षितक्षेत्राद् बहिर्व्रतभङ्गभयात्स्वयं गन्तुं बहिः स्थितं चाऽऽह्वातुमशक्नुवन् वृतिप्राकाराऽऽदिप्रत्यासन्नवर्तीभूय कासिताऽऽदिशब्दं स आह्वानीयानां श्रोत्रेऽनुपातयति, ते च तच्छ्रवणात्तत्समीपमागच्छन्तीति शब्दानुपातननामातिचारस्तृतीयः । ३ । एवं रूपानुपातनं, यथा रूपं शरीरसंबन्धि उत्पन्नप्रयोजनः शब्दमनुच्चारयन्नाह्वानीयानां दृष्टावनुपातयति, तद्दर्शनाच्च तत्समीपमागच्छन्तीति रूपानुपातनाऽऽख्योऽतिचारश्चतुर्थः । ४ । तथा पुद्गलाः परमाणवस्तत्सङ्घातसमुद्भवा बादरपरिणामं प्राप्ता लोष्टाऽऽदयोऽपि तेषां प्रेरणं क्षेपणं विशिष्टदेशाभिग्रहे हि सति कार्यार्थी परगृहगमननिषेधाद्यदा लोष्टकान् परेषां बोधनाय क्षिपति, तदा लोष्टनिपातसमनन्तरमेव ते तत्समीपमनुधावन्ति, ततश्च तान् व्यापारयतः स्वयमगच्छतोऽप्यतिचारो भवतीति पञ्चमः । ५ । इह चाऽऽद्यद्वयमव्युत्पन्नबुद्धित्वेन सहसाकाराऽऽदिना वा, अन्त्यत्रयं तु मायापरतयाऽतिचारतां यातीति विवेकः । इहाऽऽहुर्वृद्धाः-दिग्व्रतसंक्षेपकरणमणुव्रताऽऽदिसंक्षेपकरणस्याप्युपलक्षणं द्रष्टव्यं, तेषामपि संक्षेपस्यावश्यंकर्तव्यत्वात् । अत्राऽऽह-ननु अतिचाराश्च दिग्व्रतसंक्षेपकरणस्यैव श्रूयन्ते, न व्रतान्तरसंक्षेपकरणस्य, तत्कथं व्रतान्तरसंक्षेपकरणं देशावकाशिकव्रतमिति ? । अत्रोच्यते-प्राणातिपाताऽऽदिव्रतान्तरसंक्षेपकरणेषु वधबन्धाऽऽदय एवातिचाराः, दिग्व्रतसंक्षेपकरणे तु संक्षिप्तत्वात्क्षेत्रस्य प्रेष्यप्रयोगाऽऽदयोऽतिचारा भिन्नातिचारसंभवाच्च दिग्व्रतसंक्षेपकरणस्यैव देशावकाशिकत्वं साक्षादुक्तम् ॥ ५६ ॥ इत्युक्ता देशावकाशिकव्रतातिचाराः । ध० २ अधि० । संपूर्णदिवसे देशावकाशिकं क्रियते, तत्रोच्चारणपारणविधिर्लिखनीयः, तथा तत्र सामायिकं गृहीतं पारितं च शुद्ध्यति, न वा, तथा देशावकाशिकेन सह सामायिकमुच्चरति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-देशावकाशिकोच्चारणविधिः-"दे-

सावगासिअं पच्चक्खामि " इत्यादिको दृश्यते, परं पारणविधिर्ज्ञातो नास्ति, तथा देशावकाशिकमध्ये सामायिकस्य ग्रहणं पारणं च शुद्ध्यति, तेन सह सामायिकग्रहणमपि शुद्ध्यतीति । ४२७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

देसाहिवइ–देशाऽधिपति–पुं० । देशाऽऽरक्षिके, देशस्याधिपतिके वा । बृ० ४ उ० । स्था० ।

देसि–देशिन्–त्रि० । देशवति, अवयविनि, विशे० ।

देसिक्कदेसविरय–देशैकदेशविरत–पुं० । श्रावके, आतु० । षण्णां पृथिव्यादिकायानां षड्जीवत्वात् देशस्त्रसकायव्यपरोपणलक्षणः, तस्यापि संकल्पजाऽऽरम्भजत्वेन द्विभेदत्वादेकदेशः संकल्पजत्रसविनाशनिवृत्तिरूपः पुनस्तस्यापि सापराधनिरपराधभेदद्वयेन द्विप्रकारत्वादत्र निरपराधसंकल्पजत्रसजीवविनाशनिवृत्तिरूपो देशैकदेशस्तेन स्वयं हननघातनाद्विरतो निवृत्तो देशविरतः ॥ आतु० ।

देसिगणि–देशगणि–पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, " तत्तो अ थिरचरित्तं, उत्तमसम्मत्तसत्तसंजुत्तं । देसिगणखमासमणं, माढरगुत्तं नमंसामि " ॥ ११ ॥ कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

देसितव–देशितवत्–त्रि० । प्रकाशिते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

देसिता–देशित्वा–अव्य० । कथयित्वेत्यर्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

देसिय–देशिक–पुं० । देशनं देशः कथनं, सोऽस्यास्तीति देशिकः । गुरौ, उपदेष्टरि, आ० म० १ अ० १ खण्ड । विशे० । दश० । देशयतीति देशिकः । अग्रयायिनि, आव० ५ अ० । बृहत्क्षेत्रव्यापिनि, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

देशित–त्रि० । उपदिष्टे, कथिते, विशे० । आव० । पा० । जी० ।

दैवसिक–त्रि० । दिवसयाते, "देसियं च अईआरं, चिंतिज्ज अणुपुव्वसो ।" उत्त० २६ अ० ।

देसिल्लग–देशीय–त्रि० । देशोद्भवे, बृ० ३ उ० । यथा पाण्डुवर्णकम । नि० चू० १६ उ० ।

देसीतो–देशीतस्–अव्य० । देशीभाषामाश्रित्येत्यर्थे, बृ० २ उ० ।

देसीनाममाला–देशीनाममाला–स्त्री० । देशीभाषानामकोषे, रा० ।

देसीपोरपमाण–देशीपर्वप्रमाण–त्रि० । अङ्गुष्ठपर्वपरिमितमुष्टिप्रमाणे, देशीशब्दस्याऽङ्गुष्ठवाचकत्वात् । व्य० ८ उ० । नि० चू० ।

देसीभासा–देशीभाषा–स्त्री० । देशप्रसिद्धाऽपभ्रंशभाषायाम, आ० चू० १ अ० । आचा० ।

देसेय–देशैजस्–त्रि० । देशैश्चले (देशैजा देशतश्चलाः) भ०२५ श० ४ उ० ।

देसोहि–देशावधि–पुं० । देशप्रकाशके अवधिज्ञाने, स० ।

देह–देह–पुं० । न० । ' दिह ' उपचये, देहः । आहारपरिणामजनितोपचये शरीरे, अनु० । उत्त० । आव० । विशे० । प्रव० । आ० चू० । आ० म० । स्था० । पिशाचनामभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

देहंबलिया–देहबलिका–स्त्री० । अनुस्वारो नैपातिकः । देहबलमित्यस्याऽऽख्याने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । भिक्षावृत्तौ, देहंबलिका नाम भिक्षावृत्तिः । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

देहणी–देशी–पङ्के, दे० ना० ५ वर्ग ४८ गाथा ।

देहदुब्बलदोस–देहदुर्बलदोष–पुं० । संहननदुर्बले, पं० चू० ।

देहपरिणाम–देहपरिणाम–पुं० । प्रतिविशिष्टायां शरीरशक्तौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

देहपलोयण–देहप्रलोकन–न० । आदर्शाऽऽदौ देहदर्शने, दश० ३ अ० ।

देहबल–देहबल–न० । संहननजनिते शरीरसामर्थ्ये, बृ० ३ उ० ।

देहबलिया–देहबलिका–स्त्री० । भिक्षावृत्तौ, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

देहमाण–प्रेक्षमाण–त्रि० । पश्यति, " दिट्ठीए देहमाणे देहमाणे चिट्ठइ । " भ० ९ श० ३३ उ० । सूत्र० ।

देहली–देहली–स्त्री० । द्वारशाखाप्रान्ते अधःखण्डे, आ० म० २ अ० ।

देहविभूसा–देहविभूषा–स्त्री० । स्नानाऽऽदिरूपायां देहपरिष्क्रियायाम, बृ० १ उ० ।

देहविमुक्क–देहविमुक्त–पुं० । सिद्धे, भ० ८ श० २ उ० ।

देहव्वावि–देहव्यापिन्–पुं० । शरीरमात्रव्यापके आत्मनि, द्वा० ४ अ० ।

देहसमाहि–देहसमाधि–पुं० । शरीरसमाधाने, पं० व० ४ द्वार ।

देहसहाव–देहस्वभाव–पुं० । शरीरस्वरूपे, व्य० ५ उ० ।

देहादिणिमित्त–देहाऽऽदिनिमित्त–न० । शरीरगृहपुत्रकलत्रप्रभृत्यर्थे, पञ्चा० ४ विव० ।

देहि–देहिन्–पुं० । आत्मनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

दो–द्वौ–पुं० । " द्वेः दो वे " ॥ ८ । ३ । ११९ ॥ द्विशब्दस्य प्रथमायां द्विवचने संस्कृते–द्वौ । प्राकृते–'दो' इति । प्रा० ३ पाद ।

दोआल–देशी–वृषभे, दे० ना० ५ वर्ग ४९ गाथा ।

दोइ–दोइ–अव्य० । ' दो ' इति निपातो विकल्पार्थे, " दोइ सिणेह उवालब्भं । " बृ० ३ उ० ।

दोकिरिय–द्वैक्रिय–पुं० । द्वे क्रिये समुदिते द्विक्रियं, तदधीयते तद्वेदिनो वा द्वैक्रियाः । कालाभेदेन क्रियाद्वयानुभवप्ररूपकेषु गङ्गाचार्यप्रवर्तितेषु पञ्चमनिह्नवेषु, स्था० ७ ठा० ।

तदुत्पत्तिकथना–

अट्ठावीसा दो वा–ससया 'तइया' सिद्धिं गयस्स वीरस्स ।
दोकिरियाणं दिट्ठी, उल्लुगतीरे समुप्पन्ना ॥ २४२४ ॥

अष्टाविंशत्यधिके द्वे वर्षशते तदा सिद्धिं गतस्य श्रीमन्महावीरस्यान्तरे द्वैक्रियनिह्नवानां दृष्टिरुल्लुकातीरे समुत्पन्नेति ॥ २४२४ ॥

कथं पुनरियमुत्पन्ना ?, इत्याह–

नइखेडजणवउल्लुग, महागिरि धणगुत्त अज्जगंगे य ।
किरिया दो रायगिहे, महातवातीरमणिनाए ॥२४२५॥

उल्लुका नाम नदी, तदुपलक्षितो जनपदोऽप्युल्लुका । उल्लुकानद्याश्चैकस्मिंस्तीरे धूलिप्राकाराऽऽवृतनगरविशेषरूपं खेटस्थानमासीत्, द्वितीये तु उल्लुकातीरं नाम नगरम्, अन्ये त्वा·

ह्नुः-एतद्दोल्लुकातीरं धूलीप्राकाराऽऽवृतत्वात्खेटमुच्यते, तत्र च महागिरिशिष्यो धनगुप्तो नाम, अस्यापि शिष्य आर्यगङ्गो नामाऽऽचार्यः । अयं च नद्याः पूर्वतटे, तदाचार्यास्त्वपरतटे । ततोऽन्यदा शरत्समये सूरिवन्दनार्थं गच्छन् गङ्गो नदीमुत्तरति, स च खल्वाटः । ततस्तस्योपरिष्टादुष्णेन दह्यते खल्ली । अधस्तात्तु नद्याः शीतलजलेन शैत्यमुत्पद्यते, ततोऽत्रान्तरे कथमपि मिथ्यात्वमोहनीयोदयादसौ चिन्तितवान्-अहो ! सिद्धान्ते युगपत्क्रियाद्वयानुभवः किल निषिद्धोऽहं त्वेकस्मिन्नेव समये शैत्यमौष्ण्यं च वेदयामि, अतोऽनुभवविरुद्धत्वान्नेदमागमोक्तं शोभनमाभातीति विचिन्त्य गुरुभ्यो निवेदयामास । ततस्तैर्वक्ष्यमाणयुक्तिभिः प्रज्ञापितोऽसौ । यदा च स्वाग्रहग्रस्तबुद्धित्वान्न किञ्चित्प्रतिपद्यते, तदा उद्घाट्य बाह्यः कृतो विहरन् राजगृहनगरमागतः, तत्र च महातपस्तीरप्रभवनाम्नि प्रश्रवणे मणिनागनाम्नो नागस्य चैत्यमस्ति । तत्समीपे च स्थितो गङ्गः पर्षत्पुरःसरं युगपत्क्रियाद्वयवेदनं प्ररूपयति स्म । तच्च श्रुत्वा प्रकुपितो मणिनागस्तमवादीत्-अरे दुष्ट शिक्षक ! किमेवं प्रज्ञापयसि ?, यतोऽत्रैव प्रदेशे समवसृतेन श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिना एकस्मिन् समये एकस्या एव क्रियाया वेदनं प्रकाशितम्, तच्चेहस्थितेन मयाऽपि श्रुतम्, तत्किं ततोऽपि लष्टतरः प्ररूपको जातो, येनैवं युगपत्क्रियाद्वयवेदनं प्ररूपयसि ?। तत्परित्यज चैनां कूटप्ररूपणाम्, अन्यथा नाशयिष्यामि त्वाम् । इत्यादितदुदितभयवाक्यैर्युक्तिवचनैश्च प्रबुद्धोऽसौ मिथ्यादुष्कृतं दत्त्वा गुरुमूलं गत्वा प्रतिक्रान्त इति ॥ २४२५ ॥

अत्र भाष्यम्-

नइमुल्लुगमुत्तरओ, सरए सीयजलमज्जगंगस्स ।
सूराभितत्तसिरसो, सीउसिणवेयणोभयओ ॥२४२६॥
लग्गोऽयमसग्गाहो, जुगवं उभयकिरिओवओगो त्ति ।
जं दो वि समयमेव य, सीउसिणवेयणाओ मे ॥२४२७॥

गतार्थे, नवरमार्यगङ्गस्य लग्नोऽयमसद्ग्राहो यदुत-युगपत्क्रियाद्वयसंवेदनोपयोगोऽस्ति, यद्यस्मात् मे मम द्वे अपि शीतोष्णवेदने समकालमेव स्तः । प्रयोगश्चात्र-युगपदुभयक्रियासंवेदनमस्ति, अनुभवसिद्धत्वात्, मम पादशिरोगतशीतोष्णक्रियासंवेदनवदिति ॥ २४२६ । २४२७ ॥

एवं गङ्गेनोक्ते किमभूदित्याह-

तरतमजोगेणायं, गुरुणाऽभिहिओ तुमं न लक्खेसि ।
समयाइसुहुमयाओ, मणोऽतिचलसुहुमयाओ य ॥२४२८॥

गुरुणाऽभिहितोऽसौ-हन्त ! योऽयं युगपत्क्रियाद्वयानुभवस्त्वया गीयते, स तरतमयोगेन क्रमेणैव भवतः संपद्यते, न युगपत्, परं तदपि क्रमभवनमस्य त्वं न लक्षयसि, समयावलिकाऽऽदेः कालस्य सूक्ष्मत्वात्, तथा मनसश्चातिचलत्वेनातिसूक्ष्मत्वेनाऽऽशुसंचारित्वादिति । तस्मादनुभवसिद्धत्वादित्यसिद्धोऽयं हेतुरिति ॥ २४२८ ॥

हेत्वसिद्धिमेव भावयति-

सुहुमासुचरं चित्तं, इंदियदेसेण जेण जं कालं ।
संबज्झइ तं तम्मि-त्तनाणहेउ त्ति नो तेण ॥ २४२९ ॥
उवलभए किरियाओ, जुगवं दो दूरभिन्नदेसाओ ।
पायसिरोगयसीउ-ण्हवेयणाऽणुभवरूवाओ ॥२४३०॥

सूक्ष्मम् आशुचरं च चित्तं मनः, तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मातीन्द्रियपुद्गलस्कन्धनिर्वृत्तत्वादाशुचरं तु शीघ्रसंचरणशीलत्वात् । ततश्च तदेवंभूतं चित्तं येन येन कायाऽऽद्याकारस्पर्शनाऽऽदिद्रव्येन्द्रियसंबन्धिना देशेन सह यस्मिन् काले संबध्यते संयुज्यते तस्मिन् काले तस्य तन्मात्रज्ञानहेतुर्भवति-येन स्पर्शनाऽऽदिद्रव्येन्द्रियदेशेन संबध्यते तज्जन्यस्यैव शीताऽऽदिविषयस्योष्णाऽऽदिविषयस्य वा एकतरविज्ञानस्य हेतुर्जायते, न तु येनेन्द्रियदेशेन सह तत्काले स्वयं तत्र संबद्धं तज्जन्यज्ञानस्यापि हेतुरित्यर्थः । इतिशब्दो वाक्यसमाप्त्यर्थः । यत एवं, तेन कारणेन नो नैव दूरभिन्नदेशे द्वे क्रिये कोऽपि युगपदुपलभते संवेदयते इति संबन्धः । कथंभूते द्वे क्रिये इत्याह-पादशिरोगतशीतोष्णवेदनयोरनुभवनमनुभवस्तद्रूपे तदात्मके । अत्र प्रयोगः-इह पादशिरोगतशीतोष्णवेदने युगपन्न कोऽपि संवेदयते, भिन्नदेशत्वाद्विन्ध्यहिमवच्छिखरस्पर्शनक्रियाद्वयवदिति, अनुभवसिद्धत्वात्, इत्यसिद्धोऽयं हेतुरिति ॥ २४२९ । २४३० ॥

किञ्च-

उवओगमओ जीवो, उवउज्जइ जेण जम्मि जं कालं ।
सो तम्मओवओगो, होइ जहिंदोवओगम्मि ॥२४३१॥

उपयोगेनैव केवलेन निर्वृत्त उपयोगमयो जीवः । ततः स येन केनापि स्पर्शनाऽऽदीन्द्रियदेशेन करणभूतेन यस्मिन् शीतोष्णाऽऽद्यन्यतरविषये (जं कालं ति) यस्मिन् काले उपयुज्यते सावधानो भवति तन्मयोपयोगो भवति-यत्र शीताऽऽद्यन्यतरार्थे उपयुक्तस्तन्मयोपयोग एव भवति, नान्यथोपयुक्त इत्यर्थः । उदाहरणमाह-(जहिंदोवओगम्मि त्ति) यथा इन्द्रोपयोगे वर्तमानो माणवकस्तन्मयोपयोग एव भवति, न पुनरर्थान्तरमयोपयोगः । इदमत्र तात्पर्यम्-एकस्मिन्काले एकत्रैवार्थे उपयुक्तो जीवः संभवति, न त्वर्थान्तरे, पूर्वोक्तसाङ्कर्याऽऽदिदोषप्रसङ्गात् । ततश्च युगपत्क्रियाद्वयोपयोगानुभवोऽसिद्ध एवेति ॥ २४३१ ॥

एकस्मिन्नर्थे उपयुक्तः किमित्यर्थान्तरेऽपि नोपयुज्यते ?, इत्याह-

सो तदुवओगमत्तो-वउत्तसत्ति त्ति तस्समं चेव ।
अत्थंतरोवओगं, जाउ कहं केण वंसेण ? ॥ २४३२ ॥

स जीवः (तदुपओगमेत्तोवउत्तसत्ति त्ति) तस्य विवक्षितकार्यस्योपयोगस्तदुपयोगः, स एव तन्मात्रं तत्रोपयुक्ता व्यापृता निष्ठां गता शक्तिर्यस्य स तदुपयोगमात्रोपयुक्तशक्तिरिति कृत्वा कथं तत्समकालमेवार्थान्तर उपयोग यातु ?, न कथंचिदित्यर्थः, साङ्कर्याऽऽदिप्रसङ्गात् । किं च-सर्वैरपि स्वप्रदेशैरेकस्मिन्नर्थे उपयुक्तो जीवः केनोद्धरितेनांशेनार्थान्तरोपयोगं व्रजतु ?। नास्त्येव हि स कश्चिदुद्धरितोंऽशो येन तत्समकमेवार्थान्तरोपयोगमसौ गच्छेदिति भावः ॥२४३२॥

यदि समकालमेव क्रियाद्वयोपयोगो न भवति, तर्हि कथं तमहं संवेदयामि ?, इत्याशङ्कयाऽऽह-

समयाइसुहुमयाओ, मन्नसि जुगवं च भिन्नकालं पि ।
उप्पलदलसयवेहं, व जह व तदलायचक्कं ति ॥२४३३॥

समयावलिकाऽऽदिकालकृतविभागस्य सूक्ष्मत्वाद् भिन्नकालमपि कालविभागेन प्रवृत्तमपि क्रियाद्वयसंवेदनमुत्पलपत्रशतवेधवद्युगपत्प्रवृत्तमिव मन्यसे त्वम् । न हि उत्पलपत्रशतमौत्तराधर्येण व्यवस्थापितं सुतीक्ष्णयाऽपि सूच्या एकेन समयेना-

ऽपि च वेधकर्त्ता समकालमेव विध्यते, किं तु कालभेदेन, उपर्युपरितने अविद्धेऽधोऽधोवर्तिनः पत्रस्य वेधायोगात्, अथ च वेधकर्त्ता युगपद्विद्धमिव वेधं मन्यते, तद्वेधनकालभेदस्य सूक्ष्मत्वेन दुर्लक्ष्यत्वात्। यथा वा तत्प्रसिद्धमलातचक्रं कालभेदेन दिक्षु भ्रमदपि भ्रमणकालभेदस्य सूक्ष्मत्वेन दुरवगमत्वान्निरन्तरभ्रमणमेव लक्ष्यते, एवमिहापि शीतोष्णक्रियानुभवकालभेदस्य सूक्ष्मत्वेन दुरवसेयत्वाद्युगपदिव तदनुभवं मन्यते भवानिति ॥ २४३३ ॥

मनोऽपि शिरःपादाऽऽदिभिः स्पर्शनेन्द्रियदेशैरिन्द्रियान्तरैश्च युगपन्न संबध्यते, किं तु क्रमेणैव, केवलमाशुचारित्वेन सूक्ष्मत्वेन च तस्य क्रमसंबन्धो न लक्ष्यत इति दर्शयन्नाह-

चित्तं पि नेंदियाइं, समेइ सममह य खिप्पचारि त्ति ।
समयं व सुक्कसक्कुलि-दसणे सव्वोवलद्धि त्ति ॥२४३४॥

चित्तमपि च नैवेन्द्रियाणि, सममेव समेति-मनोऽपि नैवेन्द्रियैः सह युगपत्संबध्यते इत्यर्थः। उपलक्षणत्वाच्चाऽपि शिरःपादाऽऽदिभिः स्पर्शनेन्द्रियदेशैर्युगपत्संबध्यते, अथ च क्षिप्रचारि शीघ्रसंचरणशीलं तदिति कृत्वा समकमिव युगपदिव सर्वत्र संबद्धं लक्ष्यते इति शेषः। दृष्टान्तमाह-(समयं वेत्यादि) समयं वेत्येतदनन्तरं योजितमप्यावृत्त्या पुनरपीह योज्यते। तत्र वाशब्दो यथार्थे, यथाशब्दश्च दृष्टान्तोपन्यासार्थे। यथा-शुष्कशष्कुलिकादशने सर्वेषामपि शष्कुलिकागतरूपरसगन्धस्पर्शशब्दानामुपलब्धिः सर्वोपलब्धिरसमकं प्रवृत्ताऽपि समकं लक्ष्यते, तथाऽत्रापि मनः शिरःपादाऽऽदिभिःस्पर्शनेन्द्रियदेशैरिन्द्रियान्तरैश्च क्रमेण संबध्यमानमपि युगपत् संबध्यमानं लक्ष्यत इत्यर्थः। इदमत्र हृदयम्-इह दीर्घां शुष्कां च शष्कुलिकां कस्यचिद्भक्षयतस्तद्रूपं चक्षुषा वीक्ष्यमाणस्य रूपज्ञानमुत्पद्यते, तद्गन्धं च घ्राणेनाऽऽजिघ्रतो गन्धज्ञानम्, तद्रसं च रसनया आस्वादयतो रसज्ञानं, तत्स्पर्शं च स्पर्शनेन वेदयतः स्पर्शज्ञानं, चर्वणोत्थं तच्छब्दं च शृण्वतः शब्दज्ञानमुपजायते। एतानि च पञ्चापि ज्ञानानि क्रमेणैव जायन्ते, अन्यथा साङ्कर्याऽऽदिदोषप्रसङ्गात्, मत्यादिज्ञानोपयोगकाले चावध्याद्युपयोगस्याऽपि प्राप्तेः, एकं च घटाऽऽदिकमर्थं विकल्पयतोऽनन्तानामपि घटाऽऽद्यर्थविकल्पानां प्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च। न चैतदस्ति। ततः क्रमेण जायमानान्यप्येतानि ज्ञानानि प्रतिपत्ता युगपदुत्पन्नानीति मन्यते, समयाऽवलिकाऽऽदिकालविभागस्य सूक्ष्मत्वात्, एवमिहापि शिरःपादाऽऽदिभिः स्पर्शनेन्द्रियदेशैरिन्द्रियान्तरैश्च क्रमेण संबध्यमानमपि मनः प्रतिपत्ता युगपत्संबध्यमानमध्यवस्यति, न तु तत्त्वतोऽसौ मनसः स्वभावः, तथा चोक्तम्-" युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति। " यदि चोक्तन्यायेन सर्वेन्द्रियद्वारेणोत्पद्यमान उपलम्भे क्रमेण संचरतो मनसः संचारो दुर्लक्षस्तर्हि कथमेकस्यैव स्पर्शनेन्द्रियमात्रस्य शीतवेदनोपयोगादुष्णवेदनोपयोगरूप उपयोगान्तरं जन्ये तत्संचारः सुलक्षः स्यात्, अलक्ष्यमाणे च तत्क्रमसंचारे शीतोष्णक्रियाद्वयोपयोगविषयो युगपदध्यवसायो भवत इति ॥२४३४॥

एतदेवाऽऽह-

सव्विंदियउवलंभे, जइ संचारो मणस्स दुल्लक्खो ।
एगेंदिओवओगं-तरम्मि किह होउ य सुलक्खो ॥२४३५॥

व्याख्यातार्थैव ॥ २४३५ ॥

यदि पुनरेकस्मिन्नर्थे उपयुक्तमपि मनोऽर्थान्तरेऽप्युपयोगं गच्छेत्तदा को दोषः स्यात्?, इत्याह-

अन्नविणिउत्तमन्न वि-णिओगं लभइ जइ मणो तेणं ।
हत्थिं पि ठियं पुरओ, किमन्नचित्तो न लक्खेइ ॥२४३६॥

अन्यस्मिन् शीतवेदनाऽऽदिकेऽर्थे विनियुक्तमुपयुक्तमन्यविनियुक्तम्, मनो यदि (अन्नं ति) अन्य उष्णवेदनाऽऽदिकोऽर्थस्तद्विषय उपयोगोऽन्यस्तमन्यं विनियोगमुपयोगं लभते, (तेणं ति) तर्हि किमित्यन्यचित्तोऽन्यार्थोपयुक्तचित्तो देवदत्ताऽऽदिर्हस्तिनमपि पुरतो व्यवस्थितं न लक्षयति ?, तस्मादेकस्मिन्नर्थे उपयुक्तं मनो न कदाचिदन्यार्थोपयोगं लभते इति ॥ २४३६ ॥

यदि स्वेकोपयोगे उपयोगान्तरमपीष्यते, तदेतदपि किं नेष्यते ?, किमित्याह-

विणिओगंतरलाभे, व किं त्थ नियमेण तो समं चेव ।
पइवत्थुमसंखेज्जा-णंता वा जं न विणिओगा ? ॥२४३७॥

एकोपयोगकाले विनियोगान्तरस्योपयोगान्तरस्य वा लाभे इष्यमाणे (तो त्ति) ततः किमत्र क्रियाद्वयोपयोगलक्षणेन नियमेन (जं ति) यत्प्रतिवस्तु असंख्येया अनन्ता वा सममेव युगपदेव विनियोगा उपयोगा नेष्यन्ते?। इदमुक्तं भवति-यदि शीतवेदनोपयोगकाले उष्णवेदनोपयोगोऽपीष्यते, तर्हि किमनेन क्रियाद्वयोपयोगनैयत्येन यदसंख्येया अनन्ता वा प्रतिवस्तु युगपदुपयोगा न भवन्ति, यथैककाले द्वितीयोपयोगस्तथा बहवोऽपि भवन्त्विति भावः। इह च " दव्वाउ असंखेज्जे, संखेज्जे आवि पज्जवे लभइ। " इति वचनादेकस्मिन्नर्थे समकालमवधिज्ञानिनः क्षिप्रोत्कृष्टतोऽसंख्येया उपयोगाः प्राप्नुवन्ति, शेषज्ञानिनां त्वनन्ता इत्यतिप्रायवता प्रोक्तम्-" पइवत्थु असंखेज्ज " इत्यादि ॥ २४३७ ॥

अत्र पराभिप्रायमधिकृत्य परिहारमाह-

बहुबहुविहाइगहणे, नणुवओगबहुया सुएऽभिहिया ।
तमणेगगहणं चिय, उवओगाणेगया न त्थि ॥२४३८॥

ननु बहुबहुविधाक्षिप्राऽनिश्रिताऽसंदिग्धध्रुवसेतरवस्तुग्रहणे पूर्वमिहैवावग्रहाऽऽदीनामनुज्ञाने एकस्मिन्नुपयोगबहुता श्रुतेऽभिहितैवेति। " पइवत्थुमसंखेज्जे " इत्यादि किमसाधनमेवेति परोक्ते सत्याह-(तमणेगेत्यादि) तद् बहुबहुविधाऽऽदिरूपं वस्तुनोऽनेकपर्यायाणां सामान्यरूपतया ग्रहणमात्रमेव ज्ञाने उपयोगयोग्यतामात्रव्यवस्थापनमेव, एकस्मिंस्तु वस्तुन्येककालमुपयोगानेकता क्वापि नास्ति, क्रमेणैवोपयोगानां नानात्वादिति ॥ २४३८ ॥

यदुक्तं "तमणेगगहणं चिय" इति तदुपजीव्य परः प्राह-

समयमणेगग्गहणं, जइ सीओसिणदुगम्मि को दोसो? ।
केण व भणियं दोसो, उवओगदुगे वियारोऽयं ॥२४३९॥

भगवन्नाचार्य ! समकं युगपदनेकेषामर्थानां ग्रहणं त्वयाऽप्यनुज्ञायते, तदा शीतोष्णद्वये गृह्यमाणे को दोषः, येन तन्नाङ्गीक्रियते ?। सूरिराह-(केण वेत्यादि) केन पुनर्भणितं-हन्त! यत्समकमनेकार्थग्रहणे दोषः, गृह्यन्ते युगपदपि सामान्यरूपतया सेनावनग्रामनगरादिवदनेकेऽर्था इत्येतत्र निवारयामः, वयमित्यर्थः, केवलमिहोपयोगद्वये विचारोऽयं प्रस्तुतः। स चोपयोग एकदा एक एव भवति, न त्वनेक इति ॥ २४३९ ॥

पुनरपि परप्रश्नमाशङ्क्योत्तरमाह-

समयमणेगग्गहणे, एगाणेगोवओगभेओ को ? ।
सामन्नमेगजोगो, खंधावारोवओगो व्व ॥ २४४० ॥
खंधारोऽयं साम-न्नमेसमेगोवओगया समयं ।
पइवत्थुविभागो पुण, जो सोऽणेगोवओग त्ति ॥२४४१॥

ननु समकं युगपदनेकार्थग्रहणे अभ्युपगम्यमाने कोऽयमेकानेकोपयोगभेदो नाम,येनोच्यते-" उवओगा एगया नत्थि।" इति। अत्रोत्तरमाह-(सामन्नमेगजोगो त्ति)यः सामान्योपयोगः स एकोपयोगोऽभिधीयते,स्कन्धावारोपयोगवदिति दृष्टान्तः। अमुमेवार्थं स्पष्टयति-"खंधारोऽयमित्यादि ।" समकं युगपदेव स्कन्धावारोऽयमित्येवं यत्सामान्यं सामान्यमात्रग्राहको य उपयोग इत्यर्थः, स एकोपयोगतया भण्यते। यः पुनः प्रतिवस्तु एते हस्तिनः, अमी अश्वाः, इमे रथाः, एते पदातयः, एते खड्गकुन्ताऽऽदयः, शिरस्त्राणकवचाऽऽदयः, पटकुटिकाः, ध्वजाः, पताकाः, ढक्काशङ्खकाहलाऽऽदयः, करभरासभाऽऽदयश्चेत्यादिको विभागो जेयः, विभागाध्यवसायः सोऽनेकोपयोग इति ॥ २४४० । २४४१ ॥

आह-एवमेकानेकोपयोगभेदे भवद्भिर्युगपत्किं निषिध्यते ?, इत्याह-

ते च्चिय न संति समयं, सामन्नाणेगगहणमविरुद्धं ।
एगमणेगं पि तयं, तम्हा सामन्नभावेणं ॥२४४२॥

न एवानेकोपयोगाः समकं युगपच्च सन्ति न भवन्तीति निषिध्यन्ते अस्माभिः । यत्तु सामान्येनानेकेषामर्थानां युगपद् ग्रहणं तदविरुद्धमेव। (तम्हा त्ति) तस्माद्युगपदनेकोपयोगनिषेधेन । किमुक्तं भवतीत्याह- (एगमणेग पीत्यादि) यदिदं स्कन्धावाराऽऽद्युपयोगे युगपदनेकार्थग्रहणमस्माभिरनुज्ञायते, (तयं ति) तदनेकमप्यनेकार्थग्रहणमपि सदित्यर्थः, (एगं ति) एकमेव तत्त्वत एकार्थग्रहणमेवेत्यर्थः, केनेत्याह- (सामन्नभावेणं ति) सामान्यरूपतयेत्यर्थः । अयमत्र तात्पर्यार्थः-यदनेकार्थग्रहणमनुज्ञायते तत् सामान्यमेव रूपमाश्रित्य, विशेषरूपतया त्वनेकार्थग्रहणं नाभ्युपेयते, एकस्मिन् काले एकस्यैव विशेषोपयोगस्य सद्भावादिति ॥ २४४२ ॥

अमुमेवार्थं प्रकृते योजयन्नाह-

उभिणयं सीएयं, न विभागो नोवओगजुगमित्थं ।
होज्ज समं दुगगहणं, सामन्नं वेयणा मे त्ति ॥ २४४३ ॥

उष्णेयं शीतेयं वेदना इत्येवं योऽसौ विभागो भेदोऽसौ नेष्टः शीतोष्णविभागेन शीतोष्णविशेषरूपतया युगपद् ग्रहणं नेष्टमित्यर्थः, अत एव तद्विषयमुपयोगद्वयं युगपन्नेष्टम् । किं युगपद्वस्तुद्वयग्रहणं सर्वथा नेष्टम् ?। नैवं, कुतः ?, इत्याह-भवेत् समं युगपद्वस्तुद्वयग्रहणम् । किं विशेषरूपतया ?, नेत्याह- सामान्यं सामान्यरूपतयेत्यर्थः । कथम् ?,वेदना मे मम वर्तते इत्येवं युगपद् द्वयग्रहणं भवेद्,न तु शीतोष्णवेदनाविशेषरूपतयेत्यर्थः, युगपदुपयोगद्वयप्रसंगात्, तत्र च दोषाणामुक्तत्वादिति ।२४४३।

आह-ननु यदि वेदनामात्रग्राहकं सामान्यज्ञानं, तदेवं शीतोष्णवेदनाविशेषग्राहकमपि तत् कस्मान्नेष्यते ?, इत्याह-

जं सामन्नविसेसा, विलक्खणा तन्निबंधणं जं च ।
नाणं जं च विभिन्ना, दुदूरओवग्गहाऽवाया ॥२४४४॥
जं च विसेसं नाणं, सामन्ननाणपुव्वयमवस्सं ।
तो सामन्नविसेसं, नाणाइं नेगसमयम्मि ॥ २४४५ ॥

(तो त्ति) तस्मात्सामान्यग्राहकं विशेषग्राहकं च ज्ञानं द्वेऽपि नैकसमये नैककालं भवत इति द्वितीयगाथायां संबन्धः। कुत इत्याह-(जं सामन्नेत्यादि) यद्यस्मात्सामान्यविशेषौ परस्परमतीव विभिन्नलक्षणौ भिन्नजातीयावतः कथं तावेककालमेकज्ञाने प्रतिभासेते ?, एकत्वप्रसङ्गात्, सामान्यतत्स्वरूपवद्विशेषतत्स्वरूपवद्वा ?। मा भूत्प्रतिभासस्तथापि तज्ज्ञाने युगपद्भविष्यत इत्याह- यस्माच्च तन्निबन्धनं सामान्यविशेषहेतुकं सर्वमपि ज्ञानं, तत्कथं तत्प्रतिभासमन्तरेणोत्पद्येत ?। सामान्यविशेषज्ञानयोरेकत्वादेककालं ते भविष्यत इति चेत्,तदयुक्तम्, कुतः ?, इत्याह-यस्माच्च सुदूरं विभिन्नौ सामान्यविशेषज्ञानरूपौ अवग्रहावायाविति कथं समकालं भवतः ?। यद्यस्माच्चावश्यं सामान्यग्राहकज्ञानपूर्वकमेव विशेषग्राहकं ज्ञानं, नानवगृहीतमीह्यते, नानीहितं निश्चीयत इत्यादिवचनात् तः कथं तयोर्युगपत्संभव इति ॥ २४४४ ॥ २४४५ ॥

पुनरपि परः प्राऽऽह-

होज्ज न विलक्खणाइं, समयं सामन्नवेयणाणाइं ।
बहुयाण को विरोहो,समयम्मि विसेसनाणाणं ॥२४४६॥

नन्वाचार्य ! एवं तर्ह्यस्तु यदुत सामान्यवेदनामात्रग्राहकं सामान्यज्ञानं, शीतोष्णवेदनाविशेषग्राहकं विशेषज्ञानरूपं भवद्ज्ञानं त्वेतेन द्वे अपि सुदूरविलक्षणत्वात्समकं युगपन्न भवतः; बहूनां तु शीतोष्णाऽऽदिविशेषज्ञानानां समयं एकस्मिन् काले जायमानानां विशेषज्ञानरूपतया तेषां बहूनामपि तुल्यत्वेन वैलक्षण्याभावात्को विरोधः ?, येन शीतोष्णवेदनाविशेषज्ञानं युगपद् गच्छता निषिध्येत इति ॥ २४४६ ॥

अत्रोत्तरमाह-

लक्खणभेया उ च्चिय,सामन्नं च जमणेगविसयं ति ।
तमणेत्तुं न विसेस-न्नाणाइं तेण समयम्मि ॥ २४४७ ॥
तो सामन्नगहणा-णंतरमीहियमवेइ तब्भेयं ।
इय सामन्नविसेसा-वेक्खा जावंतिमो भेओ ॥ २४४८ ॥

तेन कारणेन समये एकस्मिन् काले बहूनि विशेषज्ञानानि न भवन्ति। कुतः ?,इत्याह-लक्षणं शीतोष्णाऽऽदिविशेषणस्वरूपं तस्य परस्परं भेदाद्भिन्नत्वाच्च तद्ग्राहकाणि ज्ञानानि समकं भवन्ति, यस्माच्चानेकविषयमनेकाधारं सामान्यम्, इत्यतस्तदगृहीत्वा न विशेषज्ञानसद्भूतिरस्तीत्यतोऽपि न युगपद्विशेषज्ञानानि । इदमुक्तं भवति-पूर्वं वेदनासामान्यं गृहीत्वा तत ईहां प्रविश्य शीतेयं पादयोर्वेदनेति वेदनाविशेषं निश्चिनोति । शिरस्यपि प्रथमं वेदनासामान्यं गृहीत्वा तत ईहां प्रविश्य उष्णेयमिह वेदनेत्यध्यवस्यति । न हि घटविशेषज्ञानादनन्तरमेव पटाऽऽश्रयसामान्यरूपे गृहीते पटविशेषज्ञानमुपजायते, " उग्गहो ईहऽवाओ य " इत्यमुनैव क्रमेण घटाऽऽदिविशेषज्ञानोत्पत्त्यभिधानात् । एवं च सति विशेषज्ञानादनन्तरमपि विशेषज्ञानं नोत्पद्यते, आस्तां पुनः समकालं, सामान्यस्यानेकविशेषाऽऽश्रयत्वात् । तच्च पूर्वमगृहीत्वा विशेषज्ञानद्वयाप्रसवादिति ।

यतश्चैवं सामान्येऽगृहीते नास्ति विशेषज्ञानं, (तो त्ति) ततः

सामान्यग्रहणानन्तरमीहितं तद्भेदं सामान्यभेदं घटत्वाऽऽदिसामान्याऽऽश्रयं घटाऽऽदिविशेषमित्यर्थः, अर्थात घटाऽऽदिरेवायम् इत्येवं निश्चिनोतीत्यर्थः । तत्र उत्तरभेदापेक्षया घट एव सामान्यम् । तस्मिंश्च गृहीते ईहित्वा धातुजोऽयं न मार्त इत्येवं निश्चिनोति । ततो धातुजोऽप्युत्तरभेदापेक्षया सामान्यम् । तस्मिंश्च गृहीते ईहित्वा ताम्रोऽयं न तु राजताऽऽदिः इतीत्थं निश्चिनोतीति । एवं सामान्यविशेषापेक्षा तावत्कर्त्तव्या, यावदन्तिमो भेदः स कश्चिद्यदनन्तरमीहा न प्रवर्त्तते । तत्रश्चैवं न कश्चिद्विशेषज्ञानानां युगपत्प्रवृत्तिसंभवः, सामान्यरूपतया तु समकालमपि विशेषाणां ग्रहणं भवेत् । यथा-सेना, वनमित्यादि, न तु युगपदुपयोग इत्युक्तमेव । तथा च सति भिन्नकाल एव शीतोष्णविशेषज्ञाने । ततो भ्रान्तमेव समकालं शीतोष्णक्रियाद्वयवेदनं भवत इति ॥ २४४७ ॥ २४४८ ॥

इत्यादियुक्तिशतैः प्रज्ञापितोऽपि न स्वाग्रहं मुक्तवान् गङ्गः, ततः किमित्याह-

इय पन्नविओ वि जओ न पवज्जइ तो तओ कओ बज्झो ।
तो रायगिहे समयं, किरियाओ दो परूवंतो ॥२४४९॥
मणिनागेणारद्धो, तओवत्तिओ पडिबोहिओ वोत्तुं ।
इच्छामो गुरुमूलं, गंतूण तओ पडिक्कंतो ॥ २४५० ॥

व्याख्यातार्थे एवेति ॥ २४४९ ॥ २४५० ॥ विशे० । उत्त० । आ० चू० । आ० म० । औ० ।

दोक्खर-द्व्यक्षर-न० । षण्ढे, बृ० ।

" तत्तो भवे पच्छलोहयं च, मिदुत्तया सीयलगत्तया य ।
धुवं भवे दोक्खरनामधेज्जा, सकारपज्जंतरिओ हकारो ॥१॥"

द्व्यक्षरनामधेयो भवेत्, तच्चाक्षरद्वयं सकारप्रत्यन्तरितो हकार इति प्रतिपत्तव्यम्, प्राकृतशैल्या सण्ढो, संस्कृते तु षण्ढ इति । बृ० ४ उ० । दश० ४ उ० ।

दोगच्च-दौर्गत्य-न० । दुर्गतिभावे, दारिद्र्ये च । पं० व० ४ द्वार । बृ० । नि० चू० । पञ्चा० ।

दोगिद्धिदसा-द्विगृद्धिदशा-स्त्री० । स्वरूपतोऽप्यनवसितायाम्, "दोगिद्धिदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा-"वाए विवाए उववाए सुखेत्ते कसिणे बायालीसं सुमिणा तीसं महासुमिणा बावत्तरिसव्वसुमिणा-हारे रामगुत्ते एमेए दस आहिया । " द्विगृद्धिदशाश्च स्वरूपतोऽप्यनवसिता । स्था० १० ठा० ।

दोगुंछि-जुगुप्सिन्-त्रि० । निन्दके, उत्त० । जुगुप्सते आत्मानमाहारं विना धर्मधुराधरणाक्षममित्येवंशीलो जुगुप्सी । उत्त० ६ अ० ।

दोघ-देशी-युग्मे, दे० ना० ५ वर्ग ४६ गाथा ।

दोग्गइ-दुर्गति-स्त्री० । दुष्टा गतिः दुर्गतिः । अथवा दुर्गा गतिः दुर्गतिः । अथवा-दुःखं या यत् सेव्यते सा दुर्गतिः । दुर्गती विषमेत्यर्थः । अथवा-कुत्सिता गतिः दुर्गतिः । कुत्सितार्थे दुःशब्दः । यथा-दुर्गमः । नरकगतौ, तिर्यग्गतौ च । स्था० १ ठा० ।

दोग्गुण्ण-दौर्गुण्य-न० । दुर्गुणत्वे, हा० ३१ अष्ट० ।

दोच्चंग-द्वितीयाङ्ग-न० । शाकाऽऽदितीमने, " दोच्चंग त्ति " सामयिकी संज्ञा । ओदनाऽऽदिमूलापेक्षया भोजनस्य शाकाकादीनि द्वितीयाङ्गानि । बृ० १ उ० ।

दोच्च-दौत्य-न० । दूतकर्मणि, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

द्वितीय-द्वित्वसंख्यापूरके, विपा० १ श्रु० ३ अ० । भ० । उपा० ।

दोच्चा-द्वितीया-स्त्री० । द्वितीयसप्तरात्रिन्दिवप्रतिमायाम्, पञ्चा० १८ विव० ।

दोज्झ-दोह्य-त्रि० । दोहनयोग्ये, "जहा गावो दोज्झाति वा ।" आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

दोण-द्रोण-पुं० । माने, चत्वारः पुनराढकाः समुदिता एको द्रोणः । ज्यो० २ पाहु० । औ० । पलप्रमाणं द्रोणमानम् । तं० । द्रोणाऽऽख्ये सिन्धुवेलावलयिते नगरे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । द्रोणः कियन्मणमान इति प्रश्ने, उत्तरम्-चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थः, प्रस्थैश्चतुर्भिराढकः, चतुर्भिराढकैर्द्रोणः; अत्र नाममालावृत्तौ कुडवशब्देन प्रसृतिद्वयव्याख्यातमस्ति, तदनुसारेण पञ्चवति सद्रोणमानमवसेयं, परमियन्मणमानो द्रोण इति तु क्वापि व्यक्तं दृष्टं न स्मरतीति । १८८ प्र० सेन ३ उल्ला० ।

दोणक्क-देशी-आयुक्ते, ग्रामिके च । दे० ना० ५ वर्ग ५० गाथा ।

दोणक्का-देशी-सरघायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ५१ गाथा ।

दोणमुह-द्रोणमुख-न० । द्वयोः पथोर्मुखमस्येति द्रोणमुखम् । जलस्थलनिर्गमप्रवेशने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । पत्तने, रा० । प्रश्न० । व्य० । भ० । जी० । बाहुल्येन जलनिर्गमप्रवेशे, दशा० ७ अ० । स्था० । ग० । यत्र जलस्थलपथावुभावपि भवतः । कल्प० १ अधि० ४ क्षण । जी० । नि० चू० । जं० । अनु० । स्था० । उत्त० । "दोणमुहं जलथलपहेण ।" यस्य तु जलपथेन स्थलपथेन वा द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां भाण्डमागच्छति तद् द्वयोः पथोर्मुखमिति निरुक्त्या द्रोणमुखमुच्यते, तच्च तथा भृगुकच्छं ताम्रलिप्ती वा । बृ० १ उ० । नि० चू० । औ० । जलस्थलपथोपेते नगरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दोणमेह-द्रोणमेघ-पुं० । यावता वृष्टेनाऽऽकाशबिन्दुभिर्महती गर्गरी भ्रियते तावत्प्रमाणजलवर्षिणि मेघे, विशे० ।

दोणसूरि-द्रोणसूरि-पुं० । अणहिल्लपट्टननगरे अभयदेवसूरिसमकालिके स्वनामख्याते विद्वद्वरे, येन नवस्वङ्गेषु स्थानाङ्गाऽऽदिषु अभयदेवसूरिकृतवृत्तेः संशोधनमकारि ।

" अणहिल्लपाटकनगरे संघवरैर्वर्तमानबुधमुख्यैः ।
श्रीद्रोणाचार्याऽऽद्यै-र्विद्वद्भिः शोधिता चेति ॥ १ ॥ "

" शास्त्रार्थनिर्णयसुसौरभलम्पटस्य,
विद्वन्मधुव्रतगणस्य सदैव सेव्यः ।
श्रीनिर्वृताऽऽख्यकुलसन्नदपद्मकल्पः,
श्रीद्रोणसूरिरनवद्ययशःपरागः ॥ २ ॥ " स्था० १० ठा० ।

पञ्चा० । भ० । निर्वृतिककुलनभःसूरिमुख्येन पण्डितगणगुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम् । ज्ञा० १ श्रु० ६ वर्ग १ अ० ।

दोणी-द्रोणी-स्त्री० । नौकायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । जलपरिपूर्णायां महत्यां कुण्डिकायाम्, अनु० ।

दोतिप्पभा-द्युतिप्रभा-स्त्री० । चन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, ज्ञा० १ श्रु० ६ वर्ग १ अ० ।

दोच्छिअ-देशी-चर्मकूरे, दे० ना० ५ वर्ग ४६ गाथा ।

दोधार-द्विधाकार-पुं० । द्रव्यस्य द्विधाकरणे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

दोभागकर-दौर्भाग्यकर-न० । कलाभेदे, स० ७२ सम० ।

दोमणंसिया-दौर्मनसिका-स्त्री० । वैमनस्ये, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

दोमासिय-द्वैमासिक-न० । द्विमासपरिमाणमस्येति द्वैमासिकम् । मासद्वयपरिमाणे, नि० चू० २० उ० ।

दोमासियपडिमा-द्वैमासिकप्रतिमा-स्त्री० । मासद्वयप्रतिमानिर्वाह्ये साधुप्रतिज्ञाविशेषे, तत्र हि द्वौ मासौ यावद् द्वे दत्ती भक्तस्य, द्वे एव च पानकस्य । औ० ।

दोमिलि-द्राविडी-स्त्री० । ब्राह्म्या लिपेर्लेख्यविधाने, प्रज्ञा० १ पद ।

दोर-दोर-स्त्री० । सूत्रवरके,रज्जौ, आ० म० १ अ० २ खण्ड, कटिसूत्रे, दे० ना० ५ वर्ग ३८ गाथा ।

दोरज्ज-द्वैराज्य-न० । राज्यद्वयभावे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

दोव-दोव-पुं० । अनार्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दोवारिय-दौवारिक-पुं० । प्रतीहारे द्वारपालके, भ० ६ श० ५ उ० । नि० चू० । ज्ञा० । रा० । "दोवारिआ तु वारिहा दोवारिया दारे चेव (अन्तःपुरस्य) जेसि निलेति ।" नि० चू० ६ उ० । औ० ।

दोवारियभत्त-दौवारिकभक्त-न० । द्वारपालस्य कृतवृत्तेः अरापक्कुला ऽऽदेः पेट्टका ऽऽदिभक्ते, नि० चू० ६ उ० ।

दोविह-द्विविध-त्रि० । द्विविध एव द्वैविध्यम् । द्विःप्रकारे, दश० २ अ० ।

दोवेल्ली-देशी-सायं भोजने, दे० ना० ५ वर्ग ५० गाथा ।

दोस-दोष-पुं० । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगेषु, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । प्रश्न० । मले, ध० ३ अधि० । चौर्या ऽऽदिके, अन्त० ३ वर्ग० ८ अ० । आत्मनः परस्य वा दूषणे, भ० १२ श० ५ उ० । मालिन्यकारिस्वभावे, नं० । कालदोषो दुर्भिक्षा ऽऽदिः, क्षेत्रदोषः संयमाननुगुणत्वा ऽऽदिः, द्रव्यदोषो भक्ता ऽऽदिना शरीराननुकूलता, भावदोषो ग्लानत्वज्ञाना ऽऽदिहान्यादिः । पञ्चा० १७ विव० ।

द्वेष-द्विष्यतेऽनेनेति द्वेषः । द्वेषवेदनीये कर्मणि, यद्वा द्वेषणं द्वेषः । वेदनीयकर्मा ऽऽपादिते भावे, अप्रीतिपरिणामे, पं० सू० १ सूत्र० । "एगे दोसे ।" स्था० १ ठा० । आव० । औ० । आ० चू० । भ० । आ० म० । सूत्र० । ज्ञा० । नि० । नि० चू० । कल्प० । प्रव० । उपशमस्यागा ऽऽत्मके, विकारे, दश० ९ अ० । परद्वेषाध्यवसाये, आतु० । दुःखाभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपूर्वकाभिगर्हणे, द्वा० २५ द्वा० । स्वपरा ऽऽत्मनोर्बाधारूपे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । क्रोधमानकषायात्मके, ग० २ अधि० । स्था० । "दोसे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-कोहे य, माणे य ।" प्रज्ञा० २३ पद ।

अथ दोषस्य द्वेषस्य वा व्याख्यामाह-

दूसंति तेण तम्मि व, दूसणमहव देसणं व देसो त्ति ।
देसो य सो चउद्धा, दव्वे कम्मेयरविभिन्नो ॥२९६६॥

"दुष" वैकृत्ये, दुष्यन्ति विकृतिं भजन्ति तेन तस्मिन् वा प्राणिन इति दोषः, दूषणं वा दोषः, इति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । अथवा "द्विष" अप्रीतौ, द्विषन्ति अप्रीतिं भजन्ति तेन तस्मिन् वा प्राणिन इति द्वेषः, द्वेषणं वा द्वेषः । इत्यपि स्वयमेव दृश्यम् । कुतः पुनरिदं दृश्यते इत्याह-(अह देसणं व देसो त्ति) अथवा द्वेषणं द्वेष इति भावसाधनपक्षोपन्यासादनन्तरोक्तः स्वयमेव दृश्यते । (देसो य सो चउद्ध त्ति) स च द्वेषो, वाशब्दाद् दोषो वा, नामा ऽऽदिभेदाच्चतुर्धा द्रष्टव्यः । तत्र ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्ते द्रव्ये विचार्ये (कम्मेयरविभिन्नो त्ति) कर्मद्रव्यदोषः, नोकर्मद्रव्यदोषश्च भवतीत्यर्थः ॥ २९६६ ॥

अस्य च द्विविधस्यापि स्वरूपमाह-

जुग्गा बद्धा बज्झं-तगा य पत्ता उदीरणावलियं ।
अह कम्मदव्वदोसो, इयरो दुट्ठवणाईओ ॥२९६७॥

पूर्ववच्चतुर्विधाः पुद्गलाः कर्मद्रव्यदोषः, नोकर्मद्रव्यदोषस्तु दुष्टव्रणा ऽऽदिरिति ॥ २९६७ ॥

भावदोषं भावद्वेषं वा प्राऽऽह-

जं दोसवेयणिज्जं, समुइण्णं एस भावओ दोसो ।
वत्थुविकिइस्सहावो-ऽणच्चयमप्पीइलिंगो वा ॥२९६८॥

यद्दोषवेदनीयं द्वेषवेदनीयं वा कर्म समुदीर्णमुदयप्राप्तमेष भावदोषो भावद्वेषो वा । अयं च स्वभावस्यस्य वस्तुनः शरीरदेशा ऽऽदेर्विकृतिस्वभावः कार्ये कारणोपचाराद् प्रकृत्यन्यथाभावरूपः । तत्र भावदोषो ऽनीप्सितलिङ्गो ऽनिष्टदुष्टव्रणा ऽऽदिकार्यगम्यः । भावद्वेषस्त्वप्रीतिलिङ्ग इति ॥ २९६८ ॥

अत्र च क्रोधमानयोः को ऽपि मिश्रपरिणामो ऽप्रीतिजातिसामान्यतः संग्रहमतेन द्वेषः, मायालोभौ तु प्रीतिजातिसामान्यतः, स एव रागमिच्छतीति दर्शयन्नाह-

कोहं माणं वाऽपीइ, जाइओ वेइ संगहो दोसं ।
मायालोभे य स पी-इजाइसामन्नओ रागं ॥२९६९॥

गतार्था ॥ २९६९ ॥

व्यवहारनयमाश्रित्याऽऽह-

मायं पि दोसमिच्छइ, ववहारो जं परोवघायाय ।
नाओवादाणे च्चिय, मुच्छा लोभो त्ति तो रागो ॥२९७०॥

न केवलं क्रोधमानौ, किन्तु मायामपि द्वेषमिच्छति व्यवहारनयो यस्मादियमपि परोपघाताय परवञ्चनायैव विधीयते । ततो माया द्वेषः, परोपघातहेतुत्वात्, क्रोधमानवदिति । न्यायेन नीत्या मायामन्तरेणोपादीयते उपार्ज्यते इति न्यायोपादानं, तस्मिन् न्यायोपादानेऽपि वित्ते यतो मूर्च्छा भवति, ततस्तदात्मको लोभो रागः । अन्यायोपात्ते तु वित्ते माया ऽऽदिकषायसंभवेन द्वेष एव स्यादिति न्यायोपादानविशेषणमिति भावः ॥२९७०॥

ऋजुसूत्रमाह-

उज्जुसुयमयं कोहो, दोसो सेसाणमयमणेगंतो ।
रागो त्ति व दोसो त्ति व, परिणामवसेण उ वसेओ ॥२९७१॥

ऋजुसूत्रनयस्येदं मतम्-क्रोधः प्रथमकषायो द्वेषः,अप्रीत्यात्मकत्वात्; शेषाणां तु मानमायालोभानां रागद्वेषत्वविचारं प्रत्येतस्य मतम्; किमित्याह-अनेकान्तोऽनिश्चयः। एतदेव व्याचष्टे-शेषे मानाऽऽदिकषायत्रयवर्गे कोऽपि रागः, कोऽपि वा द्वेषः, इत्ययं परिणामवशेनैवावसेयो निश्चयो नान्यथेति ॥२६७१॥

कुत इत्याह-

संपयगाहि त्ति नओ, न उवओगदुगमेगकालम्मि ।
अप्पीइपीइमेत्तो-वओगओ तं तहा दिसइ ॥ २०७२ ॥

यतः साम्प्रतग्राही वर्त्तमानैकक्षणवस्तुग्राही तकोऽसौ ऋजुसूत्रः, ततः क्रोधमानौ द्वेषो, मायालोभौ तु राग इत्येवमसौ न मन्यते, मानाऽऽदिक्षणकाले क्रोधाऽऽदिक्षणाभावात्, तदभावश्च तयोः क्रमभावित्वात्, प्राक्तनस्य चोत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादिति। स एव च मानो द्वेषो भवति, कदा ?, परगुणेषु यो द्वेषोऽप्रीतिस्तदुपयोगे तदध्यवसायपरिणतिकाल इत्यर्थः। अस्तु वा क्रोधमानाऽऽदीनां समकालभाविता, तथाऽप्युपयोगद्वयमस्यानेककाल न मन्यत इति कथं मिश्रकषद्वयोपगमाद् द्वेषो रागो वा स्यात् ?। एतदेवाऽऽह-(न उवओगदुगमेगकालम्मि त्ति) न च कषायद्वयोपयोगमेककालमसौ मन्यते, येन क्रोधमानौ, द्वेषो, मायालोभौ तु रागः स्यादिति। तर्हि किमसौ मन्यते ?, इत्याह-(अप्पीईत्यादि) अप्रीतिप्रीतिमात्रोपयोगतस्तं तं मानाऽऽदिकषायं तथा तथाव्यपदिशति ॥ २६७२ ॥

एतदेव भावयति-

माणो रागो त्ति मओ, साहंकारोवओगकालम्मि ।
सो चेय होइ दोसो, परगुणदोसोवओगम्मि ॥२०७३॥
माया लोभो चेवं, परोवघाओवओगओ दोसो ।
मुच्छोवओगकाले, रागोऽभिस्संगलिंगो त्ति ॥२०७४॥

मानो राग इति ऋजुसूत्रस्य सम्मतः। क ?, साहङ्कारोपयोगकाले-स्वस्मिन्नात्मन्यहोऽहं नमो मह्यमित्येवं योऽसावहङ्कारो निजगुणेषु बहुमानोऽभिष्वङ्गस्तदुपयोगकाले तदुपयोगसमये इत्यर्थः, (स एव च मानो द्वेषो भवति, कदा ?, परगुणेषु यो द्वेषोऽप्रीतिस्तदुपयोगे तदध्यवसायपरिणतिकाल इत्यर्थः) एवं परोपघाताय व्याप्रियमाणौ मायालोभौ द्वेषः, स्वशरीरस्वधनस्वजनाऽऽदिषु मूर्च्छोपयोगकाले तु तावेव रागः। कुतः ?, इत्याह-अभिष्वङ्गलिङ्ग इति कृत्वा। अभिष्वङ्गो हि रागो, यश्च स्वशरीराऽऽदिषु मूर्च्छोपयोगः, स व्यक्तोऽभिष्वङ्ग इति युक्तमस्य रागत्वमिति भावः॥ २०७३ ॥ २६७४ ॥

अथ शब्दाऽऽदिनयत्रयमतमाह-

सद्दाइमयं माणे, मायाए चिय गुणोवगाराय ।
उवओगो लोभो च्चिय, जओ स तदंतरवरुद्धो ॥२०७५॥
सेसंसा कोहो वि य, परोवघायमइय त्ति तो दोसो ।
तल्लक्खणो य लोभो, अह मुच्छा केवलो रागो ॥२०७६॥
मुच्छाणुरंजणं वा, रागो संदूसणं ति तो दोसो ।
सद्दस्स व भयणेयं, इयरे एक्केक्कनियपक्खा ॥ २०७७ ॥

शब्दाऽऽदिनयानामिदं मतं, माने मायायां च स्वगुणोपकाराय आत्मन उपकाराय व्याप्रियमाणायां य उपयोगः स लोभ एव, यतः स स्वगुणोपकारोपयोगः स्वात्मनि मूर्च्छाऽऽत्मकत्वात् तत्रैव लोभेऽवरुद्धोऽन्तर्भूतः। तथा च सति स मानमाययोः स्वगुणोपकारोपयोगः स्वाऽऽत्मनि मूर्च्छाऽऽत्मकत्वाल्लोभ इव राग इत्यभिप्रायः। शेषास्तु परोपघातोपयोगरूपा मानमाययोरंशाः क्रोधश्च सर्वः, एते सर्वे परोपघातमयास्ततो द्वेष इति मन्तव्याः। न केवलमेते तथा लोभोऽपि द्वेषः। किं सर्वः ?, नेत्याह-यतस्तल्लक्षणः परोपघातोपयोगरूपः। अथ परानुपघातोपयोगरूपो मूर्च्छोपयोगाऽऽत्मको लोभः पृच्छ्यते, तत्राऽऽह--केवलो राग एवासाविति। अथवा किं बहुनोक्तेन ?, संक्षिप्य ब्रूमः। किमित्याह (मुच्छेत्यादि) इह सर्वेष्वपि क्रोधव्यतिरिक्तेषु मानमायालोभकषायेषु यन्मूर्च्छाऽऽत्मकमनुरञ्जनं यः काङ्क्षा-मूर्च्छोपयोग इत्यर्थः। स रागो मन्तव्यः। अथ संदूषणमप्रीत्युपयोगकृततोऽसौ द्वेषो ज्ञातव्यः। शब्दनयस्येयं भजना विकल्पना। बाहुल्यात् ऋजुसूत्रस्य च। शेषौ तु संग्रहव्यवहारनयौ, नैगमस्यानयोरेवान्तर्भावादेकैककथितपक्षौ-एकैकः स्थितो नियमितः पक्षो ययोस्तावेकैककथितपक्षौ। तथाहि-संग्रहनयः क्रोधमानौ द्वेषमेवेच्छति, मायालोभौ तु रागम्। व्यवहारनयोऽपि लोभं रागमेव मन्यते, शेषकषायत्रय तु द्वेषमेवेति। अतः शब्दाऽऽदिनया भजनाऽभ्युपगमपरत्वादेकैककथितपक्षत्वादुभयं नाव्यां निश्चा इति। तदेवं व्याख्यातौ रागद्वेषौ ॥ २०७५ ॥ २६७६ ॥ ॥ २०७७ ॥ विशे०। "दस दोसे पण्णत्ते। तं जहा-तज्जायदोसे मइभंगदोसे पसत्थारदोसे परिहरणदोसे सलक्खणकारणहेउदोसे संकामणानिग्गहवत्थुदोसे।" स्था० १० ठा०। (व्याख्या तत्तच्छब्देऽपि)

द्वेषे उदाहरणम्-

"लोकेन बहुना सार्द्धं, नावा धर्मरुचि मुनिम् ।
गङ्गामुत्तारयामास, नन्दनामकनाविकः ॥ १ ॥
लोकोऽगात्तरं दत्त्वा, मुनिस्तेन धृतः पुनः ।
भिक्षावेला व्यतिक्रान्ता, स तथाऽप्यमुच्चत्तं न ॥ २ ॥
अमुच्यमानो रुष्टः स', मुनिर्दृग्विषलब्धिकः ।
आलोक्य क्रूरया दृष्ट्या, तमधाक्षीत् पलालवत् ॥ ३ ॥
क्वापि ग्रामे सभायां सोऽभवद् मृत्वा गृहोलकः ।
सोऽपि साधुस्ततस्तत्र--भिक्षार्थं च तां सभाम् ॥ ४ ॥
गृहोलकोऽपि तं दृष्ट्वा, कोपेनाभूज्ज्वलन्निव ।
भुञ्जानस्य मुनेरूर्द्ध्वं, चिक्षेप पावकं ततः ॥ ५ ॥
स मुनिर्यत्र यत्राऽऽस्त, तत्र तत्र तथैव सः ।
मुनिर्ह्यो ना स एवाय, नन्द इत्यवहल्लपथा ॥ ६ ॥
गङ्गा विशति पाथोधि, वने न्यंग परायता ।
बाहस्तत्र चिरन्यक्तो, मृतगङ्गेति कथ्यते ॥ ७ ॥
हंसोऽजनि मृतगङ्गायां, स नन्दाऽऽत्मा गृहोालकः ।
कर्मधर्मसमायोगात्, साधुर्न समगन्यदा ॥ ८ ॥
साधुः संचरमाणः स, महात्मा तेन वर्त्मना ।
माघमासे जलं सिक्त्वा, हंसस्तं प्रेक्ष्य सोऽकुपत् ॥ ९ ॥
पक्षौ भृत्वाऽथ नीरेण, शीतैरर्दयत्स मुनिम् ।
हंसस्तथापि मृत्वा स, सिंहोऽजनि वनेऽञ्जने ॥ १० ॥
सोऽगात्तथापि सार्थेन, सिंहस्तं हन्तुमभ्यगात् ।
हतस्तेन तथैवासौ, वाराणस्यामभूद्द्विजः ॥ ११ ॥
सोऽपि तत्र गतः साधु-दृष्ट्वा तं बटुरीर्ष्यया ।
जघान लोष्टुभिर्दृष्ट्वा, मत्वा तमपि सोऽसहत् ॥ १२ ॥
अकामनिर्जरायोगा--द्राजा तत्रैव सोऽभवत् ।

आनीः स्मरमार नन्दाऽऽख्या-स्ततो दध्यौ भवद्गुनः ॥१३॥
कथञ्चिद्यदि जाने तं, क्षमयाम्यधुनाऽपि तम् ।
तद्ज्ञानोपायजुगां, समस्यां स व्यधादिमाम् ॥ १४ ॥
गङ्गायां नाविको नन्दः, सभायां च गृहोलकः ।
मृतगङ्गातटे हंसः, सिंहश्चाञ्जनपर्वते ॥ १५ ॥
वाराणसीपुर्यां, राजा तत्रैव चाभवत् ।
य एनां पूरयेत्तस्य, राज्यार्धं वितराम्यहम् ॥ १६ ॥
पठन्ति तत्र सर्वेऽपि, समस्यां तामिमां जनाः ।
विहरन् सोऽपि तत्रैवा-ऽऽगत्याऽऽरामे मुनिः स्थितः ॥ १७ ॥
तां चाऽऽरामिकपठितां, श्रुत्वा साधुरपूरयत् ।
एतेषां घातको यश्च, सोऽप्यत्रैव समागतः ॥ १८ ॥
अधीत्याऽऽरामिकस्तां स, पठति स्म नृपाग्रतः ।
राजा मुमूर्छ तत् श्रुत्वा, जघ्नुरारामिकं जनाः ॥ १९ ॥
सोऽवदन्न मयाऽपूरि, स्वस्थो राजा जगाद तम् ।
केनेयं पूरिता ब्रूहि, स आऽऽहाऽऽगन्तुकसाधुना ॥ २० ॥
नृपस्तत्र नरान् प्रैषीत्, सुप्रसन्नः स चेन्मयि ।
तदेत्य स्वत्पदोपान्तं, नमामि क्षमयामि च ॥ २१ ॥
अनुज्ञातोऽप्येत्य मत्वा, आक्रोऽभूद्दर्शनान्मुनेः ।
अथाऽऽलोच्य प्रतिक्रान्तो, निर्वृतिं साधुरप्यगात् ॥ २२ ॥"
आ० क० ।

(रागस्य द्वेषस्य च हेतवः " चरणविहि " शब्दे तृतीयभागे ११२८ पृष्ठे दर्शिताः) औ०,कोपे च । दे०ना० ५ वर्ग ५१ गाथा।

दोसज्झाण-द्वेषध्यान-न० । अप्रीतिमात्रं परद्रोहाध्यवसायो वा द्वेषः, तस्य ध्यानं, मधुदेवपिङ्गलाऽऽदर्शयोरिव धर्मरुचिकनकध्वजारिव वज्रस्पर्शौ वीरकदर्शनस्येव वा दुर्ध्याने, आतु० ।

दोसउरिया-दोषोरिका-स्त्री० । ब्राह्मीलेख्यविधाने, स० १७ सम० ।

दोसकिरिया-द्वेषक्रिया-स्त्री० । द्वेषजन्यक्रियाभेदे, आ० चू० ४ अ० ।

दोसणिग्घायणाविणय-दोषनिर्घातनाविनय-पुं० । क्रुद्धाऽऽदेः क्रोधाऽऽद्यपनयनाऽऽत्मके विनयभेदे, दशा० ।

से किं तं दोसनिग्घायणाविणए? दोसनिग्घायणाविणए चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-कुद्धस्स कोहं विणएत्ता भवति, दुट्ठस्स दोसं णिगिण्हित्ता भवति, कंखियस्स कंखं छिंदित्ता भवति, आयासुप्पणिहिते यावि भवति । से तं दोसनिग्घायणाविणए ॥

साम्प्रतं दोषनिर्घातनार्थं विपृच्छिषुरिदमाह-" से किं तं " इत्यादि प्रश्नसूत्रं कण्ठ्यम् । गुरुराह-दोषनिर्घातनाविनयश्चतुर्विधश्चतुःप्रकारः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-(कुद्धस्सेति) क्रुद्धस्य क्रोधं विनायिता भवति १, दुष्टस्य दोषं निगृहीता भवति २, काङ्क्षितस्य काङ्क्षाव्युच्छेदयिता भवति ३, आत्मसुप्रणिधितश्चापि भवति ४ । तत्र क्रुद्धस्य किञ्चिन्निमित्तमासाद्योदीर्णक्रोधं मृदुलक्षणं मृदुवचनाऽऽदिभिर्विनायिता अपनेता भवति । क्रोधपरित्यागलक्षणमाचारं वा शिक्षयिता भवति १, दुष्टस्य कषायविषयपरिणामवतः, अहङ्कारादिदुष्टस्य वा आचाराद्भ्रष्टस्य तो विनायिता भवति । अथ वा दोषापनेता भवति २ । (कं-
खित त्ति) काङ्क्षितो नाम भक्तपानपरसमयपरिस्वादमतपरिज्ञानान्यवस्तुदर्शनसमुत्पन्नाभिलाषस्य काङ्क्षां तत्प्राप्तिरूपां व्युच्छेदयिता तदभिलाषं विनयिता भवति, प्रापयिता इत्यर्थः ३ । वस्त्वन्तरदर्शनात् तदभिलाषापनेता वा भवति ४ । उक्तं च " संगुणमेव तु भवे गणित्तं, जं कंखियाणं पविणइ कंखं । " इति । (आय त्ति) आत्मसुप्रणिधितः, कथं भवतीति चेत् ? । उच्यते-यदा स्वयमेतेष्वनन्तरोक्तेषु न प्रवर्तते, तदा स सुप्रणिधित उच्यते । प्रणिधानं वा प्रणिधिः, शोभना निधिः सुप्रणिधिः, तद्वांश्चापि भवति । आकारान्तत्वं प्राकृतत्वात् । " सेतं " इति व्यक्तम् । दशा० ५ अ० । व्य० ।

दोसणिज्जंत-देशी-चन्द्रे, दे० ना० ५ वर्ग ५१ गाथा ।

दोसणिस्सिय-द्वेषनिःसृत-न० । द्वेषे निःसृतं मत्सरिणां गुणवत्यपि निर्गुणोऽयमित्यादिरूपे मृषावादे, स्था० १० ठा० ।

दोसदंसि-दोषदर्शिन्-त्रि० । दोषस्य स्वरूपतो वक्तरि, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

दोसपडिघायविणय-दोषप्रतिघातविनय--पु० । दोषाः क्रोधाऽऽदयस्तेषां प्रतिघातो निर्घातना, स एव विनयो दोषप्रतिघातविनयः । दोषनिर्घातनाविनये, प्रव० ६५ द्वार ।

दोसपडियारणा-दोषप्रतिचारणा-पुं० । दोषनिषेधे, पञ्चा० १६ विव० ।

दोसपडियारण्णाय-दोषप्रतिकारज्ञात-पुं० । रोगचिकित्सोदाहरणे, पञ्चा० १९ विव० ।

दोसपडिसेह-दोषप्रतिषेध-पुं० । निर्दोषतायाम्, पञ्चा० १२ विव० ।

दोसबंधण- द्वेषबन्धन--न० । द्विष्यत्यनेनेति वा द्वेषः, द्वेष एव बन्धनं द्वेषबन्धनम् । द्वेषबन्धने, आ० चू० ४ अ० । द्वेषमोहनीयसंबन्धे च । प्रश्न० २ पद ।

दोसरहिय -दोषरहित--पुं० । दोषा रागाऽऽदयः, तैः रहितः । रागाऽऽदिरहिते, सू० प्र० २० पाहु० ।

दोसव--दोषवत्--त्रि० । दोषयुक्ते, पञ्चा० ८ विव० ।

दोसवत्तिया-द्वेषप्रत्यया-स्त्री० । अप्रीतिकारकायां क्रियायाम्, आव०४ अ० । " सा दुविहा पण्णत्ता -कोहणिस्सिया य, माणणिस्सिया य । कोहणिस्सिया अप्पणा कुप्पइ, परस्स कोहं उप्पाएइ । माणणिस्सिया सयं मज्जति, परस्स वा माणं उप्पाएइ । " आव० ४ अ० । मूर्च्छिते, स्था० २ ठा० ४ उ० । क्रियाभेदे, आ० चू० ४ अ० ।

दोससयगग्गरी-दोषशतगर्गरी-स्त्री० । दोषाः परस्परकलहमत्सरगालिप्रदानमर्मोद्घट्टनकलङ्कप्रदानजल्पनशापप्रदानस्वपरप्राणघातचिन्तनादयस्तेषां शतानि तेषां गर्गरिका भाजनविशेषः । दोषशतभृतायां कुस्त्र्याम्, तं० ।

दोसा-स्त्री० । ब्राह्मीलेख्यविधाने, प्रज्ञा० १ पद ।

दोसाणिअ-देशी-निर्मलीकृते, दे० ना० ५ वर्ग ५१ गाथा ।

दोसारण-देशी--कोपे, दे० ना० ५ वर्ग ५१ गाथा ।

दोसिणा-ज्योत्स्ना-स्त्री० । चन्द्रलेश्यायाम्, चं० प्र० ।

ज्योत्स्नालक्षणम्-

ता कहं ते दोसिणालक्खणे आहिता ति वदेज्जा ?। ता दोसिणा ति अ चंदलेसा ति अ । दोसिणा ति य किंअट्ठे, किंलक्खणे ? । ता एगट्ठे एगलक्खणे आहिता । सूरलेस्सा ति य आयवे ति य किंअट्ठे किंलक्खणे ?। ता एगट्ठे एगलक्खणे । ता छाया ति य अंधकारे ति य किंअट्ठे किंलक्खणे ?। ता एगट्ठे एगलक्खणे ।

कथं ज्योत्स्नालक्षणमाख्यातमिति ?। एतदेवंरूपमेव प्रश्नसूत्रमाह-(ता कहं ते इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्, कथं केन प्रकारेण, भगवन् ! त्वया ज्योत्स्नालक्षणमाख्यातमिति वदेत् ? । एवं सामान्यतः पृष्ट्वा विवक्षितप्रश्नार्थप्रकटनाय विशेषप्रश्नं करोति (ता चंदलेस्साइ इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । चन्द्रलेश्या इति ज्योत्स्ना इति । अनयोः पदयोः । अथवा ज्योत्स्ना इति चन्द्रलेश्या इत्यनयोः पदयोरिहाक्षराणामानुपूर्वीभेदेनार्थभेदो दृष्टो, यथा वदनं न दव इति पदानाम् । अपि चानुपूर्वीभेददर्शनादर्थभेददर्शनं यथा पुत्रस्य गुरुः, गुरोः पुत्र इतिवत् । इहापि कदाचिदानुपूर्वीभेदादर्थभेदो भविष्यतीत्याशङ्कावशात् चन्द्रलेश्या इति ज्योत्स्ना इत्युक्त्वा, ज्योत्स्ना इति लेश्या इत्युक्तम् । अनयोः पदयोरानुपूर्व्याऽनानुपूर्व्या व्यवस्थितयोः कोऽर्थः, किं परस्परं भिन्ने, उताभिन्ने इति ?। स च किंलक्षणः किंस्वरूपः, लक्ष्यते तदन्यव्यवच्छेदेन ज्ञायते येन लक्षणमसाधारणं स्वरूपं यस्य स तथा । एवं प्रश्ने कृते भगवानाह-(ता एगट्ठे एगलक्खणे इति) 'ता' इति पूर्ववत् । चन्द्रलेश्या इति ज्योत्स्ना इत्यनयोः पदयोः आनुपूर्व्या अनानुपूर्व्या वा व्यवस्थितयोरेक एवाभिन्न एवार्थः । य एव एकस्य पदस्य वाच्योऽर्थः, स एव द्वितीयस्यापीति भावः । (एगलक्खणे इति) एकमभिन्नमसाधारणं लक्षणं यस्य स तथा । किमुक्तं भवति ?--यदेव चन्द्रलेश्या इत्यनेन पदेन वाच्यस्य साधारणं स्वरूपं प्रतीयते तदेव ज्योत्स्ना इत्यनेनाऽपि पदेन, यदेव च ज्योत्स्ना इत्यनेन पदेन तदेव चन्द्रलेश्या इत्यनेनाऽपि पदेनेति । एवम्-आतप इति सूर्यलेश्या इति । तथाऽन्धकार इति छाया इति । अथवा-छाया इति अन्धकार इति । एतेषु पदेषु विषये प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि भावनीयानि । चं० प्र० २० पाहु० ।

ज्योत्स्नावृद्धिहानी-

ता कता ते दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा ?। ता दोसिणापक्खेणं दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा । ता कहं ते दोसिणापक्खे दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा ?। ता अंधकारपक्खातो दोसिणे पक्खे दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा । ता कहं ते अंधकारपक्खातो दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा ?। ता अंधकारपक्खातो णं दोसिणापक्खं अयमाणे चंदे चत्तारि बायाले मुहुत्तसते छायालीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स जाइं चंदे विरज्जति, तं जहा-पढमाते पढमं भागं० जाव पन्नरसीते पन्नरसं भागं । एवं खलु अंधकारपक्खातो दोसिणापक्खे दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा ?। ता केवतिता णं दोसिणापक्खे दोसिणा आहिता ति वदेज्जा ?। ता परित्ता असंखेज्जा भागा । ता कता ते अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा ?। ता अंधकारे पक्खे अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा । ता कहं ते अंधकारे पक्खे अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा ?। ता दोसिणापक्खातो णं अंधकारपक्खे अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा । ता कहं ते दोसिणापक्खातो अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा ?। ता दोसिणापक्खातो णं अंधकारपक्खं अयमाणे चंदे चत्तारि बायाले मुहुत्तसते छायालीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स जाइं चंदे रज्जति, तं जहा-पढमाते पढमं भागं० जाव पन्नरसीए पन्नरसं भागं । एवं खलु दोसिणापक्खातो अंधकारपक्खे अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा । ता केवति णं अंधकारपक्खे अंधकारे आहिता ति वदेज्जा ?। ता परित्ता असंखेज्जा भागा ।

(ता कता ते दोसिणा इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । कदा कस्मिन् काले भगवन् ! ते त्वया ज्योत्स्ना प्रभूता आख्याता इति वदेत् ?। भगवानाह-(ता दोसिणमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्, ज्योत्स्नापक्षे ज्योत्स्ना बहुराख्याता इति वदेत् ?। (ता कहं ते इत्यादि) 'ता' इति प्राग्वत् । कथं केन प्रकारेण भगवन् ! त्वया ज्योत्स्नापक्षे ज्योत्स्ना बहुराख्याता इति वदेत् ?। भगवानाह-(ता अंधकारे) इत्यादि सुगमम् । " ता कहं ते " इत्यादि प्रश्नसूत्रं निगदसिद्धम् । निर्वचनमाह-(ता अंधकारपक्खाओ इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । अन्धकारपक्षात् ज्योत्स्नापक्षमयमानश्चन्द्रमाश्चत्वारि मुहूर्त्तशतानि द्वाचत्वारिंशानि द्विचत्वारिंशदधिकानि षट्चत्वारिंशतं च द्वाषष्टिभागान् मुहूर्तस्य यावत् ज्योत्स्ना निरन्तरं प्रवर्द्धते । तथा चाह यानि यावत् चन्द्रो विरज्यते शनैः शनैः राहुविमानेनाऽऽवृतस्वरूपो भवति, मुहूर्त्तसंख्यागणिते भावना प्राग्वत् कर्त्तव्या । कथमनावृतो भवतीत्याह । तद्यथा-प्रथमायां प्रतिपल्लक्षणायां तिथौ प्रथमपञ्चदशद्वाषष्टिभागसत्कभागचतुष्टयप्रमाणं यावदनावृतो भवति, द्वितीयस्यां तिथौ द्वितीयं भागं यावत् । एवं तावद् द्रष्टव्यं यावत् पञ्चदश्यां पञ्चदशमपि भागं यावदनावृतो भवति, सर्वाऽऽत्मना राहुविमानेनाऽऽवृतो भवतीति भावः । उपसंहारमाह-(एवं खलु इत्यादि) तत एवमुक्तेन प्रकारेण खलु निश्चितमन्धकारपक्षात् ज्योत्स्ना बहुतराऽऽख्याता इति वदेत् । इयमत्र भावना-इह शुक्लपक्षे यथा प्रतिपत्प्रथमक्षणादारभ्य प्रतिमुहूर्त्तं यावन्मात्रं शनैः शनैः चन्द्रः प्रकटो भवति, तथा अन्धकारपक्षे प्रतिपत्प्रथमक्षणादारभ्य प्रतिमुहूर्त्तं तावन्मात्रं शनैः २ चन्द्र आवृत उपजायते । तत एवं सति यावत्येवान्धकारपक्षे ज्योत्स्ना तावत्येव शुक्लपक्षे, या पञ्चदश्यां ज्योत्स्ना साऽन्धकारपक्षादधिकेति । अन्धकारपक्षात् शुक्लपक्षे ज्योत्स्ना प्रभूता आख्यातेति । (ता कहं ते इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । कियती ज्योत्स्नापक्षे ज्योत्स्ना आख्याता इति वदेत् ?। भगवानाह-परीताः परिमिता असंख्येया भागा निर्विभागा भागाः । एवमन्धकारसूत्राण्यप्युक्तानुसारेण भावनीयानि, नवरमन्धकारपक्षे अमावास्यायां योऽन्धकारः स ज्योत्स्नापक्षादधिक इति ज्योत्स्नापक्षादन्धकारपक्षे अन्धकारपक्षप्रभूत आख्यात इति । चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० ।

दोसिणाभा–ज्योत्स्नाभा–स्त्री० । ज्योतिषेन्द्रस्य चन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । जं० । सू० प्र० । जी० ।

दोसिणी–देशी-ज्योत्स्नायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ५० गाथा ।

दोसिय–दौषिक–त्रि० । दूष्यं पण्यमस्येति दौषिकः । दूष्यकक्रयविक्रयकारिणि, अनु० । व्य० ।

दोसियन्न–दोषान्न–न० । रात्रिपर्युषितेऽन्ने, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

दोह–द्रोह–पुं० । अनिष्टचिन्तने, अष्ट० २४ अष्ट० ।

दोह–पुं० । दुह-कर्मणि घञ् । दुग्धे, 'सन्दोहमाहृष्टमेऽहानि' इति स्मृतिः । आधारे घञ् । दोहनपात्रे, भावे घञ् । दोहने, वाच० ।

दोहड्डि–दोहड्डि–पुं० । स्वनामख्याते ग्रामे, " दोहड्डिवसतिवासे, श्रीजिनकस्य दानकवेः । तदुपक्रमादपरं, च आविकाया वसुन्धरायाः ॥ १ ॥ " जीवा० ३६ अधि० ।

दोहणवाडण–दोहनपाटन–न० । यत्र ग्रामिका गाः दोग्धि । गोदोहनस्थाने, नि० चू० २ उ० ।

दोहणहारी–देशी-जलहारिण्याम्, पानिहारिण्यां च । दे० ना० ५ वर्ग ५६ गाथा ।

दोहणी–देशी-पङ्के, दे० ना० ५ वर्ग ४८ गाथा ।

दोहल–दौहृद–पुं० । गर्भप्रभावोद्भूतेऽन्तर्वत्नीफलाऽऽद्याभिलाषविशेषे, कल्प० १ अधि० ४ क्षण । सूत्र० । पो० । " प्रदीपिदोहदे लः " ॥ ८ । १ । २२१ ॥ इति दस्य लः । ' दोहलो ' प्रा० १ पाद ।

दोहा–द्विधा–अव्य० । द्विप्रकारे, " ओच्च द्विधा कृगः " ॥ ८ । १ । ९७ ॥ द्विधाशब्दे कृगधातोः प्रयोगे इत ओत्वं, चकारादुत्वं च । 'दोहा किज्जइ । दुहा किज्जइ । दोहाइयं । दुहाइअं ।' कृग इति किम्–' दिहागअं । ' क्वचित्केवलस्याऽपि–" दुहा वि सो सुरवहूसत्थो । " प्रा० १ पाद ।

दोहासल्ल–देशी-कटीतटे, दे० ना० ५ वर्ग ५० गाथा ।

दोहूअ–देशी-शवे, दे० ना० ५ वर्ग ४१ गाथा ।

द्रवक्क–भय–न० । " शीघ्राऽऽदीनां वहिल्लाऽऽदयः " ॥ ८ । ४ । ४२२ ॥ इति सूत्रान्तरपठितभयस्य 'द्रवक्क' इति सूत्रेण भयस्य स्थाने द्रवक्काऽऽदेशः । "दिवेहिं विढत्तउं खाहि वढ संचि म एकुवि द्रम्मु कोवि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु ॥" प्रा० ४ पाद ।

द्रेहि–दृष्टि–न० । " शीघ्राऽऽदीनां वहिल्लाऽऽदयः " ॥८।४।४२२॥ इति सूत्रान्तरपठितदृष्टेर्द्रेहिः इति सूत्रेण दृष्टेः स्थाने द्रेहि आदेशः । " एक्कमेक्कउं जइ वि जो, ऍदिहरिसु वसव्वायरेण तो वि द्रेहि । जहि कहि विराहो को सकइ संवरेवि दड्ढनयणा नेहि पलुट्टाः ।" प्रा० ४ पाद ।

द्वितवर–द्वितवर–पुं० । काकन्दीनगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, स च वीरान्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्यायो विपुले पर्वते सिद्ध इत्यन्तकृद्दशायां षष्ठवर्गस्य षष्ठेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ५ वर्ग ।

इति श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प–भट्टारक–

जैनश्वेताम्बराऽऽचार्यश्री १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-

विरचिते " अभिधानराजेन्द्रे " दकाराऽऽदिशब्द–

सङ्कलनं समाप्तम् ।

धकार

ध—ध—पुं० । धे-धा-वा डः । धर्मे, कुबेरे, ब्रह्मणि, गुह्ये, गुह्यके, स्वरे, वह्नौ, वादे, देशभेदे, उपरिभागे, इन्द्रेभकुम्भे, धन्वन्तरौ, ध्वनौ, विशेषे निनादे, शशिनि च । पण्डे, पारुष्ये, धूनने, खड्गे, सामर्थ्ये, धने, धान्ये च । न० । आधारभूते, भायके, भूते, प्रीते च । त्रि० ।

" धो विधाता धनं धर्मो, धो गुह्यो गुह्यके स्वरे ।
धश्च स्वाधारभूतेऽपि, वह्नौ वादे च धायके ॥
देशभेदे भूते प्रीते, धस्त्वथोपरि वर्त्तते ।
धं च पण्डे च पारुष्ये, ... ॥ " एकाο ।
" धः पुंसीन्द्रेभकुम्भे स्याद्, धन्वन्तरि तथा ध्रुवः ।
स्याद् ध्वनौ च विशेषे च, निनादशशिधातुषु ॥ ४० ॥
क्लीबे तु धं धूनने च, खड्गसामर्थ्ययन्त्रिषु ।
धनधान्ये ......, ... ॥ ४१ ॥ " एकाο ।

धंखाहरण—ध्वाङ्क्षोदाहरण—न० । काकदृष्टान्ते, " धंखाहरणेण विसिया । " ध्वाङ्क्षोदाहरणेन काकज्ञातेन । पञ्चा० १२ विव० । (तत्स्वरूपं 'गुरुकुलवास' शब्दे तृ० भा० ८३७ पृष्ठे दर्शितम्)

धंग—देशी-भ्रमरार्थे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धंत—देशी-अतिशये, " धंतं पि दुद्धकंखी, न लभइ दुद्धं अधेणूओ । " व्याख्या-(धंतं पि त्ति) देशीवचनत्वादतिशयेनाऽपि दुग्धकाङ्क्षी, न लभते दुग्धमधेनोः सकाशादिति । बृ० १ उ० ।

ध्वान्त—न० । ध्वन-क्तः । अन्धकारे, वाच० ।

ध्मात—त्रि० । ध्मा-क्तः । दग्धे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । विशे० । अग्निसम्पर्केण निर्मलीकृते, आ० म० १ अ० १ खण्ड । औ० । नं० । रा० । अग्निना तापिते च । औ० । शब्दिते, पिं० । वंशेषु वासहेतुकशब्दयुक्ते च । वाच० । अग्निसंयोगे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । जं० । ज्ञा० । ' ध्मा ' शब्दाग्निसंयोगयोरिति वचनात् । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

धंतधोयकणगरुअगसरिसप्पभ-ध्मातधौतकनकरुचकसदृशप्रभ-त्रि० । ध्मातमग्निना तापितं धौतं जलेन क्षालितं यत्कनकं तस्य यो रुचको वर्णस्तत्सदृशप्रभः । गौराङ्गे, औ० ।

धंतधोयरुप्पपट्ट—ध्मातधौतरूप्यपट्ट—न० । ध्मातोऽग्निसम्पर्केण निर्मलीकृतो धौतो चूतिखरपिट्टहस्तसंमार्जनेनातिजितो रूप्यमयः पट्टः विशदीकृतो यो रूप्यपट्टो रजतपत्रम् । जी० ३ प्रति० ४ उ० । विशदीकृतो यो रूप्यपट्टो रजतपत्रकं स ध्मातधौतरूप्यपट्टः । रा० । अन्ये तु व्याचक्षते ध्मातोऽग्निसंयोगेन यो धौतः शोधितो रूप्यपट्टः स ध्मातधौतरूप्यपट्टः । रा० । ज्ञा० । अग्निसम्पर्केण निर्मलीकृते चूतिखरपिट्टहस्तसमार्जनेनातिजितेऽग्निसंयोगेन शोधिते रजतपत्रके, " धंतधोयरुप्पपट्टे इव धा " जी० ३ प्रति० ४ उ० । जं० ।

धंतधोयरुप्पपट्टअंकसंखचंदकुंदसालिपिट्ठरासिसमप्पभ-ध्मातधौतरूप्यपट्टाङ्कशङ्खचन्द्रकुन्दशालिपिष्टराशिसमप्रभ-त्रि० । ध्मातधौतरूप्यपट्टाङ्कशङ्खचन्द्रकुन्दशालिपिष्टराशिसदृशप्रभे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

धंधा—देशी-लज्जायाम, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धंसण—ध्वंसन—न० । भ्रंशे, " धंसइ जो अभूएणं । " ध्वंसयति मायया भ्रंशयतीति । स० ३० सम० । अपनयने, " सउणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय धंसइ इसियं रयं । " ध्वंसयत्यपनयतीति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । अधःपतने, गमने, नाशे च, वाच० ।

धंसाड—मुच—त्यागे, तु०-मुचादि०-उभ०-सक०-अनिट् । "मुचेश्छड्डावहेड-मेल्लोस्सिक्क-रेअव-णिल्लुञ्छ-धंसाडाः " ॥ ८ । ४ । ९१ ॥ इति सूत्रेण मुञ्चतेर्धंसाडाऽऽदेशः । ' धंसाडइ । ' पक्षे-'मुअइ ।' प्रा० ४ पाद । मुञ्चति, अमुचत् । वाच० ।

धंमाडिअ—देशी-उत्पाटिते, दे० ना० ५ वर्ग ५९ गाथा ।

धअ—देशी-पुरुषे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धगधगंत—धगधगायमान—त्रि० । जाज्वल्यमाने, " धगधगंतसंकुरूवणं । " ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । "पज्जलंति जत्थ धगधगधगस्स गुरुणा विवोइए संता । " (धगधगधगस्स त्ति) अनुकरणशब्दोऽयम्, धगधगिति धगधगायमानं यथा स्यादित्यर्थः । प्राकृतत्वाच्चैवं प्रयोगः । ग० २ अधि० ।

धगधगाइय—धगधगायित—त्रि० । धगधगायितं कुर्वति, " धगधगाइयजच्चंतजालुज्जलामिरामं । " कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

धट्टज्जुण—धृष्टद्युम्न—पुं० । धृष्टं प्रगल्भं द्युम्नं बलं यस्य । "धृष्टद्युम्ने णः" ॥ ८ । २ । ९४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण णस्य न द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । द्रुपदराजपुत्रे, वाच० ।

धडिया—घटिका—स्त्री० । "मर्वेदशमिरेका च, घटिका कथिता बुधैः" इत्युक्तलक्षणे दशमणाऽऽत्मके मानविशेषे, तं० । कल्प० ।

धण—धण—धा० । ध्वाने, भ्वादि०-पर०-सक०-सेट् । धणति । अधाणीत् । अधणीत् । वाच० ।

ध्रण—धा० । ध्वाने, भ्वादि०-पर०-अक०-सेट् । ध्रणति । अध्राणीत् । अध्रणीत् । वाच० ।

ध्वण—धा० । ध्वाने, भ्वादि०-पर०-अक०-सेट् । ध्वणति, अध्वाणीत् । अध्वणीत् । वाच० ।

ध्वन—धा० । शब्दे, चुरा०-उभ०-सक०-सेट् । ध्वनयति । अदिध्वनत् । अध्वनयीत् । वाच० । ध्वन-घञ् । शब्दे, पुं० । वाच० । रवे, भ्वादि०-पर०-अक०-सेट् । घ-घटादिः । ध्वनति । अध्वानीत् । अध्वनीत् । ध्वनयति । ध्वानयति । वाच० ।

धन—धा० । धान्योत्पादने, जुहो०-पर०-अक०-सेट् । दधन्ति, अधानीत् । अधनीत् । वाच० । रवे, भ्वादि०-पर०-अक०-सेट् । धनति ।

अधार्मिक । अधनीम् । वाच० । धन-अच् । वस्तुनि, अर्थे, वाच० । हिरण्यरूप्याऽऽदिके, उत्त० ६ अ० । रा० । "धणियमियरं तु धण ।" यद् घाटनामितरद् वा अघाटितं तद्धनमुच्यते । बृ० १ उ० । गोमहिष्यादिके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आव० । औ० । उत्त० । गुडखण्डशर्कराऽऽदिके, धनं गुडखण्डशर्कराऽऽदि, गोमहिष्यजाऽश्वैकाकरभतुरगाऽऽदि वा । आव० ६ अ० । भाण्डाऽऽदिके, आ० चू० ६ अ० । 'धनम' गणिम-धरिम-मेय-पारिच्छेद्य-भेदाच्चतुर्धा । यदाह-"गणिमं जाइफलफोफलाई, धरिमं तु कुंकुमगुडाई । मेज्जं चोपडलोणाइ, रयणवत्थाइ परिच्छेज्जं ।" ॥ १ ॥ (४७ गाथा) ध० २ अधि० । आ० चू० । दशा० । कल्प० । औ० । ज्ञा० । भ० । धनं च न्यायेनैवोपार्जयदिति गृहिधर्मः । ध० १ अधि० । धनार्थिनाऽपि धर्म एव कार्यः । "धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः ।" "तो पडिभणेइ सेट्ठी, धणत्थिणो जइ तुमे तहा वि इमं । धम्मं करेह जं एस देइ धणं कामधेणुसमो ॥" ध० र० । अर्थस्यापि पुरुषार्थतया सकलैहिकाऽऽमुष्मिकफलनिबन्धनतया च तदुपार्जनं प्रत्यप्रमादो विधेय इति केषाञ्चित्कदाशयः । यत आहुः-"धनैर्दुष्कुलीनाः कुलीनाः क्रियन्ते, धनैरेव पापात्पुनर्निस्तरन्ति । धनेभ्यो विशिष्टो न लोकेऽस्ति कश्चिद्, धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम् ॥ १ ॥" इति ।

तन्मतमपाकर्तुमाह-

जे पावकम्मेहिँ धणं मणूसा,
समाययंती अमतिं गहाय ।
पहाय ते पास पयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरयं उवेंति ॥ २ ॥

ये केचनाविवक्षितस्वरूपाः पापकर्मभिरिति पापोपादानहेतुभिरनुष्ठानैर्धनं द्रव्यं मनुष्या मनुजाः, तेषामेव प्रायस्तदर्थोपायप्रवर्त्तनादित्यमुक्तम् । समाददते स्वीकुर्वन्ति, अमतिमिति प्राग्वत्, नञः कुत्सायामपि दर्शनात्कुमतिम् उक्तरूपां, (गहाय त्ति) गृहीत्वा संप्रधार्य । पठ्यते च-"अमयं गहाय त्ति" अशोभनं मतममतं नास्तिकाऽऽदिदर्शनम्, अथवा-अमृतमिवाऽमृतम् । आत्मनि परमानन्दोत्पादकतया तच्च प्रक्रमात्तनम । (पहाय त्ति) प्रकर्षेण तन्मध्यादेकस्याप्यग्रहणाऽऽत्मकेन हित्वा त्यक्त्वा, तानिति धनैकरसिकान्, पश्यावलोकय । विनयमेवाह-(पयट्टिए त्ति) आर्षत्वात् कर्म पत्राशुभानुभावतः प्रवृत्तान्प्रवर्त्तितान्वा, प्रक्रमात्पापकर्मोपार्जितधनेनैव मृत्युमुखमिति भावः । एतच्च गम्यते, नरान् पुरुषान्, पुनरुपादानमादरख्यापकमेकान्तक्षणिकपक्षनिरासार्थं वा । एकान्तक्षणिकपक्षे हि नैवैवं धनमुपार्जितं तेषामेव प्रवर्त्तनम् । तथा च बन्धमोक्षाभावश्चेति भावः । एतच्च पश्य वैरं कर्म "वेरे वज्जे य कम्मे य" इति वचनात् । तेनानुबद्धाः सततमनुगता वैरानुगताः, नरकं रत्नप्रभाऽऽदिकं नारकनिवासं उपयान्ति एतच्च तन्नाधितया सामीप्येन गच्छन्ति, त एव मृत्युमुखप्रवृत्ता इति प्रक्रमः । यदि वा-पाशा इव पाशाः स्त्र्याद्यवलम्बेषु प्रवृत्तास्तैर्वा प्रवर्त्तिताः पाशप्रवृत्ताः पाशप्रवर्त्तिता वा नरकमुपयान्तीति सम्बन्धः । ते हि द्रव्यमुपार्ज्य स्त्र्यादिष्वभिरमन्ते, तदन्तरत्वा च नरकगतिभाज एव भवन्तीति भावः । शेषं प्राग्वत् । तदनेन सूत्रेण धनमिहैव मृत्युहेतुतया परत्र च नरकप्रापकत्वेन तत्त्वतः पुरुषार्थ एव न भवतीति तदर्थातो धर्मं प्रति मा प्रमादीरित्युक्तं भवति । नरकप्राप्तिलक्षणश्चापायो न प्रत्यक्षेणावगम्यते इहैव मृत्युलक्षणापायदर्शनमुदाहरणम । तत्र वृद्धसंप्रदायः-"एगम्मि नयरे एगो चोरो, सो रत्तिं विभवसंपन्नेसु घरेसु खत्तं खणियं, सुबहुं दविणजायं घेत्तुं अप्पणो घरेगदेसे कूवं सयमेव खणित्ता तत्थ दविणजायं पक्खिवति, जहा कोइ न मुणइ । अहाऽकुलं च सुंकं दाऊण कन्नगं विवाहेउं पसूयं निवइवहित्ता तत्थेव तहेव पक्खिवइ, मा मे भज्जा चेडरूवाणि पसूयाणि होऊण रयणाणि परस्स पगासिहिति । एवं काले वच्चमाणे अन्नया तेणेगा कन्नया विवाहिया अतीवरूविणी सा पसूया सन्ती तेणं न मारिया । दारगो य सो अट्ठवरिसो जाओ । तेण चिंतियं-अइचिरकालं विधारिया एस पुव्वं उद्दवेउं पच्छा दारयं उद्दाविस्सं, तेण सा उद्दवेउं अगडे पक्खित्ता, तेण दारगेण गिहाओ निग्गच्छिऊण हाहा कया, लोगो मिलिओ, तेण भणति-एएण मे माया मारिय त्ति । रायपुरिसेहिं सुयंतेहिं गहितो, दिट्ठो कूवो दव्वभरिओ, अट्ठियाणि य सुबहूणि, सो बंधेऊण रायसभमुवणीओ, जायणापगारेहिं सव्वं दव्वं दवावेऊण कुमारेण मारिओ ।" एवमन्येऽपि धनं प्रधानमिति तदर्थं प्रवर्त्तमानाः तदपहायेहैवानर्थाभाजो नरकमुपयान्तीति सूत्रार्थः । उत्त० पाई० ४ अ० । (संयमस्थस्य धनेन कःप्रयोजनमुत्पद्यते तदा किं कर्त्तव्यमिति तद्वक्तव्यता 'अणुजाय' शब्दे प्रथमभागे २४१ पृष्ठे उक्ता) स्नेहे, धनिष्ठानक्षत्रे च । वाच० । पार्श्वनाथस्य प्रथमभिक्षादायके, स० । राजगृहनगरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, आ० म० द्वि० । आ० चू० । आ० चा० । (तद्वक्तव्यता 'चिलातीपुत्त' शब्दे तृतीयभागे ११८९ पृष्ठे उक्ता) ("रोहिणी" शब्दं च द्रष्टव्या) देवदत्तदारकस्य पितरि राजगृहनगरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, ज्ञा० ।

तत्कथा राजगृहवर्णनमधिकृत्य-

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णयरे होत्था, णगरस्स वण्णओ । तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था, महया वण्णओ । तत्थ णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए गुणसिलए णामं चेइए होत्था, वण्णओ । तस्स णं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामंते एत्थ णं महं एगे जिण्णुज्जाणे यावि होत्था, विणट्ठदेवउले परिसडियतोरणघरे णाणाविहगुच्छगुम्मलयावल्लिवच्छच्छाइए अणेगवालसयसंकणिज्जे यावि होत्था । तस्स णं जिण्णुज्जाणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे भग्गकूवए यावि होत्था, तस्स णं भग्गकूवस्स अदूरसामंते एत्थ णं महं एगे मालुयाकच्छए यावि होत्था, किण्हे किण्होभासे० जाव रम्मे महामेहनिउरंबभूए बहूहिं रुक्खेहि य गुच्छेहि य गुम्मेहि य लयाहि य वल्लीहि य तणेहि य कुसेहि य कुसुमेहि य खाणुएहि य संछण्णेहि य परिच्छन्ने अंतो झुसिरे बाहिं गंभीरे अणेगवालसयसंकणिज्जे यावि होत्था । तत्थ णं रायगिहे णयरे धण्णे णामं सत्थवाहे अड्ढे दित्ते० जाव विउलभत्तपाणे, तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स भद्दा नामं भारिया

होत्था, सुकुमालपाणिपाया अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा लक्खणवंजणगुणोववेया माणुम्माणप्पमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगी ससिसोमाकारकंतपियदंसणा सुरूवा करयलपरिमियतिवलियमज्झा कुंडलुल्लिहियगंडलेहा कोमुइरयणियरविमलपडिपुण्णसोमवयणा सिंगारागारचारुवेसा० जाव पडिरूवा वंझा अवियाउरी जाणुकोप्परमाया यावि होत्था । तस्स णं धणस्स सत्थवाहस्स पंथए णामं दासचेडए होत्था, सव्वंगसुंदरंगे मंसोवचिए बालकीलावणकुसले यावि होत्था । तए णं से धणे सत्थवाहे रायगिहे णयरे बहूणं णगरणिगमसेट्ठिसत्थवाहाणं अट्ठारसण्ह य सेणिप्पसेणीणं बहुसु कज्जेसु य कुडुंबेसु य ०जाव चक्खुभूए यावि होत्था, णियगस्स वि य णं बहूसु कुडुंबेसु य बहुसु गुज्झेसु य० जाव चक्खुभूए यावि होत्था । तत्थ णं रायगिहे णयरे बाहिया विजए णामं तक्करे होत्था, पावे चंडालरूवे भीमतररुद्दकम्मे आरुसियदित्तरत्तणयणे खरफरुसमहल्लविगयबीभच्छदाढिए असंपुडियउट्ठे उद्धुयपइण्णलंबंतमुद्धए भमरराहुवण्णे णिरणुक्कोसे णिरणुतावे दारुणे पइभए णिस्संसइए णिरणुकंपे अहीव एगंतदिट्ठीए खुरेव एगधाराए गिद्धेव आमिसतल्लिच्छे अग्गिमिव सव्वभक्खी जलमिव सव्वग्गाही उक्कंचणवंचणमायाणियडिकूडकवडसाइसंपओगबहुले चिरणगरविणट्ठदुट्ठसीलायारचरित्ते जूयपसंगी मज्जपसंगी भोज्जपसंगी मंसपसंगी दारुणहिययदारए साहसिए संधिच्छेयए उवहिए विस्संभघाई आलीवगतित्थभेयलहुहत्थसंपउत्ते परस्स दव्वहरणे णिच्चं अणुबद्धे तिव्ववेरे रायगिहस्स णयरस्स बहूणि अतिगमणाणि य णिग्गमणाणि य दाराणि य अवदाराणि य छिंडिओ य खंडीओ य णगरणिद्धमणाणि य संवट्टणाणि य णिव्वट्टणाणि य जूयखलयाणि य पाणागाराणि य वेसागाराणि य तक्करट्ठाणाणि य तक्करघराणि य सिंघाडगाणि य तियाणि य चउक्काणि य चच्चराणि य णागघराणि य भूयघराणि य जक्खदेउलाणि य सभाणि य पव्वताणि य पणियसालाणि य सुण्णघराणि य आभोएमाणे मग्गमाणे गवेसमाणे बहुजणस्स छिद्देसु य विसमेसु य विहुरेसु य वसणेसु य अब्भुदएसु य उस्सवेसु य पसवेसु य तिहीसु य छणेसु य जण्णेसु य पव्वणीसु य वुड्ढेसु य मत्तपमत्तस्स य वक्खित्तस्स य वाउलस्स य सुहियस्स य दुहियस्स य विदेसत्थस्स य विप्पवसियस्स य मग्गं च छिद्दं च विहुरं च अंतरं च मग्गमाणे गवेसमाणे एवं च णं विहरइ, बाहिया वि य णं रायगिहस्स णयरस्स आरामेसु य उज्जाणेसु य सुसाणेसु य वाविपोक्खरिणीदीहियागुंजालियासु य सरेसु य सरपंतियासु य सरसरपंतियासु य जिण्णुज्जाणेसु य भग्गकूवेसु य मालुयाकच्छएसु य सुसाणेसु य गिरिकंदरलयणउवट्ठाणेसु य बहुजणस्स छिद्देसु य० जाव एवं च णं विहरइ । तए णं तीसे भद्दाए भारियाए अण्णया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणीए अयमेयारूवे अब्भत्थिए ०जाव समुप्पज्जित्था—अहं धणेणं सत्थवाहेणं सद्धिं बहूणि वासाणि सद्दफरिसरसगंधरूवाणि माणुस्सगाइं कामभोगाइं पच्चणुब्भवमाणी विहरामि । णो चेव णं अहं दारगं वा दारियं वा पयायामि । तं धण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ ०जाव सुलद्धे णं माणुस्सए जम्मजीवियफले, तासिं अम्मयाणं जासिं मण्णे णियगकुच्छिसंभूयाइं थणदुद्धलुद्धयाइं महुरसमुल्लावगाइं मम्मणपयंपियाइं थणमूलकक्खदेसभागं अभिसरमाणाइं मुद्धयाइं थणियं पिवंति, तओ य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हिऊणं उच्छंगे णिवेसियाइं देंति समुल्लावए पिए सुमहुरे पुणो पुणो मंजुलप्पभाणिए, तं णं अहं अधण्णा अपुण्णा अलक्खणा अकयपुण्णा एत्तो एगमवि ण पत्ता, तं सेयं मम कल्लं पाउप्पभाए रयणीए० जाव जलंते धणं सत्थवाहं आपुच्छित्ता धणेणं सत्थवाहेणं अब्भणुण्णाया समाणी सुबहुं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता सुबहुपुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं गहाय बहुमित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियणमहिलाहिं सद्धिं संपरिवुडा जाइं इमाइं रायगिहस्स णयरस्स बहिया णागाणि य भूयाणि य जक्खाणि य इंदाणि य खंदाणि य रुद्दाणि य सिवाणि य वेसमणाणि य, तत्थ णं बहूणं णागपडिमाण य० जाव वेसमणपडिमाण य महरिहं पुप्फच्चणियं करेत्ता जाणुपायवडिया एवं वइत्तए—जइ णं अहं देवाणुप्पिया ! दारगं वा दारियं वा पयायामि, तो णं अहं तुब्भं जायं च दायं च भायं च अक्खयणिहिं च अणुवड्ढेमि त्ति कट्टु उवाइयं उवयाइत्तए एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता कल्लं० जाव जलंते जेणामेव धणे सत्थवाहे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एवं वयासी—एवं खलु अहं देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं सद्धिं बहूणि वासाइं० जाव विहरामि समुल्लावए सुमहुरे पुणो २ सुमंजुलप्पभाणिए तेणं अहं अधण्णा अपुण्णा अकयलक्खणा एत्तो एगमवि ण पत्ता, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणी विपुलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा० जाव अणुवड्ढेमि उवाइयं करित्तए । तए णं धणे सत्थवाहे भद्दं भारियं एवं वयासी—ममं पि य णं खलु देवाणुप्पिए ! एस चेव मणोरहे, कहं णं तुमं दारगं वा दारियं वा पया-

एज्जमि भद्दाए सत्थवाहीए एयमट्ठं अणुजाणामि । तए णं सा भद्दा सत्थवाही धणेणं सत्थवाहेणं अब्भणुण्णाया समाणी हट्ठतुट्ठा ०जाव हियया विउलं असणपाणखाइमसाइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता सुबहुं पुप्फगंधमल्लालंकारं गिण्हइ, गिण्हइत्ता सयाओ गिहाओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता रायगिहं णयरं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पुक्खरिणीए तीरे सुबहुं पुप्फगंधमल्लालंकारं ठवेइ, ठवेइत्ता पुक्खरिणिं ओगाहेइ, ओगाहेइत्ता जलमज्जणं करेइ, करेइत्ता जलकीडं करेइ, करेइत्ता ण्हाया कयबलिकम्मा उल्लपडसाडिया जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव सहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हइ, गिण्हइत्ता पुक्खरिणीओ पच्चोरुहइ, तं सुबहुं पुप्फवत्थगंधमल्लं गिण्हइ, गिण्हइत्ता जेणामेव णागघरए य ०जाव वेसमणघरए य तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तत्थ णं णागपडिमाण य० जाव वेसमणपडिमाण य आलोए पणामं करेइ, करेइत्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, लोमहत्थगं परामुसइ, णागपडिमाओ य० जाव वेसमणपडिमाओ य लोमहत्थेणं पमज्जइ, पमज्जइत्ता उदगधाराए अब्भुक्खेइ, अब्भुक्खेइत्ता पम्हलसुकुमालए गंधकासाईए गायाइं लूहेइ, लूहेइत्ता महरिहं वत्थारुहणं मल्लारुहणं गंधारुहणं चुण्णारुहणं वण्णारुहणं च करेइ० जाव धूवं डहइ । जाणुपायवडिया पंजलिउडा एवं वयासी—जइ णं अहं दारगं वा दारियं वा पयायामि तो णं अहं तुब्भं जायं० जाव अणुवड्ढेमि त्ति कट्टु उवाइयं करेइ, जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता विउलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आसाएमाणी०जाव विहरइ, जिमिय०जाव सुइभूया जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अदुत्तरं च णं भद्दा सत्थवाही चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु विपुलं असणं० ४ उवक्खडेइ, उवक्खडेइत्ता बहवे णागा य० जाव वेसमणा य उवायमाणी णमंसमाणी०जाव एवं च णं विहरइ । तए णं सा भद्दा सत्थवाही अण्णया कयाइं केणइ कालंतरेणं आवण्णसत्ता जाया यावि होत्था । तए णं तीसे भद्दाए सत्थवाहीए दोसु मासेसु विइक्कंतेसु तइए मासे वट्टमाणे इमे एयारूवे दोहले पाउब्भूए—धण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ० जाव कयलक्खणाओ ताओ अम्मयाओ जाओ णं विउलं असणं० ४ सुबहु पुप्फगंधमल्लालंकारं गहाय मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियणमहिलाहिं सद्धिं संपरिवुडाओ रायगिहं णयरं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव ओगाहिंति, ओगाहिंतित्ता ण्हायाओ कयबलिकम्माओ सव्वालंकारविभूसियाओ विपुलं असणं० ४ आसाएमाणीओ० जाव परिभुंजमाणीओ दोहलं विणेंति, एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता कल्लं० जाव जलंते जेणेव धणे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता धणं सत्थवाहं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम तस्स गब्भस्स०जाव विणेंति, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणी ०जाव विहरित्तए ?। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तए णं सा भद्दा सत्थवाही धणेणं सत्थवाहेणं अब्भणुण्णाया समाणी हट्ठतुट्ठा० जाव हियया विउलं असणं० ४ जाव ण्हाया कय० जाव उल्लपडसाडगा जेणेव णागघरए० जाव धूवं डहइ, डहइत्ता पणामं करेइ, करेइत्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तए णं ताओ मित्तणाइ० जाव णयरमहिलाओ भद्दं सत्थवाहिं सव्वालंकारविभूसियं करेंति । तए णं सा भद्दा सत्थवाही ताहिं मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियणणयरमहिलियाहिं सद्धिं विपुलं असणं० ४ जाव परिभुंजमाणी य दोहलं विणेति, जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । तए णं सा भद्दा सत्थवाही संपुण्णदोहला० जाव तं गब्भं सुहं सुहेणं परिवहइ । तए णं सा भद्दा सत्थवाही णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणं राइंदियाणं सुकुमालपाणिपायं० जाव दारगं पयाया । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे जायकम्मं करेंति, तहेव०जाव विपुलं असणं उवक्खडावेंति, तहेव मित्तणाइं भोयावेत्ता अयमेयारूवं गोण्णं गुणनिप्फण्णं णामधिज्जं करेंति—जम्हा णं अम्हं इमे दारए बहूणं णागपडिमाण य० जाव वेसमणपडिमाण य उवाइयलद्धे, तं होउ णं अम्हं इमे दारए देवदिण्णे णामेणं । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधिज्जं करेंति देवदिण्णे त्ति । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो जायं च भायं च अक्खयणिहिं च अणुवड्ढेंति । तए णं से पंथए दासचेडए देवदिण्णस्स दारगस्स बालग्गाही जाए देवदिण्णं दारगं कडीए गिण्हइ, गिण्हइत्ता बहूहिं डिंभएहि य डिंभियाहि य दारएहि य दारियाहि य कुमारेहि य कुमारियाहि य सद्धिं संपरिवुडे अभिरममाणे अभिरमइ । तए णं सा भद्दा सत्थवाही अण्णया कयाइ देवदिण्णं दारयं ण्हायं कयबलिकम्मं कयकोउयमंगलपायच्छित्तं सव्वालंकारविभूसियं करेइ, पंथयस्स दासचेडयस्स हत्थयंसि दलयइ । तए णं से पंथए दासचेडए भद्दाए सत्थवाहीए हत्थाओ देवदिण्णं दारगं कडीए गिण्हइ, गिण्हइत्ता सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडि-

णिक्खमइत्ता बहूहिं डिंभएहि य डिंभियाहि य० जाव कुमारियाहिं सद्धिं संपरिवुडे जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदिन्नं दारयं एगंते ठावेइ, बहूहिं डिंभएहिं य० जाव कुमारियाहिं सद्धिं संपरिवुडे पमत्ते यावि विहरइ । इमं च णं विजयतक्करे रायगिहस्स णयरस्स बहूणि दाराणि य अवदाराणि य तहेव ०जाव आभोएमाणे मग्गमाणे गवेसमाणे जेणेव देवदिन्ने दारए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदिन्नं दारयं सव्वालंकारविभूसियं पासइ, पासित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स आभरणालंकारेसु मुच्छिए गढिए गिद्धे अज्झोववन्ने पंथयं दासचेडयं पमत्तं पासइ, पासइत्ता दिसालोयं करेइ, करेइत्ता देवदिन्नं दारगं गिण्हइ, गिण्हइत्ता कक्खंसि अल्लियावेइ, अल्लियावेत्ता उत्तरिज्जेणं पिहेइ, पिहेइत्ता सिग्घं तुरियं चवलं वेइयं रायगिहस्स णयरस्स अवदारेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव जिण्णुज्जाणे जेणेव भग्गकूवए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदिन्नं दारयं जीवियाओ ववरोवेइ, ववरोवेत्ता आभरणालंकारं गिण्हइ, गिण्हइत्ता देवदिन्नस्स दारगस्स सरीरं णिप्पाणं णिच्चेट्ठं ०जाव विप्पजढं भग्गकूवए पक्खिवइ, पक्खिवइत्ता जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता मालुयाकच्छयं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसइत्ता णिच्चले णिप्फंदे तुसिणीए दिवसं खवेमाणे चिट्ठइ । तए णं से पंथए दासचेडए तओ मुहुत्तंतरस्स जेणेव देवदिन्ने दारए ठविए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदिन्नं दारगं तंसि ठाणंसि अपासमाणे रोयमाणे कंदमाणे विलवमाणे देवदिन्नस्स दारगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ, करेइत्ता देवदिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइं वा खुइं वा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे जेणेव धणे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता धणं सत्थवाहं एवं वयासी-एवं खलु सामी ! भद्दा सत्थवाही देवदिन्नं दारयं ण्हायं० जाव मम हत्थंसि दलयइ । तए णं अहं देवदिन्नं दारयं कडीए गिण्हामि, गिण्हइत्ता० जाव मग्गणगवेसणं करेमि । तं ण णज्जइ णं सामी ! देवदिन्ने दारए केणइ णेगिए वा अवहरिए वा अक्खित्ते वा पायवडिए धण्णस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं णिवेएइ । तए णं से धणे सत्थवाहे पंथयस्स दासचेडयस्स एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म तेणेव महया पुत्तसोएणाभिभूए समाणे परसुणियत्ते व चंपगपायवे धस त्ति धरणियलंसि सव्वंगेहिं संणिवइए । तए ण से धणे सत्थवाहे तओ मुहुत्तंतरस्स आसत्थे पच्चागयप्पाणे देवदिन्नस्स दारगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ, करेइत्ता देवदिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइं वा खुइं वा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता महत्थं पाहुडं गिण्हइ, गिण्हइत्ता जेणेव णयरगुत्तिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं महत्थं पाहुडं उवणेइ, उवणेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम पुत्ते भद्दाए भारियाए अत्तए देवदिन्ने णामं दारए इट्ठे० जाव उंबरपुप्फं पि व दुल्लहे सवणयाए, किमंग ! पुण पासणयाए । तए णं सा भद्दा देवदिन्नं दारयं ण्हायं सव्वालंकारविभूसियं पंथगस्स दासस्स हत्थे दलयइ० जाव पायवडिए, तं मम णिवेइ । तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! देवदिन्नस्स दारयस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करित्तए । तए णं ते णयरगुत्तिया धणेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणा सण्णद्धबद्धकवया उप्पीलियसरासणपट्टिया० जाव गहियाउहपहरणा धणेणं सत्थवाहेणं सद्धिं रायगिहस्स णयरस्स बहूणि अइगमणाणि य० जाव पवासु य मग्गणगवेसणं करेमाणा रायगिहाओ णयराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव जिण्णुज्जाणे जेणेव भग्गकूवए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदिन्नस्स दारयस्स सरीरं णिप्पाणं निच्चेट्ठं जाव विप्पजढं पासंति, हा हा अहो अकज्जमिति कट्टु देवदिन्नं दारगं भग्गकूवाओ उत्तारेइ, उत्तारेइत्ता धणस्स सत्थवाहस्स हत्थे दलयंति । तए णं ते णयरगुत्तिया विजयस्स तक्करस्स पयमग्गमणुगच्छमाणा जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता मालुयाकच्छयंसि अणुप्पविसंति, विजयं तक्करं ससक्खं सहोढं सगेवज्जं जीवग्गाहं गिण्हइ, गिण्हइत्ता अट्ठिमुट्ठिजाणुकोप्परप्पहारसंभग्गमहियगत्तं करेंति, अवउडाबंधणं करेंति, करेंतित्ता देवदिन्नस्स दारयस्स आभरणं गिण्हंति, गिण्हइत्ता विजयस्स तक्करस्स गीवाए बंधइ, बंधइत्ता मालुयाकच्छयाओ पडिणिक्खमंति, जेणेव रायगिहे णयरे तेणेव उवागच्छंति, रायगिहं णयरं अणुप्पविसंति, रायगिहे णयरे सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरमहापहपहेसु कसप्पहारेहि य लयापहारेहि य छिवापहारेहि य णिवाएमाणा छारं च धूलिं च कयवरं च उवरि पक्किरमाणा २ महया २ सद्देणं उग्घोसेमाणा एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया ! विजए णाम तक्करे० जाव गिद्धे विव आमिसभक्खी बालघायए य बालकमारए, तं णो खलु देवाणुप्पिया ! एयस्स केइ राया वा रायमच्चे वा अवरज्झइ, णऽण्णत्थ अप्पणो सयाइं कम्माइं अवरज्झंति त्ति कट्टु जेणामेव चारगसाला तेणामेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता हडिबंधणं करिंति, भत्तपाणणिरोहं करिंति, तिसंझं कसप्पहारेहि य० जाव णिवाएमाणा विह-

रंति । तए णं से धण्णे सत्थवाहे मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियणेणं सद्धिं रोयमाणेणं० जाव विलवमाणेणं देवदिण्णस्स दारगस्स सरीरस्स महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं णीहरणं करेंति, करेत्ता बहूइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेति, करेइ कालंतरेणं अवगयसोए जाए यावि होत्था । तए णं से धण्णे सत्थवाहे अण्णया कयाइ लहुसयंसि रायावराहंसि संपलित्ते जाए यावि होत्था । तए णं ते णगरगुत्तिया धण्णं सत्थवाहं गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव चारगे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता चारगं अणुप्पविसंति, अणुप्पविसंतित्ता विजएणं तक्करेणं सद्धिं एगओ घडिबंधणं करिंति । तए णं सा भद्दा भारिया कल्लं० जाव जलंते विउलं असणं० ४ उवक्खडेति, उवक्खडेत्ता भोयणपिडयं करेइ, भोयणाइं पक्खिवति, लंछियं मुद्दियं करेति, करेत्ता एगं च सुरभिवारिपडिपुण्णं दगवारयं करेति, करेत्ता पंथयं दासचेडयं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! इमं विउलं असणं० ४ गहाय चारगसालाए धण्णस्स सत्थवाहस्स उवणेहि । तए णं से पंथए भद्दाए सत्थवाहीए एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे तं भोयणपिडयं तं च सुरभिवरवारिपडिपुण्णं दगवारयं गिण्हइ, गिण्हइत्ता सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता रायगिहं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव चारगसाला जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भोयणपिडयं ठवेति, ठवेतित्ता उल्लंछेइ, उल्लंछेइत्ता भायणाइं गिण्हइ, गिण्हइत्ता भायणाइं धोवेइ, धोवेइत्ता हत्थसोयं दलयइ, दलयइत्ता धण्णं सत्थवाहं तेणं विपुलेणं असण० ४ परिवेसेइ । तए णं से विजए तक्करे धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी-तुमे णं देवाणुप्पिया ! मम एत्तो विपुलाओ असणा० ४ संविभागं करेह । तए णं से धण्णे सत्थवाहे विजयं तक्करं एवं वयासी-अवियाइं अहं विजया ! एवं विपुलं असणं० ४ कागाणं वा सुणगाणं वा दलएज्जा, उक्कुरुडाए वा णं छड्डेज्जा, णो चेव णं तव पुत्तघायगस्स पुत्तमारगस्स अरिस्स वेरियस्स पडिणीयस्स पच्चामित्तस्स एत्तो विपुलाओ असणं० ४ संविभागं करेज्जामि । तए णं से धण्णे सत्थवाहे तं विपुलं असणं० ४ आहारेइ, तं पंथयं विसज्जेइ । तए णं से पंथए दासचेडए तं भोयणपिडगं गिण्हइ, जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए । तए णं तस्स धण्णस्स सत्थवाहस्स तं विपुलं असणं० ४ आहारियसमाणस्स उच्चारपासवणेणं उव्वाहित्था । तए णं से धण्णे सत्थवाहे विजयं तक्करं एवं वयासी-एहि ताव विजया ! एगंतमवक्कमामो, जेणं अहं उच्चारपासवणं परिट्ठवेमि । तए णं से विजए तक्करे धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी-तुब्भं देवाणुप्पिया ! विपुलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारियस्स अत्थि उच्चारे वा पासवणे वा, मम णं देवाणुप्पिया ! इमेहिं बहूहिं कसप्पहारेहि य० जाव लयापहारेहि य तण्हाए य छुहाए य परिब्भवमाणस्स णत्थि केइ उच्चारे वा पासवणे वा, तं छंदेणं तुमं देवाणुप्पिया ! एगंते अवक्कमित्ता उच्चारपासवणं परिट्ठवेह । तए णं से धण्णे सत्थवाहे विजएणं तक्करेणं एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं से धण्णे सत्थवाहे मुहुत्तंतरस्स बलियतरागं उच्चारपासवणेणं उव्वाहिज्जमाणे विजयं तक्करं एवं वयासी-एहि ताव विजया !० जाव अवक्कमामो । तए णं से विजए धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी-जइ णं तुमं देवाणुप्पिया ! ताओ विपुलाओ असणं ० ४ संविभागं करेह, तओ णं अहं तुब्भेहिं सद्धिं एगंतं अवक्कमामि । तए णं से धण्णे सत्थवाहे विजयं तक्करं एवं वयासी-अहं णं ताओ विपुलाओ असणं ० ४ संविभागं करेस्सामि । तए णं से विजए तक्करे धण्णस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ । तए णं से विजयए तक्करे धण्णेणं सद्धिं एगंते अवक्कमइ, उच्चारपासवणं परिट्ठवेइ, आयंते चोक्खे परमसुइभूए तमेव ठाणं उवसंकमित्ता णं विहरइ । तए णं सा भद्दा कल्लं ०जाव जलंते विपुलं असणं ४ ० जाव परिवेसेइ । तए णं से धण्णे सत्थवाहे विजयस्स तक्करस्स ताओ विपुलाओ असणं० ४ संविभागं करेइ । तए णं से धण्णे सत्थवाहे पंथयं दासचेडं विसज्जेइ तए णं से पंथए भोयणपिडयं गहाय चारगसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता रायगिहं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गिहे जेणेव भद्दा भारिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भद्दं सत्थवाहिणिं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिए ! धण्णे सत्थवाहे तव पुत्तघायगस्स ०जाव पच्चामित्तस्स ताओ विउलाओ असणं पाणं खाइमं साइमं संविभागं करेति । तए णं सा भद्दा सत्थवाही पंथयस्स दासचेडस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा आसुरुत्ता रुट्ठा० जाव मिसिमिसेमाणा धण्णस्स सत्थवाहस्स पओसमावज्जइ । तए णं से धण्णे सत्थवाहे अण्णया कयाइ मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियणेणं सएण य अत्थसारेणं रायकज्जाओ अप्पाणं मोयावेइ, मोयावेइत्ता चारगसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अलंकारियकम्मं करावेइ. करावेत्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव

उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अह धोयमट्टियं गिराहइ, गिरिहइत्ता पुक्खरिणिं ओगाहेइ, ओगाहेइत्ता जलमज्जणं करेइ, एहाए कयबलिकम्मे० जाव रायगिहं णयरं अणुप्पविसइ । रायगिहस्स णयरस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव पहारेत्थगमणाए । तए णं तं धण्णं सत्थवाहं एज्जमाणं पासित्ता रायगिहे णयरे बहवे णयरणिगमसेट्ठिसत्थवाहपभिओ आढयंति, परिजाणंति. सक्कारेंति, सम्माणेंति, अब्भुट्ठेंति सरीरकुसलं पुच्छंति । तए णं से धणे सत्थवाहे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जा वि य से तत्थ बाहिरिया परिसा भवइ, तं दास त्ति वा, पेस त्ति वा, भइगा ति वा, भाइल्लति वा, सा वि य णं धण्णं सत्थवाहं एज्जमाणं पासइत्ता पायपडियाए खेमकुसलं पुच्छइ, जे वि य से तत्थ अब्भिंतरिया परिसा भवइ, तं माया इय वा पिया इय वा भाया ति वा भइणी ति वा, सा वि य णं धण्णं सत्थवाहं एज्जमाणं पासइ, पासइत्ता आसणाओ अब्भुट्ठेइ, कंठाकंठियं अवयासियं बाहप्पमोक्खणं करेइ । तए णं से धणे सत्थवाहे जेणेव भद्दा भारिया तेणेव उवागच्छइ । तए णं सा भद्दा भारिया सत्थवाहं धण्णं सत्थवाहं एज्जमाणं पासइ, पासइत्ता णो आढाति, णो परियाणाइ, अणाढायमाणी अपरिजाणमाणी तुसिणीया परंमुही संचिट्ठइ । तए णं से धणे सत्थवाहे भद्दं भारियं एवं वयासी–किं णं तुमं देवाणुप्पिया ! ण तुट्ठा वा ण हरिसा वा णाणंदी वा, जं मए सएणं अत्थसारेणं रायकज्जाओ अप्पा विमोइए । तए णं सा भद्दा धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी–कहं णं देवाणुप्पिया ! मम तुट्ठा वा० जाव आणंदे वा भविस्सइ । जेणं तुमं मम पुत्तघायकस्स० जाव पच्चामित्तस्स ताओ विपुलाओ असणं० ४ संविभागं करेसि । तए णं से धणे सत्थवाहे भद्दं सत्थवाहिं एवं वयासी–णो खलु देवाणुप्पिए ! धम्मो त्ति वा तवो त्ति वा कयपडिकइया वा लोगजत्ता ति वा णायए त्ति वा घाडियए ति वा सहाएइ वा सुहि त्ति वा ततो विपुलाओ असणं० ४ संविभाए कए, णण्णत्थ सरीरचिंताए । तए णं सा भद्दा सत्थवाही धणेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणी हट्ठतुट्ठा० जाव आसणाओ अब्भुट्ठेति, कंठाकंठिअं अवयासेति, खेमकुसलं पुच्छइ, पुच्छइत्ता एहाया० जाव पायच्छित्ता विपुलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरइ । तए णं से विजए तक्करे चारगसालाए तेहिं बंधेहि य वहेहि य कसप्पहारेहि य० जाव तण्हाएहि य छुहाएहि य पराजवमाणे कालमासे कालं किच्चा णरएसु णेरइत्ताए उववन्ने, से णं तत्थ णेरइए जाए काले कालोभासे० जाव वेयणं पच्चणुब्भवमाणा विहरति । से णं तओ उव्वट्टित्ता अणाइयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टिस्सइ । एवामेव जंबू ! जेणं अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा आयरियउवज्झायाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे विपुलमणिमुत्तियधणकणगरयणसारेणं लुब्भइ, से वि य एवं चेव । तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा णामं थेरा भगवंतो जाइसंपन्ना० जाव पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा ०जाव जेणामेव रायगिहे णयरे जेणेव गुणसिलए चेइए ०जाव अहापडिरूवं उग्गहं उगिरिहत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति, परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ । तए णं तस्स धणस्स सत्थवाहस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म इमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था । एवं खलु भगवंतो जाइसंपण्णा इहमागया, इह संपत्ता, तं इच्छामि णं थेरे भगवंते वंदामि, णमंसामि, एहाए० जाव सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिए पायविहारचारेणं जेणेव गुणसिलए चेइए जेणेव थेरे भगवंते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता वंदइ, णमंसइ । तए णं थेरा भगवंतो धणस्स सत्थवाहस्स विचित्तं धम्ममाइक्खंति । तए णं से धणे सत्थवाहे धम्मं सोच्चा एवं वयासी–सद्दहामि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं० जाव पव्वइए० जाव बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणित्ता भत्तं पच्चक्खाइत्ता मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदइत्ता कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववन्ने । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता । तत्थ णं धणस्स देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता । से णं धणे देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता महाविदेहे वासे सिज्झिहिति० जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेहिति, जहा णं जंबू ! धणेणं सत्थवाहेणं णो धम्मो त्ति वा० जाव विजयस्स तक्करस्स ताओ विपुलाओ असण० ४ संविभागे कए, णण्णत्थ सरीरस्स रक्खणट्ठाए, एवामेव जंबू ! जो णं अम्हं णिग्गंथे वा णिग्गंथी वा० जाव पव्वइए समाणे ववगयण्हाणुम्मद्दणपुप्फगंधमल्लालंकारविभूसिए इमस्स ओरालियसरीरस्स णो वण्णहेउं वा रूवहेउं वा विसयहेउं वा तं विपुलं असणं० ४ आहारमाहारेइ, णण्णत्थ णाणदंसणचरित्ताणं वहणट्ठयाए, से णं इहलोए चेव बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावगाणं बहूणं सावियाण य अच्चणिज्जे० जाव पज्जुवासणिज्जे भवइ, परलोए वि य णं

णो बहूणि हत्थच्छेयणाणि य कण्णच्छेयणाणि य णासाच्छेयणाणि य एवं हिययउप्पायणाणि य वसणुप्पायणाणि य उल्लंबणाणि य पाविहिंति, अणादीयं च णं अणवदग्गं दीहं० जाव वीईवइस्संति, जहा व से धणे सत्थवाहे सिमाहणेसु आहारे विहरिवं जं ण वहुए साहु देहो तम्हा धणु व्व विजयं साहू, तं तेण पोसिज्जा। एवं खलु जंबू! समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं दोच्चस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि॥

एवं चानिरूप्यादि तु प्रकृताध्ययनार्थसूत्रं, सुगमं चैतत्सर्वं, नवरं जीर्णोद्यानं चाप्यभूत्, चापीति समुच्चये, अपिचेत्यादिवत्। विनष्टानि देवकुलानि परिशटितानि तोरणानि प्राकारद्वारदेवकुलसंबन्धीनि गृहाणि च यत्र तत्तथा। नानाविधा ये गुच्छा वृन्ताकीप्रभृतयः, गुल्मा वंशजालीप्रभृतयः, लता अशोकलताऽऽदयः, वल्ल्यस्त्रपुषीप्रभृतयः, वृक्षाः सहकाराऽऽदयः, तैश्छादितं यत्तत्तथा। अनेकैर्व्यालशतैः श्वापदशतैः शङ्कनीयं भयजनकं चाप्यभूत्, शङ्कनीयमित्यतद्विशेषणसंबद्धत्वात्क्रियावचनस्य न पुनरुक्तता। (मालुकाकच्छ इति) एकास्थिकफला वृक्षविशेषाः मालुकाः प्रज्ञापनाभिहिताः, तेषां कक्षो गहनं मालुकाकक्षः। चिर्भिटिकाकच्छ इति तु जीवाभिगमचूर्णिकारः। (किण्हे किण्होभासे) इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"णीले णीलोभासे हरिए हरिओभासे सीए सीओभासे णिद्धे णिद्धोभासे तिव्वे तिव्वोभासे किण्हे किण्हच्छाए णीले णीलच्छाए हरिए हरियच्छाए सीए सीयच्छाए णिद्धे णिद्धच्छाए तिव्वे तिव्वच्छाए घणकडियकडिच्छाए त्ति।" कृष्णः कृष्णवर्णोऽञ्जनवत् स्वरूपेण कृष्ण एवावभासते, द्रष्टृणां प्रतिभातीति कृष्णावभासः, किल किञ्चिद्वस्तु स्वरूपेण भवत्यन्यादृशं प्रतिभासते तु सन्निधानविप्रकर्षाऽऽदेः कारणादन्यादृशमिति। एवं कांचन्नीलो मयूरग्रीवावत्, कांचत् हरितः शुकपिच्छवत्, हरितालाभ इति वृद्धाः। तथा शीतः स्पर्शतः वल्ल्याद्याक्रान्तत्वादिति च वृद्धाः। स्निग्धो न रूक्षः, तीव्रो वर्णाऽऽदिगुणप्रकर्षवान्, तथा कृष्णः सन् वर्णतः, कृष्णच्छायः छाया च दीप्तिरादित्यकरावरणजनिता चेति। एवमन्यत्रापि। (घणकडियकडिच्छाए त्ति) अन्योन्यशाखाऽनुप्रवेशात् बहिरन्तरच्छायाकत्वं महामेघानां निकुरम्बः समूहस्तद्वद् यः स महामेघनिकुरम्बभूतः। वाचनान्तरे त्विदमधिकं पठ्यते-"पत्तिए पुप्फिए फलिए हरियगरेरिज्जमाणे।" हरितकश्चासौ (रेरिज्जमाणे त्ति) भृशं राजमानश्च यः स तथा। (सिरीए अईव २ उवसोभेमाणे चिट्ठइ त्ति) श्रिया वनलक्ष्म्या अतीव २ उपशोभमानस्तिष्ठति। (कूवेहि य त्ति) कूपैः। क्वचित्-"कुवएहि य त्ति" पाठः। तत्र कूपकाभिः छिद्रस्थयात् (खाणुएहि य त्ति) स्थाणुभिश्च। पाठान्तरेण-(खन्नएहिं ति) खात्रैः संधिभिरित्यर्थः। अथवा-(कुविएहिं ति) चौरगवेषकैः, (खत्तएहिं ति) खनकैः, क्षेत्रखनैरिति गम्यते। चौरैरित्यर्थः। अयमभिप्रायः-गहनत्वात्तस्य तत्र चौराः प्रविशन्ति तद्गवेषणार्थमितरे चेति संकुलो व्याप्तः, परिच्छन्नः समन्तात् अन्तर्मध्ये शुषिरः सावकाशत्वात् बहिर्गम्भीरो दृष्टेरप्रक्रमणात् (अड्ढे दित्ते) इह यावत्करणादिदं द्रष्टव्यम्-"वित्ते विच्छिण्णविउलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुदासदासीगोमहिसगवेलगप्पभूए बहुधणबहुजायरूवरयए आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डियविउलभत्तपाणे त्ति।" व्याख्या त्वस्य मेघकुमारराजवर्णकवत्, भद्रावर्णकस्य तु धारिणीवर्णकवत्परं (करयल त्ति) अनेन "करयलपरिमियतिवलियमज्झा इ त्ति" दृश्यम्। (वंझ त्ति) अपत्यफलापेक्षया निष्फला (अवियाउरि त्ति) प्रसवानन्तरमपत्यमरणेनापि फलवती वन्ध्या भवतीत्यत उच्यते (अवियाउरि त्ति) अविजननशीला अपत्यानामत एवाऽऽह जानुकूर्पराणामेव माता जननी जानुकूर्परमाता। एतान्येव शरीरांशभूतानि तस्याः स्तनौ स्पृशन्ति, नापत्यमित्यर्थः। अथवा-जानुकूर्पराण्येव मात्रा परिमाणाऽऽदेः साहाय्यसमर्थं उत्सङ्गनिवेशनीयो वा परिकरो यस्याः न पुत्रलक्षणः सा जानुकूर्परमात्रा। (दासचेडे त्ति) दासस्य भृतकविशेषस्य चेटः कुमारकः दासचेटः। अथवा दासश्चासौ चेटश्चेति दासचेटः। (तक्करे त्ति) चौरः, पापस्य पापकर्मकारिणः चाण्डालस्येव रूपं स्वभावो यस्य स तथा चण्डालकर्मापेक्षया भीमतराणि रौद्राणि कर्माणि यस्य स तथा। (आरुसिय त्ति) आरुष्टे इव दीप्ते रक्ते नयने यस्य स तथा। खरपरुषे अतिकर्कशे महत्यौ विकृते बीभत्से दंष्ट्रिके उत्तरोष्ठकेशगुच्छरूपे दशनविशेषरूपे वा यस्य स तथा। असंपतितौ असंपुटितौ असंवृतौ वा परस्परासक्तौ तुच्छत्वाद्दशनदीर्घत्वाच्च ओष्ठौ यस्य स तथा, उद्धूता वायुना प्रकीर्णा विकीर्णा लम्बमाना मूर्द्धजा यस्य स तथा, भ्रमरराहुवर्णः कृष्ण इत्यर्थः। निरनुक्रोशो निर्दयो, निरनुतापः पश्चात्तापरहितः, अत एव दारुणो रौद्रः, अत एव प्रतिभयो भयजनकः, निःसंशयिकः शौर्यातिशयादेव तस्माद्भविष्यत्येवेत्येवं प्रवृत्तिकः। पाठान्तरेण-"निसंसे" नृशरान् शंसति हिनस्तीति नृशंसः। निःशंसो वा विगतश्लाघः। (निरणुकंपे त्ति) विगतप्राणिरक्षः, निर्गता वा जनानामनुकम्पा यत्र स तथा। अहिरिव एकान्तग्राह्यमेवेदं मयेत्येवमेका निश्चया दृष्टिर्यस्य स तथा। (खुरे व्व एगंतधाराए त्ति) एकस्मिन्नन्ते वस्तुभागेऽपहर्तव्यलक्षणे धारेव धारा परोपतापप्रधानप्रवृत्तिलक्षणा यस्य स तथा। यथा क्षुर एकधार एवमसौ मोषणलक्षणैकप्रवृत्तिक एवेति भावः। (अग्गिमिव सव्वग्गाहि त्ति) यथा अग्निः सर्वं स्वविषयाऽऽपन्नमभ्यन्तरीकरोति तथाऽयमपि सर्वं गृह्णातीति भावः। तथा उत्कञ्चनवञ्चनमायानिकृतिकूटकपटैः सह योऽतिसंप्रयोगो गाढ्यं, तेन बहुलः प्रचुरो यः स तथा, तत्र उत्कञ्चनं मूल्याऽऽरोपणार्थमुत्कञ्चनं, हीनगुणस्य गुणोत्कर्षप्रतिपादनमित्यर्थः। वञ्चनं प्रतारणं, माया परवञ्चनबुद्धिः। निकृतिर्वकवृत्त्या गलकर्त्तकानामिवावस्थानं, कूटं कार्षापणतुलाऽऽदेः परवञ्चनार्थं न्यूनाधिककरणं, कपटं नेपथ्यभाषाविपर्ययकरणम्, अथवा-एभिरुत्कञ्चनाऽऽदिभिस्सहातिशयेन यः संप्रयोगस्तेन यो बहुलः स तथा। यदि वा-सातिशयेन द्रव्येण कस्तूरिकाऽऽदिना परस्य द्रव्यस्य संप्रयोगः सातिशयसंप्रयोगः। ततश्चोत्कञ्चनाऽऽदिभिः सातिशयसंप्रयोगेण च यो बहुलः स तथा। उक्तं च-"सो होइ साइजोगो, दव्वं जं छुहिय अन्नदव्वेसु। दोसगुणा वयणेसु य, अत्थविसंवायणं कुणइ॥१॥" इति एकीयं व्याख्यानम्। व्याख्यानान्तरं पुनरेवम्-उत्कञ्चनमुत्कोचा, निकृतिर्वञ्चनप्रच्छादनार्थं कर्म, सातिविस्रम्भप्रत्ययसंप्रयोगबहुलः, शेषं तथैव, चिरं बहुकालं यावद् नगरे नगरस्य वा विनष्टो विप्लुतः चिरनगरविनष्टः बहुकालीनो यो नगरविनष्टो भवति स किलात्यन्तं धूर्तो भवतीत्येवं-

विशेषितः, तथा क्रुद्धं शीघ्रं स्वभाव आकार आकृतिश्चरितं वाऽनुष्ठानं यस्य स तथा । ततः कर्मधारयः । सूत्रप्रसक्तः सूत्राऽऽसक्तः । एवमितराणि, नवरं जोऽयानि खण्डखाद्याऽऽदीनि, पुनर्वीरगृहणं हृदयदारक इत्यस्य विशेषणार्थत्वात् न पुनरुक्तम् । लोकानां हृदयानि दारयति स्फोटयतीति हृदयदारकः । पाठान्तरेण-(जणहियाकारए) जनाहितस्याकर्तेत्यर्थः । साहसिको वितर्कितकारी, संधिच्छेदकः क्षेत्रखानकः, औपधिको मायित्वेन प्रच्छन्नचारी, विस्रम्भघाती विश्वासघातकः, आदीपकोऽग्निदाता, तीर्थानि तीर्थजनदेवद्रोण्यादीनि, भिनत्ति द्विधा करोति, तद्द्रव्यमोषणाय तत्परिकरभेदनेनेति तीर्थभेदः । लघुभ्यां क्रियासु दक्षाभ्यां हस्ताभ्यां संप्रयुक्तो यः स तथा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः । परस्य द्रव्यहरणे नित्यमनुबद्धः, प्रतिबद्ध इत्यर्थः । तीव्रवैर अनुबद्धविरोधः, अतिगमनानि प्रवेशमार्गान्, निर्गमनानि निस्सरणमार्गान्, द्वाराणि प्रतोल्यः, अपद्वाराणि द्वारिकाः, "छिण्डी" छिण्डिका वृतिच्छिद्ररूपाः, "खण्डी" प्राकारच्छिद्ररूपाः, नगरनिर्द्धमनानि नगरजलनिर्गमकालतान् संवर्तनानि मार्गमिलनस्थानानि, निवर्तनानि मार्गनिवर्तनस्थानानि, द्यूतखलकानि द्यूतकर्मखलानि, पानागाराणि मद्यगेहानि, वेश्यागाराणि वेश्याभवनानि, तस्करस्थानानि शून्यदेवकुलागाराऽऽदीनि, तस्करगृहाणि तस्करनिवासान् शृङ्गाटकाऽऽदीनि प्राग् व्याख्यातानि सभा जनोपवेशनस्थानानि, प्रपा जलदानस्थानानि, लिङ्गव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात् । पणितशाला हट्टान्, शून्यगृहाणि प्रतीतानि, आभोगयन् पश्यन्, मार्गयन् अन्वयधर्मपर्यालोचनतः, गवेषयन् व्यतिरेकधर्मपर्यालोचनतः, बहुजनस्य छिद्रेषु प्रविरलपरिवारत्वाऽऽदिषु चौरप्रवेशावकाशेषु विषमेषु तीव्ररोगाऽऽदिजनितातुरत्वेषु, विधुरेषु इष्टजनवियोगेषु व्यसनेषु राज्याऽऽद्युपप्लवेषु, तथाऽभ्युदयेषु राज्यलक्ष्म्यादिलाभेषु, उत्सवेषु इन्द्रोत्सवाऽऽदिषु, प्रसवेषु पुत्राऽऽदिजन्मसु, तिथिषु मदनत्रयोदश्यादिषु, क्षणेषु बहुलोकभोजनदानाऽऽदिरूपेषु, यज्ञेषु नागाऽऽदिपूजासु, पर्वणीषु कौमुदीप्रभृतिषु अधिकरणभूतासु मत्तः पीतमद्यतया, प्रमत्तश्च प्रमादवान् यः स तथा, तस्य बहुजनस्येति योगः । व्याक्षिप्तस्य च प्रयोजनान्तरोपयुक्तस्य, व्याकुलस्य च नानाविधकार्याक्षेपेण सुखितस्य दुःखितस्य च, विदेशस्थस्य च देशान्तरस्थस्य, विप्रोषितस्य च देशान्तरं गन्तुं प्रवृत्तस्य, मार्गं च पन्थानं, छिद्रं च अपद्वारं, विरहं च विजनम्, अन्तरं चावसरमिति । आभोगमादिपदानि प्राग्वत् । (सुसाणेसु य त्ति) श्मशानेषु, गिरिकन्दरेषु गिरिरन्ध्रेषु, लयनेषु गिरिवर्त्तिपाषाणगृहेषु, उपस्थानेषु तथाविधमण्डपेषु, बहुजनस्य छिद्रेष्वित्यादि पुनरावर्त्तनीयम् । (जाव एवं च णं विहरइ त्ति) (कुडुंबजागरियं जागरमाणीए त्ति) कुटुम्बचिन्तायां जागरणं निद्राक्षयः कुटुम्बजागरिका, द्वितीयायास्तृतीयार्थत्वात् । तया जाग्रत्या विबुध्यमानया, अथवा कुटुम्बजागरिकां जाग्रत्याः कुर्वन्त्याः (पत्थामि त्ति) प्रजनयामि । "तासि मन्ने ।" इत्यत्र तासां सुलब्धं जन्म जीवितफलम्, अहं मन्ये वितर्कयामि यासां निजककुक्षिसम्भूतानीत्येवमक्षरघटना कार्या; निजककुक्षिसंभूतानि डिम्भरूपाणि इति गम्यते । स्तनदुग्धलुब्धकानि मधुरसमुल्लापकानि मन्मनं स्खलत्प्रजल्पितं येषां तानि तथा । स्तनमूलात्कक्षादेशभागमभिसरन्ति संचरन्ति, स्तनजं पिबन्ति, ततश्च कोमलकमलोपमाभ्यां हस्ताभ्यां गृहीत्वा उत्सङ्गनिवेशितानि ददति । समुल्लापकान् समधुरान् (पत्तो प-

णमवि न पत्त त्ति) इतः पूर्वमेकमपि डिम्भकं न प्राप्ता । अथवा इत उक्तलक्षणात् डिम्भकविशेषणकलापादेकमपि विशेषणं न प्राप्ता । "बाहिया नागघराणि वा" इत्यादि प्रतीतम् । (जाणुयायवडिय त्ति) जानुभ्यां पादपतिता जानुपादपतिता, जानुनी भुवि विन्यस्य प्रणतिं गतेत्यर्थः । "जाय च" इत्यादि । यागं पूजां, दायं पर्वदिवसाऽऽदौ दानं, भागं लाभांशम् । अक्षयनिधिमव्ययं भाण्डागारम्, अक्षयनीवीं वा मूलधनं, येन जीर्णीभूतस्य देवकुलस्योद्धारः करिष्यते । अर्चनिकां वा प्रतीतां वर्द्धयामि, पूर्वकाले अल्प सन्त महान्त करोमीति भावः । (उवयाइयं ति) उपयाच्यते मृग्यते स्म यत्तत् उपयाचितमीप्सितं वस्तु याचितुं प्रार्थयितुम् । (उल्लपडसाडिय त्ति) स्नानेनार्द्रः पटशाटिक उत्तरीयपरिधानवस्त्रे यस्याः सा तथा । (आलोए त्ति) दर्शने नागाऽऽदिप्रतिमानां प्रणामं करोति । ततः प्रत्युन्नमति, लोमहस्तकं प्रमार्जनिकां परामृशति गृह्णाति, ततस्तेन ताः प्रमार्जयति । (अब्भुक्खेइ त्ति) अभिषिञ्चति वस्त्राऽऽरोपणाऽऽदीनि प्रतीतानि । "चाउद्दसी" इत्यादौ "उद्दिट्ठ त्ति" अमावास्या, (आवन्नसत्त त्ति) आपन्न उत्पन्नः सत्त्वो जीवो गर्भे यस्याः सा तथा । डिम्भदारककुमारकाणामल्पबहुबहुतरकालकृतो विशेषः । मूर्च्छितो मूढो, गतविवेकचेतनत्व इत्यर्थः । ग्रथितो तासु तन्तुभिः सन्दर्भितः, गृद्ध आकाङ्क्षावान्, अध्युपपन्नः- अधिकतरेकाग्रतां गत इति । शीघ्राऽऽदीनि एकार्थिकानि शीघ्रतातिशयख्यापनार्थानि । निःप्राणमुच्छ्वासाऽऽदिरहितं, निश्चेष्टं व्यापाररहितं (जीवविप्पजढं ति) आत्मना विप्रमुक्तो निश्चलो गमनागमनाऽऽदिवर्जितः, निष्पन्दो हस्ताऽऽद्यवयवचलनरहितः, तूष्णीको वचनरहितः, क्षिपन् प्रेरयन्, श्रुतिं वार्त्तामात्रम्, क्षुतिं तस्यैव संबन्धिनं शब्दं, नाधिगच्छति, प्रवृत्तिं व्यक्तवृत्तान्तवार्त्ता नीतो मित्राऽऽदिना स्वगृहे अपहृतश्रीकेण आसीत उपलोभितः । (परसुनियत्ते व त्ति) परशुना कुठारेण निकृत्तः छिन्नो यः स तथा तद्वत् । (नगरगुत्तिय त्ति) नगरस्य गुप्तिं रक्षां कुर्वन्तीति नगरगुप्तिका आरक्षकाः । (सन्नद्धबद्धवम्मियकवय त्ति) सन्नद्धाः संहननाभिः कृतसन्नाहाः, बद्धाः कशाबन्धनेन वर्मिताश्च अङ्गरक्षीकृताः शरीरारोपणेन कवचाः कङ्कटा येषां ते तथा । ततः कर्मधारयः । अथवा-वर्मितशब्दः क्वचिन्नाधीयत एव । (उप्पीलियसरासणपट्टिया) उत्पीडिता आक्रान्ता गुणेन शराऽऽसनं धनुस्तल्लक्षणा पट्टिका येषां ते तथा । अथवा-उत्पीडिता बद्धा शरासनपट्टिका बाहुपट्टिका येषां ते तथा । दृश्यते च धनुर्धराणां बाहौ चर्मपट्टबन्ध इति । इह स्थाने वाचनान्तरमिदं दृश्यम्-" पिणद्धगेवेज्जविमलवरचिंधपट्टा ।" पिनद्धानि परिहितानि ग्रैवेयकाणि ग्रीवारक्षाणि येषां ते तथा । बद्धो गाढीकरणेन आविद्धः परिहितो मस्तके विमलो वरचिह्नपट्टो येषां ते तथा । ततः कर्मधारयः । "गहियाउहपहरणा ।" गृहीतान्यायुधानि प्रहरणाय प्रहारदानाय येषां ते तथा । अथवाऽऽयुधप्रहरणयोः क्षेप्याक्षेप्यकृतो विशेषः । (ससक्खं ति) ससाक्षि साक्षिणोऽध्यक्षान् विधायेत्यर्थः । (सहोढं ति) सलोप्त्रम्, (सगेवेज्जं ति) सह ग्रैवेयकेन ग्रीवाबन्धनेन यथा भवति तथा गृह्णन्ति । (जीवग्गाहं गिण्हंति त्ति) जीवतीति जीवस्तं जीवं जीवन्तं गृह्णन्ति अस्थिमुष्टिजानुकूर्परेषु वा ये प्रहारास्तैः संभग्नं मथितं मोटितं जर्जरितं गात्रं शरीरं यस्य स तथा, तं कुर्वन्ति । (अवउडगबंधणं ति) अवकोटनेनावमोटनेन कृकाटिकाया बाहोश्च

पश्चाद्भागे नयनेन बन्धनं यस्य स तथा तं कुर्वन्ति । (कसप्पहारे य त्ति) कशताडनानि, (छिव त्ति) श्लक्ष्णः कशः लता कम्बा, बालघातकः प्रहारदानेन, बालमारकः प्राणवियोजनेन, (रायमच्चे त्ति) राजामात्यः (अवरज्झइ त्ति) अपराध्यति अनर्थं करोति, (नन्नत्थ त्ति) न त्वन्यत्रेत्यर्थः । वाचनान्तरे त्विदं नाधीयत एव, इत्वकानि निरुपचरितानि नोपचारेणाऽऽत्मनः संबन्धीनि, (लहुस्सगंसि त्ति) लघुः स्व आत्मा स्वरूपं यस्य स लघुस्वकः अल्पस्वरूपः, तस्मिन् विषये अपराधो राजापराधस्तत्र संप्रसक्तः प्रतिपादितः, पिशुनैरिति गम्यते । (भोयणपिडयं ति) भोजनस्थाल्याधारभूतं वंशमयं भाजनं पिटकं, तत्करोति सज्जीकरोतीत्यर्थः । पाठान्तरेण-(भरेइ त्ति) पूरयति । पाठान्तरेण-भोजनपिटकैः करोति-अशनाऽऽदीनि लाञ्छितं रेखाऽऽदिदानतो मुद्रितं कृतमुद्राऽऽदिमुद्रम्, (उल्लंछेइ त्ति) विगतलाञ्छनं करोति (परिवेसयति) भोजयति (अवियाइं ति) अपिः संभावने । (आइं ति) आपायाम । अरेः शत्रोर्वैरिणः सानुबन्धशत्रुभावस्य, प्रत्यनीकस्य प्रतिकूलवृत्तेः, प्रत्यमित्रस्य वस्तु वस्तु प्रति अमित्रस्य, (धणस्स त्ति) कर्मणि षष्ठी, उच्चारप्रस्रवणं कर्तुं, णामित्यलङ्कारे । (उब्वाहित्थ त्ति) बाधयति स्म (एहि ताव इत्यादि) एहि आगच्छ तावदिति भाषामात्रे । हे विजय ! एकान्तं विजनमपक्रमामो यामः (जेणं ति) येनाहमुच्चाराऽऽदि परिष्ठापयामीति । (छंदेणं ति) अभिप्रायेण, यथारुचीत्यर्थः । (अलंकारियसह त्ति) यस्यां नापिताऽऽदिभिः शरीरसत्कारो विधीयते, अलंकारिककर्म नखच्छेदनाऽऽदि, दासा गृहदासीपुत्राः, प्रेष्या ये तथाविधप्रयोजनेषु नगरान्तराऽऽदिषु प्रेष्यन्ते भृतका ये आबालत्वात्पोषिताः । (भाइल्लग त्ति) ये भागं लाभस्य लभन्ते, ते क्रमकुशलमनर्थानुकूलानर्थप्रतिघातरूपं, करणे च गृहीत्वा कण्ठाकण्ठि । यद्यपि व्याकरणे युद्धविषय एवैवंविधोऽव्ययीभाव इष्यते, तथापि योगविभागाऽऽदिभिरेतस्य साधुशब्दता द्रष्टव्येति । (अवयासिय त्ति) आलिङ्ग्य, बाष्पप्रमोक्षणमानन्दाश्रुजलप्रमोचनम् । (नायए चेत्यादि) नायकः प्रभुः, न्यायदो वा न्यायदर्शी, ज्ञातको वा स्वजनपुत्रकः । इति रूपप्रदर्शने, वा विकल्पे । (घाडियए त्ति) सहचारी, सहायः साहाय्यकारी, सुहृन्मित्रम्, (बंधेहि य त्ति) बन्धो रज्ज्वादिबन्धनं, वधो यष्ट्यादिताडनं, कशप्रहाराऽऽदयस्तु तद्विशेषाः । (काले कालोभासे इत्यादि) कालः कृष्णवर्णः, काल एवावभासते द्रष्टॄणां, कालो वा अवभासो दीप्तिर्यस्य स कालावभासः । इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-" गंभीरलोमहरिसे भीमे उत्तासणए परमकण्हे वण्णेणं, से णं तत्थ निच्चं भीए निच्चं तत्थे निच्चं तसिए निच्चं परमसुहसंबद्धं नरगं ति । " तत्र गम्भीरो महान् रोमहर्षो भयसंभूतो रोमाञ्चो यस्य यतो वा सकाशात् स तथा । किमित्येवमित्याह-भीमो भीष्मः, अत एवोत्त्रासकारित्वादुत्त्रासनकः । एतदपि कुत इत्याह-परमकृष्णो वर्णेनाति, परां प्रकृष्टां अशुभसंबद्धां पापकर्मणोपनीताम, (अणाइयमित्यादि) अनादिकम् । (अणवदग्गं त्ति) अनन्तम् (दीहमद्धं ति) दीर्घाद्धं दीर्घकालं, दीर्घाध्वं वा दीर्घमार्गम्, चातुरन्तं चतुर्विभागं संसार एव कान्तारमरण्यं संसारकान्तारमिति । अतोऽधिकृतं ज्ञानं ज्ञापनीये योजयन्नाह-(एवामेवेत्यादि) एवमेव विजयचौरवदेव, (साडेणं ति) सारे, णामित्यलङ्कारे करणे तृतीया चेयम् । लुभ्यति लोलीभवति । (से वि एवं चेव त्ति) सोऽपि प्रव्रजितो विजयवदेवनरकादिकमुक्तरूपं प्राप्नोति । "जहा णं" इत्यादिनाऽपि ज्ञातमेव विज्ञापनीये नियोजितम् (नन्नत्थ सरीरसारक्खणट्ठाए त्ति) न शरीररक्षणार्थादन्यत्र तदर्थमेवत्यर्थः । (जहा से धणे त्ति) दृष्टान्तनिगमनम् । इह पुनर्विशेषयोजनामिमामभिदधति बहुश्रुताः । इह राजगृहनगरस्थानीयं मनुष्यक्षेत्रं, धनसार्थवाहस्थानीयः साधुजीवः, विजयचौरस्थानीयं शरीरं, पुत्रस्थानीयो निरुपमनिरन्तराऽऽनन्दनिबन्धनत्वेन संयमो भवति । अस्य प्रवृत्तिकशरीरात्संयमविघातः । आभरणस्थानीयाः शब्दाऽऽदिविषयाः, तदर्थप्रवृत्तं हि शरीरं संयमविघाते प्रवर्त्तते, हडिबन्धनस्थानीयं जीवशरीरयोरविभागेनावस्थानं, राजस्थानीयः कर्मपरिणामः, राजपुरुषस्थानीयाः कर्मभेदाः, लघुस्वकापराधस्थानीयाः मनुष्याऽऽयुष्कबन्धहेतवः मूत्राऽऽदिमलपरिष्ठापनस्थानीयाः प्रत्युपेक्षणाऽऽदयो व्यापाराः, यतो भक्ताऽऽदिदानाभावे यथाऽसौ विजयः प्रस्रवणाऽऽदिव्युत्सर्जनाय न प्रवृत्तवान्, एवं शरीरमपि निरशनं प्रत्युपेक्षणाऽऽदिषु न प्रवर्त्तते । पान्थस्थानीयो मुग्धसाधुः, सार्थवाहस्थानीया आचार्याः, ते हि विवक्षितसाधुं तताऽऽदिभिः शरीरमुपष्टम्भयन्तं साध्वन्तराद्भुपश्रुत्योपालम्भयन्ति विवक्षितसाधुनैव निवेदिते वेदनावैयावृत्त्यादिके भोजनकारणे परितुष्यन्ति चेति । पठ्यते च-

" सिवसाहणेसु आहा-रविरहिओ जं न वट्टए देहो ।
तम्हा धणो व्व विजयं, साहू तं तेण पोसेज्जा ॥ १ ॥ "

एवं खल्वित्यादि निगमनम्, इतिशब्दः समाप्तौ । ब्रवीमीति पूर्ववदेवेति । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । कौशाम्बीनगरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । (तत्कथा 'आतट्ठ ' शब्दे द्वितीयभागे १५७ पृष्ठे द्रष्टव्या) चम्पानगरीवास्तव्ये सार्थवाहे, "चंपाए परममाहेसरो धणो णाम सत्थवाहो ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । (तद्वक्तव्यता 'चक्खिदिय ' शब्दे तृतीयभागे ११०५ पृष्ठे द्रष्टव्या) चम्पानगरीवास्तव्येऽहिच्छत्राप्रस्थिते स्वनामख्याते सार्थवाहे, ज्ञा० १ श्रु० १५ अ० । (तत्कथा " णंदिफल " शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७५३ पृष्ठे द्रष्टव्या) वसन्तपुरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । पाटलिपुत्रनगरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, तस्य दुहिता भगवतो महावीरस्य सकाशे प्रव्रजिता । आ० चू० १ अ० । अपरविदेहक्षितिप्रतिष्ठितनगरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, स च त्रयोदशे भवे ऋषभनामा तीर्थकर आसीत् । आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ० चू० । कस्मिंश्चित् संनिवेशे स्थिते ग्रामाधिपतिसुते धनवतीपतौ स्वनामख्याते सार्थवाहे, पुं० । स च तीर्थकरनामकर्मोदयादरिष्टनेमिस्तीर्थकरोऽजनि । उत्त० २२ अ० ।

धणंजय-धनञ्जय-पुं० । धनं जयति जि-खच् मुम् च । अर्जुने, वह्नौ, नागभेदे, पोषणकरे देहव्यापिवायौ, ककुभवृक्षे, चित्रकवृक्षे च । वाच० । अपरविदेहस्थमूकाराजधानीभवे स्वनामख्याते नृपे, यस्य पुत्रः प्रियमित्रो विंशतिभिस्तीर्थकरत्वकारणैस्तीर्थकरत्वमवाप । आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ० क० । आ० चू० । कल्प० । सौर्यपुरनगरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, आव० ४ अ० । आ० क० । आ० चू० । (तत्कथा शौचेन योगसंग्रहावसरे 'सुइ' शब्दे द्रष्टव्या) पक्षस्य पञ्चदशसु दिवसेषु नवमे दिवसे, ज्यो० ४ पाहु० । जं० । कल्प० । स्वनामख्याते

गोत्रे च। "कसरापोट्ठपदा णक्खत्ते किं गोत्ते पण्णत्ते ?, धणंजयसगोत्ते पण्णत्ते।" सू० प्र० १० पाहु०। जं०। धनञ्जयमालाद्विसन्धानमहाकाव्याऽऽदिकृति जैनकवौ,अयं कविः विक्रमसंवत् ७७४ मिते विद्यमान आसीत्। जै० इ०।

धणकंता—धनकान्ता—स्त्री०। कलिङ्गदेशस्थकाञ्चनपुरनगरस्थधनवहश्रेष्ठिपत्न्याम्, दर्श० १ तत्त्व।

धणक्खय—धनक्षय—पुं०। धनहानौ, व्य० ३ उ०। धनक्षय इति वा। औ० ३ प्रति० ४ उ०।

धणगिरि—धनगिरि—पुं०। अवन्तीजनपदस्य तुम्बवनसन्निवेशे स्थिते स्वनामख्याते इभ्यपुत्रे, आ० म० १ अ० २ खण्ड। कल्प०। आ० क०। (तद्वक्तव्यता 'अज्जवइर' शब्दे प्रथमभागे २१६ पृष्ठे गता) आर्यसिंहगिरिस्थविरस्य शिष्ये स्वनामख्याते स्थविरे, (कल्प०) आर्यफल्गुमित्रस्य शिष्ये स्वनामख्याते वसिष्ठसगोत्रे स्थविरे च। "थेरस्स णं अज्जफग्गुमित्तस्स गोयमसगुत्तस्स अज्जधणगिरी थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगोत्ते।" (कल्प०) "धणगिरिं च वासिट्ठं।" कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

धणगुत्त—धनगुप्त—पुं०। कौशाम्बीनगरे स्थिते स्वनामख्याते आचार्ये,आ०चू० ४ अ०। (तद्वक्तव्यता 'पच्चिल्ल' शब्दे वक्ष्यते) "आचार्या धनगुप्ताख्याः, एकत्र नगरेऽभवन्।" (१) आ० क०। उल्लुकातीरनगरस्थे आचार्यमहागिरिशिष्ये द्वैक्रियपञ्चमनिह्नवधर्माचार्यस्य गङ्गाचार्यस्य स्वनामख्याते गुरौ, आ० म० १ अ० २ खण्ड। विशे०। स्था०।

धणगोव—धनगोप—पुं०। राजगृहनगरस्थधनसार्थवाहस्य पुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०।

धणणंदि (दी)—धननन्दि (न्दी)—पुं०। स्त्री०। द्विगुणे देवद्रव्ये, "देवदव्वं दुगुणं धणणंदी भण्णइ।" दर्श० १ तत्त्व।

धणणिहि—धननिधि—पुं०। कोशे, तदात्मके लौकिके निधिभेदे च। स्था० ५ ठा० ३ उ०।

धणतोसग—धनतोषक—त्रि०। धनेन तुष्यतीति धनतोषकः। चौराऽऽदिके, "धणतोसगा गहिया य जे नरगणा।" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

धणत्थि (ण्)—धनार्थिन्—त्रि०। धनाभिलाषिणि, "तो पडिभणेइ सेट्ठी, धणत्थिणो जइ तुमे तहा वि इमं।" ध० र०।

धणदत्त—धनदत्त—पुं०। राजगृहनगरस्थे धनापरनामधेये स्वनामख्याते सार्थवाहे, नं०। आ० क०। आ० म०। आ० चू०। (तत्कथा 'चिलाइपुत्त' शब्दे तृतीयभागे ११८८ पृष्ठे गता) वसन्तपुरस्थे तिलकश्रेष्ठिपुत्रे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, पिं०। (तत्कथा 'पराविट्ठय' शब्दे वक्ष्यते) विस्तीर्णग्रामस्थे स्वनामख्याते कुटुम्बिनि च। पिं०।

धणदेव—धनदेव—पुं०। मण्डिकगणधरस्य पितरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड। आ० चू०। अस्थिकग्रामापरनामधेये वर्द्धमानकनगरस्थे स्वनामख्याते वणिजि,आ० चू० १ अ०। आ० म०। कल्प०। स्था०। (तद्वक्तव्यता 'वीर' शब्दे) "धनदेवो वणिक् तत्राऽऽयातः प्रेक्ष्य महानदीम्।" (१३) आ० क०। द्वारवतीवास्तव्ये कमलामेलायाः पत्यौ उग्रसेनस्य नप्तरि, आ० म० १ अ० १ खण्ड। आ० चू०। काम्पिल्यपुरस्थे स्वनामख्याते वणिजि, उत्त० १३ अ०। (तद्वक्तव्यता 'बंभदत्त' शब्दे) कौशाम्बीनगरस्थे स्वनामख्याते वणिजि, ध० र०। (तद्वक्तव्यता 'बंभसेण' शब्दे) राजगृहनगरस्थधनसार्थवाहस्य स्वनामख्याते पुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०।

धणधण्णदव्वजाय—धनधान्यद्रव्यजात—न०। धनधान्यरूपद्रव्यप्रकारे, "निक्खसाणि य हरंति धणधण्णदव्वजायाणि।" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

धणधण्णपमाणाइक्कम—धनधान्यप्रमाणातिक्रम—पुं०। धनधान्ययोः प्रमाणस्य बन्धनतोऽतिक्रमोऽतीचारः धनधान्यप्रमाणातिक्रमः। ध० र०। इच्छापरिमाणस्य पञ्चमाणुव्रतस्यातिचारभेदे, धनधान्यस्य प्रमाणप्राप्तस्याऽधमर्णाऽऽदिभ्योऽधिकलाभे समुपस्थिते यावत्प्राग्नेतनं विक्रीणीते तावद् गृह एव तत्स्थापयतः सत्यङ्कारेण वा स्वीकुर्वतः स्थूलमूढकाऽऽदिबन्धनेन वा धनधान्यातिक्रमरूपः प्रथमोऽतिचार इति। ध० २ अधि०। ध० र०। आव०। उपा०।

धणधण्णसंचय—धनधान्यसंचय—पुं०। धनं हिरण्याऽऽदि,धान्यं शाल्यादि,तयोः संचयो राशिर्धनधान्यसंचयः। धनधान्ययो राशौ, उत्त० ६ अ०।

धणपाल—धनपाल—पुं०। राजगृहनगरस्थधनसार्थवाहसुते स्वनामख्याते सार्थवाहे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०। कौशाम्बीनगरस्थे स्वनामख्याते नृपे, "कोसंबी णयरी,धणपालो राया, वेसमणभद्दे अणगारे पडिलाभिए इह०जाव सिद्धे।" विपा० २ श्रु० ४ अ०। अवन्तीजनपदस्थतुम्बवनसन्निवेशस्थे स्वनामख्याते इभ्ये च। आ० म० १ अ० २ खण्ड। सर्वदेवब्राह्मणपुत्रे चन्द्रगच्छीयमहेन्द्रसूरिशिष्येण शोभनाचार्येण प्रतिबोधिते श्रावके, अयं च धनपालो भोजराजसमकालिको महाकविरासीत्। जै० इ०।

धणप्पभा—धनप्रभा—स्त्री०। कुण्डलवरद्वीपस्थवैश्रमणप्रभनगरस्योत्तरपार्श्ववर्त्तिन्यां राजधान्याम्, "धणप्पभा उत्तरे पासे।" द्वी०।

धणवड्ढण—धनवर्द्धन—पुं०। धनवृद्धिकारके, स्था० १० ठा०।

धणमण—धनवत्—त्रि०। "आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा मतोः" ॥ ८। २। १५९॥ इति प्राकृतसूत्रेण मतोरेते आदेशाः। प्रा० २ पाद। धनिनि, व्य०।

अधुना धनवतां स्वरूपमाह—

कोडिग्गसो हिरण्णं, मणिमुत्तसिलप्पवालरयणाइं।
अज्जयपिउपज्जागय, एरिसया होंति धणमंता ॥३३०॥

येषामार्यपिता पिता प्रतीतः, पर्यायः प्रपितामहः,तेभ्य आगतं कोट्यग्रशः कोटिसंख्यया हिरण्यं मणिमुक्ताशिलाप्रवालरत्नानि च,मणयश्चन्द्रकान्ताऽऽद्याः,मुक्ताफलानि विद्रुमाणि,रत्नानि कर्केतनाऽऽदीनि,ते ईदृशा जायन्ते धनवन्तः। व्य० १ उ० ३ प्रक०।

धणमंत—धनवत्—त्रि०। 'धणमण' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद।

धणमित्त—धनमित्र—पुं०। विजयपुरस्थे वसुश्रेष्ठिसुते स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, ध० र०।

धनमित्रचरित्रं पुनरेवम्-

" गुरुसत्तगणसमेयं, गाहाइमवलामिवऽत्थि विणयपुरं ।
तत्थाऽऽसि वसु सिट्ठी, जहा नामेण से भज्जा ॥ १ ॥
ताण सुत्रो धणमित्तो, बालस्स वि तस्स उवरया पियरो ।
पुन्ने धणे पणट्ठे, नट्ठो विहवो नइरयु व्व ॥ २ ॥
परिवड्ढिओ कुहेणं, सो कमसो परियणेण वि विमुक्को ।
परिणयणत्थं अधणु-त्ति को वि न य देइ से कन्नं ॥ ३ ॥
तो लज्जितो नयरा-उ निग्गओ दविणअज्जणसयण्हे ।
पिच्छइ कत्थ वि मग्गे, पारोहं किंसुयतरुम्मि ॥ ४ ॥
तो सरइ अत्तवायं, सो सुयपुव्वं जहा अखीरद्दुमे ।
जइ दीसइ पारोहो, ता तस्स अहे धणं मुणसु ॥ ५ ॥
विल्लुपलासेसु धुवं, पारोहे थूलए बहुं दव्वं ।
तणुए थोवं तह निसि, जलंते बहु थोवमियरम्मि ॥ ६ ॥
भिट्ठे पुण पारोहे, रत्तम्मि निग्गयम्मि रयणाइं ।
सेए रययं पीए, कणगं न हु नीरसे किं पि ॥ ७ ॥
अत्थियमित्ते देसे, पारोहो हवइओ तत्ते उवरिं ।
तावतियमित्ते देसे, अहे वि निहियं धणं मुणसु ॥ ८ ॥
तणुए उवरि परोहे, हिट्ठा पिहुले धुवं धणं मुणसु ।
विवरीए तयभावो, इय निच्छेऊण धणमित्तो ॥ ९ ॥ *
" नमो धनदाय नमो धरणेन्द्राय नमो धनपालाय " इति मन्त्रं पठन् खनति स्म तं प्रदेशम् ।
किं तु अपुन्नवसेणं, केवलअंगारपूरियं नियइ ।
तंबमयकलसजुयलं, तओ इमो चिंतइ विसन्नो ॥ १० ॥
पारोहपीयरसई-सणेण कणयम्मि निच्छिए वि धुवं ।
इंगाल च्चिय पिच्छे-मि केवलं ही विगयपुन्नो ॥ ११ ॥
दविणत्थिणा नरेणं, न हु कायव्वो तहा वि निव्वेओ ।
जं सव्वत्थ वि गिज्झइ, सिरीइ मूलं अनिव्वेओ ॥ १२ ॥
इय चिंतिवि पुरओ वि हु, बहुजुभागे खणेइ दविणकए ।
न य पावइ कागवरा-डियं पि कत्थइ अपुन्नवसा ॥ १३ ॥
निक्खेइ धाउवायं, मुणु किलेसं सहेइ न हु अन्नं ।
होउ वणिओ तो वच्चइ, पवहणे भज्जइ तयं तो ॥ १४ ॥
अह थलमग्गवणिज्जं, करेइ अज्जेइ कहंवि किं पि धणं ।
तं पि नरेसरतक्कर-पमुहेहिं घिप्पए तस्स ॥ १५ ॥
तो सव्वपयत्तेणं, ओलग्गं कुणइ निवइपभिईणं ।
तह वि तदपुन्नवसओ, न ते वि किं पि हु पसीयंति ॥ १६ ॥
एवं दुहं सहंतो, परिभमिरो महियलं कया पि इमो ।
केवलकालिय गुणसा-यरं गुरुं गयवरे नियइ ॥ १७ ॥
संजायकम्मविवरो, बहुबहुमाणेण नमइ गुरुचरणे ।
तो कहइ मुणिवरो त-स्स समुचियं धम्मकहमेवं ॥ १८ ॥
धम्मेण धणसमिद्धी, जम्मो धम्मेण उत्तमकुलम्मि ।
धम्मेण दीहमाउं, धम्मेण अरुग्गमारुग्गं ॥ १९ ॥
सयलजगजणाहियसय-म्मि निम्मला भमइ धम्मओ कित्ती ।
हसियरइरमणरूवं, रूवं धम्माउ इह होइ ॥ २० ॥
जं भुंजंति सुहाइं, मणिरयणपहापहासियादिसेसु ।
भवणेसु भवणवइणो, तं सव्वं धम्ममाहप्पं ॥ २१ ॥
जं हरिसजणगजतं, निवचक्कं चक्किणो नमइ चलणे ।
तं सुद्धधम्मकप्पद्द-दुमस्स कुसुमुग्गमं मन्ने ॥ २२ ॥
सरहसखुरसुंदरिकर-चालियचलचारुचामरप्पीलो ।
सुरलोए सुरनाहो, हवेइ धम्मप्पभावेण ॥ २३ ॥
किं बहुणा भणिएणं,-धम्मेण हवंति सयलसिद्धीओ ।
धम्मेण विमुक्काण उ, जियाण न कया वि फलसिद्धी ॥२४॥
तं सोउं धणमित्तो, कयंजली जंपए नमिय सूरिं ।
एवमिणं मुणिपुंगव !, जं तुम्भेहिं समाइट्ठं ॥ २५ ॥
अम्माउ वि मह दुक्खं, मुणइ च्चिय पहु ! तुमे सनाणेण ।
को हेऊ पुण इहयं, तो कहइ गुरू सुणसु भद्द ! ॥ २६ ॥
इह भरहे विजयपुर-म्मि गंगदत्तु त्ति गिहवई आसि ।
मगहा से दइया सो-उ धम्मनामं पि न हु मुणइ ॥ २७ ॥
धम्मकरणुज्जुयाणं, अंतंसि पि हु करेइ बहुविग्घे ।
मच्छरभरिओ कस्स वि, लाभं न हु सक्कए दट्ठुं ॥ २८ ॥
अह पुण कहं पि से पि-च्छिरस्स ववहरइ कोइ बहुलाभं ।
पइ जरो सत्तमुहे-हिं तस्स इय वासरा जंति ॥ २९ ॥
अन्नदिणे करुणाए, सुंदरनामेण सावएण इमो ।
नीओ मुणीण पासे, कहिओ तेहिं पि इय धम्मो ॥ ३० ॥
उवसमविवेगसंवर-सारो जइसत्ति नियमतवपवरो ।
जिणधम्मो कायव्वो, अतुच्छकुलच्छीइ कुलजवणं ॥ ३१ ॥
इय सुणिय किंचि भावे-ण किं पि दक्खिन्नओ त्ति गिण्हेइ ।
सो पइदिणचिइवंदण-करणजुयऽभिग्गहे के वि ॥ ३२ ॥
मुणिणो नमित्तु पत्तो, सगिहम्मि पमायपरवसो धणियं ।
भंजइ अभिग्गहे के, वि के वि अइयरइ मूढमणो ॥ ३३ ॥
इक्कं पुण चिइवंदण-अभिग्गहं पालए निरइयारं ।
कालक्कमेण मरिउं, संपइ सो एस तं जाओ ॥ ३४ ॥
पुव्वकयदुक्कयवसा, तए इमं एरिसं फलं पत्तं ।
जिणवंदणप्पभावा, जायं निहिदंसणाईयं ॥ ३५ ॥
इय सोउं धणमित्तो, संवेयगओ नमित्तु मुणिनाहं ।
बहुदुक्खलक्खदलणं, गिहिधम्मं गिण्हए सम्मं ॥ ३६ ॥
दिवसनिसिपढमपहरे, मुत्तुं धम्मकज्जं अहं सेसं ।
सइसाणाजोगेणं, विणा पओसं च वज्जिस्सं ॥ ३७ ॥
एवं गिण्हिय घोर, अभिग्गहं वंदिउं च गुरुचरणे ।
पुरमज्झे कस्सइ सा-वगस्स गेहम्मि उत्तरइ ॥ ३८ ॥
सुहदव्व भोगेणं, कंचणिउं मालिणा समं कुसुमे ।
घरजिणहरजिणपडिमा-उ निच्चमच्चेइ जत्तीए ॥ ३९ ॥
बीए पहरे लोया-गमाविरोहेण कुणइ ववसायं ।
संपज्जइ अकिलेसे-ण तेण खलु जीयणं तस्स ॥ ४० ॥
जह जह धम्मम्मि थिरो हवेइ तह तह पवड्ढए विहवो ।
विच्चेइ बहुं धम्मे, वोसुं गिण्हेइ तो गेहं ॥ ४१ ॥
एगेण माहिकुयसा-वएण दिन्ना य तस्स नियधूया ।
अइधम्मिय त्ति काउं, दुन्नि वि चिट्ठंति धम्मपरा ॥ ४२ ॥
पत्तो कया वि लोगो, उत्तम्मि गुलतिल्लमाइ विक्किणिउं ।
तं वेलं पुण तं गुरु-मन्नगिहं गंतुमुच्चलियं ॥ ४३ ॥
तं मेहरो य निहिडवि-य तंबकलसे तओ गहिउकामो ।
उज्झावइ इंगाले, तं कणयं नियइ धणमित्तो ॥ ४४ ॥
किमिणं उज्झाविज्जइ, इय पुट्ठे तेण मेहरो भणइ ।
कणगं ति कहिय पिउणा, पवंचिया इच्चिरं अम्हे ॥ ४५ ॥
संपइ उज्झामेमो, एए इंगालए नियऊण ।
तो सेट्ठी सुद्धमणो, भणेइ भो भद्द ! सुवन्नमिणं ॥ ४६ ॥
जंपेइ मेहरो इह-विमूढ ! किं वाउलो सि मत्तो सि ।
धत्तूरिओ सि अहवा, सव्वं सुन्नं दरिद्दस्स ॥ ४७ ॥
अह कणगमिणं ता म-ज्झ दाउ गुलतिल्लमाइयं किं पि ।
गिण्हसु इमं तुमं चिय, तह चेव करेइ सिट्ठी वि ॥ ४८ ॥

तं खिविउं नियजाणे, सगिहे पत्तो नमित्तु जिणबिंबं ।
जा संभालइ ता ती-स सहस्समाणं नयं जायं ॥ ४९ ॥
तेणं धम्मपरेणं, अन्नं पि समज्जियं बहुं दविणं ।
जाओ जणप्पवाओ, उअह अहो धम्ममाहप्पं ॥ ५० ॥
इत्तो तत्थेव पुरे, सुमित्तनामा वसेइ महइब्भो ।
रयणावलिं स विरए, कोडिमुल्लेहिं रयणेहिं ॥ ५१ ॥
केण वि गुरुकज्जेणं, तस्स वि वत्तचियस्स पासम्मि ।
एगागी संपत्तो, धणमित्तो तह निसन्नो य ॥ ५२ ॥
वच्चियासावं सह ते-ण काउ इब्भो पओयणवसेण ।
पत्तो गिहमज्झे का-उ कज्जमह एइ जा तत्थ ॥ ५३ ॥
ता रयणावलिमनिए, वि भणइ जा विरइओ मए मुक्का ।
सा कत्थ गया रयणा-वलि त्ति भो कहसु धणमित्त ! ॥५४॥
न तुमं मम य मुत्तुं, को वि इहासी तओ तुमं चेव ।
सा गहिया अप्पसु तं, मा चिरकालं विलंबसु ॥ ५५ ॥
तो चिंतइ धणमित्तो, अहह अहो ! कम्मविलसियं नियह ।
जं अकए वि य दोसे, इय वयणिज्जाइँ जायंति ॥ ५६ ॥
इसु च्चिय परिसिद्धं, परगिहगमणं जिणेहिं सट्ठाणे ।
जं परगिहगमणाओ, कलंकमाइ जियाण धुवं ॥ ५७ ॥
ता परगेहे गेहो, अणज्जवयणिज्जयाइ दोसेण ।
गुरुकज्जे वि कया वि हु, एगागी नेव वच्चिदव्वं ॥ ५८ ॥
इय चिंतिय भणइ अहं, इब्भ ! तुमं पि व न किंचि जाणेमि ।
सो आह न छुट्टिज्जइ, परिसवयणेहिं धणमित्त ! ॥ ५९ ॥
काउ ववहारं रा-उले वि तं लेमि तुह सयासाओ ।
इयरो वि पडिभणेई, जं जुत्तं कुणसु तं इब्भ ! ॥ ६० ॥
तो धणमित्तो या-उ त्ति साहिओ निवइणो सुमित्तेण ।
न इमं इमम्मि संभव-इ कह वि इय चिंतइ निवो वि ॥६१॥
एस पुण निच्छएणं, कहेइ ता पुच्छिमो नयं चेव ।
अह हक्कारिय पुट्ठो, धणमित्तो कहइ जह वित्तं ॥ ६२ ॥
पभणइ निवो वि विम्हिय-हियओ भो इब्भ ! किमिह कायव्वं ?
सो आह देव ! इमिणा, गहिया रयणावली नूणं ॥ ६३ ॥
अह जंपइ धणमित्तो, देव ! कलंकं इमं न हु सहेमि ।
पभणेह जेण दिव्वे-ण तेणिमं पत्तियावेमि ॥ ६४ ॥
भणइ निवो इब्भ ! तुमं, होसु सिरे जं गहेइ फालमिमो ।
आमंतितेण भणिए, ठविओ दिवसो तओ रन्ना ॥ ६५ ॥
सगिहेसु दो वि पत्ता, अह धणमित्तो विसेसधम्मपरो ।
चिट्ठइ सुविसुद्धमणो, पत्तो पुण दिव्वदिवसम्मि ॥ ६६ ॥
काउं जिणाण अट्ठ-प्पयारपूयाइ पुइऊण जिणं ।
तह काउ काउसग्गं, सम्मद्दिट्ठीण देवाणं ॥ ६७ ॥
फाले धम्मिज्जमाणे, पुरो निविट्ठे निवम्मि लोए य ।
बहुपउरजुओ पत्तो, धणमित्तो दिव्वठाणम्मि ॥ ६८ ॥
इब्भो वि तत्थ पत्तो, धणमित्तो जाव गिण्हही फालं ।
इब्भस्स उट्ठियाओ, पडिया रयणावली ताव ॥ ६९ ॥
तो भणियं नरवइणा, इब्भ ! किमेयं ति सो वि सद्दमणो ।
जा देइ उत्तरं न हु, ता पुट्ठो तेण धणमित्तो ॥ ७० ॥
अहि रयणावलीए, कए चिवाओ तुमाण सा किमियं ।
होइ न व त्ति इमा वि हु, जंपइ सा चेव इव ! इमा ॥ ७१ ॥
परमत्थमिणं नवर, मुणंति सव्वन्नुणो तओ राया ।
नियअंकारियहत्थे स-विम्हओ तं समप्पेइ ॥ ७२ ॥
सम्मं संमाणेउं, सुद्धं ति पमुत्त सिट्ठिधणमित्तं ।
नियपुरिसाणं अप्पिय, इब्भं च गओ निवो सगिहं ॥ ७३ ॥
अह धणमित्तो नियमित्त-पउरसावयगणेण परियरिओ ।
तित्थुन्नइं कुणंतो, संपत्तो नियगेहम्मि ॥ ७४ ॥
इत्तो य तत्थ पत्तो, गुणसायरकेवली नयं नमिउं ।
धणमित्तो नयरजणो, सपरिजणो नरवई वि गओ ॥ ७५ ॥
रन्ना इब्भो वि तहिं, आहूओ निसुणिउं च धम्मकहं ।
समए तं वुत्तंतं, पुट्ठो नाणी कहइ एवं ॥ ७६ ॥
इह विजयपुरे नगरे, गेहवई आसि गंगदत्त त्ति ।
मुद्धा मायाबहुला, मगहा नामेण तस्स पिया ॥ ७७ ॥
संवोसियाविहाए, ईसरनाणिणो पियाइ वररयणं ।
परिसिय कहमवि तंमिह-मवहरए लक्खमुल्लं सा ॥ ७८ ॥
नाउ इमा तं मगाइ, न य कहवी सक्कए वयइ विरसे ।
तो देइ उवालंभं, वणिभज्जा गंगदत्तस्स ॥ ७९ ॥
भज्जानेहाविमोहिय-मणो इमो भणइ गिहमणुस्सेहिं ।
तुह चेव तं अवहरं, मा अलियं देसु णेआल ॥ ८० ॥
इय सुणिय वणियइब्भा, नियवररयणोवलंभतुट्ठा सा ।
काऊण तावसवय, उववन्ना वंतरत्तेण ॥ ८१ ॥
विहियतहाविहकम्मा, जाया मगहा वि एस इब्भु त्ति ।
मरिऊण गंगदत्तो, धणमित्तो एस उववन्नो ॥ ८२ ॥
कुवियएण तेण वंतर- सुरेण नियरयणावहारं तम्मि ।
इब्भस्स तिन्नि पुत्ता, निहणं गमिया कमेणित्थ ॥ ८३ ॥
तो रन्ना इब्भमुहे, पलोइए भो भणेह एव त्ति ।
किं तु मरणम्मि तेसिं, हक्क इगिह मए नाओ ॥ ८४ ॥
पुण भणइ गुरु रयणावली वि, तेणेव अवहरा एसा ।
एसं धणमित्तेणं, आलं किल आलदाणाओ ॥ ८५ ॥
धणमित्तधम्मथिरभा-वरंजिएहिं सुदिट्ठिअमरेहिं ।
तं वंतरमक्कमिउ, रयणावलि मोइया तइया ॥ ८६ ॥
आह निवो किं अज्ज वि, इमस्स काही सुरो भणइ नाणी ।
रयणावलीइ सहियं, विहवं हरिही सुमित्तस्स ॥ ८७ ॥
तो अट्टवसट्टाओ मरि-उं इब्भो भवे बहुं भमिही ।
वंतरसुरेहिंतो वि हु, बहुहा निज्जाइही वेरं ॥ ८८ ॥
इय सोउ संविग्गो, राया रयणावलिं सुमित्तस्स ।
अप्पेउ ठविउ सुयं, रज्जे गिण्हेइ चारित्तं ॥ ८९ ॥
धणमित्तो वि हु जिट्ठं, पुत्तं ठविऊण नियकुडुंबम्मि ।
गिण्हिय केवलिपासे, दिक्खं कमसो गओ मुक्खं ॥९० ॥"
"इत्येवन्त्य धनमित्रवृत्तकं,
शुद्धवृत्तजनहर्षकारकम् ।
अन्यगेहगमनं यथा तथा,
संत्यजन्तु भविनो हि सत्पथाः ॥ ९१ ॥"
इति धनमित्रचरित्रम् ॥ ध० र० ।

इन्द्रपुरनगरस्थे स्वनामख्याते वणिजि, आव० ४ अ० । नि० चू० आ० क० । आ० चू० । (तद्वक्तव्यता 'णिरवलाव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१११ पृष्ठे द्रष्टव्या) उज्जयिनीनगरस्थे स्वनामख्याते वणिजि, ग० १ अधि० । (तद्वक्तव्यता 'आलुकाय' शब्दे द्वितीयभागे २४ पृष्ठे गता) (तद्वक्तव्यता 'पिवासापरीसह' शब्देऽपि अस्मिन्नेव भागे द्रष्टव्या) चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते सार्थवाहे, आव० ४ अ० । आ० क० । (तद्वक्तव्यता 'संवेग' शब्दे) शत्रुञ्जयशैलशृङ्गाभिषिक्तवर्धमानस्वामीत्यस्योद्धारकारके श्रावके, ती० १ कल्प । अवसर्पिण्यां जायमानस्य स्वयंभुवासुदेवस्य पूर्वजन्म-

नामधेये, ति० । स० । व्यक्तगणधरस्य स्वनामख्याते पितरि च । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

धणरक्खिय–धनरक्षित–पुं० । राजगृहनगरस्थस्य धनसार्थवाहस्य पुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

धणराइ–धनराजि–स्त्री० । सिन्धुदत्तसुतायां काम्पिल्यपुरस्थस्य ब्रह्मदत्तस्यान्तःपुरप्रधानायां महिष्याम्, उत्त० १३ अ० ।

धणवइ–धनपति–पुं० । ६ न० । कुबेरे, वाच० । द्वारावतीवर्णनमधिकृत्य–" धणवइमइणिम्मिया ।" धनपतिर्वैश्रवण इति । ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । जयपुरनगरस्थे धनावहश्रेष्ठिनो भ्रातरि, दर्श० ४ तत्त्व । वसन्तपुरनगरस्थे धनावहश्रेष्ठिनो भ्रातरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । काश्चीनगरनिवासिनि कस्मिंश्चिस्सांयात्रिके, येन समुद्रविजयदशार्हप्रतिष्ठापिता द्वारावतीस्थिता पार्श्वनाथप्रतिमा द्वारावतीदाहानन्तरं समुद्रप्लावितायां द्वारावत्यां समुद्रे स्थिता निजयानपात्रे देवतातिशयेन स्खलितेऽत्रैव जिनबिम्बं तिष्ठतीति दिव्यवाचा निश्चित्य नाविकैरुद्धारिता स्वपुरमानीय प्रासादे स्थापितेति । ती० ५२ कल्प । कनकपुरनगरस्थस्य वैश्रवणकुमारस्य युवराजस्य स्वनामख्याते पुत्र, सुखविपाकाध्ययनेषु षष्ठेऽध्ययने, विपा० २ श्रु० ६ अ० ।

कणगपुरं णयरं, सेयासोए उज्जाणे, वीरभद्दो जक्खो, पियचंदो राया, सुभद्दा देवी, वेसमणे कुमारे जुवराया, सिरीदेवीपामोक्खाणं पंचसया, तित्थयरागमणं, धणवई जुवरायपुत्तो० जाव पुव्वभवे मणिभया णयरी, मित्तो राया संभूतिविजए अणगारे पडिलाभिए० जाव सिद्धे ॥ विपा० २ श्रु० ६ अ० ।

धणवई–धनवती–स्त्री० । कलिङ्गविषयस्थकाञ्चनपुरस्थस्य धनावहश्रेष्ठिनः सुतायाम्, दर्श० १ तत्त्व । एकस्मिन् सन्निवेशे स्थितस्य कस्यचिद् ग्रामाधिपतिसुतस्य धननाम्नो नवमे भवे भविष्यदरिष्टनेमितीर्थकरस्य भार्यायाम्, उत्त० २२ अ० । कल्प० ।

धणवसु–धनवसु–पुं० । उज्जयिनीनगरस्थे स्वनामख्याते वणिजि, आव० ४ अ० । (तत्कथा 'आयइ' शब्दे द्वितीयभागे २४५ पृष्ठे गता) " उज्जयिन्यां धनवसु-श्चम्पां गन्तुमना वणिक् ।" आ० क० । आ० चू० ।

धणवह–धनवह–पुं० । कलिङ्गविषयस्थकाञ्चनपुरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, "तत्थ धणवहो णाम सेट्ठी ।" दर्श० १ तत्त्व । जयपुरनगरस्थे धनपतिश्रेष्ठिभ्रातरि, " जयउरं नाम नयरं,जियसत्तू नाम राया, धणवइधणावहा दुवे भायरो सेट्ठी ।" दर्श० ४ तत्त्व । वसन्तपुरनगरस्थे धनपतिश्रेष्ठिभ्रातरि, " वसंतपुरं नगरं, जियसत्तू राया, धणवईधणावहा भायरो सेट्ठी ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । राजगृहनगरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, "रायगिहे नयरे पहाणस्स धणावहस्स सेट्ठिस्स ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । कौशाम्बीनगरवास्तव्ये मूलायाः पत्यौ स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, आ० चू० १ अ० । "आसीद्धनावहः श्रेष्ठी, मूला तस्य च गेहिनी ।" आ० क० । " तत्थेव णयरे धणवहो सेट्ठी, मूला भारिया ।" आ०म० १ अ० २ खण्ड । ऋषभपुरस्थस्तूपकरण्डकोद्यानस्थे स्वनामख्याते नृपे, विपा० २ श्रु० २

अ० । (तत्कथा विपाकश्रुतस्य द्वितीये श्रुतस्कन्धे द्वितीयाध्ययने 'भद्दणंदि' शब्दे वक्ष्यते)

धणविजय–धनविजय–पुं० । लोकनालिकासूत्रभाषावृत्तिकृति आचार्ये, अयं विक्रमसंवत् ११५१ मिते विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

धणसमिद्ध–धनसमृद्ध–त्रि० । धनेन समृद्धे, " धणसमिद्धे सत्थवाहकुलप्पसूओ ।" आव० ४ अ० । प्रश्न० ।

धणसम्म (ण्)–धनशर्मन्–पुं० । उज्जयिनीनगरस्थे धनमित्रवणिक्सुते स्वनामख्याते वणिजि, ग० २ अधि० । उत्त० ।

धणसिरी–धनश्री–स्त्री० । जयपुरनगरस्थयोर्धनपतिधनावहश्रेष्ठिनोः स्वनामख्यातायां भगिन्याम्, दर्श० ४ तत्त्व । वसन्तपुरस्थयोर्धनपतिधनावहश्रेष्ठिनोर्भगिन्याम् , आ० म० १ अ० २ खण्ड । श्रेणिकस्य भार्यायाम् , तं० । हस्तपुरनगरस्थस्य धनमित्रसार्थवाहस्य भार्यायाम्, आव० ४ अ० । आ० क० । आ० चू० । नि० चू० । चम्पानगरीस्थस्य धनसार्थवाहस्य भार्यायाम्, आव० ४ अ० । चम्पानगरीमधिकृत्य–" धनमित्रसार्थवाहो, धनश्रीस्तस्य वल्लभा ।" आ० क० । हेमपुरस्थस्य सुरदत्तश्रेष्ठिनः सुताया जिनमत्याः स्वनामख्यातायां सख्याम्, दर्श० १ तत्त्व ।

धणसेट्ठि (ण्)–धनश्रेष्ठिन्–पुं० । राजगृहनगरस्थे श्रेष्ठिनि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । (तत्कथा 'धण' शब्देऽनुपदमेव गता) श्रावस्तीवास्तव्ये श्रेष्ठिनि, उत्त० ८ अ० । (तत्कथा 'कविल' शब्दे तृतीयभागे ३०७ पृष्ठे गता) पाटलिपुत्रनगरस्थे श्रेष्ठिनि, यस्य दुहिता भगवतः सकाशे प्रव्रजिता । आ० म० १ अ० २ खण्ड । कस्मिंश्चिन्नगरे स्थिते धनप्रियायाः पत्यौ स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि च । पिं० ।

धणसेण–धनसेन–पुं० । द्वारावतीवास्तव्ये कमलामेलायाः पितरि स्वनामख्याते नृपे, दर्श० ४ तत्त्व । आ० म० । आ० चू० ।

धणहाणि–धनहानि–स्त्री० । धनक्षये, तत्कारणीभूते राज्यस्यापलक्षणभेदे च । यतः सर्वत्र धनक्षयः सम्भवति । ध्य० ३ उ० ।

धणहारि (ण्)–धनहारिन्–त्रि० । धनं हरतीति धनहारी । धनहरणशीले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

धणावह–धनावह–पुं० । 'धणवह' शब्दार्थे, दर्श० १ तत्त्व ।

धणि–ध्वनि–पुं० । ध्वन इन् । शब्दे, स्था० १ ठा० । विशे० । आव० । तूर्यनिनादे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । अव्यक्ते मृदङ्गाऽऽदिशब्दे, अलङ्कारोक्ते उत्तमकाव्ये च । वाच० ।

धनिन्–पुं० । धनवान्, प्रा० २ पाद ।

धणिअ–देशी–गाढे, दे० ना० ५ वर्ग ५८ गाथा ।

धणिआ–देशी–प्रियायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ५८ गाथा ।

धणिओज्जालिय–धनितो (को)ज्ज्वालित–त्रि० । अत्यर्थमुज्ज्वालिते, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

धणिट्ठा–धनिष्ठा–स्त्री० । अतिशयेन धनवती इष्ठन् ङीलुक् । वसुदेवताके स्वनामख्याते नक्षत्रभेदे, वाच० । ज्यो० । स्था० । अनु० । चं० प्र० । जं० । सू० प्र० । स० ।

धणिट्ठासंवच्छर–धनिष्ठासंवत्सर–पुं० । यस्मिन्संवत्सरे धनिष्ठानक्षत्रेण सह शनैश्चरो योगमुपादत्ते स धनिष्ठासंवत्सरः । इत्युक्तके शनैश्चरसंवत्सरभेदे, जं० ७ वक्ष० ।

धणिय–धणिय–न० । अत्यर्थे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । " धणियं अप्पा निओ तओ । " धणियमत्यर्थमिति । व्य० २ उ० । आव० । " धणियं पि समत्थाविसेन । " धणियमत्यर्थमिति । आतु० । अत्यन्ते, उत्त० १ अ० ।

धनिक–न० । अत्यर्थे, "धीइधणियणिप्पकंपे" धनिकमत्यर्थमिति । औ० । "धणियमाणापहाणो य । " धनिकमत्यर्थम् । ध० २ अधि० । धनिवत् कायति–कै–कः । धन्याके, पुं० । न० । धने, पुं० । धनं विद्यतेऽस्यस्य ठन् । धनस्वामिनि, वाच० । स० ६ अङ्ग । उत्तमर्णे च । त्रि० । " धनिकस्य यथारुचि । " इति स्मृतिः । स्त्रियां टाप् । प्रियङ्गुवृक्षे, वध्वां च । वाच० ।

धनित–न० । अत्यर्थे, " धीइधणियबद्धकच्छा । " संथा० ।

ध्वनित–त्रि० । शब्दिते, वाच० ।

धणी–देशी–नार्याप्रसिद्धे, निःशङ्के च । दे० ना० ५ वर्ग ६२ गाथा ।

धणु–धनुष्–न० । धन–उस् । " धनुषो वा " ॥ ८।१। २२॥ इति प्राकृतसूत्रेण धनुःशब्दस्यान्त्यव्यञ्जनस्य वा हः । कार्मुके, प्रा० १ पाद । प्रियालवृक्षे, धनुर्द्धरे, त्रि० । वाच० । भ० । चापे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । स० । जं० । विपा० । " आवं च णं से पुरिसे धणुं परामुसइ । " धनुर्दण्डगुणाऽऽदिसमुदायः । भ० ५ श० ६ उ० । चतुर्भिर्हस्तैर्निष्पन्ने अवमानविशेषे, अनु० । " दंडं धणू य जुगं, नालिया य अक्खो मुसलं च चउहत्थं । " ज्यो० २ पाहु० । प्रव० । जी० । प्रज्ञा० । नं० । जं० । स्था० । " छण्णउइअंगुलाणि से एगे दंडेइ वा धणूइ वा जुगेइ वा नालियाइ वा अक्खेइ वा मुसलेइ वा । " भ० ६ श० ७ उ० । स० । " धणुं च पंचमिम । " पथि मार्गविधौ धनुरेव मानं मार्गगव्यूताऽऽदिपरिच्छेदो धनुःसंज्ञाप्रसिद्धेनैवावमानविशेषेण क्रियते, न तु दण्डाऽऽदिभिरिति । अनु० । मेषावधिके नवमे राशौ च । न० । वाच० । यो धनुर्विमुक्तार्द्धचन्द्राऽऽदिभिर्बाणैः कर्णाऽऽदीनां छेदनभेदनाऽऽदि करोति स धनुः । नारकाणां कदर्थके दशमे परमाधार्मिकभेदे, पुं० । प्रव० १८० द्वार । प्र० । अनु० । सम० । (' असिपत्त ' शब्दे प्रथमभागे ८४१ पृष्ठे ७८ गाथा गता)

धणुकुडिल–कुटिलधनुष्–न० । कुटिले धनुषि, "धणुकुडिलवंकपागारपरिक्खित्ता । " धनुष्कुटिलं कुटिलं धनुः । ततोऽपि वक्रेण प्राकारेण परिक्षिप्ता या सा तथा । रा० । ज्ञा० ।

धणुक्क–धनुष्क–न० । चापे, न० । चतुर्भिर्हस्तैर्निष्पन्ने अवमानविशेषे च । न० । अनु० । पा० । पाञ्चालदेशस्थकाम्पिल्यपुरनृपतेर्ब्रह्मदत्तपितुर्ब्रह्मराजस्य स्वनामख्याते सेनापतौ, उत्त० १३ अ० । आ० क० । (तद्वक्तव्यता ' बंभदत्त ' शब्दे वक्ष्यते)

धणुग्गह–धनुर्ग्रह–पुं० । वातव्याधिविशेषे, धनुर्ग्रह इति वा । जी० ३ प्रति० ४ उ० । धनुर्ग्रहोऽपि वातविशेषो, यः शरीरं कुब्जीकरोति । बृ० ३ उ० । व्य० ।

धणुत्तासणा–धनुस्त्रासना–स्त्री० । धनुषा भयजनने, " उद्दोवओगो धणुत्तासणा य । " धानुष्कैर्वा पाषाणैर्वा पक्षिणस्त्रासनं कुर्वन्ति भयमुपजनयन्तीत्यर्थः । बृ० २ उ० ।

धणुद्धय–धनुर्ध्वज–पुं० । भविष्यद्गुत्सर्पिण्यां महापद्मस्य प्रथमतीर्थकरस्य सकाशे प्रव्रजिष्यति स्वनामख्याते नृपे, स्था० ८ ठा० ।

धणुद्धर–धनुर्धर–पुं० । धनुर्धारयति धृ–अच् । धानुष्के, वाच० । धनुर्द्धराः कोदण्डप्रहरणा इति । स० ।

धणुपिट्ठ–धनुष्पृष्ठ–न० । मण्डलखण्डाऽऽकारे क्षेत्रे, स० ५७ सम० । जम्बूद्वीपलक्षणवृत्तक्षेत्रस्य हैमवतैरण्यवताऽऽदिवर्षावच्छिन्नस्याऽऽरोपितज्याधनुष्पृष्ठाकारे परिधिखण्डे च । हैमवतैरण्यवतोरधिकारे जम्बूद्वीपलक्षणवृत्तक्षेत्रस्य हैमवतैरण्यवताख्यां द्वितीयषष्ठवर्षाख्यामवच्छिन्नस्याऽऽरोपितज्याधनुष्पृष्ठाकारे परिधिखण्डे धनुष्पृष्ठं, उच्यते, तत्पर्यन्तभूते सरलप्रदेशपङ्क्तौ तु जीवे इव जीवं इति । स० ३७ सम० । (तच्च कस्य वर्षस्य वर्षधरपर्वतस्य कियत्प्रमाणमिति ' वासहर ' शब्दे वक्ष्यते)

धणुपुहत्तिया–धनुष्पृथक्त्विका–स्त्री० । गव्यूते, " धणुपुहत्तिया वि गाउयं वि । " गव्यूतं द्विधनुःसहस्रप्रमाणमिति । प्रज्ञा० १ पद ।

धणुवल–धनुर्वल–न० । धनुर्द्दरवले, "धणुवलं वा आलिंगति । " भ० ३ श० २ उ० ।

धणुय–धनुष्क–न० । ' धणुक्क ' शब्दार्थे, स० ।

धणुव्वेय–धनुर्वेद–पुं० । धनुष उपचारात् तत्प्रक्षेपणीयास्त्रप्रयोगाऽऽदेरुपयोगी वेदः । यजुर्वेदस्योपवेदे, शस्त्रास्त्रप्रयोगोपसंहारप्रतिपादकमन्त्रसहिते शास्त्रभेदे, वाच० । धनुःशास्त्रे, जं० २ वक्ष० । इषुशास्त्रे, तच्च भगवत ऋषभदेवस्य समये आसीत् । "इसुसत्थं धणुव्वेओ । "इषुशास्त्रं नाम धनुर्वेदः, स च तदैव राजधर्मे सति प्रावर्तत । आ० म० १ अ० १ खण्ड । शिक्षाशास्त्रे, " कुलपुत्रक एकोऽत्र, धनुर्वेदविशारदः । कस्यापि धनिनः पुत्रान्, धनुर्वेदमशिक्षयत् ॥१॥ " आ० क० । आ० म० । तदात्मके द्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाभेदे, औ० । स० । ज्ञा० । सूत्र० । तदात्मके पापश्रुतभेदे च । आव० ४ अ० ।

धणुखंड–धनुःखण्ड–न० । धनुःशकले, " लवोः संयोग सोऽप्रारम्भे " ॥ ८ । ४ । २८९ ॥ इति सूत्रेण मागध्यां संयोगे वर्तमानयोः सकारषकारयोरूर्ध्वलोपाऽऽद्यपवादः सः । प्रा० ४ पाद ।

धणुस्सग्ग–धनोत्सर्ग–पुं० । धनसम्पत्तौ, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

धणुह–धनुष्–पुं० । ' धणु ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

धणेसर–धनेश्वर–पुं० । भरुकच्छनगरे स्वनामख्याते वणिजि, ती० ६ कल्प । कान्तीनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते सार्थवाहे, येन द्वारावत्यां कृष्णवासुदेवेन प्रतिष्ठापिता पार्श्वनाथप्रतिमा द्वारावतीदाहानन्तरं समुद्रेण द्वारावत्यां प्लावितायां समुद्रमध्ये स्थिता सिंहलद्वीपगमने यानपात्रे स्तम्भिते पद्मावतीदेव्या वाक्येन समुद्रमध्यादुद्धृत्य स्वनगरप्रासादे स्थापितेति । ती०

५ कल्प । भद्रबाहुस्वामिविरचितबृहत्कल्पभाष्यवृत्तिकर्तुः क्षेमकीर्त्तिसूरेर्गुरुपरम्परायां जाते स्वनामख्याते आचार्ये, बृ० ।

" श्रीजैनशासनवनस्नजनिस्नरश्मिः,
श्रीपद्मचन्द्रकुलपद्मविकाशकारी ।
पूज्यो निराकृतदिगम्बरडम्बरोऽभूत्,
श्रीमान् धनेश्वरगुरुः प्रथितः पृथिव्याम् ॥ ७ ॥
श्रीमच्चैत्रपुरैकमण्डनमहावीरप्रतिष्ठाकृत-
स्तस्माच्चैत्रपुरप्रबोधतरणिः श्रीचैत्रगच्छोऽजनि ।
तत्र श्रीभुवनेन्दुसूरिसुगुरुर्भूभूषणं भासुर-
ज्योतिः सद्गुणरत्नरोहणगिरिः कालक्रमेणाऽभवत् ॥ ६ ॥"

बृ० ६ उ० । द्वितीयोऽप्येतन्नामा विशालगच्छीयो जिनवल्लभसूरिविरचितसार्द्धशतकग्रन्थोपरि टीकाया रचयिताऽयमाचार्यः विक्रमसंवत्-११७१ वर्षे आसीत् । अपरोऽप्यतिप्राचीनः शिलाऽऽदित्यराजस्य वल्लभीपुरराजस्यार्थे शत्रुञ्जयमाहात्म्यग्रन्थकृद् धनेश्वरसूरिः । जै० इ० ।

धणोहसंचय-धनौघसंचय-पुं० । धनस्यौघः समूहो धनौघस्तस्य संचयो राशीकरणम् । कनकाऽऽदिद्रव्यसमूहस्य राशीकरणे, उत्त० १० अ० ।

धण्ण-धन्य-त्रि० । धनं लब्धा, धने साधुः,धनमर्हतीति । प्र० २ श० १ उ० । अन्त० । स्था० । नि० । धनाय हितं धनस्य निमित्तं संयोग उत्पातो, धनं प्रयोजनमस्य वा यत् । वाच० । धनलम्भिनि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । भ० । " धण्णाओ अणंताओ अंबगाओ ।" आ०म० १ अ० २ खण्ड । "अहो पयइस धण्णया ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । " धण्णेसि णं तुमं जाया ! " धनं लब्धासि । प्र० ६ श० ३३ उ० । धनाबहे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सौभाग्याऽऽदेयताऽऽदिमा धनार्हे, ज्ञा० १४ हा० । धनलाभयोग्ये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । धनलाभौ पुण्यवति, पञ्चा० ४ विव० । पं० व० । " धण्णाणमयजोगो, धण्णा वंदंति पवणीतांए । धण्णा बहु मण्णंते, धण्णा जे णप्पडूसंति " ॥ १ ॥ धन्यानां भावधनलब्धॄणां तत्साधूनां वा सत्त्वानामिति गम्यते, तद्योगेऽपि धन्याः पुण्यवन्तश्चेष्टन्ते प्रवर्त्तन्ते इति । पञ्चा० २ विव० । श्रेयस्करे, आव० ४ अ० । श्लाघ्ये, " ते धण्णा सप्पुरिसा ।" पञ्चा० १ विव० । अश्वकर्णवृक्षे, कृतार्थे, धनोपयोगिन्यर्थशास्त्रे, धनाय हिते, धनकारणे च । वाच० । धनं ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणमर्हन्तीति धन्याः । साध्वादिषु ज्ञानदर्शनचारित्रधनेषु, " धण्णा नाणाइधणा ।" विशे० । " धण्णा आवकहाए, गुरुकुलवासं न मुंचंति । " धन्या धर्मधनं लब्धारः । पञ्चा० ११ विव० । भ० । पार्श्वनाथस्य प्रथमभिक्षादायके स्वनामख्याते श्रावके, आ० म० १ अ० १ खण्ड । काकन्दीवास्तव्ये स्वनामख्याते सार्थवाहे च । पुं० । तत्कथाऽनुत्तरोपपातिकदशायास्तृतीयवर्गस्य प्रथमेऽध्ययने । सा च ' धण्ण ' शब्दे तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धेऽनुत्तरोपपातिकदशायास्तृतीयवर्गस्य प्रथमेऽध्ययने च । अनु० । आमलकयाम्, धन्याके, वाच० । वाराणसीनगर्यां कोष्ठचैत्यवास्तव्यस्य सुरादेव गृहपतेर्भार्यायां च । स्त्री० । उपा० ४ अ० । (तत्कथा " सुरादेव " शब्दे वक्ष्यते)

धन्व-न० । धन्व-अच् । चापे, वाच० ।

धन्वन्-न० । धन्व० कनिन् । धनुषि, मरुदेशे च । वाच० ।

धान्य-न० । धाने पोषणे साधु-यत् । सतुषे तण्डुलाऽऽदौ, सबीजे शालितण्डुलाऽऽदौ च । दश० ६ अ० । वाच० । उत्त० । सूत्र० । धान्यं व्रीहिकोद्रवमुद्गमाषतिलगोधूमयवाऽऽदि । आव० ६ अ० । तच्च सप्तदशविधम्-" सणसत्तरसबीया भवे धन्नं ।" शणं सप्तदशं येषां तानि शणसप्तदशानि बीजानि धान्यं भवेदिति । तानि चामूनि-" व्रीहिर्यवो मसूरो, गोधूमो मुद्गमाषतिलचणकाः । अणवः प्रियङ्गुकोद्रव-मकुष्ठकाः शालिराढक्यः ॥ १ ॥ किं च कलायकुलत्थौ, शणसप्तदशानि बीजानि ।" बृ० १ उ० २ प्रक० । आ० म० ।

कुत्रचिद् धान्यानां चतुर्विंशतिभेदा यथा-

सणसत्तरसादीणं, धन्नाकाणं तु कोडिकोडीणं ।
जेसिं तु जायणट्ठा, परिसया होंति णिद्दिट्ठा ॥ ३३१ ॥

शणः सप्तदशो येषां तानि शणसप्तदशानि । तानि चामूनि-शालिः, यवः, कोद्रवः, व्रीहिः, रालकः, तिलाः, मुद्गाः, माषाः, चवलाः, चणकाः, तुवरी, मसूरकः, कुलत्थाः, गोधूमाः, निष्पावाः, अतसी, शणश्च । उक्तं च-" सालिजवकोद्दवव्रीहि-रालगतिलमुग्गमासचवलचणा । तुवरिमसूरकुलत्था, गोहुमनिप्फावअयसिसणा ॥ १ ॥" ध्य० १ उ० ।

धन्नाइं चउव्वीसं, जव गोहुम सालि वीहि सट्ठी य ।
कोद्दव अणुया कंगू, रालय तिल मुग्ग मासा य ॥१०१८॥
अयसि हरिमंथ तिउगड, निप्फावसिलिंद राय मासा य ।
इक्खू मसूर तुवरी, कुलत्थ तह धन्नय कलाया ॥१०१९॥

धान्यानि चतुर्विंशतिर्भवन्ति । यथा-जवाः, गोधूमाः, शालयो, व्रीहयः, षष्टिकाः, कोद्रवाः, अणुकाः, कङ्गुः, रालकः, तिलाः, मुद्गा माषाश्च । तथा अतसी, हरिमन्थाः, त्रिपुटका निष्पावाः शिलिन्द्रा राजमाषाः, इक्षवः, मसूराः, तुवरी, कुलत्थाः, तथा-धान्यकं, कलाय इति । एतानि च प्रायेण लोकप्रसिद्धानि प्राग्गुक्तानि,नवरं षष्टिकाः शालिभेदाः,ये षष्टिरात्रेण पच्यन्ते । अणुका जुगन्धरी,बृहच्छिरा कङ्गुः,अल्पतरशिरा रालकः,हरिमन्थाः कृष्णचणकाः, शिलिन्द्रा मकुष्ठाः, राजमाषाश्चवलकाः,धान्यं कुस्तुम्भरी, कलाया अत्र वृत्तचणका इति । प्रव० १५६ द्वार । केचन भूकादिका वदन्ति यथा श्रीमतां त्रिफलाऽऽद्युत्कटद्रव्याभिष्वक्तचूर्णप्रक्षेपे प्रासुकं पानीयं तथाऽस्माकमप्युत्कटद्रव्यजनितचूर्णप्रक्षेपे धान्यादि प्रासुकीभवतीति किमत्र वाच्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-भूकादिककृताशङ्कामाश्रित्य यथा त्रिफलाप्रक्षेपादुदके वर्णाऽऽदिपरावर्त्तो भवति तथा यदि धान्यफलाऽऽद्यपि भवेत्तदोदकवद् धान्यादि प्रासुकं भवति न च तस्मात्कथं प्रासुकं तदिति । २१ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । पञ्चदशकर्माऽऽदाननिषेधवता धान्यनालिकेराऽऽदिफलगुलीहरिताक्षपत्रूलां विक्रये भङ्गोऽभङ्गो वा ?, तथा सद्दालपुत्राऽऽदीनां श्राद्धानां कर्माऽऽदानस्य संभवो, निषेधो वेति प्रश्ने, उत्तरम्-धान्याऽऽदीनां कृतपरिमाणवृद्धौ क्रयादिकरणे भङ्गोऽन्यथा न वेति, तथा सद्दालपुत्राऽऽदीनां परिमितत्वात्कुलालादिकर्मकरणेऽपि न कर्माऽऽदानसंभवतीति वृद्धोक्तिः । ७६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

धण्णंतरि-धन्वन्तरि-पुं० । धन्वन् शिल्पशास्त्रं तस्यान्तमियर्त्ति ऋ इन् शक० । "नारायणांशो भगवान्, स्वयं धन्वन्तरिर्महान् ।

पुरा समुद्रमथने,समुत्पन्नौ महोदधेः ॥१॥" इत्युक्ते स्वर्गवैद्यभेदे, दिवोदासे काशिराजे, विक्रमाऽऽदित्यसभासदे पण्डितभेदे, " धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कु-वेतालभट्ट " इत्यादि । वाच० । वैद्यकशास्त्रप्रणेतरि स्वनामख्याते योगिनि, " जोगीव जहा महावेज्जो ।" योगी धन्वन्तरिः,तेन च विभङ्गज्ञानबलेनाऽऽगामिनि काले प्राचुर्येण रोगसंभवं दृष्ट्वाऽष्टाङ्गाऽऽयुर्वेदरूपं वैद्यकशास्त्रं चक्रे । सू० १ श्रु० २ प्रक० । विजयपुरराजस्य कनकरथस्य स्वनामख्याते वैद्ये, तत्कथा विपाकश्रुतस्याष्टमेऽध्ययने इति । स्था० १० ठा० । (सा च ' उंबरदत्त ' शब्दे द्वितीयभागे ६७३ पृष्ठे द्रष्टव्या) जमदग्निपरीक्षार्थं मनुष्यलोकमुपागते देवलोकस्थे स्वनामख्याते तापसे, "इतश्च जैनमाहेशा--वभूतां द्वौ सुरौ दिवि । स्वं स्वं धर्मं प्रशंसन्ता--वूचतुः साधु तापसौ ॥१॥" आ० क० । आ० चू० । "इतो य दो देवा वेसानरो सड्ढो धणंतरी तावसभत्तो ।" इति । आ० म० १ अ० २ खण्ड । द्वारावतीवास्तव्ये कृष्णवासुदेवस्य स्वनामख्याते वैद्ये, आ० क० ।

" बारवई वेअरणी. धन्नंतरि भविअ अभविए विज्जे ।
कण्हणा य पुच्छिअम्मी, गइनिद्देसे अभंवोही" ॥१॥ आ० क० ।

" नगरी द्वारवत्यासी--दुपकण्ठं पयोनिधेः ।
भोगावतीव पाताला--दागता दमापुरेच्छया ॥ १ ॥
रत्नाम्भसो गृहीत्वैव, सर्वरत्नमयी कृता ।
पुरीयं वेधसाऽथोऽनू--दब्धेर्वाब्धिरेव सः ॥ २ ॥
नाम्ना कृष्णो नृपस्तत्र, चरित्रैर्धवलः पुनः ।
अहिमांशुः प्रतापेन, हिमांशुश्च प्रसन्नितः ॥ ३ ॥
विद्येते तत्र वैद्यौ द्वौ, वैद्यविद्याविशारदौ ।
भव्यो वैतरणीनामा, धन्वन्तरिरभव्यकः ॥ ४ ॥
चिकित्सां ग्लानसाधूनां, भव्यः प्रासुकभेषजैः ।
. विदधाति प्रदत्ते च, स्युश्चेत्तानि स्ववेश्मनि ॥ ५ ॥
अभव्यो ग्लानसाधूना-माख्यत्सावद्यभेषजम् ।
प्रासुकं ब्रूहि नः किञ्च-दित्युक्ते साधुभिः पुनः ॥ ६ ॥
स ऊचे न मयाऽधीतं, वैद्यकं भवतां कृते ।
एवं तौ द्वौ महारम्भां, चिकित्सां कुरुतः पुरि ॥ ७ ॥
अप्राक्षीत् कृष्णोऽन्यदाऽप्राक्षी--द्वैद्ययोः काऽनयोर्गतिः ? ।
जीवांशौषधिदानेन, जीवहिंसाविधायिनोः ॥ ८ ॥
स्वाम्यूचे सप्तमीं पृथ्वीं, पापो धन्वन्तरिर्गमी ।
भव्यो वैतरणीजीवो, गङ्गाविन्ध्यान्तरे हरिः ॥ ९ ॥
स च तत्र वयःप्राप्तो, भावी यूथपतिः स्वयम् ।
गमिष्यन्त्यन्यदा तत्र, सार्थेन सह साधवः ॥ १० ॥
तत्रैकस्य मुनेः पादे, मग्नं शल्यं दुरुद्धरम् ।
ततस्तदर्थं सर्वेऽप्युः, सशल्यांह्रिर्मुनिर्जगौ ॥ ११ ॥
मदर्थं वो मुनिर्मा भूत्, शल्यमेतन्ममान्तकृत् ।
तच्छल्योद्धरणाशक्ताः, निर्बन्धात्तेन नोदिताः ॥ १२ ॥
मुक्त्वा तं स्थण्डिले शुद्धे, सच्छायस्य तरोस्तले ।
तेऽपि जग्मुः कथमपि, शोकशल्येन शल्यिताः ॥ १३ ॥
तदा च तत्र स प्राप्य-स्तागाद् वानरयूथपः ।
पुरोगैस्तुमुलश्चक्रे, साधुं तं वीक्ष्य वानरैः ॥ १४ ॥
यूथपस्तमथोऽपश्य-न्नूहापोहेन तत्क्षणात् ।
जातजातिस्मृतिः सर्वं, प्राग्भवं स्मरति स्म सः ॥ १५ ॥
दृष्ट्वा शल्यं मुनेः शल्यो-द्धरणीं शल्यरोहणीम् ।
गिरौ गत्वाऽनयत्साधुं, निःशल्यं विदधेऽचिरात् ॥ १६ ॥
साधोरग्रे लिखित्वाऽऽख्य-त्सोऽथ प्राग्भववैद्यताम् ।
धर्ममाख्यन्मुनिः सोऽथा-नशनेन मृतस्त्वहात् ॥ १७ ॥ "

अथ किं तस्याभूदित्याह-

" सो वानरजूहवई, कंतारे सुविहिआणुकंपाए ।
भासुरवरबुंदिधरो, देवो वेमाणिओ जाओ ॥ १८ ॥ "

अनुकम्पा भक्तिः । वैमानिकः सहस्रारे ।

" प्रयुज्यावधिमद्राक्षी-त्तत्पूर्वं मुनिं च सः ।
आगत्यादर्शयद्दिव्यां, देवर्द्धिं तां निजां मुनेः ॥ १९ ॥
ऊचे च त्वत्प्रसादेन, प्राप्यत श्रीरियं प्रभो ! ।
तेनाथोत्पाट्य स मुनि-र्नीतः स मुनिसन्निधौ ॥ २० ॥
दृष्टास्तेऽस्माद्धुरागास्त्वं, कथं शल्यमगाच्च ते ।
सोऽथ वानरवैद्ययो-र्वृत्तं तेषामचीकथत् ॥ २१ ॥
वानरः साधुभक्त्यैवं, लेभे सामायिकव्रतम् ।
अन्यथोपात्तदुःकर्मा, स्याद् वराकः स नारकः ॥ २२ ॥ "
आ० क० ।

धएणंतरिकूव--धन्वन्तरिकूप--पुं० । अहिच्छत्रानगरीस्थे स्वनामख्याते कूपे, " धन्नंतरिकूवस्स यावि पिंजरवन्नाए मट्टियाए गुरूवएसा कंचण उप्पज्जइ ।" ती० ६ कल्प ।

धएणमएण--धन्यंमन्य--त्रि० । आत्मानं धन्यं मन्यमाने, " धन्यं मन्योऽसि भक्तितः । " आ० क० ।

धएणय--धन्यक--पुं० । शालिभद्रभगिनीपतौ, स्था० १० ठा० । काकन्दीनगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते सार्थवाहे, तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धेऽनुत्तरोपपातिकदशायास्तृतीयवर्गस्य द्वितीयेऽध्ययने च । स्था० १० ठा० ।

दृश्यते तु प्रथमेऽध्ययने-

जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं कार्कदी णाम नयरी होत्था, रिद्धत्थिमियसमिद्धा । सहसंबवणे उज्जाणे, सव्वोउय० जियसत्तू राया । तत्थ णं काकंदीए नयरीए भद्दा नामं सत्थवाही परिवसइ अड्ढा० जाव अपरिभूता । तीसे णं भद्दाए सत्थवाहीए पुत्ते धण्णे नामं दारए होत्था, अहीण० जाव सुरूवे पंचधाइपरिग्गहिते । तं जहा-खीरधातीए० जहा महाबलो० जाव बावत्तरिकलाओ अहीते० जाव अलं भोगसमत्थे जाते यावि होत्था । तते णं सा भद्दा सत्थवाही धण्णं दारयं उम्मुक्कबालभावं० जाव भोगसमत्थं वियाणित्ता बत्तीसं पासायवडंसए कारेति, अब्भुग्गयमूसिए० जाव अणेगखंभसयसंनिविट्ठं० जाव बत्तीसाए इब्भवरकन्नयाणं एगदिवसेणं पाणिं गिण्हावेति, बत्तीसओ दाओ० जाव उप्पिं पासाय फुट्टंतेहिं० जाव विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे, परिसा निग्गया, राया जहा कोणिओ तहा निग्गतो । तते णं तस्स धण्णस्स दारगस्स तम्मि महं जहा जमाली तहा निग्गते, नवरं पायचारेणं० जाव नवरं अम्मयं भद्दं सत्थवाहिं आपुच्छामि । तते णं अहं

देवाणुप्पिए ! अंतिए० जाव पव्वयामि० जाव जहा जमाली तहा आपुच्छति,पुच्छिया बुलं पडिवुच्छिया जहा महाबले० जाव जाहे नो संचाएति जहा थावच्चापुत्तस्स जियसत्तू आपुच्छति, छत्तचामराओ सयमेव जितसत्तू निक्खमणं करेति, जहा थावच्चापुत्तस्स कएहे०जाव पव्वइए अणगारे जाए इरियासमिते० जाव गुत्तबंभयारी । ततेणं से धन्ने अणगारे जं चेव दिवसं मुंडे भवित्ता०जाव पव्वइत्तए,तं चेव दिवसं समणं भगवं महावीरं वंदति,नमंसति, नमंसतित्ता एवं वयासी-एवं खलु इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणा जावज्जीवाए छटुं छट्टेणं अणिक्खित्तेणं आयंबिलपरिग्गहिएणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणस्स विहरित्तए, छट्ठस्स वि य णं पारणयंसि कप्पति से आयंबिलं पडिग्गहित्तए नो चेव णं अणायंबिलं, तं पि य संसटुं नो चेव णं असंसटुं, तं पि य णं उज्झियधम्मियं नो चेव णं अणुज्झियधम्मियं,तं पि य णं जं अन्ने बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगा नावकंखति ?। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तते णं से धन्ने अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाते समाणे हट्ठ० जावज्जीवाए छटुं छट्टेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावमाणे विहरति । तते णं से धन्ने अणगारे पढमछट्ठक्खमणपारणयम्मि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेति, जहा गोयमसामी तहेव आपुच्छति,जेणेव काकंदी नगरी तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता काकंदीए नगरीए उच्चनीच० जाव अडमाणे आयंबिलं णो अणायंबिलं० जाव नावकंखति । तते णं से धन्ने अणगारे ताए अब्भुज्जतपवत्ताए परिगहियत्ताए एसणाए एसमाणे जति णं भत्तं लभति,तो पाणं न लभति जति पाणं लभति,तो भत्तं न लभति । तते णं से धन्ने अणगारे अदीणे अदीणमणे अकलुसे अविसाई अपरितंतयोगी जयणघडणजोगचरित्ते अहापज्जत्तसमुदाणं पडिगाहेति,पडिगाहेतित्ता काकंदीनगरीतो पडिनिक्खमति जहा गोयमो तहा पडिदंसेति । तते णं से धन्ने अणगारे समणेणं भगवया अब्भणुण्णाते समाणे अमुच्छिए०जाव अणज्झोववन्ने बिलमिव पएणगभूएणं अप्पाणं आहारं आहारेति, आहारेतित्ता संजमेणं तवसा० जाव विहरति । तए णं से समणे भगवं महावीरे अन्नया कया वि काकंदीनयरीतो सहसंबवणाओ पडिनिक्खमति,बहिया जणवयविहारं विहरति । तए णं से धन्ने अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाई एक्कारस अंगाई अहिज्जति, संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति । तए णं से धन्ने अणगारे जहा खंदओ० जाव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठति,धन्नस्स णं अणगारस्स पाणं अयमेयारूवे तवरूवलावण्णे होत्था-से जहानामए रुक्खछल्ली ति वा कट्ठपाओया ति वा जरग्गाओ वा णाहति वा एवामेव धन्नस्स अणगारस्स पाया सुक्का निम्मंसा अट्ठिचम्मछिरत्ता ते पणायंति, नो चेव णं मंससोणियत्ताए धन्नं अणगारयं ति पायं अयमेयारूवं से जहानामए कलसंगलिया ति वा मुग्गमाससंगलिया ति वा तरुणिया छिन्ना उण्हे दिन्ना सुक्का समाणा मिलायमाणी चिट्ठति, एवामेव धन्नस्स पायंगुलिआए सुक्काओ०जाव सोणियत्ताए धन्नस्स जंघाणं अयमेयारूवे से जहाणामए कक्कजंघा ति वा केकइजंघा ति वा ढिणियाति वा जंघायं ति वा०जाव सोणियत्ताए,धन्नस्स जाणूणं अयमेयारूवे, से जहानामए कालिपोरेइ वा मऊरपोरेइ वा ढिणियालियापोरेति वा०जाव सोणियत्ताए,धन्नस्स उरू अयमेयारूवे,से जहानामए सामकरिल्लेइ वा बोरिकरिल्लेइ वा सल्लइसामलितरूणं ने छिन्निउणिो० जाव चिट्ठति, एवामेव धन्नस्स उरू वा सोणियत्ताए,धन्नस्स कडिपट्टस्स इमेयारूवे, से जहानामए उट्टपाए ति वा उरूगपाए ति वा महिसपादेइ वा० जाव सोणियत्ताए, धन्नस्स उदरभायणस्स इमेयारूवे, से जहानामए सुक्कदत्तिएइ वा भज्जणयकवल्लेइ वा कट्ठकोलंबथोमे व उदरं सुक्कं, धन्नस्स पांसुलियकडयाणं इमेयारूवे,से जहानामए वंनयावली ति वा पाणावली ति वा रूंडावली ति वा,धन्नस्स पिट्ठकरंडयाणं इमेयारूवे,से जहानामए चित्तयकंडरेति वा वायणीयत्तेइ वा तालीयंटपत्तेइ वा, एवामेव धन्नस्स बाहाणं इमेयारूवे,से जहानामए समिसंगलियाइ वा पहायासंगलिया ति वा अगच्छियसंगलिया ति वा, एवामेव धन्नस्स हत्थाणं अयमेयारूवे,से जहानामए सुक्कछगणियाइ वा वडपत्तेइ वा पलासपत्तेइ वा.एवामेव धन्नस्स हत्थंगुलीयाणं अयमेयारूवे,से जहानामए कुलसंगलियाति वा मुग्गमासतरुणियाच्छिए आयवेदिणा सुक्का समाणी,एवामेव धन्नस्स गीवा,से जहानामए करगगीवाइ वा कुंडियागीवाइ वा उच्चत्थवणाए वा,एवामेव धन्नस्स हणुयाए से जहानामए लाउफलेइति वा हकोवफलेइ वा अंबगट्टियाए वा,एवामेव धन्नस्स उट्ठाणं से जहाणामए सुक्कजलोया ति वा सेलेसगुलिया ति वा अलत्तगगुलिया ति वा, एवामेव धन्नस्स जिब्भाए, से जहा वडपत्तेति वा उंबरपत्तेति वा सागपत्तेति वा, एवामेव धन्नस्स नासियाए,से जहाणामए अंबगपेसियाइ वा माउलुंगपेसियाइ वा तरुणिगा, एवामेव धन्नस्स अच्छीणं, से जहानामए वीणाछिड्डे ति वा पव्वाइयतारगा ति वा, एवामेव धण्णस्स कण्णाणं, से जहाणामए सीसमूलाछल्लियाति वा वालुकछल्लीइ वा करेल्लयाछल्लियाइ वा

एवामेव धएणस्स....(?) से जहा णामए तरुणगलाओ ति वा तरुणगए-लालुए त्ति वा सिलहलए त्ति वा तरुणए०जाव चिट्ठति, एवामेव धएणस्स अणगारस्स सीसं सुक्खं लुक्खं निम्मंसं अट्ठिचम्मछिरत्ताए पणायंति, नो चेव णं मंससोणियत्ताए, एवं सव्वत्थमेव नवरं उदरजायणा कण्णा जिब्भा ओट्ठा एएसिं अट्ठी न जवति चम्मछिरत्ताए पणाइतं भणंति, धएणेणं अणगारेणं सुक्खपायजंघोरुहणादिगतं ताम्मिकरालणं कम्हाहेणं पिट्ठमंसिएणं उदरभायणेणं वंतिज्जमाणेहिं पांसुलिकडएहिं अक्खसुत्तमाला विव गणिज्जमाणेहिं पिट्ठकरंडगसंधीहिं गंगातरंगभूतेणं उक्खंडगदेसजायणेणं सुक्कसप्पसमाणेहिं बाहाहिं सिढिलकडाली विव लंबंतेहि य अग्गिहत्थेहिं कंपणाईओ विव वेयमाणीए सीसघडीए पव्वातवदनकमले ओज्झगघडामुहे ओच्छुडणयकोने जीवंजीवेणं गच्छंति, जीवंजीवेणं चिट्ठंति, भासं भासिस्सामि, विगलाइ से जहानामए इंगालसगडियाति वा जहा खंदओ तहा ०जाव हुतासणाइभासरासिपालिछिष्णे तवेण तए णं तवतेयं सिरीएउव्व सोभेमाणे सोभेमाणे चिट्ठति । तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे गुणसिले चेइए सेणिए राया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे जगवं महावीरे समोसढे, परिसा निग्गया, सेणिओ निग्गओ, धम्मकहा, परिसा निग्गया तए णं से सेणिए राया समणस्स०अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म समणं भगवं वंदति, नमंसति, नमंसतित्ता एवं वयासी–इमासि णं भंते ! इंदभूतिपामोक्खाणं चउदसएहं समणसाहस्सीणं कयरे अणगारे महादुक्करकारए चेव महानिज्जराए चेव ?। एवं खलु सेणिया ! इमासिं इंदभूतिपामोक्खाणं चउद्दसएहं समणसाहस्सीणं धएणे अणगारे महादुक्करकारए चेव महानिज्जराए चेव । से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चति–इमासिं०जाव साहस्सीणं धएणे णं अणगारे णं महादुक्करकारए चेव महानिज्जराए चेव ?। एवं खलु सेणिया ! तेणं कालेणं तेणं समएणं काकंदीनामं नयरी होत्था; उप्पिं पासायवडिंसए विहरति। तते णं अहं अन्नया कयाइ पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव काकंदी नयरी जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे तेणेव उवागए अहापडिरूवं उग्गहं संजमेणं ०जाव विहरामि, परिसा निग्गया तहेव०जाव पव्वतिते०जाव बिलमिव०जाव अहारेति । धएणस्स णं अनगारस्स पदाउसरीरवसतो सव्वो ०जाव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठति, से तेणट्ठेणं सेणिया ! एवं बुच्चति–इमासिं च चउद्दसमहस्साणं धएणे अणगारे महादुक्करकारए महानिज्जराए चेव । तते णं से सेणिए राया समणस्स जगवओ अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० समणं भगवं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, करेत्तिा वंदति, नमंसति, णमंसित्ता जेणेव धएणे अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता धएणं अणगारं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, वंदति, नमंसति, णमंसित्ता एवं वयासी–धएणेसि णं तुमं देवाणुप्पिए ! संपुएणे सुकयत्थे कंतलक्खणे सुलद्धे णं देवाणुप्पिया ! तव माणुस्सए जम्मजीवियफले त्ति कट्टु वंदति, नमंसति, णमंसतित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं जगवं तिक्खुत्तो वंदति, नमंसति, णमंसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए । तते णं तस्स धएणस्स अणगारस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणे इमेयारूवे अज्झत्थिए–एवं खलु अहं इमेणं उरालेणं जहा खंदओ तहेव चिंता आपुच्छणं थेरेहि सद्धिं विपुलं दुरूहति मासियाए संलेहणाए नवमासपरियाओ०जाव कालमासे कालं किच्चा उड्ढं चंदिम०जाव नवगेविज्जगविमाणपत्थडे उड्ढं दूरं वीतीवयति, वीतीवतित्ता सव्वट्ठसिद्धे विमाणे देवत्ताए उववाणे थेरा तहेव उत्तरंति०जाव इमामे आयारभंडे त्ति जंते त्ति जगवं गोयमे तहेव पुच्छति, पुच्छतित्ता जहा खंदयस्स जगवं वागरेति ०जाव सव्वट्टसिद्धे विमाणे उववणे । धएणस्स णं भंते ! देवस्स केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?। गोयमा ! तेत्तीसं सागरोवमा ठिती पएणत्ता । से णं भंते ! ततो देवलोगाओ कहिं गच्छिहिति०कहिं सिज्झिहिति ?। गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति०५, एवं खलु जंबू ! समणेणं०जाव संपत्तेणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पएणत्ते । अणु०३वर्ग १ अ० ।

धान्यक–न० । कुस्तुम्बरीनामके धान्यभेदे, दश० ६ अ० ।

धएणगर -धान्यकर–न० । स्वनामख्याते पुरे, यत्र विमलजिनेन प्रथमभिक्षा लब्धेति । आ० म० १ अ० १ खएड ।

धएणजक्ख–धन्ययक्ष–पुं० । अभग्नसेनस्थकरणकोद्यानस्थे यक्षे, विपा० १ श्रु० ३ अ० । (तत्कथा 'अभग्गसेण' शब्दे वक्ष्यते)

धएणणिहि–धान्यनिधि–पुं० । कोष्ठागारे लौकिके निधिभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

धएणपत्थय–धान्यप्रस्थक–न० । धान्यमानविशेषे, व्य० १ उ० ।

धएणपिडक–धान्यपिटक–न० । धान्यप्रस्थके, व्य० १ उ० ।

धएणपुंजियसमाणा–पुञ्जितधान्यसमाना–स्त्री० । खले लूनपूतविशुद्धपुञ्जीकृतधान्यसमाना सकलातिचारकचवरविरहेण लब्धस्वस्वभावत्वात् पुञ्जितस्य धान्यविशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् (स्था०) प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

धएणप्पमाण–धान्यप्रमाण–न० । मानमेव प्रमाणं, धान्यविषयं मानं प्रमाणं धान्यप्रमाणम् । मानप्रमाणभेदे, अनु० । (धान्यप्रमाणं 'माण' शब्दे वक्ष्यते)

धममाण-धान्यमान-न० । धान्यप्रमाणे, नि० चू० १ उ० ।

धममासफल-धान्यमाषफल-न० । षोडशाद्दवेतसर्षपाऽऽत्मके हिरण्याऽऽदिपरिमाणभेदे, स्था० ८ ठा० ।

धएणय-धन्यक-पुं० । 'धएणग' शब्दार्थे, स्था० १० ठा० ।

धणविक्खित्तसमाणा-विक्षिप्तधान्यसमाना-स्त्री० । यद्विकीर्णं गोखुरक्षुण्णतया विक्षिप्तं धान्यं तत्समाना विक्षिप्तधान्यसमाना, विक्षिप्तस्य धान्यविशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् । स्था० ४ ठा० ४ उ० । या हि सहसमुत्पन्नातिचारकचवरयुक्तत्वात् सामग्र्यन्तरापेक्षितया कालक्षेपलभ्यस्वस्वभावा सा धान्यविकीर्णसमानोच्यते । इत्युक्तलक्षणे प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

धएणविरल्लियसमाणा-विरल्लितधान्यसमाना-स्त्री० । खलक एव यद्विरल्लितं विसारितं वायुना पुनःपुञ्जीकृतं धान्यं तत्समाना, विरल्लितस्य धान्यविशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् । स्था० ४ ठा० ४ उ० । या हि लघुनाऽपि यत्नेन स्वस्वभावं लप्स्यत इत्युक्तलक्षणे प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

धएणसंकड्डियसमाणा-संकर्षितधान्यसमाना-स्त्री० । यत्संकर्षितं क्षेत्रादाकर्षितं खलमानीतं धान्यं तत्समाना । संकर्षितस्य धान्यविशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् । स्था० ४ ठा० ४ उ० । या हि बहुतरातिचारोपेतत्वाद् बहुतरकालप्राप्तव्यस्वस्वभावा सा धान्यसङ्कर्षितसमाना । इत्युक्तलक्षणे प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

धएणहाणि-धान्यहानि-स्त्री० । राज्यापलक्षणभेदे, यत्प्रभावाद् वृष्टेऽपि मेघे शस्यनिष्पत्तिस्तादृशी नोपजायते । व्य० १० उ० ।

धएणाउस-देशी-कथ्यमानाऽऽशीर्वादे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धएणागार-धान्यागार-न० । कोष्ठागारे, नि० चू० ८ उ० ।

धणावत्ति-धान्यावाप्ति-स्त्री० । शस्यलाभे, "फलमिह धान्यावाप्तिः ।" षो० ७ विव० ।

धएणावह-धान्यावह-पुं० । राजगृहनगरस्थे स्वनामख्याते प्रधानश्रेष्ठिनि, आ० चू० १ अ० । ऋषभपुरस्थस्तूपकरण्डकोद्यानवाकलव्ये नृपे, विपा० २ श्रु० २ अ० । ध० र० । (तत्कथा 'भद्दणंदि' शब्दे)

धत्त-धत्त-पुं० । बहुबीजके वनस्पतिभेदे, जी० १ प्रति० । निहिते, त्रि० । आ० म० १ अ० २ खण्ड । ननु "दधातेर्हिः" ॥ ७ । ४ । ४२ ॥ इति हिशब्दाऽऽदेशत्वात् हितमिति भवितव्यं, कथं धत्तमित्युच्यते ?, प्राकृते देशीपदस्याविरुद्धत्वान्न दोषः । अथवा-धत्त इति क्तिन्थप्रत्ययव्युत्पन्न एव यदृच्छाशब्दः । आव० १ अ० । धात्त-त्रि० । दधातीति धः, ध आत्तो यस्मिन् स धात्तः, निष्ठान्तस्य "आहिताग्न्यादिषु" ॥ ७ । २ । १३ ॥ इति परनिपातः अथवा धनाऽऽत्तो गृहीता धाता: । निहिते, आव० १ अ० ।

धमण-धमन-पुं० । धम्यतेऽनेनधमल्युः । भस्त्रा भस्त्रापके, क्रूरे च । त्रि० । अग्निसंयोगे, न० । "वायणधमणाहियारणा ।" आचा० नि० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

धमणि-धमनि-स्त्री० । धम-अनि वा ङीप् । नाड्याम्, उत्त० २ अ० । आव० । ज्ञा० । प्रश्न०, भ० । "सब धमणीओ ।" धमन्यो रसवहा नाड्यः । तं० । शिरायाम्, उत्त० पाई० २ अ० । कोष्ठकहृदयान्तरे, नाडीमधिकृत्य-"दुवे दुवे धमणिअंतरेसु" धमन्यः कोष्ठकहृदयान्तराणीति । विपा० १ श्रु० १ अ० । हट्टविलासिन्याम्, ग्रीवायाम्, हरिद्रायां च । वाच० ।

धमणिसंतय-धमनिसंतत-त्रि० । धमनीभिर्नाडीभिः संततो व्याप्तः । उत्त० २ अ० । नाडीव्याप्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । "किसे धमणिसंतए ।" धमनीसंततो नाडीव्याप्तो, मांसक्षयेण दृश्यमाननाडीकत्वात् । प्र० २ श० ५ उ० । यस्य शरीरं नसाभिर्व्याप्तं दृश्यत इत्यर्थः । उत्त० २ अ० । धमनयः शिराकनाभिः संततो व्याप्तो धमनिसंततः । शिराभिर्व्याप्ते, उत्त० पाई० २ अ० ।

धमणी-धमनी-स्त्री० । 'धमणि' शब्दार्थे, उत्त० २ अ० ।

धमधमेंत-धमधमायमान-त्रि० । धमधमेति वर्णव्यक्तिमिवोत्पादयति, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० ।

धमधमेंतघोस-धमधमायमानघोष-त्रि० । धमधमायमानो धमधमेति वर्णव्यक्तिमिवोत्पादयन् घोषः शब्दो यस्य स तथा । धमधमेति वर्णव्यक्त्युत्पादकशब्दोपेते, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० ।

धममहिसी-देशी-नीहारार्थे, दे० ना० ५ वर्ग ६१ गाथा ।

धमास-धमास-पुं० । वृक्षभेदे, स० प्र० । कपोतलेश्याया वर्णकमधिकृत्य "धमाससारेइ वा ।" प्रज्ञा० १७ पद ।

धम्म-धर्म-पुं० । न० । धृ-मन् । दश० १ अ० । स्वभावे, दर्श० १ तत्त्व । स्था० । आचा० । दश० । दशा० । ज्ञा० । विशे० । सूत्र० । उत्त० । "धम्मस्सभावो त्ति एगट्ठा धम्मो त्ति वा सभावो त्ति वा दो वि एगट्ठा ।" नि० चू० २० उ० । परिणामः स्वभावः शक्तिर्धर्म इति पर्यायाः । स्था० ६ ठा० । धर्माः सहभाविनः, क्रमभाविनश्च पर्याया इति । स्था० २ ठा० १ उ० । "सव्वं धम्मं जाणित्तए । धर्मं जीवाऽऽदिद्रव्यस्वभावमुपयोगोत्पत्त्यादिकं श्रुताऽऽदिरूपं वा । स० १० सम० । "लोहो सुयस्स धम्मा ।" विशे० । विशेषे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

(१) धर्मधर्मिणोरेकान्तेन भेदेऽभ्युपगम्यमाने धर्मिणो निःस्वभावताऽऽपत्तिः, स्वभावस्य धर्मत्वात्तस्य च ततोऽन्यत्वात्, स्वो भावः स्वभावः, तस्यैवाऽऽत्मीया सत्ता, न तु तदर्थान्तरधर्मरूपं, ततो न निःस्वभावताऽऽपत्तिरिति चेत्, न, इत्थं स्वरूपसत्ताऽभ्युपगमे तदपरसत्तासामान्ययोगकल्पनाया वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अपि च-यद्येकान्तेन धर्मधर्मिणोर्भेदस्ततो धर्मिणो ज्ञेयत्वाऽऽदिभिर्धर्मैरननुवेधात्तस्य सर्वथाऽनवगमप्रसङ्गः, न ह्यज्ञेयस्वभावं ज्ञातुं शक्यत इति । तथा च सति तदभावप्रसङ्गः, कदाचिदप्यनवगमाभावात्, तथाऽपि तत्सत्त्वाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गोऽन्यस्यापि यस्य कस्यचित्कदाचिदप्यनवगतवपुर्भूताऽऽदेर्भावाऽऽपत्तेः । एवं च धर्म्यभावे धर्माणामपि ज्ञेयत्वप्रमेयत्वाऽऽदीनां निराश्रयत्वादभावाऽऽपत्तिः । न हि धर्म्याधाररहिताः क्वापि धर्माः संभवन्ति, तथाऽनुपलब्धेः । अन्यच्च परस्परमपि तेषां धर्माणामेकान्तेन भेदाभ्युपगमे सत्त्वाऽऽद्यननुवेधात्कथं भावाभ्युपगमः ?, तदन्यसत्त्वाऽऽदिधर्माभ्युपगमे च धर्मित्वप्रसक्तिरनवस्था च, तन्नैकान्तभेदपक्षे धर्मधर्मिभावः, नाऽप्येकान्ताभेदपक्षे, यतस्तस्मिन्नभ्युपगम्यमाने धर्ममात्रं वा स्यात्, धर्मिमात्रं वा ?। अन्यथैकान्ताभेदानुपपत्तेः, अन्यतराभावे वा अन्यतरस्याप्यभावः, परस्परनान्तरीयकत्वात् । धर्मनान्तरीयको हि धर्मी, धर्मिनान्तरीयकाश्च धर्माः, ततः कथमेकाभावे परस्यावस्थानमिति ? । कल्पितो

धर्मधर्मिभावः, ततो न दूषणमिति चेत्तर्हि वस्त्वभावप्रसङ्गः। न हि धर्मधर्मिस्वभावरहितं किञ्चिद्वस्त्वस्ति, धर्मधर्मिभावश्च कल्पित इति तदभावप्रसङ्गः। धर्मा एव कल्पिता न धर्मी, तत्कथमभावप्रसङ्ग इति चेत्, न, धर्माणां कल्पनामात्रभावत्वाभ्युपगमेन परमार्थतोऽसत्त्वाभ्युपगमात्, तदभावे च धर्मिणोऽप्यभावाऽऽपत्तिः। अथ तदेवैकं स्वलक्षणं सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्त्येकस्वभावाः धर्मिव्यावृत्तिनिबन्धनाश्च या व्यावृत्तयो भिन्ना इव विकल्पितास्ता धर्मास्ततो न कश्चिद्दोषः। तदप्ययुक्तम्। एवं कल्पनायां वस्तुनोऽनेकान्तात्मकताप्रसक्तेः। अन्यथा सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्त्ययोगात्। न हि येन निजस्वभावेन घटाद् व्यावर्तते पटस्तेनैव स्तम्भादपि, स्तम्भस्य घटरूपताप्रसक्तेः। तथाहि-घटाद् व्यावर्तते घटव्यावृत्तिस्वभावतया स्तम्भादपि चेत् घटव्यावृत्तिस्वभावतयैव व्यावर्तते, तर्हि बलात् स्तम्भस्य घटरूपताप्रसक्तिः। अन्यथा-ततः तत्स्वभावतया व्यावृत्त्ययोगात्। तस्माद्यतो यतो व्यावर्तते तत्तद्व्यावृत्तिनिमित्तभूताः स्वभावा अवश्यमभ्युपगन्तव्याः, ते चानेकान्तेन धर्मिणो भिन्नाः, तदभावप्रसङ्गात्। तथा च-तदवस्थ एव पूर्वोक्तो दोषः, तस्माद्भिन्ना अभिन्नाश्च। भेदाभेदोऽपि धर्मधर्मिणोः कथमिति चेत्?। उच्यते-इह यद्यपि तादात्म्यतो धर्मिणा धर्माः सर्वेऽपि ओलीभावेन व्याप्ताः, तथाऽप्ययं धर्मी, एते धर्मा इति परस्परं भेदोऽप्यस्ति, अन्यथा तद्भावानुपपत्तिः। तथा च सति प्रतीतिबाधा, मिथो भेदेऽपि च विशिष्टान्योन्यानुवेधेन सर्वधर्माणां धर्मिणा व्याप्तत्वादभेदोऽप्यस्ति। अन्यथा तस्य धर्मा इति प्रसङ्गानुपपत्तेः। नं०। सम्म०।

(२) अथ चैतन्याऽऽदयो रूपाऽऽदयश्च धर्मा आत्माऽऽदेर्घटाऽऽदेश्च धर्मिणोऽत्यन्तं व्यतिरिक्ता अपि समवायसम्बन्धेन सम्बद्धाः सन्तो धर्मिधर्मव्यपदेशमश्नुवते, तन्मतं दूषयन्नाह-

न धर्मधर्मित्वमतीव भेदे,
वृत्त्याऽस्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति।
इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ,
न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः ॥ ७ ॥

धर्मधर्मिणोरतीव भेदेऽतीवेत्यत्रैवशब्दो वाक्यालङ्कारे। तं च प्रायोऽतिशयार्थिकवृत्तेषु प्रयुञ्जते शाब्दिकाः। यथा-"आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्।" "उद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम्" इत्यादि। ततश्चैकान्तभिन्नत्वेऽङ्गीक्रियमाणे धर्मधर्मित्वं न स्यात्। अस्य धर्मिण इमे धर्माः, एषां च धर्माणामयमाश्रयभूतो धर्मीत्येवं सर्वप्रसिद्धो धर्मधर्मिव्यपदेशो न प्राप्नोति, तयोरत्यन्तभिन्नत्वेऽपि तत्कल्पनायां पदार्थान्तरधर्माणामपि विवक्षितधर्मधर्मित्वाऽऽपत्तेः। एवमुक्ते मति परः प्रत्यवतिष्ठते-वृत्त्याऽस्तीति अयुतसिद्धानामाधार्याऽऽधारभूतानामिह प्रत्ययहेतुः संबन्धः समवायः। स च समवयनात्समवाय इति। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषेषु पञ्चसु पदार्थेषु वर्तनाद्वृत्तिरिति चाऽऽख्यायते। तया वृत्त्या समवायसंबन्धेन तयोर्धर्मधर्मिणोरितरेतरविनिर्लुण्ठितत्वेऽपि धर्मधर्मिव्यपदेश इष्यते। इति नानन्तरोक्तो दोष इति। अत्राऽऽचार्यः समाधत्ते-चेदिति। यद्येवं तव मतिः, सा प्रत्यक्षप्रतिहता, यतो न त्रितयं चकास्ति-अयं धर्मी, इमे चास्य धर्माः, अयं चैतत्सम्बन्धनिबन्धनं समवाय इत्येतत्त्रितयं वस्तुत्रयं न चकास्ति, ज्ञानविषयतया न प्रतिभासते। यथा किल शिलाशकलयुगलस्य मिथोऽनुसंधायकं रालाऽऽदिद्रव्यं तस्मात्पृथक् तृतीयतया प्रतिभासते, नैवमत्र समवायस्याऽपि प्रतिभानम्। किन्तु द्वयोरेव धर्मधर्मिणोः। इति शपथप्रत्यायनीयोऽयं समवाय इति भावार्थः। किं चायं तेन वादिना एको नित्यः सर्वव्यापको मूर्तश्च परिकल्प्यते, ततो यथा घटाऽऽश्रिताः पाकजरूपाऽऽदयो धर्माः समवायसंबन्धेन समवेतास्तथा किं न पटेऽपि?, तस्यैकत्वनित्यत्वव्यापकत्वैः सर्वत्र तुल्यत्वात्। यथाऽऽकाश एको नित्यो व्यापकः, अमूर्तश्च सन् सर्वैः संबन्धिभिर्युगपदविशेषेण संबध्यते, तथा किं नायमपीति विनश्यदेकवस्तुसमवायाभावे च समस्तवस्तुसमवायाभावः प्रसज्यते। तत्तदवच्छेदकभेदान्नायं दोष इति चेदेवमनित्यत्वाऽऽपत्तिः। प्रतिवस्तु स्वभावभेदादिति। अथ कथं समवायस्य न ज्ञाने प्रतिभासनं, यतस्तस्येहेतिप्रत्ययः सावधानं साधनम्। इहप्रत्ययश्चानुभवसिद्ध एव। इह तन्तुषु पटः, इहाऽऽत्मनि ज्ञानमिह घटे रूपाऽऽदय इति प्रतीतिरुपलम्भात्। अस्य च प्रत्ययस्य केवलधर्मधर्म्यालम्बनत्वादस्ति समवायाऽऽख्यं पदार्थान्तरं तद्धेतुः, इति पराशङ्कामभिसंधाय पुनराह-इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्ताविति। इहेदमिति इहेदमिति आश्रयाऽऽश्रयिभावहेतुक इहप्रत्ययो वृत्तावप्यस्ति समवायसम्बन्धेऽपि विद्यते, चशब्दोऽपिशब्दार्थः, तस्य च व्यवहितसंबन्धः, तथैव च व्याख्यातम्। इयमत्र भावना-यथा त्वन्मते पृथिवीत्वाभिसंबन्धात्पृथिवी, तत्र पृथिवीत्वं पृथिव्या एव स्वरूपमस्तित्वाख्यं, नापरं वस्त्वन्तरं, तेन स्वरूपेण च समं योऽसावभिसंबन्धः पृथिव्याः, स एव समवाय इत्युच्यते, "प्राप्तानामेव प्राप्तिः समवायः" इति वचनात्। एवं समवायत्वाभिसंबन्धात्समवाय इत्यपि किं न कल्प्यते?। यतस्तस्यापि यत्समवायत्वं स्वस्वरूपं, तेन सार्द्धं संबन्धोऽस्त्येव। अन्यथा निःस्वभावत्वात् शशविषाणवदवस्तुत्वमेव भवेत्। ततश्च इह समवाये समवायित्वमित्युल्लेखेन इहप्रत्ययः समवायेऽपि युक्त्या घटत एव। ततो यथा पृथिव्यां पृथिवीत्वं समवायेन समवेतम्, समवायेऽपि समवायत्वमेवं समवायान्तरेण संबन्धनीयं, तदप्यपरेणेत्येवं दुस्तराऽनवस्थामहानदी। एवं समवायस्याऽपि समवायत्वाभिसंबन्धे युक्त्या उपपादिते साहसिक्यमालम्ब्य पुनः पूर्वपक्षवादी वदति-ननु पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वाऽऽदिसंबन्धनिबन्धनं समवायो मुख्यस्तत्र त्वतलाऽऽदिप्रत्ययाभिधेयरूपस्य सगृहीतसकलावान्तरजातिलक्षणव्यक्तिभेदस्य सामान्यस्य सद्भावात्। इह तु समवायस्यैकत्वेन व्यक्तिभेदाऽभावे जातेरनुद्भूतत्वाद्गौणोऽयं युष्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्ययसाध्यः समवायत्वाभिसंबन्धः, तत्साध्यश्च समवाय इति। मैवं, तव विपश्चित्त्वचमत्कारकारणम्। यतोऽत्रापि जातिरुद्भवन्ती केन निरुध्येत?। व्यक्तेरभेदेनेति चेत्। न। तत्तदवच्छेदकवशात्तद्भेदोपपत्तौ व्यक्तिभेदकल्पनाया दुर्निवारत्वात्। अन्यो हि घटसमवायोऽन्यश्च पटसमवाय इति व्यक्त एव समवायस्यापि व्यक्तिभेद इति। तस्मिन् सिद्ध एव जात्युद्भवस्तस्माद्यत्राऽपि मुख्य एव समवायः, इहप्रत्ययस्योभयत्राप्यव्यभिचारात्। तदेतत्सकलं सपूर्वपक्षं समाधानं मनसि निधाय सिद्धान्तवादी प्राऽऽह-न गौण इति। योऽयं भेदः स नास्ति, गौणलक्षणाभावात्। तल्लक्षणं चेत्थमाचक्षते-"अव्यभिचारी मुख्योऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च। विपरीतो गौणोऽर्थः, सति मुख्ये धीः कथं गौणे?॥१॥" तस्माद्धर्मधर्मिणोः संबन्धेन मुख्यः समवायः, समवाये च समवायत्वाभिसंबन्धे गौण इत्ययं भेदो नानात्वं नास्तीति

भावार्थः। किं च-योऽयमिह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययात्समवायसाधनमनोरथः, स खल्वनुहरते नपुंसकादपत्यप्रसवमनोरथम्, इह तन्तुषु पट इत्यादिव्यवहारस्यालौकिकत्वात्पांशुलपादानामपि इह पटे तन्तव इत्येव प्रतीतिदर्शनात्। इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात्। अत एवाऽऽह-अपि च लोकबाध इति। अपि चेति दूषणाभ्युच्चये। लोकः प्रामाणिकलोकः सामान्यलोकश्च, तेन बाधो विरोधो लोकबाधस्तत्प्रतीतव्यवहारसाधनात् बाधशब्दस्य "ईहाऽऽज्ञाः प्रत्ययेन्दवः" इति पुंस्त्रीलिङ्गता। तस्माद्धर्मधर्मिणोरविष्वग्भावलक्षण एव संबन्धः प्रतिपत्तव्यो नान्यः समवायाऽऽदिः। इति काव्यार्थः ॥७॥ स्या०।

(३) धर्मानुरूपो हि सर्वोऽपि धर्मी। यथा काठिन्यं प्रति पृथिवी, यदि पुनरनुरूपत्वाभावेऽपि धर्मधर्मिभावो भवेत् ततः काठिन्यज्ञानयोरपि स भवेत्, न च भवति, तस्माच्चेतनः पुरुषः। तथा चोक्तम्-

"जइ सभावममुत्तं, विसयपरिच्छेयण च चेयन्नं।
विवरीयसहावाणि य, भूयाणि जगप्पसिद्धाणि ॥ १ ॥
ता धम्मधम्मिभावो, कहमेएसिं अणुरूवत्तं नाहे।
अणुरूवत्ताभावे, काठिन्नज्ञाण किं न भवे ? ॥२॥" आ० म० १ अ० २ खण्ड। जीवपुद्गलानां गतिपर्यायेण धारणाद् धर्मः। धर्मास्तिकाये, भ० २० श० २ उ०। अनु०। "एगे धम्मे।" धर्मो धर्मास्तिकायः। स० १ सम०। स्था०। धर्मो धर्मास्तिकायो गत्युपष्टम्भगुणः। स्था० २ ठा० १ उ०। (वक्तव्यता 'धम्मत्थिकाय' शब्दे द्रष्टव्या) मर्यादायाम्, धर्मः, स्थितिः, समयो, व्यवस्था, मर्यादेत्यनर्थान्तरमिति। आ० चू० २ अ०। प्रति०। आचारे, सू० १ उ० १ प्रक०। उत्त०। धर्मो यतिश्राद्धाचारलक्षण इति। ध० २ अधि०। दुर्गतौ प्रपततो जीवान् धारयति सुगतौ च तान्स्थापयतीति धर्मः। स्था० १ ठा०। "दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, यस्माद्धारयते पुनः। धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृतः ॥ १ ॥" नं०। आ० चू०। आव०। ओघ०। आ० म०। ल०। दश०। पञ्चा०। पा०। सूत्र०। इत्युक्तलक्षणे दुर्गतिगर्त्तनिपतज्जन्तुजातधरणप्रवणपरिणामपूर्वके (पञ्चा० १ विव०) कुशलानुष्ठाने, पञ्चा० ४ विव०। सूत्र०। दुर्गतिगर्त्तनिपतज्जन्तुजातत्राणदानक्षमे, दर्श० १ तत्त्व। संसारोद्धरणस्वभावे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। स्वर्गापवर्गमार्गभूते, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। दर्श०। ध० र०। आव०। अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिसाधने, (ध० १ अधि०) पुण्यलक्षणे आत्मपरिणामे, धर्माधर्मौ पुण्यपापलक्षणौ स्वानुभवत्वादात्मपरिणामरूपाविति। आव० ४ अ०। सूत्र०। (पुण्यप्रकाशस्तद्वक्तव्यता च 'पुण्ण' शब्दे द्रष्टव्या) सम्यग्दर्शनाऽऽदिके कर्मक्षयकारणे आत्मपरिणामे, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। सम्यग्दर्शनमूलोत्तरगुणसंहतिस्वरूपो धर्म इति। नं०। धर्मः सम्यग्ज्ञानदर्शनचरणाऽऽत्मक इति। नं०। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽत्मकं धर्ममिति। सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। श्रुतचारित्राऽऽख्याऽऽत्मके कर्मक्षयकारणे जीवस्याऽऽत्मपरिणामे, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। धर्मो श्रावकचारित्रधर्मौ, धर्महेतुत्वात् श्रुतधर्मश्चेति। दशा० १ अ०। स०। आ० चू०। धर्मो द्विविधः-श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्चेति। आव० ४ अ०। स०। भ०। प्रति०। तं०। पं० सू०। औ०। स्था०। जं०। संथा०। प्रश्न०। सूत्र०। आचा०। उत्त०। पा०। धर्मः संसारोद्धरणस्वभावः, जिनप्रणीतं वा श्रुतचारित्राऽऽख्यमिति। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। उत्त०। ल०। धर्मः क्षायिकचारित्राऽऽदिरिति। स्था० ३ ठा० १ उ०। सूत्र०। दुर्गतिनिषेधेन शोभनगतिधारणाद् धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यमिति। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। स्था०। आव०। "धम्माणं कासवो मुहं।" धर्माणां श्रुतधर्माणां चारित्रधर्माणां च काश्यप आदीश्वरो मुखं वर्तते, धर्माः सर्वेऽपि तेनैव प्रकाशिता इत्यर्थः। उत्त० २५ अ०। सर्वविन्प्रणीतेऽहिंसाऽऽदिलक्षणे सम्यक्त्वे, दर्श० १ तत्त्व। सूत्र०। दशा०। क्षान्त्यादिके श्रमणधर्मे, दश० ६ अ०। प्रश्न०। "न ते धम्मविऊ जणा।" क्षान्त्यादिको दशविधो धर्म इति। सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। प्रति०। उत्त०। पा०। स्था०। आव०। प्राणातिपातविरमणाऽऽदिके श्रावकधर्मे, दश० ६ अ०। सूत्र०। दानाऽऽदिके श्रावकधर्मे च। तथा०। धर्मास्तित्वे विशेषावश्यके यथा-"समासु तुल्यं विषमासु तुल्यं, सतीष्वसत्स्वप्यसतीषु सद्य। फलं क्रियास्वित्यथ यन्निमित्तं, तद्धेतिनां सोऽस्ति नु कोऽपि धर्मः ?॥ १ ॥" विशे०। (१९१७ गाथाटी०) (विस्तरेणानुमानाऽऽदिना तत्सिद्धिः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २५२ पृष्ठे द्रष्टव्या) (एकान्तेन धर्माधर्मयोरस्तित्वनास्तित्वे नाभ्युपेये इति 'अणेगंतवाय' शब्दे प्रथमभागे ४२६ पृष्ठे प्रोक्तम्)

(४) अथ धर्मपदवाच्यमाह-

वचनादविरुद्धाद्य-दनुष्ठानं यथोदितम्।
मैत्र्यादिभावसंमिश्रं, तद्धर्म इति कीर्त्यते ॥ ३ ॥

उच्यते इति वचनमागमः, तस्माद्वचनमनुसृत्येत्यर्थः, ल्यब्लोपे पञ्चमीयं, यदनुष्ठानमिहलोकपरलोकावपेक्ष्य हेयोपादेययोरर्थयोरिहैव शास्त्रे वक्ष्यमाणलक्षणयोर्हानोपादानलक्षणा प्रवृत्तिरिति तद्धर्म इति कीर्त्यते इत्युत्तरेण योगः। कीदृशाद्वचनादित्याह-अविरुद्धात् कषच्छेदतापेषु अविघटमानात्, तत्र विधिप्रतिषेधयोर्बाहुल्येनोपवर्णनं कषशुद्धिः, पदे पदे तद्योगक्षेमकारिक्रियोपदर्शनं छेदशुद्धिः, विधिप्रतिषेधविषयाणां जीवाऽऽदिपदार्थानां च स्याद्वादपरीक्षया यथाऽन्येन समर्थनं तापशुद्धिः। तदुक्तं धर्मबिन्दौ-"विधिप्रतिषेधौ कषः। तत्संभवपालनाचेष्टोक्तिश्छेदः। उभयनिबन्धनभाववादस्तापः इति।" तथाविरुद्धं वचनं जिनप्रणीतमेव, निमित्तशुद्धेः, वचनस्य हि वक्ता निमित्तमन्तरङ्गम्, तस्य च रागद्वेषमोहपारतन्त्र्यमशुद्धिस्तेभ्यो वितथवचनप्रवृत्तेः, न चैषा शुद्धिर्जिने भगवति, जिनत्वविरोधात्, जयति रागद्वेषमोहरूपानन्तरङ्गान् रिपूनिति शब्दार्थानुपपत्तेः, तदन्यद्दत्ताऽऽदिशब्दवदन्वर्थतया चास्याभ्युपगमात्, निमित्तशुद्ध्यभावाच्चाजिनप्रणीतवचनमविरुद्धं, यतः कारणस्वरूपानुविधायि कार्यं, तत्र दुष्टकारणाऽऽरब्धं कार्यमदुष्टं भवितुमर्हति निम्बबीजादिवेक्षुयष्टिरिति। अन्यथा-कारणव्यवस्थोपरमप्रसङ्गात्, यत्त्वपरप्रणयनप्रवृत्तेषु तीर्थान्तरीयेषु रागाऽऽदिमत्स्वपि घुणाक्षरोत्किरणव्यवहारेण क्वचित्किञ्चिदविरुद्धमपि वचनमुपलभ्यते, मार्गानुसारिबुद्धौ वा प्राणिनि क्वचित्, तदपि जिनप्रणीतमेव, तन्मूलत्वात्तस्य। तदुक्तमुपदेशपदे-"सव्वप्पवायमूलं, दुवालसंगं जओ जिणक्खायं। रयणागरतुल्लं खलु, तो सव्वं सुंदरं तम्मि" ॥ १ ॥ इति। कीदृशमनुष्ठानं धर्म इत्याह-"यथोदितम्" यथा येन प्रकारेण कालाऽऽद्याराधनानुसारलक्षणेन उदितं प्रतिपादितं, तत्रैवाधिकृते वचने इति गम्य-

म, अन्यथाप्रवृत्तौ तु तदुक्तविपर्ययमेवाऽऽपद्यते न तु धर्मः। यथोक्तम्-" तत्कारी स्यात्स नियमा-त्तद्द्वेषी चेति यो जडः। आगमार्थे तमुल्लङ्घ्य, तत एव प्रवर्त्तते " ॥ १ ॥ इति । धर्मदासक्षमाश्रमणैरप्युक्तम्-" जो जहवायं न कुणइ, मिच्छद्दिट्ठी तओ हु को अन्नो ?। वड्ढेइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो " ॥१॥ इति । पुनरपि कीदृशमित्याह-मैत्र्यादिभावसंमिश्रम् । मैत्र्यादयः मैत्रीमुदिताकरुणामाध्यस्थ्यलक्षणा ये भावा अन्तःकरणपरिणामाः तत्पूर्वकाश्च बाह्यचेष्टाविशेषाः सत्त्वगुणाऽधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु तैः संमिश्रं संयुक्तं, मैत्र्यादिभावानां निःश्रेयसाऽभ्युदयफलधर्मकल्पद्रुममूलत्वेन शास्त्रान्तरेषु प्रतिपादनात्, तत्र समस्तसत्त्वविषयः स्नेहपरिणामो मैत्री १, नमनप्रसादाऽऽदिभिर्गुणाधिकेष्वभिव्यज्यमानाऽन्तर्भक्तिरनुरागः प्रमोदः २, दीनाऽऽदिष्वनुकम्पा करुणा ३ अरागद्वेषभावो माध्यस्थ्यमिति ४। तदेवंविधमनुष्ठानं धर्म इति दुर्गतिप्रपतज्जन्तुजातधारणात्स्वर्गाऽऽदिसुगतौ धानाच्च धर्म इत्येवंरूपत्वेन कीर्त्यते शब्द्यते सकलाकलितभावकल्पनाकल्पनकुशलैः सुधीभिरिति। नन्वेवं वचनानुष्ठानं धर्म इति प्राप्तं, तथा च प्रीतिभक्त्यसङ्गानुष्ठानेष्वव्याप्तिरिति चेन्न, वचनव्यवहारक्रियारूपधर्मस्यैवात्र लक्ष्यत्वेनाऽव्याप्त्यभावादिति । वस्तुतः प्रीतिभक्तित्वे इच्छागतजातिविशेषौ, तद्वज्जन्यत्वेन प्रीतिभक्त्यनुष्ठानयोर्भेदः, वचनानुष्ठानत्वं वचनस्मरणनियतप्रवृत्तिकत्वम्, एतत्त्रितयभिन्नानुष्ठानत्वम् असङ्गानुष्ठानत्वं निर्विकल्पस्वरसवाहिप्रवृत्तिकत्वं वा । इह तु वचनादित्यत्र वेदात्प्रवृत्तिरित्यत्रेव प्रयोज्यत्वार्थिका पञ्चमी, तथा च वचनप्रयोज्यप्रवृत्तिकत्वं लक्षणमिति न कुत्राप्यव्याप्तिदोषावकाशः, प्रीतिभक्त्यसङ्गानुष्ठानानामपि वचनप्रयोज्यत्वानपायात् ।

" धर्मश्चित्तप्रभवो, यतः क्रियाऽधिकरणाऽऽश्रयं कार्यम् ।
मलविगमेनैतत् खलु, पुष्ट्यादिमदेव विज्ञेयः ॥ २ ॥
रागाऽऽदयो मलाः ख-ल्वागमसद्योगतो विगम एषाम् ।
तदयं क्रियात एव हि, पुष्टिश्चैतस्य शुद्धस्य ॥ ३ ॥
पुष्टिः पुण्योपचयः, शुद्धिः पापक्षयेण निर्मलता ।
अनुबन्धिनि द्वयेऽस्मिन्, क्रमेण मुक्तिः परा ज्ञेया ॥ ४ ॥ " (षो० ३ विव०)

इत्यादि षोडशकग्रन्थानुसारेण तु पुष्टिशुद्धिमच्चित्तं भावधर्मस्य लक्षणं, तदनुगता क्रिया च व्यवहारधर्मस्येति पर्यवसन्नम्। प्रतिपादितं चेत्थमेव महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिभिरपि स्वकृतद्वात्रिंशिकायाम्। इत्थं च शुद्धानुष्ठानजन्या कर्ममलापगमलक्षणा सम्यग्दर्शनाऽऽदिनिर्वाणबीजलाभफला जीवशुद्धिरेव धर्मः। यच्चेहाऽविरुद्धवचनादनुष्ठानं धर्म इत्युच्यते, तदुपचारात् । यथा-तन्दुलोदकं पादरोगः। एतेन व्यवहारभावधर्मयोरुभयोरपि लक्षणे उपपादिते भवतः, भावलक्षणस्य द्रव्ये उपचारेणैव संगतत्वात्, अन्योऽन्यानुगतत्वं च तयोस्तत्र तत्र प्रसिद्धमिति ? ॥३॥

प्रदर्शितं धर्मलक्षणम्। अमुमेव धर्मं भेदतः प्रभेदतश्च विभणिषुराह-

स द्विधा स्यादनुष्ठातृ-गृहियतिविभागतः ।
सामान्यतो विशेषाच्च, गृहिधर्मोऽप्ययं द्विधा ॥ ४ ॥

स यः पूर्वं प्रक्रान्तो धर्मो द्विधा द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां स्यात् भवेत् । कुत इत्याह-"अनुष्ठातृगृहियतिविभागत इति।" अनुष्ठातारौ धर्मानुष्ठायकौ यौ गृहियतिनौ तयोर्विभागतो विशेषात्, गृहस्थधर्मो यतिधर्मश्चेति भावः । तत्र गृहमस्यास्तीति गृही, तद्धर्मश्च नित्यनैमित्तिकानुष्ठानरूपः, व्रतानि महाव्रतानि विद्यन्ते यस्मिन् स व्रती, तद्धर्मश्च चरणकरणरूपः । तत्र च गृहिधर्मं विशिनष्टि-' गृहिधर्मोऽपीति ।' अयं साक्षादिव हृदि वर्तमानतया प्रत्यक्षो गृहिधर्म उक्तलक्षणः, किं पुनः सामान्यधर्म इत्यपिशब्दार्थः । द्विधा द्विभेदः, द्वैविध्यं दर्शयति-सामान्यतो विशेषाच्चेति । तत्र सामान्यतो नाम सर्वशिष्टजनसाधारणानुष्ठानरूपः, विशेषात् सम्यग्दर्शनाणुव्रताऽऽदिप्रतिपत्तिरूपः, चकार उक्तसमुच्चय इति ॥ ४ ॥ ध० १ अधि० ।
(गृहिधर्मः ' गिहिधम्म ' शब्दे तृतीयभागे ८६० पृष्ठे द्रष्टव्यः)

(५) अथ लोकोत्तरमाह-

धम्मो बावीसविहो, अगारधम्मोऽणगारधम्मो य ।
पढमो य बारसविहो, दसहा पुण बीयओ होइ ॥ १२ ॥

धर्मो द्वाविंशतिविधः सामान्येन द्वाविंशतिप्रकारः, अगारधर्मो गृहस्थधर्मः, अनगारधर्मश्च साधुधर्मः । प्रथमश्चागारधर्मो द्वादशविधः । दशधा पुनर्द्वितीयोऽनगारधर्मो भवतीति गाथासमासार्थः ॥ १२ ॥ दश० ६ अ० । उपा० । पञ्चा० । श्रा० ।
(यतिधर्मः 'जइधम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३६४ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

(६) व्यासार्थं चाह-

सम्मत्तमूलमणुव्वय-पणगं तिन्नि उ गुणव्वया होंति ।
सिक्खावयाइँ चउरो, बारसहा होइ गिहिधम्मो ॥ १ ॥

तत्र सम्यक्त्वं निःसङ्कोऽपि देशवशाऽऽयातमिथ्यात्वमोहनीयकर्ममलपरिणामः; तन्मूलमाद्यं प्रथमं यस्य तत्सम्यक्त्वमूलम्, अणूनि लघूनि व्रतानि अणुव्रतानि, महाव्रतापेक्षया तेषामतिसूक्ष्मत्वात् । यदि वा-अनु पश्चात् महाव्रतकथनापेक्षया कथनीयत्वेन व्रतानि अनुव्रतानि, तेषां पञ्चकमणुव्रतपञ्चकमनुव्रतपञ्चकं वा । (तिन्नि त्ति) त्रय एवैतानि, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् त्रीण्येव न तु पञ्च चत्वारि वा, तेषामन्यथाकृतत्वात् । किम् ?, गुणव्रतानि, प्राकृतत्वात् पुंल्लिङ्गता, व्रतानि गुणव्रतानि भवन्ति जायन्ते, श्रावकधर्म इत्यध्याहारः । चतुश्चत्वारि शिक्षाऽभ्यासस्तत्प्रधानि व्रतानि चतुःशिक्षाव्रतानि, तैः सहितः समन्वितः, इतिशब्दस्येह लुप्तदर्शनाद् व्रत इति श्रावकधर्मो द्वादशधा द्वादशप्रकारः। इदमत्र हृदयम्-सम्यक्त्वमूलमणुव्रतपञ्चकं श्रावकधर्मो भवति, त्रीणि गुणव्रतानि च चतुःशिक्षापदसहितश्च श्रावकधर्मो भवति । यद्वा-सम्यक्त्वं मूलमस्य सम्यक्त्वमूलः, नपुंसकता तु प्राकृतत्वात् । अणुव्रतानां पञ्चकं यत्र सोऽणुव्रतपञ्चकः, प्राकृतत्वाच्चान्यथानिर्देशः । ततः पञ्चाणुव्रतिकः, शेषं पूर्ववदिति गाथार्थः । दर्श० २ तत्त्व० ।

तथा च-

पाणे य णाइवाएज्जा, अदिन्नं पि य णाइए ।
सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥ १९ ॥

प्राणिप्रियाणां प्राणिनां प्राणान्नातिपातयेत् । तथा परेणाऽदत्तं दन्तशोधनमात्रमपि, नाददीत न गृह्णीयात्। तथा-सहाऽऽदिना मायया वर्त्तत इति सादिकं समायम्, मृषावादं न ब्रूयात्। तथाहि-परवञ्चनार्थं मृषावादोऽधिक्रियते, स च न मायामन्तरेण भवतीत्यतो मृषावादस्य माया आदिभूता वर्तते। इदमुक्तं भवति-यो हि परवञ्चनार्थं समायो मृषावादः स परिह्रियते। यस्तु

संयमगुप्त्यर्थं न मया मृगा उपलब्धा इत्यादिकः स न दोषायेति । एष यः प्राक् निर्दिष्टो धर्मः, श्रुतचारित्राऽऽख्यस्वभावो वा (धुसीमउ त्ति) छान्दसत्वान्निर्देशार्थस्त्वयम् । वस्तूनि ज्ञानाऽऽदीनि, तद्वता ज्ञानाऽऽदिमत इत्यर्थः । यदि वा (वुसीमउ त्ति) वश्यस्य आत्मवशगस्य, वश्येन्द्रियस्येत्यर्थः ॥ १९ ॥

अपि च–

अतिक्कमं ति वायाए, मणसा वि न पत्थए ।
सव्वओ संवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे ॥ २० ॥

(अइक्कमंतीत्यादि) प्राणिनामतिक्रमं पीडाऽऽत्मकं,महाव्रतातिक्रमं वा मनोऽवष्टब्धतया परतिरस्कारं वा, इत्येवंभूतमतिक्रमं वाचा मनसाऽपि न प्रार्थयेत् । एतद्द्वयनिषेधे च कायातिक्रमो दूरत एव निषिद्धो भवति । तदेवं मनोवाक्कायकृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदेनातिक्रमं न कुर्यात् । तथा इन्द्रियदमनेन तपसा वा दान्तः सन् मोक्षस्याऽऽदानमुपादानं सम्यग्दर्शनाऽऽदिकं सुष्ठूद्युक्तः सम्यगिवस्रोतसिकारहित आहरेत् आददीत, गृह्णीयादित्यर्थः ॥ २० ॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

(७) अधुना यतिधर्मस्यावसरः । यद्वा–सम्यगभ्यस्तश्रावकधर्मस्यातितीव्रस्यैकान्ततो भवभ्रमणविमुखस्य संयताऽऽशिवसुखाभिलाषातिरेकस्य यतिधर्मकरणश्रद्धोत्पद्यते, अतस्तत्स्वरूपनिरूपणायेदमाह–

खंती य मद्दवऽज्जव, मुत्ती तवसंजमे य बोधव्वे ।
सच्चं सोयं आकिं–चणं च बंभं च जइधम्मो ॥४॥

प्रायः प्रतीतार्थैव, नवरमाद्यपदचतुष्टयेन कषायजयः प्रतिपादितः । तपः पुनर्द्वादशप्रकारं, तच्चान्यतोऽवसेयम् । संयमश्च सप्तदशविधः । यत उक्तम्–"पञ्चाऽऽस्रवाद्विरमणं, पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः । दण्डत्रयविरतिश्चे–ति संयमः सप्तदशभेदः॥ १ ॥" सत्यं सर्वथाऽलीकपरिहरणं, शौचं वचनक्रिययोरविसंवादेन सदाचारता,आकिञ्चन्यं किञ्चनं द्रव्यमुच्यते,ततो न किञ्चनमकिञ्चनमकिञ्चनस्य भाव आकिञ्चन्यमद्रव्यतेत्यर्थः । यतिधर्मो भवतीति सर्वत्र योजनीयम् । मुक्तिपदोपादानेऽप्याकिञ्चनस्य लब्धत्वादाकिञ्चनपदोपादानं विशेषद्योतनार्थम । विशेषश्चात्र संयमोपष्टम्भनिमित्तं किञ्चित्प्रासुकैषणीयमुपकरणं धारयन्नपि मुक्तलोपेन एव भवति । ननु पुनरतिजड्याऽवष्टब्धमना दिगम्बरपरिकल्पनया मुक्तिमान् , तस्या असंयमाऽऽदिदोषदुष्टत्वेनाभिमतत्वात् तर्हि संयमोपकारायैव सकिञ्चनताऽपि भविष्यति मुक्तता, तत्राह–सर्वथैव संयमोपघातकत्वेनातिदुष्टत्वादिति । चशब्दः समुच्चयार्थः । ब्रह्म च ब्रह्मचर्यं,स्त्रीसेवापरिहार इति गाथार्थः । दर्श० २ तत्त्व । स्था० ।

तिविहे धम्मे पण्णत्ते । तं जहा–सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे ।

(तिविहे धम्मे इत्यादि) श्रुतमेव धर्मः श्रुतधर्मः स्वाध्यायः, एवं चारित्रधर्मः क्षान्त्यादिश्रमणधर्मः । अयं च द्विविधोऽपि द्रव्यभावभेदे धर्मे भावधर्म उक्तः । यदाह–"दुविहो उ भावधम्मो, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य । सुयधम्मे सज्झाओ, चरित्तधम्मे समणधम्मो ॥१॥" इति । अस्तिशब्देन प्रदेशा उच्यन्ते, तेषां कायो राशिरस्तिकायः, स चासौ संज्ञया धर्मश्चेत्यस्तिकायधर्मो, गत्युपष्टम्भलक्षणो धर्मास्तिकाय इत्यर्थः । अयं च द्रव्यधर्म इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

प्रकारान्तरेण धर्मभेदानाह–

तिविहे भगवया धम्मे पण्णत्ते । तं जहा–सुअहिज्जिए, सुज्झाइए, सुतवस्सिए । जया सुअहिज्जियं भवइ तदा सुज्झाइयं भवइ, जया सुज्झाइयं भवइ तया सुतवस्सियं भवइ । से सुअहिज्जिए सुज्झाइए सुतवस्सिए सुयक्खाए णं भगवया धम्मे पण्णत्ते ॥

"तिविहे" इत्यादि स्पष्टं, केवलं भगवता महावीरेणेत्येवं जगाद सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनं प्रतीति, सुष्ठु कालविनयाऽऽद्याराधनेनाधीतं गुरुसकाशात् सूत्रतः पठितं स्वधीतं तथा सुष्ठु विधिना तत एव व्याख्यानेनार्थतः श्रुत्वा ध्यातमनुप्रेक्षितं श्रुतमिति गम्यं सुध्यातम्, अनुप्रेक्षणाभावे तत्त्वानवगमेनाध्ययनश्रवणयोः प्रायोऽकृतार्थत्वादिति । अनेन भेदद्वयेन श्रुतधर्म उक्तः। तथा सुष्ठु इहलोकाऽऽद्याशंसारहितत्वेन तपसितं तपस्यनुष्ठानं सुतपसितमिति चारित्रधर्म उक्त इति त्रयाणामप्येवमुत्तरोत्तरतोऽविनाभावं दर्शयति–"जया" इत्यादि व्यक्तं, परं निर्दोषाध्ययनं विना श्रुतार्थाप्रतीतेः सुध्यातं न भवति, तदभावे ज्ञानविकलतया सुतपसितं न भवतीति भावः । यदेतत् स्वधीताऽऽदित्रयं भगवता वर्द्धमानस्वामिना धर्मः प्रज्ञप्तः (से त्ति) स स्वाख्यातः सुष्ठूक्तः सम्यग्ज्ञानक्रियारूपत्वात् तयोश्चैकान्तिकाऽऽत्यन्तिकसुखावन्ध्योपायत्वेन निरुपचरितधर्मत्वात् सुगतिधारणाद्धि धर्म इति । उक्तं च–"नाणपगासयं सो–हओ तओ संजमो य गुत्तिकरो । तिण्हं पि समाओगो, मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥ १ ॥" इति । णमिति वाक्यालङ्कारे, सुतपसितमिति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

(८) द्रव्यभावभेदेन द्विविधं धर्मं प्रतिपिपादयिषुराह–

दुह दव्वभाव धम्मो, दव्वे दव्वस्स दव्वमेवं वा ।
तित्ताइसभावो वा, गम्माइत्थी कुलिंगो वा ॥

धर्मो द्विविधः । तद्यथा–द्रव्यधर्मो, भावधर्मश्च । तत्र द्रव्ये इति द्वारपरामर्शः । द्रव्यविषयो धर्म उच्यते–द्रव्यस्यानुपयुक्तस्य धर्मो मूलोत्तरगुणानुष्ठानं द्रव्यधर्मः, "इह अनुपयुक्तो द्रव्यम्" इति वचनात् । द्रव्यमेव वा धर्मो द्रव्यधर्मः धर्मास्तिकायः (तित्ताइ सहावो वा इति) तिक्ताऽऽदिर्वा द्रव्यस्य स्वभावो द्रव्यधर्मः । (गम्माइत्थी कुलिंगो व त्ति) गम्याऽऽदिधर्मः स्त्रीविषयो द्रव्यधर्मः, तत्र केषाञ्चित् मातुलदुहिता गम्या केषाञ्चिदगम्येत्यादि । तथा कुलिङ्गो वा कुतीर्थिकधर्मो द्रव्यधर्मः ।

पाठान्तरम्–

दुविहो उ होइ धम्मो, दव्वधम्मो य भावधम्मो य ।
धम्मत्थिकायदव्वे, दव्वस्स व जस्स जो भावो ॥

सुगमा ।

भावधर्मप्रतिपादनार्थमाह–

दुह होइ भावधम्मो, सुयचरणे वा सुयम्मि सज्झाओ ।
चरणम्मि समणधम्मो, खंती मुत्ती भवे दसहा ॥

द्विविधो भवति भावधर्मः। तद्यथा-श्रुतः चरणप्रकारः क्षान्त्यादिः।

पाठान्तरम्–

भावम्मि होइ दुविहो, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य ।
सुयधम्मो सज्झाओ, चरित्तधम्मो समणधम्मो ॥

सुगमा । आ० म० २ अ० । आ० चू० । धर्मो दुर्गतिगर्ता-निपतज्जन्तुजातत्राणदानक्षमः, सोऽपि नामस्थापनाद्रव्यभाव-भेदाद्विद्यमानश्चतुर्धा संभवति । तत्र नामधर्मो यथा-कस्यचित्पुरुषाऽऽदेः सचेतनस्य धर्म इति नाम क्रियते । स्थापनाधर्मो यथा-कस्यचिद्वस्तुनो धर्म इति स्थापना विधीयते-एष मया धर्मः पुनः समस्तान्यधार्मिकैर्धर्मबुद्ध्या परप्रतारणबुद्ध्या वा विधीयमानः सर्वोऽपि स्नानाऽऽचमनाऽऽदिः द्रव्यधर्म एव । तथा-सद्दर्शनप्रतिपन्नानां श्रमणाऽऽदीनां चतुर्णामपि यश्चैत्यवन्दनप्रतिक्रमणस्वाध्यायाऽऽद्यनुष्ठानसेवनमविधिनाऽनुपयोगेन तथा-परोपरोधपरचित्तरञ्जनवतां पार्श्वस्थाऽऽदीनां च यदनुष्ठानं तदपि द्रव्यधर्म एव, विवक्षितार्थसाधकत्वादिति । (विशेषश्चाऽत्र 'दव्वधम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४७४ पृष्ठे द्रष्टव्यः) भावधर्मस्तु-श्रुतचारित्ररूपः साधुश्रावकाऽऽदिभिः सम्यगुपयोगपूर्वकं विधीयते । यश्च ग्रामदेशकुलराजधर्मभेदाच्चतुर्विधः,-तत्र ग्रामधर्मो ग्रामाऽऽचारः, एवं देशाऽऽदिष्वप्यायोजनीयम् । दानाऽऽदिभेदेन वा चातुर्विध्यम् । तच्च प्रतीतमेवातो नेह प्रतन्यते । दर्श० ४ तत्त्व ।

तथा च सूत्रकृताङ्गनिर्युक्तौ धर्मस्य नामाऽऽदिनिक्षेपं दर्शयितु माह-

णामं ठवणा धम्मो, दव्वधम्मो य भावधम्मो य ।
सचित्ताचित्तमीसग-गिहत्थदाणे दवियधम्मे ॥ ९ ॥

(नाम ठवणेत्यादि) नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्धा धर्मस्य निक्षेपः । तत्राऽपि नामस्थापने अनादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो धर्मः सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा । तत्राऽपि सचित्तस्य जीवच्छरीरस्योपयोगलक्षणो धर्मः स्वभावः । एवमचित्तानामपि धर्मास्तिकायानां यो यस्य स्वभावः स तस्य धर्म इति । तथाहि-" गइलक्खणओ धम्मो, ठाणलक्खणओ अहम्मो य । भायणं सव्वदव्वाणं, नह अवगाहलक्खणं ॥ १ ॥ " पुद्गलास्तिकायोऽपि ग्रहणलक्षण इति मिश्रद्रव्याणां च क्षीरोदकाऽऽदीनां यो यस्य स्वभावः स तद्धर्मतयाऽवगन्तव्य इति । गृहस्थानां च यः कुलनगरग्रामाऽऽदिधर्मो गृहस्थेभ्यो गृहस्थानां वा यो दानधर्मः स द्रव्यधर्मः (सूत्र०) ।

भावधर्मस्वरूपनिरूपणायाऽऽह-

लोइयलोउत्तरिओ, दुविहो पुण होति भावधम्मो उ ।
दुविहो वि दुविहतिविहो, पंचविहो होति णायव्वो ।३।

(लोइय इत्यादि) भावधर्मो नोआगमतो द्विविधः । तद्यथा-लौकिको, लोकोत्तरश्च । तत्र लौकिको द्विविधः-गृहस्थानां, पाषण्डिकानां च । लोकोत्तरस्त्रिविधः-ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात् । तथाऽप्याभिनिबोधिकं ज्ञानं पञ्चधा । दर्शनमप्यौपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकवेदकक्षायिकभेदात् पञ्चविधम् । चारित्रमपि सामायिकाऽऽदिभेदात् पञ्चविधम् । गाथान्तराण्यत्रैव नेयानि । तद्यथा-भावधर्मो लौकिकलोकोत्तरभेदाद् द्विधा, द्विविधोऽपि चाऽयं यथासंख्येन द्विविधस्त्रिविधः । तत्रैव लौकिको गृहस्थ-पाषण्डिकभेदाद्-द्विविधः । लोकोत्तरोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात् त्रिविधः । ज्ञानाऽऽदीनि प्रत्येकं त्रीण्यपि पञ्चधैवेति । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

(९) धर्मपदमधिकृत्य सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिप्रतिपादनायाऽऽह-

णामं ठवणा धम्मो, दव्वधम्मो अ भावधम्मो उ ।
एएसिं णाणत्तं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ३९ ॥

(णामं ठवणा धम्मो त्ति) अत्र धर्मशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । नामधर्मः, स्थापनाधर्मो, द्रव्यधर्मो, भावधर्मश्च । एतेषां नानात्वं भेदं वक्ष्ये अभिधास्ये, यथानुपूर्व्या यथानुपरिपाट्येति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

साम्प्रतं नामस्थापने क्षुण्णत्वादागमतो नोआगमतश्च ज्ञानुपयुक्तज्ञशरीरेतरभेदाननादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यधर्माऽऽद्यभिधित्सयाऽऽह-

दव्वं च अत्थिकाओ, पयारधम्मो य भावधम्मो य ।
दव्वस्स पज्जवा जे, ते धम्मा तस्स दव्वस्स ॥ ४० ॥

इह त्रिविधोऽधिकृतो धर्मः । तद्यथा-द्रव्यधर्मः, अस्तिकायधर्मः, प्रचारधर्मश्चेति । तत्र द्रव्यं चेत्यनेन धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदभेदाद्द्रव्यधर्ममाह । तथाऽस्तिकाय इत्यनेन तु सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा एकलक्षणत्वादवयवे समुदायशब्दोपचारादस्तिकायधर्म इति । प्रचारधर्मश्चेत्यनेन ग्रन्थेन द्रव्यदेशमाह । भावधर्मश्चेत्यनेन तु भावधर्मस्य स्वरूपमाह । साम्प्रतं प्रथमोद्दिष्टद्रव्यधर्मस्वरूपाभिधित्सयाऽऽह-द्रव्यस्य पर्याया ये उत्पादव्ययधौव्यरूपास्ते च धर्मास्तस्य द्रव्यस्य, ततश्च द्रव्यस्य धर्मा द्रव्यधर्मा इत्यनासंसक्तैकद्रव्यधर्माभावप्रदर्शनार्थो बहुवचननिर्देश इति गाथार्थः ॥ ४० ॥

इदानीमस्तिकायाऽऽदिधर्मस्वरूपप्रतिपिपादयिषयाऽऽह-

धम्मत्थिकायधम्मो, पयारधम्मो य विसयधम्मो उ ।
लोइय कुप्पावयणिओ, लोगुत्तरलोगणेगविहो ॥ ४१ ॥

धर्मग्रहणाद्धर्मास्तिकायपरिग्रहः । ततश्च धर्मास्तिकाय एव गत्युपष्टम्भकोऽसंख्येयप्रदेशात्मकोऽस्तिकायधर्म इति । अन्ये तु व्याचक्षते-धर्मास्तिकायाऽऽदिस्वभावोऽस्तिकायधर्म इत्ययमपव्याख्यानम् । तत्र धर्मास्तिकायाऽऽदीनां द्रव्यत्वेन तस्य द्रव्यधर्मादव्यतिरेकादिति । तथा-प्रचारधर्मश्च विषयधर्म एव, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । तत्र प्रचरणं प्रचारः, प्रकर्षगमनमित्यर्थः । स एवाऽऽत्मस्वभावत्वाद्धर्मः प्रचारधर्मः । स च किंविशिष्ट इत्येतदपि प्रतिपादितं विषया रूपाऽऽदयः तद्धर्म एव । तथा च वस्तुतो विषयधर्मं पश्यन्ति यद्रागाऽऽदिमान् सत्त्वस्तेषु प्रवर्त्तत इति । चक्षुरादीनि द्रव्यश्रुता रूपाऽऽदिषु प्रवृत्तिः प्रचारधर्म इति हृदयम् । प्रधानसंसारनिबन्धनत्वेन चास्य प्राधान्यख्यापनार्थं द्रव्यधर्मात्पृथगुपन्यासः । इदानीं भावधर्मः, स च लौकिकाऽऽदिभेदभिन्न इति । आह च-लौकिकः कुप्रावचनिकः । लोकोत्तरश्च-(लोगो णेगविहो त्ति) लौकिकोऽनेकविध इति गाथाऽर्थः ॥ ४१ ॥

तदेवानेकविधत्वमुपदर्शयन्नाह-

गम्मपसुदेसरज्जे, पुरवरगामगणगोट्ठिराईणं ।
सावज्जो उ कुतित्थिय-धम्मो न जिणेहिँ उ पसत्थो ।४२।

तत्र गम्यधर्मो यथा दक्षिणापथे मातुलदुहिता गम्या, उत्तरापथे पुनरगम्यैव । एवं भक्ष्याभक्ष्यपेयापेयविभाषा कर्त्तव्येति । पशुधर्मो मात्राऽऽदिगमनलक्षणः । देशधर्मो देशाचारः, स च प्रतिनियत एव नेपथ्याऽऽदिलक्षणो नेय इति । राज्यधर्मः प्र-

तिराज्यं भिन्नः। स च करादिः पुरवरधर्मः प्रतिपुरवरं भिन्नः, क्वचित् किञ्चिद्विशिष्टोऽपि पौरभाषाप्रतिपादनाऽऽदिलक्षणः। सद्वितीया योषिद् गृहान्तरं गच्छतीत्यादिलक्षणो वा। ग्रामधर्मः प्रतिग्रामं भिन्नः। गणधर्मो मल्लाऽऽदिगणव्यवस्था यथा समपादपातेन विषमग्रह इत्यादि। गोष्ठीधर्मो गोष्ठीव्यवस्था। इह च समवयःसमुदायो गोष्ठी। तद्व्यवस्था पुनर्वसन्ताऽऽदावेवंकर्तव्यमित्यादिलक्षणा। राजधर्मो दुष्टेतरनिग्रहपरिपालनाऽऽदिरिति। भावधर्मता चाऽस्य गम्याऽऽदीनां विवक्षया भावरूपत्वाद् द्रव्यपर्यायत्वाद्वा तस्यैव च द्रव्यानपेक्षस्य विवक्षितत्वाद् लौकिकैर्वा भावधर्मत्वेनेष्टत्वात्। देशराज्याऽऽदिभेदश्चैकदेश एवानेकराज्यसंभव इत्येवं सुधिया भाव्यम्। इत्युक्तो लौकिकः। कुप्रावचनिक उच्यते-असावपि सावद्यप्रायो लौकिककल्प एव। यत आह-(सावज्जो उ इत्यादि) अवद्यं पापं सहावद्येन सावद्यः। तुशब्दस्त्वेवकारार्थः। स चावधारणे। सावद्य एव.कः?, कुतीर्थिकधर्मश्चरकपरिव्राजकाऽऽदिधर्म इत्यर्थः। कुत एतदित्याह-न जिनैरर्हद्भिस्तुशब्दादन्यैश्च प्रेक्षापूर्वकारिभिः प्रशंसितः स्तुतः। सारम्भपरिग्रहत्वात्। अत्र बहुवक्तव्यम्,तत्तु नोच्यते, गमनिकामात्रफलत्वात्प्रस्तुतव्यापारस्येति गाथार्थः॥ ४२॥ उक्तः कुप्रावचनिकः।

साम्प्रतं लोकोत्तरं प्रतिपादयन्नाह-

दुविहो लोगुत्तरिओ, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य।
सुयधम्मो सज्झाओ, चरित्तधम्मो समणधम्मो॥ ४३॥

द्विविधो द्विप्रकारो,लोकोत्तरो लोकप्रधानो, धर्म इति वर्त्तते। तथा चाऽऽह-श्रुतधर्मः,खलु चारित्रधर्मश्च। तत्र श्रुतं द्वादशाङ्गं तस्य धर्मः श्रुतधर्मः। खलुशब्दो विशेषणार्थः। किं विशिनष्टि। स हि वाचनाऽऽदिभेदाद्भिन्न इति। आह च-श्रुतधर्मः स्वाध्यायो वाचनाऽऽदिरूपस्तस्य चिन्तायां धर्महेतुत्वाद् धर्म इति। तथा चारित्रधर्मश्च तत्र 'चर' गतिभक्षणयोरित्यस्य "अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः"॥ ३। २। १८४॥ इति इत्रप्रत्ययान्तस्य चरित्रमिति भवति। चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चारित्रं क्षयोपशमरूपं,तस्य भावश्चारित्रमशेषकर्मक्षयाय चेष्टेत्यर्थः। ततश्चारित्रमेव धर्मश्चारित्रधर्म इति। चः समुच्चये। अयं च श्रमणधर्म एवेत्याह-चारित्रधर्मः श्रमणधर्म इति। तत्र श्राम्यतीति श्रमणः "कृत्यल्युटो बहुलम्"॥ ३। ३। ११३॥ इति वचनात् कर्त्तरि ल्युट् श्राम्यतीति तपस्यतीति। एतदुक्तं भवति-प्रव्रज्यादिवसादारभ्य सकलसावद्ययोगविरतो गुरूपदेशादनशनाऽऽदि यथाशक्त्या प्राणोपरमात्तपश्चरतीति। उक्तं च-" यः समः सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च। तपश्चरति शुद्धात्मा, श्रमणोऽसौ प्रकीर्त्तितः॥ १॥" इति। तस्य धर्मः स्वभावः। श्रमणधर्मश्च क्षान्त्यादिलक्षणो वक्ष्यमाण इति गाथार्थः॥ ४३॥ दश० १ अ०।

धर्मभेदान् सामान्येन निरूपयन्नाह-

दसविहे धम्मे पण्णत्ते। तं जहा-गामधम्मे, नगरधम्मे, रट्ठधम्मे,पासंडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे। स्था० १० ठा०।

(कस्य दर्शने कति धर्मभेदा इति 'वाद' शब्दे वक्ष्यते)

(१०) धर्मस्य स्वलक्षणमित्यनया सम्बन्धमुपदर्शयति प्रकरणकारः-

अस्य स्वलक्षणमिदं, धर्मस्य बुधैः सदैव विज्ञेयम्।
सर्वाऽऽगमपरिशुद्धं, यदादिमध्यान्तकल्याणम्॥ १॥

(अस्येत्यादि) अस्य धर्मस्य स्वलक्षणं लक्ष्यते तदितरव्यावृत्तं वस्त्वनेनेति लक्षणम्। स्वं च तल्लक्षणं चेति स्वलक्षणमिदं वक्ष्यमाणं बुधैर्विद्वद्भिः सदैव सर्वकालमेव विज्ञेयम्। सर्वकालव्याप्त्या लक्षणस्याऽन्यथात्वाभावमुपदर्शयति सर्वैरागमैः परिशुद्धं निर्दोषं यदादिमध्यान्तकल्याणमादिमध्यावसानेषु सुन्दरमिति योऽर्थः॥ १॥

किं पुनर्धर्मस्य स्वलक्षणमित्याह-

धर्मश्चित्तप्रभवो, यतः क्रियाऽधिकरणाऽऽश्रयं कार्यम्।
मलविगमेनैतत् खलु, पुष्ट्यादिमदेष विज्ञेयः॥ २॥

(धर्म इत्यादि) प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः। चित्तरूपत्वाच्चित्तहेतुकत्वाच्चारित्रं, चित्तं स चाऽसौ प्रभवश्च चित्तप्रभवः स धर्मो विज्ञेयः। विशेषणस्यासाङ्गीकरणाच्चशब्देन चित्तमेव परामृश्यते, यतश्चित्तात्क्रिया प्रवर्त्तते विधिनिषेधविषया। सा च क्रिया कार्यं चित्तनिष्पाद्यत्वात्। तच्च स्वरूपेण क्रियालक्षणं कार्यं कीदृशं यच्चित्तात्प्रवर्त्तत इत्याह-अधिकरणाऽऽश्रयमिह यद्यप्यधिकरणशब्दः सामान्येनाऽऽधारवचनस्तथापि प्रक्रमात् चित्तस्याधिकरणमाश्रयः शरीरं,चित्तस्य शरीराऽऽधारत्वात्। क्रियालक्षणं कार्यमधिकरणाऽऽश्रयं शरीराऽऽश्रयं यतः प्रवर्त्तते चित्तात्तच्चित्तं धर्म इत्युक्तम्। चित्तात्प्रभवतीति पुनरुच्यते चित्तस्य। एतत्पुष्ट्यादिमदित्यनेन सह संबन्धो न स्यात्। यत इत्यनेनापि केवलमेव चित्तं न गृह्येत। तथा धर्मस्यैव विशेषणं स्यान्न चित्तस्य, ततश्च चित्तस्य विशेषणपदैरभिसंबन्धो न स्यादिति दोषः। एतदेव चित्तं मलविगमेन रागाऽऽदिमलापगमेन पुष्ट्यादिमत् पुष्टिशुद्धिद्वयसमन्वितमेव धर्मो विज्ञेय इति॥ २॥

मलविगमेनैतत्खलु पुष्टिमदित्युक्तं, तत्र के मलाः कथं च पुष्ट्यादिमत्त्वं चित्तस्येत्येवं वक्तुकामतायां श्रोतुरिदमाह-

रागाऽऽदयो मलाः खल्वागमसद्योगतो विगम एषाम्।
तदयं क्रियात एव हि, पुष्टिः शुद्धिश्च चित्तस्य॥ ३॥

(रागाऽऽदय इत्यादि) इह मलाः प्रक्रमाच्चित्तस्यैव संबन्धिनः परिगृह्यन्ते। ते च रागाऽऽदयो रागद्वेषमोहा जातिसंग्रहीताः। व्यक्तिभेदेन तु भूयांसः। खलुशब्दोऽवधारणे रागाऽऽदय एव नान्ये। आगमनमागमः सम्यक्परिच्छेदस्तेन सद्योगः सद्व्यापारः आगमसहितो वा यः सद्योगः सत्क्रियारूपः। ततः सकाशाद्विगम एषां रागाऽऽदीनां मलापगमः संजायते। तत् तस्मादयमागमसद्योगः क्रिया वर्त्तते सर्वोऽपि शास्त्रोक्ता विधिप्रतिषेधाऽऽत्मिका। अत एव ह्यागमसद्योगात् क्रियारूपात् पुष्टिर्वक्ष्यमाणस्वरूपा शुद्धिश्च चित्तस्य संभवति॥ ३॥

पुष्टिशुद्ध्योर्लक्षणं दर्शयति-

पुष्टिः पुण्योपचयः, शुद्धिः पापक्षयेण निर्मलता।
अनुबन्धिनि द्वयेऽस्मिन्, क्रमेण मुक्तिः परा ज्ञेया॥४॥

(पुष्टिरित्यादि) उपचीयमानपुण्यता पुष्टिरभिधीयते,शुद्धिः पापक्षयेण निर्मलता, पापं ज्ञानावरणीयाऽऽदि च सम्यग्ज्ञानाऽऽदिगुणविघातहेतुर्घातिकर्मोच्यते। तत्क्षयेण यावती काचिद्घातोऽपि निर्मलता संभवति सा शुद्धिरुच्यते, अनुबन्धः सन्तानः

प्रवाहोऽविच्छेद इत्यनर्थान्तरम् । स विद्यते यस्य द्वयस्य तदिदमनुबन्धि तस्मिन् पुष्टिशुद्धिद्वयेऽस्मिन् प्रत्यक्षीकृते सति क्रमेणाऽऽनुपूर्व्या पुण्योपचयपापक्षयाभ्यां प्रवर्द्धमानाभ्यां तस्मिन् जन्मनि भवान्तरेषु वा प्रकृष्यमाणवीर्यस्य जीवस्य मुक्तिः परा तात्त्विकी सर्वकर्मक्षयलक्षणा ज्ञेयेति ॥ ४ ॥

कथं पुनरिदमनुबन्धिद्वयं न भवतीत्याह-

न प्रणिधानाऽऽद्याशय-संविद्व्यतिरेकतोऽनुबन्धि तत् ।
भिन्नग्रन्थेर्निर्मल-बोधवतः स्यादियं च परा ॥ ५ ॥

(नेत्यादि) (प्रणिधानाऽऽद्याशयसंविद्व्यतिरेकत इति) प्रणिधानाऽऽद्यश्च ते आशयाश्च वक्ष्यमाणाः पञ्चाध्यवसायस्थानविशेषास्तेषां संवित्संवित्तिः संवेदनमनुभवस्तस्या व्यतिरेकोऽभावस्तस्मात्तदाशयसंविद्व्यतिरेकेण तद्द्वयं पुष्टिशुद्धिरूपं नानुबन्धि भवति, तस्मादेतद्द्वयमनुबन्धिकर्तुकामेन प्रणिधानाऽऽदिषु यतितव्यम् । इयं च कस्येत्याह- भिन्नग्रन्थेरपूर्वकरणबलेन कृतग्रन्थिभेदस्य तत्प्रभावादेव निर्मलबोधवतो विमलबोधसंपन्नस्य स्याद्भवेदियं च प्रस्तुता प्रणिधानाऽऽद्याशयसंवित् परा प्रधाना ॥ ५ ॥

प्रणिधानाऽऽद्याशय उक्तस्तमेव संख्याविशिष्टं नामग्राहमाह-

प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नज-यसिद्धिविनियोगभेदतः प्रायः ।
धर्मज्ञैराख्यातः, शुभाऽऽशयः पञ्चधाऽत्र विधौ ॥ ६ ॥

प्रणिधिश्च प्रवृत्तिश्च विघ्नजयश्च सिद्धिश्च विनियोगश्च एत एव भेदास्तानाश्रित्य कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी । प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नजयसिद्धिविनियोगभेदतः (प्राय इति) प्राचुर्येण शास्त्रेषु धर्मज्ञैर्धर्मवेदिभिराख्यातः कथितः शुभाऽऽशयः शुभपरिणामः पञ्चधा पञ्चप्रकारः । अत्र प्रक्रमे विधौ कर्त्तव्योपदेशे प्रतिपादिताऽऽशयपञ्चकव्यतिरेकेण पुष्टिशुद्धिलक्षणं द्वयमनुबन्धि न भवतीति ॥ ६ ॥

तत्र प्रणिधानलक्षणमाह--

प्रणिधानं तत्समये, स्थितिमत्तदधः कृपानुगं चैव ।
निरवद्यवस्तुविषयं, परार्थनिष्पत्तिसारं च ॥ ७ ॥

(प्रणिधानमित्यादि) प्रणिधानं विशेष्यं, शेषपदानि विशेषणानि । तत्समये प्रतिपन्नविवक्षितधर्मस्थानमर्यादायां स्थितिमत् प्रतिष्ठामात्रचलितस्वभावं तदधः कृपानुगं चैव स्वप्रतिपन्नधर्मस्थानस्याधोऽधस्ताद्ये वर्तन्ते जीवा न तावतीं धर्मपद्धतीमाराधयन्ति, तेषु कृपया करुणया अनुगममनुगतं तेषु करुणापरम् । न तु गुणहीनत्वात्तेषु द्वेषसमन्वितं निरवद्यवस्तुविषयं, निरवद्यं सावद्यपरिहारेण यद्वस्तु धर्मगतं तद्विषयो यस्य परार्थनिष्पत्तिसारं च परोपकारनिष्पत्तिप्रधानं चैवंस्वरूपं प्रणिधानमवसेयम् ॥ ७ ॥

इदानीं प्रवृत्तिमाह--

तत्रैव तु प्रवृत्तिः, शुभसारोपायसङ्गतात्यन्तम् ।
अधिकृतयत्नातिशया-दौत्सुक्यविवर्जिता चैव ॥ ८ ॥

(तत्रैवेत्यादि) तत्रैव तु विवक्षितप्रतिपन्नधर्मस्थाने प्रवृत्तिरेवंस्वरूपा भवति । सा च न क्रियारूपा किं त्वाशयरूपा, शुभसारोपायसंगतनाऽत्यन्तं बाह्यक्रियाद्वारेण विशेषणं सर्वं योजनीयम् । शुभः सुन्दरः सारः प्रकृष्टो नैपुण्यान्वितो य उपायस्तेन संगता युक्ता, अधिकृते धर्मस्थाने यत्नातिशयः प्रयत्नाऽऽशयस्तस्मात् सा संपद्यते, औत्सुक्यविवर्जिता चैव औत्सुक्यं त्वराभिलाषातिरेकस्तेन विवर्जिता विरहिता प्रयत्नातिशयमेव विधत्ते न त्वौत्सुक्यमिति भावः ॥ ८ ॥

अधुना विघ्नजयमाह--

विघ्नजयस्त्रिविधः खलु, विज्ञेयो हीनमध्यमोत्कृष्टः ।
मार्ग इह कण्टकज्वर-मोहजयसमः प्रवृत्तिफलः ॥ ९ ॥

(विघ्नजयस्त्रिविधः खलु विज्ञेय इति) विघ्नस्य धर्मान्तरायस्य जयः पराभवो निराकरणं स त्रिविधस्तिस्रो विधा अस्येति त्रिविधस्त्रिभेदः । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । त्रैविध्यमेवाऽऽह- हीनमध्यमोत्कृष्टः हीनमध्यमाभ्यां सहित उत्कृष्ट एको हीनो विघ्नजयोऽपरो मध्यमोऽपरस्तूत्कृष्ट इति । त्रैविध्यमेव निदर्शनेन साधर्म्यगर्भमाह- मार्ग इह कण्टकज्वरमोहजयसम इति । मार्गे प्रवृत्तस्य पुंसः कण्टकविघ्नजयसमो ज्वरविघ्नजयसमो मोहविघ्नजयसमः । इदमत्र तात्पर्यम्- यथा नाम कस्यचित्पुरुषस्य प्रयोजनवशान्मार्गप्रवृत्तस्य कण्टकाऽऽकीर्णमार्गावतीर्णस्य कण्टकविघ्नो विशिष्टगमनविघातहेतुर्भवति । तद्रहिते तु पथि प्रवृत्तस्य गमनं निराकुलं संजायते । एवं कण्टकविघ्नजयसमः प्रथमो विघ्नजयः । कण्टकाश्चेह सर्वे एव प्रतिकूलाः शीतोष्णाऽऽदयो धर्मस्थानविघ्नहेतवस्तैरभिद्रुतस्य धर्मार्थिनोऽपि निराकुलप्रवृत्त्यसिद्धेः । आशयभेदश्चायं बाह्यकण्टकविघ्नजयेनोपलक्ष्यते । तथा- तस्यैव ज्वरवेदनाऽभिभूतशरीरस्य विह्वलपादन्यासस्य निराकुलं गमनं चिकीर्षोरपि, कर्तुमशक्नुवतः कण्टकविघ्नादभ्यधिको ज्वरविघ्नस्तज्जयस्तु विशिष्टगमनप्रवृत्तिहेतुर्निराकुलशरीरत्वेन परिदृश्यते । इहापि ज्वरकल्पाः शारीरा एव रोगाः परिगृह्यन्ते । तदभिभूतस्य विशिष्टधर्मस्थानाऽऽराधनाऽक्षमत्वात् । ज्वरकल्पशारीरदुःखविघ्नजयस्तु सम्यग्धर्मस्थानाऽऽराधनाय प्रभवति । तस्यैवाध्वनि जिगमिषोः पुरुषस्य दिङ्मोहकल्पो मोहविघ्नस्तेनाभिभूतस्य पुनः पुनः प्रेर्यमाणस्याप्यध्वनीनैर्न गमनोत्साहः कथञ्चित् प्रादुर्भवति । मोहविघ्नजयस्तु स्वयमेव मार्गसम्यक्परिज्ञानात् परैश्चोच्यमानमार्गश्रद्धानात्सन्दोत्साहतापरित्यागेन गमनप्रवृत्तिहेतुर्भवति । इहापि दिङ्मोहगमनविघ्नकल्पो मिथ्यात्वाऽऽदिजनितो मनोविभ्रमः परिगृह्यते । तज्जयस्तु मिथ्यात्वाऽऽदिदोषनिराकरणद्वारेण मनोविभ्रमापसारकत्वेन प्रस्तुतधर्ममार्गेऽनवरतप्रयाणकप्रवृत्त्या गमनाय संपद्यते । एवं कण्टकज्वरमोहविघ्नजयसमस्त्रिविधो विघ्नजय उक्तः । स एव विशिष्यते- प्रवृत्तिफलः प्रवृत्तिर्धर्मस्थानविषया फलमस्याऽऽशयविशेषस्य विघ्नजयसंज्ञितस्येति प्रवृत्तिफलः ॥ ९ ॥

एवं तृतीयमाशयभेदं प्रतिपाद्य सिद्धिरूपमाशयमाह-

सिद्धिस्तत्तद्धर्म-स्थानावाप्तिरिह तात्त्विकी ज्ञेया ।
अधिके विनयाऽऽदियुता, हीने च दयाऽऽदिगुणसारा ॥१०॥

(सिद्धिरित्यादि) सिद्धिर्नामाऽऽशयभेदः, सा च स्वरूपतः कीदृशी ?, तत्तद्धर्मस्थानावाप्तिरिह तात्त्विकी ज्ञेया तस्य तस्य विवक्षितस्य धर्मस्थानस्याऽहिंसाऽऽदेरवाप्तिः सिद्धिरुच्यते । सा च तात्त्विकीति च विशेषणं तत्तद्धर्मस्थानावाप्तेरतात्त्विकत्वपरिहारार्थम् । न ह्यतात्त्विकी सा सिद्धिर्भवितुमर्हति । सा च सिद्धिरधिके पुरुषविशेषे सूत्रार्थोभयविन्न्यस्तभावनामार्गे तीर्थकल्पे गुरौ विनयाऽऽदियुता विनयवैयावृत्त्यबहुमानाऽऽदिसमन्विता हीने च स्वप्रतिपन्नधर्मस्थानापेक्षया हीनगुणे निर्गुणे वा,

सामान्येनैव प्राणिगणे दयाऽऽदिगुणसारा दयादानव्यसनपतितदुःखापहाराऽऽदिगुणप्रधानाधिकहीनगुणग्रहणाद् मध्यमोपकारफलवत्यपि सा सिद्धिरित्युक्तं भवति ॥ १० ॥

एवं सिद्धिमभिधाय तत्फलभूतमेव विनियोगमाह–

सिद्धेश्चोत्तरकार्यं, विनियोगोऽवन्ध्यमेतदेतस्मिन् ।
सत्यन्वयसंपत्त्या, सुन्दरमिति तत्परं यावत् ॥ ११ ॥

सिद्धेश्चोत्तरकार्यं विनियोगः सिद्धेरुत्तरकालभावि । कार्यं विनियोगो नामाऽऽशयभेदो विज्ञेय इति संबन्धनीयम् । अवन्ध्यं सफलं,न कदाचिन्निष्फलमेतद्धर्मस्थानमहिंसाऽऽदि,एतस्मिन् विनियोगे सति संजातेऽन्वयसंपत्त्याऽविच्छेदसंपत्त्या हेतुभूतया सुन्दरमेतत्पूर्वोक्तं धर्मस्थानम् । इतिशब्दो भिन्नक्रमः। परमित्यनेन संबन्धनीयो यावत् (तत्परमिति) तद्धर्मस्थानं परं प्रकृष्टं यावत्संपन्नमनेन विनियोगस्याऽनेकजन्मान्तरसन्तानक्रमेण प्रकृष्टधर्मस्थानावाप्तिहेतुत्वमावेदयति । इदमत्र हृदयम्-अहिंसाऽऽदिप्रकृष्टधर्मस्थानावाप्तौ सत्यां स्वपरयोरुपकारायाऽविच्छेदेन तदैव धर्मस्थानस्य विनियोगो व्यापारः स्वात्मतुल्यपरफलकर्तृत्वमभिधीयते । एवं हि स्वयं सिद्धस्य वस्तुनो विनियोगः सफलीकृतो भवति । यदि परस्मिन्नपि तत्संपद्यते विशेषेण नियोगो नियोजनमध्यारोपणमिति कृत्वा आशयभेदत्वाच्च विनियोगस्याऽवन्ध्यत्वप्रतिपादनप्रक्रियया स्वरूपोपकारहेतुत्वं दर्शयति सूत्रकारः ॥ ११ ॥

एवमेतान्प्रणिधानाऽऽदीनभिधाय कथञ्चित् क्रियारूपत्वप्रसक्तेनामाशयविशेषत्वसमर्थनायाऽऽह–

आशयभेदा एते, सर्वेऽपि हि तत्त्वतोऽवगन्तव्याः ।
भावोऽयमनेन विना, चेष्टा द्रव्यक्रिया तुच्छा ॥ १२ ॥

आशयभेदा आशयप्रकारा एते पूर्वोक्ताः सर्वेऽपि हि सर्व एव कथञ्चित् क्रियारूपत्वेऽपि तदुपलक्ष्यतया तत्त्वतः परमार्थेनावगन्तव्या विज्ञेयाः परिणामविशेषा एते इति । शुभाऽऽशयः पञ्चधा त्रिविधो वेत्युक्तं स किं भावादपरोऽथ भाव एवेत्याशङ्कायामिदमाह–(भावोऽयमिति) अयं पञ्चप्रकारोऽप्याशयो भाव इत्यभिधीयते । अनेन भावेन विना चेष्टा व्यापाररूपा कायवाङ्मनःसङ्गता द्रव्यक्रिया तुच्छा भावविकला क्रिया द्रव्यक्रिया तुच्छा असारा स्वफलाऽसाधकत्वेन ॥ १२ ॥

कस्मात्पुनर्द्रव्यक्रियायास्तुच्छत्वाऽऽपादनेन भावप्राधान्यमाश्रीयत इत्याह–

अस्माच्च सानुबन्धा-च्छुद्ध्यन्तोऽवाप्यते द्रुतं क्रमशः ।
एतदिह धर्मतत्त्वं, परमो योगो विमुक्तिरसः ॥ १३ ॥

(अस्माच्चेत्यादि)अस्मात् पूर्वोक्ताद्भावादाशयपञ्चकरूपात् सानुबन्धात् अनुबन्धः सन्तानस्तेन सह वर्तते यो भावः स सानुबन्धस्तस्माद्भावनाभूतः,स चाऽव्यवच्छिन्नसन्तानस्तस्मादेवंविधाद्भावाच्छुद्धेरन्तःप्रकर्षः शुद्ध्यन्तोऽवाप्यते प्राप्यते द्रुतमविलम्बितं प्रभूतकालात्ययविगमेन क्रमशः क्रमेणाऽऽनुपूर्व्या तस्मिन् जन्मन्यपरस्मिन्वा कर्मक्षयप्रकर्षो लभ्यते । ननु चैष एव भावो धर्मपरमार्थ आहोस्विदन्यद्धर्मतत्त्वमित्याशङ्कायां परस्य निषेधमाह–एतदिह धर्मतत्त्वम् । अत्र यद्यपि भावस्य प्रस्तुतत्वादेतदित्यत्र पुंल्लिङ्गतायामेव इति निर्देशः प्राप्नोति तथाऽपि धर्मतत्त्वमित्यस्य पदस्य प्रधानापेक्षया नपुंसकनिर्देशोऽर्थस्तु एतदिह प्रस्तुतं भावस्वरूपं धर्मतत्त्वं नान्यत् परमो योग इति । अयं भावः-परमो योगो वर्तते,स च कीदृग् ?-विमुक्तिरसः विशिष्टा मुक्तिर्विमुक्तिस्तद्विषयो रसः प्रीतिविशेषो यस्मिन् योगे स विमुक्तिरसः; विमुक्तौ रसोऽस्येति वा गमकत्वात् समासः । अथवा-पृथगेव पदान्तरं न विशेषणं,तेनाऽयं भावो विमुक्तौ रसः प्रीतिविशेषो विमुक्तिरस उच्यते । एतदुक्तं भवति-भाव एव धर्मतत्त्वं भाव एव च परमो योगो भाव एव च विमुक्तिरस इति ॥ १३ ॥

ननु च भावाच्छुद्ध्यन्तोऽवाप्यते इत्युक्तं, शुद्धिश्च पापक्षयेण प्रागुक्ता कथं पुनः पापमतीतेऽनादौ काले यद् भूयो भूय आसेवितं तत्त्यक्त्वा भावमेवाभिलषति न पुनः पापं बहु मन्यते इत्याह–

अमृतरसाऽऽस्वादज्ञः,कुभक्तरसलालितोऽपि बहुकालम् ।
त्यक्त्वा तत्क्षणमेनं, वाञ्छत्युच्चैरमृतमेव ॥ १४ ॥

(अमृतेत्यादि) अमृतरसस्याऽऽस्वादस्तं जानातीत्यमृतरसाऽऽस्वादज्ञः कुभक्तरसलालितोऽपि कुभक्तानां कदशनानां यो रसस्तेन लालितोऽप्यभिरमितोऽपि पुरुषो बहुकालं प्रभूतकालं नैरन्तर्यवृत्त्याऽत एव " कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे " ॥ २ । ३ । ५ ॥ इति द्वितीया । त्यक्त्वा परित्यज्य तत्क्षणं तस्मिन्नेव क्षणे,शीघ्रमेनं कुभक्तरसममृतरसज्ञत्वेन वाञ्छत्यभिलषत्युच्चैरमृतमेव सुरभोज्यममृतमभिधीयते । तद्धि सर्वरससंपन्नत्वात् स्पृहणीयमतितरां भवति ॥ १४ ॥

एवं त्वपूर्वकरणात्, सम्यक्त्वामृतरसज्ञ इह जीवः ।
चिरकालाऽऽसेवितमपि,न जातु बहु मन्यते पापम् ॥ १५ ॥

(एवं त्वित्यादि) एवं त्वपूर्वकरणात् । एवमेवापूर्वकरणादपूर्वपरिणामात् सम्यक्त्वामृतरसज्ञ इह जीवः सम्यक्त्वामृतरसमनुभवद्वारेण जानातीति तज्ज्ञ उच्यते । चिरकालाऽऽसेवितमपि प्रभूतकालाभ्यस्तमपि न जातुचित् न कदाचित् बहु मन्यते बहुमानविषयीकरोति पापं मिथ्यादर्शनमोहनीयं तत्कार्यं वा प्रवचनोपघाताऽऽदि । इह च कुभक्तरसकल्पं पापमिथ्यात्वाऽऽदि। अमृतरसाऽऽस्वादकल्पो भावः सम्यक्त्वाऽऽदिरवसेय इति ॥ १५ ॥

सम्यक्त्वामृतरसज्ञो जीवः पापं न बहु मन्यते इत्युक्तम् । तत्र सम्यग्दृष्टेरपि विरतेरभावात् पापं कुर्वन् दृश्यत एवेत्याशङ्क्याऽऽह–

यद्यपि कर्मनियोगात्, करोति तत्तदपि भावशून्यमलम् ।
अत एव धर्मयोगात्, क्षिप्रं तत्सिद्धिमाप्नोति ॥ १६ ॥

यद्यपि कथञ्चित् कर्मनियोगात् कर्मव्यापारात् करोति विदधाति तत् पापं तद्भावशून्यमलं तदपि क्रियमाणं पापं भावशून्यमिह पापवृद्धिहेतुर्भावः क्लिष्टाध्यवसायस्तेन शून्यमसमर्थं सम्यग्दृष्टिर्हि पापं कुर्वाणोऽपि न भावतो बहु मन्यते । यथेदमेव साधितं । अत एव पापाऽबहुमानद्वारेण । धर्मयोगाद्धर्मोत्साहाद्धर्मसंबन्धाद्वा क्षिप्रमचिरेण तत्सिद्धिमाप्नोति धर्मनिष्पत्तिमवाप्नोतीति ॥ १६ ॥ षो० ३ विव० ।

(११) अस्य स्वलक्षणमिदं धर्मस्येत्युक्तं प्राक् तत्रास्यैव धर्मतत्त्वस्य लिङ्गाण्याह–

सिद्धस्य चास्य सम्यग्, लिङ्गान्येतानि धर्मतत्त्वस्य ।
विहितानि तत्त्वविद्भिः, सुखावबोधाय भव्यानाम् ॥ १ ॥

सिद्धस्य च निष्पन्नस्य बाह्य प्रत्यक्षीकृतस्य सम्यगवैपरीत्येन प्रशस्तानि वा लिङ्गानि लक्षणान्येतानि वक्ष्यमाणानि धर्मतत्त्वस्य धर्मस्वरूपस्य विहितानि शास्त्रेऽभिहितानि तत्त्वविद्भिः परमार्थवेदिभिः सुखावबोधाय सुखपरिज्ञानाय येन तानि सुखेनैव बुध्यन्ते भव्यानां योग्यानाम् ॥ १ ॥

तान्येव लिङ्गानि स्वरूपतो ग्रन्थकारः पठति–

औदार्यं दाक्षिण्यं, पापजुगुप्साऽथ निर्मलो बोधः ।
लिङ्गानि धर्मसिद्धेः, प्रायेण जनप्रियत्वं च ॥ २ ॥

उदारस्य भाव औदार्यं वक्ष्यमाणलक्षणं, दक्षिणोऽनुकूलस्तद्भावो दाक्षिण्यं निर्देक्ष्यमाणस्वरूपं, पापजुगुप्सा पापपरिहारः । अथ निर्मलो बोधोऽभिधास्यमानस्वरूपः, लिङ्गानि चिह्नानि धर्मसिद्धेर्धर्मनिष्पत्तेः प्रायेण बाहुल्येन जनप्रियत्वं च लोकप्रियत्वं च ॥ २ ॥

साम्प्रतमौदार्यलक्षणमाह–

औदार्यं कार्पण्य–त्यागाद्विज्ञेयमाशयमहत्त्वम् ।
गुरुदीनाऽऽदिष्वौचि–त्यवृत्ति कार्ये तदत्यन्तम् ॥ ३ ॥

औदार्यं नाम धर्मतत्त्वलिङ्गं, कार्पण्यत्यागात् कृपणभावपरित्यागादतुच्छवृत्त्या विज्ञेयमाशयमहत्त्वमाशयस्याध्यवसायस्य महत्त्वं विपुलत्वम् । तदेव विशिष्यते–गुरुदीनाऽऽदिष्वौचित्यवृत्ति गुरुषु गौरवार्हेषु तदधिकारे । यथोक्तम्–"माता पिता कलाऽऽचार्यः, एतेषां ज्ञातयस्तथा । वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः ॥१॥ " दीनाऽऽदिषु चानाथादिषु यदौचित्यवृत्ति औचित्येन वृत्तिरस्मिन्नौदार्ये आशयमहत्त्वे वा तदौचित्यवृत्ति, कार्ये कार्यविषये तदौदार्यमाशयमहत्त्वं वा अत्यन्तमतिशयेन औचित्यवृत्तिकारि वा, एतद् गुर्वादिषु ॥ ३ ॥ षो० ४ विव० । (दाक्षिण्यम् [४] इत्यादिना दाक्षिण्यलक्षणं ' दक्खिण्ण ' शब्दे २४४१ पृष्ठेऽत्रैव भागे गतम्) (पापजुगुप्सा [५] इत्यादिना पापजुगुप्सालक्षणं 'पावदुगुंछा' शब्दे वक्ष्यते) (निर्मल [६] इत्यादिना निर्मलबोधलक्षणं ' णिम्मलबोहत्तण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०७४ पृष्ठे गतम्) (युक्तम् [७] इत्यादिना जनप्रियत्वलक्षणं ' जणप्पियत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३८८ पृष्ठे समुक्तम्)

एवं धर्मतत्त्वलिङ्गान्यौदार्याऽऽदीनि विधिमुखेन प्रतिपाद्य धर्मतत्त्वव्यवस्थितानां पुंसां व्यतिरेकमुखेन विषयतृष्णाऽऽदीनां स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुर्दृष्टान्तपूर्वकं विकाराभावमाविर्भावयन्नाह–

आरोग्ये सति यद्व–द्व्याधिविकारा भवन्ति नो पुंसाम् ।
तद्वद्धर्मारोग्ये, पापविकारा अपि ज्ञेयाः ॥ ८ ॥

(आरोग्ये इत्यादि) आरोग्ये रोगाभावे सति जायमाने यद्वदिति यथा व्याधिविकारा रोगविकारा भवन्ति नो पुंसामारोग्यवतां यद्वदिति । तथा धर्माऽऽरोग्ये धर्मरूपमारोग्यं तस्मिन् सति पापविकारा अपि वक्ष्यमाणा न भवन्तीति विज्ञेयाः । ८ ।

पापविकारा ये न भवन्ति तान् विशेषतो निर्दिशति–

तत्रास्य विषयतृष्णा, प्रभवत्युच्चैर्न दृष्टिसंमोहः ।
अरुचिर्न धर्मपथ्ये, न च पापा क्रोधकण्डूतिः ॥ ९ ॥

तदेवं स्थिते धर्मतत्त्वयुक्तस्य नास्य पुरुषस्य विषयतृष्णा वक्ष्यमाणलक्षणा प्रभवति जायते उच्चैरत्यर्थं न दृष्टिसंमोहो वक्ष्यमाणलक्षण एव अरुचिरभिलाषाभावो न धर्मपथ्ये न धर्मपथ्यविषये, न च पापा स्वरूपेण पापहेतुर्वा क्रोधकण्डूतिः क्रोध एव कण्डूतिः, कण्डूशब्दः कण्ड्वादिषु पठ्यते, तस्य क्तिप्रत्ययान्तस्य रूपमेतत् ॥ ९ ॥ षो० ४ विव० । (विषयतृष्णालक्षणं 'विसयतण्हा' शब्दे वक्ष्यते) (दृष्टिसंमोहश्च ' दिट्ठिसंमोह ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५१७ पृष्ठे गतः)

एवं दृष्टिसंमोहमभिधाय तदनन्तरं
धर्मपथ्यविषयाया अरुचेर्लिङ्गमाह–

धर्मश्रवणेऽवज्ञा, तत्त्वरसाऽऽस्वादविमुखता चैव ।
धार्मिकसत्त्वाऽऽसक्ति–श्च धर्मपथ्येऽरुचिर्लिङ्गम् ॥ १२ ॥

(धर्मेत्यादि) धर्मस्य श्रवणमविपरीतार्थमाकर्णनं तत्राऽवज्ञाऽनादरस्तत्त्वे परमार्थे रस आसक्तिहेतुः तस्याऽऽस्वादस्तस्मिन् विमुखता वैमुख्यं तत्त्वरसाऽऽस्वादविमुखता चैव, धार्मिका ये सत्त्वास्तैरसक्तिरसंयोगोऽसंपर्को धार्मिकसत्त्वासक्तिश्च । धर्मपथ्ये धर्मः पथ्यमिव तस्मिन्नरुचेर्लिङ्गमिति प्रत्येकमभिसंबन्धः करणीयः ॥ १२ ॥

न च पापा क्रोधकण्डूतिरित्युक्तं तस्याश्चिह्नमाह–

सत्येतरदोषश्रुति–भावादन्तर्बहिश्च यत् स्फुरणम् ।
अविचार्य कार्यतत्त्वं, तच्चिह्नं क्रोधकण्डूतेः ॥ १३ ॥

(सत्येत्यादि) सत्यदोषश्रुतिभावादसत्यदोषश्रुतिभावाच्चान्तर्बहिश्चाभ्यन्तरपरिणाममाश्रित्यान्तर्बहिर्गताऽप्रसन्नताऽऽयाकारद्वारेण बहिश्च यत् स्फुरणं वा वृद्धिश्चलनं वा अविचार्यानालोच्य कार्यतत्त्वं कार्यपरमार्थं तच्चिह्नं लक्षणं क्रोधकण्डूतेः क्रोधकण्ड्वाः ॥ १३ ॥

एवमेतेन विषयतृष्णाऽऽदयो व्यतिरेकमुखेनोक्तास्तदभावमुपदर्शयन् मैत्र्यादिगुणसंभवमाह–

एते पापविकाराः, न प्रभवन्त्यस्य धीमतः सततम् ।
धर्मामृतप्रभावा–द्भवन्ति मैत्र्यादयश्च गुणाः ॥ १४ ॥

(एते इत्यादि)एते पापविकाराः पूर्वोक्ता न प्रभवन्ति न जायन्तेऽस्य पुरुषस्य धीमतो बुद्धिमतः सततमनवरतं धर्मामृतप्रभावाद्धर्म एवामृतं धर्मामृतं तत्प्रभावाद्भवन्ति संपद्यन्ते मैत्र्यादयश्च गुणा वक्ष्यमाणस्वरूपाः ॥ १४ ॥

मैत्र्यादीनामेव लक्षणमाह–

परहितचिन्ता मैत्री, परदुःखविनाशिनी तथा करुणा ।
परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥ १५ ॥

(परेत्यादि) परेषां प्राणिनां हितचिन्ता हितचिन्तनं मैत्री, ज्ञेयेति सर्वत्र वाक्यशेषः । परेषां दुःखं तद्विनाशिनी तथा करुणा कृपा, परेषां सुखं तेन तस्मिन् वा तुष्टिः परितोषोऽप्रीतिपरिहारो मुदिता, परेषां दोषा अविनयाऽऽदयः प्रतिकर्तुमशक्यास्तेषामुपेक्षामवधारणमुपेक्षा, संभवत्प्रतीकारेषु तु दोषेषु नोपेक्षा विधेया ॥ १५ ॥

एवं मैत्र्यादिगुणान् भावनारूपानभिधाय धर्मतत्त्वलक्षणोपसंहारं चिकीर्षुराह–

एतज्जिनप्रणीतं, लिङ्गं खलु धर्मसिद्धिमज्जन्तोः ।
पुण्याऽऽदिसिद्धिसिद्धेः, सिद्धं सद्धेतुभावेन ॥ १६ ॥

(एतदित्यादि) एतत् पूर्वोक्तं सर्वमौदार्याऽऽदिर्वावधप्रतिबोधविषयं जिनप्रणीतं जिनोक्तं लिङ्गं लक्षणं,खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, धर्मसिद्धिमतः धर्मनिष्पत्तिमज्जन्तोः प्राणिनः पुण्याऽऽदिसिद्धिसिद्धेः पुण्याऽऽद्युपायनिष्पत्तेः,सिद्धं प्रतिष्ठितं,सद्धेतुभावेन साक्षा-

रणात्वेनावन्ध्यहेतुत्वेनेति यावत्। पुण्योपायाश्चत्वारः। यथोक्तम्-" दया भूतेषु वैराग्यं, विधिदानं यथोचितम्। विशुद्धा शीलवृत्तिश्च। पुण्योपायाः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥" आदिग्रहणात् ज्ञानयोगपरिग्रहः, ज्ञानयोगोपायपरिनिष्पन्नेश्च सद्धेतुत्वेन भिन्नमेनल्लिङ्गमिति ।१६। षो० ४ विव०।

(१२) धर्मद्रुममूलप्रतिपादनपरां गाथामाह-

जीवदय सच्चवयणं, परधणपरिवज्जणं सुसीलं च ।
खंती पंचिंदियनिग्गहो य धम्मस्स मूलाइं ॥ १ ॥

जीवाश्चेतनाऽऽदिलक्षणयुक्ता एकेन्द्रियाऽऽदयः,तेषां दया रक्षणं जीवदयेति। ह्रस्वत्वं प्राकृतप्रभवम्। धर्ममूलं भवतीति सर्वत्र क्रियाऽध्याहारः कार्यः। सत्यं यथार्थं वचनं सत्यवचनं,तदपि परे आत्मव्यतिरिक्ता जनास्तेषां धनं वित्तं परधनं तस्य परि समन्ताद्वर्जनं परिहरणं परधनपरिवर्जनं, सुष्ठु शोभनं शीलं सदाचारश्चतुर्थव्रतं वा सुशीलं, भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य। सदाचारत्वं चतुर्थव्रतानतिकलङ्कता चेत्यर्थः। क्षान्तिः कषायोपशमः, पञ्चेति पञ्चसंख्यानीन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राऽऽख्यानि,तेषां निग्रहः, स्वविषयग्रहणत्यजनादपि रागद्वेषाकरणं व्याघुट्टनं धर्ममूलं भवति। यद्वा-तानि सर्वाण्यपि धर्मलक्षणवृक्षस्य मूलानीव मूलानि। अयमत्र भावार्थः-चकारस्यैवकारार्थस्येह संबन्धादेतानि च प्रत्येकं समुदितानि धर्ममहाद्रुमस्य नरसुरशिवसौख्यकुसुमफलप्रदस्य मूलानि, न तु पुनः परपरिकल्पितयागपञ्चाग्नितपःशून्यारण्यनिवाससकलकारिमक्षमक्ताऽऽदिदानप्रभृतीनि तेषां जीवघातनिष्पाद्यत्वेनाधर्मरूपत्वादिति गाथार्थः। दर्श० २ तत्त्व। "भक्ष्याभक्ष्यविवेकाच्च,गम्यागम्यविवेकतः। तपोदयाविशेषाच्च,स धर्मो व्यवतिष्ठते ॥१॥" द्वा०9द्वा०। धर्मावलम्बनानि-"धम्मं णं चरमाणस्स पंच निस्साठाणा पण्णत्ता। तं जहा-छक्काया गणो राया गाहावई सरीरं।" (अस्य व्याख्या 'णिस्साठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१४८ पृष्ठे द्रष्टव्या)"दोहिं ठाणेहिं आया केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए।" स्था० २ ठा०४ उ०। (विशेषः 'खओवसामिय' शब्दे तृतीयभागे ६७० पृष्ठे गतः) (आरम्भपरिग्रहाभ्यां विरताऽविरतस्य धर्मलाभालाभौ 'आरंभ' शब्दे द्वितीयभागे ३७१ पृष्ठे द्रष्टव्यौ)

(१३) धर्मानधिकारिण आह-

सुत्तेण चोइओ जो, अण्णं उद्दिसिअ तं ण पडिवज्जे ।
सो तत्तवायबज्झो, न होइ धम्मम्मि अहिगारी ॥ ७ ॥

सूत्रेण चोदित इदमित्थमुक्तमेवं यः सत्त्वः अन्यं प्राणिनमुद्दिश्याऽऽत्मतुल्यमुदाहरणतया तन्न प्रतिपद्यते सौत्रमुक्तं, स एवंभूतस्तत्त्ववादबाह्यः परलोकमङ्गीकृत्य परमार्थवादबाह्यो न भवति धर्मे सकलपुरुषार्थहेतावधिकारी, सम्यग्विवेकाभावादिति गाथार्थः। पं० व० ४ द्वार। अथ कलिकालिमामलिनान्तराऽऽत्मानः सन्तः सन्तोऽपि किमेवंविधश्रावकश्रमणगुणगणं श्रोतुं श्रद्धां कर्तुं वा शक्नुवन्ति न सर्वेऽपीत्याह-(रयणत्थिणो वीत्यादि) अथवा-किमद्ययुगीनमानवाः सर्वथैकान्ततो निराकाङ्क्षतामवलम्ब्येत्थंभूतगुणगणमदातुं दातुं समर्था भवन्ति। दर्श० ३ तत्त्व।

(१४) अथ सद्धर्मग्रहणयोग्यतामाह-

संविग्नस्तच्छ्रुतेरेवं, ज्ञाततत्त्वो नरोऽनघः ।
दृढं स्वशक्त्या जातेच्छः, संग्रहेऽस्य प्रवर्तते ॥ ७० ॥

एवमुक्तनीत्या (तच्छ्रुतेः) तस्याः धर्मदेशनायाः श्रुतेः श्रवणादसौ श्रोता पुमान् अनघो ऽपावृत्ततत्त्वप्रतिपत्तिबाधकमिथ्यात्वमालिन्यः सन्नत एव ज्ञाततत्त्वः करकमलतलाऽऽकलितनिस्तलस्थूलामलमुक्ताफलवच्छ्रद्धानविषयीकृतजीवाऽऽदिवस्तुवादः, तथा-(संविग्नः) संवेगमुक्तलक्षणं प्राप्तः सन् जातेच्छः अर्थाच्चिकीर्षापरिणामोऽर्थादस्मै (दृढम्) अतिसूक्ष्माऽऽभोगपूर्वं यथा स्यात्तथा स्वशक्त्या स्वसामर्थ्येन हेतुभूतेन अस्य धर्मस्य संग्रहे सम्यग् वक्ष्यमाणयोगवन्दनाऽऽदिशुद्धिरूपविधिपूर्वे ग्रहे प्रतिपत्तौ (प्रवर्तते) प्रवृत्तिमाधत्ते। अदृढमयथाशक्ति च धर्मग्रहणप्रवृत्तौ भङ्गसंभवेन प्रत्युतानर्थसंभव इति दृढस्वशक्त्योर्ग्रहणं कृतमिति विशेषगृहिधर्मग्रहणयोग्यताप्रतिपादिता भवति शास्त्रान्तरे चैकविंशत्या गुणैर्धर्मग्रहणार्हो भवतीति प्रतिपादितम्। ध० १ अधि०। (ते च गुणा 'धम्मरयण' शब्दे वक्ष्यन्ते)

(१५) धर्माधिकारिणः-

जे पुव्वुट्ठाई णो पच्छा णिवाती, जे पुव्वुट्ठाई पच्छा णिवाती, जे णो पुव्वुट्ठाई णो पच्छा णिवाती, सेऽवि तारिसिए सिया, जे परिण्णाय लोगमणुस्सयंति ॥ १५१ ॥

यः कश्चिद्विदितसंसारस्वभावतया धर्मचरणैकप्रवणमनाः पूर्वं प्रव्रज्यावसरे संयमानुष्ठानेनोत्थातुं शीलमस्येति पूर्वोत्थायी, पश्चाच्च श्रद्धासंवेगतया विशेषेण वर्धमानपरिणामो नो निपाती,निपतितुं शीलमस्येति विगृह्य णिनिः। निपतनं वा निपातः, सोऽस्यास्तीति निपाती,सिंहतया निष्क्रान्तः सिंहतया विहारी च गणधराऽऽदिरत्र प्रथमो भङ्गः। द्वितीयभङ्गं सूत्रेणैव दर्शयन्नाह-पूर्वमुत्थातुं शीलमस्येति पूर्वोत्थायी, पुनर्विचित्रत्वात्कर्मपरिणतेस्तथाविधभवितव्यतानियोगात्पश्चान्निपाती स्यात्, नन्दिषेणवत्। कश्चिद्दर्शनतोऽपि गोष्ठामाहिलवदिति। तृतीयभङ्गस्य चाभावादनुपादानं, स चायम्-(जे णो पुव्वुट्ठायीत्यादि) नो पूर्वोत्थायी पश्चान्निपातीति। तथा ह्युत्थाने सति निपातोऽनिपातो वा चिन्त्यते, सति धर्मिणि धर्मचिन्ता, तदुत्थानप्रतिषेधे च दूरोत्सारितैव निपातचिन्तेति। चतुर्थभङ्गं दर्शयन्नाह यो हि नो पूर्वोत्थायी न च पश्चान्निपाती सोऽविरत एव गृहस्थः सम्यगुत्थायी भवति, सम्यग्विरतेरभावाच्चापि पश्चान्निपाती,तदुत्थानाविनाभावित्वान्निपातस्य,शाक्याऽऽदयो वा चतुर्थभङ्गपतिता द्रष्टव्याः, तेषामप्युभयासद्भावादिति। ननु च गृहस्था एव चतुर्थभङ्गपतिता युक्ता वक्तुं, तथाहि-तेषां सावद्ययोगानुष्ठानेनानुत्थानतया प्रतिज्ञामन्दराऽऽरोपाभावान्निपाताभावः, शाक्याऽऽदिरपि चतुर्थभङ्गपतित इत्यत आह-(सेऽवि इत्यादि)सोऽपि शाक्याऽऽदिर्गणः पञ्चमहाव्रतभाराऽऽरोपणाभावेन सावद्ययोगानुष्ठानतया नो पूर्वोत्थायी, निपातस्य च तत्पूर्वकत्वान्नो पश्चान्निपातीत्यतस्तादृश एव गृहस्थतुल्य एव स्यात्, आश्रवद्वाराणामुभयेषामप्यसंवृतत्वात्, उद्दायिनृपमारकवत्। अन्येऽपि ये सावद्यानुष्ठायिनस्तेऽपि तादृक्षा एवेति दर्शयन्नाह-(जे परिण्णाय इत्यादि) येऽपि स्वयूथ्याः पार्श्वस्थाऽऽदयो द्विविधयाऽपि परिज्ञया लोकं परिज्ञाय पुनः पचनपाचनाऽऽद्यर्थं तमेव लोकमन्वाश्रिता अन्वेषयन्ति वा तेऽपि गृहस्थतुल्या एव भवेयुः ॥ १५१ ॥

स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह-

एयं णियाय मुणिणा पवेदितं, इह आणाकंखी पंडिते अणिहे, पुव्वावररायं जयमाणे, सया सीलं संपेहाए सुणिया भवे अकामे अझंझे, इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ?॥ १५३ ॥

(एयं इत्यादि) एतद् यदुत्थानानिपाताऽऽदिकं प्रागुपन्यस्तं तत्केवलज्ञानावलोकनेन (णियाय त्ति) ज्ञात्वा मुनिना तीर्थकृता प्रवेदितं कथितम्। इदं चान्यत्प्रवेदितमित्याह-(इह इत्यादि) इहास्मिन्मौनीन्द्रे प्रवचने व्यवस्थितः सन् आज्ञां तीर्थकृतोपदेशमाकाङ्क्षितुं शीलमस्येत्याज्ञाकाङ्क्षी आगमानुसारप्रवृत्तिकः, कश्चैवंभूतः?-पण्डितः सदसद्विवेकज्ञोऽस्निहः स्नेहरहितो रागद्वेषविप्रमुक्तोऽहर्निशं गुरुनिर्देशवर्ती यत्नवान् स्यादित्येतदाह-(पुव्वावर इत्यादि) पूर्वरात्रं रात्रेः प्रथमो यामोऽपररात्रं रात्रेः पाश्चात्य एतद्यामद्वयमपि यतमानः सदाचारमाचरेत्, मध्यवर्तियामद्वयमपि यथोक्तविधिना स्वपन् वैराग्यादिकं चिन्तयेत्, रात्रियतनाप्रतिपादनेन चाहन्यपि प्रतिपादितैव भवति, आद्यन्तग्रहणे मध्यग्रहणस्यावश्यंभावित्वात्। किञ्च-(सया सीलं इत्यादि) सदा सर्वकालं 'शीलम्' अष्टादशभेदसहस्रसङ्ख्यं, संयमं वा। यदि वा चतुर्धा शीलम्-महाव्रतसमाधानं तिस्रो गुप्तयः पञ्चेन्द्रियदमः कषायनिग्रहश्चेत्येतच्छीलं संप्रेक्ष्य मोक्षाङ्गतयाऽनुपालयेत नाक्षिनिमेषमात्रमपि कालं प्रमादवशगो भूयात्। कथं शीलसंप्रेक्षकः स्यादित्याह-यो हि श्रुत्वा शीलसंप्रेक्षणफलं निःशीलनिर्व्रतानां च नरकाऽऽदिपातविपाकमाकर्ण्याऽऽगमात्, 'भवेत्' स्याद् अकाम इच्छामदनकामरहित इति। तथा नास्य झंझा माया लोभेच्छा विद्यत इत्यझंझः, कामझंझाप्रतिषेधाच्च मोहनीयोदयः प्रतिषिद्धः, तत्प्रतिषेधाच्च शीलवान् स्यादिति, एतदुक्तं भवति-धर्मं श्रुत्वा स्याद् अकामोऽझंझश्चेत्यनेन चोत्तरगुणा गृहीताः, उपलक्षणार्थत्वाच्च मूलगुणा अपि गृहीताः, ततः स्याद् अहिंसकः सत्यवादीत्याद्यपि द्रष्टव्यम्। ननु चान्यत्रोक्तरीत्येवं भावनायुक्तस्यानिगूहितबलवीर्यस्य पराक्रममाणस्याऽष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणोऽपि मे यथोपदेशं प्रवर्तमानस्यापि नाशेषकर्मांशापगमोऽद्यापि भवतीत्यतस्तथाभूतमसाधारणकारणमाचक्ष्व, येनाहमाश्वेवाशेषमलकलङ्करहितः स्याम्, अहं च भवदुपदेशादपि सिंहेनापि सह युध्ये, न मे कर्मक्षयार्थं प्रवृत्तस्य किञ्चिदशक्यमस्तीत्यत्रोत्तरं सूत्रेणैवाऽऽह-(इमेण चेव इत्यादि) अनेनैवौदारिकेण शरीरेणेन्द्रियनोइन्द्रियाऽऽत्मकेन विषयसुखपिपासुना स्वैरिणा सार्द्धं युध्यस्व, इदमेव सन्मार्गावतारणतो वशीकुरु, किमपरेण बाह्यतस्ते युद्धेन ?, अन्तरारिषड्वर्गकर्मरिपुजयाद्वा सर्वं सेत्स्यति भवतो, नातोऽपरं दुष्करमस्तीति ॥ १५३ ॥

किञ्चेयमेव सामग्री अगाधसंसारार्णवे पर्यटतो भवकोटिसहस्रेष्वपि दुष्प्रापेति दर्शयितुमाह-

जुद्धारिहं खलु दुल्लहं जहित्थ कुसलेहिं परिण्णाविवेगे भासिते, चुते हु बाले गब्भातिसु रज्जति, अस्सिं चेयं पवुच्चति, रूवंसि वा छणंसि वा, से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अण्णहा लोगमुवेहमाणे, इय कम्म परिण्णाय सव्वसो से ण हिंसति, संजमती णो पगब्भती, उवेहमाणो पत्तेयं सायं, वण्णाएसी णारभे कंचणं सव्वलोए एगप्पमुहे विदिसप्पतिण्णे णिव्विण्णचारी अरए पयासु ॥ १५४ ॥

(जुद्धारिहं इत्यादि) एतदौदारिकं शरीरं भावयुद्धार्हं, समुदयकारणे। स च निष्क्रमो, दुर्लभमेव दुष्प्रापमेव, उक्तं च-"ननु पुनरिदमतिदुर्लभ-मगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम्। मानुष्यं खद्योतक-तडिल्लताविलसितप्रतिमम्"॥ १॥ इत्यादि। पाठान्तरं वा-"युद्धारियं च दुल्लहं।" तत्रानार्यं संग्रामयुद्धं, परीषहाऽऽदिरिपुयुद्धं त्वार्यं, तद् दुर्लभमेव तेन युध्यस्व, ततो भवतोऽशेषकर्मक्षयलक्षणो मोक्षोऽचिरादेव प्राप्नोति भावार्थः। तच्च भावयुद्धार्हं शरीरं लब्ध्वा कश्चित्तेनैव भवेन शेषकर्मक्षयं विधत्ते, मरुदेवीस्वामिनीव, कश्चित् सप्तभिरष्टाभिर्वा भवैर्भरतवत्, कश्चिदपार्द्धपुद्गलपरावर्तेन, अपरो न सेत्स्यत्येव, किमित्येवं यत आह-(जहेत्थ कुसलेहिं इत्यादि) यथा येन प्रकारेणास्मिन् संसारे कुशलैस्तीर्थकृद्भिः परिज्ञा विवेकः परिज्ञानविशिष्टता, कस्यचित्कोऽध्यवसायः संसारवैचित्र्यहेतुर्भाषितः प्रज्ञापितः, स च मतिमता तथैवाभ्युपगन्तव्य इति। तदेव परिज्ञानमानात्वं दर्शयन्नाह-(चुए इत्यादि) लब्ध्वाऽपि दुर्लभं मनुजत्वं प्राप्य च मोक्षैकगमनहेतुं धर्मं पुनरपि कर्मोदयात् तस्मात् च्युतो बालः अज्ञः गर्भाऽऽदिषु रज्यते, गर्भ आदिर्येषां कुमारयौवनावस्थाविशेषाणां ते गर्भाऽऽदयः, तेष्वेव गार्ध्यमुपयाति, यथैभिः सार्द्धं मम वियोगो मा भूत् इत्येतदध्यवसायी भवति। यदि वा-धर्मात् च्युतस्तत्करोति येन गर्भादिषु यातनास्थानेषु सङ्गमुपयाति।" रिज्जइ त्ति " वा क्वचित्पाठः, रीयते गच्छतीत्यर्थः। स्यात्-क्वोक्तमिदम् ?, यत्राऽयं व्यावर्णितमित्याह-(अस्सिं चेयं पवुच्चइ रूवंसि वा छणंसि वा से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अन्नहा लोगमुवेहमाणे, इय कम्मं परिण्णाय सव्वसो से ण हिंसति संजमती णो पगब्भइ) अस्मिन्नित्यार्हते प्रवचने एतत्पूर्वोक्तं प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यते। एतच्च वक्ष्यमाणमत्रोच्यते इति दर्शयन्नाह-रूपे चक्षुरिन्द्रियविषये अभ्युपपन्नो, वाशब्दादन्यत्र वा स्पर्शाऽऽदौ क्षणे प्रवर्तते, 'क्षणु' हिंसायां, क्षणनं क्षणो हिंसा, तस्यां प्रवर्तते, वाशब्दादन्यत्र चानृतस्तेयाऽऽदाविति, रूपप्रधानत्वाद्विषयाणां रूपित्वाच्च रूपोपादानम्, आश्रवद्वाराणां च हिंसाप्रधानत्वात्तदादित्वाच्च तदुपादानमिति। बालो रूपाऽऽदिविषयनिमित्तं धर्माच्च्युतः सन् गर्भाऽऽदिषु रज्यते, अत्राऽऽर्हते मार्गे प्रोच्यते, यस्तु पुनर्गर्भाऽऽदिगमनहेतुं ज्ञात्वा विषयसङ्गं धर्माच्च्युतो हिंसाद्याश्रवद्वारेभ्यो निवर्तते स किंभूतः स्यादित्याह- स जितेन्द्रियो, दुरवधारणं, स एवैक अद्वितीयो मुनिर्जगत्त्रयमन्ता संविद्धपथः सम्यग्विद्धः स्वाकृतः क्षुण्णः पन्था मोक्षमार्गो ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽख्यो येन स तथा। (संविद्धभए त्ति) वा पाठः संविद्धभयो दृष्टभय इत्यर्थः, यो ह्याश्रवद्वारेभ्यो हिंसादिभ्यो निवृत्तः स एव मुनिः क्षुण्णमोक्षमार्गः इति भावार्थः। किञ्च-अन्येन प्रकारेणान्यथा विषयकषायाभिभूतं हिंसाऽऽदिकर्मसु प्रवृत्तं लोकमुपेक्ष्य लोकं वा पारलौकिकं वा, पचनपाचनौद्देशिकसावद्याऽऽहाराऽऽदिप्रवृत्तमुत्प्रेक्षमाणोऽन्यथा वाऽऽत्मानं निवृत्ताशुभव्यापारमुत्प्रेक्षमाणः संविद्धपथो मुनिः स्यादिति। लोकं चान्यथोत्प्रेक्ष्य किं कुर्यादित्याह-इति पूर्वोक्तैर्हेतुभिर्यद्बद्धं कर्म तदुपादानं च सर्वतः परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञयाऽपि सर्वतः परिहरेत्। कथं परिहरतीत्याह-(से ण हिंस-

ति) स कर्मपरिहर्त्ता कायवाङ्मनोभिर्न हिनस्ति जन्तून्, न घातयत्यपरैर्नाप्यनुमन्यते । किञ्च-पापोपादानप्रवृत्तमात्मानं संयमयति, सप्तदशप्रकारं वा संयमं करोति संयमयति, आचारक्विबन्तं चैतत्-संयम इवाऽऽचरति संयमयति । किं च-(नो पगब्भइ) 'गल्भ' धार्ष्ट्ये, असंयमकर्मसु प्रवृत्तः सन् न प्रगल्भत्वमायाति, रहस्यप्यकार्यप्रवृत्तो जिह्रेति न धृष्टतामवलम्बते इति, उपलक्षणार्थत्वादस्य क्रुधमोऽप्यथो मुनिर्न कुप्यति न आत्मानमुद्वहति, न वञ्चनां विधत्ते, न लुभ्यति । किमालम्ब्यैतत् कुर्यादित्याह-(उवेहमाणे त्ति) उत्प्रेक्षमाणोऽवगच्छन् प्रत्येकं प्राणिनां सातं मनोऽनुकूलं नान्यसुखेनान्यः सुखीति नाऽपि परदुःखेन दुःखी, अतः प्राणिनो न हिंस्यात् । इति प्राणिनां प्रत्येकं सातमुत्प्रेक्षमाणश्च किं कुर्यादित्याह-वर्ण्यते प्रशस्यते येन स वर्णः साधुकारस्तदादेशी वर्णाऽऽदेशी वर्णाभिलाषी सन्नारभते कञ्चन पापाऽऽरम्भं सर्वस्मिन्नपि लोके, यदि वा- तपः संयमाऽऽदिकमप्यारम्भं यशः कीर्त्यर्थं नाऽऽरभते, प्रवचनोद्भावनार्थं त्वारभते ।

तदुद्भावकाश्चामी-

" प्रावचनी धर्मकथी, वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च ।
विद्यासिद्धः ख्यातः, कविरपि चोद्भावकास्त्वष्टौ ॥ १ ॥ "

यदि वा वर्णो-रूपं तदादेशी-तदभिलाषुकः, नोद्वर्तनाऽऽदिकाः क्रिया आरभेत,किंभूतः सन्नेतत् कुर्यादित्याह-(एगप्पमुहे) एको मोक्षोऽशेषमलकलङ्करहितत्वात् संयमो वा रागद्वेषरहितत्वात्तत्र प्रगतं मुखं यस्य स तथा,मोक्षे तदुपाये वा दत्तैकदृष्टिर्न कञ्चन पापाऽऽरम्भमारभेत इति । किञ्च-मोक्षसंयमाभिमुखा दिक् ततोऽन्या विदिक् तां प्रकर्षेण तीर्णो विदिक्प्रतीर्णः, स चैवंभूतः सन्नारम्भी स्यात्, कुमार्गपरित्यागेन न पापारम्भान्वेषी भवतीत्यर्थः । किञ्च-(निव्विण्णचारी) चरणं चारः अनुष्ठानं, निर्विण्णस्य चारो निर्विण्णचारः, सोऽस्यास्तीति निर्विण्णचारी, कुत इति चेत् ?, यतः प्रजास्वरतः प्रजायन्त इति प्रजाः प्राणिनः, तत्रारतः तदारम्भाद् निवृत्तो निर्ममत्वो वा, यश्च शरीराऽऽदिष्वपि ममत्वरहितः स निर्विण्णचार्येव भवति, यदि वा प्रजाः स्त्रियस्तास्वरत आरम्भेऽपि निर्वेदमागच्छति, कारणाभावे कार्यस्याप्यभावादिति ।

यश्च प्रजास्वरत आरम्भरहितः, स किंभूतः स्यादित्याह-

से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं तं णो अन्नेसी, जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा जं मोणं ति पासहा तं सम्मं ति पासहा, ण इमं सक्कं सिढिलेहिं अद्दिज्जमाणेहिं गुणासातेहिं वंकसमायारेहिं पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं, मुणी मोणं समायाए धुणे सरीरगं, पंतं लूहं च सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो, एस ओहंतरे मुणी,तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्ति बेमि ॥१५५॥

(से वसुमं) वसु द्रव्यं,स चात्र संयमः,तद्विद्यते यस्य स निवृत्ताऽऽरम्भो मुनिर्वसुमान् (सव्वसमन्नागय त्ति) सर्वं समन्वागतं प्रज्ञानं पदार्थाऽऽविर्भावकं यस्याऽऽत्मनस्तेनाऽऽत्मना सर्वसमन्वागतप्रज्ञानरूपाऽऽत्मना यदकरणीयं पापं कर्म तन्नो कदाचिदप्यन्वेषयति, तदुपलक्षणपरमार्थरूपेणाऽऽत्मना न सावद्यानुविधायी स्यादिति भावार्थः । यदेव सम्यग्ज्ञानं तदेव पापकर्मवर्जनं, यदेव पापकर्मवर्जनं तदेव च सम्यग्ज्ञानमित्येतद्गतप्रत्यागतसूत्रेणैव दर्शयितुमाह-सम्यगिति सम्यग्ज्ञानं सम्यक्त्वं वा तत्सहचरितम्, अनयोः सहभावादेकग्रहणे द्वितीयग्रहणं न्याय्यं, यादृशं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्त्वं वेत्येतत्पश्यत तन्मुनेर्भावो मौनं-संयमानुष्ठानमित्येतत्पश्यत, यच्च मौनमित्येतत् पश्यत तत्सम्यग्ज्ञानं नैश्चयिकसम्यक्त्वं वा पश्यत, ज्ञानस्य विरतिफलत्वात् सम्यक्त्वस्य चाभिव्यक्तिकारणत्वात् सम्यक्त्वज्ञानचरणानामेकताऽध्यवसेयेति भावार्थः । एतच्च न येन केनचिच्छक्यमनुष्ठातुमित्याह-नैतत्सम्यक्त्वाऽऽदित्रयं सम्यगनुष्ठातुं शक्यं, कैः ? 'शिथिलैः' अल्पपरिणामतया मन्दवीर्यैः संयमतपसोर्धृतिदृढिमरहितैरिति । किञ्च-(अद्दिज्जमाणेहिं) आर्द्रैः पुत्रकलत्राऽऽद्यनुषङ्गजनितस्नेहादार्द्रीक्रियमाणैरेतत् पूर्वोक्तमशक्यमिति संबन्धः, किञ्च-(गुणासाएहिं) गुणाः शब्दाऽऽदयस्तेषु आस्वादो येषां ते गुणाऽऽस्वादास्तैरिति । किञ्च-(वंकसमायारेहिं) वक्रः समाचारो येषां ते तथा, तैर्मायाविभिरित्यर्थः । (पमत्तेहिं) विषयकषायाऽऽदिप्रमादैः प्रमत्तैरिति । (गारमावसंतेहिं) अगारं गृहं तदावासरतोपाङ्गारमित्युक्तं तदागारमावसद्भिः सेवमानैः पापकर्मवर्जनरूपं मौनमनुष्ठानमशक्यमिति सर्वत्र योज्यम् । कथं तर्हि शक्यमित्याह-(मुणी मोणं समायाए धुणे सरीरगं पंतं लूहं च सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो) (मुणी मोणं ति) मुनिर्जगत्त्रयस्य मन्ता मौनं मुनित्वमशेषसावद्यानुष्ठानवर्जनरूपं समादाय गृहीत्वा धुनीयाच्छरीरकमौदारिकं कर्मशरीरं वा । कथं च तस्य धुननमित्याह-प्रान्तं पर्युषितं वल्लचणकादि, लूक्षं वा तदपि रूक्षं विकृतेरभावात्तत् सेवन्ते तदभ्यवहरन्ति,के ते ?,वीराः कर्मविदारणसहिष्णवः,किंभूताः?, सम्यक्त्वदर्शिनः, समत्वदर्शिनो वा । यश्च प्रान्तरूक्षसेवी स किंगुणः स्यादित्याह-(एस ओहंतरे मुणी) एषोऽनन्तरोक्तविशेषणविशिष्टः ओघो भावौघः संसारस्तं तरतीति । कोऽसौ ?, मुनिः "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा " ॥ ३ । ३ । १३१ ॥ इति तीर्णं एवासौ, स बाह्याभ्यन्तरसङ्गाभावान्मुक्तः, कथंभूतो ?, यः सावद्यानुष्ठानाद्विरत इत्येवं व्याख्यातः । इतिरधिकारसमाप्तौ । ब्रवीमीति पूर्ववत् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

इह त्रीणि वयांसि-युवा मध्यवया वृद्धश्चेति, तत्र मध्यवयाः परिपक्वबुद्धित्वाद् धर्मार्ह इत्येतद्दर्शयति-

मज्झिमेणं वयसा एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिता सोच्चा मेधावी वयणं पंडियाणं णिसामित्ता समयाए धम्मे आयरिएहिं पवेदिते ते अणवकंखमाणा अणतिवाएमाणा अपरिग्गहमाणा णो परिग्गहावंति सव्वावंति च णं लोगंसि णिहाय दंडं पाणेहिं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए ॥

युवा मध्यवया वृद्धश्चेति । तत्र मध्यमवयाः परिपक्वबुद्धित्वाद्धर्मार्ह इत्यतो दर्शयति-मध्यमेन वयसाऽप्येके संबुध्यमाना धर्मचरणाय सम्यगुत्थिता इति, सत्यपि प्रथमचरमवयसोरुत्थाने यतो बाहुल्याद्योग्यत्वाच्च प्रायो विनिवृत्तभोगकुतूहल इति निष्प्रत्यूहधर्माधिकारीति मध्यमवयोग्रहणम् । कथं संबुध्यमानाः समुत्थिता इत्याह-(सोच्चा इत्यादि) इह त्रिविधाः संबुध्यमानका भवन्ति । तद्यथा-स्वयंबुद्धाः, प्रत्येकबुद्धाः, बुद्धबोधिताश्च । तत्र बुद्धबोधितेनेहाधिकार इति दर्शयति-मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः पण्डितानां तीर्थकृदादीनां वचनं हिताहितप्राप्तिपरिहारप्रवर्तकं श्रुत्वाऽऽकर्ण्य पूर्वं पश्चान्निशम्याऽऽ-

बधार्यं समतामालम्ब्येन । किमिति ?, यतः समतया माध्यस्थ्येनाऽस्तीर्थकृद्भिर्धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यः प्रवेदित आर्यैः प्रकर्षेण वा कथित इति । ते च मध्यमे वयसि श्रुत्वा धर्मं संबुध्यमानाः समुत्थिताः सन्तः किं कुर्युरित्याह-(ते अभिकङ्खमाणा इत्यादि) ते निष्क्रान्ता मोक्षमभिप्रस्थिताः कामभोगानभिकाङ्क्षन्तस्तथा प्राणिनोऽनतिपातयन्तः परिग्रहमपरिगृह्णन्त आद्यन्तयोर्ग्रहणे मध्योपादानमपि द्रष्टव्यम् । तथा मृषावादमवदन्त इत्याद्यपि वाच्यमेवंभूताश्च देहेऽप्यममत्वाः (सव्वावंति त्ति) सर्वस्मिन्नपि लोके, चः समुच्चये, स च भिन्नक्रमः । णमिति वाक्यालङ्कारे । नोपरिग्रहवन्तश्च भवन्तीति यावत् । किञ्च-(णिहाय इत्यादि) प्राणिनो दण्डयतीति दण्डः परितापकारी तं दण्डं प्राणिषु प्राणिभ्यो वा निधाय क्षिप्त्वा त्यक्त्वा पापं पापोपादानं कर्माष्टादशभेदभिन्नं तदकुर्वाणोऽनाचरन्नेव महान् विद्यते ग्रन्थः स बाह्याभ्यन्तरोऽस्येत्यग्रन्थः व्याख्यातस्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिः प्रतिपादित इति । आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० । इह हि दुरन्तानन्तचतुरन्तासारविसारिसंसारापारपारावारे निमज्जता भव्यजन्तुना जिनप्रवचनप्रणीतचोल्लकाऽऽदिदशनिदर्शनदुष्प्रापां कथमपि प्रशस्तसमस्तमनुजजन्माऽऽदिसामग्रीमवाप्य भवजलधिसमुत्तरणप्रवणप्रवहणस्वधर्मसत्कर्मविधाने प्रयत्नो विधेयः । यदवादि-"भवकोटीदुष्प्रापा-मवाप्य नृभवाऽऽदिसकलसामग्रीम् । भवजलधियानपात्रे, धर्मे यत्नः सदा कार्यः ॥१॥" सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ताव० । कामार्थयोस्तु बाधायां धर्मो रक्षणीयः, धर्ममूलत्वादर्थकामयोः । उक्तं च "-धर्मश्चेन्नावसीदेत, कपालेनापि जीवतः । आढ्योऽस्मीत्यवगन्तव्यं, धर्मवित्ता हि साधवः ॥१॥" (१३) ध० १ अधि० । (धर्मविषये तेतलिपुत्रकथा 'तेतलिसुय' शब्दे २३५२ पृष्ठे गता) "जाव न दुक्खं पत्ता, माणब्भंसं च पाणिणो पावं । ताव न धम्मं गेण्हइ-ति भावाओ तेयलिसुउ व्व" ॥ १ ॥ द्वा० १ द्वा० १४ अ० । "नेह लोके सुखं किञ्चि-च्छादितस्यांऽहसा भृशम् । मितं च जीवितं नृणां, तेन धर्मे मतिं कुरु" ॥ १ ॥ आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

प्रक्रान्तमेव समर्थयन्नाह-

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्डइ ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥ ३६ ॥

जरा वयोहानिलक्षणा यावन्न पीडयति, व्याधिः क्रियासामर्थ्यशत्रुर्यावन्न वर्द्धते । यावदिन्द्रियाणि क्रियासामर्थ्योपकारीणि श्रोत्रादीनि न हीयन्ते तावदत्रान्तरे प्रस्ताव इति कृत्वा धर्मं समाचरेत् चारित्रधर्ममिति सूत्रार्थः ॥३६॥ दश० ८ अ० ।

पापाद्विरतस्य धर्ममेवाऽऽश्रयेत्, तथा च-

वेराणुगिद्धे णिचयं करेति,
इओ चुए सुदुहमट्ठदुग्गं ।
तम्हा उ मेधावि समिक्ख धम्मं,
चरे मुणी सव्वओ विप्पमुक्के ॥ ६ ॥

येन केन कर्मणा परोपतापरूपेण वैरमनुबध्यते जन्मान्तरशतानुयायि भवति, तत्र गृद्धो वैरानुगृद्धः । पाठान्तरं वा -"आरम्भसत्तो त्ति" आरम्भे सावद्यानुष्ठानरूपे सक्तो लग्नो निरनुकम्पो निचयं द्रव्योपचयं तन्निमित्ताऽऽपादितकर्मनिचयं चाऽऽदाय इतश्च्युतो जन्मान्तरं गतः सन् वा करोत्युपादत्ते, स एवंभूत उपात्तवैरः कृतकर्मोपचय इत्यतोऽस्मात्स्थानाच्च्युतो जन्मान्तरं गतः सन् दुःखयतीति दुःखं नरकाऽऽदिकं यातनास्थानमर्थतः परमार्थतो दुर्गं विषमं दुरुत्तरमुपैति । यत एवं तत्तस्मान्मेधावी विवेकी मर्यादावान् वा संपूर्णसमाधिगुणं जानानो धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यं समीक्ष्याऽऽलोच्याऽङ्गीकृत्य मुनिः साधुः सर्वतः सबाह्याभ्यन्तरात्सङ्गाद्विप्रमुक्तोऽपगतः संयमानुष्ठानं मुक्तिगमनैकहेतुभूतं चरेदनुतिष्ठेत् आरम्भाऽऽदिसङ्गाद्विप्रमुक्तो निश्रितभावेन विहरेदिति यावत् ॥ ९ ॥ सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

(१६) तथा च-

दियहाइं दो व तिन्नि च, अद्धाणं होइ जं तु लग्गेण ।
सव्वायरेण तस्स वि, संवलयं लेइ पविसंतो ॥
जो पुण दीहपवासो, चुलसीइ जोणिलक्खनियमेणं ।
तस्स तवसीलमइयं, संबलयं न चिंतेह ॥
जहजह पहरे दियहे, माससंवच्छरे वि वोलिंति ।
तह तह गोयम ! जाणसु, ढुक्के आसन्नमरणं च ॥
जस्स न नज्जइ कालं, न य वेला नेव दियहपरिमाणं ।
नाए वि णत्थि कोइ वि, जगम्मि अजरामरो एत्थ ॥
पावो पमायवसओ, जीवो संसारकज्जमुज्जुत्तो ।
दुक्खेहिं न निव्विन्नो, सुक्खेहिं न गोयमा ! तिप्पे ॥
जीवेण जाणि उ वि, सज्जयाणि जोइ सएसु देहाणि ।
थेवेहिं तओ सयलं, पि तिहुयणं होज्ज पडिहत्थं ॥
नहदंतमुद्धभमुह-क्खिकेसजीवेण विप्पमुक्केसु ।
तह वि हविज्ज कुलसे-लमेरुगिरिसन्निभे कूडे ॥
हिमवंतमलयमंदर-दीवोदहिधरणिसरिससरासीओ ।
अहियरो आहारो, जीवेणाहारिओ अणंतहुत्तो ॥
गुरुदुक्खज्जरकंत-स्स अंसुनिवाएण जं जलं गलियं ।
तं अगडतलायणई-समुद्दमाईसु ण वि होज्जा ॥
आवीयं थणछीरं, सागरसलिलाउ बहुयरं होज्जा ।
संसारम्मि अणंते, अविलाजोणीए एक्काए ॥
सत्ताहविनन्नमुकुहिय-माणं जोणीए देसम्मि ।
किमियत्तणकेवलए-ण जाणि मुक्काणि देहाणि ॥
तेसि सत्तमपुढवी-ए सिद्धिखेत्तं च पावओ कुणइ ।
चोद्दसरज्जुं लोगं, अणंतभागेण विजरिज्जा ॥
एते य कामभोगे, कालमणंतं इहं सओवभोगे य ।
अप्पुव्वं वि य मन्नइ, जीवो तह वि य विसयसोक्खं ॥
जह कच्छुल्लो कच्छुं, कंडुयमाणो दुहं मुणइ सोक्खं ।
मोहाउरा मणुस्सा, तह कामदुहं सुहं बेंति ॥
जाणंति अणुहवंति य, अणुजम्मजरामरणसंभवे दुक्खे ।
न य विसएसु विरज्जं-ति गोयम ! दुग्गइगमणपत्थिए जीवे ॥
सव्वगहाणं पभवो, महागहो सव्वदोसपायट्टी ।
कामग्गहो दुरप्पा, जेणऽभिभूयं जगं सव्वं ॥

तस्स वसं जे गया पाणी–
जाणंति जइ जोगिड्ढि–संपयासव्वमेव धम्मफलं ।
तह वि दढमूढहियए,
पावं काऊण दोग्गइं जंति ॥
वच्चइ खणेण जीवो, पित्तानिलधाउसिंभखोभेहिं ।
उज्जमह मा विसीयह, तरतमजोगो इमो दुलहो ॥
पंचिंदियत्तणं मा–णुसत्तणं आरिए जणे सुकुलं ।
साहुसमागमसुणणा, सद्दहणा रोगपव्वज्जा ॥
सूलअहिविसविसूइय–पाणियसत्थग्गिसंभमेहिं च ।
देहंतरसंकमणं, करेइ जीवो मुहुत्तेण ॥
जावाउ सावसेसं, जाव य थोवो वि अत्थि ववसाओ ।
ताव करेज्जऽप्पहियं, मा तप्पिह हा पुणो पच्छा ॥
सुरधणुविज्जुखणदि–ट्ठनट्ठसंझाणुरागसिमिणसमं ।
देहं इति सुविपुलसं–मयं भंगुरजं जरिउं ॥
इय जाव ण चुक्कसि ए–रिसस्स खणभंगुरस्स देहस्स ।
उग्गं कट्ठं घोरं, चरसु तवं नत्थि परिवाओ ॥
वाससहस्सं पि जई, काऊणं संजमं सुविउलं पि ।
अंते किलिट्ठभावो, न विसुज्झइ कंडरीय व्व ॥ महा० ६ अ० ॥

(१७) ते धन्ना जे धम्मं, चरिउं जिणदेसियं पयत्तेणं ।
गिहिपासबंधणाओ, उम्मुक्का सव्वभावेणं ॥ द० प० ।

धर्ममुपदिशन् भगवानादितीर्थकरो भरतातिरस्काराऽऽगमसंवेगान् स्वपुत्रानुद्दिश्येदमाह । यदि वा सुरासुरनरोरगतिरश्चः समुद्दिश्य प्रोवाच यथा–

संबुज्झह किं न बुज्झह,
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति राइओ,
नो सुलभं पुणरवि जीवियं ॥ १ ॥

संबुध्यध्वं यूयं ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणे धर्मे बोधं कुरुत । यतः पुनरेवंभूतोऽवसरो दुरापः । तथाहि–मानुषं जन्म, तत्राऽपि कर्मभूमिः पुनरार्यदेशः, सुकुलोत्पत्तिः, सर्वेन्द्रियपाटवं, श्रवणश्रद्धाऽऽदिप्राप्तौ सत्यां स्वसंविरयवग्रहणेनाह–किं न बुध्यध्वमिति त्यवश्यमेवोवधमामव्याघाते सत्यां सकर्णेन तुच्छात् भोगात् परित्यज्य सद्धर्मबोधो विधेय इति भावः ।

तथाहि–
"निर्वाणाऽऽदिसुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्रधर्मान्विते,
लब्धे स्वल्पमचारु कामजसुखं नो सेवितुं युज्यते ।
वैडूर्याऽऽदिमहोपलौघनिचिते प्राप्तेऽपि रत्नाकरे,
लातुं स्वल्पमदीप्ति काचशकलं किं चोचितं सांप्रतम्" ॥ १ ॥

अकृतधर्माचरणानां तु प्राणिनां संबोधिः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽवाप्तिलक्षणा प्रेत्य परलोकगतानां, खलुशब्दस्याऽवधारणार्थत्वात् सुदुर्लभैव । तथाहि–विषयप्रमादवशात् सकृत् धर्माऽऽचरणाद् भ्रष्टस्याऽनन्तमपि कालं संसारे पर्यटनमभिहितमिति । किं च पुनरियवधारणे । नैवाऽतिक्रान्ता रात्रय उपनमन्ति पुनर्ढौकन्ते । न ह्यतिक्रान्तो यौवनाऽऽदिकालः पुनरावर्त्तत इति भावः । तथाहि–"भवकोटिभिरसुलभं, मानुष्यं प्राप्य कः प्रमादो मे । न च गतमायुर्भूयः, प्रत्येत्यपि देवराजस्य" ॥ १ ॥ नो नैव संसारे सुलभं सुप्रापं संयमप्रधानं जीवितम् । यदि वा–जीवितमायुस्त्रुटितं सत् तदेव संधातुं न शक्यत इति सूत्रार्थः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अथ शतवर्षायुष्कस्य जीवस्याप्यस्यापि धर्मोपदेशं ददाति–

जो वाससयं जीवइ, सुही भोगे य भुंजई ।
तस्स वि सेविउं सेओ, धम्मो य जिणदेसिओ ॥ २२ ॥

यो जीवो वर्षशतं जीवति, प्राणान् धरतीत्यर्थः । च पुनः सुखी भोगान् भुनक्ति, तस्यापि जीवस्य सेवितुं सदा कर्तुं श्रेयो मङ्गलं धर्मो दुर्गतिपतज्जीवाधारः, जिनदेशितः केवलिना भाषितः ॥ २२ ॥

किं पुण सपच्चवाए, जो नरो निच्चदुक्खिओ ।
सुट्ठुयरं तेण कायव्वो, धम्मो य जिणदेसिओ ॥ २३ ॥

किं पुनः सप्रत्यपाये संकटे आयुषि काले वा सति इति शेषः । यो नरो नित्यदुःखितः सदा दुःखाऽऽकुलो भवेत् तेन दुःखितजीवेन जिनदेशितो धर्मः सुष्ठुतरं विशेषतः कर्त्तव्यो नन्दिषेणपूर्वभवब्राह्मणवदिति ॥ २२ ॥

नंदमाणो चरे धम्मं, वरं मे लट्ठतरं भवे ।
अनंदमाणो वि चरे, मा मे पावतरं भवे ॥ २४ ॥

नन्दमानः सौख्यं भुञ्जन् धर्मं जिनोक्तं चरेत्, कुर्यादित्यर्थः, किंभूतं धर्मम् ?, वरं श्रेष्ठं शिवप्रापकत्वात्, कया भावनया धर्मं कुर्यादित्याह–मे ममात्र भवे परभवे च लष्टतरमतिकल्याणं भवेदिति भावनयेति । अनन्दमानोऽपि सौख्यमभुञ्जन्नपि धर्मं कुर्यात्, कया भावनयेत्याह–मे मम पापतरं मा भवतु ममातिपापं मा भवतु, एवं यावदहं पापफलं भुनज्मि, पुनर्धर्माकरणे मा भवतु मेऽतिपापमिति भावनयेति ॥ २४ ॥

किञ्च–

न वि जाई कुलं वा वि, विज्जा नावि सुसिक्खिया ।
तारेइ नरं व नारिं वा, सव्वं पुण्णेहिँ वड्ढई ॥ २५ ॥

नरं पुरुषं, वाशब्दाद्बालाऽऽदिभेदभिन्नं, नारीं स्त्रियं, वाशब्दात् क्लीबं, जातिर्मातृपक्षः, ब्राह्मणादिका जातिर्वा, कुलं पितृपक्षः उग्रभोगादिकं कुलं वा, विद्या वा सुशिक्षिता वा सदभ्यस्ता वा, नापि नैव तारयति जलाधितीरं प्रापयति सर्वं स्वर्गापवर्गाऽऽदिसौख्यं पुण्यैः संविग्नसाधुदानाऽऽदिभिर्वर्द्धते प्राप्यते इत्यर्थः । अत्राऽन्यत्राऽपि चकारवकाराऽऽदिशब्दा यथायोगं पूरणसमुच्चयाऽऽदिकेऽर्थे ज्ञातव्या इति ॥ २५ ॥

पुण्णेहिं हीयमाणेहिं, पुरिसागारो वि हायई ।
पुण्णेहिं वड्ढमाणेहिं, पुरिसायारो वि वड्ढई ॥ २६ ॥

पुण्यैरन्नपानवस्त्रपात्रकौषधाऽऽदिभिः साधुदानाऽऽदिभिः उपार्जितशुभफलैः हीयमानैः क्षयं गच्छद्भिः पुरुषकारः पुरुषाभिमानः, अपिशब्दादन्यदपि यशःकीर्तिस्फीतिलक्ष्म्यादिकं हीयते, शनैः क्षयं यातीत्यर्थः, पुण्यैर्वर्धमानैः पुरुषकारोऽपि वर्द्धते ॥ २६ ॥

पुण्णाइं खलु आउसो ! किच्चाइं करणिज्जाइं पीइकराइं

वण्णकराइं धणकराइं जसकराइं कित्तिकराइं, नो खलु आउसो ! एवं चिंतियव्वं-एसंति खलु बहवे समया आवलिया खणा आणापाणू थोवा लवा मुहुत्ता दिवसा अहोरत्ता पक्खा मासा उऊ अयणा संवच्छरा जुगा वाससया वाससहस्सा वाससयसहस्सा वासकोडीओ वासकोडाकोडीओ जत्थ णं अम्हे बहूइं सीलाइं वयाइं गुणाइं वेरमणाइं पच्चक्खाणाइं पोसहोववासाइं पडिवज्जिस्सामो पट्ठविस्सामो करिस्सामो, तो किमत्थं आउसो ! नो एवं चिंतियव्वं भवइ अंतरायबहुले खलु अयं जीविए, इमे बहवे वाइयपित्तियसिंभियसन्निवाइया विविहा रोगायंका फुसंति जीवियं ॥

" पुण्णाइं " इत्यादि गद्यम् । खलु निश्चये, हे आयुष्मन् ! पुण्यानि शुभप्रकृतिरूपाणि कृत्यानि कार्याणि करणीयानि कर्तुं योग्यानि (पीतिकराणि त्ति) मित्राऽऽदिना सह स्नेहोत्पादकाऽऽनि, वर्णकराणि एकदिग्व्यापिसाधुवादकराणीत्यर्थः । धनकराणि सद्रत्नसमृद्धिकराणि, कीर्तिकराणि सर्वदिग्व्यापिसाधुवादकराणीत्यर्थः, नैव च खलु एवार्थत्वात्, हे आयुष्मन् ! एवं वक्ष्यमाणं चिन्तितव्यं मनसा विकल्पनीयम् (एसंति त्ति) एष्यन्ति, आगमिष्यन्ति, खलु निश्चये, बहवः समयाः बहवे इत्यत्रेऽपि योज्यम् । तं० । यत्र समयावलिकाऽऽदौ, णं वाक्यालङ्कारे (अम्हे त्ति) वयं बहूनि प्रभूतानि, शीलानि समाधानानि, व्रतानि महाव्रतानि (गुणाइं ति) गुणान् विनयाऽऽदीन् । अत्र " गुणाद्याः क्लीबे वा " ॥ ८ । १ । ३४ ॥ इति क्लीबत्वम् । (वेरमणाइं ति) असंयमाऽऽदिभ्यो निवर्त्तनानि प्रत्याख्यानानि, नमस्कारसहितपौरुष्यादीनि, पौषधः पर्वदिनमष्टम्यादि, तत्रोपवासा अभक्तार्थकरणानि पौषधोपवासास्तान् प्रतिपत्स्यामहे आचार्याऽऽदिपार्श्वेऽङ्गीकरिष्यामः (पट्ठविस्सामो त्ति) प्रस्थापयिष्यामः अङ्गीकरणानन्तरं प्रथमतया कर्तुमारप्स्यामः, करिष्याम इति साक्षात्कारेण सततं निष्पादयिष्यामः । (त त्ति) तावदादौ किमर्थं नैव चिन्तयितव्यम् । हे आयुष्मन् ! त्वं शृणु, यतो भवति, अन्तरायबहुलं विघ्नप्रचुरमिदं, खलु निश्चये, जीवितमायुर्जीवानां, तथा इमे प्रत्यक्षा बहवः वातिका वातरोगोद्भवाः, पैत्तिकाः पित्तरोगजाः (सिंभिए त्ति) श्लेष्मभवाः सान्निपातिकाः सन्निपातजन्याः विविधा अनेकप्रकाराः रोगा व्याधयस्ते च ते आतङ्काश्च कृच्छ्रजीवितकारिण इति रोगातङ्का जीवितं स्पृशन्तीति ॥

अथ किं सर्वे मनुजा एवंविधा भवन्ति, नेति दर्शयति इत्यादि-

आसित खलु आउसो ! पुव्विं मणुया ववगयरोगायंका बहुवाससयसहस्सजीविणो । तं जहा-जुयलधम्मिया अरिहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा चारणा विज्जाहरा; ते णं मणुया अईव सोमचारुरूवा भोगुत्तमा भोगलक्खणधरा सुजायसव्वंगसुंदरंगा रत्तुप्पलपत्तमउयसुकुमालकोमलतला नगनगरमगरसागरचक्कंकवरलक्खणंकियतला सुपइट्ठियकुम्मचारुचलणा । आणुपुव्विसुजायपीवरंगुलिया उन्नयतणुतंबनिद्धनहा संठियसुसिलिट्ठगूढगुंफा एणीकुरुविंदावत्तवट्टाणुपुव्वजंघा समुग्गनिमग्गगूढजाणू गयससणसुजायसन्निभोरू वरवारणमत्ततुल्लविक्कमविलासियगई सुजायवरतुरयगुज्झदेसा आइण्णहय व्व निरुवलेवा पमुइयवरतुरयसीहअइरेगवट्टियकडी साहय सोणंदमुसलदप्पणनिगरियवरकणगच्छरुसरिसवरवइरवलियमज्झा, गंगावत्तपयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणबोहियकोसायंतपउमगंभीरवियडनाभी उज्जुयसमसहियसुजायजच्चतणुकसिणनिद्धआइज्जलडहसुकुमालमउयरमणिज्जरोमराई झसविहगसुजायपीणकुच्छी झसोयरा पम्हवियडनाभी संगयपासा सन्नयपासा सुंदरपासा सुजायपासा मियमाइयपीणरइयपासा. अकरंडुयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहयदेहधारी पसत्थबत्तीसलक्खणधरा कणगसिलायलुज्जलपसत्थसमतल। उवचियवित्थिन्नपिहुलवच्छा सिरिवच्छंकियवच्छा पुरवरफलिहवट्टियभुया भूयंगीसरविउलभोगआयाणफलिहउच्छूढदीहबाहू जुगसंनिभपीणरइयपीवरपउट्ठसंठियउवचिय (घण) थिरसुबद्धसुसिलिट्ठपव्वसंधी रत्ततलोवचियमउयमंसलसुजायलक्खणपसत्थअच्छिद्दजालपाणी पीवरवट्टियसुजायकोमलवरंगुलिया तंबतलिणसुइरुइरनिद्धनखा चंदपाणिलेहा सूरपाणिलेहा संखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा सोत्थियपाणिलेहा ससि १ रवि २ संख ३ चक्क ४ सोत्थिय ५ विभत्तसुविरइयपाणिलेहा वरमहिसवराहसीहसद्दूलउसभनागवरविउलउन्नयमउयक्खंधा चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा अवट्ठियसुविभत्तचित्तमंसूमंसलसंठियपसत्थसद्दूलविउलहणुया उपचियसिलप्पवालबिंबफलसंनिभाधरुट्ठा पंडुरससिसगलविमलसंखगोखीरकुंददगरयमुणालियाधवलदंतसेढी. अखंडदंता, अफुडियदंता, अविरलदंता, सुनिद्धदंता, सुजायदंता, एगदंतसेढी विव अणेगदंता, हुयवहनिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहा सारसनवथणियमहुरगंभीरकुंचनिग्घोसदुंदुहिसरा गरुलाययउज्जुतुंगनासा अवदारियपुंडरीयनयणा कोकासियधवलपुंडरीयपत्तलच्छी, आनामियचावरुइलकिण्हचिहुरराइसुसंठियसंगयआययसुजायभमुहा अल्लीणपमाणजुत्तसवणा, सुसवणा, पीणमंसलकवोलदेसभागा. अइरुग्गयसमग्गसुद्धचंदद्धसंठियनिडाला, उडुवइपडिपुन्नसोमवयणा, छत्तागारुत्तमंगदेसा, घणनिचियसुबद्धलक्खणुन्नयकूडागारनिभनिरुवमपिंडियग्गसिरा, हुयवहनिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जकेसंतकेसभूमी, सामलिबोंडघणनिचियछोडियमिउविसयसुहुमलक्खणपसत्थसुगंधिसुंदरभुयमोयगभिंगनीलकज्जलपहट्ठभमरगणनिद्धनिकुरंबनिचियकुंचियपयाहिणावत्तमुद्धसिरया लक्खणवंजणगुणो-

चत्तेया, माणुम्माणपमाणपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगा, ससिसोम्मागारकंतपियदंसणा, मन्नावसिंगारचारुरूवा, पासाईया, दरसणिज्जा, अभिरूवा, पडिरूवा, तं णं मणुया ओहस्सरा मेहस्सरा हंसस्सरा कोंचस्सरा नंदिस्सरा नंदिघोसा सीहस्सरा सीहघोसा, मंजुस्सरा मंजुघोसा सुस्सरा सुस्सरघोसा अणुलोमवाउवेगा कंकग्गहणी कवोयपरिणामा, सउणीपासपिट्ठंतरोरुपरिणया, पउमुप्पलसुगंधसरिसनीसाससुरभिवयणा छवीनिरायंका, उत्तमपसत्थअइसेसनिरुवमतणू, जल्लमल्लकलंकसेयरयदोसवज्जियसरीरा, निरुवलेवा, छाया उज्जोवियंगमंगा, वज्जरिसहनारायसंघयणा, समचउरंससंठाणसंठिया, छधणुसहस्साइं, उड्डं उच्चत्तेणं पण्णत्ता, ते णं मणुया दोएहछप्पएणगपिट्ठिकरंडगमया पण्णत्ता, समणाउसो ! ते णं मणुया पगइभद्दया पगइविणीया पगइउवसंता पगइपयणुकोहमाणमायलोभा मिउमद्दवसंपन्ना अल्लीणा भद्दया विणीया अप्पिच्छा असंनिहिसंचया अचंडा असिमसिकिसिवाणिज्जविवज्जिया, विडिमंतरनिवासिणो, इच्छियकामकामिणो, गेहाकाररुक्खकयनिलया, पुढवीपुप्फफलाहारा ते णं मणुयगणा पण्णत्ता, आसीय समणाउसो ! पुव्विं मणुयाणं छव्विहे संघयणे पण्णत्ते । तं जहा-वज्जरिसहनारायसंघयणे १ रिसहनारायसंघयणे २ नारायसंघयणे ३ अद्धनारायसंघयणे ४ कीलियासंघयणे ५ छेवट्ठसंघयणे ६ संपइ खलु आउसो ! मणुयाणं छेवट्ठे संघयणे वट्टइ, आसिय आउसो ! पुव्विं मणुयाणं छव्विहा संठाणा पण्णत्ता, तं जहा- समचउरंसे निग्गोहे साए वामणे खुज्जे वामणे हुंडे संपइ खलु आउसो ! मणुयाणं हुंडे संठाणे वट्टइ ।

(१८) अथोपदेशं ददातीत्याह-

संघयणं संठाणं, उच्चत्तं आउयं च मणुयाणं ।
अणुसमयं परिहायइ, ओसप्पिणिकालदोसेणं ॥ १ ॥

संहननं संस्थानं शरीराऽऽदेरुच्चत्वमुच्चत्वमानमायुश्च मनुजानां, चकारादन्येषां च अनुसमयं समयं समयं प्रति परिहीयते अवसर्पिणीकालदोषेणेति ॥ १ ॥

कोहमयमायलोभा, ओसन्नं वडए य मणुयाणं ।
कूडतुलकूडमाणा, तेऽणुमाणेण सव्वं ति ॥ २ ॥

क्रोधमानमायालोभाश्च (ओसन्नं) प्रवाहेण वर्द्धन्ते पूर्वमनुष्यापेक्षया विशेषतो वर्द्धयन्ति, मनुष्याणां कूटतुलानि कूटतोलनाऽऽद्युपकरणानि कूटमानानि कूटकुडवप्रस्थादिमानानि च वर्द्धयन्ति, तेन कूटतुलाऽऽदिनाऽनुमानेनानुसारेण (सव्वं ति) क्रयाणकवाणिज्याऽऽदिकं कूटं वर्द्धते इति ॥ २ ॥

विसमा अज्ज तुलाओ, विसमाणि य जणवएसु माणाणि ।
विसमा रायकुलाइं, जेण उ विसमाइँ वासाइँ ॥ ३ ॥

विषमा अर्घ्यतयाऽनर्घ्यत्वग्रहणायान्यथा अद्य दुःषमा काले तुला तथा जनपदेषु मगधाऽऽदिदेशेषु मानानि कुडवसेतिकाऽऽदिप्रमाणानि विषमाणि असमानि जातानि, अशाश्वतानेकप्रकारवञ्चनानि । तथा-विषमाणि अनेकान्यायकारकाणि राजकुलानि वर्त्तन्तेऽद्य तेन कारणेन तुशब्दोऽप्यर्थः। वर्षाण्यपि संवत्सराण्यपि विषमाणि दुःखरूपाणि जातानीति ॥ ३ ॥

विसमेसु य वासेसुं, हुंति असाराइँ ओसहिबलाइँ ।
ओसहिदुब्बलेण य, आऊ परिहायइ नराणं ॥४॥

विषमेषु वर्षेषु सत्सु भवन्तीति असाराणि सारवर्जितानि औषधिबलानि गोधूमाऽऽदिवीर्याणि औषधिदुर्बलत्वेन नराणामन्येषामपि आयुर्जीवितं परिहीयते क्षीयते इति ॥ ४ ॥

एवं परिहायमाणे, लोए चंदु व्व कालपक्खम्मि ।
जे धम्मिया मणुस्सा, सुजीवियं जीवियं तेसिं ॥५॥

एवमुक्तप्रकारेण परिहायमाने लोके कृष्णपक्षे चन्द्रवत् ये धार्मिका धर्मयुक्ता मनुष्यास्तेषां जीवितं जीवितकालः सुजीवितं सुष्ठु जीवितं ज्ञातव्यमिति ॥ ५ ॥ तं० ।

एवं निस्सारे माणुसत्तणे जीविए अ वहिडंति ।
न करेह चरणधम्मं, पच्छा पच्छाणुतप्पिहह हा ॥२४॥

एवम् उक्तप्रकारेण निस्सारे असारे मानुषत्वे मनुजत्वे, तथा जीविते आयुषि रत्नकोटिकोटिभिरपि अप्राप्ये अधिपतति समये समये क्षयं गच्छतीत्यर्थः, न कुरुत यूयं चरणधर्मं ज्ञानदर्शनपूर्वकं देशसर्वचारित्रं हा इति महत्खेदे, पश्चादायुःक्षयानन्तरम् आयुःक्षयचरमक्षणे वा पश्चात्तापं कायवाङ्मनोभिर्महाखेदं करिष्यथ, नरकस्थशशिराजवदिति ॥ २४ ॥

भव्याः प्रश्नयन्ति कथं वयं नात्मस्वरूपं जानीमः, इत्युक्ते गुरुराह-

घुट्टम्मि सयं मोहे, जिणेहिँ वरधम्मतित्थमग्गस्स ।
अत्ताणं च न याणह, इह जाए कम्मभूमीए ॥ २५ ॥

धर्मस्य जिनोक्तरूपस्य, तीर्थं पवित्रकरणस्थानकं, तस्य मार्गो ज्ञानदर्शनचारित्ररूपः, वरश्चाऽसौ धर्मः तीर्थमार्गश्च संघः, तथा तस्मिन् प्राकृतत्वाद्विभक्तिपरिणामः। जिनैः रागाऽऽदिजेतृभिः स्वयमात्मना " घुट्टम्मीति "कथिते निरूपिते सति आत्मानं न यूयं जानीत, क सति ? मोहे सति तीव्रमिथ्यात्वमिश्रमोहनीयकर्मोदये सतीत्यर्थः। इह कर्मभूमौ जाता अपि, अयेऽप्यमात्मवादिति। अस्या अर्थोऽन्योऽपि सद्गुरुप्रसादात्कार्य इति ॥२५॥ तं० ।

एवं खु जरामरणं, परिक्खवइ वग्गुरं च मियजूहं ॥
नयणं पिच्छह मिच्छं, संमूढा मोहजालेणं ॥ २६ ॥

एवजरामरणं, खु निश्चये, जीवमृगयूथं परिक्षपति परिवेष्टयति, च इवार्थे, यथा वागुरा मृगयूथं परिक्षपति, न च पश्यत यूयं प्राप्तं जरामरणं मोहजालेन संमूढा मोहं गताः श्रीगौतमप्रतिबोधितदेवशर्मद्विजवदिति ॥ २६ ॥ तं० ।

अथोपदेशान्तरं ददातीत्याह-

जड्डाणं वड्डाणं, निव्विन्नाणं च निव्विसेसाणं ।
संसारसूयराणं, कहियं पि निरत्थयं होइ ॥ ९ ॥

जड्डानां द्रव्यभावमूर्खाणां, वड्डानां केषाञ्चिन्महापादपतस्वशानां वृद्धानां निर्विण्णानां विशिष्टज्ञानरहितानां निर्विशेषाणामपवादोत्सर्गभयेहेतराऽऽदिविशेषरहितानां संसारसूकराणामेवंवि-

णानां गृहस्थानां साध्वाभासानामपि कथितमपि तत्कं वक्ष्यमाणं निरर्थकं भवति, ब्रह्मदत्तोदायिनृपमारकाऽऽदिवत् ॥ ९ ॥

किं पुत्तेहिँ पियाहि य, अत्थेण वि पिंडिएण बहुएणं ।
जो मरणदेसकाले, न होइ आलंबणं किंचि ॥ १० ॥

पुत्रैरङ्गजैः किं न किञ्चित्, पितृभिर्वा किमर्थेनापि पिण्डितेन मीलितेन बहुकेन प्रभूतेन किं नन्दमम्मणादीनामिव योऽङ्गजाऽऽदिकलापः मरणदेशकाले मरणप्रस्तावे न भवति आलम्बनमाधाररूपं किञ्चिदिति ॥ १० ॥

पुत्ता चयंति मित्ता, चयंति भज्जा वि णं ऽमयं चयइ ।
तं मरणदेसकाले, न चयइ सुविअज्जिओ धम्मो ॥ ११ ॥

मातापितरं पुत्रास्त्यजन्ति, मित्रं मित्रास्त्यजन्ति, सहजमित्रपूर्वमित्रवत्, भार्याऽपि इमं प्रत्यक्षं जीवन्तमित्यर्थः, मृतं वा स्वकान्तं त्यजति । यद्वा भार्या, णमिति वाक्यालङ्कारे, आर्षत्वादकारविश्लेषे, (अमयमिति) अमृतं जीवन्तं त्यजति, जीवन्तमेव स्वकान्तं मुक्त्वाऽन्यपुरुषान्तरं भर्तृत्वेन प्रतिपद्यते, यमभार्यावत् । यस्मिन् प्रस्तावे ते पुत्राऽऽदयः त्यजन्ति (तमिति) तस्मिन् प्रस्तावे मरणदेशकाले च न त्यजति (सुइ त्ति) जिनाऽऽज्ञापूर्वकदृढभावेन (वि त्ति) विशेषेण निरन्तरकरणेनार्जितः धर्मः श्रुतचारित्ररूप इति ॥ ११ ॥

अथ गाथाचतुष्टयेन धर्ममाहात्म्यं वर्णयतीत्याह-

धम्मो ताणं धम्मो, सरणं धम्मो गई पइट्ठा य ।
धम्मेण सुचरिएण य, गम्मइ अजरामरं ठाणं ॥ १२ ॥

धर्मः सम्यग्ज्ञानदर्शनचरणाऽऽत्मकः त्राणमनर्थप्रतिहननमर्थसंपादनं च तद्धेतुत्वात्, धर्मः शरणं, रागाऽऽदिभयभीतकजनपरिरक्षणं, धर्मो गम्यते, दुःखितैः सुखिनार्थमाश्रीयत इति गतिः धर्मः प्रतिष्ठानं संसारगर्त्तापतत्प्राणिवर्गस्याऽऽधारः, धर्मेण सुचरितेन सुष्ठ्वासेवितेन, चशब्दादनुमोदनेन, साहाय्यदानाऽऽदिना गम्यते, अवश्यं प्राप्यते, अजरामरं स्थानं मोक्षलक्षणमित्यर्थः, देवकुमारवत् ॥ १२ ॥

पीइकरो वण्णकरो, भासकरो जसकरो रइकरो य ।
अभयकरो निव्वुइकरो, परत्त वी अज्जिओ धम्मो ॥ १३ ॥

प्रीतिकरः परमप्रीत्युत्पादकः, वर्णकर एकदिग्व्यापी कीर्तिकरः, यद्वा वपुषि गौरवत्वाऽऽदिवर्णकरः । यद्वा सुराऽऽत्मकज्ञानकरः, भास्करः कान्तिकरः, यद्वा भाषाकरः वचनपटुत्वमाधुर्याऽऽदिगुणकर इत्यर्थः । यशःकरः सर्वदिग्व्यापिकीर्तिकरः, चशब्दात् श्लाघाशब्दकरः, तत्र श्लाघा तत्स्थान एव साधुवादः । अभयकरः निर्भयकरः । निर्वृतिकरः सर्वकर्मक्षयभावकरः । (परत्त वि अज्जिओ त्ति) परत्र द्वितीये जीवानां परलोके द्वितीय इत्यर्थः धर्मः ॥ १३ ॥

अमरवरेसु अणोवम-रूवं भोगोवभोगरिद्धी य ।
विन्नाण नाणमेव य, लब्भइ सुकएण धम्मेण ॥ १४ ॥

अमरवरेषु महामहर्द्धिकदेवेषु अनुपमरूपं भोगोपभोगकद्धर्य विज्ञानं ज्ञानमेव च लभ्यते, सुकृतेन धर्मेण प्रदेशिराजमेघकुमारधन्यानगाराऽऽनन्दादिभिरिव । तत्र भोगाः गन्धरसस्पर्शाः, उपभोगाः शब्दरूपविषयाः, यद्वा-सकृद्भोगा उपभोगाः, ते खानपानानुलेपनाऽऽदिरूपाः, अरूपो देवदेव्यादिपरिवारभूताः, विज्ञानमनेकप्रकाररूपाऽऽदिकरणं, ज्ञानं मतिश्रुतावधिरूपम । यद्वा-देवेषु रूपाऽऽदयः प्राप्यन्ते, इह च (विन्नाण त्ति) केवलज्ञान (नाणं ति) ज्ञानचतुष्कं मिश्रं द्विकं चेति ॥ १४ ॥

देविंदचक्कवट्टि-त्तणाइँ रज्जाइँ इच्छिया भोगा ।
एयाइँ धम्मलाभो, फलाइँ जं चावि निव्वाणं ॥ १५ ॥

देवेन्द्रचक्रवर्तित्वानि राज्यानि गजाश्वरथपदातिभाण्डागारकोष्ठागारबलवाहनलक्षणानि, यद्वा-स्वाम्यमात्य २ जनपद ३ दुर्ग ४ बल ५ शस्त्र ६ मित्राणि ७, ईप्सिता भोगाः । एतानि धर्मलाभात् फलानि भवन्ति, यच्चापि निर्वाणमिति ॥ १५ ॥ सं० ।

तथा च महानिशीथे-

धम्मे य णमिट्ठे पिए कंते परमत्थसुही सयणजणमित्तबंधुपरिवग्गो धम्मे य णं दिट्ठिकरे धम्मे य णं पुट्ठिकरे धम्मे य णं बलकरे धम्मे य णं उच्छाहगरे धम्मे य णं निम्मलजसकित्तिपसाहगे धम्मे य णं माहप्पजणगे धम्मे य णं सुट्ठु सोक्खपरंपरादायगे, से य णं सेवणिज्जे, से य णं आराहणिज्जे, से य णं पोसणिज्जे, से य णं पालणिज्जे, से य णं कारणिज्जे, से य णं चरणिज्जे, से य णं अणुट्ठिज्जे, से य णं उवएसणिज्जे, से य णं कहणिज्जे, से य णं जाणणिज्जे, से य णं पन्नवणिज्जे, से य णं कारवणिज्जे, से य णं धुवे सासए अक्खए अव्वए सयलसोक्खनिही धम्मे, से य णं अलज्जणिज्जे से य णं अउलबलवीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे संजुए पवरवरे इट्ठे पिए कंते दइए सयलसोक्खदालिद्द-संतावुव्वेगअयसदुक्खऽब्भक्खाणजरामरणाइअसेसभयनिन्नासगे अणण्णसरिसमसहाए तेलोक्केक्कसामिसाले, ता अलं सुही सयणजणमित्तबंधुगणधणधन्नसुवन्नहिरन्नरयणोहनिहि । कोससंचयाइसक्कचावविज्जुलयाऽऽडोवचंचलाए सुमिणिंदजालपरिमाए खणदिट्ठणट्ठभंगुराए अधुवाए असासयाए संसारवुड्ढिकारगाए निरयावयारहेउभूयाए सुगइमग्गविग्घदायगाए अणंतदुक्खपयायगाए रिद्धीए सुदुल्लहा हु वे लाभा धम्मस्स साहणी सम्मदंसणनाणचारित्ताराहणी निरुवयाइसामग्गी अणवरयमहन्निसाणसमएहिं णं खंडखंडेहिं तु परिसडइ, आदढपरिनिट्ठुरा अचंडा जरासणिसणिवायसंचुन्निए महजज्जरखंडणं इव अकिंचिकरे भवइ, उदिहाणुदियहेण इमे तणुकिसलयदलग्गपरिसंठियं जलबिंदुमिवाकंडे निमिसब्भंतरेण गलिऊण वयइ जीविए अविहत्तपरलोगपत्थयणाणं तु निप्फलं चेव मणुयजम्मे तो भो ण सव्वे तणुतणुयतरे वि ईसिं पियमाए, जओ णं एत्थ खलु सव्वकालमेव समसत्तुमित्तभावेहिं भवियव्वं, अप्पमत्तेहिं च पंचमहव्वयं धारेयव्वं । तं जहा-कसिणपाणाइवायविरती, अणलीयभासित्तं, दंतसोहणमित्तस्स वि अदिन्नस्स वज्जणं मणोवयकायजोगेहिं तु अखंडियअविराहियणवगु-

चिपरिवेढियस्स णं परमपवित्तस्स सव्वकालमेव दुद्धरवंजचेरस्स धारणं वत्थपत्तसंजमोवयरणेसुं पि णिम्ममत्तया असणपाणाईणं तु बउव्विहेणेव राईभोयणच्चाओ उग्गमुप्पायणेसणाईसु णं विसुद्धपिंडग्गहणं संजोयणाइपंचदोसविरहिएणं परमिएणं काले भिन्ने पंचसमितितिसोहणं तिगुत्तिगुत्तिया इरियासमिइमाईओ जावणाओ अणसणाइतवोवहाणुट्ठाणं सामाइजिक्खुपडिमाओ विचित्ते दव्वाइअभिग्गहे, अहो णं भूमीसयणे केसलोए निप्पडिकम्मसरीरया सव्वकालमेव गुरुनिओगकरणं खुप्पिवासाइपरीसहाहियासणं दिव्वाइउवसग्गविजयस्सद्धावस्सद्धविचिया, किं बहुणा अच्चंतदुव्वहे भो वहियव्वे अवीसमंतेहिं चेव सिरिमहापुरिसवूढो अट्ठारससीलंगसहस्सभारे तरियव्वे य भो बाहाहिं महासमुद्दे अविसाईहिं च णं भो जक्खियव्वे निरासाए वालुयाकवलोपरि सक्केयव्वे च जो णिसियसुतिक्खदारुणकरवालधाराए पाणमायणं भो सुहुयवहजालावलीजरियव्वे णं जो सुहुमपवणकोच्छलगे गमियव्वे च णं भो गंगापवाहपडिसोएणं तोलेयव्वे भो माहमतुलाए मंदरगिरिं जेयव्वे य णं भो एगागिएहिं चेव धीरताए सुदुज्जए चाउरंगे बले विंधेयव्वा णं भो परोप्परविवरीयत्तमंतअट्ठचक्कोवरिं वामच्छिमिउडी उल्लिया गहेयव्वा णं जो सयलतिहुयणविजयाणि णिम्मलजसकित्तीजयपडागा, ता भो जो जणा!–

"एयाओ धम्माणु–ट्ठाणाउ सुदुक्करं णत्थि किंचि मन्नंति।
वुज्झंति नामजारा, ते चिय वुज्झंति वीसमंतेहिं ॥
सीलभरो अइगुरुओ, जावज्जीवमाविस्सामो ।
ता उज्झिऊण पेम्मं, घरसारं पुत्तदवेण ॥
माईयं णीसंगा, अविसाई पयरहनव्वुत्तमं धम्मं ।
णो धम्मस्स जडुका–उक्कंचण वंचणा य ववहारो ॥
निक्कवडो भो धम्मो, मायादीसल्लरहिओ य ।
भूएसु जंगमत्तं, तेसु वि पंचिंदियत्तमुक्कोसं ॥
तेसु वि चिय माणुसत्तं, मणुयत्ते आरिए देसे ।
देसे कुलं पहाणं, कुले पहाणेइ जाइमुक्कोसा ॥
तीए रूवसमिद्धी, रूवे य बलं पहाणयरं ।
होइ बले वि य जीवं, जीए य पहाणयं तु विन्नाणं ॥
विन्नाणे सम्मत्तं, सम्मत्ते सीलसंपत्ती ।
सीले खाइयभावो, खाइयभावे य केवलं नाणं ॥
केवलिए पडिपुन्ने, पत्ते अयरामरो मोक्खो ।
ण य संसारम्मि सुहं, जाइजरामरणदुक्खगहियस्स ।
जीवस्स अत्थि जम्हा, तम्हा मोक्खोवाए उ ॥
आहिंडिऊण सुइरं, अणंतहुत्तो हु जोणिलक्खेसु ।
तस्साहणसामग्गी, पत्ता भो भो बहू इण्हिं ॥
तो एत्थ जं ण पत्तं, तदत्थ भो उज्जमं कुणह तुरियं ।
विबुहजणणिंदियमिणं, उज्झह संसारअणुबंधं ॥
लहिउं भो धम्मसुइं, अणेगभवकोडिलक्खेसु ।
विउलत्थं जइ णाणुट्ठइ, सम्मं ता पावरिं दुल्लहं होही ॥"
महा० २ चू० ।

तथा च पञ्चसूत्रे–

जायाए धम्मगुणपडिवत्तिसद्धाए भाविज्जा एएसिं सरूवं पयइसुंदरत्तं अणुगामित्तं परोवयारित्तं परमत्थहेउत्तं, तहा दुरणुचरत्तं भंगे दारुणत्तं महामोहजणगत्तं भूओ दुल्लहत्तं ति, एवं जहासत्तीए उचियविहाणेणं अच्चंतभावसारं पडिवज्जिज्जा । तं जहा–थूलगपाणाइवायविरमणं, थूलगमुसावायविरमणं, थूलगअदत्तादाणविरमणं, थूलगमेहुणविरमणं, थूलगपरिग्गहविरमणमिच्चाइ पडिवज्जिऊण पालणे जइज्जा सयाणाणागाहगे सिआ सयाणाभावगे सिआ सयाणापरतंते सिआ आणा हि मोहविसपरममंतो जलं रोसाइजलणस्स कम्मवाहितिगिच्छासत्थं कप्पपायवो सिवफलस्स वज्जिज्जा अधम्ममित्तजोगं चिंतिज्जाऽभिणवपाविए गुणे अणाइभवसंगए अ अगुणे उदग्गसहकारित्तं अधम्ममित्ताणं उभयलोगगरहिअत्तं असुहजोगपरंपरं च, परिहरिज्जा सम्मं लोगविरुद्धे करुणापरे जणाणं न खिंसाविज्जा धम्मं संकिलेसो खु एसा परमबोहिबीअमबोहिफलमप्पणो त्ति, एवमालोएज्जा न खलु इत्तो परो अणत्थो अंधत्तमेयं संसाराडवीए जणगमणिट्ठावायाणं अइदारुणं सरूवेणं असुहाणुबंधमच्चत्थं सेविज्ज धम्ममित्ते विहाणेणं अंधो विवाणुकड्ढए वाहिए विव विज्जे दरिद्दो विव ईसरे भीओ विव महानायगे नइओ सुंदरमत्थि बहुमाणजुत्ते सिआ आणाकंखी आणापडिच्छगे आणाअविराहगे आणानिप्फायगे त्ति, पडिवन्नधम्मगुणारिहं च वट्टिज्जा गिहिसमुचिएसु गिहिसमायारेसु परिसुद्धाणुट्ठाणे परिसुद्धमणकिरिए परिसुद्धवइकिरिए परिसुद्धकायकिरिए वज्जिज्जा अणेगोवघायकारगं गरहणिज्जं बहुकिलेसं आयइविराहगं समारंभं, न चिंतिज्जा परपीडं, न भाविज्जा दीणयं, न गच्छिज्जा हरिसं, न सेविज्जा वितहाभिनिवेसं, उचिअमणपवत्तगे सिआ, न भासिज्जा अलियं, न फरुसं न पेसुन्नं नानिबद्धं, हिअमिअभासगे सिआ, एवं न हिंसिज्जा भूआणि, न गिण्हिज्ज अदत्तं, न निरिक्खिज्ज परदारं, न कुज्जा अणत्थदंडं, सुहकायजोगे सिआ, तहा लाहोचिअदाणे लाहोचिअभोगे लाहोचिअपरिवारे लाहोचि–

अनिहिकरे सिआ अणंतावगे परिचारस्स गुणकरे जहासत्ति अणुकंपापरे निम्ममे जावेणं, एवं खु तप्पालणे वि धम्मो जह अन्नपालणे त्ति । सव्वे जीवा पुढो पुढो ममत्तं बंधकारणं, तहा तेसु तेसु समायारेसु सइसमन्नागए सिआ अमुगोऽहं अमुगकुले अमुगसिस्से अमुगधम्मट्ठाणट्ठिए न मे तव्विराहणा न मे तदारंभो वुड्ढी ममेअस्स एअमित्थ सारं एयमायभूयं एअं हिअं असारमन्नं सव्वं विसेसओ अविहिगहणेणं एवमाह तिलोगबंधू परमकारुणिगे सम्मं संबुद्धे भगवं अरहंते त्ति, एवं समालोचिअ तदविरुद्धेसु समायारेसु सम्मं वट्टिज्जा भावमंगलमेअं तन्निप्फत्तीए तहा जागरेज्ज धम्मजागरिआए, को मम कालो किमेअस्स उचिअं, असारा विसया नियमगामिणो विरसावसाणा, भीसणो मच्चू सव्वाभावकारी अविन्नायागमणो अणिवारणिज्जो पुणो पुणोऽणुबंधी, धम्मो एअस्स ओसहं एगंतविसुद्धो महापुरिससेविओ सव्वहिअकारी निरइआरो परमाणंदहेऊ, नमो इमस्स धम्मस्स, नमो एअधम्मप्पगासगाणं, नमो एअधम्मपालगाणं, नमो एअधम्मपरूवगाणं, नमो एअधम्मपवज्जगाणं, इच्छामि अहमिणं धम्मं पडिवज्जित्तए सम्मं मणवयणकायजोगेहिं, होउ ममेअं कल्लाणं परमकल्लाणाणं जिणाणमणुभावओ, सुप्पणिहाणमेवं चिंतिज्जा पुणो पुणो एअधम्मजुत्ताणमववायकारी सिआ, पहाणं मोहच्छेअणमेअं, एवं विसुज्झमाणे भावणाए कम्मापगमेणं उवेइ एअस्स जुग्गयं, तहा संसारविरत्ते संविग्गो भवइ, अममे अपरोवतावी विसुद्धे विसुज्झमाणभावे त्ति ।

जातायां धर्मगुणप्रतिपत्तिश्रद्धायां भावतस्तथाविधकर्मक्षयोपशमेन भावयेदेतेषां स्वरूपं धर्मगुणानाम् । प्रकृतिसुन्दरत्वं जीवसंक्लेशविशुद्ध्या, आनुगामुकत्वं भवान्तरवासनानुगमेन, परोपकारित्वं तथापीडाऽऽदिनिवृत्त्या, परमार्थहेतुत्वं परम्परया मोक्षसाधनत्वेन, तथा दुरनुचरत्वं सदैवानभ्यासात्, भङ्गे दारुणत्वं भगवदाज्ञाखण्डनतः, महामोहजनकत्वं धर्मदूषकत्वेन, भूयो दुर्लभत्वं विपाकानुबन्धदुष्टत्वेनेति भावयति । एवमुक्तेन प्रकारेण यथाशक्ति शक्त्यनुरूपं, न तन्न्याधिक्याभ्यामुचितविधानमेव शास्त्रोक्तेन विधिना, अत्यन्तभावसारं महता प्रणिधानबलेन, प्रतिपद्येत धर्मगुणान् रात्रिसिकथा प्रवृत्त्या, अस्या विपाकदारुणत्वात् । किंनामकांस्तानित्याह-(तं जहा इत्यादि) तद्यथा-स्थूरप्राणातिपातविरमणं, स्थूरमृषावादविरमणं स्थूरादत्तादानविरमणं, स्थूरमैथुनविरमणं, स्थूरपरिग्रहविरमणमित्यादि । आदिशब्दाद् दिग्व्रताऽऽद्युत्तरगुणपरिग्रहः । आदावनभ्यासश्चैषां भावत इत्थमेव प्राप्तिरिति ।

उक्तं च-

" सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपुहत्तेण सावओ होज्जा ।
चरणोवसमखयाणं, सागरसंखंतरा होंति ॥ १ ॥
एवं अप्परिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु ।
अन्नयरसेढिवज्जं, एगभवेणं च सव्वाइं ॥ २ ॥"

इत्यादि । (पडिवज्जिऊण इत्यादि) प्रतिपद्य पालने यतेत, अधिकृतगुणानाम् । कथमित्याह-सदाऽऽज्ञाग्राहकः स्यात्, अध्ययनश्रवणाभ्याम् । आज्ञा आगम उच्यते, सदाऽऽज्ञाभावकः स्यात्, अनुप्रेक्षाद्वारेण, सदाऽऽज्ञापरतन्त्रः स्यादनुष्ठानं प्रति । किमेवमित्याह-आज्ञा हि मोहविषपरममन्त्रः तदपनयनेन, जलं, द्वेषाऽऽदिज्वलनस्य तद्विध्यापनेन । कर्मव्याधिचिकित्साशास्त्रं, तत्क्षयकारणत्वेन, कल्पपादपः शिवफलस्य, तदवन्ध्यसाधनत्वेन । तथा (वज्जेज्जा इत्यादि) वर्जयेत् अधर्ममित्रयोगम् । अकल्याणमित्रसंबन्धं, चिन्तयेत् अभिनवप्राप्तान् गुणान् स्थूरप्राणातिपातविरमणाऽऽदीन् अनादिभवसङ्गतानिव अगुणान्, सदैवाविरतत्वेन, उदग्रसहकारित्वमधर्ममित्राणाम्, अगुणान्प्रति उभयलोकगर्हितत्वं तत्तापानुमत्यादिना, अशुभयोगपरम्परा च अकुशलानुबन्धतः । तथा (परिहरेज्जा इत्यादि) परिहरेत् सम्यग्लोकविरुद्धानि तदशुभाध्यवसायाऽऽदिनिबन्धनानि, अनुकम्पापरो जनानां मा भूत्तेषामधर्मः, न खिंसयेद् धर्मम्, न गर्हयेज्जनैरित्यर्थः, संक्लेश एवैषा खिंसाऽशुभभावत्वेन, परमबोधिबीजं, तत्प्रभुत्वेन । अबोधिफलमात्मन इति । जनानां तन्निमित्तभावेन, तथा एवमालोचयेत्सूत्रानुसारेण, न खल्वतः परोऽनर्थोऽस्ति अधिकतरात्, तत्कारणभावाद्वा लोकविरुद्धस्येत्यादीति । अन्धत्वमेतत्संसाराटव्यां हितदर्शनाभावेन, जनकमनिष्टपातानां, नरकाऽऽद्युपपातकारणतया, अतिदारुणं स्वरूपेण संक्लेशप्रधानत्वात् । अशुभानुबन्धमत्यर्थं परम्परोपघातभावेनेत्यत एवोक्तम्-

" लोकः खल्वाधारः, सर्वेषां धर्मचारिणां यस्मात् । तस्माल्लोकविरुद्धं, धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम् ॥ १ ॥ " इत्यादि । तथा (सेवेज्ज इत्यादि) सेवेत धर्ममित्राणि विधानेन सत्प्रतिपत्त्यादिना, अन्ध इवानुकर्षकान्, पाताऽऽदिभयेन व्याधित इव वैद्यान्, दुःखभयेन दरिद्र इवेश्वरान्, स्थितिहेतुत्वेन । भीत इव महानायकान् आश्रयणीयत्वेन । तथा न इतो धर्ममित्रसेवनात् । सुन्दरतरमन्यदिति कृत्वा बहुमानयुक्तः स्यात् धर्ममित्रेषु । आज्ञाकाङ्क्षी अदत्तायामप्यां तेषाम्, आज्ञाप्रतीच्छकः प्रदानकाले तेषामेव, आज्ञाविराधकः प्रकृतायां तेषामेव, आज्ञानिष्पादक इत्यौचित्येन तेषामेव । (पडिवत्तीत्यादि) प्रतिपन्नधर्मगुणार्हं च वर्तेत सामान्येनैव गृहिसमुचितेषु गृहिसमाचारेषु नानाप्रकारेषु परिशुद्धानुष्ठानः सामान्येनैव, परिशुद्धमनःक्रियः शास्त्रानुसारेण, परिशुद्धवाक्क्रियोऽनेनैव, परिशुद्धकायक्रियोऽनेनैव । एतद्विशेषणाभिधानमाह-वर्जयेदनेकोपघातकारकं सामान्येन, गर्हणीयं प्रकृत्या, बहुक्लेशं प्रवृत्तौ, आयतिविराधकं परलोकपीडाकरं, समारम्भमङ्गारकर्माऽऽदिरूपम् । तथा न चिन्तयेत् परपीडां सामान्येन । न भावयेद् दीनतां कस्यचिदसंप्रयोगे, न गच्छेदुत्सुकं कस्यचित्संप्रयोगे, न सेवेत वितथाभिनिवेशम्, अनर्थाध्यवसायं, किन्तु उचितमनःप्रवर्तकः स्यादागमानुसारेण, एवं न भाषेतानृतमसभ्याख्यानाऽऽदि, न परुषं निष्ठुरं, न पैशुन्यं परप्रीतिहारि, नानिबद्धं विकथाऽऽदि, किं तु हितमितभाषकः स्यात् सूत्रनीत्या । एवं न हिंस्यात् भूतानि पृथिव्यादीनि, न गृह्णीयाददत्तं स्तोकमपि, न निरीक्षेत परदारान्, रागतः न कुर्यादनर्थदण्डं अपध्यानाऽऽचरिताऽऽदि, किं तु शुभकाययोगः स्यादागमनीत्या । तथा (लाभोचियदाणेत्यादि) तथा लाभोचितदानः-अष्टभागाऽऽद्यपेक्षया तथा, लाभोचितभो-

गः-अष्टभागाऽऽयापेक्षया, शाभोचितपरिवारः चतुर्भागाऽऽदि-भर्तव्यपरिमाणेन, काभोचितनिधिकारः स्यात्, चतुर्भागाऽऽयापेक्षयैव । उक्तं चात्र लौकिकैः-

" पादमायान्निधिं कुर्यात्-पादं वित्ताय वर्धयेत् ।
धर्मोपभोगयोः पादं, पादं भर्तव्यपोषणे ॥ १ ॥"

तथाऽन्यैरप्युक्तम्-

" आयादर्द्धं नियुञ्जीत, धर्मे यद्वाऽधिकं ततः ।
शेषेण शेषं कुर्वीत, यत्नतस्तुच्छमैहिकम् ॥ १ ॥ " इत्यादि ।

तथा असंतापकः परिजनस्य स्यादिति वर्त्तते शुभप्रणिधानेन । गुणकरो यथाशक्ति भवहितोपकथनशीलत्वेन, अनुकम्पापरः प्रतिफलनिरपेक्षतया, निर्ममो भावेन भवस्थित्यालोचनात् । क एवंगुणः स्यादित्याह-एवं यस्मात्तत्पालनेऽपि धर्मः, जीवोपकारभावात्, तथाऽन्यपालन इति जीवाविशेषेण । किमित्येतदेवमित्याह-सर्वे जीवाः पृथक्पृथग् वर्त्तन्ते स्वलक्षणभेदेन, किं तु ममत्वं बन्धकारणं मोहरूपत्वात् । उक्तं च-

" संसाराम्बुनिधौ सत्त्वाः, कर्मोर्मिपरिघट्टिताः ।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते, तत्र कः कस्य बान्धवः ?॥ १ ॥ "

तथा-

" अस्यावर्तेऽस्मिन् संसारे, भूयो जन्मनि जन्मनि ।
सत्त्वो नैवास्त्यसौ कश्चिद्, यो न बन्धुरनेकधा ॥२॥" इत्यादि ।

सर्वथा परिभावनामात्रमेतत्स्वजनो न स्वजन इति।(तहा तेसु तेसु इत्यादि) तथा तेषु तेषु समाचारेषु गृहिसमुचितेष्विति वर्त्तेत, स्मृतिसमन्वाऽऽगतः स्यात् आभोगयुक्तः। कथमित्याह-अमुकोऽहं देवदत्ताऽऽदिनामा अमुककुले इक्ष्वाकाऽऽद्यपेक्षया, अमुकशिष्यो धर्मतः तत्तदाचार्यापेक्षया, अमुकधर्मस्थानस्थितः अणुव्रताऽऽद्यपेक्षया.न मम तद्विराधना साम्प्रतम्, न मम तदारम्भो विराधनाऽऽरम्भः । तथा वृद्धिर्ममैतस्य धर्मस्थानस्य, एतदत्र सारं धर्मस्थानमेतदात्मभूतमानुगामुकत्वेन, एतच्चेत सुन्दरपरिणामत्वेन, असारमन्यत्सर्वमर्थजाताऽऽदीति, विशेषतोऽविधिग्रहणेन विपाकदारुणत्वात् । यथोक्तम्-

" पापेनैवार्थरागान्धः, फलमाप्नोति यत् क्वचित् ।
बडिशामिषवत्तत्तु, विना नाशं न जीर्यति ॥ १ ॥ " इति ।

एतदेवमेवेत्याह-एवमाह त्रिलोकबन्धुः, समुपचितपुण्यसंभारः परमकारुणिकः, तथाभव्यत्वनियोगात् । सम्यक्संबुद्धोऽनुत्तरबोधिबीजतः, जगन्नाथोऽर्हन् सत्त्वविशेष इति । एवं समालोच्य तदविरुद्धेषु अधिकृतधर्मस्थानाविरुद्धेषु समाचारेषु विचित्रेषु सम्यग् वर्त्तेत सूत्रनीत्या भावमङ्गलमेतद्विधिना वर्त्तनम्, तात्त्वपारमार्थिकसमाचारनिष्पत्तेरिति । (तहा जागरिज्जेत्यादि) तथा जागृयात् भावनिद्राविरहेण, धर्मजागरया तत्त्वाऽऽलोचनरूपया, को मम कालः यथोऽवस्थारूपः ?, किमेतस्योचितं धर्माऽऽद्यनुष्ठानम् ? । असारा विषयाः, तुच्छाः शब्दाऽऽदयो, नियमगामिनो वियोगान्ताः, विरसावसानाः परिणामदारुणाः, तथा भयानको मृत्युः, महाभयजननः, सर्वाभावकारी तत्तत्साध्यार्थक्रियाभावात् । अविज्ञाताऽऽगमनः, सहृदयस्वभावत्वात् मृत्योः । अनिवारणीयः, स्वजनाऽऽदिबलेन । पुनः पुनरनुबन्धी, अनेकधा भिन्नभावेन । धर्म एतस्यौषधं, मृत्योर्व्याधिकल्पस्य । किंविशिष्टः ?, इत्याह-एकान्तविशुद्धः निवृत्तिरूपः, महापुरुषसेवितः तीर्थकराऽऽदिसेवितः, सर्वहितकारी मैत्र्यादिरूपतया । निरतिचारो यथागृहीतपरिपालनेन, परमानन्दहेतुः निर्वाणकारणमित्यर्थः । नम एतस्मै धर्माय अनन्तरोदितरूपाय, नम एतद्धर्मप्रकाशकेभ्योऽर्हद्भ्यः, नम एतद्धर्मपालकेभ्यो यतिभ्यः, नम एतद्धर्मप्ररूपकेभ्यो यतिभ्य एव, नम एतद्धर्मप्रतिपत्तृभ्यः श्रावकाऽऽदिभ्यः, इच्छाम्यहमेतं धर्मं प्रतिपत्तुम्, अनेनैतत्पक्षपातमाह-सम्यग्मनोवाक्काययोगैः । अनेन तु सम्पूर्णप्रतिपत्तिरूपं प्रणिधिविशेषमाह-भवतु ममैतत् कल्याणम्, अधिकृतधर्मप्रतिपत्तिरूपं परमकल्याणानां जिनानामनुभावतः, तदनुग्रहेणेत्यर्थः । सुप्रणिधानमेवं चिन्तयेत् पुनः पुनः । एवं हि स्वाऽऽशयादेव तन्निमित्तोऽनुग्रह इति । तथा एतद्धर्मयुक्तानां यतीनामवपातकारी स्यात्, आज्ञाकारीति भावः । प्रधानं मोहच्छेदनमेतत् । तदाज्ञाकारित्वं तन्मोहच्छेदनयोगनिष्पत्त्यङ्गतयेति हृदयम् । एवं कुशलाभ्यासेन विशुद्ध्यमानो विशुद्ध्यमान एतत्सेवक इति प्रक्रमः । साधनयोग्यरूपया कर्मापगमेन हेतुना, उपैत्येतस्य धर्मस्य योग्यताम् । एतदेवाऽऽह-तथा संसारविरक्तस्तद्दोषभावनया,संविग्नो भवति मोक्षार्थी, अममो ममत्वरहितः,अपरोपतापी परपीडापरिहारी, विशुद्धो ग्रन्थ्यादिभेदेन विशुद्ध्यमानभावः शुभकण्डकवृद्ध्येति पं० सू० २ सूत्र ।

(श्रुतधर्ममधिकृत्य धर्मस्तुतिः ' काउस्सग्ग ' शब्दे तृ० भा० ४१६ पृष्ठे " तमतिमिर " इत्यादिगाथाभिर्भाविता)

(१६) साम्प्रतं पदार्थ उच्यते-

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं,अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥ १ ॥

" धर्मो मङ्गलमुत्कृष्ट-महिंसा संयमस्तपः ।
देवा अपि तं नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः ॥ १ ॥ "

तत्र 'धृ' धारणे,इत्यस्य धातोः मप्रत्ययान्तस्येदं रूपं धर्म इति। मङ्गलरूपं पूर्ववत् । तथा-'कृष्' विलेखने,इत्यस्य धातोरुत्पूर्वस्य निष्ठान्तस्येदं रूपमुत्कृष्टमिति । तथा-'तृह' 'हिसि' हिंसायाम्,इत्यस्य " इदितो नुम् धातोः ॥७।१।५८॥ " इति नुमि कृते रूप-धिकारे टाबन्तस्य नञ्पूर्वस्येदं रूपम्, यदुताहिंसेति । तथा-'यमु' उपरमे,इत्यस्य धातोः संपूर्वस्याप्प्रत्ययान्तस्य संयम इति रूपं भवति । तथा-'तप' सन्तापे, इत्यस्य धातोरसुन्प्रत्ययान्तस्य तप इति । तथा-'दिवु' क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु, इत्यस्य धातोरच्प्रत्ययान्तस्य जसि देवा इति भवति। अपिशब्दो निपातः, तदित्येतस्य सर्वनाम्नः पुंस्त्वविवक्षायां द्वितीयैकवचनं तमिति भवति। तथा-नमसित्यस्य प्रातिपदिकस्य " नमो वरिवश्चित्रङः क्यच् ॥३।१।१९॥"इति क्यजन्तस्य लट्क्रियान्तादेशः,ततश्च नमस्यन्तीति भवति। यदिति सर्वनाम्नः षष्ठ्यन्तस्य यस्येति भवति,धर्मः पूर्ववत्। सदेति सर्वस्मिन् काले " सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा " ॥ ५ । ३ । १५ ॥ इतिदाप्रत्ययः, " सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि " ॥ ५ । ३ । ६ ॥ इति स आदेशः सदा । तथा-'मन' ज्ञाने इत्यस्य धातोरसुन्प्रत्ययान्तस्य मन इति भवति । इति पदानि । साम्प्रतं पदार्थ उच्यते-तत्र दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः । तथा चोक्तम्-" दुर्गतिप्रसृतान् जीवान्, यस्माद्धारयते ततः । धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्मा-

कर्म इति स्मृतः ॥ १ ॥" मङ्ग्यते हितमनेनेति मङ्गलमित्यादि पूर्ववत् । उत्कृष्टं प्रधानम्, न हिंसा अहिंसा, प्राणातिपातविरतिरित्यर्थः । संयम आश्रवद्वारोपरमः, तापयत्यनेकभवोपात्तमष्टप्रकारं कर्म इति तपः,अनशनाऽऽदि । शीर्यन्तीति देवाः,क्रीडन्तीत्यादिभावार्थः । अपिः संभावने, देवा अपि, मनुष्यास्तु सुतराम् । तमित्येवंविशिष्टं जीवं नमस्यन्तीति प्रकटार्थम् । यस्य जीवस्य किम् ? । धर्मे प्रागभिहितस्वरूपे, सदा सर्वकालं मन इत्यन्तःकरणम् । अयं पदार्थ इति । पदविग्रहस्तु परस्परापेक्षसमासभाक्त्वेनेह निबन्धनाभावान्न प्रदर्शित इति चालना-प्रत्यवस्थाने तु प्रमाणचिन्तायां यथावसरमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ।

(४०) प्रवृत्तिः पुनरनयोरमुनोपायेनेति प्रदर्शयन्नाह-

कत्थइ पुच्छइ सीसो, कहिँ वि अपुट्ठा कहंति आयरिआ ।
सीसाणं तु हियट्ठा, विपुलतरागं तु पुच्छाए ॥ ३८ ॥

कश्चित् किञ्चिदनवगच्छन् पृच्छति शिष्यः कथमेतदिति इयमेव चालना, गुरुकथनं प्रत्यवस्थानम्,इत्थमनयोः प्रवृत्तिः। तथा कचिदपृष्टा एव सन्तः पूर्वपक्षमाशङ्क्य किञ्चित्कथयन्त्याचार्याः तत् प्रत्यवस्थानमिति गम्यते । किमर्थं कथयन्त्यत आह-शिष्याणामेव हितार्थं,तुशब्द एवकारार्थः,तथा विपुलतरं तु प्रभूततरं तु कथयन्ति । (पुच्छाए त्ति) शिष्यप्रश्ने सति पटुप्रज्ञोऽयमित्यवगमादिति गाथार्थः । "एवं तावत्समासेन, व्याख्या लक्षणयोजना । ज्ञेयं प्रस्तुते सूत्रे, कार्यैवमपरेष्वपि ॥ १ ॥" प्रस्थविस्तरदोषाच्च वदामः, उपयोगे तु वदामः प्रति सूत्रं,यतः सूत्रस्पर्शकोऽधुना प्रोच्यते । अनुगमनिर्युक्तिविभागश्च विशेषतः सामायिकवृहद्व्याख्यातोऽवसेयः तत्रोदितं यतः-

" होइ कयत्थो वोत्तुं, सपयच्छेअं सुअं सुआणुगमे ।
सुत्तालावगनासो, णामादिन्नासविणियोगं ॥ १ ॥
सुत्तप्फासियणिज्जु- त्तिणिओगो सेसओ पयत्थाइ ।
पायं सो च्चिय णेगम-णयाइमयगोयरो होइ ॥ २ ॥
एवं सुत्ताणुगमो, सुत्तालावगकओ अनिक्खेवो ।
सुत्तप्फासियणिज्जु-त्तिणया अ वच्चंति समगं तु ॥ ३ ॥"

इत्यलं प्रसङ्गेन गमनिकामात्रमेतत् । दश० १ अ० ।

धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमित्यादौ धर्मग्रहणे सति अहिंसासंयमतपोग्रहणमयुक्तं, तस्याऽहिंसासंयमतपोरूपत्वाद्व्यभिचारित्वादिति चेदुच्यते, नाहिंसाऽऽदीनां धर्मकारणत्वाद्धर्मस्य च कार्यत्वात्कार्यकारणयोश्च कथञ्चिद् भेदात्, कथञ्चिदभेदश्चेति, तस्य द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वात् । उक्तं च-"णत्थि पुढवीविसिट्ठो, घडो त्ति जं तेण जुज्जइ अणणो । जं पुण घडु त्ति पुव्वं, नासी पुढवीइ तो अन्नो ।१।" इत्यादि । गम्यादिधर्मव्यवच्छेदेन तत्स्वरूपज्ञापनार्थं वा,अहिंसाऽऽदिग्रहणमदुष्टमित्यलं विस्तरेण । आह- अहिंसासंयमतपोरूपो धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमित्येतद्वचः किमाज्ञासिद्धम्, आहोस्विद्युक्तिसिद्धमपि ?, अत्रोच्यते -उभयसिद्धम्, कुतः ?, जिनवचनत्वात्,तस्य च विनेयसत्त्वापेक्षयाऽऽज्ञाऽऽदिसिद्धत्वात् ।

आह च निर्युक्तिकारः--

जिणवयणं सिद्धं चे-व भण्णई कत्थई उदाहरणं ।
आसज्ज उ सोयारं, हेऊ वि कहिँ वि भण्णेज्जा ॥४९॥

जिनाः प्रागभिहितस्वरूपाः, तेषां वचनं तदाज्ञया सिद्धमेव सत्यमेव प्रतिष्ठितमेव, आबाध्यमेवेत्यर्थः, कुतः जिनानां रागादिरहितत्वाद्रागाऽऽदिमतश्च सत्यवचनासंभवात् । उक्तं च-" रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषा--स्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ॥१॥ " इत्यादि । तथापि तथाविधश्रोत्रपेक्षया तथापि भण्यते कचिदुदाहरणं, तथाऽऽश्रित्य तु श्रोतारं हेतुरपि कचिद्भण्यते,न तु नियोगतः,तुशब्दः श्रोतृविशेषणार्थः । किंविशिष्टं श्रोतारम् ?, पटुधियं, मध्यमधियं च, न तु मन्दधियमिति । तथाहि--पटुधियो हेतुमात्रोपन्यासादेव प्रस्तुतार्थावगतिर्भवति, मध्यमधीस्तु नैव बोध्यते,न त्वितर इत्यर्थः। तत्र साध्यसाधनान्वयव्यतिरेकप्रदर्शनमुदाहरणमुच्यते दृष्टान्त इत्यर्थः । साध्यधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणश्च हेतुः । इह च हेतुमुल्लङ्घ्य प्रथममुदाहरणाभिधानं, न्यायानुगतत्वात्तद्बलेनैव हेतोः साध्यार्थसाधकत्वोपपत्तेः । कचिद्धेतुमनभिधाय दृष्टान्त एवोच्यत इति न्यायप्रदर्शनार्थं वा । यथा गतिपरिणामपरिणतानां जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भको धर्मास्तिकायश्चक्षुष्मतो ज्ञानस्य, दीपवत् । उक्तं च-

" जीवानां पुद्गलानां च, गत्युपष्टम्भकारणम् ।
धर्मास्तिकायो ज्ञानस्य, दीपश्चक्षुष्मतो यथा ॥ १ ॥ "

तथा कचिद्धेतुरेव केवलोऽभिधीयते, न दृष्टान्तः, यथा मदीयोऽयमश्वो, विशिष्टचिह्नोपलब्ध्यन्यथानुपपत्तेरित्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

तथा--

कत्थइ पंचावयवं, दसहा वा सव्वहा न पडिसिद्धं ।
न य पुण सव्वं भण्णइ, हंदी सवियारमक्खायं ॥५०॥

श्रोतारमेवाङ्गीकृत्य कचित्पञ्चावयवं, दशधा चेति कचिदृशावयवं, सर्वथा गुरुश्रोत्रपेक्षया, न प्रतिषिद्धमुदाहरणाद्यभिधानमिति वाक्यशेषः । यदपि च न प्रतिषिद्धं तथाऽविशेषेणैव, न च पुनः सर्वं भण्यते, उदाहरणाऽऽदि । किमित्यत आह-(हंदी सवियारमक्खायं ति) हन्दीत्युपप्रदर्शने, किमुपदर्शयति-यस्मादिहान्यत्र च शास्त्रान्तरे सविचारं सप्रतिपक्षमाख्यातं, साकल्येन उदाहरणाद्यभिधानमिति गम्यते । पञ्चावयवाश्च प्रतिज्ञाऽऽदयः । यथोक्तम्-"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि । अवयवाः दश पुनः प्रतिज्ञाविभक्त्यादयः । वक्ष्यति च-" ते उ पइण्णविहत्ती " इत्यादि । प्रयोगाश्चैतेषां लाघवार्थमिहैव स्वस्थाने दर्शयिष्यामीति गाथार्थः । दश० १ अ० ।

"धम्मो मंगलं" इत्यादिलक्षणमधिकृत्य निर्दिश्यते-अहिंसासंयमतपोरूपो धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमिति प्रतिज्ञा, इह च धर्मिणा धर्मनिर्देशः,अहिंसासंयमतपोरूप इति धर्मविशेषणमुत्कृष्टं मङ्गलमिति साध्यो धर्मः धर्मिधर्मसमुदायः प्रतिज्ञा, इयं च श्लोकार्द्धेनोक्तेति । देवाऽऽदिदेवपूजितत्वादिति हेतुः,आदिशब्दात्सिद्धविद्याधरनरपतिपरिग्रहः । अयं च श्लोकतृतीयपादेन चालुकाऽवसेयः,अर्हदादिवदिति दृष्टान्तः । अत्रापि चाऽऽदिशब्दाद्गणधराऽऽदिपरिग्रहः । अयं च श्लोकचरमपादेनोक्तो वेदितव्य इति । न च भावमतोऽधिकृत्याहदृष्टान्ते अस्ति कश्चिद्विरोध इति । इह यो यो देवाऽऽदिपूजितः स स उत्कृष्टं मङ्गलं यथाऽर्हदादयस्तथा च देवाऽऽदिपूजितो धर्म इत्युपनयः, तस्माद्देवाऽऽदिपूजितत्वादुत्कृष्टं मङ्गलमिति निगमनम् । इदं चावयवद्वयं सूत्रान्तर्गतवत्र्याविनाभूतमिति कृत्वा तेन सूचितमवगन्तव्यमित्यलं विस्तरेण ।

साम्प्रतमेतामेवावयवान् सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या प्रतिपादयन्नाह–

धम्मो गुणा अहिंसा–इया उ ते परममंगलपइस्रा ।
देवा वि लोगपुज्जा, पणमंति सुधम्ममिइ हेऊ ॥ ८९ ॥

धर्मः प्राग्निरूपितशब्दार्थः,स च क इत्याह-गुणा अहिंसाऽऽदयः,आदिशब्दात्संयमतपःपरिग्रहः । तुरेवकारार्थः । अहिंसाऽऽदय एव ते परममङ्गलं प्रधानमङ्गलमिति प्रतिज्ञा;तथा देवा अपि,अपिशब्दात्सिद्धविद्याधरनरपतिपरिग्रहः। लोकपूज्या लोकपूजनीयाः,प्रणमन्ति नमस्कुर्वन्ति,कम् ?,सुधर्माणं शोभनधर्मेऽव्यवस्थितमित्ययं हेतुरर्थसूचकत्वाद्धेतुरिति गाथाऽर्थः ।

दिट्ठंतो अरहंता, अणगारा य बहवो उ जिणसीसा ।
वत्तणुवत्ते नज्जइ, जं नरवइणो वि पणमंति ॥ ९० ॥

दृष्टान्तः प्राग्निरूपितशब्दार्थः,स चाशोकाऽऽद्यष्टमहाप्रातिहार्याऽऽदिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः,तथाऽनगाराश्च बहव एव जिनशिष्या इति । न गच्छन्तीत्यगा वृक्षास्तैः कृतमगारं गृहं तदेषां विद्यत इत्यर्शाऽऽदेराकृतिगणत्वादच्प्रत्ययः । अगारा गृहस्थाः, न अगारा अनगाराः, चशब्दः समुच्चयार्थः, तुरेवकारार्थः, ततश्च बहव एव नाल्पाः, रागाऽऽद्यञ्जेतृत्वाज्जिनाः, तच्छिष्यास्तच्छिष्यास्तेनया गौतमाऽऽदयः। आह–अर्हदादीनां परोक्षत्वाद् दृष्टान्तत्वमेवायुक्तम् । कथं चैतच्छिन्नश्चीयते यथा ते देवाऽऽदिपूजिता इति?। उच्यते–यत्तावदुक्तम्-परोक्षत्वादिति तद् दुष्टम्,सूत्रस्य त्रिकालगोचरार्थत्वात् । कदाचित्प्रत्यक्षत्वाद्देवाऽऽदिपूजिता इति चेतच्छिन्निश्चयायाऽऽह-वृत्तमतिक्रान्तमनुवर्तमानेन साम्प्रतकालज्ञाविना ज्ञायते, कथमित्यत आह-यद्यस्मात् नरपतयोऽपि राजानोऽपि प्रणमन्तीदानीमपि ज्ञायसाधुं ज्ञानाऽऽदिगुणयुक्तमिति गम्यते । अनेन गुणानां पूज्यत्वमावेदितं भवतीति गाथार्थः ।

उवसंहारो देवा, जह तह राया वि पणमइ सुधम्मं ।
तम्हा धम्मो मंगल–मुक्किट्ठमिइ अ निगमणं ति ॥ ९१ ॥

उपसंहार उपनयः, स चायम्–देवा यथा तीर्थकराऽऽदींस्तथा राजाऽप्यन्यो ऽपि जनः प्रणमतीदानीमपि सुधर्माणमिति, यस्मादेवं तस्माद् देवाऽऽदिपूजितत्वाद्धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमिति च निगमनं, प्रतिज्ञाहेत्वोः पुनर्वचनं निगमनमिति गाथार्थः ।

उक्तं पञ्चावयवमेतद्दशनिभानाद्यार्थाधिकारोऽपि धर्मप्रशंसा । साम्प्रतं दशावयवं,तथा स चैदेव जिनशासन इत्यर्थाधिकारं चोपदर्शयति,इह च दशावयवाः प्रतिज्ञाऽऽदय एव प्रतिज्ञाऽऽदिशुद्धिसहिता भवन्ति । अवयवत्वं च तच्छुद्धीनामधिकृतवाक्यार्थोपकारकत्वेन प्रतिज्ञाऽऽदीनामिव भावनीयमित्यत्र बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, गमनिकामात्रत्वात्प्रारम्भस्येति ।

साम्प्रतमधिकृतदशावयवप्रतिपादनायाऽऽह–

बिइयपइन्ना जिणसा–सणम्मि साहेंति साहवो धम्मं ।
हेऊ जम्हा सब्भा–विएसु हिंसाइसु जयंति ॥ ९२ ॥

द्वितीया पञ्चावयवोपन्यस्तप्रथमप्रतिज्ञापेक्षया प्रतिज्ञा पूर्ववत्,द्वितीया चाऽसौ प्रतिज्ञा च द्वितीयप्रतिज्ञा,सा चेयं जिनशासने जिनप्रवचने,किम्?,साधयन्ति निष्पादयन्ति,साधवः प्रव्रजिताः,धर्मं प्राग्निरूपितशब्दार्थम् । इह च साधव इति धर्मिनिर्देशः,शेषस्तु साधुधर्म इत्ययं प्रतिज्ञानिर्देशः। हेतुनिर्देशमाह-हेतुर्यस्मात्सद्भाविकेषु पारमार्थिकेषु निरुपचरितेष्वर्थेष्वित्यर्थः। अहिंसाऽऽदिष्वादिशब्दान्मृषावादाऽऽदिविरतिपरिग्रहः । अन्ये तु व्याचक्षते (सब्भाविएहिं ति) सद्भावेन निरुपचरितसकलदुःखक्षयायैवेत्यर्थः । यतन्ते प्रयत्नं कुर्वन्तीति गाथार्थः ।

साम्प्रतं प्रतिज्ञाशुद्धिमभिधातुकाम आह–

जह जिणसासणनिरया, धम्मं पालेंति साहवो सुद्धं ।
न कुतित्थिएसु एवं, दीसइ परिपालणोवाओ ॥ ९३ ॥

यथा येन प्रकारेण जिनशासननिरता निश्चयेन रता धर्मं प्राग्निरूपितशब्दार्थं पालयन्ति रक्षन्ति, साधवः प्रव्रजिताः, षड्जीवनिकायपरिज्ञानेन कृतकारिताऽऽदिपरिवर्जनेन च शुद्धमकलङ्कं,नैवं तन्त्रान्तरीयाः,यस्मान्न कुतीर्थिकेष्वेवं यथा साधुषु दृश्यते परिपालनोपायः, षड्जीवनिकायपरिज्ञानाऽऽद्यभावात्, उपायग्रहणं च साभिप्रायकं, शास्त्रोक्तः खलूपायोऽत्र चिन्त्यते, न पुरुषानुष्ठानं, कापुरुषा हि वितथकारिणोऽपि भवन्त्येवेति गाथार्थः ।

अत्राऽऽह–

तेसु वि य धम्मसद्दो, धम्मं नियं च ते पसंसंति ।
ननु भणिओ सावज्जो, कुतित्थिधम्मो जिणवरेहिं ॥ ९४ ॥

तेष्वपि च तन्त्रान्तरीयधर्मेषु,किम् ?,धर्मशब्दो लोके रूढः,तथा धर्मं निजं चाऽऽत्मीयमेव यथातथं ते प्रशंसन्ति स्तुवन्ति,ततश्च कथमेतदित्यत्रोच्यते-नन्वित्यक्षमायां,भणित उक्तः,पूर्वं सावद्यः सपापः,कुतीर्थिकधर्मश्चरकाऽऽदिधर्मः, कैः ?,जिनवरैस्तीर्थकरैः, " ण जिणेहिं उ पसत्थो " इति वचनात्,षड्जीवनिकायपरिज्ञानाऽऽद्यभावादित्यत्रापि बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयादिति गाथार्थः ।

तथा–

जो तेसु धम्मसद्दो, सो उवयारेण निच्छएण इहं ।
जह सीहसद्दु सीहे, पाहणुवयारओऽणत्थ ॥ ९५ ॥

यस्तेषु तन्त्रान्तरीयधर्मेषु धर्मशब्दः,स उपचारेणापरमार्थेन, निश्चयेनात्र जिनशासने, कथम् ?, यथा सिंहशब्दः सिंहे व्यवस्थितः,प्राधान्येन,उपचारत उपचारेणान्यत्र माणवकाऽऽदौ, यथा सिंहो माणवकः, उपचारनिमित्तं च शौर्यक्रौर्याऽऽदयः, धर्मे त्वहिंसाऽऽद्यभिधानाऽऽदय इति गाथाऽर्थः ।

एस पइन्नासुद्धी, हेउ अहिंसाइएसु पंचसु वि ।
सब्भावेण जयंती, हेउविसुद्धी इमा तत्थ ॥ ९६ ॥

एषा उक्तस्वरूपा प्रतिज्ञायाः शुद्धिः प्रतिज्ञाशुद्धिः हेतुरहिंसाऽऽदिषु पञ्चस्वपि सद्भावेन यतन्त इत्ययं च प्राग् व्याख्यात एव, शुद्धिमभिधातुकामेन च भाष्यकृता पुनरुपन्यस्त इत्यत एवाऽऽह-हेतोर्विशुद्धिर्हेतुविशुद्धिर्विपर्ययविभावाऽवस्थापनं विशुद्धिः, इमा इयं, तत्र प्रयोग इति गाथार्थः ।

जं भत्तपाणउवगर–णवसहिसयणाऽऽसणाइसु जयंति ।
फासुयअकयअकारिय–अणणुमयाणुद्दिट्ठभोई य ॥ ९७ ॥

यद्यस्माद्भक्तं च पानं चोपकरणं च वसतिश्च शयनाऽऽसनाऽऽदयश्चेति समासस्तेषु । किम्?,यतन्ते प्रयत्नं कुर्वन्ति,कथमेतदेवमित्यत्राऽऽह-यस्मात्प्रासुकं चाकृतं चाकारितं चाननुमतं चानुद्दिष्टं च तद्भोक्तुं शीलं येषां ते तथाविधाः,तत्राऽऽसवः प्राणाः,

प्रगता असवः प्राणा यस्मादिति प्रासुकं निर्जीवम् । तच्च स्वकृतमपि भवत्यत आह-अकृतं, तदपि कारितमपि भवत्यत आह-अकारितम्, तदप्यनुमतमपि भवत्यत आह-अननुमतम् । तदप्युद्दिष्टमपि भवति यथाऽवदर्थिकाऽऽदि, न च तदिष्यत इत्यत आह-अनुद्दिष्टमिति, एतत्परिज्ञानोपायश्चोपन्यस्तसकलप्रदानाऽऽदिलक्षणस्तत्राऽवगन्तव्य इति गाथार्थः ।

तदन्ये पुनः किमित्यत आह-

अप्फासुयकयकारिय-अणुमयउद्दिट्ठभोइणो हंदि ।
तसथावरहिंसाए, जणा अकुसला उ लिप्पंति ॥ ९८ ॥

अप्रासुककृतकारितानुमोदितोद्दिष्टभोजिनश्चरकाऽऽदयः, हन्दीत्युपप्रदर्शने, किमुपप्रदर्शयति-भ्रमन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियाऽऽदयः, तिष्ठन्तीति स्थावराः पृथिव्यादयः, तेषां हिंसा प्राणव्यपरोपणलक्षणा, तया जनाः प्राणिनः, अकुशला अनिपुणा स्थूलमतयश्चरकाऽऽदयो लिप्यन्ते संबध्यन्त इत्यर्थः । इह च हिंसाक्रियाजनितेन कर्मणा लिप्यन्त इति भावनीयं, कारणे कार्योपचारात्, ततश्च ते शुद्धधर्मसाधका न भवन्ति, साधव एव भवन्तीति गाथार्थः ।

एसा हेउविसुद्धी, दिट्ठंतो तस्स चेव य विसुद्धी ।
सुत्ते भणिया उ फुडा, सुत्तप्फासे उ इयमन्ना ॥ ९९ ॥

एषा अनन्तरोक्ता, हेतुविशुद्धिः प्राग्निरूपितशब्दार्था, अधुना दृष्टान्तः प्राग्निरूपितशब्दार्थः, तथा तस्यैव च दृष्टान्तस्य विशुद्धिः, किम्?, सूत्रे भणितोक्तैव, स्फुटा स्पष्टा ।

तच्चेदं सूत्रम्-

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥२॥

अत्राऽऽह-अथ कस्माद्दशावयवनिरूपणायां प्रतिज्ञाऽऽदीन् विहाय सूत्रकृता दृष्टान्त एवोक्त इति?। उच्यते-दृष्टान्तादेव हेतुप्रतिज्ञे अभ्यूह्ये, इति न्यायप्रदर्शनार्थम । कृतं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः। तत्र यथा येन प्रकारेण द्रुमस्य प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य, पुष्पेषु प्राग्निरूपितशब्दार्थेष्वेव, असमस्तपदाभिधानमनुमतगृहिद्रुमाणामाहाराऽऽदिषु पुष्पाद्यर्थाधिकृत्य विशिष्टसंबन्धप्रतिपादनार्थमिति । तथा चान्यायोपार्जितवित्तदानेऽपि ग्रहणं प्रतिषिद्धमेव, भ्रमरश्चतुरिन्द्रियविशेषः, किम् ?, आपिबति, मर्यादया पिबत्यापिबति, कम् ?, रस्यत इति रसस्तं निर्यासं, मकरन्दमित्यर्थः । एष दृष्टान्तः । अयं च तद्देशोदाहरणमधिकृत्य वेदितव्य इत्येतच्च सूत्रस्पर्शिकानिर्युक्तौ दर्शयिष्यति । उक्तं च-सूत्रस्पर्शे त्वियमन्येति ।

अधुना दृष्टान्तविशुद्धिमाह-न च नैव, पुष्पं प्राग्निरूपितस्वरूपं, क्लामयति पीडयति, स च भ्रमरः प्रीणाति तर्पयत्यात्मानमिति सूत्रसमुदायार्थः । अवयवार्थं तु निर्युक्तिकारो महता प्रपञ्चेन व्याख्यास्यति ।

तथा चाऽऽह-

जह भमरो त्ति य एत्थं, दिट्ठंतो होइ आहरणदेसे ।
चंदमुहि दारिगेयं, सोम्मत्तवहारणं ण सेसं ॥ १०० ॥

यथा भ्रमर इति चात्र प्रस्ताणे दृष्टान्तो भवत्युदाहरणदेशमधिकृत्य, यथा चन्द्रमुखी दारिकेयमित्यत्र सौम्यत्वावधारणं गृह्यते, न शेषं कलङ्काङ्कितत्वाऽनवस्थितत्वाऽऽदीति गाथार्थः ।

एवं भमराऽऽहरणे, अणिययवित्तित्तणं न सेसाणं ।
गहणं दिट्ठंतविसु-द्धि सुत्ते भणिया इमा चऽन्ना ॥१०१॥

एवं भ्रमरोदाहरणे अनियतवृत्तित्वं, गृह्यत इति शेषः, न शेषाणामविरत्यादीनां भ्रमरधर्माणां ग्रहणं दृष्टान्त इति । एषा दृष्टान्तविशुद्धिः सूत्रे भणिता, इयं चान्या सूत्रस्पर्शिकानिर्युक्ताविति गाथार्थः ।

एत्थ य भणिज्ज कोई, समणाणं कीरए सुविहियाणं ।
पागोवजीविणो त्ति य, लिप्पंतारंभदोसेण ॥ १०२ ॥

अत्र चैवं व्यवस्थिते सति ब्रूयात्कश्चित्, यथा-श्रमणानां क्रियते सुविहितानामिति । एतदुक्तं भवति-यदिदं पाकनिर्वर्तनं गृहिभिः क्रियते, इदं पुण्योपादानसंकल्पेन श्रमणानां क्रियते सुविहितानामिति तपस्विनां, गृह्णन्ति च ते ततो भिक्षामित्यतः पाकोपजीविन इति कृत्वा लिप्यन्ते, आरम्भदोषेणाऽऽहारकरणक्रियाफलेनेत्यर्थः । तथा च लौकिका अप्याहुः-"क्रयेण क्रायको हन्ति, उपभोगेन खादकः । घातको वधचिन्तेन, इत्येष त्रिविधो वधः ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ।

साम्प्रतमेतत्परिहरणाय गुरुराह-

वासइ न तणस्स कए, न तणं वड्डइ कए मयकुलाणं ।
न य रुक्खा सयसाला, फुल्लंति कए महुयराणं ॥१०३॥

वर्षति न तृणस्य कृते, न तृणार्थमित्यर्थः । तथा न तृणं वर्द्धते कृते मृगकुलानामर्थाय, तथा न च वृक्षाः शतशाखाः पुष्प्यन्ति फलन्त्यर्थाय मधुकराणाम्, एवं गृहिणोऽपि न साध्वर्थं पाकं निर्वर्तयन्तीत्यभिप्राय इति गाथार्थः ।

अत्र पुनरप्याह-

अग्गिम्मि हवी हूयइ, आइच्चो तेण पीणिओ संतो ।
वरिसइ पयाहियाए, तेणोसहिओ परोहंति ॥ १०४ ॥

इह यदुक्तं वर्षति न तृणार्थमित्यादि, तदसाधु, यस्मादग्नौ हविर्हूयते, आदित्यस्तेन हविषा घृतेन प्रीणितः सन् वर्षति, किमर्थम्?, प्रजाहितार्थं लोकहिताय, तेन वर्षितेन किम्?, औषध्यः प्ररोहन्त्युच्छ्रयन्ति । तथा चोक्तम्-"अग्नावाज्याऽऽहुतिः सम्य-गादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टि-र्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ।

अधुनैतत्परिहारायेदमाह-

किं दुब्भिक्खं जायइ, जइ एवं अह भवे दुरिट्ठं तु ।
किं जायइ सव्वत्था, दुब्भिक्खं अह भवे इंदो ॥१०५॥

किं दुर्भिक्षं जायते यद्येवं कोऽभिप्रायः?, तच्चवैः सदा हूयत एव, ततश्च कारणाविच्छेदेन कार्यविच्छेदोऽयुक्त इति । अथ भवेद् दुरिष्टं तु दुर्नक्षत्रं दुर्यजनं वा, अत्राप्युत्तरम्, किं जायते सर्वत्र दुर्भिक्षम्?, नक्षत्रस्य दुरिष्टस्य वा नियतदेशविषयत्वात्, सर्वत्र सदुज्ञानां भावात्?, उक्तं च-"सदैव देवाः सन्त्यावो, ब्राह्मणाश्च क्रियापराः । यतयः साधवश्चैव, विद्यन्ते स्थितिहेतवः ॥ १ ॥" इत्यादि ।

अथ भवेदिन्द्र इति किम्?-

वासइ तो किं विग्घं, निग्घायाईहिँ जायए तस्स ।
अह वासइ उउसमए, न वासई तो तणट्ठाए ॥ १०६ ॥

वर्षति ततः किं विघ्नोऽन्तरायः निर्घाताऽऽदिर्निर्जायते, आ-दित्यग्रहादिभ्यहाऽऽदिपरिग्रहः । तत्स्यन्द्रस्य, परमैश्वर्ययुक्तत्वेन विघ्नानुपपत्तेरिति भावना । अथ वर्षति ऋतुसमये गर्भसद्भाव इति वाक्यशेषः । न वर्षति ततस्तृणार्थं, तत्स्वरूपमभिसंधेरना-वादिति गाथाद्वयार्थः ।

किं च दुमा पुप्फंती, भमराणं कारणा अहासमयं
मा भमरमहुयरिगणा, किलामएज्जा अणाहारा ॥१०७॥

किं च द्रुमाः पुष्यन्ति भ्रमराणां कारणात् कारणेन यथा-समयं यथाकालं, मा भ्रमरमधुकरिगणाः क्लामेयुः ग्लानिं प्रति-पद्येरन्, अनाहारा अविद्यमानाऽऽहाराः सन्तः, काका नैवैतदि-त्थमिति गाथार्थः ।

साम्प्रतं पराभिप्रायमाह-

कस्सइ बुद्धी एसा, वित्ती उवकप्पिया पयावइणा ।
सत्ताणं तेण दुमा, पुप्फंती महुयरिगणट्ठा ॥ १०८ ॥

अथ कस्यचिद् बुद्धिः कस्यचिदभिप्रायः स्यादेतत् एषा वृ-त्तिरुपकल्पिता, केन ?, प्रजापालेन, केषाम् ?, सत्त्वानां प्राणिनां, तेन कारणेन द्रुमाः पुष्यन्ति, मधुकरिगणार्थमेवेति गाथार्थः ।

अत्रोत्तरमाह-

तं न भवइ जेण दुमा, नामागोयस्स पुव्वविहियस्स ।
उदएणं पुप्फफलं, निव्वत्तइंती इमं चन्नं ॥ १०९ ॥

यदुक्तं परेण तन्न भवति, कुत इत्याह--येन द्रुमा नामगोत्रस्य कर्मणः पूर्वविहितस्य जन्मान्तरोपात्तस्य, उदयेन विपाका-नुभवलक्षणेन, पुष्पफलं निर्वर्त्तयन्ति कुर्वन्त्यन्यथा सदैव त-त्प्रसङ्ग इति भावनीयम् । इदं चान्यत्कारणं वक्ष्यमाणमि-ति गाथार्थः ।

अत्थि बहू वणसंडा, भमरा जत्थ न उवेंति न वसंति ।
तत्थ वि पुप्फंति दुमा, पगई एसा दुमगणाणं ॥११०॥

सन्ति बहूनि वनखण्डानि, तेषु तेषु स्थानेषु भ्रमरा यत्र नोप-यान्ति अन्यतो न वसन्ति, तेष्वेव, तथाऽपि पुष्यन्ति द्रुमाः, अतः प्रकृतिरेषा स्वभाव एषां द्रुमगणानामिति गाथार्थः ।

अत्राऽऽह-

जइ पगई कीस पुणो, सव्वं कालं न देंति पुप्फफलं ।
जं काले पुप्फफलं, दयंति गुरुराह अत एव ॥ १११ ॥

यदि प्रकृतिः किमिति पुनः सर्वकालं न ददति न प्रय-च्छन्ति, किम् ?, पुष्पफलम्, एवमाशङ्क्याऽऽह-यद्यस्मात् का-ले नियत एव पुष्पफलं ददति, गुरुराह-अत एवास्मादेव हेतोः।

पगई एस दुमाणं, जं उउसमयम्मि आगए संते ।
पुप्फंति पायवगणा, फलं च कालेण बंधंति ॥११२॥

प्रकृतिरेषा द्रुमाणां यदृतुसमये वसन्ताऽऽद्यागते सति पु-ष्यन्ति पादपगणा वृक्षसंघातास्तथा फलं च कालेन बध्न-न्ति, तदर्थाभ्युपगमे तु नित्यप्रसङ्ग इति गाथार्थः ।

साम्प्रतं प्रकृतेऽभ्युक्तार्थयोजनां कुर्वन्नाह-

किं तु गिही रंधंती, समणाणं कारणा अहासमयं ।
मा समणा भगवंतो, किलामएज्जा अणाहारा ॥ ११३ ॥

किं नु गृहिणो राध्यन्ति पाकं निर्वर्त्तयन्ति श्रमणानां कारणे-न, यथाकालं, मा श्रमणा भगवन्त क्लाम्यन्तनाहारा इति पूर्ववदिति गाथार्थः । नैवैतदित्थमित्यभिप्रायः।

अत्राऽऽह-

समणाणुकंपनिमित्तं, पुण्णनिमित्तं च गिहनिवासीओ ।
कोइ भणिज्जा पागं, करेंति सो भण्णइ न जम्हा ? ॥११४॥

श्रमणेभ्योऽनुकम्पा श्रमणानुकम्पा तन्निमित्तं, न होते हिर-ण्यग्रहणाऽऽदिना अस्माकमनुकम्पां कुर्वन्तीति मत्वा भिक्षादानार्थं पाकं निर्वर्त्तयन्त्यतः श्रमणानुकम्पानिमित्तं, तथा सामान्ये-न पुण्यनिमित्तं च गृहनिवासिन एव कश्चित् ब्रूयात्, पाकं कु-र्वन्ति, स भण्यते, नैतदेवं, कुतो ?, यस्मात्-

कंतारे दुब्भिक्खे, आयंके वा महइ समुप्पन्ने ।
रत्तिं समणसुविहिया, सव्वाहारं न भुंजंति ॥ ११५ ॥

कान्तारेऽरण्याऽऽदौ, दुर्भिक्षेऽन्नाकाले, आतङ्के वा ज्वराऽऽदौ, महति समुत्पन्ने सति, रात्रौ श्रमणाः सुविहिताः शोभ-नानुष्ठानाः, किम् ?, सर्वाहारमोदनाऽऽदि न भुञ्जते,

अह कीस पुण गिहत्या, रत्तिं आयरतरेण रंधंति ।
समणेहिँ सुविहिएहिं, चउव्विहाहारविरएहिं ॥११६॥

अथ किमिति पुनर्गृहस्थास्तत्रापि रात्रौ आदरतरेणात्यादरेण राध्यन्ति श्रमणैः सुविहितैश्चतुर्विधाऽऽहारविरतैः सद्भिरिति गाथाद्वयार्थः ।

किञ्च-

अत्थि बहुगामनगरा, समणा जत्थ न उवेंति न वसंति ।
तत्थ वि रंधंति गिही, पगई एसा गिहत्थाणं ॥११७॥

सन्ति बहूनि ग्रामनगराणि तेषु तेषु देशेषु श्रमणाः साधवो यत्र नोपयान्ति, अन्यतो न वसन्ति, तत्रैव, अथ च तत्रापि राध्य-न्ति गृहिणः, अतः प्रकृतिरेषा गृहस्थानामिति गाथार्थः ।

अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह-

पगई एस गिहीणं, जं गिहिणो गामनगरनिगमेसु ।
रंधंति अप्पणो परि-यणस्स कालेण अट्ठाए ॥११८॥

प्रकृतिरेषा गृहिणां वर्त्तते यद् गृहिणो ग्रामनगरनिगमेषु, नि-गमः स्थानविशेषः, राध्यन्ति आत्मनः परिजनस्यार्थाय निमित्तं कालेनेति योग इति गाथार्थः ।

तत्थ समणा तवस्सी, परकडपरनिट्ठियं विगयधूमं ।
आहारं एसंती, जोगाणं साहणट्ठाए ॥ ११९ ॥

तत्र श्रमणाः तपस्विन इत्युद्यतविहारिणो नेतरे, परकृतपरनि-ष्ठितमिति कोऽर्थः ?, परार्थं कृतमारब्धं परार्थं च निष्ठितमन्तं ग-तं विगतधूमं धूमरहितम्, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति व्या-याद्विगताङ्गारं च, रागद्वेषमन्तरेणेत्यर्थः। उक्तं च-" रागेण स-इंगालं, दोसेण सधूमगं वियाणाहि । " आहारमोदनादिलक्ष-णमेषन्ते गवेषन्ते, किमर्थमत्राऽऽह-योगानां मनोयोगाऽऽदीनां संयमयोगानां वा साधनार्थं, न तु वर्णाऽऽद्यर्थमिति गाथार्थः ।

नवकोडीपरिसुद्धं, उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं ।
छट्ठाणरक्खणट्ठा, अहिंसअणुपालणट्ठाए ॥ १२० ॥

इयं च किल भिक्षकर्तृका, अस्या व्याख्या-नवकोटिपरि-

शुद्धं, तत्रैता नवकोट्यः, यदुत-" ण हणइ ण हणावेइ, हणंतं नाणुजाणइ । एवं-न किणइ ३, एवं-न पयइ ३ । " एताभिः परिशुद्धं, तथा उद्गमोत्पादनैषणाशुद्धमित्येतद्वस्तुतः सकलोपाधिविशुद्धकोटिख्यापनमेव, एवंभूतमपि किमर्थं भुञ्जते ?, षड्स्थानरक्षणार्थम् ?,तानि चामूनि-"वेयणवेयावच्चे,इरियट्ठाए य संजमट्ठाए । तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए " ॥ १ ॥ अपि च-भवान्तरे प्रशस्तभावनाभ्यासादहिंसानुपालनार्थम् । तथा चाऽऽह-नाहारत्यागतो भावितमते देहत्यागो भवान्तरेऽप्यहिंसायैव भवतीति गाथार्थः ।

दिट्ठंतसुद्धि एसा, उवसंहारो य सुत्तनिद्दिट्ठो ।
संता विज्जंति त्ति य, संतिं सिद्धिं च साहेंति ॥१२१॥

दृष्टान्तशुद्धिरेषा प्रतिपादिता, उपसंहारस्तु उपनयस्तु सूत्रनिर्दिष्टः सूत्रोक्तः ।

तच्चेदं सूत्रम्-

एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया ॥ ३ ॥

एवमनेन प्रकारेण एते ये अधिकृताः प्रत्यक्षेण वा परिभ्रमन्तो दृश्यन्ते, श्राम्यन्तीति श्रमणास्तपस्यन्तीत्यर्थः । एते च तन्त्रान्तरीया अपि भवन्ति । यथोक्तम्-" निग्गंथसक्कतावस-गेरुयआजीव पंचहा समणा । " अत आह-मुक्ता बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन,ये लोके अर्धतृतीयद्वीपसमुद्रपरिमाणे, सन्ति विद्यन्ते, अनेन समयक्षेत्र सर्वत्र विद्यन्त, इत्येतदाह-साधयन्तीति साधवः, किं साधयन्ति ?, ज्ञानाऽऽदीनि गम्यते । अत्राऽऽह-ये मुक्तास्ते साधव एवेत्यत इदमयुक्तम् । अत्रोच्यते-इह व्यवहारेण निह्नवा अपि मुक्ता उच्यन्त एव,न च ते साधव इति तद्व्यवच्छेदार्थत्वाद्दोषः । आह-न च ते सर्वत्र सन्तीत्यनेनैव व्यवच्छिन्ना इत्युच्यन्ते, वर्त्तमानतीर्थापेक्षयैवेदं सूत्रमिति न दोषः । अथवाऽन्यथा व्याख्यायते-ये लोके सन्ति साधव इत्यत्र य इत्युद्देशः, लोक इत्यनेन समयक्षेत्र एव सान्त्वयन्ति, किम् ?,शान्तिः सिद्धिरुच्यते, तां साधयन्तीति शान्तिसाधवः । तथा चोक्तं निर्युक्तिकारेण-" संता विज्जंति त्ति य, संतिं सिद्धिं च साहेंति । " इदं व्याख्यातमेव, विहङ्गमा इव भ्रमरा इव पुष्पेषु,किम ?। दानभक्तैषणासु रताः,दानग्रहणाद्दत्तं गृह्णन्ति नादत्तं, भक्तग्रहणेन तदपि भक्तं प्रासुकं, न पुनराधाकर्माऽऽदि,एषणाग्रहणेन गवेषणाऽऽदित्रयपरिग्रहः, तेषु त्रयाणेषु रताः सक्ता इति सूत्रसमासार्थः । दश० १ अ० ।

(२१) विहङ्गमानां निक्षेपाऽऽद्युक्त्वा इत्थमनेकप्रकारं विहङ्गममभिधाय प्रकृतोपयोगमुपदर्शयति-

इहइं पुण अहिगारो, विहागमगमणेहिं भमरेहिं (१२७)

इह सूत्रे, पुनःशब्दोऽवधारणे,इहैव, नान्यत्र,अधिकारः प्रस्तावः प्रयोजनम् । कैरित्याह-विहायोगमनैराकाशगमनैः,भ्रमरैः षट्पदैरिति गाथार्थः ।

दाणेत्ति दत्तगेण्हण, भत्ते भज मेव फासुगेण्हणया ।
एसणतिगम्मि निरया,उवसंहारस्स सुद्धि इमा ॥१२८॥

दानेति सूत्रे दानग्रहणं दत्तग्रहणप्रतिपादनार्थम् , दत्तमेव गृह्णन्ति नाऽदत्तम् । भक्तग्रहणं भज सेवायामित्यस्य निष्ठान्तस्य भवति । अर्थश्चास्य प्रासुकग्रहणं प्रासुकमाधाकर्माऽऽदिरहितं गृह्णन्ति,नेतरदिति । (एसण त्ति) एषणाग्रहणमेषणात्रितये गवेषणाऽऽदिलक्षणे, निरताः सक्ताः,उपसंहारस्योपनयस्य. शुद्धिरियं वक्ष्यमाणलक्षणेति गाथार्थः ।

अवि भमरमहुयरिगणा,अविदिन्नं आवियंति कुसुमरसं ।
समणा पुण भगवंतो, नादिन्नं भोत्तुमिच्छंति ॥ १२९ ॥

अपि भ्रमरमधुकरिगणाः, मधुकरीग्रहणमिहापि स्त्रीसंग्रहणार्थम् । जातिसंग्रहार्थमिति चान्ये । अविदत्तं सन्तं,किम् ?,आपिबन्ति,कुसुमरसं कुसुमाऽऽसवं, श्रमणाः पुनर्भगवन्तो नादत्तं भोक्तुमिच्छन्तीति विशेषः । इति गाथार्थः ।

साम्प्रतं सूत्रेणैवोपसंहारविशुद्धिरुच्यते-कश्चिदाह-" दाणभत्तेसणे रया " इत्युक्तम्, यत एवमत एव लोको भक्त्याकृष्टमानसस्तेभ्यः प्रयच्छत्याधाकर्माऽऽदि । तस्य ग्रहणे सत्यपरोधः, अग्रहणे च स्वधृत्यलाभ इति । अत्रोच्यते-वयं चेत्यादि सूत्रम्-

वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा ॥ ४ ॥

वयं च वृत्तिं लप्स्यामः प्राप्स्यामस्तथा यथा न कश्चिदुपहन्यते । वर्त्तमानैष्यत्कालोपन्यासस्त्रैकालिकन्यायप्रदर्शनार्थः। तथा चैते साधवः सर्वकालमेव यथाकृतेषु आत्मार्थमभिनिर्वर्तितेष्वाहाराऽऽदिषु, रीयन्ते गच्छन्ति, वर्त्तन्त इत्यर्थः । पुष्पेषु भ्रमरा यथा । इत्येतच्च पूर्वं भावितमेवेति सूत्रार्थः ।

यतश्चैवमतो महुगारसमेत्यादि सूत्रम्-

महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया ।
नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो.त्ति बेमि ॥५॥

मधुकरसमा भ्रमरतुल्याः, बुध्यन्ते स्म बुद्धाः, अवगततत्त्वा इत्यर्थः । एवंभूता इत्यत आह-ये भवन्ति वा अनिश्रिताः कुलाऽऽदिष्वप्रतिबद्धा इत्यर्थः ।

अत्राऽऽह-

अस्संजएहिँ भमरे-हिँ जइ समा संजया खलु भवंति ।
एवं उवमं किच्चा, नूणं अस्संजया समणा ॥ १३० ॥

असंयतैः कुतश्चिदप्यनिवृत्तैः भ्रमरैः षट्पदैः,यदि समास्तुल्याः, संयताः साधवः, खल्विति समा एव भवन्ति । ततश्चासंयताः अपि, ते अत एवेनामित्थंप्रकारामुपमां कृत्वा इदमापद्यते नूनमसंयताः श्रमणा इति गाथार्थः ।

एवमुक्ते सत्याहाऽऽचार्यः, एतच्चायुक्तम्, सूत्रोक्तविशेषणतिरस्कृतत्वात्, तथा च बुद्धग्रहणादसंयतो व्यवच्छेदः, अनिश्रितग्रहणात्त्वसंयतत्वस्येति ।

निर्युक्तिकारस्त्वाह-

उवमा खलु एस कया, पुव्वुत्ता देसलक्खणोवणया ।
अणिययवित्तिनिमित्तं, अहिंसअणुपालणट्ठाए ॥१३१॥

उपमा, खल्वेषा, मधुकरसमेत्यादिरूपा, कृता, पूर्वोक्तात् पूर्वोक्तेन, देशलक्षणोपनयात् देशलक्षणोपनयेन, यथा चन्द्रमुखी कन्येति,तृतीयार्थां चेह पञ्चमी । इयं चानियतवृत्तिनिमित्तं कृता अहिंसाऽनुपालनार्थमिह च भावयन्त्येवेति गाथार्थः ।

जह दुमगणा उ तह नग-रजणवया पयणपायणसहावा ।
जह भमरा तह मुणिणो, नवरि अदत्तं न भुंजंति ।१३२।

यथा द्रुमगणा वृक्षसंघाताः, स्वभावत एव पुष्पफलनस्वभावास्तथैव नगरजनपदा नगराऽऽदिलोकाः,स्वयमेव पचनपाच-

मधुकरसमा वर्त्तन्ते, यथा भ्रमरा इति नावार्थं वक्ष्यति । तथा मुनयो, नवरमेतावान्विशेषः--अदत्तं स्वामिभिर्न भुञ्जत इति गाथार्थः ।

अमुमेवार्थं स्पष्टयति-

कुसुमे सहावफुल्ले, आहारंति भमरा जह तहा उ ।
भत्तं सहावसिद्धं, समणसुविहिया गवेसंति ॥ १३३ ॥

कुसुमे पुष्पे, स्वभावफुल्ले प्रकृतिविकसिते, आहारयन्ति कुसुमरसं पिबन्ति, भ्रमरा मधुकराः, यथा येन प्रकारेण कुसुमपीडामनुत्पादयन्तः, तथा तेनैव प्रकारेण, भक्तमोदनाऽऽदि, स्वभावसिद्धमात्मार्थं कृतम्, उद्गमाऽऽदिदोषरहितमित्यर्थः । श्रमणाश्च ते सुविहिताश्च श्रमणसुविहिताः, शोभनानुष्ठानवन्त इत्यर्थः । गवेषयन्ति अन्वेषयन्तीति गाथार्थः ।

साम्प्रतं पूर्वोक्तो यो दोषो मधुकरसमा इत्यत्र, एतत्परिजिहीर्षयैव भावनोपसंहारः क्रियते तदुपदर्शयन्नाह-

उवसंहारो भमरा, जह तह समणा वि अवहजीवित्ति ।
दंत त्ति पुण पयम्मी, नायव्वं वक्कसेसमिणं ॥ १३४ ॥

उपसंहार उपनयः, भ्रमरा यथा अवधजीविनः, तथा श्रमणा अपि साधवोऽपरोपतापेनावजीविनेति गाथादलार्थः । इतश्च भ्रमरसाधूनां नानात्वमवसेयम् । यत आह सूत्रकारः-"नानापिण्डरया दन्ता" इति । नानाऽनेकप्रकाराभिग्रहविशेषात्प्रतिगृहमल्पाल्पग्रहणाच्च पिण्ड आहारपिण्डः, नाना चाऽसौ पिण्डश्च नानापिण्डः, अन्तप्रान्ताऽऽदिर्वा, तस्मिन् रता अनुद्वेगवन्तः । दान्ता इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन । अनयोश्च स्वरूपमुक्तमपि प्रतिपादितमेव; अत्र चोपन्यस्तगाथाचरमदलस्यावसरः दान्ता इति पुनः पदे सौत्रे । किम्?, ज्ञातव्यो वाक्यशेषोऽयमिति गाथार्थः ।

किंविशिष्टो वाक्यशेषः, दान्ता ईर्याऽऽदिसमिताश्च-
तथा चाऽऽह-

जह इत्थ चेव इरियाइ-एसु सव्वम्मि दिक्खियपयारे ।
तसथावरभूयहियं, जयंति सब्भावियं साहू ॥ १३५ ॥

यथाऽत्रैवाधिकृताध्ययने भ्रमरोपमयैषणासमितौ यतन्ते, तथा ईर्याऽऽदिष्वपि । तथा सर्वस्मिन् दीक्षितप्रचारे साधवाचरित एव इत्यर्थः । किम्?, त्रसस्थावरभूतहितम्, यतन्ते सद्भाविकं पारमार्थिकं साधव इति गाथार्थः ।

अन्ये पुनरिदं गाथादलं निगमने व्याख्यानयन्ति, न च तद्‌तिचारु, यत आह-

उवसंहारविसुद्धी, एस समत्ता उ निगमणं तेणं ।
वुच्चंति साहुणो त्ती, जेणं ते महुगरसमाणा ॥ १३६ ॥

उपसंहारविशुद्धिरेषा समाप्ता तु, अधुना निगमनावसरः, तच्चैवमुपदर्शयति, निगमनमिति द्वारपरामर्शः । तेनोच्यन्ते साधव इति, येन कारणेन ते मधुकरसमाना उक्तन्यायेन भ्रमरतुल्या इति गाथार्थः ।

निगमनार्थमेव स्पष्टयति--

तम्हा दयाऽऽइगुणसु-ट्ठिएहिँ भमरो व्व अवहवित्तीहिं ।
साहूहिं साहिओ त्ती, उक्किट्ठं मंगलं धम्मो ॥ १३७ ॥

तस्माद्दयाऽऽदिगुणसुस्थितैरादिशब्दात्सत्याऽऽदिपरिग्रहः । भ्रमर इवावधवृत्तिभिः कैः?, साधुभिः साधितो निष्पादितः, उत्कृष्टं मङ्गलं प्रधानं मङ्गलं, धर्मः प्राङ्निरूपितशब्दार्थः । इति गाथार्थः ॥ १३७ ॥

इदानीं निगमनविशुद्धिमभिधातुकाम आह-

निगमणसुद्धी तित्थं-तरा वि धम्मत्थमुज्जुया विहरे ।
भण्णइ कायाणं ते, जयणं न मुणंति न करेंति ॥ १३८ ॥

निगमनशुद्धिः प्रतिपाद्यते । अत्राऽऽह-तीर्थान्तरीयाः चरकपरिव्राजकाऽऽदयः किम्?, धर्मार्थं धर्मायोद्यता उद्युक्ता विहरन्ति, अतस्तेऽपि साधव एवेत्यभिप्रायः । उच्यतेऽत्र प्रतिवचनम्-कायानां पृथिव्यादीनां ते चरकाऽऽदयः, किम्?, यतनां प्रयत्नकरणलक्षणां, न मन्यन्ते न जानन्ति, न मन्यन्ते वा, तथाविधाऽऽगमाऽऽश्रवणान्न कुर्वन्ति परिज्ञानाभावादुचितमेवेदमधस्तादिति गाथाऽर्थः ॥ १३८ ॥

किं च-

न य उग्गमाइसुद्धं, भुंजंती महुयरा वणुवरोही ।
नेव य तिगुत्तिगुत्ता, जह साहू निच्चकालं पि ॥ १३९ ॥

न चोद्गमादिशुद्धं भुञ्जते, आदिशब्दादुत्पादनाऽऽदिपरिग्रहः । मधुकरा इव भ्रमरा इव सत्त्वानामनुपरोधिनः सन्तो नैव च त्रिगुप्तिगुप्ता यथा साधवो नित्यकालमपि । एतदुक्तं भवति-यथा साधवो नित्यकालं त्रिगुप्तिगुप्ता एवं नैव कदाचिदपि तत्परिज्ञानशून्यत्वात्तस्मान्न एते साधवः । इति गाथार्थः ॥ १३९ ॥

साधव एव तु साधवः, कथम्?, यतः-

कायं वायं च मणं, इंदियाइं च पंच दमयंति ।
धारेंति बंभचेरं, संजमयंती कसाए य ॥ १४० ॥

कायं, वाचं, मनश्च, इन्द्रियाणि च पञ्च दमयन्ति । तत्र कायेन सुसमाहितपाणिपादाः तिष्ठन्ति, गच्छन्ति वा । वाचा निष्प्रयोजनं न ब्रुवते, प्रयोजनेऽपि तस्य सत्त्वानुपरोधेन । मनसा अकुशलमनोनिरोधं, कुशलमनउदीरणं च कुर्वन्ति । इन्द्रियाणि पञ्च दमयन्ति, इष्टानिष्टविषयेषु रागद्वेषाकरणेन । पञ्चेति सावयवपरिकल्पितैकादशेन्द्रियव्यवच्छेदार्थम् । तथा च-वाक्पाणिपादपायूपस्थमनांसीन्द्रियाणि तेषामिति । धारयन्ति ब्रह्मचर्यम्, सकलगुप्तिपरिपालनात् । तथा संयमयन्ति कषायांश्च, अनुदयेनोदयविफलीकरणेन च । इति गाथार्थः ॥ १४० ॥

जं च तवे उज्जुत्ता, तेणेसिं साहुलक्खणं पुण्णं ।
तो साहुणो त्ति भण्णं-ति साहवो निगमणं चेयं ॥ १४१ ॥

यच्च तपसि प्राग्वर्णितस्वरूपे, किम्?, उद्युक्ताः तेन प्रकारेणैषां साधुलक्षणं पूर्णमविकलम्, कथम्?, अनेन प्रकारेण साधयन्त्यपवर्गमिति साधवः । यतश्चैवं ततः साधव एव भण्यन्ते साधवो, न चरकाऽऽदय इति । निगमनं चैतत् । इति गाथार्थः ॥ १४१ ॥

इत्थमुक्तं दशावयवम् । प्रयोगं त्वेवं वृद्धा दर्शयन्ति-अहिंसाऽऽदिलक्षणधर्मसाधकाः साधव एव, स्थावरजङ्गमजन्तूनोपरोधपरिहारित्वात्, तदन्यैवंविधपुरुषवत् । विपक्षो दिगम्बरभिक्षुभौताऽऽदिवत् । इह च स्थावरजङ्गमजन्तूपरोधपरिहारिणस्ते उभयप्रसिद्धैवंविधपुरुषवदहिंसाऽऽदिलक्षणधर्मसाधका दृष्टाः । तथा च साधवः स्थावरजङ्गमजन्तूनोपरोधपरिहारिण इत्युपनयः; तस्मात्स्थावरजङ्गमजन्तूनोपरोधपरिहारित्वात्ते अहिंसाऽऽदिलक्षणधर्मसाधकाः साधव एव इति निगमनम् । पक्षाऽऽदिशुद्धयस्तु निदर्शिता

एवेति न प्रतन्यन्ते, एवमर्थाधिकारद्वयवशात्पञ्चावयवदशावयवाभ्यां वाक्याभ्यां व्याख्यातमध्ययनम् । दश० १ अ० ।

" पडिपुन्नधम्मविग्घ-खणेण इह अंतरायचिन्तराओ ।
जीवा ण हुंति नियमा, तो जत्तो तत्थ कायव्वो ॥
जं च धम्माउ लोहम्मी, धम्मेणं हुंति सयलरिद्धीओ ।
धम्मेण पवरकृत्वं, तत्तो संविग्गए भणियं ॥ "
दर्श० १ तत्त्व ।

" जह्वा सयलं किरियं, कुणंति मुणिणो सियम्बमेव सया ।
तं पुण लब्भइ गयसय-सरागदोसेण धम्मेण ॥ १३ ॥
धम्मेण सरागेण उ, लब्भइ सग्गाइयं फलं सो वि ।
जायइ परंपराए, नियमेणं मुक्खहेउ त्ति ॥ १४ ॥
धम्माओ धणलाभो, त्ति जं पि वुत्तं तयं पि न हु जुत्तं ।
सव्वो वि हु पुरिसत्थो, धम्माउ च्चिय जओ भणिया ॥१५॥ "

उक्तं च-

" धनदो धनार्थिनां धर्मः, कामदः सर्वकामिनाम् ।
धर्म एवापवर्गस्य, पारम्पर्येण साधकः ॥ १६ ॥ " ध० र० ।
" धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः,
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमपरं पुत्रार्थिनां पुत्रदः ।
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमपरं नानाविकल्पैर्नृणां,
तत्किं यन्न ददाति किं च तनुते स्वर्गापवर्गावपि ॥५४॥ " ध०र० ।
" धर्माऽऽख्यः पुरुषार्थोऽयं, प्रधान इति गीयते ।
पापसक्तं पशोस्तुल्यं, धिग्धर्मरहितं नरम् ॥ १ ॥ "
स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

(२२) धर्मस्य मोक्षकारणत्वं यथा-

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे ।
उवसग्गेऽहियासित्ता, आमोक्खाए परिव्वए ॥२२॥

संख्यायेति सम्यक् ज्ञात्वा स्वमतमत्या, अन्यतो वा श्रुत्वा (पेसल त्ति) मोक्षगमनं प्रत्यनुकूलं, किं तत् ?, धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यं, दृष्टिमान् सम्यग्दर्शनी, परिनिर्वृत इति कषायोपशमाच्छीतीभूतः परिनिर्वृतकल्पो वा । उपसर्गाननुकूलप्रतिकूलान्, सम्यग् नियम्याधिसह्याऽऽमोक्षाय मोक्षं यावत् परि समन्ताद् व्रजेत् संयमानुष्ठानेन गच्छेदिति ॥ २२ । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

अपि च-

धम्मस्स य पारए मुणी, आरंभस्स य अंतए ठिए ।
सोयंति य णं ममाइणो, णो लब्भंति णियं परिग्गहं ॥९॥

धर्मस्य श्रुतचारित्रभेदभिन्नस्य, पारं गच्छतीति पारगः सिद्धान्तपारगामी, सम्यक् चारित्राऽनुष्ठायी वेति । चारित्रमधिकृत्याऽऽह-आरम्भस्य सावद्यानुष्ठानरूपस्यान्ते पर्यन्ते तदभावरूपे, स्थितो मुनिर्भवति । ये पुनर्नैवं भवन्ति, ते अकृतधर्माः मरणे दुःखे वा समुपस्थिते आत्मानं शोचन्ति । णमिति वाक्यालङ्कारे । यदि वा इष्टमरणेऽर्थनाशे वा (ममाइणो त्ति) ममेदमहमस्य स्वामीत्येवमध्यवसायिनः शोचन्ति । शोचमाना अप्येते निजमात्मीयं परि समन्ताद् गृह्यते आत्मसात्क्रियत इति परिग्रहो हिरण्याऽऽदिरिष्टस्वजनाऽऽदिर्वा, नष्टं मृतं वा, न लभन्ते न प्राप्नुवन्तीति । यदि वा धर्मस्य पारगं मुनिमारम्भस्याऽन्ते व्यवस्थितमनमागत्य स्वजना मातापित्रादयः शोचन्ति समत्वयुक्ताः स्नेहालवः, न च ते लभन्ते निजमप्यात्मीयपरिग्रहबुद्ध्या गृहीतमिति । अत्रान्तरे नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-
" सोऊण तयं उवट्ठियं, केइ गिही विग्घेण उट्ठिया ।
धम्मम्मि अणुत्तरे मुणी, न वि जिणिज्ज इमेण पंडिए ॥१॥ "
सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

किं चान्यत्-

जे धम्मं सुद्धमक्खंति, पडिपुन्नमणेलिसं ।
अणेलिसस्स जं ठाणं, तस्स जम्मकहा कओ ? ॥१९॥

ये महापुरुषा वीतरागाः करतलाऽऽमलकवत्सकलजगद्द्रष्टारस्त एवंभूताः परहितैकरताः शुद्धमवदातं सर्वोपाधिविशुद्धम, धर्ममाख्यान्ति प्रतिपादयन्ति, स्वतः समाचरन्ति च । प्रतिपूर्णमायतचारित्रसद्भावात्संपूर्णं यथाख्यातचारित्ररूपं वा । अनीदृशमनन्यसदृशं धर्ममाख्यान्त्युपतिष्ठन्ति । तदेवमनीदृशस्यानन्यसदृशस्य ज्ञानचारित्रोपेतस्य यत् स्थानं सर्वद्वन्द्वोपरमरूपं तद्व्याप्तस्य कुतो जन्मकथा-जातो मृतो वेत्येवंरूपा कथा, स्वप्नान्तरेऽपि तस्य कर्मबीजाभावात् कुतो विद्यत इति । तथोक्तम्-" दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः " ॥ १ ॥ इत्यादि ॥ १६ ॥

किञ्चान्यत्-

कओ कयाइ मेधावी, उप्पज्जंति तहागया ।
तहागया अप्पडिन्ना, चक्खू लोगस्सऽणुत्तरा ॥ २० ॥

कर्मबीजाभावात्कुतः कस्मात्कदाचिदपि मेधाविनो ज्ञानाऽऽत्मकास्तथा पुनरावृत्त्याऽऽगमनास्तथागताः पुनरस्मिन् संसारेऽशुचिगर्भाधाने समुत्पद्यन्ते, न कथंचित्कदाचित्कर्मोपादानाभावादुत्पद्यन्त इत्यर्थः । तथा तथागतास्तीर्थकृद्गणधराऽऽदयो न विद्यन्ते प्रतिज्ञानिदानबन्धनरूपा येषां ते प्रतिज्ञानिदाना निराशसाः सत्त्वहितकरणोद्यता अनुत्तरज्ञानत्वादनुत्तरलोकस्य जन्तुगणस्य सदसदर्थनिरूपणकारणतश्चक्षुर्भूता हिताहितप्राप्तिपरिहारं कुर्वन्तः सकललोकलोचनभूतास्तथागताः सर्वज्ञा भवन्तीति ॥ २० ॥ सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । (आपत्सु दृढधर्मता योगसंग्रहार्थेति ' आयर ' शब्दे द्वितीयभागे ३४५ पृष्ठे गता) धर्माऽऽख्यानं तु यथा विभज्योमुपकारस्तथा नान्यथा । ' (लोगंतिय ' शब्दे चेदं वक्ष्यते) केवलिप्रज्ञप्तधर्मस्य श्रवणता दुर्लभा । यतोऽभाणि-" सुलहा सरलोयसिरी, रयणायरमेहला मही सुलहा । निव्वुइसुहजणियरुइं, जिणवयणसुइं जए दुलहा ॥ १ ॥ " इति । श्रुतस्य वा श्रद्धानता दुर्लभा । उक्तं च-" आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा । सोच्चा नेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सइ " ॥ १ ॥ इति । स्था० ६ ठा० ।

उक्तं च--

" लब्भइ सुरसामित्तं, लब्भइ पहुअत्तणं न संदेहो ।
इक्को नवरि न लब्भइ, जिणिंदवरदेसिओ धम्मो ॥ १ ॥
धम्मो पवित्तिरूवो, लब्भइ कइयावि निरयदुक्खभया ।
जो निव्वसुखसहावो, सो धम्मो दुल्लहो लोए ॥ २ ॥
नियवत्थुधम्मसवणं, दुलहं वुत्तं जिणिंदआणा य ।
अंतप्फासणमेग-त्त हुंति केसिंवि धीराणं ॥ ३ ॥ " अष्ट० २ अष्ट० ।

" एसो य असइ दोसा-सेवणओ धम्मवज्झचित्ताणं ।
ता धम्मे जइयव्वं, सम्मं सइ धीरपुरिसेहिं " ॥ १ ॥ इति ।
ध्या० ६ अ० ।

(२३) मनुजत्वदुर्लभत्वमुक्त्वा तद्वाप्तावनुत्तरोत्तरगुणाप्राप्तिरति दुर्लभेत्याह–

अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे,
उत्तमधम्मसुती हु दुल्लहा ।
कुतित्थणिसेवए जणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१७॥
लद्धूण वि उत्तमं सुइं,
सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।
मिच्छत्तणिसेवए जणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १८ ॥
धम्मं पि हु सद्दहंतया,
दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहिँ मुच्छिया,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २० ॥

कथञ्चिदहीनपञ्चेन्द्रियतामप्युक्तन्यायतोऽतिदुर्लभामपि स इति जन्तुर्भेत प्राप्नुयात्, तथाऽप्युत्तमः प्रधानो यो धर्मस्तस्य श्रुतिराकर्णना या सा तथा, हुरवधारणे, भिन्नक्रमश्च । ततो दुर्लभैव, किमिति ?, यतः कुत्सितानि च तानि तीर्थानि च कुतीर्थानि शाक्योलूकाऽऽदिप्ररूपितानि, तानि विद्यन्ते येषामनुष्ठेयतया स्वीकृतत्वात्ते कुतीर्थिनः, तांश्चितरां सेवते यः कुतीर्थिनिषेवको जनो लोकः, कुतीर्थिनो हि यशःसत्काराऽऽद्येषिणो यदेव प्राणिप्रियं विषयाऽऽदि, तदेवोपदिशन्ति, तत्तीर्थकृतामप्येवंविधत्वात् । उक्तं हि–"सत्कारयशोलाभार्थिभिश्च मूढैरिहान्यतीर्थकरैः । अवसादितं जगदिदं, प्रियाण्यपथ्यान्युपदिशद्भिः ॥ १ ॥" इति सुकरैव तेषां सेवा, तत्सेवनाच्च कुत उत्तमधर्मश्रुतिः ? । पठ्यते च–"कुतित्थणिसेवए जणे" इति स्पष्टम् । एवं तद्दुर्लभत्वमवधार्य समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । किं च–लब्ध्वाऽपि उत्तमधर्मविषयत्वादुत्तमां तां श्रुतिमुक्तरूपां, श्रद्धानं तत्त्वरुचिरूपं, (पुणरावि त्ति) पुनरपि दुर्लभं दुरापमपि । इहैव हेतुमाह–मिथ्याभावो मिथ्यात्वम्–अतत्त्वेऽपि तत्त्वप्रत्ययरूपं, तन्निषेवते यः स मिथ्यात्वनिषेवकः, जनो लोकोऽनादिभवाभ्यस्ततया गुरुकर्मतया च तत्रैव च प्रायः प्रवृत्तेः । यत एवमतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । अन्यच्च–धर्मं प्रक्रमात् सर्वज्ञप्रणीतम्, अपिर्भिन्नक्रमः दुर्वाक्यासङ्गारे । ततः श्रद्दधतोऽपि कर्तुमभिलषन्तोऽपि दुर्लभकाः कायेन शरीरेण, उपलक्षणत्वान्मनसा वाचा च स्पर्शका अनुष्ठातारः । कारणमाह–इहास्मिन् जगति कामगुणेषु मूर्च्छिता मूढाः, मूर्च्छिमन्त इत्यर्थः । जन्तव इति शेषः । प्रायेण ह्यपथ्येष्वेव विषयेष्वभिष्वङ्गः प्राणिनाम्, यत उक्तम्–"प्रायेण हि यदपथ्यं, तदेव चाऽऽतुरजनप्रियं भवति । विषयाऽऽतुरस्य जगत-स्तथाऽनुकूलाः प्रिया विषयाः ॥१॥" पाठान्तरतः–कामगुणैर्मूर्च्छिता इव मूर्च्छिताः विलुप्तधर्मविषयचैतन्यत्वात् यतश्चैवमतो दुरापामिमामवेत्य धर्मसामग्रीमवाप्य समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति । उत्त० पाई० १० अ० । ध्या० ।

(२४) पर्यायच्युतस्यैहिकं दोषमाह–

धम्माओ भट्ठं सिरिओववेयं,
जन्नग्गि विज्झायमिवऽप्पतेअं ।
हीलंति णं दुव्विहिअं कुसीला,
दाढुद्धिअं घोरविसं व नागं ॥ १२ ॥

धर्मात् श्रमणधर्मतः, भ्रष्टं च्युतं, श्रियाऽपपेतं तपोलक्ष्म्या अपगतं, यज्ञाग्निमिवाग्निहोत्रानिलं, विध्यातमिव यागावसानेऽल्पतेजसम्, भस्मशब्दो भावतेजःशून्यं भस्मकल्पमित्यर्थः, हीलयन्ति कदर्थयन्ति, पतितस्त्वमिति पङ्क्त्याऽपसारणाऽऽदिना, एनमुन्निष्क्रान्तं, दुर्विहितमुन्निष्क्रमणादेव दुष्टानुष्ठायिनं, कुशीलास्तत्संसर्गोचिता लोकाः, स एव विशेष्यते–(दाढुद्धियं ति) प्राकृतशैल्या उद्धृतदंष्ट्रमुत्खातदंष्ट्रं, घोरविषमिव रौद्रविषमिव, नागं सर्पं यथाग्निसर्पोपमानं, लोकनीत्या प्रधानभावाद्प्रधानभावव्यापमार्थमिति सूत्रार्थः ॥१२॥

एवमस्य भ्रष्टशीलस्यौचितयैहिकं दोषमभिधाय ऐहिकाऽऽमुष्मिकमाह–

इहेव धम्मो अयसो अकित्ती,
दुन्नामधिज्जं च पिहुज्जणम्मि ।
चुअस्स धम्माओ अहम्मसेविणो,
संभिन्नवित्तस्स य हिट्ठओ गई ॥ १३ ॥

इहैवेहलोके एवाधर्म इत्ययमधर्मफलेन दर्शयति, यदुतायशः अपराक्रमकृतं न्यूनत्वं, तथा–अकीर्तिरदानपुण्यफलप्रवादरूपा, तथा–दुर्नामधेयं च 'पुराणः पतितः' इति कुत्सितनामधेयं च । केत्याह–पृथग्जने सामान्यलोकेऽप्यास्तां विशिष्टलोके, कस्येत्याह–च्युतस्य धर्मात्, तत्प्रव्रजितस्येति भावः । तथा–अधर्मसेविनः कलत्राऽऽदिनिमित्तं षट्कायोपमर्दकारिणः, तथा–संभिन्नवृत्तस्य चाखण्डनीयखण्डितचारित्रस्य च क्लिष्टकर्मबन्धनात् अधस्ताद्गतिर्नरकेषूपपात इति सूत्रार्थः ॥१३॥

अस्यैव विशेषप्रत्यपायमाह–

भुंजित्तु भोगाइँ पसज्झचेअसा,
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं ।
गई च गच्छे अणभिज्झिअं दुहं,
बोही अ से नो सुलहा पुणो पुणो ॥ १४ ॥

स तत्प्रव्रजितो भुक्त्वा भोगान् शब्दाऽऽदीन्, प्रसह्यचेतसा धर्मनिरपेक्षतया प्रकटेन चित्तेन, तथाविधमज्ञोचितधर्मफलं, कृत्वाऽभिनिर्वृत्य, असंयमं कृत्याद्यारम्भरूपं, बहुमसन्तोषात् प्रभूतं, स इत्थं भूतो मृतः सन्, गतिं च गच्छत्यनभिध्यातां अनिष्टां, दुःखामिष्टामित्यर्थः । काचित् सुखाऽप्येवंभूता भवत्यत आह–दुःखां प्रकृत्यैवासुन्दरां दुःखजननीं, बोधिश्चासौ जिनधर्मप्राप्तिश्चास्योन्निष्क्रान्तस्य न सुलभा पुनः पुनः प्रभूतेष्वपि जन्मसु दुर्लभैव, प्रवचनविराधकत्वादिति सूत्रार्थः ॥
यस्मादेवं तस्मादेवं तदुत्पन्नदुःखोऽप्येतदनुचिन्त्य नोत्प्रव्रजितुमित्याह–

इमस्स ता नेरइअस्स जंतुणो,
दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो ।

पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं,
किमंग ! पुण मज्झ इमं मणोदुहं ॥ १५ ॥

अस्य तावदित्यात्मन एव निर्देशः, नारकस्य जन्तोः, नरकमनुप्राप्तस्येत्यर्थः । दुःखोपनीतस्य सामीप्येन प्राप्तदुःखस्य, क्लेशवृत्तेः एकान्तक्लेशवृत्तिनस्य सतो, नरक एव पल्योपमं क्षीयते, सागरोपमं च यथाकर्मप्रत्ययम, किमङ्ग ! पुनर्ममेदं संयमारतिनिष्पन्नं मनोदुःखं तथाविधक्लेशशोषरहितम्, एतत् क्षीयत एवेतच्चिन्तनेन नोत्प्रव्रजितव्यमिति सूत्रार्थः ॥१५॥

विशेषेणैतदेवाऽऽह-

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई,
असासया भोगपिवास जंतुणो ।
न चे सरीरेण इमेणऽवस्सई,
अवस्सई जीविअपज्जवेण मे ॥ १६ ॥

न मम चिरं प्रभूतं कालं दुःखमिदं संयमारतिलक्षणं भविष्यति । किमित्यत आह-अशाश्वती प्रायो यौवनकालावस्थायिनी, भोगपिपासा विषयतृष्णा, जन्तोः प्राणिनः । अशाश्वतीत्वे एव कारणान्तरमाह-न चेच्छरीरेणानेनापयास्यति न यदि शरीरेणानेन करणभूतेन वृद्धस्यापि सतोऽपयास्यति, तथाऽपि किमाकुलत्वं यतोऽपयास्यति जीवितपर्यायेण जीवितस्यापगमेन, मरणेनेत्येवंनाम्नः स्यादिति सूत्रार्थः ॥१६॥

अस्यैव फलमाह-

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ,
चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।
तं तारिसं नो पइलंति इंदिआ,
उवेंति वाया व सुदंसणं गिरिं ॥ १७ ॥

यस्येति साधोः, एवमुक्तेन प्रकारेण, आत्मा, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् आत्मैव, भवेन्निश्चितो दृढः, स त्यजेद्देहं कथंचित्तथाविधे उपस्थिते, न तु धर्मशासनं न पुनर्धर्माज्ञामिति, तं तादृशं धर्मनिश्चितं, न प्रचालयन्ति संयमस्थानात् कम्पयन्तीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि । निदर्शनमाह-उत्पतद्वाता इव संपतत्पवनाः इव सुदर्शनं गिरिं मेरुम् । एतदुक्तं भवति-यथा मेरुं वाता न चालयन्ति तथा तमपीन्द्रियाणीति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥

उपसंहरन्नाह-

इच्चेव संपस्सिअ बुद्धिमं नरो,
आयं उवायं विविहं विआणिआ ।
काएण वाया अदु माणसेणं,
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिज्जासि ॥१८॥

इत्येवमध्ययनोक्तं दुष्प्रजीविन्याऽऽदि संप्रेक्ष्याऽऽदित आरभ्य यथावद् दृष्ट्वा बुद्धिमान्नरः सम्यग्बुद्ध्युपेतः, आयमुपायं विविधं विज्ञाय, आयः सम्यग्ज्ञानाऽऽदेः, उपायस्तत्साधनप्रकारः कालविनयाऽऽदिर्विविधोऽनेकप्रकारस्तं ज्ञात्वा, किमित्याह-कायेन, वाचा, अथ-मनसा, त्रिभिरपि करणैर्यथाप्रवृत्तैः त्रिगुप्तिगुप्तः सन् जिनवचनमर्हदुपदेशमधितिष्ठेत यथाशक्ति तदुक्तक्रियापालनपरो भूयात, अस्य सिद्धौ तत्त्वतो मुक्तिसिद्धेरिति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥ दश० १ चू० ।

(२५) किमभिसन्धय धर्ममाचक्षीतेति दर्शयति-

दयं लोगस्स जाणित्ता पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं आइक्खे विभए किट्टे वेदवी से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए संतिं विरतिं उवसमं णिव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणइवत्तियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खेज्जा ।

दयां कृपां लोकस्य जन्तुलोकस्योपरि द्रव्यतो ज्ञात्वा, क्षेत्रतः प्राचीनं, प्रतीचीनं दक्षिणमुदीचीनम्, अपरामपि दिग्विभागानभिसमीक्ष्य सर्वत्र दयां कुर्वन् धर्ममाचक्षीत, कालतो यावज्जीवं, भावतोऽरक्तोऽद्विष्टः; कथमाचक्षीत ? । तद्यथा-सर्वे जन्तवो दुःखद्विषः सुखलिप्सव आत्मोपमया सदा द्रष्टव्या इति । उक्तं च-"तत्परस्य संदध्या--त्प्रतिकूलं यदात्मनः । एष सांग्रहिको धर्मः, कामादन्यत् प्रवर्त्तते ॥ १ ॥" इत्यादि । तथा धर्ममाचक्षाणो विभजेत् द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदैराक्षेपण्यादिकथाविशेषैर्वा प्राणातिपातमृषावादादत्ताऽऽदानमैथुनपरिग्रहरात्रिभोजनविरतिविशेषैर्वा धर्मं विभजेत्, यदि वा कोऽयं पुरुषः कं नतो देवताविशेषमभिगृहीतोऽनभिगृहीतो वा एवं विभजेत, तथा कीर्त्तयेद् व्रतानुष्ठानफलं, कोऽसौ कीर्त्तयेद् ?, वेदवित् आगमवित् इति । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-" जे खलु भिक्खू बहुस्सुए बज्झागमे आहरणहेउकुसले धम्मकहालद्धिसंपन्ने खेत्तं कालं पुरिसं समासज्ज केऽयं पुरिसे कं वा दरिसणमभिसंपन्नो एवं गुणजाईए पभू धम्मस्स आघवित्तए । " इति कण्ठ्यम् । स पुनः केषु निमित्तभूतेषु कीर्त्तयेदित्याह-(से उट्ठिएसु वा इत्यादि) स आगमवित् उत्थितेषु वा भावोत्थानेन यतिषु, धाशब्द उत्तरापेक्षया पक्षान्तरद्योतकः । पार्श्वनाथशिष्येषु चातुर्यामोत्थितेष्वेव, वर्द्धमानतीर्थाऽऽचार्याऽऽदिः पञ्चयामं धर्मं प्रवेदयेदिति स्वशिष्येषु वा सदोत्थितेष्वज्ञातज्ञापनाय धर्मं प्रवेदयेदिति । अनुत्थितेषु वा श्रावकाऽऽदिषु शुश्रूषमाणेषु धर्मं श्रोतुमिच्छत्सु गुर्वादेः पर्युपासनं कुर्वत्सु वा संसारोत्तरणाय धर्मं प्रवेदयेत । तत्किंभूतं प्रवेदयेदित्याह-"संति" इत्यादि, यावत् " भिक्खू धम्ममाइक्खेज्जा " शमनं शान्तिरहिंसेत्यर्थः । तामाचक्षीत, तथा विरतिम, अनेन च मृषावादाऽऽदिशेषव्रतसंग्रहः । तमुपशमं क्रोधजयात्, अनेन चोत्तरगुणसंग्रहः, तथा निर्वृतिर्निर्वाणं मूलगुणोत्तरगुणयोरैहिकाऽऽमुष्मिकफलभूतमाचक्षीत । तथा, शौचं सर्वोपाधिशुचित्वं निर्व्यलीकव्रतधारणं, तथा आर्जवं मायावक्रतापरित्यागात्, तथा मार्दवं मानस्तब्धतापरित्यागात्, तथा लाघवं सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरित्यागात् । कथमाचक्षीतेति दर्शयति-अनतिपत्य । यथावस्थितं वस्त्वागमाभिहितं, तथाऽनतिक्रम्येत्यर्थः, केषां कथयति ?, सर्वेषां प्राणिनां, दशविधाः प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणिनस्तेषां सामान्यतः संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां, तथा सर्वेषां भूतानां मुक्तिगमनयोग्येन भव्यत्वेन भूतानां व्यवस्थितानां, तथा सर्वेषां जीवानां जिजीविषूणां च, तथा सर्वेषां सत्त्वानां तिर्यङ्नरामराणां संसारे क्लिश्यमानतया करुणाऽऽस्पदानाम, प-

कार्यकाणि यानि प्राणाऽऽदीनि वचनानीत्यतस्तेषां क्षान्त्यादिकं दशविधं धर्मं यथायोगं प्राणुपश्यस्तं शान्त्यादिपदाभिहितमनु विचिन्त्य स्वपरोऽयं निरूपणशीलो भिक्षुर्धर्मकथालब्धिमानाचक्षीत प्रतिपादयेदिति ।

यथा च धर्मं कथयेत्तदाह-

अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे णो अत्ताणं आसाइज्जा, णो परं आसाएज्जा, णो अण्णाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं आसाएज्जा, से अणासायए अणासायमाणे वज्झमाणाणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे, एवं से सरणं भवति महामुणी ।

"अणुवीइ भिक्खू" इत्यादि यावत् "सरणं भवति महामुणि त्ति"। स भिक्षुर्मुमुक्षुरनुविचिन्त्य पूर्वापरेण धर्मं पुरुषं वाऽऽलोच्य यो यस्य कथनयोग्यस्तं धर्ममाचक्षाणः, आङिति मर्यादायां, यथाऽनुष्ठानं सम्यग्दर्शनाऽऽदेः शातना आशातना, तमात्मानं नो आशातयेत्, तथा धर्ममाचक्षीत, यथाऽऽत्मन आशातना न भवेत् । यदि वा आत्मन आशातना द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च : द्रव्यतो यथाऽऽहारोपकरणाऽऽदेर्द्रव्यस्य कालातिपाताऽऽदिकृताऽऽशातना बाधा न भवति तथा कथयेत्, आहाराऽऽदिद्रव्यबाधया च शरीरस्यापि पीडाभावाऽऽशातनारूपा स्यात्, कथयतो वा यथा गात्रभङ्गरूपा भावाऽऽशातना न तस्य स्यात्तथा कथयेदिति । तथा न परं शुश्रूषुराशातयेत्, यतः परो हीलनया कुपितः सन्नाहारोपकरणशरीरान्यतरपीडायै प्रवर्तेताऽतस्तदाशातनां वर्जयन् धर्मं ब्रूयादिति । तथा नान्यान् वा सामान्येन प्राणिनो भूतान् जीवान् नो आशातयेद् बाधयेत्, तदेवं स मुनिः स्वतोऽनाशातकैरनाशातयन् तथा परानाशातयतोऽननुमन्यमानोऽपरेषां वध्यमानानां प्राणिनां भूतानां सत्त्वानां जीवानां यथा पीडा नोत्पद्यते तथा धर्मं कथयेदिति । तद्यथा यदि लौकिककुप्रावचनिकपार्श्वस्थाऽऽदिदानानि प्रशंसत्यवटतडागाऽऽदीनि वा, ततः पृथिवीकायाऽऽदयो व्यापादिता भवेयुः, अथ दूषयति-ततोऽपरेषामन्तरायाऽऽपादनेन तत्कृतो बन्धविपाकानुभवः स्यात् । उक्तं च-" जे उ दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं । जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥१॥" तस्मादवटतडागाऽऽदिविधिप्रतिषेधव्युदासेन यथाऽवस्थितं दानं शुद्धं प्ररूपयेदसावद्यानुष्ठानं चेति । एवं च कुर्वन्नुभयदोषपरिहारी जन्तूनामाश्वासभूमिर्भवतीत्येतद् दृष्टान्तद्वारेण दर्शयति-यथाऽसौ द्वीपोऽसंदीनः शरणं भवत्येवमसावपि महामुनिः तदुक्तोपायोपदेशतो वध्यमानानां बधकानां च तदध्यवसायाभिवर्तने, न विशिष्टगुणस्थानाऽऽपादनाच्छरण्यो भवति । तथाहि-यथादिष्टेन कथाविधानेन धर्मकथां कथयन् कांश्चन प्रव्राजयति, कांश्चन श्रावकान्विधत्ते, कांश्चन सम्यग्दर्शनयुतान् करोति, केषाञ्चित्प्रकृतिभद्रतामापादयति । आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

किञ्चान्यत्-

सयं समेच्चा अदुवा वि सोच्चा,
भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं ।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा,
ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ॥ १९ ॥

स्वयमात्मना परोपदेशमन्तरेण समेत्य ज्ञात्वा चतुर्गतिकं संसारं, तत्कारणानि च मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपाणि, तथाऽशेषकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं, तत्कारणानि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, एतत्सर्वं स्वत एवावबुध्यान्यस्माद्वाऽऽचार्याऽऽदेः सकाशात् श्रुत्वाऽन्यस्मै मुमुक्षवे धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यं भाषेत । किम्भूतम्?, प्रजायन्त इति प्रजाः स्थावरजङ्गमा जन्तवः, तेभ्यो हितं सदुपदेशदानतः सदोपकारिणं धर्मं ब्रूयादिति । उपादेयं प्रदर्श्य हेयं प्रदर्शयति-ये गर्हिता जुगुप्सिता मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः कर्मबन्धहेतवः, सह निदानेन वर्तन्त इति सनिदानाः, प्रयुज्यन्त इति प्रयोगा व्यापाराः, धर्मकथाप्रबन्धा वा ममास्मात्सकाशात्पूजालाभसत्काराऽऽदिकं भविष्यतीत्येवंभूतनिदानाऽभ्यंसाकाङ्क्षास्तांश्चारित्रविघ्नभूतान् महर्षयः सुधीरधर्माणो न सेवन्ते नानुतिष्ठन्ति । यदि वा-ये गर्हिताः सनिदाना वाक्प्रयोगाः, तद्यथा-कुतीर्थिकाः सावद्यानुष्ठानाविरता निःशीला अभिभूताः कुटिलबोटककारिण इत्येवंभूतान् परदोषोद्घाटनया मर्मवेधिनः, सुधीरधर्माणो वाक्प्रयोगान् न सेवन्ते न ब्रुवत इति ॥ १९ ॥

किं चान्यत्-

केसिंचि तक्काइ अबुज्झ भावं,
खुद्दं पि गच्छेज्ज असद्दहाणे ।
आउस्स कालाइचरं वघाए,
लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ॥ २० ॥

केषाञ्चिन्मिथ्यादृष्टीनां कुतीर्थिकभावितानां स्वदर्शनाग्राहिणां, तर्कया वितर्केण स्वमतिपर्यालोचनेन, भावमभिप्रायं दुष्टान्तःकरणवृत्तित्वमबुद्ध्वा कश्चित्साधुः श्रावको वा स्वधर्मस्थापनेच्छया तीर्थिकतिरस्कारप्रायं वचो ब्रूयात्, स च तीर्थिकस्तद्वचोऽश्रद्दधानोऽत्यर्थमप्रतिपाद्यमानोऽतिकटुकं भावयेत, क्षुद्रत्वमपि गच्छेद्विरूपमपि कुर्यात्, पालकपुरोहितवत् स्कन्दकाऽऽचार्यस्येति । क्षुद्रत्वगमनमेव दर्शयति-स निन्दावचनकुपितोऽपि वक्तुर्यदायुस्तस्याऽऽयुषो व्याघातरूपं परिक्षयलक्षणं कालातिचारं दीर्घस्थितिकमप्यायुः संवर्तेत । एतदुक्तं भवति-धर्मदेशना हि पुरुषविशेषं ज्ञात्वा विधेया । तद्यथा-कोऽयं पुरुषो राजाऽऽदिः कञ्चन देवताविशेषं नतः कतरद्वा दर्शनमाश्रितोऽभिगृहीतोऽनभिगृहीतो वाऽयमित्येवं सम्यक् परिज्ञाय यथार्हं धर्मदेशना विधेया । यश्चैतदबुद्ध्वा किञ्चिद्धर्मदेशनाद्वारेण परविरोधकृद्वचो ब्रूयात् स परस्मादैहिकाऽऽमुष्मिकयोर्मरणाऽऽदिकमपकारं प्राप्नुयादिति । यत एवं ततो लब्धमनुमानं येन पराभिप्रायपरिज्ञाने स लब्धानुमानः परेषु प्रतिपाद्येषु यथायोगं यथार्हप्रतिपत्त्याऽर्थान् सद्धर्मप्ररूपणाऽऽदिकान् जीवाऽऽदीन् स्वपरोपकाराय ब्रूयादिति ॥ २० ॥ सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

से भिक्खू धायसे अन्नयरं दिसं अणुदिसं वा पडिवन्ने धम्मं आइक्खे विभए किट्टे उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए संतिविरतिं उवसमं निव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवातियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं०जाव सत्ताणं अणुवाइं किट्टिए धम्मं ॥ ५७ ॥

स भिक्षुराहारोपधिशयनस्वध्यायाऽऽदीनां मात्रां जानातीति तद्विधिज्ञः सन् अन्यतरां दिशमनुदिशं वा प्रतिपन्नः समाश्रितो धर्ममाख्यापयेत्, यथेन विधेयस्तद्यथा–भागं विभजेत्कर्मफलानि च कीर्तयेद्वाविर्भावयेत्, तच्चैकार्थप्रवृत्तेन साधुना सम्यगुपस्थितेषु वा कौतुकाऽऽदिप्रवृत्तेषु शुश्रूषमाणेषु श्रोतु प्रवृत्तेषु स्वपराभिप्रायं वेदयेद्वाविर्वेदयेत्कथयेदिति यावत्। श्रोतुमुपस्थितेषु यत्कथयेत्तद्दर्शयितुमाह–(संतिविरइं इत्यादि) शान्तिरुपशमः क्रोधजयस्तत्प्रधाना प्राणातिपातिक्र्या विरतिः शान्तिविरतिः। यदि वा–शान्तिरशेषक्लेशापगमरूपा तस्यैतदर्थे विरतिस्तां कथयेत्, तथोपशममिन्द्रियोपशमरूपं रागद्वेषाभावजनितम्। तथा–निर्वृतिं निर्वाणमशेषद्वन्द्वोपरमरूपं, तथा (सोयवियं ति) शौचं, तदपि भावशौचं, सर्वोपाधिशुद्धता व्रतामालिन्यम्। (अज्जवियं ति) आर्जवममायित्वं, तथा–मार्दवं मृदुभावं सर्वत्र प्रश्रयवत्त्वं विनयनम्रतेति यावत्। तथा–(लाघवियं ति) कर्मणां लाघवाऽऽपादनं कर्मगुरोर्वाऽऽत्मनः कर्मापनयनतो लघ्ववस्थासंजननम्। साम्प्रतमुपसंहारद्वारेण सर्वशुभानुष्ठानानां मूलकारणमाह–अतिपतनमतिपातः प्राण्युपमर्दनं, तद्विद्यते यस्यासावतिपातिकस्तत्प्रतिषेधादनतिपातिकस्तं, सर्वेषां प्राणिनां भूतानां यावत्सत्त्वानां धर्ममनुविचिन्त्य वा कीर्तयेत्कथयेत्। इदमुक्तं भवति–सर्वप्राणिनां रक्षाभूतं धर्मं कथयेदिति॥ ५७॥

साम्प्रतं धर्मकीर्तनं यथानिरूपितमभिभवति तथा दर्शयितुमाह–

से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो लेणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो अन्नेसिं विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा, नन्नत्थ कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा ॥ ५८ ॥

स भिक्षुः परकृतपरिनिष्ठिताऽऽहारभोजी यथाक्रियाकालाऽनुष्ठायी शुश्रूषत्सु सुधर्मं कीर्तयन्नात्मनो हेतोरिममायर्माश्वरो धर्मकथाप्रश्रवणं विशिष्टमाहारजातं दास्यतीति, एतन्निमित्तं न धर्ममाचक्षीत, तथा पानवस्त्रलयनशयननिमित्तं न धर्ममाचक्षीत। नान्येषां विरूपरूपाणामुच्चावचानां कार्याणां कामभोगानां वा निमित्तं तथा धर्ममाचक्षीत, ग्लानिमुपगच्छन् न धर्ममाचक्षीत। कर्मनिर्जरायाश्चान्यत्र न धर्मं कथयेदपरप्रयोजननिरपेक्ष एव धर्मं कथयेदिति ॥ ५९ ॥

धर्मकथाश्रवणफलप्रदर्शनद्वारेणोपसंजिघृक्षुराह–

इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया जे ते एवं सव्वोवगता ते एवं सव्वोवरता ते एवं सव्वोवसंता ते एवं सव्वत्ताए परिनिव्वुडे त्ति बेमि ॥ ५९ ॥

इहास्मिन् जगति, खलुर्वाक्यालङ्कारे। तस्य भिक्षोर्गुणवतोऽन्तिके समीपे पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं धर्मं श्रुत्वा निशम्यावगम्य सम्यगुत्थानेनोत्थाय वी(वी)राः कर्मविदारणसहिष्णवो, ये चैवंभूतास्ते एवं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टानुष्ठानतया सर्वस्मिन्नपि मोक्षकारणसम्यग्दर्शनाऽऽदिके उप सामीप्येन गताः सर्वोपगतास्तथैवं सर्वेभ्य उपरताः सर्वोपरताः, तथा त एवं सर्वोपशान्ता जितकषायतया शीतीभूताः, तथा एवं सर्वाऽऽत्मतया सर्वसामर्थ्येन सदनुष्ठानेनोद्यमं कृतवन्तो, ये चैवंभूतास्तेऽशेषकर्मक्षयं कृत्वा परि समन्तान्निर्वृत्ता अशेषकर्मक्षयं कृतवन्त इति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ५९ ॥ सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

(२६) इह भवजलधिनिमग्नसत्त्वाभ्युद्धरणार्थोऽभ्युद्यतेन स्वहितसंपादननिपुणेन गुरुलाघवचिन्तावता प्रश्नार्थव्याकरणसमर्थेन विदुषा सद्धर्मपरीक्षायां यत्नो विधेयः, सा च परीक्षकमन्तरेण न संभवति, तदविनाभावित्वात्परीक्षायाः; सद्धर्मपरीक्षकाऽऽदिभावप्रतिपादनार्थं च आर्यषोडशाधिकारप्रतिबद्धं प्रकरणमारेभे हरिभद्रसूरिः, तस्य चाऽऽदावेव प्रयोजनाभिधेयसम्बन्धप्रतिपादनार्थमिदमार्यासूत्रं जगाद–

प्रणिपत्य जिनं वीरं, सद्धर्मपरीक्षकाऽऽदिभावानाम्।
लिङ्गाऽऽदिभेदतः खलु, वक्ष्ये किञ्चित्समासेन ॥१॥

प्रणिपत्य नमस्कृत्य, जिनं जितरागद्वेषमोहं सर्वज्ञं वीरं सदेवमनुष्यासुरलोके श्रमणो भगवान् महावीर इत्यागमप्रसिद्धनामानमनेनेष्टदेवतास्तवद्वारेण मङ्गलमाह। सद्धर्मपरीक्षकादिविधो वक्ष्यमाणस्तदादयो ये भावास्तेषां किञ्चिदित्यस्य स्वरूपमात्राभिधायित्वाल्लेशं वक्ष्ये लिङ्गाऽऽदिभेदतः खल्विति लिङ्गवृत्ताऽऽदिविशेषप्रतिपादनद्वारेण यद्यप्यपरैरेव पूर्वाचार्यैः सद्धर्मपरीक्षाऽऽश्रयो भावाः स्फुटमेवाभिहितास्तथाऽप्यहं समासेनैवाभिधास्यामीति (१) ॥

सद्धर्मपरीक्षकस्य त्रिविधस्य व्यापारमुपदर्शयति–

बालः पश्यति लिङ्गं, मध्यमबुद्धिर्विचारयति वृत्तम्।
आगमतत्त्वं तु बुधः, परीक्षते सर्वयत्नेन ॥ २ ॥

बालो विशिष्टविवेकविकलो लिङ्गं वेषमाकारं बाह्यं पश्यति, प्रधानेन धर्मार्थिनोऽपि तस्य तत्रैव भूयसा रुचिप्रवृत्तेः। मध्यमबुद्धिर्मध्यमविवेकसंपन्नो, विचारयति मीमांसते, वृत्तं वक्ष्यमाणस्वरूपं प्राधान्येन समाश्रयति, तत्रैवाभिलाषवान्। आगमतत्त्वं त्वागमपरमार्थमैदम्पर्यरूपं, बुधो विशिष्टविवेकसंपन्नः, परीक्षते समीचीनमवलोकयति। सर्वयत्नेन सर्वाऽऽदरेण धर्माधर्मव्यवस्थाया आगमनिबन्धनत्वात्। यत उक्तम्–" धर्माधर्मव्यवस्थायाः, शास्त्रमेव नियामकम्। तदुक्ताऽऽसेवनाद्धर्म–स्त्वधर्मस्तद्विपर्ययात् ॥ १ ॥" ॥ २ ॥

इदानीं पूर्वोक्तानां बालाऽऽदीनामेव लक्षणमाह–

बालो ह्यसदारम्भो, मध्यमबुद्धिस्तु मध्यमाऽऽचारः।
ज्ञेय इह तत्त्वमार्गे, बुधस्तु मार्गानुसारी यः ॥ ३ ॥

बालो हि पूर्वोक्तः असत्प्रसुन्दर आरम्भोऽस्येत्यसदारम्भोऽविद्यमानो वा यदागमे व्यवच्छिन्न तदारम्भ इत्यसदारम्भः, न सदा न सर्वदा स्वशक्तिकालाऽऽद्यपेक्ष आरम्भोऽस्येति वा, मध्यमबुद्धिस्तु पूर्वोक्तो मध्यमाऽऽचार आगमैदम्पर्यविकलत्वात् प्रायशानिकृत्कायांप्रवृत्तेः ज्ञेय इह प्रक्रमे तत्त्वमार्गे परमार्थमार्गे प्रवचनोक्त-

तिनिमित्ते, गुरुस्तूक्तलक्षण एव मार्गानुसारी ज्ञानाऽऽदिमयानुसारी स्वपरयोस्तद्वृद्धिहेतुत्वेन यः स विज्ञेय इति ॥ ३ ॥

कथं पुनर्बाह्यलिङ्गप्राधान्यदर्शिनो बालत्वमित्याह-

बाह्यं लिङ्गमसारं, तत्प्रतिबद्धा न धर्मनिष्पत्तिः ।
धारयति कार्यवशतो, यस्माच्च विडम्बकोऽप्येतत् ॥ ४ ॥

बाह्यं बहिर्वर्त्ति दृश्यम्, लिङ्गमाकारो वेषस्तदसारम् । यतस्तत्प्रतिबद्धा तदविनाभाविनी, न धर्मनिष्पत्तिर्न धर्मसंसिद्धिर्विदुषां मता । धारयति कार्यवशतः कार्याङ्गीकरणेन स्वाभिप्रेतफलसिद्ध्यै, यस्माच्च विडम्बकोऽप्येनद्धर्मनिष्पत्त्यभावविवक्षया यस्माच्चेति इत्यन्तरसूचनम् । एको हेतुर्बाह्यलिङ्गाद्धर्मनिष्पत्त्यभावो, द्वितीयस्तु कुतश्चिन्निमित्ताद्विडम्बकस्याऽपि तद्धारणमाभ्यां बाह्यलिङ्गमसारम् । स तु बालस्तदेव प्राधान्येन मन्यत इति ॥ ४ ॥

ननु च बाह्यलिङ्गस्य कथमप्राधान्यं भवद्भिरुच्यते, यतस्तत्परिग्रहत्यागरूपमित्याशङ्कयाऽऽह-

बाह्यग्रन्थत्यागात्, न चारु न त्वत्र तदितरस्यापि ।
कञ्चुकमात्रत्यागा-न्न हि भुजगो निर्विषो भवति ॥ ५ ॥

(बाह्यग्रन्थांत्) बाह्यग्रन्थत्यागाद्धनधान्यस्वजनवस्त्राऽऽदित्यागात् न चारु न शोभनं बाह्यलिङ्गं, ननु निश्चितमेतदत्र लोके । तद् बाह्यलिङ्गमितरस्यापि मनुष्यतिर्यक्प्रभृतेः संभवति । एतमेवार्थं प्रतिवस्तूपमया दर्शयति-कञ्चुकमात्रत्यागादुपरिवर्तित्वङ्मात्रपरित्यागान्न हि नैव भुजगः सरीसृपः कथञ्चिन्निर्विषो भवति ॥ ५ ॥

प्रस्तुतमेवार्थं तन्त्रान्तरसंवादेनाऽऽह-

मिथ्याऽऽचारफलमिदं, ह्यपरैरपि गीतमशुभभावस्य ।
सूत्रेऽप्यविकलमेत-त्प्रोक्तममेध्योत्करस्यापि ॥ ६ ॥

मिथ्या अलीको विशिष्टभावशून्य आचारो मिथ्याऽऽचारः, तस्य फलं कार्यमिदं बाह्यलिङ्गं केवलमेव, हि यस्मादपरैरपि तन्त्रान्तरीयैर्गीतं कथितमशुभभावस्याऽन्तरशुभभावरहितस्य पुंसः । मिथ्याऽऽचारस्वरूपं चेदम्-"बाह्येन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा, मिथ्याऽऽचारः स उच्यते ॥ १ ॥" जन्मान्तरोपार्जिताकुशलकर्मविपाक एवैष यद्भोगोपभोगाऽऽदिरहितेन प्रेक्षावत्पुरुषपरिनिन्दनीयं क्लिष्टं जीविकाप्रायं तथाविधबाह्यलिङ्गधारणमिति । तन्त्रान्तरप्रसिद्धमिममर्थमङ्गीकृत्यापरैरपि इत्युक्तम् । न केवलं तन्त्रान्तरेषु, सूत्रेऽप्यागमेऽपि स्वकीयेऽविकलं परिपूर्णमेतद्बाह्यलिङ्गं स्वकीयमेव प्रोक्तं प्रतिपादितमेतद्भाविकपारभाविकलिङ्गाभ्यामनन्तशोऽमेध्योत्करस्याप्युच्चारनिकरकल्पस्यापि, प्रवचनोदिताशेषगुणशून्यस्येति यावत् । यत उक्तम्-"अणंतसो दव्वलिंगाइ ।" ॥ ६ ॥

मध्यमबुद्धिर्विचारयति वृत्तमित्युक्तम् तत्र किं तदित्याह-

वृत्तं चारित्रं स-त्त्वसदारम्भविनिवृत्तिमत्तच्च ।
सदनुष्ठानं प्रोक्तं, कार्ये हेतूपचारेण ॥ ७ ॥

वृत्तं वर्त्तनं विधिप्रतिषेधरूपं, तच्च चारित्रमेव, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, तच्चेह सदनुष्ठानं प्रोक्तम् । तत्कीदृशम् ?, असदारम्भविनिवृत्तिमत्, असदारम्भोऽशोभनाऽऽरम्भः प्राणातिपाताऽऽद्याश्रवपञ्चकरूपः, ततो विनिवृत्तिमदहिंसाऽऽदिनिवृत्तिरूपमहिंसाऽऽद्यात्मकम्, ननु कथं सदनुष्ठानं चारित्रमभिधीयते । यतश्चारित्रमान्तरपरिणामरूपम्, सदनुष्ठानं तु बाह्यसत्क्रियारूपं, तदनयोः स्वरूपभेदः परिस्फुट एवास्तीत्याशङ्कयाऽऽह-कार्ये हेतूपचारेण कार्ये सदनुष्ठानरूपे हेतूपचारेण भावोपचारेण तत्पूर्वकत्वात् सत्क्रियायाः, यच्चाऽऽन्तरपरिणामविकलं तत् सदनुष्ठानमेव न भवतीति भावार्थः ॥ ७ ॥

एतच्च सदनुष्ठानं शुद्धाशुद्धभेदं तद्द्वयमप्याह-

परिशुद्धमिदं नियमा-दान्तरपरिणामतः सुपरिशुद्धात् ।
अन्यदतोऽन्यस्मादपि, बुधविज्ञेयं स्वचारुतया ॥ ८ ॥

परिशुद्धं सर्वप्रकारशुद्धमिदं सदनुष्ठानं नियमान्नियमेनान्तरपरिणामतस्तथाविधचारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमाऽऽदिजन्यात् सुपरिशुद्धादाज्ञानुसारेण सम्यक्त्वज्ञानमूलादिति भावः । अन्यदित्यपरिशुद्धमतोऽन्यस्मादान्तरपरिणामाद्योऽन्यः कश्चिद्धनलाभपूजाख्यात्यादिस्ततोऽन्यस्मादपि प्रवर्त्तते । ननु परिशुद्धाऽपरिशुद्धयोः सदनुष्ठानयोः स्वरूपं तुल्यमेवोपलभामहे, तत्कथं प्रतिनियतस्वरूपतया ज्ञायत इत्याह-(बुधविज्ञेयं स्वचारुतया) बुधैस्तत्त्वविद्भिरेवाचारुतया असुन्दरत्वेनेतररूपाद्विविक्तं तद्विज्ञायते, यथा-अचारिति न पुनरितरैस्तेषां तद्गतविशेषानुपलम्भादिति ॥ ८ ॥

कः पुनर्विशेषो यदुपलम्भात् सदनुष्ठानासदनुष्ठानयोरिदमवधार्यते, परिशुद्धमेतदिति तदुपदर्शनार्थमाह-

गुरुदोषाऽऽरम्भितया, तेष्वकरणयत्नतो निपुणधीभिः ।
सन्निन्दाऽऽदेश्च तथा, ज्ञायत एतन्नियोगेन ॥ ९ ॥

गुरून् दोषान् प्रवचनोपघातकारिण आरब्धुं शीलमस्येति गुरुदोषाऽऽरम्भी, तद्भावस्तया । लघुषु सूक्ष्मेषु दोषेष्वकरणयत्नः परिहाराऽऽदरस्तस्माच्च निपुणधीभिः कुशलबुद्धिभिस्तथा सतां सत्पुरुषाणां साधुश्रावकप्रभृतीनां निन्दाऽऽदिर्निन्दागर्हाप्रद्वेषाऽऽदिस्तस्माच्च ज्ञायत एतदपरिशुद्धानुष्ठानं, नियोगेनाऽऽवश्यंतया, यो हि गुरुदोषाऽऽदिषु प्रवर्त्तते, तस्यान्तःकरणशुद्धेरभावादसदनुष्ठानमेतदिति निश्चीयते ॥ ९ ॥

" आगमतत्त्वं तु बुधः परीक्षते (२) " इत्युक्तं किंपुनस्तदित्याह-

आगमतत्त्वं ज्ञेयं, तद्दृष्टेष्टाविरुद्धवाक्यतया ।
उत्सर्गाऽऽदिसमन्वित-मलमैदम्पर्यशुद्धं च ॥ १० ॥

आगमतत्त्वं ज्ञेयं भवति, तत्कथम् ?, ज्ञेयं, दृष्टं प्रत्यक्षानुमानप्रमाणेनोपलब्धमिष्टमागमेन स्ववचनैरेवाभ्युपगतं ताभ्यामविरुद्धानि वाक्यानि यस्मिन्नागमतत्त्वे तद् दृष्टेष्टाऽविरुद्धवाक्यं तद्भावस्तया योऽर्थः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परिच्छिद्यते तस्मिन् यथाऽऽगमतत्त्वमप्यविरोधि भवति, तद्विरुद्धस्य ताभ्यामेव निराकरणात्, प्रत्यक्षानुमानविरुद्धस्याऽऽगमस्याप्रमाणत्वात्, स्ववचनैरेवाऽऽगमेनाभ्युपगतेऽर्थे प्रदेशान्तरवर्तिनाऽस्यैवाऽऽगमस्य वचनं यदि विरोधि न भवेदित्यर्थस्ततस्तत आगमतत्त्वमिष्टाविरोधिवाक्यं भवति, परस्पराविरोधि वचनमित्यर्थः, तदेव विशिनष्टि-उत्सर्गाऽऽदिसमन्वितमुत्सर्गसामान्यं यथा-"न हिंस्याद् भूतानि" आदिशब्दादपवादो विशेषो ग्लानाऽऽदिप्रयोजनगतस्ताभ्यां युक्तम् । अलमत्यर्थमैदम्पर्यशुद्धं

च, इदं परं प्रधानमस्मिन्वाक्य इतीदंपरं तद्भाव ऐदम्पर्यम्, वाक्यस्य तात्पर्यं शक्तिरित्यर्थस्तेन शुद्धं यदागमतत्त्वं तदिह ज्ञेयमिति ॥ १० ॥

तदेवाऽऽगमतत्त्वमुपन्यस्यति ग्रन्थकारः-

आत्माऽस्ति स परिणामी, बद्धः सत्कर्मणा विचित्रेण ।
मुक्तश्च तद्वियोगा-द्धिंसाऽहिंसाऽऽदि तद्धेतुः ॥ ११ ॥

(आत्माऽस्तीत्यादि) आत्मा जीवः, सोऽस्ति लोकायतमतनिरासेनैव यत्र प्रतिपाद्यते, तदागमतत्त्वमित्येवं पदान्तरेष्वपि सम्बन्धनीयम् । स परिणामी, स पूर्वप्रस्तुत आत्मा परिणामी परिणामसहितः, पञ्चस्वपि गतिष्वन्वयी चैतन्यस्वरूपः पुरुषः, परिणामलक्षणं चेदम्-"परिणामो ह्यर्थान्तर-गमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम् । न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥१॥" स च परिणामी जीवो बद्धः सत्कर्मणा विचित्रेण वस्तु सत्कर्म न काल्पनिकं वासनाऽऽदिस्वभावं, तेन बद्धो जीवप्रदेशकर्मपुद्गलान्योन्यानुगतिपरिणामेन । यथोक्तं बन्धाधिकारे-" तत्र पौद्गलमात्मस्थ-मचेतनमतीन्द्रियम् । बन्धं प्रत्याह सत्कर्म, संततिं प्रत्यनादिकम् ॥ १ ॥ " (मुक्तश्च तद्वियोगात्)कर्मवियोगात्,आत्यन्तिककर्मपरिक्षयात् (हिंसाऽहिंसाऽऽदितद्धेतुरिति) हिंसा आदिर्यस्य तद्धिंसाऽऽदि, प्राणातिपाताऽऽदिपञ्चकम । अहिंसा आदिर्यस्य तदहिंसाऽऽदि, महाव्रतपञ्चकम्, तयोर्बद्धमुक्तयोर्यतो बन्धमोक्षयोर्वा हेतुर्वर्त्तते हिंसाऽद्यहिंसाऽऽदि चेति ॥ ११ ॥

ऐदम्पर्यं शुद्धं चेत्युक्तम् । का पुनरैदम्पर्यशुद्धिरित्याह-

परलोकविधौ मानं, वचनं तदतीन्द्रियार्थदृग् व्यक्तम् ।
सर्वमिदमनादि स्या-दैदम्पर्यस्य शुद्धिरिति ॥ १२ ॥

परलोकविषयो विधिः कर्त्तव्योपदेशस्तस्मिन्, मानं प्रमाणं, वचनमागमः, कीदृशमित्याह-तद्वचनमतीन्द्रियानर्थान् पश्यतीत्यतीन्द्रियार्थदृक्, सर्वज्ञः सर्वदर्शी, तेन व्यक्तमभिव्यक्तार्थं प्रतिपादितार्थमिति यावत् । सर्वमिदं वचनमनादि स्यात् प्रवाहतः सर्वक्षेत्राङ्गीकरणेनेत्यैदम्पर्यस्य शुद्धिरित्येवंप्रकाराऽवसेयेति ॥ १२ ॥ षो० १ विव० ।

अन्यत्राप्युक्तम्-

"तं शब्दमात्रेण वदन्ति धर्मं,
विश्वेऽपि लोका न विचारयन्ति ।
स शब्दसाम्येऽपि विचित्रभेदै-
र्विभिद्यते क्षीरमिवार्जुनीयम् ॥ १ ॥
लक्ष्मीं विधातुं सकलां समर्थं,
सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनम् ।
परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः,
सुवर्णवद् वञ्चनभीतचित्ताः ॥ २ ॥" इति ।

परीक्षोपायमेवाऽऽह-कषाऽऽदिप्ररूपणेति । यथा सुवर्णमात्रसाम्येन तथाविधमुग्धलोकेष्वविचारेणैव शुद्धाशुद्धरूपस्य सुवर्णस्य प्रवृत्तौ कषच्छेदतापाः परीक्षणाय विचक्षणैराद्रियन्ते, तथाऽत्रापि श्रुतधर्मे परीक्षणीये कषाऽऽदीनां प्ररूपणेति । कषाऽऽदीनेवाऽऽह-"विधिप्रतिषेधौ कष इति ।" "विधिरविरुद्धकर्त्तव्यार्थोपदेशकं वाक्यम् ।" यथा-स्वर्गकेवलार्थिना तपोध्यानाऽऽदि कर्त्तव्यं, समितिगुप्तिशुद्धा क्रिया इत्यादि । प्रतिषेधः पुनः-" न हिंस्यात्सर्वभूतानि " " नानृतं वदेत् " इत्यादि । ततो विधिश्च प्रतिषेधश्च विधिप्रतिषेधौ, किमित्याह-कषः सुवर्णपरीक्षायामिव कषपट्टके रेखा । इदमुक्तं भवति-यत्र धर्मे उक्तलक्षणो विधिः,प्रतिषेधश्च पदे पदे सुपुष्कल उपलभ्यते स धर्मः कषशुद्धः । न पुनः-" अन्यधर्मस्थिताः सत्त्वाः, असुरा इव विष्णुना । उच्छेदनीयास्तेषां हि, वधे दोषो न विद्यते ॥ १ ॥" इत्यादिकवाक्यगर्भ इति । छेदमाह-" तत्संभवपालना चेष्टोक्ता छेद इति " । तयोर्विधिप्रतिषेधयोरनाविर्भूतयोः संभवः, प्रादुर्भूतयोश्च पालना रक्षारूपा, ततस्तत्संभवपालनार्थं या चेष्टा भिक्षाऽटनाऽऽदिबाह्यक्रियारूपा, तस्या उक्तिश्छेदः । यथा कषशुद्धावप्यन्तरामशुद्धिमाशङ्कमानाः सौवर्णिकाः सुवर्णगोलिकाऽऽदेः छेदमाद्रियन्ते,तथा कषशुद्धावपि धर्मस्य छेदमपेक्षन्ते । स च छेदो विशुद्धबाह्यचेष्टारूपो,विशुद्धा च चेष्टा सा यया समस्तावपि विधिप्रतिषेधावबाधितरूपौ सात्मानं लभेते, लब्धाऽऽत्मानौ चातीचाररहितापचारविरहितौ, उत्तरोत्तरां वृद्धिमनुभवतः,सा यत्र धर्मे चेष्टा सप्रपञ्चा प्रोच्यते स धर्मश्छेदशुद्ध इति । यथा कषच्छेदशुद्धमपि सुवर्णं तापमसहमानं कालिकोन्मीलनदोषाच्च सुवर्णभावमश्नुते,एवं धर्मोऽपि सत्यामपि कषच्छेदशुद्धौ तापपरीक्षायामनिर्वहमाणो न स्वभावमासादयत्यतस्तापं प्रज्ञापयन्नाह-"उभयनिबन्धनभाववादस्ताप इति ।" उभयोः कषच्छेदयोरनन्तरमेवोक्तरूपयोर्निबन्धनं परिणामि, किमित्याह-तापोऽत्र श्रुतधर्मपरीक्षाऽधिकारे । इदमुक्तं भवति-यत्र शास्त्रे द्रव्यरूपतयाऽप्रच्युतानुत्पन्नः पर्यायात्मकतया च प्रतिक्षणमपरापरस्वभावाऽऽस्कन्दनेनानित्यस्वभावो जीवाऽऽदिरवस्थाप्यते स्यात्तत्र तापशुद्धिः । यतः परिणामिन्येवाऽऽत्माऽऽदौ तथाविधाशुद्धपर्यायनिरोधेन ध्यानाध्ययनाऽऽद्युपरशुद्धपर्यायप्रादुर्भावानुकूललक्षणः कषो बाह्यचेष्टाशुद्धिलक्षणश्च छेद उपपद्यते, न पुनरन्यथेति । एतेषां मध्यात्को बलीयानितरो वेति प्रश्ने यत्कर्त्तव्यं तदाह-" अमीषामन्तरदर्शनमिति ।" अमीषां त्रयाणां परीक्षाप्रकाराणां परस्परमन्तरस्य विशेषस्य समर्थासमर्थरूपस्य दर्शनं कार्यमुपदेशकेन, तदेव दर्शयति-" कषच्छेदयोरयत्न इति "। कषच्छेदयोः परीक्षायामयत्नोऽनादरणीयतायामदरोऽतात्पर्यं मतिमतामिति । कुत इत्याह-" तद्भावेऽपि तापाभावेऽभाव इति । " तयोः कषच्छेदयोर्भावः सत्ता तद्भावस्तस्मिन्, किं पुनस्तदभावे इत्यपिशब्दार्थः । किमित्याह-' तापाभावे ' उक्तलक्षणतापविरहे अभावः परमार्थतोऽसत्त्वमेव परीक्षणीयस्य, न हि तापे विघटमानं हेम कषच्छेदयोः सतोरपि स्वं स्वरूपं प्रतिपद्यमानं, अतिसुवर्णत्वात्तस्य । एतदपि कथमित्याह-" तच्छुद्धौ हि तत्साफल्यमिति । " तच्छुद्धौ तापशुद्धौ, हि यस्मात्तत्साफल्यं तयोः कषच्छेदयोः सफलभावः । तथाहि-ध्यानाध्ययनाऽऽदिकोऽर्थो विधीयमानः प्रागुपात्तकर्मनिर्जरणफलः, हिंसाऽऽदिकश्च प्रतिषिध्यमानो नवकर्मोपादाननिरोधफलः, बाह्यचेष्टाशुद्धिश्चानयोरेवानाविर्भूतयोराविर्भावनाऽऽविर्भूतयोश्च परिपालनेन फलवती स्यात्, न चापरिणामिन्यात्मन्युक्तलक्षणौ कषच्छेदौ स्वकार्यं कर्तुं प्रभविष्णू स्यातामिति, तयोस्तापशुद्धावेव सफलत्वमुपपद्यते न पुनरन्यथेति । ननु फलविकलावपि तौ भविष्यत इत्यत आह-" फलवन्तौ च वास्तवाविति । " उक्तलक्षणफलभाजौ सन्तौ पुनस्तौ कषच्छेदौ वास्तवौ कषच्छेदौ भवतः, स्वसाध्यक्रियाकारिणो हि वस्तुनो वस्तुत्वमुशन्ति सन्तः, विपक्षे बाधामाह-" अन्यथा याचितकमण्डनमिति ।"

अन्यथा फलविकलौ स्तां वस्तुपरीक्षाधिकारे समवतारितावपि तौ याचितकमण्डनम्, द्विविधं ह्यलङ्कारफलं, निर्वाहे सति परिशुद्धाभिमानिकसुखजनिका स्वशरीरशोभा, कथञ्चिन्निर्वहणाभावे च तेनैव निर्वाहः, न च याचितकमण्डने फलद्वितीयमप्यस्ति, परकीयत्वात्तस्य, ततो याचितकमण्डनमिव याचितकमण्डनम्। इदमुक्तं भवति-द्रव्यपर्यायोभयस्वभावे जीवे कषच्छेदौ निरुपचरितनयोपस्थाप्यमानौ स्वफलं प्रत्यवन्ध्यसामर्थ्यावेव स्यातां,नित्याऽऽद्येकान्तवादे तु स्ववादशोभार्थं तद्वादिभिः कल्प्यमानावप्येतौ याचितकमण्डनाऽऽकारौ प्रतिभासेते, न पुनः स्वकार्यकराविति । ध० १ अधि० ।

(२७) कषाऽऽदिस्वरूपमाह-

पाणवहाईआणं, पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो ।
झाणज्झयणाऽऽईणं,जो अ विही एस धम्मकसो ॥२१॥

प्राणवधाऽऽदीनां पापस्थानानां सकललोकसम्मतानां यस्तु प्रतिषेधः शास्त्रे,ध्यानाध्ययनाऽऽदीनां यश्च विधिस्तथैव,एष धर्मकषो वर्त्तत इति गाथाऽर्थः ॥२१॥

बज्झाणुट्ठाणेणं, जेण न बाहिज्जई तयं नियमा ।
संभवइ अपरिसुद्धं,सो उण धम्मम्मि छेउ त्ति ॥ २२ ॥

बाह्यानुष्ठानेन इतिकर्त्तव्यतारूपेण येन न बाध्यते तद्विधिप्रतिषेधद्वयं नियमात् संभवति चैतत्परिशुद्धं निरतिचारं, स पुनस्तादृशः प्रक्रमादुपदेशोऽर्थो बाह्यधर्मच्छेद इति गाथाऽर्थः ।

जीवाऽऽइभाववाओ, बंधाइपसाहगो इहं तावो ।
एएहिँ सुपरिसुद्धो, धम्मो धम्मत्तणमुवेइ ॥ २३ ॥

जीवाऽऽदिभाववादः पदार्थवादः बन्धाऽऽदिप्रसाधको बन्धमोक्षाऽऽदिगुण इह ताप उच्यते । एभिः कषाऽऽदिभिः सुपरिशुद्धः स धर्मः श्रुतानुष्ठानरूपः धर्मत्वमुपैति, सम्यग् भवतीति गाथार्थः ॥२३॥

एएहिँ जो न सुद्धो,अन्नयरम्मि उ ण सुट्टु निव्वडिओ ।
सो तारिसओ धम्मो, नियमेण फले विसंवयइ ॥ २४ ॥

एभिः कषाऽऽदिभिर्यो न शुद्धस्त्रिभिरपि अन्यतरस्मिन् वा कषाऽऽदौ न सुष्ठु निर्घटितः, न व्यक्त इत्यर्थः । स तादृशो धर्मो श्रुताऽऽदिर्नियमादवश्यंतया फले स्वसाध्ये विसंवदति, न तत्साधयतीति गाथार्थः । पं० व० ४ द्वार ।

णाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि,
इच्छापणीता वंकाऽऽणिकेया ।
कालग्गहिता णिचए णिविट्ठा,
पुढो पुढो जाइं पकप्पयंति ॥ १३१ ॥

इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो भवति अहोववाइए फासे पडिसंवेदयंति, चिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं चिट्ठं परिचिट्ठति, अचिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं णो चिट्ठं परिचिट्ठति, एगे वदंति अदुवा वि णाणी णाणी वयंति,अदुवा वि एगे ॥१३२॥ आवंती केयावंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवादं वदंति, से दिट्ठं च णे सुयं च णे मयं च णे विण्णायं च णे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सुपडिलेहियं च णे सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्जावेयव्वा परियावेयव्वा किलामेयव्वा, परिघेतव्वा, उद्दवेयव्वा, एत्थं पि जाणह णत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेयं, तत्थ जे आरिया ते एवं वयासी-से दुद्दिट्ठं च भे दुस्सुयं च भे दुम्मयं च भे दुव्विण्णायं च भे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वतो दुप्पडिलेहियं च भे, जं णं तुब्भे एवमाइक्खह एवं भासह एवं परूवेह एवं पण्णवेह सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा,अज्जावेयव्वा,परितावेयव्वा,किलामेयव्वा परिघेतव्वा, उद्दवेतव्वा,एत्थं पि जाणह णत्थित्थ दोसो.अणारियवयणमेयं,वयं पुण एवमाइक्खामो एवं भासामो एवं परूवेमो एवं पण्णवेमो सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा,ण परिघेतव्वा,ण किलामेयव्वा,ण परितावेयव्वा,ण उद्दवेयव्वा,एत्थं वि जाणह णत्थित्थ दोसो,आरियवयणमेयं,पुव्वं णिकायसमयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि-हं भो पवाइया ! किं भे सायं दुक्खं, उयाहु असायं, समिया पडिवण्णे यावि एवं बूया-सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि ॥ १३३ ॥

(णाणागमो इत्यादि) न ह्यनागमो मृत्योर्मुखस्य कस्यचिदपि संसारोदरवर्त्तिनोऽस्तीति । उक्तं च-

" वद यदीह कश्चिदनुसन्तत-सुखपरिभोगलालितः ।
प्रयत्नशतपरोऽपि विगतव्यथ-मायुरवाप्तवानरः ॥ १ ॥
न खलु नरः सुरौघसङ्घ-सुरकिन्नरनायकोऽपि यः ।
सोऽपि कृतान्तदन्तकुलिश-शाऽऽक्रमेण कृशितो न नश्यति ॥२॥ "
तथाऽपायोऽपि मृत्युमुखप्रतिषेधस्य न कश्चिदस्तीति ।

उक्तं च-

" नश्यति नौति याति वितनोति करोति रसायनक्रियां,
चरति गुरुव्रतानि विवराण्यपि विशति विशेषकातरः ।
तपति तपांसि खादति मितानि करोति च मन्त्रसाधनं,
तदपि कृतान्तदन्तयन्त्रक्रकचक्रमणैर्विदार्यते ॥ १ ॥ "

ये पुनर्विषयकषायाऽभिष्वङ्गात् प्रमत्ता धर्मं नावबुध्यन्ते,ते किंभूता भवन्तीत्याह-(इच्छा इत्यादि)इन्द्रियमनोविषयानुकूला प्रवृत्तिरिहेच्छा, तया विषयाऽभिमुखमतिकर्मबन्धं संसाराभिमुखं वा प्रकर्षेण नीता इच्छाप्रणीताः,ये चैवंभूतास्ते 'वंकाऽऽनिकेता' वक्रस्यासंयमस्य आ-मर्यादया संयमावधिभूतया निकेतभूता आश्रया वङ्काऽऽनिकेताः, वङ्को वा निकेतो येषां ते वङ्कानिकेताः, पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् । ये चैवंभूतास्ते कालगृहीताः कालेन मृत्युना गृहीताः कालगृहीताः, पौनःपुन्यमरणभाज इत्यर्थः, धर्मचरणाय वा गृहीतः-अभिसंधितः कालो यैस्ते कालगृहीताः, आहिताग्निदर्शनाद् दीर्घत्वाद्वा निष्ठान्तस्य परनिपातः । तथाहि--पाश्चात्ये वयसि परुत्परारि वा अपत्यपरिणयनोत्तरकालं वा धर्मं करिष्याम इत्येवं गृहीतकालाः, ये चैवंभूतास्ते निचये निविष्टा निचये कर्मनिचये तदुपादाने वा सावद्याऽऽरम्भनिचये निविष्टा अध्युपपन्नाः, ये चेच्छाप्रणी-

ता बहुानिकेताः कालगृहीता निचये निविष्टास्ते तत्कर्मोणः किमपरं कुर्वन्तीति दर्शयितुमाह-(पुढो पुढो इत्यादि) पृथक् पृथगेकेन्द्रियद्वीन्द्रियाऽऽदिकां जातिमनेकशः प्रकल्पयन्ति प्रकुर्वन्ति । पाठान्तरं वा-" एत्थ मोहे पुणो पुणो " अत्र अस्मिन्मिच्छाप्रणीताऽऽदिके हृषीकानुकूले मोहे कर्मरूपे वा मोहे निमग्नाः पुनः पुनस्तत्कुर्वन्ति येन तत्प्रकृतिः स्यात् । तत्प्रकृतौ च किं स्यादित्याह-(इहमेगेसिं इत्यादि) इहास्मिन्चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके एकेषां मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायवतां तत्र तत्र नरकतिर्यगात्यादिषु यातनास्थानकेषु संस्तवः परिचयो भूयो भूयो गमनाद्भवति । ततः किमित्याह-(अहोववाइए इत्यादि) त एवमिच्छया प्रणीतत्वादिन्द्रियवशगास्तद्वशितत्वात्तदनुकूलमाचरन्तो नरकाऽऽदियातनास्थानजातसंस्तवास्तीर्थिका अप्यौद्देशिकाऽऽदिनिर्दोषमाचक्षाणाः । (अहोववाइए त्ति) अथ औपपातिका नरकाऽऽदिभवान् स्पर्शान् दुःखानुभवान् प्रतिसंवेदयन्ति अनुभवन्ति । तथाहि-लौकायतिका ब्रुवते-" पिब खाद च चारुलोचने! यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते । न हि भीरु ! गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥१॥ " वैशेषिका अपि सावद्ययोगाऽऽरम्भिणः, तथाहि ते भाषन्ते-" अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रो(प्रो)क्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाः " इत्यादि, अन्येऽपि सावद्ययोगानुष्ठायिनोऽनया दिशा वाच्याः, स्यात् किं सर्वोऽपीच्छाप्रणीताऽऽदिर्यो नरकाऽऽदिस्तत्र कृतसंस्तवोऽथ औपपातिकान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयत्याहोस्वित्कश्चिदेव तथाविधकर्मकार्येव वाऽनुभवति !, न सर्व इति दर्शयति (चिट्ठं इत्यादि) 'चिट्ठं' भृशमत्यर्थं, क्रूरैर्वधबन्धाऽऽदिभिः कर्मभिः क्रियाभिः (चिट्ठमिति) भृशमत्यर्थमेव विरूपां दशां वैतरणीतरणासिपत्रवनपत्रपाताभिघातशाल्मलीवृक्षाऽऽलिङ्गनाऽऽदिजनितामनुभवन्तस्तमस्तमाऽऽदिस्थानेषु परितिष्ठन्ति, यस्तु नात्यर्थं हिंसाऽऽदिभिः कर्मभिर्वर्तते सोऽत्यन्तवेदनानिचितेष्वपि नरकेषु नोत्पद्यते । स्यात् क एवं वदतीत्यत आह-(एवं वयंतीत्यादि) एके चतुर्दशपूर्वविदादयो वदन्ति ब्रुवते । अथवाऽपि ज्ञानी वदति, ज्ञानं सकलपदार्थाऽऽविर्भावकमस्यास्तीति ज्ञानी, स चैतद् ब्रवीति-यादृग्ज्ञानी केवली भाषते, श्रुतकेवलिनोऽपि तदेव भाषन्ते, यच्च श्रुतकेवलिनोऽपि भाषन्ते निरावरणज्ञानिनोऽपि तदेव वदन्तीत्येतत्प्रत्यागतसूत्रेण दर्शयति-(णाणी इत्यादि) ज्ञानिनः केवलिनो यद्वदन्ति, अथवाऽप्येके श्रुतकेवलिनो यद्वदन्ति तद्यथार्थभावित्वादेकमेव, एकेषां सर्वार्थप्रत्यक्षत्वादपरेषां तदुपदेशप्रवृत्तेरिति वक्ष्यमाणेऽप्येकवाक्यतेति । तदाह-(आवंतीत्यादि) यावन्तः, (केआवंती ति) केचन लोके मनुष्यलोके श्रमणाः पाषण्डिका ब्राह्मणा द्विजाऽऽदयः पृथक् पृथग् विरुद्धो वादो विवादस्तं वदन्ति । एतदुक्तं भवति-यावन्तः केचन परलोक शीप्सवस्ते आत्मीयदर्शनानुरागितया पारकीयं दर्शनमपवदन्तो विवदन्ते । तथाहि नागवता ब्रुवते-" पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मोक्षः, सर्वव्याप्यात्मा निष्क्रियो निर्गुणश्चैतन्यलक्षणो, निर्विशेषं सामान्यं तत्त्वमिति । " वैशेषिकास्तु भाषन्ते-द्रव्याऽऽदिषट्पदार्थपरिज्ञानान्मोक्षः, समवायिज्ञानगुणेनेच्छाप्रयत्नद्वेषाऽऽदिभिश्च गुणैर्गुणवानात्मा, परस्परनिरपेक्षं सामान्यविशेषाऽऽत्मकं तत्त्वमिति । " शाक्यास्तु वदन्ति-" यथा-परलोकानुयाय्यात्मैव न विद्यते, निःसामान्यं वस्तु क्षणिकं चेति " । मीमांसकास्तु मोक्षमर्वज्ञाभावेन व्यवस्थिता इति । तथा केचिच्चिन् पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतीनामप्यचेतनतामाहुः, तथा द्वीन्द्रियाऽऽदीनामपि कृम्यादीनां न जन्तुत्वभावं प्रतिपद्यन्ते, सद्भावे वा न तद्वधे बन्धोऽल्पकल्पता चेति । तथा-हिंसायामपि भिन्नवाक्यता । तदुक्तम्-" प्राणी प्राणिज्ञानं, घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा । प्राणैश्च विप्रयोगः, पञ्चभिरापद्यते हिंसा ॥ १ ॥ " इत्येवमादिक औद्देशिकपरिभोगाभ्यनुज्ञाऽऽदिकश्च विरुद्धो वादः स्वत एवाभ्यूह्यः । यदि वा-ब्राह्मणाः श्रमणा धर्मविरुद्धं वादं यद्वदन्ति तत् सूत्रेणैव दर्शयति-" से दिट्ठं च णं " इत्यादि यावत्-" णत्थित्थ दोसे त्ति । " ' से त्ति ' तच्छब्दार्थे, यदहं वक्ष्ये तद् दृष्टमुपलब्धं, दिव्यज्ञानेनास्माभिरस्माकं वा संबन्धिना तीर्थकृता आगमप्रणायकेन, चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः, श्रुतं चास्माभिर्गुर्वादेः सकाशात्, अस्मद्गुरुः शिष्यैर्वा तदन्तेवासिभिर्वाऽभिमतं युक्तियुक्तत्वादस्माकमस्मत्तीर्थकराणां वा विज्ञातं च तत्त्वभेदपर्यायैरस्माभिरस्मत्तीर्थकरेण वा स्वतो न परोपदेशदानेन । एतच्चोर्ध्वाधस्तिर्यक्षु दशस्वपि दिक्षु सर्वतः सर्वैः प्रत्यक्षानुमानोपमानाऽऽगमार्थापत्त्यादिभिः प्रकारैः सुष्ठु प्रत्युपेक्षितं च पर्यालोचितं च, मनःप्रणिधानाऽऽदिनाऽस्माभिरस्मत्तीर्थकरेण वा । किं तदित्याह-सर्वे प्राणाः सर्वे जीवाः सर्वे भूताः सर्वे सत्त्वा हन्तव्या आज्ञापयितव्याः क्रामयितव्याः परिगृहीतव्याः परितापयितव्या अपद्रावयितव्याः * । अत्रापि धर्मचिन्तायामप्येवं जानीथाः, यथा-नास्त्यत्र यागार्थं देवतोपयाचितकतया वा प्राणिहननाऽऽदौ ' दोषः ' पापानुबन्ध इति । एवं यावन्तः केचन पाषण्डिका औद्देशिकभोजिनो ब्राह्मणा वा धर्मविरुद्धं परलोकविरुद्धं वा वादं भाषन्ते । अयं च जीवोपमर्दकत्वात् पापानुबन्धी अनार्यप्रणीत इति । आह च-(अणारिय इत्यादि) आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यास्तद्विपर्यासादनार्याः क्रूरकर्माणस्तेषां प्राण्युपघातकारीदं वचनम् । ये तु तथाभूता न ते किंभूतं प्रज्ञापयन्तीत्याह-(तत्थ इत्यादि) तत्रेति वाक्योपन्यासार्थे, निर्धारणे वा । ये ते आर्या देशभाषाचारित्रार्यास्त एवमवादिषुर्यथा-यत्तदनन्तरोक्तं दुर्दृष्टमेतद् दुट्ठं दिट्ठं दुद्दिट्ठं (भे) युष्माभिर्युष्मत्तीर्थकरेण वा, एवं यावद् दुःप्रत्युपेक्षितमिति । तदेवं दुर्दृष्टाऽऽदिकं प्रतिपाद्य दुःप्रज्ञापनानुवादद्वारेण तदभ्युपगमे दोषाऽऽविष्करणमाह-(जं णमित्यादि) णमिति वाक्यालङ्कारे । यदेतद्वदथमार्यं यूयमेवमाचक्ष्वमित्यादि । यावदत्रापि यागोपहाराऽऽदौ जानीथ यूयम्-यथा नास्त्येवात्र प्राण्युपमर्दानुष्ठाने दोषः पापानुबन्ध इति, तदेवं परत्वादे दोषाऽऽविर्भावनेन धर्मविरुद्धतामाविर्भाव्य स्वमतवादमार्या आविर्भावयन्ति । (वयमित्यादि) पुनःशब्दः पूर्वस्माद्विशेषमाह-वयं पुनर्यथा धर्मविरुद्धवादो न भवति तथा प्रज्ञापयाम इति, तान्येव पदानि सप्रतिषेधानि तु द्रष्टव्यानीति यावत्ख्यापयाम एवं भाषामह एवं प्ररूपयाम इति । अस्मदीये वचने नास्ति दोषोऽत्राप्यधिकारे जानीथ यूयं यथाऽत्र हननाऽऽदिप्रतिषेधविधौ नास्ति दोषः पापानुबन्धः, सावद्यारम्भत्वाद्याज्ञकस्य नास्त्येव दोषः, प्राण्युपघातप्रतिषेधाच्चार्यवचनमेतत् । एवमुक्ते सति ते पाषण्डिका ऊचुः-भवदीयमार्यवचनमस्मदीयं त्वनार्यमित्येतन्मात्सर्यात्सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, युक्तिविकलत्वात्, तदत्राऽऽचार्यो यथा परमतस्यानार्यता स्यात्तथा विदर्शयिषुः स्वयमागमिष्यता वादिनो न विवलयिष्यन्तीति कृत्वा प्रत्येकमतप्रश्नना-

* पुस्तके मूलटीकयोः पाठव्यत्यासः उपलभ्यते ।

र्थमाह-(पुढवामित्यादि) पूर्वमादावेव समयम्--आगमं य-थर्दीयाऽऽगमेऽभिहितं तन्निकाव्य व्यवस्थाप्य पुनस्तान्निरू-पाऽऽपादनेन परमतानार्यता प्रतिपाद्येयतस्तदेव परमतं प्र-श्नयति, यदि वा पूर्वं प्राश्निकान्निकाव्य ततः पाषण्डिकान् प्रश्नयितुमाह-(पत्तेयमित्यादि) एकमेकं प्रति प्रत्येकं, भोः प्रावादुकाः! भवतः प्रश्नयिष्यामि, किं (भे) युष्माकं सातं मन आह्लादकारि, दुःखमसातं मनःप्रतिकूलम् ?। एवं पृष्टाः सम्तो यदि सातमित्येवं ब्रूयुस्ततः प्रत्यक्षाऽऽगमलोकबाधा स्यात्, अथासातमित्येवं ब्रूयुस्ततः 'समिया' सम्यक् प्रतिपन्ना-न्तान् प्रावादुकान् स्ववाग्यन्त्रितानप्येवं ब्रूयात्, अपिः संभा-वने, संभावयत एतद्गुणनं, यथा न केवलं भवतां दुःखमसातं, सर्वेषामपि प्राणिनां दुःखमसातं, मनसोऽनभिप्रेतमपरिनिर्वाण-मनिर्वृतिरूपं महद्भयं दुःखमित्येतत् परिगणय्य सर्वेऽपि प्रा-णिनो न हन्तव्या इत्यादि वाच्यं, तद्धनने च दोषः। यदत्र-दोषमाह तदनार्यवचनम्। इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्। तदेवं प्रावादुकानां स्ववाग्भिरेवाऽनार्यता प्रतिपा-दिता, अत्रैव रोहगुप्तमन्त्रिणा विदिताऽऽगमसद्भावेन माध्य-स्थ्यमवलम्बमानेन तीर्थिकपरीक्षाद्वारेण यथा निराकरणं चक्रे तथा निर्युक्तिकारो गाथाभिराचष्टे-

खुड्डगपायसमासं, धम्मकहं पि य अजंपमाणेणं ।
छन्नेण अणगारी, परिच्छिया रोहगुत्तेणं ॥ २२७ ॥

अनया गाथया संक्षेपतः सर्वं कथानकमावेदितम्-क्षुल्लकस्य पादसमासं गाथापादसंक्षेपस्तमजल्पता धर्मकथां च क्लेश-साप्रकटेनान्यलिङ्गिनः प्रावादुकाः परीक्षिता निरूपिता रोहगुप्ते-न रोहगुप्तनाम्ना मन्त्रिणेति गाथासमासार्थः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। तच्चेदम्--चम्पायां नगर्यां सिंहसेनस्य रा-ज्ञो रोहगुप्तो नाम महामन्त्री, स चाऽऽर्हद्दर्शनभावितान्तःक-रणो विज्ञातसदसद्वादः, तत्र च कदाचिद्राजाऽऽस्थानस्थो ध-र्मविचारं प्रस्तावयति स्म,तत्र यो यस्याभिमतः स तं शोभनमु-वाच, स च तूष्णींभावं भजमानो राज्ञोक्तः-धर्मविचारं प्रति किमपि न ब्रूते भवान् ?। स त्वाह-किमेभिः पक्षपातवचोभिर्वि-मर्शामः, स्वत एव धर्मं परीक्षामहे तीर्थिकानित्यभिधाय रा-जानुमत्या "सकुंडलं वा वदनं न व त्ति।" अयं गाथा-पादो नगरमध्ये आलम्बे, संपूर्णा तु गाथा भाण्डागारिता, न-गर्यां चोद्घुष्टम्-यथा य एनं गाथापादं पूरयिष्यति, तस्य रा-जा यथेप्सितं दानं दास्यति, तद्भक्तश्च भविष्यतीति। तं च गाथापादं सर्वेऽपि गृहीत्वा प्रावादुका निर्जग्मुः, पुनः सप्त-मेऽह्नि राजानमास्थानस्थमुपस्थितास्तत्राऽऽद्यावेव परिव्राड् ब्रवीति--

भिक्खं पविट्ठेण मएऽज्ज दिट्ठं,
पमदामुहं कमलविसालनेत्तं ।
वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं,
सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥ २२८ ॥

सुगमा, नवरमपरिज्ञाने व्याक्षेपः कारणमुपन्यस्तं, न पुन-र्वीतरागतेति पूर्वगाथाविसंवादादसौ तिरस्कृत्य निर्धाटितः।

पुनस्तापसः पठति--

फलोदएणम्मि गिहं पविट्ठो,
तत्थाऽऽसणत्था पमदा मे दिट्ठा ।
वक्खित्तचित्तेण ण सुट्ठु नायं
सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥ २२९ ॥

" फलोदएणं " इत्यादि सुगमं पूर्ववत्।

तदनन्तरं शौद्धोदनिशिष्यकः प्राऽऽह-

मालाविहारम्मि मएऽज्ज दिट्ठा,
उवासिया कंचणभूसियंगी ।
वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं,
सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥२३०॥

पूर्ववत् एवमनया दिशा सर्वेऽपि तीर्थिका वाच्याः। आर्हतस्तु पुनर्न कश्चिदागत इति राज्ञाऽभाणि, मन्त्रिणा त्वार्हत-क्षुल्लकोऽप्येवंभूतपरिणाम इत्येवं संप्रत्यय एवं स्यादित्यतो भिक्षार्थं प्रविष्टः प्रत्यूषस्येव क्षुल्लकः समानीतः, तेनापि गाथा-पादं गृहीत्वा गाथां बभाषे।

तद्यथा--

खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स,
अज्झप्पजोगे गयमाणसस्स ।
किं मज्झ एएण विचिंतिएणं,
सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥ २३१ ॥

सुगमा। अत्र च क्षान्त्यादिकमपरिज्ञाने कारणमुपन्यस्तं,न पु-नर्व्याक्षेप इत्यतो गाथासंवादात् क्षान्तिदमजितेन्द्रियत्वाध्या-त्मयोगाधिगतेश्च कारणाद्राज्ञो धर्मं प्रति भावोल्लासोऽभूत्, क्षुल्लकेन च धर्मप्रश्नोत्तरकालं पूर्वगृहीतशुष्केतरकर्दमगोल-कद्वयं भित्तौ निक्षिप्य गमनमारेभे, पुनर्गच्छन् राज्ञोक्तम्-कि-मिति भवान् धर्मं पृष्टोऽपि न कथयति ?, स चोवाच-हे मु-ग्ध ! ननु कथित एव धर्मो भवतः शुष्केतरगोलकदृष्टान्तेन।

एतदेव गाथाद्वयेनाऽऽह-

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया ।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई ॥२३२॥
एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥२३३॥

(एवं लग्गंति) अयमत्र भावार्थः-ये ह्यक्षप्रत्यक्षानिरीक्षण-व्यासङ्गात् कामिनीनां मुखं न पश्यन्ति, तदभावे तु पश्यन्ति, ते कामतृष्णुतया सार्द्राः, सार्द्रत्वाच्च संसारपङ्के कर्मकर्दमं वा लगन्ति, ये तु पुनः क्षान्त्यादिगुणोपेताः संसारसुखपराङ्मुखाः काष्ठमुनयः ते शुष्कगोलकसन्निभा न क्वचिल्लगन्तीति गाथा-द्वयार्थः। आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

तथा च-

बहुजणणमणम्मि संवुडो,
सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिए ।
हरए व सया अणाविले,
धम्मं पादुरकासि कासवं ॥ ७ ॥

(बहुजणनमणम्मीत्यादि) बहून् जनान् आत्मानं प्रति नाम-यति प्रह्वीकरोति, तेषां नम्यते स्तूयते बहुजननमनो धर्मः।

स एव बहुभिर्जनैरात्मीयाऽऽत्मीयाऽऽशयेन यथाऽभ्युपगमप्रशंसया स्तूयन् प्रशस्यते । कथम् ? । अत्र कथानकम्--"राजगृहे नगरे श्रेणिको महाराजः, कदाचिदसौ चतुर्विधबुद्धयुपेतेन पुत्रेण अभयकुमारेण सार्धमास्थानस्थितस्तास्तास्ताभिः कथाभिरासाञ्चक्रे, तत्र कदाचिदेवंभूता कथाऽभूत्, तद्यथा--इहलोके धार्मिका बहवः, उताऽधार्मिका इति ? । तत्र समस्तपर्षदाऽभिहितम्-यथाऽत्राऽधार्मिका बहवो लोकाः, धर्मं तु शतानामपि मध्ये कश्चिदेवैको विधत्ते, तदाकर्ण्याऽभयकुमारेणोक्तम्-यथा प्रायशो लोकाः सर्व एव धार्मिकाः, यदि न निश्चयो भवतां, परीक्षा क्रियते । पर्षदाऽप्यभिहितम्-एवमस्तु । ततोऽभयकुमारेण धवलेतरं प्रासादद्वयं कारितं, घोषितं च डिण्डिमेन नगरे, यथा यः कश्चिदिह धार्मिकः स सर्वोऽपि धवलप्रासादं गृहीतबलिः प्रविशतु, इतरस्त्वितरमिति । ततोऽसौ लोकः सर्वोऽपि धवलप्रासादमेव प्रविष्टः । निर्गच्छंश्च कथं त्वं धार्मिक इत्येवं पृष्टः कश्चिदाचष्टे-यथाऽहं कर्षकोऽनेकशकुनिगणो मद्धान्यकणैरात्मानं प्रीणयति, खलकसमागतधान्यकणभिक्षादानेन च मम धर्म इति । अपरस्त्वाह--यथाऽहं ब्राह्मणः षट्कर्माभिरतस्तथा बहुशौचस्नानाऽऽदिभिर्वेदविहितानुष्ठानेन पितृदेवाँस्तर्पयामि । अन्यः कथयति--यथा वणिक्कुलोपजीवी भिक्षादानाऽऽदिप्रवृत्तः । अपरस्त्विदमाह-यथाऽहं कुलपुत्रको न्यायाऽऽगतं निर्गतिकं कुटुम्बं पालयाम्येव । तावत् श्वपाकोऽपीदमाह-यथाऽहं कुलक्रमाऽऽगतं धर्ममनुपालयामीति, मदाश्रिताश्च बहवः पिशितभुजः प्राणान् धारयन्तीत्येवं सर्वोऽप्यात्मीयमात्मीयं व्यापारमुद्दिश्य धर्मे नियोजयति । तत्राऽपरमसितप्रासादं श्रावकद्वयेन प्रविष्टं, तच्च किमधर्माऽऽचरणं भवद्भ्यामकारीत्येवं पृष्टं सकृन्मद्यनिवृत्तिभङ्गव्यलीकमकथयत् । तथा-साधव एवाऽत्र परमार्थतो धार्मिका यथा गृहीतप्रतिज्ञानिर्वाहणसमर्थाः । अस्माभिस्तु--

" अवाप्य मानुषं जन्म, लब्ध्वा जैनं च शासनम् ।
कृत्वा निवृत्तिं मद्यस्य, सम्यक् साऽपि न पालिता ॥ १ ॥
अनेन व्रतभङ्गेन, मन्यमाना अधार्मिकम् ।
अधमाधममात्मानं, कृष्णप्रासादमाश्रिताः ॥ २ ॥"

तथाहि--

" लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवार्या--
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाः ।
तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति,
सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥ ३ ॥
वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं,
न चापि भग्नं चिरसंचितव्रतम् ।
वरं हि मृत्युः सुविशुद्धचेतसो,
न चाऽपि शीलस्खलितस्य जीवितम् ॥ ४ ॥"

तदेवं सर्वोऽप्यात्मानं धार्मिकं मन्यत इति कृत्वा " बहुजननमनो धर्मः " इति स्थितम् । तस्मिंश्च संवृतः समाहितः सन् नरः पुमान् सर्वार्थैर्बाह्याभ्यन्तरैर्धनधान्यकलत्रममत्वाऽऽदिभिरनिश्रितोऽप्रतिबद्धः सन् धर्मं प्रकाशितवानित्युत्तरेण सह संबन्धः । निदर्शनमाह--ह्रद इव स्वच्छाम्भसा भृतः सदाऽनाविलोऽनेकमत्स्याऽऽदिजलचरसंक्रमणाऽप्यनाकुलोऽकलुषो वा क्षान्त्यादिलक्षणं धर्मं प्रादुरकार्षीत् प्रकटं कृतवान् । यदि वा--एवंविशिष्ट एव काश्यपं तीर्थकरसंबन्धिनं धर्मं प्रकाशयेत्, छान्दसत्वात् ' वर्तमाने भूतनिर्देश इति ' ॥ ७ ॥

स बहुजननमने धर्मे व्यवस्थितो यादृग् धर्मं प्रकाशयति तद्दर्शयितुमाह । यदि वोपदेशान्तरमेवाऽधिकृत्याऽऽह--

बहवे पाणा पुढो सिया, पत्तेयं समतं उवेहिया ।
जे मोणपदं उवट्ठिते, विरतिं तत्थ अकासि पंडिए ॥८॥

(बहवे इत्यादि) बहवोऽनन्ताः, प्राणा दशविधप्राणभाक्त्वात्तदभेदोपचारात् प्राणिनः, पृथगिति पृथिव्यादिभेदेन सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकनरकगत्यादिभेदेन वा संसारमाश्रितास्तेषां च पृथगाश्रितानामपि प्रत्येकं समतां दुःखद्वेषित्वं सुखप्रियं च समीक्ष्य दृष्ट्वा, यदि वा समतां माध्यस्थ्यमुपेक्ष्य यो मौनीन्द्रपदमुपस्थितः संयमाऽऽश्रितः स साधुस्तत्राऽनेकभेदभिन्नप्राणिगणे दुःखद्विट्सुखाभिलाषिणि सति तदुपघाते कर्तव्ये विरतिमकार्षीत् कुर्याद्वेति, पापाड्डीनः पापानुष्ठानाद् दवीयान् पण्डित इति ॥ ८ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

(२८) सूत्रकृताङ्गस्य श्रुतस्कन्धीयनवमाध्ययनोक्तः साधूनामाचरणीयामाचरणीयो धर्मो यथा-

कयरे धम्मे अक्खाए, माहणेण मतीमता ।
अंजु धम्मं जहातच्चं, जिणाणं * तं सुणेह मे ॥ १ ॥

(कयरे इत्यादि) जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमुद्दिश्येदमाह । तद्यथा--कतरः किंभूतो दुर्गतिगमनलक्षणो धर्म आख्यातः प्रतिपादितः (माहणेणं ति) मा जन्तून् व्यापादयेत्येवं विनेयेषु वाक्प्रवृत्तिर्यस्याऽसौ माहनो भगवान् वीरवर्धमानस्वामी तेन, तमेव विशिनष्टि-मनुतेऽवगच्छति जगत्त्रयं कालत्रयोपेतं यया सा केवलज्ञानाऽऽख्या मतिः, सा अस्याऽस्तीति मतिमान्, तेनोत्पन्नकेवलज्ञानेन भगवतेति पृष्टे सुधर्मस्वाम्याह--रागद्वेषजितो जिनास्तेषां संबन्धिनं धर्मम् । (अंजुमिति) ऋजुं मायाप्रपञ्चरहितत्वादवक्रं, तथा--(जहातच्चमिति) यथावस्थितं मम कथयतः शृणुत यूयं, न तु यथाऽन्यैस्तीर्थिकैर्दम्भप्रधानो धर्मोऽभिहितस्तथा भगवताऽपीति । पाठान्तरं वा-(* जणगा ! तं सुणेह मे) जायन्त इति जना लोकास्त एव जनकास्तेषामामन्त्रणम्-हे जनकाः ! तं धर्मं शृणुत यूयमिति ॥ १ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सुकरो भवतीत्यतो यथोद्दिष्टधर्मप्रतिपक्षभूतोऽधर्मस्तदाश्रितांस्तावद्दर्शयितुमाह-

माहणा खत्तिया वेस्सा, चंडाला अदु बोक्कसा ।
एसिया वेसिया सुद्दा, जे य आरंभणिस्सिया ॥ २ ॥

(माहणेत्यादि) ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्तथा चाण्डालाः, अथ बोक्कसा अवान्तरजातीयाः । तद्यथा-ब्राह्मणेन शूद्र्यां जातो निषादो, ब्राह्मणेनैव वैश्यायां जातोऽम्बष्ठः, तथा निषादेनाम्बष्ठ्यां जातो बोक्कसः, तथा एषितुं शीलमित्येषिका मृगलुब्धका हस्तितापसाश्च मांसहेतोर्मृगान् हस्तिनश्च एषयन्ति, तथा कन्दमूलफलाऽऽदिकं च । तथा ये चाऽन्ये पाषण्डिका नानाविधैरुपायैर्भक्ष्यमेषयन्त्यन्यानि वा विषयसाधनानि, ते सर्वेऽप्येषिका इत्युच्यन्ते । तथा वैशिका वणिजो मायाप्रधानाः कलोपजीविनः, तथा शूद्राः कृषीवलाऽऽदयः । आभीरजातीयाः कियन्तो वा वक्ष्यन्त इति दर्शयति । ये चाऽन्ये वर्णापसदा नानारूपसावद्याऽऽरम्भनिश्रिता यन्त्रपीडननिर्लाञ्छन-

कर्माङ्गारदाहाऽऽदिभिः क्रियाविशेषैर्जीवोपमर्दकारिणस्तेषां सर्वेषामेव जीवापकारिणां वैरमेव प्रवर्धत इत्युत्तरश्लोके क्रियेति ॥ २ ॥

परिग्गहनिविट्ठाणं, पावं तेसिं पवड्ढइ ।
आरंभसंभिया कामा, न ते दुक्खविमोयगा ॥ ३ ॥

(परिग्गह इत्यादि) परि समन्ताद् गृह्यत इति परिग्रहो द्विपदचतुष्पदधनधान्यहिरण्यसुवर्णाऽऽदिषु ममीकारः, तत्र निविष्टानामभ्युपपन्नानां गार्ध्यं गतानां, पापमसातवेदनीयाऽऽदिक, तेषां प्रागुक्तानामारम्भनिःश्रितानां परिग्रहे निविष्टानां, प्रकर्षेण वर्द्धते वृद्धिमुपयाति जन्मान्तरेष्वपि दुर्मोचं भवति। क्वचित्पाठः-" वेरं तेसिं पवड्ढइ त्ति।" तत्र येन यस्य यथा प्राणिन उपमर्दः क्रियते स तथैव संसारान्तर्वर्ती शतशो दुःखानाग् भवति, जमदग्निकृतवीर्याऽऽदीनामिव पुत्रपौत्रानुगं वैरं प्रवर्द्धत इति भावः । किमित्येवम्?, यतस्ते कामेषु प्रवृत्ताः कामाश्चाऽऽरम्भैः सम्भृता आरम्भपुष्टा आरम्भाश्च जीवोपमर्दकारिणोऽतो न ते कामसंभृता आरम्भनिःश्रिताः परगृहे निविष्टा दुःखयतीति दुःखमष्टप्रकारं कर्म,तद्विमोचका भवन्ति, तस्याऽपनेतारो भवन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

किं चान्यत्-

आघायकिच्चमाहेउं, नाइओ विसएसिणो ।
अन्ने हरंति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहिँ किच्चती ॥ ४ ॥

(आघायमित्यादि) आहन्यन्ते अपनयन्ति विनाश्यन्ते प्राणिनां दशप्रकारा अपि प्राणा यस्मिन् स आघातो मरणं, तस्मै तत्र वा कृतमग्निसंस्कारजलाञ्जलिप्रदानपितृपिण्डाऽऽदिकमाघातकृत्यं तदाधातुमादाय कृत्वा पश्चात् ज्ञातयः स्वजनाः पुत्रकलत्रभ्रातृव्याऽऽदयः । किंभूताः?, विषयान्वेष्टुं शीलं येषां तेऽन्येऽपि विषयैषिणः सन्तस्तस्य दुःखार्जितं वित्तं द्रव्यजातमपहरन्ति स्वीकुर्वन्ति । तथा चोक्तम्-" ततस्तेनार्जितैर्द्रव्यै-र्दारैश्च परिरक्षितैः । क्रीडन्त्यन्ये नरा राजन्!, हृष्टास्तुष्टा ह्यलङ्कृताः ॥ १ ॥ " स तु द्रव्यार्जनपरायणः सावद्यानुष्ठानकर्मवान् पापी स्वीकृतैः कर्मभिः संसारे कृत्यते छिद्यते, पीड्यत इति यावत् ॥ ४ ॥

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालं ते तव ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥ ५ ॥

(माया पिया इत्यादि) माता जननी, पिता जनकः, स्नुषा पुत्रवधूः, भ्राता सहोदरः, तथा भार्या कलत्रं, पुत्राश्च औरसाः स्वनिष्पादिताः, एते सर्वेऽपि मात्रादयो, ये चान्ये श्वशुराऽऽदयः, ते तव संसारचक्रवाले स्वकर्मभिर्विलुप्यमानस्य त्राणाय नालं समर्था भवन्तीति । इहाऽपि तावन्नैते त्राणाय किमुतामुत्रेति । दृष्टान्तश्चात्र कालसौकरिकसुतः सुलसनामा अभयकुमारस्य सखा । तेन महासत्त्वेन स्वजनाऽभ्यर्थितेनापि न प्राणिष्वपकृतमपि स्वात्मन्येवेति ॥ ५ ॥

किं चान्यत्-

एयमट्ठं स पेहाए, परमट्ठाणुगामियं ।
निम्ममो निरहंकारी, चरे भिक्खू जिणाऽऽहियं ॥ ६ ॥

(एयमट्ठमित्यादि) धर्मरहितानां स्वकृतकर्मविलुप्यमानानामैहिकाऽऽमुष्मिकयोर्न कश्चित्त्राणायेति, एनं पूर्वोक्तमर्थं स प्रेक्षापूर्वकारी प्रत्युपेक्ष्य विचार्याऽवगम्य च, परमः प्रधानभूतो मोक्षः संयमो वा,तमनुगच्छतीति तच्छीलश्च परमार्थानुगामुकः सम्यग्दर्शनाऽऽदिः,तं च प्रत्युपेक्ष्य, क्त्वाप्रत्ययान्तस्य पूर्वकालवाचितया क्रियान्तरसव्यपेक्षत्वात् । तदाह-निर्गतं ममत्वं बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु यस्मादसौ निर्ममः । तथा-निर्गतोऽहङ्कारोऽभिमानः पूर्वैश्वर्यजात्यादिमदजनितः, तथा-तपःस्वाध्यायलाभाऽऽदिजनितो वा यस्मादसौ निरहङ्कारो, रागद्वेषरहित इत्यर्थः । स एवंभूतो भिक्षुर्जिनैराहितः प्रतिपादितोऽनुष्ठितो वा यो मार्गो,जिनानां वा संबन्धी योऽभिहितो मार्गस्तं चरेदनुतिष्ठेदिति ॥ ६ ॥

चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गहं ।
चिच्चा ण अंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वए ॥ ७ ॥

(चिच्चा इत्यादि) संसारस्वभावपरिज्ञानपरिकर्मितमतिर्विदितवेद्यः सम्यक् त्यक्त्वा परित्यज्य,किं तद्?, वित्तं द्रव्यजातं, तथा पुत्रांश्च त्यक्त्वा पुत्रेष्वधिकस्नेहो भवतीति पुत्रग्रहणम् । तथा-ज्ञातीन् स्वजनांश्च त्यक्त्वा, तथा-परिग्रहं चाऽऽन्तरं ममत्वरूपं, णकारो वाक्यालङ्कारे । अन्तं गच्छतीत्यन्तगो, दुष्परित्यज इत्यर्थः । अन्तको विनाशकारीत्यर्थः । आत्मनि वा गच्छतीत्यात्मगः, आन्तर इत्यर्थः । तं तथाभूतं शोकं त्यक्त्वा परित्यज्य, श्रोतो वा मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायाऽऽत्मकं कर्माऽऽश्रवद्वारभूतं परित्यज्य । पाठान्तरं वा-" चिच्चा णऽणतगं सोयं । " अन्तं गच्छतीत्यन्तगं, न अन्तगमनन्तगं, श्रोतः शोकं परित्यज्य निरपेक्षः पुत्रदारधनधान्यहिरण्याऽऽदिकमनपेक्षमाणः सन् मोक्षाय परि समन्तात् संयमानुष्ठाने व्रजेत् परिव्रजेदिति । तथा चोक्तम्-

" छलिया अवयक्खंता, निरावयक्खा गया अविग्घेणं ।
तम्हा पवयणसारे, निरावयक्खेण होयव्वं ॥ १ ॥
भोगे अवयक्खंता, पडंति संसारसागरे घोरे ।
भोगेहिँ निरवयक्खा, तरंति संसारकंतारं ॥ २ ॥ " इति ।

स एवं प्रव्रजितः सुव्रतावस्थिताऽऽत्मा अहिंसाऽऽदिषु व्रतेषु प्रयतेत ॥ ७ ॥

तत्राऽहिंसाप्रसिध्यर्थमाह-

पुढवीआउऽगणिवाऊ-तणरुक्खसबीयगा ।
अंडया पोयजराउ-रससंसेयउब्भिया ॥ ८ ॥
एतेहिँ छहिँ काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया ।
मणसा कायवक्केणं, णारंभी ण परिग्गही ॥ ९ ॥

" पुढवीआउ " इत्यादि श्लोकद्वयम् । तत्र पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नाः, तथाऽप्कायिका अग्निकायिका वायुकायिकाश्चैवंभूता एव । वनस्पतिकायिकान् लेशतः सभेदानाह-तृणानि कुशवल्वजाऽऽदीनि, वृक्षाश्चूताशोकाऽऽदिकाः । सह बीजैर्वर्तन्त इति सबीजानि, सबीजानि तु शालिगोधूमयवाऽऽदीनि, एते एकेन्द्रियाः पञ्चापि कायाः । षष्ठत्रसकायनिरूपणायाऽऽह-अण्डजाः शकुनिगृहकोकिलकसरीसृपाऽऽदयः । तथा पोता एव पोतजा हस्तिशरभाऽऽदयः । तथा जरायुजा ये जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते गोमनुष्याऽऽदयः । त-

या रसाद् दधिसौवीरकादू जाता रसजाः,तथा संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा यूका मत्कुणाऽऽदयः। उद्भिज्जाः खञ्जरीटकदर्दुराऽऽदय इति । अज्ञानभेदा हि दुःखेन रक्ष्यन्त इत्यतो भेदेनोपन्यास इति ॥ ८ ॥ एभिः पूर्वोक्तैः षड्भिरपि कायैस्त्रसस्थावररूपैः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नैर्नारम्भो नापि परिग्रहो स्यादिति संबन्धः । तदेतद् विद्वान् सज्ज्ञानको ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया मनोवाक्कायकर्मभिर्जीवोपमर्दकारिणमारम्भं परिग्रहं च परिहरेदिति ॥ ९ ॥

शेषव्रतान्यधिकृत्याऽऽह--

मुसावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइयं ।
सत्था दाणाइँ लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १० ॥

(मुसावायमित्यादि) मृषा असद्भूतो वादो मृषावादः, तं विद्वान् प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् , तथा-(बहिद्धमिति) मैथुनम्, अवग्रहं परिग्रहम्, अयाचितमदत्ताऽऽदानम् । यदि वा- " अबहिद्धमिति ।" मैथुनग्रहोऽवग्रहमयाचितमित्यनेनादत्ताऽऽदानं गृहीतम् । एतानि च मृषावादाऽऽदीनि प्राण्युपतापकारित्वात् शस्त्राणीव शस्त्राणि वर्त्तन्ते। तथा--दीयते गृह्यतेऽष्टप्रकारं कर्मैभिरिति कर्मोपादानकारणानि,अस्मिन् लोके तदेतत्सर्वं विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१०॥

किं चाऽन्यत् -

पलिउंचणं च भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि य ।
धूणा दाणाइँ लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥ ११ ॥

(पलिउंचणमित्यादि) पञ्चमहाव्रतधारणमपि कषायिणो निष्फलं स्यादितस्तत्साफल्याऽऽपादनार्थं कषायनिरोधो विधेय इति दर्शयति । परि समन्तात् कुञ्च्यन्ते वक्रतामापद्यन्ते क्रिया येन मायाऽनुष्ठानेन तत्परिकुञ्चनं मायेति भण्यते । तथा-भज्यते सर्वत्राऽऽत्मा प्रह्वीक्रियते येन स भजनो लोभस्तम्, तथा--यदुदयेन ह्यात्मा सदसद्विवेकविकलत्वात् स्थण्डिलवद्भवति , स स्थण्डिलः क्रोधः । यस्मिंश्च सत्यूर्ध्वं भवति जात्यादिना दर्पाऽऽध्मातः पुरुष उत्तानीभवति स उच्छ्रायो मानः, छान्दसत्वान्नपुंसकलिङ्गता । जात्यादीनामेतत्स्थानानां बहुत्वात् तत्कार्यस्याऽपि मानस्य बहुत्वमतो बहुवचनम् । चकाराः स्वगतभेदसंसूचनार्थाः, समुच्चयार्था वा । धूनयेति प्रत्येकं क्रिया योजनीया । तद्यथा-परिकुञ्चनं मायां धूनय, धूनीहि वा । तथा-भजनं लोभं, तथा-स्थण्डिलं क्रोधं, तथा-उच्छ्रायं मानं, विचित्रत्वात् सूत्रस्य, क्रमोल्लङ्घननिर्देशो न दोषायेति । यदि वा--रागस्य दुस्त्यजत्वात्, लोभस्य च मायापूर्वकत्वादित्यादावेव मायालोभयोरुपन्यास इति । कषायपरित्यागे विधेये पुनरपरं कारणमाह-एतानि परिकुञ्चनाऽऽदीनि अस्मिन् लोके आदानानि वर्त्तन्ते तदेतद्विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत ॥ ११ ॥

पुनरप्युत्तरगुणानधिकृत्याऽऽह-

धोयणं रयणं चेव, वत्थीकम्मं विरेयणं ।
वमणंऽजणपलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १२ ॥

(धोयणमित्यादि) धावनं प्रक्षालनं हस्तपादयोर्वस्त्राऽऽदेश्चनमपि,......(?)तथा-विरेचनं [illegible]ऽऽत्मकमधोविरेको वा । वमनमूर्ध्व[illegible]यनयोरिति । एवमादिकम-यदपि [illegible] कर्म प्राहुः

शरीरसंस्काराऽऽदिकं यत् संयमपरिमन्थकारि संयमोपघातरूपं , तदेतद्विद्वान् स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च परिज्ञाय प्रत्याचक्षीत ॥ १२ ॥

अपि च-

गंधमल्लसिणाणं च, दंतपक्खालणं तहा ।
परिग्गहित्थि-कम्मं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १३ ॥

(गंधमल्ल इत्यादि) गन्धाः कोष्टपुटाऽऽदयः, माल्यं जात्यादिकम्, स्नानं च शरीरप्रक्षालनं देशतः, सर्वतश्च । तथा-दन्तप्रक्षालनं कदम्बकाष्ठाऽऽदिना, परिग्रहः सचित्ताऽऽदेः स्वीकरणम् । तथा-स्त्रियो दिव्यमानुषतैरश्च्यः । तथा-कर्म हस्तकर्म, सावद्यानुष्ठानं वा । तदेतत्सर्वं कर्मोपादानतया संसारकारणत्वेन परिज्ञाय विद्वान् परित्यजेदिति ॥ १३ ॥

किं चाऽन्यत्-

उद्देसियं कीयगडं, पामिच्चं चेव आहडं ।
पूयं अणेसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १४ ॥

(उद्देसियमित्यादि) साध्वाद्युपदेशेन यद्दानाय व्यवस्थाप्यते तदुद्देशिकम् । तथा-क्रीतं क्रयस्तेन क्रीतं गृहीतं क्रीतक्रीतं, (पामिच्चं ति) साध्वर्थमन्यत उच्छिन्नकं यद् गृह्यते तदुच्यते, चकारः समुच्चयार्थः, एवकारोऽवधारणार्थः । साध्वर्थं यद् गृहस्थेन नीयते तदाहृतम् । तथा-(पूयमिति) आधाकर्मावयवसंपृक्तं शुद्धमप्याहारजातं भवति । किं बहुनोक्तेन ?-यत् केनचिद्दोषेणानेषणीयमशुद्धं तत्सर्वं विद्वान् परिज्ञाय संसारकारणतया निस्पृहः सन् प्रत्याचक्षीतेति ॥ १४ ॥

किं च-

आसूणिमक्खिरागं च, रसगिद्धुवघायकम्मगं ।
उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १५ ॥

(आसूणि इत्यादि) येन घृतपानाऽऽदिना आहारविशेषेण रसायनक्रियया वा अशूनः सन् आ समन्तात् शूनीभवति बलवानुपजायते, तदाशूनीत्युच्यते । यदि वा-(आसूणि त्ति) श्लाघातः-श्लाघया क्रियमाणया आ समन्तात् शूनवच्छूनो लघुप्रकृतिः कश्चिद्दर्पाऽऽध्मातत्वात् स्तब्धो भवति । तथा-अक्ष्णो रागो रञ्जनं सौवीराऽऽदिकमञ्जनमिति यावत् । एवं रसेषु शब्दाऽऽदिषु विषयेषु वा गृद्धिं गार्ध्यं तात्पर्यमासेवा, तथोपघातकर्मेत्युच्यते । तदेव लेशतो दर्शयति-(उच्छोलणं ति) अयतनया शीतोदकाऽऽदिना हस्तपादाऽऽदिप्रक्षालनम्, तथा-कल्कं लोध्राऽऽदिद्रव्यसमुदायेन शरीरोद्वर्त्तनकं, तदेतत्सर्वं बन्धनायेत्येवं विद्वान् परिहृतो ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥ १५ ॥

अपि च-

संपसारी य कयकिरिए, पसिणाऽऽयतणाणि य ।
सागारियं च पिंडं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १६ ॥

(संपसारी य इत्यादि) असंयतैः सार्धं संप्रसारणं पर्यालोचनं, परिहरेदिति वाक्यशेषः । एवं संयमानुष्ठानं प्रत्युपदेशदानम् । तथा-' कयकिरिए ' नाम कृता शोभना गृहकरणाऽऽदिक्रिया येन स कृतक्रिय इत्येवमसंयतानुष्ठानप्रशंसनम् । तथा-प्रश्नस्याऽऽदर्शः प्रश्नाऽऽदेर्यापनममाविष्करणं कथनं वा, पापाख्यानप्रश्ननिर्णयनानि । यदि वा-प्रश्नाऽऽयतनानि लौकिकानां

परस्परव्यवहारे मिथ्याशास्त्रगतसंशये वा प्रश्ने सति यथावस्थितार्थकथनद्वारेणाऽऽयतनानि निर्णयमानीति । तथा-सागारिकः शय्यातरः, तस्य पिण्डमाहारम् । यदि वा-सागारिकपिण्डमिति सूतकगृहपिण्डं, जुगुप्सितं वर्णापसदपिण्डं च । चशब्दः समुच्चये । तदेतत्सर्वं विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१६॥

किं चान्यत्-

अट्ठावयं न सिक्खिज्जा, वेहाईयं च णो वए ।
हत्थकम्मं विवायं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १७ ॥

(अट्ठावयमित्यादि) अर्थ्यते इत्यर्थो धनधान्यहिरण्याऽऽदिकः, पद्यते गम्यते येनार्थस्तत् पदं शास्त्रम्, अर्थार्थं पदमर्थपदं चाणक्याऽऽदिकमर्थशास्त्रं, तच्च शिक्षयेदन्यस्य चान्यस्य प्राण्युपमर्दकारि शास्त्रं शिक्षयेत्, यदि वा अष्टापदं द्यूतक्रीडाविशेषस्तं न शिक्षयेत, नापि पूर्वशिक्षितमनुशीलयेदिति । तथा-वेधो धर्मानुवेधस्तस्मादतीतमधर्मप्रधानं वचो नो वदेत् । यदि वा-वेध इति वस्त्रवेधो द्यूतविशेषः, तद्गतं वचनमपि नो वदेत्, आस्तां तावत्क्रीडनमिति । हस्तकर्म प्रतीतम् । यदि वा-हस्तकर्म हस्तक्रिया परस्परं हस्तव्यापारप्रधानः कलहस्तं, तथा विरुद्धवादं, शुष्कवादमित्यर्थः । चः समुच्चये । तदेतत्सर्वं संसारभ्रमणकारणं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत ॥ १७ ॥

किं च-

पाणहा उ य छत्तं च, णालीयं वालवीयणं ।
परकिरियं अन्नमन्नं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १८ ॥

(पाणहा उ इत्यादि) उपानहौ काष्ठपादुके च, तथा-आतपाऽऽदिनिवारणाय छत्रम् । तथा-नालिका द्यूतक्रीडाविशेषः । तथा-वालैर्मयूरपिच्छैर्वा व्यजनकं, तथा-परेषां संबन्धिनीं क्रियामन्योऽन्यां परस्परतोऽन्यनिष्पाद्यामन्यः करोत्यपरनिष्पाद्यां चापर इति । चः समुच्चये । तदेतत्सर्वं विद्वान् पण्डितः कर्मोपादानकारणत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥ १८ ॥

तथा-

उच्चारं पासवणं, हरिएसु ण करे मुणी ।
वियडेण वावि साहट्टु, णाऽऽयमे य कयाइ वि ॥ १९ ॥

(उच्चारमिति) उच्चारप्रस्रवणाऽऽदिकां क्रियां हरितेषूपरि बीजेषु वा स्थण्डिले वा मुनिः साधुर्न कुर्यात्, तथा-विकटेन विगतजीवेनाप्युदकेन संहृत्यापनीय बीजानि हरितानि वा, नाऽऽचमेत न निर्लेपनं कुर्यात्, किमुताविकटेनेति भावः ॥१९॥

किं च-

परमत्ते अन्नपाणं, ण भुंजेज्ज कयाइ वि ।
परवत्थं अचेलो वि, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २० ॥

(परमत्ते इत्यादि) परस्य गृहस्थस्यामत्रं भाजनं परामत्रं, तत्र पुरःकर्म पश्चात्कर्म, तद्भयात् हृतनष्टाऽऽदिदोषसंभवाच्चान्नं पानं च मुनिर्न कदाचिदपि भुञ्जीत । यदि वा-पतद्ग्रहधारिणोऽच्छिद्रपाणेः पाणिपात्रं परपात्रं, यदि वा-पाणिपात्रस्याच्छिद्रपाणेर्जिनकल्पिकाऽऽदेः पतद्ग्रहः परपात्रं, तत्र संयमविराधनाभयान्न भुञ्जीत, तथा-परस्य गृहस्थस्य वस्त्रं परवस्त्रं तत् साधुरचेलोऽपि सन् पश्चात्कर्माऽऽदिदोषभयात्, हृतनष्टाऽऽदिदोषसंभवाच्च न बिभृयात् । यदि वा-जिनकल्पिकाऽऽदिकोऽचेलो भूत्वा सर्वमपि वस्त्रं परवस्त्रमिति कृत्वा न बिभृयात्, एतत्सर्वं परपात्रभोजनाऽऽदिकं संयमविराधकत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥ २० ॥

आसंदी पलियंके य, णिसिज्जं च गिहंतरे ।
संपुच्छणं व सरणं वा, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २१ ॥

आसन्दीति आसनविशेषः। अस्य चोपलक्षणार्थत्वात्सर्वोऽप्यासनविधिर्गृहीतः। तथा-पर्यङ्कः शयनविशेषः। तथा गृहस्यान्तर्मध्ये गृहयोर्वा मध्ये निषद्यां वाऽऽसनं वा संयमविराधनाभयात् परिहरेत् । तथा चोक्तम्-" गंभीरझुसिरा एते, पाणा दुप्पडिलेहगा । अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ वा वि संकणा ॥ १ ॥ " इत्यादि । तथा-तत्र गृहस्थगृहे कुशलाऽऽदिप्रच्छनमात्मीयशरीरावयवप्रक्षालनं वा । तथा-पूर्वक्रीडितस्मरणं चेत्येतत्सर्वं विद्वान् विदितवेद्यः सन्ननर्थायेति ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् ॥ २१ ॥

अपि च-

जसं कित्तिं सलोयं च, जा य वंदणपूयणा ।
सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २२ ॥

(जसं कित्तिमित्यादि) बहुसमरसंघट्टनिर्वहणशौर्यलक्षणं यशः, दानसाध्या कीर्तिः, जातितपोबाहुश्रुत्यादिजनिता श्लाघा, तथा-या च सुराऽसुराधिपतिचक्रवर्तिबलदेववासुदेवाऽऽदिभिर्वन्दना, तथा-तैरेव सत्कारपूर्विका वस्त्राऽऽदिना पूजना । तथा-सर्वस्मिन्नपि लोके इच्छामदनरूपा ये केचन कामाः, तदेतत्सर्वं यशःकीर्तिमपकारितया परिज्ञाय परिहरेदिति ॥ २२ ॥

किं चान्यत्-

जेणेह णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाणं तहाविहं ।
अणुप्पयाणमन्नेसिं, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २३ ॥

(जेणेहमित्यादि) येनान्नेन पानेन वा तथाविधेनेति सुपरिशुद्धेन, कारणापेक्षया त्वशुद्धेन वा, इहास्मिन् लोके, इदं संयमयात्राऽऽदिकं दुर्भिक्षरोगाऽऽतङ्काऽऽदिकं वा भिक्षुर्निर्वहेन्निर्वाहयेद्वा, यदन्नं पानं वा तथाविधं द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया शुद्धं कल्प्यं गृह्णीयात्, तथैतेषामन्नाऽऽदीनामनुप्रदानमन्यस्मै साधवे संयमयात्रानिर्वहणसमर्थमनुतिष्ठेत् । यदि वा-येन केनचिदनुष्ठितेन संयमं निर्वहेन्निर्वाहयेदसारतामापादयेत् । तथाविधमशनं पानं वा, अन्यद्वा तथाविधमनुष्ठानं न कुर्यात् । तथा-एतामशनाऽऽदीनामनुप्रदानं गृहस्थानां परतीर्थिकानां स्वयूथ्यानां वा संयमोपघातकं नानुशीलयेदिति । तदेतत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा सम्यक् परिहरेदिति ॥ २३ ॥

यदुपदेशेनैतत्कुर्यात्तद्दर्शयितुमाह-

एवं उदाहु निग्गंथे, महावीरे महामुणी ।
अणंतनाणदंसी से, धम्मं देसितवं सुतं ॥ २४ ॥

(एवं उदाहु इत्यादि) एवमनन्तरोक्तया नीत्या उद्देशकाऽऽदेरारभ्य (उदाहु त्ति) उदाहृतवानुक्तवान्, निर्गतो बाह्याभ्यन्तरो ग्रन्थो यस्मात्स निर्ग्रन्थो, महावीर इति श्रीमद्वर्धमानस्वामी, महांश्चासौ मुनिश्च महामुनिः, अनन्तं ज्ञानं दर्शनं च यस्यासावनन्तज्ञानदर्शी, स भगवान्, धर्मं चारित्रलक्षणं सं

सारोत्तरणसमर्थं वा । तथा-श्रुतं च जीवाऽऽदिपदार्थसूचकं, देशितवान् प्रकाशितवान् ॥ २४ ॥

किं चान्यत्-

भासमाणो न भासेज्जा, णेव वंफेज्ज मम्मयं ।

मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुचिंतिय वियागरे ॥ २५ ॥

(भासमाणो इत्यादि) यो हि भाषासमितः स भाषमाणोऽपि धर्मकथासंबन्धभाषक एव स्यात् । उक्तं च-" वयणविहत्तीकुसलो, वओगयं बहुविहं वियाणंतो । दिवसं पि भासमाणो, साहू व गुरुत्तयं पत्तो ॥ १ ॥ " यदि वा-यत्रान्यः कश्चिद्रत्नाऽऽदिको भाषमाणस्तत्राऽन्तर एव सश्रुतिकोऽहमित्येवमभिमानवान् न भाषेत । तथा-मर्म गच्छतीति मर्मगं वचो न (वंफेज्ज त्ति) नाभिलपेत् । यद्वचनमुच्यमानं तथ्यमतथ्यं वा सद् यस्य कस्यचिन्मनः पीडामाधत्ते,तद्विवेकी न भाषेतेति भावः । यदि वा-मामकं ममीकारः पक्षपातस्तं भाषमाणो (न वंफेज्ज त्ति) नाभिलपेत् । तथा-मातृस्थानं मायाप्रधानं वचो विवर्जयेत् । इदमुक्तं भवति-परवञ्चनबुद्ध्या गूढाऽऽचारप्रधानो भाषमाणोऽभाषमाणो वाऽन्यदा वा मातृस्थानं न कुर्यादिति । यदा तु वक्तुं कामो भवति, तदा नैतद्वचः परमात्मनोरुभयोर्वा बाधकमित्येवं प्रागेवचिन्त्य वचनमुदाहरेत् । तदुक्तम्-" पुव्विं बुद्धीए पेहित्ता, पच्छा वक्कमुदाहरे । " इत्यादि ॥ २५ ॥

अपि च-

तत्थिमा तइया भासा, जं वदित्ताऽणुतप्पति ।

जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा णियंठिया ॥ २६ ॥

(तत्थिमेत्यादि) सत्या-असत्या-सत्यामृषा-असत्यामृषेत्येवंरूपासु चतसृषु भाषासु मध्ये तत्रेयं सत्यामृषेत्येतदभिधानात् तृतीया भाषा, सा च किञ्चिन्मृषा किञ्चित्सत्या इत्येवंरूपा । तद्यथा-दश दारका अस्मिन्नगरे जाता मृताः,तदत्र न्यूनाधिकसंभवे सति संख्याया व्यभिचारात्सत्यामृषात्वमिति । यां चैवंरूपां भाषामुदित्वा अनु पश्चाद्भाषणाज्जन्मान्तरे वा तज्जनितेन दोषेण तप्यते पीड्यते क्लेशभाग्भवति । यदि वा-अनुतप्यते, किं ममैवंभूतेन भाषितेनेत्येवं पश्चात्तापं विधत्ते । तदत्रेदमुक्तं भवति-मिश्राऽपि भाषा दोषाय, किं पुनरसत्या, द्वितीया समस्ताऽर्थविसंवादिनी । तथा-प्रथमाऽपि भाषा सत्या, या प्राण्युपतापेन दोषानुषङ्गिणी सा न वाच्या । चतुर्थ्यप्यसत्यामृषा भाषा बुधैरनाचीर्णा सा न वक्तव्येति । सत्याया अपि दोषानुषङ्गित्वमधिकृत्याऽऽह-यद्वचः (छन्नं ति) क्षणु हिंसायां, हिंसाप्रधानम् । तद्यथा-बध्यतां चौरोऽयं, लूयन्तां केदाराः, दम्यन्तां गोरथका इत्यादि । यदि वा-(छन्नं ति) प्रच्छन्नं यल्लोकैरपि प्रच्छाद्यते तत्सत्यमपि न वक्तव्यमिति । एषाऽऽज्ञा अयमुपदेशो निर्ग्रन्थो भगवांस्तस्येति ॥ २६ ॥

किं च-

होलावायं सहीवायं, गोयावायं च नो वदे ।

तुमं तुमं ति अमणुन्नं, सव्वसो तं ण वत्तए ॥ २७ ॥

(होलावायमित्यादि) होलेत्येवं वादो होलावादः । तथा-सखेत्येवं वादः सखिवादः, तथा-गोत्रोद्घाटनेन वादो गोत्रवादः, यथा-काश्यपसगोत्रो, वासिष्ठसगोत्रो वेति इत्येवंरूपं वादं साधुर्नो वदेत् । तथा-" तुमं तुमं " तिरस्कारप्रधानमेकवचनान्तं बहुवचनोच्चारणयोग्येऽमनोज्ञं मनःप्रतिकूलरूपमन्यदप्येवंभूतमपमानाऽऽपादकं सर्वशः सर्वथा तत् साधूनां वक्तुं न वर्तत इति । यदाश्रित्योक्तं निर्युक्तिकारेण । तद्यथा-" पासत्थोसन्नकुसील-संथवो ण किल वट्टए काउं । तदिदं " इत्यादि ॥ २७ ॥

अकुसीले सया भिक्खू, णेव संसग्गियं भए ।

सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा, पडिबुज्झेज्ज ते विऊ ॥ २८ ॥

(अकुसीलेत्यादि) कुत्सितं शीलमस्येति कुशीलः, स च पार्श्वस्थाऽऽदीनामन्यतमः,न कुशीलोऽकुशीलः,सदा सर्वकालं,भिक्षणशीलो भिक्षुः,कुशीलो न भवेन्नापि कुशीलैः सार्धं संसर्गं साङ्गत्यं,भजेत सेवेत । तत्संसर्गदोषोद्भिभावयिषयाऽऽह-" सुखरूपाः सातागौरवस्वभावाः, तत्र तस्मिन् कुशीलसंसर्गे संयमोपघातकारिण उपसर्गाः प्रादुःष्यन्ति । तथाहि-कुशीलवक्तारो भवन्ति-कः किल प्रासुकोदकेन हस्तपाददन्ताऽऽदिके प्रक्षाल्यमाने दोषः स्यात् । तथा-नाशरीरो धर्मो भवतीत्यतो येन केनचित्प्रकारेणाऽऽधाकर्मसान्निध्याऽऽदिना, तथा-उपानच्छत्राऽऽदिना च शरीरं धर्माऽऽधारं वर्तयेत् । उक्तं च-"अप्पेण बहुमेसेज्जा,एयं पंडियलक्खणं ।" इति । "शरीरं धर्मसंयुक्तं,रक्षणीयं प्रयत्नतः । शरीरात्स्रवते पापं, पर्वतात्सलिलं यथा ॥ १ ॥ " तथा साम्प्रतमल्पानि संहननानि, अल्पधृतयश्च संयमे जन्तव इत्येवमादि कुशीलोक्तं श्रुत्वा अल्पसत्त्वास्तत्रानुषज्जन्त्येवं विद्वान् विवेकी प्रतिबुध्येत जानीयात्, बुद्ध्वा चाऽपायरूपं कुशीलसंसर्गं परिहरेदिति ॥ २८ ॥

नन्नत्थ अंतराएणं. परगेहे ण णिसीयए ।

गामकुमारियं किड्डं, नातिवेलं हसे मुणी ॥ २९ ॥

(नन्नत्थेत्यादि) नत्र साधुर्भिक्षाऽऽदिनिमित्तं ग्रामाऽऽदौ प्रविष्टः सन् परो गृहस्थस्तस्य गृहं परगृहं तत्र न निषीदेन्नोपविशेत्, उत्सर्गतोऽस्यापवादं दर्शयति-नान्यत्रान्तरायेणेति । अन्तरायः शक्त्यभावः,स च जरसा रोगाऽऽतङ्काभ्यां स्यात्तस्मिन्नन्तराये सत्युपविशेत् । यदि वा-उपशमलब्धिमान् कश्चित्सुसहायो गुर्वनुज्ञातः कस्यचित्तथाविधस्य धर्मदेशनानिमित्तमुपविशेदपि । तथा-ग्रामे कुमारका ग्रामकुमारकास्तेषामियं ग्रामकुमारिकाऽसौ क्रीडा हास्यकन्दर्पहस्तसंस्पर्शनाऽऽलिङ्गनाऽऽदिका । यदि वा-वट्टकन्दुकाऽऽदिका, तां मुनिर्न कुर्यात्, तथा वेला मर्यादा तामतिक्रान्तमतिवेलं न हसेन्मर्यादामतिक्रम्य मुनिः साधुर्ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽद्यष्टविधकर्मबन्धभयान्न हसेत् । तथा चाऽऽगमः-"जीवे णं भंते ! हसमाणे उस्सूयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? । गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा । " इत्यादि ॥ २९ ॥

किं च-

अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए ।

चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥ ३० ॥

(अणुस्सुओ इत्यादि) उराला उदाराः शोभना मनोज्ञा ये चक्रवर्त्यादीनां शब्दाऽऽदिषु विषयेषु कामभोगा वस्त्राऽऽभरणगीतगन्धर्वयानवाहनाऽऽदयः,तथा-आज्ञैश्वर्याऽऽदयश्चैतेषूदारेषु दृष्टेषु श्रुतेषु वा नोत्सुकः स्यात् । पाठान्तरं वा-न निश्रितोऽनिश्रितोऽप्रतिबद्धः स्यात् । यतमानश्च संयमानुष्ठाने, परि समन्तान्मूलोत्तरगुणेषु उद्यमं कुर्वन् व्रजेत्संयमं गच्छेत् । तथा-चर्यायां भिक्षाऽऽदिकायामप्रमत्तः स्यात्,नाऽऽहाराऽऽदिषु रसगार्ध्यं विदध्या-

दिति । तथा-स्पृष्टश्चाभिद्रुतश्च परीषहोपसर्गैस्तत्रादीनमनस्कः कर्मनिर्जरां मन्यमानो विषहेत सम्यक् सहेतादिति ॥३०॥

परीषहोपसर्गाधिसहनमेवाधिकृत्याऽऽह-

हम्ममाणो ण कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न संजले ।
सुमणे अहियासिज्जा, ण य कोलाहलं करे ॥ ३१ ॥

(हम्ममाणो इत्यादि) हन्यमानो यष्टिमुष्टिलकुटाऽऽदिभिरपि न कुप्येत्र कोपवशगो भवेत् । तथा-दुर्वचनान्युच्यमान आक्रुश्यमानो निर्भर्त्स्यमानो न संज्वलेत्र प्रतीपं वदेत्र मनागपि मनोऽन्यथात्वं विदध्यात्, किं तु सुमनाः सर्वं कोलाहलमकुर्वन्नधिसहेतेति ॥ ३१ ॥

किं चान्यत्-

लद्धे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए ।
आयरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया ॥ ३२ ॥

(लद्धे कामे इत्यादि)लब्धान् प्राप्तानप्राप्तानपि कामानिच्छामदनरूपान् गन्धालङ्कारवस्त्राऽऽदिरूपान् वा वैरस्वामिवन्न प्रार्थयेन्नानुमन्येत.न गृह्णीयादित्यर्थः । यदि वा-यत्र कामावसायितया गमनाऽऽदिलब्धिरूपान् कामांस्तपोविशेषलब्धानपि नोपजीवयात्यनागतान् ब्रह्मदत्तवत्प्रार्थयेत्, एवं च कुर्वतो भावविवेक आख्यात आविर्भावितो भवति । तथा-आर्याण्यार्याणां कर्तव्यानि अनार्यकर्तव्यपरिहारेण । यदि वा-आचर्याणि मुमुक्षूणां यान्याचरणीयानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि तानि बुद्धानामाचार्याणामन्तिके समीपे सदा सर्वकालं शिक्षेताभ्यसेदिति । अनेन हि शीलवता नित्यं गुरुकुलवास आसेवनीय इत्यावेदितं भवतीति ॥ ३२ ॥

यदुक्तं बुद्धानामन्तिके शिक्षेत्तत्स्वरूपनिरूपणायाह-

सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पन्नं सुतवस्सियं ।
वी (धी) रा जे अत्तपन्नेसी, धितिमंता जिइंदिया ॥३३॥

(सुस्सूसमाण इत्यादि) गुरोरादेशं प्रति श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा, गुर्वादिवैयावृत्त्यमित्यर्थः । तां कुर्वाणो गुरुमुपासीत सेवेत । तस्यैव प्रधानगुणद्वयद्वारेण विशेषणमाह-सुष्ठु शोभना वा प्रज्ञाऽस्येति सुप्रज्ञः स्वसमयपरसमयवेदी गीतार्थ इत्यर्थः । तथा-सुष्ठु शोभनं वा सबाह्याभ्यन्तरं तपोऽस्यास्तीति सुतपस्वी, तमेवंभूतं ज्ञानिनं सम्यक् चारित्रवन्तं गुरुं परलोकार्थी सेवेत । तथा चोक्तम्-" नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य । धन्ना आवकहाए,गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ १ ॥" (ग०) य एवं कुर्वन्ति तान् दर्शयति । यदि वा के ज्ञानिनस्तपस्विन इत्याह-वीराः कर्मविदारणसहिष्णवो,धीरा वा परीषहोपसर्गाक्षोभ्याः,धिया बुद्ध्या राजन्तीति वा धीरा ये केवलाऽऽप्तस्य सिद्धिगमनाः आप्तो रागाऽऽदिविप्रमुक्तस्तस्य प्रज्ञा केवलज्ञानाऽऽख्या,तामन्वेष्टुं शीलं येषां ते आप्तप्रज्ञान्वेषिणः, सर्वज्ञोक्तान्वेषिण इति यावत् । यदि वा-आत्मप्रज्ञान्वेषिण आत्मनः प्रज्ञा ज्ञानमात्मप्रज्ञा तदन्वेषिण आत्मकृत्यान्वेषिण आत्महितान्वेषिण इत्यर्थः । तथा-धृतिः संयमे रतिः, सा विद्यते येषां ते धृतिमन्तः । संयमधृत्या हि पञ्चमहाव्रतभारोद्वहनं सुसाध्यं भवतीति । तपःसाध्या च सुगतिर्हस्तप्राप्येति । तदुक्तम्-" जस्स धिई तस्स तवो, जस्स तवो तस्स सुग्गई सुलहा । जे अधिइमंतपुरिसा, तवो वि खलु दुल्लहो तेसिं ॥ १ ॥ " तथा-जितानि वशीकृतानि स्वविषयरागद्वेषविजयेनेन्द्रियाणि स्पर्शनाऽऽदीनि यैस्ते जितेन्द्रियाः शुश्रूषमाणा यथोक्तविशेषणविशिष्टा भवन्तीति ॥ ३३ ॥

तदभिधित्सुराह-

गिहे दीवमपासंता, पुरिसाऽऽदाणिया नरा ।
ते वीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥ ३४ ॥

(गिहे दीवमित्यादि) गृहे गृहवासे गृहपाशे वा, गृहस्थभाव इति यावत् । (दीवं ति) दीपी दीप्तौ, दीपयति प्रकाशयतीति दीपः,स च भावदीपः श्रुतज्ञानलाभः। यदि वा-द्वीपः समुद्राऽऽदौ प्राणिनामाश्वासभूतः, स च भावद्वीपः संसारसमुद्रे सर्वज्ञोक्तचारित्रलाभः, तदेवंभूतं दीपं द्वीपं वा गृहस्थभावेऽपश्यन्तोऽप्राप्नुवन्तः सन्तः सम्यक् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थिता उत्तरोत्तरगुणलाभेनैवंभूता भवन्तीति दर्शयति-नराः पुरुषाः पुरुषोत्तमत्वाद्धर्मस्य नरोपादानम्, अन्यथा स्त्रीणामप्येतद्गुणभाक्त्वं भवति, अथवा देवाऽऽदिव्युदासार्थमिति । मुमुक्षूणां पुरुषाणामादानीया आश्रयणीयाः पुरुषाऽऽदानीयाः महतोऽपि महीयांसो भवन्ति । यदि वा-आदानीयो हितैषिणां मोक्षस्तन्मार्गो वा सम्यग्दर्शनाऽऽदिकः पुरुषाणां मनुष्याणामादानीयः, स विद्यते येषामिति विगृह्य मत्वर्थीयः"अर्श आदिभ्योऽच्"॥५।२।१२७॥ इति । तथा य एवंभूतास्ते विशेषेणेरयन्त्यष्टप्रकारं कर्मेति वीराः। तथा बन्धनेन सबाह्याभ्यन्तरेण [पुत्रकलत्राऽऽदि]स्नेहरूपेणोत्प्राबल्येन मुक्ता बन्धनोन्मुक्ताः सन्तो जीवितमसंयमजीवितं, प्राणधारणं वा नाभिकाङ्क्षन्ति नाभिलषन्तीति ॥ ३४ ॥

किं चान्यत्--

अगिद्धे सद्दफासेसु, आरंभेसु अणिस्सिए ।
सव्वं तं समयातीतं, जमेतं लवियं बहु ॥ ३५ ॥

(अगिद्धे इत्यादि) अगृद्धोऽनध्युपपन्नो मूर्छितः । क ?,शब्दस्पर्शेषु मनोज्ञेषु,आद्यन्तग्रहणान्मध्यग्रहणमतो मनोज्ञेषु रूपेषु गन्धेषु रसेषु वा अगृद्ध इति द्रष्टव्यम् । तथेतरेषु वाऽद्विष्ट इत्यपि वाच्यः । तथा--आरम्भेषु सावद्यानुष्ठानरूपेष्वनिःश्रितोऽसंबद्धोऽप्रवृत्त इत्यर्थः। उपसंहर्तुकाम आह-सर्वमेतदध्ययनाऽऽदेरारभ्य प्रतिषेध्यत्वेन यल्लपितमुक्तं मया बहु,तत्समयादार्हतादागमादतीतमतिक्रान्तमितिकृत्वा प्रतिषिद्धम् । यदपि च विधिद्वारेणोक्तं तदेतत्सर्वं कुत्सितसमयातीतं लोकोत्तरं प्रधानं वर्तते ॥ ३५ ॥

यदपि च तैः कुतीर्थिकैर्बहु लपितं तदेतत्सर्वं समयातीतमिति कृत्वा नानुष्ठेयमिति प्रतिषिध्य प्रधाननिषेधद्वारेण मोक्षाभिसंधानेनाऽऽह-

अइमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए ।
गारवाणि य सव्वाणि, णिव्वाणं संधए मुणी ॥३६॥

(अइमाणं चेत्यादि) अतिमानो महामानस्तं, चशब्दात्तत्सहचरितं क्रोधं च, तथा-मायां, चशब्दात्तत्कार्यभूतं लोभं च, तदेतत्सर्वं पण्डितो विवेकी ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् । तथा-सर्वाणि गारवाणि ऋद्धिरससातरूपाणि सम्यक् ज्ञात्वा संसारकारणत्वेन परिहरेत्परिहृत्य च मुनिः साधुर्निर्वाणमशेषकर्मक्षयरूपं, विशिष्टाऽऽकाशदेशं वा सन्धयेदभिसंदध्यात्, प्रार्थयेदिति यावत् ॥ ३६ ॥ सूत्र० १ श्रु०

६ अ०। (कदा पुनरुत्पन्नज्ञानिराबरणज्ञानानां तीर्थकृतां वाग्योगो भवति येनासावाकर्ण्यते ?, उच्यते-धर्मकथावसरे। किंभूतस्तैः पुनर्धर्मः प्रवेदितस्तद् वक्ष्यते ' लोगसार ' शब्दे)

तथा च-

केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं, केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।

केवलिप्रज्ञप्तः, कोऽसौ ?, धर्मः श्रुतधर्मः, चारित्रधर्मश्च मङ्गलम्, अनेन कपिलाऽऽदिप्रज्ञप्तधर्मव्यवच्छेदमाह । आव० ४ अ०।

अपि च-

कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसले हि दीवयं ।
कडमेव गहाय णो कलिं, नो तेयं नो चेव दावरं ॥२३॥

कुत्सितो जयोऽस्येति कुजयो द्यूतकारः, महतोऽपि द्यूतजयस्य सद्भिर्निन्दितत्वादनर्थहेतुत्वाच्च कुत्सितत्वमिति । तमेव विशिनष्टि-अपराजितो दीव्यन् कुशलत्वादन्येन न जीयते । अक्षैर्वा पाशकैर्दीव्यन् क्रीडंस्तत्पातकुशलो निपुणः यथा असौ द्यूतकारोऽक्षैः पाशकैः कपर्दकैर्वा रममाणः (कडमेव त्ति) चतुष्कमेव गृहीत्वा तल्लब्धजयत्वात् तेनैव दीव्यति । ततोऽसौ लब्धजयः सन् कलिमेककं, नाऽपि त्रेतं त्रिकं च, नापि द्वापरं द्विकं गृह्णातीति ॥ २३ ॥

दार्ष्टान्तिकमाह-

एवं लोगम्मि ताइणा,
बुइए जे धम्मे अणुत्तरे ।
तं गिण्हहु जंऽतिउत्तमं,
कडमिव सेसऽवहाय पंडिए ॥ २४ ॥

यथा द्यूतकारः प्राप्तजयत्वात् सर्वोत्तमं दीव्यं चतुष्कमेव गृह्णात्येवमस्मिंल्लोके मनुष्यलोके तायिना त्रायिणा वा सर्वज्ञेनोक्तोऽयं धर्मः क्षान्त्यादिलक्षणः श्रुतचारित्राऽऽख्यो वा नाऽस्योत्तरोऽधिकोऽस्तीत्यनुत्तरः, तमेकान्तहितमपि कृत्वाऽत्युत्तमं सर्वोत्तमं च गृहाण विस्रोतसिकारहितः स्वीकुरु । पुनरपि निगमनार्थं तमेव दृष्टान्तं दर्शयति-यथा कश्चिद् द्यूतकारः कृतं कृतयुगं, चतुष्कमित्यर्थः, शेषमेकाऽऽद्यपहाय त्यक्त्वा दीव्यन् गृह्णाति, एवं पण्डितोऽपि साधुररि, शेषं गृहस्थकुप्रावचनिकपार्श्वस्थाऽऽदिभावमपहाय संपूर्णं महान्तं सर्वोत्तमं धर्मं गृह्णीयादिति भावः ॥ २४ ॥

उत्तर मणुयाण आहिया,
गामधम्मा इइ मे अणुस्सुयं ।
जंसी विरता समुट्ठिया,
कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥ २५ ॥

(उत्तरेत्यादि) उत्तराः प्रधानाः, दुर्जयत्वात् । केषाम् ?, उपदेशार्हत्वान्मनुष्याणाम् । अन्यथा सर्वेषामेवेति । के ते?, ग्रामधर्माः शब्दाऽऽदिविषया मैथुनरूपा वेति । एवं ग्रामधर्मा उत्तरत्वेन सर्वैराख्याताः, मयैतदनुपश्चाच्छ्रुतम् । एतच्च सर्वमेव प्रागुक्तं, यच्च वक्ष्यमाणं तन्नाभेयेनाऽऽदितीर्थकृता पुत्रानुद्दिश्याऽभिहितं सत् पाश्चात्यगणधराः सुधर्मस्वामिप्रभृतयः स्वशिष्येभ्यः प्रतिपादयन्त्यतो मयैतदनुश्रुतमित्यनवद्यम् । यस्मिन्निति कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी, सप्तमी वेति । यान् ग्रामधर्मानाश्रित्य ये विरताः, पञ्चम्यर्थे वा सप्तमी । येभ्यो वा विरताः सम्यक् संयमरूपेणोत्थिताः समुत्थितास्ते काश्यपस्यर्षभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा संबन्धी यो धर्मस्तदनुचारिणस्तीर्थकरप्रणीतधर्मानुष्ठायिनो भवन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥

किं च-

जे एयं चरंति आहियं,
नाएणं महया महेसिणा ।
ते उट्ठिय ते समुट्ठिया,
अन्नोन्नं सारंति धम्मओ ॥ २६ ॥

(जे एयं इत्यादि) । ये मनुष्या एनं प्रागुक्तं धर्मं ग्रामधर्मविरतिलक्षणं, कुर्वन्ति चरन्ति । आख्यातं ज्ञातेन ज्ञातपुत्रेण, (महयेति) महाविषयस्य ज्ञानस्याऽनन्यभूतत्वाद् महान् तेन तथाऽनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुत्वान्महर्षिणा श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिना आख्यातं धर्मं ये चरन्ति, त एव सम्यगुत्थानेन कुतीर्थिकपरिहारेणोत्थिताः । तथा-निह्नवाऽऽदिपरिहारेण त एव सम्यक्त्वमार्गदेशनाऽपरित्यागेनोत्थिताः समुत्थिता इति, नाऽन्ये कुप्रावचनिका जमालिप्रभृतयश्चेति भावः । त एव च यथोक्तधर्मानुष्ठायिनोऽन्योऽन्यं परस्परं धर्मतो धर्ममाश्रित्य धर्मतो वा भ्रश्यन्तं सारयन्ति चोदयन्ति, पुनरपि सद्धर्मे प्रवर्त्तयन्तीति ॥ २६ ॥

मा पेह पुरा पणामए, अभिकंखे उवहिं धुणित्तए ।
जे दूमण तेहिँ णो णया, ते जाणंति समाहिमाहियं ॥२७॥

(मा पेहेत्यादि) दुर्गतिं संसारं वा प्रणामयन्ति प्रह्वीकुर्वन्ति प्राणिनां प्रणामकाः शब्दाऽऽदयो विषयास्तान् पुरा पूर्वं भुक्तान् मा प्रेक्षस्व मा स्मर । तेषां स्मरणमपि यस्मान्मदनेऽनर्थाय, अनागतांश्च नोद्दिश्येन नाऽऽकाङ्क्षेदिति । तथा-अभिकाङ्क्षेत् अभिलषेदनारतं चिन्तयेदनुरूपमनुष्ठानं कुर्यात् । किमर्थमिति दर्शयति-उपधीयते ढौकयति दुर्गतिं प्रत्यात्मा येनाऽसावुपधिर्माया; अष्टप्रकारं वा कर्म; तद्धूननायापनयनायाभिकाङ्क्षेदिति सम्बन्धः । दुष्टधर्मं प्रत्युपनताः कुमार्गानुष्ठायिनस्तीर्थिकाः । यदि वा-(दूमण त्ति) दुष्टमनःकारिण उपतापकारिणो वा शब्दाऽऽदयो विषयास्तेषु ये महासत्त्वाः न नताः प्रह्वीभूतास्तदाचारानुष्ठायिनो न भवन्ति, ते च सन्मार्गानुष्ठायिनो जानन्ति विदन्ति समाधिं रागद्वेषपरित्यागरूपं धर्मध्यानं च आहितमात्मनि व्यवस्थितम् । आ समन्तादुक्तं वा त एव जानन्ति, नाऽन्य इति भावः ॥ २७ ॥

तथा-

णो काहिए होज्ज संजए,
पासणिए ण य संपसारए ।
नच्चा धम्मं अणुत्तरं,
कयकिरिए ण यावि मामए ॥ २८ ॥

(णो काहिए इत्यादि) संयतः प्रव्रजितः कथया चरति काथिको गोचराऽऽसौ न भवेत् । यदि वा-विरुद्धां पैशुन्याऽऽपादनीं स्त्र्यादिकथां या न कुर्यात् । तथा-प्रश्नेन राजाऽऽदिकिंवृत्तरूपेण, दर्पणाऽऽदिप्रश्ननिमित्तरूपेण वा चरतीति प्राश्निको न भवेत् । नापि च संप्रसारको देववृष्ट्यर्घकाण्डाऽऽदिसूच-

ककथाविस्तारको भवेदिति । किं कृत्वेति दर्शयति-ज्ञात्वाऽवबुध्य नास्यो।परो विद्यत इत्यनुत्तरस्तं श्रुतचारित्राऽऽख्यं धर्मं सम्यगवगम्य, तस्य हि धर्मस्यैतदेव फलं यदुत विकथानिमित्तपरिहारेण सम्यक् क्रियावान् स्यादिति तद्दर्शयति-कृता स्वभ्यस्ता क्रिया संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियस्तथाभूतश्च, न चाऽपि मामको ममेदमहमस्य स्वामीत्येवं परिग्रहाऽऽग्रही भवेदिति ॥ २८ ॥

छन्नं च पसंस णो करे, न य उक्कोस पगास माहणे ।
तेसिं सुविवेगमाहिए, पणया जेहिँ सुजोसिअं धुयं ॥२९॥

(छन्नमित्यादि) 'छन्नं ति' माया, तस्याः स्वाभिप्रायप्रच्छादनरूपत्वात्, तां न कुर्यात् । चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः । तथा-प्रशस्यते सर्वैरप्यविगानेनाऽऽद्रियत इति प्रशस्यो लोभः, तं च न कुर्यात् । तथा-जात्यादिभिर्मदस्थानैर्बुधमपकर्ति पुरुषमुत्कर्षयतीत्युत्कर्षको मानः,तमपि न कुर्यादिति सम्बन्धः। तथा-अन्तर्व्यवस्थितोऽपि मुखदृष्टिभ्रूभङ्गविकारैः प्रकाशीभवतीति प्रकाशः क्रोधः, तं च (माहणे त्ति) साधुर्न कुर्यात् । तेषां कषायाणां यैर्महात्मभिर्विवेकः परित्याग आहितो जनितस्त एव धर्मं प्रति प्रणता इति । यदि वा-तेषामेव सत्पुरुषाणां सुष्ठु विवेकः परिज्ञानरूप आहितः प्रथितः प्रसिद्धिं गतः,त एव च धर्मं प्रति प्रणताः, यैर्महासत्त्वैः सुष्ठु जुष्टं सेवितं, धूयतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तद्धूतं संयमानुष्ठानम् । यदि वा-यैः सदनुष्ठायिभिः (सुजोसिअं ति) सुष्ठु क्षिप्तं धूननार्हत्वाद् धूतं कर्मेति ॥ २९ ॥

अपि च-

अणिहे सहिए सुसंवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए ।
विहरेज्ज समाहिइंदिए, अत्तहिअं खु दुहेण लब्भइ ॥३०॥

(अणिहे इत्यादि) स्निह्यत इति स्निहः । न स्निहः-अस्निहः, सर्वत्र ममत्वरहित इत्यर्थः । यदि वा--परीषहोपसर्गैर्निहन्यते इति निहः, न निहोऽनिहः उपसर्गैरपराजित इत्यर्थः । पाठान्तरं वा-" अणहे त्ति । " नास्याघमस्तीत्यनघो, निरवद्यानुष्ठायीत्यर्थः । सह हितेन वर्तत इति सहितः, सहितो युक्तो वा ज्ञानाऽऽदिभिः,स्वहित आत्महितो वा सदनुष्ठानप्रवृत्तः। तमेव दर्शयति-सुष्ठु संवृत इन्द्रियनोइन्द्रियैर्विस्रोतसिकारहित इत्यर्थः । तथा-धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थः प्रयोजनं, स एवार्थः, तस्यैव सद्भिरर्थ्यमाणत्वाद् धर्मार्थः, स यस्याऽस्तीति स धर्मार्थी । तथोपधानं तपः, तत्र वीर्यवान् , स एवम्भूतो विहरेत् संयमानुष्ठानं कुर्यात् । समाहितेन्द्रियः संयतेन्द्रिय एव । यत आत्महितं दुःखेनाऽसुमता संसारे पर्यटता अकृतधर्मानुष्ठानेन लभ्यते अवाप्यत इति । तथाहि-"न पुनरिदमतिदुर्लभ-मगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योतक-तडिल्लतविलसितप्रतिमम् ॥ १ ॥" तथाहि-युगसमिलाऽऽदिदृष्टान्तनीत्या मनुष्यजन्म एव तावद् दुर्लभः,तत्राऽप्यार्यक्षेत्राऽऽदिकं दुरापमित्यत आत्महितं दुःखेनाऽवाप्यत इति मन्तव्यम् ।

अपि च-

भूतेषु जङ्गमत्वं, तस्मिन् पञ्चेन्द्रियत्वमुत्कृष्टम् ।
तस्मादपि मानुष्यं, मानुष्येऽप्यार्यदेशश्च ॥ १ ॥
देशे कुलं प्रधानं, कुले प्रधाने च जातिरुत्कृष्टा ।
जातौ रूपसमृद्धी, रूपे च बलं विशिष्टतमम् ॥ २ ॥
भवति बले चाऽऽयुष्कं, प्रकृष्टमायुष्कतोऽपि विज्ञानम् ।
विज्ञाने सम्यक्त्वं, सम्यक्त्वे शीलसंप्राप्तिः ॥ ३ ॥
एतत्पूर्वश्चाऽयं, समासतो मोक्षसाधनोपायः ।
तत्र च बहु संप्राप्तं, भवद्भिरल्पं च संप्राप्यम् ॥ ४ ॥
तत्कुरुतोद्यममधुना, मदुक्तमार्गे समाधिमाधाय ।
त्यक्त्वा सङ्गमनार्यं, कार्यं सद्भिः सदा श्रेयः ॥ ५ ॥ " इति ।
॥ ३० ॥

एतच्च प्राणिभिर्न कदाचिदवाप्तपूर्वमित्येतद्दर्शयितुमाह—

ण हि णूण पुरा अणुस्सुतं,
अदुवा तं तह णो समुट्ठियं ।
मुणिणा सामाइआऽऽहितं,
नाएणं जगसव्वदंसिणा ॥ ३१ ॥

यदेतन्मुनिना जगतः सर्वभावदर्शिना ज्ञातपुत्रीयेण सामायिकाऽऽद्याहितमाख्यातं तन्नूनं निश्चितं न हि नैव पुरा पूर्वं जन्तुभिरनुश्रुतं श्रवणपथमायातम् । अथवा-श्रुतमपि तत् सामायिकाऽऽदि यथाऽवस्थितं तथा नाऽनुष्ठितम् । पाठान्तरं वा-"अवितह त्ति" अवितथं यथाख्यातानुष्ठितमतः कारणादसुमतात्महितं सुदुर्लभमिति ॥ ३१ ॥

पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याऽऽह-

एवं मत्ता महंतरं, धम्ममिणं सहिया बहू जणा ।
गुरुणो छंदाणुवत्तगा, विरया तिन्न महोघमाहितं ॥ ३२ ॥

(एवं मत्ता इत्यादि) एवमुक्तरीत्या आत्महितं सुदुर्लभं मत्वा ज्ञात्वा धर्माणां च महदन्तरं धर्मविशेषं कर्मणो वा विवरं ज्ञात्वा । यदि वा-(महंतरं ति) मनुष्याऽऽर्यक्षेत्राऽऽदिकमवसरं सदनुष्ठानस्य ज्ञात्वा एनं जैनं धर्मं श्रुतचारित्राऽऽत्मकं,सह हितेन वर्तत इति सहिता ज्ञानाऽऽदियुक्ता बहवो जना लघुकर्माणः समाश्रिताः सन्तो गुरोराचार्याऽऽदेस्तीर्थकरस्य वा छन्दानुवर्तकास्तदुक्तमार्गानुष्ठायिनो, विरताः पापेभ्यः कर्मभ्यः सन्तस्तीर्णा महौघमपारं संसारसागरमेवमाख्यातं मया भवतामपरैश्च तीर्थकृद्भिरन्येषाम् ॥ ३२ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

किं च-

संधए साहुधम्मं च, पावधम्मं णिराकरे ।
उवहाणवीरिए भिक्खू, कोहं माणं न पत्थए ॥ ३५ ॥

(संधए इत्यादि) साधूनां धर्मः क्षान्त्यादिको दशविधः,सम्यग्दर्शनचारित्राऽऽख्यो वा,तमनुसंधयेद् वृद्धिमापादयेत् । तद्यथा-प्रतिक्षणमपूर्वज्ञानग्रहणेन ज्ञानम् । तथा शङ्काऽऽदिदोषपरिहारेण,सम्यग्जीवाऽऽदिपदार्थाधिगमेन च सम्यग्दर्शनमस्खलितमूलोत्तरगुणसंपूर्णपालनेन प्रत्यहमपूर्वज्ञानग्रहणेन चारित्रं वृद्धिमापादयेदिति । पाठान्तरं वा-" सद्दहे साधुधम्मं च " पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं साधुधर्मं मोक्षमार्गत्वेन श्रद्दधीत निःशङ्कतया गृह्णीयात्, चशब्दात्सम्यगनुपालयेच्च । तथा-पापं पापोपादानकारणं धर्मं प्राण्युपमर्दनं प्रवृत्तं,निराकुर्यात् । तथा-उपधानं तपः,तत्र यथाशक्त्या वीर्यं यस्य स भवत्युपधानवीर्यः, तदेवंभूतो भिक्षुः क्रोधं, मानं च न प्रार्थयेन्न वर्धयेदिति ॥ ३५ ॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं,
समाहितं अट्ठपदोवसुद्धं ।
तं सद्दहाणा य जणा अणाऊ,
इंदा व देवाहिव आगमिस्सं ॥ २९ ॥

(सोच्चा य इत्यादि) श्रुत्वा च दुर्गतिधारणाद् धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यमर्हद्भिर्भाषितं सम्यगाख्यातमर्थपदानि युक्तयो हेतवो वा तैरुपशुद्धमवदातं सयुक्तिकं सहेतुकं वा, यदि वा अर्थैरभिधेयैः पदैश्च वाचकैः शब्दैरुप सामीप्येन शुद्धं निर्दोषम् । तमेवंभूतमर्हद्भिर्भाषितं धर्मं श्रद्दधानाः । तथा-अनुतिष्ठन्तो जना लोका अनायुषोऽपगतायुष्कर्माणः सन्तः सिद्धाः सायुषश्चेन्द्राऽऽद्याः देवाधिपा आगमिष्यन्तीति ॥ २९ ॥ सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

(२९) धर्माधर्मविचारश्च सूक्ष्मबुद्ध्या कर्तव्यः, धर्मविचारे सूक्ष्मबुद्धेराश्रयणीयतामुपदिशन्नाह-

सूक्ष्मबुद्ध्या सदा ज्ञेयो, धर्मो धर्मार्थिभिर्नरैः ।
अन्यथा धर्मबुद्ध्यैव, तद्विघातः प्रसज्यते ॥ १ ॥

(सूक्ष्मेति) सूक्ष्मबुद्ध्या निपुणमत्या, सदा सर्वकालं, ज्ञेयो ज्ञातव्यः, कोऽसावित्याह-धर्मो दुर्गतिप्रपातरक्षणे हेतुः, कैरित्याह-धर्मार्थिभिर्धर्मश्रद्धालुभिर्नरैर्मानवैः, अन्यथा स्थूलबुद्ध्या धर्मविवेचने कुतीर्थिकानामिव धर्मबुद्ध्यैव धर्माभिप्रायेणापि, तद्विघातो धर्मव्याहतिः । प्रसज्यते प्राप्नोतीति ॥१॥

एतदेव दर्शयन्नाह-

गृहीत्वा ग्लानभैषज्य-प्रदानाभिग्रहं यथा ।
तदप्राप्तौ तदन्तेऽस्य, शोकं समुपगच्छतः ॥ २ ॥

गृहीत्वा आदाय, ग्लानायाशक्ताय, भैषज्यप्रदाने औषधवितरणविषये, योऽभिग्रहः प्रतिज्ञा, ग्लानाय मया भैषज्यं दातव्यमित्येवंरूपः स तथा तं, यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, तस्य ग्लानस्याभावेन ग्लानभैषज्यप्रदानस्याप्राप्तिरसंभवस्तदप्राप्तिस्तस्यां, तस्य ग्लानभैषज्यप्रदानाभिग्रहस्यान्तःकालावधिपूर्त्यां पर्यवसानतस्तत्र, शोकमुद्वेगं, समुपगच्छतो व्रजतोऽभिग्रहीतुर्धर्मबुद्ध्याऽप्यधर्मो भवति । तथा सर्वत्रेति प्रकृतमिति ॥ २ ॥

शोकमेव दर्शयति-

गृहीतोऽभिग्रहः श्रेष्ठो, ग्लानो जातो न च क्वचित् ।
अहो मेऽधन्यता कष्टं, न सिद्धमभिवाञ्छितम् ॥ ३ ॥

गृहीत आत्तोऽभिग्रह उक्तरूपा प्रतिज्ञा, श्रेष्ठोऽतिप्रशस्यः, ग्लानो रोगवान् जातो भूतो वा, मे मम, धनं लब्धुं धनं वार्हतीति धन्यस्तद्भावस्तत्ता, तन्निषेधोऽधन्यता, कष्टमिति खेदवचनं, न सिद्धं न निष्पन्नमभिवाञ्छितमभिमतमिति ॥ ३ ॥

प्रकृतयोजनायाऽऽह-

एवं ह्येतत्समादानं, ग्लानभावाभिसन्धिमत् ।
साधूनां तत्त्वतो यत्तद्, दुष्टं ज्ञेयं महात्मभिः ॥ ४ ॥

एवमनेन प्रकारेणाभिग्रहविषयाप्राप्तौ शोकगमनलक्षणेन, हिशब्दोऽधिकृताभिग्रहस्य धर्मव्याघातरूपताभावनार्थः । एतस्य ग्लानभैषज्यप्रदानाभिग्रहस्य समादानं ग्रहणमेतत्समादानं, यच्छब्दोऽत्र द्रष्टव्यो, यद्यस्मात् ग्लानभावे रोगवत्त्वेऽभिसन्धिरभिप्रायो यदि कश्चित् साधुर्ग्लानो भवति तदा शोभनं स्यादस्याभिग्रहस्य सफलत्वप्राप्तेरित्येवंलक्षणो विद्यते यत्र तत् ग्लानभावाभिसंधिमत् साधूनां मुनीनामेतत्समादानमिति योगः । अथवा-साधूनां ग्लानभावाभिसन्धिमदिति योगः । तत्त्वतः परमार्थवृत्त्या तदिति तस्मात्कारणाद् दुष्टं दोषवत्, ग्लानभावाभिसन्धिमत्त्वेन कर्मबन्धहेतुत्वात्, ज्ञेयं ज्ञातव्यं, महात्मभिः प्रशस्यस्वभावैरिति ॥४॥

एवमर्थापत्त्या दोषप्राप्तिरन्यैरप्युपलब्धेति दर्शयन्नाह-

लौकिकैरपि चैषोऽर्थो, दृष्टः सूक्ष्मार्थदर्शिभिः ।
प्रकारान्तरतः कैश्चि-द्यत एतदुदाहृतम् ॥ ५ ॥

लोके विदिता लौकिका वाल्मीकिप्रभृतयः, तैरपि न केवलं जैनैरेव, एषोऽनन्तरोदितोऽर्थोऽर्थापत्तिजनितदोषलक्षणो, दृष्ट उपलब्धः । किंभूतैरित्याह-सूक्ष्मार्थदर्शिभिः पटुदृष्टिभिर्ये वस्तुविवेचकैर्न वै ह्यतिस्थूलबुद्धयोऽर्थापत्तिगम्यानेवंविधानर्थान् ज्ञातुमलं भवन्ति, ननु मिथ्यादृशां कथं सूक्ष्मार्थदर्शित्वम्?। उच्यते-मत्यज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिक्षयोपशमविशेषात् अज्ञानं, तर्हि तेषां कथम्?, तत्राऽप्युच्यते-सदसतोरविशेषात् । आह च-"सयसयविसेसणाओ गाहा ।" प्रकारान्तरतः-अस्मदुक्तप्रकाराद् ग्लानभैषज्यदानाभिग्रहलक्षणादन्येन प्रकारेण कैश्चिद्वाल्मीक्यादिभिरेव, न सर्वैः, कथं तैर्दृष्टोऽयमित्यत्राशङ्कितमित्याह-यतो यस्मादेतद् वक्ष्यमाणमुदाहृतमभिहितमिति ॥ ५ ॥

अङ्गेष्वेव जरा यातु, यत्त्वयोपकृतं मम ।
नरः प्रत्युपकाराय, विपत्सु लभते फलम् ॥ ६ ॥

किल सुग्रीवेण ताराऽऽवाप्तौ रामदेव एवमुक्तः-अङ्गेष्वेव मदीयगात्रेष्वेव जरा जरणपरिणामं यातु गच्छतु, मा प्रत्युपकारद्वारेण प्रतिघातनीयं भवत्वित्यवधारणार्थं, किं तत्?, यद्वालेः सकाशात् तारां विमोच्य मम तदर्पणेन त्वया भवता उपकृतमुपकारः कृतः, ममेत्यात्मानं सुग्रीवो निर्दिशति । तस्मात् किमित्येवमित्याह-नर उपकारकारिमानवः उपकारं प्रतीत्याऽऽश्रित्योपकारः प्रत्युपकारः तस्मै प्रत्युपकाराय उपकृतनरेण क्रियमाणाय संपद्यते यत्फलं विपत्सु व्यसनेषु सत्सु लभते प्राप्नोति तत्फलमुपकारकारिक्रियायाः साध्यम् । अयमभिप्रायः-उपकारको व्यसनगत एव उपकारक्रियायाः फलमुपकृतेन कृतं लभते, न पुनरन्यदा व्यसनाभावे, निरवसरत्वेन तदसंभवादिति । किमुक्तं भवति?-मा त्वमापदं प्राप, यस्यामहं भवन्तमुपकरोमीति । अन्ये त्वाहुः-नर उपकृतमानवः, प्रत्युपकारार्थं विपत्सूपकारकारि व्यसनेषु लभते फलं, फलहेतुत्वादवसरमिति ॥ ६ ॥

एवं तावद्धर्मार्थप्रवृत्तावपि धर्मव्याघातो जडस्यानिपुणबुद्धेर्भवति ग्लानभैषज्याभिग्रहप्रवृत्ताविवेति समर्थितम्, अधुनैवमेव सर्वास्वपि प्रवृत्तिष्विति दर्शयन्नाह-

एवं विरुद्धदानाऽऽदौ, हीनोत्तमगतेः सदा ।
प्रव्रज्याऽऽदिविधाने च, शास्त्रोक्तन्यायबाधिते ॥ ७ ॥
द्रव्याऽऽदिभेदतो ज्ञेयो, धर्मव्याघात एव हि ।
सम्यग् माध्यस्थ्यमालम्ब्य, श्रुतधर्मव्यपेक्षया ॥ ८ ॥

यथा ग्लानभैषज्यदानाभिग्रहे धर्मबुद्ध्या कृतेऽपि धर्मबुद्धिदोषाद् धर्मव्याघातः प्रसज्यत एवमनेनैव न्यायेन विरुद्धस्य शास्त्रविनिवारितस्य जीवोपघातहेतुत्वादेव द्रव्यस्याऽऽधाकर्माऽऽदिदग्धदूषितस्य मौलिकाऽऽदेर्वा दिकन्याय वा मद्योपमत्वेन शास्त्रनिन्दि

कुनाथ पात्राय,दानं वितरणं विरुद्धदानं,तदादिर्यस्य शीलतपोभावनाधर्मस्य गुरुविनयाऽऽदेवतापूजनाऽऽदेर्वा स विरुद्धदानाऽऽदिस्तत्र द्रव्याऽऽदिभेदतो धर्मव्याघात एव,ज्ञेय इति योगः। कुत इत्याह-हीनस्य गुणविमुक्तस्य,वेषद्रव्यपात्रस्य वा उत्तमं प्रधानमेतदिति गतिरवगमो बोधो हीनोत्तमगतिः, ततो हीनोत्तमगतेः सदा सर्वदा,शास्त्रनिराकृतत्वेन हि हीनमपि देयं पात्रं चोत्तममिति बोधविपर्ययादवगन्तव्यम्, यदा दाने प्रवर्त्तते,तदा धर्मस्य व्याघातः स्फुट एवेति। दानस्य द्रव्यविरुद्धता च-"अन्नाईणं सुद्धाणं कप्पणिज्जाण देसकालजुयं। दाणं जईणमुचियं, गिहीण सिक्खावयं भणियं ॥ १ ॥" इत्येतद्दानविशेषणविपर्ययादवसेया। पात्रविरुद्धता पुनरेवम्-"सीलव्वयरहियाणं,दाणं जं दिज्जई कुपत्ताणं। तं खलु धोवइ वत्थं, रुहिरकयं लोहियेणेव ॥ १ ॥" तथा प्रव्रज्याऽऽदीनां सर्वविरतिप्रतिपत्तिप्रभृतीनां विधानं करणं प्रव्रज्याऽऽदिविधानम्, आदिशब्दाद्देशविरत्यादिसंग्रहः। तत्र च न केवलं विरुद्धदानाऽऽदावेव, किंभूते प्रव्रज्याऽऽदिविधाने?,इत्याह-शास्त्रोक्तन्यायबाधिते आगमाभिहितनयनिराकृते, हीनोत्तमगतेरिति हेतुरिहापि वर्त्तते, धर्मव्याघातो ज्ञेय इत्येतदत्रापि संबन्धनीयं,तत्र प्रव्रज्याऽऽदिविधाने शास्त्रोक्तोऽयं न्यायः-

" नियनियसहावलोयण--जणवायावगमजोगसुद्धीहिं।
उचियत्तं नाऊणं, निमित्तओ सइ पइट्ठेज्जा ॥ १ ॥ "

तथा-

" पव्वज्जाए जोग्गा, आरियदेसम्मि जे समुप्पन्ना।
जाइकुलेहिं विसिट्ठा, तह खीणप्पायकम्ममला ॥ १ ॥ "
इत्यादौ।

देशविरतौ पुनः-

" गुरुमूलेसु य धम्मो, संविग्गो इत्तरं व इयरं वा।
वज्जेसु तओ सम्मं, वज्जेइ इमे अईयारे ॥ १ ॥ "

जिनदीक्षायां तु-

" निक्खमणे चेव रागो, लोगविरुद्धाण चेव चाओ त्ति।
सुंदरगुरुजोगो विय, जस्स तओ एत्थ उचिओ त्ति ॥१॥ "

एतद्बाधा चैतद्विपर्ययादिति द्रव्याऽऽदिभेदतो द्रव्यक्षेत्रकालभावविशेषानाश्रित्य विरुद्धदानाऽऽदौ प्रव्रज्याऽऽदिविधाने च ज्ञेयो ज्ञातव्यो धर्मव्याघातः। एवं च धर्मबाधैव,न तु धर्माऽऽराधनं, तत्र विरुद्धदाने द्रव्यतो धर्मव्याघातो,यथैषणीयत्वेनाविरुद्धस्ये कूराऽऽदौ साधुसंस्तरणहेतौ सत्यपि अनेषणीयतया विरुद्धम्,अत एव हीनमुत्तममिति बुद्ध्या ददतः। एवं क्षेत्रतोऽकान्ताराऽऽदिक्षेत्रे, कालतः सुभिक्षकाले, भावतस्स्वस्थावस्थायाम्। उक्तं च-"संथरणम्मि असुद्धं, दोण्ह वि गिण्हंतदेंतयाण हियं। आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥ १ ॥" तथा प्रव्रज्याऽऽदिविधाने औत्सर्गिकशास्त्रबाधिते द्रव्यतो धर्मव्याघातो यथा-शास्त्रनिराकृतं नपुंसकाऽऽदिकं जीवद्रव्यं प्रव्राजयतः, क्षेत्रतोऽकान्ताराऽऽदिक्षेत्रे, कालतः सुभिक्षकाले, भावतः स्वस्थावस्थायामिति। द्वितीयवृत्तेः स्फुटार्थः। कथं धर्मव्याघातो ज्ञेय इत्याह-सम्यगविपरीतं, माध्यस्थ्यमनाग्रहत्वमालम्ब्याऽऽश्रित्य, तदपि न स्वकल्पया, किं तु श्रुतधर्मव्यपेक्षया आगमापेक्षया, न तु तदनपेक्षयेति ॥ ७ ॥ द्वा० २१ द्वा०। (अथ कस्य धर्मानुष्ठानत्वं, कस्य नेति 'धम्माणुट्ठाण' शब्देऽग्रे वक्ष्यते)

(३०) संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्माऽऽदीनां धर्मस्थितत्वाधर्मस्थितत्वाऽऽदि यथा-

से नूणं भंते! संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे धम्मे ठिए, असंजयअविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मए अहम्मे ठिए, संजयासंजए धम्माधम्मे ठिए ?। हंता! गोयमा! संजयविरय०जाव धम्माधम्मे ठिए। एएसि णं भंते! धम्मंसि वा अहम्मंसि वा धम्माधम्मंसि वा चक्किया केइ आसइत्तए वा०जाव तुयट्टित्तए वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं खाइअट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ ०जाव धम्माधम्मे ठिए ?। गोयमा! संजयविरय ०जाव पावकम्मे धम्मट्ठिए धम्मं चेव उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, असंजयपावकम्मे अहम्मे ठिए अहम्मं चेव उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, संजयासंजए धम्माधम्मे ठिए धम्माधम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। से तेणट्ठेणं गोयमा !० जाव ठिए।

(से नूणं भंते ! इत्यादि) (धम्म त्ति) संयमे (चक्किया केइ आसइत्तए वेति) धर्माऽऽदौ शक्नुयात्कश्चिदासयितुम्?। नायमर्थः समर्थो, धर्माऽऽदेरमूर्त्तत्वात्। मूर्त्त एव चाऽऽसनाऽऽदिकरणस्य शक्यत्वादिति। भ० १७ श० २ उ०।

"तिविहे धम्मे पण्णत्ते। तं जहा-सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे।" स्था० ३ ठा०३ उ०। (व्याख्या स्वस्वशब्दे द्रष्टव्या)

अथ धर्मस्थितत्वाऽऽदिकं दण्डकेन निरूपयन्नाह-

जीवा णं भंते! किं धम्मे ठिया, अहम्मे ठिया, धम्माधम्मे ठिया?। गोयमा! जीवा धम्मे वि ठिया, अहम्मे वि ठिया, धम्माधम्मे वि ठिया। णेरइया णं भंते! पुच्छा?। गोयमा! णेरइया णो धम्मे ठिया, अहम्मे ठिया, णो धम्माधम्मे ठिया। एवं० जाव चउरिंदियाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा?। गोयमा! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णो धम्मे ठिया, अहम्मे ठिया, धम्माधम्मे वि ठिया। मणुस्सा जहा जीवा, वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा णेरइया। भ० १७ श० २ उ०।

धर्मप्रतिपादके सूत्रकृताङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य नवमेऽध्ययने च। स० २१ सम०। प्रश्न०। आव०। (तदधिकारार्थवक्तव्यता 'धम्मज्झयण' शब्दे वक्ष्यते) धर्मसारभूतत्वात् षड्जीवनिकायाऽऽख्यदशवैकालिकस्य चतुर्थेऽध्ययने, दश० ४ अ०। (तदधिकारार्थवक्तव्यता "छज्जीवणिकाय" शब्दे तृ० भा० १३४२ पृष्ठे गता) धर्मभावं गतो धर्मः। आ० चू० ४ अ०। चरणश्रुतधर्मानुगते ध्यानभेदे, आव० ४ अ०। "धम्माणुरंजियं धम्मं।" आ० चू० ४ अ०। आव०। उत्त०। (एतद्वक्तव्यता 'धम्मज्झाण' शब्दे वक्ष्यते) आत्मनि, देहधारणाद् जीवे, सकलगुणरूपे, उपमायाम्, न्याये, उपनिषदि, यमे, सोमाध्यायिनि, सत्सङ्गे च। वाच०। दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसङ्घातं धारयतीति धर्मः।

पञ्चदशे जिने, आ० म० द्वि० अ० । स० । आ० चू० । प्रव० । ती० । ध० । अनु० । (एतद्वक्तव्यता ' धम्मजिण ' शब्दे वक्ष्यते) आचार्यसिंहस्य शिष्ये शाण्डिल्यस्य गुरौ काश्यप गोत्रोत्पन्ने स्वनामख्याते आचार्ये, " थेरस्स णं अज्जसीहस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते । " कल्प० २ अधि० ८ क्षण । " धम्मं पि अ कासवं वंदे । " कल्प० २ अधि० ८ क्षण । आचार्यहस्तिनः शिष्ये आचार्यसिंहस्य गुरौ सुव्रतगोत्रे स्वनामख्याते आचार्ये, " थेरस्स णं अज्जहत्थिस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी सुव्वयगोत्ते । " कल्प० २ अधि० ८ क्षण । " वंदामि अज्जधम्मं, सुव्वयं सीललद्धिसंपन्नं । " कल्प० २ अधि० ८ क्षण । विराटविषय-धर्मसिंहपुरनगरस्थे स्वनामख्याते ग्रामचौरे च । पुं० । दर्श० २ तत्त्व । धनुषि, " कोयंडं गंडीवं, धम्मं धणुयं सरासणं चावं । " को० । ज्योतिषोक्ते लग्नान्नवमस्थाने च । न० । वाच० ।

विषयसूची-

(१) धर्मधर्मिणोरेकान्तभेदस्वीकारे विप्रतिपत्तिः ।
(२) आत्मघटाऽऽदेश्चैतन्यरूपाऽऽदयो धर्मिणोऽत्यन्तं व्यतिरिक्ता अपि समवायेन संबद्धाः सन्तो धर्मधर्मिव्यपदेश इति परमतनिराकरणम् ।
(३) धर्मानुरूपो धर्मीति प्रतिपादनम् ।
(४) धर्मशब्दार्थनिरूपणम् ।
(५) लोकोत्तरधर्मप्ररूपणम् ।
(६) तद्व्यासार्थनिर्देशः ।
(७) यतिधर्मनिरूपणम् ।
(८) द्रव्यभावभेदेन धर्मस्य द्वैविध्यम् ।
(९) नामस्थापनाद्रव्यभावधर्माणां नानात्वनिरूपणम् ।
(१०) धर्मस्य स्वलक्षणाभिधित्सा ।
(११) धर्मतत्त्वस्य लिङ्गानि ।
(१२) धर्मद्रुममूलप्रतिपादनम् ।
(१३) ये धर्मानधिकारिणस्तेषां विचारः ।
(१४) सद्धर्मग्रहणयोग्यताप्ररूपणम् ।
(१५) धर्माधिकारिणां प्ररूपणम् ।
(१६) ये प्रमाद्यन्ति तेषां दुःखप्रतिपादनम् ।
(१७) धर्माभिमुखीकरणम् ।
(१८) तपदेशदानम् ।
(१९) धर्मपदार्थनिर्वचनम् ।
(२०) धर्मपदार्थे गुरुशिष्ययोः प्रवृत्तिर्येनोपायेन भवति तन्निरूपणम् ।
(२१) समरदृष्टान्तेनादत्तग्रहणं प्रतिपाद्य तन्निराकरणम् ।
(२२) धर्मस्य मोक्षकारणत्वम् ।
(२३) दुर्लभमनुजदेहावाप्तावुत्तरगुणप्राप्तेरावश्यकतावर्णनम् ।
(२४) धर्मश्रुतस्यैहिकाऽऽमुष्मिकदोषाभिधानम् ।
(२५) यदभिलक्ष्य धर्माऽऽख्यानं तन्निरूपणम् ।
(२६) सद्धर्मपरीक्षकाऽऽदिभावप्रतिपादनम् ।
(२७) धर्मकथाऽऽदिस्वरूपनिरूपणम् ।
(२८) साधूनामाचरणीयानाचरणीयधर्मप्ररूपणम् ।
(२९) धर्मविचारे सूक्ष्मबुद्धिराश्रयणीया ।
(३०) संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्माऽऽदीनां धर्मस्थितत्वाधर्मस्थितत्वाऽऽदिप्रतिपादनम् ।

धम्म-धर्म्य-त्रि० । धर्मादनपेतः, धर्मेण प्राप्यो वा यत् । धर्मसंयुक्ते, धर्मसत्त्वे च । वाच० । उत्त० । धर्मः क्षमाऽऽदिलक्षणः, तस्मादनपेतं धर्म्यम् । प्रश्न० ६ द्वार । जिनप्रणीतभावश्रद्धानाऽऽदिलक्षणे ध्यानभेदे, स० । आव० ४ अ० ।

धम्मउर-धर्मपुर-न० । स्वनामख्याते पुरभेदे, दर्श० १ तत्त्व ।

धम्मंग-धर्माङ्ग-न० । धर्मस्य कुशलाऽऽत्मपरिणामविशेषस्याङ्गमवयवः कारणं वा धर्माङ्गम् । धर्मस्यावयवे, धर्मस्य कारणे च । " धर्माङ्गख्यापनार्थं च, दानस्यापि महामतिः । (३) " हा० २७ अष्ट० ।

धम्मंतराइय-धर्मान्तरायिक-त्रि० । अन्तरायो विघ्नः, सोऽस्ति येषु तान्यन्तरायिकाणि, धर्मस्य चारित्रप्रतिपत्तिलक्षणस्यान्तरायिकाणि धर्मान्तरायिकाणि । वीर्यान्तरायचारित्रमोहनीयभेदे, " धम्मंतराइयाणं कम्माणं । " व्य० १ शा० ३१ उ० ।

धम्मंतराय-धर्मान्तराय-पुं० । धर्मविघ्ने, ग० ।

अथ धर्मान्तरायमाश्रित्य प्रस्तुतमेव निरूपयति-

सीलतवदाणभावण-चउविहधम्मंतरायजयभीए ।
जत्थ बहू गीयत्था,गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥१००॥

दानं शीलं तपो भावना, एतेषां द्वन्द्वः, ता एव चत्वारो विधाः प्रकारा यस्य दानशीलतपोभावनाचतुर्विधः। सूत्रे च बन्धानुलोम्याद् व्यत्ययनिर्देशः । एवंविधो धर्मः,तस्यान्तरायो विघ्नः, तस्माद्भयं तेन भीताः साशङ्का यत्र गच्छे बहवो गीतार्था भवन्ति, हे गौतम ! स गच्छो भणितः । इति गाथाछन्दः ॥१००॥ ग० २ अधि० ।

धम्मंतेवासि (ण्)-धर्मान्तेवासिन्-पुं० । अन्ते समीपे वस्तुं शीलमस्येत्यन्तेवासी, धर्मार्थमन्तेवासी धर्मान्तेवासी । शिष्ये, स्था० १० ठा० । धर्मप्रतिबोधनतः शिष्यो धर्मार्थितयोपपन्नो वा शिष्यो धर्मान्तेवासी । शिष्यभेदे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । " अहं णं तुब्भं धम्मंतेवासी । " शिक्षार्थग्रहणार्थमपि शिष्या भवन्तीत्यत उच्यते धर्मान्तेवासी । भ० १५ श० ।

धम्मकंखिय-धर्मकाङ्क्षित-त्रि० । धर्मे काङ्क्षा संजाताऽस्येति धर्मकाङ्क्षितः । धर्मच्छावति, त० ।

धम्मकत्ता-धर्मकर्तृ-त्रि० । धर्मानुष्ठानविधायके, दर्श० ।

गुरोः स्वरूपमाविष्कुर्वन्नाह-

धम्मन्नू धम्मकत्ता य, सया धम्मपरायणो ।
सत्ताणं धम्मसत्थ-देसओ भण्णए गुरू ॥ ४१ ॥

धर्मज्ञो धर्मकर्ता च सदा धर्मानुष्ठानविधायकः, एवंविधो हि स्वपरोपकारकरणक्षमो विशेषेण भवति । यत उक्तम्-" गुणसुट्ठियस्स वयणं, घयमहुसित्तो व्व पावओ भाइ । गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहीणो जह पईवो ॥ १ ॥ " सदा सर्वकालं धर्मपरायणो धर्मानुष्ठायी, नत्वेकदा कदापि दूरतरमपेत्य प्रवर्तते यदनयोरनयलोकापरोधकत्वात् । उक्तं च-" से दिया

वा रायओ वा पगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा ।" तथा सर्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थोपदेशको गुरुरुच्यत इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ दर्श० ४ तत्त्व ।

धम्मकरण–धर्मकरण–न० । कुशलानुष्ठानाऽऽसेवने, पञ्चा० २ विव० ।

धम्मकस–धर्मकष–पुं० "पाणवहाईआणं, पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो । झाणज्झयणाईणं, जो अ विही एस धम्मकसो ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे सम्यग्धर्मपरीक्षणोपायेषु कषच्छेदतापेषु प्रथमे उपाये, पं० व० ४ द्वार । (तद्वक्तव्यता धर्मपरीक्षाऽवसरे 'धम्म' शब्देऽनुपदमेव गता)

धम्मकहा–धर्मकथा–स्त्री० । दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसङ्घातं धारयतीति धर्मः, तस्य कथनं कथा धर्मकथा । ओघ० । ध० । धर्मलक्षणाया वाक्यायाः कथनं धर्मकथा । उत्त० २६ अ० । धर्मदेशनाऽऽदिलक्षणवाक्यप्रबन्धरूपे कथाभेदे, ग० ३ अधि० । अहिंसाऽऽदिधर्मप्ररूपणा धर्मकथेति । औ० । यत् पुनः–इह परत्र च स्वयं च कर्मविपाकोपदर्शनं सा धर्मकथेति । सू० १ उ० ३ प्रक० । धर्मकथा धर्मोपायकथा । उक्तं च–" दयादानक्षमाऽऽद्येषु , धर्माङ्गेषु प्रतिष्ठिता । धर्मोपादेयतागर्भा, बुधैर्धर्मकथोच्यते ॥ १ ॥ " इयं चोत्तराध्ययनाऽऽदिरूपाऽवसेयेति । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

धर्मकथामेव दर्शयति–

अत्थि लोए, अत्थि य अलोए, एवं जीवा, अजीवा, बंधे, मोक्खे, पुण्णे, पावे, आसवे, संवरे, वेयणा, णिज्जरा, अरिहंता, चक्कवट्टी, बलदेवा, वासुदेवा, नरका, णेरइया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, माया, पिया, रिसओ, देवा, देवलोआ, सिद्धी, सिद्धा, परिणिव्वाणं, परिणिव्वुया, अत्थि पाणाइवाए, मुसावाए, अदिण्णादाणे, मेहुणे, परिग्गहे । अत्थि कोहे, माणे, माया, लोभे० जाव मिच्छादंसणसल्ले । अत्थि पाणाइवायवेरमणे, मुसावायवेरमणे, अदिण्णादाणवेरमणे, मेहुणवेरमणे, परिग्गहवेरमणे० जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे । सव्वं अत्थिभावं अत्थि त्ति वयति, सव्वं णत्थिभावं णत्थि त्ति वयति, सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति, फुसइ पुण्णपावे, पच्चायंति जीवा, सफले कल्लाणपावए । औ० ।

तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ । तं जहा–अगारधम्मं, अणगारधम्मं च । अणगारधम्मो ताव इह खलु सव्वओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वयइ सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं, राईभोअणाओ वेरमणं; अयमाउसो ! अणगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते, एअस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गंथे वा निग्गंथी वा विहरमाणे आणाए आराहए भवति । अगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ । तं जहा–पंच अणुव्वयाइं, तिण्णि गुणव्वयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं । पंच अणुव्वयाइं । तं जहा–थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सदारसंतोसे इच्छापरिमाणे । तिण्णि गुणव्वयाइं । तं जहा–अणत्थदंडवेरमणं, दिसिव्वयं, उवभोगपरिभोगपरिमाणं । चत्तारि सिक्खावयाइं । तं जहा–सामाइअं देसावगासियं, पोसहोववासे, अतिहिसंविभागे, अपच्छिमा मारणंतिआ संलेहणा झूसणाराहणा, अयमाउसो ! अगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते । औ० । भ० । उपा० ।

भेदतो धर्मकथामाह–

धम्मकहा बोधव्वा, चउव्विहा धीरपुरिसपण्णत्ता ।
अक्खेवणि विक्खेवणि, संवेगे चेव निव्वेए ॥९९॥

धर्मविषया कथा धर्मकथा, असौ बोद्धव्या चतुर्विधा धीरपुरुषप्रज्ञप्ता, तीर्थकरगणधरप्ररूपितेत्यर्थः । चातुर्विध्यमेवाऽऽह–आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेगश्चैव, निर्वेद इति । सूचनात् सूत्रमिति न्यायात् संवेजनी, निर्वेदनी चैवेत्युपन्यासगाथाक्षरार्थः ॥९९॥ दश० ३ अ० ।

आसां कथानां या यस्य कथनीयेत्येतदाह–

वेणइयस्स पढमया, कहा उ अक्खेवणी कहेयव्वा ।
तो ससमयगहियत्थे, कहिज्ज विक्खेवणी पच्छा ॥१००॥

विनयेन चरति वैनयिकः शिष्यस्तस्मै प्रथमतया आदिकथनेन, कथा तु आक्षेपणी उक्तलक्षणा कथयितव्या । ततः स्वसमयगृहीतार्थे सति तस्मिन् कथयेद्विक्षेपणीमुक्तलक्षणामेव पश्चादिति गाथार्थः ॥ १०० ॥

किमित्येतदेवमित्याह–

अक्खेवणिअक्खित्ता, जे जीवा ते लभंति संमत्तं ।
विक्खेवणीऍ भज्जं, गाढतरागं च मिच्छत्तं ॥ १०१ ॥

आक्षेपण्या कथया आक्षिप्ता आवर्जिता आक्षेपण्याक्षिप्ता ये जीवास्ते लभन्ते सम्यक्त्वम् । तथा–आवर्जनशुभभावस्य मिथ्यात्वमोहनीये क्षयोपशमोपायत्वात् । विक्षेपण्यां भाज्यं सम्यक्त्वं कदाचिल्लभन्ते, कदाचिन्नेति, तच्छ्रवणात्तथाविधपरिणामभावात् गाढतरं वा मिथ्यात्वं जडमतेः परसमयदोषानवबोधात् निन्दाकारिण एतेन द्रष्टव्या इत्यभिनिवेशेनेति गाथार्थः ॥ १०१ ॥ दश० ३ अ० ।

धर्मकथाकर्तुः किं फलं स्यादतस्तत्फलमाह–

धम्मकहाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। धम्मकहाए णं निज्जरं जणयइ, आगामिस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ ॥२३॥

धर्मकथया व्याख्यानरूपया निर्जरां जनयति । पाठान्तरतश्च-प्रवचनं प्रभावयति प्रकाशयति । उक्तं हि–"पावयणी धम्मकही, वाई नेमित्तिओ तवस्सी य । विज्जासिद्धो य कवी, अट्ठेव पभावगा भणिया ॥१॥" (आगमिस्स भद्दत्ताए त्ति) सुभत्वादागमिष्यद्वित्याणांमकालभावि भद्रं कल्याणं यस्मिंस्तथा तस्य भावस्तया, यदि वा–आगमिष्यतीत्यागम आगामिकालस्तस्मिन्

शाश्वद्भवनया अनवरतकल्याणनयोपलक्षितं कर्म निबध्नाति शुभानुबन्धि शुभमुपार्जयतीति भावः ॥ २१ ॥ उत्त० २९ अ० ।
" गयरागदोसमोहा, धम्मकहं जे करेंति समयन्नू ।
अणुदियहमवीसंता, सव्वपावाण मुच्चंति ।" महा० ३ अ० ।

तथा च-

संखाइ धम्मं च वियागरंति,
बुद्धा हु ते अंतकरा भवंति ।
ते पारगा दोण्ह वि मोयणाए,
संसोधितं पण्हमुदाहरंति ॥ १८ ॥

सम्यक् ख्यायते परिज्ञायते यया सा संख्या, सद्बुद्धिस्तया स्वतो धर्मं परिज्ञायाऽपरेषां यथावस्थितं धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यं व्यागृणन्ति प्रतिपादयन्ति । यदि वा-स्वपरशक्तिं परिज्ञाय पर्षदं वा प्रतिपाद्य चार्थं सम्यगवबुध्य धर्मं प्रतिपादयन्ति, ते चैवंविधा बुद्धाः कालत्रयवेदिनो जन्मान्तरसंचितानां कर्मणामन्तकारा भवन्ति । अन्येषां च कर्मापनयनसमर्था भवतीति दर्शयति-ते यथावस्थितधर्मप्ररूपकाद् द्वयोरपि पराऽऽत्मनोः कर्मपाशविमोचनया स्नेहाऽऽदिनिगडविमोचनया वा करणभूतया संसारसमुद्रस्य पारगा भवन्ति । ते चैवंभूताः सम्यक् शोधितं पूर्वोत्तराविरुद्धं प्रश्नं शब्दमुदाहरन्ति । तथाहि-पूर्वं बुद्ध्या पर्यालोच्य कोऽयं पुरुषः कस्य चार्थस्य ग्रहणसमर्थोऽहं वा किंभूतार्थप्रतिपादनशक्त इत्येवं सम्यक् परीक्ष्य व्याकुर्यादिति । अथवा-परेण किञ्चिदर्थं पृष्टस्तं प्रश्नं सम्यक् परीक्ष्योदाहरेत् सम्यगुत्तरं दद्यादिति । तथा चोक्तम्-" आयरियसयधारि-पयं अत्थेण सरियमुज्झियव्वं । तो संघमज्झयारे, ववहारिउं जं सुहं होति ॥ १ ॥ " गीतार्था । यथावस्थितं धर्मं कथयन्तः स्वपरतारका भवन्तीति ॥ १८ ॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । (" लोगविजय " शब्दे विस्तरतो वक्ष्यते)

दुव्वसुमुणी अणाणाए तुच्छए गिलाइवत्तए एस वीरे पसंसिए अच्चेइ लोगसंजोगं एसणाए पवुच्चति-जं दुक्खं पवेदितं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी, जहा पुण्णस्स कत्थति तहा तुच्छस्स कत्थति जहा तुच्छस्स कत्थति तहा पुण्णस्स कत्थति, अवि य हणे अणाइयमाणे, एत्थं पि जाण सेयंति णत्थि, केयं पुरिसे कं च णए ?, एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए, उड्ढं अहं, तिरियं दिसासु, से सव्वओ सव्वपरिण्णाचारी ण लिप्पई छणपदेण, वीरे से मेहावी जे अणुग्घायणस्स खेयण्णे, जे य बंधपमोक्खमन्नेसी कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के ॥ १०२ ॥ से जं च आरभे जं च णारभे, अणारद्धं च ण आरभे, छणं छणं परिण्णाय लोगसण्णं च सव्वसो ॥ १०३ ॥ उद्देसो पासगस्स णत्थि बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमितदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ त्ति बेमि । आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

धर्मकथा यतीनां कीदृशीत्याह-

सज्झायाईसंतो, तित्थयरकुलाणुरूवधम्माणं ।
कुज्जा कहं जईणं, संवेगविवड्ढणिं विहिणा ॥

स्वाध्यायाऽऽदिश्रान्तः संस्तीर्थकरकुलानुरूपधर्माणां महात्मनाम्, किमित्याह-कुर्यात् कथां यतीनां संवेगविवर्द्धनीं विधिनाऽऽसनचलनाऽऽदिनेति गाथार्थः । पं० व० ३ द्वार । पुरुषेण केवलस्त्रीणां स्त्रिया च केवलपुरुषाणामग्रे धर्मकथा न कर्त्तव्या । तथा चोक्तम्-

वुड्ढाणं तरुणाणं, रत्तिं अज्जा कहेइ जा धम्मं ।
सा गणिणी गुणसागर !, पडिणीया होइ गच्छस्स ॥ ११६ ॥

वृद्धानां स्थविराणां, तरुणानां यूनां पुरुषाणां केवलानामकेवलानां वा (रत्तिं ति) " सप्तम्या द्वितीया " ॥ ८।३।१३७ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण सप्तमीस्थाने द्वितीयाऽऽदिविधानात् रात्रौ या आर्या गणिनी (धम्मं ति) धर्मकथां कथयति, उपलक्षणत्वाद्दिवसेऽपि या केवलपुरुषाणां धर्मकथां कथयति, हे गुणसागर ! हे इन्द्रभूते ! सा गणिनी गच्छस्य प्रत्यनीका भवति । अत्र च गणिनीग्रहणेन शेषसाध्वीनामपि तथाविधाने प्रत्यनीकत्वमवसेयमिति । ननु कथं साधवः केवलपुरुषाणामग्रे धर्मकथां न कथयन्ति ? । उच्यते-यथा साधवः केवलानां स्त्रीणां धर्मकथां न कथयन्ति, तथा साध्व्योऽपि केवलानां पुरुषाणामग्रे धर्मकथां न कथयन्ति । यत उक्तं श्रीउत्तराध्ययने-" नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ, से निग्गंथे, तं कहमिति चे आयरियाऽऽह-निग्गंथस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जेज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणेज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं भवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा, तम्हा खलु नो इत्थीणं कहं कहेज्ज त्ति । (नो इत्थीणं ति) नो स्त्रीणामेकाकिनीनां कथां कथयिता भवति, यथेदं दशब्रह्मचर्यसमाधिस्थानमध्ये द्वितीयं ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानं साधूनामुक्तं, तथा साध्वीनामप्येतद् युज्यते । तच्च साध्वीनां पुरुषाणामेव केवलानां कथाया अकथने भवतीति । तथा स्थानाङ्गेऽपि-" नो इत्थीणं कहं कहेत्ता हवइ । " इदं नवब्रह्मचर्यगुप्तीनां मध्ये द्वितीयगुप्तिसूत्रम् । अस्य वृत्तिः-नो स्त्रीणां, केवलानामिति गम्यते । कथां धर्मदेशनाऽऽदिलक्षणवाक्यप्रबन्धरूपामित्यादि । यथा च-द्वितीयां गुप्तिं साधवः पालयन्ति तथा साध्व्योऽपि पालयन्ति, सा च साध्वीनां पुरुषाणामेव केवलानामग्रे कथाया अकथने भवत्यतः प्रोच्यते, न केवलपुरुषाणां साध्व्यो धर्मकथां कथयन्तीति गाथार्थः ॥ ११६ ॥ ग० ३ अधि० ।

तथा च-

मुद्धजणखेत्तसुजवो-हमरणविद्दवणादवस्स समणीओ ।
ईईओ त्ति य काउ त्ति, अरंति धम्मं कहंतीओ ॥

मुग्धजनाः स्वल्पबुद्धिलोकास्त एव क्षेत्राणि बीजवपनभूमयस्तेषु शुभबोधः प्रधानाऽऽशयः स एव सस्यं धान्यं, तस्य विद्रवणं विनाशकरणं, तत्र दक्षाः पटवः, प्राकृतत्वाच्चात्र विभक्तिलोपः । श्रमण्य आर्यिका ईतय इव यथा तिड्डाद्याः कालेन न सर्वा अटन्ति ग्रामाऽऽदिषु चरन्ति धर्मं ग्रामाऽऽदिकं कथयन्त्यो भ्रमणा इति गाथार्थः ।

एतदपि निराकर्तुमाह-

एमेतेसिं चिय तं, न सुंदरं जेण ताण पडिसेहो ।
सिद्धंतदेसणाए, कप्पट्ठियए व गाहाए ॥

एकान्तेनैव सर्वथा, तद्धर्मकथनं, नैव सुन्दरं भव्यं, येन तासां साध्वीनां, प्रतिषेधो निराकरणं, सिद्धान्तदेशनाया आगमकथनस्य, यथा प्रतिषेधः कल्पस्थितयैव गाथयेत्यर्थः ।

कल्पगाथामेवाऽऽह-

कुसमयसुईण महणो, विबोहओ भवियपुंडरीयाणं ।
धम्मो जिणपन्नत्तो, पकप्पजइणा कहेयव्वो ॥

कुसमयश्रुतीनां कुसिद्धान्तमतीनां, मथनो विनाशको, विबोधको विकाशको, भव्यपुण्डरीकाणां मुक्तियोग्यप्राणिशतपत्राणां, धर्मो दानाऽऽदिको, जिनप्रज्ञप्तो मुनीन्द्रगदितः, प्रकल्पयतिना निशीथज्ञसाधुना, कथयितव्यो वक्तव्यो, न पुनः साध्व्येति हृदयमिति गाथार्थः ।

ननु यदि तासां न दीयतेऽतो निन्द्यते तद्धर्मकथनमित्याह-

संपइ पुणो न दिज्जइ, पकप्पगंथस्स ताण सुत्तत्थो ।
अइया वि य दिज्जंतो, तइया वि य एस पडिसेहो ॥

साम्प्रतमधुना, पुनर्नैव दीयते वितीर्यते, प्रकल्पग्रन्थस्य निशीथस्य, तासामार्यिकाणां, सूत्रार्थः-सूत्रेण पद्धत्या सहितोऽर्थोऽभिधेयं सूत्रार्थः, उभयमिति हृदयम् । यदाऽपि वा दीयते वितीर्यते स्म, तदापि च तस्मिन्नपि काले, एव व्याख्यानकरणलक्षणः, प्रतिषेधो निवारणमिति गाथार्थः ॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तपूर्वकं दर्शयन्नाह-

हरिभद्दधम्मजणणी-ऍ किं च जाइणिपवत्तिणीए वि ।
एगो वि य गाहत्थो, नो सिट्ठो तु मुणियतत्ताए ॥

सूत्रमात्रसूत्रस्य हरिभद्रसूरिधर्मजनन्याऽपि धर्मदायित्वेन प्रतिपन्नमात्रा, किं चाभ्युच्चये, याकिनीप्रवर्तिन्या एतन्नाममहत्तरया, न केवलमन्याभिरित्यपिशब्दार्थः । एकोऽपि च गाथार्थोऽभिधेयम्, आस्तां प्रभूत इत्यपरर्थः, नो नैव शिष्टः कथितो मुणितनत्त्वया ज्ञातपरमार्थया । तथा च किल-" चक्किदुगं हरिपणगं ।" इत्यादिगाथायाः स्वार्थे पृष्टा हरिभद्रभट्टेन तया च कथित इति सुप्रतीतोऽयमर्थ इति गाथार्थः ।

एवं ज्ञातजीवोपदेशमाह-

बहु मन्नसु मा चरियं, अमुणियतत्ताण तासिं ता ।
जीव ! जइ वा निवारिया, ता वारसु महुरवक्केण ॥

बहु मन्यस्व भव्यमिदमिति मंस्थाः, मेति निषेधे, चरितं धर्मकथनलक्षणम्, अमुणितत्वानामविदितपरमार्थानां, तासामार्यिकाणां, तस्माज्जीवाऽऽत्मन् ! यदि वा विकल्पार्थः, तिष्ठन्ति । निवारिता निषिद्धास्ततो वारय निषेधय, मधुरवाक्येन कोमलवचसेति गाथार्थः । जीवा० २७ अधि० ।

अमुणिय मुणीण चरणा, केई मज्झण्हकालसमयम्मि ।
इत्थीण केवलीणं, कहिंति धम्मं जवाभिरया ॥

मुनीनाममुणितचरणा अविदितयतीशआचाराः, केऽप्येके, मध्याह्नकालसमये प्रहरद्वयोपर्वे, स्त्रीणां आर्यिकाणां, केवलानां अभ्यागमिताभिनानां, कथयन्ति धर्मं श्रुतधर्माऽऽदिकं, किं विशिष्टाः ?, भवाभिरताः संसाराऽऽसक्ता इति गाथार्थः ।

एतदपि न संगतमित्याह-

सिद्धंतामयपाढिपु-ण्णकन्नपुडयाण संमयं जम्हा ।
न इय धम्मकहणम्मी, एए दोसा पसज्जंति ॥

सिद्धान्तामृतप्रतिपूर्णकर्णपुटकानामागमसुधासंभृतश्रवणच्छद्मस्थानां संमतमभिप्रेतं, नेति निषेधे, इदमित्थं धर्मकथनं, यस्मादित्थमेवं कथने प्रतिपादने, एते वक्ष्यमाणा दोषा दूषणानि प्रसज्यन्ते प्रादुर्भवन्तीति गाथार्थः ।

तानेवाऽऽह-

इत्थिकहा उ अणुत्ती, मज्झण्हे वसयाऽऽगमे संका ।
पलिमंथो दसवेका-लियम्मि भणं इमं भणियं ॥

स्त्रीषु केवलनारीषु कथा धर्मकथनम्, इदं चोत्तराध्ययने द्वितीयव्याख्याने कथितम् । तुः समुच्चये । अगुप्तिः प्रत्यहं तदिन्द्रियदर्शनतो ब्रह्मचर्यारक्षा, मध्याह्नचारित्वप्रस्तावाऽऽगमनत्वेन हि तासां मध्याह्ने केवलानां वसत्युपाश्रये आगमे आगमनमवस्थानं तथा शङ्का-किमप्यकार्यमेताभिः करिष्यन्तीत्येवं मन्दमतिरूपा, पलिमन्थः स्वकार्यव्याघातः साधूनां, तथा दशवैकालिके समयप्रसिद्धे अन्यदपरमिदं वक्ष्यमाणं भणितं सूक्तमिति गाथार्थः ।

तदेव श्लोकपञ्चकेनाह-

विभूसा इत्थिसंसग्गी, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥
जहा कुक्कुडपोयस्स, निच्चं कुललओ भयं ।
एवं तु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥
हत्थपायपडिच्छिन्नं, कण्णनासविगप्पियं ।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥
अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥
चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं ।
भक्खरं पि व दट्ठूण, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥

सर्वा अपि प्रकटार्थाः ।

यत एवमत आह-

एत्तो च्चिय केई पु-व्वसूरिणो मोक्खसोक्खतल्लिच्छा ।
आसीसं पि हु दिंता, ते अहोमुहाऍ दिट्ठीए ॥

एतस्मादेव कारणात्, केऽपि पुण्यभाजः, पूर्वसूरयश्चिरन्तनाऽऽचार्याः, मोक्षसौख्यलिप्सवो निर्वाणसुखाभिलाषनिष्ठा, आशिषमपि धर्मलाभमपि, न केवलधर्मकथामित्यपिशब्दार्थः, हुः पूर्ववत् । अदुर्ददन्तः, आर्यिकाणामिति शेषः । अधोमुखया स्यात् स्ववक्त्रया दृष्ट्या लोचनेनेति गाथार्थः ।

अत्रापि जीवानुशिक्षामाह-

सिद्धिवधूवरसुहसं-गलालसो जीव ! जइ तुमं ता मा ।
कहसु तुमं जिणधम्मं, इत्थीसु अकालचारीसु ॥

सिद्धिवधूवरसुखसङ्गलालसो मुक्तिकान्ताप्रधानाभिष्वङ्गलम्पटो, जीव ! प्राणिन् ! यदि त्वं भवान्, तस्मान्मा निषेधे, कथय

यद् च, यथावत् जिनधर्म सर्वज्ञभूपम, अकालचारिणीषु प्रकलायाद्यागमासु स्त्रीषु नारीषु इति गाथार्थः । जीवा १४ अधि० । (यस्यां वसतौ धर्मकथाशब्दः संयतीभिः श्रूयते, तत्र वस्तव्यं न वेति ' वसइ ' शब्दे वक्ष्यते) (अन्तर्गृहे धर्मकथा न कथनीयेति ' अंतरगिह ' शब्दे प्रथमभागे ८५ पृष्ठे गतम्) ननु श्रावकस्य धर्मकथनेऽधिकारोऽस्ति ?, अस्तीति ब्रूमः, गीतार्थादधिगतसूत्रार्थस्य गुरुपरतन्त्रवचनस्य तस्यैव सूत्रार्थस्य कथने को नाम नाधिकारः ?, " पढइ सुणेइ गुणेइ य, जणस्स धम्मं परिकहेइ " इत्यादिवचनात् । तथा चूर्णिः-" सो जिणदाससावओ अट्ठमिचउद्दसीसु उववासं करेइ, पुत्थयं च वाएइ । " इत्यादि । ध० २ अधि० । धर्मस्य श्रुतरूपस्य कथा व्याख्या धर्मकथा । स्वाध्यायभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । प्रश्न० । उत्त० । औ० । धर्मकथा चैवं स्वरूपतः " सुद्धं धम्मपुवण्णं, गुरुप्पसाएण सम्ममववुद्धं । सपरोवयारजणगं, जो मग्गइस कहिज्ज धम्मत्थी । " इति । ध० ३ अधि० । धर्मप्रधाना कथा धर्मकथा । ज्ञाताधर्मकथाऽऽख्यस्य षष्ठस्याङ्गस्य द्वितीये श्रुतस्कन्धे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

तस्याधिकारार्थो यथा-

दोच्चस्स णं भंते ! सुयक्खंधस्स धम्मकहाणं समणेणं० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? । एवं खलु भंते ! धम्मकहाणं दस वग्गा पण्णत्ता । ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

(' अग्गमहिसी ' शब्दे प्रथमभागे १ पृष्ठे धर्मकथायाः सर्वे वर्गाः)

धम्मकहि (ण्)-धर्मकथिन्-पुं० । धर्मकथा प्रशस्ताऽस्यास्तीति धर्मकथी, शिखाऽऽदित्वादिन् । आक्षेपणीविक्षेपणीसंवेगजननीनिर्वेदनीलक्षणां चतुर्विधां जनितजनमनःप्रमोदां धर्मकथां कथयति , ध० २ अधि० । प्रव० । प्रवचनप्रभावकभेदे, संथा० । नि० चू० । दश० । पिं० ।

आयपरसमुत्तारो, तित्थविवड्ढी य होइ कहयंते ।
अन्नन्नाजिगमेण य, पूयाथिरया य बहुमाणो ॥

क्षीराश्रवाऽऽदिलब्धिसंपन्न आक्षेपणीविक्षेपणीसंवेगजननीनिर्वेदनीभेदाच्चतुर्विधां धर्मकथां कथयन् धर्मकथीत्युच्यते, तस्मिन् धर्मं कथयति आत्मनः परस्य च संसारसागरात् समुत्तारो निस्तरणं भवति; तीर्थविवृद्धिश्च, भवति, प्रभूतलोकस्य प्रव्रज्याप्रतिपत्तेः तथा देशनाद्वारेण पूजाफलमुपवर्ण्यान्यान्याभिगमेन अन्यान्यश्रावकबोधनेन पूजायां स्थिरता, बहुमानश्च कृतो भवति । बृ० १ उ० । धर्मकथाकथके, पिं० ।

धम्मकाम-धर्मकाम-त्रि० । धर्मे श्रुतचारित्रलक्षणे कामो वाञ्छा यस्य स धर्मकामः । धर्मवाञ्छावति, तं० ।

धम्मकाय-धर्मकाय-पुं० । धर्मसाधने शरीरे, " सुलिलिहा धम्मकायणीरा वि । " धर्मसाधनशरीरवेदनेति । पञ्चा० १७ विव० ।

धम्मकित्ति-धर्मकीर्त्ति-पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, तं० । " विबुधवरधर्मकीर्त्ति-श्रीविद्याऽऽनन्दसूरिमुख्यबुधैः । " कर्म० २ कर्म० । " परिकनवरधर्मकीर्त्तिमुख्यबुधैः । " ध० र० । स्वनामख्याते बौद्धसूरौ, " वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः , स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः । सन्तापाऽऽरम्भः पापहानाय चेति, ध्वस्तप्रज्ञाने पञ्चलिङ्गानि जाड्ये ॥१॥ " इति च तद्वाक्यम् । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

धम्मकिरिया-धर्मक्रिया-स्त्री० । धर्मानुष्ठाने, पो० वि० ।

धम्मकुमार-धर्मकुमार-पुं० । नागेन्द्रगच्छीये विबुधप्रभसूरिशिष्ये, अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १३३४ मिते विद्यमान आसीत् । शालिभद्रचरित्रनामग्रन्थमरीरचत् । जै० इ० ।

धम्मक्खाइ (ण्)-धर्माऽऽख्यायिन्-पुं० । धर्ममाख्याति भव्यानां प्रतिपादयतीति धर्माऽऽख्यायी । धर्मप्रतिपादके, औ० । सूत्र० । ज्ञा० ।

धर्मख्याति-त्रि० । धर्माद्वा ख्यातिः प्रसिद्धिर्यस्य सः । धर्मेण प्रसिद्धे, औ० ।

धम्मगुज्झ-धर्मगुह्य-न० । धर्मरहस्ये, " इदमत्र धर्मगुह्यं, सर्वस्वं चैतदेवास्य । " षो० २ विव० ।

धम्मगुरु-धर्मगुरु-पुं० । दीक्षाऽऽचार्ये, " स धर्मगुरुपूजकः । " हा० २५ अष्ट० ।

धम्मघोस-धर्मघोष-पुं० । मथुरास्थे पार्श्वनाथस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, ती० ८ कल्प । दक्षिणमथुरास्थे स्वनामख्याते आचार्ये, आ० चू० १ अ० । महावीरस्वामिनः शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, आ० चू० ४ अ० । आव० । विमलगणिशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, विमलगणिमधिकृत्य-" शिष्यो गच्छपतिः प्रतापतरणिः श्रीधर्मघोषः प्रभुः । " दर्श० ५ तत्त्व । कौशाम्बीनगरस्थे धर्मयशोगाचार्यस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, आव० ४ अ० । आ० चू० । आ० क० । आतुरप्रत्याख्यानप्रकीर्णकवृत्तिकारकस्य महेन्द्रसूरेर्गुरौ स्वनामख्याते आचार्ये, आतु० । स चाञ्चलगच्छीयो जयसिंहसूरिशिष्यः । येन विक्रमसंवत् १२६३ मिते शतपदिका नाम ग्रन्थो विरचितः । अस्य जन्म १२०८ वर्षे महेन्द्रो आसीत् । जै० इ० । अन्योऽपि धर्मघोषसूरिर्नागेन्द्रगच्छे हेमप्रभसूरेः शिष्यः, सोमप्रभसूरेश्च गुरुः । अन्योऽप्येतन्नामा ऋषिमण्डलस्तोत्रकर्ता । जै० इ० । चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते स्थविरे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । तपागच्छस्थे देवेन्द्रसूरेः शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, ग० ४ अधि० । अयमाचार्यः सङ्घाऽऽचार-कालसप्ततिनामानौ ग्रन्थौ व्यधात्, विक्रमसंवत् १३२७ मितेऽयं सूरिपदमाप । जै० इ० । मगधजनपदस्थपलाशपुरनगरस्थे स्वनामख्याते आचार्ये, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । आ० क० । वाराणसीनगरस्थे स्वनामख्यातेऽनगारे, आ० चू० ४ अ० । आ० क० । ती० । आव० । चम्पानगरीनृपतेर्मित्रप्रभस्य स्वनामख्यातेऽमात्ये, आव० ४ अ० । उज्जयिनीवास्तव्ये स्वनामख्यातेऽनगारे, आव० ४ अ० । आ० क० । विमलाजनस्य प्रपौत्रके शिष्ये स्वनामख्याते स्थविरे, भ० ।

तद्वक्तव्यता यथा-

तेणं कालेणं तेणं समएणं विमलस्स अरहओ पओप्पए धम्मघोसे णामं अणगारे जाइसंपन्ने । वण्णओ जहा केसिसामिस्स,०जाव पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव

हत्थिणाउरे णयरे जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हइ, उग्गिण्हइत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे,० जाव विहरइ । भ० ११ श० ११ उ० ।

धम्मचक्क–धर्मचक्र–न० । तीर्थकृतां धर्मप्रकाशकं चक्रं धर्मचक्रम् । तीर्थकृतां पुरः पद्मप्रतिष्ठिते स्फुरत्किरणचक्रे धर्मप्रकाशके चक्रे, तच्च यत्र यत्र जगद्गुरुर्विचरति तत्र तत्र दवीयमानं गगनगतं गच्छतीति । प्रव० ४० द्वार । आ० म० । आ० चू० । तक्षशिलायां बाहुबलिना कारिते भगवत ऋषभदेवस्य धर्मप्रकाशकं चक्रे च, आव० । भगवतस्तक्षशिलागमनमधिकृत्य " कल्लं सविड्ढीए, पूए मह दट्ठु धम्मचक्कं तु ।" आव० १ अ० । "बाहुबलिना चिंतियं–कल्ले सविड्ढीए वंदिस्सामि त्ति निग्गओ, पभाए सामी गतो विहरमाणो अदिट्ठे, अधितिं काऊण जहिं भगवं वुच्छो, तत्थ धम्मचक्कचिंधं कारियं, तं सव्वरयणामयं जोयणपरिमंडलं पंचजोयणूसियदंडं ।" आ०म०१ अ०१ खण्ड । आव० । आ० चू० । "गयग्गपयए य धम्मचक्के य ।" तक्षशिलायां धर्मचक्रं । आचा० २ श्रु० ३ चू० १५ अ० । प्रति० । तक्षशिलायां बाहुबलिविनिर्मितं धर्मचक्रम् । ती० ४३ कल्प ।

धम्मचक्कवट्टि (ण्)–धर्मचक्रवर्तिन्–पुं० । तीर्थकरे, आ० चू० १ अ० ।

धम्मचरण–धर्मचरण–न० । क्षान्त्याद्यासेवने, पं० व० १ द्वार । " धम्मचरण पडुच्च ।" जी० १ प्रति० ।

धम्मचिंतग–धर्मचिन्तक–पुं० । धर्मशास्त्रपाठके सभासदे, औ० । " धम्मचिंतए वा ।" धर्मचिन्तको धर्मसंहितां परिज्ञातवान् सभासदः । सू० १ श्रु० १४ अ० । याज्ञवल्क्यप्रभृत्यृषिप्रणीतधर्मसंहिताश्चिन्तयन्ति, ताभिश्च व्यवहरन्ति ये ते धर्मचिन्तकाः । अनु० ।

धम्मचिंता–धर्मचिन्ता–स्त्री० । धर्मा जीवाऽऽदिद्रव्याणामनुयोगोत्पादाऽऽदयः स्वभावास्तेषां चिन्ताऽनुप्रेक्षा, धर्मस्य वा श्रुतचारित्राऽऽत्मकस्य सर्वज्ञाभिहितस्य हरिहराऽऽदिनिगदितधर्मेभ्यः प्रधानोऽयमित्येवं चिन्ता धर्मचिन्ता । स० १० सम० । दशा० । सूत्रार्थानुचिन्तनाऽऽदिलक्षणशुभचित्तप्रणिधाने, "इट्ठं पुण धम्मचिंताए ।" ग० २ अधि० । स्था० ।

धम्मच्छेय–धर्मच्छेद–पुं० । " बज्झाणुट्ठाणेणं, जेणं न बाहिज्जई तयं नियमा । संभवइ अपरिसुद्धं, सो उण धम्ममि छेओ ।" इत्युक्तलक्षणे धर्मपरिशोधनोपायभेदे, पं० व० ४ द्वार ।

धम्मजणणी–धर्मजननी–स्त्री० । धर्मदातृत्वेन प्रतिपन्नमातरि, यथा हरिभद्रसूरेर्याकिनी महत्तरिका " हरिभद्दधम्मजणणी ए, किं च जाइणिपवत्तिणीए वि ।" जीवा० २७ अधि० । पञ्चा० ।

धम्मजस–धर्मयशस्–पुं० । कौशाम्बीवास्तव्यस्य धर्मघोषाचार्यस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, आ० क० । आव० । आ० चू० । महावीरस्वामिनः स्वनामख्याते शिष्ये, आव० ४ अ० । आ० चू० । वाराणसीनगरस्थे स्वनामख्यातेऽनगारे, आव० ४ अ० । आ० चू० । ती० ।

धम्मजागरिया–धर्मजागरिका–स्त्री० । धर्मचिन्तायाम्, " सो पुव्वावरत्तकाले, जागरमाणो उ धम्मजागरियं ।" पं० व० ४ द्वार । धर्मध्यानेन जागरिका धर्मजागरिका । कल्प० ३ अधि० ७ क्षण । धर्मध्यानानुस्मरणे, " धम्मं जागरित्तए वा ।" धर्मध्यानलक्षणं जागरितुं, धातूनामनेकार्थत्वात्, " झाणं वा झाइत्तए " धर्मध्यानमनुस्मर्तव्यम् । बृ० १ उ० १ प्रक० । धर्माय धर्मचिन्तया वा जागरिका जागरणं धर्मजागरिका । भ० १२ श० १ उ० । धर्मप्रधाना जागरिका निद्राक्षयेण बोधो धर्मजागरिका । भावप्रत्युपेक्षायाम् , सा च–

" किं कय किं वा सेसं, किं करणिज्जं तवं च न करेमि ।
पुव्वावरत्तकाले, जागरओ भावपडिलेहा ॥ १ ॥ "

" अहवा को मम कालो, किमेयस्स उचियं, असारा विसया नियमगामिणो विरसावसाणा, भीसणो मच्चू " इत्यादिरूपा । " पुव्वावरत्तकालसमयंसि णो धम्मजागरियं जागरित्ता भवइ ।" स्था० ४ ठा० २ उ० । धर्मेण कुलधर्मेण षष्ठ्यां रात्रौ जागरणं धर्मजागरिका । जन्मतः षष्ठे दिने जागरणमहोत्सवे, " छट्ठे दिवसे धम्मजागरियं जागरेति ।" कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

धम्मजिण–धर्मजिन–पुं० । दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसंघातं धारयतीति धर्मः । तथा–गर्भस्थे जननी दानाऽऽदिधर्मपरा जातेति धर्मः, स चाऽसौ जिनश्च धर्मजिनः । पञ्चदशे स्वनामख्याते जिने, ध० २ अधि० । तत्र सर्वेऽपि भगवन्त ईदृशास्तत्तो विशेषमाह–" गब्भगए जं जणणी, जायसुधम्म त्ति तेण धम्मजिणो ।" भगवति गर्भगते येन कारणेन विशेषतो जननी जातसुधर्मा दानदयाऽऽदिरूपशोभनधर्मपरायणा, तेन नामतो धर्मजिनः । आ०म०१ अ० । स० । कल्प० । (एतद्वक्तव्यता 'तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६१ पृष्ठे द्रष्टव्या) " धम्मे णं अरहा दसवाससयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे० जाव पहीणे " । स्था० १० ठा० ।

धम्मजीवि (ण्)–धर्मजीविन्–पुं० । संयमैकजीविनि, " निग्गंथा धम्मजीविणो ।" दश० ६ अ० ।

धम्मजुव्वणकाल–धर्मयौवनकाल–पुं० । अन्त्यपुद्गलपरावर्तकाले, अन्त्यपुद्गलपरावर्तकालो धर्मयौवनकालश्च कथ्यते । उक्तं च–" तुल्यता परिणतिर्जिन-व्यक्तिषु यत्तदुच्यते । तिर्यक्सामान्यमित्येव, घटत्वं तु घटादिष्विव ॥ ४ ॥ " द्रव्या० २ अध्या० ।

धम्मजोग–धर्मयोग–पुं० । धर्मोत्साहे, धर्मसम्बन्धे च । "अत एव धर्मयोगात्, क्षिप्रं तत्सिद्धिमाप्नोति ।" षो० ३ विव० ।

धम्मज्जिय–धर्मार्जित–त्रि० । धर्मेण क्षान्त्यादिरूपेणार्जितमुपार्जितम् । धर्मेणोत्पादिते, "धम्मज्जियं च ववहारं ।" धर्मेण साधुधर्मेणोत्पादितः । उत्त० १ अ० ।

धम्मज्झय–धर्मध्वज–पुं० । धर्मचक्रवर्तित्वसूचके केतौ, महेन्द्रध्वजे । रा० । ऐरवते भविष्यति स्वनामख्याते जिने, ति० । प्रव० । स० ।

धम्मज्झयण–धर्माध्ययन–न० । सूत्रकृताङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धस्य धर्मप्रतिपादके नवमेऽध्ययने, सूत्र० ।

तथा च निर्युक्तिकृदाह-

धम्मो पुव्वुद्दिट्ठो, भावधम्मेण एत्थ अहिगारो ।
एसेव होइ धम्मं, एसेव समाहिमग्गो त्ति ॥ १ ॥

(धम्मो पुव्वुद्दिट्ठो इत्यादि) दुर्गतिगमनधारणलक्षणो धर्मः पूर्वं प्राग् दशवैकालिकश्रुतस्कन्धषष्ठाऽध्ययने धर्मार्थकामाऽऽख्ये चतुर्विधः प्रतिपादितः । इह तु भावधर्मेणाधिकारः । एष एव च भावधर्मः परमार्थतो धर्मो भवति । अमुमेवार्थमुत्तरयोरध्ययनयोरतिदिशन्नाह-एष एव च भावसमाधिर्भावमार्गश्च भवतीत्यवगन्तव्यमिति । यदि वा-एष एव च भावधर्म एष एव च भावसमाधिरेष एव च तथा भावमार्गो भवति, न तेषां परमार्थतः कश्चिद्भेदः। तथाहि-धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यः क्षान्त्यादिलक्षणो वा दशप्रकारो भवेत्, भावसमाधिरप्येवंप्रकार एव । तथाहि-सम्यगाधानमारोपणं गुणानां क्षान्त्यादीनामिति समाधिः, तथैव मुक्तिमार्गोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽख्यो भावधर्मतया व्याख्यातव्य इति ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

धम्मज्झाण-धर्म(र्म्य)ध्यान-न० । धर्ममाज्ञाऽऽदिपदार्थस्वरूपपर्यालोचनैकाग्रता । स० ९ सम० । धर्मभावं गतो धर्म्यः। आ०चू०४ अ० । धर्मः क्षमाऽऽदिदशलक्षणस्तस्मादनपेतं धर्म्यं सर्वज्ञाऽऽज्ञाऽनुचिन्तनम् । प्रश्न० ६ द्वार । श्रुतचरणधर्मादनपेतं धर्म्यम् । स्था० ४ ठा० १ उ० । बाह्याऽऽध्यात्मिकभावानां याथात्म्यं धर्मस्तस्मादनपेतं धर्म्यम् । सम्म० ३ काण्ड । तदेव ध्यानं धर्म्य (र्म्य) ध्यानम् । ध्यानभेदे, औ० । ग० ।

तत्स्वरूपं यथा-

" सूत्रार्थसाधनमहाव्रतधारणेषु,
बन्धप्रमोक्षगमनाऽऽगमहेतुचिन्ता ।
पञ्चेन्द्रियव्युपरमश्च दया च भूते,
ध्यानं तु धर्म्यमिति संप्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥१॥ " दश० १ अ० ।

तच्चतुर्विधम्-

धम्मज्झाणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-आणाविजए, अवायविजए, विवागविजए, संठाणविजए ।

अथ धर्म चतुर्विधमिति स्वरूपेण चतुर्षु पदेषु स्वरूपलक्षणाऽऽलम्बनानुप्रेक्षालक्षणेष्ववतारो विचारणीयत्वेन यस्य तच्चतुष्पदावतारं चतुर्विधस्यैव पर्यायोऽयमिति । क्वचित् " चउप्पडोयारं " इति पाठः । तत्र चतुर्षु पदेषु प्रत्यवतारो यस्येति विग्रह इति । स्था० ४ ठा० १ उ० । ('झाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६६३ पृष्ठे व्याख्यातम्) उक्तं च-" आगमउवएसेणं, निसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं । भावाणं सद्दहणं, धम्मज्झाणस्स तं लिंगं ॥ १ ॥ " इति । तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यक्त्वं धर्मस्य लिङ्गमिति हृदयम् । (स्था०) । अथ धर्मस्याऽऽलम्बनान्युच्यन्ते-" धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता । तं जहा-वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा । " (स्था०) अथानुप्रेक्षा उच्यते-"धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा । " स्था० ४ ठा० १ उ० । औ० । प्र० । प्रव० । आव० । तच्च द्विविधम्-बाह्यम्, आध्यात्मिकं च । सूत्रार्थपर्यालोचनं, दृढव्रतता, शीलगुणानुरागो, निभृतकायवाग्व्यापाराऽऽदिरूपं बाह्यम् । आत्मनः स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकमन्येषामनुमेयम् आध्यात्मिकं तत्त्वार्थसंग्रहाऽऽदौ चातुर्विध्येन प्रदर्शितं संक्षेपतोऽन्यत्र दशविधम् । तद्यथा-"अपायोपायजीवाजीवविपाकविरागभवसंस्थानाऽऽज्ञाहेतुविचयानि चेति । " लोकसंसारविचययोः संस्थानभवविचययोरन्तर्भावान्नोदितदशभेदेभ्यः पृथगभिधानम् । तत्रापाये विचारो यस्मिंस्तदपायविचयम्, एवमन्यत्रापि योज्यम्, दुष्टमनोवाक्कायव्यापारविशेषाणामपायः कथमनुमानं स्यादित्येवंभूतः संकल्पप्रबन्धो दोषपरिवर्जनस्य कुशलप्रवृत्तित्वादपायविचयम् । तेषामेव कुशलानां स्वीकरणमुपायः स कथमनुमेयः स्यादिति संकल्पप्रबन्ध उपायविचयम् । असंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकलोकाकारानाकारोपयोगलक्षणाऽनादिस्वकृतकर्मफलोपभोगित्वाऽऽदि जीवस्वरूपानुचिन्तनं जीवविचयम् । धर्माधर्माऽऽकाशकालपुद्गलानामनन्तपर्यायाऽऽत्मकानामजीवानामनुचिन्तनमजीवविचयम् । मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नस्य पुद्गलाऽऽत्मकस्य मधुरकटुफलस्य कर्मणः संसारिसत्त्वविषयविपाकविशेषानुचिन्तनं विपाकविचयम् । कुत्सितमिदं शरीरकं शुक्रशोणितसमुद्भूतमशुचिभृतघटोपममनित्यमपरित्राणं गन्धाशुचि, न च निरूढतया सुखाचि, आधेयाशौचं न किञ्चिदत्र कमनीयतरं समस्ति, किम्पाकफलोपभोगोपमाः प्रमुखरसिका विपाककटवः प्रकृत्या भङ्गुराः पराधीनाः स्तोकामृताऽल्पदपरिप्लवनः सद्भिर्निन्दिता विषयाः, तदुत्थं च सुखं दुःखानुषक्तं दुःखजनकं च नातो भोगिनां तृप्तिः न चैतदात्यन्तिकमिति नात्राऽऽस्था विवेकेनाऽऽधातुं युक्तेति विरतिरतः श्रेयस्कारिणी इत्यादिविरागहेत्वनुचिन्तनं वैराग्यविचयम् । प्रेत्य स्वकृतकर्मफलोपभोगार्थं पुनः प्रादुर्भावो भवः स चारघट्टघटीयन्त्रवन्मूत्रपुरीषान्त्रतन्त्रनिबद्धदुर्गन्धजठरपुरकोटराऽऽदिष्ववश्यमावर्त्तनं, न चात्र किं चिद् जन्तोः स्वकृतकर्मफलमनुभवतश्चेतनमचेतनं वा सहायभूतं शरणतां प्रतिपद्यत इत्यादि भवसंक्रान्तिदोषपर्यालोचनं भवविचयम् । भवनवनगसरित्समुद्रभूरुहाऽऽश्रयः पृथ्वीवलयवलिताः, साऽपि घनोदधिघनवाततनुवातप्रतिष्ठा, तेऽप्याकाशप्रतिष्ठाः, तदपि स्वात्मप्रतिष्ठं, तथाधोमुखमल्लकसंस्थानं वर्धमानाधोलोकमित्यादि संस्थानानुचिन्तनं संस्थानविचयम् । अतीन्द्रियत्वादनुदाहरणाऽऽदिसद्भावेऽपि बुद्धातिशयशालिभिः परलोकबन्धमोक्षधर्माधर्माऽऽदिभावेष्वत्यन्तदुःश्रद्धेयेष्वाप्तप्रामाण्यात् तद्विषयं तद्वचनं तथैवेत्याज्ञाविचयम् । आगमविषयप्रतिपत्तौ तर्कानुसारिबुद्धेः पुंसः स्याद्वादप्ररूपकाऽऽगमस्य कषच्छेदतापशुद्धिसमाश्रयणीयत्वगुणानुचिन्तनं हेतुविचयम् । एतच्च सर्वं धर्मध्यानं, श्रेयोहेतुत्वात् । एतच्च "संवररूपमशुभाश्रवप्रत्यनीकत्वात् "आश्रवनिरोधः संवर" इति वचनात् । शुभमपि धर्मानुप्रेक्षाऽऽदीनां चाऽऽश्रवप्रतिबन्धकारित्वात् । अपरमपि जीवाजीवाभ्यां कथञ्चिदभिन्न एव, एकान्ते दोषोपपत्तेः । न चायमेकान्तवादिनां घटते, मिथ्याज्ञानान्मिथ्याज्ञानस्य निमित्तस्यानुपपत्तेः । संवरस्तु देशतः सर्वदेशभेदोत्पादप्रत्ययाव्याप्ताऽऽधानमप्रमत्तसंयतस्यान्तर्मुहूर्त्तकालप्रमाणं स्वर्गसुखनिबन्धनमेतद्धर्मध्यानं प्रतिपत्तव्यम् । सम्म० ३ काण्ड । आ० चू० । (विस्तरतो वक्तव्यता 'झाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६६१ पृष्ठे)

धम्मज्झाणि (ण्)-धर्मध्यानिन्-पुं० । धर्मध्यानवति, " जिणसाहुगुणुक्कित्तण-पसंसणादाणविणयसंपन्नो । सुअसीलसंजमरओ, धम्मज्झाणी मुणेअव्वो ॥१॥ " आव० ४ अ० ।

धम्मज्झाणोवगय-धर्मध्यानोपगत-त्रि० । धर्मध्यानयुक्ते, दर्श० ४ तत्त्व ।

धम्मट्ठ-धर्मार्थ-पुं० । धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थः प्रयोजनम् । धर्महेतुके प्रयोजने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । धर्मनिमित्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । हा० । धर्म एवार्थः,परमार्थतोऽन्यस्यानर्थरूपत्वात् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । तस्यैव सञ्चिरजीर्यमाणत्वात् (सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०) धर्मार्थः । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । धर्मरूपेऽर्थे, " जे धम्मट्ठं वियागरे । " जन्तूनां धर्मरूपमर्थं व्याकुर्वन्ति ये धर्मप्रतिपत्तियोग्या इत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

धम्मट्ठकाम-धर्मार्थकाम-पुं० । धर्मः चारित्रधर्मादिस्तस्यार्थः प्रयोजनं मोक्षः, तं कामयतीच्छति विशुद्धविहितानुष्ठानकरणेनेति धर्मार्थकामः । मुमुक्षौ, दश० ६ अ० । धर्मार्थकामेषु, दश० ६ अ० ।

धम्मट्ठविसेहा-धर्मार्थविसेहा-स्त्री० । धर्मनिमित्तकद्रव्योपार्जनचेष्टायाम, " धर्मार्थं यस्य विसेहा, तस्यानीहा गरीयसी । प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ ६ ॥ " हा० ४ अष्ट० । प्रति० ।

धम्मट्ठाण-धर्म (र्म्य) स्थान-न० । धर्मश्चासौ स्थानं धर्मस्थानम् । धर्मकरे आलये, " धम्मट्ठाणे ठिया उ जं परमे । " दश० १ अ० । धर्मादनपेतं धर्म्यम्, तदेव स्थानम् । उपशमप्रधाने द्वितीये क्रियास्थानभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । तथा च क्रियास्थानस्याधर्मस्थानधर्मस्थानधर्माधर्मस्थानभेदेषु । द्वितीयं धर्मोपादानभूतं पक्षमाश्रित्य पुरुषविजयविभङ्गाद् वक्ष्यति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

धम्मट्ठि (ण्)-धर्मार्थिन्-पुं० । धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थो धर्मार्थः । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थः प्रयोजनं,स एवार्थस्तस्यैव सर्वोपजर्जयमाणत्वाद् धर्मार्थः, स यस्यास्तीति धर्मार्थी । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । धर्मेणार्थी, धर्म एव वाऽर्थः परमार्थतोऽन्यस्यानर्थरूपत्वाद् धर्मार्थः, स विद्यते यस्याऽसौ धर्मार्थः । धर्मप्रयोजनवति, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । जी० । " धम्मट्ठी धम्मविऊ । " धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थः, स एवार्थो धर्मार्थः,स विद्यते यस्याऽसौ धर्मार्थी । न पूजाऽऽद्यर्थं क्रियासु प्रवर्त्तते, अपि तु धर्मार्थम् । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । " धम्मट्ठी उवहाणवीरिए । " सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । शिवसुखाभिलाषितया पक्षपातपरिहारेण पूर्वापरपर्यालोचके, दर्श० ५ तत्त्व । परलोकभीरौ च । पं० व० ।

धर्मार्थितायाः फलम्-

धम्मत्थी दिढत्थे, दहो व्व पंकम्मि अपडिबंधाओ ।
उत्तारिज्जंति सुहं, धम्मा अण्णाणसलिलाओ ॥७६॥

धर्मार्थिनः प्राणिनः, दृढार्थे ऐहिके, हट इव वनस्पतिविशेषः, इव पङ्केऽप्रतिबन्धात्कारणादुत्तार्यन्ते पृथक् क्रियन्ते, सुखं धन्याः पुण्यभाजः, कुतः ?, अज्ञानसलिलाम्मोहादिति गाथार्थः । पं० व० ४ द्वार ।

धम्मणायग-धर्मनायक-पुं० । धर्मस्य क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्राऽऽत्मकस्य नायकः स्वामी, यथावत्पालनाद् धर्मनायकः । स० १ सम० । तद्वशीकरणात् तत्फलपरिभोगाच्च धर्मनायकः । जी० ३ प्रति० । तीर्थकरे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । रा० । " धम्मणायगाणं २२ । " इह धर्मोऽधिकृत एव,तस्य [नायकाः] स्वामिनः, तत्लक्षणयोगेन, तद्यथा-तद्वशीकरणभावात् तदुत्तमावाप्तेस्तत्फलपरिभोगात्तद्विघातानुपपत्तेः । तथाहि-एतद्वशिनो भगवन्तो विधिसमासादनेन विधिनाऽवमाप्तो जगद्गुरुः, तथा निरतिचारपरिपालनतया पालितश्चातिचारविरहेण, एवं यथोचितदानतो दत्तश्च यथाजन्यम्, तथा तत्रापेक्षाभावेन नामीषां दाने वचनापेक्षा,एवं च तदुत्तमावाप्तयश्च भगवन्तः प्रधानक्षायिकधर्मावाप्त्या तीर्थकरत्वात्प्रधानोऽयं जगतां,तथा परार्थसंपादनेन सत्त्वार्थकरणशीलतया, एवं हीनेऽपि प्रवृत्तेः, अभव्योपाय गमनाऽऽकर्णनात् । तथा तथाजन्यत्वयोगात् अत्युदारमेतदेतेषाम् । एवं तत्फलपरिभोगयुक्ताः सकलसौन्दर्येण निरुपमं रूपाऽऽदि भगवतां, तथा प्रातिहार्ययोगात् नान्येषामेतत्,एवमुदारश्चानुभूतेः समग्रपुण्यसंभारजेयं, तथा तदाधिपत्यतो भावात् न देवानां स्वानन्त्येण, एवं तद्विघातरहिता अवन्ध्यपुण्यबीजत्वात् एतेषां स्वाश्रयपुष्टमेतत्, तथा अधिकानुपपत्तेर्नाशोऽधिकं पुण्यं, एवं पापक्षयभावाद् निर्विघ्नमेतत्, तथाऽहेतुकविघातासिद्धेः सदा सत्त्वाऽऽदिभावेन । एवं धर्मस्य नायका धर्मनायका इति ॥ २२ ॥ ल० ।

धम्मणाह-धर्मनाथ-पुं० । पञ्चदशे स्वनामख्याते जिने, " श्रीधर्मनाथमानम्य, रत्नवाहपुरे स्थितम । तस्यैव पुररत्नस्य, कल्पं किञ्चिद् अवीम्यहम ॥ १ ॥ " ती० १६ कल्प ।

धम्मणिप्फत्ति-धर्मनिष्पत्ति-स्त्री० । धर्मसिद्धौ, षो० ३ विव० ।

धम्मणिरुच्छाह-धर्मनिरुत्साह-पुं० । सदनुष्ठाननिरुद्यमे, " ण हु धम्मणिरुच्छाहो, पुरिसो सूरो सुबलिओ वि । " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

धम्मण्णु-धर्मज्ञ-पुं० । धर्मवेदिनि, षो० २ विव० । सकलशास्त्रार्थवेदिनि च । दर्श० ४ तत्त्व ।

धम्मतत्त-धर्मतत्त्व-न० । धर्मपरमार्थे, " एतदिह धर्मतत्त्वम् । " षो० ३ विव० । धर्मस्वरूपे, षो० ३ विव० । " लिङ्गान्येतानि धर्मतत्त्वस्य । " षो० ३ विव० । 'प्रतिपिद्धा धर्मतत्त्वज्ञैः' धर्मस्वरूपवेदिभिः । षो० ६ विव० ।

धम्मतित्थ-धर्मतीर्थ-न० । तीर्यते संसारसागरोऽनेनेति तीर्थं, धर्म एव धर्मप्रधानं वा तीर्थं धर्मतीर्थम् । धर्मरूपे तीर्थे, धर्मप्रधाने तीर्थे च । आ० म० २ अ० । ध० । ल० ।

धम्मतित्थयर-धर्मतीर्थकर-पुं० । तीर्यतेऽनेनेति तीर्थं,धर्मप्रधानं तीर्थं धर्मतीर्थं, धर्मग्रहणाद् द्रव्यतीर्थस्य नद्यादेः शाक्याऽऽदिसम्बन्धिनश्चाधर्मप्रधानस्य परिहारः । तत्करणशीलो धर्मतीर्थकरः । सदेवमनुजासुरायां पर्षदि सर्वभाषापरिणामिन्यां धर्मतीर्थप्रवर्तके जिने, ध० २ अधि० । आ० म० । ल० । " अह तेणेव कालेणं, धम्मतित्थयरे जिणे । " उत्त० २३ अ० ।

धम्मतोलण-धर्मतोलन-न० । धर्माधिकरणिकनीतिशास्त्रप्रसिद्धे धर्मतोलने, व्य० २ उ० । ('अट्ठजाय' शब्दे प्रथमभागे २४३ पृष्ठे साधुभिर्धर्मतोलने यथा विद्याऽऽदि उपयोक्तव्यं तथोक्तम)

धम्मत्थकाम-धर्मार्थकाम-पुं० । धर्मार्थं कामयतीति । साधौ, दश० ६ अ० । धर्मश्चारित्रधर्माऽऽदिस्तस्यार्थः प्रयोजनं मोक्षः,

तं कामयन्ते इच्छन्ति विशुद्धवेदानुष्ठानकरणेनेति धर्मार्थकामाः मुमुक्षुषु, दश० ६ अ० ।

धम्मत्थिकाय-धर्मास्तिकाय-पुं० । जीवानां पुद्गलानां च स्वभावत एव गतिपरिणामपरिणतानां तत्स्वभावधारणात् तत्स्वभावपोषणाद्धर्मः, अस्तयश्चेह प्रदेशाः, तेषां कायः सङ्घातः, "गणकाए य निकाए, खंधे वग्गे तहेव रासी य।" इति वचनात्। अस्तिकायः प्रदेशसङ्घात इत्यर्थः, धर्मश्चासौ अस्तिकायश्च धर्मास्तिकायः । प्रज्ञा० १ पद । जी० । कर्म० । अनु० । "जीवानां पुद्गलानां च, गत्युपग्रहकारणम् । धर्मास्तिकायो ज्ञानस्य, दीपश्चक्षुष्मतो यथा ॥ १ ॥" इत्युक्तलक्षणे, आव० ४ अ० । दर्श० । स्था० । सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकामूर्तः । अजीवद्रव्यविशेषे, अनु० । दर्श० । (धर्मास्तिकायस्यास्तित्वम् 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे ५१६ पृष्ठे गतम्)

अथ धर्मास्तिकायस्य लक्षणमाह-

परिणामी गतेर्धर्मो, भवेत्पुद्गलजीवयोः ।
अपेक्षाकारणाल्लोके, मीनस्येव जलं सदा ॥ ४ ॥

गतेर्गमनस्य, परिणामी अर्थाद् गतिपरिणामी, पुद्गलजीवयोर्धर्मो धर्मास्तिकायो, भवेत् । कस्माल्लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मकाऽऽकाशखण्डे, अपेक्षाकारणात् परिणामव्यापाररहिताद्धिकरणरूपोदासीन्यहेतोश्च । तत्र दृष्टान्तमाह-" मीनस्येव जलं सदेति । " सदा निरन्तरं, अयं यथा मीनस्य मत्स्यस्य गतिपरिणामि अस्ति, अपेक्षाकारणात्-गमनाऽऽगमनाऽऽदिक्रियापरिणतस्य मत्स्यस्य जलमपेक्षाकारणमस्ति, तथैव धर्मद्रव्यमपि ज्ञेयम् । निष्कर्षस्त्वयम्-स्थले ऊषक्रिया व्याकुलतया चेष्टाहेतिवच्छाभावादेव न भवति, न तु जलाभावादिति गत्यपेक्षाकारणे मानाभाव इति चेत् ?। न। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां लोकसिद्धव्यवहारादेव तद्धेतुत्वसिद्धेरन्यथाऽन्यकारणेनेतराखिलकारणासिद्धिप्रसङ्गादिति दिक् ॥ ४ ॥ द्रव्या० १० अ० ।

धम्मत्थिकाएणं भंते ! जीवाणं किं पवत्तइ ? । गोयमा ! धम्मत्थिकाएणं जीवाणं आगमणगमणभासुम्मेसमणजोगवइजोगकायजोगा जे यावन्ने तहप्पगारा चलभावा सव्वे ते धम्मत्थिकाए पवत्तंति, गतिलक्खणेणं धम्मत्थिकाए ॥

(आगमणगमणेत्यादि) आगमनगमने प्रतीते, भाषा व्यक्तवचनम्, 'जाव' व्यक्तायां वाचीति वचनात् । उन्मेषोऽक्षिव्यापारविशेषः, मनोयोगवाग्योगकाययोगाः प्रतीता एव । एतेषां च द्वन्द्वः। ततस्ते इह च मनोयोगाऽऽदयः सामान्यरूपाः, आगमनाऽऽदयस्तु तद्विशेषा इति भेदेनोपात्ताः। भवति च सामान्यग्रहणेऽपि विशेषग्रहणं तत्स्वरूपोपदर्शनार्थमिति । (जे यावन्ने तहप्पगारे त्ति) ये चाप्यन्ये आगमनाऽऽदिभ्योऽपरे तथाप्रकारा आगमनाऽऽदिसदृशा भ्रमणचलनाऽऽदयः । (चलसभाव त्ति) चलस्वभावाः पर्यायाः, सर्वे ते धर्मास्तिकाये सति प्रवर्त्तन्ते। कुतः?, इत्याह-"गतिलक्खणेणं धम्मत्थिकाय त्ति ।" भ०१३ श०४ उ० । तथा च-"एगे धम्मे ।" एकः प्रदेशार्थतया संख्यातप्रदेशाऽऽत्मकत्वेऽपि द्रव्यार्थतया तस्यैकत्वात् जीवपुद्गलानां स्वाभाविके क्रियावत्त्वे सति परिणतानां तत्स्वभावधारणाद्धर्मः। स चास्तीनां प्रदेशानां सङ्घाऽऽत्मकत्वात् कायोऽस्तिकाय इति । स्था० १ ठा० । न यतो धर्मास्तिकायविचारः-कोऽसौ धर्मो धर्मास्तिकायः । आह-सिद्धे सति वस्तुनोऽस्तित्वे इदमनेन लक्ष्यते इति वक्तुं युक्तम्, अस्य तु सत्त्वमेवासिद्धम् । अत्रोच्यते-यच्छुद्धपदवाच्यं तत्सदस्ति । यथा स्तम्भाऽऽदिशुद्धपदवाच्यभावात् प्रमाणान्तरबाधितविषयत्वाभावाद्दोषरहितत्वेन, न च सिद्धत्वात्, न च खपुष्पाऽऽदिषु संकेतितैः स्वादिशुद्धपदैरनेकान्तो वृद्धपरम्पराऽऽयातसंकेतविषयाणामेव शुद्धपदानां वाच्यत्वस्येह हेतुत्वेनेष्टत्वात्, निपुणेन प्रतिपत्तव्यम्, अन्यथा धूमाऽऽदेरपि गोपालघटिकाऽऽदिष्वन्यथाभावदर्शनादेव प्रसङ्गो दुर्निवारः स्यात् । उक्तं च-"अत्थि त्ति निव्वियप्पो, जीवो नियमाउ सद्दओ सिद्धो । कम्मा सुद्धपयत्ता, घडव्व रासिंगाणुमाणाओ ॥ १ ॥" इत्यादलं प्रसङ्गेन । उत्त० पाई २८ अ० । (धर्मास्तिकायस्य वर्णाऽऽदिद्रव्याऽऽदिभेदतः स्वरूपं च 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे ५१६ पृष्ठे गतम्) धर्मास्तिकायविषये हीरप्रश्ने नगर्षिगणिकृतप्रश्नो यथा-सम्पूर्णो धर्मास्तिकायो द्रव्यमुच्यते, स्कन्धो वेति ?। अत्रोत्तरम्-सम्पूर्णो धर्मास्तिकायो द्रव्यमुच्यते, कुत्रचित् स्कन्धोऽप्युपचारात्, नात्र किमपि बाधकं ज्ञायते । ही० ३ प्रका० ।

सकलमेव धर्मास्तिकायरूपमवयविद्रव्यमाह-

अवयवी नाम अवयवानां तथारूपसंघातपरिणामविशेष एव, न पुनरवयवद्रव्येभ्यः पृथगर्थान्तरं द्रव्यं, तथाऽनुपलम्भात् । तन्तव एव हि आतानवितानरूपं संघातपरिणामविशेषमापन्ना लोके पटव्यपदेशभाज उपलभ्यन्ते, न तदतिरिक्तं पटाऽऽख्यं नाम । उक्तं चान्यैरपि-"तन्त्वादिव्यतिरेकेण, न पटाऽऽद्युपलम्भनम् । तन्त्वादयो विशिष्टा हि, पटाऽऽदिव्यपदेशिनः ॥ १ ॥" प्रज्ञा० १ पद ।

धर्मास्तिकायस्यैकार्थिकान्याह-

धम्मत्थिकायस्स णं भंते ! केवइया अभिवयणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पण्णत्ता । तं जहा-धम्मे इ वा, धम्मत्थिकाए इ वा, पाणाइवायवेरमणे त्ति वा, मुसावायवेरमणे त्ति वा, एवं० जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगे त्ति वा० जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे त्ति वा, इरियासमिए त्ति वा, भासासमिए त्ति वा, एसणासमिए त्ति वा, आदाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए त्ति वा, उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणपारिट्ठावणियासमिई त्ति वा, मणगुत्ती त्ति वा, वइगुत्ती त्ति वा, कायगुत्ती त्ति वा, जे यावन्ने तहप्पगारा, सव्वे ते धम्मत्थिकायस्स अभिवयणा ।

(अभिवयण त्ति) अभि इत्यभिधायकानि वचनानि शब्दा अभिवचनानि, पर्यायशब्दा इत्यर्थः । (धम्मे इ व त्ति) जीवपुद्गलानां गतिपर्याये धारणाद्धर्मः, इति रूपप्रदर्शने, वा विकल्पे । (धम्मत्थिकाए व त्ति) धर्मश्चासावस्तिकायश्च प्रदेशराशिरिति धर्मास्तिकायः । (पाणाइवायवेरमणे इ वा इत्यादि) इह धर्मश्चारित्रलक्षणः, स च प्राणातिपातविरमणाऽऽदिरूपः, ततश्च धर्मशब्दसाधर्म्याद्धर्मास्तिकायरूपस्यापि धर्मस्य प्राणातिपातविरमणाऽऽदयः पर्यायतया प्रवर्त्तन्त इति । (जे यावन्नेत्यादि) ये चान्येऽपि तथाप्रकाराश्चारित्रधर्माभिधायकाः सामान्यतो विशेषतो वा शब्दाः । ते सर्वेऽपि धर्मास्ति-

कायत्वाभिधवचनानीति । भ०२० श०२ उ० । (अस्तिकायाना-मस्तिकायत्वम् 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे ५१६ पृष्ठे गतम्)

धम्मत्थिकायदेस-धर्मास्तिकायदेश-पुं० । धर्मास्तिकायस्य बुद्धिविकल्पितो द्व्यादिप्रदेशाऽऽत्मको विभागो धर्मास्तिकायदेशः । अजीवद्रव्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद । दर्श० । जी० ।

धम्मत्थिकायप्पएस-धर्मास्तिकायप्रदेश-पुं० । धर्मास्तिकायस्य प्रकृष्टो देशः प्रदेशः, निर्विभागो निरंशो भागो धर्मास्तिकायप्रदेशः । प्रज्ञा० १ पद । अजीवद्रव्यभेदे, दर्श० ५ तत्त्व । जी० । " अट्ठ धम्मत्थिकायमज्झप्पएसा पण्णत्ता ।" स्था० ८ ठा० ।

धम्मद-धर्मद-पुं० । धर्मं चारित्ररूपं ददातीति धर्मदः । जी० ३ प्रति० । चारित्रधर्मदायके तीर्थंकरे, कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

धम्मदत्त-धर्मदत्त-पुं० । स्वनामख्याते कल्किराजसुते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । ती० । " कल्किपुत्रो धर्मदत्तो, भावी स परमाऽऽर्हतः । दिने दिने जैनबिम्बं, प्रतिष्ठाप्यावभोक्ष्यते ॥१॥ " ती० १ कल्प० ।

धम्मदय-धर्मदय-पुं० । धर्मं श्रुतचारित्राऽऽत्मकं दुर्गतिप्रपतज्जन्तुधारणस्वभावं दयते ददातीति धर्मदयः । स० १ सम० । चारित्रधर्मदायके तीर्थंकरे, भ० १ श० १ उ० ।

धम्मदाण-धर्मदान-न० । धर्मकारणं दानं,धर्म एव वा दानम् । " समतृणमणिमुक्तेभ्यो, यद्दानं दीयते सुपात्रेभ्यः । अक्षयमतुलमनन्तं, तद्दानं भवति धर्माय ॥ १ ॥ " इत्युक्तलक्षणे दानभेदे, स्था० १० ठा० ।

धम्मदार-धर्मद्वार-न० । धर्मस्य चारित्रलक्षणस्य द्वारमिव द्वारं धर्मद्वारम् । क्षान्त्यादिके धर्मोपाये, " चत्तारि धम्मदारा पण्णत्ता । तं जहा-खंती, मुत्ती, अज्जवे,मद्दवे ।" धर्मस्य चारित्रलक्षणस्य द्वाराणीव द्वाराण्युपायाः क्षान्त्यादीनि धर्मद्वाराणि । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

धम्मदासगणि-धर्मदासगणि-पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, दर्श० ४ तत्त्व । ध० । अनेन भगवता उपदेशमाला नाम ग्रन्थो रचितः । अयमाचार्यो वीरप्रभोरपि पूर्वं बभूवेति प्रसिद्धिः । जै० इ० । तथा चाहुः-"प्रतिहतसकलव्यामो-हतमिस्रा धर्मदासगणिमिश्राः ।" ध० र० । तथा चाऽऽह-भगवान् धर्मदासगणिः । दर्श० ४ तत्त्व ।

धम्मदिवस-धर्मदिवस-पुं० । चतुर्दश्यष्टम्याऽऽदिके धर्मदिने, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

धम्मदुम-धर्मद्रुम-पुं० । धर्मवृक्षे, संथा० ।

धम्मदूअ-धर्मदूत-पुं० । वृद्धावस्थासूचके पलिताऽऽदिके, तस्या धर्मकरणयोग्यावस्थोपदेशकत्वात्तथात्वम् । आव० ४ अ० ।

धम्मदेव-धर्मदेव-पुं० । धर्मेण श्रुताऽऽदिना देवो धर्मप्रधानो वा देवो धर्मदेवः । भ० १२ श० ९ उ० । चारित्रवद्रूपे देवभेदे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

धम्मदेसग-धर्मदेशक-पुं० । धर्मं श्रुतचारित्राऽऽत्मकं देशयतीति धर्मदेशकः । भ० १ श० १ उ० । धर्मोपदेशदायके, कल्प० १ अधि० १ क्षण । स० । ध० । रा० ।

धम्मदेसणा-धर्मदेशना-स्त्री० । कुशलानुष्ठानप्ररूपणायाम्, द्वा० ३१ अष्ट० ।

तत्प्रदानविधिमाह-

सा च संवेगकृत् कार्या, शुश्रूषोर्मुनिना परा ।
बालाऽऽदिभावं संज्ञाय, यथाबोधं महात्मना ॥ १७ ॥

सा च देशना संवेगकृत्संवेगकारिणी, संवेगलक्षणं चेदम्- " तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रबन्धे, देवे रागद्वेषमोहाऽऽदिमुक्ते । साधौ सर्वग्रन्थसंदर्भहीने,संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः॥१॥" मुनिना गीतार्थेन साधुना,अन्यस्य धर्मोपदेशेऽनधिकारित्वात् ।

यथोक्तं निशीथे-

" संसारदुक्खमहणो, विबोहणो भवियपुंडरीयाणं ।
धम्मो जिणपण्णत्तो, पकप्पजइणा कहेअव्वो " ॥ १ ॥ इति ।

(प्रकल्पयतिनेति) अधीतनिशीथाध्ययनेन ।

(परा) शेषतीर्थान्तरीयधर्मातिशायितया प्रकृष्टा कार्या प्रज्ञापनीया । कीदृशस्य पुरतः सा कार्येत्याह-शुश्रूषोः श्रोतुमुपस्थितस्य, मुनिना च किं ज्ञानपूर्वमाश्रयेत्याह-(बालाऽऽदिभावमित्यादि) बालाऽऽदीनां त्रयाणां धर्मपरीक्षकाणाम्,आदिपदेन मध्यमबुद्धिबुधयोर्ग्रहणात्, भावं परिणामविशेषं स्वरूपं वा संज्ञाय सम्यगवैपरीत्येन ज्ञात्वाऽवबुध्य । ध० १ अधि० । (बालाऽऽदीनां धर्मपरीक्षकाणां स्वरूपं 'धम्म' शब्दे धर्मपरीक्षाऽवसरे २६७४ पृष्ठे गतम्) कथं सा कार्येत्याह-(यथाबोधमिति) बोधानतिक्रमेण, अनवबोधे धर्माऽऽख्यानस्योन्मार्गदेशनारूपत्वेन प्रत्युतानर्थसंभवात् । न ह्यन्धः समाकृष्यमाणः सम्यगध्वानं प्रतिपद्यत इति । मुनिना कीदृशेन ?, महात्मना-तदनुग्रहैकपरायणतया महान् आत्मा यस्य स तेन इति संक्षेपतो धर्मदेशनाप्रधानविधिः, विस्तरतस्तु धर्मबिन्दौ (२ प्रक०) उक्तः ।

स चायम्-" इदानीं तद्विधिमनुवर्णयिष्याम इति । " इदानीं संप्रति तद्विधिं सद्धर्मदेशनाक्रमं वर्णयिष्यामो निरूपयिष्यामो वयमिति । तद्यथा-" तत्प्रकृति-देवताधिमुक्तिज्ञानमिति । " तस्य सद्धर्मदेशनार्हस्य जन्तोः प्रकृतिः स्वरूपं गुणवत्सङ्गलोकप्रियत्वाऽऽदिका,देवताधिमुक्तिश्च बुद्धकपिलाऽऽदिदेवताविशेषभक्तिः,तयोर्ज्ञानं प्रथमतो देशकेन कार्यम् । ज्ञातप्रकृतिको हि पुमान् रक्तो द्विष्टो मूढः पूर्वं व्युद्ग्राहितश्च चेत्थं भवति, तदा कुशलैस्तथा तथाऽनुवर्त्य लोकोत्तरगुणपात्रतामानीयते । विदितदेवताविशेषाधिमुक्तिश्च तत्तद्देवताप्रणीतमार्गानुसारिवचनोपदर्शनेन दूषणेन च सुखमेव मार्गेऽवतारयितुं शक्य इति । तथा-"साधारणगुणप्रशंसेति ।" साधारणानां लोकलोकोत्तरयोः सामान्यानां गुणानां प्रशंसा पुरस्कारो देशनाऽर्हस्याग्रतो विधेया । यथा-" प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते संभ्रमविधिः, प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः । अनुत्सेको लक्ष्म्यां निरभिभवसाराः परकथाः, श्रुते चासन्तोषः कथमनभिजाते निवसति ? ॥१॥ " तथा-" सम्यक् तदधिकाऽऽख्यानमिति । " सम्यगविपरीतरूपतया तेभ्यः साधारणगुणेभ्योऽधिका विशेषवन्तो ये गुणाः तेषामाख्यानं कथनम् । यथा-"पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम् । अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥१॥ " इति । तथा-"अबोधेऽप्यनिन्देति ।" अबोधेऽप्यनवगमेऽपि सामान्यगुणानां,विशेषगुणानां वा व्याख्यातानामपि अनिन्दा अहो मन्दबुद्धिर्भवान् य इत्थमाचक्षाणेऽप्यस्मासु न बुध्यते वस्तुतत्त्वमित्येवं श्रोतुस्तिरस्कारपरिहाररूपा, निन्दितो हि श्रोता किञ्चिद् बुभुत्सुरपि सद् दूरं विरज्यत इति । तर्हि किं कर्तव्यमित्याह-"शुश्रूषाभाव

करणमिति ।" धर्मशास्त्रं प्रति श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा, तल्लक्षणो भावः परिणामः, तस्य करणं निर्वर्त्तनं श्रोतुस्तैस्तैर्वचनैरिति । शुश्रूषामनुत्पाद्य धर्मकथने प्रत्युतानर्थसंभवः । पठ्यते च-"स खलु पिशाचकी वातकी वा, यः परेऽनर्थिनि वाचमुदीरयति । "भूयो भूय उपदेश इति ।" भूयो भूयः पुनः पुनरुपदिश्यत इत्युपदेशः । उपदेष्टुमिष्टो वस्तुविषयः कथञ्चिदनवगमे सति कार्यः । किं न क्रियते दृढसन्निपातरोगिणां पुनः पुनः क्रिया तिक्ताऽऽदिकाथपानोपचार इति । तथा-" बोधे प्रज्ञोपवर्णनमिति ।" बोधे सकृदुपदेशेन, भूयो भूय उपदेशेन वोपदिष्टवस्तुनः परिज्ञाने तस्य श्रोतुः प्रज्ञोपवर्णनं बुद्धिप्रशंसनं, यथा-नाऽलघुकर्माणः प्राणिन एवंविधसूक्ष्मार्थबोद्धारो भवन्तीति । तथा-" तन्त्रावतार इति ।" तन्त्रे आगमेऽवतारः प्रवेशः आगमबहुमानोत्पादनद्वारेण तस्य विधेयः । आगमबहुमानश्चैवमुत्पादनीयः-

" परलोकविधौ शास्त्रात्, प्रायो नान्यदपेक्षते ।
आसन्नभव्यो मतिमान्, श्रद्धाधनसमन्वितः ॥ १ ॥
उपदेशं विनाऽप्यर्थ-कामौ प्रति पटुर्जनः ।
धर्मस्तु न विना शास्त्रा-दिति तत्राऽऽदरो हितः ॥ २ ॥
अर्थाऽऽदावविधानेऽपि, तदभावः परं नृणाम् ।
धर्मेऽविधानतोऽनर्थः, क्रियोदाहरणात्परः ॥ ३ ॥
तस्मात्सदैव धर्मार्थी, शास्त्रयत्नः प्रशस्यते ।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन्, शास्त्राऽऽलोकः प्रवर्त्तकः ॥ ४ ॥"
(शास्त्रयत्न इति) शास्त्रे यत्नो यस्येति समासः ।
"पापाऽऽमयौषधं शास्त्रं, शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम् ।
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं, शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥ ५ ॥
न यस्य भक्तिरेतस्मिं-स्तस्य धर्मक्रियाऽपि हि ।
अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या, कर्मदोषादसत्फला ॥ ६ ॥
यः श्राद्धो मन्यते मान्या-नहङ्कारविवर्जितः ।
गुणरागी महाभाग-स्तस्य धर्मक्रिया परा ॥ ७ ॥
यस्य त्वनादरः शास्त्रे, तस्य श्रद्धाऽऽदयो गुणाः ।
उन्मत्तगुणतुल्यत्वा-न्न प्रशंसाऽऽस्पदं सताम् ॥ ८ ॥
मलिनस्य यथाऽत्यन्तं, जलं वस्त्रस्य शोधनम् ।
अन्तःकरणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः ॥ ९ ॥
शास्त्रभक्तिर्जगद्वन्द्यै-र्मुक्तिदूती परोदिता ।
अत्रैवेयमतो न्याय्या, तत्प्राप्त्यासन्नभावतः ॥ १० ॥ "

(अत्रैवेति) मुक्तावेव (इयमिति) शास्त्रभक्तिः, "तत्प्राप्त्यासन्नभावत इति" मुक्तिप्राप्तिसमीपभावादिति । तथा-"प्रयोग आक्षेपण्या इति ।" प्रयोगो व्यापारणं, धर्मकथाकाले आक्षिप्यन्ते आकृष्यन्ते मोहात्तत्त्वं प्रति भव्यप्राणिनोऽनयेति आक्षेपणी । (तस्याः कथायाश्चातुर्विध्यम् ' अक्खेवणी ' शब्दे प्रथमभागे १५२ पृष्ठे गतम्) तथा-" ज्ञानाऽऽद्याचारकथनमिति ।" ज्ञानस्य श्रुतलक्षणस्य, आचारो ज्ञानाऽऽचारः, आदिशब्दाद्दर्शनाऽऽचारचारित्राऽऽचारतपआचारो वीर्याऽऽचारश्चेति । ततो ज्ञानाऽऽद्याचाराणां कथनं प्रज्ञापनमिति समासः । ध०१ अधि० । अनन्तरोक्तपञ्चविधे ज्ञानदर्शनाऽऽद्याचारे यथाशक्ति प्रतिपत्तिलक्षणं पराक्रमणं, प्रतिपत्तौ च यथाबलं पालनेति । तथा-"निरीहशक्यपालनेति ।" निरीहैरैहिकपारलौकिकफलेषु राज्यदेवत्वाऽऽदिलक्षणेषु व्यावृत्ताभिलाषैः शक्यस्य ज्ञानाऽऽचाराऽऽदेर्विहितमिदमिति बुद्ध्या पालना कार्या इति च कथ्यत इति । तथा-" अशक्ये भावप्रतिपत्तिरिति ।" अशक्ये ज्ञाना-ऽऽचाराऽऽदिविशेष एव, कर्त्तुमपार्यमाणे कुतोऽपि धृतिसंहननकालबलाऽऽदिवैकल्यात् भावप्रतिपत्तिः । भावेनान्तःकरणेन प्रतिपत्तिरनुबन्धः, न पुनस्तत्र प्रवृत्तिरपि, अकालौत्सुक्यस्य तत्वत आर्तध्यानत्वादिति । तथा-" पालनोपायोपदेश इति ।" एतस्मिन् ज्ञानाऽऽद्याचारे प्रतिपन्ने सति पालनाय उपायस्याधिकगुणतुल्यगुणलोकमध्यसंवासलक्षणस्य निजगुणस्थानकोचितक्रियापरिपालनानुस्मरणस्वभावस्य चोपदेशो दातव्य इति । तथा-"फलप्ररूपणेति ।" अस्याऽऽचारस्य सम्यक् परिपालितस्य सतः फलमिहैव तावदुपशमसुखलाभो भावैश्वर्यवृद्धिर्जनप्रियत्वं च, परत्र च सुगतिजन्मोत्तमस्थानलाभः, परम्परया निर्वाणावाप्तिश्चेति यत्कार्यं तस्य प्ररूपणा प्रज्ञापना विधेयेति । ध० १ अधि० । (देवर्द्धिवर्णनं ' देवड्ढिवण्णण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६१७ पृष्ठे गतम्) (असदाचारगर्हा ' असदायार ' शब्दे प्रथमभागे ८४० पृष्ठे प्रतिपादिता) (नारकदुःखोपवर्णनम् " णारयदुक्खोववण्णण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१२ पृष्ठे गतम्) (दुष्कुलजन्मप्रशस्तिः " दुक्कुलजम्मप्पसत्थि " शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५४८ पृष्ठे प्रोक्ता) (मोहनिन्दां 'मोहनिंदा' शब्दे प्रतिपादयिष्यामि) (धर्मबीजं च ' धम्मबीय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव वक्ष्यामि) (संज्ञानप्रशंसनं ' सण्णाणप्पसंसण ' शब्दे प्रतिपादयिष्यते) "वीर्यर्द्धिवर्णनमिति ।" वीर्यर्द्धेः प्रकर्षरूपायाः शुद्धाऽऽचारबललभ्यायास्तीर्थकरपर्यवसानाया वर्णनमेति । यथा-" मेरुं दण्डं धरां छत्रं, यत्कश्चित्कर्त्तुमीशते । तत्सदाचारकल्पद्रु-फलमाहुर्महर्षयः ॥१॥" तथापरिणते गम्भीरायाः पूर्वदेशनापेक्षयाऽत्यन्तसूक्ष्मायाः आत्माहितस्वतद्बन्धमोक्षाऽऽदिकाया देशनाया योगो व्यापारः कार्यः । इदमुक्तं भवति-यः पूर्वं साधारणगुणप्रशंसाऽऽदिरनेकधोपदेशः प्रोक्त आस्ते, स यदा तदाचारककर्मह्रासातिशयाद्धात्विनावलक्षणं परिणाममुपागतो भवति तदा जीर्णे भोजनमिव गम्भीरदेशनायामसौ देशनार्होऽवतार्यत इति । ध० १ अधि० ।

इत्थं देशनाविधिं प्रपञ्च्योपसंहरन्नाह-" एवं संवेगकृद्धर्म, आख्येयो मुनिना परः । यथाबोधं हि शुश्रूषो-र्भावितेन महात्मना ॥१॥ " इति व्याख्यातप्रायम् । आह-धर्माख्यानेऽपि यदा तथाविधकर्मदोषादबोधः श्रोतुरुत्पद्यते, तदा किंफलं धर्माऽऽख्यानमित्याह-"अबोधेऽपि फलं प्रोक्तं, श्रोतृणां मुनिसत्तमैः । कथकस्य विधानेन, नियमाच्छुद्धचेतसः ॥१॥ " इति सुगमम् । आह-प्रकारान्तरेणापि देशनाफलस्य संभाव्यमानत्वात् कामं देव एकेनेत्याशङ्क्याह-

" नोपकारो जगत्यस्मिं-स्तादृशो विद्यते क्वचित् ।
यादृशी दुःखविच्छेदा-द्देहिनां धर्मदेशना ॥ १ ॥ " इति ।

(न) नैवोपकारोऽनुग्रहो, जगति भुवने, अस्मिन्नुपलभ्यमाने, तादृशो विद्यते समस्ति, कश्चित्काले क्षेत्रे वा, यादृशी यादृग्रूपा, दुःखविच्छेदात् शारीरमानसदुःखापनयनात्, देहिनां देशनार्हाणां, (धर्मदेशनेति) धर्मदेशनाजनितो मार्गश्रद्धानाऽऽदिर्गुणः तस्य निःशेषक्लेशलेशाकलङ्कमोक्षाऽऽक्षेपं प्रत्यवन्ध्यकारणत्वात् । इति निरूपितो धर्मबिन्दौ सद्धर्मदेशनाप्रदानविधिः । ध० १ अधि० । सद्धा० ।

बालाऽऽदीनां सद्धर्मपरीक्षकाणां सप्रपञ्चं लक्षणमभिधाय तद्देशनाविधिमाह-

बालाऽऽदिभावमेवं, सम्यग् विज्ञाय देहिनां गुरुणा ।

सद्धर्मदेशनाऽपि हि, कर्त्तव्या तदनुसारेण ॥ १३ ॥

बालाऽऽदीनां भावः परिणामविशेषः, स्वरूपं वा, नमेवमुक्तनीत्या सम्यगवैपरीत्येन, विज्ञाय ज्ञात्वा, देहिनां जीवानां, गुरुणा शास्त्राभिहितस्वरूपेण । यथोक्तम्-"धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मप्रवर्त्तकः । सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-देशको गुरुरुच्यते ॥१॥" सद्धर्मस्य देशनाऽपि हि प्रतिपादना कर्त्तव्या । तदनुसारेण बालाऽऽदिपरिणामानुरूपेण यस्य यथोपकाराय संपद्यते देशना, तस्य तथा विधेयेति ॥ १३ ॥

अत्रैव हेतुद्वारेण व्यतिरेकमाह-

यद्भाषितं मुनीन्द्रैः, पापं खलु देशना परस्थाने ।
उन्मार्गनयनमेत-द्भवगहने दारुणविपाकम् ॥ १४ ॥

यद्यस्माद्भाषितमुक्तम्, मुनीन्द्रैः समययुक्तैः, पापं खलु वर्त्तते । देशना परस्थाने बालसंबन्धिनी मध्यमबुद्धेस्तत्संबन्धिनी बुधस्य स्थाने । किमित्याह-उन्मार्गनयनमुन्मार्गप्रापणमेतद्विपरीतदेशनाकरणम् । भवगहने संसारगहने, दारुणविपाकं तीव्रविपाकम् । ते हि विपरीतदेशनया अन्यथा चान्यथा च प्रवर्त्तन्त इति कृत्वा ॥ १४ ॥

कथं पुनर्देशनास्वरूपेण समयोक्तत्वेन सुन्दराऽपि सती परस्थानेऽपायमित्याह-

हितमपि वायोरौषध-महितं तच्छ्लेष्मणो यथाऽत्यन्तम् ।
सद्धर्मदेशनौषध-मेवं बालाऽऽद्यपेक्षमिति ॥ १५ ॥

हितमपि योग्यमपि, वायोः शरीरगतस्य वातस्यौषधं स्नेहपानाऽऽदि अहितं, तदेवौषधं श्लेष्मणो यथाऽत्यन्तं भवति । तत्प्रकोपहेतुत्वेन सद्धर्मस्य देशनौषधं स्वरूपेण सुन्दरमपि तद्वक्ष्यहेतुत्वेन एवमहितं भवति । (बालाऽऽद्यपेक्षमिति) बालमध्यमबुद्धिबुधापेक्षं तस्मात्तत्पापभीरुणा तद्धितप्रवृत्तेन च गुरुणा तेषां भावं विज्ञाय, देशना विधेयेति शास्त्रोपदेशः ॥ १५ ॥ षो० १ विव० ।

गुरुर्बालाऽऽदीनां देशनां विदध्यादित्युक्तम्, तत्र विधिमाह-

बालाऽऽदीनामेषां, यथोचितं तद्विदां विधिर्गीतः ।
सद्धर्मदेशनाया-मयमिह सिद्धान्ततत्त्वज्ञैः ॥ १ ॥

बालाऽऽदीनामेषां पूर्वोक्तानां, यथोचितं यथार्हम्, तद्विदो बालाऽऽदिस्वरूपविदः, विधिर्गीतः कथितः । सद्धर्मदेशनायां विषये, अयमिह वक्ष्यमाणः, सिद्धान्ततत्त्वज्ञैरागमपरमार्थनिपुणैरिति ॥ १ ॥

तत्र बालस्य परिणाममाश्रित्य हितकारिणीं देशनामाह-

बाह्यचरणप्रधाना, कर्त्तव्या देशनेह बालस्य ।
स्वयमपि च तदाचार-स्तदग्रतो नियमतः सेव्यः ॥ २ ॥

बाह्यचरणप्रधाना बाह्यानुष्ठानप्रधाना, कर्त्तव्या विधेया, देशना प्ररूपणा, इह प्रक्रमे बालस्याऽऽद्यस्य धर्मार्थिनः, स्वयमपि चाऽऽत्मनाऽपि च, तदाचारः-स बासावाचारश्चोपदिश्यमानाऽऽचारस्तदग्रतो बालस्याग्रतो, नियमतो नियमेन, सेव्यो भवस्याचरणीयः । यदि पुनः स्वयमन्यथा सेव्यते, अन्यथा चोपदिश्यते, तदा तद्विनयाशङ्कां जनयति; अतस्तद्भावबुद्धये समुपदिश्यमानं तथैवाऽऽसेव्यमिति ॥ २ ॥

तामेव बालस्य देशनामाह-

सम्यग् लोचविधानं, ह्यनुपानत्कत्वमथ धरा शय्या ।
प्रहरद्वयं रजन्याः, स्वापः शीतोष्णसहनं च ॥ ३ ॥

सम्यग् लोचविधानं लोचकरणं, कथनीयं भवतीति योगः । हिशब्दश्चार्थे सर्वत्राभिसंबन्धनीयः । अनुपानत्कत्वं च-न विद्यते उपानहौ यस्य सोऽयमनुपानत्कस्तद्भावस्तत्त्वम् । अथ धरा शय्या-धरा पृथ्वी सैव शय्या शयनीयं, नान्यत्पर्यङ्काऽऽदि, प्रहरद्वयं रजन्याः स्वापः-प्रथमयामे स्वाध्यायकरणं सामान्येनैव साधूनां, द्वितीयतृतीयप्रहरयोस्तु स्वापः स्वपनं, चतुर्थे पुनः स्वाध्यायकरणं, समयनीत्या शीतोष्णसहनं च-शीतोष्णयोः सहनं स्वसामर्थ्यापेक्षमार्त्तध्यानाऽऽदिपरिहारेण ॥ ३ ॥

षष्ठाष्टमाऽऽदिरूपं, चित्रं बाह्यं तपो महाकष्टम् ।
अल्पोपकरणसंधा-रणं च तच्छुद्धता चैव ॥ ४ ॥

षष्ठाष्टमाऽऽदिरूपं समयप्रसिद्धं, चित्रं नानाप्रकारं, बाह्यं तपो महाकष्टं दुरनुचरम्, अल्पसत्त्वैर्दुर्बलसहननैश्चेति कृत्वा, अल्पोपकरणसंधारणं च अल्पमेवोपकरणम् [संधारणीयं] तच्छुद्धता चैव उद्गमाऽऽदिदोषविशुद्ध्या ॥ ४ ॥

गुर्वी पिण्डविशुद्धि-श्चित्रा द्रव्याऽऽद्यभिग्रहाश्चैव ।
विकृतीनां संत्याग-स्तथैकसिक्थाऽऽदिपारणकम् ॥ ५ ॥

गुर्वी पिण्डविशुद्धिराधाकर्माऽऽदित्यागेन चित्रा द्रव्याऽऽद्यभिग्रहाश्चैव द्रव्यक्षेत्रकालभावाभिग्रहाः समयप्रसिद्धाः । विकृतीनां संत्यागः क्षीराऽऽदीनाम्, तथैकसिक्थाऽऽदिपारणकम् । एकं सिक्थं भोजनं पारणके । आदिशब्दादेककवलाऽऽदिग्रहः ॥ ५ ॥

अनियतविहारकल्पः, कायोत्सर्गाऽऽदिकरणमनिशं च ।
इत्यादि बाह्यमुच्चैः, कथनीयं भवति बालस्य ॥ ६ ॥

अनियतविहारकल्पोऽनियतश्चासौ विहारश्च नैकत्रैवावस्थानम्, तस्य कल्पः समाचारः, कायोत्सर्गाऽऽदिकरणमनिशं च-कायोत्सर्गस्याऽऽदिशब्दात्प्रत्युपेक्षणाकरणमालोचनामित्यादि बाह्यमुच्चैर्बाह्यमनुष्ठानं प्रतिश्रयप्रत्युपेक्षणप्रमार्जनकालग्रहणाऽऽदि कथनीयं भवति बालस्य सर्वथोपदेष्टव्यं हितकारीति ॥ ६ ॥

इदानीं मध्यमबुद्धेर्देशनाविधिमाह-

मध्यमबुद्धेस्त्वीर्या-समितिप्रभृति त्रिकोटिपरिशुद्धम् ।
आद्यन्तमध्ययोगे-र्हितदं खलु साधुसद्वृत्तम् ॥ ७ ॥

मध्यमबुद्धेस्तु मध्यमबुद्धेः पुनरीर्यासमितिप्रभृति ईर्यासमित्यादिकम, प्रवचनमातृरूपं साधुसद्वृत्तं, समाख्येयमिति योगः । तच्च कीदृशं साधूनां सद्वृत्तम ? । त्रिकोटिपरिशुद्धं रागद्वेषमोहत्रयपरिशुद्धम् । अथवा तिस्रः कोटयो हननपचनक्रयणरूपाः कृतकारितानुमतिभेदेन भूयन्ते, ताभिः परिशुद्धम् । अथवा-कषच्छेदतापकोटित्रयपरिशुद्धं, प्रवचनमातृमार्गगतत्वात् सकलप्रवचनस्य । तस्य च कषच्छेदतापपरिशुद्धत्वेनाभिधानात्तदेव च वचनमनुष्ठीयमानम्, सद्वृत्तम्, साधुसद्वृत्तमेव विशिष्यते-आद्यन्तमध्ययोगैर्हितदं साध्विति । आदियोगेन, मध्ययोगेनान्त्ययोगेन वा, वयसो जीवितवयस्य वा, हितदमुपकारि । अथवा-आदियोगेन प्रथमवयोऽवस्थायामनेनाध्ययनाऽऽदिना, मध्यमयोगेन द्वितीयवयोऽवस्थाभाविनाऽर्थश्रवणाऽऽदिना, अन्त्ययोगेन चरमवयोऽवस्थाभाविना धर्मध्यानाऽऽदिना । भावनाविशेषरूपेण, हितदं हितकारि हितफलमेवेति ॥ ७ ॥

एतदेवाऽऽह-

अष्टौ साधुभिरनिशं, मातर इव मातरः प्रवचनस्य ।
नियमेन न मोक्तव्याः, परमं कल्याणमिच्छद्भिः ॥ ८ ॥

अष्टौ साधुभिरनिशं प्रवचनस्य मातरो न मोक्तव्या इति संबन्धः । ताश्च मातर इव, पुत्रस्येति गम्यते । प्रवचनस्य प्रसूतिहेतुत्वेन, हितकारित्वेन च मातृत्वमवसेयम् । नियमेनावश्यंभावेन । कीदृशैः साधुभिः ?, परमं कल्याणमिच्छद्भिरैहलौकिकपारलौकिकपरमकल्याणकामैः ॥ ८ ॥

एतच्च समाख्येयम्-

एतत्सचिवस्य सदा, साधोर्नियमान्न भवभयं भवति ।
भवति च हितमत्यन्तं, फलदं विधिनाऽऽगमग्रहणम् ॥ ९ ॥

एतत्सचिवस्य प्रवचनमातृसहितस्य, सदा सर्वकालं, साधोर्यतेर्नियमान्नियमेन, न भवभयं भवति संसारभयं न जायते, निःश्रेयसविषयेच्छानिष्पत्तेः । भवति च संपद्यते च । प्रवचनमातृविधानसंपन्नस्य हितं भाव्यपायपरिहारसारत्वेनात्यन्तं प्रकर्षवृत्त्या फलदं फलहेतुर्विधिना विनयबहुमानाऽऽदराऽऽदिना, आगमग्रहणं वाचनाऽऽदिरूपेणेति ॥ ९ ॥

आगमग्रहणस्य गुर्वधीनत्वात् तद्भक्तमप्युपदेष्टव्यमित्याह-

गुरुपारतन्त्र्यमेव च, तद्बहुमानात्सदाशयानुगतम् ।
परमगुरुप्राप्तेरिह, बीजं तस्माच्च मोक्ष इति ॥ १० ॥

गुरुपारतन्त्र्यमेव च गुर्वायत्तत्वम्, तद्बहुमानाद्गुरुविषयाऽऽन्तरप्रीतिविशेषात् । [न तु दर्पमात्रहानात्] सदाशयानुगतम् सदाशयः संसारक्षयहेतुर्गुरुरयं ममेत्येवंभूतः कुशलपरिणामः, तेनानुगतं गुरुपारतन्त्र्यम् । परमगुरुप्राप्तेरिह सर्वज्ञप्राप्तेर्बीजम्, गुरुबहुमानाज्जन्मान्तरे तथाविधपुण्योपादानेन सर्वज्ञदर्शनसंभवाद् गुरुपारतन्त्र्यं सर्वज्ञप्राप्तिबीजं भवति । तस्माच्चैवंविधाद् गुरुपारतन्त्र्यान्मोक्षः [इति हेतोर्गुरुपारतन्त्र्यं साधुनाऽवश्यं विधेयमिति] ॥ १० ॥

पूर्वोक्त एव वस्तुनि सद्वृत्ताऽऽदौ क्रियासंबन्धं दर्शयति-

इत्यादि साधुवृत्तं, मध्यमबुद्धेः सदा समाख्येयम् ।
आगमतत्त्वं तु परं, बुधस्य भावप्रधानं तु ॥ ११ ॥

मध्यमबुद्धेरेवमादि साधुवृत्तं प्रस्तुतम्, सदा समाख्येयं प्रकाशनीयम्, आगमतत्त्वं तु पूर्वोक्तं परं केवलमेव, बुधस्य प्राक्निरूपितस्य, भावप्रधानं तु परमार्थसारं समाख्येयमिति ॥ ११ ॥

वचनसव-धमेव बुधोपदेशमाह-

वचनाऽऽराधनया खलु, धर्मस्तद्बाधया त्वधर्म इति ।
इदमत्र धर्मगुह्यं, सर्वस्वं चैतदेवास्य ॥ १२ ॥

वचनाऽऽराधनया आगमाऽऽराधनयैव, खलुशब्द एवकारार्थः । धर्मः श्रुतचारित्ररूपः, संपद्यते । तद्बाधया तु वचनबाधया त्वधर्म इति । इदमत्र विधिप्रतिषेधरूपं वचनमागमाऽऽख्यं धर्मगुह्यं धर्मरहस्यम्, सर्वस्वं चैतदेवाऽस्य धर्मस्य, एतद् वचनमेव सर्वस्वं सर्वसारो वर्त्तत इति ॥ १२ ॥

अथ किमर्थं बुधस्यैवमुपदेशः क्रियते सकलानुष्ठानोपलक्षणीभावाऽऽपादनद्वारेणेत्याशङ्क्य तन्मूलत्वं सकलानुष्ठानानामुपदर्शयन्नाह-

यस्मात्प्रवर्त्तकं भुवि, निवर्त्तकं चान्तराऽऽत्मनो वचनम् ।
धर्मश्चैतत्संस्थो, मौनीन्द्रं चैतदिह परमम् ॥ १३ ॥

यस्मात् प्रवर्त्तकं स्वाध्यायध्यानाऽऽदिषु विधेयेषु, भुवि जगत्यांलोके, निवर्त्तकं च हिंसाऽनृताऽऽदिभ्यः सकाशादन्तराऽऽत्मनो मनसो वचनमागमरूपं, धर्मश्चैतत्संस्थो वचनसंस्थो वचने संतिष्ठत इति कृत्वा मौनीन्द्रं वैतद्वचनमिह प्रक्रमे परमं प्रधानम् । एतदुक्तम्-"सर्वज्ञोक्तेन शास्त्रेण, विदित्वा योऽत्र तत्त्वतः । न्यायतः क्रियते धर्मः, स धर्मः स च सिद्धये ॥ १ ॥" ॥ १३ ॥

किमेवं वचनमाहात्म्यं ख्याप्यत इत्याह-

अस्मिन् हृदयस्थे सति, हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनीन्द्र इति ।
हृदयस्थिते च तस्मि-न्नियमात्सर्वार्थसंसिद्धिः ॥ १४ ॥

अस्मिन् प्रवचने आगमे, हृदयस्थे सति हृदयप्रतिष्ठिते सति, हृदयस्थस्तत्त्वतः परमार्थेन, मुनीन्द्रः सर्वज्ञ इति कृत्वा, हृदयस्थिते च तस्मिन् भगवति मुनीन्द्रे नियमान्नियमेन, सर्वार्थसंसिद्धिः सर्वार्थनिष्पत्तिः ॥ १४ ॥

किमेवं सर्वप्रयोजनसिद्धिद्वारेण भगवान् संस्तूयत इत्याह-

चिन्तामणिः परोऽसौ, तेनैवं भवति समरसाऽऽपत्तिः ।
सैवेह योगिमाता, निर्वाणफलप्रदा प्रोक्ता ॥ १५ ॥

चिन्ता रत्नं चिन्तामणिः, परः प्रकृष्टोऽसौ भगवान् सर्वज्ञस्तेन भगवतैवमागमबहुमानद्वारेण, भवति जायते, समरसाऽऽपत्तिः समताऽऽपत्तिः । आगमाभिहितसर्वज्ञस्वरूपोपयोगोपयुक्तस्य तदुपयोगाऽनन्यवृत्तेः परमार्थतः सर्वज्ञरूपत्वाद् बाह्याऽऽलम्बनाऽऽकारोपरक्तत्वेन मनसः समापत्तिर्ध्यानविशेषरूपा, तत्फलभूता वा समरसाऽऽपत्तिरित्यभिधीयते । यथोक्तं योगशास्त्रे-"क्षीणवृत्तेरभिजात्यस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ।" सैवेह प्रस्तुता समापत्तिरभिसंबध्यते योगिमाता योगिजननी, योगी चेह सम्यक्त्वाऽऽदिगुणः पुरुषः । यथोक्तम्-"सम्यक्त्वज्ञानचारित्र-योगः सद्योग उच्यते । एतद्योगाद्धि योगी स्या-त्परमब्रह्मसाधकः ॥ १ ॥" सैव विशिष्यते-निर्वाणफलप्रदा निर्वाणकार्यप्रसाधनी प्रोक्ता तद्वेदिभिराचार्यैः ॥ १५ ॥

बालाऽऽदीनां सद्धर्मदेशनाविधिरभिहितः, अमुं निगमयन्नाह-

इति यः कथयति धर्मं, विज्ञायौचित्ययोगमनघमतिः ।
जनयति स एनमतुलं, श्रोतृषु निर्वाणफलदमलम् ॥ १६ ॥

इति यः कथयति धर्ममेवमुक्तनीत्या यो गुरुर्धर्मं कथयति, विज्ञाय ज्ञात्वा, औचित्ययोगमौचित्यव्यापारं, तत्संबन्धं वा, अनघमतिर्निर्दोषबुद्धिर्जनयति स गुरुरेनं धर्ममतुलमनन्यसदृशं श्रोतृषु शुश्रूषाप्रवृत्तेषु, निर्वाणफलदं मोक्षफलप्रदम्, अलमत्यर्थमिति ॥ १६ ॥ षो० २ विव० । श्रीवीरतीर्थङ्करे देशनां कृत्वा देवच्छन्दान्तः प्राप्ते सति एकादशगणधरमध्याद् ज्येष्ठत्वाद् गौतम एव धर्मदेशनां ददाति, पट्टधारित्वेन स्थापितत्वात् । सुधर्मस्वामी वा, अन्यो वा यः कश्चिद् गणधरो वेति ? प्रश्ने, उत्तरम्-दीक्षया ज्येष्ठत्वात्सति गौतमस्वामिनि गौतमस्वाम्येव धर्मदेशनां विधत्ते, असति च तस्मिन्नन्योऽपि यो ज्येष्ठो भवति, स विधत्त इति । २७७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

धम्मदेसणाजोग्ग-धर्मदेशनायोग्य-त्रि० । लोकोत्तरधर्मप्रज्ञापनाऽर्हे, "स धर्मदेशनायोग्यो, मध्यस्थस्तथाऽभिमतः ।" ध० १ अधि० ।

धम्मधण-धर्मधन-न० । धर्माऽऽत्मके द्रव्ये, औघ० १२ अधि० । "दावेऊण धणणिहिं, तेसिं उप्पाडियाणि अच्छीणि । नाऊण

वि जिणवयणं, जे इह विहरंति धम्मधयं ॥ १ ॥" संथा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

धम्मधरोद्धरणमहावराह-धर्मधरोद्धरणमहावराह-पुं० । धर्मः सर्वज्ञप्रणीतः, स एव जीवाऽऽदिपदार्थाऽऽधारत्वेन धरा पृथिवी, तस्या यदुद्धरणं कुपक्षपङ्कशाद्विकर्षणात् यथाऽवस्थिततत्त्वमावस्थापनम्, तद्विषये महावराह आदिवराहो धर्मधरोद्धरणमहावराहः । भगवा महावराहवद् धर्मस्थापकत्वात्, "धम्मधरोद्धरणमहा-वराहजिणचंदसूरिसिस्साणं ।" प्रव० २७६ द्वार ।

धम्मधम्मिपत्ति-धर्मधर्मिप्राप्ति-स्त्री० । धर्माणां धर्मिरूपेण प्राप्तिः धर्मधर्मिप्राप्तिः । धर्माणां धर्मिरूपेण प्राप्तौ, सम्म० १ काण्ड० ।

धम्मधम्मिभाव-धर्मधर्मिभाव-पुं० । धर्मधर्मितायाम्, आ० म० १ अ० १ खण्ड । (धर्म-धर्मिणोर्भेदाभेदविचारो ' धम्म ' शब्देऽनुपदमेव २६६२ पृष्ठे गतः)

धम्मधुरा-धर्मधुरा-स्त्री० । धर्म एवातिसात्त्विकैरुह्यमानतया धूरिव धूर्धर्मधुरा । उत्त० १४ अ० । धर्माऽऽत्मिकायां धुरि, "धणेण किं धम्मधुराहिगारे ।" धर्मधुराधिकारे दशविधयतिधर्मधूर्वहनाधिकारे । उत्त० १४ अ० । धर्मचिन्तायाम्, सू० १ श्रु० ।

धम्मपइण्ण-धर्मप्रतिज्ञ-त्रि० । धर्मकरणाभ्युपगमपरे, व्य० १ उ० ।

धम्मपक्खिय-धर्मपाक्षिक-त्रि० । पुण्योपादानभूते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

धम्मपडिमा-धर्मप्रतिमा-स्त्री० । धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः, तद्विषया प्रतिमा प्रतिज्ञा, धर्मप्रधानं शरीरं वा धर्मप्रतिमा । धर्मविषयकप्रतिज्ञायाम्, धर्मप्रधाने शरीरे च । स्था० १ ठा० ।

तत्स्वरूपमाह--

" एगा धम्मपडिमा,जं से आया पज्जवजाए ।" प्राकृतत्वात् पर्यवाः ज्ञानाऽऽदिविशेषा जाता यस्य स पर्यवजातो, भवतीति शेषः, विशुद्ध्यतीत्यर्थः । आहिताग्न्यादित्वाज्जातशब्दस्योत्तरपदत्वमिति । अथवा--पर्यवान्, पर्यवेषु वा यातः प्राप्तः पर्यवयातः । अथवा--पर्यवः परिच्छेदः, परिज्ञानं वा । शेषं तथैवेति । स्था० १ ठा० ।

धम्मपण्णत्ति-धर्मप्रज्ञप्ति-स्त्री० । धर्मप्ररूपणायाम्, धर्मप्ररूपणावति दर्शने च । उपा० ६ अ० । " महावीरस्स संतिए धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ।" उपा० १ अ० । धर्मप्रज्ञप्तिर्यथावस्थितधर्मप्रज्ञापनात् । दशवैकालिकस्य षड्जीवनिकायाऽऽख्येऽध्ययने च । दश० ४ अ० । " आयप्पवायपुव्वा, निज्जूढा होइ धम्मपण्णत्ती । " दश० १ अ० ।

धम्मपण्णवणा-धर्मप्रज्ञापना-स्त्री० । धर्मस्य क्षान्त्यादिदशलक्षणोपेतस्य प्रज्ञापना प्ररूपणा धर्मप्रज्ञापना । धर्मप्ररूपणायाम्, " धम्मपण्णवणा जा सा ।" सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

धम्मपत्थ-धर्मपथ्य-त्रि० । धर्माय पथ्यमिव । धर्माय हिते, धर्मश्रवण-तत्त्वश्रद्धाऽऽस्वाद-धार्मिकसत्त्वसंसर्गादिरूपे, षो० ४ विव० ।

धम्मपय-धर्मपद-न० । धर्मफलके सिद्धान्तपदे, " जस्संतिए धम्मपयाणि सिक्खे । " दश० ६ अ० १ उ० । क्षान्त्यादिके च । " विजाणं ते धम्मपयं अणुत्तरं । " आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

धम्मपरंपरा-परम्पराधर्म-त्रि० । परम्परया धर्मो यस्य स परम्पराधर्मः । प्राकृतत्वाच्च परम्पराशब्दस्य परनिपातः । परम्परया धर्मे प्राप्ते, उत्त० १४ अ० ।

धम्मपरायण-धर्मपरायण-त्रि० । धर्मानुष्ठायिनि, दर्श० ४ तत्त्व । धर्मध्यानतत्परे, उत्त० १४ अ० । धर्मैकनिष्ठे, उत्त० १४ अ० । " एवं ते कमसो बुद्धा, सव्वे धम्मपरायणा ।" उत्त० १४ अ० । " सया धम्मपरायणो । " दर्श० ४ तत्त्व ।

धम्मपरूवणा-धर्मप्ररूपणा-स्त्री० । धर्मविषयायां प्ररूपणायाम्, श्रीविमलनाथप्रपौत्रश्रीधर्मघोषस्थविरपार्श्वे प्रव्रज्य महाबलकुमारः पञ्चमकल्पे दशाब्धिस्थितिमनुपाल्यानन्तरं श्रीवीरपार्श्वे प्रव्रज्य सिद्ध इति भगवत्येकादशशतैकादशोद्देशकाऽऽदावुक्तम्, तथा सति श्रीविमलनाथवीरयोः श्रीकल्पसूत्राऽऽदिग्रन्थे महदन्तरं दृश्यते, तत्कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्-भगवतीवृत्तौ द्वितीयवृत्तौ द्वितीयव्याख्यानप्रणेतृके शिष्यसन्ताने इत्युक्तमस्ति, तेन कल्पसूत्रोक्तकालमानमाश्रित्य न काऽप्यनुपपत्तिरिति । ४५३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

धम्मपाडग-धर्मपाठक-त्रि० । धर्माध्यापके, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

धम्मपारग-धर्मपारग-त्रि० । धर्मस्य श्रुतचारित्राऽऽत्मकस्य पारगः सम्यग् वेत्ता धर्मपारगः । धर्मस्य सम्यग् वेत्तरि, " बुद्धा धम्मस्स पारगा । " आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

धम्मपाल-धर्मपाल-पुं० । कौशाम्बीवास्तव्यस्य धनयक्षस्य श्रेष्ठिनः स्वनामख्याते पुत्रे, हा० २३ अष्ट० ।

धम्मपिवासिय-धर्मपिपासित-त्रि० । पिपासेव पिपासा, प्राप्तेऽपि धर्मेऽतृप्तिः, धर्मपिपासा सञ्जाताऽस्येति धर्मपिपासितः । धर्मप्राप्तावतृप्ते, तं० । भ० ।

धम्मपुरिस-धर्मपुरुष-पुं० । अर्हति, स्था० । (' पुरिस ' शब्दे व्याख्या वक्ष्यते) धर्मः क्षायिकचारित्राऽऽदिः, तदर्जनपरः पुरुषो धर्मपुरुषः । " धम्मपुरिसो तदज्जणवावारपरो जहा साहू ।" इत्युक्तलक्षणे पुरुषभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । विशे० । आ० म० । आ० चू० । "सुहावहं धम्मपुरिसाणं ।" धर्मपुरुषाणां धर्मप्रधाननराणाम् । पञ्चा० ६ विव० ।

धम्मप्पएस-धर्मप्रदेश-पुं० । धर्मशब्देन धर्मास्तिकायो गृह्यते, तस्य प्रकृष्टो देशः प्रदेशो निर्विभागो भागो धर्मप्रदेशः । धर्मास्तिकायस्य निर्विभागे भागे, अनु० ।

धम्मप्पभ-धर्मप्रभ-पुं० । अञ्चलगच्छीये सिंहतिलकसूरिगुरौ, अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १३३१ मिते जातः, १३६३ मिते स्वर्गतः । जै० इ० ।

धम्मप्परज्जण-धर्मप्ररञ्जन-त्रि० । धर्मे प्ररज्यते आसज्यते इति धर्मप्ररञ्जनः । औ० । धर्मप्रायेषु कर्मसु प्रकर्षेण रज्यत इति धर्मप्ररञ्जनः । ' रलयोरैक्यमिति ' कृत्वा रस्य स्थाने लकारः । धर्माऽऽसक्ते, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

धम्मप्पलोइ (ण्)-धर्मप्रलोकिन्-पुं० । धर्मं प्रलोकयत्युपादेयतया प्रेक्षते पाखण्डिषु वा गवेषयतीति धर्मप्रलोकी । धर्मस्योपादेयतया प्रेक्षके, पाखण्डिषु धर्मगवेषके च । औ० । ज्ञा०

धम्मप्पवाइ (ण्)-धर्मप्रवादिन्-पुं० । धर्मं प्रवदितुं शीलं य-स्य स धर्मप्रवादी । धर्मप्रावादुके, आचाराङ्गचतुर्थाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशकार्थाधिकारमभिकृत्य-" बिइए धम्मप्पवाइय-परिक्खा ।" धर्मं प्रवदितुं शीलं येषां ते धर्मप्रवादिनः, त एव धर्मप्रवादिकाः, धर्मप्रावादुका इत्यर्थः । तेषां परीक्षा युक्तायुक्तविचारणम् । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

धम्मप्पसंसा-धर्मप्रशंसा-स्त्री० । दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धा-रयतीति धर्मः, तस्य प्रशंसा धर्मप्रशंसा । सकलपुरुषार्था-नामेव धर्मः प्रधानमित्येवंरूपे धर्मस्य स्तवे, तथाऽन्यैर-प्युक्तम्-" रैदो धनार्थिनां धर्मः, कामिनां सर्वकामदः । धर्म एवापवर्गस्य, पारम्पर्येण साधकः " ॥ १ ॥ दश० १ अ० । पो० ।

धम्मप्पावाउय-धर्मप्रावादुक-पुं० । धर्मप्रवादिनि, आचा० १ श्रु० १४ अ० १ उ० ।

धम्मप्पिय-धर्मप्रिय-त्रि० । धर्ममित्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

धम्मफल-धर्मफल-न० । धर्मस्य फलं धर्मफलम्, धर्मेण वा फलं धर्मफलम् । धर्मप्रयोजने, दश० १ अ० ।

धर्मफलमाह-

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणइ ।
तया गई बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥ १४ ॥

यदा यस्मिन् काले, जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति वि-विधं जानाति, तदा तस्मिन् काले, गतिं नरकगत्यादिरूपां, ब-हुविधां स्वपरगतभेदेनानेकप्रकारां,सर्वजीवानां जानाति । यथा-ऽवस्थितजीवाजीवपरिज्ञानमन्तरेण गतिपरिज्ञानाभावात् ॥१४॥

उत्तरोत्तरां फलवृद्धिमाह--

जया गई बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ।
तया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ ॥ १५ ॥

यदा गतिं बहुविधां सर्वजीवानां जानाति, तदा पुण्यं च पापं च बहुविधगतिनिबन्धनं, तथा बन्धं जीवक-र्मयोगदुःखलक्षणं, मोक्षं च तद्वियोगसुखलक्षणं जानाति ॥१५॥

जया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ ।
तया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ॥ १६ ॥

जया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ संजोगं, सब्भिंतरं च बाहिरं ॥ १७ ॥

यदा पुण्यं च पापं च बन्धं मोक्षं च जानाति, तदा निर्विन्ते मोहाभावात्सम्यग्विचारयत्यसारदुःखरूपतया भोगान् शब्दा-ऽऽदीन् यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान्, शेषास्तु वस्तुतो भोगा एव न भवन्ति ॥ १६ ॥ (जया इत्यादि) यदा निर्विन्ते भोगान् यान् दिव्यान्, यांश्च मानुषान्, तदा त्य-जति संयोगं संबन्धं द्रव्यतो भावतः साभ्यन्तरं बाह्यं क्रो-धाऽऽदिहिरण्याऽऽदिसंबन्धमित्यर्थः ॥ १७ ॥

जया चयइ संजोगं, सब्भिंतरं च बाहिरं ।
तया मुंडे भवित्ता णं, पव्वइए अणगारियं ॥ १८ ॥

यदा त्यजति संयोगं साभ्यन्तरं बाह्यम् , तदा मुण्डो भूत्वा द्रव्यतो भावतश्च प्रव्रजति प्रकर्षेण व्रजत्यपवर्गं प्रत्यनगारं द्रव्यतो भावतश्चाविद्यमानागारमिति भावः ॥ १८ ॥

जया मुंडे भवित्ता णं, पव्वइए अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ॥ १९ ॥

यदा मुण्डो भूत्वा प्रव्रजत्यनगारम् (तया संवरमुक्किट्ठं ति) प्राकृतशैल्या उत्कृष्टं संवरं धर्मं सर्वप्राणातिपाताऽऽदिविनिवृ-त्तिरूपं, चारित्रधर्ममित्यर्थः । स्पृशत्यनुत्तरं सम्यगासेवत इ-त्यर्थः ॥ १९ ॥

जया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं ॥ २० ॥

यदोत्कृष्टसंवरं धर्मं स्पृशत्यनुत्तरं तदा धुनाति-अनेकार्थत्वा-त्पातयति कर्मरजः कर्मैवाऽऽत्मरञ्जनाद्रज इव रजः । किं-विशिष्टमित्याह-अबोधिकलुषं कृतम्-अबोधिकलुषेण मि-थ्यादृष्टिनोपात्तमित्यर्थः ॥२०॥

जया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ॥ २१ ॥

यदा धुनाति कर्मरजः अबोधिकलुषं कृतम्, तदा सर्वत्रगं ज्ञानमशेषज्ञेयविषयं, दर्शनं चाशेषदृश्यविषयम्,आधिगच्छत्याव-रणाभावादाधिक्येन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥ २२ ॥

यदा सर्वत्रगं ज्ञानं दर्शनं चाधिगच्छति, तदा लोकं चतुर्दश-रज्ज्वात्मकमलोकं चानन्तं जिनो जानाति केवली, लोकौ च स-र्वं,नान्यतरमेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ॥ २३ ॥

यदा लोकमलोकं च जिनो जानाति केवली, तदोचितसमयेन योगान्निरुध्य मनोयोगाऽऽदीन् शैलेशीं प्रतिपद्यते भवोपग्राहि-कर्मांशक्षयाय ॥ २३ ॥

जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ता णं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥ २४ ॥

यदा योगान्निरुध्य शैलेशीं प्रतिपद्यते, तदा कर्म क्षपयित्वा भवोपग्राह्यपि सिद्धिं गच्छति लोकान्तक्षेत्ररूपां, नीरजाः सकल-कर्मरजोविनिर्मुक्तः ॥ २४ ॥

जया कम्मं खवित्ता णं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥ २५ ॥

यदा कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः, तदा लोक-मस्तकस्थः त्रैलोक्योपरिवर्ती, सिद्धो भवति शाश्वतः कर्म-बीजाभावादनुत्पत्तिधर्मेति भावः । उक्तो धर्मफलाऽऽख्यः षष्ठो-ऽधिकारः ॥२५॥

साम्प्रतमिदं धर्मफलं यस्य दुर्लभं तमभिधित्सुराह--

सुहसायगस्स समण-स्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणापहोइस्स, दुलहा सुगई तारिसगस्स ॥२६॥

सुखाऽऽस्वादकस्याभिष्वङ्गेण प्राप्तसुखभोक्तुः,श्रमणस्य द्रव्यश्र-

ज्ञितस्य,सातासुकुलस्य जातिसुखार्थे क्याक्षितस्य,निकामशायिनः सूत्रार्थवेलामप्युल्लङ्घ्य शयानस्य, उत्सोलनाप्रधाविन उत्सोलनयोदकाऽयतनया प्रकर्षेण धावति पादाऽऽदिशुद्धिं करोति यः स तथा तस्य । किम् ?, इत्याह--दुर्लभा दुष्प्रापा, सुगतिः सिद्धिपर्यवसाना, तादृशस्य भगवदाज्ञालोपकारिण इति गाथार्थः ॥ २६ ॥

इदानीमिदं धर्मफलं यस्य सुलभं तमाह--

तवोगुणपहाणस्स, उज्जुमई खंतिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स, सुलहा सुगइ तारिसगस्स ॥ २७ ॥
पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जेसिं पिओ तवो सं-जमो य खंती य बंभचेरं च ॥२८॥

तपोगुणप्रधानस्य षष्ठाष्टमाऽऽदितपोधनवतः,ऋजुमतेर्मार्गप्रवृत्तबुद्धेः, क्षान्तिसंयमरतस्य क्षान्तिप्रधानसंयमाऽऽसेविन इत्यर्थः । परीषहान् क्षुत्पिपासाऽऽदीन्, जयतोऽभिभवतः,सुलभा सुगतिरुक्तलक्षणा, तादृशस्य भगवदाज्ञाकारिण इति गाथार्थः ॥२७॥ पश्चादपि वृद्धावस्थायामपि, ते प्रयाताः प्रकर्षेण याता अविराधितसंयमा अपि सन्मार्गं प्रपन्नाः, शीघ्रं गच्छन्ति अमरभवनानि देवविमानानि । ते के ?, इत्याह-येषां प्रियं तपः संयमः, क्षान्तिः, ब्रह्मचर्यं च ॥ २८ ॥ दश० ४ अ० ।

धम्मजड्ड-धर्मभ्रष्ट-त्रि० । धर्मच्युते, दश० १ चू० ।

धम्ममइ-धर्ममति-स्त्री० । धर्मबुद्धौ, " इछजणविप्पओगे, आयइँ पडियक्ख रोगघत्थस्स । वइपरिणामे य तहा, धम्ममई होइ पायण ॥१॥ " दर्श० १ तत्त्व ।

धम्ममग्ग-धर्ममार्ग-पुं० । परलोकगामिनि मार्गे, पं० व० ४ द्वार ।

धम्ममाण-ध्मायमान-त्रि० । भस्त्रावातेनोद्दीप्यमाने, " लोहगरधम्ममाणधमधमितघोसं । " उपा० २ अ० । अग्निना ताप्यमाने, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० ।

धम्ममित्त-धर्ममित्र-पुं० । धर्मसुहृदि, पो० ६ विव० । पद्मप्रभजिनस्य पूर्वभवनामधेये, स० ।

धम्ममुत्ति-धर्ममूर्त्ति-स्त्री० । अञ्चलगच्छीये शिवसिंहसूरिशिष्ये जयकीर्त्तिसूरिगुरौ, जै० इ० ।

धम्ममुह-धर्ममुख-न० । धर्माणां मुखमिव मुखमुपायो धर्ममुखम् । धर्मोपाये, "धम्माणं कासवो मुहं ।"उत्त० पाइ०२५ अ० ।

धम्ममूल-धर्ममूल-न० । धर्मलक्षणवृक्षस्य मूलमिव मूलम् । धर्ममूलभूते जीवदयाऽऽदिके, दर्श० ४ तत्त्व । (तानि च 'धम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६७२ पृष्ठे दर्शितानि)

धम्ममेह-धर्ममेघ-पुं० । यावत्तत्त्वभावनेन फलमलिप्सोः सर्वथा विवेकख्यातौ, धर्मशुक्लकृष्णं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघः, प्रसंख्याने कुशलिदस्य सर्वथा विवेकख्यातौ, धर्ममेघः समाधिरित्युक्तलक्षणे असंप्रज्ञातापरनामधेये समाधिभेदे, द्वा० २० द्वा० ।

धम्मय-धर्मद-पुं० । ' धम्मद ' शब्दार्थे, स० १ सम० ।

धम्मरय-धर्मरत-त्रि० । चारित्रधर्माऽऽसक्तचित्ते, पञ्चा० ५ विव० । उद्युक्तविहारिणि, " धम्मरयसुविहियाणं । " उद्युक्तविहारिचिरन्तनाऽऽचार्याणाम् । जीवा० १ अधि० ।

धम्मरयण-धर्मरत्न-न० । धर्म एव रत्नं धर्मरत्नम् । दर्श० ४ तत्त्व । धर्माणां मध्ये यो रत्नमिव वर्तते जिनप्रणीतो देशविरतिसर्वविरतिरूपो धर्मो धर्मरत्नम् । ध० १ अधि० । जिनप्रणीतदेशविरतिसर्वविरत्यात्मकधर्मरूपे सकलैहिकाऽऽमुष्मिकसम्पत्तिजनकेऽचिन्त्यचिन्तामणौ, दश० ४ अ० ।

इह हि हेयोपादेयाऽऽदिपदार्थसार्थपरिज्ञानप्रवीणस्य जन्मजरामरणरोगशोकाऽऽदिदुर्गदौर्गत्यनिपीडितस्य भव्यसत्त्वस्य स्वर्गापवर्गाऽऽदिसुखसंपत्संपादनावन्ध्यनिबन्धनं सद्धर्मरत्नमुपादातुमुचितं,तदुपादानोपायश्च गुरूपदेशमन्तरेण न सम्यग् विज्ञायते, न चानुपायप्रवृत्तानामभीष्टार्थसिद्धिरित्यतः कारुण्यपुण्यचेतस्तया धर्मार्थिनां धर्मोपादानपालनोपदेशं दातुकामः सूत्रकारः शिष्टमार्गानुगामितया पूर्वं तावदिष्टदेवतानमस्काराऽऽदिप्रतिपादनार्थमिमां गाथामाह-

नमिऊण सयलगुणरय-णकुलहरं विमलकेवलं वीरं ।
धम्मरयणत्थियाणं, जणाण वियरेमि उवएसं ॥ १ ॥

इह पूर्वार्द्धेनाऽभीष्टदेवतानमस्कारद्वारेण विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलमभिहितम्,उत्तरार्द्धेन,चाभिधेयमिति । संबन्धप्रयोजने पुनः सामर्थ्यगम्ये । तथाहि-संबन्धस्तावदुपायोपेयलक्षणः,साध्यसाधनलक्षणो वा,तत्रेदं शास्त्रमुपायः,साधनं वा,साध्यमुपेयं वा शास्त्रार्थपरिज्ञानमिति । प्रयोजनं तु द्विविधम्-कर्तुः, श्रोतुश्च । पुनरनन्तर-परम्परभेदादेकैकं द्वेधा । तत्रानन्तरं-कर्तुः सत्त्वानुग्रहः । परम्परम्-अपवर्गाऽऽदिप्राप्तिः । तथा चोक्तम्-"सर्वज्ञोक्तोपदेशेन, यः सत्त्वानामनुग्रहम् । करोति दुःखतप्तानां, स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम् ॥ १ ॥" इति । श्रोतुः पुनरनन्तरं-शास्त्रार्थपरिज्ञानं, परम्परं-तस्याप्यपवर्गप्राप्तिः । उक्तं च-"सम्यक् शास्त्रपरिज्ञाना-द्विरक्ता भवतो जनाः । लब्ध्वा दर्शनसंशुद्धिं, ते यान्ति परमां गतिम् ॥ १ ॥" इति । साम्प्रतं सूत्रव्याख्या-नत्वा प्रणम्य, कम् ?, वीरं कर्मविदारणात्तपसा विराजनाद्वीर्यवीर्ययुक्तत्वाच्च जगति यो वीर इति ख्यातः । यदवादि-" विदारयति यत्कर्म, तपसा तद् विराजते । तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥ १ ॥ " तं वीरं श्रीमद्वर्धमानस्वामिनम् । किंविशिष्टम्-सकलगुणरत्नकुलगृहम्-सकलाः समस्ता ये गुणाः क्षमामार्दवाऽऽर्जवाऽऽदयः,त एव रौद्रदारिद्र्यमुद्राविद्रावकत्वात्सकलकल्याणकलापकारणत्वाच्च रत्नानि सकलगुणरत्नानि, तेषां कुलगृहमुत्पत्तिस्थानं, तं सकलगुणरत्नकुलगृहम् । पुनः किंविशिष्टम् ?-विमलकेवलम्-विमलं सकलतदावारककर्मरेणुसंपर्कविकलत्वेन निर्मलं केवलं केवलाऽऽख्यं ज्ञानं यस्य स विमलकेवलस्तं, क्त्वाप्रत्ययस्य चोत्तरक्रियासापेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह-वितरामि प्रयच्छामि,कम् ?,उपदेशम्-उपदिश्यते इत्युपदेशो हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तवचनरचनाप्रपञ्चस्तम्, केभ्यो ?, जनेभ्यो लोकेभ्यः । कथंभूतेभ्यः ?,धर्मरत्नार्थिभ्यो दुर्गतिप्रपतन्तं प्राणिगणं धारयति,सुगतौ धत्ते चेति धर्मः । उक्तं च-"दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, यस्माद्धारयते ततः । धत्ते चैतान् शुभे स्थाने,तस्माद्धर्म इति स्मृतः ॥१॥" इति । स एव रत्नं प्राग्व्यावर्णितशब्दार्थं, तदर्थयन्ते मृगयन्ते इत्येवं शीला ये ते धर्मरत्नार्थिनस्तेभ्यः,सूत्रे च षष्ठी चतुर्थ्यर्थे प्राकृतलक्षणवशात् । यदाहुः प्रभुश्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः स्वकृतप्राकृतलक्षणे-" चतुर्थ्याः षष्ठी ॥८।३।१३१॥ " इति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थः पुनरयम्-नत्वेति पूर्वकालाभिधायिना क्त्वाप्रत्ययान्तकालक्रियेण स्याद्वाद-

वशार्दूलनादसंवादिना पदैनैकान्तनित्यानित्यवस्तुविस्तारवादि-
प्रवादिमृगयोर्मुखबन्धो व्यधायि, यतोऽनेकान्तेन नित्योऽनि-
त्यो वा कर्त्ता क्रियाद्वयं कर्तुमीष्टे, क्रियाभेदे कर्तृभेदात्, तनो
द्वितीयक्रियाकरणे कर्तुरनित्यत्वाभावप्रसङ्गाभ्यां अर्थान्यथा-
कृतिरिति । सकलगुणरत्नकुलगृहमित्यनेन भगवतः श्रीमत्प-
श्चिमतीर्थाधिनाथस्य पूजातिशयः प्रकाश्यते । तथा च पूज्य-
न्त एवाहंप्रथमिकाविधीयमानावनामवशसमुत्पन्नशिरःकोटी-
रकोटीविटङ्कसंघट्टैः सुरासुरनरनिकरनायकैरपि गुणवन्तः ।

उक्तं च-

"सव्वो गुणेहिँ गण्णो, गुणाहियस्स जह लोगें वीरस्स ।
संभंतमउडविडओ, सहस्सनयणो सययमेइ ॥ १ ॥" इति ।

विमलकेवलमित्यमुना तु ज्ञानातिशयसंपन्नतया प्रसिद्धसि-
द्धार्थपार्थिवकुलविमलनभस्तलनिशीथिनीनाथस्य जिननाथस्य
वचनातिशयः प्रपञ्च्यते । यतः केवलज्ञाने सत्यत्रार्थभाषिणी भ-
गवतां तीर्थकृतां सद्देशनाप्रवृत्तिः, तीर्थकरनामकर्मण इत्थमेव
वेद्यमानत्वात् । यदुक्तं श्रीभद्रबाहुस्वामिपादैः-" तं च कहं
वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाईहिं । " इत्यादि । धीरमि-
ति सान्वयपदेन च भगवतः समूलकाषंकषितनिःशेषापा-
यनिबन्धनकर्मशत्रुलक्षणस्य चरमजिनेश्वरस्यापायापगमा-
तिशयः प्रस्पष्टं निष्टङ्क्यते, यतोऽपायभूतं भवभ्रमणकारण-
त्वात्सर्वमपि कर्म । तथा चाऽऽगमः-" सव्वं पावं कम्मं, भा-
मिज्जइ जेण संसारे । " इति । धर्मरत्नार्थिनेत्यनेन श्रव-
णाधिकारिणामर्थित्वमेव मुख्यं लिङ्गमित्यभाणि । यदुक्तं प-
रोपकारभूरिभिः श्रीहरिभद्रसूरिभिः-" तत्थऽहिगारी अत्थी,
समत्थओ जो न सुत्तपडिकुट्ठो । अत्थी उ जो विणीओ, समु-
ट्ठिओ पुच्छमाणो य " ॥१॥ इति । भणामीत्यनेन बहुवचनान्त-
नेदमुदितं भवति-यथा नैकमेवेश्वराऽऽदिकमाश्रित्योपदेशदाने
प्रवर्तितव्यं, किंतु सामान्येन सर्वसाधारणतया । तथा चाऽऽह
भगवान् सुधर्मस्वामी-"जहा पुण्णस्स कत्थइ,तहा तुच्छस्स क-
त्थइ । जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थई ॥१॥" इति ।
जिनराज्युपदेशमिनीहायमाशयः-न निजप्रज्ञाभिमानेन,न परप-
रिभवाभिप्रायेण,न कस्यचिदुपार्जनाय प्रवर्तते,किं तर्हि कथं नु
नामाऽमी जन्तवः सद्धर्ममार्गमासाद्य साधर्गनिवासितं महानन्दा-
मन्दाऽऽनन्दसंदोहमवाप्स्यन्तीत्यनुग्रहबुद्ध्या परमात्मनश्च ।

यद्भाणि-

" शुद्धमार्गोपदेशेन, यः सत्त्वानामनुग्रहम् ।
करोति नितरां तेन, कृतः स्वस्याप्यसौ महान् ॥ १ ॥"

तथा-

" न भवति धर्मः श्रोतुः, सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात् ।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या, वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति " ॥ १ ॥

इत्युक्तः सभावार्थः सकलोऽपि गाथार्थः ॥ १ ॥

अथ यथाप्रतिज्ञातं विभणिषुः प्रस्तावयन्नाह-

भवजलहिम्मि अपारे, दुलहं मणुयत्तणं पि जंतूणं ।
तत्थ वि अणत्थहरणं, दुलहं सद्धम्मवररयणं ॥ २ ॥

भवन्त्यस्मिन् नारकतिर्यग्नरामररूपेण कर्मवशवर्तिनः प्राणि-
न इति भवः संसारः, स एव जन्मजरामरणादिजलधारणाज्ज-
लधिः, तस्मिन्ननादिनिधनतयाऽपारेऽलब्धपर्यन्ते, धर्मश्रवणमा-
णानामिति शेषः । दुर्लभं दुरापं,मनुजत्वमपि मनुष्यभावोऽपि,
दूरे तावद्देशकुलजातिप्रभृतिसामग्रीत्यपेरर्थः । यदागमे भगवे-
कबन्धुना श्रीवर्द्धमानस्वामिनाऽष्टापदादागतं श्रीगौतममहा-
मुनिं प्रति-

" दुलहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं ।
गाढा य विवागकम्मुणो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ४ ॥ "

इति । उ० १० । (अस्या अर्थः ' दुमपत्तय ' शब्देऽस्मिन्नेव
भागे २५७० पृष्ठे उक्तः)

अन्यैरप्युक्तम्-

" संसारकान्तारमपास्तपारं, बम्भ्रम्यमाणो लभते शरीरी ।
कृच्छ्रेण नृत्वं सुखसस्यबीजं,प्ररूढदुष्कर्मशमेन(मूलम)नूनम् ।१।
नरेषु चक्री त्रिदशेषु वज्री, मृगेषु सिंहः प्रशमो व्रतेषु ।
मतो महीभृत्सु सुवर्णशैलो, भवेषु मानुष्यभवः प्रधानः ॥२॥ "

तथा-

" अनर्घ्याण्यपि रत्नानि, लभ्यन्ते विभवैः सुखम् ।
दुर्लभो रत्नकोट्याऽपि, क्षणोऽपि मनुजाऽऽयुषः ॥१॥ " इति ।

जन्तूनां प्राणिनां, तत्रापि मनुजत्वे सत्यपि । अनर्थहरणमिति-
नार्थ्यन्ते नाभिलष्यन्ते ये दारिद्र्यदुःखोपद्रवाऽऽदयोऽपायास्ते
ह्रियन्ते विध्वस्यन्ते येन तदनर्थहरणं दुर्लभं दुष्प्रापं, किं तदि-
त्याह-सत् साधुः पूर्वापराविरोधप्रभृतिगुणगणालङ्कृतत्वेन
परप्रावादुकपरिकल्पितधर्मापेक्षया शोभनो धर्मः सद्धर्मः सम्य-
ग्दर्शनाऽऽदिकः,स एवैहिकार्थमात्रप्रदायीतररत्नापेक्षया शाश्व-
तानन्तमोक्षार्थदातृत्वेन वरं प्रधानं रत्नं सद्धर्मवररत्नमिति ।

अथामुमेवार्थं दृष्टान्तविशिष्टं स्पष्टयन्नाह-

जह चिंतामणिरयणं, सुलहं न हु होइ तुच्छविहवाणं ।
गुणविहववज्जियाणं, जियाण तह धम्मरयणं पि ॥ ३ ॥

यथा येन प्रकारेण, चिन्तामणिरत्नं सुप्रतीतं, सुलभं सुप्रा-
पम्, (न हु) नैव भवति जायते, तुच्छविभवानाम्-तुच्छः
स्वल्पो विभवः-कारणे कार्योपचाराद्विभवकारणं पुण्यं येषां
ते तुच्छविभवाः, स्वल्पपुण्या इत्यर्थः,तेषाम्, तथाविधपशुपाल-
वत् । तथा गुणा अक्षुद्रताऽऽदयो वक्ष्यमाणस्वरूपास्तेषां वि-
शेषेण भवनं सत्ता गुणविभवः । अथवा-गुणा एव विभवो वि-
भूतिर्गुणविभवः, तेन वर्जितानां रहितानां, जीवानां पञ्चेन्द्रिय-
प्राणिनाम् । उक्तं च-"प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ताः,भूतानि तरवः स्मृ-
ताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः ॥१॥ "
अपिशब्दस्य वक्ष्यमाणस्येह संबन्धादेवं भावना कार्या-एके-
न्द्रियविकलेन्द्रियाणां तावद्धर्मप्राप्तिर्नास्ति, पञ्चेन्द्रियजीवा-
नामपि तत्तद्योग्यताहेतुगुणसामग्रीविकलानां तथा तेन प्र-
कारेण धर्मरत्नं सुलभं न भवतीति प्रकृते संबन्ध इति ।

पूर्वसूचितपशुपालदृष्टान्तश्चायम्-

" बहुविबुधजनोपेतं, हरिविक्रमसन्मनःशतसमेतम् ।
इह अत्थि हत्थिणउरं, पुरं पुरन्दरपुरं व वरं ॥ १ ॥
तत्र श्रेष्ठिशिशुः, पुन्नागो सागरदत्तनामाऽऽसीत् ।
निम्मलसीलगुणधरा, वसुंधरा गेहिणी तस्स ॥ २ ॥
तत्तनयो विनयोज्ज्वल-मतिविभवभरो बभूव जयदेवः ।
दक्खो रयणपरिक्खं, सिक्खइ सो बारस समा उ ॥३॥
विज्ञिनान्यहासममलं, विश्वासं चिन्तितार्थदानपटुम् ।
चिन्तामणिं पमुत्तुं, सेसमणी गणइ उवलसमे ॥ ४ ॥
चिन्तामणिरत्नकृते, सुकृती स कृतोद्यमः पुरे सकले ।
हट्टे हट्टेण घरं, घरेण भमिओ अपरितंतो ॥ ५ ॥

न च तमवाप दुरापं, पितराबूचेऽथ वत्स मयाऽत्र पुरे ।
चिंतामणी न पत्तो, तो जामि तयत्थमन्नत्थ ॥ ६ ॥
तावूचतुरभाणि वत्स !, स्वच्छमते ! कल्पनैव खल्वेषा ।
अन्नत्थ वि कत्थइ न-त्थि एस परमत्थओ भवणे ॥ ७ ॥
तद्रत्नैरपरैरस्मै-र्येयेष्टमन्यैरपि व्यवहरस्व ।
निम्मलकमलाकलियं, भवणं ते होइ जेणमिणं ॥ ८ ॥
इत्युक्तोऽपि स चिन्ता-रत्नाऽऽप्तौ रचितनिश्चयश्चतुरः ।
वारिज्जंतो पियरे-हिँ निग्गओ हत्थिणापुराओ ॥ ९ ॥
नगरपत्तनग्रामाकर-कर्बटपत्तनपयोधितीरेषु ।
सम्मभागपवणमणो, सुइरं भंतो किलिस्संतो ॥ १० ॥
तमलभमानो विमनाः, दध्यौ किं नास्ति सत्यमेवेदम् ? ।
अहवा न तस्सऽत्थित्तं, न अन्नहा होइ सत्थुत्तं ॥ ११ ॥
इति निश्चित्य स चेतसि, निपुणं बभ्रमितुमारभत भूयः ।
पवरागओ मणिखणीओ, पुच्छीपुच्छि नियच्छंतो ॥ १२ ॥
वृद्धनरेणैकेन च, सोऽभाणि यथा मणीवतीहास्ति ।
खाणी मणीण तत्थ य, पवरमणी पावइ सपुन्नो ॥ १३ ॥
तत्र च जगाम मणिगण-मन्वेषमाणस्तथो मृगयमाणः ।
एगो य तत्थ मिलिओ, पसुवालो बालिसो अहियं ॥ १४ ॥
अयदृच्छेन निरैक्ष्यत्, वर्तुल उपलश्च करतले तस्य ।
गहिओ परिच्छिओ तह, नाओ चिंतामणि त्ति इमो ॥ १५ ॥
सोऽयाचि तेन स मुदा, पशुपालः प्राह किममुना कार्यम् ? ।
भणइ वणी सगिहगओ, बालाणं कीलणं दाहं ॥ १६ ॥
सोऽजल्पदीदृशा इह, ननु बहवः सन्ति किं न गृह्णासि ? ।
सिट्ठिसुओ भणइ अहं, समुस्सुओ नियगगिहगमणे ॥ १७ ॥
तद्देहि मह्यमेनं, त्वमन्यमपि भद्र ! लप्स्यसे ह्यत्र ।
अपरोवयारसील-त्तणेण तह वि हु न सो देइ ॥ १८ ॥
तत एतस्यापि च वर-मयमुपकर्ताऽस्तु मा स्म मूढफलः ।
इय करुणारसियमई, सिट्ठिसुओ भणइ आभीरं ॥ १९ ॥
यदि भद्र ! मम न दत्से, चिन्तामणिमेनमात्मनाऽपि ततः ।
आराहसु जेण तुहं, पि चिंतियं देइ खलु एसो ॥ २० ॥
इतरः प्रोचे यदि स-त्यमेष चिन्तामणिर्मयाऽचिन्ति ।
ता चोरकरिरकम्बर-पमुहं मह देउ लहु बहुयं ॥ २१ ॥
अथ हसितविकसितमुखः, श्रेष्ठिसुतः स्माऽऽह चिन्त्यते नैवम् ।
किं तु उववासनिग्गतिम-रयणिमुह लित्तमहिपीढे ॥ २२ ॥
शुचिपट्टनिहितमस्मिन्, स्नपितं विलिप्तं मणिं निधायोच्चैः ।
कप्पूरकुसुममाई-हि पूइउं नमिय विहिपुव्वं ॥ २३ ॥
तदनु विचिन्तयत इष्टं, पुरोऽस्य सर्वमपि लभ्यते प्रातः ।
इय सोउं गोवालो, वि जागियागाममभिचलिओ ॥ २४ ॥
न स्थास्यति हस्ततले, मणिरत्नं नूनमिदमपुण्यस्य ।
इय चिंतिय सिट्ठिसुओ, वि तस्स पुट्ठिं न छड्डेइ ॥ २५ ॥
गच्छन् पथि पशुपालः, प्राह मणे ! जागिका इमा अधुना ।
धिक्किणिय किंणिय घणमा-रमाइ काहामि तुह पूयं ॥ २६ ॥
मदिचन्तितार्थपूर्त्यां, सान्वयसंज्ञो भवेस्त्वमपि भुवने ।
एवमणिमुल्लयंते-ण तेण भणियं पुणो एयं ॥ २७ ॥
दूरे ग्रामस्ताव-न्मणे ! कथां कथय काञ्चन ममाग्रे ।
अह न मुणसि तोऽहं तुह, कहेमि निसुणेसु एगग्गो ॥ २८ ॥
देवगृहमेकदस्तं, चतुर्भुजो वसति तत्र देवस्तु ।
इय पुण्णसं सुत्तो, वि जंपए जाव नेव मणी ॥ २९ ॥
तावदुवाच स दग्धो, यदि हुङ्कृतिमात्रमपि न मे दत्से ।
ता चिंतियत्थसंपा-यणम्मि तुह केरिसी आसा ? ॥ ३० ॥
तच्चिन्तामणिरिति ते, नाम मृषा सत्यमेव यदि चेदम् ।
जं तुह संपत्तीए, वि न मह फिट्टइ मणे ! चिंता ॥ ३१ ॥
किं च क्षणमपि योऽहं, स्थातुं कष्टेन विना न हि स्थातुम् ।
सत्तो सोहं कहमिह, उववासनिगेण न मरामि ? ॥ ३२ ॥
तस्मै मारणहेतो-र्वणिजारे ! चालितोऽसि तद्गच्छ ।
अन्य न दीससि इय भणि-य लंखिओ तेण सो सुमणी ॥ ३३ ॥
अयदेवो मुदितमनाः, संपूर्णमनोरथः प्रणतिपूर्वम् ।
चिंतामणिं गहित्ता, नियनयराभिमुहमह चलिओ ॥ ३४ ॥
मणिमाहात्म्यादुल्लसि-तवैभवः पथिमहा पुरे नगरे ।
रयणायरनामभूयं, परिणीयं सुबुद्धिसिट्ठिस्स ॥ ३५ ॥
बहुपरिकरपरिकलिओ, जननिवहैर्गीयमानसुगुणगणः ।
हत्थिणपुरम्मि पत्तो, पणओ पियराण चलणेसु ॥ ३६ ॥
अभिनन्दितः स ताभ्यां, स्वजनैः संमानितः स बहुमानैः ।
थुणिओ सेसजणेणं, भोगाणं भायणं जाओ ॥ ३७ ॥
ज्ञातस्यास्योपनयो-ऽयमुत्कटमनरकतिर्यक्षु ।
इयरमणीण खणीसु य, परिब्भमंतेण कह कह वि ॥ ३८ ॥
जीवेन लभ्यत इयं, मनुजगतिः सन्मणीवतीतुल्या ।
तत्थ वि दुलहो चिंता-मणि व्व जिणदेसिओ धम्मो ॥ ३९ ॥
पशुपालोऽत्र यथा खलु, मणिं न लेभेऽनुपात्तसुकृतघनः ।
जह पुण्णविसज्जुत्तो, वणिपुत्तो पुण तयं पत्तो ॥ ४० ॥
तद्वत्कृतगुणविभवो, जीवो लभते न धर्मरत्नमिदम् ।
अविकलनिम्मलगुणगण-विहवजुओ पावइ तयं तु ॥ ४१ ॥
दृष्टान्तमेनं विनिशम्य सम्यक्, सद्धर्मरत्नग्रहणे यदीच्छा ।
समुद्रदारिद्र्यविनाशदक्षं, तत्सद्गुणौघमुपार्जयध्वम् ॥ ४२ ॥"
इति पशुपालकथेतिगाथार्थः ।

कतिगुणसंपन्नः पुनस्तत्प्राप्तियोग्य इति प्रश्नमाशङ्क्याऽऽह-

इगवीसगुणसमेओ, जुग्गो एयस्स जिणमए भणिओ ।
तदुवज्जणम्मि पढमं, ता जइयव्वं जओ भणियं ॥ ४ ॥

एभिरेकविंशतिगुणैर्वक्ष्यमाणैः समेतो युक्तः । पाठान्तरेण-समृद्धः सम्पूर्णः, समिद्धो वा देदीप्यमानो, योग्य उचितः, एतस्य प्रस्तुतधर्मरत्नस्य, जिनमते ऽर्हच्छासने, भणितः प्रतिपादितः, तद्विज्ञैरिति शेषः । ततः किम् ?, इत्याह-(तदुवज्जणम्मि त्ति) तेषां गुणानामुपार्जने ग्रहणे, प्रथममादौ, तस्माद्धेतोर्यतितव्यम् । इहायमाशयः-यथा प्रासादार्थिनः शल्योद्धारपीठबन्धाऽऽद्यावाद्रियन्ते, तद्विनाऽविरस्थायिशिष्टप्रासादस्य, तथा धर्मार्थिभिरेते गुणाः सम्यगुपार्जनीयाः, तदधीनत्वाद्विशिष्टधर्मसिद्धेरिति यतो यस्माद्भणितं गदितं, पूर्वसूरिभिरिति गम्यत इति । ध० र० १ अधि० ।

धम्मरयणस्स जोग्गो, अक्खुद्दो रूववं पगइसोम्मो ।
लोयप्पिओ अकूरो, भीरू असढो सुदक्खिन्नो ॥ ३७० ॥
लज्जालुओ दयालू, मज्झत्थो सोमदिट्ठि गुणरागी ।
सक्कह-सपक्खजुत्तो, सुदीहदंसी विसेसन्नू ॥ ३७१ ॥
वुड्ढाणुगो विणीओ, कयन्नुओ परहिअत्थकारी अ ।
तह चेव लद्धलक्खो, इगवीसगुणो हवइ सड्ढो ॥ ३७२ ॥

परतीर्थिकप्रणीतानां सर्वेषामपि धर्माणां मध्ये प्रधानत्वेन यो रत्नमिव वर्त्तते स धर्मरत्नम्, जिनोदितो देशविरत्यादिरूपः समाचारः । तस्य योग्य उचितः, ईदृक्स्वरूप एव भाव-

को भवति। तद्यथा-अक्षुद्र इत्यादि। तत्र यद्यपि क्षुद्रस्तुच्छः, क्षुद्रः क्रूरः, क्षुद्रो दरिद्रः, क्षुद्रो लघुरित्यनेकार्थः क्षुद्रशब्दस्तथाऽपीह तुच्छार्थो गृह्यते, तस्यैव प्रस्तुतोपयोगित्वात्। ततः क्षुद्रस्तुच्छोऽगम्भीर इत्यर्थः। तद्विपरीतोऽक्षुद्रः। स च सूक्ष्ममतित्वात्सुखेनैव धर्ममवबुध्यते १। रूपवान् संपूर्णाङ्गोपाङ्गतया मनोहराऽऽकारः, स च तथारूपसंपन्नः सदाचारप्रवृत्त्या भविकलोकानां धर्मे गौरवमुत्पादयन्प्रभावको भवति। ननु नन्दिषेणहरिकेशबलप्रभृतीनां कुरूपाणामपि धर्मप्रतिपत्तिः श्रूयते, अतः कथं रूपवानेव धर्मेऽधिक्रियते। सत्यम्। इह द्विविधं रूपम्-सामान्यम्, अतिशायि च। तत्र सामान्यं संपूर्णाङ्गत्वाऽऽदि। तच्च नन्दिषेणाऽऽदीनामप्यासीदेवेति न विरोधः। प्रायिकं चैतत्, शेषगुणसद्भावे कुरूपत्वस्याप्यदुष्टत्वात्। एवमग्रेऽपि। अतिशायि पुनर्यद्यपि तीर्थकराऽऽदीनामेव संभवति, तथाऽपि येन कस्मिंश्चिद्देशे काले वयसि वा वर्तमानो रूपवानयमिति जनानां प्रतीतिमुपजनयति तदेवेहाधिकृतं मन्तव्यम्। २। प्रकृत्या स्वभावेन, सौम्योऽभीषणाऽऽकृतिर्विश्वसनीयरूप इत्यर्थः। एवंविधश्च प्रायेण न पापव्यापारे व्याप्रियते, सुखाऽऽश्रयणीयश्च भवति ३। लोकस्य सर्वजनस्येह परलोकविरुद्धविवर्जनेन दानशीलाऽऽदिगुणैश्च प्रियो वल्लभो लोकप्रियः, सोऽपि सर्वेषां धर्मे बहुमानं जनयति ४। अक्रूरोऽक्लिष्टाध्यवसायः, क्रूरो हि परच्छिद्रान्वेषणस्य लम्पटः कलुषमनाः स्वानुष्ठानं कुर्वन्नपि फलभाग्भवतीति ५। भीरुरैहिकाऽऽमुष्मिकापायेभ्यस्त्रसनशीलः। स हि कारणेऽपि सति न निःशङ्कमधर्मे प्रवर्त्तते ६। अशठः सदऽनुष्ठाननिष्ठः, शठो हि वञ्चनप्रपञ्चचतुरतया सर्वस्याप्यविश्वसनीयो भवति ७। सदाक्षिण्यः स्वकार्यपरिहारेण परकार्यकरणैकरसिकान्तःकरणः, स च कस्य नाम नानुवर्त्तनीयो भवति ८॥ ३७॥ (लज्जालुओ त्ति) प्राकृतशैल्या लज्जावान् स अलज्जकृत्याऽऽसेवनवार्त्तयाऽपि व्रीडति, स्वयमङ्गीकृतमनुष्ठानं च परित्यक्तुं न शक्नोति ९। दयालुर्दयावान्, दुःखितजन्तुजातत्राणाभिलाषुक इत्यर्थः। धर्मस्य हि दया मूलमिति प्रतीतमेव १०। मध्यस्थो रागद्वेषत्यक्तधीः, स हि सर्वत्रारक्तद्विष्टतया विश्वस्याऽपि वल्लभो भवति ११॥ सौम्यदृष्टिः-कस्याप्यनुद्वेजकः, स हि दर्शनमात्रेणाऽपि प्राणिनां प्रीतिं पल्लवयति १२। गुणेषु गाम्भीर्यस्थैर्यप्रमुखेषु रज्यतीत्येवं शीलो गुणरागी, स हि गुणपक्षपातित्वादेव सगुणान् बहु मन्यते, निर्गुणांश्चोपेक्षते १३। सत्कथनरुचय उत्कथाः सदाचारचारित्वाऽविधर्या ये सपक्षाः सहयोजनाकरैर्युक्तोऽन्वितः धर्माविबन्धकपरिवार इति भावः। एवंविधश्च न केनचिदुन्मार्गे गन्तुं शक्यते १४। अन्ये तु सत्कथः, सपक्षयुक्तश्चेति पृथक् गुणद्वयं मन्यते, मध्यस्थः सौम्यदृष्टिश्चेति द्वयमप्येकमेवेति। तथा सुदीर्घदर्शी सुपर्यालोचितपरिणामपेशलकार्यकारी, स किल परिणामिकया बुद्ध्या सुन्दरपरिणाममैहिकमपि कार्यमारभते १५। विशेषज्ञः सदितरवस्तुविभागवेदी। अविशेषज्ञस्तु दोषानपि गुणत्वेन गुणानपि दोषत्वेनाध्यवस्यति १६॥ ३८॥ वृद्धान् परिणतमतीननुगच्छति, गुणार्जनबुद्ध्या सेवत इति वृद्धानुगः। वृद्धजनानुगत्या हि प्रवर्त्तमानः पुमान् न जातुचिदपि विपदः पदं भवति १७। विनीतो गुरुजनगौरवकृत्, विनयवति हि सपदि संपदः प्रादुर्भवन्ति। स्वल्पमप्युपकारमैहिकं पारत्रिकं चापरेण कृतं जानाति, न निह्नुते इति कृतज्ञः। कृतघ्नो हि सर्वत्राप्यमन्दां निन्दां समासादयति १९। परेषामन्येषां हितानर्थान्प्रयोजनानि कर्तुं शीलं यस्य स परहितार्थकारी, सदाक्षिण्योऽभ्यर्थित एव करोत्ययं पुनः स्वत एव परहिताय प्रवर्त्तते इत्यनयोर्भेदः। यश्च प्रकृत्यैव परहितकरणे निरतो निरतो भवति, स निरीहचित्ततयाऽन्यानपि सद्धर्मे स्थापयति २०। तथा-लब्धमिव लब्धलक्षं शिक्षणीयानुष्ठानं येन स लब्धलक्षः, पूर्वभवाभ्यस्तमिव सर्वमपि धर्मकृत्यं करोत्येवाधिगच्छतीति भावः। ईदृशो हि वन्दनप्रत्युपेक्षणाऽऽदिकं धर्मकर्म सुखेनैव शिक्षयितुं शक्यते। तदेवमेकविंशतिगुणसंपन्नश्राद्धः श्रावको भवतीति। प्रव० २३९ द्वार। ध०। दर्श०। (१-अक्षुद्रत्वे भीमसोमकथा 'भीमसोम' शब्दे) (२-रूपवत्त्वे सुजातकथा 'सुजाय' शब्दे) (३-प्रकृतिसौम्यत्वे विजयश्रेष्ठिकथा 'विजयसेट्ठि' शब्दे) (४-लोकप्रियत्वे विनयंधरकथा 'विणयंधर' शब्दे) (५-अक्रूरत्वे कीर्तिचन्द्रकथा 'अक्कूर' शब्दे प्रथमभागे १२६ पृष्ठे प्रतिपादिता) (६-भीरुत्वे विमलदृष्टान्तः 'विमल' शब्दे) (७-अशठभावे चक्रदेवचरितम् 'असढ' शब्दे प्रथमभागे ८३२ पृष्ठे गतम्) (८-सुदाक्षिण्ये क्षुल्लककुमारकथा 'अलोभया' शब्दे प्रथमभागे ७८५ पृष्ठे गता) (९-लज्जालुत्वे विजयकुमारकथा 'विजयकुमार' शब्दे) (१०-दयालुत्वे यशोधरवृत्तम् 'सुरिंददत्त' शब्दे) (११-माध्यस्थ्यत्वे सोमवसुवृत्तं 'सोमवसु' शब्दे) (१२-गुणानुरागित्वे पुरन्दरराजचरितं 'पुरंदर' शब्दे) (१३-सत्कथायां रोहिणीज्ञातं 'रोहिणी' शब्दे) (१४-सुपक्षगुणे भद्रनन्दिवृत्तं 'भद्दणंदि' शब्दे) (१५ सुदीर्घदर्शित्वे धनमित्रश्रेष्ठिवृत्तं 'धणमित्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६५४ पृष्ठे गतं, 'भद्दा' शब्दे च) (१६-विशेषज्ञत्वे सुबुद्धिमन्त्रिवृत्तं 'सुबुद्धि' शब्दे) (१७-वृद्धानुगत्वे मध्यमबुद्धिचरित्रं 'मज्झिमबुद्धि' शब्दे) (१८-विनीतत्वे भुवनतिलकवृत्तं 'भुवणतिलय' शब्दे) (१९-कृतज्ञत्वे विमलकुमारकथा 'विमलकुमार' शब्दे) (२०-परहितकारित्वे भीमकुमारकथा 'भीमकुमार' शब्दे) (२१-लब्धलक्ष्यत्वे नागार्जुनकथा 'णागज्जुण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६३८ पृष्ठे गता)

साम्प्रतमेतन्निगमनायाह-

एए इगवीसगुणा, सुयाणुसारेण किंचि वक्खाया।
अरिहंति धम्मरयणं, घित्तुं एएहिँ संपन्ना ॥ ३९ ॥

एते पूर्वोक्तस्वरूपाः, एकविंशतिसंख्या गुणाः श्रुतानुसारेण शास्त्रान्तरोपलम्भद्वारेण, किञ्चिन्न सामस्त्येन, व्याख्याताः स्वरूपतः फलतश्च प्रकाशिताः। किमर्थम्?, इत्याह-यतोऽर्हन्ति योग्यतासारं धर्मरत्नं ग्रहीतुं, न पुनर्व्यलन्तदुपलक्षाजलामिति भावः। के?, इत्याह-एभिरनन्तरोक्तैः गुणैः संपन्नाः संगताः संपूर्णा वेति।

आह-किमेकान्तेनैतावद्गुणसंपन्ना धर्माधिकारिण उताऽपवादोऽप्यस्तीति प्रश्ने सत्याह-

पायऽद्धगुणविहीणा, एएसिं मज्झिमावरा नेया।
इत्तो परेण हीणा, दरिद्दपाया मुणेयव्वा ॥ ४० ॥

इहाधिकारिणस्त्रिधा विभक्ताः-उत्तमा मध्यमा जघन्याश्च। तत्र उत्तमाः संपूर्णगुणा एव, पादश्चतुर्थांशोऽर्द्धं दलं, गुणशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् पादप्रमाणैरर्द्धप्रमाणैश्च गुणैर्ये विही-

ना विकलाः, एतेषामुक्तगुणानां मध्यात् ते यथाक्रमं मध्यमावरा ज्ञेयाः, चतुर्थांशविहीना मध्यमाः, अर्द्धविहीना जघन्या इति भावः, तेभ्योऽपि हीनतरेषु का वार्त्ता?, इत्याह-(इत्तो परेणं ति) एतेभ्योऽपि, परेणार्द्धाद्यर्धभागैर्हीना रहिताः, दरिद्रप्राया अकिञ्चनकजनकल्पाः, 'मुणितव्या' ज्ञातव्याः। यथाहि दरिद्रा उदरकन्दरापूरणचिन्ताव्याकुलतया न रत्नक्रयमनोरथमपि कुर्वन्ति, तथैतेऽपि न धर्माभिलाषमपि विदधतीति।

एवं च स्थिते यद्विधेयं तदाह-

धम्मरयणत्थिणा तो, पढमं एयज्जणम्मि जइयव्वं ।
जं सुद्धभूमिगाए, रेहइ चित्तं पवित्तं पि ॥ ३१ ॥

धर्मरत्नमुक्तस्वरूपं, तदर्थिना तल्लिप्सुना, तत्तस्मात् कारणात्, प्रथममादावेषां गुणानामर्जने विढपने यतितव्यं, तदुपार्जनं प्रति यत्नो विधेयः, तदविनाभावित्वाद्धर्मप्राप्तेः। अत्रैव हेतुमाह-यद्यस्मात्कारणाच्छुद्धभूमिकायां प्रभासचित्रकरपरिकर्मितभूमाविवाकलङ्काधारे (रेहइ त्ति) राजते, चित्रं चित्रकर्म, पवित्रमपि प्रशस्तमप्यालिखितं सदिति। ध० र०। (प्रभासचित्रकरकथा 'पभासचित्तगर' शब्दे वक्ष्यते)

श्रावकसाधुसम्बन्धभेदाद् द्विधा धर्मरत्नं प्रतिपाद्येदानीं कः कीदृगिदं कर्तुं शक्नोतीत्येतदाह-

दुविहं पि धम्मरयणं, तरइ नरो घित्तुमविगलं सो उ ।
जस्सेगवीसगुणरय-णसंपया सुत्थिया अत्थि ॥ १४० ॥

द्विविधमपि द्विप्रकारमपि, न पुनरेकतरमेवेत्यपिशब्दार्थः। धर्मरत्नं पूर्वोक्तशब्दार्थम्, (तरइ त्ति) शक्नोति " शकेश्चय-तर-तीर-पाराः" ॥ ८। ४। ८६ ॥ इति वचनात्। नर इति जातिनिर्देशान्नरो नरजातीयो जन्तुर्न पुनः पुमानेवेति, ग्रहीतुमुपादातुमविकलं सम्पूर्णं, स एव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्। यस्य किमित्याह-यस्य श्रीप्रभमहाराजस्येवैकविंशतिगुणरत्नसम्पत् "अक्खुद्दो रूववं पगइसोमो।" इत्यादिशास्त्रपद्धतिप्रतिपादिता गुणमाणिक्यविततिः, सुस्थिता दुर्बोधाऽऽद्युपद्रवितत्वाभावाद्दृढाऽस्ति विद्यते इति। ननु पूर्वमुक्तमेवैकविंशतिगुणसमृद्धो योग्यो धर्मरत्नस्येति तत्किं पुनरिदमुच्यते?। सत्यम्, पूर्वं योग्यतामात्रमुक्तम्, यथा-बालत्वेऽपि वर्तमानो राजपुत्रो राज्यार्ह उच्यते, संप्रति करणशक्तिरप्यस्याभिधीयते, यथा-प्रौढीभूतो राजपुत्रः कर्तुं शक्नोत्येव राज्यमिति। ध० र०। (श्रीप्रभमहाराजकथा 'सिरिप्पभ' शब्दे) धर्मरत्नप्रकरणप्रतिबद्धे शान्तिसूरिविरचिते स्वनामख्याते प्रकरणग्रन्थविशेषे च, ध० र०।

तत्रैकविंशतिगुणैर्धर्मरत्नयोग्यो भवतीत्यभिधाय विशेषतः पूर्वाचार्याणां श्लाघ्यमाह-

ता सुट्टु इमं भणियं, पुव्वाऽऽयरिएहिँ परहियरएहिं ।
इगवीसगुणोवेओ, जोग्गो सइ धम्मरयणस्स ॥ १५१ ॥

यत एभिर्गुणैर्युक्तो धर्मं कर्तुं शक्नोति, ततः सुष्ठु शोभनमिदं भणितमुक्तं पूर्वाऽऽचार्यैः पूर्वकालसंजातसूरिभिः, परहितरतैरन्यजनोपकारकरणलालसैः, किं तत्?, इत्याह-एकविंशतिगुणोपेतो युक्तो, योग्य उचितः, (सइ त्ति) सदा, धर्मरत्नस्य पूर्वव्यावर्णितस्वरूपस्येति।

अथ प्रकृतशास्त्रार्थमनुवदन्नुपसंहारगाथायुगलमाह-

धम्मरयणत्थियाणं, देसचरित्तीण तह चरित्तीणं ।
लिंगाइं जाइँ समए, भणियाइँ मुणियतत्तेहिं ॥ १४२ ॥
तेसिँ इमो भावत्थो, नियमइविहवाणुसारओ भणिओ ।
सपराणुग्गहहेउं, समासओ संतिसूरीहिं ॥ १४३ ॥

धर्मरत्नोचितानामुक्तस्वरूपाणां, देशचारित्रिणां श्रमणोपासकानां, तथा चारित्रिणां साधूनां, लिङ्गानि चिह्नानि, यानि समये सिद्धान्ते, भणितान्यभिहितानि, मुणिततत्त्वैरवबुद्धसिद्धान्ततत्त्वैरिति प्रथमगाथार्थः ॥१४२॥ तेषामयमुक्तस्वरूपो, भावार्थस्तात्पर्यं, निजमतिविभवानुसारतः स्वबुद्धिसंपदनुरूपं भणितः, सिद्धान्तमहाम्भोधेः पारस्य लब्धुमशक्यत्वाद्यावदवबुद्धं तावद्भणितमिति भावः। किमर्थः पुनरियान् प्रयासः कृतः?, इत्याह-स्वपरयोरनुग्रह उपकारः, स एव हेतुः कारणं यस्य भणनस्य तत्स्वपरानुग्रहहेतु. क्रियाविशेषणमेतत्, स्वपरानुग्रहोऽप्यागमादेव भविष्यतीति चेन्न, तत्राऽऽगमे कोऽप्यर्थः। क्वापि भणितस्तमल्पायुषोऽल्पमेधसश्चैदंयुगीना नावगन्तुमीशा इति समासतोऽल्पग्रन्थेन भणितः। कैः?, इत्याह-शान्तिसूरिभिर्जिनप्रवचनावदातमतिभिः परोपकारैकरसिकमानसैश्चन्द्रकुलविमलनभस्तलनिशीथिनीनाथैरिति द्वितीयगाथार्थः॥१४३॥

अथ शिष्याणामर्थित्वोत्पादनायोक्तशास्त्रार्थ-परिज्ञानस्य फलमुपदर्शयन्नाह-

जो परिभावइ एयं, सम्मं सिद्धंतगब्भजुत्तीहिं ।
सो मुत्तिमग्गलग्गो, कुग्गहगत्तेसु न हु पडई ॥ १४४ ॥

यः कश्चिद् लघुकर्मा, परिभावयति सम्यगालोचयत्येतं पूर्वोक्तं धर्मलिङ्गभावार्थं, सम्यग् मध्यस्थभावेन, सिद्धान्तगर्भाभिरागमसाराभिर्युक्तिभिरुपपत्तिभिः, स प्राणी, मुक्तिमार्गे निर्वाणनगराध्वनि लग्नो गन्तुं प्रवृत्तः, कुग्रहा दुःषमाभाविनो मतिमोहविशेषाः, त एव गर्ता अवटा गतिविघातहेतुत्वादनर्थजनकत्वाच्च, तेषु नैव पतति, हुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्। अत एव सुखेन सन्मार्गेण गच्छतीति।

उक्तं प्रकरणार्थपरिभावनस्यानन्तरफलम्, अधुना परम्परफलमाह-

इय धम्मरयणपगरण-मणुदियहं जे मणम्मि भावंति ।
ते गलियकलिलपंका, निव्वाणसुहाइँ पावंति ॥ १४५ ॥

इत्यनन्तरोक्तं, धर्मरत्नमुक्तशब्दार्थं, तत्प्रतिपादकं प्रकरणं शास्त्रविशेषो धर्मरत्नप्रकरणम्, अनुदिवसं प्रतिदिनम्, उपलक्षणत्वात्प्रतिप्रहरमित्याद्यपि द्रष्टव्यम्। ये केचिदासन्नमुक्तिगमना मनसि हृदये, भावयन्ति विवेकसारं चिन्तयन्ति, ते शुभतराध्यवसायभाजो गलितोऽपेतः कलिलपङ्कः पातकमलोत्करो येभ्यस्ते गलितकलिलपङ्काः। (निव्वाणसुहाइं ति) निर्वाणं सिद्धिस्तत्र आधारे आधेयोपचारादिह निर्वाणशब्देन निर्वाणगता जीवा उच्यन्ते, सिद्धा इत्यर्थः। तेषां सुखानि प्राप्नुवन्ति। ध० र०। धर्मरत्नप्रकरणस्य वृत्तिकारो देवेन्द्रसूरिः। " श्रीधर्मरत्नशास्त्रं, बह्वर्थं स्वल्पशब्दसंदर्भम्। स्वपरोपकारहेतो-र्विवृणोमि यथाश्रुतं किञ्चित् " ॥ १ ॥ ध० र०।

"स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा।
धर्मरत्नस्य टीकेयं, सुखबोधा विनिर्ममे ॥ ८ ॥
प्रथमां प्रतिमाप्रतिमां, विभ्राणो गुरुजनेषु भक्तिभरम्।
विद्वान् विद्याऽऽनन्दः, सानन्दमना शिलेखास्याः ॥ ९ ॥
श्रीहेमकलशवाचक-परिकृतवरधर्मकीर्तिमुख्यबुधैः।

स्वपरसमयैककुशलै–स्तदैव संशोधिता चेयम् ॥ १० ॥
यत्कादितमल्पमतिना, सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञैः, प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥ ११ ॥
बह्वर्थमल्पशब्दं, शास्त्रमिदं रचयता मया कुशलम् ।
यदवापि धर्मरत्न–प्राप्तिर्जगतोऽपि तेनाऽस्तु ॥१२॥ " ध०र० ।

धम्मरहस्स–धर्मरहस्य–न० । धर्मसर्वस्वे, दर्श० १ तत्त्व । कुशलकर्मगुह्ये, " एयं धम्मरहस्सं, विन्नेयं बुद्धिमंतेहिं । " पञ्चा० ७ विव० ।

धम्मराग–धर्मराग–पुं० । धर्मे चारित्रलक्षणे रागो धर्मरागः । ध० २ अधि० । कुशलानुष्ठानानुरागे, " कंतारे भिक्खाहिओ, घयपुन्ने भोत्तुमिच्छइ छुहिओ । जह तह सदणुट्ठाणे, अणुरागो धम्मरागो त्ति ॥१॥ " इत्युक्तलक्षणे (संथा०) कुशलानुष्ठानानुरागे, पञ्चा० ३ विव० । धर्मरागश्चारित्रधर्मस्पृहेति । द्वा० १५ द्वा० । यो० विं० ।

धम्मरागि (ण्)–धर्मरागिन्–पुं० । श्रुतचारित्रलक्षणधर्मानुरक्ते, पञ्चा० ७ विव० ।

धम्मरुइ–धम्मरुचि–स्त्री० । धर्मपदमात्रश्रवणजनितप्रीतिसहिता धर्मपदवाच्यविषयिणी रुचिर्धर्मरुचिः । ध०२ अधि० । धर्मश्रद्धायाम्, न चैवं ग्राम्यधर्माऽऽदिपदवाच्यविषयिण्यपि रुचिस्तथा स्यादिति वाच्यम्, निरुपपदधर्मपदवाच्यस्येऽस्यैव ग्रहणात् । न चैवं चारित्रधर्माऽऽदिपदवाच्यविषयिण्यामव्याप्तिः, निरुपपदत्वस्य वास्तवधर्मातिप्रसञ्जकोपपदराहित्यस्य विवक्षणादिति दिक् । ध० २ अधि० । धर्मे श्रुताऽऽदौ रुचिर्यस्य स तथा । स्था० १० ठा० । धर्मेण श्रुतधर्मेण रुचिर्यस्य स धर्मरुचिः । श्रुतधर्माभ्यासरुचिके, त्रि० । उत्त० २८ अ० । यो हि धर्मास्तिकायं श्रुतधर्मं चारित्रधर्मं च जिनोक्तं श्रद्धत्ते स धर्मरुचिरिति । स्था० १० ठा० । धर्मधर्मिणोरभेदाद् धर्मश्रद्धाऽऽत्मके सम्यक्त्वभेदे च ।

अथ धर्मरुचेः स्वरूपमाह–

> जो अत्थिकायधम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ।
> सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥२७॥

योऽस्तिकायानां धर्माऽऽदीनां धर्मो गत्युपष्टम्भादिरस्तिकायधर्मस्तम्, ज्ञानाद्यकृत्स्नम्, श्रुतधर्ममङ्गप्रविष्टाऽऽद्यागमस्वरूपं, खलुर्वाक्यालङ्कारे । चरित्रधर्मं वा सामायिकाऽऽदि, चस्य चार्थत्वात् श्रद्धाति, तथेति प्रतिपद्यते, जिनाऽभिहितं तीर्थकृदुक्तं, स धर्मरुचिरिति ज्ञातव्यो धर्मेषु पर्यायेषु धर्मे वा श्रुतधर्माऽऽदौ रुचिरस्येति । उत्त०पाई० २८ अ० । प्रव० । स्था० । दर्श० । वाराणसीस्थे स्वनामख्यातेऽनगारे, आव० । (तत्कथा ' णंद ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७४८ पृष्ठे गता) रोहितकनगरस्थे स्वनामख्याते साधौ, आ० चू० ४ अ० । (तत्कथा ' वेदना ' शब्दे, परिट्ठावणियासमिइ शब्दे च) मथुरानगरस्थे स्वनामख्याते मुनौ, ती० ८ कल्प । चम्पानगरीस्थे धर्मघोषस्याऽऽचार्यस्य स्वनामख्याते शिष्ये, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । (तत्कथा ' दुवई ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५७८ पृष्ठे गता) वसन्तपुरस्थस्य जितशत्रोर्नृपस्य स्वनामख्याते पुत्रे, आ० क० ।

तथाऽनवद्ये धर्मरुचिकथा–

" चार्वाकोके सदा सर्वं, वसन्तपुरमन्वभूत् ।
जितशत्रुर्नृपस्तत्र, धारणी सहचारिणी ॥ १ ॥
आसीद्धर्मरुचिः सूनु–र्यथार्थाऽऽह्वयः सुधांशुवत् ।
सुवासनः पुष्पमिव, ऋजुः कमलनालवत् ॥ २ ॥
वृद्धत्वादन्यदा राजा, जिघृक्षुस्तापसव्रतम् ।
दातुकामस्तनूजस्य, राज्यं संविग्नमानसः ॥ ३ ॥
सोऽथ मातरमप्राक्षी–द्राज्यं तातः किमुज्झति ? ।
समूचे जननी वत्स !, राज्यं संसारवर्द्धनम् ॥ ४ ॥
पुत्रोऽप्युवाच तर्ह्येवं, कार्यं तेन ममाऽपि न ।
तत्रावपि ततो जातौ, तापसौ तापसाऽऽश्रमे ॥ ५ ॥
चतुर्दश्यामथाश्रावि, घोषणां सर्वतोमुखीम् ।
अमावास्येत्यनाकुट्टिः, प्रभाते भविता ततः ॥ ६ ॥
अद्यैव तत्प्रभातार्थं, कार्यः कन्दाऽऽदिसंग्रहः ।
अचिन्तयद्धर्मरुचि–रनाकुट्टिर्वरं सदा ॥ ७ ॥
अमावास्यां च दृष्ट्वा स, साधून् यातोऽग्निकाश्रमात् ।
अप्राक्षीदद्य वः किं ना–कुट्टिर्याऽथ महद्वनम् ? ॥ ८ ॥
यावज्जीवमनाकुट्टि–रस्माकं भद्र ! तेऽभ्यधुः ।
ऊहापोहं प्रपन्नोऽथ, जातिस्मरणमाप सः ॥ ९ ॥
ततः प्रत्येकबुद्धोऽभू–द्वेषं शासनदेव्यदात् ।
सस्मारैकादशाङ्गानि, सिद्धः कृत्वा चिरं व्रतम् " ॥ १० ॥

एतदेवाऽऽह–

" सोऊण अणाउट्टिं, अणभीओ वज्जिऊण अणगं तु ।
अणगवज्जिअं छवगओ, धम्मरुई नाम अणगारो ॥ ११ ॥ "

आ० क० । आ० म० । आचा० । विशे० । वाराणसीस्थे स्वनामख्याते नृपे, आ० म० । आ० चू० । न० । आ० क० । (तत्कथा " पारिणामिया " शब्दे) काम्पिल्यपुरस्थे स्वनामख्याते नृपे, ती० २४ कल्प । (तत्कथा ' कंपिल्ल ' शब्दे तृतीयभागे १७६ पृष्ठे गता)

धम्मलद्ध–धर्मलब्ध–त्रि० । धर्मेण सुविधिकया लब्धं धर्मलब्धम्, उद्देशकक्रीतकृताऽऽदिदोषरहिते भक्ताऽऽदौ, " ते धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे " (२१) सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । (इयं गाथा अस्या अर्थश्च ' कुसील ' शब्दे तृतीयभागे ६११ पृष्ठे गतः)

धम्मववत्था–धर्मव्यवस्था–स्त्री० । धर्मस्य प्रमाणप्रसिद्धौ, द्वा० ७ द्वा० । साधुसामर्थ्यं धर्मव्यवस्था चानिर्वाहेन इतीयमत्राभिधीयते । " भक्ष्याभक्ष्यविवेकाच्च, गम्यागम्यविवेकतः । तपोदयाविशेषाच्च, सद्धर्मो व्यवतिष्ठते ॥१॥ " द्वा० ६ द्वा० ।

> विदित्वा लोकमुत्क्रुष्य, लोकसंज्ञां च लप्स्यते ।
> इत्थं व्यवस्थितो धर्मः, परमाऽऽनन्दकन्दभूः ॥३२॥

(विदित्वेति) विदित्वा ज्ञात्वा, लोकं स्वेच्छाकल्पिताऽऽचारसक्तं जनम्, उत्क्रुष्य निराकृत्य, लोकसंज्ञां बहुभिर्लोकैराचीर्णमेवाऽस्माकमाचरणीयमित्येवंरूपां च लप्स्यते प्राप्यते । इत्थमुक्तरीत्या, व्यवस्थितः प्रमाणप्रसिद्धो, धर्मः परमानन्द एव कन्दस्तस्य भूरुत्पत्तिस्थानम् ॥ ३२ ॥ द्वा० ७ द्वा० ।

धम्मवं–धर्मवत्–त्रि० । धर्मोपेते, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टि (ण्)–धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्तिन्–पुं० । धर्म एव वरं प्रधानं चतुरन्तहेतुत्वात् चतुरन्तं चक्रमिव चातुरन्तचक्रम्, तेन वर्तितुं शीलं यस्य सः धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्ती । जी० ३ प्रति० ४ उ० । त्रयः समुद्राश्चतुर्थो हिमवानिति चत्वारोऽन्तास्तेषु प्रभुतया जनाश्चातुरन्ताश्चतुरन्तस्वामिनः,

एवंविधा ये चक्रवर्तिनः ते चातुरन्तचक्रवर्तिनः, धर्मेण वराः श्रेष्ठाः चातुरन्तचक्रवर्तिनः धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्तिनः । कल्प० १ अधि० २ क्षण । त्रयः समुद्राश्चतुर्थो हिमवान्, एते चत्वारोऽन्ताः पृथिव्याः पर्यन्ताः, तेषु स्वामितया भवतीति चातुरन्तः, स चासौ चक्रवर्ती चातुरन्तचक्रवर्ती, वरश्चासौ चातुरन्तचक्रवर्ती चेति वरचातुरन्तचक्रवर्ती राजातिशयः, धर्मविषये वरचातुरन्तचक्रवर्ती धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्ती । स० १ सम० । औ० । भ० । धर्म एव वरमितरचक्रापेक्षया, कपिलाऽऽदिधर्मचक्रापेक्षया वा चातुरन्तं, दानाऽऽदिभेदेन चतुर्विभागत्वात् चतसृणां वा नरकाऽऽदिगतीनामन्तकारित्वाच्चातुरन्तं, तदेव चातुरन्तं यच्चक्रं भवारातिच्छेदात् तेन वर्तितुं शीलं यस्य स तथा । भ० १ श० १ उ० । धर्म एव त्रिकोटिपरिशुद्धत्वेन सुगताऽऽदिप्रणीतधर्मचक्रापेक्षया उभयलोकहितत्वेन, चक्रवर्त्यादिचक्रापेक्षया च वरं प्रधानं चतसृणां गतीनां नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणानामन्तो यस्मात्तच्चतुरन्तचक्रमिव चक्रं रौद्रमिथ्यात्वाऽऽदिभावशत्रुलवनात् तेन वर्तत इत्येवंशीलो धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्ती । "चाउरंते त्ति" समृद्ध्यादित्वाद्दीर्घत्वम् । ध० २ अधि० । शेषधर्मप्रणेतॄणां मध्ये सातिशयत्वादतिशायिनि धर्मनायके तीर्थकरे, कल्प० १ अधि० २ क्षण । तीर्थकरवर्णकमधिकृत्य " धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं ।" यथाहि पृथिव्यां शेषराजातिशायी वरचातुरन्तचक्रवर्ती भवति, तथा भगवान् धर्मविषये शेषप्रणेतॄणां मध्ये सातिशयत्वात् तथोच्यते । स० १ सम० । इदमत्र हृदयम्-यथोदितधर्म एव वरं प्रधानं चक्रवर्तिचक्रापेक्षया लोकद्वयोपकारित्वेन कपिलाऽऽदिप्रणीतधर्मचक्रापेक्षया वा त्रिकोटिपरिशुद्धतया चत्वारो गतिविशेषा नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणाः तदुच्छेदेन तदन्तहेतुत्वाच्चातुरन्तं, चतुर्भिर्वाऽन्तो यस्मिंस्तच्चतुरन्तम्, कैश्चतुर्भिः ?-दानशीलतपोभावनाऽऽख्यैर्धर्मैः, अन्तः प्रक्रमाद्भवान्तोऽभिगृह्यते । चक्रमिव चक्रमतिरौद्रमहामिथ्यात्वाऽऽदिलक्षणभावशत्रुलवनात् । तथा च सुगत एवानेन नावशत्रवो मिथ्यात्वाऽऽदय इति प्रतीतं, दानाऽऽद्यभ्यासात् ग्रहनिवृत्त्यादिसिद्धेः, महात्मनां स्वानुभवसिद्धमेतत् । एतेन च प्रवर्त्तन्ते भगवन्तः । तथा भव्यत्वानयोगतो वरबोधिलाभारभ्य तथा तथौचित्येन अस्तित्वप्राप्तेः, एवमेव वर्त्तनादिति । तदेवमेतेन वर्तितुं शीला धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्त्तिनः ॥ २४ ॥ ल० ।

धम्मवररयणमंडियचामीयरमेहलाग--धर्मवररत्नमण्डितचामीकरमेखलाक-पुं० । दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, स एव वररत्नमण्डिता चामीकरमेखला यस्य सः धर्मवररत्नमण्डितचामीकरमेखलाकः । "शेषाद्वा" ॥ ७ । ३ । १७५ ॥ इति कप्रत्ययः । उत्तरगुणरूपरत्नमण्डितमूलगुणरूपधर्माऽऽत्मकचामीकरमेखलोपेते संघमेरौ, तथा च-सङ्घस्य मेरुरूपकेण स्वरूपमभिकृत्य--" धम्मवररयणमंडियचामीयरमेहलागस्स ।" नं० । इह धर्मो द्विधा-मूलगुणरूपः, उत्तरगुणरूपश्च । तत्रोत्तरगुणरूपाणि रत्नानि, मूलगुणरूपस्तु मेखला, न खलु मूलगुणरूपधर्माऽऽत्मकः चामीकरमेखलाविशिष्टोत्तरगुणरूपवररत्नविभूषणविकला शोभते । नं० ।

धम्मवसु-धर्मवसु-पुं० । कौशाम्बीनगरस्थे धर्मघोषधर्मयशसोर्गुरौ स्वनामख्याते गुरौ, " कोसंबिअजियसेणो, धम्मघोसधम्मजसे ।" आव० ४ अ० । आ० क० । (तत्कथा 'भत्तपाणया' शब्दे प्रथमभागे ४७८ पृष्ठे गता)

धम्मवाय-धर्मवाद-पुं० । धर्मप्रधानो वादो धर्मवादः । " शान्तः स्वशास्त्रज्ञत्वेन, मध्यस्थेनाधर्मीरुणा । कथावन्धस्तत्त्वधिया, धर्मवादः प्रकीर्त्तितः ॥ १ ॥" इत्युक्तलक्षणे वादभेदे, द्वा० ७ द्वा० । अष्ट० । (धर्मवादस्वरूपं 'वाद' शब्दे) धर्माणां वस्तुपर्यायाणां धर्मस्य वा चारित्रस्य वादो धर्मवादः । दृष्टिवादे, स्था० १० ठा० । (अस्य स्वरूपम् "दिट्ठिवाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५१२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

धम्मवावार-धर्मव्यापार-पुं० । क्षान्तिप्रत्युपेक्षाऽऽदौ, षो० १० विव० ।

धम्मविउ-धर्मवित्-त्रि० । दुर्गतिप्रसृतजन्तुधारणस्वभावं स्वर्गापवर्गमार्गं वेत्तीति धर्मवित् । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । धर्मं चेतनद्रव्यस्वभावं श्रुतचारित्ररूपं वा वेत्तीति धर्मवित् । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । धर्मं यथावत्तत्फलानि च स्वर्गावाप्तिलक्षणानि सम्यग् वेत्तीति धर्मवित् । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । यथावस्थितं परमार्थतो धर्मं सर्वोपाधिविशुद्धं जानातीति धर्मवित् । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । धर्मपरिच्छेदकरणनिपुणे, " न ते धम्मविऊ जणा । " ते सम्यग्धर्मपरिच्छेदे कर्त्तव्ये विद्वांसो निपुणाः । तथाहि--क्षान्त्यादिको दशविधो धर्मस्तमज्ञात्वैवान्यथा च धर्मं प्रतिपादयन्तीति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

धम्मविज्ज-धर्मवैद्य-पुं० । आचार्ये, पं० व० १ द्वार ।

धम्मविणिच्छय-धर्मविनिश्चय-पुं० । " धनदो धनार्थिनां धर्मः, कामदः सर्वकामिनाम् । धर्म एवाऽपवर्गस्य, पारम्पर्येण साधकः ॥ १ ॥ " इत्यादिरूपे धर्मस्वरूपपरिज्ञानाऽऽत्मके विनिश्चयभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

धम्मवित्त-धर्मवित्त-न० । धर्मधने, " धर्मश्चेन्नावसीदेत, कपालेनापि जीवतः । आढ्योऽस्मीत्यवगन्तव्यं, धर्मवित्ता हि साधवः ॥ १ ॥ " ध० १ अधि० ।

धम्मवित्तिय-धर्मवृत्तिक-त्रि० । धर्मेणैव चारित्राविरोधेन, श्रुताविरोधेन वा वृत्तिर्जीविका यस्य । धर्माविरुद्धजीविके, " धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा ।" औ० ।

धम्मविरुद्ध-धर्मविरुद्ध-त्रि० । धर्मद्वेषिणि, "धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम् ।" पं० सू० २ सूत्र० ।

धम्मवीमंसय-धर्मविमर्शक-पुं० । धर्मविचारके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

धम्मवीय-धर्मबीज-न० । धर्मकारणे, "तस्मिन् प्रायः प्ररोहन्ति, धर्मबीजानि गेहिनि । विधिनोप्तानि बीजानि, विशुद्धायां यथा भुवि ॥ १६ ॥ " ध० । (' गिहिधम्म ' शब्दे तृतीयभागे ८६६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

" धर्मबीजं परं प्राप्य, मानुष्यं कर्मभूमिषु ।
न सत्कर्मकृषावस्य, प्रयतन्तेऽल्पमेधसः ॥ २ ॥ "
अस्येति धर्मबीजस्य । ध० १ अधि० ।
" विधिनोप्ताद् यथा बीजा-दङ्कुराऽऽद्युदयः क्रमात् ।
फलसिद्धिस्तथा धर्म-बीजादपि विदुर्बुधाः ॥ १ ॥
वपनं धर्मबीजस्य, सत्प्रशंसाऽऽदि तद्गतम् ।
तच्चिन्ताऽऽद्यङ्कुराऽऽदिः स्या-त्फलसिद्धिस्तु निर्वृतिः ॥ २ ॥

चिन्तासच्छ्रुत्यनुष्ठानं, देवमानुषसंपदः ।
क्रमेणाङ्कुरसत्काण्ड-नालपुष्पसमा मताः ॥ ३ ॥
फलं प्रधानमेवाऽऽहु-र्नानुषङ्गिकमित्यपि ।
पलालाऽऽदिपरित्यागात्, कृषौ धान्याऽऽसिवद् बुधाः ॥ ४ ॥
अत एव च मन्यन्ते, तत्त्वभावितबुद्धयः ।
मोक्षमार्गक्रियामेकां, पर्यन्तफलदायिनीम् ॥ ५ ॥ " द्वा० ।

धम्मवीरिय-धर्मवीर्य--पुं० । सुपार्श्वजिनसमकालिके स्वनामख्याते चक्रवर्तिनि, ति० ।

धम्मवुड्ढि-धर्मवृद्धि-स्त्री० । धर्मसमृद्धौ, पञ्चा० २ विव० ।

धम्मसंगह-धर्मसंग्रह-पुं० । संगृह्यतेऽनेनेति संग्रहः, धर्मस्य संग्रहो धर्मसंग्रहः । यद्वा-धर्मस्य संग्रहो यत्र स धर्मसंग्रहः । मानविजयगणिविरचिते स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, तथाच ग्रन्थकृत्प्रथमं श्लोकद्वयेन मङ्गलं समाचरन् श्रोतृप्रवृत्तये स्वाभिधेयं प्रतिजानीते-

"प्रणम्य प्रणताशेष--सुरासुरनरेश्वरम् ।
तत्त्वज्ञं तत्त्ववेत्तारं, महावीरं जिनोत्तमम् ॥ १ ॥
श्रुताब्धेः सम्प्रदायाच्च, ज्ञात्वा स्वानुभवादपि ।
सिद्धान्तसारं ग्रथ्नामि, धर्मसंग्रहमुत्तमम् ॥ २ ॥"
ध० १ अधि० ।

साम्प्रतं सकलशास्त्रार्थपरिसमाप्तिमुपदर्शयन्नाह-
" इत्येष यतिधर्मोऽत्र, द्विविधोऽपि निरूपितः ।
तत्कार्त्स्न्येन हि धर्मस्य, सिद्धिमाप निरूपणम् ॥ ८७ ॥ "
इति पूर्वोक्तप्रकारेण, अत्र शास्त्रे, एष प्रत्यक्षः द्विविधः-सापेक्षनिरपेक्षभेदवान्, न पुनरेक एवेत्यपिशब्दार्थः । यतिधर्म उक्तलक्षणो निरूपितो निरूपणविषयीकृतः, ततो द्विविधयतिधर्मनिरूपणाद् द्विविधगृहिधर्मस्य च प्रागेव निरूपणात्कार्त्स्न्येन सर्वप्रकारेण धर्मस्य निरूपणं शास्त्राऽऽदौ प्रतिज्ञातं सिद्धिमाप सम्पूर्णतां प्राप । ध०४ अधि० । (विशेषस्त्वत्र ' अणगारधम्म ' शब्दे प्रथमभागे २७६ पृष्ठे गतः)

"प्रत्यक्षरं गणनया, ग्रन्थेऽत्र स्युरनुष्टुभाम् ।
चतुर्दशसहस्राणि, षट्शती चाष्टकोत्तरा ॥ १ ॥ " ध० ।
इत्थं शान्तिविजयसूरिवर्णनं प्रतिपाद्य-
" तेषां विनेय उदिताऽऽग्रहतो विबुधे,
ग्रन्थं च मानविजयाभिधवाचकोऽमुम् ।
न्यूनं यदत्र मतिमन्दतया भवेत्त-
न्मेधाविभिर्मयि कृपां प्रणिधाय शोध्यम् ॥ ९ ॥
सत्तर्ककर्कशधियाऽखिलदर्शनेषु,
मूर्धन्यतामधिगताः स्तपगच्छधुर्याः ।
काश्यां विजित्य परयूथिकपर्षदोऽग्र्याः,
विस्तारितप्रवरजैनमतप्रभावाः ॥ १० ॥
तर्कप्रमाणनयमुख्यविवेचनेन,
प्रोद्बोधिताऽऽदिममुनिश्रुतकेवलित्वाः ।
चक्रुर्यशोविजयवाचकराजमुख्याः,
ग्रन्थेऽत्र मय्युपकृतिं परिशोधनाऽऽद्यैः ॥ ११ ॥
बाल इव मन्दगतिरपि, सामाचारीविचारदुर्गम्ये ।
अत्राद्भुतं गतिमान्--स्तेषां हस्तावलम्बेन ॥ १२ ॥
वर्षे दिग्गजमुनिरस-चन्द्र १६७८ प्रमिते च माधवे मासे ।
शुक्लतृतीयादिवसे, यत्नः सफलोऽयमजनिष्ट ॥ १३ ॥
अहम्मदावादपुरे रसाग्रे,
देशे स्फुरद्गूर्जरदेशमण्डने ।
श्रीवंशजन्मा मनियाऽभिधानो,
वणिग्वरोऽभूच्छुभकर्मकर्ता ॥ १४ ॥
नित्यं गेहे दानशाला विशाला,
प्रौढोऽस्या तीर्थराजाऽऽदियात्रा ।
सत्क्षेत्र्यां वित्तवापश्च यस्य,
ख्यातुं प्रायो मादृशैरशक्यः ॥ १५ ॥
साधुः श्रीशान्तिदासः प्रवरगुणनिधिस्तत्सुतोऽभूदुदारो,
धात्र्यां विख्यातनामा जगदुलमधिकानेकसत्कृत्यकर्मा ।
रत्नानामस्वक्षौणधनुवितरणाद्येन दुष्कालनाम,
विध्वस्तं शस्तभूत्या बहुविधि महिता ज्ञातिसाधर्मिकाश्च ॥१७॥
पुत्रस्तस्य समस्तगेहकरणीयस्य स्फुटं वार्द्धके,
सिद्धान्तश्रवणाऽऽदिधर्मकरणे बद्धस्पृहस्यानिशम् ।
सत्कर्मद्वयसंविधानरचनाशुभ्रभवोत्कण्ठिन-
स्तस्य प्रार्थनयाऽस्य गुम्फनविधौ जातः प्रयत्नो मम ॥१७॥
ज्ञानाऽऽराधनमतिना, ज्ञानाऽऽदिगुणान्वितेन वृत्तिरियम् ।
प्रथमाऽऽदर्शे लिखिता, गणिना कान्त्यादिविजयेन ॥ १८ ॥
धात्री संपद्विधात्री भुजगपतिधृता सार्णवा यावदास्ते,
प्रोच्चैः सौवर्णशृङ्गोल्लिखितसुरपथो मन्दराद्रिश्च यावत् ।
विश्वे विद्योतयन्तौ तमनु शशिरवी भ्राम्यतश्चेह यावत्,
ग्रन्थो व्याख्यायमानो विबुधजनवरैर्नन्दतादेष तावत् ॥१९॥
ये ग्रन्थार्थविभावनातिनिपुणाः सत्यग्गुणग्राहिणः,
सन्तः सन्तु मयि प्रसन्नहृदयास्ते किं खलैरन्यैरिह ।
येषां शुद्धसुभाषितामृतरसासिक्तेऽपि चित्ते भृशं,
धीधर्त्री मरुभूमिकास्विव परं लेशं न संलक्ष्यते ॥ २० ॥
विलोक्यानेकशास्त्राणि, विहिताद् ग्रन्थतस्त्विह ।
प्रेत्यापि बोधिलाभोऽस्तु, परमानन्दकारणम् ॥२१॥" ध०४अधि० ।

धम्मसंहिया-धर्मसंहिता-स्त्री० । धर्मबुद्धयर्थे संहिता यत्र रचिता । सम्-धा-क्तः । मनुयाज्ञवल्क्यप्रभृतिप्रणीते धर्मप्रतिपादनार्थे शास्त्रे, वाच० । अनु० ।

धम्मसद्धा-धर्मश्रद्धा-स्त्री० । धर्मः श्रुतधर्माऽऽदिस्तत्र तत्करणाभिलाषरूपा श्रद्धा धर्मश्रद्धा । धर्मकरणाभिलाषे, उत्त० २९ अ० ।
धर्मश्रद्धैव सकलकल्याणनिबन्धनमिति तामाह-

धम्मसद्धाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ, अगारधम्मं च णं चयइ । अणगारे णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेयणभेयणसंजोगाईणं वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च सुहं निव्वत्तेइ ॥ ३ ॥

धर्मश्रद्धयोक्तरूपया, सातं सातवेदनीयं, तज्जनितानि सौख्यानि सातसौख्यानि । प्राकृतत्वाच्चपदलोपी समासः, तेषु, वैषयिकसुखेष्विति यावत् । रज्यमानः पूर्वं रागं कुर्वन् विरज्यते विरक्तिं गच्छति । अगारधर्मं च गृहाऽऽचारं, गार्हस्थ्यमिति यावत् । णमिति वाक्यालङ्कारे । त्यजति परिहरति । तत्त्यागाच्च वैषयिकसुखानुरागनिबन्धनत्वात् । ततश्च "अणगारे त्ति" प्राकृतत्वादनगारो यतिः सन् शारीरमानसानां दुःखानाम्, किंरूपाणामित्याह-छेदनभेदनसंयोगाऽऽदीनामिति, छेदनं खड्गादिना द्विधाकरणं, भेदनं कुन्ताऽऽदिना विदारणम्, आदिशब्दस्येहापि संब-

स्यात् नाटनाऽऽदयश्च मूलान्ते,तनच्छेदनभेदनाऽऽदिना शारीरदुःखानां संयोगः प्रतापादनिष्टसंबन्धः,आदिशब्दादिष्टवियोगाऽऽदिग्रहः,ततः संयोगाऽऽदीनां मानसदुःखानां विशेषेण पुनरसंभवलक्षणेनोच्छेदोऽभावो व्युच्छेदः,तं करोतीति तद्विच्छेदनकर्मोच्छेदनेनेति भावः । अत एव च्यावाबाधमुपरतसकलपीडं मौक्षमिति यावत् । चः पुनरर्थे भिन्नक्रमः, ततः सुखं पुनर्निर्वर्त्तयति जनयति । पूर्वं संवेगफलाभिधानप्रसङ्गेन धर्मश्रद्धायाः फलनिरूपणमिह तु स्वातन्त्र्येणेत्यपौनरुक्त्यमिति भावनीयम्। उत्त० चाई० २६ अ०।

धर्मश्रद्धाया एव महत्फलमुपदर्शयति-

निसग्गुस्सग्गकारी य, सव्वतो छिन्नबंधणा ।

एगो वा परिसाए वा, अप्पाणं सोऽभिरक्खइ ॥

यः सोऽयं धर्मश्रद्धावान् निसर्गत एव स्वभावत एव उत्सर्गकारी, सर्वतश्छिन्नबन्धनः,सर्वत्र ममत्वरहित इत्यर्थः। स एको वा एकाकी वा,पर्षदि वा व्यवस्थित आत्मानमभिरक्षति । व्य० १ उ०।

धम्मसद्धालु-धर्मश्रद्धालु-त्रि० । धर्माभिलाषिणि, सूत्र० ३ श्रु०१अ०।

धम्मसण्णा-धर्मसंज्ञा-स्त्री० । धर्मश्रद्धायाम्, स्था० ७ ठा० ६ उ० । मोहनीयक्षयोपशमाऽऽपादिते क्षमाऽऽद्यासेवनरूपे संज्ञाभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

धम्मसण्णास-धर्मसंन्यास-पुं० । गृहस्थधर्मत्यागे, "धर्मसंन्यासवान् भवेत् । ३।" अष्ट० ७ अष्ट० । क्षपकश्रेणियोगिनः क्षायोपशमिकक्षान्त्यादिधर्मनिवृत्तिरूपे सामर्थ्ययोगभेदे,द्वा०१९द्वा०। (एतद्वक्तव्यता 'जोग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६२६ पृष्ठे गता)

धम्मसत्थ-धर्मशास्त्र-न० । धर्मप्रतिपादकं शास्त्रं धर्मशास्त्रम् । मन्वादिप्रयुक्ते स्मृतिशास्त्रे,वाच० । जीवदयाऽऽदिविचारप्रतिपादकं शास्त्रं च । दर्श०३ तत्त्व । "धम्मसत्थस्स देसओ ।" दर्श० ४ तत्त्व । "विसेसओ धम्मसत्थकुसलमई ।" धर्माभिधायिग्रन्थनिपुणबुद्धिः । पञ्चा० ११ विव० ।

धम्मसमुयायार-धर्मसमुदाचार-पुं० । धर्मेण श्रुतचारित्राऽऽत्मकः समुदाचारः सदाचारः, सप्रमोदो वाऽऽचारो यस्य स धर्मसमुदाचारः । चारित्रधर्माऽऽत्मकसदाचारोपेते, श्रुतचारित्रधर्माऽऽत्मकाऽऽचारोपेते च । औ० ।

धम्मसरण-धर्मशरण-न० । धर्माऽऽत्मके शरणे,द० प० ।

पाविअसमाहुसरणो, सरणं काउं पुणो वि जिणधम्मं ।

पहरिसरोमंचपवं-चकंचुअंचियतणू जणइ ॥ ४१ ॥

पवरसुकएहिं पत्तं, पत्तेहि वि नवरि केहि वि न पत्तं ।

तं केवलिपण्णत्तं, धम्मं सरणं पवन्नोऽहं ॥ ४२ ॥

पत्तेण अपत्तेण य, पत्ताणि य जेण नरसुरसुहाइं ।

मुक्खसुहं पुण पत्ते-ण नवरि धम्मो स मे सरणं ॥४३॥

निद्दलियकलुसकम्मो,कयसुहजम्मो(?)खलीयकअहम्मो ।

पमुहपरिणामरम्मो, सरणं मे होउ जिणधम्मो ॥ ४४ ॥

कालत्तए वि नमयं, जम्मणजरमरणवाहिसयसमयं ।

अमयं व बहुमयं जिण-मयं च सरणं पवन्नोऽहं ॥४५॥

पसमियकामपमोहं, दिट्ठादिट्ठेसु न कलियविरोहं ।

सिवसुहफलयममोहं, धम्मं सरणं पवन्नोऽहं ॥ ४६ ॥

नरयगइगमणरोहं, गुणसंदोहं पवाइनिक्खोहं ।

निहणियवम्महजोहं, धम्मं सरणं पवन्नोऽहं ॥४७॥

भासुरसुवण्णसुंदर-रयणालंकारगारवमहग्घं ।

निहिमिव दोगच्चहरं,धम्मं जिणदेसियं वंदे ॥४८॥ द०प०।

धम्मसवण-धर्मश्रवण-न० । दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः श्रुतचारित्ररूपः,तस्य श्रवणमाकर्णनमर्थतो धर्मश्रवणम् । अर्थतो धर्माऽऽकर्णने, षो० १६ विव० । ध० । धर्मशास्त्राऽऽकर्णने च । पञ्चा०१० विव० । तस्मात् धर्मश्रवणाद् मनःखेदापनोदाऽऽदिगुणः स्यात् । यदाह-"क्लान्तमपोज्झति खेदं, तप्तं निर्वाति बुध्यते मूढम् । स्थिरतामेति व्याकुल-मुपयुक्तसुभाषितं चेतः॥१॥" प्रत्यहं धर्मश्रवणं चोत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्तिसाधनत्वात्प्रधानमिति ॥ २२ ॥ ध १ अधि० ।

धर्मश्रवणे यत्नः, सततं कार्यो बहुश्रुतसमीपे ।

हितकाङ्क्षिभिर्नृसिंहै-र्वचनं ननु हारिभद्रमिदम् ॥१७॥

दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः श्रुतचारित्ररूपः, तस्य श्रवणमाकर्णनमर्थतः, तस्मिन् धर्मश्रवणे यत्नः प्रयत्न आदरः, सततमनवरतं, कार्यः कर्त्तव्यो, बहुश्रुतसमीपे बहुश्रुतसन्निधाने, हितकाङ्क्षिभिर्हिताभिलाषिभिर्नृसिंहैः पुरुषसिंहैः, पुरुषोत्तमैरिति यावत् । वचनं प्रार्थनारूपं, नन्विति वितर्के । एवं वितर्कयत यूयं,हरिभद्रस्येदं हारिभद्रमिदमेवंविधं यदुत बहुश्रुतसमीपे धर्मश्रवणे यत्नो विधेयः। अथवा-वचनमागमरूपं, ननु निश्चितं हारि मनोहारि, भद्रमिदं कल्याणमिदं यतो वर्त्तते, अतो वचनमतधर्मश्रवणे बहुश्रुतसमीपे एव यत्नः श्रेयान्, अबहुश्रुतेभ्यो धर्मश्रवणेऽपि विपरीतार्थोपपत्तेः प्रत्यवायसंभवात् । अथवा-हरिभद्रसूरेः स्तुतिं कुर्वाणोऽपर एव कश्चिदिदमाह-' वचनं ननु हारिभद्रमिदम् । ' हरिभद्रसूरेरिदं धर्मगतं वचनं प्रकरणाऽऽश्रयं, तस्माद्धर्मश्रवणे बहुश्रुतसमीप एव यत्नो विधेयोऽबहुश्रुतेभ्यो हरिभद्राऽऽचार्यवचनार्थानुपलम्भादेवं वचनमाहात्म्यद्वारेण संस्तौति ॥१७॥ षो० १६ विव० ।

धम्मसागर-धर्मसागर-पुं० । कल्पसूत्रोपरि किरणावलिकारके आचार्ये,अनेन च कुमतिकुद्दालाऽऽदयोऽनेके ग्रन्था रचिताः । ते तीव्रभाषानिबद्धा इत्याचार्याणामरुचिपात्रतां गताः । जै० इ० ।

धम्मसार-धर्मसार-पुं० । धर्मोत्कर्षे, " जयणा उ धम्मसारो, जं भणिया वीयरागेहिं । " पञ्चा० ७ विव० । धर्मप्रधानत्वे, " धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ।" आव० ५ अ० । धर्मस्य सारः परमार्थो धर्मसारः । धर्मस्य परमार्थे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । धर्मस्य सारः चारित्रं धर्मसारः । चारित्रे,सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

धम्मसारहि-धर्मसारथि-पुं० । धर्मरथस्य प्रवर्त्तकत्वेन सारथिरिव धर्मसारथिः । यथा-रथस्य सारथी रथं रथिकमश्वांश्च रक्षति, एवं भगवान् चारित्रधर्माङ्गानां संयमाऽऽत्मप्रवचनाऽऽख्यानां रक्षणोपदेशाद् धर्मसारथिः । भ० १ श० १ उ० । जी० । स० । रा० । धर्मस्य स्वपरापेक्षया सम्यक् प्रवर्त्तनपालनदमनयोगतः सारथित्वम् । तद्यथा-सम्यक् प्रवर्त्तनयोगेन परिपाकापेक्षणात्, प्रवर्त्तकज्ञानसिद्धेरपुनर्बन्धकत्वात्, प्रकृत्याऽऽभिमुख्योपपत्तेः । तथा-गाम्भीर्ययोगात्साधुसहकाः

रिप्रासरलुबन्धप्रकामलक्षणाकृतीकारश्रीकत्वोपपत्तेः । एतेन पाल- नायोगः प्रत्युक्तः, सम्यक्प्रवर्त्तनस्य निर्वहणफलत्वात्, अन्यथा सम्यक्त्वमिति समर्थयिवः । एवं दमनयोगेन दान्तो ऽयं धर्मः कर्मवशितया कृतो व्यभिचारी अनिवर्त्तकभावेन नियुक्तः स्वकार्ये स्वाङ्गोपचयकारितया नीतः स्वात्मीयभावं तत्प्रकर्षस्याऽऽत्मप्रत्येन । भावधर्मोऽसौ हि भवत्यैवैनमेवं, तदाद्यस्थानस्याप्येवं प्रवृत्तेरबन्ध्यबीजत्वात् । सुसंवृत्तकाञ्चनरत्नकरण्डकप्राप्तितुल्या हि प्रथमधर्मस्थानप्राप्तिरित्यन्यैरप्यभ्युपगमात्, तदेवं धर्मस्य सारथयो धर्मसारथयः ॥ २३ ॥ ल० । ध० । धर्ममार्गप्रवर्त्तयितरि तीर्थकरे, " धिइमं धम्मसारही । " (१५) उत्त० १६ अ० । कल्प० । यथा सारथिरुन्मार्गे गच्छन्तं रथं मार्गमानयति, एवं भगवन्तोऽपि मार्गभ्रष्टं जनं मार्गे आनयन्ति । अत्र च मेघकुमारदृष्टान्तः । कल्प० १ अधि० १ क्षण । (मेघकुमारकथा ' मेघकुमार ' शब्दे)

धम्मसासण–धर्मशासन–न० । धर्मज्ञाने, दश० १ चू० । धर्मशास्त्रे च । दश० ।

" साहित्यस्य विशारदो यदि परं जानाति सल्लक्षणं,
तर्के कर्कशमानसोऽतिविभुता यद्यस्ति सा ज्योतिषि ।
किञ्चानेककलाऽऽलयोऽपि विकलः प्राणी पर गीयते,
यो जानाति न सर्गमोक्षसुखदं धर्मानुगं शासनम् ॥१॥ " दश० ६ अ० ।

धम्मसाहण–धर्मसाधन–न० । धर्मस्य कर्मानुपादाननिर्जरणलक्षणस्य साधनं हेतुरहिंसाऽऽदिर्धर्मसाधनम् । धर्महेतावहिंसाऽऽदिके, हा० १२ अष्ट० ।

धम्मसिद्धि–धर्मसिद्धि–स्त्री० । धर्मनिष्पत्तौ, " लिङ्गानि धर्मसिद्धेः । " षो० ४ विव० ।

धम्मसिरी–धर्मश्री–पुं० । अस्याश्चतुर्विंशतिकायाः प्रागनन्तकालेनातीतायां चतुर्विंशतिकायां भवे चरमतीर्थकरे, ग० । अस्याः ऋषभाऽऽदिचतुर्विंशतिकायाः प्रागनन्तकालेन याऽतीता चतुर्विंशतिका तस्यां मत्सदृशः सप्तहस्ततनुर्धर्मश्रीनामा चरमतीर्थकरो बभूव । ग०१ अधि० । (तत्कथा ' सावज्जायरिय ' शब्दे)

धम्मसील–धर्मशील–त्रि० । धर्मः शीलं सततमनुष्ठेयं यस्य स धर्मशीलः । धार्मिके, वाच० । धर्मस्वभावे च । सूत्र०२ श्रु०२ अ० ।

धम्मसीलसमुयाचार–धर्मशीलसमुदाचार–त्रि० । धर्मशीलो धर्मस्वभावो धर्मोऽऽत्मकः समुदाचारो यत्किञ्चनानुष्ठानं यस्य सः । धर्मस्वभावाऽऽत्मकानुष्ठाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

धम्मसीह–धर्मसिंह–पुं० । अभिनन्दनजिनस्य पूर्वभवनामधेये, स० । पाटलिपुत्रस्थे स्वनामख्याते क्षत्रियमुनौ, संथा० ।

पाडलिपुत्तम्मि पुरे, चंदयपुत्तस्समं व आसी य ।
नामेण धम्मसीहो, चंदसिरी सो पडिहिऊणं ॥ ६९ ॥

पाटलिपुत्रे नगरे (चन्दगुत्तस्समे व त्ति) चन्द्रगुप्तस्य समः सदृशः सुहृत, समः सुहृदभिधानेषु दर्शनात् । अथवा-चन्द्रगुप्तसमः साम्यत्वादासीद्भूत् नाम्ना धर्मसिंह इति । कथंभूतः ?, (चंदसिरी सो पडहिऊणं) चन्द्रगुप्तश्रीः चन्द्रगुप्तलक्ष्मीकः, (पडहिऊणं ति) प्रहतत्वात् तामेव लक्ष्मीं परित्यज्य, चारित्रं गृहीतवेत्यर्थः ।

ततः किं कृतवानित्याह–

कुल्लयरम्मि पुरवरे, अह सो अब्भुट्ठिओ छिओ धम्मे ।
कासी य गद्धपिट्ठं, पच्चक्खाणं विगयसोगो ॥ ७० ॥

अथ कोल्लयरपुरे स धर्मसिंहाभिधानः क्षत्रियमुनिः, अभ्युत्थितोऽभ्युद्यतः मरणाय, स्थितश्च धर्मे पर्यन्ताऽऽराधनाकृत्यरूपे, (कासी य त्ति) अकार्षीत्, (गद्धपिट्ठं ति) गृध्रपृष्ठाभिधानममाथपतितमोकलेवराऽऽश्रिमध्ये निपतनरूपं (पच्चक्खाणं विगयसोगो त्ति) प्रत्याख्यानमनशनाङ्गीकाररूपं, विगतशोको विगतदैन्य इति गाथार्थः ॥ ७० ॥

अह सो वि चत्तदेहो, तिरियसहस्सेहिँ खायमाणो य ।
सो वि तह खज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ ७१ ॥

अथ स त्यक्तदेहो व्युत्सृष्टशरीरस्तिर्यक्सहस्रैः श्वगृध्रगोमायुकाऽऽदिभिः खाद्यमानश्च, सोऽपि तथा खाद्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थं सम्यगाराधनामित्यर्थः ॥ ७१ ॥ संथा० । धर्मजिनस्य प्रथमभिक्षादायके च । स० ।

धम्मसुअक्खायभावणा–धर्मस्वाख्यातभावना–स्त्री० । भावनाभेदे, सा यथा–

" स्वाऽऽख्यातः खलु धर्मोऽयं, भगवद्भिर्जिनोत्तमैः ।
यं समालम्बमानो हि, न मज्जेद्भवसागरे ॥ १ ॥ "

स्वाख्याततामेवाऽऽह–

" संयमः सूनृतं शौचं, ब्रह्माकिञ्चनता तपः ।
क्षान्तिर्मार्दवमृजुता, क्षान्तिश्च दशधा ननु ॥ २ ॥ "

अत्रायं भावः-संयमाऽऽदिदशविधधर्मप्रतिपादनप्रकारेण भगवतामर्हतां स्वाख्यातधर्मस्यानुप्रेक्षणमेव । धर्मोक्तगुणभावना तदाख्यातृणां भगवतामनुप्रेक्षानिमित्तं स्तुतिरिति । तथा च धर्मकथकाऽर्हन्ति भावनेत्यत्र प्रत्यासन्नम् । तथा–

" पूर्वापरविरुद्धानि, हिंसाऽऽदेः कारकाणि च ।
वचांसि विप्ररूपाणि, व्याकुर्वाणैर्निजेच्छया ॥ ३ ॥
कुतीर्थिकैः प्रणीतस्य, सद्वृत्तप्रतिपन्थिनः ।
धर्मस्य सकलस्यापि, कथं स्वाख्यातता भवेत् ? ॥ ४ ॥
यत्र तत्रसमये क्वापि, दयासत्याऽऽदिपोषणम् ।
दृश्यते तद्वचोमात्रं, बुधैर्हेयं न तत्त्वतः ॥ ५ ॥
यत्प्रोद्दाममदान्धसिन्धुरघटा साम्राज्यमासाद्यते,
यन्निःशेषजनप्रमोदजनकं संपद्यते वैभवम् ।
यत्पूर्णेन्दुसमद्युतिर्गुणगणः संप्राप्यते यत्परं,
सौभाग्यं च विजृम्भते तदखिलं धर्मस्य लीलायितम् ॥ ६ ॥
यन्न प्लावयति क्षितिं जलनिधिः कल्लोलमालाऽऽकुलो,
यत्पृथ्वीमखिलां धिनोति सलिलाऽऽसारेण धाराधरः ।
यच्चन्द्रोष्णकरौ जगत्युदयतः सर्वान्धकारच्छिदे,
तन्निःशेषमपि ध्रुवं विजयते धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥ ७ ॥
अर्हता कथितो धर्मः, सत्योऽयमिति भावयन् ।
सर्वसंपत्करे धर्मे, धीमान् दृढतरो भवेत् ॥८॥ " ध० ३ अधि० ।

धम्मसुइ–धर्मश्रुति–स्त्री० । अर्हत्प्रणीतधर्माऽऽकर्णने, उत्त० ३ अ० ।
" किंकरोमि?इन्धनगा–द्दधिको धर्मश्रुती रागः । " षो० ११ विव० । आ० क० ।

धम्मसेण–धर्मसेन–पुं० । भगवत ऋषभदेवस्य शतपुत्रेषु स्वनामख्यातेऽन्यतमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण० । चन्द्रप्रभस्य सप्तमभवदेवस्य पूर्वभवनामधेये, स० । ति० ।

धम्मसेणगणिमहत्तर–धर्मसेनगणिमहत्तर–पुं० । वसुदेवहिण्डीग्रन्थस्य द्वितीयतृतीयखण्डयोः कर्त्तरि, जै० इ० ।

धम्महिय–धर्महित–त्रि० । धर्माय हितमुपकारकं धर्महितम् । धर्मोपकारके, उत्त० पाइ० २ अ० ।

धम्माइगर–धर्माऽऽदिकर–पुं० । धर्मो द्विभेदः–श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्च । श्रुतधर्मेणेहाधिकारः, तस्य करणशीलो धर्मादिकरः । आव० ५ अ० । श्रुतधर्मस्य सूत्रतः प्रथमकरणशीले तीर्थकरे, ध० ४ अधि० । प्रसङ्गे, भ० । आव० ५ अ० । आ० चू० । स० ।

धम्माणुओग–धर्मानुयोग–पुं० । धारयति दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वमिति धर्मः, तस्मिन् धर्मे धर्मविषयेऽनुयोगो धर्मानुयोगः । उत्तराध्ययनाऽऽदिप्रकीर्णकरूपेऽनुयोगभेदे, ओघ० । धर्मकथानुयोग उत्तराध्ययनाऽऽदिक इति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

धम्माणुट्ठाण–धर्मानुष्ठान–कुशलानुष्ठाने, ध० १ अधि० ।

"अन्ने भणंति तिविहं, सययविसयभावजोगओ णवरं ।
धम्मम्मि अणुट्ठाणं, जहुत्तर पहाणरूवं तु ॥१॥
एअं च ण जुत्तखम, णिच्छयणयजोगओ जओ विसए ।
भावेण य परिहीणं, धम्माणुट्ठाणमो किह णु ? ॥२॥
ववहारओ उ जुज्जइ, तहा तहा अपुणबंधगाईसुं ॥" इति ।

एतदर्थो यथा–अन्ये आचार्या भणन्ति, त्रिविधं त्रिप्रकारं, सततविषयभावयोगतः, योगशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् सततयोगाऽऽदिपदानां सतताभ्यासाऽऽदौ लाक्षणिकत्वात् सतताभ्यासविषयाभ्यासभावाभ्यासयोगादित्यर्थः । नवरं केवलं, धर्मेऽनुष्ठानं यथोत्तरं प्रधानरूपं, तुरेवकारार्थः । यद्युत्तरं तदेव ततः प्रधानमित्यर्थः । तत्र सतताभ्यासो नित्यमेव मातापितृविनयाऽऽदिवृत्तिः । विषयाभ्यासो मोक्षमार्गनायकेऽर्हल्लक्षणे पौनःपुन्येन पूजनाऽऽदिप्रवृत्तिः । भावाभ्यासो भावानां सम्यग्दर्शनाऽऽदीनां भावाङ्गेन भूयो भूयः परिशीलनम् ॥ १ ॥ एतच्च त्रिविधमनुष्ठानं न युक्तिक्षमं नोपपत्तिसहं, निश्चयनययोगेन निश्चयनयाभिप्रायेण यतो मातापित्रादिविनयरूपे सतताभ्यासे सम्यग्दर्शनाऽऽद्याऽऽराधनारूपे धर्मानुष्ठानं दूरापास्तमेव, विषय इत्यनन्तरमपिगम्यः, विषयेऽपि अर्हदादिपूजालक्षणे विषयाभ्यासेऽपि, भावेन भवविरत्याऽऽदिना परिहीणं धर्मानुष्ठानं,कथं नु ?,न कथञ्चिदित्यर्थः । ओकारः प्राकृतत्वात् । परमार्थोपयोगरूपत्वाद्धर्मानुष्ठानस्य, निश्चयनयमते भावाभ्यास एव धर्मानुष्ठानं, नान्यद् द्वयमिति निगर्वः ॥ २ ॥ व्यवहारतस्तु व्यवहारनयादेशात्तु, युज्यते द्वयमपि, तथा तथा तेन तेन प्रकारेणापुनर्बन्धकाऽऽदिषु अपुनर्बन्धकप्रभृतिषु, तत्रापुनर्बन्धकः पापं न तीव्रभावात्करोतीत्याद्युक्तलक्षणः । आदिशब्दादपुनर्बन्धकस्यैव विशिष्टोत्तरावस्थाविशेषभाजौ मार्गाभिमुखमार्गपतितौ अविरतसम्यग्दृष्ट्यादयश्च गृह्यन्त इति । ध० १ अधि० ।

धम्माणुण्ण–धर्मानुज्ञ–त्रि० । धर्मे श्रुतचारित्रलक्षणेऽनुज्ञाऽनुमोदनं यस्य स धर्मानुज्ञः । दशा० ६ अ० । धर्मे कर्त्तव्येऽनुज्ञाऽनुमोदनं यस्य स धर्मानुज्ञः । ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । धर्मानुमोदितरि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

धम्माणुय–धर्मानुग–त्रि० । धर्मं श्रुतचारित्ररूपमनुगच्छतीति धर्मानुगः । धर्मानुयायिनि, दशा० ६ अ० । ज्ञा० १ श्रु० । सूत्र० ।

धम्माणुराग–धर्मानुराग–पुं० । धर्मबहुमाने, भ० १ श० ७ उ० ।

धम्माणुरागरत्त–धर्मानुरागरक्त–त्रि० । धर्मानुरागो धर्मबहुमानः, तेन रक्त इव यः स तथा । धर्मबहुमानानुरागिणि, भ० १ श० ७ उ० ।

धम्माणुरागि–(ण्) धर्मानुरागिन्–त्रि० । श्रुतचारित्रलक्षणधर्मानुरक्ते, पञ्चा० ७ विव० । धर्माभिलाषिणि च । दर्श० १ तत्त्व ।

धम्माधम्मट्ठाण–धर्माधर्मस्थान–न० । उपशमप्रधानानुपशमप्रधाने क्रियास्थानस्य तृतीये भेदे,सूत्र० २ श्रु० २ अ० । (धर्माधर्मयुक्तं तृतीयं स्थानमाश्रित्य 'पुरिसविजयविभंग'शब्दे वक्ष्यते)

धम्मायरण–धर्माऽऽचरण–न० । धर्मानुष्ठाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

धम्मायरिय–धर्माऽऽचार्य–पुं० । श्रुतचारित्रधर्माऽऽचारसाधौ, ध०२ अधि० । धर्मः श्रुतधर्मस्तत्प्रधानः प्रणायकत्वेनाऽऽचार्यो धर्माचार्यः । मतोपदेष्टरि, स्था० ७ ठा० । " धम्मायरियं धम्मोवदेसयं समणं भगवं महावीरं वंदामो ।" भ० २ श० १ उ० । धर्मदाताऽऽचार्यो धर्माचार्यः । दर्श० ३ ता० १ स० । धर्मदातर्याचार्ये,ध०२ अधि० । धर्मप्रतिबोधके, स्था० ४ ठा० ३ उ० । बोधिलाभहेतुभूते गुरौ च । पञ्चा०१ विव० । "धम्मो जेणुवइट्ठो,सो धम्मगुरू गिही व समणो वा ।" स्था०४ठा० ३ उ० ।

धम्मायार–धर्माचार–पुं० । स्त्रीणां चतुष्षष्टिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, कल्प० ७ अधि० १ क्षण ।

धम्माराम–धर्माराम–पुं० । धर्मे श्रुतधर्माऽऽदावाक्रियाभिव्याप्त्या रमते रतिमान् भवतीति धर्मारामः । उत्त० २ अ० । धर्मविषयकरतिमति साधौ, उत्त० १६ अ० । धर्म एव सततमानन्दहेतुतया प्रतिपाद्यतया वाऽऽरामो धर्मारामः । उत्त०२ अ० । धर्म आराम इव पापसंतापोपतप्तानां जन्तूनां निर्वृतिहेतुतया अभिलषितफलप्रदानतश्च धर्माऽऽरामः । धर्माऽऽत्मके आरामे, "धम्मारामे चरे भिक्खू, धिइमं धम्मसारही । धम्मारामे रए दंते, बंभचेरसमाहिए ॥१॥ " उत्त० १६ अ० ।

धम्मारामरय–धर्माऽऽरामरत–त्रि० । धर्माऽऽरामे रत आसक्तिमान् धर्मारामरतः । धर्माऽऽरामाऽऽसक्ते,उत्त०१६ अ० । धर्मे आ समन्तात् रमन्त इति धर्मारामाः साधवस्तेषु रतो धर्माऽऽरामरतः । साधुभिः सह युक्ते च । उत्त० १६ अ० ।

धम्माराहग–धर्माऽऽराधक–पुं० । धर्मानुकूलवर्त्तिनि, स्था० २ ठा० ४ उ० । सूत्र० ।

धम्माराहण–धर्माराधन–न० । धर्माऽऽसेवने, स्था० २ ठा० ४ उ० । " जे केइ महापुरिसा, धम्माराहणसहा इहं लोए ।" चारित्राऽऽराधनसमर्थाः । पं० व० ३ द्वार ।

धम्मावाय–धर्मवाद–पुं० । धर्माणां वस्तुपर्यायाणां धर्मस्य वा चारित्रस्य वादो धर्मवादः । दृष्टिवादे, स्था० १० ठा० ।

धम्माहिगारि (ण्)–धर्माधिकारिन्–पुं० । धर्मग्रहणयोग्ये धार्मिके, ध० १ अधि० । पञ्चा० । पं० व० ।

धम्मि (ण्)-धर्मिन्-त्रि० । धर्मोऽस्ति यस्याऽसौ धर्मी । औ० । धर्म मत्वर्थे इनिः । पुण्यवति, वस्तुगुणस्वरूपधर्मयुक्ते, वाच० । आचा० ।

धम्मिट्ठ-धर्मिष्ठ-त्रि० । अतिशयेन धर्मी । इष्ठन् इनेर्लुक् । अत्य-न्तधर्मवति, वाच० । रा० । धर्मबहुले, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । धर्मोऽस्ति यस्य स धर्मी, स एवान्येभ्योऽतिशयवान् धर्मि-ष्ठः । औ० ।

धर्मेष्ट-त्रि० । धर्मः श्रुतरूप एवेष्टो वल्लभः पूजितो वा यस्य स धर्मेष्टः । प्रियधर्मे, औ० ।

धर्मीष्ट-त्रि० । धर्मिणामिष्टो धर्मीष्टः । धर्मिणां वल्लभे, औ० ।

धम्मिड्ढि-धर्मर्द्धि-स्त्री० । ऋद्धिभेदे, " का भवइ धम्मिड्ढी, का भवइ धम्मकज्जेसु । " ध० २ अधि० ।

धम्मिपरिणाम-धर्मिपरिणाम-पुं० । धर्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तावु-त्तरधर्मोत्पत्तिर्धर्मिपरिणामः । परिणामभेदे, यथा-सुवर्णस्य धर्मिणः पिण्डरूपधर्मपरित्यागेन घटरूपधर्मान्तरस्वीकारः । द्वा० २४ द्वा० ।

धम्मिय-धार्मिक-त्रि० । धर्म चरति सततमनुशीलयति ठक् । धर्मशीले, वाच० । "धम्मियमाहणभिक्खुए सिया ।" धार्मिका धर्माऽऽचारशीलाः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । धर्मेण श्रुतचा-रित्ररूपेण चरति धार्मिकः । साधौ, स्था० २ ठा० ४ उ० । द्वा० । सूत्र० । रा० । औ० । भ० । धर्मे श्रुतचारित्राऽऽत्मके प्रवृत्तः स्था० ३ ठा० ३ उ० । धर्मनिरते, द्वा० ३ द्वा० । " न हिंस्यात्सर्वभू-तानि, स्थावराणि चराणि च । आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स धार्मिकः ॥१॥" अनु० । "एवं परिहायमाणो, लोगे चंदो व्व कालपक्खम्मि । जे धम्मिया मणुस्सा, सुजीवियं जीवियं तेसिं ॥१॥" तं० । धर्मः प्रयोजनमस्येति धार्मिकः । स्था० ३ ठा० १ उ० । धर्मार्थे, दशा० १० अ० । धर्मे नियुक्तो धार्मिकः । औ० । धर्मेण नियुक्तं धार्मिकम् । धर्मप्रतिबद्धे, धार्मिको धर्मप्रतिबद्धत्वात्, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । धार्मिकस्य संयतस्येदं धार्मिकम् । धार्मिकसम्बन्धिनि च । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

धर्मित-त्रि० । अतिशयेन सखके, " धम्मयसवण्णलवणकवइय-अप्पीलियवरलवणवज्जेयवयवज्जगलवरभूसणविराइयं ।" धर्मिता-ऽऽऽयुधाः शस्त्रा एकार्था एव समस्तात्मकप्रयोजनार्थाः । भेदो यथैवामस्ति स च कल्पितोऽवसेयः । औ० ।

धम्मियकरण-धार्मिककरण-न० । धार्मिकस्य संयतस्येदं धार्मि-कम्, कृतिः करणमनुष्ठानम् । धार्मिककरणभेदे, स्था० ३ठा०४उ० ।

धम्मियजाण-धार्मिकयान-न० । धर्मार्थगमनसाधने याने, "धम्मियं जाणपवरं उवट्ठवेह ।" धर्मार्थ यानं गमनं येन तद्धर्म-यानं, तन्मध्ये प्रवरं श्रेष्ठं शीघ्रगमनत्वाऽऽदिगुणोपेतमिति । दशा० १० अ० । द्वा० । अन्त० ।

धम्मियजायणा-धार्मिकयाचना-स्त्री० । धर्मकथापूर्वके याचने, आचा० । " धम्मियाए जायणाए जाएज्जा । " धर्मकथनपूर्वकं लज्जाविर्गतो याचेत । आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ० ।

धम्मियणाडय-धार्मिकनाटक-न० । जिनजन्माद्युत्सवभरनति-क्रमणाऽऽदिधर्मसम्बद्धे नाटके, पञ्चा० ९ विव० ।

धम्मियववसाय-धार्मिकव्यवसाय-पुं० । व्यवसायभेदे, प्रति० ।

धम्मियाधम्मियकरण-धार्मिकाधार्मिककरण-न० । धार्मिकस्य संयतस्येदं धार्मिकमेवमितरच्चाऽऽमधार्मिकोऽसंयतस्तस्य कर-णम् । अथवा धर्मे भवं धर्मो वा प्रयोजनमस्येति धार्मिकम् । विपर्ययेस्त्वितरत्करणं धार्मिकाधार्मिककरणम् । करणभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

धम्मियाधम्मियोवक्कम-धार्मिकाधार्मिकोपक्रम-पुं० । धार्मिक-श्चासौ देशतः संयमरूपत्वादधार्मिकश्च तथैवासंयमरूपत्वाद् धार्मिकाधार्मिकः । उपक्रम उपायपूर्वक आरम्भो धार्मिका-धार्मिकोपक्रमः । देशविरताऽऽरम्भरूपे उपक्रमभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

धम्मियाराहणा-धार्मिकाऽऽराधना-स्त्री० । आराधनमाराधना ज्ञानाऽऽदिवस्तूनोऽनुकूलवर्त्तित्वं, निरतिचारज्ञानाऽऽद्यासेवनेत्यर्थः । धर्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरन्तीति धार्मिकाः सा-धवस्तेषामियं धार्मिकी । सा चासावाराधना चेति निरतिचार-ज्ञानाऽऽदिपालना धार्मिकाऽऽराधना । आराधनाभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० । " धम्मियाराहणा दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-सुयधम्मा-राहणा चेव, चरित्तधम्माराहणा चेव । " स्था० २ ठा० ४ उ० । विराधनाभेदेऽऽऽराधनाभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

धम्मियोवक्कम-धार्मिकोपक्रम-पुं० । धर्मे श्रुतचारित्राऽऽत्मके भवः, स वा प्रयोजनमस्येति धार्मिकः, उपक्रमणमुपक्रम उपा-यपूर्वक आरम्भो धार्मिकोपक्रमः । श्रुतचारित्राऽऽत्मकधर्माऽऽत्मा-ऽऽत्मके उपक्रमभेदे, (स्था०) धार्मिकस्य संयतस्य यत्प्रारम्भा-ऽऽत्मके स्वकर्तृकस्य कार्यस्यानुपक्रमः स धार्मिक एवोपक्रमः । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

धम्मिल्ल-धम्मिल्ल-पुं० । संयतेषु केशेषु, वाच० । " ध-म्मिल्लो केसहत्थयो भण्णइ " (५७) को० ५७ गाथा । स्वनामख्याते मार्गे, वाच० ६ अ० । तं० । (तत्कथा धम्मिल्लहिण्डकात् । समासतः, ' बंभदत्त ' शब्देऽपि) कुशलानन्दसेनसार्थवाहस्य सुधर्मस्वामिनः पितरि, स्वनामख्याते विप्रे च । कल्प० २ अधि० ८ क्षण । आ० म० । आ० चू० । विघटितसमवाये च । त्रि० । ' सर्वविरतसुसाधितसुसं-यतीदमिल्लतरिव्वा । ' धम्मिल्लता निर्परिणाममाऽऽधाः संयमविशाखातात् शिरोजा इति अं० २ वक्ष० ।

धर्मेसर-धर्मेश्वर-पुं० । भारतवर्षेऽतीतोत्सर्पिण्यां भवे जि-नेश्वरस्य पर्याये विंशतितमे जिने, प्रव० ७ द्वार ।

धम्मुज्जय-धर्मोद्यत-त्रि० । धर्मप्रवृत्तिवति, जीवा० १२ अधि० ।

धम्मुत्तर-धर्मोत्तर-त्रि० । धर्मैर्गुणैरुत्तरो धर्मोत्तरः । द्वा० श्रु० ५ अ० । धर्मः क्षमाऽऽदिरूपस्तदुत्तरस्तत्प्रधानो धर्मो-त्तरः । बो० १० विव० । धर्मप्रधाने सत्यक्षमाऽऽदिके, ध-र्मप्राधान्ये, न० । " धम्मुत्तरं वड्ढउ । " धर्मोत्तरं चारित्रधर्मो-त्तरं चारित्रधर्मप्राधान्यं यथा स्यात् । ध० २ अधि० । अ० । वाच० । न्यायबिन्दुटीकाकारके बौद्धाऽऽचार्ये, अयं सौगतः वीरसंवत् ८८४ वर्षे आसीत् । जै० इ० ।

धम्मुत्तरखंति-धर्मोत्तरक्षान्ति-स्त्री० । धर्मः क्षमाऽऽदिरूपस्त-दुत्तरा तत्प्रधाना क्षान्तिर्धर्मोत्तरक्षान्तिः । क्षान्तिभेदे, बो० १० विव० ।

धम्मेक्कणिट्ठ-धर्मैकनिष्ठ-त्रि० । धर्मतत्परे, षो० १२ विव० ।

धम्मोवएस-धर्मोपदेश-पुं० । धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः, तस्योपदेशो देशना । धर्मदेशनायाम्,'धर्मोपदेशश्रवणम्' । ध०२ अधि०। आचाराङ्ग-लोकसाराध्ययनपञ्चमोद्देशकाऽऽदिमसूत्रे ह्रदोपमेनाऽऽचार्येण भाव्यमित्यत्र वृत्तौ धर्ममाश्रित्य चतुर्भङ्ग्यां प्रत्येकबुद्धास्तृतीयभङ्गपातितास्तुर्यभङ्गस्था इत्युक्तप्रकारेण सर्वेऽपि प्रत्येकबुद्धा धर्मोपदेशं न ददतेऽतत्कथं संजाघटीति ?। यतः-ऋषिभाषितसूत्रे-" पत्तेयबुद्धसाहू, नमिमो जे भासिउं सिवं पत्ता । पणयालीसं इसिभा-सियाइँ अज्झयणपवराइं " ॥ १ ॥ इतिगाथायां प्रत्येकबुद्धानामध्ययनमुक्तमिति किमत्र तत्त्वमिति प्रश्ने ?, उत्तरम्-आचाराङ्गवृत्त्यनुसारेण प्रत्येकबुद्धाः सम्प्रदायेन धर्मोपदेशं न ददतीत्यवसीयते । ऋषिभाषिते तु तेषामध्ययनप्रणयनरूपधर्मोपदेश इति न किमप्यनुपपन्नम् , इति । ३८३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

धम्मोवएसय-धर्मोपदेशक-त्रि० । धर्मदेशके, ध० २ अधि० ।

धम्मोवओग-धर्मोपयोग-पुं० । धर्मस्यैहिकसंव्यतावोधे, पं० सु० ४ सूत्र ।

धम्मोवगरण-धर्मोपकरण-न० । संयमोपकरणे, आचा० ।

धर्मोपकरणस्य च न परिग्रहत्वम्-

परिग्गहाओ अप्पाणं अवक्कसेज्जा ।(९०)

परिगृह्यत इति परिग्रहो धर्मोपकरणातिरिक्तमुपकरणं,तस्मादात्मानमवष्वष्केदपसर्पयेत् । अथवा-संयमोपकरणमपि मूर्च्छया परिग्रहो भवति; "मूर्च्छा परिग्रहः" (तत्त्वा०७ अ०१७ सूत्र) इति वचनात् । तत आत्मानं परिग्रहादपसर्पयन्नुपकरणे तुरगवन्मूर्च्छां न कुर्यात् । ननु च यः कश्चिद्धर्मोपकरणाऽऽदिपि परिग्रहो, न स चित्तकालुष्यमृते जयति । तथाहि-आत्मीयोपकारिणि रागः, उपघातकारिणि च द्वेषः, ततः परिग्रहे सति रागद्वेषौ नैदिष्टौ, ताभ्यां कर्मबन्धः, तत्कथं न परिग्रहो धर्मोपकरणम् ?। उक्तं च-" ममाहमिति चैष या-वदभिमानदाहज्वरः, कृतान्तमुखमेव ता-वदिति न प्रशान्त्युन्नयः । यशःसुखपिपासितैरयमसावनर्थोत्तरैः, परैरपसदैः कुतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते ॥ १ ॥ " नैष दोषः, न हि धर्मोपकरणे ममेदमिति साधूनां परिग्रहाग्रहयोगोऽस्ति । तथा ह्यागमः-" अवि अप्पणो वि देहम्मि, णायरंति ममाइयं । " यदिह परिगृहीतं कर्मबन्धायोपकल्प्यते, स परिग्रहो, यत्तु पुनः कर्मनिर्जरणार्थं प्रभवति, तत्परिग्रह एव न भवतीति ।

आह च-

अण्णहा णं पासए परिहरिज्जा,

एस मग्गे आरिएहिँ पवेइए ॥ ९१ ॥

(अण्णहा णं इत्यादि) णमिति वाक्यालङ्कारे अन्यथेत्यन्येन प्रकारेण,पश्यकः सन्, परिग्रहं परिहरेत् । यथाहि-अविदितपरमार्था गृहस्थाः सुखसाधनाय परिग्रहं पश्यन्ति, न तथा साधुः । यथाहि-अयमत्राऽऽशयः-आचार्यसत्कमिदमुपकरणं, न ममेति रागद्वेषमूलत्वात्परिग्रहाग्रहयोगोऽत्र निषेध्यो, न धर्मोपकरणं, तेन विना संसारार्णवपारागमनादिति । उक्तं च-" साध्यं यथाकथञ्चित्, स्वल्पं कार्यं महच्च न तथेति । सुवनभृते नहि शक्यं, पारं गन्तुं समुद्रस्य ॥ १ ॥ " अत्र चाऽऽर्हताऽऽभासैर्बोटिकैः सह महान् विवादोऽस्तीत्यतो विवक्षितमर्थं तीर्थकराभिप्रायेणापि सिसाधयिषुराह-(एस मग्गे इत्यादि) धर्मोपकरणं न परिग्रहायेत्यनन्तरोक्तो मार्गः, आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यास्तीर्थकृतः, तैः प्रवेदितः कथितो, न तु यथा बोटिकैः कुण्डिकानाड्डिकालवणिकाऽश्ववालधिकाऽऽदिस्वकल्पविरचितो मार्ग इति । न वा यथा मौद्गलिस्वातिपुत्राभ्यां शौद्धोदनिं स्वर्जीकृत्य प्रकाशितः । इत्यनया दिशा अन्येऽपि परिहार्या इति । इह तु स्वशास्त्रगौरवमुत्पादयितुमार्यैः प्रवेदितः । (९१) आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० ।

धम्मोवग्गहदाण-धर्मोपग्रहदान-न० । ज्ञानाभयप्रदातृणा--माहाराऽऽद्युपग्रहः । इत्यैवैर्दीयते शुद्ध--स्तद्धर्मोपग्रहं स्मृतम् " ॥ १ ॥ इत्युक्तलक्षणे दानभेदे, ध० २ अधि० ।

धम्मोवाय-धर्मोपाय-पुं० । प्रवचने, तदन्तरेण धर्मस्यासम्भवात् । चतुर्दशसु पूर्वेषु, आ० म० १ अ० १ खण्ड । सामायिकाऽऽदिके च,आ० म० १ अ० १ खण्ड । (धर्मोपायव्याख्या 'तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६१ पृष्ठे गता)

धम्मोवायदेसग-धर्मोपायदेशक-पुं० । दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, तस्योपायो द्वादशाङ्गः प्रवचनम् । अथवा-पूर्वाणि देशयतीति देशकः,धर्मोपायस्य देशको धर्मोपायदेशकः । गणधरे, चतुर्दशपूर्वविस्तु,आ० म० १ अ० १ खण्ड । चतुर्विंशतिसंख्याकेषु जिनेषु, आ० म० । " धम्मोवाओ पवयण-महवा पुव्वाइँ देसया तस्स । सव्वजिणाण गणहरा, चोद्दसपुव्वी व जे जस्स ॥१॥ " आ० म० १ अ० १ खण्ड । (अस्या गाथाया व्याख्या ' तित्थयर ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६१ पृष्ठे गता)

धय-ध्वज-'झय' शब्दार्थे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । को० ।

धयण-देशी-गृहे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धयरट्ठ-धार्तराष्ट्र-पुं० । हंसे, " धयरट्ठा कायंबा । " को० ४० गाथा ।

धर-धृ-पतने, भ्वादि०-आ०-अक०-अनिट् । " ऋवर्णस्यारः " ॥ ८ । ४ । २३४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण धातोरन्त्यस्य ऋवर्णस्य अरोऽऽदेशः । 'धरइ ।' प्रा० ४ पाद । धरते । अधृत । वाच० । स्थितौ अक० । धृतौ सक०-भ्वादि०-उभ०-अनिट् । धरति, ते, अधार्षीत् अधृत । वाच० । मृते,दे०ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धर-त्रि० । ध्रियते,धरतीति वा धरः, "लिहाऽऽदिभ्यः" ॥५।१। ५०॥ इत्यच्प्रत्ययः । सं० । धारके,औ० । 'धरइ ।' प्रा० ४ पाद । प्रज्ञा० । पर्वते, कूर्मराजे, वसुभेदे, कार्पासतूले च । वाच० । पद्मप्रभस्य षष्ठस्य जिनस्य पितरि कौशाम्बीवास्तव्ये स्वनामख्याते नृपे, आव० १ अ० । स० । स्था० । अस्यामवसर्पिण्यामैरवतवर्षजये विंशतितमे जिने, स० । पर्वते, को० ४० गाथा ।

धरम-देशी-कार्पासे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धरण-धरण-पुं० । धृ०-युच् । पर्वतभेदे, लोके, गुणे, धान्ये, दिवाकरे, सेतौ च । वाच० । दक्षिणनागकुमारनिकायेन्द्रे, स्था० ४ ठा० १ उ० । ति० । द्वी० । प्रज्ञा० । भ० । शालिभावतीविजयस्थवीतशोकाराजधानीस्थस्य महाबलस्य राजपुत्रस्य स्वनामख्याते षष्ठवयस्ये मित्रे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । द्वारवतीवास्तव्येषु समुद्रविजयाऽऽदिषु दशसु दशार्हेष्वन्यतमे दशार्हे, अन्त०१ श्रु०१ वर्ग१ अ० । स० । आनिक्षेपे,ओघ० । षोडशकल्पमा-

षका ऽऽत्मके धरिमप्रमाणभेदे, षोडशरूप्यमाषका एकं धरणमिति । ज्यो० २ पाहु० । अधमर्णाऽऽदिग्थो लभ्यद्रव्यग्रहणार्थं अनुकूलपूर्वके उपवेशने च । न० । धरणं अभ्यद्रव्यग्रहणार्थं अनुकूलपूर्वकमुपवेशनम् । ध० २ अधि० । नागकुमारेन्द्रे, स्था० ।

धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स णागकुमाररण्णो धरणप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दसगाउसयाइं उव्वेहेणं मूले, दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं धरणस्स णं० जाव णागकुमाररण्णो कालवालस्स महारण्णो कालप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एवं चेव० जाव संकवालस्स भूयाणंदस्स वि, एवं लोगपालस्स वि, से जहा धरणस्स । स्था० १० ठा० ।

धरणग–धरणक–न० । रोधने, धरणकं रोधनमपकारिणामधमर्णाऽऽदीनां च । प्रव० ३८ द्वार । ध्रियते येन तद्धरणम्, धरणमेव धरणकम् । येन धृत्वा तोल्यते तस्मिन् तोलनसाधने वस्तुनि, ज्यो० २ पाहु० ।

धरणप्पभ–धरणप्रभ–पुं० । धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य स्वनामख्याते उत्पातपर्वते, स्था० १० ठा० ।

धरणा–धरणा–स्त्री० । मगधदेशस्थायां स्वनामख्यातायां राजधान्याम्, यत्राऽला देवी । ज्ञा० २ श्रु० ३ वर्ग १ अ० ।

धरणिंद–धरणेन्द्र–पुं० । नागराजे, "णागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठे ।" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । विम्बपुरस्थे स्वनामख्याते राजनि, ग० २ अधि० । (तत्कथा 'फासिंदिय' शब्दे वक्ष्यते) श्रीपार्श्वनाथप्रसादात्सर्पजीवो नमस्कारं श्रुत्वा मौलो धरणेन्द्रो जातः, किं वा सामानिकः, तथोपसर्गावसरे समागतस्स मौलः, किं वाऽन्य इति प्रश्ने, उत्तरम्–सर्वत्राक्षरानुसारेण मौलो धरणेन्द्रो ज्ञातो नास्तीति । १४७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

धरणि–धरणि–स्त्री० । धृ–अनि०–वा ङीप् । भूमौ, स० ११ सम० । संथा० । सू०प्र० । चं०प्र० । "मही मेइणी धरा धरणी ।" को० । वासुपुज्य (१२) जिनस्य प्रथमाऽऽर्यिकायाम्, प्रव० ६ द्वार । स० । "धरणी य वासुपुज्जे ।" ति० । कन्दविशेषे, कन्दाणौ, वनकन्दे च । वाच० ।

धरणिखील–धरणिकील–पुं० । धरण्याः पृथिव्याः कीलक इव धरणिकीलकः । मेरौ, सू० प्र० ५ पाहु० । चं० प्र० ।

धरणितल–धरणितल–न० । महीपीठे, संथा० । सूत्र० । ज्ञा० ।

धरणितलगमणतुरितसंजणितगमणप्पयार–धरणितलगमनत्वरितसंजनितगमनप्रचार–त्रि० । धरणितलगमनाय भूतलप्राप्तये त्वरितः शीघ्रं संजनित उत्पादितो गमनप्रचारो गतिक्रियाप्रवृत्तिर्येन स तथा । भूतलप्राप्तये शीघ्रोत्पादितगतिक्रियाप्रवृत्तौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

धरणितलगमणतुरितसंजणितमणप्पयार–धरणितलगमनत्वरितसंजनितमनःप्रचार–त्रि० । भूतलप्राप्तये शीघ्रोत्पादितमनःप्रवृत्तौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

धरणितलवेणिभूय–धरणितलवेणिभूत–त्रि० । धरणितलस्य वेणिभूतो वनिताशिरसः केशबन्धविशेष इव यः कृष्णत्वदीर्घत्वश्लक्ष्णत्वप्रशस्तत्वाऽऽदिगुणत्वात् स धरणितलवेणिभूतः । धरण्याः केशबन्धविशेष इव प्रतीयमाने सर्पाऽऽदौ, उपा० २ अ० । स० ।

धरणिधर–धरणिधर–पुं० । धरणिं धरति । धृ–अच् । पर्वते, विष्णौ, कच्छपे च । वाच० । विमल (१३) जिनस्य स्वनामख्यातायां प्रथमाऽऽर्यिकायाम्, स्त्री० । स० । प्रव० ।

धरणिसिंग–धरणिशृङ्ग–पुं० । धरण्याः शृङ्गमिव धरणिशृङ्गः । मेरौ, चं० प्र० ५ पाहु० । सू० प्र० ।

धरणी–धरणी–स्त्री० । 'धरणि' शब्दार्थे, स० ।

धरणीखील–धरणीकील–पुं० । 'धरणिकील' शब्दार्थे, सू० प्र० ५ पाहु० ।

धरणीतल–धरणीतल–न० । 'धरणितल' शब्दार्थे, संथा० ।

धरणीधर–धरणीधर–पुं० । 'धरणिधर' शब्दार्थे, स० ।

धरा–धरा–स्त्री० । धृ–अच् । पृथिव्याम्, गर्भाऽऽशये जरायौ, मेदोवहायां नाड्यां च । वाच० । को० २१ गाथा ।

धराहर–धराधर–पुं० । धरां धारयति धृ–अच् । पर्वते, धराहरूपे विष्णौ च । वाच० । वराटविषयस्थे स्वनामख्याते पुरे, न० । यत्र वसन्तसेनो गृहपतिः । दर्श० ४ तत्त्व । (तत्कथा "दाण" शब्दे वक्ष्यते)

धरिज्जंत–ध्रियमाण–त्रि० । धारणविषयीक्रियमाणे, "उत्तेणं धरिज्जमाणेणं ।" प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । औ० ।

धरिज्जमाण–ध्रियमाण–त्रि० । 'धरिज्जंत' शब्दार्थे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

धरिणी–धरिणी–स्त्री० । पृथिव्याम्, को० २७ गाथा ।

धरिम–धरिम–न० । तुलाद्रव्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विपा० । उन्मानप्रमाणभेदे, ज्यो० २ पाहु० । स्था० । धरिमं मञ्जिष्ठाऽऽदीनि । आ० चू० ६ अ० । ज्ञा० । उत्त० । धरिमं यत्तुलाधृतं सद् व्यवह्रियत इति । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

धरिमप्पमाण–धरिमप्रमाण–न० । प्रमाणभेदे, ज्यो० ।

धरिमप्रमाणमाह–

चत्तारि य मधुरतण-फलाणि सो से (से) असरिसवो एक्को ।
सोलस य सरिसवा पुण, हवंति मासयफलं एगं ॥
गुंजा फलाणि दोन्नि उ, रुप्पियमासो हवइ एक्को ।
सोलस य रुप्पिमासो, एक्को धरणो हवेज्ज संखित्तो ॥
अड्ढाइज्जा धरणा, य सुवण्णो सो य पुण करिसो ।
करिसा चत्तारि पलं, पलाणि पुण अद्धतेरस उ पत्थो ॥
भारो य तुला वीसं, एस विही होइ धरिमस्स ॥

चत्वारि मधुरतृणफलानि मधुरतृणतन्दुलाः स श्वेतविषये सकलजगत्प्रसिद्ध एकः श्वेतसर्षपो भवति । षोडश च श्वेतसर्षपा एकं माषफलं धान्यमाषफलं, द्वे धान्यमाषफले एकं भवति गुञ्जाफलं, द्वे च गुञ्जाफले एको रूप्यमाषः, कर्षमाष इत्यर्थः । षोडश च रूप्यमाषका एकं धरणम् । अर्द्धतृतीयानि धरणानि एकः सुवर्णः, स एव

षेकः सुवर्णः कर्ष इत्युच्यते । चत्वारः कर्षाः पलम्, अर्द्धतृतीयानि पलानि सार्द्धानि अर्द्धपलानि प्रस्थः, पलशतिका तुला, विंशतितुला भारः, एष पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शितो धरिमप्रमाणविषयो विधिः । तदेवमुक्तो धरिमप्रमाणविधिः । ज्यो० २ पाहु० ।

धरिस-धृष्-संहतौ अक० । हिंसायां सक०-स्वादि०-पर०-सेट् । "धृषाऽऽङ्गीत्नामरिः" ॥ ८ । ४ । २३५ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण ऋवर्णस्यारिः । प्रा० ४ पाद । 'धरिसइ ।' धर्षति । प्रागल्भ्ये, स्वादि०-पर०-अक०-सेट् । धृष्णोति । अधार्षीत् । संघट्टने, चुरा०-आत्म०-अक०-सेट् । धर्षयते । अदीधृषत । अदधर्षत । क्रोधे, अभिभवे च । चुरा०-उभ० । पक्षे-स्वादि०-सक०-सेट् । धर्षयति,ते । धर्षति । अदीधृषत् । अदधर्षत् । अधार्षीत् । वाच० ।

धर्ष-पुं० । धृष्-घञ् । प्रागल्भ्ये, अमर्षे, शक्तिबन्धने, संहतौ, हिंसायां च । वाच० ।

धरिसण-धर्षण-न० । धृष्-भावे ल्युट् । परिभवे, रमणे, धर्षणशब्दार्थे च । नि० चू० १ उ० । वाच० ।

धव-धव-पुं० । धवति, धुनोति, धुनाति वा धु-धू-वा अच् । पत्यौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । पं० व० । वाच० ।

विधवाशब्दव्याख्यावसरे धवशब्दस्य भाष्यकारो व्याख्यानमाह-

विगयधवा खलु विधवा, धवं तु भत्तारमाहु नेरुत्ता ।
धारयति धीयते वा, दधाति वा तेण उ धवो त्ति ॥

विगतधवा खलु विधवा, विगतो धवोऽस्या इति व्युत्पत्तेः । धवं तु भर्तारमाहुर्नैरुक्ता निरुक्तिशास्त्रविदः । कथं व्युत्पत्तेरित्याह-धारयति तां स्त्रियं, धीयते वा तेन पुंसा सा स्त्री दधाति सर्वात्मना पुष्णाति तां,तेन कारणेन निरुक्तवशाद् धव इत्युच्यते । व्य० ७ उ० । स्वनामख्याते वहुबीजके वृक्षविशेषे, आचा० ५ अ० । रा० । स० प्र० । अं० । प्रज्ञा० । ति० । धूर्ते नरे च । भावे अप् । कम्पने, वाच० ।

धवल-धवल-पुं० । धवं कम्पं लाति, ला-कः । धववृक्षे, वीरणवृक्षे, श्वेतमरिचे, वृषश्रेष्ठे, चीनकर्पूरे, श्वेतवर्णे च । वाच० । को० ६२ गाथा । रा० । औप० । ज्ञा० । तं० । "धवलकमलपत्तपयराइरेगरूवप्पभं ।" कल्प० १ अधि० २ क्षण । तं० । तद्वति सुन्दरे च । त्रि० । शुक्लवर्णायां गवि, स्त्री० टाप् । गौरा० ङीष् । वाच० । अयोध्यानगरस्थे स्वनामख्याते श्रावके च । पुं० । दर्श० ३ तत्त्व । स्वस्वजात्युत्तमे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धवलकपुर-धवलार्कपुर-न० । वीरधवलनृपस्य पुरभेदे, ती० ४१ कल्प । "धवलक्कपुरे वसतो-र्धनपश्चार्थकुलवणिक्कयोः ।" पञ्चा० १६ विव० ।

धवलगिरि-धवलगिरि-पुं० । कैलासापरनामधेयेऽष्टापदपर्वते, ती० ४७ कल्प । (तद्वक्तव्यता ' अट्ठावय ' शब्दे प्रथमभागे २५३ पृष्ठे गता)

धवलपुप्फदंत-धवलपुष्पदन्त-त्रि० । धवलपुष्पवत् सामर्थ्यात् कुन्दकलिकावद् दन्ता यस्य स धवलपुष्पदन्तः । कुन्दकलिकासदृशदन्ते, औ० ३ प्रति० ४ उ० ।

धवलराय-धवलराज-पुं० । वर्द्धमाननगरस्थे विमलकुमारजनके स्वनामख्याते नृपे, ध० र० । (तत्कथा ' विमलकुमार ' शब्दे वक्ष्यते)

धवलसउण-देशी । हंसे, दे० ना० ५ वर्ग ५६ गाथा ।

धवलिय-धवलित-त्रि० । धवलवर्णीकृते, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

धव्व-देशी-वेगे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धसत्ति-धसदिति-अव्य० । धसधसेत्यस्यानुकरणे, " कुट्टिमतलंसि सव्वंगेहिं धसत्ति पडिगया ।" धसदित्यनुकरणे,ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ।

धसल-देशी-विस्तीर्णे, दे० ना० ५ वर्ग ५८ गाथा ।

धाई-धात्री-स्त्री० । धीयते पीयतेऽसौ, धा-ष्ट्रन्, षित्वाद् ङीष् । "वाऽऽत्राम्" ॥ ८ । २ । ८१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण धात्रीशब्दे रस्य लुग् वा । 'धत्ती ।' ह्रस्वात्प्रागेव रलोपे 'धाई ।' पक्षे 'धारी ।' प्रा० २ पाद । मातरि, वाच० । धयन्ति पिबन्ति बालकास्तामिति, धीयते धार्यते वा बालकानां दुग्धपानाऽऽद्यर्थमिति वा धात्री बालपालिका । प्रव० ६७ द्वार । पञ्चा० । स्तनदायिन्यां जननीकल्पायां बालपालिकायाम्, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । सा च कृत्या क्षीरमज्जनमण्डनक्रीडनाङ्कभेदात्पञ्चधा । पञ्चा० १३ विव० । आचा० । अनु० । म० । अन्त० । ध० । रा० । दश० । ज्ञा० ।

तद्भेदानाह-

खीरे य मज्जणे वि य, मंडण कीलावणंकधाई य ।
एक्केका वि य दुविहा, करणे कारावणे चेव ॥

क्षीरविषया एका धात्री, या स्तन्यं पाययति । द्वितीया मज्जनविषया । तृतीया मण्डनविषया । चतुर्थी क्रीडनधात्री पञ्चमी अङ्कधात्री । एकैकाऽपि च द्विधा । तद्यथा-स्वयं करणे, कारणे च । तथाहि-या स्वयं स्तन्यं पाययति बालकं सा स्वयं करणे क्षीरधात्री । या त्वन्यया पाययति सा कारणे । एवं मज्जनधात्र्योऽपि भावनीयाः ।

संप्रति धात्रीशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह-

धारेइ धीयए वा, धयंति वा तमिति तेण धाई उ ।
जहविहवा आसि पुरा, खीराई पंचधा ताउ ॥

धारयति बालकमिति धात्री । यद्वा-धीयते नाटकप्रदानेन पोष्यते इति धात्री । अथवा-धयन्ति पिबन्ति बालकास्तामिति धात्री । धात्रीति निपातेन तद्रूपनिष्पत्तिः । ताश्च धात्र्यः पुरा पूर्वस्मिन् काले, यथाविजवं विभवानुसारेण, क्षीराऽऽदिविषया बालकयोग्या आसन्, संप्रति तथारूपविभवाभावे ता न दृश्यन्ते । पिं० । आमलक्यां च । स्वार्थे कन् । वाच० ।

धाईपिंड-धात्रीपिण्ड-न० । "धाईदूईनिमित्ते ।" (५७४ गा०) धयन्ति पिबन्ति बालकास्तामिति, धीयते धार्यते बालकानां दुग्धपानाऽऽद्यर्थमिति वा धात्री बालपालिका । सा च पञ्चधा-क्षीरधात्री मज्जनकधात्री, मण्डनधात्री, क्रीडनधात्री, उत्सङ्गधात्री च । इह धात्रीत्वस्य करणं कारणं वा तत्धात्रीशब्देनोक्तं द्रष्टव्यम्, तथाविवक्षणात् । ततो धात्र्याः पिण्डो धात्रीपिण्डो धात्रीत्वस्य करणेन कारणेन च य उत्पाद्यते पिण्डः स धात्रीपिण्डः । प्रव० ६७ द्वार । बालस्य क्षीरमज्जनमण्डनक्रीड-

माङ्कधाऽय्यः पञ्च। तासां कर्म धात्रीत्वं, तेन लब्धः पिण्डो धात्रीपिण्डः। जीत०। उत्पादनादोषभेदे, पिं०। दर्श०। पञ्चा०। आचा०। स०। स्था०। बालस्य क्षीरमज्जनमण्डनक्रीडनाङ्कारोपणकर्मकारिण्यः पञ्च धाऽय्यः, एतासां कर्म भिक्षार्थं कुर्वतो मुनेर्धात्रीपिण्डः, ध० ३ अधि०। अथवा ऽऽधयति दातुरपत्योपकारे वर्त्तत इति धात्रीपिण्डः। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ९ उ०।

तत्र यथा स्तन्यदापनधात्रीत्वं साधुः करोति तथा दर्शयति-

खीराहारो रोवइ, मज्झ कयासाय देहि णं पेज्जे।
पच्छा वि मज्झ दाही, अलं व भुज्जो व एहामि॥

पूर्वपरिचिते गृहे साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् रुदन्तं बालकं दृष्ट्वा तज्जननीमेवमाह-एष बालोऽद्यापि क्षीराऽऽहारः, ततः क्षीरमन्तरेणावसीदन् आरटति, तस्मान्मह्यं कृताऽऽशाय विहितभिक्षालाभमनोरथाय, झटित्येव भिक्षां देहि, पश्चात् (णं) एनं बालकं (पेज्जे) पायय स्तन्यम्। यद्वा-प्रथमत एनं स्तन्यं पायय, पश्चान्मह्यं भिक्षां देहि। यदि वा-अलं मे संप्रति भिक्षया, पायय स्तन्यं बालकमहं पुनर्भूयोऽपि भिक्षार्थमेष्यामि।

तथा-

मइमं आरोगी दी-हाउ य होइ अवमाणिओ बालो।
दुल्लभयं खु सुयमुहं, पिज्जेहि अहं व से देमि॥

अविमानितोऽनपमानितो बालो मतिमान् अरोगी दीर्घायुश्च भवति, विमानितः पुनर्विपरीतः। तथा दुर्लभं खलु लोके सुतमुखं पुत्रमुखदर्शनं, तस्मात्सर्वाण्यप्यन्यानि कर्माणि मुक्त्वा त्वमेनं बालकं स्तन्यं पायय। यदि त्वं नो पाययसि तर्ह्यहं वा ददाम्यस्मै क्षीरं बालकाय, अन्यस्या वा स्तन्यं पाययामि। अत्र "अहं व से देमि" इत्यनेन स्वयंकरणधात्रीत्वं साधौ दर्शितं, शेषपदैः कारणेन।

अत्र दोषमाह-

अहिगरणभद्द पंता, सकम्मुदयगिलाणए य उड्डाहो।
चडुकारीइ अवन्नो, नियगो वऽन्नं व णं संके॥

यदि बालकजननी भद्रा धर्माभिमुखी भवति, तर्हि प्राक्तनैः साधुवचनैरावर्जिता सती अधिकरणमाधाकर्माऽऽदि करोति। अथ प्रान्ता धर्मानभिमुखी, तर्हि प्रद्वेषं याति। शेषः। तथा यदि स्वकर्मोदयात्कथमपि स बालो ग्लानो भवति, तर्हि उड्डाहः प्रवचनमालिन्यम्, यथा साधुना तदानीमालपितः, क्षीरं वा पायितोऽन्यत्र वा नीत्वा कस्या अपि स्तन्यं पायितस्तेन ग्लानो जातः। तथाऽतीव चाटुकारीति लोकेऽवर्णोऽश्लाघा, तथा निजको वा भर्त्ता, अन्यद्वा मैथुनाऽऽदिकं, णमिति वाक्यालङ्कारे, तथारूपसाधुवचनश्रवणतः शङ्कते संभावयति।

अथवा प्रकारान्तरेण धात्रीकरणे दोषत्वं दर्शयति-

अयमवरो उ विकप्पो, भिक्खायरि सड्ढि अद्धिई पुच्छा।
दुक्खसहायाविज्जासा, हियं मे धाइत्तणं अज्जो।
वयगंडयथुल्लतणु-त्तणेहिँ तं पुच्छिउं अयाणंते।
तत्थ गओ तस्समक्खं, भणाइ तं पासिउं बालं॥

अयमपरो विकल्पो धात्रीकरणे, तमेवाऽऽह-भिक्षाचर्याप्रविष्टेन साधुना काचिच्छ्राद्धिका अधृतिधृतिरहिता दृष्टा, ततः पृष्टा सा-किमद्य त्वं सशोका दृश्यसे, तत एवमुक्ता सती सा प्राह-यो दुःखसहायो भवति तस्मै दुःखं निवेद्यते, दुःखसहायश्च स उच्यते, यो दुःखप्रतीकारसमर्थः। ततः साधुराह-अहं दुःखसहायः, तस्मान्निवेद्यतां मे दुःखम्। ततः सा प्राह-अद्य मे मम धात्रीत्वममुकस्मिन्नीश्वरगृहे हृतं स्फोटितं, ततोऽहं विषण्णा। ततः साधुराह-मा त्वं विषादं कार्षीः, अहमवश्यं त्वां तत्राऽचिरेण धात्रीं स्थापयिष्यामीति प्रतिज्ञां विधाय तस्याः पार्श्वे अभिनवस्थापितायाः धात्र्या वयःप्रभृतिकमजानानः पृच्छति, यथा किं तस्या वयः?, तारुण्यं परिणतं न वा?। तथा किमपि स्तनाऽपरपर्यायौ किं कूर्पराऽऽकारवन्तौ दीर्घौ, यद्वाऽतिशयेन स्थूलौ, शरीरेऽपि तस्याः किं स्थूलत्वं, किं वा कृशत्वं, तत एवं पृष्ट्वा तमेवेश्वरगृहे गतः सन् तत्समक्षं तं बालकं दृष्ट्वा भणति।

किं तद्भणतीत्यत आह-

अहुणुट्ठियं च अणव-ज्जियं च एयं कुलं तु भगाणि।
पुच्छेहि महिड्ढिआए, चरई बालेण सुयामो॥

अहमिदं मन्ये-इदं युष्मदीयं कुलमधुनोत्थितं संप्रत्येवेश्वरीभूतं, यदि पुनः परम्परागतलक्ष्मीकमिदमभविष्यत्, तर्हि कथं न परम्परया धात्रीलक्षणकुशलमप्यभविष्यदिति भावः। तथा अनवेक्षितमपरिभावितं महत्तरपुरुषैः, तत एव या वा सा वा धात्री ध्रियते, एतच्च बालेनासंगतधात्रीस्तन्यपानविच्छायेन सूचयामो लक्षयामः। तत एवंभूतधात्रीयुक्तमपीदं कुलं भवने क्षेमेण वर्त्तते, तन्मन्ये पुण्यैः प्राक्तनजन्मकृतैः, यदि वा-यदृच्छया एवमेव, तत एवमुक्ते सति ससंभ्रमं बालकस्य जननी जनको वा साधुं प्रत्याह-भगवन्! के धाऽय्या दोषाः?।

ततः साधुर्धात्रीदोषान् कथयति-

थेरा दुब्बलखीरा, चिविडो पिल्लियमुहो अइथणीए।
तणुई उ मंदखीरा, कुप्परथणियाएँ सूइमुहो॥

या किल धात्री स्थविरा सा अबलक्षीरा अबलस्तन्या भवति। ततो बालो न बलं गृह्णाति। या त्वतिस्तनी तस्याः स्तन्यं पिबन् स्तनेन प्रेरितमुखत्वाच्चिपिटमुखत्वाच्चिपिटनासिकाश्चिपिटश्चिपिटनासिको भवति। या तु शरीरेण कृशा मन्दक्षीरा अल्पक्षीरा, ततः परिपूर्णं तस्याः स्तन्यं बालो न प्राप्नोति, तदलाभाच्च सीदति। तथा या कूर्परस्तनी तस्याः स्तन्यं पिबन् बालः सूचीमुखो भवति। स हि मुखं दीर्घतया प्रसार्य तस्याः स्तन्यं पिबति, ततस्तथाकृताभ्यासतस्तस्य मुखं सूच्याकारं भवति।

उक्तं च-

"निम्नाभा स्थविरा धात्री, सूच्यास्यः कूर्परस्तनीम्।
चिपिटः स्थूलवक्षोजां, पर्यस्तन्यां कृशो भवेत्॥१॥
आद्यं भवति स्थविरा-याः स्तनं क्षयकरम्।
तस्मान्मध्यवयस्कायाः, स्तन्यं पुष्टिकरं स्मृतम्॥२॥
अतिस्तनी तु चिपिटं, अल्पपीना तु दन्तुरम्।
मध्यस्तनी महाभिज्ञा, धात्री साऽस्य सुखंकरी॥३॥"

इत्यादि। एषा चाऽभिनवस्थापिता धात्री उक्तदोषदुष्टा, तस्मान्न युक्ता, किं तु निरवद्यैवेति भावः।

तथा-

जा जेण होइ वन्ने-ण उक्का गरहए य तं तेण।
गरहइ समाण तिब्वं, पसत्थमियरं च दुब्बन्नं॥

या अभिनवस्थापिता धात्री, येन वर्णेन कृष्णाऽऽदिना उत्कृष्टा भवति, तां तेन वर्णेन गर्हते निन्दति। यथा-"कृष्णा भ्रंशयते वर्णं गौरी तु बलवर्जिता। तस्मात् श्यामा भवेद्धात्री, बलव-

र्भैः प्रशंसिता ॥१॥" इत्यादि। तथा यामभिनवस्थापितां गहते, तस्याः समाना समानवयाः वेत् चिरन्तनी धाप्यमाना भवति, तर्हि तां लोभामातिशयेन प्रशस्यां प्रशस्तवर्णां श्लाघते, इतरां त्वभिनवस्थापितां कुर्वर्णाम्। एवं चोक्ते सति गृहस्वामी त्वाप्यभिप्रेतां धात्रीं धारयति, इतरां तु परित्यजति।

तथा सति यो दोषस्तमाह-

उव्वट्टिया पओसं, छोभग उब्भामओ य से जं तु।
होज्जा मज्झ वि विग्घो, विसाइ इयरी वि एमेव ॥

या अभिनवस्थापिता धात्री उद्वर्तिता धात्रीत्वात् च्याविता, सा साधोरुपरि प्रद्वेषं कुर्यात्। तथा सति छोभकं दद्यात्, यथा-अयमुद्भ्रामको जारोऽनया धात्र्या सह तिष्ठतीति। तथा (से) तस्य साधोर्यत्प्रद्वेषवशात्कर्तव्यं वधाऽऽदि, तदपि धात्रीत्वात्सिंसंकल्पात् तदपि कुर्यात्। याऽपि चिरन्तनी संप्रति स्थापिता कदाचिदेवं चिन्तयति-यथैव तस्या धात्रीत्वात् च्यावनं कृतम्, एवमेव कदाचित् कष्टेन ममापि विघ्नो धात्रीच्यावनरूपोऽन्तरायः करिष्यते, तत एवं विचिन्त्य मारणाय विषाऽऽदि गरप्रभृति प्रयुङ्क्ते। उक्ता क्षीरधात्री।

साम्प्रतं शेषधात्रीराश्रित्य दोषानतिदेशेनाऽऽह-

एमेव सेसियासु वि, सुयमाइसु करण कारणं सगिहे।
इड्ढीसु य धाईसु य, तहेव उव्वट्टियाण गमो ॥

अत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी। ततोऽयमर्थः-एवमेता यथा क्षीरधात्र्यस्तथा शेषिकास्वपि शेषाणामपि मज्जनाऽऽदिधात्रीणां, सुतमातृकल्पानां यत् स्वयं करणं मज्जनाऽऽदेः, यच्चान्यया कारणं, तत् स्वगृहे गतः सन् साधुर्यथा करोति तथा वाच्यं, तथा च सति "अहिगरणभद्दपंता" इत्यादिगाथोक्ता दोषा वक्तव्याः यथा तथैव क्षीरगतेनैव प्रकारेण ऋद्धिषु ऋद्धिमत्सु ईश्वरगृहेषु, अभिनवस्थापितानां मज्जनाऽऽदिधात्रीणां (धाईसु य त्ति) भावप्रधानोऽयं निर्देशः, षष्ठ्यर्थे च सप्तमी। ततोऽयमर्थः-धात्रीत्वेभ्य उद्वर्तितानां च्यावितानां, यो गमः-"उव्वट्टिया पओसं" इत्यादिरूपः, स सकलोऽपि तथैव वक्तव्यः।

अतिसंक्षिप्तमिदमुक्तमतो विशेषत एतद्विभावयिषुः प्रथमतो मज्जनधात्रीत्वस्य करणं कारणं च, तथा अभिनवधात्र्या दोषप्रकटनं च यथा साधुः कुरुते तथा भावयति-

लोलइ महीए धूली-ए गुंडिओ ण्हाहि अहव णं मज्जे।
जलभीरु अबलनयणो, अइउप्पिलणे अ रत्तच्छो ॥

एष बालो मह्यां लोलति लोठते, ततो धूल्या गुण्डितो वर्तते, तस्मात् स्नापय। एतत् मज्जनधात्रीत्वस्य करणम्। अथवा-यदि पुनस्त्वं न स्नपयसि, तर्हि अहं मज्जामि स्नापयामि। एतत् स्वयं मज्जनधात्रीत्वस्य करणम्। क्वापि ईश्वरगृहे काऽपि मज्जनधात्री धात्रीत्वात् स्फेटिता, साधुश्च तस्या गृहं भिक्षार्थं प्रविष्टः, तां च धात्रीत्वात्परिभ्रंशेन विषण्णां दृष्ट्वा पूर्वप्रकारेण च पृष्ट्वा कृत्वा च प्रतिज्ञामीश्वरगृहे च गत्वा अभिनवमज्जनधात्र्या दोषप्रकटनायाऽऽह-(जलभीरु इत्यादि) अतिशयेन उत्प्लावनेन प्रभूतजलप्लावनेन युज्यमानो बालो गुरुरपि जातो भवादृशो जलभीरुर्भवति। तथा निरन्तरं जलेनोत्प्लाव्यमानोऽबलनयनोऽप्रबलनयनो रक्ताक्षश्च। यदि पुनः सर्वथाऽपि न मज्ज्यते, तर्हि न शरीरं बलमादत्ते नापि कान्तिभाक्, रूपया चाऽबलो जायते।

यथा च धात्री बालमतिजलोत्प्लावनेन मज्जयति, ततो अजलभीरुत्वाऽऽदयो दोषा बालस्य भविष्यन्ति, तस्मादेषा मज्जनधात्री युक्ता। तत एवमुक्ते सति तामभिनवस्थापितां मज्जनधात्रीं गृहस्वामी स्फेटयति, चिरन्तनीमेव कुरुते। तथा च सति त एव प्राक्तना "उव्वट्टिया पओसं" इत्यादिरूपा दोषा ज्ञातव्याः। एवमुत्तरत्रापि प्रतिगाथा भावनीया।

अथ च मज्जनधात्री कथंभूतं बालं कृत्वा मण्डनधात्र्याः समर्पयति, तत आह-

अब्भंगिय संबाहिय, उव्वट्टिय मज्जियं च तो बालं।
उवणेइ मज्जधाई, मंडणधाईऍ सुइदेहं ॥

स्नानधात्री प्रथमतः स्नेहेनाभ्यक्तं, ततो हस्ताभ्यां संबाधितं, तदनन्तरं पिष्टकाऽऽदिना उद्वर्तितं, ततो मज्जितं, शुचिभूतं च देहं बालस्य कृत्वा मण्डनधात्र्याः समर्पयति। उक्ता मज्जनधात्री।

संप्रति मण्डनधात्रीत्वस्य कारणं, करणं च, तथा अभिनवस्थापितया धात्र्या दोषप्रकटनं च यथा साधुः कुरुते तथा दर्शयति-

उसुयाइएहिँ मंडे-हि ताव णं अहव णं विभूसेमि।
हत्थच्चगा व पाए, कया गलिच्चा व पाए वा ॥

इषुका इषुकाराभरणम्, अन्ये तिलकमित्याहुः। आदिशब्दात् छुरिकाऽऽकाराऽऽद्याभरणपरिग्रहः। इह भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् आत्मीकाविस्ताऽऽवर्जनार्थं बालकमनाभरणमवलोक्य तज्जननीमेवमाह-इषुकाराऽऽद्याभरणविशेषैस्तावदेनं बालकं मण्डय विभूषय। एतन्मण्डनधात्रीत्वस्य कारणम्। अथवा-यदि पुनः त्वं न प्रपारयसि, तर्हि अहं विभूषयामि। एतत्स्वयं मण्डनधात्रीत्वस्य करणम्। पूर्वधात्री स्थापनीयस्याभिनवस्थापिताया मण्डनधात्र्या दोषानाह-(हत्थच्चग त्ति) हस्तयोग्यानि आभरणानि पादे कृतानि। अथवा-(गलिच्च त्ति) गलसत्कानि आभरणानि पादे कृतानि, तस्मान्नेयं मण्डनधात्री मण्डनेऽभिज्ञा, ततस्तस्या मण्डनधात्रीत्वाच्च्यावनमित्यादि पूर्ववद्भावनीयम्। उक्ता मण्डनधात्री।

संप्रत्यभिनवस्थापितायाः क्रीडनधात्र्या दोषप्रकटनं, क्रीडनधात्रीत्वे च करणं कारणं च यथा विदधाति साधुस्तथाऽऽह-

ढड्ढरसर छुन्नमुहो, मउयगिरा मउय मम्मणुल्लावो।
उल्लावणगाईहिँ व, करेइ कारेइ वा किड्डं ॥

एषा अभिनवस्थापिता क्रीडनधात्री ढड्ढरस्वरा, ततस्तस्याः स्वरमाकर्णयन् बालो छुन्नमुखः क्षीणमुखो भवति। अथवा-मृदुगीरेषा ततोऽनया रम्यमाणो बालो मूकमूकीभवति। यदि वा मृदुगीः स्वयं क्रीडां कारयति। उक्ता क्रीडनगीः। मम्मणोल्लापोऽव्यक्तवाक्, तस्मादेषा योजना, किं तु चिरन्तनैवेत्यादि प्राग्वत्। तथा भिक्षार्थं प्रविष्टः आत्मीकाविस्तावर्जनार्थं बालमुल्लापनाऽऽदिभिः स्वयं क्रीडां करोति, अन्यैः कारयति वा। उक्ता क्रीडनधात्री।

संप्रत्यङ्कधात्र्या अभिनवस्थापितायाः स्फेटनाय सामान्यतो दोषप्रकटनं यथा साधुः करोति तथा दर्शयति-

थुल्लाएँ वियडपाओ, भग्गकडीसुक्कडीएँ दुक्खं च।
निम्मंसकक्खडकरे-हिँ भीरू उ होइ घेप्पंतो ॥

इह स्थूलया मांसलया धात्र्या कट्यां ध्रियमाणो बालो विकटपादः परस्परबहुन्तरालपादो भवति। भग्नकट्या, शुष्ककट्या वा

म्रियमाणो दुःखं तिष्ठति । निर्मांसकर्कशकराभ्यां वा म्रियमाणो बालो भीरुर्भवति । एषा चाऽभिनवस्थापिता धात्री अन्यमन्यदोषदुष्टा, तस्मान्न युक्ता, किं तु प्राक्तनैवेत्यादि प्रागिव । अङ्कधात्रीत्वस्य कारणं,स्वयं करणं स्वयमेव भावनीयम् । तत्रैवम्-कोऽपि साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्टो बालं रुदन्तमवलोक्य तज्जननीमेवमाह-अङ्के गृहाणेदं बालकं येन न रोदिति, यदि पुनस्त्वं न पारयसि तर्हि अहं गृह्णामि ।

संप्रति क्रीडनधात्रीत्वस्य करणे दोषं दृष्टान्तेन भावयति··

कोल्लइरे वत्थव्वो, दत्तो आहिंडओ गओ सीसो ।
अवहरइ धाइपिंडं, अंगुलिजलणे य सा दिव्वं ॥

कोल्लकिरे नगरे वार्द्धके वर्त्तमानाः परिक्षीणजङ्घाबलाः संगमस्थविरा नाम सूरयः, तैश्चान्यदा दुर्भिक्षे जाते सति सिंहाभिधानः स्वशिष्यं आचार्यपदे स्थापयित्वा गच्छं च सकलं तस्य समर्प्य अन्यत्र सुभिक्षे देशे विहारक्रमेण प्रेषितः, स्वयं चैकाकी तत्रैव तस्थौ, ततः क्षेत्रं नवभिर्भागैर्विभज्य तत्रैव यतनया मासकल्पान्, वर्षारात्रं च कृतवान् । यतना च चतुर्विधा । तद्यथा-द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यतः-पीठफलकाऽऽदिषु, क्षेत्रतो-वसतिपाटकेषु,कालतः-एकत्र पाटके मासं स्थित्वा द्वितीयमासे अन्यत्र वसतिगवेषणा । भावतः सर्वत्र निर्ममत्वम् । ततश्च किञ्चिदूने मासकल्पे व्यतिक्रान्ते सिंहाचार्यस्तेषां प्रवृत्तिनिमित्तं दत्तनामानं शिष्यं प्रेषितवान् । स चाऽऽगतोऽस्मिन्नेव विभागे पूर्वं मुक्ताः सूरयस्तस्मिन्नेव स्थिता दृष्टाः । ततः स स्वचेतसि चिन्तयामास । अहो भावतोऽप्यमी मासकल्पं न व्यदधुः, तस्माच्च शिथिलैः सहैकत्र वस्तव्यमिति परिभाव्य वसतेर्बहिः मण्डपिकायामुत्तीर्णस्ततो वन्दिताः सूरयः, पृष्टाः कुशलवार्त्ताम्, कथितं सिंहाचार्यसंदिष्टम् । ततो भिक्षावेलायामाचार्यैः सह भिक्षार्थं प्रविवेश, अन्तप्रान्तेषु गृहेषु भ्राम्यतो भिक्षां जानतो विच्छायमुखः । ततः सूरिभिस्तस्य भावमुपगम्य कस्मिँश्चिदीश्वरगृहे प्रविष्टम् । तत्र च व्यन्तर्याधिष्ठितः सदैव बालको रोदिति । ततः सूरयस्तं दृष्ट्वा चप्पुटिकापुरस्सरमालापयामासुर्यथा वत्स ! मा त्वं रोदीरिति । तत एवमालिप्तसूरिप्रभावतः सा पूतना व्यन्तरी प्राणशत्, स्थितो रोदितुं बालको, जातः प्रहृष्टो गृहनायकः, ततो दापितास्तेन भूयांसो मोदकाः, तांश्च ग्राहितो दत्तः सूरिभिः, अजायत प्रहृष्टः,ततो मुत्कलितो वसतौ, ते सूरयः स्वशरीरनिःस्पृहा यथागमविधिना प्रान्तकुलेभ्यसमादित्वा वसतावुपाजग्मुः । प्रतिक्रमणवेलायां च दत्तो भणितो-वत्स ! धात्रीपिण्डं चिकित्सापिण्डं चाऽऽलोचय । स त्वाह-युष्माभिरेव सहाऽहं विहृतः, ततः कथं मे धात्रीपिण्डाऽऽदिपरिभोगः । सूरयोऽवोचन्-लघुबालकक्रीडनधात्रीपिण्डः चप्पुटिकाकरणतः,पूतनातो मोचितत्वात् चिकित्सापिण्डः । स प्रद्विष्टः स्वचेतसि चिन्तयति-स्वयं जानतोऽपि मासकल्पं न विदधाति, एतादृशं च पिण्डं दिने दिने गृह्णाति, मां पुनरेकदिनगृहीतमप्यालोचयति । तत एवं विचिन्त्य प्रद्वेषतो वसतेर्बहिः स्थितः । ततस्तस्य सूरिविषयप्रद्वेषदर्शनतः कुपितया सूरिगुणाऽऽवर्जितया देवतया तस्य शिक्षार्थं वसतावन्धकारं सवातं वर्षं विकुर्वितम् । ततः स भयभीतः सूरीनाह-भगवन् ! कुत्राहं व्रजामि ? । ततस्तैः क्षीरोदजलवदतिनिर्मलहृदयैरभाणि-वत्स ! एहि वसतौ प्रविशेति । दत्त आह-भगवन् ! न पश्याम्यन्धकारेण द्वारमिति । ततोऽनुकम्पया सोऽमणा सूरिभिः निजाङ्गुलिरुत्क्षिप्य कार्दीकृता,सा च दीपशिखेव ज्वलितुं प्रवृत्ता । ततः स दुरात्मा दत्तोऽचिन्तयत्-अहो एतस्य परिग्रहे वह्निरप्यस्ति । एवं चिन्तयन् देवतया निर्भर्त्सितः-हा दुष्ट शिष्याधम ! एतादृशानपि सर्वगुणरत्नाऽऽकरान् सूरीनन्यथा चिन्तयसि । ततो मोदकलाभाऽऽदिको वृत्तान्तः सर्वोऽपि यथावस्थितो देवतयाऽभाणि । मासे जाते तस्य भावतः प्रत्यावृत्तः । क्षामिताः सूरयः, आलोचितं सम्यक् ।

सूत्रं सुगमम्, नवरं 'सा दिव्वं' देवताप्रातिहार्यम् , एतदेव गाथाद्वयेन भाष्यकृद् विवृणोति ।

पाउसे संगमथेरा, गच्छ विसज्जंति जंघबलहीणा ।
नवभागखेत्तवसही, दत्तस्स य आगमो ताहे ॥
उवसयबाहिरठाणं, अंताओ छम्मसंकिलेसो य ।
पूयण बाले मा रुय, पडिलाभण वियडणा सम्मं ॥

सुगमं नवरं (पूयणबाले त्ति) पूतना दुष्टव्यन्तरी, तया गृहीते धातृबालके रोदिति विकाटना आलोचनम् । उक्तं धात्रीद्वारम् । पिं० । प्रव० ।

जे भिक्खू धाइपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ । ५७ ॥

गाहा-

जे भिक्खु धातिपिंडं, गेण्हेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ११५ ॥

सातिज्जणा-अण्णं करेंतं अणुमोइति,सेसं कंठं । नि०चू०१३उ० ।

अववादे कारणे गेण्हंतो अदोसो । गाहा-

असिवे ओमोयरिए,रायदुट्ठे जए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोधए वा, जयणागहणं तु गीयत्थे ॥११५॥

असिवाऽऽदिकारणेहिं गीयत्थो पणगपरिहाणिजयणाए गेण्हंतो सुद्धो । नि० चू० १३ उ० ।

धाउ-धातु-पुं० । धा-तुन् । "धारणाद् धातवस्ते स्यु-र्वातपित्तकफाश्रयः ।" इत्युक्तेषु वाताऽऽदिषु, "रसासृङ्मांसमेदोऽस्थि-मज्जाशुक्राणि धातवः ।" इत्युक्तेषु रसाऽऽदिषु,वाच० । सूत्र० । धारकत्वपोषकत्वाच्च पृथिव्यादिके, "पुढवी आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ । चत्तारि धाउणो रूवं ।" सूत्र० १ श्रु०,१ अ० १ उ० । गैरिके,लोहाऽऽदिके,प्रश्न०२ आश्र०द्वार । उत्त० । "अयतंबतउयसीसग-रुप्पसुवण्णे य वइरे य । हरियाले हिंगुलए, मणोसिला सीसगंजणप्पवाले ॥ १ ॥ अब्भपडलब्भवालुया ।" उत्त० ३६ अ० । व्याकरणोक्ते गणपठिते क्रियावाचके भूप्रभृतौ, नामभेदे च । धातवो ज्वाद्यः क्रियाप्रतिपादकाः । प्रश्न० ४ संव० द्वार । (तद्वक्तव्यता 'धाउय' शब्दे २७४३ पृष्ठे द्रष्टव्या) जीवाजिगमे विजयदेववक्तव्यतायां हरितालहिङ्गुलाऽऽदयः पदार्थाः सन्ति, तेषां प्रयोजने सति व्ययानुत्पत्तेः कुतः ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-हरितालाऽऽदीनामुत्पत्तिर्विज्ञाता इति । १४७ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

धाउकम्म-धातुकर्मन्-न० । पुरुषद्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

धाउक्खोभ-धातुक्षोभ-पुं० । धातुवैषम्ये, औ० ।

धाउपाग-धातुपाक-पुं० । द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, स० ७२ सम० ।

धाउप्पावेयण-धातुप्रावेदन-न० । धातुदर्शने, नि० चू० १३ उ० ।
(धातुप्रावेदने मयूराङ्कनृपदृष्टान्तः 'अवाउरिथय' शब्दे प्रथमभागे ४६७ पृष्ठे गतः)

धाउय-धातुज-न० । वस्त्रभेदे, पं० भा० ।

तत्स्वरूपं पञ्चकल्पभाष्ये यथा-

बुज्झति वंसकरिल्लो, कम्मि वि देसे तरुणतो घट्टए ।
वड्ढंतो पूरयंती, तं घट्टयं तिप्पिए तम्मि ॥
संकोहे तूणयतो, तेसि तु एहारूहिँ पच्चए रुवं ।
तेण तुयं जं वत्थं, जम्मइ तं धातुयं णाम । पं० भा० ।

धातुयं नाम जहा कम्मि देसे वंसकरिल्लो उट्टेतो चेव घडएण पिहिज्जइ, ताहे सो सुकमालओ तत्थेव आउंटलीगओ वड्ढइ, पच्छा भिज्जइ, तओ किज्जइ, तं सुत्तं विज्जइ, तं धाउयं । पं० चू० । भावप्रमाणनिष्पन्ननामभेदे, अनु० ।

से किं तं धाउए ? । भू सत्तायां, (परस्मैभाषा) एध वृद्धौ, स्पर्ध संघर्षे । सेत्तं धाउए ।

भूरयं परस्मैपदी धातुः सत्तालक्षणस्यार्थस्य वाचकत्वेन धातुजं नामेति । एवमन्यत्रापि । अनु० ।

धाउरत्त-धातुरक्त-त्रि० । गैरिकोपरञ्जिते, "धाउरत्ताओ य गिण्हइ ।" भ० २ श० १ उ० । धातुरक्ता गैरिकोपरञ्जिता, शाटिका इति गम्यम् । औ० ।

धाउवाइ(ण्)-धातुवादिन्-पुं० । वादिभेदे, स्था० ६ ठा० ।

धाडण-धाटन-न० । प्रेरणे, "धाडेंति य हाडेंति य ।" 'धाडेंति' प्रेरयन्ति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । "वज्झपुरिसेहिं धाडिज्जंता ।" वध्यपुरुषैर्धाट्यमानाः प्रेर्यमाणाः । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । आ० म० । नाशने, औ० ।

धाडिअ-पुं० । देशी-आरामे, दे० ना० ५ वर्ग ५१ गाथा ।

धाडी-देशी-निरस्ते, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धाण-ध्राण-न० । सुभिक्षे, विभवे च । दश० ३ अ० ।

धाणुरिअ-न० । देशी-फलभेदे, दे० ना० ५ वर्ग ६० गाथा ।

धाय-धाय-पुं० । पणपन्न्यन्तरनिकायेन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

ध्रात-न० । सुभिक्षे, दश० ७ अ० । "धाए पुण संभरीपुरओ ।" ध्रातं सुभिक्षमिति चैकोऽर्थः । बृ० ५ उ० ।

धायइ-धातकी-स्त्री० । धातुं करोति णिच्, टिलोपः, ण्वुल् । "धातकी कटुका शीता ।" गौरा०-ङीष् । एकास्थिके वृक्षविशेषे, स० । प्रज्ञा० । अनु० । स्था० ।

धायइसंड-धातकीखण्ड-पुं० । धातकीनां वृक्षविशेषाणां खण्डो वनसमूहो धातकीखण्डः । धातकीवने, तद्युक्तो यो द्वीपः स धातकीखण्ड एवोच्यते, यथा दण्डयोगाद्दण्डः । स्था० २ ठा० ३ उ० । धातकीनां खण्डानि वनानि यस्मिन् स धातकीखण्डो द्वीपः । ध० २ अधि० । आव० । धातकीवृक्षखण्डोपलक्षितो द्वीपो धातकीखण्डः । लवणसमुद्रं परिक्षिप्य स्थिते कालोदसमुद्रपरिक्षिप्ते द्वीपभेदे, अनु० । (एतद्वक्तव्यता 'धायइसंडदीव' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते)

धायइरुक्ख-धातकीवृक्ष-पुं० । एकास्थिके वृक्षविशेषे, आ० चू० १ अ० ।

धायइवण-धातकीवन-न० । धातकीसमूहे, "धायइवणाणि वा ।" आचा० २ श्रु० ३ चू० १० अ० । जी० ।

धायइसंडदीव-धातकीखण्डद्वीप-पुं० । धातकीनां वृक्षविशेषाणां खण्डो वनसमूह इत्यर्थो धातकीखण्डस्तद्युक्तो यो द्वीपः स धातकीखण्ड एवोच्यते । यथा दण्डयोगाद्दण्ड इति धातकीखण्डश्चासौ द्वीपश्चेति धातकीखण्डद्वीपः । लवणसमुद्रं परिक्षिप्य स्थिते कालोदसमुद्रपरिक्षिप्ते द्वीपभेदे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सम्प्रति धातकीखण्डद्वीपवक्तव्यतामाह-

लवणे णं समुद्दे धायइसंडे नाम दीवे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिए सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता णं चिट्ठति ॥

(लवणसमुद्द इत्यादि) लवणसमुद्रं धातकीखण्डो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन संपरिक्षिप्य तिष्ठति ।

धायतिसंडे णं भंते ! किं समचक्कवालसंठिते, विसमचक्कवालसंठिए ? । गोयमा ! समचक्कवालसंठिते, नो विसमचक्कवालसंठिते ॥

(धायइसंडे णं दीवे किं समचक्कवालसंठिए " इति सूत्रं लवणसमुद्रवद् भावनीयम् ।

धायतिसंडे णं भंते ! दीवे केवतिए चक्कवालविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! चत्तारि जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं एगयालीसं जोयणसतसहस्साइं दसजोयणसहस्साइं णव य एगसट्ठे जोयणसते किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं पण्णत्ते, से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेणं वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता दोण्ह वि वण्णओ दीवसमिया परिक्खेवेणं ।

"धायइसंडे णं" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! चत्वारि योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेन एकचत्वारिंशद्योजनशतसहस्राणि दशसहस्राणि नव च एकषष्ठानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषोनानि परिक्षेपेण । उक्तं च-" पयालीसं लक्खा, दससयसहस्साइं जोयणाणं तु । नव य सया इगसट्ठा, किंचूणा परिरओ तस्स ॥१॥" (से णमित्यादि) स धातकीखण्डद्वीप एकया पद्मवरवेदिकया, अष्टयोजनोच्छ्रयजगत्युपरिभाविन्येति सामर्थ्याद् गम्यते । एकेन वनखण्डेन पद्मवरवेदिकाबहिर्भूतेन सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः द्वयोरपि वर्णकः प्राग्वत् ।

धायतिसंडस्स णं भंते ! दीवस्स कति दारा पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि दारा पण्णत्ता । तं जहा-विजए, वेजयंते, जयंते, अपराजिए ।

(धायइसंडस्स णमित्यादि) धातकीखण्डस्य भदन्त ! द्वीपस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ? । भगवानाह-गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-विजयं, वैजयन्तं, जयन्तमपराजितं च ।

कहि णं भंते ! धायतिसंडस्स दीवस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते ? । गोयमा ! धायइसंडपुरच्छिमपेरंतं कालोयसमुद्दपुरच्छिमद्धस्स पच्चच्छिमेणं सीयाए महाणदीए उप्पिं एत्थ णं धायतिसंडस्स दीवस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते । तं चेव पमा-

णं रायहाणी य अएणम्मि धायइसंडे दीवे सा वत्तव्वया भाणियव्वा । एवं चत्तारि वि दारा भाणियव्वा ।

(कहि णं भंते! इत्यादि) क भदन्त ! धातकीखण्डस्य द्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-गौतम ! धातकीखण्डस्य द्वीपस्य पूर्वपर्यन्ते कालोदसमुद्रपूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि शीताया महानद्या उपरि अत्र एतस्मिन्नन्तरे धातकीखण्डस्य द्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् । तच्च जम्बूद्वीपविजयद्वारवदविशेषेण वेदितव्यम्, नवरमत्र राजधानी अन्यस्मिन् धातकीखण्डे द्वीपे वक्तव्या । * "कहि णं भंते !" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-धातकीखण्डद्वीपदक्षिणपर्यन्ते कालोदसमुद्रदक्षिणार्द्धस्योत्तरतोऽत्र धातकीखण्डस्य द्वीपस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् । तदपि जम्बूद्वीपवैजयन्तद्वारवदविशेषेण वक्तव्यम्, नवरमत्रापि राजधानी अन्यस्मिन् धातकीखण्डे द्वीपे । "कहि णं भंते !" इत्यादि प्रश्नसूत्रं गतार्थम् । भगवानाह-गौतम ! धातकीखण्डद्वीपपश्चिमपर्यन्ते कालोदसमुद्रपश्चिमार्द्धस्य पूर्वतः शीतोदाया महानद्या उपरि अत्र धातकीखण्डस्य द्वीपस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् । तदपि जम्बूद्वीपजयन्तद्वारवद्वक्तव्यम् । नवरं राजधानी अन्यस्मिन् धातकीखण्डद्वीपे । "कहि णं भंते !" इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्रतीतम् । भगवानाह-गौतम ! धातकीखण्डद्वीपोत्तरार्द्धपर्यन्ते कालोदसमुद्र उत्तरार्द्धस्य दक्षिणतोऽत्र धातकीखण्डस्य द्वीपस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् । तदपि जम्बूद्वीपगतापराजितद्वारवद्वक्तव्यम् । नवरं राजधानी अन्यस्मिन् धातकीखण्डे द्वीपे ।

धायइसंडस्स णं भंते ! दीवस्स दारस्स य दारस्स य एस णं केवतियं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ? । गोयमा ! दस जोयणसतसहस्साइं सत्तावीसं च जोयणसहस्साइं सत्त य पणतीसे जोयणसते तिणि य कोसे दारस्स य दारस्स य अबाहाए अंतरे पणत्ते ।

(धायइसंडस्स णं भंते ! इत्यादि) धातकीखण्डस्य भदन्त ! द्वीपस्य द्वारस्य च द्वारस्य च परस्परमेतत् अन्तरं कियत् किंप्रमाणमबाधया अन्तरितत्वाद् व्याघातेन प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-गौतम ! दशयोजनशतसहस्राणि सप्तविंशतिसहस्राणि सप्तशतानि पञ्चत्रिंशानि योजनशतानि त्रयः क्रोशा द्वारस्य च द्वारस्य च परस्परमन्तरमबाधया प्रज्ञप्तम् । तथाहि-एकैकस्य द्वारस्य द्वारशाखाकस्य जम्बूद्वीपद्वारस्येव पृथुत्वं सार्द्धानि चत्वारि योजनानि । ततश्चतुर्णां द्वाराणामेकत्र पृथुत्वपरिमाणमीलने जातान्यष्टादश योजनानि, तान्यनन्तरोक्तात्परिरयपरिमाणात् ४११०९६१ शोध्यन्ते । शोधितेषु च तेषु जातं शेषमिदम्-एकचत्वारिंशल्लक्षा दशसहस्राणि नवशतानि त्रिचत्वारिंशदधिकानि ४११०९४३ । एतेषां चतुर्भिर्भागे हृते लब्धं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरम् । उक्तं च-"पणतीसा सत्त सया, सत्तावीसा सहस्स दसलक्खा । धायइसंडे दारं-तरं तु अवरं च कोसतियं ॥ १ ॥"

धायइसंडस्स णं भंते ! दीवस्स पदेसा कालोयणं समुद्दं पुट्ठा ?। हंता पुट्ठा । ते णं भंते ! किं धायइसंडे दीवे कालोयणे समुद्दे ?। गोयमा ! धायइसंडे नो खलु ते कालोयणसमु० । एवं कालोयस्स वि धायइसंडे दीवे जीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता कालोयणे समुद्दे पच्चायंति ?। गोयमा ! अत्थेगइया पच्चायंति, अत्थेगइया नो पच्चायंति । एवं कालोयणे वि अत्थेगतिया पच्चायंति, अत्थेगतिया नो पच्चायंति ।

"धायइसंडस्स णं भंते ! दीवस्स पएसा" इत्यादीनि चत्वारि सूत्राणि प्राग्वद्भावनीयानि ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति-धायइसंडे दीवे, धायइसंडे दीवे ?, धायइसंडे णं दीवे तत्थ तत्थ देसे तस्स तस्स देसस्स तहिं तहिं पदेसे बहवे धायइरुक्खा धायइवणा धायइसंडा णिच्चं कुसुमिया० जाव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति । धायइमहाधायइरुक्खे सुदंसणे पियदंसणे पियदेवा महिड्डिया० जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, अदुत्तरं च णं गोयमा० जाव णिच्चं ।

(से केणट्ठेणं भंते) इत्यादि ! अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते-धातकीखण्डो द्वीपो धातकीखण्डो द्वीप इति ?। भगवानाह-धातकीखण्डे द्वीपे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो धातकीवृक्षाः, बहूनि धातकीवनानि बहवो धातकीखण्डाः । वनखण्डयोः प्रतिविशेषः प्रागेवोक्तः । "णिच्चं कुसुमिया" इत्यादि प्राग्वत् । (धायइमहाधायइरुक्खे इत्यादि) पूर्वार्द्धे उत्तरकुरुषु नीलवद्गिरिसमीपे धातकीनामा वृक्षोऽवतिष्ठते । पश्चिमार्द्धे उत्तरकुरुषु नीलवद्गिरिसमीपे धातकीवृक्षः, तौ च प्रमाणाऽऽदिना जम्बूवृक्षवद् वेदितव्यौ । तयोरत्र धातकीखण्डे द्वीपे यथाक्रमं सुदर्शनप्रियदर्शनौ द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः । ततो धातकीखण्डोपलक्षितो द्वीपो धातकीखण्डद्वीपः । तथा चाऽऽह-(से तेणट्ठेणमित्यादि) गतार्थम् ।

संप्रति चन्द्राऽऽदिवक्तव्यतामाह-

धायइसंडे णं भंते ! दीवे कइ चंदा पहासिंसु वा, पहासंति वा पहासिस्संति वा ?। कति सूरिया तवइंसु वा, तवंति वा, तवइस्संति वा ?। कइ महग्गहा चारं चारिंसु वा, चरिंति वा, चरिस्संति वा ?। कइ णक्खत्ता जोगं जोएंसु वा, जोएंति वा, जोइस्संति वा ? । कइ तारागणकोडिकोडीओ सोभं सोभिंसु वा, सोभेंति वा, सोभिस्संति वा ?। गोयमा ! बारस चंदा पभासेंसु वा, पहासंति वा, पहासिस्संति वा एवं ।

"चउवीसं ससिरविणो, णक्खत्तसता य तिण्णि छत्तीसा ।
एगं च सयसहस्सं, छप्पण्णं धायईसंडे ॥ १ ॥
अट्ठेव सयसहस्सा, तिण्णि सहस्साइं सत्त य सयाइं ।
धायइसंडे दीवे, तारागणकोडिकोडीणं ॥ २ ॥"

सोभं सोभिंसु वा, सोभेंति वा, सोभिस्संति वा ।

"धायइसंडे णं भंते ! दीवे कइ चंदा ।" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! धातकीखण्डे द्वादश चन्द्राः प्रभासितवन्तः, प्रभासन्ते, प्रभासिष्यन्ते । द्वादश सूर्यास्तापितवन्तः, तापयन्ति, तापयिष्यन्ति । त्रीणि नक्षत्रशतानि षट्त्रिंशानि योगं चन्द्रमसा सूर्येण च सार्द्धं युक्तवन्तो, युञ्जन्ति, योक्ष्यन्ति । तत्र त्रीणि

* "एवं चत्तारि दारा भाणियव्वा ।" इत्यनेन गतार्थत्वात् सूत्रपाठो मूले नोक्तः, टीकायामुपन्यस्तः ।

षट्त्रिंशानि नक्षत्राणां शतानि, एकैकस्य शशिनः परिवारेऽष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां भावात्, एकं षट्पञ्चाशदधिकं महाग्रहसहस्रं चारं चरितवन्तः, चरन्ति, चरिष्यन्ति । एकैकस्य शशिनः परिवारेऽष्टाशीतेर्महाग्रहाणां भावात् । अष्टौ शतसहस्राणि त्रीणि सहस्राणि सप्तशतानि तारागणकोटिकोटीनां शोभितवन्तः, शोभन्ते शोभिष्यन्ते । एतदपि एकशशितारापरिमाणं द्वादशभिर्गुणयित्वा भावनीयम् । उक्तं च-

" बारस चंदा सूरा, नक्खत्तसया य तिन्नि छत्तीसा ।
एगं च गहसहस्सं, छप्पन्नं धायईसंडे ॥ १ ॥
अट्ठेव सयसहस्सा, तिन्नि सहस्सा य सत्त य सया उ ।
धायइसंडे दीवे, तारागणकोडिकोडीओ ॥ २ ॥ " जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धे णं धायइरुक्खे अट्ठ जोयणाइं उड्ढमुच्चत्तेणं पण्णत्ते, बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते । धायइसंडदीवपच्चच्छिमद्धे णं धायइरुक्खे अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ते, बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते । एवं धायइरुक्खाओ आढवित्ता सच्चेव जंबुद्दीववत्तव्वया भाणियव्वा० जाव मंदरचूलिय त्ति । एवं पच्चच्छिमद्धे वि । महाधायइरुक्खाओ आढवित्ता० जाव मंदरचूलिय त्ति । स्था० ८ ठा० ।

सम्प्रति धातकीखण्डवक्तव्यतानन्तरं "धायइसंडे" इत्यादिना वेदिकासूत्रान्तेन ग्रन्थेनाऽऽह-

धायइसंडे णं दीवे पुरच्छिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता बहुसमतुल्ला० जाव भरहे चेव, एरवए चेव । एवं जहा जंबुद्दीवे तहा एत्थ भाणियव्वं० जाव दोसु वासेसु मणुया छव्विहं पि कालं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तं जहा-भरहे चेव, एरवए चेव, णवरं कूडसामली चेव, धायईरुक्खे चेव, देवागरुले चेव, वेणुदेवे पियसुदंसणे चेव । धायईसंडदीवपच्चच्छिमद्धे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता बहुसमतुल्ला० जाव भरहे चेव, एरवए चेव, ०जाव छव्विहं पि कालं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तं जहा-भरहे चेव, एरवए चेव, णवरं कूडसामली चेव, महाधायईरुक्खे चेव, देवागरुले चेव, वेणुदेवे पियदंसणे चेव ॥

कण्ठ्यम् । नवरं-चक्रवालस्य विष्कम्भः पृथुत्वं चक्रवालविष्कम्भस्तेनेति । समुद्रवेदिकासूत्रं जम्बूवेदिकासूत्रवद्व्याख्येयमित्यर्थः । क्रमप्रस्तावाल्लवणसमुद्रवक्तव्यताऽनन्तरं धातकीखण्डवक्तव्यतां " धायइसंडे " इत्यादिना वेदिकासूत्रान्तेन ग्रन्थेनाऽऽह । कण्ठ्यश्चायम्, नवरं धातकीखण्डप्रकरणमपि-जम्बूद्वीपलवणसमुद्रमध्यं वलयाकृति धातकीखण्डमालिख्य हिमवदादिवर्षधरान् जम्बूद्वीपानुसारेण चोभयतः पूर्वापरविभागेन भरतहैमवताऽऽदिक्षेत्राणि च व्यवस्थाप्य पूर्वापरदिशोर्वलयविष्कम्भमध्ये रेखे च कल्पयित्वाऽवबोद्धव्यम् । अनेनैव क्रमेण पुष्करवरद्वीपार्द्धमपीति । तत्र धातकीनां वृक्षविशेषाणां खण्डो वनसमूह इत्यर्थो धातकीखण्डः, तद्युक्तो यो द्वीपः स धातकीखण्ड एवोच्यते । यथा दण्डयोगाद् दण्ड इति । धातकीखण्डश्चासौ द्वीपश्चेति धातकीखण्डद्वीपः, तस्य (पुरच्छिमं ति) पौरस्त्यं, पूर्वमित्यर्थः । यदर्द्धविभागस्तद्धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धं, पूर्वापरार्द्धता च लवणसमुद्रवेदिकातो दक्षिणत उत्तरतश्च धातकीखण्डवेदिकां यावत् गताभ्यामिषुकारपर्वताभ्यां धातकीखण्डस्य विभक्तत्वादिति ।

उक्तं च-

"पंचसयजोयणुच्चा, सहस्समेगं च होंति विच्छिन्ना ।
कालोयणलवणजले, पुट्ठा ते दाहिणुत्तरओ ॥ १ ॥
दो उसुयारनगवरा, धायइसंडस्स मज्झयारठिया ।
तेण दुहा निद्दिस्सइ, पुव्वद्धं पच्छिमद्धं च ॥ २ ॥ " इति ।

तत्र णमिति वाक्यालङ्कारे, मन्दरस्य मेरोरित्येवं धातकीखण्डपूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धप्रकरणे प्रत्येकमेकोनसप्ततिसूत्रप्रमाणे जम्बूद्वीपप्रकरणवद्द्रष्टव्ये, व्याख्येये च । अत एवाऽऽह-(एवं जहा जंबुद्दीवे तहेत्यादि) नवरं वर्षधराऽऽदिस्वरूपमायामाऽऽदिसमता चैवं भावनीया-

" पुव्वद्धस्स य मज्झे, मेरुस्स पुणो वि दाहिणुत्तरओ ।
वासाइँ तिन्नि तिन्नि य, विदेहवासं च मज्झम्मि ॥ १ ॥
अरविवरसंठियाइं, चउरो लक्खाइँ ताइँ खेत्ताइं ।
अंतो संखित्ताइं, रुंदयराइं कमेण पुण पुट्ठो ॥ २ ॥
भरहे मुहविक्खंभो, छावट्ठिसयाइँ चोद्दसऽहियाइं ।
अउणत्तीसं च सयं, बारसऽहियदुसयभागाणं ॥ ३ ॥
अट्ठारस य सहस्सा, पंचेव सया हवंति सीयाला ।
पणपन्नं अंससयं, बाहिरओ भरहविक्खंभो ॥ ४ ॥
चउगुणियभरहवासो, (व्यास इत्यर्थः)
हेमवए तं चउगुणं तइयं । (हरिवर्षमित्यर्थः)
हरिवासं चउगुणियं, महाविदेहस्स विक्खंभो ॥ ५ ॥
जह विक्खंभो दाहिण-दिसाएँ तह उत्तरे वि वासतिए ।
जह पुव्वद्धेसु तओ, तह अवरद्धे वि वासाइं ॥ ६ ॥
सत्ताणउइ सहस्सा, सत्ताणउयाइँ अट्ठ य सयाइं ॥
तिन्नेव य लक्खाइं, कुरूण भागा य बाणउई ॥ ७ ॥ (विष्कम्भ इति)
अट्ठसयं तेवी-ससहस्सा दो य लक्खजीवाओ ।
होइ गिरीणाऽऽयामो, संखित्तो तं धणुकुरूणं ॥ ८ ॥
वासहरगिरी वक्खा-रपव्वया पुव्वपच्छिमद्धेसु ।
जंबुद्दीवगदुगुणा, वित्थरओ उस्सए तुल्ला ॥ ९ ॥
कंचणगजमगसुरकुरु-नगा य वेयड्ढवट्टदीहा य ।
विक्खंभुव्वेहसमु-स्सएण जह जंबुद्दीवि व्व ॥ १० ॥
लक्खाइँ तिन्नि दीहा, विज्जुप्पहगंधमायणा दो वि ।
छप्पन्नं च सहस्सा, दोन्नि सया सत्तवीसा य ॥ ११ ॥
अउणट्ठा दोन्नि सया, उणसत्तरिसहस्सलक्खा य ।
सोमणसमालवंता, दीहा रुंदा दस सयाइं ॥ १२ ॥
सव्वाओ वि नईओ, विक्खंभोव्वेहदुगुणमाणाओ ।
सीयासीओयाणं, वणाणि दुगुणाणि विक्खंभो ॥ १३ ॥
वासहरकुरुसु दहा, नईण कुंडाइं तेसु जे दीवा ।
उव्वेहुस्सयतुल्ला, विक्खंभायामओ दुगुणा ॥ १४ ॥

जम्बूद्वीपकापेक्षयेति । किमुक्तं भवति? जम्बूद्वीपप्रकरणं धातकीख-

एवंपूर्वार्द्धाभिलापेन वाच्यमित्याह। (जाव दोसु मणुयेत्यादि) एतस्मादपि सूत्रात्परतो जम्बूद्वीपप्रकरणे चन्द्राऽऽदिज्योतिषां सूत्राण्यधीतानि, तानि च धातकीखण्डपुष्कराद्धपूर्वार्द्धाऽऽदिप्रकरणेषु न सङ्गच्छन्ते, द्विस्थानकत्वादस्याध्ययनस्य, धातकीखण्डाऽऽदौ च चन्द्राऽऽदीनां बहुत्वादिति। आह च-"दो चंदा इह दीवे, चत्तारि य सायरे लवणतोए। धायइसंडे दीवे, बारस चंदा य सूरा य ॥१॥" इति। चन्द्राणां द्वित्वेन नक्षत्राऽऽदीनामपि द्वित्वं न स्यात्, ततो द्विस्थानेनावतार इति। जम्बूद्वीपप्रकरणादस्य विशेषं दर्शयन्नाह-(नवरमित्यादि) नवरं केवलमयं विशेष इत्यर्थः, कुरुसूत्रानन्तरं तत्र-" कूडसामली चेव, जंबू चेव सुदंसणे त्ति।" उक्तम। इह तु जम्बूस्थाने "धायईरुक्खे चेव त्ति" वक्तव्यं, प्रमाणं च तयोर्जम्बूद्वीपशाल्मलीवदिति, तयोरेव देवसूत्रेण " अणाढिए चेव जंबुद्दीवाहिवई " इत्यत्र वक्तव्ये "सुदंसणे चेव त्ति" इह वक्तव्यमिति। " धायइसंडे दीवे " इत्यादि पश्चिमार्द्धप्रकरणं पूर्वार्द्धवदनुसर्तव्यम्। अत एवाऽऽह-(जाव छव्विहं पि कालमित्यादि) विशेषमाह-(नवरं कूडसामलीत्यादि) धातकीखण्डपूर्वार्द्धोत्तरकुरुषु धातकीवृक्ष उक्तः, इह तु महाधातकीवृक्षोऽभिधेयः, देवस्तत्र द्वितीयः सुदर्शनसूत्रोक्तः, इह तु प्रियदर्शनोऽभिधेय इति।

पूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धमीलनेन धातकीखण्डद्वीपं सम्पूर्णमाश्रित्य द्विस्थानकं " धायइसंडे णं " इत्यादिनाऽऽह-

धायइसंडपञ्चच्छिमद्धे मंदरस्स पव्वयस्स धायइसंडे णं दीवे दो भरहाइं, दो एरवयाइं, दो हिमवंताइं, दो हेरण्णवयाइं, दो हरिवासाइं, दो रम्मगवासाइं, दो पुव्वविदेहाइं, दो अवरविदेहाइं, दो देवकुराओ, दो देवकुरुमहद्दुमा, दो देवकुरुमहद्दुमावासा देवा, दो उत्तरकुराओ, दो उत्तरकुरुमहद्दुमाओ, दो उत्तरकुरुमहद्दुमावासा देवा, दो चुल्लहिमवंता, दो महाहिमवंता, दो निसढा, दो नीलवंता, दो रुप्पी, दो सिहरी, दो सद्दावई, दो सद्दावईवासी साई देवा, दो वियडावई, दो वियडावइवासी पभासा देवा, दो गंधावइवासी अरुणा देवा, दो मालवंतपरियारगा, दो मालवंतपरियारगवासी पउमा देवा, दो मालवंता, दो चित्तकूडा, दो पउमकूडा, दो नलिनकूडा, दो एगसेला, दो तिकूडा, दो वेसमणकूडा, दो अंजणा, दो मातंजणा, दो सोमणसा, दो विज्जुप्पभा, दो अंकावई, दो पम्हावई, दो आसीविसा, दो सुहावहा, दो चंदपव्वया, दो सूरपव्वया, दो णागपव्वया, दो देवपव्वया, दो गंधमायणा, दो उसुगारपव्वया, दो चुल्लहिमवंतकूडा, दो वेसमणकूडा, दो महाहिमवंतकूडा, दो वेरुलियकूडा, दो निसढकूडा, दो रुयगकूडा, दो नीलवंतकूडा, दो उवदंसणकूडा, दो रुप्पिकूडा, दो मणिकंचणकूडा, दो सिहरिकूडा, दो तिगिंच्छिकूडा, दो पउमद्दहा, दो पउमद्दहवासिणीओ देवीओ सिरीओ, दो महापउमद्दहा, दो महापउमद्दहवासिणी हिरीओ देवीओ, एवं०जाव दो पुंडरीयद्दहा, दो पुंडरीयद्दहवासिणीओ लच्छीओ देवीओ, दो गंगप्पवायद्दहा०जाव दो रत्तवईपवायद्दहा, दो रोहियाओ० जाव दो रुप्पकूला । स्था० ।

(अन्तर्नदीवक्तव्यता 'अंतरणई' शब्दे प्रथमभागे ८९ पृष्ठे गता)

दो कच्छा, दो सुकच्छा, दो महाकच्छा, दो कच्छगावई, दो आवत्ता, दो मंगलावत्ता, दो पुक्खला, दो पुक्खलावई, दो वच्छा, दो सुवच्छा, दो महावच्छा, दो वच्छगावई, दो रम्मा, दो रम्मगा, दो रमणिज्जा, दो मंगलावई, दो पम्हा, दो सुपम्हा, दो महापम्हा, दो पम्हगावई, दो संखा, दो नलिणा, दो कुमुदा, दो नलिणावई, दो वप्पा, दो सुवप्पा, दो महावप्पा, दो वप्पगावई, दो वग्गु, दो सुवग्गु, दो गंधिला, दो गंधिलावई, दो खेमाओ, दो खेमपुराओ, दो रिट्ठाओ, दो रिट्ठपुराओ, दो खग्गीओ, दो मंजूसाओ, दो ओसहीओ, दो पुंडरीगिणीओ, दो सुसीमाओ, दो कुंडलाओ, दो अपराइयाओ, दो पभंकराओ, दो अंकावईओ, दो पम्हावईओ, दो सुभाओ, दो रयणसंचयाओ, दो आसपुराओ, दो सीहपुराओ, दो महापुराओ, दो विजयपुराओ, दो अवराजियाओ, दो अवराओ, दो असोयाओ, दो विगयसोगाओ, दो विजयाओ, दो वेजयंतीओ, दो जयंतीओ, दो अपराजियाओ, दो चक्कपुराओ, दो खग्गपुराओ, दो अवज्झाओ, दो अओज्झाओ, दो भद्दसालवणा, दो णंदणवणा, दो सोमणसवणा, दो पंडगवणा, दो पंडुकंबलसिलाओ, दो अतिपंडुकंबलसिलाओ, दो रत्तकंबलसिलाओ, दो अइरत्तकंबलसिलाओ, दो मंदरा, दो मंदरचूलियाओ, धायइसंडस्स णं दीवस्स वेइया दो गाउयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता ।

"धायइसंडे" इत्यादिनाऽऽह-ते नवरं पूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धयोर्दक्षिणदिग्भागे तयोर्भागयोरित्येवं सर्वत्र भरताऽऽदीनां स्वरूपं प्रागुक्तम। (दो देवकुरुमहद्दुम त्ति) द्वौ कूटशाल्मलीवृक्षावित्यर्थः। द्वौ तद्वासिदेवौ वेणुदेवावित्यर्थः। (दो उत्तरकुरुमहद्दुम त्ति) धातकीवृक्षमहाधातकीवृक्षाविति। तद्देवौ सुदर्शनप्रियदर्शनाविति। क्षुल्लहिमवदादयः षट् वर्षधरपर्वताः, शब्दापातिविकटापातिगन्धापातिमाल्यवत्पर्यायाश्चवृत्तवैताढ्याश्च तन्निवासिस्वातिप्रभासारुणपद्मनामदेवानां द्वयेन द्वयेन सहिताः क्रमेण द्वौ द्वौ भुवाः। (दो मालवंत त्ति) माल्यवन्तावुत्तरकुरूणां पूर्वदिग्वर्तिनौ गजदन्तकौ स्तः, ततो जम्बूद्वीपवत् दक्षिणाभिमुखौ परतः शीतोत्तरकूलवर्तिनौ दक्षिणोत्तरायतौ चित्रकूटौ वक्षस्कारपर्वतौ, ततो विजयेनान्तरितावेवमन्यौ वक्षस्कारावन्यौ तथैवान्यौ पुनरन्तावेवमन्यावपि पुनः पूर्ववनखण्डवेदिकाविजयाभ्यामर्वाक् शीतादक्षिणकूलवर्तीनि तथैव त्रिकूटाऽऽदीनां चत्वारि द्वयानि, ततः सौमनसौ देवकुरुपूर्वदिग्वर्तिनौ गजदन्तकौ, ततो गजदन्तकावेव देवकुरुपश्चिमभागवर्तिनौ विद्युत्प्रभौ, ततो जम्बूद्वीपवत्पश्चिमवनखण्डवेदिकाविजयेभ्यः परतस्तथैवाङ्कावत्यादीनां चत्वारि द्वयानि शीतोदादक्षिणकूलवर्तीनि पुनरन्यानि पश्चिमवनखण्डवेदिकान्त्यविजयाभ्यां पूर्वतः क्रमेण स-

वैत्र वक्षस्कारपर्वताऽऽदीनां चत्वारि द्वयानि, ततो गन्धमादनोत्तरकुरुपश्चिमभागवर्तिनौ गजदन्तकाविति । एते धातकीखण्डस्य पूर्वार्द्धेऽपरार्द्धे च भवन्तीति द्वौ इषुकाराविति इषुकारौ दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः धातकीखण्डविभागकारिणाविति । (दो कुल्लहिमवंतकूडा इत्यादि) हिमवदादयः षट् वर्षधरपर्वताः, तेषु ये द्वे द्वे कूटे जम्बूद्वीपप्रकरणे अभिहिते ते पर्वतानां द्विगुणत्वादेकैकशः स्यातामिति वर्षधराणां द्विगुणत्वात् पद्माऽऽदिहदा अपि द्विगुणाः, तद्देवोऽप्येवमिति चतुर्दशानां गङ्गाऽऽदिमहानदीनां पूर्वपश्चिमार्द्धापेक्षया द्विगुणत्वात् तत्प्रपातहदा अपि द्वौ द्वौ स्युरित्याह-(दो गंगप्पवायद्दहेत्यादि) " दो रोहियाओ" इत्यादौ नद्यधिकारे गङ्गाऽऽदिमहानदीनां सदपि द्वित्वं नोक्तं, जम्बूद्वीपप्रकरणोक्तस्य " महाहिमवंताओ वासहरपव्वयाओ महापउमद्दहाओ दो महानईओ पवहंति ।" इत्यादिसूत्रक्रमस्याऽऽश्रयणात् । तत्र हि रोहिताऽऽद्य एवाष्टौ श्रूयन्त इति चित्रकूटपद्मकूटवक्षस्कारपर्वतयोरन्तरे नीलवर्षधरपर्वतनितम्बव्यवस्थितत्वात् । ग्राहवतीकुण्डदक्षिणतोरणविनिर्गता अष्टाविंशतिनदीसहस्रपरिवारा शीताभिगामिनी सुकच्छमहाकच्छविजययोर्विभागकारिणी ग्राहवती नदी । एवं यथायोगं द्वयोर्द्वयोर्वक्षस्कारपर्वतयोर्विजययोरन्तरे क्रमेण प्रदक्षिणया द्रहवत्यादयोऽन्तरनद्यो योज्याः, तद्द्वित्वं च पूर्ववदिति । पङ्कवतीत्यत्र वेगवतीति ग्रन्थान्तरे दृश्यते, क्षारोदेत्यत्र क्षीरोदेत्यन्यत्र, सिंहस्रोता इत्यत्र, शीतस्रोता इत्यपरत्र, फेनमालिनी गम्भीरमालिनी चेति, इह व्यत्ययश्च दृश्यत इति माल्यवद्गजदन्तकभद्रशालवनाभ्यामारभ्य कच्छाऽऽदीनि द्वात्रिंशद्विजयक्षेत्रयुगलानि प्रदक्षिणतोऽवगन्तव्यानीति । तथा कच्छाऽऽदिषु क्रमेण क्षेमाऽऽदिपुरीणां युगलानि द्वात्रिंशदवगन्तव्यानीति । भद्रशालाऽऽदीनि मेरोश्चत्वारि वनानि; "भूमीए भद्दसालं, मेहलजुयलम्मि दोन्नि रम्माइं । णंदणसोमणसाइं, पंडगपरिमंडियं सिहरं ॥१॥" इति वचनात् । मेर्वोर्द्वित्वे वचनानां द्वित्वमिति शिलाश्चतस्रो मेरौ पण्डकवनमध्ये चूलिकायाः क्रमेण पूर्वाऽऽदिषु । अत्र गाथे-

"पंडगवणम्मि चउरो, सिलाओ चउसु वि दिसासु चूलाए ।
चउजोयणूसियाओ, सव्वज्जुणकंचणमयाओ ॥ १ ॥
पंच सयायामाओ, मज्झे दीहत्तणद्धरुंदाओ ।
चंदद्धसंठियाओ, कुमुदोयरहारगोराओ ॥ २ ॥" इति ।

मन्दरे मेरौ चूलिकाशिखरविशेषः । स्वरूपमस्याः-" मेरुस्स उवरि चूला, जिणभवणविभूसिया दुवी सुच्चा । बारस अट्ठ य चउरो, मूले मज्झुवरि रुंदा य ॥ १ ॥" इति वेदिकासूत्रं जम्बूद्वीपवत् । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

धायइसंडदीवग-धातकीखण्डद्वीपग-त्रि० । धातकीखण्डद्वीपगते, " धायइसंडदीवगाणं चंदाणं ।" जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

धायइसंडदीवपच्चच्छिमद्ध-धातकीखण्डद्वीपपश्चिमार्द्ध-न० । धातकीखण्डद्वीपस्य पश्चिमेऽर्द्धभागे, स्था० ७ ठा० ।

धायइसंडदीवपच्चच्छिमद्धग-धातकीखण्डद्वीपपश्चिमार्द्धग-पुं० । धातकीखण्डद्वीपपश्चिमार्द्धगते मनुष्यभेदे, स्था० ६ ठा० ।

धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धग-धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धग-पुं० । धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धगते मनुष्यभेदे, स्था० ६ ठा० ।

धार-धार-न० । वाच० । धाराभिर्निर्वृत्तम्, अण् । " धाराभिः पतितं तोयं, गृहीतं स्फीतवाससा । शिलायां वसुधारायां, शीलायां पतितं च यत् ॥१॥" इत्युपक्रम्य, "जाजने मृण्मये वाऽपि, स्थापितं धारमुच्यते । " इत्युक्ते शिलाऽऽदिभाजनभूते वर्षोद्भवे जले, धारके, त्रि० । पं० ३ उ० । उण० । वाच० । अधौ, न० । दे० ना० ५ वर्ग ५९ गाथा ।

धारण-धारण-न० । पालने, स्था० ३ ठा० ३ उ० । अप्रतिस्खलने, " अरती तत्थ किं विहारए । " विदारयेत् प्रतिस्खलेत् । आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । " धरंति राइणिया इह ।" धारयन्ति बिभ्रति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । वस्त्राऽऽदीनां परिग्रहणे, उपभोगे च । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

धारणा-धारणा-स्त्री० । धृ-युच् । " यमाऽऽदिगुणसंयुक्ते, मनसः स्थितिरात्मनि । धारणा प्रोच्यते सद्भि-र्योगशास्त्रविशारदैः ॥ १ ॥ " इत्युक्तायामात्मनि चित्तस्य स्थितौ, वाच० । विषयान्तरपरिहारेण स्थिरीकरणात्मा हि चित्तस्य धारणा । यदाह-'देशबन्धश्चित्तस्य धारणेति ।' द्वा० २४ द्वार । मर्यादायाम्, न्याय्यपथस्थितौ, अवधारणे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । वाच० । पूर्वश्रुतदृष्टाऽऽदिविषयावधारणं धारणेति । दर्श० ५ तत्त्व । गृहीतस्याविस्मरणे, विशे० । आव० । ध० । आ० म० । नि० चू० । आ० चू० । अवगतार्थविशेषधारणं धारणा । भ० ८ श० २ उ० । स्था० । निश्चितस्यैव वस्तुनो व्युत्पत्त्यादिरूपेण धारणं धारणा । विशे० । निश्चितस्यैवाविच्युतिस्मृतिवासनारूपं धारणं धारणा । प्रव० २१६ द्वार । ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मक्षयोपशमसमुत्थायामविच्योरपादभेदवत्यां प्रज्ञातवस्त्वानुपूर्वीगोचरायां चित्तपरिणतौ, ल० । तदात्मके मतिज्ञानभेदे च । स्था० ८ ठा० । दश० । सम्म० । नं० । आ० चू० । " धरणं पुण धारणं बिंति ।" धृतिर्धारणमर्थानामिति वर्त्तते । परिच्छिन्नस्य वस्तुनोऽविच्युतिवासनास्मृतिरूपं धरणं पुनर्धारणां ब्रुवते । आ० म० १ अ० १ खण्ड । नं० ।

तथा च मतिज्ञानस्य तृतीयभेदमवायं प्रतिपादयन्ति-

स एव दृढतमावस्थाऽऽपन्नो धारणा ॥ १० ॥

स इति अवायः, दृढतमावस्थाऽऽपन्नः विवक्षितविषयावसाय एव सादरस्य प्रमातुरत्यन्तोपचितः कञ्चित्कालं तिष्ठन् धारणेत्यभिधीयते । दृढतमावस्थाऽऽपन्नो ह्यवायः स्वोपढौकिताऽऽत्मशक्तिविशेषरूपसंस्कारद्वारेण कालान्तरे स्मरणं कर्त्तुं पर्याप्नोतीति ॥ १० ॥ रत्ना० २ परि० । नं० । तस्याऽर्थस्य निर्णयरूपोऽध्यवसायोऽवायः शाङ्ख एवायं, शार्ङ्ग एवायमित्यादिरूपोऽवधारणाऽऽत्मकप्रत्ययोऽवाय इत्यर्थः । तस्यैवार्थस्य निर्णीतस्य धारणं धारणा । सा च त्रिधा-अविच्युतिः, वासना, स्मृतिश्च । तत्र तदुपयोगादविच्यवनमविच्युतिः, सा चान्तर्मुहूर्तप्रमाणा । ततस्तया आहितो यः संस्कारः सा वासना । सा च संख्येयमसंख्येयं वा यावत्कालं भवति । ततः कालान्तरे कुतश्चित्तादृशार्थदर्शनाऽऽदिकात् कारणात् संस्कारस्य प्रबोधे यद् ज्ञानमुदयते-तदेवेदं यन्मया प्रागुपलब्धमित्यादिरूपं सा स्मृतिः । उक्तं च-"तदणंतरं तदत्था-विच्चवणं जो य वासणाजोगो । कालंतरे य जं पुण, अणुसरणं धारणा सा उ ॥२९१॥" (विशे०) एताश्चाविच्युतिवासनास्मृतयो धारणलक्षणसामान्यान्वर्थयोगाद्धारणाशब्दवाच्याः । नं० । आ० म० । विशे० ।

अथ चतुर्थो मतिज्ञानभेदो धारणा, इयं चाविच्युतिवासना-स्मृतिभेदात्रिधा भवति । अतः सभेदामपि तामाह-

तयणंतरं तयत्था-ऽविच्चवणं जो य वासणाजोगो ।

कालंतरे य जं पुण, अणुसरणं धारणा सा उ ॥२९१॥

तस्मादपायादनन्तरं तदनन्तरं, तत्र तदर्थाऽविच्यवनम्-उपयोगमाश्रित्याभ्रंशः । यश्च वासनया जीवेन सह योगः संबन्धः । यच्च तस्यार्थस्य कालान्तरे पुनरिन्द्रियैरुपलब्धस्य, अनुपलब्धस्य वा एवमेव मनसाऽनुस्मरणं स्मृतिर्भवति, सेयं पुनस्त्रिविधाऽप्यर्थस्यावधारणरूपा धारणा विज्ञेयेति गाथाऽक्षरघटना । भावार्थस्त्वयम्-अपायेन निश्चितेऽर्थे तदनन्तरं यावदद्यापि तदर्थोपयोगः सातत्येन वर्तते, न तु तस्मान्निवर्तते, तावत्तदर्थोपयोगादविच्युतिर्नाम, सा धारणायाः प्रथमभेदो भवति । ततस्तस्यार्थोपयोगस्य यदावरणं कर्म तस्य क्षयोपशमेन जीवो युज्यते, येन कालान्तरे इन्द्रियव्यापाराऽऽदिसामग्रीवशात् पुनरपि तदर्थोपयोगः स्मृतिरूपेण समुन्मीलति, सा चेयं तदावरणक्षयोपशमरूपा वासना नाम द्वितीयस्तद्भेदो भवति । कालान्तरे च वासनावशात्तदर्थस्येन्द्रियैरुपलब्धस्य, अथवा तैरनुपलब्धस्याऽपि मनसि या स्मृतिराविर्भवति, सा तृतीयस्तद्भेद इति । एवं त्रिभेदा धारणा विज्ञेया । तुशब्दोऽवग्रहाऽऽदिभ्यो विशेषद्योतनार्थः । विप्रतिपत्तयस्त्वेतद्विषया अपि प्रागेव निराकृताः । इति गाथाऽर्थः ॥ २९१ ॥ विशे० । साऽपि मनः-सहितेन्द्रियपञ्चकजन्यत्वात्षोढा । प्रव० २१६ द्वार ।

से किं तं धारणा ? । धारणा छव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-सोइंदियधारणा, चक्खिदियधारणा, घाणिंदियधारणा, जिब्भिंदियधारणा, फासिंदियधारणा, नोइंदियधारणा ॥ नं० ।

प्रकारान्तरेण धारणायाः षड् भेदानाह-

छव्विहा धारणा पण्णत्ता । तं जहा-बहुं धारेइ, बहुविहं धारेइ, पोराणं धारेइ, दुरुद्धरं धारेइ, अनिस्सियं धारेइ, असंदिद्धं धारेइ । सेत्तं धारणा । स्था० ६ ठा० ।

बहु धारयति १ बहुविधं धारयति २ पुराणं धारयति ३ दुर्द्धरं धारयति ४ अनिश्रितं धारयति ५ असंदिग्धं धारयति ६ इति षडपि पदानि व्यक्तानि, नवरम् (पोराणं ति) पुराणं जीर्णं प्रभूतकालसंचितं, तदपि यथाश्रुतं धारयति, यदा पृच्छ्यते, तदा धारणासमर्थत्वात् सर्वं वदति । (दुरुद्धरं ति) दुर्द्धरं दुःखेन धर्तुं शक्यं नयाऽऽगमभङ्गगुपिलं (धारय त्ति) "सेत्तं" इत्यादि निगमनवाक्यं व्यक्तम् । दशा० ५ अ० ।

धारणाया एकार्थिकान्याह-

तीसे णं इमे एगट्ठिया णाणाघोसा, णाणावंजणा, पंच नामधिज्जा भवंति । तं जहा-धरणा, धारणा, ठवणा, पइट्ठा कोट्ठे । सेत्तं धारणा ।

अत्रापि सामान्यत एकार्थिकानि, विशेषचिन्तायां पुनर्भिन्नार्थानि, तत्रापायानन्तरमवगतस्यार्थस्याविच्युत्या अन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् धरणं धरणा, ततस्तमेवार्थमुपयोगाद् च्युतं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तादुत्कर्षतोऽसंख्येयात्कालात्परतो यत्स्मरणं सा धारणा । तथा स्थापनं स्थापना, अपायावधारितस्याऽर्थस्य हृदि स्थापनं वासनेत्यर्थः । अन्ये तु धारणास्थापनयोर्व्यत्यासेन स्वरूपमाचक्षते । तथा च प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा, अपायावधारितस्यैवार्थस्य हृदि प्रभेदेन प्रतिष्ठापनमित्यर्थः । कोष्ठ इव कोष्ठः, अविनष्टसूत्रार्थधारणमित्यर्थः । (सेत्तं धारणा) सेयं धारणा । नं० । न विधेयमित्येवंरूपे (स्था० ५ ठा० १ उ०) निषेधविषयके आदेशे, " आणं वा धारणं वा सम्मं पउंजित्ता भवइ । " स्था० ७ ठा० । धारणा विधेयेषु निवर्तनलक्षणेति । स्था० ५ ठा० २ उ० । बहुशो निवेदितातिचारस्य शुद्धिदानमवधारणाऽऽत्मके व्यवहारभेदे, पञ्चा० १६ विव० । प्रव० । स्था० । (तद्वक्तव्यता ' धारणाववहार ' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते) कमहरणाऽऽधारभूते स्थूणे गृहावयवविशेषे, " अगारस्स णं झियायमाणस्स किं धारणा झियाइ ।" भ० ८ श० ६ उ० । धृ-णिच्-ल्युट् । नाड्याम्, श्रेणौ च । स्त्री० । वाच० ।

धारणाबल-धारणाबल-न० । प्रतिपादितः शब्दस्तदर्थावधारणबले, व्य० १ उ० ।

धारणाववहार-धारणाव्यवहार-पुं० । गीतार्थसंविग्नेन द्रव्याऽऽद्यपेक्षया यत्रापराधे यथा या विशुद्धिः कृता, तामवधार्य यदन्यस्तत्रैव तथैव तामेव प्रयुङ्क्ते सा धारणा, वैयावृत्त्यकराऽऽदेर्वा गच्छोपग्रहकारिणोऽशेषानुचितस्योचितप्रायश्चित्तपदानां प्रदर्शितानां धरणं धारणेति । स्था० ५ ठा० २ उ० । सा एव व्यवहारो धारणाव्यवहारः । पञ्च व्यवहाराणां मध्ये चतुर्थे व्यवहारभेदे, भ० ८ श० ८ उ० । पञ्चा० । जीत० । व्य० । धारणाव्यवहारो नाम-गीतार्थेन संविग्नेनाऽऽचार्येण द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषान् प्रतिसेवनाश्चावलोक्य यस्मिन्नपराधे यत्प्रायश्चित्तमदायि तत्सर्वमन्यो दृष्ट्वा तत्रैव द्रव्याऽऽदिषु तादृश एवापराधे तदेव प्रायश्चित्तं ददाति । एष धारणाव्यवहारः । अथवा-वैयावृत्त्यकरस्य गच्छोपग्राहिणः स्पर्द्धकस्वामिनो वा देशदर्शनसहायस्य वा संविग्नस्योचितप्रायश्चित्तदानं धारणमेव धारणाव्यवहारः । व्य० १ उ० ।

अथ धारणाव्यवहारमाह-

गीयत्थेणं दिन्नं, सुद्धिं अवराहिऊण तह चेव ।

दिंतस्स धारणा तह, उद्धियपयधरणरूवा वा ॥८६५॥

इह गीतार्थेन संविग्नेनाऽऽचार्येण कस्याऽपि शिष्यस्य कस्मिंश्चिदपराधे द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषान् प्रतिसेवनाश्चावलोक्य या शुद्धिः प्रदत्ता, सा शुद्धिः तथैवावधार्य सोऽपि शिष्यो यदाऽन्यत्रापि तादृश एवापराधे च द्रव्यादिषु तथैव प्रायश्चित्तं ददाति, तदाऽसौ धारणा नाम चतुर्थो व्यवहारः । उद्धृतपदधरणरूपा वा धारणा । इदमुक्तं भवति-वैयावृत्त्यकरणाऽऽदिना कश्चिद् गच्छोपकारी साधुरद्याप्यशेषच्छेदश्रुतयोग्यो न भवति, ततस्तस्यानुग्रहं कृत्वा यदा गुरुकृतान्येव कानिचित्प्रायश्चित्तपदानि कथयति, तदा तस्य तेषां पदानां धरणं धारणाऽभिधीयत इति ॥ ८६५ ॥ प्रव० १२६ द्वार ।

धारणववहारो पुण, वत्तव्वो तं जहक्कमं सुणह ॥६४१॥

अत ऊर्ध्वं धारणाव्यवहारो वक्तव्यः, तद्यथाक्रममहं वक्ष्ये इति शृणु ।

उद्धारणा विधारणा, संधारणा संपधारणा चेव ।

नाऊण धीरपुरिसा, धारणववहार तं बिंति ॥ ६४२ ॥

धारणायाश्चत्वार्येकार्थिकानि । तद्यथा-उद्धारणा, विधार-

णा, सन्धारणा, संप्रधारणा च । तथा छेदश्रुतार्थावधारणल-क्षणया यः सम्यक् ज्ञात्वा व्यवहारः प्रयुज्यते, तं धारणाव्यव-हारं धीरपुरुषा ब्रुवते ।

संप्रति तेषामेव चतुर्णामेकार्थिनां शब्दव्युत्पत्तिमाह-

पाबल्लेण उवेच्च व, उद्धियपयधारणा उ उद्धारा ।
विविहेहिँ पगारेहिं, धारे अत्थं विधारा सा ॥ ६४४ ॥
सम एगीभावम्मी, उद्धरणे ताणि एगभावेण ।
धारे तत्थ पयाणि उ, तम्हा संधारणा होइ ॥ ६४५ ॥
जम्हा उ संपहारेउं, ववहारं पउंजती ।
तम्हा उ कारणे तेण, नायव्वा संपहारणा ॥ ६४६ ॥

उत् प्राबल्येन उपेत्य वा श्रुतानामर्थपदानां धारणा उद्धारा उद्धारणा । विविधैः प्रकारैर्विशिष्टं वाऽर्थमुद्धृतमर्थपदं यया-धारणया स्मृत्या धारयति सा विधारा विधारणा । तथा-समशब्द एकीभावे, धृता तु धारणा तान्यर्थपदानि आत्मना सहैकभावेन यस्माद्धारयति तस्मात् धारणा संधारणा भव-ति । तथा यस्मात्संप्रधार्य सम्यक्प्रकर्षेणाऽवधार्य व्यवहारं प्रयुङ्क्ते, तस्मात्कारणात्तेन शिष्येणेयं प्रधारणा भवति ज्ञातव्या ।

धारणववहारो सो, पउंजियव्वो उ केरिसे पुरिसे ? ।
भण्णति गुणसंपन्ने, जारिसए तं सुणेहि त्ति ॥ ६४७ ॥

एष धारणाव्यवहारः कीदृशे पुरुषे प्रयोक्तव्यः ? । सूरिराह-भण्यते-यादृशे गुणसम्पन्ने प्रयोक्तव्यस्तद्वक्ष्यमाणं शृणु ? ।

तमेवाऽऽह-

पवयणजसम्मि पुरिसे, अणुग्गहविसारए तवस्सिम्मि ।
सुस्सुयबहुस्सुयम्मि य, विवकपरिपागसुद्धम्मि ॥ ६४८ ॥

प्रवचनं द्वादशाङ्गं, श्रमणसङ्घो वा तस्य यः कीर्तिमिच्छेत् स प्रवचनयशास्तस्मिन् तपस्विनि, तथा श्रुतं शोभनमाकर्णितं, बहु श्रुतं च येन स सुश्रुतबहुश्रुतः । किमुक्तं भवति-यस्य बह्वपि श्रुतं न विस्मृतिपथमुपयाति स सुश्रुतबहुश्रुतः । अथवा बहुश्रुतो-ऽपि सन् यस्तस्योपदेशेन वर्तते स मार्गानुसारिश्रुतत्वात् सुश्रुतबहुश्रुतः, तस्मिन्, तथा विशिष्टे विनयौचित्यान्विते वा-क्परिपाके विशुद्धिर्यस्मिन्पुरुषे तस्मिन् प्रयोक्तव्यः ।

एतदेवाऽऽह-

एएसु धीरपुरिसा, पुरिसज्जाएसु किंचि खलिएसु ।
रहिए वि धारइत्ता, जहारिहं देंति पच्छित्तं ॥ ६४९ ॥

एतेष्वनन्तरोदितगुणसम्पन्नेषु पुरुषजातेषु किञ्चिदत्र मना-क् प्रमादवशाद् मूलगुणविषये उत्तरगुणविषये वा स्खलि-तेषु रहितेऽपि असत्यप्यागमे व्यवहारत्रये धीरपुरुषा अर्थ-पदानि कल्पप्रकल्पव्यवहारगतानि कानिचित् धारयित्वा य-थार्हं ददति प्रायश्चित्तम् ।

संप्रति "रहिए वि धारयित्ता" (६४९) इत्यस्य व्याख्यानमाह-

रहिए णाम असंते, आइल्लम्मि ववहारतियगम्मि ।
ताहे वि धारइत्ता, वीमंसेऊण जं भणियं ॥ ६५० ॥

रहिते नाम असति अविद्यमानके व्यवहारत्रिके सति ततो विधाय ....यत् भणितं भवति । किमुक्तं भवति ?, विमृश्य पूर्वापरपर्यालोचनेन देशकालाऽऽद्यपेक्षया सम्यक् छेदश्रुतार्थं परिज्ञाय ।

किमित्याह-

पुरिसस्स उ अइयारं, वियारइत्ता ण जस्स जं जोग्गं ।
तं देंति उ पच्छित्तं, केणं देंती उ तं सुणह ॥ ६५१ ॥

पुरुषस्यातिचारं द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च विचार्य यस्य यदर्हं प्रायश्चित्तं तत् केन दीयते । आचार्यः प्राह-येन दीयते तत् शृणु ।

तदेवाऽऽह-

जो धारितो सुतत्थो, अणुओगविहीएँ धीरपुरिसेहिं ।
आलीणपलीणेहिं, जयणाजुत्तेहिँ दंतेहिं ॥ ६५२ ॥

यो नाम धीरपुरुषैरालीनप्रलीनैर्यतनायुक्तैर्दान्तैरनुयोगवि-धौ व्याख्यानवेलायां श्रुतस्य छेदश्रुतस्यार्थो धारितोऽविस्मृती-कृतस्तेन दीयते ।

साम्प्रतमालीनाऽऽदिपदानां व्याख्यानमाह-

अल्लीणा णाणाऽऽदिसु, पदे पदे लीणा उ होंति पल्लीणा ।
कोहाऽऽदी वा पलयं, जेसिँ गया ते पलीणाओ ॥ ६५३ ॥
जयणाजुत्तो पयत्तव, दंतो जो उवरतो उ पावेहिं ।
अहवा दंतो इंदिय-दमेण नोइंदिएणं च ॥ ६५४ ॥

ज्ञानाऽऽदिषु आ समन्तात् लीना आलीनाः। पदे पदे लीना भवन्ति प्रलीना। अथवा-येषां क्रोधाऽऽदयः प्रलयं गताः ते प्रलीनाः, प्रकर्षेण लीना क्षयं विनाशं गताः क्रोधाऽऽदयो येषामिति व्युत्पत्तेः। यत-नायुक्तो नाम सूत्रानुसारतः प्रयत्नवान्, दान्तो यः पापेभ्य उपर-तः। अथवा-दान्तो नाम इन्द्रियदमेन, नोइन्द्रियेण नोइन्द्रियदमेन चान्यतः। तदेवं छेदश्रुतार्थधारणावशतो धारणाव्यवहार उक्तः।

साम्प्रतमन्यथा धारणाव्यवहारमाह-

अहवा जेणऽण्णइया, दिट्ठा सोही परस्स कीरंती ।
तारिसयं चेव पुणो, उप्पन्नं कारणं तस्स ॥ ६५५ ॥
सो तम्मि चेव दव्वे, खेत्ते काले य कारणे पुरिसे ।
तारिसयं अकरेंतो, न हु सो आराहओ होइ ॥ ६५६ ॥
सो तम्मि चेव दव्वे, खेत्ते काले य कारणे पुरिसे ।
तारिसयं चिय भूयो, कुव्वं आराहगो होइ ॥ ६५७ ॥

अथवेति प्रकारान्तरे, येनान्यदा परस्य शोधिः क्रियमाणा दृष्टा, स तमर्थं स्मरति-यथा एवंभूतेषु द्रव्याऽऽदिष्वेवंभूते कारणे जाते एवंभूतं प्रायश्चित्तं दत्तमिति । पुनरन्यदाऽस्य पुरुष-स्य उपलक्षणमेतत्-अन्यस्य वा तादृशमेव पुनः कारणं समुत्पन्नं ततो यदि तस्मिन्नेव, तादृश एवेत्यर्थः। द्रव्ये क्षेत्रे काले, चशब्दा-द्भावे च तादृश एव कारणे तस्मिन्नेव तादृशे वा पुरुषे तादृशम-कुर्वन्, रागेण वा अन्यं प्रायश्चित्तं ददानो वर्तते, तदा स (न हु) नैव आराधको भवति । अथ यः तस्मिन्नेव द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च कारणे पुरुषे च तादृशं करोति, स तदा आराधको भवति ।

धारणाव्यवहारस्यैव पुनरन्यथाप्रकारमाह-

वेयावच्चकरो वा, सीसो वा देसहिंडगो वा वि ।
दुम्मेहत्ता न तरइ, ओहारेउं बहुं जो उ ॥ ६५८ ॥
तस्स उ उद्धरिऊणं, अत्थपयाइं तु देंति आयरिया ।
जेहिँ न करेति कज्जं, ओहारेत्ता उ सो देसं ॥ ६५९ ॥

यथा आचार्याणां वैयावृत्यकरो, यो वा संमतः शिष्यो, यस्तु वा देशहिण्डको देशदर्शनं कुर्वतः सहाय आसीत्, स समस्तं छेदश्रुतार्थं दुर्मेधस्त्वात् नावधारयितुं शक्नोति, ततस्तस्योपकृत्यानुग्रहाय कानिचिदर्थपदान्याचार्या ददति, यैः स छेदश्रुतस्य देशमवधार्यं न कार्यं करोति । एष धारणाव्यवहारः ।

उपसंहारमाह-

धारणववहारो सो, अहक्कमं वरिणतो समासेणं ॥(६६०)

एष धारणाव्यवहारो यथाक्रमं समासेन वर्णितः। व्य०१० उ०।

धारणिज्ज-धारणीय-त्रि० । धारयितुं योग्ये, ज० १५ श० । आचा० । धारयितुं शक्ये, यापनीये च । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

धारणी-धा(र)रिणी-स्त्री० । सकलगुणधारणात्धा (र) रिणी । सू० प्र० १ पाहु० । एकादशजिनस्य प्रथमार्यिकायाम् , प्रव० । " सिज्जंसजिणस्स धा (र) रिणी पढमा । " ति० । द्वारवतीवास्तव्यस्य वसुदेवस्य स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, " वसुदेवे राया धारणी देवी ।" अन्त० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। द्वारवतीवास्तव्यस्यान्धकवृष्णेः स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, "अंधगविण्हिस्स रन्नो धारणी नाम देवी ।" अन्त० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । हस्तिशीर्षनगरस्थस्यादीनशत्रोः राज्ञः स्वनामख्यातायां भार्यायाम, " हत्थिसीसणयरे अदीणसत्तुस्स धारणीपामोक्खाणं देवीसहस्साणं ।" विपा०२ श्रु०१ अ०। अपरविदेहस्थपूतायां राजधान्यां स्थितस्य धनञ्जयस्य भार्यायाम्, आ० चू० १ अ० । मथुरानगरीवास्तव्यस्य जितशत्रोः राज्ञो भार्यायाम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड । कौशाम्बीवास्तव्यस्याऽजितसेनस्य राज्ञो भार्यायाम, आव० ४ अ० । आ० चू० । राजगृहनगरस्थस्य श्रेणिकस्य राज्ञो भार्यायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । अनु० । चम्पानगरीस्थस्य मित्रप्रभस्य राज्ञो भार्यायाम्, आव० ४ अ० । चम्पानगरीस्थस्य दधिवाहनस्य राज्ञः स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड । पोतनपुरनगरस्थस्य सोमचन्द्रस्य राज्ञो भार्यायाम, आ० म०१ अ० २ खण्ड । आ० चू० । राजगृहनगरस्थस्य विश्वनन्दिनृपस्य भ्रातुर्विशाखभूतेर्भार्यायाम, आ० म० १ अ० १ खण्ड । मगधनन्दिग्रामस्थस्य गौतमस्य कणवृत्तिकस्य भार्यायाम्, "मगधे नन्दिग्रामे, गौतमः कणवृत्तिकः । तत्पत्नी धारणी तस्याः ।" आ० क० । आव० । कस्मिंश्चिन्नगरे स्थितस्य वज्रसेनस्य राज्ञः स्वनामख्यातायां मञ्जुलास्यपरनामधेयायां भार्यायाम, आ० चू० १ अ० । मिथिलास्थस्य जितशत्रोः स्वनामख्यातायां भार्यायां च । सू० प्र० १ पाहु० । चं० प्र० ।

धारय-धारक-त्रि० । धारणसमर्थे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । धारको धारयितुं क्षमः। औ०।प्रवर्तके च। नि०१ श्रु०३ वर्ग १ अ०।

धारा-धारा-स्त्री० । धृ-णिच्-अङ् । खड्गाऽऽदेर्निशिताग्रे, भ० १३ श० ६ उ०। वाच० ।"खुरो इव एगंतधाराए।" ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । उत्त० । घटादाऽऽदिच्छिद्रे, सन्ततौ, द्रवद्रव्यस्य सन्तत्या पतने, उत्कर्षे, यशसि, अतिवृष्टौ, समूहे, सेनस्याऽऽसारवर्षणे, वाच० । ज० । कल्प० । सैन्याग्रे, पुरीभेदे, " अश्वानां तु गतिर्धारा, विभिन्ना सा च पञ्चधा ।" इत्युक्तेऽश्वानां गतिपञ्चके, "इतीव धारामवधीर्य ।" इति नैषधम् । सैन्याग्रिमस्कन्धे च । वाच० । हस्तिनापुरस्थस्य शिवस्य राज्ञो भार्यायां च । आ० म० १ अ० २ खण्ड । स्वनामुक्ते, दे० ना० ५ वर्ग ५६ गाथा ।

धारावारि-धारावारि-न० । धाराप्रधाने जले,भ० १३श०६उ० ।

धारावारिय-धारावारिक-त्रि० । धाराप्रधानं वारि जलं यस्मिन् । धाराप्रधानजलोपेते, " धारावारियलेणाइ वा ।" भ० १३ श० ६ उ० ।

धारावास-देशी-मेघे, भेके च । दे० ना० ५ वर्ग ६३ गाथा ।

धाराहय-धाराहत-त्रि० । मेघजलधारासिक्ते, " धाराहयकयंबपुप्फगं पि व समुस्ससिअरोमकूवे ।" कल्प० १ अधि० १ क्षण । भ० ।

धारि(ण)-धारिन्-पुं० । धारयतीत्येवंशीलः । प्रज्ञा० २ पद । धृ-णिनिः । धारणशीले, पीलुवृक्षे, धारणकर्तरि, त्रि०। वाच०।

धारिणी-धारिणी-स्त्री० । ' धारणी ' शब्दार्थे, सू० प्र० १ पाहु० ।

धारित्तए-धारयितुम्-अव्य० । पालयितुमित्यर्थे, स्था० ६ ठा० । परिग्रहीतुमित्यर्थे, उपभोक्तुमित्यर्थे च । " धारित्तए वा परिहरित्तए वा ।"धारयितुं परिग्रहे परिहर्तुमासेवितुमिति । अथवा-"धारणया उवभोगो,परिहरणा होइ परिभोगो।"स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

धारिय-धारित-त्रि० । सम्यग्धारणाविषयीकृते, " धारियनियसमीहिय-निक्खमणाविउखवायणसमिद्धो । " धारितं सम्यग् धारणाविषयीकृतं,न विस्मृतमिति भावः । व्य० ३ उ० ।

धारी-धात्री-स्त्री० । ' धाई ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

धारोदग-धारोदक-न० । गिरिनिर्झरजले, बृ० २ उ० ।

धाव-धाव-जवे, सक०-शुद्धौ च । स्वादि०-आत्म०-शीघ्रगतौ, अक० सेट् । धावते । अधाविष्ट । वाच० । " कदधावोर्लुक् " ॥ ८ । ४ । २२८ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणान्त्यस्य लुक् । प्रा० ४ पाद " स्वरादनतो वा " ॥ ८ । ४ । २४० ॥ इति प्राकृतसूत्रेणाकारान्तवर्जितात्स्वरान्ताद्धातोरन्ते अकाराऽऽगमो वा । प्रा० ४ पाद । धाइ । धाअइ । धाहिइ । धाओ । बाहुलकाधिकाराद् वर्त्तमानाभविष्यद्विध्याऽऽद्येकवचन एव भवति,तेनेह न । धावन्ति । क्वचिन्न भवति । "धावइ पुरओ ।" प्रा०४ पाद । "कुमारे जे धावइ साउगाइं।" धावति गच्छति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

धावण-धावन-न० । धाव-ल्युट् । शीघ्रगमने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । वाच० । धावनमिति वेगेन गमनम् । जीत० । महा० । व्य० । धावनं निष्कारणमित्यरितमविश्रामं गमनम् । जीत० । शोधने, वाच० । अङ्गप्रक्षालनस्नाने, नि० चू० ११ उ० । वस्त्राऽऽदीनां प्रक्षालने, प्रव० १ द्वार । सूत्र० । नि०चू० । व्य० । ग० । प्रश्न० । पात्राऽऽदीनां कल्पप्रदाने च । जीत० । बृ० । मुखनयनाऽऽदिधावने, व्य० ६ उ० । (गुणा आचार्यातिशयवर्णनप्रस्तावे ' अइसेस ' शब्दे प्रथमभागे २८ पृष्ठे प्रतिपादिताः) "जे धोवती लूसयती व वत्थं, अहा हु से णागणियस्स दूरे ।" सूत्र० १ श्रु०७ अ० । वस्त्रायपधिकृत्य-"णो धोवेज्जा णो धोतरत्ताइं वत्थाइं धरेज्जा ।" नो धावयेत्प्रासुकोदकेनाऽपि न प्रक्षालयेद्,गच्छवासिनो ह्यप्राप्तवर्षाऽऽदौ ग्लानावस्थायां वा प्रासुकोदकेन यतनया धावनमनुज्ञातं, न तु जिनकल्पिकस्येति ।

तथाहि-न च धौतरक्तानि वस्त्राणि धारयेत्पूर्वं धौतानि पश्चाद्रक्तानीति । आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० । धावनं च संयतानां वर्षाकालादर्वाक् कल्पते, न शेषकाले, अनेकदोषसम्भवात् । पिं० ।

तानेव दोषान् दर्शयति-

उउबद्धे धुवणे बउसं, बंभविणासो अठाणठवणं च ।
संपाइमवाउवहो, पावणभूओवघाओ य ॥ २६ ॥

वर्षाकालस्य प्रत्यासन्नं कालमपहाय शेषे ऋतुबद्धे काले, चीवरस्य धावने चरणं बकुशं भवति, उपकरणबकुशत्वात् । तथा-ब्रह्मविनाशो मैथुनप्रत्याख्यानभङ्गः, प्रक्षालितवासःपरिधानभूषितशरीरो हि विरूपोऽपि रमणीयत्वेन प्रतिभासमानो रमणीनां रमणयोग्योऽयमिति प्रार्थनीयो भवति, किं पुनः शरीरावयवरामणीयकोपशोभितः; ततः समस्तकामिनीनां प्रार्थ्यमानानां सलीलदर्शितललितैश्चलिताक्षिनिरीक्षणाङ्गमोटनव्याजोपदर्शितकक्षामूलसद्वृत्तरमणीयपीनकठिनपयोधरविस्तारगम्भीरनाभिप्रदेशपरिभावनतोऽवश्यं ब्रह्मचर्याद्भ्रश्यति । तथा-अस्थानस्थापनम् । इयमत्र भावना-यदि नाम कथञ्चित्सत्त्वं बोदितया संयमविषयनिःप्रकम्पधृत्यवष्टम्भतो न ब्रह्मचर्याद्भ्रश्यति, तथाऽपि लोकेन सोऽस्थाने स्थाप्यते-यथा नूनमयं कामी, कथमन्यथाऽऽत्मानमित्थं भूषयति, न ह्यकामी मण्डनप्रियो भवति । तथा संपातिमानां मक्षिकाऽऽदीनां प्रक्षालनजलाऽऽदिषु निपततां, वायोश्च वधो विनाशो भवति । तथा प्लावनेन प्रक्षालनजलपरिष्ठापनेन पृथिव्यां रेल्लणेन भूतोपघातः पृथिव्याश्रितकीटिकाऽऽदिसत्त्वोपमर्दो भवति । तस्मान्न ऋतुबद्धकाले वस्त्रं प्रक्षालनीयम् ।

नन्वेते दोषा वर्षाकालादर्वागपि धावने संभवन्ति, ततस्तदानीमपि न चीवराणि प्रक्षालनीयानि, तन्न, तदानीं चीवराप्रक्षालनेऽनेकदोषसंभवात् ।

अइभारचुडणपणए, सीयलपाउरणअजिएणगेलन्ने ।
ओहावणे कायवहो, वासासु अधोवणे दोसा ॥ २७ ॥

इह वर्षाकालादर्वागपि यदि वासांसि न प्रक्षाल्यन्ते तदानीमतिभारो गुरुत्वं वस्त्राणां भवति । तथा वासांसि मलदिग्धानि यदा जलकणानुषक्तसमीरणमात्रेणापि स्पृष्टानि भवन्ति, तदाऽपि स मलः क्लिन्नीभूय दृढतरं वस्त्रेषु संबन्धमापद्यते, किं पुनर्वर्षासु सर्वतः सलिलमयीषु । ततो वर्षासु क्लिन्नमलसंपर्कतो वासांसि गुरुतरभाराणि भवन्ति । तथा (चुडणं ति) वाससां वर्षाकालादर्वागप्यधावने वर्षासु जीर्णता भवति, शाटो भवतीत्यर्थः । किमुक्तं भवति?-यदि नाम वर्षाकालादर्वागपि वस्त्राणि न प्रक्षाल्यन्ते, ततो वर्षासु तेषां मलक्लिन्नतया जीर्णताजननेन शाटो भवति । न च वर्षास्वभिनववस्त्रग्रहणं, नचाधिकः परिग्रहः, ततो ये वस्त्राभावे दोषाः समये प्रसिद्धास्ते सर्वेऽपि यथायोगमुपढौकन्त इति । तथा मलक्लिन्नेषु वस्त्रेषु शीतलजलकणसंस्पर्शतो मलस्याऽऽर्द्रीभवतः पनको वनस्पतिविशेषः प्राचुर्येणोपजायते, तथा च सति प्राणिव्यापादनप्रसक्तिः । तथा निरन्तरं सर्वतः प्रसरेण निपतति वर्षे शीतले च मारुते वाति मलस्याऽऽर्द्रीभवतः शीतलीभूतानां वाससां प्रावरणे भुक्ताऽऽहारस्याजीर्णतायामपरिणतौ ग्लानता शरीरमान्द्यमुपलभ्यते, तथा च सति प्रवचनस्यापभ्राजना । यथा-अहो ! बठरशिरोमणयोऽमी तपस्विनो, न परमार्थतस्तत्त्ववेदिनो, ये नाम, वर्षास्वप्रक्षालितानां वाससां परिभोगे मान्द्यमुपजायते, इत्येतदपि नावबुध्यन्ते; ते पुनर्जनाऽपरिच्छेद्यं स्वर्गापवर्गमार्गमवगच्छन्तीति दुःश्रद्धेयम् । तथा वर्षास्वप्रक्षालितानि वस्त्राणि प्रावृत्य भिक्षाऽऽद्यर्थं विनिर्गतस्य साधोर्मेघवृष्टौ मलिनवस्त्रकम्बलसंपर्कतोऽप्कायविराधना भवति । एते वर्षास्विति वर्षाकालप्रत्यासन्नोऽपि कालो वर्षा इत्युच्यते, तत्सामीप्यात् । भवति च तत्सामीप्यात्तच्छब्दव्यपदेशः । यथा-गङ्गायां घोष इत्यत्र । ततो वर्षासु वर्षाप्रत्यासन्ने काले वस्त्राऽऽदीनामप्रक्षालने दोषास्तस्मादवश्यं वर्षाकालादर्वाग् वासांसि प्रक्षालनीयानि । ये च संपातिमसत्त्वोपघाताऽऽदयो दोषाश्चीवरप्रक्षालने प्रागुक्ताः, तेऽपि सूत्रोक्तनीत्या यतनया प्रवर्त्तमानस्य न संभवन्तीति वेदितव्यम् । यो हि सूत्राज्ञामनुसृत्य यतनया सम्यक् प्रवर्त्तते, स यद्यपि कथञ्चित्प्राण्युपमर्दकारी, तथापि नासौ पापभाग्भवति, नाऽपि तीव्रप्रायश्चित्तभागी, सूत्रबहुमानतो यतनया प्रवर्त्तमानत्वात् । वक्ष्यति च सूत्रम्-" अप्पत्ते च्चिय वासे, सव्वं उवहिं धुवंति जयणाए ।" इति । ततो न कश्चिद्दोषः । नापि तदा वस्त्रप्रक्षालने बकुशं चरणं, सूत्राज्ञया प्रवर्त्तमानत्वात् । नाप्यस्थाने स्थापनदोषो, लोकानामपि वर्षासु वाससामप्रक्षालने दोषपरिज्ञानभावात् । नचैतेऽनन्तरोक्ता अतिभाराऽऽदयो दोषा ऋतुबद्धे काले वाससामप्रक्षालने संभवन्ति, तस्मान्न तदा प्रक्षालनं युक्तमिति स्थितम् ।

सम्प्रति वर्षाकालादर्वागपि यावानुपधिरुत्कर्षतो, जघन्यतश्च प्रक्षालनीयो भवति, तावन्तमभिधित्सुराह-

अप्पत्ते च्चिय वासे, सव्वं उवहिं धुवंति जयणाए ।
असईए उ दवस्स य, जहन्नओ पायनिज्जोगो ॥ २८ ॥

अप्राप्त एव अनायात एव, वर्षे वर्षाकाले, वर्षाकालादर्वाक्तने काले इत्यर्थः । जलाऽऽदिसामग्र्यां सत्यामुत्कर्षतः सर्वमुपधिमुपकरणं यतनया यतयः प्रक्षालयन्ति । द्रवस्य जलस्य च असति अभावे, जघन्यतोऽपि पात्रनिर्योगोऽवश्यं प्रक्षालनीयः । इह निरपूर्वो युजिरुपकारे वर्त्तते । तथा चोक्तम्-" पातोदूखलेन निज्जोगो उवयारो ।" इति । ततो निर्युज्यते उपक्रियतेऽनेनेति निर्योग उपकरणम् । "अकर्त्तरि०" ॥३।३।१९॥ इत्यनेन घञ्प्रत्ययः । पात्रस्य निर्योगः पात्रनिर्योगः, पात्रोपकरणं पात्रबन्धाऽऽदिः । उक्तं च-"पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया । पडलाइँ रयत्ताणं, तह गोच्छओ पायनिज्जोगो ॥ १ ॥ " इति ।

आह-किं सर्वेषामेव वस्त्राणि वर्षाकालादर्वागेव प्रक्षाल्यन्ते, किं वाऽस्ति केषाञ्चिद्विशेषः ? । अस्तीति ब्रूमः । केषामिति चेत् ?, अत आह-

आयरियगिलाणाण य, मइला य पुणो वि धोवंति ।
मा हु गुरूण अवण्णो, लोगम्मि अजीरणं इयरे ॥ २९ ॥

इह ये कृतपूर्विणो भगवत्प्रणीतवचनानुगताऽऽचाराऽऽदिशास्त्रोपधानानि अधीतिनः स्वसमयशास्त्रेषु ज्ञानिनः सकलस्वपरसमयशास्त्रार्थेषु कृतिनः, कारयितारश्च पञ्चविधेष्वाचारेषु प्रवचनार्थव्याख्याधिकारिणः सद्धर्मदेशनाभियुक्ताः सूरयस्ते आचार्याः, आचार्यग्रहणमुपलक्षणम्-तेनोपाध्यायाऽऽदीनां प्रभूणां परिग्रहः । तेषां तथा ग्लाना मन्दास्तेषां च पुनर्मलिनानि वस्त्राणि धाव्यन्ते प्रक्षाल्यन्ते । मलिनानीत्यत्र नपुंसकत्वे प्राप्तेऽपि सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतलक्षणवशात् । तथाऽऽह पाणिनिः

समाकृतसकृषे-"लिङ्गं व्यभिचार्यपीति।" प्रस्तुतेऽर्थे कारणमाह-मा भवतु, दुर्गिञ्छितं, गुरूणां मलिनवस्त्रपरिधाने लोकेऽवर्णोऽश्लाघा-यथा निराकृततयोऽमी मलपुरञ्जिगन्धोपदिग्धदेहाः, ततः किमेतेषामुपकरणं गतैरस्माभिरिति ?। तथा इतरस्मिन् ग्लाने मा भवत्वजीर्णमिति भूयो भूयो मलिनानि तेषां प्रक्षाल्यन्ते ।

सम्प्रति ये उपधिविशेषा न विश्रम्यन्ते तन्नामग्राहं गृहीत्वा तेषां धावने विधिमाह-

पायस्स पडोयारो, दुनिसिज्ज तिपट्ट पोत्ति रयहरणं ।
एए उ न वीसामे, जयणा संकामणा धुवणं ॥ ३० ॥

प्रत्यवतीर्यते पात्रमस्मिन्निति प्रत्यवतार उपकरणम, पात्रस्य प्रत्यवतारः पात्रवर्जः पात्रनिर्योगः षड्विधः,तथा रजोहरणेऽस्य सत्के द्वे निषद्ये। तद्यथा-बाह्याऽभ्यन्तरा च। इह संप्रति दशिकाऽऽदिभिः सह या दण्डिका क्रियते,सा सूत्रनीत्या केवलैव भवति, न सदशिका,तस्या निषद्यात्रयम्, तत्र या दण्डिकाया उपरि एकहस्तप्रमाणाऽऽयामा तिर्यग्वेष्टकत्रयपृथुत्वा कम्बलीखण्डरूपा सा आद्या निषद्या, तस्याश्चाग्रे दशिकाः संबध्यन्ते,तां च सदशिकामग्रे रजोहरणशब्देनाऽऽचार्यो ग्रहीष्यति। ततो नासाविह ग्राह्या। द्वितीया स्वेनामेव निषद्यां तिर्यक् बहुभिर्वेष्टकैरावेष्टयन्ती किञ्चिदधिकहस्तप्रमाणाऽऽयामा हस्तप्रमाणमात्रपृथुत्वा वस्त्रमयी निषद्या सा अभ्यन्तरा निषद्योच्यते। तृतीया तु तस्या एवाऽभ्यन्तरनिषद्याया अस्तिर्यग्वेष्टकान् कुर्वती। चतुरङ्गुलाधिकैकहस्तमाना चतुरस्रा कम्बलमयी भवति। सा च उपवेशनोपकारित्वादधुना पादप्रोञ्छनकमिति रूढा, सा बाह्या निषद्येत्यभिधीयते। मिलितं च निषद्यात्रयं दण्डिकासहितं रजोहरणमुच्यते। ततो रजोहरणस्य सत्के द्वे निषद्ये, इति न विरुध्यते। तथा त्रयः पट्टाः, तद्यथा-संस्तारपट्टः, उत्तरपट्टः, चोलपट्टश्च। एते च सुप्रतीताः। तथा (पोत्ति त्ति) मुखपोतिका-मुखपिधानाय पोतं वस्त्रं मुखपोतम,मुखपोतमेव ह्रस्वं चतुरङ्गुलाधिकैकवितस्तिमात्रप्रमाणत्वात् मुखपोतिका, मुखवस्त्रिकेत्यर्थः। "अनिवर्तन्ते स्वार्थिप्रत्ययकाः प्रकृतिलिङ्गवचनानि।" इति वचनाच्च प्रथमतो नपुंसकत्वेऽपि प्रत्यये समानीते स्त्रीत्वम्। तथा-(रयहरण त्ति) दण्डिका वेष्टकत्रयप्रमाणपृथुत्वा एकहस्ताऽऽयामा हस्तत्रिभागाऽऽयामदशापरिकलिता प्रथम। या निषद्या प्रागुक्ता सा रजोहरणम्। तथा च भाष्यकृद्वक्ष्यति-"एगनिसेज्जं च रयहरणं।" बाह्याऽभ्यन्तरानिषद्यारहितमेकानिषद्यं सदशं रजोहरणमिति। एतानुपधिविशेषान्न विश्रमयेत् नापरिभोग्यान् स्थापयेत्। कस्मादिति चेत् ?। उच्यते-प्रतिश्वासरमवश्यमेतेषां विनियोगभावात्। ततो यतनया वस्त्रान्तरितेन हस्तेन ग्रहणरूपया संक्रमणा षट्पदिकानामप्रक्षालनीयेषु वस्त्रेषु संक्रमणं ततो धावनं प्रक्षालनमिति।

एतामेव गाथां भाष्यकृद् गाथात्रयेण व्याख्यानयति-

पायस्स पडोयारो, पत्तगवज्जो य पायनिज्जोगो ।
दोन्नि निसिज्जाओ पुण, अब्भिंतर बाहिरा चेव ॥३२॥
संथारुत्तरचोलग, पट्टा तिन्नि य हवंति नायव्वा ।
मुहपोत्तिय त्ति पोत्ती, एगनिसिज्जं च रयहरणं ॥३३॥
एए उ न वीसामे, पइदिणमुवओगओ य जयणाए ।
संकामिऊण धावं-ति छप्पया तत्थ विहिणाए ॥३४॥

एतास्तिस्रोऽपि व्याख्यातार्थाः, नवरं (संकामिऊण इत्यादि) तत्र विश्रामाभावे सति यतनया षट्पदिका अन्यत्र संक्रमय्य विधिना धावयन्ति प्रक्षालयन्ति। तदेवमविश्रमणीय उपधिरुक्तः,तद्ग्रहणनाच्च शेषो विश्रमणीयोपधिर्गम्यते।

ततस्तस्य विश्रमणे विधिं विभणिषुरिदमाह-

जो पुण वीसामिज्जइ, तं एवं वीयरायआणाए ।
पत्ते धावणकाले, उवरिं वीसामए साहू ॥ ३५ ॥

यः पुनरुपधिः प्राप्ते धावनकाले प्रक्षालनकाले,अनेन अकालप्रक्षालनेन भगवदाज्ञाभङ्गलक्षणं दोषमुपदर्शयति; विश्रम्यते निःशेषषट्पदिकाविशोधनार्थमपरिभुक्तो ध्रियते, तमुपधिं वीतरागाऽऽज्ञया सर्वज्ञोपदेशेन, सर्वलोकामित्यवधार्यमिति भावः। एवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण साधुर्विश्रमयेत्।

विश्रमणाप्रकारमेवाऽऽह-

अब्भिंतरपरिभोगं, उवरिं पाउणइ नाइदूरे य ।
तिन्नि य तिन्नि य एगं, निसिं तु काउं परिच्छिज्जा ॥३६॥

इह साधूनां द्वौ कल्पौ क्षौमौ। एकः कम्बलमयः। तत्र यदा ते प्राव्रियन्ते, तदा एकः क्षौमोऽभ्यन्तरं प्राव्रियते, शरीरलग्नः प्राव्रियते इत्यर्थः। द्वितीयः क्षौमस्तस्योपरि कम्बलमयः तस्याऽप्युपरि। ततः प्रक्षालनकाले विश्रमणाविधिप्रारम्भे रात्रौ स्वपने अभ्यन्तरपरिभोगं सदैव शरीरेण सह संलग्नं परिभुज्यमानं क्षौमं कल्पमुपरि शेषकल्पद्वयाद् बहिस्त्रीणि दिनानि यावत् प्रावृणोति। येन तदुद्धाः षट्पदिकाः क्षुधा पीड्यमाना आहारार्थम्, अथवा शीताऽऽदिना पीड्यमानास्तं बहिः प्राव्रियमाणं कल्पमपहायाऽऽन्तरे कल्पद्वये शरीरे वा लगन्ति। एष प्रथमो विश्रमणाविधिः। एवं त्रीणि दिनानि प्रावृत्य ततस्त्रीण्येव च दिनानि यावत् रात्रौ स्वापकाले नातिदूरं स्थापयति। किमुक्तं भवति?-स्वापकाले संस्तारकतट एव स्थापयति, येन प्रथमविश्रमणविधिना या न निःसृताः षट्पदिकास्ता अपि क्षुधा पीड्यमाना आहारार्थं ततो विनिर्गत्य संस्तारकाऽऽदौ लगन्ति। एष द्वितीयो विश्रामणाविधिः। तत एकां निशां रात्रिम, तुः समुच्चये। स्वापस्थानस्योपरि लम्बमानमधोमुखं शरीरप्रमाणं पर्यन्ते प्रसारितं कृत्वा स्थापयेत्। संस्थाप्य च पश्चात्परीक्षेत, दृष्ट्या,प्रावरणेन च षट्पदिकां निभालयेत्। तद्यथा-प्रथमं तावद् दृष्ट्या, निभालयेत्, दृष्ट्या निभालिता अपि यदि न दृष्टास्ततः सूक्ष्मषट्पदिकारक्षणार्थं भूयः शरीरे प्रावृणोति, येन ता आहारार्थं शरीरे लगन्ति। एवं परीक्षणे कृते यदि ता न स्युस्तदा प्रक्षालयेत्। अथ स्युस्तर्हि पुनः पुनर्निभाल्य यदा न सन्तीति निश्चितं भवति तदा प्रक्षालयेत्। एवं सप्तभिर्दिनैः कल्पशोधना। एतदनुसारेण शेषस्याप्युपधेः शोधना भावनीया। इह विश्रमणा प्रक्षालनीयस्यापरिभोगरूपा उक्ता,ततो यस्तस्य बहिः प्रावरणाऽऽदिरूपः परिभोगः स परमार्थतोऽपरिभोग इति न तदापि विश्रमणा विरुध्यते।

एतामेव गाथां भाष्यकृद्व्याख्यानयति-

धोवत्थं तिन्नि दिणे, उवरिं पाउणइ तह य आसन्नं ।
धारेइ तिन्नि दियहे, एगदिणं उवरि लंबंतं ॥
इयं व्याख्यातार्था।

अत्रैव विश्रमणाविधौ मतान्तरमाह-

केई एकेक-निसिं, संवासेउं तिहा परिच्छंति ।

पाउणिउँ जइ न लग्गं-ति छप्पया ताहेँ धोवंति ॥३७॥

केचिदेके सूत्रस्य व्याख्यामाहुः-एकैकां निशां रात्रिं त्रिधा त्रिभिः प्रकारैः पूर्वोक्तैः संवास्य । तद्यथा-एकां निशां शोधनीयं कल्पं बहिः प्रावृणोति, द्वितीयां निशां संस्तारकतटे स्थापयति, तृतीयां तु निशां स्वपत् स्वापस्थानस्योपरि लम्बमानमधोमुखं प्रसारितं शरीरस्योपायपर्यन्तं स्थापयति । एवं त्रिधा संवास्य परीक्ष्यन्ते इत्यथा निभालयन्ति । निभालिताश्चेत् दृष्टाः,ततः सूक्ष्मषट्पदिकाविशोधनार्थं प्रावृण्वन्ति, प्रावृते च यदि न लगन्ति-न लग्नाः प्रतिभान्तस्ते षट्पदिकास्तदा प्रक्षालयन्ति,लगन्ति चेत्तर्हि भूयो भूयस्तावद् दृष्ट्वा,शरीरप्रावरणेन च परीक्ष्यन्ते,यावन्न सन्तीति निश्चितं भवति ततः प्रक्षालयन्तीति । एषोऽपि विधिरदूषणात्समीचीन एवाऽऽचार्यस्य प्रतिभासत इति मन्यामहे ।

वस्त्रप्रक्षालनं च जलेन भवत्यतो जलग्रहणे विशेषमाह-

तिव्वोदगस्स गहणं,केई भाणेसु असुइपडिसेहो ।

गिहिभायणेसु गहणं, ठिएँ वासे मीसगं छारो ॥ ३८ ॥

वर्षासु गृहच्छादनप्रान्तगलितं जलं तीव्रोदकं,तस्येह यदि वर्षाकालादर्वाक् सर्वोऽप्युपधिः कथञ्चित्सामाच्यत्वात्ततो न प्रक्षालितस्तर्हि प्राप्ते वर्षे सति साधुभिस्तीव्रोदकस्य गृहपटलान्तोत्तीर्णस्य जलस्य वस्त्रप्रक्षालनार्थं ग्रहणमादानं कर्त्तव्यम् । तद्धि रजोगुण्ठितधूमधूम्रीकृतदिनकरतापसंपर्कसोष्मतीव्रसंस्पर्शतः परिणतत्वादचित्तम्, अतस्तद्ग्रहणे न काचिद्विराधना । तीव्रोदकस्य ग्रहणे केचिदाहुर्भाजनेषु स्वपात्रेषु तीव्रोदकस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति । अत्राऽऽचार्य आह-(असुइपडिसेहो)'असुइ त्ति' भावप्रधानोऽयं निर्देशः। ततोऽयमर्थः-अशुचित्वादपवित्रत्वात्परोक्तविधिना तीव्रोदकस्य प्रतिषेधः। तीव्रोदकं हि न मलिनत्वात् शुचि, ततः कथं येषु पात्रेषु भोजनं विधीयते, तेषु तस्य ग्रहणमुपपन्नं भवति । मा भूत् लोके प्रवचनगर्हा,यथाऽमी अशुचय इति । ततो गृहिभाजनेषु गृहिसत्केषु कुण्डकाऽऽदिषु,तस्य तीव्रोदकस्य ग्रहणम् । तच्च तीव्रोदकग्रहणं स्थिते निवृत्ते वर्षे वृष्टावन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमिति गम्यते । अन्तर्मुहूर्तेन सर्वाऽऽत्मना परिणमनसंभवात् । अस्थिते किमित्याह-(मीसगं ति) मिश्रकं निपतति वर्षे तत्तीव्रोदकं मिश्रं भवति । तथाहि-पूर्वनिपतितमचित्तीभूतं, तत्कालं तु निपतत्सचित्तमिति मिश्रम् । अतः स्थिते वर्षे तत्प्रतिग्राह्यं, तस्मिंश्च प्रतिगृहीते तन्मध्ये (छारो त्ति) क्षारः प्रक्षेपणीयो, येन भूयः सचित्तं न भवति । जलं हि केवलं प्रासुकीभूतमपि भूयः प्रहरत्रयादूर्ध्वं सचित्तीभवति । ततः तन्मध्ये क्षारः प्रक्षिप्यते । अपि च-क्षारप्रक्षेपे समलमपि जलं प्रसन्नतामाभजति, प्रसन्नेन च जलेन प्रक्षाल्यमानानि आचार्याऽऽदिवासांसि सुतेजांसि जायन्ते। तत एतदर्थमपि क्षारप्रक्षेपो व्याख्यः ।

संप्रति धावनगतमेव क्रमविशेषमाह-

गुरुपच्चक्खाणिगिला-णसेहमाईण धोवणं पुव्वं ।

तो अप्पणो पुव्वमहा-कडे य इयरे दुवे पच्छा ॥३९॥

गुरुप्रत्याख्यानिग्लानशैक्षकाऽऽदीनां पूर्वं प्रथमं धावनं कुर्यात्ततः पश्चादात्मनः । इयमत्र भावना-इह साधुभिः परमहितमात्मनः समीहमानैरवश्यं गुर्वादिषु विनयः प्रयोक्तव्यः, विनयवशादेव सम्यग्धर्मप्रकाशनचारित्रवृद्धिसंभवात् । अन्यथा दुर्विनीतस्य ततो गच्छवासस्यैवासंभवतः सकलमूलहानिप्रसक्तेः । ततो धावनप्रवृत्तेन साधुना प्रथमतो गुरूणामाचार्याणां वासांसि प्रक्षालनीयानि, ततः प्रत्याख्यानिनां क्षपकप्रभृतीनां तदनन्तरं ग्लानानां, ततोऽप्यनन्तरं शैक्षकाऽऽदीनाम् । तत्र शैक्षा अभिनवप्रव्रजिताः । आदिशब्दाद् बालाऽऽदिग्रहः। सूत्रे च-"सेहमाईणं" इत्यत्र मकारोऽलाक्षणिकः। ततस्तदनन्तरमात्मनः। इह सर्वेषामपि गुर्वादीनां यथायोगं त्रिविधान्यपि प्रक्षालनीयवस्त्राणि संभवन्ति। तद्यथा-यथाकृतानि, अल्पपरिकर्माणि, बहुपरिकर्माणि च । तत्र यानि परिकर्मरहितान्येव यथाकृतानि लब्धानि, तानि यथाकृतानि । यानि चैकं वारं छित्त्वा सीवितानि,तान्यल्पपरिकर्माणि । यानि च बहुधा छित्त्वा सीवितानि,तानि बहुपरिकर्माणि । ततस्तेष्वपि धावनक्रममाह-(पुव्वमहाकडे य त्ति) पूर्वं प्रथमं सर्वेषामपि यथाकृतानि वासांसि धावयेत् । पश्चात्क्रमेण इतरे द्वे । किमर्थमिति चेत्? उच्यते-विशुद्धाध्यवसायस्फीतिनिमित्तम्। तथाहि-अल्पबहुपरिकर्माणि तानि बहुकर्मापेक्षया स्तोकं संयमव्याघातकारीणि भवन्तीति । तदपेक्षया शुद्धानि । तेभ्योऽपि यथाकृतान्यतिशुद्धानि, मनागपि पलिमन्थदोषकारित्वाभावात् । ततो यथा पूर्वं पूर्वं शुद्धानि प्रक्षाल्यन्ते, तथा संयमबहुमानवृद्धिभावतो विशुद्धाध्यवसायस्फीतिरिति पूर्वं यथाकृतानीत्यादिक्रमः ।

संप्रति प्रक्षालनक्रियाविधिमुपदर्शयति-

अच्छोडपिट्टणासु य न धुवे धोए पयावणं न करे ।

परिभोग अपरिभोगे,छायाऽऽतवे य पेह कल्लाणं ॥४०॥

इह वस्त्राणि धावन् आच्छोटपिट्टनाभ्यां न धावेत् । तत्राऽऽच्छोटनं-रजकैरिव शिलायामास्फालनम् । पिट्टनं-धनहीनरण्डारमणीभिरिव पुनः पुनः पानीयप्रक्षेपपुरस्सरमूर्ध्वाधोऽस्फिट्टनेन कुट्टनम् । सूत्रे च सप्तमी तृतीयार्थे । यथा-"तिसु अलंकिया पुहवी" इत्यादौ । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । स च पाणिपादेन प्रमृज्य प्रमृज्य यतनया प्रक्षालयेदिति समुच्चिनोति । ततो धौते प्रक्षालिते धावनजलस्पर्शजनितशीतापनोदायाऽऽत्मनो वस्त्रस्य वा शोषणाय अग्नेः प्रतापनं न कुर्यात् । मा भूज्ज्वलनकारणाऽऽर्द्रीभूतहस्ताऽऽदितो पतता वा कथञ्चिद्बिन्दूपनिपातेनाग्निकायविराधना । यद्येवं तर्हि कथं वस्त्रस्य शोषणं कर्त्तव्यमिति । शोषणविधिमाह-परिभोग्यानि, अपरिभोग्यानि च यथाक्रमं छायाऽऽतपयोः शोषयेत् । सूत्रे च विभक्तिलोप आर्षत्वात् । परिभोग्येषु हि वस्त्रेषु तथा पूर्वंशोधितेष्वपि कथञ्चित् षट्पदिका संभवति । सा च प्रक्षालनकाले तथोपमर्दिताऽपि कथञ्चिज्जीविता सती दिनकराऽऽतपसंपर्के म्रियते, ततस्तद्रक्षणार्थं तानि छायायां शोषयेत् । इतराणि त्वातपे, दोषाभावात् । तानि छायायामातपे च शोषार्थं विस्तारितानि निरन्तरं (पेह त्ति) प्रेक्षेत, येन परावकाशिनो नापहरन्ति । इह पूर्वोक्तविधिना यतनापुरःसरमपि धाव्यमानेषु वस्त्रेषु कथञ्चिद्वायुविराधनारूपः, षट्पदिकोपमर्दाऽऽदिरूपो वाऽसंयमोऽपि संभाव्यते । ततस्तच्छुद्ध्यर्थं तस्य साधोर्गुरुणा कल्याणसंज्ञं प्रायश्चित्तं देयम् । पिं० । ओघ० । नि० चू० ।

सच्चित्तेण उ धुवणे,मुहणंतगमादिए वि चउलहुया ।

अच्चित्तेँ धोवणम्मि वि,अकारणे सवित्थिणिप्फन्नं ॥१०८॥

सचित्तेण उदगेण जइ वि मुहणंतगं धुवति,तहा वि चउलहुयं ।

अह अचित्तेण उदगेण अकारणे धुवति, तओ उवहिणिप्फण्णं भवति। जहण्णोवकरणे पणगं, मज्झिमे मासलहुं, उक्कोसे चउलहुं। सचित्तेणाभिक्खणं धोवणे अट्ठेहिं सपदं, मीसे वसहिं सपदं, अचित्तेण वि णिक्कारणे अजिक्खं धोवणे उवहिणिप्फण्णं पच्छाणा उवरिमं पायच्छं। नि० चू० १ उ०। शुभाध्यवसायाग्निध्मातमिथ्यात्वपुद्गलानां सम्यक्त्वभावसंजननरूपे कर्मणोऽवस्थाभेदे च। आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

धाविय-धावित-त्रि०। धावितुं प्रवृत्ते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

धि (क)-धिक्-अव्य०। धा०-धक् वा डिकिः। अनिष्टशब्दैर्जनने, निर्भर्त्सने, निन्दायाम्, स्था० ७ ठा०। वाच०। व्य०। जं०। "धिगत्थु ते जसोकामी।" धिक्शब्दः कुत्सायाम्। दश० २ अ०। निन्दनीये च। वाच०।

धिइ-धृति-स्त्री०। धरणं धृतिः। आ० म० १ अ० १ खंड। धृ-क्तिन्। "इत्कृपाऽऽदौ" ॥ ८।१।१२८॥ इति प्राकृतसूत्रेणेकारः। प्रा० १ पाद। धारणे, आ० म० १ अ० १ खंड। पतनप्रतिबन्धकसंयोगे, द्वा० ४ द्वा०। धारणारूपे मतिज्ञानभेदे, विशे०। सन्तोषे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण। धृतिर्येन केनचिद्वसनभोजनाऽऽदिना निर्वाहमात्रनिमित्तेन सन्तोषः। यो० बिं०। अष्ट०। धैर्ये, कल्प० १ अधि० ५ क्षण। धृतिर्धैर्यं चित्तस्यैकाग्र्यम्। उत्त० ३२ अ०। धृतिः संयमे धैर्यं चित्तसमाधानम्। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। रागद्वेषानाकुलतया मनःप्रणिधाने, आव० ५ अ०। धृतिर्वज्रकुड्यवदभेद्यं प्रणिधानम्। बृ० ६ उ०। ज्ञा०। स्था०। भ०। पा०। संथा०। ग०। धृतिरुद्वेगाऽऽदिदोषपरिहारेण चित्तस्वास्थ्यम्। पञ्चा० ४ विव०। स०। बृ०। प्रव०। पं०व०। धृतिश्चित्तदार्ढ्यमिति। प्रश्न० १ संव० द्वार। सूत्र०। विपा०। धरणं धृतिः। सम्यग्दर्शनचारित्रावस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। उत्त०। "मई धिइवेलापरिगयस्स।" धृतिमूलोत्तरगुणविषयः प्रतिदिवसमुत्सहमान आत्मपरिणामविशेषः। नं०। तत्परिपालनीयत्वादहिंसायाम्। प्रश्न० १ संव० द्वार। न रागाऽऽद्याकुलतया धृतिर्मनःप्रणिधानं, विशिष्टा प्रीतिः। इयमप्यत्र मोहनीयकर्मक्षयोपशमाऽऽदिसंभूता, रहिता दैन्यौत्सुक्याभ्यां, धीरगम्भीराऽऽशयरूपा अवन्ध्यकल्याणनिबन्धना वस्तुत्युपशया। ल०। "धिती तु मोहस्स उवसमे होइ।" मोहक्षयोपशमाद् धृतिर्भवति। नि० चू० १ उ०। "होइ धितीयऽहिगारो, विसेसओ खित्तकालेसु।" आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। द्रव्ये तावदरसविरसप्रान्तरूक्षाऽऽदिके धृतिर्भावयितव्या, क्षेत्रेऽपि कुतीर्थिकभाविते प्रकृत्यभद्रके वा नोद्वेगः कार्यः, कालेऽपि दुष्कालाऽऽदौ यथालाभसन्तोषिणा भाव्यम्, भावेऽप्याक्रोशोपहसनाऽऽदौ नाद्यितव्यम्। विशेषतस्तु क्षेत्रकालयोरसमयोरपि धृतिर्भाव्या, द्रव्यभावयोरपि प्रायशस्तन्निमित्तत्वात्। आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। धैर्याभिधानायां देवतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। जम्बूमन्दरदक्षिणस्यां दिशि स्थितस्य निषधवर्षधरपर्वतस्य तिगिञ्छहृदाधिष्ठात्र्यां धृतिकूटस्थायां देवतायाम्, स्था० ३ ठा० ४ उ०। जं०। धृतिस्तिगिञ्छहृदसुरीति। स्था० ६ ठा०। निरयावलिकोपाङ्गस्य पुष्पचूलाऽऽख्यचतुर्थवर्गस्य तृतीयाध्ययनप्रतिबद्धवक्तव्यतायां स्वनामख्यातायां देव्याम्, नि० १ श्रु० ४ वर्ग १ अ०। विष्कुम्भादिकेऽष्टमे योगे, अष्टादशाऽक्षरपादके छन्दोभेदे, अष्टादशसंख्यायां च। वाच०।

धिइकंद-धृतिकन्द-पुं०। धृतिश्चित्तस्वास्थ्यं, स एव कन्दः स्कन्धाधोभागरूपो यस्य स तथा। चित्तस्वास्थ्यरूपकन्दाधोभागयुते संवरपादपे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

धिइकूड-धृतिकूट-न०। धृतिस्तिगिञ्छहृदसुरी तस्याः कूटं धृतिकूटम्। जम्बूमन्दरदक्षिणस्यां दिशि स्थितस्य निषधवर्षधरपर्वतस्य तिगिञ्छहृदाधिष्ठात्र्या धृतिदेव्याऽधिष्ठिते स्वनामख्याते कूटे, जं० ४ वक्ष०। स्था०।

धिइजुत्त-धृतियुक्त-त्रि०। धृतिश्चित्तस्वास्थ्यं तद्युक्तो धृतियुक्तः। चित्तस्वास्थ्योपेते, पञ्चा० १८ विव०।

धिइजुय-धृतियुत-त्रि०। धृतिश्चित्तावष्टम्भस्तद्युतो धृतियुतः। मानसावष्टम्भयुते, स हि नातिगहनेष्वप्यर्थेषु भ्रममुपयाति। ग० १ अधि०। प्रव०।

धिइधणिय-धृतिधनिक-पुं०। धृतेर्मनःस्वास्थ्यस्य धनिकः स्वामी धृतिधनिकः। मनःस्वास्थ्यस्वामिनि, स० ६ अङ्ग।

धिइधणियणिप्पकंप-धृतिधनिकनिष्प्रकम्प-त्रि०। धृतिरज्जुबन्धनेन धनिकमत्यर्थं निष्प्रकम्पोऽविचलो यः स मध्यमपदलोपाद् धृतिधनिकनिष्प्रकम्पः। धृतिरज्जुबन्धनेनात्यर्थमविचले, औ०।

धिइधणियबद्धकच्छ-धृतिधनिकबद्धकक्ष-त्रि०। धृतिरेव धनिकमत्यर्थं बद्धा कक्षा येन स तथा। भ० ९ श० ३३ उ०। धृतौ सन्तोषे, धैर्ये वा "धणिय त्ति" अत्यर्थं बद्धकक्षः धृतिधनिकबद्धकक्षः। कल्प० १ अधि० ५ क्षण। धृत्या चित्तस्वास्थ्येन "धणियं ति" अत्यर्थं बद्धा कक्षा येन स तथा। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। संथा०। धृतिश्चित्तसमाधानं, तद्रूपा "धणिय त्ति" अत्यर्थं, बद्धा निष्पीडिता कक्षा बन्धविशेषो यत्र तत्तथा। धृतिबलयुक्ते, स० ११ अङ्ग। "धिइधणियबद्धकच्छा।" धृत्या चित्तस्वास्थ्येन धनिकमत्यर्थं बद्धा कृता आराधनारूपा कक्षा प्रतिज्ञा परिकरो वा यैस्ते धृतिधनिकबद्धकक्षाः। संथा०।

धिइबल-धृतिबल-न०। धृतेश्चित्तसमाधेर्बलमवष्टम्भो धृतिबलम्। चित्तसमाधिरवष्टम्भे, ध० ३ अधि०। धृतिश्चित्तसमाधिर्बलमवष्टम्भो धृतिबलम्, तत्कारणत्वान्महाव्रतमपि धृतिबलम्। चित्तसमाधिलक्षणे सामर्थ्ये, पा०। पञ्चा०। ध०। तत्कारणत्वान्महाव्रताऽऽदौ च। पा०। सात्त्विके, कातरे च। त्रि०। बृ० १ उ०।

धिइबलय-धृतिबलक-न०। स्वार्थे कः। चित्तसमाधिलक्षणे सामर्थ्ये, तत्कारणत्वान्महाव्रताऽऽदौ च। पा०।

धृतिबलद-त्रि०। चित्तसमाधिलक्षणसामर्थ्यदायके महाव्रताऽऽदौ, पा०।

धिइबलिय-धृतिबलिक-त्रि०। धृतिर्वज्रकुड्यवदभेद्यं प्रणिधानं, तया बलिको बलवान्। बृ० ६ उ०। अतिशयेन धृतिमति, दर्श० १ तत्त्व। चित्तसमाधानलक्षणसामर्थ्ययुक्ते च। पञ्चा० ७ विव०। ध०।

धिइमइ-धृतिमति-स्त्री० । धृतौ मतिर्धृतिमतिः । आव० ४ अ० । धृतिप्रधाना मतिर्धृतिमतिः । आव० ४ अ० । स० । योगसंग्रहभेदे, आ० चू० ४ अ० । प्रश्न० ।

धृतिमतिदृष्टान्तमाह-

" नयरी य पंडुमहुरा, पंडववंसे मई अ सुमई अ ।
बारीवसमाऽऽहरणे, उप्पाइअ सुट्ठु पक्क पव्वज्जा ॥ १ ॥ "
वारिवृषभः प्रवहणम् ।
" नगरी च पाण्डुमथुरा, तत्राऽऽसन् पञ्च पाण्डवाः ।
स्थापितः प्रव्रजद्भिस्तै-र्निजराज्ये निजः सुतः ॥ २ ॥
नेमिनं तु दधावुस्ते (?), हस्तिकल्पपुरेऽन्तरा ।
भिक्षागताः प्रभुं काल-गतं श्रुत्वा विषादिनः ॥ ३ ॥
आत्तं भक्तं परित्यज्य, गत्वा शत्रुञ्जयाचले ।
विधायानशनं प्राप्य, केवलं निर्वृतिं ययुः ॥ ३ ॥
तद्वंशे पाण्डुसेनोऽभू-न्नृपस्तस्य सुताद्वयम् ।
मतिश्च सुमतिश्चैव, ते द्वे अपि च रैवते ॥ ४ ॥
नन्तुं चैत्यानि पोतेन, प्रस्थिते सागराध्वना ।
उत्पाते तत्र संजाते, रुद्राऽऽदीन् जनताऽस्मरत् ॥ ५ ॥
ताभ्यां पुनर्भृशं स्वात्मा, संयमे विनियोजितः ।
निजप्रवहणे प्राप्य, ज्ञानं मुक्तिरलभ्यत ॥ ६ ॥
सुस्थितो लवणाधीशो-ऽकार्षीत्पूजां तदङ्गयोः ।
दिव्योद्योतेन तत्तीर्थं, प्रभासाभिधयाऽभवत् ॥७॥" ध्या०क० ।

धिइमइववसायदुब्बल-धृतिमतिव्यवसायदुर्बल-त्रि० । धृतिमतिव्यवसाया दुर्बला यस्य स तथा । धृतिमतिव्यवसायेषु दुर्बलो धृतिमतिव्यवसायदुर्बलः । दुर्बलधृतिमतिव्यवसाये, धृतिमतिव्यवसायेषु दुर्बले च । स० ४२ सम० ।

धिइमंत-धृतिमत्-त्रि० । धैर्यवति, उत्त० २६ अ० । चित्तस्वास्थ्ययुक्ते, अरतिरत्यनुलोमप्रतिलोमोपसर्गसहे, आ० ८ ठा० । असह्यपरीषहाभिभूतोऽपि चारित्रधृतिमानिति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । धृतिः समाधानं संयमे यस्य स धृतिमान् । आचा० २ श्रु० ४ चू० १६ अ० । सूत्र० । संयमस्वरूपे, ध० ३ अधि० । दश० " धिइमंता जिइंदिया । " धृतिः संयमे रतिः, सा विद्यते येषां ते धृतिमन्तः । संयमधृत्या हि पञ्चमहाव्रतभारोद्वहनं सुसाध्यं भवतीति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । दश० । (एतच्च 'धम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २७०५ पृष्ठे समुक्तम्)

धिइवीरियपरिहीण-धृतिवीर्यपरिहीण-त्रि० । मानसिकावष्टम्भवलरहिते, वृ० २ उ० ।

धिक्कय-धिक्कृत-त्रि० । धिक् निन्दनीयः कृतः । कृ-क्तः । धिक्कारं प्राप्ते, व्य० १ उ० । भावे तु धिक्कारे, न० । वृ० ६ उ० ।

धिक्करण-धिक्करण-न० । धिक्शब्दविषयीकरणे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

धिक्कार-धिक्कार-पुं० । धिक्-कृ-घञ् । तिरस्कारे, वाच० । धिगधिक्षेपार्थे एव, तस्य करणमुच्चारणं धिक्कारः । स्था० ७ ठा० । धिक्-कृ-घञ् । तिरस्कारे, वाच० । तदात्मके दण्डनीतिभेदे, स्था० ७ ठा० । जं० । आ० म० । कल्प० । ति० ।

धिज्ज-धैर्य-न० । धीरस्य भावः ष्यञ् । " ईद् धैर्ये " ॥ ८ । १ । १५५ ॥ इतिप्राकृतसूत्रेण धैर्यशब्दे ऐत ईः । प्रा० १ पाद । "धैर्ये वा" ॥ ८ । २ । ६४ ॥ धैर्ये र्यस्य दो वा । 'धीरं । धिज्जं ।' प्रा० १ पाद । " स्यादु-भव्य-चैत्य-चौर्य-समेषु यात् " ॥ ८ । २ । १०७ ॥ इतिप्राकृतसूत्रेण चौर्यसमेषु शब्देषु संयुक्तस्य यात्पूर्व इत् भवति । 'धीरियं ।' प्रा० २ पाद । "स्थिरचित्तोन्नतिर्या तु, तद्धैर्यमिति गीयते । " इत्युक्ते मनसः स्थैर्ये, वाच० । 'धैर्यं चित्तसमाधानम् ।' सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । " पत्तियाइं धिज्जाइं ।" प्रीतौ दाने वा स्थैर्यवन्ति । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । पो० । सत्त्वे, प्रश्न० २ संव० द्वार । "मनसो निर्विकारत्वं, धैर्यं सत्स्वपि हेतुषु ।" इत्युक्ते मनसो विकाराभावे, अव्याकुलत्वे, विघ्नाऽऽद्युपस्थितावपि प्रारब्धापरित्यागहेतौ चित्तवृत्तिभेदे च । वाच० ।

धेय-त्रि० । धारणीये, पालनीये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

ध्येय-त्रि० । हृदि धारणीये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

धिज्जाइय-धिग्जातिक-त्रि० । धिग्जातिमति, आव० २ अ० । नि० चू० । 'तत्थ भद्दा नाम धिज्जाइणी ।' आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

धिज्जाईय-धिग्जातीय-त्रि० । धिग्जात्युत्पन्ने, आव० ३ अ० । नि० चू० । आ० म० ।

धिज्जीविय-धिग्जीवित-न० । कुत्सितजीविते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

धिट्ठ-धृष्ट-त्रि० । धृष्-क्तः । " मसृण-मृगाङ्क-मृत्यु-शृङ्ग-धृष्टे वा " ॥ ८ । १ । १३० ॥ इति प्राकृतसूत्रेण ऋत इत्वम् । प्रा० १ पाद । निर्लज्जे, प्रगल्भे, नायकभेदे च । वाच० ।

धिप्प-दीप-धा० । दीप्तौ, दिवा०-आत्म०-सेट् । " दीपौ धो वा " ॥ ८ । १ । २२३ ॥ दीप्यतौ दस्य धो वा । 'धिप्पइ । दिप्पइ ।' प्रा० १ पाद । दीप्यते । अदीपि । अदीपिष्ट । दीपू-णिच् । अदीदीपत्-त । अदीदिपत्-त । वाच० ।

धिम्मल-धिक्मल्ल-न० । निन्द्यमले, तं० ।

धिसण-धिषण-पुं० । बृहस्पतौ, को० २७ गाथा ।

धी-धी-स्त्री० । ध्यै-क्विप्, सम्प्रसारणं च । बुद्धौ, धीर्बुद्धिरित्यनर्थान्तरम् । पं० चू० । आचा० । गा० । " धी मई बुद्धी । " को० २१ गाथा । आतु० । गा० । सूत्र० । अनु० । आचा० । तत्त्वावगमे च । धीर्बुद्धिस्तत्त्वावगमः । धिय-ई-धीः धीः । बुद्धिसम्पत्तौ च । गा० । धीश्चित्तं, तत्र य ईः कामः स धीः । चित्तस्य कामे, गा० । अभेदोपचारात् परिकृते च । पुं० । गा० ।

धीउ-धीयु-त्रि० । धीर्बुद्धिर्विज्ञानं, तस्या युरपृथग्भूतः धीयुः । बुद्धियुते, गा० ।

धीधण-धीधन-त्रि० । बुद्धिधने, " नियमेन धीधनैः पुंभिः । " षो० १६ विव० ।

धीम-धीम-पुं० । धीर्बुद्धिस्तत्त्वतस्तन्निमीते शब्दयति प्ररूपयति धीमः । बुद्धितत्त्वप्रतिपादके भगवति कपिले, गा० । धियं ज्ञानमेव मिमीते शब्दयति प्रापयति धीमः । बहिरर्थाऽऽकाराणामविद्यादर्शितत्वादविद्यमानत्वेन ज्ञानाद्वैतप्रतिपादके बुद्धे, गा० । ज्ञानप्रयाप्रराभत्वे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

धीमह-धीमह-त्रि० । अभेदोपचाराद् धियः परिकृताः महन्तीति महः पूजका आराधकाः, महेः क्विप् । धियां महः धीमहः । विद्वज्जनपर्युपासकेषु, गा० । धियः परिकृता महः पूजका यस्य स तथा । विद्वज्जनपर्युपासिते, गा० ।

धीमंत–धीमत्–पुं० । धीः प्रज्ञाऽस्त्यस्य मतुप् । बृहस्पतौ, बुद्धिमति, पण्डिताऽऽदौ च । त्रि० । वाच० । द्वा०१६ द्वार । बो० वि० । कल्प० । ज्ञानचतुष्टययोगात् महाप्रज्ञे च । द्वा० २७ अष्ट० ।

धीर धीर–त्रि० । धियं बुद्धिं राति ददातीति धीरः । रा–कः । उत्त० ७ अ० । आतु० । धिया औत्पत्तिक्यादिकया बुद्ध्या राजत इति धीरः । ग० १ अधि० । व्य० । आचा० । सूत्र० । उत्त० । नं० । आव० । आतु० । धियमीरयति धी ईर अणु, धी क्न्वा । वाच० । तीर्थकरे, गणधरे च । आचा०१ श्रु०५ अ०२ उ० । आव० । आतु० । बुद्ध्या विराजिते, ध०२ अधि० । आचा० । धीरो विशुद्धबुद्धिमानिति । आतु० । 'धीरः सद्बुद्ध्यलङ्कृतः ।' सूत्र०१ श्रु०१३ अ० । बुद्धिमति, प्रश्न० ५ संव० द्वार । दश० । व्य० । पञ्चा० । सूत्र० । उत्त० । विवेकिनि, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । विदुषि, आतु० । धीरा विदितवेदितव्याः । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । आतु० । साहसिके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । दर्शनिस्थे, दश० ५ तत्त्व । पं० चू० । परीषहोपसर्गाऽऽदिभिरक्षोभ्ये, अष्ट० ३० अष्ट० । प्रश्न० । सूत्र० । उत्त० । पिं० । स्था० । आचा० । बृ० । औ० । धीराः कर्मविदारणसहिष्णवः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । स्थिरे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । उत्त० । नं० । महासत्त्वे, पञ्चा० ४ विव० । सूत्र० । स० । धैर्यान्विते, विनीते, बलिराजे, बुद्धिप्रेरके बुद्धिसाक्षिणि परमेश्वरे च । पुं० । कुङ्कुमे, न० । नायिकाभेदे, काकोल्याम्, महाज्योतिष्मत्याम्, क्षिरायां विसवृत्तौ च । स्त्री० । वाच० ।

धैर्य–न० । 'धिज्ज' शब्दार्थे । प्रा० १ पाद ।

धीरकरण–धीरकरण–न० । धीरत्वोत्पादने, धीरकरणकारणानि । स० ६ अङ्ग ।

धीरकित्तिपुरिस–धीरकीर्तिपुरुष–पुं० । धीराणां सतां वा कीर्तिस्तत्प्रधानः पुरुषो धीरकीर्तिपुरुषः । सत्कीर्तिप्रधाने पुरुषे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

धीरत्त–धीरत्व–न० । परीषहोपसर्गाक्षोभ्यतायाम्, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । "धीरत्त पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो ।" उत्त० ७ अ० ।

धीरपुरिस–धीरपुरुष–पुं० । धीर्बुद्धिस्तया राजत इति धीरः, स चाऽसौ पुरुषश्च धीरपुरुषः । प्रज्ञा० १ पद । एकान्ततो वीर्यान्तरायकर्मापगमात् तीर्थकरे, धिया राजितत्वात् गणधरे च । आव०४ अ० । व्य० । दश० । महासत्त्वे, महाबुद्धौ, "धीरपुरिसपण्णत्तं ।" महासत्त्वमहाबुद्धितीर्थकरगणधरप्ररूपितम् । आव० ६ अ० । बुद्धिमति नरे, अक्षोभ्यनरे च । पञ्चा० ४ अ० ।

धीरवणा–धीरापना–स्त्री० । दुःखेन परिताप्यमानस्य धीरो भव धीरो भव, अहं तवैतद् दुःखं विश्रामणाऽऽदिनाऽपनेष्यामि, अपि च पुण्यभागिन् ! सहस्वैतद् दुःखं सम्यक्, यत एतत्सहनान्नन्तरमचिरात्सर्वदुःखप्रहीणो भविष्यसीत्यादिके आश्वासने, " धीरवणं चेव धम्मकहणा य ।" व्य० १ उ० ।

धीरिय–धैर्य–न० । 'धिज्ज' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

धुअगाअ–न० । देशी–भ्रमरार्थे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धुक्कधुअ–न० । देशी–उल्लसिते, दे० ना० ५ वर्ग ६० गाथा ।

धुक्कुधुक्किअ–न० । देशी–उल्लसिते, दे०ना०५ वर्ग ६० गाथा ।

धुंधुमार–धुन्धुमार–पुं० । सुंसुमारपुरस्थे स्वनामख्याते नृपे, "सुंसुमारधुंधुमारे, अंगारवई य पज्जोए ।" आ० चू० ४ अ० । आ० क० । इन्द्रगोपे, दे० ना० ५ वर्ग ६० गाथा । (तत्कथा 'संवेग' शब्दे वक्ष्यते)

धुण–धुव–धा० । धूञ् कम्पने, स्वादि०–उभ०–सक०–सेट् । "धूगेर्धुवः" ॥८।४।५९॥ इति प्राकृतसूत्रेण धुव इत्यादेशो वा । 'धुवइ ।' प्रा० ४ पाद । "चि–जि–श्रु–हु–स्तु–लू–पू–धूगां णो ह्रस्वश्च" ॥ ८ । ४ । २४१ ॥ एषामन्ते णकाराऽऽगमो, ह्रस्वश्च । 'धुणइ ।' प्रा० ४ पाद । धावति–ते । अधावीत् । अधविष्ट । अधोष्ट । वाच० । धू कम्पने, स्वा० । उभ०–सक०–सेट् । धूनोति । धुनीते । धुनाति । धुनीते । अधावीत् । अधविष्ट । अधोष्ट । " धूनोति चम्पकवनानि धुनात्यशोकम् ।" इति । " वायुर्विधूनयति ।" इति च काव्यरहस्यम् । वाच० । ज्ञापकर्मणोः " नवा कर्मभावे व्वः क्यस्य च लुक् ॥ ८ । ४ । २४२ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण क्यस्य लुक्, द्विरुक्तो वकारोऽऽगमः । " धुव्वइ । धुणिज्जइ ।" प्रा० ४ पाद ।

धुणण–धूनन–न० । अपनयने, सूत्र० । कृशीकरणे, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । परित्यागे, आचा० १ श्रु०६ अ० १ उ० । स्था० । मिथ्यात्वैरनिवृत्तिकरणेन सम्यक्त्वावस्थानरूपे कर्मणोऽवस्थाभेदे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

धुणित्तए–धूनयितुम्–अव्य० । अपनेतुमित्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ उ० । " जयहिं धुणित्तए ।" धूननायापनयनाय । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

धुणिया–धूत्वा–अव्य० । कृशयित्वेत्यर्थे, दश० ६ अ० ३ उ० । सूत्र० ।

धुणेज्ज–धूननीय–न० । पापकर्मणि, आ० चू० १ अ० ।

धुन्न–धून्य–पापे, दश० ६ अ० १ उ० ।

धुण्णबहुल–धून्यबहुल–न० । धूयते इति धून्यं प्राग्बद्धं कर्म तत्प्रचुरे, दशा० ६ अ० ।

धुण्णमल–धून्यमल–न० । पापमले, दश० ६ अ० १ उ० ।

धुतोवाय–धुतोपाय–पुं० । अष्टप्रकारकर्मधूननोपाये संयमाऽऽदिके, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

धुत्त–धूर्त–पुं० । धुर्व–धुर–वा–क्तः । "तस्याऽधूर्त्ताऽऽदौ" ॥ ८ । २ । ३० ॥ इति प्राकृतसूत्रेणाधूर्त्ताऽऽदाविति निषेधात् तस्य टो न । प्रा० २ पाद । धुस्तूरवृक्षे, चोरकवृक्षे, नायकभेदे, " धूर्त्तोऽपर धूस्वति ।" लोहकीटे, विट्लवणे च । अक्षके, द्यूतकारके च । त्रि० । " धुत्तेण कलिणा जिए ।" उत्त० ५ अ० । विस्तीर्णे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धुत्तक्खाण–धूर्त्ताऽऽख्यान–न० । धूर्त्तकथानके, न० । तद्यथा– " अवंतीजणवए उज्जेणी णाम णयरी । तीसे उत्तरपासे जिण्णुज्जाणं णाम उज्जाणं । तत्थ बहवे धुत्ता समागया । तेसिं अहिवइणो इमे–ससी १, एलासाढो २, मूलदेवो ३, खंडपाणा य इत्थिया ४ । एक्केक्कस्स पंच पंच धुत्तसता । धुत्तीण य पंच सता खंडपाणाए । अहण्णया पाउसकाले अणाइवद्दले धुक्कसायाणं इमेरिसी कहा संवुत्ता–को अम्हं देज्ज भत्तं ति ? सू-

मूलदेवो भणति-जं जेण अणुभूयं, सुयं वा, सो तं कहयउ, जो तं ण पत्तियइ तेण सव्वधुत्ताणं भत्तं दायव्वं । जो पुण भारहरामायणसुइसमुत्थाहिं उवणयउववत्तीहिं पत्तीहिति, सो मा किंचि दवावउ । एवं मूलदेवेण भणिए सव्वेहिं वि भणियं-साहु साहु त्ति । तओ मूलदेवेण भणियं-को पुव्वं कहयति ? । एलासाढेण भणियं-अहं भे कहयामि । तओ सो कहिउमारद्धो-अहयं गावीओ गहाय अडविं गओ । पेच्छामि चोरे आगच्छमाणे, तो मे पावरणिं कंबलिं पत्थरिऊण तत्थ गावीओ छुभिऊणाऽहं पोट्टलयं बंधिऊण गाममागओ, पेच्छामि य गाममज्झयारे गोरहगे रममाणे । ताऽहं गहियगावो पविसिउमारद्धो(?), खणमेत्तेण य ते चोरा कलयलं करेमाणा तत्थेव णिवडिया । सो य गामो सचउप्पयदुप्पओ, एक्कं वालुंकं एगाए अजियाए गसियं, साऽवि अजिया चरमाणी अयगरेण गसिया । सोऽवि अयगरो एगाए ढेंकाए गहिओ, सा उड्डिउं वडपायवे णिलीणा । तीसे य एगो पाओ पलंबति । तस्स य वडपायवस्स अहे खंधावारो ठिओ । तम्मि य एगे ढेंकाए गयवरो आगलिओ । सा उड्डिउं पयत्ता, आगलिओ पाओ, गयवरे कड्डिउमारद्धे डोंबेहिं कलयलो कओ । तत्थ सद्दवेहिणो गहियचावा पत्ता । तेहिं सा जमगसमगसरेहिं पूरिया । सा मया । रण्णा ताए पेट्टं फालावियं, अयगरो दिट्ठो । सो वि फालाविओ, अजिया दिट्ठा । सा वि फालाविया, वालुंकं दिट्ठं रमणिज्जं । एत्थंतरे ते गोरहा उवरता पलंगसेणा इव भूमियाओ, सो गामो वालुंकाओ णिग्गंतुमारद्धो । अहं पि गहियगावो णिग्गओ, सव्वो सो जणो सट्ठाणं णिग्गओ । अहं पि अयच्छिऊण गावो इहमागओ । तं जाणह कहं सच्चं ? । सेसगा भणंति-सव्वं सच्चं । एलासाढो भणति-कहं गावीओ कंबलीए मायाओ ? । गामो वा वालुंके ? । सेसगा भणंति-भारहसुतीए सुव्वति-जहा पुव्वं आसी एगण्णवं जगमिणं, तम्मि य जले अंडमासी । तम्मि य अंडगे ससेलवणकाणणं जगं सव्वं जइ मायं तो कहं तुह कंबलीए गावो, वालुके वा गाममाणुमाहिति । जं भणसि अहाहेकुदरे अयगरो, तस्स य अजिया, तीए वालुंकं, एत्थ वि भणइ उत्तरं-ससुरासुरं सनारकं ससेलवणकाणणं जगं सव्वं जइ वि पहुस्स उदरे मायं, सो वि य देवईउदरे माओ, सा वि य सयणिज्जे माया जइ एवं सव्वं तो तुह वयणं कहं असच्चं भविस्सति ?॥ १ ॥

ततो ससो कहिउमारद्धो-अम्हे कुडुंबिपुत्ता । कयाइं च करिसणाणि महं सरयकाले छेत्तुं आगओ । तम्मि य खेत्ते तिलो वुत्तो । सो य एरिसो जातो, जो परं कुढारेहिं छेत्तव्वो, तं समंता परिब्भमामि, पेच्छामि य गयवरं रण्णं, तओ भिओ पलाओ(?), पेच्छामि य महप्पमाणं तिलरुक्खं । तम्मि वि लग्गो, एसो य गयवरो लोमं अपावंते कुलालचक्कं व तं तिलरुक्खं परिब्भमति । चालेइ य तं तिलरुक्खं, तेण य चालिओ जलहरो विव तिलाऽतिवुट्ठिं मुंचति । तेण य भमंतेण चक्कतिला विव ते तिला पीलिया । तओ तेल्लोदा णाम णदी वूढा, सो य गओ तत्थेव, तिलखलणीए खुत्तो मओ य, मया वि से चम्मं गहियं । दतिओ कओ, तेल्लस्स भरिओ । अहं पि खुहिओ खलभारं भक्खयामि । दस य तेल्लघडा तिसिओ पिबामि, तं च तेल्लपडिपुण्णं दइयं घेत्तुं गामं पट्टिओ, गामबाहिया रुक्खसालाए णिक्खिविउ तं दइयं गिहमतिगओ, पुत्तो य मे दइयस्स पेसिओ, सो तं जाहे ण पावइ, ताहे रुक्खं पाडेउं गहिय हत्थे अहं पि गिहाओ उट्ठिओ परिब्भमंतो इहमागओ । एयं पुण मे अणुभूयं, जो ण पत्तियति, सो देउ भत्तं । सेसगा भणंति-अत्थि एसो य भावो, भारहरामायणे सुई सुणिज्जति-"तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदबिन्दुभिः । प्रावर्त्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी ॥ १ ॥" जं भणसि कहं एमहंतो तिलरुक्खो भवति ?। एत्थ भण्णइ-पाडलिपुत्ते किल मासपादवे भेरी णिम्मविया, तो किह तिलरुक्खो एमहंतो न होज्जाहि ?॥२॥

तओ मूलदेवो कहिउं मारद्धो । सो भणति-तरुणत्तणे इत्थियसुहाभिलासी धाराधरणट्ठयाए सामिगिहं पत्थिओ छत्तकमंडलुहत्थो, पेच्छामि य वणगजं मम वहाए एज्जमाणं, ततोऽहं भीतो अत्ताणो असरणो किंचि णिलुक्कणठाणं अपासमाणे जलगलणगाऽऽएणं कमंडलुं अतिगओम्हि । सो वि य गयवरो मम वहाए तेणेवंतेण अतिगओ । ततो मे सो गयवरो छम्मासं अंतो कुंडियाए वामोहिओ । तओ हं छम्मासंते कुंडियगीवाए णिग्गओ । सो वि य गयवरो तेणेवंतेण णिग्गओ । णवरं बालग्गेण गीवाए लग्गो । अहमवि पुरओ पेच्छामि अणोरपारं गंग, सा मे गोपयमिव तिण्णा गओम्हि सामिगिहं, तत्थ मे तण्हा छुहा समे अगणेमाणेण गंगाओ पडंती मत्थए छम्मासा धारिया धारा । तओ पणमिऊण महासेणं पयाओ संपत्तो उज्जेणिं, तुज्झ य इहं मिलिओ इति । तं जइ सच्चं एयं तो मे हेऊहिं पत्तियावेह । अह मन्नहा आसियं, तो धुत्ताणं देहउ भत्तं । तेहिं भणियं सच्चं । मूलदेवो भणइ-कहं सच्चं । ते भणंति-सुणेह, पुव्वं बंभणस्स मुहाओ विप्पा णिग्गया, बाहाओ खत्तिया, ऊरूसु वइस्सा, पादेसु सुद्दा । जइ इत्तिओ जणवओ तस्सुदरे माओ, तो तुमं हत्थी य कुंडियाए किं ण माहिह । अन्नं च किल बंभणो विण्हू य उड्ढाहं कुणंता धावंता गता, दिव्वं वाससहस्सं तहा वि लिंगस्संऽतो ण पत्ता, तं जइ एमहंतं लिंगं उमाए सरीरे मायं तो तुहं हत्थी य कुंडियाए ण माहिइ । जं भणसि-वालग्गे हत्थी कहं लग्गो ?। तं सुणसु-विण्हू जगस्स कत्ता, एगण्णवे तप्पति तवं जलसयणगतो, तस्स य णाभीओ बंभो पउमगब्भणाभो णिग्गओ, णवरं पंकयं णाभीए लग्गो, एवं जइ तुमं हत्थी य वि णिग्गता, हत्थी वालग्गे लग्गो, को दोसो ?, जं भणसि--गंगा कहमुत्तिण्णा ?। रामेण किल सीताए पवत्तिहेउं सुग्गीवो, तेणावि हणूमंतो, सो बाहाहिं समुद्दं तरिउं लंकापुरिं पत्तो । सीयाए पुच्छिओ--कहं समुद्दो तिण्णो ?। भणति--"तव प्रसादात् वचसः प्रसादा--द्रतुंश्च ते देवि ! गुरुप्रसादात् । साधुप्रसादाच्च पितुः प्रसादा--त्तीर्णो मया गोष्पदवत्समुद्रः ॥१॥" जइ तेण तिण्णो समुद्दो बाहाहिं, तेण तुमं कहं गंगं ण तरिस्ससि ? । जं भणसि--कहं छम्मासे धारा धरिता । एत्थ वि सुणसु-दिव्वं वाससहस्सं तवं कुणमाणं भगीरहं दट्ठुं तत्थागममाणेहिं ओगाहियत्था सुरगणेहिं गंगा अब्भत्थिता-अवतराहि मणुयलोगं । तीए भणियं-को मे धरेहि त्ति णिवडिंतिं ?, पसुवइणा भणियं-अहं ते एगजडाए धारयामि । तेण सा दिव्वं वाससहस्सं धरिया । जइ तेण सा धरिया, तुमं कहं छम्मासं ण धरिस्ससि ? ॥३॥

अह पत्ता खंडपाणा, कहिउमारद्धा । सा य भणति--

"उल्लंचितं ति अम्हे--हि भणह जइ अंजलिं करिय सीसे ।
उवसप्पह जइ अ ममं, तो भत्तं देमि सव्वेसिं ॥१॥
तओ भणंति धुत्ता, अम्हे सव्वं जगं तुलेमाणा ।
कह एवं खलु वयणं, तुज्झ सगासे भणीहामो ?" ॥ २ ॥

ततो ईसिं हसिऊण खंडपाणा कहयति-अहं रायरयगस्स धूया,

अह अण्णया सह पिउणा वत्थाणं महासगडं भरेऊण पुरिससहस्सेण समं णदिं सलिलपुण्णं पत्ता । धोयाइं वत्थाइं, तो आयवे दिण्णाणि सुक्कायाणि, आगतो महावाओ । तेण ताणि सव्वाणि वत्थाणि अवहरियाणि । ततोऽहं रायभया गोहारूवं काऊण रयणीए णगरुज्जाणं गया । तत्थाहं रत्तासोगपासं चूयलया जाता । अण्णया य सुणेमि-जहा रयगा डिंभलंतु, अभयघोसं परूहसहं सोऊण पुणण्णवसरीरा जाया, तस्स सगडस्स णाडगवरत्ता य अंबुएहिं भक्खियाओ । तओ मे पिउणा णाडगवरत्ताओ अण्णिस्समाणेण महिसलिंगणा लद्धा । तत्थ भणइ किमेत्थ सच्चं? । ते भणंति-वंतकेसवा अंतं ण गया लिंगस्स वाससहस्सेण जति तं सच्चं तुह वयणं कहमसच्चं भविस्सइ त्ति? । रामायणे वि सुणिज्जइ-जं हणुमंतस्स पुच्छं महंतमासी, तं च किल अणेगेहिं वत्थसहस्सेहिं वेढिऊण तेल्लघडसहस्सेहिं सिंचिऊण पलीवियं, तेण किल लंका पुरी दड्ढा । एवं जइ महिसस्स वि महंतपुच्छेण णारूगवरत्ताओ जायाओ को दोसो ?। अण्णं च इमं सुई सुव्वइ-जहा गंधारो राया, रणे कुवलणं पत्तो, अवरो वि राया किमस्स (?) णाम महाबलपरक्कमो, तेण य सक्को देवराया समरे णिज्जिओ । ततो तेण देवराइणा सावससतोऽरण्णे अयगरो जाओ । अण्णया य पंडुसुआ रज्जभट्ठाऽरण्णे णिग्गया, अण्णया य रण्णाहराय णिग्गओ भीमो, तेण य अयगरेण गसिओ, धम्मसुतो य अयगरं पत्तो, ततो सो अयगरो माणुसीए वायाए तं धम्मसुयं सत्त पुच्छातो पुच्छेइ । तेण य कहियाओ सत्त पुच्छातो । ततो भीमं णिगिलइ, तस्स य सावस्स अंतो जाओ । जातो पुणरवि राया, जइ एयं सच्चं तो तुमं पि सच्चूतं गोहाभूय सभावं गंतूण पुणण्णवा जाया । तो खंडपाणा भणइ-एवं गते वि मज्झ पणामं करेह । जइ कहंचि न जिण्णह, तो काणा वि कवड्डिया तुज्झं मुल्लं ण भवति । ते भणंति-को अम्हे सत्तो णिज्जिणिउं ?। तो सा हसिऊण भणति-तेसिं-वातहरियाणं वत्थाणं गवेसणाय णिग्गयाणं पुच्छिऊण, अण्णं च मम दासचेडा णट्ठा, तयं अण्णेसामि, ताहं गामणगराणि अडमाणी इहं पत्ता । तं ते दासचेडा तुम्हे, ताणि वत्थाणि इमाणि, आणि, तुब्भं परिहिआणि । तं जइ सच्चं, तो देह वत्था । अह अलिअं तो देहि भत्तं । * ग० २ अधि० । नि० चू० ।

धुत्तसंवलय-धूर्त्तशम्बलक-न० । पुरुषद्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

धुत्ति-धूर्त्ति-स्त्री० । जरायाम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड । प्रा० ।

धुत्तिमा-धूर्त्तिमा-पुं० । स्त्री० । धूर्त्तत्वे, " वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम् " ॥ ८ । १ । ३५ ॥ इति वा स्त्रीत्वम् । प्रा० १ पाद ।

धुम्म-धूम्र-पुं० । धूमं सदृशं राति । रा-कः-पृषो० । कपोतवर्णे, स्था० ९ ठा० । सिह्लके, वाच० ।

धुय-धु (धू) त-न० । त्यजने, स्था० ६ ठा० । संयमे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । धूयतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तद् धूतम् । संयमानुष्ठाने, धूननाहेत्वाद् धूतम् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । धूयते इति धूतम् । प्राग्बद्धे कर्मणि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । वृ० । अष्टप्रकारके कर्मणि, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । मोक्षे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । धूतं सङ्गानां त्यजनम्, तत्प्रतिपादकमध्ययनं धूतम् । स्था० ६ ठा० । आचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धस्य षष्ठेऽध्ययने च । न० । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । स० । (तद्वक्तव्यता 'धुयज्झयण' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते) कम्पिते, स्फोटिते, सं० । वृ० । क्षिप्ते, आतु० । दश० । अपनीते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । त्यक्ते, " धुतकेसमंसु लोमनहेहिं । " प्रश्न० १ संव० द्वार । भर्त्सिते, तर्किते, वाच० । अपगते च । त्रि० । वृ० ६ उ० ।

संप्रति निक्षेपः, स च चतुर्द्धा, तत्रापि नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यभावधूतप्रतिपादनाय गाथाशकलमाह-

दव्वधुतं वत्थादी, भावधुयं कम्मअट्ठविहं (२५१)

(दव्वधुतमित्यादि) द्रव्यधूतं द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञाता, तत्र चोपयुक्तः । नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यधूतम् । द्रव्यं च तद्वस्त्राऽऽदि, धूतं च रजोऽपनयनार्थं द्रव्यधूतम् । आदिग्रहणाद् वृक्षाऽऽदिफलार्थं, भावधूतं कर्माष्टविधं तद्विमोक्षार्थं धूयत इति गाथाशकलार्थः ।

पुनरप्येतदेवार्थं विशेषतः प्रतिपादयितुमाह-

अहियासेत्तुवसग्गे, दिव्वे माणुस्सए तिरिक्खे य ।
जो विहुणइ कम्माइं, भावधुयं तं वियाणाहि ॥ २५२ ॥

अधिकमासह्यात्यर्थं सोढा, कानतिसह्य ?, उपसर्गान्, किंभूतान् ?, दिव्यान्मानुषाँस्तिरश्चांश्च, यः कर्माणि संसारतरुबीजानि, विधूनयत्यपनयति, तद्भावधूतमित्येवं जानीहि । क्रियाकारकयोरभेदाद्वा कर्मधूननं भावधूतं जानीहीति भावार्थः ॥ आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

धुयकिलेस-धु (धू) तक्लेश-त्रि० । क्षिप्तसमस्तक्लेशे, आतु० । धूता अपनीताः क्लेशाः कर्माणि येनासाविति । क्षीणाष्टकर्मणि, सू० १ उ० ।

धुयचारि (ण्)-धु (धू) तचारिन्-धुनातीति धुतं, संयमो मोक्षो वा, तं चरतीति । संयमाऽऽदिचरणशीले, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

धुयज्झयण-धु (धू) ताध्ययन-न० । आचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धस्य षष्ठेऽध्ययने, आचा० ।

तस्योद्देशार्थाधिकारं निर्युक्तिकारो बिभणिषुराह-

पढमे नियगविहुणणा, कम्माणं बितिएँ तइयम्मि ।
उवगरणसरीराणं, चउत्थए गारवतियस्स ॥ २५० ॥
उवसग्गा सम्माणा, य विहुणया पंचमम्मि उद्देसे (२५१)

प्रथमोद्देशके निजकाः स्वजनास्तेषां विधूननेत्ययमर्थाधिकारः, द्वितीये कर्मणां, तृतीये उपकरणशरीराणां, चतुर्थे गौरवत्रिकस्य, विधूननेति सर्वत्र सम्बन्धनीयम् । उपसर्गाः सन्माननानि च यथा साधुभिर्विधूयन्ते तथा पञ्चमोद्देशके प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

धुयपाव-धु (धू) तपाप-त्रि० । अपनीतपापे, " नमोत्थु धुयपावाणं । " आतु० ।

धुयबहुल-धु (धू) तबहुल-त्रि० । धूयते इति धूतं, प्राग्बद्धं कर्म, तत्प्रचुरे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

धुयमोह-धु (धू) तमोह-त्रि० । धूतो मोहरागद्वेषरूपो येन सः । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । धूतो मोहोऽज्ञानं येन सः । विक्षिप्तमोहे, दशा० १ अ० ।

* एतच्च निशीथपुस्तकाद् लिखितमित्यग्रे लिखितमस्ति ।

धुयरय–धु (धू) तरजस्–त्रि०। धूतमपनीतं रजः कर्म येन स धूतरजाः। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। धूनं कम्पितं स्फोटितं रजो बध्यमानं कर्म येन स धूतरजाः। नं०। अपगतपापकर्मणि, दश० ६ अ०।

धुयरागमग्ग–धु (धू) तरागमार्ग–पुं०। धूतोऽपनीतो रागमार्गो रागपन्था यस्मिन्। अपनीतरागपथे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

धुयवाय–धु (धू) तवाद–पुं०। धूतमष्टप्रकारं कर्म, धूननं ज्ञातिपरित्यागो वा, तस्य वादो धूतवादः। कर्मपरित्यागकथने, आचा०।

आयाण भो, सुस्सूस भो, धुयवायं पवेदइस्सामि। इह खलु अत्तत्ताए तेहिं तेहिं कुलेहिं अभिसेएणं अभिसंभूता, अभिसंजाता, अभिणिव्वट्टा, अभिसंवुड्ढा, अभिसंबुद्धा, अभिणिक्खंता, अणुपुव्वेणं महामुणी ॥१७९॥

भो! इति शिष्याऽऽमन्त्रणे, यदहमुत्तरत्राऽऽवेदयिष्यामि भवतस्तद् आजानीहि अवधारय, शुश्रूषस्व श्रवणेच्छां विधेहि, भो! इति पुनरप्यामन्त्रणमर्थगौरवख्यापनाय, नाऽत्र भवता प्रमादो विधेयो, धूतवादं कथयिष्याम्यहम्। धूनम–अष्टप्रकारकर्मधूननं ज्ञातिपरित्यागो वा तस्य वादो धूतवादः, तं प्रवेदयिष्यामि, अवहितेन च भवता श्राव्यमिति। नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-(धूतोवायं पवेदंति त्ति) अष्टप्रकारकर्मधूननोपायं, निजधूननोपायं वा प्रवेदयन्ति तीर्थङ्कराऽऽदयः। कोऽसावुपायः?, इत्यत आह-इहास्मिन् संसारे, अनुर्वाक्यालङ्कारे। आत्मनो भाव आत्मता-जीवास्तिता, स्वकृतकर्मपरिणतिर्वा, तयाऽभिसंभूताः-संजाताः, न पुनः पृथिव्यादिभूतानां कायाऽऽकारपरिणामतया, ईश्वरप्रजापतिनियोगेन वेति। तेषु तेषूच्चावचेषु कुलेषु यथास्वकर्मोदयाऽऽपादितेष्वभिषेकेण शुक्रशोणितनिषेकाऽऽदिक्रमेणेति। तत्राऽयं क्रमः-"सप्ताहं कललं विद्यात्, ततः सप्ताहमर्बुदम्। अर्बुदाज्जायते पेशी, पेशीतोऽपि घनं भवेत्" ॥ १ ॥ इति। तत्र यावत्कललं तावदभिसंभूताः, पेशीं यावदभिसंजाताः, ततः साङ्गोपाङ्गस्नायुशिरोरोमाऽऽदिक्रमाभिनिर्वर्तनादभिनिर्वृत्ताः, ततः प्रसूताः सन्तोऽभिसंवृद्धा धर्मश्रवणयोग्यावस्थायां वर्तमाना धर्मकथाऽऽदिकं निमित्तमासाद्योपलब्धपुण्यपापतयाऽभिसंबुद्धाः, ततः सदसद्विवेकं जानाना अभिनिष्क्रान्ताः, ततोऽधीताचाराऽऽदिशास्त्रास्तदर्थभावनोपबृंहितचरणपरिणामा आनुपूर्व्येण शिक्षक-गीतार्थ-क्षपक-परिहारविशुद्धिकै-काकिविहारि-जिनकल्पिकावसाना मुनयोऽभूवन्निति ॥ १७९ ॥

अभिसंबुद्धं च प्रव्रजितुमुपलभ्य यन्निजाः कुर्युस्तद्दर्शयितुमाह—

तं परिक्कमंतं परिदेवमाणा मा णे चयाहि इति ते वयंति छंदोवणीया अज्झोववण्णा अक्कंदकारी जणगा रुदंति, अतारिसे मुणी, णो ओहं तरए जणगा जेण विप्पजढा, सरणं तत्थ णो समेति, कहं णु णाम से तत्थ रमति?, एयं णाणं सया समणुवासिज्जासि त्ति बेमि ॥ १८० ॥

समवगततत्त्वं गृहवासपराङ्मुखं महापुरुषसेवितं पन्थानं पराक्रममाणमुपलभ्य मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदयः परिदेवमाना माऽस्मान् परित्यज, इत्येतत्ते करुणामापादयन्तो वदन्ति, किं चापरं वदन्तीत्याह-छन्देनोपनीताः छन्दोपनीताः, तवाभिप्रायाऽनुवर्तिनः, त्वयि चाभ्युपपन्नाः, तदेवंभूतानस्मान्माऽवमंस्था इत्येवमाक्रन्दकारिणो जनकाः मातापित्रादयो, जना वा रुदन्ति। एवं च वदेयुरित्याह-न तादृशो मुनिर्भवति, न चौघं संसारं तरति, येन पाषण्डविप्रलब्धेन जनका मातापित्रादयोऽपोढाः त्यक्ता इति। स चावगतसंसारस्वभावो यत्करोतीति, तदाह-न शक्तानुरक्तमपि बन्धुवर्गं तत्र तस्मिन्नवसरे शरणं समेति, न तदभ्युपगमं करोतीत्यर्थः। किमित्यसौ शरणं नैतीत्याह-कथं नु नामाऽसौ तत्र तस्मिन् गृहवासे सर्वनिकाराऽऽस्पदे नरकप्रतिनिधौ शुभद्वारपरिघे रमते?, कथं गृहवासं ज्ञानैकहेतौ विघटितमोहकपाटः सन् रतिं कुर्यादिति। उपसंहरन्नाह--एतत् पूर्वोक्तं ज्ञानं सदा आत्मनि सम्यगनुवासयेः व्यवस्थापयेः, 'इति' अधिकारपरिसमाप्तौ, धूताध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः परिसमाप्तः। उक्तः प्रथमोद्देशकः।

साम्प्रतं द्वितीय आरभ्यते। अस्य चायमभिसंबन्धः-इहानन्तरोद्देशके निजकविधूनना प्रतिपादिता, सा चैवं फलवती स्याद्यदि कर्मविधूननं स्यादतः कर्मविधूननार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्योद्देशकस्याऽऽदिसूत्रम्-

आउरं लोयमायाए चइत्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं वसित्ता बंभचेरंसि वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं अहा तहा अहेगे तमचाइंति कुसीला ॥ १८१ ॥

(आउरं इत्यादि) लोकं मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदिकं तमातुरं स्नेहानुषक्ततया वियोगात्कार्यावसादेन वा, यदि वा जन्तुलोकं कामरागाऽऽतुरम्, आदाय ज्ञानेन परिगृहीत्वा परिच्छिद्य, तथा त्यक्त्वा च पूर्वसंयोगं मातापित्रादिसंबन्धं, तथा हित्वोपशमम्। उषित्वाऽपि ब्रह्मचर्ये, किंभूतः सन्निति दर्शयति-वसु द्रव्यं, तद्भूतः कषायकालिकाऽऽदिमलापगमाद् वीतराग इत्यर्थः, तद्विपर्ययेणानुवसुः, सराग इत्यर्थः। यदि वा-वसुः साधुः, अनुवसुः श्रावकः। तदुक्तम्-" वीतरागो वसुर्ज्ञेयो, जिनो वा संयतोऽथवा। सरागो ह्यनुवसुः प्रोक्तः, स्थविरः श्रावकोऽपि वा ॥ १ ॥ " तथा ज्ञात्वा धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यं यथा तथावस्थितं धर्मं प्रतिपद्याप्यथैके मोहोदयात्तथाविधभवितव्यतानियोगेन तं धर्मं प्रतिपालयितुं न शक्नुवन्ति। किंभूताः?, कुत्सितं शीलं येषां ते कुशीला इति। यत एव धर्मपालनाशक्ता अत एव कुशीलाः ॥ १८१ ॥

एवंभूताश्च सन्तः किं कुर्युरित्याह-

वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं विउसेज्जा, अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए, कामे ममायमाणस्स इयाणिं वा मुहुत्तेण वा अपरिमाणाए भेदो, एवं से अंतराइएहिं कामेहिं आकेवलिएहिं अवितिण्णा चेए ॥१८२॥

(वत्थं इत्यादि) केचिद्भवशतकोटिदुरापमवाप्य मानुषं जन्म समासाद्याऽऽलब्धपूर्वां संसारार्णवोत्तरणप्रत्यलां बोधिद्रोणीमङ्गीकृत्य मोक्षतरुबीजं सर्वविरतिलक्षणं चरणं पुनर्दुर्निवारतया मन्मथस्य, पारिप्लवतया मनसो, लोलुपतयेन्द्रियग्रामस्यानेकभवाभ्यासाऽऽपादितविषयमधुरतया प्रबलमोहनीयोदयाद्गुरुलघुवेदनीयोदयाऽऽसन्न प्राज्ञैर्वाद्ययशः कीर्त्युत्कटतया आविर्गणय्यमतिमविचार्य कार्याकार्यमुररीकृत्य महाव्यसनसागरं साम्प्रतेक्षितया अथः कृतकुलक्रमाऽऽ-

चारास्तत्यजेयुः । तत्यागश्च धर्मोपकरणपरित्यागाद्भवतीत्येतद्दर्शयति-वस्त्रमित्यनेन क्षौमिककल्पो गृहीतः, तथा पतद्गृहः पात्रं, कम्बलमौर्णिकं कल्पं, पात्रनिर्योगं वा । पादप्रोञ्छनकं रजोहरणम् । एतानि निरपेक्षतया व्युत्सृज्य, कश्चिद्देशविरतिमभ्युपगच्छति, कश्चिद्दर्शनमेवाऽऽलम्बते, कश्चित्ततोऽपि भ्रश्यति, कथं पुनर्दुर्लभं चारित्रमवाप्य पुनस्तत्त्यजेदित्याह-परीषहान् दुरधिसहनीयाननुक्रमेण परिपाट्या यौगपद्येन वोदीर्णानविसहमानाः परीषहैर्भग्नमोहपरवशतया पुरस्कृतदुर्गतयो मोक्षमार्गं परित्यजन्ति । भोगार्थं त्यक्तवतामपि पापोदयात्तस्यासत्त्वादाह--(कामे इत्यादि) कामान् विरूपानपि (ममायमाणस्स त्ति) स्वीकुर्वतो भोगाध्यवसायिनोऽन्तरायोदयादिदानीं तत्क्षणमेव प्रव्रज्यापरित्यागानन्तरमेव, भोगप्राप्तिसमनन्तरमेवान्तर्मुहूर्त्तेन वा, कण्डरीकस्येवाहोरात्रेण वा, ततोऽप्यूर्द्धं शरीरभेदो भवत्यपरिमाणाय, एवंभूत आत्मना सार्द्धं विवक्षितशरीरभेदो भवति । येनानन्तेनापि कालेन पुनः पञ्चेन्द्रियत्वं नावाप्नोति । एतदेवोपसंजिहीर्षुराह-एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, स भोगाभिलाषी, आन्तरायिकैः कामैर्बहुप्रत्यपायैः केवलं तत्र नवा अकेवलिकाः सद्वन्द्वाः सप्रतिपक्षा इति यावदसंपूर्णा वा, तैः सद्भिरवितीर्णाः संसारं तीर्त्वा, द्वितीयार्थे तृतीया । चः समुच्चये । एत इति भोगाभिलाषिणः कामैरतृप्ता एव शरीरभेदमवाप्नुवन्तीति तात्पर्यार्थः ॥ १८२ ॥

अपरे त्वासन्नतया मोक्षस्य कथञ्चित् कुतश्चित्कदाचिदवाप्य चरणपरिणामं प्रतिक्षणं लघुकर्मतया प्रवर्द्धमानाध्यवसायिनो भवन्तीति दर्शयितुमाह-

अहेगे धम्ममादाय आदाणप्पभितिसु पणिहिए चरे अपलीयमाणे दढे ॥ १८३ ॥

सव्वं गिद्धिं परिणाय एस पणते महामुणी ॥ १८४ ॥

अइयच्च सव्वतो संगं ण महं अत्थि त्ति इति एगो अहमंसि जयमाणे एत्थ विरते, अणगारे, सव्वसो मुंडे रीयंते, जे अचेले परिवुसिए संचिट्ठति ओमोयरियाए ॥ १८५ ॥

से आकुट्ठे वा, हए वा, लुंचिते वा, पलियं पकंथ, अदुवा पकंथ, अतहेहिं सद्दफासेहिं इति संखाए एगतरे अण्णतरे अभिण्णाय तितिक्खमाणे परिव्वए । जे य हिरी जे य अहिरीमाणे चिच्चा सव्वं विसोत्तियं फासे समियदंसणे ॥ १८६ ॥

(अहेगे इत्यादि) अथानन्तरमेके विशुद्धपरिणामतया आसन्नापवर्गतया धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यमादाय गृहीत्वा वस्त्रपतद्ग्रहाऽऽदिधर्मोपकरणसमन्विता धर्मकरणेषु प्रणिहिताः परीषहसहिष्णवः सर्वज्ञोपदिष्टं धर्मं चरेयुरिति । अत्र च पूर्वाणि प्रमादसूत्राण्यप्रमादाभिप्रायेण पठिष्यामीति । उक्तं च-"यत्र प्रमादेन निरोधप्रमादः, स्याद्वाऽपि यत्नेन पुनः प्रमादः । विपर्ययेणाऽपि पठन्ति तत्र, सूत्राण्यधीकारवशाद्विधिज्ञाः ॥ १ ॥" किंभूताः पुनर्धर्मं चरेयुरित्याह-(अपलीय इत्यादि) कामेषु मातापित्रादिके वा लोके न प्रलीयमाना अप्रलीयमाना अनभिसक्ता धर्मचरणे दृढास्तपःसंयमाऽऽदौ द्रढिमानमालम्बमाना धर्मं चरन्तीति ॥ १८३ ॥ किञ्च-(सव्वं इत्यादि) सर्वां गृद्धिं भोगकाङ्क्षां दुःखरूपतया, परिज्ञाय, प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यजेत् । परित्यागे गुणमाह-(एस इत्यादि) (एस इति) कामपिपासापरित्यागी, प्रकर्षेण नतः प्रह्वः संयमे, कर्मधूननायां वा महामुनिर्भवति नापर इति १८४ ॥ किञ्च-(अइयच्च इत्यादि) अतिगत्याऽतिक्रम्य सर्वतः सर्वैः प्रकारैः सङ्गसंबन्धं पुत्रकलत्राऽऽदिजनितं, कामानुषङ्गं वा, किं भावयेदित्याह-(ण महं अत्थि इत्यादि) न मम किमप्यस्तीति यत्संसारे एतत् आलम्बनाय स्याद्दिति, तदभावाद्युक्तक्रमेणैकोऽहमस्मिन् संसारोदरे, न चाहमन्यस्य कस्यचिदित्येतद्भावनाभावितश्च यत् कुर्यात्तदाह-(जयमाणे इत्यादि) अत्राऽस्मिन्मौनीन्द्रे प्रवचने विरतः सन् सावद्यानुष्ठानाद्दशविधचक्रवालसामाचार्यां यतमानः, कोऽसावनगारः प्रव्रजितः, एकत्वभावनां भावयन्नवमौदर्ये सन्तिष्ठत इत्युत्तरसूत्रेण संबन्धः । इयमेव क्रियाऽनन्तरसूत्रेष्वपि लगयितव्येति । किञ्च-(सव्वसो इत्यादि) सर्वतो द्रव्यतो भावतश्च मुण्डो रीयमाणः संयमानुष्ठाने गच्छन्, किंभूत इत्याह--(जे इत्यादि) योऽचेलोऽल्पचेलो जिनकल्पिको वा पर्युषितः संयमे उद्युक्तविहारी अन्तप्रान्तभोजी तदपि न प्रकाममित्याह (संचिट्ठइ) संतिष्ठते अवमौदर्ये न्यूनोदरतायां वर्त्तमानः सन् ॥ १८५ ॥ कदाचित्प्रत्यनीकतया ग्रामकण्टकैस्तुद्येतेत्येतद्दर्शयितुमाह—(से इत्यादि) स मुनिर्वाग्भिराकुष्टो वा, दण्डाऽऽदिभिर्हतो वा, लुञ्चितो वा केशोत्पाटनतः, पूर्वकृतकर्मपरिणत्युदयाद्वेतदवगच्छन् सम्यक् तितिक्षमाणः परिव्रजेदित्येतच्च भावयेत् । तद्यथा--"पावाणं च खलु भो कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेइयत्ता मोक्खो णत्थि अवेयइत्ता तवसा वा झोसइत्ता । " इत्यादि । कथं पुनर्वाग्भिराकुश्यत इत्याह-(पलियं इत्यादि) (पलियं त्ति) कर्म जुगुप्सितमनुष्ठानं, तेन पूर्वाऽऽचरितेन कुविन्दाऽऽदिना प्रकथ्य जुगुप्स्यते । तद्यथा--भोः कौलिक ! प्रव्रजन त्वमपि मया सार्द्धमेवं जल्पसीति ? अथवा -जकारचकाराऽऽदिभिरपरैः प्रकारैर्निन्द्यो विद्यते, एभिर्वा वक्ष्यमाणैः प्रकारैरित्याह-(अतहेहिं इत्यादि) अतथ्यैर्वितथैरसद्भूतैः शब्दैश्चौरस्त्वं पारदारिक इत्येवमादिकैः स्पर्शैश्च असद्भूतैः साधोः कर्त्तुमयुक्तैः करचरणच्छेदनाऽऽदिभिः, स्वकृतादृष्टफलमित्येवमत् संख्याय ज्ञात्वा तितिक्षमाणः परिव्रजेदिति । यदि वैतत् संख्याय (अथवा पाठः परीसहोपसर्गसहनविषयः 'परीसह' शब्दे द्रष्टव्यः) परीषहाश्चानुकूलप्रतिकूलतया भिन्ना इत्येतद्दर्शयितुमाह-(एगयरे इत्यादि) एकतराननुकूलानन्यतरान् प्रतिकूलान् परीषहानुदीर्णानभिज्ञाय, सम्यक् तितिक्षमाणः परिव्रजेदिति । यदि वा-अन्यथा परीषहाणां द्वैविध्यमित्याह-(जे इत्यादि) ये च परीषहाः सत्कारपुरस्काराऽऽदयः साधोर्हारिणो मनआह्लादकारिणो, ये तु प्रतिकूलतया अहारिणो मनसोऽनिष्टाः । यदि वा-ह्रीरूपा याचनाऽचेलाऽऽदय अह्रीमनस्काश्चाकारिणः शीतोष्णाऽऽदय इत्येतान् द्विरूपानपि परीषहान् सम्यक् तितिक्षमाणः परिव्रजेदिति । किञ्च-(चिच्चा इत्यादि) त्यक्त्वा सर्वां परीषहकृतां विस्रोतसिकाम् । परीषहाऽऽपादितान् स्पर्शान् दुःखानुभवान् स्पृशेदनुभवेत् सम्यगतिसहेत । स किंभूतः ?, सम्यगितं गतं दर्शनं यस्य स समितदर्शनः, सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः ॥ १८६ ॥

तत्सहिष्णवश्च किंभूताः स्युरित्याह-

एते भो णगिणा वुत्ता, जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो ॥ १८७ ॥

(एए भो इत्यादि) भो इत्यामन्त्रणे, एते परीषहसहिष्णवो निष्क्रान्ता निर्ग्रन्था भावनग्नाः, उक्ता अभिहिताः। यस्मिन् मनुष्यलोके, अनागमनं धर्मो येषां ते अनागमनधर्माणः, यथाऽऽरोपितप्रतिज्ञाभारवाहित्वाच्च पुनर्गृहं प्रत्यागमनेप्सव इति ॥१८७॥

किञ्च-

आणाए मामगं धम्मं ....(?) एस उत्तरवादे इह माणवाणं वियाहिते ॥ १८८ ॥

(आणाए इत्यादि) आज्ञाप्यतेऽनयेत्याज्ञा, तया मामकं धर्मं सम्यगनुपालयेत्तीर्थङ्कर एवमाहेति । यदि वा-धर्मानुष्ठानेऽप्येवमाह-धर्मं एवैको मामकोऽन्यत्तु सर्वं पारक्यमित्यतस्तमहमाज्ञया तीर्थङ्करोपदेशेन सम्यक् करोमीति । किमित्याज्ञया धर्मोऽनुपाल्यत इत्यत आह-(एस इत्यादि) एषोऽनन्तरोक्त उत्तरवाद उत्कृष्टवाद इह मानवानां व्याख्यात इति ॥ १८८ ॥

किञ्च-

एत्थोवरए तं झोसमाणे आयाणिज्जं परिणाय परियाएणं विगिंचइ ॥ १८९ ॥

(एत्थोवरए इत्यादि) अत्राऽस्मिन् कर्मधूननोपाये संयमे उप सामीप्येन रत उपरतः, अष्टप्रकारं कर्म शोषयन् क्षपयन् धर्मं चरेदिति । किञ्चापरं कुर्यादित्याह-(आयाणिज्जं इत्यादि) आदीयत इत्यादानीयं कर्म, तत्परिज्ञाय मूलोत्तरप्रकृतिभेदतो ज्ञात्वा, पर्यायेण श्रामण्येन विवेचयति, क्षपयतीत्यर्थः । अत्र वा शेषकर्मधूननासमर्थं तपस्तद् बाह्यमधिकृत्य व्याख्यातम् ॥ १८९ ॥

इहमेगेसिं एगचरिया होति । तत्थियरा इयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए सो मेहावी परिव्वए । सुब्भि अदुवा दुब्भि । अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति । ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासिज्जासि त्ति बेमि ॥ १९० ॥

(इहमेगेसिं इत्यादि) इहाऽस्मिन् प्रवचने, एकेषां शिथिलकर्मणामेकचर्या प्रत्येकाकिविहारप्रतिमाऽभ्युपगमो भवति । तत्र च नानारूपा अभिग्रहविशेषास्तपश्चरणविशेषाश्च भवन्तीत्यनस्तानत्रप्रागुक्तानाधिकृत्याऽऽह-(तत्थियरा इत्यादि) तस्मिन्नेकाकिविहारे, इतरे सामान्यसाधुभ्यो विशिष्टतरा इतरेष्वन्तप्रान्तेषु कुलेषु शुद्धैषणया दशैषणादोषरहितेनाऽऽहारादिना, सर्वैषणयेति सर्वा याऽऽहाराऽऽद्युद्गमोत्पादनग्रासैषणारूपा, तया सुपरिविशुद्धेन विधिना संयमे परिव्रजन्ति । बहुत्वेऽप्येकदेशतामाह-(सो मेहावी इत्यादि) स मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः संयमं परिव्रजेदिति । किञ्च-(सुब्भि इत्यादि) स आहारस्तेष्वितरेषु कुलेषु सुरभिर्वा स्यात् । अथवा-दुर्गन्धः । न तत्र रागद्वेषौ विदध्यात् । किञ्च-(अदुवा इत्यादि) अथवा तत्रैकाकिविहारित्वे पितृवनप्रतिमाप्रतिपन्नस्य सतो भैरवा भयानका यातुधानाऽऽदिकृताः शब्दाः प्रादुर्भवेयुः । यदि वा-भैरवा भीषणाः प्राणाः प्राणिनो दीप्तजिह्वाऽऽदयोऽपरान् प्राणिनः क्लेशयन्त्युपतापयन्ति, त्वं तु पुनस्तैः स्पृष्टस्तान् स्पर्शान् दुःखविशेषान् धीरोऽक्षोभ्यः सम्यक् सहस्व । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । षष्ठाध्ययनद्वितीयोद्देशकः परिसमाप्तः ॥ १९० ॥ उक्तो द्वितीयोद्देशकः । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

तदेवं संसारश्रेणिं विक्षेपयित्वा यः संसारसागरं तीर्णवच्चीर्णो मुक्तवन्मुक्तो विरतो व्याख्यातस्तं च तथाभूतं किमरतिरभिभवेदुत न वेति अचिन्त्यसामर्थ्यात्कर्मणोऽभिभवेदित्येतद्दर्शयन्नाऽऽह-

विरयं भिक्खुं रीयंतं चिररातोसियं अरती तत्थ किं विधारए ?, संधेमाणे समुट्ठिए, जहा से दीवे असंदीणे ॥ १९१ ॥

(विरयं इत्यादि) विरतमसंयमात्क्रमणशीलं भिक्षुं, रीयमाणं निश्चरन्तमप्रशस्तेभ्योऽसंयमस्थानेभ्यः प्रशस्तेष्वपि गुणोत्कर्षाद्पर्युपरि वर्तमानं चिररात्रं प्रभूतकालं संयमे व्यवस्थितं चिररात्रोषितस्तमेवंगुणयुक्तमरतिः संयमोद्विग्नता, तत्र तस्मिन् संयमे वर्तमानं किं धारयेत् किं प्रतिस्खलेत ?। किंशब्दः प्रश्ने, किं तथाभूतमपि मोक्षप्रस्थितं प्रत्याख्यविषयमरतिर्विधारयेत् ?। ओमित्युच्यते । तथाहि-दुर्वारान्यविनयवन्ति चेन्द्रियाणि अचिन्त्या मोहशक्तिर्विचित्रा कर्मपरिणतिः किं न कुर्यादिति । उक्तं च-" कम्माणि णूण घणचिक्कणाइ गरुआइ वइरसाराइं णाणड्ढयं पि पुरिसं, पंथाओ उप्पहं नेंति ॥१॥" यदि वा किं क्षेपे किं तथाभूतं विधारयेदरतिर्नैव विधारयेदित्यर्थः। तथा ह्यसौ क्षणे क्षणे विशुद्धतरचरणपरिणामतया विष्कम्भितमोहनीयोदयत्वाल्लघुकर्मा भवतीति कुतस्तमरतिर्विधारयेदित्याह-(संधेमाणे इत्यादि) क्षणे क्षणेऽपूर्वच्छेदेनोत्तरोत्तरं संयमस्थानकण्डकं संदधानः स सम्यगुत्थितः समुत्थित उत्तरोत्तरगुणस्थानकं वा संदधानो यथाख्यातचारित्राभिमुखः समुत्थितोऽसावतस्तमरतिः कथं विधारयेदिति । स चैवंभूतो न केवलमात्मनस्त्राता, परेषामप्यरतिविधारकत्वात् त्राणायेत्येतद्दर्शयितुमाह-(जहा से इत्यादि) द्विर्गता आपोऽस्मिन्निति द्वीपः, स द्रव्यभावभेदाद् द्विधा, तत्र द्रव्यद्वीप आश्वासद्वीपः, आश्वास्यतेऽस्मिन्नित्याश्वासः, स चासौ द्वीपश्चाऽऽश्वासद्वीपः। यदि वा-आश्वसनमाश्वासः, आश्वासाय द्वीप आश्वासद्वीपस्तत्र नदीसमुद्रबहुमध्यप्रदेशे भिन्नबोहित्थाऽऽदयस्तमवाप्याऽऽश्वसन्त्यसावपि द्वेधा-संदीनोऽसंदीनश्चेति यो हि पक्षमासाद्युदकेन प्लाव्यते स संदीनो, विपरीतस्त्वसन्दीनः सिंहलद्वीपाऽऽदिः। यथा हि सांयात्रिकास्तं द्वीपमसन्दीनमुदन्वदादेरुत्तीर्णवः समवाप्याऽऽश्वसन्त्येवं तं भावसंधानायोत्थितं साधुमवाप्यापरे प्राणिनः समाश्वसन्ति । यदि वा-दीप इति प्रकाशदीपः, प्रकाशाय दीपः प्रकाशदीपः, स चादित्यचन्द्रमण्यादिरसन्दीनोऽपरस्तु विद्युदुल्काऽऽदिः संदीनः । यदि वा प्रचुरेन्धनतया विवक्षितकालावस्थाय्यसन्दीनो, विपरीतस्तु संदीन इति । यथा ह्यसौ स्फुटावेदनतो हेयोपादेयहानोपादानवतां निमित्तभावमुपयाति, तथा कश्चित्समुद्राऽऽद्यन्तर्वर्तिनामाश्वासकारी च भवत्येवं ज्ञानसन्धानायोत्थितः परीषहोपसर्गाक्षोभ्यतयाऽसन्दीनः साधुर्विशिष्टोपदेशदानतोऽपरेषामुपकारायेत्यपरे भावद्वीपं भावदीपं वाऽन्यथा व्याचक्षते । तद्यथा-भावद्वीपः सम्यक्त्वं, तच्च प्रतिपातित्वादौपशमिकं, क्षायोपशमिकं च सन्दीनो भावद्वीपः, क्षायिकं त्वसंदीन इति । तं द्विविधमप्यपरिसंसारत्वात्प्राणिन आश्वासन्ति, भावदीपस्तु सन्दीनः श्रुतज्ञानम्, असन्दीनस्तु केवलमिति, तच्चावाप्य प्राणिनोऽवश्यमाश्वासन्त्येवेति । अथवा-धर्मं संदधानः समुत्थितः समरतेर्दुष्प्रधृष्यो भवतीत्युक्ते कश्चिचोदयेत्-किंभूतोऽसौ धर्मो

वस्त्रणाय समुत्थित इति ?। अत्रोच्यते-यथाऽसौ द्वीपोऽसन्दीनः सलिलप्लुतो वणिग्व्यवहारानामितरेषां च बहूनां जन्तूनां शरण्यतयाऽऽश्वासहेतुर्भवति ॥ १९६ ॥

एवं से धम्मे आरियपदेसिए ॥ १९७ ॥

एवमसावपि धर्म आर्यप्रदेशितस्तीर्थङ्करप्रणीतः कषतापच्छेदनैर्विशुद्धोऽसन्दीनः, यदि वा कुतर्काप्रधृष्यतया संदीनोऽसंदीनः प्राणिनां त्राणायाऽऽश्वासभूमिर्भवति,तस्य चाऽऽर्यदेशितस्य धर्मस्य किं सम्यगनुष्ठायिनः केचन सन्ति ?। ओमित्युच्यते ।१९७।

यदि सन्ति, किंभूतास्त इत्यत आह-

ते अणवकंखमाणा पाणे अणतिवातेमाणा दतिआ मेहाविणो पंडिया ॥ १९८ ॥ एवं तेसिं भगवओ अणुट्ठाणे जहा से दियपोए । एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेणं वाइय त्ति बेमि ॥ १९९ ॥

(ते इत्यादि) ते साधवो भावसंधानोद्यताः संयमरतेः प्रमोदकाः मोक्षेन्द्रियाणामनवकाङ्क्षन्तो धर्मं सम्यगुत्थानवन्तः स्युरित्येतदुत्तरत्रापि योज्यम् । तथा प्राणिनोऽनतिपातयन्त उपलक्षणार्थत्वाच्छेषमहाव्रतग्रहणमायोज्यम् । तथा कुशलानुष्ठानप्रवृत्तत्वाद्दयिताः सर्वलोकानाम् । तथा मेधाविनो मर्यादाव्यवस्थिताः, पण्डिताः पापोपादानपरिहारतया सम्यक् पदार्थज्ञा धर्मचरणाय समुत्थिता भवन्तीति ॥ १९८ ॥ ये पुनस्तथाभूतज्ञानाभावात्सम्यग् विवेकविकलतया नाद्यापि पूर्वोक्तसमुत्थानवन्तः स्युस्ते तथाभूता आचार्याऽऽदिभिः सम्यगनुपाल्य यावद्विवेकिनोऽभूवन्नित्येतद्दर्शयितुमाह-(एवं इत्यादि) एवमुक्तविधिना तेषामपरिकर्मितमतीनां भगवतो वीरवर्द्धमानस्वामिनो धर्मे सम्यगनुत्थाने सति तत्परिपालनतस्तथा सदुपदेशदानेन परिकर्मितमतित्वं विधेयमिति । अत्रैव दृष्टान्तमाह-(जहा से इत्यादि) द्विजः पक्षी,तस्य पोतः शिशुर्द्विजपोतः,स यथा तेन द्विजेन गर्भप्रसवात्प्रभृत्यण्डकोच्छूनाच्छूनतरभेदाऽऽदिकास्ववस्थासु यावन्निष्पन्नपक्षस्तावत्पाल्यते, एवमाचार्येणापि शिष्यकः प्रव्रज्यादानादारभ्य सामाचार्युपदेशदानेनाध्यापनेन तावदनुपाल्यते यावद्गीतार्थोऽभूत् । यः पुनराचार्योपदेशमतिक्रम्य स्वैरित्वाद्यथाकथञ्चित्क्रियामनुप्रवर्त्तेत स उज्जयिनीराजपुत्रवद्विनश्येदिति । तद्यथा-उज्जयिन्यां जितशत्रो राज्ञो द्वौ पुत्रौ, तत्र ज्येष्ठो धर्मघोषाऽऽचार्यसमीपे संसारासारतामवगम्य प्रवव्राज, क्रमेण चाधीताऽऽचाराऽऽदिशास्त्रोऽवगततदर्थश्च जिनकल्पं प्रतिपत्सुर्द्वितीयां सत्त्वभावनां भावयति । सा च पञ्चधा-तत्र प्रथमोपाश्रये,द्वितीया तद्बहिः,तृतीया चतुष्के,चतुर्थी शून्यगृहे, पञ्चमी श्मशाने । तत्र पञ्चमीं भावनां भावयतः स कनिष्ठो भ्राता तदनुरागादाचार्यान्तिकमागत्योवाच-मम ज्यायान् भ्राता क्वाऽऽस्ते ?। साधुभिरभाणि-किं तेन ?। स आह-प्रव्रजाम्यहम् । आचार्येणोक्तो-गृहाण तावत् पुनर्द्रक्ष्यसि । स तु तथैव चक्रे । पुनरप्यपृच्छत् । आचार्या ऊचुः-किं तेन दृष्टेन ?, नासौ कस्य चिदुल्लापमपि ददाति जिनकल्पं प्रतिपत्तुकाम इति । असावाह-तथापि पश्यामि तावदिति निर्बन्धे दर्शितस्तूष्णीं व्यवस्थित एव वन्दितः, तदनुरागाच्च निविड्ङोऽप्याचार्येण निवार्यमाणोऽप्युपाध्यायेन ध्रियमाणोऽपि साधुभिरलाप्यमाने तद्भवतो दुष्करं दुरध्यवसेयमित्येवं कथ्यमानेऽप्यहमपि तेनैव पित्रा जात इत्यवष्टम्भेन मोहाच्चैव तस्थौ, यथा ज्येष्ठो

ऽचालीति । इतरो देवतयाऽऽगत्य वन्दितः । शिष्यकस्तु न वन्दितः। ततोऽसावपरिकर्मितमतित्वात् कुपितः । अविधिरिति कृत्वा देवताऽपि तस्योपरि कुपिता सती तलप्रहारेणाक्षिगोलकौ बहिर्निश्चिक्षेप । ततस्तदुपायात् ज्येष्ठेनैव देवतामाह-किमस्यवमप्यसम्बया कदर्थितः,तदस्याक्षिणी पुनर्नवीकुरु । सा त्ववादीत्-जीवप्रदेशैर्मुक्ताविमौ गोलकौ, न शक्यौ पुनर्नवीकर्तुम् । इत्युक्ता ऋषिवचनमलङ्घनीयमित्यवधार्य तत्क्षण एव पाकस्यापादितैडकाक्षिगोलकौ गृहीत्वा तदक्षिणी चकारेति । एवं सदुपदेशप्रवर्त्तनं सापायमित्यवधार्य शिष्येण सदाऽऽचार्योपदेशवर्त्तिना भाव्यम्, आचार्येणाऽपि सदा स्वपरोपकारवृत्तिना सम्यक् सशिष्या यथोक्तविधिना प्रतिपालनीया इति स्थितमिति ॥१९९॥

तदेवोपसंहरन्नाह-(एवं इत्यादि) यथा द्विजपोतो मातापितृभ्यामनुपाल्यते, एवमाचार्येणापि शिष्या अहर्निशमनुपूर्वेण क्रमेण वाचिताः पाठिताः, शिक्षां ग्राहिताः, समस्तकार्यसहिष्णवः संसारोत्तरणसमर्थाश्च भवन्तीति । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । आचा० ।

साम्प्रतं चतुर्थ आरभ्यते । अस्य चायमभिसंबन्धः-इहानन्तरोद्देशके शरीरोपकरणधूननाऽभिहिता, सा च परिपूर्णा,न गौरवत्रिकसमन्वितस्येत्यतस्तं धूननार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्योद्देशकस्यास्खलिताऽऽदिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्-

एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेणं वाइया तेहिं महावीरेहिं पण्णाणमंतेहिं, तेसंतिए पण्णाणमुवलब्भ हेच्चा उवसमं फारुसियं समादियंति ॥ २०० ॥ वसित्ता बंभचेरंसि आणं तं णो त्ति मण्णमाणा ॥ २०१ ॥

(एवं ते सिस्सा इत्यादि) एवमिति द्विजपोतसंवर्द्धनक्रमेणैव, ते शिष्याः स्वहस्तप्रव्राजिता उपसंपदागताः प्रातीच्छिकाश्च, दिवा च रात्रौ चानुपूर्वेण क्रमेण वाचिताः पाठिताः तत्र कालिकमङ्गः प्रथमचतुर्थपौरुष्योरध्याप्यते,उत्कालिकं तु कालवेलावर्जं सकलमप्यहोरात्रमिति । तथाऽध्ययनाऽऽचाराऽऽदिक्रमेण क्रियते । आचारश्च शिष्यपर्यायोऽध्याप्यत इत्यादि क्रमेणाध्यापिताः शिष्याश्चादिशं ग्राहिताः,तद्यथा-युगमात्रदृष्टिना गन्तव्यम् कूर्मवत्संकुचिताङ्गेन स्थातव्यमित्यादि । एवं शिक्षां ग्राहिता वाचिता अध्यापिताः । कैरिति दर्शयति-तैर्महावीरैस्तीर्थकरगणधराऽऽचार्याऽऽदिभिः । किंभूतैः?,प्रज्ञावद्भिर्ज्ञानिभिरेवोपदेशाऽऽदि दत्तं लगतीत्यतो विशेषणम्, ते तु शिष्या द्विप्रकारा अपि प्रेक्षापूर्वकारिणस्तेषामाचार्याऽऽदीनामन्तिके समीपे, प्रकर्षेण ज्ञायतेऽनेनेति प्रज्ञानं श्रुतज्ञानं, तदेवापरज्ञानावासितज्ञानादिस्यतस्तदुपलभ्य लब्धबहुश्रुतीभूताः प्रबलमोहोदयादपगतसदुपदेशोत्कटमदत्वात् । उपशमनम् । स च द्वेधा-द्रव्यभावभेदात् । तत्र द्रव्योपशमः-कतकफलाऽऽद्यापादितः कलुषजलादेः भावोपशमस्तु-ज्ञानाऽऽदित्रयात् । तत्र यो येन ज्ञानेनोपशाम्यति स ज्ञानोपशमः तद्यथा-आक्षेपण्याद्यन्यतरया धर्मकथया कश्चिदुपशाम्यतीत्यादि । दर्शनोपशमस्तु-यो हि शुद्धेन सम्यग्दर्शनेनापरमुपशमयति, यथा श्रेणिकेनाशद्धानो देवः प्रतिबोधित इति,दर्शनप्रभावकैर्वा संमत्यादिभिः कश्चिदुपशाम्यति । चारित्रोपशमस्तु-क्रोधाऽऽद्युपशमो विनयनम्रतेति । तत्र केचन क्षुद्रका ज्ञानोद्धतोऽप्युपर्येव प्रशमामृतमेवंभूतमुपशमं त्यक्त्वा ज्ञानलवावलिप्तगर्वाऽऽध्माताः पारुष्यं परुषतां समाददति गृह्णन्ति । तद्यथा-

परस्परजुगुप्सिकायां, मीमांसायां वा । एकोऽपरमाह-त्वं न जानीषे,न चैषां शब्दानामयमर्थो यो भवताऽभाणि। अपि च कश्चिदेव मादृशः शब्दार्थनिर्णयायालं न सर्व इत्युक्ते च पृष्टा गुरवः स्वयमपि परीक्षितं निश्चितं पुनरिदं न वा वादिनि च मद्गुरवे च मात्सर्यान्तरं गच्छेत् । द्वितीयस्त्वाह-नन्वस्मदाचार्या एवमाज्ञापयन्तीत्युक्ते पुनराह-सोऽपि वाक्कुण्ठो बुद्धिविकलः किं जानीते,त्वमपि च शुकवत्पाठितो निरूहापोह इत्यादीन्यन्यान्यपि, दुर्गृहीतकर्तिचित्करो महोपशमकारणं ज्ञानं विपरीततामापादयन् सौरूप्यमाविर्भावयन् भाषते । उक्तं च-

" अन्ये स्वेच्छारचिता-नर्थविशेषान् श्रमेण विज्ञाय ।
कृत्स्नं वाङ्मयमित इति, खादन्त्यङ्गानि दर्पेण ॥ १ ॥
कीडनकमीश्वराणां, कुक्कुटलावकसमानवाग्भ्यः ।
शास्त्राण्यपि हास्यकथां, लघुतां वा क्षुद्रको नयति ॥ २ ॥ "

इत्यादि । पाठान्तरं वा-" हेच्चा उवसमं अदेगे फारुसियं समादियंति ।" त्यक्त्वोपशमम्,अथानन्तरं बहुश्रुतीभूता एके,न सर्वे,परुषतामालम्बते,ततश्चाक्षिप्ता शिक्षिता वा तूष्णीं भावं भजन्ते,हुङ्कारशिरःकम्पनाऽऽदिना वा प्रतिवचनं ददति । किञ्च-(वसित्ता इत्यादि) एके पुनर्ब्रह्मचर्यं संयमः,तत्रोषित्वा,आचारो वा ब्रह्मचर्यं, तदर्थोऽपि ब्रह्मचर्यमेव, तत्रोषित्वा आचारार्थानुष्ठायिनोऽपि तदुद्भासितास्तामाज्ञां तीर्थकरोपदेशरूपां नो मन्यमानाः, नोशब्दो देशप्रतिषेधे, देशानस्तीर्थकरोपदेशं न बहु मन्यमानाः सातगौरवबाहुल्याच्छरीरबाकुशिकतामालम्बन्ते । यदि वा-अपवादमालम्ब्य प्रवर्तमाना उत्सर्गचोदनाचोदिताः सन्तो नैषा तीर्थकराऽऽज्ञेत्येवं मन्यन्ते । दर्शयन्ति चाऽपवादपदानि-" कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहियं । " इत्यादि । ततश्च यो येन ग्लायति तस्य तदपनयनार्थमाधाकर्माऽऽद्यपि कार्यं स्यादेतर्हि तेषां नाख्याताः कुशीलानां प्रत्यपायाः, यथा-आशातनाबहुलानां दीर्घः संसार इति ॥ १०१ ॥

तदुच्यते-

आघा(क्खा)यं तु सोच्चा णिसम्म समणुण्णा जीविस्सामो, एगे णिक्खम्म ते असंभवं ता वि डज्झमाणा कामेहिं गिद्धा अज्झोववण्णा समाहिमाघायमजुसंता सत्थारमेव फरुसं वदंति ॥ १०२ ॥

(आघायं ति) तुरवधारणे । आख्यातमेवैतत् कुशीलविपाकाऽऽदिकं श्रुत्वा निशम्यावबुध्य चाऽऽशास्तारमेव परुषं वदन्तीति सम्बन्धः । किमर्थं तर्हि शृण्वन्तीति चेत्तदाह-" समणुण्णा " इत्यादि । समनोज्ञाः लोकसम्मताः, जीविष्याम इति कृत्वा प्रज्ञमव्याकरणार्थं शब्दशास्त्राण्यधीयते । यदि वा-अनेनोपायेन लोकसम्मता जीविष्याम इति कृत्वैके निष्क्रम्याऽथ वा समनोज्ञा उद्युक्तविहारिणः सन्तो जीविष्यामः संयमजीवितेनेत्येवं निष्क्रम्य पुनर्मोहोदयाद्दसम्भवन्तस्ते गौरवत्रिकान्यतरदोषा ज्ञानाऽऽदिके मोक्षमार्गे न सम्यग् प्रवृत्तो नोपदेशे वर्तमाना विविधं दह्यमानकामैर्गृद्धा गौरवत्रिकेऽभ्युपपन्ना विषयेषु समाधिमिन्द्रियप्रणिधानमाख्यातं तीर्थकृतादिभिर्यमावेदितं तमजुषन्तः सेवमाना दुर्विदग्धा आचार्याऽऽदिना शास्त्राभिप्रायेण चोद्यमाना अपि तच्छास्तारमेव परुषं वदन्ति-नास्मिन् विषये भवान् किञ्चन जानाति, यथाऽहं सूत्रार्थं शब्दं गणितं निमित्तं वा जाने तथा कोऽन्यो जानीते,इत्येवमाचार्याऽऽदिकं शास्तारं हीलयन्ति परुषं वदन्ति । यदि वा-शास्ता तीर्थकृताऽऽदिस्तमपि परुषं वदन्ति । तथाहि-कश्चित् स्खलितचोदितो जगादुः-किमन्यदधिकं तीर्थकृद्वृथापरप्रयासफलकर्तनादपीति । इत्यादिभिरपाचीनैरालापैरलीकविद्यामदावलेपाच्छास्त्रकृतामपि दूषणानि वदेयुः ॥ १०२ ॥

न केवलं शास्तारं परुषं वदन्त्यपरानपि साधूनपवदेयुरित्येतदाह-

सीलमंता उवसंता (संखाए) रीयमाणा असीला अणुवयमाणस्स वितिया मंदस्स बालया ॥ १०३ ॥

(सीलमंता इत्यादि) शीलमष्टादशशीलाङ्गसहस्रसंख्यम् । यदि वा-महाव्रतसमाधानं, पञ्चेन्द्रियजयः, कषायनिग्रहस्त्रिगुप्तिगुप्तता चेत्येतच्छीलं विद्यते येषां ते शीलवन्तः । तथोपशान्ताः कषायोपशान्ताः कषायोपशमात् । अत्र शीलवद्ग्रहणेनैव गतार्थत्वादुपशान्ता इत्येतद्विशेषणं कषायनिग्रहप्राधान्यख्यापनार्थम् । सम्यक् ख्यायते प्रकाश्यतेऽनयेति संख्या प्रज्ञा, तया रीयमाणाः संयमानुष्ठाने पराक्रममाणाः सन्तः कस्यचिद्विभ्रान्तभागधेयतयाऽशीला एत इत्येवमनुवदतोऽनु पश्चाद्वदतः पृष्ठतोऽपृष्ठतोऽपवदतोऽन्येन वा मिथ्यादृष्ट्यादिना कुशीला इत्येवमुक्तेऽनुवदतः पार्श्वस्थाऽऽदेर्द्वितीयैषा मन्दस्यान्यस्य बालता मूर्खता, एकं तावत् स्वतश्चारित्रापगमः,पुनरपरानुद्युक्तविहारिणोऽपवदत इत्येषा द्वितीया बालता । यदि वा-शीलवन्त एते उपशान्ता वेत्येवमन्येनाभिहिते, केषां प्रचुरोपकरणानां शीलवत्तोपशान्तता वा इत्येवमनुवदतो हीनाऽऽचारस्य द्वितीया बालता भवतीति ॥ १०३ ॥

अपरे च वीर्यान्तरायोदयात् स्वतोऽवसीदन्तो पामरसाधुप्रशंसाऽन्विता यथाऽवस्थितमाचारगोचरमावेदयेयुरित्येतद्दर्शयितुमाह-

णियट्टमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खंति ॥ १०४ ॥ णाणभट्ठा दंसणलूसिणो णममाणा एगे जीवितं विप्परिणामंति ॥ १०५ ॥ पुट्ठा वेगे णियट्टंति जीवियस्सेव कारणा णिक्खंतं पि तेसिं दुण्णिक्खंतं भवति ॥ १०६ ॥

(णियट्टमाणा इत्यादि) एके कर्मोदयात्संयमान्निवर्तमाना लिङ्गाद्वा, वाशब्दादनिवर्तमाना वा यथावस्थितमाचारगोचरमाचक्षते-वयं तु कर्तुमसहिष्णव आचारस्त्वेवंभूतमित्येषां द्वितीया बालता न भवत्येव, न पुनर्यदन्येवम्भूत एवाऽऽचारो योऽस्माभिरनुष्ठीयते, साम्प्रतं दुःषमाऽनुभावेन बलाऽऽद्यपगमान्मध्यमूनैव वर्तिनी श्रेयसी,नोत्सर्गावसर इति । उक्तं हि-

"नात्यायतं न शिथिलं, यथा युञ्जीत सारथिः ।
यथा भद्रं वहन्त्यश्वाः, योगः सर्वत्र पूजितः ॥१॥"

अपि च-

" जो जत्थ होइ भग्गो, ओवासं सो परं अविंदंतो ।
गंतुं तत्थ चयंतो, इमं पहाणं ति घोसेइ " ॥ १ ॥ इत्यादि ।

॥१०४॥ किम्भूताः पुनरेतदेव समर्थयेयुरित्याह--(णाणभट्ठा) सदसद्विवेको ज्ञानं, तस्माद् भ्रष्टाः । तथा--(दंसणलूसिणो त्ति) सम्यग्दर्शनविध्वंसिनोऽसदनुष्ठानेन स्वतो विनष्टा अपरानपि शङ्कोत्पादनेन सन्मार्गाद् च्यावयन्ति । अपरे पुनर्बाह्यक्रियोपेता

आत्मानं नाशयन्तीत्याह-(णममाणा इत्यादि) नमन्तोऽप्याचार्याऽऽदेर्द्रव्यतः श्रुतज्ञानार्थं ज्ञानाऽऽदित्रावविनयाज्ञावात्कर्मोदयादेके, न सर्वे संयमजीवितं विपरिणामयन्त्यपनयन्ति, स्खलितादात्मानं ध्वंसयन्तीत्यर्थः ॥ १०५ ॥ किं चापरमित्याह-(पुट्ठा वेगे इत्यादि) एके अपरिकर्मितमतयो गौरवत्रिकप्रतिबद्धाः स्पृष्टाः परीषहैर्निवर्तन्ते संयमाभिष्वङ्गादिति, किमर्थम्?, जीवितस्यैवासंयमाऽऽश्रयस्य, कारणान्निमित्तात्, सुखेन वयं जीविष्याम इति सावद्यानुष्ठानतया संयमान्निवर्तन्ते । तथाभूतानां च यत्स्यात्तदाह-(णिक्खंतं पि इत्यादि) तेषां गृहपाशान्निष्क्रान्तमपि ज्ञानदर्शनचारित्रमूलोत्तरगुणान्यतरोपघातान्निष्क्रान्तं दुर्निष्क्रान्तं भवति ॥ १०६ ॥

तत्कर्मणां च यत्स्यात्तदाह-

बालवयणिज्जा हु ते णरा, पुणो पुणो जातिं पगप्पंति, अहे संभवंता विद्दायमाणा अहमंसि विउक्कसे, उदासीणे फरुसं वदंति पलियं पगंथे, अदुवा पगंथे अतहेहिं, तं मेहावी जाणिज्जा धम्मं ॥ १०७ ॥

(बाल इत्यादि) हुर्हेतौ । यस्मादसम्यगनुष्ठानाद् दुर्निष्क्रान्तास्तस्माद् बालानां प्राकृतपुरुषाणामपि वचनीया गर्ह्या बालवचनीयाः । (ते णरा इति) किञ्च-(पुणो पुणो इत्यादि) पौनःपुन्येनारहट्टघटीयन्त्रन्यायेन जातिरूपां तस्तां कल्पयन्ति । किम्भूतास्त इत्याह-(अहे इत्यादि) अधः संयमस्थानेषु सम्भवन्तो वर्तमाना विद्यया वाऽधो वर्तमानाः सन्तो विद्वांसो वयमित्येवं मन्यमाना लघुनयाऽऽत्मानं व्युत्कर्षयेयुरात्मनः श्लाघां कुर्वते, यत् किञ्चित् जानानोऽपि मानोत्तम्भितत्वाद्रससातागौरवबहुलोऽहमेवात्र बहुश्रुतो यदाचार्यो जानाति तन्मयाऽल्पेनैव कालेनाधीतमित्येवमात्मानं व्युत्कर्षयेदिति । नात्मश्लाघयतयैवाऽऽस्ते परानप्यपवदेयुरित्याह-(उदासीणे इत्यादि) उदासीना रागद्वेषरहिता मध्यस्था बहुश्रुतत्वे सत्युपशान्ताः, तान् स्खलितान् चोदनोद्यतान् परुषं वदन्ति । तद्यथा-स्वयमेव तावत्कृत्यमकृत्यं वा जानीहि, ततोऽन्येषामुपदेक्ष्यसीति । यथा च परुषं वदन्ति तथा सूत्रेणैव दर्शयितुमाह-(पलियं इत्यादि) (पलियं ति) अनुष्ठानं, तेन पूर्वाऽऽचरितेनानुष्ठानेन तृणाऽऽहाराऽऽदिना प्रकथयेदेवम्भूतस्त्वमिति । अन्यथा वा कुण्टमण्टाऽऽदिभिर्गुणैर्मुखविकाराऽऽदिभिर्वा प्रकथयेदिति । किम्भूतैरतथ्यैरविद्यमानैरित्युपसंहरन्नाह-(तं इत्यादि) तद्वाच्यमवाच्यं वा, तं वा धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यं, मेधावी मर्यादाव्यवस्थितो, जानीयात्सम्यक् परिच्छिन्द्यादिति ॥ १०७ ॥

सोऽसभ्यवाक्प्रवृत्तो बालो गुर्वादिना यथाऽनुशास्यते, तथा दर्शयितुमाह-

अहम्मट्ठी तुमं सि णाम बाले. आरंभट्ठी, अणुवयमाणे हणमाणे घायमाणे, हणओ यावि समणुजाणमाणे, घोरे धम्मे उदीरिए उवेहइ, णं अणाणाए एस विसण्णे वितद्दे वियाहिए त्ति बेमि ॥ १०८ ॥

(अहम्मट्ठी इत्यादि) अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थी, अधर्मेणार्थी, यतो नाम त्वमेवम्भूतोऽनुशास्यते, कुतोऽधर्मार्थी, यतो बालोऽज्ञः, कुतो बालो यत आरम्भार्थी सावद्याऽऽरम्भप्रवृत्तः, कुत आरम्भार्थी, यतः प्राण्युपमर्दवादाननुवदन्नेतद् ब्रूषे । तद्यथा-जहि प्राणिनोऽपरैरेवं घातयन् घ्नतश्चापि समनुजानासि गौरवत्रिकानुबद्धः पचनपाचनाऽऽदिक्रियाप्रवृत्तस्तांस्तदनुष्ठानकर्तॄंस्तत्समकं नानुवदसि-कोऽत्र दोषो?, न ह्यशरीरैर्धर्मः कर्तुं पार्यते, अतो धर्माऽऽधारं शरीरं यत्नतः पालनीयमिति । उक्तं च-"शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः । शरीरात्स्रवते धर्मो, यथा बीजात्सदङ्कुरः ॥ १ ॥" इति । किञ्चैवं ब्रवीषि त्वं, तद्यथा-घोरो भयानको धर्मः सर्वाऽऽश्रवनिरोधाद् दुरनुचर उत्प्राबल्येनेरितः कथितः प्रतिपादितस्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिरित्येवमधर्मार्थी भवान्तरमनुष्ठानत उपेक्षते उपेक्षां विधत्ते, णमिति वाक्यालङ्कारे । नानाज्ञया तीर्थकरगणधरानुपदेशेन, स्वेच्छया प्रवृत्त इति, क एवम्भूत इति दर्शयति-एष इत्यनन्तरोक्तोऽधर्मार्थी बाल आरम्भार्थी प्राणिनां हन्ता घातयिता घ्नतोऽनुमन्ता धर्मोपेक्षक इति विषण्णः कामभोगेषु विविधं तद्दर्शयतीति वितर्दो हिंसकः, 'तर्द' हिंसायामित्यस्मात्कर्तरि पचाऽऽद्यच् । संयमे वा प्रतिकूलो वितर्द इत्येवंरूपस्त्वमेव व्याख्यात इत्यतोऽहं ब्रवीमि, त्वं मेधावी धर्मं जानीया इति ॥ १०८ ॥

एतच्च वक्ष्यमाणमहं ब्रवीमीत्यत आह-

किमणेण भो जणेण करिस्सामि त्ति मण्णमाणा एवं एगे विदित्ता, मातरं पितरं हिच्चा णाइओ य परिग्गहं वीरायमाणे समुट्ठाय अविहिंसा सुव्वया दंता पास दीणे उप्पइए पडिवयमाणे ॥ १०९ ॥ वसट्टा कायरा य जणा लूसगा भवंति ॥ ११० ॥ अहमेगेसिं सिलोए पावए भवति, से समणविब्भंते समणविब्भंते ॥ १११ ॥

(किमणेणं इत्यादि) केचन विदितवेद्या धीरायमाणाः सम्यगुत्थानेनोत्थाय पुनः प्राण्युपमर्दका भवन्तीति कथमुत्थाय किमहमनेन, भो! इत्यामन्त्रणं, जनेन मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदिना स्वार्थपरेण परमार्थतोऽनर्थरूपेण करिष्यामीति, न ममायं कस्यचिदपि कार्यस्य रोगापनयनाऽऽदेः क्षममित्यनेन किमहं करिष्ये ?। यदि वा-प्रव्रजिषुः केनचिदभिहितः किमनया सिकताकवलसन्निभया प्रव्रज्यया करिष्यसि भवान्, अहत्वक्षाऽऽयातं तावद्भोजनाऽऽदिकं भुङ्क्ष्वेत्यभिहितो विरागतामापन्नो ब्रवीति-किमहमनेन भोजनाऽऽदिना करिष्ये, भुक्तं मयाऽनेकशः संसारे पर्यटता, तथापि तृप्तिर्नाभूत्किमित्यनेन जन्मना भविष्यतीत्येवं मन्यमाना एके विदितसंसारस्वभावा विदित्वाऽध्येवं ततो मातरं जननीं पितरं जनयितारं हित्वा त्यक्त्वा, ज्ञातयः पूर्वापरसंबन्धिनः स्वजना वा, परिगृह्यत इति परिग्रहो धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदाऽऽदिकं, किम्भूताः?, धीरमिवाऽऽत्मानमाचरन्तो धीरायमाणाः, सम्यक् संयमानुष्ठानेनोत्थाय समुत्थाय विविधैरुपायैः, न विद्यते विहिंसा येषां ते अविहिंसाः, तथा शोभनं व्रतं येषां ते सुव्रताः, दान्ता इन्द्रियदमनाद्दान्ता इत्येवं समुत्थाय । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-"समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू अहिंसगा सुव्वया दंता परदत्तभोइणो पावं कम्मं ण करेस्सामो समुट्ठाए ।" सुगमत्वान्न विव्रियत इति । एवं समुत्थाय पूर्वं पश्चात्पश्य निजालय दीनान् शृगालत्वविहारिणो व्रतं जिघृक्षून् पूर्वमुत्पतिता न संयमाऽऽरोहणात्पश्चात्पापोदयात् प्रतिपतन्त इति ॥ १०९ ॥ किमिति दीना भवन्तीति दर्शयति-यतो वशा इन्द्रिय-

विषयकषायार्णां तत आर्त्ता वशाऽऽर्त्ताः, तथाभूतानां च कर्मोपचयः । तदुक्तम्-"सोइंदियवसट्टे णं भंते ! कति कम्मपगडीओ बंधइ ?। गोयमा ! आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ० जाव अणुपरियट्टइ। कोहवसट्टे णं भंते ! जीवे किं ?। एवं ते चेव।" एवं मानाऽऽदिष्वपीति । तथा कातराः परीषहोपसर्गोपनिपाते सति विषयलोलुपा वा कातराः। के ते ?, अत्राः, किं कुर्वन्ति ?, ते प्रतिजन्माः सन्तो लूषका भवन्ति-को ह्यष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि धारयिष्यतीत्येवमभिसंधाय द्रव्यलिङ्गं, भावलिङ्गं वा परित्यज्य प्राणिनां विराधका भवन्ति ॥ ११० ॥ तेषां च पश्चात्कृतलिङ्गानां यत्स्यात्तदाह—(अहमेगेसि इत्यादि) अथाऽऽनन्तर्ये, एकेषां प्रतनप्रतिज्ञानां सुप्रव्रजितानां तत्समनन्तरमेवान्तर्मुहूर्तेन वा पश्चात्वाऽऽपातिः स्यात्, एकेषां तु श्लोकः श्लाघारूपः पापको भवेत् स्वपक्षात्परपक्षाद्वा महत्ययशःकीर्तिर्भवति । तद्यथा-स एव पिशुनककाष्ठमांसो भोगाभिलाषी व्रजति तिष्ठति वा, नास्य विश्वसनीयं, यतो नाह्यकर्तव्यमस्तीति । उक्तं च-" परलोकविरुद्धानि, कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत् । आत्मानं यो न सन्धत्ते, सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः ॥१॥" इत्यादि । यदि वा सूत्रेणैवाश्लाघतां दर्शयितुमाह- (से समण इत्यादि)सोऽयं श्रमणो भूत्वा ।यथिधं भ्रान्तो भग्नः श्रमणविभ्रान्तः श्रमणविभ्रान्तः। शीघ्रमयाऽस्यन्तजुगुप्सामाह ॥१११॥

किञ्च-

पासहेगे समण्णागएहिं असमण्णागए णममाणेहिं अणममाणे विरतेहिं अविरते दविएहिं अदविए अभिसमेच्चा पंडिए मेहावी णिट्ठियट्ठे धीरे आगमेणं सया परक्कमेज्जासि त्ति बेमि ॥ ११२ ॥

पश्यत यूयं कर्मसामर्थ्यमेके विभ्रान्तभागधेयाः समन्वागतैरनुद्यतविहारिभिः सह वसन्तोऽप्यसमन्वागताः शीतलविहारिणः, तथा नमद्भिः संयमानुष्ठानेन विनयवद्भिरनममाना निर्घृणतया सावद्यानुष्ठायिनो, विरतैरविरता द्रव्यभूतैरद्रव्यभूताः पापकलङ्कितत्वादेवंभूतैरपि साधुभिः सह वसन्तोऽप्येवम्भूतानभिसमेत्य ज्ञात्वा, किं कर्तव्यमिति दर्शयति-पण्डितस्त्वं ज्ञातज्ञेयो मेधावी मर्यादाव्यवस्थितो निष्ठितार्थो विषयसुखाभिलिप्सो धीरः कर्मविदारणसहिष्णुर्भूत्वाऽऽगमेन सर्वज्ञप्रणीतोपदेशानुसारेण, सदा सर्वकालं पराक्रमयत, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्, धूताध्ययनस्य चतुर्थोद्देशकः समाप्तः । उक्तश्चतुर्थोद्देशकः ।

साम्प्रतं पञ्चम आरभ्यते-अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके कर्मविधूननार्थं गौरवत्रयविधूननाऽभिहिता, सा च कर्मविधूननोपसर्गविधूननाव्यतिरेकेण न संपूर्णभावमनुभवति, नापि सत्कारपुरस्कारात्मिकां संमानधूननामन्तरेण गौरवविधूनना सम्पूर्णतामियादित्यत उपसर्गसंमानविधूननार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्योद्देशकस्यास्यादिसूत्राऽऽदिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्-

से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा गामेसु वा गामंतरेसु वा णगरेसु वा णगरंतरेसु वा जणवएसु वा जणवयंतरेसु वा संतेगतिया जणा लूसगा संति, अदुवा फासा फुसंति, ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासए ओए समियदंसणे ॥ ११३ ॥

"से गिहेसु वा इत्यादि, ०जाव धीरो अहियासए।" (से गि) ११२

स पण्डितो मेधावी निष्ठितार्थो धीरः सदा सर्वज्ञप्रणीतोपदेशानुविधायी गौरवत्रिकाप्रतिबद्धो निर्ममो निष्किञ्चनो निराश्रि एकाकिविहारितया ग्रामानुग्रामं रीयमाणः क्षुत्तृट्शीतोष्णदंशमशकाऽऽदिपरीषहाऽऽविर्भावेन दुःखस्पर्शानभिभूतार्थी सम्यगधिसहेत । क्व पुनर्व्यवस्थितस्य के परीषहोपसर्गा भवेयुरिति दर्शयति-आहाराऽऽद्यर्थं प्रविष्टस्य गृहेषु वा, रजनीवसत्यर्थमावसथसंमूर्छकं बहुजनम । तथा गृहान्तरेषु, प्रसन्ति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामाः, तेषु वा, तदन्तरालेषु वा । नैतेषु करोऽस्तीति नकराणि, तेषु वा, तदन्तरालेषु वा । जनानां लोकानां पदान्यवस्थानानि येषु ते जनपदाः, वाग्भ्यादयः साधुविहरणयोग्या अर्धषड्विंशतिः, तेषु वा, तदन्तरालेषु वा, ग्रामनगरान्तरे वा, ग्रामजनपदान्तरे वा, नगरजनपदान्तरे वा, उद्याने वा, तदन्तरे वा, विहारभूमिमागतस्य वा गच्छतो वा सदेवं तस्य भिक्षोर्ग्रामाऽऽदीनाश्रितवतः कायोत्सर्गाऽऽदि वा कुर्वत एके कालुष्योपहताऽऽत्मानो ये जना लूषका भवन्ति, 'लूष' हिंसायामित्यस्माद् ल्युडन्ते रूपम् । सन्ति विद्यन्ते, तत्र नारकाभावाद्युपसर्गकरणं प्रत्यवस्तु (?) तिर्यगमरयोरपि कादाचित्कत्वान्मनुष्याणामेवानुकूलप्रतिकूलवक्ष्यमाणजनग्रहणम् (?)। यदि वा-जायन्त इति जनाः तिर्यङ्नरामरा एव जनशब्दाभिहिताः, ते च जना अनुकूलप्रतिकूलान्यतरभयोपसर्गाऽऽपादनेनोपसर्गयेयुरिति। तत्र दिव्याश्चतुर्विधाः । तद्यथा-हास्यात्, प्रद्वेषाद्विमर्शात् पृथग्विमात्रतो वा । तत्र केलीकिलः कश्चिद् व्यन्तरो विविधानुपसर्गान् हास्यादेव कुर्यात्-यथा भिक्षार्थं प्रविष्टैः क्षुल्लकैर्भिक्षालाभार्थं पललविकटतर्पणाऽऽदिनोपयाचितकं व्यन्तरस्य प्रपेदे, भिक्षाऽवाप्तौ च तज्ञायमानस्य कुतश्चिदुपलभ्य विकटाऽऽदिकं तैर्दत्तके, तेनापि केलयैव ते क्षुल्लकाः क्षीबा इव व्यध्यायिषत प्रद्वेषेण-यथा भगवतो माघमासरजन्यां तापसीरूपधारिण्या व्यन्तर्योदकजटाभारवल्कलविप्रभृभिः सेचनमकारि विमर्शात्-किमयं दृढधर्मा न वेत्यनुकूलप्रतिकूलोपसर्गैः परीक्षयेत् । तथा संविग्नः साधुर्भावितया कयाचिद् व्यन्तर्या स्त्रीवेषधारिण्या स्वगृहदेवकुलिकावासितः साधुरनुकूलोपसर्गैरुपमर्दितो दृढधर्मेति च कृत्वा वन्दित इति । तथा पृथग्विधा मात्रा येषूपसर्गेषु ते पृथग्विमात्रा हास्याऽऽदिद्वयान्यतराऽऽरब्धा अन्यतरावसायिनो भवन्ति । तद्यथा-भगवति संगमकेनेव विमर्शाऽऽरब्धाः प्रद्वेषेण पर्यवसिता इति मानुषा अपि हास्यप्रद्वेषविमर्शकुशीलप्रतिषेवणाभेदाच्चतुर्धा । तत्र हास्याद्वसेना गणिका क्षुल्लकमुपसर्गयन्ती दण्डेन ताडिता राजानमुपस्थिता, क्षुल्लकेन तथाभूतेन श्रीगृहोदाहरणेन राजा प्रतिबोधित इति । प्रद्वेषाद्गजसुकुमारस्येव श्वशुरभूतेनेति विमर्शाच्चन्द्रगुप्तो राजा चाणक्यचोदितो धर्मपरीक्षार्थमन्तःपुरिकाभिर्धर्ममावेदयन्तं साधुमुपसर्गयति, साधुना च प्रत्यायता श्रीगृहोदाहरणं राज्ञे निवेदितमिति । तत्र कुत्सितं शीलं कुशीलं, तस्य प्रतिसेवनं कुशीलप्रतिसेवनं, तदर्थं कश्चिदुपसर्गं कुर्यादीर्ष्याजुगृहपर्युषितः साधुप्रनष्टभिः सीमन्तिनीभिः प्रोषितभर्तृकाभिः सकलां रजनीमेकैकया प्रतिमया उपसर्गितो, न चाऽसौ तासु चुक्षुभे, मन्दरवन्निष्प्रकम्पोऽभूदिति तैर्यञ्चा अपि भयप्रद्वेषाऽऽहारापत्यसंरक्षणभेदाच्चतुर्धैव । तत्र भयात् सर्पाऽऽदिभ्यः प्रद्वेषाद्यथा गगनतलप्रचण्डकौशिकात् आहारात् सिंहव्याघ्राऽऽदिभ्यः अपत्यसंरक्षणात्काक्याद्भिश्च इति । तदेवमुक्तविधिनोपसर्गाऽऽपादकत्वाज्जना लूषका भवन्ति । अथवा तेषु ग्रामाऽऽदिषु स्थानेषु तिष्ठ-

तो गच्छतो वा स्पर्शान् दुःखविशेषान् आत्मसंवेदनीयाः स्पृशन्त्यभिभवन्ति। ते चतुर्विधाः। तद्यथा-घट्टनता ऽक्षिकणुकाऽऽदिना,पतनता भ्रमिमूर्च्छाऽऽदिना,स्तम्भनता वाताऽऽदिना,श्लेषणता तालुतः पातादङ्गुल्यादेर्वा स्यात् (? । यदि वा-वातपित्तश्लेष्माऽऽदिक्षोभात् स्पर्शाः स्पृशन्ति । अथवा-निष्किञ्चनतया तृणस्पर्शदंशमशकशीतोष्णाऽऽदितापिताः स्पर्शा दुःखविशेषाः कदाचित् स्पृशन्त्यभिभवन्ति,तैश्च स्पृष्टपरीषहैस्तान् स्पर्शान् दुःखविशेषान् धीरोऽक्षोभ्योऽधिसहेत,नरकाऽऽदिदुःखभावनयाऽन्यथकर्मोदयाऽऽपादितं पुनरपि मयैवैतत्सोढव्यमित्याकलय्य सम्यक् तितिक्षेदिति । कीदृक्षोऽधिसहेत ?, इत्यत आह-यदि वा स एवम्भूतो न केवलमात्मत्राता, तदुपदेशदानतः परेषामपीति दर्शयितुमाह-(ओए इत्यादि) ओज एको रागाऽऽदिविरहात् समतामितं गतं दर्शनमस्येति समितदर्शनः, सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः । यदि वा शमितमुपशमं नीतं दर्शनं दृष्टिर्ज्ञानमस्येति समितदर्शनः उपशान्ताध्यवसाय इत्यर्थः। अथवा-समतामितं गतं दर्शनं दृष्टिरस्येति समितदर्शनः समदृष्टिरित्यर्थः । एवम्भूतः स्पर्शानधिसहेत यदि वा धर्ममाचक्षीतेत्युत्तरक्रियया सह सम्बन्धः ॥ ११३ ॥ आचा० ।

(किमभिसन्धाय धर्ममाचक्षीतेति 'धम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६१२ पृष्ठे दर्शितम्)

किंगुणश्चाऽसौ द्वीप इव शरण्यो भवतीत्याह-

एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिल्लेस्से परिव्वए ॥ ११९ ॥ संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं परिणिव्वुडे ॥ १२० ॥ तम्हा संगं ति पासहा गंथेहिं गंढिया णरा विसण्णा कामक्कंता, तम्हा लूहाओ णो परिवित्तसेज्जा ॥ १२१ ॥

(एवं इत्यादि)एवमिति वक्ष्यमाणप्रकारेण,स शरण्यो महामुनिर्धर्मोत्थानेन संयमानुष्ठानरूपेण,उत्थानबलेन स्थित उत्थितः,तथा स्थितो ज्ञानाऽऽदिके मोक्षमार्गे आत्मा यस्य स स्थिताऽऽत्मा, तथा स्निह्यतीति स्निहो,न स्निहोऽस्निहः रागद्वेषरहितत्वादप्रतिबद्धः, तथा च न चलतीत्यचलः परीषहोपसर्गवातेरितोऽपीति । तथा चलोऽनियतविहारित्वात्तथा संयमाद्बहिर्निर्गता लेश्याऽध्यवसायो यस्य स बहिर्लेश्यः, यो न तथा सोऽबहिर्लेश्यः, स एवम्भूतः परि समन्तात्संयमानुष्ठाने व्रजेत्परिव्रजेत्,न क्वचित्प्रतिबध्यमान इति यावत् ॥ ११९ ॥ स च किमिति संयमानुष्ठाने परिव्रजेदित्याह-(संखाय इत्यादि) सङ्ख्यायाऽवधार्य पेशलं शोभनं धर्ममविपरीतार्थं,दर्शनं दृष्टिः, सदनुष्ठानं वा यस्यास्त्यसौ दृष्टिमान्, स कषायोपशमात् कयाच्चा परि समन्तान्निर्वृतः शीतीभूतः ॥ १२० ॥ तत्स्वरूपानवगमाच्च पेशलं धर्मं मिथ्यादृष्टिर्न निर्वातीति दर्शयितुमाह-(तम्हा इत्यादि) इतिहेतोर्यस्माद्विपरीतदर्शनो मिथ्यादृष्टिः सङ्गत्वान्न निर्वाति तस्मात्सङ्गं मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदिजनितं,धनधान्याहिरण्याऽऽदिजनितं वा सङ्गं, विपाकं वा पश्यत यूयं विवेकेनावधारयत । सूत्रेणैव सङ्गमाह-(गंथेहिं इत्यादि) त एव सङ्गिनो नराः सबाह्याभ्यन्तरैर्ग्रन्थैर्ग्रथिता अवबद्धा विषण्णा ग्रन्थसङ्गे निमग्नाः कामैरिच्छामदनरूपैराक्रान्ता अवष्टब्धा न निर्वान्ति यतैवं ततः किं कर्तव्यमित्याह-(तम्हा इत्यादि) यस्मात्कामग्रन्थाऽऽसक्तचेतसः सङ्ग[illegible]ऽऽदिमूर्च्छिताः कामैः शारीरमानसाऽऽदिभिर्दुःखैरुपतापितास्तस्मात् रूक्षात्संयमात् निःसङ्गाऽऽत्मकान्नो परिवित्रसेत संयमानुष्ठानाद्बिभियात् । यतः प्रभूतनरदुःखानुषङ्गिणो हि सङ्गिन इति ॥ १२१ ॥

कस्य पुनः संयमाच परिवित्रसनं सम्भाव्यत इत्याह-

जस्सिमे आरंभा सव्वतो सव्वप्पयाए सुपरिण्णाया भवंति, जेसिमे लूसिणो णो परिवित्तसंति, से वंता कोहं च माणं च मायं च लोहं च, एस तुट्टे वियाहिए त्ति बेमि ॥ १२२ ॥ कायस्स वि याघाए स संगामसीसे वियाहिए, से हु पारंगमे मुणी अविहम्ममाणे फलगावतट्ठी कालोवणीए कंखेज्ज कालं०जाव सरीरभेदो त्ति बेमि ॥ १२३ ॥

(जस्सिमे इत्यादि) यस्य महामुनेरवगतसंसारमोक्षकारणस्येमे सद्या आरम्भा अनन्तरोक्तत्वात्प्रत्यक्षाऽऽसन्नाः सर्वज्ञाऽऽचरितत्वात्प्रत्यक्षाऽऽसन्नवाचिनेदमाऽभिहिताः सर्वतः सर्वाऽऽत्मकतया सुपरिज्ञाता भवन्ति । किम्भूता आरम्भाः ?, येष्विमे प्रत्यक्षसिताः विषण्णाः कामज्वराऽऽक्रान्ता जना लूषिणो लूषणशीला हिंसका अज्ञानमोहोदयाच परिवित्रसन्ति न बिभ्यति, यो हिंसकानामाऽऽरम्भान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरति तस्यैते सुपरिज्ञाता भवन्ति । यश्चाऽऽरम्भाणां परिज्ञाता स किमपरं कुर्यादित्याह-(से वंता इत्यादि) स महामुनिः पूर्वव्यावर्णितस्वरूपो वान्त्वा त्यक्त्वा क्रोधं च मानं च मायां च लोभं चेति व्यस्तनिर्देशसंसूचनार्थो व्यस्तनिर्देशः, सर्वानुपातित्वात् क्रोधस्य प्रथमोपादानम्,तत्सम्बन्धत्वान्मानस्य लोभार्थं मायोपादीयत इत्यतस्तत्कारणत्वान्मायाया लोभस्याऽऽदावुपन्यासः,ततः स च दोषाऽऽश्रयत्वात् सर्वगुरुत्वाच्च सर्वोपरि लोभस्य क्षपणाक्रमं वाऽऽश्रित्यायमुपन्यास इति । चकारो हीनतरेतरापेक्षया समुच्चयार्थः । स एवं क्रोधाऽऽदीन्वान्त्वा मोहनीयं त्रोटयति, स चैव अपगतमोहनीयः संसारसन्ततेः,'तुट्टे' अपकृतो व्याख्यातस्तीर्थकराऽऽदिभिः, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ । ब्रवीमीत्येतत्पूर्वोक्तम् । यदि चैतद्वक्ष्यमाणमित्याह-(कायस्स इत्यादि) कायं औदारिकाऽऽदिकं, घातिचतुष्टयं वा,तस्य व्याघातो विनाशः । अथ वा-चीयत इति कायस्तस्य विशेषेणाङ्गमऽऽयोदयाऽऽयुष्ककर्मावधिलक्षणया, घातो व्याघातः शरीरविनाश एव सङ्ग्रामशीर्षरूपतया व्याख्यातः । यथा हि-सङ्ग्रामशिरसि परानीकनिर्घाताऽऽकृष्टकृपाणनिर्यत्प्रभासं चलितोत्पतत्पूर्वनिवृत्तविशुअयवचमत्कृतिकारिणि कृतकरणोऽपि सुभटोऽभयविकारं विधत्ते, एवं मरणकालेऽपि समुपस्थिते परिकर्मितमतेरप्यनवबोधात् कदाचित्स्यादतो यो मरणकाले न मुह्यति, स पारगामी मुनिः संसारस्य कर्मणो वा तदुच्छेदस्य वा पर्यन्तयायीति । किञ्च-(अविहम्ममाणे इत्यादि) विविधं परीषहोपसर्गैर्हन्यमानो विहन्यमानो, न विहन्यमानोऽविहन्यमानः, स किंविधः सर्वदाऽसंगर्चे (?) पूर्वमन्यथा बालमरणं प्रतिपद्यत इति । यदि वा-हन्यमानोऽपि सबाह्याभ्यन्तरतया तपःपरीषहोपसर्गैः फलकवदवतिष्ठते न कातरीभवति । तथा कालेनोपनीतः कालोपनीतो मृत्युकालेनाऽऽत्मवशगं नीतः सन्, द्वादशसंवत्सरसंलेखनयाऽऽत्मानं संलिख्य गिरिगुहाऽऽदिकस्थण्डिलमवाप्य पादपोपगमनेङ्गितमरणभक्तप्रत्याख्यानान्यतरावस्थोपगतः कालं मृत्युकालमायुष्कक्षयं यावज्जीवस्य जीवेन सार्द्धं भेदो भवति, ता-

यदाकाङ्क्षेत्, अथमेव च मृत्युकालो यदुत शरीरभेदो, न पुनर्जीवस्याऽऽत्यन्तिको विनाशोऽस्तीति । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ । अवीमीत्यादिकं पूर्ववदिति पञ्चमोद्देशकः । तत्समाप्तौ च समाप्तं धुताऽऽख्यं षष्ठाध्ययनमिति । आचा०१ श्रु०६ अ०५ उ० ।

धुर–धुर–पुं० । अष्टाशीतिमहाग्रहेष्वन्यतमे स्वनामख्याते ग्रहे, "दो धुरा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० ।

धुरा–धुरा–स्त्री० । धुर्व-क्विप् । "रो रा" ॥ ८ । १ । १६ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण स्त्रियामन्त्यरेफस्य रा इत्यादेशः । प्रा० १ पाद । चिन्तायाम्, रथाग्रभागे, यानमुखे, भारे च । टाप् । धुराऽप्यत्र । वाच० ।

धुरी–धुरी–स्त्री० । अक्षे, अनु० ।

धुव–ध्रुव–पुं० । शङ्कौ, विष्णौ, हरे, उत्तानपादनृपपुत्रे, वसुभेदे, ज्योतिषोक्ते योगभेदे, मालाग्रे, स्थाणौ, वटवृक्षे आवर्तभेदे, भूगोलस्योत्तरदक्षिणकेन्द्रद्वयोपरि स्थिते स्थिरे ताराभेदे च । वाच० । भगवत ऋषभदेवस्य भरताऽऽदिशतपुत्रेष्वन्यतमे स्वनामख्याते पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । शाश्वतत्वात् मोक्षे, तदुपाये संयमे च । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । "धुवमग्गमेव पवयंति ।" ध्रुवो मोक्षः संयमो वा तन्मार्गमेव प्रवदन्ति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आचा० । मोक्षकारणीभूते ज्ञानाऽऽदिके, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । कर्मणि, तत्फलभूते संसारे, अनु० । स्थैर्ये, षो० १६ विव० । अत्यन्ते, विशे० । "धुवमोगिण्हइ ।" ध्रुवमत्यन्तं, सर्वदेत्यर्थः । स्था० ६ ठा० । अवश्यमित्यर्थे, आ० । तर्के, आकाशे, उत्तरात्रयरोहिणीनक्षत्रेषु च । न० । वाच० । अर्थतो ध्रुवत्वाच्छाश्वतत्वात् ध्रुवम् । आवश्यके, विशे० । त्रिकालभावित्वात् ध्रुवः । नित्यं, "धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे ।" (स्था०) इन्द्रशक्राऽऽदिवत्पर्यायशब्दा ध्रुवाऽऽदयो नानादेशजविनेयप्रतिपत्त्यर्थमुपन्यस्ताः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । विशे० । आचा० । नं० । आ० म० । ध्रुवोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरस्वभावः । सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । अप्रतिहार्ये, नि० चू० ५ उ० । "धुवा जे आंवणालयम्मिणो ।" आ० चू० १ अ० । त्रिकालावस्थायित्वात् ध्रुवं, मेर्वादिवद् ध्रुवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्र० । ध्रुवोऽवश्यंभावित्वात् । स्था० ५ ठा० ३ उ० । अवश्यं भाविनि, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । विशे० । आव० । निश्चिते, विशे० । आचा० । उत्त० । ध्रुवं नियतं नैत्यिकमिति त्रयोऽप्येकार्थाः । व्य० १ उ० । बृ० । अव्यभिचारिणि च । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आचा० । सतते, अपरिणामिनि नित्ये, स्थिरे च । त्रि० मूर्वायाम्, शालपर्ण्यां च । स्त्री० । शरारिपक्षिणि, पुं० । स्त्री० । संज्ञायां कन् । गीतिभेदे, न० । वाच० ।

धुवकम्मिय–ध्रुवकर्मिक–पुं० । लोहकाराऽऽदौ, व्य० १ उ० । कल्प० । ओघ० ।

धुवचारि (न्)–ध्रुवचारिन्–पुं० । ध्रुवो मोक्षस्तत्कारणं च ज्ञानाऽऽदि ध्रुवं, तदाचरितुं शीलं यस्य । मोक्षाचरणशीले, मोक्षकारणज्ञानाऽऽद्याचरणशीले च । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

धुवजोगि (न्)–ध्रुवयोगिन्–पुं० । नित्ययोगवति, दश०१० अ० ।

धुवणिग्गह–ध्रुवनिग्रह–पुं० । प्रवाहतोऽनादिकालीनत्वात् ध्रुवं कर्म, तन्निगृह्यतेऽनेनेति ध्रुवनिग्रहः । विशे० । अनादित्वात् कदाचिदप्यपर्यवसितत्वात् ध्रुवं कर्म, तत्फलभूतः संसारो वा, तस्य निग्रहहेतुत्वान्निग्रहो ध्रुवनिग्रहः । आवश्यके, अनु० ।

धुवपगडि–ध्रुवप्रकृति–स्त्री० । ध्रुवकर्मप्रकृतौ, आचा० । ध्रुवकर्मप्रकृतयश्चेमाः-पञ्चधा ज्ञानाऽऽवरणीयं, नवधा दर्शनाऽऽवरणीयं, मिथ्यात्वं, कषायषोडशकं, भयं, जुगुप्सा, तैजसकार्मणशरीरवर्णगन्धरसस्पर्शाः, गुरुलघूपघातनिर्माणानां पञ्चधाऽन्तरायः । एताः सप्तचत्वारिंशत् ध्रुवप्रकृतयः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । (अस्या भेदाः 'णाणावरणिज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७७५ पृष्ठे प्रतिपादिताः) (दर्शनाऽऽवरणीयभेदाः 'दंसणावरण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४३७ पृष्ठे गताः) (मिथ्यात्वभेदवर्णनं 'मिच्छत्त' शब्दे) (कषायषोडशकस्वरूपं 'कसाय' शब्दे तृतीयभागे ३६४ पृष्ठे गतम्) (भयस्वरूपं 'भय' शब्दे विस्तरतो वर्णयिष्यामि) (जुगुप्सालक्षणं 'दुगुंछा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५४३ पृष्ठे गतम्) (तैजसकार्मणशरीरवर्णनम् 'अगुरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १५७ पृष्ठे गतम्) (वर्णस्वरूपं 'वण्ण' शब्दे वर्णयिष्यामि) (गन्धविस्तरः 'गंध' शब्दे तृतीयभागे ७६४ पृष्ठे गतः) (रसविभागः 'रस' शब्दे स्पष्टीभविष्यति) (स्पर्शविवेचनं 'फास' शब्दे वक्ष्यते) (गुरुलघुस्वरूपं 'अगुरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १५७ पृष्ठे गतम्) (उपघातभेदाः 'उवघाय' शब्दे द्वितीयभागे ८८० पृष्ठे विस्तरतो गताः) (निर्माणनामस्वरूपम् 'णिम्माणणाम (न्) ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०८४ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (सर्वेऽप्यन्तरायप्रकृतिभेदाः 'अंतरा (य) इय' शब्दे प्रथमभागे ६८ पृष्ठे प्रदर्शिताः)

धुवबंध–ध्रुवबन्ध–पुं० । यः पुनरग्रेऽपि भव्यः कदाचिद् व्यवच्छेदं प्राप्स्यति, सोऽभव्यसंबन्धी बन्धो ध्रुवबन्धः । कर्मबन्धभेदे, क० प्र० २ प्रक० ।

धुवबंधिणी–ध्रुवबन्धिनी–स्त्री० । ध्रुवो बन्धो विद्यते यस्यां सा ध्रुवबन्धिनी । कर्मप्रकृतिभेदे, पं० सं० ३ द्वार । निजहेतुसद्भावे यासां प्रकृतीनां ध्रुवोऽवश्यंभावी बन्धो भवति, ता ध्रुवबन्धिन्यः कर्मप्रकृतयः । कर्म० ५ कर्म० । (ताश्च सप्तचत्वारिंशत्संख्याकाः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे ३६१ पृष्ठे)

धुवमग्ग–ध्रुवमार्ग–पुं० । ध्रुवो मोक्षः संयमो वा, तस्य मार्गः । मोक्षमार्गे, संयममार्गे च । "धुवमग्गमेव पवयंति ।" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

धुवराहु–ध्रुवराहु–पुं० । सदैव चन्द्रविमानस्याधस्तात् संचरति राहुभेदे, सू० प्र० २० पाहु० । चं० प्र० । (तद्वक्तव्यता 'राहु' शब्देऽवधार्या)

धुववग्गणा–ध्रुववर्गणा–स्त्री० । ध्रुवा नित्या लोकव्यापितया सर्वकालावस्थायिनी वर्गणा ध्रुववर्गणा । वर्गणाभेदे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । (तद्वक्तव्यता 'वग्गणा' शब्दे)

धुववण्ण–ध्रुववर्ण–पुं० । ध्रुवोऽव्यभिचारी, स चाऽसौ वर्णः संयमो मोक्षो वा ध्रुववर्णः । अव्यभिचारिणि संयमे, मोक्षे च । ध्रुवो वर्णो यशः कीर्तिर्वा ध्रुववर्णः । शाश्वते यशसि, शाश्वत्यां कीर्त्यां च । "धुववण्णं सपेहिया ।" आचा० १ श्रु० ७ अ० १ उ० ।

धुवसंतकम्म–ध्रुवसत्कर्म–न० । यत्सर्वसंसारिणामवाप्तोत्तरगुणानां सातत्येन भवति तद् ध्रुवसत्कर्म । कर्मभेदे, पं० सं०

३ द्वार । (ध्रुवसत्कर्मप्रकृतयः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे द्रष्टव्याः)

धुवसंतकम्मिया-ध्रुवसत्कर्मिका-स्त्री० । ध्रुवं सत्कर्म यस्याः सा ध्रुवसत्कर्मिका । कर्मप्रकृतिभेदे, क० प्र० २ प्रक० ।

धुवसत्तागा-ध्रुवसत्ताका-स्त्री० । ध्रुवा अव्यवच्छेदकालादवाप्तकालजातित्वेन सत्ता यस्याः सा ध्रुवसत्ताका । कर्मप्रकृतिभेदे, पं० सं० ३ द्वार । या सर्वसंसारिजीवानामप्राप्तसम्यक्त्वाऽऽद्युत्तरगुणानां सातत्येन भवन्ति ता ध्रुवसत्ताकाः । कर्म० ५ कर्म० । (ताश्च षड्विंशत्युत्तरशतसंख्याः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे द्रष्टव्याः) ध्रुवसत्ताकत्वं तासां सम्यक्त्वलाभादर्वाक् सर्वजीवेषु सदैव सद्भावात् । कर्म० ५ कर्म० ।

धुवसेण-ध्रुवसेन-पुं० । वीरनिर्वाणादशीत्यधिकनवशतवर्षेष्वतीतेषु जाते स्वनामख्याते नृपे, यस्य पुत्रमरणादार्त्तस्य शोकापहारार्थं कल्पसूत्रस्य वाचनाऽऽरब्धेति । कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

धुवोदया-ध्रुवोदया-स्त्री० । ध्रुव आ उदयकालव्यवच्छेदादर्वाक्कालावस्थायी उदयो विपाकानुभवनलक्षणो यस्याः सा ध्रुवोदया । "अवुच्छिन्नो उदओ, जाणं पयडीण ता धुवोदइया ।" यासामव्यवच्छिन्नोऽनुसन्ततः स्वोदयव्यवच्छेदकालं यावत् । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० । उदयास्ता ध्रुवोदयाः, ('कम्म' शब्दे विवृतमेतत्)

धूआ-दुहितृ-स्त्री० । अङ्गजायाम्, "धूआ दुहिआ ।" को० २५२ गाथा ।

धूअरायमग्ग-धूतराजमार्ग-पुं० । धूतोऽपनीतो राजमार्गो राजपन्था यस्मिन् । अपनीतराजपथे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

धूओवाय-धूतोपाय-पुं० । 'धुओवाय' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

धूण-देशी-गजे, दे० ना० ५ वर्ग ६० गाथा ।

धूम-धूम-पुं० । धू-मक् । आर्द्रकाष्ठजाते मेघकज्जलयोः कारणे वह्निध्वजे पदार्थे, वाच० । "अंतो धूमेण मारेइ ।" धूमेन वह्निलिङ्गेन । स० ३० सम० । व्याधिशमनाय धूमपानयोगार्थः । पं० व० ४ द्वार । औ० । धूमो मनःशिलाऽऽदिसम्बन्धी-भूतनाशनाऽऽदिकः । उत्त० १५ अ० । द्वेषे, "इंगालधूमपरिसुद्धं उवहिं धारए स भिक्खू जो इंगालो त्ति रागो धूमो त्ति दोसो भेहिं, परिसुद्धं न तेहिं ।" परिभुञ्जतीत्यर्थः । नि० चू० १६ उ० । द्वेषाग्निना दह्यमानस्य निन्दाऽऽत्मके कलुषभावे च । धूमो द्विधा । तद्यथा-द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यतो योऽर्द्धदग्धानां काष्ठाऽऽदीनां सम्बन्धी । भावतो-द्वेषाग्निना दह्यमानस्य सम्बन्धी कलुषभावो निन्दाऽऽत्मकः । पिं० । चारित्रेन्धनस्य द्वेषेण धूमवत इव करणं मतुप्प्रत्ययलोपाद् धूमः । ग० १ अधि० । चारित्रेन्धनस्य धूमवत इव करणमिति विग्रहे कारिते मतुब्लोपे च धूमः । चारित्रेन्धनस्य धूमायमानताकृते ग्रासैषणादोषभेदे, पञ्चा० १३ विव० ।

धूमंग-देशी-भ्रमरार्थे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धूमकेउ-धूमकेतु-पुं० । धूम इव केतुः । उत्पातरूपेऽशुभसूचके, वाच० । अष्टाशीतिमहाग्रहाणामन्यतमे महाग्रहे, चं० प्र० २० पाहु० सू० १ पाहु० पाहु० । प्रज्ञा० । प्रश्न० । स्था० । कल्प० । सू० प्र० । अग्नौ, "पवणंदे आसियं ओइं,धूमकेउं दुरासयं ।" धूमकेतोर्ज्वालितज्वालाकुलं प्रस्कन्देत । उत्त० २२ अ० । धूमकेतुं धूमचिह्नं धूमध्वजं गोलकाऽऽदिरूपम् । दश० २ अ० । "दो धूमकेऊ ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

धूमचारण-धूमचारण-पुं० । चारणभेदे, धूमवर्त्तितिर्यगधोमूर्द्धगां काऽवलम्ब्याऽस्खलितगमनाऽऽस्कन्दिनो धूमचारणाः । ग० २ अधि० । प्रव० ।

धूमजोणि-धूमयोनि-पुं० । धूमो योनिरस्य । मेघे, मुस्तके च । ६ त० । वह्नौ, आर्द्रकाष्ठे च । वाच० । "अब्भाइं धूमजोणी ।" को० २७ गाथा ।

धूमज्झय-धूमध्वज-पुं० । वह्नौ, धूमचिह्ने वह्नौ, दश० २ अ० । एकार्थिकानि- "धूमज्झओ हुयवहो, विहावसू पावओ सिही वण्ही । जलणो जलणो हुहणो, हुआसणो हव्ववाहो य ॥६॥" को० ६ गाथा ।

धूमण-धूमन-न० । अनागतव्याधिनिवृत्तये धूमपाने, दश० ३ अ० । नापि काशाऽऽदपनयनार्थं तं धूमं योगवर्ति निष्पादितमापिवेत् । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

धूमदोस-धूमदोष-पुं० । अन्तप्रान्ताऽऽद्याहारे द्वेषाच्चारित्रस्यापि धूननाद्धूमदोषः । आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० । निन्दन् पुनः पुनश्चारित्रेन्धनम्, दहन् धूमकरणाद् धूमदोषः । ग्रासैषणादोषभेदे, ध० ३ अधि० । द्वेषेण भुञ्जानस्य धूमदोषः । जीत० । उत्त० । "दोसेण सधूमगं मुणेयव्वं ।" पिं० । द्वेषेणाऽऽध्मानस्य यद् भोजनं तत्सधूमं, निन्दाऽऽत्मककलुषभावरूपधूमसंमिश्रत्वात् । पिं० ।

धूमद्दार-देशी-गवाक्षे, दे० ना० ५ वर्ग ६१ गाथा ।

धूमद्धअ-देशी-तडाके, महिषे च । दे० ना० ५ वर्ग ६३ गाथा। वह्नौ, को० ६ गाथा ।

धूमद्धयमहिसी-स्त्री० । देशी । कृत्तिकासु, दे० ना० ५ वर्ग ६२ गाथा ।

धूमपलीयाम-धूमपल्लीग्राम-पुं० । ग्रामभेदे, नि० चू० । "धूमपलियामं णाम अडा बहुं धणिया तत्थ करीसो धुम्मति,तीसे कडूकाए परिपेरंतेहिं अण्णाओ कडूकाओ धणिया तासु तेडुआदीणि फलाणि दुभिमा जा, सा करीसगकडुगा, तत्थ अग्गी दुज्जति सा तेसिं च तेंडुगकडूडाणं मिलिया, ताहे धूमो तेहिं पविसित्ता ताणि फलाणि पावति, तेणं ते पचंति, तत्थ जे अपक्कातं धूमपलियामा भण्णंति ॥" नि० चू० १५ उ० ।

धूमप्पभा-धूमप्रभा-स्त्री० । धूमस्य प्रभा यस्यां सा धूमप्रभा । धूमाऽऽभद्रव्योपलक्षितायां स्वनामख्यातायामरिष्टापरनामधेयायां पञ्चम्यां पृथिव्याम्, प्रव० १७ द्वार । स्था० । अनु० । भ० । प्रज्ञा० । सम० । (धूमप्रभायां कियत्काल नैरयिकाणां वास इति 'ठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०१ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

धूममहिसी-धूममहिषी-स्त्री० । धूमस्य महिषीव । कुज्झटिकायाम्, वाच० । "धूममहिसी य ।" को० ५५ गाथा ।

धूमरी-देशी-नीहारार्थे, दे० ना० ५ वर्ग ६१ गाथा ।

धूमवण्ण-धूमवर्ण-पुं० । पाण्डुरे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

धूमसिहा-धूमशिखा-स्त्री० । धूमाग्रभागे, " चत्तारि धूमसिहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-वामा णाममेगा वामावत्ता,वामा णाममेगा दाहिणावत्ता,दाहिणा णाममेगा वामावत्ता, दाहिणा णाममेगा दाहिणावत्ता" । स्था० ४ ठा० २ उ० । नीहारार्थे, दे० ना० ५ वर्ग ६१ गाथा ।

धूमा-धूमा-स्त्री० । धूमिकायाम्, स्था० १० ठा० ।

धूमिआ-देशी-नीहारार्थे, दे० ना० ५ वर्ग ६१ गाथा ।

धूमिय-धूमित-त्रि० । धूमयुते, " अप्पत्तियधूमधूमितं चरणं । " पिं० ।

धूमिया-धूमिका-स्त्री० । मिहिकाभेदे,धूमिका मिहिकाभेदः, अन्तो धूमिका धूमाऽऽकारा, धूम्रेत्यर्थः । स्था० १० ठा० । धूमिकामिहिकयोर्वर्णकृतो भेदः । धूमिका धूम्रवर्णा, धूसरेत्यर्थः । मिहिका त्वापाण्डुरेति । भ० ३ श० ७ उ० । दे० ना० । " धूमिया य मिहिया य । " को ३८ गाथा । धूमिका रूक्षा प्रविरला धूमाभा प्रतिपत्तव्या । अनु० । जी० । स्था० । तद्रासके कालान्तरेऽस्वाध्यायभेदे, स्था० १० ठा० ।

धूय-धूत-न० । 'धुय ' शब्दार्थे, स्था० ६ ठा० ।

धूयकिलेस-धूतक्लेश-त्रि० । ' धुयकिलेस ' शब्दार्थे, आतु० ।

धूयचारि(ण्)-धूतचारिन्-पुं० । 'धुयचारि (ण्)' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

धूयज्झयण-धूताध्ययन-न० । 'धुयज्झयण' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

धूयपाव-धूतपाप-त्रि० । 'धुयपाव ' शब्दार्थे, आतु० ।

धूयबहुल-धूतबहुल-त्रि० । ' धुयबहुल ' शब्दार्थे, सूत्र० २ श्रु० २ उ० ।

धूयमोह-धूतमोह-त्रि० । ' धुयमोह ' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । दशा० ।

धूयरय-धूतरजस्-त्रि० । ' धुयरय ' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

धूयरागमग्ग-धूतरागमार्ग-पुं० । 'धुयरागमग्ग' शब्दार्थे,सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

धूयवाय-धूतवाद-पुं० । ' धुयवाय ' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

धूया-दुहितृ-स्त्री० । दोग्धि च केवलं जननीं स्तन्यार्थमिति दुहिता । ततश्च " दुहितरि धो हिलोपश्च । " इति वचनादेवंरूपे हिलोपे च " ऊदुन्तु पुष्पोत्सवोत्सुकदुहितृषु । " इति वचनात् उत ऊत्वे च "धूया ।" (५७) उत्त० १ अ० । " दुहितृभगिन्योर्धूया-बहिण्यौ " ॥ ८ । २ । १२५ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण दुहितृशब्दस्य वा धूयाऽऽदेशः।'धूया । दुहिआ ।' प्रा० २ पाद । सुतायाम्, वाच० । अं० । उत्त० । " ताणं धूयाणं । " आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । नि० चू० । आ० म० ।

धूरिअ-न० । देशी-दीर्घे, दे० ना० ५ वर्ग ६२ गाथा ।

धूलडिआ-धूलिका-स्त्री० । " धूलि-क:" 'अ-डड-डुल्ला: स्वार्थिककलुक् च " ॥ ८ । ४ । ४२९ ॥ इति सूत्रेणापभ्रंशे स्वार्थे धूलिशब्दात् डडप्रत्ययः । ङिति परे इकारलोपे " धूलड " इति । " योगजाश्चैषाम् " ॥ ८ । ४ । ४३० ॥ इति सूत्रेणापभ्रंशे अ-डड-डुल्लानां योगे डडप्रत्ययान्तात् अप्रत्ययः । प्रा०४ पाद । आन्तान्ताड्डाः " ॥ ८ । ४ । ४३२ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानादप्रत्ययान्तप्रत्ययान्तात् डाप्रत्ययः । 'धूलडिआ ' इत्यवस्थायाम् " अस्येदे " ॥ ८ । ४ । ४३३ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानस्य नाम्नो योऽकारस्तस्याकारे प्रत्यये परे इकारः । प्रा० ४ पाद । धूल्याम्, वाच० ।

धूलि-धूलि-स्त्री० । धू-लि-कः,वा ङीप् । रजसि, परागे च । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

धूलिजंघ-धूलिजङ्घ-त्रि० । धूल्या धूसरे जङ्घे यस्य स धूलिजङ्घः । शाकपार्थिवाऽऽदिदर्शनान्मध्यमपदलोपी समासः । पादलग्नधूलिके, व्य० १० उ० । नि० चू० ।

धूलिणाय-धूलिज्ञात-न० । चिक्कणज्ञाते, तीर्थकराऽऽचार्यमणधरशिष्याणां समीपे स्वाध्यायमधिकृत्य " इति उदिय धूलिणायमाहंसु ।" यथा धूलिरेकत्र स्थापिता, तत उद्धृत्यान्यत्र यत्राऽऽस्तीर्यते तत्रावश्यं किञ्चित्परिशटति,ततोऽप्यन्यत्र प्रस्तीर्यमाणा भूयो भूयः परिशटति, यथा वा प्रासादे लिप्यमाने मनुष्यपरम्परया चिक्कणः प्रत्यर्प्यमाणो बहु परिशटितः स्तोकमात्रमपि च सर्वान्तिममनुष्यस्य हस्तं प्राप्नोति । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

धूलिधूसर-धूलिधूसर-त्रि० । लग्नधूलिके, " धूलिधूसरसर्वाङ्गौ । " आ० क० । आचा० ।

धूलिबहुल-धूलिबहुल-त्रि० । प्रचुरपांशुके, ज्ञा० ७ श्रु० ६ उ० ।

धूलिवरिस-धूलिवर्ष-पुं० । पांशुवृष्टौ, " धूलीवरिसं वरिसइ ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

धूली-धूली-स्त्री० । ' धूलि ' शब्दार्थे, जी० ३ प्रति०४ उ० ।

धूलीवट्ट-देशी-अश्वे, दे० ना० ५ वर्ग ६१ गाथा ।

धूव-धूप-पुं० । " पो वः " ॥ ८ । १ । २३१ ॥ स्वरात्परस्याऽसंयुक्तस्यानादेः पस्य प्रायो दन्तोष्ठस्थानीयो वकारः । 'धूवो ।' प्रा० १ पाद । धूपयति रोगान् दोषान् वा । धूप अच् । गुग्गुलप्रभृतिगन्धद्रव्योत्थे धूमे, तत्साधनद्रव्ये च । वाच० । " कप्पूरमलयचंदणकालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंतसुरभिमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामे ।" धूपश्च दशाङ्गाऽऽदिगन्धद्रव्यसंयोगजः । जं० १ वक्ष० । एतेषां सम्बन्धी यो धूपस्तस्य दह्यमानस्य सुरभिर्यो मघमघायमानोऽतिशयवान् गन्ध उद्धृत उद्धूतः,तेनाभिराममभिरमणीयं यत्तत्तथा । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० चू० । आ० म० । प्रज्ञा० । प्रश्न० । जं० । अनु० ।

धूवघडी-धूपघटी-स्त्री० । "पो वः " ॥८।१।२३१॥ इति पस्य वकारः।प्रा०१पाद । धूपभृतघटिकायाम्,"ताओ णं धूवघडीओ कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामाओ सुगंधवरगंधियाओ गंधवट्टिभूआओ उरालेणं मणुण्णेणं घाणमणणिव्वुइकरेणं गंधेणं ते पएसे सव्वओ समंता आपूरेमाणीओ सिरीए अईव उवसोभेमाणा चिट्ठंति ।" जं० १ वक्ष० । जी० ।

धूवण-धूपन-पुं० । धूप-ल्युः । यक्षधूपे, वाच० । धूपप्रदाने, न० । " अण्णयरेण धूवणजाएण धूवेज्ज वा । " आचा० २

श्रु० २ चू०१३ अ० । धूपनमित्यात्मवस्त्राऽऽदेः,तथाऽऽमाचरितम् । ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । नो शरीरस्य स्वीयवस्त्राणां वा धूपनं कुर्यात् । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

धूवणजाय–धूपनजात–न० । धूपनप्रकारे, आचा० २ श्रु० २ चू० १३ अ० ।

धूवणविहि–धूपनविधि–पुं० । धूपदानप्रकारे, "धूवणविहिपरिमाणं करेइ णण्णत्थ अगुरुतुरुक्कधूवमाइएहिं ।" उपा० १ अ० । (विशेषस्तु ' आणंद ' शब्दे द्वितीयभागे १०९ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

धूवधूम–धूपधूम–पुं० । अगुर्वादिगन्धद्रव्योत्थे धूमे, दर्श०१ तत्त्व ।

धूवपूया–धूपपूजा–स्त्री० । धूपप्रदानरूपे पूजाभेदे, दर्श०१ तत्त्व ।

धूविय–धूपित–त्रि० । धूप–क्त–वा आयाभावः । अध्वादिगमनेन श्रान्ते, सन्तापिते च । वाच० । अगुर्वादिसुगन्धिद्रव्यैः सुगन्धीकृते च । "दुग्गंधं सि काउं अगुरुमाईहिं सुगंधीकयं ।" ग० १ अधि० । दुर्गन्धाऽऽद्यपनयनार्थं धूपाऽऽदिना धूपित इति । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

धूसर–धूसर–पुं० । गर्दभे, उष्ट्रे, कपोते, तैलाऽऽकारे ईषत्पाण्डुवर्णे, कृष्णश्वेतवर्णे, शुक्लपीतवर्णे च । तद्वर्णवति, त्रि० । वाच० । " धूलिधूसरसर्वाङ्गः । " आ० क० । आचा० ।

धूसरिअ–धूसरित–त्रि० । " गुंडिअं उद्धूलिअं च धूसरिअं । " को० १९२ गाथा ।

धे–ध्यै–धा० । चिन्तने, भ्वा०–पर०–सक०–अनिट् । ध्यायति । अध्यासीत् । वाच० । भ० १ श० १ उ० ।

ध्रै–धा० । तृप्तौ, भ्वा०–पर०–अक०–अनिट् । ध्रायति । अध्रासीत् । वाच० ।

धेज्ज–धेय–त्रि० । धारणीये, पालनीये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

ध्येय–त्रि० । हृदि धारणीये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विपा० ।

धेणु–धेनु–स्त्री० । धयति सुतान् धे–नु–इच्च । नवप्रसूतायां गवि, वाच० । बृ० १ उ० ३ प्रक० । प्रा० । आचा० ।

धेवय–धैवत–पुं० । अतिसंधयते अनुसंधयति शेषस्वरानिति निरुक्तिवशाद् धैवतः । "अनुसंधयते यस्मा–देनान् पूर्वोत्थितान् स्वरान् । तस्मादस्य स्वरस्यापि, धैवतत्वं विधीयते ॥१॥" इत्युक्तार्थके रैवतापरनामधेये, स्था० ७ ठा० । अनु० । नाभेरधोभागं, वस्तिं प्राप्योर्ध्वगः पुनः । धावन्निव च यो याति, कण्ठदेशं स धैवतः ॥ १ ॥ " इत्युक्तलक्षणे कण्ठोक्ते स्वरभेदे, वाच० । " धेवयस्सरसंपन्ना, भवंति कलहप्पिया । " स्था० ७ ठा० ।

धोज्ज–धुर्य–त्रि० । धौरेये, " धोज्जेहिं जुंति जवणीया । " धुर्यैः धौरेयैः । व्य० १ उ० ।

धोय–धौत–त्रि० । धाव–क्त–ऊठ् । अतिनिर्मलीकृते, जी० ३ प्रति० ४ उ० । आ०म० । ज्ञा० । जलाऽऽदिना प्रक्षालिते, भ० ६ श० ३ उ० । प्रचुरजलक्षालनक्रियया धौतं मलिनं सत् प्रक्षालितम् । बृ०१ उ०२ प्रक० । औ० । "कहं देहो धोइउ सक्को ।" धोतुं क्षालयितुं शक्यम् । तं० । अतिनिशितीकृते,रा० । प्रज्ञा० । धौतं ' चोक्खं ' कृतमिति । बृ० ३ उ० । शोधिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । जी० । शुभ्रे च । रजते, न० । वाच० ।

धोयरत्त–धौतरक्त–त्रि० । पूर्वं धौते पश्चाद्रक्ते वस्त्राऽऽदौ, " णो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारएज्जा । " पूर्वं धौतानि पश्चाद्रक्तानि । आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

धोवण–धावन–न० । ' धावण ' शब्दार्थे, प्रश्न० १ द्वार ।

ध्रुव–ध्रुव–अव्ययार्थे वाचि, "ध्रुव (ध्रुवं) णो ध्रुवं(ध्रुवं)वो वा" ॥८।४।३९१॥ अपभ्रंशे ध्रुव (ध्रुवं) णो धातोः ध्रुं (ध्रुवं) व आदेशो वा भवति । "ध्रुवइ घिहासिउ किं पि" पक्षे–"इत्तउं ब्रोप्पिणु सउणि ठिउ,पुणु दूसासणु ब्रोप्पि । तो हउं जाणउं एहो हरि,जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि ॥१॥" दुर्योधनो किरियम–शकुनिर्नाम मातुल इयद् भूक्त्वा स्थितः पुनर्दुःशासनो भूत्वा स्थितः । अहं ततस्तर्हि जाने यदि एष हरिर्ममाग्रे भूत्वा तिष्ठति शेष इत्यर्थः । पक्षे–भूत्वा । प्र० । "एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः" ॥८।४।४४०॥ क्त्वास्थाने एप्पिणु । "स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे" ॥८।४।३२९॥ इति एकारेण सह ब्रूकारस्य उकारः । ब्रोप्पिणु । ब्रूप्पिणु । क्त्वा प्र० । "एप्प्येप्पिणु०" ॥८।४।४४०॥ इति क्त्वास्थाने । एप्पि । शेषं पूर्ववत् । ब्रोप्पि । प्रा० ढुं० ४ पाद । यथाऽत्र भरते मेरुदिशि ध्रुवो वर्तते, तथा महाविदेहेष्वैरवते वर्तते न वा ?। तथा–जम्बूद्वीपे कति ध्रुवाः सन्ती ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्–भरतवदैरवतादि ध्रुवाः संभाव्यन्ते, परमेतत्प्रतिपादकान्यक्षराणि तु न दृष्टानि स्मरन्तीति । २२१ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

ध्रुवु–ध्रुवम्–न० । " एत्रं–परं–समं–ध्रुवं–मा–मनाक् एम्व–पर–समाणु–ध्रुवु–मं–मणाउं " ॥ ८ । ४ । ४१८ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण ध्रुवमो ध्रुवुः । नित्यमित्यर्थे, प्रा० ४ पाद । " चंचलु जीविउ ध्रुवु मरणु, पिअ रूसिज्जइ काइँ । होसइँ दिअहा रूसणा दिव्वइँ वरिससयाइं ॥ १ ॥ " जीवितं चञ्चलं, मरणं ध्रुवं, हे प्रिये ! रूष्यते कथं ?, रोषणस्य दिवसा अपि दिव्यानि वर्षशतानि भविष्यन्तीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य–श्री १००८ श्रीविजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे' धकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

नकार

न–न–पुं० । न इति तवर्गस्य पञ्चमो वर्णः स्पर्शसंज्ञो नासिकाद-न्तस्थानीयः। "नो नरे च सनाथेऽपि,नोऽनाथेऽपि प्रदृश्यते ।(७६) एका० । "नशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु, पठ्यते भिन्नसूक्ष्मयोः ॥५३॥" एका० । "नः पुंसि बर्हौ हेरम्बे (५२)" "नकारस्तु स्त्रियां नासौ (५३) ।" नशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु, पठ्यते भिन्नसूक्ष्मयोः ॥५३॥" एका० ४० ।

न–अव्य० । निषेधे, "वाऽऽदौ" ॥८।१।२२९॥ असंयुक्तस्याऽऽदौ वर्तमानस्य नस्य णो वा भवति । णत्वपक्षे-ण । प्रा० १ पाद । "नात्पुनर्यादाइ वा" ॥ ८ । १ । ६५ ॥ नञः परे पुनः शब्दे आदेरस्य आ आइ इत्यादेशौ वा भवतः । 'न उणा, न उणाइ ।' पक्षे 'न उण, न उणो' प्रा० १ पाद ।

नअ–नग–पुं० । "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इति गलुक् । पर्वते, प्रा० १ पाद ।

नअण–नयन–न० । "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥ ८ । १ १७७ ॥ इति यलुक् । प्रा०१ पाद । चक्षुषि, प्रा० १ पाद ।

नअर–नगर–न० । 'क-ग-च०' ॥८ । १ । १७७॥ इत्यादिना गलुक् । "अवर्णो यश्रुतिः" ॥ ८ । १ । १८० ॥ इति अकारो यश्रुतिकः । क्वचित्-नयरं । पुरे, प्रा० १ पाद ।

नई–नदी–स्त्री० । सरिति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । "वाऽऽदौ" ॥ ८ । १ । २२९ ॥ असंयुक्तस्याऽऽदौ वर्तमानस्य नस्य णो वा भवति । 'नई ।' पक्षे-णई । प्रा० १ पाद । भ० । प्रश्न० । "सरिया तरंगिणी निवगा-या नई आवया सिंधू ।" को० २८ गाथा । (अत्र विशेषवक्तव्यता 'णई' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७३८ पृष्ठे गता)

नउ–नउ–अव्य० । "इवार्थे नं-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणवः" ॥८।४।४४४॥ इति इवार्थे नउ इत्यादेशः। "रविअत्थमणि समाउलेण कण्ठि विइण्णु न छिण्णु । चक्किं खण्डु मुणालिअहे, नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥१॥" सूर्यास्तमने समाकुलेन चक्रवाकेन कण्ठे वितीर्णं दत्तं स्थापितं सत् मृणालिकायाः कमलिन्याः खण्डं न छिन्नं न भक्षितं, 'नउ' उत्प्रेक्ष्यते, जीवस्य निर्गच्छतोऽर्गला दत्ता ॥ प्रा० ४ पाद ।

नं–नं–अव्य० । "इवार्थे नं-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणवः" ॥८।४।४४४॥ इति इवार्थे नं इत्यादेशः। "मुख-कबरी बन्ध तहे,सोह धरहिं,नं मल्लु-जुज्झु ससि-राहु करहिं । तहें सोहहिं कुरल भमरउलतुलिअ, नं तिमिरडिम्भ खेल्लंति मिलिअ ।" तस्या मुखकबरीबन्धौ वदनवेणीबन्धौ शोभां धरतः 'नं' उत्प्रेक्ष्यते-शशिराहू मल्लयुद्धं कुरुतः। तस्याः कुरलाः केशाः शोभन्ते । किंभूताः? भ्रमरकुलतुलिता मधुकरयूथसमानाः, 'नं' उत्प्रेक्ष्यते-तिमिरडिम्भा अन्धकारबालका मिलित्वा क्रीडन्तीत्यर्थः। प्रा०४ पाद । "नं नञर्थे तथाऽनन्ते,सानन्दे नं च नन्दने ॥ ७६ ॥" एका० । "नमाख्यहानयोर्भवत् ।" (५६) एका० ।

नंदण–नन्दन–न० । देववने, "नंदणं अमरुज्जाणं ।" को० ६७ गाथा । (अस्य बहवोऽर्थाः 'णंदण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७४७ पृष्ठे दर्शिताः)

नंदणा–नन्दना–स्त्री० । तनयायाम्, "अंगया नंदणा सुआ, तणया ।" को० १०२ गाथा ।

नंदी–नन्दी–स्त्री० । हर्षे, द्वादशपञ्चके, द्वाले, आ० म० १ अ० १ खण्ड । "नंदी मंगलहेउं ।" बृ० १ उ० । गावि, "नंदी लंबा बहुला, गिट्ठी गोला य रोहिणी सुरहीं ।" को० ४५ गाथा । (नन्द्याः परिपूर्णतया व्याख्या 'णंदि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७५१ पृष्ठे प्रतिपादिता)

नकर–नगर–न० । नगा वृक्षाः पर्वता वा सन्त्यस्मिन्निति नगरम् । पुरभेदे, "चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ" ॥८ । ४ । ३२५॥ इति गस्य कः । 'नगरं । नकरं ।' प्रा० ४ पाद ।

नकसिरा–नासिकाशिरा–स्त्री० । घ्राणशिरायाम्, "खुंखुणओ नकसिरा ।" को० ११४ गाथा ।

नक्ख–नख–पुं० । कररुहे, "सेवाऽऽदौ वा" ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । जी० । औ० । दे० ना० । "नक्खा नहा कररुहा ।" को० १०६ गाथा ।

नक्खत्त–नक्षत्र–न० । ज्योतिष्कभेदे, श्र० प० । स्था० । अं० । "रिक्खं उडु नक्खत्तं ।" को० ६६ गाथा । सू० प्र० । चं० प्र० । (विस्तरतो व्याख्या 'णक्खत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७६० पृष्ठे गता)

नगोह–न्यग्रोध–पुं० । वटे, प्रज्ञा० १ पद । नि० चू० । "नग्गोहं वडरुक्ख ।" को० २५७ गाथा ।

नट्ट–नाट्य–न० । नृत्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सू० । अं० । रा० । "नट्टं लासं तंडवं ।" को० १६६ गाथा । (अस्य ग्रामिशब्दाः 'णट्ट' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७९८ पृष्ठे दर्शिताः)

नड–नट–पुं० । नाटकानां नाटयितरि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । "नडो कुसीलओ ।" को० २७२ गाथा । (अस्य भेदौ 'णड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८०४ पृष्ठे दर्शितौ)

नडिअ–नटित–न० । विडम्बिते, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । "जूरिअं उलटिअं नडिअं ।" को० १९६ गाथा ।

नत्तंचर–नक्तञ्चर–पुं० । नक्ते नक्तं वा चरतीति नक्तञ्चरः । राक्षसे, चौरे, बिडाले च । "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इति कलुक् । "नत्तंचरो" प्रा०१पाद ।

नद्धून–नंष्ट्वा–अव्य० । नश्-क्त्वा । "ट्ठून-त्थूनौ ष्ट्वः" ॥ ८ । ४ । ३१३ ॥ इति ष्ट्वा इत्यस्य स्थाने ट्ठूनादेशः । अदर्शीभूयेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

नम्म–नर्मन्–न० । हास्ये, "केली नम्मं च परिहासो ।" को० १६६ गाथा । "स्नमदामशिरोऽनभः" ॥ ८ । १ । ३२ ॥ इति प्राकृते वा पुंस्त्वम् । "नम्मो ।" परिहासे, केलौ च । प्रा० ४ पाद ।

नम्मया-नर्मदा-स्त्री० । विन्ध्याद्रिनिर्गतायां प्रसिद्धनद्याम्, " मेकलकन्ना य नम्मया रेवा । " को० १३० गाथा । आव० ।

नम्रता-स्त्री० । औचित्ये, नमनशीलतायाम्, द्वा० १२ द्वा० ।

नयण-नयन-न० । प्रापणे, भा० म० १ अ० १ खण्ड । निवेशने, पं० सं० ५ द्वार । नेत्रे, " अच्छि नयणं च लोअणं नित्तं । " को० १११ गाथा ।

नयणजल-नयनजल-न० । नेत्रजले, "बप्फं वाहो य नयणजलं । " को० ११२ गाथा ।

नयणा-स्त्री०-नयन-न० । "वाऽक्ष्यर्थवचनाऽऽद्याः " ॥ ८ । १ । ३३ ॥ इति नयनशब्दस्य प्राकृते स्त्रीत्वमपि ।'नयणा-नयणाइं।' प्रा० १ पाद ।

नर-नर-पुं० । पुरुषे, प्रा० १ पाद । आचा० । आ० म० । " मणुआ नरा मणुस्सा, मच्चा तह माणवा पुरिसा । " को० ६० गाथा । (नराणां भेदाः ' णर ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६०३ पृष्ठे उक्ताः)

नरणाह-नरनाथ-पुं० । राजनि, " नरनाहो पत्थिवो निवो राया । " को० १०० गाथा ।

नल-नर-" रसोर्लशौ " ॥ ८ । ४ । २८८ ॥ इति मागध्यां रस्य लः । नले, प्रा० ४ पाद ।

नलय-नलक-न० । कमलतन्तौ, " नलयं लामंज्जयं उसीरं च । " को० १४१ गाथा ।

नलिण-नलिन-न० । कमले, " अंबुरुहं सयवत्तं, सरोरुहं पुंडरीअमरविंदं । राईवं तामरसं, महुप्पलं पंकयं नलिणं ॥१०॥" को० १० गाथा । (अस्य बहवोऽर्थाः ' णलिण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७२८ पृष्ठे दर्शिताः)

नलिणी-नलिनी-स्त्री० । कमलिन्याम, " भिसिणी नलिणी कमलिणी य । " को० १४७ गाथा । पद्मिन्याम, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

नवरंग-नवरङ्ग-त्रि० । " रमणीयं च नवरंगं । " को० २६१ गाथा ।

नवरि-अव्य० । शीघ्रे, " सवराइं नवरि य झ-त्ति झत्ति सहसत्ति इक्कसरियं च । अविहाविअं-मिक्कपए,अतक्किअं तक्खणं सहसा ॥ १७ ॥ " को० १७ गाथा ।

नवसिअ-नमस्यित-त्रि० । नमस्कारकर्तरि, " ओवाइअं नवसिअं । " को० १५६ गाथा ।

नह-नख-पुं० । पाणिपादजे, प्रव० ५० द्वार । " नक्खा नहा कररुहा । " को० १०६ गाथा ।

नभस्-न० । आकाशे, एकार्थिकानि-" खं अब्भं अंतरिक्खं, वोमं नह-मंबरं गयणं । " को० ६७ गाथा ।

नाअ-नाक-पुं० । स्वर्गे, " तिविट्ठपं तह सुरालओ नाओ । " को० ६५ गाथा ।

ज्ञात-त्रि० । अवबुद्धे, प्रा० ४ पाद ।

नाइ-नाइ-अव्य० । " इवार्थे नं-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणवः " ॥ ८ । ४ । ४४४ ॥ इति इवार्थे 'नाइ' आदेशः । "वलयावलिनिवडणभय-ण धण उद्धब्भुअ जाइ । वल्लहविरहमहादहह, थाह गवसेइ नाइ ॥१॥" नायिका वलयावलिनिपतनभयेन ऊर्ध्वभुजा याति । "नाइ" उत्प्रेक्ष्यते-वल्लभविरहमहाह्रदस्य स्ताघं गवेषयतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

नाम-नामन्-न० । अन्यबोधाय कृते पदार्थानां संज्ञायाम्, " सन्ना गुत्तं च नाम अभिहाणं । " को०१६१ गाथा । (नाम्नो भेदा ' णाम ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०७७ पृष्ठे दर्शिता)

नारी-नारी-स्त्री० नरस्त्रियाम्, सू० ४ अ० । " पुरिसाणं नो अन्नो परिसो अरी अत्थि त्ति नारी उ । " तं० । (व्याख्या ' णारी ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१३ पृष्ठे गता)

एकार्थिकानि-

" रामा रमणी सीमं-तिणी बहू वामलोअणा विलया ।
महिला जुवई अबला, नियंबिणी अंगणा नारी ॥ १२ ॥ "

तद्भेदेऽप्येकार्थिकानि-

" सच्छंदा उद्दामा, निरग्गला मुक्कला विसंखलया ।
निरवग्गहा य सइरा, निरंकुसा हुंति अप्पवसा ॥ १३ ॥ "

को० १२-१३-गाथा ।

नारुट्ट-नारुट्ट-पुं० । कूलारे, को० १३२ गाथा । दे० ना० ।

नालिअ-मूढ-त्रि० । " शीघ्राऽऽदीनां बहिल्लाऽऽदयः " ॥ ८ । ४ । ४२२ ॥ इत्यन्तर्गतसूत्रेण मूढस्य नालिआऽऽदेशः । मूर्खे,बाले, जडे, प्रा० । "जो पुणु मणहिं जि खसफसिहूअउ, चिंतइ देइ न द्रम्मु न रूअउ । रइ-वस-भमिरु करग्गुल्लालिउ,घरहिं जि कोंतु गुणइ सो नालिउ ॥ १ ॥ " यः पुनर्मनस्येव (खसफसिहूअउ) व्याकुलीभूतः सन् चिन्तयति-द्रम्मं न ददाति न रूपकम्, स मूढो रतिवशेन भ्रमणशीलः सन् कराग्रोल्लालितं कुन्तं गृहे एव गुणयति, चालयतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

नालिआ-नालिका-स्त्री० । समयनियामके यन्त्रविशेषे, " नालिया घडिआ । " को० २७२ गाथा । ज्यो० । अनु० । (नालिका किंप्रमाणेत्यादि सर्वा वक्तव्यता ' णालिया ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१४ पृष्ठे गता)

नालिका-स्त्री० । नाम्नाऽऽख्यातघटिकायाम, अनु० ।

नावइ-नावइ-अव्य० । इवार्थे, " इवार्थे नं-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणवः" ॥८।४।४४४॥ इति इवार्थे नावइ आदेशः । "पेक्खेविणु मुहु जिणवरहो, दीहरनयण सलोणु । नावइ गुरुमच्छरभरिउ,जलणि पवीसइ लोणु ॥१॥" 'नावइ' उत्प्रेक्ष्यते, गुरुमत्सरभृतं लवणं ज्वलने प्रविशति, किं कृत्वा ?, जिनवरस्य दीर्घनयनं सलवणं सलावण्यं मुखं प्रेक्ष्येत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

नास-नाश-पुं० । अभावे, द्रव्या० ६ अध्या० । (अस्य भेदप्रतिपादनं ' णास ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१५ पृष्ठे गतम्) " पलयो निहणं नासो । " को० १६७ गाथा ।

नासि-नश-धा० । निश्-विघाते, "स्वराणां स्वराः" ॥ ८ । ४ । २३८ ॥ इति ह्रस्वाकारस्थाने दीर्घाऽऽकारः । प्रा० ४ पाद ।

नासइ-नश्यति-धा० । " नशेर्णिरिणास-णास-हारव-विप्पगाल-पलावाः " ॥ ८ । ४ । ३१ ॥ इति नशेर्ण्यन्तस्य नासाऽऽदेशः । 'नासइ।' नाशयति । प्रा० ४ पाद ।

नासा-नासा-स्त्री० । घ्राणग्रहणेन्द्रिये, " नासा घाणं घोणा । " को० १११ गाथा ।

निअंब-नितम्ब-पुं० । कटिपश्चाद् भागे, कटके च । वाच० । " रमणंसियं निअंबो । " को० ११५ गाथा ।

निअंबिणी-नितम्बिनी-स्त्री० । स्त्रियाम्, को० १२ गाथा । (अस्यैकार्थिकानि ' नारी ' शब्दे गतानि)

निअंसण-निवसन-न० । परिधाने, औ० । जीवा० । उत्त० । कटीवस्त्रे, " आय खिवयं कडिल्लं, निअंसणं साडुलो य परिहणयं । " को० ९६ गाथा ।

निअकल-निजकल-त्रि० । गोलाऽऽकारे, "पेढाल-निअकल-वट्टुलाइं परिमंडलत्थम्मि । " को० ८४ गाथा । दे० ना० ।

निअगुणसलाहा-निजगुणश्लाघा-स्त्री० । स्वगुणप्रशंसायाम्, " विगत्थणं निअगुणसलाहा ।" को० २४७ गाथा ।

निअत्त-निवृत्त-त्रि० । " निवृत्तवृन्दारके वा " ॥ ८।१।१३२॥ इति ऋत उत्वा । 'निवुत्तं । निअत्तं ।' विरते, प्रा० १ पाद ।

निअय-नियत-त्रि० । नियमिते, "निच्चं निअयं सासयं ।" को० १६० गाथा । सूत्र० । वृ० । (' निच्च ' शब्देऽस्य बहून्येकार्थिकानि (१५३) गाथार्द्धेन प्रतिपादितानि)

निअक-त्रि० । स्वकीये, " अप्पुल्लयं निअयं । " को० २३१ गाथा । आव० ।

निअर-निकर-पुं० । समुदाये, को० १८-१९-गाथा । (अस्यैकार्थिकानि ' निउरंब ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

निअलिअ-निगडित-त्रि० । बद्धे, " बद्धं संदाणिअं निअलिअं च ।" को० १९७ गाथा ।

निआण-निदान-न० । आदिकारणे, को० १७६ गाथा । (अत्र विशेषः ' णियाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०६४ पृष्ठे गतः)

निउंचिअ-निकुञ्चित-त्रि० । संकुचिते, " संकोडिअं निउंचिअं । " को० १८६ गाथा ।

निउण-निपुण-त्रि० । कुशले, " चउरा निउणा कुसला, छेआ विउसा बुहा य पत्तट्ठा ।" को० ६० गाथा । (अस्य शब्दस्य बहवोऽर्थाः ' णिउण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१७ पृष्ठे दर्शिताः)

निउण-त्रि० । नियमगुणे, विशे० ।

निउरंब-निकुरम्ब-पुं० । समूहे, एकार्थिकानि-" उप्पंको उप्पीलो, छक्करो पहयरो गणो पयरो । ओहो निवहो संघो, संघाओ संहरो निअरो ॥ १८ ॥ संदोहो निउरंबो, भरो निहाओ ।" को० १८-१९-गाथा । औ० । रा० । जी० ।

निक्किव-निष्कृप-त्रि० । निर्दये, " निद्धंधसा निसंसा, निक्खुक्का निक्किवा अकरुणा य ।" को० ७३ गाथा । पं० व० । (अस्य सकलं ' णिक्किव ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०२२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

निक्खय-निक्षत-त्रि० । ' णिक्खय ' शब्दार्थे, को० २४० गाथा । दे० ना० ।

निक्खित्त-निक्षिप्त-त्रि० । " णिक्खित्त ' शब्दार्थे, " निमिअं निहिअं च निक्खित्तं ।" को० ११३ गाथा ।

निग्गहट्ठाण-निग्रहस्थान-न० । वादकाले वादी प्रतिवादी येन निगृह्यते तन्निग्रहस्थानम् । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । वादिप्रज्ञाबाधके प्रतिज्ञाहान्यादौ, स्या० १ ग्रा० । विप्रतिपत्तिः, अप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् । तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिर्दूषणाभासे च दूषणबुद्धिरिति । अप्रतिपत्तिः साधनस्यादूषणं, दूषणस्य चानुद्धरणम् । तच्च-निग्रहस्थानं द्वाविंशतिविधम् । तद्यथा-प्रतिज्ञाहानिः १, प्रतिज्ञाऽन्तरम् २, प्रतिज्ञाविरोधः ३, प्रतिज्ञासंन्यासः ४, हेत्वन्तरम् ५, अर्थान्तरम् ६, निरर्थकम् ७, अविज्ञातार्थकम् ८, अपार्थकम् ९, अप्राप्तकालम् १०, न्यूनम् ११, अधिकम् १२, पुनरुक्तम् १३, अननुभाषणम् १४, अज्ञानम् १५, अप्रतिभा १६, विक्षेपः १७, मतानुज्ञा १८, पर्यनुयोज्योपेक्षणम् १९, निरनुयोज्यानुयोगः २०, अपसिद्धान्तः २१, हेत्वाभासाश्च २२ । तत्र १-हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानम् । यथा-अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादी वदन् परेण सामान्यमैन्द्रियकत्वमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकीकृते यद्येवं ब्रूयात्-सामान्यवद् घटोऽपि नित्यो भवत्विति । स एवं ब्रुवाणः शब्दाऽनित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात् १। २-प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येन व्यभिचारे चोदिते यदि ब्रूयादुक्तं सामान्यमैन्द्रियकं नित्यम्, तद्धि सर्वगतम्, असर्वगतस्तु शब्द इति । तदिदं शब्देऽनित्यत्वलक्षणपूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञाऽन्तरमसर्वगतः शब्द इति निग्रहस्थानम् । अनया दिशा शेषाण्यपि विंशतिर्ज्ञेयानि २ । स्या० । (३- प्रतिज्ञाविरोधविवेचनम्-' पइण्णाविरोह ' शब्दे) । (४- प्रतिज्ञासंन्यासविवरणम्- ' पइण्णासंणास ' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयिष्यते) । (५- हेत्वन्तरव्याख्या- ' हेउअंतर ' शब्दे द्रष्टव्या) । ६- " प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ७ " । गौ० सू० । यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे हेतुतः साध्यसिद्धौ प्रकृतायां ब्रूयात्-नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वादिति हेतुः । हेतुर्नाम हिनोतेर्धातोस्तुनि प्रत्यये कृदन्तपदं, पदं च नामाऽऽख्यातोपसर्गनिपाताः । अभिधेयस्य क्रियाऽन्तरयोगाद्विशिष्यमाणरूपः शब्दो नाम, क्रियाकारकसमुदायः कारकसंख्याविशिष्टक्रियाकालयोगाभिधाय्याख्यातं, धात्वर्थमात्रं च कालाभिधानविशिष्टं, योगेष्वर्थादभिद्यमानरूपा निपाताः, उपसृज्यमानाः क्रियावद् द्योतका उपसर्गा इत्येवमादि, तदर्थान्तरं वेदितव्यमिति । भा० । (अस्य ' अत्थंतर ' शब्देऽपि, प्रथमभागे ५०७ पृष्ठे किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति) (७-निरर्थकविवेचनम्-' निरत्थय ' शब्देऽग्रे २७७५ पृष्ठे वक्ष्यते) (८-" परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ९ ।" गौ० सू० । यद्वाक्यं परिषदा, प्रतिवादिना च त्रिरभिहितमपि न विज्ञायते श्लिष्टशब्दमप्रतीतप्रयोगमतिद्रुतोच्चारितमित्येवमादिना कारणेन तदविज्ञातमविज्ञातार्थमसामर्थ्यसंवरणाय प्रयुक्तमिति निग्रहस्थानम् । भा० । (सूत्रस्याऽस्य वृत्तिर्ग्रन्थतोऽवसेया) । (९-"पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंबद्धार्थमपार्थकम् १० ।" गौ० सू० । यत्रानेकस्य पदस्य, वाक्यस्य वा पौर्वापर्येणान्वययोगो नास्तीत्यसम्बद्धार्थकत्वं गृह्यते, तत्समुदायोऽर्थस्यापायादपार्थकम् । यथा-दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डमजाजिनं पललपिण्डः, अथ रौरुकमेतत् कुमार्याः पाय्यं, तस्याः पिता अप्रतिशीन इति । भा० । (ग्रन्थाद् वृत्तिर्विलोक्या)

१०-"अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ११"। गौ० सू०। प्रतिज्ञाऽऽदीनामवयवानां यथालक्षणमर्थवशात् क्रमः, तत्रावयवविपर्यासेन वचनमप्राप्तकालसम्बन्धार्थकालं निग्रहस्थानमिति। भा०। अप्राप्तकालं लक्षयति अवयवस्य कस्यैकदेशस्य विपर्यासो वैपरीत्यम्। तथा च समयबन्धविषयीभूतकथाक्रमविपरीतक्रमेणाऽभिधानं पर्यवसन्नम्, तत्रायं क्रमः-वादिना साधनमुक्त्वा सामान्यतो हेत्वाभास उद्धरणीय इत्येकः पादः। प्रतिवादिनश्च तत्रापात्मनो द्वितीयः पादः। प्रतिवादिनः स्वपक्षसाधनं, तत्र हेत्वाभासोद्धरणीयश्चेति तृतीयः पादः। जयपराजयव्यवस्था चतुर्थः पादः। एवं प्रतिज्ञाहेत्वादीनां क्रमः। तत्र सभाक्षोभभयामोहाऽऽदिना व्यत्यस्ताभिधानमप्राप्तकालमिति वृत्तिः॥ ११॥ (न्यूनव्याख्या-'नून' शब्देऽनुपदमेव २७१७ पृष्ठे करिष्यते) (१२-अधिकव्याख्या 'अहिय' शब्दे प्रथमभागे ८८७ पृष्ठे गता) (१३-पुनरुक्तविषयः 'पुणरुत्त' शब्दे द्रष्टव्यः)। १४-"विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यनुच्चारणमननुभाषणम् १७"। गौ० सू०। विज्ञातस्य वाक्यार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानमिति, अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रयं परपक्षप्रतिषेधं ब्रूयात्। भा०। अननुभाषणं लक्षयति-परिषदा विज्ञातस्य विशिष्य बुद्धार्थस्य वादिना त्रिरभिहितस्य तथा च प्रथमवचनेऽननुभाषणे वादिना वारत्रयं वाक्यमिति दर्शितम्, तथा च त्रिरभिधानेऽपि यत्रानुभाषणविरोधी व्यापारः, तत्राननुभाषणं निग्रहस्थानमित्यर्थः। (अत्रत्याऽवशिष्टा वृत्तिस्तु ग्रन्थतोऽवसेया) १५-"अविज्ञातं चाऽज्ञानम् १८"। गौ० सू०। विज्ञातार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यदविज्ञानं तदज्ञानं निग्रहस्थानमिति। अयं खल्वविज्ञाय कस्य प्रतिषेधं ब्रूयादिति। (पुनरस्य वक्तव्यं 'अन्नाण' शब्दे प्रथमभागे ४८७ पृष्ठेऽप्यस्ति)। १६-"उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा १९"। गौ० सू०। परपक्षप्रतिषेधः उत्तरं तद् यदा न प्रतिपद्यते तदा निगृहीतो भवति। भा०। अप्रतिभां लक्षयति-उत्तरार्हेण परोक्तं बुध्वाऽपि यत्रोत्तरसमये उत्तरं न प्रतिपद्यते तत्राप्रतिभा निग्रहस्थानम्। न चात्राननुभाषणस्याऽऽवश्यकत्वात् तदेव दूषणमस्त्विति वाच्यम्। परोक्ताऽनुवादे हि तत्र यत्र परोक्तमनूद्यापि नोत्तरं प्रतिपद्यते तत्रासाङ्कर्यात् स्वसूत्रश्लोकपाठाऽऽद्युपेक्षया चेयमिति वृत्तिः। १९। (१७-विक्षेपो 'विक्खेव' शब्दे)। (१८-मतानुज्ञा-'मयाणुण्णा' शब्दे)। (१९-पर्यनुयोज्योपेक्षणं-'पज्जणुज्जुवेक्खण' शब्दे)। (२०-निरनुयोज्यानुयोगः 'निरणुओज्जाणुओग' शब्देऽग्रे वक्ष्यते) २१-"सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः २४।" गौ० सू०। कस्यचिदर्थस्य तथाभावं प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञातार्थविपर्ययादनियमात् कथां प्रसञ्जयतोऽपसिद्धान्तो वेदितव्यः यथा न सदात्मानं जहाति, न सतो विनाशो, नासदात्मानं लभते, नासदुत्पद्यत इति सिद्धान्तमभ्युपेत्य स्वपक्षं व्यवस्थापयति। एकप्रकृतीदं व्यक्तं विकाराणामन्वयदर्शनात् मृदन्वितानां शरावाऽऽदीनां दृष्टमेकप्रकृतिकत्वम्। तथा चायं व्यक्तभेदः सुखदुःखमोहान्वितो दृश्यते, तस्मात् समन्वयदर्शनात् सुखाऽऽदिभिरेकप्रकृतीदं शरीरमिति एवमुक्तवाननुयुज्यते-अथ प्रकृतिविकार इति कथं लक्षितव्यमिति?। यस्यावस्थितस्य धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरं प्रवर्त्तते सा प्रकृतिः, यच्च धर्मान्तरं प्रवर्त्तते स विकार इति। सोऽयं प्रतिज्ञातार्थविपर्यासादनियमात् कथां प्रसञ्जयति प्रतिज्ञातं खल्वनेन नासदाविर्भवति सत् तिरोभवतीति। सदसतोश्च तिरोभावाऽऽविर्भावमन्तरेण न कस्यचित्प्रवृत्तिः प्रवृत्त्युपरमश्च भवति, मृदि खल्ववस्थितायां भविष्यति शरावाऽऽदिलक्षणं धर्मान्तरमिति प्रवृत्तिर्भवति अभूदिति च प्रवृत्त्युपरमः तदेतन्मृद्धर्माणामपि न स्यात्। एवं प्रत्यवस्थितो यदि सतश्चाऽऽत्महानमसतश्चाऽऽत्मलाभमभ्युपैति, तदस्यापसिद्धान्तो निग्रहस्थानं भवति। अथ नाभ्युपैति पक्षोऽस्य न सिद्ध्यति। भा०। (वृत्तिर्ग्रन्थादेवावसेयेति) (२२-हेत्वाभासा 'हेउआभास' शब्दे द्रष्टव्याः) गौ० सू० वा० भा० वि० वृ०।

निभिण्ण—निर्गीर्ण—त्रि०। निर्गीर्णे, "ओहरिअं निभिण्णं।" को० १६७ गाथा।

निग्घिसिअ—निशित—त्रि०। निशिते, "सिअं निग्घिसिअं च आइद्धं।" को० १८६ गाथा।

निच्च—नित्य—त्रि०। 'णिच्च' शब्दार्थे, "सइ आविरय अविरामं, अणुवेलं संतयं तया निच्चं।" को० ८७ गाथा।

निच्चुड्ड—निच्चुड्ड—त्रि०। 'निच्छिय' शब्दार्थे, को० ७३ गाथा।

निच्छूढ—उद्वृत्त—त्रि०। "केनाप्फुमाऽऽदयः" ॥८।४।२५८॥ इति उद्वृत्तस्थाने निच्छूढाऽऽदेशः। 'निच्छूढं। उद्वृत्तम्'। उत्क्षिप्ते, प्रा० ४ पाद।

निज्झर—निर्झर—न०। उदकप्रस्रवणे, भ० ५ श० ७ उ०। "ओज्झरं निज्झरं।" को० २१६ गाथा। झॄ-धातोस्तु 'णिज्झर' एव। स च णकाराऽऽदेशसंक्रमणे गतः। "वोर्णिज्झरो वा" ॥८।४।२०॥ इति णकाराऽऽक्रान्त एव। प्रा० ४ पाद।

निज्झाय—दृश—धा०। प्रेक्षणे, "दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छावयज्झ-वज्ज-सव्ववदेक्खौ अक्खावक्खावअक्ख-पुलोअ-पुलअ-निआवआस-पासाः॥८।४।१८१॥" इति दृशेः 'निज्झाय' आदेशः। 'निज्झायइ।' पश्यति। प्रा० ४ पाद।

निद्दुइअ—क्षरित—त्रि०। क्षरिते, "निद्दुइअं खरिअं झिंपिअं च नीसंदिअं च पज्झरिअं।" को० ८० गाथा।

निट्ठुर—निष्ठुर—त्रि०। 'णिट्ठुर' शब्दार्थे, "कढिणा य कक्कसा निट्ठुरा खरा कप्पुरा फरुसा।" को० ७४ गाथा।

निडाल—निडाल—न०। "कपाले, णालं अलिअं णिडालं।" को० ११२ गाथा। केचिदव्युत्पन्नमपि वदन्ति। ललाटशब्दस्य तु "ललाटे च" ॥८।१।२५७॥ इति सूत्रेण ललाटस्य लकाराऽऽदिरेवाऽऽदेशः। "णिडालं"। प्रा० १ पाद।

निड्ड—नीड—न०। "नीडं निड्डं कुलायं च।" को० १२६ गाथा। पक्षिणां निलये, वाच०।

निण्णगा—निम्नगा—स्त्री०। नदीनामिति नद्याम्, को० २८ गाथा। प्रज्ञा०। ('नई' शब्देऽनुपदमेव विशेषो गतः)

नित्त—नेत्र—न०। नयने, स्था० १० ठा०। "अच्छी नयणं च लोअणं नित्तं।" को० १११ गाथा।

नित्थाम—निःस्थामन्—त्रि०। बलहीने, "दंतुक्को नित्थामो।" को० १७० गाथा।

निद्दलिअ—निर्दलित—त्रि०। मर्दिते, "उप्फुसं मद्दिअं च निद्दलिअं।" को० २०१ गाथा।

निद्देस—निर्देश—पुं०। आज्ञायाम्, "आएसो सासणं च निद्देसो।" को० १७३ गाथा। (अस्य बहु वक्तव्यं 'णिद्देस' शब्देऽस्त्येव

भागे २०४२ पृष्ठे गतम्) (निर्देशनिक्षेपः, तत्स्वरूपं च 'उद्देस' शब्दे द्वितीयभागे ७१६ पृष्ठे गतम्)

निद्धंधस–निर्धन्धस–त्रि० । निर्दये, को० ७३ गाथा । (अस्यैकार्थिकानि " निक्किव " शब्देऽनुपदमेव गतानि)

निद्धाडिअ–निर्धाटित–त्रि० । निर्गते, " निद्धाडिअं नीसरिअं ।" को० १७१ गाथा ।

निबंधण–निबन्धन–न० । कारणे, "निबंधणं कारणं निमित्तं च ।" को० १७६ गाथा । विशे० । वाच० ।

निब्भर–निर्भर–त्रि० । अतिशयपूरिते, " निब्भर-भरिअमसरिअं ।" को० २१४ गाथा । वाच० । आ० म० ।

निब्भिण्ण–निर्भिन्न–त्रि० । विदारिते, " कप्परिअं दारिअं च निब्भिण्णं ।" को० १९६ गाथा ।

निमिअ–स्थापित–त्रि० । 'णिक्खित्त' शब्दार्थे, "केनाप्कुवणमाऽऽहवः" ॥८।४।१५८॥ इति स्थापितस्य 'निमिअ' आदेशः । प्रा० ४ पाद । (अस्यैकार्थिकानि ' निक्खित्त ' शब्दे गतानि)

निम्मल्ल–निर्माल्य–न० । देवार्चोद्धवे, वाच० । " कम्मलो निम्मल्लं ।" को० १४१ गाथा । पिं० ।

निम्महिअ–निर्मथित–त्रि० । निराकृते, " मंथुनिरत्थिअ निम्महिअं ।" को० १११ गाथा ।

निम्माण–निरमा–धा० । विरचने, " निर्मो निम्माण-निम्मवौ" ॥८।४।१९॥ निपूर्वस्य निमेतेरेतावादेशौ वा । निम्माणइ । निम्मइ । विरचयति । प्रा० ४ पाद ।

निम्माय–निर्मात–त्रि० निष्पन्ने, सू० १ श्रु० । " निव्वाडिअं निम्मायं ।" को० २०० गाथा ।

नियच्छिअ–निदर्शित–त्रि० । निरीक्षिते, " सच्चविअ-दिठ्ठ-दरस-नियच्छिआइं निहालिअ-अवयक्षिअ ।" को० ७८ गाथा ।

नियड–निकट–त्रि० । समीपे, अस्यैकार्थिकानि-" अब्भासं अब्भणं, आसन्नं सविहमंतिअं नियडं ।" को० ६१ गाथा ।

निरंकुसा–निरङ्कुशा–स्त्री० । स्वतन्त्रस्त्रियाम,को० १३ गाथा । (अस्यैकार्थिकाः ' नारी ' शब्दे गताः)

निरग्गला–निरर्गला–स्त्री० । स्वच्छन्दनार्याम, को० १३ गाथा । (एतत् पर्यायाः ' नारी ' शब्दे गताः)

निरणुज्जाणुओग–निरनुयोज्यानुयोग–पुं० । विंशतितमे निग्रहस्थानभेदे, स्था० । " अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ।" २२ । गौ० सू० । निग्रहस्थानलक्षणस्य मिथ्याध्यवसायादनिग्रहस्थाने निगृहीतोऽसि परं ब्रुवन् निरनुयोज्यानुयोगान्निगृहीतो वेदितव्य इति । प्रा० । निरनुयोज्यानुयोगाद्विनिगृहीतो वेदितव्य इति । निरनुयोज्यानुयोगं लक्षयति—अवसरे यथार्थनिग्रहस्थानोद्भावनाऽतियोगं लक्षयति—अवसरे यथार्थनिग्रहस्थानोद्भावनं तदित्यर्थः । एतेनावसरे निरुक्तं यन्निग्रहस्थानोद्भावनं तदित्यर्थः । एतेनावसरे निग्रहस्थानोद्भावने एकनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानान्तरोद्भावने च व्याप्तिः । भोऽयं चतुर्धा—छलं, जातिः, आभासश्च व्याप्तिः । आभासो व्यभिचाराऽऽद्याबाधितत्वानुसोऽनवसरग्रहणं च । आभासो व्यभिचाराऽऽदावसिद्धत्वानुद्भावनम् । अनवसरग्रहणमाकाले पर्योद्भावनम् । यथा–एवंवादिनं चेत् प्रतिज्ञाहानिः विशेषयसि चेत् हेत्वन्तरम् । एवंवादिनं चेत् प्रतिज्ञाहानिः । अवसरमतीत्य कथमपि यथा छडमानमाख्यापयताऽऽऽदेः परिशमानमाशु प्रमन्तुकमाहाराऽत्यन्तं तु भाषणावसरैरनुद्भाव्य पीत्वाऽऽधिक्षकरणानुज्ञापनप्रवृत्ते वादिनि तदुद्भावनमित्यादिकमूह्यमिति वृत्तिः । २३ । गौ० सू० वा० भा० वि० वृ० ।

निरत्थ (ग) य–निरर्थक–पुं० । सप्तमे निग्रहस्थानभेदे, स्था० । "वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ।"८ गौ०सू० । यथा–नित्यः शब्दः कचटतपाः जबगडदशत्वात् झभञघढधषवदिति एवं प्रकारं निरर्थकम् । अभिधानाभिधेयभावानुपपत्तौ अर्थगतेरभावाद् वर्णा एव क्रमेण निर्दिश्यन्त इति । भा० । निरर्थकं लक्षयति-वर्णानां क्रमेण निर्देशो जबगडेत्यादिप्रयोगः,तत्तुल्यो निर्देशो निरर्थकं निग्रहस्थानम्, अवाचकपदप्रयोग इति फलितार्थः । वाचकत्वं शक्त्या,निरूढलक्षणया,शास्त्रपरिभाषया वा बोध्यम् । समयबन्धव्यतिरेकेणेति विशेषणीयं, तेन यत्रापभ्रंशेन विचारः कर्तव्य इति समयसम्बन्धस्तत्रापभ्रंशे न दोषः,झटिति संवरणे तु न दोष इत्युक्तप्रायम् । अस्य संभवः प्रमादादित्यवधेयमिति वृत्तिः । ८ । गौ० सू० वा० भा० वि० वृ० । वृ० । उत्त० । विशे० ।

निरवग्गहा–निरवग्रहा–स्त्री० । स्वच्छन्दविहारिण्यां रमायाम्, को० १३ गाथा । (पर्यायाश्चास्य ' नारी ' शब्दे गताः)

निराय–निराय–त्रि० । सरले, " पउणं निरायं उज्जुयं । " को० १७५ गाथा ।

निरोह–निरोध–पुं० । तापे, " घम्मो तावो दाहो, उम्हा कणई निरोहो य ।" को० ४६ गाथा । (अस्यान्येऽप्यर्थाः ' णिरोह ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २११६ पृष्ठे गताः)

निलय–निलय–पुं० । गृहे, उत्त० ३२ अ० । को० । (अस्यैकार्थिकाः ' निहेलण' शब्दे वक्ष्यन्ते)

निल्लीण–निलीन–त्रि० । लीने, " परिलीणं च निल्लीणं ।" को० १११ गाथा ।

निव–नृप–पुं० । "इत्कृपाऽऽदौ" ॥८।१।१२८॥ इति आदेर्ऋत इत्त्वम् । 'निवो ।' प्रा० १ पाद । राजनि, को० १०० गाथा । नि० चू० । आचा० । वृ० । (अस्य पर्यायाः ' नरणाह ' शब्दे द्रष्टव्याः)

निवह–निवह–पुं० । सङ्घाते, को० १७ गाथा । (अस्य पर्यायाः ' निउरंब ' शब्दे) (नम-नशोस्तु णकाराऽऽक्रान्त एवादेशः 'णिवह ' इति) (निवह-णिवह-शब्दयोस्तुल्यार्थत्वम्)

निव्व–नीध्र–न० । पटले, " निव्वं पडलं । " को० २११ गाथा । ककुदे, दे० ना० ५ वर्ग ४८ गाथा ।

निव्वडिअ–निष्पतित–त्रि० । कृते, को० १९१ गाथा । (अत्र पर्यायविषये ' निम्माय ' शब्दो विलोकनीयः)

निव्वल–निर्बल–त्रि० । निर्गतं बलं सामर्थ्यं यस्येति निर्बलम्, " निरः पदेर्वलः "॥८।४।१२८॥ निर्पूर्वस्य पदेर्वल इत्यादेशः । ' निव्वलइ ।' पक्षे निप्पज्जइ निष्पद्यते, प्रा० ४ पाद ।

निव्वाण–निर्वाण–न० । मोक्षे, पर्यायाः-" खोमक्खं परमपयं, मुत्ती सिद्धी सिवं च निव्वाणं । " को० २० गाथा । (अत्र विशेषः ' णिव्वाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१२१ पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्य एवास्ति)

निव्विट्ठ–निर्विष्ट–त्रि० । उपभुक्ते, " निव्विट्ठं उवभुत्तं । " को० १७७ गाथा । अनुपारिहारिके, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अर्जिते, दे० ना० ४ वर्ग ३४ गाथा ।

निसंस–नृशंस–त्रि० । " शषोः सः " ॥ ८ । १ । २६० ॥ इति शस्य सः । 'निसंसो ।' महापापकारिणि, प्रा० १ पाद । क्रूरे, को० ७३ गाथा । (अस्य पर्यायाः ' निक्किव ' शब्दे गताः)

निसा–निशा–स्त्री० । रात्रौ, हरिद्रायाम्, सू० ५ उ० । वाच० । निशाशब्दपर्यायाः–" रयणी विहावरी स–व्वरी निसा जामिणी राई । " को० ४७ गाथा ।

निसाअर–निशाचर–पुं० । राक्षसे, " इः सदादौ वा " ॥ ८ । १ । ७२ ॥ इति इत्वपक्षे–'निसिअरो ।' प्रा० १ पाद । वाच० । " अवर्णो यश्रुतिः " ॥ ८ । १ । १८० ॥ इति यश्रुतौ 'निसायरो ।' अस्य प्रायिकत्वपक्षे–'निसाअरो ।' प्रा० १ पाद ।

निसामिअ–निशामित–त्रि० । श्राविते, को० १८४ गाथा ।

निसामिअय–निशामितक–त्रि० । आकर्णिते, "निसुअं आयण्णिअं निसामिअयं । " को०१८४ गाथा । दे० ना० ।

निसायंत–निशातान्त–न० । तीक्ष्णधाराविशिष्टे, " अच्छायंतं निसायंतं । " को० २३० गाथा ।

निसाय–निशात–त्रि० । तीक्ष्णीकृते, "तिक्खालिअं निसाअं ।" को० २०० गाथा ।

निसायर–निशाकर–पुं० । चन्द्रे, "इंदू निसायरो सस–हरो विहू गहवई रयणिनाहो । मयलंछणो हिमयरो, रोहिणिरमणो ससी चंदो ॥ ५ ॥ " को० ५ गाथा । राक्षसे, वाच० । " कगचज० " ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इत्यादिना कलोपे " अवर्णो यश्रुतिः " ॥ ८ । १ । १८० ॥ इति यश्रुतिः । 'निसायरो ।' प्रा० १ पाद ।

निसीह–निशीथ–पुं० । " निशीथपृथिव्योर्वा " ॥ ८ । १ । २१६ ॥ इति थस्य ढो वा । 'निसीढो निसीहो ।' अर्द्धरात्रे, रात्रिमात्रे च । प्रा० १ पाद ।

निसुअ–निश्रुत–त्रि० । आकर्णिते, " निसुअं आयण्णिअं निसामिअयं । " को० १८४ गाथा । दे० ना० ।

निसुढिअ–नत–त्रि० । भारनम्रे, " निसुढिअं भरक्कंतभरोणयं । " को० १६४ गाथा ।

निसुद्ध–निशुद्ध–त्रि० । शुद्धे, " ओसुद्धं पाडिअं निसुद्धं च ।" को० १९४ गाथा ।

निसेह–निषेध–पुं० । " निषेधे हक्कः " ॥ ८ । ४ । १३४ ॥ इति निषेधेर्हक्कादेशो वा । 'हक्कइ, निसेहइ ।' प्रतिषेधे, प्रा०४ पाद ।

निस्स–निःस्व–त्रि० । निर्धने, " रोरो अकिंचणो दुत्थिओ द–रिहो य दुग्गओ निस्सो । " को० ३५ गाथा ।

निस्सेणि–निःश्रेणि–स्त्री० । अधिरोहण्याम्, " अधिरोहणिआ य निस्सेणी । " को० १२० गाथा ।

निह–निभ–न० । छले, " छउं अवयसो निहं च मिस्सं । " को० १४२ गाथा । सदृशे, आ०म० १ अ० । मायिनि, सूत्र०१ श्रु०६ अ० । क्रोधाऽऽदिभिः पीडिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । आघातस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

स्निह–त्रि० । रागवति, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । रागद्वेषयुक्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । ममत्वसहिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

निहण–निधन–न० । प्राणत्यागे, " पलओ निहणं नासो ।" को० १६७ गाथा ।

निहय–निहत–त्रि० । मारिते, उत्त० १२ अ० । भावरिपुभिरिन्द्रियकषायकर्मभिर्हन्यमाने, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । " निहयं निक्खयं । " को० २४० गाथा ।

निहस–निकष–पुं० । " निकष–स्फटिक–चिकुरे हः " । ८ । १ । १८६ ॥ इति कस्य हः । प्रा० १ पाद । " शषोः सः " । ८ । १ । २६० ॥ इति षस्य सः । प्रा० १ पाद । कषपट्टिकायाम्, प्रज्ञा० १७ पद २ उ० । " निहसो कसो । " को० २६२ गाथा ।

निहाअ–निघात–समूह, को० १६ गाथा । दे० ना० । (अस्य–पर्यायाः ' निउरंब ' शब्दे गताः)

निहालिअ–निभालित–त्रि० । दृष्टे, " सच्चविअ–दिट्ठ–पुलइअ–निअच्छिआइं निहालिअ–ऽत्थमिम । " को० ७८ गाथा ।

निहिअ–निहित–त्रि० । स्थापिते, "निमिअं निहिअं च निक्खित्तं । " को०१९३ गाथा । नि–धा–क्तः । " सेवाऽऽदौ वा " ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति तद्वित्वं वा । निहित्तं । पक्षे–तो लोपः । प्रा० २ पाद । निक्षिप्ते, पञ्चा० १० विव० ।

निहिनाह–निधिनाथ–पुं० । कुबेरे, " वेसमणो निहिनाहो, ज–क्खाहिवई कुबेरो य । " को० २४ गाथा ।

निहुअ–निभृत–त्रि० । " उदृत्वादौ " । ८ । १ । १३१ ॥ ऋतु–इत्यादिषु शब्देषु आदेर्ऋत उत्वम् । प्रा० १ पाद । तदर्थमनुगुप्ते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । निर्व्यापारे, बृ० ३ उ० । निश्चले, उत्त० १६ अ० । असंभ्रान्ते, कार्याभिमुखतया उचितधर्मे, दशा० ६ अ० । " मसिणं सणिअं मट्ठं, मंदं अलसं जडं मराल च । स्वं निहुअं सइरं, वीसत्थ मंथर थिमिअ ॥१५॥" को०१५ गाथा ।

निहेलण–निलय–पुं० । " गोणाऽऽदयः " ॥ ८ । २ । १७४ ॥ इति निलयस्थाने ' निहेलण ' आदेशः । गृहे, प्रा० २ पाद । " भवणं घर–मावासो, निलयं वसही निहेलणमगारं । " को० ४६ गाथा ।

नीअ–नीत–त्रि० । गते, " हिअं नीअं । " को० २६७ गाथा ।

नीच–त्रि० । अत्यन्तावनतकन्धरे, उत्त० १ अ० । उच्चविपरीते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अपूज्ये, भ० ३ श० १ उ० । निम्ने, नि० चू० १ उ० । नीचैः स्थाने, माला–ऽऽदौ, उत्त० १ अ० । "अहमा इयरा य पायया नीआ । " को० १०३ गाथा ।

नित्य–त्रि० । सदाऽवस्थायिनि, स्था० १० ठा० ।

नीचअ–नीचैस्–अव्य० । नीचे, "अव्ययनीचैसि अअः" ॥८ । १ । १५४ ॥ इति ऐतो अअ इत्यादेशः । ' नीचअं । ' अल्पतरं, तुच्छे च । प्रा० १ पाद ।

नीड–नीड–न० । कुलाये, " निड्डं नीडं कुलायं च । " को० १२६ गाथा । प्रा० ।

नीणिअ–नीणित–त्रि० । गते, " निक्कासिअं नीणिअं । " अव्युत्पन्न एवायं शब्दः । व्युत्पत्तिपक्षे तु–"णीणिअ" इत्येव णकारेऽऽकारान्तो भविष्यतीति विशेषः । को० १७१ गाथा । स्वस्थानं प्रापिते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । उत्त० । सूत्र० ।

नीरंगी–नीरङ्गी–स्त्री० । शिरोऽवगुण्ठने, " नीरंगी मंगुडी । " को० ११६ गाथा । दे० ना० ।

णीणी–नीनी–स्त्री० । "हंसिक नेत्तिरो एां" ॥ ८ ॥ देशी० ३२६ । दान वस्य आर्यायां (नीनी) नीवी । मूलधने, वस्त्रग्रन्थौ । प्रा०२ पाद ।

णीर–नीर–न० । अंभे, " अंबु सलिलं वणं वारि, नीरं उदं दगं पयं तोयं ।" को० २८ गाथा । दश०।

णीलकंठ–नीलकण्ठ–पुं० । मोरे, "मोरो सिही बरहिणो, सिहंडी नीलकंठो य ।" को० ४२ गाथा । शक्रस्य देवेन्द्रस्य महिषानीकाधिपती, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णीलुप्पल–नीलोत्पल–न० । नीलकमले, "नीलुप्पलं कुवलयं इंदीवरं च कदुहं।" को० ३१ गाथा । कुवलये, जं० १ वक्ष० । उत्त० ।

णीव–नीप–पुं० । " पो वः " ॥ ८ । १ । २३१ ॥ स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यानादेः पस्य प्रायो वो भवति । कासवो । पावं । उवमा । प्रा० १ पाद । ' कलंबो, नीवो । " को० २५५ गाथा ।

णीवी–नीवी–स्त्री० । वस्त्रग्रन्थौ, " कडाही उक्खसं नीवी ।" को० १७५ गाथा । मूलधने, वाच० ।

णीसंदिअ–निःस्यन्दित–त्रि० । निष्यन्दिते, "णिहुरं... कढिणं किढिणं, च नीसंदिअं च पज्झरिअं ।" को० ८० गाथा ।

णीसामन्न–निःसामान्य–पुं० । सामान्यधर्मयुक्ते, " णीसामन्ना ...।" को० १०१ गाथा ।

...सूअ–निःसूत–त्रि० । निर्गते, " णीहरिअं णिग्गयं " ... गाथा । दे० ना० ।

णीहार–नीहार–पुं० । मूत्रपुरीषोत्सर्गे, स० ३४ सम० । धूमिकायाम्, " उस्सा णीहारो धूमिआ य महिआ य धूमसाहसी य ।" को० ३८ गाथा ।

नु–नु–स्त्री० । स्तुतौ, "प्रश्न वा परिप्रश्ने ... वितर्के स्मृतः । नु स्त्रियां नु स्तुतौ ।" एका०२४ श्लोक । "नु स्तुतौ दीर्घ हस्तयोः" एका० ७८ श्लोक । वारिणि, एका० ७१ श्लोक । पृच्छायाम्, वितर्के, एका० ७७ श्लोक ।

नुन–नुन–त्रि० । निपुणार्थे, "नुनशब्दः ... सार्थस्य वाचकः ।" एका० ५५ श्लोक ।

नू–नू–पुं० । दर्पे, ' नू दर्पेऽपि तर्कारिनः ।" एका०७७ श्लोक । बालके, वायौ, च । " नृशब्दः बालके पुंसि, वायौ । " एका० ७१ श्लोक ।

नूल–न्यून–न० । एकादश निग्रहस्थानभेदे, स्था० । " हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्" ।१२। गौ०सू० । प्रतिज्ञाऽऽदीनामवयवानामन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं निग्रहस्थानं, साधनाभावे साध्यासिद्धिरिति । भा० । न्यूनं लक्षयति–अवयवेन सगुणासिद्धेन तेन सौगतस्य ह्यवयवाभिधानेऽपि न न्यूनत्वम् । नन्ववयवहीनत्वम् अवयवत्वावच्छिन्नाभाव , तथा चार्कथनमेव स्यादत आह–अन्यतमेनापीति । तथा च–च... व्यवयवाभिधानं फलितम् । नचायमपसिद्धान्त , सिद्धान्तविरुद्धानभ्युपगमात्, अपि तु–समासोक्त्याऽऽदिनाऽनभिधानादिति वृत्तिः ॥ १२ ॥ गौ० सू० वा० भा० वि० सू० ।

नूमिअ–छादित–त्रि० । प्रच्छादिते, " पच्छाइअ–नूमिआई थइआइं ।" को० १७१ गाथा । "छदेर्णेर्णुम–नूम–सन्नुम ढक्कौम्बाल पव्वालाः." ॥ ८ । ४ । २१ ॥ इति ण्यन्तस्य छदेः ... देशा वा भवन्ति । ' नूमइ । ' पक्षे–'छायइ ।' प्रा० ४ पाद ।

णेउर–नूपुर–न० । स्त्रीणां पादाऽऽभरणे, " हंसयं णेउरं चाऽऽलिंजीरं ।" को० ११८ गाथा ।

णेलच्छ–षण्ढक–पुं० । षण्ढे, वृषभेऽपि । "णेलच्छो पंडओ ।" को० २३५ गाथा । ' गोणाऽऽदय " ॥ ८ । २ । १७४ ॥ इति षण्ढकशब्दस्य णेलच्छाऽऽदेश । "नो णः " ॥ ८ । १ । २२८ ॥ इत्यस्य वैकल्पिकत्वात् णत्वाभावपक्षे रूपम् । प्रा० १ पाद ।

णेवत्थ–नेपथ्य–न० । वेष, "वेसो णेवत्थं ।" को०२३३ गाथा । स्त्रीपुरुषाणां वेषे, स्था०४ ठा० २ उ० । परिधानाऽऽदिवस्त्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कच्छाचीवरसमारचने, दश० ४ तदृ० नि० । औ० । निर्मलवेषे ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । स्था० ।

णेह–स्नेह–पुं० । " क ग च–ज–त–द–प–य–वां प्रायो लुक्. " ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इति हलुक् । प्रा० १ पाद । मोहोदयजे प्रीतिलक्षणे, पुत्राऽऽद्यन्तरङ्गानुराग, आतु० । औत० ।

नो–नो–पुं० । स्तुतौ एका० ।

नौ–स्त्री० । नौकायाम् वा० । " नौश्च तरणौ स्त्रियाम् । " एका० ७८ श्लोक ।

णोमालिया–नवमालिका–स्त्री० । "ओत् पूतर–बदर–नवमालिका–नवफालिका पूगफले" ॥ ८ । १ । १७० ॥ इति ओत्त्वम् । प्रा०१ पाद । 'णोमाए' इति ख्याते सुगन्धपुष्पप्रधाने वृक्षभेदे, जं० १ वक्ष० । ज्ञा० । औ० । (अत्र णकाराऽऽदयः सर्वे शब्दाः । "नोऽऽणः " ॥ ८ । १ । २२९ ॥ इत्यस्य सूत्रस्य वैकल्पिकत्वात् नकाराऽऽदयः बोध्याः ।)

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञ प्रभु–भट्टारक–जैन श्वेताम्बराऽऽचार्य–

श्री श्री १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते ' अभिधानराजेन्द्रे

नकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

तत्समाप्तौ च समाप्तोऽयं चतुर्थो भागः ॥ ४ ॥

इति

श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-

जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ भट्टारक-

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरमहाराज विरचिते

शब्दसङ्कलनात्मके " श्री अभिधानराजेन्द्रकोषे "

चतुर्थो भागः समाप्तः ।